प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o. श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २-६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद-१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वैवाऽस्ति
पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष!

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है ।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है। जब इस कोषका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे ।

सात भागों में तथा दस हजार पांचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोष के समान है । जिसमें जिनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया हैं — वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोष जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं । अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं । अभिधानराजेन्द्र कोष सामान्य शब्दकोष नहीं हैं । किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है ।

— रमेश आर. जवेरी

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगराज

जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

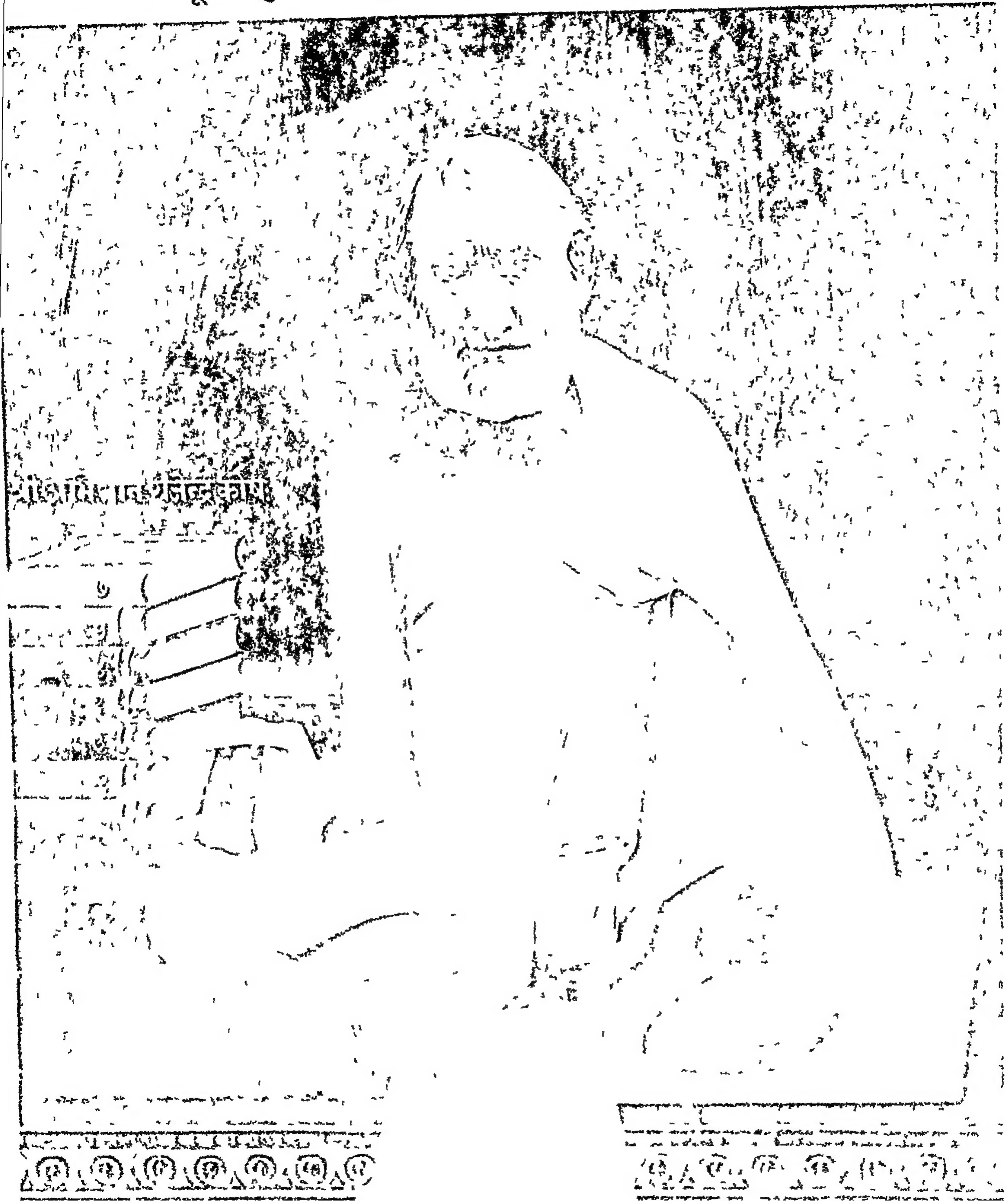

प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था
C/o. श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदावाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नवप्रभात प्रि. प्रेस, ता. २-६१
गांधीरोड, औंकवाडी, अहमदावाद-१

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि–कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज

जगत्पूज्य–गुरूदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ?

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति से अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्त्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया-ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना है श्री अभिधान राजेन्द्र कोश! इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्भुत प्रेरणा प्रदान की है।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीभांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस में इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य में परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय विद्याचंद्रसूरीश्वरजी महाराज के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का एवं साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है।

वर्षों के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। उस के पुनः प्रकाशन में परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानन्द विजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी-मण्डल की ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं:

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदाबाद के ट्रस्टी मंडल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला हैं।

इस प्रकाशन में हमें जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उन का नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

१ साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।
२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)
३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढी, श्रीभाण्डवपुर तीर्थ (राज.)
४ श्री भेंसवाड़ा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)
५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जीवाणा (राज)
६ शाह नेमिचन्द देवीचन्द फूलचन्द, शुकनराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी बलदरिया, कोशेलाव (राज.)

७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ गुजरात)
८ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद
९ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ दाधाल
१० श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ–सुराणा
११ श्री जैन श्वताम्बर त्रिस्तुतिक संघ–धानेरा
१२ श्री जैनश्वेताम्बर त्रिस्तुतिक सघ थराद जैन मित्रमण्डल, वम्बई ।
१३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ, नेनावा (गुजरात)
१४ श्री जैन श्वताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेगलवा (राज)
१५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, सियाणा (राज)
१६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, आकोली (,,)
१७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, गणीस्टेशन (,,)
१८ श्री मांगीलाल, फूटरमल, शान्तिलाल, किशोरचन्द्र बेटा पोता शेपमलजी खसाजी रामाणी, गुड़ाबालोतान् (राज)
१९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज)
२० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म. प्र.)
२१ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
२२ शा जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, वीरचन्द, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेगलवा, (राजस्थान)
२३ श्री अमरचन्द देशमल तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
२४ शाह मगराज सुखराज एन्ड् कं मद्रास
२५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटा पोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज)

इन के अतिरिक्त गाँव नगरो के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, मांडवला, धाणसा, आहोर, भेंसवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडी, पांथेडी, वम्बई, सुमेरपुर, सांचोर, तखतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदाबाद, लोवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा, डीसा, लाखणी, वामी, धानेरा, कलोल, झाबुआ, टाडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदाबाद
२०४२ पोष सुद ७ (गुरुसप्तमी)

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से प्राप्त हैं, अतः उनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है, परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान मे समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अंधेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे। 'जिन खोजा तिन पाईयां गहरे पानी पैठ।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इनके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि इनके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम मे अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान मे रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनो अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप मे और सुवर्ण सुवर्ण के रूप मे प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक मे सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों मे रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती है। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में हैं; ऐसे संसारी जीवों का ये कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आंखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आंखों पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल मे प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव मे आकण्ठ डुबो देता है; अत जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत वादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग मे रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन मे आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममे विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन मे जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन मे ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया मे अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवों को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति मे भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पडता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है-राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है, अतः खजाने मे से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नही हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्मशक्ति) के विषय मे अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। सक्षेप मे यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों मे आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास मे परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवालो के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सव धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि .....धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षो के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म मे प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त एश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनो मे जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन मे परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात जीव को परमात्म स्वरुप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनो के अभाव मे जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय मे एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ मे लिया। वे दिव्य पुरुष थे-उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया मे अपने हाथ मे लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत मे कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है-'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमो का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास मे हो तो और कोई ग्रन्थ पास मे रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' में और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' मे भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचसपति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमे से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते है—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान· चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी–नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्वयक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताए प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्ति–आगमरहस्यवेदा–श्रुतस्था

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज।

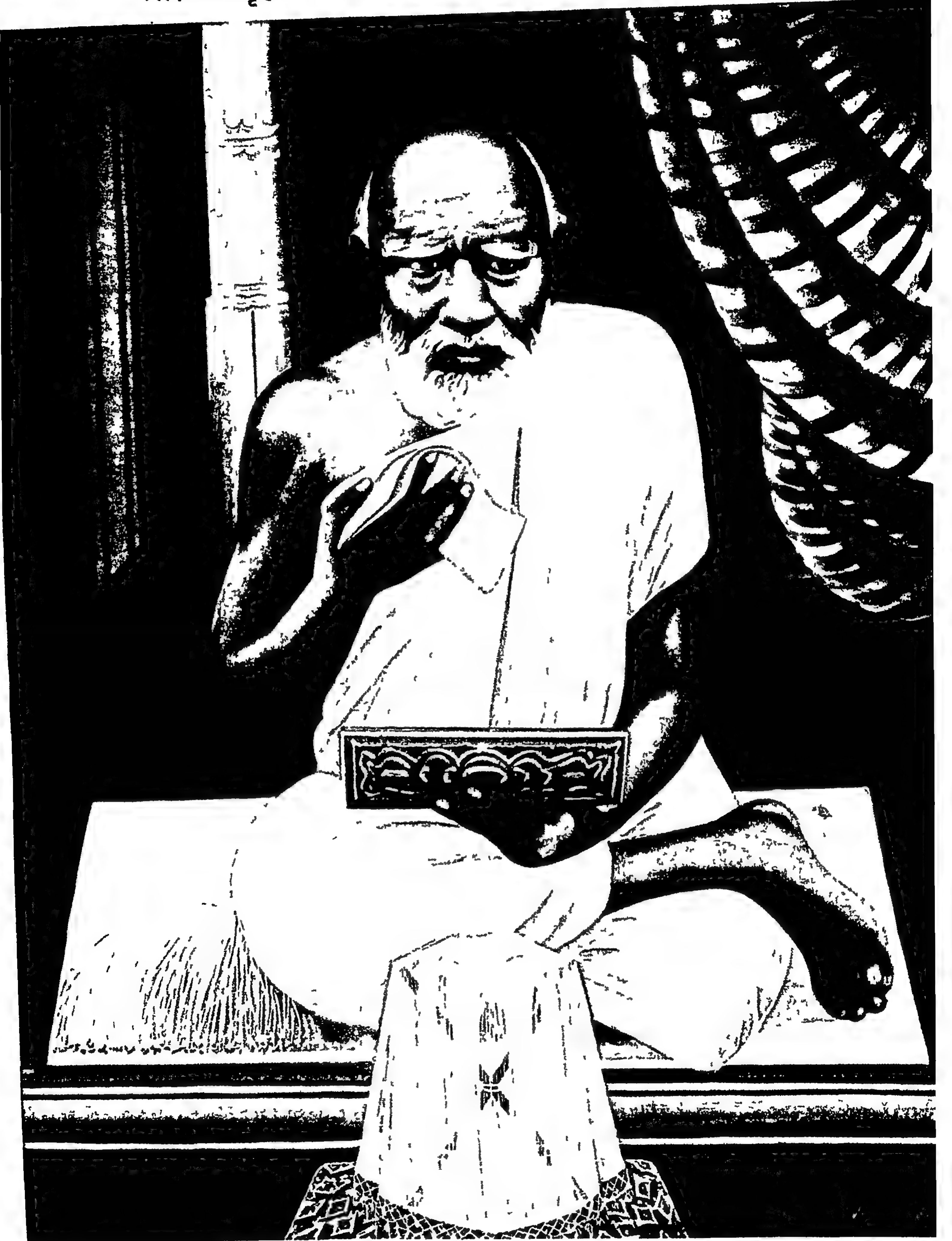

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम्।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत मे की गई है। इस महाकोश में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होने मूल प्राकृत शब्द का अथ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रुप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है, इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमे व्यापकता भी है जैनधर्म-दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमे स्याद्वाद, ईश्वरवाद सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी हैं। सात भागों मे विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजी पृष्ठों में विस्तारित है। इसमे धर्म-संकृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए है। उनकी पुष्ट-सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमे चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पडेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने मे यह महा ग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते हैं, वे कपड़ का एक छोटा सा टुकडा स्याही से तर कर देते थे और उसमे कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार-रत रहे। मालवा, मारवाड, गुजरात के प्रदेशों मे उन्होने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा-अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति मे केवल चौदह वर्ष मे एक व्यक्ति द्वारा इस 'जैन विश्वकोश' का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमाने मे यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय मे अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र मे बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने को हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। व बई चातुर्मास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमे यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो, तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले मे सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण मे बसे हुए दूर दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास मे मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति मे 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्याङ्कन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुःखद थी, पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने ....। उन्होने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा; व्यवसायियो के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति मे यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ । संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा । श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी । परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनो के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है ।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है, फिर भी इस प्रकाशन मे अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता । इनकी सेवाए सदा स्मरणीय हैं ।

इस कार्य में हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है । प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन मे हमे उनसे अनमोल सहायता मिली है । हम उन्हें नहीं भूल सकते ।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गयी हैं । वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है । शुभम् ।

नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ { श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी }
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ { श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि }
९ { श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि }
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ { श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि }
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ { श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि }
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि }
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० { श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि }
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ वर्तमानाचार्य श्री विजयजयन्तसेनसूरि

आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक-श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृतमागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढ चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

गवालियर-रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक-मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हूम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महा-कोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-भार मर्हुम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य-मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सौंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणी-प्रातःस्मरणीय-आचार्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक-मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्-महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशारद-विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री-गुलावविजयजी, मुनिश्री-हर्षविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बाँगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बारोदा-बड़ा।	,, झाबुवा।

श्रीसंघ-बड़नगर।	श्रीसंघ-सरसी।	श्रीसंघ-झकणावदा।
,, खाचरोद।	,, सुंजाखेड़ी।	,, कूकसी।
,, मन्दसोर।	,, खरसोद-बड़ी।	,, आलीराजपुर।
,, सीतामऊ।	,, चीरोला-बड़ा।	,, रींगनोद।
,, निम्बाहेड़ा।	,, मकरावन।	,, राणापुर।
,, इन्दौर।	,, बरड़िया।	,, पारां।
,, उज्जैन।	,, (भाट)पचलाना।	,, टांडा।
,, महेन्दपुर।	,, पटलावदिया।	,, बाग।
,, नयागाम।	,, पिपलोदा।	,, खवासा।
,, नीमच-सिटी।	,, दशाई।	,, रंभापुर।
,, संजीत।	,, बड़ी-कड़ोद।	,, अमला।
,, नारायणगढ़।	,, धामणदा।	,, बोरी।
,, बरड़ावदा।	,, राजोद।	,, नानपुर।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद)।	श्रीसंघ-ढीमा।
,, वीरमगाम।	,, वाव।	,, दूधवा।
,, सूरत।	,, भोरोल।	,, वात्यम।
,, साणंद।	,, धानेरा।	,, वासण।
,, बम्बई।	,, धोराजी।	,, जामनगर।
,, पालनपुर।	,, डुवा।	,, खंभात।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर।	श्रीसंघ-भीनमाल।	श्रीसंघ-शिवगंज।
,, आहोर।	,, सांचोर।	,, कोरटा।
,, जालोर।	,, बागरा।	,, फतापुरा।
,, भैंसवाड़ा।	,, धानपुर।	,, जोगापुरा।
,, रमणिया।	,, आकोली।	,, भारुंदा।
,, मांकलेसर।	,, साथू।	,, पोमावा।
,, देवावस।	,, सियाणा।	,, बीजापुर।
,, विशनगढ़।	,, काणोदर।	,, बाली।
,, मांडवला।	,, देलंदर।	,, खिमेल।

श्रीसंघ-गोल।	श्रीसंघ-मंडवारिया।	श्रीसंघ-सविराव।
,, साहेला।	,, बलदूट।	,, खुड़ाला।
,, आलासण।	,, जावाल।	,, राणी।
,, रेवतड़ा।	,, सिरोही।	,, खिमाड़ा।
,, धाणसा।	,, सिरोड़ी।	,, कोशीलाव।
,, बाकरा।	,, हरजी।	,, पावा।
,, मोदरा।	,, गुडाबालोतरा।	,, एंदला का गुड़ा।
,, थलवाड़।	,, भूति।	,, चाँणोद।
,, मेंगलवा।	,, तखतगढ।	,, डूडसी।
,, सूराणा।	,, सेदरिया।	,, थाँवला।
,, दाधाल।	,, रोवाडा।	,, जोयला।
,, धनारी।	,, भावरी।	,, काचोली।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

श्रीसर्वज्ञेभ्यो नमः ।

अभिधानराजेन्द्रः ।

वाणिं जिणाणं चरणं गुरूणं, काऊण चित्तम्मि सुयप्पन्नाणा ।
सारं गहीऊण सुयस्स एयं, वोच्छामि भागे तइयम्मि सव्वं ॥ १ ॥

(एकार)

ए-ए-पुं० एकार स्वरवर्णभेदः "एदैतोः कण्ठतालव्याविन्युक्ते कण्ठताल्वोः स्थानयोरुच्चार्य्यः । स च दीर्घः द्विमात्रः प्लुतस्तु त्रिमात्र उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैरनुनासिकाननुनासिकभेदाभ्यां च द्वादशविधः । वाच० । प्राकृतभाषासूत्रे एकारान्तता मागधभाषालक्षणाऽनुरोधात् इति । जी० ३ प्रति० । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि द्रष्टव्यः । यथा " कयरे आगच्छइ दित्तरूवे " दश० १ अ० । " ते णं काले ण " तस्मिन् काले एकारस्य प्राकृतप्रभवत्वादिति । विपा० १ अ० ।

ए-अव्य० इण् विच् । स्मृतौ, असूयायाम्, अनुकम्पायाम्, सम्बोधने, आह्वाने च । मेदिनिः । वाक्यालङ्कारे, " से जहाणामए " ए इति वाक्यालंकारे, । अनु० । ज्ञा० । विष्णौ,-पुं० एका० " कामसम्बोधने स्यादे-त्तत्परे ब्रह्मकेवले । ए शब्देनोदिता चान्द्री, गोचरे गोपता वयम् " इति । एकारः कथ्यते विष्णौ, नगरीवारिधारयो । हर्म्ये हरे दिनमुखे, गगने मणिकुट्टिमे । तेजस्यैकादशाख्यायां, संख्यायामपि दृश्यते । इति च । एका० । पापस्य परिवर्जने, । आ० म० द्वि० ।

ऐ-पुं०ऐकार स्वरवर्णभेद. "एदैतोः कण्ठतालव्यावित्युक्तेः कण्ठतालुस्थानयोरुच्चार्य स च दीर्घ द्विमात्रत्वात्, प्लुतस्तु त्रिमात्रः । द्विमात्रस्य उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैः प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकाभ्याञ्च षड्विधः एव प्लुतस्यापीति द्वादशविध तपरत्वे कारपरत्वे च तत्स्वरूपपर । वाच० । ऐकारस्य प्राकृते सर्वत्र एकारः । तथा च । "ऐत एत्" । ८ । १ । ४८ । इति आदौ वर्तमानस्यैकारस्य एत्वं भवति । "सेलासेन्न तेलुक्कं । प्रा० । ऐ-अव्य० आ-इण्-विच्-आह्वाने, स्मरणे, आमन्त्रणे च । महेश्वरे,-पुं० । तस्य सर्वगतत्वात्तथात्वम् । वाच० । " ऐ. स्वरेऽपि च पुल्लिङ्गः शम्भुश्रीपतिवायुषु । शारदायां स्वरे सूर्ये, मूर्छायामैरपि स्मृतः" । इति । ऐकारः शङ्करे हस्ति—दिङ्नागेष्विन्द्रबाणयोः । तमालावर्त्तदेशेषु, क्वचित्स्याच्छिखरेगिरेः " । इति च । एका० ।

एइज्झ-ऐतिह्य-न० इतिह पारम्पर्योपदेशः । अनिर्दिष्टप्रवक्तृकोपदेश इति यावत् । स्वार्थे ष्यञ् पारपर्य्योपदेशे, यथात्र वटे यक्ष प्रतिवसतीत्यादिपरम्परोपदेशमात्रम नतु केनाप्येतदुपलभ्य कथितम । अष्टप्रमाणवादिनः पौराणिका इद प्रमाणान्तरमुररीचक्रुः । "ऐतिह्यमनुमानं च, प्रत्यक्षमपि चागमम् । ये हि सम्यक्परीक्षन्ते, कुतस्तेषामयुक्तिता" । रामा० । वाच० । तदेतन्मतं रत्नावतारिकायां निराकृतम् यथा-ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमितिहोचुर्वृद्धा । यथेह वटे यक्ष. प्रतिवसती ति तदप्रमाणमनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात् । आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति । रत्ना० १ परि० ।

एइय-एजित-त्रि० कम्पिते. स्था० ३ ठा० । जी० । "वाएहिं मंदाय २ एइयाणं " वातैर्मन्दायन्ति मन्दं मन्दमेजितानां कम्पितानामिति । राज० ।

एई (या) एता-स्त्री० " अजातेः पुंसः " ८ । ३ । ३२ । इति सूत्रे एकजातिवाचिन पुंल्लिङ्गात् स्त्रियां वर्तमानात् ङीर्वा भवति कर्बुरवर्णायाम्, तोपधवर्णवाचित्वात्स्त्रियां ङीप् नश्च । एनी । एईए ए-आप । एइणं एआण । प्रा० ।

एक्क (ग) (य)-एक- त्रि० इण् कन् " सेवादौ वा " ८ । २ । ९९ । इति सेवादिष्वनादौ यथादर्शनमन्त्यस्यानन्त्यस्य च वा द्वित्व भवति । प्रा० । सख्यानभेदे, कल्प० । एकसख्योपेते रूप्यादौ, स्था० ४ ठा० । एकत्वरूपप्रथमसंख्यान्विते च । प्रायशः सख्यावाचकस्य सख्यासख्येयोभयपरत्वेऽपि एकशब्दस्य भूरिश. एकत्वसख्यान्वितपरत्वम् । तेन एको घट इत्यादि, न तु घटस्यैकः । क्वचित्तु भावप्रधाननिर्देशपरत्वेन संख्यावाचकत्वमपि "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" पा० । इह द्वित्वमेकत्वं च द्व्येकशब्दयोरर्थ. । अत्र द्विवचनान्तत्वमेव तथार्थत्वे लिङ्गम् । सख्येयपरत्वे द्व्येकेषामिति स्यात् । द्वन्द्वार्थानां सख्यान्वितानां बहुत्वात्तेन एकद्विवचनशब्दोऽपि एकत्वद्वित्वार्थक. । तन्नार्थे तयो परिभाषितत्वात् । एकश्च गणनां नोपैति तथा चानुयोगद्वारे " एक्को गणणं न उवेई " एकस्तावद्गणनं सख्यान्नोपैति यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विद तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते नैकसख्याविषयत्वेन । अथवाऽऽदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एक वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयतीत्यतोऽसंव्यवहार्य्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसख्यामवतरति तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणन संख्येति । तथाच-सख्यासख्येयोभयपरत्वमेकशब्दस्य द्रव्यप्रमाणविशेषस्य विभागनिष्पन्नप्रमाणस्य पञ्चसु मानादिभेदेषु, गणिमं द्रव्यप्रमाणमधिकृत्यानुयोगद्वारे उक्तम् ॥

सेकिंतं गणिमे गणिमे जण्णं गणिज्जइ तं जहा-एगो दससयं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडीत्ति

गण्यते संख्यायते वस्त्वनेनेति गणिममेकादि । अथवा गण्यते सख्यायते यत्तद्गणिमं रूपकादि । तत्र कर्मसाधनपक्षमङ्गीकृत्याह । जण्णमित्यादि । गण्यते यत्तद्गणिमम् । कथ गण्यते इत्याह । एगो इत्यादि । अनु० । एकाकिनि, स्था० ४ ठा० अद्वितीये, वाच० । उत्त० । आचा० । असहाये, नं० । स्था० । 'एकस्यैकाकिनोऽसहायस्येति ' स्था० ४ ठा० । "अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सपक्ख जाव पहरणे साओ गेहाओ णिग्गच्छई" (एगेत्ति)

सहायाभावात् । विपा० । प्रश्न० । केवले, स्था० ३ ठा० । वाच० । केवलमेकमसहायमिति । नं० । तथाच सूत्रकृताङ्गे ॥

अब्भागमितम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमितेन भवंति ।
एगस्स गती अ आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥

पूर्वोपात्ताऽसातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाक्येव दुःखमनुभवति । न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित्क्रियते । तथाच । " सयणस्स वि मज्झगओ, रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो । सयणो वि य से रोगं, न विरंचइ नेव नासेइ । १ ।" अथवोपक्रमकारणैरुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे भवान्तिके वा मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवाऽसुमतो गतिरागतिश्च भवति । विद्वान् विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते । कुतः सर्वात्मना त्राणमिति । तथाहि " एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्त्ते । तस्मादाकालिक हित-मेकेनैवात्मनः कार्यम् ।१। " एक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सिक्कओ समणुहवइ । एक्को जायइ मरइ य, परलोयं एक्कओ जाई " । १७ ।

सव्वे सयकम्म कप्पिआ, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंमंति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिं भिद्दता ।१८।

सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्तिनः प्राणिनः संसारे पर्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकैकेन्द्रियादिना भेदेन व्यवस्थिताः तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रियाद्यवस्थायामव्यक्तेनापरिस्फुटेन शिरःशूलाद्यलक्षितस्वभावेनोपलक्षणत्वात् प्रव्यक्तेन च दुःखेनाऽसातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनः पर्यटन्त्यरघट्टघटीन्यायेन तास्वेव योनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठा भ्रमन्ति । जातिजरामरणैरभिद्रुता गर्भाधानादिभिर्दुःखैः पीडिता इति सूत्र० १ श्रु० २ अ० । " एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खम्" तदेवमेकोऽसहायो यदर्थं यत्पापं समर्जितं तै रहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति न कश्चिद्दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः । उक्तंच " मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येहं, गतास्ते फलभोगिनः " इत्यादि सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । ' एगस्स जंतो गतिरागती य " एकस्यासहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य गतिर्गमनं परलोकं भवति तथा आगतिरागमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति । उक्तं च "एकः प्रकुरुते कर्म्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम् । जायते म्रियते चैकः, एको याति भवान्तरमिति" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

इक्को करेइ कम्मं, इक्को अणुहवइ दुकयविवागं ।
इक्को संसरइ जीओ, जरमरणचउग्गइगुविलं-४४म०प०।
इक्को हं नत्थि मे कोई, नवाहमवि कस्सई ।
एवं अदीणमणसा, अप्पाणमणुसासए ॥ १३ ॥
इक्को उप्पज्जए जीवो, इक्को एव विवज्जई ।
इक्कस्स होइ मरणं, इक्को सिज्झइ नीरओ ॥१४॥
इक्को करेइ कम्मं, फलमिव तस्सिक्कओ समणुहवइ ।
इक्को जायइ मरइं, परलोयं इक्कओजायइ ॥१५॥
इक्को मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजमो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥१६॥महा.प.

एकश्च द्रव्यतोऽसहायो भावतो रागद्वेषरहितः तथा च-

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।

एकोऽसहायो द्रव्यत एकाकिविहारी ५। रेत् । तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात् । तथाऽऽसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितो धर्मादिध्यानयुक्तः स्याद्भवेत् । एतदुक्तं भवति । सर्वास्वप्यवस्थानासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० । "एगे एग विऊ बुद्धे" एको रागद्वेषरहिततया अंजा यदिवाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यटन्नसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया सदैकक एव भवति । तत्रोद्यतविहारी द्रव्यतोऽप्येकको भावतोऽपि गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावतस्त्वेकक एवेति । सूत्र०१श्रु०१६अ० "एग एव चरे लाढे" एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिनिबद्ध विहारेण विहरेत् सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तम् । "ण वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो १ " उत्त० ३ अ० । एको रागद्वेषसहायविरहित इति । कल्प० । " एगे सहिते चरिस्सामि " एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो चेति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० । अस्य द्विविधत्वं व्यवहारकल्पे

एगेव पुव्वभणिए, कारणनिक्कारणे दुविहभेदे

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितस्तद्यथा कारणे निष्कारणे च साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैकप्रतिपादनार्थमाह ।

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य चक्कथूभादि ।
उवएसअणुवएसा दुविहा आहिंडगा हुंति ॥

अशिवादिभिरादिशब्दादवमौदर्यराजद्विष्टादिपरिग्रहः । कारणैरेकाकिनः कारणिकाः चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्प्रतिमानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारणिकाः । व्य० द्वि० ८ उ० । एकस्य चातुर्विध्यम् स्थानाङ्गे यथा । "चत्तारिका पण्णत्ता तंजहा दविए एकए माउ एकए पज्जव एक्कए संगहएक्कए" एकसंख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि । स्था० ४ ठा० ।

अस्य च सप्तविधो निक्षेपो यथा-

नामं ठवणा दविए, माउय पयसंगहेक्कए चेव ।
पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एकगा होंति ॥

इहैक एव एककः तत्र नामैककः एक इति नाम स्थापनैककः एकक इति स्थापना द्रव्यैकक त्रिधा सचित्तादि । तत्र सचित्तमेकं पुरुषद्रव्यमचित्तमेकं रूपकद्रव्यं मिश्र तदेव कटकादिभूषित पुरुषद्रव्यमिति । मातृकापदैककमेक मातृकापद तद्यथा । उप्पन्नेइ वेत्यादि । इह प्रवचने दृष्टिवादे समस्तनयवादबीजभूतानि मातृकापदानि भवन्ति । तद्यथा । उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा । अमूनि च मातृकापदानि च'अ आ इ ई'इत्येवमादीनि सकलव्यवहारशब्दव्यापकत्वान्मातृकापदानि । इह चाभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति कृत्येत्थमुपन्यासः । सङ्ग्रहैककः शालिरिति । अयमत्र भावार्थः । सङ्ग्रहः समुदायस्तमप्याश्रित्यैकवचनगर्भशब्दप्रवृत्तेस्तथा चैकापि शालिः शालिरित्युच्यते । बहवोऽपि शालयः शालिरिति लोके तथा दर्शनात् । अयं चादिष्टानादिष्टभेदेन समान्यविशेषभेदेन द्विधा । तत्रानादिष्टो यथा शालिः आदिष्टो यथा कलमशालिरिति । एवमादिष्टानादिष्टभेदौ उत्तरद्वारेष्वपि यथानुरूपमायोज्यौ । पर्यायैककः एकपर्यायः पर्यायो विशेषो धर्म इत्यनर्थान्तरम् । स चानादिष्टो वर्णादिः । आदिष्टः कृष्णादिरिति । अन्येतु समस्तश्रुतस्कन्धवस्त्वपेक्षयेत्थ व्याच-

इते अनादिष्टः श्रुतस्कन्ध आदिष्टो दशवैकालिकाख्य इति । अन्यस्त्वनादिष्टो दशवैकालिकाख्य आदिष्टस्तु तदध्ययनविशेषो द्रुमपुष्पिकादिरिति व्याचष्टे । नचैतदतिचारु तस्य दशकालिकाभिधानत एवादेशसिद्धेः । भावैकक एको भावः स चानादिष्टो भाव इति आदिष्टस्त्वौदयिकादिरिति सप्तैते अनन्तरोक्ता एकका भवन्ति । इह च किल यस्माद्दशपर्यायाध्ययनविशेषाः संग्रहैककेन संगृहीतास्तस्मात्तेनाऽधिकारः । अन्ये तु व्याचक्षते यतः किल श्रुतज्ञानक्षायोपशमिके भावे वर्तते तस्माद्भावैककेनाधिकार इति गाथार्थः । दश० १ अ० ।

अथ निर्युक्तिविस्तरमाह ।

एकस्स उ अभावे, कत्तो लिंगं तेण एक्कगस्से वि ।
णिक्खेवं काऊणं, णिप्फत्ती होइ तिण्हं तु ॥

इह त्रयाणां संख्या प्रथमतो वक्तव्या तत्रैकस्याभावे कुतः संभवति तेन कारणेन प्रथमत एकस्यैव निक्षेपं कृत्वा ततस्त्रयाणां निक्षेपस्य निष्पत्तिः कर्तव्या भवति । यथाप्रतिज्ञातमेव करोति ।

नामं ठवणा दविए, माउगपदसंगहेक्कए चेव ।
पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एक्कगा होंति ॥

(अत्रैव पूर्वं व्याख्यातार्था) ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह ।

दव्वे तिविहं माउक–पदम्मि उप्पण्णभूयविगतादी ।
सालित्ति वग्गमीति, वसथोत्तिवसंगहिकं तु ॥

द्रव्ये द्रव्यविषये एककं त्रिविधं तद्यथा सचित्तमचित्तं मिश्रं वा । सचित्तं पुनरपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधा । द्विपदैककमेकः पुरुषश्चतुष्पदैककमेको हस्ती अपदैकको वृक्ष इत्यादि अचित्तैककमेकः परमाणुरेकमाभरणं मिश्रैककं सालंकार एकः पुरुषः । मातृकापदे तु चिन्त्यमाने एककम् उत्पन्नभूतविगतादिकमुत्पन्नेइ वा विगतेइ वा धुवेइ वा इत्यस्य पदत्रयस्यैकतरमित्यर्थः । आदिशब्दादकाराद्यक्षरात्मिकाया आद्यक्षरात्मिकाया वा मातृकाया एकतरं पदं संग्रहैककं बहुत्वेऽप्येकवचनं विधेयं यथा शालिरिति वा ग्राम इति वा संघ इति वा ।

अथ पर्यायैककादीनि दर्शयति ।

दुविकप्पं पज्जाए, आदिट्ठं देवदत्तो त्ति ।
अणादिट्ठं एको–णियपसत्थमियरं व भावम्मि ॥

पर्यायैककं द्विविकल्पं द्विप्रकारं तद्यथा–आदिष्टमनादिष्टं च । विशेषणसामान्यरूपं चेत्यर्थः । तत्रादिष्टं यज्ञदत्तो देवदत्त इत्यादि ॥ अनादिष्टमेकः कोऽपि मनुष्य इत्यादि । अथवा पर्यायैककं वर्णादिना मन्यते एकः पर्यायः । भावैककं द्विधा । आगमतो नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः । नोआगमतः प्रशस्तमितरत्त्वप्रशस्तमिति द्विधा प्रशस्तमौपशमिकादीनामितरो भाव । अथ प्रसस्तमौदयिको भावः । अत्राप्रशस्तभावैककेनाधिकारो हस्तकर्मादीनामप्रशस्तभावोदयादेव संभवात् बृ० ४ उ० । श्रेष्ठे, अन्यार्थे, वाच० । "एवमेगे वदति मोसा" एके केचनेति । प्रश्न०२ द्वा० । अल्पे, मुख्ये, सत्ये, वाच० । अवधारणे, नि० चू० । सदृशे, उपा० २ अ० । "एगपएसो गाढे" अत्रैकशब्दोऽभिन्नार्थवाची । यथा द्वयोरप्यावयोरेकं कुटुम्बमिति । प० स० । एक शब्दस्य प्राकृते–एक्को–एओ–एगो । प्रा० । एको । "इक्कम्मि जम्मिपए" चैदा० प० । स्त्रियां एकी "अद्धयाए एक्कीए मायगीए" नि० चू० १ उ० । सो एक्की देउलिय पविस्सई । आ० म० प्र० ।

एक (ग) (एक्कइ) (गइ) अ–एकक–त्रि० एक–असहायेऽर्थे आ कन् । असहाये, "तओ झाइज्ज एक्कओ" तत एककः एकाकी सन् ध्यायेत् । एको भावतो द्रव्यतश्च । भावतो रागद्वेषरहितः द्रव्यतः पशुपण्डकादिरहित इति । उत्त० १ अ० । "एगओ वा" कारणिकावस्थायामसहायो वा पा० । "तओ भुंजेज्ज एगओ" ततो भुञ्जीत एककः रागादिरहित इति । दश० ५ अ० । एकसंख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि । एकसंख्योपेते द्रव्यादौ, अन्यार्थे, "संते गइया समणा माहणा वा" स्था०७ठा० "एगइया जत्थ उवस्सयं ठमति" एकका एकतरा इति । स्था० ५ ठा० "जीवेण गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा" एककः कश्चित् सगर्भजरादिगर्भरूप उत्पद्यते अस्ति अयं पक्षो यदुत एककः कश्चिन्नोपपद्यते इति । तं० ।

एक (ग) अ-एकग–त्रि० एको गच्छतीत्येकग । एकस्मिन् गन्तरि, एक वा कर्म साहित्यविगमान्मोक्षं गच्छतीत्येकग । मोक्षगन्तरि, "दुक्खमुद्दे च एगओ" एक उक्तरूपः स एवैककः एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकग एकं वा कर्मसाहित्यविगमान्मोक्षं गच्छति तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकग इति । उत्त० २अ० ।

एक (ग) इ (य) अ– एककिक–त्रि० एकक एव एककिक । एकशब्दार्थे, "एगइआओ पाणाइवायाओ पडिविरया" एकक एवैककिकः तस्मादेककिकात् । ओ० । स्था० ।

एक (इ)(सि) (सिअं)(ग)(गया) आ–एकदा–अव्य० "एकदावैकाद्दः सिसियइ आ" ८ । २ । ६२ । इत्येकशब्दात्परस्य दाप्रत्ययस्य सि सिअं इआ इत्यादेशा वा । पक्षे एगआ । प्रा० । एकस्मिन् काले, वाच० । कदाचिदित्यर्थे, "एगया गुणसमियस्स" आचा० । विविक्तदेशकालादौ च, "इत्थिआ एगताणिमतंति" एकदेति विविक्तदेशकालादौ इति, सूत्र०१श्रु०४अ० ।

एक (ग) ओ (तो) (एकदो)–एकतस्–अव्य० एक तसिल्–"तो दो तसो वा" ८ । २ । १६० । इति सूत्रेण तसः स्थाने तो दो इत्यादेशौ वा । पक्षे एकओ एकस्मिन्नित्यर्थ, वाच० एकत्र–एकस्मिन्स्थाने, एगतो मिलति द्रव्यतो ह्येकस्थाने मिलन्ति भावतस्तु परस्परविरोधपरिहारेण सम्मता भवन्तीति । दशा० १० अ० । "एगओ भंरुग कट्टु" एकत्रायतं सुयरू भाएरूकमिति । कल्प० । एकतः एकीभूय संयुज्येत्यर्थः । भ० २० श० १ उ० । "दो साहम्मिया एगओ विहरति" द्वौ साधर्म्मिकावेकत्र एकस्मिन् स्थाने विहरन्ति इति । व्य० द्वि० २ उ० । एकतयेत्यर्थे च । "एगपओसा हणित्ता" एकत्वत एकनयेत्यर्थः इति । भ० १२ श० ३ उ० । विविक्ते प्रदेशे, प्रत्यासन्ने, दूरतरे च । "ते एगतो निसीदंति" एकत एकान्ते विविक्ते प्रदेशे प्रत्यासन्ने दूरतरेवेति । व्य० द्वि० १ उ० ।

एक(ग) ओखहा–एकतःखा–स्त्री० श्रेणिभेदे "एगओखहा" एकस्यां दिश्यङ्कुशाकारेति । स्था० ७ ठा० । तस्याः स्वरूपं यथा यथा जीवः पुद्गलो वा नाड्या वामपार्श्वादेस्तां प्रविष्टस्तयैव गत्वा पुनस्तद्वामपार्श्वादावुत्पद्यते सा एकतःखा । एकस्यां दिशि वामादिपार्श्वलक्षणायां स्वस्याकाशस्य लोकनाडीव्यतिरिक्तलक्षणस्य भावादिति । इयञ्च द्वित्रिचतुर्वक्रोपेतापि क्षेत्रविशेषाश्रितेति भेदेनोक्ता । भ० २५ श० ३ उ० ।

एक (ग) ओणंतय–एकतोनन्तक–न० अनन्तकभेदे, एकतोऽनन्तकमतीताद्धाऽनागताद्धा वेति । स्था० १० ठा० ।

एक(ग)ओपडाग-एकतःपताक-त्रि० एकत एकस्यां दिशि पताका यत्र तदेकत पताकम् । एकपताकोपेते, स्थापना त्वियम् " किं

एगओ एगाए गच्छइ । दुहओ एगाए गच्छइ " भ०३श०४उ० ।

एक्क (ग) ओवंका-एकतोवक्रा-स्त्री० श्रेणिभेदे, सा च एकत एक-स्यां दिशि चूमा वक्रा एकतो वक्रा यया जीव पुद्गला ऋजुगत्या वक्रं कुर्वन्ति श्रेण्यन्तरेण यान्तीति । भ० २५ श० ३ उ० । "एगओवक्का" एकस्यां दिशि वक्रा स्थापना । स्था०७ठा० ।

एक्क (ग) ओवत्त-एकतोवृत्त-पुं० द्वीन्द्रियजीवविशेषे, जीवा० १ प्रति० ।

एक्क (ग) ओसमुवागय-एकतस्समुपागत-त्रि०स्थानान्तरेभ्य एकत्र स्थाने समागते, " एगयओ समुवागयाण " (एगओत्ति) एकत्र समुपागतानाम् । भ०७श०१०उ० ।

एक्क(ग)ओसहिय-एकतस्सहित-त्रि०एकत एकस्मिन् स्थाने सहित एकतस्सहित.। एकस्मिन्स्थाने समुदिते, "एगओ सहि-याणं " भ०७श०१०उ०। एकस्मिन्स्थाने सहितानां समुदिता-नामिति । ज०१वक्ष० । एकतो मिलिते च। भ०११श० ११ उ० ।

एक्कं (गं) गिय-एकाङ्गिक-त्रि० एकेनाङ्गेन कृते, तथाच सक्रममधिकृत्योक्तम् " एक्केको दुविहो एगंगिओ अणेगं-गिओ य " एकानेकपदकृतेत्यर्थः " नि० चू० १ उ० । "ए-गगिअ दुग्गतिखड न भवतीति " नि० चू० १६ उ० । अप-रिशाटिनि सस्तारकमेदमधिकृत्य चोक्तम् " जो अपरिसाडी सो दुविहो एगगिओ अ अणेगगिओ य " एगगिता उ दु-विधा सघायाए तरो उ नायव्वो । दोमादी णियमातू, होति अणेगम्मि उ तत्थ " "एगंगिओ दुविहो संघातिमो असंघा-तिमो य। दुग्गतिता व सकवियाउवा अणेगम्मिउ पते । नि०चू०

एक्कं (गं)त-एकान्त-त्रि० एकः अन्त निश्चयः शोभा वा। अत्यन्ते, सूत्र०१ श्रु०१० अ० " एगन्तरइया" एकान्तेन सर्वात्मना रतौ रमणे प्रसक्ता इति। आ० म० प्र० । एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्त.।एकस्मिन्,'एगतमत गच्छइ' एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थोऽतस्तमन्त भूमिभागं गच्छ तीति । भ० ७ श० १ उ० । अवश्यंभावे, पंचा० ५ विव० अवश्यमित्यर्थे, सूत्र १ श्रु० ६ अ० । निश्चये, विशे० । ज्ञा० । सर्वथार्थे, स्था० ५ ठा० । प्रश्न० । एक एवान्तो यत्र । निर्जने, रहसि, वाच० । निर्व्यंजनप्रदेशे, सथा० । विविक्तप्रदेशे, व्य० प्र० १ उ०। जनरहितप्रदेशे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। जनालोक-वर्जिते, भ० ८ श० ६ उ० । विजने, भ० ३ श० २ उ० । "एग-ते य विवित्ते " आ० म० द्वि० । " आया एगतमतमवक्कमेज्जा" आत्मना एकान्त विजनमन्तभूमिभागमवक्रामेत गच्छेदिति । स्था०३ ठा०। एक एवाहमित्यन्तो निश्चय एकान्त । एक एवाह मित्येवमेकत्वभावनायाम् " " सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगतम-णुपस्सओ " एक एवाहं इत्यन्तो निश्चय. एकान्तस्त निश्चय विचारयत एकत्वभावना भावयत इति । उत्त० ए अ० ।

एक्कं (गं) तओ-एकान्ततस्-अव्य० एकान्त-तसिल् । एकान्ते इत्याद्यर्थे, वाच०। सर्वथार्थे च। "वज्जए अबभमेग, ततोयरायपि थिरचित्ते " अब्रह्ममैथुनमेकान्ततस्तु सर्वथैव (रायंपाति) सर्व-रजनीमप्यास्तां सर्वदिनमिति" पचा० १० विव० "जम्हा एग-ततो अविरुद्धो "यस्माद् यतो हेतोरेकान्ततस्तु सर्वथैवावि-रुद्धो युक्त इति " पचा० १७ विव० ।

एक्क (ग) तकूम-एकान्तकूट-त्रि०एकान्तेन कूटानि दुःखोत्पत्तिस्था नानि यस्मिन् एकान्तदु खोत्पादकस्थानेनोपेते नरकादौ, "एगन कूमे नरए महते, कूमेण तरथ वि समेहताओ" । एकान्तेन कू-टानि दुःखोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् तथा तस्मिन्नेवभूते नरके महति विस्तीर्णे पतिता प्राणिनस्तेन च कूटेन गलयन्त्रपासादि-ना पाषाणसमूहलक्षणेन वा तत्र तस्मिन् विषमे हता इति । सूत्र०१ श्रु० ५ अ० । कूटवत् कूटमेकान्तेन कूटमेकान्तकूटम् । एकान्तेन गलयन्त्रपाशादिवद्बन्धके, "एगतकूमेण उ से पलेइ " यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवश. सन्नेकान्तदुःखभाग् भवति एव भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ततोऽसौ ससारचक्रवाल पर्येति।सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

एगंतचा (या) रिण्-एकान्तचारिन्-एकान्ते जनरहिते प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी। जनरहितप्रदेशे चारिणि, "एगतयारीसमणेपुरासी" "एगन्तचारिस्सिह अम्ह धम्मे तव-स्सिणो णाभिसमेति पावं " अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्यैकान्तचा-रिणः आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो नाभि-समेति न संबन्धमुपयाति । पापमकुशलकर्मेति। सूत्र०२श्रु०६अ०।

एगंतणाण-एकान्तज्ञान-न० नित्यमेवेदमनित्यमेवेदमित्येकप क्षस्थापनरूपे मिथ्याज्ञाने, अष्ट० ।

एगंतदंम-एकान्तदण्ड-एकान्तेन सर्वथैव परान् दण्डयतीति एकान्तदण्ड. । सर्वथैव परेषां दण्डके, भ० ७ श०२ उ० ।

एगंतदिट्टि-एकान्तदृष्टि-त्रि० एकान्तेन तत्त्वेन जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्या.सा एकान्तदृष्टि' । सूत्र०। एकान्तेन निश्चयेनजीवादिषु तत्वेषु सम्यक्दर्शन यस्य स एकान्तदृष्टि'। निष्प्रकम्पे सम्यक्त्वे, सूत्र०१ श्रु० १३ अ० । एकान्तवादिनि च । सूत्र०२ श्रु०६ अ० । (तद्वक्तव्यता एगतवाय शब्दे)

एगंतदिट्ठिय-एकान्तदृष्टिक- पु० एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवं नि-श्चया दृष्टिर्यस्य स तथा। एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येव निश्चयदृष्टि-के, ज्ञा० २ अ० । भ० ॥

एगंतदुक्ख-एकान्तदुःख- त्रि० एकान्तेनावश्यं सुखलेशरहितं दुःखमेव यस्मिन् नरकादिके भवे स तथा । एकान्तेन सुखलेश-रहितदुःखोपेते नरकादिके भवे, सूत्र१श्रु०६ अ० । "अगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता" सूत्र०१ श्रु०५ अ०। "एगंतदुक्खे जरिए व लोए" सूत्र १ श्रु० अ० । तथैकान्तेनोभयतोऽन्तर्बहिश्च म्लाना अपगत-प्रमोदा सदा दु खमनुभवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

एगंतदूसमा-एकान्तदुःषमा- स्त्री० दुष्टा समा वर्षो दुःषमा-सुसमा चत्वम्" एकान्तं षमा २ त० । दुःषमदु षमायाम् । सूत्र० । १ श्रु० ३ अ० । (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणीशब्द)

एगंतधार-एकान्तधार- त्रि० एकान्ता एकविभागाश्रया धारा य-स्य एकधारोपेते चक्रुरादौ, ज्ञा० १ अ० । एकान्ता उत्सर्गलक्षणैकविभागाश्रया धारेव धारा क्रिया यत्र । भ०ए श०३३ उ०। अपवादपरित्यागेनोत्सर्गक्रियामेवाश्रिते निर्ग्रन्थप्रवचनादौ, 'खुरो इव एगतधाराए" क्षुर इवैकान्तधार द्वितीयधाराकल्पाया अप-वादक्रियाया अभावादिति । भ० ए श० ३३ उ० । एकत्रन्ते वस्तुविनाशे प्रहर्तव्यलक्षणे धारेव धारा परोपतापप्रवृत्तिलक्षणो यस्य स तथा एकप्रहर्तव्यप्रवृत्ते चौरादौ, तथा च तस्करवर्णकम धिकृत्य "खुरिव्वएगंतधाराए" यथा क्षुर एकधार एवमसौ मो-षलक्षणैकप्रवृत्तिक एवेति भावः । ज्ञा० २ अ० ॥

एगंतधी-एकान्तधी- त्रि० एकान्ताभिनिवेशे, श्रुत्वा सूक्तनयं नचात्र सुधियामेकान्तधीर्युज्यते, सुधियां पण्डितानामेकान्तधी-रेकान्ताभिनिवेशो न युज्यते एकतयाभिनिवेशस्य मिथ्यात्वरू-पत्वात् " इति । प्रति० ।

एगंतपमिय-एकान्तपण्डित-पु० साधौ, "एगतपमिएणं भंते !

मणुस्से नेरइयाउय पकरेइ" एकान्तपण्डित साधुः (मणुस्सेत्ति) विशेषणं स्वरूपज्ञानार्थमेव अमनुष्यस्यैकान्तपण्डितत्वायोगात् तद्योगश्च सर्वविरतेरन्यस्याभावादिति । भ० १ श० ८ उ० ।

एगंतबाल–एकान्तबाल–पुं० मिथ्यादृष्टौ, अविरते च । "एगंतबाले णं भंते ! मणुस्से " भ० १ श० ८ उ० ।

एगंतमिच्छा–एकान्तमिथ्या–अव्य० एकान्तेन मिथ्याभूते, "एगंतमिच्छे असाहु" एकान्तेनैव तत्स्थानतो मिथ्याभूत मिथ्यात्वोपहतबुद्धीनां यतस्तद् भवत्यत एवासाधु असद्भूतत्वात् न ह्यय सत्पुरुषसेवित पन्था येन विषयान्धा प्रवर्तन्त इति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । (अत्रैगंतादिशब्देषु द्वित्वकवन्त्यपि रूपाणि भवन्ति तानि विस्तरभयान्न प्रदर्श्यन्ते स्वयमूह्यानि)

एगंतमोण–एकान्तमौन–न० सयमे, "एगंतमोणेण वियागरेज्जा" केनचित्पृष्टोऽपृष्टो वैकान्तमौनेन सयमेन करणभूतेन व्यागृणीयादिति " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगंतर–एकान्तर–न० एकमन्तर व्यवधानम् । एकव्यवधाने, वाच० । "अट्ठोवासा एग–तरेण विहियारण च आयामं" एकदिनव्यवधानेन भोजनरूपे व्रतभेदे, पंचा १६ विव० । एकान्तरवर्तिनि त्रि० एकान्तरासु जातानां धर्मे विद्यादिमं विधिम " वाच० । एकस्मादन्य एकान्तरम् । अनन्तरे एकस्मिन् , । तथाच "वाग्द्रव्याणाम् ग्रहणविसर्गावधिकृत्य " एगतर च गिण्हइ, निसिरइ एगंतरं चेव" " एकान्तरमेव गृह्णाति निसृजत्येकान्तरं चैव ", अयमत्र भावार्थः । प्रतिसमय गृह्णाति मुञ्चति कथ यथा ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामान्तरं पुरुषाद्वाऽन्यः पुरुषनिरन्तरोऽपि सन् पुरुषान्तरमेवैकैकस्मात्समयादेकक एवैकान्तरोऽनन्तरसमय एवेत्यर्थ । विशे० । एकादिनव्यवधानेन जायमाने ज्वरभेदे, वाच० ।

एगंतरइपसत्त–एकान्तरतिप्रसक्त–त्रि० एकान्तेन सर्वात्मनारतौ रमणे प्रसक्ता एकान्तरतिप्रसक्ताःसर्वात्मना रतौ प्रसक्ते, राज० ।

एगंतलूसग–एकान्तलूषक–पु० एकान्तेन जन्तूनां हिंसके एकान्तेन सदनुष्ठानस्य ध्वंसके च, "आतदंमा एगंतलूसगा गता ते पावलोगय" एकान्तेन जन्तूनां लूषका हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वसकास्ते । ते एवंभूता गन्तारो यास्यन्ति पाप लोम्न पापकर्मकारिणां यो लोको नरकादिश्चिररात्रमिति प्रभूत कालं तन्निवासिनो भवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

एगंतवदात–एकान्तावदात–त्रि० शुभ्रे, "सखेंदुएगतवदातसुक्क" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

एगंतवाइ (न्)–एकान्तवादिन्–पु० नित्यानित्याद्येकपक्षाभ्युपगन्तरि, स्या० । सूत्र० ।

एगंतवाय–एकान्तवाद–पु० नित्यानित्याद्येकपक्षाभ्युपगमे, स्या० एकान्तवादस्य च मिथ्यात्वम् तदेवेति नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सर्वे एवैते मिथ्यावादा उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वमित्याभिधानात् कथचिदभ्युपगमे सम्यग्वाद एवैत इत्युक्त भवति यत उत्पादव्ययध्रौ–व्यात्मकत्वे वस्तुनः स्थिते तद्वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यं च कारणमकारण च कारणे कार्यं सर्व्वासर्व्वकारणं कार्ये काले विनाशवदविनाशयच्च तथैव प्रतीतेरन्यथा वा प्रतीतेरत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् । सम्म० ॥ तथाच नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितमिदानीं कतिपयतद्विशेषानाम ग्राह दर्शयस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्भूते तथा विश्वरिपुजनजनितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पते पुरतो भुवनत्रयं प्रत्ययकारिकारितामाविष्करोति ।

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ, न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं, परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते न च पुण्यपापे घटेते न च बन्धमोक्षौ घटेते, पुनः पुनर्नञ्प्रयोगोत्यन्ताघटमानतादर्शनार्थं । तथाह्येकान्तनित्ये आत्मनि तावत्सुखदु खभोगौ नोपपद्येते नित्यस्य हि लक्षणमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम् । ततो यदात्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद्दु खमुपभुङ्क्ते तदा स्वभावभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्ग । एव दु खमनुभूया सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारो न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेद सर्पस्यैव कुण्डलार्जवाद्यवस्थास्विति चेन्ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा व्यतिरेके तास्तस्येति सबन्धाभावेऽतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथञ्चित्पदेकान्तरूपत्वेऽवस्थाभेदो भवेदिति । किंच सुखदु खभोगौ पुण्यपापनिर्वृत्यैतन्निवर्तन चार्थक्रिया सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । तत एवोक्त न पुण्यपापे इति पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीय शुभ कर्म पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभ कर्म ते अपि न घटेते प्रागुक्तनीते । तथा न बन्धमोक्षौ बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो भवद्धय इवाय पिण्डवदन्योन्यसश्लेष । मोक्ष कृत्स्नकर्मक्षयस्तावप्येकान्तनित्येन स्यातामू । बन्धो हि संयोगविशेषः स चाप्राप्तानां प्राप्तिरितिलक्षणः प्राक्कालभाविनि अप्राप्तिरन्यावस्था उत्तरकालभाविनि प्राप्तिरन्या तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तर कथचनैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसयोग बन्धनसयोगाच्च प्राक्कि नाय मुक्तोऽमुक्तो वाऽभवत् । किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वाऽनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्य नानुभवति चेन्निर्विकारत्वे सताऽसता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्यान्नित्यमुक्त एव स्यात्तनश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था तथा च पठन्ति " वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयो फलम् - चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्य खतुल्यश्चेदसत्फल "बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्य्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति । एवम् नित्यैकान्तवादेऽपि सुखदु खाद्यनुपपत्तिरनित्य हि अत्यन्तोच्छेद धर्मकत्व तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वय विनष्टत्वात्कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभव । एव पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरन्वयविनाशे कस्य दुःखसवेदनमस्तु एव चान्यः क्रियाकारि अन्यश्च तत्फलभोक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते । अथ "यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फल तत्रैव सधत्ते, कर्पासेरक्तता यथा" इति वचनान्नासमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्र सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोचितत्वात् तथापुण्यपापे अपि न घटेते तयोर्हि अर्थक्रियासुखदु खोपभोगस्तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किंचानित्य क्षणमात्रस्थायी तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात्तस्य कुत पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम् । द्वितीयादिक्षणे चावस्थात्वमेव न लभते पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतो निर्मूलत्वात्तदसत्वे च कुतस्तत्सुखदु खभोग । आस्तां वा कथचिदेतत्तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यमुपादानानुरूपत्वादुपादेयस्य तत पूर्वक्षणदु खितादुत्तरक्षणः कथ सुखित उत्पद्यते कथं च सुखितात्तत स दु खित स्याद्विसदृशभागतापत्तेः । एव पुण्यपापादावपि तस्माद्यत्किंचिदेतत् । एव बन्धमोक्षयोरप्यसंभवो लोकेऽपि हि य एव बद्ध स एव मुच्यते निरन्वयनाशाभ्युपगमे च एकाधिकरणत्वाभावात् संतानस्य वा वस्तवत्वात्कुतस्तयो सभावनामात्रमपीति । पगिणामि

नि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्वाधमुपपद्यते। परिणामोऽवस्थान्तरगमन न च सर्वथा ह्यवस्थान न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्ट इति वचनात् पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह। अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदु खाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्या। एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदु खभोगादिव्यवहारपरैः परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यास्ति दुर्नीतिवादव्यसनादिना नीयते एकदशविशिष्टोऽर्थ प्रतीतिविषयमिति नीतिः । नीतयो नयाः दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयास्तेषां वदन परेभ्यः प्रतिपादन दुर्नीतवादस्तत्र यद्व्यसनमत्याशक्तिरौचित्यनिरपेक्षाप्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम् । तदेव सद्बोधशिरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिरिवासिः कृपाणो दुर्नीतवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्णयप्ररूपणहेवाकखड्गेन एवमित्यनुभवसिद्धप्रकारमाह अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्, अशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलोक्यं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलुप्तं सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम्। तत्त्रायस्वेत्याशयः। सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्तेऽत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशोऽन्यथा हि जीवधातु प्राणधारणार्थोऽधीयते तेषां च दशविधप्राणधारणाभावादजीवतत्त्वप्राप्तिः सा च विरुद्धा तस्मात्संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणा जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्ध दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यातमिति काव्यार्थः स्या० २७ श्लो० ॥ (एकान्तवादस्य मिथ्यात्वम्, अहगशब्दे वर्णितम्) ॥ अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह—

> सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
> जेउ तत्थ विउस्संति, संसारं ते वि उस्सिया ॥२३॥

स्वक स्वकमात्मीय च दर्शनमभ्युपगत प्रशसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां वाचं तथा हि सांख्या सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिन सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयनिरीश्वर वेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् सांख्यान् एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेव य एकान्तवादिनः तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च तत्रैव तेष्वेवात्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशसां कुर्वाणाः परवाच च विगर्हमाणा विद्विष्यन्ते विद्वांस इवाचरन्ति तेषु वा विशेषेणोशंति स्वशास्त्रविषये विशिष्टयुक्तिव्रात वदन्ति ते चैवं वादिनः ससारचतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपे विविधमनेकप्रकारमुत्प्राबल्येन श्रिताः सबद्धास्तत्र वा ससारे उषिता संसारान्तर्वर्तिन सर्वदा भवन्तीत्यर्थः । २३ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

एगंतसड्ढि—एकान्तश्रद्धावत—त्रि० एकान्तेन श्रद्धावान् एकान्त श्रद्धावान्। एकान्तेन श्रद्धासौ, “एगंतसड्ढी य अमाइरूवे” मौनीन्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थ । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगंतसमाहि—एकान्तसमाधि—पु० आत्यन्तिके भावरूपे ज्ञानादिसमाधौ, “मताओ एगंतसमाहिमाहु” मत्वा अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः ससारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः। द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनैकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्त्यन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

एगंतसरण्ण—एकान्तशरण्य—त्रि० सर्वाश्रितहितकारके, “एग तसरण्णा अरहंता सरण ” पं० सू० ।

एगंतसुसमा—एकान्तसुषमा—स्त्री० सुष्ठुसमावर्षः सुसमादित्वात् षत्वम् २ त० । उत्सर्पिणीकालभेदे, न० । (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणी शब्दे)

एगंतसुह—एकान्तसुख—न० सर्वथा शर्म्मणि, अव्यभिचारिसुखे च । पंचा० ७ विव० ॥

एगंतसुहावह—एकान्तसुखावह—त्रि० सर्वथैव शर्मप्रापके, सिद्धिसुखावहे च “ एगंतसुहावहा जयणा ” एकान्तेन सर्वथैव सुखावहा शर्मप्रापिका एकान्तसुखावहा एकान्तसुखं वा सिद्धिसुख तदावहा यतनेति। मोक्षशर्मावहे अव्यभिचारिसुखावहे च । भावचरणप्रतिपत्तिमधिकृत्य “ भावचरणस्स जायति, एगंतसुहावहा णियमा ” एकान्तसुखावहा मोक्षशर्मावहा अव्यभिचारिसुखावहा नियमादवश्यतयेति पंचा०७ विव०

एगंतसोक्ख—एकान्तसौख्य—न० दुःखलेशैरकलङ्किते सौख्ये “ एगंतसोक्ख समुवेइ मोक्ख ” एकान्तसौख्यं दु खलेशैरकलङ्कितं मोक्षं समुपैति मोक्षश्च दुःखमोक्षेणैव ससारस्यनिवृत्त्यैव स्यादिति । उत्त० ३२ अ० ।

एगंतहरण—एकान्तहरण—न० एकान्ते विजने हरणं, एकान्त हरणम् । विजनेकस्यचिन्नयने, तं० ॥

एगंतहरणकोला—एकान्तहरणकोला—स्त्री० एकान्ते विजने हरणं नेतव्यं पुरुषाणां विषयार्थमेकान्तहरणम् । यद्वा एकान्ते दूरग्रामनगरदेशादौ स्वकुटुम्बादि जनरहिते हरण तत्र पुरुषाणां विषयार्थं लात्वा गमनामित्यर्थः। तत्र कोला वनसूकर तुल्या यथा सूकरः किमपि सारकन्दादिकं भक्ष्य प्राप्य विजने गत्वा भक्षयति तथा विषयार्थमेकान्ते पुरुषाणां नेत्र्यो योषितो भवन्ति । तं० ।

एगंतहिय—एकान्तहित—त्रि० अतिशयेन हिते, “ से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

एगंतिय—ऐकान्तिक—त्रि० एकान्तेन भवतीत्यैकान्तिकः एकान्तभाविनि, दर्श०। आव० । अवश्यंभाविनि, विशे० ।

एगक्खरिय—एकाक्षरिक—त्रि० एकं च तदक्षर च तेन निर्वृत्तमेकाक्षरिकम् । एकाक्षरोपेते, तदात्मके ह्रीनामभेदे च । तद्यथा “ से किं तं एगक्खरिए ” एकक्खरिए =ह्रीः श्रीः श्री सेत्त एगक्खरिए यदस्ति वस्तुतत्सर्वमेकाक्षरेण वा नाम्नाऽभिधीयत इति । अनु०।

एगखंधी-एकस्कध—त्रि० प्रत्येकमेव स्कन्धोपेते वृक्षादौ, ते पादपाः प्रत्येकमेकस्कन्धाः प्राकृतेत्वास्य स्त्रीत्वमिति। “एगखधीति ” सूत्रपाठ इति । जी० ३ प्रति० ।

एगखुर—एकखुर—पु० प्रतिपदमेकः खुरः शफो येषान्ते एकखुराः प्रज्ञा० १ पद । एकः खुरश्चरणाधोवर्तिहड्डविशेषो येषान्ते एकखुराः । उत्त० ३६ अ० । चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद । स्था०। ते चाश्वादय इति। भ० १५ श०१ उ०। तथाच “ चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराण इति ” एकखुराणामित्यश्वादीनामिति सूत्र०२ श्रु० ३ अ० ॥

एगखंभ—एकस्तम्भ—त्रि० एकस्तम्भोपेते प्रासादादौ, “एगखंभे पासायं करेहि। दश०१ अ० अतीर्ष्यालुस्ततः सौधमेकस्तम्भ विधाप्य स । आ० क० ।

एगगंध–एकगन्ध–त्रि सुगन्धीतरान्यतरगन्धोपेते,उत्त.१अ० ।

एगगम–एकगम–पुं० तुल्याभिलापे, " सेसा एकगमाएति " स्था० ३ ठा० ।

एगगुण–एकगुण–न० सिद्धश्रेणिकपरिकर्मश्रुतभेदे, । सम० । (तद्वक्तव्यता 'सिद्धसेणिगपरिकम्म' शब्दे) एकेन गुणनेन गुणनं ताडनं यस्य स एकगुणः । एकेनगुणिते, त्रि० । पोग्गलाण वण्णेति " एगाएगगुणकालगाणं । एकेन गुणनन्तामनं यस्य स एकगुणः । स कालो वर्णो येषान्ते एकगुणकालकास्तारतम्येन कृष्णतरकृष्णतमादीनां येभ्य आरभ्य प्रथममुत्कर्षवृत्तिर्भवति तस्मिन् स्था० १ ठा० ।

एगग्ग–एकाग्र–त्रि० " एगग्गो कायसंतगम्मि " एकाग्र एकचित्तः शेषव्यापाराभावादिति । आव० ५ अ० " एगग्गस्स यसंतस्स " एकमग्रमालम्बनं यस्यासावेकाग्रः । एकावलम्बने, । आ० म० द्वि० । विक्षेपरहितज्ञाने च । वाच० ।

एकाग्र्य–त्रि० एकमग्र्यं यस्य । एकाग्रे, एकावलम्बने, वाच० ।

ऐकाग्र–त्रि० स्वार्थेऽण् एकाग्रचित्ते, एकतानचित्ते, वाच० ।

ऐकाग्र्य–न० एकाग्रस्य भावः ष्यञ् अनन्यासक्तचित्तत्वे, एकमात्रावलम्बिचित्तत्वे, वाच० ।

एगग्गचित्त–एकाग्रचित्त–त्रि० एकाग्रमेककं विषयं चित्तं यस्य स । एकविषयकचित्ते, घोषणाश्रवणमधिकृत्य "एगग्गचित्तमद उत्तमाणसाण " एकाग्रं घोषणाश्रवणैकविषयं चित्तं येषान्ते एकाग्रचित्ताः । राज० । एकावलम्बने, " नाणमेगग्गचित्तो " दश० ९ अ० ४ उ० ।

एगग्गजोग–एकाग्रयोग–पुं० अनालम्बनयोगपरनामधेये योगभेदे, एकाग्रयोगस्यैवापरनामानालम्बनयोग इति । अष्ट० । (तद्वक्तव्यता जोग शब्दे) ।

एगग्गया–एकाग्रता–स्त्री० एकाग्र-तल्-एकाग्रत्वे, वाच० एकस्मिन्नालम्बनसदृशपरिणामतायाम्, " तुल्यावेकाग्रताशान्तो दितौ च प्रत्ययाविह " इहाधिकृतदर्शने तुल्यावेकरूपावलम्बनत्वेन सदृशौ शान्तोदितावतीताध्वप्रविष्टवर्तमानाध्वस्फुरितलक्षणौ च प्रत्ययावेकाग्रता उच्यते । समाहितचित्तान्वयिनी । तदुक्तं शान्तोदितौ हि तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः । द्वा० २४ द्वा० ॥

एगचक्खु–एकचक्षुष्–त्रि० एकं चक्षुरस्येत्येकचक्षुः स्था० ३ ठा० । काणे, तथा च प्रश्नव्याकरणे अन्धैकचक्षुषावधिकृत्योक्तम् । एतच्च दोषरूपं गर्भगतस्योत्पद्यते जातस्य च । तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धत्वं करोति तदेकाक्षिगतं काणत्वं विदधत इति । प्रश्न० ५ द्वा० । एकचक्षुष्के च कृषस्यभेदे च । स्था० ३ ठा० । (तद्वक्तव्यता चक्खु शब्दे) ।

एगचक्खुविणिहय–एकचक्षुर्विनिहत–त्रि० एकं चक्षुर्विनिहतं येषान्ते एकचक्षुर्विनिहताः । विनिहतैकचक्षुष्के,प्रश्न० १ द्वा० ।

एगचर–एकचर त्रि०एकः सन् चरति चर्-पचा०अच् । सुप्सुपेति समासः । एक एव चरतीत्येकचरः । एकाकिनि, आचा० ५ अ० १ उ० । एकाकीभूत्वा चारिणि, असहायचारिणि, वाच० " णिब्भयमेगचरंति पासेण" निर्भयं गतशंकं निर्भयत्वादेवैकचरमिति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

एगचरिया–एकचर्या–स्त्री० चरणं चर्यते वा चर्या "चरगतिभक्षणयोः "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत् । आचा० १ श्रु० ५ अ०१उ० । एकस्य चर्या ६ त० । एकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमे, आचा० ६ अ० २ उ० । असहायगमने, वाच० । " चारो चरिया चरणं एगट्ठं " आचा० नि० । एकचर्यानिक्षेपो यथा सा च प्रशस्तेतरभेदे न द्विधा । सापि द्रव्यभावभेदात् प्रत्येक द्विधा । तत्र द्रव्यतो गृहस्थपाषण्डिकादेर्विषयकषायनिमित्तमेकाकिनो विरहणं भावतस्तु अप्रशस्ता न विद्यते । सा हि रागद्वेषविरहाद्भवति । न च तद्रहितस्याप्रशस्ता वेति । प्रशस्ता तु द्रव्यतः प्रतिमाप्रतिपन्नस्य गच्छतः निर्गतस्य स्थविरकल्पिकस्य चैकाकिनः संघादिकार्यनिमित्तान्निर्गतस्य भावतस्तु पुनः रागद्वेषविरहाद्भवति । तत्र द्रव्यतो भावतश्चैकचर्योत्पन्नज्ञानानां तीर्थकृतां प्रतिपन्नसंयमानामन्ये तु चतुर्भङ्गपतितास्तत्राप्रशस्तद्रव्यैकचर्योदाहरणम् । तद्यथा पूर्वदेशे धान्यपूरकाभिधाने सन्निवेशे एकस्तापसः प्रथमवय स एव कुमारसदृशविग्रहः षष्ठभक्तेन तद्ग्रामनिर्गमपथे तपस्तेपे । द्वितीयोऽप्युच्चग्रामगिरिगह्वरेऽष्टमभक्तेन तप कर्मणा तापनां विधत्ते । तस्मै च ग्रामनिर्गमपथवर्तिने शीतोष्णसहिष्णवे गुणैराकृष्टो लोक आहारादिभि सपर्ययोपतिष्ठते । स तथालोकेन पूज्यमानो वाग्भिरभिष्टूयमान आहारादिनोपचर्यमाणो जनमूचे मत्तोऽपि गिरिपरिसरतोऽपि दुष्करकारकस्ततोऽसौ लोकस्तेन भूयो भूय प्रोच्यमानस्तमेकाकिन तापसमद्रिकुहरवासिन पर्यपूजयत । दुष्करं च परगुणोत्कीर्तनमिति कृत्वा तस्यापि सपर्यादिकं व्यधात् । तदेवमाभ्यां पूज्याख्यात्यर्थमेकचर्या विदधे । अतोऽप्रशस्तैवमनया दिशाऽन्येप्यप्रशस्तैकचर्याश्रिता दृष्टान्ता यथासंभवमायोज्या इति । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सा च शिथिलकर्मणां भवति तथाह–

इहमेगेसिं एगचरिया होति तत्थि अराइयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए सो मेहावी परिव्वए सुब्भिं अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणापाणे परिकिलेसंति । ते फासे पुट्ठो अधीरो अहियासिज्जासि त्ति बेमि ॥

(इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिन् प्रवचने एकेषां शिथिलकर्मणामेकचर्या भवत्येकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमो भवति । तत्र च नानारूपा अभिग्रहविशेषास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यतस्तावत्प्राभृतिकामधिकृत्याह (तत्थियरा इत्यादि)तत्र तस्मिन्नेकाकिविहारे इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा इतरप्रान्तप्रान्तेषु कुलेषु सिद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाहारादिना सर्वैषणयेति सर्वा आहाराद्युद्गमोत्पादनग्रासैषणरूपा तया सुपरिविशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति बहुत्वेऽप्येकदेशतामाह (से मेहावि इत्यादि) स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः संयमं परिव्रजेदिति । किंच (सुब्भि इत्यादि) स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यादथवा दुर्गन्धो न तत्र-रागद्वेषौ विदध्यात् । किंच (अदुवा इत्यादि) अथवा तत्रैकाकिविहारित्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो भैरवा भयानका यातुधानादिकृता शब्दाः प्रादुर्भवेयुः । यदिवा भैरवा बीभत्साः प्राणाः प्राणिनो दीप्तजिह्वादयोऽपरान् प्राणिन क्लेशयान्त्युपतापयन्ति त्वं तु पुनस्तैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्य सन्नतिसहस्वेति । आचा० १श्रु० ६ अ० २ उ० ।

यस्य विषयकषायनिमित्तमेकचर्या तस्य न मुनित्वम् अन्ये प्रव्रज्यामप्यभ्युपेत्य केचिद् विषयपिपासार्तास्तान् कष्टाचारानाचरन्तीति दर्शयितुमाह ॥

इहमेगेसिं एगचरिया भवति से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोहे बहुरए बहुणमे बहुसढे बहुसंकप्पे आसव–

**सक्को पलिओच्छणणे उट्ठितवादं पवदमाणे मा मे केइ य द-
क्खु अएणाणपमायदोसेणं सययं मूढे धम्मं णाभिजाणति
अट्टापया माणवककम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए
परिमोक्खमाहुआवट्टमेव मणुपरिपट्टंतित्ति ॥**

इह मनुष्यलोके एकेषां न सर्वेषां चरणं चर्य्यते वा चर्या एक-
स्य चर्या तत्र विषयकषायनिमित्त यस्यैकचर्या स्यात्स किंभूत-
स्यादित्याह (से बहुकोहे इत्यादि) स विषयगृध्नुरिन्द्रियानुकू-
लवर्त्येकचर्याप्रतिपन्नस्तीर्थिको गृहस्थो वा परैः परिभूयमानो ब-
हुक्रोधो यस्येति बहुक्रोधस्तथा वन्द्यमानो मानमुद्वहत इति बहुमा-
नस्तथा कुरु कुचादिभि• कटकतपसा च बहुमायी सर्वमेतवाहा-
रादिलोभात्करोतीत्यतो बहुलोभः । यत एवमतो बहुरजो बहु-
पापो बहुषु चारम्भादिषु रतस्तथा नटवद्भोगार्थं बहून्वेषान्विध-
त्त इति बहुनटस्तथा बहुभिः प्रकारैः शठो बहुशठस्तथा बहवः
संकल्पाः कर्तव्या अध्यवशाया यस्य बहुसंकल्प इत्येवमन्येषामपि
चौरादीनामेकचर्या वाच्येति । स एवंभूत किमवस्थ स्यादित्या-
ह (आसव इत्यादि) आश्रवा हिंसादयस्तेषु शक्तं सङ्ग आ-
श्रवशक्तं तद्विद्यते यस्यासावाश्रवशक्ती हिंसाद्यनुसङ्गवानव-
ल्लितं कर्म तेनावच्छन्न• कर्मावष्टब्ध इति यावत् । सचैवंभूतोऽपि किं
ब्रूयादित्याह (उट्ठियइत्यादि) धर्मचरणायोद्युक्त उत्थितस्त-
द्भावस्त प्रवदन् तीर्थिकोऽप्येवमाह यथा अहमपि प्रव्रजितो धर्मच-
रणायोद्यत इत्येव प्रवदन् कर्मणाऽवच्छाद्यत इति सर्वोत्थितवादी
आश्रवेषु प्रवर्तमान आजीविकाभयात् कथं प्रवर्तत इत्याह
(मामे इत्यादि) मा मां केचनान्येऽद्राक्षुरवद्यकारिणमित्यत•
प्रच्छन्नकार्यं विदधात्येव ज्ञानदोषेण प्रमाददोषेण वा विदधत्त इति
किंवा (सययमित्यादि) सततमनवरत मूढे मोहनीयोदयाद-
ज्ञानाद्वा धर्मश्रुतचारित्राख्य नाभिजानाति न विवेचयतीत्यर्थ• ।
यद्येवं तत• किमित्याह (अट्टाइत्यादि) आर्ता विषयकषायैः
प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवो हेमानव मनुजास्त्वैवोपदेशार्हत्वान्मा-
नवग्रहण कर्मण्यष्टप्रकारे वीभत्स्यन्ते कोविदा• कुशला न धर्मा-
नुष्ठान इति के पुनस्ते ये सततं धर्म्मं नाभिजानन्ति कर्म्मबन्ध-
कोविदाश्चेत्यत आह (जे अणुवरया इत्यादि) ये केचनानिर्दिष्ट-
स्वरूपा अनुपरता पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ता ज्ञानदर्शनचारित्राणि
मोक्षमार्ग इत्येषा विद्या ततो विपर्ययेण विद्या तया परि समन्ततः
मोक्षमाहुस्ते धर्मं नाभिजानत इति सम्बन्ध । धर्म्ममजानानाश्च
किमाप्नुयुरित्याह (आवट्टइत्यादि) भावावर्त• संसारस्तमर-
हट्टघटीयन्त्रन्यायेनानुपरिवर्तते तास्वेव नरकादिगतिषु भूयो भूयो
भवन्तीति यावत् । आचा०१श्रु०५ अ०१ उ० । हिंसकस्य विषयार-
म्भकस्यैकचरस्यामुनिभावे दोषोद्भावनत• कारणमाह ।

**गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जा तं दुप्परिक्कंतं भवति ।
अवियत्तस्स भिक्खुणो वयसा वि एगे चोइया कुप्पंति-
माणा वा उएणयमाणे य णरे महता मोहेण मुज्झति संवाहा
बहवे भुज्जो भुज्जो दुरतिक्कमा अजाणओ अप्पा सत्तो एयं
ते मा होउ एयंते कुशलस्स दंसणं ॥**

ग्रसते बुद्ध्यादिगुणानिति ग्राम• ग्रामादनु पश्चादपरो ग्रामो
ग्रामानुग्रामस्तं दूयमानस्यानेकार्थत्वाद्धातूनां विहरत एकाकिन
साधोर्यस्मात्तद्दर्शयति (दुयति) दुष्ट यात दुर्यातं गमनक्रिया-
या गर्हा गच्छन एवानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावादर्हनकस्यैव
कृतगतिभेदडुष्टव्यन्तरीजङ्घाच्छेदनवत् । तथा दुष्टं पराक्रान्तमा-
क्रान्त स्थानमेकाकिनो भवति स्थूलभद्रस्येर्ष्यासतोपकोषा गृहसा-
धोरिवेति । यदिवा चतु प्रोषितभर्तृका गृहायितसाधोरिव तस्य
महासत्वतया अक्षोभेऽपि दुःपराक्रान्तमेवेति । एतच्च न सर्वस्यैव
दुर्यातं दु•खपकराक्रान्तश्च भवतीत्यतो विशिनष्टि अव्यक्तस्य
भिक्षोरिति भिक्षणशीलो भिक्षुस्तस्य किंभूतस्याव्यक्तस्य स
चाव्यक्त श्रुतवयोभ्यां स्यात्तत्र श्रुताव्यक्तो येनाचारप्रकल्पोऽर्थतो
नाधिगतो गच्छगतानां तन्निर्गतानां तु नवमपूर्वतृतीयवस्त्वि-
ति । वयसा वा व्यक्त आ षोडशवर्षात्गच्छगतानां तन्निर्गता-
नाञ्च त्रिंशत इति । अत्र चतुर्भङ्गिका श्रुतवयोभ्यामव्यक्तस्यै-
कचर्या न कल्पते । संयमात्मविराधनात इत्याद्यो भङ्ग । तथा-
श्रुतेनाव्यक्तो वयसा च व्यक्तस्तस्याप्येकचर्या न कल्पते । अगी-
तार्थत्वादुभयविराधनासद्भावादिति द्वितीयः । तथा श्रुतेन-
व्यक्तो वयसा चाव्यक्तस्तस्यापि न कल्पते बालतया सर्वपरिभ-
वास्पदत्वाद्विशेषतस्तेन कुलिङ्गादीनामिति तृतीयः । यस्तूभय-
व्यक्त• स सति कारणे प्रतिमामेकाकिविहारित्वमभ्युद्यतविहारं
वा प्रतिपद्यतामस्यापि कारणाभावे एकचर्या नानुमता । यत-
स्तस्यां गुप्तैर्या भाषैषणादिविषया बहवो दोषा• प्रादुःष्यन्ति ।
तथा ह्येकाकी पर्यटन् यदीर्यापथं शोधयति ततश्चाद्युपयोगाद्-
भ्रस्यति तदुपयुक्तश्चेदीर्यापथं शोधयेदित्यादिका शेषाऽपि
समितयो वाच्याः । अन्यच्चाजीर्णेन वातादिक्षोभेण वा व्याख्या-
धुद्भवसंयमात्मविराधना प्रवचनहीलना च । तत्र यदि करुणा-
पन्ना गृहस्थाः प्रतिजागरणं कुर्युस्तदज्ञानतया षट्कायोपमर्दं-
न कुर्वाणा संयमबाधामापादयेयुरथ न कश्चित्तत्र तथाभूत-
कर्तव्योद्यत• स्यात्ततः आत्मविराधना । तथातीसारादौ मूत्र-
पुरीषजं बाल्यन्तर्वर्तित्वात्प्रवचनहीलना । अपिच ग्रामादि-
व्यवस्थित• सन् धिग्जात्यादिना केशलुञ्चिताद्यधिक्षेपेणावि-
क्षिप्त• सन् परस्परोपमर्दकारि दण्डादण्डिभण्डनं विदध्यात्तच्च
गच्छगतस्य न संभवति गुर्वाद्युपदेशसंभवात्तदुक्तम् " अक्को-
सहणणमारण-धम्मब्भंसणबालसुलभाण । ममग्ग धीरो-
जहु तराए अभावम्मि " इत्येवमादिनोपदेशेन गच्छान्तर्गतो
गुरुणानुशास्यते गच्छनिर्गतस्य तु पुन• दोषा एव केवला इ-
त्युक्तञ्च " साहम्मिएहिं समुज्जएहिं । एगागीउ य जो विहरे ।
आयकपउरयाए, छक्कायवहम्मि आवडइ । एगाणियस्स दोसा,
इत्थी साणे तहेव पडिणीए । भिक्खविसोहिमव्वए, तम्हा सवि
इज्जए गमण " इत्यादि गच्छान्तर्वर्तिनस्तु बहवो गुणास्तन्निश्र-
या परस्यापि बालवृद्धादेरुद्यतविहाराभ्युपगमात् । यथा शुष्के
समर्थस्तरन्नपरमपि काष्ठादिविलग्नं तारयत्येवं गच्छेऽभ्युद्यतवि-
हार्यपर सीदन्तमुद्यमयति तदेवमेकाकिनो दोषान् वदयगच्छा-
न्तर्विहारिणश्च गुणान् कारणभावे व्यक्तेनापि नैकचर्या वि-
धेया कुतः पुनरव्यक्तेनेति स्थितम । ननु वसतिसंभवे
प्रतिषेधोऽयुक्तो न चास्ति संभव एकाकिविहारिताया• को
हि नाम बालिशः सहायान्विहाय समस्तापायास्पदमेकाकि-
विहारितामभ्युपेयादित्यत्रोच्यते न किंचिदपि कर्म्मपरिण-
तेरशक्यमस्ति तथा हि स्वातन्त्र्यगदागदकल्पस्य समस्तव्य-
सनप्रवाहसेतुभूतस्याशेषकल्याणनिकेतनस्य शुभाचाराधार-
स्य गच्छस्यान्तर्वर्तिन क्वचित् प्रमादस्खलिते चोदिता अपरि-
गणय्य सदुपदेशमपर्यालोच्य सद्धर्ममविचार्य कषायविपाक-
कटुकतामनवधार्य परमार्थं पृष्ठतः कृत्वा कुलपुत्रतां वाग्मात्रा-
दपि किंचित्कोपनिघ्ना• सुखैषिणो गणितापदो गच्छान्निर्गच्छ-
न्ति । तत्र चैहिकामुष्मिकापायानवाप्नुवन्तीत्युक्त च " जह-
सायरम्मि मीणा, सक्खोहं सायरस्स असहंता । णिंति तओ
सुहकामी, णिग्गयमेत्ता विणस्सन्ति ॥ एव गच्छसमुद्दे, सारण-
वीचीहिं चोइया संता । णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा-

विणस्सति ।"गच्छम्मि केइ पुरिसा, सउणी जह पञ्जरं तरुणिरुद्धा । सारणवारणचोइया, पासत्थगया य विहरंति ॥"जहा- दिया जोअमय रक्कजाय, सवासया पविउमणं मणागं ।तमयाइया तरुणमपत्तजाइं,ढकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा " एवमजातसूत्रा- थयव• परतीर्थिकध्वांक्षादिभिर्विलुप्यते गच्छालयान्निर्गतो वाग्मात्रेणापि चोदितः सन्नित्येतद्दर्शयितुमाह (वयसावि एगे इत्यादि) क्वचित्तप•संयमानुष्ठानेनावसीदन्तः प्रासादस्खलिता वा गुर्वादिना धर्मेण वचसाऽप्येके अपुष्टधर्माणः अनवगतपरमार्था उक्ताश्चोदिताः कुप्यन्ति एते मानवा मनुजाः क्रोधवशगा भवन्ति।ब्रुवते च कथमहमनेन इयतां साधुनां मध्ये तिरस्कृतः किं मया कृतमथवान्येऽप्येतत्कारिणः सन्त्येव ममाप्येवंभूतोऽधिकारोऽभूत्किमे जीवितमित्यादि महामोहोदयेन क्रोधतमिस्राच्छादितदृष्टयः उज्झितसमुचिताचारा उभयतो ऽन्यतो व्यक्ता मीना इव गच्छसमुद्राभिर्गत्य विनाशमुपयान्ति। यदि वा वचसापि यथा क इमे लुञ्चिता मलोपहतगात्रदृष्टयः प्राक्तनावसर एयास्माभिर्दृष्टव्या इत्यादिनोक्ता एके क्रोधान्धाः कुप्यन्ति मानवा•। अपिशब्दात्कायेनापि स्पृष्टाः कुप्यन्ति,कुपिताश्चाधिकरणादिकुर्वन्तीत्येवमादयोदोषा अव्यक्तैकचराणां गुर्वादिनियामकाभावात्प्रादु•ष्युरिति ।गुरुसान्निध्ये चैवंभूत उपदेशः संभाव्यते । तद्यथा-"आक्रुष्टेन मतिमता, तत्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोप•, स्यादनृत किंनु कोपेन" तथा "अपकारिणि कोपश्चे-त्कोपे कोप• कथ न ते। धर्म्मार्थकाममोक्षाणां,प्रसह्य परिपन्थिनी" त्यादि किं पुन• कारणं वचसाप्यभिहिता ऐहिकामुष्मिकापकारिण• स्वपरबाधकस्य क्रोधस्यावकाश ददतीत्याह (उन्नयइत्यादि) उन्नतो मानोऽस्येत्युन्नतमान उन्नतं वात्मानं मन्य इति स चैवभूतो नरो मनुष्यो महता मोहेन प्रबलमोहनीयोदयेनाज्ञानोदयेन वा मुह्यति कार्याकार्यविचारविवेकविकलो भवति । स च मोहमोहित केनचिच्छिक्षणार्थमभिहितो मिथ्यादृष्टिना वा भाचा तिरस्कृतो जात्यादिमदस्थानान्यतरसद्भावेनोन्नतमानमन्दिरारूढः कुप्यति ममाप्येवमयं तिरस्करोति धिग्मे जातिं पौरुषं विज्ञान चेत्येवमभिमानग्रहगृहीतो वाग्मात्रादपि गच्छान्निर्गच्छति तन्निर्गच्छतो वाधिकरणादिविरूम्बनयात्मानं विरूम्बयति । अथवोन्नस्यमान• केनचिद्दुर्विदग्धेनाहो अयं महाकुलप्रसूत• आकृतिमान् पटुप्रज्ञो मिष्टवाक् समस्तशास्त्रवेत्ता सुभग• सुखसेव्यो वेत्यादिना वचसा तथ्येन चोत्प्रास्यमान उन्नतमानो गर्वाध्मातो महता चारित्रमोहेन मुह्यति ससारमोहेन मुह्यत इति तस्य चोन्नतमानतया महामोहेन मुह्यतो मोहाच्च वाग्मात्रेणापि कुप्यतः क्रोपाच्च गच्छनिर्गतस्यानभिव्यक्तस्य भिक्षोर्ग्रामानुग्राममेकाकिनः पर्यटतो यत्स्यात्तदाह (संबाहाइत्यादि) तस्याव्यक्तस्यैकचरस्य पर्यटतः सबाधयन्तीति संबाधा• पीमा उपसर्गजनिता नानाप्रकाराववङ्कजनिता वा भूयो भूयो बह्व्य स्यु स्ताश्चैकाकिना व्यक्तेन निरवद्यविधिना दुरतिक्रमा दुरतिलङ्घनीयाः किंभूतस्य दुरतिक्रमा इत्याह (अजाणओ इत्यादि) तासांनानाप्रकारनिमित्तोत्थापितानां बाधानामतिसहनोपायमजानानस्य सम्यक्करणसहनफल वा ऽपश्यतो दुरतिक्रमणीया पीडा भवति ततश्चातङ्कपीडाकुलीभूतः सन्नेषणामपि लङ्घयेत्प्राण्युपमर्दमप्यनुमन्येत, वाक्कण्टकतुदित सन्नव्यक्ततया प्रज्वलंश्चैतद्भावयेत् । यथा मत्कर्मविपाकापादिता एता• पीमा• परोऽत्र केवलं निमित्तभूत• । किंत्वात्मद्रुहममर्याद मूढमुज्झितसत्पथ सुतरामनुकम्पेन नरकाग्निसमदिन्धनमित्यादिका भावना आगमापरिमलिनमतेर्न भवेदित्येतत्प्रदर्श्य भगवान्विनेयमाह (एयंतेमाहोउत्ति) एतदेकचर्याप्रतिपन्नस्य बाधा दुरतिक्रमणीयत्वमजानानस्य पश्यतश्च ते तव मदुपदेशवर्त्तिनो मा भवतु आगमानुसारितया सदा गच्छान्तर्वर्ती भवेदित्यर्थ• । सुधर्म्मस्वाम्याह । (एयइत्यादि) एतद्यत्पूर्वोक्तं तत् कुशलस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनो दर्शनमभिप्रायो यथा व्यक्तस्यैकचरस्य दोषा• सततमाचार्यसमीपवर्तिनश्च गुणा इति। आचा०१श्रु०५अ०४उ०।

एगचरियापरि(री)सह–एकचर्यापरि(री)षह–पु० परीषहभेदे. अयच साधुना सोढव्यस्तथा च स्त्रीपरिषह प्रतिपाद्य अय चैकत्र वसतस्तथाविधस्त्रीजनसंसर्गतो मन्दसत्वस्य भवतीत्यतोऽनेकस्थेन भाव्य किन्तु चर्यापरिषहः सोढव्य इति । तमाह ।

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥

एक एव रागद्वेषविरहतश्चरेदप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तं "ण वा लभिज्जा निउणं सहाय, गुणाहियं वा गुणओ सम वा। एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो" (लाढेत्ति) लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वात्मान यापयतीति लाढः । प्रशसाभिधायि वा देशीपदमेतत् पठ्यते (एगेचरेलाढंति) तत्र चैकोऽसहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादिः स चैको रागादिवैकल्याद्वाभिभूय निर्जित्य परीषहान् क पुनश्चरेदित्याह ग्रामे चोक्तरूपे नगरे वा करविरहितसन्निवेशे अपि• पादपूरणे निगमे वा वणिग्निवासे राजधान्यां वा प्रसिद्धायामुभयत्र वा शब्दानुवृत्तेर्मरूबाद्युपलक्षणं चैतद्ग्रहाभाव चानेनाहेति सूत्रार्थः ।

पुनः प्रस्तुतमेवाह–

असमाणे चरे भिक्खू, नो पकुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिकेओ परिव्वए ॥

न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु वा नियतविहारादित्यसमानोऽसदृश । यद्वा समान साहंकारो न तथेत्यसमान । अथवा समाणो प्राकृतत्वादसन्निवासन् यत्रास्ते तत्राप्यसन्निहित इति हृदयसन्निहितो हि सर्व स्वाश्रयस्योदन्तमावहत्ययं तु न तथेत्येवंविधः स चरेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेत्किंकुर्यादिति• कथमेतत्स्यादित्याह नैव कुर्यात्परिग्रह ग्रामादिषु ममत्वबुद्ध्यात्मकमत्राह च "गामे कुले वा नगरे व देसे, ममति भाव न कहिं वि कुज्जा" इति इदमपि यथा स्यात्तथाह असंसक्तोऽसंबन्धो गृहस्थैर्गृहिभिरानिकेतोऽविद्यमानगृहो नैकत्र बद्धास्पद परिव्रजेत् सर्वतो विहरेत् न नियतदेशादौ गृहिसंपर्के एकत्र बद्धास्पदत्वे नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादपि ममत्वबुद्धिस्तदभावे तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः अत्र शिष्यद्वारमनुसरन् "असमाणो चरेइत्यादि" सूत्रसूचितमुदाहरणमाह ।

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो सीसो य हिंमतो तस्स ।
उवहरइ धाइपिंडं अंगुलिजलना य सा देवी ॥

कोल्लाइरे कोल्लइरनाम्नि नगरे वास्तव्य आचार्य इति शेष• दत्तः शिष्यश्च हिण्डकस्तस्य उपहरति धात्रीपिण्डमङ्गुलिज्वलनाश्च सा देवीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु सुगुरुसंप्रदायादवगन्तव्य• । सचाय कोल्लयरे णयरे वत्थव्वा संगमथेरो आयरिया दुब्भिक्खे तेहिं संजया विसज्जिया तं नगरं नवभागे काऊण जधावलपरिहाणा विहरति णगरदेवीया य तेसिं किरचयसंता तेसिं सीसो दत्तो नाम आहिंडओ चिरेणं कालेण

उ दत्तवाहओ आगतो सो तेसिं पडिस्सयं न पविट्ठो नितया वासित्ति भिक्खा वेलाए उग्गाहिय हिंडंताए संकिलस्सइ कुद्धो सड्ढकुलाईए दावेतित्ति तेहिं नाय एगत्थ सेट्ठिकुले रेवइ याए गहितो दारओ छम्मासा रोव्वतस्स आयरिएहिं चप्पु-ड्डिया कया मा रोवत्ति वाणमतराए मुक्को तेहिं तुट्ठेहिं पडिला-भिया जहिच्छएण सो विसज्जितो एयाणि कुलाणित्ति आय-रिया सुचिरं हिंडिऊण अंतपंतं गहाय आगया समुद्दिट्ठा आ-वस्सए आलोयणाए आलोएहिं भणति तुब्भेहिं सम हिंडतो वि धातिपिंडो ते भुत्तो भणति अतिखुड्डुमाइ पेच्छहत्ति पडु-ट्ठो देवयाए अड्ढरत्ते वास अंधकारो य विगुरूवितो एसो हिं-लेहित्ति आयरिएहिं भणितो अतिहिहिति सो भणइ अंधकारो त्ति आयरिएहिं अंगुली दाइया सा पज्जलिया आउट्टो आलो-एति आयरिया वि से एवजाणे कहेंति ततश्च यथा महात्मभि-रमीभि॰ संगमस्थविरैश्चर्यापरीषहोऽध्यासितस्तथान्यैरप्यध्या-सितव्य इति । उत्त० २ अ० ।

एगचारि [न्] एकचारिन्—त्रि० एकः सन् चरति चर णि-नि सुप्सुपेति स० असहायचरे, एकचरे, वुक्कसहचरभेदे, पुं० वाच० । एक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी प्रतिमाप्रतिपन्ने एकल्लविहारिणि जिनकल्पादिके, "बहुजणे वा तह एगचारी" स च प्रतिमाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्स च बहुजन एकाकी वा । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगचोर—एकचौर पुं० चौरभेदे, एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्तीति । प्रश्न० ३ द्वा० ।

एगच्च—एकार्च्च त्रि० एका असदृशी अर्चा शरीरं येषान्ते ए-कार्चाः असदृशशरीरे, अद्वितीयपूज्ये, संयमानुष्ठाने च । "एग च्चा पुण एगच्चयंतारो" एकार्च्या अद्वितीयपूज्या संयमानुष्ठान वा एका असदृशी अर्चा शरीर येषान्ते एकार्चा इति । उपा० २ अ० ।

एगच्छत्त—एकच्छत्र—एकराजके, एगच्छत्त ससागरं भुंजिऊण वसुहंति' प्रश्न० ४ द्वा० ।

एगजडि [न्] एकजटिन्—पुं०अष्टाशीतिषु महाग्रहेषु एकाशी-तितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० । चं० प्र० । कल्प० । स्थानाङ्गटी-कायां तु त्र्यशीतितम॰ 'दो एगजडी' स्था० २ ठा० ।

एगजाय—एकजात—त्रि० रागादिसहायवैकल्यादेकीभूते, स्था० ए ठा० । खग्गविसाणं व एगजाए, खड्ग आटव्यपशुविशेषः चतु-ष्पदविशेष स ह्येकशृङ्गो भवतीत्युच्यते खड्गविषाणमिवैकजा-तो रागादिसहायवैकल्यादेकीभूत इत्यर्थः । प्रश्न० ५ द्वा० ।

एगट्ठ—एकार्थ—पुं० एकः अर्थः प्रयोजनमभिधेयं पदार्थो वा । एकस्मिन्प्रयोजने, एकस्मिन्नभिधेये पदार्थे च । वर्णाः पदं प्र-योगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः । वाच० एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्ये-कार्थः । बहु० । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० म० प्र० । अभिन्नार्थे, पंचा० ए विव० । अनन्याभिधेये, पंचा० १३ विव० । एकार्थवा-चके शब्दे, स्था० १०ठा० । "चारो चरिया चरण दगठ वंजण तहिं ठक्कं" एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थं किं तद् व्यञ्जनम् । व्यज्यते-आविष्क्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम् आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० । एकार्थश्च एकशक्त्योपस्थिनार्थक' वाच०। "पच्चक्खाणं नियमो, च-रित्तधम्मो य होंति एगट्ठा" एकार्था अभिन्नार्था इति पंचा० ५ वि-व० "एक्केक्कस्स य एत्तो नाम इगट्ठिया" एकोऽर्थो येषान्तान्येकार्थि-कानीति आ० म० प्र० "नायं आहारणंति दिट्ठंतोवमनिदरिसण चेव एगठ" एकार्थमेकार्थिकजातमिति । दशा० १ अ० । "तत्पुग्गामो वसुई पभवो पमादि होंति एगट्ठा" पंचा० १३ विव० । एकप्रयोज-नयुक्ते, त्रि० वाच० ।

एकस्थ—त्रि० एकस्मिन् तिष्ठति स्था० । एकत्रस्थिते, एकको-आश्रिते, "दो वि तुल्ला एगट्ठा अवि से समणायत्ता" एकस्थौ वा एकक्षेत्राश्रितौ सिद्धिक्षेत्रापेक्षयेति भावः । भ० १४ श० ६ उ० । एकार्थ्य—न०एकार्थस्य भाव॰ ष्यञ्-एकशक्त्या विशिष्टैकार्थोप-स्थापने एकार्थीभावे, एकप्रयोजने च । वाच० ।

एगट्ठाण—एकस्थान— न० एकमचलनेनाद्वितीयादिकं स्था-नमङ्गन्यासमेकरूपे स्थाने, तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेकमेव वा स्थानं यत्र तत्तथा । पंचा० ५ विव० । एकमद्वितीयं स्थानम-ङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानम् । प्रत्याख्यानभेदे, ध० २ अधि० । तथा चाह " एकठाणं पच्चक्खाति चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगणं सहसागारीयागारेण गुरु अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहि-वत्तियागारेणं वोसिरत्ति" आव० ६ अ० । "सत्तेगट्ठाणस्स उ त्ति" सप्तैकस्थानस्य तु एकस्थानं नाम प्रत्याख्यानं तत्र सप्ताकारा भवन्ति इहेद सूत्रं एगट्ठाणमित्यादि एकट्ठाणए जं जहा अंगोविंगं ठवियं तेण तहाठिएण चेव समुद्दिसिअव्वं भागारा से सत्त आउट्टणपसारणा णत्थि सेसं जहा एक्कासणए" पं० व० । आव० । सप्ताकारा भवन्ति । एकमचलनेनाद्वितीयादिकं स्थानमङ्गन्यास-मेकरूप स्थानं तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेक एव वा स्थानं यत्र तत्तथा । तस्यैकस्थानस्य पुनस्तु शब्दः पुनःशब्दार्थो व्या-ख्यात एव । ते च यथैवैकाशनके नवरमाकुञ्चनप्रसारणमिह नास्ति एकस्थानकस्य मुखहस्तवर्जाङ्गावयवाचलनरूपत्वादिति । पंचा० ५ विव० । तथा च अथैकस्थानकं तत्र सप्ताकाराः अथ सूत्रम् । " एकठाणं पच्चक्खाइ " इत्याद्येकासनवदाकुञ्चन-प्रसारणाकारवर्जमेकमद्वितीयं स्थानमङ्गविन्यासरूपं यत्र तदे-कस्थानप्रत्याख्यान यद्यथा भोजनकालेऽङ्गोपाङ्गं स्थापितं तस्मि-स्तथा स्थापित एव भोक्तव्यम् मुखस्य पाणेश्चाशक्यपरिहार-त्वाच्चालन न प्रतिषिद्धम । आकुञ्चनप्रसारणाकारवर्जनं च एकाशनतो भेदज्ञापनार्थम अन्यथा एकाशनमेव स्यादिति । ध० २ अधि० ।

एगट्ठाणज्झयण—एकस्थानाध्ययन— न० एकसङ्ख्यं स्थानं सङ्ख्याभेदः एकस्थानन्तद्विशिष्टजीवाद्यर्थप्रतिपादनपरमध्ययन-मप्येकस्थानमिति । एकस्थानकाख्यं प्रथममध्ययनमिति च । तत्र सामान्यमाश्रित्य प्रथमाध्ययने आत्मादिवस्त्वेकत्वेन प्ररूपित-मिति स्था० १ ठा० ।

एगट्ठाणिय—एकस्थानिक—त्रि० सहजे स्वभावस्थे, "निंबुच्छु रसो सहजो दुगाइ चउभागकड्ढिएकभागंतो इगठाणाए" यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव सहजः स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते इति । कर्म० ॥

एगट्ठिय—एकार्थिक—पुं० एकश्चासावर्थश्चाभिधेय एकार्थः । स यस्यास्ति एकार्थिक । एकार्थवाचके पर्य्यायशब्दे, स्था० १ ठा० आ० म० प्र० । पंचा० । तदात्मके सामान्यापेक्षया शब्दविशेष-रूपे विशेषभेदे, तथाच स्थानाङ्गे दशविधविशेषमधिकृत्य " एग-ट्ठिए य" (एगट्ठिएइयत्ति) एकश्चासावर्थश्चाभिधेय एकार्थः स यस्यास्ति स एकार्थिक । एकार्थवाचक इत्यर्थः इतिः रूपप्र-दर्शने चः समुच्चये स च शब्दसामान्यापेक्षयैकार्थिको नाम शब्दविशेषो भवति यथा घट इति तथा अनेकार्थिको यथा गौ-र्यथोक्तं " दिशि दृशि वाचि जले भुवि दिवि वज्रेशौ पशौ च गोशब्दः " इति इहैकार्थिकविशेषग्रहणेनानेकार्थिकोऽपि गृही-तस्तद्विपरीतत्वाच्चेहासौ गण्यते दशस्थानकानुरोधाद्वथ वा

कथंश्चिदेकार्थिके शब्दग्रामे यः कथञ्चिद्भेदः स विशेष स्यादिति प्रक्रमः (इयत्ति) पूरणे यथा शक्रपुरन्दर इत्यत्रैकार्थे शब्दद्वये शकनकाल एव शक्रः पूर्दारणकाल एव पुरन्दर एव भूतनयादेशादिति । स्था० १० ठा० । आचाराङ्गनिर्युक्तौ आचारमधिकृत्य "तस्सेगठ्ठयवयण" तस्य भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्या ते च किंचिद्विशेषादेकमेवार्थं विशिषन्तः प्रवर्तन्त इत्येकार्थिका शक्रपुरन्दरादिवत् एकार्थाभिधायिनां च बन्धानुलोम्यादिप्रतिपत्त्यर्थमुक्तत्वम् । आचा० १ उ० ।

एकार्थाभिधाने को गुण इत्याह ।

बंधाणुलोमया खलु, सुत्तम्मि य लाघवं असंमोहो ।
सत्थगुणदीवणा वि य, एगट्ठगुणा हवंतेए ॥

एकार्थिकाभिधाने यान्यर्थपदानि गाथादेर्निबद्धुमिष्यन्ते तेषां बन्धे अनुलोमता भवति अननुकूलाभिधानपरिहारेणानुकूलाभिधाने बन्धो भवतीत्यर्थः । अनुकूलेन च विधानेन बद्धे सूत्रस्य लाघवं भवति । तथा विवक्षितार्थस्यासंमोहो निःसंदिग्धप्रतीतिर्यथा शक्र इति वा पुरन्दर इति वा इन्द्र इति वा इत्याद्युक्ते शक्रशब्दार्थस्य तथा शास्ता तीर्थकरस्तस्य गुणास्तेषां दीपना प्रकाशना भवति यथा अहो भगवान् एकैकस्यार्थस्य बहूनि पर्यायनामानि जानातिस्म एते एकार्थिनामभिधाने गुणा भवन्ति । बृ १ उ० । (एकार्थिकाश्च तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः) ।

एकास्थिक–त्रि० फलं फलं प्रति एकमस्थि येषान्ते एकास्थिकाः शेषाद्वेति कप्रत्ययः एकमास्थिकं फलमध्ये बीजं येषान्ते एकास्थिका । प्रत्येकबादर वनस्पतिकायिकवृक्षभेदे, प्रज्ञा०१ पद० । प्र० । " एगट्ठिय एगबीज जहा अवगोत्थि " नि० चू० १ उ० ।

तथा चैकास्थिकप्रतिपादनार्थमाह ।

से किं तं एगट्ठिया ? एगट्ठिया अणेगविहा पएणत्ता तंजहा " निंबंब जंबुकोसं–बसाल अंकोल्लपीलुसेलूया । सल्लइ मोयइ मालूय, वउल पलासे करंजे य ॥१॥ पुत्तं जीव-अरिट्ठे, विभेलए हरिडए य भल्लाए । उंबेभरिया खीरिणि, बोधव्वे धायइ पियाले ॥ पूई य निंबकरए, सण्हा तह सीसवा य असणे य । पुण्णाग नागरुक्खे, सिरवण्णी तह असोगे य" जे यावन्ने तहप्पगारा एतेसिणं मूलाविअसंखिज्जजीविया कंधावि खंधावि तयावि सालावि पवालावि पत्तापत्ते य जीविया पुप्फा अणेगजीवा फला एगट्ठिया सेत्तं एगट्ठिया ॥

अथ के ते एकास्थिका अनेकविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । निंबंबे इत्यादि गाथात्रयम् तत्र निम्बाम्रजम्बूकोशम्बाः प्रतीताः । शालः सर्जः । (अंकोल्लत्ति) अंकोठ प्राकृतत्वात्सूत्रे च ठकारस्य लादेशः अंकोट्टेल्लइति वचनात् । पीलु प्रतीतः शेलु श्लेष्मान्तकः शल्लकी गजप्रिया मोचिकीमालकौ देशविशेषप्रतीतौ । बकुल केसरः पलाशः किंशुकः करञ्जो नक्तमालः पुत्रजीवको देशविशेषप्रतिबद्धः अरिष्टः पिचुमन्दः बिभीतकोऽक्ष हरीतकः कोङ्कणदेशप्रसिद्धः कषायबहुलः भल्लातको यस्य भिल्लातकाभिधानानि फलानि लोकप्रसिद्धानि । उम्बेभरिका क्षीरिणी । धातकी प्रियालिपूतिकरञ्जश्लक्ष्णशिंशपाशनपुन्नागनागवृक्षश्रीपर्ण्यशोका लोकप्रतीता (जे यावन्नेतहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवम्प्रकारास्तत्तद्देशविशेषभाविनस्ते सर्वेऽप्येकास्थिका वेदितव्याः एतेषामेकास्थिकानां मूलान्यप्यसंख्येयप्रत्येकशरीरजीवात्मकानि एव । कन्दा अपि स्कन्धा अपि त्वचोऽपि शाखा अपि प्रवाला अपि प्रत्येकमसंख्येयप्रत्येकशरीरजीविकाः । तत्र मूलानि यानि कन्दस्याधस्ताद्भूमेरन्तः प्रसरन्ति तेषामुपरि कन्दास्ते च लोकप्रतीताः स्कन्धाः स्थूणाः त्वचः छल्य शाखाः शाखाः प्रवालाः पल्लवाङ्कुरा ४ (पत्तापत्तेय जीवयत्ति) पत्राणि प्रत्येकजीवकानि एकैक पत्रमेकैकेन जीवेनाधिष्ठितानीति भावः । पुष्पाण्यनेकजीवानि प्राय प्रतिपुष्प प्रतिपत्र जीवभावात्फलान्येकास्थिकानि उपसंहारमाह (सेत्तं एगट्ठिया) सुगमम् । प्रज्ञा०१ पद ।

अह भंते अत्थिया तंदुयबोरकविट्ठअंबाडगमाउलिंगविल्लआमलगफणसदालिमअंसोट्ठअवरचरुणगोअणार्दिरुक्ख–पिप्पलिसतरपिल्लक्खुकाउंबरियकुच्छुंभरियदेवदारुतिलगलउच्छतोहसरीससतवण्णदधिवण्णलोद्धवचंदणज्जुणणीवकुमीगकलंबाणं । एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति तेणं भंते ! एवं एन्थावि मूलादीया दस उद्देसगा तालवग्गसरिसा णेयव्वा जाव बीयं । भ० २२ श० २ उ० ।

एगट्ठियदोस–एकार्थिकदोष– पु० शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिकशब्द इत्येवंरूपे दोषसामान्यापेक्षया दोषविशेषे, स च स्थानाङ्गे यथा " दोसे एगट्ठिए इय " अथवा दोषशब्द इहापि सम्बध्यते । ततश्चाय न्यायो भवति शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिकशब्दो नाम यो दोष इति । अन्यापि च दोषसामान्यापेक्षया विशेष इति । स्था० १० ठा० ।

एगट्ठियपय एकार्थिकपद– न० सिद्धश्रेणिकपरिकर्म्मकश्रुतविशेषे, स० । (तद्वक्तव्यता सिद्धसेणियपरिकम्मिय शब्दे)

एगट्ठियाणुजोग एकार्थिकानुयोग–पुं० एकश्चासावर्थश्चाभिधेयो जीवादिः स येषामस्ति ते एकार्थिकाः शब्दास्तैरनुयोगस्तत्कथनमित्यर्थः । एकार्थिकशब्दैः कथनरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, एकार्थिकानुयोगो यथा जीवद्रव्य प्रतिप्राणिभूतः सत्त्व इति एकार्थिकानां वाऽनुयोगो यथा जीवनात्प्राणधारणाज्जीवः प्राणानामुच्छ्वासादीनामस्तित्वात्प्राणी सर्वदा भवनाद् भूतः सदा सत्त्वात्सत्त्व इत्यादि । स्था० १० ठा० ।

एगणाम [न्] एकनामन्– न० नामोपक्रमभेदे,

से किं तं एगणामे ? नामाणि जाणि काणि अदव्वाणं गुणाणं पज्जवाणं च तेसिं आगमनिहसेनातियक्खे आसिणासे तेणे एगनामे ।

इह येन केनचिन्नाम्ना एकेनापि सता विवक्षितपदार्था अभिधातु शक्यन्ते तदेकनामोच्यते इति । अनु० । एकं नामयति क्षपयतीत्येकनामः । एकस्य क्षपके, त्रि०

जे एगणामे से बहुणामे जे बहुणामे से एगणामे इति यो हि प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायाधिरूढकरण्डकः एकमनन्तानुबन्धिन क्रोध नामयति क्षपयति स बहून मानादीन्नाशयति क्षपयत्यप्रत्याख्यानादीन् वा स्वभेदान्नामयति मोहनीय चैकं यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति यो वा बहून् स्थितिविशेषान्नामयति सोऽनन्तानुबन्धिनमेक नामयति मोहनीय वात अस्यैकोनसप्ततिभिर्मोहनीयकोटाकोटीभिः क्षयमुपगताभिर्ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायाणामेकोनत्रिंशद्भिर्नामगोत्रयोरेकोनविंशतिभिः शेषकोटाकोट्यापि देशोनया मोहनीयक्षपणार्हो भवति नान्यदेत्यतोऽपदिश्यते यो बहु नाम स एव परमार्थत एकनाम इति क्षपकोऽभिधीयते उपशामको वा उपशमश्रेण्याश्रयेणैकबहूपशमतावदेकोपशमता वा वाच्येति । आचा० १ श्रु०२ अ० ।

एगणासा-एकनासा-स्त्री० पश्चिमरूचकवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां पश्चिमदिक्कुमार्याम्, आव० १ अ० । आ० म० प्र० । स्था० । द्वा० । आ०चू० ।

एगणिक्खमण-एकनिष्क्रमण-त्रि० एकनिष्क्रमणोपेते, तथा चावश्यके द्वादशावर्त्ते वन्दनकमाधिकृत्य "एगनिक्खमणं चेव" एकनिष्क्रमणमावश्यिकया निर्गच्छत इति-आव० ३ अ०। एकनिष्क्रमणमवग्रहादावश्यिक्या निर्गच्छतो द्वितीयवेलायां ह्यवग्रहान्न निर्गच्छति पादपतित एव सूत्रं समापयतीति। सम.१ स०।

एगणिसिज्जा-एकनिषद्या-स्त्री० एकाशनपरिग्रहे, "से भगवं महावीरे एगदिवसेणं एगनिसिज्जाए चउप्पन्नाइं वागरणाइं वागरित्था" सम० ।

एगत [य] र-एकतर-त्रि० एक उत्तरद्वयोर्मध्ये जातिगुणक्रियादिभिर्निर्धार्य्ये एकस्मिन्, एकतरो ब्राह्मणःएकतरः शूद्रः एकतरो नील एकतरः शुक्ल इत्यादि । वाच० । "एत्तो एकतरमवि" एकतरमपि अन्यतरदपीति, । विपा० ७ अ० । "एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय" आचा० १ श्रु० ६अ० २उ० । "अब्भुज्जियमेगयर" अभ्युद्यतं प्रयतमेकतर द्वयोरन्यतरमिति पंचा० । १८ विव० ।

एगतल्लिय-एकतलिक- त्रि० एकतलोपेते, [तलिगत्ति] उपानहस्ताश्च एकतलिकास्तदभावे यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्त इति । प्रव० ८३ द्वा० ।

एगता(या)-एकता-स्त्री० एकस्वभावः एक-तल्-एकत्वे, वाच० ।

एगताणया-एकतानता-स्त्री० विसदृशपरिहारेण सदृशपरिणामधाराबन्धे, "चित्तस्य धारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता" द्वा०२४द्वा. अभेदपरिणतौ, अष्ट० ।

एगत्त-एकत्व-न० एकस्य भावे त्व-एकत्वसंख्यायाम्,साम्ये, श्रेष्ठत्वे, वाच०। अभेदे च । स्था० ४ ठा० । आव० । एकरूपत्वे, स्था०७ ठा० । एकवचने च। स्था०१० ठा० [एगत्ति] एकत्वमेकवचनं तदनुयोगो यथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचनं सम्यग्दर्शनादीनां समुदितानामेवैकमोक्षमार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वे त्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थमिति । स्था०१० ठा० । "दो सा एगत्तमावन्ना" नि० चू० २० उ० ॥

एगत्तगय-एकत्वगत- त्रि० एकत्वभावनाभावितान्तःकरणे, "णिक्खते एगत्तगए" आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

एगत्तभावना-एकत्वभावना- स्त्री० भावनाभेदे, तत्स्वरूपं यथा

> अण्णो देहातो अहं-नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं ।
> सो किं तिसहारिक्कं, न कुणइ देहस्स भंगे वि ॥

अह देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्म्मणां कुर्वत शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्धः स दिव्यादिषु उपसर्गवेलाया देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि न किंचिदपि [आहरिक्कमिति] उच्छ्वास न करोति । गता एकत्वभावना । व्य० प्र० १ उ० । अथैकत्वभावना 'उत्पद्यते जन्तुरिहैक एव, विपद्यते चैकक एव दुःखी । कर्म्मार्जयत्येकक एव चित्र-मासेवते तत्फलमेक एव १ यज्जीवेन धन स्वय बहुविधैः कष्टैरिहोपार्ज्यते, तत्सम्भूय कलत्रमित्रतनयैर्भ्रात्रादिभिर्भुज्यते । तत्तत्कर्म्मवशाच्च नारकनरस्वर्वासितिर्यग्भवे-ष्वेकः सैष सुदु सहानि सहते दुःखान्यसख्यान्यहो ॥ २ ॥ जीवो यस्य कृते भ्रमत्यनुदिश दैन्य समालम्बते, धर्म्माद्भ्रस्यति वञ्चयत्यतिहितान्न्यायादपक्रामति । देह सोऽपि सहात्मना न पदमप्येकः परस्मिन् भवे, गच्छत्यस्य तत कथ वदत भोः साहाय्यमाधास्यति ॥ ३ ॥ स्वार्थैकनिष्ठं स्वजनं स्वदेह-मुख्यं ततः सर्वमवेत्य सम्यक्। सर्वस्य कल्याणनिमित्तमेकं, धर्मं सहाय विदधीत धीमान् ॥ ४ ॥ प्रव०६७

अस्याः स्वरूपमुदाहरणञ्च यथा—

> जइ वि य पुव्वं ममत्तं, छिन्नं साहूहिं दारमाईसु ।
> आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा ॥

यद्यपि च पूर्वं गृहवासकालभावि ममत्वं साधुभिर्दाराःकलत्र तेष्वादिग्रहणात्पुत्रादिषु छिन्नमेव तथाप्याचार्यादिविषय ममत्वं पश्चात्प्रव्रज्यापर्यायकाले संजायते । तत्र कथं परिहापयितव्यम् । उच्यते ।

> दिट्ठिनिवायालावे, अ परोप्परकारिय सपरिपुच्छं ।
> परिहासमिहो य कहा, पुव्वपवित्ता परिहवेइ ॥

गुर्वादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः सस्निग्धावलोकनानि ये च तैः सहालापास्तान् तथा परस्परोपकारितां मिथो भक्तपानदानग्रहणाद्युपकारं प्रतिपृच्छं सूत्रार्थादिप्रतिपृच्छया सहितं परिहासं हास्य मिथः कथाश्च परस्परवार्ताः पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयति । ततश्च ।

> तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु ।
> आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा ॥

सहायः सघाटिकसाधुस्तद्विषये आदिशब्दादाचार्यादिविषये च बाह्यप्रेमणि पूर्वं तनुकीकृते परिहापिते सति ततः पश्चादाहारे उपधौ देहे च न सज्जति न ममत्वं करोति । ततः किं भवतीत्याह ।

> पुव्व छिन्नममत्तो, उत्तरकालं विवज्जमाणे वि ।
> साभावियइयरे वा, खुब्भइ दट्ठु न संगइ ए ॥

पूर्वं छिन्नममत्वाः सर्वेऽपि जीवा असकृदनन्तशो वा सर्वजन्तूनां स्वजनभावेन शत्रुभावेन च सजाता अतः कोऽत्र स्वजनः को वा पर इति भावनया त्रुटितप्रेमबन्धः सन्नुत्तरकाल जिनकल्पप्रतिपत्त्यनन्तर व्यापाद्यमानानपि सङ्गति ॥ कान् स्वजनान् स्वजातिकानितरान् वा वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्ट्वा न क्षुभ्यति ध्यानान्न चलति । अत्रदृष्टान्तमाह ।

> पुप्फपुर पुप्फकेऊ, पुप्फवई देविजुअलयं पसवे ।
> पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामियं तस्स ।
> सह वड्ढियाण रागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स ।
> घरजामातुदगाणं, मिलइ निसि केवल तेणं ।
> पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च एगत्ते ।
> वीमंसा उवसग्गे, विडेहि समुहिं च कंदयणा ।

पुप्फपुर नयर तत्थ पुप्फकेऊ राया पुप्फवई देवी सा अन्नया जुयलं पसूया पुप्फचूलो दारओ पुप्फचूला दारिया । ताणि दोणि सह वड्ढियाणि परोप्पर अईव अणुरत्ताणि । अन्नया पुप्फचूलो राया पव्वइओ अणुरागेणं पुप्फचूलावि भगिणी पव्वइया । सो य पुप्फचूलो अन्नया जिनकप्प पडिवज्जिउकामो एगत्तभावणाए अप्पाण भावेइ । इओ य एगेणं देवेणं वीमसणानिमित्त पुप्फचूलाए अज्जाए रूवं विउव्विय हुत्ता धरिसिउं पवत्ता। पुप्फचूले य अणगारो तेण ओगासेण बोलेइ ताहे सा पुप्फचूला अज्जा जेट्ठज्जे सरण भयाहित्ति वाहइ सो य भगवं बुच्छिन्नपेमबन्धणो 'एगो हं नत्थि मे को वि नाहमन्नस्स कस्सई' इच्चाइ एगत्तभावणं भावितो गओ सउण । एवं एगत्तभावणाए अप्पाण भावेयव्वोत्ति । गाथाक्षरयोजना त्वेवं पुप्फपुरे पुष्पकेतू राजा पुष्पवती देवी युगलं प्रसूते वर्तमाननिर्देशस्तत्कालविवक्षया पुत्रं च

पुप्फचूला इहितां च तस्य सनामिकां समानाभिधानां तयोश्च सहवर्द्धितयोरनुरागो राजत्वं चैव पुष्पचूलस्य पुष्पचूलायाश्च गृहया मात्रे दानम् । सा च तेन प्रज्ञा सम केवलं निशि रात्रौ मिलति, प्रव्रज्या च नरेन्द्रपुष्पचूलस्य तदनुरागेणानुप्रव्रजन च पुष्पचूलाया । ततो जिनकल्प प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावयितु लग्नो विमर्शपरीक्षां तत्र्य देवेनोपसर्गे क्रियमाणे विट्टिं संमुखी पुष्फचूला कृत्वा धर्षणं कर्तुमारब्धम् । तत क्रन्दना आर्य ! शरण शरणमिति । अथोपसंहारमाह ।

एगत्तभावणाए, न कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानो य कामभोगेषु शब्दादिषु गणे गच्छे शरीरे वा न सज्जति न सङ्ग करोति किंतु वैराग्यगत सन् स्पृशत्याराधयति अनुत्तर करणं प्रधानयोगसाधन जिनकल्पपरिकर्मेति । गना एकत्वभावना । एकत्वभावनया चात्मानं भावयन् गुर्वादिषु दर्शनालापादिपूर्वं परिहरति । ततो यादृग्ममचे मूलत एव विच्छन्ने देहोपस्यादिष्वपि मान भिन्नमेव लोकयन् सर्वथा तेषु निरभिष्वङ्गो भवति — ध० ४ अधि० । तथाचाह ।

एगंतमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं ।
एस प्पमोक्खो अमुसे वरे वि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥१२॥

एकत्वमसहायत्वमभिप्रार्थयेदेकत्वाध्यवसायी स्यात् । तथाहि जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्त्राणसमर्थ सहायः स्यात् । तथा चोक्तं " एको मे सासओ अप्पा णाणदंसणसंजुओ ॥ सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा " इत्यादिकामेकत्वभावनां भावयेदेवमनयैकत्वभावनया प्रकर्षेण मोक्ष प्रमोक्षो विप्रमुक्तसंगता न मृषा अलीकमेतद्भवतीत्येवं पश्य । एष चैकत्वभावनाभिप्राय प्रमोक्षो वर्त्तते अमृषारूप सत्यश्चायमेव । तथा वरोऽपि प्रधानोऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा यदिवा तपस्वी तपोनिष्टप्तदेहोऽक्रोधन उपलक्षणार्थत्वादमानो निर्मायो निर्लोभ सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्षोऽमृषासत्यो वर. प्रधानश्च वर्तत इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।
भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥ १२ ॥

[एगेचरे इत्यादि] एकोऽसहायो द्रव्यत एकलविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत् । तथा स्थान कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात् । तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् । एवं शयनेऽप्येकाक्येन समाहितो धर्मादिध्यानयुक्तः स्यात् भवेत् । एतदुक्त भवति । सर्वास्वप्यवस्थासु सनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । तथा भिक्षणशीलो भिक्षु । उपधान तपस्तत्र वीर्यं यस्य स उपधानवीर्यः । तपस्यनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थ । तथा वाग्गुप्त सुपर्यालोचिताभिधायी अध्यात्मं मनस्तेन संवृतो भिक्षुर्भवेदिति ॥१२॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

एगत्तवियक्क — एकत्ववितर्क — त्रि० एकत्वेनाभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनयेत्यर्थ. वितर्क. पूर्वगतः श्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्ववितर्कम् । शुक्लध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० । भ० । आव० । [तद्वक्तव्यता सुक्कज्झाण शब्दे]

एगत्ताणुओग — एकत्वानुयोग — पु० एकत्वमेकवचनन्तदनुयोग एकत्वानुयोग. । शुरुषाणुयोगभेदे, स च यथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचन सम्यग्दर्शनादीनां समुदितानामेवैकमोक्षमार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वे — त्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थमिति । स्था० १० ठा० ।

एगत्तिय — एकत्रिक — त्रि० एकनरकाद्याश्रिते, एए एगइया सत्त दंडगा भवंति ॥ (एगत्तियत्ति) एकत्रिका एका नारकाद्याश्रिता इति । भ० १२ श० ४ उ० ।

एगत्तीकरण — एकत्वीकरण — न० अनेकावलम्बनत्वस्यैकावलम्बनत्वकरणे, " मणसा एगत्तीकरणेण " अनेकत्वस्यानेकावलम्बनत्वस्य एकत्वकरणमेकावलम्बनत्वकरणमेकत्वीकरणं तेनेति भ० २ श० ५ उ० ।

एगत्तीगय — एकत्वगत — त्रि० संघातमापन्ने, "ताहे से पएसा एगत्तीगया भवति" एकत्वगता. संघातमापन्ना भवन्तीति । भ० ८ श० ९ उ० ।

एगत्तीभावकरण — एकत्वीभावकरण — न० अनेकस्य सत एकतालक्षणभावकरणे, भ० ७ श० ९ उ० । एकाग्रतायाम्, "मणसा एगत्तीभावकरणेण " अनेकत्वस्य एकत्वस्य भवनमेकत्वीभावस्तस्य यत्करणं तत्तथा तेन एकत्वीभावकरणेन आत्मन इति गम्यते मनस एकाग्रतयेत्यर्थः । औप० । तथा च भगवत्याम् योगप्रतिसंलीनतायास्तृतीयभेदमधिकृत्योक्तम् ॥ " मणस्स एगत्तीभावकरणे " विशिष्टैकाग्रत्वेन एकता तद्रूपस्य भावस्य करणमेकताभावकरणम् । आत्मना वा सहैकता निरालम्बनत्वं तद्रूपो भावस्तस्य करण यत्तत्तथा । वाक्प्रतिसंलीनताया अपि तृतीय भेदमधिकृत्य तत्रैवोक्तम् "वइएगत्तीभावकरण" ॥ वाचो वा विशिष्टैकाग्रत्वेन एकतारूपभावकरणमिति । भ० २५ श० ७ उ० ।

एगत्थ — एकत्र — अव्य० एक० त्रल्० एकस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । "इय एगत्थ लोग मिलिंतत्ति" नि० चू० १ उ० ।

एगदंडिन् — एकदण्डिन् — पुं० एक केवल. शिखायज्ञोपवीतादिशून्यो वा दण्डोऽस्यास्तीति इन् । "यदा द्वाऽप्यवसितपरं ब्रह्म सनातनम् । तदैकदण्ड संगृह्य, सोपवीतां शिखां त्यजेत्" इत्युक्तलक्षणे (वाच०) परतीर्थिके परिव्राजकभेदे. संन्यासी तावच्चतुर्विध कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसभेदात् । तत्र कुटीचकबहूदकयोस्त्रिदण्डधारणम् । हंसस्यैकदण्डधारणम् । परमहंसस्य न दण्डधारणमिति भेदः । वाच० । एकदण्डिका. पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्त । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ

एगदंतसेढि — एकदन्तश्रेणि — त्रि० एकदन्तस्य श्रेणि. पङ्क्तिर्यस्य स तथा । औप० । एकाकारदन्तपङ्क्तौ, जी० ३ प्रति० । "एगदंतसेढी विव अणेगदंतो " एकस्य दन्तस्य श्रेणि पङ्क्तिर्यस्य स तथा स इव परस्परानुपलक्ष्यमाणदन्तविभागत्वात् अनेके दन्ता यस्य स तथा । औप० । एको दन्तो यस्या सा एकदन्ता सा श्रेणिर्येषां ते तथा त इव दन्तानामपि घनत्वादेकदन्तेव दन्तश्रेणिस्तेषामिति भाव. । अनेकदन्तो द्वात्रिंशद्दन्त इति भाव. । प्रश्न० ४ द्वा० । त० । जी० ।

एगदा [या] — एकदा — अव्य० कदाचिदित्यर्थे, " एगया समियस्स " एकदा कदाचित् गुणसमितस्य गुणयुक्तस्येति आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । " इत्थियो एकता णिमतति " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० "सज्जणेहिं तस्स पुच्छिसु एगचरा वि एगदा" आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० ।

एगदिट्ठि — एकदृष्टि — स्त्री० एका अनिमिषा अनन्यविषयत्वात् दृष्टिः । अनन्यविषयदर्शने, बहु० तथादृष्टियुक्ते, त्रि० वाच० । " अणिमिसणयणेगदिट्ठीए " एकदृष्टिक एकपुद्गलगतदृष्टिरिति

पंचा० १८ विव० । काणे च । त्रि० । काणत्वञ्च चक्षुःशून्यैकगोलकवत्त्वमन्धत्वं चक्षुरिन्द्रियशून्यत्वमिति भेदः । काके, पुं० । वाच० ।

एगदुक्ख-एकदुःख-त्रि० एकदुःखोपेते, "एगे दुक्खे जीवाण" एकमेवान्तिमभवग्रहणसभव दुःखं यस्य स एकदुःख इति । स्था० १ ठा० ।

एगपएसता-एकप्रदेशता-स्त्री० एकप्रदेशस्वभावे, "एकप्रदेशता चेहाखण्डस्कन्धनिवासता एकप्रदेशस्वभाव एकप्रदेशता । सा चेहैकत्वपरिणतिः । अखण्डाकारवन्धस्य सनिवेशस्तस्य निवासता भाजनत्वं ज्ञातव्यम् । निष्कर्षस्त्वयम् अखण्डतया आकृतीनां सन्निवेशः परिणमनव्यवहारः तस्य भाजनमाधाराधेयत्वमेकप्रदेशतोच्यते । द्रव्य० १२ अध्या० ।

एगपएसोगाढ-एकप्रदेशावगाढ-त्रि० एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढम् । कर्म० । एकप्रदेशव्यवस्थिते, "एगपएसोगाढं परमोही लहइ कम्मगसरीरं" प्रकृष्टो देशः प्रदेशः एकश्चासौ प्रदेशश्च एकप्रदेशः तस्मिन्नवगाढं व्यवस्थितमेकप्रदेशावगाढं परमाणुद्व्यणुकादि द्रव्यमिति । आ० म० प्र० । स्था० ।

एगपक्ख- एकपक्ष -पुं० एक पक्षो यस्य । असहाये, कर्म० । एकत्रपक्षे, वाच० । एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षाश्रिते, एकान्तिके च । "इम दुपक्खं इममेगपक्खं" इदमस्मदभ्युपगत दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः । तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम् । इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात् तच्चेदमाविष्ठोपचित परिष्ठोपचितमीर्यापथं स्वप्नादिकञ्चेत्यक्रियावादिनश्चार्वाकबौद्धादयः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

एगपत्तय-एकपत्रक-त्रि० एकं पत्रं यत्र तदेकपत्रकम् । अथवैक च तत्पत्र चैकपत्रं तदेवैकपत्रकम् । एकपत्रोपेते, एकपत्रे, न० । "उप्पले णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे" एकपत्रकं चेह किसलावस्थाया उपरि द्रष्टव्यम् । भ० ११ श० १ उ० ।

एगपरियय-एकपर्यय-त्रि० एकपर्याये, "एगपरिययंति वा एगपज्जायति वा एगणाममेदं ति वा एगट्ठा तं च जहा कस्सति दव्वस्स एगेव णाम भवति णो वितियति" आचू० १ अ० ।

एगपिंमिय-एकपिण्डित-त्रि० एकका सन्तः पिण्डिमता एकपिण्डिता । एकवर्गेण पिण्डिते, "एगदुगपिंडियाणंपि" एक द्विकपिण्डितानामपि पञ्चाप्येकका सन्तः पिण्डिमता एकपिण्डिता । अथवा द्विकेन वर्गरूपेण एक एकाकी एकश्चतुर्वर्गः । अथवा एको द्विवर्गोऽपरस्त्रिवर्ग इत्येवरूपेण पिण्डिता एकद्विकपिण्डितास्तेषामेकद्विकपिण्डितानामपीति । 'एगदुगपिंमिया वि हु' एकका पिण्डिमता एकपिण्डिता द्विपिण्डिता द्विकेन वर्गद्वयेन पिण्डिता अपिशब्दात् त्रिकपिण्डिमताश्चतुष्कपिण्डिमताश्चेति । व्य० प्र० १ उ० ।

एगपुड-एकपुट-त्रि० एकतले, नि० चू० २ उ० ।

एगप्प-एकात्मन्-पुं० एकस्मिन्नात्मनि, । एक आत्मा स्वरूपं स्वभावो वा यस्याः । एकस्वरूपे, एकस्वभावे, त्रि० स्त्रियां टाप् वाच० । चेतनाचेतन सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवादे, तस्य च सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमाध्ययनप्रथमोद्देशके द्वितीयोर्थाधिकारः । तथोद्देशार्थाधिकारमधिकृत्य निर्युक्तिकृत "पंचमहभूय एकप्पए य" चेतनाचेतनं सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारो द्वितीय इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । (आत्माद्वैतवादस्य निरूपणनिराकरणे एगावादि शब्दे)

एगप्पवाइ (न्)-एकात्मवादिन्-आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

एगप्पवाय-एकात्मवाद-पुं० आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

एगप्पमुह-एकप्रमुख- पुं० एको मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात्संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात् तत्र प्रगत मुख यस्य स तथा । मोक्षे, तदुपाये वा दत्तदृष्टौ, "णारमेकचरणं सव्वए एकप्पमुहे" आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

एगभत्त० एकभक्त०-न० एकं भक्तं भोजनं यत्र । एकाशनके, "तह एगभत्त च" एकभक्तं च एकाशनकं चेति । पंचा० १२ विव० । एकस्मिन् भक्तः । नितान्तभक्ते, त्रि० वाच० ।

एगभत्तट्ठ-एकभक्तार्थ-पुं० एकयोग्ये भक्ते, "दसुवक्खडियाम्मि एगभत्तट्ठो" यावद्दशानां योग्यमुपस्कृतं तावदेकभक्तार्थो आहारः । एकयोग्यं तत्र भक्तं आहारमिति भावः । व्य० १ उ० ।

एगभविय-एकभविक-पुं० य एकेन भवेन गतेनानन्तरभव एवोत्पत्स्यते तस्मिन् । सूत्रकृताङ्गे द्रव्यपौण्डरीकमधिकृत्य "एगभविए य बद्धाउए य" ॥ एकेन भवेन गतेनानन्तरभवे एव पौण्डरीकेषूत्पत्स्यते स एकभविक इति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । द्रव्यार्द्रकमधिकृत्यापि "एगभवियबद्धाउया" एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरागत्यार्द्रककुमारत्वेनोत्पद्यते इति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० एगभविओ जो अणंतर उव्वट्टित्ता वितिए भवे भिक्खू होहित्ति" नि० चू० १ उ० ।

एगभाव-एकभाव- पुं० एको भावः । अनन्यविषये रागे, एकस्वभावे, एकाशये, अभिन्नत्वे, अभेदे, तुल्यभावके, त्रि० वाच० । एकस्वभावे, "तओ पच्छा एगभावे एगभूते सिया" एको भावः सांसारिकसुखविपर्ययात् स्वाभाविकसुखरूपो यस्यासावेकभावोऽत एव च एकभूत एकत्व प्राप्त इति-भ० १४ श० ४ उ० ।

एगभूय-एकभूत-त्रि० एकत्व प्राप्ते, भ० १४ श० १ उ० । एकस्मिन् भूते एकासक्ते च । वाच० । अनन्यतया व्यवस्थिते, "एतेगे दुक्खे जीवाणं एगभूते" एकभूतमनन्यतया व्यवस्थिते प्राणिषु न सांख्यानामिव बाह्यमिति । स्था० १ ठा० । एक इव एकभूतः । एकतुल्ये, "एगे दुक्खे जीवाणं" एगभूत इवात्मोपम इत्यर्थ इति । स्था० १० ठा० ।

एगमंब-एकमडम्ब-न० निवेशविशेषे, "कारणमेगमडंबे" कारणमशिवादिलक्षणमधिकृत्य कोऽपि साधुरेकाकी जातः कथमप्येकमडम्बे गतः एकमडम्ब नाम यस्य निवेशस्य सर्वासु दिक्षु च नास्ति कोऽप्यन्यो ग्रामो नगरं वा तस्मिन्नेकमडम्बे गत इति । व्य० ३ उ० ।

एगमण-एकमनस्-त्रि० एकाग्रचित्ते, "जाएइ सुहमेगमणो" एकमना एकाग्रचित्त इति । आव० ५ अ० । "जं तं झुयति एगमणा" एकाग्रमनसस्सन्त इत्यर्थः" संथा० ।

एगमेग-एकमेक-एकैक-इकिक एकैक-त्रि० सुबन्तस्यैकस्य वीप्सार्थे द्वित्वम् "एकं बहुव्रीहिवत्" पा. इति द्विरुक्त एकशब्दो बहुव्रीहिवत् तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ । वाच० । वीप्सात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा" ८ । ३ । १ । इति सूत्रेण वीप्सार्थात्पदात्परस्य स्यादेः स्थाने स्वरादौ वीप्सार्थे पदे परे मो वा भवति । एकमेकम् । प्रा० । प्रत्येकपदार्थे, वाच० । "ता एएणं दुवे सूरिया तीसाए मुहुत्तेहिं एगमेग अद्धमण्डलं चरत." इति चं० १ पाहु०

एकमसंयुक्तं भवतुं एगमेगस्स" एकैकेन संयुक्तमेकः साधुः एकेन सह संयुक्तो यस्मिन्नालपने तदेकैकमिति। औप० । "एगमिक्कि आलावगा भाणियव्वा" स्था० २ ठा० ।

एगमेक्कपक्ख–एकैकपक्ष–पु० उभयपक्षे, "एकमेकपक्खो-भम जो वलयगओ भवतीति" । नि० चू० १५ उ० ।

एगरस–एकरस–त्रि० एकः स्निग्धतिक्तकटुकादिरसान्यतमो रसो ऽस्येत्येकरसः । निकादिरसान्यतमरसोपेते, उत्त० १ अ० । एकोऽनन्यविषयको रसः राग अभिप्राय यत्रोऽभिव स्यनायो वा यस्य । एकरागे, एकाभिप्राये, अभिन्नाभिप्राये च । एको रसो यत्र । एकरसविषये, वाच० ।

एगराइया–एकरात्रिकी–स्त्री० एका रात्रिः प्रमाणमस्या इत्येकरात्रिकी । सर्वरात्रिकायां प्रतिमायां भिक्षुप्रतिमायाम् । "पडिमं एगराइयं" पञ्चा० १८ विव० । तादृशी एकरात्रमानेति । हा० १ अ० । तस्या स्वरूपं यथा । "एगा राइंदिय भिक्खुपडिम परिमवज्जा" (एगराइयंति) एका रात्रिः प्रमाणमस्या इत्येकरात्रिकी । सा च । अस्यां आष्टमभक्तेन ग्रामादिभ्यो बहिः प्रलम्बितभुजेन निर्निमेषनयनेन ईषत्प्राग्भारगतेन कायेन एकपुद्गलनिविष्टदृष्टिना सर्वेन्द्रियैर्गुप्तेन स्थातव्यम् । आह च "पडिमाइ एगराइय छट्ठभत्तेण तह चउत्थेणं अणागारो । पडिमाओ नायव्वा भणियव्वाई भगवओ" इत्यादि । औप० । स० । प्रव० । पञ्चाशकवृत्तिश्च ।

एमेव एगराइया, अट्ठमभत्तेण ठाणवाहिरओ ।
ईसीपब्भारगए, अणिमिसनयणेगदिट्ठीए ।
सा हट्टु दो वि पाए, वग्घारियपाणिठायए ठाणं ।
वग्घारियलंबियभुओ, सेसदसाए जहा भणियं। आव० ४ अ०।

एगराइयं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए जाव अहियासेइ । कप्पइ से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा ईसिं पब्भारगएणं काएणं एगपोग्गलट्ठियाए दिट्ठीए अणिमिसनयणे अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए तत्थ से दिव्वमाणुस्सतिरिक्खजोणिया जाव अहियासेइ । तत्थ से उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जा नो से कप्पइ उच्चारपासवणं उगिण्हित्तए वा । कप्पइ से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिट्ठवित्तए । तत्थ से णं एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे ड ठाणा अहियाए असुभाए अक्खमाए अणिस्सेसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति । तंजहा उम्मायं वा लभेज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणेज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा एगराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हियाए जाव अणुगामियत्ताए भवंति तंजहा ओहिनाणे वा समुप्पज्जेज्जा मणपज्जवनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा केवलनाणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा । एवं खलु एसा एगराइंदिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आराहिया आणाए अणुपालिया यावि भवति । आ० चू० ४ अ० ।

एगराय–एकरात्र– न० एका चासौ रात्रिश्चेत्येकरात्रम् । एकस्यां रात्रौ, "एगराइं वा दुराइं वा वसमाणे नाइक्कमइ" ॥ व्य० ५ उ० "गामे गामे य एगराय" ग्रामे ग्रामे चैकरात्रिं यावदिति । प्रश्न० ५ द्वा० । एका रात्रिर्यत्र तदेकरात्रम् । एकरात्रोपेते, त्रि० । "किमेगराइं करिस्सइ" ॥ जिनकल्पापेक्षया एकरात्रिर्यत्र तदेकरात्रमुपाश्रय वसेत । जिनकल्पो हि एकरात्रमुपाश्रयं ग्रामगुत वा सेवेतेति । उत्त० २ अ० ॥

एगरायवासि (न्)–एकरात्रवासिन्० पु० अहोरात्रमेव वस्तु शीले, एकरात्र ग्रामादौ वस्तुशीले च । "णाए एगरायवासी" ॥ ज्ञान प्रतिमाप्रतिपन्नोऽयमित्येव जनेनाबसितः सन् एकरात्रवासी एकत्र ग्रामादावहोरात्रमेव वस्तु शीलः । तथा एक वा एकरात्र छिक वा रात्रिद्वयं ग्रामादौ वस्तुं शीलमिति गम्यमिति। पञ्चा० १७ ठा० ।

एगरूव०–एकरूप–त्रि० एक समानं रूपमस्य । तुल्यरूपे, वाच० एकविधाकारे , " पभू एगवर्णं एगरूवं विउव्वित्तए" एकरूप एकविधाकार स्वशरीरादीति भ० ६ श० ९ उ० । कर्म० । एकस्मिन् रूपे, वाच० ।

एगलभि (न्) एकलब्धिन त्रि० एकलाभवति, तथाचाह " सज्जूमा य अवस्सा, एगालर्भा पहाणाओ। तएग न विवत्ती, अधिभिसे देइ जे गुरुण तु। अहवा वि एगवृन्दं, लभति जे ते देइ उ गुरूण " व्य० प्र० ३ उ० (व्याख्या आयरिय शब्दे)

एगलभिय–एकला(म्भि) भिक–त्रि० एकस्य लाभेन चरति, " एगलभिए " एकलाभिकान् अथवा य एक प्रधानं शिष्यमात्मना सन्ते गृहाति शेषांस्त्वाचार्यस्य समर्पयति स एकलाभेन चारीत्येव लाभिकः । व्य० प्र० ३ उ० ।

एगल्ल–एक–त्रि० " ल्लो नवैकाद्वा ८ । २ । १६५ । इति सूत्रेण वा ल्लः । सेवादित्वात् कस्य द्वित्वे एकल्लो । पक्षे एक्को एओ । प्रा० । एकाकिनि, स्था० ७ ठा० ।

एगल्लविहार–एकविहार–पु० एकाकिनो विचरणे, स्था० ७ ठा० । एकाकिविहारनिषेधस्तत्र दोषश्च । तत्र एकाकिविहारे दोषा यथा।

एगागियस्स दोसा, इत्थीसाणे तहेव पडणीए ।
भिक्खविसोहि महव्वय, तम्हा सबितिज्जए गमणं ।३१।
गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ ।
एत्तो तइयविहारो, णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ ३२ ॥

(एगागियस्सत्ति) एकाकिनोऽसहायस्य विहरत सतो दोषा दूषणानि भवन्ति तद्यथा (इत्थीसाणेत्ति) स्त्री शुनी अय स समाहारद्वन्द्वस्तत्र स्त्रीविषये श्वविषये च । तत्र स्त्रीविषये " विह विहवा पउत्थवइ, इयारमक्कहति ददुमेगागिं । दारपिहुणे य गहण, इत्थमणिच्छे य दोसाओ"तथा श्वा कौलेयकस्तद्दोषस्ततोऽनेकस्य परिजवः तथा चेति समुच्चयार्थे प्रत्यनीके साधुप्रद्विष्टविषये स हेकाकिनमभिभवत्(भिक्खविसोहिमहव्वयत्ति) इह सप्तमी बहुवचनदर्शनाद्भिक्षाविशुद्धौ विषये दोषा महाव्रतेषु तत्र युगपत् गृहत्रयस्य भिक्षाग्रहणे एकस्योपयोगकरणे अशक्तत्वात्तदशुद्धिस्तत एव च प्राणातिपातविरमणविराधनानिमित्तप्रश्ने च निःशङ्कतया तद्भणने मृषावादो विप्रकीर्णरूप्यदर्शनेजिघृक्षादिभावाददत्तादानम् । स्त्रीमुखनिरीक्षणादौ मैथुनं तत्र भेदात्परिग्रह इति। यस्मादेतेऽसहायस्य दोषास्तस्मात् (सबिइज्जइत्ति) सद्वितीयस्य ससमीपछ्योरभेदात्गमनं भिक्षार्थमटन यदि च भिक्षाटनमपि ससहायस्यैव युक्त तदा सुतरां विहार. ससहायस्यैव युज्यते । ससहायो हि सर्वानेतान् प्रायः परिहर्तु प्रभुर्भवतीति गीतार्थसाधुसबन्धित्वात् गीतार्थः। चशब्द समुच्चये भिक्षक्रमश्च । विहारो विचरणमेक इति गम्यते । द्वितीयस्त्वन्यो विहारो गीतार्थमिश्रणः बहुश्रुतसमन्वितानामगीतार्था-

नामपि साधूनां यः स गीतार्थमिश्रको भणितः । उक्तो जिनैर्विधेयतया इत आद्यां द्वाभ्यां विहाराभ्यामन्यस्तृतीयो विहारः । एकानेकागीतार्थसाधुरूपो नानुज्ञातो नानुमतो विधेयतया जिनवरैर्जिननायकैर्यतः " सामण्णगजोगाण, चाज्झागिहिसंमिस्सयुओ होइ । दसणाणाणचरित्ताण, पइहण पावए एक्को " इति गाथाद्वयार्थः ।

विशेषविषयत्वमेवास्य स्पष्टयन्नाह ॥

ता गीयम्मि इमं खलु, तदन्नलाभंतरायविसयं तु ।
सुत्तं अवगंतव्वं, णिउणेहिं तं तजुत्तीए ॥ २२ ॥

ता इति तस्मादेतान्यागमवचनानि सामान्यसाधोरेकाकित्वस्य निषेधकानि सन्ति तस्माद्गीते गीतार्थसाधुविषये इदम् । " एगो वि पावाइं विवज्जयंतो " इत्येतत्सूत्रमवगन्तव्यमिति योगः । खलुरवधारणार्थे । स च योक्ष्यते । अथ गीतार्थविषय किमिद साधु सामान्यत एव नेत्याह । तस्माद्गीतार्थसाधोरन्ये अपरे ये गुणवन्त साधवस्तेषां यो लाभः प्राप्तिस्तत्र योऽन्तरायो विघ्न स एव विषयो गोचरो यस्य तत्तथा । अतस्तदन्यान्तरायविषयमेव गीतार्थस्यापि साध्वन्तराप्राप्तावेकाकित्वानुज्ञातपरमिदमिति भावोऽन्यथा ससहायनैव युक्ता । यतोऽभिधीयते " कालम्मि संकिलिट्ठे, छक्कायदयावरो वि संविग्गो । जइ जोगीण लभे पण, गन्नयरेण संवसइ " पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाभिधानानां पञ्चानां साधूनामेकतरेण सह वसतीत्यर्थः । इति शब्दः प्राग्वत् । सूत्र " नयालभेत्यादि " व्रतरूपमवगन्तव्यमवसेय निपुणै सद्बुद्धिभिस्तन्त्रयुक्त्यागमिकोपपत्त्योक्तरूपयेति गाथार्थ । पंचा० ११ विव० । (कीदृशस्यैकाकिविहारः कथं च तद्योग्यता भवतीत्युवसंपया शब्दे) (एकाकिविहारस्य परिचितादिव्याख्या व्यवहारकल्पे सा चोवसंपया शब्दे) एकाकिविहारे कारणान्योघनिर्युक्तौ । तत्र प्रथममेकाकिविहारिणः कतिविधा इत्याह

एगेवि पुव्वभणिए, कारणनिक्कारणे दुविहभेदे ।

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितः । तद्यथा कारणे निष्कारणे च । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैकप्रतिपादनार्थमाह ।

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य चक्क थूभादी ॥
ओहावेतो दुविहा, लिंगेन विहारेण वाहोंति ।

अशिवादिभिरादिशब्दादवमौदर्यो राजद्विष्टादिपरिग्रहः । कारणैरेकाकिनः कारणिकाः । चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्प्रतिमानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारणिका लिङ्गेनोत्प्रव्रजितुकामा विहारेण पार्श्वस्थविहारेण विहर्तुकामा भवन्ति ज्ञातव्या । षडप्येते कारणिकाः १ निष्कारणिकाः २ औपदेशिका ३ अनौपदेशिकाः ४ लिङ्गेनावधाविनः ५ विहारेणावधाविनश्च । ६ । प्रायेणैते एकाकिनो विहरन्ति गच्छन्ति । या उपदेशिका यद्यपि नियमतः ससहायास्तथापि येन गच्छान्निर्गतास्तेन एकाकिनो भण्यन्ते इतरेऽपि पञ्च यद्यपि वृन्देन हिण्डन्ते तथापि गच्छान्निर्गता एकाकिनः प्रोच्यन्ते । तत उक्तम् । षडप्येते विहारिण एकाकिन । व्य० द्वि० ७ उ० ।

कियन्ति पुन तान्यशिवादीनि येष्वसावेकाकी भवतीत्याह ।

असिवे ओमोदरिए, गयभए क्खुभिय उत्तिमट्ठे य ।
फिडियगिला अइसेसिं, देवया चेव आयरिए । ११ ।

न शिवमशिव देवनादिजनितो ज्वराद्युपद्रव । अवमौदरिकं दुर्भिक्ष राज्ञो भय क्षुभित क्षोभ सत्रास इत्यर्थ । उत्तमार्थोऽनशन फिडित इति भ्रष्टो मार्गात् ग्लानो मन्द अतिशेषोऽतिशययुक्तः देवताचार्यौ प्रतीतौ अयं तावदक्षरार्थः । भावार्थस्य भाष्यकार एकैकं द्वारमङ्गीकृत्य प्रतिपादकः । " यथोद्देश निर्देशम् " इति न्यायमाश्रित्य यो विधि यतेरसावभिधीयते इहाशिवमेकाकीत्यस्य हेतुत्वं वर्तते तस्मात्तथा कर्त्तव्य यथा तत्र भवत्येव । केन पुनः प्रकारेण तत्र भवतीति चेदुच्यते ।

संवच्छरवारसए ण, होहिइ असिवंति ते तओ णिग्गंति ।
सुत्तत्थं कुव्वंता, अइसइमाईहि नाऊणं ॥ २३ ॥

सवत्सराणां द्वादशक २ द्वौ च दश च द्वादश तेन भविष्यत्यशिवमिति ज्ञात्वा ते इति तदैव तत इति तस्मात् क्षेत्रात् (णिग्गन्ति) निर्गच्छन्ति सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कुर्वन्तो निष्पादयन्तोऽन्यदेशमभविष्यदशिव विश्वस्ताः सङ्क्रामन्ति । कथ पुनर्ज्ञायते । अतिशय आदिर्येषां वे अतिशयादयो ज्ञानहेतव । अतिशयादिज्ञानहेतवस्तैः । अतिशयादिप्रतिपादनायाह ।

अइसेसदेवया वा, निमित्तगहणं सय व सीसो वा ।
परिहाणि जाव पत्तं, निग्गमण गिलाण पडिबंधो ॥२४॥

अतिशयोऽवध्यादिस्तदभावे क्षपकगुणाकृष्टा देवता कथयति । अथवा "आयरियाएण सुत्तत्थे सुणिण्ण सयमेव णिमित्तं घेत्तव्वं अहवा सीसो गहणधारणासंपन्नो निव्विकारी जो सो गिण्हाविज्जइ जया आयरिओ वुड्ढो भवति तया अविकारिस्स सीसस्स दिंति । जाहे सो न होज्जा ताहे अन्नो कोइ पुच्छिज्जइ ताहे वारसहिं निग्गतव्वं । अह वारसहिं ण णायं ताहे इक्कारसहिं जाव जाहे एक्केण वि णाय होज्जा ताहे छम्मासेहिं सुयवाहे णिग्गच्छंतु । अह वा ण चेव णाय असिय जायं ताहे णिग्गच्छन्तु । अक्षरव्याख्या । अतिशयनमतिशयः प्रत्यक्ष ज्ञानमवधिमनः पर्यायकेवलाख्यं तेन ज्ञात्वा देवता वा कथयति । भविष्यत्यशिवमिति निमित्तमनागतार्थपरिज्ञाहेतुग्रन्थस्तस्य ग्रहणं स्वयमेव करोत्याचार्य शिष्यो वा योग्यो ग्राह्यते निमित्त । परिहाणिजाव पत्तत्ति) द्वादशकेन यदा न ज्ञान यदा एकादशकेनेत्येकैकहान्या परिहाणिरिति यावत् प्राप्तमिति तावत् स्थिताः । कथंचिद्यावत् प्राप्तमागतमशिव तत्र किमिति निर्गमन निर्गमः कार्यः सर्वैरेवेति कथ तर्हि अतिशयमाश्रित्य एकाकित्वमिति चेत्तदाह । (गिलाणपडिबंधो) ग्लानो मन्दस्तथैव अशिवकारिण्या देवतया कृतः पूर्वभूतो वा तेन प्रतिबन्धो न निर्गमः सर्वेषां तस्य पूर्वशिवकारिण्या स्वतपः प्रतिपादनायाह ।

संजयगिहि तदुभय, भद्दिया तह तदुभयस्स ।
वियपंता चउवज्जण, उवस्सययतिपरंपराभत्तं ॥ २५॥
असिवे सदसंवत्थं, लोहं लोणं च तह य विगई य ।
एयाइं वा घेज्जा, चउवज्जयणयंति जं भणियं ॥ २६॥

सयताः साधवस्तेषां भद्रिका न गृहिणामिति प्रथमो भङ्गः । गृहिणां भद्रिका न संयतानामिति द्वितीयः । तयोभयभद्रिकेति तृतीयः । तयोभयभद्रिका नेति चतुर्थ । उभयप्रान्ता अभद्रिका अशोभनेत्यर्थः । सा पुण चउप्पगारा संजयभद्दिगा उ भयपंता सजयपता उभयभद्दिगा कहं पुण सजयभद्दिगा होज्जा वा गिहिभद्दिगा सजयपंता सजए चेव पढम । [गिण्हन्ति) जहा एते महातवसी य ते चेव पढमं पेलेयव्वा । एतेसु निज्जिएसु अवसेसा णिज्जिया चेव भवति एत्थ जा होउ सा होउ णिग्गतव्व जाहेण णिग्गया केइ णइयाघाएण को वाघाओ पुव्वं गिलाणो होज्जा ताए वा तो हावियाए कोइ सजओ गहिओ जो पथा वा ण वहति ताहे तत्थ जयणाए अत्थियव्वं । को जयणा इमाणि चत्तारि परिहारियव्वाणि विगई दसविहा । वि लोह लोण

च सदसवत्थं च जाणि य कुलाणि असिवेण गहियाणि तेसु आहारादीणि ण गिण्हाति जाहे सव्वाणि वि गहियाणि होज्जा ताहे दिठ दिट्ठीपण पाभिति तो मच्छिया गिण्हंति दिट्ठी य सकमइ [चउवज्जणत्ति] चतुर्णां वर्जनापरिहारः चतुर्वर्जनादिकृत्यानां चतुर्षु वर्जनीयक्षेत्रस्य सयतभद्रिकागृहिप्रान्ता इत्यादिषु भङ्गकेषु [विसुउवस्सयपयत्ति] ग्लानविधि विष्वग्भेदेन उपाश्रय आश्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः । "जो सतो होज्जा तस्स दूरे ठितस्स भत्तति परपरेण दिज्जति त्ति परंपराभत्तति" त्रयाणां परपराभक्तमाहार । तदेको गृह्णाति द्वितीयस्त्वानयति तृतीयो ऽवज्ञया ददातीत्यर्थः । अवधूतमवज्ञानम् । यथावभूतानामतिग्लानोद्वर्त्तनादिविधिप्रदर्शनायाह ।

उव्वत्तणनिल्लेवण, वीहं ते अणभिओग अभीरुयं ।
अगहियकुलेसु भत्तं, गहिए दिट्ठि परिहरिज्जा ॥२७॥

उद्वर्तन यदसाधु वर्त्तते निर्लेपन यदसौ निर्लेप क्रियते । उपलक्षण चैतत् तस्य सकाशे स्थातव्यम । दिवा रात्रौ वा अथ कीदृशेन साधुना कर्तव्यमित्याह (वीहतोणभियोगत्ति) अनभियोग बिभ्यतीति भयं गच्छति भीरावित्यर्थः । न अभियोगोऽनभियोगः यो भीरुः स तत्र न नियोक्तव्यः । कस्तर्हि करोतीत्याह (अभीरुयत्ति) अभीरुश्च न भीरुरभीरुस्तत्र क्रियते नियुज्यते । च शब्दो वक्ष्यान्तरादिप्रयत्नप्रदर्शनार्थः । अगृहीतेषु अशिवेन भक्त ग्राह्य तदभावे दृष्टि २ संघातपरिहार. । आह चतुर्वर्जनेत्युक्त तत्र भङ्गकाः अपि गृह्यन्त इति । " जो चितु उव्वत्तेति वा परियत्तेइ वा सो हत्थस्स अतरे वत्थ दाऊण ताहे उव्वत्तेइ वा तव्वत्तेऊणं हत्थे महिह्लियाए धोवंती जो य वीहेइ सो तत्थायरिएण ण भाणियव्वो । जहा अज्जो तुम वसाहित्ति जो धम्मस्स ठिओ साहू सो अप्पणा चेव भणति । अह वसामि ।

प्रतिबन्धस्थाने सति कर्तव्यान्तरप्रदर्शनायाह ।

पुव्वाभिग्गहवुड्ढी, विवेगसंभोइएसु णिक्खमणं ।
ते वि य पभिबंधठिया, इयरेसु वल्लारयगाउगं ॥ २८ ॥

पूर्वमित्यशिवे काले येऽभिग्रहास्तप प्रभृतयस्तेषां वृद्धिः कार्या चतुर्थाभिग्रहः षष्ठं करोति । मृते तस्मिन् को विधिरित्याह । (विवेगत्ति) विवेचनं विवेकः विचिर पृथग्भावे परित्याग इति यावत् । कस्यासाविति तदुपकरणस्य अमृते तस्मिन् गमनावसरे च प्राप्ते किं कर्त्तव्यमित्याह । (सभोइएसुणिक्खमिणत्ति) अशेषसमानसमाचारिकेषु विमुच्य गम्यते ते तत्राशिवे कथं स्थिता इत्याह । (ते वि य पभिवंधठियत्ति) न तेषां गमनावसर कुतश्चित्प्रतिबन्धात्तदभावे किं कर्तव्यमित्याह (इतरेसुत्ति) असांभोगिकेष्वित्यर्थ । तदभावे देवकुलिकेषु अतीव सुवल्लत्कारेण तदभावे शय्यान्तरे यथा भद्रक मिथ्यादृष्टि सो य गिलाणो जइ अत्थि अन्ना वसही तहिं ठविज्जइ असतीए ताइ चेव वसहीए एगपासे चिलिमीली किज्जइ । वोर दुहा कज्जइ जेण गिलाणो णिक्खमइत्ति पविसइ वा तेण अतेण साहू णो णिगच्छतु पभियारगाविज्जंता व पत्तेहिं भत्थति जाव सत्थो ण लब्भति ताय जोगवड्ढि करेंति जो न पोक्कारं करेंतओ सो पोरिसिं करोति एव वच्चति जइ पउणो सो साहू योगहिओ ताहेव वच्चति । अह काल करोति ताहे ज तस्स उ करणं त सव्व गड्डिज्जइ ते गड्डित्ता ताहे वच्चति अह से ण चेव मुक्को ताहे अन्नेसिं संभोइयाण स कज्जपभिबंधट्ठियाण तले णिक्खिप्पाति जाहे सभोइया ण होज्जा ताहेय असंभोइयाण जाहे ते ण वि होज्जा ताहे ण सत्थो समकुसीलादीणं तेसिं अन्नाविओ वेभिज्जइ तेसिं देवकुलाणि भज्जति साहू वि य सिद्धपुत्ताण तेसिं असइसावगाण उवणिक्खिवइ पच्छा सिज्झायरे अहाभद्दगेसु वा एव लभिज्जइ नाहे वच्चति । यदि पुनरसौ मुच्यते न आक्रोशति ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

कूयंते अब्भथणं, समत्थ भिक्खू अणिच्छ तद्दिवसं ।
जइ विंदघाइभेओ, तिदुएगो जाव ला दुवमा ॥ २९ ॥

कूज अव्यक्ते शब्दे कूजयत्यव्यक्त शब्द कुर्वाणे किं कार्यमित्याह (अब्भत्थणति) समर्थः शक्तोऽभ्यर्थ्यते तिष्ठ त्व यावद्वय निर्गच्छाम इति निर्गतेषु वक्तव्य इच्छतु भवानहमपि गच्छामि यदीच्छति क्षिप्र निर्गतो वाऽसौ धर्मनिरपेक्षतया नेच्छति ततः किमित्याह । अथ तद्दिवसमनिच्छति तस्मिंस्तस्य साधोर्गमन तद्दिवस स्थित्वा ठिइ लब्ध्वा न द्रष्टव्याः । तैश्च किं सह निर्गन्तव्यमाहोस्विदन्येनापीत्याह (यदि विंदघातित्ति) वृन्दघातिनी ततो द्विधा भेदस्तथापि न तिष्ठति त्रिधा त्रयस्त्रयो द्वौ द्वौ एकैको यावत्तथा (वालति) नान्यथेति तदर्थं भेदः । एवमशिवादेकाकी भवति यदि सो कुव्वति ताहे एक्को भण्णइ त्ति जो समत्थो तुम अत्थ ताहे ठिइ नाऊण विइयदिवसे इज्जासि तस्स मज्जायाते वि सेज्जेयव्वा मा मम कज्जे तुम करतु जाहे सो वि मल्लीणो ताहे सव्वे एगओ वज्जंति जाहे तेसिं एगओ वच्चताणं कोइ विहामो होज्जा एस वद्घाति जत्थ बहूगा तत्थ पऊइ दिठतो कठसघातो पलित्तो सो दुहा कतो पच्छा एक्केक्के दारुगं कज्ज ण जलति । एव ते वि जे गहिया ताहे दुहा कज्ज तिहा जाव तिन्नि तिन्नि जणा एगो पडिस्सयवालो संघामतो हिंमइ । अह तहवि न मुयइ ताहे दो दो हुति अह दो वि जणा ण मुयइ ताहे एक्केक्को भवति तेसि उपगरण ण उवहम्मइ एवं ता एकल्लओ दिठो असिवेण छक्केन पुनरुपायेन एकत्वविशेषणे ज्येष्ठा नष्टास्सन्त एकत्र प्रदेशे सह्रियन्त इत्याह ।

संगारो राइणिए, आलोयणपुव्वपत्तपच्छा वा ।
सोम्ममुहिकालरत्तं, जणंतरे एक दो वि सए ॥ ३० ॥

संगारः सकेतः पृथग्भावकाले कर्तव्य । यथा अमुकप्रदेशे सर्वै सहितव्यमित्युपायस्तं च प्रदेश प्राप्तानां को विधिरित्याह (राइणिएत्ति) वयोधिकस्य गीतार्थस्य पूर्वप्राप्ते वा लोचना, तदभावे लघोरपि गीतार्थस्य दातव्या । कियत्पुनः क्षेत्रमतिक्रमणीयमित्याह । (सोम्ममुहीत्यादि) अशिवकारिण्या विशेषणानि सौम्य मुख यस्या सा । तया कथमुपद्रवकारिण्या सौम्यमुखीत्वे अनन्तरविषय प्रत्युपद्रवाकरणात् कृष्णमुखी द्वितीयविषयेऽपि न मुञ्चति । रक्ताक्षी तृतीयेऽपि न मुञ्चति यथासख्यमनन्तरमेव स्थीयते । सौम्यमुखी एक इति एकमन्तरे कृत्वा द्वितीये स्थीयते कृष्णमुख्याम् (दोण्णि) द्वौ द्वावन्त कृत्वा चतुर्थे स्थीयन्ते रक्ताक्ष्यां "ते सिंगारो दिल्लेल्लओ भवन्ति जहा अमुगत्थ मे ठाउं तत्थ त्ति जाहे मिलीणो भवति ताहे तत्थ जो राइणिओ पुव्वपत्तो वा पच्छापत्तो वा तस्स आलोइज्जंति सा पुण तिविहाओ धाइया सोम्ममुही कालमुही रत्तच्छी य जा सा सोम्ममुही तीसे एक्कं सवीय गम्मइ । कालमुहीए एगोवि सओ अतरिज्जइ रत्तच्छीए दोसविसए अतरेऊण चउत्थे विसइए ठाइ इति असिवित्ति दारं सम्मत्त" अशिवेन यथैकाकी भवति तथा व्याख्यातम । सांप्रतम "उमोयरियात्ति" यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह

एमेव ओमम्मि वि भेदो, उ अन्नंमे गोणिदिट्ठंते ।

रायभयं ति चउव्धा, चरिमद्धिट्ठगो होइ गणभेओ ॥३१॥

(एमेवत्ति) अनेनैव प्रकारेण अवमद्धारमपि व्याख्येयम्। यथा अशिवद्वारव्याख्यान यो विधिरशिवद्वारे सोऽत्रापीत्यर्थ । चशब्दो बहुसादृश्यप्रतिपादनार्थम् । अवमे दुर्भिक्षे अपिशब्द. सादृश्यसम्भवेन तदुच्यते " सवच्छरबारसएण होहि उवमनि तो न वणीत्ति" इत्यादि। भेदन भेद एकैकता तुशब्द एवकारार्थ। कस्मिन् पुनरसौ भवतीत्याह। अन्नाने जघन्यप्राप्तावाहारस्येत्यर्थः। यदेको लभते ततो द्वावपि द्वौ वा दृष्ट्वा न किंचिद्विजहाति एकैक एव लभत इत्येवमाहारकैकाकिनी अत्र दृष्टान्तमाह[गोणिदिट्ठंतेत्ति] गोदृष्टान्त यथा सहृतानां गवां स्वल्पेन तृणोदकेन तृप्ति पृथग्भूतानां न स्यात्तथेहापीति [ओमो आरियाएवत्ति] एमेव कामो वारसहिं सवच्छरेहिं आरद्धं जोहे पर ण पुव्वति ताहे गणभेदं करेति । णाणत्त गिज्झाणो ण तहा परिहरिज्जति एत्थ गोणिदिट्ठतो कायव्वो " अत्र गोब्राह्मण निंदिति ओमेण वि एगागिओ दिट्ठो । साम्प्रत राजभय द्वारप्रतिपादनायाह।[रायभयति]राज्ञो भय राजभय चशब्दः एवमेवेत्यस्यानुकर्षणार्थ । " सवच्छरवारसएत्यादि" कियन्त. पुनस्तस्य भेदा इत्याह चतुर्धा संख्याया. प्रकारवचने धा चतु प्रकारमित्यर्थ । कैः पुनस्ते इति मात्वरिष्ठाः अनन्तरमेवोच्यन्ते किं चतुर्ष्वपि भेदो नेत्याह[चरिमद्धइत्यादि] चरिमे पश्चिमे द्वये भवति जायते गणभेदो गच्छपृथग्भाव एकैकतेत्यर्थः । " रायदुट्ठमवि तहेव वारसहिं संवच्छरेहिं होंति " भेदचतुष्टयस्वरूपदर्शनायाह ।

णिव्विसउत्तिय पढमो, विइओ मा देह भत्तपाणं तु ।

तइओ उवगरणहरो, जीवचरित्तस्स वा भेओ ॥ ३२ ॥

सुगम नवर जीवितभेदकरश्चतुर्थो भेदश्चारित्रभेदकारी वा चतुर्थोभेदो राजा उपकरणहारी जीवितचरित्रहारिणो गणभेदः कार्य इति । "तं चउव्विहं निव्विसउत्तिय पढमो । वीओ मा देहभत्तपाण से तइओ उवगरणहारी जीवचरित्तस्स वा भेओ"आह कथ पुन' साधूनां त्यक्तापराधानां राजभयं भवति "यस्य हस्तौ च पादौ च जीह्वाग्रं च सुयन्त्रितम्। इन्द्रियाणि च गुप्तानि तस्य राजा करोति किम " सत्यमेतत्किं तर्हि ॥

अहिमर अणिट्ठ दरिसण, वुग्गाहणया तहा अणायारो ।

अवहरणदिक्खणाए, आणालोए य कुप्पेज्जा ॥ ३३ ॥

अंतेउरप्पवेसो, वाइणिमित्तं च सो पदूसेज्जा ।

खुभिओ मालुज्जेणी, पलियणं जो जओ तुरियं ॥३४॥

अभिमुखमाकार्य मारयति म्रियन्ते चेत्यभिगमः । कुतश्चित्कोपाद्राजकुल प्रविश्यापर व्यापादयन्तीति साधूनां किमाघातमिति चेदुच्यते । अन्यथा प्रवेशमलभमान. कश्चित्साधुवेषेण प्रविश्य तं हन्तीति ततश्च विकृतत्वात् स राजा साधुभ्य कुप्येत् कुप्येदिति चैतत्क्रिया प्रतिपद योजनीया । अजन्यत्वादनिष्टान् प्रसस्तान्मन्यमानो दर्शन नेच्छति प्रस्थानादौ च दृष्टा इति कुप्येत् । व्युद्ग्राहणता विशब्द. कुत्सायामुत्प्रावल्येन केनचित्प्रत्यनीकेन व्युद्ग्राहितो यथैते तवानिष्ट ध्यायन्तीति कुप्येत् लोक प्रत्यनाचार समुद्देशादौ दृष्ट्वा कुप्येत् । अपहरण कृत्वा तत्प्रतिबद्धो दीक्षित इति कुप्येत्। आज्ञालोपे वा आज्ञा काचिल्लोपिता न कृता ततश्च कुप्येत् । अन्त पुरे प्रवेशं कृत्वा केनचिल्लिङ्गधारिणा विकर्म कृत तत' प्रद्वेष यावत् वादिना वा केनचित् भिक्षुणा परिभूत इति ततो निमित्तात्स इति राजा प्रद्विष्यात् " त पुण रायदुट्ठं कह होज्जा केणइ लिंगत्थेण अतेउरे अवरद्धं होज्जा अहवा अधा वा वाइणा वादे 'तस्स पंमियमाणिस्स बुद्धिलस्स दुरप्पणो । मुद्धं पाएण अक्कम्म वादी वायुरिवागतो' एवं रायदुट्ठ भविज्जा । णिव्विसए भत्तपाणपडिसेहे उवकरणहारे एत्थ गच्छेण चेव गच्छति । जत्थ जीवचरित्तभेओ तत्थ एगागिओ होज्जा" । खुभितद्वार व्याचिख्यासुराह [खुभियजमालुज्जेणित्ति] क्षुभित एकाकी भवति कोन आकस्मिकसंत्रासस्तत्र [मालुज्जेणित्ति] माला अहट्टस्य पतिता उज्जयिनी नगरी तत्र बहुशो मालवा आगत्य मानुषादीन् हरन्ति। अन्यदा च कूपे अहट्टमाला पतिता तत्र केनचिदुक्त माला पतिताऽन्येन सहसा प्रतिपन्नं मालवा पतिता ततश्च संक्षोभस्तत्र किं भवर्न।त्याह [पलायण जो जओ तुरियं] पलायन नाशन य' कश्चिद्यत्र व्यवस्थितवान् स तत एव नष्ट इति [मालुज्जेणित्ति] वृतान्तसूचकं वचन क्षुभिते वा एगागी होज्जा जहा उज्जइणीए अरहट्टमाला पमिया लोगो सव्वो पलाइतो माला वा पमियत्ति परिसे क्षुभिते एगागी होज्जा जो जओ होज्जाओ सो तओ णासइ" अधुना यदुक्तं राजद्वारे" वायणिमित्तं च पमिसेज्जात्ति " तद्व्याचिख्यासुराह ।

तस्स पमियमाणिस्स, बुद्धिल्लस्स दुरप्पणो ।

मुद्धं पाएण अक्कम्म-वादी वायुरिवागतो ॥ ३५ ॥

आह चोदकः शोभनं स्थाने तद्व्याख्या ननु क्षुभिततरेणान्तरितत्वात् कोऽयं प्रकार इत्यत्रोच्यते निर्युक्तिग्रन्थवशाददोषः यतोऽत्रैव गाथया अन्तेउरे इत्यादिकया राजभयक्षुभितद्वारे उक्ते ततस्तत्रानवसरत्वादिहैव युक्ता व्याख्या । तस्येति तस्य राज्ञो भयहेतो' कथंभूतस्य पण्डितमानिन. पण्डितमात्मान मन्यते स एव मान्यो ज्ञानलवदुर्विदग्धत्वात् । बुद्धिं लातीति बुद्धिलस्तस्य बुद्धिलस्य दुरात्मन. मिथ्यादृष्टत्वाज्जडत्वाच्छासनप्रत्यनीकत्वात्स तथा तस्य किमित्याह मूर्धानमुत्तमाङ्ग पादेनाक्रम्य वादी वादलब्धिसंपन्न. साधुर्वायुरिवागतोऽभीष्टं स्थानं प्राप्त इत्यक्षरार्थ' । समुदायार्थस्तु स राजा पण्डितमन्यतया दर्शनं निन्दति तद्वादी वा कश्चित्तत्र साधुवादितेन सभां प्रविश्य न्यायेन पराजितस्तथापि न साधुकारं ददाति प्रभूतत्वात्तथापि निन्दति पुनश्चासौ साधुवादी विद्यादिवादनसमाभज्य शिरसि पादं कृत्वा दर्शनीभूतस्ततश्चासौ परपराभवमसहमान. प्रकर्षेण द्वेषं यायादिति श्लोकार्थ' ।

उत्तमार्थद्वारप्रतिपादनायाह ।

निज्जवगस्स मगासं, असइ एगागिओ वि गच्छेज्जा ।

सुत्तत्थ पुच्छगो वा, गच्छे अहवा वि पमियरिओ ॥३६॥

निर्यामयत्याराधयतीति निर्यामक. । आराधकस्तस्य सकाशं मूलमसति द्वितीयाभावे एकाक्यपि कालं कर्तुं कामो गच्छेदिति सूत्रार्थ.। प्रच्छको वा गच्छेदुत्तमार्थ स्थिता एकाक्यपि मा भूद्व्यवच्छेदोऽथवापि प्रतिचरितु प्रतिचरणकरणार्थम् । "उत्तिमट्ठे वा सो साहू उत्तिमट्ठं पडिवज्जिउकामो आयरियसगासे य णत्थि णिज्जाओ ताहे अन्नत्थ वच्चेज्जा तो सधारुओ वच्चओ असइ नाहणगो एगागिओ वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपमिवन्नओ साहू सुत्तो तस्स यदु सुत्तत्थ तदुभयाणि य अत्तव्वाणि दुमस्स य सकियाणि अन्नस्स य णत्थि ताहे तत्थ पमिपुच्छणाणिमित्तं वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपमियरएहिं गम्मइ ।

फिमियद्वारं व्याचिख्यासुराह ।

फिमियत्ते य परिरएणं, मंदगई वा वि जाव ए मिलिज्जा ।
सोऊणं च गिलाणं, उसहकज्जे असइ एगो ॥ ३७ ॥

फिमितन्ति ते पथेण वच्चंति तत्थ कोइ पथाओ उत्तिण्णो अनेण वच्चेज्जा अहवा थेरो तस्स एगतरा गड्डा वा मोंगरो वा जे समत्था ते उज्जुएण वच्चंति । जो असमत्थो सो परिरएण भमामेण वच्चइ ततो जाव ताण ए मिलइ ताव एगागी होज्जा इदानीं गाथार्थः । फिमित• प्रनष्ट• किमुक्तं भवति प्रनष्टगच्छतामेव सर्वथा पथिद्वयदर्शनात् संजातमाह । अन्येनैव पथा प्रयातस्तत एकाकी भवति (परिरएणत्ति,वा) परिरयो गिर्यादेः परिहरण तेन वा एकाकी कश्चिदसहिष्णु• मन्दगतिर्वा कश्चित्साधुर्यावन्न मिलतितावदेकाकी भवतीति । उक्तं फिडितद्वारम् । इदानीं ग्लानद्वारमुच्यते (सोउण च गिलाणत्ति) गिलाणणिमित्तेण एगागी– होज्जा तस्स ओसहं वा भेसहं वा सेसहं वा आणियव्वं असइसघाडगस्स ताहे एगागी होज्ज वच्चेज्जा अहवा गिलाणो सुक्षो ताहे सव्वेहिं गतव्वं अह अप्पणो आयरिया थेरा ताहे तेसिं पासे अत्थियव्वं ताहे सघाडस्स असइ एगागि वच्चेज्जा इदानीमकरणमेतिका श्रुत्वाऽन्यत्र ग्लानिसघाटे एकाकी व्रजति यदि वा स्वगच्छ एव ग्लान• कश्चित्तदर्थमौषधादीनामानयनार्थ व्रजत्येकाकी द्वितीयाभावे सति । उक्तं ग्लानद्वार मथातिशयद्वारम् ।

अइसेसिउ वासेहं, असइ एगाणि उवगच्छेज्जा ।
देवकलिंगओवरणा–पारणए खीररुहिरं च ॥

कोई अतिसयसपन्नो सो जाणइ जहा एयस्स सेहस्स सइणिज्जगा आयगा ताहे सो भणइ एय सेहं अवणेह जइ अवणेह ताहे एसा ण करेइ पव्वज्जं ततो सो असइ सघाडस्स एगाणिउवि य इविज्जति । इदानीमक्षरार्थः । अतिशयी वा कश्चिदभिनवप्रव्रजित द्वितीयेऽसति एकाकिनमपि प्रवर्त्तयेत् । उक्तमतिशयद्वारम् । इदानीं देवताद्वारम् (देवकलिंगत्ति) इह कलिंगेसु जणवएसु कंचणपुरं तत्थायरिया बहुस्सुया बहागमा बहुसिस्सपरिवारा ते अन्नया सिस्साणं सुत्तत्थे दाऊण सन्नाभूमिं वच्चति । तस्स य गच्छंतस्स पथे महइमहालयो रुक्खो तस्स य हेट्ठा देवया महिलारूपं विउव्विऊणं कलुणकलुणाणि रोइय सा तेण दिट्ठा एवं बिइयदिवसे वि तओ आयरिस्स एक्का जाया । अहो किसइ मा एव रोवइत्ति ताहे उव्वत्तेऊण पुच्छिया किं पुण धम्मसीले रुवसि । सो भणइ किं मम थोव रोइयव्वं आयरियओ भणइ किं कहं वा सा भणइ । अहमेयस्स कचणपुरस्स देवया एयं च भइरा सव्व महाजलप्पवाहेण पलाविज्जाहि त्ति तेण रुयामित्ति । एते य साहुणो एत्थ सज्झयति ते य अन्नत्थ गमिस्सति त्ति । अतो रुयामि आयरिएहिं भणिय कहं पुण एय पिआणिज्जति । सा भणइ जओ तुज्ज खमओ पारणए डुक्कं लभिस्सइ तं से रुहिर भविस्सतित्ति । जइ एवं होज्जा तो पतिपज्जह तं च घेत्तूण सव्वसाहूणं पत्तेसु थोवं थोव दिज्जाह जत्थ देसे त सभाय जाहिं तत्थ ण जलप्पवाहो पव्वविस्सतित्ति सुणिज्जइ ततो पवति आयरिएण पमिवन्न । ताहे वितियदिवसे तहेव भइ तहा य सजात ततो आयरिएहिं सव्वेसिं मत्तए पत्तेय त दिन्न ततो जहासत्तीए पत्नायति जत्थ त पमलं जाय तत्थ मिलिया एवं एगागी होज्जा । उक्तं देवताद्वारम् । मथाचार्यद्वारम् ॥

चरिमाए संदिट्ठो, उग्गहे उए मत्तए गंठी ।
इह एकपइस्सगो, परिच्छया मत्तए सगणं ॥ ३९ ॥

चरिमा चतुर्थी पौरुषी तस्यां संदिष्ट उक्ता यदुत त्वयाऽमुकत्र गन्तव्यं सत्वाभिग्रहिक साधु ततश्चासावेवमाचार्येणोक्त• किं करोति सकलमुपकरण पत्रकपटलादिकोद्वाहयति मात्रकं च तेन गच्छता ग्राह्यमतस्तास्मिन्ग्रन्थिं ददाति मा भूद्भूय• प्रत्युपेक्षणीयं स्यात् एवमसावाभिग्राहिकः सयमे तिष्ठतीति (इह रंति) आभिग्रहिकाभावेऽपि कालवेलायां तु गमनप्रयोजनमापतितं तत• कृत्वोत्सर्ग कृत्वावश्यक किं करोतीत्याह । परीक्षार्थमिति पश्याम• को वा पथि गमनान्तर प्रवर्तते को वा न प्रवर्तते इति स्वगणमात्रमयते ते च प्रतिक्रमणानन्तरं तत्रैवान्तर्मुहूर्तमानकालमासते कदाचिदाचार्याः कल्पपूर्व्वां सामाचारीं प्ररूपयेयुरपूर्वपद तत्रस्थान् तानामन्त्रयतेऽसौ भो भिक्षवो मुख्यं मे गमनकार्यमुपस्थितम ॥

गच्छेज्जा काणुसव्वे, अणुग्गहो कारणाणि दीविंता ।
अमुगो एत्थ समत्थो, अणुग्गहोऽज्जयकिंऽकम्मं ॥४०॥

कतमस्साधुस्तत्र गमनक्रमस्तत्र आचार्येणाक्थवणानन्तर सर्वेऽपि साधव एव ब्रुवन्ति अहं गच्छाम्यह गच्छामीति । अनुग्रहो यं स्तोकं तत आचार्यो वैयावृत्यकरयोगवाहिदुर्बलादीनि दापयित्वा स्वय प्रदर्श्य इद भणत्यमुको न कार्ये समर्थ• क्षम । ततश्च योऽसावाचार्येणोक्तोऽयं क्षम इति स भणत्यनुग्रहो मेऽय नत• को विधिस्तत सजिगमिषुः साधुराचार्यस्य चैत्यसाधुवन्दनां करोति । यदि पर्यायेण लघुस्तत• शेषाणामपि चैत्यसाधूना वन्दनां करोति । अथासौ गन्तुमना• साधूनां रत्नाधिकस्ततस्ते साधवस्तस्य चैत्यसाधुवन्दना विदधति तदुभयकृतिकर्म्मवन्दन तत• सङ्घतस्साधु• किं करोति जिगमिषु• सन् ॥

पोरिसिकरणं अहवा, करणं दोच्चं पुंछणे दोसा ।
सरणमुयसाधुसन्नी, अंतोवहि अनंतत्नावेणं ॥ ४१ ॥

यद्यसौ सूर्योद्गमे यास्यति तत• प्रादोषिकां तत्र पौरुषीं करोति । अथवा रात्रिशेषे यास्यति प्रयोजनवशात्ततस्तत्र पौरुषीमकृत्वैव स्वपिति । एतत्पौरुषीकरणमकरणं चेति । पुनरपि च तेन गच्छताऽऽचार्यः पृच्छनीयः । प्रत्यूषसि यास्याम्यहमिति । अथ न पृच्छत्यतः (दोच्चं पुंछणा दोसत्ति) द्वितीयवारमपृच्छतः दोषा वक्ष्यमाणा के च तेऽत्याह (समरणत्ति) स्मरणमाचार्यस्यैव स जातमेवविधमन्यथा व्यवस्थित कार्यमन्यथा कदाचित् संदिष्टम (सुतत्ति) श्रुतमाचार्यैर्यथा ते तत्राचार्या न विद्यन्ते यन्निमित्त यासौ प्रेष्यते तद्वा कार्यमन्यथा तत्र नास्ति (साधुत्ति) अथवा विकाले साधु• कस्मिंश्चित्तस्मात्स्थानादागतस्तेन कथित यथा स आचार्यस्तत्र नास्तीति (सन्नित्ति) अथवा संज्ञी श्रावक आयात• तेनाख्यातम (अंतोत्ति) अभ्यन्तरतः कस्य प्रतिश्रयस्य केनचिदुल्लपितं यथाऽस्माकमप्येवविधाः साधव• आसन् ते च ततो गता मृता वा (बहित्ति) बाह्यत• प्रतिश्रयस्य श्रुतमन्यस्मै कथमान केनचित् [अभ्नभावेणति] योऽसौ गन्ता सोऽन्यभाव तत्रिप्रकमितुकाम एतच्चाचार्याय तत्संघाटिकेनाख्यात ततश्चासौ प्रियते केनचिद्व्याजेन यदि पुनरसौ गन्ता न प्रबोधयत्यत• ॥

बोहणअपमिबुद्धे, गुरुवंदणघट्टणा अपमिबुद्धे ।
निच्चलनिमन्नऊाड, दट्ठुं चिट्टेव्वं पुच्छे ॥ ४२ ॥

अचेतयति सति तस्मिन् गन्तरि बोधनं गीतार्थ करोति तत• साधुरुपाध्यायाचार्यस्य समीपं गत्वा च यद्याचार्यो विबुद्धस्ततोऽसौ गुरुवन्दन करोति । अथाद्यापि स्वपिति तत घट्टना चार्यपादयो शिरसाघनात्तत्रं क्रियते । अथासौ प्रतिबुद्ध एव

किंतु निश्चल· निष्प्रकम्प उपविष्टो ध्यायी चास्ते ततस्तमेवंभूत निश्चलनिष्पन्नध्यायितं दृष्ट्वा किं कर्त्तव्यमित्याह (चिट्ठेत्ति) स्थातव्य तेन गुरुव्याघातेन महाहानिसंभवात् यथा चलोऽसौ तत· पृष्टव्यो भगवन् स एषोऽहं गमिष्यामीति ततश्चासावाचार्येण सदिष्ट इदमेव त्वया कर्त्तव्यमिति व्रज स चेदानीं गन्तु प्रवृत्तः इत्येतदेवाह

अप्पा हि अणुन्नाओ, ससहाउणीति जा पभायं तु ।
उवयोगं आसन्ने, करेइ गामस्स सा वय जयए ॥ ४३ ॥

संदिष्ट प्राक् पश्चादनुज्ञातो गच्छेति कथ ससहायः कियन्तं काल यावत् ससहायो व्रजति तावत्प्रभात जातं सूर्योदय इत्यर्थः। ससहायश्च प्रभात यावत् व्रजति स्वापदादिभयात् एवमसौ साधुर्व्रजन् ग्रामसमीप प्राप्तः सन् किं करोतीत्याह । उपयोग करोति विषयमुभयाविषय मूत्रपुरीषपरित्याग इत्यर्थः ।कस्मादेवं चेत् ग्रामसंनिधान एव स्थण्डिलसद्भावात् गवादिसस्थानात्। अथ रात्रौ गच्छत· कश्चिदपाय· संभाव्यते तत· प्रभातं यावत् स्थातव्यम् । तथाचाह ।

हिमतेणसावयभया, दारा पिहिया पहं अजाणंतो ।
अत्थइ जाव पभायं, वासियभत्तं च से वसभा ॥ ४४ ॥

हिमं शीतं स्तेनाश्चौरा स्वापदानि सिंहादीनि एतद्भयात् प्रभात यावदास्ते यदि पुरस्य द्वाराणि पिहितानि ग्रामस्य फलिहक· पन्थानं वा अजानन् तिष्ठति यावत् प्रभातमिति । एवं च प्रभात यावत् स्थिते गन्तरि वासिकभक्त दोषान्नं (से) तस्य वृषभा गीतार्था आनयन्ति । अथ केऽन्यस्तदानीयते ।

ठवणाकुलसंखमीए, अणहिंमते सिणेहपयवज्जं ।
भत्तट्ठियस्स गमणं, अपरिणएगाउये वहइ ॥ ४५ ॥

स्थापना कुलेभ्यस्तथा (संखडीएत्ति) सामायिकी भाषा भोजनप्रकरणार्थे तस्य वा के पुनस्तदानयन्त्यत आह (अणहिंमंतोत्ति) ये भिक्षां पर्यटितवन्त कस्मात्पुनस्ते भक्तमानयन्ति उच्यते तेषामहिण्डकानां गृहस्था गौरवेण प्रयच्छन्ति। कीदृशं पुनस्तैर्भक्तमानयनीयम् (सिणेहपयवज्जति) स्नेहेन घृतादिना पयसा क्षीरेण वर्जित भक्त गृह्णन्ति न तैल ग्राह्यम् अमङ्गलत्वात्, न घृत परितापहेतुत्वात् । न दुग्धं भेदकृत्त्वात् काञ्जिकविरोधत्वात् काञ्जिकं प्रायोपायित्वाच्च । संयतानां किं पुनस्ते गृह्णन्ति दधिशक्तुकादि तदसौ भुक्त्वा व्रजति । तथा चाह (भत्तट्ठियस्स गमणति) भुक्तवतस्ततो गमन भवति अथ न तस्य भक्तं परिजातमित्यतोऽपरिणते भुक्ते सति स गव्यूतमात्र यावन्मार्गं वहति क्रोशद्वय च गव्यूतमिति । ओघ० । (एगागिशब्दे एकाकित्वकारणानि तत्र दोषाश्च द्रष्टव्या)

एगल्लविहारपडिमा– एकाकिविहारप्रतिमा–स्त्री० एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्य्या स एव प्रतिमाऽभिग्रहः एकाकिविहारप्रतिमा । जिनकल्पप्रतिमायाम्, मासिक्यादिकाया भिक्षुप्रतिमायां च । अष्टभिश्च स्थानै· सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्येकाकिविहारप्रतिमाम् । तथा चाह ।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए तं जहा सड्ढी पुरिसजाए सच्चे पुरिसजाए मेहावी पुरिसजाए बहुस्सुए पुरिसजाए सत्तिमं अप्पाहिगरणे धिइमं वीरियसंपन्ने ।

अष्टाभिः स्थानैर्गुणविशेषै· सम्पन्नो युक्तोऽनगार· साधुरर्हति योग्यो भवति । (एगल्लत्ति) एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाऽभिग्रहः एकाकिविहारप्रतिमा जिनकल्पप्रतिमा मासिक्यादिका वा भिक्षुप्रतिमा तामुपसंपद्याश्रित्य णमित्यलंकारे विहर्तुं ग्रामादिषु चरितुं तद्यथा (सड्ढित्ति) श्रद्धा तत्वेषु श्रद्धानमास्तिक्यमित्यर्थोऽनुष्ठानेषु वा निजोऽभिलापस्तद्वत्सकलनाकिनायकैरप्यचलनीयसम्यक्त्वचारित्रमित्यर्थ·।पुरुषजातं पुरुषप्रकार १तथा सत्य सत्यवादी प्रतिज्ञाशूरत्वात्सद्भ्यो हितत्वाद्वा सत्यम् २ तथा मेधा श्रुतग्रहणशक्तिस्तद्वन्मेधावी अथवा (मेहावइति) । मेधावी मर्यादावृत्तिः ३ तथा मेधावित्वाद्बहु प्रचुर श्रुतमागम सूत्रतोऽर्थतश्च यस्य तद्बहुश्रुतं तथोत्कृष्टतोऽसपूर्णदशपूर्वधरं जघन्यतो नवमस्य तृतीयवस्तुवेदीति ४ तथा शक्तिमत्समर्थं पञ्चविधकृततुलनमित्यर्थस्तथाहि "तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य।तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओत्ति"५ अल्पाधिकरण निष्कलह·६ धृतिमच्चित्तस्वास्थ्ययुक्तमरतिरत्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गसहमित्यर्थ· ७ वीर्यमुत्साहातिरेकस्तेन सम्पन्नमिति । इहाद्यानामेव चतुर्णां पदानां प्रत्येकमन्तेपुरुषजातशब्दो दृश्यते ततोऽन्त्यपादानामप्यय सम्बन्धनीय इति । अयं चैवविधोऽनगार· सर्वप्राणिनां रक्षणक्षमो भवतीति । स्था० ८ ठा० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू गणाओ अवक्कम्म एकल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठावेज्जा । २६ । एवं गणावच्छेइए । २७ । एवं आयरियउवज्झाए ॥ २८ ॥

भिक्खू य गणातो अवक्कम्म इत्यादि ॥ अथास्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह क सबन्ध । तत आह ।

निग्गमणं तु अहिकयं, अणुवत्तनिवा हाधिकाराओ ।
तं पुण वितिण्णगमणं, इमं तु सुत्तं उभयहा वि ॥

अनन्तरसूत्रे पारिहारिकानिर्गमनमधिकृतमुक्तमिहापि तदेव निर्गमनमुच्यते । अथवा अनन्तरसूत्रे तपसोऽधिकारोऽनुवर्त्तते । इहापि स एव तपोऽधिकार· । तत्पुनरनन्तरसूत्रं निर्गमनमभिहितवत् । वितीर्णमनुज्ञातवत् इद सूत्र निर्गमनमुभयथापि वितीर्णमवितीर्णं च भाषते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या।भिक्षु प्रागुक्तशब्दार्थ·। च पुनरर्थोद्वाक्यभेदे स च वाक्यभेद· सुप्रतीत· पूर्वसूत्रवाक्याद्वितीर्णगमनाभिधायिनोऽस्य सूत्रवाक्यस्य वितीर्णगमनाभिधायितया कथंचिद्भिन्नत्वात् । गणात् गच्छादवक्रम्यविनिर्गत्य एकाकिविहारप्रतिमां एकाकिविहारयोग्यां मासिक्यादिकां प्रतिमामुपसंपद्य विहरेत । स च गणस्य स्मरति । संभाव्यते चैतत् तथा हि यः सूत्रार्थतदुभयैरव्यक्तोयथाविधिना प्रतिमां च प्रतिपद्यते स मा भङ्गमुपैतु इति । तत· स गण स्मरन् इच्छेत् । द्वितीयमपि वारम् । एकं वारं पूर्वमपि प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालगणमाश्रितवान् इदानीं द्वितीय वारमतः उक्त द्वितीयमपि वार तमेवात्मीयं पूर्वमुक्तगुणमनुपसंपद्य पुनस्तमेकाकिविहारप्रतिमाभङ्गमालोचयेत् । गुरुसमीपे आलोच्य पुनः पुनरकरणतया तस्मात्स्थानात्प्रतिक्रम्य च यदापन्नं प्रायश्चित्त छेद परिहार वा तस्य छेदस्य परिहारस्य वा करणाय पुनरुपतिष्ठेत इह प्रतिमाप्रतिपन्नेन यत्रैवाकृत्य समासेवित तत्रैवाह । दुष्कृतं मयेत्यादि चिन्तनतस्तदालोचितं प्रतिक्रान्तं च । गुरुसमक्ष तु द्वितीयवारमिति पुनःशब्दोपपत्तिरेषसूत्रसंक्षेपार्थः

विस्तरार्थं भाष्यकृदाह ।

संथरमाणस्स विही, आयारदसासु वण्णितो पुव्विं ।
सो चेव य होइ विही, तस्स विभासा इमा होति ॥

संस्तरन् नाम उच्यते यः सूत्रोक्तविधिना प्रतिमाप्रतिपत्तियोग्यतामुपागतः मासिक्यादीनां च प्रतिमानां मध्ये यां प्रतिमां प्रतिपन्नस्तां सम्यक्परिपालयितुं क्षमस्तस्य संस्तरतो विधिः समाचारी। आचारप्रधाना दशा आचारदशास्तासु दशाश्रुतस्कन्धेष्वित्यर्थः । भिक्षुप्रतिमाध्ययने पूर्वं वर्णित. स एव इहापि अस्मिन्नप्यधिकृतसूत्रव्याख्याप्रस्तावे परिपूर्णो भवति ज्ञातव्य. तस्य प्रस्तावायातत्वात् । तथाहि एकाकिविहारप्रतिमामुपसम्पद्य विहरेदित्युक्त तत साक्षादुपात्ता एकाकिविहारप्रतिमेति भवति । तद्विधिप्ररूपणावसरः । केवलं सकलभिक्षुप्रतिमाध्ययन प्रतिपाद्य इति तत एवावधारणीयः । इह पुनस्तस्यैकाकिविहारप्रतिमाविधिर्विभाषा कर्त्तव्यः । यथा ईदृशस्य एकाकिविहारि प्रतिमाप्रतिपत्तिः कल्पते अनेन च प्रकारेण प्रतिपद्यते । ईदृशश्च एकाकिविहारप्रतिमाया अयोग्य इति । सा इयं वक्ष्यमाणा भवति । तामेवाभिधित्सुराह ।

घरसउणिसीहपव्वइय-सिक्खपरिकम्मकरणे दो जोहा ।
करणेलगच्छखमदुग, गच्छाएमा ततो नीती ॥

परिकर्म्मकरणे द्वौ दृष्टान्तौ तद्यथा गृहेऽवस्थित शकुनिर्गृहशकुनिस्तथा सिंहश्च वने व्यवस्थित इति गम्यते तथा (पव्वइयसिक्खत्ति) प्रव्रजनं प्रव्रजितं प्रव्रज्या इत्यर्थः । शिक्षा ग्रहणासेवनरूपं शिक्षाद्विकं एते द्वे द्वारे वक्तव्ये एतच्च शेषद्वाराणामर्थग्रहणादीनामुपलक्षणमतस्तान्यपि वक्तव्यानि । तत परिकर्म्मकरण वक्तव्य तदनन्तरं परिकर्म्मित परीक्षायां द्वौ योधौ दृष्टान्तत्वेनोपन्यसनीयौ । तत स्थिरीकरणनिमित्त तस्योपसर्गव्यावर्णनायां सूत्रार्थकरणव्यवस्थितैलकाक्षरूपं क्षपकद्विकज्ञात वक्तव्यम्। तत एव कृतपरिकर्म्मा सन् गच्छारामात् सर्वर्तुकपुष्पफलोपगमारामरूपात् गच्छाद्विनिर्गच्छति । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषु प्रथमतो गृहकुशनिदृष्टान्तं भावयति॥

वासगगयं तु पोसति, चंचूपूरेहि सउणियां सावं ।
वारेइ य उड्डतं, जाव समत्थं न जायं तु ॥

शकुनिका पक्षिणी आत्मीय शाव (वासगगयति) प्राकृतत्वाद्याकारस्य लोप आवासो नीममाधास एवावासकस्तद्गतं तुरेवकारार्थः। आवासकगतमेव शावं चञ्चूपुरैश्चञ्चूभरणैः पुष्णाति पुष्टीकरोति । यदि कथमप्यसजातपक्षोऽपि बालचापलेनावासाद्बहिर्जिगमिषुरुड्डीयते ततस्तमुड्डीयमानं वारयति प्रतिषेधयति । सा चैवं तावत्करोति यावत्समर्थो न जायते । गाथायां तु नपुंसकनिर्देश प्राकृतत्वात् । समर्थस्तु जात. सन्न प्रतिषिध्यते । ततो निरुपद्रवं स्वेच्छया विहरति । भावितः शकुनिदृष्टान्त. ॥

सम्प्रति सिंहदृष्टान्तं भावयति ॥

एमेव वणे सीही, सा रक्खइ छावपोयगं गहणे ।
खीरमिउपिसियचव्विय, जा खायइ अट्ठियाइं पि ॥

एवमेव शकुनिकागतेनैव प्रकारेण वने किं विशिष्टे इत्याह गहने अतिशयेन गुपिले स्थिता सती सिंही शावपोतक शाव एवातिलघुत्वात् पोत. पोतकः शावपोतकस्तं रक्षयति । व्याघ्रादिभ्यस्तथा क्षीरेण स्तन्येन मृदुचर्वितपिशितेन च तावदात्मीय शावपोतकं पुष्णाति यावदस्थीन्यपि खादति ॥

मारियममारिएहिं, ता तीरावेति छावएहिं तु ।
वणमहिसहत्थिवग्घाए, पच्चलो जाव सो जातो ॥

वनमहिषादीनां शावकैर्मारितैरमारितैर्वा तावन्तमात्मीयशावं तीरयति समर्थीकरोति यावत्तेषां वनमहिषहस्तिव्याघ्राणां स्वयमेव व्यापादने प्रत्यलः समर्थो जातो भवति । कृता सिंहदृष्टान्तभावना ॥

सांप्रतमनयोरेव निदर्शनयोरुपमानार्थमिदमाह ॥

अकयपरिकम्ममसहं, दुविहा सिक्खा अकोवियमवत्तं ।
पक्खिवक्खेण उवमियो, सउणिगसीहादिछावेहिं ॥

न कृतानि परिकर्म्माणि वक्ष्यमाणानि येन स तथा तमकृतपरिकर्माणमकृतपरिकर्मत्वादेवासहमेकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपत्तुमसमर्थम् । तथा द्विविधायां शिक्षायां ग्रहणासेवनरूपायामकोविदमनभिज्ञम् । तथा श्रुतेन वयसा वा प्राप्तयोग्यतार्क (पक्खिवक्खेणति) ये ये प्राक् शकुनिपोतसिंहशावकानां संजातपक्षत्वादयो गुणा उक्तास्तेषां प्रतिपक्षेण प्रातिकुल्येनासंजातपक्षत्वादिना विशिष्टाः शकुनिसिंहादिशावका आदिशब्दात् व्याघ्रादिपरिग्रहस्तैरुपमितस्तथाहि यथा शकुनिपोतोऽसंजातपक्षो यद्यावासाद्विनिर्गत्य स्वच्छन्दमापरिभ्रमति ततः स काकढङ्कादिभ्यो विनाशमाविशति। सिंहपोतकोऽपि यदि क्षीराहारो गुहातो विनिर्गत्य वने स्वेच्छया विरहति तत सोऽपि वनमहिषव्याघ्रादिभिरुपहन्यते । एवं साधुरप्यकृतपरिकर्मा द्विविधशिक्षायामकोविद श्रुतेन वयसाऽप्राप्तयोग्यताको यदि गच्छादेकाकिविहारप्रतिमाप्रतिपत्तये विनिर्गच्छति तत स नियमादात्मविराधनां संयमविराधनां च प्राप्नोतीति । तदेव "घरसउणिसीहत्ति" व्याख्यातम् । सम्प्रति प्रव्रजितशिक्षादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि । तत्संग्राहिका चेय गाथा ।

पव्वज्जा सिक्खावय-सत्थग्गहणं व अणियतो वासे ।
निप्पत्तियवीहारो, सामायारी ठिती चेव ॥

अस्या व्याख्यानं कल्पे सविस्तरमुक्तमत्र तु लेशतोऽर्थमात्रमभिधीयते । प्रथमतस्तावत्प्रव्रज्या भवति । सा च द्विविधा धर्म्मश्रवणतोऽभिसमागमतश्च तत्र या आचार्यादिभ्यो धर्म्मदेशनामाकर्ण्य ससाराद्विरज्य प्रतिपद्यते सा धर्म्मश्रवणतः या पुनर्जातिस्मरणादिना सा अभिसमागमत.। प्रव्रजितस्य च शिक्षापदं भवति । शिक्षा च द्विधा ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षा च । तत्र ग्रहणशिक्षा सूत्रावगाहनम् आसेवनाशिक्षा सामचार्यभ्यसन शिक्षापदनन्तरं चार्थग्रहणकरणंतदनन्तरं चानियतो वासो नानादेशपरिभ्रमणं कर्त्तव्य गतमन्तरेण नानादेशीयशब्दाकौशलेन नानादेशीयभाषात्मकस्य सूत्रस्य परिस्फुटपूरणार्थनिर्णयकारित्वानुपपत्तेः । तदनन्तर वाचनाप्रदानादिना गच्छस्य निष्पत्तिर्निष्पादन कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं विहारोऽभ्युद्यतो विहारो जिनकल्पादिप्रतिपत्तिलक्षण करणीय. । तस्य च विहारस्य या सामाचारी सा वक्तव्या । तथा स्थितिर्जिनकल्पादीनां क्षेत्रकालादिद्वारेषु चिन्तनीया। तत्र प्रव्रज्या,शिक्षा,पदमर्थग्रहण-मनियतो वास , निष्पत्ति-र्विहारः, सामाचारीति सप्त द्वाराणि प्रतिमायामुपयोगीनि । तत्रापि प्रव्रज्या शिक्षापदमर्थग्रहणं चेति । त्रीणि द्वाराणि प्रतिमां प्रतिपत्तुकामस्य नियमतो भवन्ति शेषाणां भजना तथा चाह ॥

पव्वज्जासिक्खावय-मत्थग्गहणं च सेसए भयणा ।

सामायारिविसेसे, नवरं वुत्तो उ पडिमाए ॥

प्रव्रज्या प्रव्रजनं शिक्षापदमर्थग्रहणमानियतो वासःशिक्षाद्विकमर्थ ग्रहणमर्थपरिज्ञानमित्येतत् त्रय प्रतिपित्सोर्नियमेन भवति शैषिके अनियतवासनिष्पत्तिलक्षणद्वारद्विके भजना विकल्पना य आचार्यपदार्हस्तस्य नियमादिद द्वारद्वयमस्ति शेषस्य तु नास्तीत्यर्थः । विहार पुनः प्रतिमाप्रतिपत्तिलक्षणोऽस्त्येव सामाचार्या अपि जिनकल्पिकसामाचारीतो विशेषोऽस्ति नवर सामाचारीविशेषः प्रतिमायां प्रतिमागतो दशाश्रुतस्कन्धे भिक्षुप्रतिमाख्ये योऽन्य उक्तः प्रतिपादित इति स न पुनरुच्यते । सम्प्रति परिकर्म करण वक्तव्यम् । तत्र पर आह ननु तत्परिकर्म किं गच्छ एव स्थितः करोति उत गच्छाद्विनिर्गत्येति । सूरिराह ।

गणहरगुणेहिं जुत्तो, जति अन्नो गणहरो गणे अत्थि ।

निग्गति गणातो इहरा, कुणति गणे चेव परिकम्मं ॥

यदि नाम गणे गच्छे अन्योऽन्यगणधरः गणधरपदार्ह इत्यर्थः । गणधरगुणयुक्तो विद्यते न च प्रयोजनेनान्यत्र गतस्ततस्तं गणे स्थापयित्वा गणाद्विनिर्गच्छति विनिर्गत्य च परिकर्म करोति । इतरथा तथाविधान्यगणधरयुक्तगणधरत्वार्हाभावे गण एव स्थितः सत्परिकर्म करोति अत्र पर आह । ननु तेन पूर्वं द्विधा शिक्षां शिक्षमाणेनात्मा भावित एव ततः किमिदानीं भावनाभिः परिकर्मणेत्यत आह ।

जइ वि हु दुविहा सिक्खा, आइल्ला होति गच्छवासम्मि ।

तहवि य एगविहारे, जा जोग्गा तीए भावेंति ॥

यद्यपि द्विविधा शिक्षा आद्यसूत्रग्रहणसामाचार्यासेवनलक्षणा भवति गच्छवासे तथापि गच्छावासे योग्यतातः एकाकिविहारे या योग्या शिक्षा तद्योग्यसामाचार्यभ्यासरूपा तया स आत्मानं भावयति तद्भूतसामाचार्यभ्यासश्च पञ्चभिर्भावनाभिर्भवति । ततस्ताभिर्विशेषतः आत्मानं परिकर्मयति ।

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।

तुलणा पंचहा वुत्ता, पडिमं पडिवज्जतो ॥

प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य प्रतिपत्तुकामस्य तुलना परिकर्मणा । पञ्चधा पञ्चप्रकारा प्रोक्ता तद्यथा तपसा सत्वेन सूत्रेण एकत्वेन बलेन च । तत्र तपोभावनाप्रतिपादनार्थमाह ।

चउत्थेण उ जतते, छट्ठेहिं अट्ठमेहिं दसमेहिं ।

बारसचउदसमेहि य, धीरो धीमं तुलेऽप्पा ॥

प्रथमतश्चतुर्थेन यतते । किमुक्तं भवति । प्रथमतो नियमेन त्रीन् वारान् चतुर्थं करोति तत्र यदि त्रिरपि कृते चतुर्थे क्लाम्यति ततस्तावदभ्यस्यति चतुर्थं यावच्चतुर्थं कुर्वन् मनागपि न क्लाम्यमुपयाति । एवं चतुर्थेन यतित्वा त्रीन्वारान्षष्ठं करोति तत्रापि यदि वारत्रय कृते षष्ठे क्लाममुपैति ततश्चतुर्थवत् षष्ठेऽप्यभ्यासं तावत्करोति यावत्तस्यापि करणे ग्लानिर्नोपपद्यते एवं षष्ठैरात्मानं भावयित्वा अष्टमैर्भावयति । तदनन्तरं दशमैस्ततो द्वादशैरुपलक्षणमेतत् ततोऽनेन प्रकारेण षोडशादिभिश्च धीरो धृतिमान् आत्मानं तुलयति परिकर्मयति स च तावत्तुलयति । यावत्षण्मासान् सोपसर्गेऽपि न क्षुधाहानिमुपगच्छति उक्तं च ।

जाव छम्मासा पोरिसि-माई तवो उ तं तिगुणं ।

कुणइ छुहा वि जइट्टा, रिगिनदिसीहेण दिट्ठंतो ॥

एक्केक्कं ताव तवं, करेति जह तेण कीरमाणेणं ।

हाणी न होइ जइया वि, होज्ज छम्मास उवसग्गो ॥

तत्र यदुक्तं चतुर्थादिषु तावदभ्यासं करोति यावन्न क्लाम्यति तत्र गिरिनदीसिंहदृष्टान्तः । तथाहि यथा सिंहो गिरिनदीं तरन् परतटे चिह्नं करोति यथा अमुकप्रदेशे वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्यमिति संचरन् तीव्रवेगोदकवेगेनापह्रियते । ततः प्रत्यावृत्त्योत्तरति । एवं प्रमाणतस्तावत्तरणं करोति यावदमन्नः सन् सकलामपि गिरिनदीं शीघ्रं तरति । एवं साधुरपि यत्रि चतुर्थं षष्ठमष्टमादि वा त्रीन् वारान् कृत्वा क्लमं याति ततश्चतुर्थादिकं प्रत्येकं तावदभ्यस्यति यावन्न क्लाम्यतीति । तथा चैनामेव सिंहदृष्टान्तयोजनामाह ।

जह सीहो तह साहू, गिरिनदिसीहो तवोधणो साहू ।

वेयावच्चकिलंतो, अभिन्नरोमो य आवासे ॥

यथा सामान्येन गुहायां वर्त्तमानः सिंहस्तथा गच्छे वर्त्तमानः साधुर्यथा च गिरिनदीमुत्तरन् अभ्यासकरणे प्रवृत्तः सिंहस्तथा तपोधनः तपःकरणाभ्यासप्रवृत्तः साधुः । एवं चतुर्थषष्ठाष्टमादि तपः कुर्वन् स आत्मवैयावृत्यकरो ज्ञातव्यः । कस्मादिति चेदुच्यते । यस्मात्स तपसा पूर्वसंचितं कर्ममलं शोधयन्नात्मन एवोपकारे वर्तते । ततः स आत्मवैयावृत्यकरः एवमात्मनो वैयावृत्ये अक्रान्तः सन् (आवासेत्ति) अवश्यकरणीयेषु योगेषु न भिन्नरोमा भवति । गतं तपोभावनाद्वारम् ।

अधुना सत्वभावनाद्वारमाह ।

पढमा उवस्सयम्मि, विइया बाहिं तइया चउक्कम्मि ।

सुण्णघरम्मि चउत्थी, पचमिया तह मसाणम्मि ॥

प्रथमा सत्वभावना उपाश्रये कथमिति चेत् उपाश्रयान्तर्निशि प्रतिमया प्रतिदिवसमवतिष्ठते स च तथावतिष्ठमानो मूषिकमार्जारादिस्पर्शनदर्शनादिभयं तावद् जयति यावत्तत्स्पर्शनादिभावे रोमोद्भेदमात्रकरमपि भयं नोपजायते । उक्तं च "उक्कस्स व लइयस्स व, मूसियमादीहि वा निसिचरेहिं । जइ न विजायइ रोमु-ग्गमो वि तह चेव वामोवा " द्वितीया सत्वभावना उपाश्रयस्य बहिरुपच्छन्ने तत्र हि प्रतिमां प्रतिपन्नस्य बहुतरं मार्जारादिभयं संभवति । ततस्तज्जयार्थं द्वितीया । भवसत्वभावना तृतीया सत्वभावना चतुष्के तत्रातिप्रभूततरं त्रिविधं तस्कराराक्षिकस्वापदादिभ्यो भयम् । चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमीका श्मशाने । तत्र हि यथोत्तर सविशेषा सविशेषतरा त्रिविधा बाधा उक्तं च 'सविसेसतरा बाहिं, तक्करआरक्खिसावयादीया । सुण्णघरमसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा' एताभिः पञ्चभिरपि सत्वभावनाभिस्तावदात्मानं भावयति यावद्दिवा रात्रौ वा देवैरपि भीमरूपैर्न चालयितुं शक्यते । उक्तं च " देवेहिं भेसिया अवि दिया वा रातो वा भीमरूवेहिंतो सत्तभावणाए वहति भरं निज्झतो सगल" । गता सत्वभावना ।

संप्रति सूत्रभावनामाह ।

उक्कवितोवक्कवियाइं, सुत्ताइं करेइ सोयव्वाइं ।

भत्तट्ठपोरिसीतो, दिणे य काले अहोरत्ते ॥

सोऽधिकृतप्रतिमाप्रतिपत्तिनिमित्तं परिकर्मकारी साधुः सर्वाण्यपि सूत्राणि उत्कवितोऽपकवितानि करोति । किमुक्तं भवति उपरितनादारभ्योत्करेणाधोऽवतरति मूलाद्वा समारभ्य क्रमेणोपर्युपर्यवगाहते । एकान्तरितायां एकग्रहणेन सर्वं मूलादारभ्य तावत्परावर्तयति यावत्पर्यन्तः । ततः उपरितनभागादारभ्य गुणितं मुञ्चन् सर्वमगुणितं तावत्पश्चादानुपूर्व्या गुणयति

थावन्मूलमित्यादि । ननु पूर्वमपि तस्य स्वाभिधानमिव सर्वमपि श्रुतं पूर्वादिरूपमतिपरिचितमेव तत. कस्मादेवमिदानीमभ्यस्यति उच्यते कालपरिमाणावबोधनिमित्तम् । तथा हि स तथा सूत्रमाचारनामकनवमपूर्वगततृतीयवस्तूक्तप्रकारेण परावर्तयति। यथा उच्छ्वासपरिमाणं यथोक्तरूपमवधारयति । तत उच्छ्वासपरिमाणावधारणात् उच्छ्वासनिःश्वासपरिमाणावधारणं तस्मात्स्तोकस्य स्तोकान्मुक्तस्य मुहूर्तार्द्धपौरुष्यान्यां पौरुष्या. पौरुषीभिर्दिनानामुपलक्षणमेतत् रात्रीणां च दिनरात्रीभ्यां वाऽहोरात्राणामेवं मुहूर्त्तात् पौरुषीदिनानि अहोरात्रांश्च काले कालविषये जानाति । उक्तं च । "जइ वि य से वत्थादी, सनाममिव परिचिय सुयं तस्स । कालपरिमाणहेतुं, तहावि खलु तज्जय कुणति । उस्सासाती पाणू, ततो य थोवो ततो वि य मुहुत्तो । मुहुत्तेहिं पोरिसीतो, जाणंति निसाय दिवसा य" उक्ता सूत्रभावना ।

सांप्रतमेकत्वभावनामाह ।

अण्णो देहातो अहं, नाणत्तं जस्स एवमुवलर्द्धं ।
सो किं वि साहरिकं, न कुणइ देहस्स भंगे वि ॥

अहं देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्मणां कुर्वत शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्धः स दिव्यादिषु उपसर्गवेलायां देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि किञ्चिदपि (आहरिकमिति) उच्छ्वासं न करोति । गता एकत्वभावना ।

सम्प्रति बलभावनामाह ।

एमेव य देहवलं, अभिक्खमासेवणाए तं होइ ।
लंखकमल्ले उवमा, आसकिसोरे य जोग्गविए ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण बलभावनयापि देहस्तथा भावयितव्यो यथा देहस्य करणीयेषु योगेषु बलं न हानिमुपगच्छति ननु तपसा क्रियमाणेन नियमतो देहबलमुपगच्छति तत. कथमुच्यते बलभावनया तथा देहो भावयितव्यो यथा देहबल न हानिमुपयातीति सत्यमेतत् किं तु देहबल धृतिबलसूचनार्थं ततोऽयं भावार्थो बलभावनया तथा यतेत यथा देहोपचयेऽपि धृति. समुत्साहवती समुत्साहमतितरां समुपजायते । यथा प्रबलामपि परीषहचमूमतिसोपसर्गामपि लीलया योधयति । तथा चोक्तं "कामं तु सरीरबलं, हायति तवभावणा पसुत्तस्स । देहावए वि सत्ती, जह होति धिती तहा जयइ । कारिणो परीसहचमू, जइ उव्वेज्जाहि सोवसग्गावि । दुरुपहकर वेगा, भयजणणी अप्पसत्थाणं ॥ धितिधणियबद्धकच्छो, जो होइ अणाकुलो समव्वहितो । बलभावणाए धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ" ततो ऽपि च सर्वा अपि भावना धृतिबलपुरस्सरा । विशेषतो धृतिबलभावना भावयितव्या । प्रबलदैवाद्युपसर्गोपनिपातेऽपि स्वकार्यं साधयति न खलु धृते. किंचिदसाध्यमस्ति । आह च । "धितिबलपुरस्सरातो, हवति सव्वावि भावणा तोया । त तु न विज्जइ सत्त, जं धितिमतो न साहेइ" । तस्मात्तपोबलप्रभृतीनामभीक्ष्णसेवनया भवति । अत्रोपमा दृष्टान्तो लङ्खको मल्लश्च न केवलं लङ्खको मल्लकश्च दृष्टान्त. किं त्वश्वकिशोरश्च किंविशिष्ट इत्याह । यो ज्ञापितः परिकर्मित इत्यर्थ । एषा च दृष्टान्तानामियं भावना । लङ्खको ऽभ्यास कुर्वन्नभ्यासप्रकर्षवशतो रज्ज्वामपि नृत्यं करोति । मल्लोऽपि करणानि पूर्वं दुःखेनाभ्यस्यन् कालेन कृताभ्यास. पश्चादयत्नेन प्रतिमल्लं जयति । अश्वकिशोरोऽपि हस्त्यादिभ्यो भयं गृह्णानो दुःख तत्पार्श्वे प्रथमतः स्थाप्यमानोऽभ्यासप्रकर्षवशतो न मनागपि तद्भयं करोति । तथा च सति सङ्ग्रामे हस्त्यादिभिश्च परि व्रजनेऽपि न भङ्गमुपयाति । एषा दृष्टान्तभावना । दार्ष्टान्तिकयोजना त्वियम् एवमभीक्ष्णासेवनया तपसा न क्लाम्यति सत्त्वावष्टम्भतो देवादिभ्यो न बिभेति । सूत्रतः सूत्रार्थचिन्तनप्रमाणेन कालं दिनरात्रिगतागतरूपं जानाति । एकत्वभावनातो यथोक्तस्वरूपो निस्सङ्गो भवति । बलभावनातोऽत्यन्त बलम्मतः प्राणात्ययेऽपि नात्मानं मुञ्चति । तदेवं परिकर्मकरणं व्याख्यातम् । सम्प्रति 'दो जोहा' इत्येतत्व्याख्यातव्यम् । तत्र परिकर्मणि कृते आचार्येण स परीक्षणीयः किमसौ कृतसम्यक्परिकर्मा किं वा नेति तत्र द्वे योधनिदर्शने ते एवाह ।

पज्जोयमंतीवई खंरु-कण्णसाहस्सिमल्लपारिच्छा ।
महकाल छगलसुरघरु, तालपिसाए करे मंसं ॥

अवन्तीपति. प्रद्योतः खरकर्णो नाम मन्त्री । अन्यदा राज्ञः पार्श्वे साहस्रिक. साहस्रिकयोधी मल्ल. समागतः । तस्य खरकर्णनामात्येन महाकालश्मशाने छागेन सुराघटेन परीक्षा कृता ॥ तत्र तालप्रमाण. पिशाचस्तालपिशाचस्तस्य करे हस्ते मांसं दत्तवान् । द्वितीयो मल्ल आगत. सोऽपि तथैव परीक्षितः केवलं स तालपिशाचाद्भयमगमत् ॥ एष गाथा सङ्क्षेपार्थ. । भावार्थ कथानकादवसेयस्तच्चेदम् । अवती जणवए पज्जोयस्स रण्णो मती खरुकण्णो नाम अण्णया सहस्सपि जो जुज्झेइ सो आगतो ओलग्गामित्ति रायाण विण्णवेत्ति रण्णा भणिय ओलग्गाहि ततो सो भणइ मम वित्ती जा सहस्सजोहाए सा दायव्वा ॥ ततो खरकण्णो चिंतेइ । परिक्खामि ताव एयस्स सत्त जइ सत्तमंतो । होइ ततो सच्च सहस्सजोही ततो खरुकण्णेण छगलओ सुरघडओ य दातु भणितो अज्ज कण्हचउद्दसीए रत्ति महाकाले मसाणे भक्खेयव्व । ततो सो महाकाल गतु छगलयं उद्धवेत्ता परुलेत मसं खाइय सुरं च पाउमाढत्तो नवरं तालपिसातो आगतु हत्थं पसारेति मम गि देहित्ति । ततो सो सहस्सजोही अभीतो पिसायस्स वि देइ । अप्पणो य खायति य रण्णा य पच्चतियपुरिसा पभियारगा पेसिया ते जहवित्त पासित्ता रण्णो खरुकण्णस्स य कहेंति । सच्च सहस्सोही एसोत्ति वित्ती दिण्णा अन्नो वि आगंतु विण्णवेति ओलग्गामित्ति । सोवि तहेव परिक्खिउमाढत्तो । तालपिसातो आगतो । भीतो नट्ठो परिचारगेहिं रण्णो खंरुकण्णस्स य जहावित्तं कहियं । न दिण्णा सहस्सजोहवित्ती" । एवमाचार्योऽपि किमय कृतसम्यक्परिकर्मा किं वा नेति तपःप्रभृतिभि त परीक्षेत । कथमिति चेदत आह ॥

न किलामाति दीहेण वि, तवेण न वि तासितो वि बीहेति ।
छणणेवि ठिते वेलं, सहेति पुट्ठो अवितहं तु ॥
परपच्छसंथुएहिं, निसिज्जई दिट्ठि एगमाईहिं ।
दिट्ठीसुहवसेहि य, अब्भत्थवलं समूहंति ॥

आचार्यस्तपःकारापणादिना प्रकारेण तं सम्यक्परीक्षेत तद्यदा दीर्घेणापि तपसा न क्लाम्यति सदा स तपःपरिकर्मितो ज्ञातव्य । यदा तु न विभ्रासितो मार्जारप्रभृतिभ्यापदादिभिर्न बिभेति सदा सत्वपरिकर्मित. यदा तु मेघच्छन्ने नभसि वसतिमध्ये वा स्थितः कियत्गत दिवसस्य कियद्वा गत रात्रेः कियद्वा शेषमिति दिवसस्य रात्रेर्वा वेलां पृष्टः सम्यविनयां साधयति कथयति सदा ज्ञातव्यः स सूत्रभावनापरिकर्मित. । तथा पूर्वसस्तुता भार्याश्वश्रूश्वशुरादयस्तेषु पूर्वसंस्तुतेषु व,

नार्थमुपागतेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात् । दृष्टिरागादिभिर्न स्निग्धदृष्ट्यादिभिः आदिशब्दात् मुखविकाशादिपरिग्रहः न सज्यते न सङ्गमुपयाति । तदा स एकत्वभावनापरिकर्म्मितो वेदितव्यः । एतदेव व्याचष्टे । दृष्टिमुखवर्णाभ्यां स्निग्धया दृष्ट्या अर्द्धावलोकनेन स्फारीकृतकान्तिमुखवर्णकरणेन च उपलक्षणमेतत् । सम्भाषादिना च तस्याध्यात्मबलमेकाकित्वभावनाबल (समूहंति) परिभावयन्ति सूरयः । बलभावनामाह ।

जयतो किसो किसदढो, दढो किसोया वि दोहि वि दढो य ।
पायचरमापसत्था, धितिदेहं समप्पिया भंगा ॥

बलचिन्तायां चतुर्भङ्गी तद्यथा उभयतो धृतिदेहाभ्यां कृशः कृश उक्त भवति । शरीरेण कृशो धृत्या च कृशः एष प्रथमो भङ्गः (किसदढोत्ति) शरीरेण कृशो धृत्या च दृढ एष द्वितीय (दढो किसो यावित्ति) शरीरेण दृढो धृत्या कृशः एष तृतीयः । उभाभ्यामपि च शरीरेण धृत्या च दृढ एष चतुर्थः । अत्र द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ धृतिदेहसमाश्रितौ धृतिदेहविषयौ प्रशस्तावेकाकिविहारप्रतिमायोग्यौ द्वितीयस्य दृढधृत्याश्रयत्वात् । चरमस्य दृढधृतिदेहाश्रयत्वात् । एते च एकाकिविहारप्रतिपत्तये कृतपरिकर्माणः स्वयमेवात्मानं तुलितमतुलितं वा प्रायो जानन्ति । ज्ञात्वा च प्रतिमाप्रतिपत्तये आचार्यान्विज्ञपयन्ति तथा चाह ।

सुत्तत्थभावियसारा, सुत्तेण कालं तु सुट्ठु नाऊणं ।
परिचिय परिकम्मेण य, सुट्ठु तुलेऊण अप्पाणं ॥
तो विष्णवेंति धीरा, आयरिए एगविहरणमतीओ ।
परिएगसुय सरीरे, कयकरणा निव्वसट्ठाणे ॥

सूत्रार्थयोर्भरणेन क्षरणेन सारा शोभनाः सूत्रार्थभरणसाराः सूत्रेण सूत्रपरिकर्मितः कालं दिवसरात्रिगतमच्छन्नगगनादावपि सुष्ठु ज्ञात्वा परिचितेन स्वभ्यस्तेन परिकर्मणा तपःप्रभृतिपरिकर्म्मणा सुष्ठु आत्मानं तुलयित्वा धीरा महासत्वा एकविहरणमतिका एकाकिविहाराभिप्रायाः पर्याये गृहस्थपर्याये प्रव्रज्यापर्याये च श्रुते पूर्वगते शरीरे च कृतकरणा कृताभ्यासास्तीव्रश्रद्धाका प्रवर्द्धमानश्रद्धाकास्ततस्तुलनानन्तरमाचार्यान् विज्ञपयन्ति । अत्र यो नाचार्यः स आचार्यं विज्ञपयति । यथा भगवन् कृतपरिकर्म्मोहमिच्छामि युष्माभिरनुज्ञात एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपत्तुमिति । य पुनराचार्यस्स स्वगच्छाय कथयति तथा परिकर्म्मितोऽहमतः प्रतिपद्ये एकाकिविहारप्रतिमामेति यदुक्तं । "परियागसुयसरीरे इति" तद्व्याख्यानार्थमाह ।

एगूणतीसवीसा, कोडी आयारवत्थुदसमं च ।
संघयणं पुणआदि–त्लगाण तिएहं तु अन्नयरं ॥

द्विविधपर्यायो गृहिपर्यायो व्रतपर्यायश्च । तत्र यो जन्मत आरभ्य पर्याय स गृहिपर्यायः स च जघन्यत एकोनत्रिंशद्वर्षाणि कथमिति चेदुच्यते । इदं गर्भाष्टमवर्षप्रव्राजिनो विंशतिवर्षपर्यायस्य च दृष्टिवाद उद्दिष्टः । एकेन वर्षेण योगः समाप्तः । सर्वमीलनेन जातान्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि । व्रतपर्यायः प्रव्रज्याप्रतिपत्तेरारभ्य स च जघन्यतो विंशतिवर्षाणि तावत्प्रमाणपर्यायस्यैव दृष्टिवादोद्देशभावात् । उत्कर्षतो जन्मपर्यायो वा देशोना पूर्वकोटी एतच्च पूर्वकोट्यायुष्के वेदितव्य नान्यस्य । उक्तं च । "पडिमापामिवन्नस्स उ, गिहिपरियाओ जहन्नगुणतीसा । जति परियातो तीसा, दोएहवि उक्कोसदेसूणा" । श्रुतं जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारनामक वस्तु यावत्तत्र कालज्ञानस्याभिधानात् । उत्कर्षतो यावद्दशमं पूर्वं चशब्दस्यानुक्तार्थसूचनाद्देशोनमिति द्रष्टव्यम् । तथा चोक्तम् " आयारवत्थुतइयं, जहन्नगं होइ नवमपुव्वस्स । तहियं कालन्नाणं, दस उक्कोसाणि भिन्नाणि" । संहननं पुनरादिमानां त्रयाणां संहनननामन्यतमद्यदा तेन एवं प्रतिमां प्रतिपद्येऽहमिति तदा स स्थिरीकरणनिमित्तमिति वक्तव्यः ॥

जइ विसि तीए भवेओ, आयपरे दुक्करं खु वेरग्गं ।
आपुच्छणेणुसज्जण–पमित्तज्जणगच्छसमवायं ॥

यद्यप्यासि भवसि त्व तया परिकर्मणया उपेतो युक्तः तथाऽप्यात्मपरेषु आत्मपरविषयेषु आत्मसमुत्थेषु परसमुत्थेषु उभयसमुत्थेषु चेत्यर्थः । परीषहेष्विति गम्यते । दुष्करं खलु वैराग्यं रागनिग्रहणमुपलक्षणमेतत् द्वेषनिग्रहण चेति हेतोर्भूय आप्रच्छना क्रियते किं त्वया कृता सम्यक्परिकर्म्मणा किं वा नेति । एवमाप्रच्छनायां कृतायां यदि सम्यक्कृतपरिकर्म्मा ज्ञातो भवति ततस्तस्य विसर्जनमनुज्ञा तस्य क्रियते । अनुज्ञातश्च गच्छसमवायं कृत्वा प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रतिपादनं प्रतिमायाः प्रतिपत्ति करोति । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः पूर्वार्द्धं तावद्व्याख्यानयति ॥

परिकम्मितो वि वुच्चइ, किमु य अपरिकम्ममंदपरिकम्मा ।
आयपरोभयदोसेसु, होइ दुक्खं खु वेरग्गं ॥

परिकर्मितोऽपि सुष्ठु कृतपरिकर्म्मापि उच्यते आपृच्छ्यते इति तात्पर्यार्थः । यथा त्वया कृता सत्परिकर्म्मणा किं वा न कृतेति किमुत अकृतपरिकर्मा मन्दपरिकर्म्मा वा ते सुतरामाप्रच्छनीया इति भावः । कस्मादेवमाप्रच्छना क्रियते इति चेदत आह । यत आत्मपरोभयदोषेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीषहेषु समुत्थितेषु दुःखं खलु भवति । वैराग्यं रागोपशमलक्षणमेतत् । द्वेषोपशमो वा ततो मा भूत् प्रतिपत्तौ कश्चिद्व्याघात इत्याप्रच्छना क्रियते । अथ के ते आत्मपरोभयाः समुत्थाः परीषहा इति तान्प्रतिपादयति ।

पढमबीयाऽलाभे, रोगे पन्नायिगा य आयाए ।
सीउएहादीउ परे, निसहियादी उ उभए वि ॥

प्रथमः परीषहः क्षुद् द्वितीयः पिपासा आदिशब्दात्तत्पर इत्यादिपरीषहपरिग्रहः । तथा लाभपरीषह रोगपरीषहः प्रज्ञादिका प्रज्ञादयः परीषहा आदिशब्दादज्ञानादिपरिग्रहः । एते आत्मनि आत्मसमुत्थाः परीषहाः । तथा शीतोष्णादयः शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहाः परे परविषयाः परसमुत्था इत्यर्थः । नैषेधिकीचर्यादय पुनः परीषहा उभयस्मिन् उभयसमुत्थाः ।

सम्प्रति "करणेलगच्छगत्ति" व्याख्यानार्थमुपक्रमते ।

एएसु समुप्पन्नेसु, दुक्खं वेरग्गभावणा काउं ।
पुव्वं अभावितो खलु, स होइ एलगच्छोओ ॥

यः खलु पूर्वमभावितो यथोक्तपरिकर्म्मणया अपरिकर्मितो भवति । यथा शैक्ष एकाकस्तस्य एतेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीषहेषु दुःख महत्कष्ट वैराग्यभावना । उपलक्षणमेतत् द्वेषनिग्रहभावनाश्च कर्तुं न शक्यन्ते एव रागद्वेषनिग्रहभावनां कर्तुमिति भावः । यस्तु सम्यक्कृतपरिकर्मा भवति स करोत्ययत्नेन वैराग्यभावनां यथा क्षपकस्तथा चाह ।

परिकम्मणाए खवगो, सेह बलामोमिए वि तहगत्ति ।
पाभातियउवसग्गे, कयम्मि पारेइ सो सेहो ॥

पारेहि तं पि भंते, ! देव य अच्छी चवेडपाडणया ।
काउस्सग्गा कंपण–एलगमए एइ निव्वित्ती ॥

परिकर्म्मणायामुदाहरणं क्षपक । यत्नामोटिकायां श्रुतपर्यायत्वेन परिकर्म्मणायामेव प्रतिपक्षत्वादाहरणं शैक्षक सोऽपि शैक्षकस्तथा क्षपक इव तिष्ठति कायोत्सर्गेणावतिष्ठते । ततो देवतया प्रात्यातिके उपसर्गे कृते स शैक्षक पारयति पारयित्वा च क्षपकं ब्रूते । यथा भदन्त ! त्वमपि पारय जातं प्रभातमिति ततो देवतया चपेटाप्रदानेन तस्याक्ष्णो पातनमकारि तदनन्तरं शैक्षकानुकम्पया देवताराधनार्थं कायोत्सर्गं कृतस्तेन देवताया आकम्पनमावर्जनमकृत्तन मयोमारितस्य एडकस्य प्रदेशयोरक्ष्णोस्तत्र निर्वृत्तिर्निष्पत्ति कृता । एष गाथाद्वयसंक्षेपार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् " एगो खवगो एगल्लविहारपडिमाए परिकम्मं करेइ सो पडिमं ठितो सुत्तत्थाणि करेति । अन्नो खवगो अप्पसुत्तो आयरियं विन्नवेति । अहपि परिकम्मं करेमि । आयरिएणं भणियं तुमं सुएण अपज्जत्तो न पाओग्गोसि वारिज्जमाणो अमुणित्ता तम्मं अमन्नतो तहेव पडिमं ठितो । देवया चिंतेइ एस आणाभंगे वट्टतित्ति । अड्डरत्ते पभाय दंसेति । ततो सेहखवगो पारित्ता भणति । त खवग पारेहि । सेह खवगो देवयाए चवेडाए आहतो । दोवि अच्छीणि पडियाणि तं दट्ठुं इयरो तदणुकंपणट्ठा देवयाए आकंपणनिमित्तं धणियं काउस्सग्गेण ठितो ॥ ततो सा देवया आगता भणति खवग ! सदिसह किं करेमि । खवगेण भणियं कीस ते सेहो दुक्खावितो । देहि से अच्छीणि । ताहे तीए देवयाए भणीय अच्छीणि अप्पदेसी चुयाणि खवगो भणइ कहवि करेहि । ताहे सज्जो मारियस्स एलगस्स सप्पएसाणि । सेहखवगस्स लाइयाणि " । सांप्रतमेतस्य निदर्शनोपनयमाह ।

भावियमभावियाणं, गुणा गुणण्णाइ विंति तो थेरा ।
वितरंति भावियाणं, दव्वादिसु नेयपडिवत्ती ॥

भावितानां कृतपरिकर्म्मणानां गुणा यथा क्षपकस्य अभावितानामकृतपरिकर्मणानामगुणा यथा शैक्षक क्षपकस्य इति एवं भाविता गुणा गुणज्ञा स्थविरा आचार्यास्तत आपृच्छानन्तरं यान् भावितान् सम्यग् जानन्ति तेषां भावितानां प्रतिमाप्रतिपत्तिं वितरन्ति समनुजानन्ति एतेन " आपुंछणा विसज्जण " इत्येतद्व्याख्यातमधुना पडिवज्जण इत्येतद्व्याख्यानायाह । (दव्वादिसु,नेयपडिवत्ती) द्रव्यादौ द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु प्रशस्तेषु प्रतिमायाः प्रतिपत्तिर्भवति कथमित्याह ।

निरुवसग्गनिमित्तं, उवसग्गं वंदिऊण आयरिए ।
आवस्सियं च काउं, निरवेक्खो वच्चए भयवं ॥

पूर्वं समस्तमपि स्वगच्छमागत्य यथार्हं क्षमयित्वा तदनन्तरमाचार्येण सकलस्वगच्छसमन्वितेन सकलसंघसमन्वितेन च शैक्षनिरुपसर्गनिमित्तमुपसर्गाभावेन सकलमपि प्रतिमानुष्ठानं निर्वहत्वित्येतन्निमित्तं कायोत्सर्गं करोति तद्यथा " निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए " इत्यादि । कायोत्सर्गानन्तरं च सूत्रोक्तविधिना प्रतिमां प्रतिपद्य आचार्यान् वन्दते वन्दित्वा च आवश्यकीं कृत्वा स भाण्डमात्रोपकरण सिंहगुहातो निरपेक्ष पूर्वापेक्षाविरहितो भगवान् व्रजति आचार्याश्च सकलसंघसमन्विता पृष्ठतोऽनुव्रजन्ति । ते च तावद्गच्छन्ति यावद्ग्रामस्य नगरस्य वा आघाटस्ततो निरीक्षमाणास्तावदासते यावत् । दृष्टिपथातीतो भवति ततः सर्वे विनिवर्त्तन्ते ।

संप्रति वक्ष्यमाणवक्तव्यतासंसूचनाय द्वारगाथामाह ।

परिचियकालामंतण–खामणतवसंजमे य संघयणा ।
भत्तोवहिनिक्खेवे, आवणो लाभगमणे य ॥

परिचितश्रुत सन् यावन्तं कालं परिकर्म यस्य करोति तस्य तावत्कालो वक्तव्य तथा स्वगणामन्त्रणं वक्तव्य तथा तप संयम सहननं तथा भक्तप्रक्षेपकन्दादि उपधिर्यावत्सङ्ख्याको जघन्यत उत्कर्षतश्च तावत्सङ्ख्याको वक्तव्य ॥ तथा निक्षेप उपधेर्न कर्तव्यो वसतेरन्यत्र गच्छतेति वाच्यम् । तथा मनसापि यत्प्रायश्चित्तमापन्नं भवति तद्दातव्यम् । तथा सचित्ताचित्तलाभो यथा कर्त्तव्यस्तथा भणनीय । तथा गमन विहारस्तद्यस्यां पौरुष्यां कर्त्तव्य तस्या कथयितव्यम् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव व्याचिख्यासु प्रथमत परिचितकालद्वारमाह ।

परिचितसुओ उ मग्गसिर–मादि जाते उ कुणति परिकम्मं ।
एसो च्चिय सो कालो, पुणरेव गणं उवग्गम्मि ॥

परिचितमत्यन्तमभ्यस्तं स्वीकृत श्रुतं येन स परिचितश्रुत सन्मार्गशीर्षमासमादि कृत्वा यत्परिकर्म्म करोति । एष एतावत्प्रमाण एव साधो प्रतिमाप्रतिपित्सोर्जघन्यपदे उत्कर्षत कालः परिकर्म्मणाया एतावत्प्रमाणोत्कृष्टपरिकर्म्मणाकालानन्तरं च यद्यप्यवधानप्रतिमां प्रतिपित्सुस्तथापि अभ्यस्य मुखस्य वर्षाकालसंबन्धिन समीपमुपाग्र्यमाषाढमास इत्यर्थ । तस्मिन्वर्षाकालयोग्यमुपधिं ग्रहीतु पुनरेत्यागच्छति । स्वगणमिति एवं तद्वेदमुत्कालितमुक्तमिदानीमेतदेव सविशेषतरं विवृणोति ।

जो जति मासे काहिति, पडिमं सो तत्तिए जहन्नेण ।
कुणति मुणी परिकम्मं, उक्कोसं भावितो जाव ॥

यो मुनिर्यति(यावत्) मासान् प्रतिमां करिष्यति स तति(तावत्) मासान् जघन्येन परिकर्म्म करोति तद्यथा मासिकां प्रतिमां प्रतिपित्सुरेकं मासं द्वैमासिकीं द्वौ मासौ त्रैमासिकीं त्रीन् मासान् एवं यावत्सप्तमासिकीं सप्त मासान् एवं च मार्गशीर्षादारभ्य सप्तमासिक्या परिकर्म्म ज्येष्ठमासे समाप्तिमुपयाति । एतानेव च जघन्यपदे उत्कृष्टकाल । तत परं प्रतिमानां मासैः परिमाणासम्भवात् उत्कर्षतस्तमधिकृत्य पुन परिकर्म्मणाकालो यावता कालेन परिपूर्णमागमोक्तेन प्रकारेण भावितो भवति तावान्वेदितव्य । तत्र जघन्यपदपरिकर्म्मणाकालमधिकृत्य कासांचित्प्रतिमानां तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्ति कासांचिद्वर्षान्तरेऽभिधित्सुराह ॥

तव्वरिसे कासिंची, पडिवत्ती अन्नहिं उवरिमाणं ।
आइल्लपइण्णस्स उ, इच्छाए भावणा सेसे ॥

कासांचिदाद्यानां प्रतिमानां तद्वर्षे एव यस्मिन्वर्षे परिकर्म्मसमारब्धवान् तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिरुपरितनीनामन्यस्मिन्वर्षे । इयमत्र भावना । मासिक्या द्वैमासिक्यास्त्रैमासिक्याश्चतुर्मासिक्या वा तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्ति । कस्मादिति चेत्परिकर्म्मणाकालस्य प्रतिमाकालस्य च आषाढमासपर्यन्तादर्वाक् लभ्यमानत्वात् । पाञ्चमासिकी षाण्मासिकीसाप्तमासिकीनामन्यस्मिन्वर्षे परिकर्म्म अन्यस्मिन्वर्षे प्रतिपत्तिर्मार्गशीर्षमासादारभ्य परिकर्म्मकालस्य प्रतिमाकालस्य चाषाढमासपर्यन्तादर्वाग् लभ्यमानत्वादिति येन च या प्रतिमा पूर्वमाचीर्णा । तस्याचीर्णप्रतिमस्य तां प्रतिमां प्रति परिकर्म्मणा इच्छया यदीच्छा भवति तत करोति नो चेन्नेति । किमुक्तं भवति । चिरकालकृततया यदि गताभ्यासो भवति तत करोति परिकर्म्मणा-

मन्यथातिशेषे येन या प्रतिमा पूर्वं नाचीर्णा तस्य तां प्रति नियामाड्भावना परिकर्म्मणा भवति ।

साम्प्रतमामन्त्रणक्षामणतपःसंयमद्वाराण्याह ।

आमंतेऊण गणं, सवालवुड्ढा उ खामवेत्ता ।
उग्गतवभावियप्पा, संजमपढमेव बितिए वा ॥

गणं गच्छं सह बाला यैस्ते सबालास्ते च ते वृद्धाश्च तैराकुलमामन्त्र्य समाहूय क्षमयति । यथा यदि किञ्चित्प्रमादतो मया न सुष्ठु भवता वर्तितं तदहं निःशल्यो निष्कषायं क्षमयामीति । ये च पूर्वविरुद्धास्तानेव सविशेषतः क्षमयति । एवमुक्ते ये लघवस्ते आनन्दाश्रुप्रपातं कुर्वाणा भूमिगतशीर्षास्तं क्षमयन्ति ये पुनः श्रुतपर्यायवृद्धास्तान् पादेषु पतित्वा स क्षमयति । उक्तं च "जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं । तं खामेमि अहं खु, निस्सल्लो निक्कसाओ य । आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा । तं खामेंति जहारिहं, जहारिहं खामिया तेण"। एवं क्षमयतस्तस्य के गुणा इति चेत् उच्यते। निःशल्यता विनयप्रतिपत्तिर्मार्गस्य प्रकाशनम् अपहृतभारस्येव भारवाहस्य लघुता एकाकित्वप्रतिपत्त्यभ्युपगमः। क्वचिद्प्यप्रतिबद्धता। एते प्रतिमासु प्रतिपद्यमानासु क्षमयतो गुणाः। उक्तं च "खामंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणयदीवणा मग्गे ; लाघविएगत्त, अपडिबंधो उ पडिमासु" । गतमामन्त्रणाद्वारम्। स एवं च क्षामयित्वा भावितात्मा तपोभावनाभावितान्तः उग्रं तपः करोति। गतं तपोद्वारम् । स च तथा प्रतिमां प्रतिपन्नः संयमे प्रथमे वा सामायिकलक्षणे वर्त्तते। द्वितीये वा छेदोपस्थापने । तत्र प्रथमे मध्यमतीर्थंकरतीर्थेषु विदेहतीर्थकरतीर्थेषु च द्वितीये भरतादिषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेषु एतच्च प्रतिपद्यमानकानधिकृत्योक्तं वेदितव्यम् । पूर्वप्रतिपन्नाः पुनः पञ्चानां संयमानामन्यतमस्मिन् संयमे भवेयुः उक्तं च। "पढमे वा बीए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि पडिमातो। पुव्वपडिवन्नतो पुण,अन्नयरे संजमे हुज्जा" गतं संयमद्वारम् । अधुना भक्तद्वारमुपधिद्वारं चाह ।

पग्गहियमलेवकमं, भत्तजहन्नेण नवविहो उवही ।
पाउरणवज्जियस्स उ, इयरस्स दसा वि जावाए ॥

भक्तमुपलक्षणमेतत् पानकं च अलेपकृतं कल्पते तथा प्रगृहीतभिक्षालेपकृद्भिकाया उपरितनानां तिसृणां भिक्षाणां मध्यमामध्यमग्रहणे चाद्यन्तयोरपि ग्रहणं ततोऽयमर्थः सप्तसु पिण्डैषणासु मध्ये उपरितनीनां चतसृणामन्यतमस्याः पिण्डैषणाया अभिग्रहः। आद्यानां तिसृणां पिण्डैषणानां प्रतिषेधः एतच्च चूर्णिकारोपदेशात् विवृतम् तथाचाह चूर्णिकृत् " उवरिल्लाहिं चउहिं पिंडेसणाहिं अन्नयरीए । अभिग्गहो सेसासु तिसु उग्गहो इति " ॥ गतं भक्तद्वारमुपधिद्वारमाह । जघन्येनोपधिर्नवविधः । पात्र–पात्रबन्ध–पात्रस्थापना–पात्रकेसरिका–पटल–रजस्त्राण–गोच्छक–मुखवस्त्रिका–रजोहरणलक्षण एष च नवविधो जघन्यत उपधिर्यः प्रावरणवर्जीकृतप्रावरणपरिहाराभिग्रहस्तस्य वेदितव्यः । इतरस्य कृतप्रावरणपरिग्रहस्य दशादिको विज्ञेयो यावत् द्वादशविधः । तत्रैकसौत्रिककल्पपरिग्रहे दशविधः सौत्रिककल्पद्वयपरिग्रहे एकादशविधः । कल्पत्रयस्यापि परिग्रहे द्वादशविधः । गतमुपधिद्वारम् ।

संप्रति निक्षेपद्वारमाह ।

वसहीए निग्गमणं, हिंडंतो सव्वभंडमादाय ।
नयनिक्खिवइ जलाइसु, जत्थ से सूरो वयति अत्थं ॥

वसतेः सकाशाद्यदि निर्गमनं भवति ततो नवविधोपधिधारणेनैव भाण्डमुपकरणमात्मीयं वसतौ न निक्षिपति। किंतु सर्वं भाण्डमादाय हिण्डते हिण्डमानश्च यत्रैव जलादिषु जले स्थले ग्रामे नगरे कानने वने वा तस्य सूर्यो व्रजत्यस्तं तत्रैव कायोत्सर्गेण अन्यथा वाऽवतिष्ठते न पुनः पदमात्रमुत्क्षिपति । गतं निक्षेपद्वारम् ।

अधुना आपन्नलाभगमनद्वाराण्याह ।

मणसावि अणुग्घाया, सच्चित्ते नेव कुणति उवदेसं ।
अच्चित्तजोगगहणं, भत्तं पंथो य तइयाए ॥

मनसापि आस्तां वाचा कायेन चेत्यपिशब्दार्थः । यानि प्रायश्चित्तानि आपद्यते तानि सर्वाण्यपि तस्यानुद्घातानि गुरूणि भवन्ति। गतमापन्नद्वारम् । लाभद्वारमाह (सच्चित्ते चेत्यादि) लाभो द्विविधः सचित्तस्य अचित्तस्य च तत्र सचित्तस्य प्रव्रजितुकामस्य मनुष्यस्य अचित्तस्य भक्तपानादेः। तत्र यदा सचित्तस्य लाभ उपस्थितो ज्ञायते यथा नूनमेष प्रव्रजिष्यति नतु स्थास्यति तदा तस्मिन्सचित्ते प्रव्रजितुमुपसंपद्यमानतया संभाविते उपदेशमेव करोति ननु तं प्रव्राजयति । तस्य तामवस्थामुपपन्नस्य प्रव्रज्यादानानर्हत्वात् । एवकारो भिन्नक्रमः स च यथास्थानं योजितः अचित्तस्य पुनर्योग्यस्य भक्तस्य पानस्य वा ग्रहणं करोति । गतं लाभद्वारम्। गमनद्वारमाह । भक्तं भिक्षाचर्या पन्था पथि विहारक्रमकरणाय गमनं तृतीयस्यां पौरुष्यां नान्यदा। तदा कल्पत्वात् तदेवं भिक्षोः प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिरुक्तः।

संप्रति गणावच्छेदकादिषु तमाह ।

एमेव गणायरिए, गणनिक्खिवणम्मि नवरि नाणत्तं ।
पुव्वोवहिस्स अहवा, निक्खिवणमपुव्वगहणं तु ॥

एवमेव अनेनैव भिक्षुगतेन प्रकारेण (गणित्ति) गणावच्छेदिनि (आयरिएत्ति) आचार्योपाध्याये वक्तव्यं किमुक्तं भवति यथा भिक्षौ प्रतिमां प्रतिपत्तुं प्रतिपन्ने च विधिरुक्तस्तथा गणावच्छेदिनि आचार्योपाध्याये च प्रतिपत्तव्यः । तथा च सूत्रकारोऽपि तत्सूत्रे अतिदेशत आह " एवं गणावच्छेदं एवं आयरितोवज्झाए" एवं भिक्षुगतेन सूत्रप्रकारेण गणावच्छेद एवमेव आचार्यश्च उपाध्यायश्च आचार्योपाध्यायम् । तद्यथा "गणावच्छेदए वा गणातो अवक्कम्मा एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा। पुणो छेदस्स परिहारस्स वा उवट्ठाएज्जा । तहा आयरितोवज्झाए य गणातो अस्स एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताण विहरे इत्यादि " व्याख्याऽप्यस्य सूत्रद्वयस्य तथैव। अथ किमविशेषेण भिक्षाविव प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिरनुसरणीयो यदि वास्ति कश्चिद्विशेषस्तत आह (गणनिक्खिवणइत्यादि) नवरं नानात्वं भेदो गणनिक्षेपणे। इयमत्र भावना गणावच्छेदी गणावच्छेदित्वं मुक्त्वा प्रतिमां प्रतिपद्यते आचार्योऽन्यगणधरं स्थापयित्वेति विशेषः । अथवा इदं भिक्षुगतविधेर्गणावच्छेदाचार्ययोर्विधिः। नानात्वं गणावच्छेदी आचार्यो वा पूर्वगृहीतमुपधिं निक्षिप्य अन्यमुपधिं प्रायोग्यमुत्पाद्य प्रतिमां प्रतिपद्यते इत्युक्तम्। समाप्तप्रतिमानुष्ठानस्य गच्छे प्रत्यागमने राजादिभिः क्रियमाणसत्कार कोऽपि भिक्षुर्गणावच्छेदी आचार्यो वा दृष्ट्वा जातसंवेगः सन् स्वाचार्याणां पुरतः आपृच्छनं करोति । यथा भगवन्नहमप्येकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपद्य इति । ते चाचार्या विशिष्टश्रुतविदो जानन्ति भूतं भाविनं चेति ॥ तस्यायोग्यतामुदीक्षा-

ला प्रतिषेधनं कृतयन्त' यथा त्वमयोग्य' श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तत्वात् न च परिकर्म्मणा तद्योग्या त्वया कृतेति । स एवं प्रतिषिध्यमानोऽपि यत्र न तिष्ठति तदा सूरेर्वक्तव्यो यदि न स्थास्यसि तर्हि विनङ्क्ष्यसि यथा सा देवी का सा देवीति चेत्। अत आह। (देवीसगामतो नीति) देवी राज्ञा वार्यमाणाऽपि ततो राज्ञः सकाशाद्विनिर्गच्छति समामे प्रविशतीति प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिः ।

इदानीं समाप्तिविधिमाह ।

तीरियउब्भामणियोग-दरिसणं साहु सन्नि व प्पाहे ।
दंमियत्नोइय असती, सावगसंघो न सक्कारं ॥

तीरितायां समाप्तायां प्रतिमायामुत्प्रावल्येन भ्रमन्तीत्युद्भ्रमाः भिक्षाचरास्तेषां नियोगो व्यापारो यत्र स उद्भ्रामनियोगो ग्रामस्तत्र दर्शनमात्मनः प्रकटनं करोति । तत साधुं संयत सज्ञिनं वा सम्यग्दृष्टिं श्रावकं (अप्पाहेत्ति) सन्देशयति । ततो दण्डिकस्य राज्ञो निवेदनं सत्कारकरणं करोति। तदभावे भोजिकस्तस्याप्यभावे श्रावकवर्गस्तस्याप्यभावे संघ साधुसाध्वीवर्ग' । इयमत्र भावना । प्रतिमायां समाप्तायां यस्मिन् ग्रामे प्रत्यासन्ने बहवो भिक्षाचरा साधवश्च समागच्छन्ति तत्रागत्यात्मानं दर्शयति । दर्शयश्च य साधु श्रावकं वा पश्यति तस्य सन्देशं कथयति । यथा समापिता मया प्रतिमा ततोऽहमागत इति । तत्राचार्या राज्ञो निवेदयन्ति । यथा अमुको महातपस्वी समाप्तप.कर्मा संस्तदातिमहता सत्कारेण गच्छे प्रवेशनीय इति। तत. स राजा तस्य सत्कार' कारयितव्यस्तदभावे अधिकृतस्य ग्रामस्य नगरस्य वा नायक' तदभावे समृद्ध श्रावकवर्गस्तदभावे साधुसाध्वीप्रभृतिक. संघो यथाशक्ति सत्कारं करोति । सत्कारो नाम तस्योपरि चन्द्रोदयधारणं नान्दीतूर्यास्फालनं सुगन्धवासप्रक्षेपणमित्यादि । एवरूपेण सत्कारेण गच्छ प्रवेशयेत् ।

सत्कारेण प्रवेशनायामिमे गुणा. ।

उब्भावणा पवयणे, सद्धाजणणं तहेव बहुमाणो ।
ओहावणा कुतित्थे, जीयं तह तित्थवुड्ढी य ॥

प्रवेशसत्कारेण प्रवचने प्रवचनस्य उद्भावनं प्राबल्येन प्रकाशन भवति । तथा अन्येषां बहूनां साधूनां श्रद्धाजननं यथा वयमप्येवं कुर्म्मो महती शासनस्य प्रभावणा भवति । यथा श्रावकश्राविकाणामन्येषां च बहु मानमुपजायते शासनस्योपरि यथा अहो महाप्रतापि पारमेश्वर शासनं यत्रेदृशा महातपस्विन इति। तथा कुतीर्थे जातावेकवचनम् । कुतीर्थानामपभ्राजना हीलना । तत्र ईदृशां महासत्वानां तपस्विनामभावात्। तथा जीतमेतत्कल्प एव यथा समाप्तिप्रतिमानुष्ठान' सत्करणीय इति। तथा तीर्थवृद्धिश्च। एवं हि प्रवचनस्यातिशयमुदीक्षमाणा बहव संसारात विरज्यन्ते विरक्ताश्च परित्यक्तसङ्गा' प्रव्रज्यां प्रतिपद्यन्ते ततो भवति तीर्थप्रवृद्धिरिति । तदेव परिकर्म्मणामभिधानं प्रतिमाप्रतिपत्तिः प्रवेशसत्कारश्च भणित ।सांप्रतमधिकृतसूत्र यत्र योगमर्हति तद्विवक्षुरिदमाह ।

एएण सुत्तं न गयं, सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते ।
उच्चारियसरिसं पुण, परूविय पुव्वभणियं पि ॥

यदेतदनन्तरं परिकर्म्मणादिकमुक्तं नैतेन सूत्रं गत व्याख्यातं जातावेकवचनस्य भावात् । नैतेन त्रीणि सूत्राणि व्याख्यातानि । सूत्राणामन्यविषयत्वात् । तथा चाह । " सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते" तुशब्दः पुनरर्थे स च पुनरर्थं प्रकाशयन् हेत्वर्थमपि प्रकाशयति । ततोऽयमधिकृतः सूत्रनिपातो व्यक्तोऽव्यक्तशब्दविषय ।अव्यक्तो नाम श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तोऽपरिकर्म्मितश्च पूर्वभणित च समस्तं व्यक्तविषयमतोऽन्यविषयत्व च प्रागुक्तमिति । नैतेन प्रागुक्तेन सूत्रत्रय गतमिति । अत्राह । यदेतत्प्राग्व्याख्यात न तेन यदि सूत्रत्रय गतं तर्हि तदेतत् कुत आगतम् । सूत्राक्षरावक्ष्य भवति सूत्रस्यान्यविषयत्वात्। अन्यस्मात्त्वेत्तर्हि न वक्तव्यमसम्बद्धत्वात् अत आह (उच्चारिय सरिसमित्यादि) परिकर्म्मणाभिधान यच्च पूर्वमाचारदशासु जिनप्रतिमागतमुक्त यथा " घरसउणीसीह इत्यादि " । तथा "परिचियकालामतेणेत्यादि" च प्राग्भणितमपि प्ररूपितमुच्चरितस्य सदृशमनुगतमिति कृत्वा किमुक्त भवति ॥ "एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताए विहरित्तए"त्युक्तमेतच्च सूत्रखण्डे व्यक्ते ऽव्यक्ते च समान ततो यद्यपि सकलसूत्रोपनिपातोऽव्यक्तविषयस्तथापि यदेतत्सूत्रखण्डम न-न् व्यक्तेऽपि समानमिति । व्यक्तविषय परिकर्म्मणादिकमुक्तमित्यदोष । यदुक्तमयमधिकृतसूत्रोपनिपातो ऽव्यक्तविषय इति । तत्राव्यक्ते यथा प्रतिमाप्रतिपत्तिसम्भवस्तथोपपादयति ।

आगमणे सक्कारं, को यं दट्ठूण जायसंवेगो ।
आपुच्छणपडिसेहण, देवी संगामतो नीति ॥
संगामे निवपमिमं, देवी काऊण जुज्झति रणम्मि ।
वितियबले नरवती, नाउं गहिया धरिसिया य ॥

सम्रामे देवी नृपप्रतिमा राज्ञ आकार कृत्वा युध्यते सा च नथा रणे संग्रामे युध्यमाना द्वितीयबले प्रतिपक्षबले यो नरपतिस्तेन कथमपि ज्ञाता अरे महिला युध्यतीति सन्नाहापेक्ष कृत्वा गृहीता चण्डार्द्धर्षापिता मारिता च एषोऽक्षरार्थ । भावार्थ कथानकादवसेयस्तच्चेदम् । "एगेण रण्णा एगस्स रण्णो नगर वेढिय । रायासु अतेउरो नगरब्भंतरे अग्गमहिसी भण्इ : जुज्झामि वारिज्जती वि रण्णा न ठाति ततो सा सन्नहिता खधावारेण समं निगंतु परबलेण सम जुज्झइ महिलित्ति काउ गहिया.चमालेहिं धरिसाविता मारिया ।

दूरेतो पमिमातो, गच्छाविहारे वि सो न निम्माते ।
निगंतुं आसन्ना, नियति लहुओ गुरू दूरे ॥

दूरे तावत्प्रतिमा.। किमुक्त भवति । तद्विषयमिदं सूत्रत्रिक तस्य प्रतिमा. प्रतिपत्तव्यास्तावत् दूरे विशिष्टश्रुतवयोऽभ्यामप्राप्ततया तत्सामाचारीपरिज्ञानस्य परिकर्म्मणायाश्चाभावात् गच्छविहारे गच्छसामाचार्यामपि सोऽधिकृतसूत्रत्रयविषयो निर्मातो न परिनिष्ठामुपगतः स आचार्येण वार्यते । स च वार्यमाणोऽपि यदा स्वगच्छान्निर्गत्य यदि कथमपि बुद्धिपरावर्तेनेनासन्नाद्विनिवर्त्तते ततस्तस्य प्रायश्चित्त लघुको मास ।दूरे दूराद्विनिवर्त्तते तत आह

गच्छं दोसो गच्छा, निगंतूणं ठितो उ सुण्णघरं ।
सुत्तत्थसुण्णहियओ, संभरइ इमेसि मे गामी ॥

स्वमात्मीयं छन्दोऽभिप्रायो यस्य स स्वच्छन्द.सन् गच्छान्निर्गत्य शून्यगृहे उपलक्षणमेतत् । श्मशाने वा वृक्षमूले वा देवकुलसमीपे वा कायोत्सर्गेण स्थित. स च सूत्रमर्थं वा न किमपि जानाति यश्चिन्तयति । तत. सूत्रार्थशून्यहृदय एकाकी सन् एषां वक्ष्यमाणानामाचार्यादीनां स्मरति । तानेवाह ।

आयरियवसभसंघा-डएयकंदप्पमासियं लहुयं ।
एगाणिपत्तसुण्णघरे, अत्थमिए पत्थरे गुरुगा ॥

आचार्यो गच्छाधिपतिस्तं वा यदि स्मरति । यदि वा वृषभमथवा संघाटिक (कदप्पत्ति) अत्र विभक्तिलोपो मत्वर्थीयलोपश्च प्राकृतत्वात् । यैर्वा साधुभिः समं गच्छे वसन् कन्दर्प्पहं स च सूर्यादिरूपकृतवान् । कन्द (पेंकान्) पेंकृतान् स्मरति तदा प्रायश्चित्तं मासिकं लघुकं तथा (एकाणियत्ति) एकाकी सन् शून्यगृहे उपलक्षणमेतत् । श्मशानादौ वा दिवसे बिभेति तदा चत्वारो लघुमासाः यदि पुनरस्तमिते सूर्ये भय गृह्णन् प्रस्तरान् पाषणान् (छुहइत्ति) तदा चतुर्गुरुका.

पत्थरे छुहइ रत्ता, गमणे गुरुलहुगदिवसतो हुंति ।
आयसमुत्था एए, देवयकरणं तु वुच्छामि ॥

यदि रात्रौ मार्जारादिश्वापदादिभ्यो बिभ्यन् प्रस्तरान् शून्यगृहादौ च गृहस्यान्तः (छुहइत्ति) प्रवेशयति । यदि वा स्तेनादिभयेन रात्रौ गच्छमागच्छति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । यदा पुनर्दिवसे एव शून्यगृहादाववतिष्ठमानो भयात्प्रस्तरान्प्रवेशयति गच्छं वा भयमजीर्यन्समायाति तदा चत्वारो लघुका मासा' । एते आत्मसमुत्था दोषा उक्ताः । इदानीं यद्देवता करोति तद्देवताकरण वक्ष्यामि। सांप्रत 'मेगाणियसुण्णघरे इत्यादि' यदुक्तं तद्भिक्षुगणावच्छेद्याचार्यभेदेषु प्रत्येकं सविशेषतरं भावयति ॥

पत्थरमणसंकप्पे, मग्गणादिट्ठे य गहियखेत्ते य ।
पडियपरितावियमए, पच्छित्तं होइ तिएहं पि ॥

मासा लहुतो गुरुतो, चउरो लहुगा य चउर गुरुगा य ।
छम्मासा लहुगुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च ॥

प्रस्तारगणां ग्रहाणाय मन सकल्पे मार्गणे तथा ग्रहणबुद्ध्या प्रस्तरे दृष्टे तथा गृहीते तथा क्षिप्ते यस्योपरि प्रक्षिप्त' प्रस्तरस्तस्योपरि पतिते नवरमपरितापिते अनागाढं परितापिते तथा मृते च त्रयाणामपि भिक्षुगणावच्छेद्याचार्याणां प्रायश्चित्त वक्ष्यमाण यथाक्रिम भवति । तदेवाह (मासो इत्यादि) मासो लघुको गुरुकाः षएमासाः लघवः षएमासा गुरुकाश्छेदो मूल तथा द्विकमनवस्थाप्यपाराञ्चितरूपमिति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः । भावार्थस्त्वयम । यदि भिक्षुर्भयवशात्प्रस्तरविषयं मनःसंकल्प करोति गृह्णामि प्रस्तरमिति तदा तस्य प्रायश्चित्त लघुमास । प्रस्तरस्य मार्गणे गुरुमास' प्रस्तरे ग्राह्योऽयमिति बुद्ध्या अवलोकिते चत्वारो लघुमासा· गृहीते प्रस्तरे चत्वारो गुरुका क्षिप्ते मार्जारादिश्वापदादीनामुपरि प्रस्तरे षएमासा लघवः । यस्योपरि क्षिप्तस्तस्योपरि पतिते तस्मिन्नपरितापिते षएमासा·गुरवः॥ गाढ परितापिते च्छेदः मृते मूलम । तदेव भिक्षोर्लघुमासादारब्धं मूले निष्ठितम । गणावच्छेदिन प्रस्तरमन·सकल्पे प्रायश्चित्त गुरुको मासः प्रस्तरमार्गणे चत्वारो लघुमासा· प्रस्तरे ग्राह्यबुद्ध्या दृष्टे चत्वारो गुरुकाः । प्रस्तरे गृहीते षएमासा गुरव' प्रस्तरे घात्यस्योपरि पतिते छेद । घात्यवगाढे परितापिते मूलं मृते अनवस्थाप्यं तदेव गणावच्छेदिनो गुरुमासादारब्ध अनवस्थाप्ये निष्ठितम्। आचार्यस्य प्रस्तरमन सकल्पे चत्वारो लघुमासा· प्रस्तरमार्गणे चत्वारो गुरुका प्रस्तरे ग्राह्यबुद्ध्या दृष्टे षएमासा लघव प्रस्तरे गृहीते गुरव' षएमासाः क्षिप्ते छेद घात्यस्योपरि पतिते प्रस्तरे मूलं गाढं परितापिते घात्येऽनवस्थाप्यं मृते पाराञ्चितमिति । संप्रति यदुक्तं । " देवयकरणं तु वुच्छामि " इति तत् अन्यत्र विषद्वारगाथामाह ।

बहुपुत्तपरिसमेहे, उदयग्गे जह सप्प चउलहुगा ।
अत्थणअवलोगनियट्ट कंटक, गिण्हणदिट्ठे य भावे य ॥

देवताया बहुपुत्रविकुर्वणामन्तरं चोदिते तथा पुरुषमेधे पुरुषयज्ञे तथा उदके उदकप्रवाहे अग्नौ प्रदीपनकरूपे अड्डे हस्तिनि सर्प्पे च समागच्छति पलायमानादौ चत्वारो लघुका मासाः । तथा देवताया विकुर्वितसयतीरूपायाः पृष्ठतो लग्नाया प्रतीक्षणे यावत् कण्टक पादलग्नमपनयामीत्येव ब्रुवन्त्या (अत्थणत्ति) प्रतिश्रवणे तथा अवलोकने तथा दूरादासन्नाद्वा निवर्त्तने कएटकग्रहणे उपलक्षणमेतत् । कएटकोद्धरणाय पादग्रहणे पादोत्क्षेपणे च तथा दृष्टे सागारिके मृगपदीरूपे प्रतिसेवे इति परिणते भावे चशब्दात्प्रतिसेवाकरणे च यथायोग प्रायश्चित्तमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थ' । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषु· प्रथमतो बहुपुत्रद्वार विवृणोति ।

बहुपुत्ति त्थी आगम, दोसु व लध्देसु थालिविज्झवणा ।
अन्नोन्नं पमिचोयण, वच्च गणं मा छलेपंता ॥

बहुपुत्रा स्त्री देवतारूपा तस्या आगमयोर्द्वयोरुपलब्धयोरुपरितया स्थाली निवेशिता सा पतिता जातमग्नेर्विध्यापनं ततः पर प्रतिचोदना तदनन्तर तथा उक्त व्रज गण गच्छं मा प्रान्तदेवता त्वां छलयिष्यतीति एव गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम ।"सम्मदिट्ठी देवया इत्थीरुवं बहुयपुत्ते चरूयरूवे विउव्वेत्ता पमिमागयस्स साहुस्स समीवमल्लीणा । चेरूरूवाणि रोवमाणाणि भणाति भत्त देहेत्ति । सा भणइ खिप्पं रधेमि जाव ताव मा रोयह । ताहे सा दोन्नि पाहणे जमले ठविउं तेसिं मज्झे अग्गिं पज्जालित्ता तेसिं उवरि पिढरं पाणियस्स भरित्ता मुक्क । त पिढड तइयपत्थरेण विणा पमितं। सो अग्गी विज्झवितो पुणो वि अग्गिं पज्जालिऊण पिढरं पाणियभरियं मुक्कं तहेव पमितं । अग्गी विज्झवितो । एवं तं तियं पि वार विज्झावितो ततो पमिमागतो साहू भणति एत्तिएण विन्नाणेणं तुमं पत्तियाणि चेरूरूवाणि निप्फाएसि एव भणमाणस्स पच्छित्तं चउ लहुयं सा भणइ तुम कहमेत्तिएण गुणेण अप्पायोगो पमिम पमिवन्नो खिप्पं जाहि गच्छ मा ते एतदेवया छलेहित्ति" । गत बहुपुत्रद्वारम ।

इदानीं पुरुषद्वारमाह ।

ओवाइयं समिद्धं, महापसुं देमि सेज्ज मज्जाए ।
एत्थेव ताव रिक्खह, दिट्ठे वामं व समणा वा ॥

स कदाचिदव्यक्त आर्यासमीपे कायोत्सर्गेण स्थितस्तत्र बहवो मनुष्या आर्यावन्दनार्थमागतास्ते च तस्य साधोः समीपदेशे स्थिता ब्रुवते । यथा यदौपयाचितकमार्या भट्टारिकाया· समीपे याचितं यथा यद्यमुक प्रयोजनमस्माक सेत्स्यति ततो महापशुं प्रयच्छाम' इति तदिदानीं समृद्ध निष्पन्नमित्यर्थ·। तत सद्य· इदानीं महापशु दद्म । महापशुर्नाम पुरुषः । ततो गवेषयन्तोऽत्रैव किञ्चिन्मनुष्य गता गवेषणाय मनुष्याः दृष्टः स प्रतिमाप्रतिपन्नो दृष्ट्वा च कथितं मूलपुरुषाय यथैव श्रमणो दीयतामार्यायै इति एवमुक्ते यदि भयेन वाम करोति देशीवचनमेतत् न समं करोति नश्यतीत्यर्थः । यदि वा श्रमणोऽहमिति ब्रूते तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु ।

उदगभएण पलायइ, पवइ रुक्खं व दुरुहए सहसा ।
एमेव सेसएसुं, पडियाररूवेसु सो कुणइ ॥

सो ऽव्यक्तप्रतिपन्न' कायोत्सर्गेण स्थित उदकप्रवाहे नद्यादिगते

समागच्छति । यद्युदकभयेन पलायते यदि वा प्लवते तरति । अथवा सहसा वृक्षमारोहति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु एवमेव अनेनैव प्रकारेण शेषेष्वप्यग्न्यादिसमुत्थितेषु यदि प्रतीकारं करोति चतुर्लघु । इयमत्र भावना । अग्नौ प्रसर्पति सर्पे वा समागच्छति यदि पलायते अन्यं वा प्रतीकारं करोति तदा प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चतुर्लघु एतानि च पुरुषमेघोदकाग्निहस्तिसर्परूपाणि देवताकृतान्यपि सम्भाव्यन्ते स्वाभाविकानि च तत्र यदि देवताकृतानि यदि वा स्वाभाविकानि सर्वेष्वप्येतेषु प्रत्येकं चतुर्लघु । सांप्रतमत्थण आलोयणेत्यादि व्याचिख्यासुराह ।

जेट्ठ अज्ज पडिच्छाहि, अहं तुब्भेहिं समं वच्चामि ।
इति सकलुणमालत्तो, मुज्झिज्जइ से अथिरभावो ॥

अथ वा देवता संयतीवेषं कृत्वा कायोत्सर्गे समाप्ते विहारक्रमं प्रति प्रस्थितं तमव्यक्तं साधुं प्रतिपन्नं ब्रूयात् । अहो ज्येष्ठार्य ! अहमपि युष्माभिः समं व्रजामि तत्प्रतीक्षस्व तावत् यावत्पादलग्नं कण्टकमपनयामि इति एवं तया देवतया कृतसंयतीवेषया सकरुणमालप्तः स वराकः शैक्षत्वादेवास्थिरभावो मुह्यति मोहमुपगच्छति मुह्यंश्च यदि प्रतीक्षणादि करोति तथा प्रायश्चित्तं तदेवाह ॥

अत्थति अवलोए तिय-लहुगा पुण कंटओ उ मे लग्गति ।
गुरुगा नियत्तमाणे, तह कंटगमग्गणे चेव ।

तत्र यदि कण्टको मे लग्न इति वचः श्रुत्वा [अत्यतिति] प्रतीक्षते तदा प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । अथापि तत्संमुखमवलोकते तदापि चतुर्लघु । एतच्च " आसन्नतो लहुवो " इति वक्ष्यमाणग्रन्थादवसितम् । अथ दूरात्तदा तस्मिन् दूराभिवर्तमाने चत्वारो गुरुका गुरुमासास्तथा [कंटगमग्गणे चेवेति] यदि कण्टकमपनेष्यामीति तत्पादलग्नं कण्टकं मृगयते तदापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु ॥

छेदो कंटकपाय-ग्गहणे छल्लहुछग्गुरू वा ।
चलणं मुक्खिवइ दिट्ठम्मि, छग्गुरुगा परिणतो जवति ॥

यदाह प्रतिसेवे इति तदा छेदः अकरणे प्रतिसेवायाः षट् लघवो लघुमासाः । अथ तस्याः संयत्याः पादं गृह्णाति कण्टकोद्धारणाय तदापि षट् लघु यदि पुनश्चरणं पादमुत्क्षिपति उत्पाटयति कण्टकोद्धारणाय तदा षट् गुरु । पादे उत्पाटिते सति यदि सागारिकं पश्यति तदा तस्मिन्नपि दृष्टे एवम् गुरु सागारिकदर्शनानन्तरं यदि भाव परिणतो भवति यदाह प्रतिसेवे इति तदा छेदः करणे प्रतिसेवाकरणे मूलं एतत्प्रायश्चित्तविधानं भिक्षोरुक्तं गणावच्छेद्याचार्ययोः पुनरिदमाह [सत्तहत्ति] अत्र पूरणप्रत्ययान्तस्य लोपः प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः । गणावच्छेदिनः प्रायश्चित्तविधानं द्वितीयाच्चतुर्लघुकमारभ्यं समाप्तमनवस्थाप्यं प्रायश्चित्तं यावदवसेयम् । आचार्यस्य प्रथमात् चतुर्थगुरुकादारभ्यमष्टमं पाराञ्चितं प्रायश्चित्तं यावत् । एतदेवाह ॥

लहुया य दोसु दोसु य, गुरुगा छम्मासलहुगुरू छेदो ।
भिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥

भिक्षुगणाचार्याणां भिक्षुगणावच्छेद्याचार्याणां यथाक्रमं प्रायश्चित्तविधानं मूलमनवस्थाप्यं पाराञ्चितं च यावत्तद्यथा भिक्षोर्द्वयोः प्रतीक्षणेऽवलोकने च चत्वारो मासा लघवः द्वयोर्निवर्तने कण्टकमार्गणे च चत्वारो गुरुकाः [छम्मासलहुगुरुत्ति] अत्र दोसु इति प्रत्येकमभिसंबध्यते द्वयोः कण्टकग्रहणे पादग्रहणे च षण्मासा लघवः द्वयोः पादोत्क्षेपे सागारिकदर्शने च षड् गुरु प्रतिसेवाभिप्राये छेदः प्रतिसेवाकरणे मूलं गणावच्छेदिनो यथाऽनवस्थाप्यं पर्यन्ते भवति तथा वक्तव्यम् । तथैव गणावच्छेदिन प्रतीक्षणे चत्वारो लघुका अवलोकने चत्वारो गुरवः । निवर्त्तने चत्वारो गुरवः कण्टकमार्गणे षट् लघु कण्टकग्रहणे षट् लघु संयतीपादग्रहणे षट् गुरु पादोत्पाटने छेदः । सागारिकदर्शने छेदः । प्रतिसेवाभिप्राये मूलम् । प्रतिसेवाकरणेऽनवस्थाप्यम् । आचार्यस्य यथा पाराञ्चितमन्ते भवति तथा वक्तव्यं तथैवमाचार्यस्य प्रतीक्षणे चतुर्गुरु निवर्तने कण्टकमार्गणे च षट् लघु कण्टकग्रहणे पादग्रहणे च षट् गुरु । पादोत्पाटने छेदः । सागारिकदर्शने मूलं प्रतिसेवाभिप्राये मूलम् । प्रतिसेवाकरणे पाराञ्चितमिति । संप्रति यदुक्तं " गुरुगा नियत्तमाणे " इति तत्र विशेषमाह ।

आसन्नातो लहुओ, दूरनियत्तस्स गुरुतरो दंडो ।
चोयगसंगामदुगं, नियट्ट खिसंति अणुग्घाया ॥

संयत्या आसन्नात्प्रदेशान्निवृत्ते लघुको दण्डः चत्वारो लघुमासा दण्ड इत्यर्थः । दूरान्निवृत्तस्य गुरुतरश्चत्वारो गुरुमासाः । एवमाचार्येण प्ररूपिते चोदकः प्रश्नयति । तत्र चोदकाचार्यनिदर्शनं संग्रामाष्टिकं निदर्शनं तं च भग्नप्रतिक्रं निवृत्तं प्रत्यागतं सन्तं ये (खिसतित्ति) हीलयन्ति तेषामनुद्धाताश्चत्वारो गुरुका मासा प्रायश्चित्तमित्युत्तरार्द्धसंक्षेपार्थः । इदानीमेतदेवोत्तरार्द्धं विवरीषुः प्रथमतश्चोदकवचनं भावयति ॥

दिट्ठं लोए आसो य, नंगविणिए य अवणियनियत्तो ।
अवराहे नाणत्तं, न रोयए केयणं तुज्झ ॥

प्रागुक्ताचार्यप्ररूपणानन्तरं परः प्रश्नयति । ननु संयत्याः प्रत्यासन्नात्प्रदेशात्प्रतिनिवृत्तस्य गुरुतरेण दण्डेन भवितव्यं दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य लघुतरेण न चैतदनुपपन्नं यतो लोकेऽपि दृष्टं तथा लोकस्य राज्ञो नगरमपरो राजा वेष्टयितुकामः समागच्छति तं च समागच्छन्तं श्रुत्वा नगरस्वामी भयात्प्रेषयति । तथा यूयं तत्र गत्वा युध्यध्वमिति । तत्रैको भटः परबलमतिप्रभूतमालोक्य दर्शनमात्र एव भग्नः प्रत्यागतोऽन्यो युध्वा चिरकाल संजातव्रणो भग्नः समागत अपरः परबलेन सह युध्वाऽसंजातव्रण एव भग्नः प्रतिनिवृत्तः । तत्रैषां भटानां मध्ये य आलोकभङ्गी दर्शनमात्रतो भग्न प्रतिनिवृत्तस्तस्य बहुतरोऽपराधः यः पुनः सजातव्रणो यश्चाव्रणित एतौ द्वावपि भग्नौ सन्तौ प्रतिनिवृत्तावित्यपराधिनौ केवलमालोकभङ्गापेक्षयाऽल्पतरापराधौ दूरात्प्रतिनिवृत्तत्वादेव लोके दूरासन्नभेदेनापराधे नानात्वमिदमुपलब्ध तत एव दृष्टान्तबलेन यन्मयोक्तं संयत्या प्रत्यासन्नात्प्रदेशात् प्रतिनिवृत्तस्य भूयान् दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्याल्पतर इति । ततः केन कारणेन युष्मभ्यं न रोचते । सूरिराह ॥

अक्खयदेहनियत्तं, बहुदुक्खभएण जं समाणेह ।
एयमहं न रोयति, को ते विसेसो भवे एत्थ ॥

यद्बहुदुःखभयेन परबलेन सह युध्यमानस्य प्रभूतं दुःख मरणपर्यवसानं भविष्यतीति भयेन सुकृतदेह सन् निवृत्तः प्रतिनिवृत्तोऽक्षतदेहनिवृत्तस्ततसमानम् एतन्मह्यं न रोचते विषमत्वात्तथा हि । न सर्वथा अभग्नचारित्रः प्रतिनिवर्तते किं तु क्षतचारित्रस्ततोऽप्यत्र स उपन्यसनीयो योऽधिकृतस्तदा चान्तिकेन सहमानतामवलम्ब्यते न चासौ तथेति पर आह । यदेव दृष्टान्तस्तव न भासते तत कोऽत्रास्मिन् विचारे तव विशेषो भवेत विशिष्टो दृष्टान्तः स्यात् । सूरिराह ।

एसेव य दिट्ठंतो, पुररोहे जत्थ वारियं रन्ना ।
मा णीह तत्थ निंतं, दूरासन्ने य नाणत्ता ॥

एष एव प्रवक्ष्यमाणस्तो दृष्टान्तः पुररोधे सति कृष्यो यत्र पुररोधे राज्ञा वा वारित यथा मा कोऽपि पुरान्निर्यासीदिति तत्रैव निवारिते सत्र निर्गच्छति दूरादासन्नाञ्च प्रतिनिवृत्त यथा नानात्वमपराधविषय तथेहापि योजनीयम् । तद्यथा एरवल्लेन नगरे रोधे कृते राज्ञा पटहेन घोषितं यथा यो नगरान्निर्यास्यति स मया निग्राह्य इति तत कोऽपि निर्गत्य आसन्नात्प्रतिनिवृत्तो ऽपरो दूरात्तत्र तथैतयोरासन्नात्प्रतिनिवृत्तस्याल्पतरो राज्ञा दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य बहुतर एवं यो दूरात्सयत्याः प्रतिनिवृत्तस्तस्य गरीयान् भावदोष इति चतुर्गुरुकमासन्नात्प्रतिनिवृत्तस्य स्वल्पीयान्भावदोष इति चतुर्लघु । सम्प्रति "पुणो आलोएज्जा" इत्यादि सूत्र व्याख्यानयति ।

सेसम्मि चरित्तस्सा-लोयणया पुणो पडिक्कमणं ।
छेद परिहारं वा, जं आवन्नो तयं पावो ॥

यद्यपि प्रतिमाप्रतिपन्नस्य चारित्रविराधनाऽऽसीत् तथापि न चारित्र सर्वथाऽपगत किं तु शेषोऽधतिष्ठते व्यवहारनयमतेन देशभङ्गेन सर्वभङ्गाभावात् । तत शेषे चारित्रस्य सति पुनरालोचना पुनः प्रतिक्रमण न पुन शब्दो द्वितीयवारापेक्षः । तथा च लोके वक्तारः कृतमिदमेवैकवारमिदानीं पुनः क्रियते इति । अत्र तु प्रथममेवालोचन प्रथममेव च प्रतिक्रमण तत कथ पुन शब्दोपपत्ति । उच्यते यत्रैव स्थाने सोऽकृत्य कृतवान् तत्रैव स इत्थमचिन्तयत् आलोचयामि प्रतिक्रमामि च तावदहमेतस्याकृत्यस्य पश्चाद्गुरुसमक्षं भूय आलोचयिष्यामि प्रतिक्रमयिष्यामि च । एव च चिन्तयित्वा तथैव अकार्षीत् ततो घटते पुन शब्दोपादानमिति । यदि वा यदेव तदानीं हा दुष्ठु कारितमित्यादि चिन्तन तदेवालोचन तदेव च प्रतिक्रमण भवति । तदपेक्षया पुनःशब्दोपपत्तिः । यदपि च छेद परिहार वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तत्कमापन्नतममाप्नोति प्रतिपद्यते । सम्प्रति यदुक्त "नियट्टखिंसत गुणगाथा" इति तद्व्याख्यानयति ॥

एवं सुभपरिणामं, पुणो वि गच्छंति तं पडिनियत्तं ।
जे हीलइ खिंसइ वा, पावइ गुरुए चउम्मासे ॥

एव पुनरालोचनाप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण शुभपरिणाम शोभनाध्यवसाय पुनरपि गच्छे प्रतिनिवृत्त सन्त यो हीलयति खिंसयति वा तत्र यदि असूया निन्दन तत् यथा समाप्ति नीता-अनेन प्रतिमा सांप्रतमागतो वर्त्तते ततः क्रियतामस्य पूजेति । यत्पुन प्रकटं निन्दन सा खिंसा यथा धिक् तव भ्रष्टप्रतिज्ञस्येत्यादि स प्राप्नोति प्रायश्चित्तं गुरुकान् अनुद्घातान् चतुरो मासान् व्य० प्र० १ उ० ॥

एगल्लविहारसामायारी–एकाकिविहारसमाचारी–स्त्री० आचारविनयभेद,–एकाकिविहारप्रतिमां स्वय प्रतिपद्यते पर च ग्राहयतीति एकाकिविहारसामाचारीति । प्रव० ६४ द्वा० ॥

सांप्रतमेकाकिविहारसामाचारीमाह ।

एगल्लविहारादी, पडिमापडिवज्जती य सयणं वा ।
पडिवज्जावे एवं, अप्पाण परं व विणएति ॥

एकैकविहार आदिर्यासां ता एकैकविहारादय आदिशब्दात्प्रतिमागतविशेषानुष्ठानपरिग्रहः । एवंभूता प्रतिमाः स्वय प्रतिपद्यन्ते अन्य च प्रतिपादयन्ति । एवमाचारविनयमात्मानं पर च विनयति व्य० द्वि० १० उ० ।

एगवगडा–एकवगडा–स्त्री० एको वगडः परिक्षेपो यस्याः सा । एकवृत्तिपरिक्षेपायां वसतौ, "एगवगडाए अतोबहिया सवकसंबद्धा" तद्यथा साध्र्ववसतः एगवगडाए इति । एकवृत्ति परिक्षेपाया अन्तर्बहिश्चेति । व्य० ७ उ० ।

एगवण्ण–एकवर्ण–त्रि० एको वर्णो रूप यस्याः । अन्यरूपामिश्रितवर्णयुक्ते, एको वर्ण जातिभेदो यत्र । ब्राह्मणादिवर्णविभागशून्ये कलियुगावशेषस्यलोके, वर्ण्यते अनेन वर्ण एकवर्णः स्वरूप यस्य । एकस्वरूपे, शुक्लादौ रूपे, एकस्मिन् शब्दे च । श्रेष्ठवर्णे श्रेष्ठजातौ च ॥ वाच० । बीजगणितोक्ते सजातीये तुल्यवर्णे रूप्यभेदे च । वाच० । एक कृष्णादिवर्णान्यतमो वर्णोऽस्येत्येकवर्ण । उत्त० १ अ० । कालाद्येकवर्णे, भ० ५ श० ७ उ० ।

एगवण्णसमीकरण–एकवर्णसमीकरण–न० एकवर्णो तुल्यरूपौ समीक्रियते अनेन करणे ल्युट् बीजगणितोक्ते बीजचतुष्टयान्तर्गतबीजभेदे, वाचस्पतौ अव्यक्तशब्दे तद्गणितप्रकारो दर्शित प्रथममेकवर्णसमीकरण बीजं द्वितीयमनेकवर्णसमीकरणं बीज यत्रैकवर्णयोर्द्वयोर्बहूनां च वर्गादिगतानां समीकरणं तन्मध्यमाहरणम् । यत्र भावितस्य तद्भावितमिति बीजचतुष्टयं वदन्त्याचार्या भास्कराचार्याः । अस्योदाहरणम् । एकस्य रूपत्रिशती षडश्वा अश्वा दशान्यस्य तु तुल्यमूल्याः । ऋणं तथा रूपशतं च तस्य तौ तुल्यवित्तौ च किमश्वमूल्यम् । एतच्चाव्यक्तशब्दे व्याख्यातम् । अत्र तुल्यमूल्यस्याश्वरूपस्यैकाविधस्यैव पृष्टस्यान्वितस्य समीकरणात् एकवर्णसमीकरणमित्यनुगतार्थो सञ्ज्ञा वाच० ।

एगवयण–एकवचन–न० एकोऽर्थ उच्यतेऽनेनोक्तिर्वोति वचनमेकस्यार्थस्य वचनमेकवचनम् । वचनभेदे, उदाहरण देवः स्था० २ ठा० । एकवचनं वृक्ष इति । आचा० २ श्रु० । बहुत्वेऽपि क्वचिज्जातावेकवचनम् "इह जयमत्तासे हता" अत्र बहुवचनप्रक्रमेऽपि जात्यपेक्षयैकवचनेन निर्देश इति । आचा० १ श्रु० १ अ० । लोगस्स परियाग जाणइ पासइ, (परियायं) जातावेकवचनमिति पर्य्यायान् विचित्रपरिणामान् इति स्था० १० ठा० ।

एगविऊ–एकवित्–पु० एकस्य ज्ञातरि, "एगे एगविऊ बुद्धे" एकमेवात्मान परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित् न मे कश्चिद् दु खपरित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित् । यदि वैकान्तेन विदितसंसारस्वभावतया मौनीन्द्रमेव शासन तथ्यं नान्यदित्येव वेत्तीत्येकान्तवित् । अथवैको मोक्ष संयमो वा तं वेत्तीति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

एगविह–एकविध–त्रि० एका विधा प्रकारोऽस्य । एकप्रकारे, भ० ३४ श० १ उ० । "एकविहं केवलं नाणं" एकविध भेदविप्रमुक्तमिति । विशे० ।

एगविहारिन्–एकविहारिन्–पुं० एक सन् विहरतीत्येव शील । वृ० १ उ० । एकाकिविहारिणि जिनकल्पिकादौ, वृ० ७ उ० (एतद्वक्तव्यता एगल्लविहार शब्दे)

एगविहिविहाण–एकविधिविधान–त्रि० एकप्रकारेण व्यवस्थिते, "लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविहिविहाणा" एकेन विधिना प्रकारेण विधानं व्यवस्थान येषां ते तथा सर्वेषां वृत्तत्वात् भ० ११ श० ९ उ० ॥

एगवीसरइगुण–एकविंशतिरतिगुण–पु० कामशास्त्रप्रसिद्धे एक-

विंशतिसंख्याके रतिगुणे " एकवीसरइगुणप्पहाणा " एकविंशती रतिगुणाः कामशास्त्रप्रसिद्धाः ॥ विपा० १ अ० ।

एगसंसय–एकसंश्रय–त्रि० एकाधारे, "सर्वेत्राप्यविरोधेन, धर्मौ द्वावेकसंश्रयौ " । एकस्मिन् द्रव्ये संश्रय आधारो ययोस्तौ एकसंश्रयाविति । द्रव्य० ४ अध्या० ।

एगसमइय–एकसामयिक–त्रि० एकः समयो यत्रास्त्यसावेकसामयिकः । एकसमयोपेते, " एगसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा० " भ० २४ श० १ उ० ।

एगसमय–एकसमय–पुं० एकस्मिन् समये, खेरइयाणं एगसमये ण वा एकेन समयेन उपपद्यन्त इति योग० भ० १४ श०१ उ०।

एगसमयट्ठिइ–एकसमयस्थिति–त्रि० एकं समयं यावत् स्थितिः परमाण्वादिना एकप्रदेशावगाढादित्वेन एकगुणकालादित्वेनावस्था येषां ते एकसमयस्थितिकास्तेषु स्था० १ ठा० । भ० ।

एगसट्ठि–एकषष्टि–स्त्री० एकाधिका षष्टिः एकाधिकषष्टिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । "एकसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता " स० ।

एगसरियं–अव्य० झगित्यर्थे, सम्प्रत्यर्थे च । एकसरिअं झगिति संप्रति एक्कसरिअं झगित्यर्थे संप्रत्यर्थे च प्रयोक्तव्यम् । एक्कसरिअं झगिति सांप्रतं वा । प्रा० ८ अ० ३ पा० ।

एगसरिया–एकसरिका–स्त्री० एकावल्याम्, एकावली च विचित्रमणिककृता एकसरिकेति । जं० १ वक्ष० ।

एगसाडय–एकशाटक–त्रि० एकवस्त्रे, "अदुवा एकसाडे" अथवा शनैः शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् एकशाटकसंवृत इति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

एगसाडिय–एकशाटिक–त्रि० एकपटे, " एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ " (एगसाडिअंति) एकपटमुत्तरासङ्गं करोतीति । कल्प० । "एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं " भ० २ श० १ उ० ।

एगसाहिल्लो–देशी० एकस्थानवासिनि, दे० ना० ॥

एगसि–एकशस्–अव्य० अल्पाद्यर्थकात् कारकार्थे वीप्सार्थे शस् । एकशो डिः । ८ । ४ । ४२८ । इति सूत्रेणापभ्रंशे एकशशब्दात्स्वार्थे डिः ॥ एक्कसिसीलकलंकिअ हं देज्जहिं पच्छित्ताइं जो पुण खंडइ अणुदिअहुतसुपच्छित्ते काइं । प्रा० । अल्पमल्पमेकमेकं वेत्याद्यर्थे, वाच० । " वत्तेणाम एकसि " एकस्मिमेकवारं यः प्रवृत्तः स वृत्त इति । व्य० १० उ० ।

एगसिंबलि–देशी० शाल्मलीपुष्पैर्नवफलिकायाम्, दे० ना० ॥

एगसिद्ध–एकसिद्ध– पुं० एकस्मिन् समये एकका एव सन्तः सिद्धाः । सिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद । ल० । ध० । एकस्मिन् २ समये एककाः सन्तो ये सिद्धास्ते एकसिद्धा इति । नं० । एकैकसमये एकैकजीवसिद्धिगमनादेकसिद्धा इति । पा० ॥

एगसेल–एकशैल– पुं० जंबूद्वीपस्थमन्दरपर्वतसमीपस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० । धातकीखण्डपश्चिमार्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० २ ठा० । (तयोर्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) तथाच " इहेव जंबूदीवे २ पुव्वविदेहे सीताए महानईए उत्तरिल्ले कूले नीलवतस्स दाहिणेण उत्तरिल्लस्स सीतामुहवणसमस्स पच्चच्छिमेणं एगसेलस्स वक्खारपव्वतस्सेति " । ज्ञा० १९ अ० ।

एगसेलकूड–एकशैलकूट–पुं० न० महाविदेहवर्षस्यैकशैलवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष० । धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० ८ ठा० । (तद्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) महाविदेहवर्षस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते च । तद्वक्तव्यता यथा ।

कहिणं भंते महाविदेहे वासे एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते गोयमा पुक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पुरच्छिमेणं पोक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स दक्खिणेणं सीआए उत्तरेणं एत्थणं एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । चित्तकूडगमेणं णेअव्वो जाव देवा आसंपति चत्तारि कूडा तजहा सिद्धाययणकूडे १ एगसेलकूडे २ पुक्खलावत्तकूडे ३ पुक्खलावइकूडे ४ कूडाणं तं चेव पंचसइअं परियाणं जाव एगसेले अ देवे महिए ॥ जं० ४ वक्ष० ॥

एगसेस–एकशेष–पुं० एकः शिष्यतेऽन्यो लुप्यते यत्र शिषआधारे–घञ्–समासभेदे, तथाच ॥

सेकिंत एगसेसे एगसेसे जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो जहा बहवे साली तहा एगो साली जहा एगो साली तहा बहवे साली सेत्त एगसेसे सेत्त समासिए ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्ताविस्यनेन सूत्रेण समानरूपाणामेकविभक्तियुक्तानां पदानामेकशेषः समासो भवति सति समासे एकः शिष्यतेऽन्ये तु लुप्यन्ते यश्च शेषोऽवतिष्ठते स आत्मार्थे लुप्तस्य लुप्तयोर्लुप्तानां चार्थे वर्तते । अथ एकस्य लुप्तस्यात्मनश्चार्थे वर्तमानात्तस्मात् द्विवचनं भवति । यथा पुरुषश्च पुरुषश्चेति पुरुषौ । द्वयोश्च लुप्तयोरात्मनश्चार्थे वर्त्तमानाद्बहुवचनं यथा पुरुषश्च ३ पुरुषाः । एव बहूनां लुप्तानामात्मनश्चार्थे वर्तमानादपि बहुवचनं यथा पुरुषश्च ४ पुरुषाः इति । जातिविवक्षायां तु सर्वत्रैकवचनमपि ज्ञानीयमितः सूत्रमनुश्रियते (जहा एगो पुरिसोत्ति) यथैकः पुरुषः एकवचनान्तपुरुषशब्द इत्यर्थः । एके शेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेषः । (तहा बहवे पुरिसत्ति) तथा बहवः पुरुषा बहुवचनान्त पुरुषशब्द इत्यर्थः । एकशेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेषः । यथा चैकशेषे समासे बहुवचनान्तः पुरुषशब्दो बह्वर्थवाचकस्तथैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिद्विशेषः । एतदुक्तं भवति यथा पुरुषश्च इति विधाय एकपुरुषशब्दशेषता क्रियते तदा यथैकवचनान्तः पुरुषशब्दो बह्वर्थान्वक्ति तथा बहुवचनान्तोऽपि यथा बहुवचनान्तस्तथैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिदेकवचनान्तत्वबहुवचनान्तत्वयोर्विशेषः केवलं जातिविवक्षायामेकवचनं बह्वर्थविवक्षायां तु बहुवचनमिति । एवं कार्षापणशाल्यादिष्वपि भावनीयम् । अथ च समासो द्वन्द्वविशेष एवोच्यते केवलमेकशेषताऽत्र विधीयते इत्येतावता पृथगुपात्त इति लक्ष्यते तत्त्व तु सकलव्याकरणच्छेदिनो वदन्तीत्यलमिति विजृम्भितेन ॥ अनु० । एकः प्रधान शेषोऽन्तः । एकान्ते, पु० । बहु० अतिशयिते, त्रि० । वाच० ।

एगस्सय– एकाश्रय–त्रि–एक आश्रय आधारोऽवलम्बनं वा यस्य । १ अनन्यगतिके, २ एकाधारवृत्तौ, । ३ वैशेषिकोक्तगुणभेदे च । ते च गुणाः अनेकाश्रितगुणभिन्नाः ॥ " संयोगश्च विभागश्च संख्याद्वित्वादिकास्तथा । द्विपृथक्त्वाद यस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः " । अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः ' ॥ भाषाप० । एकस्मिन् आधारे, पुं० वाच० ।

एगहक्ख–एकधाख्य–त्रि० एकप्रकरकाख्योपेते, ।

एकधात्त–त्रि० एकप्राकरजीवोपेते, "एगे दुक्खे जीवाणं एगभू-ते०" पाठान्तरे त्वेकधैवाख्या सद्गुरूादिर्व्यपदेशो यस्य नत्वसद्गुरूसद्गुरूासंग्गुरू इत्यादिकोऽपि व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषायादेरभावादिति । संभवत्येकधाख्य एकधा भक्तो वा जीवो यस्य स तथेति जीवानां प्राणिनामेकभूत एक इवात्मोपम इत्यर्थः ॥ स्था० १ ठा० ।

एगहा–एकधा–अव्य० एकप्रकारे-धा- । एकप्रकारे, वाच० ।

एगाइ–एकादि–त्रि० एक आदिर्यस्याः १ एकत्वसंख्यान्वितमारभ्य परार्द्धान्तसंख्यायुक्ते, । २ तत्स्मारके रेखासन्निवेशविशेषरूपे अङ्के च । वाच० । द्वारनगरस्थे स्वनामख्याते राष्ट्रकूटे च । "इहेव जबूदीवे भारहे वासे सयदुवारे णामं णयरे होत्था "–" तस्स ण सयदुवारस्स णयरस्स अदूरसामते दाहिणपुरच्छिमे दिसि भाए विजयवद्धमाणे णाम खेडे होत्था " " तस्सण विजयवद्धमाणखेडे एक्काइ णाम रठकूडे होत्था ' इति" विपा० राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिक इति । विपा० १ अ० ।

एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या उपाश्रयरक्षणे दोषा. । एकाकिन्या क्षुल्लिकादिकया व्रतिन्योपाश्रयरक्षणे दोषमेव दर्शयति ।

जत्थ य एगा खुड्डी, एगा तरुणी य रक्खए वसहिं ।
गोयम तत्थ विहारे, का सुद्धी बंभचेरस्स ॥

यत्र च साध्वीविहारे एकाकिनी क्षुल्लिका एकाकिनी तरुणी वा तु शब्दान्नवदीक्षिता वैकाकिन्युपाश्रय रक्षति हे गोतम ! तत्र साध्वीविहारे ब्रह्मचर्यस्य का शुद्धि. न कापीत्यर्थ " इत्थ विदोसा कयाई वसहीए एगा खुड्डी किड्डिज्जा कोइ तं अवहरिज्जा वा बलाओ वा कोइ सेविज्जा इच्चाइ बहु दोसा तरुणो वि एगागिणी मोहोदएण फलादिणा च तत्थ सेविज्जा एगागिणिं वा तं दट्ठूण तरुणा समागच्छति हासाइयं कुव्वंति अगे वा लगति तओ उड्डाहो भवति । त फासाओ वा मोहोदओ भवति सीलं भंजिज्ज वा गब्भो वा भवेज्ज त च जइ गाले महादोसा भवइ अह वट्टइ तो पवयणे महा उड्डाहो भवति । अहवा पुव्वकीलियं समरमाणी वाससाइय वा दट्ठूण गच्छं मुत्तूण एगागिणी तरुणी साहुणी गच्छिज्जा एवमाइ बहुदोसा एवं नवदिक्खियाए वि एगागिणीए एगागिसेहसाहुव्वदोसा नायव्वेति गाथाच्छन्द' १० उ ।

अथैकाकिन्या व्रतिन्या रात्रौ वसतेर्वहिर्गमने निर्मर्यादत्वमाह ।

जत्थ य उवस्सयाओ, बाहिं गच्छे दुहत्थमित्तं पि ।
एगा रत्तिं समणी, का मेरा तत्थ गच्छस्स ॥

यत्र च गणे उपाश्रयाद्बहिरेकाकिनी ' रत्तिति ' सप्तम्या द्वितीयेति सूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् रात्रौ श्रमणी साध्वी द्विहस्तमात्रमपि भूमिं गच्छेत् तत्र गच्छे गच्छस्य का मर्यादा । अथवा क्वचिद् द्वितीयादेरिति प्राकृतसूत्रेणात्र सप्तम्यर्थे षष्ठी ततस्तत्र गच्छे का मर्यादा न काचिदपीत्यर्थं । "इत्थवि दोसा· कयाइ परदारसेवका रयणीए एगागिणिं समणिं दट्ठूण हरिज्जा उड्डाह वा करेज्जा पच्छन्नं वा रायाई भममाणो संकिज्जा का एसा चोरा वा अवहरंति वत्थाइय वा गिण्हति । अहवा कयाई गुरुणीए फरुसचोयण समरमाणी पुव्वकीलिय वा रयणीए विसेस उसभरमाणी एगागिणी गच्छिज्जा इच्चाइ बहुदोसात्ति" ॥ १०८ ॥

अथैकाकिश्रमणाधिकारादेवेदमाह ।

जत्थ य एगा समणी, एगो समणो य जंपए सोम ।
नियबंधुणा वि सद्धिं, तं गच्छं गच्छगुणहीणं ॥

यत्र च एकाकिनी श्रमणी एकाकिना निजबन्धुनाऽपि सार्द्धं जल्पति अथवा एकाकी साधुरेकाकिन्या निजभगिन्याऽपि सार्द्धं जल्पति हेसौम्य ! हे गौतम ! तं गच्छं गच्छगुणहीनं जानीहीति शेषः । यतः एकाकिन्याः श्रमण्याः निजबन्धुनाऽपि सार्द्धमेकाकिन. साधोर्वा निजभगिन्याऽपि सार्द्धं संदर्शनसंभाषणादिना बहुदोषोत्पत्तिर्भवति कामवृत्तेर्मलिनत्वात् तथाचोक्तम् "संदंसणेण पीई १ पीओ २ उ रओ ३ रई उ वीसंभो ४ वीसंभाओ पणओ ५ पंचविहवट्टए पिम्म " ॥१॥ जह जह करेमि नेह, तह तह नेहो- मि वट्टइ तुममि । तणनमिओमि वलिय, जं पुच्छसि दुब्बलतरो सि २ मित्तिममइयदसणसभा-सणेण संदीविउ मयणवराही । बम्भाई गुणरयणे, रुहइ अणिच्छ वि पमायाओ ३ अनिच्छतोऽपि दहति तथा "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" ॥ १ ॥ इति गाथाछन्द. ॥ ग० ३ अ० ।

एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलप्रवेशादिनिषेधो यथा

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमित्तए वा पविसत्तए वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा एवं गामाणुगामं वा दूइज्जत्तए वासावासं वा वत्थए ॥

एव यावदेकपार्श्वशायिसूत्रं तावत सर्वाण्यपि सूत्राण्युच्चापयितव्यानि । अथामीषां सूत्राणां संबन्धमाह ।

बंभवयरक्खणट्ठाए, अधियारो तु होंति ते सुत्ता ।
जो एगपासमायी, विसेसतो संजतीवग्गो ॥

ब्रह्मव्रतरक्षणार्थमनन्तरं सूत्रद्वयमुक्तममून्यपि सूत्राणि यावदेक पार्श्वशायिसूत्र तावत्सर्वाण्यपि अधिकाराणि तस्यैव ब्रह्मव्रतस्य रक्षणार्थमभिधीयन्ते (विसेसओ सजई वग्गोत्ति) एतेषु सूत्रेषु किंचिन्निर्ग्रन्थानामपि सभवति । तथा एकाकी सूत्रं पर विशेषत. सयतीवर्गमधिकृत्यामूनि सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि । अनेन संबन्धेनायातानाममीषां प्रथमसूत्रस्य भवेद् व्याख्या न कल्पते । निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या गृहपतिकुल पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रमितु प्रवेष्टु वा बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा निष्क्रमितु वा प्रवेष्टु वा ग्रामानुग्रामं वा व्रजितुं वर्षावास वा वस्तुमिति सूत्रार्थः ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

एगागी वचती अप्पा, तमहं वत्ता परिच्चत्ता ।
लहुगुरु लहुगा गुरुगा, भिक्खवियारे वसहिगामे ॥

एकाकिनी निर्ग्रन्थी यदि भिक्षादौ व्रजति तत आत्मा महाव्रतानि च तया परित्यक्तानि भवन्ति स्तेनाद्युपद्रव सभवेत् अतो भिक्षायामेकाकिन्या गच्छन्त्या लघुमासा बहिर्विचारभूमौ गच्छन्त्या गुरुमासा ऋतुबद्धे वर्षावासे वा वसति एकाकिनी गृह्णाति चतुर्लघु ग्रामानुग्राममेकाकिनी व्रजति चतुर्गुरु । इदमेव शेषितं प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथ विशोषितमाह ।

मासादीया गुरुगा, थेरी खुड्डी विमज्झिमतरुणीणं ।
तवकालविसिट्ठा वा, चउसुं पि चउण्हमासाई ॥

स्थविराया एकाकिन्या भिक्षादौ व्रजन्त्या मासलघु क्षुल्लिकाया मासगुरु विमध्यमायाश्चतुर्लघु तरुण्याश्चतुर्गुरु । अथवा स्थविरा यद्येकाकिनी भिक्षां याति ततो मासलघु तपसा कालेन च लघुक बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा याति मासलघु कालेन गुरुक च मतिं गृह्णाति मासलघु । तपसा गुरुक ग्रामानुग्राम

द्भवति मासलघु । तपसा कालेन चतुर्गुरुकम् । एवमेव चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि मासगुरूणि तप कालविशेषितानि कर्तव्यानि । विमध्यमायाश्चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि चतुर्लघूनि तप कालविशेषितानि तरुण्या. स्थानचतुष्टयेऽपि तथैव तप कालविशेषितानि चत्वारि चतुर्गुरूणि ॥

अथ दोषानाह ।

चिट्ठंती मेगागी, किंएहइ दोसे ए इत्थिगा पावे ।
श्रामोसगतरुणेहिं, किं पुण पंथम्मि संका य ॥

किमेकाकिनी स्त्री प्रतिश्रये तिष्ठन्ती दोषान प्राप्नोति येनैवं भिक्षाटनादिकमेवैकाकिन्या प्रतिषिध्यते इति शिष्येण पृष्टः सूरिराह । यद्यपि तिष्ठन्ती प्राप्नोत्येव दोषान् । परमामोषका स्तेनास्तरुणा वा तत्पक्षास्तरुणाः एकाकिन्या. पथि गच्छन्त्या भूयांसो दोषा. । शङ्का च तत्र भवति । अवश्यमेषा कुशीला येनैकाकिनी गच्छति । किंच ॥

एगागिणिए दोसा, साणा तरुणे तहेव पडिणीए ।
भिक्खविसोहि महव्वत, तम्हा सवितिज्जया गमणं ॥

एकाकिन्या भिक्षामटन्त्या एते दोषा भवन्ति श्वान समागत्य दशेयुस्तरुणो वा कश्चिदुपसर्गमयेत् । प्रत्यनीको वा हन्यात् । गृहप्रयादानीतायां भिक्षायामनुपयुज्य गृह्णमाणायामेषणाशुद्धिर्न भवति । कोटनदिरूलप्रयोगादिना च महाव्रतानि विराध्यन्ते । येन एते दोषा अत. सद्वितीयया निर्ग्रन्थ्या भिक्षादौ गमनं कर्तव्यम् ॥

द्वितीयपदमाह ।

असिवादि मीससत्थे. इत्थी पुरिसे य पूजिते लिंगे ।
एसा उ पंथजयणा, भावियवसही य भिक्खा य ॥

अशिवादिभिः कारणैः कदाचिदेकाकिन्यपि भवेत् तत्रैव यतना ग्रामान्तरं गच्छन्ती स्त्रीसार्थेन व्रजति तदभावे पुरुषमिश्रेण स्त्रीसार्थेन तदप्राप्तौ संबन्धिपुरुषसार्थेन व्रजति । अथवा यत्तत्र परिव्राजिकादिलिङ्गं पूजितं तद्विधाय गच्छति एषा पथि गच्छन्तो यतना भणिता । ग्रामे च प्राप्ताया यानि साधुभावितानि कुलानि तेषु वसति गृह्णाति भिक्षामपि तेष्वेव कुलेषु पर्यटति । वृ० ५ उ० ॥

एगाणउइ–एकनवति–स्त्री० एकाधिका नवति शा० त० एकाधिकनवतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च वाच० " एगाणउइ-परंगेयावच्चकम्मपडिमाओ पण्णत्ताओ" समा० ।

एगाणुप्पेहा–एकानुप्रेक्षा–स्त्री० एकस्यैवासहायस्यानुप्रेक्षा भावना एकानुप्रेक्षा " एकोऽहं नास्ति मे कश्चि–न्नाहमन्यस्य कस्यचित् । न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम " इत्येवमात्मनः एकत्वभावनायाम् , । स्था० ४ ठा० ।

एगाभरण एकाभरण–न० एकजातीये आभरणे, " एगाभरणवसणगहियनिज्जोय कोमुंइयिवसरुणावसहस्स सद्दावेइ " एक एकजातीयं आभरणवसनलक्षणो गृहीतो निर्योगपरिकरो यैस्ते तथेति भ० ९ श० ३३ उ० ॥ " एगाभरणपिहाणा " एकाभरणानि एकजातीयहेमरूप्यरत्नाभरणानि विधानानि च वस्त्राणि यस्याः सा तथेति । दशा० १० अ० ।

एगाभोग–एकाभोग–पुं० अत्र कोपकरणादीनामेकत्र बन्धने, " एगाभोगपडिग्गह केई य सव्वाणि य पुरतो " एगाभोगो एगो य येगो भगति एगट्ठबंधणेत्ति भणियं भवति होति त च मत्तगोवकरणाणं पच्छट्टारि " नि० चू० १ उ० । (एगाभोगत्ति) एकत्राभोग. आभोग उपकरण (एगत्ति) एकत्र करोति एकत्र बध्नातीत्यर्थ इति । ओघ० ।

एगामोस-एकामर्ष-पुं० एकामर्षणे, ओघ० ।

एकामर्श-पुं० एकस्मिन् स्पर्शे, ७०३ अधि० । तथा च धर्मसंग्रहे प्रत्युपेक्षणदोषमाधिकृत्य "एगामोसा" एकामर्शो वस्त्रं मध्ये गृहीत्वा तावदाकर्षणं करोति यावन्निनागावशेषे ग्रहणं जातमेकाकर्षणमित्यर्थः । अथवाऽनेकामर्शा जाल्दंणे ग्रहणे चानेके आमर्शाः स्पर्शा भवन्ति वस्त्रमनेकधा स्पृशतीत्यर्थ इति । ३.३ अधि०॥

एगायत–एकायत–त्रि० एकाकिनि, " एगा य ताणुकमण करति " एकाकिनोऽप्राणा अनुक्रमणं तरणं गमनं प्लवन कुर्वन्तीति एकस्मिन् दीर्घे च "एगायते पव्वयमंतलिक्खे" एकशिला घटितो दीर्घ इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

एगायवण–एकायतन–न० ज्ञानादित्रये, अद्वितीये आयतने, "एगायतणरयस्सइविप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरतस्सत्ति" आङभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य आत्माऽऽयत्यते आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतन ज्ञानादित्रयमेकमद्वितीयमायतनमेकायतन तत्र रतस्तस्य नास्ति न विद्यते कोऽसौ मार्गो नरकतिर्यग्मनुष्यगमनपद्धतिरिति । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

एगारं–अयस्कार–त्रि० अयोविकारं करोति कृ–अण्–उप० स० सत्वम् । "एतावतविचकिलायस्कारे" ८।१।१६६। इति सूत्रेणादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद्भवति । लोहकारे, प्रा० ।

एगारस (द्द) एकादशन्–त्रि० एकाधिका दश शि० भाव० "संख्यागद्गदे रः" ८।१।२१९। इति प्राकृतसूत्रेण दस्य रः । प्रा० । एकादशसंख्यान्विते, वाच० " " एक्कारस उवासगाणं " एकादश चोपासकानां प्रतिमा भवन्तीति । प्रश्न० ५ द्वा० ।

एगारसंगसुत्तत्थधारय––एकादशाङ्गसूत्रार्थधारक––पुं० एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थधारयन्तीत्येकादशाङ्गसूत्रार्थधारका । व्य०१० उ० । एकादशानामङ्गाना सूत्रार्थयोर्धारके, "एकारसगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य" एकादश च तान्यङ्गानि च एकादशाङ्गानि एकादशाङ्गानां सूत्रार्थी एकादशाङ्गसूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये ते तानेकादशाङ्गसूत्रार्थधारकानिति । ओघ० ।

एगारसम–एकादशम–त्रि० एकादशन् पूरणे डट् संख्यापूर्वकादपि कचिन्मुट् । यत्संख्यया एकादश संख्या पूर्यते तादृशसंख्यान्विते, वाच० । 'एकारसमे पव्वे' उपा०६ श०। (एकारसमंति) एकादशी श्रमणभूतप्रतिमामिति । उपा० २ अ० ।

एगावन्न–एकपञ्चाशत्–स्त्री० एकाधिका पञ्चाशत् शा० त० एकाधिकपञ्चाशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । वाच० । " नवण्हं बम्भचेराणं एकावन्नं उद्देसणकाला पण्णत्ता " । सम० ५१ स० ।

एगावतारि–(न्) एकावतारिन्– पुं० एकावतारवति जीवे, तद्विषये पण्डितजगमालगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा वनस्पत्यादिषु जीवा एकावतारिणः शास्त्रे उक्तास्तथा मतान्तरीयवृन्दमध्येऽपि कश्चिद् भवति नवेत्यत्रोत्तरमेकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्तीति । हीर० ।

एगावली–एकावली–स्त्री० एकाऽद्वितीयाऽऽवली माला मणिश्रेणी । आभरणविशेषे, समा० । सा च नानामणिकमयी सा-

लेति । औप० एकावली विचित्रमणिकृता एकसरिकेति । ज्ञा० १ अ० । " एकावलिकंठलइयवच्छा " एकावली आभरणविशेषः सा कण्ठे ग्रीवायां लगिता विलम्बिता सती वक्षसि उरसि वर्त्तते येषां ते तथेति । सम० । " एगावलिं पिणद्धेत्ति " प्रश्न० १ स० ४ द्वा० ।

एगावलीपविभत्ति–एकावलीप्रविभक्ति–न० नाट्यभेदे, राज० ।

एगावाइ–(न्) एकवादिन्–पुं० एक एवात्मादिरर्थं इत्येवं वदतीत्येकवादी दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । अक्रियावादिभेदे, उक्तं चैतन्मतानुसारिभिः " एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवदिति " ॥ १ ॥ अपरस्त्वात्मैवास्ति नान्यदिति प्रतिपन्नस्तदुक्तं " पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमुतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति " ॥ १ ॥ यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यत इति । तथा " नित्यज्ञानविवर्त्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः । आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्ते परे पुनः " रिति ॥ १ ॥ शब्दाद्वैतवादे तु सर्वं शब्दात्मकमिदमित्येकत्वं प्रतिपन्नः । उक्तञ्च " अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत " इति ॥ १ ॥ अथवा सामान्यवादी सर्वमेवैकं प्रतिपद्यते । सामान्यस्यैकत्वादिति एवमनेकश्चैकवादे अक्रियावादिता चास्य सद्भूतस्यापि तदन्यस्य नास्तीति प्रतिपादनात् । आत्माद्वैतपुरुषाद्वैतशब्दाद्वैतादीनां युक्तिभिरघटमानानामनस्तित्वाभ्युपगमाच्च । स्था० ८ ठा० । तथाच ।

एकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकारप्राप्तं पूर्वपक्षयितुमाह ।

जहा य पुढवी थूभे, एगे नाणाहि दीसइ ।
एवं भो कसिणे लोए, विन्नू नाणाइ दीसइ ॥ ९ ॥

दृष्टान्तबलेनैवार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः । यथेत्युपदर्शने चशब्दोऽपिशब्दार्थे स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः पृथिवीसंघातावयवी । स चैकोऽपि यथा नानारूपः सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते । निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवत्येवमुक्तरीत्या भो इत्यामन्त्रणं कृत्स्नोऽपि लोकश्चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्त्तते । इदमत्र हृदयम् । एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञानपिण्डः पृथिव्याद्याकारतया नाना दृश्यते न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवतीति तथाचोक्तमेक एव हि भूतात्मेत्यादि ।

अस्योत्तरदानायाह ।

एवमेगेति जप्पंति, मंदा आरंभणिस्सिआ ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥ १० ॥

एवमित्यनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपदर्शनम् । एके केचन पुरुषाः कारणवादिनो जल्पन्ति प्रतिपादयन्ति किंभूतास्ते इत्याह मन्दा जडाः सम्यक्परिज्ञानविकलाः । मन्दत्वं चैषां युक्तिविकलात्माद्वैतपक्षसमाश्रयणात् । तथाहि–यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्त्वाः प्राणिनः कृषीबलादय एके केचन आरम्भे प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापारे निःश्रिता आसक्ताः संबद्धा अध्युपपन्नास्ते च सरम्भसमारम्भैः कृत्वोपादाय स्वयमात्मना पापमशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं (नियच्छतीति) आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमकारि । तत्रायमर्थो निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यतया गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति त एवारम्भासक्ता नान्य इत्येतन्न स्यादपि त्वशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसंबन्धः स्यादेकत्वादात्मन इति न चैतदेवं दृश्यते । तथाहि य एव कश्चित्समञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवन्नुपलभ्यते नान्य इति । तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाभावस्तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्विवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयनाभावश्च स्यादिति । एतदर्थसवादित्वात्प्राक्तन्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते । तद्यथा पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामेकत्र कायाकारपरिणतानां चैतन्यमुपलभ्यते । यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यान्न चैवं तस्मान्नैक आत्मा । भूतानां चान्योन्यगुणत्वं न स्यादेकस्मादात्मनोऽभिन्नत्वात् । तथा पञ्चेन्द्रियस्थानां पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्यामन्येन ज्ञातं विदितमन्यो न जानातीत्येतदपि न स्यात्तद्येक एवात्मा स्यादिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० (विस्तरः पुण्डरीयशब्दे दर्शयिष्यते)

तथाच विशेषावश्यके आत्मनो बहुभेदत्वमधिकृत्य ॥

संसारीयरथावर–तसाइभेयं मुणे जीवं ॥

तथा संसारीतरस्थावरत्रसादिभेदं संसारिणश्चेतरे सिद्धाः आदिशब्दाच्च सूक्ष्मबादरपर्याप्तादिभेदपरिग्रह इति । अत्र वेदान्तवादी प्राह । ननु बहुभेदत्वमात्मनोऽसिद्धं तस्य सर्वत्रैकत्वात् । तदुक्तम् । एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् । " यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभि-र्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥ " तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं, भेदरूपं प्रकाशते ॥ ऊर्ध्वमूलमधःशाखं-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् । पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यत इत्यादि " इत्येतदेव पूर्वोक्तेनोक्तिक्रमेणोत्तरार्द्धेन परिहरन्नाह ।

जइ पुण सो एगो च्चिय, हवेज्ज वोमं व सव्वपिंडेसु ।
गोयम ! तदेगलिंगं, पिंडेसु तहा न जीवो य ॥

परः प्राह यदि पुनर्दर्शितन्यायेन स आत्मा सर्वेष्वपि नारकतिर्यग्नरामरपिण्डेषु व्योमवदेक एव भवेन्न तु संसारीतरादिभेदभिन्नस्तर्हि किं नाम दूषणं स्यादेवमुक्ते भगवानाह । गौतम ! तद्व्योम सर्वेष्वपि पिण्डेषु मूर्त्तिविशेषेषु स्थितम् एकलिङ्गमेकलक्षणं लक्षणभेदाभावादेकरूपमेवेति युक्तं तस्यैकत्वं जीवस्त्वेवं विचार्यत्वेन प्रस्तुतो न तथा नैकलिङ्गः सर्वत्र दृश्यते प्रतिपिण्डं तस्य विलक्षणत्वाल्लक्षणभेदेन च लक्ष्यभेदादिति न तस्यैकत्वमिति ॥

अत्र प्रयोगमाह ।

नाणा जीवा कुंभा–दओ व्व विलक्खणाइभेयाओ ।
सुहदुक्खबंधमोक्खा–भावा य जओ तदेगत्ते ॥

नानारूपा भुवि जीवाः परस्परं भेदभाज इत्यर्थः । लक्षणादिभेदादिति हेतुः कुम्भादय इवेति दृष्टान्तः । यच्च न भिन्नं तस्य न लक्षणभेदो यथा नभस इति । सुखदुःखबन्धमोक्षाभावश्च यस्मात्तदेकत्वे तत्सांक्रियैव सर्वेऽपि जीवा इति ।

कथं पुनस्तेषां प्रतिपिण्डलक्षणभेद इत्याह ॥

जेणोवओगलिंगो, जीवो भिन्नो य सो पइसरीरं ।
उवओगो करिसा व, गरिसोउक्करिसेण तेणंतो ॥

येन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणोऽसौ जीवः स चोपयोगः प्रतिशरी-

रमुत्कर्षापकर्षभेदादनन्तभेदस्तेन भेदादनन्तभेदा एवेति तदेव भावित (नाणाजीवा इत्यादि) पूर्वार्द्धमिदानीं सुखदुःखेत्याद्युत्तरार्द्धं भावयन्नाह ॥

एगत्ते सव्वगय-त्तओ य न सोक्खादओ नभस्सेव ।
कत्ता भोत्ता मंता, न य संसारी जहागासं ॥

एकत्वे जीवानां सुखदुःखबन्धमोक्षादयो नोपपद्यन्ते सर्वग- त्वाज्जनस इव । यत्र तु सुखादयो न तत्सर्वगत यथा देवदत्त इति । किञ्च न कर्त्ता न भोक्ता न मन्ता न ससारी जीवः एक- त्वात् सर्वजीवानां, यच्चैक न तस्य कर्तृत्वादयो यथा नभस इति । अपि च ।

एगत्ते नत्थि सुही,बहुयरुवघाउ त्ति देसनिरुओव्व ।
बहुतरबद्धत्तणओ य, न य मुक्को देसमुक्को व्व ॥

इदमत्र हृदयं नारकतिर्यगादयोऽनन्ता जीवा नानाविधशारी- रमानसा यथा तेऽदुःखिता एव तदनन्तभागवर्तिनस्तु सुखिन. । एवमनन्ता बद्धास्तदनन्तभागवर्तिनस्तु मुक्तास्तेषां चैकत्वे- न कोऽपि सुखी प्राप्नोति बहुतरोपघातान्वितत्वाद्यथा स- र्वाङ्गरोगग्रस्तोऽङ्गुल्यैकदेशेन नीरोगो यज्ञदत्त एव न कोऽपि मुक्तो घटते बहुतरबद्धत्वाद्यथा सर्वाङ्गकीलितोऽङ्गुल्येकदेशमु- क्तस्तस्मादेकत्वे सुखाद्यनुपपत्तेर्नानात्व जीवानामिति स्थितम् (विशे०) तथा च नन्द्यध्ययने आत्मवादिमतमुपक्रम्य आत्मवादि- नो नाम पुरुषएवेदं सर्वमित्यादि प्रतिपन्नास्तन्मतनिराकरणं च तत्रैव पुरुष एवेदमिति सर्व्वमिति प्रतिपन्नास्तेऽपि महामोहोरग- गरलपूरमूर्च्छितमानसा वेदितव्यास्तथाहि यदि नाम पुरुषमात्र- रूपमद्वैतत्व तर्हि यदि तदुपलभ्यते सुखितदुःखितत्वादि तत्सर्व परमार्थतोऽसत्प्राप्नोति ततश्चैव स्थिते यदेतदुच्यते प्रमाणतोऽधि- गम्य ससारनैर्गुण्य तद्विमुखया प्रज्ञया तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरि- त्यादि तदेतदाकाशकुसुमसौरभवर्णनोपमानमवसेयम् । अद्वैत- रूपे हि तत्वे कुतो नरकादिभवभ्रमणरूप संसारो यन्नैर्गुण्यम- वगम्य तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरुपपद्येत । यदप्युच्यते पुरुषमात्रमे- वाद्वैतत्व यत्तु ससारनैर्गुण्य भावभेददर्शनं च तत्सर्व्वदा सर्व्वे- षामविगानप्रतिपत्तावपि चित्रे निम्नोन्नतभेददर्शनमिव भ्रान्तमव- सेयमिति तदप्यचारु एतद्विषयवास्तवप्रमाणाभावात् । तथाहि नाद्वैताभ्युपगमे किंचिदद्वैतग्राहकं तत पृथग्भूत प्रमाणमास्ति द्वै- तत्वप्रशक्ते नच प्रमाणमन्तरेण निष्प्रतिपक्षा तत्वव्यवस्था भवति माप्रापत्सर्वस्य सर्व्वेष्टार्थसिद्धिप्रसङ्ग । तथा भ्रान्तिरपि प्रमाण- भूतादद्वैतान्द्भिन्नाऽभ्युपगन्तव्या अन्यथा प्रमाणभूतमद्वैतमप्रमाण- मेव भवेत्तदव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत् । तथाच कुतस्तत्वव्यवस्था भिन्नाया च भ्रान्तावभ्युपगम्यमानायां द्वैत प्रसक्तमित्यद्वैतहा- निः अपिच यदीद स्तम्भ भकुम्भाम्भोरुहादिभेददर्शनभ्रान्तमुच्य- ते तर्हि नियमात्तदपिकाचित्सत्यमवगन्तव्यमभ्रान्तदर्शनमन्तरेण भ्रान्तेरयोगात् न खलु येन पूर्वमाशीविषो दृष्टस्तस्य रज्ज्वामाशी- विषभ्रान्तिरुपजायते तदुक्तम् "नादृष्टपूर्वसर्पस्य रज्ज्वां सर्पमति क्वचित् । तत पूर्वानुसारित्वाद्भ्रान्तिरभ्रान्तिपूर्विका" १ तत एव- मप्यव्याहतो भेद । अन्यच्च पुरुषाद्वैतरूपतत्वमवश्यं पूर्वं परस्मै निवेदनीय नात्मने आत्मनो व्यामोहाभावात् विमोहश्चेदद्वैतप्र- तिपत्तिरेव न भवेत् ।अथोच्येत यत एव व्यामोहोऽत एव तन्नि- वृत्त्यर्थमात्मनोऽद्वैतप्रतिपत्तिरास्थेया तदयुक्तमेव साति अद्वैतप्र- तिपत्त्यर्थानेनात्मनो व्यामोहे निवर्त्यमानेऽवश्य पूर्वरूपत्यागोऽप- ररूपस्य चाप्यापत्त्यांमूढतालक्षणस्योत्पत्तिरित्यद्वैतप्रतिज्ञाहानि. परस्मै च प्रतिपादयन् नियमत. परमभ्युपगच्छेत्पर वाऽभ्यु- पगच्छन् तस्मै चाद्वैतरूप तत्त्वं निवेदयन् पिता मे कुमारब्रह्मचा- रीत्यादि वदन्निव कथ नोन्मत्त. स्वपराभ्युपगमेनाद्वैतवचसो बाधनादिति यत्किंचिदेतत् (नदी०) तथाच सम्मति तर्केऽद्वैतमा- त्रस्य तात्त्विकत्वं निराकृतम् तथाहि अपरस्तु कार्यकारणभावस्य कल्पनाशिल्पिविरचितत्वात् तदुभयव्यतिरिक्तमद्वैतमात्र तत्त्वमि- त्यभ्युपपन्नस्तन्मतमपि मिथ्या,कार्यकारणोभयशून्यत्वात्खरवि- षाणवदद्वैतमात्रस्य व्योमोत्पलतुल्यत्वात् । तथाह्यद्वैतप्रतिपादक- प्रमाणस्य सद्भावे द्वैतापत्तितो नाद्वैतं प्रमाणाभावे अद्वैतासिद्धेः प्रमेयसिद्धे. प्रमाणनिबन्धनत्वात् । किंचाद्वैतमिति प्रसज्यप्रति- षेध पर्युदासो वा प्रसज्यपक्षे प्रतिषेधमात्रपर्यवसानत्वान्नास्य नाद्वैतसिद्धि. प्रधानोपसर्जनभावेनाङ्गाङ्गिभावकल्पनायां द्वैत- प्रसक्तिः द्वितीयपक्षेऽपि द्वैतप्रसक्तिरेव प्रमाणान्तरप्रतिपन्ने द्वै- तलक्षणे वस्तुनि तत्प्रतिषेधेनाद्वैतसिद्धे । द्वैताद्वैतस्य व्यतिरे- के च द्वैतप्रसक्तिरेव पररूपव्यावृत्तस्वरूपाव्यावृत्तात्मकत्वेन तस्य द्विरूपिताप्रसक्तेरव्यतिरेके पुनर्द्वैतप्रसक्तिर्नचाद्वैतस्यापि विद्य- मानत्वात् द्वैताव्यावृत्ततासम्भवो विद्यमानस्यापि विद्यमानाद्व्या- वृत्तिप्रसक्तेरन्यथा सद्रूपताया विशेषप्रसक्तिर्भवेत् । प्रमाणादि- चतुष्टयसद्भावे च न द्वैतवादान्मुक्तिस्तदभावे शून्यतावादादिति नाद्वैतकल्पना ज्यायसी ।नच नित्यत्वाद् द्वैतकल्पना भावानाम- नेकत्वेऽपि युक्तिसंगता सर्वदा सर्वभावानां नित्यत्वे ग्राह्यग्रा- हकरूपताभावप्रसक्तेस्तद्भावावाश्रयण ग्राह्यग्राहकरूपताया वि- कारिताव्यतिरेकेण योगात् सा च कथञ्चिदेक स्यानेकरूपानुप- पत्तेरिति कथ नानेकान्तसिद्धि. । द्रव्याद्वैतवादे रूपादिभेदाभा- वप्रसङ्गश्च न च चक्षुरादिसबन्धात्तदेव द्रव्यं रूपादिप्रतिपत्ति- जनकं सर्वात्मना तत्सबन्धस्य तथैव प्रतीतिप्रसक्ते. । रूपान्त- रस्य तद्व्यतिरिक्तस्य तत्राभावात् । तत्र द्रव्याद्वैतमपि प्रधाना- द्वैत युक्तमेव सत्वादिव्यतिरेकेण तस्याभावान्न च सत्वादे स्तद- व्यतिरेकादद्वैतं प्रधानस्य सत्वाद्यव्यतिरिक्तात् द्वैतप्रसक्तेर्म- हदादिविकारस्य चाभ्युपगमे कथमद्वैतं विकारस्य च विकारि- णोऽत्यन्तमभेदेन विकारीति प्रतिपादित भेदाभेदेऽनेकान्तसिद्धे- र्व्यतिरेके द्वैतापत्तिरिति । (सम्म०) ब्रह्माद्वैत.स्य तात्विकत्व प्रपञ्च- स्य मिथ्यात्व च निराकृत तद्यथा ब्रह्मवाद वावदूका वदन्ति युक्तं यदेष सकलापलापी पापीयानपापस्स आत्मब्रह्मणस्तात्त्विकस्य- सत्वात् ।नवसरलसालरसालप्रियालहिंतालतालतमालप्रवालप्र- मुखपदार्थसार्थोऽप्यहमहमिकयाप्रतीयमान. कथं न पारमार्थिक स्यादिति वक्तव्य तस्य मिथ्यारूपत्वात् । तथाहि प्रपञ्चो मिथ्या- प्रतीयमानत्वाद्यदेव तदेव यथा शुक्तिशकले कलधौतं तथा चाय तस्मात्तथा तदेतदेतस्य न तर्ककार्कश्यं सूचयति । तथाहि मिथ्या- त्वमत्र कीदृक्षमाकाङ्क्षित सूक्ष्मदृशा किमत्यन्तासत्त्वमुतान्यस्या- न्याकारतया प्रतीतत्वमाहोस्विदनिर्वाच्यत्वमिति भेदत्रयी त्रिने- त्रनेत्रत्रयीव वीक्षते । प्राचि पक्षद्वये तदनङ्गीकार. परीहार । तार्तीयीकविकल्पे तु किमिदमनिर्वाच्यत्व नाम किं निरुक्तिवि- रह एव निरुक्तिनिमित्तविरहो नि.स्वभावत्वं वा ।न प्रथम कल्प. कल्पमार्ह. सरसोऽय सालोयमिति निश्चितोक्तेरनुभवात् । नापि द्वितीय. निरुक्तेर्हि निमित्तं ज्ञान वा स्याद्विषयो वा न प्रथमस्य विरह. सरसलसालादिसंवेदनस्य प्रतिप्राणि प्रतीतेर्नापि द्वितीयस्य यतो विषय. किंभावरूपो नास्त्यभावरूपो वा । प्रथमकल्पनाया- मसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्ग । द्वितीयकल्पनायां तु सत्यभिरेक भावापि न स्त इति चेत् ननु भावाभावशब्दाभ्यां लोकप्रतीति-

सिद्धौ तावदभिप्रेतौ विपरीतौ वा । प्रथमपक्षे तावद्यथोभयोरेकत्र विधिर्नास्ति तथा प्रतिषेधोऽपि परस्परविरुद्धयोर्मध्यादेकतरविधिनिषेधयोरन्यतरनिषेधविधिर्नान्तरीयकत्वात् । द्वितीयपक्षे तु न काचित्क्षतिर्न ह्यलौकिकविषयसहस्रनिवृत्तावपि लौकिकज्ञानविषयनिवृत्तिस्तदभिव्यक्तिनिवृत्तिर्वा । निःस्वभावत्वपक्षेऽपि निसः प्रतिषेधार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थतेति पूर्ववत्प्रसङ्गः । प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेदत्र विरोधः । प्रपञ्चो न प्रतीयते चेत्कथं धर्म्मितया प्रतीयमानत्वं च हेतुतयोपाददे तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते यथा प्रतीयते न तथेति चेत्तर्हि विपरीतख्यातेरभ्युपगमः स्यात् । किं चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षेऽपि सरलोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति सरलादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादादितरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चवचोवाच्यत्वेन सम्मतत्वात् । अथ कथमेतत्प्रत्यक्षं पक्षप्रतिक्षेपकं नहि विधायकमेवेति तथा तथा प्रत्यक्षं विदधाति न पुनः प्रपञ्चसत्यतां प्ररूपयति । सा हि तदा प्ररूपिता स्याद्यदेतरास्मिन्नितरेषां प्रतिषेधः कृतः स्यान्न चैव निषेधे कुण्ठत्वात्प्रत्यक्षस्येति चेत्तदयुक्तं यतो विधायकमिति कोऽर्थः इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति नान्यस्वरूपं प्रतिषेधति । प्रत्यक्षमिति चेन्नैवम् अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति नेतरथा केवलमिति वस्तुस्वरूपमेव गृह्णाति प्रत्यक्षमित्युच्यते तदावश्यमपरस्य प्रतिषेधनेऽपि तत्प्रातिष्ठ्यत इत्यभिहितमेव भवति केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् । अपि च विधायकमेव प्रत्यक्षमिति नियमस्याङ्गीकारे विद्यावदविद्याया अपि विधानं तवानुषज्यते सोऽयमविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतियन्नेव निषेधकं तदिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थ इति सिद्धः प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति । अनुमानबाधितश्च प्रपञ्चो मिथ्या न भवत्यसद्विलक्षणत्वाद्य एवं स एवं यथाऽऽत्मा तथा चायं तस्मात्तथेति । प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्गोचरवचनानामप्रवृत्तेर्मूकतैव तत्र वः श्रेयसी स्यात् । दृष्टान्तश्च साध्यविकलः शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेनानिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किंचेदमनुमानं प्रपञ्चाद्भिन्नमभिन्नं वा । यदि भिन्नं तर्हि सत्यमसत्यं वा । यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् । अथासत्यं तत्रापि शून्यमन्यथा ख्यातमनिर्वचनीयं वा आद्यपक्षद्वये न साध्यसाधकत्वं नृशृङ्गवच्छुक्तिकलधौतवच्चेति तृतीयपक्षोऽप्यक्षम । अनिर्वचनीयस्यासंभवित्वेनाभिहितत्वात् । व्यवहारसत्यमिदमनुमानमतोऽसत्यत्वाभावान्न साध्यसाधकमिति चेत् किमिदं व्यवहारसत्यं नाम व्यवहृतिर्व्यवहारो ज्ञानं तेन चेत्सत्यं तर्हि पारमार्थिकमेव तत्तत्र चोक्तो दोषः । अथ व्यवहारः शब्दस्तेन सत्यम् । ननु शब्दोऽपि सत्यस्वरूपस्तदितरो वा यद्याद्यस्तर्हि तेन यत्सत्यं तत्पारमार्थिकमेवेति तदेव दूषणम् । अथासत्यस्वरूपः शब्दः कथं ततस्तस्य सत्यत्वं नाम । नहि स्वयमसत्यमन्यस्य सत्यव्यवस्थाहेतुरतिप्रसङ्गात् । अथ कूटकार्षापणे सत्यकार्षापणोचितक्रयविक्रयव्यवहारजनकत्वेन सत्यकार्षापणव्यवहारवदसत्येऽप्यनुमाने सत्यव्यवहार इति चेत्तर्हि सत्यमेव तदनुमानं तत्र चोक्तो दोषः । अतो न प्रपञ्चगन्धिमनुमानमुपपत्तिपदवीमापद्यते नाप्यभिन्नं प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यात्वप्रसक्तेर्मिथ्यारूपं च तत्कथं नाम स्वसाध्यं साधयेदित्युक्तमेव ॥ एवं च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वासिद्धेः कथं परब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्याद्यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति । रत्ना० १ परि०

पुरुषाद्वैतस्य निराकरणं षोडशप्रकरणे यथा

पुरुषाद्वैतं तु यदा, भवति विशिष्टमवबोधमात्रं वा ।
भवभवविगमविभेद-स्तदा कथं युज्यते मुख्यः ॥ ७ ॥

द्वयोर्भावो द्विता तस्यां भवं सैव वा द्वैतं पुरुषस्याद्वैतमेकत्वं तु यदा भवत्यङ्गीकरणेन वादिनो विशिष्टं केवलं रागादिवासनारहितमवबोधमात्रं वा बोधस्वलक्षणं वा वेदान्तवादिनः पुरुषाद्वैतं मन्यन्ते । यथाहुरेके " पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि " तथा "विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः" इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेर्विज्ञानवादिनस्तु शेषनीलादिविकल्पशून्यं पारमार्थिकरागादिवासनादिविशेषरहितं बोधस्वलक्षणमात्रमेव प्रतिजानते यथोक्तम् " चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते" । भवश्च भवविगमश्च तौ संसारमोक्षौ तयोर्विभेदो भवभवविगमविभेदस्तदा कथं युज्यते मुख्यः संसारमोक्षयोर्मुख्यो भेदो न युज्यते । अर्थान्तरे ह्यविद्यादौ तत्त्वे भेदके सति तयोर्विशेषो युज्यते इति भावः ॥ ७ ॥

कस्मात्पुनः पुरुषाद्वैतं बोधमात्रं वा विशिष्टं भवतीत्याह ।

अग्निजलभूमयो य-त्परितापकरा भवे तु भवसिद्धाः ।
रागादयश्च रौद्रा, असत्प्रवृत्त्यास्पदं लोके ॥ ८ ॥

अग्निश्च जलं च भूमिश्चाग्निजलभूमयो यद्यस्मात्परितापकराः परमार्थतो दुःखानुभवकरा वैषयिकसुखस्य भ्रान्ततो दुःखरूपत्वात् भवे संसारे तु भवसिद्धाः किं पुनर्बहिस्त्रयाणामुपादाने वायोरपि पठितत्वाल्लोकसिद्धत्वाच्च उच्यते-वायुपदार्थद्रव्यगुणरूपतायां विप्रतिपद्यन्ते वादिनो नाग्निजलभूमिषु तेषां द्रव्यरूपेण प्रतीतेरतो न वायुग्रहणं सर्वेन्द्रियानुपलम्भाच्चायवाऽग्निसहचरितत्वेनैव वायोर्ग्रहणं यत्र तेजस्तत्र वायुरिति वचनात् । रागादयश्च रागद्वेषमोहाश्च रौद्रा दारुणास्तीव्रसंक्लेशरूपेणासत्प्रवृत्त्यास्पदमसत्प्रवृत्तीनामसुन्दरप्रवृत्तीनामास्पदं प्रतिष्ठा लोके सर्वत्रैवानुभवसिद्धा यतो वर्त्तते यदि पुरुषाद्वैतमेव भवेत् प्रत्यक्षसिद्धा बाह्या ज्वलनादयः पदार्था न स्युस्तेषां चैतन्यस्वरूपपुरुषव्यतिरेकेण रूपान्तरोपलब्धेस्तेषां तु बहिर्वर्तिनां ज्वलनादीनां पुरुषत्वाङ्गीकरणे सर्वपदार्थानां नाममात्रमेव कृतं स्यात्पुरुष इति न तत्र विप्रतिपत्तिः । विज्ञानाद्वैतमपि यदि भवेत्ततो रागादयोऽनुभवसिद्धाः प्रतिप्राणिनं भवेयुस्तथा च सकललोकपरीक्षकविरोधस्तेषां सर्वैरभ्युपगमादनुभवस्य चान्यथाकर्तुमशक्यत्वादिति ॥ ८ ॥

अथ सर्वेऽप्येते बाह्या आन्तराश्च परिकल्पितरूपा एवेत्याशङ्कायामिदमाह ॥

परिकल्पिता यदि ततो, न सन्ति तत्त्वेन कथममी स्युरिति ।
तन्मात्र एव तत्त्वे, भवभवविगमौ कथं युक्तौ ॥ ९ ॥

परिकल्पिता अवस्तुसन्तः कल्पनामात्रनिर्म्मितशरीरा बाह्या आन्तराश्च यदि भवताऽभ्युपगम्यन्ते ततः परिकल्पितत्वादेव न सन्ति न विद्यन्ते तत्त्वेन परमार्थेन कथममी पदार्थाः स्युर्नैवेयुर्न कथंचिद्भवेयुर्भवताऽप्यनभ्युपगमात् । इत्येवं तन्मात्र एव पुरुषमात्र एव बोधमात्र एव तत्त्वे परमार्थे भवभवविगमौ संसारमोक्षौ कथं केन प्रकारेण युक्तौ सङ्गतौ न कथंचिदित्यर्थः ॥ ९ ॥

कस्मात्पुन परिकल्पिता एते न सन्तीत्युच्यते परिकल्पनाया एवाभावादित्याह ॥

परिकल्पनाऽपि चैषा, हन्त विकल्पात्मिका न संभवति ।
तन्मात्र एव तत्त्वे, यदि वा भावो न जात्वस्याः ॥१०॥

परिकल्पनाऽपि च एषा बाह्यान्तराणामर्थानां हन्त ! विकल्पा-
त्मिका वस्तुशून्यनिश्चयात्मिका न सम्भवति न युज्यते निर्बीज-
त्वात् । युक्तिमाह तन्मात्र एव पुरुषमात्र एव ज्ञानमात्रम् । एव
च तत्त्वे तदतिरेकेणेतरपदार्थाभावात् । अभ्युपगम्यं परिकल्पना-
दूषणान्तरमाह । यदि वा भावोऽसंभवो नैव जातु कदाचिद-
प्यस्याः परिकल्पनाया यदि निर्बीजापीयं बाह्यान्तरपदार्थपरि-
कल्पनेष्यते ततः संसारवन्मुक्तावपि भवेदियमिति भावस्ततश्च
संसारमोक्षभेदानुपपत्तिः परिकल्पनाबीजसद्भावाभ्युपगमे तु
पुरुषबोधस्वलक्षणव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरापत्त्या प्रस्तुताद्वैतपक्षक्षय-
हानिः षो०१६ विव०। (सम्मतावपि शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतमभि-
कृत्य विस्तरेणाद्वैतमतं निरूपितं विस्तरभयान्नास्माभिर्लिख्यते
तत्तु तत एवावधार्यम्) तत्र नयोपदेशे यथा ॥

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धा-दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् ।
तत्रैके शब्दसन्मात्रं, चित्सन्मात्रं परे जगुः ॥ ११० ॥

शुद्धात् द्रव्यास्तिकात् ब्रह्मवादिनां दर्शनं जातं तदाह " वादी-
दव्वाट्ठियणयपयरीसुद्धासगहपरूवणाविसओ त्ति " तत्रैके ब्रह्म-
वादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति अन्ये च चित्सन्मात्रम् । तत्राद्य-
मतावलम्बी शब्दस्वभावं ब्रह्म सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां
प्रकृतिरित्यभ्युपैति तदाह तन्नियुक्तो भर्तृहरिः । " अनादिनि-
धनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जग-
तो यतः " इति । अस्यार्थः आदिरुत्पादो निधनं विनाशस्तदभा-
वादनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं शब्दात्मकं वैखर्यात्मशब्देनैवस-
र्वोल्लेखान्मध्यमाख्यशब्दसंसृष्टसविकल्पकज्ञानेनैव सर्वार्थग्रहणा-
त् पश्यन्त्याख्यशुद्धशब्दात्मकज्ञानेनैव चाखण्डैकस्वरूपनिश्च-
यात् सर्वत्रानुस्यूतत्वात् । सर्वोपादानत्वाच्च शब्दतत्त्वमखण्ड
ब्रह्मेत्यर्थः । एतदेवाह । " यदक्षरमकारादि " एतेनाभिधानरूपो
विवर्त्तो दर्शितः । तथा यदर्थभावस्तद् विवर्तते एतेनाभिधेय-
रूपो विवर्त्तो दर्शितः । तथा यतो जगतः प्रक्रिया प्रतिनियता व्य-
वस्था भेदानां संकीर्त्तनमेतदिति । अयं च वर्णक्रमरूपो वेदस्तद-
धिगमोपाय प्रतिच्छेदकन्यायेन तस्यावस्थितत्वात् । तच्च प-
रमब्रह्माभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्मानुगृहीतान्तःकरणैरवगम्यते ।
अन्यैस्तु प्रयोगादवगम्यते शब्द एव जगतस्तत्त्वं तद्बाधेऽप्यबाध्य-
मानत्वादहोरात्रवत् ग्रामारामादयः शब्दात्मकास्तदाकारानुस्यू-
तत्वात् सुवर्णात्मककुण्डलादिस्यादितः शब्दब्रह्मसाम्राज्यसिद्धेः ।
न च प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था प्रमाणं च चिदात्मकमेवानु-
भूयत इति तत्र शब्दरूपत्वासिद्धिर्निराकारस्य ज्ञानस्यार्थग्राह-
कत्वेन व्यवहारेऽनाश्रयणीयत्वात् साकारस्य च तस्य वाग्रू-
पतां विनाऽसंभवात्तदुक्तं " वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य
शाश्वती। स्यादशाश्वती न प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनीति१ अत
एव शब्दार्थसंबन्धो वैयाकरणैरभेदेनैव प्रतिपादितः । युक्तं चै-
तत्कथमन्यथाऽदृष्टदशरथादीनामिदानींतनानां दशरथादिप-
दाच्छाब्दबोधः शुद्धदशरथत्वादिनोपस्थितेस्तत्रासंभवनीयत्वा-
त् तथापूर्वकमनुभवाभावात् प्रमेयत्वादिना दशरथत्वादिप्रका-
रकोपस्थितौ च ततः प्रमेयवानित्याकारकबोधस्यैव संभवात् ।
न च प्रमेयवानित्याकारकसंस्कारात् प्रमेयत्वांशे उद्बोधकरहिता
शुद्धदशरथत्वादिप्रकारकस्मरणोपपत्तिः तत्प्रकारकस्मृतौ त-
त्प्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्वादिति वाच्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यां
शुद्धतत्प्रकारकस्मृतिं प्रति शुद्धतत्प्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्व-
सिद्धेर्न च प्रमेयाभाववदित्यादिज्ञानात्संसर्गविधया शुद्धदशर-
थत्वादिस्वरूपप्रतियोगित्वलक्षणसंबन्धविषयकात् ज्ञानलक्षण-
प्रत्यासत्तेः शुद्धदशरथत्वादिप्रकारको मानसानुभवः सुलभः
सर्वाज्ञापत्तिभिया सांसर्गिकज्ञानस्यानुपनायकत्वस्वीकारात्
तस्मादत्र दशरथपदवाच्यत्वं भवति दशरथपदवृत्तिप्रकारक-
ज्ञानात् । यथा दशरथपदवाच्यत्वेन वाच्यत्वासंबन्धेन दशरथ-
पदत्वेन वा शाब्दबोधः स्वीकर्त्तव्यस्तथा तुल्यन्यायात् सर्व-
त्रापीति शब्दानुभवोऽप्यर्थस्य शब्दात्मक एव साक्षीति । न
चानवगतचित्तोऽपि रूपं चक्षुषा वीक्षमाणोऽभिलापासंसृष्टमेव
विषयीकरोतीति नीलादेरशब्दात्मकत्वसिद्धिः शब्दासंसृष्टा-
र्थानुभवस्य ज्ञानवादिना ज्ञानाभावकाल इव शब्दवादिना
शब्दाभावकाले बाह्यार्थस्येवानभ्युपगमेन शब्दातिरिक्तग्राह्या-
सिद्धेर्बाह्यत्वनियतदेशवृत्तित्वादिव घटादावविद्यावशादेव भा-
सत इति न तत्तदाकारैः शब्दब्रह्मभेदसिद्धिस्तदुक्तम् । "यथा
विशुद्धमाकाशं, तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्रा-
भि-श्चित्राभिरभिमन्यते । तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्य-
या । कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्त्तते" इति यदि वा ग्रामारा-
मादिप्रपञ्चो व्यवहारः सत्यः स्वीक्रियते स्वार्थिकवैलक्षण्या-
नुभवात्तदाऽविद्या सहितं शब्दब्रह्मैव तदुपादानं वाच्यम् ।
अद्वैतशास्त्रेणाविद्यानिवृत्तौ च तन्मूलप्रपञ्चविगमे शुद्धं शब्द-
ब्रह्मैवावशिष्यते स एव मोक्ष इति निरवद्यं केवलं तस्य शब्दा-
त्मकत्वे शुद्धशब्दत्वादिधर्मवत्त्वं निर्द्धर्मकत्वेऽप्यसदादिव्यावृ-
त्तिवदशब्दादिव्यावृत्तौ चोपपत्तिरिति संक्षेपः ।१। द्वितीयम-
तावलम्बिनो वेदान्तिनस्तन्मते अखण्डमद्वितीयमानन्दैकरूपं
स्वप्रकाशं चैतन्यमेव जगतः स्वरूपमनिर्वचनीयस्यैव सर्पस्य
रज्जुः । कथं तर्हि जीवेश्वरविभाग इति चेदज्ञानरूपादुपाधेः
यथा ह्येकस्यैव मुखस्य दर्पणोपाधिसंबन्धाद्बिम्बप्रतिबिम्ब-
भावः एवं चिन्मात्रस्योक्तोपाधिसंबन्धाज्जीवेश्वरभावो न
तत्त्वान्तरमस्ति अज्ञानं त्वनाद्यनिर्वचनीयमायाविद्यादिशब्दा-
भिधेयं तच्चैकेनैवोपपत्तावनेककल्पनानवकाशादेकमेवेत्येके ब-
द्धमुक्तव्यवस्थानिरूपणायमानमित्यन्ये तदवस्थाऽतिमूलाज्ञाना-
नि व्यवहारसौकर्याय निरूपयन्ति । तत्रैव मायाविद्याशब्दद्व-
यनिमित्तं शक्तिद्वयं विक्षेपशक्तिरावरणशक्तिश्च । कार्यजनन-
शक्तिर्विक्षेपशक्तिस्तिरोधानशक्तिरावरणशक्तिर्यथाऽवस्थारूप-
स्य रज्ज्वज्ञानस्य सर्पजननशक्ती रज्जुतिरोधानशक्तिश्च । एवं
मूलाज्ञानस्याद्वितीयपूर्णानन्दैकरसचिदावरणशक्तिराकाशादि-
प्रपञ्चजननशक्तिश्चेति । निवृत्ते चाज्ञाने तन्निमित्ते च जीवेश्वरा-
दिप्रपञ्चे चिन्मात्रमेव शिष्यते । जीवस्त्वज्ञानप्रतिबिम्बितं चै-
तन्यमिति विचारणाचार्याः । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति"
श्रुतेः । " एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति "
स्मृतेश्च । नचामूर्तस्य प्रतिबिम्बाभावः शक्यो वक्तुममूर्ता-
नामपि रूपपरिमाणादीनां गुणानामादर्शमूर्त्तद्रव्यस्यापि प्रत्यु-
तकेऽप्याकाशस्य जानुमात्रे जले विशालरूपेण प्रतिबिम्बदर्शनात्
प्रतिबिम्बस्यापि च चिद्रूपत्वं प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां सिद्धम् । न
च घटादिविच्छिन्नाकाशवदविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमेव जीवोऽस्तु
किं प्रतिबिम्बत्वेनेति वाच्यं तथा सति जीवभावेनावच्छिन्नस्य
पुण्यावच्छेदान्तरायोगाद् घटाकाशादौ तथा दर्शनाद्ब्रह्मणः सर्व-

नियन्तृत्वानुपपत्तौ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरायमयतीति श्रुतिव्याकोपप्रसङ्गात् । प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगतस्वाभाविकाकाशे सत्येव प्रतिबिम्बाकाशदर्शनादिगुणीकृत्य वृत्त्युपपत्तेर्जीवावच्छेदेषु ब्रह्मणोऽपि नियन्तृतादिरूपेणावस्थानमुपपद्यत इति न दोषः । अस्मिन् पक्षे बिम्बं चैतन्यं नेश्वरः बिम्बस्यापि प्रतिबिम्बान्तर्हि- गुणीकृत्य वृत्त्ययोगेन प्रतिबिम्बात्मकजीवान्तर्यामित्वानुपपत्तेः कार्योनुपाधिभूतस्य शक्तिद्वयस्य व्यापकतया तत्प्रतिबिम्बयो- र्जीवेश्वरयोरपि व्यापकत्वाज्जीवान्तर्यामित्वश्रुतेरप्यव्याघातात् । अज्ञानप्रतिबिम्बमित्यत्राज्ञानपदं चाविद्यापरम् अज्ञानप्रतिबिम्बि- त चैतन्यं साक्षी स चोक्तशक्तिद्वयप्रतिबिम्बितो जीव इतीश्वर- श्चयिन्तु शुद्धमिति दिग् । एते ज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यं शुद्ध- मिति संक्षेपः । शारीरककारमतमप्युपसंगृहीतं तात्पर्यतोऽभे- दात् । अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं जीव इति वाचस्पतिमिश्राः । तेषा- मयमाशयः वस्तुतः सजातीयविजातीयभेदशून्यं चैतन्यमनादि- सिद्धानिर्वचनीयाज्ञानोपाध्यवच्छिन्नं जीव इत्यज्ञानेश्वर इति द्वै- विध्यं प्रतिपद्यते । अज्ञानत्वम् अज्ञानविषयत्वं तदेवेश्वरोपाधि- स्तच्च व्यापकमिति तदुपहितस्येश्वरस्यापि व्यापकत्वात् सर्वान्त- र्यामित्वमुपपद्यते विचारणाचार्यैस्त्वनवच्छिन्नस्येश्वरत्वमवच्छिन्न- स्य च जीवत्वं दूषितमिति नात्र दोषस्पर्शः । नत्वेवमज्ञानस्य चैत- न्यस्येश्वरत्वेऽहं मां न जानामीत्यनुभवादीश्वरस्य प्रत्यक्षापातः । न ह्यज्ञाततयेश्वरस्य प्रत्यक्षत्वमनापाद्य सर्वस्यैव वस्तुनो ज्ञात- तयाऽज्ञाततया वा साक्षिप्रत्यक्षत्वाङ्गीकारादिति वाच्यं न ह्यव- ज्ञाततयेश्वरप्रत्यक्षमापद्यते ईश्वरं न जानामीति येनाभ्युपगम- व्याघातापत्तिः स्यात् किन्त्वहं मां न जानामीत्यज्ञानं चैतन्य- मनुभूयते स चेश्वर इति तस्य स्वरूपेणापरोक्षत्वं स्यादिति चेदाह मां जानामीत्यत्राज्ञाततया जीवस्याखण्डजगज्जी- वेश्वरादिभ्रमाधिष्ठानचैतन्यरूपस्य हानेरप्यज्ञानोपहितचैतन्य- रूपस्येश्वरस्याभानादज्ञानतास्फुरणे तदुपहितस्येश्वरस्य स्फु- रणापत्तेः कर्तुमशक्यत्वात्तस्यायोग्यत्वान्न हि घटस्फुरणे घटो- पहिताकाशादेरपि स्फुरणं केनचिदापादयितुं शक्यत इति तत्र विशेष्यस्यायोग्यत्वम् अत्र तु विशेषणविशेष्ययोर्योग्यत्व- मित्यस्ति विशेष इति चेन्न तथाप्युपहितत्वसम्बन्धगर्भत्वेनादृष्ट- वज्जीवत्वे तेनैवायोग्यतया भविष्यत् । आभासवादिनो वार्त्तिका- चार्यास्तु दर्पणादौ मुखान्तरोत्पत्तिं स्वीकुर्वाणाश्चैतन्यस्यानादि- भूताज्ञानेऽज्ञानादिरेवाभासः समस्ति तत्समौ जीवो जडत्वात् अ- तस्तत्तादात्म्यापन्नं चैतन्यं जीवः किमात्राभासाङ्गीकारे बीजमिति चेत् चैतन्येऽहङ्काराध्यासस्य निरुपाधिकस्येष्टत्वान्निरुपाधिका- ध्यासत्वावच्छेदेन च सादृश्यस्यापेक्षणादाभासतादात्म्यापत्त्या च सादृश्यापन्ने चैतन्येऽहङ्काराध्याससम्भवान्न चाभासाध्या- सेऽपि तदपेक्षायामनवस्थापत्तिस्तस्यानादित्वात् । जन्माध्यास एव निरुपाधिके सादृश्यापेक्षणात् । न चाज्ञानाध्यासेनैव सादृ- श्यापत्तिः सुवचा जाड्येन हि सादृश्यं वाच्यं तच्च जडतादात्म्या- पत्त्या । न चाज्ञानं तादात्म्येनाध्यस्तं किं त्वहं मत्त इति संसर्गेणा- ध्यस्तमिति अतो नाथाभासतादात्म्याध्यासेन जाड्यापत्त्या सा- दृश्ये सत्यहङ्काराध्यासो युज्यते । न चाभासे प्रमाणाभावः आ- दर्शे मुखमिति स्पष्टमुखान्तरावभासात् एकत्र क्लृप्तमन्यत्रापि प्रतिसन्धीयत इति न्यायेनाज्ञानेऽपि चैतन्याभासाङ्गीकारात् । एवमन्तःकरणादावपि चैतन्याभासः । अज्ञानगतचैतन्याभास- स्तु जीवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तत्तादात्म्यापन्नचैतन्यजीवत्वादिति

विचारणाचार्यास्तु मुखान्तरोत्पत्तिं नेच्छन्ति किं तु मुखेऽधिष्ठान- भेदमात्रस्य द्वित्वापरपर्यायस्यादर्शस्थत्वस्य चानिर्वचनीयस्यो- त्पत्तिं तावतैव प्रतीत्युपपत्तेर्मुखान्तरकल्पने गौरवात् । न चैवं शु- क्तावपि रजतोत्पत्तिर्न स्यात् तादात्म्यमात्रोत्पत्त्यैवेदं रजतमिति धीनिर्वाहोपपत्तेरिति वाच्यं तथा सति रजतस्यापरोक्षत्वापत्ते- र्मुखं त्वधिष्ठानमपरोक्षमिन्द्रियसन्निकर्षादत एवादर्शे मुखमि- त्यपरोक्षभ्रमोत्पत्तेर्न निर्वचनीयमुखान्तरोत्पत्तिः । न च मुखस्ये- न्द्रियसान्निकर्षाभावः कतिपयावयवावच्छेदेन तत्सत्त्वादादर्श- विशदावभासप्रतिबन्धकत्वेऽपि तत्रादर्शसान्निध्यस्योत्तेजकत्वेन दोषाभावादादर्शादिनाऽभिहितचक्षुषो मुखाभिमुखविजातीय- संयोगात्तदपरोक्षत्वमित्यपि कश्चित् । ननु किमित्येवं वर्ण्यते मुखमधिष्ठानमिति आदर्श एवाधिष्ठानमस्तु तत्र च मुखाभा- वाज्ञानेन मुखोत्पत्तिस्तत्संसर्गोत्पत्तिर्वास्तु । आदर्शे मुख- मिति प्रतीतेरेवमप्युपपत्तेर्मुखं यद्यपरोक्षं तर्हि तु संसर्गस्य यदि च नापरोक्षं तर्हि तदुत्पत्तेः स्वीकर्तव्यत्वान्मुखमधिष्ठानं तस्य चाक्षुषत्वानुसारित्वादिति चेन्न एवं ह्यधिष्ठानत्वाभिम- तस्योपाधिकत्वोक्तौ सर्वभ्रमाणां सोपाधिकत्वे प्रशक्ते सोपाधि- कनिरुपाधिकभ्रमव्यवच्छेदप्रसङ्गात् । लोहितः स्फटिक इत्य- त्रापि शुक्त्यज्ञानाद्रजतभ्रमवज्जपाकुसुमत्वाज्ञानाल्लोहिते त- स्मिन् स्फटिकतादात्म्यभ्रम इति सोपाधिकभ्रमत्वासिद्धेः । शक्यं ह्यत्रापि वक्तुं स्फटिको यद्यपरोक्षस्तर्हि तत्संसर्गमात्रमुत्पद्यते यदि नापरोक्षस्तर्हि तदुत्पत्तिस्तस्मान्नादर्शोऽधिष्ठानं किं तु मु- खमेव तत्र च भेदोऽस्य तेन मुखान्तरं प्रत्यभिज्ञानाच्च न मुखा- न्तरोत्पत्तिः स्वीक्रियते कथं तर्हि भेदभ्रमोऽपि स्यात् प्रत्यक्षप्रत्य- भिज्ञानेनाज्ञानानिवृत्त्या भेदभ्रमानिवृत्तिप्रसङ्गादिति चेदुच्यते सो- पाधिकभ्रमनिवृत्तावुपाधिनिवृत्तेः पुष्कलकारणत्वान्न ततो भे- दभ्रमनिवृत्तिः मुखान्तरोत्पत्तिपक्षे तु सोपाधिकत्वमेव नास्ति । उपाधिर्हि उप समीपे स्थित्वा स्वकीयं धर्ममन्यत्रादधातीत्यु- च्यते नहि मुखान्तराध्यासे उपाधिरस्ति रजताध्यासवत् भे- दाध्यासे दर्पणस्योपाधित्वं सम्भवति अतः सत्यपि प्रत्यभि- ज्ञाने यावदुपाधिभेदाध्यासानुवृत्तिर्युक्ता तस्मात् मुखमधिष्ठानं तत्र भेदोऽध्यस्यते एव चाज्ञानादौ प्रतिबिम्बे सत्यपि नाभासा- न्तरं मानाभावात् । सादृश्यापत्तिस्त्वज्ञानाध्यासेन परिच्छिन्न- त्वापत्त्याऽहङ्काराध्यासापेक्षिता भविष्यति तस्मादवभासवा- दो ज्यायानिति विवरणाचार्याभिप्रायः । अज्ञानोपहितबिम्ब- चैतन्यमीश्वरः अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वाऽज्ञाना- नुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मु- ख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्य इदमेव दृष्टिसृष्टिवादमा- चक्षते । अस्मिंश्च पक्षे जीव एवेश्वरज्ञानवशादुपादानं निमित्तं च दृश्यं च सर्वप्रतीतिः । किं देहभेदाज्जीवभेदो भ्रान्तिः । एक- स्यैव स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदार्ढ्यादात्म- साक्षात्कारे सति मोक्षः शुकादीनां मोक्षश्रवणं चार्थवाद इ- त्याद्यूह्यम् । ननु वस्तुनि विकल्पासम्भवात्कथं परस्परविरुद्ध- तत्प्रामाण्यात्तस्मात् किमत्र हेयं किमुपादेयमिति चेत्क एवमाह वस्तुनि विकल्पो न सम्भवति स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वे- त्यादिविकल्पानां वस्तुनि प्रवृत्तिदर्शनात् अतात्त्विकी सा कल्प- ना पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवेयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागादिव्य- वस्थेति कथं तत्र विकल्पस्पर्श इति चेन्नूनमतिमेधावी भवान् येनेत्थं वदति अद्वितीया हि प्रधानफलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयं शास्त्रस्य जीवेश्वरविभागादिकल्पनास्तु पुरुषबुद्धिप्रभवा अपि

शास्त्रेणानूद्यन्ते तत्वज्ञानोपयोगित्वात् । फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् भूतासिद्धस्यापि श्रुत्यानुवादनसंभवादेतेन द्वैतसमानाश्रयविषयत्वनियमाज्जडे च प्रमाणाप्रयोजनाभावनाज्ञानानङ्गीकारात्तदवच्छिन्नचैतन्याज्ञानादेव तत्राज्ञानाव्यवहारोपपत्तेः । प्रामाण्यस्य वा ज्ञानज्ञापकत्वरूपत्वादन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तेरिति वेदान्तेषु सर्वत्रैवं विरोधेऽयमेव परिहारः । तदाह वार्त्तिककार. "यया यया भवेत्पुंसो व्युत्पत्ति. प्रत्यगात्मनि । सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया. साध्वी सा चानवस्थिते" रिति श्रुतेस्तात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्ध मत हेयमेवेति नाति प्रसङ्ग. । स च जीवोऽज्ञानबहुत्ववादिनां हिरण्यगर्भाविरादिभेदेनाज्ञानैक्येऽपि तत्तच्छक्तिभेदात्तदीयान्त करणभेदाद्वा नानेत्यपि वदन्ति । तत्र तत्वज्ञानेन शक्तिरन्त.करणस्य वा निवृत्तिरिति बद्धमुक्तव्यवस्था जीवभेद एव क्रममुक्तिफलानां हिरण्यगर्भाद्युपासनावाक्यानां न तस्य प्राणा इत्यादीनां चाञ्जस्येनोपपत्ति. एकजीवादेस्तूपासनावाक्यानां क्रममुक्तिफलश्रवणमर्थवादमात्र क्रमेणैव मुक्त्यङ्गीकारे क्रममुक्तिफलानामुपासनाबहुत्वेनैकस्यैव फलवत्त्वेऽपीतरेषु तच्छ्रवणस्यार्थवादताया आवश्यकत्वात् । फलवत्ता तु तासां सत्वशुद्धिराश्रयणाद्यधिकारोपयोगात् प्रमातृभेदाङ्गीकाराच्चतत्फलभोगोत्तरमिममिति विशेषणादेतत्कल्पावच्छेदेन मानवभवानावृत्त्या वा भविष्यति तदेवं व्यवस्थितमेकानेकवादिना जीवस्वरूप तत्र चान्तःकरणमध्यस्यतेऽहमिति रज्ज्वामिव सर्प केवलस्य तस्य साक्ष्यभास्यत्वात तत्कार्याकारपरिणतस्यैव साक्षिणो भानमित्यहमाकारेण परिणतस्य तस्याध्यासोऽयमहङ्काराध्यास इति गीयते । अयं च न सोपाधिक उपाधेरभावादहमज्ञ इति त्वहङ्काराज्ञानयोरेकचैतन्याध्यासादयस्त्वायसोरेकवह्निसम्बन्धादयो दहतीतिवत् । तच्चान्त करणं स्मृतिप्रमाणवृत्तिसंकल्पविकल्पादवृत्त्याकारेण परिणत चित्तबुद्धिमनोऽहङ्कारशब्दैर्व्यवह्रियते इदमेवात्मनातादात्म्येनाध्यस्यमानमात्मनि सुखदु खादिस्वधर्माध्यासे उपाधि. स्फटिके जपाकुसुममिव लौहित्यावभासे एवं प्राणादयस्तद्धर्माश्चाशनाया.पिपासादयस्तथा श्रोत्रादयो वागादयश्च तद्धर्माश्च बधिरत्वादयोऽध्यस्यन्ते तथा देहस्तद्धर्मा. स्थूलत्वादयश्चात्मन्यध्यस्यन्ते तत्रेन्द्रियादीनां न तादात्म्याध्यासोऽहं श्रोत्रमित्यप्रतीते । देहस्तु मनुष्योऽहमिति प्रतीतेस्तादात्म्येनाध्यस्यते एव चैतन्यस्याप्यहङ्कारादिषु पर्यन्तेष्वध्यास स्वीकार्य. अध्यासव्यवधानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम् । तदुक्त वार्त्तिकामृते "वित्तात्पुत्र. प्रिय' पुत्रात्पिण्ड पिण्डात्तथेन्द्रिय इन्द्रियेभ्य' परः प्राण. प्राणादात्मा पर. प्रियः" तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद्ग्रन्थिरूपोऽयमध्यासः समूहालम्बनभ्रमवदवश्यमत्रेतरेतराध्यासस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात् । अयमेव ससारो माया शबलाच्चिदात्मन आकाशादिक्रमेण लिङ्गशरीरात्मकपञ्चीकृतभूतोत्पत्तौ केषांचिन्मते तेभ्य एव पञ्चीकृतभूतोत्पत्तौ सम्प्रदायमते च तेषामेव संयोगविशेषावस्थानां तत्वस्वीकारे तेभ्यो ब्रह्माण्डभूधरादिचतुर्दश भुवनचतुर्विधस्थूलशरीरोत्पत्तिरत एव सिद्धाभिधानात् (नयो०) आत्मज्ञानमात्रे प्रत्यक्षादिप्रसराद्नियमविध्यादरे च सूत्रमात्रे साधनान्तरप्राप्तेऽर्थे यजेतेत्यादावपि तत्प्रसङ्गोऽत एव न भ्रान्त्या साधनान्तरप्राप्तेरपि नियमविध्यङ्गत्व यजेतेत्यादावतिप्रसङ्गादेवेति वाच्य निर्विशेषात्मबोधेऽपि "इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेदि" त्यादिना पुराणप्राकृतवाक्यश्रवणादे. प्राप्तस्य वेदान्तश्रवण नियम्यत इति दोषाभावात् । एतच्च श्रवणाद्यावृत्त तत्वधीहेतुर्दृष्टार्थत्वात्तदेवं बहुजन्मलब्धपरिपाकवशादसौ तमस्यादिवाक्यार्थविशुद्धं प्रत्यगभिन्नं परमात्मान साक्षात् कुरुते । नच प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वत.स्वभङ्ग' श्रवणादेः प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वात्तन्निवृत्तेश्च स्वत्वेनोत्पत्तावतिरिक्तानपेक्षणात् । तत्त्वमिति पदयोः परोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टचैतन्यरूपपृथगर्थवाचकयोः श्रूयमाण सामानाधिकरण्यम् । न तावत् सिंहो देवदत्त इतिवद्गौणमुख्यभाव. संभवति तस्याभावाज्जातत्वात् । नापि मनो ब्रह्मेतिवदुपासनार्थं श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । मुख्यत्वेऽपि न नीलोत्पलादिवत्सामानाधिकरण्यं गुणगुणिनां भावाद्यसंभवात् निर्गुणा स्थूलादिवचनविरोधाश्च नापि यः सर्प. सा रज्जुरिति बद्धाश्रीयमुभयोश्चिद्रूपतया बाधायोगान्मुक्त्यभावप्रसङ्गाच्च । नहि स्वबाधार्थं जीवप्रवृत्तिरुपपद्यते तस्मात्पदार्थयो' परस्परव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावप्रतीत्यनन्तर लक्षणया सोऽय देवदत्त इति तद्विशुद्धप्रत्यगभिन्नाखण्डपरमात्मप्रतीते सा च लक्षणा पदद्वयेऽप्यन्यथाऽखण्डार्थप्रतीत्यनुपपत्तेर्लक्षणाबीजविरोधासमानाच्च इयं लक्षणा विशेषण सत्यागाद्विशेष्यांशत्यागाच्च जहदजहती । नन्वेव चैतन्याद्वैतसिद्धावपि कथ प्रपञ्चस्य परमार्थिकत्वाभाव इति चेदुच्यते यदि त्वं पदार्थे भोक्तृत्वादिपारमार्थिक कथ तत्पदार्थैक्यसिद्धिरेव तत्पदार्थेऽपि परोक्षत्वादि । यदि पारमार्थिक कथ त्व पदार्थैक्यासिद्धिस्तदेव भोक्तृत्वादे' कल्पितत्वे भोग्यादि कल्पितमेव एव जगत्कर्तृत्वादे कल्पितत्वे जगत. कल्पितत्वमित्यपि तत्त्वमस्यादिवाक्यसामर्थ्येनैव निरस्तसमस्तप्रपञ्चात्मैक्यसिद्धि. । सोऽयामित्यत्रेव पदार्थभेदभ्रमानिवृत्तेर्महावाक्याश्रयणस्यावश्यकत्व तदिदमात्मज्ञानमुत्पन्नमेवानन्तजन्मार्जित कर्मराशिं विनाशयति " क्षीयन्ते चास्य कर्माणीति श्रुते । नच देहनाशप्रसङ्ग प्रारब्धस्याविनाशात् । तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति श्रुते. कर्मविपाकेन प्रारब्धनिवृत्तावप्युक्तशास्त्रेण ज्ञानाग्निवर्त्यत्वाभिधानात् ततश्च ज्ञानेन तदानीमेवाज्ञानसर्वात्मना निवर्त्तयितव्ये प्रारब्धप्रतिबन्धाप्यनिवृत्तिस्तस्यां चावस्थायां प्रारब्धफलं भुञ्जान' सकलससार बाधितानुवृत्त्या पश्यन् स्वात्मारामो विधिनिषेधाधिकारशून्य' संस्कारमात्र सदाचारः प्रारब्धक्षय प्रतीक्षमाणो जीव मुक्त इत्युच्यतेऽस्य प्रारब्धक्षये संसक्तिकनिरवशेषाज्ञाननिवृत्तौ परममुक्ति.ननु केयमज्ञाननिवृत्तिर्नासती नाप्यसती नापि सदसती ज्ञानजन्यताद्वैतप्रसङ्गोद्देश्यत्वविरोधेभ्यश्चास्तु तर्ह्यनिर्वचनीयाजन्यत्वात् । तदुक्तं " जन्यत्वमेव जन्यस्य, मायिकत्वसमर्पक' मिति मैवम् अनिर्वचनीयस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वनियमेव निवृत्तिपरंपराप्रसङ्गात् सदद्वैतीव्याकोपमङ्गीकृत्य तस्या असत्वाभिधानेऽपि विनाप्रमाणमद्वैतसंकोच एव दूषणम् । पञ्चमप्रकाराश्रयणं त्वत्यन्ताप्रसिद्धमस्तु तर्हि चैतन्यात्मिकेति चेन्न जन्यत्वादेव नास्त्येव जन्यत्वमिति चेन्न ज्ञानार्थस्य प्रसङ्गात् चैतन्यस्य सदा सत्वेन प्रयत्नविशेषानुपपत्तेश्च । अत्र केचित् तत्वज्ञानोपलक्षितं चैतन्यमेवाज्ञाननिवृत्तिः तच्च न तत्वज्ञानं प्रागस्ति उपलक्षणत्वस्य सम्बन्धाधीनत्वात्काकसम्बन्धो हि गृहस्य काकोपलक्षितत्व तदपि न ज्ञानोपलक्षितत्वस्यापि सत्वेऽद्वैतव्याघातात् असत्वे उद्देश्यत्वानुपपत्ते । मिथ्यात्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्ते श्चिन्मात्रत्वे उक्तदोषानतिवृत्ते. । न च तत्वज्ञानानुपलक्षिताभिन्न चैतन्यमेव साऽस्थामेव विना तस्यापि दुर्वचत्वादतो दुर्वचस्वरूपेऽयमज्ञाननिवृत्तिरत्रोच्यते ज्ञानस्य निवृत्तिरूपत्वं च रूपान्तरपरिणतोपादानस्यैव तद्रूपत्वात

घटध्वंसो हि चूर्णाकारपरिणता मृदेव । नच चैतन्यस्य रूपान्तरमस्ति तस्मान्नास्त्येवाज्ञानध्वंसः किंत्वज्ञानस्य कल्पितत्वात्तदत्यन्ताभाव एव तन्निवृत्तिः किं तर्हि तत्त्वज्ञानस्य साध्यमिति चेन्नास्त्येवाज्ञानात्यन्ताभाववोधात्मकत्ववाधव्यतिरेकेण तदुक्तं "तत्त्वमस्यादिवाक्योक्त—सम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यतीति" शुक्तिबोधेनापि हि रजतात्यन्ताभावबोधरूपो बाध एव क्रियते मिथ्याभूतस्य च बाध एव ध्वंस इत्यभिधीयते तद्वदिहापि रूष्टव्यम् सचायमधिष्ठानात्मक एव कथं तर्हि सर्वथा सत इच्छाप्रयत्नाविति चेत्कण्ठगतचामीकरन्यायेनानवाप्तत्वभ्रमात्पुरुषार्थत्वं तु तत्राभिलषितत्वादेव कृतिसाध्यत्वस्य तत्र गौरवेणाप्रवेशाच्चन्द्रामृतपानादौ पुरुषार्थत्वमिष्टमेव । प्रवृत्तिस्तु तत्र कृतिसाध्यत्वज्ञानरूपकारणान्तराभावादिति प्रतिपत्तव्यम् । कथं पुनर्दृष्टिसृष्टिवादे श्रवणादिपरिपाकजन्मना ज्ञानेनाज्ञानातिबाधः तथाहि तस्मिन् मते चैतन्यातिरिक्तपदार्थानामज्ञानसत्त्वं नातिमिथ्यात्वस्य स्वप्नादिदृष्टान्तसिद्धत्वात्तादृशस्यैव सत्त्वस्याङ्गीकारात् । एवं च घटादीनां यदा प्रतीतिस्तदा सत्त्वं नान्यदेति न दण्डादिजन्यत्वं किंत्वज्ञानमात्रजन्यत्व स्वप्नवच्च दण्डाद्युपादानम् । अज्ञानदेहादिकं तु भासमानमेव तिष्ठति अभावनिश्चयाभावाच्च पुत्राद्यभावकृतरोदनाद्यप्रसङ्ग प्रत्यभिज्ञानमपि भ्रम एव ततश्चाकाशादिक्रमेण सृष्टि पञ्चीकरण ब्रह्माण्डाद्युत्पत्तिश्चैतन्मतेनास्त्येव घटादेरपरोक्षत्व तत्तदभ्यासादेव अधिष्ठानस्य स्थानादे· सकलदृष्टिहेतोरङ्गीकाराच्च न बौद्धमतप्रवेशस्तदेव मज्ञानातिरिक्तकारणाभावात् कथं श्रवणादिजन्यं तत्त्वज्ञानमिति । अत्रोच्यते लोकेऽज्ञानातिरिक्तानात्मदृष्टिकारणाभावेऽपि वेदे यागस्वर्गादौ कार्यकारणदायिनां यच्चेष्टाचरणप्रसङ्गात्तस्माद् घटादेरिव स्वर्गनरकादेर्नाज्ञानमात्रजन्यत्वमपि तु विहितनिषिद्धक्रियाजन्यत्वमपीति दृष्टानुश्रविकत्वेऽर्द्धजरतीय प्रामाणिकं नो वेदनात्मदृष्टिसृष्टेरनवसानप्रसङ्गोऽधिष्ठानज्ञाने तदवसानमिति चेन्न तस्यैव हेतुत्वभावादज्ञानं तद्धेतुरिति चेन्न ततो दृष्टकारणानिरपेक्षा तदुत्पत्त्या शमाद्यननुष्ठानप्रसङ्गात् । भ्रान्त्या शमाद्यनुष्ठानमिति चेन्न श्रुतवेदान्तार्थश्रवणवतां तदभावप्रसङ्गात् । किं च भ्रमे ज्ञानमात्रजन्यत्व युक्तम् । नन्वधिष्ठानज्ञाने हि रजतभ्रमध्वंसशुक्तिज्ञाने शुक्त्यज्ञानजन्यत्वं तदवश्य दृष्टिसृष्टिपक्षे लोकेऽज्ञानातिरिक्तकारणाभावेऽपि वेदे यागादौ स्वर्गादिसाधनता संमतैव ततश्च यागादे स्वर्गादिसाधनत्व प्रतीत्य यागमनुतिष्ठतामुत्पन्नस्य स्वर्गसूक्ष्मरूपस्य वाऽपूर्वस्य साक्षिसिद्धस्य स्वर्गजनकत्वमपूर्वस्य साक्षिसिद्धत्वं नानुभूयत इति चेन्नाज्ञातसत्त्वानङ्गीकारेण ज्ञानकारणताया इवापूर्वस्य साक्षिसिद्धताभ्युपगमस्यावश्यकत्वाच्च यागादे· स्वर्गादिजन्मवत् श्रवणमननादिसहकृतवेदान्तवाक्यात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिरविरुद्धा । दृष्टिसृष्टिवादे ईश्वरो नास्तीति तत्त्वमसीत्यत्र कथ तदभेदप्रतीतिरिति चेत् कुत एतदवगतं सर्वदाऽप्रतीतेरिति चेत्तर्हि जीवोऽपि नास्त्येव चिद्रूपतया भासमानत्वमप्युभयत्र तुल्यमीश्वरत्वं सदा न भासत इति चेज्जीवत्वेऽपि तुल्यमेतत् उभयमपि तर्हि नास्त्येवेति चेन्न साक्षित्वस्यानुभवसिद्धत्वात् घटकाज्ञाने शक्तिद्वयस्यावश्यकत्वेन तद्धर्मजीवत्वेश्वरत्वयोरनादित्वस्य यौक्तिकत्वात्तयोरभेदानुपपत्तेर्लक्षणयाऽद्वये चिन्मात्रधीर्वक्तव्या तस्माद् दृष्टिसृष्टिवादेऽपि यथोक्तानुष्ठानानुभवस्तत्त्वज्ञानादखण्डानन्दब्रह्मस्वरूपा मुक्तिर्युक्तिवत्तदेतच्छुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिकाप्रकृतिकमतद्वयं पर्यायार्थिकनययुक्तिभिर्निर्लोचनीयमवतारणीय च स्याद्वादे ॥ ११० ॥ नयो० । (पर्यायास्तिकनयमतेनाद्वैतवादे दोषाः सम्मतितर्के)

एगासण—एकाशन-न० एकं सकृदशन भोजनमेक चासनं पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासन च । प्राकृते द्वयोरपि एगासण मिति रूपम् । प्रत्याख्यानभेदे, अथैकाशनप्रत्याख्यान तत्राष्टावाकारा स्तद्यथा ।

एगासणं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारिआगारेणं आउट्टणपसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणिआगारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ ॥

एकं सकृदशनं भोजनमेक चासन पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासन च प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूप तत्प्रत्याख्याति एकाशनप्रत्याख्यान करोतीत्यर्थ । अत्राद्यावन्त्यौ च द्वावाकारौ च पूर्ववत् "सागारियागारेणं" सह आगारेण वर्तते इति सागारः स एव सागारिको गृहस्थः । स एवाकारः प्रत्याख्यानापवादः सागारिकाकारस्तस्मादन्यत्र गृहस्थसमक्षं हि साधूनां भोक्तुं न कल्पते प्रवचनोपघातसंभवात् । अत एवोक्तं "छक्कायदयावंतो, विसंजओ दुल्लह कुणइ बोहिं । आहारे नीहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे य" ततश्च भुञ्जानस्य यदा सागारिक समायाति स यदि चलस्तदा क्षणं प्रतीक्षते । अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायादिव्याघातो मा भूदिति तत स्थानादन्यत्रोपविश्य भुञ्जानस्यापि न भङ्ग· गृहस्थस्य तु येन दृष्टं भोजनं न जीर्यति तदादिः (आउट्टणपसारेण) आउण्टणमाकुञ्चनं जङ्घादे· सकोचन प्रसारण च तस्यैवाकुञ्चितस्य ऋजुकरणमाकुञ्चने प्रसारणे चासहिष्णुतया क्रियमाणे किंचिदासनं चलति ततोऽन्यत्र (गुरुअब्भुट्ठाणेण) गुरोरभ्युत्थानार्हस्याचार्यस्य प्राघूर्णकस्यवाऽभ्युत्थान प्रतीत्यासनत्यजनं गुर्वभ्युत्थान ततोऽन्यत्राऽभ्युत्थान चावश्य कर्त्तव्यत्वात् । भुञ्जानेनापि कर्तव्यमिति न तत्र प्रत्याख्यानभङ्गः । (पारिट्ठावणियागारेण) साधोरेव यथा परिष्ठापनं सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकमन्नं तदेवाकार पारिष्ठापनिकाकारस्ततोऽन्यत्र तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसंभवादाश्रियमाणे चागमिकन्यायेन गुणसंभवाच्च तस्य गुर्वाज्ञया पुनर्भुञ्जानस्य तु न भङ्गः "विहिगहिअं विहिभुत्त, उव्वरिअं जं भवे असणमाई । तं गुरुणाणुन्नायं, कप्पइ आयबिलाईणं" श्रावकस्तु खण्डसूत्रत्वादुच्चरति (वोसिरइत्ति) अनेकासनमनेकाशनाद्याहारं च परिहरति ध० २ अधि० । आव० । आ०चू० । एकाशने पण्डितकीर्त्तिगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा प्रात कृतद्विविधाहारैकाशनस्य श्राद्धस्य निशि द्विविधाहारप्रत्याख्यानं शुध्यति न वेति अत्रोत्तरं शुध्यतीतिबोध्यम् । ही० ।

एगाह—एकाह—पु० एकमह· टच्-समा० एकशब्दोत्तरत्वान्नाह्नादेशः । "रात्राह्नाहा· पुंसि" इति पुंस्त्वम् एकस्मिन् दिवसे, वाच० । (सेज्जं पुण विहं जाणेज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा) आचा० २ श्रु०३ अ०१ उ० ।

एगाहच्च—एकाहत्य—त्रि० एकैवाहत्याऽऽहननं प्रहारो यत्र । एकप्रहारोपेते, "एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि" एकैवाहत्याऽऽहनन प्रहारो यत्र भस्मीकरणे तदेकाहत्यं तद्यथा भवत्येवमिति भ० १५ श०१ उ० । "एगाहच्च कूडाहच्च जीवियाओ ववरोवेइ" एकाहत्या हनन प्रहारो यत्र जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्य तद्यथा भवतीति भ० ७ श० ए उ० । निर० ।

एगाहिय-एकाधिक-त्रि० एकेनाधिके, प० सं० ।

एगाहिक-त्रि० एकेनाह्ना प्ररूढे, एकेनाह्ना प्ररूढा एकाहिका इति ज्यो० । रोगभेदे च " एकाहिका इति वा " जी० ३ प्रति० । एकाहिकज्वरश्च एकाहानन्तर एकदिनव्यापको ज्वर इति वैद्यके प्रसिद्धम् । वाच० ।

एगाहिगम-एकाधिगम-त्रि० एकदिनगमागमे,"एगाहिगमऽयणे" एकाधिगमे एकदिनगमागमे अध्वनीति, व्य० ६ उ० ।

एगाहिगारिय-ए (ऐ) काधिकारिक- त्रि० एक धिकारे भव ऐकाधिकारिक अध्यात्मादित्वादिकण् । एकाधिकारभवे,- प्रायश्चित्तभेदे च । तथाच प्रायश्चित्तमधिकृत्य "एगाहिगारिगाण वि, नाणत्त केत्तिया व दिज्जं ति" एकाधिकारिकानि नाम एकस्मिन् शय्यातरपिण्डादावधिकृते दोषेणाहेच्चिते एव यानि शेषदोषसमुत्थितानि प्रयाश्चित्तानि तान्येकाधिकारिकाणि एकाधिकारभवान्यैकाधिकारिकाणि अध्यात्मादित्वादिकणिति व्युत्पत्ते । तेषामप्येकाधिकारिकाणा नानात्व न पुनरेकाधिकारिकतया एकत्वमिति ॥ व्य० ४ उ० ।

एगिंदिय-एकेन्द्रिय-पु० एकमिन्द्रिय करणं स्पर्शनलक्षणमेकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्तदावरणक्षयोपशमाच्च येषान्ते एकेन्द्रिया । पृथिवीकायिकादौ,स्था० ५ ठा० । ध० । प्रज्ञा० । आव० । प्रश्न० । सूत्र० । एकेन्द्रियाणां जीवत्व यथा ।

चउरिंदिआइ जीवा, इच्छंति प्पायसो सव्वे ।
एगिंदिएसु उ वहू, विप्पमिवन्ना जओ मोहो ॥४२॥

तत्र चतुरिन्द्रियादीन् द्वीन्द्रियावसानान् जीवान् इच्छन्ति प्राय सर्व्वेऽपि वादिन एकेन्द्रियेषु तु वहवो विप्रतिपन्ना यतो मोहादिरिति गाथार्थ ।

ततः किमित्याह ।

जीवत्तं तेसि तओ, जह जुज्जइ संपयं तहा वोच्छं ।
सिद्धं पि अ ओहेणं, संखेवेणं विसेसेणं ॥४३॥

जीवत्वं तेषामेकेन्द्रियाणां यतस्तथा युज्यते घटते सांप्रत तथा वक्ष्ये सिद्धमपि चौघेन सामान्येन सक्षेपेण इति गाथार्थ ।

आह नणु तेसि दीसइ, दव्विदिअमो ण एवमेएसिं ।
तं कम्मपरिणईओ, न तहा चउरिंदिआणं च ॥ ४४ ॥

आह ननु तेषां बधिरादीनां दृश्यते द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्युपकरणलक्षण नैवमेतेषामेकेन्द्रियाणामत्रोत्तरमाह तद्द्रव्येन्द्रिय कर्म्म परिणते कारणान्न तथा तिष्ठत्येव चतुरिन्द्रियाणामिव श्रोत्रेन्द्रियमपि नास्त्यन्यथा च ते जीवा इति गाथार्थ ॥ प० व० । (एकेन्द्रियाणां जीवत्व कायशब्देऽपि) ते च पञ्चविधा यथा "पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणप्फई चेवए । गिंदियपचविहा" पृथिवीअपकायस्तेजोवायुर्वनस्पतिश्चैवमेकेन्द्रिया पञ्चविधा एकमिन्द्रिय येषा ते एकेन्द्रियाः । पञ्चविधा पञ्चप्रकारा इति आव० ४ अ० । जी० । एकेन्द्रियभेदा यथा ।

कइविहा णं भंते । एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पण्णत्ता तंजहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया पुढविकाइया णं भंते ! कडविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा-सुहुमपुढविकाइया य वादरपुढविकाइया य सुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य । वादरपुढवीकाइया णं भंते ? कइविहा पण्णत्ता एवं चेव । एवं आउकाइया वि एवं चउक्कएणं भेदेणं जाणियव्वा । जावं वणस्सइकाइयाणं । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइकम्मपगडीओ पण्णत्ताओ गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराय्यं । पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा!अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं । अपज्जत्तवादरपुढवीकाइयाणं भंते! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ गोयमा! एवं चेव । पज्जत्तवादरपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ एवं चेव । एवं एएणं कमेणं जाव वादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्ताणं ति । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं कइ कम्मपगडीओ वंधंति ? गोयमा ! सत्तविहवंधगा वि अट्ठविहवंधगा वि सत्तवंधमाणा आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ वधंति, अट्ठ वंधमाणा पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ वंधंति । पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ ? एवं चेव एवं सव्वे जाव । पज्जत्तवादरवणस्सइकाइया णं भंते!कइ कम्मपगडीओ वधंति एवं चेव । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दसकम्मपगडीओ वेदेंति तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं सोइंदियवज्जं चक्खिदियवज्जं घाणिंदियवज्जं जिब्भिंदियवज्जं इत्थिवेदवज्जं पुरिसवेदवज्जं । एवं चउक्कएणं भेदेणं जाव पज्जत्तवादरवणस्सइकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा! एवं चेव चउद्दसकम्मपगडीओ वेदेंति । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ कइविहा णं भंते ! अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता तं जहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया । अणंतरोववण्णगा णं भंते ! पुढविकाइया कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य वादरपुढवीकाइया य एवरं दुपदेसिए णं भेदेणं जाव वणस्सइकाइया ।

सर्वं पाठसिद्धं नवरम् (एव दुपएण भेएणति) अनन्तरोपपन्नकानामेकेन्द्रियाणा पर्याप्तकापर्याप्तकभेदयोरभावेन चतुर्विधभेदस्या सम्भवादिपदेन भेदेनेत्युक्तम् । तथा ॥

अणंतरोववण्णगसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ ? गोयमा! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ता तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइय अणंतरोववण्णगवादरपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंत-

राइयं एवं चेव एवं जाव अणंतरोववन्नगबादरवणस्सइकाइयाणं ति अणंतरोववन्नगसुहुमपुढवीकाइयाणं जंते ! कइ कम्मपगडीओ वंधंति ? गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगमीओ वंधंति एवं जाव अणंतरोववन्नगबादरवणस्सइकाइयत्ति । अणंतरोववन्नगसुहुमपुढवीकाइयाणं जंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दस कम्मपगडीओ वेदेंति तंजहा णाणावरणिज्जं तहेव पुरिसवेदवज्जं । एवं अणंतरोववन्नगवादरवणस्सइकाइयंति सेवं जंते! जंते! त्ति । कइविहा णं जंते ! परंपरोववन्नगा एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्नगा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया चउक्कभेदो जहा ओहियउद्देसए । परंपरोववन्नगअपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं जंते ! कइ कम्मपगमीओ पएणत्ता एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियउद्देसए तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं जाव चउद्दस वेदेंति सेवं जंते ! भते ! त्ति ॥ अणंतरोगाढा जहा अणंतरोववएणगा परंपरोगाढा जहा परंपरोववएणगा अणंतराहारगा जहा अणंतरोववएणगा परंपराहारगा जहा परंपरोववएणगा अणंतरपज्जत्तगा जहा अणंतरोववएणगा परंपरपज्जत्तगा जहा परंपरोववएणगा चरिमा वि जहा परंपरोववएणगा तहेव एव अचरिमावि एवं एए एक्कारस उद्देसगा पढमं एगिंदियसयं संमत्तं सेवं भंते ! भते ! त्ति जाव विहरइ ॥ कइविहा णं जंते ! कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कएहलेस्सा णं भते ! पुढवीकाइया कइ विहा पएणत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य । कएहलेस्सा णं जंते ! सुहुमपुढवीकाइया कइविहा पण्णत्ता ? एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जहेव ओहिए उद्देसए जाव वणस्सइकाइय त्ति । कइविहा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया एवं एएणं अभिलावेणं तहेव दुपदो भेदो जाव वणस्सइकाइय त्ति । कइविहा णं जंते ! परंपरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहपरंपरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? तं जहा पुढवीकाइया एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जाव वणस्सइकायइत्ति एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ परंपरोववएणगा उद्देसओ तहेव जाव वेदेंति । एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए एगिंदियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहेव कएहलेस्ससते वि भाणियव्वा जाव अचरिमचरिमकएहलेस्सा एगिंदिया जहा कएहलेस्सेहिं भणियं एवं णीललेस्सेहिं वि सयं भाणियव्वं सेवं जंते ! जंते ! त्ति एवं काउलेस्सेहिं वि सयं भाणियव्वं णवरं काउलेस्सेत्ति अभिलावो भाणियव्वो कइविहा णं जंते ! भवसिद्धिया पण्णत्ता? गोयमा ! पंचविहा भवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइया वि (भ०) कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पण्णत्ता ? तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कएहलेस्सा भवसिद्धिया । पुढवीकाइया णं जंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य कएहलेस्सभवसिद्धियसुहुमपुढवीकाइया णं जंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता तंजहा पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य एवं बायरा वि । एवं एएणं अभिलावेणं तहेव चउक्कओ भेदो भाणियव्वो (भ०) कइविहा णं जंते ! अणंतरोववन्नगा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववएणगा जाव वणस्सइकाइया । अणंतरोववएणा कएहलेस्सा । भवसिद्धियपुढवीकाइया णं जंते ! कइविहा पएणत्ता? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य एवं दुपओ भेदो जहा कएहलेस्सभवसिद्धिएहिं सयं भणियं एवं णीललेस्सभवसिद्धिएहिं वि सयं भाणियव्वं सत्तममेगिंदियसयं एवं काउलेस्सभवसिद्धिएहिं वि सयं अट्ठममेगिंदियसयं कइविहा ण भंते ! अभवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अभवसिद्धिया पएणत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया एवं जहेव भवसिद्धियसयं भणिय एवं णीललेस्स अभवसिद्धियसयं णवरं णव उद्देसगा चरिमअचरिमउद्देसगवज्जं सेसं तहेव णवममेगिंदियसयं एवं कएहलेस्सअभवसिद्धियएगिंदियसयंपि दसममेगिंदियसयं णीललेस्सअभवसिद्धियएगिंदियेहिं सएहिं एगदसमेगिंदियसय काउलेस्सअभवसिद्धियसय बारसमेगिंदियसय एवं चत्तारि अभवसिद्धिया सयाणि णव णव उद्देसगा भवंति । भ० ॥

एकेन्द्रियश्रेणिशतकेषु प्रथमशतके ।

कइविहा णं जंते ! एगिंदिया पण्णत्ता गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया एवमेते वि चउक्कएणं भेदेणं भाणियव्वा जाव वणस्सइकाइया [भ०] एगिंदिया चउव्विहा पएणत्ता तं जहा अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा जाव अत्थेगइया विसमाउया विसमोववएणगा । कइविहा णं भंते !

अणंतरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता तं जहा–पुढविकाइया दुपदो भेदो जहा एगिंदियसएसु जाव बादरवणस्सइकाइया भ० ॥

(दुपदो भेदोत्ति) अनन्तरोपपन्नैकेन्द्रियाधिकारादनन्तरोपपन्नानां च पर्याप्तकत्वाभावादपर्याप्तकानां सतां सूक्ष्मा बादराश्चेति द्विपदो भेदः भ० ।

अणंतरोववएणगा एगिंदिया दुविहा पएणत्ता तं जहा अत्थेगइया समाउया समोववएणगा अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा। कइविहा णं भंते ! परंपरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा–पुढविकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइयत्ति [भ०] एवं सेसा वि अट्ठ उद्देसगा जाव अचरिमो त्ति [पढमसेगिं०] णवरं अणंतरा अणंतरसरिसा परंपरा परंपरसरिसा चरिमाया अचरिमाया एवं चेव एवं एते एक्कारस उद्देसगा [भ०] कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता भेदो चउक्कओ जहा कएहलेस्सा एगिंदियसए जाव वणस्सइकाइय त्ति । एवं एएणं अभिलावेणं जहेव पढमं सेढिसयं तहेव एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा [बिवियसेगिंदि०] एवं णीललेस्सेहिं वि [ततियं सयं ३] काउलेस्सेहिं वि सयं एव चेव [चउत्थं सयं ४] भवसिद्धियएगिंदिएहिं सयं (पंचमं सयं५)कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया एवं जहेव ओहियउद्देसओ[छट्ठं सयं६] कइविहाणं भंते ! अणंतरोववष्मगा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पष्मत्ता ? जहेव अणंतरोववष्मगा उद्देसओ ओहिओ तहेव । कइविहा ण भंते ! परंपरोववष्मगभवसिद्धिया एगिंदिया पष्मत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववष्मगकएहलेस्सभवसिद्धियएगिंदिया पष्मत्ता ओहिओ भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइय त्ति । णीललेस्सभवसिद्धियएगिंदिएसु [सत्तमसयं सम्मत्तं ७] एवं काउलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं [अट्ठमं सयं ८] जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाणि भाणियाणि एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि सयाणि भाणियव्वाणि णवरं चरिमअचरिमवज्जा णवउद्देसगा भाणियव्वा सेसं तं चेव एवं एयाइं बारसएगिंदियसेढीसयाइं भाणियव्वाइं भ०३४श०१उ०

एगिंदियरयण–एकेन्द्रियरत्न–न० पृथिवीरूपे रत्ने, ।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त एगिंदियरयणा पष्मत्ता तं जहा चक्करयणे छत्तरयणे चम्मरयणे दंडरयणे असिरयणे मणिरयणे काकणिरयणे ।

रत्नं निगद्यते तत् जातौ जातौ यदुत्कृष्टमिति वचनात् चक्रादिजातिषु यानि वीर्यत उत्कृष्टानि तानि चक्ररत्नादीनि मन्तव्यानि । तत्र चक्रादीनि सप्तैकेन्द्रियाणि पृथिवीरूपाणि तेषाञ्च प्रमाणं "चक्क छत्त दंडो,तिष्णि वि एयाइं वामतुल्लाइं । चम्म दुहत्थदीहं, बत्तीसं अंगुलाइं असी ॥ १ ॥ चउरंगुलो मणी पुण, तस्सद्धं चेव होइ विच्छिष्णो । चउरंगुलप्पमाणा, सुवष्मवरकागणी नेया" ॥ २ ॥ स्था ० ७ ठा ० ।

एगिंदियसंसारसमावष्म–एकेन्द्रियसंसारसमापन्न–पु० । एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषान्ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयस्ते च ते संसारसमापन्नजीवाश्च एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवा· संसारसमापन्नजीवविशेषे,।

ते च पञ्चविधास्तद्यथा

से किं तं एगिंदियसंसारसमावष्मजीवा पष्मत्ता ? एगिंदियसंसारसमावष्मजीवपष्मवणा पंचविहा पष्मत्ता तंजहा पुढवीकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया ।

अथ का सा एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञाप ? सूरिराह एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना पञ्चविधा प्रज्ञप्ता एकेन्द्रियाणां पञ्चविधत्वात् ॥ प्रज्ञा ० १ पद ।

एगूणचत्तालिस–एकोनचत्वारिंशत्–स्त्री० एकेनोना चत्वारिंशत् एकोनचत्वारिंशत्सङ्ख्यायाम्, तत्सङ्ख्यान्विते च। एवमेकोनविंशत्यादयोऽपि एकोनतत्सङ्ख्यासङ्ख्येययो· स्त्री० । वाच० । " नमिस्स णं अरहओ एगूणचत्तालीसं अहोहियसया होत्था "। सम० ३९ स० ।

एगूणणउइ–एकोननवति–स्त्री० एकोननवतिसंख्यायाम्, तत्तत्सङ्ख्यान्विते,च । वाच० । " एगूणणउएहिं अहमासेहिं" सम० ८९ स० ।

एगूणतीस–एकोनत्रिंशत्– स्त्री०एकोनत्रिंशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। "एगूणतीसविहे पावसुयपसंगेणं पष्मत्ते" सम० २९ स० ।

एगूणपन्न–एकोनपञ्चाशत्– स्त्री० एकोनपञ्चाशत्सङ्ख्यायाम्, तत्सङ्ख्यान्विते च । वाच० । [" एगूणपन्नराइंदिएहिं " सम० ४९ स० । स्था० ।

एगूणवीस (इ) एकोनविंशति-स्त्री० एकोनविंशतिसंख्यायाम्, तत्सङ्ख्यान्विते, च । वाच० । "एगूणवीसणायज्झयणा पष्मत्ता" सम० १९ स० । "गूणवीसइमे पव्वे" स्था० ६ ठा० ।

एगूणवीसइमपव्व–एकोनविंशतितमपर्वन्–न० फाल्गुनकृष्णपक्षे, स्था० ६ ठा० । (तस्य पर्वत्वमवमरात्रत्वे चावमरात्रशब्दे)

एगूणसट्ठि–एकोनषष्टि–स्त्री० एकोनषष्टिसङ्ख्यायाम्,तत्संख्यान्विते, च वाच० । "एगूणसट्ठिराइंदियाइं" सम० ५९ स० ।

एगूणसत्तरि–एकोनसप्तति– स्त्री० एकोनसप्ततिसंख्यायाम्, तत्सङ्ख्यान्विते च । वाच०। "एगूणसत्तरिं वासा वासहरपव्वया पष्मत्ता" सम० ६९ स० ।

एगूणासीइ–एकोनाशीति–स्त्री० एकोनाशीतिसङ्ख्यायाम् तत्सङ्ख्यान्विते च । वाच०। "एगूणासीइ जोयणसहस्साहिं" सम० । ७९ स० ।

एगोरुय-एकोरुक-पुं० अष्टादशानामन्तरद्वीपानाम्प्रथमेऽन्तरद्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च। इह एकोरुकादिनामानो द्वीपा· परन्तात्सख्याव

तद्व्यपदेश इति न्यायान्मनुष्या अप्येकोरुकादय उक्ताः । यथा पश्चाद्देशनिवासिनः पुरुषाः पश्चाद्दा इति । जी० ३ प्रति० ।

एगोरुयदीव–एकोरुकद्वीप–पुं० अष्टाविंशत्यन्तरद्वीपानामप्रथमे स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, जी० ३ प्रति० (तद्वक्तव्यता विस्तरेणान्तरदीव शब्दे)

एगोवणीय–एकोपनीत–न०एकेन समीपानीते,"एगस्स भुंजमाणस्स, उवणीयं तु गेएहइ । न गेह्न दुगमादीण, अवियत्तं तु मा भवे" ॥ एकस्य भुञ्जानस्य उपनीतं भगवान् गृह्णाति न द्विकादीनां द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां वा उपनीतं न गृह्णाति कस्मादिति चेत् मा भूदप्रीतिहेतो व्य० १० उ० ।

एज (य) एज–पुं० एजयतीत्येजः वायौ, " पहुएजस्स दुगुंछणाए (दुगुंछणाएत्ति) जुगुप्सा प्रभवतीति प्रभुः समर्थः योग्यो वा कस्य वस्तुनः समर्थ इति एजृ कम्पने एजयतीत्येजो वायुः कम्पनशीलत्वात्तस्यैजस्य जुगुप्सा निन्दा तदा सेवनपरिहारो निवृत्तिरिति यावत् तस्यां तद्विषये प्रभुर्भवति वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ सको भवतीति यावत् । आचा० १ श्रु० १ अ० ।

एज (यं) त-एजत्–त्रि० कम्पमाने, स्था० ७ ठा० ।

एज(यं)ण-एजन-न० एजृ कम्पने, ल्युट् कम्पने, सूत्र० २श्रु०२ अ० " निरेयणं झाण" निष्प्रकम्पं ध्यानमिति आव० ४ अ० । चलने च । यदेजयति यत्रेजयति आ० म० द्वि० । विशे० । तथा च द्रव्यक्रियामधिकृत्य सूत्रकृताङ्गे " दव्वेकिरियएणया " तत्र द्रव्यविषये या क्रिया एजनता एजृ कम्पने जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्यक्रियेति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

एज (य) णा–एजना–स्त्री० कम्पने, चलने च सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तस्या भेदा यथा ।

कइविहा णं भंते ! एयणा पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एयणा पएणत्ता, तं जहा दव्वेयणा खेत्तेयणा कालेयणा भवेयणा भावेयणा ॥

" योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयोगादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवैकेन शैलेश्यामेजनादि भवति न कारणान्तरेणेति भावः (अथुपक्रम्याह) (दव्वेयणत्ति) द्रव्याणां नारकादिजीवसम्पृक्तपुद्गलद्रव्याणां नारकादिजीवद्रव्याणां वैजना चलना द्रव्यैजना । (खेत्तेयणत्ति) क्षेत्रे नारकादिक्षेत्रे वर्त्तमानानामेजना क्षेत्रैजना (कालेयणत्ति) काले नारकादिकाले वर्त्तमानानामेजना कालैजना (भवेयणत्ति) भवे नारकादिभवे वर्त्तमानानामेजना भवैजना (भावेयणत्ति) भावे औदयिकादिरूपे वर्त्तमानानां नारकादीनां तद्गतपुद्गलद्रव्याणां वैजना भावैजना ॥

दव्वेयणाएं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पएणत्ता तं जहा णेरइयदव्वेयणा तिरिक्खमणुस्सदेवदव्वेयणा से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयदव्वेयणा गोयमा ! जेणं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टिंसु वा वट्टंति वा वट्टिस्संति वा तेणं तत्थ णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा णेरइयदव्वेयणं एयंसु वा एयंति वा एयस्संति वा से तेणट्ठेणं जाव दव्वेयणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तिरिक्खजोणिय एवं चेव तिरिक्खजोणियदव्वेयणं भाणियव्वं सेसं तं चेव । एवं जाव देवदव्वेयणा ॥

(णेरइयदव्वे वट्टिंसुत्ति) नैरयिकलक्षणे यज्जीवद्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदात् नारकत्वमेवेत्यर्थः ॥ तत्र (वट्टिंसुत्ति) वृत्तवन्त(णेरइयदव्वेयणंति) नैरयिकजीवसम्पृक्तपुद्गलद्रव्याणां नैरयिकजीवद्रव्याणां वैजना नैरयिकद्रव्यैजना ताम् ॥(एयसुत्ति) कृतवन्तोऽनुभूतवन्तो वेत्यर्थः ॥

खेत्तेयणा णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पएणत्ता तं जहा णेरइयखेत्तेयणा जाव देवखेत्तेयणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयखेत्तेयणा ? एवं चेव । णेरइयखेत्तेयणा भाणियव्वा एवं जावदेवखेत्तेयणा एवं कालेयणा वि एवं भवेयणा वि । एवं जाव देवभावेयणा वि । भ० १७ श० ३ उ० ।

इदानीं कर्मणा जीवानां सैजत्वनिरेजत्वं यथा

जीवाणं भंते ! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! जीवा सेया वि णिरेया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सेया वि णिरेया वि ? गोयमा ! जीवा दुविहा पएणत्ता तं जहा संसारसमावएणगा य असंसारसमावएणगा य तत्थ णं जेते असंसारसमावएणगा तेणं सिद्धा । सिद्धाणं दुविहा पएणत्ता तं जहा अणंतरसिद्धा य परंपरसिद्धा य । तत्थ णं जेते परंपरसिद्धा तेणं णिरेया तत्थ णं जेते अणंतरसिद्धा तेणं सेया तेणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! णो देसेया सव्वेया तत्थ णं जेते संसारसमावएणगा ते दुविहा पएणत्ता तं जहा सेलेसीपडिवएणगा य असेलेसीपडिवएणगा य । तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवएणगा तेणं णिरेया । तत्थ णं जे ते असेलेसीपडिवएणगा ते णं सेया । ते णं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि । से तेणट्ठेणं जाव णेरइया वि ।

(जीवाणमित्यादि सेयत्ति) सहैजेन चलनेन सैजाः (निरेयत्ति) निश्चलनाः (अणंतरसिद्धायत्ति) न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं सिद्धत्वस्य येषां तेऽनन्तरास्ते च ते सिद्धाश्चेत्यनन्तरसिद्धा ये सिद्धत्वस्य प्रथमसमये वर्त्तन्ते ते च सैजाः सिद्धिगमनसमयस्य सिद्धत्वप्राप्तिसमयस्य चैकत्वादिति । परम्परसिद्धास्तु सिद्धत्वस्य द्वयादिसमयवर्त्तिनः (देसेयत्ति) देशैजा देशतश्चलाः (सव्वेयत्ति ।) सर्वैजाः सर्वतश्चलाः (णोदेसेयासव्वेयत्ति ।) सिद्धानां सर्वात्मना सिद्धौ गमनात्सर्वैजत्वमेव । " तत्थ ण जे ते सेलेसीपडिवएणगा तेण निरेयत्ति " । निरुद्धयोगत्वेन स्वभावचलत्वात्तेषाम् (देसेया वि सव्वेयावित्ति) ईलिकागत्योत्पत्तिस्थानं गच्छन्तो देशैजाः प्राक्तनशरीरस्थस्य देशस्य विवक्षया निश्चलत्वात् । गेन्दुकगत्या तु गच्छन्तः सर्वैजाः सर्वात्मना तेषां गमनप्रवृत्तत्वादिति (जीवः सदा एजते न वा तत्र किं किं बन्धक इति इरीया वहिया शब्देऽस्माभिरदर्शि)

णेरइयाणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि । से केणट्ठेणं जाव सव्वेया वि ? गोयमा ! णेरइया दुविहा पएणत्ता तं जहा विग्गहगइसमावएणगा य अविग्गहगइसमावएणगा य तत्थ णं जे ते विग्गहगइ

समावन्नगा ते णं सव्वेया । नत्थ णं जे ते अविग्गहगइसमावन्नगा ते णं देसेया से तेणट्ठेणं जाव सव्वेया वि । एवं जाव वेमाणिया ॥

(विग्गहगइसमावन्नगत्ति) विग्रहगतिसमापन्नका ये मृत्वा विग्रहगत्योत्पत्तिस्थान गच्छन्ति । (अविग्गहगइसमावन्नगत्ति) अविग्रहगतिसमापन्नका विग्रहगतिनिषेधादृजुगतिका अवस्थिताश्च तत्र विग्रहगतिसमापन्ना गेन्दुकगत्या गच्छन्तीति कृत्वा सर्वेजा अविग्रहगतिसमापन्नकास्त्ववस्थिता एवेह विवक्षिता इति सम्भाव्यते ते च देहस्था एव मारणान्तिकसमुद्धता देशेनेलिकागत्योत्पत्तिक्षेत्रं स्पृशन्तीति देशैजा. । स्वक्षेत्रावस्थिता वा हस्तादिदेशानामेजनादिति ॥

परमाणुपुद्गलानां सैजत्वनिरेजत्वादि यथा ।

परमाणुपोग्गलेणं भंते ! किं सेए णिरेए ? गोयमा! सिय सेए सिय णिरेए । एव जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गलाणं भंते! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! सेया वि णिरेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया ॥

(सएत्ति) चल (निरेएत्ति) निश्चल. ।

अथ परमाएवादीनेव सैजत्वादिना निरूपयन्नाह ॥

परमाणुपोग्गलेणं भंते ! किं देसेए सव्वेए णिरेए ? गोयमा ! णो देसेए सिय सव्वेए सिय णिरेए दुपदेसिएणं भंते ! खंधे पुच्छा? गोयमा ! सिय देसेए सिय सव्वेए सिय णिरेए एवं जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गला णं भंते! किं देसेया सव्वेया णिरेया?गोयमा! णो देसेया सव्वेया वि णिरेया वि । दुपदेसिया णं भंते! खंधा पुच्छा?गोयमा! देसेया वि सव्वेया वि णिरेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया ॥ भ० २५ श० ४ उ० २५।

एज्जण–एजन–न० आगमने, (एज्जणत्ति) सिंहस्य कूपसमीपागमनमिति । व्य०३उ० ।

ए (इ) ज्जमाण–एज्यमान–त्रि० कम्प्यमाने, "मदायं मंदायं एइज्जमाणाए" एज्यमाना विकम्पनवशादेव प्रकर्षेत इतस्ततो मनाक् चलनेन प्रलम्बमानानीति" आ० म० द्वि० । एज्यमानानि कम्पमानानीति'– जी० ३ प्रति० ।

एज्जमाण–एजमान–त्रि० आगच्छति गच्छति च । "महावाय वा एज्जमाण पासत्ति" महावात वा (एज्जमाणमिति) आयान्त गच्छन्त वा पश्यतीति । राज० ।

एण–एण–पु० स्त्री० इ ण तस्य नेत्त्वम् । कृष्णवर्णे मृगे, स्त्रियां ङीप् । एणा हरिणा कमला मया कुरङ्गा य सारङ्गा' । को० ।

एणस–एनस्–न० गच्छति प्रायश्चित्तेन क्षमापणेन वा आगसि अर्थे इण् असुन् नुट् च । अपराधे, ईश्वराज्ञालङ्घनरूपनिषिद्धाचरणापराधजन्यत्वात् पापे च । वाच० ।

एणग–एणक–पु०स्वार्थे कन् कृष्णवर्णे मृगे, शब्दर० ।

एणि (णे) ज्ज–ऐणेय–त्रि० एण्या इदम् ढक् । कृष्णमृगचर्मादौ, "ऐणेयरौरवाजानि अजिनानि "गोभिरतिघन्यभेदे,हेम० । " मृगमांसे एणिज्जरसए य " विपा० ८ अ० ।

एणि (णे) ज्जय–ऐणेयक–पु० श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सकाशं प्रव्रजिते राजर्षिभेदे, तथाच स्थानाङ्गे भगवतो महावीरसकाशे प्रव्रजितानष्टौ राज्ञोऽधिकृत्य "एणिज्जए य रायरिसी " ऐणेयको गोत्रत. स च केतकार्द्धजनपदश्वेताम्बीनगरीराजस्य प्रदेशिनाम्न श्रमणोपासकस्य निजक. कश्चिद्राजर्षिस्तथा सोऽयमामलकल्पानगर्या स्वामी यस्यां हि सूर्याभो देव सौधर्म्माद्देवलोकाद्भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवततार नाट्यविधिञ्च उपदर्शयामास यत्र च प्रदेशिराजचरित भगवता प्रत्यपादीति ॥ स्था० ८ ठा० । एणेज्जगस्स सरीरगंअ णुप्पविसामि इति " भ० १५ श० १ उ० ।

एणी–एणी–स्त्री० हरिण्याम्, प्रश्न० ४ द्वा० " एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्वजंघे ' एणी हरिणी तस्या इव कुरुविन्दस्तृणविशेष. वर्त्तञ्च सूत्रवलनक ते इव च वृत्ते वर्तुले आनुपूर्व्येण तनुके चेति गम्य जङ्घे प्रसृते यस्य स तथा । औप० । त० । जी० । छायां च " एणीकुरुविन्दावत्तवट्टाणुपुव्वजंघे " अन्ये त्वाहु. एएय छायय' कुरुविन्दा कुटिलकाभिधानो रोगविशेषः ताभिस्त्यक्ते शेष तथैवेति । औप० ।

एणीपएणीणिम्मिय–एणीप्रैणीनिर्मित–त्रि० एणीप्रैणीचर्मनिर्मिते वस्त्रादौ, " एणीपएणीणिम्मिय " एणी हरिणी प्रैणी च तद्विशेष एव तच्चर्मनिर्मितानि यानि वस्त्राणि तानि एणीप्रैणीनिर्मितान्युच्यन्ते श्रूयन्ते च निशीथे कालमृगाणि चेत्यादिभिर्वचनैर्मृगचर्मवस्त्राणीति । प्रश्न० ४ द्वा० ।

एण्हि (एत्ताहे) इदानीम्–अव्य० "एण्हि एत्ताहे इदानीम " ८।२।१३४। इति प्राकृत सूत्रेणेदानीम एतावादेशौ वा भवत प्रा० अधुनेत्यर्थे, " एण्हि पि आमघाये " इदानीमधुनापीति " पञ्चा ए विव० ।

एत [य] एत–पु० इण तन् ।-कर्बुरवर्णे, । तद्वति त्रि० । आ–इण् । कर्त्तरि क्त । आगते, त्रि० । वाच० ।

एत [य] द्–एतद्–त्रि०इण्–अदादि-तुक् च । बुद्धिस्थे समीपवर्तिनि, "इदमस्तु सन्निकृष्ट समीपवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्ट तदतिपरोक्षे विजानीयात् इत्युक्ते ' समीपवर्तिबुद्धिस्थोपलक्षितधर्म्मावच्छिन्ने एतदो वृत्ति. । क्रियाविशेषणत्वेऽस्य क्लीवता । अन्त्यव्यञ्जनस्य ८।१।११ इति प्राकृतसूत्रेणान्त्य व्यञ्जनस्य लुक् ' एयग्गुणा ' एतद्गुणा । 'एय खु हसइ' सौ वैतत्तद. ८।२।३ इति प्राकृतसूत्रेणैतदोऽकारात्परस्य स्यादे. सेर्वा-क । एसो एस । वैसेणमिणमो सिना ८।३।८५ इति प्राकृतसूत्रेण सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा भवन्ति । "सव्वस्स वि एस गई" सव्वाण वि पत्थिवाण एस मही । एससहावो च्चिअ ससहरस्स एस सिर इणं इणमो । पक्षे एअ एसा एसो । तदश्च तः सोऽक्लीवे ८।३।८६ इति प्राकृत सूत्रेण तकारस्य सौ परेऽक्लीवे सो भवति । सो पुरिसो सा महिला एसो पिओ । एसा मुद्दा सावित्येव एए धन्ना ताए आओ महिलाओ अक्लीव इति किम् त एअ धणं । टा विभक्तौ " किमेतत्किंयत्तदृत्यष्टो ङिणा " ८।३।७१ इति प्राकृत सूत्रेण टास्थाने ङित् इणादेश । एदिणा एदेण पञ्चम्येकवचने ङसि "वैतत्तदो ङसेस्तोत्ताहे" ८।३।८२ इति प्राकृतसूत्रेणैतद परस्य ङसेः स्थाने तो त्ताहे इत्येतावादेशौ वा । त्थे च तस्य लुक् ८।३। ८३ इति प्राकृतसूत्रेण त्थे परे त्तो त्ताहे इत्येतयोश्च परयोरेतदो लुक् एत्तो एत्ताहे पक्षे एआओ एआउ एहाहिन्तो एआ । ङसिआमि च " वेदतदेतदो ङसामभ्यां सेसिमौ " ८।३।८१ इति सूत्रेण इम

आम् इत्येनान्या सह यथासंख्यमेनदः से सिम् इत्यादेशौ वा। से अहिअ । एतस्या हितमित्यर्थः । सिंगुणा सिंशीलम् एतेषा गुणा शीलं चेत्यर्थः । पक्षे एअस्स एपसिं एआण । डौ "ए- अस्सिं " आमो डे सिम " ८।३।६१। इति प्राकृतसूत्रेणामो डे सिमित्यादेशः एएसि । एरदीतोम्मौ वा ८।३।८४ इति प्राकृ- तसूत्रेणैतद् एकारस्य डयादेशे स्मौ परे अदीतौ वा भवत । अयम्मि इअम्मि एयम्मि । प्रा० स्त्रियां टाप् एआहिं विआहिं । आ० क०। 'एत तुङमषेसिं' एतां तुलां यथोक्तलक्षणामन्वे- षयेत् गवेषयेत् ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । वाच० ।

एत (य) कम्म–एतत्कर्मन्–न० एतद्व्यापारे। विपा० १ अ०।

एतत्काम्य–त्रि० एतदेव काम्यं कमनीयं यस्य स तथा। एतत्क मनीये,"एतकम्मे एयपहाणे एयविज्जे एयसमायारे" विपा०१अ०।

एत [य] प्पगार–एतत्प्रकार–त्रि० एवम्प्रकारे, " एयप्पगारं भास सावज्ज णो भासेज्जा " एवं प्रकारामसावद्यां भाषामिति एवमादिकां सावद्यां भाषां नो भाषते इति च वृत्तिः । आचा० । २ श्रु० ४ अ०२ उ०

एत [य] प्पहाण–एतत्प्रधान–त्रि० एतन्निष्ठे, विपा० १ अ०।

एत [य] समायार–एतत्समाचार–त्रि०एतज्जीवितकल्पे, वि- पा० १ अ० ।

एता (या) रि [स] एता (या) रिस-एता (या) रिच्छ- एतादृश् एतादृश एतादृक्ष–त्रि० एतदि दृश्०—क्विप्—टक् सक्—आदन्तादेश । दृशे क्विप् टक्सक ८ । १ । ४२ इति प्राकृतसूत्रेण क्विप् टक् सक् इत्येतदन्तस्य दृशेर्धातोरिसादेशः । प्रा० ।एतत्तुल्यदर्शने, वाच० । एयारिसे महादोसे " एतादृशा- ननन्तरोदितरूपान् महादोषान् ज्ञात्वेति । दश० ४ अ०। टगन्त- स्य स्त्रियां ङीप् । वाच० । " एयारिसीए इड्ढीए " एतादृश्या समीपतरवर्त्तिन्या ऋद्ध्येति ॥ उत्त०२२ अ० ।

एता (या) रूव–एतद्रूप–त्रि० अकृत्रिमोपलभ्यमानस्वरूपे,— "इमेया रूवे उराला माणुस्सरिद्धी" इय प्रत्यक्षा एतद्रूपा उप लभ्यमानस्वरूपैव अकृत्रिमेत्यर्थः । विपा०१० अ०। "एयारूवा दिव्वा देवड्ढी" इयं प्रत्यक्षासन्ना एतदेव रूपं यस्या न काला- न्तरादावपि रूपान्तरभाग् सा तथेति स्था० ४ ठा० ।

एता (या)वंति–देशी० एतावन्त इत्यर्थे, "एआवंति सव्वावंति लोगंसि" एतावन्तीत्यादि "एआवंती सव्वावंतीति" एतौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्ध्या एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायाः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

एतोवम–एतदुपम–त्रि० एषाऽनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः एतत्सदृशे, " एतोवमे समणे नायपुत्ते " सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

एत्तहे–इतस्–अव्य० इदम्-तासिल्–इशादेशः । " पश्चादेवमेवे- दानीं प्रत्युतेतस पच्छइ एम्वइ जिएम्वहिं पच्चुलिउएत्तहे, ८। ४ । ४२०। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे इतस् एत्तहे इत्यादेश ।प्रा० अस्मादित्यर्थे, वाच० ।

अत्र–अव्य० "इदम एतद् त्रल् त्रस्य मेत्तहे" ८। ४ । ३६। इति प्राकृतसूत्रेणत्रप्रत्ययस्य मेत्तहे इत्यादेश । प्रा० । अस्मिन्नि- त्यर्थे, एतस्मिन्नित्यर्थे, च वाच० ।

एतिअ-एत्तिल्ल-एद्दह इयत्-त्रि० इदम्परिमाणमस्य इदम्-वतुप्। इद किमश्च मेत्तिअ मेत्तिल मेद्दहा ८ । १ ५७ इति प्राकृतसूत्रे- ण इदम्शब्दात्परस्यातोर्मावतो वा मित् एत्तिअ एत्तिल्ल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च ।प्रा० । एतावदर्थे, स्त्रियां ङीप्। वाच० ।

एत्तिअ–एत्तिल्ल–एद्दहअ-एतावत्–त्रि० इदकिमश्चडेत्तिअ डेत्ति- ल्ल डेद्दहाः । ८।२। ५७ । इति प्राकृतसूत्रेणैतच्छब्दात्परस्यातोर्डा वतोर्वा एत्तिअ एत्तिल्ल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च। यत्तदेत- दोऽतोरिति अ एतल्लुक् च ८। २ । ५६ इति प्राकृतसूत्रेणैतच्छ- ब्दात्परस्य डावादेरतो परिमाणार्थस्य इतिअ इत्यादेशः प्रा० एतत्परिमाणे, स्त्रियां ङीप् वाच० ।

एत्तो–इतः-अव्य० अस्मादित्यर्थे,–"एत्तो परिग्गहो" इतश्चतुर्था- श्रवणद्वारादनन्तरमिति, प्रश्न० ५ द्वा० ।

एत्थ–अत्र–अव्य० इदम्-त्रल्-एत्थप्पादौ ८ ।१५७ इति प्राकृ- तसूत्रेणैकारादेशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । " के एत्थ- खत्ता उवजोइया वा " केचिदत्रास्मिन् यज्ञपाटके इति । उत्त०। १२ अ० । "एत्थ णं माणिभद्दे णाम चेइए होत्था" अत्रास्मिन्निति सू० प्र० १ पाहु० ।

एत्थ–एतत्र–अव्य० दिग्देशकालवृत्तेरेतच्छब्दात् प्रथमापञ्चमी सप्तम्यर्थे त्रल्।त्थे च तस्य लुक् ८ । ३ । ८३ । इति प्राकृत सूत्रेणै- तदो लुक् ।प्रा० । प्रथमाद्यर्थयुक्तैतच्छब्दार्थदिगादौ, वाच० ।

एत्थु–अत्र–अव्य० इदम् एतद् त्रल्—एत्थुकुत्रात्रे ८ । ४ । ५ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसेऽत्र इत्येतस्य त्रशब्दस्य डित् एत्थु इत्या- देशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, एतस्मिन्नित्यर्थे च वाच० ।

एत्तुल्ल–इयान्–त्रि० एतत्परिमाणे, वाच०। अतो डेत्तुल्ल ८'४।३५ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसे यदेतद्भ्यः परस्यातो प्रत्ययस्य डेत्तुल्ल इत्यादेशः ।प्रा० ।

एमेव–एवमेव–अव्य० यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावटप्रावारक- देवकुलैवमेवमेव व. ८ । १ । २७ । इति प्राकृतसूत्रेणान्तर्वर्त्ति- मानस्य वकारस्य लुक् । प्रा० । एवम्प्रकारेणैवेत्यर्थे, वाच० ।

एम्व–एवम्– अव्य० एव पर सम ध्रुव मा मनाक् एम्व परसमा- णुध्रुवु म मणाउ ८ । ४।४१८ । इति प्राकृतसूत्रेणैवम् अपभ्रंशे ए- म्व इत्यादेशः । प्रा० । एवम् प्रकारेणेत्यर्थे, वाच० ।

एम्वइ–एवमेव– अव्य० ' पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युते तसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे, ८ । ४ । ४२० इति प्राकृतसूत्रे- णापभ्रंशे एवमेवेत्यस्य एम्वइ इत्यादेशः ।प्रा० । एवम्प्रकारे- णैवेत्यर्थे, वाच० ॥

एम्वहिं–इदानीम्– अव्य० पश्चादेवमेवेदानीम. ८ ।४ । ४२० इत्यादि प्राकृतसूत्रेणेदानीम. एम्वहिं इत्यादेशः । प्रा० । अधुनेत्यर्थे, वाच० ।

एरंड–एरण्ड–पुं० ईरयति वायु मलं वाऽध ईर् अण्डच् निपात- नात् गुणश्च । एरण्डाभिधाने वृक्षे, स्था० ४ ठा० तृणभेदे, प्रज्ञा०१ पद । "एरण्डेणेरण्डे एरण्डेन वा हिमिञ्छितेन चेति' बृ० ३ उ० । तथा चाचाराङ्गे द्रव्यसारमधिकृत्य "घणे एरण्डे वइरे" स्थूलानां मध्ये एरण्डो भेको वा प्रकर्षभूत इति, आचा०१श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रज्ञापनायामुत्कारिकाभेदमधिकृत्य ।'एरण्डबीयाण वा' प्रज्ञा०११ पद। एरण्ड इव एरण्ड । श्रुतादिभिर्हीने, स्था० ४ ठा०। विप्प- ल्या स्त्री० टाप् गौ० ङीष् वा । वाच० ।

एरंडइय–एरण्डकित– त्रि० हमक्कयिते,–"एरंडए साणे एरंडइ- यसाणेति हमक्कयित" इति। बृह० १ उ० ।

एरंडपरियाय-एरण्डपर्याय- पुं० एरण्डस्येव पर्यायो धर्मो अवष्टम्भच्छायत्वलक्षणत्वादयो यस्य स एरण्डपर्यायः । अव-ष्टम्भच्छायत्वाद्येरण्डोपमे पुरुषे, स्था० ४ ठा० ।

एरंडपरिवार-एरण्डपरिवार- पुं० एरण्डकल्पनिर्गुणपरिवारे एरण्डोपमे पुरुषे, एरण्डपरिवार' एरण्डकल्पनिर्गुण-[illegible] [illegible]ति । स्था० ४ ठा० ।

एरंडमज्झयार-एरण्डमध्याकार- त्रि० एरण्डमध्यवन्निर्गुणे, "एरंडमज्झयारे एरंडेण समेइ [illegible]" स्था० ४ ठा० ।

एरंडमिंजिया-एरण्डमिञ्जिका- स्त्री० एरण्डफले, (एरंडमि-ञ्जियाइ वा) एरण्डमिञ्जिका एरण्डफलमिति । भ० ७ श० १ उ० ।

एरंडसगडिया-एरण्डशकटिका- स्त्री० एरण्डकाष्ठमय्यां शक-टिकायाम्, श० १ श० ।

एरण्णवय-एरण्यवत- पुं० हिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये जम्बूद्वीपस्य उत्तरतः स्थिते वर्षभेदे, स्था० २ ठा० । तत्र [illegible] [illegible] [illegible] इति तत्र जात [illegible] इति [illegible] इति तत्र जात [illegible] इति [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] च । अनु० [illegible]" स्था० २ ठा० ।

एरवई-ऐरावती- स्त्री० स्वनामख्याते नदीभेदे, "[illegible] पुण एवं आणिज्जा एरवई कुणालाए । [illegible] [illegible] किच्चा एवं पाय [illegible] किच्चा " ऐरावती नामनदी कुणालाया नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेधेन वहति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] ४ उ० । ([illegible] [illegible] [illegible])

एरवय-ऐरवत- न० जम्बूद्वीपस्य उत्तरे वर्षभेदे, समव० । प्रज्ञा० । स्था० । जं० । जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे भागे भरतमहाहिमवतोरन्तरे [illegible] भागे ऐरवतं [illegible] वर्तते इति । स्था० २ ठा० । स्वनामख्याते दीर्घवैताढ्यपर्वते, पुं० । स्था० १० ठा० । [illegible] जात ऐरवतो [illegible] [illegible] इति [illegible] जात "[illegible]" इति [illegible] ऐरवत [illegible], [illegible] च । अनु० " [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]" [illegible] [illegible] ।

एरवयकूड-ऐरवतकूट- न० जम्बूमन्दरोत्तरस्य शिखरिवर्षधरपर्वतस्थे कूटभेदे, स्था० १० ठा० शिखरिवर्षधरपर्वतस्थे कूटभेदे, स्था० ७ ठा० ।

एरावई-ऐरावती- स्त्री० जम्बूमन्दरदक्षिणेन सिन्धु महानदीं समाप्नुवत्यां स्वनामख्यातायां महानद्याम्, स्था० ५ ठा० पञ्चालदेशमध्ये नदीभेदे, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मनुष्यं [illegible] च [illegible] मेघ, तत्र [illegible] विद्युति, ऐरावतस्त्रीपाद्या च मेदि० । वाच० ।

एरावण-ऐरावण- पुं० इरा सुरा जलमुत्कं यत्र तत्र भव अण-पूर्वपदादिति णत्वम् । इन्द्रगजे ऐरावते, वाच० । उपा० । कल्प० । जी० । " सक्को य देवराया एरावणं विलग्गो" आ० म० द्वि० । आव० । तत्र शक्रस्य देवेन्द्रस्य कुञ्जरानीकाधिपतिः " एरा-वणे हत्थिराया कुंजराणीयाहिवई " स्था० ५ ठा० । "हत्थीसु एरावणमाहु णाए" हस्तिषु करिवरेषु मध्ये यथा ऐरावत शक्र-वाहन ज्ञात प्रसिद्ध दृष्टान्तभूत वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञा इति सूत्र० १ श्रु० ५ अ० अत्रार्थे ऐरावणशब्दे ऐरावत शब्दश्च तत्रैरावणशब्दस्य प्राकृते एरावण इति ऐरावतशब्दस्य एरावय इति कथमेरावणो ? ऐरावणशब्दस्य एरावओ इति तु ऐरावतस्येति । प्रा० । गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । ऐरावतह्रदवासिनि स्वनामख्याते देवे च, जी० ३ प्रति० ।

एरावणदह-ऐरावतह्रद- पुं० जम्बूमन्दरोत्तरस्य उत्तरकुरुस्थिते महाह्रदे, स्था० ५ ठा० (ऐरावतह्रदवक्तव्यता उत्तरकु-रुशब्दे उक्ता)

एरावणवाहण-ऐरावणवाहन- पुं० ऐरावणो हस्ती स वाहन यस्य स तथा शक्रे, "एरावणवाहणे सुरिंदे" उपा० ७ अ० कल्प० । ऐरावणनाम्नो गजपतेस्तद्वाहनस्य सत्त्वादिति, जी० ३ प्रति० ।

एरावय-ऐरावत- त्रि० लकुचद्रुमे, । मेदि० । पक्वफलामात्रा-[illegible] [illegible] [illegible], प्रथमे भेदे, पुं० ऋजु-दीर्घे [illegible] मेदि० । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] । ऐरावतह्रदवासिनि स्वना-मख्याते देवे च, जी० ३ प्रति० ।

एरि [लि] क्ख-ईदृक्ष- त्रि० अयमिव पश्यति दृश अ[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] दीर्घ ॥ पाणि० ॥ [illegible] ८ । १ । [illegible] इति सूत्रेण [illegible] [illegible] । "[illegible] [illegible]" ८ । २ । [illegible] इति प्राकृतसूत्रेण एत्वम् प्रा० । [illegible] [illegible], [illegible] '[illegible]' [illegible] [illegible] " आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "[illegible] [illegible] [illegible] " आ० म० द्वि० " [illegible] [illegible] " [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । सं० । " [illegible] [illegible] [illegible] " [illegible] [illegible] सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

एलकक्ख-[च्छ] एलकाक्ष- न० पुरभेदे, " [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] आव० ४ अ० । ([illegible] [illegible] [illegible])

[illegible] ॥

[illegible]-[illegible] ॥

[illegible] पूर्व-[illegible] ॥१०॥

[illegible] [illegible] नित्य, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

उपाहसत्पतिस्तस्या , सायं भुक्तः परोऽपि किम् ॥११॥
निश्चयात्सोऽपि भुक्त्वेह, प्रत्याख्याम्यहमभ्यत. ।
भक्षयसि त्वं तयेत्यूचे, न भक्ष्यामीति सोऽवदत् ॥१२॥
देवताऽचिन्तयच्छ्राद्धा-मसावुपहसत्यदः ।
निशीथे स्वसृरूपेणा-भ्यागाद्दाय लाभनम् ॥ १३ ॥
खादन्निषिद्धः पत्न्योचे, किं मेतद्वालजालकैः ।
देवता त प्रहृत्याथ-द्दगोलौ च व्यपातयत् ॥ १४ ॥
मा भून्ममायशः श्राद्धा, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता ।
देवता स्माह तां श्राद्धा-प्युवाचैवं ममायशः ॥ १५ ॥
साथानीयादधौ सद्यो, मारितैडकस्य चक्षुषी ।
एडकाक्ष्यस्ततः ख्यातः, स श्राद्धः प्रत्ययादभूत् ॥ १६ ॥
लोकः समेति तं द्रष्टु-मेडकाक्षं कुतूहलात् ।
एडकाक्षं पुरमपि-तन्नाम्ना तदभूत्तत ॥ १७ ॥

एलग (य) एमक-पुं० स्त्री-इल-एवुल्-डस्य लः चतुष्पदस्थ-लचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । एलकागड्डरिका इति । प्रव० ४ द्वा० । एडकोऽजविशेष इति-प्रव० ७४ द्वा० । प्रज्ञा० । एडका उरभ्रा इति । जं०२ वक्ष० । उपा० । स्था० । उष्णकप्पा सा उवा उष्णति एलगाकारणं गडुरा उप्पति । नि. चू० ३ उ० । वनच्छागे, पृथुशृङ्गे मेषे, मेषमात्रे च दश० ५अ० ।

एलमूग-एलकमूक-पुं० मूकभेदे, यथैलक इवाव्यक्तं मूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलकमूक इति । ध० ३ अधि० ।

एलमूग-एड [ल] मूक-त्रि० श्रुतिरहित एडो बधिरस्तथैव मूकः वाक्श्रुतिशक्तिरहिते, वाच० । एलवन्मूक एलमूकः सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अजाभाषानुकारिणि मूकभेदे, दश० ५ अ० । सो एलगो जहा पुण बुब्बुअइ एलमूओ उ । आव० ४ अ० । एलमूगो भासइ एलगो जहा बुडबुडति जहा पुण बुब्बुअई एलमूगो भासइ अतरे अतरे खलनीति । नि० चू०११ उ० । "ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए " तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्विषिकबहुलास्तत्कर्मशेषैरेलवन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते किल्विषिकस्थानाच्युतः सन्ननन्तरमेव वा मानुषत्वमवाप्य यथैलमूकोऽव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । एडमूकत्वकारणम् मृषावादेन किल्विषिकत्वप्राप्तिमभिधाय यथा ।

तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्भई एलमूयगं ।
नरगतिरिक्खजोणिं व, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४७ ॥

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकतामजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारपर्येण लप्स्यते बोधिर्यत्र सुदुर्लभः सकलसम्पन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भावप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थः ॥ दश० ५ अ० ॥

एला-एला—स्त्री० इल्-अच्-स्वनामख्याते वल्ल्यात्मके वनस्पति भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

एलावच्च-ऐलापत्य-पुं० इलापनेरपत्यमैलापत्यः पत्युत्तरपदयमादितो ण्योऽपवादे वाभ्वे इति ण्यप्रत्ययः । नं० । मण्डवस्य मूलगोत्रस्य सप्तसु गोत्रभेदेष्वन्यतमे गोत्रे, स्था० ७ ठा० । थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्ज महागिरि एलावच्चसगोत्ते" कल्प० । "एलावच्चसगोत्तं वंदामि महागिरिं सुयरिंथ च " नं० (एलावच्चेत्यादि) इह यः स्वापत्यसंतानस्य स्वव्यपदेशकारणमाद्यः प्रकाशकः पुरुषः तदपत्यसन्तानो गोत्रमित्युच्यते अपत्यमैलापत्यः पत्युत्तरपदयमादित्यो तो ण्योऽपवादे वाभ्वे इति ण्यप्रत्ययः । एलापत्येन सह गोत्रेण वर्त्तते यः स एलापत्यसगोत्रस्तं वन्दे महागिरिम् । पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु स्वनामख्यातायां तृतीयस्यां रात्रौ, ज्यो० चन्द० १५ पाहु० ।

एलासाढ-एलाषाढ-पुं० अवन्त्यां जिनोद्यानसमागतानां धूर्तानामधिपे स्वनामख्याते धूर्ते, ग०२ अधि० । "एलासाढेण भणियं अहं मेकहयामि" नि० चू०१ उ० ।

एलुग-एलुक-न० इल० उक् गन्धद्रव्यभेदे, भद्रादावेलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च, सुश्रु० वाच० । देहल्याम् , पुं० जी० ३ प्रति० । ध्य० । " हंसगब्भमये एलुगे " हंसगर्भो रत्नविशेषस्तन्मय एलुको देहलीति । जी०३ प्रति० । " गिहेलुगसि वा गिहेलुक उंबर इति " आचा० २ श्रु० ॥

साधुना चैलुकात्परतो न प्रवेष्टव्यम् तथा चाह ।

णो से कप्पति अंतो एलुएस्स दो वि पाए साहट्टु दलयमाणीए पडिग्गाहित्तए अहं पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयविक्खंभइत्ता पयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा ॥

सांप्रतमेलुगविक्खमणे दोसा इत्यस्य व्याख्यामाह ।

गच्छगयनिग्गए वा, लहुगा गुरुगा य एलुगा परतो ।
आणादिणो य दोसा, दुविहा य विराहणा इणमो ॥

एलुकात् परतः साधुरतिगच्छति उपलक्षणमेतत् । यदि साधुरेलुकं विष्कम्भयति आसन्ने वा प्रदेशे एलुकस्य तिष्ठति तदा गतस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः गच्छनिर्गतस्य चत्वारो गुरुकाः । तथा आज्ञादय आज्ञाभङ्गादयो दोषाः । द्विविधा च विराधना आत्मविराधना संयमविराधना च । इयं वक्ष्यमाणा तामेवाह ।

संकगहणे इच्छा, दुन्निविट्ठा अवाउडा ।
निहरणक्खणणं विरेगो, णो अ विदित पाहुडए ॥
बंधवह उद्दवणे य, खिंसण असीयावणे चेव ।
उव्वेयगकुरुडिय, दीणे अ विदिण्णवज्जणया ॥

एलुकात्परतो यदि गच्छति तदा स्तैन्ये मैथुने वा लोकस्य शङ्का स्यात्तदनन्तरं च ग्रहणं तथा यस्या गृहमभ्यन्तरं प्रविष्टस्तस्या विषयेऽस्य साधोः किं तु येन इच्छा येनाभ्यन्तरं गत इति लोकस्य शङ्का स्यात्तथा दुर्निविष्टा अप्रावृता वा मध्ये अगारी स्यात्लज्जा स्यात् दोषाश्चान्ये शङ्कादयः तथा मध्ये गृहस्वामी हिरण्यादेर्निधानं करोति खननं वा परस्परं विरेचनं तत्र स्तेनोऽयमिति शङ्कास्यात्तथा अतिभूमिप्रवेशनं तीर्थकृद्भिर्गृहस्थैश्चाविदितीमननुज्ञातं ततोऽदत्तादानदोषः तस्मात्कस्मादतिभूमिमेष प्रविष्ट इति गृहस्थः प्रान्तनमधिकरणं कुर्यात्तथा बन्धं निगडादिभिः तामननमपद्रावणं जीविताद्व्यपरोपणं तथा खिंसना हीलना यथैते वराकाः अलभमाना अतः प्रविशन्ति (असिआवणाचेयत्ति) 'आसीआवणा' नाम निष्काशयितुमासादनं किमुक्तं भवति गले गृहीत्वा बहिर्वने निक्षिपति तथा भ्रमती धिग् इव प्रविष्टस्तासामगारीणामुद्वेजको भवति । तथा कुरुपिकतो नाम उपचारक इत्युच्यते तं शङ्कमाना गृहिणो वधबन्ध-

मादीनि कुर्युरेते कारणैरपितीर्थस्यातिभूमिप्रवेशनस्य वर्जना एव द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेतमेव विवरीषुः प्रथमतः शङ्काद्वारमाह ॥

पच्छित्ते आदेसा, संकियनिस्संकिए य गहणादी ।
तेऽणं व चउत्थे, संकियगुरुगा निस्संकिए मूलं ॥

एलुकात्परतः प्रवेशे स्तैन्यविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा शङ्का स्यात् तस्यां च शङ्कायां सत्यां निःशङ्किते च जनस्य जाते प्रायश्चित्तविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा आदेशौ प्रकारौ । तावेव च दर्शयति । शङ्किते चत्वारो गुरुका निःशङ्किते मूलमिति । तथा ग्रहणादयश्च शङ्कायां दोषास्तानेव कथयति ॥

गेण्हण कड्डण ववहार, पच्छकडुड्डाह तह य निव्विसए ।
किं उ हु इमस्स इच्छा, अब्भंतरमइगतो जाए ॥

ग्रहणं स्तेन परदारको वेति बुद्ध्या प्रतिग्रहणं ततो राजकुलं प्रति कर्षणं तदनन्तरं राजकुले व्यवहरणं तत्र पश्चात्कृतकरणं मठमोचनमित्यर्थः । एवं च सति महाप्रवचनस्योड्डाहः । तथा निर्विषय आज्ञाऽप्येतद्द्वारगाथायां तु ग्रहणे इति कर्षणादीनामुपलक्षणं गतं ग्रहणद्वारम् । इच्छाद्वारमाह किं तु इति वितर्के कुरिति निश्चितं यस्या गृहमन्तरमतिगतस्तस्या विषये अस्य साधोरिच्छा येनायमभ्यन्तरं सहसा प्रविष्ट इति । अधुना दुर्निविष्टा अप्रावृतेति पदद्वयं व्याख्यानयति । मध्ये आगारी दुर्निविष्टा वा भवेत् अप्रावृता वा तत्र सहसा साधोरभ्यन्तरप्रवेशे साऽपि लज्जिता भवेत् शङ्का वा तस्याः समुत्पद्येत्तामेवाह ॥

किं मन्ने घेत्तुकामो, एस मम जेण तेत्तिए दूर ।
अन्नो वा संकेज्जा, गुरुगा मूलं तु निस्संके ॥
आउत्थपरा वा वि, उभयसमुत्था व होज्ज दोसाओ ।
उक्खणनिहणविरेगं, तत्थ किंची करेज्जाहि ॥

किं मन्ये एष संयतो मां ग्रहीतुकामो येन एतद् दूरमागच्छति । अन्यो वा एवं शङ्केत तत्र शङ्कायां सत्यां तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका निःशङ्किते तस्य वा जाते मूलं प्रायश्चित्तम् आत्मोत्थ परस्मात् उभयसमुत्था दोषा भवेयुः 'सम्प्रति निहणुक्खणणेत्यादि' व्याख्यानयति (उक्खणणेत्यादि) तत्र गृहस्थो गृहमध्ये हिरण्यादेरुत्खननं वा कुर्यात् निधानं परस्परं विवेकं वा विरेचनं किंचित्कुर्यात्तत्र किमित्याह ॥

दिट्ठं एएण इमं, साहेज्जा मा उ एस अन्नेसिं ।
तेणोत्ति व एसो उ, संका गहणादि कुज्जाए ॥

दृष्टमेतेन साधुना इदं हिरण्यादि उत्खन्यमानादिकं ततो मा एष अन्येषां कथयेद् यदि वा एष स्तेन इति शङ्कायां ग्रहणादिग्रहणवधबन्धादि कुर्यात् । साम्प्रतमवितीर्णपदव्याख्यानार्थमाह ॥

तित्थगरगिहत्थेहिं, विअतिभूमिपविसए पदिसं ।
कीसे दूरमतिगतो, असंखमं बधवहमादी ॥

तीर्थकरेण गृहस्थेन चान्याभ्यतिभूमिप्रवेशमदत्तं तीर्थकरेणादत्तमतिभूमिं न गच्छेज्जा इत्यादिवचनात् गृहस्थेनात्मीकरणात् प्राभृतादिद्वारकलापमाह कस्मादेतद्दूरमयमागत इति गृहस्थोऽसक्षमं कलहं कुर्याद्वतिरोपाद्बन्धवधादिकम् ।

सम्प्रति खिंसाद्वारमाह ।

खिंसेज्ज व जह एए, अलभंत वरागअंते पविसंति ।
गलए घेत्तूण वणम्मि, निच्छुभेज्जाहि बाहिरतो ॥

खिंसेत् हीलयेत् गृहस्थो यथा एते वराका अलभमाना मध्ये प्रविशन्ति । आसियावणद्वारमाह गलके गृहीत्वा बहिर्वने निक्षिपेत् ।

उद्वेजकद्वारमाह ॥

ता जय आगारीतो, वीरल्लेणेव तासिया सउणी ।
उव्वेगं गच्छेज्जा, कुरुंडितो नाम उवत्तरओ ॥

यथा वीरल्लेण त्रासिता शकुनिका उद्वेगं गच्छन्ति तथा ता अप्यार्याः सहसान्तः प्रविष्टेन साधुना त्रासिताः सत्य उद्वेगं गच्छेयुः । कुरुण्डितद्वारमाह । कुरुण्डितो नाम उपचारकस्तदाशङ्कया वधबन्धनादि कुर्यात् ।

अहवा भणेज्ज एते, गिहिवासम्मि वि अदिट्ठकल्लाणा ।
दीणा अदिण्णदाणा, दोसा ते णाउ नो पविसे ॥

अथवा ब्रूयात् गृहवासेऽप्येते अदृष्टकल्याणा दीना अदत्तदाना आसीरन् तेन मध्ये प्रविशन्ति । उपसद्वारमाह । एतान् दोषान् ज्ञात्वा नो मध्ये प्रविशेत् । अत्र चोदकः प्राह । यदि एलुकविष्कम्भे एते दोषा अन्तः प्रविष्टे सविशेषास्तत एलुकविष्कम्भसूत्रमफलं स्यात्तत आह ।

उस्सरविक्खंभमावि जाति, दोसा अतिगयम्मि सविसेसा ।
तह वि अफलं न सुत्तं, सुत्तनिवातो इमो जम्हा ॥

यद्यपि उरस्थविष्कम्भे दोषा अतिगते मध्यप्रवेशे सविशेषास्तथापि सूत्रमफलं न भवति । यस्मादयं सूत्रनिपातः सूत्रविषयस्तमेव दर्शयति ।

उज्जाणघडासत्थे, सेणासंवट्टवयपवादी वा ।
बहिनिग्गमणा जत्थे, भुंजइ वजत्थ हि पहियवग्गो ॥

औद्यानिक्यां निर्गतो यत् उद्याने भुङ्क्ते घटाभोज्यं नाम महत्तरा तु महत्तरादिबहिर्गाथासितः सार्थो वणिक्सार्थः । सेना स्कन्धावारः संवर्तो नाम यत्र विषमादौ भयेनालोकः सवर्णीभूतस्तिष्ठति व्रजिका गोकुलं प्रपा पानीयशाला सभा ग्रामजनसमवायस्थानमेतेषु स्थानेषु ये भुञ्जते जनास्तथा बहिर्निर्गमने यत्रपाटचा यत्र वा पथिकवर्गो भुङ्क्ते एतेषु स्थानेषु प्रतिमाप्रतिपन्नो हिण्डते न विधिना ग्रहीतव्यम् ।

पासट्ठितो एलुगम—त्तमेव पासति न वेयरे दोसा ।
निक्खमणपवेसणे वि य, अप्पडियादी जे एव ॥

तत्र गत्वा निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा ईषदेकपार्श्वे तिष्ठति यथा एलुकमात्रं पश्यति नोत्क्षेपनिक्षेपविरेचनानि ततो वधबन्धादयः प्रागुक्तदोषाः परिहृता भवन्ति । तथा निष्क्रमणे प्रवेशे च य अप्रतीत्यादयो दोषास्तेऽप्येवं परित्यक्ताः ।

उज्जाणघमाईणं, असतीप्पेसट्ठितो अ गंभीरे ।
निक्कमणपवेसे मो—त्तूण एलुगविक्खंभमेतम्मि ॥

औद्यानिकी घटादीनामसत्यभावे य शालायाः प्रमुखे कोष्ठको विशालो यत्र दूरस्थितैरपि एलुक उत्क्षेपनिक्षेपौ च दृश्येते मण्डपे वा यत्र परिवेषणं रसवत्यां वा महानसे गम्भीरेऽतिप्रकाशे तत्रापि निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा यत्र उत्क्षेपनिक्षेपौ न दृश्येते एलुकविष्कम्भमात्रे क्षेत्रे एकपार्श्वे स्थित्वा भिक्षामादत्ते एष एलुकसूत्रस्य विषयः । व्य० १० उ० ।

एलुगविक्खंभ—एलुकविष्कम्भ— पु० उदुम्बरस्याऽऽक्रमणे, बृ० १ उ० ।

एव–एव–अव्य० इण्–वन्–सादृश्ये, अनियोगे, चानियोगे, विनिग्रहे, परिभवे, ईषदर्थे च । वाक्यभूषणे, वाच० । एवेति गाथालङ्कारमात्र इति विशे० । अवधारणे, दर्श० । पंचा० । दशा० । "अबंभपरिग्गहे चेव" एवशब्दोऽवधारणे इति प्रश्न० १ द्वा० । "यामिमं चेव आहडं" "दुक्खमेव विजाणिया" एवकारोऽवधारण इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । विशेष्यसङ्गतोऽन्ययोगव्यवच्छेदे, । यथा पार्थ एव धनुर्द्धर इत्यादौ पार्थान्यपदार्थे प्रशस्तधनुर्द्धरत्वम् व्यवच्छिद्यते । विशेषणसंगतः अयोगव्यवच्छेदे, यथा शङ्खः पाण्डुर एवेत्यादौ शङ्खे पाण्डुरत्वायोगो व्यवच्छिद्यते । क्रियासंगतः अत्यन्तायोगव्यवच्छेदे, यथा नील सरोजं भवत्येवेत्यादौ सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते । वाच० ।

एव–(वं) एवम्–अव्य० इण् वा बमु–"मांसादेर्वा ८।१।२६। इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य वा लुक् । प्रा० । उपप्रदर्शने, "एवमेयाणि जपंता" एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने इति । "एवमेगेणियायट्ठी" एवमिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० "एव आ त्रली कारिंति" इहैव शब्दः पूर्वोक्ताभिलापससूचनार्थे इति । भ०१श०१उ० "एव सेहे वि अपुट्ठे" एवमिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थ इति सूत्र० १ श्रु० २ अ० । प्रकारे, एव शब्दः प्रकारवचन इति । आ० म० द्वि० । प्रश्न० । व्य० । दर्श० । प० व० । दर्श० । एवमिति प्रकृतपरामर्शप्रकारेवार्थोपदेशनिर्देशनिश्चयाङ्गीकारवाक्यार्थेषु, समुच्चयार्थे, समन्वये, परकृतौ, प्रश्ने च । मेदि० । वाच० । अपरिमाणे, पृथग्भावे, एकत्वे, अवधारणे च । तथा च व्यवहारकल्पे "अपरीमाणे– पिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे । एवसद्दो उ एएसिं" इति । एव शब्दोऽपरिमाणे पृथग्भावे एकत्वे अवधारणे तत्रापरिमाणे यथा एवमन्येऽपीत्यादौ पृथग्भावे यथा घटात्पटः पृथक् । एवमाकाशास्तिकायवत् धर्म्मास्तिकायोऽपीति । एकत्वे यथाऽयमेतद्गुण एवमेषोऽपि । अत्र ह्येवशब्दस्तयोरेकरूपतामभिद्योतयति अवधारणे यथा केनापि पृष्टमिदमित्थं भवति । इतरः प्राह एव ! इत्थमेवेति भावः । एवमेवशब्द एतेष्वर्थेषु वर्त्तते इति । व्य० ४ उ० ।

एवइय–एतावत्–त्रि० एतत्परिमाणे, वाच० । "एवइयं वा एवखुत्तो वा एवइयंति" तां विकृतिमेतावतीमिति । कल्प० ।

एवंकरण–एवंकरण–न० एवम्प्रकारेण करणे, "एवं करणया एसिकट्टु" भ० ३ श० १ उ० ।

एवंभूय–एवंभूत पु० सप्तमे नयभेदे, तत्स्वरूपं यथा ।

वंजणअत्थतदुभयं–एवंभूओ विसेसेइ ॥

(वजण अत्थे इत्यादि) यत्क्रियाविशिष्टशब्देनोच्यते तामेव क्रियां कुर्वद्वस्त्वेवंभूतमुच्यते एवं शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिकः प्रकारस्तमेवभूत प्राप्तमिति कृत्वा ततश्चैवंभूतवस्तुप्रतिपादको नयोऽप्युपचारादेवंभूत । अथवा एव शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिकः प्रकारस्तद्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽभ्युपगमात्तमेवंभूतः प्राप्त एवंभूत इत्युपचारमन्तरेणापि व्याख्यायते स एवंभूतो नयः । किमित्याह व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जन शब्दः अर्थस्तु तदभिधेयवस्तुरूप व्यञ्जन चार्थश्च व्यञ्जनार्थौ तौ च तौ तदुभय चेति समास । व्यञ्जनार्थशब्दयोर्व्यस्तनिर्देशः प्राकृतत्वाद्व्यञ्जनार्थं तदुभयं विशेषयति नैयत्येन स्थापयति । इदमत्र हृदय शब्दमर्थेनार्थं च शब्देन विशेषयति । यथा घट चेष्टायां घटते योषिन्मस्तकाद्यारूढश्चेष्टत इति घट इत्यत्र तदैवासौ घटो यदा योषिन्मस्तकाद्यारूढतया जलाहरणचेष्टावान्नान्यदा घटध्वनिरपि चेष्टां कुर्वत एव तस्य वाचको नान्यदेत्येव चेष्टावस्थातोऽन्यत्र घटस्य घटत्वं घटशब्देन निवर्त्यते घटध्वनेरपि तदवस्थातोऽन्यत्र घटेन स्ववाचकत्वं निवर्त्यत इति भाव इति गाथार्थ ॥ अनु० ।

एवं जह सद्दत्थो, संभूओ तह अन्नहाभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण ॥

एव यथा घटचेष्टायामित्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः (तहत्ति) तथैव वर्त्तते घटादिकोऽर्थे स एव सन् भूतो विद्यमानः (अन्नहाभूओत्ति) यस्त्वन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्त्तते स तत्त्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति किन्त्वेवंभूतोऽविद्यमान येनैवं मन्यते तेन कारणेन शब्दनयसमभिरूढनयाभ्यां सकाशादेवंभूतनयो विशेषणशब्दार्थतत्परः । अयं हि योषिन्मस्तकारूढ जलाहरणक्रियानिमित्त घटमानमेव चेष्टमानमेव घट मन्यते न तु गृहकोणादिव्यवस्थितम । अत्रचेष्टनादित्येवं विशेषत शब्दार्थतत्परोऽयमिति "वंजणमत्थतदुभयं एवंभूओ विसेसेइ इति" निर्युक्तिगाथादलं व्याचिख्यासुराह ॥

वंजणमत्थे णत्थं, व वंजणेणोभयं विसेसेइ ।
जह घडसद्दं चेट्ठा–व या तहा तं पि तेणेव ॥

व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जन वाचकशब्दो घटादिस्तं चेष्टावता एतद्वाच्येनार्थेन विशिनष्टि स एव घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति नान्य इत्येव शब्दमर्थेन नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थः ।; तथाऽर्थमप्युक्तलक्षणमभिहितरूपेण व्यञ्जनेन विशेषयति चेष्टाऽपि सैव या घटशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा योषिन्मस्तकारूढस्य घटस्य जलाहरणादिक्रियारूपा न तु स्थानभरणादिक्रियात्मिका इत्येवमर्थं शब्देन नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थ । इत्येवमुभयं विशेषयति । शब्दमर्थेनार्थं नैयत्यं स्थापयतीत्यर्थ । एतदेवाह (जहघडसद्दमित्यादि) इदमत्र हृदय यदा योषिन्मस्तकारूढचेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटलक्षणोऽर्थ स च तद्वाचको घटशब्दः अन्यदा तु वस्त्वन्तरस्यैव तच्चेष्टाभावादघटत्वं घटध्वनेश्चावाचकत्वमित्येवमुभयविशेषक एवं भूतनयमिति ॥

एतदेव प्रमाणतः समर्थयन्नाह ॥

सद्दवसादभिधेयं, तप्पच्चइ वप्प इव कुंभो व्व ।
संसयविवज्जएग–त्तसंकराइप्पसंगाओ ॥

यथा अभिधायकः शब्दस्तथैवाभिधेयं प्रतिपत्तव्यमिति प्रतिज्ञा तत्प्रत्ययत्वात्तथाभूत एवार्थस्तः प्रत्ययसम्भूतेरिति हेतु प्रदीपवत्कुम्भवद्वेति दृष्टान्तः । विपर्यये बाधकमाह (ससयेत्यादि) इदमुक्तं भवति प्रदीपशब्देन प्रकाशवानेवार्थोऽभिधीयते अन्यथा सशयादयः प्रसज्जेरस्तथा हि यदि दीपनक्रियाविकलोऽपि दीपस्तर्हि दीपशब्दे समुच्चरिते किमनेन प्रदीपेन प्रकाशवानर्थोऽभिहितः किं वा प्रकाशकोऽप्यन्धोपलादिरिति सशय अन्धोपलादिरेवानेनाभिहितो न दीप इति विपर्ययः । तथा दीप इत्युक्तेऽप्यन्धोपलादौ चोक्ते दीपे प्रत्ययात्पदार्थानामेकत्वं साङ्कर्यं वा स्यात्तस्माच्छब्दवशादेवाभिधेयमभिधेयवशाच्च शब्द इति । विशे० । (समभिरूढनयादिवक्तव्यता नयशब्दे) शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव तद्वस्त्वितिभूत । एवंभूत प्राह यथा संज्ञाभेदाद्भेदवद्वस्तु तथा क्रियाभेदाद–

सा च क्रियां तद्वेशी यदैव तामाविशति तदैतन्निमित्तं तत्तद्व्यपदेशमासादयति नान्यदेत्यतिप्रसङ्गात् । तथाहि यदा घटते तदैवासौ घटो न पुनर्घटितवान् घटिष्यते वा घट इति व्यपदेष्टुं युक्तः सर्ववस्तूनां घटतापत्तिप्रसङ्गादपि च चेष्टासमये एव चक्षुरादिव्यापारसमुद्भूतशब्दानुविद्धप्रत्ययमास्कन्दति चेष्टावन्तः पदार्था यथाऽवस्थितार्थप्रतिभास एव च वस्तूनां व्यवस्थापको नान्यथाभूतोऽन्यथा चेष्टावत्तया शब्दानुविद्धाध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासस्याभ्युपगमे तत्प्रत्ययस्य निर्विषयतया भ्रान्तस्यापि वस्तुव्यवस्थापकत्वे सर्वः प्रत्ययः सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थापकः स्यादित्यतिप्रसङ्गः तत्र घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटस्तद्व्यपदेशमासादयतीत्येव भूतनयमतमुक्तं च "एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते" इति (सम्म०) एवंभूतनयं प्रकाशयन्ति शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूत इति समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्तथा रूढेः सद्भावात् एवंभूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात् । गच्छतीति गौराशुगामित्वादश्व इति शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रिया शब्दा एव शुचिभवनात् शुक्लो नीलनान्नील इति देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रिया शब्दा एव देव एनं देयात् । यज्ञ एनं देयादिति । संयोगिद्रव्यशब्दा समवायिद्रव्यशब्दाश्चाभिमता क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी । विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्ति क्रियाप्रधानत्वात् पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते । उदाहरन्ति यथेन्दनमनुभवन्निन्द्र शकनक्रियापरिणतः शक्रः पुरदारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यत इति । रत्ना० ।

एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
रागचिह्नैर्यथा राजा, नान्यदा राजशब्दभाक् ॥३०॥

एवंभूतस्त्विति सर्वत्र व्यञ्जनं शब्दस्तेनार्थं विशेषयति यः स एवंभूतः "वजणअत्थतदुभयं एवंभूओ विसेसे" इति निर्युक्तिकारः व्यञ्जनार्थयोरेवंभूत इति तत्त्वार्थभाष्यं पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वमेवंभूतत्वमिति निष्कर्षः । नियमश्च कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरप्य चास्याभिमानः यदि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाभावात्कूटपदार्थोऽपि न घटपदार्थस्तदा जलाहरणादिक्रियाविरहकालेऽपि घटो न घटपदार्थः धात्वर्थविरहाविशेषादिति व्यञ्जनार्थविशेषकत्वमस्य यदुक्तं तदुदाहरति । चिह्नैश्छत्रचामरादिभिर्यथा राजन् शोभमानः सभायामुपविष्टो राजोच्यतेऽन्यदा छत्रचामरादिशोभाविरहकाले राजशब्दभाग् राजशब्दवाच्यो न भवति राजपदव्युत्पत्तिनिमित्ताभावादित्यर्थः । नन्वेतन्मते व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति केनचिद्रूपेण तदतिप्रशक्तवाच्यमन्यथा तु गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्त्या गच्छन्नश्वादिरपि गौः स्यात्तथा च छत्रचामरादिविरहकाले तत्प्रयुक्तराजताभावेऽप्यतिशायिपुण्यादिप्रयुक्तराजत्वस्यानतिप्रशक्तस्याव्याहतत्वात्कथं न राजशब्दवाच्यत्वमिति चेत्सत्यं प्रसिद्धार्थपुरस्कारेण प्रवृत्तस्यैवम्भूतनयस्य स्वार्थातिप्रसङ्गे न दूषणं किंतु तन्निवारकनयान्तरोपस्थापकत्वेन भूषणमेव । नयो० । सूत्र० । अष्ट० । स्या० । रत्नावतारिकायामेवम्भूताभासमाचक्षते क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपस्तु तदाभास इति क्रियाविष्टं वस्तुध्वनीनामभिधेयतया प्रतिजानानोऽपि यः परामर्शस्तदनाविष्टं न तेषां तथा प्रतिक्षिपति नत्वपेक्षातः स एवम्भूतनयाभासः प्रतीतिविघातात् उदाहरन्ति । यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्पटवादित्यादिरिति । अनेन हि वचसा क्रियानाविष्टस्य घटादेर्वस्तुनो घटादिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते स च प्रमाणबाधित इति तद्वचनमेवम्भूतनयाभासोदाहरणतयोक्तम् । स्या० । अस्य च मिथ्यादृष्टित्व एवमेवंभूताभिप्रायमुपवर्ण्योक्तम् सूत्रकृताङ्गे एवम्भूताभिप्रायस्त्वयं यदैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं चेष्टादिकं तस्मिन्घटादिके वस्तुनि तदैवासौ युवतिमस्तकारूढ उदकाद्याहरणक्रियाप्रवृत्तो घटो भवति न निर्व्यापार एव एवम्भूतः तस्यार्थस्य समाश्रयणादेवम्भूतोऽभिधानो नयो भवति तदयमप्यनन्तधर्माध्यासितस्य वस्तुनो नाश्रयणान्मिथ्यादृष्टिः । रत्नावल्यवयवे पद्मरागादौ । कृतरत्नावलीव्यपदेशपुरुषवदिति ॥ आ० चू० । आ० म० ॥

एवखुत्तो–एतावत्कृत्वस्– अव्य० एतावतो वारान् कृत्वेत्यर्थे, कल्प० ।

एवमु–इयत्– त्रि० वेदकिमोर्यादेः ८ । ४ । ८ । इति प्राकृतसूत्रेणेदमोऽत्वमियतो यकारादेरवयवस्य वा मित एवड्डु इत्यादेश प्रा० । एतावदर्थे, वाच० ।

एवमाइ–एवमादि– त्रि० एवम्प्रकारे, " एवमाइ करेइ एवमाइओवेयणा " आ एवम्प्रकारा वेदना इति (प्रश्न०) " एवमाईणि णामधेज्जाणि " एवमादीन्येवं प्रकाराणि उक्तस्वरूपाणीत्यर्थ इति । प्रश्न० अध० १ द्वा० ३ अ० ।

एस–एष्य–कर्मणि–ण्यत्–वाञ्छनीये भाविनि, "एसो न ताव जायइ" एष्यो भावी न तावज्जायते इति । आव.४अ. एष्यत्काले च । "जुत्त सपयमिस्स" युक्त साम्प्रतैष्यत्कालयोरिति । विशे० ।

एसंतभद्द–एष्यद्भद्र–त्रि०कल्याणानुबन्धिनि " एष्यद्भद्रां समाश्रित्य पुंसः प्रकृतिमीदृशीम् " एष्यद्भद्रामिति ईदृशीं सक्लेशायोगाविशिष्टामेष्यद्भद्रां कल्याणानुबन्धिनीं पुंसः प्रकृतिं समाश्रित्येति । द्वा० १४ द्वा० ।

एसकाल–एष्यत्काल–पुं० आगामिनि काले, "बारसएहिं एसकालो " द्वादशभिर्वर्षैरेष्यत्कालः परित्याज्य इति वर्तते । तत एवापायसंभवादिति । दश० १ अ० ।

एसज्ज–ऐश्वर्य–न० प्रभुत्वे, वाच० । "रिसभेण उ एसज्जं" एसज्जत्ति ऐश्वर्यमिति । स्था० ७ ठा० ।

एसण–एषण–न०ग्रहणे, " विय उस्सेसण चरे " एषणाय ग्रहणाय चरेदिति । गवेषणे, एसणंति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया ततश्चैषणाय गवेषणार्थं, चरेदिति । उत्त० २ अ० । एषते शत्रुहृदयम् ल्यु० लोहमयबाणे, पु० हलायुध ॥

एसणाघाय–एषणाघात– पुं० एषणाय घातः प्रेरणमेषणघातः एषणाप्रेरणे, "दुविहा विहारसोही, य एसणघातो य जायपरिहाणी " एषणाया घात प्रेरणमेषणघात स च स्यात्–तथाहि

भवत्युपधिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघातः तत एषणाप्रेरणे यत्प्रायश्चित्तं तदापद्यत इति व्य० १ उ० ।

एसणा-एषणा-स्त्री० इष इच्छायाम् णिच्-भावे-युच्-प्रेरणायाम्, पुत्रलोकवित्तकामनायाञ्च वाच०। अन्वेषणायाम्,'णो लोयस्से सणचरे' लोकस्य प्राणिगणस्यैषणाऽन्वेषणेति आचा०४ श्रु०१ अ०१ उ० प्राप्तौ, "मच्छेसण झियायंति" मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्तीति 'विसएसण ज्झियायति' विषयाणां शब्दादीनां प्राप्तिं ध्यायन्तीति च ।सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । प्रार्थनायाम्, "एवं कामेसण विन्नू" कामानां शब्दादीनां विषयाणां या गवेषणा प्रार्थना तस्यां कर्त्तव्यतायां विद्वान् निपुण इति सूत्र० १ श्रु०२ अ० । ' घायमेस्सति त तहा ' घात चान्तशस्तथा सन्मार्गविराधनतया उन्मार्गगमनं चैषन्त्यन्वेषयन्ति दु खमग्गे शतश' प्रार्थयन्तीति सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ' णिवायमेसति ' निवातमेषयन्ति घट्टशालाविवसतौ वातायनादिरहिता· प्रार्थयन्तीति । आचा०२ श्रु०९ अ०२ उ० वाचनायाम्, 'करेसु घासमेसेज्जा' ग्रस्यत इति ग्रास आहारस्तमेवभूतमन्वेषयेत् मृगयेत् याचेदित्यर्थ इति। सूत्र०१श्रु०१अ०। एषणमेषणा अशनादेर्ग्रहणकाले, शङ्कादिभिः प्रकारैरन्वेषणे, प्रश्न० ६७ द्वा० । उद्गमादिदोषविप्रमुक्ते भक्तपानादिगवेषणे, स्था० ६ ठा० । गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहणे, स्था० ३ ठा० । एष्यत इत्येषणा उत्त० १ अ० शुद्धाहारादौ, च (चरतमेसण) एषणायां चरन्त परिशुद्धाहारादिना वर्त्तमानमिति । आचा०२श्रु०।

(१) एषणाया भेदा ।
(२) पिण्डोपसंहार एषणाया अपक्षेपनिराकरणम् ।
(३) एषणानिक्षेपः ।
(४) एषणाया विस्तरतो भेदनिरूपणम् ।
(५) ग्रहणैषणादिनिक्षेपः ।
(६) एषणाया· शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वम् ।
(७) विस्तरेण ग्रासैषणानिक्षेपादिकम् ।
(८) एषणासमितेन अनेषणीयपरिहार ।
(९) पुराऽऽयातान्यभिक्षुकसद्भावे विधि ।
(१०) ग्रासैषणाविधि ।
(११) शतसहस्रगच्छे एषणादोषपरिहारप्रकार· ।
(१२) एषणादोषप्रायश्चित्तम् ।
(१३) पिण्डैषणापिण्डग्रहणप्रकारः ।
(१४) एषणायां कर्त्तव्यतानिरूपणम् ।

(१) एषणाया भेदा·—

सा च त्रिविधा गवेषणग्रहणग्रासैषणाभेदात् । स्था० ५ ठा० तथा च पिण्डनिर्युक्तेरादावियमधिकारसंग्रहगाथा ॥

पिंमुग्गमउप्पाय-णेसणासंजोयणापमाणं च ।
इंगालधूमकारण-अट्ठविहा पिंभनिज्जुत्ती ॥

एषणमेषणा सा वक्तव्या एषणाभिधा तद्यथा गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च । तत्र गवेषणे एषणा अभिलाषो गवेषणैषणा । एव ग्रहणैषणाग्रासैषणे अपि भावनीये । तत्र गवेषणैषणा उद्गमोत्पादनाविषयेति तद्ग्रहणेनैव गृहीता । ग्रासैषणा त्वन्यवद्वारविषया तत· संयोजनादिग्रहणेन सा ग्रहीष्यते तस्मादिह पारिशेष्यादेषणाशब्देन ग्रहणैषणा गृहीता द्रष्टव्या । ग्रहणैषणाग्रहणेन च ग्रहणैषणा गता दोषा वेदितव्यास्तथा विचक्षणास्ततोऽयं भावार्थ उत्पादनादोषाभिधानानन्तरं ग्रहणैषणा गता दोषा शङ्कितम्रक्षितादयोऽभिधातव्याः ।

(२) पिण्डस्योपसंहारमेषणागाथापक्षेपं चिकीर्षुरिदमाह ॥

संखेवपिंडियत्थो, एसो पिंडो मए समक्खाओ ।
फुडवियडपायडत्थं, वोच्छामी एसणं एत्तो ॥ ७२ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण संक्षेपपिण्डितार्थं संक्षेपेण समासेन सामान्यरूपतयेत्यर्थ· पिण्डित एकत्र मीलितस्तात्पर्यमात्रव्यवस्थितोऽर्थोऽभिधेयं यस्य स तथा रूपपिण्डो मया व्याख्यातः इत ऊर्ध्वमेषणामेषणाभिधायिकां गाथासन्ततिं स्फुटविकटप्रकटार्थां स्फुटो निर्मलो न तात्पर्यानवबोधेन कश्मलरूपो विकट सूक्ष्ममतिगम्यतया दुर्भेद· प्रकटस्तथाविधविशिष्टवचनरचनाविशेषतः सुखप्रतिपाद्या याऽक्षरा एष्वव्याख्यातेष्वपि प्राय· स्वयमेव परिस्फुरन्निव लक्ष्यते सप्रकट इति भावार्थ अर्थोऽभिधेय यस्या· स तथा तां वक्ष्ये तत्र तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति प्रथमत सुखावबोधार्थमेषणाया एकार्थिकान्यभिधित्सुराह ॥

एसणगवेसणमग्ग-णा य उग्गोवणा य बोधव्वा ॥
एए उ एसणाए, नामा एगट्ठिया होंति ॥

एषणा गवेषणा मार्गणा उद्गोपना । एतानि चशब्दादन्वेषणाप्रभृतीनि च एषणाया एकार्थिकानि नामानि भवन्ति । तत्र इषु इच्छायाम् एषणं एषणा इच्छा गवेषणमार्गणे गवेषणं गवेषणा मार्गणं मार्गणा उद्गोपनमुद्गोपना पिण्ड० ।

(३) एषणाया निक्षेपो यथा ॥

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य एसणा मुणेयव्वा ।
दव्वम्मि हिरण्णाई, गवेसणाभुंजणाभावे ॥ ६१२ ॥

नामस्थापने सुगमे द्रव्यविषयां यदा हिरण्यादिगवेषणां करोति कश्चिद्भावे भावविषया त्रिविधा गवेषणैषणा अन्वेषणैषणा ग्रहणैषणा पिण्डादीनामेषणा भुञ्जनैषणा चेति सा च गवेषणैषणा ओघ० । तथाच दशवैकालिके सुगमत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यैषणामाह ॥

दव्वेसणा उ तिविहा, सचित्ताचित्तमीसदव्वाणं ।
दुपयचउप्पयअपया, नरगयकरिसावणदुमाणं ॥ २ ॥

द्रव्यैषणा तु त्रिविधा भवति सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामेषणा द्रव्यैषणा । सचित्तानां द्विपदचतुष्पदापदानां यथासंख्यम् नरगजद्रुमाणामिति कार्षापणग्रहणादाचित्तद्रव्यैषणालङ्कृतद्विपदादिगोचरामिश्रद्रव्यैषणा च द्रष्टव्येति गाथार्थ· । भावैषणामाह

भावेसणा उ दुविहा, पसत्थअपसत्थगा य नायव्वा ।
नाणाईण पसत्था, अपसत्था कोहमाईणं ॥ ३॥

भावैषणा तु पुनर्द्विविधा प्रशस्ता अप्रशस्ता ज्ञातव्या । एतदेवाह ज्ञानादीनामेषणा प्रशस्ता अप्रशस्ता क्रोधादिनामेषणेति गाथार्थ । प्रकृतयोजनामाह ।

भावस्सुवगारित्ता, एत्थं दव्वेसणाए अहिगारो ।
तीई पुण अत्थजुत्ती, वत्तव्वा पिंडनिज्जुत्ती ॥ ४ ॥

भावस्य ज्ञानादेरुपकारित्वादत्र प्रक्रमे द्रव्यैषणयाधिकार· तस्या पुनर्द्रव्यैषणाया अर्थयुक्तिर्हेयेतररूपार्थयोजना वक्तव्या पिण्डनिर्युक्तिरिति गाथार्थ· दश० ५ अ० । तथा च विस्तरेणभेदानभिधित्सुराह ।

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य एसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे भावे एक्के-क्का उ तिविहा मुणेयव्वा ॥ ७४ ॥

एषणा चतुर्विधा ज्ञातव्या। तद्यथा नामैषणा स्थापनैषणा तथा द्रव्ये द्रव्यविषया एषणा भावे भावविषया च। तत्र नामैषणा एषणा इति नाम। यद्वा जीवस्याजीवस्य वा एषणा शब्दान्वर्थरहितस्य एषणा इति नाम क्रियते सा नामनामवतोरभेदोपचारात्। यद्वा नाम्ना एषणा नामैषणा इति व्युत्पत्तेर्नामैषणेत्यभिधीयते। स्थापनैषणा एषणावतः साध्वादेः स्थापना इह एषणा साध्वादेरभिन्ना ततः उपचारात्साध्वादिरेव एषणेत्यभिधीयते ततः स्थाप्यमानस्थापनैषणा, स्थाप्यते इति स्थापना स्थापना चासौ एषणा च स्थापनैषणा। द्रव्यैषणा द्विधा आगमतो नोआगमतश्च। तत्रागमत एषणाशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः "अनुपयोगो द्रव्यमिति" वचनात्। नोआगमतस्त्रिधा तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्यैषणा भव्यशरीरद्रव्यैषणा ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यैषणा च। यत्र एषणाशब्दार्थज्ञस्य यत् शरीरमपगतजीवितं सुसिद्धशिलातलादिगतं तत्र भूतभावनया ज्ञशरीरद्रव्यैषणा। यस्तु बालको नेदानीमेषणाशब्दार्थमवबुध्यते अथवा यत्नानेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण परिवर्द्धमानेन ज्ञास्यते स भाविभावकारणत्वाद्भव्यशरीरद्रव्यैषणा। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्यैषणा सचित्तादिद्रव्यविषया। भावैषणाऽपि द्विधा आगमतो नोआगमतश्च। तत आगमत एषणाशब्दार्थस्य परिज्ञाता तत्र च उपयुक्तः "उपयोगो भावनिक्षेप" इति वचनात् नोआगमतो गवेषणैषणादिभेदात्त्रिधा तत्र नामैषणा, स्थापनैषणा द्रव्यैषणा आगमतो नोआगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपां भावैषणां त्वागमतः सुज्ञानत्वादनादृत्य शेषां द्रव्यैषणां च व्याचिख्यासुरिदमाह (दव्वेत्यादि) द्रव्ये द्रव्यविषया भावे च भावविषया एकैका त्रिधा त्रिप्रकारा ज्ञातव्या। तत्र द्रव्यविषया त्रिधा सचित्तादिभेदात्। तद्यथा सचित्तद्रव्यविषया अचित्तद्रव्यविषया मिश्रद्रव्यविषया च। भावविषयाऽपि त्रिधा गवेषणादिभेदात् तद्यथा गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च। तत्र द्रव्यैषणाऽपि सचित्तद्रव्यविषया त्रिधा तद्यथा द्विपदविषया चतुष्पदविषया अपदविषया च। तत्र प्रथमतो द्विपदद्रव्यविषयान्वेषणामाह।

जम्मं एसइ एगो, सुयस्स अन्नो तमेसए नट्ठं ।
सत्तुं एसइ अन्नो, एसो अन्नो परो मच्चुं ॥ ७५ ॥

इह यद्यपि एषणादीनि चत्वारि नामानि प्राक् एकार्थिकान्युक्तानि तथाऽपि तेषां कथंचिदर्थभेदोऽप्यस्ति। तथा ह्येषणा इच्छामात्रमभिधीयते तच्च गवेषणादावपि विद्यते। अत एव गवेषणादय एषणाया पर्याया उक्ताः। गवेषणादीनां तु परस्परं नियतोऽप्यर्थभेदोऽस्ति तथाहि गवेषणमनुपलभ्यमानस्य पदार्थस्य सर्वतः परिभावनं मार्गणं निपुणबुद्ध्या अन्वेषणम्। उत्प्रेपणं विवक्षितस्य पदार्थस्य जनप्रकाशं चिकीर्षा ततः एतेषां क्रमेणोदाहरणान्याह एकः कोऽप्यनिर्दिष्टनामा देवदत्तादिकः संतत्यादिनिमित्तं सुतस्य जन्म उत्पत्तिमेषते इच्छति इदमेषणाया उदाहरणम्। अन्य पुनः कोऽपि यज्ञदत्तादिकः सुतं क्वापि नष्टमेषते गवेषयते गवेषणाया उदाहरणम्। अन्य कोऽपि विष्णुमित्रादिकः पदेन पदानुसारेण धूलीबहुलभूमिसमुत्थचरणप्रतिबिम्बानुसारेणेत्यर्थः शत्रुमेषते मृगयते इदं मार्गणाया उदाहरणम्। अन्य पुनस्तस्य शत्रोर्मृत्युं मरणमेषते उत्प्रेक्षते सर्वजनप्रकाशं मृत्युमभिधातुमभिलषतीत्यर्थः इदमुत्प्रेक्षणाया उदाहरणम्। तदेवमुक्ता सचित्तद्विपदद्रव्यविषया एषणा। सम्प्रति सचित्तचतुष्पदापदविषया मिश्रविषयामचित्तविषयां च प्रतिपादयति।

एमेव सेसएसु वि, चउप्पयापयअचित्तमीसेसु ।
जो जत्थ जुज्जए ए-सणा उ तं तत्थ जोएज्जा ॥७६॥

एवमेव द्विपदेष्वपि द्विपदेभ्यो व्यतिरिक्तेष्वपि चतुष्पदाऽपदाचित्तमिश्रेषु गवादिबीजपूरकादिद्रम्मादिकटककेयूराद्याभरणविभूषितसुतादिरूपेषु द्रव्येषु विषयेषु या यत्रैषणा इच्छा गवेषणा मार्गणादिरूपा युज्यते घटते तां तत्र पूर्वोक्तगाथानुसारेण योजयेत्। यथा कोऽपि दुग्धान्यवहाराय गामिच्छति। कोऽपि पुनस्तामेव क्वापि नष्टां गवेषयते अन्य पुनस्तामेव गां परस्कन्दिभिरपह्रियमाणां गवादिपदप्रतिबिम्बानुसारेण मृगयते कोऽपि पुनः स्वशौर्यप्रकटनाय जनप्रकाशं व्याघ्रमपगतासुं चिकीर्षति एवमपदादिष्वपि भावना कार्या। उक्ता द्रव्यैषणा।

साम्प्रतं भावैषणा त्रिप्रकारामभिधित्सुराह।

भावेसणा उ तिविहा, गवेसणगहणेसणा उ बोधव्वा ।
घासेसणा उ कमसो, पन्नत्ती वीयरागेहिं ॥

भावो ज्ञानादिरूपपरिणामविशेषः तद्विषया एषणा भावैषणा यथा ज्ञानदर्शनचारित्रमेकदेशेन समूलघातं व्याघातो न भवति तथा पिण्डादेरेषणमिति भावः। साऽपि त्रिधा त्रिप्रकारा क्रमशः क्रमेण प्रज्ञप्ता वीतरागैः केन क्रमेणेत्यत आह गवेसणेत्यादि पूर्वं गवेषणैषणा ततो ग्रहणैषणा ततो ग्रासैषणा।

कस्मात्पुनरित्थं गवेषणादीनां क्रम इत्याह।

अगविट्ठस्स उ गहणं, न होइ न य अगहियस्स परिभोगो।
एसणतिगस्स एसा, नायव्वा आणुपुव्वीउ ॥

इह न गवेषितस्यापरिभावितस्य पिण्डादेर्ग्रहणं नाप्यनागृहीतस्य परिभोगः ततः एषणात्रिकस्य एव पूर्वोक्ता आनुपूर्वीक्रमो ज्ञातव्यः। पिं०। (गवेषणानिक्षेपादि गवेसणा शब्दे)

(५) ग्रहणैषणादिभिक्षेपस्तत्र ग्रहणैषणामाह।

गहणेसणाइदोसे, आईपरसमुट्ठिए वोच्छं ।

ग्रहणैषणादोषास्त्वात्मपरसमुत्थितान् तानहं वक्ष्ये॥ तत्र ये आत्मसमुत्थास्तान् विभागतो दर्शयति।

दोन्नि य साहुसमुत्था, संकिय तह भावओ अपरिणयं च।
सेसा अट्ठ वि नियमा, गिहिणो य समुट्ठिए जाण ॥

द्वौ दोषौ साधुसमुत्थितौ तद्यथा शङ्कितं भावतोऽपरिणतं च। एतच्च द्वयमपि वक्ष्यमाणस्वरूपं शेषानष्टावपि दोषान् गृहिणः समुत्थितान् जानीहि। सम्प्रति ग्रहणैषणाया निक्षेपमाह।

नामं ठवणा दविए, भावे गहणेसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे वानरजूहं, भावम्मि य दसविहा होति ॥

तद्यथा नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा च। द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च। सा तत्र नामस्थापने ग्रहणैषणाऽपि यावद्भव्यशरीररूपा तावत् गवेषणावद्वक्तव्या। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तां तु द्रव्यग्रहणैषणामाह। द्रव्ये द्रव्यग्रहणैषणायामुदाहरणं वानरयूथम्। भावग्रहणैषणा द्विधा। तद्यथा आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो नोआगमतस्तु द्विधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च। तत्र प्रशस्ता सम्यग्ज्ञानादिविषया अप्रशस्ता शङ्कितादिदोषदुष्टभक्तपानादिविषया। सा त्र दश-

त्रिधा वक्ष्यमाणभेदैर्दशप्रकारा । पिं० । ओघनिर्युक्तौ तु ।

गहणेसणम्मि एत्तो, वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥९०॥

सुगमा तत्र यदुक्तमत ऊर्द्ध्वं ग्रहणैषणां वक्ष्यामि तत्प्रतिपादनायाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे गहणेसणा य बोधव्वा ।

दव्वे वानरजूहं, भावम्मि य ठाणमाईणि ॥ ९९ ॥

याऽसौ ग्रहणैषणा सा चतुर्विधा नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च ज्ञेया । नामग्रहणैषणा सुगमा । तत्र स्थापनाग्रहणैषणा द्विविधा सद्भावस्थापना ग्रहणैषणां कुर्वन् देशत असद्भावस्थापनाग्रहणैषणा अक्षादिषु तत्र द्रव्यैषणा आगमतो नो आगमतश्च । आगमतो ग्रहणैषणापदार्थज्ञ तत्र चाऽनुपयुक्त नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्ता तथा ज्ञशरीरे भव्यशरीरे ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तग्रहणैषणायां वानरयूथ भावग्रहणैषणायां तु स्थानादीनि भवन्ति । एतदुक्तं भवति भावग्रहणैषणां कुर्वन् स्थाने विवक्षिते तिष्ठति दातृप्रभृतीनि च परीक्षते भावग्रहणैषणायाम् । तत्र द्रव्यग्रहणैषणायामिदं व्याख्यानकम् " एगो ण तत्थ वानरजूहं परिभमइ काले ण य परिसाडियपंडुपत्तं जायं उण्हकाले य ताहे जूहवई भणइ अन्नं वणं गच्छामो तत्थ तेसिं जूहवई अन्नवणपरिक्खणत्थं दुन्नि व स तिन्नि व पंचे व सत्त पयट्टावच्चइ वणंतरे जोएह ताहे गया एगं वणसंडं पासंति पत्तरफलपुप्फं तस्स वणस्स मज्झे एगो महद्दहो तो तं दट्ठूण हट्ठतुट्ठा गया जूहवइणो साहंति । ताहे सो जूहवई सव्वेसिं समं आगओ ताहे तं वणं भक्खेउं रुक्ख पलोएइ ताहे तं वणं सुरूवं तेण भणिया खायह कणफलाइ जाहे ते तत्थ धाया पाणियं गया ताहे सो जूहवई दहस्स परिसरंतेह पलोएइ जाव उयरं ताणि पदाणि दीसंति उत्तरंताणि न दीसंति ताहे सो भणइ एस दहो सावओ ता मा एत्थ तत्थ तीरे पासत्थे वा उवरिय पाणिय पियह किं तु नालेण । तत्थ जेहिं सुय वयणं तस्स तं पुप्फफलाणं आभोगिणो जाया जेहिं ण सुयं तस्स ते रुक्खेहिंतो तम्मि दहे जे पाओ देंति ण चेव उत्तरंति ते अणाभोगिणो जाया एव चेव आयरिओ ताण साहूण आहाकम्मुद्देसियाणि समोसरणण्हवणादिसु परिहरावेइ उवायण फासुय गेण्हावेइ जहा नत्थि सिज्झति आहाकम्माइणा तहा करेइ । तत्थ पुन्नकयाणि खीरदधिघयमाईणि तारिसाणि गिण्हावेइ अकय अकारियसकप्पियाणि तत्थ ये आयरियाण सुणेंति ते परिहारंति ते च अचिरेण कालेण कम्मक्खयं करेहिंति जे ण सुणेंति ते न भणंति । एए उदाहारया असत्विकप्पा किं कारण एवं ण घेप्पइ तिविहिं णं सुयं पुणो ते अन्नेनाण जाइयव्वमरियव्वगमणं अभागिणो जाया " ओघ० ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिः प्रदर्शयन्नाह ।

पाडिसमियपंडुपत्तं, वणसंडं दट्ठु अन्नहिं पेसे ।

जूहवई पडियरए, जूहेण स संतयं गच्छो ॥

सयमेवालोए उ, जूहवई तं वणं समंतेण ।

वियरइ तेसि पयारं, पारिउण यतो दह गच्छे ॥

उयरंते पि य दिट्ठं, नीहार तं न दीसई ।

नालेण पियह पाणिं, यं न एस निक्कारणो दहो ॥

विशालशृङ्गो नाम पर्वतस्तत्रैकस्मिन् वनखण्डे वानरयूथमभिरमते । अथ च तत्रैव पर्वते द्वितीयमपि वनखण्डं सर्वर्तुपुष्पफलसमृद्धं समस्ति परं तन्मध्यभागवर्तिनि ह्रदे शिशुमारोऽवतिष्ठते स यत्किमपि मृगादिकं पानीयाय प्रविशति तत्सर्वमाकृष्य भक्षयति । अन्यदा च नष्टवनखण्डं परिशटितपाण्डुपत्रमपगतपुष्पफलमवलोक्य यूथाधिपतिरन्यस्य वनखण्डस्य निर्वाहसमर्थस्य गवेषणाय वानरयुग्मं प्रेषितवान । गवेषयित्वा च तेन यूथाधिपतेर्निवेदितमस्ति नवं वनखण्डम् । क प्रदेशे सर्वर्तुपुष्पफलपत्रसमृद्धमस्माकं निर्वाहयोग्यं ततो यूथाधिपतिः सह यूथेन तत्र गतवान् परिभावयितुं च प्रवृत्त समन्ततस्तद्वनखण्डं ततो दृष्टस्तन्मध्ये जलपरिपूर्णो ह्रदः परं तत्र प्रविशन्ति श्वापदानां पदानि दृश्यन्ते न निर्गच्छन्ति । यूथमाहूय यूथाधिपतिरुवाच माऽत्र यूय प्रविश्य पिपत पानीयं किंतु तटस्थिता एव नालेन पिबत यतो नैष ह्रदो निष्कारणो निरुपद्रवस्तथाहि मृगादीनामत्र पदानि प्रविशन्ति दृश्यन्ते न निर्गच्छन्तीति एवं चोक्ते यैस्तद्वचः कृतं ते वने स्वेच्छाविहारसुखभागिनो जाता इतरे विनष्टा । उक्ता द्रव्यग्रहणैषणा । सम्प्रति भावग्रहणैषणा वक्तव्या तया चाधिकारोऽप्रशस्तया पिण्डदोषाणां वक्तुं प्रक्रान्तत्वात् सा च शङ्कितादिभेदाद्दशप्रकारा ततस्तानेव शङ्कितादीन् भेदान् दर्शयति ॥

संकियमक्खियनिक्खित्त, पिहियसंहरियदायगुम्मिस्से ।

अपरिणयलित्तछड्डिय, एसणदोसा दस हवंति ॥

शङ्कितं सम्भावितमाधाकर्मादिदोषं, म्रक्षितं सचित्तपृथिव्यादिना गुण्ठितम् । निक्षिप्तं सचित्तस्योपरि स्थापितम् । पिहितं सचित्तेन स्थगितम् । संहृतमन्यत्र क्षिप्तम् । दायकदोषदुष्टम् । उन्मिश्रं पुष्पादिसन्मिश्रम् । अपरिणतमप्रासुकीभूतम् । लिप्तं छर्दितं भूमौ विक्षिप्तम् । एते दश एषणादोषा भवन्ति (एतेषां वक्ष्यता तत्तच्छब्दे)

तत्र शङ्कितपदं व्याचिख्यासुराह ॥

संकाए चउभंगो, दोसु वि गहणे य भुंजणे लग्गो ।

जं संकियमावन्नो, पणवीसा चरिमए सुद्धो ॥

शङ्कायां शङ्किते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गा सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । सा चेयं चतुर्भङ्गी ग्रहणे शङ्कितो भोजने चेति प्रथमो भङ्गः । ग्रहणे शङ्कित न भोजने इति द्वितीयः । भोजने शङ्कितो न ग्रहणे इति तृतीयः । न ग्रहणे न भोजने इति चतुर्थः । अत्र दोषानाह (दोसुवीत्यादि) द्वयोरपि शङ्कितस्य ग्रहणभोजनयोरपि यो वर्तते यश्च ग्रहणक्षति । ग्रहणे अर्थापत्त्या न भोजने तथा भोजने सामर्थ्याच्च ग्रहणे स सर्वोऽपि लग्नो दोषेण सम्बद्ध । केन दोषेणेत्याह (जं संकियमित्यादि) षोडशोद्गमदोषाणामेषणादोषरूपाणां पञ्चविंशतिदोषेण शङ्कितं सम्भावितमापन्नो वर्तते तेन दोषेण सम्बद्ध । इदमुक्तं भवति यद्याधाकर्मत्वेन शङ्कितं तद् गृह्णानो भुञ्जानो वाऽऽधाकर्मदोषेण सम्बध्यते यदि पुनरौद्देशिकत्वेन तत औद्देशिकेनेत्यादि । चरमे चतुर्थभङ्गे पुनर्वर्तमान शुद्धो न केनापि दोषेण सम्बध्यते इत्यर्थः । इह ' पणवीसा ' इत्युक्तं ततस्तानेव पञ्चविंशतिदोषानाह ।

उग्गमदोसा सोलस, आहाकम्माइ एसणा दोसा ।

नवमक्खियाइ एए, पणवीसा चरिमए सुद्धे ॥

आधाकर्मादयः षोडश उद्गमदोषा नव च म्रक्षितादयः एषणादोषा एते मिलिता पञ्चविंशतिः चरमे तु भङ्गे न ग्रहणे न

भोजने इत्येवंरूपे वर्तमानो यतिः । यत इहाशुद्धमपि छद्मस्थपरीक्षया निःशङ्कितं गृहीतं शुद्धं भवतीत्येतदेवोपदर्शयति ॥

छउमत्थो सुयनाणी,उवउत्तो उज्जुओ पयत्तेण ।

आवन्नो पणवीसं, सुयनाणपमाणओ सुद्धो ॥

छद्मस्थः श्रुतज्ञानी ऋजुको मायारहितः प्रयत्नेन यथाऽऽगमानुसारेण गवेषयन् पञ्चविंशतेर्दोषाणामन्यतमं दोषमापन्नोऽपि श्रुतज्ञानप्रमाणतः आगमप्रामाण्यतः शुद्धः । एतमेवार्थं स्पष्टयति ॥

ओहो सुओवउत्तो, सुय नाणी जइ वि गिण्हइ असुद्धं ।

तं केवली वि भुंजइ, अपमाणसुयं भवे इयरहा ॥

"ओहो" इत्यत्र प्रथमा तृतीयार्थे ततः ओघेन सामान्येन श्रुते पिण्डनिर्युक्त्यादिरूपे आगमे उपयुक्तः स तु तदनुसारेण कल्प्याकल्प्य परिज्ञावयन् श्रुतज्ञानी यद्यपि कथमप्यशुद्धं गृह्णाति तथाऽपि ततः केवल्यपि केवलज्ञान्यपि भुङ्क्ते इतरथा श्रुतज्ञानमप्रमाणं भवेत् । तथा हि छद्मस्थः श्रुतज्ञानबलेन शुद्धं गवेषयितुमीष्टे न प्रकारान्तरेण । ततो यदि केवली श्रुतज्ञानिना यथाऽऽगमं गवेषितमप्यशुद्धमिति कृत्वा न भुञ्जीत ततः श्रुतेऽनाश्वासः स्यादिति न कोऽपि श्रुतं प्रमाणत्वेन प्रपद्येत श्रुतज्ञानस्य चाप्रामाण्ये सर्वक्रियाविलोपप्रसङ्गः । श्रुतमन्तरेण छद्मस्थानां क्रियाकाण्डस्य परिज्ञानासंभवात् । ततः किमित्याह ।

सुत्तस्स अप्पमाणे, चरणाभावो तओ य मोक्खस्स ।

मोक्खस्स वि य अभावे, दिक्खपवित्ती निरत्था उ ॥

सूत्रस्याप्रामाण्ये चरणस्य चारित्रस्याभावः श्रुतमन्तरेण यथावत्सावद्येतरविधिप्रतिषेधपरिज्ञानासंभवात् । चरणाभावे च मोक्षाभावो मोक्षाभावे च दीक्षानिरर्थिका तस्या अनन्यार्थत्वात् । संप्रति ग्रहणे शङ्कितो भोजने च इत्यस्य प्रथमभङ्गस्य संभवमाह ।

किं नु हु खद्धा भिक्खा,दिज्जइ न य तरइ पुच्छिउं हिरिमं ।

इइ संकाए घेत्तुं, न भुंजइ संकिओ चेव ॥

कोऽपि साधुः स्वभावतो लज्जावान् भवति । तत्र क्वापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् प्रचुरां भिक्षां लभमानः स्वचेतसि शङ्कते किमत्र प्रचुरा भिक्षा दीयते । न च लज्जया प्रष्टुं शक्नोति ततः एवं शङ्कया गृहीत्वा शङ्कित एव तद् भुङ्क्ते इति प्रथमभङ्गे वर्तते ।

संप्रति ग्रहणे शङ्कितो न भोजने इत्यस्य संभवमाह ।

हियएण संकिएणं गहि-या अन्नेण सोहिया सा य ।

एगय पहेणग वा, सोउं निस्संकियं भुंजे ।

इह केनापि साधुना लज्जादिना प्रष्टुमशक्नुवता प्रथमतः शङ्कितेन हृदयेन या गृहीता भिक्षा सा अन्यसंघाटकेन शोधिता यथा प्रकृतं प्रकरणं किमपि प्राघूर्णभोजनादिकं यदि वा प्रहेणकं कुतश्चिदन्यस्माद् गृहादायातमिति । ततो द्वितीयसंघाटकादेतत् श्रुत्वा यो निःशङ्कितो भुङ्क्ते स द्वितीये भङ्गे वर्तते ।

तृतीयस्य भङ्गस्य संभवमाह ।

जारिसए च्चिय लद्धा, खद्धा भिक्खा मए अमुयगेहे ।

अन्नेहि वि तारिसिया, वियडंतनिसामणे तइए ॥

इह कोऽपि साधुर्लब्धप्रचुरभिक्षाको विकटयतो गुरोरग्रतः सम्यगालोचनाश्रवणे सति शङ्कते यादृश्येव मया भिक्षा प्रचुरा लब्धा तादृश्येवान्यैरपि संघाटकैस्तत्र न मे तदाधाकर्मादिदोषदुष्टं भविष्यतीति भुञ्जानो यतिस्तृतीये भङ्गे वर्तते ।

अत्र पर आह ।

जइ संका दोसकरी, एवं सुद्धम्मि होइ अविसुद्धं ।

निस्संकामक्खियंति य, अणेसणिज्जम्मि निद्दोसं ॥

यदि शङ्का दोषकरी तत एवं सति इदमायातं शुद्धमपि शङ्कितं सत् अशुद्धं भवति । शङ्कादोषदुष्टत्वात् । तथा अनेषणीयमपि निःशङ्कितमन्वेषितं शुद्धं प्राप्नोति शङ्कारहितत्वात् न चैव युक्तं स्वभावतः शुद्धस्याशुद्धस्य वा शङ्काभावाभावमात्रेण अन्यथा कर्तुमशक्यत्वात् । अत्राचार्य आह सत्यमेतत्तथाहि ।

अविसुद्धो परिणामो, एगयरे अवडिओ य पक्खम्मि ।

एसिं पि कुणइ णेसिं, अणेसिमेसिं वि सुद्धो उ ॥

अविशुद्धः परिणामः । अध्यवसायः किंरूपो विशुद्ध इत्याह । एकतरस्मिन्नपि शुद्धमेवेदं भक्तादिकं यदि वा अशुद्धमेवेत्यन्यतरस्मिन्नपि पक्षेऽपतन् (एसिं णित्ति) एषणीयमशुद्धं विशुद्धस्तु परिणामो यथोक्तागमविधिना गवेषयतः शुद्धमेवेदमित्यध्यवसायः । अनेषणीयमपि स्वभावतोऽशुद्धमपि शुद्धं करोति श्रुतज्ञानस्य प्रामाण्यात्तस्मान्न कश्चित् प्रागुक्तो दोषः । तदेवमुक्तं शङ्कितद्वारमधुना म्रक्षितद्वारमाह ।

दुविहं च मक्खियं खलु, सच्चित्तं चेव होइ अच्चित्तं ।

सच्चित्तं पुण तिविहं, अच्चित्तं होइ दुविहं तु ॥

म्रक्षितं द्विधा तद्यथा सचित्तमचित्तं च सचित्तम्रक्षितं चेत्यर्थः । तत्र यत्सचित्तेन पृथिव्यादिनाऽवगुण्ठितं तत्सचित्तं यत्पुनरचित्तेन पृथिवीरजःप्रभृतिनाऽवगुण्ठितं तदचित्तं तत्र सचित्तं सचित्तम्रक्षितं च । अचित्तमचित्तम्रक्षितम् । पुनस्त्रेधा एतदेव व्याख्यानयति ।

पुढवीआउवणस्सइ, तिविहं सच्चित्तमक्खियं होइ ॥

अच्चित्तं पुण दुविहं, गरहियमियरे य भयणा उ ॥

सचित्तम्रक्षितं त्रेधा तद्यथा पृथ्वीम्रक्षितम् अप्कायम्रक्षितं वनस्पतिकायम्रक्षितं च । तत्रैव पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पृथिव्यादिम्रक्षितं पृथिवीत्याद्युक्तम् । अचित्तमचित्तम्रक्षितं पुनर्द्विधा तद्यथा गर्हितं वसादिना अगर्हितमितरद्घृतादिना ॥ अत्र च कल्प्याकल्प्यविधौ भजना विकल्पना सा चाग्रे वक्ष्यते । संप्रति सचित्तपृथिवीकायम्रक्षितं प्रपञ्चतो भावयति ॥

सुक्खेण ससरक्खेणं, मक्खियमोल्लेण पुढविकाएणं ॥

सव्वं पि मक्खियत्तं, एत्तो आउम्मि वोच्छामि ।

इह सचित्तपृथिवीकायो द्विधा तद्यथा शुष्क आर्द्रश्च । तत्र शुष्केण सरजस्केनातीवश्लक्ष्णतया भस्मकल्पेन यत् देयमात्रं हस्तो वा म्रक्षितो यच्चार्द्रेण पृथिवीकायेन सचित्तेन म्रक्षितं तत्सर्वं हस्तादिम्रक्षितं सचित्तपृथिवीकायम्रक्षितमवगन्तव्यम् । ततः ऊर्ध्वमप्कायविषये म्रक्षितं वक्ष्यामि ॥

पुरपच्छकम्म ससणि-द्धुदउल्ले चउर आउभेया उ ।

उक्करसावलित्तं, परित्तणंतं महिरुहेसु ॥

अप्काये अप्कायम्रक्षिते चत्वारो भेदाः तद्यथा पुरःकर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धमुदकार्द्रं च । तत्र भक्तादेर्दानात्पूर्वं यत्साध्वर्थं कर्म हस्तपात्रादेर्जलप्रक्षालनादि क्रियते तत्पुरःकर्म । यत्पुनर्भक्तादेर्दानात्पश्चात् क्रियते तत्पश्चात्कर्म । सस्निग्धमीषद्दृश्यमाणजललवगुण्ठितं हस्तादि उदकार्द्रं स्पष्टं लक्ष्यमाणजलस

सर्ग । संप्रति वनस्पतिकायम्रक्षितं प्रपञ्चयति (उक्कडेत्ति) उत्कटरसानि प्रचुररसोपेतानि यानि परीतानां प्रत्येकवनस्पतीनां चूतफलादीनामनन्तानामनन्तकायिकानां च पनसफलादीनां सद्यःकृत्तानि श्लक्ष्णखण्डानि इति सामर्थ्याद् गम्यते तैः सलिप्तं खरण्टितं यत् हस्तादि तन्महीरुहेषु अत्र तृतीयार्थे सप्तमी महीरुहैर्म्रक्षितमवसेयं परित्ताणन्तमित्यत्र प्राकृतत्वाद्विभक्तिवचनव्यत्यय इति षष्ठीबहुवचनं व्याख्यातम् ॥

सेसेहि य काएहिं, तिहि वि तेउसमीरणतसेहि ।
सच्चित्तं मीसं वा, न मक्खिअत्थि उल्लं व ॥

शेषैस्तेजःसमीरणत्रसरूपैस्त्रिभिरपि सचित्तरूपामिश्ररूपमार्द्रतारूपं वा म्रक्षितं न भवति । सचित्तादितेजस्कायादिसंसर्गेऽपि लोकम्रक्षितशब्दप्रवृत्त्यदर्शनात् अचित्तैस्तु तैर्भस्मादिरूपैः पृथिवीकायादौ न च म्रक्षितत्वसम्भव इति न तस्य प्रतिषेधः । वातकायेन सचित्तेनापि न म्रक्षितत्वं घटते तथा लोके प्रतीत्यभावात् । संप्रति सचित्तपृथिवीकायादिभिर्म्रक्षिते हस्तपात्रे आश्रित्य भङ्गान् कल्प्याकल्प्यविधिं च प्रतिपादयति ।

सच्चित्तमक्खितम्मि, हत्थपत्ते य होइ चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगे अणुन्ना उ ॥

सचित्तैः पृथिवीकायादिभिर्म्रक्षिते हस्तपात्रे च चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गाः सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । ते च चत्वारो भङ्गा अमी तद्यथा हस्तो म्रक्षितो पात्रं च, हस्तो म्रक्षितो न पात्रं, पात्रं म्रक्षितं न हस्तो, हस्तो न नापि पात्रं, तत्रादिमे भङ्गत्रिके प्रतिषेधो न कल्पते ग्रहीतुमिति भावः । चरमे भङ्गे पुनरनुज्ञातो यस्तीर्थकरगणधरैस्तत्र दोषाभावात् । अचित्तम्रक्षितमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।

अच्चित्तमक्खियम्मि उ, सुत्तिभंगेसु होइ भयणा उ ।
अगरहेण उ गहणं, पडिसेहो गरहिए होइ ॥

अचित्तम्रक्षितेऽपि हस्तपात्रे अधिकृत्य प्राग्वत् चत्वारो भङ्गास्तत्र च चतुर्ष्वपि भङ्गेषु विभजना विकल्पना तामेवाह अगर्हितेन लोकनिन्दितेन घृतादिना म्रक्षिते ग्रहणं, गर्हितेन तु वसादिना म्रक्षिते भवति प्रतिषेधः । तत्रापि चतुर्थो भङ्गः शुद्ध एवेति प्रहणम् । अगर्हितम्रक्षितमप्यधिकृत्य विशेषमाह ।

संसज्जिमेहि वज्जं, अगरहिएहिं पि गोरसदवेहिं ।
महुघयतिल्लगुलेहि य, मा मच्छिपिपीलियाघाओ ॥

संसक्तिमद्भ्यां तन्मध्यनिपतितजीवयुक्ताभ्यां गोरसद्रवाभ्यां दध्यादियामकाभ्यामगर्हिताभ्यामपि म्रक्षितं म्रक्षिताभ्यां हस्तपात्राभ्यां वा दीयमानं वर्ज्यं परिहार्यं न ग्रहीतव्यमित्यर्थः । तथा मधुघृततैलद्रवगुडैरगर्हितैरपि म्रक्षितं म्रक्षिताभ्यां वा हस्तपात्राभ्यां दीयमानं वर्ज्यं कुत इत्याह (मा मच्छिपिपीलियाघाओ त्ति) मा मक्षिकापिपीलिकानामुपलक्षणमेतत् पतङ्गादीनां वातादीनां वशतो लग्नानां घातो विनाशो मा भूदिति कृत्वा एतच्चोक्तानुष्ठानं जिनकल्पिकाद्यधिकृत्योक्तमवसेयं स्थविरकल्पिकास्तु यथाविधियतनया घृताद्यपि गुडादिम्रक्षितमशोकवर्त्याद्यपि च गृह्णन्ति । संप्रति गर्हितागर्हितविशेषमाह ।

मंसवसासोणियासव, लोए वा गरहिए विवज्जाउ ।
उभओ विगरहियाईं, मुत्तुच्चारेहि छित्तं पि ॥

मांसवसाशोणितासवैरत्र सूत्रे विभक्तिलोप आर्षत्वात् लोके गर्हितैरपि वा शब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये म्रक्षितं वर्जयेत् । तथा उभयस्मिन्नपि लोके लोकोत्तरे च गर्हिताभ्यां मूत्रोच्चाराभ्यां माऽऽस्तां म्रक्षितं स्पृष्टमपि वर्जयेत् । उक्तं म्रक्षितद्वारम् ।

अथ निक्षिप्तद्वारमाह ।

सच्चित्तमीसएसु, दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं ।
एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतरं परंपरं चेव ॥

इह कल्पनीयं निक्षिप्तं द्विविधा सचित्तेषु मिश्रेषु च । एकैकमपि द्विधा । तद्यथा अनन्तरं परंपरं च । तत्रानन्तरमव्यवधानेन परंपरं व्यवधानेन यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका तस्या उपरि देयं वस्त्विति । इह परिहार्यापरिहार्यविभागं विना सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्तमिश्ररूपभेदात्त्रिधा । तत्र च त्रयश्चतुर्भङ्ग्यस्तद्यथा । सचित्ते सचित्तं १ मिश्रे सचित्तं २ सचित्ते मिश्रं ३ मिश्रे मिश्रमित्येका चतुर्भङ्गी । तथा सचित्ते सचित्तम् १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् इति ४ । द्वितीया चतुर्भङ्गी । तथा मिश्रे मिश्रम् १ अचित्ते मिश्रं २ मिश्रे अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् ४ इति तृतीया चतुर्भङ्गी । संप्रत्यस्यैवानन्तरपरंपरविभागमाह ॥

पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊवणस्सइतसाणं ।
एक्केक्कदुहाणंतर-परंपराणम्मि सत्तविहो ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायानां सचित्तानां प्रत्येकं सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेपं सम्भवति । तत्र पृथिवीकायस्य निक्षेपः षोढा । तद्यथा पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः । पृथिवीकायस्याप्काये इति द्वितीयः । पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः । वातकाये इति चतुर्थः । वनस्पतिकाये इति पञ्चमः । त्रसकाये इति षष्ठः । एवमप्कायादीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा भावनीयः सर्वसंख्यया षट्त्रिंशद्भङ्गाः । एकैकोऽपि च भेदो द्विधा तद्यथा अनन्तरपरम्परया च । अनन्तरपरम्पराव्याख्यानं च प्रागेव कृतम् । केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति । संप्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्तं पूर्वं षोढात्वं तत्सूत्रकृत् साक्षाद्दर्शयति ।

सच्चित्तपुढविकाए, सच्चित्तो चेव पुढविनिक्खित्तो ।
आउतेउवणस्सइ-समीरणतसेसु एमेव ॥

सचित्ते पृथिवीकाये सचित्तपृथिवीकायो निक्षिप्त एवमेव पृथिवीकाये इव अप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा एवं शेषकायेष्वपि दर्शयन्नाह ।

एमेव सेसयाण वि, निक्खेवो होइ जाव काएसु ।
एक्केक्को सट्ठाणे, परट्ठाणे पंच पंचेव ॥

एवमेव पृथिवीकायस्येव शेषाणामप्कायादीनां निक्षेपो भवति जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु तत्र एकैको भङ्गः स्वस्थाने शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने । तथाहि पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेपः स्वस्थाने अप्कायादिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थानेषु । एवमप्कायादीनामपि भावनीयम् । ततः स्वस्थाने एकैको भङ्गः परस्थाने पञ्च पञ्च तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकाया सचित्ते सचित्तमित्येवरूपे प्रथमे भङ्गे षट्त्रिंशतिभेदाः । संप्रति प्रथमचतुर्भङ्ग्या एव शेषं भङ्गत्रयं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्यौ चातिदेशतः प्रतिपादयति ।

एमेव मीसएसु वि, मीसाणसचेयणेसु निक्खेवो ।

मीसाणं मीसेसु य, दोएहं पि य होइ चित्तेसु ॥

एवमेव सचित्तेष्विव मिश्रेष्वपि मिश्रपृथिव्यादिनिक्षेपः षट्त्रिंशद् भेदोऽवगन्तव्य । एतेन प्रथमचतुर्भङ्गो व्याख्यातः । एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेपः षट्त्रिंशद्भेद·। अनेन प्रथमचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यात सर्वसंख्यया प्रथमचतुर्भङ्ग्यां चतुश्चत्वारिंशदङ्गशतम्।एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते तथाऽपि प्रत्येकं चत्वारिंशदङ्गशतं भवति सर्वसंख्यया भङ्गाना शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति । उक्ता निक्षेपस्य भेदा । संप्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तचतुर्भङ्गीत्रयमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।

जत्थ उ सचित्तमीसे, चउब्भंगो तत्थ चउसु वि भंगेसु ।
तंतु अणंतरइयं, परित्ताणं तं च वणकाए ॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आदिचतुर्भङ्गी भवति । प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थ । तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु अपिशब्दाद् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योरपि आद्येषु त्रिषु विभङ्गेषु वर्तमानमनन्तरं परंपरा वा वनस्पतिविषये प्रत्येकमनन्त वा तत्सर्वमग्राह्यं सामर्थ्यात् । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थे चतुर्थभङ्गे वर्तमान ग्राह्यं तत्र दोषाभावात् । सम्प्रति सचित्तादिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेणैकमेव चतुर्भङ्गीकल्प्याकल्प्यविधिं प्रदर्शयति ।

अहव ण सचित्तमीसो, से एगओएगउ अचित्तो ।
एत्थं चउक्कभंगो, तत्थाऽऽइत्तिए कहा नत्थि ॥

अथवेति प्रकारान्तरताद्योतकः णमिति वाक्यालङ्कारे इह चतुर्भङ्गीप्रतिपक्षपदोपस्थित्या (से)तस्य भवति । तत्र एकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे एकचतुष्पक्षे अचित्त । तत प्रागुक्तक्रमेण चतुर्भङ्गी भवति तद्यथा सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्र सचित्तमिश्रे अचित्तम अचित्ते अचित्तमिति । अत्रापि प्रागिव एकैकस्मिन् भङ्गे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदात् । तत्र षट्त्रिंशद् भेदा सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशदधिकं शत तत्रादित्रिके आदिमे भङ्गत्रये कथा नास्ति ग्रहणे वार्ता न विद्यते सामर्थ्याच्चतुर्थो भङ्ग कल्पते । तदेव "पुढवीत्यादि" स्थलमाद्ययो पूर्वार्द्धम् व्याख्यात । सम्प्रति "एक्केके इहाणंतरमि" त्यवयव व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्ग्या· सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेष विज्ञाणिषुरनन्तरपरंपरया वा मार्गणां करोति ।

जं पुण अचित्तदव्वं, निक्खिप्पइ चेयणेसु दव्वेसु ।
तह मग्गणा उ इणमो, अणंतरपरंपरं होइ ॥

यत् किमपि अचित्त द्रव्यमोदनादि चेतनेषु स चित्तेषु मिश्रेषु वा निक्षिप्यते तत्रेयमनन्तरं परंपरया वा मार्गणा परिज्ञावन भवति ।

ओगाहिगादणंतर–परपिठरगाइपुढवीए ।
नवणीयाइ अणंतर–परंपरा ताव माईसु ॥

अवगाहिमादि पक्वान्न मण्डकप्रभृति पृथिव्यामनन्तरनिक्षिप्तं पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकादौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमादि तत्परंपरानिक्षेप उक्त· । सम्प्रत्यप्कायमाश्रित्य "नवणीए" इत्यादि नवनीतादि प्रकणस्थानीभूतघृतादिसचित्तादिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्तं तदेव नवनीतादि वा अवगाहिमादि वा जलमध्यस्थितेषु नावादिषु स्थित परंपरनिक्षिप्तम् । सम्प्रति तेजस्कायमधिकृत्यानन्तरे परंपरे व्याख्यानयन् " अगणिम्मि सत्तविहो " इत्याद्यवयवं व्याख्यानयति ॥

विज्झायमम्मुरिंगा–लमेव अप्पत्तपत्तसमजाले ।
वोकंते सत्त दुगं, जंतोलित्ते य जयणाए ॥

इह सप्तधा वह्निस्तद्यथा विध्यातो,मर्मुरो,ऽङ्गारः, अप्राप्त·,प्राप्त·, समज्वालो व्युत्क्रान्तश्च । तत्र य· स्पष्टतया प्रथमं नोपलक्ष्यते । पश्चादिन्धनप्रक्षेपे वृद्धिमपि गच्छति स व्युत्क्रान्तः। एते सप्त भेदास्तेजस्कायस्य । तत्र एकैकस्मिन् भेदे द्विक तद्यथा अनन्तरनिक्षिप्त परंपरनिक्षिप्त च। तत्र यत् विध्यातादिरूपे वह्नौ मण्डकादि प्रक्षिप्यते तत् अनन्तरविक्षिप्तम् यत्पुनरग्नेरुपस्थापिते पिठरादौ क्षिप्त तत्परंपरनिक्षिप्तम् तत्र सप्ताना भेदानां मध्ये यमेव तमेवाधिकृत्य यन्त्रेषु रसपाकस्थाने कटाहादौ अवलिप्ते मृत्तिकाखरण्टिते यतनया परिसाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते । संप्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्यातादीनां स्वरूपं गाथाद्वयेनाह ।

विज्झाउं ति न दीसइ, अग्गी दीसेइ इंधणे बूढो ।
आपिंगलअगणिकणा, मम्मुरनिज्झालइंगाले ॥
अप्पत्ता उ चउत्थे, जाला पिठरं तु पंचमे पत्ता ।
छट्ठ पुण कन्नसमा, जालासमइत्थिया चरिमे ॥

सुगमं नवर (अप्पत्ता उ चउत्थे जाला इत्ति) चतुर्थे अप्राप्ताख्ये भेदे पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्या· । पञ्चमेत्यत्राप्यक्षरगमनिका कार्या। सम्प्रति (ज तोलित्ते य जयणाए) इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

यं सो लित्तकडाहे, परिसाडी नत्थि तं पि य विसालं ।
सो वि य अचिरवूढो, इच्छुरसो नाइउसिणो य ॥

इह यदीति सर्वत्राप्यभिद्दियते यत् यदि कटाह· पिठरविशेषः पिठर पार्श्वेषु मृत्तिकया वा लिप्तो भवति । दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिसाटिर्नोपजायते तदपि च कटाहरूप भाजन यदि विशालं विशालमुखं भवति । सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरस कल्पते। इह यदि दीयमा॰स्येक्षुरसस्य कथमपि बिन्दुर्बहि पतति तर्हि स लेप एव वर्त्तते न तु चुल्लीमध्यस्थिततेजस्कायमध्ये पतति ,ततः पार्श्वावलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तम् । तथा विशालमुखादाकृष्यमाण उदञ्चन· पिठरस्य कर्षे न लगति । ततो न पिठरस्य भङ्ग इति न तेजस्कायविराधनेति विशालग्रहणम्। अनत्युष्णग्रहणे तु कारण स्वयमेव वक्ष्यति । सम्प्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह ।

उसिणोदगं पि घेप्पइ, गुडरसपरिणामियं न अच्चुसियं ।
जंतु अघट्टियकंतं, कड्डिय पडणं पि मा अग्गी ॥

उष्णोदकमपि गुडरसपरिणामितमनत्युष्ण गृह्यते । किमुक्तं भवति यत्र कटाहे गुड· पूर्वं क्वथितो भवति तस्मिन् निक्षिप्त जलमीषत्तप्तमपि कटाहसत्कगुडरसमिश्रणात सत्वरं सचित्तीभवति । ततस्तदनन्तरमपि कल्पते । अत्रापि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिसाटि मत्वेति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि द्रष्टव्य॰। तथा यत् अघटितकर्णं न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्येते तद्दीयमान· कल्प्यते इत्याह । (कड्डियपडण पि मा अग्गी)उदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतनेन नाग्निर्विराध्यतेति कृत्वा एतेन वक्ष्यमाण षोडशभङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शित· । सम्प्रति तानेव षोडशभङ्गान् दर्शयति ।

पासोलित्तकडाहे, नच्चुसिणो अपरिसाडिघट्टंते ।
सोलसभंगविगप्पो, पढमे गुन्ना न सेसेसु ॥

पार्श्वावलिप्तः कटाहः अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसादिः अपरिसाटिः परिसाटस्याभावः (अघट्टंते इति) उदञ्चनेन पिठरकर्णाघट्टने इत्यन्तानि चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोडश भङ्गा भवन्ति । भङ्गानां च नयनार्थमियं गाथा ।

एय समदुग अब्भा, सेसा भंगाण तेसि महरयणा ।
एगंतरियं लहु गुरु-लहुगुरुगा य वामेसु ॥

अस्य व्याख्या इह यावतां पदानां भङ्गा आनेतुं चिन्त्यन्ते । तावन्तो द्विका ऊर्ध्वाध क्रमेण स्थाप्यन्ते । ततः प्रथमो

२
२
२
२

द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते जाताश्चत्वारस्तैस्तृतीयो द्विको गुण्यते जाता अष्टौ तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते जाताः षोडश एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति । तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना प्रथमपङ्क्तावेकान्तरितम् । लघु गुरु प्रथमं लघु ततो गुरु पुनर्लघु पुनर्गुरु एवं यावत् षोडशो भङ्गाः । तत अङ्कापकापेक्षया वामेषु वामपार्श्वेषु द्विगुणा लघुगुरवः । तद्यथा द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमं द्वौ लघू ततो द्वौ गुरू ततो भूयोऽपि द्वौ लघू एवं यावत् षोडशो भङ्गाः । तृतीयपङ्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघवस्ततश्चत्वारो गुरवस्ततः पुनश्चत्वारो गुरव चतुर्थपङ्क्त्यां प्रथममष्टौ लघवः । ततोऽष्टौ गुरवः । स्थापना ।

।।।।	।ऽ।।	ऽ।।।	ऽऽ।।
।।।ऽ	।ऽ।ऽ	ऽ।।ऽ	ऽऽ।ऽ
।।ऽ।	।ऽऽ।	ऽ।ऽ।	ऽऽऽ।
।।ऽऽ	ऽऽऽ	ऽ।ऽऽ	ऽऽऽऽ

अत्र ऋजवोऽशाः शुद्धाः वक्राश्चाशुद्धा । इह षोडशानां भङ्गानामाद्यो भङ्गोऽनुज्ञातः शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु सम्प्रत्युष्णग्रहणे दोषानाह ।

दुविहविराहण उसिणे, छड्डणहाणी य भाणभेओ य ।
वाउक्खित्ताणंतर-परंपरा य पामयवत्थि ॥

तण्णेऽत्युष्णे इक्षुरसादौ दीयमाने द्विधा विराधना आत्मविराधना परविराधना च । तथाहि यस्मिन् भाजने ततस्ततोऽत्युष्णं गृह्णाति । तेन ततः सद् भाजन हस्तेन साधुर्गृह्णन् दह्यते इत्यात्मविराधना । येनापि स्थानेन दात्री ददाति तेनाप्यत्युष्णेन सा दह्यत इति । तथा (छड्डणे हाणीयत्ति) अत्युष्णमिक्षुरसादि कष्टेन दात्री दातु शक्नोति कष्टेन च दाने कथमपि साधुसत्कभाजनाद्बहिरुज्झने हानिर्दीयमानस्येक्षुरसादेः । तथा (भाणभेओ इत्ति)तस्य भाजनस्य साधुना वा नयनायोत्पाटितस्य एतद्ग्रहणादेर्दात्र्या वा दानायोत्पाटितस्योदञ्चनस्य गण्डरहितस्यात्युष्णतया झगिति भूमौ मोचने भङ्गः स्यात् । तथा च षड्जीवनिकायविराधनेति । संयमविराधना संयमप्रतिकायमधिकृत्यानन्तरपरं परे दर्शयन्ति । वातोत्क्षिप्ता समीरणोत्पाटिता पर्पटिता पर्पटिका शालिपर्पटिका अनन्तर निक्षिप्तं परपरनिक्षिप्तम् (वत्थित्ति) विनाकिलोपाद्वस्तौ उपलक्षणमेतत् समीरणापूरितवस्तिप्रभृति व्यवस्थितं मण्डकादि । संप्रति वनस्पतिविषय द्विविधमपि निक्षिप्तमाह ।

हरियाइ अणंतरिया, परंपरं पिठरगाइसु वराणम्मि ।
पूपाइ पिट्ठिणंतर-भरये कुडवाइसु इयरा ॥

वने वनस्पतिविषये अनन्तरनिक्षिप्त हरितादिषु सचित्तव्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिता निक्षिप्ता अपूपादय इति शेषः । हरितादीनामेवोपरि स्थितेष्वपि पिठरादिषु निक्षिप्ताः अपूपादयः परंपरनिक्षिप्तम् । तथा घल्लीवर्दादीनां पृष्ठे अनन्तरनिक्षिप्ता अपूपादयः अमेष्वनन्तरनिक्षिप्तं घल्लीवर्दादिपृष्ठ एव भरके कुतुपादिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकादयः परंपरनिक्षिप्तम् इह सर्वत्रान तरनिक्षिप्तं न ग्राह्यं सचित्तसङ्घट्टनादिदोषसम्भवात् । परंपरनिक्षिप्तं तु सचित्तसंघट्टनादि परिहारेण यतनया ग्राह्यमिति सम्प्रदायः । उक्तं निक्षिप्तद्वारम् ।

अथ पिहितद्वारमाह ।

सचित्ते अचित्ते, मीसगपिहियम्मि होइ चउभंगो ।
आगतिगे पडिसेहो, चरिमे भवम्मि भयणा उ ॥

इह सचित्त इत्यादौ सप्तमी तृतीयार्थे ततोऽयमर्थः सचित्तेन अचित्तेन मिश्रेण वा पिहिते चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनम् । तत्र तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति द्रष्टव्यम् । तत्रैका सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्याम् । तत्र सचित्तेन सचित्त पिहित, मिश्रेण, सचित्तं सचित्तेन मिश्रं, मिश्रेण मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी । तथा सचित्तेन सचित्त पिहितम् । अचित्तेन सचित्त । सचित्तेनाचित्तम् अचित्तेनाचित्तमिति द्वितीया चतुर्भङ्गी । तथा मिश्रेण मिश्रं पिहितं, मिश्रेणाचित्तम् । अचित्तेन मिश्रम् । अचित्तेनाचित्तमिति । तृतीया । तत्र गाथापर्यन्त तुशब्दवचनात्प्रथमचतुर्भङ्ग्यां सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकायास्तु प्रत्येकमादिमेषु त्रिषु भङ्गेषु न कल्पते इत्यर्थः । चरमे तु भङ्ग 'जनसोवगुरुणेत्यादिना' स्वयमेव वक्ष्यते । सम्प्रति चतुर्भङ्गीत्रयविषयावान्तरभङ्गकथनेऽतिदेशमाह ॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चेव होंति भंगा य ।
एमेव य पिहियम्मि वि, नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्राणां संयोगाः प्रागुक्ता यथैव सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयसङ्ख्येकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशद्भेदाः सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि । तथात्रापि पिहितद्वारे द्रष्टव्याः । तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयम एकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्तपृथिवीकायं सचित्तपृथिवीकायेन पिहितम् । सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्ध मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहित, सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहितादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् भेदा सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानाम् । नवर द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योः प्रत्येक तृतीये २ भङ्गे अनन्तरपरपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादिक वक्ष्यमाणनानात्वमवसेयं निक्षिप्ते अनेन प्रकारेणानन्तरपरंपरमार्गणा कृता अत्र त्वन्येन प्रकारेण करिष्यते इति भावः । तत्र सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहित सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहित सचित्तपृथिवीकायपरपरमोदकादि सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं हिमादिगर्भपिठरादिना पिहितं सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं सचित्ततेजस्कायादिपिहितमनन्तरपरंपरञ्च गाथाद्वयेनाह ।

अंगारधूवियाई, अणंतरो परंपरो सरावाई ।
तत्थेव अइरवाऊ, परपरं वत्थिणं पिहियं ॥

अइरं फलाइपिहियं, वणम्मि इयरं तु छव्वपिढराई ।
कत्थइ संचाराई, अणंतरो णंतरो ण्हे ॥

इह यदा स्थाल्यादौ संस्वेदनादीनां मध्ये अङ्गारं स्थापयित्वा हिङ्ग्वादिना वासो दीयते तदा तेनाङ्गारेण केषाञ्चित् संस्वेदनादीनां सस्पर्शोऽस्तीति ता अनन्तरपिहिता· ॥ आदिशब्दाच्चणकादिकं मुर्मुरादिक्षिप्तमनन्तरापिहितमवगन्तव्यम् । अङ्गारभृतेन शरावादिना स्थगित पिठरादि परपरपिहितम् । तथा तत्रैव अङ्गारधूपितादौ (अइरत्ति) अतिरोहितमनन्तरपिहित वायौ द्रष्टव्यं 'यत्राग्निस्तत्र वायुरिति' वचनात् समीरणे भृते न तु वस्तिना उपलक्षणमेतत् वस्तिदृतिप्रभृतिना पिहितं परपरपिहितमवसेयम् । यथा वने वनस्पतिकायविषये फलादिना (अइरत्ति) अतिरोहितेन पिहितमनन्तरपिहितम् ॥ छव्वपिठरादौ छब्बकस्थाल्यादौ स्थितेन फलादिना पिहितं (इयरति) परपरपिहितम् । तथा त्रसे त्रसकायविषये कच्छपेन संचारादिना वा कीटिकापङ्क्त्यादिना यत्पिहित तत् अनन्तरपिहितम् । कच्छपसंचारादिगर्भपिठरादिना पिहितम् । इहानन्तरापिहितमकल्प्य परंपरपिहित तु भजनया ग्राह्यम् । यदुक्त " चरमे भङ्गम्मि भयणाउ" इति तद्व्याख्यानयन्नाह ।

गुरु गुरुणा गुरु लहुणा य, लहुयं गुरुएण दो वि लहुयाई ।
अचित्तेण वि पिहिए, चउभंगो दोसु आगइयं ॥

अचित्तेनापि अचित्ते देयवस्तुनि पिहिते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तद्यथा गुरु गुरुणा पिहितमित्येको भङ्ग । गुरु लघुनेति द्वितीयः। लघु गुरुणेति तृतीय· (दो वि लहुयाइत्ति) लघु लघुना पिहितमिति चतुर्थ· । एषु च चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये द्वयो· प्रथमतृतीयभङ्गयोरग्राह्यं गुरुद्रव्यस्योत्पाटने कथमपि तस्य पाते पादादिभङ्गसंभवात् तत पारिशेष्यात् द्वितीयचतुर्थयोर्भङ्गयोर्ग्राह्यमुक्तदोषाभावात् । देयवस्त्वाधारस्य पिठरादेर्गुरुत्वेऽपि तत· करोटिकादीनां दानसंभवात् । उक्तं पिहितद्वारम् ।

अथ संहृतद्वारमाह ।

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसगसंहरणे य चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह येन मात्रकेण कृत्वा भक्तादिकं दातुमिच्छति दात्री तत्र यद्दातव्यं किमपि सचित्तमचित्तं मिश्रं वाऽस्ति ततस्तदन्यत्र स्त्रीभ्यादौ क्षिप्त्वा तेनान्यत्र ददाति तच्च कदाचित्सचित्तेषु पृथिव्यादिषु मध्ये क्षिपति कदाचिदचित्तेषु कदाचिन्मिश्रेषु क्षपणा च संहरणमुच्यते । तत· संहरणे सचित्ताद्यधिकृत्य चतुर्भङ्गी । अत्र जातावेकवचनं मिश्रचतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचनात्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीत्यर्थ । तथाहि एका चतुर्भङ्गी सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीयेति । तत्र सचित्ते सचित्तं संहृतं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी । तथा सचित्ते सचित्तं संहृतमचित्ते सचित्त सचित्ते अचित्तम् अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्र संहृतम्, अचित्ते मिश्र, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया । अत्र गाथापर्यन्तं तुशब्दसामर्थ्यात्प्रथमचतुर्भङ्गिकाया· सर्वेष्वपि भङ्गेषु प्रतिषेध· । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोस्तु आदिकेष्वादिमेषु त्रिषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे भजना ।

अधुना चतुर्भङ्गीत्रयसत्कावान्तरभङ्गकथने अतिदेशमाह ॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चेव होंति भंगा य ।
तह चेव उ साहरणे, नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्रपदानां संयोगाः कृता यथैव च सचित्त पृथिवीकाय· सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयभङ्गेष्वेकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशत् २ भङ्गा उक्ता· सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानां तथात्रापि संहृतद्वारे द्रष्टव्या· । तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयमेकैकस्मिश्च भङ्गे सचित्त· पृथिवीकाय· मध्ये संहृत इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भेदा· सर्वसंख्यया भङ्गानां चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि नवर द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोः प्रत्येक तृतीये भङ्गे अनन्तरपरपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादावपि वक्ष्यमाणं नानात्वमवसेयम् । निक्षिप्तद्वारे अन्येन प्रकारेणानन्तरमार्गणा कृता अन्यत्र संहृतद्वारे अन्यथा करिष्यते इति भावः तदेवान्यथात्वं दर्शयन् संहरणलक्षणमाह ॥

मत्तेण जेण दाहिइ, तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाइ ।
छुंतुं यं तह ते मा, देइ अह होइ साहरणं ।

येन मात्रकेण दास्यति दात्री तत्रादेय किमप्यस्ति अशनादिकं भक्तादि सचित्त पृथिवीकायादिक वा ततस्तत् अदेयमन्न स्थानान्तरे क्षिप्त्वा ददाति (अहत्ति) एतत्संहरणम् । तत एतल्लक्षणानुसारेणानन्तरपरपरमार्गणाऽनुसारणीया । तद्यथा सचित्तपृथिवीकायमध्ये यदा संहरति तदाऽनन्तरसचित्तपृथिवीकाये संहृतम् । यदा तु सचित्तपृथिवीकायस्योपरिस्थिते पिठरादौ संहरति तदा परपरया सचित्तपृथिवीकाये संहृतमेवमप्कायादिष्वपि भावनीयम् । अनन्तरसंहृते न ग्राह्य परंपरसंहृते पृथिवीकायादिषु घट्टने ग्राह्यमिति । संप्रति द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कं तृतीय भङ्गमाश्रित्य येषु वस्तुषु मा[पा]त्रकस्थितमदेय वस्तु संहरति तान्युपदर्शयति ।

भूमाइएसु तं पुण, साहरणं होइ छसु निकाएसु ।
जं तं दुहा अचित्तं, साहरणं तत्थ चउभंगो ।

तत् पुनर्मात्रकस्थितस्यादेयस्य वस्तुन संहरण भूम्यादिकेषु सचित्तपृथिवीकायादिषु षट्सु जीवनिकायेषु भवति जायते । तत्र चानन्तरोक्त एव कल्प्याकल्प्यविधिरवधारणीयः । तथा यत्संहरण द्विधाऽपि आधारापेक्षया च अचित्तमचित्तसचित्ते यत्संह्रियते इत्यर्थ । तत्र चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तानेवाह ।

सुक्खे सुक्खं पढम, सुक्खे उल्लं तु बिइयओ भंगो ।
उल्ले सुक्खं तइओ, उल्ले उल्लं चउत्थो उ ।

शुष्के शुष्क संहृतमिति प्रथमो भङ्गः । शुष्के आर्द्रमिति द्वितीय· । आर्द्रे शुष्कमिति तृतीयः । आर्द्रे आर्द्रमिति चतुर्थः ।

एक्केके चउभंगो, सुक्खाइएसु चउसु भंगेसु ।
थोवे थोवं थोवे, बहुं च विवरीय दो अन्ने ।

शुष्कादिषु शुष्के शुष्कसंहृतमित्यादिषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये एकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी तद्यथा स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं स्तोके शुष्के बहु शुष्कं (विवरीय दो अन्नेत्ति) एतद्विपरीतौ द्वौ अन्यौ भङ्गौ द्रष्टव्यौ । तद्यथा शुष्के बहुकं स्तोके शुष्कम् । बहुके शुष्के बहु शुष्कमिति । एवं शुष्के आर्द्रमित्यादिष्वपि त्रिषु भङ्गेषु स्तोके स्तोकमित्यादिरूपा चतुर्भङ्गी प्रत्येकं भावनीया । सर्वसंख्यया षोडश भङ्गा· । अत्र कल्प्यविधिमाह ।

जत्थ उ थोवे थोवं, शुक्खे उल्लं व होइ तं गिज्झं ।
जइ तं तु समुक्खित्तं, थोवाजारं दलइ अन्नो ।

यत्र तु भङ्गे स्तोक तुशब्दाद्बहुके च संहृत भवति तदपि शुष्के शुष्कं कल्पते एव अथवा शुष्के आर्द्रे वाशब्दादार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रे वा तदा तत् ग्राह्य न दोषम् । कुत इत्याह (जइ इत्यादि) यदि तत् अदेय वस्तु स्तोकाभारं बहुभाररहितमन्यत्र समुत्क्षिपत्ये-तद्ददाति तर्हि तदार्द्रे कल्पते नान्यथा बहु । किंच संन्हियमाण बहु भार भवति। ततः शुष्के शुष्कमित्यादिषु चतुर्ष्वपि भङ्गेषु प्रत्येकं स्तोके स्तोकमिति । प्रथमतृतीयौ भङ्गौ कल्पेते न द्वितीयचतुर्थौ तत्र दोषानाह ।

उक्खेवे निक्खेवे, महल्लभाणम्मि लुद्धवह माहो ।
आवियत्तं वोच्छेउ, छकायवहो य गुरुमत्ते ।

महति भाजने प्रभूतादेयवस्तुभारयुक्ते गुरुमात्रकरूपे उत्क्षेपे उत्पाट्यमाने(निक्खेवेत्ति,) निक्षिप्यमाणे दात्र्याः पीडा भवति । तथा स्वयं न परपीडां गणयतीति निन्दा तथा तद् भाजन कदाचिदुष्णभक्तादिभृतं स्यात्ततस्तस्योत्पाटने कथमपि तस्य च विधिनाशो दात्र्याः साधोर्वा दाह. स्यात् । तथा गुरुकस्य भि-क्षादानायोत्पादितमिदं भ्रममित्येवं खेदवशातः कदाचिदप्रीति-रुपजायते ततस्तत्र द्रव्यस्य द्रव्यवच्छेदः । तथा महति भाजने भग्ने तन्मध्ये स्थिते भक्तादौ सर्वतो विसर्पति भूम्यादिस्थित-पृथिवीकायादिजन्तुविनाशः। यत एवमेते दोषास्ततः स्तोके बहुकं बहुके बहुकमिति द्वौ भङ्गौ सर्वत्रापि न कल्पेते । एतदेवाह ।

थोवे थोवं छूढं, सुक्के उल्लं तु आइन्नं ।
बहुयं तु अणाइन्नं, कमदोसो त्ति काऊणं ।

स्तोके स्तोकम् उपलक्षणमेतत् । बहुके वा स्तोकं यन्निक्षिप्तं तदपि शुष्के शुष्कं कल्पते एव तत. । शुष्के आर्द्रे तुशब्दात् आ-र्द्रे शुष्कम् आर्द्रे आर्द्रे च तत् भवति । आचीर्णं कल्पते इति भावः । यत्तु बहुक स्तोके बहुके वा संन्हियते तत् अनाचीर्णं कुत इत्याह । स बहुकसंहार' कृतदोषोऽनन्तरगाथायामुक्तदोष इति कृत्वा, उक्त संहृतद्वारम् । अथ दायकद्वार गाथापङ्क्तेनाह ।

बाले वुड्ढे मत्ते, उन्मत्ते वेविए य जरिए य ।
अंधेल्लए पगलिए, आरूढे पाउयाहिं च ।
हत्थन्दुनियलबद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिं ।
तेरासिगुव्विणी बा-लवच्छभुंजंति फसुलेंती ॥
भज्जंती य दलंती य, कडुंती चेव तह य पीसंती ।
पिंजंती सेवंती, कन्नंति य मद्दमाणी य ।
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ॥
तं वा वोगाहंती, संघट्टंती रजंती य ॥
ससत्तेण य दव्वेण, लित्तहत्था य लित्तमत्ता य ।
उव्वत्तंती साहा-रणं व दिंती य चोरियं ॥
पाहुडियं व ठवंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स ।
आभोगमणाभोगे-ण दलंती वज्जणिज्जाए ॥

बालादौ या वर्जनीया इति क्रियायोगः । तत्र बालो जन्मतो वर्षाष्टकास्यान्तर्वर्ती १ वृद्धः सप्ततिवर्षाणां मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वा उपरिवर्ती २ मत्त पीतमदिरादि· ३ उन्मत्तो दृप्तो ग्रहगृहीतो वा ४ वेपमानः कम्पमानशरीरः ५ ज्वरितो ज्वररोगपीडितः ६ अन्धश्चक्षुर्विकलः ७ प्रगलितो गलत्कुष्ठः ८ आरूढपादुकयोः काष्ठमयोपानहो' । ९ । तथा हस्तान्दुना करविषयकाष्ठबन्धने १० निगडेन च पादविषयलोहमयबन्धनेन बद्धः ११ हस्ताभ्यां १२ पादाभ्यां वर्जितस्थितत्वात् ॥ १३ त्रैरा-शिको नपुंसकः १४ । गुर्वी आपन्नसत्वा ।१५। बालवत्सशून्यो-पजीविविशिशुका १५ भुञ्जाना भोजन कुर्वती १६ फसुलंती दध्यादि मन्थन्ती । १७ । भर्जयन्ती चुल्ल्यां कडिल्लकादिचन-कादि स्फोटयन्ती । १८ दलन्ती घरट्टेन गोधूमादि चूर्णयन्ती १९ कण्डयन्ती उदूखले तण्डुलादिकं कण्डयन्ती। २० पिषन्ती शिल-या तिलामलकादिप्रमृद्नन्ती २१ पिञ्जयन्ती पिञ्जनेन रुतादिकं विरलं कुर्वेती । २२ सेवन्ती कार्प्पासं लोठिन्यां लोठयन्ती २३ कृन्तन्ती कर्त्तनं कुर्वती । २४ । प्रमृज्यन्ती रुतकसान्या पौनः-पुन्येन विरलं कुर्वती २५ षट्कायव्यग्रहस्ता षट्काययुक्तहस्ता२६ यथा श्रमणस्य भिक्षामादाय तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७ तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती । २८ । संघट्टयन्ती तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवैनैव स्पृशन्ती । २९ । आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती । ३० । संसक्तेन दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता खरण्टितहस्ता । ३१ । तथाऽनेनैव द्रव्येण दध्यादिना संसक्तेन लिप्तमात्रा खरण्टि-तमात्रा । ३२ ।उद्वर्तयन्ती महत्पिठरादिकमुद्वर्त्य तन्मध्याद्ददती ३३ साधारणं बहूनां सत्कं ददती ३४ तथा चोरित ददती ३५ अग्रकूरादिनिमित्त मूलस्थाल्यामाकृष्य स्थगनिकादौ मुञ्चन्ती ३६ सप्रत्यपाया सम्भाव्यमानापाया दात्री ३७ तथा विवक्षितसा-धुव्यतिरेकेण परमन्यं साध्वादिकमुद्दिश्य यत् स्थापित तद्ददती ३८ तथाऽऽभोगेन साधूनामित्थ न कल्पत इति परिज्ञाप्यो-पपत्त्या शुद्धं ददती ३९ अथवा अनाभोगेनाशुद्धं ददती ४० सर्व-संख्यया चत्वारिंशद्दोषा. इह मूक्षितादिद्वारेषु "संसज्जिमेहि वज्ज अगारिहिएहिं पि गोरसदावेहिं"। इत्यादिग्रन्थेन ससक्तादिदो-षाणामभिधानेऽपि यद्भूयोऽप्यत्र "संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था-य लित्तमत्ताये" त्याद्यभिधानं तदशेषदायकदोषाणामेकत्रोपदर्श-नार्थमित्यदोष । संप्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्ज-नावर्जनविभागमाह ।

एएसि दायगाणं, गहणं केसिं वि होइ भइयव्वं ।
केसिं पीअग्गहणं, तव्विवरीए अवग्गहणं ॥

एतेषां बालादीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चिन्मूलत आरभ्य पञ्च-विंशतिसंख्यानां ग्रहण भजनीयं कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजन-मुद्दिश्य कल्पते शेषकाले नेति । तथा केषाञ्चित्षट्कायव्यग्रह-स्तादीनां पञ्चदशानां हस्ताद्ग्रहण भिक्षायाः तद्विपरीतेषु बा-लादिविपरीतेषु दातरि ध्रुवो ग्रहण सम्प्रति बालादीनां हस्तादितो भिक्षाया ग्रहणे ये दोषा. सम्भवन्ति ते दर्शनीयास्तत्र प्रथमतो बालमधिकृत्य दोषानाह ॥

केवुद्दिगअप्पाहि-ऊणं दिन्ने व नगगहणपज्जत्तं ।
खंतियमग्गणदिन्ने, उड्डाहं पउसचारत्तमा ॥

काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्यादिति निजपु-त्रिकां (अप्पाहिऊण त्ति) सन्दिश्य भक्तं गृहीत्वा क्षेत्र जगाम । गतायां तस्यां कोऽपि साधुः संघाटको भिक्षामागतः तया च बालिकया तस्मै तन्दुलौदनो वितीर्णः सोऽपि च संघाटकमुख्य-साधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगत्य लाम्पट्यतो भूयो भूय उवाच पुनर्देहि पुनर्देहीति ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तस्तत एव

मुरूपघृततक्रदध्यादिकमपि । अपराह्णे च समागता जननी उपविश्य भोजनाय भणिता निजपुत्रिका । देहि पुत्रि ! मह्यमोदनमिति । साऽब्रवीत् दत्तः समस्तोऽप्योदनः साधवे । साऽब्रवीत् शोभनं कृतवती । मुद्गान् मे देहि सा प्राह मुद्गा अपि साधवे सर्वे प्रदत्ताः । एवं यत् यत् किमपि सा याचते तत्तत्सर्वं साधवे दत्तमिति । ततः पर्यन्ते काञ्जिकमात्रं यावत्तदपि बालिका भणति साधवे दत्तमिति । ततः साऽभिनवश्राद्धिका रुष्टा सती पुत्रिकामेवमपवदति किमिति त्वया सर्वं साधवे दत्तं सा ब्रूते स साधुर्भूयो भूयो याचते ततो मया सर्वमदायि ततः सा साधोरुपरि कोपावेशमाविशन्ती सूरीणामन्तिकमगमत् । अचकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं यथा भवदीयो यः साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकायाः सकाशात् याचित्वा याचित्वा सर्वमोदनादिकमानीतवानिति । एवं तस्यां महता शब्देन कथयन्त्यां शब्दश्रवणतः प्रातिवेशिकजनोऽन्योऽपि च परंपरया भूयान्मिलितो ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्तान्तस्ततो विदधति तेऽपि कोपावेशिनः साधूनामवर्णवादम्, नूनममी साधुवेषविडम्बिनश्चारभटा इव लुण्टका न साधुसदृक्षा इति ततः प्रवचनावर्णवादापनोदाय सूरिभिस्तस्याः सर्वजनस्य च समक्षं स साधुर्निर्भर्त्स्योपकरणं च सकलमागृह्य सर्वजनैर्निष्काशितः । तत एवं तस्मिन्निष्काशिते श्राविकायाः कोपः शममगमत् । ततः सूरीणां क्षमाश्रमणमादायोक्तवती भगवन् ! मा मदीयमित्तमेष निष्काश्यतां क्षमस्वैकं ममापराधमिति । ततो भूयोऽपि यथावत्साधु शिक्षयित्वा प्रेषितः सूत्रं सुगमम् । नवरं (उड्डाहपओसचारभडा इति) लोके उड्डाहस्ततो लोकस्य प्रद्वेषभावतश्चारभटा इव लुण्टका अमी न साधव इत्यवर्णवादः । यत एवं बालाद्भिक्षाग्रहणे दोषास्ततो बालान्न ग्राह्यमिति ।

संप्रति स्थविरदायकदोषानाह ।

थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पमिज्ज वा देंतो ॥

अपहुत्ति य अचियत्तं, एगयरे वा उभयओ वा ।

अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति । ततो देयमपि वस्तु लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा । तथा कम्पमानहस्तो भवति । ततो हस्तकम्पने वशाद्देयं वस्तु भूमौ निपतति तथा च षड्जीवनिकायविराधना । स्वयं वा स्थविरो ददत् निपतेत् तथा च सति तस्य पीडा भूम्याश्रितषड्जीवनिकायविराधना च । अपि च प्रायः स्थविरो गृहस्याप्रभुरस्वामी भवति ततस्तेन दीयमानेन प्रभुः एव इति विचिन्त्य गृहे स्वामित्वेन नियुक्तस्य चित्त प्रद्वेषः स्यात् । स च एकतरस्मिन् साधौ गृहे वा यद्वा उभयोरपीति ।

मत्तोन्मत्तावाश्रित्य दोषानाह ।

अवयासभाणभेओ, वमणं असुइ त्ति लोगगरहा य ।

पंतावणं च मत्ते, वमणविवज्जा य उम्मत्ते ।

मत्तः कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गनं विदधाति भाजनं वा भिनत्ति । यद्वा कदाचित्पीतमासवं ददानो वमति वमश्च साधुं साधुपात्रं वा खरण्टयति । ततो लोके जुगुप्सा धिग् इमे साधवोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थं भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा कोऽपि मत्तो मदवशनिर्बलतया रे मुण्ड ! किमत्रायात इति ब्रुवन् घातमिति विदधाति नत एवं यतो मत्तेऽपायादयो दोषास्तस्मान्न ततो ग्राह्यम् । येन त एवालिङ्गनादयो दोषा वमनवर्जा उन्मत्तेऽपि तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति वेपितज्वरितावाश्रित्य दोषानाह ।

वेवियपरिसाडणया, पासे वत्थु भेज्ज भाणभेओ वा ।

एमेव य जरियम्मि वि, जरसंकमणं च उड्डाहो ।

वेपितात्तु दातुः सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुनः परिसातनं भवति यद्वा पार्श्वे साधुभाजनाद्बहिः स वेपितो देयं वस्तु क्षिपेत् यद्वा येन स्थाल्यादिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति तस्य भूमौ निपाते भेदः स्फोटनं स्यात् एवमेव ज्वरितेऽपि दोषा भावनीयाः । किंच ज्वरिताद्ग्रहणे ज्वरः संक्रमेण साधोर्मेयेत । तथा जने उड्डाहो यथा अहो अमी आहारलम्पटा यदित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षां गृह्णन्तीति ।

अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह ।

उड्डाहकायपडणं, अंधे भेओ य पासछुहणं च ।

तद्दोसी संकमणं, गलितभिसभिन्नदेहे य ॥

अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाहः । स चायमहो अमी औदरिका यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा सः सोऽपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघातं विदधाति । तथा लोष्टादौ स्खलितः सन् भूमौ निपतेत् । तथा च सति भिक्षादानायोत्पाटितहस्तगृहीतस्थाल्यादिभाजनभङ्गः । तथा स देयं वस्तु पार्श्वे भाजनबहिस्तात् प्रक्षिपेददर्शनात् तस्मादन्धादपि न ग्राह्यम् । तथा त्वग्दोषिणि किं विशिष्टे इत्याह । गलितं भृशं भिन्नदेहमत्रार्षत्वात् व्यत्यासेन पदयोजना सा चैव भृशमतिशयेन गलितमर्द्धपक्वं रुधिरं च बहिर्वहनाभिमुखं स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मिन् तद्दोषसंक्रमणं कुष्ठव्याधिसंक्रान्तिः स्यात् तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति पादुकारूढादिचतुष्टयदोषानाह ।

पाउयदुरूढपडणं, बद्धे परियाव असुइखिंसा य ।

करछिन्ना सुइखिंसा, तेच्चिय पायम्मि पडणं च ॥

पादुकारूढस्य भिक्षादानाय प्रचलतः कदाचिदुःस्थितत्वात् पतनं स्यात् । तथा बद्धे दातरि भिक्षां प्रयच्छति परितापो दुःखं तस्य भवेत् । तथा (असुइत्ति) तत्र पुरीषोत्सर्गादौ जलेन तस्याशौचकरणासंभवात् । ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा यथामी अशुचयो यदेतस्मादप्यशुचित्वयुक्तात् भिक्षामाददते इति । एवं छिन्नकरेऽपि भिक्षां प्रयच्छति लोके जुगुप्सा तथा हस्ताभावेन शौचकरणासंभवात् । एतच्चोपलक्षणं तेन हस्ताभावे येन कृत्वा भाजनेन भिक्षां ददाति यद्वा देयं वस्तु तस्य पतनमपि भवति । तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः । एत एव दोषाः यदि विच्छिन्नपादेऽपि दातरि द्रष्टव्याः केवलं पादाभावेन तस्य भिक्षादानाय प्रचलतः प्रायो नियमतः पतनं पातो भवेत्तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकादिकसत्त्वव्याघातः ।

संप्रति नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह ।

आयपरोभयदोसा, अभिक्खगहणम्मि खोभणनपुंसे ।

लोकदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेए वि ॥

नपुंसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोषः । तथाहि नपुंसकादभीक्ष्णं भिक्षाग्रहणे अतिपरिचयो भवति अतीव परिचयाच्च तस्य नपुंसकस्य साधोर्वा क्षोभो वेदोदयरूपः समुपजायते । ततो नपुंसकस्य साधुलिङ्गायाभिगमेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया कर्मबन्धः । अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचिद्भिक्षाग्रहणे दोषाभावमाह । परिचयाभावात् । तथा लोके जुगु-

प्ला यथैते नपुंसकादपि निकृष्टाद्भिक्षामाददते इति । साधूनाम-प्युपरि जनस्य शङ्का भवति तस्माद्यथैतेऽपि साधवो नूनमी-दृशा नपुंसकाः कथमन्यथाऽनेन सह भिक्षाग्रहणव्याजतोऽतिप-रिचयं विदधते इति । सम्प्रति गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषा-नुपदर्शयति ॥

गुव्विणिगब्भे संघ–ट्टणा उ उट्ठंतवेसमाणीए ।

बालाई मंसेडुग, मज्जाराई विराहिज्जा ।

गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्त्वा स्थाने उपवि-शन्त्याश्च गर्भे तस्य सघट्टन संचलनं भवति । तस्मान्न ततो ग्राह्यम् (बालाई मंसेडुगत्ति) अत्रार्षत्वाद्व्यत्यासेन पदयोजना (बा-लमिति) शिशु भूमौ मञ्चिकादौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां द-दाति तर्हि त बाल मार्जारादयो विडालसारमेयादयो मांसेण्डु-कादि मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेत् विनाश-येत् । तथा आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ भवतस्ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा भवेत् ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम् ।

भुञ्जानां मथ्नन्तीं चाश्रित्य दोषानाह ।

भुंजंती आयमणे, उदगं वोमी य लोगगरहा य ।

घुसुलंती संसत्ते, करम्मि लित्ते भवे रसगा ।

भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमन करोति आचमने च क्रि-यमाणे उदक विराध्यते । अथ न करोत्याचमन तर्हि लोके बो-द्दिरिति कृत्वा गर्हा स्यात् तथा (घुसुलती) दध्यादि मथ्नन्ती यदि तद्दध्यादिससक्तं मथ्नाति तर्हि तेन ससक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्य भिक्षां ददत्यास्तेषा रसजीवानां वधो भवति ततस्त-स्या अपि हस्तान्न कल्पते ।

सम्प्रति पेषणादिदोषानुपदर्शयति ।

दगबीए संघट्टण,पीसेण कंडदलभज्जणे डहणं ।

पिंजंतरुंजणाई, दिन्ने लित्ते करे उदगं ।

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदकवीज-संघट्टन स्यात् तथाहि पिषन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलादिसत्काः काश्चिन्मक्षिकाः सचित्ता अपि ह-स्तादौ लगिता. सम्भवन्ति ततो भिक्षादानाय हस्तादिप्रस्फोटने भिक्षां वा ददत्या भिक्षासपर्कतस्तासां विराधना भवति भिक्षां च दत्त्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् । ततः पेषणे उदकवीजसघट्टना । एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं भावनीयम् । तथा भर्जने भिक्षां ददत्या वेलालग्नेन कामिल्लक्षि-प्तगोधूमादीनां दहन स्यात् । तथा पिञ्जन रुञ्जनमादिशब्दात्क-र्तनप्रमर्दने च कुर्वती भिक्षां दत्त्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् ततस्तत्राप्युदकं विनश्यतीति न ततो भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्तादिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाह ।

लोणदगअगणिवत्थी, फलाइ मच्छाइ सजीयहत्थम्मि ।

पाएणोगाहणया, संघट्टणसेसकाएणं ॥

खणमाणी आरभये, मज्जणधोयइ सिंचए किंचि ।

छक्कायविसरणमाई, छिंदइ छड्डे फुरफुरंते ॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते यस्या हस्ते सजीवं लवण-मुदकमग्निर्वायुपूरितो वा वस्ति फलादिकं बीजपूरादिकं मत्स्या दयो वा विद्यन्ते ततः सा यद्येतेषां सजीवलवणादीनामादानं तदपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिप्तं तर्हि न कल्पते । तथा अवगाहना नामाद्यस्तेषां षड्जीवनिकायानां पादे संघट्ट-नं शेषकायेन हस्तादिना संमर्दनं सघट्टनमारभमाणा कुश्या-दिना भूम्यादि खनन्ती । अनेन पृथिवीकायारम्भ उक्तः । यद्वा मज्जन्ती शुद्धेन जलेन स्नान्ती अथवा धावन्ती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती यदि वा किञ्चिद्वृक्षवल्ल्यादिकं संचन्ती एते नाप्कायारम्भो दर्शितः । उपलक्षणमेतत् ज्वलयन्ती वा फूत्का-रेण वैश्वानरं वस्त्यादिकं वा सचित्तवातभृतमितस्ततः प्रक्षिप-न्ती एतेनाग्निवायुसमारम्भ उक्तः । तथा शोकादेश्छेदविशार-णे कुर्वती । तत्र छेदः पुष्पफलादेः खण्डन विशरणं तेषामेव ख-ण्डनां शोषणायोन्मोचनम् । आदिशब्दात्तन्दुलमुद्गादीनां शो-धनादिपरिग्रहः । तथा छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान् । मत्स्यादी-न् फुरफुरन्ते इति पोस्फूर्यमाणान् पीडयोद्वेजन इत्यर्थः । अनेन त्रसकायारम्भ उक्तः । इत्थ षड्जीवनिकायमारभमाणा-या हस्तान्न कल्पते ।

संप्रति षट्कायव्यग्रहस्त इति पदस्य व्याख्याने मतान्तरमु-पदर्शयति ।

छक्कायवग्गहत्था, केई कोलाइकन्नलइयाई ।

सिद्धत्थगपुप्फाणि य, सिरम्मि दिन्नाइ वज्जंति ।

केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेति वचनतः कोलादीनि वदरा-दीनि आदिशब्दात्करीरादिपरिग्रहः । (कन्नलयाइति) कर्णे पिनद्धानि तथा सिद्धार्थकपुष्पानि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ति । हस्तग्रहण हि तस्य पदस्य विशेषो डुरुपपादः ।

अन्ने भणंति दससु वि, एसणदोसेसु नत्थि तग्गहणं ।

तेण न वज्जं भन्नइ, तग्गहणं दायगहणे य ।

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति । यथा दशस्वपि शङ्कितादिषु ए-षणादोषेषु मध्ये तद्ग्रहण षट्कायव्यग्रहस्तेत्युपादानमस्ति तेन कारणेन लोकादियुक्तदशभिक्षाग्रहण न वर्ज्यं तदेतत्पाणीयो यत आह भण्यते अत्रोत्तरं दीयते । यत्तु दायकग्रहणादेषणादो-षमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेत्यस्य ग्रहणं विद्यते तत्कथमुच्यते न तद्ग्रहणमिति ।

सम्प्रति संसक्तिमद्द्राव्यादिदोषानाह ।

संसज्जिमंदि देसे, संसज्जमदव्वलित्तकरमत्ता ।

संचाए यचणाउ, उक्खिप्पंते वि ते चेव ॥

संसक्तिमति ससक्तिमद्द्रव्यवाति देशे मण्डले सक्तिमता द्रव्ये-ण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षां द-दती करविलग्नान् सत्वान् हन्ति । तस्मात्सा वर्ज्यते तथा म-हत् पिठरादेरपवर्तनं सचारः । सूत्रनात्सूत्रमिति सचारि-मत्कीटादिसत्वव्याघातः इदमुक्त भवति महत्पिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते नापि यथा तथा वा सचार्यते महत्त्वादेव किं तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत् ततस्तदाश्रित्य प्रायः की-टिकादयः सत्वा संभवन्ति । ततो यदा तत्पिठरादिकमुद्वर्त्य किंचिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः । एते च दोषा उत्पा-ट्यमानेऽपि महति पिठरादौ । तत्रापि हि भूयो निक्षिप्यमाणे हस्तसंस्पर्शतो वा सर्वार्त्तिमत्कीटिकादि सत्वव्याघात । अपि च तथाभूतस्य महत उत्पाटने दातुः पीडाऽपि भवति । तस्मात्र तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति साधारणं चोरित वा ददत्या दोषानाह ॥

साधारणं बहूणं, तत्थ उ दोसा जहेव अणिसट्ठे ।
चोरियए गहणाई, भयए सुण्हाइ वा देंते ॥

बहूनां साधारण यदि ददाति तर्हि तत्र यथा प्राक् अनिसृष्टे दोषा उक्तास्तथैव द्रष्टव्या.। तथा चौर्येण भृतककर्मकरै स्नुषादौ वा ददति ग्रहणादयो ग्रहणबन्धनताडनादयो दोषा द्रष्टव्यास्तस्मात्ततोऽपि न कल्पते । सम्प्रति प्राभृतिकास्थापनादिद्वारत्रयदोषानाह ॥

पाहुम ठविय दोसा, तिरिउड्ढमहे तिहा अवायाउ ।
धम्मियमाईठवियं, परप्परं संति यं वा वि ॥

प्राभृतिकाश्राद्धल्यादिनिमित्तं सस्थाप्य या ददाति भिक्षां तत्र दोषा. प्रवर्तनादय । संप्रत्यपायेति द्वारम्। अपायास्त्रिविधा तद्यथा तिर्यक् ऊर्ध्वमधश्च तत्र तिर्यग्गवादिभ्य ऊर्ध्वमुत्तर काष्ठादेरधः सर्पकण्टकादे' इत्थं च त्रिविधानामप्यपायानामन्यतममपाय बुद्ध्या संभावयन् ततो भिक्षां गृह्णीयात् "परचोद्देशेति" ॥ यदुक्त तत्राह धार्मिकाद्यर्थमपरसाधुकार्पटिकप्रभृतिनिमित्त यत्स्थापित तत्परस्य परमार्थत सबन्धीति न तद् गृह्णीयात् । तद्ग्रहणे अदत्तादानदोषसंभवात् । यद्वा परसत्कं मुञ्चति परस्य ग्लानादे सत्कं यद्ददाति तदपि स्वयमादातु न कल्पते अदत्तादानदोषात् किन्तु यस्मै ग्लानाय दापित तस्मै नीत्वा दातव्य स चेन्न गृह्णाति तर्हि भूयोऽपि दात्र्या समानीय समर्प्पणीयम्। यदि पुनरेवं दात्री वदति यदि ग्लानादिको न गृह्णाति तर्हि स्वय ग्राह्यमिति तर्हि ग्लानाद्यग्रहणे तस्य कल्पत इति ।

संप्रत्याभोगानाभोगदायकस्वरूपमाह ।

अणुकंपापडणीयट्ठं,याचंत कुणइ जाणमाणो वि ।
एसणदोसे वि इअ, कुणइ उ असढो अ याणंतो ॥

सदैवैते महानुभावा यतयोऽन्नप्रान्तमशनमश्नन्ति तस्मात्करोति तेषां शरीरोपष्टम्भाय घृतपूरादीनामित्येवमनुकम्पया यदि वा मयैतेषामनेषणीयाग्रहणनियमभङ्गो भक्तव्य इति प्रत्यनीकार्थतया जानन्नपि तान् आधाकर्मादिरूपानेषणादोषान् करोति द्वितीय सुकरोऽत्यजमानो ऽशठभावम्। तदेव व्याख्यानयति चत्वारिंशदपि वालादिद्वाराणि॥ सम्प्रति यदुक्त "एएसि दायगाण गहण केसिं वि होइ भइयव्वमित्यादि" तद्व्याचिख्यासु' प्रथमतो बालमाश्रित्य भजनामाह ॥

भिक्खामित्ते अवियल्ल–णा उ वालेण दिज्जमाणम्मि ।
संदिट्ठे वा गहणं, अइवहुयवियालणे गुन्ना ।

मातुः परोक्षे भिक्षामात्रे बालेन दीयमाने अविचारणा कल्पते इद न वेति विचारणाया अपि भाव. किंतु ग्रहण भिक्षाया भवति । अतिबहुके तु बालेन दीयमाने किमद्य त्व प्रभूत ददासीति विचारणे सति अनुज्ञा पार्श्ववर्तिमात्रादिसत्कमुत्कलना भवति तदा ग्राह्य नान्यथा । सम्प्रति स्थविरमत्तविषया भजनामाह ।

थेरपहु थरथरंते, धरिए अन्नेण दढसरीरे वा ।
अव्वत्तमत्तसड्ढे, अविब्भले वा असागारिए ।

स्थविरो यदि प्रभुर्भवति (थरथरति त्ति) कम्पमानो यदि अन्येन विधृतो वर्तते स्वरूपेण वा दृढतरशरीरो भवति तर्हि तत. कल्पते । यथा अव्यक्त मनाक् यो मत्त सोऽपि च यदि श्राद्धोऽविह्वलश्चापरवशश्च भवति । तस्मादेवविधान्मत्तात् तत्र सागारिको न विद्यते तर्हि कल्पते नान्यथा। उन्मत्तादिचतुष्कविषयां भजनामाह ।

सुइभद्दगदित्ताई–दढग्गहो वेविए जरम्मि सिवे ।
अन्नधरियं तु सढो, देयं धन्नेण वा धरियं ।

उन्मत्तो दृप्तादिर्दृप्तो महगृहीतादिः स चेत् शुचिर्भद्रकश्च भवति तदा तद्धस्तात्कल्पते नान्यदा । वेपितोऽपि यदि दृढहस्तो भवति न हस्तेन गृहीत किमपि तस्य पतति तदा तस्मादपि कल्पते । ज्वरितादपि ग्राह्यम। ज्वरे सिवे सति। अन्धोऽपि यदि देयं वस्तु अन्येन पुत्रादिना धृत ददाति स्वरूपेण श्राद्धश्च यदि वा स एवान्धोऽन्येन विधृत. सन् देयं ददाति तर्हि ततो ग्राह्य नान्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । त्वग्दोषादिपञ्चविषयां भजनामाह ।

मंमलपसुत्तिकुट्ठी,असागरिए पाउया गए अयले ।
कमट्ठेडेसवियारे, इयारविद्धे असागरिए ।

मण्डलानि वृत्ताकारदद्रविशेषरूपाणि प्रसूतिर्नखादिविदारणेऽपि चेतनाया असंभवात्तद्रूपो य. कुष्ठो रोगविशेष. सोऽस्यास्तीति मण्डलप्रभृतिकुष्ठी स चेदसागारिके सागारिकाभावे ददाति तर्हि तत. कल्पते न शेषकुष्ठिन सागारिके वा पश्यति पादुकारूढोऽपि यदि भवत्यचलस्थानस्थितस्तदा कारणे सति कल्पते । तथा क्रमयो. पादयोर्बद्धो यदि सविचार इतश्चेतश्च पीडामन्तरेण गन्तु शक्तस्ततो बद्धादपि तस्मात्कल्पते । इतरस्तु य इतश्चेतश्च गन्तुमशक्त' स चेदुपविष्ट. सन् ददाति न च कोऽपि च तत्र सागारिको विद्यते तर्हि ततोऽपि कल्पते हस्तबद्धस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोति तत्र प्रतिषेध एव न भजना उपलक्षणमेतत् । तेन छिन्नकरोऽपि यदि सागारिकाभावे ददाति तर्हि न कल्पते छिन्नपादो यद्युपविष्ट. सन् सागरिकासपाते प्रयच्छति ततस्ततोऽपि कल्पते । नपुसकादिसप्तकविषयां भजनामाह ।

पिंमग अप्पडिसेवी, वेलायणजीविघेरियरसव्वं ।
उक्खित्तमणावाए, अकिंचिलग्गे ठवंतीए ॥

नपुसको यदि अप्रतिसेवी लिङ्गाद्यनासेवकस्तर्हि ततः कल्पते तथा आपन्नसत्वाऽपि यदि (वेलत्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् वेला मासप्राप्ता न भवति । नवममासगर्भा यदि भवतीत्यर्थ तर्हि स्थविरकल्पिकै परिहार्या । अर्थात्तद्विपरीताया हस्तात्स्थविरकल्पिकानामुपकल्पते इति द्रष्टव्यम। तथा याऽपि बालवत्सा स्तन्यमात्रोपजीविशिशुका सा स्थविरकल्पिकानां परिहार्या न ततः स्थविरकल्पिकानामपि कल्पते किमपीति भाव. । यस्यास्तु बाल आहारेऽपि लगति तस्या हस्तात्कल्पते । स हि प्राय शरीरेण महान् भवति ततो न मार्जारादिविराधनादोषप्रसङ्ग. । ये तु भगवन्तो जिनकल्पिकास्ते मूलत एवापन्नसत्वा बालवत्सां च सर्वथा परिहरन्ति । एव भुञ्जानाभर्जमानादलन्तीष्वपि भजना भावनीया। सा चैवं भुञ्जाना अनुच्छिष्टा सती यावदद्यापि न कवलं मुखे प्रक्षिपति तावत्तद्धस्तात्कल्पते । भर्जमानाऽपि यत्सचित्त गोधूमादिकडिल्लके क्षिप्तं तद्भ्रष्टोत्तारितमन्यच्च नोऽद्यापि हस्तेन गृह्णाति अत्रान्तरे यदि साधुरायातो भवति सा चेद्ददाति तर्हि कल्पते । तथा दलयन्ती सचित्तमुद्गादिना दल्यमानेन सह घरट्टं मुक्तवती अत्रान्तरे च साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति अचेतन वा भ्रष्टं मुद्गादिकं दलयति तर्हि तद्धस्तात्कल्पते । कण्डयन्त्या. कण्डनायोत्पाटित मुशल न च तस्मिन् मुशले किमपि काञ्च्या बीजं लग्नमस्ति अत्रान्तरे च समायातः साधुस्ततो यदि साऽनपाये प्रदेशे मुशले स्थापयित्वा भिक्षां ददाति तर्हि कल्पते पिपन्त्यादिविषयां भजनामाह ॥

पीसंती निप्पिट्ठे, फासं वा फुसुअणे असंसत्तं ।
कत्तए असंखचुन्नी, चिन्ने वा जा अवोक्खलिणी ॥
उव्वट्टेण असंस-त्तेण वि अट्ठिजए न घट्टेइ ।
पिंजणपमद्दणेसु य, पच्छाकम्मं जहा नत्थि ॥

पिषन्ती निष्पिष्टे पेषणपरिसमाप्तौ प्रासुकं वा पिषन्ती यदि ददाति तर्हि तस्या हस्तात्कल्पते। तथा फुसुकरणे असंसक्तं दध्यादि मन्थन्त्याः कल्पते। तथा कर्तने या अशंखचूर्णशंखचूर्णखरण्टितहस्तं कृन्तति। इह काचित् स्विन्नस्यातिशयस्वेदतापनोदाय शंखचूर्णेन हस्तौ जङ्घां च खरण्टयित्वा कृन्तति तत उच्यते। अशंखचूर्णमिति। अथवा चूर्णमपि शंखचूर्णमपि अग्रहस्तात्कृन्तन्ती या (अवोक्खलिणी) अमुक्ताशीलानां जलेन हस्तौ प्रक्षालयतीति भाव। तस्या हस्तात्कल्प्यते। तथा उद्वर्त्तनेन कार्पासलोठने (असंसत्तेण वा विचि) असंसक्तेनागृहीतकार्पासेन हस्तेनोपलक्षिता सती यदि उत्तिष्ठति (अट्ठिजयत्ति) अर्थिकान् कार्पासिकानित्यर्थः। न घट्टयति तदा तद्धस्तात्कल्पते। पिञ्जनप्रमर्दनयोरपि पश्चात्कर्म न भवति। तथा ग्राह्यमिति।

सेसेसु य पडिवक्खे, न संभवइ कायगहणमाईसु ।
पडिवक्खस्स अभावे, नियमाउ भवे तदग्गहणं ॥

शेषेषु कायेषु (कायगहणमाईसु) षट्कायव्यग्रहस्तादिषु प्रतिपक्ष उत्सर्गापेक्षयाऽपवादरूपो न विद्यते न संभवति ततः प्रतिपक्षस्याभावो नियमात् भवति। तथा ग्रहणमिति। उक्तं दायकद्वारम्। अथोन्मिश्रद्वारमाह।

सचित्ते अचित्ते, मीसगउम्मीसगम्मि चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह यन्नोन्मिश्र्यते ते द्वे अपि वस्तुनी त्रिधा। तद्यथा सचित्ते अचित्ते मिश्रे च। तत उन्मिश्रके मिश्रकतश्चतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचनं ततस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति वेदितव्यम्। तत्र प्रथमा सचित्तमिश्रपदाभ्यां द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्यामिति। तत्र सचित्तमिश्रपदाभ्यामियं सचित्ते सचित्तम्। मिश्रे सचित्तम्। सचित्ते मिश्रम्। मिश्रे मिश्रमिति। द्वितीया त्वियं। सचित्ते सचित्तम्। अचित्ते सचित्तम्। सचित्ते अचित्तम्। अचित्ते अचित्तमिति। तृतीया इयं मिश्रे मिश्रम्, अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति। तत्र गाथापर्यन्ते तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाद्यायां चतुर्भङ्गिकायां सकलायामपि प्रतिषेधः विशेषचतुर्भङ्गीद्वये प्रत्येकमादित्रिके आदिमेषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे तु भङ्गे भजना वक्ष्यमाणा।

अत्रैवातिदेशं कुर्वन्नाह।

जह चेव य संजोगा, कायाणं हेट्ठओ य साहरणे ।
तह चेव य उम्मीसे, होइ विसेसोइमो तत्थ ॥

यथा चैवाधः प्राक् संहरणद्वारे कायानां पृथिवीकायानां सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नाना स्वस्थानपरस्थानाभ्यां संयोगभङ्गाः प्रदर्शिता द्वात्रिंशदधिकचतुःशतसंख्याप्रमाणास्तथैवोन्मिश्रेऽपि उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा। सचित्त पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकाये उन्मिश्रे उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा सचित्तः पृथिवीकायः सचित्ताप्काये उन्मिश्रे इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया षट्त्रिंशत्संयोगाः एकैकस्मिंश्च संयोगाः सचित्तमिश्रपदाभ्यां सचित्ताचित्तपदाभ्यां मिश्राचित्तपदाभ्यां च प्रत्येकं चतुर्भङ्गीति द्वादशभिर्गुणिता जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि न तु संहिते उन्मिश्रे च। सचित्तादिवस्तुनः सचित्तादिवस्तुनिक्षेपान्नास्ति परस्परं विशेषः। अत आह तत्र तयोः संहृतोन्मिश्रयोर्भवति परस्परमर्थविशेषो वक्ष्यमाणः। तमेवाह।

दायव्वमदायव्वं च, दोवि दव्वाइ देइ मीसाइं ।
ओयणकुसुणाईणं, साहरणतयम्मि हिं छोढुं ॥

दातव्यं साधुदानयोग्यमितरददातव्यं तच्च सचित्तं मिश्रं तुषादिर्वा ते द्वे अपि द्रव्ये मिश्रयित्वा यद्ददाति यथौदनं कुथितेन दध्यादिना मिश्रयित्वा तत उन्मिश्रे एवंविधमुन्मिश्रलक्षणमित्यर्थः। संहरणं तु यद्भाजनस्थमदेयं वस्तु तदन्यत्र क्वापि स्थगनिकादौ संहृत्य ददाति। ततोऽयमनयोः परस्परं विशेषः द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कचतुर्भङ्गीभजनामाह।

तं पि य सुक्खे सुक्खं, भंगा चत्तारि जहेव साहरणे ।
अप्पबहुए वि चउरो, तहेव आइन्नणाइन्ने ॥

यदि च तदचित्तं मिश्रयति तदपि तत्रापि शुष्के शुष्कं मिश्रितमित्येवं भङ्गाश्चत्वारो यथा संहरणे। तद्यथा शुष्कमुन्मिश्रं शुष्के शुष्केआर्द्रमार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रमिति। तत एकैकस्मिन् भङ्गे संहरणे इव अल्पबहुत्वे अधिकृत्य चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं, स्तोके शुष्के बहुकं शुष्कमिति। एवं शुष्के आर्द्रमित्यादावपि भङ्गत्रिके प्रत्येकं चतुर्भङ्गी भावनीया सर्वसंख्यया भङ्गाः षोडश। तथा तथैव संहरणे इव आचीर्णानाचीर्णे कल्प्याकल्प्यमुन्मिश्रे ज्ञातव्याः। तद्यथा शुष्के शुष्कमित्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां प्रत्येकं यौ द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तोके स्तोकमुन्मिश्रं बहुके स्तोकमित्येवंरूपौ तौ कल्प्यौ दातृपीडादिदोषाभावात् स्तोके बहुकं बहुके बहुकमित्येवंरूपौ तु यौ द्वौ भङ्गौ तावकल्प्यौ तत्र दातृपीडादिदोषसंभवात् शेषाभावना यथासंभवं संहरणं इव कर्तव्या। उक्तमुन्मिश्रद्वारम्।

इदानीमपरिणतद्वारमाह ॥

अपरिणयं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमिक्किक्कं ।
दव्वम्मि होइ छक्कं, भावम्मि य होइ सज्झिलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविधं तद्यथा द्रव्ये द्रव्यत्वविषयं भावे भावत्वविषयं द्रव्यरूपमपरिणतं भावत्वमपरिणतं चेत्यर्थः। पुनरप्येकैकं दातृगृहीतृसम्बन्धात् द्विधा। तद्यथा द्रव्यापरिणतं दातृसत्कं च एवं भावापरिणतमपि। तत्र द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह।

जीवत्तम्मि अविगए, अपरिणयं परिणयं गए जीवे ।
दिट्ठंतो दुद्धदही, इय अपरिणयं परिणयं तं व ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अभ्रष्टे पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते गते तु जीवे परिणतम्। अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी। यथाहि दुग्धत्वात्परिभ्रष्टं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते दुग्धभावे चावस्थिते अपरिणतमेव पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वात्परिभ्रष्टमपरिणतमुच्यते जीवेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति। ते च यदा दातुः सत्तायां वर्तन्ते तदा दातृसत्कं यदा तु ग्रहीतुः सत्तायां तदा ग्रहीतृसत्कमिति।

सम्प्रति दातृविषयं भावापरिणतमाह।

दुगमाइसामन्नं, जइ परिणमइ तत्थ एगस्स ।
देमि त्ति न सेसाणं, इय अपरिणयं भावओ एयं ॥

एव द्विकादिसामान्ये भ्रात्रादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद्ददामीत्येवं भाव· परिणमति शेषाणाञ्चैतत् तद्भावतोऽपरिणमतां तद्भावपेक्षया देयतयाऽपरिणतमित्यर्थ । अथ साधरणानिसृष्टस्य दातृभावपरिणतस्य च कः परस्पर प्रतिविशेष· उच्यते साधारणानिसृष्ट दायकपरोक्षत्वे दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति । संप्रति गृहीतविषय भावापरिणतमाह ।

एगेण वा वि तेसिं, मणम्मि परिणामियं न इयरेण ।

तं पि हु होइ अगेज्झं,सज्झिलगा सामिसाहू य ।।

एकेनापि केनचित् अग्रेतनेन पाश्चात्येन वा एषणीयमिति मनसि परिणमितं न इतरेण द्वितीयेन तदपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधूनामग्राह्य शङ्कितत्वात्कलहादिदोषसम्भवाच्च । सम्प्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह(सज्झिलगेत्यादि) तत्र दातृविषयं भावापरिणतं भ्रातृविषयं स्वामिविषय च ग्रहीतृविषय भावापरिणतं साधुविषयम् । उक्तमपरिणतद्वारम् । सम्प्रति लिप्तद्वार वक्तव्य तत्र लिप्त यत्र दध्यादिद्रव्यलेपो लगति तच्च न ग्राह्यम् ।

घेत्तव्वमलेवकडं, लेवकडे मा हु पच्छकम्माई ।

न य रसगेहि पसंगो, इइ वुत्ते चोयगो भणइ ।।

इह साधुना सदैव ग्रहीतव्यमलेपकृत वल्लचनकादि मा भूवन् लेपकृति गृह्यमाणे पश्चात्कर्मादयो दध्यादिलिप्तहस्तादिप्रक्षालनादिरूपा दोषा· आदिशब्दात्कीटिकादिसंसक्तवस्त्रादिप्रोञ्छनादिपरिग्रह· । अतो लेपकृन्न ग्रहीतव्यम । अलेपग्रहणे गुणमाह । न च सदैवालेपकृतो ग्रहणे रसगृद्धिप्रसङ्गो रसान्यवहारलाम्पट्यवृद्धिस्तस्मात्सदेव साधुभि· सदैवान्यवहार्यम् । एवमुक्ते सति चोदको भणति ।

जइ पच्छ कम्मदोसा, हवंति मा चेव भुंजउ सययं ।

तवनियमसंजमाणं, चोयगहाणी खमंतस्स ।।

यदि लेपकृद्ग्रहणे पश्चात्कर्मदोषा· पश्चात्कर्मप्रभृतयो दोषा भवन्ति ततस्तन्न गृह्यते तर्हि मा कदाचनापि साधुर्भुङ्क्ताम् । एवं हि दोषाणां सर्वेषां मूलत एवोत्थान निषिद्धं भवति । सूरिराह हे चोदक ! सर्वकाल क्षमापयतोऽनशनतपोरूपं क्षपणं कुर्वतः साधोश्चरमकालभवे तपोनियमसंयमानां हानिर्भवति तस्मान्न यावज्जीव क्षपण कार्यम् । पुनरपि पर आह यदि सर्वकाल क्षपणं कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासक्षपण कृत्वा पारणकमलेपकृता विधुसम् । गुरुराह यद्येवं कुर्वन् तप संयमयोगान् कर्तुं शक्नोति तर्हि करोतु न कोऽपि तस्य निषेध· । ततो भूयोऽपि चोदको ब्रूते । यद्येवं तर्हि षण्मासान् उपोष्याचाम्लेन भुङ्क्तां न तेन तच्छक्नोति तत एकादिनहान्या तावत्परिभावयेत् यावच्चतुर्थमुपेत्याचाम्लेन पारणक करोति एव "मप्यसस्तरेणत्ति" सदैवालेपकृन्न गृह्णीयात् । अमुमेव गाथया निर्दिशति ।

सिंचंति भाणिऊणं,छम्मासा हायए चउत्थं तु ।

आयंबिलस्स गहणं, असंथरे अप्पलेवं तु ।

लिप्त सदोषमिति भणित्वा अलेपकृतभोक्तव्य तीर्थकरगणधरैरनुज्ञातमिति गुरुवचनम् अत्र चोदक आह । यावज्जीवमेवनभुङ्क्तां न चेत् यावज्जीवमभोजने न शक्नोति तर्हि षण्मासानुपोष्य आचाम्लेन भुङ्क्तां न चेदेवमपि शक्नोति तत एकादिनाऽपि हान्या तावदात्मानं तोलयेत् यावच्चतुर्थमुपोष्याचाम्लस्य ग्रहण करोतु एवमप्यसंस्तरेण अशक्तौ अल्पलेप गृह्णन् पानमेव गाथाद्वयेन विवृणोति

आयंबिल पारणए,छम्मासनिरंतरं तु खविऊणं ।

जइ न तरइ छम्मासे, एगदिणूण तओ कुणइ ।

एवं एक्केक्कदिणं, आयंबिलपारणं ठवेऊण ।

दिवसे दिवसे गिण्हउ, आयंबिलमेव निल्लेवं ।

यदि सर्वकाले क्षपण कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासान्निरन्तरं क्षपयित्वा पारणके आचाम्ल करोतु । यदि षण्मासानुपवस्तुं न शक्नोति तत एकदिनोन तु करोतु । एव षण्मासावधिरेकैकदिन परित्यज्याचाम्लेन पारणक तावत्करोतु यावच्चतुर्थमेवमप्यशक्तौ प्रतिदिनं निर्लेपमाचाम्लमेव गृह्णातु ।

जइ से न जोगहाणी, संपइए से व होइ तो खमओ ।

खमणंतरेण आयं–विलं तु निययं तवं कुणइ ।

यदि (से) तस्य साधो· सम्प्रति दात्री एष्यति वा कालेन योगहानिः सम्प्रत्युपेक्षणादिरूपसंयमयोगभ्रंशो न भवति तर्हि भवानुक्षपकः षण्मासाद्युपकर्ता तत्र च क्षपकमानानामेकैकदिनहान्या पूर्वोक्तस्वरूपाणामनन्तरं यावत्षण्मासावधिरूपोऽय करोतु एवमप्यशक्तौ नियतं सदैव आचाम्लरूप तप· करोतु केवलं सम्प्रति सेवार्तसंहननानां नास्ति तादृशी शक्तिरिति न तथोपदेशो विधीयते । पुनरपि पर आह ॥

हिंडावणिकोसलगा, सोवीरगत्तरभोयणो मणुया ।

जइ ति विजयंति तहा, किं नाम जई न जावेंति ।।

अथो वा मम ये महाराष्ट्रा· कोशलका कोशलदेशोद्भवा· सदैव सौवीरककूरमात्रभोजिनस्तेऽपि च सेवार्तसंहननास्ततो यदि तेऽपीत्थ यापयन्ति यावज्जीव तर्हि तथा सौवीरकमात्रभोजनेन किञ्च यतयो मोक्षगमनकरिष्यत्का यापयन्ति ते· सुतरामेव यापनीय प्रभूतगुणसंभवात् । अत्र सूरिराह ॥

तिय सीयं समणाणं, तिय उण्हं गिहीण तेणणुन्नायं ।

तक्काईणं गहणं, कठरमाईसु भइयव्वं ।।

त्रिक वक्ष्यमाण शीत श्रमणानां तेन प्रतिदिवसमाचाम्लकरणे तक्राद्यभावत आहारपाकासम्भवेनाजीर्णादयो दोषा· प्रादुःष्यन्ति तदेव त्रिकमुक्त गृहिणां तेन सौवीरकमात्रभोजनेऽपि तेषामाहारपाकभावतो नाजीर्णादिदोषा जायन्ते ततस्तेषां तथा प्रयततामपि न कश्चिद्दोष· साधूनां तूक्तनीत्या दोषास्तेन कारणेन तक्रादिग्रहण साधूनामनुज्ञातम । इह प्रायो यतिना विकृतिपरिभोगपरित्यागेन सदैवात्मशरीर यापनीय कदाचिदेव च शरीरस्यापाटवे संयमयोगवृद्धिनिमित्त बलाभोमायविकृतिपरिभोग· । तथा चोक्त सूत्रे " अभिक्खण निव्विगइ गया य इत्ति " निर्विकृतिपरिभोगे च तक्राद्येवोपयोगीति तक्रादिग्रहण कठरादिषु घृतवटिकोम्मिश्रतीमनादिषु ग्रहण भाज्य विकल्पनीयम । ग्लानत्वादिप्रयोजनोत्पत्तौ कार्ये न दोषकालमिति तेषां बहुलेपत्वात् गृद्ध्यादिजनकत्वाच्च । अथ किं तत्त्रिकमित्यत आह ॥

आहार उवहि सेज्जा,तिन्नि वि उण्हा गिहीण सीए वि ।

तिन्नि उ जीरइ तेसिं, उहउ उसिणेण आहारो ।।

आहार उपधिः शय्या त्रीण्यपि गृहिणां शीतेऽपि शीतलेऽपि उष्णानि भवन्ति ततो जीर्यते विग्रहमन्तरेणापि (उहउत्ति) उभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चोष्णेन तापेनाहारो जीर्यते । तत्राभ्यन्तरो भोजनवशात् बाह्य शय्योपधिवशात् ॥

एयाई वि य तिन्नि वि, जईण सीयाइं होंति गिम्हे वि ।
तेणुवहम्मइ अग्गी, तत्तो य दोसो अजीरणाइ ॥

एतान्येव आहारोपधिशय्यारूपाणि त्रीणि यतीनां ग्रीष्मेऽपि ग्रीष्मकालेऽपि शीतानि भवन्ति तत्राहारस्य शीतता भिक्षाचर्यायां प्रविष्टस्य बहुकगृहेषु स्तोकस्तोकलम्भेन भूयसा कालेन उपधेरेकमेकवार वर्षमध्ये वर्षाकालादर्वाक् प्रक्षालनेन मलिनत्वात् । शय्यायास्तु प्रत्यासन्नाग्निकरणाभावेन तेन कारणेन ग्रीष्मकालेऽप्याहारादीनां शीतत्वसंभवरूपेणोपहन्यते । अग्निर्जाठरो वह्निः । तस्माच्चाग्न्युपघाती दोषाः (अजीरणाइत्ति) अजीर्णबुभुक्षामान्द्यादयो जायन्ते । ततस्तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातं तक्रादिनापि हि जाठरोऽग्निरुद्दीप्यते तेषामपि तथा समाधत्वात् । संप्रत्यलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति ।

ओयणमंडगसत्तुय-कुम्मासरायमासकलवट्टा ।
तुयरि मसूरि मुग्गा-मासा य अलेवकडा सुक्खा ॥

ओदनस्तन्दुलादिभक्तं मण्डका कणिक्कमयाः प्रतीता एव । शक्तवो यवा क्षोदरूपा । कुल्माषा उडदाः राजमाषाः सामान्यतश्चवलाः श्वेतचवलिका वा । कला वृत्तचनकाः सामान्येन वा चनका । तुवरा आढकी । मसूरा द्विदलविशेषाः । मुद्गा माषाश्च प्रतीता । चकारादन्येऽप्येवंविधधान्यविशेषाः शुष्का अनार्द्रा अलेपकृताः । संप्रत्यल्पलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति ॥

उब्भिज्जपेज्जकंगु, तक्कोल्लणसूवकंजिकढियाइं ।
एए उ अप्पलेवा, पच्छा कम्मं तहा जइयं ॥

उद्भेद्या वस्तुलप्रभृतिशाकभर्जिका पेया यवागूः कङ्गुः कोद्रवौदनः । तक्रं तक्राख्यम् उल्लणं येनौदनमनार्द्रीकृत्योपयुज्यते । सूपो राद्धमुद्गदाल्यादि काञ्जिकं सौवीरं क्वथितं तीमनादि । आदिशब्दादन्यस्यैवंविधस्य परिग्रहः । एतानि द्रव्याण्यल्पलेपानि । एतेषु पश्चात्कर्म भाज्यं कदाचिद्भवति । कदाचिन्नेति भावः । संप्रति बहुलेपानि द्रव्याणि दर्शयति ॥

खीरदहिजादिकट्टर, तेल्लघयं फाणियं सपिंडरसं ।
इच्चाई बहुलेवं-पच्छा कम्मं तहिं नियमा ॥

क्षीरं दुग्धं दधि प्रतीतं क्षीरपेया कट्टरं प्रासुकस्वरूपं तैलं घृतं च प्रतीतं फाणितं गुडपानकं सपिण्डरसम् अतीचारसाधिकं खर्जूरादि इत्यादि द्रव्यजातं बहुलेपं द्रव्यम् । तत्र च पश्चात्कर्म नियमतः । अत एव यतयो दोषभीरवस्तानि न गृह्णन्ति । यदुक्तं "पच्छाकम्मं तहिं भइयंति" । सम्प्रति तामेव भजनामष्टभङ्गिकया दर्शयति ॥

संसट्ठेयरहत्थो, मत्तो वि य दव्वसावसेसियरं ।
एएसु अट्ठभंगा, नियमा गहणं तु एएसु ॥

दातुः संबन्धी हस्तः संसृष्टोऽसंसृष्टो वा भवति । येन च कृत्वा भिक्षां ददाति तदपि मात्रं संसृष्टमसंसृष्टं वा द्रव्यमपि सावशेषमितरद्वा असावशेषम् । एतेषां च त्रयाणां पदानां संसृष्टहस्तासंसृष्टमात्रसावशेषद्रव्यरूपाणां समतिपक्षाणां परस्परं संयोगतोऽष्टौ भङ्गा भवन्ति ते चामी । संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् । १ । संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ २ ॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ३ ॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ४ ॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ५ ॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ६ ॥ असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ७ ॥ असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ८ ॥ एतेषु चाष्टसु भङ्गेषु मध्ये नियमाद्विशेषेण ओजस्सु विषमेषु भङ्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमेषु ग्रहणमादानं कर्तव्यम् न समेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमरूपेषु । इयं चात्र भावना । इह हस्तो मात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे भवतोऽसंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म संभवति किं तर्हि द्रव्यवशेन तथा हि यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैते साध्वर्थं खरण्टिते अपि न दात्री प्रक्षालयति भूयोऽपि परिवेषणसंभवात् । यत्र तु निरवशेषं द्रव्यं तत्र साधुदानानन्तरं नियमतस्तद्द्रव्याधारस्थाली हस्तं मात्रं वा प्रक्षालयति । ततो द्वितीयादिषु भङ्गेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्मसंभवान्न कल्पते प्रथमादिषु न पश्चात्कर्मसंभवस्ततः कल्पते इति । उक्तं लिप्तद्वारम् । अथ छर्दितद्वारमाह ॥

सचित्ते अचित्ते-मीसग तह छड्डणे य चउभंगे ।
चउभंगे पडिसेहो, गहणे आणाइणो दोसा ॥

छर्दितमुज्झितं त्यक्तमिति पर्यायाः तच्च त्रिधा तद्यथा सचित्तमचित्तं मिश्रं च तदपि च । कदाचिच्छर्द्यते सचित्ते सचित्तमध्ये कदाचिदचित्ते कदाचिन्मिश्रे तत एवं छर्दिते सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामाधारभूतानामाधेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनं ततोऽयमर्थस्तिस्रश्चतुर्भङ्गयो भवन्ति । तद्यथा सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया । तत्र सचित्ते सचित्तं छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति । प्रथमा । सचित्ते सचित्तम्, अचित्ते सचित्तं, सचित्ते अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्रम् अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया । सर्वसंख्यया द्वादश भङ्गाः । सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तपृथिवीकायमध्ये छर्दितं इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थानाभ्यां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् विकल्पास्तत षट्त्रिंशत् द्वादशभिर्गुणितानि जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि । एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो भक्तादिग्रहणे निवारणम् । यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञादय आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपदोषाः । इहाद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादौद्देशिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः । संप्रति छर्दितग्रहणे दोषानाह ।

उसिणस्स छड्डणे दें-ते उवडज्झेज्ज कायदाहो वा ।
सीयपडणम्मि काया, पमिए महु विंदुआहरणं ॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने समुज्झने ददमानो वा भिक्षां दह्येत भूम्याश्रितानां वा कायानां पृथिव्यादीनां दाहः स्यात् । शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः कायाः पृथिव्यादयो विराध्यन्तेऽत्र पतिते मधुविन्दूदाहरणम् । वारत्तपुरं नाम नगरं तत्राभयसेनो नाम राजा तस्यामात्यो वारत्तकोऽन्यदा चात्वरितमचपलमसम्भ्रान्तमेषणासमितिसमितो धर्मघोषनामा यतो भिक्षामटन् तस्य गृहं प्राविशत् । तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय प्रभूतघृतखण्डसम्मिश्रपायसभृतस्थालीमुत्पाटितवती । अत्रान्तरे च कथमपि ततः खण्डमिश्रो घृतविन्दुर्भूमौ निपतितः । ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वंसहः शङ्ख इव रागादिनिरञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेय छर्दितदोषदुष्टा तस्मान्न मे कल्पते इति परिभाव्य ततो निर्जगाम । वारत्तकेन चामात्येन मत्तवारणस्थि-

तेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन् चिन्तयति च स्वचेतसि किमनेन भगवता न गृह्यतेऽस्मद्गृहे भिक्षेति । एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तद्भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतबिन्दु मक्षिकाः समागत्याऽऽश्रयन् तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका गृहगोधिकाया अपि विघाताय चलित सरट तस्यापि च भक्षणाय प्रधावतिस्म मार्जारी तस्या अपि च वधाय प्रधावित प्राघूर्णक श्वा तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यश्वा ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरभूत्परस्पर कलहस्ततः स्वस्वसारमेयपराभवदूनमनस्कतयोः प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्पर महद्युद्धम् । एतच्च सर्वं वारत्तकामात्येन परिभावितं ततश्चिन्तयति स्वचेतसि घृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यतः एवमधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतबिन्दुं भूमौ निपतितमवलोक्य भिक्षां न गृहीतवान् । अहो सुदृष्टो भवति प्राप्तधर्मा को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिन धर्ममुपदेष्टुमीशो न खल्वन्धो रूपविशेषं जानाति । एवमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपाय धर्ममुपदेष्टुमलम् । तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः । एष च मे जिनो देवता तदुक्तमेव वाऽनुष्ठान मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखक्षो मुक्तिवनिताश्लेषसुखलम्पटसिंह इव गिरिकन्दरया निजप्रासादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत् । स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्याये भावितान्त करणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य जातप्रततकर्मा समुच्छलितदुर्निवार्यप्रसरः क्षपकश्रेणिमारुह्य घातितकर्मचतुष्टय समूलघात हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान्, तत कालक्रमेण सिद्ध इति । उक्तमेषणाद्वारम् । पिं० । ध० । दर्श० । ग० । पं० व० । पंचा० । महा० । स्था० । आचा० । प्रव० । (एषणायाः शङ्कितादयो दश दोषास्ते चाचाराङ्गे पिण्डाधिकारे एषैपणादोषमधिकृत्योक्तास्ते च गोयरचरियाशब्दे व्याख्यास्यन्ते)

(६) एतेषां शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वं यथा शङ्कितं शङ्कितदोषः अत्र चत्वारो भेदा शङ्कितग्राही शङ्कितभोजी निःशङ्कितग्राही शङ्कितभोजी २ शङ्कितग्राही निःशङ्कितभोजी ३ निःशङ्कितग्राही निश्शङ्कितभोजी ४ म्रक्षितं द्वेधा सचित्ताचित्तम्रक्षितं वा । आद्यं त्रिधा पृथिव्यब्वनस्पतिभेदात् । ततः पृथिवीम्रक्षितं चतुर्द्धा सरजस्कं सचित्त पृथिवीरजोगुण्ठितं तच्च तन्म्रक्षितं च सरजस्कम्रक्षितं मिश्रसचित्तासचित्तरूपः कर्दमस्तेन म्रक्षितं मिश्रकर्दमम्रक्षित मिश्रोऽपरिणतसचेतनकर्दमस्तेन म्रक्षितमिति मिश्रकर्दमम्रक्षितम् । ऊषमृत्तिका हरितालहिङ्गुलकास्ततः शिलाञ्जनलवणगैरिकाश्चेत्यादिका ऊषरकादि पृथ्वीकायम्रक्षितं च अप्कायम्रक्षित पुर कर्म्म पश्चात्कर्म सस्निग्धोदकार्द्ररूप चतुर्भेदं दानात्पूर्वं हस्तमात्रकायक्षालने पुर कर्म दानानन्तरं क्षालने पश्चात्कर्म सस्निग्धमीषदुदकयुक्तमुदकार्द्रमुदकबिन्दुयुक्तम् । वनस्पतिम्रक्षित द्विधा प्रत्येकानन्तभेदात् प्रत्येक म्रक्षित त्रिधा पृष्ट आमं तन्दुलक्षोदविकुक्कुसा भणिता उत्कृष्टकलिङ्गाम्रत्वाक्षुक्यादिफलादीनां शुक्लीकृतानि खण्डानि अम्लिकापत्रसमुदायो वा उदूखलखण्डितैर्म्रक्षित प्रत्येकवनस्पतिम्रक्षित कुट्टितानन्तम्रक्षित द्वितीयस्य पश्यतोऽपि भावापरिणतत्वेन । गृहीतभावापरिणत तु अनन्तम्रक्षितम् अचित्तम्रक्षित द्विधा गर्हितागर्हितभेदात् गर्हितैर्मांसवसाशोणितसुरामूत्रोच्चारादिभि शिष्टजनस्याभक्ष्यापेयैर्म्रक्षित गर्हिताचित्तम्रक्षितम् सभजन्ति विगलन्ति संलपत्वात्कीटिकामक्षिकादयो येषु दध्यादिषु तानि ससक्तानि तैः १ अगर्हितैरचित्तैर्म्रक्षितमगर्हितससक्ताचित्तम्रक्षित २ निक्षिप्तं सचित्तादौ न्यस्त ३ पिहितं सचित्तादिभिः स्थगितं ४ संहृतं येन हस्तमात्रा कणदात्री साधोरशनादिकं दास्यति तत्र शिष्यादिक वा यदि स्यात्तदन्यत्र सचित्तेऽचित्ते वा क्षिप्त्वा तेन यद्ददाति तत्संहृत ५ दायकदोषा बालादिभिर्दीयमाने ६ उन्मिश्र सचित्तादिभिर्मिश्रितम् ७ । अपरिणतं द्वेधा द्रव्यभावभेदात् तत्र सचित वस्तु दीयमानं द्रव्यापरिणत भावापरिणत द्विधा दातृग्रहीतृभेदात् द्वयोः साधारणेऽन्नादावेकेन दीयमाने द्वितीयस्य भावोऽपरिणतो न दानपरिणामवान् तद्दातृभावापरिणतम् । अत्राह अनिसृष्टस्य भावापरिणतस्य च को विशेषः। उच्यते द्वितीयादीनां परोक्षमेकस्याददतो निसृष्ट भवति भावापरिणतं तु यत्र द्वयो साध्वोर्भिक्षार्थं गतयोरेकस्य मनसि तदन्नाटिकमशुद्ध परिणतम् अन्यस्य च तदेव शुद्धमिति ८ । लिप्तदोषः दध्याद्युपलिप्तेन हस्तेन मात्रकेण चाशादिषु ग्रहणे पश्चात्कर्मादिसम्भवात् तथाचोक्तम् "घित्तव्वमिलेवकडं–भाहु पुरकम्म पच्छकम्माइ । न य रसगेहि पयं,सामुत्ते वलपीका य "९ छर्दितम् दीयमानस्याशादेः पृथ्वीकायादिसंसक्तादि छर्दितम् १० ॥ जीत० । ग्रासैषणानिक्षेपे ग्रहणैषणां प्रतिपाद्योक्तम् । साम्प्रतं ग्रासैषणा उच्यते तथाचाह ।

दव्वे भावे घासे–सणा उ दव्वम्मि मच्छआहरणं ।
गलमंसुंडगजक्खण,गलस्स पुच्छेण घट्टणया ८१५ ।

सा च ग्रासैषणा द्विविधा द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यतो मत्स्योदाहरणम् "एगो किल मच्छबन्धो गुले मंसपिंडं दाऊण दहे छुहति तं च एगो मच्छो जाणइ जहा एस गलो त्ति सो परिसरं तेण मसं खाइ जेण ताहे पराहुतो घेप्पए गलमाहणइ मच्छबंधो जाणइ एस गहिओत्ति । एवं तेण सव्वं खइयं मंसं खाय मच्छबंधो खइएण मसेण अट्टिए लठो अत्थइ तत्थ आहरण दुविह चरिय कप्पिय च । तं च मच्छबंध ओहयमणसकप्पं झायंत दट्ठुं मच्छो भणइ अह पमत्तो चरतो गहिओ बलाए ताहेतापयहे सा उक्खित्ता पच्छा गिलइ ताहे अहं वा कालीसमूहे पडिओ एवं बिइयं पि तिइयं पि उग्गालिओ ताहे मुक्को अलया समुद्दे अह गओ तत्थ मच्छबधा वलया महाइ करेंति कूएहिं ताहे समुद्दवेलापाणिएणं सह अह तत्थ वंकीकए कमे पविट्ठो ताहे तस्स कूडगस्स अणुसारेण अतिगतो एवंति निराबलया सुहाओ मुक्को जालतो एक्कवीसं वाराउ फिडिओ काहे पुण जाहे जाले बूमं भवति ताहे हं भूमिं घेत्तूण अच्छामि तहा एक्कम्मि जिण्णोदयम्मि दहे अत्थिया अम्हे किं कह वि ण णायं जहा एसो दहे सुक्किहित्ति ताहे सो दहो सुक्को मच्छाणं थले गती णत्थि ते सव्वे सुक्कंते पाणिए मया केइ जीमति तत्थ कोइ मच्छबधो आगओ सो हत्थेण गहाय सूलए पोएत्ति ताहे मएण ते तं अह पि अचिरा विज्झाहामि जाव ण विज्झामि ताव उवाय चिंतेमि ताहे तेसिं मच्छाणं अन्तराल सूलं मुहे गहिऊण ठिओ सो जाणइ एए सव्वे पोइलयासो गतूण अन्नहिं दोह धोवइ । तत्थ अह मच्छयं घयं करेंतो वे वुड्डाणो पाणिए पविठो त एयारिस मनसत्त च हा विइच्छसि गलेघित्तुं अहो ते निल्लज्जत्तणाति" ओघ० ।

(७) विस्तरेण ग्रासैषणा निक्षेपादिकं तत्र ।

सयोजनादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि तानि च ग्रासैषणारूपाणीति प्रथमतो ग्रासैषणाया निक्षेपमाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे घासेसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे मच्छाहरणं, भावम्मि य होइ पंचविहा ॥

ग्रासैषणा चतुर्द्धा । तद्यथा नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा द्रव्ये द्रव्यविषया ग्रासैषणा भावे भावविषया ग्रासैषणा। स्थापना ग्रासैषणा द्रव्यग्रासैषणाऽपि यावज्ञव्यशरीररूपा ग्रहणैषणा भावनीया । ज्ञशरीरव्यतिरिक्तायां तु ग्रासैषणायां मत्स्य उदाहरण दृष्टान्त । भावविषया पुनर्ग्रासैषणा द्विधा । तद्यथा आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञातस्तत्र चोपयुक्तः । नो आगमतो द्विधा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता सयोजनादिदोषरहिताऽप्रशस्ता सयोजनादिरूपा तामेव निर्दिशति । "भावम्मि य" इत्यादि भावे भावविषया पुनर्ग्रासैषणा पञ्चविधा सयोजनादिभेदात्पञ्चप्रकारा। तत्र द्रव्यग्रासैषणोदाहरस्य सबन्धमाह ॥

चरियं च कप्पियं वा, ओहरणं दुविहमेव नायव्वं ।
अत्थस्स साहणत्था, इंधणमिव ओयणट्ठाय ॥

इह विवक्षितस्यार्थस्य साधनार्थं प्रतिपादनार्थं द्विविधमुदाहरण ज्ञातव्यम् । तद्यथा चरित सकल्पितं च कथमिव विवक्षितस्यार्थस्य प्रसाधनायोदाहरणं भवतीत्यत आह । इन्धनमिव ओदनार्थमिन्धनमिव ओदनस्येति भावस्तत्र प्रस्तुतस्यार्थस्य प्रसाधनार्थमिदं कल्पितमुदाहरणम । कोऽप्येको मत्स्यसंबन्धी मत्स्यग्रहणनिमित्तं सरो गतवान् गत्वा च तेन तदवस्थानाग्रभागे मांसपेसीसगेतो गल॰ सरो मध्ये प्रचिक्षिपे तत्र च सरसि परिणतबुद्धिरेको महादक्षो जीर्णमत्स्यो वर्तते स गलगनमांसगन्धमाघ्राय तद्भक्षणार्थं गलस्य समीपमुपागत्य यत्नत॰ पर्यन्ते सकलमपि मास खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य दूरतोऽपचक्राम । मत्स्यबन्धी च गृहीतो गलेन मत्स्य इति विचिन्त्य गलमाकृष्टवान् न पश्यति मत्स्यं पुनः मांसपेसीसहित गल प्रचिक्षेप तथैव स मत्स्यो मांसं खादित्वा पुनश्च गलमाहत्य पलायितवान् । एवं त्रीन् वारान् मत्स्यो मांसं खादितवान् न च गृहीतो मत्स्यबन्धिना ।

अह मंसम्मि पहीणे, झायंतं मंच्छियं भणइ मच्छो ।
किं झायसि तं एवं, सुण ताव जहा अहिरिओसि ॥

अथ मांसे प्रक्षीणे ध्यायन्त मात्स्यिक मत्स्यो भणति यथा किं त्वमेव ध्यायसि चिन्तयसि शृणु तावत् यथा त्वमन्हीको निर्लज्जो भवसि ॥

तिवलागे मुहामुक्को. तिक्खुत्तो बलयामुहे ।
तिसत्तखुत्तो जालेणं, सइंछिन्नोदए दहे ॥

अहमेकदा त्रीन् वारान् वलाकाया मुखादुन्मुक्तस्तथा हि कदाचिदहं वलाकया गृहीतस्ततस्तया मुखे प्रक्षेपार्थमूर्ध्वमुक्षिप्तस्ततो मया चिन्तित यद्यहमृजुरेवास्याः मुखे निपतिष्यामि तर्हि पतितोऽहमस्सन्मुखे इति न मे माणकौशलं तस्मात्तिर्यग्निपतामीति एव विचिन्त्य दक्षतया तथैव कृतं परिभ्रष्टस्तस्या मुखात् । ततो भूयोऽपि तयोर्ध्वमुत्क्षिप्तस्तथैव च द्वितीयमपि वार मुखात्परिभ्रष्ट । तृतीयवेलायां तु जले निपतितस्ततो दूरं पलायितस्तया त्रि कृत्वस्त्रीन् वारान् वलाकाया मुखे वलाकामुखे भ्राष्ट्ररूपे निपतितो दक्षतया शीघ्रं वेलयैव सह विनिर्गत॰ । तथा त्रि.सप्तकृत्व एकविंशतिवारान् मात्स्यिकेन प्रक्षिप्ते जाले पतितोऽपि यावन्नाद्यापि स मत्स्यबन्धी सकोचयति जालं तावत् येनैव यथा प्रविष्टस्तेनैव ततो जालाद्विनिर्गत॰ । " जालेनेति " तृतीया पञ्चम्यर्थे द्रष्टव्या । तथा सकृत् एकवार मात्स्यिकेन न्हदजलमन्यत्र सचार्य तस्मिन् न्हदे छिन्नोदके बहुभिर्मत्स्यैः सहाहं गृहीत : । स च सर्वानपि तान् मत्स्यानेकत्र पिण्डीकृत्य तीक्ष्णायःशलाकया प्रोतयति । ततो ऽहं दक्षतया यथा स मात्स्यिको न पश्यति तथा स्वयमेव तामय शलाकां वदनेन लगित्वा स्थितः । स च मात्स्यिकस्तान् मत्स्यान् कर्दमलिप्तान् प्रक्षालयितु सरसि जगाम तेषु च प्रक्षाल्यमानेष्वन्तरमवज्ञाय झटित्येव जलमध्ये निमग्नवान् ॥

एयारिसं मम सत्तं, सढं घटियघट्टणं ।
इच्छसि गलेण घेत्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥

एतादृशं पूर्वोक्तस्वरूप मम सत्त्व शठ कुटिल घटितस्य धारादिकृतस्योपायस्य घट्टन चालकत्वमिच्छसि मां गलेन गृहीतुमित्यहो ते तव अन्हीकता निर्लज्जतेति । तदेवमुक्तो द्रव्यग्रासैषणायां दृष्टान्त । संप्रति भावग्रासैषणायामुपनय॰ क्रियते । मत्स्यस्थानीय॰ साधुर्मांसस्थानीय भक्तपानीय मात्स्यिकस्थानीयो रागादिदोषगण॰ यथा न गलितो मत्स्य उपायशतेन तथा साधुरपि भक्तादिकमभ्यवहरन्नात्मानमनुशास्तिप्रदानेन रक्षयेत् ।

तामेवानुशास्तिं प्रदर्शयति ॥

बायालीसेसणसं-कडम्मि गहणम्मि जीव न हु छलिओ ।
इण्हिं जह न छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिं ॥

इह एषणाग्रहणेन एषणागता दोषा अभिधीयन्ते ततोऽयमर्थः द्विचत्वारिंशत्सख्या ये एषणादोषा गवेषणाग्रहणैषणादोषास्तैः सकटे विषमे ग्रहणे भक्तपानादीनामादाने हेजीव ! त्वं नैव छलितस्तत इदानीं सप्रति भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां यथा न छल्यसे तथा कर्त्तव्यम् ।

सप्रति तामेव भावग्रासैषणां प्रतिपादयति ।

घासेसणा उ भावे, होउ पसत्था तहेव अपसत्था ।
अपसत्था पंचविहा, तव्विवरीया पसत्था उ ॥

भावे भावविषया ग्रासैषणा द्विविधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता पञ्चविधा सयोजनातिबहुकाङ्गारधूमनिष्कारणरूपा । तद्विपरीता सयोजनादिदोषरहिता प्रशस्ता पिं०(संयोजनादि वक्तव्यता सजोजणा शब्दे) (भोजने कारणमाहारप्रमाणं च आहारशब्दे) (अङ्गारधूमदोषा अगारधूमादिशब्दे)

तथा च—

गवेसणाए गहणे, परिभोगेसणा जहा ।
आहारोवहिसज्जाए, एए तिन्नि विसोहिए ॥ ११ ॥

गवेषणायामेषणा गवेषणैषणा गौरिव एषणा गवेषणा विशुद्धाहारदर्शनविचारणा प्रथमा एषणा १ द्वितीया ग्रहणैषणा विशुद्धाहारस्य ग्रहण ग्रहणैषणा २ तृतीया परिभोगैषणा परि समन्तात् भुज्यन्ते आहारादिकमस्मिन्निति परिभोगो मण्डलीभोजनसमयस्तत्रैषा विचारणा परिभोगैषणा एतास्तिस्रोऽपि एषणा आहारोपधिशय्यासु विशोधयेत् केवलमाहारे एव एता एषणा न भवेयु॰ किं तु आहारे उपधौ वस्त्रपात्रादौ शय्या उपाश्रयः संस्तारकादिस्तत्र सर्वत्रैषणा विधेया इत्यर्थः ।

उग्गमउप्पायणं पढमे, बिइए सोहिज्ज एसणं ।
परिभोगं चउत्थं च, विसोहिज्ज जयं जयी ॥ १२ ॥

(जय इति) यत्नवान् (अयीति) यति. साधुः (प्रथमे इति) प्रथमायां गवेषणायामुद्गमोत्पादनादोषान् विशोधयेत् विशेषेण विचारयेत् पुनः साधुर्द्वितीयायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादिदोषान् विचारयेत् पुनस्तृतीयायां परिभोगैषणायां चतुष्क दोषचतुष्टयं विशोधयेत् १२ इति गाथार्थः । अत्र प्रथमायां गवेषणैषणायां द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति तद्यथा प्रथम षोडश उद्गमदोषा उद्गमशब्देन आधाकर्म्मिकादि षोडश दोषाः। तथा प्रथमैषणायामेव उत्पादनादिदोषाः भवन्ति । उत्पाद्यन्ते साधुना ये ते उत्पादनाः साधोः सकाशादेव षोडश दोषा उत्पद्यन्ते । ते च धात्रीप्रमुखाः एव द्वात्रिंशद्दोषा द्वितीयायामेषणायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादि दश दोषाः । उभयतो दायकाद् ग्राहकाच्च भवन्ति उत्त० २४ अ०। (गवेषणायां द्वात्रिंशद्दोषाः तत्रोद्गमदोषा आधाकर्मिकादयः षोडश ते च उग्गमशब्दे-उत्पादनाया धात्रीप्रमुखा षोडश ते च उप्पायणाशब्दे) अथ ग्रहणैषणाया दश दोषा कथ्यन्ते । यदा दायकः शङ्कां कुर्वन् ददाति साधुरपि जानाति असौ दायकः शङ्कां करोति एव सति आहारं गृह्णाति तदा प्रथम शङ्कितो दोषः १ द्वितीयो म्रक्षितो दोषः स द्विविध यदा सचित्तेन खरण्टित आहार अचित्तेन खरण्टितश्चाहारो भवति तदा म्रक्षितदोष उक्त उच्यते २ यदा पृथिव्यां जले अग्निवनस्पतिमध्ये त्रसजीवानां मध्ये निक्षिप्तमाहारं ददाति तदा निक्षिप्तस्तृतीयो दोषः ३ यदा अचित्तमाहारमपि सचित्तेन आच्छादितं स्यात्तदा पिहितदोषश्चतुर्थ ४ पिहितदोषस्य चतुर्भङ्गी सचित्तमाहारं सचित्तेन पिहितम्, अचित्तं सचित्तेन पिहितम्, सचित्तमचित्तेन पिहितमचित्तमचित्तेन पिहितमेवं चतुर्भङ्ग्या अचित्त आहारः अचित्तेन पिहित । अत्र कोऽपि न दोषः । यदा वृहद्भाजने स्थितमाहारं तत्रस्थभाजनेन दातुमशक्यत्वेन तद्भाजने परत्रोत्तार्य अथवा तस्माद्भाजनादपरस्मिन् भाजने उत्तार्य आहारं ददाति स संहृतदोष पञ्चम ५ यदा असमर्थः षण्ढकः शिशु स्थविरः अन्ध उन्मत्तो मत्तो ज्वरपीडित कम्पमानशरीरो निगडबद्धो हड्डे क्षिप्तो गलितहस्तश्छिन्नपाद- एतादृशो वा दाता ददाति तदा दायकदोषः । पुनर्यदा कश्चिद्दायको दायिका वा अग्निं प्रज्वालयन् अरहट्टकं भ्रामयन् घरट्टके चाऽऽरोपणं कुर्वन् मुसलेन खण्डयन् शिलायां लोष्टके वर्त्तयन् चरख्यां कार्पासादिकं लोढयन् रुतं वा पिञ्जयन् सूर्पकेण धान्यमाच्छोटयन् फलादिकं विदारयन् प्रमार्जनेन रजःप्रमार्जयन् इत्याद्यारम्भं कुर्वन् तथा भोजनं कुर्वन् स्त्री च या सम्पूर्णगर्भस्थिता भवति पुनर्या च स्त्री बालं प्रति स्तन्यं पाययन्ती पुनस्तं बालं रुदन्तं मुक्त्वा आहारदानाय उत्तिष्ठति पुनर्यः षट्कायसम्मर्दनं सङ्घट्टनं वा कुर्वन् साधुं दृष्ट्वा हण्डिकोपरिस्थमग्रपिण्डमुत्तारयति इत्यादयो बहवो दायकदोषा इति षष्ठो दायकदोषः ॥६॥ यदा अनाभोगेन अविचार्यैव शुद्धाशुद्धमाहारं समील्य ददाति तदा सप्तम उन्मिश्रितदोषः ॥ ७ ॥ यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं भावेन उभयोः पुरुषयोराहारं वर्तते तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति एकस्य च नास्ति तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात् अपरिणतदोषश्चाष्टम. ॥८॥ यदा दधिदुग्धघृतैरीय्यादिद्रव्यं येन द्रव्येण दर्वीकरो वा लिप्तः स्यात्तदा पश्चात्कर्मत्वेन लिप्तपिण्डो नवमो दोषः स्यात् ॥ ९ ॥ यदा सिक्थानि घृतदधिदुग्धादिविन्दून् पातयन् आहारं ददाति तदा छर्दितो दशमो दोषः स्यात् ॥१०॥ इति ग्रहणैषणायां दायकग्राहकयोरन्योन्यं दोषसम्भव ॥

अथ परिभोगैषणायां ग्रासैषणायाः पञ्च दोषाः सम्भवन्ति तद्यथा यदा क्षीरखण्डघृतादिद्रव्यं सम्मील्य रसलौल्येन भुङ्क्ते तदा संयोजनादोषः प्रथमः । १ । यदा सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात्स्वादुलोभेन अधिकमाहारं करोति तदा अप्रमाणो द्वितीयो दोषः । २ । यदा सरसाहारं कुर्वन् धनवन्तं दातारं वर्णयति तदा इङ्गालदोषस्तृतीयः । ३ । विरसमाहारं कुर्वन् दरिद्रं कृपणं वा निन्दति तदा चतुर्थो धूमदोषः । ४ । यदा तपःस्वाध्यायवैयावृत्त्यादिकारणषट्कं विना बलवीर्यार्थं सरसाहारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोषः । ५ । एते पञ्च दोषाः परिभोगैषणाया ज्ञेयाः । एवं सर्वे । ४७ । सप्तचत्वारिंशद्दोषा भवन्ति परिभोगैषणायां चतुष्क दोषचतुष्टयं सूत्रे उक्तं तत्तु इङ्गालधूमयोः मोहनीयकर्मोदयादेव दायकस्य प्रशंसावतो निन्दावतश्च प्रादुर्भावात् एकत्वमेव अङ्गीकृतं तस्माच्चत्वारि एव दोषा गृहीताः एवं । ४६ । षट्चत्वारिंशद्दोषा भवन्ति अथवा परिभोगैषणायां परिभोगसमये आसेवनासमये पिण्ड (१) शय्या (२) वस्त्रं (३) पात्र (४) एतच्चतुष्क विशोधयेत् । अयमपि अर्थो विद्यते इत्यनेन " उग्गमुप्पायणं पढमे " इतिगाथार्थः ॥ १२ ॥ एषणासमितेन चानेषणा परिवर्जनीया उत्त० २४ अ० ।

तथा चोत्तरगुणानधिकृत्याह ॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥१३॥

आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो विपुलबुद्धिरित्यर्थः । तदनेन जीवाजीवादिपदार्थाभिज्ञता वेदिता भवति । धीरोऽक्षोभ्य क्षुत्पिपासादिपरीषहैर्न क्षोभ्यते । तदेव दर्शयति । आहारोपधिशय्यादिके स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्यैषणां चरत्येषणीयं गृह्णातीत्यर्थः । एषणाया एषणायां वा गवेषणाग्रहणैषणाग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन्संयममनुपालयेत् । उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभि समितो द्रष्टव्य इति ॥ १३ ॥

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह ॥

भूयाइं च समारम्भ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १४ ॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः समारभ्य संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमाधाकर्मदोषदुष्टं सुसंयतः सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न गृह्णीत । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाऽभ्यवहरेदेवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥ १४ ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

तथा चोत्तराध्ययने ।

परिवाडिए न चिट्ठेज्जा, भिक्खुदत्तेसणं चरे ।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥ ३२ ॥

परिपाटिर्गृहपङ्क्तिस्तस्यां न तिष्ठेत् न पङ्क्तिस्थगृहभिक्षोपादानार्थकमवस्थितो भवेत् तत्र दायकदोषोऽनवगमप्रसङ्गात् । यद्वा पङ्क्त्यां भोक्तुमुपविष्टपुरुषादिसंबन्धिन्यां न तिष्ठेदप्रीत्यदृष्टकस्याण-

तादिदोषसम्भवात्। किंच भिक्षुर्यतिर्दत्त दान तस्मिन् गृहिणा दीयमाने एषणां तद्गतदोषान्वेषणात्मिका चरेदासेवेन। चरतिरासेवायामपि वर्तत इति वचनात्। अनेन ग्रहणैषणोक्ता किं विधाय दर्शैषणां चरेत् प्रतिरूपेण प्रधानेन रूपेणेति गम्यम्। यद्वा प्रति प्रतिबिम्ब चिरन्तनमुनीनां यद्रूपं तेनोभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन ननु वस्त्रं भग्नं गात्र पात्रं यष्टिं चर्चयेत् भिक्षु वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि इत्याद्विवचनाकर्णनाद्विभूषात्मकेनैषयित्वा गवेषयित्वाऽनेन च गवेषणाविधिरुक्तः। ग्रासैषणाविधिमाह मितं परिमितमदन्ति बहुभोजनात् स्वाध्यायविघाताद्विबहुदोषसंभवात् कालेनेति "नमोक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसथवं। सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमिज्जक्खणं मुणी" १ इत्याद्यागमोक्तप्रस्तावेनाहतायबम्बितरूपेण वा भक्षयेत् भुञ्जीतेति सूत्रार्थं ॥ १० ॥

(९) यत्र पुरायातान्यभिक्षुकसम्भवस्तत्र विधिमाह ।

नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ।

नातिदूर सुब्व्यत्ययान्नातिदूरेऽतिविप्रकर्षवति देशे तिष्ठेदिति सबन्ध.। तत्र च निर्गमावस्थानानवगमप्रसङ्गादेषणाशुद्ध्यसंभवाच्च। तथा (अनासन्नेत्ति) प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वान्नञो नासन्ने प्रस्तावान्नातिनिकटवर्तिनि भूभागे तिष्ठेत्तत्र पुरा प्रविष्टापरभिक्षुकाप्रीतिप्रसक्ते नान्येषां भिक्षुकापेक्षया परेषां गृहस्थानां चक्षु.स्पर्शत इति सप्तम्यर्थे तसिस्ततश्चक्षु.स्पर्शे दृग्गोचरे चक्षु स्पर्शगोचरगत. तिष्ठेदासीत् किंतु विविक्तप्रदेशस्थो यथा न गृहिणो विदन्ति यदुतैष भिक्षुकनिष्क्रमणं प्रतीक्षत इति एक इति किममी मम पुरत प्रविष्टा इति तदुपरि द्वेषरहितो भक्तार्थं भोजननिमित्त न च लङ्घयन्ति। तमुल्लङ्घ्य तमिति भिक्षुक नातिक्रामेत् प्रविशेत् तत्रापि तदप्रीत्यपवादादिसमवादिह च मित कालेन भक्षयेदिति भोजनविधिमभिधाय यत्पुनर्भिक्षाटनाभिधानं तदग्लानादिनिमित्तं स्वय वा बुभुक्षावेदनीयमसहिष्णोः पुनर्भ्रमणमिति न दोषायेति ज्ञापनार्थम्। उक्तं च "जइ तेण संथरे तत्त कारणमुप्पन्ने भत्तपाण गवेसये" इत्यादि सूत्रार्थं ॥२६॥

पुनस्तद्गतविधिमेवाभिधित्सुराह ।

नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकडं पिंडं, पडिगाहेज्ज संजये ।

नात्युच्चे प्रासादोपरिभूमिकादौ नीचे वा भूमिगृहादौ तत्र भाण्डोत्क्षेपनिक्षेपनिरीक्षणासम्भवाद्दायकापायसंभवाच्च। यद्वा नात्युच्च उच्चस्थानस्थितत्वेन ऊर्ध्वीकृतकन्धरतया वा द्रव्यतो भावतस्त्वहो अह लब्धिमानिति मदाध्मातमानसो नीचोऽत्यन्तावनतकन्धरो वा निम्नस्थानस्थितो वा द्रव्यतो भावतस्तु न मयाऽद्य किंचित्कुतोऽप्यवाप्तमिति दैन्यवान् उभयत्र वा समुच्चये तथा नासन्ने समीपवर्तिनि नातिदूरे अतिविप्रकर्षवति प्रदेशे स्थित इति गम्यते यथायोग जुगुप्साशङ्कैषणाशुद्ध्यसमवादयो दोषा.। अथवा अत एवानासन्नो नातिदूरगत प्रगता असव इति सूत्रत्वेन मतुब्लोपादसुमन्त. सहजससक्तिजन्मानो यस्मात्तत्प्रासुक परेण गृहिणाऽऽत्मार्थे परार्थं वा कृत निर्वर्तितं परकृत किं तत्पिण्डमाहार प्रतिगृह्णीयात् स्वीकुर्यात् संयतो यतिरिति सूत्रार्थ. ।१०

(१०) इत्थं सूत्रद्वयेन गवेषणाग्रहणैषणाविषयविधिमुक्त्वा-ग्रासैषणाविधिमाह ।

अप्पपाणेऽप्पवीयम्मि, पमिच्छन्नम्मि संवुडे ।
समयं संजए भुंजे, जयं अप्परिसाडियं ॥ २७ ॥

अल्पशब्दो भावाभिधायी तथेहापि सूत्रत्वेन मत्वर्थीयलोपात्प्राणा. प्राणिनस्ततश्चाल्पा अविद्यमानाः प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणं तस्मिन्नवस्थितागन्तुकजन्तुविरहिते उपाश्रयादाविति गम्यते। तथाऽल्पानि अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि यस्मिंस्तदल्पबीजं तस्मिन्नुपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रियादिरहिते। ननु चाल्पप्राण इत्युक्ते ऽल्पबीज इति गतार्थं बीजादीनामपि प्राणित्वादुच्यते मुखनासिकाभ्यां यो निर्गच्छति वायुः स चेह लोके रूढितः प्राणो गृह्यते अय च द्वीन्द्रियादीनामेव संभवति न बीजाद्येकेन्द्रियाणामिति कथ गतार्थता तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावरणान्विते अन्यथा सपातिमसत्त्वसंपातसंभवात् संवृते पार्श्वतः कटकुड्यादिना सकटद्वारे अटव्यां कण्डादिषु वा अन्यथा दानादियाचने दानादानयोः पुण्यबन्धप्रद्वेषादिदर्शनात् सवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्। समकमन्यैः सह नत्वेकाक्येव रसलम्पटतया समूहासहिष्णुतया वा। अत्राह। "साहवो तो चियत्तेण, निमतेज्ज जहक्कमं। जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धि तु भुञ्जइत्ति" गच्छस्थितसामाचारी चेयं गच्छे एव जिनकल्पिकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता उक्तं हि "गच्छे चिय निम्माउ" इत्यादि। यद्वा (समयंति) सममेव समक सरसविरसादिष्वभिष्वङ्गादिविशेषरहित सम्यग्यतः सयतो यतिरित्यर्थ. भुञ्जीताश्नीयात् (जयति) यतमान· (अप्परिसाडियति) परिसाटिविरहितमिति सूत्रार्थ. ॥२७॥ उत्त०१अ०।

(११) शतसहस्रगच्छे एषणादोषपरिहारप्रकारो यथा।

णोअगजिणकालम्मि, किह परिहरणा जहेव अणुजाणे ।
अइगमणम्मि य पुच्छा, निक्कारणकारणे लहुगा ॥

नोदक· प्रश्नयति यदि शते केष्वपि गच्छेषु सांप्रतमित्थमाधाकर्मादयो दोषा जायन्ते तर्हि जिनस्तीर्थकरस्तस्य काले सहस्रेषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्मादीनां परिहरण कृतवन्त इति। सूरिराह यथैवानुयाने रथयात्रायां सांप्रतमपि परिहरन्ति तथा पूर्वमपि परिहृतवन्त· (अतिगमणम्मि य पुच्छात्ति) शिष्य पृच्छति किमनुज्ञाने अतिगमनं प्रवेशनं कर्तव्यम् उत नेति आचार्य. प्राह (निक्कारणकारणे लहुगत्ति) निष्कारणे यदि गच्छति तदा चत्वारो लघव कारणे यदि न गच्छति तदाऽपि चत्वारो लघव । अथैतदेव भावयति ।

एहाणाणुजाणमाइं, सुजतंति जह संपयं समोसरिया ।
सतसो सहस्ससो वा, तह जिणकाले विसोहिंसु ॥

स्नानं वर्षत प्रतिनियतदिवसभावी भगवत्प्रतिमायाः स्नाने पर्वविशेष· अनुयानं रथयात्रा तदादिषु कार्येषु सांप्रतमपि शतश· शतसख्या सहस्रश· सहस्रसंख्या साधव समवसृता। सयते यथा यतन्ते आधाकर्मादिदोषशोधनायां प्रयत्न कुर्वते तथा जिनकालेऽपि ते भगवन्त एषणाशुद्धिं कृतवन्त इत्यर्थ। भूयोऽपि पर· प्राह। ननु च स सर इव सागर खद्योत इव प्रद्योतन· मृग इव मृगेन्द्र इत्यादि तदिदयुगीनसमवसरणसत्कमेषणाशुद्ध्युपमान तीर्थकरकालभाविनीमेषणाशुद्धिमुपमातुमभिधीयमानं हीनत्वान्न समीचीनम् अत आह "पच्चक्खेण परोक्खं, साहिज्जइ" न चेय सर इव सागर इत्यादिवद्धीनोपमा तीर्थकरकालेऽपि सहस्रसख्या एव साधव एकत्र क्षेत्रे समवसरन्ति स्म एतावन्तश्च ते सांप्रतमपि स्नानानुयानादौ पर्वणि समवसरन्त उपलभ्यन्ते शोधयन्तश्चैषणां ततोऽनुमीयते तीर्थकरका-

ऽप्येवमेव दोषान् शोधितवन्त इति। "नेव एसहीणुवमा जं पुरिसजुगे तईए वोच्छिन्नो सिद्धिमग्गे" इह प्रत्यक्षेणोपमानवस्तुना परोक्षमुपमेयं साक्षादनुपलभ्यमानमपि साध्यते शास्त्रे लोकेऽवस्थिति. ततोऽत्रापि प्रत्यक्षमाणेन सांप्रतकालीनसमवसरणसत्कैषणाशोधनेन परोक्षमपि तीर्थकरकालभाविसमवसरणसाधूनामेषणाशोधनं साध्यते इति "नेव एसहीणुवसाधि" अपि च श्रीमन्महावीरस्वामी श्रीसुधर्मस्वामी जम्बूस्वामी चेति त्रीणि पुरुषयुगानि यावदनगाराणां निर्वाणपदवीगमनमभूत् तृतीये च पुरुषयुगे निर्वृते सति सिद्धमार्गः क्षपकश्रेणिकेवलोत्पत्त्यादिरूपो व्यवच्छिन्नः न पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्ररूप शास्त्रपरिज्ञापितस्तस्येदानीमप्यनुवर्तमानत्वात्ततश्च यदि तेषां साधूनामुद्गमादिदोषशोधनं नाभविष्यत् ततस्ते सिद्धमार्गमपि नासादयिष्यन् अतो निश्चीयते तेऽपि भगवन्त इत्थमेवैषणाशुद्धिं कृतवन्त इति । वृ० १ उ० ।

(१२) विस्तरेण दशस्वेषणादोषेषु प्रायश्चित्तमाह ।

ससरक्खे ससणिद्धे, पणगं लहुगा दुगुंछसंसत्ते ।
उक्कुट्ठणंते गुरुगो, सेसे सव्वेसु मासलहू ॥

शङ्किते पञ्चविंशतेर्दोषाणां मध्ये यच्छङ्कितं तन्निष्पन्नमापद्यते । प्रायश्चित्तं म्रक्षिते सरजस्केन सचित्तमिश्रपृथिवीकायरजोम्रक्षितेन हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षां गृह्णतः पञ्च रात्रिन्दिवानि । सचित्तमिश्राप्कायस्निग्धेन हस्तकेन मात्रकेण वा भिक्षामाददानस्य पञ्च रात्रिंदिवानि , अचित्तेन जुगुप्सितेन विष्ठामूत्रमद्यमांसलशुनपलाण्डुप्रभृतिना म्रक्षितेन गृह्यमाणे चत्वारो गुरुकाः, गुडघृततैलादिभिरपि कीटिकासंसक्तैर्म्रक्षितमाददानस्य चत्वारो लघवः । पुरःकर्मणि पश्चात्कर्मणि च चतुर्लघुका । अन्ये मासलघु प्रतिपन्नवन्तः । उत्कुट्टिते अनन्ते सचित्ते वनस्पतिकायिके मासगुरु चूर्णेऽप्यनन्ते सचित्ते मासगुरु "सेसेसु सव्वेसु मासलहु" परीते प्रत्येके कुट्टिते चूर्णिते वा प्रत्येकं मासगुरु, मिश्रे परीते सर्वत्र मासलघु अनन्ते मासगुरु । तथा मृत्तिकालिप्तहस्ते यावन्तः सेटिकादयो मृत्तिकाया भेदास्तेषु सर्वेषु मासलघु । निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमाह ।

चउलहुगा चउगुरुगा, मासो लहुगुरुयपणगलहुगुरुगं ।
वुच्छंति परितणंतर, मीसे वीए य अणंतपरे य ॥

प्रत्येक सचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य चत्वारो लघुकाः प्रत्येकसचित्तपरम्परप्रतिष्ठितमपि चत्वारो लघवः अनन्तसचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य चत्वारो गुरुकाः। अनन्तसचित्तपरम्परप्रतिष्ठितमपि गृह्णतश्चत्वारो गुरुकाः प्रत्येकमिश्रानन्तरप्रतिष्ठितं परम्प्रतिष्ठितं वा गृह्णतो मासलघु । अनन्तरं परम्परया वा प्रतिष्ठितमाददानस्य मासगुरु । बीजेषु परीतेष्वनन्तरं वा प्रतिष्ठितं गृह्णतः पञ्चरात्रिंदिवानि लघुकानि। अनन्तेषु गुरुकानि। अन्ये तु ब्रुवते प्रत्येकमिश्रेऽनन्तरं परं वा प्रतिष्ठितमाददानस्य लघु रात्रिंदिवसपञ्चकम् । अनन्ते अनन्तरं परं वा प्रतिष्ठितं गृह्णतो गुरुकमिति । तथा परे प्रत्येके सचित्तमनन्तरप्रतिष्ठितं गृह्णतश्चतुर्लघवः परम्परप्रतिष्ठितं मासलघु। तथा प्रत्येके मिश्रे अनन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य लघुको मासः परम्परप्रतिष्ठितं गृह्णतो लघु रात्रिंदिवपञ्चकम्। अनन्ते मिश्रेऽनन्तरप्रतिष्ठिते मासगुरु परम्परप्रतिष्ठिते गुरु रात्रिंदिवपञ्चकमिति । उक्तं च "पुढवी आऊ तेऊ, परित्ते चेव तह य वणकाये। चउलहु अणंतरम्मि, सच्चित्ते परपरे मासो।मासाणंतरलहुगो, लघुपणगपरंपरे परित्तेसु। एए चेव य गुरुगा, होंति अणंते परट्ठाणे" इति त्रसकाये अनन्तरप्रतिष्ठितं गृह्णतश्चतुर्लघुकं परम्परप्रतिष्ठितं गृह्णतो मासलघु त्रसकाये "चतुलहुगा अणंतरपरंपराठिए लहुगो" इतिवचनात् एवं षड्जीवनिकायेषु प्रत्येकेऽनन्ते मिश्रे च पृथिव्यादौ बीजे च प्रत्येके अनन्ते मिश्रे चानन्तरं परम्परं च प्रतिष्ठितमाददानस्य प्रायश्चित्तमिति ।

अधुना पिहितं संहरणं चाधिकृत्य प्रायश्चित्तमाह ।

एमेव य पिहियम्मि, लहुगा दव्वम्मि चेव अपरिणए ।
वीसुम्मिस्से पणगं, अणंतवीए य पणगगुरू ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण पिहितेऽपि प्रायश्चित्तं वक्तव्यं किमुक्तं भवति यथा निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमुक्तमेव येन द्रव्येण सचित्तेनाचित्तेन मिश्रेण वाऽनन्तरं परकं चापि धीयते तत्रापि द्रष्टव्यं नवरमचित्तेन गुरुकेण पिहिते गृह्णतश्चतुर्गुरुकं संहरणे येन मात्रकेण भिक्षां दातुकामस्तत्र यदि किञ्चित्प्रक्षिप्तं वर्तते तदन्यत्र संहृत्य ददाति तच्च संह्रियमाणमद्यापि अपरिणतं तस्मिन्नपरिणते द्रव्ये संहृते गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः । दायके प्रगलिते नपुंसके चत्वारो गुरुकाः । पिञ्जनकर्तनश्लक्ष्णखण्डकरणप्रमर्दनप्रवृत्तेषु प्रत्येकं मासलघु । शेषेषु दायकदोषेषु चत्वारो लघुकाः । उन्मिश्रे सचित्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरु । मिश्रानन्तमिश्रे मासगुरु । सचित्तप्रत्येकमिश्रे चतुर्लघु । प्रत्येकमिश्रमिश्रे मासलघु। विष्वक् उन्मिश्रे प्रत्येकबीजोन्मिश्रे लघु रात्रिंदिवपञ्चकम्। अनन्तबीजोन्मिश्रे गुरु रात्रिंदिवपञ्चकम् । अपरिणते द्रव्यापरिणते कायनिष्पन्नं ये काया प्रत्येकरूपा अनन्तरूपा वा अपरिणता तन्निष्पन्नमित्यर्थः। तत्र पृथिव्यादिष्वपरिणतेषु चतुर्लघुकम्। अनन्तेष्वपरिणतेषु चतुर्गुरु। उक्तञ्च "दव्वापरिणते चउलहु पुढवादी चउगुरू अनंतेसु। भावापरिणते "दोण्ह तु भुंजमाणेणमेगो तत्थ निमंतए" इत्येवं रूपेषु लघुको मासः "भावापरिणते लघुगो" इति वचनात् लिप्ते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु चत्वारो लघुकाश्चरमभङ्गेऽनेषणायां चतुर्गुरवः । छर्दिते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं चतुर्लघुकं चरमभङ्गे नाचीर्णम् ॥

सजोगसइंगाले, अणंतमीसे चउगुरू होंति ।
वीसुम्मीसे मासो, सेसे लघुका य सव्वेसु ॥

संयोजना द्विविधा अन्तर्बहिश्च । तत्रान्तःसंयोजनायां चत्वारो लघवः बहिः संयोजनायां चत्वारो गुरुका अन्ये चान्तर्बहिर्वा संयोजनायां चत्वारो गुरुका इति प्रतिपन्ना । प्रमाणातिरिक्तमाहारयति चत्वारो लघवः (सइंगालेत्ति) साङ्गारे आहार्यमाणे चत्वारो गुरुका , सधूमे चतुर्लघु निष्कारणे चतुर्लघु सचित्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरुकम् । एतच्च प्रागेव स्वस्थानेऽभिहितम् । तथा विष्वगुन्मिश्रे पृथिवीकायादिभिः प्रत्येकैर्मिश्रे लघुको मासोऽनन्तैरुन्मिश्रे गुरुकः (सेसे लहुगा उ सव्वेसुत्ति) शेषेषु सर्वेष्वपि ग्रहणैषणाभेदेषु ग्रासैषणाभेदेषु चत्वारो लघुकास्ते च तथैव योजिताः । वृ० १ उ० ।

(१३) पिण्डैषणा च पिण्डग्रहणप्रकारास्ताश्च सप्त तथा चाह ।

सत्त पिंडेसणाओ पण्णत्ताओ सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ ॥

पिण्ड समयभाषया भक्तं तस्यैषणा ग्रहणप्रकाराः पिण्डैषणास्ताश्चैताः " संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तहप्पलेविया चेव ४। उग्गहिया ५ पग्गहिया, ६ उज्झियधम्मा, ७ सत्तमिया" ॥ १ ॥ त-

असंसृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्तनीया । "असंसट्ठे मत्ते खरंडियम्मि वुत्त भवइ " ॥ एवं गृह्णत प्रथमा भवति गाथायां तु सुखमुखोच्चारणार्थोऽन्यथापाठः । संसृष्टा ताभ्यामेव चिन्त्या " संसट्ठे हत्थे ससट्ठे मत्ते खरंडिए त्ति वुत्तं भवइ " ॥ एष गृह्णतो द्वितीया । उद्धृता नाम स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृत तत " असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते संसट्ठे वा मत्ते संसट्ठे वा हत्थे "॥ एव गृह्णतस्तृतीया । अल्पलेपा नाम अल्पशब्दोऽभाववाचकः निर्लेप पृथुकादिगृह्णतश्चतुर्थी । अवगृहीता नाम भोजनकाले शरावादिषूपहृतमेवं भोजनजातं यत्नतो गृह्णत. पञ्चमी । प्रगृहीता नाम भोजनवेलायां दातुमभ्युद्यतेन करादिना प्रगृहीत यद्भोजनजात भोक्तु वा स्वहस्तादिना तद्गृह्णत इति षष्ठी । उज्झितधर्मा नाम यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्द्धत्यक्त वा गृह्णत इति इदय सप्तमीति । पानकैषणा एता एव नवर चतुर्थ्यां नानात्वं तत्र ह्यायामसौवीरकादिनिर्लेपनं विज्ञेयमिति स्था० ७ ठा० । आव० । प्रव० । नि० चू० । पचा० (तथा चा चाराङ्गे पिण्डाधिकार एव सप्त पिण्डैषणा अधिकृत्य सूत्रमाह । तच्च पिंडेसणाशब्दे द्रष्टव्यम्)

(१४) एषणायां कर्तव्यम् तथा चाह—

भिक्खू मुयच्चे कयदिट्ठधम्मे,
गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा ।
से एसणं जाणमणेसणं च,
अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥

स एव मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः त विशिनष्टि । मृत च स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा तनुः शरीर यस्य स मृतार्चे । यदि वा मोदन मुत तद्भूता शोभनाऽर्चा पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः । प्रशस्तदर्शलेश्य. । तथा दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतधर्मचारित्राख्यो येन स तथा चैवंभूत. कचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मडम्बादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणागवेषणग्रहणैषणात्रिकां जानन् सम्यगवगच्छन्ननेषणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहार विपाक च सम्यगवगच्छन्नन्नस्य पानस्य वा न तु गृद्धोऽनध्युपपन्न सम्यग्विहरेत् । तथा हि स्थविरकल्पिकां द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षा गृह्णीयुर्जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयोरहस्ताश्चेमा. 'संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह होंति अप्पलेवाय । उग्गाहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया अथवा यो यस्याभिग्रह. स तस्यैषणा अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणानेषणाभिज्ञः कचित्प्रविष्ट सन्नाहारादावमूर्च्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीयादिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एसणाअसमिय-एषणाऽसमित पुं० असमाधिस्थानभेदे, "एसणाए असमिए यावि भवइ " तथा " एसणासमिए असमिएया वि भवतित्ति " एषणायां समितश्चापि संयुक्तोऽपि नानेषणां परिहरति प्रतिप्रेरितश्चासौ साधुभिः सह कलहायते अनेषणीयता परिहरन् जीवोपरोधे वर्त्तते एवं चात्मपरयोरसमाधिकरणादसमाधिकस्थानमिद विंशतितममिति । दशा० १ अ० । "अणेसणपरिहरति पमिचोदितो साधूहिं समं भंडइ अपरिहरतो य कायाणमुवरोधे वट्टंती वट्टंतो य अप्पाणं चेव असमाहीए जोजयतीति " आव० ४ अ० ।

एसणागोयर-एषणागोचर-पुं० एषणा उद्गमादिदोषविप्रमुक्तभक्तपानादिगवेषणरूपा तत्प्रधानो यो गौरिव मध्यस्थतया भिक्षार्थं चरणं स एषणागोचरः । एषणाप्रधानायां गोचरचर्यायाम्, बृह० ६ उ० "तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू" तिन्तिणिकोऽलाभे सति खेदाद्यत्किंचनाभिधायी स च खेदप्रधानत्वादेषणा उद्गमादिदोषविमुक्तपानादिगवेषणग्रहणलक्षणा तत्प्रधानो यो गोचरो गौरिव मध्यस्थया भिक्षार्थं चरणं स एषणागोचरस्तस्य परिमन्थुः । सखेदो हि अनेषणीयमपि गृह्णातीति भावः । स्था० ६ ठा० ।

एसणादोस-एषणादोष-पुं० एषणमेषणाऽशनादेर्ग्रहणकाले शङ्कितादिभि' प्रकारैरन्वेषण तद्विषया दोषा एषणादोषा' । प्रव० ६७ द्वा० । एषणाया. शङ्कितादिके दोषे, एषणा गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहण तद्दोषाः शङ्कितादयो दशेति । स्था० ३ ठा० (ते च एसणा शब्दे) ।

एसणाविसोहि-एषणाविशुद्धि-स्त्री० विशुद्धिभेदे, स्था० १० ठा० ।

(तद्वक्तव्यता विसोहि शब्दे)

एसणासमिइ-एषणासमिति-स्त्री० एषणमेषो गवेषणं त करोतीति णिच्-ततः स्त्रीलिङ्गे भावे युटि एषणा । उत्त० २४ अ० । एषणायामुद्गमादिदोषवर्जनतः समितिरेषणासमितिः पा० । एषणमेषणा गवेषणग्रहणग्रासैषणभेदा शङ्कितादिलक्षणा वा तस्यां समितिरेषणा समिति. । समितिभेदे, उक्तं च एषणासमितिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नवकोटीपरिशुद्धं ग्राह्यमिति- । स्था० ५ ठा० । आव० । गवेषणग्रहणग्रासैषणादोषैरदूषितस्यान्नपानादे रजोहरणमुखवस्त्रिकाद्यौघिकोपधेः शय्यापीठफलकचर्मदण्डाद्यौपग्रहिकोपधेश्च विशुद्धस्य यद् ग्रहणम् एषणासमितिर्यदाह "उत्पादनोद्गमैषण-धूमाङ्गारप्रमाणकारणत.। संयोजनाच्च पिण्ड, शोधयतामेषणास मिति" रिति । ध० २ अधि० । प्रव० । " सुत्तानुसारेण रयहरणवत्थपादासणपाणिलभो सहस्सेसण एसणासमिति " " दिट्ठमणेसियगहणे दिट्ठमणेसियगहणे त्ति एस एसणासमिति एसणासमितिए उवउत्तेण दिट्ठमणेसणिज्ज पच्छा दिट्ठ ण सक्किओ गहणजोग्गो णियत्तेउं एव सहसक्कारो एषणासमितिए भवतीति " नि० चू० १ उ० । एषणासमितिर्द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जनेन भक्तादिग्रहणे प्रवृत्तिरिति । सम० । एषणासमितावुदाहरणं यथा " वसुदेवपुव्वं जम्मं आहरण एसणासमितिए मगहनंदिग्गामे (गोयरग्गामे इति पाक्षिक सूत्रवृत्तौ) गोयम धिज्जाइ चक्कयरो तस्स य धारिणिभज्जागब्भो ताए कओ वि पाहुओ धिज्जाई मओ छम्मासगब्भधिज्जाइणी जाते माउलसंवुड्ढणकम्मकरणवेलापारणयएण नत्थि तुह इत्थ किंचि तो वेतामाउलो तं च मा सुण लोगस्स तुम धुयाओ तिण्ह तेसिलेट्ठयरं दाहामि करेमि कम्म पकम्मो उ पत्तो य विवाहो सा नेच्छई विसण्णो माउलोवेइ द्वितीय दाहामि सा वि य तहेव नेच्छई ततियं पि नेच्छइ सा वि निधिन्नादिवक्खणआयरियाण सगासे निक्खतो जाओ छट्ठक्खमओ गेण्हाति य । अभिग्गहमिमं तु बालगिलाणादीण वेयावच्चं मए उ कायव्वं त कुणइ तिव्वसड्ढो खायजसो सक्कगुणकित्ती असद्दहणे देवस्स आगमो कुप्पति दो समणरूवो अतिसारगहियमग्गो अडवितिओ आतिगओ वितिओ बेइ गिलाणो पडिओ वेयावच्चं तु सद्देह जोओ सो उट्ठेतु आसिप्प सुयं च त नंदिसेणेणं छट्ठो व-

घासपारणमाणीयं कवलघेत्तुकामेणं तं सुयमेत्तं रद्दत्तु ठिओ य झणकेण कज्झंति पाणगदव्वं च तर्हि अणच्छीवेइ तेण कज्जति । निमांयं हिंरूइ ततो कुणइ अणेसणं निविया पेल्लेइ इति । पक्कवारं विसियं च हिंरितो न लद्धं ततियवारम्मि अणुकंपाए चरंतो ततो गतो तस्सगासं तु खरफरुसनिठरेहिं अक्कोसई सो गिलाणओ सरूो हेमंदभग्ग ! फुक्कियनूससितनाममेत्तेण सावदुवकारित्ति । अहं नाम हंससुद्दिसिउमाओ एयाइ अवत्थाए त अच्छसि मत्तझोभिल्लो अमियमिव मक्खमाणे तं फरुसगिरं तु सो तु सनंतो चलणगतो खामेती छुवति यत असुइमलसित वठेह वयामो त्ति तह कहामि जहा हु अचिरेण होहिह । निरूप्प तुब्भे घेत्ता न तरामि गतुं जे आरुहतापट्ठीए आरूढो तो पयार च परमासुइदुग्गधिमुयतीपठीए फरुसं च वेति गिरिं धि मुक्किय वेगविघामो कओ त्ति । डुक्खविओ इय बहुविहमुक्कोसति पदेसो वि भगव तु न गणेइ फरुसगिरं न पत्त चिहूसइत्ता रसं गंधं चंदणमिव मन्नंतो मिच्छामि दुक्करं भणति । चिंतइ किं करेमि किह डुसमाही हवेज्ज साहुस्स इय बहुविहप्पओरेण चिंतितो जाहे खोभेउ ताहे अभित्थुणंतो तओ आगतो य इयरो उ आलोएइ गुरुहिं धन्नोत्ति ततो य अणुसट्ठो जह तेण न विपेल्लिय एसणाए जइयव्व । अहवा वि इमं अन्नं आहरणं दिठि वा दीयं जह केइ पंच संजया तए हुहह किलंतसुमहमरूाणं उत्तिन्ना वेयालियपत्तगामं च ते एगं मग्गति पाणग ते लोगो य अणेसणंतेहि कुणति न गहिय न लरूमियर कालगयतिसाभिभूया य आव० ४ अ० । आवश्यकचूर्णौ तु " एसणासमितीए नदिसेणो अणगारो मगधाजणवए सालिग्गामो तत्थेगो गाहावती तस्स पुत्तो नदिसेणो तस्स गब्भत्थस्स पितो मतो माता छम्मासियस्स मातुपिताए सवद्धितो । अन्नदा णदियरूणो अणगारो साधुसंपरिवुरूो विहरमाणो तं गाममागओ उज्जाणे ठितो । साधुभिक्खस्स गतो नंदिसेणो भणाति । के तुब्भे केरिसो वा तुब्भ धम्मं साधुहिं भणितो आयरिया जाणति उज्जाणे तत्थ गंतुं पुच्छाहि गतो पुच्छित्ता पव्वइतो । छट्ठक्खमओ जातो । अभिग्गहं गेण्हति । वेयावच्चं मए कायव्वति । सक्को गुणग्गहणं करेति । भद्दीणमणसो वेयावच्चे अब्भुट्ठितो । जो जं दव्वं इच्छति साहु तं तस्स सो देति । एगो देवो मिच्छादिठी असद्दहतो आगतो साधु रूव विउव्वित्ता उब्भडउ पडिस्सय आगतो नदिसेणस्स छठस्स पारणगा पढमे कवले उक्खित्ते देवक्खमणो तं एसो भणति । वितिउ तिसाए परितो । अतरंतो ठितो वाहिं जइ कोइ सद्दहति वेयावच्च तुरित घेत्तूण पाणग जातु । नंदिसेणो अपारितो चेव पाणगस्स गाम अतिगतो भिक्खू तो हिंरूतो देवाणुभावेणं न लभति । चिरस्स लद्ध गहाय गतो साहुं न पेच्छति वाहराति । चिरेण वायादिणा देवेण अतिसारजुत्तो साहू विउव्वितो भणति एयणं धि मुंरूए चिरस्स आगतो वेयावच्चे वि कवडवुरूी भणति । मिच्छाउक्कमति । पाणगं चिरेण लरूति । भणति किह ते गामं नेमि । किं असेण पिठीएत्ति । भणति असेणं अंसे कातुं पट्ठितो असुभकवमदं सुयति गुरुगं च । अप्पगं करेति भणति य मत्तरखलखला विज्झामि । पुणो तुराहित्ति । एव बहुसो विक्खोभमेउ जाहे ण तरति खामेतुं ताहे सो तुठो समत्त पडिघखो वंदित्ता पडिगतो । एस एसणासमितो । अहवा इमं दिठिवातिय पंच सजता महल्लाओ अठाणाओ तण्हा छुहा किलंता निग्गता । वेयाले गाम अतिगतो पाणगं मग्गंति । अणेसणं लोगो करेति । न लद्धं कालगता पंच वि एते एसणाए । आ० चू० ४ अ० ।

एसणासमिय–एषणासमित–पुं० एषणायाम् उत्पादनग्रहणग्रासविषयाया सम्यगितः स्थितः समित· एषणासमितः । एषणायां सम्यक् स्थिते, निर्दोषाहारग्राहिणि, उत्त० ६ अ० । " एसणासमिए णिच्चं वज्जयंते अणेसणं " एषणायां गवेषणग्रहणैषणग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समित· साधुर्नित्यमेषणासमित· सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन् सयममनुपालयेदिति । सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । तथा च ।

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवायं गवेसए ॥

एषणासमितिनिर्दोषाहारग्राही ग्रामे नगरे वा अनियतो नित्यवासरहित· सन् चरेत् संयममार्गे प्रवर्तेत । कीदृश· साधुर्लज्जूर्लज्जालु· लज्जासंयमस्तेन सहितः । पुनः कीदृश· अप्रमत्तः प्रमादरहितः । पुन· साधु (प्रमत्तेहिं इति) प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः पिण्डपातं भिक्षां गवेषयेत् गृह्णीत प्राकृतत्वात्पञ्चमीस्थाने तृतीया उत्त०६ अ० । तद्वात्मके समाधिभेदे च । स्था०१० ठा० ।

एसणिज्ज–एषणीय–त्रि० इष-एष वा कर्मणि अनीयर् आशास्ये, गम्ये च वाच० । एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत्तदेषणीयम् कल्पे, । स्था० ३ ठा० । " फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसइत्ता भवइ " । एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषरहिततयेत्येषणीयः कल्पस्तस्येति । स्था० ४ ठा० । " एसणिज्जमिति संकितमक्खियादिदोसविमुक्कमिति " प० चू० । " एसणिज्ज तु दसदोसविप्पमुक्क ति " पं० भा० ।

एसणोपघाय–एषणोपघात–पुं० एषणया शङ्कितादिभेदया योघात· स एषणोपघात· । उपघातभेदे, स्था०१० ठा० । एषणोपघात एषणया तद्दोषैर्दशभिः शङ्कितादिभिरुपघात इति स्था०५ ठा० ।

एसमाण–एषयत्–त्रि० अन्वेषति, "एसणाए एसमाण परो वदेज्जा " एतया अनन्तरोक्तया वस्त्रैषणया वस्त्रमन्वेषयन्त साधुं परो वदेत् । आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

एसित्तए–एषितुम्–अव्य० अन्वेष्टुमित्यर्थे, "संथारगमे सित्तए" संस्तारकमन्वेष्टुमिति० आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

एसित्ता–एषित्वा–अव्य० आन्विष्येत्यर्थे, "पिंडवाय एसित्ता" पिण्डपातं भिक्षामेषित्वाऽन्विष्येति । आचा०२ श्रु०१ अ०२ उ० ।

एषित्वा–अव्य० निर्दोषमाहार गृहीत्वेत्यर्थे "पडिरूवेण एसित्ता" आहारं निर्दोष गृहीत्वेति । अन्विष्येत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

एसिय–एषिक–पु० एषितु शीलमस्येत्येषिकः । मृगलुब्धक हस्तितापसादौ, पाखण्डिके च । (एसिया वेसिया सुद्दा) एषितुं शीलमित्येषिका मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एष्यन्ति तथा कन्दमूलफलादिके च । तथा ये चाऽन्ये पाखण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेष्यन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते । सूत्र०१ श्रु० ९ अ० । जातिभेदे, [एसियकुलाणि वा) एसियति गोष्ठा इति " आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ॥

एषित–त्रि० एषणीये, एषयन्ति एषणीयमुद्गमादिदोषरहितमिति आचा०२ श्रु०१ अ०११ उ० । (एसियस्सत्ति) एषणीयस्य गवे-

षणाविशुद्ध्या गवेषितस्येति भ० ७ श० १ उ० । एषितं प्रासुकमित्यर्थ इति व्य० द्वि० ४ उ० । एषितमन्वेषितं भिक्षाचर्याविधिना प्राप्तमिति सूत्र० २ श्रु० १ अ० ॥

एसिया-एषित्वा-अव्य० अन्वेष्यत्यर्थे, "सुविसुद्धमेसिया" सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहिततयैषणादोषपरिहारेणैषित्वाऽन्विष्येति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

एहंत-एधयत्-त्रि० अनुभवति, "दीसंति दुहमेहंता" दुःखक्लेशलक्षणमेधयन्तोऽनेकार्थत्वादनुभवन्त इति । दश० ९ अ० ।

एहिय-ऐहिक-त्रि० इह भवः काशादृत्, इहलोकभवे, गृहीतशरीरसम्बाधिनि स्रक्चन्दनादिसुखानुभवादौ च वाच० । ऐहिकमेव चक्रं सांसारिकसुखहेतुत्वादिति । आ० म० प्र० ।

ऐ-अयि-अव्य० इण् इन् । अयौ वैत् ८ । १ । १६९ । इति प्राकृतसूत्रेणायिशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह वा ऐकारः । प्रा० । प्रश्ने, अनुनये, सम्बोधने, अनुरागे च । वाच० । "ऐ बीहेमि" अइउम्हात्तिप वचनादैकारस्यापि प्राकृते प्रयोगः प्रा०

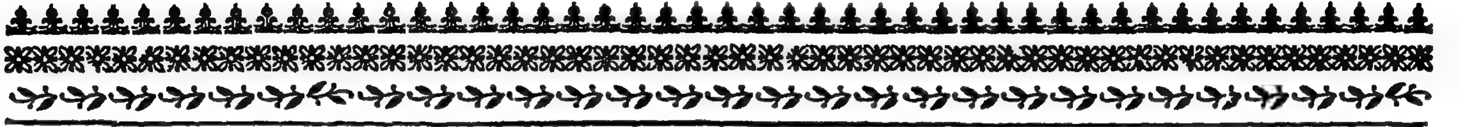

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
एकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्-

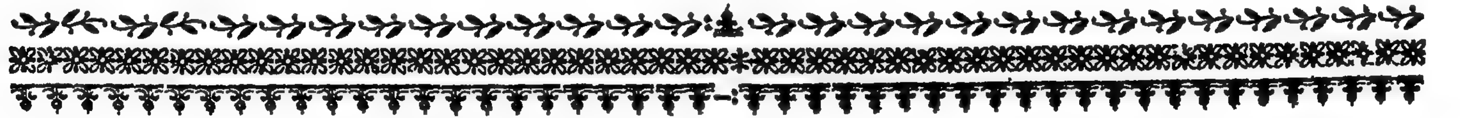

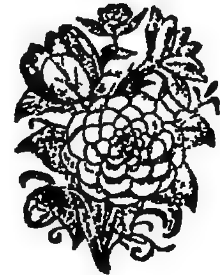

ओ-अव-अप-उत्-अव्य०अवादिप्रकरणोक्तार्थेषु, " अवापोते च ८। १ ७२ अवापयोरुपसर्गयोरुत इति विकल्पार्थनिपाते च आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा भवति । ओअरइ अवअरइ । ओआसो अवआसो । अप । ओसरइ । अवसरइ । ओसारिअं । अवसारिअं । उत्-ओवणं उअवणं । ओघणो । उअघणो । क्वचिन्न भवति अवगअं । अवसद्दो उअ-रवी प्रा० । अव-अध.शब्दार्थे, वोसिरामि । विशे० ।

ओ-अव्य० उ-विच् । संबोधने, आह्वाने, स्मरणे, अनुकम्पने, च मेदि०। प्राकृतेऽपि ओ सूचना पश्चात्तापे, ॥२॥ ओ इति सूचना-पश्चात्तापयोः प्रयोक्तव्यम् सूचनायाम् " ओ अविणअतत्तिल्ले" पश्चात्तापे-"ओ नमए गयाइतिभाए" विकल्पे तु उतादेशेन ओ-कारेणैव सिद्धम् । "ओविरएमि न हअसे" प्रा० । ओ इति नि-पात । पादपूरणे, पचा०३ विव०। "सामाईयमोत्तय तु य विसं" " पचा० १ विव० । सुहुमे परमुस्सक्कण-मवसक्कणमोयपाहु-मिया" पंचा० १७ विव०।

ओ-पुं० रक्षणे, शेषे, मन्त्रे, श्रुतावपि ब्रह्मणि, शीतांशौ, पङ्के, दायादे, त्रिदिवेशे, पयोवाहे, यवे, वेधे, नदे, योनौ, सरसिजे, तोये, रुद्रस्वामिनि, मातरि, एका० ।

ओअक्ख-दृश्-धा० भ्वा-पर-सक० । प्रेक्षणे "दृशो निअच्छपे-च्छ वयच्छ वयज्झ वज्ज सव्वव देक्खो अक्ख वक्ख पअक्ख पुलोये पुलअ निआव आस पासाः " ८ । ४ । ८० । इति दृशे-रोअक्खादेशः । ओअक्खइ । पासइ पश्यति प्रा० ।

ओअग्ग-वि-आप्-धा० स्वा-उभ० व्यापेरोअग्गः ८ । ४ । ४० । इति व्याप्नोतेरोअग्ग इत्यादेशो वा भवति । ओअग्गइ । वावेइ । प्राप्नोति प्रा० ।

ओअंद-आ-छिद्-धा०रुधा० हस्तादिनाऽऽकर्षणे, । आङा ओ-अंदोद्दालौ ८ । ४ । ५ । इति आङा युक्तस्य छिदेरोअंदादेशः । ओअंदइ । आछिंदइ । आच्छिनत्ति । प्रा० ।

ओआस-अवकाश-पुं० अव्-कश्-घञ्-अवापोते च ८ । १ । ७२ । इति सस्वरव्यञ्जनेन सह ओत् प्रा० । आश्रये, पं० व० १ द्वा० ॥

ओआसविवज्जिअ-अवकाशविवर्जित-त्रि० आश्रयरहिते,"च त्तम्मि घरावासे, ओआसविवज्जिओ वि वासत्थो" पं०व०१ द्वा०

ओइण्ण-अवतीर्ण-त्रि० गन्तुमुपक्रान्ते, " विसम मग्गमो इण्णो, अक्खे भग्गमि सोयइ " उत्त० ५ अ० ।

ओउ-ओतु-पुं० स्त्री० अव्-तुन्-ऊठ् गुणः । विडाले, मार्जारे, आ-वे-तुन्-वा संप्रसारणम् । तिरश्चीनसूत्रे, वाच० ।

ओउय-आर्तव-न०ऋतौ यदुचितं तदार्त्तवम् । ऋतूचिते, "अ-गरुवरपवरधूवणओउयमल्लाणुलेवणविही" ज्ञा०१७अ० ।

ओऊल-अवचूल-न०हस्त्यादेः कण्ठस्ताधोमुखकूर्चके, "पलं-बओऊलमहुयरकयधयार " ज्ञा० १६ अ० ।

ओं-ॐ-पुं०अव्य० अश्च अश्च आश्च उश्च म् च द्वन्द्व । परमेष्ठिप-ञ्चके, "ॐभूर्भुव स्वःतत्सवितुर्वरेण्यं," ओमिति परमेष्ठिपञ्चकमा-ह । कथमिति चेदुच्यते । अ इति अर्हत आद्याक्षरम् । अ इत्य-शरीरा इत्यस्य सिद्धवाचकस्याद्याक्षरम् । आ इत्याचार्यस्याद्या-क्षर . उ इत्युपाध्यायस्याद्याक्षरम्, म् इति मुनीत्यस्याद्याक्षरम् अअआउम् इति ततः सन्धिवशात् ओं इति । पदैकदेशे पद-समुदायोपचारादेवमुक्तिः ॥ ओमित्यनेन "आयट्ठकला अरिहंता,-निट्ठणा सिद्धा य लोहुकरसूरी । उवज्झाय विसुद्धकला, दीह-कला साहुणो भणिय" ॥ १ ॥ " इति गाथोक्तरहस्येन परमे-ष्ठिपञ्चकमेव महानन्दार्थिना ध्येयमिति ॥ परमतत्त्वे यतः अक्ष-पादाः स्वं देवमीश्वरं प्रणिदधाना प्रार्थनापुरःसरमेवमभिदधाति । (ओंभूर्भुवेत्यादि) ओमिति सर्वविद्यानामाद्यबीजं सकलागमो-पनिषद्भूतं सर्वविघ्नविघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्टफलसकल्पकल्प-द्रुमोपमामित्यस्य प्रणिधानस्यादावुपन्यस्त परममङ्गलम् न चैतद्व्य-तिरिक्तमन्यत्तत्वमस्ति इति ॥ ओमित्यक्षरं छान्दसमादिभू-तत्वात्तस्य किंविशिष्टस्य भूर्भुव स्वस्तद्भुवनत्रयव्यापि तर्हि किं-चिदभिधेयसत्तासमाविष्ट वस्तु गुरुसम्प्रदाययुक्तान्विष्यमाण-मत्र ओकारे शब्दपर्यायेणावाप्यते सर्ववादिभिरविगानेनास्य सकलभुवनत्रयकमलाधिगमे बीजतयोपवर्णितत्वादिति परिभा-वनीयमेतत् । गा० । अश्च उश्च मश्च तेषां समाहारः । विष्णु-महेश्वरब्रह्मरूपत्रयात्मके ईश्वरे, । ब्रह्मोकारोऽत्र विज्ञेय अकारो विष्णुरुच्यते । महेश्वरो मकारस्तु त्रयमेकत्र तत्त्वतः । पं०व० ४ द्वा०३२ पत्र०। प्रणवे, । आरम्भे, । स्वीकारे, । अनुमतौ, अपाकृतौ, अस्वीकारे, मङ्गले, शुभे, ज्ञेये, ब्रह्मणि च । वाच० ।

ओंकार-ओंकार-पुं-ओम्-स्वरूपे कारप्रत्यय । प्रणवे, स्तुवी-त कृतं सर्वमित्युक्तेश्च ओंकारस्य सर्वकर्मारम्भादौ पाठ्यत्वात्-आरम्भसाधनत्वेन आरम्भे, । सप्तानां समावयवानां प्रथमा-वयवे च । बुद्धिशक्तिभेदे च स्त्री० । वाच० ।

ओक-ओक-पुं०उच्-घ-चस्य कः । पक्षिणि, वृषले, आश्रये च । उच् भावे घञ् कुत्वम् । समवाये । वाच० ।

ओक्य-ओकाय हित यत् निवासाय हिते, । त्रि० वाच० ।

ओकस्-न०उच्-असुन् न्यङ्क्वादित्वात्कुत्वम् । गृहे, आश्रयमात्रे च । वनौकसः त्रिदिवौकस इत्यादि । वाच० । "कुलपत्यर्पिते वर्षास्तस्थौ स्वामी तृणौकसि । गावो बहिस्तृणानाप्त्या वर्षारम्भे-क्षुधातुराः" आ० क० ।

ओकुंजिय-अवकूजित-न० ऊर्द्ध तिर्यग्बाहुमिति करणे, "उड्ढ पांतरिय हुत्ति करण ओ अवकुजिय" । नि० चू० १७ उ० ।

ओक्खल-उदूखल-न० उद्-ऊर्द्ध खं लाति । ला-क पृषो-नि० नवा मयूखलवणचतुर्गणचतुर्थचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलो दूखलोलूखले ८ । १ । ७१ । इति आदेः स्वरस्य परेण सस्व-रव्यञ्जनेन सह ओद् वा । ओक्खल । उलूखलं । तैलादित्वाद्द्वि-त्वे 'द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः' ८ । २ । ९० । इति द्वितीयस्योप-रि प्रथमः । तण्डुलादिसाधने गृहोपकरणे, प्रा० ।

ओगसण-अपकसन-न० ह्रसने, सू० ६ उ० ।

ओगहिय-अवगृहीत-न० येन केनचित्प्रकारेण दायकेनात्ते भक्तादौ, ॥

तिविहे ओगहिए पएणत्ते तं जहा जं च ओगिएहइ जं च साहरई जं च आसगंसि पक्खिवइ ॥

अवगृहीतं नाम येन केनचित्प्रकारेण दायकेनात्तं भक्तादि यदिति भक्तम् । चकारा: समुच्चयार्था । अवगृह्णाति आदत्ते हस्तेन दायकस्तदवगृहीतमेतच्च षष्ठी पिण्डैषणेति एवं च वृद्धव्याख्या परिवेषक' पिटकाया' कूरं गृहीत्वा यस्मै दातुकाम तद्भाजने क्षेप्तुमुपस्थितस्तेन च भणितं मा देहि अत्रावसरे प्राप्तेन साधुना धर्मलाभमित तत: परिवेषको भणति प्रसारय साधो! पात्रं ततः साधुना प्रसारिते पात्रे क्षिप्तमोदनम् । इह च संयतप्रयोजनगृहस्थेन हस्त एव परिवर्तितो नान्यद्भमनादि कृतमिति जघन्यमाहृत जातमिति । इह च व्यवहारभाष्यश्लोकः । "भुंजमाणस्स उक्खित्त, पडिसिद्धं च तेण उ । अहन्नोवहडंतं तु, हत्थस्स परियत्तणेति "। तथा तच्च परिवेषकः स्थानाद्विचक्षन् संहरति भक्तभाजनाद्भोजनभाजनेषु क्षिपति तच्चावगृहीतमिति प्रक्रम श्लोकोऽत्र ।" अह साहारमाणं (परिवेषयन्नित्यर्थः)तु, वट्टतो जो उ दायओ। दलेज्जा वहिओ तत्तो, छट्ठा एसा वि एसणत्ति " तथा यच्च भक्तमास्यके पिठरादिमुखे क्षिपति तच्चावगृहीतमिति । एवं चात्र वृद्धव्याख्या कूरमवस्रावदननिमित्त कंसिकादि भाजने विशालोत्तानरूपे क्षिप्तं ततो भक्तिकेभ्यो दत्त ततो भक्तशेषं यद्भूय' पिठरके प्रकाशमुखे क्षिपति दद्यात परिवेषयतीति वा प्रकाशमुखे भाजने तत्तृतीयमवगृहीतम । श्लोकोऽत्र ।"भुत्तसेस तु ज भूओ, छुवती पिठरोदये। सघट्टती व अन्नस्स, आसगंसि पएसपत्ति ॥ १ ॥, ननु आस्ये मुखे यत्प्रक्षिपतीति मुख्येऽर्थे सति किं पिठरादिमुखे इति व्याख्यायत इत्युच्यते अस्य प्रक्षेपव्याख्यानमयुक्तमिति जुगुप्साप्रावादिति। आह च । " पक्खेवए दुगुंछा आएसो कुममुहाईसुत्ति " स्था० ३ ठा० ॥

ओगाढ-अवगाढ-त्रि० अव-गाह-क्त। आश्रिते, । स्था० १० ठा०। अवस्थिते, स्था० १ ठा० । व्यवस्थिते, आ० म० प्र०। व्याप्ते, ज्ञा० १६ अ० । स्थिते, आचा०२ श्रु० । निमग्ने, स्था० ४ ठा० ।

ओगाढरुइ-अवगाढरुचि- स्त्री० अवगाढ साधुप्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधूपदेशाद् रुचिरवगाढरुचि' । धर्मध्यानस्य चतुर्थे, । लक्षणे, । स्था० ४ ठा० ।

ओगाहइत्ता-अवगाह्य-अ० उपक्रमेव आत्माभिमुखमाकृष्येऽर्थे " ओगाहइत्ता चलइत्ता आहारे पाणभोयणे" द० ५ अ० ।

ओगाहंत-अवगाहत्-अवगाहमान-त्रि० अवगाहनां कुर्वति, "सूरुद्यपच्छिमाए ओगाहतीए पुव्वं सएउ " अवगाहन्त्यामागच्छन्त्यामित्यर्थः । आव० ४ अ० ।"ते चोगाहती सघट्टती रमती य"। तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती। पिं० ।

ओगाहणसेणियापरिकम्म-अवगाहनश्रेणिकापरिकर्मन्-न० दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मभेदे, सम० ।

ओगाहणा-अवगाहना-स्त्री० अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना । क्षेत्रप्रदेशे, स्था० १ ठा० । अवगाहन्ते अवतिष्ठन्ते जीवा अस्यामित्यवगाहना । नारकादितनुसमवगाढे क्षेत्रे, । अनु० । आधारैकभूते क्षेत्रे, सम०। अवगाहन्ते आसते यस्यामाश्रयन्ति वा यां जीवा साऽवगाहना स्था० ४ ठा० । अवगाहन्ते क्षेत्रं यस्यां स्थिता जन्तव साऽवगाहना।आ०म० प्र० । उत्त० ३६ अ० । आवगाहते जीवेन आकाशोऽनयेति अवगाहना औणादिकः प्रत्यय' । प्रव० १ द्वा० । औदारिकादौ शरीरे, सम० ।

(१) अवगाहनाया भेदा ।
(२) औदारिकशरीरावगाहनामानम् ।
(३) पृथ्व्यादीनामौदारिकावगाहनामानम् ।
(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामौदारिकावगाहना ।
(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना ।
(६) मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना ।
(७) वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(८) पृथ्व्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहना ।
(९) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरावगाहनामानम ।
(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरावगाहना ।
(११) आहारकशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(१२) तैजसशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(१३) निगोदजीवस्यावगाहनामानम् ।
(१४) एकत्र एक एव धर्मास्तिकायादिप्रदेशावगाढः ।
(१५) धर्मास्तिकायादेरवगाढानवगाढस्य चिन्ता ।

(१) अवगाहनायाः भेदास्तद्यथा

चउव्विहा ओगाहणा पण्णत्ता तं जहा दव्वोगाहणा खेत्तोगाहणा कालोगाहणा भावोगाहणा ॥

अवगाहन्ते आसते यस्यामाश्रयन्ति वा यां जीवाः साऽवगाहना शरीरं द्रव्यतोऽवगाहना द्रव्यावगाहना। एव सर्वत्र । तत्र द्रव्यतोऽनन्तद्रव्या क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढा । कालतोऽसंख्येयसमयस्थितिका भावतो वर्णाद्यनन्तगुणेति। अथवा अवगाहना विवक्षितद्रव्यस्याधारभूता आकाशप्रदेशास्तत्र द्रव्याणामवगाहना द्रव्यावगाहना । क्षेत्रमेवावगाहना क्षेत्रावगाहना । कालस्यावगाहना समयक्षेत्रलक्षणा कालावगाहना। भाववतां द्रव्याणामवगाहना भावावगाहना भावप्राधान्यादिति । आश्रयणमात्रं वा अवगाहना । तत्र द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना श्रयण द्रव्यावगाहना। एवं क्षेत्रस्य कालस्य भावानां द्रव्येणेति अन्यथा चोपयुज्य व्याख्येयमिति स्था०४ठा० ।

नवविहा जीवोवगाहना पण्णत्ता तं जहा पुढविकाइयओगाहणा आउकाइय जाव वणस्सइकाइयओगाहणा बेंदियोगाहणा तेंदियोगाहणा चउरिंदियोगाहणा पचेंदियोगाहणा ॥ स्था० ९ ठा० ।

(२) सामान्यत औदारिकशरीरावगाहनामानम ।

ओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । एगिंदियओरालियस्स वि एवं चेव जहा ओहियस्स ॥

औदारिकस्य जघन्यतोऽवगाहना अङ्गुलासंख्येयभागा स चोत्पत्तिप्रथमसमये पृथिवीकायिकादीनां वाऽवसातव्या । उत्कर्षत सातिरेकं योजनसहस्रमेषा लवणसमुद्रगोतीर्थादिषु पद्मनालाद्यधिकृत्यावसातव्या । अन्यदैतावत औदारिकशरीरस्यासम्भवात । एवमेकेन्द्रियसूत्रेऽपि तथा चाह । " एगिंदियओरालियस्स एवं चेव जहा ओहियस्स इति " प्रज्ञा०२१ पद

(३) औदारिकपृथिव्यादीनामवगाहनामानम् ।

पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं एवं अपज्जत्तयाण वि पज्जत्तयाण वि । एवं सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताण वायराण पज्जत्तापज्जत्ताण वि । एवं एसो णवन्नेओ जहा पुढविकाइयाण तहा आउकाइयाण वि । तेउकाइयाण वि वाउकाइयाण वि । वणस्सइकाइयओरालियमरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयण हस्सं । अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । पज्जत्तगाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । बादराणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं सातिरेगं । पज्जत्ताण वि एवं चेव । अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताण य तिण्ह वि जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अगुलस्स असंखेज्जइभाग ।

पृथिव्यप्तेजोवायूनां सूक्ष्माणां बादराणां प्रत्येकं पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदारिकशरीरस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चावगाहना अङ्गुलासंख्येयभाग । प्रत्येकं च नव सूत्राणि तेषामौघिकसूत्रमौघिकपर्याप्तसूत्रम् । तथा सूक्ष्मसूत्रं सूक्ष्मापर्याप्तकसूत्र सूक्ष्मपर्याप्तकसूत्रमेवं बादरेऽपि सूत्रत्रिकमिति । एवं वनस्पतिकायिकानामपि च सूत्राणि । नवरमौघिकं वनस्पतिसूत्रे औघिकवनस्पतिपर्याप्तकसूत्रे बादरसूत्रे बादरपर्याप्तसूत्रे जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभाग उत्कर्षतः सातिरेक योजनसहस्र तच्च पद्मनालाद्यधिकृत्य वेदितव्यम् । शेषेषु तु जघन्यत उत्कर्षतो वाऽङ्गुलासंख्येयभागः ॥

(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियौदारिकाणामवगाहनामानम् ।

बेइंदियउरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं बारसजोयणाइं । एवं सव्वत्थ वि अपज्जत्तयाणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग जहन्नेण वि उक्कोसेण वि पज्जत्तगाणं । जहेव ओरालियस्स ओहियस्स । एव तेइंदियाणं तिन्नि गाउयाइं । चउरिंदियाणं चत्तारि गाउयाइं ।

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं त्रीणि २ सूत्राणि तद्यथा औघिकसूत्रं पर्याप्तसूत्रमपर्याप्तसूत्र च । तत्रौघिकसूत्रे पर्याप्तसूत्रे च द्वीन्द्रियाणामुत्कर्षतो द्वादश योजनानि । त्रीन्द्रियाणां त्रीणि गव्यूतानि । चतुरिन्द्रियाणां चत्वारि गव्यूतानि । अपर्याप्तसूत्रे तु जघन्यत उत्कर्षतश्चाङ्गुलासंख्येयभाग ॥

(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानम् ॥

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं २ । एवं सम्मुच्छिमाणं २ । गब्भवक्कंतियाण वि २ । एवं चेव णवओ भेदो भाणियव्वो । एवं जलयगण वि जोयणसहस्सं णवओ भेदो । थलयराण वि णवओ भेदो उक्कोसेणं छगाउयाइं । पज्जत्ताण वि एवं चेव २ । सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताण य उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं २ । गब्भवक्कंतियाणं उक्कोसेणं छ गाउयाइं । पज्जत्ताण य ओहियचउप्पयपज्जत्तयगब्भवक्कंतियपज्जत्तयाण य उक्कोसेणं छ गाउयाइं सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताण गाउयपुहत्तं उक्कोसेणं एवं, उरपरिसप्पाण वि । ओहियगब्भवक्कंतियपज्जत्तयाणं जोयणसहस्सं । सम्मुच्छिमाण जोयणपुहत्तं भुयपरिसप्पाणं ओहियगब्भवक्कंतियाण वि उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं, सम्मुच्छिमाणं धणुपुहत्त, खहयराण ओहियगब्भवक्कंतियाणं सम्मुच्छिमाण य तिण्ह वि उक्कोसेणं धणुपुहत्तं । इमाओ संगहणिगाहाओ जोयणसहस्सछगाउयाइं, तत्तो य जोयणसहस्सं । गाउयपुहत्त भुयपरि-धणुहे पुहत्त च पक्खीसु । १ । जोयणसहस्सगाउय-पुहत्तं तत्तो य जोयणपुहत्तं । दोएहं धणुपुहत्तं, सम्मुच्छिमे होति उच्चत्तं ॥

तथा सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां जलचराणां सामान्यतः स्थलचराणां चतुष्पदानामुर परिसर्पाणां भुजपरिसर्पाणां खचरपञ्चेन्द्रियतिरश्चां च प्रत्येकं नव २ सूत्राणि । तद्यथा त्रीणि औघिकानि । त्रीणि समूर्च्छिमविषयाणि । त्रीणि गर्भव्युत्क्रान्तिकविषयाणि । तत्रापर्याप्तेषु स्थानेषु सर्वेष्वपि जघन्यत उत्कर्षतो वाऽङ्गुलासंख्येयभाग । शेषेषु तु स्थानेषु जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः । उत्कर्षतः सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु जलचरेषु चोत्कर्षतो योजनसहस्र सामान्यत स्थलचरेषु चतुष्पदस्थलचरेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु षट् गव्यूतानि संमूर्च्छिमेषु गव्यूतपृथक्त्वम् । उर·परिसर्पेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु च योजनसहस्र संमूर्च्छिमेषु योजनपृथक्त्वं भुजपरिसर्पेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु च गव्यूतपृथक्त्वम् । संमूर्च्छिमेषु धनु पृथक्त्वं खचरेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु समूर्च्छिमेषु च सर्वेषु स्थानेषु धनुः पृथक्त्वम् अत्रेमे सग्रहगाथे (जोयणसहस्समित्यादि) गर्भव्युत्क्रान्तानां जलचराणामुत्कर्षत· शरीरावगाहनामान योजनसहस्रं चतुष्पदस्थलचराणां षट् गव्यूतानि । उर·परिसर्पस्थलचराणां षट् गव्यूतानि । उरःपरिसर्पस्थलचराणां योजनसहस्र भुजपरिसर्पस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्व पक्षिणां धनु पृथक्त्वम् । तथा समूर्च्छिमानां जलचरणामुत्कर्षत· शरीरावगाहनाया· प्रमाण योजनसहस्र चतुष्पदस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्वं, पक्षिणां धनु पृथक्त्वम् । तथा समूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कर्षत· शरीरावगाहनाया प्रमाण योजनसहस्रञ्चतुष्पदस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्वम् , पक्षिणां धनु·पृथक्त्वमुर परिसर्पस्थलचराणां योजनपृथक्त्व, भुजपरिसर्पस्थलचराणा च धनु पृथक्त्वमिति । उक्तं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानम् ।

(६) इदानीं मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानमाह ।

मणुस्सोरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं । अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । सम्मुच्छिमाणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्ज-

इभागं । गब्भवक्कंतियाणं पज्जत्ताण य जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं तिरिण गाउयाइं ॥

कण्ठ्यम् । नवरं त्रीणि गव्यूतानि देवकुर्वाद्यपेक्षया तदेवमौदारिकशरीरस्य विधयः संस्थानानि प्रमाणानि चोक्तानि ।

(७) संप्रति वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानमाह ।

वेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसयसहस्सं । वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । णेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं धनुस्सहस्सं ।

(वेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग नैरयिकादीनां भवधारणीयस्यापर्याप्तावस्थाया वातकायस्य वा उत्कर्षतः सातिरेकं योजनशतसहस्रं देवानामुत्तरवैक्रियस्य मनुष्याणां वा (एगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) अत्र एकेन्द्रियो वातकायोऽन्यस्य वैक्रियलब्ध्यसंभवात् । तस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽवगाहनामानमङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणमेतावत्प्रमाणं विकुर्वणायामेव तस्य शक्तिसंभवात् । सामान्यनैरयिकसूत्रे भवधारणीया भवो धार्यते यया सा भवधारणीया कृद्बहुलमिति वचनात्करणे अनीयप्रत्ययः । उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि उत्तरवैक्रियधनुःसहस्रं सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया अन्यत्रैतावत्या भवधारणीयाया उत्तरवैक्रियाया वा शरीरावगाहनाया अप्राप्यमाणत्वात् ।

(८) संप्रति पृथिव्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहनामानमाह ।

रयणप्पभा पुढविणेरइयाणं के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य तत्थ णं जा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण सत्तधणूइं तिण्णि रयणीओ छच्च अंगुलाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । सक्करप्पभाए पुच्छा गोयमा ! जाव तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं एक्कतीसं धणूइं एक्का य रयणी । वालुयप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा एक्कतीसधणूइं एक्का य रयणी । उत्तरवेउव्विया बावट्ठिधणूइं दोण्णि य रयणीओ । पंकप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा बावट्ठिधणूइं दोण्णि य रयणीओ । उत्तरवेउव्विया पणवीसं धणुसतं । धूमप्पभाए भवधारणिज्जा पणवीसं धणुसतं । उत्तरवेउव्विया अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं । तमाए भवधारणिज्जा अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं । उत्तरवेउव्विया पंचधणुसयाइं । अहेसत्तमाए भवधारणिज्जा पंचधणुसयाइं । उत्तरवेउव्विया धणुसहस्सं । एयं उक्कोसेणं जहन्नेणं भवधारणिज्जा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उत्तरवेउव्विया अंगुलस्स संखेज्जइभागं ॥

अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणता प्रथमोत्पत्तिकाले वेदितव्या । उत्कर्षतः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि पर्याप्तावस्थायामिदं चोत्कर्षतः शरीरावगाहनामानं त्रयोदशे प्रस्तटे द्रष्टव्यं शेषेषु त्वर्वाक्तनेषु प्रस्तटेषु स्तोकं स्तोकतरम् । तथैवं रत्नप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे त्रयो हस्ता उत्कर्षतः शरीरप्रमाणम् द्वितीये प्रस्तटे धनुरेकमेको हस्तः सार्द्धानि चाष्टाङ्गुलानि । तृतीये प्रस्तटे धनुरेकं त्रयो हस्ताः सप्तदशाङ्गुलानि । चतुर्थे द्वे धनुषी द्वौ हस्तौ सार्धमेकमङ्गुलम् । पञ्चमे त्रीणि धनूंषि दशाङ्गुलानि । षष्ठे त्रीणि धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धान्यष्टादशाङ्गुलानि । सप्तमे चत्वारि धनूंषि त्रयो हस्ताः सार्धान्येकादशाङ्गुलानि । नवमे पञ्च धनूंषि एको हस्तो विंशतिरङ्गुलानि । दशमे षट् धनूंषि सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि । एकादशे षट् धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रयोदशाङ्गुलानि । द्वादशे सप्त धनूंषि सार्धान्येकविंशतिरङ्गुलानि । त्रयोदशे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् परिपूर्णान्यङ्गुलानि । एष चायं तात्पर्यार्थः । प्रथमे प्रस्तटे यच्छरीरावगाहनापरिमाणं त्रयो हस्ता इति तस्योपरि प्रस्तटक्रमेण सार्द्धानि षट् पञ्चाशदङ्गुलानि प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु शरीरावगाहनापरिमाणं भवति । उक्तं च । "रयणाए पढमपयरे, हत्थतिगं देहउस्सेहभणिओ । छप्पन्नगुलसड्ढा, पयरे पयरे हवइ वुड्ढी" १ (तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया इत्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभाग प्रथमसमयेऽपि तस्या अङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणाया एव भावात् । न त्वसंख्येयभागप्रमाणा । आह च । संग्रहणिमूलटीकाकारो हरिभद्रसूरिः-उत्तरवैक्रिया तु तथाविधप्रयत्नभावादाद्यसमये अङ्गुलसंख्येयभागमात्रे च उत्कर्षतः पञ्चदशधनूंषि अर्द्धतृतीयहस्ता इदं च उत्तरवैक्रियशरीरावगाहनापरिमाणं त्रयोदशे प्रस्तटेऽवसातव्यं शेषेषु प्रस्तटेषु प्रागुक्तं भवधारणीयमानापेक्षया द्विगुणं प्रत्येतव्यम् । शर्कराप्रभायां भवधारणीया उत्कर्षतः पञ्चदशधनूंषि अर्द्धतृतीयहस्ता इदं चोत्कर्षतो भवधारणीयावगाहना परिमाणमेकादशे प्रस्तटेऽवसातव्यम् । शेषेषु प्रस्तटेष्विदं शर्करायाः प्रथमे प्रस्तटे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि । द्वितीये प्रस्तटेऽष्टौ धनूंषि द्वौ हस्तौ नव चाङ्गुलानि । तृतीये नव धनूंषि एको हस्तो द्वादशाङ्गुलानि । चतुर्थे दश धनूंषि पञ्चदशाङ्गुलानि । पञ्चमे दश धनूंषि त्रयो हस्ताः अष्टादश अङ्गुलानि । षष्ठे एकादश धनूंषि द्वौ हस्तावेकविंशतिरङ्गुलानि । सप्तमे द्वादश धनूंषि द्वौ हस्तौ । अष्टमे त्रयोदश धनूंषि एको हस्तस्त्रीणि अङ्गुलानि । नवमे चतुर्दश धनूंषि षट् चाङ्गुलानि । दशमे चतुर्दश धनूंषि त्रयो हस्ता नव चाङ्गुलानि । एकादशे सूत्रोक्तमेव परिमाणम् । अत्रापीदं तात्पर्यम् । प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रथमे

प्रस्तटे क्रमेण त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि प्रक्षेप्तव्यानि । ततो यथोक्तं प्रस्तटे परिमाणं भवति । "सो चेव य बीयाए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । हत्थतिय तिन्नि अंगुल-पयरे पयरे य वुड्ढीओ ॥ १ ॥ एक्कारसमे पयरे, पन्नरस धणूणि दोण्णि रयणीओ । बारसयमंगुलाइं, देहपमाण तु विन्नेय ॥ २ ॥" गाथाद्वयस्यापीयमक्षरगमनिका य एव प्रथमपृथिव्यास्त्रयोदशे प्रस्तटे उत्कर्षत उत्सेधो भणित. सप्त धनूंषि त्रयो हस्ता' षट् चाङ्गुलानीति स एव द्वितीयस्यां शर्करप्रभायां पृथिव्यां प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति ज्ञातव्य।तत प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया।त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि । तथा च सत्येकादशे प्रस्तटे उत्कर्षतो भवधारणीयशरीरपरिमाणमायाति। पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानीति । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमाह । एकत्रिंशति धनूंषि एको हस्त । इदं च एकादशे प्रस्तटे वेदितव्यम । शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वधारणीयापेक्षया द्विगुणमवसेयम । तथा तृतीयस्यां वालुकप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया । एकत्रिंशत् धनूंषि एको हस्त एतच्च नवमप्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम् । शेषेषु प्रस्तटेष्वेवम।तत्र प्रथमप्रस्तटे भवधारणीया पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि । द्वितीये प्रस्तटे सप्त धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धानि सप्ताङ्गुलानि । तृतीये एकोनविंशति धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रीण्यङ्गुलानि । चतुर्थे एकविंशतिधनूंषि एको हस्त. सार्धानि द्वाविंशतिरङ्गुलानि । पञ्चमे त्रयोविंशतिधनूंषि एको हस्तोऽष्टादश चाङ्गुलानि । षष्ठे पञ्चविंशति धनूंषि एको हस्तः सार्धानि त्रयोदशाङ्गुलानि सप्तमे सप्तविंशतिधनूंषि एको हस्तो नव चाङ्गुलानि।अष्टमे एकोनत्रिंशद्धनूंषि एको हस्त' सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि । नवमे यथोक्तरूप परिमाणम् । अत्रापि चायं भावार्थ । प्रथमप्रस्तटेषु यत्परिमाणमुक्त तत्तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे सप्त हस्ता. सार्धानि च एकोनविंशतिरङ्गुलानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि । ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु परिमाण भवति । उक्त च । "सो चेव य तइयाए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । सत्तरयणीउ अंगुल, उणवीस सद्धवुड्ढी य ॥ १ ॥ पयरे पयरे य तहा, नवमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । धणुआणि एगतीसं,एकारयणी य नायव्वा ॥२॥ "अस्यापि गाथाद्वयस्येयमक्षरगमनिका य एव द्वितीयस्याः शर्करप्रभाया एकादशप्रस्तटे भवधारणीयाया उत्कर्षत उत्सेध उक्त पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादश चाङ्गुलानि स एव तृतीयस्या वालुकप्रभाया पृथिव्या प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति तत प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया । सप्त हस्ताः सार्धानि चैकोनविंशतिरङ्गुलानि । तथा च सति नवमे प्रस्तटे यथोक्त भवधारणीयावगाहनामान भवति । एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्त इति । उत्तरवैक्रियोत्कृष्टपरिमाणमाह । द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ एतच्च नवमप्रस्तटापेक्षमवसेयम् । शेषेषु तु प्रस्तटेषु निजनिजभवधारणीयप्रमाणापेक्षया द्विगुणमिति । चतुर्थ्यां पङ्कप्रभाया. पृथिव्या उत्कर्षतो भवधारणीया द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ इदं च सप्तमे प्रस्तटे प्रत्येय शेषेषु तु प्रस्तटेष्वेवं पङ्कप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः । द्वितीये षट्त्रिंशत धनूंषि एको हस्त विंशतिरङ्गुलानि । तृतीये एकचत्वारिंशद्धनूंषि द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुलानि । चतुर्थे षट्चत्वारिंशद्धनूंषि त्रयो हस्ता द्वादशाङ्गुलानि । पञ्चमे द्विपञ्चाशत् धनूंषि अष्टावङ्गुलानि । षष्ठे सप्तपञ्चाशत् धनूंषि एको हस्तः चत्वार्यङ्गुलानि । सप्तमे यथोक्तरूप परिणाममत्रापि चैष भावार्थः । प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्च धनूंषि विंशतिरङ्गुलानीत्येवंरूपा वृद्धिरवगन्तव्या । ततः पृथमे प्रस्तटे सूत्रोक्तपरिमाणं भवति । उक्तं च । " सो चेव चउत्थीए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । पंचधणुवीसअंगुल,पयरे पयरे य वुड्ढी य॥१॥ जो सत्तमए पयरे, नेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ॥ बासट्ठीधणुयाइं,दोण्णि य रयणी य बोधव्वा" ॥२॥ अस्यापि गाथाद्वयस्याक्षरगमनिका प्राग्वद्भावनीया ॥ उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्चविंशतिधनु.शतं तच्च सप्तमे प्रस्तटे । शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमिति । पञ्चम्यां धूमप्रभायां पृथिव्यां भवधारणीयोत्कर्षतः पञ्चविंशद्धनु'शतं. तच्च पञ्चमं प्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम् । शेषेषु प्रस्तटेष्विदम । प्रथमे प्रस्तटे द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ । द्वितीयेऽष्टसप्ततिधनूंषि एका वितस्तिः । तृतीये त्रिनवति धनूंषि त्रयो हस्ता. । चतुर्थे नवोत्तरं धनुःशतं एको हस्त एका च वितस्तिः। पञ्चमे सूत्रोक्तपरिमाणम । अत्रापि चाय तात्पर्यार्थ. । यत्प्रथमे प्रस्तटे परिमाणमुक्तं तदुपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्चदश धनूंषि सार्धहस्तद्वयाधिकानि प्रक्षेप्तव्यानि । तथा च सति यथोक्त पञ्चमे प्रस्तटे परिमाण भवति । उक्तं च । " सो चेव य पचमीए पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । पन्नरसधणूण दो हत्थ,सड्ढपयरेसु वुड्ढीय ॥ १ ॥ तह पंचमए परये, उस्सेहो धणुसत्तं तु पणवीस । " अस्या. सार्धगाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्तव्या । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमर्धतृतीयानि धनु शतानि । एतानि च प्रथमे प्रस्तटे वेदितव्यानि । शेषेषु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीया द्विगुणमिति । षष्ठ्यां तम'प्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया। अर्धतृतीयानि धनु'शतानि । तानि च तृतीये प्रस्तटे प्रत्येतव्यानि । प्रथमे तु प्रस्तटे पञ्चविंशतिधनु.शत, द्वितीये सार्धसप्ताशीत्यधिक धनु शत, तृतीये तु सूत्रोक्तमेव परिमाणं भवति । उक्तं च । " सो चेव य छट्ठीए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । बासट्ठिधणुयसड्ढा, पयरे पयरे य वुड्ढीए ॥१ ॥ छट्ठीए तइयपयरे, दो सयपन्नासया होंति" । अस्याप्युत्तरार्धपूर्विकाया गाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्तव्या । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्च धनु'शतानि तानि च तृतीये प्रस्तटे वेदितव्यानि । आद्ययोस्तु द्वयो' प्रस्तटयोः स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमवबोद्धव्यम् । अथ सप्तम्यां तु पृथिव्या भवधारणीया उत्कर्षत. पञ्चधनुःशतानि उत्तरवैक्रियधनु'सहस्रं सर्वत्र भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा उत्तरवैक्रियसंख्येयभागप्रमाणेति ।

(६) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरावगाहनामानम् ।

तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं । उक्कोसेणं जोयणसतपुहत्तं ॥

तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वैक्रियशरीरावगाहना उत्कर्षतो योजनशतपृथक्त्वं तत ऊर्ध्वंकरणशक्तेरभावात् । मनुष्याणां यथा–

मनुस्सपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं । उक्कोसेणं सातिरेकं जोयणसतसहस्सं ॥

मनुष्याणां सातिरेक योजनशतसहस्र, विष्णुकुमारप्रभृतीनां तथा भवनात् । जघन्या तूभयेषामप्यङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणा । न त्वसंख्येयभागमाना । तथा रूपप्रयत्नासंभवात् ।

(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरावगाहनामानम् ।

असुरकुमारेणं भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्विय सरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहणा पन्नत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्त रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभाग उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं । एवं जाव थणियकुमारा । एवं ओहियाण वाणमंतराणं । एवं जोइसियाण वि सोहम्मीसाणगदेवाणं एवं चेव उत्तरवेउव्विए जाव अच्चुओ कप्पो । नवरं सणंकुमारभवधारणिज्जा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण छ रयणीओ । एवं माहिंदे वि बंभलोयलंतगेसु पंच रयणीओ महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ। आणयपाणयआरणअच्चुए ५ तिन्नि रयणीओ गेविज्जगकप्पातीतवेमाणि य देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! गेविज्जगदेवाणं एगा भवधारणिज्जा सरीरोगाहणा पन्नत्ता सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग उक्कोसेणं दो रयणीओ । एवं अणुत्तरोववाइयदेवाण वि नवरं एक्का रयणी ॥

असुरकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां सौधर्मेशानदेवानां प्रत्येकं जघन्या भवधारणीया वैक्रियशरीरावगाहना अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा । सा चोत्पत्तिसमये द्रष्टव्या । उत्कृष्टाः सप्त रत्नयः उत्तरवैक्रिया जघन्या अङ्गुलसंख्येयभागमात्रा उत्कृष्टा योजनशतसहस्रम् (उत्तरवेउव्विया जाव अच्चुओ कप्पोत्ति) उत्तरवैक्रियासंभवात् । एतच्च प्रागेवोक्तं सर्वत्र जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमाना उत्कर्षतो योजनलक्षम् । भवधारणीया तु विचित्रा ततस्तां पृथगाह (नवरमित्यादि) नवरमत्र भवधारणीयां प्रति विशेषः सनत्कुमारे कल्पे जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः उत्कर्षतः षट् रत्नयः (एव माहिंदे वि इति) एवमुक्तेन प्रकारेण जघन्या उत्कृष्टा च भवधारणीया महेन्द्रकल्पेऽपि वक्तव्या । एतच्च समसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तमवसेयं द्व्यादिसागरोपमस्थितिष्वेव येषां सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोर्द्वे सागरोपमस्थिती तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णसप्तहस्तप्रमाणा येषां त्रीणि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताश्चत्वारश्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां चत्वारि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्तास्त्रयो हस्तस्यैकादशभागा । येषां पञ्चसागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताः द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां षट् सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागाः । येषां तु परिपूर्णानि सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा षट् हस्ता भवधारणीया । उक्तं च " अयरयिगंविइजेसिं, सणकुमारे तहेय माहिंदे । रयणीउक्कं तेसिं, भागचउक्काहियं देहो ॥१॥ तत्तो भयरे भयरे, भागो एक्कक्को एगइ जाव । सागरसत्तगिईणं, रयणीछक्कं तणुपमाण ॥ २ ॥ " इह जघन्या भवधारणीया सर्वत्राप्यङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणा । सा च प्रतीतेति तामवधार्योत्कृष्टां प्रतिपादयति । (बंभलोगलंतगेसु पंच रयणीओ इति) इह यद्यपि ब्रह्मलोकस्योपरि लान्तको न समश्रेण्या तथापीह शरीरप्रमाणचिन्तायामिदं द्विकं विवक्ष्यते द्विकपर्यन्त एव हस्तस्य त्रुटिततया लभ्यमानत्वात्, एवमुत्तरत्रापि द्विकचतुष्कादिपरिग्रहे कारणं वाच्यम् । तत्र ब्रह्मलोकलान्तकयोरुत्कर्षतया भवधारणीयाः पञ्च रत्नयः एतच्च लान्तके चतुर्दशसागरोपस्थितिकान् देवानधिकृत्य प्रतिपादितमवसेय शेषसागरोपमस्थितिष्वेवं येषां ब्रह्मलोके सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां षट् रत्नयः परिपूर्णा भवधारणीया । येषामष्टौ सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता षट् हस्तस्यैकादशभागाः । येषां नवसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताः पञ्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां दशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताश्चत्वारश्चैकादशभागा हस्तस्य । लान्तकेऽपि येषां दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीयोत्कर्षतो येषामेकादशसागरोपमाणि लान्तकस्थितिस्तेषां पञ्च हस्तास्त्रयो हस्तस्यैकादशभागाः । येषां द्वादशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां त्रयोदशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः । येषां चतुर्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा पञ्च हस्ता भवधारणीया (महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ त्ति) महाशुक्रसहस्रारयोश्चतस्रो रत्नयः उत्कर्षतो भवधारणीया । एतच्च सहस्रारगतान् अष्टादशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं वेदितव्यम् । शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषां महाशुक्रे कल्पे चतुर्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णाः पञ्च हस्ताः । येषां पञ्चदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां षोडशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः । सहस्रारेऽपि येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनः सहस्रारे परिपूर्णान्यष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णाश्चत्वारो हस्ता भवधारणीया (आणयपाणयआरणअच्चुएसु तिन्नि रयणीओ त्ति) आनतप्राणतारणाच्युतेषु तिस्रो रत्नय उत्कृष्टा भवधारणीया । एतच्चाच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं द्रष्टव्यं, शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषामानतेऽपि कल्पपरिपूर्णानि किञ्चित्समधिकानि वाऽष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णाश्चत्वारो हस्ताः उत्कृष्टा भवधारणीया । येषां पुनरेकोनविंशतिसागरोपमाणि तेषां त्रयो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागा । प्राणतेऽपि कल्पे येषामेकोनविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती च भवधारणीया । येषां पुनः प्राणते कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषामारणेऽपि कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनरारणेऽपि कल्पे एकविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागा भवधारणीया । अच्युतेऽपि कल्पे येषामेकविंशति सागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावत्येव भवधारणीया येषां पुनरच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया । परिपूर्णास्त्रयो हस्ता "गेविज्जकप्पातीतेत्यादि" भावितम् । नवरम(उक्कोसेणं दो

श्रीसर्वज्ञेभ्यो नमः ।

अभिधानराजेन्द्रः ।

वाणिं जिणाणं चरणं गुरूणं, काऊण चित्तम्मि सुयप्पन्नावा ।
सारं गहीऊण सुयस्स एयं, वोच्छामि भागे तइयम्मि सव्वं ॥ १ ॥

(एकार)

ए-ए-पुं० एकारः स्वरवर्णभेदः "एदैतोः कण्ठतालव्यावित्युक्तेः कण्ठताल्वोः स्थानयोरुच्चार्य्यः । स च दीर्घः द्विमात्रः प्लुतस्तु त्रिमात्रः उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैरनुनासिकाननुनासिकभेदाभ्यां च द्वादशविधः । वाच० । प्राकृतभाषासूत्रे एकारान्तता मागधभाषालक्षणाऽनुरोधात् इति । जी० ३ प्रति० । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि द्रष्टव्यः । यथा " कयरे आगच्छइ दित्तरूवे " दश० १ अ० । " ते णं काले णं " तस्मिन् काले एकारस्य प्राकृतप्रभवत्वादिति । विपा० १ अ० ।

ए-अव्य० इण् विच् । स्मृतौ, असूयायाम्, अनुकम्पायाम्, सम्बोधने, आह्वाने च । मेदिनिः । वाक्यालङ्कारे, " से जहाणामए " ए इति वाक्यालंकारे, । अनु० । ज्ञा० । विष्णौ,-पुं० एका० " कामसम्बोधने स्यादे-तत्परे ब्रह्मकेवले । ए शब्देनोदिता चान्द्री, गोचरे गोपता वयम् " इति । एकारः कथ्यते विष्णौ, नगरीवारिधारयोः । हर्म्ये हरे दिनमुखे, गगने मणिकुट्टिमे । तेजस्यैकादशाख्यायां, सङ्ख्यायामपि दृश्यते । इति च । एका० । पापस्य परिवर्जने, । आ० म० द्वि० ।

ऐ-पुं०ऐकारः स्वरवर्णभेदः "एदैतोः कण्ठतालव्यावित्युक्तेः कण्ठतालुस्थानयोरुच्चार्यः स च दीर्घः द्विमात्रत्वात्, प्लुतस्तु त्रिमात्रः । द्विमात्रस्य उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैः प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकाभ्याञ्च षड्विधः एवं प्लुतस्यापीति द्वादशविधः तपरत्वे कारपरत्वे च तत्स्वरूपपरः । वाच० । ऐकारस्य प्राकृते सर्वत्र एकारः । तथा च । "ऐत एत्" ।८।१।४८। इति आदौ वर्तमानस्यैकारस्य एत्त्वं भवति । "सेलासेन्न तेलुक्क ।प्रा०।

ऐ-अव्य० आ-इण्-विच्-आह्वाने, स्मरणे, आमन्त्रणे च । महेश्वरे,-पुं० । तस्य सर्वगतत्वात्तथात्वम् । वाच० । " ऐः स्वरोऽपि च पुल्लिङ्गः शम्भुश्रीपतिवायुषु । शारदायां स्वरे सूर्ये, मूर्च्छायामैरपि स्मृतः" । इति । ऐकारः शङ्करे हस्ति-दिङ्नागेष्विन्द्रवाणयोः । तमालावर्त्तदेशेषु, क्वचित्स्याच्छिखरे-गिरेः " । इति च । एका० ।

एइज्झ-ऐतिह्य-न० इतिह पारम्पर्योपदेशः । अनिर्दिष्टप्रवक्तृकोपदेश इति यावत् । स्वार्थे ष्यञ् पारपर्य्योपदेशे, यथात्र वटे यक्षः प्रतिवसतीत्यादिपरम्परोपदेशमात्रम् नतु केनाप्येतदुपलभ्य कथितम् । अष्टप्रमाणवादिनः पौराणिका इदं प्रमाणान्तरमुररीचक्रुः । "ऐतिह्यमनुमानं च, प्रत्यक्षमपि चागमम् । ये हि सम्यक्परीक्षन्ते, कुतस्तेषामबुद्धिता" । रामा० वा० ५४। तदेतन्मतं रत्नावतारिकायां निराकृतम् यथा-ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमितिहोचुर्वृद्धाः । यथेह वटे यक्षः प्रतिवसती ति तदप्रमाणमनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात् । आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति । रत्ना०१ परि० ।

एइय-एजित-त्रि० कम्पिते. स्था० ३ ठा० । जी० । "वाएहिं मदाय २ एइयाणं" वातैर्मन्दायन्ति मन्दं मन्दमेजितानां कम्पितानामिति । राज० ।

एई (या) एता-स्त्री० " अजातेः पुंसः " ८ । २ । ३२ । इति सूत्रे एकजातिवाचिनः पुंल्लिङ्गात् स्त्रियां वर्तमानात् ङीर्वा भवति कर्बुरवर्णायाम्, तोपधवर्णवाचित्वात्स्त्रियां ङीप् नश्च । एनी । एईए ए-आए । एइणं एआणं । प्रा० ।

एक्क (ग) (य)-एक-त्रि० इण् कन् " सेवादौ वा " ८ ।२। ९९ । इति सेवादिष्वनादौ यथादर्शनमन्त्यस्यानन्त्यस्य च वा द्वित्वं भवति । प्रा० । सङ्ख्यानभेदे, कल्प० । एकसङ्ख्योपेते द्रव्यादौ,स्था० ४ ठा० । एकत्वरूपप्रथमसङ्ख्यान्विते च । प्रायशः सङ्ख्यावाचकस्य सङ्ख्यासङ्ख्येयोभयपरत्वेऽपि एकशब्दस्य भूरिशः एकत्वसंख्यान्वितपरत्वम् । तेन एको घट इत्यादि, न तु घटस्यैकः । क्वचित्तु भावप्रधाननिर्देशपरत्वेन संख्यावाचकत्वमपि "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" पा० । इह द्वित्वमेकत्वं च द्व्येकशब्दयोरर्थः । अत्र द्विवचनान्तत्वमेव तथार्थत्वे लिङ्गम् । सङ्ख्येयपरत्वे द्व्येकेषामिति स्यात् । द्वन्द्वार्थानां संख्यान्वितानां बहुत्वात्तेन एकद्विवचनशब्दोऽपि एकत्वद्वित्वार्थकः । तत्रार्थे तयोः परिभाषितत्वात् । एकश्च गणनां नोपैति तथा चानुयोगद्वारे " एक्को गणणं न उवेइ " एकस्तावद्गणनं सङ्ख्यां नोपैति यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते नैकसङ्ख्याविषयत्वेन । अथवाऽऽदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयतीत्यतोऽसव्यवहार्य्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसङ्ख्यामवतरति तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनसंख्येति । तथा च-संख्यासङ्ख्येयोभयपरत्वमेकशब्दस्य द्रव्यप्रमाणविशेषस्य विभागनिष्पन्नप्रमाणस्य पञ्चसु मानादिभेदेषु, गणिमं द्रव्यप्रमाणमधिकृत्यानुयोगद्वारे उक्तम् ॥

सेकिंतं गणिमे गणिमे जण्णं गणिज्जइ तं जहा-एगो दससयं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडीत्ति

गण्यते संख्यायते वस्त्वनेनेति गणिममेकादि । अथवा गण्यते सङ्ख्यायते यत्तद्गणिमं रूपकादि । तत्र कर्मसाधनपक्षमङ्गीकृत्याह । जण्णमित्यादि । गण्यते यत्तद्गणिमम् । कथं गण्यते इत्याह । एगो इत्यादि । अनु० । एकाकिनि, स्था० ४ ठा० अद्वितीये, वाच० । उत्त० १ । आचा० । असहाये, नं० । स्था० । 'एकस्यैकाकिनोऽसहायस्येति' स्था० ४ ठा० । "अड्ढरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सखरू जाव पहरणे साओ गेहाओ णिग्गच्छइ" (एगेत्ति)

सहायाभावात् । विपा० । प्रश्न० । केवले, स्था० ३ ठा० । वाच० । केवलमेकमसहायमिति । नं० । तथाच सूत्रकृताङ्गे ॥

अब्भागमितम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमितेन भवंति ।
एगस्स गती अ आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥

पूर्वोपात्ताऽसातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाक्येव दुःखमनुभवति । न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित्क्रियते । तथाच । " सयणस्स वि मज्झगओ, रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो । सयणो वि य से रोगं, न विरंचइ नेव नासेइ । १ ।" अथवोपक्रमकारणैरुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे भवान्तिके वा मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवाऽसुमतो गतिरागतिश्च भवति । विद्वान् विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते । कुतः सर्वात्मना त्राणमिति । तथाहि " एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्त्ते । तस्मादाकालिक हित-मेकेनैवात्मनः कार्यम् ।१। " एक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सिक्कओ समणुहवइ । एक्को जायइ मरइ य, परलोय एक्कओ जाई " । १७ ।

सव्वे सयकम्म कप्पिआ, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंमंति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिं भिदुता ।१८।

सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्तिनः प्राणिनः संसारे पर्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकैकेन्द्रियादिना भेदेन व्यवस्थिताः तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रियाद्यवस्थायामव्यक्तेनापरिस्फुटेन शिरःशूलाद्यलक्षितस्वभावेनोपलक्षणत्वात् प्रत्यक्षेन च दुःखेनाऽसातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनः पर्यटन्त्यरघट्टघटीन्यायेन तास्वेव योनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठा भ्रमन्ति । जातिजरामरणैरभिद्रुता गर्भाधानादिभिर्दुःखैः पीडिता इति सूत्र० १ श्रु० २ अ० । " एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खम् " तदेवमेकोऽसहायो यदर्थं यत्पापं समर्जितं तै रहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति न कश्चिद्दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः । उक्तंच " मया परिजनस्यार्थे. कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येहं, गतास्ते फलभोगिनः " इत्यादि सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । " एगस्स जंतो गतिरागती य " एकस्यासहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य गतिर्गमनं परलोकं भवति तथा आगतिरागमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति । उक्तं च " एकः प्रकुरुते कर्म्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम् । जायते म्रियते चैकः, एको याति भवान्तरमिति " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

इक्को करेइ कम्मं, इक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं ।
इक्को संसरइ जीओ, जरमरणचउग्गइगुविलं-४४म०प० ।
इक्को हं नत्थि मे कोई, नवाहमवि कस्सई ।
एवं अदीणमणसा, अप्पाणुमणुसासए ॥ १३ ॥
इक्को उप्पज्जए जीवो, इक्को एव विवज्जई ।
इक्कस्स होइ मरणं, इक्को सिज्झइ नीरओ ॥१४॥
इक्को करेइ कम्मं, फलमिव तस्सिक्कओ समणुहवइ ।
इक्को जायइ मरइं, परलोयं इक्कओजायइ ॥१५॥
इक्को मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजमो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ।१६। महा.प

एकश्च द्रव्यतोऽसहायो भावतो रागद्वेषरहितः तथा च-

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।

एकोऽसहायो द्रव्यत एकाकिविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत् । तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात् । तथाऽऽसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितो धर्म्मादिध्यानयुक्तः स्याद्भवेत् । एतदुक्तं भवति । सर्वास्वप्यवस्थानासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० । "एगे एग विऊ बुद्धे" एको रागद्वेषरहिततया ओजा यदिवाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्य्यटन्नसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया सदैकक एव भवति । तत्रोद्यतविहारी द्रव्यतोऽप्येकको भावतोऽपि गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावतस्त्वेकक एवेति । सूत्र०१श्रु०१६अ० "एग एव चरे लाढे" एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिनिबद्ध विहारेण विहरेत् सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तम् । "ण वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा एको वि पावाइ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो १ " उत्त० ३ अ० । एको रागद्वेषसहायविरहित इति । कल्प० । " एगे सहिते चरिस्सामि " एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वेति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० । अस्य द्विविधत्वं व्यवहारकल्पे

एगेव पुव्वभणिए, कारणनिक्कारणे दुविहभेदे

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितस्तद्यथा कारणे निष्कारणे च साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैकप्रतिपादनार्थमाह ।

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य चक्कयूभादि ।
उवएसअणुवएसा दुविहा आहिंडगा हुंति ॥

अशिवादिभिरादिशब्दादवमौदर्यराजद्विष्टादिपरिग्रहः । कारणैरेकाकिनः कारणिकाः चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्प्रतिमानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारिणिकाः । व्य० द्वि० ८ उ० । एकस्य चातुर्विध्यम् स्थानाङ्गे यथा । "चत्तारिक्का पण्णत्ता तंजहा दविए एक्कए माउ एक्कए पज्जव एक्कए संगहएक्कए" एकसंख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि । स्था० ४ ठा० ।

अस्य च सप्तविधो निक्षेपो यथा-

नामं ठवणा दविए, माउय पयसंगहेक्कए चेव ।
पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एक्कगा होंति ॥

इहैक एव एकक तत्र नामैककः एक इति नाम स्थापनैकक एकक इति स्थापना द्रव्यैकक त्रिधा सचित्तादि । तत्र सचित्तमेकं पुरुषद्रव्यमचित्तमेक रूपकद्रव्य मिश्र तदेव कटकादिभूषित पुरुषद्रव्यमिति । मातृकापदैककमेकं मातृकापद तद्यथा उप्पन्नेइवेत्यादि । इह प्रवचने दृष्टिवादे समस्तनयवादबीजभूतानि मातृकापदानि भवन्ति । तद्यथा । उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा । अमूनि च मातृकापदानि च'अ आ इ ई'इत्येवमादीनि सकलव्यवहारशब्दव्यापकत्वान्मातृकापदानि । इह चाभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति कृत्येत्थमुपन्यासः । सङ्ग्रहैककः शालिरिति । अयमत्र भावार्थः । सङ्ग्रहः समुदायस्तमप्याश्रित्यैकवचनगर्भशब्दप्रवृत्तेस्तथा चैकापि शालिः शालिरित्युच्यते । बहवोऽपि शालयः शालिरिति लोके तथा दर्शनात् । अयं चादिष्टानादिष्टभेदेन समान्यविशेषभेदेन द्विधा । तत्रानादिष्टो यथा शालिः आदिष्टो यथा कलमशालिरिति । एवमादिष्टानादिष्टभेदौ उत्तरद्वारेष्वपि यथानुरूपमायोज्यौ । पर्यायैकक एकपर्यायः पर्यायो विशेषो धर्म इत्यनर्थान्तरम् । स चानादिष्टो वर्णादिः । आदिष्टः कृष्णादिरिति । अन्येतु समस्तश्रुतस्कन्धवस्त्वपेक्षयेत्थ व्याच-

क्वते अनादिष्ट. श्रुतस्कन्ध' आदिष्टो दशवैकालिकाख्य इति । अन्यस्त्वनादिष्टो दशवैकालिकाख्य' आदिष्टस्तु तदध्ययनविशेषो द्रुमपुष्पिकादिरिति व्याचष्टे । नचैतदतिचारु तस्य दशकालिकाभिधानत एवादेशासिद्धेः । भावैकक. एको भावः स चानादिष्टो भाव इति आदिष्टस्त्वौदयिकादिरिति सप्तैते अनन्तरोक्ता एकका भवन्ति । इह च किञ्च यस्मादृशपर्यायाध्ययनविशेषाः सङ्ग्रहैकत्वेन सङ्गृहीतास्तस्माच्चेनाऽधिकारः । अन्ये तु व्याचक्षते यत' किल श्रुतज्ञानक्षायोपशमिके भावे वर्तते तस्माद्भावैकके-नाधिकार इति गाथार्थः । दश० १ अ० ।

अथ निर्युक्तिविस्तरमाह ।

एक्कस्स उ अभावे, कत्तो लिंगं तेण एक्कगस्से वि ।
णिक्खेवं काऊणं, णिप्फत्ती होइ तिएहं तु ॥

इह त्रयाणां सख्या प्रथमतो वक्तव्या तत्रैकस्याभावे कुत' संभवति तेन कारणेन प्रथमत एकस्यैव निक्षेपं कृत्वा ततस्त्रयाणां निक्षेपस्य निष्पत्तिः कर्तव्या भवति । यथाप्रतिज्ञातमेव करोति ।

नामं ठवणा दविए, माउगपदसंगहेकए चेव ।
पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एक्कगा होंति ॥

(अत्रैव पूर्वं व्याख्यातार्था) ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह ।

दव्वे तिविहं माउक-पदम्मि उप्पण्णभूयविगतादी ।
सालिचि वग्गमीति, वसथोत्तिवसंगहिकं तु ॥

द्रव्ये द्रव्यविषये एककं त्रिविधं तद्यथा सचित्तमचित्त मिश्रं वा । सचित्त पुनरपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधा । द्विपदैककमेक पुरुषश्चतुष्पदैककमेको हस्ती अपदैकको वृक्ष इत्यादि अचित्तैककमेक. परमाणुरेकमाभरणं मिश्रैकक सालकार एकः पुरुष । मातृकापदे तु चिन्त्यमाने एककम् उत्पन्नभूतविगतादिकमुप्पन्नेइ वा विगतेइ वा धुवेइ वा इत्यस्य पदत्रयस्यैकतरमित्यर्थ । आदिशब्दादकाराद्यक्षरात्मिकाया आद्यक्षरात्मिकाया वा मातृकाया एकतर पदं सङ्ग्रहैकक बहुत्वेऽप्येकवचन विधेय यथा शालिरिति वा ग्राम इति वा सघ इति वा ।

अथ पर्यायैककादीनि दर्शयति ।

दुविकप्पं पज्जाए, आदिट्ठं देवदत्तो त्ति ।
आणादिट्ठं एक्को-त्तियपसत्थमियरं व भावम्मि ॥

पर्यायैकक द्विविकल्प द्विप्रकारं तद्यथा-आदिष्टमनादिष्ट च । विशेषणसामान्यरूप चेत्यर्थ. । तत्रादिष्ट यज्ञदत्तो देवदत्त इत्यादि ॥ अनादिष्टमेकः कोऽपि मनुष्य इत्यादि । अथवा पर्यायैकक वर्णादिना मन्यते एक पर्याय । भावैकक द्विधा । आगमतो नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः । नोआगमत: प्रशस्तमितरत्त्वप्रशस्तमिति द्विधा प्रशस्तमौपशमिकादीनामित रो भाव । अथ प्रसस्तमौदयिको भावः । अत्राप्रशस्तभावैकके-नाधिकारो हस्तकर्मादीनामप्रशस्तभावोदयादेव सभवात् बृ० ४ उ० । श्रेष्ठे, अन्यार्थे, वाच० । "एवमेगे वदति मोसा" एके केचनेति । प्रश्न०२ द्वा० । अल्पे, मुख्ये, सत्ये, वाच० । अवधारणे; नि० चू० । सदृशे, उपा० २ अ० । "एगपएसो गाढे" अत्रैकशब्दोऽभिन्नार्थवाची । यथा द्वयोरप्यावयोरेकं कुटुम्बमिति । प० स० । एक शब्दस्य प्राकृते-एको-एओ-एगो । प्रा० । एको । "इकम्मि जम्मिपए" चंदा० प० । स्त्रियां एकी "असयाए एक्कीए मायगीए" नि० चू० १ उ० । सो एक्की देउलियं पविस्सई । आ० म० प्र० ।

एक्क (ग) (एक्कइ) (गइ) अ-एकक-त्रि० एक-असहायेऽर्थे स्वा कन् । असहाये, " तओ झाइज्ज एक्कओ " तत एककः एकाकी सन् ध्यायेत् । एको भावतो द्रव्यतश्च । भावतो रागद्वेषरहितः द्रव्यतः पशुपण्डकादिरहित इति । उत्त० १ अ० । "एगओ वा" कारणिकावस्थायामसहायो वा पा० । "त ओ भुंजेज एगओ" ततो भुञ्जीत एकको रागादिरहित इति । दश० ५ अ० । एकसङ्ख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि । एकसङ्ख्योपेते द्रव्यादौ, अन्यार्थे, "सते गइया समणा माहणा वा" स्था०७ठा० "एगइया जत्थ उवस्सयं लभति" एकका एकतरा इति । स्था० ५ ठा० "जीवेण गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा" एकक कश्चित् सगर्भजरादिगर्भरूप उत्पद्यते अस्ति अबं पक्षो यथुत एककः कश्चिन्नोपपद्यते इति । तं० ।

एक्क (ग) अ-एक्कग-त्रि० एको गच्छतीत्येकग । एकस्मिन् गन्तरि, एक वा कर्म साहित्यविगमान्मोक्ष गच्छतीत्येकगः मोक्षगन्तरि, " उपसमुट्ठे च एगओ" एक तत्स्वरूपः स एवैकक एको वा प्रति माप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकग एकं वा कर्मसाहित्यविगमान्मोक्ष गच्छति तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकग इति । उत्त० ३अ० ।

एक्क (ग) इ (य) अ- एककिक-त्रि० एकक एव एककिक । एकशब्दार्थे, "एगइआओ पाणाइवाताओ पडिविरवा " एकक एवैककिकः तस्मादेककिकात् । ओ० । स्था० ।

एक्क (इ)(सि) (सिअं)(ग) (गया) आ-एकदा-अव्य० " एकदावैकाइः सिसियंइआ " ८ । २ । ६२ । इत्येकशब्दात्परस्य दाप्रत्ययस्य सि सिअं इआ इत्यादेशा वा । पक्षे एगया । प्रा० । एकस्मिन् काले, वाच० । कदाचिदित्यर्थे, एगया गुणसमियस्स" आचा० । विविक्तदेशकालादौ च, " इत्थिआ एगताणिमतति" एकदेति विविक्तदेशकालादौ इति,सूत्र०१श्रु०४अ० ।

एक्क (ग) ओ (त्तो) (एकदो)-एकतस्-अव्य० एक तसिल्- " तो दो तसो वा " ८ । २ । १६० । इति सूत्रेण तसः स्थाने तो दो इत्यादेशौ वा । पक्षे एकओ एकस्मिन्नित्यर्थ, वाच० एकत्र-एकस्मिन्स्थाने, एगतो मिलति द्रव्यतो ह्येकस्थाने मिलन्ति भावतस्तु परस्परविरोधपरिहारेण सम्मता भवन्तीति । दश० १० अ० । " एगओ भरुग कट्टु " एकत्रायत सुयरू भावरूकमिति । कल्प० । एकतः एकीभूय संयुज्येत्यर्थ । भ० २० श० १ उ० । "दो साहम्मिया एगओ विहरंति" द्वौ साधर्म्मिकावेकत्र एकस्मिन् स्थाने विहरन्ति इति । व्य० द्वि० २ उ० । एकतयेत्यर्थे च । "एगपओसा इणिसा" एकत्वत एकनयेत्यर्थः इति । भ० १२ श० ३ उ० । विविक्ते प्रदेशे, प्रत्यासन्ने, दूरतरे च । "ते एगतो निसीइंति" एकत एकान्ते विविक्ते प्रदेशे प्रत्यासन्ने दूरतरेवेति । व्य० द्वि० १ उ० ।

एक्क(ग) ओखहा-एकतःखा-स्त्री० श्रेणिभेदे " एगओखहा " एकस्यां दिश्यङ्कुशाकारेति । स्था० ७ ठा० । तस्याः स्वरूपं यथा यथा जीव. पुद्गलो वा नाड्या वामपार्श्वादेस्तां प्रविष्टस्तत्रैव गत्वा पुनस्तद्वामपार्श्वादावुत्पद्यते सा एकतःखा । एकस्यां दिशि वा मादिपार्श्वलक्षणायां स्वस्याकाशस्य लोकनाडीव्यतिरिक्तलक्षणस्य भावादिति । इयञ्च द्वित्रिचतुर्वक्रोपेतापि क्षेत्रविशेषाश्रितेति भेदेनोक्ता । भ० २५ श० ३ उ० ।

एक्क (ग) ओणंतय-एकतोनन्तक-न० अनन्तकभेदे, एकतोऽनन्तकमतीताद्धाऽनागताद्धा वेति । स्था० १० ठा० ।

एक्क(ग) ओपडाग-एकतःपताक-त्रि० एकतं एकस्यां दिशि पताका यत्र तदेकत पताकम् । एकपताकोपेते, स्थापना विशेष " किं

"पगओ पमाग गच्छइ । दुहओ पकाग गच्छइ" भ०३श०४उ० ।
एक्क (ग) ओवंका-एकतोवक्रा-स्त्री० श्रेणिभेदे, सा च एकत एक-
स्यां दिशि चूमा वक्रा एकतो वक्रा यया जीव पुद्गला ऋजुगत्या
वक्र कुर्वन्ति श्रेण्यन्तरेण यान्तीति । भ० २५ श० ३ उ० ।
"एगओवका" एकस्यां दिशि वक्रा स्थापना । स्था०७ठा० ।
एक्क (ग) ओवत्त-एकतोवृत्त-पु० द्वीन्द्रियजीवविशेषे,
जीवा० १ प्रति० ।
एक्क (ग) ओसमुवागय-एकतस्समुपागत-त्रि०स्थानान्तरेऽप्य
एकत्र स्थाने समागते, " एगयओ समुवागयाण " (एगओत्ति)
एकत्र समुपागतानाम् । भ०७श०१०उ० ।
एक्क(ग)ओसहिय-एकतस्सहित-त्रि०एकत्र एकस्मिन् स्थाने
सहित एकतस्सहित । एकस्मिन्स्थाने समुदिते, "एगओ सहि-
याणं " भ०७श०१०उ०। एकस्मिन्स्थाने सहितानां समुदिता-
नामिति । ज०१वक्ष० । एकतो मिलिते च । भ०११श० ११ उ० ।
एक्कं (गं) गिय-एकाङ्गिक-त्रि० एकेनाङ्गेन कृते, तथाच
सकममधिकृत्योक्तम् " एक्केको दुविहो एगंगिओ अणेगं-
गिओ य " एकानेकपदकृतेत्यर्थः " नि० चू० १ उ० । "ए-
गंगिअ दुग्गतिखड न भवतीति " नि० चू० १६ उ० । अप-
रिशाटिनि सस्तारकमेदमधिकृत्य चोक्तम् " जो अपरिसाडी
सो दुविहो एगगिओ अ अणेगगिओ य " एगंगिता उ दु-
विधा सघायाए तरो उ नायव्वो । दोमादी गियमातू, होति
अणेगम्मि उ तत्थ " "एगंगिओ दुविहो सघातिमो असंघा-
तिमो य। दुग्गतिता व सकवियाउवा अणेगम्मिउ एते । नि०चू०
एक्कं (गं)त-एकान्त-त्रि० एकः अन्तः निश्चयः शोभा वा । अत्यन्ते,
सूत्र०१ श्रु०१० अ० " एगन्तरइया" एकान्तेन सर्वात्मना रतौ
रमणे प्रसक्ता इति । आ० म० प्र० । एक इत्येवमन्तो निश्चयो
यत्रासावेकान्तः।एकस्मिन्, 'एगतमत गच्छइ' एक इत्येवमन्तो
निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थोऽतस्तमन्तं भूमिभागं गच्छ
तीति । भ० ७ श० १ उ० । अवश्यंभावे, पंचा० ४ विव०
अवश्यमित्यर्थे, सूत्र १ श्रु० ६ अ० । निश्चये, विशे० । ज्ञा० ।
सर्वथार्थे, स्था० ४ ठा० । प्रश्न० । एक एवान्तो यत्र । निर्जने,
रहसि, वाच० । निर्व्यंजनप्रदेशे, सथा० । विविक्तप्रदेशे,
व्य० प्र० १ उ०। जनरहितप्रदेशे, सूत्र०१ श्रु०६ अं०। जनालोक-
वर्जिते, भ० ८ श० ६ उ० । विजने, भ० ३ श० २ उ० । "एग-
ते य धिविते " आ० म० द्वि० । " आया एगतमतमवक्कमेज्जा"
आत्मना एकान्त विजनमन्तभूमिभागमवक्रामेत गच्छेदिति ।
स्था०३ ठा०। एक एवाहमित्यन्तो निश्चय एकान्त । एक एवाह
मित्येवमेकत्वभावनायाम् " " सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगतम-
णुपस्सओ " एक एवाह इत्यन्तो निश्चय एकान्तस्त निश्चयं
विचारयत एकत्वभावनां भावयत इति । उत्त० ९ अ० ।
एक्क (गं) तओ-एकान्ततस्-अव्य० एकान्त-तसिल् । एकान्ते
इत्याद्यर्थे, वाच०। सर्वथार्थे च। "वज्जइ अवभमेगं, ततोयरायंपि
थिरचित्ते " अब्रह्ममैथुनमेकान्ततस्तु सर्वथैव (रात्रावपि) सर्व-
रजनीमप्यास्ता सर्वदिनामिति" पचा० १० विव० "जम्हा एगं-
ततो अविरुद्धो "यस्माद् यतो हेतोरेकान्ततस्तु सर्वथैवाबि-
रुद्धो युक्त इति " पचा० १७ विव० ।
एक्कं (गं) तकूम-एकान्तकूट-त्रि०एकान्तेन कूटानि दु खोत्पत्तिस्था
नानि यस्मिन् एकान्तदु खोत्पादकस्थानेनोपेते नरकादौ, "एगत
कूमे नरए महते, कूमेण तत्थ वि समेहताओ" । एकान्तेन कू-
टानि दु खोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् तथा तस्मिन्नेवंभूते नरके
महति विस्तीर्णे पतिता प्राणिनस्तेन च कूटेन गलयन्त्रपासादि-
ना पाषाणसमूहलक्षणेन वा तत्र तस्मिन् विषमे हता इति ।
सूत्र०१ श्रु० ५ अ० । कूटवत् कूटमेकान्तेन कूटमेकान्तकूटम् ।
एकान्तेन गलयन्त्रपाशादिवद्बन्धके, "एगतकूमेण उ से पलेइ"
यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवश एवमेकान्तदु खमाग् भवति एवं
भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ततोऽसौ ससारचक्रवाल पर्येति।सूत्र०
१ श्रु० १३ अ०।
एगंतचा (या) रिण्-एकान्तचारिन्-एकान्ते जनरहिते
प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी। जनरहितप्रदेशे चारिणि,
"एगतयारीसमणेपुरासी" "एगन्तचारिस्सिह अम्ह धम्मे तव-
स्सिणो णाभिसमेति पावं " अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्यैकान्तचा-
रिणः आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो नाभि-
समेति न संबन्धमुपयाति । पापमशुभकर्मेति। सूत्र०२श्रु०६अ०।
एगंतणाण-एकान्तज्ञान-न० नित्यमेवेदमनित्यमेवेदमित्येकप
क्षस्थापनरूपे मिथ्याज्ञाने, अष्ट० ।
एगंतदंम-एकान्तदण्ड-एकान्तेन सर्वथैव परान् दण्डयतीति
एकान्तदण्ड । सर्वथैव परेषां दण्डके, भ० ७ श०२ उ० ।
एगंतदिट्ठि-एकान्तदृष्टि-त्रि० एकान्तेन तत्त्वेन जीवादिषु पदार्थेषु
दृष्टिर्यस्या'सा एकान्तदृष्टि'। सूत्र०। एकान्तेन निश्चयेन जीवादिषु
तत्वेषु सम्यक्दर्शन यस्य स एकान्तदृष्टिः। निष्प्रकम्पे सम्यक्त्वे,
सूत्र०१ श्रु० १३ अ० । एकान्तवादिनि च । सूत्र०२ श्रु०६ अ० ।
(तद्वक्तव्यता एगंतवाय शब्दे)
एगंतदिट्ठिय-एकान्तदृष्टिक-पु० एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवं नि-
श्चया दृष्टिर्यस्य स तथा। एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवं निश्चयदृष्टि-
के, ज्ञा० २ अ० । भ० ॥
एगंतदुक्ख-एकान्तदुःख- त्रि० एकान्तेनावश्यं सुखलेशरहित
दु खमेव यस्मिन् नरकादिके भवे स तथा । एकान्तेन सुखलेश-
रहितदुःखोपेते नरकादिके भवे, सूत्र०१ श्रु०६ अ० । "एगंतदुक्खं
जवमज्झणिसा" सूत्र०१ श्रु०५ अ०। "एगंतदुक्खे जरिए व लोए"
सूत्र १ श्रु० अ० । तथैकान्तेनामयतोऽन्तर्बहिश्च म्लाना अपगत
प्रमोदा सदा दु खमनुभवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥
एगंतदूसमा-एकान्तदुःषमा- स्त्री० दुष्टा समा वर्षो दुःषमा-
सुसमा यत्रम्" एकान्तं षमा २ त० । दुःषमदुःषमायाम् । सूत्र०।
१ श्रु० ३ अ० । (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणीशब्द)
एगंतधार-एकान्तधार- त्रि० एकान्ता एकविभागाश्रया धारा य-
स्य एकधारोपिते चक्रुरादौ, ज्ञा० १ अ० । एकान्ता उत्सर्गलक्ष-
णैकविभागाश्रया धारेव धारा क्रिया यत्र । भ०९ श०३३ उ०।
अपवादपरित्यागेनोत्सर्गक्रियामेवाश्रिते निर्ग्रन्थप्रवचनादौ,"खुरो
इव एगतधाराए" क्षुर इवैकान्तधार द्वितीयधाराकल्पाया अप-
वादक्रियाया अभावादिति । भ० ९ श० ३३ उ० । एकत्रान्ते
वस्तुविभागे प्रहर्तव्यलक्षणे धारेव धारा परोपतापप्रवृत्तिलक्षणो
यस्य स तथा एकप्रहर्तव्यप्रवृत्ते चौरादौ, तथा च तस्करवर्णकम
धिकृत्य "खुरेव्वएगंतधाराए" यथा क्षुर एकधार एवमसौ मो-
षलक्षणैकप्रवृत्तिक एवेति भावः । ज्ञा० २ अ० ॥
एगंतधी-एकान्तधी- त्रि० एकान्ताभिनिवेशे, श्रुत्वा शुकनय
नचात्र सुधियामेकान्तधीर्युज्यते, सुधियां पण्डितानामेकान्तधी-
रेकान्ताभिनिवेशो न युज्यते एकतयाभिनिवेशस्य मिथ्यात्वरू-
पत्वात् " इति । प्रति० ।
एगंतपंमिय-एकान्तपण्डित-पु० साधौ, "एगतपमिएण भते !

मणुस्से नेरइयाउयं पकरेइ" एकान्तपण्डितः साधुः (मणुस्सेत्ति) विशेषणं स्वरूपज्ञानार्थमेव अमनुष्यस्यैकान्तपण्डितत्वायोगा- त्सद्योगश्च सर्वविरतेरन्यस्याभावादिति । भ० १ श० ८ उ० ।

एगंतबाल–एकान्तबाल–पुं० मिथ्यादृष्टौ, अविरते च । "एगतबा- लेणं भंते ! मणुस्से " भ० १ श० ८ उ० ।

एगंतमिच्छा–एकान्तमिथ्या–अव्य० एकान्तेन मिथ्याभूते, " ए- गतमिच्छेऽसाहु" एकान्तेनैव तत्स्थानतो मिथ्याभूतं मिथ्यात्वोप- हतबुद्धीनां यतस्तद् भवत्यत एवासाधु असद्भूतत्वात् न ह्ययं सत्पु- रुषसेवितः पन्था येन विषयान्धा प्रवर्तन्त इति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । (अत्रैगतादिशब्देषु द्वित्वकवन्त्यपि रूपाणि भवन्ति तानि वि- स्तरभयान्न प्रदर्श्यन्ते स्वयमूह्यानि)

एगंतमोण–एकान्तमौन–न० संयमे, "एगंतमोणेण वियागरेज्जा" केनचित्पृष्टोऽपृष्टो वैकान्तमौनेन संयमेन करणभूतेन व्यागृणी- यादिति " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगंतर–एकान्तर–न० एकमन्तरं व्यवधानम् । एकव्यवधाने, वाच० । "अट्ठोवासा एग–तरेण विहियारण च आयामं" एकदिन- व्यवधानेन भोजनरूपे व्रतभेदे, पञ्चा० १९ विव० । एकान्तरवर्तिनि त्रि० एकान्तरासु जातानां धर्मे विधादिमं विधिम् " वाच० । एकस्मादन्य एकान्तरम् । अनन्तरे एकस्मिन्, । तथाच "वाग्द- व्याणाम् ग्रहणविसर्गविधिकृत्य " एगतर च गिण्हई, निसिरइ एगंतरं चेव" " एकान्तरमेव गृह्णाति निसृजत्येकान्तरं चैव ", अयमत्र भावार्थः । प्रतिसमयं गृह्णाति मुञ्चति कथं यथा ग्रामा- दन्यो ग्रामो ग्रामान्तरं पुरुषाद्वाऽन्यः पुरुषनिरन्तरोऽपि सन् पुरु- षान्तरमेवैकैकस्मात्समयादेकक एवैकान्तरोऽनन्तरसमय एवे- त्यर्थः । विशे० । एकादिनव्यवधानेन जायमाने ज्वरभेदे, वाच० ।

एगंतरइपसत्त–एकान्तरतिप्रसक्त–त्रि० एकान्तेन सर्वात्मनारतौ रमणे प्रसक्ता एकान्तरतिप्रसक्ताःसर्वात्मना रतौ प्रसक्ते, राज० ।

एगंतलूसग–एकान्तलूषक–पुं० एकान्तेन जन्तूनां हिंसके एका- न्तेन सदनुष्ठानस्य ध्वंसके च, " आतदंमा एगंतलूसगा गता ते पावलोगयं ' एकान्तेन जन्तूनां लूषका हिंसका सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकास्ते । ते एवंभूता गन्तारो यास्यन्ति पापं लोमं पाप- कर्मकारिणां यो लोको नरकादिस्त्रिरात्रमिति प्रभूतं कालं तन्नि- वासिनो भवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

एगंतवदात–एकान्तावदात–त्रि० शुभ्रे, "सखेंदुएगतवदातसुक्कं" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

एगंतवाइ (न्)–एकान्तवादिन्–पुं० नित्यानित्याद्येकपक्षाभ्युप- गन्तरि, स्या० । सूत्र० ।

एगंतवाय–एकान्तवाद–पुं० नित्यानित्याद्येकपक्षाभ्युपगमे, स्या० एकान्तवादस्य च मिथ्यात्वम् तदेवेति नियमेनैकान्ताभ्युप- गमे सर्वे एवैते मिथ्यावादा उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वमित्यभि- धानात् कथंचिदभ्युपगमे सम्यग्वाद एवैत इत्युक्तं भवति यत उ- त्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे वस्तुनः स्थिते तद्वस्तु तत्तदपेक्षया का- र्यमकार्यं च कारणमकारणं च कारणे कार्यं सत्त्वासत्त्वकारण का- र्ये काले विनाशवदविनाशवच्च तथैव प्रतीतेरन्यथा वा प्रतीतेरत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् । सम्म० ॥ तथाच नित्यानित्या- द्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितमिदानीं कतिपयतद्विशे- षाभ्यामग्राह दर्शयस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्भूते तथा विश्वरिपुजनजनितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पते पुरतो भुवनत्रयं प्रत्ययकारिकारितामाविष्करोति ।

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ, न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं, परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते न च पुण्यपापे घटेते न च बन्धमोक्षौ घटेते, पुनः पुनर्नञ्प्रयोगोत्यन्ता घटमानतादर्शनार्थं । तथाह्येकान्तनित्ये आत्मनि तावत्सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते नित्यस्य हि लक्षणमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम् । ततो यदात्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते तदा स्वभावभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः । एवं दुःखमनुभूया सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारो न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः सर्पस्यैव कुण्डलार्जवाद्यवस्थास्विति चेन्ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा व्यतिरेके तास्तस्येति सम्बन्धाभावेऽतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु तद्भानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथञ्चित्तदेका- न्तरूपत्वेऽवस्थाभेदो भवेदिति । किंच सुखदुःखभोगौ पुण्यपाप- निर्वृत्यैतन्निवर्तनं चार्थक्रिया सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । तत एवोक्तं न पुण्यपापे इति पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशु- भं कर्म ते अपि न घटेते प्रागुक्तनीते । तथा न बन्धमोक्षौ बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्ययःपिण्डवद- न्योन्यसंश्लेषः । मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयस्तावप्येकान्तनित्ये न स्याता- म् । बन्धो हि संयोगविशेषः स चाप्राप्तानां प्राप्तिरितिलक्षणः प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्यावस्था उत्तरकालभाविनि प्राप्तिर- न्या तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः कथमनैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽ मुक्तो वाऽभवत् । किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा- अनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्यः नानुभवति चेन्निर्विकारत्वे सता ऽसता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्या- न्नित्यमुक्त एव स्यात्ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था तथा च पठन्ति " वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् - चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः " बन्धानुपपत्तौ मोक्ष- स्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति । एवम नित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिरनित्यं हि अत्यन्तोच्छे- दधर्मकत्वं तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वय विनष्टत्वात्कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः । एवं पापोपादानक्रिया कारिणोऽपि निरन्वयविनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु एवं चान्यः क्रियाकारि अन्यश्च तत्फलभोक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते । अथ "य- स्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, क- र्पासे रक्तता यथा " इति वचनादसमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रं सन्ता- नवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोचितत्वात् तथा पुण्यपापे अपि न घटेते तयोर्हि अर्थक्रियासुखदुःखोपभोगस्तदनुपपत्तिश्चा नन्तरमेवोक्ता ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किंचानित्यः क्षणमात्रस्थायी तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वा- त्तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम् । द्वितीयादिक्षणे चाव- स्थात्वमेव न लभते पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतो निर्मूलत्वात्तदसत्त्वे च कुतस्तत्सुखदुःखभोगः । आस्तां वा कथंचिदेतत्तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्य- मुपादानानुरूपत्वादुपादेयस्य ततः पूर्वक्षणदुःखितादुत्तरक्षणः कथं सुखितः उत्पद्यते कथं च सुखितात्ततः स दुःखितः स्यादि- सदृशभागनापत्तेः । एवं पुण्यपापादावपि तस्माद्यत्किंचिदेतत् । एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवो लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मु- च्यते निरन्वयनाशाभ्युपगमे च एकाधिकरणत्वाभावात् संता- नस्य च वास्तवत्वात्कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति । पगिणामि

नि चात्मनि स्त्रीक्रियमाणे सर्वं निर्वाधमुपपद्यते। परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानं न च सर्वथा विनाशः परिणामास्तद्विदामिष्ट इति वचनात् पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह। अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्या। एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारपरैः परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति दुर्नीतिवादव्यसनादिना नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थ प्रतीतिविषयमिति नीतिः । नीतयो नयाः दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयास्तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादस्तत्र यद्व्यसनमत्याशक्तिरौचित्यनिरपेक्षाप्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम्। तदेव सद्बोधशिरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिरिवासिः कृपाणो दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन एवमित्यनुभवसिद्धप्रकारमाह अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्, अशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलोक्यं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलुप्तं सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम्। तत्त्रायस्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्तेऽत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशोऽन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थोऽधीयते तेषां च दशविधप्राणधारणाभावादजीवतत्त्वप्राप्तिः सा च विरुद्धा तस्मात्संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणा जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्धं दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यातमिति काव्यार्थः स्या० २७ श्लो० ॥ (एकान्तवादस्य मिथ्यात्वम्, अद्दगशब्दे वर्णितम्) ॥ अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह—

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जेउ तत्थ विउस्संति, संसारं ते वि उस्सिया ॥२३॥

स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां वाचं तथा हि सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयनिरीश्वरं वेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् सांख्यान्, एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेव य एकान्तवादिनः तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च तत्रैव तेष्वेवात्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणा विद्विष्यन्ते विद्वांसं इवाचरन्ति तेषु वा विशेषेणोशंति स्वशास्त्रविषये विशिष्टयुक्तिवातं वदन्ति ते चैवंवादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधमनेकप्रकारमुत्प्राबल्येन श्रिताः सबद्धास्तत्र वा संसारे उषिता संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः । २३ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

एगंतसड्डि—एकान्तश्रद्धावत्—त्रि० एकान्तेन श्रद्धावान् एकान्तश्रद्धावान्। एकान्तेन श्रद्धालौ, “एगंतसड्ढी य अमाइरूवे” मौनीन्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगंतसमाहि—एकान्तसमाधि—पुं० आत्यन्तिके भावरूपे ज्ञानादिसमाधौ, “मताओ एगंतसमाहिमाहु” मत्वा अवधार्य एकान्ते नात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः । द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनैकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्त्यन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

एगंतसरण—एकान्तशरण्य—त्रि० सर्वाश्रितहितकारके, “एगंतसरणा अरहंता सरणं” पं० सू० ।

एगंतसुसमा—एकान्तसुषमा—स्त्री० सुषुसमावर्षः सुसमादित्वात् षत्वम् २ त० । उत्सर्पिणीकालभेदे, नं० । (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणी शब्दे)

एगंतसुह—एकान्तसुख—न० सर्वथा शर्मणि, अव्यभिचारिसुखे च । पंचा० ७ विव० ॥

एगंतसुहावह—एकान्तसुखावह—त्रि० सर्वथैव शर्मप्रापके, सिद्धिसुखावहे च “ एगंतसुहावहा जयणा ” एकान्तेन सर्वथैव सुखावहा शर्मप्रापिका एकान्तसुखावहा एकान्तसुखं वा सिद्धिसुखं तदावहा यतनेति । मोक्षशर्मावहे अव्यभिचारिसुखावहे च । भावचरणप्रतिपत्तिमधिकृत्य “ भावचरणस्स जायति, एगतसुहावहा णियमा ” एकान्तसुहावहा मोक्षशर्मावहा अव्यभिचारिसुखावहा नियमादवश्यतयेति पंचा०७ विव०

एगंतसोक्ख—एकान्तसौख्य—न० दुःखलेशैरकलङ्किते सौख्ये “ एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ” एकान्तसौख्यं दुःखलेशैरकलङ्कितं मोक्षं समुपैति मोक्षश्च दुःखमोक्षेणैव संसारस्य निवृत्त्यैव स्यादिति । उत्त० ३२ अ० ।

एगंतहरण—एकान्तहरण—न० एकान्ते विजने हरणं, एकान्तहरणम् । विजनैकस्थानयने, तं० ॥

एगंतहरणकोला—एकान्तहरणकोला—स्त्री० एकान्ते विजने हरणं नेतव्यं पुरुषाणां विषयार्थमेकान्तहरणम् । यद्वा एकान्ते दूरग्रामनगरदेशादौ स्वकुटुम्बादि जनरहिते हरणं तत्र पुरुषाणां विषयार्थं लात्वा गमनमित्यर्थः। तत्र कोला वनसूकरतुल्या यथा सूकरः किमपि सारकन्दादिकं भक्ष्यं प्राप्य विजने गत्वा भक्षयति तथा विषयार्थमेकान्ते पुरुषाणां नेत्र्यो योषितो भवन्ति । तं० ।

एगंतहिय—एकान्तहित—त्रि० अतिशयेन हिते, “ से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु ” सूत्र० १ श्रु०६ अ० ।

एगंतिय—ऐकान्तिक—त्रि० एकान्तेन भवतीत्यैकान्तिकः एकान्तभाविनि, दश०१ आव० । अवश्यंभाविनि, विशे० ।

एगक्खरिय—एकाक्षरिक—त्रि० एकं च तदक्षरं च तेन निर्वृत्तमेकाक्षरिकम् । एकाक्षरोपेते, तदात्मके द्विनामभेदे च । तद्यथा “ से किं त एगक्खरिए ” एकक्खरिए -ह्रीः श्रीः श्री सेत्त एगक्खरिए यदस्ति वस्तुतत्सर्वमेकाक्षरेण वा नाम्नाऽभिधीयत इति । अनु०।

एगखंधी-एकस्कन्ध—त्रि० प्रत्येकमेव स्कन्धोपेते वृक्षादौ, ते पादपाः प्रत्येकमेकस्कन्धाः प्राकृतेचास्य स्त्रीत्वमिति। “एगखंधीति ” सूत्रपाठ इति । जी० ३ प्रति० ।

एगखुर—एकखुर—पुं० प्रतिपदमेकः खुरः शफो येषान्ते एकखुराः प्रज्ञा० १ पद । एकः खुरश्चरणाधोवर्तिहड्डविशेषो येषान्ते एकखुराः । उत्त० ३६ अ० । चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद । स्था०।ते चाश्वादय इति। भ० १५ श०१ उ०। तथाच “ चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगक्खुराणं इति ” एकखुराणामित्यश्वादीनामिति सूत्र०२ श्रु० ३ अ० ॥

एगखंभ—एकस्तम्भ—त्रि० एकस्तम्भोपेते प्रासादादौ, “एकखंभे पासायं करेहि। दश०१ अ० अतीर्ष्यालुस्ततः सौधमेकस्तम्भं विधाप्य सः । आ० क० ।

एगगंध-एकगन्ध-त्रि. सुगन्धीतरान्यतरगन्धोपेते, उत्त. १ अ० ।

एगगम-एकगम-पुं० तुल्याभिलापे, " सेसा एक्कगमाएति " स्था० २ ठा० ।

एगगुण-एकगुण-न० सिद्धश्रेणिकपरिकर्मश्रुतभेदे, । सम० । (तद्वक्तव्यता 'सिद्धसेणिगपरिकम्म' शब्दे) एकेन गुणनेन गुणन ताडन यस्य स एकगुणः । एकेनगुणिते, त्रि० । पोग्गलाणं वगणेति " एगापएगगुणकालगाणं । एकेन गुणनन्ताम्न यस्य स एकगुणः । स कालो वर्णो येषान्ते एकगुणकालकास्तारतम्येन कृष्णतरकृष्णतमादीनां येभ्य आरभ्य प्रथममुत्कर्षवृत्तिर्भवति तस्मिन् स्था० १ ठा० ।

एगग्ग-एकाग्र-त्रि० " एगग्गो काउस्सग्गम्मि " एकाग्र एकचित्त. शेषव्यापाराभावादिति । आव० ५ अ० " एगग्गस्स यसतस्स " एकमग्रमालम्बन यस्यासावेकाग्र' । एकावलम्बने, । आ० म० द्वि० । विक्षेपरहितज्ञाने च । वाच० ।

एकाग्र्य-त्रि० एकमग्र्य यस्य । एकभावे, एकावलम्बने, वाच० ।

ऐकाग्र-त्रि० स्वार्थेऽण् एकाग्रचित्ते, एकतानचित्ते, वाच० ।

ऐकाग्र्य-न० एकाग्रस्य भावः ष्यञ् अनन्यासक्तचित्तत्वे, एकमात्रावलम्बिचित्तत्वे, वाच० ।

एगग्गचित्त-एकाग्रचित्त-त्रि० एकाग्रमेकक विषयं चित्त यस्य स. । एकविषयकचित्ते, घोषणाश्रवणमधिकृत्य "एगग्गचित्तसद्दुत्तमाणसाण " एकाग्र घोषणाश्रवणैकविषयं चित्त येषान्ते एकाग्रचित्ता' । राज० । एकावलम्बने, " नाणमेगग्गचित्तो " दश० ९ अ० ४ उ० ।

एगग्गजोग-एकाग्रयोग-पुं० अनालम्बनयोगपरनामधेये योगभेदे, एकाग्रयोगस्यैवापरनामानालम्बनयोग इति । अष्ट० । (तद्वक्तव्यता जोग शब्दे) ।

एगग्गया-एकाग्रता-स्त्री० एकाग्र-तल्-एकाग्रत्वे, वाच० एकस्मिन्नालम्बनसदृशपरिणामतायाम्, " तुल्यावेकाग्रताशान्तोदितौ च प्रत्ययाविह " इहाधिकृतदर्शने तुल्यावेकरूपावलम्बनत्वेन सदृशौ शान्तोदितावतीताथ प्रविष्टवर्तमानाध्यस्फुरितलक्षणौ च प्रत्ययावेकाग्रता उच्यते । समाहितचित्तान्वयिनी । तदुक्तं शान्तोदितौ हि तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः । द्वा० २४ द्वा० ॥

एगचक्खु-एकचक्षुष्-त्रि० एक चक्षुरस्येत्येकचक्षुः स्था० ३ ठा० । काणे, तथा च प्रश्नव्याकरणे अन्धैकचक्षुषावधिकृत्योक्तम् । एतच्च दोषद्वय गर्भगतस्योत्पद्यते जातस्य च । तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्न तेजो जात्यन्धत्व करोति तदेकाक्षिगतं काणत्व विदधत इति । प्रश्न० ५ द्वा० । एकचक्षुस्के च क्षुषस्यभेदे च । स्था० ३ ठा० । (तद्वक्तव्यता चक्खु शब्दे) ।

एगचक्खुविणिहय-एकचक्षुर्विनिहत-त्रि० एक चक्षुर्विनिहतं येषान्ते एकचक्षुर्विनिहता । विनिहतैकचक्षुस्के, प्रश्न० १ द्वा० ।

एगचर-एकचर त्रि० एक सन् चरति चर्-पचा० अच् । सुप्सुपेति समासः । एक एव चरतीत्येकचरः । एकाकिनि, आचा० ५ अ० १ उ० । एकाकीभूत्वा चारिणि, असहायचारिणि, वाच० " णिब्भयमेगचरंति पासेण" निर्भय गतशंक निर्भयत्वादेवैकचरमिति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

एगचरिया-एकचर्या-स्त्री० चरणं चर्यते वा चर्य्या "चरगतिभक्षणयो." "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । एकस्य चर्या ६ त० । एकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमे, आचा० ६ अ० २ उ० । असहायगमने, वाच० । " चारो चरिया चरणं एगट्ठं " आचा० नि० । एकचर्यानिक्षेपो यथा सा च प्रशस्तेतरभेदे न द्विधा । सापि द्रव्यभावभेदात् प्रत्येक द्विधा । तत्र द्रव्यतो गृहस्थपापण्डिकादेर्विषयकषायनिमित्तमेकाकिनो विहरणं भावतस्तु अप्रशस्ता न विद्यते । सा हि रागद्वेषविरहाद्भवति । न च तद्रहितस्याप्रशस्ता वेति । प्रशस्ता तु द्रव्यत. प्रतिमाप्रतिपन्नस्य गच्छतः निर्गतस्य स्थविरकल्पिकस्य चैकाकिन. संघादिकार्यनिमित्तान्निर्गतस्य भावतस्तु पुनः रागद्वेषविरहाद्भवति । तत्र द्रव्यतो भावतश्चैकचर्यानुत्पन्नज्ञानानां तीर्थकृतां प्रतिपन्नसंयमानामन्ये तु चतुर्भङ्गपतितास्तत्राप्रशस्तद्रव्यैकचर्याहरणम् । तद्यथा पूर्वदेशे धान्यपूरकाभिधाने सन्निवेशे एकस्तापस.प्रथमवय स एव कुमारसदृशविग्रह. षष्ठभक्तेन तद्ग्रामनिर्गमपथे तपस्तेपे । द्वितीयोऽप्यु ग्रामगिरिगह्वरेऽष्टमभक्तेन तप कर्मणा तापना विधत्ते । तस्मै च ग्रामनिर्गमपथवर्तिने शीतोष्णसहिष्णवे गुणैराकृष्टो लोक आहारादिभि सपर्ययोपतिष्ठते । स तथालोकेन पूज्यमानो वाग्भिरभिष्टूयमान आहारादिनोपचर्यमाणो जनमूचे मत्तोऽपि गिरिपरिसरतोऽपि दुष्करकारकस्ततोऽसौ लोकस्तेन भूयो भूय. प्रोच्यमानस्तमेकाकिनं तापसमद्रिकुहरवासिन पर्यपूजयत । दुष्करं च परगुणोत्कीर्तनमिति कृत्वा तस्यापि सपर्यादिकं व्यधात् । तदेवमाभ्यां पूज्याख्यात्यर्थमेकचर्या विदधे । अतोऽप्रशस्तैवमनया दिशाऽन्येप्यप्रशस्तैकचर्याश्रिता दृष्टान्ता यथासम्भवमायोज्या इति । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सा च शिथिलकर्मणां भवति तथाह-

इहमेगेसिं एगचरिया होति तत्थि अराइयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए सो मेहावी परिव्वए सुब्भिं अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणापाणे परिकिलेसंति । ते फासे पुट्ठो अधीरो अहियासिज्जासि त्ति बेमि ॥

(इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिन् प्रवचने एकेषां शिथिलकर्मणामेकचर्या भवत्येकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमो भवति । तत्र च नानारूपा अभिग्रहविशेषास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यतस्तावत्प्राभृतिकामधिकृत्याह (तत्थियरा इत्यादि)तत्र तस्मिन्नेकाकिविहारे इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा इतरश्चान्तप्रान्तेषु कुलेषु सिद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाहारादिना सर्वैषणयेति सर्वा आहाराद्युद्गमोत्पादनग्रासैषणारूपा तया सुपरिविशुद्धेन विधिना सयमे परिव्रजन्ति बहुत्वेऽप्येकदेशतामाह (से मेहावि इत्यादि) स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः सयम परिव्रजेदिति । किंच (सुब्भिं इत्यादि) स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यादथवा दुर्गन्धो न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात् । किंच (अदुवा इत्यादि) अथवा तत्रैकाकिविहारिन्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो भैरवा भयानका यातुधानादिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयु । यदिवा भैरवा बीभत्सा प्राणा प्राणिनो दीप्तजिह्वाद्योऽपरान् प्राणिन क्लेशायान्युपतापयन्ति त्वं तु पुनस्त स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्य सन्नतिसहस्वेति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

यस्य विषयकषायनिमित्तमेकचर्या तस्य न मुनित्वम् अन्ये प्रव्रज्यामप्यभ्युपेत्य केचिद् विषयपिपासार्तास्तान् कस्काचारानाचरन्तीति दर्शयितुमाह ॥

इहमेगेसिं एगचरिया भवति से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोहे बहुरए बहुणडे बहुसढे बहुसंकप्पे आसव-

सक्को पलिओच्छरणे उट्ठितवादं पवदमाणे मा मे केइ य दक्खु अरणाणपमायदोसेणं सययं मूढे धम्मं णाभिजाणति अट्टापया माणवककम्मकोविया जे अणुवरया अभिज्जाए परिमोक्खमाहुआवट्टमेव मणुपरिपट्टंतित्ति ॥

इह मनुष्यलोके एकेषां न सर्वेषां चरण चर्य्यते वा चर्य्या एकस्य चर्या तत्र विषयकषायनिमित्त यस्यैकचर्या स्यात्स किंभूतः स्यादित्याह (से बहुकोहे इत्यादि) स विषयगृध्नुरिन्द्रियानुकूलवर्त्येकचर्याप्रतिपन्नस्तीर्थिको गृहस्थो वा परैः परिभूयमानो बहुक्रोधो यस्येति बहुक्रोधस्तथा वन्द्यमानो मानमुद्वहत इति बहुमानस्तथा कुरु कुचादिभि· कष्कतपसा च बहुमायी सर्वमेतदाहारादिलोभात्करोतीत्यतो बहुलोभः । यत एवमतो बहुरजो बहुपापो बहुषु चारम्भादिषु रतस्तथा नटवद्भोगार्थं बहून्वेषान्विधत्त इति बहुनटस्तथा बहुभिः प्रकारैः शठो बहुशठस्तथा बहवः संकल्पाः कर्तव्या अध्यवशाया यस्य बहुसकल्प इत्येवमन्येषामपि चौरादीनामेकचर्या वाच्येति । स एवभूतः किमवस्थ स्यादित्याह (आसव इत्यादि) आश्रवा हिंसादयस्तेषु शक्तं सङ्गः आश्रवशक्तं तद्विद्यते यस्यासावाश्रवशक्ती हिंसाद्यनुसङ्गवानवलितं कर्म तेनावच्छन्न· कर्मावष्टब्ध इति यावत् । सचैवम्भूतोऽपि किं ब्रूयादित्याह (उट्ठियइत्यादि) धर्मचरणायोद्युक्त उत्थितस्तद्वादस्तं प्रवदन् तीर्थिकोऽप्येवमाह यथा अहमपि प्रव्रजितो धर्मचरणायोद्यत इत्येव प्रवदन् कर्मणाऽवच्छाद्यत इति सर्वोत्थितवादी आश्रवेषु प्रवर्तमान आजीविकाभयात् कथं प्रवर्तत इत्याह (मामे इत्यादि) मा मां केचनान्येऽद्राक्षुरवद्यकारिणमित्यत· प्रच्छन्नकार्यं विदधात्येव ज्ञानदोषेण प्रमाददोषेण वा विदभ्रष्ट इति किंवा (सययमित्यादि) सततमनवरत मूढे मोहनीयोदयादज्ञानाद्वा धर्मश्रुतचारित्राख्य नाभिजानाति न विवेचयतीत्यर्थं । यद्येवं तत· किमित्याह (अट्टाइत्यादि) आर्ता विषयकषायै· प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवो हेमानव मनुजास्यैवोपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं कर्मण्यष्टप्रकारे वीभत्स्यन्ते कोविदाः कुशला न धर्मानुष्ठान इति के पुनस्ते ये सततं धर्म्मं नाभिजानन्ति कर्म्मबन्धकोविदाश्चेत्यत आह (जे अणुवरया इत्यादि) ये केचनानिर्दिष्टस्वरूपा अनुपरता· पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ता ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्येषा विद्या ततो विपर्ययेण विद्या तया परि समन्ततः मोक्षमाहुस्ते धर्म्मं नाभिजानत इति सबन्ध· । धर्म्ममजानानाश्च किमाप्नुयुरित्याह (आवट्टइत्यादि) भावावर्त· संसारस्तमरहट्टघटीयन्त्रन्यायेनानुपरिवर्तंते तास्वेव नरकादिगतिषु भयो भूयो भवन्तीति यावत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । हिंसकस्य विषयारम्भकस्यैकचरस्यामुनिभावे दोषोद्भावनतः कारणमाह् ।

गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जा तं दुप्परिक्कंतं भवति । अवियत्तस्स भिक्खुणो वयसा वि एगे चोइया कुप्पंतिमाण वा उण्णयमाणे य णरे महता मोहेण मुज्झति संवाहा बहवे भुज्जो भुज्जो दुरतिकमा अजाणओ अप्पा सत्तो एयं ते मा होउ एयंते कुशलस्स दंसणं ॥

प्रसते बुद्ध्यादिगुणानिति ग्रामः ग्रामादनु पश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्तं दूयमानस्यानेकार्यत्वाद्गच्छतो विहरत एकाकिन साधोर्यस्मात्तद्दर्शयति (दुयति) दुष्टं यातं दुर्यातं गमनक्रियाया गर्हा गच्छत एवानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावादर्हनकस्यैव छिन्नगतिभेददुष्टव्यन्तरीजङ्घाच्छेदनवत् । तथा दुष्टं पराक्रान्तमाक्रातं स्थानमेकाकिनो भवति स्थूलभद्रेर्ष्यालसतोपकोपा गृहसाधोरिवेति । यदिवा चतु· प्रोषितभर्तृका गृहायितसाधोरिव तस्य महासत्वतया अक्षोभेऽपि हु पराक्रान्तमेवेति । एतश्च न सर्वस्यैव दुर्यातं दुःखपकराक्रान्तश्च भवतीत्यतो विशिनष्टि अव्यक्तस्य भिक्षोरिति भिक्षणशीलो भिक्षुस्तस्य किंभूतस्याव्यक्तस्य स चाव्यक्त श्रुतवयोभ्यां स्यात्तत्र श्रुताव्यक्तो येनाचारप्रकल्पोऽर्थतो नाधिगतो गच्छगतानां तन्निर्गतानां तु नवमपूर्वतृतीयवस्त्विति । वयसा वा व्यक्त आ षोडशवर्षाद्गच्छगतानां तन्निर्गतानाञ्च त्रिंशत इति । अत्र चतुर्भङ्गिका श्रुतवयोभ्यामव्यक्तस्यैकचर्या न कल्पते । संयमात्मविराधनात इत्याद्यो भङ्ग· । तथाश्रुतेनाव्यक्तो वयसा च व्यक्तस्तस्याप्येकचर्या न कल्पते । अगीतार्थत्वादुभयविराधनासद्भावादिति द्वितीयः । तथा श्रुतेनव्यक्तो वयसा चाव्यक्तस्तस्यापि न कल्पते बालतया सर्वपरिभवास्पदत्वाद्विशेषतस्तेन कुलिङ्गादीनामिति तृतीय· । यस्तूभयव्यक्त· स सति कारणे प्रतिमामेकाकिविहारित्वमभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपद्यतामस्यापि कारणाभावे एकचर्या नानुमता । यतस्तस्यां गुप्तैर्या भाषैषणादिविषया बहवो दोषाः प्रादु·ष्यन्ति । तथा ह्येकाकी पर्यटन् यदीर्यापथ शोधयति ततश्चाद्युपयोगाद्भ्रस्यति तदुपयुक्तश्चेदीर्यापथं शोधयेदित्यादिका शेषाऽपि समितयो वाच्याः । अन्यच्चाजीर्णेन वातादिक्षोभेण वा व्याध्युद्भवसंयमात्मविराधना प्रवचनहीलना च । तत्र यदि करुणापन्ना गृहस्थाः प्रतिजागरणं कुर्युस्तदज्ञानतया षट्कायोपमर्देन कुर्वाणा सयमबाधामापादयेयुरथ न कश्चित्तत्र तथाभूतकर्तव्योद्यत स्यात्ततः आत्मविराधना । तथातीसारादौ मूत्रपुरीषजं वाल्यन्तर्वर्तित्वात्प्रवचनहीलना । अपिच ग्रामादिव्यवस्थित· सन् धिग्जात्यादिना केशलुञ्चिताद्यधिक्षेपेणाविक्षिप्त· सन् परस्परोपमर्दकारि दण्डादण्डभण्डनं विदध्यात्तच्च गच्छगतस्य न संभवति गुर्वाद्युपदेशसंभवात्तदुक्तम् " अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भसणेबालसुलभाणं । भमम्मिइ धीरोजह उत्तराणं अभावम्मि " इत्येवमादिनोपदेशेन गच्छान्तर्गतो गुरुणानुशास्यते गच्छनिर्गतस्य तु पुनः दोषा एव केवला इत्युक्तञ्च " साहम्मिएहिं समुज्जएहिं । एगागीउ य जो विहरे । आयंकपउरयाए, छक्कायवहम्मि आवडइ । एगाणियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए । भिक्खविसोहिमव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं " इत्यादि गच्छान्तर्वर्तिनस्तु बहवो गुणास्तन्निश्रया परस्यापि बालवृद्धादेरुद्यतविहाराभ्युपगमात् । यथा ह्युदके समर्थस्तरन्नपरमपि काष्ठादिविलग्नं तारयत्येवं गच्छेऽप्युद्यतविहार्यपरं सीदन्तमुद्यमयति तदेवमेकाकिनो दोषान् वदयगच्छान्तर्विहारिणश्च गुणान् कारणभावे व्यक्तेनापि नैकचर्या विधेया कुत· पुनरव्यक्तेनेति स्थितम् । ननु वसतिसंभवे प्रतिषेधोऽयुक्तो न चास्ति संभवः एकाकिविहारितायाः को हि नाम बालिशः सहायान्विहाय समस्तापायास्पदमेकाकिविहारितामभ्युपेयादित्यत्रोच्यते न किंचिदपि कर्म्मपरिणतेरशक्यमस्ति तथा हि स्वातन्त्र्यगदागदकल्पस्य समस्तव्यसनप्रवाहसेतुभूतस्याशेषकल्याणनिकेतनस्य शुभाचाराधारस्य गच्छस्यान्तर्वर्तिनः क्वचित् प्रमादस्खलिते चोदिता अपरिगणय्य सदुपदेशमपर्यालोच्य सद्धर्ममविचार्य कषायविपाककटुकतामनवधार्य परमार्थं पृष्ठतः कृत्वा कुलपुत्रतां मम्मात्रादपि किंचित्कोपनिभ्रा· सुखैषिणो गणितापदो गच्छान्निर्गच्छन्ति । तत्र चैहिकामुष्मिकापायानवाप्नुवन्तीत्युक्तं च " जह सायरम्मि मीणा, सखोहं सायरस्स असहंता । णिंति तओ सुहकामी, णिग्गयमेत्ता विणस्सन्ति ॥ एव गच्छसमुद्दे, सारणवीचीहिं चोइया संता । णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा-

विणस्संति ।"गच्छम्मि केइ पुरिसा, सउणी जह पञ्जरं तरुणि-रुद्धा । सारणवारणचोइया, पासत्थगया य विहरंति ॥"जहा-दिया ओयमय रकजायं, सवासया पवितमण मणागं । तमयाइ-या तरुणमपत्तजाइं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा" एवमजातसूत्रा-र्थपव परतीर्थिकध्वाङ्क्षादिभिर्धिक्षुप्यते गच्छालयान्निर्गतो वाङ्मा-त्रेणापि चोदितः सन्निस्येतद्दर्शयितुमाह (वयसावि एगे इत्यादि) कश्चित्सत्पः संयमानुष्ठानेनावसीदन्तः प्रमादस्खलिता वा गुर्वादि-ना धर्मेण वचसाऽप्येके अपुष्टधर्माण अनवगतपरमार्था उक्ताश्चो-दिताः कुप्यन्ति एने मानवा मनुजाः क्रोधवशगा भवन्ति । ब्रुवते च कथमहमनेन इयतां साधूनां मध्ये तिरस्कृतः किं मया कृतमथवा-न्येऽप्येतत्कारिणः सन्त्येव ममाप्येवंभूतोऽधिकारोऽभूत्किमे जीवि-तमित्यादि महामोहोदयेन क्रोधतमिस्राच्छादितदृष्टयः उज्झित-समुचिताचारा उन्नमतोऽन्यतो व्यक्ता मीना इव गच्छसमुद्राभि-र्गत्य विनाशमुपयान्ति । यदि वा वचसापि यथा क इमे सुश्लिष्टा म-लोपदनगाश्रद्धेय· प्रावलायसर एवास्माभिर्वृष्ट्या इत्यादिनोक्ता एके क्रोधान्धाः कुप्यन्ति मानवाः । अपिशब्दात् कायेनापि स्पृष्टाः कुप्यन्ति, कुपिताश्चाधिकरणादिकुर्वन्तीत्येवमाद्यो दोषा अव्यक्तै-कचराणां गुर्वादिनियामकाभावात्प्रादुष्युरिति । गुरुसान्निध्ये चै-वंभूत उपदेशः सम्भाव्यते । तद्यथा—"आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वा-र्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्य कः कोप , स्यादनृत किंनु कोपेन" तथा "अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते । धर्मा-र्थकाममोक्षाणां, प्रसह्य परिपन्थिनी" त्यादि किं पुनः कारणं वच-साप्यभिहिता ऐहिकामुष्मिकापकारिणः स्वपरयाधकस्य क्रो-धस्यावकाशं ददतीत्याह (उण्णयइत्यादि) उन्नतो मानोऽस्येत्यु-न्नतमान उन्नतं वात्मानं मन्य इति स चैवंभूतो नरो मनुष्यो मह-ता मोहेन प्रबलमोहनीयोदयेनाज्ञानोदयेन वा मुह्यति कार्या-कार्यविचारविवेकविकलो भवति । स च मोहमोहित केनचि-च्छिक्षणार्थमभिहितो मिथ्यादृष्टिना वा वाचा तिरस्कृतो जात्यादिमदस्थानान्यतरसद्भावेनोन्नतमानमन्दिरारूढः कु-प्यति ममाप्येवमयं तिरस्करोतीति धिग्मे जातिं पौरुषं विज्ञानं चेत्येवमभिमानग्रहगृहीतो वाङ्मात्रादपि गच्छान्निर्गच्छति तन्निर्गच्छतो वाधिकरणादिधिकम्बनयात्मानं विकम्बयति । अथवोन्नम्यमानः केनचिद्दुर्विदग्धेनाहो अयं महाकुलप्रसूतः आकृतिमान् पटुप्रज्ञो मिष्टवाक् समस्तशास्त्रवेत्ता सुभगः सुखसेव्यो वेत्यादिना वचसा तथ्येन चोन्नम्यमान उन्नतमा-नो गर्वाध्मातो महता चारित्रमोहेन मुह्यति संसारमोहेन मुह्यत इति तस्य चोन्नतमानतया महामोहेन मुह्यतो मोहाच्च वाङ्मात्रे-णापि कुप्यतः क्रोधाच्च गच्छनिर्गतस्यानभिव्यक्तस्य भिक्षोर्ग्रा-मानुग्राममेकाकिनः पर्यटतो यत्स्यात्तदाह (संबाहाइत्यादि) तस्याव्यक्तस्यैकचरस्य पर्यटतः सबाधयन्तीति संबाधाः पीडा उपसर्गजनिता नानाप्रकारातङ्कजनिता वा भूयो भूयो बह्व्य स्यु-स्ताश्चैकाकिना व्यक्तेन निरवद्यविधिना दुरतिक्रमा दुरतिलङ्घनी-याः किंभूतस्य दुरतिक्रमा इत्याह (अजाणओ इत्यादि) तासां नानाप्रकारनिमित्तोत्थापितानां बाधानामतिसहनोपायमजाना-नस्य सम्यक्करणसहनफलं वा ऽपश्यतो दुरतिक्रमणीया पीडा भवति ततश्चातङ्कपीडाकुलीभूत सत्वेषणामपि लङ्घये-त्प्राण्युपमर्दमप्यनुमन्येत, वाक्कण्टकनुदित सम्यक्तया प्रज्वलेच्चैतच्छ्रावयेत् । यथा मत्कर्मविपाकापादिता एताः पीडाः परोऽत्र केवलं निमित्तभूतः । किञ्चात्मद्रुहममर्याद मूढमुज्झित-सत्पथ सुतरामनुकम्पेत नरकाग्निसमिन्धनमित्यादिका भावना आगमापरिमलिनमनेन प्रवेदियेतत्प्रदर्श्य भगवान्विनेयमाह (एयंतेमाहोउ त्ति) एतदेकचर्याप्रतिपन्नस्य बाधा दुरतिक्रमणीय-त्वमजानानस्य पश्यतश्च ते तव मदुपदेशवर्त्तिनो मा भवतु आगमानुसारितया सदा गच्छान्तर्वर्ती भवेदित्यर्थः । सुधर्म-स्वाम्याह । (एयइत्यादि) एतद्यत्पूर्वोक्तं तत् कुशलस्य श्रीव-र्द्धमानस्वामिनो दर्शनमभिप्रायो यथा व्यक्तस्यैकचरस्य दोषाः सततमाचार्यसमीपवर्तिनश्च गुणा इति । आचा० १श्रु० ५अ० ४उ० ।

एगचरियापरि(री)सह–एकचर्यापरि(री)षह–पुं० परीषहभेदे. अयं च साधुना सोढव्यस्तथा च स्त्रीपरिषहं प्रतिपाद्य अथ चै-कत्र वसतस्तथाविधस्त्रीजनसंसर्गतो मन्दसत्वस्य भवतीत्यतो-ऽनेकस्थेन भाव्यं किन्तु चर्यापरिषहः सोढव्य इति । तमाह ।

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥

एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्सहा-यवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तं "ण वा लभिज्जा निउ-णं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एक्को वि पावाइ विवज्ज-यंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो" (लाढेत्ति) लाढयति प्रासु-कैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वात्मानं यापयतीति लाढः । प्रशं-साभिधायि वा देशीपदमेतत् पठ्यते (एगेचरेलाढइति) तत्र चैकोऽसहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादिः स चैको रागादिवैकल्याद्वाभि-भूय निर्जित्य परीषहान् क पुनश्चरेदित्याह ग्रामे वोक्तरूपे न-गरे वा करविरहितसन्निवेशे अपिः पादपूरणे निगमे वा वणि-ग्निवासे राजधान्यां वा प्रसिद्धायामुभयत्र वा शब्दानुवृत्तेर्मरु-पाद्युपलक्षणं चैतद्ग्रहाभावं चानेनाहेति सूत्रार्थः ।

पुनः प्रस्तुतमेवाह–

असमाणे चरे भिक्खू, नो पकुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिकेओ परिव्वए ॥

न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्च्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु वा नियतविहारादित्यसमानोऽसदृश । यद्वा समानः साहंकारो न तथेत्यसमानः । अथवा समाणो प्राकृतत्वादसन्निवासन् यत्रास्ते तत्राप्यसन्निहित इति हृदयसन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्यो-दन्तमावहत्ययं तु न तथेत्येवंविध स चरेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेत्किंकुर्यादिति कथमेतत्स्यादित्याह नैव कुर्यात्परिग्रहं ग्रामादि-षु ममत्वबुद्ध्यात्मकमत आह च "गामे कुले वा नगरे व देसे, म-मत्ति भाव न कहिं वि कुज्जा" इति इदमपि यथा स्यात्तथाह अ-संसक्तोऽसंबद्धो गृहस्थैर्गृहिभिरनिकेतोऽविद्यमानगृहो नैकत्र बद्धास्पद परिव्रजेत् सर्वतो विहरेत् न नियतदेशादौ गृहिसंप-र्कएकत्र बद्धास्पदत्वे नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादपि म-मत्वबुद्धिस्तदभावे तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः अत्र शिष्यद्वारमनुसरन् "असमाणो चरेइत्यादि" सूत्रसूचितमु-दाहरणमाह ।

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो सीसो य हिंमतो तस्स ।
उवहरइ धाइपिंडं अंगुलिजलना य सा देवी ॥

कोल्लाइरे कोल्लइरनाम्नि नगरे वास्तव्य आचार्य इति शेषः दत्तः शिष्यश्च हिण्डकस्तस्य उपहरति धात्रीपिण्डमङ्गुलिज्वलनाश्च सा देवीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु सुवृद्धसम्प्रदायादवग-न्तव्यः । सचायं कोल्लयरे णयरे वत्थव्वा संगमथेरो आय-रिया दुब्भिक्खे तेहिं संजया विसज्जिया त नगरं नवभागे का-ऊण जघावलपरिहाणा विहरंति णगरदेवीया य तेसिं किर-उवसंता तेसिं सीसो दत्तो नाम आहिंडओ चिरेण कालेण

उ दत्तवाहओ आगतो सो तेसिं पडिस्सयं न पविट्ठो नितया भासित्ति भिक्खा वेलाए उग्गाहिय हिंडंताणं संकिलस्सइ कुद्धो सड्ढकुलाइंण दावेतित्ति तेहिं नायं एगत्थ सेट्ठिकुले रेवइयाए गहितो दारओ छम्मासा रोव्वतस्स आयरिएहिं चप्पुडिया कया मा रोवत्ति वाणमतराए मुक्को तेहिं तुट्ठेहिं पडिलाभिया जहिच्छएणं सो विसज्जितो एयाणि कुलाणित्ति आयरिया सुचिरं हिंडिऊण अंतपंत गहाय आगया समुद्दिट्ठा आवस्सए आलोयणाए आलोएहिं भणति तुब्भेहिं समं हिंडतो वि धातिपिंडो ते भुत्तो भणति अतिसुहुमाइ पेच्छहत्ति पड़ुट्ठो देवयाए अड्ढरत्ते वास अंधकारो य विगुरुवितो एसो हिंलोहित्ति आयरिएहिं भणितो अतिहित्ति सो भणइ अंधकारो त्ति आयरिएहिं अंगुली दाइया सा पज्जलिया आउट्टो आलोएति आयरिया वि से णवभागे कहेति ततश्च यथा महात्मभिरमीभिः संगमस्थविरैश्चर्यापरीषहोऽध्यासितस्तथान्यैरप्यध्यासितव्य इति । उत्त० ३ अ० ।

एगचारि [न्] एकचारिन्–त्रि० एकः सन् चरति चर णिनि सुप्सुपेति स० असहायचरे, एकचरे, बुद्धिसहचरभेदे, पुं० वाच० । एक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी प्रतिमाप्रतिपन्ने एकल्लविहारिणि जिनकल्पादिके, "बहुजणे वा तह एगचारी " सच प्रतिमाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्स च बहुजन एकाकी वा । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगचोर–एकचौर पुं० चौरभेदे, एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्तीति । प्रश्न० ३ द्वा० ।

एगच्च–एकार्च त्रि० एका असदृशी अर्चा शरीरं येषान्ते एकार्चाः असदृशशरीरे, अद्वितीयपूज्ये, संयमानुष्ठाने च । "एगच्चा पुण एगभयंतारो" एकार्च्या अद्वितीयपूज्या० संयमानुष्ठान वा एका असदृशी अर्चा शरीरं येषान्ते एकार्चा इति । उपा० २ अ० ।

एगच्छत्त–एकच्छत्र–एकराजके, एगच्छत्त ससागरं भुंजिऊण वसुहंति' प्रश्न० ४ द्वा० ।

एगजडि [न्] एकजटिन्–पुं० अष्टाशीतिषु महाग्रहेषु एकाशीतितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० । चं० प्र० । कल्प० । स्थानाङ्गटीकायां तु त्र्यशीतितमः 'दो एगजडी' स्था० २ ठा० ।

एगजाय–एकजात–त्रि० रागादिसहायवैकल्यादेकीभूते, स्था० ए ठा० । खग्गिविसाणं व एगजाए, खड्ग आटव्यपशुविशेषः चतुष्पदविशेष स ह्येकशृङ्गो भवतीत्युच्यते खड्गविषाणमिवैकजातो रागादिसहायवैकल्यादेकीभूत इत्यर्थः । प्रश्न० ५ द्वा० ।

एगट्ठ–एकार्थ–पुं० एकः अर्थः प्रयोजनमभिधेयं पदार्थो वा । एकस्मिन्प्रयोजने, एकस्मिन्नभिधेये पदार्थे च । वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधका । वाच० एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थः । बहु० । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० म० प्र० । अभिन्नार्थे, पंचा० ९ विव० । अनन्याभिधेये, पंचा० १३ विव० । एकार्थवाचके शब्दे, स्था० १० ठा० । "चारो चरिया चरणं एगट्ठं वंजणं तहिं ठक्कं " एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थं किं तत् व्यञ्जनम् । व्यज्यते आविष्क्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम् आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । एकार्थश्च एकशक्त्योपस्थितार्थक वाच० । "पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा" एकार्था अभिन्नार्था इति पंचा० ५ विव० "एक्केक्कस्स य एत्तो नाम एगट्ठिया" एकोऽर्थो येषान्तान्येकार्थिकानीति आ० म० प्र० "नाय माहारणंति दिट्ठंतोवमनिदरिसणं चेव एगट्ठ" एकार्थमेकार्थिकजातमिति । दश० १ अ० । "तप्पुग्गामो वसुइं पमवो पमादि होंति एगट्ठा" पंचा० १३ विव० । एकप्रयोजनयुक्ते, त्रि० वाच० ।

एकस्थ–त्रि० एकस्मिन् तिष्ठति स्था० । एकत्रस्थिते, एकको आश्रिते, "दो वि तुल्ला एगट्ठा अवि से समणायत्ता" एकस्थौ वा एककेनाश्रितौ सिद्धिक्षेत्रापेक्षयेति भावः । भ० १४ श० ६ उ० ।

एकार्थ्य–न० एकार्थस्य भावः ष्यञ् – एकशक्त्या विशिष्टैकार्थोपस्थापने एकार्थीभावे, एकप्रयोजने च । वाच० ।

एगट्ठाण–एकस्थान– न० एकमचलनेनाद्वितीयादिकं स्थानमङ्गन्यासमेकरूपे स्थाने, तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेकमेव वा स्थानं यत्र तत्तथा । पंचा० ५ विव० । एकमाद्वितीयं स्थानमङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानम् । प्रत्याख्यानभेदे, ध० २ अधि० । तथा चाह " एकट्ठाणं पच्चक्खाति चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारीयागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरत्ति" आव० ६ अ० । "सत्तेगट्ठाणस्स उ त्ति" सप्तैकस्थानस्य तु एकस्थान नाम प्रत्याख्यानं तत्र सप्ताकारा भवन्ति इहेद सूत्रं एगट्ठाणमित्यादि एगट्ठाणए जं जहा अंगोवंगं ठविय तेण तहाठिएण चेव समुद्दिसिअव्वं आगारा से सत्त आउट्टणपसारणा णत्थि सेसं जहा एकासणए" पं० व० । आव० । सप्ताकारा भवन्ति । एकमचलनेनाद्वितीयादिक स्थानमङ्गन्यासमेकरूप स्थानं तद्विषय प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेक एव वा स्थानं यत्र तत्तथा । तस्यैकस्थानस्य पुनस्तु शब्दः पुनःशब्दार्थो व्याख्यात एव । ते च यथैवैकाशनके नवरमाकुञ्चनप्रसारणमिह नास्ति एकस्थानकस्य मुखहस्तवर्जाङ्गावयवाचलनरूपत्वादिति । पंचा० ५ विव० । तथा च अथैकस्थानकं तत्र सप्ताकाराः अथ सूत्रम् । " एकट्ठाणं पच्चक्खाइ " इत्याद्येकासनवदाकुञ्चनप्रसारणाकारवर्जमेकमाद्वितीयं स्थानमङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानप्रत्याख्यानं यद्यथा भोजनकालेऽङ्गोपाङ्गं स्थापितं तस्मिंस्तथा स्थापित एव भोक्तव्यम् मुखस्य पाणेश्चाशक्यपरिहारत्वाच्चालनं न प्रतिषिद्धम् । आकुञ्चनप्रसारणाकारवर्जनं च एकाशनतो भेदज्ञापनार्थम् अन्यथा एकाशनमेव स्यादिति । ध० २ अधि० ।

एगट्ठाणज्झयण–एकस्थानाध्ययन– न० एकलक्षणं स्थानं संख्याभेदः एकस्थानन्तद्विशिष्टजीवाद्यर्थप्रतिपादनपरमध्ययनमप्येकस्थानमिति । एकस्थानकाख्य प्रथममध्ययनमिति च । तत्र सामान्यमाश्रित्य प्रथमाध्ययने आत्मादिवस्त्वेकत्वेन प्ररूपितमिति स्था० २ ठा० ।

एगट्ठाणिय–एकस्थानिक–त्रि० सहजे स्वभावस्थे, "निंबुच्छुरसो सहजो दुग्गइ चउभागकट्ठिकभागंतो इगठाणाए" यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव सहजः स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते इति । कर्म० ॥

एगट्ठिय–एकार्थिक–पुं० एकश्चासावर्थश्चाभिधेय एकार्थः । स यस्यास्ति एकार्थिक । एकार्थवाचके पर्य्यायशब्दे, स्था० १ ठा० आ० म० प्र० । पंचा० । तदात्मके सामान्यापेक्षया शब्दविशेषरूपे विशेषभेदे, तथाच स्थानाङ्गे दशविधविशेषमधिकृत्य " एगट्ठिए य" (एगट्ठिएइयत्ति) एकश्चासावर्थश्चाभिधेय एकार्थः स यस्यास्ति स एकार्थिक । एकार्थवाचक इत्यर्थः इतिः रूपप्रदर्शने चः समुच्चये स च शब्दसामान्यापेक्षयैकार्थिको नाम शब्दविशेषो भवति यथा घट इति तथा अनेकार्थिको यथा गौः यथोक्तं " दिशि दृशि वाचि जले भुवि दिवि वज्रेशौ पशौ च गोशब्दः " इति इहैकार्थिकविशेषग्रहणेनानेकार्थिकोऽपि गृहीतस्तद्विपरीतत्वाच्चेहासौ गण्यते दशस्थानकानुरोधाद्वा

कथंचिदेकार्थिके शब्दग्रामे य. कथञ्चिद्भेदः स विशेष स्यादिति प्रक्रमः (इवत्ति) पूरणे यथा शक्रपुरन्दर इत्यत्रैकार्थे शब्दद्वये शकनकाल एव शक्रः पूर्दारणकाल एव पुरन्दर एव भूतनयादेशादिति । स्था० १० ठा० । आचाराङ्गनिर्युक्तौ आचारमधिकृत्य "तस्सेगट्ठपयवत्तण" तस्य भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्याः ते च किंचिद्विशेषादेकमेवार्थं विशिषन्त. प्रवर्तन्त इत्येकार्थिका शक्रपुरन्दरादिवत् एकार्थाभिधायिनां च बन्धानुलोम्यादिप्रतिपत्त्यर्थमुद्धट्टनम् । आचा० १ श्रु० ।

एकार्थाभिधाने को गुण इत्याह ।

बंधाणुलोमया खलु, सुत्तम्मि य लाघवं असंमोहो ।
सत्थगुणदीवणा वि य, एगट्ठगुणा हवंतेए ॥

एकार्थिकाभिधाने यान्यर्थपदानि गाथादिभिर्निबध्यन्ते तेषां बन्धे अनुलोमता भवति अननुकूलाभिधानपरिहारेणानुकूलाभिधाने बन्धो भवतीत्यर्थः । अनुकूलेन च विधानेन बन्धे सूत्रस्य लाघवं भवति । तथा विवक्षितार्थस्यासमोहो नि सविघ्नप्रतीतिर्यथा शक्र इति वा पुरन्दर इति वा इन्द्र इति वा इत्याद्युक्ते शक्रशब्दार्थस्य तथा शास्ता तीर्थकरस्तस्य गुणास्तेषां दीपना प्रकाशना भवति यथा अहो भगवान् एकैकस्यार्थस्य बहूनि पर्यायनामानि जानातिस्म एते एकार्थिनामभिधाने गुणा भवन्ति । सू० १ श्रु० । (एकार्थिकाश्च तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः) ।

एकास्थिक-त्रि० फलं फलं प्रति एकमस्थि येषान्ते एकास्थिकाः शेषाद्वेति कप्रत्यय. एकमास्थिकं फलमध्ये बीजं येषान्ते एकास्थिका. । प्रत्येकबादर वनस्पतिकायिकवृक्षभेदे, प्रज्ञा०१ पद० प्र० । " एगट्ठिय एगबीज जहा अवगोत्ति " नि० चू० १ उ० ।

तथा चैकास्थिकप्रतिपादनार्थमाह ।

से किं तं एगट्ठिया ! एगट्ठिया अणेगविहा पण्णत्ता तंजहा " निंबंब जंबुकोसं-बसाल अंकोल्लपीलुसेलूया । सल्लइ मोयइ मालूय, वउल पलासे करंजे य ॥१॥ पुत्तं जीवअरिट्ठे, विभेलए हरिडए य भल्लाए । उंबेभरिया खीरिणि, बोधव्वे धायइ पियाले ॥ पूई य निंबकरए, सएहा तह सीसवा य असणे य । पुण्णाग नागरुक्खे,सिरवण्णी तह असोगे य" जे यावन्ने तहप्पगारा एतेसिणं मूलाविअसंखिज्जजीविया कंधावि खंधावि तयावि सालावि पवालावि पत्तापत्ते य जीविया पुप्फा अणेगजीवा फला एगट्ठिया सेत्तं एगट्ठिया ॥

अथ के ते एकास्थिका अनेकविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । निंबबे इत्यादि गाथात्रयम् तत्र निम्बाम्रजम्बूकोशम्बाः प्रतीता' । शाल. सर्जः । (अंकोल्लत्ति) अंकोठ प्राकृतत्वात्सूत्रे च ठकारस्य ल्लादेश. अंकोट्टेल्लुइति वचनात् । पीलु प्रतीत' शेलुः श्लेष्मान्तकः, शल्लकी गजप्रिया मोचिकीमालकौ देशविशेषप्रतीतौ । बकुल; केसरः पलाश. किंशुकः करञ्जो नक्तमाल' पुत्रजीवको देशविशेषप्रतिबद्धः अरिष्टः पिचुमन्द' बिभीतकोऽक्ष' हरीतक कोङ्कणदेशप्रसिद्ध' कषायबहुलः भल्लातको यस्य भिल्लातकाभिधानानि फलानि लोकप्रसिद्धानि । उम्बेभरिका क्षीरिणी । धातकी प्रियालिपूतिकरञ्जश्लक्ष्णशिंशपाशनपुन्नागनागश्रीपर्ण्यशोका लोकप्रतीता' (जे यावन्नेतहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवम्प्रकारास्तत्तद्देशविशेषभाविनस्ते सर्वेऽप्येकास्थिका वेदितव्या' एतेषामेकास्थिकानां मूलान्यप्यसङ्ख्येयप्रत्येकशरीरजीवात्मकानि एव । कन्दा अपि स्कन्धा अपि त्वचोऽपि शाखा अपि प्रवाला अपि प्रत्येकमसंख्येयप्रत्येकशरीरजीविका' । तत्र मूलानि यानि कन्दस्याधस्तात्कूमेरन्त. प्रसरन्ति तेषामुपरि कन्दास्ते च लोकप्रतीताः स्कन्धा' स्थूणाः त्वच त्वच्य' शालाः शाखाः प्रवाला. पल्लवाङ्कुरा. ४ (पत्तापत्तेय जीवयंति) पत्राणि प्रत्येकजीवकानि एकैक पत्रमेकैकेन जीवेनाधिष्ठितामीति भावः । पुष्पाण्यनेकजीवानि प्राय प्रतिपुष्प प्रतिपत्र जीवभावात्फलान्येकास्थिकानि उपसंहारमाह (सेत्त एगट्ठिया) सुगमम । प्रज्ञा०१ पद ।

अह भंते अत्थिया तंदुयवोरकविट्ठअंबाडगमाउलिंगविल्लआमलगफणसदालिमअंसोट्ठअवरचरुणगोअणादिरुक्ख-पिप्पलिसतरपिल्लकखुकाउंबरियकुच्छुंभरियदेवदारुतिलगलउच्छत्तोहसरीससत्तवण्णदधिवण्णलोध्दववचंदणज्जुणणीवकुमीगकलंबाणं । एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति तेणं भंते ! एवं एत्थवि मूलादीया दस उद्देसगा तालवग्गसरिसा णेयव्वा जाव वीयं । भ० २२ श० २ उ० ।

एगट्ठियदोस-एकार्थिकदोष- पुं० शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिकशब्द इत्येवरूपे दोषसामान्यापेक्षया दोषविशेषे, स च स्थाना' क्ले यथा " दोसे एगट्ठिए इय ' अथवा दोषशब्द इहापि सम्बध्यते । ततश्चाय न्यायो भवति शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिक शब्दो नाम यो दोष इति । अयमपि च दोषसामान्यापेक्षया विशेष इति । स्था० १० ठा० ।

एगट्ठियपय एकार्थिकपद- न० सिद्धश्रेणिकपरिकर्म्मिकश्रुतविशेषे, स० । (तद्वक्तव्यता सिद्धसेणियपरिकम्मिय शब्दे)

एगट्ठियाणुजोग एकार्थिकानुयोग-पुं० एकश्चासावर्थश्चाभिधेयो जीवादि. स येषामस्ति ते एकार्थिका' शब्दास्तैरनुयोगस्तत्कथनमित्यर्थः । एकार्थिककथनरूपे कथनरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, एकार्थिकानुयोगो यथा जीवद्रव्य प्रतिप्राणिभूत' सत्व इति एकार्थिकानां वाऽनुयोगो यथा जीवनात्प्राणधारणाज्जीवः प्राणानामुच्छ्वासादीनामस्तित्वात्प्राणी सर्वदा भवनाद् भूतः सदा सत्वात्सत्व इत्यादि । स्था० १० ठा० ।

एगणाम [न्] एकनामन्- न० नामोपक्रमभेदे,

से किं तं एगणामे ? नामाणि जाणि काणि अदव्वाणं गुणाणं पज्जवाणं च तेसिं आगमनिहसेनातियक्खे आसिणासे तेणे एगनामे ।

इह येन केनचिन्नाम्ना एकेनापि सता विवक्षितपदार्था अभिधातु शक्यन्ते तदेकनामोच्यते इति । अनु० । एक नामयति क्षपयतीत्येकनाम. । एकस्य क्षपके, त्रि०

जे एगणामे से बहुणामे जे बहुणामे से एगणामे इति यो हि प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायाधिरूढकरण्डक. एकमनन्तानुबन्धिन क्रोध नामयति क्षपयति स बहून मानादीन्नाशयति क्षपयत्यप्रत्याख्यानादीन् वा स्वभेदान्नामयति मोहनीय चैक यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति यो वा बहून् स्थितिविशेषान्नामयति सोऽनन्तानुबन्धिनमेक नामयति मोहनीयं वात अस्यैकोनसप्ततिभिर्मोहनीयकोटाकोटीभिः क्षयमुपगताभिर्ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायाणामेकोनत्रिंशद्भिर्नामगोत्रयोरेकोनविंशतिभि' शेषकोटाकोट्यपि देशोनया मोहनीयक्षपणार्हो भवति नान्यदेत्यतोऽपदिश्यते यो बहु नाम स एव परमार्थत एकनाम इति क्षपकोऽभिधीयते उपशामको वा उपशमश्रेण्याश्रयेणैकबहूपशमतावदेकोपशमता वा वाच्येति । आचा० १ श्रु०३ अ० ।

एगणासा–एकनासा–स्त्री० पश्चिमरुचकवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां पश्चिमदिक्कुमार्य्याम्, आव० १ अ० । आ० म० प्र० । स्था० । द्वा० । आ०चू० ।

एगणिक्खमण—एकनिष्क्रमण—त्रि० एकनिष्क्रमणोपेते, तथा चावश्यके द्वादशावर्त्ते वन्दनकमाधिकृत्य " एगनिक्खमणं चेव " एकनिष्क्रमणमावाश्यिकया निर्गच्छत इति–आव० ३ अ० । एकनिष्क्रमणमवग्रहादावावश्यिक्या निर्गच्छतो द्वितीयवेलायां ह्यवग्रहान्न निर्गच्छति पादपतित एव सूत्रं समापयतीति । सम. १ स० ।

एगणिसिज्जा–एकनिषद्या–स्त्री० एकाशनपरिग्रहे, " से भगवं महावीरे एगदिवसेण एकनिसिज्जाए चउप्पन्नाइं वागरणाइं वागरित्था " सम० ।

एगत [य] र–एकतर–त्रि० एक उत्तरद्वयोर्मध्ये जातिगुणक्रियादिभिर्निर्धार्य्ये एकस्मिन्, एकतरो ब्राह्मणःएकतर. शूद्रः एकतरो नील एकतरः शुक्ल इत्यादि । वाच० । "एत्तो एकतरमवि" एकतरमपि अन्यतरदपीति, । विपा० ७ अ० । " एगतरे अन्नतरे अभिन्नाय " आचा० १ श्रु० ६अ० २उ० । " अब्भुज्जियमेगयर " अभ्युद्यत प्रयतमेकतर द्वयोरन्यतरमिति पचा० । १८ विव० ।

एगतल्लिय–एकतालिक–त्रि० एकतलोपेते, [तलिगत्ति] उपानहस्ताश्च एकतलिकास्तदभावे यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्त इति । प्रव० ८३ द्वा० ।

एगता(या)-एकता–स्त्री० एकस्वभावः एक-तल्-एकत्वे, वाच० ।

एगताणया–एकतानता–स्त्री० विसदृशपरिहारेण सदृशपरिणामधाराबन्धे, "चित्तस्य धारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता" द्वा०२४द्वा. अभेदपरिणतौ, अष्ट० ।

एगत्त–एकत्व–न० एकस्य भावे त्व-एकत्वसङ्ख्यायाम्, साम्ये, श्रेष्ठत्वे, वाच० । अभेदे च । स्था० ४ ठा० । आव० । एकरूपत्वे, स्था०७ ठा० । एकवचने च । स्था०१० ठा० [एगत्ति] एकत्वमेकवचन तदनुयोगो यथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचन सम्यग्दर्शनादीनां समुदितानामेवैकमोक्षमार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वे त्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थमिति । स्था०१० ठा० । " दो सा एगत्तमावन्ना " नि० चू० २० उ० ॥

एगत्तगय–एकत्वगत–त्रि० एकत्वभावनाभावितान्तःकरणे, " णिक्खते एगत्तगए " आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

एगत्तभावना–एकत्वभावना–स्त्री० भावनाभेदे, तत्स्वरूपं यथा

अण्णो देहातो अहं–नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं ।
सो किं भिसहारिक्कं, न कुणइ देहस्स भंगे वि ॥

अहं देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्मणां कुर्वत शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्ध स दिव्यादिषुउपसर्गवेलाया देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि न किंचिदपि [आहरिक्कमिति] उच्छ्वास न करोति । गता एकत्वभावाना । व्य० प्र० १ उ० । अथैकत्वभावना ' उत्पद्यते जन्तुरिहैक एव, विपद्यते चैकक एव दुःखी । कर्म्मार्जयत्येकक एव चित्र-मासेवते तत्फलमेक एव १ यज्जीवेन धन स्वय बहुविधैः कष्टैरिहोपार्ज्यते, तत्सभूय कलत्रमित्रतनयैर्भ्रात्रादिभिर्भुज्यते । तत्तत्कर्म्मवशाच्च नारकनरस्वर्वासितिर्यग्भवे-ष्वेकः सैष सुदु सहानि सहते दुःखान्यसङ्ख्यान्यहो ॥ २ ॥ जीवो यस्य कृते भ्रमत्यनुदिशं दैन्यं समालम्बते, धर्म्माद्भ्रस्यति वञ्चयत्यतिहितान्न्यायादपक्रामति । देह सोऽपि सहात्मना न पदमप्येक परस्मिन् भवे, गच्छत्यस्य तत कथ वदत भो. साहाय्यमाधास्यति ॥ ३ ॥ स्वार्थैकनिष्ठ स्वजनं स्वदेह-मुख्यं ततः सर्वमवेत्य सम्यक् । सर्वस्य कल्याणनिमित्तमेकं, धर्मं सहाय विदधीत धीमान् ॥ ४ ॥ प्रव०६७

अस्याः स्वरूपमुदाहरणञ्च यथा—

जइ वि य पुव्वं ममत्तं, छिन्नं साहूहिं दारमाईसु ।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा ॥

यद्यपि च पूर्वं गृहवासकालभावि ममत्वं साधुभिर्दाराकलत्रं तेष्वादिग्रहणात्पुत्रादिषु छिन्नमेव तथाप्याचार्यादिविषय ममत्व पश्चात्प्रव्रज्यापर्यायकाले सजायते । तच्च कथं परिहापयितव्यम् । उच्यते ।

दिट्ठिनिवायालावे, अ परोप्परकारिय सपरिपुच्छं ।
परिहासमिहो य कहा, पुव्वपवित्ता परिहवेइ ॥

गुर्वादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः सस्निग्धावलोकनानि ये च तैः सहालापास्तान् तथा परस्परोपकारितां मिथो भक्तपानदानग्रहणाद्युपकारं प्रतिपृच्छं सूत्रार्थादिप्रतिपृच्छया सहित परिहासं हास्यं मिथः कथाश्च परस्परवार्ताः पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयति । ततश्च ।

तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु ।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा ॥

सहाय संघाटिकसाधुस्तद्विषये आदिशब्दादाचार्यादिविषये च बाह्यप्रेमाणि पूर्वं तनुकीकृते परिहापिते सति तत. पश्चादाहारे उपधौ देहे च न सज्जति न ममत्व करोति । ततः किं भवतीत्याह ।

पुव्व छिन्नममत्तो, उत्तरकालं विवज्जमाणे वि ।
सामावियइयरे वा, खुज्जइ दट्ठुं न संगइ ए ॥

पूर्वं छिन्नममत्वाः सर्वेऽपि जीवा असकृदनन्तशो वा सर्वजन्तूनां स्वजनभावेन शत्रुभावेन च सजाता अतः कोऽत्र स्वजन को वा पर इति भावनया त्रुटितप्रेमबन्ध सन्नुत्तरकाल जिनकल्पप्रतिपत्त्यनन्तरं व्यापाद्यमानानपि सङ्गति ॥ कान् स्वजनान् स्वजातिकानितरान् वा वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्ट्वा न क्षुभ्यति ध्यानाच्च चलति । अत्रदृष्टान्तमाह ।

पुप्फपुर पुप्फकेऊ, पुप्फवई देविजुअलयं पसवे ।
पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामियं तस्स ।
सह वड्ढियाण रागो, रायत्त चेव पुप्फचूलस्स ।
घरजामातुदगाणं, मिलइ निसि केवल तेणं ।
पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च एगत्ते ।
वीमंसा उवसग्गे, विडेहि समुहिं च कंदयणा ।

पुप्फपुर नयर तत्थ पुप्फकेऊ राया पुप्फवई देवी सा अन्नया जुयलं पसूया पुप्फचूलो दारओ पुप्फचूला दारिया । ताणि दोणि सह वड्ढियाणि परोप्परं अईव अणुरत्ताणि । अन्नया पुप्फचूलो राया पव्वइओ अणुरागेणं पुप्फचूलावि भगिणी पव्वइया । सो य पुप्फचूलो अन्नया जिनकप्प पडिवज्जिउकामो एगत्तभावणाए अप्पाण भावेइ । इओ य एगेण देवेणं वीमंसणानिमित्त पुप्फचूलाए अज्जाए रूव विउव्विय छुत्ता धरिसिउं पवत्ता । पुप्फचूलो य अणगारो तेण ओगासेण बोलेइ ताहे सा पुप्फचूला अज्जा जेट्ठज्जे सरण भवाहित्ति वाहइ सो य भगवं बुच्छिन्नपेमबन्धणो 'एगो हं नत्थि मे को वि नाहमन्नस्स कस्सई' इच्चाइ एगत्तभावण भावितो गओ सठण । एवं एगत्तभावणाए अप्पाण भावेयव्वोत्ति । गाथाक्षरयोजना त्वेवं पुप्फपुरे पुप्फकेतू राजा पुप्फवती देवी युगलं प्रसूते वर्त्तमाननिर्देशस्तत्कालविवक्षया पुत्रं च

पुष्पचूलं दुहितरं च तस्य सनामिकां समानाभिधानां तयोश्च सदृग्वर्द्धितयोरनुरागो राजत्वं चैव पुष्पचूलस्य पुष्पचूलायाश्च भूत्या मात्रे दानम् । सा च तेन प्रव्रज्या सम केवलं निशि रात्रौ मिनाति, प्रमज्या च नरेन्द्रपुष्पचूलस्य तदनुरागेणानुप्रव्रजन च पुष्पचूलाया । ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावयितु लग्नो विमर्शपरीक्षां तदर्थं देवेनोपसर्गे क्रियमाणे विर्द. मंजुर्गी पुष्पचूर्या रूपा धर्पण कर्तुमारब्धम् । तत कन्दना आर्य ! शरण शरणमिति । अत्रोपसंहारमाह ।

एगत्तभावणाए, न कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानो य. कामभोगेषु शब्दादिषु गणे गच्छे शरीरे वा न सज्जति न सङ्ग करोति किंतु वैराग्यगत सन् स्पृशत्याराधयति अनुत्तर करणं प्रधानयोगसाधन जिनकल्पपरिकर्मेति । गता एकत्वभावना । एकत्वभावनया चात्मान भावयन् गुर्वादिषु दर्शनालापादिपूर्व परिहरति । ततो बाह्यममत्वे मूलत एव छिन्ने देहोपध्यादिभ्योऽप्यात्मान भिन्नमेव लोकयन् सर्वथा तेषु निरभिष्वङ्गो भवति—ध० ४ अधि० । तथाचाह ।

एगंतमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं ।
एस प्पमोक्खो अमुसे वरे वि. अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥१२॥

एकत्वमसहायत्वमभिप्रार्थयेदेकत्वाध्यवसायी स्यात् । नवाहि जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्त्राणसमर्थ सहाय. स्यात् । तथा चोक्तं " एको मे सासओ अप्पा णाणदंसणसंजुओ ॥ सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा " इत्यादिकामेकत्वभावनां भावयेदेवमनयैकत्वभावनया प्रकर्षेण मोक्ष प्रमोक्षो विप्रमुक्तसङ्गता न मृषा अलीकमेतद्भवतीत्येवं पश्य । एष चैकत्वभावनाभिप्राय. प्रमोक्षो वर्त्तते अमृषारूपः सत्यश्चायमेव । तथा वरोऽपि प्रधानोऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा यदिवा तपस्वी तपोनिष्टप्तदेहोऽक्रोधन उपलक्षणार्थत्वादमानो निर्मायो निर्लोभ. सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्षोऽमृषासत्यो वरः प्रधानश्च वर्तत इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।
भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥ १२ ॥

[एगेचरे इत्यादि] एकोऽसहायो द्रव्यत एकल्लविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत् । तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात् । तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् । एव शयनेऽप्येकाक्येव समाहितो धर्मादिध्यानयुक्त स्यात् भवेत् । एतदुक्त भवति । सर्वास्वप्यवस्थानासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । तथा भिक्षणशीलो भिक्षु. । उपधान तपस्तत्र वीर्यं यस्य स उपधानवीर्यः । तपस्यनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थ । तथा वाग्गुप्तः सुपर्यालोचिताभिधायी अध्यात्म मनस्तेन संवृतो भिक्षुर्भवेदिति ॥१२॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

एगत्तवियक्क—एकत्ववितर्क— त्रि० एकत्वेनाभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनयेत्यर्थः वितर्क. पूर्वगतः श्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्ववितर्कम् । शुक्लध्यानभेदे, स्था०४ ठा० । भ० । आव० । [तद्वक्तव्यता सुक्कज्झाण शब्दे]

एगत्ताणुओग—एकत्वानुयोग—पु० एकत्वमेकवचनन्तदनुयोग एकत्वानुयोगः । श्रुतवागनुयोगभेदे, स च यथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचन सम्यग्दर्शनादीनां समुदितानामेवैकमोक्षमार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वे—त्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थमिति । स्था० १० ठा० ।

एगत्तिय—एकत्विक—त्रि० एकनरकावाथिते, एए एगत्तया सत्त दउगा भवति ॥ (एगत्तियत्ति) एकात्विका एका नारकावाथिता इति । भ० १२ श० ४ उ० ।

एगत्तीकरण—एकत्वीकरण—न० अनेकावलम्बनत्वस्यैकावलम्बनत्वकरणे, " मणसा एगत्तीकरणेण " अनेकत्वम्यानेकावलम्बनत्वस्य एकत्वकरणमेकावलम्बनत्वकरणमेकत्वीकरण तेनेति भ० २ श० ५ उ० ।

एगत्तीगय—एकत्वगत—त्रि० संघातमापन्ने, "ताहे से पएसा एगत्तीगया भवति" एकत्वगताः संघातमापन्ना भवन्तीति । भ० ८ श० ९ उ० ।

एगत्तीभावकरण—एकत्वीभावकरण—न० अनेकस्य सत एकतालक्षणभावकरणे, भ० ८ श०९ उ० । एकाग्रतायाम्, "मणसा एगत्तीभावकरणेण " अनेकत्वस्य एकत्वस्य भवनमेकत्वीभावस्तस्य यत्करणं तत्तथा तेन एकत्वीभावकरणेन आत्मन इति गम्यते मनस एकाग्रतयेत्यर्थ । औप० । तथा च भगवत्याम् योगप्रतिसंलीनतायास्तृतीयभेदमधिकृत्योक्तम् ॥ " मणस्स एगत्तीभावकरणं " विशिष्टैकाग्रत्वेन एकता तद्रूपस्य भावस्य करणमेकताभावकरणम् । आत्मना वा सहैकता निरालम्बनत्व तद्रूपो भावस्तस्य करण यत्तत्तथा । वाक्प्रतिसंलीनताया अपि तृतीय भेदमधिकृत्य तत्रैवोक्तम् "वइए वा एगत्तीभावकरण" ॥ वाचो वा विशिष्टैकाग्रत्वेन एकतारूपभावकरणमिति । भ० २५ श०७ उ० ।

एगत्थ—एकत्र—अव्य० एक० त्रल्० एकस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । "इय एगत्थ ठोग मिच्छिततित" नि० चू० १ उ० ।

एगदंडिन्—एकदण्डिन्—पु० एक' केवल. शिखायज्ञोपवीतादिशून्यो वा दण्डोऽस्यास्तीति इन् । "यदा दृढाऽध्यवसित पर ब्रह्म सनातनम् । तदैकदण्ड संगृह्य, सोपवीतां शिखां त्यजेत् ' इत्युक्तलक्षणे (वाच०) परतीर्थिके परिव्राजकभेदे. सन्यासी तावच्चतुर्विध. कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसभेदात् । तत्र कुटीचकबहूदकयोस्त्रिदण्डधारणम् । हंसस्यैकदण्डधारणम् । परमहंसस्य न दण्डधारणमिति भेद' । वाच० । एकदण्डिनका. पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यामिहितवन्त ।सूत्र०१श्रु०१अ०३उ

एगदंतसेढि—एकदन्तश्रेणि—त्रि० एकदन्तस्य श्रेणिः पङ्क्तिर्यस्य स तथा । औप० । एकाकारदन्तपङ्क्तौ, जी० ३ प्रति० । "एगदंतसेढी विव अणेगदंतो " एकस्य दन्तस्य श्रेणि' पङ्क्तिर्यस्य स तथा स इव परस्परानुपलक्ष्यमाणदन्तविभागत्वात् अनेके दन्ता यस्य स तथा । औप० । एको दन्तो यस्या' सा एकदन्ता सा श्रेणिर्येषा ते तथा त इव दन्तानामपि घनत्वादेकदन्तेव दन्तश्रेणिस्तेषामिति भाव । अनेकदन्तो द्वात्रिंशद्दन्त इति भावः । प्रश्न० ४ द्वा० । त० । जी० ।

एगदा [या]—एकदा— अव्य० कदाचिदित्यर्थे, " एगया समियस्स " एकदा कदाचित् गुणसमितस्य गुणयुक्तस्येति आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । " इत्थिओ एकता णिमतति " सूत्र०१श्रु० ४ अ० "सजणेहिं तस्स पुच्छिंसु एगचरा वि एगदा" आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० ।

एगदिट्ठि—एकदृष्टि—स्त्री० एका अनिमिषा अनन्यविषयत्वात् दृष्टिः । अनन्यविषयदर्शने, बहु० तथादृष्टियुक्ते, त्रि० वाच० । " अणिमिसणयणेगदिट्ठीए " एकदृष्टिक एकपुद्गलगतदृष्टिरिति

पंचा० १८ विव० । काणे च । त्रि० । काणत्वञ्च चक्षुःशून्यैकगोलकवत्त्वमन्धत्वं चक्षुरिन्द्रियशून्यत्वमिति भेदः। काके,पुं०। वाच०।

एगदुक्ख-एकदुःख-त्रि० एकदुःखोपेते, " एगे दुक्खे जीवाणं " एकमेवान्तिमभवग्रहणसभव दुःखं यस्य स एकदुःख इति । स्था० १ ठा० ।

एगपएसता-एकप्रदेशता-स्त्री० एकप्रदेशस्वभावे, "एकप्रदेशता चेहाखण्डस्कन्धनिवासता एकप्रदेशस्वभाव एकप्रदेशता । सा चेहैकत्वपरिणतिः । असंख्येयाकारबन्धस्य संनिवेशस्तस्य निवासता भाजनत्वं ज्ञातव्यम् । निष्कर्षस्त्वयम् असंख्येयतया आकृतीनां सन्निवेशः परिणमनव्यवहारः तस्य भाजनमाधाराधेयत्वमेकप्रदेशतोच्यते । द्रव्य० १२ अध्या० ।

एगपएसोगाढ-एकप्रदेशावगाढ-त्रि० एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढम् । कर्म० । एकप्रदेशव्यवस्थिते, "एगपएसोगाढ परमोही लहइ कम्मगसरीरं " प्रकृष्टो देशः प्रदेशः एकश्चासौ प्रदेशश्च एकप्रदेशः तस्मिन्नवगाढं व्यवस्थितमेकप्रदेशावगाढं परमाणुद्व्यणुकादि द्रव्यमिति । आ० म० प्र० । स्था० ।

एगपक्ख- एकपक्ष -पुं० एकः पक्षो यस्य । असहाये, कर्म० । एकत्रपक्षे, वाच० । एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षाश्रिते, एकान्तिके च । "इमं दुपक्खं इममेगपक्खं " इदमस्मदभ्युपगत दर्शनमेक पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः । तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम् । इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात् तथेदमविज्ञोपचित परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नादिकञ्चेत्यक्रियावादिनश्चार्वाकबौद्धादयः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

एगपत्तय---एकपत्रक-त्रि० एकं पत्रं यत्र तदेकपत्रकम् । अथवैकं च तत्पत्रं चैकपत्रं तदेवैकपत्रकम् । एकपत्रोपेते, एकपत्रे, न० । "उप्पले णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे" एकपत्रकं चेह किशलावस्थाया उपरि द्रष्टव्यम् । भ० ११ श० १ उ० ।

एगपरिरय---एकपरिरय---त्रि० एकपर्याये, " एगपरिरयति वा एगपज्जायति वा एगणाममेवं ति वा एगट्ठा तं च जहा कसलति दव्वस्स एगेव णाम भवति णो चितियति"आचू०१अ०।

एगपिंमिय---एकपिण्डित--- त्रि० एकका: सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिताः । एकवर्गेण पिण्डिते, " एगदुगपिंमियाणंपि " एक द्विकपिण्डितानामपि पञ्चाप्येकका सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिता । अथवा द्विकेन वर्गद्वयेन एक एकाकी एकश्चतुर्वर्गः । अथवा एको द्विवर्गोऽपरस्त्रिवर्ग इत्येवरूपेण पिण्डिता एकद्विकपिण्डितास्तेषामेकद्विकपिण्डितानामपीति।'एगदुगपिंमिया वि हु' एकका पिण्डिता एकपिण्डिता द्विपिण्डिता द्विकेन वर्गद्वयेन पिण्डिता अपिशब्दात् त्रिकपिण्डिताश्चतुष्कपिण्डिताश्चेति । व्य० प्र० १ उ० ।

एगपुड-एकपुट-त्रि० एकतले, नि० चू० २ उ० ।

एगप्प-एकात्मन्-पुं० एकस्मिन्नात्मनि, । एक आत्मा स्वरूपं स्वभावो वा यस्याः । एकस्वरूपे, एकस्वभावे, त्रि० स्त्रियां टाप् वाच० । चेतनाचेतनं सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवादे, तस्य च सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमाध्ययनप्रथमोद्देशके द्वितीयोर्थाधिकारः । तथोद्देशार्थाधिकारमधिकृत्य निर्युक्तिकृत् "पंचमहभूय एकप्पए य "चेतनाचेतन सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवाद प्रतिपादित इत्यर्थाधिकारो द्वितीय इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । (आत्माद्वैतवादस्य निरूपणनिराकरणे एगावादि शब्दे)

एगप्पवाइ (न्)---एकात्मवादिन्---आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

एगप्पवाय-एकात्मवाद-पुं०आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र०१श्रु०१अ० ।

एगप्पमुह---एकप्रमुख--- पुं० एको मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात्संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात् तत्र प्रगतं मुखं यस्य स तथा । मोक्षे, तदुपाये वा दत्तदृष्टौ, "णारमेकचरणं सव्वए एकप्पमुहे" आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

एगभत्त० एकभक्त०-न० एकं भक्तं भोजनं यत्र । एकाशनके, " तह एगभत्तं च" एकभक्तं च एकाशनकं चेति । पंचा० १२ विव० । एकस्मिन् भक्तः । नितान्तभक्ते, त्रि० वाच० ।

एगभत्तट्ठ--एकभक्तार्थ--पुं० एकयोग्ये भक्ते,"दसुवक्खडियम्मि एगभत्तट्ठो " यावद्दशानां योग्यमुपस्कृतं तावदेकभक्तार्थो ग्राह्यः । एकयोग्यं तत्र भक्तं ग्राह्यमिति भावः । व्य० १ उ० ।

एगभविय--एकभविक--पुं० य एकेन भवेन गतेनानन्तरभव एवोत्पत्स्यते तस्मिन् । सूत्रकृताङ्गे द्रव्यपौण्डरीकमधिकृत्य " एगभविए य बद्धाउए य "॥ एकेन भवेन गतेनानन्तरभवे एव पौण्डरीकेषूत्पत्स्यते स एकभाविक इति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । द्रव्यार्द्रकमधिकृत्यापि "एगभावियबद्धाउया "एकेन भवेन यो जीव स्वर्गादेरागत्यार्द्रककुमारत्वेनोत्पद्यते इति।सूत्र०१श्रु० ६ अ० एगभविओ जो अणतर उव्वट्टित्ता चितिए भवे भिक्खू होहिति " नि० चू० १ उ० ।

एगभाव--एकभाव-- पुं० एको भावः । अनन्यविषये रागे, एकस्वभावे, एकाशये, अभिन्नत्वे, अभेदे, तुल्यभावके, त्रि० वाच० । एकस्वभावे, " तओ पच्छा एगभावे एगभूते सिया " एको भावः सांसारिकसुखविपर्ययात् स्वाभाविकसुखरूपो यस्यासावेकभावोऽत एव च एकभूत एकत्वं प्राप्त इति-भ० १४ श० ४ उ० ।

एगभूय---एकभूत---त्रि० एकत्वं प्राप्ते, भ० १४ श० १ उ० । एकस्मिन् भूते एकासक्ते च । वाच० । अनन्यतया व्यवस्थिते, "एतेगे दुक्खे जीवाणं एगभूते " एकभूतमनन्यतया व्यवस्थिते आणिषु न सांख्यानामिव बाह्यमिति । स्था० १ ठा० । एक इव एकभूतः । एकतुल्ये, "एगे दुक्खे जीवाणं" एगभूत इवात्मोपम इत्यर्थ इति । स्था०१० ठा० ।

एगमंव-एकमडम्ब---न० निवेशविशेषे, "कारणमेगमंवे" कारणमशिवादिदुष्कणमधिकृत्य कोऽपि साधुरेकाकी जातः कथमप्येकमडम्बे गतः एकमडम्ब नाम यस्य निवेशस्य सर्वासु दिक्षु च नास्ति कोऽप्यन्यो ग्रामो नगरं वा तस्मिन्नेकमडम्बे गत इति । व्य० ३ उ० ।

एगमण--एकमनस्--त्रि० एकाग्रचित्ते, " जाणइ सुहमेगमणो " एकमना एकाग्रचित्त इति । आव० ५ अ० । " जं त कुयति एगमणा" एकाग्रमनसस्सन्त इत्यर्थः" संथा० ।

एगमेग--एकमेक--एकैक-इकिक एकैक-त्रि० सुबन्तस्यैकस्य वीप्सार्थे द्वित्वम् "एकं बहु व्रीहिवत्" पा.इति द्विरुक्त एकशब्दो बहुव्रीहिवत् तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ । वाच० । वीप्स्यात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा" ८।३।१। इति सूत्रेण वीप्सार्थात्पदात्परस्य स्यादेः स्थाने स्वरादौ वीप्सार्थे पदे परे मो वा भवति । एकमेकम् । प्रा० । प्रत्येकपदार्थे, वाच० । "ता एएणं दुवे सूरिया तीसाए मुहुत्तेहिं एगमेगं अद्धमण्डलं चरत." इति च० १ पाहु०

एक्केक्कमसजुत्त भसट्ट एगमेगस्स" एकैकेन सयुक्तमेकः साधुः एकेन सह सयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकमिति। ओघ०। "ए-धमिक्किके आलावगा भाणियव्वा" स्था० २ ठा०।

एगमेक्कपक्ख–एकैकपक्ष–पुं० उभयगणे, "एक्कमेक्कपक्खो-नाम जो उभयगणो भवतीति"। नि० चू० १५ उ०।

एगरस–एकरस–त्रि० एक शब्दितोयस्तिक्तादिरसान्यतमो रसो ऽस्येत्येकरसः। तिक्तादिरसान्यतमरसेनोपेते, उत्त० १ अ०। ए-कोऽनन्यविषयको रस. राग अभिप्रायः एकोऽभिन्न स्वभावो वा यस्य। एकरागे, एकाभिप्राये, अभिन्नस्वभावे च। एको रसो यत्र। एकरागविषये, वाच०।

एगराइया–एकरात्रिकी–स्त्री० एका रात्रि प्रमाणमस्या इत्ये-करात्रिकी। सर्वगत्रिक्यां द्वादश्यां भिक्षुप्रतिमायाम्, । "एमि मगा एगरातीय" पञ्चा० १० विव०। द्वादशी एकरात्रमानेति। ठा० १ अ०। अस्या. स्वरूप यथा। "एका राइदिय भिक्खुप-डिम पडिवन्ना" (एगराइयति) एका रात्रि' प्रमाणमस्या इ-त्येकरात्रिकी नाम। अस्या चाष्टमभक्तिको ग्रामादिर्वहिरीषत्प-ननगात्रोऽनिमिषनयन शुष्कपुद्गलनिरुद्धदृष्टिर्जिनमुद्रास्थापित-पादः प्रलम्बितभुजस्तिष्ठतीति विशिष्टसंहननादियुक्ता एव नेता प्रतिपद्यन्ते। आह च "पडिवज्जइ इयाओ सघयण-धिइजुओ महासत्तो। पडिमाओ भावियप्पा सम्म गुरुणा अणु-न्नाओ" इत्यादि। औप०। प्र०। सम०। तथाचावश्यकसूत्रम्।

एगेव एगराइअ, अट्ठमभत्तेण ठाणयाहिरिओ।
ईसीपब्भारगए. अणिमिसनयणेगदिट्ठीए।

सा हट्टु दो वि पाए, वग्घारिअपाणिठायए ठाणं।
वग्घारिलंविअभुओ, सेसदसासुं जहा भणिया। आव० ४ अ०।

एगरातिय भिक्खुपडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्च वोसट्ठकाएणं जाव अहियासेति। कप्पति से अट्ठमेण भत्तेण अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिए वा ईसी पब्भारगतेण एग समु मूलगनाए दिट्ठीए अणिमिसनयणे अहापणिहितेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए सा-हट्टु वग्घारितपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए नवर उच्चकुडुयस्स घाउग-स माइयस्स वा मेमातियस्स वा ठाण ठाइत्तए। तत्थ से दि-व्वमाणुस्सतिरिक्खाए जोणिआ जाव आधायिध मेव ठाण ठाइत्त-ए एगराइयं ण भिक्खुपडिम सम अणुपालेमाणस्स अणगार-स्स इमे त उठाणा अहिताए असुभाए अखमाए अणिस्सेसा-ए अणाणुगामियत्ताए भवति। तजधा उम्मय वा लभेज्जा दीह-कालिअ वा रोगातक पाउणेज्जा केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा एगरातिय ए भिक्खुपडिम सम्म अणुपालेमाणस्स अ णगारस्स इमे तओ ठाणाहिताए जाव अणुगामियत्ताए भवति तजहा ओहिणाणे वा समुप्पज्जेज्जा मणपज्जवणाणे वा सेस-मुप्पज्जेज्जा केवलणाणे वा से समुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा। एव खलु एसा एगरातिदिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं आधाकप्प अहामग्ग अहातच्च सम्म काएणं फासिया पालिता सोहिता तीरिता किट्टिता आराहिता आणाए अणुपालिया वि भवति। आ० चू० ४ अ०।

एगराय–एकरात्र– न० एका चासौ रात्रिश्चेत्येकरात्रम्। एकस्यां रात्रौ, "एगराइं वा दुराइं वा वसमाणे नाइक्कमइ"॥ स्था० ५ ठा० "गामे गामे य एगराय" ग्रामे ग्रामे चैकरात्रि यावदिति। प्रश्न० ५ द्वा०। एका रात्रिर्यत्र तदेकरात्रम्। एकरा-त्रोपेते,त्रि०। "किमेगराइं करिस्सइ" ॥ जिनकल्पापेक्षया एक-रात्रिर्यत्र तदेकरात्रमुपाश्रयं वसेत। जिनकल्पो हि एकरात्रमु-पाश्रयं युक्तमयुक्तं वा सेवेतेति। उत्त० २ अ०॥

एगरायवासि (न्)–एकरात्रवासिन्० पुं० अहोरात्रमेव वस्तु शीले, एकरात्र ग्रामादौ वस्तुशीले च। "णाए एगरायवासी"॥ ज्ञात. प्रतिमाप्रतिपन्नोऽयमित्येव जनेनावसित. सन् एकरात्र-वासी एकम ग्रामादावहोरात्रमेव वस्तु शील. । तथा एक वा एकरात्रं द्विक वा रात्रिरूप ग्रामादौ वस्तु शीलमिति गम्यमिति। पञ्चा० १८ ठा०।

एगरूव०–एकरूप–त्रि० एकं समानं रूपमस्य। तुल्यरूपे,वाच० एकविधाकारे, "पभू एगवण्ण एगरूव विउव्वित्तए" एकरूप एकविधाकार स्वशरीरादीति भ० ६ श० ९ उ०। कर्म०। एकस्मिन् रूपे, वाच०।

एगल्लमि (न्) एकल्लम्भिन् त्रि० एकलाभवति, तथाचाह "रज्जुमा य अवस्सा,एगालभी पहाणाओ। त एगं न विवत्ती, अविसेसे देइ जेगुरुणं तु। अहवा वि एगदव्वं, लभति जेते देइ उ गुरूए" व्य० प्र० ३ उ० (व्याख्या आयरिय शब्दे)

एगल्लंभिय–एकलाभिक–त्रि० एकस्य लाभेन चरति, "एगल्लभिए" एकलाभिकात् अथवा य एक प्रधान शिष्यमा-त्मना लभते गृह्णाति शेषास्त्वाचार्यस्य समर्पयति स एकलाभे-न चरतीत्येकलाभिक' । व्य० प्र० ३ उ०।

एगल्ल–एक–त्रि० "लो नवैकाद्वा ८।२।१६४। इति सूत्रेण वा ल्ल। सेवादित्वात् कस्य द्वित्वे एकल्लो। एक्को एको एओ। प्रा०। एकाकिनि, स्था० ७ ठा०।

एगल्लविहार–एकविहार–पुं० एकाकिनो विचरणे, स्था० ७ ठा०। एकाकिविहारनिषेधस्तत्र दोषाश्च। तत्र एकाकिविहारे दोषा यथा।

एगागियस्स दोसा, इत्थीसाणे तहेव पडणीए।
भिक्खविसोहि महव्वय, तम्हा सबितिज्जए गमणं। ३१।
गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ।
एत्तो तइयविहारो, णाणुण्णाओ जिणवरेहिं॥ ३२॥

(एगागियस्सत्ति) एकाकिनोऽसहायस्य विहरत सतो दो-षा दूषणानि भवन्ति तद्यथा (इत्थीसाणेत्ति) स्त्री शुनी अत्र च प्रमादादल्पत्वस्तत्तश्च स्त्रीविषये श्वविषये च। तत्र स्त्रीविषये "विह विहवा पउत्थय, इयारमइहति दट्ठूणेगागिं। दारपिहुणे य गहण, इच्छमणिच्छे य दोसाओ" तथा श्वा कौलेयकस्तद्दोष-स्ततोऽनेकस्य परिभव तथा चेति समुच्चयार्थे प्रत्यनीके साधु-प्रद्विष्टविषये स ह्येकाकिनमभिभवत(भिक्खविसोहिमहव्वयत्ति) इह सप्तमी बहुवचनदर्शनाद्भिक्षाविशुद्धौ विषये दोषा महाव्रतेषु तत्र युगपत् गृहत्रयस्य भिक्षाग्रहणे एकस्योपयोगकरणे अश-क्यत्वात्सदशुद्धिस्तत एव च प्राणातिपातविरमणविराधनानिमि-त्तमत्रे च नि.शङ्कतया तद्ग्रहणे मृषावादो विप्रकीर्णरूप्यदर्शने-जिघृक्षादिभावाददत्तादानम्। स्त्रीमुखनिरीक्षणादौ मैथुन तत्र स्नेहात्परिग्रह इति। यस्मादेतेऽसहायस्य दोषास्तस्मात् (सबिइ-ज्जइत्ति) सद्वितीयस्य सप्तमीषष्ठ्योरभेदात्कमनं भिक्षार्थमटन यदि च भिक्षाटनमपि ससहायस्यैव युक्त तदा सुतरां विहार. ससहायस्यैव युज्यते। ससहायो हि सर्वानेतान् प्रायः परिहर्तुं प्रभुर्भवतीति गीतार्थसाधुसबन्धित्वात् गीतार्थः। च शब्द समु-च्चये निष्क्रमश्च। विहारो विचरणमेक इति गम्यते। द्वितीय-श्चान्यो विहारो गीतार्थमिश्राण बहुश्रुतसमन्वितानामगीतार्था-

नामपि साधूनां यः स गीतार्थमिश्रको भणितः । उक्तो जिनैर्विधेयतया इत आद्यायां द्वाभ्यां विहाराभ्यामन्यस्तृतीयो विहारः । एकानेकागीतार्थसाधुरूपो नानुज्ञातो नानुमतो विधेयतया जिनवरैर्जिननायकैर्यत. " सामग्गजोगाणं, धम्माणिगिहिसन्निसयुओ होइ । दसणणाणचरित्ताण, पइलणं पावए एक्को " इति गाथाद्वयार्थः ।

विशेषविषयत्वमेवास्य स्पष्टयन्नाह ॥

ता गीयम्मि इमं खलु, तदण्णलाभंतरायविसयं तु ।

सुत्तं अवगंतव्वं, णिउणेहिं तं तजुत्तीए ॥ २३ ॥

ता इति तस्मादेतान्यागमवचनानि सामान्यसाधोरेकाकित्वस्य निषेधकानि सन्ति तस्माद्गीते गीतार्थसाधुविषये इदम् । " एगो वि पावाइ विवज्जयतो " इत्येतत्सूत्रमवगन्तव्यमिति योग. । खलुरवधारणार्थ । स च योक्ष्यते । अथ गीतार्थविषय किमिद् साधु सामान्यत एव नेत्याह । तस्माद्गीतार्थसाधोरन्ये अपरे ये गुणवन्त साधवस्तेषां यो लाभ. प्राप्तिस्तत्र योऽन्तरायो विघ्न' स एव विषयो गोचरो यस्य तत्तथा। अतस्तदन्यान्तरायविषयमेव गीतार्थस्यापि साध्वन्तराप्राप्तावेकाकित्वानुज्ञानपरमिदमिति भावोऽन्यथा ससहायनैव युक्त। यतोऽभिधीयते " कालम्मि संकिलिठे, छक्कायदयावरो वि संविग्गो। जइ जोगीण लभे पण, गन्नयरेण संवसइ " पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाछन्दाभिधानानां पञ्चानां साधूनामेकतरेण सह वसतीत्यर्थ. । इति शब्द' प्राग्वत् । सूत्रं " नयाल्लभेत्यादि " मतरूपमवगन्तव्यमवसेय निपुणै सद्बुद्धिभिस्तन्त्रयुक्त्यागमिकोपपत्त्योक्तरूपयेति गाथार्थ । पञ्चा० ११ विव०। (कीदृशस्यैक किविहार कथं च नयोग्यता भवतीत्युवसपया शब्दे) (एकाकिविहारस्य परिचितादिव्याख्या व्यवहारकल्पे सा चोवसपया शब्दे) एकाकिविहारे कारणान्योघनिर्युक्तौ। तत्र प्रथममेकाकिविहारिणः कतिविधा इत्याह

एगेव पुव्वभणिए, कारणनिकारणे दुविहभेदे ।

एक एकाकी द्विविधभेद. पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितः । तद्यथा कारणे निष्कारणे च । सांप्रतमेनामेव विवरीषु' प्रथमत. कारणैकप्रतिपादनार्थमाह ।

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य वक्क थूभादी ॥

ओहावेतो दुविहा, लिंगेन विहारेण वाहोंति ।

अशिवादिभिरादिशब्दादवमौदर्यो राजद्विष्टादिपरिग्रह. । कारणैरेकाकिन. कारणिका' । चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्प्रतिमानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषा वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारणिका लिङ्गेनोत्प्रव्रजितुकामा विहारेण पार्श्वस्थविहारेण विहर्तुकामा भवन्ति ज्ञातव्या । षरूप्येते कारणिका: १ निष्कारणिका २ औपदेशिका ३ अनौपदेशिका ४ लिङ्गेनावधाविन' ५ विहारेणावधाविनश्च । ६ । प्रायेणैते एकाकिनो विहरन्ति गच्छन्ति । या उपदेशिका यद्यपि नियमत. ससहायास्तथापि येन गच्छान्निर्गतास्तेन एकाकिनो भण्यन्ते इतरेऽपि पञ्च यद्यपि वृन्देन हिण्डन्ते तथापि गच्छान्निर्गता एकाकिन. प्रोच्यन्ते । तत उक्तम् । षरूप्येते विहारिण एकाकिन । व्य० द्वि० ७ उ० ।

कियन्ति पुन तान्यशिवादीनि येष्वसावेकाकी भवतीत्याह ।

असिवे ओमोदरिए, गयभए खुभिय उत्तिमट्ठे य ।

फिडियगिला अइसेमिं, देवया चेव आयरिए । ११ ।

न शिवमशिव देवतादिजनितो ज्वराद्युपद्रव । अवमौदरिक दुर्भिक्ष राज्ञो भय कुजित क्षोभ सत्रास इत्यर्थ । उत्तमार्थोऽनशन फिमित इति भ्रष्टो मार्गात् ग्लानो मन्द अतिशेषोऽतिशययुक्तः देवताचार्यौ प्रतीतौ अयं तावदक्षरार्थः । भावार्थस्य भाष्यकार एकैकं द्वारमङ्गीकृत्य प्रतिपादकः । " यथोद्देश निर्देशम् " इति न्यायमाश्रित्य यो विधि'यनेरसावभिधीयते व्दाशिवमेकाकीत्यस्य हेतुत्वं घर्तते तस्मात्तथा कर्त्तव्य यथा तत्र भवत्येव। केम पुन प्रकारेण तत्र भवतीति चेदुच्यते ।

संवच्छरबारसएण, होहिइ असिवंति ते तओ णिग्गंति।

सुत्तत्थं कुव्वंता, अइसइमाईहि नाऊणं ॥ २३ ॥

सवत्सराणां द्वादशक २ द्वौ च दश च द्वादश तेन भविष्यत्यशिवमिति ज्ञात्वा ते इति तत्रैव तत इति तस्मात् क्षेत्रात्(णिगच्छंति) निर्गच्छन्ति सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कुर्वन्तो निष्पादयन्तोऽन्यदेशमभविष्यदशिवं विश्वस्ता' संक्रामन्ति । कथं पुनर्ज्ञायते। अतिशय आदिर्येषा ते अतिशयादयो ज्ञानहेतवः । अतिशयादिज्ञानहेनवस्तै' । अतिशयादिप्रतिपादनायाह ।

अइसेसदेवया वा, निमित्तगहणं सय व सीसो वा ।

परिहाणि जाव पत्तं, निग्गमण गिलाण पडिबंधो ॥२४॥

अतिशयोऽवध्यादिस्तदभावे क्षपकगुणाकृष्टा देवता कथयति । अथवा "आयरियाएण सुत्तत्थे सुणिएण सयमेव णिमित्तं घेत्तव्य अहवा सीसो गहणधारणासंपन्नो निव्विकारी जो सो गिण्हाविज्जइ जया आयरिओ वुड्ढो भवति तया अविकारिस्स सीसस्स दिति । जाहे सो न होज्जा ताहे अन्नो कोइ पुच्छिज्जइ ताहे बारसहिं निगतव्व । अह बारसहिं ण णाय ताहे इक्कारसहिं जाव जाहे एक्केण वि णायं होज्जा ताहे छम्मासेहिं सुयवाहे णिग्गच्छंतु। अह वा ए चेव णायं असिवं जाय ताहे णिग्गच्छन्तु । अक्षरव्याख्या । अतिशयनमतिशय प्रत्यक्ष ज्ञानमवधिमन पर्यायकेवलाख्यं तेन ज्ञात्वा देवता वा कथयति । भविष्यत्यशिवमिति निमित्तमनागतार्थपरिज्ञाहेतुग्रन्थस्तस्य ग्रहणं स्वयमेव करोत्याचार्य शिष्यो वा योग्यो ग्राह्यते निमित्त । परिहाणिजाव पत्तत्ति) द्वादशकेन यदा न ज्ञान यदा एकादशकेनेत्येकैकहान्या परिहाणिरिति यावत् प्राप्तमिति तावत् स्थिता. । कथंचिद्यावत् प्राप्तमागतमशिवं तत्र किमिति निर्गमन निर्गमः कार्य' सर्वैरेवेति कथ तर्हि अतिशयमाश्रित्य एकाकित्वमिति चेत्तदाह । (गिलाणपडिबंधो) ग्लानो मन्दस्तयैव अशिवकारिण्या देवतया कृतः पूर्वभूतो वा तेन प्रतिबन्धो न निर्गमः सर्वेषां तस्य पूर्वशिवकारिण्या. स्वतए प्रतिपादनायाह ।

संजयगिहि तदुभय, भद्दिया तह तदुभयस्स ।

वियपंता चउवज्जण, उवस्सययतिपरंपराभत्तं ॥ २५॥

असिवे सदसंवत्थं, दोहं लोणं च तह य विगई य ।

एयाइं वा घेज्जा, चउवज्जयणयंति जं भणियं ॥ २६॥

सयता साधवस्तेषां भद्रिका न गृहिणामिति प्रथमो भङ्ग. । गृहिणां भद्रिका न संयतानामिति द्वितीयः । तयोभयभद्रिकेति तृतीयः । तयोभयभद्रिका नोति चतुर्थ. । उभयप्रान्ता अभद्रिका अशोभनेत्यर्थः । सा पुण चउप्पगारा सजयभद्दिगा उ भयपंता सजयपता उभयभद्दिगा कह पुण संजयभद्दिगा होज्जा वा गिहिभद्दिगा सजयप्पंता सजए चेव पढम । [गिण्हत्ति) जहा एते महातवसी य ते चेव पढम पेलेयव्वा । एतेसु निज्जिएसु अवसेसा णिज्जिया चेव भवति एत्थ जा होउ सा होउ णिग्गतव्वं जाहेण णिग्गया केइ णइवाघाएण को वाघाओ पुव्वं गिलाणो होज्जा साए वा तो हावियाए कोइ संजओ गहिओ जो पथा वा ण वहति ताहे तत्थ जयणाए अत्थियव्वं । को जयणा इमाणि चत्तारि परिहारियव्वाणि विगई दसविहा । विलोह लोण

च सदसवत्थ च जाणि य कुलाणि असिवेण गहियाणि तेसु आहारादीणि ण गिण्हांति जाहे सव्वाणि वि गहियाणि होज्जा ताहे दिठ दिट्ठीपण पाभिति तो मच्छिया गिण्हंति दिट्ठी य सकमइ [चउवज्जणत्ति] चतुर्णां वर्जनापरिहारः चतुर्वर्जनादिकृत्यानां चतुर्षु वर्जनीयक्षेत्रस्य सयतभद्रिकागृहप्रान्ता इत्यादिषु भङ्गकेषु [विसउवस्सपयत्ति] ग्लानविधि विष्वग्भेदेन उपाश्रय आश्रय कर्त्तव्य इत्यर्थः । "जो सतो होज्जा तस्स दूरे ठितस्स भत्तति परंपरेण दिज्जंति त्ति परपराभत्तति " त्रयाणां परपरात्मकमाहारः । तदेको गृह्णाति द्वितीयस्त्वानयति तृतीयो ऽवज्ञया ददातीत्यर्थः ।अवधूनमवज्ञानम् । यथावभूतानामतिग्लानोद्वर्त्तनादिविधिप्रदर्शनायाह ।

उव्वत्तणनिक्खेवण, वीहं ते अणभिओग अभीरुयं ।
अगहियकुलेसु भत्तं, गहिए दिट्ठि परिहरिज्जा ॥२७॥

उद्वर्तनं यदसाधु वर्त्तते निक्षेपनं यदसौ निक्षेप क्रियते ।उपलक्षणं चैतत् तस्य सकाशे स्थातव्यम् ।दिवा रात्रौ वा अथ कीदृशेन साधुना कर्तव्यमित्याह (वीहंतोणभियोगत्ति) अनभियोग बिभ्यतीति भयं गच्छति भीरावित्यर्थः । न अभियोगोऽनभियोगः यो भीरु स तत्र न नियोक्तव्य । कस्तर्हि करोतीत्याह (अभीरुयत्ति) अभीरुश्च न भीरुरभीरुस्तत्र क्रियते नियुज्यते । च शब्दो वक्यान्तरादिप्रयत्नप्रदर्शनार्थः । अगृहीतेषु अशिवेन भक्त ग्राह्य तदभावे दृष्टिः २ संघातपरिहारः । आह चतुर्वर्जनेत्युक्त तत्र भङ्गकाः अपि गृह्यन्त इति । " जो चितु उव्वत्तेति वा परियत्तेइ वा सो हत्थस्स अतरे वत्थ दाऊण ताहे उव्वत्तेइ वा तं घत्तेऊण हत्थे महिह्लियाए धोवंती जो य वीहेइ सो तत्थायरिएण ण भाणियव्वो। जहा अज्जो तुमं वसाहित्ति जो धम्मस्स ठिओ साहू सो अप्पणा चेव भणति । अह वसामि ।

प्रतिबन्धस्थाने सति कर्तव्यान्तरप्रदर्शनायाह ।

पुव्वाभिग्गहवुड्ढी, विवेगसंभोइएसु णिक्खमणं ।
ते वि य पडिबंधठिया, इयरेसु वसायगाउगं ॥ २८ ॥

पूर्वमित्यशिवे काले येऽभिग्रहास्तप प्रभृतयस्तेषां वृद्धिः कार्या चतुर्थाभिग्रहः पष्ठं करोति । मृते तस्मिन् को विधिरित्याह। (विवेगत्ति) विवेचनं विवेकः विचिर पृथग्भावे परित्याग इति यावत् । कस्यासाविति तदुपकरणस्य अमृते तस्मिन् गमनावसरे च प्राप्ते किं कर्त्तव्यमित्याह । (सभोइएसुणिक्खमिणत्ति) अशेषसमानसमाचारिकेषु विमुच्य गम्यते ते तत्राशिवे कथं स्थिता इत्याह । (ते वि य पडिबंधठियत्ति) न तेषा गमनावसर कुतश्चित्प्रतिबन्धात्तदभावे किं कर्तव्यमित्याह (इतरेसुत्ति) असांभोगिकेष्वित्यर्थः ।तदभावे देवकुलिकेषु अतीव सुवक्षात्कारेण तदभावे शय्यान्तरे यथा भद्रक मिथ्यादृष्टिः सो य गिलाणो जइ अत्थि अन्ना वसही तहिं ठविज्जइ असतीए ताइ चेव वसहीए एगपासे चिलिमीली किज्जइ। घोर दुहा कज्जइ जेण गिलाणो णिक्खमइत्ति पविसइ वा तेण अतेण साहू णो णिगच्छतु पडियारगविज्जंता व पत्तेहिं अत्थति जाव सत्थो ण लब्भति ताव जोगवड्ढि करेंति जो न पोक्कारं करेतओ सो पोरिसिं करोति एव वच्चत्ति जइ पउणो सो साहू योगहिओ ताहेव वचंति ।अह कालं करेति ताहे ज तस्स उ करण त सव्व उज्झिजइ ते उड्डित्ता ताहे वच्चति अह से ण चेव मुक्को ताहे अन्नेसिं संभोइयाणं स कज्जपडिबंधट्ठियाण तले णिक्खिप्पति जाहे संभोइया ण होज्जा ताहेव असंभोइयाण जाहे ते ण वि होज्जा ताहे ण सत्थो समकुसीलादीण तेसिं बलाविओ वेरिज्जइ तेसिं देवकुलाणि भुज्जाति साहू वि य सिद्धपुत्ताण तेसिं असइसावगाण उवणिक्खिपइ पच्छा सिज्झायरे अहाभद्दगेसु वा एव ल-भिज्जइ ताहे वच्चति । यदि पुनरसौ मुच्यते न आक्रोशति ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

कूयंते अब्भथणं, समत्थ भिक्खू आणिच्छ तद्दिवसं ।
जइ विंदघाइल्लेओ, तिदुएगो जाव ता दुवमा ॥ २९ ॥

कूज अव्यक्ते शब्दे कूजयत्यव्यक्त शब्दं कुर्वाणे किं कार्यमित्याह (अब्भत्थणंति) समर्थः शक्तोऽभ्यर्थ्यते तिष्ठ त्वं यावद्वयं निर्गच्छाम इति निर्गतेषु वक्तव्य इच्छतु भवानहमपि गच्छामि यदीच्छति क्षिप्र निर्गतो वाऽसौ धर्मनिरपेक्षतया नेच्छति ततः किमित्याह। अथ तद्दिवसमनिच्छति तस्मिंस्तस्य साधोर्गमन तद्दिवस स्थित्वा छिद्र लब्ध्वा न द्रष्टव्याः । तैश्च किं सह निर्गन्तव्यमाहोस्विदन्येनापीत्याह (यदि विंदघातित्ति) वृन्दघातिनी ततो द्विधा भेदस्तथापि न तिष्ठति त्रिधा त्रयस्त्रयो द्वौ द्वौ एकैको यावत्तथा (वालति) नान्यथेति तदर्थं भेदः । एवमशिवादेकाकी भवति यदि सो कुव्वति ताहे एक्को भणइ त्ति जो समत्थो तुम अत्थ ताहे ठिह् नाऊण विइयदिवसे इज्जासि तस्स मज्झायाते वि सेज्जेयव्वा मा मम कज्जे तुम करतु जाहे सो वि मल्लीणो ताहे सव्वे एगओ वज्जति जाहे तेसिं एगओ वच्चताणं कोइ विहामो होज्जा एल वंदघाति जत्थ बहूगा तत्थ पडइ दिठतो कठसघातो पलित्तो सो दुहा कतो पच्छा एक्केक्के दारुग कज्ज ण जलति । एव ते वि जे गहिया ताहे दुहा कज्ज तिहा जाव तिन्नि तिन्नि जणा एगो पडिस्सयवालो संघामत्तो हिंमइ । अह तहवि न मुयइ ताहे दो दो हुति अह दो वि जणा ण मुयइ ताहे एक्केक्को भवति तेसि उपगरण ण उवहम्मइ एव ता एकल्लओ दिठो असिवेण छक्केन पुनरुपायेन एकत्वविशेषणे ज्येष्ठा नष्टास्सन्त एकत्र प्रदेशे सङ्घीयन्त इत्याह ।

संगारो राइणिए, आलोयणपुव्वपत्तपच्छा वा ।
सोम्ममुहिकालरत्तं, जणंतरे एक्क दो वि सए ॥ ३० ॥

संगारः सकेतः पृथग्भावकाले कर्तव्य । यथा अमुकप्रदेशे सर्वैः संहितव्यमित्युपायस्त च प्रदेश प्राप्तानां को विधिरित्याह (राइणिएत्ति) वयोधिकस्य गीतार्थस्य पूर्वप्राप्ते वा लोचना, तदभावे लघोरपि गीतार्थस्य दातव्या । कियत्पुनः क्षेत्रमतिक्रमणीयमित्याह । (सोम्ममुहीत्यादि) अशिवकारिण्या विशेषणानि सौम्यं मुख यस्या सा । तया कथमुपद्रवकारिण्या सौम्यमुखीत्वे अनन्तरविषय प्रत्युपद्रवाकरणात् कृष्णमुखी द्वितीयविषयेऽपि न मुञ्चति । रक्ताक्षी तृतीयेऽपि न मुञ्चति यथासङ्ख्यमनन्तरमेव स्थीयते । सौम्यमुखी एक इति एकमन्तरे कृत्वा द्वितीये स्थीयते कृष्णमुख्याम् (दोइत्ति) द्वौ द्वावन्त कृत्वा चतुर्थे स्थीयन्ते रक्ताक्ष्यां " ते सिंगारो दिल्लिओ भवति जहा अमुगत्थ मे ठाई तत्थ त्ति जाहे मिलीणो भवति ताहे तत्थ जो राइणिओ पुव्वपत्तो वा पच्छापत्तो वा तस्स आलोइज्जति सा पुण तिविहाओ धाइया सोम्ममुही कालमुखी रत्तच्छी य जा सा सोम्ममुही तीसे एक्क सवीय गम्मइ। कालमुहीए एगोवि स ओ अंतरिज्जइ रत्तच्छीए दोसविसए अतरेऊण चउत्थे विसइए ठाइ इति आसिवित्ति दार सम्मत्त" अशिवेन यथैकाकी भवति तथा व्याख्यातम् । सांप्रतम् "ओमोयरियात्ति" यदुक्त तद्व्याख्यानायाह

एमेव ओमम्मि वि भेदो, उ अन्नंन्ने गोणिदिट्ठंते ।

रायभयं ति चउद्धा, चरिमद्दुगो होइ गणभेओ ॥३१॥

(एमेवत्ति) अनेनैव प्रकारेण अवमद्वारमपि व्याख्येयम्। यथा अशिवद्वारव्याख्याने यो विधिरभिहितः स इहाऽपीत्यर्थः। चशब्दो बहुसादृश्यप्रतिपादनार्थम्। अवमे दुर्भिक्षे अपिशब्दः सादृश्यसम्भवेन तदुच्यते " संवच्छरबारसएण होहिति ओमंति तो न भणीत्ति" इत्यादि। भेदन भेदः एकैकता तुशब्द एवकारार्थः। कस्मिन् पुनरसौ भवतीत्याह। अभावे भक्तप्राप्ताबाहारस्येत्यर्थः। यदेको लभते ततो द्वावपि द्वौ वा दृष्ट्वा न किञ्चिल्लिभन्ते एकैक एव लभत इत्येवमाहारकैकाकिनी अत्र दृष्टान्तमाह [गोणिदिट्ठतेत्ति] गोदृष्टान्त यथा संहतानां गवां स्वल्पेन तृणोदकेन तृप्ति पृथग्भूतानां न स्यात्तथेहापीति [ओमो आरियाएवत्ति] एमेव कामो बारसहिं संवच्छरेहिं आरद्धं जोहे पर ण पुव्वति ताहे गणभेदं करेति। णाणत्त गिलाणो ण तहा परिहविज्जति एत्थ गोणदिट्ठंतो कायव्वो " अल्प गोब्राह्मण निंदिति ओमेण वि एगागिओ दिट्ठो। साम्प्रत राजभयद्वारप्रतिपादनायाह। [रायभयति] राज्ञो भय राजभय चशब्दः एवमेवेत्यस्यानुकर्षणार्थं। " संवच्छरबारसएइत्यादि" कियन्तः पुनस्तस्य भेदा इत्याह चतुर्धा सख्यायाः प्रकारवचने धा चतुःप्रकारमित्यर्थः। कैः पुनस्ते इति मा त्वरिष्ठा अनन्तरमेवोच्यन्ते किं चतुर्ष्वपि भेदो नेत्याह [चरिमद्दइत्यादि] चरिमे पश्चिमे द्वये भवति जायते गणभेदो गच्छपृथग्भाव एकैकतेत्यर्थः। " रायदुट्ठमवि तहेव बारसहिं संवच्छरेहिं होति " भेदचतुष्टयस्वरूपदर्शनायाह।

णिव्विसउत्तिय पढमो, बिइओ मा देह भत्तपाणं तु ।

तइओ उवगरणहरो, जीवचरित्तस्स वा भेओ ॥ ३२ ॥

सुगम नवरं जीवितभेदकरश्चतुर्थो भेदश्चारित्रभेदकारी वा चतुर्थोभेदो राजा उपकरणहारी जीवितचरित्रहारिणो गणभेदः कार्य इति। "तं चउव्विहं निव्विसउत्तिय पढमो। बीओ मा देहभत्तपाण से तइओ उवगरणहारी जीवचरित्तस्स वा भेओ" आह कथं पुनः साधूनां त्यक्तापराधानां राजभय भवति "यस्य हस्तौ च पादौ च जीह्वाग्रं च सुयन्त्रितम्। इन्द्रियाणि च गुप्तानि तस्य राजा करोति किम् " सत्यमेतत्किं तर्हि ॥

अहिमर अणिट्ठ दरिसण, वुग्गाहणया तहा अणायारो ।

अवहरणदिक्खणाए, आणालोए य कुप्पेज्जा ॥ ३३ ॥

अंतेउरप्पवेसो, वाइणिमित्तं च सो पदूसेज्जा ।

खुभिओ मालुज्जेणी, पलियणं जो जओ तुरियं ॥३४॥

अभिमुखमाकार्य मारयति म्रियन्ते चेत्यभिगमः। कुतश्चित्कोपाद्राजकुलं प्रविश्यापरं व्यापादयन्तीति साधूनां किमाघातमिति चेदुच्यते। अन्यथा प्रवेशमलभमानः कश्चित्साधुवेषेण प्रविश्य तं कृन्तति ततश्च विकृतत्वात् स राजा साधुभ्यः कुप्येत् कुप्येदिति चैतत् क्रिया प्रतिपदं योजनीया। अजन्यत्वादनिष्टान्प्रसस्तान्मन्यमानो दर्शनं नेच्छति प्रस्थानादौ च दृष्टा इति कुप्येत्। व्युद्ग्राहणता विशब्दः कुत्सायामुत्प्राबल्येन केनचित्प्रत्यनीकेन व्युद्ग्राहितो यथैते तवानिष्टं ध्यायन्तीति कुप्येत् लोक प्रत्यनाचार समुद्देशादौ दृष्ट्वा कुप्येत्। अपहरणं कृत्वा तत्प्रतिबद्धो दीक्षित इति कुप्येत्। आज्ञालोपे वा आज्ञा काचिल्लोपिता न कृता ततश्च कुप्येत्। अन्तःपुरे प्रवेशं कृत्वा केनचिल्लिङ्गधारिणा विकर्म कृतं ततः प्रद्वेषं यावत् वादिना वा केनचित् भिक्षुणा परिभूत इति ततो निमित्तात्स इति राजा प्रद्विष्यात् " त पुण रायदुट्ठं कह होज्जा केणइ लिंगत्थेण अंतेउरे अवरद्धं होज्जा अहवा अधवा वाइणा वादे 'तस्स पभियमाणिस्स बुद्धिलस्स दुरप्पणो। सुद्ध पाएण अक्कम्म वादी वायुरिवागतो' एव रायदुट्ठं भविज्जा। णिव्विसए भत्तपाणपडिसेहे उवकरणहारे एत्थ गच्छेण चेव वज्जति। जत्थ जीयचरित्तभेओ तत्थ एगागिओ होज्जा"। क्षुभितद्वारं व्याचिख्यासुराह [खुभियउज्जेणित्ति] क्षुभित एकाकी भवति क्षोभ आकस्मिकसत्रासस्तत्र [मालुज्जेणित्ति] माला अहरट्टस्य पतिता उज्जयिनी नगरी तत्र बहुशो मालवा आगत्य मानुषादीन् हरन्ति। अन्यदा च कूपे अहरट्टमाला पतिता तत्र केनचिदुक्तं माला पतिताऽन्येन सहसा प्रतिपन्न मालवा पतिता ततश्च सक्षोभस्तत्र किं भवतीत्याह [पलायण जो अओ तुरिय] पलायनं नाशनं य कश्चिद्यत्र व्यवस्थितवान् स तत एव नष्ट इति [मालुज्जेणित्ति] वृत्तान्तसूचकं वचनं क्षुभिते वा एगागी होज्जा जहा उज्जइणीए अरहट्टमाला पडिया लोगो सव्वो पलाइतो माला वा पडियत्ति एरिसे क्षुभिते एगागी होज्जा जो जओ होज्जाओ सो तओ णासइ" अधुना यदुक्तं राजद्वारे " वायणिमित्तं च पडिसेज्जत्ति " तद्व्याचिख्यासुराह।

तस्स पभियमाणिस्स, बुद्धिलस्स दुरप्पणो ।

सुद्धं पाएण अक्कम्म-वादी वायुरिवागतो ॥ ३५ ॥

आह चोदकः शोभनस्थाने तद्व्याख्या ननु क्षुभिततरेणान्तरितत्वात् कोऽयं प्रकार इत्यत्रोच्यते निर्युक्तिग्रन्थवशाददोषः यतोऽत्रैव गाथया अन्तेउरे इत्यादिकया राजभयक्षुभितद्वारे उक्ते ततस्तत्रानवसरत्वादिहैव युक्ता व्याख्या। तस्येति तस्य राज्ञो भयहेतोः कथंभूतस्य पण्डितमानिन पण्डितमात्मानं मन्यते स एव मान्यो ज्ञानलवदुर्विदग्धत्वात्। बुद्धिं लातीति बुद्धिलस्तस्य बुद्धिलस्य दुरात्मनः मिथ्यादृष्टत्वादभद्रत्वाच्छासनप्रत्यनीकत्वात्स तथा तस्य किमित्याह मूर्द्धानमुत्तमाङ्गं पादेनाक्रम्य वादी वादलब्धिसंपन्नः साधुर्वायुरिवागतोऽभीष्टं स्थानं प्राप्त इत्यक्षरार्थः। समुदायार्थस्तु स राजा पण्डितंमन्यतया दर्शनं निन्दति तद्वादी वा कश्चित्तत्र साधुवादितेन समां प्रविश्य न्यायेन पराजितस्तथापि न साधुकारं ददाति प्रभूतत्वात्तथापि निन्दति पुनश्चासौ साधुवादी विद्यादिवादनसभामध्ये शिरसि पादं कृत्वा दर्शनीभूतस्ततश्चासौ परपराभवमसहमानः प्रकर्षेण द्वेषं यायादिति श्लोकार्थः।

उत्तमार्थद्वारप्रतिपादनायाह ।

निज्जवगस्स सगासं, असइ एगाणिउ वि गच्छेज्जा ।

सुत्तत्थ पुच्छगो वा, गच्छे अहवा वि पडियरिओ ॥३६॥

निर्यामयत्याराधयतीति निर्यामकः। आराधकस्तस्य सकाशं मूलमसति द्वितीयाभावे एकाक्यपि कालं कर्तुं कामो गच्छेदिति सूत्रार्थः। प्रच्छको वा गच्छेदुत्तमार्थे स्थिता एकाक्यपि मा भूत्सूत्रव्यवच्छेदोऽथवापि प्रतिचरितुं प्रतिचरणकरणार्थम्। "उत्तिमट्ठे वा सो साहू उत्तिमट्ठं पडिवज्जिउकामो आयरियसगासे य णत्थि णिज्जाओ ताहे अन्नत्थ वच्चेज्जा तो सघाडओ वच्चओ असइ नाहणगो एगागिओ वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपडिवन्नओ साहू सुत्तो तस्स यड सुत्तत्थ तदुभयाणि य भव्वाणि इमस्स य सकियाणि अन्नस्स य णत्थि ताहे तत्थ पडिपुच्छणाणिमित्तं वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपडियरएहिं गम्मइ ।

किमियद्वारं व्याचिख्यासुराह ।

किमियत्त य परिरएणं, मंदगई वा वि जाव ए मिलिज्जा ।

सोऊणं च गिलाणं, उसहकज्जे असइ एगो ॥ ३७ ॥

किमितन्ति ते पथेण वच्चति तत्थ कोइ पंथाओ नासिओ अनेण वच्चेज्जा अहवा थेरो तस्स एगतरा गड्डा वा भोगरो वा जे समत्था ते उज्जुएण वच्चंति । जो असमत्थो सो परिरएण भमामेण वच्चइ ततो जाव ताण ए मिलइ ताव एगागी होज्जा इदानीं गाथार्थः । किमित्त. प्रहूए किमुक्तं भवति प्रहूएगच्छतामेव संघेषु पथिद्वयदर्शनात् सञ्जातमाह । अन्येनैव पथा प्रयानस्तत एकाकी भवति (परिरएणत्ति, वा) परिरयो गिर्यादेः परिहरणं तेन वा एकाकी कश्चित्समहिष्णु मन्दगतिर्वा कश्चित्साधुर्यावन्न मिलतितावदेकाकी भवतीति । उक्तं किमितद्वारम् । इदानीं ग्लानद्वारमुच्यते (सोऊण च गिलाणंति) गिलाणणिमित्तेण एगागी होज्जा तस्स ओसह वा भेसज्ज वा भेसह वा आणियव्वं असहाइगस्स नाहे एगागी होज्ज वच्चेज्जा अहवा गिलाणो सुतो ताहे सव्वेहिं गतव्वं अह अप्पणो आयरिया थेरा ताहे सोसिपासे अतिथियव्वं ताहे सयामस्स असइ एगागि वच्चेज्जा इदानीमक्षरगमनिका श्रुत्वाऽन्यत्र ग्लानिसद्भावे एकाकी व्रजति यदि वा स्वगच्छ एव ग्लान कश्चित्तदर्थमौषधादीनामानयनार्थं व्रजत्येकाकी द्वितीयाभावे सति । उक्तं ग्लानद्वारमथातिशयद्वारम् ।

अइसेसिउ वामेहं, अमइ एगाणि उवगच्छेज्जा ।

देवकलिंगओउवणा–पारणए खीररुहिरं च ॥

कोई अतिसयसपन्नो सो जाणइ जहा एयस्स सेहस्स सहणिज्जगा आयगा ताहे सो भणइ एय सेह अवणेह जइ अवणेह ताहे एसा ण करेइ पव्वज्ज ततो सो असइ सयामस्स एगाणिउवि य हविज्जति । इदानीमक्षरार्थः । अतिशयी वा कश्चिदभिनवप्रव्रजितं द्वितीयेऽसति एकाकिनमपि प्रवर्त्तयेत् । उक्तमतिशयद्वारम् । इदानीं देवताद्वारम् (देवकलिंगत्ति) इह कलिंगेसु जणवएसु कंचणपुर तत्थायरिया बहुस्सुया बहागमा बहुसिस्सपरिवारा ते अन्नया सिस्साणं सुत्तत्थे दाऊण सन्नाभूमिं वच्चति । तस्स य गच्छंतस्स पथे महइमहालयो रुक्खो तस्स य हेट्ठा देवया महिलारूपं विउव्विऊण कलुणकलुणाणि रोवइ सा तेण दिट्ठा एव बिइयदिवसे वि तओ आयरियस्स संका जाया । अहो किसइ मा एवं रोवइत्ति ताहे उवसंतेऊण पुच्छिया कि पुण धम्मसीले रुयसि । सो भणइ किं मम थोवं रोइयव्वं आयरियओ भणइ किं कहं वा सा भणइ । अहमेयस्स कचणपुरस्स देवया एयं च अइरा सव्व महाजलप्पवाहेण पलाविज्जाहि त्ति तेण रुयामित्ति । एते य साहुणो एत्थ सममयति ते य अन्नत्थ गमिस्सति त्ति । अतो रुवामि आयरिएहिं भणिय कह पुण एय पि जाणिज्जति । सा भणइ जओ तुज्झ खमओ पारणए दुद्धं लभिस्सइ त से रुहिर भविस्सतित्ति । जइ एयं होज्जा तो पतिएज्जह तं च घेत्तूण सव्वसाहूणं पत्तेसु थोव थोव दिज्जाह जत्थ देसे त सन्नायं जाहि तत्थ ण जलप्पवाहो पभविस्सतित्ति सुणिज्जह ततो एवंति आयरिएण पमिवन्न । ताहे बितियदिवसे तहेव सव्वं तहा य सजात ततो आयरिएहिं सव्वेसिं मत्तए पत्तेय त ठविअ ततो जहासत्तीए पलायति जत्थ त पमल जाय तत्थ मिलिया एव एगागी होज्जा । उक्तं देवताद्वारम् । अथाचार्यद्वारम् ॥

चरिमाए संदिट्ठो, उग्गहे उए मत्तए गंठी ।

इह एकपउस्सग्गो, परिच्छया मत्तए सगणं ॥ ३९ ॥

चरिमा चतुर्थी पौरुषी तस्यां संदिष्टा उक्ता यदुत त्वयाऽमुकत्र गन्तव्यं सत्वाभिग्रहिकः साधु ततश्चासावेवमाचार्येणोक्तः किं करोति सकलमुपकरणं पत्रकपटलादिवोद्ग्राहयति मात्रकं च तेन गच्छता ग्राह्यमतस्तस्मिन्ग्रन्थिं ददाति मा भूद्भूयः प्रत्युपेक्षणीयं स्यात् एवमसावाभिग्राहिकः सयमे तिष्ठतीति (इह रंति) आभिग्रहिकाभावेऽपि कालवेलायां च गमनप्रयोजनमापतितं ततः कृतोत्सर्गः कृतावश्यकः किं करोतीत्याह । परीक्षार्थमिति पश्याम को वा पथि गमनान्तरं प्रवर्तते को वा न प्रवर्तते इति स्वगणमाश्रमयते ते च प्रतिक्रमणानन्तरं तत्रैवान्तर्मुहूर्तमानकालमासते कदाचिदाचार्याः अलब्धपूर्वां सामाचारीं प्ररूपयेयुरपूर्वंपत्र तत्रस्थान् तानामन्त्रयतेऽसौ भो भिक्षवो मुख्य मे गमनकार्यमुपस्थितम ॥

गच्छेज्जा काणुगच्छे, अणुग्गहो कारणाणि हीविंता ।

अमुगो एत्थ समत्थो, अणुग्गहोऽन्नयकिइकम्मं ॥ ४० ॥

कतमस्साधुस्तत्र गमनक्षमस्तत्र आचार्यवाक्यश्रवणानन्तरं सर्वेऽपि साधव एव ब्रुवन्ति अह गच्छाम्यहं गच्छामीति । अनुग्रहो य स्तोकं तत आचार्या वैयावृत्त्यकरयोगवाहिदुर्बलादीनि दापयित्वा स्वय प्रदर्श्य इद भणत्यमुको न कार्ये समर्थः क्षम । ततश्च योऽस्माभ्याचार्येणोक्तोऽस्य क्षम इति स भणत्यनुग्रहो मेऽयं ततः को विधिस्ततः सजिगमिषुः साधुराचार्यस्य चैत्यसाधुवन्दनां करोति । यदि पर्यायेण लघुस्ततः शेषाणामपि चैत्यसाधूनां वन्दना करोति । अथासौ गन्तुमना साधूनां रत्नाधिकस्ततस्ते साधवस्तस्य चैत्यसाधुवन्दना विदधति तदुभयकृतिकर्मवन्दनं ततः सङ्गतस्साधुः किं करोति जिगमिषु सन् ॥

पोरिसिकरणं अहवा, करणं दोच्चं पुंछणे दोसा ।

सरणगुयसाधुसन्नी, अंतोवहि अनंतजावेणं ॥ ४१ ॥

यद्यसौ सूर्योद्गमे यास्यति ततः प्रादोषिकां तत्र पौरुषीं करोति । अथवा रात्रिशेषे यास्यति प्रयोजनवशात्ततस्तत्र पौरुषीमकृत्वैव स्वपिति । एतत्पौरुषीकरणमकरणं चेति । पुनरपि च तेन गच्छताऽऽचार्यः पृच्छनीयः । प्रत्यूषसि यास्याम्यहमिति । अथ न पृच्छत्यतः (दोच्च पुच्छणा दोसत्ति) द्वितीयवारमपृच्छतः दोषा वक्ष्यमाणा के च तेऽत्याह (समरणत्ति) स्मरणमाचार्यस्यैव स जातमेवंविधमन्यथा व्यवस्थितं कार्यमन्यथा कदाचित् संदिष्टम (सुतत्ति) श्रुतमाचार्यैर्यथा ते तत्राचार्या न विद्यन्ते यन्निमित्तं वासौ प्रेष्यते तत्रा कार्यमन्यथा तत्र नास्ति (साधुत्ति) अथवा विकाले साधुः कस्मिंश्चित्तस्मात्स्थानादागतस्तेन कथितं यथा स आचार्यस्तत्र नास्तीति (सन्नित्ति) अथवा संज्ञी श्रावक आयातः तेनाख्यातम् (अतोत्ति) अभ्यन्तरतः कस्य प्रतिश्रयस्य केनचिदुल्लपितं यथाऽस्माकमप्येवंविधाः साधव आसन् ते च ततो गता मृता वा (बहित्ति) बाह्यतः प्रतिश्रयस्य श्रुतमन्यस्मै कथमानं केनचित् [अन्नजावेणति] योऽसौ गन्ता सोऽन्यभावं निष्क्रमितुकाम एतच्चाचार्याय तत्सघाटिकेनाख्यातं ततश्चासौ ध्रियते केनचिद्व्याजेन यदि पुनरसौ गन्ता न प्रबोधयत्यतः ॥

वोहणअप्पडिवुद्धे, गुरुवंदणघट्टणा अपडिवुद्धे ।

निच्चलनिसन्नझाइ, दट्टुं चिट्टेव्वलं पुच्छे ॥ ४२ ॥

अचेतयति सति तस्मिन् गन्तरि बोधनं गीतार्थः करोति ततः साधुरुत्थायाचार्यस्य समीपं गत्वा च यद्याचार्यो विबुद्धस्ततोऽसौ गुरुवन्दनं करोति । अथाद्यापि स्वपिति ततः घट्टनाचार्यपादयोः शिरसाघट्टनाच्चलनं क्रियते । अथासौ प्रतिबुद्ध एव

किंतु निश्चलः निष्प्रकम्प उपविष्टो ध्यायी चास्ते ततस्तमेवभूतं निश्चलनिष्पन्नध्यायित दृष्ट्वा किं कर्त्तव्यमित्याह (चिट्ठेत्ति) स्थातव्य तेन गुरुव्याघातेन महाहानिसंभवात् यथा चलोऽसौ तत. पृष्टव्यो भगवन् स एषोऽहं गमिष्यामीति ततश्चासावाचार्येण सदिष्ट इदमेव त्वया कर्त्तव्यमिति व्रज स चेदानीं गन्तु प्रवृत्त. इत्येतदेवाह

अप्पा हि अणुन्नाओ, ससहाउणीति जा पन्नायं तु ।
उवयोगं आसन्ने, करेइ गामस्स सा वय नयए ॥ ४३ ॥

सदिष्टः प्राक् पश्चादनुज्ञातो गच्छेति कथ ससहायः कियन्तं कालं यावत् ससहायो व्रजति तावत्प्रभात जातं सूर्योदय इत्यर्थः। ससहायश्च प्रभात यावत् व्रजति स्वापदादिभयात् एवमसौ साधुर्व्रजन् ग्रामसमीप प्राप्तः सन् किं करोतीत्याह । उपयोगं करोति विषयमुभयविषयं मूत्रपुरीषपरित्याग इत्यर्थः । कस्मादेव चेत् ग्रामसंनिधान एव स्थण्डिलसद्भावात् गवादिसस्थानात्। अथ रात्रौ गच्छत कश्चिदपाय. सभाव्यते तत. प्रभातं यावत् स्थातव्यम् । तथाचाह ।

हिमतेणसावयभया, दारा पिहिया पहं अजाणंतो ।
अत्थइ जाव पभायं, वासियभत्तं च से वसभा ॥ ४४ ॥

हिमं शीत स्तेनाश्चौरा स्वापदानि सिंहादीनि एतद्भयात् प्रभात यावदास्ते यदि पुरस्य द्वाराणि पिहितानि ग्रामस्य फलिहक. पन्थान वा अजानन् तिष्ठति यावत् प्रभातमिति । एव च प्रभातं यावत् स्थिते गन्तरि वासिकभक्त दोषान्न (से) तस्य वृषभा गीतार्था आनयन्ति । अथ केभ्यस्तदानीयते ।

ठवणाकुलसंखमीए, अणहिंमंते सिणेहपयवज्जं ।
भत्तट्ठियस्स गमणं, अपरिणपगाउये वहइ ॥ ४५ ॥

स्थापना कुलेभ्यस्तथा (संखडीएत्ति) सामायिकी भाषा भोजनप्रकरणार्थे तस्य वा के पुनस्तदानयन्त्यत आह (अणहिं कंतोत्ति) ये भिक्षां पर्यटितवन्त कस्मात्पुनस्ते भक्तमानयन्ति उच्यते तेषामाहिण्डकानां गृहस्था गौरवेण प्रयच्छन्ति। कीदृशं पुनस्तैर्भक्तमानयनीयम् (सिणेहपयवज्जति) स्नेहेन घृतादिना पयसा क्षीरेण वर्जितं भक्तं गृह्णन्ति न तैल ग्राह्यम् अमङ्गलत्वात्, न घृत परितापहेतुत्वात् । न दुग्ध भेदकत्वात् काञ्जिकविरोधत्वात् काञ्जिक प्रायोपायित्वाच्च । संयताना किं पुनस्ते गृह्णन्ति दधिशक्तुकादि तदसौ भुक्त्वा व्रजति । तथा चाह (भत्तट्ठियस्स गमणंति) भुक्तवतस्ततो गमन भवति अथ न तस्य भक्तं परिजातमित्यतोऽपरिणते भुक्ते सति स गव्यूतमात्र यावन्मार्गं वहति क्रोशद्वयं च गव्यूतमिति । ओघ० ।
(एगागिशब्दे एकाकित्वकारणानि तत्र दृ.पाश्च द्रष्टव्या)

एगल्लविहारपडिमा– एकाकिविहारप्रतिमा–स्त्री० एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्य्या स एव प्रतिमाऽभिग्रह. एकाकिविहारप्रतिमा । जिनकल्पप्रतिमायाम्, मासिक्यादिकाया भिक्षुप्रतिमायां च । अष्टभिश्च स्थानै. सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्येकाकिविहारप्रतिमाम् । तथा चाह ।

अट्ठहिं गणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ एगल्लविहारपडिम उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए तं जहा सड्ढी पुरिसजाए सच्चे पुरिसजाए मेहावी पुरिसजाए बहुस्सुए पुरिसजाए सत्तिमं अप्पाहिगरणे धिइमं वीरियसंपन्ने ।

अष्टाभिः स्थानैर्गुणविशेषै सम्पन्नो युक्तोऽनगार साधुरर्हति योग्यो भवति । (एगल्लत्ति) एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाऽभिग्रहः एकाकिविहारप्रतिमा जिनकल्पप्रतिमा मासिक्यादिका वा भिक्षुप्रतिमा तामुपसंपद्याश्रित्य णमित्यलकारे विहर्तुं ग्रामादिषु चरितु तद्यथा (सड्ढित्ति) श्रद्धा तत्वेषु श्रद्धानमास्तिक्यमित्यर्थोऽनुष्ठानेषु वा निजोभिलाषस्तद्वत्सकलनाकिनायकैरप्यचलनीयसम्यक्त्वचारित्रमित्यर्थ.। पुरुषजातं पुरुषप्रकारः१तथा सत्य सत्यवादी प्रतिज्ञाशूरत्वात्सद्भ्यो हितत्वाद्वा सत्यम् २ तथा मेधा श्रुतग्रहणशक्तिस्तद्वन्मेधावी अथवा (मेहावइति) । मेधावी मर्यादावृत्तिः ३ तथा मेधावित्वाद्बहु प्रचुरं श्रुतमागम सूत्रतोऽर्थतश्च यस्य तद्बहुश्रुत तच्चोत्कृष्टतोऽसपूर्णदशपूर्वधरं जघन्यतो नवमस्य तृतीयवस्तुवेदीति ४ तथा शक्तिमत्समर्थं पञ्चविधकृततुलनमित्यर्थस्तथाहि "तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य । तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओत्ति"५ अल्पाधिकरण निष्कलह.६ धृतिमच्चित्तस्वास्थ्ययुक्तमरतिरत्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गसहमित्यर्थ. ७ वीर्यमुत्साहातिरेकस्तेन सम्पन्नमिति । इहाद्यानामेव चतुर्णां पदानां प्रत्येकमन्तेपुरुषजातशब्दो दृश्यते ततोन्त्यपादानामप्यय सम्बन्धनीय इति । अय चैवविधोऽनगार. सर्वप्राणिनां रक्षणक्षमो भवतीति । स्था० ८ ठा० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू गणाओ अवकम्म एकल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठावेज्जा । २६ । एवं गणावच्छेइए । २७ । एवं आयरियउवज्झाए ॥ २८ ॥

भिक्खू य गणातो अवक्कम्म इत्यादि ॥ अथास्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह क सबन्ध. । तत आह ।

निग्गमणं तु अहिकयं, अणुवत्तनिवा हाधिकाराओ ।
तं पुण वितिण्णगमणं, इमं तु सुत्तं उभयहा वि ॥

अनन्तरसूत्रे पारिहारिकानिर्गमनमधिकृतमुक्तमिहापि तदेव निर्गमनमुच्यते । अथवा अनन्तरसूत्रे तपसोऽधिकारोऽनुवर्त्तते । इहापि स एव तपोऽधिकारः । तत्पुनरनन्तरसूत्रं निर्गमनमभिहितवत् । वितीर्णमनुज्ञातवत् इदं सूत्रं निर्गमनमुभयथापि वितीर्णमवितीर्णं च भाषते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या । भिक्षु प्रागुक्तशब्दार्थ । च पुनरर्थोद्वाक्यभेदे स च वाक्यभेदः सुप्रतीत. पूर्वसूत्रवाक्याद्वितीर्णगमनाभिधायिनोऽस्य सूत्रवाक्यस्य वितीर्णगमनाभिधायितया कथंचिद्भिन्नत्वात् । गणात् गच्छादपक्रम्यापनिर्गत्य एकाकिविहारप्रतिमां एकाकिविहारयोग्यां मासिक्यादिकां प्रतिमामुपसपद्य विहरेत् । स च गणस्य स्मरति । संभाव्यते चैतत् तथा हि यः सूत्रार्थतदुभयैरव्यक्तो यथाविधिना प्रतिमां च प्रतिपद्यते स मा भङ्गमुपैतु इति । तत स गण स्मरन् इच्छेत् । द्वितीयमपि वारम् । एकं वारं पूर्वमपि प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालगणमाश्रितवान् इदानीं द्वितीयं वारमतः उक्तं द्वितीयमपि वार तमेवात्मीय पूर्वमुक्तगुणगणमुपसंपद्य पुनस्तमेकाकिविहारप्रतिमाभङ्गमालोचयेत् । गुरुसमीपे आलोच्य पुनः पुनरकरणतया तस्मात्स्थानात्प्रतिक्रम्य च यदापन्न प्रायश्चित्त छेदं परिहार वा तस्य छेदस्य परिहारस्य वा करणाय पुनरुपतिष्ठेत इह प्रतिमाप्रतिपन्नेन यत्रवाकृत्य समासेवित तत्रेवाह । दुष्कृत मयेत्यादि चिन्तनतस्तदालोचित प्रतिक्रान्तं च । गुरुसमक्ष तु द्वितीयवारमिति पुनःशब्दोपपत्तिरेषसूत्रसंक्षेपार्थः

विस्तरार्थं भाष्यकृदाह ।

संथरमाणस्स विही, आयारदसासु वणितो पुव्विं ।
सो चेव य होइ विही, तस्स विभासा इमा होति ॥

संस्तरन् नाम उच्यते यः सूत्रोक्तविधिना प्रतिमाप्रतिपत्ति-योग्यतामुपागतः मासिक्यादीनां च प्रतिमानां मध्ये यां प्रतिमां प्रतिपन्नस्तां सम्यक्परिपालयितुं क्षमस्तस्य संस्तरतो विधिः समाचारी। आचारप्रधाना दशा आचारदशास्तासु दशाश्रुतस्कन्धेष्वित्यर्थः । भिक्षुप्रतिमाध्ययने पूर्वं वर्णितः स एव इहापि अस्मिन्नप्यधिकृतसूत्रव्याख्याप्रस्तावे परिपूर्णो भवति ज्ञातव्यः तस्य अम्नायायातत्वात् । तथाहि एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहरेदित्युक्तं ततः साक्षादुपात्ता एकाकिविहारप्रतिमेति भवति । तद्विधिप्ररूपणावसरः । केवलं स एव भिक्षुप्रतिमाध्ययने प्रतिपाद्य इति तत एवावधारणीयः । इह पुनस्तस्यैकाकिविहारप्रतिमाविधिर्विभाषा कर्त्तव्या । यथा ईदृशस्य एकाकिविहारि प्रतिमाप्रतिपत्तिः कल्पते अनेन च प्रकारेण प्रतिपद्यते । ईदृशश्च एकाकिविहारप्रतिमाया अयोग्य इति । सा इयं वक्ष्यमाणा भवति । तामेवाभिधित्सुराह ।

घरसउणिसीहपव्वइय-सिक्खपरिकम्मकरणे दो जोहा ।
करणेलगच्छसपदुग, गच्छाएमा ततो नीती ॥

परिकर्म्मकरणे द्वौ दृष्टान्तौ तद्यथा गृहेऽवस्थितः शकुनिर्गृहशकुनिस्तथा सिंहश्च वने व्यवस्थित इति गम्यते तथा (पव्वइयसिक्खत्ति) प्रव्रजनं प्रव्रजितं प्रव्रज्या इत्यर्थः । शिक्षा ग्रहणासेवनरूपं शिक्षाद्विकं एते द्वे द्वारे वक्तव्ये एतच्च शेषद्वाराणामर्थग्रहणादीनामुपलक्षणमतस्तान्यपि वक्तव्यानि । ततः परिकर्म्मकरणं वक्तव्यं तदनन्तरं परिकर्म्मितः परीक्षायां द्वौ योधौ दृष्टान्तत्वेनोपन्यसनीयौ । ततः स्थिरीकरणनिमित्तं तस्योपसर्गव्यावर्णनायां सूत्रार्थकरणव्यवस्थितैकाकरूपं क्षपकद्विकज्ञातं वक्तव्यम्। तत एवं कृतपरिकर्म्मा सन् गच्छारामात् सर्वर्त्तुकपुष्पफलोपगमारामरूपात् गच्छान्निर्गच्छति । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।
सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो गृहकुशनिदृष्टान्तं भावयति॥

वासगगयं तु पोसति, चंचूपूरेहि सउणिया सावं ।
वारेइ य डहुंतं, जाव समत्थं न जायं तु ॥

शकुनिका पक्षिणी आत्मीयं शाव (वासगगयति) प्राकृतत्वादावाकारस्य लोपः आवासो नीममावास एवावासकस्तद्गतं तुरेवकारार्थः। आवासकगतमेव शावं चञ्चूपूरैश्चञ्चूभरणैः पुष्णाति पुष्टीकरोति । यदि कथमप्यसजातपक्षोऽपि बालचापलेनावासाद्बहिर्निर्जिगमिषुरुड्डीयते ततस्तमुड्डीयमानं वारयति प्रतिषेधयति । सा चैव तावत्करोति यावत्समर्थो न जायते । गाथायां तु नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात् । समर्थस्तु जातः सन् प्रतिषिध्यते । ततो निरुपद्रवं स्वेच्छया विहरति । भावितः शकुनिदृष्टान्तः ॥

सम्प्रति सिंहदृष्टान्तं भावयति ॥

एमेव वणे सीही, सा रक्खइ छावपोयगं गहणे ।
खीरमिउपिसियचव्विय, जा खायइ अट्ठियाइं पि ॥

एवमेव शकुनिकागतेनैव प्रकारेण वने किं विशिष्टे इत्याह गहने अतिशयेन शुषिले स्थिता सती सिंही शावपोतकं शाव एवातिलघुत्वात् पोतः पोतकः शावपोतकस्तं रक्षयति । व्याघ्रादिभ्यस्तथा क्षीरेण स्तन्येन मृदुचर्वितपिशितेन च तावदात्मीयं शावपोतकं पुष्णाति यावदस्थीन्यपि खादति ॥

मारियममारिएहिं, ता तीरावेति छावएहिं तु ।
वणमहिसहत्थिवग्घाण, पच्चलो जाव सो जातो ॥

वनमहिषादीनां शावकैर्मारितैरमारितैर्वा तावन्तमात्मीयशावं तीरयति समर्थीकरोति यावत्तेषां वनमहिषहस्तिव्याघ्राणां स्वयमेव व्यापादने प्रत्यलः समर्थो जातो भवति । कृता सिंहदृष्टान्तभावना ॥

सांप्रतमनयोरेव निदर्शनयोरुपमानार्थमिदमाह ॥

अकयपरिकम्ममसहं, दुविहा सिक्खा अकोवियमवत्तं ।
पडिवक्खेण उवमियो, सउणिगसीहादिछावेहिं ॥

न कृतानि परिकर्म्माणि वक्ष्यमाणानि येन स तथा तमकृतपरिकर्म्माणमकृतपरिकर्मत्वादेवासहमेकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपत्तुमसमर्थम् । तथा द्विविधायां शिक्षायां ग्रहणासेवनरूपायामकोविदमनिपुणम् । तथा श्रुतेन वयसा वा प्राप्तयोग्यताकं (पडिवक्खेणत्ति) ये ये प्राक् शकुनिपोतसिंहशावकानां संजातपक्षत्वादयो गुणा उक्तास्तेषां प्रतिपक्षेण प्रातिकूल्येनासंजातपक्षत्वादिना विशिष्टाः शकुनिसिंहादिशावका आदिशब्दात् व्याघ्रद्वीपिप्रभृतिस्तैरुपमितस्तथाहि यथा शकुनिपोतोऽसंजातपक्षो यदावासाद्विनिर्गत्य स्वच्छन्दमापरिभ्रमति ततः स काकढङ्कादिभ्यो विनाशमाविशति। सिंहपोतकोऽपि यदि क्षीराहारो गुहातो विनिर्गत्य वने स्वेच्छया विचरति ततः सोऽपि वनमहिषव्याघ्रादिभिरुपहन्यते । एवं साधुरप्यकृतपरिकर्मा द्विविधशिक्षायामकोविदः श्रुतेन वयसाऽप्राप्तयोग्यताको यदि गच्छादेकाकिविहारप्रतिमाप्रतिपत्तये विनिर्गच्छति ततः स नियमादात्मविराधनां संयमविराधनां च प्राप्नोतीति ।तदेव "घरसउणिसीहत्ति" व्याख्यातम् । संप्रति प्रव्रजितशिक्षादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि । तत्समादिका चेय गाथा ।

पव्वज्जा सिक्खावय-मत्थग्गहणं व अणियतो वासे ।
निप्फत्तियवीहारो, सामायारी ठिती चेव ॥

अस्या व्याख्यानं कल्पे सविस्तरमुक्तमत्र तु लेशतोऽर्थमात्रमभिधीयते । प्रथमतस्तावत्प्रव्रज्या भवति । सा च द्विविधा धर्म्मश्रवणतोऽभिसमागमतश्च तत्र या आचार्यादिभ्यो धर्म्मदेशनामाकर्ण्य संसाराद्विरज्य प्रतिपद्यते सा धर्म्मश्रवणतः या पुनर्जातिस्मरणादिना सा अभिसमागमतः। प्रव्रजितस्य च शिक्षापदं भवति । शिक्षा च द्विधा ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षा च । तत्र ग्रहणशिक्षा सूत्रावगाहनम् आसेवनाशिक्षा सामाचार्यभ्यसनं शिक्षापदनन्तरं चार्थग्रहणकरणंतदनन्तरं चानियतो वासो नानादेशपरिभ्रमणं कर्त्तव्यं गतमन्तरेण नानादेशीयशब्दाकौशलेन नानादेशीयभाषात्मकस्य सूत्रस्य परिस्फुटपूरणार्थनिर्णयकारित्वानुपपत्तेः । तदनन्तरं वाचनाप्रदानादिना गच्छस्य निष्पत्तिर्निष्पादनं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं विहारोऽभ्युद्यतो विहारो जिनकल्पादिप्रतिपत्तिलक्षणः करणीयः । तस्य च विहारस्य या सामाचारी सा वक्तव्या । तथा स्थितिर्जिनकल्पादीनां क्षेत्रकालादिद्वारेषु चिन्तनीया। तत्र प्रव्रज्या,शिक्षा,पदमर्थग्रहण-मनियतो वास , निष्पत्ति-विहारः, सामाचारीति सप्त द्वाराणि प्रतिमायामुपयोगीनि । तत्रापि प्रव्रज्या शिक्षापदमर्थग्रहणं चेति। त्रीणि द्वाराणि प्रतिमां प्रतिपत्तुकामस्य नियमतो भवन्ति शेषाणां भजना तथा चाह ॥

पव्वज्जासिक्खावय-मत्थग्गहणं च सेसए भयणा ।

सामायारिविसेसे, नवरं वुत्तो उ पडिमाए ॥

प्रव्रज्या प्रव्रजनं शिक्षापदमर्थग्रहणमानियतो वासः शिक्षाद्विकमर्थग्रहणमर्थपरिज्ञानमित्येतत् त्रय प्रतिपित्सोर्नियनेन भवति शेषिके अनियतवासिनिष्पत्तिलक्षणद्वारद्विके भजना विकल्पना य आचार्यपदार्हस्तस्य नियमादिद द्वारद्वयमस्ति शेषस्य तु नास्तीत्यर्थः । विहार पुनः प्रतिमाप्रतिपत्तिलक्षणोऽस्त्येव सामाचार्या अपि जिनकल्पिकसामाचारीतो विशेषोऽस्ति नवर सामाचारीविशेषः प्रतिमायां प्रतिमागतो दशाश्रुतस्कन्धे भिक्षुप्रतिमाभ्यय योऽन्य उक्त प्रतिपादित इति स न पुनरुच्यते । सप्रति परिकर्म्म करण वक्तव्यम् । तत्र पर आह ननु तत्परिकर्म्म किं गच्छ एव स्थितः करोति उत गच्छाद्विनिर्गत्येति । सूरिराह ।

गणहरगुणेहिं जुत्तो, जति अन्नो गणहरो गणे अत्थि ।
निग्गति गणातो इहरा, कुणति गणे चेव परिकम्मं ॥

यदि नाम गणे गच्छे अन्योऽन्यगणधरः गणधरपदार्ह इत्यर्थः । गणधरगुणयुक्तो विद्यते न च प्रयोजनेनान्यत्र गतस्ततस्त गणे स्थापयित्वा गणाद्विनिर्गच्छति विनिर्गत्य च परिकर्म्म करोति । इतरथा तथाविधान्यगणधरयुक्तगणधरत्वार्हाभावे गण एव स्थितः सन्परिकर्म्म करोति अत्र पर आह । ननु तेन पूर्वं द्विधां शिक्षां शिक्षमाणेनात्मा भावित एव ततः किमिदानीं भावनाभिः परिकर्म्मणयेत्यत आह ।

जइ विहु दुविहा सिक्खा, आइल्ला होति गच्छवासम्मि ।
तहवि य एगविहारे, जा जोग्गा तीए भावेंति ॥

यद्यपि द्विविधा शिक्षा आद्यसूत्रग्रहणसामाचार्यासेवनलक्षणा भवति गच्छावासे तथापि गच्छावासे योग्यतातः एकाकिविहारे या योग्या शिक्षा तद्योग्यसामाचार्यभ्यासरूपा तया स आत्मान भावयति तद्भूतसामाचार्यभ्यासश्च पञ्चभिर्भावनाभिर्भवति । ततस्ताभिर्विशेषतः आत्मानं परिकर्म्मयति ।

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पंचहा वुत्ता, पडिमं पडिवज्जत्तो ॥

प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य प्रपित्सुकामस्य तुलना परिकर्म्मणा । पञ्चधा पञ्चप्रकारा प्रोक्ता तद्यथा तपसा सत्वेन सूत्रेण एकत्वेन बलेन च । तत्र तपोभावनाप्रतिपादनार्थमाह ।

चउत्थेण उ जतते, छट्ठेहिं अट्ठमेहिं दसमेहिं ।
बारसचउदसमेहि य, धीरो धीमं तुलेअप्पा ॥

प्रथमतश्चतुर्थेन यतते । किमुक्तं भवति । प्रथमतो नियमेन त्रीन् वारान् चतुर्थं करोति तत्र यदि त्रिरपि कृते चतुर्थे क्लाम्यति ततस्तावदभ्यस्यति चतुर्थं यावच्चतुर्थं कुर्वन् मनागपि न क्लाम्यमुपयाति । एवं चतुर्थेन यतित्वा त्रीन्वारान्षष्ठ करोति तत्रापि यदि वारत्रय कृते षष्ठे क्लाममुपैति ततश्चतुर्थवत् षष्ठेऽप्यभ्यासं तावत्करोति यावत्तस्यापि करणे ग्लानिर्नोपपद्यते एवं षष्ठैरात्मानं भावयित्वा अष्टमैर्भावयति । तदनन्तर दशमैस्ततो द्वादशैरुपलक्षणमेतत् ततोऽनेन प्रकारेण षोडशादिभिश्च धीरो धृतिमान् आत्मान तुलयति परिकर्म्मयति स च तावत्तुलयति । यावत्षण्मासान् सोपसर्गेऽपि न क्षुधाहानिमुपगच्छति उक्तंच ।

जाव छम्मासो पोरिसि-माई तवो उ तं तिगुणं ।
कुणइ छुहा वि जइडा, रिगिनदिसीहेण दिट्ठंतो ॥
एक्केक्कं ताव तवं, करेति जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी न होइ जइया वि, होज्ज छम्मास उवसग्गो ॥

तत्र यदुक्तं चतुर्थादिषु तावदभ्यासं करोति यावन्न क्लाम्यति तत्र गिरिनदीसिंहदृष्टान्तः । तथाहि यथा सिंहो गिरिनदीं तरन् परतटे चिह्नं करोति यथा अमुकप्रदेशो वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्यमिति संचरन् तीक्ष्णेनोदकवेगेनापह्रियते । ततः प्रत्यावृत्त्योत्तरति । एवं प्रमाणतस्तावत्तरणं करोति यावदभग्नः सन् सकलामपि गिरिनदीं शीघ्र तरति । एव साधुरपि यदि चतुर्थं षष्ठमष्टमादि वा त्रीन् वारान् कृत्वा क्लमं याति ततश्चतुर्थादिकं प्रत्येकं तावदभ्यस्यति यावन्न क्लाम्यतीति । तथा चैनामेव सिंहदृष्टान्तयोजनामाह ।

जह सीहो तह साहू, गिरिनादिसीहो तवोधणो साहू ।
वेयावच्चाकिलंतो, अभिन्नरोमो य आवासे ॥

यथा सामान्येन गुहायां वर्त्तमानः सिंहस्तथा गच्छे वर्त्तमानः साधुर्यथा च गिरिनदीमुत्तरन् अभ्यासकरणे प्रवृत्तः सिंहस्तथा तपोधनः तपःकरणाभ्यासप्रवृत्तः साधुः । एवं चतुर्थषष्ठाष्टमादि तपः कुर्वन् स आत्मवैयावृत्त्यकरो ज्ञातव्यः । कस्मादिति चेदुच्यते । यस्मात्स तपसा पूर्वसञ्चित कर्म्ममल शोधयन्नात्मन एवोपकारे वर्त्तते । ततः स आत्मवैयावृत्त्यकरः एवमात्मनो वैयावृत्त्ये अक्लान्तः सन् (आवासेत्ति) अवश्यकरणीयेषु योगेषु न भिन्नरोमा भवति । गतं तपोभावनाद्वारम् ।

अधुना सत्वभावनाद्वारमाह ।

पढमा उवस्सयम्मि, बिइया बाहिं तइया चउक्कम्मि ।
सुण्णघरम्मि चउत्थी, पंचमिया तह मसाणम्मि ॥

प्रथमा सत्वभावना उपाश्रये कथमिति चेत उपाश्रस्यान्तर्निशि प्रतिमया प्रतिदिवसमवतिष्ठते स च तथावतिष्ठमानो मूषिकमार्जारादिस्पर्शनदर्शनादिभय तावद् जयति यावत्तत्स्पर्शनादिभावे रोमोद्भेदमात्रकरमपि भय नोपजायते । उक्तच "मक्कस्स व खइयस्स व, मूसियमादीहि वा निसिचरेहिं । जइ न विजायइ रोमु-ग्गमो वि तह चेव वाऽोवा " द्वितीया सत्वभावना उपाश्रयस्य बहिरुपच्छन्ने तत्र हि प्रतिमां प्रतिपन्नस्य बहुतरं मार्जारादिभय संभवति । ततस्तज्जयार्थं द्वितीया । भवसत्वभावना तृतीया सत्वभावना चतुष्के तत्रातिप्रभूततरं त्रिविधं तस्कराऽरक्षिकस्वापदादिभ्यो भयम् । चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमीका स्मशाने । तत्र हि यथोत्तर सविशेषा सविशेषतरा त्रिविधा बाधा उक्तच 'सविसेसतरा बाहिं, तक्करआरक्खिसावयादीया । सुण्णघरमसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा' एताभि पञ्चभिरपि सत्वभावनाभिस्तावदात्मानं भावयति यावद्दिवा रात्रौ वा देवैरपि भीमरूपैर्न चालयितुं शक्यते । उक्तं च " देवेहिं भेसिया अवि दिया वा रातो वा भीमरूवेहिंतो सत्तभावणाए वहति भरं निज्भतो संगलं" । गता सत्वभावना ।

संप्रति सूत्रभावनामाह ।

उक्कवितोवकवियाइं, सुत्ताइं करेइ सोयव्वाइं ।
मुत्तड्ढपोरिसीतो, दिणे य काले अहोरत्ते ॥

सोऽधिकृतप्रतिमाप्रतिपत्तिनिमित्त परिकर्म्मकारी साधुः सर्वाण्यपि सूत्राणि उत्कवितोऽपकवितानि करोति । किमुक्तं भवति उपरितनादारभ्योत्करेणाधोऽवतरति मूलाद्वा समारभ्य क्रमेणोपर्युपर्यवगाहते । एकान्तरितायाः एकग्रहणेन सर्वं मूलादारभ्य तावत्परावर्तयति यावत्पर्यन्तः । ततः उपरितनभागादारभ्य गुणितं मुञ्चन् सर्वमगुणितं तावत्पश्चादानुपूर्व्या गुणयति

यावन्मूत्रमित्यादि । ननु पूर्वमपि तस्य स्वाभिधानमिव सर्वमपि श्रुतं पूर्वादिरुपमतिपरिचितमेव ततः कस्मादेवमिदानीमभ्यस्यति उच्यते कालपरिमाणावबोधनिमित्तम् । तथा हि स तथा सूत्रमाचारनामकनवमपूर्वगततृतीयवस्तूक्तप्रकारेण परावर्तयति । यथा उच्छ्वासपरिमाण यथोक्तरूपमवधारयति । तत उच्छ्वासपरिमाणावधारणात् उच्छ्वासनिःश्वासपरिमाणावधारणे तस्मात्स्तोकस्य स्तोकान्मुक्तस्य मुहूर्तार्द्धपौरुष्यान्यां पौरुष्या. पौरुषीभिर्दिनानामुपलक्षणमेतत् रात्रीणां च दिनरात्रीभ्यां वाऽहोरात्राणामेवं मुहूर्तात् पौरुषीदिनानि अहोरात्रांश्च काले कालविषये जानाति । उक्त च । "जइ वि य से वण्णादी, सनाममिव परिचिय सुय तस्स । कालपरिमाणहेतुं, तहावि खलु तज्जय कुणति । उस्सासीतो पाणू, ततो य थोवो ततो वि य मुहुत्तो । मुहुत्तेहिं पोरिसीतो, जाणति निसाय दिवसा य" उक्ता सूत्रभावना ।

सांप्रतमेकत्वभावनामाह ।

अन्नो देहातो अहं, नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं ।
सो किं वि साहरिक्कं, न कुणइ देहस्स भंगे वि ॥

अह देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्म्मणा कुर्वत शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्ध स दिव्यादिषु उपसर्गवेलायां देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि किञ्चिदपि (साहरिक्कमिति) उच्छ्वास न करोति । गता एकत्वभावना ।

सम्प्रति बलभावनामाह ।

एमेव य देहबलं, अभिक्खमासेवणाए तं होइ ।
लंखकमल्ले उवमा, आसकिसोरे य जोग्गविए ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण बलभावनयापि देहस्तथा भावयितव्यो यथा देहस्य करणीयेषु योगेषु बल न हानिमुपगच्छति ननु तपसा क्रियमाणेन नियमतो देहबलमुपगच्छति ततः कथमुच्यते बलभावनया तथा देहो भावयितव्यो यथा देहबल न हानिमुपयातीति सत्यमेतत् किं तु देहबल धृतिबलसूचनार्थं ततोऽयं भावार्थो बलभावनया तथा यतेत यथा देहोपचयेऽपि धृति समुत्साहवती समुत्साहमनितरां समुपजायते । यथा प्रबलामपि परीषहचमूमतिसोपसर्गामपि लीलया योधयति । तथा चोक्तं "काम तु सरीरबल, हायति तवभावणा परुत्तस्स । देहावए वि सत्ती, जह होति धिती तहा जयइ । कारिणो परीसहचमू, जइ उव्वेज्जाहि सोवसग्गावि । दुद्धरपहकर वेगा, भय जणणी अप्पसत्ताण ॥ धितिधणियबद्धकच्छो, जो होइ अणाइलो तमब्बहितो । बलभावणाए धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ" ततोऽपि च सर्वा अपि भावना धृतिबलपुरस्सरा । विशेषतो धृतिबलभावना भावयितव्या । प्रबलदैवाद्युपसर्गोपनिपातेऽपि स्वकार्यं साधयति न खलु धृते. किंचिदसाध्यमस्ति । आह च । " धितिबलपुरस्सरातो , हवति— सव्वावि भावणा तोया । त तु न विज्जइ सत्त, ज धिइमतो न साहेइ " । तच्चतपोबलप्रभृतीनामभीक्ष्णसेवनया भवति । अत्रोपमा दृष्टान्तो लंखको मल्लश्च न केवलं लंखको मल्लकश्च दृष्टान्तः किं त्वश्वकिशोरश्च किंविशिष्ट इत्याह । यो ज्ञापितः परिकर्म्मित इत्यर्थ. । एषा च दृष्टान्तानामिव भावना । लंखको ऽभ्यास कुर्वन्नभ्यासप्रकर्षवशतो रज्ज्वाग्रपि नृत्य करोति । मल्लोऽपि करणानि पूर्वं दुःखेनाभ्यस्यन् कालेन कृताभ्यासः पश्चाद्यत्नेन प्रतिमल्लं जयति । अश्वकिशोरोऽपि हस्त्यादिभ्यो भय गृह्णानो दुःख तत्पार्श्वे प्रथमतः स्थाप्यमानोऽभ्यासप्रकर्षवशतो नमनागपि तद्भयं करोति । तथा च सति संग्रामे हस्त्यादिभिश्च परि भवने ऽपि न भङ्गमुपयाति । एषा दृष्टान्तभावना । दार्ष्टान्तिकयोजना त्वियम् एवमभीक्ष्णासेवनया तपसा न क्लाम्यति सत्त्वावष्टम्भतो देवादिभ्यो न बिभेति । सूत्रतः सूत्रार्थचिन्तनप्रमाणेन काल दिनरात्रिगतागतरूप जानाति । एकत्वभावनातो यथोक्तस्वरूपो निस्सङ्गो भवति । बलभावनातोऽत्यन्त्य वष्टम्भतः प्राणात्ययेऽपि नात्मानं मुञ्चति । तदेव परिकर्म्मकरणं व्याख्यातम् । सम्प्रति 'दो जोहा' इत्येतत् व्याख्यातव्यम् । तत्र परिकर्म्मणि कृते आचार्येण स परीक्षणीय' किमसौ कृतसम्यक्परिकर्म्मा किं वा नेति तत्र द्वे योधनिदर्शने ते एवाह ।

पज्जोयमंतीवई खंम—कणसाहस्सिमल्लपारिच्छा ।
महकाल छगलसुरघर, तालपिसाए करे मंसं ॥

अवन्तीपति प्रद्योत. खण्डकर्णो नाम मन्त्री । अन्यदा राज्ञः पार्श्वे साहस्रिकः साहस्रिकयोधी मल्ल समागत । तस्य खण्डकर्णनामात्येन महाकालश्मशाने छागेन सुराघटेन परीक्षा कृता ॥ तत्र तालप्रमाण पिशाचस्तालपिशाचस्तस्य करे हस्ते मांसं दत्तवान् । द्वितीयो मल्ल आगत. सोऽपि तथैव परीक्षितः केवल स तालपिशाचाद्भयमगमत् ॥ एष गाथा सङ्क्षेपार्थ. । भावार्थे कथानकादवसेयस्तच्चेदम् । अवती जणवए पज्जोयस्स रण्णो मती खंडकण्णो नाम अन्नया सहस्सपि जो जुज्झेइ सो आगतो ओलग्गामित्ति रायाण विण्णवेत्ति रण्णा भणिय ओलग्गाहि ततो सो भणइ मम वित्ती जा सहस्सजोहाए सा दायव्वा ॥ ततो खंडकण्णो चितेइ । परिक्खामि ताव एयस्स सत्त जइ सत्तमतो । होइ ततो सच्च सहस्सजोही ततो खंडकण्णेण छगलओ सुरघडओ य दातु भणितो अज्ज कण्हचउद्दसीए रत्तिं महाकाले मसाणे भक्खेयव्व । ततो सो महाकाल गतु छगलय उद्दवेत्ता पकेलउ मस खाइय सुर च पाउमाढत्तो नवरं तालपिसातो आगतु हत्थं पसारेति मम वि देहित्ति । ततो सो सहस्सजोही अभीतो पिसायस्स वि देइ । अप्पणो य खायति य रण्णा य पच्चतियपुरिसा पडियारगा पेसिया ते जहवित्त पासित्ता रण्णो खंडकण्णस्स य कहेंति । सच्च सहस्सोही एसोत्ति वित्ती दिण्णा अन्नो वि आगंतु विण्णवेति ओलग्गामित्ति । सोवि तहेव परिक्खिउमाढत्तो । तालपिसातो आगतो । भीतो नट्ठो परिचारगेहिं रण्णो खंडकण्णस्स य जहावित्त कहिय । न दिण्णा सहस्सजोहवित्ती " । एवमाचार्योऽपि किमय कृतसम्यक्परिकर्म्मा किं वा नेति तपःप्रभृतिभि त परीक्षेत । कथमिति चेदत आह ॥

न किलामति दीहेण वि, तवेण न वि तासितो वि वीहेति ।
छणोवि भिते वेलं, सहेति पुट्ठो अवितहं तु ॥
परपच्चक्संथुएहिं, निसिज्जई दिट्ठि एगमाईहिं ।
दिट्ठीसुहवसेहि य, अब्भत्थवलं समूहंति ॥

आचार्यस्तपःकारापणादिना प्रकारेण त सम्यक्परीक्षेत तद्यदा दीर्घेणापि तपसा न क्लाम्यति तदा स तपःपरिकर्म्मितो ज्ञातव्य । यदा तु न विभासितो मार्जारप्रभृतिश्वापदादिभिर्न बिभेति तदा सत्वपरिकर्मित' यदा तु मेघच्छन्ने नभसि वसतिमध्ये वा स्थितः कियद्गत दिवसस्य कियद्वा गत रात्रेः कियद्वा शेषमिति दिवसस्य रात्रेर्वा वेलां पृष्टः सम्यगवितथां साधयति कथयति तदा ज्ञातव्यः स सूत्रभावनापरिकर्म्मित. । तथा पूर्वसस्तुता भार्याश्वश्रूश्वशुरादयस्तेषु पूर्वसस्तुतेषु व,

न्दनार्थमुपागतेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात् । दृष्टि-रागादिभिर्न स्निग्धदृष्ट्यादिभि· आदिशब्दात् मुखविकाशादि-परिग्रहः न सज्यते न सङ्गमुपयाति । तदा स एकत्वभावनाप-रिकर्म्मितो वेदितव्यः । एतदेव व्याचष्टे । दृष्टिमुखवर्णाभ्यां स्नि-ग्धया दृष्ट्या अर्द्धावलोकनेन स्फारीकृतकान्तिमुखवर्णकरणेन च उपलक्षणमेतत् । सम्भाषादिना च तस्याध्यात्मबलमेकाकित्वभा-वनाबल (समूहति) परिभावयन्ति सूरयः । बलभावनामाह ।

उभयतो किसो किसदढो, दढो किसोया वि दोहि वि दढो य ।
वीयचरमापसत्था, धितिदेहं ममप्पिया भंगा ॥

बलचिन्तायां चतुर्भङ्गी तद्यथा उभयतो धृतिदेहाभ्यां कृश· किमुक्तं भवति । शरीरेण कृशो धृत्या च कृश· एष प्रथमो भङ्ग· (किसदढोत्ति) शरीरेण कृशो धृत्या च दृढ एष द्वितीय· (दढो किसो यावित्ति) शरीरेण दृढो धृत्या कृशः एष तृतीय· । द्वाभ्यामपि च शरीरेण धृत्या च दृढ एष चतुर्थः । अत्र द्वितीय-चतुर्थौ भङ्गौ धृतिदेहसमाश्रितौ धृतिदेहविषयौ प्रशस्तावेकाकि-विहारप्रतिमायोग्यौ द्वितीयस्य दृढधृत्याश्रयत्वात् । चरमस्य दृढ-धृतिदेहाश्रयत्वात् । एते च एकाकिविहारप्रतिपत्तये कृतपरिक-र्म्माणः स्वयमेवात्मानं तुलितमतुलितं वा प्रायो जानन्ति । ज्ञात्वा च प्रतिमाप्रतिपत्तये आचार्यान्विज्ञपयन्ति तथा चाह ।

सुत्तत्थझरियसारा, सुत्तेण कालं तु सुट्ठु नाऊणं ।
परिचिय परिकम्मेण य, सुट्ठु तुलेऊण अप्पाणं ॥
तो विन्नवेंति धीरा, आयरिए एगविहरणमतीओ ।
परियगसुय सरीरे, कयकरणा निव्वसड्ढाणे ॥

सूत्रार्थयोर्क्षरणेन क्षरणेन सारा· शोभनाः सूत्रार्थक्षरणसाराः सूत्रेण सूत्रपरिकर्म्मतं कालं दिवसरात्रिगतमप्रच्छन्नगगनादाव-पि सुष्ठु ज्ञात्वा परिचितेन स्वभ्यस्तेन परिकर्म्मणा तपःप्रभृति-परिकर्म्मणा सुष्ठु आत्मान तुलयित्वा धीरा महासत्वा एकवि-हरणमतिका एकाकिविहाराभिप्रायाः पर्याये गृहस्थपर्याये प्रव्रज्यापर्याये च श्रुते पूर्वगते शरीरे च कृतकरणा· कृताभ्या-सास्तीव्रश्रद्धाका प्रवर्द्धमानश्रद्धाकास्ततस्तुलनानन्तरमाचार्या-दीन् विज्ञपयन्ति । अत्र यो नाचार्य· स आचार्यं विज्ञपयति । यथा भगवन् कृतपरिकर्म्मोहमिच्छामि युष्माभिरनुज्ञात एकाकिवि-हारप्रतिमां प्रतिपत्तुमिति । य पुनराचार्यस्स स्वगच्छाय कथ-यति तथा परिकर्म्मितोऽहमत· प्रतिपद्ये एकाकिविहारप्रतिमा-मिति यदुक्तं । "परियागसुयसरीरे इति" तद्व्याख्यानार्थमाह ।

एगूणतीसवीसा, कोडी आयारवत्थुदसमं च ।
सयपणं पुणआदि-ल्लगाण तिएहं तु अन्नयरं ॥

द्विविधपर्यायो गृहिपर्यायो व्रतपर्यायश्च । तत्र यो जन्मत आरभ्य पर्याय· स गृहिपर्याय· स च जघन्यत एकोनत्रिंशद्व-र्षाणि कथमिति चेदुच्यते । इदं गर्भाष्टमवर्षप्रव्रजितो विंशा-तिवर्षपर्यायस्य च दृष्टिवाद उद्दिष्ट· । एकेन वर्षेण योगः समासः । सर्वमीलनेन जातान्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि । व्रतपर्याय प्रव्रज्याप्रतिपत्तेरारभ्य स च जघन्यतो विंशतिवर्षाणि ताव-त्प्रमाणपर्यायस्यैव दृष्टिवादोद्देशाभावात् । उत्कर्षतो जन्मप-र्यायो वा देशोना पूर्वकोटी एतच्च पूर्वकोट्यायुष्के वेदि-तव्य नान्यस्य । उक्त च । "पडिमापामिवज्जस्स उ, गिहिपरिया-तो जहण्णगुणतीसा । जति परियातो वीसा, दोण्हवि उक्कोस-देसूणा" । श्रुतं जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारनामक वस्तु यावत्तत्र कालज्ञानस्याभिधानात् । उत्कर्षतो यावद्दशम पूर्वं चशब्दस्यानुक्तार्थसूचनाद्देशोनमिति द्रष्टव्यम । तथा चो-क्तम् " आयारवत्थुतइयं, जहन्नगं होइ नवमपुव्वस्स । तहियं कालण्णाणं, दस उक्कोसाणि भिन्नाणि" । संहनन पुनरादिमानां त्रयाणां संहनननामन्यतमद्यदा तेन एष प्रतिमां प्रतिपद्येऽह-मिति तदा स स्थिरीकरणनिमित्तमिति वक्तव्य· ॥

जइ विसि तीए भवेओ, आयपरे दुक्करं खु वेरग्गं ।
आपुच्छणेणुसज्जण-पमिवज्जणगच्छसमवायं ॥

यद्यप्यसि भवसि त्व तया परिकर्म्मणया उपेतो युक्तः तथाऽप्या-त्मपरेषु आत्मपरविषयेषु आत्मसमुत्थेषु परसमुत्थेषु उभयसमु-त्थेषु चेत्यर्थ· । परीषहेष्विति गम्यते । दुष्करं खलु वैराग्य राग-निग्रहणमुपलक्षणमेतत् द्वेषनिग्रहण चेति हेतोर्भूय आप्रच्छना क्रियते किं त्वया कृता सम्यक्परिकर्म्मणा किं वा नेति । एवमा-प्रच्छनायां कृतायां यदि सम्यक्कृतपरिकर्म्मा ज्ञातो भवति तत-स्तस्य विसर्जनमनुज्ञा तस्य क्रियते । अनुज्ञातश्च गच्छसमवायं कृत्वा प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रतिपादनं प्रतिमायाः प्रति-पत्तिं करोति । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषु· पूर्वार्द्धं तावद्व्याख्यानयति ॥

परिकम्मितो वि वुच्चइ, किमु य अपरिकम्ममंदपरिकम्मा ।
आयपरोभयदोसेसु, होइ दुक्खं खु वेरग्गं ॥

परिकर्मितोऽपि सुष्ठु कृतपरिकर्म्मापि उच्यते आपृच्छ्यते इति तात्पर्यार्थः । यथा त्वया कृता सत्परिकर्म्मणा किं वा न कृतेति किमुत अकृतपरिकर्मा मन्दपरिकर्म्मा वा ते सुतरामाप्र-च्छनीया इति भावः । कस्मादेवमाप्रच्छना क्रियते इति चेदत आह । यत आत्मपरोभयदोषेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीष-हेषु समुत्थितेषु दु·खं खलु भवति । वैराग्यं रागोपशमलक्षण-मेतत् । द्वेषोपशमो वा ततो मा मूल प्रतिपत्तौ कश्चिद्व्याघात इ-त्याप्रच्छना क्रियते । अथ के ते आत्मपरोभया· समुत्थाः परीषहा इति तान्प्रतिपादयति ।

पढमवीयाऽलाभे, रोगे पन्नायिगा य आयाए ।
सीउण्हादीउ परे, निसहियाई उ उभए वि ॥

प्रथम· परीषह क्षुद् द्वितीय· पिपासा आदिशब्दात्तत्पर इत्या-दिपरीषहपरिग्रह· । तथा लाभपरीषहः रोगपरीषहः प्रज्ञादिकाः प्रज्ञादय· परीषहा आदिशब्दादज्ञानादिपरिग्रह · । एते आत्मनि आत्मसमुत्थाः परीषहाः । तथा शीतोष्णादयः शीतोष्णदंशम-शकादिपरीषहाः परे परविषयाः परसमुत्था इत्यर्थ· । नैषेधिकी-चर्यादय पुनः परीषहा उभयस्मिन् उभयसमुत्था· ।

संप्रति "करणेलगच्छगत्ति" व्याख्यानार्थमुपक्रमते ।

एएलु समुप्पन्नेसु, दुक्खं वेरग्गभावणा काउं ।
पुव्वं अभावितो खलु, स होइ एलगच्छोओ ॥

यः खलु पूर्वमभावितो यथोक्तपरिकर्म्मणया अपरिकर्मितो भवति । यथा शैक्ष एलकाक्षस्तस्य एतेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीषहेषु दु·खं महत्कष्टं वैराग्यभावना । उपलक्षणमेतत् द्वेषनि-ग्रहभावनाश्च कर्तुं न शक्यन्ते एव रागद्वेषनिग्रहभावनां कर्तुमि-ति भावः । यस्तु सम्यक्कृतपरिकर्मा भवति स करोत्ययत्नेन वैराग्यभावनां यथा कृपकस्तथा चाह ।

परिकम्मणाए खवगो, सेह वलामोमिए वि तहगच्चि ।
पाभातियउवस्सगे, कयम्मि पारेइ सो सेहो ॥

पारेहि तं पि भंते, ! देव य अच्छी चवेडपाडणया ।
काउस्सग्गा कंपण-एलगमए एइ निव्वित्ती ॥

परिकर्म्मणायामुदाहरणं क्षपकः । चलामोटिकायां श्रुतपर्यायत्वेन परिकर्म्मणायामेव प्रतिपक्षोदाहरणं शैक्षकः सोऽपि शैक्षकस्तथा क्षपक इव तिष्ठति कायोत्सर्गेणावतिष्ठते । ततो देवतया प्राभातिके उपसर्गे कृते स शैक्षकः पारयति पारयित्वा च क्षपकं ब्रूते । यथा भदन्त ! त्वमपि पारय जातं प्रभातमिति ततो देवतया चपेटाप्रदानेन तस्याक्ष्णोः पातनमकारि तदनन्तरं शैक्षकानुकम्पया देवताराधनार्थं कायोत्सर्गं कृतस्तेन देवताया आकम्पनमावर्जनमभूत्तत सद्योमारितस्य एडकस्य प्रदेशयोरक्ष्णोस्तत्र निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः कृता । एष गाथाद्वयसंक्षेपार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् " एगो खमगो एगल्लविहारपडिमाए परिकम्मं करेइ सो पडिमं ठितो सुत्तत्थाणि करेति । अण्णो खमगो अप्पसुत्तो आयरियं विन्नवेति । अहंपि परिकम्मं करेमि । आयरिएण भणियं तुमं सुणेण अपज्जत्तो न पाओग्गोसि वारिज्जमाणो असुणित्ता तस्स जमं ततो तहेव पडिमं ठितो । देवया चिंतेइ एस आसायणे वट्टतित्ति । अड्डरत्ते पभायं दंसेति । ततो सेहखमगो पारित्ता भणति । त खमगं पारेहि । सेह खमगो देवयाए चवेडाए आहतो । दोवि अच्छीणि पडियाणि त दट्टुं इयरो तदणुकंपणट्ठा देवयाए आकंपणनिमित्तं धणियं काउस्सग्गेण ठितो ॥ ततो सा देवया आगता भणति भगवं ! संदिसह किं करेमि । खमगेण भणियं कीस ते सेहो दुक्खावितो । देहि से अच्छीणि । ताहे तीए देवयाए भणीयं अच्छीणि अप्पवरेसी चुयाणि खमगो भणइ कहवि करेहि । ताहे सज्जो मारियस्स एलगस्स सप्पएसाणि । सेहखमगस्स लाइयाणि " । सांप्रतमेतस्य निदर्शनोपनयमाह ।

भावियमभावियाणं, गुणा गुणाइ विंति तो थेरा ।
वितरंति भावियाणं, दव्वादिसु भेयपडिवत्ती ॥

भावितानां कृतपरिकर्म्मणानां गुणा यथा क्षपकस्य अभावितानामकृतपरिकर्म्मणानामगुणा यथा शैक्षकः क्षपकस्य इति एव भाविता गुणा गुणज्ञा स्थविरा आचार्यास्ततः आपृच्छानन्तरं यान् भावितान् सम्यग् जानन्ति तेषां भावितानां प्रतिमाप्रतिपत्तिं वितरन्ति समनुजानन्ति एतेन " आपुच्छणा विसज्जण " इत्येतद्व्याख्यातमधुना पडिवज्जण इत्येतद्व्याख्यानायाह । (दव्यादिसु,भेयपडिवत्ती) द्रव्यादौ द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु प्रशस्तेषु प्रतिमायाः प्रतिपत्तिर्भवति कथमित्याह ।

निरुवसग्गनिमित्तं, उवसग्गं वंदिऊण आयरिए ।
आवस्सियं च काउं, निरवेक्खो वच्चए भयवं ॥

पूर्वं समस्तमपि स्वगच्छमागत्य यथार्हं क्षमयित्वा तदनन्तरमाचार्येण सकलस्वगच्छसमन्वितेन सकलसंघसमन्वितेन च शैक्षनिरुपसर्गनिमित्तमुपसर्गाभावेन सकलमपि प्रतिमानुष्ठानं निर्वहत्वित्येतन्निमित्तं कायोत्सर्गं करोति तद्यथा " निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए " इत्यादि । कायोत्सर्गानन्तरं च सूत्रोक्तविधिना प्रतिमां प्रतिपद्य आचार्यान् वन्दते वन्दित्वा च आवश्यकीं कृत्वा स भाण्डमात्रोपकरणः सिंहगुहातो निरपेक्षं पूर्वापेक्षाविरहितो भगवान् व्रजति आचार्योऽपि सकलसंघसमन्विता पृष्ठतोऽनुव्रजन्ति । ते च तावद्गच्छन्ति यावद्ग्रामस्य नगरस्य वा आघाटस्ततो निरीक्षमाणास्तावदासते यावद्दृष्टिपथातीतो भवति ततः सर्वे विनिवर्त्तन्ते ।

सम्प्रति वक्ष्यमाणवक्तव्यतासंसूचनाय द्वारगाथामाह ।

परिचियकालामंतण-खामणतवसंजमे य संघयणा ।
भत्तोवहिनिक्खेवे, आवणो लाभगमणे य ॥

परिचितश्रुतः सन् यावन्तं कालं परिकर्म यस्य करोति तस्य तावत्कालो वक्तव्यः तथा स्वगणामन्त्रणं वक्तव्यं तथा तपः संयमः संहननं तथा भक्तमलेपकृदादि उपधिर्यावत्संख्याको जघन्यत उत्कर्षतश्च तावत्संख्याको वक्तव्य ॥ तथा निक्षेप उपधेर्न कर्तव्यो वसतेरन्यत्र गच्छतेति वाच्यम् । तथा मनसापि यत्प्रायश्चित्तमापन्न भवति तद्दातव्यम् । तथा सचित्ताचित्तलाभो यथा कर्त्तव्यस्तथा भणनीय । तथा गमनं विहारस्तद्यस्यां पौरुष्यां कर्तव्य तस्या कथयितव्यम् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतः परिचितकालद्वारमाह ।

परिचितसुओ उ मग्गासिर-माई जाते उ कुणति परिकम्मं ।
एमो चिय सो कालो, पुणरेव गणं उवगम्मि ॥

परिचितमत्यन्तमभ्यस्तं स्वीकृतं श्रुतं येन स परिचितश्रुतः सन्मार्गशीर्षमासमादिं कृत्वा यत्परिकर्म्म करोति । एष एतावत्प्रमाणः एव साधोः प्रतिमाप्रतिपित्सोर्जघन्यपदे उत्कर्षतः कालः परिकर्म्मणाया एतावत्प्रमाणोत्कृष्टपरिकर्म्मणाकालानन्तरं च यद्यप्यवधानप्रतिमा प्रतिपित्सुस्तथापि अन्यस्य सुखस्य वर्षाकालमवधिन समीपमुपाद्यमाषाढमास इत्यर्थः । तस्मिन्वर्षाकालयोग्यमुपधिं ग्रहीतुं पुनरेवागच्छति । स्वगणमिति एवं तावदुत्कालितमुत्क्रमिदानीमेतदेव सविशेषतरं विवृणोति ।

जो जति मासे काहिति, पडिमं सो तत्तिए जहन्नेण ।
कुणति मुणी परिकम्मं, उक्कोसं भावितो जाव ॥

यो मुनिर्यति(यावत्) मासान् प्रतिमां करिष्यति स तति(तावत्) मासान् जघन्येन परिकर्म्म करोति तद्यथा मासिकीं प्रतिमां प्रतिपित्सुरेकं मासं द्वैमासिकीं द्वौ मासौ त्रैमासिकीं त्रीन् मासान् एवं यावत्सप्तमासिकीं सप्त मासान् एवं च मार्गशीर्षादारभ्य सप्तमासिक्या परिकर्म्म ज्येष्ठमासे समाप्तिमुपयाति । एतानेव च जघन्यपदे उत्कृष्टकाल । ततः परं प्रतिमानां मासैः परिमाणासंभवात् उत्कर्षतस्तमधिकृत्य पुनः परिकर्म्मणाकालो यावता कालेन परिपूर्णमागमोक्तेन प्रकारेण भावितो भवति तावान्वेदितव्य । तत्र जघन्यपदपरिकर्म्मणाकालमधिकृत्य कासाचित्प्रतिमानां तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिः कासांचिद्वर्षान्तरेऽभिधित्सुराह ॥

तत्तरिसे कासिंची, पडिवत्ती अन्नहिं उवरिमाणं ।
आइल्लपइण्णस्स उ, इच्छाए भावणा सेसे ॥

कासांचिदाद्यानां प्रतिमानां तद्वर्षे एव यस्मिन्वर्षे परिकर्म्मसमारब्धवान् तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिरुपरितनीनामन्यस्मिन्वर्षे । इयमत्र भावना । मासिक्या द्वैमासिक्यास्त्रैमासिक्याश्चातुर्मासिक्या वा तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिः । कस्मादिति चेत्परिकर्म्मणाकालस्य प्रतिमाकालस्य च आषाढमासपर्यन्तादर्वाक् लभ्यमानत्वात् । पाञ्चमासिको षाण्मासिकीसाप्तमासिकीनामन्यस्मिन्वर्षे परिकर्म्म अन्यस्मिन्वर्षे प्रतिपत्तिर्मार्गशीर्षमासादारभ्य परिकर्म्मकालस्य प्रतिमाकालस्य चाषाढमासपर्यन्तादर्वाग् लभ्यमानत्वादिति येन च या प्रतिमा पूर्वमाचीर्णा । तस्याचीर्णप्रतिमस्य तां प्रतिमां प्रति परिकर्म्मणा इच्छया यदीच्छा भवति ततः करोति नो चेन्नेति । किमुक्तं भवति । चिरकालकृततया यदि गताभ्यासो भवति ततः करोति परिकर्म्मणा-

न्यथातिशेषे येन या प्रतिमा पूर्वं नाचीर्णा तस्य तां प्रति नि-
यामाऽऽभावना परिकर्म्मणा भवति ।

साम्प्रतमामन्त्रणक्षामणतपःसंयमद्वाराण्याह ।

आमंतेऊण गणं, सबालवुड्ढा उ खमावेत्ता ।
उग्गतवभावियप्पा, संजमपढमेव वितिए वा ॥

गणं गच्छं सह बाला येस्ते सबालास्ते च ते वृद्धाश्च तैराकुल-
मामन्त्र्य समाहूय क्षमयति । यथा यदि किञ्चित्प्रमादतो मया
न सुष्ठु भवतां वर्त्तितं तदहं निःशल्यो निष्कषायः क्षमयामीति ।
ये च पूर्वविरुद्धास्तानेवं सविशेषतः क्षमयति । एवमुक्ते ये ल-
घवस्ते आनन्दाश्रुप्रपातं कुर्वाणा भूमिगतशीर्षास्तं क्षमयन्ति
ये पुनः श्रुतपर्यायवृद्धास्तान् पादेषु पतित्वा स क्षमयति । उक्तं
च "जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु मे वट्टियं मए पुव्विं । तं खामे-
मि अहं खु, निस्सल्लो निक्कसाओ य । आणंदअंसुपायं, कुणमा-
णा ते वि भूमिगयसीसा । त खामेंति जहारिहं, जहारिहं खा-
मिया तेण" । एवं क्षमयतस्तस्य के गुणा इति चेत् उच्यते । निः
शल्यता विनयप्रतिपत्तिर्मार्गस्य प्रकाशनम् अपकृतभारस्येव भार
वाहस्य लघुता एकाकित्वप्रतिपत्त्यभ्युपगमः । क्वचिदप्यप्रतिबद्ध-
ता । एते प्रतिमासु प्रतिपद्यमानासु क्षमयतो गुणाः । उक्तं च "खाम-
तस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणयदीवणा मग्गे ; लाघविणं एगत्त,
अप्पडिबंधो उ पडिमासु" । गतमामन्त्रणाद्वारम् । स एवं च क्षाम-
यित्वा भावितात्मा तपोभावनाभावितान्तः उग्रं तपः करोति । गतं
तपोद्वारम् । स च तथा प्रतिमां प्रतिपन्नः संयमे प्रथमे वा सा-
मायिकलक्षणे वर्त्तते । द्वितीये वा छेदोपस्थापने । तत्र प्रथमे म-
ध्यमतीर्थकरतीर्थेषु विदेहतीर्थकरतीर्थेषु च द्वितीये भरतादिषु
प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेषु एतच्च प्रतिपद्यमानकानधिकृत्योक्तं
वेदितव्यम् । पूर्वप्रतिपन्नाः पुनः पञ्चानां संयमानामन्यतमस्मिन्
संयमे भवेयुः उक्तं च । "पढमे वा बीए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि
पडिमातो । पुव्वपडिवन्नतो पुण,अन्नयरे संजमे हुज्जा" गतं संय-
मद्वारम् । अधुना भक्तद्वारमुपधिद्वारं चाह ।

एगाहियमलेवकडं, भत्तजहण्णेण नवविहो उवही ।
पाउरणवज्जियस्स उ, इयरस्स दसा वि जावाए ॥

भक्तमुपलक्षणमेतत् पानकं च अलेपकृतं कल्पते तथा प्रगृहीत-
मिहालेपकृद्भिक्षाया उपरितनानां तिसृणां भिक्षाणां मध्यमा-
मध्यग्रहणे चाद्यन्तयोरपि ग्रहणं ततोऽयमर्थः सप्तसु पिण्डैषणा-
सु मध्ये उपरितनानां चतसृणामन्यतमस्याः पिण्डैषणाया अभि-
ग्रहः । आद्यानां तिसृणां पिण्डैषणानां प्रतिषेधः एतच्च चूर्णिकारो-
पदेशात् विवृतम् तथाचाह चूर्णिकृत् " उपरिल्लाहिं चउहिं पिंडे-
सणाहिं अन्नयरीए । अभिग्गहो सेसासु तिसु उग्गहो इति " ॥
गतं भक्तद्वारमुपधिद्वारमाह । जघन्येनोपधिर्नवविधः । पात्र-
पात्रबन्ध-पात्रस्थापना-पात्रकेसरिका-पटल-रजस्त्राण-गोच्छ-
क-मुखवस्त्रिका-रजोहरणलक्षण एष च नवविधो जघन्यत
उपधिर्यः प्रावरणवर्जीकृतप्रावरणपरिहाराभिग्रहस्तस्य वेदि-
तव्यः । इतरस्य कृतप्रावरणपरिग्रहस्य दशादिको विज्ञेयो यावत्
द्वादशविधः । तत्रैकसौत्रिककल्पपरिग्रहे दशविधः सौत्रिककल्प-
द्वयपरिग्रहे एकादशविधः । कल्पत्रयस्यापि परिग्रहे द्वादशवि-
धः । गतमुपधिद्वारम् ।

सम्प्रति निक्षेपद्वारमाह ।

वसहीए निग्गमणं, हिंडंतो सव्वभंडमादाय ।
नमनिक्खिवइ जलाइसु, जत्थ से सूरो वयति अत्थं ॥

वसतेः सकाशाद्यदि निर्गमनं भवति ततो नवविधोपधिभार-
णैव भाण्डमुपकरणमात्मीयं वसतौ न निक्षिपति । किंतु सर्व-
भाण्डमादाय हिण्डते हिण्डमानश्च यत्रैव जलादिषु जले स्थले
ग्रामे नगरे कानने वने वा तस्य सूर्यो व्रजत्यस्तं तत्रैव कायो-
त्सर्गेण अन्यथा वाऽवतिष्ठते न पुनः पदमात्रमुत्क्षिपति । गतं
निक्षेपद्वारम् ।

अधुना आपन्नलाभगमनद्वाराण्याह ।

मणसावि अणुग्घाया, सच्चित्ते चेव कुणति उवदेसं ।
अच्चित्तजोगगहणं, भत्तं पंथो य तइयाए ॥

मनसापि आस्तां वाचा कायेन चेत्यपिशब्दार्थः । यानि प्राय-
श्चित्तानि आपद्यते तानि सर्वाण्यपि तस्यानुद्धातानि गुरूणि
भवन्ति । गतमापन्नद्वारम् । लाभद्वारमाह (सच्चित्तेत्यादि)
लाभो द्विविधः सचित्तस्य अचित्तस्य च तत्र सचित्तस्य प्रव्रजितु
कामस्य मनुष्यस्य अचित्तस्य भक्तपानादेः । तत्र यदा सचित्तस्य
लाभ उपस्थितो ज्ञायते यथा नूनमेष प्रव्रजिष्यति बतु स्या-
स्यति तदा तस्मिन्सच्चित्ते प्रव्रजितुमुपसम्पद्यमानतया सम्भाविते
उपदेशमेव करोति ननु त प्रव्राजयति । तस्य तामवस्थामुपग-
तस्य प्रव्रज्यादानानर्हत्वात् । एवकारो भिन्नक्रम स च यथा-
स्थानं योजितः अचित्तस्य पुनर्योग्यस्य भक्तस्य पानस्य वा ग्रहणं
करोति । गतं लाभद्वारम् । गमनद्वारमाह । भक्तं भिक्षाचर्या प-
न्थाः पथि विहारक्रमकरणाय गमनं तृतीयस्यां पौरुष्यां नान्यदा ।
तदा कल्पत्वात् तदेवं भिक्षोः प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिरुक्तः ।

संप्रति गणावच्छेदादिषु तमाह ।

एमेव गणायरिए, गणनिक्खिवणम्मि नवरि णाणत्तं ।
पुव्वोवहिस्स अहवा, निक्खिवणमपुव्वगहणं तु ॥

एवमेव अनेनैव भिक्षुगतेन प्रकारेण (गणित्ति) गणावच्छेदिनि
(आयरिएत्ति) आचार्योपाध्याये वक्तव्य किमुक्तं भवति यथा भि-
क्षौ प्रतिमां प्रतिपत्तु प्रतिपन्ने च विधिरुक्तस्तथा गणावच्छेदिनि
आचार्योपाध्याये च प्रतिपत्तव्य । तथा च सूत्रकारोऽपि तत्सूत्रे
अतिदेशत आह " एवं गणावच्छेदं एव आयरितोवज्झाए" एव
भिक्षुगतेन सूत्रप्रकारेण गणावच्छेद एवमेव आचार्यश्च उपा-
ध्यायश्च आचार्योपाध्यायम् । तद्यथा "गणावच्छेइए य गणातो
अवक्कम्मा एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से इ-
च्छेज्जा दोच्चं पि तमेव ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आ-
लोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा । पुणो छेदस्स परिहारस्स वा उव-
ट्ठाएज्जा । तथा आयरितोवज्झाए य गणातो अवक्कम्म एगल्लविहार-
पडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरे इत्यादि " व्याख्याऽप्यस्य सूत्रद्व-
यस्य तथैव । अथ किमविशेषेण भिक्षाविव प्रतिमाप्रतिपत्तिविधि-
रनुसरणीयो यदि वास्ति कश्चिद्विशेषस्तत आह (गणनिक्खेव-
णइत्यादि) नवरं नानात्वं भेदो गणनिक्षेपणे । इयमत्र भावना गणा
वच्छेदी गणावच्छेदित्वं मुक्त्वा प्रतिमां प्रतिपद्यते आचार्योऽन्यगण
धरं स्थापयित्वेति विशेषः । अथवा इदं भिक्षुगतविधेर्गणावच्छेदा-
चार्ययोर्विधिः । नानात्वं गणावच्छेदी आचार्यो वा पूर्वगृहीतमुपधिं
निक्षिप्य अन्यमुपधिं प्रायोग्यमुत्पाद्य प्रतिमां प्रतिपद्यते इत्युक्तम् ।
समाप्तप्रतिमानुष्ठानस्य गच्छे प्रत्यागमने राजादिभिः क्रियमाण
सत्कार कोऽपि भिक्षुर्गणावच्छेदी आचार्यो वा दृष्ट्वा जातसंवे-
गः सन् स्वाचार्याणां पुरत आपृच्छनं करोति । यथा भगवन्नह-
मप्येकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपद्य इति । ते चाचार्याः विविदिषु-
तद्विदो जानन्ति भूतं भाविनं चेति ॥ तस्यायोग्यतामुदीक्ष्मा-

सा प्रतिषेधनं कुर्वन्ति यथा त्वमयोग्य श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तत्वात् न च परिकर्म्मणा तद्योग्या त्वया कृतेति । स एवं प्रतिषिध्यमानोऽपि यत्र न तिष्ठति तदा सूरेर्वक्तव्यो यदि न स्थास्यसि तर्हि विनङ्क्ष्यसि यथा सा देवी का सा देवीति चेत् । अत आह । (देवीसंगामतो नीति) देवी राज्ञा वार्यमाणाऽपि ततो राज्ञः सकाशान्निर्गच्छति संग्रामे प्रविशतीति प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिः ।

इदानीं समाप्तिविधिमाह ।

तीरियउब्भामणियोग-दरिसणं साहु सन्नि व प्पाहे ।
दंडियभोइय असती, सावगसंघो व सक्कारं ॥

तीरितायां समाप्तायां प्रतिमायामुत्प्राबल्येन भ्रमन्तीत्युद्भ्रमा भिक्षाचरास्तेषां नियोगो व्यापारो यत्र स उद्भ्रामनियोगो ग्रामस्तत्र दर्शनात्मनः प्रकटनं करोति । ततः साधुं संयतं सञ्ज्ञिनं वा सम्यग्दृष्टिं श्रावकं (सप्पाहेत्ति) सन्देशयति । ततो दण्डिकस्य राज्ञो निवेदनं सत्कारकं करोति । तदभावे भोजिकस्तस्याप्यभावे श्रावकवर्गस्तस्याप्यभावे संघः साधुसाध्वीवर्गः । इयमत्र भावना । प्रतिमायां समाप्तायां यस्मिन् ग्रामे प्रत्यासन्ने बहवो भिक्षाचराः साधवश्च समागच्छन्ति तत्रागत्यात्मानं दर्शयति । दर्शयंश्च यं साधुं श्रावकं वा पश्यति तस्य सन्देशं कथयति । यथा समापिता मया प्रतिमा ततोऽहमागत इति । तत्राचार्या राज्ञो निवेदयन्ति । यथा अमुको महातपस्वी समाप्ततपःकर्मा संस्तदतिमहता सत्कारेण गच्छे प्रवेशनीय इति । ततः स राजा तस्य सत्कारं कारयितव्यस्तदभावे अधिकृतस्य ग्रामस्य नगरस्य वा नायकः तदभावे समृद्धः श्रावकवर्गस्तदभावे साधुसाध्वीप्रभृतिकः संघो यथाशक्ति सत्कारं करोति । सत्कारो नाम तस्योपरि चन्द्रोदयधारणं नान्दीतूर्यास्फालनं सुगन्धवासप्रक्षेपणमित्यादि । एवंरूपेण सत्कारेण गच्छं प्रवेशयेत् ।

सत्कारेण प्रवेशनायामिमे गुणाः ।

उब्भावणा पवयणे, सद्धाजणणं तहेव बहुमाणो ।
ओहावणा कुतित्थे, जीयं तह तित्थवुड्ढी य ॥

प्रवेशसत्कारेण प्रवचने प्रवचनस्य उद्भाजनं प्राबल्येन प्रकाशनं भवति । तथा अन्येषां बहूनां साधूनां श्रद्धाजननं यथा वयमप्येवं कुर्म्मो महती शासनस्य प्रभावना भवति । यथा श्रावकश्राविकाणामन्येषां च बहुमानमुपजायते शासनस्योपरि यथा अहो महाप्रतापि पारमेश्वरं शासनं यत्रेदृशा महातपस्विन इति । तथा कुतीर्थे जातावेकवचनम् । कुतीर्थानामपभ्राजना हीलना । तत्र ईदृशां महासत्त्वानां तपस्विनामभावात् । तथा जीतमेतत्कल्प एष यथा समाप्तिप्रतिमानुष्ठानं सत्करणीय इति । तथा तीर्थवृद्धिश्च । एवं हि प्रवचनस्यातिशयमुदीक्षमाणा बहवः संसारात् विरज्यन्ते विरक्ताश्च परित्यक्तसङ्गाः प्रव्रज्यां प्रतिपद्यन्ते ततो भवति तीर्थप्रवृद्धिरिति । तदेवं परिकर्म्मणाभिधानं प्रतिमाप्रतिपत्तिः प्रवेशसत्कारश्च भणितः । साम्प्रतमधिकृतसूत्रं यत्र योगमर्हति तद्विवक्षुरिदमाह ।

एएण सुत्तं न गयं, सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते ।
उच्चारियसरिसं पुण, परूविय पुव्वभणियं पि ॥

यदेतदनन्तरं परिकर्म्मणादिकमुक्तं नैतेन सूत्रं गतं व्याख्यातं जातावेकवचनस्य भावात् । नैतेन त्रीणि सूत्राणि व्याख्यातानि । सूत्राणामन्यविषयत्वात् । तथा चाह । " सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते" तुशब्दः पुनरर्थे स च पुनरर्थं प्रकाशयन् हेत्वर्थमपि प्रकाशयति । ततोऽयमधिकृतः सूत्रनिपातो व्यक्तोऽव्यक्तशब्दविषयः । अव्यक्तो नाम श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तोऽपरिकर्म्मितश्च पूर्वभणितं च समस्तं व्यक्तविषयमतोऽन्यविषयत्वं च प्रागुक्तमिति । नैतेन प्रागुक्तेन सूत्रत्रयं गतमिति । अत्राह । यदेतत्प्राग्व्याख्यातं न तेन यदि सूत्रत्रयं गतं तर्हि तदेतत् कुत आगतम् । सूत्रात्तावन्न भवति सूत्रस्यान्यविषयत्वात् । अन्यस्माच्चेत्तर्हि न वक्तव्यमसंबद्धत्वात् अत आह (उच्चारिय सरिसमित्यादि) परिकर्म्मणाभिधानं यच्च पूर्वमाचारदशासु भिक्षुप्रतिमागतमुक्तं यथा "घरसउणीसीह इत्यादि" । तथा "परिचियकालामतेणेत्यादि" च प्राग्भणितमपि प्ररूपितमुच्चरितस्य सदृशमनुगतमिति कृत्वा किमुक्तं भवति ॥ "एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए" इत्युक्तमेतच्च सूत्रखण्डे व्यक्ते ऽव्यक्ते च समानं ततो यद्यपि सकलसूत्रोपनिपातोऽव्यक्तविषयस्तथापि यदेतत्सूत्रखण्डं तत् व्यक्तेऽपि समानमिति । व्यक्तविषयं परिकर्म्मणादिकमुक्तमित्यदोषः । यदुक्तमयमधिकृतसूत्रोपनिपातोऽव्यक्तविषय इति । तत्राव्यक्ते यथा प्रतिमाप्रतिपत्तिसम्भवस्तथोपपादयति ।

आगमणे सक्कारं, को यं दट्ठूण जायसंवेगो ।
आपुच्छणपडिसेहण, देवी संगामतो नीति ॥
संगामे निवपडिमं, देवी काऊण जुज्झति रणम्मि ।
वितियवले नरवती, नाउं गहिया धरिसिया य ॥

संग्रामे देवी नृपप्रतिमां राज्ञ आकारं कृत्वा युध्यते सा च तथा रणे संग्रामे युध्यमाना द्वितीयबले प्रतिपक्षबले यो नरपतिस्तेन कथमपि ज्ञाता अरे महिला युध्यतीति सन्नाहापेक्षं कृत्वा गृहीता चण्डाक्षैर्घर्षिता मारिता च एषोऽक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् । "एगेण रण्णा एगस्स रण्णो नगरं वेढियं । रायासु अंतेउरो नगरब्भतरे अग्गमहिसी भणइ ! जुज्झामि वारिज्जती वि रण्णा न ठाति ततो सा सन्नाहिता खंधावारेण समं निगतु परबलेण समं जुज्झइ महिलत्ति काउ गहिया चमालेहिं धरिसाविता मारिया ।

दूरेतो पडिमातो, गच्छविहारे वि सो न निम्माते ।
निग्गंतुं आसन्ना, नियति लहुओ गुरू दूरे ॥

दूरे तावत्प्रतिमा । किमुक्तं भवति । तद्विषयमिदं सूत्रत्रिकं तस्य प्रतिमाः प्रतिपत्तव्यास्तावत् दूरे विशिष्टश्रुतवयोऽभ्यामप्राप्ततया तत्सामाचारीपरिज्ञानस्य परिकर्म्मणायाश्चाभावात् गच्छविहारे गच्छसामाचार्यामपि सोऽधिकृतसूत्रत्रयविषयो निर्मातो न परिनिष्ठामुपगतः स आचार्येण वार्यते । स च वार्यमाणोऽपि यदा स्वगच्छान्निर्गत्य यदि कथमपि शुद्धिपरावर्तेनासन्नाद्विनिवर्त्तते ततस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । दूरे दूराद्विनिवर्त्तते ततः आह

गच्छं दोसो गच्छा, निग्गंतूणं ठितो उ सुण्णघरं ।
सुत्तत्थसुण्णहियओ, संभरइ इमेसि मे गाणी ॥

स्वमात्मीय छन्दोऽभिप्रायो यस्य स स्वच्छन्दः सन् गच्छान्निर्गत्य शून्यगृहे उपलक्षणमेतत् । श्मशाने वा वृक्षमूले वा देवकुलसमीपे वा कायोत्सर्गेण स्थितः स च सूत्रमर्थं वा न किमपि जानाति यच्चिन्तयति । ततः सूत्रार्थशून्यहृदय एकाकी सन् एषां वक्ष्यमाणानामाचार्यादीनां स्मरति । तानेवाह ।

आयरियवसभसंघा-डएयकंदप्पमासियं लहुयं ।
एगाणिपत्तसुण्णघरे, अत्थमिए पत्थरे गुरुगा ॥

आचार्यो गच्छाधिपतिर्ल्ल वा यदि स्मरति । यदि वा वृषभम-थवा संघाटिक (कवप्पत्ति) अत्र विभक्तिलोपो मत्वर्थीयलोप-श्च प्राकृतत्वात् । यैर्वा साधुभिः समं गच्छे वसन् कन्दर्प्यैर्हं स च सूर्यादिरूपं कृतवान् । कन्द (पंकान्) पंकृतान् स्मरति तदा प्राय-श्चित्तं मासिकं लघुकं तथा (एकाणियत्ति) एकाकी सन् शून्यगृहे उपलक्षणमेतत् । श्मशानादौ वा दिवसे बिभेति तदा चत्वारो लघुमासाः यदि पुनरस्तमिते सूर्ये भयं गृह्णन् प्रस्तरान् पाषाणा-न् (बुहइत्ति) तदा चतुर्गुरुका.

पत्थरे बुहइ रत्ता, गमणे गुरुलहुगदिवसतो हुंति ।
आयसमुत्था एए, देवयकरणं तु वुच्छामि ॥

यदि रात्रौ मार्जारादिश्वापदादिभ्यो बिभ्यन् प्रस्तरान् शून्य-गृहादौ च गृहस्यान्तः (बुहइत्ति) प्रवेशयति । यदि वा स्ते-नादिभयेन रात्रौ गच्छमागच्छति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गु-रुकाः । यदा पुनर्दिवसे एव शून्यगृहाद्यवस्थितमानो भयात्प्र-स्तरान्प्रवेशयति गच्छं वा भयमर्जयन्समायाति तदा च-त्वारो लघुका मासाः । एते आत्मसमुत्था दोषा उक्ताः । इदानीं यद्देवता करोति तद्देवताकरणं वक्ष्यामि। सांप्रत 'मेगाणियसुन्न-घरे इत्यादि' यदुक्तं तद्भिक्षुगणावच्छेदाचार्यभेदेषु प्रत्येकं सवि-शेषतरं भावयति ॥

पत्थरमणसंकप्पे, मग्गणदिट्ठे य गाहियखेत्ते य ।
पडियपरितावियमए, पच्छित्तं होइ तिण्हं पि ॥

मासा लहुतो गुरुतो, चउरो लहुगा य चउर गुरुगा य ।
छम्मासा लहुगुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च ॥

प्रस्तागणां ग्रहाणाय मन सकल्पे मार्गणे तथा ग्रहणबुद्ध्या प्र-स्तरे दृष्टे तथा गृहीते तदा क्षिप्ते यस्योपरि प्रक्षिप्त प्रस्तरस्तस्यो-परि पतिते नवरमपरितापिते अनागाढं परितापिते तथा मृते च त्रयाणामपि भिक्षुगणावच्छेद्याचार्याणां प्रायश्चित्त वक्ष्यमाण यथाक्रम भवति । तदेवाह (मासो इत्यादि) मासो लघुको गुरुकाः षण्मासा. लघव. षण्मासा गुरुकाश्छेदो मूल तथा द्विकमनवस्थाप्यपाराञ्चितरूपमिति गाथाद्वयसंक्षेपार्थ. । भा-वार्थस्त्वयम् । यदि भिक्षुर्भयवशात्प्रस्तरविषयं मनःसंकल्प करोति गृह्णामि प्रस्तरमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुमास. । प्रस्तरस्य मार्गणे गुरुमास. प्रस्तरे ग्राह्योऽयमिति बुद्ध्या अवलो-किते चत्वारो लघुमासा. गृहीते प्रस्तरे चत्वारो गुरुका. क्षिप्ते मार्जारादिश्वापदादीनामुपरि प्रस्तरे षण्मासा लघवः । यस्यो-परि क्षिप्तस्तस्योपरि पतिते तस्मिन्नपरितापिते षण्मासा.गुरवः॥ गाढ परितापिते च्छेद मृते मूलम् । तदेवं भिक्षोर्लघुमासादारब्धं मूले निष्ठितम् । गणावच्छेदिन प्रस्तरमनःसकल्पे प्रायश्चित्त गुरुको मासः प्रस्तरमार्गणे चत्वारो लघुमासाः प्रस्तरे ग्राह्यबु-द्ध्या दृष्टे चत्वारो गुरुका । प्रस्तरे गृहीते षण्मासा गुरव प्रस्तरे घात्यस्योपरि पतिते छेद । घात्यवगाढे परितापिते मूलं मृते अ-नवस्थाप्यं तदेवं गणावच्छेदिनो गुरुमासादारभ्य अनवस्थाप्ये निष्ठितम् । आचार्यस्य प्रस्तरमन सकल्पे चत्वारो लघुमासा. प्रस्तरमार्गणे चत्वारो गुरुकाः प्रस्तरे ग्राह्यबुद्ध्या दृष्टे षण्मासा लघव. प्रस्तरे गृहीते गुरव. षण्मासा. क्षिप्ते छेद. घात्यस्यो-परि पतिते प्रस्तरे मूलं गाढं परितापिते घात्येऽनवस्थाप्यं मृते पाराञ्चितमिति । संप्रति यदुक्तं । " देवयकरणं तु वुच्छामि " इति तत् अन्यत्र विवक्षुर्द्वारगाथामाह ।

बहुपुत्तपुरिसमेहे, उदयग्गे जड्ड सप्प चउलहुगा ।
अत्थणअवलोगनियट्ट कंटक, गिण्हणदिट्ठे य भावे य ॥

देवताया बहुपुत्रिविकुर्वणामन्तरं चोदिते तथा पुरुषमेधे पुरुष-यज्ञे तथा उदके उदकप्रवाहे अग्नौ प्रदीपनकरूपे जड्डे हस्तिनि सर्प्पे च समागच्छति पलायमानादौ चत्वारो लघुका मासाः । तथा देवताया विकुर्वितसयतीरूपाया पृष्ठतो लग्नाया प्रती-क्षणे यावत् कण्टक पादलग्नमपनयामीत्येव ब्रुवन्त्या (अत्थ-णत्ति) प्रतिश्रवणे तथा अवलोकने तथा दूरादासन्नाद्वा निव-र्त्तने कण्टकग्रहणे उपलक्षणमेतत् । कण्टकोद्धरणाय पादग्र-हणे पादोत्क्षेपणे च तथा दृष्टे सागारिके मृगपदीरूपे प्रतिसे-वे इति परिणते भावे चशब्दात्प्रतिसेवाकरणे च यथायोग प्रा-यश्चित्तमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थं । सांप्रतमेनामेव गाथां विव-रीषु. प्रथमतो बहुपुत्रद्वार विवृणोति ।

बहुपुत्ति त्थी आगम, दोसु व छप्पेसु थालिविज्झवणा ।
अणोन्नं पमिचोयण, वच्च गणं मा छलेपंता ॥

बहुपुत्रा स्त्री देवतारूपा तस्या आगमयोर्द्वयोरुपलब्धयोरुपरि-तया स्थाली निवेशिता सा पतिता जातमग्नेर्विध्यापनं ततः पर प्रतिचोदना तदनन्तर तया उक्त व्रज गणं गच्छं मा प्रान्तदेव-ना त्वां छलयिष्यतीति एष गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम् ।"सम्म-दिट्ठी देवया इत्थीरूवं बहुपुत्ते चमयरूवे विउव्वेत्ता पमिमा-गयस्स साहुस्स समीवमल्लीणा । चेरुरूवाणि रोवमाणाणि भणति अत्त देहेत्ति । सा भणइ खिप्पं रंधेमि जाव ताव मा रो-यह । ताहे सा दोन्नि पाहणे जमले ठवेइ तेसिं मज्झे अग्गिं पज्जालित्ता तेसिं उवरि पिहमं पाणियस्स भरित्ता मुक्क । तं पिहड तच्चपत्थरेण विणा पमितं । सो अग्गी विज्झवितो पुणो वि अग्गिं पज्जालिऊण पिहडं पाणियभरियं मुक्कं तहेव पमितं । अग्गी वि-ज्झवितो । एवं तं तियं पि वार विज्झवितो ततो पमिमागतो साहू भणति पत्तिएण विणासेणं तुमं पत्तियाणि चेरुरूवाणि निप्फाएसि एवं भणमाणस्स पच्छित्तं चउ लहुयं सा भणइ तुम कहमेसिएण सुएण अप्पायोगो पमिम परिवज्जो सिग्घ जाहि गच्छ मा ते पंतदेवया छलेहित्ति" । गतं बहुपुत्रद्वारम् ।

इदानीं पुरुषद्वारमाह ।

ओवाइयं समिद्धं, महापसुं देमि सेज्ज मज्जाए ।
एत्थेव ताणि रिक्खह, दिट्ठे वामं व समणा वा ॥

स कदाचिदव्यक्त आर्यासमीपे कायोत्सर्गेण स्थितस्तत्र ब-हवो मनुष्या आर्यावन्दनार्थमागतास्ते च तस्य साधोः समी-पदेशे स्थिता ब्रुवते । यथा यदौपयाचितकमार्या भट्टारिका-याः समीपे याचितं यथा यद्यमुक प्रयोजनमस्माक सेत्स्यति ततो महापशुं प्रयच्छाम इति तदिदानीं समृद्ध निष्पन्नमित्यर्थ.। तत सद्य. इदानीं महापशु दद्म । महापशुर्नाम पुरुषः । ततो गवेषयन्तोऽत्रैव किञ्चिन्मनुष्य गता गवेषणाय मनुष्याः दृष्ट स प्रतिमाप्रतिपन्नो दृष्ट्वा च कथितं मूलपुरुषाय यथैष श्रमणो दीयतामार्यायै इति एवमुक्ते यदि भयेन वाम करोति देशीवच-नमेतत् न सम करोति नश्यतीत्यर्थः । यदि वा श्रमणोऽहमि-ति ब्रूते तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु ।

उदगग्गिएण पलायइ, पवइ रुक्खं व दुरुहए सहसा ।
एमेव सेसएसुं, पडियाररूवेसु सो कुणइ ॥

सो ऽव्यक्तप्रतिपन्न. कायोत्सर्गेण स्थित उदकप्रवाहे नद्यादिगते

[illegible]

अत्यति अच्छोए तिय—लहुगा पुण कंटओ ड मे लग्गति।
गुरुगा नियचमाणे, तह कंटगमग्गणे चेव।

तत्र यदि कण्टको मे लग्न इति वच श्रुत्वा [अच्छतित्ति] प्रतीक्षते तदा प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः। अथापि वर्त्संमुखनवलोकते तत्रापि चतुर्लघु। एतच्च " मासलतो स- हुवो" इति वक्ष्यमाणग्रन्थादवसितम्। अथ दूरगतः तस्मिन् दूराभिवर्त्तमाने चत्वारो गुरुका गुरुमासास्तथा [कंटगमग्गणे चेवेति] यदि कण्टकमपनेष्यामीति तत्पादलग्नं कण्टकं मृगयते तत्रापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु॥

छेदो कंटकपाय—ग्गहणे छल्लहुछग्गुरू वा।
चलण मुक्खिवइ दिट्ठम्मि, छग्गुरुगा परिणतो भवति॥

यदाहं प्रतिसेवे इति तदा छेदः अकरणे प्रतिसेवायाः षट् लघवो लघुमासाः। अथ तस्याः संयत्याः पादं गृह्णाति कण्टकोद्धारणाय तत्रापि षट् लघु यदि पुनश्चरणं पादमुत्क्षिपति उत्पाटयति कण्टकोद्धारणाय तदा षट् गुरु। पादे उत्पाटिते सति यदि सागारिकं पश्यति तदा तस्मिन्नपि दृष्टे षण् गुरु सागारिकदर्शनानन्तरं यदि भाव परिणतो भवति यदाह प्रतिसेवे इति तदा छेदः करणे प्रतिसेवाकरणे मूलं एतत्प्रायश्चित्तविधानं भिक्षोरुक्तं गणावच्छेद्याचार्ययो पुनरिदमाह [सत्तहत्ति] अत्र पूरणप्रत्ययान्तस्य लोपः प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः। गणावच्छेदिनः प्रायश्चित्तविधान द्वितीयाच्चतुर्लघुकमारभ्य समासमनवस्थाप्यं प्रायश्चित्त यावदवसेयम्। आचार्यस्य प्रथमा चतुर्थगुरुकादारभ्यमष्टमं पाराञ्चितं प्रायश्चित्तं यावत्। एतदेवाह॥

लहुया य दोसु दोसु य, गुरुगा छम्मासलहुगुरू छेदो।
भिक्खुगणायरियाणं, मूल अणवट्ठ पारंची॥

भिक्षुगणाचार्याणां भिक्षुगणावच्छेद्याचार्याणां यथाक्रम प्रायश्चित्तविधानं मूलमनवस्थाप्यं पाराञ्चित्त च यावत्तद्यथा भिक्षोर्द्वयो• प्रतीक्षणेऽवलोकने च चत्वारो मासा लघवः द्वयोर्निवर्तने कण्टकमार्गणे च चत्वारो गुरुकाः[छम्मासलहुगुरुत्ति] अत्र दोसु इति प्रत्येकमभिसंबध्यते द्वयो• कण्टकग्रहणे पादग्रहणे च षण्मासा लघव• द्वयो• पादोत्क्षेपे सागारिकदर्शने च षण् गुरु प्रतिसेवाभिप्राये

[illegible]

“सुरू- निवरनड” इति एव विशेषमाह।

[illegible]

[illegible]

[illegible] इदानीमेतदेवोपसंहरन् [illegible]॥

दिट्ठं लोए आलो य, गंगविणिए य अवाणियनियतो।
अवराहे नाणत्तं, न रोयए केयणं तुज्झे॥

भागुकाचार्यप्ररूपणान तरं परः प्रश्नयति। ननु संयत्याः प्रत्यासन्नात्प्रदेशात्प्रतिनिवृत्तस्य गुरुतरेण दण्डेन भवितव्यं दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य लघुतरेण न चैतदनुपपन्नं यतो लोकेऽपि तथा तथा लोकस्य राज्ञो नगरमपरो राजा वेष्टयितुकामः समागच्छति तं च समागच्छन्तं श्रुत्वा नगरस्वामी भयात्प्रेषयति। तथा यूयं तत्र गत्वा युध्यध्वमिति। तत्रैको भटः परबलमतिप्रभूतमालोक्य दर्शनमात्र एव भग्नः प्रत्यागतोऽन्यो श्रुत्वा चिरकालं संजातव्रणो भग्नः समागतः अपरः परबलेन सह युध्वा संजातव्रण एव भग्नः प्रतिनिवृत्तः। तत्रैषां भटानां मध्ये यः शालोकभङ्गी दर्शनमात्रतो भग्न प्रतिनिवृत्तस्तस्य बहुतरोऽपराधः यः पुनः संजातव्रणो यथाप्रणित एतौ द्वावपि भग्नौ सन्तौ प्रतिनिवृत्तावित्यपराधिनौ केवलमालोकभङ्ग्यपेक्षयाऽल्पतरापराधौ दूरात्प्रतिनिवृत्तत्वादेवं लोके दूरासन्नभेदेनापराधे नानात्वमित्युपलभ्यं तत एव दृष्टान्तबलेन यन्मयोक्तं संयत्या• प्रत्यासन्नात्प्रदेशात् प्रतिनिवृत्तस्य भूयान् दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्याल्पतर इति। ततः केन कारणेन युष्माकं न रोचते। सूरिराह॥

अक्खयदेहनियत्तं, घट्टदुगखभएण जं समाणेह।
एयमहं न रोयति, को ते विसेसो भवे एत्थ॥

यस्तु दुःखभयेन परबलेन सह युध्यमानस्य मरणं मरणपर्यवसानं भविष्यतीति भयेन मुक्तदेहः सन् निवृत्तः प्रतिनिवृत्तोऽक्षतदेहनिवृत्तस्तत्समागम एतन्मह्यं न रोचते विषमत्वात्तथा हि। न सर्वथा भग्नाक्षतचारित्र• प्रतिनिवर्तते किं तु क्षतचारित्रस्ततोऽप्यत्र स उपन्यसनीयो योऽभिभूतस्तत्र पाक्षिकेन सहमानतामवलम्बते न च्यावी तथेति पर आह। परेषणा-न्तस्तत्र न भासते तत• कोऽत्र विशेषः [illegible] विशिष्टो दृष्टान्तः स्यात्। सूरिराह।

एसेव य दिट्ठंतो, पुररोहे जत्थ वारियं रन्ना ।
मा णीह तत्थ निंतं, दूरासन्ने य नाणत्ता ॥

एष एव प्रवक्ष्यमाणस्तो दृष्टान्तः पुररोधे सति रूपयो यत्र पुररोधे राज्ञा वा वारित यथा मा कोऽपि पुरान्निर्यासीदिति तत्रैवं निवारिते तत्र निर्गच्छति दूरादासन्नाच्च प्रतिनिवृत्त यथा नानात्वमपराधविषयं तथेहापि योजनीयम् । तद्यथा एरवन्नेन नगर रोधे कृते राज्ञा पटहेन घोषित यथा यो नगरान्निर्यास्यति स मया निग्राह्य इति ततः कोऽपि निर्गत्य आसन्नात्प्रतिनिवृत्तो ऽपरो दूरात्तत्र तथैतयोरासन्नात्प्रतिनिवृत्तस्याल्पतरो राज्ञा दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य बहुतर एवं यो दूरात्सपत्न्याः प्रतिनिवृत्तस्तस्य गरीयान् भावदोष इति चतुर्गुरुकमासन्नात्प्रतिनिवृत्तस्य स्वल्पीयान्भावदोष इति चतुर्लघु । सम्प्रति "पुणो आलोयणा" इत्यादि सूत्र व्याख्यानयति ।

सेसम्मि चरित्तस्सा-ल्लोयणया पुणो पडिक्कमणं ।
छेदं परिहारं वा, जं आवन्नो तयं पावो ॥

यद्यपि प्रतिमाप्रतिपन्नस्य चारित्रविराधनाऽऽसीत् तथापि न चारित्र सर्वथाऽपगत किं तु शेषोऽप्यतिष्ठते व्यवहारनयमतेन देशभङ्गेन सर्वभङ्गाभावात् । तत शेषे चारित्रस्य सति पुनरालोचना पुन प्रतिक्रमण न पुन. शब्दो द्वितीयवारापेक्षः । तथा च लोके वक्तारः कृतमिदमेवैकवारमिदानीं पुनः क्रियते इति । अत्र तु प्रथममेवालोचनं प्रथममेव च प्रतिक्रमण ततः कथं पुन. शब्दोपपत्ति । उच्यते यत्रैव स्थाने सोऽकृत्य कृतवान् तत्रैव स इत्थमचिन्तयत् आलोचयामि प्रतिक्रमामि च तावदहमेतस्याकृत्यस्य पश्चाद्गुरुसमक्षं भूय. आलोचयिष्यामि प्रतिक्रमयिष्यामि च । एव च चिन्तयित्वा तथैव अकार्षीत् ततो घटते पुन. शब्दोपादानमिति । यदि वा यदेव तदानीं हा दुष्ठु कारितमित्यादि चिन्तन तदेवालोचन तदेव च प्रतिक्रमण भवति । तदपेक्षया पुन. शब्दोपपत्तिः । यदपि च छेद परिहारं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तत्कमापन्नतममाप्नोति प्रतिपद्यते । सम्प्रति यदुक्त "नियट्टखिंसंत गुणघाया" इति तद्व्याख्यानयति ॥

एवं सुभपरिणामं, पुणो वि गच्छंति तं पडिनियत्तं ।
जे हीलइ खिसइ वा, पावइ गुरुए चउम्मासे ॥

एव पुनरालोचनाप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण शुभपरिणाम शोभनाध्यवसाय पुनरपि गच्छे प्रतिनिवृत्त सन्तं यो हीलयति खिंसयति वा तत्र यदि असूया निन्दन तत् यथा समाप्तिं नीताऽनेन प्रतिमा सांप्रतमागतो वर्त्तते ततः क्रियतामस्य पूजेति । यत्पुन. प्रकटन् निन्दन सा खिंसा यथा धिक् तव भ्रष्टप्रतिज्ञस्येत्यादि स प्राप्नोति प्रायश्चित्तं गुरुकान् अनुद्घातान् चतुरो मासान् व्य० प्र० १ उ० ॥

एगल्लविहारसामायारी-एकाकिविहारसमाचारी-स्त्री० आचारविनयभेद,-एकाकिविहारप्रतिमां स्वयं प्रतिपद्यते पर च ग्राहयतीति एकाकिविहारसामाचारीति । प्रव० ६४ द्वा० ॥

सांप्रतमेकाकिविहारसामाचारीमाह ।

एगल्लविहारादी, पडिमापडिवज्जती य सयणं वा ।
पडिवज्जावे एवं, अप्पाण परं च विणएति ॥

एकैकविहार आदिर्यासां ता एकैकविहारादय आदिशब्दात्प्रतिमागतविशेषानुष्ठानपरिग्रह. । एवंभूता प्रतिमाः स्वय प्रतिपद्यन्ते अन्य च प्रतिपादयन्ति । एवमाचारविनयमात्मानं पर च विनयति व्य० द्वि० १० उ० ।

एगवगडा-एकवगडा-स्त्री० एको वगडः परिक्षेपो यस्याः सा । एकवृत्तिपरिक्षेपायां वसतौ, "एगवगडाए अतोबहिया संबद्धसंबद्धा" तद्यथा साधुर्वसतः एगवगडाए इति । एकवृत्तिपरिक्षेपाया अन्तर्वहिश्चेति । व्य० ७ उ० ।

एगवण्ण-एकवर्ण-त्रि० एको वर्णो रूप यस्याः । अन्यरूपामिश्रितवर्णयुक्ते, एको वर्णः जातिभेदो यत्र । ब्राह्मणादिवर्णविभागशून्ये कलियुगावशेषस्यलोके, वर्ण्यते अनेन वर्ण. एकवर्णः स्वरूपं यस्य । एकस्वरूपे, शुक्लादौ रूपे, एकस्मिन् शब्दे च । श्रेष्ठवर्णे श्रेष्ठजातौ च ॥ वाच० । बीजगणितोक्ते सजातीये तुल्यवर्णे ऽव्यक्तभेदे च । वाच० । एक. कृष्णादिवर्णान्यतमो वर्णोऽस्येत्येकवर्ण । उत्त० १ अ० । कालाद्येकवर्णे, भ० ५ श० ७ उ० ।

एगवण्णसमीकरण-एकवर्णसमीकरण-न० एकवर्णौ तुल्यरूपौ समीक्रियेते अनेन करणे ल्युट् बीजगणितोक्ते बीजचतुष्टयान्तर्गतबीजभेदे, वाचस्पतौ अव्यक्तशब्दे तद्गणितप्रकारो दर्शितः प्रथममेकवर्णसमीकरण बीजं द्वितीयमनेकवर्णसमीकरणं बीज यत्रैकवर्णयोर्द्वयोर्बहूनां च वर्गादिगतानां समीकरण तन्मध्यमाहरणम् । यत्र भावितस्य तद्भावितमिति बीजचतुष्टय वदन्त्याचार्या भास्कराचार्योः । अस्योदाहरणम् । एकस्य रूपत्रिशती षडश्वा अश्वा दशान्यस्य तु तुल्यमूल्या । ऋण तथा रूपशतञ्च तस्य तौ तुल्यवित्तौ च किमश्वमूल्यम् । एतच्चाव्यक्तशब्दे व्याख्यातम् । अत्र तुल्यमूल्यस्याश्वरूपस्यैकाविधस्यैव पृष्टसंख्यान्वितस्य समीकरणात् एकवर्णसमीकरणमित्यनुगतार्था संज्ञा वाच०

एगवयण-एकवचन-न० एकोऽर्थ उच्यतेऽनेनोक्तिर्वोति वचनमेकस्यार्थस्य वचनमेकवचनम् । वचनभेदे, तदाहरण देवः स्था० २ ठा० । एकवचन वृक्ष इति । आचा० २ श्रु० । बहुत्वेऽपि कुत्रचिज्ज्ञातावेकवचनम् "इह जयमत्तासे हंता" अत्र बहुवचनप्रक्रमेऽपि जात्यपेक्षयैकवचनेन निर्देश इति । आचा० १ श्रु० १ अ० । लोगस्स परियागं जाणइ पासइ, (परियागं) जातावेकवचनमिति पर्य्यायान् विचित्रपरिणामान् इति स्था० १० ठा० ।

एगविद-एकवित्-पु० एकस्य ज्ञातरि, "एगे एगविऊ बुद्धे" एकमेवात्मान परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित न मे कश्चिद् दुःखपरित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित् । यदि वैकान्तेन विदितसंसारस्वभावतया मौनीन्द्रमेव शासनं तथ्यं नान्यदित्ये व वेत्तीत्येकान्तवित् । अथवैको मोक्ष. संयमो वा तं वेत्तीति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

एगविह-एकविध-त्रि० एका विधा प्रकारोऽस्य । एकप्रकारे, भ० ३४ श० १ उ० । "एकविहं केवलं नाणं" एकविध भेदविप्रमुक्तमिति । विशे० ।

एगविहारिन्-एकविहारिन्-पुं० एक सन् विहरतीत्येव शील । वृ० १ उ० । एकाकिविहारिणि जिनकल्पिकादौ, वृ० ७ उ० (एतद्वक्तव्यता एगल्लविहार शब्दे)

एगविहिविहाण-एकविधिविधान-त्रि० एकप्रकारेण व्यवस्थिते, "लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविहिविहाणा" एकेन विधिना प्रकारेण विधानं व्यवस्थान येषां ते तथा सर्वेषां वृत्तत्वात् भ० ११ श० ९ उ० ॥

एगवीसरइगुण-एकविंशतिरतिगुण-पु० कामशास्त्रप्रसिद्धे एक-

विंशतिसंख्याके रतिगुणे " एक्कवीसरइगुणप्पहाणा " एकविंशती रतिगुणाः कामशास्त्रप्रसिद्धा ॥ विपा० १ श्र० ।

एगसंसय–एकसंश्रय–त्रि० एकाधारे, "सर्वत्राप्यविरोधेन, धर्मौ द्वावेकसंश्रया "। एकस्मिन् द्रव्ये संश्रय आधारो ययोस्तौ एकसंश्रयाविति । द्रव्य० ४ अध्या० ।

एगसमइय–एकसामयिक–त्रि० एक: समयो यत्रास्त्यसावेकसामयिक: । एकसमयोपेते, " एगसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा० " भ० २४ श० १ उ० ।

एगसमय–एकसमय–पुं० एकस्मिन् समये, खेरइयाणं एगसमये ण वा एकेन समयेन उपपद्यन्त इति योग' भ० १४ श०१ उ०॥

एकसमयट्ठिइ–एकसमयस्थिति–त्रि० एकं समय यावत् स्थिति· परमाणुत्वादिना एकप्रदेशावगाढादित्वेन एकगुणकालादित्वेनावस्था येषां ते एकसमयस्थितिकास्तेषु स्था० १ ठा० । भ० ।

एगसट्ठि-एकषष्टि–स्त्री० एकाधिका षष्टि:एकाधिकषष्टिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । "एकसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता " स० ।

एगसरियं–अव्य० झगित्यर्थे, सम्प्रत्यर्थे च । एकसरिअं झगिति संप्रति एक्कसरिअं झगित्यर्थे संप्रत्यर्थे च प्रयोक्तव्यम् । एक्कसरिअं झगिति सांप्रतं वा । प्रा० ८ श्र०२ पा० ।

एगसरिया–एकसरिका–स्त्री० एकावल्याम्, एकावली च विचित्रमणिककृता एकसरिकेति । जं० १ वक्ष० ।

एगसाडय–एकशाटक–त्रि० एकवस्त्रे, ' अदुवा एकसाडे "अथवा शनै शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् एकशाटकस्सवृत्त इति । आचा० १ श्रु०४ श्र० २ उ० ।

एगसाडिय–एकशाटिक–त्रि० एकपटे, " एगसाडिय उत्तरासग करेइ " (एगसाडिअंति) एकपटमुत्तरासङ्ग करोतीति । कल्प० । "एगसाडिएण उत्तरासंगकरणेण " भ० २ श० १ उ० ।

एगसाहिल्ली–देशी० एकस्थानवासिनि, दे० ना० ॥

एगसि–एकशस्–अव्य० अल्पार्थकात् कारकार्थे वीप्सार्थे शस् । एकशो डिः । ८ । ४ । २८ । इति सूत्रेणापभ्रंशे एकशश्शब्दात्स्वार्थे डि " ॥ एकसिसीलकलंकि अहं देज्जहिं पच्छित्ताइं जो पुण खडइ अणुदिअहुतसुपच्छित्ते काइं । प्रा० । अल्पमल्पमेकमेकं वेत्याद्यर्थे, वाच० । " घत्तोणाम एकसि " एकस्मिमेकवारं यः प्रवृत्त- स वृत्त इति । व्य० १० उ० ।

एगसिंवलि–देशी० शाल्मलीपुष्पैर्नवफलिकायाम, दे० ना० ॥

एगसिद्ध–एकसिद्ध– पु० एकस्मिन् समये एकका एव सन्तः सिद्धा· । सिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद । ल० । ध० । एकस्मिन् २ समये एकका· सन्तो ये सिद्धास्ते एकसिद्धा इति । नं० । एकैकसमये एकैकजीवसिद्धिगमनादेकसिद्धा इति । पा० ॥

एगसेल–एकशैल– पु० जंबूद्वीपस्थमन्दरपर्वतसमीपस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० । धातकीखण्डपश्चिमार्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० २ ठा० । (तयोर्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) तथाच " इहेव जंबूदीवेर पुव्वविदेहे सीताए महानईए उत्तरिल्ले कूले नीलवतस्स दाहिणेण उत्तरिल्लस्स सीतामुहवणसमस्स पच्चत्थिमेण एगसेलस्स वक्खारपव्वतस्सेति " । ज्ञा० १८ श्र० ।

एगसेलकूड–एकशैलकूट–पु० न० महाविदेहवर्षस्थैकशैलवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष० । धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० ८ ठा० । (तद्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) महाविदेहवर्षस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते च । तद्वक्तव्यता यथा ।

कहिणं भंते महाविदेहे वासे एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते गोयमा पुक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पुरच्छिमेणं पोक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स दक्खिणेणं सीआए उत्तरेणं एत्थणं एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । चित्तकूडगमेणं णेअव्वो जाव देवा आसंपति चत्तारि कूडा तंजहा सिद्धाययणकूडे १ एगसेलकूडे २ पुक्खलावत्तकूडे ३ पुक्खलावइकूडे ४ कूडाणं तं चेव पंचसइअं परियाण जाव एगसेले अ देवे महिए ॥ जं० ४ वक्ष० ॥

एगसेस–एकशेष–पु० एक. शिष्यतेऽन्यो लुप्यते यत्र द्विपआधारे–पत्र–समासभेदे, तथाच ॥

सेकिंत एगसेसे एगसेसे जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो जहा बहवे साली तहा एगो साली जहा एगो साली तहा बहवे साली सेत्तं एगससो सेत्त समासेण ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तावित्यनेन सूत्रेण समानरूपाणामेकविभक्तियुक्तानां पदानामेकशेष समासो भवति सति समासे एक शिष्यतेऽन्ये तु लुप्यन्ते यत्र शेषोऽवतिष्ठते स आत्मार्थे लुप्तस्य लुप्तयोर्लुप्तानां चार्थे वर्तते । अथ एकस्य लुप्तस्यात्मनश्चार्थे वर्तमानात्तस्मात् द्विवचनं भवति । यथा पुरुषश्च पुरुषश्चेति पुरुषौ । द्वयोश्च लुप्तयोरात्मनश्चार्थे वर्तमानाद्बहुवचनं यथा पुरुषश्च ३ पुरुषा । एवं बहूनां लुप्तानामात्मनश्चार्थे वर्तमानादपि बहुवचन यथा पुरुषश्च ४ पुरुषा इति । जातिविवक्षायां तु सर्वत्रैकवचनमपि प्राकृतत्वेनात्र सूत्रमनुश्रियते (जहा एगो पुरिसोत्ति) यथैक· पुरुष एकवचनान्तपुरुषशब्द इत्यर्थ । एकशेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेष । (तहा बहवे पुरसत्ति) तथा बहव पुरुषा बहुवचनान्त पुरुषशब्द इत्यर्थ । एकशेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेष । यथा चैकशेषे समासे बहुवचनान्तः पुरुषशब्दो बह्वर्थवाचकस्तथैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिद्विशेषः । एतदुक्तं भवति यथा पुरुषश्च इति विग्रहे एकपुरुषशब्दशेषता क्रियते तदा यथैकवचनान्त: पुरुषशब्दो बह्वर्थान्वक्ति तथा बहुवचनान्तोऽपि यथा बहुवचनान्तस्तथैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिदेकवचनान्तबहुवचनान्तयोर्विशेष. केवल जातिविवक्षायामेकवचनं बह्वर्थविवक्षायां तु बहुवचनमिति । एव कार्षापणशाल्यादिष्वपि भावनीयम् । अयं च समासो द्वन्द्वविशेष एवोच्यते केवलमेकशेषताऽत्र विधीयते इत्येतावता पृथगुपात्त इति लक्ष्यते तत्त्वं तु सकलव्याकरणवेदिनो वदन्तीत्यलमिति विजृम्भितेन ॥ अनु० । एक प्रधान शेषोऽन्तः । एकान्ते, पु० । बहु० अतिशयिते, त्रि० । वाच० ।

एगस्सय– एकाश्रय–त्रि–एक आश्रय आधारोऽवस्थानं वा यस्य । १ अनन्यगतिके, । २ एकाधारवृत्तौ, । ३ वैशेषिकोक्तगुणभेदे च । ते च गुणाः अनेकाश्रितगुणभिन्ना. ॥ " संयोगश्च विभागश्च संख्याद्वित्वादिकास्तथा । द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणा " । अत. शेषगुणा सर्वे मता एकैकवृत्तय " ॥ भाषाप० । एकस्मिन् आधारे, पु० वाच० ।

एगहक्ख-एकधाख्य-त्रि० एकप्रकराख्योपेते, ।

एकधाख्य-त्रि० एकप्राकरजीवोपेते,"एगे दुक्खे जीवाणं एगभू-ते०"पाठान्तरे त्वेकत्रैवाख्या सशुद्धादिर्व्यपदेशो यस्य तत्वसंशु-द्धसशुद्धासशुद्ध इत्यादिकोऽपि व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषाया-देरभावादिति । संभवत्येकधाख्य एकधा अक्खो वा जीवो यस्य स तथेति जीवानां प्राणिनामेकभूत एक इवात्मोपम इत्यर्थः ॥ स्था० १ ठा० ।

एगहा-एकधा-अव्य० एकप्रकारे-धा- । एकप्रकारे, वाच० ।

एगाइ-एकादि-त्रि० एक आदिर्यस्याः १ एकत्वसंख्यान्वितमा-रभ्य परार्द्धान्तसंख्यायुक्ते,।२ तत्स्मारके रेखासन्निवेशविशेषरूपे अङ्के च। वाच०। द्वारकगरुये स्वनामख्याते राष्ट्रकूटे च । "इहेव जबूद्दीवे भारहे वासे सयदुवारे णाम णयरे होत्था "-" तस्स णं सयदुवारस्स णयरस्स अदूरसामते दाहिणपुरच्छिमे दिसि भाए विजयवद्धमाणे णाम खेडे होत्था " " तस्सण विजयव-द्धमाणखेडे एक्काइ णाम रट्ठकूडे होत्था ' इति" विपा० राष्ट्र-कूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिक इति। विपा० १ श्र० ।

एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या उपाश्रयरक्षणे दोषाः । एकाकिन्या क्षु-ल्लिकादिकया व्रतिन्योपाश्रयरक्षणे दोषमेव दर्शयति।

जत्थ य एगा खुड्डी, एगा तरुणी य रक्खए वसहिं ।
गोयम तत्थ विहारे, का सुद्धी बंभचेरस्स ॥

यत्र च साध्वीविहारे एकाकिनी क्षुल्लिका एकाकिनी तरुणी वा तु शब्दादन्यदीक्षिता वैकाकिन्युपाश्रयं रक्षति हे गोतम! तत्र साध्वीविहारे ब्रह्मचर्यस्य का शुद्धिः न कापीत्यर्थः " इत्थ वि-दोसा कयाइ वसहीए एगा खुड्डी किड्डिज्जा कोइ त अवहरिज्जा वा बलाओ वा कोइ सेविज्जा इच्चाइ बहु दोसा तरुणी वि एगा-गिणी मोहोदएण फलादिणा च तत्थ सेविज्जा एगागिणिं वा त दट्ठूण तरुणा समागच्छति हासाइयं कुव्वंति अग्गे वा लग्गति तओ उड्डाहो भवति । त फासाओ वा मोहोदओ भवति सील भंजि-ज्ज वा गब्भो वा भवेज्ज तं च जइ गाले महादोसा भवइ अह वड्ढइ तो पवयणे महा उड्डाहो भवति । अहवा पुव्वकीलियं स-मरमाणी वाणाइयं वा दट्ठूण गच्छ मुत्तूण एगागिणी तरुणी सा-हुणी गच्छिज्जा एवमाइ बहुदोसा एवं नवदिक्खियाए वि एगा-गिणीए एगागिसेहसाहुव्वदोसा नायव्वेति गाथाच्छन्दः १० ७।

अथैकाकिन्या व्रतिन्या रात्रौ वसतेर्बहिर्गमने निर्मर्यादत्वमाह।

जत्थ य उवस्सयाओ, बाहिं गच्छे दुहत्थमित्तं पि ।
एगा रत्तिं समणी, का मेरा तत्थ गच्छस्स ॥

यत्र च गणे उपाश्रयाद्बहिरेकाकिनी ' रत्तिंति ' सप्तम्या द्वि-तीयेति सूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् रात्रौ श्रमणी सा-ध्वी द्विहस्तमात्रमपि भूमिं गच्छेत् तत्र गच्छे गच्छस्य का म-र्यादा। अथवा क्वचिद् द्वितीयादेरिति प्राकृतसूत्रेणात्र सप्तम्यर्थे षष्ठी ततस्तत्र गच्छे का मर्यादा न काचिदपीत्यर्थः । "इत्थवि दोसा-कयाइ परदारसेवका रयणीए एगागिणिं समाणिं दट्ठूण हरिज्जा उड्डाह वा करेज्जा पच्छन्नं वा रायाई जमभाणो संकिज्जा का एसा चोरा वा अवहरंति घत्थाइय वा गिण्हति । अहवा कयाई गुरु-णीए फरुसचोयणं समरमाणी पुव्वकीलिय वा रयणीए विसेस उसमरमाणी एगागिणी गच्छिज्जा इच्चाइ बहुदोसात्ति" ॥ १०८ ॥

अथैकाकिश्रमणाधिकारादेवेदमाह ।

जत्थ य एगा समणी, एगो समणो य जंपए सोम ।
नियबंधुणा वि सद्धिं, तं गच्छं गच्छगुणहीणं ॥

यत्र च एकाकिनी श्रमणी एकाकिना निजबन्धुनाऽपि सार्द्धं जल्पति अथवा एकाकी साधुरेकाकिन्या निजभगिन्याऽपि सार्द्धं जल्पति हेसौम्य! हे गौतम! तं गच्छं गच्छगुणहीनं जानीहीति शेषः। यतः एकाकिन्याः श्रमण्याः निजबन्धुनापि सार्द्धमेकाकिनः साधोर्वा निजभगिन्याऽपि सार्द्धं संदर्शनसंभाषणादिना बहुदो-षोत्पत्तिर्भवति कामवृत्तेर्मलिनत्वात् तथाचोक्तम् "सदंसणेण पीई १ पीओ २ उ रओ ३ रई उ वीसंभो ४ वीसंभाओ पणओ ५ पचविहवड्ढए पिम्म " ॥१॥ जह जह करेमि नेहं, तह तह नेहो-मि वड्ढइ तुममि । तणनमिओमि बलिय, जं पुच्छसि दुब्बलतरो सि ३ मित्तिममइयदंसणसंभासणेण संदीविउ मयणवराही । धन्नाई गुणरयणे, डहइ अणिच्छ वि पमायाओ ३ अनिच्छतोऽपि दहति तथा "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" ॥ १ ॥ इति गाथा-छन्दः। ॥ ग० ३ अ० ।

एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलप्रवेशादिनिषेधो यथा

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवायप-डियाए निक्खमित्तए वा विपसित्तए वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा एवं गामाणुगामं वा वइज्जत्तए वासावासं वा वत्थए ॥

एव यावदेकपार्श्वशायिसूत्रं तावत् सर्वाण्यपि सूत्राण्युच्चाप-यितव्यानि । अथामीषां सूत्राणां संबन्धमाह ।

वंभवयरक्खणट्ठाए, अधियारो तु होति ते सुत्ता ।
जो एगपासमायी, विसेसतो संजतीवग्गो ॥

ब्रह्मव्रतरक्षणार्थमनन्तर सूत्रद्वयमुक्तममून्यपि सूत्राणि याव-देकं पार्श्वशायिसूत्र तावत्सर्वाण्यपि अधिकाराणि तस्यैव ब्रह्म-व्रतस्य रक्षणार्थमभिधीयन्ते (विसेसओ संजई वग्गोत्ति) एतेषु सूत्रेषु किंचिन्निर्ग्रन्थानामपि संभवति।तथा एकाकी सूत्रं परं वि-शेषतः संयतीवर्गमधिकृत्यामूनि सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि । अनेन संबन्धेनायातानाममीषां प्रथमसूत्रस्य भवेद् व्याख्या न कल्पते । निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रमितु प्रवेष्टु वा बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा निष्क्रमितुं वा प्रवे-ष्टु वा ग्रामानुग्रामं वा व्रजितु वर्षावासं वा वस्तुमिति सूत्रार्थः ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

एगागी वच्चती अप्पा, तमहं वत्ता परिच्चत्ता ।
लहुगुरु लहुगा गुरुगा, भिक्खवियारे वसहिगामे ॥

एकाकिनी निर्ग्रन्थी यदि भिक्षादौ व्रजति तत आत्मा महाव्र-तानि च तया परित्यक्तानि भवन्ति स्तेनाद्युपद्रवः संभवेत् अतो भिक्षायामेकाकिन्या गच्छन्त्या लघुमासा बहिर्विचारभूमौ गच्छ-न्त्या गुरुमासा ऋतुबद्धे वर्षावासे वा वसति एकाकिनी गृह्णाति चतुर्लघु ग्रामानुग्राममेकाकिनी व्रजति चतुर्गुरु । इदमेव दोषित प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथ विशेषितमाह ।

मासादीया गुरुगा, थेरी खुड्डी विमज्झिमतरुणीणं ।
तवकालविसिट्ठा वा, चउसुं पि चउगहमासाई ॥

स्थविराया एकाकिन्या भिक्षादौ व्रजन्त्या मासलघु क्षुल्लिका-या मासगुरु विमध्यमायाश्चतुर्लघु तरुण्याश्चतुर्गुरु। अथवा स्थ-विरा यद्येकाकिनी भिक्षां याति ततो मासलघु तपसा कालेन च लघुक बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा याति मासलघु काले-न गुरुक च मतिं गृह्णाति मासलघु । तपसा गुरुक ग्रामानुग्राम

द्रवति मासलघु । तपसा कालेन चतुर्गुरुकम् । एवमेव चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि मासगुरूणि तपःकालविशेषितानि कर्तव्यानि । विमध्यमायाश्चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि चतुर्लघूनि तप कालविशेषितानि तरुण्याः स्थानचतुष्टयेऽपि तथैव तप कालविशेषितानि चत्वारि चतुर्गुरूणि ॥

अथ दोषानाह ।

चिट्ठंती वेगागी, किएहइ दोसे ए इत्थिगा पावे ।
आमोसगतरुणेहिं, किं पुण पंथम्मि संका य ॥

किमेकाकिनी स्त्री प्रतिश्रये तिष्ठन्ती दोषान्न प्राप्नोति येनैवं भिक्षादनादिकमेवैकाकिन्याः प्रतिषिध्यते इति शिष्येण पृष्टः सूरिराह । तत्रापि तिष्ठन्ती प्राप्नोत्येव दोषान् । परमामोषकाः स्तेनास्तरुणा वा तत्स्थास्तत्कृत एकाकिन्या पथि गच्छन्त्या भूयांसो दोषाः । शङ्का च तत्र भवति । अवश्यमेषा दुःशीला येनैकाकिनी गच्छति । किंच ॥

एगागिणिए दोसा, साणा तरुणे तहेव पडिणीए ।
भिक्खविसोहि महव्वत, तम्हा सवितिज्जया गमणं ॥

एकाकिन्या भिक्षामटन्त्या एते दोषा भवन्ति श्वानः समागत्य दशेयुस्तरुणो वा कश्चिदुपसंगमयेत् । प्रत्यनीको वा हन्यात् । गृहत्रयादानीतायां भिक्षायामनुपयुज्य गृह्यमाणायामेषणाशुद्धिर्न भवति । कोटलविटलप्रयोगादिना च महाव्रतानि विराध्यन्ते । येन एते दोषा अतः सद्वितीयया निर्ग्रन्थ्या भिक्षादौ गमनं कर्तव्यम् ॥

द्वितीयपदमाह ।

असिवादि मीससत्थे, इत्थी पुरिसे य पूजिते लिंगे ।
एसा उ पंथजयणा, भावियवसही य भिक्खा य ॥

अशिवादिभिः कारणैः कदाचिदेकाकिन्यपि भवेत् तत्रेयं यतना ग्रामान्तरं गच्छन्ती स्त्रीसार्थेन व्रजति तदभावे पुरुषमिश्रेण स्त्रीसार्थेन तदप्राप्तौ सम्बन्धिपुरुषसार्थेन व्रजति । अथवा यत्तत्र परिव्राजिकादिलिङ्गं पूजितं तद्विधाय गच्छति एषा पथि गच्छतो यतना भणिता । ग्रामे च प्राप्ताया यानि साधुभावितानि कुलानि तेषु वसतिं गृह्णाति भिक्षामपि तेष्वेव कुलेषु पर्यटति । बृ० ५ उ०॥

एगाणउइ-एकनवति-स्त्री० एकाधिका नवतिः शा० त० एकाधिकनवतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च वाच० "एकाणउइ-परवेयावच्चकम्मपडिमाओ पण्णत्ताओ" सम० ।

एगाणुप्पेहा-एकानुप्रेक्षा-स्त्री० एकस्यैकाकिनोऽसहायस्यानुप्रेक्षा भावना एकानुप्रेक्षा "एकोऽहं नास्ति मे कश्चि-न्नाहमन्यस्य कस्यचित् । न त पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम" इत्येवमात्मन एकत्वभावनायाम् , । स्था० ४ ठा० ।

एगाभरण-एकाभरण-न० एकजातीये आभरणे, "एगाभरणवसणगहियनिज्जोय कोसुवियवरतरुणसहस्सं सहावेह" एक एकादृश आभरणवसनलक्षणो गृहीतो निर्योगपरिकरो यैस्ते तथेति भ० ९ श० ३३ उ० ॥ "एगाभरणपिहाणा" एकाभरणानि एकजातीयहेमरूप्यरत्नाभरणानि विधानानि च वस्त्राणि यस्याः सा तथेति । दशा० १० अ० ।

एगाभोग-एकाभोग-पुं० अत्र कोपकरणादीनामेकत्र बन्धने, "एगाभोगपडिग्गह केई य सव्वाणि य पुरतो" एगाभोगो एगो य जोगो भवति एगठबंधणेसि भणियं भवति होति त च मत्तगोचकरणाणं एगट्ठारं" नि० चू० १ उ० । (एगाभोगत्ति) एकत्राभोग. आभोग उपकरणं (एगत्ति) एकत्र करोति एकत्र बध्नातीत्यर्थ इति । ओघ० ।

एगामोस-एकामर्ष-पुं० एकामर्शने, ओघ० ।

एकामर्श-पुं० एकस्मिन् स्पर्शे, ६०३ अधि० । तथा च धर्मसंग्रहे प्रत्युपेक्षणदोषमधिकृत्य "एगामोसा" एकामर्शो वस्त्रं मध्ये गृहीत्वा तावदाकर्षणं करोति यावन्निःशेषावशेषे ग्रहणं आमेकाकर्षणमित्यर्थः । अथवाऽनेकामर्शाः आस्फोटने ग्रहणे चाऽनेके आमर्शाः स्पर्शा भवन्ति तदन्यमनेकधा स्पृशतीत्यर्थ इति । ध० ३ अधि०॥

एगायत-एकायत-त्रि० एकाकिनि, "एगा य ताणुक्कमणं करेति" एकाकिनोऽत्राणा अनुक्रमणं तस्यां गमनं प्लवनं कुर्वन्तीति एकस्मिन् दीर्घे च "एगायते पव्वयमंतलिक्खे" एकशिला घटितो दीर्घ इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

एगाययण-एकायतन-न० ज्ञानादित्रये, अद्वितीये आयतने, "एगाययणरयस्स इविप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे वि रत्तस्स ति" अत्राभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य आत्माऽऽयत्यते आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतनं ज्ञानादित्रयमेकमद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्तस्य मार्गे न विद्यते कोऽसौ मार्गो नरकतिर्यङ्मनुष्यगमनपद्धतिरिति । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

एगार-अयस्कार-त्रि० अयोविकारं करोति कृ-अण्-उप० स० सत्वम् । २ थाविर्यविचकिलायस्कारे ८।१।६६। इति सूत्रेणादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद्भवति । लोहकारे, प्रा० ।

एगारस (न्) एकादशन्-त्रि० एकाधिका दश नि० आत्० "संख्यागद्गदे रः ८।२।१२ इति प्राकृतसूत्रेण दस्य रः । प्रा० । एकादशसंख्यान्विते, वाच० " "एक्कारस उवासगाणं" एकादश चोपासकानां प्रतिमा भवन्तीति । प्रश्न० ५ द्वा० ।

एगारसंगसुत्तत्थधारय-एकादशाङ्गसूत्रार्थधारक-पुं० एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थमनधारयन्ति त्वेकादशाङ्गसूत्रार्थधारकाः । व्य०७ उ० । एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थयोर्धारके, "एक्कारसंगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य" एकादश च तान्यङ्गानि च एकादशाङ्गानि एकादशाङ्गानां सूत्रार्थौ एकादशाङ्गसूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये ते तानेकादशाङ्गसूत्रार्थधारकानिति । ओघ० ।

एगारसम-एकादशम-त्रि० एकादशानां पूरणे डटि संख्यापूर्वकादपि कश्चिन्मुट् । यत्संख्यया एकादश संख्या पूर्यते तादृशसंख्यान्विते, वाच० । 'एक्कारसमे पव्वे' स्था०६ ठा० (एक्कारसमंति) एकादशीं श्रमणभूतप्रतिमामिति । उपा०२ अ० ।

एगावण्ण-एकपंचाशत्-स्त्री० एकाधिका पञ्चाशत् शा० त० एकाधिकपञ्चाशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । वाच० । "नवण्हं बंभचेराणं एक्कावन्नं उद्देसणकाला पण्णत्ता" । सम० ५१ स० ।

एगावतारि-(न्) एकावतारिन्-पुं० एकावतारवति जीवे, तद्विषये पण्डितजगमालगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा वनस्पत्यादिषु जीवा एकावतारिणः शास्त्रे उक्तास्तथा मतान्तरीयवृन्दमध्येऽपि कश्चिद् भवति नवेत्यत्रोत्तरमेकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्तीति । हीर० ।

एगावली-एकावली-स्त्री० एकाऽद्वितीयाऽऽवली माला मणिश्रेणी । आभरणविशेषे, सम० । सा च नानामणिकमयी हा-

लेति । औप० । एकावली विचित्रमणिकृता एकसरिकेति । ज्ञा० १ अ० । " एकावलिकंठलइयवच्छा " एकावली आभरणविशेषः सा कण्ठे ग्रीवायां लगिता विलम्बिता सती वक्षसि उरसि वर्त्तते येषां ते तथेति । सम० । " एगावलिं पिणद्धेत्ति " प्रश्न० १ सं० ४ द्वा० ।

एगावलीपविभत्ति-एकावलीप्रविभक्ति-न०।नाट्यभेदे,राज०।

एगावाइ-(न्) एकवादिन्-पु० एक एवात्माद्विरर्थ इत्येवं वदतीत्येकवादी दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । अक्रियावादिभेदे, उक्तं चैतन्मतानुसारिभिः " एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवदिति " ॥ १ ॥ अपरस्त्वात्मैवास्ति नान्यदिति प्रतिपन्नस्तदुक्तं " पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमुतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति " ॥ १ ॥ यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यत इति । तथा " नित्यज्ञानविवर्त्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः । आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्ते परे पुनः " रिति ॥ १ ॥ शब्दाद्वैतवादे तु सर्वं शब्दात्मकमिदमित्येकत्व प्रतिपद्यः । उक्तञ्च " अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत " इति ॥ १ ॥ अथवा सामान्यवादी सर्वमेकैक प्रतिपद्यते । सामान्यस्यैकत्वादित्येवमनेकधैकवादे अक्रियावादिता चास्य सद्भूतस्यापि तदन्यस्य नास्तीति प्रतिपादनात् । आत्माद्वैतपुरुषाद्वैतशब्दाद्वैतादीनां युक्तिभिरघटमानानामनस्तित्वाभ्युपगमाच्च । स्था० ८ठा० । तथाच ।

एकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकारप्राप्तं पूर्वपक्षयितुमाह ।

जहा य पुढवी थूभे, एगे नाणाहि दीसइ ।
एवं भो कसिणे लोए, विन्नू नाणाइ दीसइ ॥ ए ॥

दृष्टान्तबलेनैवार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः । यथेत्युपदर्शने चशब्दोऽपिशब्दार्थे स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः पृथिवीसंघातावयवी । स चैकोऽपि यथा नानारूपः सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते । निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवत्येवमुक्तरीत्या भो इत्यामन्त्रणे कृत्स्नोऽपि लोकश्चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्तते । इदमत्र हृदयम् । एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञानपिण्डः पृथिव्याद्याकारतया नाना दृश्यते न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति तथा-चोक्तमेक एव हि भूतात्मेत्यादि ।

अस्योत्तरदानायाह ।

एवमेगेति जप्पंति, मंदा आरंभणिस्सिआ ।
एगे किचा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥ १० ॥

एवमित्यनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपदर्शनम् । एके केचन पुरुषाः कारणवादिनो जल्पन्ति प्रतिपादयन्ति किंभूतास्ते इत्याह मन्दा जडाः सम्यक्परिज्ञानविकला । मन्दत्वं चैषां युक्तिविकलात्माऽद्वैतपक्षसमाश्रयणात् । तथाहि-यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्त्वाः प्राणिनः कृषीबलाद्य एके केचन आरम्भे प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापारे निःश्रिता आसक्ताः संबद्धा अध्युपपन्नास्ते च सरम्भसमारम्भैः कृत्वोपादाय स्वयमात्मना पापमशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं (नियच्छतीति) आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमकारि । तत्रश्चायमर्थो निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यतया गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति त एवारम्भासक्ता नान्य इत्येतन्न स्यादपि चाशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसम्बन्धः स्यादेकत्वादात्मन इति न चैतदेवं दृश्यते । तथाहि य एव कश्चित्समञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवन्नुपलभ्यते नान्य इति । तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाद्यभावस्तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयनाभावश्च स्यादिति । एतदर्थसवादित्वान्नाक्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते । तद्यथा पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामेकत्र कायाकारपरिणतानां चैतन्यमुपलभ्यते । यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यान्न चैव तस्मान्नैक आत्मा । भूतानां चान्योन्यगुणत्वं न स्यादेकस्मादात्मनोऽभिन्नत्वात् । तथा पञ्चेन्द्रियस्थानां पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्यामन्येन ज्ञातं विदितमन्यो न जानातीत्येतदपि न स्यात्तदेवैक एवात्मा स्यादिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० (विस्तरः पुरुषशब्दे दर्शयिष्यते)

तथाच विशेषावश्यके आत्मनो बहुभेदत्वमधिकृत्य ॥

संसारीयरथावर-तसाइभेयं मुणे जीवं ॥

तथा संसारीतरस्थावरत्रसादिभेदं संसारिणश्चेतरे सिद्धाः आदिशब्दाच्च सूक्ष्मबादरपर्याप्तादिभेदपरिग्रह इति । अत्र वेदान्तवादी प्राह । ननु बहुभेदत्वमात्मनोऽसिद्धं तस्य सर्वत्रैकत्वात् । तदुक्तम् । एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् । " यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभि-र्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥ " तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं, भेदरूपं प्रकाशते ॥ ऊर्ध्वमूलमधः शाख-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् । पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यत इत्यादि " इत्येतदेव पूर्वार्द्धेनोक्तिप्योत्तरार्द्धेन परिहरन्नाह ।

जइ पुण सो एगो च्चिय, हवेज्ज वोमं व सव्वपिंडेसु ।
गोयम ! तदेगलिंगं, पिंमेसु तहा न जीवो य ॥

परः प्राह यदि पुनर्वेदान्तन्यायेन स आत्मा सर्वेष्वपि नारकतिर्यग्नरामरपिण्डेषु व्योमवदेक एव भवेत्त तु संसारीतरादिभेदभिन्नस्तर्हि किं नाम दूषणं स्यादेवमुक्ते भगवानाह । गौतम ! तद्व्योम सर्वेष्वपि पिण्डेषु मूर्तिविशेषेषु स्थितम् एकलिङ्गं वैसदृश्याभावादेकरूपमेवेति युक्तं तस्यैकत्वं जीवस्त्वेवं विचार्यत्वेन प्रस्तुतो न तथा नैकलिङ्गः सर्वत्र दृश्यते प्रतिपिण्डं तस्य विलक्षणत्वाल्लक्षणभेदेन च लक्ष्यभेदादिति न तस्यैकत्वमिति ॥

अत्र प्रयोगमाह ।

नाणा जीवा कुंभा-दओ व्व विलक्खणाइभेयाओ ।
सुहदुक्खबंधमोक्खा-भावा य जओ तदेगत्ते ॥

नानारूपा इति जीवाः परस्परं भेदभाज इत्यर्थः । लक्षणादिभेदादिति हेतुः कुम्भादय इवेति दृष्टान्तः । यच्च न भिन्नं तस्य न लक्षणभेदो यथा नभस इति । सुखदुःखबन्धमोक्षाभावश्च यस्मात्तदेकत्वे तस्माद्भिन्ना एव सर्वेऽपि जीवा इति ।

कथं पुनस्तेषां प्रतिपिण्डमलक्षणभेद इत्याह ॥

जेणोवओगलिंगो, जीवो भिन्नो य सो पइसरीरं ।
उवओगोऽकरिसा व, गरिसोउत्तेण णंतो ॥

येन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणोऽसौ जीवः स चोपयोगः प्रतिशरी-

रमुत्कर्षापकर्षभेदादनन्तभेदस्तेन भेदादनन्तभेदा एवेति तदेवं भावितं (नाणाजीवा इत्यादि) पूर्वार्द्धमिदानीं सुखदुःखेत्याद्युत्तरार्द्धं भावयन्नाह ॥

एगत्ते सव्वगय-त्तओ य न सोक्खाइओ नभस्सेव ।
कत्ता भोत्ता मंता, न य संसारी जहागासं ॥

एकत्वे जीवानां सुखदुःखबन्धमोक्षादयो नोपपद्यन्ते सर्वगत्वान्नभस इव । यत्र तु सुखादयो न तत्सर्वगतं यथा देवदत्त इति । किञ्च न कर्त्ता न भोक्ता न मन्ता न संसारी जीवः एकत्वात् सर्वजीवानां, यच्चैकं न तस्य कर्तृत्वादयो यथा नभस इति । अपि च ।

एगत्ते नत्थि सुही,बहुयरुवघाउ त्ति देसनिरुओव्व ।
बहुतरबंधत्तणओ य, न य मुक्को देसमुक्को व्व ॥

इहमेकस्य नारकतिर्यगादयोऽनन्ता जीवा नानाविधशारीरमानसा यथा तेऽदुःखिता एव तदनन्तभागवर्त्तिनस्तु सुखिनः । एवमनन्ता बद्धास्तदनन्तभागवर्तिनस्तु मुक्तास्तेषां चैकत्वेन कोऽपि सुखी प्राप्नोति बहुतरोपघातान्वितत्वाद्यथा सर्वाङ्गरोगग्रस्तोऽङ्गुल्येकदेशेन नीरोगो यज्ञदत्त एव न कोऽपि मुक्तो घटते बहुतरबद्धत्वाद्यथा सर्वाङ्गकीलितोऽङ्गुल्येकदेशमुक्तस्तस्मादेकत्वे सुखाद्यनुपपत्तेर्नानात्वं जीवानामिति स्थितम् (विशे०) तथा च नन्द्यध्ययने आत्मषष्ठादिमतमुपक्रम्य आत्माद्वैतिनो नाम पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि प्रतिपन्नास्तन्मतनिराकरणं च तत्रैव पुरुष एवेदमिति सर्वमिति प्रतिपन्नास्तेऽपि महामोहोरगगरलपूरमूर्च्छितमानसा उपेक्षितव्यास्तथाहि यदि नाम पुरुषमात्ररूपमद्वैतत्त्वं तर्हि यदिदमुपलभ्यते सुखितदुःखितत्वादि तत्सर्वं परमार्थतोऽसत्प्राप्नोति ततश्चैवं स्थिते यदेतदुच्यते प्रमाणतोऽधिगम्य संसारनैर्गुण्यं तद्विमुक्तया प्रज्ञया तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरित्यादि तदेतदाकाशकुसुमसौरभवर्णनोपमानमवसेयम् । अद्वैतरूपे हि तत्त्वे कुतो नरकादिभवभ्रमणरूपः संसारो यन्नैर्गुण्यमवगम्य तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरुपपद्येत । यदप्युच्यते पुरुषमात्रमेवाद्वैतत्त्वं यत्तु संसारनैर्गुण्यभावनभेददर्शनं च तत्सर्वदा सर्वेषामविगानप्रतिपत्तावपि चित्रे निम्नोन्नतभेददर्शनमिव भ्रान्तमवसेयमिति तदप्यचारु एतद्विषयव्यवस्थापकप्रमाणाभावात् । तथाहि नाद्वैताभ्युपगमे किञ्चिदद्वैतग्राहकं ततः पृथग्भूतं प्रमाणमस्ति द्वैतत्वप्रसक्तेः नच प्रमाणमन्तरेण निष्प्रतिपक्षा तत्त्वव्यवस्था भवति मा प्रापत्सर्वस्य सर्वेष्टार्थसिद्धिप्रसङ्गः । तथा भ्रान्तिरपि प्रमाणभूतादद्वैताद्भिन्नाऽभ्युपगन्तव्या अन्यथा प्रमाणभूतमद्वैतमप्रमाणमेव भवेत्तदव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत् । तथाच कुतस्तत्त्वव्यवस्था भिन्नायां च भ्रान्तावभ्युपगम्यमानायां द्वैतप्रसक्तमित्यद्वैतहानिः अपिच यदीदं स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिभेददर्शनं भ्रान्तमुच्यते तर्हि नियमात्तदपि क्वचित्सत्यमवगन्तव्यमभ्रान्तदर्शनमन्तरेण भ्रान्तेरयोगात् न खलु येन पूर्वमाशीविषो दृष्टस्तस्य रज्ज्वामाशीविषभ्रान्तिरुपजायते तदुक्तम् "नादृष्टपूर्वसर्पस्य रज्ज्वां सर्पमतिः क्वचित् । ततः पूर्वानुसारित्वाद्भ्रान्तिरभ्रान्तिपूर्विका" १ तत एवमप्यव्याहतो भेदः । अन्यच्च पुरुषाद्वैतरूपतत्त्वमवश्यं पूर्वं परस्मै निवेदनीयं नात्मने आत्मनो व्यामोहाभावात् निर्मोहस्यैवाद्वैतप्रतिपत्तिरेव न भवेत् । अथोच्येत यत एव व्यामोहोऽत एव तन्निवृत्त्यर्थमात्मनोऽद्वैतप्रतिपत्तिराधेया तदयुक्तमेवं सति अद्वैतप्रतिपत्त्याधानेनात्मनो व्यामोहे निवर्त्यमानेऽवश्यं पूर्वरूपत्यागोऽपररूपस्य चाप्याप्तेर्व्यामूढतालक्षणस्योत्पत्तिरित्यद्वैतप्रतिज्ञाहानिः परस्मै च प्रतिपादयन् नियमतः परमभ्युपगच्छेत्परं चाऽभ्युपगच्छन् तस्मै चाद्वैतरूपं तत्त्वं निवेदयन् पिता मे कुमारब्रह्मचारीत्यादि वदन्निव कथं नोन्मत्तः स्वपराभ्युपगमेनाद्वैतवचसो बाधनादिति यत्किंचिदेतत् (नंदी०) तथाच सम्मतितर्केऽद्वैतमात्रस्य तात्त्विकत्वं निराकृतम् तथाहि अपरस्तु कार्यकारणभावस्य कल्पनाशिल्पिविरचितत्वात् तदुभयव्यतिरिक्तमद्वैतमात्रं तत्त्वमित्यभ्युपपन्नस्तन्मतमपि मिथ्या, कार्यकारणोभयशून्यस्य खरविषाणवदद्वैतमात्रस्य व्योमोत्पलतुल्यत्वात् । तथाह्यद्वैतप्रतिपादकप्रमाणस्य सद्भावे द्वैतापत्तितो नाद्वैतं प्रमाणाभावे अद्वैतासिद्धेः प्रमेयसिद्धेः प्रमाणनिबन्धनत्वात् । किंचाद्वैतमिति प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासो वा प्रसज्यपक्षे प्रतिषेधमात्रपर्यवसानत्वान्नास्य नाद्वैतसिद्धिः प्रधानोपसर्जनभावेनाङ्गाङ्गिभावकल्पनायां द्वैतप्रसक्तिः द्वितीयपक्षेऽपि द्वैतप्रसक्तिरेव प्रमाणान्तरप्रतिपन्ने द्वैतलक्षणे वस्तुनि तत्प्रतिषेधेनाद्वैतसिद्धेः । द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके च द्वैतप्रसक्तिरेव पररूपव्यावृत्तस्वरूपाव्यावृत्तात्मकत्वेन तस्य द्विरूपताप्रसक्तेरव्यतिरेके पुनर्द्वैतप्रसक्तिर्नचाद्वैतस्यापि विद्यमानत्वात् द्वैताव्यावृत्ततासंभवो विद्यमानस्यापि विद्यमानाद्व्यावृत्तिप्रसक्तेरन्यथा सद्रूपताया विशेषप्रसक्तिर्भवेत् । प्रमाणादिचतुष्टयसद्भावे च न द्वैतवादान्मुक्तिस्तदभावे शून्यतावादादिति नाद्वैतकल्पना ज्यायसी । नच नित्यत्वाद् द्वैतकल्पना भावानामनेकत्वेऽपि युक्तिसंगता सर्वदा सर्वभावानां नित्यत्वे ग्राह्यग्राहकरूपताभावप्रसक्तेस्तद्भावाद्यथायथं ग्राह्यग्राहकरूपताया विकारिताव्यतिरेकेण योगात् सा च कथञ्चिदेकस्यानेकरूपानुपपत्तेरिति कथं नानेकान्तसिद्धिः । द्रव्याद्वैतवादे रूपादिभेदाभावप्रसङ्गश्च न च चक्षुरादिसम्बन्धात्तदेव द्रव्यं रूपादिप्रतिपत्तिजनकं सर्वात्मना तत्सम्बन्धस्य तथैव प्रतीतिप्रसक्तेः । रूपान्तरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य तत्राभावात् । तत्र द्रव्याद्वैतमपि प्रधानाद्वैतं युक्तमेव सत्त्वादिव्यतिरेकेण तस्याभावान्न च सत्त्वादेस्तद्व्यतिरेकादद्वैतं प्रधानस्य सत्त्वाद्यव्यतिरिक्तात् द्वैतप्रसक्तेर्महदादिविकारस्य चाभ्युपगमे कथमद्वैतं विकारस्य च विकारिणोऽत्यन्तमभेदेन विकारीति प्रतिपादितभेदाभेदेऽनेकान्तसिद्धेर्व्यतिरेके द्वैतापत्तिरिति । (सम्म०) ब्रह्माद्वैतस्य तात्त्विकत्वं प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं च निराकृतं तद्यथा ब्रह्मवादवावदूका वदन्ति युक्तं यदेष सकलापलापी पापीयानपापस्य आत्मग्रहणस्तात्त्विकस्य सत्त्वात् । नवसरलसालरसालप्रियालहिंतालतालतमालप्रवालप्रमुखपदार्थसार्थोऽप्ययमहमहमिकया प्रतीयमानः कथं न पारमार्थिकः स्यादिति वक्तव्यं तस्य मिथ्यारूपत्वात् । तथाहि प्रपञ्चो मिथ्या प्रतीयमानत्वाद्यदेवं तदेवं यथा शुक्तिशकले कलधौतं तथा चायं तस्मात्तथा तदेतदेतस्य न तर्ककार्कश्यं सूचयति । तथाहि मिथ्यात्वमत्र कीदृक्षमाकाङ्क्षितं सूक्ष्मदृशा किमत्यन्तासत्त्वमुतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वमाहोस्विदनिर्वाच्यत्वमिति भेदत्रयी त्रिनेत्रनेत्रत्रयीव ढौकते । आद्ये पक्षद्वये तदनङ्गीकार परीहारः । तार्तीयीकविकल्पे तु किमिदमनिर्वाच्यत्वं नाम किं निरुक्तिविरह एव निरुक्तिनिमित्तविरहो निःस्वभावत्वं वा । न प्रथमः कल्पः कल्पनार्हः सरसोऽयं सालोऽयमिति निश्चितोक्तेरनुभवात् । नापि द्वितीयः निरुक्तेर्हि निमित्तं ज्ञानं वा स्याद्विषयो वा न प्रथमस्य विरहः सरससालादिसंवेदनस्य प्रतिप्राणि प्रतीतेर्नापि द्वितीयस्य यतो विषयः किं भावस्वरूपो नास्त्यभावरूपो वा । प्रथमकल्पनायामसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः । द्वितीयकल्पनायां तु सत्ख्यातिरेव तत्रावपि न स्व इति चेत् ननु भावाभावशब्दाभ्यां लोकप्रतीति-

सिद्धौ तावन्निभ्रेती विपरीतौ वा । प्रथमपक्षे तावद्यथोभयोरेकत्र विधिर्नास्ति तथा प्रतिषेधोऽपि परस्परविरुद्धयोर्मध्यादेकतरविधिनिषेधयोरन्यतरनिषेधविधिर्नान्तरीयकत्वात् । द्वितीयपक्षे तु न काचित्क्षतिर्न ह्यलौकिकविषयसहस्रानिवृत्तावपि लौकिकज्ञानविषयनिवृत्तिस्तन्निवृत्तिर्निवृत्तिर्वा । निःस्वभावत्वपक्षेऽपि निसः प्रतिषेधार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थतेति पूर्ववत्प्रसङ्गः । प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेदत्र विरोधः । प्रपञ्चो न प्रतीयते चेत्कथं धर्म्मितया प्रतीयमानत्वं च हेतुतयोपाददे तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते यथा प्रतीयते न तथेति चेत्तर्हि विपरीतख्यातेरभ्युपगमः स्यात् । किं चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षेऽपि सरल्लोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति सरलादिप्रातिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादादितरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चवचो वाच्यत्वेन सम्मतत्वात् । अथ कथमेतत्प्रत्यक्षं पक्षप्रतिक्षेपकं नहि विधायकमेवेति तथा तथा ह्येतत् विदधाति न पुनः प्रपञ्चसत्यतां प्ररूपयति । सा हि तदा प्ररूपिता स्याद्यदेतरास्मिन्नितरेषां प्रतिषेधः कृतः स्यान्न चैव निषेधे कुण्ठत्वात्प्रत्यक्षस्येति चेत्तदयुक्तं यतो विधायकमिति कोऽर्थः इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति नान्यस्वरूपं प्रतिषेधति । प्रत्यक्षमिति चेन्नैवम् अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति नेतरथा यच्चेदमिति वस्तुस्वरूपमेव गृह्णाति प्रत्यक्षमित्युच्यते तदावश्यमपरस्य प्रतिषेधनेऽपि तत्प्रतिपद्यत इत्यभिहितमेव भवति केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् । अपि च विधायकमेव प्रत्यक्षमिति नियमस्याङ्गीकारे विद्यावदविद्याया अपि विधानं तवानुषज्यते सोऽयमाविद्या विवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतियन्न च निषेधकं तदिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थ इति सिद्धः प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति । अनुमानबाधितश्च प्रपञ्चो मिथ्या न भवत्यसद्विलक्षणत्वाद्य एवं स एवं यथात्मा तथा चायं तस्मात्तथेति । प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्गोचरवचनानामप्रवृत्तेर्मूकतैव तत्र वः श्रेयसी स्यात् । दृष्टान्तश्च साध्यविकलः शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेनानिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किं चेदमनुमानं प्रपञ्चाद्भिन्नमभिन्नं वा । यदि भिन्नं तर्हि सत्यमसत्यं वा । यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् । अथासत्यं तत्रापि शून्यमन्यथा ख्यातमनिर्वचनीयं वा आद्यपक्षद्वये न साध्यसाधकत्वं नृशृङ्गवच्छुक्तिकलधौतवच्चेति तृतीयपक्षोऽप्यक्षम । अनिर्वचनीयस्यासंभवित्वेनाभिहितत्वात् । व्यवहारसत्यमिदमनुमानमतोऽसत्यत्वाभावान्न च साध्यसाधकमिति चेत् किमिदं व्यवहारसत्यं नाम व्यवहृतिर्व्यवहारो ज्ञानं तेन चेत्सत्यं तर्हि पारमार्थिकमेव तत्तत्र चोक्तो दोषः । अथ व्यवहारः शब्दस्तेन सत्यम् । ननु शब्दोऽपि सत्यस्वरूपस्तदितरो वा यद्याद्यस्तर्हि तेन यत्सत्यं तत्पारमार्थिकमेवेति तदेव दूषणम् । अथासत्यस्वरूपः शब्दः कथं ततस्तस्य सत्यत्वं नाम । नहि स्वयमसत्यमन्यस्य सत्यत्वव्यवस्थाहेतुरतिप्रसङ्गात् । अथ कूटकार्षापणे सत्यकार्षापणोचितक्रयविक्रयव्यवहारजनकत्वेन सत्यकार्षापणव्यवहारवदसत्येऽप्यनुमाने सत्यव्यवहार इति चेत्तर्ह्यसत्यमेव तदनुमानं तत्र चोक्तो दोषः । अतो न प्रपञ्चाद्भिन्नमनुमानमुपपत्तिपदवीमापद्यते नाप्यभिन्नं प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यात्वप्रसक्तेर्मिथ्यारूपं च तत्कथं नाम स्वसाध्यं साधयेदित्युक्तमेव ॥ एवं च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वासिद्धेः कथं परब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्याद्यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति । रत्ना० १ परि०

पुरुषाद्वैतस्य निराकरणं षोडशप्रकरणे यथा

पुरुषाद्वैतं तु यदा, भवति विशिष्टमवबोधमात्रं वा ।
भवभवविगमविभेद–स्तदा कथं युज्यते मुख्यः ॥ ७ ॥

द्वयोर्भावो द्विता तस्यां भवं सैव वा द्वैतं पुरुषस्याद्वैतमेकत्वं तु यदा भवत्यङ्गीकरणेन वादिनो विशिष्टं केवलं रागादिवासनारहितमवबोधमात्रं वा बोधस्वलक्षणं वा वेदान्तवादिनः पुरुषाद्वैतं मन्यन्ते । यथाहुरेके " पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि " तथा "विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिता समदर्शिनः" इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेर्विज्ञानवादिनस्तु शेषनीलादिविकल्पशून्यं पारमार्थिकरागादिवासनादिविशेषरहितं बोधस्वलक्षणमात्रमेव प्रतिजानते यथोक्तम् " चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते" । भवश्च भवविगमश्च तौ संसारमोक्षौ तयोर्विभेदो भवभवविगमविभेदस्तदा कथं युज्यते मुख्यसंसारमोक्षयोर्मुख्यो भेदो न युज्यते । अर्थान्तरे ह्यविद्यादौ तत्त्वे भेदके सति तयोर्विशेषो युज्यते इति भावः ॥ ७ ॥

कस्मात्पुनः पुरुषाद्वैतं बोधमात्रं वा विशिष्टं भवतीत्याह ।

अग्निजलभूमयो य–त्परितापकरा भवे तु भवसिद्धाः ।
रागादयश्च रौद्रा, असत्प्रवृत्त्यास्पदं लोके ॥ ८ ॥

अग्निश्च जलं च भूमिश्चाग्निजलभूमयो यद्यस्मात्परितापकराः परमार्थतो दुःखानुभवकरा वैषयिकसुखस्य भावतो दुःखरूपत्वात् भवे संसारे तु भवसिद्धाः किं पुनर्बहिस्त्रयाणामुपादाने वायोरपि पठितत्वाल्लोकसिद्धत्वाच्च उच्यते–वायुपदार्थद्रव्यगुणरूपतायां विप्रतिपद्यन्ते वादिनो नाग्निजलभूमिषु तेषां द्रव्यरूपेण प्रतीतेरतो न वायुग्रहणं सर्वेन्द्रियानुपलम्भाच्चाथवाऽग्निसहचरितत्वेनैव वायोर्ग्रहणं यत्र तेजस्तत्र वायुरिति वचनात् । रागादयश्च रागद्वेषमोहाश्च रौद्रा दारुणास्तीव्रसङ्क्लेशरूपेणासत्प्रवृत्त्यास्पदमसत्प्रवृत्तीनां सुन्दरप्रवृत्तीनामास्पदं प्रतिष्ठा लोके सर्वस्यैवानुभवसिद्धा यतो वर्त्तते यदि पुरुषाद्वैतमेव भवेत् प्रत्यक्षसिद्धा बाह्या ज्वलनादयः पदार्था न स्युस्तेषां चैतन्यस्वरूपपुरुषव्यतिरेकेण रूपान्तरोपलब्धेस्तेषां तु बहिर्वर्त्तिनां ज्वलनादीनां पुरुषत्वाङ्गीकरणे सर्वपदार्थानां नाममात्रमेव कृतं स्यात्पुरुष इति न तत्र विप्रतिपत्तिः । विज्ञानाद्वैतमपि यदि भवेत्ततो रागादयोऽनुभवसिद्धाः प्रतिप्राणिन भवेयुस्तथा च सकललोकपरीक्षकविरोधस्तेषां सर्वैरभ्युपगमादनुभवस्य चान्यथाकर्तुमशक्यत्वादिति ॥ ८ ॥

अथ सर्वेऽप्येते बाह्या आन्तराश्च परिकल्पितरूपा एवेत्याशङ्कायामिदमाह ॥

परिकल्पिता यदि ततो, न सन्ति तत्त्वेन कथममी स्युरिति ।
तन्मात्र एव तत्त्वे, भवभवविगमौ कथं युक्तौ ॥ ९ ॥

परिकल्पिता भवन्तु सन्तः कल्पनामात्रनिर्म्मितशरीरा बाह्या आन्तराश्च यदि भवताऽभ्युपगम्यन्ते ततः परिकल्पितत्वादेव न सन्ति न विद्यन्ते तत्त्वेन परमार्थेन कथमपी पदार्थाः स्युर्भवेयुर्न कथंचिद्भवेयुर्भवताऽप्यनभ्युपगमात् । इत्येवं तन्मात्र एव पुरुषमात्र एव बोधमात्र एव तत्त्वे परमार्थे भवभवविगमौ संसारमोक्षौ कथं केन प्रकारेण युक्तौ संगतौ न कथंचिदित्यर्थः ॥ ९ ॥

कस्मात्पुनः परिकल्पिता एते न सन्तीत्युच्यते परिकल्पनाया एवाभावादित्याह ॥

परिकल्पनाऽपि चैषा, हन्त विकल्पात्मिका न संभवति ।
तन्मात्र एव तत्त्वे, यदि वा भावो न जात्वस्याः ॥१०॥

परिकल्पनाऽपि च एषा बाह्यान्तराणामर्थानां हन्त ! विकल्पात्मिका वस्तुशून्यनिश्चयात्मिका न संभवति न युज्यते निर्बीजत्वात् । युक्तिमाह तन्मात्र एव पुरुषमात्र एव ज्ञानमात्रम् । एव च तत्त्वे तदतिरेकेणेतरपदार्थाभावात् । अभ्युपगम्यं परिकल्पनादूषणान्तरमाह । यदिवा भावोऽसंभवो नैव जातु कदाचिदप्यस्याः परिकल्पनाया यदि निर्बीजापीयं बाह्यान्तरपदार्थपरिकल्पनेष्यते ततः संसारवन्मुक्तावपि भवेदियमिति भावस्ततश्च संसारमोक्षभेदानुपपत्तिः परिकल्पनाबीजसद्भावाभ्युपगमे तु पुरुषबोधस्वलक्षणव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरापत्त्या प्रस्तुताद्वैतपक्षक्षयहानिः षो०१६ विव० । (सम्मतावपि शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतमधिकृत्य विस्तरेणाद्वैतमतं निरूपितं विस्तरभयान्नास्माभिर्लिख्यते तत्तु तत एवावधार्यम्) तत्र नयोपदेशे यथा ॥

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धा–दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् ।
तत्रैके शब्दसन्मात्रं, चित्सन्मात्रं परे जगुः ॥ ११० ॥

शुद्धाद् द्रव्यास्तिकाद् ब्रह्मवादिनां दर्शनं जातं तदाह " वादीदव्वाट्ठियणयपयडीसुद्धासंगहपरूवणाविसओ त्ति " तत्रैके ब्रह्मवादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति अन्ये च चित्सन्मात्रम् । तत्राद्यमतावलम्बी शब्दस्वभावं ब्रह्म सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिरित्यभ्युपैति तदाह तन्नियुक्तो भर्तृहरि । " अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः " इति । अस्यार्थः आदिरुत्पादो निधनं विनाशस्तदभावादनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं शब्दात्मकं वैखर्यात्मशब्देनैवसर्वोल्लेखान्मध्यमाख्यशब्दसंसृष्टसविकल्पकज्ञानेनैव सर्वार्थग्रहणात् पश्यन्त्याख्यशुद्धशब्दात्मकज्ञानेनैव चाखण्डैकस्वरूपनिश्चयात् सर्वत्रानुस्यूतत्वात् । सर्वोपादानत्वाच्च शब्दतत्त्वमखण्डं ब्रह्मेत्यर्थः । एतदेवाह । " यदक्षरमकारादि " एतेनाभिधानरूपो विवर्त्तो दर्शितः । तथा यदर्थभावस्तद् विवर्त्तते एतेनाभिधेयरूपो विवर्त्तो दर्शित । तथा यतो जगतः प्रक्रिया प्रतिनियता व्यवस्था भेदानां संकीर्त्तनमेतद्विति । अयं च वर्णक्रमरूपो वेदस्तदधिगमोपायः प्रतिच्छेदकन्यायेन तस्यावस्थितत्वात् । तच्च परमब्रह्माभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्म्मानुगृहीतान्तःकरणैरवगम्यते । अन्यैस्तु प्रयोगादवगम्यते शब्द एव जगतस्तत्त्वं तद्धर्मेऽप्यवभास्यमानत्वादहोपात्रयवत् ग्रामारामादयः शब्दात्मकास्तदाकारानुस्यूतत्वात् सुवर्णात्मककुण्डलादिस्यादितः शब्दब्रह्मसाम्राज्यासिद्धेः । न च प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था प्रमाणं च चिदात्मकमेवानुभूयत इति तत्र शब्दरूपत्वासिद्धिर्निराकारस्य ज्ञानस्यार्थग्राहकत्वेन व्यवहारेऽनाश्रयणीयत्वात् साकारस्य च तस्य वाग्रूपतां विनाऽसंभवात्तदुक्तं " वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । स्यादशाश्वती न प्रकाशेत् सा हि प्रत्यवमर्शिनीति १ अत एव शब्दार्थसंबन्धो वैयाकरणैरभेदेनैव प्रतिपादितः । युक्तं चैतत्कथमन्यथाऽदृष्टदशरथादीनामिदानीन्तनानां दशरथादिपदाच्छाब्दबोधः शुद्धदशरथत्वादिनोपस्थितेस्तत्रासंभवनीयत्वात् तथापूर्वकमनुभवाभावात् प्रमेयत्वादिना दशरथत्वादिप्रकारकोपस्थितौ च ततः प्रमेयवानित्याकारकबोधस्यैव संभवात् । न च प्रमेयवानित्याकारकसंस्कारात् प्रमेयत्वांशे उद्बोधकरहिता शुद्धदशरथत्वादिप्रकारकस्मरणोपपत्तिः तत्प्रकारकस्मृतौ तत्प्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्वादिति वाच्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यां शुद्धतत्प्रकारकस्मृतिं प्रति शुद्धतत्प्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्वसिद्धेर्न च प्रमेयाभाववदित्यादिज्ञानात्संसर्गविधया शुद्धदशरथत्वादिस्वरूपप्रतियोगित्वलक्षणसंबन्धविषयकात् ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या शुद्धदशरथत्वादिप्रकारको मानसानुभवः सुलभः सर्वज्ञापत्तिभिया सांसर्गिकज्ञानस्यानुपनायकत्वस्वीकारात् तस्मादत्र दशरथपदवाच्यत्वं भवति दशरथपदवृत्तिप्रकारकज्ञानात् । यथा दशरथपदवाच्यत्वेन वाच्यत्वासंबन्धेन दशरथपदत्वेन वा शाब्दबोधः स्वीकर्त्तव्यस्तथा तुल्यन्यायात् सर्वत्रापीति शब्दानुभवोऽप्यर्थस्य शब्दात्मक एव साक्षीति । न चानवगतचित्तोऽपि रूपं चक्षुषा वीक्षमाणोऽभिलापासंसृष्टमेव विषयीकरोतीति नीलादेरशब्दात्मकत्वसिद्धिः शब्दासंसृष्टार्थानुभवस्य ज्ञानवादिना ज्ञानाभावकाल इव शब्दवादिना शब्दाभावकाले बाह्यार्थस्यैवानभ्युपगमेन शब्दातिरिक्तग्राह्यासिद्धेर्बाह्यत्वनियतदेशवृत्तित्वादिवं घटादावविद्यावशादेव भासत इति न तत्तदाकारैः शब्दब्रह्मभेदसिद्धिस्तदुक्तम् । "यथा विशुद्धमाकाशं, तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभि–श्चित्राभिरभिमन्यते । तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्त्तते" इति यदि वा ग्रामारामादिप्रपञ्चो व्यवहारः सत्यः स्वीक्रियते स्वार्थिकवैलक्षण्यानुभवात्तदाऽविद्यासहितं शब्दब्रह्मैव तदुपादानं वाच्यम् । अद्वैतशास्त्रेणाविद्यानिवृत्तौ च तन्मूलप्रपञ्चविगमे शुद्धं शब्दब्रह्मैवावशिष्यते स एव मोक्ष इति निरवद्यं केवलं तस्य शब्दात्मकत्वे शुद्धशब्दत्वादिधर्मवत्त्वं निर्द्धर्मकत्वेऽप्यसदादिव्यावृत्तिवदशब्दादिव्यावृत्तौ चोपपत्तिरिति संक्षेप ।१। द्वितीयमतावलम्बिनो वेदान्तिनस्तन्मते अखण्डमद्वितीयमानन्दैकरूपं स्वप्रकाशं चैतन्यमेव जगतः स्वरूपमनिर्वचनीयस्यैव सर्पस्य रज्जुः । कथं तर्हि जीवेश्वरविभाग इति चेदज्ञानरूपादुपाधेः यथा ह्येकस्यैव मुखस्य दर्पणोपाधिसंबन्धाद्बिम्बप्रतिबिम्बभावः एवं चिन्मात्रस्योक्तोपाधिसंबन्धाज्जीवेश्वरभावो न तत्त्वान्तरमस्ति अज्ञानं त्वनाद्यनिर्वचनीयमायाविद्यादिशब्दाभिधेयं तच्चैकेनैवोपपत्तावनेककल्पनानवकाशादेकमेवेत्येके बद्धमुक्तव्यवस्थानिरूपणायमानमित्यन्ये तदवस्थाऽतिमूलाज्ञानानि व्यवहारसौकर्याय निरूपयन्ति । तत्रैव मायाविद्याशब्दद्वयनिमित्तं शक्तिद्वयं विक्षेपशक्तिरावरणशक्तिश्च । कार्यजननशक्तिर्विक्षेपशक्तिस्तिरोधानशक्तिरावरणशक्तिर्यथाऽवस्थारूपस्य रज्ज्वज्ञानस्य सर्पजननशक्ती रज्जुतिरोधानशक्तिश्च । एवं मूलाज्ञानस्याद्वितीयपूर्णानन्दैकरसचिदावरणशक्तिराकाशादिप्रपञ्चजननशक्तिश्चेति । निवृत्ते चाज्ञाने तन्निमित्ते च जीवेश्वरादिप्रपञ्चे चिन्मात्रमेव शिष्यते । जीवस्त्वज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमिति विचारणाचार्याः । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति" श्रुतेः । "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति " स्मृतेश्च । नचामूर्तस्य प्रतिबिम्बाभावः शक्यो वक्तुममूर्तानामपि रूपपरिमाणादीनां गुणानामादर्शमूर्त्तद्रव्यस्यापि प्रभूतस्येवाकाशस्य जानुमात्रे जले विशालरूपेण प्रतिबिम्बदर्शनात् प्रतिबिम्बस्यापि च चिद्रूपत्वं प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां सिद्धम् । न च घटादिविच्छिन्नाकाशवदविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमेव जीवोऽस्तु किं प्रतिबिम्बत्वेनेति वाच्यं तथा सति जीवभावेनावच्छिन्नस्य पुण्यावच्छेदान्तरायोगाद्घटाकाशादौ तथा दर्शनाद्ब्रह्मणः सर्व-

नियन्तृत्वानुपपत्तौ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरो यमयतीति श्रुतिव्याकोपप्रसङ्गात् । प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगतस्वाभाविकाकाशे सत्येव प्रतिबिम्बाकाशदर्शनादिगुणीकृत्य वृत्त्युपपत्तेर्जीवावच्छेदेषु ब्रह्मणोऽपि नियन्तृतादिरूपेणावस्थानमुपपद्यत इति न दोष । अस्मिन् पक्षे बिम्बं चैतन्य नेश्वरः बिम्बस्यापि प्रतिबिम्बान्तर्द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगेन प्रतिबिम्बात्मकजीवान्तर्यामित्वानुपपत्तेः कार्योनुपाधिभूतस्य शक्तिद्वयस्य व्यापकतया तत्प्रतिबिम्बयोर्जीवेश्वरयोरपि व्यापकत्वाज्जीवान्तर्यामित्वश्रुतेरप्यव्याघातात् । अज्ञानप्रतिबिम्बमित्यत्राज्ञानपदं चाविद्यापरम् अज्ञानप्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षी स चोक्तशक्तिद्वयप्रतिबिम्बितो जीव इतीश्वरश्चेयन्तु सूक्ष्ममिति दिक् । एते ज्ञानप्रतिबिम्बित चैतन्यमीश्वर बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्यं जीवः अज्ञानोपहित बिम्बचैतन्य शुद्धमिति संक्षेप । शारीरककारमतमभ्युपसंगृहीत तात्पर्यतोऽभेदात् । अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य जीव इति वाचस्पतिमिश्राः । तेषामयमाशयः वस्तुतः सजातीयविजातीयभेदशून्य चैतन्यमनादिसिद्धानिर्वचनीयाज्ञानोपाध्यवच्छिन्नजीव इत्यज्ञानेश्वर इति द्वैविध्य प्रतिपद्यते । अज्ञानत्वम् अज्ञानविषयत्व तदेवेश्वरोपाधिः तच्च व्यापकमिति तदुपहितस्येश्वरस्यापि व्यापकत्वात् सर्वान्तर्यामित्वमुपपद्यते विचारणाचार्यैस्त्वनवच्छिन्नस्येश्वरत्वमवच्छिन्नस्य च जीवत्व दूषितमिति नात्र दोषस्पर्शः । नन्वेवमज्ञानस्य चैतन्यस्येश्वरत्वेऽहं मां न जानामीत्यनुभवादीश्वरस्य प्रत्यक्षापातः । न ज्ञाततयेश्वरस्य प्रत्यक्षत्वमनापाद्य सर्वस्यैव वस्तुनो ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिप्रत्यक्षत्वाङ्गीकारादिति वाच्य न ह्यवज्ञाततयेश्वरप्रत्यक्षमापद्यते ईश्वरं न जानामीति येनाभ्युपगमव्याघातापत्ति स्यात् किन्त्वहं मां न जानामीत्यज्ञान चैतन्यमनुभूयते स चेश्वर इति तस्य स्वरूपेणापरोक्षत्वं स्यादिति चेत्अहं मां जानामीत्यत्राज्ञाततया जीवस्याखण्डजगज्जीवेश्वरादिभ्रमाधिष्ठानचैतन्यरूपस्य हानेरप्यज्ञानोपहितचैतन्यरूपस्येश्वरस्याभानादज्ञानस्फुरणे तदुपहितस्येश्वरस्य स्फुरणापत्ते कर्तुमशक्यत्वात्तस्यायोग्यत्वान्न हि घटस्फुरणे घटोपहिताकाशादेरपि स्फुरणं केनचिदापादयितु शक्यत इति तत्र विशेष्यस्यायोग्यत्वम् अत्र तु विशेषणविशेष्ययोर्योग्यत्वमित्यस्ति विशेष इति चेन्न तथाप्युपहितत्वसंबन्धगर्भत्वेनादृष्टजीवत्वे तेनैवायोग्यतया भ्रंश्यात् । आभासवादिनो वार्तिकाचार्यास्तु दर्पणादौ मुखान्तरोत्पत्तिं स्वीकुर्वाणाश्चैतन्यस्यानादिभूताज्ञानेऽज्ञानादिरवाभास समस्ति तत्वसौ जीवो जडत्वात् अतस्तत्तादात्म्यापन्नचैतन्य जीव किमात्राभासाङ्गीकारे बीजमिति चेत् चैतन्येऽहंकाराध्यासस्य निरुपाधिकत्वेऽत्वाविरुपाधिकाध्यासत्वावच्छेदेन च सादृश्यस्यापेक्षणादाभासतादात्म्यापत्त्या न सादृश्यापन्ने चैतन्येऽहंकाराध्यासस्संभवान्न चाभासाध्यासेऽपि तदपेक्षायामनवस्थापत्तिस्तस्यानादित्वात् । जन्माध्यास एव निरुपाधिके सादृश्यापेक्षणात् । न चाज्ञानाध्यासेनैव सादृश्यापत्ति सुवचा जाड्येन हि सादृश्य वाच्य तच्च जडतादात्म्यापत्त्या । न चाज्ञान तादात्म्येनाध्यस्त किं त्वहं सत्त इति संसर्गेणाध्यस्तमिति अतो नाद्याभासतादात्म्याध्यासेन जाड्यापत्त्या सादृश्ये सत्यहंकाराध्यासो युज्यते । न चाभासे प्रमाणाभाव आदर्शे मुखमिति स्पष्टमुखान्तरावभासात् एकत्र क्लृप्तमन्यत्रापि प्रसिध्यति इति न्यायेनाज्ञानेऽपि चैतन्याभासाङ्गीकारात् । एवमन्त करणादावपि चैतन्याभासः । अज्ञानगतचैतन्याभासस्तु जीवशब्दप्रवृत्तिनिमित्त तत्तादात्म्यापन्नचैतन्यजीवत्वादिति

विचारणाचार्यास्तु मुखान्तरोत्पत्तिं नेच्छन्ति किं तु मुखेऽधिष्ठानभेदमात्रस्य द्वित्वापरपर्यायस्यादर्शस्थत्वस्य चानिर्वचनीयस्योत्पत्तिं तावतैव प्रतीत्युपपत्तेर्मुखान्तरकल्पने गौरवात् । न चैवं शुक्तावपि रजतोत्पत्तिर्न स्यात् तादात्म्यमात्रोत्पत्त्यैवेदं रजतमिति धीनिर्वाहोपपत्तेरिति वाच्यं तथा सति रजतस्यापरोक्षत्वापत्तेर्मुखं त्वधिष्ठानमपरोक्षमिन्द्रियसन्निकर्षोदत एवादर्शे मुखमित्यपरोक्षभ्रमोत्पत्तेर्न निर्वचनीयमुखान्तरोत्पत्तिः । न च मुखस्येन्द्रियसान्निकर्षाभावः कतिपयावयवावच्छेदेन तत्सत्वादासत्तेर्विशदावभासप्रतिबन्धकत्वेऽपि तत्रादर्शसान्निधानस्योत्तेजकत्वेन दोषाभावादादर्शादिनाऽभिहितचक्षुषो मुखाभिमुखविजातीयसंयोगात्तदपरोक्षत्वमित्यपि कश्चित् । ननु किमित्येवं वर्ण्यते मुखमधिष्ठानमिति आदर्श एवाधिष्ठानमस्तु तत्र च मुखाभावाज्ञानेन मुखोत्पत्तिस्तत्संसर्गोत्पत्तिर्वास्तु । आदर्शे मुखमिति प्रतीतेरेवमप्युपपत्तेर्मुखं यद्यपरोक्षं तर्हि तु संसर्गस्य यदि च नापरोक्षं तर्हि तदुपपत्तेः स्वीकर्त्तव्यत्वान्मुखमधिष्ठान तस्य चानुभवानुसारित्वादिति चेन्न एव ह्यधिष्ठानत्वाभिमतस्योपाधिकत्वोक्तौ सर्वभ्रमाणां सोपाधिकत्वे प्रसक्ते सोपाधिकनिरुपाधिकभ्रमव्यवच्छेदप्रसङ्गात् । लोहित स्फटिक इत्यत्रापि शुक्त्यज्ञानाद्रजतभ्रमवज्जपाकुसुमत्वाज्ञानाल्लोहिते तस्मिन् स्फटिकतादात्म्यभ्रम इति सोपाधिकभ्रमत्वासिद्धेः । शक्यं ह्यत्रापि वक्तुं स्फटिको यद्यपरोक्षस्तर्हि तत्संसर्गमात्रमुत्पद्यते यदि नापरोक्षस्तर्हि तदुपपत्तिस्तस्मादादर्शोऽधिष्ठान किं तु मुखमेव तत्र च भेदोऽस्य तेन मुखान्तरं प्रत्यभिज्ञानाच्च न मुखान्तरोत्पत्ति स्वक्रियते कथं तर्हि भेदभ्रमोऽपि स्यात् प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानेनाज्ञानानिवृत्त्या भेदभ्रमनिवृत्तिप्रसङ्गादिति चेदुच्यते सोपाधिकभ्रमनिवृत्तावुपाधिनिवृत्तेः पुष्कलकारणत्वान्नतो भेदभ्रमनिवृत्तिः मुखान्तरोत्पत्तिपक्षे तु सोपाधिकत्वमेव नास्ति । उपाधिर्हि उप समीपे स्थित्वा स्वकीयं धर्ममन्यत्रादधातीत्युच्यते नहि मुखान्तराध्यासे उपाधिरस्ति रजताध्यासवत् भेदाध्यासे दर्पणस्योपाधित्व संभवति अत सत्यपि प्रत्यभिज्ञाने यावदुपाधिभेदाध्यासानुवृत्तिर्युक्ता तस्मात् मुखमधिष्ठान तत्र भेदोऽध्यस्यते एवं चाज्ञानादौ प्रतिबिम्बे सत्यपि नाभासान्तर मानाभावात् । सादृश्यापत्तिस्त्वज्ञानाध्यासेन परिच्छिन्नत्वापत्त्याऽहंकाराध्यासापेक्षिता भविष्यति तस्मात्प्रतिबिम्बवादो ज्यायानिति विवरणाचार्याभिप्राय । अज्ञानोपहितबिम्बचैतन्यमीश्वर अज्ञानप्रतिबिम्बित चैतन्यं जीव इति वाऽज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वर अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्य इदमेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते । अस्मिंश्च पक्षे जीव एवेश्वरज्ञानवशात्तुपादानं निमित्तं च दृश्य च सर्वप्रतीति । किं देहभेदाज्जीवभेदा भ्रान्तिः । एकस्यैव स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदार्ढ्यादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः शुकादीनां मोक्षश्रवण चार्थवाद इत्याद्यूह्यम् । ननु वस्तुनि विकल्पासंभवात्कथं परस्परविरुद्धतत्प्रामाण्यात्स्मात् किमत्र हेय किमुपादेयमिति चेतत्र एवमाह वस्तुनि विकल्पो न संभवति स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वेत्यादिविकल्पानां वस्तुनि प्रवृत्तिदर्शनात् अतात्त्विकी सा कल्पना पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवेयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागादिव्यवस्थेति कथं तत्र विकल्पस्पर्श इति चेन्नूनमतिमेधावी भवान् येनेत्थं वदति अद्वितीया हि प्रधान फलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयशास्त्रस्य जीवेश्वरविभागादिकल्पनास्तु पुरुषबुद्धिप्रभवा अपि

शास्त्रेणानूद्यन्ते तत्त्वज्ञानोपयोगित्वात् । फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् भूतार्थरूपस्यापि शुक्त्यानुवादनसंभवा-द्वेतेन । तेन समानाधिकरणविषयत्वनियमाज्जन्मे च प्रमाणाप्रयोजना-भावनाज्ज्ञानानङ्गीकाराच्च तदवच्छिन्नचैतन्याध्यासादेव तत्प्रहाना-भ्यवहारोपपत्ते । प्रामाण्यस्य वा ज्ञानज्ञापकत्वरूपत्वादन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तेरिति चेदत्रापि तेषु सर्वत्रैव विशेषेऽयमेव परिहारः । तदाह वार्त्तिककार " यथा यथा भवेत्पुंसो व्यु-त्पत्तिः प्रत्यगात्मनि । सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानव-स्थिते" रिति श्रुतेस्तात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्ध मत ह्येवमेवेति ना-ति प्रसङ्गः । स च जीवोऽज्ञानवद्भूतवादिनां हिरण्यगर्भादिवि-द्विभेदेनाज्ञानैक्येऽपि तत्तच्छक्तिभेदात्तदीयान्तःकरणभेदात्तु ना-नेत्याप घटन्ते । तत्र तत्त्वज्ञानेन शान्तिरत करणस्य वा निवृ-त्तिरिति वक्ष्यमाणतया जीवभेद एव क्रममुक्तिफलानां हिर-ण्यगर्भोपासनादिलानां न तस्य प्राप्ति इत्यादीनां चाज्ञाने भोपपत्तिः एकजीववादेन्तूपासनावाक्यानां क्रममुक्तिफलश्रवण-मर्थवादमात्र क्रमेणैव मुक्त्यङ्गीकारे तत्क्रममुक्तिफलानामुपास-नावत्तुल्यत्वेनैकस्यैव फलवत्त्वेऽपीतरेषु तच्छ्रवणस्यार्थवादतापा-दकत्वात् । फलवत्ता तु नाम्ना सत्त्वशुद्धिसाधनत्वादधिकारो-पयोगात् प्रमादभेदाङ्गीकाराच्च सफलमोक्षोपयुक्तमिमिति वि-शेषणादेतत्कल्पस्यास्वच्छेदेन मानवभावानापत्त्या वा भविष्यति तदेव व्यवस्थितमेकानेकवादिना जीवस्वरूपं तत्र चान्त-करणमध्यस्यतेऽहमिति रज्ज्वामिव सर्पं केवलस्य तस्य मा-क्षमात्रत्वात् तत्कार्यकारणरहितस्यैव साक्षिणो ज्ञानमित्य-हमाकारेण परिणतस्य तस्याध्यासोऽयमहङ्काराध्यास इति गी-यते । अयं च न सोपाधिक उपाधेरभावादहमिति त्वाह-ङ्कारज्ञानयोरेकत्वे चैतन्याध्यासादध्यासयोरेकत्वात् विभागदयो-दहतीति नियतः । तस्मान्न करणं स्मृतिप्रमाणवृत्तिमत्कल्पविकल्पा-द्यनेकाकारेण परिणतं चित्तबुद्धिमनोऽहङ्कारशब्दैर्व्यपदिश्यते इ-दमेवात्मनस्तादात्म्येनाध्यस्यमानमात्मनि सुखदुःखादिस्वधर्माध्या-से उपाधिः स्फटिके जपाकुसुममिव लोहित्यावभासे एव प्राणाद्य-स्तत्कर्माश्चाशनीया पिपासादयस्तथा श्रोत्रादयो वागादयश्च तत्कर्मादय बधिरत्वादयोऽध्यस्यन्ते तथा देहस्तत्कर्मा स्थूलत्वा-दयश्चात्मन्यध्यस्यन्ते तत्रेन्द्रियादीनां न तादात्म्याध्यासोऽहं श्रोत्रमित्यप्रतीतेः । देहस्तु मनुष्योऽहमिति प्रतीतेस्तादात्म्येना-ध्यस्यते एव चैतन्यस्याप्यहङ्कारादिषु पर्यन्तेष्वध्यासः स्वीकार्य-स्तेषामध्यस्यानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम् । तदुक्तं वार्त्तिका-मृते "वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियं इन्द्रियेभ्यः परः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः ।" तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचि-द्ग्रन्थिरूपोऽयमध्यासः समूहालम्बनभ्रमवदयमवश्यमन्तरेतराध्या-सस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात् । अयमेव संसारो माया शबला-च्चिदात्मनः आकाशादिक्रमेण भिन्नशरीरात्मकपञ्चीकृतभूतोत्प-त्तौ केषाञ्चिन्मते तेभ्य एव पञ्चीकृतभूतोत्पत्तौ सम्प्रदायमते च तेषामेव सर्वागविशेषावस्थानां तत्त्वस्वीकारे तेभ्यो ब्रह्माण्डभू-रादिचतुर्दशभुवनचतुर्विधस्थूलशरीरोत्पत्तिरत एव भिक्षाभि-धानात् (नवे०) आत्मज्ञानमात्रे प्रत्यक्षादिप्रसराज्ञियमविध्या-श्रयं च सूत्रमात्रे साधनान्तरप्राप्तेऽर्थे यजेतेत्यादावपि तत्प्रसङ्गोऽत एव न भ्रान्त्या साधनान्तरप्राप्तेरपि नियमविध्यङ्गत्वं यजेतेत्या-दावतिप्रसङ्गादेवेति वाच्यं निर्विशेषात्मबोधेऽपि "इतिहासपुराणा-भ्यां वेदार्थमुपबृंहयेदि"त्यादिना पुराणप्राकृतवाक्यश्रवणादेः प्राप्त-त्वाद्वेदान्तश्रवणं नियम्यत इति दोषाभावात् । एतच्च श्रवणा-

द्यावृत्तं तत्त्वधीहेतुर्दृष्टार्थत्वात्तच्चैव बहुजन्मसञ्चयपरिपाकवशादसौ तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविशुद्धं प्रत्यगभिन्नं परमात्मानं साक्षात् कुरु-ते । ननु प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वत स्त्वजन्य श्रवणादेः प्रतिबन्धक-निवर्तकत्वात्तन्निवृत्तेश्च स्वत्वेनोत्पत्त्यतिरिक्तानपेक्षणात् । त-त्त्वमिति पदयो परोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टचैतन्यरूपपृथगर्थवा-चकयोः श्रूयमाणं सामानाधिकरण्यम् । न तावत् सिद्धो देवदत्त इतिवन्मुख्यत्वात् सम्भवति तस्याभासजातत्वात् । नापि मनो ब्रह्मेति वदुपासनार्थं श्रुतहानाश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । मुख्यत्वेऽपि न नीलोत्पलादिवत्सामानाधिकरण्यं गुणगुणिनां प्रागभावसंभवा-त् निर्गुणस्य स्थूलादिवचनविरोधाच्च नापि यः सर्पः सा रज्जुरिति वद्बाधायामुभयोर्भिन्नरूपतया बाधायोगान्मुक्त्यभावप्रसङ्गाच्च । नहि स्वयाथार्थ्ये जीवप्रवृत्तिरुपपद्यते तस्मात्पदार्थयोः परस्परव्यावर्तक-तया विशेषणविशेष्यभावप्रतीत्यनन्तरं लक्षणया सोऽयं देवदत्त इति तद्विशुद्धप्रत्यगभिन्नाखण्डपरमात्मप्रतीतिः सा च लक्षणा प-दद्वयेऽप्यन्यथाऽखण्डार्थप्रतीत्यनुपपत्तेर्लक्षणाबीजविरोधास-मानाच्च इयं लक्षणा विशेषणस्त्यागाद्विशेष्यांशत्यागाच्च जह-दजहती । नन्वेवं चैतन्याद्वैतसिद्धावपि कथं प्रपञ्चस्य परमा-र्थिकत्वाभाव इति चेदुच्यते यदि त्वं पदार्थे भोक्तृत्वादिपार-मार्थिकं कथं तत्पदार्थैक्यसिद्धिरेव तत्पदार्थेऽपि परोक्षत्वादि । यदि पारमार्थिकं कथं त्वं पदार्थैक्यसिद्धिस्तदेव भोक्तृत्वादेः कल्पितत्वे भोग्यादि कल्पितमेव एव जगत्कर्तृत्वादेः कल्पितत्वे जगत् कल्पितत्वमित्यपि तत्त्वमस्यादिवाक्यसामर्थ्येनैव निर-स्तसमस्तप्रपञ्चात्मैक्यमिति । सोऽयमित्यत्रैव पदाक्षेपप्रमा-निवृत्तेर्महावाक्यार्थश्रवणस्यावश्यकत्व तदिदमात्मज्ञानमुत्पन्न-मेवानन्तजन्मार्जितकर्मराशिं विनाशयति " क्षीयन्ते चास्य कर्माणीति श्रुते । नच देहनाशप्रसङ्गः प्रारब्धस्याविनाशात् । तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति श्रुते कर्म-विपाकेन प्रारब्धनिवृत्त्यवगत्युक्तशास्त्रेण ज्ञानानिवर्त्यत्वाभिधा-नात् ततश्च ज्ञानेन तदानीमेवाज्ञानसर्वात्मना निवर्तयितव्ये प्रा-रब्धप्रतिबन्धाप्यनिवृत्तिस्तस्यां चावस्थायां प्रारब्धफलं भुञ्जानः सकलसंसारं बाधितानुवृत्त्या पश्यन् स्वात्मारामो विधिनिषे-धाधिकारशून्यः संस्कारमात्र सदाचारः प्रारब्धक्षयं प्रतीक्ष-माणो जीवन्मुक्त इत्युच्यतेऽस्य प्रारब्धक्षये ससक्तिकनिरवशे-षाज्ञाननिवृत्तौ परममुक्तिर्ननु केयमज्ञाननिवृत्तिर्नासती नाप्य-सती नापि सदसती ज्ञानजन्यताद्वैतप्रसङ्गोद्देश्यत्वविरोधेभ्य-श्चास्तु तर्ह्यनिर्वचनीयाज्ञत्वात् । तदुक्तं " जन्यत्वमेव ज-न्यस्य, मायिकत्वसमर्पक" मिति मैवम् अनिर्वचनीयस्य ज्ञान-निवर्त्यत्वनियमेव निवृत्तिपरम्पराप्रसङ्गात् सदद्वैतीव्याकोपम-ङ्गीकृत्य तस्या असत्त्वाभिधानेऽपि विनाप्रमाणमद्वैतसंकोच एव दूषणम् । पञ्चमप्रकाराश्रयण त्वत्यन्ताप्रसिद्धमस्तु तर्हि चैत-न्यात्मिकेति चेन्न जन्यत्वादेव नास्त्येव जन्यत्वमिति चेन्न ज्ञाना-र्थस्य प्रसङ्गात् चैतन्यस्य सदा सत्त्वेन प्रयत्नविशेषानुपपत्ते-श्च । अत्र केचित् तत्त्वज्ञानोपलक्षितं चैतन्यमेवाज्ञाननिवृत्तिः तच्च न तत्त्वज्ञानं प्रागस्ति उपलक्षणत्वस्य सम्बन्धाधीन-त्वात्काकसम्बन्धो हि गृहस्य काकोपलक्षितत्वं तदपि न ज्ञानोपल-क्षितत्वस्यापि सत्त्वेऽद्वैतव्याघातात् असत्त्वे उद्देश्यत्वानुपपत्ते । मिथ्यात्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्तेः चिन्मात्रत्वे उक्तदोषानतिवृत्तेः । न च तत्त्वज्ञानानुपलक्षिताभिन्नं चैतन्यमेव साऽवस्थामेव विना तस्यापि दुर्वचत्वादतो दुर्वचस्वरूपेऽयमज्ञाननिवृत्तिरत्रोच्यते ज्ञानस्य निवृत्तिरूपं च रूपान्तरपरिणतोपादानस्यैव तद्रूपत्वात्

घटध्वसो हि चूर्णाकारपरिणता मृदेव। नच चैतन्यस्य रूपान्तरमस्ति तस्मान्नास्त्येवाज्ञानध्वसः किंत्वज्ञानस्य कल्पितत्वात्तदत्यन्ताभाव एव तन्निवृत्तिः किं तर्हिं तत्वज्ञानस्य साध्यमिति चेन्नास्त्येवाज्ञानात्यन्ताभावबोधात्मकत्ववाधव्यतिरेकेण तदुक्त " तत्त्वमस्यादिवाक्योक्त—सम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यतीति" शुक्तिबोधेनापि हि रजतात्यन्ताभावबोधरूपो वाध एव क्रियते मिथ्याभूतस्य च वाध एव ध्वंस इत्यभिधीयते तद्वदिहापि द्रष्टव्यम् सचायमधिष्ठानात्मक एव कथं तर्हि सर्वथा सत इच्छाप्रयत्नाविति चेत्कण्ठगतचामीकरन्यायेनानवाप्तत्वभ्रमात्पुरुषार्थत्वं तु तत्राभिलषितत्वादेव कृतिसाध्यत्वस्य तत्र गौरवेणाप्रवेशाच्चन्द्रामृतपानादौ पुरुषार्थत्वमिष्टमेव । प्रवृत्तिस्तु तत्र कृतिसाध्यत्वज्ञानरूपकारणान्तराभावादिति प्रतिपत्तव्यम् । कथं पुनर्दृष्टिसृष्टिवादे श्रवणादिपरिपाकजन्मना ज्ञानेनाज्ञानातिवाध· तथाहि तस्मिन् मते चैतन्यातिरिक्तपदार्थानामज्ञानसत्त्व नातिमिथ्यात्वस्य स्वप्नादिदृष्टान्तसिद्धत्वात्तादृशस्यैव सत्त्वस्याङ्गीकारात्। एवं च घटादीनां यदा प्रतीतिस्तदा सत्त्व नान्यदेति न दण्डादिजन्यत्वं किंत्वज्ञानमात्रजन्यत्व स्वप्नवच्च दण्डाद्युपादानम् । अज्ञानदेहादिक तु भासमानमेव तिष्ठति अभावनिश्चयाभावाच्च पुत्राद्यभावकृतरोदनाद्यप्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञानमपि भ्रम एव ततश्चाकाशादिक्रमेण सृष्टि·पञ्चीकरण ब्रह्माण्डाद्युत्पत्तिश्चैतन्मतेनास्त्येव घटादेरपरोक्षत्व तत्त्वदभ्यासादेव अधिष्ठानस्य स्थानादे· सकलदृष्टिहेतोरङ्गीकाराच्च न बौद्धमतप्रवेशस्तदेव मज्ञानातिरिक्तकारणाभावात् कथ श्रवणादिजन्यं तत्त्वज्ञानमिति । अत्रोच्यते लोकेऽज्ञानातिरिक्तानारमदृष्टिकारणाभावेऽपि वेदे यागस्वर्गादौ कार्यकारणदायिनां यथेष्टाचरणप्रसङ्गात्तस्माद् घटादेरिव स्वर्गनरकादेर्नाज्ञानमात्रजन्यत्वमपि तु विहितनिषिद्धक्रियाजन्यत्वमपीति दृष्टानुश्रविकत्वेऽर्द्धजरतीयं प्रामाणिकं नो वेदनात्मदृष्टिसृष्टेरनवसानप्रसङ्गोऽधिष्ठानज्ञाने तदवसानमिति चेन्न तस्यैव हेतुत्वभावादज्ञान तद्धेतुरिति चेन्न ततो दृष्टाकारणानिरपेक्षा तद्दुष्टतया शमाद्यननुष्ठानप्रसङ्गात् । भ्रान्त्या शमाद्यनुष्ठानमिति चेन्न सत्तद्वेदान्तार्थश्रवणवतां तदभावप्रसङ्गात् । किं च भ्रमे ज्ञानमात्रजन्यत्वं युक्तम् । नन्वधिष्ठानज्ञाने हि रजतभ्रमप्रवृत्तुक्तिज्ञाने शुक्त्यज्ञानजन्यत्वं तदवश्यं दृष्टिसृष्टिपक्षे लोकेऽज्ञानातिरिक्तकारणाभावेऽपि वेदे यागादौ स्वर्गादिसाधनता संमतैव ततश्च यागादे· स्वर्गादिसाधनत्व प्रतीत्य यागमनुतिष्ठतामुत्पन्नस्य स्वर्गसूक्ष्मरूपस्य वाऽपूर्वस्य साक्षिसिद्धस्य स्वर्गजनकत्वमपूर्वस्य साक्षिसिद्धत्वं नानुभूयत इति चेन्नाज्ञातसत्वानङ्गीकारेण ज्ञानकारणताया इवापूर्वस्य साक्षिसिद्धताभ्युपगमस्यावश्यकत्वाच्च यागादे· स्वर्गादिजन्मवत् श्रवणमननादिसहकृतवेदान्तवाक्यात्तत्वज्ञानोत्पत्तिरविरुद्धा। दृष्टिसृष्टिवादे ईश्वरो नास्तीति तत्त्वमसीत्यत्र कथ तद्भेदप्रतीरिति चेत् कुत एतदवगतं सर्वदाऽप्रतीतेरिति चेत्तर्हिं जीवोऽपि नास्त्येव चिद्रूपतया भासमानत्वमप्युभयत्र तुल्यमीश्वरत्व सदा न भासत इति चेज्जीवत्वेऽपि तुल्यमेतत् उभयमपि तर्हि नास्त्येवेति चेन्न साक्षित्वस्यानुभवसिद्धत्वात् घटकाज्ञाने शक्तिद्वयस्यावश्यकत्वेन तद्भिन्नजीवत्वेश्वरत्वयोरनादित्वस्य यौक्तिकत्वात्तयोरभेदानुपपत्तेर्लक्षणयाऽद्वये चिन्मात्रधीर्वक्तव्या तस्माद् दृष्टिसृष्टिवादेऽपि यथोक्तानुष्ठानानुभवस्तत्वज्ञानादखण्डानन्दब्रह्मस्वरूपा मुक्तिर्युक्तिवत्तदेतच्छुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिकाप्रकृतिकमतरूपं पर्यायार्थिकनययुक्तिनिर्निर्लोचनीयमवतारणीय च स्याद्वादे ॥ ११० ॥ नयो० । (पर्य्यायास्तिकनयमतेनाद्वैतवादे दोषाः सम्मतितर्के)

एगासण—एकाशन-न० एकं सकृदशनं भोजनमेक चासनं पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासन च। प्राकृते द्वयोरपि एगासण मिति रूपम् । प्रत्याख्यानभेदे, अथैकाशनप्रत्याख्यान तत्राष्टावाकाराः स्तद्यथा ।

एगासणं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारिआगारेणं आउट्टणपसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणिआगारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ॥

एक सकृदशनं भोजनमेक चासन पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासनं च प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपं तत्प्रत्याख्याति एकाशनप्रत्याख्यान करोतीत्यर्थ । अत्राद्यावन्त्यौ च द्वावाकारौ च पूर्ववत् " सागारियागारेणं " सह आगारेण वर्तते इति सागारः स एव सागारिको गृहस्थ। स एवाकारः प्रत्याख्यानापवादः सागारिकाकारस्तस्मादन्यत्र गृहस्थसमक्ष हि साधूनां भोक्तु न कल्पते प्रवचनोपघातसंभवात् । अत एवोक्तं "छक्कायदयावंतो, विसंजओ दुल्लहं कुणइ वोहिं। आहारे नीहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे य" ततश्च भुञ्जानस्य यदा सागारिक समायाति स यदि चलस्तदा क्षणं प्रतीक्षते। अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायादिव्याघातो मा भूदिति तत स्थानादन्यत्रोपविश्य भुञ्जानस्यापि न भङ्ग· गृहस्थस्य तु येन दृष्ट भोजन न जीर्यति तदादिः (आउट्टणपसारेणं) आउण्टणमाकुञ्चन जङ्घादे· सकोचनं प्रसारण च तस्यैवाकुञ्चितस्य ऋजुकरणमाकुञ्चने प्रसारणे चासहिष्णुतया क्रियमाणे किंचिदासनं चलति ततोऽन्यत्र (गुरुअब्भुट्ठाणेण) गुरोरभ्युत्थानार्हस्याचार्यस्य प्राघूर्णकस्य वाऽभ्युत्थानं प्रतीत्यासनत्यजनं गुर्वभ्युत्थान ततोऽन्यत्राऽभ्युत्थानं चावश्यं कर्त्तव्यत्वात् । भुञ्जानेनापि कर्तव्यमिति न तत्र प्रत्याख्यानभङ्ग· । (पारिठावणियागारेण) साधोरेव यथा परिष्ठापनं सर्वथा त्यजन प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकमन्न तदेवाकार पारिष्ठापनिकाकारस्ततोऽन्यत्र तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसंभवादाश्रियमाणे चागमिकन्यायेन गुणसंभवाच्च तस्य गुर्वाज्ञया पुनर्भुञ्जानस्य तु न भङ्ग· " विहिगहिअं विहिभुत्तं, उव्वरिअं जं भवे असणमाई । तं गुरुणाणुन्नायं, कप्पइ आयबिलाईणं " श्रावकस्तु खण्डसूत्रत्वादुच्चरति (वोसिरइत्ति) अनेकासनमनेकाशनाद्याहारं च परिहरति ध० २ अधि० । आव० । आ०चू० । एकाशने पण्डितकीर्त्तिगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा प्रात कृतद्विविधाहारैकाशनस्य श्राद्धस्य निशि द्विविधाहारप्रत्याख्यान शुध्यति न वेति अत्रोत्तरं शुध्यतीतिबोध्यम् । ही० ।

एगाह—एकाह—पुं० एकमह· टच्-समा० एकशब्दोत्तरत्वान्नाहादेश । " रात्राहाहा· पुंसि " इति पुंस्त्वम् एकस्मिन् दिवसे, वाच० । (सेज्ज पुण विहं जाणेज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा) आचा० २ श्रु०२ अ०१ उ० ।

एगाहच्च—एकाहत्य—त्रि० एकैवाहत्याऽऽहननं प्रहारो यत्र। एकप्रहारोपेतं, " एगाहच्च कूडाहच्च भासरासिं करेमि " एकैवाहत्याऽऽहनन प्रहारो यत्र भस्मीकरणे तदेकाहत्य तद्यथा भवत्येवमिति भ० १५ श०१ उ० । "एगाहच्च कूडाहच्च जीवियाओ ववरोवेइ " एकाहत्या हननं प्रहारो यत्र जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्य तद्यथा भवतीति भ० ७ श० ९ उ० । निर० ।

एगाहिय-एकाधिक-त्रि० एकेनाधिके, प० स० ।

एगाहिक-त्रि० एकेनाह्ना प्ररूढे, एकेनाह्ना प्ररूढा एकाहिका इति ज्यो० । रोगभेदे च " एकाहिका इति वा " जी० ३ प्रति० । एकाहिकज्वरश्च एकाहानन्तर एकादिनव्यापको ज्वर इति वैद्यके प्रसिद्धम् । वाच० ।

एगाहिगम-एकाधिगम-त्रि० एकदिनगमागमे,"एगाहिगमद्धाणे" एकाधिगमे एकदिनगमागमे अध्वनीति, व्य० ६ उ० ।

एगाहिगारिय-ए (ऐ) काधिकारिक- त्रि० एक धिकारे भव ऐकाधिकारिक अध्यात्मादित्वादिकण् । एकाधिकारभवे,- प्रायश्चित्तभेदे च । तथाच प्रायश्चित्तमधिकृत्य "एगाहिगारिगाण वि, नाणत्तं केत्तिया व दिज्जं ति" एकाधिकारिकानि नाम एकस्मिन् शय्यातरपिण्डादावधिकृते दोषेणाहेण्वित्ते एव यानि शेषदोषसमुत्थितानि प्रयाश्चित्तानि तान्येकाधिकारिकाणि एकाधिकारभवान्यैकाधिकारिकाणि अध्यात्मादित्वादिकणिति व्युत्पत्ते । तेषामप्येकाधिकारिकाणां नानात्व न पुनरेकाधिकारिकतया एकत्वमिति ॥ व्य० ४ उ० ।

एगिंदिय-एकेन्द्रिय-पुं० एकमिन्द्रिय करण स्पर्शनलक्षणमेकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्तदावरणक्षयोपशमाच्च येषान्ते एकेन्द्रिया ।पृथिवीकायिकादौ,स्था० ५ ठा०। ध० ।प्रज्ञा०। आव०। प्रश्न० । सूत्र० । एकेन्द्रियाणां जीवत्व यथा ।

चउरिंदिआइ जीवा, इच्छंति प्पायसो सव्वे ।
एगिंदिएसु उ बहू, विप्पमिवन्ना जओ मोहो ॥४२॥

तत्र चतुरिन्द्रियादीन् द्वीन्द्रियावसानान् जीवान् इच्छन्ति प्राय सर्वेऽपि वादिन. एकेन्द्रियेषु तु बहवो विप्रतिपन्ना यतो मोहादिरिति गाथार्थः ।

तत किमित्याह ।

जीवत्तं तेसि तओ, जह जुज्जइ संपयं तहा वोच्छं ।
सिद्धं पि अ ओहेणं, संखेवेणं विसेसेणं ॥४३॥

जीवत्वं तेषामेकेन्द्रियाणां यतस्तथा युज्यते घटते सांप्रत तथा वक्ष्ये सिद्धमपि चौघेन सामान्येन सक्षेपेण इति गाथार्थ ।

आह नणु तेसि दीसइ, दव्विदिअमो ण एवमेएसिं ।
तं कम्मपरिणईओ, न तहा चउरिंदिआणं च ॥ ४४ ॥

आह ननु तेषां बधिरादीनां दृश्यते द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्युपकरणलक्षण नैवमेतेषामेकेन्द्रियाणामत्रोत्तरमाह तद्द्रव्येन्द्रिय कर्म्म परिणते. कारणात्र तथा तिष्ठत्येव चतुरिन्द्रियाणामिव श्रोत्रेन्द्रियमपि नास्त्यन्यथा च ते जीवा इति गाथार्थ ॥ प० व० । (एकेन्द्रियाणां जीवत्व कायशब्देऽपि) ते च पञ्चविधा यथा "पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणप्फई चेवए । गिंदियपंचविहा" पृथिव्यप्तेजोवायुर्वनस्पतिश्चैवमेकेन्द्रिया पञ्चविधा एकमिन्द्रियं येषा ते एकेन्द्रिया. । पञ्चविधा पञ्चप्रकारा इति आव० ४ अ० । जी० । एकेन्द्रियभेदा यथा ।

कइविहा णं भंते । एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पण्णत्ता तंजहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया पुढविकाइया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा-सुहुमपुढविकाइया य बादरपुढविकाइया य सुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य । बादरपुढवीकाइया णं भंते ? कइविहा पण्णत्ता एवं चेव । एवं आउकाइया वि एवं चउक्कएणं भेदेणं भाणियव्वा । जाव वणस्सइकाइयाणं । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइकम्मपगडीओ पण्णत्ताओ गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं । पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं । अपज्जत्तबादरपुढवीकाइयाणं भंते! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ गोयमा! एवं चेव । पज्जत्तबादरपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ एवं चेव । एवं एएणं कमेणं जाव बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तयाणं ति । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं कइ कम्मपगडीओ बंधति ? गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि सत्तबंधमाणा आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधंति, अट्ठ बंधमाणा पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ बंधंति । पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ ? एवं चेव एवं सव्वे जाव । पज्जत्तबादरवणस्सइकाइया णं भंते! कइ कम्मपगडीओ बंधंति एवं चेव । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाण भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दसकम्मपगडीओ वेदेंति तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइय सोइंदियवज्जं चक्खिदियवज्जं घाणिंदियवज्जं जिब्भिंदियवज्ज इत्थिवेदवज्जं पुरिसवेदवज्जं । एवं चउक्कएणं भेदेणं जाव पज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा! एव चेव चउद्दसकम्मपगडीओ वेदेंति । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ कइविहा णं भंते ! अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पण्णत्ता तं जहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया । अणंतरोववण्णगा णं भंते! पुढविकाइया कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य एवं दुपदेसिए णं भेदेणं जाव वणस्सइकाइया ।

सर्व पाठसिद्ध नवरम् (एवं दुपएण भेएणंति) अनन्तरोपपन्नकानामेकेन्द्रियाणां पर्याप्तकापर्याप्तकभेदयोरभावेन चतुर्विधभेदस्या सम्भवाद्द्विपदेन भेदेनेत्युक्तम् । तथा ॥

अणंतरोववण्णगसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ ? गोयमा! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ता तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइय अणंतरोववण्णगबादरपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंत-

राइयं एवं चेव एवं जाव अणंतरोववन्नगबादरवणस्सइकाइयाण त्ति अणंतरोववन्नगसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधंति एवं जाव अणंतरोववन्नगबादरवणस्सइकाइयत्ति । अणंतरोववन्नगसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दस कम्मपगडीओ वेदेंति तंजहा णाणावरणिज्जं तहेव पुरिसवेदवज्जं । एवं अणंतरोववन्नगबादरवणस्सइकाइयंति सेवं भंते! भंते! त्ति। कइविहा णं भंते ! परंपरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्नगा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया चउक्कभेदो जहा ओहियउद्देसए । परंपरोववन्नगअपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पएणत्ता एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियउद्देसए तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं जाव चउद्दस वेदेंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ अणंतरोगाढा जहा अणंतरोववएणगा परंपरोगाढा जहा परंपरोववएणगा अणंतराहारगा जहा अणंतरोववएणगा परंपराहारगा जहा परंपरोववएणगा अणंतरपज्जत्तगा जहा अणंतरोववएणगा परंपरपज्जत्तगा जहा परंपरोववएणगा चरिमा वि जहा परंपरोववएणगा तहेव एवं अचरिमावि एवं एए एक्कारस उद्देसगा पढमं एगिंदियसयं समत्तं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥ कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कएहलेस्सा णं भंते ! पुढवीकाइया कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य। कएहलेस्सा णं भंते ! सुहुमपुढवीकाइया कइविहा पन्नत्ता ? एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जहेव ओहिए उद्देसए जाव वणस्सइकाइय त्ति ।कइविहा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया एवं एएणं अभिलावेणं तहेव दुपदो भेदो जाव वणस्सइकाइय त्ति । कइविहा णं भंते ! परंपरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहपरंपरोववन्नगा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? तं जहा पुढवीकाइया एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जाव वणस्सइकायइत्ति एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ परंपरोववएणगा उद्देसओ तहेव जाव वेदेंति। एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए एगिंदियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहेव कएहलेस्ससते वि भाणियव्वा जाव अचरिमचरिमकएहलेस्सा एगिंदिया जहा कएहलेस्सेहिं भणियं एवं णीललेस्सेहिं वि सयं भाणियव्वं सेवं भंते ! भंते ! त्ति एवं काउलेस्सेहिं वि सयं भाणियव्वं णवरं काउलेस्सेत्ति अभिलावो भाणियव्वो कइविहा णं भंते ! भवसिद्धिया पन्नत्ता? गोयमा ! पंचविहा भवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइया वि (भ०) कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता ? तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कएहलेस्सा भवसिद्धिया । पुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य कएहलेस्सभवसिद्धियसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता तंजहा पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य एवं बायरा वि । एवं एएणं अभिलावेणं तहेव चउक्कओ भेदो भाणियव्वो (भ०) कइविहा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववएणगा जाव वणस्सइकाइया । अणंतरोववएणा कएहलेस्सा । भवसिद्धियपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पएणत्ता?गोयमा ! दुविहा पएणत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य एवं दुपओ भेदो जहा कएहलेस्सभवसिद्धिएहिं सयं भणियं एवं णीललेस्सभवसिद्धिएहिं वि सयं भाणियव्वं सत्तममेगिंदियसयं एवं काउलेस्सभवसिद्धिएहिं वि सयं अट्ठममेगिंदियसयं कइविहा णं भंते ! अभवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अभवसिद्धिया पएणत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया एवं जहेव भवसिद्धियसयं भणिय एवं णीललेस्स अभवसिद्धियसयं णवरं णव उद्देसगा चरिमअचरिमउद्देसगवज्जं सेसं तहेव णवममेगिंदियसयं एवं कएहलेस्सअभवसिद्धियएगिंदियसयंपि दसममेगिंदियसयं णीललेस्सअभवसिद्धियएगिंदियेहिं सएहिं एगदसमेगिंदियसयं काउलेस्सअभवसिद्धियसय बारसमेगिंदियसयं एवं चत्तारि अभवसिद्धिया सयाणि णव णव उद्देसगा भवंति । भ० ॥

एकेन्द्रियश्रेणिशतकेषु प्रथमशतके ।

कइविहा णं भंते ! एगिंदिया पन्नत्ता गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया एवमेते वि चउक्कएणं भेदेणं भाणियव्वा जाव वणस्सइकाइया [भ०] एगिंदिया चउव्विहा पएणत्ता तं जहा अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा जाव अत्थेगइया विसमाउया विसमोववएणगा । कइविहा णं भंते !

अणंतरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता तं जहा–पुढविकाइया दुपदो भेदो जहा एगिंदियसएसु जाव बादरवणस्सइकाइया भ० ॥

(दुपदो भेदोत्ति) अनन्तरोपपन्नैकेन्द्रियाधिकारादनन्तरोपपन्नानां च पर्याप्तकत्वाभावादपर्याप्तकानां सतां सूक्ष्मा बादराश्चेति द्विपदो भेदः भ० ।

अणंतरोववएणगा एगिंदिया दुविहा पएणत्ता तं जहा अत्थेगइया समाउया समोववएणगा अत्थेगइया समाउया विसमोववएणगा। कइविहा णं भंते ! परंपरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववएणगा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा–पुढविकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइयात्ति [भ०] एवं सेसा वि अट्ठ उद्देसगा जाव अचरिमो त्ति [पढमएगिं०] णवरं अणंतरा अणंतरसरिसा परपरा परंपरसरिसा चरिमाया अचरिमाया एवं चेव एवं एते एक्कारस उद्देसगा [भ०] कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता भेदो चउक्कओ जहा कएहलेस्सा एगिंदियसए जाव वणस्सइकाइय त्ति । एव एएणं अभिलावेण जहेव पढम सेढिसयं तहेव एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा[बिवियएगिंदि०] एवं णीललेस्सेहिं वि [ततियं सयं ३] काउलेस्सेहिं वि सय एवं चेव [चउत्थ सयं ४] भवसिद्धियएगिंदिएहिं सयं (पंचमं सयं५) कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया एवं जहेव ओहिय उद्देसओ[छट्ठं सयं ६] कइविहा णं भंते ! अणंतरोववएणगा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता? जहेव अणंतरोववएणगा उद्देसओ ओहिओ तहेव । कइविहा ण भंते ! परंपरोववएणगभवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववएणगकएहलेस्सभवसिद्धियएगिंदिया पएणत्ता ओहिओ भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइय त्ति । णीललेस्सभवसिद्धियएगिंदिएसु [सत्तमसयं सम्मत्तं ७] एवं काउलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं [अट्ठमं सयं ८] जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाणि भणियाणि एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि सयाणि भाणियव्वाणि णवरं चरिमअचरिमवज्जा णवउद्देसगा भाणियव्वा सेसं तं चेव एव एयाइं बारसएगिंदियसेढीसयाइं भाणियव्वाइं भ० ३४ श० १ उ०

एगिंदियरयण–एकेन्द्रियरत्न–न० पृथिवीरूपे रत्ने, ।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त एगिंदियरयणा पएणत्ता तं जहा चक्करयणे छत्तरयणे चम्मरयणे दंडरयणे असिरयणे मणिरयणे काकणिरयणे ।

रत्नं निगद्यते तत् जातौ जातौ यदुत्कृष्टमिति वचनात् चक्रादिजातिषु यानि वीर्यत उत्कृष्टानि तानि चक्ररत्नादीनि मन्तव्यानि । तत्र चक्रादीनि सप्तैकेन्द्रियाणि पृथिवीरूपाणि तेषाञ्च प्रमाणं "चक्कं छत्त दंडो,तिरिण वि पयाइं वामतुल्लाइं। चम्म दुहत्थदीह, बत्तीस अंगुलाइं असी ॥ १ ॥ चउरंगुलो मणी पुण, तस्सद्धं–चेव होइ विच्छिएणो । चउरंगुलप्पमाणा, सुवएणवरकागणी नेया" ॥ २ ॥ स्था ० ७ ठा ० ।

एगिंदियसंसारसमावएण एकेन्द्रियसंसारसमापन्न–पु० । एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषान्ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयस्ते च ते संसारसमापन्नजीवाश्च एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवाः संसारसमापन्नजीवविशेषे,।

ते च पञ्चविधास्तद्यथा

से किं तं एगिंदियसंसारसमावएणजीवा पएणत्ता ? एगिंदियसंसारसमावएणजीवपएणवणा पंचविहा पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया ।

अथ का सा एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ? सूरिराह एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना पञ्चविधा प्रज्ञप्ता एकेन्द्रियाणां पञ्चविधत्वात् ॥ प्रज्ञा ० १ पद ।

एगूणचत्तालिस–एकोनचत्वारिंशत्– स्त्री० एकेनोना चत्वारिंशत् एकोनचत्वारिंशत्संख्यायाम, तत्संख्यान्विते च। एवं एकोनविंशत्यादयोऽपि एकोनतत्संख्यासंख्येययोः स्त्री० । वाच० । " नमिस्स णं अरहओ एगूणचत्तालीसं अहोहियसया होत्था " । सम० ३९ स० ।

एगूणणउइ–एकोननवति–स्त्री० एकोननवतिसंख्यायाम, तत्संख्यान्विते, च । वाच० । " एगूणणउएहिं अहमासेहिं" सम० ८९ स० ।

एगूणतीस–एकोनत्रिंशत्– स्त्री०एकोनत्रिंशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। "एगूणतीसविहे पावसुयपसंगेणं पएणत्ते" सम० २९ स० ।

एगूणपन्न–एकोनपञ्चाशत्– स्त्री० एकोनपञ्चाशत्संख्यायाम, तत्संख्यान्विते च । वाच० । " एगूणपन्नराइंदिएहिं " सम० ४९ स० । स्था० ।

एगूणवीस (इ) एकोनविंशति-स्त्री० एकोनविंशतिसंख्यायाम, तत्संख्यान्विते, च । वाच० । "एगूणवीसणायज्झयणा पएणत्ता" सम० १९ स० । "गूणवीसइमे पव्वे" स्था० ६ ठा० ।

एगूणवीसइमपव्व–एकोनविंशतितमपर्वन्–न० फाल्गुनकृष्णपक्षे, स्था० ६ ठा० । (तस्य पर्वत्वमवमरात्रत्वे चावमरात्रशब्दे)

एगूणसट्ठि–एकोनषष्टि–स्त्री० एकोनषष्टिसंख्यायाम, तत्संख्यान्विते, च वाच० । "एगूणसट्ठिराइंदियाइं" सम० ५८ स० ।

एगूणसत्तरि–एकोनसप्तति– स्त्री० एकोनसप्ततिसंख्यायाम, तत्संख्यान्विते च । वाच०। "एगूणसत्तरिं वासा वासहरपव्वया पएणत्ता" सम० ६८ स० ।

एगूणासीइ–एकोनाशीति–स्त्री० एकोनाशीतिसंख्यायाम् तत्संख्यान्विते च । वाच०। "एगूणासीइ जोयणसहस्साइं" सम० । ७८ स० ।

एगोरुय-एकोरुक-पुं० अष्टादशानामन्तरद्वीपानाम्प्रथमेऽन्तरद्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च। इह एकोरुकादिनामानो द्वीपाः परन्तात्स्थ्यात्

तद्व्यपदेश इति न्यायान्मनुष्या अप्येकोरुकादय उक्ता । यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति । जी० ३ प्रति० ।

एगोरुयदीव—एकोरुकद्वीप—पुं० अष्टाद्दशान्तरद्वीपानाम्प्रथमे स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, जी० ३ प्रति० (तद्वक्तव्यता विस्तरेणान्तरदीव शब्दे)

एगोवणीय—एकोपनीत—न०एकेन समीपानीते,"एगस्स भुंजमाणस्स, उवणीयं तु गेण्हइ । न गेण्हइ दुगमादीणं, अवियत्त तु मा भवे" ॥ एकस्य भुञ्जानस्य उपनीत भगवान् गृह्णाति न द्विकादीनां द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां वा उपनीतं न गृह्णाति कस्मादिति चेन्न मा भूदप्रीतिर्हेतोः व्य० १० उ० ।

एज (य) एज—पुं० एजयतीत्येजः वायौ, " पहुएजस्स दुगुंछणाए (दुगुंछणाएत्ति) जुगुप्सा प्रभवतीति प्रभुः समर्थः योग्यो वा कस्य वस्तुनः समर्थ इति एजृ कम्पने एजयतीत्येजो वायुः कम्पनशीलत्वात्तस्यैजस्य जुगुप्सा निन्दा तदा सेवनपरिहारो निवृत्तिरिति यावत् तस्यां तद्विषये प्रभुर्भवति वायुकायसमारम्भननिवृत्तौ सक्तो भवतीति यावत् । आचा० १ श्रु० १ अ० ।

एज (यं) त-एजत्—त्रि० कम्पमाने, स्था० ७ ठा० ।

एज(यं)ण-एजन-न० एजृ कम्पने, ल्युट् कम्पने, सूत्र० २श्रु०२ अ० " निरेयणं झाण" निष्प्रकम्प्यं ध्यानमिति आव० ४ अ०। चलने च। यदेजयति यत्तेजयति आ म. द्वि । विशे० । तथा च द्रव्यक्रियामधिकृत्य सूत्रकृताङ्गे " दव्वेकिरियएणया " तत्र द्रव्यविषये या क्रिया एजनता एजृ कम्पने जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्यक्रियेति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

एज (य) णा—एजना—स्त्री० कम्पने, चलने च सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तस्या भेदा यथा ।

कइविहा णं भंते ! एयणा पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एयणा पएणत्ता, तं जहा दव्वेयणा खेत्तेयणा कालेयणा भवेयणा भावेयणा ॥

" योऽयं निषेध सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयोगादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवैकेन शैलेश्यामेजनादि भवति न कारणान्तरेणेति भाव· (इत्युपक्रम्याह) (दव्वेयणत्ति) द्रव्याणां नारकादिजीवसम्यक्त्वपुद्गलद्रव्याणां नारकादिजीवद्रव्याणां वैजना चलना द्रव्यैजना (खेत्तेयणत्ति) क्षेत्रे नारकादिक्षेत्रे वर्त्तमानानामेजना क्षेत्रैजना (कालेयणत्ति) काले नारकादिकाले वर्त्तमानानामेजना कालैजना (भवेयणत्ति) भवे नारकादिभवे वर्त्तमानानामेजना भवैजना (भावेयणत्ति) भावे औदयिकादिरूपे वर्त्तमानानां नारकादीनां तद्गतपुद्गलद्रव्याणां वैजना भावैजना ॥

दव्वेयणाएं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पएणत्ता तं जहा णेरइयदव्वेयणा तिरिक्खमणुस्सदेवदव्वेयणा से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयदव्वेयणा गोयमा ! जेणं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टिंसु वा वट्टंति वा वट्टिस्सति वा तेणं तत्थ णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा णेरइयदव्वेयणं एयंसु वा एयंति वा एयस्सति वा से तेणट्ठेणं जाव दव्वेयणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तिरिक्खजोणिय एवं चेव तिरिक्खजोणियदव्वेयणं भाणियव्वं सेस त चेव । एवं जाव देवदव्वेयणा ॥

(नेरइयदव्वे वट्टिंसुत्ति) नैरयिकलक्षणं यज्जीवद्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदात् नारकत्वमेवेत्यर्थः ॥ तत्र (वट्टिंसुत्ति) वृत्तवन्त(नेरइयदव्वेयणति) नैरयिकजीवसम्यक्त्वपुद्गलद्रव्याणां नैरयिकजीवद्रव्याणां वेजना नैरयिकद्रव्यैजना ताम् ॥(एयसुत्ति) कृतवन्तोऽनुभूतवन्तो वेत्यर्थः ॥

खेत्तेयणा णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पएणत्ता तं जहा णेरइयखेत्तेयणा जाव देवखेत्तेयणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयखेत्तेयणा ? एवं चेव । णेरइयखेत्तेयणा भाणियव्वा एवं जावदेवखेत्तेयणा एवं कालेयणा वि एवं भावेयणा वि । एवं जाव देवभावेयणा वि । भ० १७ श० ३ उ० ।

दण्डकक्रमेण जीवानां सैजत्वनिरैजत्वं यथा

जीवाणं भंते ! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! जीवा सेया वि णिरेया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सेया वि णिरेया वि ? गोयमा ! जीवा दुविहा पएणत्ता तं जहा संसारसमावएणगा य असंसारसमावएणगाय तत्थ णं जेते असंसारसमावएणगा तेणं सिद्धा । सिद्धाणं दुविहा पएणत्ता तं जहा अणंतरसिद्धा य परंपरसिद्धा य । तत्थ णं जेते परंपरसिद्धा तेणं णिरेया तत्थ णं जेते अणंतरसिद्धा तेणं सेया तेणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! णो देसेया सव्वेया तत्थ णं जेते संसारसमावएणगा ते दुविहा पएणत्ता तं जहा सेलेसीपडिवएणगा य असेलेसीपडिवएणगा य । तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवएणगा तेणं णिरेया । तत्थ णं जे ते असेलेसीपडिवएणगा ते णं सेया । ते णं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि । से तेणट्ठेणं जाव णेरइया वि ।

(जीवाणमित्यादि सेयत्ति) सहैजेन चलनेन सैजा (निरेयत्ति) निश्चलना । (अणतरसिद्धायत्ति) न विद्यतेऽन्तर व्यवधान सिद्धत्वस्य येषां तेऽनन्तरास्ते च ते सिद्धाश्चेत्यनन्तरसिद्धा ये सिद्धत्वस्य प्रथमसमये वर्त्तन्ते ते च सैजाः सिद्धिगमनसमयस्य सिद्धत्वप्राप्तिसमयस्य चैकत्वादिति । परम्परसिद्धास्तु सिद्धत्वस्य द्व्यादिसमयवृत्तय (देसेयत्ति) देशैजा देशतश्चला (सव्वेयत्ति ।) सर्वैजाः सर्वतश्चलाः (नोदेसेयासव्वेयत्ति ।) सिद्धानां सर्वात्मना सिद्धौ गमनात्सर्वैजत्वमेव ।" तत्थ ण जे ते सेलेसीपडिवएणगा तेण निरेयत्ति " । निरुद्धयोगत्वेन स्वभावचलत्वात्तेषाम् (देसेया वि सव्वेयाविति) ईलिकागत्योत्पत्तिस्थान गच्छन्तो देशैजाः प्राक्तनशरीरस्थस्य देशस्य विवक्षया निश्चलत्वात् । गेन्दुकगत्या तु गच्छन्तः सर्वैजाः सर्वात्मना तेषा गमनप्रवृत्तत्वादिति (जीव सदा एजते न वा तत्र किं किं बन्धक इति इरीया वहिया शब्देऽस्माभिरदर्शि)

णेरइयाणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि । से केणट्ठेणं जाव सव्वेया वि ? गोयमा ! णेरइया दुविहा पएणत्ता तं जहा विग्गहगइसमावएणगा य अविग्गहगइसमावएणगा य तत्थ णं जे ते विग्गहगइ

समावन्नगा ते णं सव्वेया । तत्थ णं जे ते अविग्गहगइसमा-वण्णगा ते णं देसेया नो सव्वेया जाव सव्वेया वि । एवं जाव वेमाणिया ॥

(विग्गहगइसमावन्नगत्ति) विग्रहगतिसमापन्नका ये मृत्वा विग्रहगत्योत्पत्तिस्थानं गच्छन्ति । (अविग्गहगइसमावण्णगत्ति) अविग्रहगतिसमापन्नका विग्रहगतिनिषेधादृजुगतिका अव-स्थिताश्च तत्र विग्रहगतिसमापन्ना गेन्दुकगत्या गच्छन्तीति कृत्वा सर्वैजा अविग्रहगतिसमापन्नकास्त्ववस्थिता यदेह वि-वक्षिता इति सम्भाव्यते ते च देहस्था एव मारणान्तिकसमुद्-घाताद्देशेनेलिकागत्योत्पत्तिक्षेत्रं स्पृशन्तीति देशैजाः । स्वक्षेत्राव-स्थिता वा हस्तादिदेशानामेजनादिति ॥

परमाणुपुद्गलानां सैजत्वनिरेजत्वादि यथा ।

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं सेए णिरेए ? गोयमा ! सिय सेए सिय णिरेए । एवं जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपो-ग्गलाणं भंते ! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! सेया वि णि-रेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया ॥

(सएत्ति) चल (निरेएत्ति) निश्चल ।

अथ परमाण्वादीनेव सैजत्वादिना निरूपयन्नाह ॥

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं देसेए सव्वेए णिरेए ? गोय-मा ! णो देसेए सिय सव्वेए सिय णिरेए दुपदेसिए णं भं-ते ! खंधे पुच्छा ? गोयमा ! सिय देसेए सिय सव्वेए सिय णिरेए एवं जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं देसेया सव्वेया णिरेया ? गोयमा ! णो देसेया सव्वेया वि णिरेया वि । दुपदेसिया णं भंते ! खंधा पुच्छा ? गोयमा ! देसे-या वि सव्वेया वि णिरेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया ॥ भ० २५ श० ४ उ० २५ ।

एज्जण-एजन-न० आगमने, (पज्जणत्ति) सिंहस्य कूपसमीपा-गमनमिति । व्य०३उ० ।

ए (इ) ज्जमाण-एज्यमान-त्रि० कम्प्यमाने, "मंदाय मंदायं पइज्जमाणाणं" एज्यमाना विकम्पनवशादेव प्रकर्षेण इतस्ततो मनाक् चलनेन प्रकम्प्यमानानीति " आ० म० द्वि० । एज्यमानानि कम्पमानानीति'- जी० ३ प्रति० ।

एज्जमाण-एजमान-त्रि० आगच्छति गच्छति च । "महावाय वा एज्जमाणं पासन्ति" महावातं वा (एज्जमाणमिति) आयान्तं गच्छन्तं वा पश्यतीति । राज० ।

एण-एण-पु० स्त्री० इ ण तस्य नेत्त्वम् । कृष्णवर्णे मृगे, स्त्रियां ङीप् । एणी हरिणी कमला मया कुरङ्गी च सारङ्गी' । को० ।

एणस्-एनस्-न० गच्छति प्रायश्चित्तेन क्षमापणेन वा आगसि अर्थे इण् असुन् नुट् च । अपराधे, ईश्वराज्ञोल्लङ्घनरूपनिषिद्धा-चरणापराधजन्यत्वात् पापे च । वाच० ।

एणग-एणक-पु०स्वार्थे कन् कृष्णवर्णे मृगे, शब्दर० ।

एणि (णे) ज्ज-ऐणेय-त्रि० एण्या इदम् ढक् । कृष्णमृगच र्मादौ, "ऐणेयरौरवाजानि अजिनानि " गोभिरतिचन्द्रभेदे,हेम० । " मृगमांसे पणिज्जरसए य " विपा० ८ अ० ।

एणि (णे) ज्जय-ऐणेयक-पु० श्रमणस्य भगवतो महावी-रस्य सकाशे प्रव्रजिते राजर्षिभेदे, तथाच स्थानाङ्गे भगवतो महावीरस्य सकाशे प्रव्रजितानष्टौ राज्ञोऽधिकृत्य "एणिज्जए य राय-रिसी " ऐणेयकोगोत्रतः स च केतकार्द्धजनपदश्वेताम्बीनगरी-राजस्य प्रदेशिनाम्न श्रमणोपासकस्य निजकः कश्चिद्राजर्षि-स्तथा, सोऽयमामलकल्पानगर्याः स्वामी यस्यां हि सूर्याभो देव सौधर्मदेवलोकादागतो महावीरस्य वन्दनार्थमवतीर्य नाट्यविधिश्च उपदर्शयामास यत्र च प्रदेशिराजचरित्रं भग-वता प्रत्यपादीति ॥ स्था० ८ ठा० । एणेज्जगस्स सरीरग-स्य अणुप्पविसामि इति " भ० १५ श० १ उ० ।

एणी-एणी-स्त्री० हरिण्याम्, प्रश्न० ४ द्वा० " एणीकुरुविंद-वत्तवट्टाणुपुव्वजंघे ' एणी हरिणी तस्या इव कुरुविन्दस्तृण-विशेषः यत्सूत्रवलनकं ते इव च वृत्ते वर्तुले आनुपूर्व्येण तनुके चेति गम्यं जङ्घे प्रसृते यस्य स तथा । आप० । त० । जी० । ज्ञायां च " एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्वजंघे " अन्ये त्वाहुः एणय इव जङ्घा कुरुविन्दा कुटिलकाभिधानो रोगविशेषः तान्नि-स्पके शेषं तथैवेति । औप० ।

एणीपएणीणिमिय-एणीप्रैणीनिर्मित-त्रि० एणीप्रैणीचर्म-निर्मिते वस्त्रादौ, " एणीपएणीणिमिय " एणी हरिणी प्रैणी च तद्विशेष एव तच्चर्मनिर्मितानि यानि वस्त्राणि तानि एणीप्रै-णीनिर्मितान्युच्यन्ते श्रूयन्ते च निशीथे कालमृगाणि चेत्यादिनि-र्युक्त्यैर्मृगचर्मवस्त्राणीति । प्रश्न० ४ द्वा० ।

एण्हिं (एताहे) इदानीम्-अव्य० "एण्हि एत्ताहे इदानीम " ८।२।१३४ इति प्राकृत सूत्रेणेदानीम एतावादेशौ वा भवत प्रा० अधुनेत्यर्थे, " एण्हि पि आमघाये " इदानीमधुना-पीति " पञ्चा ७ विव० ।

एत [य] एत-पु० इण तन् । कर्बुरवर्णे, । तद्वति त्रि० । आ-इण् । कर्त्तरि क्त । आगते, त्रि० । वाच० ।

एत [य] द्-एतद्-त्रि०इण्-अदादि-तुक् च । बुद्धिस्थे समीप-वर्तिनि, "इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपवर्ति चैतदो रूपम् । अद-सस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् इत्युक्ते ' समीपव-र्तिबुद्धिस्थोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने एतदो वृत्तिः । क्रियाविशेष-णत्वेऽस्य क्लीवता । अन्त्यव्यञ्जनस्य ८।१।११ इति प्राकृतसूत्रेणान्त्य व्यञ्जनस्य लुक् ' एयगुणा ' एतद्गुणाः । 'एय खु हसइ' सौ चैतत्तदः ८।२।३ इति प्राकृतसूत्रेणैतदोऽकारात्परस्य स्यादेः सेर्वा-क । एसो एस । वैसेणमिणमो सिना ८।३।८५ इति प्राकृतसू-त्रेण सिना सह एस इणम इणमो इत्यादेशा वा भवन्ति । "सव्वस्स वि एस गई" सव्वाण वि पत्थिवाण एस महीं । एस-सहावो चिय ससहरस्स एस सिर इण इणमो । पक्षे एस एसा एसो । तदश्च तः सोऽक्लीबे ८।३।८६ इति प्राकृत सूत्रेण तका-रस्य सौ परेऽक्लीवे सो भवति । सो पुरिसो सा महिला एसो पिओ । एसा मुद्धा सावित्येव एए धन्ना ताए आओ महिलाओ अक्लीव इति किम तं एअं धणं । टा विभक्तौ " किमेतत्कि-यत्तदृभ्यष्टे शिणा " ८।३।७१ इति प्राकृत सूत्रेण टास्थाने रूण इणादेशः । एदिणा एदेण पञ्चम्येकवचने ङसि "वैतत्तदो ङसे-स्तोत्ताहे" ८।३।८२ इति प्राकृतसूत्रेणैतद परस्य ङसेः स्थाने त्तो त्ताहे इत्येतावादेशौ वा । त्थे च तस्य लुक् ८।३।८३ इति प्राकृतसूत्रेण त्थे परे त्तो त्ताहे इत्येतयोश्च परयोरेतदो लुक् एत्तो एत्ताहे पक्षे एआओ एआउ एआहिन्तो एआ । ङसिआमि च " वेदंतदेतदो ङसाम्भ्यां सेसिमौ " ८।३।८१ इति सूत्रेण ङस

आम इत्येनाऽस्यां सह यथासङ्ख्यमेतद् से सिम इत्यादेशौ वा। से अहिअं । एतस्या हितमित्यर्थः । सिं गुणा सिं शीलम् एतेषां गुणा शीलं वेत्यर्थः । पक्षे एअस्स एएसिं एआण । ङौ " एअस्सि " "आमो डेसिं सिम " ८।३।६१। इति प्राकृतसूत्रेणामो डेसिमित्यादेशः एएसिं । त्रदतोऽम्मौ वा ८।३।८४ इति प्राकृतसूत्रेणैतद एकारस्य इयादेशे म्मौ परे अदीतौ वा भवतः । अयम्मि इयम्मि एयम्मि । प्रा० स्त्रियां टाप् एआहिं विआहिं । आ० क०। 'एत तुझमसेसिं' एतां तुलां यथोक्तलक्षणामन्वेषयेत् गवेषयेत्॥ आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । वाच० ।

एत (य) कम्म–एतत्कर्मन्–न० एतद्व्यापारे। विपा० १ अ०।

एतत्काम्य–त्रि० एतदेव काम्यं कमनीयं यस्य स तथा। एतत्कमनीये,"एतकम्मे एयपहाणे एयविज्जे एयसमायारे" विपा०१अ०।

एत [य] प्पगार–एतत्प्रकार–त्रि० एवम्प्रकारे, " एयप्पगारं भासं सावज्जं णो भासेज्जा " एवं प्रकारामसावद्यां भाषामिति एवमादिकां सावद्यां भाषाञ्चो भाषते इति च वृत्तिः । आचा० । २ श्रु० ४ अ०२ उ०।

एत [य] प्पहाण–एतत्प्रधान–त्रि० एतन्निष्ठे, विपा० १ अ०।

एत [य] समायार–एतत्समाचार–त्रि०एतज्जीवितकल्पे, विपा० १ अ० ।

एता (या) रि [स] एता (या) रिस-एता (या) रिच्छ-एतादृश् एतादृश एतादृक्ष–त्रि० एतदि दृश्०—क्विप्—टक् सक्—आदन्तादेशः । दृशेः क्विप् टक्सकः ८।१।४२इति प्राकृतसूत्रेण क्विप् टक् सक् इत्येतदन्तस्य दृशेर्धातोरिसादेशः । प्रा० ।एतत्तुल्यदर्शने, वाच० । एयारिसे महादोसे " एतादृशाननन्तरोदितरूपान् महादोषान् ज्ञात्वेति । दश० ४ अ०। टगन्तस्य स्त्रियां ङीप् । वाच० । ' एयारिसीए इड्डीए " एतादृश्या समीपतरवर्तिन्या ऋद्ध्येति ॥ उत्त०२२ अ० ।

एता (या) रूव–एतद्रूप–त्रि० अकृत्रिमोपलभ्यमानस्वरूपे,—"इमेया रूवे उराला माणुस्सरिद्धी" इयं प्रत्यक्षा एतद्रूपा उपलभ्यमानस्वरूपैव अकृत्रिमेत्यर्थः । विपा० १० अ०। "एयारूवा दिव्वा देवड्ढी" इयं प्रत्यक्षासन्ना एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरभाग् सा तथेति स्था० ४ ठा० ।

एता (या)वंति–देशी० एतावन्त इत्यर्थे, "एआवंति सव्वावंति लोगंसि" एतावन्तीत्यादि "एआवंती सव्वावंतीति" एतौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्ध्या एतावन्तः सर्वेऽप्यीत्येतत्पर्यायाः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

एतोवम–एतदुपम–त्रि० एषाऽनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः एतत्सदृशे, " एतोयमे समणे नायपुत्ते" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

एत्तहे–इतस्–अव्य० इदम्-तासिल्–इत्यादेशः । " पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युतेतस् पच्छइ एम्वइ जिएम्वहिं पच्चुलिएत्तहे, ८। ४। ४२०। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे इतस् एत्तहे इत्यादेशः ।प्रा० अस्मादित्यर्थे, वाच० ।

अत्र–अव्य० "इदम एतद् त्रल्-अस्य मेत्तहे" ८। ४। ३६। इति प्राकृतसूत्रेणत्रप्रत्ययस्य मेत्तहे इत्यादेशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, एतस्मिन्नित्यर्थे, च वाच० ।

एत्तिअ–एत्तिल–एद्दह इयत्–त्रि० इदम्परिमाणमस्य इदम्-वतुप्। इद किमश्च मेत्तिअ मेत्तिल मेद्दहा ८। १। ५७ इति प्राकृतसूत्रेण इदमशब्दात्परस्यातोर्मावतो वा मित् एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च । प्रा० । एतावदर्थे, स्त्रियां ङीप्। वाच० ।

एत्तिअ–एत्तिल–एद्दहअ-एतावत्–त्रि० इदकिमश्चमेत्तिअ मेत्तिल मेद्दहाः । ८।२। ५७ । इति प्राकृतसूत्रेणैतच्छब्दात्परस्यातोर्मावतोर्वा एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च। यत्तदेतदोऽतोरित्ति अ एतल्लुक् च ८। २ । ५६ इति प्राकृतसूत्रेणैतच्छब्दात्परस्य डावादेरतोः परिमाणार्थस्य इत्तिअ इत्यादेशः प्रा० एतत्परिमाणे, स्त्रियां ङीप् वाच० ।

एत्तो–इतः-अव्य० अस्मादित्यर्थे,–"एत्तो परिग्गहो" इतश्चतुर्थाश्रवणद्वारादनन्तरमिति, प्रश्न० ५ द्वा० ।

एत्थ–अत्र–अव्य० इदम्-त्रल्–एत्थुप्पादौ ८।१।५७ इति प्राकृतसूत्रेणैकारादेशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । " के एत्थ खत्ता उवजोइया वा " केचिदत्रास्मिन् यज्ञपाटके इति । उत्त०। १२ अ० । "एत्थ णं मणिभद्दे णाम चेइए होत्था" अत्रास्मिन्निति सू० प्र० १ पाहु० ।

एत्थ–एतत्र–अव्य० दिग्देशकालवृत्तेरेतच्छब्दात् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यर्थे त्रल्।न्ये च तस्य लुक् ८। ३। ८३। इति प्राकृत सूत्रेणैतदो लुक् । प्रा० । प्रथमाद्यर्थयुक्तैतच्छब्दार्थदिगादौ, वाच० ।

एत्थु–अत्र–अव्य० इदम् एतद् त्रल्—एत्थुकुत्रात्रे ८ । ४ । ५ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसेऽत्र इत्येतस्य अशब्दस्य मित् एत्थु इत्यादेशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, एतस्मिन्नित्यर्थे च वाच० ।

एत्तुल–इयान्–त्रि० एतत्परिमाणे, वाच०। अतो मेत्तुल ८।४।३५ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसे यदेतद्भ्यः परस्यातो प्रत्ययस्य मेत्तुल इत्यादेशः । प्रा० ।

एमेव–एवमेव–अव्य० यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवमेव व ८ । १ । २७ । इति प्राकृतसूत्रेणान्तर्वर्त्तमानस्य वकारस्य लुक् । प्रा० । एवम्प्रकारेणैवेत्यर्थे, वाच० ।

एम्व–एवम्– अव्य० एवं परं समं ध्रुवं मा मनाक् एम्व परसमाणुध्रुवु मं मणाउं ८। ४।४१८ । इति प्राकृतसूत्रेणैवम् अपभ्रंशे एम्व इत्यादेशः । प्रा० । एवम् प्रकारेणेत्यर्थे, वाच० ।

एम्वइ–एवमेव– अव्य० ' पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चुलिअउ एत्तहे, ८ । ४ । ४२०इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे एवमेवेत्यस्य एम्वइ इत्यादेशः ।प्रा० । एवम्प्रकारेणैवेत्यर्थे, वाच० ॥

एम्वहिं–इदानीम्– अव्य० पश्चादेवमेवेदानीम॰ ८ ।४।४२० इत्यादि प्राकृतसूत्रेणेदानीम॰ एम्वहिं इत्यादेशः ।प्रा० । अधुनेत्यर्थे, वाच० ।

एरंड–एरण्ड–पु० ईरयति वायुं मलं वा ऽच् ईर आण्ड् निपातनात् गुणश्च । एरण्डाभिधाने वृक्षे, स्था० ४ ठा० तृणभेदे, प्रज्ञा०१ पद० । "एरडेणेरडे एरण्डेन वा हिंसिङ्कितेन वेति" श्रु० ३ उ० । तथा चाचाराङ्गे रूप्यसारमधिकृत्य "धणे एरंडे एरंडे" स्थूलानां मध्ये एरण्डो नैमो वा प्रकर्षभूत इति, आचा०१श्रु० ४ अ० १ उ०। प्रज्ञापनायामुत्कारिकाभेदमधिकृत्य ।'एरण्डबीयाण वा' प्रज्ञा०११ पद।एरण्ड इव एरण्डः'। श्रुतादिभिर्हीने, स्था० ४ ठा० विप्रत्यां स्त्री० टाप् गौ० ङीप् वा । वाच० ।

एरंडइय–एरण्डकित– त्रि० इमकयिते,–"एरंडइय साणे एरंडइयसाणेति इमकयित" इति। बृह० १ उ० ।

एरंडपरियाय-एरण्डपर्याय- पुं० एरण्डस्येव पर्य्याया धर्मा असदृग्छायत्वासेव्यत्वादयो यस्य स एरण्डपर्य्याय. । असदृग्छायत्वाद्येरण्डधर्मयुक्ते, स्था० ४ ठा० ।

एरंडपरिवार-एरण्डपरिवार- पुं० एरण्डकल्पनिर्गुणपरिकरे एरण्डामेगे एरण्डपरिवारे, एरण्डपरिवार' एरण्डकल्पानिर्गुण-साधुपरिकरत्वादिति । स्था० ४ ठा० ।

एरण्डमज्झयार-एरण्डमध्याकार- त्रि० एरण्डमध्यवन्निर्गुणे, "एरण्डमज्झयारे एरणेणामहोइ डुमराया " स्था० ४ ठा० ।

एरण्डमिंजिया-एरण्डमिञ्जिका- स्त्री० एरण्डफले, (एरण्डमिं-जियाइ वा) एरण्डमिञ्जिया एरण्डफलमिति । भ० ७ श० १ उ० ।

एरंडसगडिया-एरण्डशकटिका- स्त्री० एरण्डकाष्ठमय्यां शक-टिकायाम्, ज्ञा० १ अ० ।

एरणवय-एरण्यवत- पुं० हिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये जम्बूद्वीपस्य उत्तरतः स्थिते वर्षभेदे, स्था० २ ठा.। सम. एरण्यवते जात एर-ण्यवतो वाऽस्यनिवास इति तत्र जात. सोऽस्य निवास इति वा-ऽस्य निवास इति तत्र जात सोऽस्य निवास इति वाऽण् प्रत्यये ऐरण्यवत' ऐरण्यवतवर्षजाते, ऐरण्यवतवर्षनिवासिनि च । अनु० दोएरणवय" स्था० २ ठा० ।

एरवई-ऐरावती- स्त्री० स्वनामख्याते नदीभेदे, " अह पुण एव जाणिज्जा एरवई कुणालाए । जत्थ चक्किया एग पाय जले किच्चा एगं पाय थले किच्चा " ऐरावती नामनदी कुणालाया नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेगेन वहति तस्यामन्यस्यां वा यत्रैव च-क्रिया शक्नुयात् उत्तरीतुमिति शेष । कथमित्याह एकपादं जले कृत्वा एक पाद स्थले आकाशे कृत्वेति । बृ० ५ उ० । (एतस्या सन्तरणादिवक्तव्यता णईसतरण शब्दे)

एरवय-एरवत- न० जम्बूद्वीपस्थे वर्षभेदे, सम० । ध०। स्था०। ज० । जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे भागे भरतमहाहिमवतस्तस्यैवोत्तरे-भागे ऐरवत शिखरिण एरत इति । स्था० २ ठा० । स्वनामख्याते दीर्घवैताढ्यपर्वते, पुं०। स्था० १० ठा० । ऐरवते जात ऐरवतो वाऽस्य निवास इति तत्र जात. "सोऽस्य निवास ' इति वाऽण्प्रत्यये ऐरवत ऐरवतजाते, ऐरवतनिवासिनि च। अनु० " तत्थ खलु इमे दुवे सूरिया पण्णत्ता । तं जहा भारहे चेव सूरिए एरवए चेव सूरिए " चन्द्र० प्र०१ पाहु० ।

एरवयकूड-ऐरवतकूट- न० जम्बूमन्दरोत्तरस्थैरवतदीर्घवैताढ्य-पर्वतस्थे कूटभेदे, स्था० १० ठा० शिखरवर्षधरपर्वतस्थे कू-टभेदे, स्था० ७ ठा० ।

एरावई-ऐरावती- स्त्री० जम्बूमन्दरदाक्षिणेन सिन्धुं महानदीं समाऽनुयत्यां स्वनामख्यातायाम्महानद्याम्, स्था० ५ ठा० पञ्चालदेशस्थे नदीभेदे, इरा. सन्त्यस्य भूम्ना मतुपो मस्य व इरावान् मेघ तत्र भवा अण् विद्युति, ऐरावतयोषाया च मेदि०। वाच० ।

एरावण-ऐरावण- पुं० इरा सुरा वनमुदकं यत्र तत्र भव' अण् पूर्वपदादिति णत्वम्। इन्द्रगजे ऐरावते, वाच०। उपा०। कल्प.। जी० । " सक्को य देवराया एरावणं विलग्गो" आ० म० द्वि० । आव० । स च शक्रस्य देवेन्द्रस्य कुञ्जरानीकाधिपति " एरा-वणे हत्थिराया कुञ्जराणीयाहिवई " स्था० ५ ठा० । "हत्थीसु एरावणमाहुणाए" हस्तिषु करिवरेषु मध्ये यथा ऐरावतं शक्र-वाहन ज्ञातं प्रसिद्ध दृष्टान्तभूत वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञा इति सूत्र० १ श्रु०५ अ० अत्रार्थे ऐरावणशब्दे ऐरावत शब्दश्च तत्रैरावणशब्दस्य प्राकृते एरावण इति ऐरावतशब्दस्य एरावय इति कथमेरावणो ? ऐरावणशब्दस्य एरावओ इति तु-ऐरावतस्येति । प्रा०। गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। ऐरावतह्रदवासिनि स्वनामख्याते देवे च, जी०३प्रति० ।

एरावणद्दह-ऐरावत-ह्रद- पुं० जम्बूमन्दरोत्तरस्थे उत्तरकुरुस्थिते महाह्रदे. स्था० ५ ठा० (ऐरावतह्रदवक्तव्यता उत्तरकु-रुशब्दे उक्ता)

एरावणवाहण-ऐरावणवाहन- पुं० ऐरावणो हस्ती स वाहनं यस्य स तथा शक्रे,"एरावणवाहणे सुरिंदे" उपा०२अ० कल्प०। ऐरावणनाम्नो गजपतेस्तद्वाहनस्य सत्वादिति, जी० ३ प्रति० ।

एरावय-ऐरावत- त्रि० लकुचद्रुमे, । मेदि० । पञ्चकलामात्रा-प्रस्तारे आदिलघुके अन्त्यगुरुद्वयके, प्रथमे भेदे, पुं० ऋजु-दीर्घे शत्रुधनुपि मेदि० । इरावत्या नद्या सन्निकृष्टो देश अण् । मरुस्थलभेदे, न०। वाच०। ऐरावतह्रदवासिनि स्वना-मख्याते देवे च, जी०३ प्रति० ।

एरि [लि] क्ख-ईदृक्ष- त्रि० अयमिव पश्यति इदम् दृश् कर्मकर्तरि कञ् इशादेशः दीर्घः ॥ वाच०॥ दृशे क्विप्टक्सक' ८।१।१४२। इति सूत्रेण ऋतोरिकारादेश । "एत्पीयूषापीडविभी-तककीदृशे दृशे" ८।१।१०५। इति प्राकृतसूत्रेणेत एत्वम् प्रा० । एवं विधदर्शनवति, वाच० 'अक्खाइसेणाणमएलिस' ज्ञानमनन्य-सदृशमाख्यातीति " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । "सूयेण एरिसं भत्तं कय" आ० म० द्वि० " एरिसगुणजुत्ताणं ताणं " ईदृशगुणयुक्तानामुक्तवक्ष्यमाणलक्षणान्वितानां तासां नारी-णामिति । तं० । " एरिसा जावई एसा " येयमीदृक्षा वागिति सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

एलकक्ख-[च्छ] एडकाक्ष- न० पुरभेदे, " तस्स कह एल-कच्छ नाम त पुव्व दसन्नपुर नगरं आसी तत्थ साविगा एगस्स मिच्छादिट्ठस्स दिन्ना वेयालिगा आवस्सय करेइ । पच्चक्खाइया सो भणति किं रत्तिं उट्ठित्ता कोइ जेमइ एव उ-प्पासेइ अन्नया सो भणति अह पि पच्चक्खामि । सा भणति भञ्जिहिसि सो भणति किं अन्नया वि अहरत्ति उट्ठित्ता जेमेमि दिन्न देवआ चिंतेइ साविय उप्पासेइ अज्ज ण उवलभांति तस्स भगिणी तत्थेव वसति तीसे रत्तिं रूवेण पहेण य गहाय आगया एक्खइओ साविगाए वारितो भणइ तुम्भव्वणहि आलपालेहिं किं मम देवयाए पहारो दिण्णो दो वि अच्छिगोलगा भूमीए पडिया सा मम अयसो होतित्ति काउस्सग्गय-ट्ठिया अद्धरत्ते देवया आगया भणति किं साविए सा भणति मम एएण अयसोत्ति नाहं अन्नस्स एलगस्स अच्छीणि स-प्पएसाणि तक्खणमारियस्स आणेत्ता लाइआयाणि ततो से सयणे भणति तुब्भत्थाणि एलगस्स जारिसाणिति तेण सव्व कहिय सड्ढजाओ जणो कोउहल्लेण एइ पेच्छगो सव्व-त्थरज्जे फुट्टं भण्णइ कओ एसि जत्थ सो एलकच्छओ अन्ने भणनि सोच्चेव राया ताहे दसन्नपुरस्स एलकच्छ नामं जाय आव० ४ अ० । (आणिस्सिओवहाराशब्देऽपि एषा कथोक्ता)

तथाचावश्यककथायाम् ॥
गजाग्रपदवन्द्रादे-रेलकच्छपुरे यथा ॥
तद्दशार्णपुरं पूर्व-मासीत्तस्मिन्नुपासिका ॥१९॥
सक्रे वैकालिकं नित्यं, प्रत्याख्याति स्म वाय सः ।

उपाहसत्पतिस्तस्या, सायं भुक्तः परोऽपि किम् ॥११॥
निश्ययात्सोऽपि भुक्त्वह, प्रत्याख्यास्यहमप्यत. ।
भक्ष्यसि त्वं तयेत्यूचे, न भक्ष्यामीति सोऽवदत् ॥१२॥
देवताऽचिन्तयच्छ्राद्धा-मस्यामुपहसत्यदः ।
निशीथे स्वसृरूपेणा-भ्यागादादाय लाभन ॥ १३ ॥
खादन्निषिद्धः पत्न्योचे, किं मेतद्वालजालकै ।
देवता त प्रहृत्याथ-दृग्गोलौ च व्यपातयत् ॥ १४ ॥
मा भून्ममायश श्राद्धा, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता ।
देवता स्माह तां श्राद्धा-प्युवाचैव ममायश' ॥ १५ ॥
साथानीयादधौ सद्यो, मारितैरुस्य चक्षुषी ।
एरुकारव्यस्तत' ख्यात', स श्राद्ध. प्रत्ययादभूत् ॥ १६ ॥
लोकः समेति तं द्रष्टु-मेरुकात्त कुतूहलात् ।
एरुकाक्षं पुरमपि-तन्नाम्ना तदभूत्तत ॥ १७ ॥

एलग (य) एडक-पुं० स्त्री-इल-एवुल्-रुस्य लः चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । एलकागड्डरिका इति । प्रव० ४ द्वा० । एरुकोऽजविशेष इति-प्रव० ८४ द्वा० । प्रज्ञा० । एरुका छगला इति । जं०२ वक्ष० । उपा० । स्था० । उष्मकप्पा सा उवा उष्मति एलाबालाणं गकुरा भवति । नि. चू० ३ उ० । वनच्छागे, पृथुशृङ्गे मेषे, मेषमात्रे च दश०५अ० ।

एलगमूग-एलकमूक-पुं० मूकभेदे, यथैलक इवाव्यक्तं मूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलकमूक इति । ध० ३ अधि० ।

एलमूग-एड [ल] मूक-त्रि० श्रुतिरहित एडो बधिरस्तस्मै मूक. वाक्श्रुतिशक्तिरहिते, वाच० । एलवन्मूक एलमूक' सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अजाभाषानुकारिणि मूकभेदे, दश० ५ अ० । सो एलगो जहा पुण बुब्बुअइ एलमूगो व । आव० ४ अ० । एलमूगो भासइ एलगा जहा बुरुबुरुति जहा पुण बुब्बुअइ एलमूगो भासइ अतरे अतरे खलतीति । नि० चू०११ उ० । "ततो निप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए " तस्मादपिस्थानादायुष क्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्विषिकबहुलास्तत्कर्मशेषैरेलवन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते किल्विषिकस्थानाच्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैलमूकोऽव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । एलमूकत्वकारणम् मृषावादेन किल्विषिकत्वप्राप्तिमभिधाय यथा ।

तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्भई एलमूयगं ।
नरगतिरिक्खजोणिं व, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकतामजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारपर्येण लप्स्यते बोधिर्यत्र सुदुर्लभः सकलसम्पन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भावप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थ. ॥ दश० ५ अ० ॥

एला-एला-स्त्री० इल्-अच्-स्वनामख्याते बल्ल्यात्मके वनस्पति भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

एलावच्च-ऐलापत्य-पुं० इलापतेरपत्यमैलापत्यः पत्युत्तरपदमादितो ण्योणपवादे वाश्वे इति ण्यप्रत्यय' । नं० । मण्डकस्य मूलगोत्रस्य सप्तसु गोत्रभेदेष्वन्यतमे गोत्रे, स्था० ७ ठा० । थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्ज महागिरि एलावच्चसगोत्ते" कल्प० । "एलावच्चसगोत्तं वंदामि महागिरिं सुयठिंयं च " नं० (एलावच्चेत्यादि) इह य' स्वापत्यसंतानस्य स्वव्यपदेशकारणमाद्य. प्रकाशक पुरुष तदपत्यसन्तानो गोत्रमित्याप्यते अपत्यमैलापत्य. पत्युत्तरपदयमादित्यात्तो ण्योणपवादे वाश्च इति ण्यप्रत्ययः । एलापत्येन सह गोत्रेण वर्त्तते य स एलापत्यसगोत्रस्त वन्दे महागिरिम् । एकस्य पक्षदशसु रात्रिषु स्वनामख्यातायां तृतीयस्यां रात्रौ, ज्यो० चन्द्र० १५ पाहु० ।

एलासाढ-एलाषाढ-पुं० अवन्त्यां जिनोद्यानसमागतानां धूर्तानामधिपे स्वनामख्याते धूर्ते, ग०२ अधि० । "एलासाढेण भणियं अहं मेकहायामि" नि० चू०१ उ० ।

एलुग-एलुक-न० इल० उक् गन्धद्रव्यभेदे, मद्रादर्नेलुकाख्ये च सर्वेषु श्रवणेषु च, सुश्रु० । वाच० । देहल्याम्, पुं० जी० ३ प्रति० । ज्यो० । " हंसगब्भमये एलुगे " हसगर्भो रत्नविशेषस्तन्मय एलुको देहलीति । जी०३ प्रति० । " गिहेलुगंसि वा गिहेलुक उंबर इति " आचा० २ श्रु० ॥

साधुना चैलुकात्परतो न प्रवेष्टव्यम् तथा चाह ।

णो से कप्पति अंतो एलुएस्स दो वि पाए साहट्टु दलयमाणीए पडिग्गाहित्तए अहं पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयविक्खंभइत्ता पयाए एसणाए एसमाणे लब्भेज्जा आहारेज्जा ॥

सांप्रतमेलुगविक्खंभणे दोसा इत्यस्य व्याख्यामाह ।

गच्छगयनिग्गए वा, लहुगा गुरुगा य एलुगा परतो ।
आणादिणो य दोसा, दुविहा य विराहणा इणमो ॥

एलुकात् परत' साधुरतिगच्छति उपलक्षणमेतत् । यदि साधुरेलुक विष्कम्भयति आसन्ने वा प्रदेशे एलुकस्य तिष्ठति तदागतस्य प्रायश्चित्त चत्वारो लघुकाः गच्छनिर्गतस्य चत्वारो गुरुका. । तथा आज्ञादय आज्ञाभङ्गादयो दोषाः । द्विविधा च विराधना आत्मविराधना संयमविराधना च । इयं वक्ष्यमाणा तामेवाह ।

संकगहणे इच्छा, दुन्निविट्ठा अवाउडा ।
निहरणक्खणण विरेगो, णे अ विदित पाहुडए ॥
बंधवह उद्दवणे य, खिंसण असीयावणे चेव ।
उव्वेयगकुरुडिय, दीणे अ विदिण्णवज्जणया ॥

एलुकात्परतो यदि गच्छति तदा स्तैन्ये मैथुने वा लोकस्य शङ्का स्यात्तदनन्तर च ग्रहणं तथा यस्या गृहमभ्यन्तरं प्रविष्टस्तस्या विषयेऽस्य साधो. किं तु येन इच्छा येनाभ्यन्तर गत इति लोकस्य शङ्का स्यात्तथा दुर्निविष्टा अप्रावृता वा मध्ये अगारी स्याल्लज्जा स्यात् दोषाश्चान्ये शङ्कादय तथा मध्ये गृहस्वामी हिरण्यादेर्निधान करोति खत्खनन वा परस्परं विरेचन तत्र स्तेनोऽयमिति शङ्कास्यात्तथा अतिभूमिप्रवेशन तीर्थकृद्भिर्गृहस्थैश्चावितीर्णमननुज्ञातं ततोऽदत्तादानदोष. तस्मात्कस्मादतिभूमिमेष प्रविष्ट इति गृहस्थ. प्राभृतमधिकरणं कुर्यात्तथा बन्ध निगडादिभि. ताडनमपद्रावणं जीविताद्व्यपरोपण तथा खिंसना हीलना यथैते वराका अलभमाना अतः प्रविशन्ति (असियावणाचेवत्ति) 'आसीयावणा' नाम निष्काशयितुमासावनं किमुक्तं भवति गले गृहीत्वा बहिर्वने निक्षिपति तथा म भवती धिग् इव प्रविष्टस्तासामगारीणामुद्वेजको भवति । तथा कुरुण्टितो नाम उपचारक इत्युच्यते तं शङ्कमाना गृहिणो बधबन्ध-

मादीनि कुर्युरेतैः कारणैरवितीर्णस्यातिभूमिप्रवेशनस्य वर्जना एष द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेतदेव विवरीषु. प्रथमत. शङ्काद्वारमाह ॥

पच्छित्ते आदेसा, संकियनिस्संकिए य गहणादी ।
तेउत्थं व चउत्थे, संकियगुरुगा निसंकिए मूलं ॥

एलुकात्परत प्रवेशे स्तैन्यविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा शङ्का स्यात् तस्या च शङ्कायां सत्यां निश्शाङ्किते च जनस्य जाते प्रायश्चित्तविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा आदेशौ प्रकारौ । तावेव च दर्शयति । शङ्किते चत्वारो गुरुका नि शङ्किते मूलमिति । तथा ग्रहणादयश्च शङ्कायां दोषास्तावेव कथयति ॥

गेण्हण कड्ढण ववहार, पच्छकडुड्डाह तह य निव्विसए ।
किं उ हु इमस्स इच्छा, अब्भंतरमइगतो जाए ॥

ग्रहण स्तेन परदारको वेति बुद्ध्या प्रतिग्रहणं ततो राजकुल प्रति कर्षण तदनन्तर राजकुले व्यवहरण तत पश्चात्कृतकरण व्रतमोचनमित्यर्थ. एव च सति महान्प्रवचनस्योड्डाह । तथा निर्विषय आज्ञाऽप्येतद्द्वारगाथायां तु ग्रहणे इति कर्षणादीनामुपलक्षण गत ग्रहणद्वारम् । इच्छाद्वारमाह किं तु इति वितर्के हुरिति निश्चितं यस्या गृहमभ्यन्तरमतिगतस्तस्या विषये अस्य साधोरिच्छा येनायमभ्यन्तर सहसा प्रविष्ट इति । अधुना दुर्विनिविष्टा अप्रावृतेति पदद्वय व्याख्यानयति । मध्ये आगारी दुर्निविष्टा वा भवेत् अप्रावृता वा तत सहसा साधोरभ्यन्तरप्रवेशे साऽपि लज्जिता भवेत् शङ्का वा तस्या समुद्भवेत्तामेवाह ॥

किं मन्ने घेत्तुकामो, एस मम जेण तेत्तिए दूर ।
अन्नो वा संकेज्जा, गुरुगा मूल तु निस्संके ॥
आउत्थपरा वा वि, उभयसमुत्था व होज्ज दोसाओ ।
उक्खणनिहणविरेगं, तत्थ किंची करेज्जाहि ॥

किं मन्ये एष संयतो मां ग्रहीतुकामो येन एतद् दूरमागच्छति । अन्यो वा एवं शङ्केत तत्र शङ्कायां सत्यां तस्य प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका निःशङ्किते तस्य वा जाते मूलप्रायश्चित्तम् आत्मोत्थ परस्मात् उभयसमुत्था दोषा भवेयु. 'सम्प्रति निहणुक्खणणेत्यादि' व्याख्यानयति (उक्खणणेत्यादि) तत्र गृहस्थो गृहमध्ये हिरण्यादेरुत्खनन वा कुर्यात् निधान परस्पर विवेक वा विरेचन किंचित्कुर्यात्तत. किमित्याह ॥

दिट्ठं एएण इमं, साहेज्जा मा उ एस अन्नेसिं ।
तेणोत्ति व एसो उ, संका गहणादि कुज्जाए ॥

दृष्टमेतेन साधुना इद हिरण्यादि उत्खन्यमानादिक ततो मा एष अन्येषां कथयेत् यदि वा एष स्तेन इति शङ्कायां ग्रहणादिग्रहणवधबन्धादि कुर्यात् । साम्प्रतमवितीर्णपदव्याख्यानार्थमाह ॥

तित्थयरगिहत्थेहिं, विअतिभूमिपविसणपदिसं ।
कीसे दूरमतिगतो, असंखमं बधवहमादी ॥

तीर्थकरेण गृहस्थेन चाभ्यामप्यतिभूमिप्रवेशमदत्त तीर्थकरेणादत्तमतिभूमिं न गच्छेज्जा इत्यादिवचनात् गृहस्थेनात्मीकरणात् प्राभृतादिद्वारकलापमाह कस्मादेतद्दूरमयमागत इति गृहस्थोऽसखमं कलह कुर्यादतिरोषाद्बन्धवधादिकम् ।

सम्प्रति खिसाद्वारमाह ।

खिंसेज्ज व जह एए, अलभंत वराग अंते पविसंति ।
गलए घेत्तूण वणम्मि, निच्छुभेज्जाहि बाहिरतो ॥

खिंसेत् हीलयेत् गृहस्थो यथा एते वराका अलभमाना मध्ये प्रविशन्ति । आसियावणद्वारमाह गलके गृहीत्वा बहिर्वने निक्षिपेत् ।

उद्वेजकद्वारमाह ॥

ता उय आगारीतो, वीरल्लेणेव तासिया सउणी ।
उव्वेगं गच्छेज्जा, कुरुंडितो नाम उवतरओ ॥

यथा वीरल्लेण त्रासिता शकुनिका उद्वेगं गच्छन्ति तथा ता अप्यार्याः सहसान्त प्रविष्टेन साधुना त्रासिता सत्य उद्वेग गच्छेयुः । कुरुण्टितद्वारमाह । कुरुण्टितो नाम उपचारकस्तदाशङ्कया वधबन्धनादि कुर्यात् ।

अहवा भणेज्ज एते, गिहिवासम्मि वि अदिट्ठकल्लाणा ।
दीणा अदिन्नदाणा, दोसा ते णाउ नो पविसे ॥

अथवा ब्रूयात् गृहवासेऽप्येते अदृष्टकल्याणा दीना अदत्तदाना आसीरन् तेन मध्ये प्रविशन्ति । उपसंहारमाह । एतान् दोषान् ज्ञात्वा नो मध्ये प्रविशेत् । अत्र चोदक प्राह । यदि एलुकविष्कम्भे एते दोषा अन्त' प्रविष्टे सविशेषास्तत एलुकविष्कम्भसूत्रमफल स्यात्तत आह ।

उस्सरविक्खंभमावि जाति, दोसा अतिगयम्मि सविसेसा ।
तह वि अफल न सुत्त, सुत्तनिवातो इमो जम्हा ॥

यद्यपि उत्स्वराविष्कम्भे दोषा अतिगते मध्यप्रवेशे सविशेषास्तथाऽपि सूत्रमफल न भवति । यस्मादय सूत्रनिपात सूत्रविषयत्वमेव दर्शयति ।

उज्जाणघडासत्थे, सेणासंवट्टवयपवादी वा ।
बहिनिग्गमणा जत्से, भुंजइ यजत्थ हि पहियवग्गो ॥

औद्यानिक्यां निर्गतो यत उद्याने भुङ्क्ते घटाभोज्य नाम महत्तरा तु महत्तरादिबहिरावासित सार्थो वणिक्सार्थ. । सेना स्कन्धावार सम्वर्तो नाम यत्र विषमादौ भयेनालोक संवर्त्तीभूतस्तिष्ठति व्रजिका गोकुल प्रपा पानीयशाला सभा ग्रामजनसमवायस्थानमेतेषु स्थानेषु ये भुञ्जते जनास्तथा बहिर्निर्गमने यत्रपाटवा यत्र वा पथिकवर्गो भुङ्क्ते एतेषु स्थानेषु प्रतिमाप्रतिपन्नो हिण्डते न विधिना ग्रहीतव्यम् ।

पासट्ठितो एलुगम–त्तमेत्र पासति न वेयरे दोसा ।
निक्खमणपवेसणे वि य, अप्पडियादी जे एवं ॥

तत्र गत्वा निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा ईषदेकपार्श्वे तिष्ठति यथा एलुकमात्र पश्यति नोत्क्षेपनिक्षेपविरेचनानि ततो वधबन्धादय. प्रागुक्तदोषा. परिहृता भवन्ति । तथा निष्क्रमणे प्रवेशे च य अप्रतीत्यादयो दोषास्तेऽप्येव परित्यक्ता. ।

उज्जाणघमाईणं, असतीप्पेसाट्ठितो अ गंभीरे ।
निक्कमणपवेसे मो–त्तूण एलुगविक्खम्भमेतम्मि ॥

औद्यानिकी घटादीनामसत्यभावे य शालायाः प्रमुखे कोष्ठको विशालो यत्र दूरस्थितैरपि एलुक उत्क्षेपनिक्षेपौ च दृश्येते मण्डपे वा यत्र परिवेषण रसवत्या वा महानसे गम्भीरेऽतिप्रकाशे तत्रापि निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा यत्र उत्क्षेपनिक्षेपौ न दृश्येते एलुकविष्कम्भमात्रे क्षेत्रे एकपार्श्वे स्थित्वा भिक्षामादत्ते एष एलुकसूत्रस्य विषय. । व्य० १० उ० ।

एलुगविक्खंभ–एलुकविष्कम्भ– पु० उदुम्बरस्याऽऽक्रमणे, बृ० १ उ० ।

एव-एव-अव्य० इण्-वन्-सादृश्ये , अनियोगे, चारनियोगे, विनिग्रहे, परिभवे, ईषदर्थे च । वाक्यभूषणे, वाच० । एवेति गाथालङ्कारमात्र इति विशे० । अवधारणे, दर्श० । पंचा० । दशा० । "अवंभपरिग्गहे चेव" एवशब्दोऽवधारणे इति प्रश्न० १ द्वा० । "यामिच्छं चेव आहडं" "दुक्खमेव विजाणिया" एवकारोऽवधारणे इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । विशेष्यसङ्गतोऽन्ययोगव्यवच्छेदे , । यथा पार्थ एव धनुर्द्धर इत्यादौ पार्थान्यपदार्थे प्रशस्तधनुर्द्धरत्वम् व्यवच्छिद्यते । विशेषणसंगतः अयोगव्यवच्छेदे , यथा शङ्खः पाण्डुर एवेत्यादौ शङ्खे पाण्डुरत्वायोगो व्यवच्छिद्यते । क्रियासगत अत्यन्तायोगव्यवच्छेदे, यथा नीलं सरोज भवत्येवेत्यादौ सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते । वाच० ।

एव-(वं) एवम्-अव्य० इण् वा बमु-"मांसादेर्वा ८।१।२६। इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य वा लुक् । प्रा० । उपप्रदर्शने , " एवमेयाणि जपंता " एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने इति । "एवमेगेणियायठी" एवमिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने , इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० "एवं आवली करिति" इहैवं शब्द पूर्वोक्ताभिलापससूचनार्थ इति । भ० १ श० ६ उ० "एव सेहे वि अपुट्ठे" एवमिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थ इति सूत्र० १ श्रु० २ अ० । प्रकारे, एवं शब्द प्रकारवचन इति । आ० म० द्वि० । प्रश्न० । व्य० । दर्श० । प० व० । दर्श० । एवमिति प्रकृतपरामर्शप्रकारेवार्थोपदेशनिर्देशनिश्चयाङ्गीकारवाक्यार्थेषु, समुच्चयार्थे, समन्वये, परकृतौ, प्रश्ने च । मेदि० । वाच० । अपरिमाणे, पृथग्भावे, एकत्वे, अवधारणे च । तथा च व्यवहारकल्पे "अपरीमाणे-पिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे । एवसद्दो उ एएसिं" इति । एव शब्दोऽपरिमाणे पृथग्भावे एकत्वे अवधारणे तत्रापरिमाणे यथा एवमन्येऽपीत्यादौ पृथग्भावे यथा घटात्पटः पृथक् । एवमाकाशास्तिकायवत् धर्म्मास्तिकायोऽपीति । एकत्वे यथाऽयमेतद्रूप एवमेषोऽपि । अत्र ह्येवशब्दस्तयोरेकरूपतामभिद्योतयति अवधारणे यथा केनापि पृष्टमिदमित्थं भवति । इतरः प्राह एव ! इत्थमेवेति भावः । एवमेवंशब्द एतेष्वर्थेषु वर्त्तते इति । व्य० ४ उ० ।

एवइय-एतावत्-त्रि० एतत्परिमाणे, वाच० । "एवइयं वा एवखुत्तो वा एवइयंति" तां विकृतिमेतावतीमिति । कल्प० ।

एवंकरण-एवंकरण-न० एवम्प्रकारेण करणे, "एवं करणया एत्तिकट्टु" भ० ३ श० १ उ० ।

एवंभूय-एवंभूत पु० सप्तमे नयभेदे, तत्स्वरूपं यथा ।

वंजणअत्थतदुभयं-एवंभूओ विसेसेइ ॥

(वंजण अत्थे इत्यादि) यत्क्रियाविशिष्टशब्देनोच्यते तामेव क्रियां कुर्व्वद्वस्त्वेवंभूतमुच्यते एवं शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिक प्रकारस्तमेवभूतं प्राप्तमिति कृत्वा ततश्चैवंभूतवस्तुप्रतिपादको नयोऽप्युपचारादेवंभूत । अथवा एव शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिक प्रकारस्तद्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽभ्युपगमात्तमेवभूत प्राप्त एवंभूत इत्युपचारमन्तरेणापि व्याख्यायते स एवभूतो नय । किमित्याह व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जन शब्द अर्थस्तु तदभिधेयवस्तुरूप व्यञ्जन चार्थश्च व्यञ्जनार्थौ तौ च तौ तदुभयं चेति समास । व्यञ्जनार्थशब्दयोर्व्यस्तनिर्देश प्राकृतत्वाद्व्यञ्जनार्थे तदुभय विशेषयति नैयत्येन स्थापयति । इदमत्र हृदय शब्दमर्थेनार्थं च शब्देन विशेषयति । यथा घट चेष्टायां घटते योषिन्मस्तकाद्यारूढश्चेष्टत इति घट इत्यत्र तदैवासौ घटो यदा योषिन्मस्तकाद्यारूढतया जलाहरणचेष्टावानन्यदा घटध्वनिरपि चेष्टां कुर्वत एव तस्य वाचको नान्यदेत्येवं चेष्टावस्थातोऽन्यत्र घटस्य घटत्व घटशब्देन निवर्त्यते घटध्वनेरपि तदवस्थातोऽन्यत्र घटेन स्ववाचकत्वं निवर्त्यत इति भाव इति गाथार्थः ॥ अनु० ।

एवं जह सद्दत्थो, संभूओ तह अन्नहाभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण ॥

एवं यथा घटचेष्टायामित्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः (तहत्ति) तथैव वर्त्तते घटादिकोऽर्थः स एवं सन् भूतो विद्यमानः (अन्नहाभूओत्ति) यस्त्वन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्त्तते स तत्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति किन्त्वेवभूतोऽविद्यमान येनैवं मन्यते तेन कारणेन शब्दनयसमभिरूढनयाभ्यां सकाशादेवभूतनयो विशेषणशब्दार्थतत्पर । अयं हि योषिन्मस्तकारूढं जलाहरणक्रियानिमित्तं घटमानमेव चेष्टमानमेव घट मन्यते न तु गृहकोणादिव्यवस्थितम् । अत्रचेष्टनादित्येवं विशेषत शब्दार्थतत्परोऽयमिति " वजणमत्थतदुभयं एवभूओ विसेसेइ इति " निर्युक्तिगाथादलं व्याचिख्यासुराह ॥

वंजणमत्थे णत्थं, व वंजणेणोभयं विसेसेइ ।
जह घडसद्दं चेट्ठा-व या तहा तं पि तेणेव ॥

व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं वाचकशब्दो घटादिस्तं चेष्टावता एतद्वाच्येनार्थेन विशिनष्टि स एव घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थ प्रतिपादयति नान्य इत्येव शब्दमर्थेन नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थ । तथाऽर्थमप्युक्तलक्षणमभिहितरूपेण व्यञ्जनेन विशेषयति चेष्टाऽपि सैव या घटशब्दवाच्यत्वेनप्रसिद्धा योषिन्मस्तकारूढस्य घटस्य जलाहरणादिक्रियारूपा न तु स्थानभरणादिक्रियात्मिका इत्येवमर्थं शब्देन नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थ । इत्येवमुभय विशेषयति । शब्दमर्थेनार्थं नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थ । एतदेवाह (जहघडसद्दमित्यादि) इदमत्र हृदय यदा योषिन्मस्तकारूढचेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटलक्षणोऽर्थ स च तद्वाचको घटशब्द अन्यदा तु वस्त्वन्तरस्यैव तच्चेष्टाभावादघटत्व घटध्वनेश्चावाचकत्वमित्येवमुभयविशेषक एवं भूतनयमिति ॥

एतदेव प्रमाणतः समर्थयन्नाह ॥

सद्दवसादभिधेयं, तप्पच्चइ वप्प इव कुंभो व्व ।
संसयविवज्जएग-त्तसंकराइप्पसंगाओ ॥

यथा अभिधायकः शब्दस्तथैवाभिधेयं प्रतिपत्तव्यमिति प्रतिज्ञा तत्प्रत्ययत्वात्तथाभूत एवार्थस्तः प्रत्ययसम्भूतेरिति हेतु प्रदीपवत्कुम्भवद्वेति दृष्टान्त । विपर्यये बाधकमाह (ससयेत्यादि) इदमुक्त भवति प्रदीपशब्देन प्रकाशवानेवार्थोऽभिधीयते अन्यथा संशयादय प्रसज्जेरंस्तथा हि यदि दीपनक्रियाविकलोऽपि दीपस्तर्हि दीपशब्दे समुच्चरिते किमनेन प्रदीपेन प्रकाशवानर्थोऽभिहित किं वा प्रकाशकोऽप्यन्धोपलादिरिति सशय अन्धोपलादिरेवानेनाभिहितो न दीप इति विपर्यय । तथा दीप इत्युक्तेऽप्यन्धोपलादौ चोक्ते दीपे प्रत्ययात्पदार्थानामेकत्वं साङ्कर्यं वा स्यात्तस्माच्छब्दवशादेवाभिधेयमभिधेयवशाच्च शब्द इति । विशे० । (समभिरूढनयादिवक्तव्यता नयशब्दे) शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव तद्वस्त्वितिभूतः एवंभूत प्राह यथा संज्ञाभेदाद्भेदवद्वस्तु तथा क्रियाभेदाद-

सा च क्रिया तद्धेत्री यदैव तामाविशति तदैवतन्निमित्तं तद्व्यपदेशमासादयति नान्यदेत्यभिप्रसङ्गात् । तथाहि यदा घटते तदैवासौ घटो न पुनर्घटितवान् घटिष्यते वा घट इति व्यपदेष्टुं युक्तः सर्ववस्तूनां घटतापत्तिप्रसङ्गादपि च चेष्टासमये एव चक्षुरादिव्यापारसमुद्भूतशब्दानुविद्धप्रत्ययमास्कन्दति चेष्टावन्त पदार्थो यथाऽवस्थितार्थप्रतिभास एव न वस्तूनां व्यवस्थापको नान्यथाभूतोऽन्यथा चेष्टावत्तया शब्दानुविद्धाव्यक्तप्रत्यये प्रतिभासस्याभ्युपगमे तत्प्रत्ययस्य निर्विषयतया भ्रान्तस्यापि वस्तुव्यवस्थापकत्वे सर्व. प्रत्ययः सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थापक स्यादित्यतिप्रसङ्गः तन्न घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटस्तद्व्यपदेशमासादयतीत्येवं भूतनयमतमुक्तं च "एकस्यापि ध्वनेर्वाच्य सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यत" इति (सम्म०) एवभूतनय प्रकाशयन्ति शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूत इति समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्तथा रूढे. सद्भावात् एवभूत पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात् । गच्छतीति गौराशुगामित्वादश्व इति शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमती अपि क्रिया शब्दा एव शुचिभवनात् शुक्लो नीलनान्नील इति देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमती अपि क्रिया शब्दा एव देव एनं देयात् । यज्ञ एन देयादिति । सयोगिद्रव्यशब्दा समवायिद्रव्यशब्दाश्चाभिमता क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी । विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्ति क्रियाप्रधानत्वात् पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्यय नयः स्वीकुरुते । उदाहरन्ति यथेन्दनमनुभवन्निन्द्र शकनक्रियापरिणत. शक्रः पुरदारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यत इति । रत्ना० ।

एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
रागचिह्नैर्यथा राजा, नान्यदा राजशब्दभाक् ॥३०॥

एवभूतस्त्विति सर्वत्र व्यञ्जन शब्दस्तेनार्थं विशेषयति यः स एवंभूत "वंजणअत्थतदुभयं एवंभूओ विसेसे" इति निर्युक्तिकार व्यञ्जनार्थयोरेवभूत इति तत्त्वार्थभाष्यं पदाना व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वमेवंभूतत्वमिति निष्कर्ष । नियमश्च कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरयं चास्याभिमान. यदि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाभावात्कूटपदार्थोऽपि न घटपदार्थस्तदा जलाहरणादिक्रियाविरहकालेऽपि घटो न घटपदार्थः धात्वर्थविरहाविशेषादिति व्यञ्जनार्थविशेषकत्वमस्य यदुक्तं तदुदाहरति । चिह्नैश्छत्रचामरादिभिर्यथा राजन् शोभमान सभायामुपविष्टो राजोच्यतेऽन्यदा छत्रचामरादिशोभाविरहकाले राजशब्दभाग् राजशब्दवाच्यो न भवति राजपदव्युत्पत्तिनिमित्ताभावादित्यर्थ । नन्वेतन्मते व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति केनचिद्रूपेण तदतिप्रशक्तवाच्यमन्यथा तु गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्त्या गच्छन्नश्वादिरपि गौ स्यात्तथा च छत्रचामरादिविरहकाले तत्प्रयुक्तराजताभावेऽप्रीतरातिशायिपुण्यादिप्रयुक्तराजत्वस्यानतिप्रशक्तस्यान्याहतत्वात्कथ न राजशब्दवाच्यत्वमिति चेत्सत्य प्रसिद्धार्थपुरस्कारेण प्रवृत्तस्यैवम्भूतनयस्य स्वार्थातिप्रसङ्गे न दूषणं किं तु तन्निवारकनयान्तरोपस्थापकत्वेन भूषणमेव । नयो० । सूत्र० । अष्ट० । स्या० । रत्नावतारिकायामेवम्भूताभासमाचक्षते क्रियानाविष्ट वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभास इति क्रियाविष्टं वस्तुध्वनीनामभिधेयतया प्रतिजानानोऽपि य. परामर्शस्तदनाविष्ट न तेषां तथा प्रतिक्षिपति नत्वपेक्षात. स एवंभूतनयाभास. प्रतीतिविघातात् उदाहरन्ति । यथा विशिष्टचेष्टाशून्य घटाख्य वस्तु न घटशब्दवाच्य घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्पटवादित्यादिरिति । अनेन हि वचसा क्रियानाविष्टस्य घटादेर्वस्तुनो घटादिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते स च प्रमाणवाधित इति तद्वचनमेवम्भूतनयाभासोदाहरणतयोक्तम् । स्या० । अस्य च मिथ्यादृष्टित्व एवमेवंभूताभिप्रायमुपवर्ण्योक्तम् सूत्रकृताङ्गे एवंभूताभिप्रायस्त्वय यदैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं चेष्टादिकं तस्मिन्घटादिके वस्तुनि तदैवासौ युवतिमस्तकारूढ उदकाद्याहरणक्रियाप्रवृत्तो घटो भवति न निर्व्यापार एव एवभूतः तस्यार्थस्य समाश्रयणादेवम्भूतोऽभिधानो नयो भवति तदयमप्यनन्तधर्माध्यासितस्य वस्तुनो नाश्रयणान्मिथ्यादृष्टिः । रत्नावल्यवयवे पद्मरागादौ । कृतरत्नावलीव्यपदेशपुरुषवदिति ॥ आ० चू० । आ० म० ॥

एवखुत्तो–एतावत्कृत्वस्– अव्य० एतावतो वारान् कृत्वेत्यर्थे, कल्प० ।

एवमु–इयत्– त्रि० वेदकिमोर्यादेः ८ । ४ । ८ । इति प्राकृतसूत्रेणेदमोऽत्वमियतो यकारादेरवयवस्य वा मित् एवकु इत्यादेश प्रा० । एतावदर्थे, वाच० ।

एवमाइ–एवमादि– त्रि० एवम्प्रकारे, "एवमाइ करेइ एवमाइओवेयणा" आ एवम्प्रकारा वेदना इति (प्रश्न०) "एवमाईणि णामधेज्जाणि" एवमादीन्येवं प्रकाराणि उक्तस्वरूपाणीत्यर्थ इति । प्रश्न० अध० १ द्वा० ३ अ० ।

एस–एष्य–कर्मणि–एयत्-वाञ्छनीये भाविनि, "एसो न तावजायइ" एष्यो भावी न तावज्जायते इति । आव ५अ. एष्यत्काले च । "जुत्त संपयमिस्स" युक्त साम्प्रतैष्यत्कालयोरिति । विशे० ।

एसंतभद्द–एष्यद्भद्र–त्रि०कल्याणानुबन्धिनि "एष्यद्भद्रां समाश्रित्य पुंस प्रकृतिमीदृशीम" एष्यद्भद्रामिति ईदृशीं सक्लेशायोगविशिष्टामेष्यद्भद्रां कल्याणानुबन्धिनीं पुस. प्रकृतिं समाश्रित्येति । द्वा० १४ द्वा० ।

एसकाल–एष्यत्काल–पुं० आगामिनि काले, "वारसएहिं एसकालो" द्वादशभिर्वर्षैरेष्यत्कालः परित्याज्य इति वर्त्तते । तत एवापायसंभवादिति । दश० १ अ० ।

एसज्ज–ऐश्वर्य–न० प्रभुत्वे, वाच० । "रिसभेण य एसज्ज" एसज्जत्ति ऐश्वर्यमिति । स्था० ७ ठा० ।

एसण–एषण–न०ग्रहणे, "विय वस्सेसणं चरे" एषणाय ग्रहणाय चरेदिति । गवेषणे, एसणंति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया ततश्चैषणाय गवेषणार्थं, चरेदिति । उत्त० २ अ० । एषते शत्रुहृदयम ल्यु० लोहमयवाणे, पु० हलायुध ॥

एसणघाय–एषणघात– पु० एषणाय घातः प्रेरणमेषणघातः एषणाप्रेरणे, "दुविहा विहारसोही, य एसणघातो य जायपरिहाणी" एषणाया घात प्रेरणमेषणघात स च स्यात्–तथाहि

भवत्युपधिपात्रादिकमन्तरेण एषणघातः तत एषणाप्रेरणे यत्प्रायश्चित्तं तदापद्यत इति व्य० १ उ० ।

एसणा–एषणा–स्त्री० इष इच्छायाम् णिच्-भावे-युच्-प्रेरणायाम्, पुत्रलोकवित्तकामनायाञ्च वाच०। अन्वेषणायाम्,'णो लोयस्से सणचरे' लोकस्य प्राणिगणस्यैषणाऽन्वेषणेति आचा०४ श्रु०१ अ०१ उ० प्राप्तौ, "मच्छेसणं झियायंति" मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्तीति 'विसएसणं झियायंति' विषयाणां शब्दादीनां प्राप्तिं ध्यायन्तीति च।सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । प्रार्थनायाम्, "एवं कामेसणं विन्नू" कामानां शब्दादीनां विषयाणां या गवेषणा प्रार्थना तस्यां कर्त्तव्यतायां विद्वान् निपुण इति सूत्र० १ श्रु०२ अ० । 'घायमेसंति तं तहा' घातं चान्तशस्तथा सन्मार्गविराधनतया उन्मार्गगमनं चैषन्त्यन्वेषयन्ति दु खमग्गे शतशः प्रार्थयन्तीति सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । 'णिवायमेसंति' निवातमेषयन्ति घट्टशालादिवसतीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्तीति । आचा०२ श्रु०९ अ०२ उ० वाचनायाम्, 'फरुसु घासमेसेज्जा' ग्रस्यत इति ग्रास आहारस्तमेवम्भूतमन्वेषयेत् मृगयेत् याचेदित्यर्थ इति। सूत्र०१श्रु०१अ०। एषणमेषणा अशनादेर्ग्रहणकाले, शङ्कादिभिः प्रकारैरन्वेषणे, प्रव० ६७ द्वा० । उद्गमादिदोषविप्रमुक्ते भक्तपानादिगवेषणे, स्था० ६ ठा० । गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहणे, स्था० ३ ठा० । एष्यत इत्येषणा उत्त० १ अ० शुद्धाहारादौ, च (चरतमेसणं) एषणायां चरन्त परिशुद्धाहारादिना वर्त्तमानमिति । आचा०२श्रु०।

(१) एषणाया भेदाः ।
(२) पिण्डोपसंहार एषणाया अपक्षेपनिराकरणम् ।
(३) एषणानिक्षेपः ।
(४) एषणाया विस्तरतो भेदनिरूपणम् ।
(५) ग्रहणैषणादिनिक्षेपः ।
(६) एषणायाः शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वम् ।
(७) विस्तरेण ग्रासैषणानिक्षेपादिकम् ।
(८) एषणासमितेन अनेषणीयपरिहार ।
(९) पुराऽऽख्यातान्यभिक्षुकसद्भवे विधिः ।
(१०) ग्रासैषणाविधिः ।
(११) शतसहस्रगच्छे एषणादोषपरिहारप्रकार ।
(१२) एषणादोषप्रायश्चित्तम् ।
(१३) पिण्डैषणापिण्डग्रहणप्रकारः ।
(१४) एषणायां कर्त्तव्यतानिरूपणम् ।

(१) एषणायाः भेदाः—

सा च त्रिविधा गवेषणग्रहणग्रासैषणाभेदात् । स्था० ५ ठा० तथा च पिण्डनिर्युक्तेरादावियमधिकारसंग्रहगाथा ॥

पिंमुग्गमउप्पाय–णेसणासंजोयणापमाणं च ।
इंगालधूमकारण–अट्ठविहा पिंडनिज्जुत्ती ॥

एषणमेषणा सा वक्तव्या एषणाभिधा तद्यथा गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च । तत्र गवेषणे एषणा अभिलाषो गवेषणैषणा । एवं ग्रहणैषणाग्रासैषणे अपि भावनीये । तत्र गवेषणैषणा उद्गमोत्पादनाविषयेति तद्ग्रहणेनैव गृहीता । ग्रासैषणा त्वभ्यवहारविषया तत संयोजनादिग्रहणेन सा ग्रहीष्यते तस्मादिह पारिशेष्यादेषणाशब्देन ग्रहणैषणा गृहीता द्रष्टव्या । ग्रहणैषणाग्रहणेन च ग्रहणैषणा गता दोषा वेदितव्यास्तथा विवक्षणात्ततोऽयं भावार्थ उत्पादनादोषाभिधानानन्तरं ग्रहणैषणा गता दोषा शङ्कितम्रक्षितादयोऽभिधातव्याः ।

(२) पिण्डस्योपसंहारमेषणायाश्चापक्षेप चिकीर्षुरिदमाह ॥

संखेवपिंडियत्थो, एसो पिंडो मए समक्खाओ ।
फुडवियडपायडत्थं, वोच्छामी एसणं एत्तो ॥ ७३ ॥

एव पूर्वोक्तेन प्रकारेण संक्षेपपिण्डितार्थं संक्षेपेण समासेन सामान्यरूपतयेत्यर्थः पिण्डित एकत्र मीलितस्तात्पर्यमात्रव्यवस्थितोऽर्थोऽभिधेय यस्य स तथा रूपपिण्डो मया व्याख्यातः इत ऊर्द्धमेषणामेषणाभिधायिकां गाथासततिं स्फुटविकटप्रकटार्थां स्फुटो निर्मलो न तात्पर्यानवबोधेन कश्मलरूपो विकट सूक्ष्ममतिगम्यतया दुर्भेदः प्रकटस्तथाविधविशिष्टवचनरचनाविशेषतः सुखप्रतिपाद्या याऽक्षरा एषव्याख्यातेष्वपि प्रायः स्वयमेव परिस्फुरन्निव लक्ष्यते सप्रकट इति भावार्थः अर्थोऽभिधेय यस्याः स तथा तां वक्ष्ये तत्र तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति प्रथमतः सुखावबोधार्थमेषणाया एकार्थिकान्याभिधित्सुराह ॥

एसणगवेसणमग्ग–णा य उग्गोवणा य बोधव्वा ॥
एए उ एसणाए, नामा एगट्ठिया होंति ॥

एषणा गवेषणा मार्गणा उद्गोपना । एतानि चशब्दादन्वेषणाप्रभृतीनि च एषणाया एकार्थिकानि नामानि भवन्ति । तत्र इषु इच्छायाम् एषणं एषणा इच्छा गवेषणमार्गणे गवेषणं गवेषणा मार्गणं मार्गणा उद्गोपनमुद्गोपना पिण्ड० ।

(३) एषणाया निक्षेपो यथा ॥

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य एसणा मुणेयव्वा ।
दव्वम्मि हिरण्णाई, गवेसणाभुंजणाभावे ॥ ६१२ ॥

नामस्थापने सुगमे द्रव्यविषयां यदा हिरण्यादिगवेषणां करोति कश्चिद्भावे भावविषया त्रिविधा गवेषणैषणा अन्वेषणैषणा ग्रहणैषणा पिण्डादीनामेषणा भुञ्जानैषणा चेति सा च गवेषणैषणा ओघ० । तथाच दशवैकालिके श्रुतत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यैषणामाह ॥

दव्वेसणा उ तिविहा, सचित्ताचित्तमीसदव्वाणं ।
दुपयचउप्पयअपया, नरगयकरिसावणदुमाणं ॥ २ ॥

द्रव्यैषणा तु त्रिविधा भवति सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामेषणा द्रव्यैषणा । सचित्तानां द्विपदचतुष्पदापदाना यथासंख्यम् नरगजद्रुमाणामिति कार्षापणग्रहणादचित्तद्रव्यैषणालङ्कृतादिपदादिगोचरामिश्रद्रव्यैषणा च द्रष्टव्येति गाथार्थः । भावैषणामाह

भावेसणा उ दुविहा, पसत्थअपसत्थगा य नायव्वा ।
नाणाईण पसत्था, अपसत्था कोहमाईण ॥ ३॥

भावैषणा तु पुनर्द्विविधा प्रशस्ता अप्रशस्ता ज्ञातव्या । एतदेवाह ज्ञानादीनामेषणा प्रशस्ता अप्रशस्ता क्रोधादीनामेषणेति गाथार्थः । प्रकृतयोजनामाह ।

भावस्सुवगारित्ता, एत्थं दव्वेसणाए अहिगारो ।
तीई पुण अत्थजुत्ती, वत्तव्वा पिंडनिज्जुत्ती ॥ ४ ॥

भावस्य ज्ञानादेरुपकारित्वादत्र प्रक्रमे द्रव्यैषणयाधिकार तस्याः पुनर्द्रव्यैषणाया अर्थयुक्तिर्हेयेतररूपार्थयोजना वक्तव्या पिण्डनिर्युक्तिरिति गाथार्थः दश० ५ अ० । तथा च विस्तरेणभेदानभिधित्सुराह ।

त्रिधा वक्ष्यमाणभेदैर्दशप्रकारा । पिं० । ओघनिर्युक्तौ तु ।

गहणेसणम्मि एत्तो, वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ ए० ॥

सुगमा तत्र यदुक्तमनन्तरं ग्रहणैषणा वक्ष्यामि तत्प्रतिपादनायाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे गहणेसणा य बोधव्वा ।

दव्वे वानरजूहं, भावम्मि य ठाणमाईणि ॥ एए ॥

याऽसौ ग्रहणैषणा सा चतुर्विधा नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च ज्ञेया । नामग्रहणैषणा सुगमा । तत्र स्थापनाग्रहणैषणा द्विविधा सद्भावस्थापनाग्रहणैषणां कुर्वन् देशतः असद्भावस्थापनाग्रहणैषणा अक्षादिषु तत्र द्रव्यैषणा आगमतो नोआगमतश्च । आगमतो ग्रहणैषणापदार्थज्ञः तत्र चाऽनुपयुक्तः नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्ता तथा ज्ञशरीरे भव्यशरीरे ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तग्रहणैषणायां वानरयूथं भावग्रहणैषणायां तु स्थानादीनि भवन्ति । एतदुक्तं भवति भावग्रहणैषणां कुर्वन् स्थाने विवक्षिते तिष्ठति दातृप्रभृतीनि च परीक्षते भावग्रहणैषणायाम् । तत्र द्रव्यग्रहणैषणायामिदं व्याख्यानकम् " एगो ण तत्थ वानरजूह परिभमइ काले ण य परिसाडियपक्कपत्त आय उवहकाले य ताहे जूहवई भणइ अन्न वण गच्छामो तत्थ तेसिं जूहवई अन्नवणपरिक्खणत्थ दुन्नि व स तिन्नि व पंचेव सत्त पयट्टावइ वणतरे जोएह ताहे गया एग वणसंड पासति पत्तरफलपुप्फ तस्स वणस्स मज्झे एगो महद्दहो तो तं दट्ठूण हट्ठतुट्ठा गया जूहवइणो साहति । ताहे सो जूहवई सव्वेसिं सम आगओ ताहे त वण समन्तेणं रुक्ख पलोएइ ताहे त वण सुद्ध तेण भणिया खायह कणफलाइ आहि ते तत्थ धाया पणिय गया ताहे सो जूहवई दहस्स परिसरंतेह पलोएइ जाव उयर ताणि पदाणि दीसंति उत्तरंताणि न दीसति ताहे सो भणइ एस दहो सावओ ता मा एत्थत्थनीरे पासत्थे वाऽवयरिय पाणिय पियह किं तु नालेण । तत्थ जेहिं सुय वयण तस्स तं पुप्फफलाणं आभोगिणो जाया जेहिं ण सुय तस्स ते रुक्खेहिंतो तम्मि दहे जे पाओ देंति ण चेव उत्तरति ते अणाभोगिणो जाया एव चेव आयरिओ ताण साहूण आहाकम्मुद्देसियाणि समोसरणएहवणादिसु परिहरावेइ उवायण फासुयं गेएहावेइ जहा नत्थि सिज्झति आहाकम्माइणा तथा करेइ । तत्थ पुव्वकयाणि खीरदधिघयमाईणि तारिसाणि गिएहावेइ अकयप्रकारियसकप्पियाणि तत्थ जे आयरियाण सुणेंति ते परिहारति ते य अचिरेण कालेण कम्मक्खय करेहिंति जे ण सुणेंति ते न भणति । एए उदाहारया असतविकप्पा किं कारण एत्र ण घेप्पइ तिविहिं णं सुय पुणो ते अणेगाणं जाइयजम्मरियग्गण अभागिणो जाया " ओघ० ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिः प्रदर्शयन्नाह ।

पाडिसमियपंसुपत्तं, वणसंडं दट्ठु अन्नहिं पेसे ।

जूहवई पडियरए, जूहेण स संतयं गच्छो ॥

सयमेवालोए उ, जूहवई तं वणं समंतेण ।

वियरइ तेसि पयारं, चारिऊण यतो दह गन्छे ॥

उयरंते पि य दिट्ठं, नीहारं तं न दीसई ।

नालेण पियह पाणिं, यं न एस निक्कारणो दहो ॥

विशालशृङ्गो नाम पर्वतस्तत्रैकस्मिन् वनखण्डे वानरयूथमनिरमते । अथ च तत्रैव पर्वते द्वितीयमपि वनखण्डं सर्वर्तुपुष्पफलसमृद्धं समस्ति परं तन्मध्यभागवर्तिनि ह्रदे शिशुमारोऽवतिष्ठते स यत्किमपि मृगादिकं पानीयाय प्रविशति तत्सर्वमाकृष्य भक्षयति । अन्यदा च तद्वनखण्डं परिशाटितपाण्डुपत्रमपगतपुष्पफलमवलोक्य यूथाधिपतिरन्यस्य वनखण्डस्य निर्वाहसमर्थस्य गवेषणाय वानरयुग्मं प्रेषितवान् । गवेषयित्वा च तेन यूथाधिपतेर्निवेदितमस्ति नवं वनखण्डम् । क प्रदेशे सर्वर्तुपुष्पफलपत्रसमृद्धमस्माकं निर्वाहयोग्यं ततो यूथाधिपतिः सह यूथेन तत्र गतवान् परिज्ञापयितुं च प्रवृत्तः समन्ततस्तद्वनखण्डं ततो दृष्टस्तन्मध्ये जलपरिपूर्णो ह्रदः परं तत्र प्रविशन्ति श्वापदानां पदानि दृश्यन्ते न निर्गच्छन्ति । यूथमाहूय यूथाधिपतिरुक्तवान् माऽत्र यूयं प्रविश्य पिबत पानीयं किंतु तटस्थिता एव नालेन पिबत यतो नैष ह्रदो निष्कारणो निरुपद्रवस्तथाहि मृगादीनामत्र पदानि प्रविशन्ति दृश्यन्ते न निर्गच्छन्तीति एवं चोक्ते यैस्तद्वचः कृतं ते वने स्वेच्छाविहारसुखभागिनो जाता इतरे विनष्टाः । उक्ता द्रव्यग्रहणैषणा । सम्प्रति भावग्रहणैषणा वक्तव्या तया चाधिकारो ऽप्रशस्तया पिण्डदोषाणां वक्तुं प्रक्रान्तत्वात् सा च शङ्कितादिभेदाद्दशप्रकारा ततस्तानेव शङ्कितादीन् भेदान् दर्शयति ॥

संकियमक्खियनिक्खित्त, पिहियसंहरियदायगुम्मिस्से ।

अपरिणयलित्तछड्डिय, एसणदोसा दस हवंति ॥

शङ्कितं संभाविताधाकर्मादिदोषं, म्रक्षितं सचित्तपृथिव्यादिना गुण्ठितम् । निक्षिप्तं सचित्तस्योपरि स्थापितम् । पिहितं सचित्तेन स्थगितम् । संहृतमन्यत्र क्षिप्तम् । दायकदोषदुष्टम् । उन्मिश्रं पुष्पादिसंमिश्रम् । अपरिणतमप्रासुकीभूतम् । लिप्तं छर्दितं भूमौ विक्षिप्तम् । एते दश एषणादोषा भवन्ति (एतेषां वक्तव्यता तत्तच्छब्दे)

तत्र शङ्कितपदं व्याचिख्यासुराह ॥

संकाए चउभंगो, दोसु वि गहणे य भुंजणे लग्गो ।

जं संकियमावन्नो, पणवीसा चरिमए सुद्धो ॥

शङ्कायां शङ्किते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गाः सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । सा चेयं चतुर्भङ्गी ग्रहणे शङ्कितो भोजने चेति प्रथमो भङ्गः । ग्रहणे शङ्कितो न भोजने इति द्वितीयः । भोजने शङ्कितो न ग्रहणे इति तृतीयः । न ग्रहणे न भोजने इति चतुर्थः । अत्र दोषानाह (दोसुवीत्यादि) द्वयोरपि शङ्कितस्य ग्रहणभोजनयोरपि यो वर्तते यश्च ग्रहणमति । ग्रहणे अर्थापत्त्या न भोजने तथा भोजने सामर्थ्याच्च ग्रहणे स सर्वोऽपि हन्तो दोषेण सबद्धः । केन दोषेणेत्याह (जं संकियमित्यादि) षोडशोद्गमदोषाणामेषणादोषरूपाणां पञ्चविंशतिदोषेण शङ्कितं संभावितमापन्नो वर्तते तेन दोषेण सबद्धः । इदमुक्तं भवति यदाधाकर्मत्वेन शङ्कितं तद् गृह्णानो भुञ्जानो वाऽऽधाकर्मदोषेण संबध्यते यदि पुनरौद्देशिकत्वेन तत औद्देशिकेनेत्यादि । चरमे चतुर्थभङ्गे पुनर्वर्तमानः शुद्धो न केनापि दोषेण सबध्यते इत्यर्थः । इह ' पणवीसा ' इत्युक्तं ततस्तानेव पञ्चविंशतिदोषानाह ।

उग्गमदोसा सोलस, आहाकम्माइ एसणा दोसा ।

नवमक्खियाइ एए, पणवीसा चरिमए सुद्धे ॥

आधाकर्मादय षोडश उद्गमदोषा नव च म्रक्षितादयः एषणादोषा एते मिलिता पञ्चविंशतिः चरमे तु भङ्गे न ग्रहणे न

भोजने इत्येवरूपे वर्तमानो यतिः। यत इहाशुद्धमपि छद्मस्थपरीक्षया निःशङ्कितं गृहीतं शुद्धं भवतीत्येनदेवोपदर्शयति॥

छउमत्थो सुयनाणी, उवउत्तो उज्जुओ पयत्तेण।
आवन्नो पणवीसं, सुयनाणपमाणओ सुद्धो॥

छद्मस्थः श्रुतज्ञानी ऋजुको मायारहितः प्रयत्नेन यथागमानुसारेण गवेषयन् पञ्चविंशतेर्दोषाणामन्यतमं दोषमापन्नोऽपि श्रुतज्ञानप्रमाणत आगमप्रामाण्यतः शुद्धः। एतमेवार्थं स्पष्टयति॥

ओहो सुओवउत्तो, सुय नाणी जइ वि गिएहइ असुद्धं।
तं केवली वि भुंजइ, अपम एसुयं भवे इयरहा॥

"ओहो" इत्यत्र प्रथमा तृतीयार्थे ततः ओघेन सामान्येन श्रुते पिण्डनिर्युक्त्यादिरूपे आगमे उपयुक्तः स तु तदनुसारेण कल्प्याकल्प्यपरिभावयन् श्रुतज्ञानी यद्यपि कथमप्यशुद्धं गृह्णाति तथाऽपि ततः केवल्यपि केवलज्ञान्यपि भुङ्क्ते इतरथा श्रुतज्ञानमप्रमाणं भवेत्। तथा हि छद्मस्थः श्रुतज्ञानबलेन शुद्धं गवेषयितुमीष्टे न प्रकारान्तरेण। ततो यदि केवली श्रुतज्ञानिना यथागमं गवेषयितमप्यशुद्धमिति कृत्वा न भुञ्जीत ततः श्रुतेऽनाश्वासः स्यादिति न कोऽपि श्रुतं प्रमाणत्वेन प्रपद्येत श्रुतज्ञानस्य चाप्रामाण्ये सर्वक्रियाविलोपप्रसङ्गः। श्रुतमन्तरेण छद्मस्थानां क्रियाकाण्डस्य परिज्ञानासम्भवात्। ततः किमित्याह।

सुत्तस्स अप्पमाणे, चरणाभावो तओ य मोक्खस्स।
मोक्खस्स वि य अभावे, दिक्खपवित्ती निरत्था उ॥

सूत्रस्याप्रामाण्ये चरणस्य चारित्रस्याभावः श्रुतमन्तरेण यथावत्सावद्येतरविधिप्रतिषेधपरिज्ञानासम्भवात्। चरणाभावे च मोक्षाभावो मोक्षाभावे च दीक्षानिरर्थिका तस्या अनर्थपार्थत्वात्। सम्प्रति ग्रहणे शङ्कितो भोजने च इत्यस्य प्रथमभङ्गस्य सम्भवमाह।

किं नु हु खद्धा भिक्खा, दिज्जइ न य तरइ पुच्छिउं हरिमं।
इइ संकाए घेत्तुं, न भुंजइ संकिओ चेव॥

कोऽपि साधुः स्वभावतो लज्जावान् भवति। तत्र क्वापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् प्रचुरां भिक्षां लभमानः स्वचेतसि शङ्कते किमत्र प्रचुरा भिक्षा दीयते। न च लज्जया प्रष्टुं शक्नोति तत एव शङ्कया गृहीत्वा शङ्कित एव तद् भुङ्क्ते इति प्रथमभङ्गे वर्तते।

सम्प्रति ग्रहणे शङ्कितो न भोजने इत्यस्य संभवमाह।

हियएण संकिएण गहि-या अन्नेण सोहिया सा य।
एगय पहेण वा, सोउं निस्संकियं भुंजे।

इह केनापि साधुना लज्जाविना प्रष्टुमशक्नुवता प्रथमतः शङ्कितेन हृदयेन या गृहीता भिक्षा सा अन्यसंघाटकेन शोधिता यथा प्रकृत प्रकरणं किमपि प्राघूर्णभोजनादिकं यदि वा प्रहेणकं कुतश्चिदन्यस्माद् गृहादायातमिति। ततो द्वितीयसंघाटकादेतत् श्रुत्वा यो निःशङ्कितो भुङ्क्ते स द्वितीये भङ्गे वर्तते।

तृतीयस्य भङ्गस्य सम्भवमाह।

जारिसए च्चिय लद्धा, खद्धा भिक्खा मए अमुयगेहे।
अन्नेहि वि तारिसिया, वियडंतं निसामणे तइए॥

इह कोऽपि साधुर्लब्धप्रचुरभिक्षाको विकटयतो गुरोरग्रतः सम्यगालोचनाश्रवणे सति शङ्कते यादृश्येव मया भिक्षा प्रचुरा लब्धा तादृश्येवान्यैरपि संघाटकैस्तत्र न मे तदाधाकर्मादिदोषदुष्टं भविष्यतीति भुञ्जानो यतिस्तृतीये भङ्गे वर्तते।

अत्र पर आह।

जइ संका दोसकरी, एवं सुद्धम्मि होइ असुद्धं।
निस्संकामसियं ति य, अणेसणिज्जम्मि निद्दोसं॥

यदि शङ्का दोषकरी तत एव सति इदमायातं शुद्धमपि शङ्कितं सत् अशुद्धं भवति। शङ्कादोषदुष्टत्वात्। तथा अनेषणीयमपि निःशङ्कितमन्वेषितं शुद्धं प्राप्नोति शङ्कारहितत्वात् न चैव युक्तं स्वभावतः शुद्धस्याशुद्धस्य वा शङ्काभावाभावमात्रेण अन्यथा कर्तुमशक्यत्वात्। अत्राचार्य आह सत्यमेतत्तथाहि।

अविसुद्धो परिणामो, एगयरे अवडिओ य पक्खम्मि।
एसिं पि कुणइ णेसिं, अणेसिमेसिं वि सुद्धो उ॥

अविशुद्धः परिणाम। अध्यवसाय किंरूपो विशुद्ध इत्याह। एकतरस्मिन्नपि शुद्धमेवेदं भक्तादिकं यदि वा अशुद्धमेवेत्यन्यतरस्मिन्नपि पक्षेऽपतन् (एसिं पित्ति) एषणीयमशुद्धं विशुद्धस्तु परिणामो यथोक्तागमविधिना गवेषयतः शुद्धमेवेदमित्यध्यवसायः। अनेषणीयमपि स्वभावतोऽशुद्धमपि शुद्धं करोति श्रुतज्ञानस्य प्रामाण्यात्तस्मान्न कश्चित् प्रागुक्तो दोषः। तदेवमुक्तं शङ्कितद्वारमधुना म्रक्षितद्वारमाह।

दुविहं च मक्खियं खलु, सच्चित्तं चेव होइ अच्चित्तं।
सच्चित्तं पुण तिविहं, अच्चित्तं होइ दुविहं तु॥

म्रक्षितं द्विधा तद्यथा सचित्तमचित्तं च सचित्तम्रक्षितं चेत्यर्थः। तत्र यत्सचित्तेन पृथिव्यादिनाऽवगुण्ठितं तत्सचित्तं यत्पुनरचित्तेन पृथिवीरजःप्रभृतिनाऽवगुण्ठितं तदचित्तं तत्र सचित्तं सचित्तम्रक्षितं च। अचित्तमचित्तम्रक्षितम्। पुनस्त्रेधा एतदेव व्याख्यानयति।

पुढवीआउवणस्सइ, तिविहं सच्चित्तमक्खियं होइ॥
अच्चित्तं पुण दुविहं, गरहियमियरे य भयणा उ॥

सचित्तम्रक्षितं त्रेधा तद्यथा पृथ्वीम्रक्षितम् अप्कायम्रक्षितं वनस्पतिकायम्रक्षितं च। तत्रैव पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पृथिव्यादिम्रक्षितं पृथिवीत्याद्युक्तम्। अचित्तमचित्तम्रक्षितं पुनर्द्विधा तद्यथा गर्हितं वसादिना लक्ष्यमितरत्पूतादिना॥ अत्र च कल्प्याकल्प्यविधौ भजना विकल्पना सा चाग्रे वक्ष्यते। सम्प्रति सचित्तपृथिवीकायम्रक्षितं प्रपञ्चतो भावयति॥

सुक्केण ससरक्खेण, मक्खियमोल्लेण पुढविकाएण॥
सव्वं पि मक्खियत्तं, एत्तो आउम्मि वोच्छामि।

इह सचित्तपृथिवीकायो द्विधा तद्यथा शुष्क आर्द्रश्च। तत्र शुष्केण सरजस्केनातिश्लक्ष्णतया भस्मकल्पेन यत् देहमात्रं हस्तो वा म्रक्षितो यच्चार्द्रेण पृथिवीकायेन सचित्तेन म्रक्षितं तत्सर्वं हस्तादिम्रक्षितं सचित्तपृथिवीकायम्रक्षितमवगन्तव्यम्। ततः ऊर्ध्वमप्कायविषये म्रक्षितं वक्ष्यामि॥

पुरपच्छकम्म ससणि-द्धुदउल्ले चउर आउभेया उ।
उक्कमरसावलित्तं, परित्तणत्तं महिरुहेसु॥

अप्काये अप्कायम्रक्षिते चत्वारो भेदाः तद्यथा पुरःकर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धमुदकार्द्रं च। तत्र भक्तादेर्दानात्पूर्वं यत्साध्वर्थं कर्म हस्तपात्रादेर्जलप्रक्षालनादि क्रियते तत्पुरःकर्म। यत्पुनर्भक्तादेर्दानात्पश्चात् क्रियते तत्पश्चात्कर्म। सस्निग्धमीषद्दृश्यमाणजललवखचितं हस्तादि उदकार्द्रस्पष्टो लभ्यमानजललव

सर्ग । सम्प्रति वनस्पतिकायम्रक्षितं प्रपञ्चयति (उक्कडेत्ति) उत्कटरसानि प्रचुररसोपेतानि यानि परीतानां प्रत्येकवनस्पतीनां चूतफलादीनामनन्तानामनन्तकायिकानां च पनसफलादीनां सत्कानि श्लक्ष्णखण्डानि इति सामर्थ्याद्गम्यते तैः संलिप्तं खण्डितं यत् हस्तादि तन्महीरुहेषु अत्र तृतीयार्थे सप्तमी महीरुहैर्म्रक्षितमवसेयं परित्ताणन्तमित्यत्र प्राकृतत्वाद्विभक्तिवचनव्यत्यय इति षष्ठीबहुवचनं व्याख्यातम् ॥

सेसेहि य काएहिं, तिहि वि तेउसमीरणतसेहि ।
सच्चित्तं मीसं वा, न मक्खिअस्थि उल्लं व ॥

शेषैस्तेजःसमीरणत्रसरूपैस्त्रिभिरपि सचित्तरूपमिश्ररूपमार्द्रतारूपं वा म्रक्षितं न भवति । सचित्तादितेजस्कायादिसंसर्गेऽपि लोकम्रक्षितशब्दप्रवृत्त्यदर्शनात् अचित्तैस्तु तैर्भस्मादिरूपैःपृथिवीकायादौ न च म्रक्षितत्वसम्भव इति न तस्य प्रतिषेधः । वातकायेन सचित्तेनापि न म्रक्षितत्वं घटते तथा लोके प्रतीत्यभावात् । सम्प्रति सचित्तपृथिवीकायादिनिर्म्रक्षिते हस्तपात्रे आश्रित्य भङ्गान् कल्प्याकल्प्यविधिं च प्रतिपादयति ।

सच्चित्तमक्खितम्मि, हत्थपत्ते य होइ चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगे अणुण्णा उ ॥

सचित्तैः पृथिवीकायादिभिर्म्रक्षिते हस्तपात्रे च चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गाः सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । ते च चत्वारो भङ्गा अमी तद्यथा हस्तो म्रक्षितो पात्रं च, हस्तो म्रक्षितो न पात्रं, पात्रं म्रक्षितं न हस्तो, हस्तो न नापि पात्रं, तत्रादिमे भङ्गत्रिके प्रतिषेधो न कल्पते ग्रहीतुमिति भावः । चरमे भङ्गे पुनरनुज्ञातो यस्तीर्थकरगणधरैस्तत्र दोषाभावात् । अचित्तम्रक्षितमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।

अचित्तमक्खियम्मि उ, सुविभंगेसु होइ भयणा उ ।
अगरहेण उ गहणं, पडिसेहो गरहिए होइ ॥

अचित्तम्रक्षितेऽपि हस्तपात्रे अधिकृत्य प्राग्वत् चत्वारो भङ्गास्तत्र च चतुर्ष्वपि भङ्गेषु विभजना विकल्पना तामेवाह अगर्हितेन लोकानिन्दितेन घृतादिना म्रक्षिते ग्रहणं, गर्हितेन तु वसादिना म्रक्षिते भवति प्रतिषेधः । तत्रापि चतुर्थो भङ्गः शुद्ध एवेति ग्रहणम् । अगर्हितम्रक्षितमप्यधिकृत्य विशेषमाह ।

संसज्जिमेहि वज्जं, अगरहिएहिं पि गोरसद्दवेहिं ।
महुघयतिल्लगुलेहि य, मा मच्छिपिपीलियाघाओ ॥

संसक्तिमद्भ्यां तन्मध्यनिपतितजीवयुक्ताभ्यां गोरसद्रवाभ्यां दध्यादियामकाभ्यामगर्हिताभ्यामपि म्रक्षिते म्रक्षिताभ्यां हस्तपात्राभ्यां वा दीयमानं वर्ज्यं परिहार्यं न ग्रहीतव्यमित्यर्थः । तथा मधुघृततैलद्रवगुडैरगर्हितैरपि म्रक्षितं म्रक्षिताभ्यां वा हस्तपात्राभ्यां दीयमानं वर्ज्यं कुत इत्याह (मा मच्छिपिपीलियाघाओ त्ति) मा मक्षिकापिपीलिकानामुपलक्षणमेतत् पतङ्गादीनां वानादीनां वशतो लग्नानां घातो विनाशो मा भूदिति कृत्वा एतच्चोक्तानुष्ठानं जिनकल्पिकाद्यधिकृत्योक्तमवसेयं स्थविरकल्पिकास्तु यथाविधियतनया घृताद्यपि गुडादिम्रक्षितमशोकवर्त्याद्यपि च गृह्णन्ति । सम्प्रति गर्हितागर्हितविशेषमाह ।

मंसवसासोणियासव, लोए वा गरहिए विवज्जाउ ।
उभओ विगरहिएहिं, मुत्तुच्चारेहि छिंनं पि ॥

मांसवसाशोणितासवैरत्र सूत्रे विभक्तिलोप आर्षत्वात् लोके गर्हितैरपि वा शब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये म्रक्षितं वर्जयेत् । तथा उभयस्मिन्नपि लोके लोकोत्तरे च गर्हिताभ्यां मूत्रोच्चाराभ्यां माऽऽस्तां म्रक्षितं स्पृष्टमपि वर्जयेत् । उक्तं म्रक्षितद्वारम् ।

अथ निक्षिप्तद्वारमाह ।

सच्चित्तमीसएसु, दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं ।
एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतरं परंपरं चेव ॥

इह कल्पनीयं निक्षिप्तं द्विविधं सचित्तेषु मिश्रेषु च । एकैकमपि द्विधा । तद्यथा अनन्तरं परम्परं च । तत्रानन्तरमव्यवधानेन परम्परं व्यवधानेन यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका तस्या उपरि देयं वस्त्विति । इह परिहार्यापरिहार्यविभागं विना सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्तमिश्ररूपभेदात्त्रिधा । तत्र च त्रयश्चतुर्भङ्ग्यस्तद्यथा । सचित्ते सचित्तं १ मिश्रे सचित्तं २ सचित्ते मिश्रं ३ मिश्रे मिश्रमित्येका चतुर्भङ्गी । तथा सचित्ते सचित्तम् १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् इति ४ । द्वितीया चतुर्भङ्गी । तथा मिश्रे मिश्रम् १ अचित्ते मिश्रं २ मिश्रे अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् ४ इति तृतीया चतुर्भङ्गी । सम्प्रत्यस्यैवानन्तरपरम्परविभागमाह ॥

पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊवणस्सइतसाणं ।
एक्केक्कदुहाणंतर-परंपराणम्मि सत्तविहो ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायानां सचित्तानां प्रत्येकं सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेपः सम्भवति । तत्र पृथिवीकायस्य निक्षेपः षोढा । तद्यथा पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः । पृथिवीकायस्याप्काये इति द्वितीयः । पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः । वातकाये इति चतुर्थः । वनस्पतिकाये इति पञ्चमः । त्रसकाये इति षष्ठः । एवमप्कायादीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा भावनीयः सर्वसंख्यया षट्त्रिंशद्भङ्गाः । एकैकोऽपि च भेदो द्विधा तद्यथा अनन्तरपरम्परया च । अनन्तरपरम्परव्याख्यानं च प्रागेव कृतम् । केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति । सम्प्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्तं पूर्वं षोढात्वं तत्सूत्रकृत् साक्षाद्दर्शयति ।

सच्चित्तपुढविकाए, सच्चित्तो चेव पुढविनिक्खित्तो ।
आऊतेउवणस्सइ-समीरणतसेसु एमेव ॥

सचित्ते पृथिवीकाये सचित्तपृथिवीकायो निक्षिप्त एवमेव पृथिवीकाये इव अप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा एवं शेषकायेष्वपि दर्शयन्नाह ।

एमेव सेसयाण वि, निक्खेवो होइ जाव काएसु ।
एक्केको सट्ठाणे, परट्ठाणे पंच पंचेव ॥

एवमेव पृथिवीकायस्येव शेषाणामप्कायादीनां निक्षेपो भवति जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु तत्र एकैको भङ्गः स्वस्थाने शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने । तथाहि पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेपः स्वस्थाने अप्कायादिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थानेषु । एवमप्कायादीनामपि भावनीयम् । ततः स्वस्थाने एकैको भङ्गः परस्थाने पञ्च पञ्च तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकाया सचित्ते सचित्तमित्येवरूपे प्रथमे भङ्गे षट्त्रिंशतिभेदाः । सम्प्रति प्रथमचतुर्भङ्ग्या एव शेषं भङ्गत्रयं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्यौ चातिदेशतः प्रतिपादयति ।

एमेव मीसएसु वि, मीसाण सचेयणेसु निक्खेवो ।

मीसाणं मीसेसु य, दोएहं पि य होइ चित्तेसु ॥

एवमेव सचित्तेष्विव मिश्रेष्वपि मिश्रपृथिव्यादिनिक्षेपः षट्त्रिंशत् भेदोऽवगन्तव्य । एतेन प्रथमचतुर्भङ्गो व्याख्यातः । एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेपः षट्त्रिंशद्भेदः । अनेन प्रथमचतुर्भङ्गयाश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यातः सर्वसंख्यया प्रथमचतुर्भङ्गयां चतुश्चत्वारिंशद्भङ्गशतम् । एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते तथाऽपि प्रत्येक चत्वारिंशद्भङ्गशत भवति सर्वसंख्यया भङ्गानां शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति । उक्ता निक्षेपस्य भेदा । सम्प्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तचतुर्भङ्गीत्रयमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।

जत्थ उ सचित्तमीसे, चउब्भंगो तत्थ चउसु वि भंगेसु ।
तंतु अणंतरइयं, परित्ताणं तं च वणकाए ॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आदिचतुर्भङ्गी भवति । प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थः । तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु अपिशब्दात् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योरपि आद्येषु त्रिषु विभङ्गेषु वर्तमानमनन्तरं परंपरा वा वनस्पतिविषये प्रत्येकमनन्तं वा तत्सर्वमग्राह्य सामर्थ्यात् । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थे चतुर्थभङ्गे वर्तमानं ग्राह्य तत्र दोषाभावात् । सम्प्रति सचित्तादिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेणैकमेव चतुर्भङ्गीकल्प्याकल्प्यविधिं प्रदर्शयति ।

अहव ण सचित्तमीसो, से एगओ एगउ अचित्तो ।
एत्थं चउक्कभंगो, तत्थाइतिए कहा नत्थि ॥

अथवेति प्रकारान्तरताद्योतको णमिति वाक्यालङ्कारे इह चतुर्भङ्गीप्रतिपक्षपदोपस्थित्या (से)तस्य भवति । तत्र एकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे एकचतुष्पक्षे अचित्त । ततः प्रागुक्तक्रमेण चतुर्भङ्गी भवति तद्यथा सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्र सचित्तमिश्रे अचित्तम् अचित्ते अचित्तमिति । अत्रापि प्रागिव एकैकस्मिन् भङ्गे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदात् । तत्र षट्त्रिंशद् भेदा सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशदधिकं शत तत्रादित्रिके आदिमे भङ्गत्रये कथा नास्ति ग्रहणे वार्ता न विद्यते सामर्थ्याच्चतुर्थो भङ्ग कल्पते । तदेवं "पुढवीत्यादि" स्थलमाद्ययो पूर्वार्द्धम् व्याख्यातं । सम्प्रति "एक्केक्के दुहाणंतरमि" त्यवयव व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्ग्या सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेष विभाणिषुरनन्तरपरंपरया वा मार्गणां करोति ।

जं पुण अचित्तदव्वं, निक्खिप्पइ चेयणेसु दव्वेसु ।
तह मग्गणा उ इणमो, अणंतरपरंपरं होइ ॥

यत् किमपि अचित्त द्रव्यमोदनादि चेतनेषु सचित्तेषु मिश्रेषु वा निक्षिप्यते तत्रेयमनन्तर परंपरया वा मार्गणा परिभावन भवति ।

ओमाहिगादणंतर-परपिठरगाइपुढवीए ।
नवणीयाइ अणतर-परंपरा ताव माईसु ॥

अवमाहिगादि पक्वान्न मण्डकप्रभृति पृथिव्यामनन्तरनिक्षिप्तं पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकादौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमादि तत्परंपरानिक्षेप उक्त । सम्प्रत्यप्कायमाश्रित्य "नवणीए" इत्यादि नवनीतादि म्रक्षणस्थानीभूतघृतादिसचित्तादिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्त तदेव नवनीतादि वा अवगाहिमादि वा जलमध्यस्थितेषु नावादिषु स्थित परंपरनिक्षिप्तम् । सम्प्रति तेजस्कायमधिकृत्यानन्तरे परंपरे व्याख्यानयन् " अगणिम्मि सत्तविहो " इत्याद्यवयवं व्याख्यानयति ॥

विज्झायमम्मुरिंगा-लमेव अप्पत्तपत्तसमजाले ।
वोक्कते सत्त दुगं, जंतोलित्ते य जयणाए ॥

इह सप्तधा वह्निस्तद्यथा विध्यातो, मर्मुरो, ऽङ्गारः, अप्राप्तः, प्राप्तः, समज्वालो व्युत्क्रान्तश्च । तत्र यः स्पष्टतया प्रथमं नोपलभ्यते । पश्चात्त्विन्धनप्रक्षेपे वृद्धिमपि गच्छति स व्युत्क्रान्तः । एते सप्त भेदास्तेजस्कायस्य । तत्र एकैकस्मिन् भेदे द्विक तद्यथा अनन्तरनिक्षिप्त परंपरनिक्षिप्त च । तत्र यत् विध्यातादिरूपे वह्नौ मण्डकादि प्रक्षिप्यते तत् अनन्तरनिक्षिप्तम् यत्पुनरग्नेरुपस्थापिते पिठरादौ क्षिप्त तत्परंपरनिक्षिप्तम् तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेवाधिकृत्य यन्त्रेषु रसपाकस्थाने कटाहादौ अवलिप्ते मृत्तिकाखरण्टिते यतनया परिसाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते । संप्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्यातादीनां स्वरूप गाथाद्वयेनाह ।

विज्झाउं ति न दीसइ, अग्गी दीसेइ इंधणे बूढो ।
आपिंगलअगणिकणा, मम्मुरनिज्झालइंगाले ॥
अप्पत्ता उ चउत्थे, जाला पिठरं तु पंचमे पत्ता ।
छठ पुण कन्नसमा, जालासमइत्थिया चरिमे ॥

सुगमं नवरं (अप्पत्ता उ चउत्थे जाला इत्ति) चतुर्थे अप्राप्ताख्ये भेदे पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्या । पञ्चमेत्यत्राप्यक्षरगमनिका कार्या । सम्प्रति (जं तोलित्ते य जयणाए) इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

यं सो लित्तकडाहे, परिसाडी नत्थि तं पि य विसालं ।
सो वि य अचिरवूढो, इच्छुरसो नाइउसिणो य ॥

इह यदीति सर्वत्राध्याह्नियते यत् यदि कटाहः पिठरविशेषः पिठर पार्श्वेषु मृत्तिकया वा लिप्तो भवति । दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिसाटिर्नोपजायते तदपि च कटाहरूप भाजन यदि विशाल विशालमुख भवति । सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरस कल्पते । इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि बिन्दुर्बहि पतति तर्हि स लेप एव वर्तते न तु चुल्लीमध्यस्थिततेजस्कायमध्ये पतति, ततः पार्श्वावलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तम् । तथा विशालमुखादाकृष्यमाण उदञ्चनः पिठरस्य कर्णे न लगति । ततो न पिठरस्य भङ्ग इति न तेजस्कायविराधनेति विशालग्रहणम् । अनत्युष्णग्रहणे तु कारण स्वयमेव वक्ष्यति । संप्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह ।

उसिणोदगं पि घेप्पइ, गुलरसपरिणामियं न अच्चुसियं ।
जंतु अघट्टियकंतं, फड्डिय पउणं पि मा अग्गी ॥

उष्णोदकमपि गुडरसपरिणामितमनत्युष्ण गृह्यते । किमुक्तं भवति यत्र कटाहे गुड पूर्वं क्वथितो भवति तस्मिन् निक्षिप्त जलमीषत्तप्तमपि कटाहसंसक्तगुडरसमिश्रणात् सत्वर सचित्तीभवति । ततस्तदनन्तरमपि कल्पते । अत्रापि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिसाटि मत्वेति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि द्रष्टव्यम् । तथा यत् अघट्टितकर्ण न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्येते तद्दीयमान कल्प्यते इत्याह । (फड्डियपउणं पि मा अग्गी) उदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतनेन नाग्निर्विराध्यतेति कृत्वा एतेन वक्ष्यमाणः षोडशभङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शित । सम्प्रति तानेव षोडशभङ्गान् दर्शयति ।

पासोलित्तकडाहे, नच्चुसिणो अपरिसाभिघट्टंते ।
सोलसभंगविगप्पो, पढमे गुन्ना न सेसेसु ॥

पार्श्वावलिप्तः कटाहः अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसादिः अपरिसाटिः परिसाटस्यभावः (अघट्टंते इति) उदञ्चनेन पिठरकर्णाघट्टने इत्यन्तानि चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोडश भङ्गा भवन्ति । भङ्गानां च नयनार्थमियं गाथा ।

एय समदुग अब्भा, सेसा भंगाण तेसि मद्दरयणा ।
एगंतरियं लहु गुरु-लहुगुरुगा य वामेसु ॥

अस्य व्याख्या इह यावतां पदानां भङ्गा आनेतुं चिन्त्यन्ते । तावन्तो द्विका ऊर्ध्वाध क्रमेण स्थाप्यन्ते । ततः प्रथमो

२
२
२
२

द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते जाताश्चत्वारस्तैस्तृतीयो द्विको गुण्यते जाता अष्टौ तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते जाताः षोडश एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति । तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना प्रथमपङ्क्तावेकान्तरितम् । लघु गुरु प्रथमं लघु ततो गुरु पुनर्लघु पुनर्गुरु एवं यावत् षोडशो भङ्गाः । तत अङ्कापकापेक्षया वामेषु वामपार्श्वेषु द्विगुणा लघुगुरवः । तद्यथा द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमं द्वौ लघू ततो द्वौ गुरू ततो भूयोऽपि द्वौ लघू एव यावत् षोडशो भङ्गाः । तृतीयपङ्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघवस्ततश्चत्वारो गुरवस्ततः पुनश्चत्वारो गुरवः चतुर्थपङ्क्त्यां प्रथममष्टौ लघवः । ततोऽष्टौ गुरवः । स्थापना ।

IIII	ISII	SIII	SSII
IIIS	ISIS	SIIS	SSIS
IISI	ISSI	SISI	SSSI
IISS	SSS	SISS	S S S

अत्र ऋजवोऽशाः शुद्धाः वक्राश्चाशुद्धाः । इह षोडशानां भङ्गानामाद्यो भङ्गोऽनुज्ञातः शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु सम्प्रत्युष्णग्रहणे दोषानाह ।

दुविह विराहण उसिणे, छड्डणहाणी य भाणभेओ य ।
वाउक्खित्ताणंतर-परंपरा य पामयवत्थि ॥

लण्णेऽत्युष्णे इक्षुरसादौ दीयमाने द्विधा विराधना आत्मविराधना परविराधना च । तथाहि यस्मिन् भाजने ततस्ततोऽत्युष्णं गृह्णाति । तेन ततः सत् भाजन हस्तेन साधुर्गृह्णन् दह्यते इत्यात्मविराधना । येनापि स्थानेन दात्री ददाति तेनाप्यत्युष्णेन सा दह्यत इति । तथा (छड्डणे हाणीयत्ति) अत्युष्णमिक्षुरसादि कष्टेन दात्री दातु शक्नोति कष्टेन च दाने कथमपि साधुसत्कभाजनाद्बहिरुज्झने हानिर्दीयमानस्येक्षुरसादेः । तथा (भाणभेओ इत्ति)तस्य भाजनस्य साधुना वा नयनायोत्पाटितस्य पतद्ग्रहणादेर्दात्र्या वा दानायोत्पाटितस्योदञ्चनस्य गाढरहितस्यात्युष्णतया झगिति भूमौ मोचने भङ्गः स्यात् । तथा च षड्जीवनिकायविराधनेति । संयमविराधना संयमप्रतिकायमधिकृत्यानन्तरपरंपरे दर्शयन्ति । वातोत्क्षिप्ता समीरणोत्पाटिता पपटिका पपटिका शालिपर्पटिका अनन्तर निक्षिप्त परपरनिक्षिप्तम (वत्थित्ति) विनाकिलोपाद्वस्तौ उपलक्षणमेतत् समीरणापूरितवस्तिप्रभृति व्यवस्थितं मण्डकादि । सम्प्रति वनस्पतिविषय द्विविधमपि निक्षिप्तमाह ।

हरियाइ अणंतरिया, परंपरं पिठरगाइसु वराणम्मि ।
पूपाइ पिट्ठिणंतर-भरये कुउवाइसु इयरा ॥

वने वनस्पतिविषये अनन्तरनिक्षिप्त हरितादिषु सचित्तव्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिता निक्षिप्ता अपूपादय इति शेषः । हरितादीनामेवोपरिस्थितेष्वपि पिठरादिषु निक्षिप्ता अपूपादयः परंपरनिक्षिप्तम् । तथा बलीवर्दादीनां पृष्ठे अनन्तरनिक्षिप्ता अपूपादयः असेष्वनन्तरनिक्षिप्तं बलीवर्दादिपृष्ठ एव भरके कुतुपादिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकादयः परपरनिक्षिप्तम् इह सर्वत्रानन्तरनिक्षिप्तं न ग्राह्यं सचित्तसङ्घट्टनादिदोषसम्भवात् । परपरनिक्षिप्तं तु सचित्तसंघट्टनादि परिहारेण यतनया ग्राह्यमिति सम्प्रदायः । उक्तं निक्षिप्तद्वारम् ।

अथ पिहितद्वारमाह ।

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसगपिहियम्मि होइ चउभंगो ।
आगतिगे पडिसेहो, चरिमे भयणा उ ॥

इह सचित्त इत्यादौ सप्तमी तृतीयार्थे ततोऽयमर्थः सचित्तेन अचित्तेन मिश्रेण वा पिहिते चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनम् । तत्र तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति द्रष्टव्यम् । तत्रैका सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्याम् । तत्र सचित्तेन सचित्त पिहितं, मिश्रेण, सचित्त सचित्तेन मिश्र, मिश्रेण मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी । तथा सचित्तेन सचित्तं पिहितम् । अचित्तेन सचित्त । सचित्तेनाचित्तम् अचित्तेनाचित्तमिति द्वितीया चतुर्भङ्गी । तथा मिश्रेण मिश्र पिहितं, मिश्रेणाचित्तम् । अचित्तेन मिश्रम । अचित्तेनाचित्तमिति । तृतीया । तत्र गाथापर्यन्तं तुशब्दवचनात्प्रथमचतुर्भङ्ग्यां सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकायास्तु प्रत्येकमादिमेषु त्रिषु भङ्गेषु न कल्पते इत्यर्थः । चरमे तु भङ्गे 'जनसोवगुरुणेत्यादिना' स्वयमेव वक्ष्यते । संप्रति चतुर्भङ्गीत्रयविषयावान्तरभङ्गकथनेऽतिदेशमाह ॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चेव होंति भंगा य ।
एमेव य पिहियम्मि वि, नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्राणां संयोगाः प्रागुक्ता यथैव सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयसङ्केष्वेकैकस्मिन भङ्गे षट्त्रिंशद्भेदाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि । तथात्रापि पिहितद्वारे द्रष्टव्याः । तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रय एकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्तपृथिवीकायं सचित्तपृथिवीकायेन पिहितम् । सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहित, सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहितादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् भेदाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानाम् । नवर द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योः प्रत्येक तृतीये २ भङ्गे अनन्तरपरंपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादिकं वक्ष्यमाणनानात्वमवसेयं निक्षिप्ते अनेन प्रकारेणानन्तरपरंपरमार्गणा कृता अत्र त्वन्येन प्रकारेण करिष्यते इति भावः । तत्र सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहित सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहित सचित्तपृथिवीकायपरंपरमोदकादि सचित्ताप्कायानन्तरपिहित हिमादिगर्भपिठरादिना पिहितं सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं सचित्ततेजस्कायादिपिहितमनन्तरपरपरञ्च गाथाद्वयेनाह ।

अंगारधूवियाई, अणंतरो परंपरो सरावाई ।
तत्थेव अइरवाउ, परपरं वत्थिणं पिहियं ॥

अइरं फलाइपिहियं, वणम्मि इयर तु छन्नपिठराई ।
कत्थइ संचाराई, अणंतरो णंतरो ठ्ठे ॥

इह यदा स्थाल्यादौ संस्वेदनादीना मध्ये अङ्गारं स्थापयित्वा हिङ्ग्वादिना धासो दीयते तदा तेनाङ्गारेण केषाञ्चित् संस्वेदनादीना सस्पर्शोऽस्तीति ता अनन्तरपिहिता ॥ आदिशब्दान्मण्डकादिकमुर्मुरादिक्षिप्तमनन्तरपिहितमवगन्तव्यम् । अङ्गारभृतेन शरावादिना स्थगिन पिठरादि परंपरपिहितम् । तथा तत्रैव सङ्गारधूपितादौ (अइरत्ति) अतिरोहितमनन्तरपिहितं वायौ प्रकारं 'यत्राग्निस्तत्र वायुरिति' वचनात् समीरणे भृते न तु वस्तिना उपलक्षणमेतत् वस्तिदृतिप्रभृतिना पिहित परंपरपिहितमवसेयम् । यथा वने वनस्पतिकायविषये फलादिना (अइरत्ति) अतिरोहितेन पिहितमनन्तरपिहितम् ॥ छन्नपिठरादौ छब्बकस्थाल्यादौ स्थितेन फलादिना पिहितं (इयरत्ति) परंपरपिहितम्।तथा त्रसे त्रसकायविषये कच्छपेन संचारादिना वा कीटिकापङ्क्त्यादिना यत्पिहित तत् अनन्तरपिहितम् । कच्छपसंचारादिगर्भपिठरादिना पिहितम्।इहानन्तरपिहितमकल्प्य परंपरपिहित तु भजनया ग्राह्यम् । यदुक्त " चरमे भङ्गम्मि भयणाउ" इति तद्व्याख्यानयन्नाह ।

गुरु गुरुणा गुरु लहुणा य, लहुयं गुरुएण दो वि लहुयाई ।
अच्चित्तेण वि पिहिए, चउभंगो दोसु आगहणं ॥

अचित्तेनापि अचित्ते देयवस्तुनि पिहिते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तद्यथा गुरु गुरुणा पिहितमित्येको भङ्ग । गुरु लघुनेति द्वितीय । लघु गुरुणेति तृतीय. (दो वि लहुयाइत्ति) लघु लघुना पिहितमिति चतुर्थ । एषु च चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये द्वयो प्रथमतृतीयभङ्गयोरग्राह्यं गुरुद्रव्यस्योत्पाटने कथमपि तस्य पाते पादादिभङ्गसंभवात् तत पारिशेष्यात् द्वितीयचतुर्थयोर्भङ्गयोर्ग्राह्यमुक्तदोषाभावात् । देयवस्त्वाधारस्य पिठरादेर्गुरुत्वेऽपि तत करोटिकादीनां दानसंभवात् । उक्त पिहितद्वारम् ।

अथ संहृतद्वारमाह ।

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसगसंहरणे य चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह येन मात्रकेण कृत्वा भक्तादिकं दातुमिच्छति दात्री तत्र यदातव्यं किमपि सचित्तमचित्त मिश्रं वाऽस्ति ततस्तदन्यत्र स्त्रीम्यादौ क्षिप्त्वा तेनान्यत्र ददाति तच्च कदाचित्सचित्तेषु पृथिव्यादिषु मध्ये क्षिपति कदाचिदचित्तेषु कदाचिन्मिश्रेषु क्षपणा च संहरणमुच्यते । तत संहरणे सचित्ताद्याधिकृत्य चतुर्भङ्गी । अत्र जातावेकवचन मिश्रचतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचनात्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीत्यर्थ । तथाहि एका चतुर्भङ्गी सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीयेति । तत्र सचित्ते सचित्त संहृतं, मिश्रे सचित्त, सचित्ते मिश्र, मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी । तथा सचित्ते सचित्तं संहृतमचित्ते सचित्त सचित्ते अचित्तम् अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्र संहृतम्, अचित्ते मिश्र, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया । अत्र गाथापर्यन्तं तुशब्दसामर्थ्यात्प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सर्वेष्वपि भङ्गेषु प्रतिषेध. । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोस्तु आदिकेष्वादिमेषु त्रिषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे भजना ।

अधुना चतुर्भङ्गीत्रयसत्कावान्तरभङ्गकथने अतिदेशमाह ॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चेव होंति भंगा य ।
तह चेव उ साहरणे, नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्रपदानां संयोगाः कृता यथैव च सचित्त. पृथिवीकाय. सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयभङ्गेष्वेकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशत् २ भङ्गा उक्ता. सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानां तथात्रापि संहृतद्वारे द्रष्टव्या. । तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयमेकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्त. पृथिवीकायः मध्ये संहृत इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भेदाः सर्वसंख्यया भङ्गानां चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि नवर द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयो प्रत्येक तृतीये भङ्गे अनन्तरपरंपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादाविदं वक्ष्यमाण नानात्वमवसेयम् । निक्षिप्तद्वारे अन्येन प्रकारेणानन्तरमार्गणा कृता अन्यत्र संहृतद्वारे अन्यथा कारिष्यते इति भाव' तदेवान्यथात्व दर्शयन् संहरणलक्षणमाह ॥

मत्तेण जेण दाहिइ, तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाइ ।
छुंतु य तह ते मा, देइ अह होइ साहरणं ।

येन मात्रकेण दास्यति दात्री तत्रादेय किमप्यस्ति अशनादिक भक्तादि सचित्त पृथिवीकायादिक वा ततस्तत् अदेयमत्र स्थानान्तरे क्षिप्त्वा ददाति (अहत्ति) एतत्संहरणम् । तत एतल्लक्षणानुसारेणानन्तरपरंपरमार्गणाऽनुसारणीया । तद्यथा सचित्तपृथिवीकायमध्ये यदा संहरति तदाऽनन्तरसचित्तपृथिवीकाये संहृतम् । यदा तु सचित्तपृथिवीकायस्योपरिस्थिते पिठरादौ संहरति तदा परंपरया सचित्तपृथिवीकाये संहृतमेवमप्कायादिष्वपि भावनीयम् । अनन्तरसंहृते न ग्राह्य परंपरसंहृते पृथिवीकायादिषु घट्टने ग्राह्यमिति । सम्प्रति द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्क तृतीय भङ्गमाश्रित्य येषु वस्तुषु मा[पा]त्रकस्थितमदेय वस्तु संहरति तान्युपदर्शयति ।

भूमाइएसु तं पुण, साहरणं होइ छसु निकाएसु ।
जं तं दुहा अचित्तं, साहरणं तत्थ चउभंगो ।

तत् पुनर्मात्रकस्थितस्यादेयस्य वस्तुन संहरण भूम्यादिकेषु सचित्तपृथिवीकायादिषु षट्सु जीवनिकायेषु भवति जायते । तत्र चानन्तरोक्त एव कल्प्याकल्प्यविधिरवधारणीयः । तथा यत्संहरण द्विधाऽपि आधारापेक्षया च अचित्तमचित्तसचित्ते यत्संह्रियते इत्यर्थ । तत्र चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तानेवाह ।

सुक्खे सुक्खं पढम, सुक्खे उल्लं तु बिइयओ भंगो ।
उल्ले सुक्खं तइओ, उल्ले उल्लं चउत्थो उ ।

शुष्के शुष्क संहृतमिति प्रथमो भङ्गः । शुष्के आर्द्रमिति द्वितीय. । आर्द्रे शुष्कमिति तृतीयः । आर्द्रे आर्द्रमिति चतुर्थ. ।

एकेक्के चउभंगो, सुक्खाईएसु चउसु भंगेसु ।
थोवे थोवं थोवे, बहुं च विवरीय दो अन्ने ।

शुष्कादिषु शुष्के शुष्कसंहृतमित्यादिषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये एकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी तद्यथा स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं स्तोके शुष्के बहु शुष्कं (विवरीय दो अन्नेत्ति) एतद्विपरीतौ द्वौ अन्यौ भङ्गौ ज्ञातव्यौ । तद्यथा शुष्के बहुक स्तोके शुष्कम् । बहुके शुष्के बहु शुष्कमिति । एवं शुष्के आर्द्रमित्यादिष्वपि त्रिषु भङ्गेषु स्तोके स्तोकमित्यादिरूपा चतुर्भङ्गी प्रत्येक भावनीया । सर्वसंख्यया षोडश भङ्गा. । अत्र कल्प्यविधिमाह ।

जत्थ उ थोवे थोवं, शुक्खे उल्लं व होइ तं गिज्झं ।
जइ तं तु समुक्खित्तं, थोवाजारं दलइ अन्नो ।

यत्र तु भङ्गे स्तोक तुशब्दाद्बहुके च सहृत भवति तदपि शुष्के शुष्क कल्पते एव अथवा शुष्के आर्द्रं माशब्दादार्द्रं शुष्कमार्द्रे आर्द्रं वा तदा तत् ग्राह्यं न दोषम् । कुत इत्याह (जइ इत्यादि) यदि तत् अदेय वस्तु स्तोकाभारं बहुभाररहितमन्यत्र समुत्क्षिपत्ये-तद्ददाति तर्हि तदार्द्रं कल्पते नान्यथा बहु । किंच संन्हियमाण बहु भार भवति । ततः शुष्के शुष्कमित्यादिषु चतुर्ष्वपि भङ्गेषु प्रत्येकं स्तोके स्तोकमिति । प्रथमतृतीयौ भङ्गौ कल्पेते न द्वितीयचतुर्थौ तत्र दोषानाह ।

उक्खेवे निक्खेवे, महल्लनाणम्मि लुद्धवह माहो ।
आवेयत्तं वोच्छेउ, छकायवहो य गुरुमत्ते ।

महति भाजने प्रभूतादेयवस्तुभारयुक्ते गुरुमात्रकरूपे उत्क्षेपे उत्पाट्यमाने(निक्खेवेत्ति,) निक्षिप्यमाणे दात्र्याः पीडा भवति । तथा लुब्धयं न परपीडां गणयतीति निन्दा तथा तद् भाजन कदाचिद्भुष्णनक्तादिभृतं स्यात्ततस्तस्योत्पाटने कथमपि तस्य च विधिनाशो दात्र्याः साधोर्वा दाहः स्यात् । तथा मुणरुस्य भि-क्षादानायोत्पादितमिद श्रममित्येव खेदवशतः कदाचिदप्रीति-रुपजायते ततस्तत्र द्रव्यस्य द्रव्यवच्छेदः । तथा महति भाजने भग्ने तन्मध्ये स्थिते नक्तादौ सर्वतो विसर्पति भूम्यादिस्थित-पृथिवीकायादिजन्तुविनाश । यत एवमेते दोषास्ततः स्तोके बहु-कं बहुके बहुकमिति द्वौ भङ्गौ सर्वत्रापि न कल्पेते । एतदेवाह ।

थोवे थोवं छूढं, सुक्के उल्लं तु आइन्नं ।
बहुयं तु अणाइन्नं, कमदोसो त्ति काऊणं ।

स्तोके स्तोकम् उपलक्षणमेतत् । बहुके वा स्तोकं यन्निक्षिप्तं तदपि शुष्के शुष्क कल्पते एव ततः । शुष्के आर्द्रं तुशब्दात् आर्द्रं शुष्कम् आर्द्रे आर्द्रं च तत् भवति । आचीर्णं कल्पते इति भावः । यत्तु बहुक स्तोके बहुके वा संन्हियते तत् अनाचीर्णं कुत इत्याह । स बहुकसंहारः कृतदोषोऽनन्तरगाथायामुक्तदोष इति कृत्वा, उक्तं संहृतद्वारम् । अथ दायकद्वार गाथापञ्चेनाह ।

बाले वुड्ढे मत्ते, उन्मत्ते वेविए य जरिए य ।
अंधेल्लए पगलिए, आरूढे पाउयाहिँ च ।
हत्थन्दुनियलबद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिँ ।
तेरासिगुव्विणी बा–लवच्छभुंजंति फसुलेंती ॥
भज्जंती य दलंती य, कडुंती चेव तह य पीसंती ।
पिंजंती सेवंती, कन्नंति य मद्दमाणी य ।
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ॥
तं वा वोगाहंती, संघट्टंती रजंती य ॥
ससत्तेण य दव्वेण, लित्तहत्था य लित्तमत्ता य ।
उव्वत्तंती साहा–रणं व दिंती य चोरियं ॥
पाहुडिय व ठवंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स ।
आभोगमणाभोगे–ण दलंती वज्जणिज्जाए ॥

बालादौ या वर्जनीया इति क्रियायोग । तत्र बालो जन्मतो वर्षाष्टकाभ्यान्तर्वर्ती १ वृद्धः सप्ततिवर्षाणां मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वा उपरिवर्ती २ मत्त पीतमदिरादिः ३ उन्मत्तो दृप्तो ग्रहगृहीतो वा ४ वेपमानः कम्पमानशरीर ५ ज्वरितो ज्वररोगपीडितः ६ अन्धश्चक्षुर्विकलः ७ प्रगलितो गलत्कुष्ठः ८ आरूढपादुकयो काष्ठमयोपानहोः । ९ । तथा हस्तान्दुना करविषयकाष्ठबन्धने १० निगडेन च पादविषयलोहमयबन्धनेन बद्धः ११ हस्ताभ्यां १२ पादाभ्यां वर्जितस्थितत्वात् ॥ १३ त्रैरा-शिको नपुंसकः १४ । गुर्वी आपन्नसत्वा ।१५। बालवत्सशून्यो-पजीविविशिशुका १५ भुञ्जाना भोजनं कुर्वती १६ फसुलंती दध्यादि मन्थन्ती । १७ । भर्जयन्ती चुल्ल्यां कडिल्लकादिचन-कादि स्फोटयन्ती । १८ दलन्ती घरट्टेन गोधुमादि चूर्णयन्ती १९ कण्डयन्ती उदूखले तण्डुलादिक कण्डयन्ती । २० पिषन्ती शिल-या तिलामलकादिप्रमृज्जन्ती २१ पिञ्जयन्ती पिञ्जनेन रुतादिकं विरलं कुर्वती । २२ सेवन्ती कार्प्पासं लोठिन्यां लोठयन्ती २३ कृन्तन्ती कर्त्तनं कुर्वती । २४ । प्रमृज्यन्ती रुतकसाञ्ज्या पौनः-पुन्येन विरलं कुर्वती २५ षट्कायव्यग्रहस्ता षट्काययुक्तहस्ता२६ यथा श्रमणस्य भिक्षामात्राथ तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७ तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती । २८ । सघट्टयन्ती तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवैरेव स्पृशन्ती । २९ । आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती । ३० । संसक्तेन दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता खरण्टितहस्ता । ३१ । तथाऽनेनैव द्रव्येण दध्यादिना ससक्तेन लिप्तमात्रा खरण्टि-तमात्रा । ३२ । उद्वर्तयन्ती महतिपिठरादिकमुद्वर्त्य तन्मध्याद्ददती ३३ साधारण बहूनां सत्कं ददती ३४ तथा चोरितं ददती ३५ अग्रकूरादिनिमित्त मूलस्थाल्यामाकृष्य स्थगनिकादौ मुञ्चन्ती ३६ सप्रत्यपाया संभाव्यमानापाया दात्री ३७ तथा विवक्षितसा-धुव्यतिरेकेण परमन्य साध्वादिकमुद्दिश्य यत् स्थापित तद्ददती ३८ तथाऽऽभोगेन साधूनामित्थ न कल्पत इति परिज्ञाप्यो-पपस्या शुद्धं ददती ३९ अथवा अनाभोगेनाशुद्धं ददती ४० सर्व-संख्यया चत्वारिंशद्दोषा । इह मुक्तितादिद्वारेषु "संसज्जिमेहि वज्ज अगारिहिएहिँ पि गोरसदावेहिं"। इत्यादिग्रन्थेन ससक्तादिदो-षाणामभिधानेऽपि यद्भूयोऽप्यत्र "संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था-य लित्तमत्ताये" त्याद्यभिधान तदशेषदायकदोषाणामेकत्रोपदर्श-नार्थमित्यदोष । संप्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्ज-नावर्जनविभागमाह ।

एएसि दायगाणं, गहणं केसिं वि होइ भइयव्वं ।
केसिं वीअग्गहणं, तव्विवरीए भवग्गहणं ॥

एतेषां बालादीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चिन्मूलत आरभ्य पञ्च-विंशतिसंख्यानां ग्रहण भजनीय कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजन-मुद्दिश्य कल्पते शेषकाले नेति । तथा केषाञ्चित्षट्कायव्यग्रह-स्तादीनां पञ्चदशानां हस्ताद्ग्रहण भिक्षाया तद्विपरीतेषु बा-लादिविपरीतेषु दातरि ध्रुवो ग्रहण सप्रति बालादीनां हस्तादितो भिक्षाया ग्रहणे ये दोषा संभवन्ति ते दर्शनीयास्तत्र प्रथमतो बालमधिकृत्य दोषानाह ॥

केडुड्डिगअप्पाहि–ऊणं दिन्ने व नगहणपज्जत्तं ।
खंतियमग्गणदिन्ने, उड्डाहं पउसचारनमा ॥

काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्यादिति निजपु-त्रिकां (अप्पाहिऊणं ति) संदिश्य भक्त गृहीत्वा क्षेत्र जगाम । गतायां तस्यां कोऽपि साधु संघाटको भिक्षामागतः तया च बालिकया तस्मै तन्दुलौदनो वितीर्णः सोऽपि च संघाटकमुख्य-साधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगत्य लाम्पट्यतो भूयो भूय दापा च पुनर्देहि पुनर्देहीति ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तस्तत एव

मुरुभृततकरूध्यादिकमपि । अपराह्ने च समागता जननी उपविश्य भोजनाय भणिता निजपुत्रिका । देहि पुत्रि ! महामोदनमिति । साऽत्रोचत् दत्त समस्तोऽप्योदन साधवे । साऽब्रवीत् शोभनं कृतवती । मुञ्जान् मे देहि सा प्राह मुञ्जा अपि साधवे सर्वे प्रदत्ताः । एवं यत् यत् किमपि सा याचते तत्तत्सर्वं साधवे दत्तमिति । तत पर्यन्ते काञ्जिकमात्र यावत्तदपि बालिका भणति साधवे दत्तमिति । तत' साऽजिनवत्थ्रावृिका रुष्टा सती पुत्रिकामेयमपवदति किमिति त्वया सर्वं साधवे दत्तं सा ब्रूते स साधुर्भूयो भूयो याचते ततो मया सर्वमदायि ततः सा साधोरुपरि कोपावेशमाविशन्ती सूरीणामन्तिकमगमत् । अचकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं यथा भवदीयो य साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकाया सकाशात् यानित्वा याचित्वा सर्वमोदनादिकमानीतवानिति । एव तस्यां महता शब्देन कथयन्त्यां शब्दश्रवणतः प्रातिवेशिकजनोऽन्योऽपि च परपरया भूयान्मिलितो ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्तान्तस्ततो विदधति तेऽपि कोपावेशिन. साधूनामवर्णवादम, नूनममी साधुवेषविडम्बिनश्चारभटा इव लुण्टका न साधुसदृशा इति तत. प्रवचनावर्णवादापनोदाय सूरिभिस्तस्या सर्वजनस्य च समक्ष स साधुर्निभर्त्स्योपकरणं च सकलमागृह्य सर्वजनैर्निष्काशित. । तत एव तस्मिन्निष्काशिते श्राविकाया कोप शममगमत् । तत. सूरीणां क्षमाश्रमणमादायोक्तवती भगवन् 'मा मन्निमित्तमेष निष्काश्यतां क्षमस्वैक ममापराधमिति । ततो भूयोऽपि यथावत्साधु शिक्षयित्वा प्रेषित' सूत्रं सुगमम् । नवर (उड्डाहपओसचारभडा इति) लोके उड्डाहस्ततो लोकस्य प्रद्वेषनात्ततश्चारभटा इव लुण्टका अमी न साधव इत्यवर्णवाद' । यत एवं बालाद्भिक्षाग्रहणे दोषास्ततो बालान्न ग्राह्यमिति ।

संप्रति स्थविरदायकदोषानाह ।

थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पडेज्ज वा देंतो ॥
अपहुत्ति य अचियत्तं, एगयरे वा उभयओ वा ।

अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति । ततो देयमपि वस्तु लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा । तथा कम्पमानहस्तो भवति । ततो हस्तकम्पने वशाद्देय वस्तु भूमौ निपतति तथा च षड्जीवनिकायविराधना । स्वय वा स्थविरो ददत् निपतेत् तथा च सति तस्य पीडा भूम्याश्रितषड्जीवनिकायविराधना च । अपि च प्राय' स्थविरो गृहस्याप्रभुरस्वामी भवति ततस्तेन दीयमानेन प्रभुर एव इति विचिन्त्य गृहे स्वामित्वेन नियुक्तस्य चित्त प्रद्वेषः स्यात् । स च एकतरस्मिन् साधौ गृहे वा यद्वा उभयोरपीति ।

मत्तोन्मत्तावाश्रित्य दोषानाह ।

अवयासभाणभेओ, वमणं असुइ त्ति लोगगरहा य ।
पंतावणं च मत्ते, वमणविवज्जा य उम्मत्ते ।

मत्त कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गन विदधाति भाजनं वा भिनत्ति । यद्वा कदाचित्पीतमासव ददानो वमति वमथ्वा साधुं साधुपात्र वा खरण्टयति । ततो लोके जुगुप्सा धिग् इमे साधवोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थ भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा कोऽपि मत्तो मदवशनिर्बलतया रे मुण्ड ! किमत्रायात इति ब्रुवन् घातमिति विदधाति तत एव यतो मत्तेऽपायादयो दोषास्तस्मान्न ततो ग्राह्यम् । येन त एवालिङ्गनादयो दोषा वमनवर्जा उन्मत्तेऽपि तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति वेपितज्वरितावाश्रित्य दोषानाह ।

वेवियपरिसाडणया, पासे वत्थु भेज्ज भायणेओ वा ।
एमेव य जरियम्मि वि, जरसंकमणं च उड्डाहो ।

वेपितात्तु दातुः सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुन. परिसातनं भवति यद्वा पार्श्वे साधुभाजनाद्बहिः स वेपितो देयं वस्तु क्षिपेत् यद्वा येन स्थाल्यादिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति तस्य भूमौ निपाते भेदः स्फोटनं स्यात् एवमेव ज्वरितेऽपि दोषा भावनीयाः । किंच ज्वरिताद्ग्रहणे ज्वर संक्रमेण साधोर्भवेत् । तथा जने उड्डाहो यथा अहो अमी आहारलम्पटा यदित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षां गृह्णन्तीति ।

अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह ।

उड्डाहकायपडणं, अंधे भेओ य पासछुहणं च ।
तद्दोसी संकमणं, गलितभिसाभिन्नदेहे य ॥

अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाह । स चायमहो अमी औदरिका यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा अन्धोऽपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघात विदधाति । तथा लोष्ठादौ स्खलित सन् भूमौ निपतेत् । तथा च सति भिक्षादानायोत्पाटितहस्तगृहीतस्थाल्यादिभाजनभङ्ग' । तथा स देय वस्तु पार्श्वे भाजनबहिस्तात् प्रक्षिपेददर्शनात् तस्मादन्धादपि न ग्राह्यम् । तथा त्वग्दोषिणि किं विशिष्टे इत्याह । गलितं भृश भिन्नदेहमलार्पत्वात् व्यत्यासेन पदयोजना सा चैवं भृशमतिशयेन गलितमर्द्धपक्वं रुधिरं च बहिर्वहनभिन्नश्च स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मिन् तद्दोषसंक्रमणं कुष्ठव्याधिसंक्रान्ति. स्यात् तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति पादुकारूढादिचतुष्टयदोषानाह ।

पाउयदुरूढपडणं, बद्धे परियाव असुइखिंसा य ।
करछिन्ना सुइखिंसा, तेच्चिय पायम्मि पडणं च ॥

पादुकारूढस्य भिक्षादानाय प्रचलत. कदाचिद्दुःस्थितत्वात् पतनं स्यात् । तथा बद्धे दातरि भिक्षा प्रयच्छति परितापो दुःख तस्य भवेत् । तथा (असुइत्ति) तत्र पुरीषोत्सर्गादौ जलेन तस्याशौचकरणासंभवात् । ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा यथामी अशुचयो यदेतस्मादप्यशुचित्वयुक्तात् भिक्षामाददते इति । एव छिन्नकरेऽपि भिक्षां प्रयच्छति लोके जुगुप्सा तथा हस्ताभावेन शौचकरणासंभवात् । एतच्चोपलक्षणं तेन हस्ताभावे येन कृत्वा भाजनेन भिक्षां ददाति यद्वा देय वस्तु तस्य पतनमपि भवति । तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः । एत एव दोषा यदि विच्छिन्नपादेऽपि दातरि द्रष्टव्याः केवल पादाभावेन तस्य भिक्षादानाय प्रचलतः प्रायो नियमतः पतनं पातो भवेत्तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकादिकसत्वव्याघात. ।

संप्रति नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह ।

आयपरोभयदोसा, अभिक्खगहणम्मि खोभणनपुंसे ।
लोकदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेए वि ॥

नपुंसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोष. । तथाहि नपुंसकादभीक्ष्ण भिक्षाग्रहणे अतिपरिचयो भवति अतीव परिचयाच्च तस्य नपुंसकस्य साधोर्वा क्षोभो वेदोदयरूप. समुपजायते । ततो नपुंसकस्य साधुलिङ्गाद्यासेवनेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया कर्मबन्ध. । अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचिद्भिक्षाग्रहणे दोषाभावमाह । परिचयाभावात् । तथा लोके जुगु-

प्सा यथैते नपुंसकादपि निक्षाद्भिक्षामाददते इति । साधूनाम-प्युपरि जनस्य शङ्का भवति तस्माद्यथैतेऽपि साधवो नूनमीदृशा नपुंसकाः कथमन्यथाऽनेन सह भिक्षाग्रहणव्याजतोऽतिपरिचयं विदधते इति । सम्प्रति गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषानुपदर्शयति ॥

गुव्विणिगब्भे संघ-दृणा उ उट्ठंतवेसमाणीए ।

बालाई मंसेडुग, मज्जाराई विराहिज्जा ।

गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्त्वा स्थाने उपविशन्त्याश्च गर्भे तस्य सङ्घट्टनं संचलनं भवति । तस्मान्न ततो ग्राह्यम् (बालाई मंसेडुगत्ति) अत्रार्षत्वाद्व्यत्यासेन पदयोजना (बालमिति) शिशुं भूमौ मञ्चिकादौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति तर्हि तं बालं मार्जारादयो बिडालसारमेयादयो मांसेडुकादि मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेत् विनाशयेत् । तथा आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ भवतस्ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा भवेत् ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम् ।

भुञ्जानां मथ्नन्तीं चाश्रित्य दोषानाह ।

भुंजंती आयमणे, उदगं वोमी य लोगगरहा य ।

घुसुलंती संसत्ते, करम्मि लित्ते भवे रसगा ।

भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमनं करोति आचमने च क्रियमाणे उदकं विराध्यते । अथ न करोत्याचमनं तर्हि लोके बोटिरिति कृत्वा गर्हा स्यात् तथा (घुसुलंती) दध्यादि मथ्नन्ती यदि तद्दध्यादिससक्तं मथ्नाति तर्हि तेन ससक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्य भिक्षां ददत्यास्तेषां रसजीवानां वधो भवति ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते ।

सम्प्रति पेषणादिदोषानुपदर्शयति ।

दगबीए संघट्टण,पीसेण कंडदलभज्जणे महणं ।

पिंजंतरुंजणाई, दिन्ने लित्ते करे उदगं ।

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदकबीजसंघट्टनं स्यात् तथाहि पिषन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलादिसत्काः काश्चिन्मक्षिकाः सचित्ता अपि हस्तादौ लगिता संभवन्ति ततो भिक्षादानाय हस्तादिप्रस्फोटने भिक्षा वा ददत्या भिक्षासपर्कतस्तासां विराधना भवति भिक्षां च दत्त्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् । ततः पेषणे उदकबीजसघट्टना । एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं भावनीयम् । तथा भर्जने भिक्षां ददत्या वेलालगनेन कामिलुत्तिभ्रगोधूमादीनां दहनं स्यात् । तथा पिञ्जन रुञ्जनमादिशब्दात्कर्तनप्रमर्दने च कुर्वती भिक्षां दत्त्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् ततस्तत्राप्युदकं विनश्यतीति न ततो भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्तादिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाह ।

लोणदगअगणिवत्थी, फलाइ मच्छाइ सजीयहत्थम्मि ।

पाएणोगाहणया, संघट्टणसेसकाएणं ॥

खणमाणी आरभये, मज्जणधोयइ सिंचए किंचि ।

छकायविसरणमाई, छिंदइ छट्टे फुरफुरंते ॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते यस्या हस्ते सजीवलवणमुदकमग्निर्वायुपूरितो वा बस्तिः फलादिकं बीजपूरादिकं मत्स्यादयो वा विद्यन्ते ततः सा यद्येतेषां सजीवलवणादीनामादानं तदपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिप्तं तर्हि न कल्पते । तथा अवगाहना नामाद्यस्तेषां षड्जीवनिकायानां पादे संघट्टनं शेषकायेन हस्तादिना संमर्दनं सघट्टनमारभमाणा कुश्यादिना भूम्यादि खनन्ती । अनेन पृथिवीकायारम्भ उक्तः । यद्वा मज्जन्ती शुद्धेन जलेन स्नान्ती अथवा धावन्ती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती यदि वा किञ्चिद्वृक्षवल्ल्यादिकं संवन्ती एते नाप्कायारम्भो दर्शितः । उपलक्षणमेतत् ज्वलयन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानरं वस्त्यादिकं वा सचित्तवातभृतामितस्ततः प्रक्षिपन्ती एतेनाग्निवास्तुसमारम्भ उक्तः । तथा शोकादेश्छेदविशारणे कुर्वती । तत्र छेदः पुष्पफलादेः खण्डनं विशरणं तेषामेव खण्डनां शोषणायोन्मोचनम् । आदिशब्दात्तन्दुलमुद्गादीनां शोधनादिपरिग्रहः । तथा छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान् । मत्स्यादीन् फुरफुरन्ते इति पोस्फूर्यमाणान् पीडयोद्वेलं इत्यर्थः । अनेन त्रसकायारम्भ उक्तः । इत्थं षड्जीवनिकायमारभमाणाया हस्तान्न कल्पते ।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्त इति पदस्य व्याख्याने मतान्तरमुपदर्शयति ।

छकायवग्गहत्था, केई कोलाइकन्नलइयाई ।

सिद्धत्थगपुप्फाणि य, सिरम्मि दिन्नाइ वज्जंति ।

केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेति वचनतः कोलादीनि बदरादीनि आदिशब्दात्करीरादिपरिग्रहः । (कन्नलयाइति) कर्णे पिनद्धानि तथा सिद्धार्थकपुष्पाणि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ति । हस्तग्रहणं हि तस्य पदस्य विशेषो डुरुपपादः ।

अन्ने भणंति दससु वि, एसणदोसेसु नत्थि तग्गहणं ।

तेण न वज्जं भन्नइ, तग्गुगहणं दायगहणे य ।

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति । यथा दशस्वपि शङ्कितादिषु एषणादोषेषु मध्ये तद्ग्रहणं षट्कायव्यग्रहस्तेत्युपादानमस्ति तेन कारणेन लोकादियुक्तदशभिक्षाग्रहणं न वर्ज्यं तदेतत्पार्श्वीयोक्त आह भण्यते अत्रोत्तरं दीयते । यत्तु दायकग्रहणादेषणादोषमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेत्यस्य ग्रहणं विद्यते तत्कथमुच्यते न तद्ग्रहणमिति ।

संप्रति संसक्तिमद्दात्र्यादिदोषानाह ।

संसज्जिमंदि देसे, संसज्जमदव्वलित्तकरमत्ता ।

संचाए यत्तणाउ, उक्खिप्पंते वि ते चेव ॥

संसक्तिमति ससक्तिमद्द्रव्यवति देशे मण्डले सक्तिमता द्रव्येण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षां ददती करविलग्नान् सत्वान् हन्ति । तस्मात्सा वर्ज्यते तथा सूचनात्सूत्रमिति सचारितः पिठरादेरपवर्तनं सचारः । सूचनात्सूत्रमिति सचारितः पिठरादेरपवर्तनं सचारः । इदमुक्तं भवति महापिठरं यदा तदा मत्कीटादिसत्वव्याघातः इदमुक्तं भवति महापिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते नापि यथा तथा वा सचार्यते महत्त्वादेव किं तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत् ततस्तदाश्रित्य प्रायः कीटिकादयः सत्वा सम्भवन्ति । ततो यदा तत्पिठरादिकमुद्धर्तुं किंचिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः । एते च दोषा उत्पाट्यमानेऽपि महति पिठरादौ । तत्रापि हि भूयो निक्षिप्यमाणे हस्तसंस्पर्शतो वा संचारिमत्कीटिकादि सत्वव्याघात । अपि च तथाभूतस्य महत उत्पाटने दातुः पीडाऽपि भवति । तस्मान्न तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति साधारणं चोरितं वा ददत्या दोषानाह ॥

साधारण बहूणं, तत्थ उ दोसा जहेव अणिसट्ठे ।
चोरियए गहणाई, भयए सुण्हाइ वा देंते ॥

बहूनां साधारणं यदि ददाति तर्हि तत्र यथा प्राक् अनिसृष्टे दोषा उक्तास्तथैव ज्ञातव्या । तथा चौर्येण भृतककर्मकरो स्नुषादी वा ददाति ग्रहणादयो ग्रहणबन्धनताडनादयो दोषा दत्त्वा-स्तस्मात्ततोऽपि न कल्पते । सम्प्रति प्राभृतिकास्थापनादिद्वार-द्वयदोषानाह ॥

पाहुड ठाविय दोसा, तिरिउड्ढमहे तिहा अवायाउ ।
धम्मियमाईठवियं, परत्थ संति य वा त्ति ॥

प्राभृतिकार्थमन्नादिनिमित्तं संस्थाप्य या ददाति भिक्षां तत्र दोषाः प्रवर्त्तनादय । सम्प्रत्यपायेति द्वारम् । अपायास्त्रिविधा तद्-यथा तिर्यक् ऊर्ध्वमधश्च तत्र तिर्यग् आदित्य ऊर्ध्वमुखः काष्ठादेरधः सर्पकण्टकादेः यथं च त्रिविधानामप्यपायानामपसरमपाय बु-द्ध्या संज्ञापयन् ततो भिक्षां गृह्णीयात् "पत्रोद्देशेति" ॥ यदुक्तं तत्राह धार्मिकत्वेनपरसाधुकार्पटिकप्रभृतिनिमित्तं स्थापितं तत्परस्य परमार्थेन संघटीति न तद् गृहीयात् । तद्ग्रहणे स्वदत्तादानदोषप्रसङ्गात् । यदा परस्य स्वं भुनक्ति परस्य स्थानादि स्पर्श यद्ददाति तदपि स्वयमाहृतं न कल्पते स्वदत्ता-दानदोषात् किन्तु परस्मै आनीय दापितं तस्मै नीत्वा दातव्यं स चेत्त गृह्णाति तर्हि भूयोऽपि दात्रा समानीय समर्पणीयम् । यदि पुन-रेवं दात्री वदति यदि श्रमणादिको न गृह्णाति तर्हि स्वय मात्त-मिति तर्हि श्रमणायप्रदत्तं तस्य कल्पत इति ।

सम्प्रत्यनाभोगानाभोगदायकस्वरूपमाह ।

अणुकंपापडणीयट्ठं,यावंत कुणइ जाणमाणो त्ति ।
एसणदोसे बि इओ, कुणइ उ असढो अ याणंतो ॥

यद्येते महानुभावा यतयोऽन्नपानमप्रासुकमश्नन्ति तस्मात्क-रोमि तेषां शरीरोपष्टम्भाय घृतपूरादीनामित्येवमनुकम्पया यदि वा मयैनेषामनेषणीयस्य प्रदानेन दुर्गतेः संयमनष्टो भवत्विति प्रत्यनीका-र्थतया जानन्नपि तान् आधाकर्मादिरूपानेषणादोषान् करोति द्वितीयः पुनरेवं नप्रजमानो ऽज्ञानभावे । तदेव व्याख्यानयति च-स्यादिकसदपि यासादिद्वाराणि ॥ सम्प्रति यदुक्तं "एएसि दायगाण गहण केसि चि होइ भइयव्वमित्यादि" तत्र प्राचिन्त्यासु प्रथ-मतो बालमाधिकृत्य भजनामाह ॥

भिक्खामेत्ते अवियारणा उ बालेण दिज्जमाणम्मि ।
संदिट्ठे वा गहणं, अइबहुयवियालणे णुन्ना ।

मातुः परोक्षे भिक्षामात्रे बालेन दीयमाने अविचारणा कल्पते इह न वैति विचारणाया अपि भाव किन्तु ग्रहणं भिक्षाया भवति । अतिबहुके तु बालेन दीयमाने किमद्य त्वं प्रभूतं ददासीति विचा-रणे सति अनुज्ञा पार्श्ववर्तिमात्रादिसम्बन्धिमुत्कलना भवति तदा ग्राह्यं नान्यथा । सम्प्रति स्थविरमत्तविषयां भजनामाह ।

थेरपहु थरथरंते, धरिए अन्नेण दढसरीरे वा ।
अव्वत्तमत्तसड्ढे, अविब्भले वा असागारिए ।

स्थविरो यदि प्रभुर्भवति (थरथरति त्ति) कम्पमानो यदि अन्येन विधृतो वर्त्तते स्वरूपेण वा दृढतरशरीरो भवति तर्हि ततः कल्पते । यथा अव्यक्त मनाक् यो मत्त सोऽपि च यदि श्राद्धोऽ विह्वलश्चापरवशश्च भवति । तस्मादेवंविधान्मत्तात् तत्र साग-रिको न विद्यते तर्हि कल्पते नान्यथा । उन्मत्तादिचतुष्कविषयां भजनामाह ।

सुइभद्दगदित्ताई-दढग्गहो वेविए जरम्मि सिवे ।
अन्नधरियं तु सढो, देयं धन्नेण वा धरियं ।

उन्मत्तो दृप्तादिर्यो महगृहीतादिः स चेत् शुचिर्भद्रकश्च भवति तदा तद्धस्तात्कल्पते नान्यथा । वेपितोऽपि यदि दृढहस्तो भवति न हस्तेन गृहीतं किमपि तस्य पतति तदा तस्मादपि कल्पते । ज्वरितादपि ग्राह्यम् । ज्वरे शिवे सति । अन्धोऽपि यदि देय वस्तु अ येन पुत्रादिना धृतं ददाति स्वरूपेण श्राद्धश्च यदि वा स एवा-न्धोऽन्येन विधृतः सन् देयं ददाति तर्हि ततो ग्राह्य नान्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । त्वग्दोषादिपञ्चविषयां भजनामाह ।

मंडलपसुत्तिकुट्ठी,असागारिए पाउया गए अयले ।
कमबद्धे सवियारे, इयरविरुद्धे असागारिए ।

गामसानि कुत्ताकारादिविदोषरूपाणि प्रसृतिर्नखादिविदारणेऽ-पि चेतनाया असंभवस्तद्रूपो यः कुष्ठो रोगविशेषः सोऽस्यास्तीति मण्डलप्रसुप्तिकुष्ठी स चेदसागारिके सागारिकाभावे ददाति तर्हि तत कल्पते न शेषकुष्ठिन सागारिकं वा पश्यति पादुकारूढोऽपि यदि अचलस्थानस्थितस्तदा कारणे सति कल्पते । तथा क्रमयोः पादयोर्बद्धो यदि सविचार इतश्चेतश्च पीठाम-न्तरेण गन्तु शक्तस्ततो बद्धादपि तस्मात्कल्पते । इतरस्तु य इतश्चेतश्च गन्तुमशक्तः स चेदुपविष्ट सन् ददाति न च कोऽपि च तत्र सागारिको विद्यते तर्हि ततोऽपि कल्पते हस्तवरस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोति तत्र प्रतिषेध एव न भजना उपलक्ष-णमेतत । तेन छिन्नकरोऽपि यदि सागारिकाभावे ददाति तर्हि न कल्पते छिन्नपादो वा उपविष्ट सन् सागारिकाभावे प्रयच्छति ततस्ततोऽपि कल्पते । नपुंसकादित्रिकविषयां भजनामाह ।

पिंभग अप्पडिसेवी, वेलाथणजीविणेरियसव्वं ।
उक्खित्तमणावाए, अकिंचिलग्गे ठवंतीए ॥

नपुंसको यदि अप्रतिसेवी लिङ्गाद्यनासेवकस्तर्हि तत कल्पते तथा आपन्नसत्त्वाऽपि यदि (वेलत्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् वेला मासप्राप्ता न भवति । नवममासगर्भा यदि भव-तीत्यर्थः तर्हि स्थविरकल्पिकैः परिहार्या । अर्थात्तद्विपरीतायाः हस्तात्स्थविरकल्पिकानामुपकल्पते इति द्रष्टव्यम् । तथा याऽपि बालवत्सा स्तन्यमात्रोपजीविशिशुका सा स्थविरकल्पिकानां परिहार्या न ततः स्थविरकल्पिकानामपि कल्पते किमपीति भाव । यस्यास्तु बाल आहारेऽपि लगति तस्या हस्तात्कल्प-ते । स हि प्राय शरीरेण महान् भवति ततो न मार्जारादिवि-राधनादोषप्रसङ्ग । ये तु भगवन्तो जिनकल्पिकास्ते मूलत-एवापन्नसत्त्वां बालवत्सां च सर्वथा परिहरन्ति । एव भुञ्जा-नाभर्जमानादलन्त्योष्वपि भजना भावनीया । सा चैव भुञ्जाना अनुच्छिष्टा सती यावदद्यापि न कवलं मुखे प्रक्षिपति तावत्त-द्धस्तात्कल्पते । भर्जमानाऽपि यत्सचित्त गोधूमादिकं डिल्लके क्षिप्त तद्भ्रष्टोत्तारितमन्यच्च नोऽद्यापि हस्तेन गृह्णाति अत्रा-न्तरे यदि साधुरायातो भवति सा चेद्ददाति तर्हि कल्पते । तथा दलयन्ती सचित्तमुद्गादिना दल्यमानेन सह घरट्टं मुक्तवती अत्रान्तरे च साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति अचेतनं वा भ्रष्टं मुद्गादिकं दलयति तर्हि तद्धस्तात्कल्पते । कण्डयन्त्या कण्ड-नायोत्पाटितं मुशलं न च तस्मिन् मुशले किमपि काञ्च्या बीजं लग्नमस्ति अत्रान्तरे च समायातः साधुस्ततो यदि साऽनपाये प्रदेशे मुशलं स्थापयित्वा भिक्षां ददाति तर्हि कल्पते पिप-न्यादिविषयां भजनामाह ॥

पीसंती निप्पिट्ठे, फासं वा फुसुअणे असंसत्तं ।
कत्तण असंखचुन्नी, छिन्ने वा जा अवोक्खलिणी ॥
उव्वट्टेण असंस-त्तेण वि अट्ठिल्लए न घट्टेइ ।
पिंजणपमद्दणेसु य, पच्छाकम्मं जहा नत्थि ॥

पिषन्ती निष्पिष्टे पेषणपरिसमाप्तौ प्रासुकं वा पिषन्ती यदि ददाति तर्हि तस्या हस्तात्कल्पते। तथा फुसुकरणे असंसक्तं दध्यादि मन्थन्त्याः कल्पते। तथा कर्तने या अशङ्खचूर्णशङ्खचूर्णखरण्टितहस्तं कृन्तति। इह काचित् स्विन्नस्यातिशयखेदताऽपनोदाय शङ्खचूर्णेन हस्तौ जङ्घां च खरण्टयित्वा कृन्तति तत उच्यते। अशंखचूर्णमिति। अथवा चूर्णमपि शंखचूर्णमपि अग्रहस्तात्कृन्तन्ती या (अवोक्खलिणी) अभुक्ताशीलानां जलेन हस्तौ प्रक्षालयतीति भावः। तस्या हस्तात्कल्प्यते। तथा उद्वर्त्तनेन कार्पासलोठने (असंसत्तेण वा वित्ति) असंसक्तेनागृहीतकार्पासेन हस्तेनोपलक्षिता सती यदि उत्तिष्ठति (अट्ठिल्लयत्ति) अस्थिकान् कार्पासिकानित्यर्थः। न घट्टयति तदा तद्धस्तात्कल्पते। पिञ्जनप्रमर्द्दनयोरपि पश्चात्कर्म न भवति। तथा ग्राह्यमिति।

सेसेसु य पडिवक्खे, न संभवइ कायगहणमाईसु ।
पडिवक्खस्स अभावे, नियमाउ भवे तदग्गहणं ॥

शेषेषु कायेषु (कायगहणमाईसु) षट्कायव्यग्रहस्तादिषु प्रतिपक्ष उत्सर्गापेक्षयाऽपवादरूपो न विद्यते न संभवति ततः प्रतिपक्षस्याभावो नियमात् भवति। तथा ग्रहणमिति। उक्तं दायकद्वारम्। अथोन्मिश्रद्वारमाह।

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसगउम्मीसगम्मि चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह यन्नोन्मिश्र्यते ते द्वे अपि वस्तुनी त्रिधा। तद्यथा सचित्ते अचित्ते मिश्रे च। तत उन्मिश्रके मिश्रकतश्चतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचन ततस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति वेदितव्यम् तत्र प्रथमा सचित्तमिश्रपदाभ्यां द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्यामिति। तत्र सचित्तमिश्रपदाभ्यामियं सचित्ते सचित्तम्। मिश्रे सचित्तम्। सचित्ते मिश्रम्। मिश्रे मिश्रमिति। द्वितीया त्वियं। सचित्ते सचित्तम्। अचित्ते सचित्तम्। सचित्ते अचित्तम्। अचित्ते अचित्तमिति। तृतीया इय मिश्रे मिश्रम्, अचित्ते मिश्र, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति। तत्र गाथापर्यन्ते तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाद्यायां चतुर्भङ्गिकायां सकलायामपि प्रतिषेधः विशेषचतुर्भङ्गीद्वये प्रत्येकमादित्रिके आदिमेषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे तु भङ्गे भजना वक्ष्यमाणा।

अत्रैवातिदेशं कुर्वन्नाह ।

जह चेव य संजोगा, कायाणं हेट्ठओ य साहरणे ।
तह चेव य उम्मीसे, होइ विसेसइमो तत्थ ॥

यथा चैवाध· प्राक् संहरणद्वारे कायानां पृथिवीकायानां सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानां स्वस्थानपरस्थानाभ्यां संयोगभङ्गाः प्रदर्शिता द्वात्रिंशदाधिकचतुःशतसंख्याप्रमाणास्तथैवोन्मिश्रेऽपि उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा। सचित्तः पृथिवीकाय· सचित्तपृथिवीकाये उन्मिश्रे उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा सचित्त पृथिवीकायः सचित्ताप्काय उन्मिश्रे इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया षट्त्रिंशत्संयोगा· एकैकस्मिंश्च संयोगा· सचित्तमिश्रपदाभ्यां सचित्ताचित्तपदाभ्यां मिश्राचित्तपदाभ्यां च प्रत्येकं चतुर्भङ्गीति द्वादशभिर्गुणिता जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि न तु संहिते उन्मिश्रे च। सचित्तादिवस्तुनः सचित्तादिवस्तुनिक्षेपान्नास्ति परस्परं विशेषः। अत आह तत्र तयोः संहृतोन्मिश्रयोर्भवति परस्परमर्थविशेषे वक्ष्यमाणः। तमेवाह।

दायव्वमदायव्वं च, दोइ दव्वाइ देइ मीसाइं ।
ओयणकुसुणाईणं, साहरणतयम्मि होहु ॥

दातव्यं साधुदानयोग्यमितरददातव्य तच्च सचित्तं मिश्रं तुषादिर्वा ते द्वे अपि द्रव्ये मिश्रयित्वा यद्ददाति यथौदनं कुथितेन दध्यादिना मिश्रयित्वा तत उन्मिश्रे एवंविधमुन्मिश्रलक्षणमित्यर्थः। संहरण तु यद्भाजनस्थमदेयं वस्तु तदन्यत्र क्वापि स्थगनिकादौ संहृत्य ददाति। ततोऽयमनयोः परस्पर विशेषः द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कचतुर्भङ्गीभजनामाह।

तं पि य सुक्खे सुक्खं, भंगा चत्तारि जहेव साहरणे ।
अप्पबहुए वि चउरो, तहेव आइन्नणाइन्ने ॥

यदि च तदचित्त मिश्रयति तदपि तत्रापि शुष्के शुष्कं मिश्रितमित्येव भङ्गाश्चत्वारो यथा संहरणे। तद्यथा शुष्कमुन्मिश्र शुष्के शुष्केभार्द्रमार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रमिति। तत एकैकस्मिन् भङ्गे संहरणे इव अल्पबहुत्वे अधिकृत्य चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं, स्तोके शुष्के बहुकं शुष्कमिति। एवं शुष्के आर्द्रमित्यादावपि भङ्गत्रिके प्रत्येक चतुर्भङ्गी भावनीया सर्वसंख्यया भङ्गा· षोडश। तथा तथैव संहरणे इव आचीर्णानाचीर्णे कल्प्याकल्प्यमुन्मिश्रे ज्ञातव्या·। तद्यथा शुष्के शुष्कमित्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां प्रत्येकं यौ द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तोके स्तोकमुन्मिश्रं बहुके स्तोकमित्येवंरूपौ तौ कल्प्यौ दातृपीडादिदोषाभावात् स्तोके बहुक बहुके बहुकमित्येवरूपौ तु यौ द्वौ भङ्गौ तावकल्प्यौ तत्र दातृपीडादिदोषसंभवात् शेषाश्चभावा यथासंभव संहरण इव वक्तव्याः। उक्तमुन्मिश्रद्वारम्।

इदानीमपरिणतद्वारमाह ॥

अपरिणयं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमिक्केक्कं ।
दव्वम्मि होइ छक्कं, भावम्मि य होइ सज्झिलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविध तद्यथा द्रव्ये द्रव्यत्वविषयं भावे भावत्वविषयं द्रव्यरूपमपरिणत भावत्वमपरिणत चेत्यर्थ·। पुनरप्येकैक दातृगृहीतृसंबन्धात् द्विधा। तद्यथा द्रव्यापरिणतं दातृसत्क च एवं भावापरिणतमपि। तत्र द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह।

जीवत्तम्मि अविगए, अपरिणयं परिणयं गए जीवे ।
दिट्ठंतो दुद्धदही, इय अपरिणयं परिणयं तं च ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अभ्रष्टे पृथिवीकायादिक द्रव्यमपरिणतमुच्यते गते तु जीवे परिणतम्। अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी। यथाहि दुग्धत्वात्परिभ्रष्ट दधिभावमापन्न परिणतमुच्यते दुग्धभावे वाऽवस्थिते अपरिणतमेव पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वात्परिभ्रष्टमपरिणतमुच्यते जीवेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति। ते च यदा दातु सत्तायां वर्तन्ते तदा दातृसत्क यदा तु ग्रहीतु· सत्तायां तदा ग्रहीतृसत्कमिति।

सम्प्रति दातृविषयं भावापरिणतमाह।

दुगमाइसामन्नं, जइ परिणमइ तत्थ एगस्स ।
देमि त्ति न सेसाणं, इय अपरिणयं भावओ एयं ॥

एवं द्विकादिसामान्ये भ्रात्रादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद्ददामीत्येवं भाव परिणमति शेषाणां नैतत् तद्भावतोऽपरिणमनात् तद्भावापेक्षया देयतयाऽपरिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावपरिणतस्य च कः परस्परं प्रतिविशेषः उच्यते साधारणानिसृष्टे दायकपरोक्षत्वे दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति । सम्प्रति गृहीतविषय भावापरिणतमाह ।

एगेण वा वि तेसिं, मणम्मि परिणामियं न इयरेण ।
तं पि हु होइ अगेज्झं,सज्झिलगा सामिसाहू य ॥

एकेनापि केनचिद् अग्रेतनेन पाश्चात्येन वा एषणीयमिति मनसि परिणमितं न इतरेण द्वितीयेन तदपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधूनामग्राह्यं शङ्कितत्वात्कलहादिदोषसम्भवाच्च । सम्प्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह(सज्झिलगेत्यादि) तत्र दातृविषयं भावापरिणत भ्रातृविषयं स्वामिविषय च ग्रहीतृविषयं भावापरिणत साधुविषयम् । उक्तमपरिणतद्वारम् । सम्प्रति लिप्तद्वार वक्तव्य तत्र लिप्तं यत्र दध्यादिद्रव्यलेपो लगति तच्च न ग्राह्यम् ।

घेत्तव्वमलेवकडं, लेवकडे मा हु पच्छकम्माई ।
न य रसगेहि पसंगो, इइ वुत्ते चोयगो भणइ ॥

इह साधुना सदैव ग्रहीतव्यमलेपकृत वल्लचनकादि मा भूवन् लेपकृति गृह्यमाणे पश्चात्कर्मादयो दध्यादिलिप्तहस्तादिप्रक्षालनादिरूपा दोषा आदिशब्दात्कीटिकादिसंसक्तवक्त्रादिप्रोञ्छनादिपरिग्रह । अतो लेपकृन्न ग्रहीतव्यम् । अलेपग्रहणे गुणमाह । न च सदैवालेपकृतो ग्रहणे रसगृद्धिप्रसङ्गो रसान्यवहारलाम्पट्यवृद्धिस्तस्मात्तदेव साधुभिः सदैवान्यवहार्यम् । एवमुक्ते सति चोदको भणति ।

जइ पच्छकम्मदोसा, हवंति मा चेव भुंजऊ सययं ।
तवनियमसंजमाणं, चोयगहाणी खमंतस्स ॥

यदि लेपकृद्ग्रहणे पश्चात्कर्मदोषाः पश्चात्कर्मप्रभृतयो दोषा भवन्ति ततस्तन्न गृह्यते तर्हि मा कदाचनापि साधुर्भुङ्क्ताम् । एव हि दोषाणां सर्वेषां मूलत एवोत्थान निषिद्धं भवति । सूरिराह हे चोदक ! सर्वकाल क्षमापयतोऽनशनतपोरूप क्षपण कुर्वतः साधोश्चरमकालम्भवे तपोनियमसयमानां हानिर्भवति तस्मान्न यावज्जीव क्षपण कार्यम् । पुनरपि पर प्राह यदि सर्वकाल क्षपण कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासक्षपण कृत्वा पारणकमलेपकृता विधत्तम् । गुरुराह यद्येव कुर्वन् तप सयमयोगान् कर्तुं शक्नोति तर्हि करोतु न कोऽपि तस्य निषेधः । ततो भूयोऽपि चोदको ब्रूते । यद्येव तर्हि षण्मासान् उपोष्याचाम्लेन भुङ्क्तां न तेन तच्छक्नोति तत एकदिनहान्या तावत्परिभावयेत् यावच्चतुर्थमुपेत्याचाम्लेन पारणक करोति एव "मप्पसंस्तरेणत्ति" सदैवालेपकृन्न गृह्णीयात् । अमुमेव गाथया निर्दिशति ।

लिंचंति भाणिऊणं, छम्मासा हायए चउत्थं तु ।
आयंबिलस्स गहणं, असंथरे अप्पलेवं तु ।

लिप्त सदोषमिति भणित्वा अलेपकृतभोक्तव्य तीर्थकरगणधरैरनुज्ञातमिति गुरुवचनम् अत्र चोदक आह । यावज्जीवमेवन भुङ्क्तां न चेत् यावज्जीवमभोजने न शक्नोति तर्हि षण्मासानुपोष्य आचाम्लेन भुङ्क्तां न चेदेवमपि शक्नोति तत एकादिनाऽपि हान्या तावदात्मानं तोषयेत् यावच्चतुर्थमुपोष्याचाम्लस्य ग्रहण करोतु एवमप्य-

संस्तरेण अशक्तौ अल्पलेप गृह्णन् पानमेव गाथाद्वयेन विवृणोति

आयंबिल पारणए,छम्मासनिरंतरं तु खविऊणं ।
जइ न तरइ छम्मासे, एगदिणूण तओ कुणइ ।
एवं एक्केकदिणं, आयंबिलपारणं ठवेऊण ।
दिवसे दिवसे गिण्हउ, आयंबिलमेव निल्लेवं ।

यदि सर्वकाले क्षपण कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासान्निरन्तरं क्षपयित्वा पारणके आचाम्लं करोतु । यदि षण्मासानुपवस्तुं न शक्नोति तत एकदिनोन तु करोतु । एव षण्मासावधिरेकैकदिनं परित्यज्याचाम्लेन पारणकं तावत्करोतु यावच्चतुर्थमेवमप्यशक्तौ प्रतिदिनं निर्लेपमाचाम्लमेव गृह्णातु ।

जइ से न जोगहाणी, संपइए से व होइ तो खमओ ।
खमणंतरेण आयं–बिलं तु नियमं तवं कुणइ ।

यदि (से) तस्य साधोः सम्प्रति दात्री एष्यति वा कालेन योगहानिः सम्प्रत्युपेक्षणादिरूपसंयमयोगभ्रंशो न भवति तर्हि भवानुक्षपकः षण्मासाद्युपकर्ता तत्र च क्षपकमानानामेकैकदिनहान्या पूर्वोक्तस्वरूपाणामनन्तरं यावत्षण्मासावधिरपोऽय करोतु एवमप्यशक्तौ नियत सदैव आचाम्लरूप तपः करोतु केवलं सम्प्रति सेवार्तसहननानां नास्ति तादृशी शक्तिरिति न तथोपदेशो विधीयते । पुनरपि पर आह ॥

हिंडावणिकोसलगा, सोवीरगकूरभोयणो मणुया ।
जइ ति विजयंति तहा, किं नाम जई न जावेंति ॥

अधो वा मम ये महाराष्ट्रा कोशलका कोशलदेशोद्भवा सदैव सौवीरककूरमात्रभोजिनस्तेऽपि च सेवार्तसंहननास्ततो यदि तेऽपीत्थं यापयन्ति यावज्जीव तर्हि तथा सौवीरकमात्रभोजनेन किन्न यतयो मोक्षगमनकृतैकरूक्षका यापयन्ति ते सुतरामेव यापनीय प्रभूतगुणसम्भवात् । अत्र सूरिराह ॥

तिय सीयं समणेण, तिय उण्हं गिहीण तेणणुन्नायं ।
तक्काईणं गहणं, कठरमाईसु भइयव्वं ॥

त्रिक वक्ष्यमाण शीत श्रमणानां तेन प्रतिदिवसमाचाम्लकरणे तक्राद्यभावत आहारपाकासम्भवेनाजीर्णादयो दोषा प्रादुर्ष्यन्ति तदेव त्रिकमुक्त गृहिणां तेन सौवीरकमात्रभोजनेऽपि तेषामाहारपाकभावतो नाजीर्णादिदोषा जायन्ते ततस्तेषां तथा प्रयततामपि न कश्चिद्दोषः साधूनां तूक्तनीत्या दोषास्तेन कारणेन तक्रादिग्रहण साधूनामनुज्ञातम् । इह आयो यतिना विकृतिपरिभोगपरित्यागेन सदैवात्मशरीरयापनीय कदाचिदेव च शरीरस्यापाटवे सयमयोगवृद्धिनिमित्त बलाधानमायविकृतिपरिभोग । तथा चोक्तं सूत्रे " अभिक्खणं निव्विगई गया य इत्ति " निर्विकृतिपरिभोगे च तक्राद्येवोपयोगीति तक्रादिग्रहण कठरादिषु घृतवटिकोन्मिश्रतीमनादिषु ग्रहण भाज्य विकल्पनीयम् । ग्लानत्वादिप्रयोजनोत्पत्तौ कार्यं न शेषकालमिति तेषा बहुलेपत्वात् गृद्ध्यादिजनकत्वाच्च । अथ किं तत्त्रिकमित्यत आह ॥

आहार उवहि सेज्जा,तिन्नि वि उण्हा गिहीण सीए वि ।
तिन्नि उ जीरइ तेसिं, तहउ उसिणेण आहारो ॥

आहार उपधि शय्या त्रीण्यपि गृहिणां शीतेऽपि शीतलेऽपि उष्णानि भवन्ति ततो जीर्यते विग्रहमन्तरेणापि (चहवत्ति) उभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चोष्णेन तापेनाहारो जीर्यते । तत्राभ्यन्तरो भोजनवशात् बाह्य शय्योपधिवशात् ॥

एयाई वि य तिन्नि वि, जईण सीयाइं होंति गिण्हे वि ।
तेणुवहम्मइ अग्गी, तत्तो य दोसो अजीरणाइ ॥

एतान्येव आहारोपधिशय्यारूपाणि त्रीणि यतीनां ग्रीष्मेऽपि ग्रीष्मकालेऽपि शीतानि भवन्ति तत्राहारस्य शीतता भिक्षाचर्यां प्रविष्टस्य बहुकगृहेषु स्तोकास्तोकलम्भेन बहुवेलालगनात् उपधेरेकमेकवार वर्षमध्ये वर्षाकालादर्वाक् प्रक्षालनेन मलिनत्वात् । शय्यायास्तु प्रत्यासन्नाग्निकरणाभावेन तेन कारणेन ग्रीष्मकालेऽप्याहारादीनां शीतत्वसंभवरूपेणोपहन्यते । अग्निर्जाठरो वह्नि । तस्माच्चाग्न्युपघातो दोषा (अजीरणाइत्ति) अजीर्णबुभुक्षामान्द्यादयो जायन्ते । ततस्तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातं तक्रादिनापि हि जाठरोग्निरुद्दीप्यते तेषामपि तथा स्वभावत्वात् । संप्रत्यलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति ।

ओयणमंडगसत्तुय-कुम्मासरायमासकलवट्टा ।
तुयरि मसूरि मुग्गा-मासा य अलेवकडा सुक्खा ॥

ओदनस्तन्दुलादिभक्तं मण्डका कणिक्कमयाः प्रतीता एव । शक्तवो यवा क्षोदरूपाः । कुल्माषा उडदाः राजमाषाः सामान्यतश्चवलाः श्वेतचवलिका वा । कला वृत्तचनकाः सामान्येन वा चनकाः । तुवरा आढकी । मसूरा द्विदलविशेषाः । मुद्गा माषाश्च प्रतीताः । चकारादन्येऽप्येवंविधधान्यविशेषाः शुष्का अनार्द्रा अलेपकृताः । संप्रत्यल्पलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति ॥

उब्भिज्जपेज्जकंगु, तक्कोल्लणसूवकंजिकढियाइं ।
एए उ अप्पलेवा, पच्छा कम्मं तहा भइयं ॥

उद्भेद्या वस्तुलप्रभृतिशाकभर्जिका पेया यवागूः कङ्गुः कोद्रवौदनः । तक्रं तक्राख्यम् उल्लणं येनौदनमनार्द्रीकृत्योपयुज्यते । सूपो राद्धमुद्गदाल्यादिः काञ्जिकं सौवीरं क्वथितं तीमनादि । आदिशब्दादन्यस्यैवंविधस्य परिग्रहः । एतानि द्रव्याण्यल्पलेपानि । एतेषु पश्चात्कर्म भाज्यं कदाचिद्भवति । कदाचिन्नेति भावः । संप्रति बहुलेपानि द्रव्याणि दर्शयति ॥

खीरदहिजाउकड्ढर, तेल्लघयं फाणियं सपिंडरसं ।
इच्चाई बहुलेवं-पच्छा कम्मं तहिं नियमा ॥

क्षीरं दुग्धं दधि प्रतीतं क्षीरपेया कट्टरं प्रागुक्तस्वरूपं तैलं घृतं च प्रतीतं फाणितं गुडपानकं सपिण्डरसम् अतीचारसाधिकं खर्जूरादि इत्यादि द्रव्यजातं बहुलेपं द्रष्टव्यम् । तत्र च पश्चात्कर्म नियमतः । अत एव यतयो दोषभीरवस्तानि न गृह्णन्ति । यदुक्तं "पच्छाकम्मं तहिं भइयंति" । संप्रति तामेव भजनामष्टभङ्गिकया दर्शयति ॥

संसट्ठेयरहत्थो, मत्तो वि य दव्वसावसेसियरं ।
एएसु अट्ठभंगा, नियमा गहणं तु एएसु ॥

दातुः संबन्धी हस्तः संसृष्टोऽसंसृष्टो वा भवति । येन च कृत्वा भिक्षां ददाति तदपि मात्रं संसृष्टमसंसृष्टं वा द्रव्यमपि सावशेषमितरद्वा असावशेषम् । एतेषां च त्रयाणां पदानां संसृष्टहस्तासंसृष्टमात्रसावशेषद्रव्यरूपाणां सप्रतिपक्षाणां परस्परसंयोगतोऽष्टौ भङ्गा भवन्ति ते चामी । संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् । १ । संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ २ ॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ३ ॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ४ ॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ५ ॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ६ ॥ असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ७ ॥ असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ८ ॥ एतेषु चाष्टसु भङ्गेषु मध्ये येन ओजस्सु विषमेषु भङ्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमेषु ग्रहणमादानं कर्तव्यम् न समेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमरूपेषु इयं चात्र भावना । इह हस्तो मात्रं वा द्वे वा संसृष्टे भवतोऽसंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म संभवति किंतर्हि द्रव्यवशेन तथा हि यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैते खरण्टिते अपि न दात्री प्रक्षालयति भूयोऽपि परिवेषणसंभवात् । यत्र तु निरवशेषं द्रव्यं तत्र साधुदानानन्तरं नियमतस्तद्द्रव्याधारस्थालीं हस्तं मात्रं वा प्रक्षालयति । ततो द्वितीयादिषु भङ्गेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्मसंभवान्न कल्पते प्रथमादिषु न पश्चात्कर्मसंभवस्ततः कल्पते इति । उक्तं लिप्तद्वारम् । अथ छर्दितद्वारमाह ॥

सच्चित्ते अच्चित्ते-मीसग तह छड्डणे य चउभंगे ।
चउभंगे पडिसेहो, गहणे आणाइणो दोसा ॥

छर्दितमुज्झितं त्यक्तमिति पर्यायाः तच्च त्रिधा तद्यथा सचित्तमचित्तं मिश्रं च तदपि च । कदाचिच्छर्द्यते सचित्ते सचित्तमध्ये कदाचिदचित्ते कदाचिन्मिश्रे तत एवं छर्दिते सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामाधारभूतानामाधेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनं ततोऽयमर्थस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति । तद्यथा सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया । तत्र सचित्ते सचित्तं छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति । प्रथमा । सचित्ते सचित्तम्, अचित्ते सचित्तं, सचित्ते अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्रम् अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया । सर्वे संख्यया द्वादश भङ्गाः । सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तपृथिवीकायमध्ये छर्दितं इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थानाभ्यां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् विकल्पास्तत षट्त्रिंशत् द्वादशभिर्गुणितानि जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि । एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो भक्तादिग्रहणे निवारणम् । यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञादय आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपदोषाः । इहाद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादौद्देशिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः । संप्रति छर्दितग्रहणे दोषानाह ।

उसिणस्स छड्डणे दें-ते उवडज्झेज्ज कायदाहो वा ।
सीययपणम्मि काया, पडिए महु विंदुआहरणं ॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने समुज्झने ददमानो वा भिक्षां दह्येत भूम्याश्रितानां वा कायानां पृथिव्यादीनां दाहः स्यात् । शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः कायाः पृथिव्यादयो विराध्यन्तेऽत्र पतिते मधुबिन्दूदाहरणम् । वारत्तपुरं नाम नगरं तत्राभयसेनो नाम राजा तस्यामात्यो वारत्तकोऽन्यदा चात्वरितमचपलमसंभ्रान्तमेषणासमितिसमितो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटन् तस्य गृहं प्राविशत् । तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय प्रभूतघृतखण्डसंमिश्रपायसभृतस्थालमुत्पाटितवती । अत्रान्तरे च कथमपि ततः खण्डमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपतितः । ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वसहः शङ्ख इव रागादिभिरञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा तस्मान्न मे कल्पते इति परिभाव्य ततो निर्जगाम । वारत्तकेन चामात्येन मत्तवारणस्थि-

तेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन् चिन्तयति च स्वचेतसि किमनेन भगवता न गृह्यतेऽस्मद्गृहे भिक्षेति । एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तद्भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतविन्दुं मक्षिकाः समागत्याऽश्रयन् तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका गृहगोधिकाया अपि विघाताय चलितः सरटः तस्यापि च भक्षणाय प्रधावतिस्म मार्जारी तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यश्वा ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरभूत्परस्परं कलहस्ततः स्वस्वसारमेयपराभवदूनमनस्कतयो प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्परं महद्युद्धम् । एतच्च सर्वं धारत्तकामात्येन परिभावितं ततश्चिन्तयति स्वचेतसि घृतादेर्विन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यतः एवमधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतविन्दुं भूमौ निपतितमवलोक्य भिक्षां न गृहीतवान् । अहो सुदृष्टो भवति प्राप्तधर्मा को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिनं धर्ममुपदेष्टुमीशो न खल्वन्धो रूपविशेषं जानाति । एवमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपायं धर्ममुपदेष्टुमलम् । तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः । एष च मे जिनो देवता तदुक्तमेव चाऽनुष्ठानं मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखश्रो मुक्तिवनिताश्लेषसुखलम्पटः सिंह इव गिरिकन्दरया निजप्रसादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत् । स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्याये भावितान्तःकरणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य जातप्रततकर्मा समुच्छलितदुर्निवार्यप्रसरः क्षपकश्रेणिमारुह्य घातितकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान्, ततः कालक्रमेण सिद्ध इति । उक्तमेषणाद्वारम् । पिं० । ध० । दर्श० । ग० । प० व० । पंचा० । महा० । स्था० । आचा० । प्रव० । (एषणायाः शङ्कितादयो दश दोषास्ते चाचाराङ्गे पिण्डाधिकारे एवैषणादोषमधिकृत्योक्तास्ते च गोयरचरियाशब्दे व्याख्यास्यन्ते)

(६) एतेषां शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वं यथा शङ्कितं शङ्कितदोषः अत्र चत्वारो भेदाः शङ्कितग्राही शङ्कितभोजी निःशङ्कितग्राही शङ्कितभोजी २ शङ्कितग्राही निःशङ्कितभोजी ३ निःशङ्कितग्राही निश्शङ्कितभोजी ४ म्रक्षितं द्वेधा सचित्ताचित्तम्रक्षितं वा । आद्यं त्रिधा पृथिव्यब्वनस्पतिभेदात् । ततः पृथिवीम्रक्षितं चतुर्द्धा सरजस्कं सचित्तं पृथिवीरजोगुण्ठितं तच्च तन्म्रक्षितं च सरजस्कम्रक्षितं मिश्रसचित्ताचित्तरूपः कर्दमस्तेन म्रक्षितं मिश्रकर्दमम्रक्षितं मिश्रोऽपरिणतसचेतनकर्दमस्तेन म्रक्षितमिति मिश्रकर्दमम्रक्षितम् । ऊषमृत्तिका हरितालहिङ्गुलकास्ततः शिलाञ्जनलवणगैरिकाश्चेत्यादिका ऊषरकादि पृथ्वीकायम्रक्षितं च अप्कायम्रक्षितं पुरःकर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धोदकार्द्ररूपं चतुर्भेदं दानात्पूर्वं हस्तमात्रकायक्षालने पुरःकर्म दानानन्तरं क्षालने पश्चात्कर्म सस्निग्धमीषदुदकयुक्तमुदकार्द्रमुदकबिन्दुयुक्तम् । वनस्पतिम्रक्षितं द्विधा प्रत्येकानन्तभेदात् प्रत्येकम्रक्षितं त्रिधा पृष्टं आम तन्दुलचोदविकुक्कुसा प्रतीता उत्कृष्टकलिङ्गाम्रत्रापुष्यादिफलादीनां शकलीकृतानि खण्डानि अम्लिकापत्रसमुदायो वा उदूखलखण्डितैर्म्रक्षितं प्रत्येकवनस्पतिम्रक्षितं कुट्टितानन्तम्रक्षितं द्वितीयस्य पश्यतोऽपि भावापरिणतत्वेन । गृहीतभावापरिणतं तु अनन्तम्रक्षितम् अचित्तम्रक्षितं द्विधा गर्हितागर्हितभेदात् गर्हितैर्मांसवसाशोणितसुरामूत्रोच्चारादिभिः शिष्टजनस्याभक्ष्यापेयैर्म्रक्षितं गर्हिताचित्तम्रक्षितम् संभजन्ति विगलन्ति संलपत्वात्कीटिकामक्षिकादयो येषु दध्यादिषु तानि ससत्त्वानि तैः १ अगर्हितैरचित्तैर्म्रक्षितमगर्हितससत्त्वाचित्तम्रक्षितं २ निक्षिप्तं सचित्तादौ न्यस्तं ३ पिहितं सचित्तादिभिः स्थगितं ४ संहृतं येन हस्तमात्रा कणदात्री साधोरशनादिकं दास्यति तत्र शिष्यादिकं वा यदि स्यात्तदन्यत्र सचित्तेऽचित्ते वा क्षिप्त्वा तेन यद्ददाति तत्संहृतं ५ दायकदोषा बालादिभिर्दीयमाने ६ उन्मिश्रं सचित्तादिभिर्मिश्रितम् ७ । अपरिणतं द्वेधा द्रव्यभावभेदात् तत्र सचित्तं वस्तु दीयमानं द्रव्यापरिणतं भावापरिणतं द्विधा दातृग्रहीतृभेदात् द्वयोः साधारणेऽन्नादावेकेन दीयमाने द्वितीयस्य भावोऽपरिणतो न दानपरिणामवान् तद्दातृभावापरिणतम् । अत्राह अनिसृष्टस्य भावापरिणतस्य च को विशेषः । उच्यते द्वितीयादीनां परोक्षमेकस्यादद्तो निसृष्टं भवति भावापरिणतं तु यत्र द्वयोः साध्वोर्भिक्षार्थं गतयोरेकस्य मनसि तदन्नादिकमशुद्धं परिणतम् अन्यस्य च तदेव शुद्धमिति ८ । लिप्तदोषः दध्याद्युपलिप्तेन हस्तेन मात्रकेण चाऽन्नादिषु ग्रहणे पश्चात्कर्मादिसम्भवात् तथाचोक्तम् "घित्तव्वमिलेवकडं–माहु पुरेकम्म पच्छकम्माइ । न य रसगेहि पयं, सामुत्ते वसपीरा य" ९ छर्दितम् दीयमानस्याशनादेः पृथ्वीकायादिससत्त्वादि छर्दितम् १० ॥ जीत० । ग्रासैषणानिक्षेपे ग्रहणैषणां प्रतिपाद्योक्तम् । साम्प्रतं ग्रासैषणा उच्यते तथाचाह ।

दव्वे भावे घासे–सणा उ दव्वम्मि मच्छआहरणं ।
गलमंसुंडगजक्खण,गलस्स पुच्छेण घट्टणया ८१५ ।

सा च ग्रासैषणा द्विविधा द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यतो मत्स्योदाहरणम् "एगो किल मच्छबन्धो गुले मंसपिंडं दाऊण दहे छुहति तं च एगो मच्छो जाणइ जहा एस गलो त्ति सो परिसरं तेण मंसं खाइ जेण ताहे पराहुत्तो घेप्पए गलमाहणइ मच्छबंधो जाणइ एस गहिओत्ति । एवं तेण सव्वं खइयं मंसं खाय मच्छबंधो खइएण मंसेण अट्टिए लट्ठो अत्थइ तत्थ आहरण दुविह चरिय कप्पिय च । त च मच्छबंधं ओहयमणसंकप्पं झायंत दट्ठुं मच्छो भणइ अह पमत्तो चरंतो गहिओ बलाए गाहेतापयहे सा उक्खित्ता पच्छा गिलइ ताहे अहं वा कातीसमुद्दे पाडिओ एवं विइयं पि तिइयं पि उग्गालित्तो ताहे मुक्को अनया समुद्दे अहं गओ तत्थ मच्छबधा वलया महाइ करेंति करूपहिं ताहे समुद्दवेलापाणिएण सह अहं तत्थ वंकीकए कमे पविट्ठो ताहे तस्स करुगस्स अणुसारेण अतिगतो एवंति निरावलया सुहाओ मुक्को जालतो एक्कवीसं वाराउ फिडिओ किहि पुण जाहे जाले छूमं भवति ताहे ह जूमिं घेत्तूण अच्छामि तहा एक्कम्मि जिणोदयम्मि दहे अत्थिया अम्हे किं कह वि ण णायं जहा एसो दहे सुक्किहिति ताहे सो दहो सुक्को मच्छाणं थले गती णत्थि ते सव्वे सुक्कंते पाणिए मया केइ जीमंति तत्थ कोइ मच्छबंधो आगओ सो हत्थेण गहाय सूलए पोएत्ति ताहे मएणं ते तं अह पि अचिरा विज्झाहामि जाव ण विज्झामि ताव उपाय चिंतेमि ताहे तेसिं मच्छाणं अन्तराले सूलं मुहे गहिऊण ठिओ सो जाणइ एए सव्वे पोइलयासो गतूण अन्नाहिं दोह धोवइ । तत्थ अह मच्छयं घय करेंतो वे तुट्टाणो पाणिए पविट्ठो त एयारिस मनसत्त च हाविइच्छसि गलेघित्तु अहो ते निल्लज्जत्तणाति" ओघ० ।

(७) विस्तरेण ग्रासैषणा निक्षेपादिकं तत्र ।

संयोजनादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि तानि च ग्रासैषणारूपाणीति प्रथमतो ग्रासैषणाया निक्षेपमाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे घासेसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे मच्छाहरणं, भावम्मि य होइ पंचविहा ॥

ग्रासैषणा चतुर्द्धा । तद्यथा नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा द्रव्ये द्रव्यविषया ग्रासैषणा भावे भावविषया ग्रासैषणा । स्थापना ग्रासैषणा द्रव्यग्रासैषणाऽपि यावज्ज्ञशरीररूपा ग्रहणैषणा भावनीया । ज्ञशरीरव्यतिरिक्तायां तु ग्रासैषणायां मत्स्य उदाहरण दृष्टान्त. । भावविषया पुनर्ग्रासैषणा द्विधा । तद्यथा आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञातस्तत्र चोपयुक्तः । नो आगमतो द्विधा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता संयोजनादिदोषरहिताऽप्रशस्ता सयोजनादिरूपा तामेव निर्दिशति । "भावम्मि य" इत्यादि भावे भावविषया पुनर्ग्रासैषणा पञ्चविधा सयोजनादिभेदात्पञ्चप्रकारा । तत्र द्रव्यग्रासैषणोदाहरस्य सबन्धमाह ॥

चरियं च कप्पियं वा, ओहरणं दुविहमेव नायव्वं ।
अत्थस्स साहणट्ठा, इंधणमिव ओयणट्ठाय ॥

इह विवक्षितस्यार्थस्य साधनार्थं प्रतिपादनार्थं द्विविधमुदाहरण ज्ञातव्यम् । तद्यथा चरितं सकल्पितं च कथमिव विवक्षितस्यार्थस्य प्रसाधनायोदाहरण भवतीत्यत आह । इन्धनमिव ओदनार्थमिन्धनमिव ओदनस्येति भावस्तत्र प्रस्तुतस्यार्थस्य प्रसाधनार्थमिदं कल्पितमुदाहरणम । कोऽप्येको मत्स्यसंबन्धी मत्स्यग्रहणनिमित्तं सरो गतवान् गत्वा च तेन तदवस्थानाग्रभागे मांसपेसीसमेतो गलः सरो मध्ये प्रचिक्षिपे तत्र च सरसि परिणतबुद्धिरेको महादक्षो जीर्णमत्स्यो वर्तते स गलगतमांसगन्धमाघ्राय तद्भक्षणार्थं गलस्य समीपमुपागत्य यत्नतः पर्यन्ते सकलमपि मास खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य दूरतोऽपचक्राम । मत्स्यबन्धी च गृहीतो गलेन मत्स्य इति विचिन्त्य गलमाकृष्टवान् न पश्यति मत्स्यं पुनः मांसपेसीसहित गलं प्रचिक्षेप तथैव स मत्स्यो मांसं खादित्वा पुनश्च गलमाहत्य पलायितवान् । एव त्रीन् वारान् मत्स्यो मांसं खादितवान् न च गृहीतो मत्स्यबन्धिना ।

अह मंसम्मि पहीणे, झायंतं मच्छियं भणइ मच्छो ।
किं झायसि तं एवं, सुण ताव जहा अहिरिओसि ॥

अथ मांसे प्रक्षीणे ध्यायन्त मात्स्यिक मत्स्यो भणति यथा किं त्वमेव ध्यायसि चिन्तयसि शृणु तावत् यथा त्वमन्हीको निर्लज्जो भवसि ॥

तिवलागे मुहामुक्को. तिक्खुत्तो वलयामुहे ।
तिसत्तखुत्तो जालेणं, सइंछिन्नोदए दहे ॥

अहमेकदा त्रीन् वारान् वलाकाया मुखादुन्मुक्तस्तथा हि कदाचिदह वलाकया गृहीतस्ततस्तया मुखे प्रक्षेपार्थमूर्ध्वमुत्क्षिप्तस्ततो मया चिन्तित यद्यहमृजुरेवास्या. मुखे निपतिष्यामि तर्हि पतितोऽहमस्यन्मुखे इति न मे प्राणकौशलं तस्मात्तिर्यग्निपतामीति एव विचिन्त्य दक्षतया तथैव कृतं परिभ्रष्टस्तस्या मुखात् । ततो भूयोऽपि तयोर्ध्वमुत्क्षिप्तस्तथैव च द्वितीयमपि वारं मुखात्परिभ्रष्ट । तृतीयवेलायां तु जले निपतितस्ततो दूरं पलायितस्तथा त्रि कृत्वस्त्रीन् वारान् वलाकाया मुखे वलाकामुखे भ्राष्ट्ररूपे निपतितो दक्षतया शीघ्रं वेलयैव सह विनिर्गत. । तथा त्रिःसप्तकृत्व एकविंशतिवारान् मात्स्यिकेन प्रक्षिप्ते जाले पतितोऽपि यावन्नाद्यापि स मत्स्यबन्धी सकोचयति जालं तावत् येनैव यथा प्रविष्टस्तेनैव ततो जालाद्विनिर्गतः । " जालेनेति " तृतीया पञ्चम्यर्थे द्रष्टव्या । तथा सकृत् एकवार मात्स्यिकेन न्हदजलमन्यत्र सचार्य तस्मिन् न्हदे छिन्नोदके बहुभिर्मत्स्यै. सहाहं गृहीत: । स च सर्वानपि तान् मत्स्यानेकत्र पिण्डीकृत्य तीक्ष्णायःशलाकया प्रोतयति । ततोऽह दक्षतया यथा स मात्स्यिको न पश्यति तथा स्वयमेव तामथ शलाकां वदनेन लगित्वा स्थितः । स च मात्स्यिकस्तान् मत्स्यान् कर्दमलिप्तान् प्रक्षालयितु सरसि जगाम तेषु च प्रक्षाल्यमानेष्वन्तरमवज्ञाय झटित्येव जलमध्ये निमग्नवान् ॥

एयारिस मम सत्तं, सढं घटियघट्टणं ।
इच्छसि गलेण घेत्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥

एतादृश पूर्वोक्तस्वरूप मम सत्त्व शठ कुटिल घटितस्य धारादिकृतस्योपायस्य घट्टन चालकत्वमिच्छसि मां गलेन गृहीतुमित्यहो ते तव अन्हीकता निर्लज्जतेति । तदेवमुक्तो द्रव्यग्रासैषणायां दृष्टान्त । सप्रति भावग्रासैषणायामुपनय. क्रियते । मत्स्यस्थानीय. साधुर्मांसस्थानीय भक्तपानीय मात्स्यिकस्थानीयो रागादिदोषगणः यथा न गलितो मत्स्य उपायशतेन तथा साधुरपि भक्तादिकमभ्यवहरन्नात्मानमनुशास्तिप्रदानेन रक्षयेत् ।

तामेवानुशास्तिं प्रदर्शयति ॥

वायालीसेसणसं-कडम्मि गहणम्मि जीव न हु छलिओ ।
इण्हि जइ न छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिं ॥

इह एषणाग्रहणेन एषणागता दोषा अभिधीयन्ते ततोऽयमर्थः द्विचत्वारिंशत्सख्या ये एषणादोषा गवेषणाग्रहणैषणादोषास्तैः सकटे विषमे ग्रहणे भक्तपानादीनामादाने हेजीव ! त्व नैव छलितस्तत इदानीं सप्रति भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां यथा न छल्यसे तथा कर्त्तव्यम् ।

सप्रति तामेव भावग्रासैषणां प्रतिपादयति ।

घासेसणा उ भावे, होउ पसत्था तहेव अपसत्था ।
अपसत्था पंचविहा, तव्विवरीया पसत्था उ ॥

भावे भावविषया ग्रासैषणा द्विविधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता पञ्चविधा सयोजनातिबहुकाङ्गारधूमनिष्कारणरूपा । तद्विपरीता सयोजनादिदोषरहिता प्रशस्ता पिं०(सयोजनादि वक्तव्यता सजोजणा शब्दे) (भोजने कारणमाहारप्रमाण च आहारशब्दे) (अङ्गारधूमदोषा अगारधूमादिशब्दे)

तथा च—

गवेसणाए गहणे, परिभोगेसणा जहा ।
आहारोवहिसज्जाए, एए तिन्नि विसोहिए ॥ ११ ॥

गवेषणायामेषणा गवेषणैषणा गौरिव एषणा गवेषणा विशुद्धाहारदर्शनविचारणा प्रथमा एषणा १ द्वितीया ग्रहणैषणा विशुद्धाहारस्य ग्रहण ग्रहणैषणा २ तृतीया परिभोगैषणा परि समन्तात् भुज्यन्ते आहारादिकमस्मिन्निति परिभोगो मण्डलीभोजनसमयस्तत्रैषा विचारणा परिभोगैषणा एतास्तिस्रोऽपि एषणा आहारोपधिशय्यासु विशोधयेत् केवलमाहारे एव एता एषणा न भवेयु. किं तु आहारे उपधौ वस्त्रपात्रादौ शय्या उपाश्रय. संस्तारकादिस्तत्र सर्वत्रैषणा विधेया इत्यर्थः ।

उग्गमउप्पायणं पढमे, बिइए सोहिज्ज एसणं ।
परिभोगं चउत्थं च, विसोहिज्ज जयं जयी ॥ १२ ॥

(जयं इति) यत्नवान् (जयीति) यतिः साधु (प्रथमे इति) प्रथमायां गवेषणायामुद्गमोत्पादनादोषान् विशोधयेत् विशेषेण विचारयेत् पुनः साधुर्द्वितीयायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादिदोषान् विचारयेत् पुनस्तृतीयायां परिभोगैषणायां चतुष्कं दोषचतुष्टयं विशोधयेत् १२ इति गाथार्थः । अत्र प्रथमायां गवेषणैषणायां द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति तद्यथा प्रथमं षोडश उद्गमदोषाः उद्गमशब्देन आधाकर्मिकादि षोडश दोषाः । तथा प्रथमैषणायामेव उत्पादनादिदोषा भवन्ति । उत्पाद्यन्ते साधुना ये ते उत्पादनाः साधोः सकाशादेव षोडश दोषा उत्पद्यन्ते । ते च धात्रीप्रमुखा एव द्वात्रिंशद्दोषा द्वितीयायामेषणायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादि दश दोषाः । उभयतो दायकाद् ग्राहकाच्च भवन्ति उत्त० २४ अ० । (गवेषणायां द्वात्रिंशद्दोषा तत्रोद्गमदोषा आधाकर्मिकादयः षोडश ते च उग्गमशब्दे–उत्पादनाया धात्रीप्रमुखाः षोडश ते च उप्पायणाशब्दे) अथ ग्रहणैषणाया दश दोषा कथ्यन्ते । यदा दायकः शङ्कां कुर्वन् ददाति साधुरपि जानाति असौ दायकः शङ्कां करोति एवं सति आहारं गृह्णाति तदा प्रथमः शङ्कितो दोषः १ द्वितीयो म्रक्षितो दोषः स द्विविधः यदा सचित्तेन संघट्टितः आहारः अचित्तेन संघट्टितश्चाहारो भवति तदा म्रक्षितदोष उक्तः उच्यते २ यदा पृथिव्यां जले अग्निवनस्पतिमध्ये त्रसजीवानां मध्ये निक्षिप्तमाहारं ददाति तदा निक्षिप्तस्तृतीयो दोषः ३ यदा अचित्तमाहारमपि सचित्तेन आच्छादितं स्यात्तदा पिहितदोषश्चतुर्थः ४ पिहितदोषस्य चतुर्भङ्गी सचित्तमाहारं सचित्तेन पिहितम्, अचित्तं सचित्तेन पिहितम्, सचित्तमचित्तेन पिहितमचित्तमचित्तेन पिहितमेव चतुर्भङ्गी अचित्तं आहारं अचित्तेन पिहितं । अत्र कोऽपि न दोषः । यदा गृहभाजने स्थितमाहारं तत्रस्थभाजनेन दातुमशक्यत्वेन तद्भाजने परस्मिंस्तार्यं अथवा तस्माद्भाजनादपरस्मिन् भाजने उत्तार्य आहारं ददाति स संहृतदोषः पञ्चमः ५ यदा असमर्थः षण्ढकः शिशुः स्थविरः अन्धः उन्मत्तो मत्तो ज्वरपीडितः कम्पमानशरीरो निगडबद्धो हड्डे क्षिप्तो गलितहस्तच्छिन्नपादः एतादृशो वा दाता ददाति तदा दायकदोषः । पुनर्यदा कश्चिद्दायको दायिका वा अग्निं प्रज्वालयन् अरघट्टकं भ्रामयन् घरट्टके चासपेषणं कुर्वन् मुसलेन खण्डयन् शिलायां लोष्टकं वर्त्तयन् चरख्यां कार्पासादिकं लोढयन् रूतं वा पिञ्जयन् सूर्पकेण धान्यमाच्छोटयन् फलादिकं विदारयन् प्रमार्जनेन रजः प्रमार्जयन् इत्याद्यारम्भं कुर्वन् तथा भोजनं कुर्वन् स्त्री च या सम्पूर्णगर्भस्थिता भवति पुनर्या च स्त्री बालं प्रति स्तन्यं पाययन्ती पुनस्तं बालं रुदन्तं मुक्त्वा आहारदानाय उत्तिष्ठति पुनर्यः षट्कायसम्मर्दनं सङ्घट्टनं वा कुर्वन् साधुं दृष्ट्वा हण्डिकोपरिस्थमपरपिण्डमुत्तारयति इत्यादयो बहवो दायकदोषा इति षष्ठो दायकदोषः ॥ ६ ॥ यदा अनाभोगेन अविचार्यैव शुद्धाशुद्धमाहारं समील्य ददाति तदा सप्तम उन्मिश्रितदोषः ॥ ७ ॥ यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं भावेन उभयोः पुरुषयोराहारं वर्तते तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति एकस्य च नास्ति तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात् अपरिणतदोषश्चाष्टमः ॥ ८ ॥ यदा दधिदुग्धक्षैरेय्यादिद्रव्यं येन द्रव्येण दर्वीकरो वा लिप्तः स्यात्तदा पश्चात्कर्मत्वेन लिप्तपिण्डो नवमो दोषः स्यात् ॥ ९ ॥ यदा सिक्थानि घृतदधिदुग्धादिबिन्दून् पातयन् आहारं ददाति तदा छर्दितो दशमो दोषः स्यात् ॥१०॥ इति ग्रहणैषणायां दायकग्राहकयोरन्योन्यं दोषसम्भवः ॥

अथ परिभोगैषणायां ग्रासैषणायाः पञ्च दोषाः सम्भवन्ति तद्यथा यदा क्षीरखण्डघृतादिद्रव्यं सम्मील्य रसलौल्येन भुङ्क्ते तदा संयोजनादोषः प्रथमः । १ । यदा सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात्स्वादुलोभेन अधिकमाहारं करोति तदा अप्रमाणो द्वितीयो दोषः । २ । यदा सरसाहारं कुर्वन् धनवन्तं दातारं वर्णयति तदा इङ्गालदोषस्तृतीयः । ३ । विरसमाहारं कुर्वन् दरिद्रं कृपणं वा निन्दति तदा चतुर्थो धूमदोषः । ४ । यदा तपःस्वाध्यायवैयावृत्त्यादिकारणषट्कं विना बलवीर्याद्यर्थं सरसाहारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोषः । ५ । एते पञ्च दोषाः परिभोगैषणायाः ज्ञेयाः । एवं सर्वे । ४७ । सप्तचत्वारिंशद्दोषा भवन्ति परिभोगैषणायां चतुष्कं दोषचतुष्टयं सूत्रे उक्तं तत्तु इङ्गालधूमयोः मोहनीयकर्मोदयादेव दायकस्य प्रशंसावतो निन्दावतश्च प्रादुर्भावात् एकत्वमेव अङ्गीकृतं तस्माच्चत्वारि एव दोषा गृहीता एव । ४६ । षट्चत्वारिंशद्दोषा भवन्ति अथवा परिभोगैषणाया परिभोगसमये आसेवनासमये पिण्डं (१) शय्या (२) वस्त्र (३) पात्र (४) एतच्चतुष्कं विशोधयेत् । अयमपि अर्थो विद्यते इत्यनेन " उग्गमुप्पायणं पढमे " इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ एषणासमितेन चानेषणा परिवर्जनीया उत्त० २४ अ० ।

तथा चोत्तरगुणानाधिकृत्याह ॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिचं, वज्जयंते अणेसणं ॥ १३ ॥

आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो विपुलबुद्धिरित्यर्थः । तदनेन जीवाजीवादिपदार्थाभिज्ञता वेदिता भवति । धीरोऽक्षोभ्यः क्षुत्पिपासादिपरीषहैर्न क्षोभ्यते । तदेव दर्शयति । आहारोपधिशय्यादिके स्वस्वामिना तत्सन्दिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरत्येषणीयं गृह्णातीत्यर्थः । एषणाया एषणायां वा गवेषणाग्रहणैषणाग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन् संयममनुपालयेत् । उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥ १३ ॥

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह ॥

भूयाइं च समारब्भ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १४ ॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः समारभ्य संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमाधाकर्मदोषदुष्टं सुसंयतः सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेदेव तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥ १४ ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

तथा चोत्तराध्ययने ।

परिवाडिए न चिट्ठेज्जा, भिक्खुदत्तेसणं चरे ।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥ ३२ ॥

परिपाटिर्गृहपङ्क्तिस्तस्यां न तिष्ठेत् न पङ्क्तिस्थगृहभिक्षोपादानायैकत्रावस्थितो भवेत् तत्र दायकदोषोऽनवगमप्रसङ्गात् । यद्वा पङ्क्तौ भोक्तुमुपविष्टपुरुषादिसंबन्धिन्यां न तिष्ठेदप्रीत्यदत्तकल्याण-

तादिदोषसम्भवात् । किंच भिक्षुर्यतिर्दत्त दानं तस्मिन् गृहिणा दीयमाने एषणां तद्गतदोषान्वेषणात्मिकां चरेदासेवेत । चरतिरासेवायामपि वर्तत इति वचनात् । अनेन ग्रहणैषणोक्ता किं विधाय दर्शं-षणां चरेत् प्रतिरूपेण प्रधानेन रूपेणेति गम्यम् । यद्वा प्रति-प्रतिबिम्ब चिरन्तनमुनीनां यद्रूप तेनोभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन ननु वस्त्रं भग्नं गात्रं पात्रं यष्टिं चर्चयेत् भिक्षुः वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि इत्यादिवचनाकर्णनाद्विभूषात्मकेनैषयित्वा गवेषयित्वाऽनेन च गवेषणाविधिरुक्तः । ग्रासैषणाविधिमाह मितं परिमितमदन्ति बहुभोजनात् स्वाध्यायविघातादिबहुदोषसंभवात् कालेनेति "नमोक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसथवं । सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमिज्ज खणं मुणी" १ इत्यद्यागमोक्तप्रस्तावेनाहृतावलम्बितरूपेण वा भक्षयेत् भुञ्जीतेति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

(९) यत्र पुरायातान्यभिक्षुकसम्भवस्तत्र विधिमाह ।

नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ ।

एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ।

नातिदूरं सुब्व्यत्ययान्नातिदूरेऽतिविप्रकर्षवति देशे तिष्ठेदिति सबन्ध । तत्र च निर्गमावस्थानानवगमप्रसङ्गादेषणाशुद्ध्यसंभवाच्च । तथा (अनासन्नेत्ति) प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वान्नञो नासन्ने प्रस्तावान्नातिनिकटवर्तिनि भूभागे तिष्ठेत्तत्र पुरा प्रविष्टापरभिक्षुकाप्रीतिप्रसक्ते नान्येषां भिक्षुकापेक्षया परेषां गृहस्थानां चक्षुःस्पर्शत इति सप्तम्यर्थे तसिस्ततश्चक्षुःस्पर्शे दृग्गोचरे चक्षु स्पर्शगोचरगत तिष्ठेदासीत किंतु विविक्तप्रदेशस्थो यथा न गृहिणो विदन्ति यदुतैष भिक्षुकनिष्क्रमणं प्रतीक्षत इति एक इति किममी मम पुरत प्रविष्टा इति तदुपरि द्वेषरहितो भक्तार्थं भोजननिमित्त न च लङ्घयन्ति । तमुल्लङ्घ्य तमिति भिक्षुक नातिक्रामेत् प्रविशेत् तत्रापि तदप्रीत्यपवादादिसम्भवादिह च मित कालेन भक्षयेदिति भोजनविधिमभिधाय यत्पुनर्भिक्षाटनाभिधानं तदग्लानादिनिमित्तं स्वय वा बुभुक्षावेदनीयमसहिष्णोः पुनर्भ्रमणमिति न दोषायेति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च "जइ तेण संथरे तत्र कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसये" इत्यादि सूत्रार्थ ॥१६॥

पुनस्तत्कृतविधिमेवाभिधित्सुराह ।

नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ ।

फासुयं परकडं पिंडं, पडिगाहेज्ज संजये ।

नात्युच्चे प्रासादोपरिभूमिकादौ नीचे वा भूमिगृहादौ तत्र नद्युत्क्षेपनिक्षेपनिरीक्षणासंभवाद्दायकापायसम्भवाच्च । यद्वा नात्युच्च उच्चस्थानस्थितत्वेन ऊर्ध्वीकृतकन्धरतया वा द्रव्यतो भावतस्त्वहो अह लब्धिमानिति मदाध्मातमानसो नीचोऽत्यन्तावनतकन्धरो वा निम्नस्थानस्थितो वा द्रव्यतो भावतस्तु न मयाऽद्य किंचित्कुतोऽप्यवाप्तमिति दैन्यवान् उभयत्र वा समुच्चये तथा नासन्ने समीपवर्तिनि नातिदूरे अतिविप्रकर्षवति प्रदेशे स्थित इति गम्यते यथायोग जुगुप्साशङ्कैषणाशुद्ध्यसम्भवादयो दोषाः । अथवा अत एवानासन्नो नातिदूरगत प्रगता असव इति सूत्रत्वेन मतुब्लोपादसुमन्त· सहजसंसक्तिजन्मानो यस्मात्तत्प्रासुक परेण गृहिणाऽऽत्मार्थं परार्थं वा कृत निर्वर्तित परकृत किं तत्पिण्डमाहार प्रतिगृह्णीयात् स्वीकुर्यात् संयतो यतिरिति सूत्रार्थ· ।१७

(१०) इत्थ सूत्रद्वयेन गवेषणाग्रहणैषणाविषयाविधिमुक्त्वा ग्रासैषणाविधिमाह ।

अप्पपाणेप्पबीयम्मि, पमिच्छन्नम्मि संवुडे ।

समयं संजए भुंजे, जयं अप्परिसाडियं ॥ ३७ ॥

अल्पशब्दो भावाभिधायी तथेहापि सूत्रत्वेन मत्वर्थीयलोपात्प्राणाः प्राणिनस्ततश्चाल्पा अविद्यमानाः प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणं तस्मिन्नत्रस्थितागन्तुकजन्तुविरहिते उपाश्रयादाविति गम्यते । तथाऽल्पानि अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि यस्मिंस्तदल्पबीजं तस्मिन्नुपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रियादिरहिते । ननु चाल्पप्राण इत्युक्ते ऽल्पबीज इति गतार्थं बीजादीनामपि प्राणित्वादुच्यते मुखनासिकाभ्यां यो निर्गच्छति वायुः स चेह लोके रूढितः प्राणो गृह्यते अयं च द्वीन्द्रियादीनामेव संभवति न बीजाद्येकेन्द्रियाणामिति कथ गतार्थता तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावरणान्विते अन्यथा संपातिमसत्त्वसंपातसंभवात् संवृते पार्श्वतः कटकुड्यादिना संकटद्वारे अटव्यां कुण्डादिषु वा अन्यथा दानादियाचने दानादानयोः पुण्यबन्धप्रद्वेषादिदर्शनात् संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात् । समकमन्यैः सह नत्वेकाक्येव रसलम्पटतया समूहासहिष्णुतया वा । अत आह । "साहवो तो चियत्तेणं, निमंतेज्ज जहक्कम । जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजइत्ति" गच्छस्थितसामाचारी चेयं गच्छे एव जिनकल्पिकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता उक्तं हि "गच्छे चिय निम्माउ" इत्यादि । यद्वा (समयंति) सममेव समकं सरसविरसादिष्वभिष्वङ्गादिविशेषरहित सम्यग्यत· संयतो यतिरित्यर्थ· भुञ्जीताश्नीयात् (जयति) यतमान (अप्परिसाडियति) परिसाटिविरहितमिति सूत्रार्थ· ॥ ३७॥ उत्त०१अ०।

(११) शतसहस्रगच्छे एषणादोषपरिहारप्रकारो यथा ।

णेआगजिणकालम्मि, किह परिहरणा जहेव अणुजाणे ।

अइगमणम्मि य पुच्छा, निकारणकारणे लहुगा ॥

नोदक· प्रश्नयति यदि शते केष्वपि गच्छेषु सांप्रतमित्थमाधाकर्मादयो दोषा जायन्ते तर्हि जिनस्तीर्थकरस्तस्य काले सहस्रेषु गच्छेषु साधव· कथमाधाकर्मादीनां परिहरण कृतवन्त इति । सूरिराह यथैवानुयाने रथयात्रायां सांप्रतमपि परिहरन्ति तथा पूर्वमपि परिहृतवन्त· (अतिगमणम्मि य पुच्छात्ति) शिष्य पृच्छति किमनुज्ञाने अतिगमनं प्रवेशनं कर्तव्यम् उत नेति आचार्यः प्राह (निक्कारणकारणे लहुगात्ति) निष्कारणे यदि गच्छति तदा चत्वारो लघव कारणे यदि न गच्छति तदाऽपि चत्वारो लघव । अथैतदेव भावयति ।

एहाणाणुजाणमाई, सुजतंति जह संपयं समोसरिया ।
सतसो सहस्ससो वा, तह जिणकाले विसोहिंसु ॥

स्नानं वर्षत· प्रतिनियतदिवसभावी भगवत्प्रतिमायाः स्नाने पर्वविशेष· अनुयान रथयात्रा तदादिषु कार्येषु साम्प्रतमपि शतशः शतसख्या सहस्रश· सहस्रसख्या साधव· समवसृता । सयते यथा यतन्ते आधाकर्मादिदोषशोधनायां प्रयत्न कुर्वते तथा जिनकालेऽपि ते भगवन्त एषणाशुद्धिं कृतवन्त इत्यर्थ· । भूयोऽपि पर· प्राह । ननु च स सर इव सागर खद्योत इव प्रद्योतन मृग इव मृगेन्द्र· इत्यादि तदिदयुगीनसमवसरणसत्कमेषणाशुद्ध्युपमान तीर्थकरकालभाविनीमेषणाशुद्धिमुपमातुमभिधीयमानं हीनत्वान्न समीचीनम् अत आह "पच्चक्खेण परोक्खं, साहिज्जइ" न चेय सर इव सागर इत्यादिवद्धीनोपमा तीर्थकरकालेऽपि सहस्रसख्या एव साधव एकत्र क्षेत्रे समवसरन्ति स्म एतावन्तश्च ते सांप्रतमपि स्नानानुयानादौ पर्वणि समवसरन्त उपलभ्यन्ते शोधयन्तश्चैषणां ततोऽनुमीयते तीर्थकरका-

ऽप्येवमेव दोषान् शोधितवन्त इति। "नेव एसहीणुवमा ज पुरिसजगे तईए वोच्छिन्नो सिद्धिमग्गे" इह प्रत्यक्षेणोपमानवस्तुना परोक्षमुपमेयं साक्षादनुपलभ्यमानमपि साध्यते शास्त्रे लोकेऽवस्थिति' ततोऽत्रापि प्रत्यक्षमाणेन सांप्रतकालीनसमवसरणसत्केनैषणाशोधनेन परोक्षमपि तीर्थकरकालभाविसमवसरणसाधूनामेषणाशोधन साध्यते इति "नेव एसहीणुवसत्ति" अपि च श्रीमन्महावीरस्वामी श्रीसुधर्मस्वामी जम्बूस्वामी चेति त्रीणि पुरुषयुगानि यावदनगाराणा निर्वाणपदवीगमनवत्तृतीये च पुरुषयुगे निर्वृते सति सिद्धमार्ग क्षपकश्रेणिकेवलोत्पत्त्यादिरूपो व्यवच्छिन्न न पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्ररूप शास्त्रपरिज्ञापितस्तस्येदानीमप्यनुवर्तमानत्वात्तश्च यदि तेषां साधूनामुद्गमादिदोषशोधन नाभविष्यत् ततस्ते सिद्धमार्गमपि नासादयिष्यन् अतो निश्चीयते तेऽपि भगवन्त इत्थमेवैषणाशुद्धिं कृतवन्त इति । वृ० १ उ० ।

(१२) विस्तरेण दशस्वेषणादोषेषु प्रायश्चित्तमाह ।

ससरक्खे ससणिध्दे, पणगं लहुगा दुगुंछसंसत्ते ।
उक्कुट्ठणंते गुरुगो, सेसे सव्वेसु मासलहू ॥

शङ्किते पञ्चविंशतेर्दोषाणां मध्ये यच्छङ्कितं तन्निष्पन्नमापद्यते। प्रायश्चित्त म्रक्षिते सरजस्केन सचित्तमिश्रपृथिवीकायरजोम्रक्षितेन हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षां गृह्णत पञ्च रात्रिन्दिवानि । सचित्तमिश्राप्कायस्निग्धेन हस्तकेन मात्रकेण वा भिक्षामाददानस्य पञ्च रात्रिंदिवानि , अचित्तेन जुगुप्सितेन विष्ठामूत्रमद्यमांसलशुनपलाण्डुप्रभृतिना म्रक्षितेन गृह्यमाणे चत्वारो गुरुका , गुडघृततैलादिभिरपि कीटिकासंसक्तैर्म्रक्षितमाददानस्य चत्वारो लघव' । पुर कर्मणि पश्चात्कर्मणि च चतुर्लघुका । अन्ये मासलघु प्रतिपन्नवन्त'। उत्कुट्टिते अनन्ते सचित्ते वनस्पतिकायिके मासगुरु चूर्णेऽप्यनन्ते सचित्ते मासगुरु"सेसेसु सव्वेसु मासलहु" परीते प्रत्येके कुट्टिते चूर्णिते वा प्रत्येक मासगुरु, मिश्रे परीते सर्वत्र मासलघु अनन्ते मासगुरु। तथा मृत्तिकालिप्तहस्ते यावन्तः सेटिकादयो मृत्तिकाया भेदास्तेषु सर्वेषु मासलघु । निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमाह ।

चउलहुगा चउगुरुगा, मासो लहुगुरुयपणगलहुगुरुगं ।
बुच्छंति परितणतर, मीसे वीए य अणंतपरे य ॥

प्रत्येक सचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य चत्वारो लघुका' प्रत्येकसचित्तपरपरप्रतिष्ठितमपि चत्वारो लघव अनन्तसचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमादानस्य चत्वारो गुरुका'। अनन्तसचित्तपरपरप्रतिष्ठितमपि गृह्णतश्चत्वारो गुरुकाः प्रत्येकमिश्रानन्तरप्रतिष्ठित परप्रतिष्ठित वा गृह्णतो मासलघु । अनन्तर परपरया वा प्रतिष्ठितमाददानस्य मासगुरु। बीजेषु परितेष्वनन्तर वा प्रतिष्ठित गृह्णत पञ्चरात्रिंदिवानि लघुकानि। अनन्तेषु गुरुकानि। अन्ये तु ब्रुवते प्रत्येकमिश्रेऽनन्तर पर वा प्रतिष्ठितमाददानस्य लघु रात्रिंदिवसपञ्चकम् । अनन्ते अनन्तर पर वा प्रतिष्ठित गृह्णतो गुरुकमिति । तथा परे प्रत्येके सचित्तमनन्तरप्रतिष्ठित गृह्णतश्चतुर्लघवः परपरप्रतिष्ठित मासलघु।तथा प्रत्येके मिश्रे अनन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य लघुको मास परंपरप्रतिष्ठितं गृह्णतो लघु रात्रिंदिवपञ्चकम्। अनन्ते मिश्रेऽनन्तर प्रतिष्ठिते मासगुरु परपरप्रतिष्ठिते गुरु रात्रिंदिवपञ्चकमिति । उक्त च "पुढवी आऊ तेऊ, परित्ते चेव तह य वणकाये। चउलहु अणतरम्मि, सचित्ते परपरे मासो।मासाणतरलहुगो, लघुपणगपरपरे परित्तेसु। एए चेव य गुरुगा, होंति अणंते परट्ठाणे " इति त्रसकाये अनन्तरप्रतिष्ठित गृह्णतश्चतुर्लघुक परपरप्रतिष्ठितं गृह्णतो मासलघु त्रसकाये " चतुलहुगा अनंतरपरपरठिए लहुगो " इतिवचनात् एवं षड्जीवनिकायेषु प्रत्येकेऽनन्ते मिश्रे च पृथिव्यादौ बीजे च प्रत्येके अनन्ते मिश्रे चानन्तर परपर च प्रतिष्ठितमाददानस्य प्रायश्चित्तमिति ।

अधुना पिहित सहरणं चाधिकृत्य प्रायश्चित्तमाह ।

एमेव य पिहियम्मि, लहुगा दव्वम्मि चेव अपरिणए ।
वीसुम्मिस्से पणगं, अणंतवीए य पणगगुरू ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण पिहितेऽपि प्रायश्चित्तं वक्तव्य किमुक्त भवति यथा निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमुक्तमेव येन द्रव्येण सचित्तेनाचित्तेन मिश्रेण वाऽनन्तर परक चापि धीयते तत्रापि द्रष्टव्यं नवरमचित्तेन गुरुकेण पिहिते गृह्णतश्चतुर्गुरुकं सहरणे येन मात्रकेण भिक्षां दातुकामस्तत्र यदि किंचित्प्रक्षिप्त वर्तते तदन्यत्र संहृत्य ददाति तच्च संह्रियमाणमद्यापि अपरिणत तस्मिन्नपरिणते द्रव्ये सहृते गृह्णतश्चत्वारो लघुका । दायके प्रगलिते नपुंसके चत्वारो गुरुका' । पिञ्जनकर्तनश्लक्ष्णखण्डकरणप्रमर्दनप्रभृतेषु प्रत्येक मासलघु। शेषेषु दायकदोषेषु चत्वारो लघुका' । उन्मिश्रे सचित्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरु । मिश्रानन्तमिश्रे मासगुरु। सचित्तप्रत्येकमिश्रे चतुर्लघु ।प्रत्येकमिश्रमिश्रे मासलघु। विष्वक् उन्मिश्रे प्रत्येकबीजोन्मिश्रे लघु रात्रि दिवपञ्चकम्।अनन्तबीजोन्मिश्रे गुरु रात्रिंदिवपञ्चकम् । अपरिणते द्रव्यापरिणते कायनिष्पन्न ये काया प्रत्येकरूपा अनन्तरूपा वा अपरिणता तन्निष्पन्नमित्यर्थ ।तत्र पृथिव्यादिष्वपरिणतेषु चतुर्लघुकम्।अनन्तेष्वपरिणतेषु चतुर्गुरु।उक्तञ्च "दव्वापरिणते चउलहु पुढवादीचउगुरू अनतेसु। भावापरिणते "दोण्ह तु भुंजमाणेणमेगो तत्थ निमतए" इत्येवं रूपेषु लघुको मास "भावापरिणते लघुगो" इति वचनात् लिप्ते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु चत्वारो लघुकाश्चरमभङ्गेऽनेषणायां चतुर्गुरव । छर्दिते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येक चतुर्लघुक चरमभङ्गे नाचीर्णम् ॥

सजोगसइंगाले, अणंतमीसे चउगुरू होंति ।
वीसुम्मीसे मासो, सेसे लघुका य सव्वेसु ॥

सयोजना द्विविधा अन्तर्बहिश्च । तत्रान्तःसयोजनायां चत्वारो लघवः बहि सयोजनाया चत्वारो गुरुका अन्ये चान्तर्बहिर्वा संयोजनायां चत्वारो गुरुका इति प्रतिपन्ना ।प्रमाणातिरिक्तमाहारयति चत्वारो लघव' (सइंगालेत्ति) साङ्गारे आहार्यमाणे चत्वारो गुरुका', सधूमे चतुर्लघु निष्कारणे चतुर्लघु सचित्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरुकम् । एतच्च प्रागेव स्वस्थानेऽभिहितम् । तथा विष्वगुन्मिश्रे पृथिवीकायादिभि' प्रत्येकैरुन्मिश्रे लघुको मासोऽनन्तैरुन्मिश्रे गुरुक (सेसे लहुगा उ सव्वेसुत्ति) शेषेषु सर्वेष्वपि ग्रहणैषणाभेदेषु ग्रासैषणाभेदेषु चत्वारो लघुकास्ते च तथैव योजिता । बृ० १ उ० ।

(१३) पिण्डैषणा च पिण्डग्रहणप्रकारास्ताश्च सप्त तथा चाह ।

सत्त पिंडेसणाओ पण्णत्ताओ सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ ॥

पिण्ड समयभाषया भक्त तस्यैषणा ग्रहणप्रकाराः पिण्डैषणास्ताश्चैता' " संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धडं तहप्पलेविया चेव ४।उग्गहिया ५ पग्गहिया, ६ उज्झियधम्मा, ७ सत्तमिया" ॥ १ ॥ त-

असंसृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्तनीया । " असंसट्ठे मत्ते संसट्ठे हत्थे वि खरंडि- यम्मि वुत्त भवइ " ॥ एवं गृह्णत: प्रथमा भवति गाथायां तु सुखमुखोच्चारणार्थोऽन्यथापाठः । संसृष्टा ताभ्यामेव चिन्त्या " संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते खरंडिए त्ति वुत्त भवइ " ॥ एव गृह्णतो द्वितीया । उद्धृता नाम स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजा- तमुद्धृत तत " असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते संसट्ठे वा मत्ते स सट्ठे वा हत्थे " ॥ एवं गृह्णतस्तृतीया । अल्पलेपा नाम अल्पश- ब्दोऽभाववाचकः निर्लेपं पृथुकादि गृह्णतश्चतुर्थी । अवगृहीता नाम भोजनकाले शरावादिषूपहृतमेवं भोजनजातं यत्नतो गृह्णत: पञ्च मी । प्रगृहीता नाम भोजनवेलायां दातुमभ्युद्यतेन करादिना प्रगृहीतं यद्भोजनजात भोक्तु वा स्वहस्तादिना तद्गृह्णत इति षष्ठी । उज्झितधर्मा नाम यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्वि- पदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्द्धत्यक्त वा गृह्णत इति हृदय सप्तमी- ति । पानकैषणाः एता एव भवर सप्तम्यां नानात्व तत्र आयाम- सौवीरकादिनिर्लेपन विज्ञेयमिति स्था० ७ ठा० । आव० । प्रव० । नि० चू० । पचा० (तथा चाचाराङ्गे पिण्डाधिकार एव सप्तपि- ण्डैषणा अधिकृत्य सूत्रमाह । तच्च पिंडेसणाशब्दे द्रष्टव्यम)

(१४) एषणायां कर्तव्यम् तथा चाह—

भिक्खू मुयच्चे कयदिट्ठधम्मे,
गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा ।
से एसणं जाणमणेसणं च,
अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥

स एव मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः तं विशिनष्टि । मृतं च स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा तनुः शरीर यस्य स मृतार्च । यदि वा मोदन मुत् तद्भूता शोभनाऽर्चा पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः । प्रशस्तदर्शलेश्य । तथा दृष्टोऽ- वगतो यथावस्थितो धर्म: श्रुतधर्मचारित्राख्यो येन स तथा चैवं- भूत: क्वचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मगादिकमनुप्रविश्य भि- क्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणागवेषणग्रहणैषणा- दिकां जानन् सम्यगवबुध्यन्ननेषणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहार विपाक च सम्यगवगच्छन्नन्नस्य पानस्य वा न तु गृद्धोऽनध्युप- पन्न सम्यग्विहरेत् । तथा हि स्थविरकल्पिकां द्विचत्वारिंशद्दो- षरहितां भिक्षा गृह्णीयुर्जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयो- र्ग्रहस्ताश्चेमा: 'सउमससट्ठा उद्धड तह होंति अप्पलेवाय । उ- ग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया अथवा यो यस्या- भिग्रहः स तस्यैषणा अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणानेषणाभिज्ञ: क- चित्प्रविष्ट सन्नाहारादावमूर्च्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीया- दिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एसणाअसमिय-एषणाऽसमित पुं०असमाधिस्थानभेदे,"एसणा- ए असमिएया विभवइ " तथा " एसणासमिए असमिएया वि भवतित्ति " एषणायां समितश्चापि सयुक्तोऽपि नानैषणां परिह- रति प्रतिप्रेरितश्चासौ साधुभिः सह कलहायते अनेषणीयतां परिहरन् जीवोपरोधे वर्तते एवं चात्मपरयोरसमाधिकरणाद- समाधिकस्थानमिद् विंशतितममिति । दशा० १ अ० । "अणेसण णपरिहरति पमिवोदितो साधूहिं समं भंडइ अपरिहरंतो य कायाणमुवरोधे वट्टंती वट्टतो य अप्पाण चेव असमाहीए जोअयतीति " आव० ४ अ० ।

एसणागोयर-एषणागोचर—पुं०एषणा उद्गमादिदोषविप्रमुक्तभ- क्तपानादिगवेषणरूपा तत्प्रधानो यो गौरिव मध्यस्थतया भि- क्षार्थं चरणं स एषणागोचरः । एषणाप्रधानायां गोचरचर्या- याम्, बृह० ६ उ० "तितिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू' ति- न्तिणिकोऽलाभे सति खेदाद्यत्किंचनाभिधायी स च खेदप्रधान- त्वादेषणा उद्गमादिदोषविमुक्तपानादिगवेषणग्रहणलक्षणा त- त्प्रधानो यो गोचरो गौरिव मध्यस्थया भिक्षार्थं चरण स एष- णागोचरस्तस्य परिमन्थु: । सखेदो हि अनेषणीयमपि गृह्णाती- ति भावः । स्था० ६ ठा० ।

एसणादोस—एषणादोष—पुं० एषणमेषणाऽशनादेर्ग्रहणकाले श- ङ्कितादिभिः प्रकारैरन्वेषण तद्विषया दोषा एषणादोषा: । प्रव० ६७ द्वा० । एषणायाः शङ्कितादिके दोषे, एषणा गृहिणा दीय- मानपिण्डादेर्ग्रहण तद्दोषा: शङ्कितादयो दशेति । स्था० ३ ठा० (ते च एसणा शब्दे) ।

एसणाविसोहि-एषणाविशुद्धि-स्त्री०विशुद्धिभेदे,स्था०१०ठा०। (तद्वक्तव्यता विसोहि शब्दे)

एसणासमिइ—एषणासमिति—स्त्री०एषणमेषो गवेषण तं करोती- ति णिच्-ततः स्त्रीलिङ्गे भावे युटि एषणा । उत्त० २४ अ० । एषणायामुद्गमादिदोषवर्जनत समितिरेषणासमिति: पा० । एषणमेषणा गवेषणग्रहणग्रासैषणाभेदा: शङ्कितादिलक्षणा वा त- स्यां समितिरेषणा समिति: । समितिभेदे, उक्तं च एषणासमि- तिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नवकोटीपरिशुद्धं ग्राह्यमिति- । स्था० ५ ठा० । आव० । गवेषणग्रहणग्रासैषणा- दोषैरदूषितस्यान्नपानादे रजोहरणमुखवस्त्रिकाद्यौघिकोपधेः श- य्यापीठफलकचर्मदण्डाद्यौपग्रहिकोपधेश्च विशुद्धस्य यद् ग्रहणम् एषणासमितिर्यदाह "उत्पादनोद्गमैषण–धूमाङ्गारप्रमाणकारण- तः । संयोजनाच्च पिण्ड, शोधयतामेषणास मिति" रिति । ध० २ अधि० । प्रव० । " सुत्तानुसारेण रयहरणवत्थपादासणपा- णाणिलओ सहस्सेसणं एसणासमिति " " दिट्ठमणेसियगहणे दिट्ठमणेसियगहणे त्ति एस एसणासमिति एसणासमितिए दिट्ठमणेसणिज्ज पच्छा दिट्ठ ण सक्किओ गहणजो- उवउत्तेण दिट्ठमणेसणिज्ज पच्छा दिट्ठ ण सक्किओ गहणजो- ग्गो णियत्तेउं एवं सहसक्कारो एषणासमितिए भवतीति " नि० चू० १ उ० । एषणासमितिर्द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जनेन भक्तादिग्रहणे प्रवृत्तिरिति । सम० । एषणासमितावुदा- हरणं यथा " वसुदेवपुव्वं जम्म आहरण एसणासमि- तिए मगहनंदिग्गामे (गोयरग्गामे इति पाक्षिक सूत्रवृत्तौ) गोयम धिज्जाइ चक्कयरो तस्स य धारिणिभज्जागब्भो ताए कओ वि पाहुओ धिज्जाई मओ छम्मासगब्भधिज्जाइणी जाते माउलसंवुड्ढणकम्मकरणवेलापारणयएण नत्थि तुह इ- त्थ किंचि तो वेतामाउलो त च मा सुण लोगस्स तुम धुया ओ तिन्न तेसिंजेट्ठयरं दाहामि करेमि कम्म पकम्मो उ पत्तो य विवाहो सा नेच्छई विसन्नो माउलोवेइ द्वितीय दाहामि सा वि य तहेव नेच्छई ततिय पि नेच्छइ सा वि निब्विन्नंदिवद्धणआय- रियाणं सगासे निक्खतो जाओ छट्ठक्खमओ गेण्हति य । अभि- ग्गहमिम तु बालगिलाणादीणं वेयावच्चं मए उ कायव्वं त कुण- इ तिव्वसड्ढो खायजसो सक्कगुणकित्ती असद्दहणे देवस्स आग- मो कुप्पति दो समणरूवो अतिसारगहियमग्गो अद्धिवितिं- ओ अतिगओ वितिओ वेइ गिलाणो पडिओ वेयावच्चं तु स- देह ओओ सो उट्ठेतु अक्खिप्प छुय च तं नादिसेणेण छट्ठो व-

घासपारणमाणीयं कवलमेत्तुकामेणं तं सुयमेत्तं रहस्सु तिओ य प्रणकेण फज्जंति पाणगदव्वं च तहिं जएणच्छ्रोवेह तेण कज्जति। निमायं हिं रुइ ततो कुणइ अणेसणं निचिया पेल्लेह इति। एकवारं विसियं च हिंमितो न लद्धं ततियवारम्मि अणुकंपाए चरंतो ततो गतो तस्सगासं तु खरफरसुनिठुरेहिं अक्कोसई सो गिलाणओ सढो हेमंदमग! फुक्कियनूलसितनाममेत्तेण सावदुवकारित्ति। अह नाम हंसमुद्दिसिउमाओ एयाइ अवत्थाए त अच्छसि भत्तलोनिल्लो अमियमिव मण्णमाणे त फरुसगिरं तु सो तु सजंतो चलणगतो खामेती धुवति यत असुइमइलित उठेह वयामो त्ति तह कहामि जहा हु अचिरेण होहिह। निरुप्प तुज्झे वेला न तरामि गतुं जे आरुहतापट्ठीए आरूढो तो पयार च परमासुइदुग्गंधिमुयतीपट्ठीए फरुस च बेति गिरिं धि मुक्किय वेगविघाओ कओ त्ति। दुक्खविओ इय बहुविहमुक्कोसंति पदेसो वि भगवं तु न गणेइ फरुसगिरं न पत्तं चिकुसइत्ता रसं गंधं चदणमिव मन्नतो मिच्छामि दुक्कडं भणति। चिंतेइ किं करेमि किह दुसमाही हवेज्ज साहुस्स इय बहुविहप्पआरेण चिंतितो जाहे खोभेत्र ताहे अभित्थुणंतो तओ आगतो य इयरो च आलोएइ गुरुहिं धन्नोत्ति ततो य अणुसट्ठो जह तेण न विपेहित्रय एसणाए जइयव्वं। अहवा वि इम अन्नं आहरणं दिट्ठि वा दीय जह केइ पंच संजया तए दुहह किलंतसुमहमच्चाणं उत्तिन्ना वेयालियपत्तगाम च ते एग मग्गति पाणग ते लोगो य अणेसणतेहि कुणति न गहिय न लक्मियर कालगयतिसाभिभूया य आव० ४ अ०। आवश्यकचूर्णौ तु " एसणासमितीए नंदिसेणो अणगारो मगधाजणवए सालिग्गामो तत्थेगो गाहावती तस्स पुत्तो नंदिसेणो तस्स गब्भत्थस्स पितो मतो माता छम्मासियस्स मातुपिताए सवट्ठितो। अन्नदा णंदियरूणो अणगारो साधुसंपरिवुडो विहरमाणो तं गाममागओ उज्जाणे ठितो। साधुनिक्खस्स गतो नंदिसेणो भणति। के तुब्भे केरिसो वा तुम्म धम्म साधुहिं भणितो आयरिया जाणति उज्जाणे तत्थ गतुं पुच्छाहि गतो पुच्छित्ता पव्वइतो। छट्ठक्खमओ जातो। अभिग्गहं गेण्हति। वेयावच्चं मए कायव्वंति। सक्को गुणग्गहणं करेति। अद्दीणमणसो वेयावच्चे अब्भुट्ठितो। जो ज दव्वं इच्छति साहू तं तस्स सो देति। एगो देवो मिच्छादिट्ठी असद्दहतो आगतो साधु रूव विउव्वित्ता उच्भंडग पमिस्सय आगतो नंदिसेणस्स छट्ठस्स पारणगा पढमे कवले उक्खित्ते देवक्खमणो तं पत्तो भणति। वितिउ निसाए पमितो। अंतरंतो ठितो बाहिं जइ कोइ सद्दहति वेयावच्च तुरितं घेत्तूण पाणग जातु। नंदिसेणो अपारितो चेव पाणगस्स गाम अतिगतो जिक्खू तो हिंडतो देवाणुभावेणं न लभति। चिरस्स लद्धं गहाय गतो साहुं न पेच्छति बाहराति। चिरेण वायादिणा देवेण अतिसारजुत्तो साहू विउव्वितो भणति एयणं धि मुंडए चिरस्स आगतो वेयावच्चे वि कजउज्जुओ भणति। मिच्छाडुक्कडंति। पाणगं चिरेण लब्भति। भणति किह ते गामं नेमि। किं असेण पिट्ठीएत्ति। भणति असेण अंसे कातुं पट्ठितो असुमकलमल सुयति गुरुगं च। अप्पग करेति भणति य मत्तरखलखला विज्जामि। पुणो तुराहित्ति। एव बहुसो विक्खोभेउ जाहे ण तरति खामेतु ताहे सो तुट्ठो समत्त पडिबग्गो वंदित्ता पडिगतो। एस एसणासट्ठितो। अहवा इमं दिट्ठिवातिय पच संजता महल्लाओ अट्ठाणाओ तण्हा छुहा किलंता निग्गता। वेयाले गाम अतिगतो पाणगं मग्गंति। अणेसणं लोगो करेति। न लद्धं कालगता पंच वि एते एसणाए। आ० चू० ४ अ०।

एसणासमिय–एषणासमित–पु० एषणायाम् उत्पादनग्रहणग्रासविषयायां सम्यगित स्थित, समित, एषणासमितः। एषणायां सम्यक् स्थिते, निर्दोषाहारग्राहिणि, उत्त० ६ अ०। " एसणासमिए णिच्चं वज्जयंते अणेसणं " एषणायां गवेषणग्रहणैषणग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समित साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन् सयममनुपालयेदिति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। तथा च।

> एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।
> अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवायं गवेसए॥

एषणासमितिनिर्दोषाहारग्राही ग्रामे नगरे वा अनियतो नित्यवासरहित सन् चरेत् संयममार्गे प्रवर्तेत। कीदृश साधुर्लज्जूर्लज्जालु लज्जासंयमस्तेन सहित। पुन कीदृश अप्रमत्तः प्रमादरहितः। पुन साधु (प्रमत्तेहिं इति) प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः पिण्डपातं भिक्षां गवेषयेत् गृह्णीत प्राकृतत्वात्पञ्चमीस्थाने तृतीया उत्त० ६ अ०। तदात्मके समाधिभेदे च। स्था० १० ठा०।

एसणिज्ज–एषणीय–त्रि० इष-एष वा कर्मणि अनीयर् आशास्ये, गम्ये च वाच०। एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत्तदेषणीयम् कल्पे,। स्था० ३ ठा०। " फासुयस्स एसणिज्जस्स उञ्छस्स सामुदाणियस्स णो सम्म गवेसइत्ता भवइ "। एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषरहिततयेत्येषणीयः कल्पस्तस्येति। स्था० ४ ठा०। " एसणिज्जमिति संकितमक्खियादिदोसविमुक्कमिति " प० चू०। " एसणिज्ज तु दसदोसविप्पमुक्क ति " प० भा०।

एसणोवघाय–एषणोपघात–पुं० एषणया शङ्कितादिभेदया योघात स एषणोपघात। उपघातभेदे, स्था० १० ठा०। एषणोपघात एषणया तद्दोषैर्दशभिः शङ्कितादिभिरुपघात इति स्था० ५ ठा०।

एसमाण–एषयत्–त्रि० अन्वेषति, "एसणाए एसमाण परो वदेज्जा" एतया अनन्तरोक्तया वस्त्रैषणया वस्त्रमन्वेषयन्त साधुं परो वदेत्। आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

एसित्तए–एषितुम्–अव्य० अन्वेष्टुमित्यर्थे, "सथारगमेसित्तए" सस्तारकमन्वेष्टुमिति० आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०।

एसित्ता–एषित्वा–अव्य० अन्विष्येत्यर्थे, "पिंडवाय एसित्ता" पिण्डपात भिक्षामेषित्वाऽन्विष्येति। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। एषित्वा–अव्य० निर्दोषमाहार गृहीत्वेत्यर्थे "पडिरूवेण एसित्ता" आहारं निर्दोष गृहीत्वेति। अन्विष्येत्यर्थे, उत्त० १ अ०।

एसिय–एषिक–पु० एषितु शीलमस्येत्येषिकः। मृगलुब्धक हस्तितापसादौ, पाखण्डिके च। (एसिया वेसिया सुद्दा) एषितुं शीलमित्येषिका मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एष्यन्ति तथा कन्दमूलफलादिके च। तथा ये चाऽन्ये पाखण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेष्यन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। जातिभेदे, [एसियकुलाणि वा) एसियति गोष्ठा इति " आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०॥

एषित–त्रि० एषणीये, एषयन्ति एषणीयमुद्गमादिदोषरहितमिति आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ०। (एसियस्सत्ति) एषणीयस्य गवे-

षणाविशुद्ध्या गवेषितस्येति भ० ७ श० १ उ० । एषित प्रासुकमित्यर्थ इति व्य० द्वि० ४ उ० । एषितमन्वेषितं भिक्षाचर्याविधिना प्राप्तमिति सूत्र० २ श्रु० १ अ० ॥

एसिया—एषित्वा—अव्य० अन्वेष्यत्यर्थे, "सुविसुद्धमेसिया" सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहिततयैषणादोषपरिहारेणैषित्वाऽन्विष्येति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

एहंत—एधयत्—त्रि० अनुभवति, "दीसंति दुहमेहंता" दुःखक्लेशलक्षणमेधयन्तोऽनेकार्थत्वादनुभवन्त इति । दश० ९ अ० ।

एहिय—ऐहिक—त्रि० इह भवः काशादुत्वम्, इहलोकभवे, गृहीतशरीरसम्बन्धिनि स्रक्चन्दनादिसुखानुभवादौ च वाच० । ऐहिकमेव चकं सांसारिकसुखहेतुत्वादिति । आ० म० प्र० ।

ऐ—अयि—अव्य० इण् इन् । भयौ वैत् ८ । १ । १६९ । इति प्राकृतसूत्रेणायिशब्दे आदे: स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह वा ऐकारः । प्रा० । प्रश्ने, अनुनये, सम्बोधने, अनुरागे च । वाच० । "ऐ बीहेमि" अइउम्मासिए वचनादैकारस्यापि प्राकृते प्रयोगः प्रा०

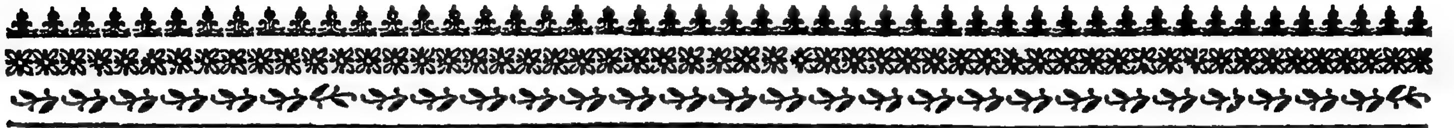

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
एकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्–

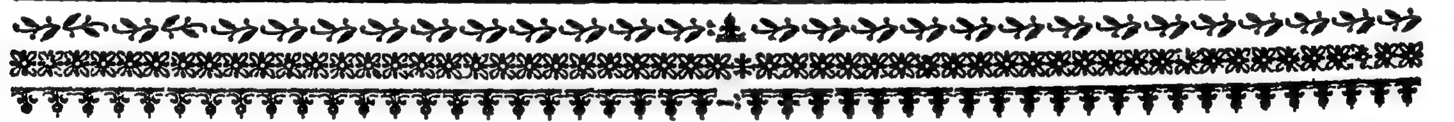

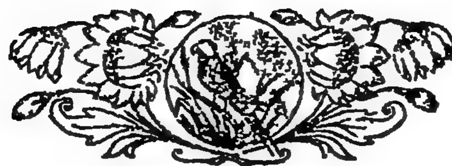

ओ-अव-अप-उत्-अव्य०अवादिप्रकरणोक्तार्थेषु, " अवापोते च ८ । १ ७२ अवापयोरुपसर्गयोरुत इति विकल्पार्थनिपाते च आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा भवति । ओअरइ अवअरइ । ओआसो अवआसो । अप । ओसरइ । अवसरइ । ओसारिअं । अवसारिअं । उत्-ओवणं उअवण । ओघणो । उअघणो । क्वचिन्न भवति अवगअं । अवसद्दो उअ-रवी प्रा० । अव-अधःशब्दार्थे, वोसिरामि । विशे० ।

ओ-अव्य० उ-विच् । सबोधने, आह्वाने, स्मरणे, अनुकम्पने, च मेदि०। प्राकृतेऽपि ओ सूचना पश्चात्तापे, ॥२॥ ओ इति सूचना-पश्चात्तापयोः प्रयोक्तव्यम् सूचनायाम् " ओ अविणअतत्तिल्ले" पश्चात्तापे-"ओ नमए ह्यायाइतिआए" विकल्पे तु उतादेशेन ओ-कारेणैव सिद्धम् । "ओविरएमि न हुअहे" प्रा० । ओ इति नि-पात । पादपूरणे, पंचा०२ विव०। "सामाईयमोत्तयं तु य विघ्ग" " पंचा० १ विव० । सुहुमे परमुस्सक्कण-मवसक्कणमोयपाहु-मिया" पचा० १७ विव०।

ओ-पु० रक्षणे, शेषे, मन्त्रे, श्रुतावपि ब्रह्मणि, शीतांशौ, पङ्के, दायादे, त्रिदिवेशे, पयोवाहे, यवे, वेधे, नदे, योनौ, सरसिजे, तोये, रुद्रस्वामिनि, मातरि, एका० ।

ओअक्ख-दृश्-धा० भ्वा-पर-सक० । प्रेक्षणे "दृशो निअच्छपे-च्छा वयच्छा वयज्झ चज्ज सव्वव देक्खो अक्खा वक्खा वअक्ख पुलोये पुलअ निआव आस पासा. " ८ । ४ । ८० । इति दृशे-रोअक्खादेशः । ओअक्खइ । पासइ पश्यति प्रा० ।

ओअग्ग-वि-अप्-धा० स्वा-उभ० व्यापेरोअग्ग. ८ । ४ । ४० । इति व्याप्नोतेरोअग्ग इत्यादेशो वा भवति । ओअग्गइ । वावेइ । प्राप्नोति प्रा० ।

ओअद-आ-छिद्-धा०रुधा० हस्तादिनाऽऽकर्षणे, । आङा ओ-अन्दोद्दालौ ८ । ४ । ५ । इति आङा युक्तस्य छिदेरोअंदादेश । ओअदइ । आछिंदइ । आच्छिनत्ति । प्रा० ।

ओआस-अवकाश-पुं० अव्-कश्-घञ्-अवापोते च ८ । १ । ७२ । इति सस्वरव्यञ्जनेन सह ओत् प्रा० । आश्रये, प० व० १ द्वा० ॥

ओआसविवज्जिअ-अवकाशविवर्जित-त्रि० आश्रयरहिते, "च त्तम्मि घरावासे, ओआसविवज्जिओ पि वासत्तो" पं०व०१ द्वा०

ओइण्ण-अवतीर्ण-त्रि० गन्तुमुपक्रान्ते, " विसम मग्गमो इण्णो, अक्खे भग्गमि सोयइ " उत्त० ५ अ० ।

ओउ-ओतु-पुं० स्त्री० अव्-तुन्-ऊठ् गुण । विडाले, मार्जारे, आ-वे-तुन्-वा संप्रसारणम् । तिरश्चीनसूत्रे, वाच० ।

ओउय-आर्तव-न०ऋतौ यदुचितं तदार्तवम् । ऋतूचिते, "अ-गहरुवंरपवरधूवणओउयमल्लाणुलेवणविही" ज्ञा०१७अ० ।

ओऊल-अवचूल-न०हस्त्यादेः कण्ठन्यस्ताधोमुखकूर्चके, "पलं-बओऊलमहुयरकयधयार " ज्ञा० १६ अ० ।

ओं-ॐ-पु०अव्य० अश्च अश्च आश्च उश्च म् च द्वन्द्व । परमेष्ठिप-ञ्चके, "ॐभूर्भुवःस्व.तत्सवितुर्वरेण्यं," ओमिति परमेष्ठिपञ्चकमा-ह । कथमिति चेदुच्यते । अ इति अर्हत आद्याक्षरम् । अ इत्य-शरीरा इत्यस्य सिद्धवाचकस्याद्याक्षरम् । आ इत्याचार्यस्याद्या-क्षर . उ इत्युपाध्यायस्याद्याक्षरम्, म् इति मुनीत्यस्याद्याक्षरम् अअआउम् इति तत. सन्धिवशात् ओं इति । पदैकदेशे पद-समुदायोपचारादेवमुक्तिः ॥ ओमित्यनेन "आयहकला अरिहंता,-निक्कला सिद्धा य लोकुकरसूरी । उवज्झाय विसुद्धकला, दीह-कला साहुणो भणिय" ॥ १ ॥ " इति गाथोक्तरहस्येन परमे-ष्ठिपञ्चकमेव महानन्दार्थिना ध्येयमिति ॥ परमतत्त्वे यतः अक्ष-पादा. स्वं देवमीश्वर प्रणिदधाना. प्रार्थनापुर.सरमेवमभिदधति । (ओंभूर्भुवेत्यादि) ओमिति सर्वविद्यानामाद्यबीज सकलागमो-पनिषद्भूतं सर्वविघ्नविघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्प-द्रुमोपमामित्यस्य प्रणिधानस्यादावुपन्यस्त परममङ्गलम् न चैतद्व्य-तिरिक्तमन्यत्तत्वमस्ति इति ॥ ओमित्यक्षरं छान्दसमादिभू-तत्वात्तस्य किंविशिष्टस्य भूर्भुव स्वस्तद्भुवनत्रयव्यापि तर्हि किं-चिदभिधेयसत्तासमाविष्ट यस्तु गुरुसम्प्रदाययुक्तान्विष्यमाण-मत्र ओकारे शब्दपर्यायेणावाच्यते सर्ववादिभिरविगानेनास्य सकलभुवनत्रयक्रमलाधिगमे बीजतयोपवर्णितत्वादिति परिभा-वनीयमेतत् । गा० । अश्च उश्च मश्च तेषां समाहार । विष्णु-महेश्वरब्रह्मरूपत्रयात्मके ईश्वरे, । ब्रह्मोकारोऽत्र विज्ञेय. अकारो विष्णुरुच्यते । महेश्वरो मकारस्तु त्रयमेकत्र तत्त्वत. । प०व० ४ द्वा०३२ पत्र० । प्रणवे, । आरम्भे, । स्वीकारे, । अनुमतौ, अपाकृतौ, अस्वीकारे, मङ्गले, शुभे, ज्ञेये, ब्रह्मणि च । वाच० ।

ओंकार-ओंकार-पु-ओम्-स्वरूपे कारप्रत्यय. । प्रणवे, स्तुवी-त कृत सर्वमित्युक्तेश्च ओंकारस्य सर्वकर्मारम्भादौ पाठ्यत्वात्-आरम्भसाधनत्वेन आरम्भे, । सप्तानां समावयवानां प्रथमा-वयवे च । बुद्धिशक्तिभेदे च स्त्री० । वाच० ।

ओक-ओक-पुं०उच्-घ-चस्य कः । पक्षिणि, वृषले, आश्रये च । उच् भावे घञ् कुत्वम् । समवाये । वाच० ।

ओक्य-ओकाय हित यत् निवासाय हिते, । त्रि० वाच० ।

ओकस्-न०उच्-असुन् न्यङ्क्वादित्वात्कुत्वम् । गृहे, आश्रयमात्रे च । वनौकस. त्रिदिवौकस' इत्यादि । वाच० । "कुलपत्यर्पिते वर्षास्तस्थौ स्वामी तृणौकसि । गावो बहिस्तृणानाप्त्या वर्षारम्भे-क्षुधातुराः" आ० क० ।

ओकुंजिय-अवकूजित-न० ऊर्ध्व तिर्यग्बाहुमिति करणे, "उक्कु पांतरियं हुत्ति करण ओ अवकुंजिय" । नि० चू० १७ उ० ।

ओक्खल-उदूखल-न० उद्-ऊर्ध्व ख लाति । ला-क पृषो-नि० नवा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलो दूखलोलूखले ८ । १ । ७१ । इति आदे. स्वरस्य परेण सस्व-रव्यञ्जनेन सह ओद् वा । ओक्खल । उलूखलं । तैलादित्वात्खद्वि-त्वे 'द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्व.' ८ । २ । ९० । इति द्वितीयस्योप-रि प्रथम' । तन्दुलादिसाधने गृहोपकरणे, प्रा० ।

ओगसण-अपकसन-न० ह्रसने, बृ० ६ उ० ।

ओगहिय-अवगृहीत-न० येन केनचित्प्रकारेण दायकेनात्ते भक्तादौ, ॥

तिविहे ओगहिए पन्नत्ते तं जहा जं च ओगिएहइ जं च साहरई जं च आसगांसि पक्खिवइ ॥

अवगृहीत नाम येन केनचित्प्रकारेण दायकेनात्तं भक्तादि यदिति भक्तम् । चकाराः समुच्चयार्थाः । अवगृह्णाति आदत्ते हस्तेन दायकस्तदवगृहीतमेतच्च षष्ठी पिण्डैषणेति एवं च वृद्धव्याख्या परिवेषकः पिटकायाः कूरं गृहीत्वा यस्मै दातुकामः तद्भाजने क्षेप्तुमुपस्थितस्तेन च भणितं मा देहि अत्रावसरे प्राप्तेन साधुना धर्मलाभित ततः परिवेषको भणति प्रसारय साधो ! पात्रं ततः साधुना प्रसारिते पात्रे क्षिप्तमोदनम् । इह च संयतप्रयोजनगृहस्थेन हस्त एव परिवर्तितो नान्यद्गमनादि कृतमिति जघन्यमाहृतं जातमिति । इह च व्यवहारभाष्यश्लोकः । "भुजमाणस्स उक्खित्तं, पमिसिद्धं च तेण उ । जहन्नोवहडतं तु, हत्थस्स परियत्तणेति " । तथा तच्च परिवेषकः स्थानादविचलन् संहराति भक्तभाजनाद्भोजनभाजनेषु क्षिपति तच्चावगृहीतमिति प्रक्रम श्लोकोऽत्र । " अह साहारमाण (परिवेषयन्नित्यर्थः)तु, वट्टतो जो उ दायओ । दलेज्जा चलिओ तत्तो, छुढा एसा वि एसणत्ति " तथा यच्च भक्तमास्यके पिठरादिमुखे क्षिपति तच्चावगृहीतमिति । एवं चात्र वृद्धव्याख्या कूरमवसादननिमित्त कांस्यादि भाजने विशालोच्चानरूपे क्षिप्त ततो भक्तिकेभ्यो दत्त ततो भक्तशेष यदूर्ध्वं पिठरके प्रकाशमुखे क्षिपति दद्यात् परिवेषयतीति वा प्रकाशमुखे भाजने तत्तृतीयमवगृहीतम् । श्लोकोऽत्र । "भुत्तसेसं तु ज भूमो, छुवती पिठरोदये । संवट्टती व अन्नस्स, आसगसि पएसपत्ति ॥ १ ॥, ननु आस्ये मुखे यत्प्रक्षिपतीति मुख्येऽर्थे सति किं पिठरादिमुखे इति व्याख्यायत इत्युच्यते अस्य प्रक्षेपव्याख्यानमयुक्तमिति जुगुप्साभावादिति । आह च । " पक्खेवए दुगुंछा आएसो कुममुहाईसुत्ति " स्था० ३ ठा० ॥

ओगाढ-अवगाढ-त्रि० अव-गाह-क्त । आश्रिते, । स्था० १० ठा० । अवस्थिते, स्था० १ ठा० । व्यवस्थिते, आ० म० प्र० । व्याप्ति, ज्ञा० १६ अ० । स्थिते, आचा०२ श्रु० । निमग्ने, स्था० ४ ठा० ।

ओगाढरुइ-अवगाढरुचि- स्त्री० अवगाढ साधुप्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधूपदेशाद् रुचिरवगाढरुचि । धर्मध्यानस्य चतुर्थे, । लक्षणे, । स्था० ४ ठा० ।

ओगाहइत्ता-अवगाह्य--अ० उदकमेव आत्माभिमुखमाकृष्येऽर्थे " ओगाहइत्ता चलइत्ता आहारे पाणभोयणे" द० ५ अ० ।

ओगाहंत-अवगाहत्-अवगाहमान-त्रि० अवगाहनां कुर्वति, "सूरुद्दयपच्छिमाए ओगाहतीइ पुव्व उएइ " अवगाहन्त्यामागच्छन्त्यामित्यर्थः । आव० २ अ० । "ते चोगाहती सघट्टंती रमती य"। तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती । पिं० ।

ओगाहणसेणियापरिकम्म-अवगाहनश्रेणिकापरिकर्मन्-न० दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मभेदे, सम० ।

ओगाहणा-अवगाहना-स्त्री० अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना । क्षेत्रप्रदेशे, स्था० १ ठा० । अवगाहन्ते अवतिष्ठन्ते जीवा अस्यामित्यवगाहना । नारकादितनुसमवगाढे क्षेत्रे, । अनु० । आधारैकभूते क्षेत्रे, सम० । अवगाहन्ते आसते यस्यामाश्रयन्ति वा यां जीवा साऽवगाहना स्था० ४ ठा० । अवगाहन्ते क्षेत्र यस्यां स्थिता जन्तव साऽवगाहना । आ०म० प्र० । उत्त० ३६ अ० । आवगाह्यते जीवेन आकाशोऽनयेति अवगाहना औणादिकः प्रत्ययः । प्रव० १ द्वा० । औदारिकादौ शरीरे, सम० ।

(१) अवगाहनाया भेदाः ।
(२) औदारिकशरीरावगाहनामानम् ।
(३) पृथ्व्यादीनामौदारिकावगाहनामानम् ।
(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामौदारिकावगाहना ।
(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना ।
(६) मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना ।
(७) वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(८) पृथ्व्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहना ।
(९) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरावगाहनामानम् ।
(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरावगाहना ।
(११) आहारकशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(१२) तैजसशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(१३) निगोदजीवस्यावगाहनामानम् ।
(१४) एकत्र एक एव धर्मास्तिकायादिप्रदेशावगाढः ।
(१५) धर्मास्तिकायादेरवगाढानवगाढस्य चिन्ता ।

(१) अवगाहनाया भेदास्तद्यथा

चउव्विहा ओगाहणा पन्नत्ता तं जहा दव्वोगाहणा खेत्तोगाहणा कालोगाहणा भावोगाहणा ॥

अवगाहन्ते आसते यस्यामाश्रयन्ति वा यां जीवाः साऽवगाहना शरीरं द्रव्यतोऽवगाहना द्रव्यावगाहना । एव सर्वत्र । तत्र द्रव्यतोऽनन्तद्रव्या क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढा । कालतोऽसंख्येयसमयस्थितिका भावतो वर्णाद्यनन्तगुणेति । अथवा अवगाहना विवक्षितद्रव्यस्याधारभूता आकाशप्रदेशास्तत्र द्रव्याणामवगाहना द्रव्यावगाहना । क्षेत्रमेवावगाहना क्षेत्रावगाहना । कालस्यावगाहना समयक्षेत्रलक्षणा कालावगाहना । भाववतां द्रव्याणामवगाहना भावावगाहना भावप्राधान्यादिति । आश्रयणमात्रं वा अवगाहना । तत्र द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना श्रयण द्रव्यावगाहना । एवं क्षेत्रस्य कालस्य भावानां द्रव्येणेति अन्यथा चोपयुज्य व्याख्येयमिति स्था० ४ ठा० ।

नवविहा जीवोवगाहना पन्नत्ता तं जहा पुढविकाइयओगाहणा आउकाइय जाव वणस्सइकाइयओगाहणा बेंदियोगाहणा तेंदियोगाहणा चउरिंदियोगाहणा पचेंदियोगाहणा ॥ स्था० ९ ठा० ।

(२) सामान्यत औदारिकशरीरावगाहनामानम् ।

ओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । एगिंदियओरालियस्स वि एवं चेव जहा ओहियस्स ॥

औदारिकस्य जघन्यतोऽवगाहना अङ्गुलासंख्येयभागा स चोत्पत्तिप्रथमसमये पृथिवीकायिकादीनां वाऽवसातव्या । उत्कर्षत सातिरेक योजनसहस्रमेषा लवणसमुद्रगोतीर्थादिषु पद्मनालाद्यधिकृत्यावसातव्या । अन्यत्रैतावत् औदारिकशरीरस्यासम्भवात् । एवमेकेन्द्रियसूत्रेऽपि तथा चाह । " एगिंदियउरालियस्स एवं चेव जहा ओहियस्स इति " प्रज्ञा० २१ पद

(३) औदारिकपृथिव्यादीनामवगाहनामानम् ।

पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीरस्स णं भंते ! के म-
हालिया पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि
अंगुलस्स असंखेज्जइभागं एवं अपज्जत्तयाए वि पज्जत्तयाए
वि । एवं सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताण वायराण पज्जत्ताप-
ज्जत्ताण वि । एवं एसो णवज्जेओ जहा पुढविकाइयाण तहा
आउकाइयाण वि । तेउकाइयाण वि वाउकाइयाण वि ।
वणस्सइकाइयओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया
सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स अ-
संखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयण हस्सं । अपज्ज-
त्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभा-
ग । पज्जत्तगाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।
उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । वादराणं जहन्नेणं
अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं साति-
रेगं । पज्जत्ताण वि एवं चेव । अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि
उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । सुहुमाणं पज्ज-
त्तापज्जत्ताण य तिएह वि जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुल-
स्स असंखेज्जइभाग ।

पृथिव्यप्तेजोवायूनां सूक्ष्माणां बादराणां प्रत्येकं पर्याप्तानामपर्या-
प्तानां चौदारिकशरीरस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चावगाहना अङ्गुला-
सख्येयभाग । प्रत्येक च नव सूत्राणि तेषामौघिकसूत्रमौघिकप-
र्याप्तसूत्रम् । तथा सूक्ष्मसूत्रं सूक्ष्मापर्याप्तकसूत्र सूक्ष्मपर्याप्तकसू-
त्रमेवं बादरेऽपि सूत्रत्रिकमिति । एव वनस्पतिकायिकानामपि च
सूत्राणि । नवरमौघिक वनस्पतिसूत्रे औघिकवनस्पतिपर्याप्तकसू-
त्रे बादरसूत्रे बादरपर्याप्तसूत्रे जघन्यतोऽङ्गुलासख्येयभाग उत्कर्ष-
त. सातिरेक योजनसहस्र तच्च पद्मनालाद्यधिकृत्य वेदितव्यम् ।
शेषेषु तु जघन्यत उत्कर्षतो वाऽङ्गुलासख्येयभागः ॥

(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियौदारिकाणामवगाहनामानम् ।

बे इंदियउरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरो-
गाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्ज-
इभागं उक्कोसेणं बारसजोयणाइं । एवं सव्वत्थ वि अपज्ज-
त्तयाणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग जहन्नेण वि उक्कोसेण वि
पज्जत्तगाणं । जहेव ओरालियस्स ओहियस्स । एव तेइं-
दियाणं तिण्णि गाउयाइं । चउरिंदियाणं चत्तारि गाउयाइं ।

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं त्रीणि २ सूत्राणि तद्यथा औघिकसू-
त्रं पर्याप्तसूत्रमपर्याप्तसूत्र च । तत्रौघिकसूत्रे पर्याप्तसूत्रे च द्वीन्द्रिया
णामुत्कर्षतो द्वादश योजनानि । त्रीन्द्रियाणां त्रीणि गव्यूतानि ।
चतुरिन्द्रियाणां चत्वारि गव्यूतानि । अपर्याप्तसूत्रे तु जघन्यत
उत्कर्षतश्चाङ्गुलासख्येयभाग ॥

(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानम् ॥

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ३ ।
एवं सम्मुच्छिमाणं ३ । गब्भवक्कंतियाण वि ३ । एवं चेव
णवओ भेदो भाणियव्वो । एवं जलयराण वि जोयणस-
हस्सं णवओ भेदो । थलयराण वि णवओ भेदो उक्कोसेणं
छगाउयाइं । पज्जत्ताण वि एवं चेव ३ । सम्मुच्छिमाणं
पज्जत्ताण य उक्कोसेण गाउयपुहत्तं ३ । गब्भवक्कंतियाणं
उक्कोसेणं छ गाउयाइं । पज्जत्ताण य ओहियचउप्पयपज्जत्तय-
गब्भवक्कंतियपज्जत्तयाण य उक्कोसेणं छ गाउयाइं सम्मुच्छि-
माणं पज्जत्ताण गाउयपुहत्तं उक्कोसेणं एवं, उरपरिसप्पाण
वि । ओहियगब्भवक्कंतियपज्जत्तयाणं जोयणसहस्सं ।
सम्मुच्छिमाण जोयणपुहत्तं भुयपरिसप्पाणं ओहियगब्भ-
वक्कंतियाण वि उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं, सम्मुच्छिमाणं धणु-
पुहत्त, खहयराण ओहियगब्भवक्कंतियाणं सम्मुच्छिमाण य
तिएह वि उक्कोसेणं धणुपुहत्तं । इमाओ संगहणिगाहाओ
जोयणसहस्सछगाउयाइं, तत्तो य जोयणसहस्सं । गाउयपु-
हत्त भुयपरि-धणुहे पुहत्त च पक्खीसु । १ । जोयणसह-
स्सगाउय-पुहत्तं तत्तो य जोयणपुहत्तं । होएहं धणुपुहत्तं,
सम्मुच्छिमे होति उच्चत्तं ॥

तथा सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां जलचराणां सामान्यतः
स्थलचराणां चतुष्पदानामुर परिसर्पाणां भुजपरिसर्पाणां ख-
चरपञ्चेन्द्रियतिरश्चां च प्रत्येक नव २ सूत्राणि । तद्यथा त्रीणि
औघिकानि । त्रीणि समूर्च्छिमविषयाणि । त्रीणि गर्भव्युत्क्रान्ति-
कविषयाणि । तत्रापर्याप्तेषु स्थानेषु सर्वेष्वपि जघन्यत उत्क-
र्षतो वाऽङ्गुलासख्येयभाग. । शेषेषु तु स्थानेषु जघन्यतोऽङ्गुलास-
ख्येयभाग । उत्कर्षत. सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु जलचरेषु
चोत्कर्षतो योजनसहस्र सामान्यत. स्थलचरेषु चतुष्पदस्थ-
लचरेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु षट् गव्यूतानि संमूर्च्छिमेषु गव्यूत-
पृथक्त्वम् । उर परिसर्पेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु च योजन-
सहस्र समूर्च्छिमेषु योजनपृथक्त्व भुजपरिसर्पेष्वौघिकेषु गर्भ-
व्युत्क्रान्तेषु च गव्यूतपृथक्त्वम् । संमूर्च्छिमेषु धनु पृथक्त्व खच-
रेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु समूर्च्छिमेषु च सर्वेषु स्थानेषु धनुः
पृथक्त्वम् अत्रेमे सग्रहगाथे (जोयणसहस्सामित्यादि) गर्भव्यु-
त्क्रान्तानां जलचराणामुत्कर्षत. शरीरावगाहनामान योजनसह-
स्र चतुष्पदस्थलचराणां षट् गव्यूतानि । उर.परिसर्पस्थलचरा-
णां षट् गव्यूतानि । उरःपरिसर्पस्थलचराणां योजनसहस्र
भुजपरिसर्पस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्व पक्षिणां धनु पृथक्त्वम् ।
तथा समूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कर्षत शरीरावगाहनाया. प्र-
माण योजनसहस्र चतुष्पदस्थलचराणा गव्यूतपृथक्त्व, पक्षिणां
धनु पृथक्त्वम् । तथा समूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कर्षत.
शरीरावगाहनाया प्रमाण योजनसहस्रश्चतुष्पदस्थलचराणां
गव्यूतपृथक्त्वम् , पक्षिणां धनु'पृथक्त्वमुर परिसर्पस्थलचराणां
योजनपृथक्त्व, भुजपरिसर्पस्थलचराणा च धनु पृथक्त्वमिति ।
उक्तं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानम् ।

(६) इदानीं मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानमाह ।

मणुस्सोरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरो-
गाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखे-
ज्जइभागं उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइ । अपज्जत्ताणं जहन्ने-
ण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । सम्मु-
च्छिमाणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्ज-

इभागं । गब्भवक्कंतियाणं पज्जत्ताण य जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं ॥

कण्ठ्यम् । नवरं त्रीणि गव्यूतानि देवकुर्वाद्यपेक्षया तदेवमौदारिकशरीरस्य विधय. संस्थानानि प्रमाणानि चोक्तानि ।

(७) संप्रति वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानमाह ।

वेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसयसहस्सं । वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । णेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ ण जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं धनुस्सहस्सं ।

(वेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभाग नैरयिकादीनां भवधारणीयस्यापर्याप्तावस्थाया वातकायस्य वा उत्कर्षतः सातिरेक योजनशतसहस्र देवानामुत्तरवैक्रियस्य मनुष्याणा वा (एगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) अत्र एकेन्द्रियो वातकायोऽन्यस्य वैक्रियलब्ध्यसंभवात् । तस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽवगाहनामानमङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणमेतावत्प्रमाणं विकुर्वणायामेव तस्य शक्तिसंभवात् । सामान्यनैरयिकसूत्रे भवधारणीया भवो धार्यते यया सा भवधारणीया कुद्दालमिति वचनात्करणे अनीयप्रत्ययः । उत्कर्षत. पञ्च धनुःशतानि उत्तरवैक्रियधनुःसहस्रं सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया अन्यत्रैतावत्या भवधारणीयाया उत्तरवैक्रियाया वा शरीरावगाहनाया अप्राप्यमाणत्वात् ।

(८) सम्प्रति पृथिव्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहनामानमाह ।

रयणप्पभा पुढविणेरइयाणं के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य तत्थ णं जा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण सत्तधणूइं तिण्णि रयणीओ छच्च अंगुलाइं । तत्थ ण जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभाग उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । सक्करप्पभाए पुच्छा गोयमा ! जाव तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेण अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेण एक्कतीसं धणूइं एक्का य रयणी । वालुयप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा एक्कतीसधणूइं एक्का य रयणी । उत्तरवेउव्विया बावट्ठिधणूइं दोण्णि य रयणीओ । पंकप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा बावट्ठिधणूइं दोण्णि य रयणीओ । उत्तरवेउव्विया पणवीसं धणुसतं । धूमप्पभाए भवधारणिज्जा पणवीसं धणुसतं । उत्तरवेउव्विया अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं । तमाए भवधारणिज्जा अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं । उत्तरवेउव्विया पंचधणुसयाइं । अहेसत्तमाए भवधारणिज्जा पंचधणुसयाइं । उत्तरवेउव्विया धणुसहस्सं । एयं उक्कोसेणं जहन्नेणं भवधारणिज्जा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उत्तरवेउव्विया अंगुलस्स संखेज्जइभागं ॥

अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणता प्रथमोत्पत्तिकाले वेदितव्या । उत्कर्षत. सप्त धनूंषि त्रयो हस्ता. षट् चाङ्गुलानि पर्याप्तावस्थायामिदं चोत्कर्षतः शरीरावगाहनामान त्रयोदशे प्रस्तटे द्रष्टव्यं शेषेषु त्वर्वाक्तनेषु प्रस्तटेषु स्तोकं स्तोकतरम् । तथैवं रत्नप्रभाया. प्रथमे प्रस्तटे त्रयो हस्ता उत्कर्षत. शरीरप्रमाणम् द्वितीये प्रस्तटे धनुरेकमेको हस्तः सार्द्धानि चाष्टाङ्गुलानि । तृतीये प्रस्तटे धनुरेक त्रयो हस्ता सप्तदशाङ्गुलानि । चतुर्थे द्वे धनुषी द्वौ हस्तौ सार्धमेकमङ्गुलम् । पञ्चमे त्रीणि धनूंषि दशाङ्गुलानि । षष्ठे त्रीणि धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धान्यष्टादशाङ्गुलानि । सप्तमे चत्वारि धनूंषि त्रयो हस्ता. सार्धान्येकादशाङ्गुलानि । नवमे पञ्च धनूंषि एको हस्तो विंशतिरङ्गुलानि । दशमे षट् धनूंषि सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि । एकादशे षट् धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रयोदशाङ्गुलानि । द्वादशे सप्त धनूंषि सार्धान्येकविंशतिरङ्गुलानि । त्रयोदशे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ता. षट् परिपूर्णान्यङ्गुलानि । एष चात्र तात्पर्यार्थ. । प्रथमे प्रस्तटे यच्छरीरावगाहनापरिमाण त्रयो हस्ता इति तस्योपरि प्रस्तटक्रमेण सार्द्धानि षट् पञ्चाशदङ्गुलानि प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु शरीरावगाहनापरिमाणं भवति । उक्त च । "रयणाए पढमपयरे, हत्थतिगदेहउस्सेहभणिओ । छप्पन्नंगुलसड्ढा, पयरे पयरे हवइ वुड्ढी "१ (तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया इत्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभाग प्रथमसमयेऽपि तस्या अङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणाया एव भावात् । न त्वसंख्येयभागप्रमाणा । आह च । संग्रहणिमूलटीकाकारो हरिभद्रसूरिः-उत्तरवैक्रिया तु तथाविधप्रयत्नभावादाद्यसमये अङ्गुलसंख्येयभागमात्रे च उत्कर्षत पञ्चदशधनूंषि अर्द्धतृतीयहस्ता इदं च उत्तरवैक्रियशरीरावगाहनापरिमाणं त्रयोदशे प्रस्तटेऽवसातव्य शेषेषु प्रस्तटेषु प्रागुक्त भवधारणीयमानापेक्षया द्विगुणं प्रत्येतव्यम् । शर्कराप्रभायां भवधारणाया उत्कर्षतः पञ्चदशधनूंषि अर्द्धतृतीयहस्ता इद चोत्कर्षतो भवधारणीयावगाहना परिमाणमेकादशे प्रस्तटे ऽवसातव्यम् । शेषेषु प्रस्तटेष्विदं शर्कराया. प्रथमे प्रस्तटे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ता षट् चाङ्गुलानि । द्वितीये प्रस्तटेऽष्टौ धनूंषि द्वौ हस्तौ नव चाङ्गुलानि । तृतीये नव धनूंषि एको हस्तो द्वादशाङ्गुलानि । चतुर्थे दश धनूंषि पञ्चदशाङ्गुलानि । पञ्चमे दश धनूंषि त्रयो हस्ता अष्टादश अङ्गुलानि । षष्ठे एकादश धनूंषि द्वौ हस्तावेकविंशतिरङ्गुलानि । सप्तमे द्वादश धनूंषि द्वौ हस्तौ । अष्टमे त्रयोदश धनूंषि एको हस्तस्त्रीणि अङ्गुलानि । नवमे चतुर्दश धनूंषि षट् चाङ्गुलानि । दशमे चतुर्दश धनूंषि त्रयो हस्ता नव चाङ्गुलानि । एकादशे सूत्रोक्तमेव परिमाणम् । अत्रापीदं तात्पर्यम् । प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रथमे

प्रस्तटे क्रमेण त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि प्रक्षेप्तव्यानि । ततो यथोक्तं प्रस्तटे परिमाणं भवति । "सो चेव य बीयाए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । हत्थतिय तिन्नि अंगुल-पयरे पयरे य वुड्ढीओ ॥ १ ॥ एक्कारसमे पयरे, पन्नरस धणूणि दोण्णि रयणीओ । बारसयमंगुलाइं, देहपमाणं तु विन्नेयं ॥ २ ॥" गाथाद्वयस्यापीयमक्षरगमनिका य एव प्रथमपृथिव्यास्त्रयोदशे प्रस्तटे उत्कर्षत उत्सेधो भणित सप्त धनूंषि त्रयो हस्ता षट् चाङ्गुलानीति स एव द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायां पृथिव्यां प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति ज्ञातव्य । तत प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया । त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि । तथा च सत्येकादशे प्रस्तटे उत्कर्षतो भवधारणीयशरीरपरिमाणमायाति । पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानीति । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमाह । एकत्रिंशति धनूंषि एको हस्त । इदं च एकादशे प्रस्तटे वेदितव्यम् । शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वधारणीयापेक्षया द्विगुणमवसेयम् । तथा तृतीयस्यां वालुकप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया । एकत्रिंशत् धनूंषि एको हस्त एतच्च नवमप्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम् । शेषेषु प्रस्तटेष्वेवम् । तत्र प्रथमप्रस्तटे भवधारणीया पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि । द्वितीये प्रस्तटे सप्त धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धानि सप्ताङ्गुलानि । तृतीये एकोनविंशतिधनूंषि द्वौ हस्तौ त्रीण्यङ्गुलानि । चतुर्थे एकविंशतिधनूंषि एको हस्त· सार्धानि द्वाविंशतिरङ्गुलानि । पञ्चमे त्रयोविंशतिधनूंषि एको हस्तोऽष्टादश चाङ्गुलानि । षष्ठे पञ्चविंशति धनूंषि एको हस्त सार्धानि त्रयोदशाङ्गुलानि सप्तमे सप्तविंशतिधनूंषि एको हस्तो नव चाङ्गुलानि । अष्टमे एकोनत्रिंशद्धनूंषि एको हस्त सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि । नवमे यथोक्तरूप परिमाणम् । अत्रापि चायं भावार्थ । प्रथमप्रस्तटेषु यत्परिमाणमुक्त तत्तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे सप्त हस्ता सार्धानि च एकोनविंशतिरङ्गुलानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि । ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु परिमाण भवति । उक्त च । "सो चेव य तइयाए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । सत्तरयणीउ अंगुल, उणवीस सह्वुड्ढी य ॥ १ ॥ पयरे पयरे य तहा, नवमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । धणुआणि एगतीसं, एका रयणी य नायव्वा ॥ २ ॥" अस्यापि गाथाद्वयस्येयमक्षरगमनिका य एव द्वितीयस्या शर्कराप्रभाया एकादशप्रस्तटे भवधारणीयाया उत्कर्षत उत्सेध उक्त पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादश चाङ्गुलानि स एव तृतीयस्या वालुकप्रभाया· पृथिव्या प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति तत प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया । सप्त हस्ता सार्धानि चैकोनविंशतिरङ्गुलानि । तथा च सति नवमे प्रस्तटे यथोक्त भवधारणीयावगाहनामान भवति । एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्त इति । उत्तरवैक्रियोत्कृष्टपरिमाणमाह । द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ एतच्च नवमप्रस्तटापेक्षमवसेयम् । शेषेषु तु प्रस्तटेषु निजनिजभवधारणीयप्रमाणापेक्षया द्विगुणमिति । चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां· पृथिव्या उत्कर्षतो भवधारणीया द्वाषष्टिर्धनूंषि द्वौ हस्तौ इदं च सप्तमे प्रस्तटे प्रत्येय शेषेषु तु प्रस्तटेष्वेव पङ्कप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः । द्वितीये षट्त्रिंशत धनूंषि एको हस्त· विंशतिरङ्गुलानि । तृतीये एकचत्वारिंशद्धनूंषि द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुलानि । चतुर्थे षट्चत्वारिंशद्धनूंषि त्रयो हस्ता द्वादशाङ्गुलानि । पञ्चमे द्विपञ्चाशत् धनूंषि अष्टावङ्गुलानि । षष्ठे सप्तपञ्चाशत् धनूंषि एको हस्तः चत्वार्यङ्गुलानि । सप्तमे यथोक्तरूप परिमाणमत्रापि चैष भावार्थः । प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्च धनूंषि विंशतिरङ्गुलानीत्येवंरूपा वृद्धिरवगन्तव्या । तत· पृथमे प्रस्तटे सूत्रोक्तपरिमाणं भवति । उक्तं च । " सो चेव चउत्थीए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । पचधणुवीसअंगुल,पयरे पयरे य वुड्ढी य ॥ १ ॥ जो सत्तमए पयरे, नेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ॥ बावट्ठीधणुयाइं, दोण्णि य रयणी य बोधव्वा" ॥ २ ॥ अस्यापि गाथाद्वयस्याक्षरगमनिका प्राग्वद्भावनीया ॥ उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्चविंशतिधनु·शतं तच्च सप्तमे प्रस्तटे । शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमिति । पञ्चम्यां धूमप्रभायां पृथिव्यां भवधारणीयोत्कर्षतः पञ्चविंशत्धनुःशत, तच्च पञ्चमं प्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम् । शेषेषु प्रस्तटेष्विदम् । प्रथमे प्रस्तटे द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ । द्वितीयेऽष्टसप्ततिधनूंषि एका वितस्तिः । तृतीये त्रिनवति धनूंषि त्रयो हस्ता· । चतुर्थे नवोत्तर धनु·शत एको हस्त एका च वितस्तिः । पञ्चमे सूत्रोक्तपरिमाणम् । अत्रापि चायं तात्पर्यार्थ । यत्प्रथमे प्रस्तटे परिमाणमुक्त तदुपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्चदश धनूंषि सार्धहस्तद्वयाधिकानि प्रक्षेप्तव्यानि । तथा च सति यथोक्त पञ्चमे प्रस्तटे परिमाणं भवति । उक्तं च । " सो चेव य पचमीए पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । पन्नरसधणूण दो हत्थ,सड्ढपयरेसु वुड्ढीय ॥ १ ॥ नह पंचमए परये, उस्सेहो धणुसत्तं तु पणवीसं । " अस्या· सार्धगाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्तव्या । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमर्धतृतीयानि धनु शतानि । एतानि च प्रथमे प्रस्तटे वेदितव्यानि । शेषेषु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीया द्विगुणमिति । षष्ठयां तम प्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया । अर्धतृतीयानि धनु·शतानि । तानि च तृतीये प्रस्तटे प्रत्येतव्यानि । प्रथमे तु प्रस्तटे पञ्चविंशतिधनु·शत, द्वितीये सार्धसप्ताशीत्यधिकं धनु शत, तृतीये तु सूत्रोक्तमेव परिमाणं भवति । उक्तं च । " सो चेव य छट्ठीए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । बावट्ठिधणुयसड्ढा, पयरे पयरे य वुड्ढीए ॥ १ ॥ छट्ठीए तइयपयरे, दो सयपन्नासया होंति" । अस्याप्युत्तरार्धपूर्विकाया गाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्तव्या । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्च धनु·शतानि तानि च तृतीये प्रस्तटे वेदितव्यानि । आद्ययोस्तु द्वयोः प्रस्तटयो· स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमवसेयम् । अथ सप्तम्यां तु पृथिव्या भवधारणीया उत्कर्षत· पञ्चधनु शतानि उत्तरवैक्रियधनु·सहस्रं सर्वत्र भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा उत्तरवैक्रियसंख्येयभागप्रमाणेति ।

(६) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरावगाहनामानम् ।

तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं । उक्कोसेणं जोयणसतपुहत्तं ॥

तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वैक्रियशरीरावगाहना उत्कर्षतो योजनशतपृथक्त्वं तत ऊर्ध्वकरणशक्तेरभावात् । मनुष्याणां यथा–

मनुस्सपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं । उक्कोसेणं सातिरेकं जोयणसतसहस्सं ॥

मनुष्याणां सातिरेकं योजनशतसहस्रं, विष्णुकुमारप्रभृतीनां तथा भवणात् । जघन्या तूभयेषामप्यङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणा । न त्वसंख्येयभागमाना । तथा रूपप्रयत्नासंभवात् ।

(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरावगाहनामानम् ।

असुरकुमारेणं भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पणत्ता ? गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहणा पणत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्त रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभाग उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं । एवं जाव थणियकुमारा । एवं ओहियाण वाणमंतराणं । एवं जोइसियाण वि सोहम्मीसाणगदेवाणं एवं चेव उत्तरवेउव्विए जाव अच्चुओ कप्पो । नवरं सणंकुमारभवधारणिज्जा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण छ रयणीओ । एवं माहिंदे वि बंभलोयलंतगेसु पंच रयणीओ महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ । आणयपाणयआरणअच्चुए ५ तिन्नि रयणीओ गेविज्जगकप्पातीतवेमाणि य देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पणत्ता ? गोयमा ! गेविज्जगदेवाणं एगा भवधारणिज्जा सरीरोगाहणा पणत्ता सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग उक्कोसेणं दो रयणीओ । एवं अणुत्तरोववाइयदेवाण वि नवरं एका रयणी ॥

असुरकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां सौधर्मेशानदेवानां प्रत्येकं जघन्या भवधारणीया वैक्रियशरीरावगाहना अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा । सा चोत्पत्तिसमये द्रष्टव्या । उत्कृष्टा सप्त रत्नयः उत्तरवैक्रिया जघन्या अङ्गुलसंख्येयभागमात्रा उत्कृष्टा योजनशतसहस्रम् (उत्तरवेउव्विया जाव अच्चुओ कप्पोत्ति) उत्तरवैक्रियासम्भवात् । एतच्च प्रागेवोक्तं सर्वत्र जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमाना उत्कर्षतो योजनलक्षम् । भवधारणीया तु विचित्रा ततस्तां पृथगाह (नवरमित्यादि) नवरमयं भवधारणीयां प्रति विशेषः सनत्कुमारे कल्पे जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभाग उत्कर्षतः षट् रत्नयः (एव माहिंदे वि इति) एवमुक्तेन प्रकारेण जघन्या उत्कृष्टा च भवधारणीया महेन्द्रकल्पेऽपि वक्तव्या । एतच्च सप्तसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तमवसेयं द्व्यादिसागरोपमस्थितिष्वेव येषां सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोर्द्वे सागरोपमस्थिती तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णसप्तहस्तप्रमाणा येषां त्रीणि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताश्चत्वारश्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां चत्वारि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्तास्त्रयो हस्तस्यैकादशभागा । येषां पञ्चसागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताः द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां षट् सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागः । येषां तु परिपूर्णानि सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा षट् हस्ता भवधारणीया । उक्तं च " भवणवइवाणजोइस, सोहम्मीसाणसत्त हत्थाओ । (?) सणकुमारे तहेव माहिंदे । रयणीछक्क तेसिं, भागचउक्काहियं देहो ।१। तत्तो अयरे अयरे, भागो एक्केक्कओ परूइ जाव । सागरसत्तठिईणं, रयणीछक्कं तणुपमाणं ॥ २ ॥ " इह जघन्या भवधारणीया सर्वत्राप्यङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणा । सा च प्रतीतेति तामवधार्योत्कृष्टां प्रतिपादयति । (बंभलोगलंतगेसु पंच रयणीओ इति) इह यद्यपि ब्रह्मलोकस्योपरि लान्तको न समश्रेण्या तथापीह शरीरप्रमाणचिन्तायामिदं द्विकं विवक्ष्यते द्विकपर्यन्त एव हस्तस्य त्रुटिततया लभ्यमानत्वात् एवमुत्तरत्रापि द्विकचतुष्कादिपरिग्रहे कारणं वाच्यम् । तत्र ब्रह्मलोकलान्तकयोरुत्कर्षतया भवधारणीयाः पञ्च रत्नयः एतच्च लान्तके चतुर्दशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्य प्रतिपादितमवसेयं शेषसागरोपमस्थितिष्वेव येषां ब्रह्मलोके सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां षट् रत्नयः परिपूर्णा भवधारणीया । येषामष्टौ सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता षट् हस्तस्यैकादशभागाः । येषां नवसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता पञ्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां दशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताश्चत्वारश्चैकादशभागा हस्तस्य । लान्तकेऽपि येषां दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीयोत्कर्षतो येषामेकादशसागरोपमाणि लान्तकस्थितिस्तेषां पञ्च हस्तास्त्रयो हस्तस्यैकादशभागाः । येषां द्वादशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां त्रयोदशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः । येषां चतुर्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा पञ्च हस्ता भवधारणीया (महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ त्ति) महाशुक्रसहस्रारयोश्चतस्रो रत्नय उत्कर्षतो भवधारणीया । एतच्च सहस्रारगतान् अष्टादशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं वेदितव्यम् । शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषां महाशुक्रे कल्पे चतुर्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णा पञ्च हस्ताः । येषां पञ्चदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागा । येषां षोडशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्ता एको हस्तस्यैकादशभाग । सहस्रारेऽपि येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनः सहस्रारे परिपूर्णान्यष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णाश्चत्वारो हस्ता भवधारणीया (आणयपाणयआरणअच्चुएसु तिन्नि रयणीओ त्ति) आनतप्राणतारणाच्युतेषु तिस्रो रत्नय उत्कृष्टा भवधारणीया । एतच्चाच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं द्रष्टव्यं, शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषामानतेऽपि कल्पपरिपूर्णानि किञ्चित्समधिकानि वाऽष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णाश्चत्वारो हस्ताः उत्कृष्टा भवधारणीया । येषां पुनरेकोनविंशतिसागरोपमाणि तेषां त्रयो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागाः । प्राणतेऽपि कल्पे येषामेकोनविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती च भवधारणीया । येषां पुनः प्राणते कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषामारणेऽपि कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनरारणेऽपि कल्पे एकविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागा भवधारणीया । अच्युतेऽपि कल्पे येषामेकविंशति सागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावत्येव भवधारणीया येषां पुनरच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया । परिपूर्णास्त्रयो हस्ताः "गेविज्जकप्पातीतेत्यादि" भावितम् । नवरम (उक्कोसेणं दो

स्थायां सत्वे प्रागनवस्थायोगादसत्वेऽपि शशशृङ्गस्येव तदनुपपत्ते।अथास्योत्पत्तिदर्शनात्प्रागभावो न शशशृङ्गस्येति नेतरेतराश्रयदोषप्रसक्ते । तथा हि यावदस्य प्रागभावत्व न तावदुत्पत्तिसिद्धि यावच्च नोत्पत्तिसिद्धिर्न तावत्प्रागभावित्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्।अथ कारणस्य कार्यशून्यताप्रागभाव. प्रागेव सिद्ध असदेतत् अकारणस्यापि कार्यशून्यतोपलम्भात् तत्संबन्धात् घटस्य तत्कार्यताप्रसक्ते । तथा हि यस्य प्रागभावित्व तस्य कार्यता तच्च कार्यशून्य पदार्थान्तरं कारकाभिमतादन्यत् । अपि च तत् प्रागभावस्वभाव प्राप्त तत्संबन्धेन च घटादे• शशशृङ्गादिव्यवच्छेदेन कार्यता अभ्युपगतेति सूत्रपिण्डकार्यताऽपि घटस्यैव भवेत् । न च तदन्वयव्यतिरेकस्तस्यैव तत्र प्रतिभासनाव । न च कारणस्वरूपमेव प्रागभावो निर्विशेषणस्य स्वरूपमात्रस्य कार्येऽपि सद्भावात् । तस्यापि प्रागभावरूपताप्रसक्ते तथा प्रतीत्यभावात् न तद्रूपतेति तत्र प्रतीतिमात्रादनपेक्षात् वस्तुस्वरूपाद्वस्तुव्यवस्थायोगात् । ततो मृत्पिण्डादिरूपतया वस्तु गृह्यते । अध्यक्षादिना न पुन• स्तद्व्यतिरिक्तकारणादिरूपतायास्तस्यास्तत्राप्रतिभासनात्।प्रतिभासनेऽपि विशिष्टकार्यापेक्षया कारणत्वस्य प्रतिपत्तौ कार्यप्रतिभासमन्तरेण तस्याप्रतीतेरसतस्तदानीं कार्यस्याप्रतिभासनात् प्रत्यक्षस्यासद्ग्राहकत्वेन भ्रान्तता प्रसक्ते । तदा तत्कार्यस्य सत्वप्रशक्ति• स्यादिति । कथमसति कारणव्यापार प्रतीयेत तन्नासत• कार्यत्व युक्तम् । नाप्यसत्कारण कार्य तदानीमसति कारणे तस्य तस्य तत्कृतत्वायोगात्क्षणमात्रावस्थायिन• कारणस्वभावमात्रव्यवस्थितेरन्यत्र व्यापारायोगात् । अथ तदनन्तर कार्यस्य भावात् प्रागभावित्वमात्रमेव कारणस्य व्यापार• असदेतत् समस्तभावलक्षणानन्तरं विवक्षितकार्यस्य सद्भावात् सर्वेषा तत् सर्वकालभावित्वस्य भावात् तत्कारणताप्रसक्ते । अथ सर्वभावक्षणाभावेऽपि तदभावे इति न तस्य तत्कार्यता न क्षणिकेषु भावेषु विवक्षिताभाव एव सर्वत्र विवादाध्यासितकार्यसद्भावात्तदपेक्षयाऽपि तस्य कार्यता भवेत् । न च क्षणिकस्य कार्यस्य तदभावेऽपि पुनर्भवनसभवस्तस्य तदेव भावादन्यदा कदाचिदप्यभावान्न च विशिष्टभावक्षणधर्मानुविधानात्तस्य तत्कार्यताव्यवस्था सर्वथा च तद्धर्मानुविधाने तस्य कारणरूपतापत्तेस्तत्प्राक्कालभावितया तत्कार्यताव्यतिक्रमात् । कथंचित्तद्धर्मानुविधाने अनेकान्तवादापत्तेरसत्कारणं कार्यमित्यभ्युपगमव्याघातात् । अथ सन्तानापेक्षः कार्यकारणभाव इत्ययमदोषो न सन्तानस्य पूर्वापरक्षणव्यतिरेकेणाभावात् । भावे वा तस्यैव कार्यकारणरूपस्यार्थक्रियासामर्थ्यात् सत्व स्यान्न क्षणानामर्थक्रियासामर्थ्यविकलतया भवेत् । अथ तत्सबन्धिन• सन्तानस्य कार्यकारणत्वे तेषामपि कार्यकारणभावो न भिन्नयो• कार्यकारणभावादपरस्य सबन्धस्याभावात्सन्तानस्य च सर्वजगत्क्षणानन्तरभावित्वेन सर्वसन्तानताप्रसक्ति• स्यात् । किं च तस्यापि नित्यत्वे क्षणकार्यत्वे च सत्कार्यवादप्रसक्ति क्षणिकत्वे चान्यथाप्रसिद्धेस्तस्य तत्कार्यताऽप्रसिद्धेर्व्यतिरेकश्च कार्यतानिबन्धन क्षणिकपक्षे न संभवतीति प्रतिपादितमेव न चात्राप्यपरसन्तानप्रकल्पनया कार्यकारणभावप्रकल्पन युक्तमनवस्थाप्रसक्तेः। तथा हि सन्तानस्यापि कार्यताभ्युपगमे क्षणिकत्वान्न कार्यरूपताऽत• सन्तानान्तरमत्रापि कार्यतानिबन्धनमभ्युपगन्तव्य तत्रापि च क्षणिकत्वे कार्यताप्रसिद्धेस्तन्निबन्धनमपर सन्तानान्तरमभ्युपगमनीयमित्यनवस्था परिस्फुटैव । किंच क्षणिकभावाभ्युपगमवादिनो यदि भिन्नकार्योदयाद्धेतो• सत्वमभिमत तदा तत्कार्यस्याप्यपरकार्योदयात् सत्वसिद्धिरित्यनवस्थाप्रशक्तेर्न क्वचित् सत्वव्यवस्था स्यादिति कुतस्तद्व्यवच्छेदेनासत्कार्यमिति व्यपदेशः । अथ ज्ञानलक्षणकार्यसद्भावाद्धेतो• सत्वव्यवस्थिति• । ननु ज्ञानस्यापि कथ ज्ञेयसत्ताव्यवस्थापकत्व ज्ञेयकार्यत्वादिति चेत् ननु किं तेनैव ज्ञानेन ज्ञेयकार्यता स्वात्मन प्रतीयेत उत ज्ञानान्तरेण । न तावत्तेनैव तस्य प्रागसत्वाभ्युपगमादप्रवृत्ते• प्रवृत्तौ वा तत्कार्यतावगति• । अथ ज्ञानकालत्वेऽपि ज्ञानस्य ज्ञेयकार्यता नन्वेवमविशेषाज्ज्ञेयस्यापि ज्ञानकार्यतावगति• स्यादिति तद्व्यवस्थापक प्रसज्येत । न च समानकालयोस्तम्भकुम्भयो• कार्यकारणतोपलब्धेति प्रकृतेऽपि सा न स्यादथ केवलस्यापि कुम्भस्य दृष्टेरकार्यता ज्ञानस्यापि केवलस्य दृष्टेरकार्यताप्रशक्तिस्तस्य ततोऽन्यत्वव्यभिचार इति चेत् । ननु कुम्भोऽपि कुतोऽन्य• स न भवेत् प्रत्यभिज्ञानान्नान्य इति चेत् एतज्ज्ञानेऽपि समान नित्यतावत्कुम्भस्यैव भवेदिति कुतोऽसत्कार्यवाद• । न च प्रत्यभिज्ञान भवत प्रमाणं पूर्वापररूपाधिकरणस्यैकतयाऽप्रतीते• । न हि पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामपरपूर्वरूपताग्रह । नाप्येकप्रत्ययेन पूर्वापररूपद्वयस्य क्रमेण ग्रह एकस्याक्रमस्य क्रमवद्रूपग्राहकतयाऽप्रवृत्ते• । न च स्मरणस्य द्वयोर्वृत्ति सम्भवति न चास्य प्रमाणता न च पूर्वापरस्य क्रमेण ग्रह एकस्याक्रमस्य क्रमवद्रूपग्रहकतया प्रवृत्ते• न च स्मरणस्य द्वयो• प्रत्यययो परस्परपरिहारेण वृत्तौ तत उत्पद्यमान स्मरणमेकत्वस्य वेदक युक्तमगृहीतग्राहितया अस्मरणरूपताप्रशक्ते । न चात्माऽप्येकत्वमवेति प्रत्यक्षादप्रमाणवशेनार्थावेदकत्वात्तस्य चैकत्वेऽप्रवृत्तेर्न च प्रमाणनिरपेक्ष एवात्मैकत्वग्राहकः स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थामपि तस्य तद्ग्राहकत्वोपपत्ते । न चैतस्याप्येकत्व कुतश्चित्प्रमाणात् प्रसिद्ध तद्ग्राहकत्वेन तस्याप्रतीते । न च बौद्धस्यात्मा अन्यथा वस्तु नित्यमस्ति क्षणिका• सर्वसंस्कारा इति वचनात् तत्र तेनैवात्मन• प्रमेयकार्यतावगति नाप्यनेन तस्यापि स्वप्रमेयकार्यावगतौ प्रागवृत्तितयाऽसामर्थ्यात् । तत्र ज्ञानलक्षणमपि कार्य हेतो• सत्ता व्यवस्थापयितु समर्थं क्षणिकैकान्तवादे अध्यक्षस्य यथोक्तन्यायेन पौर्वापर्ये अप्रवृत्तेरत एव नानुमानस्यापि पौर्वापर्ये प्रवृत्तिस्तस्य तत्पूर्वकत्वात्। प्रत्यक्षाप्रतिपन्नेऽर्थे परलोकादाविवार्थविकल्पनामात्रत्वेन सर्वज्ञानस्याभ्युपगमात् तन्नासत्कार्यवादः प्रमाणसङ्गत• । सत्कार्यवादस्तु प्रागेव निरस्तत्वादयुक्त एव । तथाहि नित्यस्य कार्यकारित्व तत्र स्यात्तच्चायुक्त नित्यस्य व्यतिरेकाप्रसिद्धित कार्यकारणसामर्थ्याप्रसिद्धे । न हि नित्यसर्वदेशकालव्यापिन क्वचित्कार्यव्यापारविरहिण• सामर्थ्यमवगन्तु शक्यम् । अथ सर्वदेशव्यापिनस्तस्य तत्र सामर्थ्यं भविष्यति तदसद्यत• सर्वदेशा व्याप्ति• तस्य तथा प्रतीतेर्व्यवसीयते सर्वकाला व्याप्तिरपि तस्य तत एवाभ्युपगमनीया स्यात् । अभ्युपगम्यते एवेति चेन्नन्वेवं कतिपयदेशकालव्याप्तिरप्यप्रतिपत्तेरेवानुपपत्ते निरंशैकक्षणरूपता भावानां समायाता । न च तदेव कार्यजनकता प्राक् प्रतिक्षिप्तत्वान्न चैकान्तनित्यव्यापकत्वपक्षे प्रमाणप्रवृत्तिरित्यसकृत् प्रतिपादितम्। न चासति कार्ये निर्विषयत्वात् कारणव्यापारसम्भवात् सत्येव तत्र तेषां व्यापारोऽतो न दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा हेतूनां कार्ये व्यापारस्तेषा जडत्वने तदसम्भवात् । न चाह—

श्यमाना जमेश्वरादिहेतुकमकृष्टोत्पत्तिक भूरुहादि सम्भवतीति प्राक् प्रतिपादितेन चासतः कार्यस्य विज्ञान न ग्राहकमसत्पक्षादिबुद्धेः प्रवृत्तेः । अन्यथा कथ कार्यार्थप्रतिपादिता चोदना भवेत् । किं च यदि सत्येव कार्ये कारणव्यापारस्तदोत्पन्नेऽपि घटादिकार्ये कारणव्यापारादनवरत तदुत्पत्तिप्रसक्तिस्तत्राविशेषात् । अथाभिव्यक्तत्वान्नोत्पन्ने पुनरुत्पत्तिरुत्पत्तेरभिव्यक्तिरूपत्वात् तस्याश्च प्रथमकारणव्यापारादेव निवृत्तत्वात् नन्वभिव्यक्तिरपि यदि व्यज्यमानैवोत्पद्यते उत्पन्नाऽपि पुनः पुनरुत्पद्येत । अथाविद्यमाना तदा असदुत्पत्तिप्रसक्तिर्न चाभिव्यक्तावप्यसत्यां कार्य इव कारणव्यापारोऽभ्युपगन्तु युक्तः । स्वसिद्धान्तप्रकोपप्रसङ्गात् । अथ सतः कारणात् कार्यमिति सत्कार्यवादोऽसतो हेतुत्वायोगात् तथाऽभ्युपगमे वा शशशृङ्गादेरपि पदार्थोत्पत्तिप्रसक्तिरत्यन्ताभावप्रागभावयोरसत्त्वेनाविशेषात् । न च प्रागभावी आसीदिति हेतुर्नात्यन्ताभावीति वक्तव्य यतो यदा न हेतुरन्यदा हेतुरिति प्रसक्तेस्ततश्चेद प्रसक्तम् । असन् हेतु संश्चाहेतुरिति तत सन्नेव हेतुस्तस्य कार्ये व्यापारात् । नासस्तत्र तदयोगादेतदप्यसद् यतः सतोऽपि कारणस्य प्राक्तनरूपापरित्यागात् न कार्यं प्रति हेतुता प्राक्तनावस्थावत् । अथ तदा व्यापारायोगाद्धेतुताऽसदेतद्व्यापारेण कार्यं प्रति तस्य हेतुत्वे सोऽपि व्यापारः कुतस्तस्येति पर्यनुयोगासंभवाद् व्यापारवत्पदार्थत्वात् । ननु तत्रापि व्यापारोऽयं परव्यापारात तदा व्यापारपरम्पराव्यवहितत्वात् कारणस्य न कदाचित्कार्योत्पादने प्रवृत्तिः स्यात् अनन्तरव्यापारापरम्परापर्यवसान यावत् कस्यचिदनवस्थानादसतः कारणात् कार्योत्पत्तिश्च स्यात् । अथ कारणस्वरूपमेव व्यापारस्तत्काल एव कार्यं तेन नानवस्था नाप्यसतः कारणात्कार्योत्पत्तिः । नन्वेव कारणसमानकाले कार्यं स्यात् तथा च सव्येतरगोविषाणवत् कुत कार्यकारणभाव । अथ कार्यभावकाले कारणस्य न सद्भावस्तर्हि चिरतरनष्टादिवत्तत्कालध्वंसिनोऽपि कुतः कार्यसद्भावः कार्योत्पत्तिकाले तदनन्तरभाविनः सत्ता चेत्तर्हि कार्योत्पत्तिः । कार्योत्पत्तिकार्यकारणयोः समानकालता च स्यात् । तथा कुत कार्यकारणभावो न च सत कारणतः कार्योत्पत्तिरित्यभ्युपगमवादिनः कार्योत्पत्तिकाले कारणस्य सत्त्व धौव्यस्यैव सिद्धमविचलितरूपस्य च तस्य सद्भावे तदापि न कार्यवत्त्वाविकलकारणत्वात् । प्राग्वत् तदा तद्वत्त्वे वा पूर्वमपि तद्वत्त्व स्यादविकलकारणत्वात् । तदवस्थावन्नैकान्तसत्कार्यवादोऽसत्कार्यवादो वा युक्तोऽनेकदोषदुष्टत्वात् । अथैकान्तेन सदसतोरजन्यत्वादजनकत्वाच्च कार्यकारणभावाभावात् । सर्वशून्यतैव तदुक्तमयुक्त सर्वमिति चेत्यादिना कथंचित् सदसतोर्जन्यत्वाच्च । न चैकस्यैव सदसद्रूपत्व विरुद्ध कथंचिद्भिन्ननिमित्त-पक्षस्य सदसत्त्वस्यैकत्राबाधिताध्यक्षत प्रतिपत्तेर्न चाध्यक्षे प्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधोऽन्यथैकचित्रपटे ज्ञाने चित्ररूपतायाश्चित्रपटे च चित्रैकरूपस्य को विरोध स्यात् तथा च शुक्लाद्यनेकप्रकार पृथिव्या रूपमिति वैशेषिकस्य विरुद्धाभिधान भवेत् । अथ तदवयवानां शुक्लाद्यनेकरूपयोगिताऽवयविनस्त्वेकमेव रूप तत्तदवयवानामप्यवयवित्वेनानेकप्रकारैकप्रतियोगित्वविरोधात् । अथ प्रत्येकमवयवेषु शुक्लादिकमेकैक रूप तर्हि तदवयवादिष्वप्येकैकमेव रूप यावत् परमाणव इतिविभिन्नघटपटादिपदार्थेष्विव चित्रपटे नीलपीतशुक्लरूपा एते भावा इति प्रतिपत्तिः स्यात् न पुनश्चित्ररूपः पट इत्यवयवावयविनोरन्यत्वात् अवयवानामनेकरूपसंबन्धित्वेऽप्यवयविनस्तथा भावाभावात् । अथावयविनोऽपि विभिन्नानेकरूपसंबन्धित्वमभ्युपगम्यते तथापि चित्रैकरूपप्रतिभासानुपपत्तिरनेकरूपसंबन्धित्वस्यैव तत्र सद्भावात्सूत्रव्याघातश्चैव स्यात् । अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसम्भवादिति सूत्रेणाभिधानात् । अव्यापके पटादिद्रव्ये एकेन्द्रियग्राह्याणां शुक्लादीनां विशेषगुणानामसम्भवोऽनेन सूत्रेण प्रतिपादितः स च व्याहन्येत । किं च शुक्लादीनामेकत्र पटादावनेकस्वरूपाणां सद्भावाभ्युपगमे व्याप्यवृत्तित्वमव्याप्यवृत्तित्व वा । अव्याप्यवृत्तित्वे शेषाणामाश्रयव्यापित्वमिति विरुध्येत । आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमाने अपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्ति स्यात् सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वात् । अथ शुक्लाद्यनेकाकार चित्रमेक तद्रूपं यथा शुक्लादिको रूपविशेषः कथं तर्ह्यनेकाकारमेकरूपविरुद्ध भवेत् । चित्रैकरूपाभ्युपगमस्य चित्रतरत्वात् । अथ चित्रैकरूपस्य तस्य प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्न विरोधस्तर्हि सदसद्रूपैकरूपतया कार्यकारणरूपस्य वस्तुन प्रतिपत्तौ विरोधः कथं भवेन्न च चित्रपटादावपास्तशुक्लादिविशेष रूपमात्र तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्यास्तीत्यभ्युपगन्तव्य चित्ररूप पट इति प्रतिभासाप्रसक्ते । अथ परस्परविरुद्धानां शुक्लादिरूपाणा चित्रैकरूपानारम्भकत्वमेव कारणगुणानामित्यभ्युपगम शुक्लाच्छुक्लमित्यादिप्रतीतेः कथ तर्हि कारणगतशुक्लादिरूपविशेषेभ्यः कार्यरूपमात्रस्यापास्ततद्विशेषस्योत्पत्तिर्भवेत् नेभ्यस्तस्यासमानत्वात् । अथ तद्गतरूपमात्रेभ्यस्तद्रूपमात्रस्योत्पत्तेर्न दोषोऽसदेतत् शुक्लादिरूपविशेषव्यतिरेकेण रूपत्वादिसामान्यमपहाय रूपमात्रस्यास्याभावात् सामान्यस्य च नित्यत्वेनाजन्यत्वान्न च रूपमात्रनिबन्धनश्चित्ररूपः पट इति प्रतिभासो युक्तः शुक्लादिप्रत्ययस्यापि तन्निबन्धनत्वेन शुक्लादिरूपविशेषस्याप्यभावप्रसक्ते । न चावयवगतचित्ररूपात् पटादिचित्रप्रतिभासोऽवयवेष्वपि तद्रूपासंभवात् न चान्यरूपस्यान्यत्र विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्व पृथिवीगतचित्ररूपमात्रमेव तत्र स्यात् क्षितौ रूपमनेकप्रकारमिति विरुध्येत अनेकप्रकारं हि शुक्लत्वादिभेदभिन्नमुच्यते रूपमात्रं च शुक्लादिविशेषरहित तस्य शुक्लादिविशेषेष्वनन्तर्भावात् कथं न विरोध । यदपि शुक्लाद्यनेकप्रकाररूपाभ्युपगमे क्षितौ तत्र विशेषपरिहाराभिधानं किलाविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामेकाकाराणामसम्भवो न त्वनेकाकाराणां तेषामुपलम्भात् एकाकाराणामेकत्र बहूनां सद्भावे एकेनैव शुक्लादिप्रतिपत्तेर्जनितत्वादपरतद्भेदकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गान्न तदभ्युपगमः । न चैवमनेकाकाराणामिति तदप्यसंगत व्याप्याव्याप्यवृत्तित्वविकल्पद्वयेऽपि दोषप्रतिपादनात् । अथ याप्यवृत्तित्वेन विरोधदोषः शेषाणामाश्रयव्यापित्वमेवेत्यवधारणानभ्युपगमात् नन्वेव सूक्ष्मविवरप्रतिष्ठालोकोद्योतितान्यतरपटावभागवृत्तिरूपदेशस्य प्रतिपत्तौ यदि तदारब्ध पटावयविन प्रतिपत्तिस्तदाधेयाशेषशुक्लादिरूपप्रतिपत्तिरपि भवेत् । आधेयप्रतिपत्तिमन्तरेण तदाधारत्वस्य प्रतिपत्तुमसक्ते । न चान्यतरान्यतमरूपाधारत्वव्यतिरिक्त तस्य तदन्यरूपाधारत्वमनेकमनेकस्वभावयोगेन पटस्यानेकत्वप्रसक्ते स्वभावभेदलक्षणत्वाद्वस्तुभेदस्यान्यथा तदयोगात् । तदनेकत्वेऽपि तस्यैकत्वे कथ नानेकाकारमेक स्यात् । अथ तत्प्रतिपत्तौ भवेद् विप्रतिपत्तिस्तर्हि निराधारस्य रूपस्य प्रतिपत्तौ गुणरूपता विशीर्येत द्रव्याश्रयादिलक्षणयोगित्वात्तस्य न च तद्रूपताप्रतिपत्तौ तल्लक्षणयोगिता तस्यावगन्तु शक्या

प्रमेयव्यवस्थाया प्रमाणाधीनत्वात् अणुपरिमाणयोगित्वे चाल्पतरपटादिरूपस्य परमाणोरिवाऽव्यक्तरूपताप्रसक्तिस्तस्यैव तद्योगित्वात् अत एवैकावयवसहितस्य पटस्यैवोपलम्भाद् एकरूपोपलम्भेऽप्याश्रयाव्यापितया शेषरूपाणामनुपलम्भाच्च प्रतिभासाभाव इति यदुक्तं तदपि निरस्तम् एकरूपोपाध्यपकाराङ्गशक्त्यभिन्नस्य पटद्रव्यस्यानिश्चयात्मनाऽध्यक्षेण ग्रहणे अशेषरूपोपाध्युपकारकशक्त्यभिन्नात्मनस्तस्यैकरूपतया ग्रहणात् उपकार्यग्रहणमन्तरेणोपकारकत्वग्रहणस्यासंभवात् । शक्तीना ततो भेदे सबन्धासिद्धेरपरोपकारकशक्तिप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्ते कथं नाशेषोपकार्यरूपप्रतिभासाच्चित्रप्रतिभासप्रसक्तिः । एतेन तन्तूनां नीलाद्यनेकरूपसवन्धित्वात् पटेऽप्यनेकरूपारम्भकत्वेन किंचित्साधक प्रमाण कारणगुणपूर्वप्रक्रमेण तथाविधस्य रूपस्योत्पादादित्यपि प्रत्युक्तम् । एकावयवप्रतिभासे चित्रप्रतिभासोत्पत्तिप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात् । यदपि भवतु वा एक पटे चित्रं रूपं नीलादिरूपैरेकरूपभावात् । यथा हि शुक्लादिर्विशेषो रूपस्य तथा चित्रमपि रूपविशेष एव चित्रशब्दवाच्य इति तद्रूपगतमेव । अनेकाकारस्यैकत्वे चित्रैकशब्दवाच्यत्वे वाभ्युपगम्यमाने सदसदनेकाकारानुगतस्यैकस्य कारणादिशब्दवाच्यत्वेनाभ्युपगमाविरोधात् । यथा च बहूनां तन्त्वादिगतनीलादिरूपाणां पटगतैकचित्ररूपारम्भकत्व दृष्टत्वादविरुद्धं तथाऽनेकाकारस्यैकरूपत्वं वस्तुनो दृष्टत्वादेव विरुद्धमभ्युपगन्तव्यमत एवैकानेकरूपत्वाच्चित्ररूपस्यैकावयवसहितेऽवयविन्युपलभ्यमाने शेषावयवावरणे चित्रप्रतिभासाभाव उपपत्तिमान् । सर्वथात्वे तत्रापि चित्रप्रतिभास स्यात् अवयविव्याप्त्या तद्रूपस्य वृत्तेर्न चावयवनानारूपोपलम्भसहकारीन्द्रियमवयविनि चित्रप्रतिभास जनयतीति तत्र सहकार्यभावात् । चित्रप्रतिभासानुत्पत्तिरिति वाक्यमवयविनोऽप्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् न हि चाक्षुषप्रतिपत्त्या गृह्यमाणरूपतयाऽवयविनो वायोरिव ग्रहण दृष्ट न च चित्ररूपव्यतिरेकेणापरं तत्र रूपमात्रमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्त्या पटग्रहण भवेत् । न चावयवरूपोपलम्भोऽवयविरूपप्रतिपत्तौ अक्षिसहकारी तद्भावे वा तदवयवरूपोपलम्भादिसहकारीति तमन्तरेण न स्यादिति पूर्वपूर्वावयवरूपोपलम्भापेक्षपरमाणुरूपोपलम्भाभावात् । तज्जन्य द्व्यणुकाद्यवयविरूपोपलम्भासंभवात् । न क्वचिदपि रूपोपलब्धिः स्यात्तदभावे च नावयव्युपलब्धिरिति तदाश्रितपदार्थानामप्युपलम्भाभावात् सर्वप्रतिभासाभावः स्यात् । तत एकानेकस्वभाव चित्रपटरूपवद्वस्त्वभ्युपगन्तव्यम् ॥ वैशेषिकेण बौद्धेनापि चित्रपटप्रतिभासस्यैकानेकरूपतामभ्युपगच्छता एकानेकरूपं वस्त्वभ्युपगतमेव । अथ प्रतिभासोऽप्येकानेकरूपो नाभ्युपगम्यते तर्हि सर्वथा प्रतिभासाभाव· स्यादित्यसकृदावेदित तत एकान्ततोऽसति कार्ये न करणव्यापारस्तेनाभ्युपगन्तव्योऽसति तत्र तदभावात् । नापि सति मृत्पिण्डे तमन्तरेणापि तत· प्रागेव निष्पन्नत्वात् न च मृत्पिण्डे कारकव्यापार· पृथुबुध्नोदराद्याकारता प्रतिपद्यत इति कारकव्यापारफलयोरैक्यविषयत्वे अनेकान्तवादसिद्धिस्तस्मात् द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाभ्यां केवलाभ्या सहिताभ्यामन्योऽन्यानिरपेक्षाभ्यां व्यवस्थापितं वस्त्वसत्यमिति तत्प्रतिपादकं शास्त्र सर्वं मिथ्येति व्यवस्थितम् । अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्या द्रढीकर्तुमाह

ते उ भयणोवणीया, सम्मदंसणमणुत्तरं होंति ।
जं भवदुक्खविमोक्खं, दो वि न पुरोतिपाडेकं ॥ १४७ ॥

तौ द्रव्यपर्यास्तिकनयौ भजनया परस्परस्वभावाविनाभूततयोपनीतौ सदसद्रूपैकान्तव्यवच्छेदेन तदात्मकैककार्यकारणादिवस्तुप्रतिपादकत्वेनोपयोजितौ यदा भवतस्तदा सम्यग्दर्शनमनुत्तर नास्त्यस्मादन्यदुत्तर प्रधान यस्मिंस्तत्तथाभूत भवतः परस्पराविनिर्भागवर्तिद्रव्यपर्यायात्मकैकवस्तुतत्वविषयरुच्यात्मकबोधितावबोधस्वभावत्वात् । यदा त्वन्योऽन्यनिरपेक्षद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ भवतो न तदा सम्यक्त्व प्रतिपद्येते । यस्मात् संसारभाविजन्मादिदु·खविमोक्षमात्यन्तिकं च नैवं द्वावपि तौ प्रत्येक न विधत्त· मिथ्याज्ञानात्सम्यग्क्रियाभक्तत्या आत्यन्तिकभवोपद्रवानिवृत्त्यसिद्धि· । तद्विपर्ययकारणत्वात् । तच्चासकृत्प्राक् प्रतिपादितमिति न पुन प्रतन्यते तत कारणात्कार्यं कथंचिदन्यदत एव सदसद्रूपतया सच्चासच्चेत्यमुमेवार्थमुपसंहारद्वारेणोपदर्शयन्नाह ।

णत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडोत्ति जं तेण जुज्जइ एगेण ।
जं तु ण घडत्ति पुव्वं,ण आसि पुढवी तओ अण्णा ।१४८।

नास्ति द्रव्यभूतपृथ्वीत्वादिभ्यो विशिष्टो भिन्नो घटः सदादिव्यतिरिक्तस्वभावतया तस्यानुपलम्भात् । किं च यदि सत्वादयो धर्मा घटादेकान्ततो भिन्ना· सोऽपि वा तेभ्यो भिन्नः स्यात्तदा न घटस्य सदन्वितत्व स्यात् । स्वतोऽसदादेरन्यधर्मयोगेऽपि शशशृङ्गादेरिव तदयोगात् । सदादेरपि घटाद्याकारादात्यन्तभेदे निराकारतयाऽत्यन्ताभावस्येवोपलम्भविषयत्वायोगात् । ज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिधर्माणामपि सदादिधर्मेभ्यो भेदे असत्वं सदसदादेस्तु तेभ्यो भेदे ज्ञेयत्वादसत्वमेवोपलम्भ· सत्तेति वचनात् ततः सदादिरूपतया उपलभ्यमानत्वात् घटस्य तेभ्यो भिन्नरूपताभ्युपगन्तव्या प्रमेयव्यवस्थिते· प्रमाणनिबन्धनात् । यत्पुन पृथुबुध्नोदराद्याकारतया पूर्वं सदादि नासीत् ततोऽसावन्यस्तेभ्यो घटरूपतया प्राक् सदादेरनुपलम्भात् प्रागपि तद्रूपस्य सदादौ अनुपलम्भायोगात् । दृश्यानुपलम्भस्य वा भावव्यभिचारित्वाभावद्रूपतायां च विरोधाऽभावात् प्रतीयमानायां तदयोगादबाधितप्रत्ययस्य च मिथ्यात्वासम्भवात्सर्वाधिनिरहस्य च प्रागेवोपपादितत्वात् सदेकान्तवादवत् । सम्म० ।

सदसत्कार्य्यवादश्च केषांचिन्नयानां सत् केषांचिदसदिति सङ्कलने सदसत्कार्य्यवाद इत्येष भाष्यकृद् व्याख्यानयति ।

सम्मत्तनाणरहिअस्स—नाणमुप्पज्जइ त्ति ववहारो ।
नेच्छइ य न उ भासइ, उप्पज्जइ तेहिं सहियस्स ॥
पातनयैव व्याख्याता अत्र तावद्व्यवहारो निश्चयस्य दूषणमाह ।
ववहारनयं जायं, न जायए भावओ कयघडो व्व ।
अह वा कयं पि कज्जइ, कज्जउ निच्चं नयसमत्ती ॥

यदि हन्त ! सम्यग्दृष्टिज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यत इति त्वयाऽभ्युपगम्यते तर्हि जातमपि नतसम्यक्त्व ज्ञानं चासौ पुनरप्युत्पादयतीति सामर्थ्यादापन्नम् न च जात विद्यमान पुनरपि जायते न केनापि तत· क्रियत इत्यर्थ । कुत इत्याह । भावतोविद्यमानत्वात्पूर्वनिष्पन्नघटवदित्येतद्व्यवहारनयमतमसत्कार्यवादित्वात्तस्य प्रमाणयति चासौ यद्विद्यमान तन्न केनचित्क्रियते यथा पूर्वनिष्पन्नो घट· विद्यमाने च सम्यग्दृष्टे सम्यक्त्वज्ञानेऽतो न तत्करणमुपपद्यते । अथ कृतमपि क्रियते तर्हि क्रियतां नित्यमपीनि क्रियानुपरमप्रसङ्ग । न चैव सत्येकस्यापि कार्यस्य कदापि परिसमाप्तिरिति प्रस्तुतस्याभिनिबोधिकस्यापि

प्रतिप्रत्यनवस्थेति । अपि च यदि कृतमपि क्रियते तदाऽन्येऽपि दोषाः । क इत्याह ।

किरियाइवेफल्लं वि य-पुव्वमभूयं च दीसए होंतं ।
दीसइ दीहो य जहा, किरियाकालो घडाईणं

यदि कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते तर्हि घटादिकार्ये उत्पाद्ये क्रियायाश्चक्रभ्रमणादिकाया वैफल्यं निरर्थकता प्राप्नोति। कार्यस्य प्रागेव सत्त्वात् । किं चाध्यक्षविरोधः सत्कार्यवादे यत पूर्वं मृत्पिण्डावस्थायामभूतमविद्यमानं पश्चात्तु कुम्भकारादिव्यापारे घटादिकार्यं भवज्जायमान दृश्यतेऽत. कथमुच्यते सदुत्पद्यते इति यस्मिन्नेव समये प्रारभ्यते तस्मिन्नेव निष्पद्यतेऽतो निष्पन्नमेव तत् क्रियते । क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदादिति चेन्नैवम् । कुत इत्याह (दीसईत्यादि) दीर्घोऽसंख्येयसामयिको घटादीनामुत्पद्यमानानां क्रियाकालो लगन्नालोक्यते यस्मात्ततो न यस्मिन्नेव समये घटादि प्रारभ्यते तस्मिन्नेव समये निष्पद्यते मृदानयनतत्पिण्डविधानचक्रारोपणशिवकादिविधानादिचिरकालेनैव तदुत्पत्तिरिति । भवतु दीर्घक्रियाकालः कार्यं चारम्भसमयेऽप्युपलभ्यत इत्याह ।

नारंभे चिय दीसइ, न सिवादद्धाए दीसइ तदंते ।
यइ न समणाइ काले, नाणं जुत्तं तदंतम्मि ॥५७॥

यदि क्रियाप्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्येत तदा तत्रैवोपलभ्येत । न चारम्भसमय एव तद्दृश्यते । नापि शिवकाद्यद्धायां शिवकास्थासकोशकुसूलादिकाले क्व तर्हि दृश्यत इत्याह । दृश्यते घटादिकार्यं तस्य दीर्घक्रियाकालस्यान्तः परिसमाप्तिस्तदन्तस्तस्मिन्निति । तस्मात् क्रियाकालपर्यन्त एव तस्य सत्त्व युज्यते न तु पूर्वमनुपलभ्यमानत्वात् । यस्मादेवमित्यतो न गुरुसन्निधाने सिद्धान्तश्रमणचिन्तने हननादिक्रियाकाले ज्ञानमाभिनिबोधिक युक्त किं तु तस्य श्रमणादिक्रियाकालस्यान्तस्तदन्तस्तस्मिन्नेव तद्युक्त तत्रैवोपलभ्यमानत्वादिति प्रस्तुतोपयोगः । तदेव न क्रियाकाले कार्यमस्त्यनुपलभ्यमानत्वात्किं तु तन्निष्ठाकाल एव तदस्ति तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्ततो न प्रतिपाद्यमान प्रतिपन्न कार्यं क्रियाकाल एव तस्य प्रतिपद्यमानत्वान्निष्ठाकाल एव च प्रतिपन्नत्वात् । क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चात्यन्तं भेदात्तस्मान्मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते न सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी इति व्यवहारनय. ।

अत्र निश्चयनयः प्रतिविधानमाह ।

निच्छइओ नाजायं, जाय अभावत्तओ खपुप्फं च ।
अह व अजायं जायइ, जायउ तो खरविसाणं पि ॥५८॥

निश्चये भवो नैश्चयिको नय प्राह । यथा जातं न जायते कृतघटवदिति भवता असत्कार्यवादिनाऽभिधीयते तथा वयमपि सत्कार्यवादिनो ब्रूम. । नाजात जायते अत्रेकारलोपः । नाविद्यमानमुत्पद्यत इति प्रतिज्ञा अभावत्वादविद्यमानत्वादिति हेतुः खपुष्पवदिति दृष्टान्त । अयमपि विपर्यये बाधामाह । अथाजातमपि जायते जायतां तत खरविषाणमपि अभावाविशेषादिति । अपि च

निच्चकिरियाइ दोसा, नणु तुल्ला असइ कट्ठतरगा वा ।
पुव्वमभूयं च न ते, दीसइ किं खरविसाणे पि ॥५९॥

ननु नित्यकरणादय सत्कार्यवादे ये दोषा प्रदत्तास्ते असन्ति कार्ये असत्कार्यवादेऽपीत्यर्थः । तुल्या समानास्तथा ह्यत्रापि शक्यते वक्तुं यद्यसत्क्रियते तर्हि क्रियता नित्यमेव असत्त्वाद्यविशेषान्न चैवमेकस्यापि कार्यनिष्पत्तिर्युज्यते खरविषाणकल्पे वा सति कार्ये समुत्पाद्ये क्रियावैकल्यमित्यादि किं तुल्या एवासति कार्येऽमी दोषा नेत्याह । कष्टतरा वा दुष्परिहार्या वा। सतो हि कार्यस्य केनापि पर्यायविशेषेण करण सम्भवत्यपि लोकेऽपि सतामाकाशादीनां पर्यायविशेषाधानापेक्षया कारणस्य रूढत्वात्तथा च तत्र वक्तारः समुपलभ्यन्ते " आकाशं कुरु पृष्ठ कुरु पादौ कुर्वित्यादि" खरविषाणकल्पे त्वसति कार्ये न केनापि प्रकारेण करणं संभवति । तत कष्टतरास्तत्राऽमी दोषा इति भावः । यदुक्त "पुव्वमभूयं च दीसए होंतमिति" तत्राह। (पुव्वमित्यादि) उत्पत्ते पूर्वं च यदभूत सर्वथाऽविद्यमानं कार्यमुत्पद्यत इतीष्यते नहिं ते तव मतेन किं खरविषाणमपि पूर्वमभूतं पश्चादुत्पद्यमानं न दृश्यते प्रागसत्वाविशेषादिति यदुक्तम् " दीसइ दीहो य जहा किरियाकालो इति " तत्राह ।

पइसमउप्पण्णाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं ।
दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च कुंभस्स ॥

समये समये प्रत्युत्पन्नानां परस्परविलक्षणानां सुबहूनामसंख्येयानां मृत्खननसंहरणपिटकरासभपृष्ठारोपणावतारणाम्भःसेचनपरिमर्दनपिण्डविधानभ्रमणचक्रारोपणशिवकस्थासकोशकुसूलादिकार्याणामिति शेष. । यदि दीर्घो द्राघीयान् क्रियाकालो दृश्यते तर्हि किमत्र हन्त? कुम्भस्य घटस्यायातम् । इदमुक्तं भवति प्रतिसमयं भिन्ना एव क्रिया भिन्नान्येव च मृत्पिण्डशिवकादीनि कार्याणि घटस्तु चरमैकक्रियाक्षणमात्रभाव्येव। ततश्च प्रतिसमयभिन्नानामनेककार्याणा यदि दीर्घः क्रियाकालो भवति तर्हि चरमैकक्रियाक्षणमात्रभाविनि घटे दीर्घक्रियाकालभ्रमेण परस्याज्ञतामेव सूचयतीति। यदुक्त "नारंभे च्चिय दीसईत्यादि" तत्राह ।

अणारंभे अणं, कह दीसइ जह घमो पडारंभे ।
सिवकादओ न घडओ, किह दीसइ सो तदद्धाए ॥

इह "नारंभे च्चिय दीसइ" इत्यत्र भवतोऽयमभिप्रायो यदुत मृच्चक्रचीवरकुम्भकारादिसामग्र्याः प्रथमेऽपि प्रवृत्तिसमये । घटः किं नोपलभ्यतेऽनुपलम्भाच्चायमसंस्तत्र पश्चादुत्पद्यते। एतच्चायुक्तमेव यतो न प्रथमे प्रारम्भसमये घट प्रारब्ध. किं तु चक्रमस्तकमृत्पिण्डारोपणादीन्येवारब्धानि अन्यारम्भे चान्यत्कथं दृश्यते न दृश्यत एवेत्यर्थः। यथा पटारम्भे घटः । यदुक्तं "न सिवादद्धाए" तत्राह "सिवकादओ इत्यादि" शिवकादिकाले घटो न दृश्यत इत्युक्तं तदेतद्युक्तमेव यतः शिवकादयो घटो न भवन्त्यतो यत एव शिवकादिकालोऽसौ अतः तदद्धायां तत्काले कथमसौ घटो दृश्यतामन्यारम्भकालेऽन्यस्य दर्शनानुपपत्तेरिति । यदुक्तं "दीसइ तदंतम्मि" इति तत्राह ।

अंतेच्चिय आरद्धो, जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो ।
अकयं व संपइ गए, किह किरइ किह व एसम्मि ॥

अन्त्य एव क्रियाक्षणे आरब्धो यदि घटस्तस्मिन्नेव दृश्यते तर्हि को दोषो न कश्चिदित्यर्थः। अतः किमुच्यते। यतोऽन्यसमय एवोपलभ्यते नान्यत्र ततोऽय पूर्वमसन्नेव क्रियत इति स हि पूर्वं प्रथमादिक्रियाक्षणेषु नारब्धो न च दृश्यते । अन्त्ये तु क्रियाक्षणे प्रारब्धो दृश्यते च तस्मिन् क्रियासमये क्रियमाणः कृत एव समयस्य निरन्तत्वात् यच्च कृत तत्सदेव तत सदेव क्रियते नासत् यच्च सत्तदुपलभ्यत एवेति स्थितम्। अथ यस्मिन्समये क्रियमाणं

तस्मिन्नेव कृतं नेष्यते तत्राह (अकय चेत्यादि) अकृत वा संप्रति समये क्रियमाणसमये यदीष्यते तर्हि तक्तेऽतीते समये कथ क्रियतां तस्य विनष्टत्वेनासत्त्वात्कथ वा इष्येत भविष्यत्यन्तरागामिनि समये क्रियतां तस्याप्यनुत्पन्नत्वेन असत्त्वादेव । अथ व्यवहारवादी ब्रूयात्क्रियासमय' सर्वोऽपि क्रियमाणकालः तत्र च क्रियमाण वस्तु नास्त्येव उपरतायां तु क्रियायां योऽनन्तरसमय स कृतकालस्तत्रैव कार्यनिष्पत्तेरत कृतमेव कृतमुच्यते न क्रियमाणमिति । साध्वेतत्किं त्विद प्रष्टव्योऽसि किं भवत क्रियया कार्यं क्रियतेऽक्रियया वा । यदि क्रियया तर्हि कथमियमन्यत्र कार्यं त्वन्यत्रेति न हि खदिरे छेदनक्रिया पलाशे तु तत्कार्यभूतच्छेद इत्युच्यमान शोभां बिभर्ति । किं च क्रियाकाले कार्यं न भवति पश्चात्तु भवतीत्यनेनैतदापद्यते यदुत क्रियैव हतका सर्वानर्थमूलमेषा कार्यस्योत्पित्सोर्विघ्नहेतुत्वाद्यावद्धेषा प्रवर्तते तावद्वराक कार्यं नोत्पद्यते अत प्रत्युतासौ तस्य विघ्नभूतैव ततस्तदभिप्रायेण विपर्यस्ततयैव प्रेक्षावन्त एतान् प्रारम्भन्त इति क्रियैव कार्यं करोति केवल तद्विरामे तन्निष्पद्यत इति चेत्तर्हि हन्त ! कस्तस्यास्य विरोधो येन तत् कुर्वन्त्या अप्यस्यास्तत्कालमतिवाह्य पश्चान्निष्पद्यते न पुनस्तत्कालेऽपि क्रियोपरमेऽपि जायमान कार्यम् । तदनारम्भेऽपि कस्मान्न भवति क्रियानारम्भतदुपरमयोरर्थतोऽभिन्नत्वादिति । अथाक्रिययेति द्वितीयः पक्षस्तर्हि हिमवन्मेरुसमुद्रादिवत् घटादयोऽप्यकृतका एव प्राप्तास्तद्वत्तेषामपि कारणभूतक्रियामन्तरेणैव प्रवृत्तेः । तप स्वाध्यायादिक्रियाविधानं च मोक्षादीन् प्रति साध्वादीनामनर्थकमेव स्यात् क्रियामन्तरेणैव सर्वकार्योत्पत्ते अत तूष्णींभावमास्थाय निष्परिस्पन्दनानि निराकुलानि तिष्ठन्तु त्रीण्यपि भुवनानि क्रियारम्भविरहेणाप्यैहिकामुष्मिकसमस्तसमीहितसिद्धे. । न चैवं तस्मात्क्रियैव कार्यस्य कर्त्री तत्काल एव च तद्भवति न पुनस्तदुपरमेऽत. क्रियमाणमेव कृतमिति स्थितम् । विशे० । आ०म०प्र० । निश्चितं चैतत्तथाविधसूत्रोपलम्भात् । तथा हि ।

से णूणं भंते ! चलमाणे चलिए १ उदीरिज्जमाणे उदीरिए २ वेदिज्जमाणे वेदिए ३ पहेज्जमाणे पहीणे ४ छिज्जमाणे छिन्ने ५ भिज्जमाणे भिन्ने ६ दज्जमाणे दड्ढे ७ मिज्जमाणे मडे ८ णिज्जिरिज्जमाणे णिज्जिण्णे ९ हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे ॥

अथ केनाभिप्रायेण भगवता सुधर्मस्वामिना पञ्चमाङ्गप्रथमशतकप्रथमोद्देशकस्यार्थानुकथन कुर्वतैवमर्थवाचक सूत्रमुपन्यस्तान्यानीति ? अत्रोच्यते इह चतुर्षु पुरुषार्थेषु मोक्षाख्यः पुरुषार्थो मुख्य. सर्वातिशायित्वात् तस्य च मोक्षस्य साध्यस्य साधनानां च सम्यग्दर्शनादीना साधनत्वेनाव्यभिचारिणामुभयनियमस्य शासनाच्छास्त्र सद्भिरिष्यते । उभयनियमस्त्वेव सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्यैव साध्यस्य साधनानि नान्यस्यार्थस्य मोक्षश्च तेषामेव साधनानां साध्यो नान्येषामिति । स च मोक्षो विपक्षक्षयात्तद्विपक्षश्च बन्ध. स च मुख्यः कर्मभिरात्मन सम्बन्धस्तेषां तु कर्मणां प्रक्षयेऽयमनुक्रम उक्तः "चलमाणे इत्यादि" तत्र (चलमाणत्ति) । चलत् स्थितिक्षयादुदयमागच्छत्विपाकाभिमुखीभवद्यत्कर्मेति प्रकरणगम्यम् तच्चलितमुदितमिति व्यपदिश्यते । चलनकालो ह्युदयावलिका तस्य च कालस्यासङ्ख्येयसमयत्वादादिमध्यान्तयोगित्व कर्मपुद्गलानामप्यनन्ताः स्कन्धा अनन्तप्रदेशास्ततश्च ते क्रमेण प्रतिसमयमेव चलन्ति तत्र योऽसावाद्यचलनसमयस्तस्मिंश्चलदेव तच्चलितमुच्यते कथ पुनस्तद्वर्त्तमान सदतीतं भवतीत्यत्रोच्यते यथा पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एवोत्पन्नो भवतीति उत्पद्यमानत्व च तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशकालादारभ्य पट उत्पद्यत इत्येव व्यपदेशदर्शनात्प्रसिद्धमेवोत्पन्नत्व तूपपत्त्या प्रसाध्यते । तथा हि उत्पत्तिक्रियाकाल एव प्रथमतन्तुप्रवेशेऽसावुत्पन्नो यदि पुनर्नोत्पन्नोऽभविष्यत्तदा तस्याः क्रियाया वैयर्थ्यमभविष्यन्निष्फलत्वादुत्पाद्योत्पादनार्था हि क्रिया भवन्ति यथा च प्रथमे क्रियाक्षणे नासावुत्पन्नस्तथोत्तरेष्वपि क्षणेष्वनुत्पन्न एवासौ प्राप्नोति । को ह्युत्तरक्षणक्रियाणामात्मनि रूपविशेषो येन प्रथमसमये नोत्पन्नस्तदुत्तराभिस्तूत्पाद्यते । अत. सर्वदैवानुत्पत्तिप्रसङ्ग' दृष्टा चोत्पत्तिरन्त्यतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनात् । अत' प्रथमतन्तुप्रवेशकाल एव किञ्चिदुत्पन्न पटस्य यावच्चोत्पन्नं न तदुत्तरक्रिययोत्पाद्यते । यदि पुनरुत्पाद्येत तदा तदेकदेशोत्पादन एव क्रियाणा कालानाञ्च क्षय स्यात् यदि हि तदंशोत्पादननिरपेक्षा अन्या' क्रिया भवन्ति तदोत्तरांशानुक्रमण युज्येत नान्यथा तदेवं यथा पट उत्पद्यमान एवोत्पन्नस्तथैवासङ्ख्येयसमयपरिमाणत्वादुदयावलिकाया आदिसमयात्प्रभृति चलदेव कर्म चलितम् । कथं यतो यदि हि तत्कर्म चलनाभिमुखीभूतमुदयावलिकाया आदिसमय एव न चलित स्यात्तदा तस्याद्यस्य चलनसमयस्य वैयर्थ्यं स्यात्तत्राचलितत्वात् यथा च तस्मिन् समये न चलित तथा द्वितीयादिसमयेष्वपि न चलेत को हि तेषामात्मनि रूपविशेषो येन प्रथमसमये न चलितमुत्तरेषु चलतीति । अत सर्वदैवाचलनप्रसङ्ग । अस्ति चान्त्ये समये चलनं स्थितिपरिमितत्वेन कर्माभावाभ्युपगमात् अत आवलिकाकालादिसमय एव किञ्चिच्चलितं यच्च तस्मिंश्चलित तन्नोत्तरेषु समयेषु चलति यदि तु तेष्वपि तदेवाद्य चलनमभविष्यत्तदा तस्मिन्नेवं चलने सर्वेषामुदयावलिकाचलनसमयानां क्षय स्यात् । यदि हि तत्समयचलननिरपेक्षाण्यन्यसमयचलनानि भवन्ति तदोत्तरचलनानुक्रमण युज्येत नान्यथा तदेव चलदपि तत्कर्म चलितम्भवतीति ॥ १ ॥ तथा (उदीरिज्जमाणे उदीरिएत्ति) उदीरणा नाम अनुदयप्राप्त चिरेणागामिना कालेन यद्वेदितव्य कर्मदलिक तस्य विशिष्टाध्यवसायलक्षणेन करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपण सा चासङ्ख्येयसमयवर्तिनी तया च पुनरुदीरणया उदीरणाप्रथमसमय एवोदीर्यमाण कर्म पूर्वोक्तपटदृष्टान्तेनोदीरितम्भवतीति ॥ २ ॥ तथा (वेइज्जमाणे वेइएत्ति) वेदनं कर्मणो भोगोऽनुभव इत्यर्थस्तच्च वेदनं स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्मण उदीरणाकरणेन चोदयमुपनीतस्य भवति तस्य च वेदनाकालस्यासङ्ख्येयसमयत्वादाद्यसमये वेद्यमानमेव वेदितम्भवतीति । ॥ ३ ॥ तथा । (पहेज्जमाणे पहीणेत्ति) प्रहीण तु जीवप्रदेशैः सह सश्लिष्टस्य कर्मणस्तेभ्य' पतनमेतदप्यसंख्येसमयपरिमाणमेव तस्य तु प्रहीणस्यादिसमये प्रहीयमाण कर्म प्रहीणं स्यादिति ॥ ४ ॥ तथा (छिज्जमाणे छिन्नेत्ति) । छेदन तु कर्मणो दीर्घकालानां स्थितीनां ह्रस्वताकरण तच्चापवर्तनाभिधानेन करणविशेषेण करोति । तदपि च छेदनमसङ्ख्येयसमयमेव तस्य त्वादिसमये स्थितितश्छिद्यमान कर्म छिन्नमिति ॥ ५ ॥ तथा । (भिज्जमाणे भिन्नेत्ति) भेदस्तु कर्मण शुभस्याशुभस्य वा तीव्ररसस्यापवर्त्तनाकरणेन मन्दताकरण मन्दस्य चोद्वर्तनाकरणेन तीव्रताकरण सोऽपि चासङ्ख्येयसमय एव ततश्च तदा-

घसमये रसतो भिद्यमानं कर्म्म भिन्नमिति ॥ ६ ॥ तथा । (दज्झमाणे दड्ढेत्ति) दाहस्तु कर्मकलिकदारूणां ध्यानाग्निना तद्रूपापनयनमकर्म्मत्वजननमित्यर्थ । तथा हि काष्ठस्याग्निना दग्धस्य काष्ठरूपापनयनं भस्मात्मना च भवन दाहस्तथा कर्म्मणोऽपीति तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तवर्तित्वेनासङ्ख्येयसमयस्यादिसमये दह्यमानं दग्धमिति ॥ ७ ॥ तथा (मिज्जमाणे मडेत्ति) म्रियमाणमायुः कर्म मृतमिति व्यपदिश्यते मरण ह्यायुःपुद्गलानां क्षयस्तच्चासङ्ख्येयसमयवर्त्ति भवति तस्य च जन्मनः प्रथमसमयादारभ्यावीचिकमरणेनानुक्षण मरणस्य भावाम्म्रियमाण मृतमिति ॥ ८ ॥ तथा । (णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णेत्ति) निर्जीर्यमाणं नितरामपुनर्भावेन क्षीयमाणङ्कर्म्मं निर्जीर्णं क्षीणमिति व्यपदिश्यते निर्जरणस्यासंख्येयसमयभावित्वेन तत्प्रथमसमय एव पटनिष्पत्तिदृष्टान्तेन निर्ज्जीर्णत्वस्योपपद्यमानत्वादिति पटदृष्टान्तश्च सर्वपदेषु सम्भावनिको वाच्यः ॥ ९ ॥ तदेवमेतान्नव प्रश्नान् गौतमेन भगवता भगवान् महावीरः पृष्टः सन्नुवाच । (हन्तेत्यादि) अथ कस्माद्भगवन्तं गौतमः पृच्छति ? विरचितद्वादशाङ्गतया विदितसकलश्रुतविषयत्वेन निखिलसंशयातीतत्वेन च सर्वज्ञकल्पत्वात्तस्य आह च "सङ्खाईए उ भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । नयणं अणाइसेवी, वियाणई एस छउमत्थोत्ति" ॥१॥ नैवमुक्तगुणत्वेऽपि छद्मस्थतयाऽनाभोगसम्भवात् । यदाह "न हि नामानाभोगा, छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति । यस्माज्ज्ञानावरणं, ज्ञानावरणप्रकृतिकर्म्मेति ॥ १ ॥ अथवा जानत एव तस्य प्रश्नः सम्भवति स्वकीयबोधसंवादनार्थमज्ञलोकबोधनार्थं शिष्याणां वा स्ववचसि प्रत्ययोत्पादनार्थं सूत्ररचनाकल्पसम्पादनार्थं चेति तत्र (हंता ! गोयमेत्ति) हन्त इति कोमलामन्त्रणार्थो दीर्घत्वं च मागधदेशीप्रभवमुभयत्रापि (चलमाणे इत्यादि) प्रत्युच्चारयन्तु चलदेव चलितमित्यादीनां स्वानुमतत्वप्रदर्शनार्थम् । वृद्धाः पुनराहुः "हन्ता! गोयमा! इत्यत्र" हन्त इति एवमेतदित्यभ्युपगमवचन यदनुमत तत्प्रदर्शनार्थञ्चलमाणे इत्यादि प्रत्युच्चारितमिति, इह यावत् करणलभ्यानि पदानि सुप्रतीतान्येव एवमेतानि नव पदानि कर्माधिकृत्य वर्त्तमानातीतकालसमानाधिकरणजिज्ञासया पृष्टानि निर्णीतानि च । अथैतान्येव चलनादीनि परस्परत किं तुल्यार्थानि भिन्नार्थानि वेति पृच्छां निर्णयं च दर्शयितुमाह ।

एए णं भंते! नव पदा किं एगट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा उदाहु णाणट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा । गोयमा! चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए वेइज्जमाणे वेइए पहेज्जमाणे पहीणे एएणं चत्तारि पया एगट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा उप्पन्नपक्खस्स छिज्जमाणे छिन्ने भिज्जमाणे भिन्ने दज्जमाणे दड्ढे मिज्जमाण मए णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे एएण पंच पदा णाणट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा विगयपक्खस्स ।

"एएण भंते" इत्यादि व्यक्त नवरम् । (एगट्ठत्ति) एकार्थान्यनन्यविषयाणि एकप्रयोजनानि वा (नाणाघोसत्ति) इह घोषा उदात्तादय । (नाणा वंजणेत्ति) इह व्यञ्जनान्यक्षराणि । (उदाहुत्ति) उताहो निपातो विकल्पार्थः (नाणट्ठत्ति) भिन्नाभिधेयानि इह च चतुर्भङ्गी पदेषु दृष्टा । तत्र च कानिचिदेकार्थान्येकव्यञ्जनानि यथा क्षीरं क्षीरमित्यादीनि ॥१॥ तथाऽन्यानि एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा क्षीर पय इत्यादीनि ॥ २ ॥ तथाऽनेकार्थान्येकव्यञ्जनानि यथाऽर्कगव्यमाहिषाणि क्षीराणि ॥ ३ ॥ तथाऽन्यानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटलकुटादीनि ॥ ४ ॥ तदेवं चतुर्भङ्गीसम्भवेऽपि द्वितीयचतुर्थभङ्गकौ प्रश्नसूत्रे गृहीतौ, परिदृश्यमाननानाव्यञ्जनतया तदन्ययोरसम्भवात् निर्वचनसूत्रे तु चलनादीनि चत्वारि पदान्याश्रित्य द्वितीयः छिद्यमानादीनि तु पञ्च पदान्याश्रित्य चतुर्थ इति । ननु चलितादीनामर्थानां व्यक्तभेदत्वात्कथमाद्यानि चत्वारि पदान्येकार्थानीत्याशङ्क्याह । (उप्पन्नपक्खस्सत्ति) उत्पन्नमुत्पादो भावे क्तप्रत्ययविधानात् तस्य पक्षः परिग्रहोऽङ्गीकार पक्षपरिग्रह इति धातुपाठादिति, उत्पन्नपक्ष इह च षष्ठ्यास्तृतीयार्थत्वादुत्पन्नपक्षेण उत्पादाङ्गीकारेण उत्पादाख्य पर्याय परिगृह्यैकार्थान्येतान्युच्यन्ते । अथवा उत्पन्नपक्षस्य उत्पादाख्यवस्तुविकल्पस्याभिधायकानीति शेषः सर्वेषामेषामुत्पादमाश्रित्यैकार्थकारित्वादेकान्तर्मुहूर्त्तमध्यभावित्वेन तुल्यकालत्वाच्चैकार्थिकत्वमिति भावः । स पुनरुत्पादाख्यः पर्यायो विशिष्टः केवलोत्पाद एव यतः कर्मचिन्तायाङ्कर्म्मणः प्रहाणे फलद्वयं केवलज्ञानमोक्षप्राप्ती तत्रैतानि पदानि केवलोत्पादविषयत्वादेकार्थान्युक्तानि यस्मात् केवलज्ञानपर्यायो जीवेन न कदाचिदपि प्राप्तपूर्वो यस्माच्च प्रधानस्ततस्तदर्थ एव पुरुषप्रयासस्तस्मात्स एव केवलज्ञानोत्पत्तिपर्यायोऽभ्युपगतः । एषाञ्च पदानामेकार्थानामपि सतामयमर्थः सामर्थ्यप्रापितक्रमो यदुत पूर्वञ्चलति उदेतीत्यर्थः । उदितञ्च वेद्यते अनुभूयत इत्यर्थः । तच्च द्विधा स्थितिक्षयादुदयप्राप्तमुदीरणया चोदयमुपनीतं ततश्चानुभवानन्तरं तत्प्रहीयते दत्तफलत्वाज्जीवादपयातीत्यर्थः । एतच्च टीकाकारमतेन व्याख्यातमन्ये तु व्याख्यान्ति स्थितिबन्धाद्यविशेषितसामान्यकर्म्माश्रयत्वादेकार्थिकान्येतानि केवलोत्पादपक्षस्य च साधकानीति चत्वारि चलनादीनि पदान्येकार्थिकानीत्युक्ते शेषाण्यनेकार्थिकानीति सामर्थ्यादवगतमपि सुखावबोधाय साक्षात्प्रतिपादयितुमाह । "छिज्जमाणेत्यादि " व्यक्तं नवरं (नाणट्ठत्ति) नानार्थानि नानार्थत्वं त्वेवं छिद्यमानं छिन्नमित्येतत्पदं स्थितिबन्धाश्रयं यतः सयोगिकेवली अन्तक्काले योगनिरोधं कर्तुकामो वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृतीनां दीर्घकालस्थितिकानां सर्वापवर्त्यान्तर्मौहूर्त्तिकं स्थितिपरिमाण करोति । तथा भिद्यमान भिन्नमित्येतत्पदमनुभावबन्धाश्रयं तत्र च यस्मिन् काले स्थितिघात करोति तस्मिन्नेव काले रसघातमपि करोति केवलं रसघातः स्थितिखण्डकेभ्यः क्रमप्रवृत्तेभ्योऽनन्तगुणाभ्यधिकोऽतोऽनेन रसघातकरणेन पूर्वस्माद्भिन्नार्थं भवति । तथा दह्यमान दग्धमित्येतत्पदं प्रदेशबन्धाश्रयं प्रदेशबन्धस्त्वनन्तानामनन्तप्रदेशानां स्कन्धानां कर्म्मत्वापादनं तस्य च प्रदेशबन्धकर्मणः सत्कानां पञ्च ह्रस्वाक्षरोच्चारणकालपरिमाणयाऽसंख्यातसमयया गुणश्रेणीरचनया पूर्वं रचितानां शैलेश्यवस्थाभाविसमुच्छिन्नक्रियाध्यानाग्निना प्रथमसमयादारभ्य यावदन्त्यसमयस्तावत्प्रतिसमय क्रमेणासङ्ख्यगुणवृद्धानां कर्मपुद्गलानां दहन दाहोऽनेन च दहनार्थं नेदं पूर्वस्मात्पदाद् भिन्नार्थं पदं भवति दाहश्चान्यत्रान्यथारूढोऽपीह मोक्षचिन्ताधिकारान्मोक्षसाधन उक्तलक्षणकर्मविषय एव ग्राह्य इति । तथा म्रियमाणं मृतमित्येतत्पदमायुःकर्मविषय यत आयुष्कपुद्गलानां प्रतिसमय क्षयो मरणमनेन च मरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नार्थत्वाद्भिन्नार्थं पदं भवति तथा म्रियमाणं मृतमित्यनेनायुःकर्मैवोक्तं यतः कर्मैव तिष्ठज्जीवतीत्युच्यते कर्मैव च

जीवादयस्कर्मविषया इत्युच्यते । तत्र यस्मात् सामान्येनोक्तान्यपि विशिष्टेनार्थेनानुगतान्यस्य पदानि संभवन्तीति मरणान्यनेकशोऽनुभूतानि दुःखकारणानि नेति किं तैर्मरणैरिह पुनः पदे पुनः अर्थे तान्यपि तस्माद्यतनीयं सर्वकर्मक्षयात् निर्वाणमपवर्गहेतुभूतमिति । निर्जीर्णमिति । तथा निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णमित्येतदपि सर्वकर्मक्षयविषयं यतः सर्वकर्मनिर्जरणं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं जीवेनेति अतोऽनेन सर्वथा कर्माभावरूपा निर्वाणावस्था प्रतिपाद्यते । कथितानि पदानि विशेषतो नानार्थान्यपि सन्ति सामान्यतः एकपदार्थाभिधायकतया प्रवर्तन्ते इत्येतदादर्शयन्नाह (विगयपक्खस्सत्ति) विगमं विगमो वस्तुनोऽवस्थान्तरापेक्षया विनाशः स एव पक्षो वस्तुधर्मस्तस्य वा पक्षः परिग्रहो विगमपक्षस्तं वाचयन्तीति शेषः । विगमं [illegible] जीवेन तथाभावादपूर्वं यतोऽवस्थान्तरापेक्षया भवत्येव पुनरुत्पादस्तथेति एतानि चैव विगमार्थानि भवन्ति । छिद्यमानादौ हि स्थितिखण्डन विगम उक्तो, भिद्यमानपदे तु अनुभागभेदो विगमो, दह्यमानपदे तु अकर्मताभवनं विगमो, म्रियमाणपदे पुनरायुष्कर्माभावो विगमो निर्जीर्यमाणपदे त्वशेषकर्माभावो विगम, उक्तलक्षणेनेति विगमपक्षस्य प्रतिपादकत्वमित्युच्यते । एतच्च चलनादावुपरितो व्यास्तेति प्रोक्तं यदुत वैशेषिकमिदं सूत्रमुपन्यस्तमिति सर्वपदानां चासन्नवस्तुविगमाभिधानरूपत्वादभिप्रायानपेक्षत्वेन निर्वाणमिति, यत एवमतोऽभिधीयते गाथायोऽप्याह " उप्पज्जमाणुप्पन्नं, उप्पन्नं विगयं वि गच्छंतं । दवियं पन्नवयंतो, तिकालविसयं विसेसेति ॥ १ ॥ उत्पद्यमानकालविषयेण [illegible] उत्पन्नमर्थं चाभ्युपगमानत्वेनोत्पन्नमात्मविषयस्यातीतविषयं द्रव्यगुणमुत्पन्नमित्यनेन तु अतीतकालविषयमेव विगतं विगच्छद्दव्यमेवाभीति तस्योत्पद्यमानादि प्रज्ञापयन् स भगवान् द्रव्यं विशेषयति । कथं त्रिकालविषयं यथा भवतीति संग्रहगाथार्थः । इह तु चलितेति पदस्य सूत्रे उक्तनिधाना समानादिपदानि सामान्येन व्याख्यातानि न पुनर्विशेषेण तथा हि (चलमाणे चलिएत्ति) इह चलनमस्थिरत्वपर्यायेण वस्तुन उत्पादः (वेइज्जमाणे वेइएत्ति) वेद्यमानं कम्पमानं वेजितं कम्पितमेजृ कम्पने इति वचनात् वेजनमपि तत्पर्यायेणोत्पाद एव (उदीरिज्जमाणे उदीरिएत्ति) उदीरणं स्थिरस्य सतः प्रेरणं तदपि चलनमेव (पहिज्जमाणे पहीणेत्ति) प्रहीयमाणं प्रभ्रश्यत् परिपतदित्यर्थः प्रहीणं प्रभ्रष्टं परिपतितमित्यर्थः । इदमपि प्रहीणं चलनमेव चलनादीनां चैकार्थत्वं सर्वेषां गत्यर्थत्वात् (उप्पणपक्खस्सत्ति) चलनत्वादिना पर्यायेणोत्पन्नलक्षणपक्षस्याभिधायकान्येतानीति तथा छेदनभेददाहमरणनिर्जरणान्येकार्थान्यपि व्याख्येयानि तद्व्याख्यानं च प्रतीतमेव भिन्नार्थता पुनरेषामेव कुठारादिना लतादिविषयच्छेदस्तोमरादिना शरीरविषयो भेदोऽग्निना दार्वादिविषयो दाहो, मरणन्तु प्राणत्यागो, निर्जरा त्वतिपुराणी भवनमिति । (विगयपक्खस्सत्ति) भिन्नार्थान्यपि सामान्यतो विनाशाभिधायकान्येतानीत्यर्थः । न च चलत्व किमेतैश्चलनादिभिरिह निरूपितैस्तत्त्वरूपस्यादेयमिति अनल्परूपस्यासिद्धत्वात् तदभिधित्सु निश्चयनयमतेन वस्तुस्वरूपस्य प्रज्ञापयितुमारब्धत्वात्तथा हि व्यवहारनयश्चलितमेव चलितमिति मन्यते निश्चयनयस्तु चलदपि चलितम् । अथ यदुक्तमस्य तत्र विशेषावश्यकादिदर्शिताभिधास्यमानजमालिचरिताद्यवसेयमिति ॥ भ० १ श० १ उ० ॥

जमालिचरितं न वेदनाभिभूतो जमालिः संस्तारकसंस्तरणायाह तान् नैर्ग्रन्थैः श्रमणैः संस्तृते प्ररूपयति ।

सेज्जासंथारए किं कडे कज्जइ तए णं समणा णिग्गंथा तं जमालिं अणगारं एवं वयासी । णो खलु देवाणुप्पिया णं सेज्जा संथारए कडे कज्जइ तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था जं णं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ एवं खलु चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे तं णं मिच्छा इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथारिज्जमाणे असंथरिए जम्हा णं सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथरिज्जमाणे असंथरिए तम्हा चलमाणे वि अचलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे वि अणिज्जिण्णे एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी जं णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव परूवेइ एवं खलु चलमाणे चलिए तं चेव सव्वं जाव णिज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव परूवेमाणस्स अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति ॥

[illegible] (किं कडे कज्जइत्ति) किं निष्पन्न उत निष्पद्यते अनेनातीतकालनिर्देशेन वर्तमानकालनिर्देशेन च कृतक्रियमाणयोर्भेद उक्तः । उत्तरेऽप्येवमेव तद्वत् संस्तारककर्तृसाधुभिरपि क्रियमाणस्याकृतत्वेन ततश्चासौ स्वकीयवचनसंस्तारककर्तृसाधुवचनयोर्विमर्शात् प्ररूपितवान् क्रियमाणं कृतं यदभ्युपगम्यते तन्न सङ्गच्छते यतो येन क्रियमाणं कृतमित्यभ्युपगतं तेन विद्यमानस्य करणक्रिया प्रतिपन्ना तथा च बहवो दोषास्तथा हि यत्कृतं तत्क्रियमाणं न भवति विद्यमानत्वाच्चिरन्तनघटवत् । अथ कृतमपि क्रियते तर्हि क्रियतां नित्यं कृतत्वात्प्रथमसमय इवेति न च क्रियासमाप्तिर्भवति सर्वदा क्रियमाणत्वादादिसमयवदिति । तथा यदि क्रियमाणं कृतं स्यात्तदा क्रियावैफल्यं स्यादकृतविषय एव तस्याः सफलत्वात् यथा पूर्वमसदेव भवद् दृश्यते इत्यध्यक्षविरोधश्च । तथा घटादिकार्यनिष्पत्तौ दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते यतो नारम्भकाल एव घटादिकार्यं दृश्यते नापि स्थासादिकाले किं तर्हि तत्क्रियावसाने यतश्चैव ततो न क्रियाकाले युक्तं कार्यं किं तु क्रियावसान एवेति (भ० ९ श० ३३ उ०) " अत्थेगइया समणा निग्गंथा एयमट्ठं नो सद्दहंतित्ति " । ये च न श्रद्दधति तेषां मतमिदं नाऽकृतमभूतमविद्यमानमित्यर्थः । क्रियते अभावात्खपुष्पवत् यदि पुनरकृतमप्यसदपीत्यर्थः क्रियते तदा खरविषाणमपि क्रियतामसत्त्वाविशेषात् । अपि च ये कृतकरणपक्षे नित्यक्रियादयो दोषा भणितास्तेऽसत्करणपक्षेऽपि तुल्या वर्तन्ते । तथा हि नात्यन्तमसत्क्रियतेऽसद्भावात् खरविषाणमिव । अथ चात्यन्तासदपि क्रियते तदा नित्यं तत्करणप्रसङ्गो न चात्यन्तासत करणे क्रियासमाप्तिर्भवति तथात्यन्तासत्त्वः क-

रणे क्रियावैफल्य च स्यादसत्वादेव खरविषाणवत् । अथवा विद्यमानस्य करणाभ्युपगमे नित्यक्रियादयो दोषाः कष्टतरका भवन्ति अत्यन्ताभावरूपत्वात् खरविषाण इव, विद्यमानपक्षे तु पर्यायविशेषणार्प्पणात्स्यादपि क्रियाव्यपदेशो यथा आकाशं कुरु तथा च नित्यक्रियादयो दोषा न भवन्ति न पुनरयं न्यायोऽत्यन्तासतिं खरविषाणादावस्तीति । यच्चोक्तं पूर्वमसदेवोत्पद्यमान दृश्यत इति प्रत्यक्षविरोधस्तत्रोच्यते यदि पूर्वमभूत सद्भवद् दृश्यते तदा पूर्वमभूतं सद्भवत्कस्मात्त्वया खरविषाणमपि न दृश्यते यच्चोक्त दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते तत्रोच्यते प्रतिसमयमुत्पन्नानां परस्परेण षड्विधलक्षणानां सुबहूनां स्थासकोशादीनामारम्भसमयेष्वेव निष्ठानुयायिनीनां कार्यकोटीनां दीर्घः क्रियाकालो यदि दृश्यते तदा किमत्र घटस्यायातं येनोच्यते दृश्यते दीर्घश्च क्रियाकालो घटादीनामिति यच्चोक्त नारम्भे एव दृश्यते इत्यादि । तत्रोच्यते कार्यान्तरारम्भे कार्यान्तर कथ दृश्यतां पटारम्भे घटवत् । शिवकस्थासकादयश्च कार्यविशेषा घटस्वरूपा न भवन्ति तत. शिवकादिकाले कथ घटो दृश्यतामिति ! किञ्च अन्त्यसमय एव घटः समारब्धस्तत्रैव च यदसौ दृश्यते तदा को दोष. ? एवञ्च क्रियमाण एव कृतो भवति क्रियमाणसमयस्य निरंशत्वात् । यदि च सम्प्रति समये क्रियाकालेऽप्यकृत वस्तु तदा अतिक्रान्ते कथ क्रियतां कथ वा एष्यति क्रियायो उभयोरपि विनष्टत्वानुत्पन्नत्वेनासत्वादसम्बध्यमानत्वात्तस्मात्क्रियाकाल एव क्रियमाण कृतमिति । आह च "थेराणमयं नाकय-मभावओकीरए खपुप्फ च । अहय अकय पि कीरइ, कीरउ तो खरविसाण पि" भ० ६श० १३ उ० । इत्यादिविस्तरेण प्रत्यपादि (एष चैवार्थो गगदत्तशब्दे परिणमन्त पुद्गला. परिणताः इत्यमायिदेवेन प्रतिपादितस्य भगवतानुमोदनात्पुष्टीभविष्यति) आह । ननु यदि क्रियासमयेऽपि कार्यं भवति तर्हि तत्तत्र कस्मान्न दृश्यते एवेति चेन्नन्वहमपि किमिति तन्न पश्यामीत्याशङ्कयाह ॥

पइसमयकज्जकोमी–निरविक्खो घमगयाभिलासोसि ।
पइसमयकज्जकालं, थूलमए घमम्मि लगएसि ॥

इह यद्यस्मिन्समये प्रारभ्यते तत्तत्र निष्पद्यते दृश्यते च केवल स्थूला सूक्ष्मेक्षिकाबहिर्भूतत्वाद्बादरदर्शिनी मतिर्यस्य तत्संबोधन हे स्थूलमते ! त्व घटे लगयसि किमित्याह । प्रतिसमयोत्पन्नानां कार्यकोटीनां काल प्रतिसमयकालस्त सर्वमपि घटस्यैवाय समस्तोऽपि मृत्पिण्डविधानचक्रभ्रमणादिक उत्पत्तिकाल इत्येवमेकस्मिन्नेव घटे लगयसीत्यर्थः । कथ भूत' सन्नित्याह । प्रतिसमयोत्पद्यमानासु मृत्पिण्डशिवकस्थासकोशादिकासु सिद्धकेवलप्रभृतीनां ज्ञानजननादिकासु च कार्यकोटीषु निरपेक्ष कुत' पुनरेतदित्याह । यतो घटगताभिलाषोऽसि त्वं घटोऽस्यां मृद्गमचक्रचीवरादिसामग्र्यामुत्पत्स्यत इत्येव केवलं घटाभिलाषयुक्तत्वाद्भवत इत्यर्थः । इदमुक्त भवति प्रतिसमयमपरापराण्येव शिवकादीनि कार्याण्युत्पद्यन्ते दृश्यन्ते च तानि च तथोत्पद्यमानानि त्व नावबुध्यसे घटोत्पत्तिनिमित्तभूतैवेय सर्वापि मृच्चक्रचीवरादिसामग्रीत्येव केवलघटोऽभिलाषयुक्तत्वात् ततस्तन्निरपेक्ष एव स्थूलमतितया सर्वमपि तत्काल घटे लगयसि । ततश्च प्राक्तनक्रियाक्षणेष्वनुत्पन्नत्वात् घटमदृष्ट्वा एव ब्रूषे क्रियाकाले घटलक्षणं कार्यमहं न पश्यामि । इद तु नावगच्छसि यदुत चरमक्रियाक्षण एव घटः प्रारभ्यते प्राक्तनक्रिया-

काले तु शिवकादय एवारभ्यन्तेऽन्यारम्भे चान्यन्न दृश्यते एवेति व्यवहारवादी प्राह ।

को चरमसमयनियमो, पढमे च्चिय तो न कीरए कज्जं ।
नाकारणंति कज्जं, तं चेवं तम्मि से समए ॥

प्रथमसमयादारभ्य यद्यपरापराणि कार्याण्यारभ्यन्ते तर्हि कोऽयं चरमसमयनियमो येन विवक्षित कार्य प्रथमसमय एव न क्रियते अकरणे च ततस्तत्तत्र न दृश्यते नन्वाद्यकार्यवद्विवक्षितमपि तत्रैव क्रियतां दृश्यतां चेति भाव. । अत्र निश्चय' प्रत्युत्तरमाह । नाकारण कश्चित्कार्यमुत्पद्यते नित्यं सदसत्वप्रसङ्गान्न च तत्कारणं (से) तस्य विवक्षितकार्यस्य तदन्त्यसमये एवास्ति न प्रथमादिसमयेष्वतो न तेषूत्पद्यते नापि दृश्यत इति तदेवं क्रियाकाल एव कार्यं भवति न पुनस्तदुपरमे इत्युक्तम् । अथेयं नेष्यते तर्हि प्रस्तुतमाभिनिबोधिकज्ञानमेवाधिकृत्योच्यते ।

उप्पाए वि न नाणं, जइ तो सो कस्स होइ उप्पाओ ।
तम्मि य जइ अन्नाणं, तो नाणं कम्मिकालम्मि ॥

उत्पादनमुत्पाद कार्यस्योत्पत्तिहेतुभूत' क्रियाविशेषस्तत्रापि यदि मतिज्ञानं नेष्यते भवता क्रियमाणावस्थायामपि यदि कार्यं त्वया नाऽभ्युपगम्यत इति भाव' । तर्हि उत्पाद्यमानस्यासत्वात्तस्य कस्योत्पादो भवत्विति कथ्यतां न ह्यविद्यमानस्य खरविषाणस्यैवोत्पादो युक्त' यदि च तस्मिन् उत्पादकालेऽप्यज्ञानं तर्हि ज्ञान कस्मिन् काले भविष्यतीति निवेद्यताम् । उत्पादोपरम इति चेन्ननु कथमन्यत्रोत्पादो ऽन्यत्र तूत्पन्नमिति । उत्पादोपरमे च भवत्कार्यमुत्पादात्प्रागपि कस्मान्न भवत्यविशेषादित्याद्युक्तमेवेति यदुक्तम् " इय न सवेणाइकाले नाणमिति" तत्राह ।

को व सवणाइकालो, उप्पाओ जम्मि होज्ज से नाणं ।
नाणं च तदुप्पाओ, य दो वि चरिमम्मि समयम्मि ॥

वा च शब्दार्थे कश्च श्रवणादिकालो व्यवहारवादिन् ! भवतोऽभिप्रेतो यत्र ज्ञानं निषेधयसि हन्त ! त्वया मतिज्ञानस्योत्पादसमय एव श्रवणादिकालोऽवगन्तव्यो यत्र (से) तस्य शिष्यस्य मतिज्ञान भवेन्नापरः । अथादित आरभ्य गुरुसन्निधाने धर्मश्रवणादय इव मतिज्ञानस्योत्पादकालो नाऽपरोऽवगन्तव्य इति चेन्नैवमित्याह । " नाण" मित्यादि ज्ञानं च मतिज्ञानलक्षणं तदुत्पादश्च तस्योत्पत्तिहेतुभूत. क्रियाक्षण' एतौ द्वावपि धर्मश्रवणादिक्रियासमयराशेश्चरमसमय एव भवतो न प्रथमादिसमयेषु तेष्वपराणामेव धर्मावबोधादिकार्याणामुत्पत्ते । न च तद्बोधादिमात्रादपि सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिर्युज्यते भव्येष्वपि तत्सद्भावात्तस्माद्विशिष्ट एव कस्मिंश्चिच्चरमे श्रवणादीनां चरमसमये मतिज्ञान तदुत्पादश्च अतो युक्तमुक्तम् "भुत्तं न दत्तमिति" । अस्माभिरपि क्रियाकालस्यान्त्यसमये एव तस्येष्यमाणत्वात्तस्मान्न सर्वेषु धर्मश्रवणादिक्रियासमयेषु मतिज्ञान नापि सर्वेषामपि तेषामुपरमे किंत्वेकस्मिंस्तच्चरमसमये तदारभ्यते निष्पद्यते च अत क्रियमाणमेव कृतम् । यदि कृतमपि क्रियते निश्चयवादस्तर्हि पुन. पुनरपि क्रियतां कृतत्वाविशेषादत' करणानवस्थेति चेन्नैव क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् । यदि हि तदुत्पादयित्री क्रिया प्रारब्धा सती उत्तरसमयेष्वपि प्राप्येत तदा स्यात्पुनरपि तत्कारणमेतच्च नास्ति यतोऽसौ तदुत्पादयित्री क्रिया न पूर्वं नाप्युत्तरत्रापि किं तु तस्मिन्नेव चरमसमये प्रारभ्यते निष्ठा च यातीति कुत' पुनरपि कार्यकारणमतो न तत्करणानवस्थेति

विशे० । (कारणशब्दे द्रव्यकारणप्रस्तावे कार्य्यकारणयोरभेदो लेशतो दर्शयिष्यते) कार्यस्य कारणानुरूपत्वमसार्वत्रिकम् । न च नियमत कारणानुरूप कार्यं वैसादृश्यस्यापि दर्शनात् । तथा हि शृङ्गाच्छरो जायते तस्मादेव सर्षपानुलिप्तात्सु तृणानीति । तथा गोलोमभ्यो दूर्वा ततो न नियम. । आ० म० प्र० । विशे० । सूत्र० (करणीये सुखसाध्यमपि कार्यं विनोपायेन न सिध्यतीति गच्छसारणाशब्दे)

कज्जपओयण–कार्य्यप्रयोजन–न० अवश्यकरणीयप्रयोजने, प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ० ।

कज्जभास–कार्य्याभ्या (श) स–पु० यदर्थं चेष्टते तत्कार्य्यं तस्यान्त्याश' अत्यशनमन्त्याश अशूङ् व्याप्तावित्यस्य अभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोग' कार्य्यान्त्याश'। कार्यस्यासन्नतायाम, कार्य्यस्य निकटीभवने, कर्म० "कज्जब्भासाणोक्षप्पवेसविसमीकयप्पवेस" (वीरियशब्दे व्याख्या) अस्तु क्षेपेऽत्यस्य तु दत्यान्त्य. स च पुन. पुनरनुशीलने, ।

कज्जमाण–क्रियमाण–त्रि० विधीयमाने, पंचा०१७ विव० "कम च कज्जमाण च, आगमिस्स च पावग" सूत्र०१ श्रु०८ अ०। विशे०। (कज्जमाणे कमेत्ति सिद्धान्तः कज्जकारणभावशब्दे दर्शित.)

कज्जया–कार्यता–स्त्री० तद्रूपेणाभिव्यक्तौ, न० ।

कज्जल–कज्जल–न० कुत्सित जलमस्मात् को कदृ। दीपशिखापतिते कृष्णद्रव्ये, ज० १ वक्ष० । रा० । मस्यास्, ज्ञा० १ अ० ।

कज्जलंगी–कज्जलाङ्गी–स्त्री० कज्जलगृहे, औ० । ज्ञा० ।

कज्जलप्पभा–कज्जलप्रभा–स्त्री० जम्बा सुदर्शनायाः दक्षिणपूर्वस्यां पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्य उत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० । ज० ।

कज्जलावेमाण–प्लाव्यमान–त्रि० उपर्युपरि प्लाव्यमाने "कज्जलावेमाणं पेहाए" आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

कज्जवय–कार्य्यपद–पु० जीवनहेतोर्मातापितृभ्यां भ्रियमाणे कज्जवयेतिनामबोध्ये बालके, अनु० ।

कज्जवसओ–कार्य्यवशतस्–अव्य० कार्याङ्गीकरणत इत्यर्थे, न स्वकार्य्यसिद्धये इति फलितार्थे, षो० १ विव० ।

कज्जसम–कार्य्यसम–न० स्वनामके जात्युत्तरेऽनुमानदोषे, सम्म० । कार्यसम नाम जात्युत्तरमिति प्रतिपादितम् । यथोक्त 'कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनम्'। तत्कार्यसममिति कार्यत्वसामान्यस्यानित्यत्वसाधकत्वेनोपन्यासेऽभ्युपगते धर्मिभेदेन विकल्पनवद्बुद्धिमत्कारणत्वे क्षित्यादे कार्यत्वमात्रेण साध्येऽसीष्टे धर्मिभेदेन कार्यत्वादेर्विकल्पनात् आसादयतः सामान्येन कार्यत्वनित्यत्वयोर्विपर्यये बाधप्रमाणबलाद् व्याप्तिसिद्धौ कार्यत्वसामान्यशब्दादौ धर्मिण्युपलभ्यमानमनित्यत्व साधयतीति कार्यत्वमात्रस्यैव तत्र हेतुत्वेनोपन्यासे धर्मविकल्पन यत्तत्र क्रियते तत्सर्वानुमानोच्छेदकत्वेन कार्यसम जात्युत्तरतामासादयति । सम्म० ॥

कज्जसेण–कार्य्यसेन–पु० जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रेऽतीतायामुत्सर्पिण्या जाते पञ्चमे कुलकरे, स० ।

कज्जहेउ–कार्य्यहेतु–पु० प्रयोजननिमित्ते, चिकीर्षितकार्य्य प्रति आनुकूल्यकरणे, स्था० ४ ठा० । द्वितीयान्त "कज्जहेउ" पञ्चम्यन्तो वा "कज्जहेओ" लोकोपचारविनयभेदे, तत्र कार्य्यहेतोर्ज्ञानादिनिमित्त भक्तादिदानमिति गम्यम् ग० १ अधि० । भ० । अयमर्थ' कार्यश्रुतप्रापणादिक हेतु कृत्वा श्रुत प्रापितोऽहमनेनेति हेतोरित्यर्थो विशेषेण विनये तस्य वर्तितव्यं तदनुष्ठान च कर्त्तव्यमिति स्था० ७ ठा० ।

कज्जिय–कार्यिक–त्रि० कार्य्यार्थिनि, व्य० ३ उ० ।

कज्जोवग–कार्य्योपग–त्रि० अष्टाशीतिमहाग्रहाणां पञ्चदशे महाग्रहे, 'दो कज्जोवगा' स्था०२ठा०। चं०प्र०। ज०। सू० प्र०। कल्प०।

कञ्चुअ–कञ्चुक–न० वर्गेऽन्त्यो वा ८ । १ । ३० । इत्यनुस्वारस्य ञ' । चोलके, प्रा० ।

कञ्चका–कन्यका–स्त्री० कन्या–कन् मागध्यां न्यण्यज्ञञ्जां ञ्ञ । ८ । ४ । ९२ । इति द्विरुक्तो ञ्ञः । कन्याशब्दार्थे , प्रा० ।

कट्टर–कट्टर–न० कट–वर्षादौ ष्वरच्–व्यञ्जने, दधिसरे, रत्नमा० दृश्यस्तु ससरस्यात्र तक्र कट्टरमुच्यते वैद्यकोक्ते तक्रभेदे, कटुकायाम, भावप्र०वाच० । खण्मे, 'चित्तकट्टरेइ वा' कट्टरं खंमं अनु० ।

कट्टु–कृत्वा–अव्य० आर्षत्वात् क्त्वाप्रत्ययस्य ट्टु प्रा० । विधायेत्यर्थे, स्था० ८ ठा० । इति कट्टु इति कृत्वा दशा० ६ अ० । उत्त० । आचा० । अनु० । विपा० । कल्प० । कट्टोरगपात्रभेदे, "ततो पासेहिं करोडगा कट्टोरगा मकुया सिप्पाओ य ठविज्जंति" नि० चू० १ उ०

कट्ठ–कष्ट–न० कस–क्त– । कृच्छ्रगहनयोः कषः इतीण् निषेध' । हस्वात्थ्यश्चत्सप्साम्निश्चले ८ । २ । ३४ । इति ष्टस्य ठ. । प्रा० । द्वितीयतुर्य्ययोरुपरि पूर्वः ८ । २ । ९० । इति द्वितीयस्योपरि पूर्व । प्रा० । दु खे, ज्ञा० ९ अ० । क्लेशहेतुके, वि० ७ अ० । पीमायाम, व्यथायाम, पीमायुक्ते, गहने, पीमाकारके, कष्टसाध्ये बहूपायेन शाम्ये रिपुरोगादौ, । कष्टसाधने, पापे च । वाच० ।

काष्ठ–न० काशत्यनेन काश–क्थन् नेद् शस्य ष' । समिदादितृणकाष्ठे, उत्त० १२ अ० । स्था० । शमीवृक्षस्येन्धने, "कुस च जूव तणकट्ठमग्गिं" उत्त० १२ अ० । दारुणि, पिं० । शाखादिस्तम्भे, नि० चू० ५ उ० । "ससारमतिशुष्क यत् , मुष्टिमध्ये समेष्यति । तत्काष्ठ काष्ठमित्याहुः, खदिरादिसमुद्भवम् । इत्युक्तलक्षणे दारुभेदे च वाच० । राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तत्कथा धर्मलप्रकरणादवसेया आ० म० द्वि० । आ०चू० ।

कट्ठकम्म–काष्ठकर्मन्–न० क्रियत इति कर्म काष्ठे कर्म काष्ठकर्म–काष्ठनिष्कुट्टिते रूपके, यत्र स्थापनाचार्य्य क्रियते । अनु० । ग० । नि० चू० । प्रतिस्तम्भद्वादशादौ, आचा० । १श्रु० १ अ०५ उ० । रथादौ, आचा० २ श्रु०१२ अ० । कर्म करणम् काष्ठस्य कर्म । दारुमयपुत्रिकादिनिर्माणे, ज्ञा० १३ अ० ।

कट्ठकम्मंत–काष्ठकर्मायत्–न० काष्ठकर्मगृहे, यत्र काष्ठपरिकर्म क्रियते । आचा० २ श्रु० २ अ० ।

कट्ठकरण–काष्ठकरण–न० श्यामाकस्य गृहपते. क्षेत्रे, " ततो सामी ज भियगाम गतो तस्स बहिया वि याव तस्स चेइयस्स अदूरसामते जुवालिए नदीए तीरे उत्तरिल्ले कूले सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरण नाम खेत्त" आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

कट्ठकार–कष्टकार –पु० कष्ट करोति कृ–अण्–उप० स० । ससारे, त्रिका० । पीमाकारके, त्रि० वाच० ।

काष्ठकार–पु० काष्ठशिल्पोपजीविनि, अनु० । प्रज्ञा० ।

कट्ठकोलंब–काष्ठकोलम्ब–पु० शाखिशाखानामवनतमग्रभाजन

वा कोलम्ब उच्यते । काष्ठस्य कोलम्ब इव काष्ठकोलम्ब । परिदृश्यमानावनतहृदयास्थिकत्वात् । काष्ठमयकोलम्बसदृशे उदरादौ, " कट्ठकोलंबे व से (धन्यानगारस्य) उदर " अणु० ॥

कट्ठखाय–काष्ठखाद–पुं० काष्ठं खादतीति काष्ठखादः । काष्ठखादके घुणे, स्था० ४ ठा० ।

कट्ठखायसमाणभिक्खाग–काष्ठखादसमानभिक्षाक–पुं० निर्विकृतिकाहारतया काष्ठखादकघुणसमाने भिक्षौ, स्था०२४ ठा०।

कट्ठघडण–काष्ठघटन–न० षष्टितमे कलाभेदे, कल्प० ।

कट्ठदल–काष्ठदल–न० तुवरीसूपे, "कट्ठदल सिणेहवियलं ज " ल० प्र० ।

कट्ठपाउया–काष्ठपादुका–स्त्री० काष्ठनिर्मितपादुकायाम्, " कट्ठया उपाति वा जरग्गवबाहणत्ति वा । अणु० ।

कट्ठपीढय–काष्ठपीठक–न० काष्ठमयपीठके, निचू० १२ उ० ।

कट्ठपुत्तलिया–काष्ठपुत्तलिका–स्त्री० काष्ठकर्मणि, यत्र स्थापनावश्यकं स्थाप्यते । अनु० ॥

कट्ठपेज्जा–काष्ठपेया–स्त्री० मुद्गादियूपे, घृततलिततण्डुलपेयायां च । उपा० १ अ० ।

कट्ठभूय–काष्ठभूत–त्रि० अत्यन्तनिश्चेष्टतया काष्ठोपमे,उत्त०१२अ०।

कट्ठमुद्दा–काष्ठमुद्रा–स्त्री० काष्ठस्येवाकारे काष्ठमयमुखबन्धने, " कट्ठमुद्दाए मुहं बंधइ बंधइत्ता " यथा काष्ठं काष्ठमयः पुत्तलको न भाषते एवं सोऽपि मौनावलम्बी जात' यद्वा मुखरन्ध्राच्छादकं काष्ठखण्डमुभयपार्श्वयोश्छिद्रप्रोषितदवरकान्वितं मुखबन्धनं काष्ठमुद्रा तया मुखं बध्नाति, नि० ॥

कट्ठमूल–काष्ठमूल–न० चणकचवलकादिद्विदले, बृ० १ उ० ।

कट्ठमूलरस–काष्ठमूलरस–न० द्विदलरसेन परिणामिते पानके, ध० ३ अधि० । काष्ठमूलं चणकचवलकादि द्विदलं तदीयरसेन यत्परिणामितं तत्काष्ठमूलरसं नाम पानकम् इत्युक्ते. वृ०१ उ०।

कट्ठसगडिया–काष्ठशकटिका–स्त्री० काष्ठभूतायां शकटिकायाम्, भ० २ श० १ उ० ।

कट्ठसमस्सिय–काष्ठसमाश्रित–त्रि० काष्ठाद्याश्रिते, "ससे यथा कट्ठसमस्सिया य" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कट्ठसिला–काष्ठशिला–स्त्री० काष्ठं चासौ शिलेवायतविस्ताराभ्यां शिला सा चेति काष्ठशिला । स्था० ३ ठा० । काष्ठफलकरूपे संस्तारकभेदे, पंचा० १८ विव० । आचा० ।

कट्ठसेज्जा–काष्ठशय्या– स्त्री० काष्ठं स्थूलमायतमेव तद्रूपा शय्या तत्र वा शय्या शयनम् । पाश्चयामिकसाधुभ्योऽनुज्ञाते काष्ठशिलाशयने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

कट्ठहार–काष्ठहार–पुं० त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । उत्त० । प्रज्ञा० ।

कट्ठा–काष्ठा–स्त्री० दिशि, स्था० २ ठा० अष्टादशनिमेषात्मके काले, न० । प्रकर्षे, सू० प्र० ६ पाहु० । सीमायाम्, दारुहरिद्रायां च । वाच० ।

कट्ठाइ–काष्ठादि–त्रि० दारुपाषाणप्रभृतौ, पचा० ७ विव० । आदिशब्दात्काष्टकशर्करादिग्रहः । पंचा० १८ विव० ।

कट्ठिय–काष्ठिन–त्रि० काष्ठादिभिः भरकृते कुड्यादौ, "कट्ठिए वा उक्कारिए वा कुत्ते वा लित्ते वा घट्टे वा मट्टे वा सम्मट्टे वा संपधूमिते वा तहप्पगारे उवस्सए" आचा० २ श्रु० २ अ० ।

कट्ठोवम–काष्ठोपम–त्रि० विषमकाष्ठतुल्ये, प्रति० ।

कड–कट–पुं० कट–कर्तरि–अच् । हस्तिगण्डे, मदवर्षणात्तथात्वम् । गण्डमात्रे, स्वेदवर्षणात्तथात्वम् वाच० । "कडतडाइ" गण्डतटानि, ज्ञा० १ अ० । नलाख्ये तृणे, अमरः । आवरणकारके, त्रि० । अतिशये, उत्कटे, शरे, समये, आचारे, मेदि० । उशीरादितृणमात्रे, धरणिः । शवे, प्रेते, शवरथे, ओषधिभेदे, श्मशाने, हेमच० । तष्टकाष्ठे, शब्दर० । क्रियाकारकमात्रे, त्रि० हेमचं० । द्यूतक्रीडासाधनद्रव्ये च । वाच० । कटादिभिराततानवितानभावेन निष्पाद्यमाने आसनविशेषे, कट इव कट इत्युपचारात्तन्त्वादिमये आसनभेदे च ।

चत्तारि कडा पण्णत्ता तंजहा सुंठकडे विदलकडे चम्मकडे कंबलकडे ॥

(सुंठकडेत्ति) तृणविशेषनिष्पन्नः (विदलकडेत्ति) वंशशकलकृतः (चम्मकडेत्ति) वर्द्धव्यूतमञ्चकादिः (कंबलकडेत्ति) कम्बलमेवेति । स्था० ४ ठा० । आ० म० प्र० । सान्तरवशमये, बृ० २ उ० । वंशकटादौ, बृ० १ उ०। पर्वतैकदेशे, ज्ञा०१ अ० । बृ० । संस्तारके च । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कृत–त्रि० कृ. क्त परिकर्मिते, कल्प० । अनुष्ठिते " कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विहिते, उत्त० १ अ० । अन्त० । निर्वर्तिते, आव०४ अ० । उपार्जिते, उत्त०३ अ० । पूर्वपरिणामापेक्षया परिणामान्तरेण कृते, भ० १२ श० ४ उ० । निष्पादिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

इदानीं कृतपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद्गाथामाह ।

करणं च कारओ य, कडं च तिण्हं पि छक्कनिक्खेवो ।
दव्वे खित्ते काले, भावेण उ कारओ जीवो ॥४॥

(करणं चेत्यादि) इह कृतमित्यनेन कर्मोपात्तं न चाकर्तृकं कर्म भवतीत्यर्थात्कर्तुरादेपो धात्वर्थस्य च करणस्यामीषां त्रयाणामपि प्रत्येकं नामादिः षोढा निक्षेपः । सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ० । (अत्र करणनिक्षेपप्रदर्शनेन कृतनिक्षेपोऽपि बुद्धो भविष्यतीति बुद्ध्या कृतनिक्षेपो न प्रादर्शि क्रियमाणं कृतमिति भगवदुक्तेर्जमालिनाऽश्रद्धानं तदुत्तरं च कज्जकारणभावशब्दे दर्शितमथ च जमालिशब्देऽपि किञ्चिद्दर्शयिष्यते) क्रियानिष्पाद्ये, " से देसे णं देसे कडे देसे ण सव्वे कडे" भ० १ श० ३ उ० । तैर्विवक्षितपुरुषैरन्यैर्वा श्रावकीकृते कुले, कल्प० । साधूनाश्रित्याधाय कृते निष्पादिते आधाकर्मणि , सूत्र० १श्रु०१अ० । " कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्ते स ण चरे" गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणात्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेषु इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ०४ उ० । ' उवक्खडं तु कडं होइ " उपस्कृतं तु आदिबुद्धावादिकर्मविवक्षायां क्त प्रत्ययः, ततोऽयमर्थः । उपस्कर्तुमारब्धमिति भाव कृतं भवति इत्यादिग्रन्थाधाकम्मशब्दे कृतशब्दार्थो विस्तरत उक्तस्ततएवावसेयम् पिं० । कृतयुगे चतुष्के, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । फले च न० साधिते, पक्के, पर्याप्ते च त्रि० चतुरङ्कयुक्ते, पाशकभेदे, दासभेदे च पुं०–भावे, क्त–क्रियायाम् न० कृतपूर्वीकटम् वाच० ।

कडंगर–कडङ्गर–न० कडं भक्षणीय शस्यादि गिरति अभ्यन्तरे

निवेशयति गृ-अच्-नि०मुम् वुसे, मुद्गादेः फलशून्यनामिकाकाष्ठे, अमर०। वाच०। स्था०।

कडंब-कटम्ब-पुं० कट-धातूनामनेकार्थत्वाद् वादने, अम्बच् वादित्रे, वाच०। स च द्वादशतूर्यनिर्घोषाणां चतुर्थः। ज्ञा० म० प्र०। औ०।

कडम्ब-शाकनाडिकायाम्, कोणे, प्रान्तभागे च वाच०।

कडक्ख-कटाक्ष-पुं० कटं गण्डमक्षति व्याप्नोति अच् अपाङ्गदृष्टौ, अमर०। वाच०। "सकडक्खदिट्ठीओ" सकटाक्षा सापाङ्गा दृष्टयश्चावलोकितानि ज्ञा० ए अ०। अर्द्धवीक्षणे च न०।

कडग-कटक-पुं० न० कलाचिकाभरणे, प्रज्ञा० २ पद। रा०। "पयलिवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडले" रा०। ज०। प्रकोष्ठकाभरणविशेषे, स०। कङ्कणे, औ०। कङ्कणविशेषे, उपा० २ अ०। हस्ताभरणविशेषे "वरकडगतुडियथंभियभुए" औ०। अद्रिनितम्बे "विसमगिरिकडगकोडंबसंखिविट्ठा" ज्ञा० १८ अ०। "पव्वयकडगायमुचते" प्रश्न० अध० १ द्वा० ३ अ०। गण्डशैले, ज्ञा० ४ अ०। स्कन्धावारे, बृ० २ उ०। "कडगवडेवि विसे अप्पफलेसिया" प० सु० ५ सू०। चक्रे, अमर०। हस्तिदन्तमध्यमले सामुद्रलवणे, राजधान्यां च मेदि०। नगर्य्याम्, शब्दर०। वाच०। कटस्वार्थे क-कटशब्दार्थे, "पसुलकडयाण" अणु०।

कडगघर-कटकगृह-न० वंशदलनिर्मापितकटात्मके गृहे, व्य० ४ उ०।

कडगमई-कटकमयी-स्त्री० कटो वंशकटादिस्तन्निष्पन्ना कटकमयी-वंशकटकादिमये चिलिमिलिकाभेदे, नि० चू० १ उ०।

कडगमद्दण-कटकमर्दन-न० सैन्येन किञ्चिज्जेन वा आक्रम्य मर्दने, ततो हि प्राणवधो भवतीत्युपचारात् प्राणवधे च। प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ०।

कडग्गिदड्ढय-कटाग्निदग्धक-त्रि० कटान्तर्वेष्टयित्वाऽग्निना दह्यमाने, दशा० ६ अ०।

कडच्छेज्ज-कटच्छेद्य-न० कटवत्क्रमाच्छेद्यं वस्तु यत्र विज्ञाने तत्तथा। एकोनसप्ततितमे कलाभेदे, इदञ्च न्यूनपटोद्वेष्टनादौ भोजनक्रियादौ चोपयोगीनि जं० २ वक्ष०। ज्ञा०। "कडच्छेपण जोत्तव्व कडगच्छेदो नाम जो एगा उ पासा उ समुद्दिसइ" पं० व० २ द्वा०।

कडजुग-कृतयुग-न० अष्टाविंशत्यधिकसप्तदशलक्षपरिमिते कालभेदे, लोके कृतयुगादीनि एवमुच्यन्ते "द्वात्रिंशच्च सहस्राणि, कलौ लक्षचतुष्टयम्। वर्षाणां द्वापरादौ स्या-देतद् द्वित्रिचतुर्गुणम्" स्था० ४ ठा० ३ उ०।

कडजुम्म-कृतयुग्म-पुं० न० कृतं सिद्धं पूर्णं तत परस्य राशिसज्ञान्तरस्याभावेन न त्र्योज प्रभृतिवदपूर्णं यत् युग्मं समराशिविशेष तत्कृतयुग्मम्। भ० १८ श० ४ उ०। युग्मराशिविशेषे, यो हि राशिश्चतुष्केणापह्रियमाणश्चतु पर्यवसितो भवति स कृतयुग्म इति स्था० ४ ठा० ३ उ०। क० प्र०। कृतयुग्मामितप्रदेशासु दिक्षु स्त्री० आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० (सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्केणापह्रियमाणाश्चतुष्कावशेषा भवन्तीति कृत्वा तत्प्रदेशात्मिकाश्च दिशः आगमसंज्ञया कडजुम्माति शब्देन कृतयुग्मादिविशेषणेन नैरयिकादीनामुपपात उपपायशब्देनाभिधीयन्ते)

कडजुम्मकडजुम्म-कृतयुग्मकृतयुग्म-पुं० न० कृतयुग्मश्चासौ कृतयुग्मश्च महायुग्मराशिभेदे, यो राशिश्चतुष्कापहारेणापह्रियमाणश्चतु पर्यवसितो भवत्यपहारसमया अपि चतुष्कापहारेण चतु पर्यवसिता एवासौ राशिः कृतयुग्मकृतयुग्म इत्यभिधीयते। अपह्रियमाणद्रव्यापेक्षया तत्समयापेक्षया चेति द्विधा कृतयुग्मत्वात् भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मकलिओय-कृतयुग्मकल्योज-पुं० क० स० महायुग्मराशिभेदे, यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्केणापह्रियमाण एकपर्यवसानो भवति तत्समयाश्चतु पर्यवसिता एवासावपह्रियमाणापेक्षया कलिः। अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मकल्योज। यथा जघन्यतः सप्तदश तत्र हि चतुष्कापहारेणैकोऽवशिष्यते तत्समयाश्चत्वार एवेति भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मतेओग-कृतयुग्मत्र्योज-पुं० क० स०। महायुग्मराशिभेदे, यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाणस्त्रिपर्यवसानो भवति तत्समयाश्चतु पर्यवसिता एवासौ अपह्रियमाणापेक्षया त्र्योजः। अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मत्र्योज इत्युच्यते। यथा जघन्यत एकोनविंशतिस्तत्र हि चतुष्कापहारेण त्रयोऽवशिष्यन्ते तत्समयाश्चत्वार एवेति भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मदावरजुम्म-कृतयुग्मद्वापरयुग्म-पुं० क० स०। महायुग्मराशिभेदे, यो हि राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाणो द्विपर्यवसानो भवति तत्समयाश्चतु पर्यवसिता एवेति। असौ अपह्रियमाणापेक्षया द्वापरयुग्मः। अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मद्वापरयुग्मः। यथा जघन्यतोऽष्टादश तत्र हि चतुष्कापहारेण द्वाववशिष्येते तत्समयाश्चत्वार एवेति। भ० ३४ श० १ उ०।

कडजुम्मपएसोगाढ-कृतयुग्मप्रदेशावगाढ-त्रि० विंशतिप्रदेशावगाढे, विंशतेश्चतुष्कापहारे चतु पर्यवसितत्वात्। "परिमंडले ण भंते! संठाणे किं कडजुम्मपएसोगाढे" भ० २५ श० ३ उ०।

कड[य]जोग-कृतयोग-पुं० कृतसाधुव्यापारे, पं० व० १ द्वा०। "तवे य कयजोगो" तपसि कृतयोगो नाम कर्कशतपोभिरनेकधा भावितात्मा व्य० १ उ०।

कडजोगि (ण्)-कृतयोगिन्-त्रि० सूत्रोपदेशेन मोक्षाविरोधीकृतो न्यस्तो योगो मनोवाक्कायव्यापारात्मकः स कृतयोग स येषामस्ति ते कृतयोगिनः। आगमसमन्तमोक्षौपयिकयोगयुक्तेषु, व्य० ३ उ०॥ चतुर्थादितपसि कृतयोगे, "कडजोगी णाम चउत्थादितवे कतजोगो" नि० चू० १ उ०। गीतार्थे, कृतयोगी गीतार्थ स कर्त्तैव योगीति च भण्यते। बृ० १ उ०। कृतक्रिये, "जोगो किरिया सा कया जेण सो कडजोगी भण्णति" नि०। चू० १ उ०। अतः कृतयोगी नाम यो गृहवासे कर्त्तन कृतवान् बृ० १ उ०।

कडण-कटन-न० कटादिभिः कुड्यकरणे, ग० १ अधि०।

कडणा-कटना-स्त्री० तट्टिकारूपे गृहावयवे, "अगारेडिजयाइ कुडुज्झियाइ कडणाज्झियाइ" भ० ८ श० ६ उ०।

कडतड-कटतट-न० कटकैकदेशे ज्ञा० १ अ०। गण्डतटे, ज्ञा० १ अ०।

कडपूयणा-कटपूतना-स्त्री० स्वनामख्यातायां व्यन्तर्य्याम् यया शालिसीसवहुशाब्दकग्रामे शालवने प्रतिमास्थितस्य श्रीवीरजिनस्य विघ्न कृतम्। आ० म० द्वि०। आ० चू०।

कममूढ–कृतमूढ–पुं० करण कृत तेन मूढः । किङ्कर्तव्यताव्याकुले, आचा० १ श्रु० ४ अ० ।

कमय–कटक–न० कलाचिकाभरणे, आ० म० प्र०। वलये, स्था० ३ ठा० ५ उ० । अनीके, पर्वतनटे, पर्वतदेशे, ज्ञा०१अ० ।

कमयंतरिय–कटकान्तरित– त्रि० कटान्तर्वर्तिप्रच्छन्नरक्षिते, "अन्नो कडयतरिओ अन्नो पडयतरे ठविओ" त० ।

कडयणिवेस–कटकनिवेश–पु० स्कन्धावारे. स्था० १ ठा० ।

कमयपल्लल–कटकपल्वल–न० पर्वततटव्यवस्थितजलाशयविशेषे ज्ञा० १ अ० ।

कडयमद्द–कटकमर्द–पु० सैन्यसंमर्दे, तेन कटकमर्देन मारणार्थं चाज्ञप्ता. अव्यक्तवादिनिह्नवाः विशे० । स्था० ॥

कडवाइ (ण्)-कृतवादिन्–पु० केनचित् ईश्वरेण प्रधानादिना वा कृतोऽय लोक इत्येवमभ्युपगमग्राहिले वादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तेषां मतोपदर्शनायाह ।

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते त्ति आवरे ॥ ५ ॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥ ६ ॥

इदमिति वक्ष्यमाण तुशब्द. पूर्वेभ्यो विशेषणार्थ । अज्ञानमिति मोहविजृम्भणमिहास्मिन् लोके एकेषां न सर्वेषामाख्यातमित्यभिप्राय । किं पुनस्तदाख्यातमिति तदाह । देवेनोप्तो देवोप्त कर्षकेणेव बीजवपन कृत्वा निष्पादितोऽय लोक इत्यर्थ । देवैर्वा गुप्तो रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्यादिकमज्ञानमिति । तथा ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तोऽय लोक इत्यर्थ । परे एवं व्यवस्थिता । तथा हि तेषामयमभ्युपगम । ब्रह्मा जगतिपतामहः स चैक एव जगदवासीत्तेन च प्रजापतय सृष्टास्तैश्च क्रमेणैतत्सकल जगदिति । तथेश्वरेण कृतोऽय लोक. । एवमेके ईश्वरकारका अभिदधति प्रमाणयन्ति वा सर्वमिद विमत्यधिकरणभावोपपन्न न तु भुवनकरणादिक धर्मित्वेनोपादीयते। बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्म. सस्थानविशेषवत्त्वादिति हेतु । यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽय यद्यत्सस्थानविशेषवत्तत्तद्बुद्धिमत्करणपूर्वक दृष्टम । यथा देवकुलकूपादि सस्थानविशेषवच्च मकराकरनदीधराधरशरीरकरणादिक विवादगोचरापन्नमिति । तस्माद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकं यश्च समस्तस्यास्य जगत कर्ता स सामान्यपुरुषो न भवतीत्यसावीश्वर इति । तथा सर्वमिद तनुभुवनकरणादिक धर्मित्वेनोपादीयते। बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति। साध्यो धर्म कार्यत्वाद् घटादिवत् तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वास्यादिवदिति । तथाऽपरे प्रतिपन्ना यथा प्रधानादिकृतो लोक । सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति । सा च पुरुषार्थं प्रवर्तते। आदिग्रहणाच्च प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माच्च गण षोडशकस्तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्य पञ्च महाभूतानीत्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति । यदि वा आदिग्रहणात्स्वभावादिक गृह्यते । ततश्चायमर्थ । स्वभावेन कृतो लोक कण्टकादितैक्ष्ण्यवत् । तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको मयूराङ्गरुहादित्यादिना कारणैः कृतोऽय लोको जीवाजीवसमायुक्तो जीवैरुपयोगलक्षणैस्तथा अजीवैर्धर्माधर्माकाशपुद्गलादिकै समन्वित समुद्भ्रममणादिक इति। पुनरपि लोकं विशेषयितुमाह । सुखमानन्दरूप दु खमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समन्वितो युक्त इति ।

॥ किञ्च ॥

सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥ ७ ॥

(सयभुणा इत्यादि) स्वय भवतीति स्वयम्भूर्विष्णुरन्यो वा स चैक एवादावभूत्तत्रैकाकी रमते द्वितीयमिष्टवांस्तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूदित्येव महर्षिणोक्तमभिहितम् । एव वादिनो लोकस्य कर्त्तारमभ्युपगतवन्तोऽपि च तेन स्वयम्भुवा लोक संपाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारोऽभ्यधायि । तेन मारेण संस्तुता कृता प्रसाधिता माया तया च मायया लोका म्रियन्ते न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्त्यतो मायैषा । यथाऽय मृतस्तथा चाय लोकोऽशाश्वतोऽनित्योऽविनाशीति गम्यते ॥ ७ ॥
(अएमकृत्वादिमत स्वस्थाने वक्ष्यम्)

अधुना एतेषां देवोप्तादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाह ।

सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेतिया ।
तत्तं तेण वि जाणंति, ण विणासी कयाइवी ॥ ८ ॥

स्वकै स्वकीयै पर्यायैरभिप्रायैर्युक्तिविशेषैरय लोकः कृत इत्येवमब्रुवन्नभिहितवन्तः । देवोप्तो ब्रह्मोप्त ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादित स्वयम्भुवा व्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते। तथाऽण्डजश्चायं लोक इत्यपि स्वकीयाभिरुपपत्तिभि. प्रतिपादयन्ति । यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति। ते चैवंवादिनो वादिन सर्वेऽपि तत्त्व परमार्थं यथाऽवस्थितलोकस्वभाव नाभिजानन्ति न सम्यक् विवेचयन्ति । यथाऽय लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति निर्मूलतः कदाचन न चायमादित आरभ्य केनचित् क्रियते अपि त्वयं लोकोऽभूद्भवति भविष्यति । तथा हि यत्तावदुक्त यथा देवोप्तोऽय लोक इति तदसङ्गत यतो देवोप्तत्वे लोकस्य न किंचित्तथाविध प्रमाणमस्ति न चाप्रमाणकमुच्यमान विद्वज्जनमनांसि प्रीणयति ॥ ईश्वरवादक्षणमन स्वस्थाने विस्तरत कृतम् यदपि चोक्त प्रधानादिकृतोऽयं लोक इति तदप्यसङ्गत यतस्तत्प्रधान किं मूर्तममूर्तं वा यद्यमूर्तं न ततो मकराकरादेर्मूर्तस्योद्भवो घटते । न ह्याकाशात्किंचिदुत्पद्यमानमालक्ष्यते मूर्तामूर्तयोः कारणविरोधादिति । अथ मूर्तं तत्कुत समुत्पन्न न तावत्स्वतो लोकस्यापि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात् नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति । अन्यथाऽनुत्पन्नमेव प्रधानाद्यनादिभावेनास्ते तद्वल्लोकोऽपि किं नेष्यते । अपि च । सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते न चाविकृतात्प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः । न च विकृतं प्रधानव्यपदेशमास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति । अपि चाचेतनाया. प्रकृते. कथ पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिर्येनात्मनो भोगोपपत्त्या सृष्टि स्यादिति । प्रकृतेरय स्वभाव इति चेदेव तर्हि स्वभाव एव बलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति तत एव च लोकोऽप्यस्तु किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति । अथादिग्रहणात्स्वभावस्यापि कारणत्व कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु । स हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानो न कृतिमाननोति । तथा हि स्वभावः स्वकीयोत्पत्ति सा च पदार्थानामिष्यत एवेति । तथा यदुक्तं नियतिकृतोऽयं लोक इति तत्रापि नियमन नियतिर्यथाभवनं नियतिरित्युच्यते सा चालोच्यमाना न स्व-

भावादतिरिच्यते । यच्चान्यधायि स्वयम्भुवोत्पादितो लोक इति तदप्यसुन्दरमेव । यत स्वयम्भूरिति किमुक्तं भवति । किं यदाऽसौ भवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव भवति । अथादिभवनात्स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते । तद्यदि स्वतन्त्रभवनमभ्युपगमस्तद्वल्लोकस्यापि भवनं किं नाभ्युपेयते किं स्वयम्भुवा । अथानादिस्ततस्तस्यानादित्वे नित्यत्व नित्यस्य चैकरूपत्वात्कर्तृत्वाऽनुपपत्तिस्तथा वीतरागत्वात्तस्य ससारवैचित्र्यानुपपत्तिः । अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां विश्वस्याकर्ता मूर्तामूर्तादिविकल्पाश्च प्राग्वदायोज्या इति । यदपि चात्राभिहितम् । तेन मार सभुत्पादित स च लोक व्यापादयति तदप्यकर्तृत्वस्याभिहितत्वात्प्रलापमात्रमिति ।

इदानीमेतेषां देवोप्तादिवादिनामज्ञानत्वं प्रसाध्य तत्फलं दिदर्शयिषुराह ।

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया ॥

समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ॥ १० ॥

मनोऽनुकूलं मनोज्ञं शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञममनोज्ञमसदनुष्ठानं तस्मादुत्पाद प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम् । एवकारोऽवधारणे । स चैव संबन्धनीय । अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं विजानीयादवगच्छेत्प्राज्ञ । एतदुक्तं भवति । स्वकृतादसदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादित्येव व्यवस्थितेऽपि सत्यनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठानोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानाना सन्तोऽन्यत ईश्वरादेर्दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति । तच्चैवमिच्छन्तः कथं केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं दुःखप्रतिघातहेतुं ज्ञास्यन्ति । निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवति । ते च निदानमेव न जानन्ति तत्वमजानाना कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते यत्नवन्तोऽपि च नैव दुःखोच्छेदनमवाप्स्यन्त्यपि तु संसार एव जन्मजरामरणेष्टवियोगाद्यनेकदुःखव्राताघाताद्भूयो भूयोऽरहट्टघटीन्यायेनानन्तमपि कालं संस्थास्यन्ते ॥ १० ॥

सांप्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह ।

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं ।

पुणो किड्डापदेसेणं, सो तत्थ अवरज्झइ ॥ ११ ॥

इहास्मिन् कृतवादिप्रस्तावे त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगतत्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि ते एव वदन्ति । यथाऽयमात्मा शुद्धो मनुष्यभव एव शुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षेऽपापको भवति । अपगताशेषकर्मा भवतीत्यर्थः । इदमेकेषां गोशालकमतानुसारिणामाख्यातम् । पुनरसावात्माऽशुद्धत्वाऽकर्मकत्वराशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेण वा स तत्र मोक्षस्थ एवाऽपराध्यति रजसाऽऽश्लिष्यते । इदमुक्तं भवति । तस्य हि स्वशासनपूजामुपलभ्यान्यशासनपराभवं चोपलभ्य क्रीडोत्पद्यते प्रमोद संजायते स्वशासनन्यक्कारदर्शनाच्च द्वेषस्ततोऽसौ क्रीडाद्वेषाभ्यामनुगतान्तरात्मा शनैर्निर्मलपटवदुपभुज्यमानो रजसा मलिनीक्रियते मलीमसश्च कर्मगौरवाद्भूय ससारेऽवतरति । अस्यां चावस्थायां सकर्मकत्वात्तृतीयराश्यवस्थो भवति ॥

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए ।

वियडंबु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥ १२ ॥

(इहेत्यादि) इहास्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा यमनियमरतो जात सन् पश्चादपापो भवति । अपगताशेषकर्मकलङ्को भवतीति भावः । ततः स्वशासनं प्रख्याप्य मुक्त्यवस्थो भवति । पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात्कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुदकवन्नीरजस्कं सद्वातोद्धतरेणुनिवहसपृक्तं सरजस्कं मलिनं भूयो यथा भवति । तथाऽयमप्यात्माऽनन्तकालेन संसारोद्वेगाच्छुद्धाचारावस्थो भूत्वा ततो मोक्षासौ सत्यामकर्मावस्थो भवति । पुन शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात्सकर्मा भवतीत्येवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवत्यात्मेत्याख्यात । उक्तं च " दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठं । मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यमिति" ॥१२॥

अधुनैतद्दूषयितुमाह ।

एताणुचीति मेधावी, बंभचेरेण ते वसे ।

पुणो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

एतान् पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य मेधावी प्रज्ञावान् मर्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् । यथा नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोकवादिनश्च ब्रह्मचर्ये तदुपलक्षिते वा संयमानुष्ठाने वसेयुरवतिष्ठेरन्निति । तथा हि तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात्कर्मबन्धो भवत्येव चावश्य तद्दर्शनस्य पूजायास्तिरस्कारेण चोभयेन वा भाव्य तत्सम्भवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्ध्यभावः शुद्ध्यभावाच्च मोक्षाभावः । न च मुक्तानामशेषकर्मकलङ्कानां कृतकृत्यानामपगताशेषयथावस्थितवस्तुतत्त्वानां समस्तुतिनिन्दानामपगतात्माऽऽत्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गस्तद्भावाच्च कुत पुन कर्मबन्धस्तत्साच्च संसारावतरणमित्यर्थ । अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्ये व्यवस्थितास्तथाऽपि सम्यक् ज्ञानाभावान्न सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम् । अपि च सर्वेऽप्येते प्रावादुका स्वकं स्वकमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्यातार शोभनत्वेन प्रख्यापयितार इति । न च तत्र विदितवेद्येनास्था विधेयेति ॥ १३ ॥

पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह ।

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा ।

अहो इहेव वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

(सए सए इत्यादि) ते कृतवादिन शैवैकदण्डिप्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्तेऽस्मिन्नित्युपस्थानं स्वीयमनुष्ठानं दीक्षा गुरुचरणशुश्रूषादिका तस्मिन्नेव सिद्धिमशेषसांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावमभिहितवन्तो नान्यथा नान्येन प्रकारेण सिद्धिरवाप्यत इति । तथा हि शैवा दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः एकदण्डिका पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्तस्तथान्येऽपि वेदान्तिका ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात्सिद्धिमुक्तवन्त इत्येवमन्येऽपि यथा स्वदर्शनान्मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति । अशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणाया सिद्धिप्राप्तेरधस्तात्प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवतीति तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावादष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति । आत्मवशं वर्तितुं शीलमस्येति आत्मवशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तं भवति तथाऽसौ सांसारिकै स्वभावैर्नाभिभूयते । सर्वे कामा अभिलाषा अर्पिताः सम्पन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो यान् यान् कामान् कामयते ते तेऽस्य सर्वे सिध्यन्तीति यावत् । तथा हि । सिद्धे-

रादष्टगुणैश्वर्यसिद्धिर्भवति। तद्यथा। अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं प्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वमिति॥१४॥तदेवमिहैवास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैश्वर्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्र चाऽशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणा भवतीति दर्शयितुमाह॥

सिद्धा य ते अरोगा य, इह मेगेसिमाहियं।
सिद्धिमेव पुरो काउं, सासए गढिआ नरा॥ १५॥

(सिद्धा य ते इत्यादि) ये ह्यस्मदुक्तमनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्वर्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्टसमाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वा सिद्धाश्चाशेषद्वन्द्वरहिता अरोगा भवन्ति। अरोगग्रहणं चोपलक्षणम् अनेकशारीरमानसद्वन्द्वैर्न स्पृशन्ति शरीरमनसोरभावादित्येवमिहास्मिँल्लोके सिद्धिविचारे वा एकेषां शैवादीनामिदमाख्यातं भाषितम्। ते च शैवादयःसिद्धिमेव पुरस्कृत्य मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिताः सवद्धा अभ्युपपन्नास्तदनुकूला युक्तीः प्रतिपादयन्ति। नरा इव नराः प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्त्येवं तेऽपि परिकर्तमन्या. परमार्थमजानानाः स्वग्रहप्रसाधिकां युक्तिमुद्धोषयन्तीति। तथा चोक्तम्।"आग्रही वत निनीषति युक्तिं,तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य युक्ति-र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥ १५॥ सांप्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणाधित्सयाह॥

असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो पुणो॥
कप्पकालमुववज्जंति,ठाणा आसुरकिव्विसिया त्तिबेमि।१६।

(असंवुडा इत्यादि) ते हि पाखण्डिका मोक्षाभिसन्धिना समुत्थिता अपि असंवृता इन्द्रियनोइन्द्रियैरसंयता इहाप्यसाकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगादमुत्र मुक्त्यवाप्तेः। तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽनादिसंसारकान्तारं भ्रमिष्यन्ति पर्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपात्तकर्मपाशाः पाशावशापिताः पौनःपुन्येन नारकादियातनास्थानेषूत्पद्यन्ते। तथा हि नेन्द्रियैरनियमितैरशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते। याप्यणिमाद्यष्टगुणलक्षणैहिकी सिद्धिरभिधीयते सापि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति। यापि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साप्येवं प्रायो भवतीति दर्शयति। कल्पकालं प्रभूतकालमुत्पद्यन्ते सम्भवन्ति। असुरा असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयस्तत्रापि न प्रधानाः किं तर्हि किल्विषिका अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायु:सामर्थ्यादियुताश्च भवन्तीति सूत्र०१ श्रु०१ अ०४ उ०।

कडसलागा-कटशलाका-स्त्री० कटमयशलाकायाम्, "कन्नेसु वरूमाणस्स, तेण वूढा कडसलागा" आ०चू०१ अ०। आ० म० द्वि०। वंशशलाकायाम्, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कडहू-कडहू-पुं० वृक्षविशेषे, "कडहूवागादीहिं" सू० १ उ०।

कडाइ-कृतादि-पुं० कृतयोगिनि, "पडिसेवित्ति कडाई होइ समत्थो पसत्थेसु कडाई नामकृतयोगी तिक्खुत्तो कओ जोगो अद्धाभे पणगहाणी तो गेण्हति" नि० चू० १ उ०। परिकर्मितेषु, कल्प०।

कडाह-कटाह-पुं० कटमाहन्ति कट-आ हन् ड-पिठरविशेषे, पिं०। लोहमयभाजनविशेषे, उपा०२ अ०। आयमानवृक्षभ्रममहिषशिशौ, मेदि०। नरकभेदे, हारा०। खर्परे, शब्द०। सूर्ये, स्तूपे, कच्छे च इति केचित् वाच०। षट्पांशुलिकात्मके देहावयवे, "छप्पंसुलिए कडाहे" पृष्ठिवंशे शेषपट्टसन्धिरूप्य. षट्पांशुलिका निर्गत्य पार्श्वद्वयमावृत्य हृदयस्योपरि यतो वक्ष पञ्जराद्धस्ताच्छिथिलकुक्षेस्तूपरिष्टात्परस्परासम्मिलितास्तिष्ठन्त्ययञ्च-कटाह इत्युच्यते प्रश्न० १ पद।

कडि (डी)-कटि (टी)-स्त्री० कट-इन्-वा ङीप्। शरीरस्य मध्यभागे, कटिरिव कटिः वृक्षादेर्मध्यभागे च। "घणकडितडच्छायं" जं०१वक्ष०। रा०। "अभिलाणचामरदंडपरिमंडियकडीणं" औ०। ओणी, त०। जीवन्त. पिप्पल्याम्, स्त्री० मेदि०। वाच०।

कडिअ-कटित-त्रि० कट. संजातोऽस्येति कटितः। कटान्तरेणोपर्यावृते, जं० १ वक्ष०। काष्ठादिभि. कुड्यादौ संस्कृते, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०।

कडिअकड-कटितकट-पुं० क० स० कटान्तरेणोपर्यावृते कटे, "घणकडिअकडच्छायं" जं० १ वक्ष०।

कडितड-कटितट-न० कटिस्तटमिव कटितटम्। मध्यभागे, रा०। जं०।

कडितडजायण-कटितटयातन-न० श्रोणिभागपीडने, तं०।

कडिबंधण-कटिबन्धन-न० कटिप्रदेशे वस्त्रादिना बन्धनरूपे बन्धभेदे, "सामाइअपुव्वमिच्छा-मि ठाओ काउस्सग्गमिच्चाइं। सुत्तं भणियपलंबिअ, भुअकुप्परधरिअपरिहणओ"।१। इति बृहत्प्रतिक्रमणहेमगर्भगाथामाश्रित्य केचन मतिन. प्रश्नयन्ति। यत् श्रीमन्तः कटिदवरकबन्धनं कुर्वन्ति तत्कुत्र शास्त्रे प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने आवश्यकवृत्तिधर्मरत्नप्रकरणवृत्त्यादौ श्रीआर्यरक्षितसूरिभिः स्वपितुः कटिदवरको बन्धित इति प्रोक्तमस्ति तेन तदाचरणया सांप्रतमपि बध्यत इति वृद्धवादः इत्येनप्र० ३उ० २३६ प्र०।

कडिपट्टय-कटिपट्टक-पुं० धौतिकवस्त्रे, "मा वदह भंते वदिहिंति ममं न मुयइ कडिपट्टय" आ० म० द्वि०। "कडिपट्टए य छिहली" कटीपट्टकं स परिधाय छिहली शिखा तस्य कर्तव्या वृ० ४ उ०।

कडिपत्त-कटिपत्र-न० कटी एव पत्रं प्रतलत्वेनावयवद्वयरूपतया च सर्वादिवृक्षदलम्। कटिपत्रम्। कृशकटीभागे, "धन्नस्स कडिपट्टस्स इमेयारूवे वण्णा" अणु० ३ वर्ग०।

कडिबंधण-कटिबन्धन-न० चोलपट्टके, "से कप्पइ कडिबन्धणं धारित्तए" कटिबन्धनं चोलपट्टकम् कर्तुमयं स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको दैर्घ्येण कटीप्रमाण इति आचा०१ श्रु०८ अ०७उ०।

कडिभिल्ल-कटिभिल्ल-न० शरीरैकदेशभाविनि कुष्ठभेदे, वृ० ३उ०।

कडिल्ल-कटिल्ल-पुं० कट् वा इल्ल-। कारवेल्ले, तत स्वार्थे कन्. तत्रैव अमरः। वाच०। महागहने, व्य० २ उ०। उपकरणभेदे, नानाविधोपकरणं ताम्रकलशकटिल्लादिजातितः दृष्टा० ६ अ०। विशे०। उद्गमोत्पादनारूपे, ज्ञानादिरूपे, वृ० ४ उ०।

कडिल्लदेस-कटिल्लदेश-पुं० महागहनप्रदेशे, व्य० २ उ०।

कडिसुत्त-कटिसूत्र-न० कट्याभरणे, "कडिसुत्तसुकयसोहे" कटिसूत्रेण कट्याभरणेन सुष्ठु कृता शोभा यस्य स तथा। जं० ३ वक्ष०। तं०। ज्ञा०। औ०। कटिधार्ये कार्पासरचिते धातुमये वा सूत्रे, वाच०॥

कडु-कटु-न० पुं० कटति सदाचारमावृणोति रसनामावृणोति वर्त्तते आवयति आसादितो जलम् कट-उन्। अकार्ये, अमत्सर। दूषणे, विश्व०। वाच०। गवामयादिप्रशमने मरिचमागर। वात्याश्रिते रसविशेषे, यद्वादि "कटुर्गलामय शोफं, हन्ति युक्त्योपसेवित। दीपनः पाचको रुच्यो, बृंहणोऽतिकफापहः॥

कर्म० । जं० । म० । तद्वति, भ्रमरे । स्त्रियां वा ङीप् । परुषे मत्सरिणि, सुगन्धौ च । त्रि० । मेदि० । अप्रिये, त्रिका० । दुर्गन्धौ, शब्दमा० । वाच० ।

कमुअ-कृत्वा-अव्य० शेषं शौरसेनीवत् ३०१ इत्यधिकृत्य "कृगमोडडुअः । इति शौरसेन्यां डडुअ आदेशः । विधायेत्यर्थे, प्रा० ।

कमुइया-कटुकी-स्त्री० कटु-स्वार्थे कन् गौरा० ङीप् । स्वार्थिकः कः । वल्लीविशेषे, "कंगूलया कडुइया" प्रज्ञा०१ पद ।

कमुएल्ल-कटुतैल्ल-न०कटु-स्नेहे, तैले च "अनङ्कोठातैलस्य डेल्लः" ८ । २ । १५५ इति तैलस्य डेल्ल इत्यादेशः "कडुएल्लं" सार्षपतैले, "सुरहिजलेण कडुएल्ल" प्रा० ।

कडुग [य]-कटुक-पुं० कटु स्वार्थे कन् वैशद्यच्छेदनकृति-रसविशेषे, " एगे कडुए " स्था० १ ठा० । यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकां च स्रावयति स कटुकः सुश्रु० । तद्वति, वाच० । मरिचादौ, जं० ३ वक्ष० । शुण्ठमरिचसदृशे कटुकरसपरिणते द्रव्ये, उत्त० ३६ अ० । प्रज्ञा० । आर्द्रकतीमनादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । ज्ञा० । सू० । तं० । कटुकद्रव्य इवानिष्टे, " असुभकडुयफरुसचंडफलविवागो " प्रश्न०२ सं०द्वा०५ अ० । दारुणे, असुन्दरे, प्रश्न०१ अध०द्वा०१ अ०।अनिष्टार्थे, प्रश्न०२ स० द्वा०२ अ० । चित्तोद्वेगकारिण्याम् भाषायाम्, आचा० २ श्रु०४ अ०१ उ० । तादृश्यां वेदनायां च । या हि पित्तप्रकोपपरिकलितस्य रोहिण्यादिकटुद्रव्यमिवोपभुज्यमानमतिशयेनाप्रीतिजनिकेति भावः । स्त्री० । रा० । पटोले, पुं० राजनि० । सुगन्धितृणे, शब्दर० । कुटजवृक्षे, अर्कवृक्षे राजसर्षपे च पुं० हारा० । शुण्ठीपिप्पलीमरिचरूपे, त्रिकटुके, न० मेदि० । वाच० । दण्डपरिच्छेदकारिणि, पु० " से सावसयस्स गोठियस्स दंडपरिच्छेयकारी कडुगो भण्णइ " नि० चू० ५ उ० ।

कडुग(य)तुंबी-कटुकतुम्बी-स्त्री० कडई तुँबी इति प्रसिद्धायां कटुरसपरिणतायां तुम्ब्याम्, प्रज्ञा० १७ पद० ।

कडुगदुक्ख-कटुकदुःख-न०दारुणदुःखे, प्रश्न०१अध०द्वा०१अ० ।

कडुग (य) फलदंसग-कटुकफलादर्शक-त्रि० असुन्दरफलादर्शके, प्रश्न० १ अध०द्वा०१ अ० ।

कडुग (य) फलविवाग-कटुकफलविपाक- त्रि० विपाकः पाकोऽपि स्यात्तो विशिष्यते फलरूपो विपाकः । कटुकः फलविपाको येषान्ते तथा विपाकावस्थायां कटुकेषु कामभोगेषु, भ० ६ श० ३३ उ० ।

कडुगोसहाइजोग—कटुकौषधादियोग—पु० नागराद्यौषधसम्बन्धे, आदिशब्दात्तारशिरावेधादिग्रहः । पञ्चा० ६ विव० ।

कडुच्छुय—कटुच्छुक— न० परिवेषणाद्यर्थे भाजनविशेषे, भ० ५ श० ७ उ० ।

कडुणाम—कटुनामन्—न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं मरिचादिवत् कटु भवति तत्कटुनाम कर्म० ।

कडेयराइगय—कृतेतरादिगत—त्रि० कृताकृतादिविषये, इदं मयाकृतमितरदकृतमादिशब्दादिदं मयोच्चरितमिदमनुच्चरितमेतत्कृत एतदगत एतद्विषयः न हि मनोविभ्रमे कृतेतरादिसंस्कारो भवति । षो० १४ विव० ।

कडेवर-कलेवर-न० मनुष्यशरीरे, रा० । " ताहे पुव्वाणि णियगे कडेवरे पण्णोमिय ते सव्वे पमिया " आ० म० प्र० ।

कडेवरचिय-कलेवरचित-पुं० कलेवरतया चिते पुद्गले, भ० १-श० ७ उ० ।

कडेवरसंघाड-कलेवरसंघाट-पुं० मनुष्यशरीरयुग्मे, रा० ।

कड्ढ-कृष्-धा० विलेखने, आकर्षणे च । भ्वा०पर० सक-अनिट् । कृषेः कड्ढसाअड्ढाञ्चाणञ्चायञ्छाअपेञ्छादञ्छा ८ । ४ । १८६ । इति कड्ढादेशः । "कड्ढइ करिसइ" प्रा० ॥

कड्ढिऊण-कृष्ट्वा-अव्य० आकृष्य पठित्वेत्यर्थे, । पं० व० ।

कड्ढिज्जमाण-कृष्यमाण-त्रि० आकृष्यमाणे, " कड्ढिज्जमाणणिरयतलं " आकृष्यमाणनरक एवं तत्र पातालम् प्रश्न० १ अध० द्वा० ३ अ० ।

कड्ढिय-कृष्ट-त्रि० आकर्षिते, "उक्कड्ढिय" प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ० । कर्षिते, उच्चारिते, " सुत्तम्मि कड्ढियम्मि " व्य० ५ उ० ।

कड्ढेत्तु-कर्षित्वा-कृष्ट्वा-अव्य० पठित्वेत्यर्थे, "कड्ढेत्तु नमोक्कारं" पठित्वा नमस्कारम् प० व० ।

कड्ढोकड्ढ-कृष्टापकृष्ट-न० कर्षापकर्षणे, उत्त० १९ अ० ।

कढ-कथ्-धा० वाक्प्रबन्धे, कथवर्धांढ ८ । ४ । ११९ । इत्यन्त्यस्य ढ कढइ, कथयति प्रा० ।

क्वथ-धा० निष्पाके, भ्वा० पर० सक० सेट् क्वथेरट्ट ८ । ४ । ११९ । इति । अट्टदेशाभावे कढइ क्वथति क्वाथं पचतीत्यर्थः । प्रा० ।

कढिण-कठिन-त्रि० कठ-इनन् क्रूरे, निष्ठुरे, कठोरे, स्तब्धे च मेदि० । स्थाल्याम्, स्त्री० हारा० न० । गुडस्य शर्करायाम्, विश्व । वाच० । कर्कशोदये कर्मणि, औ० । " कढिणकम्मपत्थरतरंगरंगत " कठिनानि कर्कशानि दुर्भेद्यानीत्यर्थः । कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि क्रिया वा ये प्रस्तराः पाषाणास्तैः कृत्वा तरङ्गरङ्ग वीचिभिर्भ्रमन् प्रश्न०१ अध०द्वा०३ अ० । तस्य भावः त्व-कठिनत्वम् । कठिनत्वे, न० तल् कठिनता तद्भावे, स्त्री० ष्यञ् काठिन्य तद्भावे, न० काठिन्यञ्च द्रव्यस्य आरम्भसंयोगविशेषात् स्पर्शविशेष शब्दादेस्तु दुर्बोधत्वम् । स्वनामख्याते महर्षौ, पु० " कोसंबीपुरीए उप्पासो जियसत्तुनिवसचिवकासपुत्तो जसा कुच्छिसंभूओ कढिणो महरिसी " ती० । वंशकटादौ, न० आचा० २ श्रु० २ अ ३ उ० । शरस्तम्बे, सू० १ उ० ।

कढिणग-कठिनक-न० जलाशयजे तृणविशेषे, पर्णे, प्रश्न० २ स० द्वा० ६ अ० ।

कढिणहियय-कठिनहृदय-पु० स्त्री० । धृतवल्लिष्टे, व्य० ५ उ० ।

कण-कण-पु० कण- निमीलने अच् । शाल्यादेः कणिकायाम् , आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । तण्डुले , उत्त० १० अ० । म्लेच्छभेदे, साधारणशरीरबादरवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । सप्तमे महाग्रहे च पु० "दो कणा" स्था०२ ठा० । च०प्र० । कल्प० ।

कणइकेउ-कनकिकेतु-पु० तेतलिपुराधीश्वरे , " जम्बूदीवे दीवे भारहे वासे तेयलिपुर नाम णयर कणइ केऊणाम राया" दर्श० ।

कणइपुर-कनकिपुर न०जनकमहाराजभ्रातुः कनकस्य निवासस्थाने, " जणयमहारायस्स भाउणो कणयस्स निवासट्ठाण कणइ पुर वट्टइ" ती० ।

कणइर-कणाविल-त्रि० । कणाकीर्णे, " कणइरअकुडिलवुग्गयजुत्तगणास " जी० ३ प्रति० ।

कणंगर-कनङ्गर-पु० जलगते वोहित्थनिश्चलीकरणपाषाणे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

कणकणग--कणकणक--पुं० अष्टाशीतिमहाग्रहाणां नवमे महाग्रहे, "दो कणकणगा" स्था० २ ठा० । कल्प० । चं० प्र०।

कणकणारव--कणकणारव--पुं० कणकणेति शब्दे, आ० म० प्र०।

कणकुंमग--कणकुण्डक--न० पुं० कणास्तण्डुलास्तेषां सम्मिश्रो वा कुण्डकः तत्खोदेनोत्पन्नः कुक्कुसः कणकुण्डकः उत्त०१अ०। कणिकाभिर्मिश्रे कुक्कुसे, तण्डुलद्वये, तण्डुलद्वयभृतभाजने, न० "कणकुण्डगवइत्ताण विट्ठं भुंजइ सूयरो" उत्त० १२ अ० ।

कणग--कणक--पुं० बिन्दौ, शलाकायाम्, औ० । बाणविशेषे, प्रश्न०१ अध०द्वा०१अ०। "सत्तिकणगवामकरगहिय" प्रश्न०१ अध० द्वा० २ अ० । जं० । अष्टमे महाग्रहे, "दो कणगा" स्था० २ठा० । कल्प० । चं०प्र०। "कणगपयरलंबमाणमुज्जासमुज्जल" कल्प० ।

कणग--कनक--न० कनी दीप्तौ । वुनादि वुन् । णो ण. ८ । १ । २२८ । स्वरात्परस्यासयुक्तस्यानादेर्नस्य णो भवतीति नस्य णः । प्रा० । देवकाञ्चने, आ०म०द्वि० । पीतसुवर्णे, भ०९ श० ३३ उ० । औ०। सुवर्णमात्रे, चं० प्र०१ पाहु० । नि० । औ०। ध०। सू० प्र०। कनक घटिताघटितप्रकाराभ्यां द्विविधम् । कल्प० । धृतवरद्वीपाधिपतौ, पु० सू० प्र० १९ पाहु० । द्वा० । निपतति । रेखारहिते ज्योति पिण्डके, औ० । पलाशवृक्षे, नागकेशरे, धत्तूरे, काञ्चनालवृक्षे, कालीयवृक्षे चम्पकवृक्षे च । पुं० मेदि० । कासमर्दवृक्षे च पुं० राजनि० । लाक्षातरौ, शब्दमा० । पाश्चात्यम्लेच्छभेदे, कनकस्येदं परिमाणम् अण् कानकम् । तत्परिमाणे निष्कादौ, त्रि० वाच० । कनकरसच्छुरिते वस्त्रे, आचा० । २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कणगकंत--कनककान्त--न० कनकस्येव कान्तं कान्तिर्येषां तानि कनककान्तानि । स्वर्णप्रभेषु वस्त्रेषु, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । समुद्रविशेषाधिपतौ च द्वी० ।

कणककुसल--कनककुशल--पुं० तपागच्छीयश्रीहीरविजयसूरिशिष्ये, अनेन सं० १६५२ वर्षे [वरनगरे] भक्तामरस्तोत्रस्य टीकारचिता - जै० इतिहा० द्विपञ्चाशदधिकषोडशशततमे ।

कणगकूड--कनककूट--न० महाविदेहवर्षस्थविद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्य पद्मकूटनाम्नश्चतुर्थकूटस्य दक्षिणपश्चिमायां षष्ठस्य सौवस्तिककूटस्योत्तरतः पञ्चमे कूटे, यत्र वारिषेणादिक्कुमारीदेवता जं० ४ वक्ष० । स्था० । कनकं कनकमयं कूटं महत् शिखरं यस्य तत्तथा स्वर्णमयशिखरयुते, जी० ३ प्रति० । रा० ।

कणगकेउ--कनककेतु--पुं० अहिच्छत्राया स्वनामख्याते नृपतौ, "अहिच्छत्ताए णयरीए कणगकेऊ नाम राया होत्था" ज्ञा०१४अ०

कणगखइय--कनकखचित--त्रि० सुवर्णमण्डिते, औ० । कनकरसस्तबकाञ्चिते वस्त्रादौ च-आचा० २ श्रु०५ अ०१ उ० । "कणकसुत्तेण फुल्लेण जस्स पाडिपात कणगखचितं" नि०चू०७ उ०।

कणगखल--कनकखल--न० पुं० स्वनामख्याते तापसाश्रमे, यत्र चण्डकौशिकप्रबोधाय श्रीवीरजिनो गतः । कल्प० । "ताहे सामी उत्तरवाचाल वच्चइ तत्थ अंतरा कणखलं नाम आसमपदं" आ० म० द्वि० । आ० चू० । "स्वाम्यपि श्वेतवीं गन्तुमूचे गोपैरसावृजुः । पन्था: किन्त्वत्र कनकखलाख्यस्तापसाश्रमः । सदृग्विषाहिना रुद्धोऽप्रचारः पक्षिणामपि ग०२ अधि० ।

कणगगिरि--कनकगिरि--पुं० मेरौ, कनकप्रचुरे पर्वतान्तरे च । "कणगगिरिसिहरसंसियाहिं" कनकगिरेर्मेरोरन्यस्य वा यच्छिखरं तत्संश्रितायास्तथा ताभिः, " जहा य कणयगिरियचूलिया सिया चत्तालीसं जोअणुच्चा कणगगिरिम्मि रमणिज्जे दीसत्ति " अं० १ चू० ॥

कणगघंटिया--कनकघण्टिका-- स्त्री० स्वर्णमयक्षुद्रघण्टिकायाम्, औ० ।

कणगघडिय--कनकघटित-- त्रि० स्वर्णनिर्मिते, " कणगघडियसुत्तगसुबद्धकच्छ " कनकघटितसूत्रकेण सुष्ठु बद्धाकक्षोरुबन्धन यस्य स तथा तम् प्र० ७ श० ८ उ० ॥

कणगजाल--कनकजाल-- न० कनकः पीतसुवर्णविशेषस्तन्मय जालं दामसमूहः रा० । सर्वात्मना हेममये लम्बमाने दामसमूहे, रा० ॥

कणगज्झय--कनकध्वज-- पुं० हस्तिनागपुरस्य स्वनामख्यातेऽधीश्वरे, येनाऽङ्गारमर्दकशिष्यजीवा दिव गत्वा च्युता वसन्तपुरेश्वरपुत्रा: स्वसुताः स्वयम्बरे आहूताः पञ्चा० ५ विव० । (विस्तरतः अंगारमद्दक शब्दे उक्तम्) तेतलिपुरनगराधिपतेः कनकरथस्य पद्मावतीनामभार्यया पुत्रत्वेन परिकल्पिते तेतलिसुतनामामात्यभार्यायाः पोट्टिलायाः कुक्षिसम्भूते पुत्रे, आ० चू० । १ अ० । आ० म० द्वि० । ज्ञा० । दर्श० । तेतलिसुतशब्दे कथा ॥

कणगणाभ--कनकनाभ--पुं० वज्रसेनस्य राज्ञो मङ्गलावतीनाम भार्यायामुत्पन्ने बाहापरनामके पुत्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० । (उसभ शब्दे ललिताङ्गदेववक्तव्यतायामुक्तम्)

कणगणिगल-कनकनिग (म) ल-न० निगडाकारे सौवर्णपादाभरणविशेषे, औ० ॥

कणगणिज्जुत-कनकनिर्युक्त-त्रि०कनकविच्छुरिते, जी०३ प्रति०।

कणगत्तरत्ताभ--कनकत्वग्रक्ताभ--त्रि० कनकत्वगिव रक्ता आभाः छव्यो येषां तानि । उत्तप्तकनकवर्णेषु, "सोहम्मीसाणेसु देवा केरिसयावण्णेण पण्णत्ता तं जहा गोयमा! कणगत्तरत्ताभा" जी० ४ प्रति० ।

कणगपट्ट--कनकपट्ट--पुं० कृतकनकरसपट्टे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । "कणगेण जस्स पट्टा कता तं कणगपट्टं । अहवा कणगपट्टात्मिका" नि० चू०७ अ० ।

कणगपयर--कनकप्रतर--न० सुवर्णपत्रे, कल्प० ।

कणगपुर--कनकपुर--न० स्वनामख्याते नगरे, "कणगपुर णयरं से यासे यउज्जाणे वीरजद्दो जक्खो पियचंदो राया " विपा० २ श्रु०६ अ० ।

कणगपुलगणिघसपम्हगोर--कनकपुलकनिकषपद्मगौर--पुं० कनकस्य सुवर्णस्य पुलको लवस्तस्य यो निकषः कनकपट्टको रेखारूपस्तथा पद्मग्रहणेन पद्मकेशराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात् कनकपुलकनिकषवत् पद्मवच्च यो गौरः स कनकपुलकनिषकपद्मगौरः । अथवा कनकस्य य पुलको द्रुतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशः कनकपुलकनिकष । तथा पद्मवत् पद्मकेशरवत् यो गौरः ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । रा० । जं० । वि० । वृद्धव्याख्या तु कनकस्य लोहादेर्यः पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म बहुलत्वं तद्वद्यो गौरः स कनकनिकषपद्मगौरः । अतिशयितगौरवर्णविशिष्टपुरुषे, ज्ञा० १ अ० ।

कणगप्पभ--कनकप्रभ--पुं०घृतवरद्वीपदेवे, सू० प्र० १९ पाहु० ।

ह्री०।देवानन्दसूरिशिष्ये प्रद्युम्नसूरिगुरौ, अयं च विक्रमसंवत्सराद् द्वादशशताधिकनवतितमे वर्षे विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

कणगफुल्लिय–कनकफुल्लित–न०कनकस्तवकिते वस्त्रे, "कणगेण जस्स फुल्लिताओ दिसाओ त कणगफुल्लिय" नि० चू० ७ उ० ॥

कणगविसापग–कनकविज्ञापक–पुं० दशमे महाग्रहे, "दो कणकविसापगा" स्था० २ ठा० ।

कणगफुसिय–कनकस्पृष्ट–न० स्वर्णसपृक्ते वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कणगफुसिया–कणकफुसिया– स्त्री० कणो लेशस्तन्मात्रकं पानीय कणक तस्य फुसिया फुसारम् । पानीयफुसारे, "कणगफुसिय मित परिनिवडइ नो से कप्पइ" कल्प० ।

कणगमय–कनकमय–त्रि० कनकस्य विकारो मयट्, स्वर्णविकारे, वाच० । सौवर्णे, स्था० ए ठा० ।

कणगमंजरी–कनकमञ्जरी–स्त्री० स्वनामख्यातायां चित्रकारसुतायाम्, या मृत्वा कनकमाला खेचरी जाता उत्त० ६ अ० ।

कणगमाला–कनकमाला–स्त्री०वैताढ्यपर्वते,तोरणाभिधे पुरे दृढशक्तेः खेचरस्य पुत्र्याम्, उत्त० ६ अ० । तद्वृत्त नग्ग(इ) शब्दे सिंहरथस्य राज्ञो महिषी स्वसम्बन्धं कथयन्ती कनकमञ्जरीनाम्न्याश्चित्रकरसुतायाः कनकमालाजन्मचरिते भणिष्यति) मेघपुरनगरराजस्य मकरध्वजस्य देव्यां च । दर्श० । (तच्चरित दीपपूजादृष्टान्ते)

कणगमूल–कनकमूल–न० विल्वमूले, उत्त० २ अ० ॥

कणगरह–कनकरथ–पु० स्वनामख्याते तेतलिपुरनगरेश्वरे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । ज्ञा० । (तेतलिसुत शब्दे कथा) विजयपुराधीश्वरे, स्था० १० ठा० । (यस्य वैद्यो धन्वन्तरिनाम जन्मान्तरे उदुम्बरदत्त आसीदित्युदुम्बरदत्त शब्दे उक्तम्) य महापद्मस्तीर्थकरो मुण्डयित्वा प्रव्राजयिष्यति तस्मिन् राजनि च स्था० ७ ठा० ।

कणगरुयग–कनकरुचक–त्रि० काञ्चनकान्तौ, प्रश्न० १ अध० । द्वा० ४ अ० ॥

कणगलया–कनकलता–स्त्री० । चरमस्यासुरेन्द्रस्य सोमलोकपालस्य द्वितीयाग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० ॥

कणगसंताणय–कनकसन्तानक– पुं० एकादशे महाग्रहे, " दो कणगसंताणया " चं०प्र०२० पाहु० । स्था० । कल्प० । सू० प्र० ।

कणगसमाणणाम–कनकसमाननामन्–पु० कनकेन सह एकदेशेन समान नाम येषां ते कनकसमाननामानः । कण १ कणक २ कणकणक ३ कणवितानक ४ कणसन्तानका ५ ख्यमग्रहादेषु, सू० प्र० २० पाहु० । ज० । च० प्र० ।

कणगसत्तरि–कनकसप्तति–स्त्री० लौकिकश्रुतभेदे, अनु० ।

कणगसुंदरि–कनकसुन्दरी–स्त्री० । मथुरायां जातायां सिंहराजमहिष्याम् " इत्थ सखराउ कलावई अ पंचमजम्मे देवसीहकणयसुंदरीनामाणो समणो घासया रज्जसिरि छुजित्था " ती० ।

कणगा–कण (न) का–स्त्री० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । भीमस्य राक्षसेन्द्रस्य तृतीयाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । स्था० ॥

कणगाव (लि) ली–कनकाव (लि) ली–स्त्री० कनकमयमणिकनिष्पन्ने भूषणविशेषे, प्रव० २७१ द्वा० । कल्पनया तदाकारे तपसि च । तत्स्वरूप च कनकमयमणिकमयोर्भूषणविशेषकल्पनया तदाकार यत्तपस्तत्कनकावलीत्युच्यते । तत्स्थापना चैवं चतुर्थं षष्ठमष्टम चोत्तराधर्येणास्थाप्य तेषामधोऽष्टावष्टमानि चत्वारि चत्वारि पङ्क्तिद्वयेनाऽवस्थापनीयानि उभयतो रेखाचतुष्केण नवकोष्ठकान्विधाय मध्यमे शून्य विधाय शेषेष्वष्टसु तानि स्थापनीयानि । ततस्तस्याधोऽधश्चतुर्थादीनि चतुस्त्रिंशत्तमपर्यन्तानि तत· कनकावलिमध्यभागकल्पनया चतुस्त्रिंशदष्टमानि तानि चोत्तराधर्येन द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च षट् पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे चेत्येव स्थाप्यानि । अथवाऽष्टाभिः षड्भिश्च रेखाभिः पञ्चत्रिंशत्कोष्ठकान्विधाय मध्ये शून्य कृत्वा शेषेषु तानि स्थापनीयानीति । तत उपर्युपरि चतुस्त्रिंशत्तमादीनि चतुर्थान्तानि तत पूर्ववदष्टावष्टमानि । ततोऽष्टम षष्ठ चतुर्थं चेति चतुर्थादीनि च क्रमेणैकोपवासादिरूपाणीति । अत्र चैकस्यां परिपाट्यां विकृतिभिः पारणक द्वितीयस्यां निर्विकृतिकेन तृतीयायामलेपकृता चतुर्थ्यां वा चाम्लमिति । अत्र चैकैकस्या परिपाट्यामेकसंवत्सरः मासाः पञ्च दिनानि च द्वादश परिपाटी चतुष्टये तु संवत्सराः पञ्च मासा नव दिनानि चाष्टादशेति । औ० ॥

इच्छामि णं अज्जो तुज्झेहिं अज्झणुण्णाया समाणी कणगावलिं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरत्ति । ते एवं जहा रयणावली तहा कणगावली वि नवरं तिसु ट्ठाणेसु अज्जमातिकरे जहा रयणावलीए छट्ठातीए एकाए परिवामीए एगे सवच्छरे पंच मासा वारस य अहोरत्ता चउण्हं पंच वरिसा नव मासा अट्ठारसदिवसा सेसं तहेव नव वासा परियातो यावणित्ता जाव सिद्धा ॥

रयणावली कमेणं, कीरइ कणगावली तवो नवरं ।
कज्जा दुग्गतिगपए, दाडिमपुप्फेसु पयगे य ।
परिवामिचउक्के वरि-स पंचग दिणडुगूणमासतिगं ।
पढमपवुत्तो कज्जो, पारणयविही तवप्पणगे ॥ २ ॥

कनकमयमणिकानिष्पन्नो भूषणविशेष· कनकावली तदाकारस्थापनया यत्तपस्तत्कनकावलीत्युच्यते । एतच्च कनकावलीतपो रत्नावलीतप·क्रमेणैव क्रियते । नवर केवल दाडिमपुष्पयोः पदके च त्रिकपदे त्रिकाणां स्थापना उपवासद्वयसूचका· द्विकाः कर्त्तव्या· । शेषं पुनः सर्वमपि तथैवेति । अस्मिंश्च तपसि काहलिकायास्तपोदिनानि द्वादशदाडिमपुष्पयोर्द्वात्रिंशत्सरिकायुगले द्वे शते द्विसप्तत्युत्तरे पदके षट्षष्टिः सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि चतुरशीत्यधिकानि अष्टाशीतिश्च पारणकदिवसास्तत्प्रक्षेपाच्चत्वारि दिनशतानि द्वासप्तत्युत्तराणि सर्वेष्वप्येषु वर्षमेकं त्रयो मासा· द्वाविंशतिर्दिवसा· अत्रापि पूर्ववच्चतुर्भिर्गुणने वर्षाणि पञ्च मासौ द्वौ दिनानि चाष्टाविंशतिरिति । अन्तकृद्दशादिषु तु कनकावल्या पदके दाडिमद्वये च द्विकस्थाने त्रिका उक्ता· । रत्नावल्यां च द्विका इति । तथा प्रथमतपसि लघुसिंहनिष्क्रीडिते य· सर्वरस आहारादिक· पारणकविधिरुक्त स एव तप पञ्चकेऽपि लघुवृहत्सिंहनिष्क्रीडितमुक्तावलीरत्नावलीलक्षणे कर्तव्य । एतच्च सर्वं यथायथं भवितमेवेति प्रव०२७१ द्वा० । ज्ञा० । आचा० । जी० । स्वनामख्याते द्वीपे समुद्रे च । तत्र द्वीपे कन-

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

कावलिभद्दकनकावलिमहाभद्रौ देवौ समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिपविभत्ति–कनकावलिप्रविभक्ति– न० नाट्यविधिभेदे, रा० ॥

कणगावलिभद्द-कनकावलिभद्र–पुं० कनकावलिद्वीपदेवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिमहाभद्द–कनकावलिमहाभद्र–पुं० कनकावलिसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिमहावर–कनकावलिमहावर–पुं० कनकावलिवरसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवर–कनकावलिवर–पुं० स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च तत्र द्वीपे कनकावलिवरभद्दकनकावलिवरमहाभद्रौ देवौ समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिवरभद्द–कनकावलिवरभद्र–पुं० स्वनामख्याते, कनकावलिवरद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरमहाभद्द–कनकावलिवरमहाभद्र–पुं० कनकावलिवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिवरोभास–कनकावलिवरावभास–पुं० स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र द्वीपे कनकावलिवरावभासभद्रकनकावलिवरावभासमहाभद्रौ देवौ । समुद्रे कनकावलिवरावभासवरकनकावलिवरावभासमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरोभासभद्द-कनकावलिवरावभासभद्र–पुं० कनकावलिवरावभासद्वीपे देवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिवरोभासमहाभद्द–कनकावलिवरावभासमहाभद्र–पुं० कनकावलिवरावभासद्वीपदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरोभासमहावर–कनकावलिवरावभासमहावर–पुं० कनकावलिवरावभाससमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरोभासवर–कनकावलिवरावभासवर– पुं० कनकावलिवरावभाससमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगुत्तम-कनकोत्तम-पुं०पौरस्त्यचतुर्थशिखरिकूटाधीश्वरे, द्वी०।

कणपूपलिया–कनपूपलिका– स्त्री० कणिकाभिः कृतायां पूपलिकायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० ॥

कणभक्ख–कणभक्ष– पुं० कणादर्षौ वैशेषिकसूत्रकारे, आव० ६ अ० । कणभुगप्यत्र, आचा० १ श्रु० १ अ० ॥

कणवियाणग-कणवितानक-पुं०दशमे महाग्रहे,सू०प्र०२० पाहु०।

कणवीर–करवीर– पुं० कर वीरयति चु० वीर–विक्रान्तौ अण्। करवीरे ण ८ । १ । ५३ । इति रस्य ण प्रा०।वृक्षभेदे, रा०। प्रज्ञा०।

कणाद (य)–कणाद–पुं० कणमत्ति–कण–अद्–वैशेषिकसूत्रकारे काश्यपगोत्रे ऋषिभेदे, वाच० । सूत्र० । मिथ्यादृष्टि कणादवत् कणादेनापि हि सकलमप्यात्मीय शास्त्र द्रव्यामपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयाभ्यां समर्थितं तथापि तन्मिथ्यास्वविषयप्रधानतया परस्परमनपेक्षयोः सामान्यविशेषयोरभ्युपगमात् । उक्तञ्च " ज सामन्नविसेसे, परोप्परं वत्थुतो य सो भिन्ने । मंतव्व अच्चंतमंतो, मिच्छादिट्ठी कणादो व्व । दोहिं विनएहिं नीयं, सत्यमलुगेण तह् वि मिच्छत्त । ज सविसयप्पहाणं, तणेण अन्नोन्ननिरविक्खो ॥ " अथ यदि नाम सामान्यविशेषादिकं परस्परमेकान्तविभिन्नं (मिच्छत्ति) आ० म० प्र० । (आसां सम्मतिगाथानामर्थः वेसेसिअशब्दे तन्मतस्योद्भावनपुरःसर दूषणेन स्पष्टीभविष्यति)

कणासि–कणासिन्– पुं० कणादमुनौ, नं० ।

कणि (णि) आर–कर्णिकार–पुं० कर्णिकारे वा ८ । २ । ६९ । इति रलोपे द्वित्वविकल्पः । वृक्षविशेषे, प्रा० ॥

कणिक (य) –कणिक– पुं० कणो विद्यतेऽस्य अस्त्यर्थे ठन्। गोधूमचूर्णे, राजनि० । अतिसूक्ष्मांशे अग्निमन्थवृक्षे च स्त्री० मेदि० । स्वार्थे ठन् अल्पार्थे, कणेव स्वार्थे कन् कणिका । जीरके, मेदि० । अल्पांशे, तण्डुलभेदे, रायमुकुट । वाच० । गोधूमचूर्णे च । कट्टुयघटितोऽपि तत्र पृषोदरादित्वात्साधुत्वम् । यथा किल मोदकः कणिकागुरुघृतकटुभाएमादिद्रव्यवद् । स्या०४गा०।

कणिकमच्छ–कणिकमत्स्य–पुं०मत्स्यभेदे, जी०१प्रति० । प्रज्ञा०

कणिट्ठ–कनिष्ठ–त्रि० अतिशयेन युवा अल्पो वा इष्ठन् । कनादेशः । अतितरुणे, अत्यल्पे, अनुजे, पुं० स्त्री० दुर्बलाङ्गुलौ, अल्पाङ्गुलौ, स्त्री० मेदि० । कनिष्ठस्य भार्य्यायां अल्पवयस्कायां स्त्रियां, स्त्री० तत्र पुंयोगलक्षण ङीपं वयोवाचिलक्षणं च वाधित्वा अजादिपाठात् टाप् अत्यल्पपरिमिते, त्रि० वाच० । पर्य्यायेण लघौ, ग० २ अधि० । जघन्ये च त्रि० कर्म० ।

कणिट्ठअर–कनिष्ठतर–त्रि० आतिशयिककनिष्ठे, प्रा० ।

कणिट्ठग–कनिष्ठक–त्रि० कनिष्ठ–स्वार्थे कन् । कनिष्ठशब्दार्थे, वाच० । " जेट्ठकणिट्ठगा " ज्येष्ठकनिष्ठकाः वृद्धा लघवश्च उत्त० २२ अ० ।

कणिय–कणित–न० कण आर्तस्वरे, भावे कः १ पीडितानां शब्दे, कर्त्तरि कः तत्कर्त्तरि, त्रि० । वाच० । कण-भावे-कः । ध्वनौ, आव० ४ अ० ।

कणिया–कणिका–स्त्री० । शाल्यादेः कणे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । कणिता स्त्री० वीणाविशेषे जी० ३ प्रति० ।

कणीणिगा–कनीनिका–स्त्री० कन्-कनि वा इनन् संज्ञायां कन् आप इत्वम् । अक्षितारायां, कनिष्ठाङ्गुलौ च मेदि० । कर्पूरे, "अंगारो कणीणिगा कज्जलं च णयणम्मि" क० ।

कणीयस्–कनीयस्–त्रि० अयमनयोरति युवा अल्पो वा ईयसुन् कनादेशः । द्वयोर्मध्ये अल्पतरे, युवतरे, वा वाच० । कनिष्ठे, लघौ, "जह्रा णं ममं सहोदरकणीयसे भाउए भविस्सइ" अन्त० । आ० म० द्वि० ।

कणुय–कणुक–न० पुं० त्वगाद्यवयवे "सुकणुयं" आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

कणेर–कर्णिकार–पुं० वेतः कर्णिकारे ८।१।१६८ कर्णिकारे । इतः सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा भवति " कणेरो कण्णिआरो " वृक्षभेदे, प्रा० । संस्कृते कणेर इति कर्णिकारवृक्षे वेश्यायाः, हस्तिन्यां च स्त्री० उणादिकोषः । वाच० ।

कणेरु–करेणु–स्त्री० के मस्तके रेणुरस्याः करेणु वाराणस्योरणोर्व्यत्यय ८।२।११६। इति रणोर्व्यत्ययः कणेरु स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंसि न भवति । एसा करेणु हस्तिन्याम्, प्रा० ।

कण्ठअ–कण्ठक–पुं० कठि अच् प्राकृते ङञणनो व्यञ्जने ८ । १ । २५ । इति णस्यानेऽनुस्वारः । तस्य वर्गेऽन्त्ये वा ८ ।

१ । ३० । इति उपरन्यास्त स्वर्थः पञ्चमो ण'। गन्ने, एवमत्र अनुस्वारप्रकरणदर्शिता· काण्डादिशब्दा उदाहार्या· प्रा० ।

कण्णरिया–कन्दरिका–स्त्री० कन्दर- गौरा० ङीप् स्वार्थे क । प्राकृते "कन्दरिकाभिन्दिपाले ण्डः ८८ । २ । ३ । इति संयुक्तस्य एम । कण्णरिआ गुहायाम् ।

कण्ण–कर्ण–पुं० कर्ण्यते आकर्ण्यतेऽनेन कर्ण-करणे अप् कीर्यन्ते शब्दा वायुनाऽत्र कॄ-नन् वा श्रोत्रशब्ददृहनसाधने इन्द्रिये, वाच०। उत्त० २ अध्य०, उपा० २ अ०। "कण्णाऊरमुणकरे नेय विगयधीभच्छदंसणिज्जा" तदाधारे गोलके अस्य उपाङ्गेष्वन्तर्गतेति "अथवा अङ्गुलिकणनासा य अड्ढा०१ इत्यत्र। "निम्मपहाणकण्णोहणाजिया" प्रश्न० १ द्वा०। सुपर्णीशीलपृष्ठे, मेदि० त्रिकोणादिरेखे भुजकोटिसंयोजकरे रेखाभेदे, वाच०। प्रथमकोटिभागे, चं० प्र० २ पाहु०। कुटिले-कर्णोऽस्ति यस्य प्राशस्त्येन अर्श० अच् तत्पकर्णे, अरित्रे च त्रि० वाच० । कुन्त्यामनुदेयसमये जाते अङ्गदेशराजधानीभूतचम्पेश्वरे, पुं० स च कौरवपक्षीयाद्‌भुत " तत्थ णं चंपाए णयरीए तस्स ण तुम कण्णं अंगराय" ज्ञा० १६ अ० टी०।

कण्णउज्ज–कान्यकुब्ज–पुं० देशभेदे, स च देशो गङ्गायमुनयोर्मध्ये अन्तर्वेद्यन्तर्गत तद्देशप्रधाने नगरभेदे; "पुव्वं फिर सिरिपन्नत्तवणयरे कन्नो नाम महिड्ढिनवरो जेनगमो हुत्था" ती० ।

कण्णकुहर–कर्णकुहर–पुं० श्रोत्रविवरे, प्रति० ।

कण्णगइ–कर्णगति–स्त्री० मेरुसंबन्धियां दयरेखायाम्, । सा च केय कर्णगतिरुच्यते । स्वामेरोरेकस्मिन् प्रदेशे उपरि च तस्य ममश्रेणिव्यवस्थिते मेरोरेव प्रदेशे या दयरिका प्रदीप्यते सा कर्णगति. । ज्यो० १० पाहु० ।

कण्णगा–कन्यका–स्त्री० अल्पा कन्या अल्पार्थे कन् क्षिपकादित्वात् नेत्वम् "दृढामे कन्यका प्रोक्ता" । इति स्मृत्युक्तायां दशमवर्षीयां स्त्रियाम्, तस्या दशमवर्षादर्वाक् रजोयुक्ततयाऽज्ञातत्वात्तथात्वम् कन्या स्वार्थे कन् । कन्याशब्दार्थे, वाच० "इयाणि णिदाए दोह कण्णगाण चितिया" आव० ४ अ० ।

कण्णजयसिंहदेव–कर्णजयसिंहदेव–पुं० गुर्जरधरित्रीशासके चौलुक्यवंशीये राजभेदे, स च विक्रमादित्यात्पश्चात् "अल्लाउद्दीनसुलतानम्लेच्छराजात् प्राग्यातः ती० ।

कण्णदेव–कर्णदेव–पुं० विक्रमसंवत्सरस्य त्रयोदशशतत्र्यात्परार्द्धे जाते आशावल्ल्यां पुत्रे सौराष्ट्रदेशराजे राजभेदे, यो हि हम्मीरयुवराजेन सोमनाथार्थे नाशित । ती० ।

कण्णधा (हा) र–कर्णधार–पुं० कर्णमरित्रं धारयति धृ-अण्-उपस-नाविके, निर्यामके, ज्ञा० ८ अ० । आव० । ज्ञा० " मइकन्नधारए " आ० म० द्वि० ।

कण्णपाउरण–कर्णप्रावरण–पुं० अन्तरद्वीपभेदे, तद्वासिनि मनुष्ये च अन्तरद्वीपशब्दे वर्णक उक्त· प्रज्ञा० १ पद० प्रव० स्था० । न० ।

कण्णपा (लि (ली) कर्णपालि (ली) स्त्री० त० ६ कर्णपालके कर्णांशभेदे, (कानेरमाता)तदवयवश्च मांसपेशीभेद वाच० । कर्णोपरितनभागभूषणविशेषे, औ० ।

कण्णपीढ–कर्णपीठ–न० कर्णाभरणविशेषे, प्रज्ञा० २ पद० जी० कुमप्रमध्गमयलकण्णपीढधारी " कर्णौ एव पीठे आसने कुण्डलाधारत्वात्कर्णपीठे, मृष्टे घृष्टे गएमतले च कपोलतटे, कर्णपीठे च यकाभ्यां ते मृष्टगएमतलकर्णपीठे ते च ते कुण्डले चेति विशेषणोत्तरपदः प्राकृतत्वात्कर्मधारय· अङ्गदे च केयूरे बाह्वाभरणविशेषावित्यर्थ· । कुण्डलमृष्टगण्डतलकर्णपीठे च धारयति य· स तथा । अथवा अङ्गदे च कुण्डले च मृष्टगण्डतले कर्णपीठे च कर्णाभरणविशेषभूते धारयति य स तथा । स्था० ६ ठा० औ० ।

कण्णपूर–कर्णपूर–पुं० कर्णं पूरयति कर्ण-पूर-अण्-कर्णाभरणविशेषे, ज्ञा० ८ अ० नीलोत्पले, शिरीषवृक्षे, अशोकवृक्षे च एतेषां पुष्पे· स्त्रीकर्णस्य भूषा जननीति तेषां तथात्वम् वाच० ।

कण्णपूरग–कर्णपूरक–पुं० कर्णं पूरयति- कर्ण-पूर-णवुल् । कदम्बवृक्षे, वाच० स्वार्थे कन पुष्पमये कर्णाभरणविशेषे, ज्ञा० ८ अ० ।

कण्णमणणिव्वुइकर–कर्णमनोनिर्वृतिकर–त्रि० ६ त० प्रतिश्रोतृकर्णमनसो सुखोत्पादके, ज० १ वक्ष०। जी० ।

कण्णमल–कर्णमल–कर्णगूथके, नि० चू० ३ उ० । श्लेष्मणि, न० ।

कण्णवेयणा–कर्णवेदना–स्त्री० कर्णयो पीडारूपे रोगभेदे, विपा० १ अ० । उपा० । जी० । ज्ञा० ।

कण्णवेहणग–कर्णवेधनक–न० कर्णवेधोत्सवे, "कण्णवेहणगं संवच्छरपलेहणगं चूलोवणयणं रा० । भ० ।

कण्णस–कल्मष–त्रि० कन् अल्पादि-निपातात् कन्य कन्यत्वेन काम्यत्वेन सीयते अवसीयते सो-घञर्थे क-कनिष्ठो मातृसुन्दरी "रामस्य कन्यसो भ्राता" रामा० स्त्रिया, वयोवाचित्वात् ङीष् । अधमे, । त्रि० वाच० "कण्णसत्ति कण्णसमज्झिमजेहा" सूत्रत्वात्कनिष्ठमध्यमज्येष्ठमिति यावत् । उत्त० ७ अ० (सूत्रत्वादित्युक्त्या उत्त० टीकाकृन्मते संस्कृत कन्यस शब्दो नास्तीति ज्ञानि ।)

कण्णसक्कुली–कर्णशष्कुली–स्त्री० कर्णस्य शष्कुलीव । कर्णगोलके तन्मध्याकारो च वाच० । कर्णायत्याम्, " उद्धमुहकण्णसक्कुली " ऊर्द्धमुखे कर्णशष्कुल्यो कर्णायती ययोस्तौ तथा ज्ञा० ८ अ० ।

कण्णसर–कर्णशर–पुं० कर्णगामिनि शरे, द० ६ अ० ।

कण्णसुह–कर्णसुख–त्रि० कर्णसुखदायके, रा० । औ० ।

कण्णसोक्ख–कर्णसौख्य–त्रि० कर्णसौख्यहेतौ, द० ६ अ० ।

कण्णसोयपडिया–कर्णस्रोतःप्रतिज्ञा– स्त्री० श्रवणप्रतिज्ञायाम्, आकर्णनार्थम् इत्यर्थ· । नि० चू० १६ उ० आचा० ।

कण्णसोहण–कर्णशोधन–न० कर्णयोर्मलनिःसारणसाधने उपकरणभेदे, " कण्णसोहणपुणकज्जाणमलेण सविघण तु दुकरेण भेदे, " प० मा० । फरोज जस्स कण्णा ण सुणेज्ज व सो तु गिएहेज्जा " प० मा० । आचा० । "जे भिक्खू कण्णसोहणगस्स उत्तरकरण सयमेव करेइ करत वा साइज्जइ" नि० चू० ४ उ० ।

कण्णा–कन्या–स्त्री० कम्-यत्-अघ्न्या० नि० कन्यायाः कनीनचेति निर्देशात् वयसि प्रथमे इति न ङीप् वाच० । अपरिणीतायां स्त्रियाम्, उपा० १ अ० । कुमार्याम्, पञ्चा० १ विव० । मेषादित· षष्ठे राशौ, घृतकुमार्याम्, मेदि० । स्थूलैलायाम्, वाराहीकन्दे, कर्कोट्यां च राजनि० " गौ चेत्कन्या " इत्युक्तलक्षणे चतुरक्षरपादके छन्दोभेदे च । वाच० ।

कण्णागोभूमालिय–कन्यागोभूम्यलीक– न० कन्या कुमारी गौश्च बहुला भूमिश्च भूरिति द्वन्द्वस्तासु विषयेऽलीकमनृत कन्यागोभूम्यलीकमलीकशब्दे ह्रस्वत्वभृति प्राकृतशैलीवशात् । स्थूलकमृषावादविरमणाख्यतृतीयाणुव्रतातिचारे, पञ्चा० १ विव० ।

कम्माचोलय–कन्याचोलक–न० जघनालके, नं० ।

कम्णाम–कर्णाट–पु०"रामनाथं समारभ्य, श्रीरङ्गात किलेश्वरि! कर्णाटदेश इत्युक्तो, राज्यसाम्राज्यदायकः । शक्तिसङ्ग उक्ते देशभेदे, वाच० । कल्प० ।

कम्माणयणीय–कन्यानयनीय–न० चोलदेशप्रधाने नगरे, तत्र श्रीवीरप्रतिमा चिरपूजिताऽऽसीत् तद्वृत्त चेत्थम् ।

पणमिय अमियगुणगणं, सुरगिरिवीरं जिणं महावीरं।
कन्नाणयपुरट्ठिय, तप्पडिमाकप्प किमपि वोच्छं ॥ १ ॥

चोलदेसावयसो कम्माणयनयरे विक्कमपुरवत्थव्वपहू जिणवइसूरोचुल्लपिओ साहू माणदेवकाराविया वारहसयतित्तीसे विक्कमवरिसे आसाढसुध्दसमी गुरुदिवसे सिरिजिणवइसूरिहि अम्ह वि य पुव्वायरिएहिं पइट्ठिया धम्माण सीलसमुग्घायजाई रसोवलघडिया तेवीसपव्वपरिमाणा नहमुत्तिलग्गणे वि घंट व्व सद्दं कुणंति सिरिमहावीरपमिमा सुमिणाया से णआनकवालाभिहाणपुटविधाउ विसेसेणं सन्निहिया पामिहेरा सावयजणाणं संघेणं चिरं पूइया जाव वारहसयअमयाले विक्कमाइच्चसंवच्छरे वाहुवीणकुलप्पईवे सिरिपुहविरायणरिंदे सुरत्ताणसहवदीने तं निहणंतीए रज्जप्पहाणेण परमसावएण सिट्ठिरामदेवेण सावयं संघस्स लेहो पिहिओ जहा तुरक्कसंजायं सिरीमहावीरपमिमा पच्छन्ना धारेयव्वा तओ सावएहिं दाहिमकुलमंमणं कयं वासमंमविना मंकिए कयं वासच्छलिए विउलवाओलुयाज्झरे ठविया जाव तत्थट्ठिया जाव तेरस इक्कारसे विक्कमवरिसे संजाए अइदारुणे दुब्भिक्खे अणिव्वहंतो जाजओ–नाम सुत्तहरो जीवियानिमित्तं सुभिक्खदेसं पइ सकुडुंबो चलिओ कन्नानयणीया उ पढमपयाणयं थोवं कायव्वंति कलिऊण कयं वासत्थलेववत्तं रयणिं पुच्छो अध्दरत्ते देवयाए तस्स सुमिणं दिन्नं जहा इत्य तुमं जत्थ पुत्तोसि तस्स हिट्ठे भगवओ महावीरस्स पडिमापत्तिए सुहात्थिए चिट्ठइ तुमए वि देसंतरं न गंतव्वं भविस्सइ इत्थेव ते निव्वाहोत्ति। तेण समं पमिवुज्झेण तं ठाणं पुत्ताईहिं खणावियं जाव दिट्ठा सा पमिमा तओ हट्ठतुट्ठेण नयरं गंतूण सावयसंघस्स निवेइयं । सावएहि महूसवपुरस्सरं परमेसरो पाविसि उण ठाविओ चेइयहरे पूइज्जइ तिकालं। अणेगवाविओ चेइ–यहरे पूइज्जइ । तिकालं अणेगवारं तुरकउवद्दवामुक्को तस्स य सुत्तहारस्स सावएहि वित्तानिव्वाहो कारिओ पडिमाए परिगरो गवेसिओ वित्तेहिं न लध्दो कत्थ वि घलपरिसरे चिट्ठइ । तत्थ य पसत्थिसंवच्छराइं लिहिअसंभाविज्जइ अन्नया एहावणेणं स वुत्तो भयवओ सरीरे पसेरुपसरंतो दिट्ठो लूहिज्जमाणो वि जाव न विरमिज्जइ ताव नायं सद्देहिं जहा कोविओ वध्दवो अवस्मयं इत्थ होही जाव पत्ताए जच्छुय रायपुत्ताणं धाडीसमागया णयरं सव्वओ विध्दत्थं एवं पायमपभावो सामी भावपूइओ जाव तेरसयपंचासीए संवच्छरो तम्मि वारिसे आगएणं वियवंसजाएणं घोरपरिणामेणं सावया साहुणो य वंदीए काउ विमंविया सिरिपासनाह–विंवं सेलमयमग्गं सा पुण सिरीमहावीरपमिमा अखंडिया चेव सगरुमारोविया ठिल्लीपुरमाणे उण गलका वा दट्ठिय मुरत्ताणो किरिआगओ संतो जं आइसित्तं करिस्सामोत्ति ठिया पच्छरसमासे तुरुक्कवट्टीए जो वसमागओ कालक्कमेण देवगिरिनयराओ जोगिणिपुरं सिरिमहम्मदसुरत्ताणो अन्नया विहिणा जाणवयं विहरित्ता संपत्ता ठिल्लीसाहापुरे खरयरगच्छालंकारसिरिजिणसिंहसूरिपइट्ठिया सिरिजिणप्पहसूरिणो कमेण महारायसभाए पंमियगुच्छाए पच्छु–याए को नाम विसट्ठियरो पंमियउत्तरायएण पुट्ठो जोइ–सियधाराधरेण तेसिं गुणत्थइपारद्धा तओ महाराएणं तं चेव पेसिय सवहुमाणाविया पोससुध्दवियाए संजाए सूरिणा जट्ठिओ तेण हि महारायाहिराओ अच्चासन्ने उववेसिओ कुसलाइवत्तं पुच्छिऊय आवध्धिओ अहीण–चक्कवो आसिव्वाओ विरिं अध्दत्तीए जाव एगंते गोट्ठी कया तत्थेव रत्तिं वसित्ताए पुणो आहुया संतुट्ठेण महाणरिंदेण गोसहस्सदविणजायं पहाणमुज्जाणवत्थसयं कंवलसयं अगुरुचंदणकप्पूराइगंधदव्वाइं व दाउमाढत्ताणि तओ गुरूहिं साहूणं एयं न कप्पइत्ति संवोहिऊण महारायं पाडिसिध्दे सव्वं वत्थं पुणो रायाहिरायस्स मा अप्पत्तियं होहित्ति। किंचि कंवलवत्था गुरुमाइहिं अंगीकयं रायाभिओगेणं तओ नाणादेसंतरागयं पंडिएहिं सह वायगुट्ठिं कारवित्ता मयंगयहत्थिजुयलं आणाविउं एगम्मि गुरुणो अन्नम्मि य सिरिजिणदेवायरिए आरोवित्ता वज्जंतासु अट्ठसुस्सरतारणियगयणभेरीतुं पुरिज्जमाणेसु जमलसंखेसु घुमंतेसु मुयंगमद्दलकंसालटोल्लाइसद्देसु पढंतेसु नट्टपट्टेसु वा उवमासमेया चउव्विहं संघसंजत्ता य सूरिणो पोसहसालं पट्ठविया सावएहिं पवेसमहूसवो विहिओ दिण्णाइ महादाणाइं पुणो पातसाहिणा समप्पियसयलसेयंवरदंसणउवद्दवरक्खणक्खयं पुरुसाणं पेसिया चउद्दिसिं गुरुहिं तस्स पाडिच्छंदिया जाया सासणुन्नई । अन्नया मग्गिहिं सूरिहिं सिरिसत्तुंजयगिरनारफलवध्दीपमुहतित्थाणं रक्खणत्थं फुरमाणं दिन्नं तक्खणं चेव सव्वत्तोमेणं पेसियंतं तित्थेसु मोइया गुरुवयणाणंतरे अणेगे वंदिणो रायाहिरायेण रविसोमवारदिने गुरुणो वाचाराउलं वरिसंते जलहरे भेट्टिओ सुरत्ताणो कद्दमखरंटिया पाया गुरूणं लूहायिया माहाराएण मलिकक्कापूरयासाओ पवरसिचयखंडेण तओ आसी–वाए दिण्णे वक्खाणा कव्वे य वक्खाणीए अईव चमक्कारि–

यचित्तो जाओ महाराओ महाणरिंदो अवसरं नाऊण मग्गसिरसुद्धदसमरूवकहणत्थं पुव्वं सा जगवओ महावीरस्स पडिमाडिमो य ताओ सुकुमारगोट्ठीओ काऊण एगच्छत्तघुट्ठाहिववगणा आणविया जुगलफा वाडकोसाओ मओ सुयगाण महिकाणं खंधे काऊण सयलमज्झासमक्खं अप्पणो अग्गे थाणाविय दट्टूणं च समप्पिया गुरूणं । तओ महूसवपज्जावणापुव्वं सुरक्खासणट्ठिया पवेसिया सयलसंघेणं मलिकताजनसगाईए चेइया पाइया गुरूहिं वासक्खेवो कओ पूइज्जइ महापूयाउं तओ महारायस्स आएसेणं सिरिजिणदेवसूरिणो अप्पनरमेटिआ संमते ठाविता पढिया कमेण गुरूणो महरट्ठसंमले दिण्णा रायाहिराएण सायरसंयमसाहियाणं गुरूणं च महकारिरहतुरयगुज्ञपिणी सुरक्खासणाइं सामग्गी अंतराइणगरे सुपज्जावणं ता पए संघेणं समाहिज्जमाणा अपुव्वतित्थाइ नमता सूरिणो कमेण पत्ता देवगिरिनगरं संघेण पवेसमहूसवो कओ संघपूया य जाव जाय। पयट्ठाणपुरे य जीवंतसामि मुणिसुव्वयपडिमा संघवइजगसीहसाहणसखदेवप्पमुहसंघसमणेहिं जत्ता कया पच्छा दिल्लीए विजयकडए जिणदेवसूरीहिं वि दिट्ठो महाराओ दिण्णा सुरत्ताणसराइत्ति तीसे णामं ठवियं तत्थ चत्तारि सयाइं सावयकुलाइ निवासत्थं आइट्ठाणि तत्थ कारावियं पोसहसाला कलिकालचक्कवट्टिणा चेइओवट्ठाविओ तत्थ सो चेव देवे सिरिमहावीरो तिकाल महरिहपूया पयारेहिं भगवंतं परतित्थिवासे सेयंवरभत्ता य सावया दट्टूणं महम्मदसाहिकयं सासणुन्नयं एवं पंचमकाले कलिं नि जणा ११ चित्तं परिहयचित्तं, वीरजिणेसस्स धुयकिलेसस्स। आदेवसूरियमिणं—मणनयणाण जयइ निच्चं॥ कन्नाणयपुरसंठिय—देवमहावीरपडिमकप्पो य। लिहिओ मुणीसरेणं, जिणसिंहमुणिंदसीसेणं ॥ ३ ॥

श्रीकन्यानयमहावीरेति नाम्ना कल्प । परिशेषवृत्त तु ।

अह विज्जातिलयमुणी, आएसा संघतिलयसूरीणं ।
परिसेसलवं जंपइ, कंनाणयवीरकप्पस्स ॥ १ ॥

तहाहि जट्टारिआ सिरिप्पहसूरिणो सिरिदउत्ता वादनयरे साहुणो सालसह जाव अचलकारिअचेइआणं तुरक्केहिं कीरमाणं भंगं फुरनाणदंसणपुव्वं निवारित्ता सिरिजिणसासणपज्जावणातिसयं कुणंता पाक्खिउगाणं सिद्धंतवायणंदिना तवस्साणं अंगाणंगपविट्ठागमतवाइं कारिंता विणेयाणं अवरगच्छीयमुणीणं पियमाणवागरणकव्वनाडयालंकाराइं सत्थाइं जणंता उब्भडवायजसवायाणं वादविदाणं अणप्पंदप्पमवहरंता जाव से संवच्छरतिगमइक्कमंति । इओ य सिरिजोगिणिपुरे सिरिमहम्मदसाहिसगाहिराउ कहिं वि अवसरे पत्थुआए पडिअगुट्टीए सत्थविआरसंसयमावओ सुमरेइ गुरूणं गुणे जणइ अ। जइ ते जट्टरया संपय महागुट्ठालंकरणं हुंता तो मज्झमणोगयसमत्थसंसयसयसल्लुद्धरणे हेलाए खमंता नूणं विहप्पइ तच्चुद्धिपराजिओ उ चेव जूमिपुजिमअछुवणं गयणदेससहलीणो इत्थं गुरूणं जूवइकिज्जमाणगुणविन्नाणावइअरे अवसरन्नू तक्कालं देउलतावादादागओ ता जलमलिको जूमिअलमिलिअभालवट्टो विन्नवेइ । महाराय ! संति ते तत्थ महप्पाणो परं तन्नयरनीरमसहमाणा किसिअंगा गाढं वट्टंति तओ संजरिअगुरुगुणपब्भारेण जूमिनाहपासो चेव सीदो आइट्ठो जो मल्लिक ! सिग्घं गंतूण दुवीरखाने लिहावेसु फुरमाणं फासेणु । तत्थ जहा तारिससामग्गीए चेव भट्टारया पुण इच्छइति । तओ तेण तहेव कए पेसिअं फुरमाणं कमेण पत्तं सिरिदउलतावादं दीवाणे भणिअं च साविणयं नयरनायगेण सिरिकुतहलखातेण भट्टारयाणं सिरिपालसिंहफुरमाणागमाणं चुल्लीपुरं पइत्थाणं वाट्टाणं तओ दिणदसगब्भंतरे सन्नविऊण जिट्ठसिअवारसीए रायजोगे संघसत्थिअपरिसाए अणुगम्ममाणा पत्थिआ महया वित्थरेणं गुरुणो करेण ठाणे ठाणे महूसवसयाइं पाउब्भावयंता वि समट्ठसमाढप्प दलंता सयलंतरालजणवयजणनयणकोऊहल्लमुप्पायंता धम्मट्ठाणाइं उद्धरंता दूरओ ठक्कुरा वि संकुला समागच्छंतआयरिअवग्गेहिं वंदिज्जमाणा पत्ता रायजूमिसंमणं सिरिअल्लावपुरदुग्गंतउत्तरासिए जावणाए गुरिसा सहिए दुमिलवणुकय विप्पमिवत्तं मुणिऊण ताणं चेव गुरूणं सीसुत्तमेहिं रायसज्जासंमणेहिं गुरुगुणालंकिअदेहेहिं सिरिजिणदेवसूरीहिं विन्नत्तेण भुवइणा सम्मुहं पविट्ठाविएण सवहुमाणं फुरमाणेण मलिकप्पवाप्पिअसयलसत्थिअवत्थुणो विसेसओ जिणसासणं पज्जावयंता छट्ठं मासं अच्छिअ पत्थिज्जा अल्लावपुरओ पुणो वि धरणीनाहेण सिरिसिरोहमज्झानयरे संमुह पेसिअ मसिणसिणद्धदेवदूसन्नायवत्थदसगेण अलंकरिआ जाव हम्मीरवीररायहाणीपरिसरे देसे सुसंपत्ता । इओ चिरोवाचिअभत्तिराएण आभिमुहमागएहिं दंसणनिमित्तिओ विअमयकुडं एहाएहिं वंधनमप्पाणं मन्नमाणेहिं आयरिअजइसघसावयविंदेहिं परिअरिआ भद्दविय सिअव्वीआए जाया रायसभामंडला जुगप्पहाणुतक्खणं आणंदभरनिब्भरेहिं नयरेहिं णेहिं अब्भुत्थाणमिवायरंतेण सिरिमहम्मदसाहपातसाहेण पुच्छिया कोमलगिराए कुसलपउत्तिं चुंचिओ असेसिणेहं गुरूणं कारावि धरणिराएण धरिओ अहिअए अच्चंतादरपरेण गुरुहिं पि तक्कालकविअअहिनवासीवयणदाणेन चमक्कारिअं नरेसरमाणसं पसिआयमहामदसारं वि-

सालसालं पोसहपालं अइछाय महीनाहेण गुरूणं सह गम-
णाय पहाणपुरिसाणं दुअरायाणो सिरीदीनारपमुहा म-
हामल्लिका य पणमंति सयसाहस्सा विरुकंठिआ सावयलो-
या मिलिआ य वीरदंसणलालसा नयरलोआ संगया य को-
ऊहलेणं पगइजाणवयजणा तओ वि दिविंदेहिं जोगावलि-
हिं थुवंता भूवालप्पसाइअभूरिभेरीवेणुवीणामद्दलमुइंग-
गडुपमहजमलसंखमुग्गलाइ विउलवाइअरावाणं दिअंतरालं
विणिम्माचिताविप्पवग्गेहिं वेअज्झणीहिं थुणिजंता गंधव-
व्वेहिं सुहवाहिअगइज्जमाणमंगला पत्ता तक्कालं सिरिसुर
ताणसराइपोसहसालंकया य वद्धा नयणमहूसवा संघपुरि-
सेहं चेइओ अन्नदव्वयसि अमइआ दिणे सयलसंघकारि-
अमहूसवसारं सिरिपज्जोसवणाकप्पो पत्ता य ठाणे ठाणे
आगमणप्पभावणा लेहारंजिआ सयलदेससंघा मोइआ अ-
णेगे रायवंदिवद्धा रायदिज्भसयसाहस्जसावया इअर-
लोगा य करुणाए उम्मोइआ काराहिंतो दीना दाविआ य
अपइट्ठाणं पइट्ठा कया य काराविआ य अणेगअणेगरा-
यवंदीवद्धा रायदिज्जसयसहस्सामो जिणधम्मप्पभावणा
एवं णिच्चं रायसन्नागमणपंडिअवाइअविंदविजयपुव्वं प-
भावणाए पयट्टमाणाए कमेणं वासारत्तचउमासीये वइक्कं-
ताए अन्नया फग्गुणमासे दउलता वादाउ आगच्छंतीए
मगदूमई जहानामधिज्जाए निजजणणीए संमुहं पट्टिएण
चउरंगसमूहसत्तट्ठेण सुरत्ताणेण अब्भुत्थाणपुरस्सरं चा-
लिआ गुरुणो अप्पणा समं वरूथूणठाणे सिट्ठिआ जणणी
महाराएण दिन्नं सव्वेसिं महादाणं परिधाविआ सव्वे प-
हाणकवाइवत्थाइं कमेण पत्तो महूसवमई रायहाणिस-
म्माणिआ गुरुणो कत्थ कप्पूराईहिं तओ चितसिअदुवाल-
सीए रायजोगे महारायाणमापुच्छिअ पातसाहिदत्तसाव्वाण
छायाए कया नंदी तत्थ दिक्खिया पंच सीसा मालारोवण-
सम्मंतारोवणाइं णिअधम्मकिच्चाइं कयाणि निव्विअं
चित्तं थिरं देवनंदनेन वंजदत्तेन आसाढसुद्धदसमीए अपइ-
ट्ठियाणि अणिहियवकारियाणि तेरसविंवाणि महावि-
त्थरेण तत्थ विंवकारावएहिं वहूअं वित्तं विसेओ साहुम-
हरायतएण अजयदेवेण त्ति। तहा अन्नया नरिंदेण दूरओ
निच्चं समागमेण गुरूणं कट्टंति वितिऊण पदिन्ना सयमेव
निअपासायमासे सोहंतनवणराई अभिणवसराई आइट्ठा
य वसिउं। तत्थ सावयसंघा भट्टारयसरा इति कयं सेसयं न-
रिंदेण णामं कारिओ। तत्थेव वीरविहारो पोसहसाला य
पातसाहिणा तओ तेरससयनवासिअवरिसे आसाढकिण्ह
सत्तमीए सुमहुत्ते महीवइसमाइट्ठनीयनट्टवाइअसंपदा य पय-
भिज्जमाणअमागमहूसवसारं सयं नरिंदेण दाविज्जमाणम-
हादाणं गाइज्जमाणमंगलं पविट्ठा पोसहसालं भट्टारया सं-
तोसिआ पीइदाणेण विउसा उद्धरिआ दाणेणं दीणा ण
होइ लोआ चालिआ। पुणन्नया मग्गसिरमासे पुव्वदिसजय-
जत्तापत्थिएण अप्पणा सह नरिंदेण करिआ ठाणे ठाणे
वंदामो अणाइणा जिणधम्मप्पत्तावेण उद्धरिअं सिरिम-
हुरातित्थं संतोसिआ दाणाईहिं दिअवराइणो निच्चं पा-
वासूणं संघावारे कट्टंति मन्नमाणेण महीनाहेण खोजे जहा
मलिकेण सद्धिं आगरा नगराओ परिपेसिआ रायहाणिं
पइ सच्चपइन्ना गुरुणो महिऊण सिरिहात्थिणाउरजुत्ता फु-
रमाणं समागया तिअठाणे मुणिवइणो तओ मेलिऊण च-
उव्विहं संघं काऊण य पुत्तवाहिरूसहिस्स साहुवोहित्थस्स
संघवइत्ततिलयं पट्ठिआ आसुहत्ते सायरिआइपरिवाए-
सिरिहत्थिणाउररज्जंतगुरुणो विहिट्ठाणे विहिट्ठाणे संघवइ-
वोहित्थेणमहूसवा संपत्ता। तिक्खजूमिं कयं च वद्धावणयं
ठाविआणि तित्थगुरूहिं अहिणवकारियपइट्ठिआणि सि-
रिसंतिकुंथुअरजिणविंवाणि अंविआ पडिमा य चेइअट्ठा-
णेसु कया य संघवच्छलाइमहूसवा संघवइणा संघेण य पूइआ
वत्थजोअणतंवोलाईहिं वणीमगसत्था आगयमित्तेहिं ज-
त्ताओ समागए महाराए पवट्टंति ऊसवा चेईवसहीसु सं-
माणेइ गुरुणो उत्तरोत्तरमाणवाणेण मिरिसव्वभोमो व-
ज्जंति। पइदिसं सूरिसव्वन्नूमाणं पभावणा सरोजसपमहा
विहरंति निरुवसग्गं सव्वदेसेसु सेअंवरा य दिअंवरा य रा-
याहिरायदिन्नफुरमाणहत्था खरतरगच्छालंकारगुरुप्पसा-
याओ सगासिन्नपरिजूए विदिसिचक्केकयाइं गुरुहिं फुरमा-
णगहणेण अकुतोजयाइं सिरिसत्तुंजयगिरिनारफलवद्धि-
प्पमुहतित्थाइं उज्जोइआइव्वाइकिच्चेहिं सिरिपालित्तयमह-
ल्लवाइसिद्धसेनदिवागरहरिभद्दसूरिहेमचंदसूरिप्पमुहा पु-
व्वपुरिसा किं वहुणा सूरी चक्कवट्टीणं गुणेहिं आवज्जि-
अस्स नरिंदस्स पयडाए व पयट्टंति सयधम्मकज्जा भावइ
ज्जंति पइपच्चूसं चेइअवसहीसु जमलसंखा किज्जंति धम्म-
एहिं वीरविहारे वज्जंतगाहिरसुद्दलमयंगत्तुग्गलतालपिखण-
यसारमहापूआओ वासिंति सिरिमहावीरपुरओ भविअ-
लोअउग्गाहिज्जमाणकप्पूरागरुपरिमलुग्गरो दिसिचक्कं संच-
रंति हिंडुअरज्जे इव दूसमसुसमाए इव अगज्जरज्जे वि
दूसमाए जिणसासणप्पभावणाए रायणसिद्धाए मुणिणो
किं च लुट्टंति गुरूण पायपीठे किंकरा इव पचदंसणिणो
सपरिवारा पभिच्छंति पडिच्छगा इव गुरुवयणं सेवंति अ
निरंतरं जाव सादसाट्ठिआ गुरूणं दसणसुग्गइइपरलोअक-
ज्जत्थिणो परातित्थिणो निव्विअक्कत्थणाओ गच्छति निच्चं
रायसभाए गुरुणो मोआवंति विंतिवग्गं उप्पायंति जिणु-
त्ताणुसारजुत्तिजुत्तवयणेहिं निरंतरं रायमणे कोऊहलं
महल्लवरियासुवारित्तणा पयट्टंति पए पए पभावणं गगोदय-

सच्चविना धवलि तिन्नि अ जसचंदिमाए दिअंतरालाइं उज्जीवंति । वयणामएहिं जीवलोगं सदंमणिणो परदसणिणो अ वहंति सिरिछित्रं गुरूणं आणं समग्गवावारेसु वक्खाणिति अणन्नसाहारणभंगीए सपरिसर्द्धं त जुगप्पहाणा एआरिसा पज्जावणा एगरिसा पयमं चेव परिभाविज्जमाणा निच्चं पि वट्टमाणा कित्तियमित्ता अप्पमईहिं कहेउं सक्का केवलं जीवंतु वच्छरकोमीओ पज्जावयंतु सिरिजिणसासणं सुचिरं इमे सूरिवरा जिणप्पहसूरीहिं णं गुणलेसवुड्ढिए पज्जावणं गंति परिसो से परिकहिज्जा कन्नाणयवीरकप्पस्स ॥ इति कन्यानयनीयश्रीमहावीरकल्पः।

कण्णाडभट्टदिवागर–कर्णाटभट्टदिवाकर–पुं० दक्षिणापथप्रसिद्धे विद्वद्वरे, ती० (स च दक्षिणापथादागच्छन् श्रीवृद्धवादिसूरिभिर्जितो व्रत आहितश्चेति कुमुदेसरशब्दे वक्ष्यते)

कण्णापिउत्त–कन्यापितृत्व–न० कन्याजनकत्वे, "जातेति चिन्ता महतीति शोक , कस्मै प्रदेयेति महान् विकल्प । दत्ता सुख स्थास्यति वा न वेति, कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्" ध० र० ॥

कण्णालिय–कन्यालीक–न० कन्या अपरिणीता स्त्री तदर्थमलीक कन्यालीकम्, उपा०१ अ०। कुमारीविषये असत्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ३ अ० । यथा द्वेषादिभिरविषकन्यां विषकन्यां विषकन्यामविषकन्यां वा सुशीलां वा दु शीलां दु.शीलां वा सुशीलामित्यादि वदतो भवति ध० ३ अधि० । आव० । तच्च स्थूलकमृषावादविरमणातिचारेषु, लोकेऽतिगर्हितत्वादुपात्तं तेन सर्वत्र मनुष्यजातिविषयमलीकमुपलक्षितम् उपा०१अ० ।

कण्णावली–कर्णावली–स्त्री० कर्ण कुटादयस्तेषामावली सहतिर्यासां तास्तथा । कुटादिकर्णसङ्घाते, अणु० ३ वर्ग० ।

कण्णिया–कर्णिका–स्त्री० कर्ण-ण्वुल् अत इत्वम् । कर्णाभरणभेदे, करिशुण्डाग्रवर्तिन्यङ्गुल्याकारे पदार्थे, क्रमुकादिवृत्तपरम्परायाम्, (ब्टा) करमध्याङ्गुल्यौ, मेदि० । लेखन्याम्, हारा० । अग्निमन्थवृक्षे, राजनि० । वाच० । वीजकोशे, भ० ११ श० २ उ० । उन्नतसमचित्रविन्दुकिन्र्याम्, प्रज्ञा० २ पद । मध्यमपरुलिकायाम् न०। शाल्यादिबीजस्य मुखमूले लोके या तुषमुखमित्युच्यते । स्था० ८ ठा० । कोणविभागे, स्था० ८ ठा० । ज० । "अट्ठ कण्णिये" कर्णिका' कोणा' अनु० ।

कण्णियार–कर्णिकार–पु० कर्णिभेदेन करोति कृ-अण्- उप- स० (गणियारी)वृक्षभेदे, आरग्वधवृक्षभेदे च। शोधनरूपमलभेदकत्वात् तयोस्तथात्वम् वाच०। आव०। प्रज्ञा०। स्था०। गोगाल्लस्य महल्लिपत्रस्य दिक्चरभेदे, भ० १४ श०१० उ० । कर्णिकारस्य पुष्प, न० ज्ञा० ९ अ० ।

कण्णीरह–कर्णीरथ–पु० कर्ण. सामीप्येनास्त्यस्य कर्णी स्कन्ध' तेन इ' शोभा यस्य न समासान्त. कप् । स चासौ रथो रथरूप वाहन कर्म्म० । स्कन्धवाह्ये याने, (पालकी) इत्यादौ, । शब्दचि० । अन्या व्युत्पत्तिर्दर्शिता यथा कर्णसाध्यक्रिया उपचारात् कर्ण' । कर्णोऽस्यास्तीति इनि कर्णी चासौ रथश्च शब्दमात्रेण रथो न वस्तुतो रथ. । यद्वा सामीप्यात् कर्णशब्देन स्कन्धो लक्ष्यते सोऽस्यास्ति वाहनत्वेन इनि कर्णी चासौ रथश्च अत्र यत्र अन्येषामपीति दीर्घ इति । "कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्" । रघु०।वाच०। "विदिण्णत्तचामरवालवीयणिया कण्णीरहप्पयाया वि होत्था ' कर्णीरथ. प्रवहणविशेषस्तेन प्रयात गमन यस्याः सा तथा । कर्णीरथो हि ऋद्धिमतां ,केषांचिदेव भवतीति सोऽपि तस्यास्तीत्यतिशयप्रतिपादनार्थोऽपि शब्दः ज्ञा० १ अ० ।

कण्ह–कृष्ण–पु० कृष-नक् । सूक्ष्म श्न ष्ण स्नहणकणहः ८।२। ७५ । इति संयुक्तस्य णकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । वर्णभेदे, कृष्णो वर्ण इति सामान्य तस्य च भ्रमराङ्गारकोकिलकज्जलादिषु प्रकर्षाप्रकर्षविशेषाद् भेदा । कृष्ण' कृष्णतर. कृष्णतम इत्यादि आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । कृष्णवर्णाञ्जनवत् ज्ञा० २ अ० । कालवर्णे, त० । कृष्णयति, "किण्ह इतीकारवद्रूपं बाहुल्येन उपलभ्यते इति तत्रैव वर्णक वक्ष्यामि जी० ३ प्रति० । अवसर्पिण्यां वसुदेवाद्देवक्यां जाते नवमवासुदेवे, स०। आव०। प्रव० । (अस्य आजन्मकथा वसुदेवहिण्ड्यां प्रतिपादितः तत एवाऽवधार्या पञ्चाङ्ग्यां तदनुप्रकरणेषु च किञ्चित्किञ्चिदुपलब्धं वृत्त सन्दर्भवशादितस्तत. स्थापितम्। यथा कस्मिन् समये कस्य जिनस्यान्तरे जात इत्यन्तरशब्दे–अवरकाङ्कगमनमिति अच्छेर दोपदी शब्दयोः पितृनामायुर्गत्यादि वासुदेवशब्दे नेमिजिनेन सह वलपरीक्षणादि नेमि शब्दे–साङ्ग्रामिक्यादि भेरीप्राप्तिकथा भेरी शब्दे) अग्रमहिष्यश्चाग्रमहिषीशब्दे नवरमिह ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं वारावती णाम णयरी होत्थि दुवालसजोयणायामा नवजोयणावित्थिण्णा वेसवणमतिणिम्माया चामीकरपागारा णाणामणिपंचवण्णकविसीसरा मंडिता सुरमा अलकापुरीसंकासा पमुदितपकीलिया पच्चक्खं देवलोयभया पासादीया ४ तीसे णं वारवतीए णयरीए वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं रेवए णामं पव्वते होत्या । वण्णओ तत्थ णं रेवए पव्वते णंदणवणे णामं उज्जाणे होत्या । वण्णओ सुरप्पिए णामं जक्खायणे होत्या । पोराणे सेणं एगेण वणसंडेण असोगवरपायवे तत्थ णं वारवतीए णयरीए कण्हे णामं वासुदेवे राया परिवसइ महया रायवण्णओ से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हदसाराणं बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हमहावीराणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं संवमोक्खाणं सट्ठीए दुद्दंतसाहस्सीणं महासेणं पामोक्खाणं छप्पण्णाए बलवयसाहसीणं वीरसेणपामोक्खाणं एगवीसाए वीरसाहसेणं उग्गसेनपामोक्खाणं सोलसण्हरायसाहसीणं रूपिणीपामोक्खाणं सोलसण्हं देवीसाहस्सीणं अणंगसेणं पामोक्खाणं अणेगाणं गणितासाहस्सीण अणेसिं च बहूणं राईसर जाव सत्थवाहेण वारवतीए णयरीए अद्धभरहस्स य समंतस्स आहेवच्चं जाव विहराति ॥

(गयसुकुमार शब्देऽपि वृत्तम्) आर्यकृष्णाचार्ये, येन वोटिकमतप्रवर्तक. शिवभूतिर्दीक्षित आ० क० । दिगम्वरमतोत्पत्तिमूलं सहस्रमल्लस्तस्य गुरु किं नामेत्यत्र कृष्णाचार्य इति आवश्यकवृत्तौ तदधिकारे उक्तमस्ति ही० । " पुच्छ सिवभूइं पि य, कोसि य दुज्जत कण्हे य " कल्प० । श्रेणिकभार्यायां कृष्णाया

आत्मजे, नि०(तस्य वक्तव्यता निरयावलिकायाश्चतुर्थेऽध्ययने सूचिता प्रथमाध्ययनोक्तकालवक्तव्यतावज्ञेया) परब्रह्मणि, वेदव्यासे, अर्जुने, मध्यमपाण्डवे च । कृष्णवर्णत्वात् कोकिले, विश्व० । काके, मेदि० । करमर्दकवृक्षे, शब्दर० । नीले वर्णे, तद्वति त्रि० अमरः । कालागरुणि, राजनि० । अशुभकर्मणि, न० । द्रौपद्याम्, नीलीवृक्षे, पिप्पल्याम्, द्राक्षायाम्, स्त्री० मेदि० । नीलपुनर्नवायाम्, कृष्णजीरके, नीलाञ्जने, लोहे, मरिचे च पुं० जटाधरः । चन्द्रक्षयात्मके अर्द्धमासे, कृष्णसारमृगे, पुं० स्त्री० वाच० । " कएहेण वासुदेवे दस धणूइ उड्ढं उच्चत्तेणं दस वाससयाइं सव्वाउय पालयित्ता तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवी नेरइयत्ताए उववन्ने " स्था० १० ठा० ।

कएहकंद–कृष्णकन्द–पुं० क–स–साधारणशरीरवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० । कन्दविशेषे, उत्त० १ अ० । जी० । प्रज्ञा० । कृष्ण' कन्दोऽस्य नीलोत्पले, न० त्रिका० । वाच० ।

कएहकणियार–कृष्णकर्णिकार–पुं० कृष्णवर्णे कर्णिकारे, जी० ३ प्रति० ३ उ० ।

कएहकुमार–कृष्णकुमार–पुं० श्रेणिकभार्यायाः कृष्णाया आत्मजे, नि० (तद्वक्तव्यता निरयावलिकायाश्चतुर्थेऽध्ययने सूचिता तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्तकालकुमारवज्ज्ञेया)

कएहगोमि (ण्) –कृष्णगोमिन्–पुं० कृष्णशृगाले, " कएहगोमी जहा चित्ता, कटकं वा विचित्तयं " । कृष्णगोमी कृष्णशृगालो यथा स कृष्णादिभी रेखाभिश्चित्रा विचित्रवर्णा भवति । व्य० ६ उ० ॥

कएहणाम (न्)–कृष्णनामन्–न० वर्णनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं कृष्णं भवति राजपट्टादिवत्तत्कर्मापि कृष्णनाम, कर्म० ।

कएहपक्खिय–कृष्णपाक्षिक–पुं० कृष्णपक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिकः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । क्रूरकर्मणि, श्रा० । अधिकतरसंसारभाजिनि, उक्तं च " जेसिं वढो पुग्गल–परियट्टो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कएहपक्खीओ " ॥ १ ॥ प्रज्ञा० ३ पद । पं० स० । यो० विं० । स्था० (सुक्कयशब्दे दएमक उक्त०)

कएहपरिव्वायग–कृष्णपरिव्राजक–पुं० परिव्राजकभेदे, नारायणभक्तिके च । औ० ।

कएहबंधुजीव–कृष्णबन्धुजीव–पुं० कृष्णवर्णकुसुमे बन्धुजीववृक्षे, जी० २ प्रति० ३ उ० ।

कएहभूम–कृष्णभूम–पुं० कृष्णा भूमिर्यत्र अच्-समा०कालवर्णमृत्तिकायुक्ते देशे, हेम० । सकलसूत्रार्थग्रहणधारणसमर्थे कृष्णभूमप्रदेशतुल्ये विनेये, आ०म०प्र० (अस्य स्वरूपं सिस्सशब्दे " बुद्धे वि दोणमहे, न कएहभोमा व उवट्ठए उदयं " इतिगाथया घनदृष्टान्ते स्पष्टीभविष्यति)

कएहराइ–कृष्णराजि–स्त्री० कृष्णवर्णपुद्गलरेखायाम्, भ० ६ श० ५ उ० । कालकपुद्गलपङ्क्तौ, स्था० ८ ठा० ।

कृष्णराजयश्च कति इत्याह ।

कइ णं भंते ! कएहराईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कएहराईओ पण्णत्ताओ । कहि णं भंते ! एया अट्ठ कएहराईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं हिट्ठिं बंभलोए कप्परिट्ठे विमाणे पत्थडे । एत्थ णं अक्खाडगसमचउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ राईओ पण्णत्ताओ तं जहा पुरच्छिमेणं दो पच्चच्छिमेणं दो दाहिणेणं दो उत्तरेणं दो पुरच्छिमब्भंतरा कएहराई दाहिणं बाहिरं कएहराइं पुट्ठा दाहिणब्भंतरा कएहराई पच्चच्छिमबाहिरं कएहराइं पुट्ठा पच्चच्छिमब्भंतरा कएहराई उत्तरबाहिरं कएहराइं पुट्ठा उत्तरब्भंतरा कएहराई पुरच्छिमबाहिरं कएहराइं पुट्ठा दो पुरच्छिमपच्चच्छिमाओ, बाहिराओ कएहराईओ छलंसाओ दो उत्तरदाहिणबाहिराओ कएहराईओ तंसाओ दो पुरच्छिमपच्चच्छिमाओ अब्भंतराओ कएहराईओ चउरंसाओ दो उत्तरदाहिणाओ अब्भंतराओ कएहराईओ चउरंसाओ " पुव्वावरा छ लंसा, तंसा पुण दाहिणुत्तरावज्झा । अवसेसा चउरंसा, सव्वा वि य कएहराईओ " भ० ६ श० ५ उ० ।

(उप्पिमित्यादि) सुगमं नवरम् (उप्पिंरि) उपरि (हिट्ठिति) अधस्ताद्ब्रह्मलोकस्य रिष्टाख्यो यो विमानप्रस्तटस्तस्येति भावः । आखाटकवत्समं तुल्यं सर्वासु दिक्षु चतुरस्रं चतुष्कोणं यत्संस्थानमाकारस्तेन संस्थिता आखाटकसमचतुरस्रसंस्थानसंस्थिता. कृष्णराजयः कालपुद्गलपङ्क्तयस्तद्युक्तक्षेत्रविशेषा अपि तथोच्यन्त इति । यथा च ता व्यवस्थितास्तथा दर्शयन्ते (पुरच्छिमेणंति) पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशीत्यर्थः । द्वे कृष्णराजी एवमन्यास्वपि द्वे द्वे तत्र प्राक्तनीयका अभ्यन्तरा कृष्णराजी सा दाक्षिणात्यां बाह्यान्तां स्पृष्टा स्पृष्टवती एव सर्वा अपि वाच्यास्तथा पौरस्त्यपाश्चात्ये द्वे बाह्ये कृष्णराजी षडस्रे षट्कोटिके उत्तरादाक्षिणात्ये द्वे बाह्ये कृष्णराज्यस्रे सर्वाश्चतस्रोऽपीत्यर्थोऽभ्यन्तराश्चतुरस्रा स्था० ८ ठा० ।

कएहराईओ णं भंते ! केवइयं आयामेणं केवइयं विक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामेणं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ । कएहराईओ णं भंते ! के महालियाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अयणं जंबुद्दीवे जाव अद्धमासं वीईवएज्जा अत्थे गइए कएहराई वीईवएज्जा अत्थे गइए कएहराई णो वीईवएज्जाए महालियाओ गोयमा ! कएहराईओ पण्णत्ताओ । अत्थि णं भंते ! कएहराईसु गेहाइ वा गेहवणाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! कएहराईसु गामाइ वा जाव सण्णिवेसाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! कएहराईसु उराला बलाहया संसेइ ! हंता अत्थि । तं भंते ! किं देवो ? गोयमा ! देवो पकरेइ नो ? असुरो नो नाओ अत्थि णं भंते ! कएहराईसु बादरे थणियसद्दे २ जहा उराला तहा अत्थि णं भंते ! कएहराईसु बायरे आउकाए बायरे अगणिकाए बायरे वणप्फइकाए ! णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थविग्गहगइसमावण्णएण । अत्थि णं भंते ! चंदिमसूरिम ? णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं कएहराईसु चंदाभाइ वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे । कण्हराई णं भंते ! केरिसियाओ वण्णेणं पण्णत्ताओ ? गोयमा ! कालाओ जाव खिप्पामेव वीईवएज्जा । कण्हराई णं भंते ! कइ नामधेज्जा पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता तं जहा कण्हराईइ वा मेहराईइ वा मेघाइ वा माघवईइ वा वायफलिहाइ वा वायपलिक्खोभाइ वा देवफलिहाइ वा देवपलिक्खोभाइ वा ।

(नो असुरइत्ति) असुरनागकुमाराणां तत्र गमनासम्भवात् । (कण्हराइत्ति) पूर्ववत् (मेघराजीति वा) कालमेघरेखातुल्यत्वात् मेघेति वा) तमिस्रतया षष्ठनरकपृथ्वीतुल्यत्वात् (माघवइत्ति वा) तमिस्रयैव सप्तमनरकपृथिवीतुल्यत्वात्(वायफलिहाइ व त्ति) वातोऽत्र वात्या तद्वद्वा तमिस्रत्वात्परिघश्च दुर्लङ्घ्यत्वात् सा वातपरिघः (वायपरिक्खोभेइ व त्ति) वातो अपि वात्या तद्वद्वा तमिस्रत्वात्परिक्षोभहेतुत्वात्सा वातपरिक्षोभ इति (देवफलिहाइ व त्ति) देवानां परिघ इवार्गलेव दुर्लङ्घ्यत्वाद्देवपरिघ इति (देवपलिक्खोभेइ व त्ति) देवानां परिक्षोभहेतुत्वादिति ।

कण्हराईओ णं भंते ! किं पुढविपरिणामाओ आउजीवपोग्गलपरिणामाओ ? गोयमा ! पुढविपरिणामाओ वि नो आउपरिणामाओ जीवपरिणामाओ वि पोग्गलपरिणामाओ वि । कण्हराईसु णं भंते ! सव्वे पाणाभूया जीवा सत्ता उववण्णपुव्वा ? हंता ! गोयमा ! असइं अदुवा अणंतरक्खुत्तो नो चेव णं वायरआउकाइयत्ताए वादरअगणिकाइयत्ताए वा वादरवणप्फइकाइयत्ताए वा एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठसु उवासंतरेसु अट्ठ लोगंतियविमाणा पण्णत्ता तं जहा अच्ची अच्चिमाली वइरोयणे पभंकरे चंदाभे सुराभे सुक्काभे सुपइट्ठाभे मज्झे रिट्ठाभे भ०६श०५उ०।

एतासामष्टानां कृष्णराजीनामष्टस्ववकाशान्तरेषु राजीद्वयमध्यलक्षणेष्वष्टौ लोकान्तिकविमानानि भवन्ति एतानि चैव प्रज्ञप्त्यामुच्यन्ते अभ्यन्तरपूर्वाया अग्रेऽर्चिर्विमानं तत्र सारस्वता देवाः पूर्वयोः कृष्णराज्योर्मध्ये अर्चिर्मालीविमाने आदित्या देवा अभ्यन्तरदक्षिणाया अग्रे वैरोचने विमाने वाह्यदक्षिणयोर्मध्ये शुभङ्करे वरुणा अभ्यन्तरपश्चिमाया अग्रे चन्द्राभे गर्दतोया अपरयोर्मध्ये सुराभे तुषिता अभ्यन्तरोत्तरा अग्रेऽङ्काभे अव्याबाधा उत्तरयोर्मध्ये सुप्रतिष्ठाभे आग्नेयाः बहुमध्यभागे रिष्टाभे विमाने रिष्टा देवा इति । स्था० ८ ठा० ।

एएसि णं अट्ठसु लोगंतियविमाणेसु अट्ठविहा लोगंतिया देवा पण्णत्ता तं जहा सारस्सयमाइच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया य तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेव बोधव्वा । स्था० ८ ठा० ॥

ईशानस्याग्रमहिष्याञ्च।जी० ४ प्रति०।ती० (भवान्तरचरित्रमग्गमहिषीशब्दे उक्तम्)

कण्हरिसि–कृष्णर्षि–पुं० शङ्खावती नगरीजाते स्वनामख्याते तपस्विभेदे, " एसा संखावई नाम नयरी महातवसिस्स सुगहियनामधिज्जस्स कण्हरिसिणो जम्मभूमि त्ति " तीर्थ० ॥

कण्हवर्डिसय–कृष्णावतंसक– न० ईशानसत्कस्वनामख्याते विमानभेदे, ज्ञा० २० अ० ॥

कण्हसप्प–कृष्णसर्प–पुं० नित्य०कर्म०स० कृष्णवर्णे सर्पजातिभेदे, जी० ३ प्रति० २ उ० ।स्त्रियां जातित्वेऽपि सयोगोपधत्वात् टाप् । ओषधिभेदे, वाच० । राहौ च । यतः कृष्णसर्प इति तस्य गौण नामधेयम् सू० प्र० २० पाहु० ।

कण्हसिरि–कृष्णश्री–स्त्री० रोहीरनगरे दत्तस्य सार्थवाहस्य भार्यायां, देवदत्ताया मातरि, विपा० १ श्रु० ४ अ० ॥

कण्हा–कृष्णा– स्त्री० द्रौपद्याम्, प्रति० । ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य प्रथमाग्रमहिष्याम्, जी० । ती० । भ० (भवान्तरवक्तव्यता अग्गमहिसीशब्दे उक्ता)श्रेणिकभार्यायां कृष्णकुमारमातरि, नि० । विजयपुरनगरे वासवदत्तस्य राज्ञः पट्टराज्याम्, वि० २ श्रु० ४ अ० । आभीरविषये वहन्त्यां नद्याम्, " आभीरविषये वरहाए वेषए य नदीए अंतरा तावसा परिवसंति " यत्र ब्रह्मद्वीपः । आ० म० द्वि० । आ० चू० । नि० चू० । आ० क० ।

कण्हुइ–कचित्–अव्य० कचिदर्थे, दश० ए अ० । कस्मादित्यर्थे, " कुरुपुत्ताणिया गट्टी न निक्कसिज्जइ कन्हुइ " सत्त० २ अ० ।

कण्हुइरहस्सिय–कचिद्राहस्यिक– त्रि० कचित्कार्य्ये मएमलप्रवेशादिके रहस्यं येषां ते कचिद्राहस्यिकाः । तथाविधेषु आरण्यकेषु पाखण्डिकेषु, सूत्र० १ श्रु० १ उ० । दशा० ॥

कत्तण–कर्तन– न० कृत· भावे ल्युट्-छेदने, आ० चू० ५ अ० । सूत्र० । विदारणे, उत्त्रोटने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । स० । कर्तरि ल्युट्–शिथिलीकरणे, करणे ल्युट्–कर्तनसाधने, नि० स्त्रियां ङीप् । कर्तनी, कृत्–कर्त्तरि–ल्युट्–भेदकर्त्तरि, त्रि० वाच० ।

कत्तयंती–कर्त्तयन्ती– स्त्री० कर्त्तर्यां वस्त्रादिछिन्दत्याम्, "कर्त्तयन्त्या निष्ठीवनलिप्तौ हस्तौ " आव० ४ अ० ।

कत्तरिमुंम–कर्त्तरिमुण्ड– पुं० कर्त्तर्यां मुण्डने, मुण्डिते च त्रि० " अट्ठमासिए कत्तरिमुंमे " यदि कर्त्तर्यां कारयति तदा पक्खे पक्खे गुरुं करणीय तत्र प्रायश्चित्त निशीथोक्तम् । कल्प० ।

कत्तरी–कर्त्तरी– स्त्री० कृत-घञ् । कर्तं राति ददाति ग–क गौरा० ङीष्–तस्याऽधूर्तादौ ८ । २ । ३० । इति र्तस्य धूर्तादित्वात्त टः । प्रा० । कृपाण्याम्, पत्रवस्त्रादेश्छेदनसाधने अस्त्रभेदे, (कतरनी) "क्रूरमध्यगतश्चन्द्रो,लग्नं वा क्रूरमध्यगम् । कर्तरीनामयोगोऽयम्" इति ज्योतिषोक्ते योगभेदे, कृत् अरिः कर्त्तरिरित्यप्यत्र स्त्री० स्वार्थे, कन् कर्तरिकाऽप्यत्र स्त्री० वाच० । आव० ।

कत्तवार–कर्त्तवार– त्रि० कचवरप्राये असारे, ध० २ अधि० ।

कत्तवीरिय–कार्त्तवीर्य–पुं० कृतवीर्यस्यापत्यम् अण्–कृतवीर्यनृपापत्ये, परशुरामस्य मातृष्वसुः पुत्रे, आ० क० । आ० म० द्वि० । आ०चू० । (स च यमदग्निमुनेर्गां समाहरन् परशुरामेण मारितः इति कोह शब्दे उदाहरिष्यते) अस्यैव पुत्रो नाम्ना सुभूमोऽष्टमश्चक्रवर्ती जातः । स० । आ० चू० । आव० ।

कत्तव्व–कर्तव्य–त्रि० कृ–आवश्यके, तव्य० कर्तुं योग्ये, " मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्त्तव्य मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते" ॥ आ० चू० १ अ० ॥

कत्ता–क(र्ता) तृ–त्रि० कृ–तृ०कर्मणां कारके,कर्तृशब्दस्य ऋदन्तत्वादकारस्य च प्राकृतेऽभावात् नामावस्थारूप विभक्तिरहित दर्शयितुमशक्य सत्यामेव विभक्तौ प्राकृतलक्षणप्रवृत्तेश्च एवं

मात्रादिशब्देष्वपि ज्ञेयम् । अर्थप्रदर्शकशब्दस्य शैलीप्राप्तसम्पन्नत्वसंरक्षणायान्यथापि क्वचिद्दर्शितम् आ० म० द्वि०। स्वतन्त्रः कर्त्ता य स्वतन्त्रं स्वाधीनकरण स कर्त्ता यथा घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः । अष्ट० "कारिरित्यस्य रूपान्तरम्"कारिं भोइं च सयस्स कम्मस्स" कर्त्तार निर्वर्तकं कर्मणः । आव० ४ अ० । दर्श० ।

कत्ति–कृत्ति–स्त्री० कृत्यते–कृत्–कर्मणि–क्तिन् । चर्मणि, । नि० चू० १ उ० । औ० । बृ० ।

कत्तिम–कृत्रिम–न० कृ–क्त्रि कर्त्तर्मप् च । विमलवणे,मेदि०। काचलवणे, तुरुष्कनामगन्धद्रव्ये च राजनि०। सिल्हके, पुं० मेदि० । क्रियया निष्पन्नमात्रे, त्रि० वाच०। "कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव" जं० १ वक्ख० ।

कत्तिय–कार्त्तिक–पुं०कृत्तिका नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी–कृत्तिका–अण्–ङीप्–कार्त्तिकी साऽस्मिन् मासे अण्–पक्षे–ठक् । मासभेदे, यन्मासीयपौर्णमास्यां कृत्तिकानक्षत्रसंबन्धः सम्भवति वाच० । आ० म० प्र० । उत्त० । स्था० । स० । स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तत्कथानकं चैवम् ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं विसाहा णाम णयरी होत्था नमओ सामी समोसढेज्जा पज्जुवासइ तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे एवं जहा सोलसमसए विइयउद्देसए तहेव दिव्वेण जाणविमाणेण आगओ णवरं एत्थं आभिओगा वि अत्थि जाव वत्तीसइविहं नट्टविहं उवदंसेइ उवदंसेइत्ता जाव पडिगए भंतेति । भगवं गोयमं समणं भगवं महावीरं जाव एवं वयासी जहा तइयसए ईसाणस्स तहेव कूडागारसाला दिट्ठंतो तहेव पुव्वभवपुच्छा जाव अभिसमण्णागया गोयमादि समणे भगवं महावीरं भगवं गोयमं एवं वयासी एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे हत्थिणाउरे णामं णयरे होत्था वण्णओ, सहसंबवणे उज्जाणे वण्णओ तत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे कत्तियणामं सेट्ठी परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए णेगमपढमासणिए णेगमट्ठसहस्सं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु कुडुंबेसु य एवं जहा रायप्पसेणइज्जे चित्ते जाव चक्खुभूए णेगमट्ठसहस्सस्स सीयस्स य कुडुंबस्स य आहेवच्चं जाव कारेमाणे पालेमाणे समणे वासाए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ ॥ भ० १८ श० २ उ० ॥

(निरुपयोगिनी टीकेति न गृहीता) अत्र वृत्तान्तरम् । तथाहि पृथिवीभूषणनगरे प्रजापालो नाम राजा कार्तिकनामा श्रेष्ठी तेन श्राद्धप्रतिमानां शतं कृत ततः शतक्रतुरिति ख्यातिः । एकदा च गैरिकपरिव्राजको मासोपवासी तत्रागतः एकं कार्तिकं विना सर्वोऽपि लोकस्तद्भक्तो जातः तच्च ज्ञात्वा कार्तिकोपरि गैरिको रुष्टः । एकदा च राज्ञा निमन्त्रितोऽवदत् । यदि कार्तिकः परिवेषयति तदा तव गृहे पारणं करोमि राज्ञा तथेति प्रतिपद्य कार्तिकायोक्तम् । यत्त्वं मद्गृहे गैरिक भोजय ततः कार्तिकेणोक्तं राजन् ! भवदाज्ञया भोजयिष्यामि ततः श्रेष्ठिना भोज्यमानो गैरिको घृष्टोऽसीति अङ्गुल्या नासिकां स्पृशश्चेष्टां चकार । श्रेष्ठी दध्यौ यदि मया पूर्वं दीक्षा गृहीता ऽभविष्यत् तदाऽयं पराभविष्यदिति विचिन्त्याष्टाधिकसहस्रेण वणिक्पुत्रैः सह चारित्रं गृहीत्वा द्वादशाङ्गीमधीत्य द्वादशवर्षपर्यायैः सौधर्मेऽभूत् । गैरिकोऽपि निजधर्मतस्तद्वाहनं ऐरावतोऽभवत् । ततः कार्तिकोऽयमिति ज्ञात्वा पलायमान धृत्वा शक्रः शीर्षेऽप्यारूढः शक्रमापनार्थं रूपद्वय कृतवान् शक्रोऽपि तथा एव रूपचतुष्टयं चकार । ततश्चावधिना ज्ञातस्वरूपः शक्रस्तं तर्जितवान् तर्जितश्च स्वाभाविकं रूप चक्रे इति कल्प आ० चू० । आव० । ती० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वए अरहा आदिगरे जहा सोलसमसए तहेव समोसढे जाव परिसा पज्जुवासइ तए णं से कत्तिए सेट्ठी इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ एवं जहा एक्कारसमसए सुदंसणे तहेव णिग्गओ जाव पज्जुवासइ तहेणं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियस्स सेट्ठिस्स धम्मकहा जाव परिसा पडिगया तएणं से कत्तिए सेट्ठी मुणिसुव्वयस्स जाव णिसम्म हट्ठतुट्ठ उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता मुणिसुव्वय जाव एवं वयासी—एवमेयं भंते ! जाव से जहेयं तुब्भे वदह जं णवरं देवाणुप्पिया ! णेगमट्ठसहस्सं आपुच्छामि जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेमि तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं पव्वयामि अहासुहं जाव मा पडिबंधं करेह तए णं से कत्तिए सेट्ठी जाव पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणापुरे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता णेगमट्ठसहस्सं सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं धम्मं णिस्संते सेविय धम्मं इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए तएणं अहं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे जाव पव्वयामि तं तुब्भे देवाणुप्पिया ! किं करेह किं वसह किं भे हियइच्छिय किं भे सामत्थे तएणं णेगमट्ठसहस्सं तं कत्तियं सेट्ठिं एवं वयासी जइ णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा भीया जाव पव्वयाहिसि अम्हं देवाणुप्पिया ! किं अण्णे आलंबे वा आहारे वा पडिबंधे वा अम्हे वि णं देवाणुप्पिया संसारभयुव्विग्गा भीया जम्ममरणाणं देवाणुप्पिएहिं सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं मुंडे भवित्ता आगाराओ जाव पव्वयामो । तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सं एवं वयासी । जइ णं देवाणुप्पिया ! संसारभयुव्विग्गा भीया जम्ममरणाणं मए सद्धिं मुणिसुव्वय जाव पव्वयह । तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु गेहेसु विपुलं असनं जाव उवक्खडावेह मित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेह ठावेइत्ता तं मित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्तं आपुच्छेह आपुच्छइत्ता पुरिससहस्स वाहिणीओ सीयाओ दुरूहह दुरूहइत्ता मित्त जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेहि य समणुगम्ममाणमग्गा सव्विड्ढिए जाव रवेणं अकालपरिहीणं चेव मम अंतियं पाउब्भवह तएणं ते णेगमट्ठसहस्सं पि कत्तियस्स सेट्ठिस्स एयमट्ठं वि–

खएणं पमिसुणेंति पडिसुणेतित्ता जेणेव साइं साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता विपुलं असणं जाव उवक्खमावेंति उवक्खमावेंतित्ता मित्तणाइ जाव तस्सेव मित्तणाइ जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेंति ठावेंतित्ता तं मित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्ते य आपुच्छंति आपुच्छंतित्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूहंति दुरूहंतित्ता मित्तणाइणियगपरिजणेणं जेट्ठपुत्तेहिं य समणुगम्ममाणमग्गा सव्विड्ढी जाव रवेणं अकालपरिहीणं चेव कत्तियस्स सेट्ठियस्स अंतियं पाउब्भवंति तए णं से कत्तिए सेट्ठी विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जहा गंगदत्तो जाव मित्तणाइ जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तं णेगमट्ठसहस्सेण य समणुगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव रवेणं हत्थिणापुरं णयरं मज्झंमज्झेणं जहा गंगदत्तो जाव आलित्तेणं भंते ! लोए पलित्तेणं भंते ! लोए आलित्तपलित्तेणं भंते ! लोए जाव आणुगामियत्ताए भविस्सइ । इच्छामि णं भंते ! णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावियं मुंडावियं जाव माइक्खियं । तए णं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियं सेट्ठिं णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावेइ जाव धम्ममाइक्खंति एवं देवाणुप्पिया गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं जाव संजमियव्वं । तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सेण सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ इमं एयारूवं धम्मियं उवदेसं सम्मं संपडिवज्जइ । तमाणाए तहा गच्छइ जाव संजमइ । तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सेण सद्धिं अणगारे जाव इरियासमिए जाव गुत्तबंभयारी तए णं से कत्तिए अणगारे मुणिसुव्वयस्स अरहओ तहारूवाणं थेराणं अंतियं सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ अहिज्जइत्ता बहूइं चउत्थछट्ठट्ठमं जाव अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ पाउणइत्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसेइ झोसेइत्ता सट्ठिभत्ताइं अणसणाइ छेदेइ छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते जाव किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि जाव सक्के देविंदत्ताए उववण्णे । तए णं सक्के देविंदे देवराया अहुणोववण्णे सेसं जहा गंगदत्तस्स जाव अंतं काहिति णवरं ठिई दोसागरोवमाइं पण्णत्ता सेवं भंते ! भंतेत्ति । भ० १८ श० २ उ० ॥

षष्ठतीर्थंकरस्य पूर्वभवे जीवे, स० । शरवणसंनिवेशे जाते तपस्विवरे, स चानशनं कृत्वा शरीरं व्युत्सृजतीति अनशनशब्दे उक्तम् स्था० ॥ कृत्तिकासु जातः कार्तिक कृत्तिकानक्षत्रोत्पन्ने पुत्रादौ, अनु० । कृत्तिकानामयं पोष्यत्वेन अण् असौ । निषिक्तरुद्रतेजोजाते स्कन्दे देवे, कार्तिकेयोऽप्यत्र वाच० ।

कत्तिया–कर्तिका–स्त्री०कर्तर्य्याम् , गृहीतोपधिमित्युक्ते,स एवोपधिममहीत । कर्तिकां कङ्कलोहस्य गोपितां चाददे तदा। आ०क०। स्था० ए ठा० । कृत्तिका स्त्री० कृन्तति-उग्रत्वात्-कृत्-ति कन् किच । अभिजिदादिषु दशमे नक्षत्रे याच० । कृत्तिकानक्षत्रस्याग्निर्देवता "कत्तियाए अग्गिदेवयाए" ज्यो०६पाहु०।स्था०। जं०। "कत्तियाइ यानक्खत्ता पुव्वदारिया" प० स० । "कत्तिया णक्खत्ते छत्तारे" प०स० । स्था० "दो कत्तियाओ स्था०२ठा० । "कत्तियाणक्खत्ते सव्वबाहिराओ मण्डलाउए दसमे मण्डले चारं चरइ" स्था० १० ठा० । कार्त्तिकी-स्त्री० कृत्तिकाया भवः कार्तिकी । कार्तिकमाससम्बन्धिन्यां पूर्णिमायाम्–चं० प्र० १० पाहु० । पूर्णिमाशब्दे वक्ष्यते । कृत्तिकानक्षत्रेणोपलक्षितो यः कार्तिको मास सोऽप्युपचारात् कार्तिको तस्या भवा कार्तिकी कृत्तिकानक्षत्रपरिसमाप्यमानकार्तिकमाससम्बन्धिन्याममावास्यायाम् चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० । आव० ।

कत्तियासणिच्छरसंवच्छर–कृत्तिकाशनैश्चरसंवत्सर– पु० शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यस्मिन् संवत्सरे कृत्तिकानक्षत्रेण शनैश्चरो योगमुपादत्ते, जं० ७ वक्ष० ।

कत्तिवविय–कृत्रिम–त्रि०सद्भावरहिते, "कत्तिववियाहिं उवहिप्पहाणाहिं" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

कत्तो–कुतस–अव्य०तो दो तसो वा ८ । २ । १६० । इति तसः प्रत्ययस्य स्थाने तो प्रा० । किम: कत्रतसोश्च ८ । ३ । २७१ । इति किमः क: कत्तो कदो कस्मादित्यर्थे, कत्तो त चक्कवट्टी त्ति प्रा० । आ० म० द्वि० ।

कत्थ–कथ्य–न० यत्र कथिकादि गीयते तस्मिन् गेयभेदे, जी० ३ प्रति० २ उ० । जं० । रा० । कथायां साधु कथ्यम् ज्ञाताध्ययनवत् । काव्यभेदे, स्था० ४ ठा० । अनन्तवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० ५ उ० । प्रज्ञा० ।

कुत्र– अव्य० किम–सप्तम्यास्त्रल् तस्य त्थ–किमः कत्रतसोश्च ८ । ३ । ७१ । इति किम क । कत्थ, प्रा० (क) कस्मिन्नित्यर्थे व्य० १ उ० "कहिं बोहिं चइत्ताण, कत्थ गतूण सिज्झइ" औ० ।

कत्थइ–क्वचित्–अव्य० क्वचित् । गोणादय ८ । २ । ७४ । इति निपातनात् कत्थइ, प्रा० । कुत्रचिदर्थे, "अणत्थकत्थइ" अनु० । पचा० ।

कत्थंत–कत्थ्यमान–त्रि० कथ–कर्मणि यक् । गमादीनां द्वित्वम् ८ । ४ । ४८ । इति थस्य द्वित्व तत्सन्नियोगेन यलुक् । वाचा प्रवच्यमाने, प्रा० ।

कत्थूरी–कस्तूरी–स्त्री०कसति गन्धोऽस्या दूरत कस्-उरचातुट् च मृगमदे मृगनाभिजाते गन्धद्रव्यभेदे, स्वार्थे कन् । कस्तूरिका तत्रैव वाच० । कल्प० । सथा ।

कद्दम–कर्दम– पु०कर्द–अम जम्बाले,स्था०३ठा०।पङ्के,स्था०५ठा०। यत्र प्रविष्ट पादादिनाऽऽकष्टुं शक्यते कष्टेन वा शक्यते स्था० ४ ठा० । "अवरुद्धनिसुद्धनिसफालियपगलियरुहिरकयभूमिकद्दमचिक्खिल्लपहे" प्रश्न० १ आश्र० ४ अ० । कारणे–अम–पापे, औणादिक तस्य कुत्सितशब्दहेतुत्वात् तथात्वम् । मासे, न० शब्दचि० । तत्सेवने हि उदारशब्दो जायते इति तस्य तथात्वम् वाच० । तत ऋश्यादि–चतुरर्थ्यां क् कर्दमपङ्कसन्निकटदेशादौ, त्रि० कर्दमो जातोऽस्य तारका–इतच् कर्दमितः । जातकर्दमे, त्रि० अर्श० मत्वर्थे–अच् । कर्दमयुक्ते, त्रि० कर्दमिन् पु० तद्युक्ते,

त्रि० मुरुमूके, पु० वैद्य० । तस्य कर्दमसमीपजातत्वात्तथात्वम् । पृषोद० कर्दमीत्यपि तत्रार्थे वाच० ।

कद्दमउवमा–कर्दमोपमा–स्त्री० कर्दमसादृश्ये, " अहवा ज हु-क्खुत्तो कद्दमउवमाइ पक्खिवइ कोट्ठे सव्वो सो आहारो अप्पा वा" बुभुक्षया आर्ताय कर्दमोपमया गृहादिकोष्ठे प्रक्षिपति कर्द-मोपमान्नमपि कर्दमापिण्मानां कुर्य्यात् कुक्षिं निरन्तरं स स-र्वोऽप्याहारः वृ० ६ उ० ।

कद्दमग–कर्दमक–त्रि० कर्दमे कायति प्रकाशते कै क–शालिभेदे, वाच० । जम्बूद्वीपस्य बाह्याद् वेदिकान्ताद् आग्नेय्यां विदिशि द्वाचत्वारिंशद्योजनातिक्रमे विद्युत्प्रभविद्युज्जिह्वस्यानुवेलन्धरा-वासपर्वतस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ठा० ।जी० । लवणसमुद्रे, आग्नेय्यां विद्युत्प्रभपर्वतस्तत्र कर्दमको नाम नागराजः प्र० ६ उ० ३ श० ।

कद्दमलित्त–कर्दमालिप्त–त्रि०३ त० पङ्केन लिप्ते खरण्टिते, वृ०१उ०

कधं–कथम्–अव्य० धः शौरसेन्याम् ८ ।४। ६६ ।थस्य धः शौर-सेन्याम् । केन प्रकारेणेत्यर्थे, प्रा० ।

कधितून–कथयित्वा–अव्य० पैशाच्यां क्त्वस्तून् ः ८ । ४ । ११। इति त्वा प्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेशः उक्त्वेत्यर्थे, । प्रा० ।

कप्प–कल्प–पु०कृप्-णिच् अच् समर्थे, यथा वर्षाप्रमाणभरण-परिपालने कल्पः समर्थः इत्यर्थः।वृ०१उ०।केवलकल्प केवलः परि-पूर्णः स चासौ कल्पश्च स्वकार्य्यकरणे समर्थः इति केवलकल्पः के-वल एव वा कल्प त०ा.१२अ.।वर्णानायाम्,यथाऽध्ययनमिदमनेन कल्पितं वर्णितमित्यर्थः वृ.१उ ।कल्पनायाम्,स्था.७ठा०।छेदने,यथा केशान् कर्त्तर्य्या कल्पयति छिनत्तीत्यर्थः वृ० । नि० चू० ।आचा०। करणक्रियायाम्, यथा कल्पिता मयाऽस्या जीविका कृता इत्य-र्थः ।वृ०१उ०। आचारे, स्था०२ठा०।औपम्ये, यथा सौम्येन ते-जसा च यथाक्रममिन्दुसूर्य्यकल्पाः साधवः वृ० १ उ० ।केवलकल्प केवलोपमम् इह कल्पशब्द औपम्ये गृह्यते इति आ.म०प्र०।"उग्गते य कप्पा " कल्पाः सदृशाः प्रश्न०२ सं०द्वा०२ अ०। अधिवासे, यथा सौधर्मकल्पवासी शक्रः सुरेश्वरः उक्तच "सामर्थ्ये वर्ण-नाया च, छेदने करणे तथा । औपम्ये चाधिवासे, च कल्पशब्द विदुर्बुधाः" वृ० । प० भा० । आ० म० द्वि० ।स्था०। कल्पाध्य-यननामके छेदग्रन्थविशेषे, जी० १ प्रति० । इह सर्वेष्वप्यर्थेषु गृह्यते सर्वत्रापि घटमानत्वात्तथा हि सामर्थ्ये तावदेतावदेतत्क-ल्पाध्ययनमधीत्यातीचारमलिनस्य साधोः समर्थः प्रायश्चित्तेन विशोधिमापादयितु वर्ण्यतेऽपि यावन्तः प्रायश्चित्तप्रकारास्तान् वर्णयतीदमध्ययनम् । अथवा मूलगुणांश्च कल्पयति वर्णयतीति कल्प । उक्तंच । " कप्पम्मि कप्पिया खलु, मूलगुणा चेव उत्त-रगुणा य । ववहारे वहरिया, पायच्छित्ता भवते य" छेदनेऽपि तप ओघमतिक्रान्तस्य पञ्चकादिच्छेदनेन पर्याय छिनत्ति करणेऽपि यद्दत्त प्रायश्चित्त तत्र तथा प्रयत्न करोति कल्पाध्यय-नवेत्ता यथा तत्पारं नयति । अथवा कल्पयति जनयत्याचार्य-कर्मिणि कल्पस्तथाहि करोत्याचार्यक कल्पाध्ययनवेत्ता सम्य-गिति औपम्येऽपि कल्पाध्ययनवेदनात् भवति पूर्वधराणां कल्प-सदृश इति कल्पस्तथाहि कल्पाध्ययनेऽधीते भवति पूर्वधरस-दृशः प्रायश्चित्तविधावाचार्य । अधिवासेऽपि कल्पाध्ययनवेत्ता कल्पे मासकल्पे वर्षाकल्पे वा कारणमन्तरेण परिपूर्णे कारणवशात ऊनमतिरिक्त च। अथवा कल्पे स्थविरकल्पे जिनकल्पे वाधिवस-तीति कल्प वृ०१उ० (कल्पव्यवहाराध्ययनयोर्भेदो ववहारशब्दे)

अस्य चैवमुपोद्घातः ।

प्रकटीकृतनिःश्रेयस–पदहेतुस्थविरकल्पजिनकल्पम्
नम्रा शेषनरामर–कल्पितफलकल्पतरुकल्पम् ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवीरजिनं, गुरुपदकमलानि बोधविपुलानि ।
कल्पाध्ययनं विवृणोमि, लेशतो गुरुनियोगेन ॥ २ ॥
भाष्यं क चातिगम्भीर, क चाह जमशेखरः ।
तदत्र जानते पूज्या, ये मामेवं नियुज्यते ॥ ३ ॥
अद्भुतगुणरत्ननिधौ, कल्पे साहायकं महातेजाः ।
दीप इव तमसि कुरुते, जयति यतीशः स चूर्णिकृत ॥ ४ ॥

इह शिष्याणां मङ्गलबुद्धिपरिग्रहाय शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने चावश्य मङ्गलमभिधातव्यम् । यत आदिमङ्गलपरिगृहीतानि शा-स्त्राणि पारगामीनि भवन्ति । मध्यमङ्गलपरिगृहीतानि शिष्यबु-द्धिष्वारोपितानि स्थिरपरिचितान्युपजायन्ते । पर्यन्तमङ्गलसमल-ङ्कृतानि शिष्यप्रशिष्यपरम्परागमनतः स्फीतीभवन्ति । उक्तंच ।

तं मंगलमाईए, मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स ।
पढमं सत्थत्था वि–ग्घ पारगमणाय निद्दिट्ठं ॥
तस्से व य थिज्जत्थं, मज्झिमयं अंतिमं पि तस्सेव ।
अव्वोच्छित्ति निमित्त, सिस्सपसिस्सादिवंसस्स ॥

तत्रादिमङ्गलं पापप्रतिषेधत्वादिद सूत्रम् ॥

" नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए " इति मध्यमङ्गलम् ।"कप्पति निग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा पुरच्छिमेणं जाव अगमगाहातो इत्तए "एव-मादिपर्यवसानमङ्गलम् "छव्विहा कप्पठिती पण्णत्ता" इत्यादि । तच्च मङ्गल चतुर्धा वक्ष्यमाणस्वरूपम् । तत्र यत्नो आगमतो भा-वमङ्गल तद् द्विविधं सूत्रभणित सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणित च भाष्यभणितमित्यर्थः । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेर्भाष्यस्य च सप्रत्येक-ग्रन्थत्वेन जातत्वात् । अथ कः सूत्रमकार्षीत् । को वा निर्युक्तिं को वा भाष्यमिति उच्यते । इह पूर्वेषु यन्नवम प्रत्याख्याननामक पूर्व तस्य यत्तृतीयमाचाराख्य वस्तु तस्मिन् विंशतितमे प्राभृते मूलगुणेषु उत्तरगुणेषु वा पराधेषु दशविधमालोचनादिक प्राय-श्चित्तमुपवर्तित कालक्रमेण च दुष्षमानुभावतो धृतिबलवीर्य-बुद्ध्यायु प्रभृतिषु परिहीयमाणेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जाता-नि ततो मा भूत्प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्द-शपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहा-रसूत्रं चाकारि । उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ती इमे । अपि च कल्पव्यवहारसूत्रे सनिर्युक्तिके अल्पग्रन्थतया महा-र्थत्वेन दुष्षमानुभावतो हीयमानमेधाऽयुरादिगुणानामिदानीं-तनजन्तूनामल्पशक्तीनां दुर्गत्वे दुरवधारे जाते ततः सुख-ग्रहणधारणाय भाष्यकारो भाष्यं कृतवान् । तच्च सूत्रस्प-र्शिकनिर्युक्त्यानुगतमिति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्य चैको ग्र-न्थो जात । एष शास्त्रस्योपोद्घातोऽनेन चोपोद्घातेनाभिहितेन सू-त्रादयोऽर्था व्यक्ता भवन्ति । यथा दीपेनापवरके तमसि उक्तं च " वत्ती भवति अत्था, दीवेणं अप्पगासउव्वरए । वत्ती भवति अत्था, उवघाएण तहा सत्थे " उपोद्घाताभिधानमन्तरेण पुनः शास्त्र स्वतोऽतिविशिष्टमपि न तथाविधमुपादेयतया विराजते । यथा नभसि मेघच्छन्नश्चन्द्रमा ।उक्त च"मेघच्छन्नो यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले । उपोद्घातं विना शास्त्रं,न राजति तथाविधम्" तत्र सूत्रभणितम् । " नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे " इत्यादि सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितमिदम् ।

काऊण नमोक्कारं, तित्थयराणं तिलोगमहियाणं ।
कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि ॥

कृत्वा विधाय नमस्कारं प्रणामं केभ्य इत्याह । तीर्थकरेभ्यस्तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं द्वादशाङ्गं प्रवचनं तदाधारः संघो वा तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यो गाथायां षष्ठी चतुर्थ्यर्थे प्राकृतत्वादुक्तं च " छट्ठीविभत्तीए भन्नइ चउत्थी इति " किं विशिष्टेभ्य इत्याह । त्रिलोकमहितेभ्यः त्रयो लोकाः समाहृताः समवसरणे त्रयाणामपि सम्भवात् । तथा हि समागच्छन्ति भगवतां तीर्थकृतां समवसरणेष्वधोलोकवासिनो भवनपतयस्तिर्यग्लोकवासिनो वानमन्तरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियज्योतिष्का ऊर्ध्वलोकवासिनः कल्पोपपन्नका देवास्त्रिलोकेन महिता पूजिताः त्रिभिर्वा लोकैर्महितास्त्रिलोकमहितास्तेभ्यः नमस्कारं कृत्वा किमित्याह । कल्पश्च व्यवहारश्च कल्पव्यवहारौ तयोर्व्याख्यानविधिमनुयोगविधिं प्रकर्षेण भृशं वा वक्ष्यामि । (कल्पव्यवहारयोर्भेदो ववहारशब्दे) (अनुयोगशब्देऽस्यानुयोग उक्तः) बृ० १ उ० ।

स च षड्विधः ।

नामं छव्विहकप्पो, दव्वे वासिपरसुमाईसु ।
खित्ते काले जहुव-क्कमम्मि भावे उ पंचविहो ॥

नामनिष्पन्ने निक्षेपे कल्प इति नाम । स च षोढा तथा नामकल्पः स्थापनाकल्पो द्रव्यकल्पः क्षेत्रकल्पः कालकल्पो भावकल्पश्च । तत्र नामस्थापने प्रतीते द्रव्यकल्पो येन वासीपरश्वादिना द्रव्येण कल्पते तद्द्रव्यकल्पम् । क्षेत्रकल्पो यथा क्षेत्रोपक्रमः । कालकल्पो यथा कालोपक्रमः । भावकल्पः पञ्चविधः पञ्चप्रकारस्तमेवाह ।

छव्विह सत्तविहे वा, दसविह वीसइविहे य बायाला ।
जस्स उ नत्थि विभागो, सुव्वत्तजलंधकारो सो ॥

भावतः कल्पः षड्विधः सप्तविधो दशविधो विंशतिविधो द्वाचत्वारिंशद्विधश्च एते पञ्चापि प्रकाराः पञ्च कल्पे व्याख्यातास्तथा ज्ञातव्या यस्य त्वेष विभागः पञ्चप्रकारो भावकल्पपरिज्ञानं नास्ति (से) तस्य सुव्यक्तं जलान्धकारः ॥ (बृ० १ उ०)

सूत्रनिर्युक्तिभाष्यचूर्णिवृत्तिकृतां नामानि वृत्तिकारौ च द्वौ तत्र कियती वृत्तिः केन कृतेत्यपि चाह ।

नतमघवमौलिमणिमल-मणिमुकुटमयूखधौतपदकमलम् ।
सर्वज्ञमसृतवाचं, श्रीवीरं नौमि जिनराजम् ॥१ ॥
चरमचतुर्दशपूर्वी-कृतपूर्वीकल्पनामकाध्ययनम् ।
सुविहितहितैकरसिको, जयति श्रीभद्रबाहुगुरुः ॥ २ ॥
कल्पेऽनल्पमनर्घ्यं, प्रतिपदमर्पयति योऽर्थनिकुरम्बम् ।
श्रीसङ्घदासगणये, चिन्तामणये नमस्तस्मै ॥ ३ ॥
शिवपदपुरपथकल्पं, कल्पं विषममपि दुःषमारात्रौ ।
सुषमीकरोति यच्चू-र्णिदीपिका स जयति यतीन्द्रः ॥ ४ ॥
आगमदुर्गमपदस-शयादितापो विलीयते विदुषाम् ।
यद्वचनचन्दनरसै-र्मलयगिरिः स जयति यथार्थः ॥ ५ ॥
श्रुतलोचनमुपनीय, ममापनीय भ्रमिमजन्मान्ध्यम् ।
यैरदर्शि शिवमार्गः, स्वगुरूनपि तानहं वन्दे ॥ ६ ॥
ऋजुपदपद्धतिरचनां, बालशिरःशेखरोऽप्यहं कुर्वे ।
यस्याः प्रसादवशतः, श्रुतदेवी साऽस्तु मे वरदा ॥ ७॥
श्रीमलयगिरिप्रभवो, यां कर्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्तः ।
सा कल्पशास्त्रटीका, मयानुसंधीयतेऽल्पधिया ॥ ८ ॥

इह श्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधारः परोपकारकरणैकदीक्षादीक्षितसुगृहीतनामधेयः श्रीभद्रबाहुस्वामी सकर्णकर्णपुटपीयमानपीयूषायमाणललितपदकलितपेशलालापकं साधुसाध्वीगतकल्प्याकल्प्यपदार्थसार्थविधिप्रतिषेधरूपकं यथायोगमुत्सर्गापवादपदपद्धतीसूत्रकवचनरचनागर्भे परस्परमनुस्यूनाभिसम्बन्धुरपूर्वापरसूत्रसंदर्भं प्रत्याख्यानाख्यनवमपूर्वान्तर्गताचारनामकतृतीयवस्तुरहस्यनिष्पन्दकल्पं कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्यूढवान् अस्य च स्वल्पग्रन्थमहार्थतया प्रतिसमयमवसर्पिणीपरिणतिपरिहीयमाणमतिमेधाधारणादिगुणग्रामाणामैदंयुगीनसाधूनां दुरवबोधतया च सकलत्रिलोकीसुभगकरणक्षमाश्रवणनामधेयोऽभिधेयैः श्रीसङ्घदासगणिपूज्यैः प्रतिपदप्रकटितसर्वज्ञाज्ञाविराधनासमुद्भूतप्रत्यपायजालं निपुणचरणपरिपालनोपायगोचरविचारवाचालं सर्वथा दूषणकरणेनाप्यदूष्यं भाष्यं विरचयांचक्रे इदमप्यतिगम्भीरतया मन्दमेधसां दुरवगममवगम्य यद्यप्यनुपकृतपरोपकृतिकृता चूर्णिकृता चूर्णिरासूत्रि तथापि सा निबिडजडिमजम्बालजालजटिलानां मादृशां जन्तूनां न तथाविधमवबोधनिबन्धनमुपजायते इति परिभाव्य शब्दानुशासनादिविश्वविद्यामयज्योतिः पुञ्जपरमाणुघटितमूर्तिभिः श्रीमलयगिरिमुनीन्द्रपादैर्विवरणकरणमुपचक्रमे तदपि कुतोऽपि हेतोरिदानीं परिपूर्णं नावलोक्यते इति परिभाव्य मन्दमतिमौलिमणिनाऽपि मया गुरूपदेशं निश्रीकृत्य श्रीमलयगिरिविरचितविवरणादूर्ध्वं विवरीतुमारभ्यते । (बृ० १ उ०) पीठिका समाप्ता काव्यम् ॥

चारित्रनृपालनिवासहेतु-प्रासादकल्पे किल कल्पशास्त्रे ।
सुवर्णबद्धा सुरसावगाढा, समर्थिता सम्प्रति पीठिकेयम् ॥
इति कल्पपीठिका परिसमाप्ता । समाप्ते प्रलम्बसूत्रे काव्यम् ।
दुर्गस्थानवहुत्वभीरुकतया मन्दाऽपि दातुं पदा-
न्येतच्चूर्णिनिशीथचूर्णियुगलीयष्टिद्वयीदर्शनात् ।
प्रेर्यं प्रेर्यं पदे पदे निजगवीक्लिप्रप्रचारं मया,
कल्पे यत्प्रकृतं प्रलम्बविषयं तद्गोचरे चारिता ।

मासकल्पसमाप्तौ काव्यम् ॥

चूर्णिश्रीकृतभाष्यप्रभृतिबहुतिथग्रन्थसार्थाभिरामा-
रामादर्थप्रतानैस्त्वरितमवचितैः सूक्तिसौरभ्यसारैः ।
चेतःपट्टे निधाय स्वगुरुशुचिवचैस्तन्तुभिर्गुम्फितेयं,
श्रीकल्पे मासकल्पप्रकृतिविवरणस्रङ् मया भव्ययोग्या।
समग्रस्य कल्पाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रस्य वा ज्ञाने दृष्टान्तः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः

जो एतं न विजाणइ, पढमुद्देसस्स अंतिमं सुत्तं ।
अहव ण सव्वज्झयणं, तत्थ उ नाणं इमं होइ ॥

यस्त्वाचार्य एतत्प्रस्तुतं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यं सूत्रं न जानाति । अथवा सर्वमपीदं कल्पाध्ययनं यो न जानाति तत्राचार्ये इदं वक्ष्यमाणज्ञानमुदाहरणं भवति । आह किमर्थं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रं न जानातीत्युक्तम् ? उच्यते ।

उज्जालितो पदीवो, चाउस्सालस्स मज्झभागम्मि।
पमुहे वा तं सव्वं, चाउस्सालं पगासेति॥

चतुःशालस्य गृहस्य मध्यभागे प्रमुखे वा प्रवेशनिर्गममुखे प्रदीपो ज्वालितः सन् तच्चतुःशालं सर्वमपि प्रकाशयति एवमत्रापि सकलाध्ययनवर्तिनि प्रस्तुतसूत्रे यदिदं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रं न जानातीत्युक्तं तन्मध्यदीपकमवगन्तव्यम् । यद्वा यस्मा-

यत्र प्रथमोद्देशके समासतः सर्वाऽपि सामाचारी समर्थिता । ततश्च तु शालप्रमुखो ज्वलितप्रदीप इवेदमन्यदीपकमवसातव्यम्। ततश्चेदमुक्तं भवति यः पठन्न कल्पाध्ययनं प्रथमोद्देशक वा जानाति स गणपरिवर्त्ती भगवद्भिर्नानुज्ञातः। इदमेव प्रचिकटयिपुस्तत्राचार्ये ज्ञातमिद भवतीति पद व्याख्यानयति ।

जो गणहरो न जाणति, जाणतो वा न देसती मग्गं।
सो सप्पसीसयमिव, विणस्सति विज्जपुत्तो वा ।

यः कश्चिद्गणधरो मार्गं यथोक्तसमाचारीरूपं न जानाति जानाति वा परं न शिष्याणां तं मार्गमुपदिशति स सर्पशीर्षकमिव वैद्यपुत्र इव वा विनश्यति । तत्थ इमं कप्पियं उदाहरणं । एगो सप्पो निश्च पत्राए अप्पाण जहासुहं विहरइ ताहे से पुंछमो भणति । तुम निश्चमेव पुरतो गच्छसि अन्यच्च ।

सीतुण्हवासेयमहंधकारे, णिच्चं पि गच्छामि जओमणासा।
गतंव्वए सीसग! कंचि कालं, अहं पि ता होज्ज पुरस्सरातो

भो शीर्षक! नित्य मप्यहं भवत्पृष्ठग्रन्था सती यतो यतो मां नयसि तत्र शीते वा उष्णे वा वर्षे वा निपतति तमोऽन्धकारे वा घनतम-पटलविलुप्त प्रदेशे गच्छामि किं करोमि पर सांप्रत कंचित्काल गन्तव्ये गमने अहमपि तावत्ते तव पुरस्सरा भवेयम्। शीर्षकं प्राह ।

ससक्करे कंटइले य मग्ग, वज्जेमि मोरे णउलादिए य ॥
बिले य जाणामि अदुट्ठदुट्ठे,मा ता विसूराहि अजाणि एवं॥

हे पुच्छिके ! सशर्करान् शर्करायुक्तान् कण्टकाकुलांश्च मार्गान् वर्जयामि । यत्र च मयूरनकुलादींश्चात्मोपद्रवकारिणः पश्यामि तत्र न गच्छामि। बिलानि वाऽमूनि अदुष्टानि अमूनि च दुष्टानि इत्येवमहं सम्यक् जानामि । त्व पुनरेतेषां मध्यादेकमपि न जानासि । अतस्त्वमेवमजानती मा तावद् । (विसूराहित्ति) खिदेर्ज्जूरविसूरावित्यादेशे मा खेदमनुभवेत्यर्थः ॥ पुच्छिका प्राह ।

तं जाणगं होहि अजाणिगाहं, पुरस्सरा मेत्र भवाहि मज्झ।
एसो अहं गलियासएणं,लग्गाहुअं सीसग! वच्च पच्छा।

शीर्षक ! त्व ज्ञायको भव अहमज्ञायिकापि स्थास्यामि पुरस्सरा परं भवामि त्व मे पश्चाद् व्रज । शीर्षकं प्राह ।

अकोविए होउ पुरस्सरा मे, अत्रं विरोहेण अपंमितेहिं ।
वंसस्स छेदं अमुणे इमस्स, दट्ठूण जो गच्छसितो गतासि ॥

अकोविदे ! मूख ! भव मे मम पुरस्सरा अत्रमपरिमितैः सह विरोधेन वर्त्तितेन पर हे अमुणे ! अज्ञे ! अस्य मदीयवंशस्य छेदमपि दृष्ट्वा यदि गच्छसि ततस्त्वमपि गतासि विनष्टासीत्यर्थः। अस्य कार्यस्य पर्यवसानं पश्चात्त्वमपि ज्ञास्यसीति भावः। अपि च।

कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदी व कूलं कुलटा उ नारी।
णिव्वंध एसो णहि सोभणो ते,
जहा सिगालस्स व गाइतव्वे ॥

स्वयमात्मच्छन्देन प्रयाता प्रवृत्ता कुलटा स्वैरिणी नारी कुलं च विनाशयति । कथमित्याह ' नदीव कूलं नदी स्वैरं महत्तर प्रवृत्ता सती कूलमुन्नयमपि पातयति तथैपापि कुलद्वयमित्यर्थः। न चायमीदृशो निर्बन्ध कदाग्रह शोभन परिणामसुन्दरो भविता । यथा शृगालस्य गानव्ये उन्नादितव्ये निर्बन्धो न शोभन स जात इत्यत्र खसट्टनामाख्यानकम् ।

"एको सियालो रत्ति घर पविट्ठो घम्माणसेहिं चेतितो निच्छुभिज्जमाढतो सो सुणगाईहिं पारद्धो नीलीरागरजणमितो कह वि ततो उत्तिण्णो नीलवण्णो जातो । त अन्नारिसं दट्ठूण सरक्खा सियालाई पासिउ भणति को तुमं पुरिसा सो भणइ । अहं सव्वाहिं मिगजाईहिं खसट्टमो नाम मिगराजा कतो । ततो मह पत्थमागतो पासामि ताव को म न नमति । ते जाणति अपुव्वो पयस्स वण्णो अवस्स एस देवेहिं अणुग्गहितो । तओ प्रणितं अम्हे तव किंकरा संदिसह किं करेमो । खसट्टमो भणति। हत्थिवाहणं देयदिण्णो विअज्जो वियरति । अणया सियालेहिं उच्छुईयं ताहे खसट्टमेण तं सियालसद्दावमसहमाणेण उण्णइयं । ततो हत्थिणा सो सियालोत्ति नाउ सोमाए घेत्तु मारितो जहा सो सियालो अणुईए विणट्ठो एवं तुम पि विणिस्सिहिसि त्ति किं च

तुल्लत्तिया जो मम किं करेसि, तुमं सयं मुहु अजाणमाणी ।
सुतं तया किं न कयाइ मूढे, जं वाणरो कासि सुगेहियाए॥

पढ पुच्छिके यदि नाम पत्थं तुल्लत्तिकां नीता मम संमुखं चलियं ततः स्वकं स्वीयं वीर्यमजानती मम किं करिष्यसि न किमपीति भावः । पर मूढे ! त्वया किं न कदाचिदप्येतत् संविधान समुतम् । यद् वानर सुगेहिकायाः शकुनिकायाः संमुखमावृतः सन् कृतवान्। अत्र कथानकम् "वासेण पडिवज्जतं रुक्खमे वानर धरित सुघरा नाम सउणिया भणति तस्य तिट्ठए सती ठेमूणं मेत्तणाइ आणेऊण तरुक्खसि हरंमि । वसहीकताणिवत्ता तत्थ वसामि निरुव्विग्गाए इत्थ सामि रमामि य वासारत्ते पणविय वल्लामिम दोलयामि वा तरुवसविलाभूमिअत्थतवमाणुसगस्स जारिसा हिदयए व विषाण हत्था विषाण व जीवितं च मोहफलं तुज्झ विसहसि धारपहारे न य इच्छसि गेहमप्पणो काउ वानर! तुमे असुहित्ते अम्हे विरतिं न विंदामो तह दोषं रोसवितो तीए वानरो पावो रोसेण धमधमंतो उप्पिमिओ तं गतो साल आकंपितम्मि तापादयम्मि फिरीकत्तिगता सुघरा अणम्मि दुमम्मि ठिती रुच्छिऊते सीतवातेण इतरो वि य णेउं घेत्तूण पादवस्स सिहरात्तत्तणय पक्केक अचिकण तो तुब्भती कुवितो भूमीगतम्मि तोणिडुयं । अह नरगती वानरा पावो सुघरे अवहितहिदए सुण तवे जहा अहिरिया सिणयसिसममाहरियाण वसिसममंसोहिया वण्ट्ठिा वासुघरे अज्ञसुविराजावट्टसिलोग ततीसु जहा सो वानरो सुघमाए पडिचोइओ समाणो तीरो चेव पभिणीई तुम पि मए हितोवएसणाणुसंसिया वि भम खेवोपरि सूयति भत पवोकम् "उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे जने । पश्य वानरमूर्खेण, सुगृही निर्गृही कृत" किं चान्यत् ।

न चित्तकम्मस्स विसेसमंधो, संजाणते णावि मियंककंतिं ।
किं पीढसप्पी कह दूतकम्मं, अंधो कहिं कत्थ य देसियव्वं॥

यथा अन्धश्चित्रकर्मणो विशेष रमणीयक न जानीते नापि मृगाङ्कस्य चन्द्रमस कान्तिम् एवमपि चक्षूरहिततया मार्गं गन्तुं न जानामीति भाव । तथा पीठेन सर्पितुं गन्तु शीलमस्येति पीठसर्पी क्व दूतकर्म संदेशहारकत्व क चान्ध क च देशकत्वं मार्गदर्शकत्वम् । यथा सर्वथैवाघटमानकमिद तथा भवत्या अपि निष्प्रत्यूह गमनमिति भावः । एवं शीर्षकेणोक्ते सति सा ब्रवीति ॥

बुद्धीवलं हीणवला वयंति, किं सत्तजुत्तस्स करेइ बुद्धी ।
किं ते वहाहो व सुना कतावी, वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा ॥

बुद्धिलक्षणं यद्बल तद्धीनबला नि सत्वा एव वदन्ति यत स

स्वयुक्तस्य बुद्धिः किं करोति सत्त्वेनैव कार्यसिद्धेः किं वा त्वया कदाचिदिदं कथा नैव श्रुता यथा वसुन्धरेयं वीरभोग्या तदुक्तम्। "नेयं कुलक्रमायाता, शासने लिखिता न वा । खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत, वीरभोग्या वसुन्धरा" अथ शीर्षकमाह ।

असंसयं तं असुणाण मग्गं, गता विधाणे दुरतिक्कमम्मि ।
इमं तुमे वाहति वामसीले, अम्हे वि जं काहिसि एकघातं ॥

असंशय निस्सन्देहं त्वमज्ञानां मूर्खाणां मार्गमात्मोपघातरूपं गता। क सतीत्याह । विधाने दुरतिक्रमे सति विधान नाम यद्येन यदा प्राप्तव्यं तद् दुरतिक्रम नान्यथा कर्तुं शक्यते। उक्त च "बुद्धिरुत्पद्यते तादृक्, व्यवसायाश्च तादृशाः । सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता" अत एव तदवश्यभावितया नास्मन्मनो दुनोति परं वामशीले! प्रतिकूलं एव गामिनि। मामिदमेव बाधते यदज्ञानादात्मव्यतिरिक्तानस्मादृशानेकघात करिष्यासि आत्मना सह मारयसीति भाव. ।

सा मंदबुद्धी अह सीसकस्स, सच्छंदमंदा वयणं अकाउं।
पुरस्सरा होतु मुहुत्तमेत्तं, अपेयचक्खू सगमेण खुण्णा ॥

सा पुच्छिका मन्दबुद्धिः सद्बुद्धिविकला। अथानन्तरं शीर्षकस्य वचनमकृत्वा स्वच्छन्दमतिप्रवृत्ता मन्दा गमनक्रियायामलसा बलात् मैहिकया पुरस्सरा भूत्वा गन्तुं प्रवृत्ता । तत किमभूदित्याह । अपेतचक्षुर्लोचनरहिता सा पुरो गच्छन्ती मुहूर्तमात्रेण शकटेन क्षुण्णा आक्रान्ता विपत्तिमुपगता एप दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः ।

जे मज्झदेसे खलु देसगामा, अतिप्पियं ते सुभयं तु तुज्झ ।
रुक्खक्खहिंडेहिं सुताविया मो, अम्हं पि तो संपइ होउ छंदो ॥

ये अगीतार्थाः शिष्यास्ते आचार्यान् भणन्ति भदन्त ! ये खलु मध्यदेशे आर्यक्षेत्रे देशा मगधादयो ग्रामाश्च तत्प्रतिबद्धास्तेषु भगवतामतिप्रियमतीवविहर्तुं रोचते पर वयमेषु देशेषु रूक्षाश्रमाः अन्नेन हिण्डनया चेतस्तत. परिभ्रमणरूपया सुष्ठुतिशयेन तापिता दग्धांशदेहा सजाता अतोऽस्माकमपि तावत्सप्रति छन्दो भवतु स्वच्छन्देन यत्र यत्र रोचते तत्र विहरिष्याम इति। गुरवो ब्रुवते ।

देहोवही तेणगसावगेहिं, पदुट्ठमेच्छेहि य तत्थ तत्थ ।
जता परिब्भंस धुअंतदोस, तदा विजाणस्सह मे विसेसं ॥

भो भद्रा ! यूयं प्रत्यन्तदेशे विहरन्तो यदा देहस्तैः शरीरहृद्रूपश्चिस्तेनैरुपकरणहरैः श्वापदैः सिंहव्याघ्रादिभिः प्रद्विष्टास्तैस्तैश्च तत्र तत्रोपद्रुताः सन्त स्वयमात्मविराधनादिना परिभ्रंशमाप्स्यथ ततो विज्ञास्यथ मे मदीयं विशेष यथा दानशोभनं कृतमस्माभि. यदेव गुरूणां वचनमनवगणय्य स्वच्छन्दसा विहार कृत इति। यस्तु गणधरो न जानाति जानानो वा शिष्याणां मार्गं नोपदिशति स तेषामनुवृत्त्या सन्मार्गमतिक्रम्यानार्यदेशे विहरन् तैरेव शिष्यैः सह विनाशमाविशति यथा सर्पशीर्षक पुच्छिकासहित विनष्टमिति । अथ वैद्यपुत्रदृष्टान्तमाह ॥

वेज्जस्स एगस्स अहेसि पुत्तो, मतम्मि ताते अणधीयविज्जो ।
गंतुं विदेसं अह सो सिलोगं, घेत्तूणमेगं सगदेसमेति ॥

एकस्य वैद्यस्य पुत्र आसीत् । स च ताते पितरि मृते सति अनधीतविद्य इति कृत्वा राज्ञः सकाशाद्वृत्तिं न लभते। ततो वैद्यकशास्त्रपठनार्थं विदेशं गत्वा तत्र कस्यापि वैद्यस्य पार्श्वे एकं श्लोक शृणोति स्म । "पूर्वाह्णे वमन दद्या-दपराह्णे विरेचनम्। वातिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यमाहुर्विशोषणम् ॥" ततस्तेन चिन्तितं हु ज्ञातं वैद्यरहस्यम् । अतः किमर्थमत्र तिष्ठामीति । अथानन्तरमसौ श्लोकं गृहीत्वा स्वकमात्मीयं देशमुपैति ।

अह्वागतो सो उभयम्मि देसे, लद्धूण तं चेव पुराणवित्तिं ।
रण्णो नियोगेण सुते चिगिच्छं, कुव्वंतु तेणेव समं विणट्ठो ॥

अथानन्तरं स वैद्यपुत्रः स्वके देशे समागतः सन् राज्ञः समीपे तामेव चतुराणां वृत्तिं लब्ध्वा अन्यदा राज्ञो नियोगेन सुतस्य राज्ञः पुत्रस्य पूर्वोक्तश्लोकप्रमाणेन चिकित्सां कर्तुमारब्धवान् । ततोऽसौ राजपुत्रस्तदीयया अप्रयोगक्रियया विनष्टः राज्ञा चापरे वैद्याः पृष्टा किमेतेन सम्यक्प्रयोगेण क्रिया कृता उताप्रयोगेणेति ततोऽसौ तेन राज्ञा शरीरेण दण्डेन दण्डितः एवमाचरिते राजपुत्रेण समं विनष्ट इत्युक्त एष दृष्टान्तः । अथ गाथोपनयः । यथाऽसौ वैद्यपुत्र एकभविकं मरणमनुप्राप्तः एवं य आचार्य इदं कल्पाध्ययनं न जानाति एकदेशं वा जानन् गण परिवर्तयति स गम्भीरससारसागर परिभ्रमणनेकानि जनिनव्यमर्तव्यानि प्राप्नोति । (वृ० १ उ०) प्रथमोद्देशकसमाप्तौ काव्यम् ।

कल्पे माणिक्यकोशे जिनपतिनृपतेः सूरिभिस्तत्रियुक्तैस्तस्यैवान्यैकतानैर्नयपथनिपुणैश्चित्यमानाधिकारे ।
पेटा उद्देशका. स्युः षमिह गहनता मुद्रिता अर्थरत्नैः,
पूर्णा सूत्रायपेटाप्रकटनविषये कुञ्चिकेयाऽस्तु टीका ॥

द्वितीयोद्देशकसमाप्तौ काव्यम् ॥

द्वैतीयीकोद्देशकोऽयं मयापि, स्पष्टीचक्रे सद्गुरूणां प्रसादात् ॥
सूते नाम्नोबिन्दुनिस्यन्दमिन्दुःग्रावश्चन्द्रज्योत्स्नया चुम्बित किम्।

तृतीयोद्देशके समाप्ते काव्यम् ॥

चूर्णीवचोभिः फलकैः सुयोजितै-र्गुरुप्रतिष्ठानयुतैः ससूत्रकैः ।
तृतीयकोद्देशकवारिधिं सतां, तरी तरीतु विधृतिः कृता मया ॥

चतुर्थोद्देशकस्यान्ते काव्यम् ।

श्रीचूर्णिकारवदनाब्जवचोमरन्द-
निष्पन्दपारणकपीवरपेशलश्रीः ।
उद्देशके मम मतिर्भ्रमरी तुरीये,
टीकामिषेण मुखरत्वमिद चितेने ॥

पञ्चमोद्देशकस्यान्ते काव्यम् ॥

श्रीमच्चूर्णिवचांसि तन्तव इह ज्ञेयास्तथा सद्गुरोराम्नायेनञकस्तुरीबुधजनो यास्युद्भवा चातुरी ।
इत्येतैर्विततान साधकतमैः श्रीपञ्चमोद्देशके,
जाड्यापोहपटीयसीमह मिमामच्छिद्रटीकापटीम् ॥

संप्रति प्रस्तुतशास्त्रोक्तविधिविपरीत्यकारिणमपायान् दर्शयन्नाह ।

पलंबादी जाव ठिता, उस्सग्गववातियं करेमाणो ।
अववाते उस्सग्गं, आसायणदीहसंसारी ॥

प्रलम्बसूत्रादारभ्य यावदिदं षड्विधकल्पस्थितिसूत्रं तावद्य उत्सर्गापवादविधिः सूत्रतोऽर्थतश्चोक्तस्तत्रोत्सर्गे प्राप्ते आपवादिकीं क्रियां कुर्वाणोऽर्हतामाशातनायां वर्तते अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य शातनायां वर्तते आशातनायां वर्तमानो दीर्घसंसारी भवति यस्मात् प्रलम्बसूत्रादारभ्य षड्विधकल्पस्थितिसूत्र यावदुत्सर्गे प्राप्ते उत्सर्गः कर्तव्यः अपवादे प्राप्ते अपवादविधिर्यतनया कर्तव्य । एव कुर्वतां गुणमाह ।

छव्विह कप्पस्स ठितिं, नाउं जो सद्दहे करणजुत्तो ।
पवयणविहीसुरक्खि-तो इह परभवत्तित्थरप्फलदो ॥

षड्विधकल्पस्य सामायिकादिरूपस्य प्रस्तुतशास्त्रार्थसर्वस्व-

भूतस्य स्थितिं कल्पनीयविवर्जनरूपां ज्ञात्वा गुरूपदेशेन सम्यगवगमादीन् श्रद्दधीत प्रतीतिपथमारोपयेत् न केवलं श्रद्दधीत किं तु करणयुक्तोऽनुष्ठानसंपन्नो भवेत् तस्यात्मैव सम्यग्ज्ञानश्रद्धानचारित्रसमन्वितः साक्षात्प्रवचनविधिर्भवति । यथा समुद्रो रत्ननिधिर्भवति एवमसावपि ज्ञानादिरत्नमयस्य प्रवचनस्य विधिरित्यर्थः । स च प्रवचनविधिः । सुष्ठु प्रयत्नेनात्मसंयमविराधनाभ्यो रक्षित' सन्निह परभवविस्तरफलदो भवति । इह भवे विस्तरेण चरणवैक्रियामर्षौषधिप्रभृतिविविधलब्धिरूपं फलं ददाति परभवेऽप्यनुत्तरविमानाद्युपपातसुकुलं प्रत्यायाति प्रभृतिकं विस्तरेण फलं प्रयच्छति । अथेदं कल्पाध्ययनं कस्य न दातव्यं को वाऽपात्राय ददतो दोषो भवतीत्यत आह ।

छिन्नरहस्सेव णरे, णिस्साकरए व मुक्कजोगी व ।
छव्विहगतिगुविलम्मि, सो संसारे भमति दीहे ॥

इहापवादपदानि रहस्यमुच्यते भिन्नं प्रकाशितमयोग्यानां रहस्यं येन स भिन्नरहस्य. अगीतार्थानामपवादपदानि कथयतीत्यर्थः । तत्रैवंविधे नरे तथा निश्राकारो नाम य' किंचिदपवादं लब्ध्वा तदेव निश्रां कृत्वा भणति यथैतदेव कल्पनीय तथाऽन्यदप्येवं कर्तव्यं तत्र । तथा मुक्ता परित्यक्ता योगा ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविषया व्यापारा येन स मुक्तयोगी ईदृशे अपात्रे न दातव्यं यस्तु ददाति स षड्विधगतिगुविले पृथिवीकायादित्रसकायान्तषट्कायपरिभ्रमणगहने दीर्घे अपारे संसारे भ्राम्यति । अथ कीदृगस्य दातव्यं को वा पात्रे ददतो गुणो भवतीत्यत आह ।

अरहस्सधारए पारए, असढकरणे तुलासमे समिते ।
कप्पाणुपालणादी-वणे य आराहणच्छिन्नसंसारी ॥

नास्त्यपरं रहस्यान्तरं यस्मात्तदरहस्यमतीव रहस्यं छेदशास्त्रार्थतत्वमित्यर्थः । तथा धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति यः स रहस्यधारकः । पारगः सर्वस्यापि प्रारब्धश्रुतस्य पारगामी न पल्लवग्राही । असढकरणो नाम मायाविमुक्तो भूत्वा यथोक्तविहितानुष्ठानं करोति । तुलासमो नाम यथा तुला समस्थिता न मार्गतो न वा पुरतो नमति एवं यो रागद्वेषविमुक्तो मानापमानसुखदुःखादिषु समः स तुलासम उच्यते । समितः पञ्चभिः समितिभिः समायुक्तः एवंविधगुणोपेतस्येदमध्ययनं दातव्यम् । एवं ददता कल्पस्य भगवदुक्तस्य श्रुतदानविधेरनुपालना कृता भवति । अथवा कल्पे कल्पाध्ययने यद्भणितं तस्यानुपालना य करोति तस्य दातव्यम् । एवं कुर्वता दीपना अन्येषामपि मार्गस्य प्रकाशना कृता भवति । यथाऽन्यैरपि एवंगुणवते शिष्याय श्रुतप्रदानं कर्त्तव्यम् । अथवा (दीवणत्ति) यो योग्यविनेयानां दीपनामनावस्येन व्याख्यानं करोति तस्येदं दातव्यम् । यदि वा दीपना नाम उत्सर्गयोग्यानामुत्सर्गं दीपयति । अपवादयोग्यानामपवादं दीपयति । उभयोर्योग्यानामुभावपि दीपयति । प्रमादिनां वा दोषान् दीपयति अप्रमादिनां गुणान् दीपयति । य एतस्यां कल्पानुपालनायां दीपनायां च वर्तते तस्य ज्ञानदर्शनचारित्रमयी जघन्या मध्यमोत्कृष्टा वाऽऽराधना भवति । ततश्चाराधनया छिन्नसंसारी भवति । संसारसंततेर्व्यवच्छेदं करोति तस्यां च व्यवच्छिन्नायां यत्तदक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिकं स्थानं तत्प्राप्नोतीत्युक्तोऽनुगमः । वृ० ६ उ० पत्र० ८०९ ।

नन्दीसंदर्भमूले सुदृढतरमहापीठिकास्कन्धबन्धे,
तुङ्गोद्देशाख्यशाखे दलकुसुमसमैः सूत्रनिर्युक्तिवाक्यैः ।
सान्द्रे भाष्यार्थसार्थामृतफलकलिते कल्पकल्पद्रुमेऽस्मिञ्-
श्लाघ्यं षण्णशाखाफलनिवहमसावकुशीवाऽस्तु टीका ॥ ६ ॥

समाप्ता चेयं सुखावबोधिनीनामकल्पाध्ययनटीका ।

सौवर्णा विविधार्थरत्नकलिता एते षडुद्देशकाः,
श्रीकल्पेऽर्थनिधौ मताः सुकलशा दौर्गत्यदुःखापहाः ।
दृष्ट्वा चूर्णिसुबीजकाक्षरततिं कुर्याथ गुर्वाज्ञया,
नीता खातममी मया मतिमतामर्थाः स्फुटार्थीकृताः ॥१॥
श्रीकल्पसूत्रममृतं विबुधोपयोग-
योग्यं जरामरणदारुणदुःखहारि ।
येनोद्धृतं मतिमता मथितात् श्रुताब्धेः,
श्रीभद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ २ ॥
येनेदं कल्पसूत्रं कमलमुकुलवत्कोमलं मञ्जुलाभि-
र्गोभिर्दोषापहाभिः स्फुटविषयविभागस्य संदर्शिकाभिः ।
उत्फुल्लोद्देशपत्रं सुरसपरिमलोद्गारसारं वितेने,
तं निःसंबन्धबन्धुं नुतमुनिमधुपं भास्करं भाष्यकारम् ॥ ३ ॥
श्रीकल्पाध्ययनेऽस्मिन्नतिगम्भीरार्थभाष्यपरिकलिते ।
विषमपदविवरणकृते, श्रीचूर्णिकृते नमः कृतिने ॥ ४ ॥
श्रुतदेवताप्रसादा-दिदमध्ययनं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मया तेन, प्राप्नुयां बोधिमहममलम् ॥ ५ ॥
गमनयगभीरनीरः-श्चित्रोत्सर्गापवादवादोर्मिः ।
युक्तिशतरत्नरम्यो जिनागमो जलनिधिर्जयति ॥ ६ ॥
श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी ।
स्वज्योतिरावृतदिगम्बरडम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरुः प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ७ ॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि ।
तत्र श्रीभुवनेन्दुसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर-
ज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाऽभवत् ॥ ८ ॥
तत्पादाम्बुजमण्डनं समभवत्पक्षद्वयीशुद्धिमा-
न्नीरक्षीरसदृक्षदूषणगुणत्यागग्रहैककुतः ।
कालुष्यं च जमोद्भवं परिहरन् दूरेण सन्मानस-
स्थायी राजमरालवद्गणिवरः श्रीदेवभद्रः प्रभुः ॥ ११ ॥
शिष्याः शिष्याख्यस्तत्पदसरसिरुहोत्सङ्गशृङ्गारभृङ्गा,
विध्वस्तानङ्गसङ्गाः सुविहितविहितोत्तुङ्गरङ्गा बभूवुः ।
तत्राद्यः सर्वविज्ञानुमतिकृतमतिः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः,
श्रीमद्देवेन्द्रसूरिः सरलतरलसच्चित्तवृत्तिर्द्वितीयः ॥ १२ ॥
तृतीयशिष्याः श्रुतवारिवार्द्धयः, परीषहाक्षोभ्यमनःसमाधयः ।
जयन्ति पूज्या विजयेन्दुसूरयः, परोपकारादिगुणौघसूरयः ॥१३॥
प्रौढं मन्मथपार्थिवं त्रिजगतीजैत्रं विजित्यैषुर्वा,
येषां चैत्रपुरेण तत्र महसा प्रक्रान्तकान्तोत्सवे ।
स्थैर्यं मेरुरगाधतां च जलधिः सर्वंसहत्वं मही,
सोमः सौम्यमहर्पतिः किल महत्तेजोऽकृत प्राभृतम् ॥ १४ ॥
व्यापं चाप प्रवचनवचो बीजराजीं विनेय-
क्षेत्रे शुद्धे सुपरिमलिते शब्दशास्त्रादिसारैः ।
यैः क्षेत्रज्ञैः शुचिगुरुजनाम्नायवाक्सारिणीभिः,
सिक्त्वा तेने सुजनहृदयानन्दि सज्ज्ञानसत्यम् ॥ १५ ॥
यैरप्रमत्तैः शुभमन्त्रजापै-र्वैतालमाधाय कलिं स्ववश्यम् ।
अतुल्यकल्याणमयोत्तमार्थं, सत्पूरुषः सत्वधनैरसाधि ॥१६॥
किं बहुना ॥
ज्योत्स्नामञ्जुलया यया धवलितं विश्वम्भरामण्डलं,

या निःशेषविशेषविज्ञजनताचेतश्चमत्कारिणी ।
तस्याः श्रीविजयेन्दुसूरिसुगुरोर्निष्कृत्रिमायागुण–
श्रेणेः स्याद्यदि यास्तवस्तवकृतौ विज्ञः स वाचां पतिः ॥ १७ ॥
सत्पाणिपङ्कजरजःपरिभूतशीर्षो,
शिष्यास्त्रयो दधति सम्प्रति गच्छभारम् ।
श्रीवज्रसेन इति सद्गुरुरादिमोऽभूत्,
श्रीपद्मचन्द्रसुगुरुस्तु ततो द्वितीयः ॥ १८ ॥
तार्तीयीकस्तेषां, विनेयपरमाणुरनणुशास्त्रेऽस्मिन् ।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरि–र्विनिर्ममे विवृतिकल्पमिति ॥ १९ ॥
श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनाग्निगुणेन्दुपरिमिते (१३३२) वर्षे ।
ज्येष्ठश्वेतदशम्यां, समर्थितैषा च हस्तार्के ॥ २० ॥
प्रथमादर्शे लिखिता, नयप्रभप्रभृतियतिभिरेषा ।
गुरुग्रन्थे गुरुभक्ति–भरोद्वहनादानन्दितशिरोभिः ॥ २१ ॥
इह च सूत्रादर्शेषु, यतो भूयस्यो वाचना विलोक्यन्ते ।
विषमाश्च भाष्यगाथाः, प्रायः स्वल्पाश्च चूर्णिगिरः ॥ २२ ॥
ततः सूत्रे वा भाष्ये वा, यन्मतिमोहान्मयाऽन्यथा किमपि ।
लिखितं वा विवृतं वा,तन्मिथ्यादुष्कृतं भूयात् ॥२३॥ वृ०६उ०।
व्यवहारे, अनुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । कल्पत इति कल्पः। न्याय्ये, विधौ, आचारे, चरणकरणव्यापारे, आव०४अ०। सततासेवनीये समाचारे, जी० १ प्रति० । कल्पो नीतिर्मर्यादा विधिः सामाचारीत्यर्थः । पं०व० । ज्ञा० । आ० म० द्वि० । स्था० । विशे० । जीत स्थितिर्मर्यादा व्यवस्थेति हि पर्यायाः । नं० । प० व० । पंचा० । पं० चू० । स च स्थितास्थितभेदाद् अनेकधा भिन्नः । पंचा० । अनन्तरमायश्चित्तमुक्तं तच्च स्थितादिकल्पयुता साधवो ददति वहन्ति चेति स्थितादिकल्पस्वरूपं विभणिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह ।

णमिऊण महावीरं, ठियादिकप्पं समासओ वोच्छं ।
पुरिमेयरमज्झिमजिण–विभागए तो वयणनीतीए ॥१॥

नत्वाऽभिवन्द्य महावीरं वर्द्धमानजिनं स्थितादिकल्पमवस्थितानवस्थितसमाचारं समासतः सङ्क्षेपेण वक्ष्येऽभिधास्ये (पुरिमेत्ति) पूर्वः प्रथम इतरोऽन्तिमः मध्यमाः शेषा द्वाविंशतिस्ते च ते जिनाश्च तैर्यो विभागः स्थितादिविभजनं स तथा ततः पूर्वेतरमध्यमजिनविभागतः इह च मध्यमग्रहणस्योपलक्षणत्वाद्विदेहजिनसंग्रहो द्रष्टव्यो यतो वक्ष्यति "एवं खु विदेहजिणकप्पीति" वचननीत्या कल्पादिस्तत्र न्यायेनेति गाथार्थः । तत्र स्थितकल्पप्रतिपादनायाह ।

दसहा होइ उ कप्पो, एसो पुरिमेयराण ठियकप्पो ।
सययासेवणभावा–ट्ठियकप्पो णिच्चमज्जाया ॥ २ ॥

दशधा दशभिः प्रकारैरुद्धतः सामान्येन स चाचेलक्या–दिर्वक्ष्यमाणः । तुशब्दः पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च कल्पो व्यवस्था एष तु एष पुनः सामान्यकल्पः पूर्वेतराणामादिमान्तिमजिनसाधूनां स्थितकल्पोऽवस्थितकल्प उच्यते कुतः सततासेवनभावाभिरन्तरावरणसद्भावादिति । तत्पत एतन्निरूप्यार्थेनमेव पर्यायत आह । स्थितकल्पो नित्यमर्यादेति गाथार्थः ।

अथ किमयं नित्यमासेव्यत इत्याह ।

ततिओसहकप्पो यं, जम्हा एगंततो उ अविरुद्धो ।
सययं पि कज्जमाणो, आणाओ चेव एतेसिं ॥ ३ ॥

तृतीयौषधकल्पो वक्ष्यमाणौषधतुल्योऽयमेव स्थितकल्पो यस्माद्यतो हेतोरेकान्ततस्तु सर्वथैवाविरुद्धो युक्तः गुणरूपत्वात् सततमपि सदाऽप्यास्तां कदाचित् क्रियमाणो विधीयमानः । अथ मन्यमानामपि तथा भविष्यतीत्याह आज्ञात एवागमादेवैतेषां सर्वेषां जिनसाधूनाम् छाज्ञाबीजं च ऋजुजडत्वादिकं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः । तृतीयौषधप्रतिपादनायाह ।

वाहिं अवणेइ भावे, कुणइ अभावे तयं तु पढमं ति ।
वितियमवणेति न कुणति, तइय तु रसायणं होति ॥ ४ ॥

किल कस्यचिन्नृपतेः पुत्रोऽत्यन्तवल्लभो बभूव स च तस्य सततारोग्यसंपादनाय आयुर्वेदविशारदविविधवैद्यानाहूयोवाच । भो ! भिषग्वरा ! मम तनयस्य यथा रुजो न भवन्ति तथा यतध्वमेते च तद्वचस्तथैव प्रतिपन्नवन्तस्ततश्च ते यथोपदेशमौषधानि संस्कृत्य राजानमुपतस्थुः । राजा च तान् प्रत्येकमौषधगुणान् पप्रच्छ तेऽपि तान् क्रमेणाचख्युस्तत्र च व्याधिं रुजमपनयत्यपहरति प्रयुज्यमाने भावे व्याधेरिति गम्यते। तथा करोति विधत्ते अभावे पुनर्व्याधेरसद्भावे तकं व्याधिं तु पुनरर्थो योजित एव प्रथममाद्यमिदमौषधमिति शब्दः समाप्तौ । तथा हि द्वितीयमौषधमपनयति हरति व्याधिं सन्तमसन्तं तु न करोति न विधत्ते । तथा तृतीयं तु तृतीयं पुनरौषधं व्याधिं सन्तं हत्वा असन्तं चाकृत्वा रसायनं भवति । वयस्तम्भादिगुणाकरं स्यादिति गाथार्थः । एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकाभिधानायाह ।

एवं एसो कप्पो, दोसाभावे वि कज्जमाणो उ ।
सुंदरभावा तु खलु, चारित्तरसायणं णेओ ॥ ५ ॥

एवमिति तृतीयौषधवदेषोऽनन्तरोक्तः कल्पः स्थितकल्पो दोषाभावेऽप्यपराधासत्वेऽप्यास्तां दोषसद्भावे क्रियमाणो विधीयमानः सन् तु पादपूरणे सुन्दरभावात् खलु शोभनत्वादेव चारित्रस्य चरणशरीरस्य रसायनमिव पुष्टिकरणाच्चारित्ररसायनं ज्ञेयोऽवसेय इति गाथार्थः। दशधा यत कल्पः इत्युक्तमथैतद्दर्शनायेदमाह ।

आचेलक्कुद्देसिय, भिज्जायररायपिंमकिइकम्मे ।
वयजेट्ठपमिक्कमणे, मासं पज्जोसवणकप्पो ॥ ६ ॥

अविद्यमानं चेलं वस्त्रं यस्यासावचेलकस्तद्भाव आचेलक्यम् उद्देशेन साधुसंकल्पेन निर्वृत्तमौद्देशिकमाधाकर्म शय्यया वसत्या तरति संसारसागरमिति शय्यातरः स च राजा च नृपश्चक्रवर्त्यादिस्तयो पिण्डः समुदानमिति शय्यातरराजपिण्डः कृतिकर्म वन्दनकमेतेषां च समाहारद्वन्द्वत्वात्सप्तम्येकवचनम् । ततश्चाचेलक्यादिषु यथास्वं विधिनिषेधाभ्यां स्थितास्थिताः साधवो भवन्तीत्यतोऽयमोघकल्पः । एतेष्वेव च प्रथमचरमजिनसाधव स्थिता एवेति स्थितकल्पस्तेषां तथा व्रतानि महाव्रतानि ज्येष्ठो रत्नाधिकः प्रतिक्रमणमावश्यककरणं सप्तम्येकवचनं प्राग्वत् (मासमिति) प्राकृतत्वादनुस्वारः परि सर्वथा वसनमेकनिवासो निरुक्तविधेः पर्युषणमेतद्द्वयलक्षणः कल्प आचारः मासपर्युषणकल्पस्तत्र च स्थितास्थित इत्यादि इति गाथासमासार्थः । उक्तः स्थितकल्पः ।

अथास्थितकल्पाभिधानायाह ॥

छसु अट्ठिओ उ कप्पो, एत्तो मज्झिमजिणाण विसेओ ।
णो सययसेवणिज्जो, अणिच्चमेरासरूवो त्ति ॥ ७ ॥

षट्सु दर्शयिष्यमाणरूपेषु पदेषु अस्थितस्तु अनवस्थित पुनः

कल्पसमाचारः (एतोत्ति) एतेभ्य एव दशभ्यः पदेभ्यो मध्यानाम् मध्यमजिनानां तत्साधूनामित्यर्थः विज्ञेयो ज्ञातव्यः। कुतोऽस्थितोऽयमित्याह। नो नैव सततं सेवनीयः सदा विधेयो दशस्थानकापेक्षया एतदपि कुत इत्याह। अनित्यमर्यादास्वरूपोऽनियतव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा ते हि दशानां स्थानानां मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति भाव इति गाथार्थः। षट्स्ववस्थित कल्पः। पञ्चा० १७ विव०। (इति अट्ठियकप्प शब्दे उक्तम्) वृ०। जीत०। कल्प० (अचेलक्यादिकल्पा अचेलगादिशब्देषु द्रष्टव्याः) वृ०। पं०भा०।आ०म० द्वि०। परः प्राह। ननु सर्वेषां सर्वज्ञानां सदृश एव हितोपदेशस्ततः कथं पञ्चयामिकानां चतुर्यामिकानां च विसदृशकल्प्याकल्प्यविधिः। तत्रोच्यते कालानुभावेन विनेयानामपरापरं तथा तथा स्वभावपरिणामं विमलकेवलचक्षुषा विलोक्य तीर्थकृद्भिरित्थं कल्प्याकल्प्यविधिवैचित्र्यमकारि। तथा चाह। पूर्वसाधुकाः ऋजुजडाः पश्चिमसाधवो वक्रजडा मध्यमा ऋजुप्राज्ञाः एतेषां च त्रिविधानामपि साधूनां नटप्रेक्षादृष्टान्तमाह। तेन प्ररूपणा कर्तव्या द्विविधानामेव साधूनां संज्ञातककुलमागतानां गृहिण उद्गमादिदोषान् कुर्युस्तत्रापि त्रिधा निदर्शनं कर्तव्यम्। तत्र नटप्रेक्षणकदृष्टान्त तावदाह।

नडपेच्छं दहूणं, अवस्सआलोयणा ण मे कप्पे।
कायादी सो पेच्छति, ण ते वि पुरिमाणतो सव्वे ॥

कश्चित्प्रथमतीर्थकरसाधुर्भिक्षां पर्यटन् नटस्य प्रेक्षां प्रेक्षणक दृष्ट्वा कियन्तमपि कालमवलोक्य समागतः स च ऋजुत्वेनावश्यमाचार्याणामालोचयति। यथा नटो नृत्यन् मया विलोकितः आचार्यैरुक्तं सा नटावलोकाना साधूनां कर्तुं न कल्पते। ततो यथा दिशन्ति भगवन्तस्तथैवेत्यभिधाय भूयोऽपि भिक्षामटन् कायाकादिकमसौ प्रेक्षते कायाको नाम वेषपरावर्तकारी नटविशेषः आदिशब्दान्नर्तकीप्रभृतिपरिग्रहः ततस्तथैवालोचिते गुरवो भणन्ति। ननु पूर्वं वारित आसीः। स प्राह। नट एव द्रष्टुं वारितो न कायाकः। एष तु मया कायाको दृष्टः। एव यावन्मात्रं परिस्फुटेन वचसा वार्यते तावन्मात्रमेवैते वर्जयन्ति न पुनः सामर्थ्योक्तमपरस्य तादृशस्य प्रतिषेध प्रतिपद्यन्ते यदा तु भण्यते न तवेति तेऽपि कायाकादयो न कल्पन्ते द्रष्टुं तदा सर्वानपि परिहरन्ति। अतः पूर्वेषां साधूनां सर्वेऽपि नटादयो न कल्पन्ते द्रष्टुमिति प्रथममेवोपदेष्टव्यम्।

एमेव उग्गमादी, एकेकनिवारिएतरे गिण्हे।
सव्वे विं ण कप्पंति, वारितो जाव जियं वज्जे ॥

एवमेव नटप्रेक्षणोक्तेनैव प्रकारेण पूर्वतीर्थकरसाधुर्यद्येकैकमुद्गमादिदोषं निवार्यते ततोऽयमेवाधाकर्मादिक दोषं निवारितस्तमेव वर्जयन्ति।इतरास्तु पूतिकर्मक्रीतकृतादीन् गृह्णीते इत्यर्थ। यदा तु सर्वेऽप्युद्गमदोषा न कल्पन्ते इति वारितो भवति। तदा सर्वानपि यावज्जीव वर्जयति। अथ संज्ञातक गमनपदं व्याचष्टे ॥

सन्नायगा वि उज्ज-त्तणाण कस्स कंत तुज्झमेयं ति।
मम उद्दिट्ठ ण कप्पइ, कीतं अण्णस्स वा एगो ॥

प्रथमतीर्थकरतीर्थे यदा साधुः संज्ञातक कुल गच्छति तदा ते संज्ञातका किंचिदाधाकर्मादिक कृत्वा साधुना कस्यार्थे युष्माभिरिदं कृतमिति पृष्टा सन्त ऋजुत्वेन कथयन्ति। युष्मदर्थमेतदिति। तत साधुर्भणति ममोद्दिष्टं भक्त न कल्पते। एवमुक्त स गृही क्रीतकृतमन्यद्वा दोषजातं कृत्वा दद्यात् उद्दिष्टमेवामुना प्रतिषिद्ध न क्रीतादिकमिति बुद्ध्या अथवा अन्यस्य साधोरर्थायाधाकर्म कुर्यात् ममोद्दिष्टं न कल्पते इति भणता तेनात्मन एवाधाकर्म प्रतिषिद्धं नान्येषामिति बुद्ध्या।

सव्वजईण णिसिद्धा, मा उण जणत्ति उग्गमा णेसिं।
इति कथिते पुरिमाणं, सव्वे सव्वेसिं ण करेंति ॥

यदा तु तेषां गृहिणामग्रेऽभिधीयते सर्वेऽप्युद्गमा दोषाः सर्वेषां यतीनां निषिद्धा न कल्पन्ते मा भूदस्माकमिति तेषां दोषा इति कृत्वा तत एवं कथिते भणिते गृहिणः सर्वेषामपि साधूनां सर्वानप्युद्गमदोषान्न कुर्वन्ति। अथ पूर्वेषां तीर्थे ये भद्रकादय उद्गमदोषकारिणस्तेऽपि ऋजुजडा इति। अथ ऋजुजडपदव्याख्यानमाह।

उज्जुत्तणं से आलो-यणाए जमत्तणं से जं जुज्जो।
तज्जातीए न याणति, गिही वि अन्नस्स अन्नं वा ॥

ऋजुत्व (से) तस्य प्रथमतीर्थकरसाधोरेवं मन्तव्य यदेकान्तेऽप्यकृत्त कृत्वा गुरूणामवश्यमालोचयति। यत्पुनर्भूयस्तज्जातीयान् दोषान् वर्जयति तेन तस्य जडत्वं द्रष्टव्यम्। गृहिणोऽपि यदेकस्य निवारितं तदन्यस्य निमित्त कुर्वन्ति। अन्यं वा क्रीतकृतादिकं दोषं कुर्वन्ति। एतेषां जडत्वम्। यत्तु पृष्टाः सन्तः परिस्फुटं सद्भाव कथयन्ति एतेषामृजुत्वम्। अथ मध्यमानामृजुप्रज्ञतां भावयति।

उज्जुत्तणं से आलो-यणाए पुणो उ सेसवज्जणया।
संणायगा वि दोसेण, करेंत अणेण असेसिं ॥

रहस्यपि यत्प्रतिसेवितं तदवश्यमालोचयिष्यामीत्यालोचनया मध्यमतीर्थकरसाधूनामृजुत्वं मन्तव्यं यत्पुनः शेषाणां तज्जातीयानामर्थानां स्वयमभ्यूह्य ते वर्जनां कुर्वन्ति ततः प्रज्ञा तेषां प्रतिपत्तव्या। ते हि नटकावलोकनं कर्तुं कल्पन्ते इत्युक्ताः प्राज्ञतया स्वचेतसि परिभाव भावयन्ति। यथैतन्नटावलोकन रागद्वेषनिबन्धनमिति कृत्वा परिह्रियते तथा कायाकनर्तक्यादिदर्शनमपि रागद्वेषनिबन्धनतया परिहर्तव्यमेवेति विचिन्त्यतेऽप्येव कुर्वन्ति संज्ञातका अपि तेषामिदमुद्दिष्टभक्तं मम न कल्पत इत्युक्त्वा चिन्तयन्ति। यथैतस्याय दोषो कल्पनीयस्तथा अन्येऽपि तज्जातीयाः सर्वेऽप्यकल्पनीया यथा चैतस्य ते कल्पनीयास्तथा सर्वेषां मध्यमसाधूनां न कल्पन्ते एव विचिन्त्यान्यानुद्गमदोषान्न कुर्वन्ति। अन्येषां च साधूनां हि तेन कुर्वन्ति।

अथ वक्रजडव्याख्यानमाह।

वंका उण साहंतिय, पुट्ठा उ भणंति उण्हकंटादी।
पाहुणग सद्धऊसव,गिहिणो वि उ वाउलते व ॥

पश्चिमतीर्थकरसाधवो वक्रत्वेन किमप्यकृत्यं प्रतिसेव्यापि न कथयन्ति नालोचयन्ति। यतनया च जानन्तोऽजानन्तो वा भूयस्तथैवापराधपदे प्रवर्तन्ते नटावलोकनं कुर्वाणाश्च दृष्टास्ततो गुरुभिः पृष्टाः किमियतीं वेलां स्थितास्ततो भणन्ति। उष्णेनातितापिता वृक्षादिच्छायायां विश्राम गृहीतवन्तः कण्टको वा लग्न आसीत्। स च तत्र स्थितैरपनीतः। आदिशब्दादन्यदप्येवंविधमुत्तरं कुर्वन्ति इति। गृहिणोऽप्याधाकर्मादौ कृते पृष्टा भणन्ति प्राघूर्णका आगतास्तदर्थमिदमुपस्कृतमस्माकं वा ईदृशे शाल्योदनादौ भक्तेः अद्य श्रद्धा समजनि। उत्सवो वा अद्यामुकोऽस्माकम्। एवं गृहिणोऽपि वक्रजडत-

या साधून् व्याकुलयन्ति व्यामोहयन्ति सद्भावं नावगान्तीत्यर्थः । एतेन कारणेन चतुर्यामिकपञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेष कृत इति प्रक्रमः । वृ० ४ उ० ।

अथ कथमेते एतत्स्वभावा इत्याह ।

कालस्सहावा उच्चिय, एए एवंविहा उ पाएण ।
होंति उ उओ जिणेहिं, एएसिं इमा कया मेरा ॥ ४४ ॥

कालस्वभावादेव कालसामर्थ्यादेव एते साधव एवंविधास्तु एवंप्रकाराः पुन ऋजुजडत्वादिधर्मका इत्यर्थः । प्रायेण बाहुल्येन न तु सर्वे तद्विधा एव भवन्ति स्युः (अउओत्ति) यस्मादेवमत एव जिनैराप्तैरेतेषामृजुजडादिसाधूनामियमुक्तस्थिता स्थितकल्परूपा कृता विहिता (कयाइमात्ति) पाठान्तरम् (मेरत्ति) मर्यादेति गाथार्थः । अथ ऋजुप्रज्ञानामस्तु चरणं ऋजुप्रज्ञत्वादेः ऋजुजडादीनां तु न युक्तमित्यत आह ॥

एवं विहाण वि इह, चरणं दिहं तिलोगणाहेहिं ।
जोग्गाण थिरो जावो, जम्हा एएसि सुद्धो उ ॥ ४५ ॥
अत्थिरो उ होइ इयरो,
सहकारिवसेण ण उ ण त हणइ ।
जलणा जायइ उएहं,
वज्जं ण उ चयइ तत्तं पि ॥ ४६ ॥

एवं विधानामपि ऋजुजडत्वादियुक्तानामप्यास्तामृजुप्रज्ञानामिह प्रक्रमे चरणं चारित्रं दृष्टमवलोकितं त्रिलोकनाथैर्जिनैः किं सर्वेषामित्याह । योग्यानामुचितानां प्रव्रज्यायां कुत एतदेवमित्याह । स्थिरः स्थायी भावोऽध्यवसायो यस्मात्कारणादेतेषामृजुजडादीनां शुद्धस्तु प्रशस्त एवेति । अस्थिरस्तु अस्थायी पुनः कादाचित्क इत्यर्थः । भवति स्यादितरोऽशुद्धः । अथ कथमसौ स्यादित्याह । सहकारिवशेन तथाविधसामग्रीसामर्थ्येन न तु स्वत एव । तर्हि शुद्धभावस्वभावचरणोपहतिर्भविष्यतीत्याह । न पुनस्तच्चरणं हन्ति विनाशयति । अत्र दृष्टान्तमाह । ज्वालनाद्वह्नेर्जायते स्यादुष्णं तप्तं वज्रं कुलिशं न तु न पुनस्त्यजति मुञ्चति तत्त्वमपि स्वभावमपि वज्रत्वमपीत्यर्थः । अपि समुच्चये इति गाथाद्वयार्थः ॥

इय चरणम्मि ठियाणं, होइ अणाभोगभावओ खलणा ।
ण उ तिव्वसंकिलेसा, अवेति चारित्तभावो वि ॥ ४७ ॥

इति दृष्टान्तोक्तन्यायेन चरणे चरित्रे स्थितानामाश्रितानां भवति स्यादनाभोगभावतः विस्मरणसद्भावात् स्खलनातिक्रमश्चारित्रस्य न तु नैव तीव्रसंक्लेशादुत्कटदुरध्यवसायादपैति नश्यति चारित्रभावोऽपि चरणपरिणामः पुनस्तीव्रसंक्लेशस्याभावादेवेति गाथार्थः । नन्वेवमृजुजडानां युक्तश्चरणानपगमो वक्रजडानां तु कथमसावित्याह

चरिमाण वि तह णेयं, संजलणकसायसंगयं चेव ।
माइट्ठाणं पायं, असइं पि हु कालदोसेण ॥ ४८ ॥

चरमाणामप्यन्तिमानामपि न केवलमाद्यानामेव तथेति यथाद्यानामनाभोगजन्यस्खलना चरणस्याबाधिका तथा तद्वज्ज्ञेयं ज्ञातव्यं चरणाबाधकं मातृस्थानमिति योगः । किं सर्वं नेत्याह । संज्वलनकषायसंगतमेव अल्पतरकषायोद्भवमेव न त्वनन्तानुबन्ध्यादिगतं किं तदित्याह (माइठाणंति) मातरः स्त्रियोऽभिधीयन्ते तासां स्थानमाश्रयो मातृस्थानं माया स्त्रियो हि प्रायो मायाश्रिता भवन्ति । स्त्रीत्वमपि प्रायो मायानिबन्धनमथवा मातृशब्देन मायोच्यते । ततश्च तस्याः स्थानं विशेषो मातृस्थानं मायिनां वा स्थानमिति मायिस्थानं मायैव प्रायो बाहुल्येन केषांचित्तन्न संभवत्येवेति प्रायो ग्रहणम् । असकृदप्यनेकशोऽप्यास्तामेकदा स्वुर्वोक्त्यालंकारे कालदोषेण दुष्षमानुभावेनेति गाथार्थः ।

व्यतिरेकमाह ।

इहरा उण समणत्तं, असुद्धजावा उ हंदि विष्णेयं ।
लिंगम्मि वि भावेणं, सुत्तविरोहा जओ भणियं ॥ ४९ ॥

इतरथा त्वन्यथा पुनः कषायान्तरसङ्गतमातृस्थानसंभवे इत्यर्थः न श्रमणत्वं न साधुत्वं कुत इत्याह । अशुद्धभावात् अप्रशस्ताध्यवसायात् अनन्तानुबन्ध्यादिसंगतमातृस्थानरूपात् हन्दीत्युपप्रदर्शने विज्ञेयं ज्ञातव्यं लिङ्गेऽपि द्रव्यलिङ्गे रजोहरणादौ सत्यास्तां तदभावे यदि द्रव्यलिङ्गमस्ति कथं न श्रमणत्वमित्यत आह । भावेन परिणामापेक्षया एतदेव कुत इत्याह । सूत्रविरोधात् आगमोक्तार्थविरुद्धत्वात् । सूत्रविरोध एव कुत इत्याह । यतो यस्माद्भणितमुक्तमागम इति गाथार्थः ।

यदुक्तं तदेवाह ।

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति ।
मूलच्छेज्जं पुण होइ, वारसण्हं कसायाणं ॥ ५० ॥

सर्वेऽपि च समस्ता अपि न तु केचिदेवातिचाराः सर्वविरत्यतिक्रमाः संज्वलनानां तु संज्वलनाख्यकषायाणामेवोदयतो विपाकेन भवन्ति स्युः । मूलेनाष्टमप्रायश्चित्तेन छिद्यतेऽपनीयते यदपराधजातं तन्मूलच्छेद्यं तत्पुनर्भवति स्यात् द्वादशानामनन्तानुबन्ध्यादीनां कषायाणां क्रोधादिभावानामुदयतः इत्यतः संज्वलनसंगतमेव मातृस्थानं चरणाभावकारकं न स्यात्तद्भावेऽपि च चरमसाधवश्चरणवन्तः स्युरिति गाथार्थः । दुष्षमायां केचिच्चारित्रमेव न मन्यन्ते अतिचारबाहुल्यात्तच्च नयतो व्यवहारभाष्ये साक्षेपं । समाधिरिहोक्तः । "केसिंचिय आएसो, दसणनाणेहिं वट्टए तित्थं । वोच्छिन्नं च चरित्तं, वयमाणे भारिया चउरो" चतुर्गुरुकः प्रायश्चित्तविशेषः वस्तुस्थानविशेषः तथा "न विणा तित्थनियंठेहिं, न तित्थाय नियंठया । छक्काय संजमो जाव, ताव अणुसज्जणा दोण्हं" अव्यवच्छेदो बकुशकुशीलयोर्मायिकच्छेदोपस्थापनीययोर्वेत्यर्थः । "जो भणइ नत्थि धम्मो, न य सामइयं न चेव य वयाइं । सो समणसंघवज्झो, कायव्वो समणसंघेण" तथा पूर्वसाध्वपेक्षया हीनतरक्रियापरिणामत्वेऽपि दुष्षमासाधूनां साधुत्वमेव । यदाह "सत्थपरिण्णछक्काय, अहिगमो पिंडउत्तरज्झाए । रुक्खवेव सहे गोवे, जो हे सो वीयपुक्खरणी" अयमर्थः पूर्वं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमुत्थापनाहेतुरासीदधुना षड्जीवनिकायाधिगमः । षड्जीवनिकायिका एव पिण्डग्रहणहेतुराचारो दशकालिकं च । तथोत्तराध्ययनान्याचारस्योपरादानीं तु दशकालिकस्येति पूर्वं वृक्षाः कल्पवृक्षा अधुना चूतादयोऽपि ते तथा शोधिः षाण्मासिकी प्रागधुना च पञ्चकल्याणकदशकल्याणकादिभिर्न च सा न भवतीति गाथार्थः ।

एवं चरमसाधूनां चरणं व्यवस्थाप्यातिप्रसङ्गवारणायाह ।

एवं च संकिलिट्ठा, माइट्ठाणम्मि णिच्च तल्लिच्छा ॥
आजीवियभयगत्था, मूढा णो साहुणो णेया ॥ ५१ ॥

एवं चोक्तनीत्या संज्वलनव्यतिरिक्तकषायोदयेन श्रमणत्वमित्येवलक्षणया संक्लिष्टाः संक्लिष्टचित्ताः कषायान्तरोदयात्

मातृस्थाने मायायां नित्य तल्लिप्सा सदैव तत्पराः परजनपरायणत्वात् । आजीवनमाजीविका निर्वाहस्तद्भावनाया यद्भयं भीतिस्तदाजीविकाभय तेन ग्रस्ताः अभिभूता ये तथा गृहस्थैर्विज्ञातनिर्गुणत्वाद्यनादिविरहिता वा कथ निर्वक्ष्याम इत्यभिप्रायवन्त इत्यर्थः । मूढाः परलोकसाधनवैमुख्येनेह लोकप्रतिबद्धत्वाच्चो नैव साधवो ज्ञेया ज्ञातव्या इति गाथार्थः ।

उक्तविपर्ययमाह ।

संविग्गा गुरुविणया, णाणी दंतिंदिया जियकसाया ॥

भवविरहे उज्जुत्ता, जहारिहं साहुणो होंति ॥५१॥

संविग्नाः संसारभीरवः अत एव गुरुषु संसारोत्तरणोपायोपदेशकेषु विनता प्रणताः गुरुविनताः । अत एव ज्ञानिनः सुप्रसन्नगुरुवितीर्णश्रुतज्ञानाः अत एव च दान्तेन्द्रिया जितात्मा जितकषाया निगृहीतक्रोधादिभावाः भवविरहे संसारवियोगे विधेये उद्युक्ता उद्यता ज्ञानक्रियारूपत्वात्तदुद्यमस्य यथार्हं यथायोग्यं देशकालाद्यपेक्षया ऋजुजमवक्रजरुऋजुप्रज्ञत्वानुरूप वा । न तु वक्रजरूत्वे सति ऋजुप्रज्ञत्वोचिता इतरे चेति स्वभावः साधवो यतयो भवन्ति स्युरिति गाथार्थः । स्थितास्थितकल्पप्रकरण विवरणत समासमिति ।

अथैतस्यैव निगमद्वारेणेदं पर्ययुक्ततामाह ।

एवं कप्पविभागो, तइओसहणाणओ मुणेयव्वो ।

भावत्थजुत्त एत्थ उ, सव्वत्थ वि कारणं एयं ॥ ४१ ॥

एवमुक्तनीत्या कल्पविभाग आचेलक्यादि स्थितास्थितकल्पतया विभजन कुत इत्याह । तृतीयौषधज्ञानत उक्तौषधविशेषोदाहरणेन (मुणेयव्वोत्ति) ज्ञातव्य । किंविध इत्याह । भावार्थयुक्त ऐदंपर्ययुक्तो न यादृच्छिक अत्र तु इह पुन कल्पविभागे सर्वत्रापि दशस्वपि पदेषु न तु क्वचिदेव कारण विभागहेतुरेतद्वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥

तदेवाह ।

पुरिमाण दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो ॥

मज्झिमगाण जिणाण, सुविसोज्झो सुहणुपालो य ॥४२॥

पूर्वेषामाद्यजिनसाधूनां दुर्विशोध्यो दुःखेन शुद्धिप्रकर्षप्रापणीयः ऋजुजडत्वेन तेषां बहुभिश्चोपदेशैः समस्तहेयार्थज्ञानसम्भवेनाविचारपरिहारसम्भवात् चरमाणामन्तिमजिनसाधूनां दुरनुपालो दुःखानुपालनीयः स एव दुरनुपालकः तेषां वक्रजडत्वेन तेन व्याजेन हेयार्थसेवासम्भवात् कल्प आचेलक्यादिसमाचारः । मध्यमकानां जिनानां च व्यक्त सुविशोध्यः सुखविशोधनीयः तेषामृजुत्वेन यथोपदिष्टानुपालनात् सुखेनानुपाल्यत इति सुखानुपालस्तेषां प्राज्ञत्वेनोपदेशमात्रादप्यशेषहेयार्थान्यूहनेन तत्परिहारसमर्थत्वाच्च समुच्चय इति गाथार्थः ।

अथ दुर्विशोध्यत्वादिष्वेव हेतुमाह ।

उज्जुजडा पुरिमा खलु, णमादिणाण उ होंति विण्णेया ॥

वक्कजडा उण चरिमा, उजुपन्ना मज्झिमा भणिया ॥४३॥

ऋजवोऽशठास्ते च ते जडाश्च विशिष्टानुवैकल्पेनोक्तमात्रग्राहिण ऋजुजडाः पूर्वे आद्यतीर्थसाधव खल्ववाक्यालङ्कारार्थ नटादिज्ञानात् नर्तकप्रभृत्युदाहरणात् पञ्चा १७ विव० (उदाहरण व्याख्यानम्) वृ० ॥ अयं च दशप्रकारोऽपि कल्पो दोषाभावेऽपि क्रियमाणस्तृतीयौषधवत् हितकारको भवति । तथाहि केनचिद्भूपतिना स्वसुतस्य अनागतचिकित्सार्थ त्रयो वैद्या आकारितास्तत्र प्रथमो वैद्य आह । मदीयमौषधं विद्यमान व्याधिं हन्ति रोगाभावे च न गुणं न दोषं च करोति । राजा प्राह । भस्मनि हुततुल्येनानेन औषधेन किम् । द्वितीयः प्राह । मदीयमौषध रोगसद्भावे रोग हन्ति रोगाभावे दोषं प्रकटयति । राज्ञोक्त सुप्तसर्पोत्थापनतुल्येन अनेनापि औषधेन पर्याप्तम् । तृतीय प्राह । मदीयमौषध सद्भावे रोगं हन्ति तदभावे च शरीरे सौन्दर्यं वीर्यपुष्टिं करोति । राज्ञोक्तं इदमौषध समीचीन तद्वयमपि कल्पे दोषसद्भावे दोषं निहन्ति । दोषाभावे च धर्मं पुष्णाति । कल्प० । प० ध० ।

अथैतस्मिन् दशविधे कल्पे यः प्रमाद्यति तस्य दोषमभिधित्सुराह ।

एवं ठियम्मि मेरं, अट्ठियकप्पे य जो पमादेति ।

सो वट्टति पासत्थे, ठाणम्मि तगं विवज्जेज्ज ॥

एवमनन्तरोक्तनीत्या या स्थितकल्पे अस्थितकल्पे च मर्यादा सा सामाचारी भणिता तां मर्यादां यः प्रमादयति प्रमादेन परिहापयति स पार्श्वे पार्श्वस्थसत्के स्थाने वर्तते । ततस्तकं वर्जयेत् तेन सह दानग्रहणादिक संभोग न कुर्यादिति भावः । कुत इत्याह ।

पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणेहि वुत्तं थेरेहि य ।

तारिसं तु गवेसंतो, से विहारे न सुज्झति ॥

पार्श्वस्थं पार्श्वस्थसत्कं स्थानमपराधं पदं संक्लिष्टमशुद्धं जिनैस्तीर्थकरैः स्थविरैश्च गौतमादिभिः प्रोक्तं ततस्तादृशं स्थान गवेषयन् स यथोक्तसामाचारीपरिहापयिता विहारे न शुद्ध्यति । नासौ संविग्नविहारीति भावः ।

पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणेहि वुत्तं थेरेहि य ।

तारिसं तु विवज्जंतो, से विहारे विसुज्झति ॥

पार्श्वस्थ स्थान संक्लिष्ट जिनै स्थविरैश्च प्रोक्तं तत्तादृशं स्थानं विवर्जयन् स यथोक्तसामाचारी कर्त्ता विहारे विशुद्ध्यति । शुद्धो भवति यतश्चैवमतः ।

जो कप्पठितिं एयं, सद्दहमाणे करेति सट्ठाणे ।

तारिसं तु गवेसज्जा, जतो गुणाणं ण परिहाणी ॥

य एतामनन्तरोक्तां कल्पस्थितिं श्रद्दधानः स्वस्थाने करोति स्वस्थानं नाम स्थितकल्पे अनुवर्तमाने स्थितकल्पसामाचारीमस्थितकल्पे पुनरस्थितकल्पसामाचारीं करोति तादृश संविग्नविहारिण साधु गवेषयेत् । तेन सहैकत्र संभोग कुर्यात् यतो यस्मात् गुणानां मूलगुणोत्तरगुणानां परिहाणिर्न भवति । इदमेव व्यक्तीकर्तुमाह ।

ठियकप्पम्मि दसविधे, ठवणे कप्पे य दुविहमण्णयरे ।

उत्तरगुणकप्पम्मि य, जारिसकप्पो ससंभोज्जे ॥

स्थितकल्पे आचेलक्यादौ दशविधे स्थापनाकल्पे विवक्ष्यमाणे द्विविधाऽन्यतरस्मिन् उत्तरगुणकल्पवच्चः सदृक्कल्पस्तुल्यसामाचारीक स संभोग्य संभोक्तुमुचित । वृ० ६ उ० (पर्युषणाकल्पप्रतिपादके कल्पसूत्रनामके दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टमेऽध्ययने) विशे० । कल्प० । कल्पन्ते समर्था भवन्ति संयमाध्वनि प्रवर्तमाना अनेनापि कल्प । व्यवहाराध्ययने, व्य० १ उ० ।

पञ्चकल्पेऽधिकारास्तत्र कप्पद्दारं ।

कमेण हु इदाणि किं पुण, उक्कमकरणं बहुतव्वंति नाऊणं ।

किं पुण कप्पज्झयणे, वणिज्जइ भण्णती सुणसु ॥
ता वज्जे अनिविट्ठिता, उ गच्छा तहिय ते उ समासेणं ।
कप्पे य कप्पिए चेव, कप्पणिज्जे त्ति आवरे ॥
फासुए एसणिज्जे य, संजमे चेति नावरे ।
बालए वाणए चेव, चम्मपट्टे ति आवरे ॥
पम्हए किमिए चेव, धाउए मे मले त्ति य ।
दवसंपया चारित्तस्स, चरित्ते कइविहे य ॥
णियंठा कइ पण्णत्ता, कइ समोतारणाति य ।
ववहारे कस्स पणत्ते, कहं पच्चित्तरणा ति य ॥
देसभंगे कहं वुत्ते, सव्वभंगे त्ति यावरे ।
पच्छित्ते कं निविट्ठे, वुत्ते उट्ठाणं ति यावरे ॥
पचट्ठाणे चउट्ठाणे, निट्ठाणेति त्ति यावरे । पं०भा०पत्र० १२
चउव्विह कप्पमिणमो, णिक्खेवो छव्विहो मुणेयव्वो ।
णामं ठवणा दविए, खित्ते काले य भावे य । पं० भा०॥
एसो तु भावकप्पो, अहवा णाणादितो पुणो तिविहो ।
दंसणकप्पं जाणति, णाणचरित्ता तहा वत्ता । पं.भा. १०पत्र.
इयरो मज्जसंपयणा, सुत्तस्सत्थो तु होति परमत्थो ।
संसारसब्भावो वा, नानाविधो मुणितपरमत्था ॥
दोहग्गहततिपाडी, पडिमाइहि गहणजत्तपाणस्स ।
दोहिं तु उवरिमाहिं, गिण्हंते अन्नपाताइ ॥
दव्वा दव्विग्गहा पुव्वा, रयणावलिमादिगा य बोधव्वा ।
एते सुविदितभावा उ, वेंति जिणकप्पियविहारं । पं०भा० ।
एत्तो उ थेरकप्प, समासओ मे निसामेहि ।
तिविहम्मि संजमम्मि उ, बोधव्वो होति थेरकप्पो तु ॥
सामाइयछेदपरिहा-रिए य तिविहम्मि एयम्मि ।
तियअट्ठिए व कप्पे, सामाइयसंजमो मुणेयव्वो ॥
छेदपरिहारिया पुण, णियमाओ हवंति ठितकप्पे ।
एतेसु थेरकप्पो, जह जिणकप्पीण अग्गहो दोसु ॥
गहणं च तिगहाणं, पंचहिं दोहि च ण तह इत्तं ।
वाले वुड्ढे सेहे, अगीतत्थे णाणदंसणप्पेही ॥
दुब्बलसंघयणम्मि य, गच्छे य इएहेसणा भणिता ।
जह संजवंतु सेसा, खेत्तादिविन्नासियव्वदारा तु ॥
उवरिं तु मासकप्पे, वित्थरितो विन्नासते तेसिं ।
दारं इति एस थेरकप्पो पं० भा० पत्र० १२ । पं०चू०॥

एष लिङ्गकल्पः । उपधिकल्पमाह ।

सत्तविह कप्प एसो, समासतो वणिहओ सविभवेणं ।
एत्तो दसविहकप्पं, समासओ मे णिसामेहि ।
कप्पयकप्पाविकप्पे, संकप्पुवकप्प तह य अणुकप्पे ।
उवकप्पे य अकप्पे, दुकप्पे तहा सुकप्पे य । पं० भा० ॥
वुत्तो दसविहकप्पो, अहुणा वीसतिविहं तु वोच्छामि ।
तस्स तु दाराइणमो, समहिता तीहि गाहाहिं ॥

कप्पेसु णामकप्पो, ठवणाकप्पो य दवियकप्पो य ।
खेत्ते काले कप्पो, दंसणकप्पो य सुत्तकप्पो य ॥
अज्झाईण न चरित्त-म्मि य कप्पो उवही तहेव संभोगे ।
आलोचणउवसंपद, तहेव उद्देसअणुएहाओ ॥
अद्धाणम्मि य कप्पो, अणुवासो तह य होति ठितकप्पो ।
अट्ठितकप्पो य तहा, जिणथेरअणुपालणाकप्पो । पं०भा०
दव्वे भावे तदुभय-करणे वेरमणमेव साहारे ।
णिद्दे असंतमयं, तेयट्ठित अट्ठिते चेव ।
ठाणजिणथेरपज्जुसण-मेव सुत्ते चरित्तमज्झयणे ॥
उद्देसवायणपडि-च्छणा य परियट्टणुपेहा य ।
जो तमजाते चिरह-मचिरह संठाणमेव वयणे य ।
उववायनिसीहे य, ववहारो खेत्तकाले य ।
उवही संभोगलिंग-कप्पपडिसेवणा य अणुवासो ।
अणुपालणा अणुएहा, ठवणा कप्पे य बोधव्वे । पं०भा०
(समासकल्पोऽसमासकल्पो विहारो विहारशब्दे) कृत्ये, " अकप्प परियाणामि कप्प उवसंपज्जामि " आव० ४ अ० । ध० । स्थविरकल्पादीना व्यवस्थायाम्, पा० । आ० चू० । स-था० । प० व० । नं० । कल्प० (कल्पस्य षट् प्रस्ताराः प्रस्तार-शब्दे) कल्पाध्ययनोक्तसाधुसमाचारे, ।

(सूत्रम्) कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता तं जहा कुक्कुइए संजमस्स पलिमंथू मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू चक्खुलोलए इरियावहियस्स पलिमंथू तितणए एसणागोयरस्स पलिमंथू इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू निज्जा नियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू सव्वत्थ भगवता अनियाणया पसत्था

अथ निर्युक्तिविस्तरः

पलिमंथे णिक्खेवो, णामधिकरणम्मि कारगकम्मे य ।
दव्वपलिमंथो एमेव य, भावम्मि चउसु वि ठाणेसु ॥

जीवानुकरणे साधकतमेऽधिकरणे आधारे कारकः कर्त्ता तस्मिन् तथा कर्मणि च व्याप्ये द्रव्यतः परिमन्थो भवति । तथा हि करणे येन मन्थानादिना दध्यादिकं मथ्यते अधिकरणे यस्यां पृथिवीकायनिष्पन्नाया मन्थन्यां मथ्यते । कर्त्तरि यः पुरुषः स्त्री वा दधि विलोडयति । कर्मणि तन्मथ्यमानं यन्नवनीतादिकं भवति एष चतुर्विधो द्रव्यपरिमन्थः । एवमेव (भावेति) भावविषयः परिमन्थः चतुर्ष्वपि करणादिषु स्थानेषु भवति । तद्यथा करणे येन कौत्कुच्यादिव्यापारेण दधितुल्यः संयमो मथ्यते अधिकरणे यस्मिन्निति मथ्यन्ते । कर्त्तरि साधुः कौत्कुच्यादिभावपरिणतस्तं संयमं मथ्नाति, कर्मणि यन्मथ्यमानं संयमादिकमसंयमादितया परिणमते एष चतुर्विधोऽपि परिमन्थो जीवादनन्यत्वाज्जीव एव मन्तव्यः । अथ करणे द्रव्यभावपरिमन्थं भाष्यकारोऽपि भावयति ।

दव्वम्मि मंथिने खलु, तेण मंथिज्जए जहा दहिए ।
दधितुल्लो खलु कप्पो, मंथिज्जति कोक्कुआदीहिं ॥

द्रव्यपरिमन्थो मन्थिको मन्थान इत्यर्थः । तेन मन्थानेन यथा दधितुल्यः खलु कल्पः साधुसमाचारः कौत्कुचिकादिभिः प्रकारैः-

मथ्यते विनाश्यत इत्यर्थः । तदेवं व्याख्यातं परिमन्थपदम् । बृ० ६ उ० । षट् कल्पस्य प्रतिमन्थवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा कौत्कुच्चिकः संयमस्य प्रतिमन्थुः १ मौखरिकः सत्यवचनस्य प्रतिमन्थुः २ चक्षुर्लोलः ईर्यापथिकस्य प्रतिमन्थुः ३ तिन्तिणिकः एषणागोचरस्य प्रतिमन्थुः ४ इच्छालोभो मोक्षमार्गस्य प्रतिमन्थुः ५ निदानं सिद्धिमार्गस्य प्रतिमन्थुः ६ " कुकुच्य " प्रभृतिशब्दानां व्याख्याऽन्यत्रान्यत्र ।

सांप्रतमेतेष्वेव द्वितीयपदमाह ।

बिइयपदं गेलन्ने, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि ।
मोत्तूण चरिमपदं, णायव्वं जं जहिं कमति ॥

द्वितीयपदं ग्लानत्वे अध्वनि तथा अवमे च भवति तत्र चरमपदं निदानकरणरूपं मुक्त्वा ज्ञातव्यं तत्र द्वितीयपदं न प्रवर्त्तत इत्यर्थः । शेषेषु तु कौत्कुच्चिकादिषु यद्यत्र क्रमते तत्तत्रावतारणीयमेतदेव भावयति ।

कमिवेयणमवतंमे, गुदपागरिसाभगंदलं वा वि ।
गुदकीलगसक्कारा, ण तरति बद्धामणो होउं ॥

कटिवेदना कस्यापि तु सहा अवतसो वा पुरुषव्याधिनामको रोगो भवेत् । एवं गुदयोः पाको अर्शांसि भगन्दरं गुदकीलको भवेत् । शर्करा कृच्छ्रमूत्रको रोगः स च कस्यापि प्रवेदतो न शक्नोति बद्धासनो भवितुं स्यातु एवंविधे ग्लानत्वे अभीक्ष्णपरिस्पन्दनादिकं स्थानकौत्कुच्चिकत्वमपि कुर्यात् ।

उव्वत्तेति गिलाणं, ओसहकज्जे व पत्थरे छुभति ।
वेवति य खित्तचित्तो, बितियपदं होति दोसं तु ॥

ग्लानमुद्वर्तयति एकस्मात्पार्श्वतो द्वितीयस्मिन् पार्श्वे करोति औषधकार्ये वा औषधदानहेतोस्तमेव ग्लानमन्यत्र सक्रम्य भूयस्तत्रैव स्थापयति । यस्तु क्षिप्तचित्तः स परवशतया प्रस्तरान् पाषाणान् क्षिपति वेपते वा चशब्दात् सेंटितमुखवादित्रादिकं प्रकरोति एतत् द्वितीयपदं यथाक्रमं द्वयोरपि शरीरजापाकौत्कुच्चिकयोर्भवति ।

मौखरिकत्वे अपवादमाह ।

तुरियगिलाणाहरणे, मुहरित्तं कुज्ज वा दुपक्खे वा ।
ओसहविज्जं मंतं, मेलिज्जा सिग्घगामि त्ति ॥

त्वरितं ग्लाननिमित्तमौषधादेराहरणे कर्त्तव्ये द्विपक्षे संयतपक्षे सयनीपक्षे च मौखरिकत्वं कुर्यात् । कथमित्याह । एष शीघ्रगामी अत औषधमानेतु विद्यां मन्त्रं वा प्रयोक्तु (मेलिज्जत्ति) प्रेर्यतां व्यापार्यतामित्यर्थः ।

अच्चाउरकज्जे वा, तुरियं व न वावि इरियमुवओगो ।
वेज्जस्स वा वि कहणं, भणति विसमूलओमाओ ॥

अत्यातुरस्य वा ग्लानस्य कार्ये त्वरितं गच्छेत् न चापि नैर्वेयीयामुपयोगं दद्यात् । वैद्यस्य वा कथनं धर्मकथां कुर्वन् गच्छेत् येन स प्रवृत्तः सम्यक् ग्लानस्य चिकित्सां करोति । जये वा मन्त्रादिकं परिवर्त्तयन् गच्छति विष वा केनापि साधुना भक्षितं तस्य मन्त्रेणापमार्जनं कुर्वन् विषवैद्या वानवगृहीतानां परिवर्तयन् शूलं वा कस्यापि साधोरुद्भवति तत्र प्रमार्जयन् गच्छति ।

तिंतिणिया व तदट्ठा, अलब्भमाणे वि दव्वतिंतिणिता ।
वेज्जे गिलाणगादि तु, अहासंवंथी य अतिरित्तो ॥

तस्य ग्लानस्य उपलक्षणत्वात् आचार्यादेश्चाचार्याय निन्तिणितापि स्निग्धमधुरा आहारादिसंयोजनलक्षणा कर्त्तव्या । अलभ्यमाने वा ग्लानाप्रायोग्ये औषधादौ द्रव्यतिन्तिणिकता हा कष्टं न लभ्यते ग्लानयोग्यमत्रेत्येवरूपा कार्या । इच्छालोभे पुनरिदं द्वितीयपदं वैद्यस्य दानार्थं ग्लानार्थं वाऽऽहार उपधिश्चातिरिक्तोऽपि ग्रहीतव्यः । आदिशब्दादाचार्यादिपरिग्रहः । गणचिन्तके वा गच्छोपग्रहे हेतोरतिरिक्तमुपधिं धारयेत् । एवं तावन्निदानं पदं वर्जयित्वा शेषेषु सर्वेष्वपि ग्लानत्वमङ्गीकृत्य द्वितीयपदमुक्तम् ।

संप्रति तदेवाध्वनि दर्शयति ।

अवेक्खंतो वच्चजया, कहेति वा सत्थियातिअत्तीणं ।
विज्जं आउत्तं वा, खेदभया वा अणाभोगा ॥

अध्वनि स्तेनानां सिंहादीनां वा भयादप्रेक्षमाणः इतश्चेतश्च विलोकमानोऽपि व्रजेत् यदि वा अध्वनि गच्छन् सार्थिकानामायतिकानां वा सार्थचिन्तकानां धर्मं कथयति येन ते आवृत्ताः सन्तो भक्तपानाद्युपग्रहं कुर्युः । अथवा विद्या काचिदभिनवगृहीता सा मा विस्मरिष्यतीति कृत्वा तां परिवर्त्तयन्नुपेक्षमाणो वा गच्छेत् आदिश्रुतं पञ्चमङ्गलं तद्वा चौरादिभये परावर्त्तयन् व्रजेत् खेदो नाम श्रमस्तेनातुरीभूतो भयाद्वा सम्भ्रान्त ईर्यायामुपयुक्तो न भवेदिति (अणाभोगत्ति) विस्मृतिवशात् सहसा वा नैर्यायामुपयोगं कुर्यात् ।

संजोयणापलं वा, तिगाए कप्पादिगो य अतिरेगो ।
ओमादिए वि विहुरो,जाइज्जा जं जहिं कमति ॥

अध्वनि गच्छन् हारादीनां संयोजनामपि कुर्यात् प्रलम्बादीनां विकरणकरणाय पिप्पलकादिकमतिरिक्तमप्युपधिं गृह्णीयाद्वा धारयेद्वा अथवा परलिङ्गेन तानि ग्रहीतव्यानि तत परलिङ्गमपि धारयेत् । कल्पा और्णिकादयस्तदादिकं आदिशब्दात्पात्रादिकश्च दुर्लभ उपधिरतिरिक्तोऽपि ग्रहीतव्यः । तदेवमध्वनि द्वितीयपदं भावितम् । एवमवमं दुर्भिक्षं तत्रादिशब्दादशिवादिकारणेषु वा विधुरे आत्यन्तिकायामापदि पञ्चविधं परिमन्थुमङ्गीकृत्य यद्यत्र द्वितीयपदं क्रमते तत्तत्र योजयेत् । एवं निदानपदं मुक्त्वा पञ्चस्वपि कौत्कुच्चिकादिषु परिमन्थुषु द्वितीयपदमुक्तम् बृ० ६ उ० (निदानव्याख्याऽन्यत्र) कल्पप्रतिसेवनायाम्, जीन० । पुण्यलम्बने, यतनादिविषये, पंचा० १५ विव० । अप्रमादे, "अप्पमायाकप्पो भवति उवओगपुव्वकरणो" क्रियालक्षणोऽप्रमादः नि० चू० १ उ० । तथाविधसमाचारप्रतिपादके (नि०) यज्ञादिविधिशास्त्रे वेदाङ्गे, कल्प० । अनु० । ज्ञा० । आव० । आ० म० द्वि० । आवश्यं गौणानुज्ञायाम्, नं० । निश्रायाम्, व्य० ४ उ० । संस्थानभेदे, कल्पश्छेदः क्रकचेन काचस्य तद्विषय संस्थानं कल्प एव परिपाट्या क्रकचव्यवहार इति प्रसिद्धमिति स्था० १० ठा० । प्रावरणरूपे प्रच्छादके, बृ० ३ उ० । जिनकल्पिकानां त्रयः कल्पाः ।

अथ गच्छवासिनां कल्पप्रमाणमाह ।

कप्पा आयपमाणा, अड्ढाइज्जाउ वित्थडा हत्था ।
एवं मज्झिमपमाणं, उक्कोसं होंति चत्तारि ॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः सार्द्धहस्तद्वयप्रमाणायामा अर्द्धतृतीयाश्च हस्ता विस्तृता पृथुला विधेया एतन्मध्यमं मानप्रमाणं भवति उत्कर्षतो दैर्घ्येण चत्वारो हस्ताः । एतदादेशद्वयं मन्तव्यम् ।

अत्रैव कारणमाह ।

संकुचियतरूण आय-प्पमाणसुयाए न सीयसंफासो ।

दुहओ पेल्लणथेरे, थेणुज्झियपाणाइ रक्खा य ॥

यः श्रमणो तरुणः स संकुचितपादः स्वप्तुं शक्नोति तस्य तथा स्वयमेव शीतस्पर्शो न भवति । अतस्तस्यात्मप्रमाणः कल्पोऽनुज्ञातः यस्तु स्थविरो वयसा वृद्धः स क्षीणबलत्वान्न शक्नोति संकुचितपादः शयितुमतस्तस्यानुग्रहार्थं दैर्घ्येण आत्मप्रमाणादूर्ध्वं द्वे पञ्चाङ्गुलानि विस्तरतोऽप्यर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणादभ्यर्थिकानि पञ्चाङ्गुलानि विधीयन्ते एवं विधीयमाने गुणमुपदर्शयति (दुहओ पेल्लणत्ति) शिरःपादान्तलक्षणद्वयोरपि पार्श्वयोर्यत्कल्पस्य प्रेरणमाक्रमणं तेन स्थविरस्य शीतं न भवति । अनुचितो भावितशैक्ष इत्यर्थः तस्यापि स्वप्नविधानभिज्ञस्य कल्पप्रमाणमेव ज्ञातव्यम् । अपि च एवं प्राणिनां रक्षा कृता भवति न मत्कुणपुट्याः कीटिकादयः प्राणिनः प्रविशन्तीति भावः । आदिशब्दाद्दीर्घजातीयादयोऽपि न प्रविशन्ति तेनात्मनापि रक्षा कृता भवति । वृ० ३ उ० । ध० ।

पञ्चवस्तुवृत्तौ तु तत्प्रयोजनं चेत्थम् ।

तणगहणानलसेवा, णिवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा ।

दिट्ठं कप्पग्गहणं, गिलाणमरणट्ठया चेव ॥

तृणग्रहणानलसेवावारणार्थं तथाविधसंहनिनां धर्मशुक्लध्यानार्थं कल्पग्रहणं जिनैः प्रज्ञप्तं ग्लानमृतप्रच्छादनार्थं चेति ध० ३ अधि० । प० व० । नि० चू० । ओ० ।

अथ परप्रश्नमाशङ्कयोत्तरमाह ।

कं संजमोवयारं, करेइ वच्छाइ जइ मई सुणसु ।

सीयत्ताणं ताणं, जलणतणगयाण सत्ताणं ॥

तह निसि चाउक्कालं, सज्झायज्झाणसाहणमिसीणं ।

महिमहियावासोसा, रयाइ रक्खानिमित्तं च ॥

मयमंतरुज्झणत्थं, गिलाणपाणोवगारिवा निमय ।

मुहपोत्तियाइ चेवं, परूवणिज्जं जहा जोग्गं ॥

संसत्तसत्तगोरस-पाणयपाणीयपाणरक्खत्थं ।

परिगलणपाणघायण, पच्छा कम्माइयाणं च ॥

परिहारत्थं पत्तं, गिलाणबालाइउवग्गहत्थं च ।

दाणमयधम्मसाहण-समया चेवं परोप्परओ ॥ ३ ॥

कं नाम संयमोपकारं करोति वस्त्रादिकमिति यदि तव मतिस्तर्हि कथ्यते । शृणु सौत्रिकौर्णिककल्पैस्तावच्छीतार्त्तानां साधूनां त्राणमार्त्तध्यानापहरणं क्रियते । तथा ज्वलनतृणादीन्धनगतानां सत्त्वानां त्राणं रक्षणं क्रियत इतीहापि हृदयम् । इदमुक्तं भवति यदि कल्पा न भवेयुस्तदा शीतार्त्ताः साधवोऽग्नितृणादीन्धनज्वलनं कुर्युस्तत्करणे चावश्यंभावी तद्गतसत्त्वोपघातः । कल्पैस्तु प्रावृतैरेष न भवत्येव । अग्नितृणादिज्वलनमन्तरेणापि शान्तार्त्तिनिवृत्तिरिति । तथा "कालचउक्क उक्कोसयण जहन्नेतिय तु बोधव्वमित्यादि" वचनात्समस्तरात्रिजागरणं कुर्वद्भिः साधुभिश्चत्वारः काला ग्रहीतव्या तत्र दिनकरप्रभार्गेणि शीते पतति चतुष्कालं गृहीतामृषीणां कल्पा प्रावृताः सन्तो निर्विघ्नं स्वाध्यायध्यानं कुर्वन्ति शीतार्त्त्यपहरणादिति । तथा (महि त्ति) महायातोत्क्षिप्ता सचित्ता पृथिवी तस्याः पतन्त्या रक्षानिमित्तं प्रावृताः कल्पाः संजायन्ते महिकाधूमिका (वासत्ति) वर्षो वृष्टिः (उसत्ति) अवश्यायः प्रतीतः रजोऽपि सचित्तमीषत्ताताम्रनभसः पतति प्रतीतमेव आदिशब्दात्प्रदीपतेजःप्रभृतीनां परिग्रहः । एतेषां च महावातादिप्रतानां रक्षानिमित्तं कल्पा संजायन्त इति । तथामृतस्य संवरणं संवरः आच्छादनं उज्झनं बहिर्नयनं तदर्थं च चेनो जलप्रच्छादनपटिकादि वस्त्रमभिमतं ग्लानप्राणोपकारि च तदभिमतं परमगुरूणामेव मुखवस्त्रिकारजोहरणादिकोपकरणं समयानुसारतः संयमोपकारित्वेन योज्य ज्ञातव्यम् ॥ विशे० (पत्र ७४८) ॥ इन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशादिव्यवहाररूपे आचारे. प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । तद्युक्ते देवलोके, भ० ७ श० ४ उ । स्था० । सौधर्मादौ, स्था० २ ठा० । (ते च सौधर्मादयः इत्थं वैमानिकदेवानां स्थानप्ररूपणे ठाणशब्दे वक्ष्यन्ते,) ते द्वादश सौधर्म १ ईशान २ सनत्कुमार ३ माहेन्द्र ४ ब्रह्मलोक ५ लान्तक ६ महाशुक्र ७ सहस्रार ८ आनत ९ प्राणत १० आरण ११ अच्युत १२ । प्रज्ञा० १ पद (एतेषां मानादि सर्वंगणशब्दे) एतेषु, ।

दस कप्पा इंदाहिट्ठिया पण्णत्ता तं जहा सोहम्मे जाव सहस्सारे पाणए अच्चुए । एएसु णं दसकप्पेसु दस इंदा पण्णत्ता तं जहा सक्के ईसाणे जाव अच्चुए । एएसिं णं दसण्ह इंदाणं दस पारियाणिया विमाणा पन्नत्ता तं जहा पालए पुप्फए जाव विमलवरे सव्वओ भद्दे ।

(दसेत्यादि) सौधर्मादीनामिन्द्राधिष्ठितत्वमेतेष्विन्द्राणां निवासादानतारणयोस्तु तदनधिष्ठितत्वं तन्निवासाभावात् स्वामितया तु तावप्यधिष्ठितावेति मन्तव्यं यावत्करणात् "ईसाणे २ सणकुमारे ३ माहिंदे ४ बंभलोए ५ लंतगे ६ सहस्से" ७ इत्यमिति । यत एवैते इन्द्राधिष्ठिता अत एवैतेषु दशेन्द्रा भवन्तीति दर्शयितुमाह । (एएसु इत्यादि) शक्रः सौधर्मेन्द्रः शेषा देवलोकसमाननामानः शेषं सुगममिति । इन्द्राधिकारादेव तद्विमानान्याह । (एते इत्यादि) परियाणं देशान्तरगमनं तत्प्रयोजनं येषां तानि पारियाणिकानि गमनप्रयोजनानीत्यर्थः । यानं शिबिकादि तदाकाराणि विमानानि देवाश्रया यानविमानानि न तु शाश्वतानि नगराकाराणीत्यर्थः । पुस्तकान्तरे यानशब्दो न दृश्यते पालक इत्यादीनि शक्रादीनां क्रमेणावगन्तव्यानि यावत्करणात् "सोमणसे ३ सिरिवच्छे ४ नंदियावत्ते ५ कामकमे ६ पीइगमे ७ मणोरमे ८ इति" द्रष्टव्यमिति । आभियोगिकाश्चैते देवा विमानीभवन्तीति । (स्था०) एवंविधविमानयायिनश्चेन्द्राः प्रतिमादिशास्तपसो भवन्तीति ।

दोसु कप्पेसु कप्पत्थियाओ पण्णत्ताओ तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा तेउलेस्सा पन्नत्ता तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पण्णत्ता तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा पण्णत्ता तं जहा सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव । दोसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा पण्णत्ता तं जहा बंभलोए चेव लंतए चेव । दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा पण्णत्ता तं जहा महासुक्के चेव सहस्सारे चेव ॥

कल्पयोर्देवलोकयोः स्त्रियः कल्पस्त्रियो देव्यः परतो न सन्ति शेषं कण्ठ्यमिति नवरं (तेऊलेसत्ति) तेजोरूपा लेश्याः येषान्ते तेजोलेश्यास्ते च सौधर्मेशानयोरेव न परतः तयोश्च तेजोलेश्या एव नेतरे आह च " किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया। जोइससोहम्मीसाणे, तेऊलेसा मुणेयव्वत्ति" ।१ (कायपरियारगत्ति) परिचरन्ति सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारकाः कायतः परिचारका. कायपरिचारका एवमुत्तरत्रापि नवरं स्पर्शादिपरिचारकाः स्पर्शादेरेवोपशान्तवेदोपतापा भवन्तीत्यभिप्रायः । आनतादिषु चतुर्षु कल्पेषु मनःपरिचारका देवा भवन्तीति वक्तव्यम् । स्था० २ ठा० ।

अत्थि णं भंते ! सोहम्मीसाणे णं कप्पाणं अहेगेहाइ वा गेहवणाइ वा ? नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! उरालावलाहया ? हंति अत्थि । देवोपकरेइ असुरो वि पकरेइ नो नाओ एवं थणियसद्दे वि । अत्थि णं भंते ! बादरे पुढविकाए बादरे अगणिकाए ? णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थविग्गहगइसमावण्णाएणं । अत्थि णं चंदिम जाव तारूवा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! गामाइ व जाव सन्निवेसाइ वा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! चंदाभाइ वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं सणंकुमारमाहिंदेसु णवरं देवो एगो पकरेइ । एवं बंभलोए वि एवं बंभलोगस्स उवरि सव्वहिं देवो पकरेइ पुच्छियव्वो य बायरे आउकाए बायरे अगणिकाए बायरे वणस्सइकाए अन्नं तं चेव गाहा " तमुकायकप्पपणए, अगणीपुढवी य अगणिपुढवीसु । आऊतेउवणस्सइ, कप्पुवरिम्मि कण्हराईसु " ॥ १ ॥

" देवोपकरेइ इत्यादि " इह च बादरपृथिवीतेजसोर्निषेधः सुगम एव स्वस्थानत्वात्तथाऽब्वायुवनस्पतीनामनिषेधोऽपि सुगम एव तयोरुदधिप्रतिष्ठितत्वेनाऽब्वनस्पतिसम्भवाद्वायोश्च सर्वत्र भावादिति (एवं सणकुमारमाहिंदेसु त्ति) इहातिदेशतो बादराऽब्वनस्पतीनां सम्भवोऽनुमीयते स च तमस्कायसद्भावतोऽवसेय इति । एव "बमलोयस्स उवरिं सव्वहिं ति" अच्युतं यावदित्यर्थः। परतो देवस्यापि गमो नास्तीति तत्कृतबलाहकादेर्भाव. । (पुच्छियव्वो य त्ति) बादरोऽप्कायोऽग्निकायो वनस्पतिश्च प्रष्टव्य. । अत्र " तं चेवत्ति " वचनान्निषेधश्च यतोऽनेन विशेषोक्तादन्यत्सर्वं पूर्वोक्तमेव वाच्यमिति सूचितम् । तथा ग्रैवेयकादीषत्प्राग्भारान्तेषु पूर्वोक्तं सर्वं गेहादिकमधिकृतवाचनायामनुक्तमपि निषेधतो ध्येयमिति । भ० ६ श० ८ उ० । भोजनान्तरं पात्रादिधावने, ग० १ अधि० । (पात्रप्ररूपणायां त विकाशयिष्यामि) कल्पते समर्थो भवति स्वक्रियायै विरुद्धलक्षणया समर्थो भवति वा अत्र क्लृप् सामर्थ्ये विरुद्धलक्षणया असामर्थ्ये वा आधारे घञ् कल्पयति सृष्टिं विनाशं वा अत्र क्लृप् णिच् आधारे अच् । ब्रह्मणो रात्रिरूपे जगतां चेष्टाराहित्यसंपादके प्रलये, तस्य दिनरूपे जगतां चेष्टासंपादके च कालभेदे, वाच० । युक्ते, कल्पन्ते युज्यन्ते युक्तमेतत्तथा स्था० २ ठा० ।

कप्प्य—त्रि० क्लृप्-णिच्-यत्-कल्पनीये, प्रश्न० अध० १ द्वा० । एषणीये, स्था० ३ ठा० । ग्राह्ये, पंचा० १२ विव० । रचनीये, आरोप्ये, अनुष्ठेये, विधेये, वाच० । सारणीकूपादौ च " सारणीकूवादिओ विकप्पा भण्णंति " नि० चू० १ उ० ।

कप्पअ—कल्पक—त्रि० कल्पयति रचयति आरोपयति वा क्लृप्-णिच्-ण्वुल्-रचके, आरोपके च कर्चूरे, नापिते, पुं० तस्य केशवेशरचकत्वात् तच्छेदकत्वात् तथात्वम् । कल्प-स्वार्थे कन् कल्प शब्दार्थे च वाच० । कपिलविप्रसुते, शकटालसुतपूर्वजे, तद्वृत्त चेत्थम् ।

इतश्च कपिलो विप्रो, वसति स्म पुराद्बहिः ।
आगताः साधव. साय-मन्येद्युस्तद्गृहे स्थिताः ॥ २० ॥
आमन्त्र्येते न वा किंचि-दित्यप्राक्षीद् द्विज स तान् ।
आचार्यैः कथितं तत्र, श्रावकोऽभूत्तदैव सः ॥ २१ ॥
अथान्यदा गृहे तस्य, स्थिताः केऽपि सुसाधवः ।
जातमात्रः सुतस्तस्य, रेवतीदोषदूषितः ॥ २२ ॥
पात्रकानि सुसाधूनां, धृतः कल्पयतामधः ।
नष्टा साव्यन्तरी तस्य, कल्प इत्यभिधाऽभवत् ॥ २३ ॥
सर्वविद्यः स जज्ञेऽथ, पितरौ मृत्युमापतुः ।
नैच्छद्दान च सतोषी, दत्ते विद्यास्तदर्थिनाम् ॥ २४ ॥
तत्रास्त्येको द्विजः कल्प-गमनागमनाध्वनि ।
कन्याजलोदरिण्यस्ति, तस्य तस्या वरोऽस्ति न ॥ २५ ॥
स दध्यौ कल्पकस्यैता-मुपायेन ददाम्यहम् ।
कृत्वा कूप गृहद्वारे, तन्मध्ये तामथाक्षिपत् ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा कल्पकमायान्त-मभ्युच्चैस्तेन पूत्कृतम् ।
कपिला भोः पपातान्धो, य उद्धरति तस्य सा ॥ २७ ॥
तच्छ्रुत्वा कृपया कल्पो, धावित्वा तां समाकृषत् ।
सोऽथ तेन द्विजेनोक्तः, सत्यसन्धो भवेदिति ॥ २८ ॥
जनापवादभीतेन, प्रपन्ना कल्पकेन सा ।
पश्चादौषधयोगेन, कृता रतिरिवापरा ॥ २९ ॥
विद्वान् कल्पश्रुतो राज्ञा, सोऽथाहूयाभ्यधीयत ।
मन्त्री भवेति सोऽवादीत्, लुब्धः पापं करोत्यदः ॥ ३० ॥
नाहं परिग्रहं कुर्वे, भोजनाच्छादने विना ।
दध्यौ राजा विना मन्तुं, नासौ ग्रहमुपेष्यति ॥ ३१ ॥
तद्वस्त्ररजको राज्ञा, प्रोक्तश्चेद्धुनाऽर्पयेत् ।
वस्त्राणि माऽर्पयिष्ठास्त-त्प्रियया प्रेरितोऽन्यदा ॥ ३२ ॥
रञ्जनायार्पयामास, वस्त्राणीन्द्रमहोपरि ।
तद्दिने मार्गितस्तानि, श्वोऽर्पयिष्यामि सोऽवदत् ॥ ३३ ॥
एवं वर्षद्वये याते, तृतीयेऽब्दे पुनः पुन. ।
मार्गितोऽप्यर्पयन्नैव, रुष्टः कल्पोऽवदत्ततः ॥ ३४ ॥
नाह कल्पोऽस्मि चेत्तानि, रञ्जयाम्यसृजा न ते ।
अन्येद्युः क्षुरिकापाणि-र्गतोऽथ रजकप्रियाम् ॥ ३५ ॥
ऊचेऽशुकान्यर्पयास्य, साऽर्पयद्रजकोदरम् ।
पाटयित्वा तदसृजा-रञ्जयत्तानि कल्पक. ॥ ३६ ॥
तद्भार्योचे नृपादेशा-मादाद्धोपोऽस्य कस्तत' ।
कल्पकोऽचिन्तयद्राज्ञो, यन्मयाऽऽज्ञा न मन्त्रिता ॥ ३७ ॥
तद्राज्ञ. कैतवमिदं, प्राग्भूजिष्य पुरा यदि ।
नाभविष्यत्तदेतन्मे, ततो गच्छाम्यहं स्वयम् ॥ ३८ ॥
मा यासं तद्भटैरात्त-स्तद्ययौ द्राग्नृपान्तिके ।
राजाऽभ्युत्थाय तं स्माह, तन्मदुक्तं विचिन्तितम् ॥ ३९ ॥
सोऽवदद्भवदादेशं, कुर्वे मन्त्री कृतस्तत' ।

तं दृष्ट्वोपनृप नष्टा, रजका रावकारिण ॥ ४० ॥
राज्ये सर्वेश्वर कल्प-जातो जानाऽथ सतनि ।
तेनाथ पुत्रवीवाहे, माङ्गल्ल्क्याय नृभुजा ॥ ४१ ॥
चक्राभरणशस्त्रादि, प्रगुणीक्रियतेऽखिलम् ।
दानाद्युपात्ततद्दासी-मुखाद् ज्ञात्वा पुरातन. ॥ ४२ ॥
मन्त्र्याख्यङ्नृभुजो देव, हत्वा त्वा कल्पक. सुतम् ।
राज्येऽभिषेकुकामोऽस्ति, सामग्री तादृगीक्ष्यते ॥ ४३ ॥
पुरुषा. प्रेषिता राज्ञा, सामग्रीं तेऽप्यचीकथन् ।
कल्पक' सकुटुम्बोऽथ, क्षेपितो नृभुजाऽवटे ॥ ४४ ॥
लभते कौद्रवीकूर-सेटिकामम्भसो घटम् ।
कल्पोऽवक स्यात् किमियता, यः कुलोद्धरणक्षम. ॥ ४५ ॥
वैरनिर्यातने वाऽल, भुक्तां सोऽन्नमिद सुधीः ।
तैरुक्तं नो न शक्तिस्त-त्तेऽभुक्त्वान्ना दिव ययु' ॥ ४६ ॥
कल्पक सहतं ज्ञात्वा, प्रतिपन्थिनृपास्तत. ।
आययु पाटलीपुत्रं, अरुन्धतु जाह्नवीतटे ॥ ४७ ॥
दध्यौ नन्द स मन्त्री चे-त्स्याद् द्विपो नाययुस्तत' ।
राजोचे कोऽपि किं कूपे, भक्त गृह्णाति तन्ध्रदाः ॥ ४८ ॥
कश्चिद्गृह्णाति राजोचे, तद्दासोऽपि महामति' ।
ततो मञ्चिकया कृष्ट, कृश. पिङ्गश्च कल्पक' ॥ ४९ ॥
कृतस्नानादिसस्कार, प्राकारेऽदर्शि कल्पक' ।
भीतास्ते कल्पकात्सर्वे, मृगेन्द्रादिव फेरव' ॥ ५० ॥
कल्पो दूतेन तानूचे, मिलितै सरितोऽन्तरे ।
निसृष्टार्थे विशिष्टैर्व, करिष्ये सन्धिविग्रहम् ॥ ५१ ॥
नावमारुह्य तेऽथागु-र्गङ्गान्त' कल्पकोऽप्यगात् ।
करस्थेक्षुकलापस्य, भिन्नस्योपर्यधस्तथा ॥ ५२ ॥
तिष्ठेत्किमन्तस्तानूचे कल्पको हस्तसञ्ज्ञया ।
अध ऊर्ध्वं च भिन्नस्य, दधिकुण्डस्य किं भवेत् ॥ ५३ ॥
एवमादर्शयन्नुक्त्वा, तान् व्यामोह्य निवृत्तवान् ।
विशिष्टास्ते विलक्षास्तु, जग्मु. स्वस्वनृपान्तिके ॥ ५४ ॥
अज्ञातकल्पाभिप्राया, आख्यस्ते प्रलपत्यसौ ।
तत्प्रपञ्चेन नष्टास्ते, नन्दः प्रोक्तोऽथ मन्त्रिणा ॥ ५५ ॥
हस्त्यश्वाद्याच्छिनत्तेषां, पृष्टिं कृत्वा प्रणश्यताम् ।
पुनर्मन्त्री कृत. कल्प., कल्पद्वेषी विनाशित. ॥ ५६ ॥
सहाभून्नन्दसन्तत्या, मन्त्रिता कल्पसन्तते' ।
आ० क० ११६ पत्र० । आव० । आ० चू० ।

कप्पकरण-कल्पकरण-न० भोजनोच्छिष्टपात्राणां धावने, वृ० ५ उ० (तद्वक्तव्यता लेवशब्दे)

कप्पकाल-कल्पकाल-पुं० प्रभूतकाले, " कप्पकालमुवज्जंति " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

कप्पट्ठ-कल्पस्थ-पु० समयपरिभाषया बालके, व्य०७ उ० । डि-म्भरूपे, न० व्य० ७ उ० । वृ० ।

कप्पट्ठिइ-कल्पस्थिति-स्त्री० कल्पशास्त्रोक्तसाधुसमाचारे, अ-वस्थाने, कल्पस्य मर्य्यादायाम्, वृ० ६ उ० ।

तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तं जहा सामाइयकप्पट्ठिई छेदो-वट्ठावणियकप्पट्ठिई णिव्विसमाणकप्पट्ठिई । अहवा ति-विहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तं जहा णिविट्ठकप्पट्ठिई जिण-कप्पट्ठिई थेरकप्पट्ठिई स्था० ३ ठा० ।

सङ्कलने च ।

(सूत्रम्) छव्विहा कप्पट्ठिती पण्णत्ता तं जहा सामाइयसंजमकप्प-ट्ठिती छेदोवट्ठावणियसंजमकप्पट्ठिती निव्विसमाणकप्पट्ठिती निव्विट्ठकाइयकप्पट्ठिती जिणकप्पट्ठिती थेरकप्पट्ठिती त्ति बेमि ॥

षड्विधा षट्प्रकारा कल्पे कल्पशास्त्रोक्तसाधुसमाचारे स्थि-तिरवस्थान कल्पस्थिति' । कल्पस्य वा स्थितिर्मर्यादा कल्प-स्थिति प्रज्ञप्ता तीर्थकरगणधरै' प्ररूपिता तद्यथेत्युपन्यासार्थ' सामायिकसहतकल्पस्थितिसमो रागादिदोषरहितस्तस्या यो लाभो ज्ञानादीनां प्राप्तिरित्यर्थ । समय एव सामायिक सर्व-सावद्यविरतिरूप तत्प्रधाना सयता साधव. तेषां स्थितिः सा-मायिकसयतकल्पस्थिति । १ तथा पूर्वपर्यायच्छेदेनोपस्थापनीय-मारोपणीय यत्तच्छेदोपस्थापनीय व्यक्तितो महाव्रतारोपणमि-त्यर्थ । तत्प्रधाना ये सयता. तेषां कल्पस्थितिः छेदोपस्थापनी-यसयतकल्पस्थितिः २ निर्विशमाना परिहारविशुद्धिकल्प वह-मानास्तेषां कल्पस्थितिर्निर्विशमानकल्पस्थिति. ३ निर्विष्टकायि-का नाम यै' परिहारविशुद्धिक तपो व्यूढ निर्विष्टमासेवितो वि-वक्षितचारित्रलक्षण कायो यैस्ते निर्विष्टकायिका इति व्युत्पत्ते-स्तेषां कल्पस्थितिः ४ जिना गच्छनिर्गता साधुविशेषास्तेषां कल्पस्थिति. जिनकल्पस्थिति । ५ । स्थविरा आचार्यादयो ग-च्छप्रतिबद्धास्तेषां कल्पस्थिति स्थविरकल्पस्थिति' । इतिर-ध्ययनपरिसमाप्तौ ब्रवीमि । तीर्थकरगणधरोपदेशे सकलमपि प्रस्तुतशास्त्रोक्तकल्प्याकल्प्यविधिं भणामि न पुन' स्वमनीषिक-येति सूत्रसक्षेपार्थ ।

सप्रति विस्तरार्थं विभणिषुर्भाष्यकार. कल्पस्थितिपदे परस्या-भिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

आहारो इइ ठाणं, जो चिट्ठाते साहिइत्ति ते बुद्धी ।
ववहारपडुच्चेवं, ठियरेव तु णिच्छए ठाणं ॥

कल्पस्थितिरिति सूत्रे यत्पद तत्र कल्प आधार इति कृत्वा स्थान यस्तु तत्र कल्पे तिष्ठति स स्थितेरनन्यत्वात् स्थितिः । ततश्चैव पृथग्भावाभिधेयत्वेन स्थितिस्थानयो. परस्परमन्यत्व-मापन्नमिति ते तव बुद्धि. स्यात्सूत्रे व्यवहार व्यवहारनय प्रती-त्यैव स्थितिस्थानयोरन्यत्वम् निश्चयतस्तु निश्चयाभिप्रायेण यै-व स्थितिस्तदेव स्थान तुशब्दाद्यदेव स्थान सैव स्थिति. । कथ पुनरित्यत आह ।

ठाणस्स होति गमणं, पडिपक्खो तह गती ठिई पत्तुं ।
एतावता सकिरिए, भवेज्ज ठाणं च गमणं च ॥

सक्रियस्य जीवादिद्रव्यस्य एतावदेव क्रियाद्वय भवति स्थान वा गमन वा । तत्र स्थानस्य गमन प्रतिपक्षो भवति तत्परिण-तस्य स्थानाभावात् । ततः किमित्याह ।

ठाणस्स होति गमणं, पडिपक्खो तह गती ठिई पत्तुं ।
ण य गमणं तु गतिमतो, होति पुणो एवमितरंपि ॥

स्थानस्य गमन प्रतिपक्षो भवति न स्थिति । स्थितिरपि ग-तिप्रतिपक्षो न स्थानमेव स्थितिस्थानयोरेकत्वम् तथा न च नै-व गमन गतिमतो द्रव्यात्पृथक् व्यतिरिक्त भवति । एवमितर-दपि स्थान स्थितमतो द्रव्यादव्यतिरिक्त मन्तव्यम् ।

इदमेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति ।

जइ गमणं तु गतिमतो, होज्ज पुणो तेण सो ण गच्छेज्जा ।

जइ गमणातो अण्णा, गच्छति वसुंधरा कसिणा ॥

यदि गमन गतिमतः पुरुषादेः पृथग्भवेत् ततोऽसौ गतिमान्न गच्छेत् । दृष्टान्तमाह । यथा गमनादन्या पृथग्भूता कृत्स्ना संपूर्णा वसुन्धरा न गच्छति कृत्स्नाग्रहणं लेष्टुप्रभृतिकस्तदवयवो गच्छेदपीति ज्ञापनार्थमेव स्थानेऽपि भावनीय यत एवमत. स्थितमेतत्

ठाणट्ठियणाणत्तं, गतिगमणाणं च अत्थतो णत्थि ।
वंजणणाणत्तं पुण, जहेव वयणस्स वायो य ॥

स्थानस्थित्योर्गतिगमनयोश्चार्थतो नास्ति नानात्वमेकार्थत्वाद्व्यञ्जननानात्व पुनरस्ति । यथैव वचनस्य वाचश्च परस्परमर्थतो नास्ति भेद. । शब्दतः पुनरस्तीति । अथवा नात्र स्थितिशब्दोऽवस्थानवाची किं तु मर्यादा वाचकस्तथा चाह ।

अहवा जो एस कप्पो, पलंबमादी बहुधा समक्खातो ।
छट्टाणा तस्स ठिई, ठित्तित्ति मेरित्ति एगट्ठा ॥

अथवा य. एष प्रस्तुतशास्त्रे प्रलम्बादिको बहुधा अनेकविधः कल्प समाख्यातस्तस्य षट् स्थाना षट्प्रकारा स्थिति. । स्थितिरिति मर्यादेति चैकार्थौ शब्दौ । भूयोऽपि विनेयानुग्रहार्थं स्थितेरेवैकार्थिकान्याह ।

पतिट्ठा ठावणा ठाणं, ववत्था संठिति ठिती ।
अवट्ठाणं अवत्था य, एगट्ठा चिट्ठणाइ च ॥

प्रतिष्ठा स्थापना स्थान व्यवस्था संस्थितिः स्थितिः अवस्थानं वाऽवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि । तथा हि "चिट्ठण" मूर्कस्थानमादिशब्दान्निपदन त्वग्वर्तन तानि त्रीण्यपि स्थितिविशेषरूपाणि मन्तव्यानि । सा च कल्पस्थितिः षोढा तद्यथा ॥

सामाइयएच्छेदो, णिव्विसमाणे तहेव निव्विट्ठो ।
जिणकप्पे थेरेसु य, छव्विहकप्पठिती होत्ति ॥

सामायिकसंयतकल्पस्थितिश्छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिर्निर्विशमानकल्पस्थितिस्तथैव निर्विष्टकल्पस्थिति जिनकल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिश्चेति षड्विधा कल्पस्थिति. । बृ० ६ उ० पत्र० ७१ । स्था० । पूर्वपश्चिमसाधूनां पञ्चमहाव्रतरूपायां मध्यमसाधूनां महाविदेहसाधूनां च चतुर्यामलक्षणायां कल्पावस्थितौ, बृ० ४ उ० । (कप्प शब्दे चैतद्व्याख्यातम्)

कप्पट्ठिय-कल्पस्थित-पु० कल्पे दशविधे आचेलक्यादौ स्थिता कल्पस्थिताः । पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नेषु, बृ० ४ उ० । पूर्वपश्चिमसाधुषु, (यत्कल्पस्थितानामर्थाय कृतमकल्पस्थितानां चार्थाय कृतं तत्कल्पस्थितानां कल्पते इत्यकप्पट्ठिय शब्दे उक्तम्) आचार्यपदानुपालके, " आयरियाण पदानुपालगो कप्पठितो भवति " नि० चू० १० उ० । स्थविरजातसमाप्तकल्पादिव्यवस्थिते आलोचनादानयोग्ये, तदन्यस्य हि अतिचारविषया जुगुप्सैव न स्यात् ध० २ अधि० । पंचा० ।

कप्पट्ठिया-कल्पस्थिका-स्त्री० तरुणस्त्रियाम्, बृ० १ उ० । बालिकायां च व्य० ४ उ० ।

कप्पट्ठी-कल्पस्था-स्त्री० कुलवध्वाम्, व्य० ३ उ० (तद्दृष्टान्तो वेदोपशमे स चवदेस शब्दे भावितः) बालिकायाम्, दुहितरि च । व्य० ६ उ० ।

कप्पड-कर्पट-पुं० न० कृ-कर्मणि-विच्-कर-पट-कर्म-लककें, जीर्णवस्त्रखण्डे, मलिनवस्त्रे, करस्थ पट. शब्द० । घर्मादिमार्जनार्थं हस्तन्यस्ते वस्त्रखण्डे, कषायरक्ते वस्त्रे च । वाच० । वस्त्रमात्रे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

कार्पट-पु० कर्पट एव स्वार्थेऽण् कार्पट. स इवाकारोऽस्त्यस्य अच् वा जीर्णवस्त्रखण्डे, तादृशवस्त्रयुक्ते कार्य्यार्थिनि, त्रि० । वाच० । तदाकारयुक्ते जतुनि, हेमच० । वाच० ।

कप्पडिय-कार्पटिक-त्रि० कर्पट-अस्त्यर्थे ठञ् । कर्पटवस्त्रयुक्ते भिक्षुकादौ, शब्दरत्ना० । वाच० । आचा० । कर्पटैश्चरतीति कार्पटिक । भिक्षाचरे, पु० बृ०१उ० । "अडवीवहिं लगभरवह, उदरि कयप्पडियसमत्थो " नि०चू० १६ उ० । "धंमदत्तस्स एगो कप्पडिओ ओलग्गइ" आ० म० द्वि० । नि० चू० ।

कप्पण-कल्पन-न० कृप्-भावे ल्युट् छेदने, पाटने, सूत्र० १श्रु० ५ अ० । आचा० । कृप् सामर्थ्ये-णिच्-भावे-ल्युट् । रचनायाम्, विधाने, आरोपे च । वाच० ।

कप्पणा-कल्पना-स्त्री० कृप्-णिच्-भावे युच् रचनायाम्, विधाने, आरोहणाय गजसज्जीकरणे, हेमच० । वाच० सप्तभेदप्ररूपणायाम्, नि०चू० १ उ० । विकल्पे, कृमिभेदे, " छेयापरिओवए, समइकप्पणा त्रिकप्पेहिं" औ० । व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानाधीनेऽनुमानभेदे, इति नैयायिकाः अर्थापत्तिरूपे प्रमाणान्तरे, इति मीमांसका वेदान्तिनश्चाहुः ॥

कप्पणामेत्त-कल्पनामात्र-न० इय कल्पनैव केवला वितताथंप्रतिभासरूपा न पुनस्तत्र प्रतिभासमानोऽर्थोऽपीत्येवं रूपायां केवलायां कल्पनायाम्, ध० १ अधि० ।

कप्पणिज्ज-कल्पनीय-त्रि० उद्गमादिदोषवर्जिते, आव०६उ० ।

जं जं जोगमत्तीणं, आहारादी तहेव सेहाए ।
एयं तु कप्पणिज्जं, अपरिग्गहणा अकप्पम्मि ॥
हारे य पलंबादी, सलोममजिणादि होत्ति उवहीए ।
सेज्जाए दगसाला, अकप्पसेहा य जे अन्ने ॥
केरिसय कप्पणिज्जं, फासुयगं फासुयं तु केरिसगं ।
जीवं जढं ज दव्व, तं पि य ज एस णिज्जंतु पं० भा० ॥

कप्पणिज्जेति दुविहं जीवमजीव कप्पणिज्जमकप्पणिज्ज तत्थ सजीवं कप्पणिज्जमकप्पिय च तत्थ सज्जीवमकप्पिय आहारसपुरिसु वीस इत्थीसु दस नपुसगेसु तव्विवरीय कप्पियं तत्थ अजीवं आहारोवहिमाइ जाव दतसोधणय उग्गमुप्पायणा सणासुद्धे कप्पिय अपरिग्गहणं । न तद्विपरीतमकल्पिकम् पं०चू० ।

कप्पणी-कल्पनी-स्त्री० कल्पते छिद्यते यया सा कल्पनी । शस्त्रविशेषे, आचा०१ श्रु०१ अ० । कर्त्तिकाविशेषे, प्रश्न० अध०१अ० " खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य । कप्पिओ फाणिया छिन्नो, उक्कत्तो य अणेगसो" उत्त० १९ अ० ।

कप्पतरु-कल्पतरु-पु० ललोपः । अनादौ शेषादेशोर्द्वित्वम् ४ ।२। ८९ । इति पकारस्य द्वित्वम् प्रा० । देवतरुभेदे, स्मृतिनिबन्धनभेदे, शारीरकभाष्यटीका भामिनीव्याख्यातरूपे ग्रन्थे च वाच० ।

कप्पत्थि-कल्पस्त्री-स्त्री० कल्पयोर्देवलोकयो स्त्रियः । देवीषु, स्था० ३ ठा० । (कल्पस्त्रीणां वक्तव्यता कप्प शब्दे)

कप्पद्दुम-कल्पद्रुम-पुं० देवतरुभेदे, सकल्पविषयफलदातृत्वात्तस्य कल्पद्रुमत्वम् वाच० । मथुरायां तीर्थिजिने, "मथुरायां कल्पद्रुम." ती० ।

कप्पप्पकप्पि-(ए्) कल्पप्रकल्पिन्-पु० कल्पग्रहणेन दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहारा गृहीता' प्रकल्पग्रहणेन निशीथकल्प' कल्पश्च प्रकल्पश्च कल्पप्रकल्पम् तदेषामस्तीति कल्पप्रकल्पिन' । दशाकल्पव्यवहारादिसूत्रार्थधरेषु, "कप्पप्पकप्पी उ सुए आलोया चेति ते इनि सुत्ता " व्य० प्र० १ उ० ।

कप्पपायव-कल्पपादप-पु० कल्पद्रुमे. पो० १५ विव० ।

कप्पपाल-कल्पपाल-पु० कल्प सुराविधानकल्प सकल्प मद्याभिलाषं वा तत्पायिनां पालयति । पाल्-अ ण् । शौण्डिके सुराजीव, हेमचं० । वाच० । ज० ।

कप्पपाहुम-कल्पप्रचूला-न० कस्यचित्पूर्वस्यान्तर्गते ग्रन्थविशेषे, कल्पप्राभृतम् पूर्वकृत श्रीभद्रबाहुना श्रीवज्रेण तत' पादलिप्ताचार्य्येन्तत'परम । इतोऽप्युद्धृत्य सक्षेपात् प्रणात कामितप्रद । श्रीशत्रुञ्जयकल्पोऽय, श्रीजिनप्रभसूरिभि' "। ती० १ कल्प० ।

कप्पप्पईव-कल्पप्रदीप-पु० खरतरगच्छालङ्कारश्रीजिनप्रभसूरिविरचिते तीर्थकल्पे, । ती० ४६ कल्प० ।

कप्पर-कर्पर-पु० कृप्-अरन्-ल्वत्वाभावः । कपाले, वृ० ४ उ० । "तम्मि णगरे कप्परेण भिक्खं हिंडइ" आ०म०द्वि० । कर्परकर्ष्रृत संवृणोति घिजे० । आव० । नि० चू० । शीर्षेऽस्थ्नि, अमर । शस्त्रभेदे, कटाहे च मेदि० चतुष्परे वृक्षे, शब्दे च । वाच० ।

कप्परुक्ख-कल्पवृक्ष-पु० मद्यादिव्यतिरिक्तसामान्यकल्पितफलदायित्वेन कल्पना कल्पस्तत्प्रधानो वृक्षः । मत्ताङ्गादिदसविधकल्पवृक्षाणां सप्तमकल्पवृक्षजातौ, स्था० ७ ठा० । कल्पवृक्षमात्रे, ते च दश । "मत्तंगया य १ भिंगा' २ तुमियगा ३ दीव ४ जोइ ५ चित्तगा । ६। चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अनियणा य १०" प्रव० १७१ द्वा० (एतेषां व्याख्या मत्ताङ्गादिशब्देषु ओसप्पिणीशब्दे सपूर्णे वर्णके उक्ता) चैत्यवृक्षे च स्था० ३ ठा० ।

कप्पवंस-कल्पवंश-पु० कपिलसुतकल्पस्य नन्दामात्यस्यान्वये, "सहाभून्नन्दसन्तत्या, मन्त्रिता कल्पसन्तते' । अथाऽभून्नवमे नन्दे, मन्त्रिराट् कल्पवंशज." । आ० क० ।

कप्पवडिंसय-कल्पावतंसक-पु० सौधर्मेशानकल्पप्रधाने विमाने, तत्रोपपन्ने देवे च नि० । (तद्वक्तव्यता कप्पावडंसियाशब्दे) " सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पप्पहाणाणि विमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि " पा० ।

कप्पवडिंसया-कल्पावतंसिका-स्त्री० कल्पावतसकदेवप्रतिबद्धग्रन्थपद्धतौ, नि० । न० । "पा० । सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पप्पहाणाणि विमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि । ते सुया देवीओ जातेण तयोविसेसेण उववन्नाओ गच्छं च पत्ताओ एवं जासु सवित्थर वण्णिज्जइ तओ कल्पावतंसिका प्रोच्यन्त इति । कल्पावतंसिका नाम कल्पावतसकदेवप्रतिबद्धग्रन्थपद्धतिः सा च निरयावलिका श्रुतस्कन्धगतद्वितीयो वर्ग. अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य उपाङ्गम्, ज० । रा० ।

जति णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं अयमट्ठे पन्नत्ते दोच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स कप्पवडेंसयाणं समणेणं जाव कति अज्झयणा पन्नत्ता ? एवं खलु जंबू समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं कप्पवडेंसयाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा पउमे १ महापउमे २ भद्दे ३ सुभद्दे ४ पउमभद्दे ५ पउमसेणे ६ पउमगुम्मे ७ नलिणिगुम्मे ८ आनंदे ९ नंदणे १० नि० ।

कप्पव(व्व) वहार-कल्पव्यवहार-पु० कल्पश्च व्यवहारश्च कल्पव्यवहारौ । कल्पव्यवहाराख्याध्ययनयोः, ।

कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि-वृ० १ उ० ।
आयारदसाकप्पो, ववहारो नवमपुव्वणीसंदो ।
चारित्तरक्खणट्ठा, सुयकरणसुवरि व चित्ताइं ॥
अंगदसा अएहाविहु, उवासगादीए तेण तु विसेसो ।
आयारदसाउ इमो, जेणेत्थं वणिहयायारो ॥
दसकप्पव्ववहारा, एगसुतक्खंधकेइ इच्छंति ।
केइं च दस एक्कं, कप्पव्वाहारवीसं तु ॥
रयणागरयाणीयं, एवमं पुव्वं तु तस्स नीसंदो ।
परिगालपरिस्सावो, एते दस कप्पववहारा ॥
किं कारणनिज्जूढा, चरित्तमारिस्स रक्खणट्ठाए ।
खलियस्स तेहिं सोही, कीरति तो होति निरुवहतं ॥
सूयकडूवरि ठविता, जम्हा तू पंच वासपरियायो ।
सूयकरूमहज्जति तु, तो जोग्गो हीति सो तेसिं ॥
अणुकंपा वोच्छेदो, कुसुमा भेरी तिगिच्छपारिच्छा ।
कप्पे परिसा य तहा, दिट्ठंता आदिसुत्तम्मि ॥
उस्सप्पिणी सव्वणाणं, हाणिं णाऊण आउगबलाण ।
होहिं तु वग्गधंकरा, पुव्वगतम्मि पहीणम्मि ॥
खेत्तस्स य कालस्य य, परिहाणिं गहणधारणाणं च ।
बलविरिए संघयणे, सद्धा उच्छाहतो चेव ।
किं खेत्तं कालो वा, संकुयती जेण तेण परिहाणी ॥
भएहइ न मंकुयंती, परिहाणी तेसि तु गुणेहिं ।
जाणियव्वं दूसमाए, गामा होहित्ति तमसाणं ॥
सामाइय खेत्तगुण-हाणी काले वि ऊ होति ।
मा हाणी समए एं, ता परिहायंते उवएहमादीया ॥
दव्वादी पज्जाया, अहोरत्तं तत्तियं चेव ।
दूसम अणुभावेणं, साहू जोग्गा कुडुंबभा खेत्ता ।
काले वि य दुब्भक्खा, अभिक्खणं होत्ति ममरायं ॥
दूसम अणुभावेण य, परिहाणी होति ओसहबलाणं ।
तेणं मणुआणं पि तु, आउगमेहादिपरिहाणी ।
(दार)संघयणं पि य हियइ,तनो यहाणी धितिबलस्स भवो
विरियं सारीरबल, तं पि य परिहानिसत्तं च ।
हायंति य सद्धाओ, गहणे परियट्टणे य मणुयाणं ।
उच्छाहो उज्जोगो, अणालमत्तं च एगट्ठा ।
इय णाउं परिहाणी, अणुग्गहट्ठाए एस साहूणं ।
णिज्जूढणुकंपाए, दिट्ठं तेहिं इमेहिं तु ।

पगरणे चेडणुकंपा, दछावि दछेहि होयगारीणं ।
जह ज मे वीयभत्तं, रण्हादिएहं जहण्णवयस्स ।
एव अप्पत्त चिय, पुव्वगतं केइ मा हु मरिहिंति ।
नो उ हरिऊण ततो, हेट्ठाओ तारियं तेहिं (दारं) ।
मा य हु वोच्छिजिहिती, चरणाणुओगो त्ति तेण णिज्जूढं ।
वोच्छिण्णहे बहुयम्मी, चरणाभावो भविज्जाहि ॥
कहं पुण तेण गेहं तु, दिएहाइं तत्थिमो तु दिट्ठंतो ।
जह कोइ दुयारो होमु, सुरन्भिकुसुमो उ कप्पदुमो ॥
पुरिसा केइ असत्ता, तं आरोहणकुसुमगहणट्ठा ।
तेसिं अणुकंपणट्ठा, कोइ समत्तो समारुभ्भ ॥
घेत्तुं कुसुमासुहगह-ण हेतुगं गंथिउं दछे तेसिं ।
तह चोद्दमपुव्वतरुं, आरूढो भद्दबाहू तु ।
अणुकंपट्ठा गुथितुं, सूयगरुडस्सुप्पगि व वेवीरा ।
(दारं) तं पुण तो वएसेण, वेव गहितं ण सेच्छाए ॥
अणिहह गहिए दोसो, असाहगा होंति नाणमाईणं ।
केसवभेरी णीतं, वक्खातं पुव्वसामइए ॥
अहवा तिगिच्छओ तु, जाण हियं वा वि ओसहं देज्जा।
तेहिं तु ण वा कज्ज, सिध्दी विवरीयए भवति ॥
पं० भा० ॥

आयारदसा जम्हा तेण भगवता आयारपकप्पा दसाकप्पा- व्यवहाराय नवमपुव्वनीसदभूता निज्जूढा तेनासौ पूजार्हः। आ- यारपकप्पइति विधिः। यस्मात्तत्र दसविधो आचारः ज्ञानद- र्शनचारित्रतपोवीर्याचारश्च प्रकल्प्यते व्याप्यते प्रज्ञाप्यत इत्यर्थः इत्यतः आचारप्रकल्पः दशाकल्पव्यवहाराणां पूर्वोक्तं निरुक्त चा- वित्र इति। चारित्तरक्खणट्ठा गाहा पञ्चप्रकारं चारित्रं सा- मायिकाद्यम् । अथाख्यातपर्यवसानं तस्य रक्षणार्थं चूति- रज्वा परिपालनार्थमित्यर्थः सूत्रकृताङ्गस्योपरि व्यवस्थापितः । किमर्थं सूत्रकृताङ्गस्योपरि व्यवस्थापितः आदौ च न व्यव- स्थापितमुच्यते। सूत्रोपदेशादिति यस्माद्व्यवहारसूत्रे तृतीयोद्दे- शकेऽप्युक्तम्। त्रिवर्षपर्यायस्य कल्प्यते आचारप्रकल्प इति। तथा व्यवहारस्यैव दशमोद्देशके सूत्रमस्ति त्रिवर्षपर्यायस्य कल्प्यते सूत्रकृताङ्गमुद्देष्टुमेतदर्थं सूत्रकृताङ्गस्योपरि कृत इति। किं कार- ण तेण भगवता नवमाओ पुव्वाओ णाणिओ उच्यते। उस्सप्पि- णिसमणाण गाहा जम्हा उस्सप्पिणीदोसेण परिहायति साहूण आउय बलं बुद्धीओ य एतज्जिमित्त उवग्गहकरा पविस्सति पु- व्वगए परिहीणे। किं च खेत्तस्स य कालस्स य गाहा। खे- त्ते ताव उस्सप्पिणि चेव पडुच्च परिहाणी गहणधारणाणं च तहा यव्ववीरिय बलं शारीरं वीरियं वीर्यं व्यवसायो वा तहा सघयणसड्ढा मेधाउयं च खेत्तदोसेण य। परिहायति गाहा। अणुकंपा वोच्छेयं उक्त च। सिद्धसेन क्षमाश्रमणगुरुभिः। पाढाइ- णाणुकंपा सव्वमिकरणम्मि गाहा वोच्छेयम्मि पडुच्चाओ मेयपी- यभत्त रन्ना दिएह जणवयस्स। कुसुमो इति तवनियमनाणरुक्खं गाहा भेरीचदणकथा ते इच्छिंति पालगिलाणे गाहा तेण भग- वता अणुकंपिएण मा वोच्छिज्जिस्सतीति कातं कुरोहमिव पा- दवं आरुह्य अप्पणा मालिताणि कुसुमाणि अथेसिं च दत्ताणि तवो दुवालसविहो णियमा इदियनोइंदियनियमाच्चि अहो निरोध इत्यर्थः। इन्दियनियमो नोइंदियविसयपयारनिरोहो वा सो इं- दियपत्तेसु वा अत्थेसु रागद्दोसनिग्गहो जाव फासिंदिय नो इं- दिय अकुसलमणनिरोहो वा कुसलमणओ इरण वा मणसो वा एगत्तीभावकरणं कोहस्स उदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा विफलीकरण जाव लोभस्स तपसा नियमेन ज्ञानेन च सम्प्रयुक्तो वृक्षः। किं च सम्यग्दर्शनचारित्रतपोनियम. सयमस्त समवृ- क्षादेव तत्पुरुषः समासः। ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मक एव वृक्षः केवलममितज्ञानी केवृत अमितश्रिभावे धातुष्वेव भूवादिप- रिपठितस्य केवृतमति अलच्प्रत्यये केवलमिति भवति। केवलं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं समग्रं साधारणमनन्तविषय असख्येयप्रदेशमती- तानागतवर्तमानभावावभासकमिति पर्यायाः। समाने केवल ज्ञान भावप्रमाणभूतं जीवादय. पदार्थाः प्रमेयममितज्ञानी इत्यर्थः। ततस्तेन भगवता भद्रबाहुना पूर्व्वरत्नाकरश्रुतसमुद्रात्प्रयत्नेनाहृतः उद्धृतमित्यर्थः न तु स्वेच्छया तेनासौ श्रुतकर्त्ता ऋषीत्यपदिश्यते ऋषीत्यय स्थानार्जवायेति ऋषि. यस्मादसौ भगवता नार्ज्जवे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मके निर्व्वाणमार्गे व्यवस्थितः ईर्यादि- भिश्च समितिभिर्युक्तः इत्युक्तः ऋषिः "से पुण अप्पणो इच्छाए सुत्तं अत्थ वा करेइ तस्स सुत्ते चउ लहु अत्थे चउ गुरु आ- णाइय विराहणादिहतो चदणभेरी य वासुदेवस्स असिवप्प- समणे सा कृता कथा पच्छा अहया न प्पसमेइ एव सच्छंदवि- गप्पिए सुत्तं मोक्खस्स असावक भवति। विनिया पसत्था उ- प्पत्ती धने यथा दोएह वि भेरीण कप्पव्ववहारा पुण पुरिसे प- रिक्खिऊण दिज्जति जहा आहसुए पुरिसा परिसा। परियासेलघ- णकुमग गाहा एव सुत्तस्स दिज्जति" तत्र शैलघनच्छिद्रकुटचा- लनीमशकमार्जारादयः अनर्हाः हसमेसजलूकादयो योग्याः। तस्मिन्कल्पे किं वर्ण्यते वर्णनीय वर्ण्य गमनीय दर्शनीयमि- त्यर्थ.। उच्यते कप्पे य कप्पिए चेव गाहा कल्पो नाम नी- तिर्मर्यादा व्यवस्था आचरणमित्यनर्थान्तरम् प० चू० ॥

कप्पविमाणोववत्तिया-कल्पविमानोपपत्तिका-स्त्री० कल्पेषु दे- वलोकेषु न तु ज्योतिश्चारे विमानानि देवावासविशेषा.। अ- थवा कप्पाइव सौधर्मादयो विमानानि च तदुपरिवर्त्तिग्रैवेयका- दीनि कल्पविमानि तेषु उपपत्तिरुपपातो जन्म यस्याः सकाशात् सा कल्पविमानोपपातिका। केवल्याराधनाभेदे, ज्ञानाद्याराधना- याम्, एषा च श्रुतकेवल्यादीनां भवतीति स्था० ३ ठा० (व्या- ख्या आराहणा शब्देऽवसेया)

कप्पसुत्त-कल्पसूत्र-न० दशाश्रुतस्कन्धान्तर्गतेऽष्टमेऽध्ययने, प- रम्परया क्षेत्रे, चतुर्मासीस्थितसाधवः श्रेयोनिमित्तमानन्दपुरे सभासमक्ष वाचनादनुसङ्घसमक्ष पञ्चभिर्दिवसैः नवभि. क्षणैः श्रीकल्पसूत्र वाचयन्ति कल्प०। अत्र हीरविजयसूरिं प्रति प- ण्डितविष्णुऋषिगणिकृतप्रश्नो यथा नवक्षणैः कल्पसूत्रं वाच्यते कैश्चिदधिकैरपि वाच्यते तदक्षराणि क्व सन्तीति प्रश्ने उत्तरं नव- क्षणैः श्रीकल्पसूत्र वाच्यते परपरात. अन्तर्वाच्यं मध्ये नवक्षण- विधानाक्षरसद्भावाच अधिकव्याख्यानैस्तद्वाचन तु तथाविधसु- विहितगच्छपरपरानुसारि अक्षरानुसारि च नावसीयते इति। तथा यदा चतुर्दश्यां कल्पो वाच्यते अमावास्यादिवृद्धौ वा अमा- वास्यायां प्रतिपदि वा कल्पो वाच्यते तदा षष्ठतप. क्व विधेयमि- ति प्रश्ने उत्तरमाह। यदा चतुर्दश्यां कल्पो वाच्यते इत्याद्यत्र षष्ठ- तपोविधाने दिननैयत्य नास्तीति यथारुचि तद्विधीयतामिति को ऽत्राग्रह ही०। तदेव समुपस्थिते पर्युषणापर्वणि मङ्गलनिमित्त

पञ्चभिरेव दिनैः कल्पसूत्रं वाचनीयं तद्यथा देवेषु इन्द्रः तारासु चन्द्रः, न्यायप्रवीणेषु रामः, सुरूपेषु कामः, रूपवतीषु रम्भा, वादित्रेषु भम्भा, गजेषु ऐरावणः, साहसिकेषु रावणः, बुद्धिमत्सु अभयः, तीर्थेषु शत्रुञ्जयः, गुणेषु विनयः, धानुष्केषु धनञ्जयः, मन्त्रेषु नमस्कारस्तेषु सत्कारस्तथा सर्वशास्त्रे शिरोमणिभावं बिभर्ति। यतः "नार्हतः परमो देवो, न मुक्तेः परमं पदम्। न श्रीशत्रुञ्जयात्तीर्थं, श्रीकल्पान्न परं श्रुतम्"।१। तथायं कल्पः साक्षात्कल्पद्रुम एव। तस्य च अनानुपूर्व्या उक्तत्वात्। श्रीवीरचरित्रं बीजम्, । श्रीपार्श्वचरित्रमङ्कुरः, श्रीनेमिचरित्रं स्कन्धः, श्रीऋषभचरित्रं शाखासमूहः, स्थविरावली पुष्पाणि, सामाचारी ज्ञानं, सौरभ्यं फलं मोक्षप्राप्तिः। किं च गान्धर्वनाट्यसाहाय्यदानात्तर्वादित्रध्वनैरपि। विधिनाऽऽराधितः कल्पः, शिवश्रीरन्तर्भवाष्टकम्" ।१। एगग्गचित्ता जिणसासणम्मि, पभावणा पूअपरायणा जे। तिसत्तवारं निसुणंति कप्पं, भवण्णवं गोअम ! ते तरंति "।२। एवं च कल्पमहिमानमाकर्ण्य तपःपूजाप्रभावनादिधर्मकार्येषु कष्टधनव्ययसाध्येषु आलस्यं न विधेयं सफलसामग्रीसहितस्यैव तस्य वाञ्छितफलप्रापकत्वात्। यथा बीजमपि वृष्टिवायुप्रभृतिसामग्रीसद्भावे एव फलनिष्पत्तौ समर्थं नान्यथा एवमयं श्रीकल्पोऽपि देवगुरुपूजाप्रभावनासाधर्मिकभक्तिप्रमुखसामग्रीसद्भावे एव यथोक्तफलहेतुः। अन्यथा" इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ॥ संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा"। इति श्रुत्वा किंचित्प्रयाससाध्ये कल्पश्रवणेऽपि नालस्यं भवेत् कल्प०। कल्पसूत्रं केन कृतम्। अथ पुरुषविश्वासे वचनविश्वास इति श्रीकल्पसूत्रस्य प्रमाणता वक्तव्या। स च चतुर्दशपूर्वविद्युगप्रधानश्रीभद्रबाहुस्वामी दशाश्रुतस्कन्धस्य अष्टमाध्ययनतया प्रत्याख्यानप्रवादाभिधानात् नवमपूर्वात् उद्धृत्य कल्पसूत्रं रचितवान्। (कल्प०) तस्मादेतन्महापुरुषप्रणीतत्वान्न सामान्यं गम्भीरार्थं च। यत "सव्वनईण जा हुज्ज, वालुआ सव्वोदहीण जं उदयं। तत्तो अणंतगुणिओ, अत्थो इक्कस्स सुत्तस्स" ।१। "मुखे जिह्वासहस्रं स्यात्, हृदये केवलं यदि। तथापि कल्पमाहात्म्यं, वक्तुं शक्यं न मानवैः" ।२। अथ तस्य श्रीकल्पस्य वाचने श्रवणे च अधिकारिणो मुख्यवृत्त्या साधुसाध्व्यस्तत्रापि कालतो रात्रौ विहितकालग्रहणादिविधीनां साधूनां वाचनं श्रवणं च साध्वीनां निशीथचूर्ण्याद्युक्तविधिना दिवाऽपि तथा श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षातिक्रमे मतान्तरेण च त्रिनवतियुतनवशत (९९३) वर्षातिक्रमे ध्रुवसेननृपस्य पुत्रमरणार्त्तस्य समाधिमाधातुमानन्दपुरे—सभासमक्षं समहोत्सवं श्रीकल्पसूत्रं वाचयितुमारब्धम्। ततःप्रभृति चतुर्विधोऽपि सङ्घः श्रवणेऽधिकारी वाचने तु विहितयोगानुष्ठानः साधुरेव। अथ अस्मिन् वार्षिकपर्वणि कल्पश्रवणवत्। इमान्यपि पञ्च कार्याणि अवश्यं कार्याणि तद्यथा चैत्यपरिपाटी १ समस्तसाधुवन्दनं २ सांवत्सरिकप्रतिक्रमणं ३ मिथः साधर्मिकक्षामणम् ४ अष्टमं तपश्च ५ एषामपि कल्पश्रवणवद्वाञ्छितदायकत्वमवश्यं कर्तव्यत्वं जिनानुज्ञातत्वं च ज्ञेयम्। तत्र अष्टमं तपः उपवासत्रयात्मकं महाफलकारणं रत्नत्रयवदान्यं शल्यत्रयोन्मूलनं जन्मत्रयपावनं कायवाङ्मानसदोषशोषकं विश्वत्रयाग्र्यपदप्रापकं निःश्रेयसपदाऽभिलाषुकैरवश्यं कर्त्तव्यं नागकेतुवत्। तथा हि चन्द्रकान्ता नगरी तत्र विजयसेनो नाम राजा श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहारी। तस्य श्रीसखीभार्या तया च बहुप्रार्थितः एकः पुत्रः प्रसूतः। स च बालकः आसन्ने पर्युषणापर्वणि कुटुम्बकृताष्टमवार्तामाकर्ण्य जातस्मृतिः स्तन्यपोऽपि अष्टमं कृतवान् ततस्तं स्तनपानमकुर्वाणं पर्युषितमालतीकुसुममिव म्लानमालोक्य मातापितरौ अनेकान् उपायांश्चक्रतुः। क्रमाच्च मूर्च्छां प्राप्तं बालं मृतं ज्ञात्वा स्वजना भूमौ निक्षिपन्ति स्म। ततश्च विजयसेनो राजा तं पुत्रं तद्दुःखेन तत्पितरं च मृतं विज्ञाय तद्धनग्रहणाय सुभटान्प्रेषयामास। इतश्च अष्टमतपःप्रभावात्प्रकम्पितासनो धरणेन्द्रः सकलं तत्स्वरूपं विज्ञाय भूमिस्थं बालकममृतच्छटया आश्वास्य विप्ररूपं कृत्वा धनं गृह्णतस्तान्निवारयामास। तत् श्रुत्वा राजाऽपि तत्रागत्योवाच। भो भूदेव ! परम्परागतमिदमस्माकमपुत्रधनग्रहणं कथं निवारयसि। धरणोऽवादीत्। राजन् ! जीवत्यस्य पुत्रः ॥ कथं कुत्रास्तीति राजादिभिरुक्ते भूमिस्थं जीवन्तं बालकं साक्षात्कृत्य निधानमिव दर्शयामास। ततः सर्वैरपि सविनयं स्वामिन् ! कस्त्वं कोऽयमिति पृष्टे सोऽवदत्। अहं धरणेन्द्रो नागराजः कृताष्टमतपसोऽस्य महात्मनः साहाय्यार्थमागतोऽस्मि। राजादिभिरुक्तं स्वामिन् ! जातमात्रेण अनेन अष्टमतपः कथं कृतम्। धरणेन्द्र उवाच राजन् ! अयं हि पूर्वभवे कश्चिद्वणिक्पुत्रो बाल्येऽपि मृतमातृक आसीत्। स च अपरमात्रा अत्यन्तपीड्यमानो मित्राय स्वं दुःखं कथयामास सोऽपि त्वया पूर्वजन्मनि तपो न कृतं तेनैव पराभवं लभसे। इत्युपदिष्टवान्। ततोऽसौ यथाशक्ति तपोनिरतः आगामिन्यां पर्युषणायामवश्यमष्टमं करिष्यामीति मनसि निश्चित्य तृणकुटीरे सुप्तवान्। तदा च लब्धावसरया विमात्रा आसन्नप्रदीपनकादग्निकणस्तत्र निक्षिप्तस्तेन च कुटीरके ज्वलिते सोऽपि मृतः। अष्टमध्यानाच्च अयं श्रीकान्तमहेभ्यनन्दनो जातस्ततोऽनेन पूर्वभवचिन्तितमष्टमतपः। सांप्रतं कृतं तदसौ महापुरुषो लघुकर्म्मा अस्मिन् भवे मुक्तिगामी वरपालनीयो भवतामपि महते उपकाराय भविष्यतीति उक्त्वा नागराजः स्वहारं तत्कण्ठे निक्षिप्य स्वस्थानं जगाम। ततः स्वजनैः श्रीकान्तस्य मृतकार्यं विधाय तस्य नागकेतुरिति नाम दत्तम्। क्रमाच्च स बाल्यादपि जितेन्द्रियः परमश्रावको बभूव। एकदा च विजयसेनराजेन कश्चित् अचौरोऽपि चौरकलङ्केन हतो व्यन्तरो जातः स समग्रनगरविघाताय शिलां रचितवान्। राजानं पादप्रहारेण रुधिरं वमन्तं सिंहासनाद्भूमौ पातयामास तदा च नागकेतुः कथमिमं सङ्घप्रासादविध्वंसं जीवन् पश्यामीति बुद्ध्या प्रासादशिखरेष्वारुह्य शिलां पाणिना दध्रे ततः स व्यन्तरोऽपि तत्तपःशक्तिमसहमानः शिलां संहृत्य नागकेतुं नतवान् तद्वचनेन नृपालमपि निरुपद्रवं कृतवान्। अन्यदा च स नागकेतुर्जिनेन्द्रपूजां कुर्वन् पुष्पमध्यस्थितसर्पेण दष्टोऽपि तथैवाव्यग्रो भावनारूढः केवलज्ञानमासादितवान्। ततः आसन्नदेवतार्पितमुनिवेषश्चिरं विहरति स्म। एवं नागकेतुकथां श्रुत्वा अन्यैरपि अष्टमतपसि यतनीयम्। इति श्रीनागकेतुकथा। अथ श्रीकल्पसूत्रे त्रीणि वाच्यानि यथा

पुरिमचरिमाण कप्पो, मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि ।
इह परिकहिया जिण-गणहराइथेरावलीचरित्त ॥ २ ॥

(पुरिमचरिमाणंति) ये श्रीऋषभवीरजिनयोः (कप्पत्ति)। अयं कल्पः आचारः यद्वृष्टिर्भवतु मा वा परमवश्यं पर्युषणा कर्त्तव्या। उपलक्षणत्वात् कल्पसूत्रं वाचनीयं च (मंगलमित्ति) एकः अयमाचारः अपरं च मङ्गलं मङ्गलकारणं भवति। वर्द्धमानतीर्थे कस्मादेवमित्याह। यस्मादिह परिकथितानि (जिणत्ति)

जिनानां चरितानि १ (गणहराइथेरावलिचि) गणधरादिस्थविरावली २ (चरित्तत्ति) सामाचारी ३ कल्प० ।

समणस्स भगवत्र्यो महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइं वइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इति दीसइ ।

"समणस्सण इत्यादिनो दीसइ" इति पर्यन्त यत्र भगवतो निर्वृतस्य नववर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि दशमस्य वर्षस्य शतस्याय अशीतितम संवत्सर कालो गच्छति । यद्यपि एतस्य सूत्रस्य व्यक्तो भावार्थो न ज्ञायते। तथापि यथा पूर्वटीकाकारैर्व्याख्यात तथा व्याख्यायते । तथा हि अत्र केचिद्वदन्ति । यत्कल्पसूत्रस्य पुस्तकलिखनकालज्ञापनाय इद सूत्र श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणै लिखितम् । तथा चायमर्थः । यथा श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे पुस्तकारूढ सिद्धान्तो जात । तदा कल्पोऽपि पुस्तकारूढो जात । इति तथोक्त "वलहीपुरम्मि नयरे" देवड्ढिप्पमुहसयलसंघेहिं । पुत्थे आगमलिहिओ, नवसयअसीइमो वीराओ " ॥ १ ॥ अन्ये वदन्ति । "नवशताशीतितमे, वर्षे वीरनाङ्गजार्थमानन्दे । सङ्घसमक्षं समह, प्रारब्धं वाचितुं विज्ञैः" ॥ १ ॥ इत्याद्यन्तर्वाच्यवचनात् श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे कल्पस्य सभासमक्षं वाचना जाता तां ज्ञापयितुमिद सूत्रं न्यस्तमिति । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्तीति (वायणतरे पुणेत्यादि) वाचनान्तरे पुनरय त्रिनवतितमः संवत्सर कालो गच्छतीति दृश्यते । अत्र केचिद्वदन्ति । वाचनान्तरे कोऽर्थः प्रत्यन्तरे " तेणउए " इति दृश्यते। यत्कल्पस्य पुस्तके लिखनं पर्षदि वाचन वा अशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे इति क्वचित्पुस्तके लिखितं तत्पुस्तकान्तरे त्रिनवत्यधिकनवशतवर्षातिक्रमे इति दृश्यते इति भावः । अन्ये पुनर्वदन्ति । अयमशीतितमे संवत्सरे इति कोऽर्थ पुस्तके कल्पलिखनस्य हेतुभूतः अयं श्रीवीरात् दशमशतस्य अशीतितमसंवत्सरलक्षण कालो गच्छति । "वायणतरे इति" कोऽर्थ । एकस्याः पुस्तकलिखनरूपाया वाचनाया अन्यत्पर्षदि वाचनरूप यद्वाचनान्तर तस्य पुनर्हेतुभूतो दशमस्य शतस्यायं त्रिनवतितमः संवत्सरः । तथा चायमर्थ । नवशताशीतितमवर्षे कल्पसूत्रस्य पुस्तके लिखनं नवशतत्रिनवतितमवर्षे च कल्पस्य पर्षद्वाचनेति । तथोक्तम् । श्रीमुनिसुन्दरसूरिभि स्वकृतस्तोत्ररत्नकोशे " वीरात्त्रिनन्दाङ्क-९९३ शरद्यचीकर-त्त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेनभूपतिः । यस्मिन्महैः ससदि कल्पवाचनामाद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते"। १ । पुस्तकलिखनकालस्तु । यथोक्त प्रतीत एव " वलहीपुरम्मि नयरे " इत्यादिवचनात् । तत्त्व पुन केवलिनो विदन्तीति पष्ठ क्षणः कल्प० ६ क्ष० । अत्र श्रीहीरविजयं प्रति विष्णुऋषिगणिकृतप्रश्नो यथा राजगृहे नगरे गुणशिलाख्ये चैत्ये श्रीमहावीरेण श्रीकल्पसूत्र प्रकाशितमिति कल्पाध्ययने उक्तमस्ति । कल्पसूत्रवृत्त्यादौ तु श्रीभद्रबाहुस्वामिभि प्रणीतमिति कथं सगच्छते इति तत्रोत्तरमाह । अत्र श्रीमहावीरेण कल्पसूत्रमर्थत प्रकाशित सद्गणधरै सूत्रतो निबद्धं तदनु श्रीभद्रबाहुस्वामिभिर्नवमपूर्वाद्दशाश्रुतस्कन्धमुद्धरद्भिस्तदष्टमाध्ययनरूपत्वेन श्रीकल्पसूत्रमपि उद्धृतमिति न किंचिदनुपपन्नमिति (ही०) इदं च योगं विनाऽपि वाच्यते हीरविजयसूरिं प्रति प्रतिजगमल्लगणिकृतप्रश्न । कथचित्कारणे योगोद्वहन विना कल्पसूत्रवाचनस्यानुज्ञान च? इत्यत्र कारणे तद्वाचन केश्चित्क्रियमाणमस्ति अक्षराणि तु नोपलभ्यन्ते ही० । शेषकाले साधव श्राद्धश्राद्धीजनेषु शृण्वत्सु श्रीकल्पसूत्रं पठन्ति पाठयन्ति किं वा एकान्ते एवेति प्रश्ने । साधवः स्वेच्छया कल्पसूत्रं पठन्त पाठयन्तश्च सन्ति । अत्रान्तरे कश्चित् श्राद्धादिर्वन्दनार्थं समागतस्तदा शनैः पठनपाठनाक्षराणि न ज्ञातानि सन्ति परं श्राद्धादिकमुद्दिश्य पठन च पर्युषणापर्व्व विना न शुद्ध्यतीति । श्येन०४उल्ला०६१ प्र० ।

कप्पसुबोहिया-कल्पसुबोधिका-स्त्री० पर्युषणाकल्पस्य श्रीविनयगणिविरचितटीकायाम् तदारम्भे, । सकलपण्डितपर्षत्परंपरापुरुहूतपण्डितश्री ५ श्रीसौभाग्यविजय (ग) गुरुभ्यो नमः

" प्रणम्य परमश्रेय-स्कर श्रीजगदीश्वरम् ।
कल्पे सुबोधिकां कुर्वे, वृत्तिं बालोपकारिणीम् ॥ १ ॥
यद्यपि बह्व्यष्टीका, कल्पे सन्त्येव निपुणगणगम्या ।
तदपि ममाय यत्न , फलेग्रहि स्वल्पमतिबोधात् ॥ २ ॥
यद्यपि भानुद्युतय , सर्वेषां वस्तुबोधिका बह्व्यः ।
तदपि महीगृहगानां, प्रदीपिकैवोपकुरुते झाक् ॥ ३ ॥
नास्यामर्थविशेषा, न युक्तयो नापि पद्यपाण्डित्यम् ।
केवलमर्थव्याख्या, वितन्यते बालबोधाय ॥ ४ ॥
हास्यो नास्यां सद्भि , कुर्वन्नेतामनीक्षणबुद्धिरपि ।
यदुपदिशन्ति त एव हि, शुभे यथाशक्ति यतनीयम् ॥ ५ ॥
कल्प० १ क्ष० ।

अथ प्रशस्ति ॥

आसीद्धीरजिनेन्द्रचन्द्रपदवी कल्पद्रुमः कामदः,
सौरभ्योपहृतप्रबुद्धमधुप श्रीहीरसूरीश्वर ।
शाखोत्कर्षमनोरमः स्फुरदुरुच्छायः फलप्रापक- ,
अभ्रन्मूलगुण , सदातिसुमना श्रीमन्मरुत्पूजितः ॥ १ ॥
यो जीवाभयदानडिण्डिममिषात् स्वीय यशोडिण्डिमम्,
षण्मासान्प्रतिवर्षमुग्रमखिले भूमण्डलेऽवीवदत् ।
भेजे धार्मिकतामधर्मरसिको म्लेच्छाग्रिमोऽकब्बर,
श्रुत्वा यद्वदनादनाविलमतिर्धर्मोपदेशं शुभम् ॥ २ ॥
तत्पट्टोन्नतपूर्वपर्वतशिर स्फूर्तिक्रियां हर्मणि,
सूरिः श्रीविजयादिसेनसुगुरुर्भव्येष्टचिन्तामणि ॥
शुभ्रैर्यस्य गुणैर्गुणैरिव घनैरावेष्टित शोभते,
भूगोल किल यस्य कीर्तिसुदृश क्रीडाकृते कन्दुकः ॥३॥
येनाकब्बरपर्षदि प्रतिभट्टान्निर्जित्य वाग्वैभवै ,
शौर्यौदार्यकृतावृतापरिवृता लक्ष्म्या जयश्रीकनी ।
चित्र मित्र ! किमत्र मित्रमहसस्तेनास्य वृद्धा सती,
कीर्तिः प्रत्यपमानशङ्कितमना याता दिगन्तानित ॥ ४ ॥
विजयतिलकसूरिर्भूरिसूरिप्रशस्य ,
समजनि मुनिनेता तस्य पट्टेच्छचेता ,
हरहासितहिमानी हंसहारोज्वलश्री-
स्त्रिजगति परिवर्त्तिस्फूर्त्तियुग्यस्य कीर्ति ॥ ५ ॥
तत्पट्टे जयति क्षितीश्वरततिस्तुत्याङ्घ्रिपङ्केरुह,
सूरिर्दूरितदु खवृन्द विजयानन्दः क्षमाभृद्विभु ।
यो गौरैर्गुरुभिर्गुणैर्गणिवरं श्रीगौतम स्पर्द्धते,
लब्धीनामुदधिर्दधीयितयशाः शास्त्राब्धिपारङ्गत ॥ ६ ॥
यच्चारित्रमखिन्नकिन्नरगणैर्जेगीयमानं जग-
ज्जाग्रज्जन्मजराविपत्तिहरण श्रुत्वा जयन्तीपितुः ।
वाञ्छापूर्तिमियर्त्तियुग्ममथ तल्लेभे सहस्र स्पृहा,
धैर्यस्य गुणरागिणोऽग्रिमगुणग्रामाभिरामात्मन ॥७॥

किञ्च । श्रीहीरसूरिसुगुरोः प्रवरौ विनेयौ,
जातौ गुणैः सुरगुरोरिव पुष्पदन्तौ ।
श्रीसोमसोमविजयाभिधवाचकेन्द्र-,
सत्कीर्तिकीर्तिविजयाभिधवाचकश्च ॥ ८ ॥
सौभाग्यं यस्य भाग्यं कलयितुममलं कः क्षमः सत्तमस्य,
सौन्दर्यं यस्य दिव्यं जगति जनमनः कस्य चित्रीयते स्म ।
शक्राणां सूरिसुख्यानपि विबुधगणान् हस्तमित्तिर्यदीया,
चित्राश्लेषेण भेजे शिथिलयति सदा यस्य पादप्रसादः ॥ ९ ॥
आबाल्यादपि यः प्रसिद्धमहिमा वैरङ्गिकग्रामणीः,
पृथ्वीमण्डलदिक्पतिष्वपि प्रतिभटैर्जेयो न यस्ताकिकैः ॥
सिद्धान्तोदधिमन्दरः कलिकलाकौशल्यकौस्तुभः ।
शुभसमर्पणपोषकारसिकः, संवेगरत्नाकरः ॥ १० ॥
विनयरत्नाकरनामधेयः, प्रश्नोत्तराद्भुतशास्त्रवेधाः ।
अनेकग्रन्थार्णवशोधकश्च, स सर्वदेवाभयदप्रमत्तः ॥ ११ ॥
तस्य स्फुरदुरुकीर्तिः-श्रीमत्कीर्तिविजयसूरेः ।
विनयविजयो विनेयः, सुबोधिकां व्यरचयत्कल्पे ॥ १२ ॥
(चतुर्भिः कलापकम्) समयोऽयमस्तथैनां,
पण्डितमाविमलहर्षनामा ।
श्रीविमलहर्षवाचक-वंशे मुक्तामणिसमाना ॥ १३ ॥
धिषणानिर्जितधिषणाः, सर्वत्र प्रसृतकीर्तिकर्पूराः ।
श्रीभावविजयवाचक-कोटीराः शास्त्रबहुनिकषाः ॥ १४ ॥
(युग्मम्) रसशशिरसनिधिवर्षे, ज्येष्ठे मासे समुज्ज्वले पक्षे ।
गुरुपुष्ये यत्नोऽयं, सफलो जज्ञे द्वितीयायाम् । १५ ।
श्रीरामविजयपण्डित-शिष्यश्रीविजयविबुधमुख्यानाम् ।
अभ्यर्थनाऽपि हेतु-विशेषाऽस्याः कृतौ विवृते ॥ १६ ॥
यावल्लक्ष्मीं मृगाक्षी धरणिधरजरथीफले पूर्णगर्भे,
भव्यचूडीयदर्ने निरवधिगिरिमदाकुङ्कुमामत्र चित्रम् ।
जम्बूद्वीपाभिधानं हिमगिरिरजतं मङ्गलस्थानमेन-
द्धत्ते तावत्सुबोधा विबुधपरिवृता नन्दतात्कल्पवृत्तिः ॥ कल्प०

कप्पसुय-कल्पश्रुत-न० कल्पनं कल्पः स्थविरादिकल्पः तत्प्रतिपादकं श्रुतं कल्पश्रुतम् । उत्कालिकश्रुतभेदे, तत्पुनर्द्विभेदं तद्यथा "चुल्लकप्पसुय महाकप्पसुय" । एकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च द्वितीयं महाग्रन्थं महार्थं च न० ।

कप्पाकप्प-क (ल्प्या) कल्पा (ल्प्य) ल्प-न० कल्पो विधिराचार इत्यर्थः । अकल्पश्चाविधिः । अथवा कल्पो जिनकल्पस्थविरकल्पादिरकल्पस्तु चरकादिदीक्षा । अथवा कल्प्यं प्राशुकमकल्प्यमितरत् । ततः समाहारद्वन्द्वात्कल्पाकल्पं कल्प्याकल्प्यं कल्पनीयाऽकल्पनीयधर्मे, 'जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकिय' कल्प्याकल्प्ययोः कल्पनीयाकल्पनीयधर्मविषय इत्यर्थः दश० ५ अ० । कल्पाकल्पप्रतिपादकमध्ययनं कल्पाकल्पम् । उत्कालिकश्रुतविशेषे, न० । पूगफलानां खण्डानि चूर्णानि वा यतीनां कसेल्लकादियुक्तैर्विहर्तुं कल्पन्ते न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम् पूगफलखण्डानि चूर्णानि च केवलानि विहर्तुं न कल्पन्ते इति गच्छप्रवृत्तिः २ स्येन० २ उल्ला० २ प्र० ।

कप्पाकप्पविहिण्णु-कल्पाकल्पविधिज्ञ-त्रि० कल्पो नीतिर्मर्यादा विधिः सामाचारीत्यर्थः कल्पस्याकल्पस्य च विधिज्ञः । कल्पनीयाऽकल्पनीयज्ञायके "जे थेरा भगवंतो कप्पाकप्पविहिण्णू" पं० चू० ।

कप्पाग-कल्पाक-पु० सूत्रतोऽर्थतश्च प्राप्ते भिक्षौ, व्य० ४ उ० ।

विधिज्ञे, "कप्पाय छेया परिपरहयसिरयाओ" कल्पाकेन शिरोऽवबन्धनकल्पकेन औ० ।

कप्पातीत-कल्पातीत-पु० कल्पमतीताः अतिक्रान्ताः कल्पातीताः । अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकादिनिवासिषु, अहमिन्द्रेषु वैमानिकदेवेषु, प्रज्ञा० १ पद । भ० । जिनकल्पस्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र, भ० २५ श० ६ उ० ।

कप्पावेत-कल्पयत्-त्रि० छेदयति "वच्छारोमाइं कप्पावेज्ज वा सजावेज्ज वा कप्पावेत" वा । नि० चू० १७ उ० ।

कप्पास-कार्पास-पु० न० । कृप्-छेदने आस् । कार्पासिकवस्त्रहेतुसूत्रयोनौ वृक्षभेदे, अमर । वाच० । कर्पासफलावयववत् कल्पनीये रोमादौ, "उणाकप्पासत्ति उणात्तिपत्ला लाकाणगमुराभगाति तस्स रोमा कत्ताणिज्जा कप्पासो अहवा उणाए व कप्पासो पोमाउणी तस्स फल तस्स पम्हा कप्पाणिज्जा कप्पासो भणाति " नि० चू० ३ उ० ।

कर्पास-त्रि० कर्पास्या अवयवः बिल्वा० अण् कर्पासीविकारे सूत्रादौ, वाच० ॥

कप्पासट्ठि-कार्पासास्थि-पुं० त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

कप्पासिय-कार्पासिक-त्रि० कर्पासेन निर्वृत्तः ठक् कर्पाससूत्रनिष्पन्ने पटादौ, वाच० । कर्पाससूत्रे च न० । अनु० ।

कप्पासी-कार्पासी-स्त्री० कर्पास-गौरा० ङीष्-कर्पासकवृक्षे, वाच० । गुच्छावृन्ताकीशल्लकीकर्पास्यादय इति तस्या गुच्छभेदत्वम् ' आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

कप्पिय-कल्पित-त्रि० कृप् णिच्-क्त-व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । आचा० । बुद्ध्या व्यवस्थापिते, विपा० १ श्रु० १ अ० । यथास्थानं विन्यस्ते, ज० ३ वक्ष० । कल्प० । " कप्पियहाररूहारतिसरय" कल्पितो विन्यस्तो हारोऽष्टादशसरिकोऽर्द्धहारो नवसरिकस्त्रिसरिकं प्रतीतमेव यस्य स तथा त० । ज्ञा० । रचिते, औ० । स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मिते, दश० १ अ० । सज्जिते, "देवमइविकप्पिय" देवमत्या स्वर्गिचातुर्येण विविधमनेकप्रकारेण कल्पितं सज्जितम् ज० ३ वक्ष० । आरोहणार्थं सज्जिते गजे, वाच० । छिन्ने, "जतो पीलणकुरतकप्पिया" प्रश्न० अध० १ अ० ॥

कप्पिक-पु० योग्ये, व्य० ८ उ० ॥

दुविहो य कप्पिओ खलु, दव्वे भावे य णायव्वो ।
आगम णो आगमओ, दव्वम्मि य कप्पिओ भवे दुविहो ।
आगमतो अणुवउत्तो, णो आगमतो इमो होइ ।
जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य होति नायव्वो ॥
जाणगमयगसरीरं, भविओ पुण सिक्खही जो तु ।
वतिरित्तो एगविधा, तं अभिमुहो य बोधव्वो ।
भावो वि होत्ति दुविहो, आगमे णो आगमे चेव ॥
आगमओ उवउत्तो, णो आगमो य पिंममाईणं ।
गहणम्मि कप्पिओ खलु, पव्वावेतुं च सेहाणं ॥
जं जं जोग्गजतीणं, आहारादी तहेव सेहाए ॥ पं० भा० ।
" कप्पिओ जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्तो दुवालसविहो वत्तेयव्वो " पं० चू० ॥

संप्रति कल्पिकद्वारमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुभय-उभयट्ठविचारखेत्तपिंमे य ।

सिज्जा वत्थे यार, ओग्गहणविहारकप्पे य ॥

कल्पिको द्वादशविधस्तद्यथा सूत्रे १ अर्थे २ तदुभयस्मिन् सूत्रार्थोभयलक्षणे ३ उपस्थापनायां ४ विचारे ५ पात्रलेपे ६ पिण्डेषु ७ तथा शय्यायां ८ वस्त्रे ९ पात्रे १० अवग्रहणे ११ विहारकल्पे च १२ एष प्रतिद्वारगाथासमासार्थः (सूत्रकल्पिकादीनां व्याख्याऽन्यत्र सुत्तकप्पियाइ शब्दे) नवरमिह । जहा "सुत्ते अत्थे तदुभय-उवट्ठीवियारलेवपिंमे य । सेज्जा वत्थे यार-ओग्गहणविहारकप्पे य । एव ओहनिप्फन्ने निक्खेवे पुव्व वन्निया इह तु । उद्दीरणमेत्त तत्त सुत्तकप्पिओ आवासगमाइ जाव सूयकमो जहा ववहारस्स दसमुद्देसे अरुणोववाय गरुलोववाय जाव सुत्ताणुगामी परियाग नाऊण परिणाम च तहा तहा दिज्जइ सुत्तं अत्थ वि आवासगमाइ जाव सूयकडो दसमाइपरिणामगाण दिज्जइ अत्थो उभयकप्पिओ सुत्तत्थ तदुभजोगो उवट्ठावरणकप्पो अप्पत्ते अकवेत्ता गाहा जइ आवासइमाइ जाव छज्जीवणीया तत्सुत्ते । अपमिए उवट्ठावेइ चउगुरू दोहिं वि गुरू तवेण कालेण तवगुरू अतो अठमदसमदुवालसमकालगुरू गिण्हकाले अह सुत्ते पाढिए अत्थे कहिए उवट्ठावेइ चउगुरू कालगुरुं कालहु सीतकाले वासासु वा अह पढिएसुत्ते य अपरित्थिओ तामनसद्दहइ पुढविमाईणि चउगुरू तवलहू तवचउगुरू तवलहुग च भन्नइ अणुग्घाइयं पमुच्च गुरुय अणुग्घाइयं नाम छट्ठे चउत्थे आयंविले च कए पारणए पुरिमड्ढनिव्वीइग एगासणाइ करेइ तेण गुरुय भन्नइ । अह पढियसुयअभिगयअपरिच्छिऊण उवट्ठावेइ किं परिहरइ न परिहरइ उदओल्लादिचउगुरू दोहिं पि लहुतवकालेण अणुग्घाइय पुण एव बारसविह विकप्पिए जहा वेढियाए भणियं "।

अथ कल्पिकद्वारमुपसंहरन्नाह ।

एणं दुवालसविहं, जिणोवइट्ठं जहोवएसेणं ।
जो जाणिऊण कप्पं, सद्दहणायरयणय कुणइ ॥
सो भवियसुलभबोही, परित्तसंसारिओ पयणुकम्मो ।
अचिरेण उ कालेणं, गच्छइ सिद्धिं धुयकिलेसो ॥

एनमनन्तरोदितं द्वादशविधं सूत्रार्थादिभिर्द्वादशप्रकार कल्पं साधु समाचार जिनोपदिष्टं सर्वज्ञैरुक्तमित्यनेन स्वमनीषिकाव्युदासमाह । यथोपदेशत उपदेशवैपरीत्येन ज्ञात्वा अवबुध्य । श्रद्धानं य एष कल्प' प्ररूपित. स निःशङ्कमेवमेव नान्यथा जिनोपदिष्टत्वादिति । लक्षणमाचरणं च यथाऽवसरं द्वादशविधस्यापि कल्पस्यानुपालन य. करोति स सिद्धिं गच्छतीति सटङ्क. । कथंभूत इत्याह । भव्यसिद्धिगमनयोग्यो न खलु अभव्यस्यैवंविधकल्पविषयानि सम्यग्ज्ञानश्रद्धानाचरणानि समुपजायन्ते । भव्योऽपि कदाचिद्दुर्लभबोधिकः स्यादित्याह । सुलभा सुप्रापा बोधिरर्हद्धर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः । असावपि दीर्घसंसारीत्याह । परीत. परिमितः संसारो यस्यासौ परीतसांसारिक. । अयमपि गुरुकर्मा भवेदित्याह । प्रकर्षेण तनु प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावैरल्पीय कर्म यस्यासौ प्रतनुकर्मा । एव विधोऽसावचिरेणैव कालेन जघन्यतस्तेनैव भवग्रहणेनोत्कर्षत. सप्ताष्टभवग्रहणै. सिद्धिं मोक्ष गच्छति । धुतक्लेश. सन् क्लिश्यन्ते बाध्यन्ते शारीरमानसैर्दुःखै संसारिण. सत्वा एभिरिति क्लेशा. कर्माणि । धुता अपनीता क्लेशा येनासौ धुतक्लेश' क्षीणाष्टकर्मेति भाव । तदेव व्याख्यात कल्पिकद्वारम् बृ० । (१११ पत्र) १ उ० ।

कप्पियउदाहरण–काल्पितोदाहरण–न० काल्पनिकोदाहरणे, यथा अयोग्यशिष्यविषये मुद्गशैलघनदृष्टान्त उपात्तः स च काल्पनिको मुद्गशैलघनयो. वक्ष्यमाणप्रकारोऽहङ्कारादिर्न संभवति तयोरचेतनत्वात् केवल शिष्यमतिचितानाय तौ कल्पयित्वा दृष्टान्तेनोपात्तौ । न० ।

कप्पिया–कल्पिकी (का)–स्त्री० सकारणे ज्ञानदर्शनादीन्यधिकृत्य संयमादियोगेष्वसंस्तरत्सु प्रतिसेवने, नि० चू० १ उ० । (अस्या मूलगुणोत्तरगुणविषयत्वं पडिसेवणाशब्दे स्पष्टीभविष्यति) ।

कल्पिका– व० व० । सौधर्मादिकल्पगतवक्तव्यतागोचरासु ग्रन्थपद्धतिषु, पा० । ताश्च निरयावलिकाश्रुतस्कन्धगतः प्रथमो वर्गः । अन्तकृद्दशाङ्गस्योपाङ्गम् ज० १ वक्ष० । निरयावलिकेति चास्या नामान्तरम् ।

पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं निरयावलियाणं समणेणं भगवया जाव संपत्तेण कइ अज्झयणा पन्नत्ता ? एवं खलु जंबूसमणेणं उवगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा काले १ सुकाले २ महाकाले ३ कण्हे ४ सुकण्हे ५ तहा महाकण्हे ६ वीरकण्हे ७ बोधव्वे रामकण्हे ८ तहेव य पिउसेणकण्हे ९ नवमे दसमे महासेणकण्हेउ १० ॥

प्रथमवर्गो दशाध्ययनात्मक प्रज्ञप्त । अध्ययनदशकमेवाह । काले सुकाले इत्यादीनां मातृनामभिस्तदपत्यानां पुत्राणां नामानि यथा काल्या अयमिति काल कुमार. । एव सुकाल्याः कृष्णाया. महाकृष्णाया वीरकृष्णायाः रामकृष्णाया' महासेनकृष्णाया अयमित्येव पुत्रनाम वाच्य इह काल्या अपत्यमित्याद्यर्थ प्रत्ययेनोत्पाद्य काल्यादिशब्देष्वपत्यार्थे यत् प्राप्त्याकालस्तु कालादिनाम्ना सिद्धैरेव वाच्य. । काल. १ तदनु सुकालः २ महाकालः ३ कृष्णः ४ सुकृष्ण' ५ महाकृष्ण ६ वीरकृष्ण' ७ रामकृष्ण. ८ पितृसेनकृष्ण. ९ महासेनकृष्ण. १० दशम इत्येवं दशाध्ययना निरयावलिकानामके प्रथमवर्गे, इति नि० ।

कप्पियाकप्पिय–क (ल्पा) ल्प्याक (ल्प) ल्प्य–न० कल्पाकल्पप्रतिपादके उत्कालिकश्रुतविशेषे, पा० । नं० ।

कप्पुत्त–कल्पोक्त–न० कल्पाख्यस्य छेदग्रन्थस्य सवादकवचने, " कप्पुत्तमेवमाइ अविपाभिमासु विनिलोयाण " जी० १ प्रति० ।

कप्पुर–कप्पुर–पुं० स्वनामख्याते म्लेच्छराजे, येन त्रयोदशशतेषु अष्टचत्वारिंशदधिकेषु विक्रमवर्षेषु गतेषु हिन्दुदेशे उपद्रवः कृत. ती० १७ क० ।

कप्पूर–कर्पूर–पुं० न० कृप् ऊर–लत्वाभाव । घनसारे, ध० २ अधि० । गन्धद्रव्यविशेषे, ज्ञा० १७ अ० । आचा० ।

कप्पूरपूया–कर्पूरपूजा–स्त्री० कर्पूरेणार्तिक्यकरणे, ' धूपोत्क्षेपणत' पक्षो–पवासस्य लभेत्फलम । कर्पूरपूजया चात्र, मासक्षपणज फलम " ती० १ क० । (चेइय शब्दे पूया शब्दे चोदाहरणादि वक्ष्यामि) ।

कप्पेऊण–कल्पयित्वा–अव्य० विशोध्येत्यर्थे, " कप्पेऊणं पाएपक्किकस्स " प० व० ।

कप्पेमाण-कल्पयत्-त्रि० कुर्वाणे, औ० । ज्ञा० । सूत्र० । " अह क्रमेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे" वृत्तिं जीविकां कल्पयमानं कुर्वाणस्तच्छील इत्यर्थः विपा० १ श्रु० ३ अ० । दशा० ।

कप्पोचिय-कल्पोचित-पुं० सदननश्रुतादिसंपदुपेतत्वेन प्रतिमाकल्पप्रातियोग्ये, पञ्चा० १८ विव० ॥

कप्पोवग-कल्पोपग-पुं० कल्प आचारः स चेहेन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिव्यवहाररूपस्तमुपगताः । सौधर्मेशानादिदेवलोकनिवासिषु वैमानिकदेवेषु, कल्पोत्पन्नान् दर्शयति ।

से किं तं वेमाणिया वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा कप्पोवगा कप्पाईया य से किं तं कप्पोवगा कप्पोवगा बारसविहा पण्णत्ता तं जहा सोहम्मा ईसाणा सणंकुमारा माहिंदा बंभलोया लंतया महासुक्का सहस्सारा आणया पाणया आरणा अच्चुया ते समासओ दुविहा पण्णत्ता तं जहा पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य से त्तं कप्पोवगा ॥

(सोहम्मा ईसाणा इत्यादि) सौधर्मदेवलोकनिवासिन सौधर्माः ईशानदेवलोकवासिन ईशाना एवं सर्वत्रापि भावनीयम्। तत्र तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो यथा पञ्चालदेशनिवासिन पञ्चाला इति प्रज्ञा० १ पद (७७ पत्र०) ॥

कप्पोववण्णग-कल्पोपपन्नक-पुं० कल्पेषु सौधर्मादिषु उपपन्ना कल्पोपपन्ना चं० प्र० १६ पाहु० । सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्नेषु वैमानिकदेवेषु, जं० ७ वक्ष० । स्था० ।

कप्फल-कट्फल-पुं० कटति आवृणोत्यन्यरस कट् क्विप्-कट् फलमस्य कगटमतदपशषस ᳵ क ᳵ पामूर्ध्वे लुक् = । २ । ७७ इति टलुक् प्रा० । कटुरसतया अन्यरसावरकफलके कायफल इति ख्याते श्रीपर्णीवृक्षे, अमर० ।

कफ-कफ-पुं० केन जलेन फलति फल-म । शरीरस्थे धातुभेदे, वाच० । "कफो गुरुर्हिमः स्निग्धः प्रक्लेदी स्थिरपिच्छिलः" । तस्य कार्यञ्च " श्वेतत्वशीतत्वगुरुत्वकण्डु-स्नेहोपदेहस्तिमितत्वलेपाः । उत्सेधसंपातचिरक्रियश्च, कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः " । १ । स्था० ४ ठा० ॥

कबंध-कबन्ध-पुं " मनुष्याणां सहस्रेषु, हतेषु हतमूर्द्धसु । तदावेशात्कबन्धस्या-देकोऽमूर्द्धा क्रियान्वितः " इत्युक्तलक्षणे शिरोरहिते क्रियासहिते देहे, अत्री० अमरः । तद्देहस्य शिरःशून्यत्वेऽपि वायोः सम्यग्निस्सरणाभावेन वायुना सम्बन्धसत्वात् क्रियासम्भव इति बोध्यम् प्रश्न० अध० ३ अ० । मेघे, जले, राक्षसभेदे, वाच० ।

कभल्ल-कभल्ल-न० कपाले, घटादिकर्परे, अणु०।अन्त०। "कभल्लम्मगणसंठिए " उपा० २ अ० ॥

कम-क्रम-पुं० क्रम भावकरणादौ यथायथं घञ् मान्तत्वादवृद्धि । पादविक्षेपे पादे, हेमच० । वाच० । पिं० अर्हत्क्रमाम्भोजभ्रमर्हता श्रीतीर्थकराणां क्रमाश्चरणाः । द्व्या० ५ अध्या० । पौर्वापर्ये, द्वा०२६ द्वा०। परिपाट्याम् अनुक्रमे, नि० चू० १ उ०। आ० म० प्र० । बृ०। उत्त० । आव०। विशे०। " पुव्वाणुपुव्वि न कमो " इह क्रमस्तावत् द्विविधः पूर्वानुपूर्वी वा पश्चानुपूर्वी च। अनानुपूर्वी किल क्रम एव न भवति असमञ्जसत्वात्, विशे० मर्यादायाम्, स्था० ४ ठा० । नियमे च बृ० १ उ० ।

क्लम-पुं० लात् ८ । २ । ६ । इति किलिन्तवत् इत्व क्वाचित्कत्वान्न प्रा० । "योऽनायासः श्रमो देह-प्रवृद्धः श्वाससंगतः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः " इत्युक्तलक्षणे श्रमभेदे वाच० ।

कमंडलु-कमण्डलु-पुं० न० मण्डन मण्डम् कस्य जलस्य मण्डं लाति-ला-कु-अर्द्धर्चादि० । करङ्के, अमर । वाच०। कुण्डिकायाम्, प्रश्न० आश्र० ४ अ० । नि० । तापसपानीयपात्रे, जं० २ वक्ष० । प्लक्षवृक्षे, वाच० ।

कमकरण-क्रमकरण-न० शरीरनिष्पत्त्युत्तरकालं बालयुवस्थविरादिक्रमेणोत्तरोत्तरेऽवस्थाविशेषे, सूत्र० १ श्रु०१ अ० ।

कमजोग-क्रमयोग-पुं० परिपाटीव्यापारे, "क्रमेण कमजोगेण, भत्तपाण गवेसए" दश० ८ अ० । योगक्रमे,- पुं० अस्मिन् योगे एतावत्याचाम्लानि क्रियन्ते निर्विकृतिकानि इत्थं वा उद्देशादयः क्रियन्ते तथा विकृतयः का॰ कुलयोगे कल्पन्ते न वेत्येवं क्रमे, बृ० १ उ० ।

कमढ-कमठ-पुं० क्रम॰ अठन्॰ । ठो ढ ८ । १ । १९९ । इति ठस्य ढ प्रा० । कूर्मे, स्त्रियां जातित्वात् ङीप् । वंशे, पुं० शब्दर० । शल्लकीवृक्षे, पुं० धरणि । वाच० । पार्श्वप्रभुनिर्जिते तपस्विनि, तद्वृत्त चेत्थम्॰ अन्येद्युर्गवाक्षस्थः स्वामी एकस्यां दिशि गतः पुष्पादिपूजोपकरणसहितान्नागरांश्च नागरीर्निरीक्ष्य एते क गच्छन्तीति कंचित्पप्रच्छ । स आह प्रभो ! कुत्रचित् अस्ति देशवास्तव्यो दरिद्रो मृतमातापितृको ब्राह्मणपुत्रः कृपया लोकैर्जीवितः कमठनामासीत् । स च एकदा रत्नाभरणान्वीक्ष्य अहो एतत् प्राग्जन्मतपसः फलमिति विचिन्त्य पञ्चाग्न्यादिमहाकष्टानुष्ठायी तपस्वी जातः सोऽद्य पुर्या बहिरागतोऽस्ति तं पूजितुं लोका गच्छन्तीति निशम्य प्रभुरपि सपरिवारस्तं द्रष्टुं ययौ। तत्र काष्ठान्तर्दह्यमानं महासर्पं ज्ञानेन विज्ञाय करुणारससमुद्रो भगवानाह । अहो मूढ ! तपस्विन् ! किं दयां विना वृथा कष्टं करोषि । यतः " कृपानदीमहातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः । तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम्"। इत्याकर्ण्य क्रुद्धः कमठोऽवोचत् । राजपुत्रा हि गजाश्वादिक्रीडां कर्तुं जानन्ति धर्मं तु वयं तपोधना एव जानीमस्ततः स्वामिनाऽग्निकुण्डात् ज्वलत्काष्ठमाकृष्य कुठारेण द्विधा कृत्वा च तापव्याकुलः सर्पो निष्काशितः । स च भगवन्नियुक्तपुरुषमुखान्नमस्कारान् प्रत्याख्यानं च निशम्य तत्क्षणं विपद्य धरणेन्द्रो जातः । अहो ज्ञानी इति जनैः स्तूयमानः स्वामी स्वगृहं ययौ । कमठोऽपि तपस्तप्त्वा मेघकुमारेषु मेघमाली जातः १५४ कल्प० । ती० । जल्ले, न० "जल्लो तु होत्ति कमढ खरंटो उ जो मलो त कमढ भणति" नि० चू० ३ उ० । साधुजनप्रसिद्धे पात्रभेदे, "भुञ्जामो कमढगादिसु" कमढग णाम करोटगागारं अहगेण कज्जति कमठकं नाम शुष्कलेपेन सबाह्याभ्यन्तरलिप्तकांस्यकट्टोरकाकारं साधुभाण्डम्' नि० चू० १ उ० ।

कमढग-कमठक-न० चोलपट्टकस्थाने आर्यिकाणां धार्ये चतुर्दशे औधिकोपधौ, " चउद्दसे कमढए होति " बृ० ३ उ० । " कमढग अट्ठगमय कसभायणसंठाणसंठिय चोलपट्टट्ठाणे चोद्दसमं भवति " नि०चू०२ उ० । तच्चाष्टकमयमेकैकं संयतीनां निजोदरप्रमाणेन विज्ञेयम् बृ० ३ उ० ।

कमढगमाण उदर-प्पमाणओ संजईण विण्णेओ ।

सइ गहणं पुण तस्स, लहुसगदोसा इमा तेसिं ॥२४॥

कमठगमानं स्वरूपसंबन्धि उदरप्रमाणतो विजोदरप्रमाणेन सयतीनां विज्ञेय सदा ग्रहणं पुनस्तस्य कमठकस्य लघुसक-दोषादित्यल्पत्वापराधादासां सयतीनां लम्पनग्रहणी अप्रीत्या कुशलपरिणामभावादिति गाथार्थः । पं० व० ।

कमढीभूय-कमठीभूत- त्रि० स्थले कमठ इव मन्दगतौ, व्य० १ उ० ।

कम (न) ण-क्रमण-न० क्रमु पादविक्षेपे भावे ल्युट् गतौ, प्रतिक्रमण प्रति निवृत्तिक्रमे, प्रवर्तने, आ०चू० ४ अ०। प्रव० । आचा० । (पडिक्कमण शब्दे तथा व्याख्या)

कमणिज्ज-क्रमणीय-त्रि० क्रमणार्हे, औ० ।

कमणिया-क्रमणिका-स्त्री० उपानहि, बृ० ३ उ० । (क्रमणिकयोरपि उवानह शब्दे धारणमुक्तम्)

कमणिल्ल-क्रमणीमत्-त्रि० सोपानत्के, " गाविज्ज भूमिगतोइ कमणिल्लो " भूमिगतान् गर्वं करोति अहो अह सोपानत्को व्रजामि बृ० ३ उ० ।

कमभिन्न-क्रमभिन्न-न० त्रयोदशे सूत्रदोषे, यत्र क्रमो नारा-ध्यते यथा स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणामर्थाः स्पर्शरसग-न्धरूपशब्द इति वक्तव्ये स्पर्शरूपशब्दगन्धरसा इति ब्रूयात् इत्यादि विशे० । आ०म० द्वि० । अनु० । यथा वा " धरणीध-रणीन्द्रपद्मलागरान्--गम्भीरनयनमुखबलस्थैर्यगुणैर्जयति " बृ० १ उ० ।

कममरण-क्रममरण-न० पूर्वस्पृष्टाकाशप्रदेशादिभ्योऽव्यवधा-नत प्राणपरित्यागे, कर्म० ।

कमल-कमल-पु० कम-वृषादि कलच् कमलशब्दः संस्कृतव-देव प्राकृते प्रा० । लोल पैशाच्याम् ८।४।७ इति लस्थाने लकारविधानात् पैशाच्यामप्यादेशान्तर न० प्रा० । हरिणवि-शेषे, "फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मीलिय " फुल्ल विकसित तच्च तदुत्पल च फुल्लोत्पल कमलो हरिणविशेष फुल्लोत्पल च कम-लश्च फुल्लोत्पलकमलौ तयोः कोमलमकठोर दलानां नयनयो-श्चोन्मीलितमुन्मीलन यत्र प्रभाते तत्तथा " अनु० । कल्प० । ज्ञा० । विपा० । औ० । दशा० । सूर्यबोध्ये, ज्ञा०६ अ० । पद्मे,न० कल्प० । कमल पद्ममरविन्द पङ्कज सरोजमिति पर्यायाः विशे० । चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्रे, न० ज्यो० २ पाहु० । कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याः कमलाया अनन्तरपूर्वमनु-ष्यभवे पितरि, पु० ज्ञा० २ श्रु० । धूर्ताख्यानकल्पितपोतनपुरे-श्वरवज्रसिंहस्य राज्ञः कमलाभार्य्योत्पन्ने पुत्रे, दर्श० । क्लोम्नि-भेषजे, सलिले, ताम्रे, हेम० । सारसपक्षिणि, स्त्रियां ङीष् । पाटलवर्णे, तद्वति, त्रि० वाच० । कमलाया कालाग्रमहिष्याः सिंहासने, न० ज्ञा० २ श्रु० ।

कमलंग-कमलाङ्ग- न० चतुरशीतिमहापद्मशतसहस्रे, ज्यो० २ पाहु० ।

कमलकलाव-कमलकलाप-पु० कमलसमूहे, कल्प० ।

कमलकलावपरिरायमाण-कमलकलापपरिराजमान-त्रि०-कमलसमूहेन सर्वत शोभमाने, कल्प० ।

कमलतिलया-कमलतिलका-स्त्री० रथसेनस्य रत्नावलीकुक्षि-सम्भवायां पत्न्याम्, दर्श० (तस्या स्वयवरादि ममणवल्लह शब्दे)

कमलप्पभ-कमलप्रभ-पु० स्वनामख्याते आचार्ये, कमलप्र-भाचार्येण तीर्थकृन्नामकर्मबन्धः सत्केन दोषेण विफलीकृतमिति प्रश्ने । अकस्मात् स्त्रीसघट्टे जाते लिङ्गिभिः प्रश्ने कृते चतुर्थव-तस्य प्रशस्तत्वनिरूपणप्रक्रमप्रमादेन तद्विफलीकृतमिति प्रसि-द्धि इयेन० ३ उल्ला० १६४ प्र० ।

कमलप्पभा-कमलप्रभा-स्त्री० कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहि-ष्याम, स्था० ४ ठा० उ० (तस्या भवान्तर मग्गमहिसी शब्दे उक्तम्) ।

कमलवडिंसय-कमलावतंसक-न० कालाग्रमहिष्याः कमलादे-व्याः कमलायां राजधान्याम् स्वनामख्याते भवने, ज्ञा० २ श्रु० ।

कमलसिरी-कमलश्री-स्त्री० कालाग्रमहिष्याः कमलाया मातरि ज्ञा० २ श्रु० ।

कमलसेट्ठि-कमलश्रेष्ठिन्-पु० कमलनामके श्रेष्ठिनि, तं० (यस्य सुता पद्मिनी-पउमिणी शब्दे कथा) तस्यान्यस्य वा ऋजु-व्यवहारे यथार्थभणने कथा ध० र० ।

कमला-कमला-स्त्री० कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० । भ० । (भवान्तरमग्गमहिसी शब्दे उक्तम्) धूर्ताख्यान-कल्पितपोतनपुरराजवज्रसिंहस्य भार्य्यायाम्, दर्श० । लक्ष्म्याम्, को० । वरनार्य्याम्, जम्बीरभेदे, छन्दोभेदे च तल्लक्षणम् वृत्तरत्ना-वल्यां द्विधोक्तम् यथा "द्विगुणनगणसहित ,सगण इह हि वि-हितः । फणिपतिमतिविमला, क्षितिष प्रभवति कमला । वसुभिः प्र-मिता सगणाविहिता, पुनरेकमितो निहितो गुरुरन्ते । यदि सत कवयो विलसन्मतयोऽभिधया कमलेति तदा कथयन्ते" वाच० ।

कमलागर-कमलाकर-पु० कमलानामाकर उत्पत्तिस्थानम् । पद्म-हृदादौ, कल्प० जलाशयविशेषे, अनु० पद्मानां समूहे च वाच० ।

कमलागरसं (सं) डबोहय-कमलाकरख (प) एडबोधक- पु० कमलाकरा ह्रदादयस्तेषु यानि खण्डानि नलिनीखण्डानि कम-लवनानि तेषां बोधकोयः स कमलाकरखण्डबोधकः कमलवन-विकाशके सूर्ये , " कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे " भ० २ श० १ उ० । कल्प० । दशा० । ज्ञा० ।

कमलापीड (मेल)-कमलापीड (मेल)-पु० भरतचक्रवर्तिसेना-पतिसत्के अश्वरत्ने, ज० ३ वक्षः० । (तस्य वर्णको भरह शब्दे आपातकिरातविजयाधिकारे वक्ष्यते) ।

कमलामेला-कमलामेला-स्त्री० बलदेवपुत्रनिषधात्मजसागरच-न्द्रभार्य्यायाम, विशे० । आ० म० प्र० । आ० क० । आव० (त-स्या उद्वाहः अनुलोम शब्दे उदाहृतः) ।

कमलासण-कमलासन-पु० कमलमासन यस्य । चतुरानने ब्र-ह्मणि, वाच० । " पुव्विं किर नारयरिसिणा कमलासणो पु-ट्ठो नी० २८ क० ॥

कमलुज्जल-कमलोज्वल-त्रि० कमलपरिमलिमते, " सरं वा क-मलुज्जल" व्य० ४ उ० ।

कमवोच्छिज्जमाणबंधोदया-क्रमव्यवच्छिद्य- बंधोदया-स्त्री० क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येव रूपेण व्यव०च्छिद्यमानौ बन्धो-दयौ यासां ता क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदया । कर्मप्रकृतिभेदे, प० स० । (ताश्च षमशीतय कम्म शब्दे वक्ष्यन्ते) ।

कमसो-क्रमशस्-अव्य० कारकार्थवृत्ते क्रमात् वीप्सायां शस् क्रमं क्रम क्रमेण क्रमेणेत्यादिकेऽर्थे, वाच० । प० स० ।

कमेलगागम-क्रमेलकागम-पु० उष्ट्रागमने, अजा निष्काशयन-

क्रमेणकागमन्याय । यथा कश्चित् केशाग्रजां निष्काशयति तत्र कथञ्चित्कण्ठगतां निष्काशितायामपि तथा भापतित अस्य विषयो यथा जिनार्चनमश्रद्दधानस्य महानिशीथप्रामाण्यस्याऽभ्युपगमस्वीकारे तत्स्यमिक्षा तदनुप्रसङ्गस्तत्र जिनप्रतिमार्चनस्य तदनुमानात् प्रति० ॥

कम्प–कम्प–पुं० कपि चलने पच् मकारस्यानुस्वारः तस्य । वर्गे ऽन्त्यो वा ८ । १ । ३० इति म० । प्रा० । गात्रादिचलने, वेपथौ, वाच० ।

कम्म (म्ही) र–कश्मीर–पुं० कलश० इत्य–गुट प्र दान्तकर्मारे ८ । १ । १०० । इति सत्वम् । कश्मीरे म्भो वा ८ । २ । ६० इति कश्मीरशब्दे संयुक्तस्य म्भो वा भवति कम्भारो कम्हारो । देशभेदे, प्रा० । तस्मिन् भवाः । कच्छा० अण् काश्मीर तद्देशभवे, त्रि० काश्मीरेष्वभिजनोऽस्य तक्षशिला० ञञ् सिन्ध्वादिक्रमेण तद्देशवासिनि, त्रि० स्त्रियामुत्तरपद ङीप् तस्य राजा वापि तथा बहुषु तु तस्य लुक् कश्मीराः स्त्रियां भर्गादित्वात् लुक् वाच० ॥

कम्म–कृ–धा० क्षुरेण केशापनयने, क्षुरे कम्म ८ । ४ । ७२ । क्षुरविषयस्य कृञो कम्म इत्यादेशो वा भवति 'कम्मइ' क्षुरं करोति इत्यर्थः प्रा० ॥

कर्मन्–न० क्रियते निर्वर्त्यते यत्तत्कर्म घटप्रभृतिलक्षणे कार्ये, विशे० । भावे मनिन् क्रियायाम्, स्था० ४ ठा० । उत्त० । आचा० । विशे० । योगो व्यापारः कर्म क्रियेत्यनर्थान्तरम् विशे० । सूत्र० । भ्रमणादिक्रियायाम्, स्था० ३ ठा० । उत्त० । प्रश्न० । उपा० । वृहा० । आचा० । प्रश्न० । संयमानुष्ठानरूपायां क्रियायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । सूत्र० । सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

(१) कर्मणस्त्रैविध्य भेदा स्वरूपनिरूपणञ्च ।
(२) कर्मक्रिययोर्भेदः ।
(३) नैयायिकवैयाकरणयोः कर्मपदार्थनिरूपणम् ।
(४) नामादिना कर्मनिक्षेपमुक्त्वा तत्प्रसङ्गप्राप्त शब्दादितः आधाकर्मस्वरूपनिरूपणम् ।
(५) कर्मस्वरूपनिरूपणम् ।
(६) पुण्यपापात्मकस्य कर्मणः सिद्धिः ।
(७) अकर्मवादिनो नास्तिकस्य मतनिराकरणम् ।
(८) कर्मणो मूर्त्तत्वं तत्राक्षेपपरिहारौ च ।
(९) जगद्वैचित्र्येण पुनरपि कर्मसिद्धिनिरूपणम् ।
(१०) जीवकर्मणोः सम्बन्धः ।
(११) कर्मणोऽनादित्वम् ।
(१२) जगद्वैचित्र्ये कर्मण एव हेतुत्वं नेश्वरादीनाम् ।
(१३) स्वभाववादिनिराकरणम् ।
(१४) कर्मणः पुण्यपापद्वयात्मकत्वविचारः ।
(१५) पुण्यपापयोः पृथग्लक्षणम् ।
(१६) कर्मणश्चतुर्विधत्वम् ।
(१७) कर्मणि बद्धस्पृष्टवादिगोष्ठामाहिलनिह्नवमतनिरूपणम् ।
(१८) कर्मविषये शास्त्रान्तरीयमतं निरूप्य पुनरपि पूर्वोक्तचतुर्विधत्वमेव प्रतिपादितम् ।
(१९) मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृत्यादिना द्वैविध्यं निरूप्य नामादितः अष्टविधत्वम् ।
(२०) कर्मणः ध्रुवाऽध्रुवबन्धिप्रकृतिनिरूपणम् ।
(२१) ध्रुवाध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकास्तयोः सत्तानिरूपणं च ।
(२२) कर्मणः सर्वघातिदेशघातिप्रकृतिद्वारनिरूपणम् ।
(२३) क्षेत्रविपाकादिप्रकृतिप्रतिपादनम् ।
(२४) प्रकृतीनां पश्चोदयहेतवः ।
(२५) ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयादीः प्रकृतीर्विस्तरतो विवच्य स्थित्यादिप्ररूपणम् ।
(२६) सम्यक्त्ववेदनीयमिथ्यात्ववेदनीयकृत्यादिवेदनीयादीनां आयुषश्च पृच्छां निरूप्य नामादिपृच्छाकलापप्रतिपादनम् ।
(२७) तीर्थंकराहारकद्विकयोः मतान्तरेण स्थितिनिरूपणम् ।
(२८) ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः कस्मिन् स्वामिनि गम्यते इत्यादिचिन्तनम् ।
(२९) व्यवस्थितसम्यक्त्वादीनां स्थितिबन्धनिरूपणम् ।
(३०) ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः अविभागपरिच्छेदनिरूपणम् ।
(३१) मूलप्रकृतीनां बन्धं प्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि भवन्तीति निरूपणम् ।
(३२) कर्मणो बन्धे कर्मप्रकृतिबन्धविचारः ।
(३३) किं कर्म वेदयते का कर्मप्रकृतीर्बध्नातीति उदयेन सह सत्त्वस्य चिन्तनम् ।
(३४) उत्तरप्रकृतिषु संवेधादिविचिन्तनम् ।
(३५) मिथ्यादृष्टिना कर्मचिन्तात प्रनष्टा इति प्रदर्श्य तन्मतदूषणञ्च निरूपितम् ।
(३६) सोपक्रमनिरुपक्रमकर्मद्वैविध्ये उदाहरणम् ।
(३७) कर्मक्षयविचारः प्रतिपाद्य सम्यग्ज्ञानकर्मक्रियानिषेधनम् ।

(१) कर्मणस्त्रैविध्य तत्स्वरूपनिरूपणञ्च ।

विषयात्माऽनुबन्धैस्तु, त्रिधा शुद्धं यथोत्तरम् ।
प्रधानं कर्म तत्राद्यं, मुक्त्यर्थपतनाद्यपि ॥ २१ ॥

विषयेण गोचरेणात्मना स्वरूपेणानुबन्धेन तत्तदाचानुवृत्तिलक्षणेन शुद्धं त्रिधा त्रिविधं कर्मानुष्ठानं यथोत्तरं प्रधानं यद्यत उत्तरं तत्तदपेक्षया प्रधानमित्यर्थः । तत्राद्यं विषयशुद्धं कर्म मुक्त्यर्थं मोक्षो ममातो भूयादितीच्छया जनितं पतनाद्यपि भृगुपाताद्यपि आदिना शस्त्रपाटनगृध्रपृष्ठार्पणादिग्रहः पातोपाय. परिगृह्यते । किं पुनः शेषं स्वाहिंसकमित्यपि शब्दार्थः ।

स्वरूपतोऽपि सावद्य–मादेयाशयलेशतः ।
शुभमेतत् द्वितीयं तु, लोकदृष्ट्या यमादिकम् ॥ २२ ॥

स्वरूपत आत्मना सावद्यमपि पापबहुलमपि आदेयाशयस्योपादेयमुक्तिभावस्य लेशतः सूक्ष्ममात्रालक्षणाच्छुभं शोभनमेतत् । यदाह तदेतदप्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतं द्वितीयं तु स्वरूपशुद्धं तु लोकदृष्ट्या स्थूलव्यवहारिणो लोकस्य मतेन यमादिकं यमनियमादिरूपं यथा जीवादितत्त्वमजानानां पूरणादीनां प्रथमगुणस्थानवर्तिनाम् ।

तृतीयं शान्तवृत्त्याद–स्तत्त्वसंवेदनानुगम् ।
दोषहानिस्तमोमूर्त्ना, नाद्या जन्मोचितं परे ॥ २३ ॥

शान्तवृत्त्या कषायादिविकारनिरोधरूपया तत्त्वसंवेदनानुगं जीवादितत्त्वसम्यक्परिज्ञानानुगतमदोऽयमाद्येव तृतीयमनुबन्धशुद्धं कर्म आद्यविषयशुद्धानुष्ठानात्तमोमूर्त्नाऽऽत्मघातादिनिबन्धनाज्ञानबाहुल्येन दोषहानिर्मोक्षबाधकपरिहाणिर्न भवति । यत आह । "आद्यत्र दोषविगमः तमोबाहुल्ययोगतः" इति परे पुनराचार्या अत्रकृते । उचितं दोषविगमानुकूलजात्यादिकुलादिगु–

णयुक्तं जन्म ततो भवति । एकान्तरनिरवद्ये मोक्षे स्वरूपतोऽती-वसावद्यस्य कर्मणस्तस्याहेतुत्वेऽपि मुक्तीच्छाया कथञ्चित्सा-रूप्येण तद्धेतुत्वात् तद्द्वारतया प्रकृतोपयोगादिति हारिभद्राभिप्राय । तदाह "तद्योग्यजन्मसन्धान-मत एके प्रचक्षते । मुक्तावि-च्छापि यत् श्लाघ्या, तम क्षयकरी मता" । तस्या. समन्तभ-द्रत्वा-दनिदर्शनमित्यद " इति ।

मुक्तीच्छापि सतां श्लाघ्या, न मुक्तिमदृशं त्वदः ।
द्वितीयात्साऽनुवृत्तिश्च, सा स्याद्दर्दुरचूर्णवत् ॥२४॥

उक्ताशयमेवाह "मुक्तीच्छापीति" द्वितीयात्स्वरूपशुद्धानुष्ठानात् सा तु वृत्तिश्चोत्तरत्राप्यनुवृत्तिमती च सा दोषहानि. स्याद्दर्दु-रचूर्णवन्मण्डूकक्षोदवत् । निरनुवृत्तिदोषविगमे हि गुरुलाघ-वचिन्तादृढप्रवृत्त्यादिक हेतुस्तदभावान्चात्र सानुबन्ध एव दोषविगम इति भाव. । तदुक्तम् "द्वितीयादोषविगमो, नत्वेका-न्तानुबन्धवान् । गुरुलाघवचिन्तादि, न यत्तत्र नियोगतः" ।

कुराजचन्द्रप्रायं त-न्निर्विवेकमदः स्मृतम् ।
तृतीयात्साऽनुबन्धा सा, गुरुलाघवचिन्तया ॥२५॥

ततस्मात्सानुवृत्तिर्दोषविगमाद्दो द्वितीयमनुष्ठान निर्विवेक विवेकरहित कुराजवत्प्राय कुत्सितराजाधिष्ठितनगरप्राकार-तुल्य तत्र लुण्टाकोपद्रवस्येवाज्ञानदोषोपघातस्य दुर्नि-वारत्वादिति भाव । तृतीयादनुबन्धशुद्धानुष्ठानात्सा दोषहानि सानुबन्धा उत्तरोत्तरदोषापगमावहाऽत एव दोषाननुवृत्तिमती। तदुक्त " तृतीयाद्दोषविगमः, सानुबन्धो नियोगतः। " गुरुला-घवचिन्तयेत्युपलक्षणमेषा दृढप्रवृत्त्यादे ।

गृहाद्यभूमिकाकल्प-मतस्तद् कैश्चिदुच्यते ।
उदग्रफलदत्वेन, मतमस्माकमप्यदः ॥२६॥

अत सानुबन्धदोषहानिकरत्वात्तत्तृतीयमनुष्ठान कैश्चित्तीर्था-न्तरीयैर्गृहस्याद्यभूमिका दृढपीठबन्धरूपा तत्कल्प तत्तुल्यमुद-ग्रफलदत्वेनोदारफलदायित्वेन तस्याद् एतदुक्तमस्माकमपि मत-म। यथा हि गृहाद्यभूमिकारम्भदार्ढ्ये नोपरितनगृह भङ्गफल सपद्यते किं तु तदनुबन्धप्रधानमेव तत्त्वसंवेदनानुगतमनुष्ठानमु-त्तरोत्तरदोषविगमावहमेव भवति न तु कदाचनाप्यन्यथारूप-मिति द्वा० १३ द्वा० । "कर्माशुक्लकृष्ण, योगिनास्त्रिविधमितरे-षाम्" शुभफलद कर्मयागादिशुक्ल,अशुभफलद ब्रह्महत्यादि,कृ-ष्णमुभय सकीर्ण, शुक्लकृष्ण तत्र शुक्ल दानतप स्वाध्यायादि-मतां पुरुषाणां,कृष्ण नारकिणां,शुक्लकृष्ण, मनुष्याणां,योगिनां तु विलक्षणमिति । द्वा० १६ द्वा० । जीवनवृत्तौ, उपा० १ अ० ।जी-विकार्थे आरम्भे, पचा० १ विव० । "कम्माणि तणहारगादीणि" आ० चू० १ अ० । महारम्भादिसपाद्ये, स्था० ३ ठा० । अ-नाचार्यके कृष्याद्यौ, स्था० ५ ठा० । पिं । कल्प० । आ०चू० । (२) अनाचार्यक कर्म साचार्यक शिल्पमथवा कादाचित्क शिल्प कादाचित्क वा कर्म शिल्पं तु नित्यव्यापार. भ० १२ श० ५ उ० । सर्वकालिक कर्म न० । तत्र कर्म्म सिद्धादिव्या-चिख्यासया कर्मादिस्वरूप प्रथमत प्रतिपादयति ।

कम्मं जमणायरिओ-वदेसजं सिप्पमन्नहाभिहियं ।
किसिवाणिज्जाईयं, घयलोहाइभेयं वा ॥

इह यत् अनाचार्योपदेशजं सातिशयमनन्यसाधारण कर्म त-त्कर्मेह परिगृह्यते । यत् पुन कर्म्म सातिशयमाचार्योपदेशज म-न्थनिरूढ वा तत् शिल्पम । तत्र कृषिवाणिज्यादि आदिश-ब्दात् भारवाहनादिपरिग्रहः । कर्म्म घटकारलोहकारादिभेदं भावप्रधानोऽय निर्देशो घटकारत्वलोहकारत्वादिभेद कर्म्म पुन । च शब्द पुन शब्दार्थ. शिल्पमिति । आ० चू०।अनाचार्यक कर्म साचार्यकं शिल्पम् यदि वा कादाचित्क कर्मनित्यमन्यस्यमान शिल्पमिति कर्मशिल्पयोर्भेदः प्रथम भगवता ऋषभस्वामिना सर्वाणि कृष्यादीनि कर्माणि देशितानि आ० म० द्वि० ।

(३) न्यायमतसिद्धे पदार्थभेदे, तच्च पञ्चविधम् ।

" एतो कम्म तय च पचविह उक्खेवणमवक्खेवणपसारणा-कुचणागमण" कर्म पञ्चविध तद्यथा उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चन प्रसारण गमनमिति।आ०म०द्वि० । आ०चू० । सू०प्र० । विशे० । क्रियते कर्त्रा निर्वर्त्यते इति कर्म । क्रियायाम, यथा कुम्भ प्रति कर्तृव्यापार । विशे० । कर्तुरीप्सिततम कर्म इति परिभाषिते कारकभेदे. विशे० । यथा कुम्भकारः कर्तुरीप्सितमत्या क्रिय-माण कुम्भ कर्म० । अष्ट० ११ अष्ट० । " कर्मनिर्वर्त्यो घट एव क्रियमाणक्रियया व्याप्यमान इति " आ० चू० १ अ० । हस्तक-र्मणि, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

(४) नामादित कर्मनिक्षेपादि ।

नामं ठवणाकम्मं, दव्वकम्मं च भावकम्मं च ।
दव्वम्मि तिण्णदसिता, अधिकारो भावकम्मेणं ॥

नामकर्म स्थापनाकर्म द्रव्यकर्म भावकर्म चेति चतुर्धा कर्मणो निक्षेप. । अत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यकर्मज्ञशरीरभव्यशरीरव्यति-रिक्त तु तृणं वा दशिकानां बन्धन वा उपलक्षणमिदं तेन कुम्भ-काररथकारादिगतमपि द्रव्यकर्म मन्तव्यम्। यद्वा व्यतिरिक्तं द्र-व्यकर्म द्विधा कर्मद्रव्य नोकर्मद्रव्यं वा कर्मद्रव्य ज्ञानावरणा-दि कर्मपर्यायमापन्ना कर्मवर्गणापुद्गला। यद्वा यज्ज्ञानावरणादि-क कर्मबद्ध न तावदुदयमागच्छति तत्कर्मद्रव्य नोकर्मद्रव्यमा-कुञ्चनप्रसारणोत्क्षेपणावक्षेपणगमनभेदात्पञ्चधा । भावतो द्वि-धा। आगमतो नोआगमतश्च आगमत कर्मपदार्थज्ञाने उप-युक्त नोआगमतोऽष्टविधो ज्ञानावरणादिकर्मणामुदय' सू० ४ ठ० । ६३४ पत्र०। नि०चू०। आचाराङ्गनिर्युक्तौ तु ॥

नामट्ठवणाकम्म, दव्वकम्मं पओगकम्मं च ।
समुयाणइरियावहियं, आहाकम्मं तवोकम्मं ॥ ९२ ॥
किइकम्मभावकम्मे, दसविहकम्मे समासओ होइ ।
अट्ठविहेण उ कम्मेण, इत्थं होइ अहिगारो ॥ ९३ ॥

नामकर्म कर्मार्थशून्यमभिधानमात्र स्थापनाकर्म्म पुस्तकप-त्रादौ कर्मवर्गणानां सद्भावासद्भावरूपा स्थापना । द्रव्यकर्म-व्यतिरिक्तं द्विधा द्रव्यकर्म नोद्रव्यकर्म च । तत्र तत्र द्रव्यकर्म्म-कर्मवर्गणान्त पातिन पुद्गला. बन्धयोग्या बध्यमाना बद्धाश्चानु-दीर्णा उदीरणा इति । नोद्रव्यकर्म कृषिवलादिकर्म्म । अथ कर्म-वर्गणान्त पातिन. पुद्गला द्रव्यकर्मेत्यवाचिका. पुनस्ता वर्गणा इति सकीर्तन्ते (आचा०) (प्रयोगकर्मसमुदानकर्मणोर्वर्गणा स्व-स्वस्थाने द्रष्टव्या) तत्र प्रयोगकर्मणैकरूपतया गृहीतानां कर्म-वर्गणानां सम्यक् मूलोत्तरप्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धभेदेनाम-र्यादया देशसर्वोपघातिरूपया तथा स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थ-या च स्वीकरण समुदाय तदेव कर्म समुदानकर्म तत्र मूलप्रकृति-बन्धो ज्ञानावरणीयादिरुत्तरप्रकृतिबन्धस्तूच्यते उत्तरप्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणीय पञ्चधा मतिश्रुतावधिमन पर्यायकेवलावरणभेदा-त आचा० १ श्रु० २अ० १उ० । (ईर्यापथिककर्म इरियावहिय

शब्दे) अधुना आधाकर्म्म यदाश्रय निमित्तत्वेनाश्रित्य पूर्वोक्तमष्टप्रकारमपि कर्म्म वक्ष्यते तथाऽऽधाकर्मेति । तच्च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धादिकमिति तथा हि । शब्दादिकामगुणविषयाभिष्वङ्गवान् सुखलिप्सुर्मोहोपहतचेताः परमार्थासुखमयेष्वपि सुखाध्यारोपं विदधाति तदुक्तम् । "दुःखात्मिकेषु विषयेषु सुखाभिमान , सौख्यात्मकेषु नियमादिषु तु खबुद्धि । उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् " एतदुक्त भवति । कर्म्मनिमित्तभूता मनोज्ञेतरशब्दादय एवाधाकर्म्मेत्युच्यन्ते इति । तप कर्म्म तस्यैवाष्टप्रकारस्य कर्म्मणो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थस्यापि निर्जराहेतुभूत बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशप्रकारं तप कर्म्मोच्यते । कृतिकर्म्म तस्यैव कर्म्मणोपनयकारकमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायविषये वचनामादिरूपमिति भाव कर्म्म पुनरबाधामुल्लङ्घ्य स्वोदयेनोदीरणाकरणेन चोदीर्णा. पुद्गला प्रदेशविपाकेभ्यो भवक्षेत्रपुद्गलजीवेष्वनुभाव ददतो भावकर्मशब्देनोच्यन्ते इति । तदेव नामादिनिक्षेपेण द्रव्याधाकर्मोक्तमिह तु समुदानकर्मोपासेनाष्टविधकर्मणाधिकार इति ॥ गाथासकलेन दर्शयति । " अट्ठविहेण उ कम्मेण, एत्थ होई अहिगारेत्ति " गाथार्द्धं कण्ठ्यमिति गाथाद्वयपरमार्थ । कर्मनिक्षेप उक्त. । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(५) अथ कर्मशब्द व्युत्पादयन्नाह ।

कीरइ जिएण हेउहिं. जेण तो भंत ! भएइ कम्मंवि ॥

क्रियते विधीयते अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन वह्न्यय पिण्डवद्वा कर्मवर्गणा द्रव्यमात्मसंबद्धं येन कारणेन ततस्तस्मात्कारणात्कर्म भण्यते । इति सम्बन्धः । केन क्रियते इत्याह । जीवेन जन्तुना तत्र जीवति इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनि श्वासायुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोगं धारयतीति जीव । क इत्थंभूत इति चेत् उच्यते । यो मिथ्यात्वादिकलुषितरूपतया सातादिवेदनीयादिकर्मणामभिनिर्वर्तकस्तत्फलस्य च विशिष्टसातादेरुपभोक्ता नरकादिभवेषु च यथा कर्मविपाकोदयं ससर्त्ता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसम्पन्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च नि शेषकर्मांशापगमत. परिनिर्वाता स जीवः सत्त्व प्राणी आत्मेत्यादिपर्यायाः । उक्त च "यः कर्त्ता कर्मभेदानां,भोक्ता कर्मफलस्य च । संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मानन्यलक्षण" इति । कै. कृत्वा जीवेन क्रियते इत्याह । हेतुभिर्मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणैश्चतुर्भिः सामान्यरूपै । "पडिणीयत्तणनिन्हव-पओसउवघाय अंतराएण । अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जीवो जणइ " इत्यादिभिर्विशेषप्रकारैरिहैव वक्ष्यमाणै.। तदयमत्र तात्पर्यार्थ । क्रियते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन तत. कर्म भण्यत इति ॥ कर्म० । उत्त० । पुण्यपापात्मके कर्मणि, स० ।

[६] अथ कर्मसिद्धि दर्शयति ।

कथमेतत्सिद्धिरिति चेत् इहात्मत्वेनाविशिष्टानामात्मनां यदिद देवासुरमनुजतिर्यगादिरूप क्ष्मापतिरङ्कमनीषिमन्दमहर्द्धिदरिद्रादिरूप वा वैचित्र्य तन्न निर्हेतुकमेष्टव्य मा प्रापत्सदा भावाभावदोषप्रसङ्ग । " नित्य सत्त्वमसत्त्व वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् " सहेतुकत्वाभ्युपगमे च यदेवास्य हेतुस्तदेवास्माकं कर्मेति मतमिति तत्सिद्धि. । यदवोचाम श्रीदिनकृत्यटीकायां जीवस्थापनाधिकारेऽमुमेवार्थम् " क्ष्मामृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयो सद्रूपनीरूपयो., श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्तयोः । सौभाग्यासुभगत्वसगमजुषैस्तुल्येऽपि नृत्वेतरम् । यत्तत्कर्म निबन्धन तदपि नो जीव विना युक्तिमत् । "अन्यत्राप्युक्तम् । " आत्मत्वेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात् । नरादिरूप तच्चित्र-मदृष्ट कर्मसंज्ञितम्" पौराणिका अपि कर्मसिद्धिं प्रतिपद्यन्ते तथा च ते प्राहुः। "यथा यथापूर्वकृतस्य कर्मण ,फल निधानस्थमिवावतिष्ठते । तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मति प्रवर्तते " यत्तत्पुराकृत कर्म, न स्मरन्तीह मानवा । तदिदं पाण्डवश्रेष्ठ 'दैव'मित्यभिधीयते । मुदितान्यपि मित्राणि, सुक्रुद्धाश्चैव शत्रव. । न हीमे तत्करिष्यन्ति, यन्न पूर्वकृत त्वया । बौद्धा अप्याहु " इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः । तेन कर्मविपाकेन , पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः । तदपि च कर्मपुद्गलस्वरूप प्रतिपत्तव्य नामूर्त्तममूर्त्तत्वे हि कर्मण. सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासंभवात् आकाशादिवत् यदाह (कर्म०) " तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां. केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् । परे न तां मित्र' निगद्यतां मे, कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतु ॥१॥ विचित्रदेहाकृतवर्णगन्ध-प्रभावजातिप्रभवस्वभावा.। केन क्रियन्ते भवनेऽत्रिवर्गा-श्चिरन्तन कर्म निरस्य चित्रा. ॥ २ ॥ विवध्य मासान्नव गर्भमध्ये, वहुप्रकारै. कललादिभावै । उद्वर्त्य निष्काशयते सविन्याः, को गर्भत कर्म्म विहाय पूर्वम्" यो० वि० ।

[७] अकर्मवादिमतनिराकरणम् ।

पौद्गलिकादृष्टवानिति नास्तिकादिमतमभ्यसितुम् । तथा हि नास्तिकस्तावददृष्टमिष्टवान् स प्रष्टव्य किमाश्रय परलोकिनोऽभावादप्रत्यक्षत्वाद्विचाराक्षमत्वात्साधकाभावाद्वा दृष्टाभावो भवेत् । न तावत्प्रथम पक्ष परलोकिन. प्राक्प्रसाधितत्वात् । नाप्यप्रत्यक्षत्वाद्यतस्तत्तवाप्रत्यक्ष सर्व प्रमातॄणां वा प्रथमपक्षे त्वपितामहादेरप्यभावो भवेच्चिरातीतत्वेन तस्य तवाप्रत्यक्षत्वात् तदभावे भवतोऽप्यभावो भवेदित्यहो नवीना वादवैदग्धी । द्वितीयकल्पोऽप्यल्पीयान् सर्वप्रमातृप्रत्यक्षमदृष्टनिष्ठ क निष्णात प्रतीतिं वादिना प्रत्येतुमशक्ते प्रतिवादिना तु तदाकलनकुशल. केवली कक्षीकृत एव विचाराक्षमन्वमप्यक्षम कर्कशतर्कैस्तर्क्यमाणस्य तस्य घटनात् । ननु कथ घटते तथा हि तदनिमित्त सनिमित्त वा भवेत् । न तावदनिमित्तं सदा सत्वासत्वयोः प्रसङ्गात् । " नित्य सत्वमसत्व वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् " यदि पुनः सनिमित्तं तदपि निमित्तमदृष्टान्तरमेव रागद्वेषादिकषायकालुष्य हिंसादिक्रिया वा प्रथमे पक्षेऽनवस्था व्यवस्था । द्वितीये तु न कदापि कस्यापि कर्माभावो भवेत् । तद्धेतो रागद्वेषकषायकालुष्यस्य सर्वससारिणां भावात् । तृतीयपक्षोऽप्यसूपपाद पापपुण्यहेतुत्वसम्मतयो हिंसार्हत्पूजादिक्रिययोर्व्यभिचारदर्शनात् । कृपणपशुपरपराप्राणप्रहारकारिणा कपटघटनापटीयसां पितृमातृमित्रपुत्रादिद्रोहिणामपि केषांचिच्चपलचामरश्वेतातपत्रपार्थिवश्रीदर्शनात् । जिनपतिपदपङ्कजपूजापरायणानां निखिलप्राणिपरंपरापारकरुणाकृपाराणामपि केषांचिदनेकोपद्रवदारिद्र्यमुद्राक्रान्तत्वावलोकनादिति । अत्र ब्रूमः पक्षत्रयमप्येतत्कक्षीक्रियत एव प्राच्यादृष्टान्तरवशयोगो हि प्राणी रागद्वेषादिना प्राणव्यपरोपणादिकुर्वाण कर्मणा वाध्यते । न च प्रथमपक्षेऽनवस्थादौस्थ्यमूलक्षयकरत्वाभावात् । बीजाङ्कुरादिसन्तानवत् सन्तानस्यानादित्वेनेष्टत्वात् । द्वितीयेऽपि यदि कस्यापि कर्माभावो न भवेन्मा भूत सिद्ध तावददृष्ट मुक्तिवादे तदभावोऽपि प्रसाधयिष्यते । तृतीये तु या हिंसावतोऽपि समृद्धिरर्हत्पूजावतोऽपि दारिद्र्यापि सा क्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुवन्धिन पुण्यस्य पुण्यानुवन्धिन. पापस्य च फलम् ।

तत्क्रियोपात्त तु कर्म जन्मा तरे फलिष्यतीति नात्र नियतकार्यकारणभावव्यभिचार. । साधकाभावादपि नादृष्टाभावः । प्राक् प्रसाधितप्रामाण्ययोरागमानुमानयोस्तत्प्रसाधकयोर्भावात् । तथा च शुभ पुण्यस्य अशुभः पापस्येत्यागमः । अनुमान तु साधनानां कार्यविशेषः । सहेतुक कार्यत्वात् कुम्भवत् " इष्टश्च साध्वीसुतयं–र्यमयोस्तुल्यजन्मनो. । विशेषो धीर्यविज्ञानवैराग्यारोग्यसपदाम् " न चाय विशेषो विशिष्टमदृष्टकारणमन्तरेण यदूचुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमिश्रा " जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेत । कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व हेऊ य से कम्म " अथ यथैकप्रदेशसम्भवानामपि वदरीकण्टकानां कौटिल्यार्जवादिविशेषो यथा चैकसरसीसम्भूतानामपि पङ्कजानां नीलधवलपाटलपीतशतपत्रसहस्रपत्रादिभेदस्तथा शरीरिणामपि स्वभावादेवाय विशेषो भविष्यति तदप्रशस्यं कण्टकपङ्कजादीनामपि प्राणित्वेन परेषां प्रसिद्धेस्तदृष्टान्तावष्टम्भस्य दुष्टत्वादाहारकृतारोहदोहदादिना वनस्पतीनामपि प्राणित्वेन तै. प्रसाधनात् । अथ गगनपरिसरे मकरकरितुरगतरङ्गकुरङ्गभृङ्गाराङ्गाराद्याकाराननेकप्रकारान् विभ्रत्यभ्राणि न च तान्यपि चेतनानि व. समन्तानि तद्वत्तनुभाजोऽपि राजरङ्कादयः सन्त्विति चेत्तदसत् तेषामपि जगददृष्टवशादेव देवपदवीपरिसरे विचरतां विचित्राकारस्वीकारात् कश्चाय स्वभावो यद्वशाज्जगद्वैचित्र्यमुच्यते । किं निर्हेतुकत्व स्यात्मदेतुकत्वं वस्तुधर्मो वस्तुविशेषो वा आद्यपक्षे सदा सत्वस्यासत्वस्य वा प्रसङ्गः द्वितीये आत्माश्रयत्व दोष' । अविद्यमानो हि भावात्मा कथ हेतु स्यात् विद्यमानोऽपि विद्यमानत्वादेव कथं स्वोत्पाद्य स्यात् । वस्तुधर्मोऽपि दृश्यः कश्चिददृश्यो वा दृश्यस्तावदनुपलम्भवाधित' । अदृश्यस्तु कथ सत्वेन वक्तु शक्यः अनुमानात तु तन्निर्णये अदृष्टानुमानमेव श्रेय. वस्तुविशेषश्चेत् स्वभावो भूतातिरिक्तो भूतस्वरूपो वा प्रथमे मूर्तोऽमूर्तो वा मूर्तोऽपि दृश्योऽदृश्यो वा दृश्यस्तावत् दृश्यानुपलम्भवाधितः अदृश्यस्त्वदृष्टमेव स्वभावभाषया वभाषे।अमूर्त. पुनः पर परलोकिन को नामास्तु न चादृष्टविघटितस्य तस्य परलोकस्वीकार इत्यतोऽप्यदृष्ट स्पष्ट निष्टङ्कयते । भूतस्वरूपस्तु स्वभावो नरेन्द्रदरिद्रतादिवैसदृश्यभाजोर्यमलजातयोरुत्पादकस्तुल्य एव विलोक्यते इति कौलस्कुनस्तयोर्विशेषः स्यात् तद्दर्शनात्तत्राहष्टभूतविशेषानुमानेन नामान्तरतिरोहितमदृष्टमेवानुमितिसिद्धमिष्ट मितोऽपि बालशरीरं शरीरान्तरपूर्वकमिन्द्रियादिमत्वात्तरुणशरीरवत् । न च प्राचीनभवातीततनुपूर्वकमेवेद तस्य तद्भवावसान एव पटुपवनप्रेरितातितीव्रचिताज्वलनज्वालाकलापप्लुष्टतया भस्मसाद्भावादपान्तरालगताबभावेन तत्पूर्वकत्वानुपपत्ते न चाशरीरिणो नियतगर्भदेशस्थानप्राप्तिपूर्वक' शरीरग्रहो युज्यते नियामककारणाभावात् स्वभावस्य तु नियामकत्वं प्रागेव व्यपास्त तनो यच्छरीरपूर्वक वालशरीर तत्कर्ममयमिति पौद्गलिक चेदमदृष्टमेष्टव्यमात्मन पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगडादिवत् क्रोधादिना व्यभिचार इति चेन्न तस्यात्मपरिणामरूपस्य पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्तन्निमित्तभूतस्य तु कर्मणां पौद्गलिकत्वात् एव सीधुस्वादनोद्भवचित्तवैकल्यमपि पारतन्त्र्यमेव तद्धेतुस्तु सीधुपौद्गलिकमेवेति नैतेनापि व्यभिचार ततो यद्योगैरात्मविशेषगुणलक्षणं, कापिलै' प्रकृतिविकाररूप, सौगतैर्वासनास्वभाव, ब्रह्मवादिभिरविद्यास्वरूपं, चादृष्टमवादि । तदपास्त विशेषत पुनरमीषां निषेधो विस्तराय स्यादिति न कृत. रत्ना० ७ परि० । एतत्सर्वं विस्तरेण भगवता श्रीवीरेणाग्निभूर्तिं द्वितीयं गणधरं प्रति साधितम् तस्मिन् भगवानाह ॥

किं मन्ने अत्थि कम्मं, उ याहु नत्थित्ति संसओ तुज्झं।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥

हे अग्निभूते ! गौतम ! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यदुत क्रियते मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवेनेति कर्म्म ज्ञानावरणादिक तत्किमस्ति वेति न त्वयमनुचितस्तव संशय. अयं हि भवति विरुद्धवेदपदनिवन्धनो वर्तते तेषां च वेदपदानां त्वमर्थं न जानासि तेन सशयं करोषि तेषां च वेदपदानामय वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ इति अत्र भाष्यम् ।

कम्मे तुह संदेहो, मन्नसि तं नाणगोयराईयं ।
तुह तमणुमाणसाहण–मणुभूइमयं फलं जस्स ॥

हे आयुष्मन्नग्निभूते ! ज्ञानावरणादिपरमाणुसंघातरूपे कर्म्मणि तव सदेहो यतः प्रत्यक्षानुमानादिसमस्तप्रमाणात्मकज्ञानगोचरातीतमेतत्त्व मन्यसे तथाहि न तावत्प्रत्यक्ष कर्म्म अतीन्द्रियत्वात् खरविषाणवदित्यादिप्रमाणविषयातीतत्व प्राग्वज्जीवस्येव कर्म्मणोऽपि समानप्रायत्वात् भावनीयमिति तदेतत्सौम्य ! मा मस्थास्त्व यतो मम तावत्प्रत्यक्षमेव कर्म्म तवाप्यनुमान साधन यस्य तदनुमानसाधन वर्त्तते तत्कर्म्म न पुन सर्वप्रमाणगोचरातीतं यस्य किमित्याह । (अणुभूइमय फल जस्सति) सुखदु खानामनुभूतिरनुभवनं तन्मय तदात्मक फल यस्य शुभाशुभकर्म्मण इति अनेन वेदमनुमान सूचितमस्ति । सुखदु खानुभवस्य हेतु कार्यत्वादङ्कुरस्येवेति । अथ यदि भवत. प्रत्यक्ष कर्म्म तर्हि ममापि तत्प्रत्यक्ष कस्मान्न भवतीति चेत्तदयुक्त न हि यदेकस्य कस्यचित्प्रत्यक्ष तेनापरस्यापि प्रत्यक्षेण भवितव्य न हि सिंहसरभहसादय सर्वस्यापि लोकस्य प्रत्यक्षा न च ते न सन्ति बालादीनामपि तत्सर्वस्य प्रसिद्धत्वात्तस्मादस्ति कर्म्म सर्वज्ञत्वेन मया प्रत्यक्षीकृतत्वाद्भवत्संशयविज्ञानवदिति न च वक्तव्यं त्वयि सर्वज्ञत्वमस्मात् प्रत्यासिद्धम् । "कह सव्वण्णुत्तिमइ, जेणाह सव्वसंसयच्छेदी । पुच्छसु व जं न जाणसी"त्यादिना प्रागेव प्रतिविहितत्वात्कार्यप्रत्यक्षतया भवतोऽपि च प्रत्यक्षमेव कर्म्म । तथा घटादिकार्यप्रत्यक्षतया परमाणव इति यदुक्तम् । " तुह तमणुमाणसाहण " मिति तदेवानुमानमाह ।

अत्थि सुहदुक्खहेऊ, कज्जाओ वीयमंकुरस्सेव ।
सो दिट्ठो चेव मई, वतिचारओ न तं जुत्तं ॥
जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं ।
कज्जत्तणओ गोयम ! घमोव्व हेऊ य सो कम्मं ॥

प्रतिप्राणिप्रसिद्धयो सुखदु खयोर्हेतुरस्ति कार्यत्वादङ्कुरस्येव बीजमिति । यश्चेह सुखदु.खयोर्हेतुस्तत्कर्मैवेत्यस्ति तदिति स्यान्मति. स्रक्चन्दनाङ्गनादय सुखस्य हेतवो दु खस्य त्वहिविषकण्टकादय इति दृष्ट एव सुखदु खयोर्हेतुरस्ति किमदृष्टस्य कर्म्मणस्तद्धेतुत्वकल्पनेन । न हि दृष्टपरिहारेणादृष्टकल्पना सङ्गत्वमावहत्यतिप्रसङ्गात्तदयुक्त व्यतिचारात्तथा हि (जो तुल्लेत्यादि) इह यस्तुल्यसाधनयोरिष्टशब्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरनिष्टार्थसाधनसंप्रयुक्तयोश्च द्वयोर्बहूनां वा फले सुखदु खानुभवनलक्षणविशेषस्तारतम्यरूपो दृश्यते । नासौ अदृष्टमपि हेतुमन्तरेणोपपद्यते कार्यत्वाद्घटवद् यश्च तत्र विशेषाधायको दृष्टहेतुस्तद्गौतम ! कर्म्मेति प्रतिपद्यस्वेति ।

अनुमानान्तरमपि कर्मसाधनायाह ।

बालसरीरं देहं–तरपुव्वं इंदियाइमत्ता उ ।
जह बालदेहपुव्वो, जुवदेहो पुव्वमिह कम्मं ॥

शरीरान्तरपूर्वकमाद्य बालशरीरमिन्द्रियादिमत्वात् युवशरीरवदिति आदिशब्दात्सुखदुःखित्वप्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनादिमत्वादयोऽपि हेतवो ग्राह्या । न च जन्मान्तरातीतशरीरपूर्वकमेवेति शक्यते वक्तु तस्याप्यनन्तराद्यगतावसत्वेन तत्पूर्वकत्वानुपपत्तेः । न चाशरीरिणो नियतगर्भदेशस्थानप्राप्तिपूर्वकः शरीरग्राहो युज्यते नियामककारणाभावात् । नापि स्वभावो नियामकस्तस्य तिरस्करिष्यमाणत्वात् यच्चेह बालशरीरस्य पूर्वं शरीरान्तर तत्कर्मेति मन्तव्यं कार्म्मण शरीरमित्यर्थ " जोएण कम्मएण, आहारेई अणतर जोई " इत्यादि वचनादिति । अनुमानान्तरमपि तत्सिद्धये प्राह ॥

किरियाफलभावा उ, दाणाईणं फलं किसीएव्व ।
तं चिय दाणाइफलं, मणप्पसायाइ जइ बुद्धी ॥
किरियासामग्गा उ, जं फलमस्सावि तं मयं कम्मं ।
तस्स परिणामरूवं, सुहदुक्खफलं जओ भुज्जो ॥

(दाणाईणं फलन्ति) इह दानादिक्रियाणां फलमस्ति (किरियाफलभावा उत्ति) सचेतनारब्धक्रियाणां फलभावात्फलसद्भावदर्शनादित्यर्थ । यथा कृषिक्रियाया । इह या चेतनारब्धक्रिया तस्या फल दृष्टं यथा कृष्यादिक्रियायाः चेतनारब्धाश्च दानादिक्रियास्तस्मात्फलवत्यः यच्च तासां फल तत्कर्म्म । या तु निष्फला क्रिया सा सचेतनारब्धाऽपि न भवति यथा परमाण्वादिक्रिया सचेतनारब्धाश्च दानादिक्रियास्तस्मात्फलवत्यः । स्यादेतदनैकान्तिकोऽय हेतुश्चेतनारब्धानामपि कासांचित्कृष्यादिक्रियाणा निष्फलत्वदर्शनात्तदयुक्त फलवाभिप्रायेणैव तदारम्भात् । यच्च क्वचिन्निष्फलत्वमपि दृश्यते तत्सम्यग्ज्ञानाद्यभावेन सामग्रीवैकल्याद् दृष्टव्य मनःशुद्ध्यादिसामग्रीविकलतया दानादिक्रिया अपि निष्फला दृष्टव्य एवेत्यदोष । यदि चात्र परस्यैवभूता बुद्धिः स्यात्कथभूता इत्याह (त चियेत्यादि) तदेव दानादिक्रियाणा फल यदस्माद्दृशामपि प्रत्यक्ष मनःप्रसादादि इदमुक्त भवति कृष्यादिक्रियाः दृष्टधान्याद्यवाप्तिफला दृष्टाः अतो दानादिक्रियाणामपि दृष्टमेव मनःप्रासादादिक फल भविष्यति । किमदृष्टकर्मलक्षणसाधनेन तत इष्टविरुद्धसाधनाद्विरुद्धोऽय हेतुः तदत्र वयं ब्रूम "किरियासामग्गाउ इत्यादि" अस्यापि मनःप्रसादस्य यत्फल तन्मम कर्म्म सम्मतम् । ननु मनःप्रसादस्यापि कथ फलमभिधीयत इत्याह (किरियासामग्गाउ त्ति) इदमुक्तं भवति मनःप्रसादोऽपि क्रियासाम्यान्मनःप्रसादस्यापि फलेन भवितव्यमेव यच्च तस्य फल तत्कर्मैवेति न कश्चिद्व्यभिचारः । यतः कर्म्म स कस्मात्किमित्याह । सुखदुःखफल (जओत्ति) सुखदुःखरूप फल सुखदुःखफलं यतो यतो यस्मात् यस्मात्कर्म्मण सकाशाज्जायते । कथ भूयः पुनरपि कथभूत यत्सुखदुःखफलमित्याह । तस्यैव कर्म्मणस्तज्जनकत्वेन यत्परिणमन परिणामस्तद्रूपमिति । एतदुक्त भवति यतः कर्म्मण सकाशात्प्रतिक्षण तत्परिणतिरूप सुखदुःखफल प्राणिनां समुपजायते तत्कर्म मन प्रसादक्रियाया अपि फलमभिमतम् । आह नन्वनन्तरगाथायां दानादिक्रियाफल कर्म्मेति वदता दानादिक्रियैव कर्म्मण कारणमुक्तम् । अत्र तु मनःप्रसादक्रिया तत्कारणमुच्यत इति कथ न पूर्वापरविरोध इति । सत्य किं तु मनःप्रसादादिक्रियैवानन्तर्येण कर्म्मण कारण केवल तस्या अपि मनःप्रसादादिक्रियाया दानादिक्रियैव कारणमतः कारणकारणे कारणोपचाराददोष इति ।

अत्र पुनरपि प्रेर्यमाशङ्क्य परिहारमाह ।

होज्ज मणो वित्तीए, दाणाइ किए व जइ फलं बुद्धी ।
तं न निमित्तत्ता उ, पिंडोव्व घडस्स विन्नेओ ॥

अत्र परस्य यद्येवभूता बुद्धि स्यात्कथभूता इत्याह । ननु मनोवृत्तिर्मन प्रसत्यादिक्रियाया दृष्टरूपा दानादिक्रियैव फल नत्वऽदृष्ट कर्म्मेति भाव । अयमभिप्राय दानादिक्रियातो मन प्रसादादयो जायन्ते तेभ्यश्च प्रवर्द्धमानो दृष्टयादिपरिणामः पुनरपि दानादिक्रियां करोति एव पुनः पुनरपि दानक्रियाप्रवृत्ते सैव मनःप्रसादादे फलमस्तु तत्तु कर्म्मेति भाव । दृष्टफलमात्रेणैव चरितार्थत्वात्किमदृष्टफलकल्पनेनेति हृदयम् । तदेतन्न कुतो निमित्तत्वान्मन प्रसादादिक्रियां प्रति दानादिक्रियाया निमित्तकारणत्वादित्यर्थः । यथा मृत्पिण्डो घटस्य निमित्त तत्तस्यैव फलं वक्तुमुचित दूरविरुद्धत्वादिति पुनरपि दृष्टान्तीकृतकृष्यादिक्रियावष्टम्भेनैव सर्वासामपि क्रियाणां दृष्टफलमात्ररूपतामेव साधयन्नाह प्रेरकः ।

एवं पि दिट्ठफलया, किरिया न कम्मफला पसत्ता ता ।
सा तं मेत्तफले च्चिय, जह मंसफलो पसुविणासो ॥

नन्वेवमपि युष्मदुपन्यस्तकृष्यादिक्रियानिदर्शनेनापीति सर्वा दानादिकाऽपि क्रिया दृष्टफलैव प्रसक्ता न कर्म्मफला इदमुक्त भवति । यथा कृष्यादिक्रिया दृष्टमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवति तथा दानादिक्रिया अपि श्लाघादिक किंचिद्दृष्टमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवति तथाफलमस्तु किमदृष्टफलकल्पनेन । किं बहुना सा क्रिया सर्वाऽपि तन्मात्रफलैव दृष्टमात्रफलैव युज्यते नादृष्टफला यथा दृष्टमांसमात्रफला पशुविनाशक्रिया न हि पशुविनाशनक्रियामदृष्टाधर्म्मफलार्थं कोऽप्यारभते । किंतु मांसभक्षणार्थमतस्तन्मात्रफलैव सा तावतैवावसितप्रयोजनत्वादेव दानादिक्रियाया अपि दृष्टमात्रमेव श्लाघादिक किंचित्फल नान्यदिति ।

अस्यैवार्थसमर्थनार्थं कारणान्तरमाह ।

पायं च जीवलोगो, वट्टइ दिट्ठफलासु वि किरियासु ।
अदिट्ठफला संपुणा, वट्टनासंखभागे पि ॥

लोकोऽपि च प्रायेण दृष्टमात्रफलास्वेव कृषिवाणिज्यादिक्रियासु प्रवर्त्तते अदृष्टफलासु पुनर्दानादिक्रियासु तदसख्येयभागोऽपि न वर्त्तते कतिपयमात्र एव लोकस्तासु प्रवर्त्तते न बहुरित्यर्थ । ततश्च हिंसादीनामशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावाच्छुभक्रियाणामपि दानादीनामदृष्टफलाभावो भविष्यति इति पराभिप्राय । इति भगवानाह ।

सोम्म ! जओ च्चिय जीवा, ए य दिट्ठफलासु प्पवट्टंति ।
अदिट्ठफलासु य तम्हा, दिट्ठफलाओ त्ति पडिवज्जा ॥

हे सौम्य ! यत एव जीवा न दृष्टफलास्वशुभक्रियासु प्रवर्त्तन्ते अदृष्टफलासु पुनर्दानादिकासु शुभक्रियासु स्वल्पा एव प्रवर्त्तन्ते तेनैव तस्मादेव कारणात्ता अपि कृषिहिंसादिका दृष्टफलाक्रिया अदृष्टफला अपि प्रतिपद्यस्वाभ्युपगच्छ । इदमुक्त भवति । यद्यपि कृषिहिंसादिक्रियाकर्त्तारो दृष्टफलमात्रार्थमेव ताः समारभन्ते नाधर्म्मार्थं तथापि ते अधर्म्मलक्षण पापरूपमदृष्टफलमश्नुवत एव अनन्तससारिजीवान्यथानुपपत्तेस्ते हि कृषिहिंसादिक्रियानिमित्तमनभिलषितमप्यदृष्ट पापलक्षण फल यदि अनन्तम-

सार परिभ्रमन्तोऽनन्ताः इह तिष्ठन्ति दानादिक्रियानुष्ठातारस्तु स्वल्पाः अदृष्टं धर्मरूपं फलमासाद्य क्रमेण मुच्यन्त इति । ननु दानादिक्रियानुष्ठातृभिर्यददृष्टं धर्मलक्षणं फलमाशंसितं तत्तेषां भवतु यैस्तु कृषिहिंसादिक्रियाकर्तृभिरदृष्टमधर्मरूपं फलनाशंसितं तत्तेषां कथं भवतीति चेत्तदयुक्तं न ह्यविकलं कारणं स्वकार्यं जनयत् कस्याप्याशंसामपेक्षते किन्त्वविकलकारणतया स्वकार्यं जनयत्येव । वप्तुरज्ञातमपि हि कोद्रवादिवीजं क्वचिद्भूप्रदेशे पतितं जलादिसामग्रीसद्भावेऽविकलकारणतां प्राप्तं च आशंसाभावेऽपि स्वकार्यं जनयत्येव । अविकलकारणभूताश्च कृषिहिंसादयोऽधर्मजननेऽतस्तत्कर्तृगताशंसा तत्र क्वोपयुज्यते नच दानादिक्रियायामपि विवेकिनः फलाशंसां प्रकुर्वते तथाप्यविकलकारणतया विशिष्टतरमेव ता धर्मफलं जनयन्ति तस्माच्छुभाया अशुभायाश्च सर्वस्या अपि क्रियाया अदृष्टं शुभाशुभं फलमस्त्येवेति प्रतिपत्तव्यम् । अनन्तसंसारिजीवसत्तान्यथानुपपत्तेरिति स्थितम् ।

एतदेव प्रतिपादयितुमाह ।

इयरहा अदिट्ठरहिया सव्वे मुच्चेज्ज अयत्तेण ।
अदिट्ठारंभो चेव, किलेसवहुलो भवेज्जाहि ॥

इतरथा यदि कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टं फलं नाभ्युपगम्यते तदा तत्कर्त्तारो दृष्टफलाभावान्मरणानन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुच्येरन् संसारकारणाभावान्मुक्तिं गच्छेयुस्ततश्च प्रायः शून्य एव संसारः स्यादित्यर्थः । यश्चादृष्टारम्भोऽदृष्टफलानां दानादिक्रियाणां समारम्भः स एव क्लेशबहुलः संसारं प्रति भ्रमणकारणतया दुरन्तः स्यात् । तथाहि ते दानादिक्रियानुष्ठातारस्तदनुष्ठानेनादृष्टफलानुबन्धि विदध्युस्ततो जन्मान्तरे तद्विपाकमनुभवन्तस्ते प्रेरिताः पुनरपि दानादिक्रियास्वेव प्रवर्तेरंस्ततो भूयस्तत्फलसंचयात्तद्विपाकानुभूतिः पुनरपि दानादिक्रियारम्भ इत्येवमनन्तसन्ततिमयः संसारस्तेषां भवेत्तत्रैतत्स्यादित्थमप्यस्तु कात्र किलास्माकं बाधा अत्रोच्यते । इयमत्र गरीयसी भवतां बाधा यत्कृषिहिंसाद्यशुभक्रियानुष्ठातृणामदृष्टसंचयाभावे सर्वेषां मुक्तिगमने एकोऽपि तत्क्रियानुष्ठाता संसारे क्वापि नोपलभ्येत अशुभतत्फलविपाकानुभविता चैकोऽपि क्वचिदपि न दृश्येत दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभवितार एव च केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन् । न चैव दृश्यते तस्मात्किमित्याह ।

जमणिट्ठभोगभाजो, वहुतरगा जं च नेह मइपुव्वं ।
अदिट्ठाणिट्ठफलं, कोइ वि किरियं समारभइ ॥
तेण पाभिवज्जकिरिया, अदिट्ठगंतियफला सव्वा ।
दिट्ठाणेगंतफला, सा वि अदिट्ठाणुभावे य ॥

यस्मादनिष्टभोगभाजो बहुतरा भूयांसः अशुभकर्मविपाकजनिता दुःखभाज एव प्राणिनः प्रचुरा इहोपलभ्यन्ते शुभकर्मविपाकनिबन्धनसुखानुभवितारस्तु स्वल्पा एवेति भावः । तेन तस्मात्कारणात्सौम्य ! प्रतिपद्यस्व शुभा अशुभा वा सर्वा अपि क्रिया अदृष्टं शुभाशुभं कर्मरूपमेकान्तिकं फलं यस्याः साऽदृष्टैकान्तिकफलेत्युत्तरगाथायां संबन्धः । इदमुक्तं येन दुःखिनोऽत्र बहवः प्राणिनो दृश्यन्ते सुखिनस्तु स्वल्पास्तेन ज्ञायते कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियानिबन्धना शुभकर्मरूपा दृष्टफलविपाको दुःखिनामितरेषां तु दानादिक्रियाहेतुकशुभकर्मरूपादृष्टफलविपाक इति व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेदुच्यते । अशुभक्रियारम्भिणामेव बहुत्वाच्छुभक्रियानुष्ठातृणामेव च स्वल्पत्वादिति तत्राह । नन्वशुभक्रियारम्भकाणामपि यद्यदृष्टफलं भवति तत्किमिति दानादिक्रियारम्भक इव तदारम्भकोऽपि कश्चित्तदाशंसां कुर्वाणो न दृश्यत इत्याह (जं च नेहेत्यादि) यस्मान्नेहादृष्टमनिष्टमशुभं फलं यस्याः सा अदृष्टानिष्टफला तामित्थंभूतां क्रियां मतिपूर्वामाशंसाबुद्धिपूर्विकां कोऽपि समारभत इत्यतो न कोऽपि तदाशंसां कुर्वाणो दृश्यते तस्मात्सर्वाऽपि क्रिया दृष्टैकान्तिकफलेति प्रतिपद्यस्वेति पुनरपि कथंभूता इत्याह । (दिट्ठाणेगंतफलत्ति) दृष्टं धान्यद्रविणलाभादिकमनैकान्तिकमनवश्यंभावि फलं यस्याः कृषिवाणिज्यादिक्रियायाः सा दृष्टानैकान्तिकफला सर्वाऽपि क्रिया । इदमुक्तं भवति । सर्वस्या अपि क्रियाया अदृष्टफलं तावदेकान्तेनैव भवति यत्तु दृष्टफलं तदनैकान्तिकमेव कस्याश्चित्तद्भवति कस्याश्चिन्नेत्यर्थः । एतच्च दृष्टफलस्यानैकान्तिकत्वमदृष्टानुभावेनैवेति प्रतिपत्तव्यम् । नहि समानसाधनारब्धतुल्यक्रियाणां द्वयोर्बहूनां वा एकस्य दृष्टफलविघातोऽन्यस्य तु नेत्येतददृष्टहेतुमन्तरेणोपपद्यत इति भावः । एतच्चेहैव प्रागुक्तमेवेति । अथवा किमिह प्रयासेन प्रागेव साधितमेव कर्म कया युक्त्येत्याह "अहवा फला उ कम्मं, कज्जत्तणओ पसाहियं पुव्वं । परमाणवो घडस्स व, किरियाण फलं तयं भिन्नं" अथवा "जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं । कज्जत्तणओ गोयम ! घडो व्व हेऊ य सो कम्मं" मित्यस्यां गाथायां प्रागस्माभिः कर्म प्रसाधितमेव कुत इत्याह । फलात्तुल्यसाधनानां यः फले विशेषस्तस्मादित्यर्थः । ततोऽपि फलविशेषात्कर्म (किरियाणतयं फलं भिन्नंति) तदेव च कर्म सर्वासामपि क्रियाणामदृष्टं फलमित्येवमिहापि साध्यते । कथंभूतं तदन्यत् क्रियाभ्यो भिन्नं कर्मणः कार्यत्वात् क्रियाणां च कारणत्वात्कार्यकारणयोश्च परस्परं भेदादिति भावः विशे० आ० म० द्वि० ।

(८) कर्मणो मूर्तत्वं तत्र तावदाक्षेपपरिहारौ आह ।

आह नणु मुत्तमेवं, मुत्तं चिय कज्जमुत्तिमत्ताओ ।
इह जह मुत्तत्तणओ, घडस्स परमाणवो मुत्ता ॥

आह प्रेरको ननु यदि कार्याणां शरीरादीनां दर्शनात्तत्कारणभूतं कर्म साध्यते तर्हि कार्याणां मूर्तत्वात्कर्मापि मूर्तं प्राप्नोति । आचार्य उत्तरमाह " मुत्तं चिएत्यादि " यदस्माभिः यत्नेन साधयितव्यं तद्भवतापि परसिद्धान्तानभिज्ञबालबुद्धितयानिष्टाऽऽपादनाभिप्रायेण साधितमेव । तथा हि वयमपि ब्रूमो मूर्तमेव कर्म तत्कार्यस्य शरीरादेर्मूर्तत्वादिह यद्यत्कार्यं मूर्तं तस्य तस्य कारणमपि मूर्तं यथा घटस्य परमाणवः । यदमूर्तं कार्यं न तस्य कारणं मूर्तं यथा ज्ञानस्यात्मेति समवायिकारणं चेहाधिक्रियते न निमित्तकारणभूता रूपालोकादय इति आह । ननु सुखदुःखादयोऽपि कर्मणः कार्यमतस्तेषाममूर्तत्वात् कर्मणो मूर्तत्वमपि प्राप्नोति न हि मूर्तादमूर्तप्रसवो युज्यते न वा एकस्य मूर्तत्वममूर्तत्वं युक्तं विरुद्धत्वादत्रोच्यते । नन्वत एवात्र समवायिकारणं समधिक्रियते न निमित्तकारणं सुखादीनां चात्मधर्मत्वादात्मैव समवायिकारणं कर्म पुनस्तेषामन्नपानादिविषादिवन्निमित्तकारणमेवेत्यदोष इति ।

कर्मणो मूर्तत्वसाधनाय हेत्वन्तराण्याह ।

तह सुहसंवित्तीओ, संवंधे वेयणुब्भवाओ य ।
वज्झवलाहाणाओ, परिणामाओ य विण्णेयं ॥

आहारइ वानलाहिव, घमो व्व नेहाइकयवलाहाणो ।
खीरमिवोदाहरणा, इं कम्मरूवित्तगमणाइं ॥

इह प्रथमगाथोपन्यस्तहेतुचतुष्टयस्य द्वितीयगाथायां यथासंख्यं चत्वारो दृष्टान्ता द्रष्टव्यास्तत्र मूर्त्तं कर्म्म तत्सम्बन्धे सुखादिसंवित्तेरिह यत्सम्बन्धे सुखादि संवेद्यते तन्मूर्त्तं दृष्टं यथा अशनाद्याहारः । यच्चामूर्त्तं न तत्सम्बन्धिसुखादि संविदस्ति यथाकाशादिसम्बन्धि तस्मात्तत्सम्बन्धिसुखादिसंवेदनान्मूर्त्तं कर्म्मेति ॥ १ ॥ यथा यत्सम्बन्धे वेदनोद्भवो भवति तन्मूर्त्तं दृष्टं यथाऽनलोऽग्निर्भवति च कर्म्मसम्बन्धे वेदनोद्भवस्तस्मात्तन्मूर्त्तमिति ॥ २ ॥ तथा मूर्त्तं कर्म्म आत्मनो ज्ञानादीनां च तद्धर्म्माणां व्यतिरिक्तत्वे सति बाह्येन स्रक्चन्दनाङ्गनादिना बलस्योपचयस्याधीयमानत्वाद्यथा स्नेहाद्याहितबलो घटः इह यस्य नात्मविज्ञानादेः सतो बाह्येन वस्तुना बलमाधीयते तन्मूर्त्तं दृष्टं यथा स्नेहादिना आधीयमानबलो घटः । आधीयते च बाह्यैर्मिथ्यात्वादिहेतुभूतैर्वस्तुभिः कर्म्मण उपचयलक्षणं बलं तस्मात्तन्मूर्त्तमिति ।३। तथा मूर्त्तं कर्म्म आत्मादिव्यतिरिक्तत्वे सति परिणामित्वात्क्षीरमिवेति ।४। एवमादीनि हेतूदाहरणानि कर्मणो रूपित्वगमनादीनि । अत्र परिणामित्वासिद्धिमाशङ्क्योत्तरमाह ।

अह मयमसिद्धो अयं, परिणामओ त्ति सो वि कज्जाओ ।
सिद्धो परिणामो से, दहिपरिणामादिव पयस्स ॥

अथ परिणामित्वादित्यसिद्धोऽयं हेतुरिति मतं भवतः । एतदप्ययुक्तं यतः सोऽपि परिणामः सिद्धः (कज्जाओत्ति) कर्म्म कार्यस्य शरीरादेः परिणामित्वदर्शनादित्यर्थः । इह यस्य कार्यं परिणाम्युपलभ्यते तस्यात्मनोऽपि परिणामित्वं निश्चीयते यथा दध्नस्तक्रादिभावेन परिणामात्पयसोऽपि परिणामित्वं विज्ञायत एवेति । [६] जगद्वैचित्र्यात् कर्मसिद्धिः तत्र यत्पूर्वं सुखदुःखादिवैचित्र्यदर्शनात्तद्धेतुभूतं कर्म्म साधितं तत्र पुनरप्यग्निभूतिराह ।

अब्भाइविरागाणं, जह वेचित्तं विणा वि कम्मेण ।
तह जइ संसारीणं, हवेज्ज को नाम तो दोसो ॥

आह ननु यथाऽभ्रादिविकाराणामन्तरेणापि कर्म्म वैचित्र्यं दृश्यते तथा तेनैव प्रकारेण संसारिजीवस्कन्धानामपि सुखदुःखादिभावेन वैचित्र्यं यदि कर्म विनापि स्यात्ततः को नामदोषो भवेन्न कोऽपीत्यर्थः ।

भगवानाह ।

कम्मम्मि व को भेओ, जह वज्झक्खंधचित्तया सिद्धा ।
तह कम्म पोग्गलाण वि, विचित्तया जीवसहियाणं ॥

यद्यभ्रविकाराणां गन्धर्वनगरेन्द्रधनुरादीनां गृहदेवकुलप्राकारतरुकृष्णनीलरक्तादिभावेन वैचित्र्यमिष्यते सौम्य ! वा शब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्तर्हि कर्मण्यपि को भेदः को विशेषो येन तत्र वैचित्र्यं नाभ्युपगम्यते । न च हन्त ! यथा सकललोकप्रत्यक्षाणाममीषां गन्धर्वपुरशक्रदण्डादीनां बाह्यस्कन्धानां विचित्रता भवतोऽपि सिद्धा तथा तेनैव प्रकारेणान्तराणामपि कर्म्मस्कन्धानां पुद्गलमयत्वे समानेऽपि जीवसहितत्वस्य विशेषवतो वैचित्र्यकारणस्य सद्भावेऽपि सुखदुःखादिजनकरूपतया विचित्रता किमिति नेष्यते यदि ह्यभ्रादयो वा बाह्यपुद्गला नानारूपतया परिणमन्ति तर्हि जीवैः परिगृहीता सुतरां तथा परिणमस्यन्तीति भावः ।

एतदेव भावयति ।

वज्झाणचित्तया जइ, पडिवन्ना कम्मणो विसेसेण ।
जीवाणुगयस्स मया, भत्तीण वि चित्तनत्थाणं ॥

यदि हि जीवापरिगृहीतानामपि बाह्यानामभ्रादिपुद्गलानां नानाकारपरिणतिरूपा चित्रता त्वया प्रतिपन्ना तर्हि जीवानुगतानां कर्म्मपुद्गलानां विशेषत एवास्माकं भवतश्च सा सम्मता भविष्यति । भक्त्यो विच्छित्तयस्तासामिव चित्रन्यस्तानामभिप्रायश्चित्रकरादिशिल्पिजीवपरिगृहीतानां लेप्यकाष्ठकर्म्मानुगतपुद्गलानां या परिणामचित्रता विश्रसा परिणतेन्द्रधनुरादिपुद्गलपरिणामचित्रता सकाशाद्विशिष्टैवेति प्रत्यक्षत एव दृश्यते । अतो जीवपरिगृहीतत्वेन कर्म्मपुद्गलानामपि सुखदुःखादिवैचित्र्यजननरूपा विशिष्टतरा परिणामचित्रता कथं न स्यादिति ।

अत्र परः प्राह ।

तो जइ तणुमेत्तं चिय, हवेज्ज का कम्मकप्पणा नाम ।
कम्मं पि नणु तणुच्चिय, सण्हयरब्भंतरा नवरं ॥

एवं मन्यते परो यद्यभ्रादिविकाराणामिव कर्म्मपुद्गलानां विचित्रपरिणतिरभ्युपगम्यते । ततो बाह्यं सकलजनप्रत्यक्षं तनुमात्रमेवेदं सुरूपकुरूपसुखदुःखादिभावत एवाभ्रादिविकारवद्विचित्ररूपतया परिणमतीत्येतदेवास्तु का नाम पुनस्तद्वैचित्र्यहेतुभूतस्यान्तरङ्गगुणकल्पस्य कर्म्मणः परिकल्पना स्वभावादेव सर्वस्यापि पुद्गलपरिणामवैचित्र्यस्य सिद्धत्वादिति भगवानाह (कम्म पीत्यादि) अयमभिप्रायः यद्यभ्रादिविकाराणामिव तनोर्वैचित्र्यमभ्युपगम्यते तर्हि ननु कर्म्मापि तनुरेव कार्म्मणशरीरमेवेत्यर्थः । केवलं श्लक्ष्णतरा अतीन्द्रियत्वादभ्यन्तरा च जीवेन सहातिसंश्लिष्टत्वात्ततश्च यथाऽभ्रादिविकारबाह्यस्थूलतनो वैचित्र्यमभ्युपगम्यते तथा कर्म्म तनोरपि तत्किन्नाभ्युपगम्यते इति भावः । अप्रेर्यमाशङ्क्य परिहारमाह ।

को तए विणा दोसो, थूलाए सव्वहा विप्पमुक्कस्स ।
देहग्गहणाभावो, तओ य संसारवोच्छित्ती ॥

प्रेरक प्राह ननु बाह्यायाः स्थूलत्वाद्वैचित्र्यं प्रत्यक्षदृष्टत्वादेवाभ्रादिविकारवदभ्युपगच्छामः अन्तरङ्गायास्तु कर्म्मरूपायाः सूक्ष्मतनोर्वैचित्र्यं कथमिच्छामस्तस्याः सर्वथाऽप्रत्यक्षत्वात् । अथ तदनभ्युपगमे दोषः कोऽप्यापतति ततोऽर्थापत्तेरेव तद्विचित्रताऽभ्युपगन्तव्या तर्हि निवेद्यतां कस्तया विना दोषोऽनुषज्यते । आचार्यः प्राह । मरणकाले स्थूलया दृश्यमानतन्वा सर्वथा विप्रमुक्तस्य जन्तोरभवान्तरगतस्थूलतनुग्रहणनिबन्धनभूतां सूक्ष्मकर्मतनुमन्तरेणाग्रेतनदेहग्रहणाभावलक्षणो दोषः समापद्यते न हि निष्कारणमेव शरीरान्तरग्रहणं प्रयुज्यते ततश्च देहान्तरग्रहणानुपपत्तेर्मरणानन्तरं सर्वस्याप्यशरीरत्वादयत्नेनैव संसारव्यवच्छित्तिः स्यात्ततोऽपि च किं स्यादित्याह

सव्वे वि मोक्खवत्ती, निक्कारणओ व्व सव्वसंसारो ।
भवमुक्काणं च पुणो, संसरणमओ अणासासो ॥

तत संसारव्यवच्छेदानन्तरं सर्वस्यापि जीवराशेर्मोक्षापत्तिर्भवेत् । अथाशरीराणामपि संसारपर्यटनं तर्हि निष्कारण एव सर्वस्यापि संसारः स्याद्भवमुक्तानां च सिद्धानामित्थं पुनरकस्मान्निष्कारण एव संसारपातः स्यात्तथैव च तनुसंसरणं ततश्च मोक्षेऽप्यनाश्वास इति ॥

जीवकर्मणोः सम्बन्धस्तत्र पुनः प्रकारान्तरेण प्रेर्यमाह ।

मुत्तस्सामुत्तमथा, जीवेण कहं हवेज्ज संबन्धो ।
सोम ! घमस्स व नभसा, जह वा दव्वस्स किरियाए ॥

ननु मूर्त्तं कर्मेति प्राग् भवद्भिः समर्थितं तस्य च मूर्त्तस्य च कर्म्मणोऽमूर्त्तेन जीवेन सह कथं संयोगलक्षणः समवायसम्बन्धः स्यादत्र कर्म्मसिद्धावप्येतदपरमेव रन्ध्रं पश्याम । भगवानाह सौम्य ! यथा मूर्त्तस्य घटस्यामूर्त्तेन नभसा संयोगलक्षणः सम्बन्धस्तथा अत्रापि जीवकर्म्मणोः । यथा वा द्रव्यस्याङ्गुल्यादे क्रियया आकुञ्चनादिकया सह समवायलक्षणः सम्बन्धस्तथात्रापि जीवकर्म्मणोरयमिति ।

(१०) प्रकारान्तरेण जीवकर्म्मणोः सम्बन्धसिद्धिमाह ।

अहवा पच्चक्खं चिय, जीवोवनिबंधणं जह सरीरं ।
चिट्ठइ फंदयमेत्थं, भवंतरे जीवसंजुत्तं ॥

अथवा यथेदं बाह्यं शरीरं जीवोपनिबन्धनं जीवेन सह संबन्धः प्रत्यक्षोपलभ्यमानमेव तिष्ठति सर्वत्र चेष्टते । एवं भवान्तरं गच्छता जीवेन सह संयुक्तं कार्मणशरीरं प्रतिपद्यस्व । अथ ब्रूषे धर्म्माधर्म्मनिमित्तं जीवसंबद्धं बाह्यशरीरं प्रवर्त्तते तर्हि पृच्छामो भवन्तं तावपि धर्म्माधर्म्मौ मूर्तौ वा भवेताममूर्तौ वा । यदि मूर्तौ तर्हि तयोरप्यमूर्तेनात्मना सह कथं सम्बन्धः । अथ तयोस्तेन सहासौ कथमपि भवति तर्हि कर्म्मणोऽपि तेन सार्धं मयं कस्मान्न स्यात् । अथामूर्तौ धर्म्माधर्म्मौ तर्हि बाह्यमूर्त्तस्थूलशरीरेण तयोः सम्बन्धः कथं स्यान्मूर्त्तयोर्भवदभिप्रायेण सम्बन्धायोगात् न वा संबद्धयोस्तयोर्बाह्यशरीरचेष्टानिमित्तत्वमुत्पद्यतेऽतिप्रसङ्गात् । अथामूर्त्तयोरपि तयोर्बाह्यशरीरेण मूर्त्तेन सहेष्यते संबन्धस्तर्हि जीवकर्म्मणोस्तत्सद्भावे कः प्रद्वेष इति ।

अथ परावक्षेपपरिहारौ प्राह ।

मुत्तेणामुत्तिमओ, उवघायाणुग्गहा कहं होज्जा ।
जह विण्णाणाईणं, मइरायाणो सहाईहिं ॥

ननु मूर्त्तिमता कर्म्मणाऽमूर्त्तिमतो जीवस्य कथमाह्लादपरितापाद्यनुग्रहोपघातौ स्यातां नह्यमूर्त्तस्य नभसो मूर्त्तैर्मन्वयजज्वलनज्वालादिभिस्तौ युज्येते इति भावः । अत्रोत्तरमाह "जह विणाणाईणमित्यादि" यथा अमूर्त्तानामपि विज्ञानविविदिषां धृतिस्मृत्यादिजीवधर्म्माणां मूर्त्तैरपि मदिरापाने हृत्पूरविषपिपीलिकाभिर्भक्षितैरुपघातः क्रियते पयःशर्कराघृतपूर्णभेषजादिभिस्त्वनुग्रह इत्येवमिहापीति । एतच्च जीवस्यामूर्त्तत्वमभ्युपगम्योक्तम् । यदि वा अमूर्त्तोऽपि सर्वथाऽसौ न भवतीति दर्शयन्नाह ।

अहवा नेगंतोयं, संसारी सव्वहा अमुत्तोत्ति ।
जमणाइकम्मसंतइ–परिणामावन्नरूवो सो ॥

अथवा नायमेकान्तो यदुत संसारी जीवः सर्वथाऽमूर्त्त इति । कुतो यद्यस्मादनादिकर्म्मसन्ततिपरिणामापन्नं वह्न्यः पिण्डन्यायेनान्यादिकर्मसन्तानपरिणतिस्वरूपं प्राप्तं रूपं यस्य स तथा । ततश्च मूर्त्तकर्म्मणः कथञ्चिदनन्यत्वान्मूर्त्तोऽपि कथञ्चिज्जीव इति मूर्त्तेन कर्म्मणा भवत एव तस्यानुग्रहोपघातौ नभसस्तु मूर्त्तत्वादचेतनत्वाच्च तौ न भवत एवेति ।

कर्मणोऽनादित्वे तत्र कथं पुनः कर्म्मणोऽनादिसन्तान इत्याह ।

संताणोऽणाई उ, परोप्परं हेउहेउभावाओ ।
देहस्स य कम्मस्स य, गोयम ! बीयंकुराणं च ॥

अनादिः कर्म्मणः सन्तान इति प्रतिज्ञा देहकर्म्मणोः परस्परं हेतुसद्भावादिति हेतुः बीजाङ्कुरयोरिवेति दृष्टान्तः । यथा बीजेनाङ्कुरो जन्यते अङ्कुरादपि क्रमेण बीजमुपजायते एवं देहेन कर्म्म जन्यते कर्म्मणा तु देह इत्येव पुनः पुनरपि परस्परमनादिकालीनहेतुहेतुमद्भावादित्यर्थः । इह ययोरन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावस्तयोरनादिसन्तानो यथा बीजाङ्कुरपितृपुत्रादीनां तथा च देहकर्म्मणोः ।

(११) ततोऽनादिकर्मसन्तान इति वेदोक्तद्वारेणापि कर्मसाधयन्नाह ।

कम्मे वा सइ गोयम ! जमग्गिहोत्ताइसग्गकामस्स ।
वेयविहियं विहीणइ, दाणाइफलं च लोयम्मि ॥

कर्म्मणि वा सति गौतम ! अग्निहोत्रादिना स्वर्गकामस्य वेदविहितं यत्किमपि स्वर्गादिफलं तद्विहन्यते स्वर्गादेः शुभकर्म्महेतुत्वात्तस्य च भवतोऽनभ्युपगमाल्लोके च यद्दानादिक्रियाणां फलं स्वर्गादिकं प्रसिद्धं तदपि विहन्येत अयुक्तं वेदे "किरियाफलभावा उ दाणाइ ण फलं किंसी पव्वेला" दिना प्रतिविहितत्वादिति । विशे० (३० ६ पत्र०) आ० म० ।

अत्र प्रसङ्गात्

वत्थस्स णं भंते ! पोग्गलोवचए किं सादीए सपज्जवसिए सादीए अपज्जवसिए अणादीए सज्जवसिए अणादीए अपज्जवसिए ? गोयमा ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए । जहा णं भंते ! वत्थस्स पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए तहा णं जीवा णं कम्मोवचए पुच्छा गोयमा ! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए अपज्जवसिए नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए से केणट्ठेणं ? गोयमा ! इरियावहियवंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए से तेणट्ठेणं ॥

सादिसूत्रे "इरियावहियबन्धस्सेत्यादि" ईर्यापथो गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिकं केवलयोगप्रत्ययं कर्मेत्यर्थः । तद्बन्धकस्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य सयोगिकेवलिनश्चेत्यर्थः । ऐर्यापथिककर्म्मणो हि अबद्धपूर्वस्य बन्धनात्सादित्वम् अयोगावस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वा अबन्धनात्सपर्यवसितत्वम् भ०६ श०३उ० ।

(१२) नेश्वरादयो जगद्वैचित्र्ये हेतवः कर्मानभ्युपगमे च यदीश्वरादयो जगद्वैचित्र्यकर्त्तार इष्यन्ते तदप्ययुक्तमिति दर्शयन्नाह ॥

कम्ममणिच्छंतो वा, सुद्धं चिय जीवमीसराइं वा ।
मण्णसि देहाईणं, जं कत्तारं न सो जुत्तो ॥

कर्म्म वाऽनिच्छन्नभिप्रेते ! गौतम ! यं कर्म्मरहितत्वाच्छुद्धमेव जीवमात्मानमीश्वराव्यक्तकालनियतियदृच्छादिकं या देहादीनां कर्तारं मन्यसे तत्राप्युच्यते । नासौ शुद्धजीवेश्वरादिकर्त्ता युज्यत इति कुत इत्याह ॥

उवगरणाभावा उ, निच्चेट्ठामुत्तयाइ उ वा वि ।
ईसरदेहारंभे, वि तुल्लया वा णवत्था वा ॥

नायमीश्वरजीवादिरकर्मा शरीरादिकार्याण्यारभते उपकरणाभावाद्दण्डाद्युपकरणरहितकुलालवत् न च कर्म्म विना शरीराद्यारम्भिजीवादीनामन्यदुपकरण घटते। गर्भाद्यवस्थास्वन्योपकरणासम्भवाच्छुक्रशोणितादिग्रहणस्याप्यकर्म्मणाऽनुपपत्ते । अथ वाऽन्यथाप्रयोग क्रियते "निश्चेष्टत्यादि" नाकर्म्मादिशरीराद्यारभते निश्चेष्टत्वादाकाशवत्तथाऽमूर्त्तत्वादादिशब्दादशरीरत्वान्निष्क्रियत्वात्सर्वगतत्वाद् वाऽऽकाशवदेव। तथा एकत्वादेकपरमाणुवदित्यादि। अत्रोच्यते शरीरवानीश्वर सर्वाण्यपि देहादिकार्याण्यारभते नन्वीश्वरदेहारम्भेऽपि तर्हि तुल्यता पर्यनुयोगस्य। तथाह्यकर्म्मा नारभते निजशरीरमीश्वरो निरुपकरणत्वाद्दण्डादिरहितकुशलवदिति । अथान्य कोऽपीश्वरस्तच्छरीरारम्भाय प्रवर्तते। तत सोऽपि शरीरवानशरीरो वा। यद्यशरीरस्तर्हि नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि सैव वक्तव्यता। अथ शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेऽपि तुल्यता सोऽप्यकर्म्मा निजशरीर नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि । अथ तच्छरीरमन्य. शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेऽपि तुल्यता नारभतेऽतस्तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्य इत्येवमनवस्था अनिष्ट च सर्वमेतत्तस्मान्नेश्वरो देहादीनां कर्त्ता । किं तु कर्म्म सद्वितीयो जीव एव निष्प्रयोजनश्चेश्वरो देहादीन्कुर्वन्नुन्मत्तकल्प एव स्यात् । सप्रयोजनकर्तृत्वे पुनरनीश्वरप्रसङ्ग.। नचानादिशुद्धस्य देहादिकारणेच्छा युज्यते तस्यारागविकल्परूपत्वादित्याद्यत्र बहु वक्तव्यं गहनताप्रसङ्गात्तु नोच्यत इत्यनेनैव विधानेन विष्णुब्रह्मादयोऽपि प्रत्युक्ता द्रष्टव्या इति ॥

[१३] स्वभावदूषण विवक्षु शङ्कान्तर प्रतिविधातुमाह ।

अह व सहाव मनसि, विन्नाणघणा इच्चेय वुत्ताहुत्त ।
तह बहुदोसं गोयम, ! ता णं वप्पमाणपयमत्थो ॥

अथ "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य " इत्यादि वेदवचनश्रवणात्स्वभाव देहादीनां कर्त्तार मन्यसे । यत केचिदाहु "सर्वहेतुर्निराशस, भवानां जन्म वर्ण्यते। स्वभाववादिभिस्ते हि, नाहु. स्वमपि कारणम्" जीवकण्टकादीनां, वैचित्र्य क. करोति हि। मयूरचन्द्रिकादिर्वा, चित्र केन विनिर्मित । कादाचित्क यदत्रास्ति, नि:शेष तदहेतुकम् । यथा कण्टकतैक्ष्ण्यादि, तथा चैते सुखादय " तदेतद्यथा त्व मन्यसे गौतम ! तथाऽभ्युपगम्यमान बहुदोषमेव तथा हि यो देहादीनां कर्त्ता स्वभावोऽभ्युपगम्यते स किं वस्तुविशेषो वा अकारणता वा वस्तुधर्म्मो वेति त्रयी गतिस्तत्र न तावद्वस्तुविशेषस्तद्ग्राहकप्रमाणाभावादप्रमाणकस्याप्यभ्युपगमे कर्म्मापि नाभ्युपगम्यते तस्यापि त्वदभिप्रायेणाप्रमाणकत्वात् किं च वस्तुविशेष. स स्वभावो मूर्त्तो वा स्यादमूर्त्तो वा यदि मूर्त्तस्तर्हि स्वभाव इति नामान्तरेण कर्मैवोक्त स्यादथामूर्त्तस्तर्हि नासौ कस्यापि कर्त्ता अमूर्त्तत्वान्निरुपकरणत्वाच्च व्योमवदिति। नच मूर्त्तस्य शरीरादिकार्यस्यामूर्त्त कारणमनुरूपमाकाशवदिति । अथाकारणतास्वभाव इष्यते तत्राप्यभिदध्महे। नन्वेव सत्यकारण शरीराद्युत्पद्यत इत्ययमर्थ स्यात्तथा च सति कारणाभावस्य समानत्वाद्युगपदेवाशेषदेहोत्पादप्रसङ्ग । अपि चेत्थमहेतुकमाकस्मिक शरीराद्युत्पद्यत इत्यभ्युपगत भवेदेतच्चायुक्तमेव यतो यदहेतुकमाकस्मिक न तदादिमत्प्रतिनियताकार यथ' अभ्रादिविकार. आदिमत्प्रतिनियताकार च शरीरादि तस्मान्नाकस्मिक किन्तु कर्म्महेतुकमेव प्रतिनियताकारत्वादेव चोपकरणसहितकर्तृनिर्वर्त्यमेव शरीरादिक घटादिवदिति गम्यत एव । नच गर्भाद्यवस्थासु कर्मणोऽन्यदुपकरण घटत इत्युक्तमेव। अथ वस्तुनो धर्म्म स्वभावोऽभ्युपगम्यते। तथाऽप्यसौ यद्यात्मधर्म्मो विज्ञानादिवत्तर्हि न शरीराकारणमसावमूर्त्तत्वादाकाशवदभ्यभिहितमेव । अथ मूर्त्तवस्तुधर्म्मोऽसौ तर्हि सिद्धसाधनाकर्म्मणोऽपि पुद्गलास्तिकायपर्यायविशेषत्वेनास्माभिरभ्युपगतत्वादिति । अपि च ' पुरुष एवेदम्ग्नि सर्वमित्यादि" वेदवाक्यश्रवणाद्भवन कर्म्मास्तित्वसशय । एषां हि वेदपदानामयमर्थस्तव चेतसि विपरिवर्त्तते पुरुष आत्मा एवकारोऽवधारणे स च पुरुषातिरिक्तस्य कर्म्मप्रकृतीश्वरादे सत्ताव्यवच्छेदार्थ । इद सर्वं प्रत्यक्ष वर्त्तमान चेतनाचेतनस्वरूप ग्नमिति वाक्यालङ्कारे यद्भूतमतीतं यच्च भाव्य भविष्यन्मुक्तिससारावपि स एवेत्यर्थ । "उतामृतत्वस्येशान इति " उत शब्दोऽप्यर्थे अपिशब्दश्च समुच्चये अमृतत्वस्य चामरणस्वभावस्य मोक्षस्येशान प्रभुरित्यर्थ.। "यदन्नेनातिरोहति " चशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनाच्चान्नेनाहारेणारोहत्यतिशयेन वृद्धिमुपैति । यदेजति चलति पश्वादि यन्नैजति न चलति पर्वतादि यद्दूरे मेर्वादि यदु अन्तिके उशब्दोऽवधारणे यदन्तिके समीपे तदपि पुरुष एवेत्यर्थ । यदन्तर्मध्येऽस्य चेतनाचेतनस्य सर्वस्य यदेव सर्वस्याप्यस्य बाह्यत तत्सर्वं पुरुष एवेत्यतस्तद्व्यतिरिक्तस्य कर्म्मण किन्न सत्ता दु श्रद्धेया इति ते मति । तथा विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादीन्यपि वेदानि कर्म्माभावप्रतिपादकानि मन्यसे त्वम् । अत्राप्येवकारस्य कर्म्मादिसत्ताव्यवच्छेदपरत्वात्तदेवमेतेषां " पुरुष एवेदमित्यादीना " विज्ञानघनादीनां च वेदपदानां नायमर्थो यो भवतश्चेतसि वर्त्तते तेषां पदानामय भावार्थ. पुरुष एवेद सर्वमित्यादिभिस्तावत्पुरुषस्तुतिपराणि जात्यादिमदत्यागहेतोरद्वैतभावप्रतिपादकानि च वर्त्तन्ते । न तु कर्मसत्ताव्यवच्छेदकानि वेदवाक्यानि हि कानिचिद्विधिवादपराणि कान्यप्यर्थवादप्रधानान्यपराणि तु अनुवादपराणि "तत्राग्निहोत्र जुहुयात्स्वर्गकाम ' इत्यादीनि विधिवादपराणि । विशे० (अर्थवादवर्णनमन्यत्र) "तस्मात्पुरुष एवेद सर्वमित्यादीनि" वेदपदानि स्तुत्यर्थवादप्रधानानि द्रष्टव्यानि। विज्ञानघन एवैतेभ्य इत्यत्राप्ययमर्थ विज्ञानघनाख्य पुरुष एभ्य भूतेभ्योऽर्थान्तर वर्त्तते स च कर्त्ता कार्यं च शरीरादिकमिति प्राक् साधितमेव । ततश्च कर्तृकार्याभ्यामर्थान्तरकरणमनुमीयते । तथाहि यत्र कर्तृकार्यभावस्तत्रावश्यभावि करण यथाऽयस्कारादय पिण्डसद्भावे सदश यच्चात्रात्मन शरीरादिकार्याभिनिवृत्तौ करणभावमापद्यते तत्कर्मेति प्रतिपद्यस्व । अपि च साक्षादेव कर्मसत्ताप्रतिपादकानि श्रूयन्त एव वेदवाक्यानि तद्यथा। "पुण्य पुण्येन कर्म्मणा पाप पापेन कर्म्मणेत्यादि" तस्मादागमादपि सिद्ध प्रतिपद्यस्व कर्मेति॥ विशे०। कल्प०।स्था०।अष्ट०।

(१४] तस्य पुण्यपापद्व्यात्मकत्वविचार ॥

मन्नसि पुण्ण पावं, साहारणमह व दो विभिन्नाइं ।
होज्ज न ता कम्मं चिय, सभावओ भवपवचो यं ॥

इह केषाचित्तीर्थिकानामय प्रवाद पुण्यमेवैकमस्ति न पापम। अन्ये त्वाहु पापमेवैकमस्ति न पुण्यम । अपरे तु वदन्ति । उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपमेव कर्मणि कल्प सम्मिश्रसुखदु -खाख्यफलहेतु साधारणं पुण्यपापाख्यमेक वस्त्विति । अन्ये तु प्रतिपादयन्ति स्वतन्त्रमुभय विविक्तसुखदु खकारण (होज्ज त्ति) भवेदिति । अन्ये पुनराहुर्मूलत कर्म्मैव नास्ति स्वभाव

सिद्ध' सर्वोऽप्यय जगत्प्रपञ्चः। अनस्त्वमप्येनानेव विकल्पान्मन्यसे। एतेषां च विकल्पानां परस्परविरुद्धत्वात्संशयदोलामारुढोऽसि त्वमिति। ननु येषां पुण्यमेवैकमस्ति न पाप तन्मते कथ कस्यापि दुःखोपपत्तिरित्याह।

पुराणुक्करिसे सुभया, तरतमयोगावगरिसओ हाणी।
तस्सेव खए मोक्खो, पत्थाहारोवमाणाओ ॥

पुनातीति पुण्य तस्योत्कर्षे लेशतो लेशतश्च वृद्धौ शुभता भवति सुखस्यापि क्रमशो वृद्धिर्भवति। तावद्यावदुत्कृष्टं स्वर्गसुखमित्यर्थः। तस्यैव पुण्यस्य तरतमयोगापकर्षतो हानिः सुखस्य दुःखं भवति। इदमुक्त भवति। यथा यथा पुण्यमपचीयते तथा तथा जीवानां क्रमेण दुःखमुत्पद्यते यावत्सर्वप्रकर्षप्राप्त नारकदुःख तस्यैव च पुण्यस्य सर्वथा क्षयो मोक्ष इति एतच्च सर्वं पथ्याहारोपमानाद्भावनीयम्। तथाहि यथा पथ्याहारस्य क्रमेण वृद्धौ सुखवृद्धिर्यथा च पथ्याहारस्य क्रमेण परिहारे सरोगता भवत्येव पुण्योपचये दुःखोत्पत्ति सर्वथा पथ्याहारस्य परिहारे च मरणवत्पुण्यक्षये मोक्ष इति। केवलपापाभ्युपगमे सुखसभव कथमित्याह।

पावक्करिसेह मया, तरतमजोगावगरिसओ सुभया।
तस्सेव खये मोक्खो, अपत्थभुज्जोवमाणाओ ॥

इहापथ्याहारोपमानाद्वैपरीत्येन भावना कार्या। तथा हि यथा क्रमेणापथ्यवृद्धौ रोगवृद्धिस्तथा पांशयत्यात्मानं मलिनयतीति पाप तस्य वृद्धौ दुःखवृद्धिरूपाऽधर्मता मन्तव्या क्रमेण दुःखं वर्द्धते यावदुत्कृष्ट नारकदुःखम्। यथा वा पथ्यत्यागात्क्रमेण रोगवृद्धिस्तथा क्रमेण पापस्यापकर्षात्सुखस्य वृद्धिर्यावदुत्कृष्ट सुरसौख्यम्। यथा च पथ्याहारस्यासर्वथा परित्यागात्परमारोग्यमुपजायते एव सर्वपापक्षये मोक्ष इति।

[१५] अथ साधारण पुण्यपापाख्यमेकमेव सकीर्णं वस्त्विति तृतीयविकल्प भावयन्नाह।

साहारणवण्णादिव, अह साहारणमहेगमत्ताए।
उक्करिसावगरिसो, तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥

" अह साहारणमिति " अथ साधारण सकीर्णपुण्यपापाख्यवस्तु इत्यर्थः। कथभूतं पुनरिदमवगन्तव्यमिहत्याह (साहारणवण्णादिवत्ति) यथा साधारण तुल्यं हरितालगुलिकादीनामन्यतरन्मीलित वर्णकद्वयम् आदिशब्दात् यथा मेचकमणिनरसिंहादि वा तथेदमपि पुण्यपापाख्यसंकीर्णमेक वस्त्वित्यर्थः। ननु यद्येकं वस्त्विद तर्हि पुण्यं पापं चेति परस्परविरोधे वस्तुविषयमाख्याद्वयं कथ लभते इत्याह " अहेगमत्ताए इत्यादि" अथ तस्यैवैकस्य संकीर्णपुण्यपापाख्यवस्तुन एकया पुण्यमात्रया एकेन पुण्यांशेनेत्यर्थः। उत्कर्षतो वृद्धौ सत्यां पुण्याख्या प्रवर्तते एकया तु पापमात्रया एकेन पापांशेनेत्यर्थः। उत्कर्षतो वृद्धौ सत्यां पापाख्या प्रवर्त्तते अपकर्षेऽपि पुण्यांशस्य पापाख्या प्रवर्तते पापांशस्य त्वपकर्षे पुण्या प्रवर्तत इति चतुर्थ पञ्चम च विकल्पद्वयिकृत्यमाह।

एवं चिय दो भिन्ना-ई होज्जा वा सभावओ चेव।
भवसंभूई भण्णइ, न सभावओ होज्ज जो भिन्नो ॥
होज्ज सहावो वत्थुं, निक्कारणया च वत्थुधम्मो वा।
जइ वत्थु नत्थि तओ, अणुवलम्भी उ खपुप्फं च ॥

एवमेव केषाचिन्मतेन द्वे अपि भिन्ने स्वतन्त्रे स्यातां पुण्यपापे तत्कार्यभूतयोः सुखदुःखयोर्यौगपद्येनानुभवाभावादतोऽनेनैव भिन्नकार्यदर्शनेन तत्कारणभूतयोः पुण्यपापयोर्भिन्नताऽनुमीयते इति (होज्जवेत्यादि) अथवा स्वभावत एव विनापि पुण्यपापाभ्यां भवसभूतिर्भववैचित्र्यस्य सभव' कैश्चिदिष्यते तदेवं दर्शिता पञ्चापि पुण्यपापविषया विकल्पा। एतैश्च भ्रमितमनोभि सशयो न कर्त्तव्यः। एकस्यैव चतुर्थविकल्पस्यादेयत्वाच्छेषाणां चानादेयत्वादत एव प्रत्यासत्तिन्यायमङ्गीकृत्य पञ्चमविकल्प तावत् दूषयितुमाह (भण्णइत्यादि) भण्यतेऽत्रोत्तर न स्वभावतो भवेदिति अयो विकल्पास्तत्र यदि वस्तुरूपोऽयमिति प्रथमो विकल्पस्तर्हि तत्कोऽसौ स्वभावो नास्ति अनुपलम्भात्खपुष्पवदिति। अत्राप्यनुपलभ्यमानोऽप्यस्त्यसावित्याशङ्कयाह।

अच्चंतमणुवलम्भो, वि अह तउ अत्थि नत्थि किं कम्मं।
हेउ व तदत्थि तेजो, ननु कम्मस्स नामए एव ॥
कम्मस्स वा निदाणं, होज्ज सभावोत्ति होउ को दोसो।
णइनियमगाराउ, न य सो कत्ता घडस्सेव ॥
मुत्तो अमुत्तो व तओ, जइ मुत्तो तो भिहाणओ भिन्नो।
कम्मत्ति सहाओत्ति य, जइ वा मुत्तो न कत्ता तो ॥
देहाणं तोमपि व-ज्जुत्ता कज्जाइं उ य मुत्तिमया।
अह सो निक्कारणया, तो खरसिंगाहओ होंतु ॥
अह वत्थुणो सधम्मो, परिणामो तो सकम्मजीवाणं।
पुन्नेयराभिहाणो, कारणकज्जाणुमेओ सो।
किरियाणं कारणाओ, देहाईणं च कज्जभावाओ ॥
कम्मं महतिहियंति, पडिवज्जत्तमवि भूयव्वं।
तं चिय देहाईणं, किरियाणं पि या सुभासुभत्ताओ ॥
पडिवज्जपुण्णपावं, सभावओ भिन्नजाईयं ॥

एताश्च गाथाः प्रायोऽग्निभूतिगणधरवादे व्याख्याता एव सुगमाश्च नवर (कारणकज्जाणुमेओ सोत्ति) स च जीवकर्मणोः पुण्यपापाभिधानः परिणामः कारणेन कार्येण चानुमीयते कारणानुमानात्कार्यानुमानाच्च गम्यत इत्याह। एतदेवानुमानद्वयमाह "किरियाण कारणाओ इत्यादि" दानादिक्रियाणां हिंसादिक्रियाणां च कारणत्वात्कारणरूपत्वादस्ति तत्फलभूतस्तत्कार्यरूपपुण्यपापात्मकं जीवकर्मपरिणाम यथा कृष्यादिक्रियाणां शालियवगोधूमादिकम् उक्तं च 'समासु तुल्य विसमासु तुल्यं, सतीष्वसत्त्वाप्यसतीषु सत्त्व। फलं क्रियास्वित्यथ यन्निमित्त, तद्दिनां सोऽस्ति तु कोऽपि धर्म्मः " एतत्कारणानुमानम् (देहाईणमित्यादि) देहादीनां कारणमस्ति कार्यरूपत्वात्तेषां यथा घटस्य मृद्दण्डचक्रचीवरादिसामग्रीकलितकुलालः। न च वक्तव्यं दृष्ट एव मातापित्रादिकस्तेषां हेतुः दृष्टहेतु साम्येऽपि सुरूपेतरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्तस्य चादृष्टकर्माख्यहेतुमन्तरेणाभावत एव पुण्यपापभेदेन कर्म्मणो द्वैविध्यं शुभदेहादीनां पुण्यकार्यत्वादितरेषां तु पापफलत्वादुक्तं च " इह दृष्टहेत्वसम्भवि, कार्यविशेषात्कुलालयन्त्रमिव। हेत्वन्तरमनुमेयं, तत्कर्म शुभाशुभं कर्त्तु " एतत्कार्यानुमान तथा मदभिहितमिति च कृत्वाऽग्निभूतिवत्त्वमपि कर्म्म प्रतिपद्यस्व। सर्वज्ञवचनप्रमाण्यादित्यर्थः। तदपि पुण्यपापविभागेन।

इतरथापि पुण्यपापयोः साधनाय प्रमाणमाह ।

सुहदुक्खकारणमणु-रूवं कज्जस्स भावओ वस्सं ।
परमाणवो घडस्स व, कारणमिह पुण्णपावाइं ॥

अस्त्ययस्य सुखदुःखयोरनुरूपं कारणं कार्यत्वात्तयोर्यदिह कार्यं तस्यानुरूपं कारणं भवत्येव यथा घटस्य परमाणवस्तथा तयोरिहानुरूपं कारणं सुखस्य पुण्यं दुःखस्य पापमिति ।

प्रेरकः प्राह ।

सुहदुक्खकारणं जइ, कम्मं कज्जस्स तदणुरूवं च ।
पत्तमरूवं तं पि हु, अह रूवं नाणुरूवं तु ॥

ननु यदि सुखदुःखयोः पुण्यपापात्मकं कर्म्म कारणं तच्च यदि कार्यस्य सुखदुःखरूपस्यानुरूपं सदृशमिष्यते तर्हि सुखदुःखयोरात्मपरिणामत्वेनारूपत्वात्तदपि पुण्यपापात्मकं कर्म्म तदनुरूपतयाऽरूपं प्राप्नोति । अथ रूपवत्तर्हि नानुरूपं तन्मूर्त्तत्वेन विलक्षणत्वादिति ।

अत्रोत्तरमाह ।

न हि सव्वहा णुरूवं, भिन्नं वा कारणं अह मयं ते ।
किं कज्जकारणत्तण-महवा वत्थुत्तणं तस्स ॥

न हि सर्वथा कार्यानुरूपं कारणमिष्यते येन सुखदुःखवत्कर्म्मणोऽप्यरूपत्वं प्रेर्येत । नाप्येकान्तेन सर्वधर्म्मैः कारणं कार्याद्भिन्नमेष्टव्यम् (अह मयतित्ति) अथ ते तवैतन्मतमेकान्तेन सर्वैरपि धर्म्मैः कारणं कार्यानुरूपमेव भिन्नं वा नन्वनुरूपमेवेति तर्हि सर्वथाऽनुरूपत्वे एकस्य कारणत्वे अपरस्यापि कारणत्वादेकस्य च कार्यत्वेऽन्यस्यापि कार्यत्वात्किं तयोः कार्यकारणत्वं न किंचित् द्वयोरपि वस्तुत्वे सर्वथा भेदहानिप्रसङ्गादिति तस्मान्नैकान्तेनानुरूपता अननुरूपता वा कार्यकारणयोः किं तर्हि ।

सव्वं तुल्लातुल्लं, जइ तो कज्जाणुरूवया केयं ।
जं सोम्म ! सपज्जाओ, कज्जं परपज्जओ सेसो ॥

न केवलं कार्यकारणे एव तुल्यातुल्यरूपे किं तु सकलमपि त्रिभुवनान्तर्गतं वस्तु परस्परं तुल्यातुल्यरूपमेव न पुनः किंचित्कस्यापि एकान्तेन तुल्यमतुल्यं वा । लब्धावकाशः परः प्राह (जईत्यादि) यद्येवं ततः केयं कार्यानुरूपता कारणस्य विशेषतोऽन्विष्यते येनोच्यते "सुहदुक्खाणं कारणमणुरूवमित्यादि" यदि हि किंचिदनेकान्तेनानुरूपं स्यात्तर्हीत्थं वक्तुं युज्येत यदा त्वेकान्ततो न किंचिदनुरूपं नाप्यननुरूपं किंतु सर्वं सर्वेण तुल्यातुल्यरूपमेव तदा किमनेन विशेषेण । अत्रोच्यते (जमित्यादि) सौम्य ! तुल्यातुल्यत्वे सर्वगते अपि यदस्मात्कारणस्य कार्यं स्वपर्यायस्तस्मात्कारणं कार्यस्येहानुरूपमुच्यते शेषस्त्वकार्यरूपः सर्वोऽपि पदार्थः कारणस्य परपर्याय इति तं प्रति विवक्षितं कारणमसमानरूपमभिधीयते । आह ननु कथं प्रस्तुते सुखदुःखे कारणस्य स्वपर्याय उच्यते । जीवपुण्यसंयोगः सुखस्य कारणं तस्य च सुखं पर्याय एव दुःखस्यापि जीवपापसंयोगः कारणमतस्तस्यापि दुःखं पर्याय एव । यथा च सुखं शुभं कल्याणं शिवमित्यादीन् व्यपदेशान् लभते तथा तत्कारणभूतं पुण्यस्कन्धरूपमपि यथा च दुःखमशुभमकल्याणमशिवमित्यादिसंज्ञां प्राप्नोति तथा तत्कारणभूतं पापद्रव्यमपीति । विशेषतोऽत्र पुण्यपापे सुखदुःखयोरनुरूपकारणत्वेनोक्ते इति ।

अथ परः प्रेर्यं चिकीर्षुस्तदवकाशहेतोः पृच्छति ।

किं जह मुत्तममुत्त-स्स कारणं तह सुहाइणं कम्मं ।
दिट्ठं सुहाइकारण-मन्नाइ जहेह तह कम्मं ॥

किं यथा मूर्त्तं नीलादिकममूर्त्तस्य स्वप्रतिभासिज्ञानस्य कारणं हेतुस्तथा सुखदुःखयोः पुण्यपापात्मकं कर्म्मापि मूर्त्तमेव सत्कारणं यथा प्रत्यक्षं एव दृष्टमन्नादिकमादिशब्दात्स्रक्चन्दनाङ्गनाहिविषकण्टकादिकमिह सुखदुःखयोः मूर्त्तं सत्कारणं तद्वत्कर्म्मापि तयोरिति भावार्थः । ततः किमिति चेदुच्यते ।

होउ तयं चिय किं क-म्मणा न जं तुल्लसाहणाणं पि ।
फलभेदओ सो वस्सं, सकारणं कारणं कम्मं ॥

ननु तदेव दृष्टमन्नादिकं वस्तु तस्य सुखादेः कारणमस्तु किमदृष्टेन तेन कर्म्मणा परिकल्पितेन अतिप्रसङ्गात्तदेतन्न यदस्मात्तुल्यान्यन्नादीनि साधनानि येषां ते तुल्यसाधनाः पुरुषास्तेषामपि फले सुखदुःखलक्षणे कार्यभेदः फलभेदो महान् दृश्यते । तुल्येऽप्यन्नादिके भुक्ते कस्याप्याह्लादोऽन्यस्य तु रोगाद्युत्पत्तिर्दृश्यत इत्यर्थः । यश्चेत्थं तुल्यान्नादिसाधनानामपि फलभेदः सोऽवश्यमेव सकारणो निष्कारणत्वे नित्यं सत्वासत्वप्रसङ्गात् यच्च तत्कारणं तददृष्टं कर्म इति न तत्कल्पनानर्थक्यमिति ।

मूर्त्तं च तत्कर्म कुत इत्याह ।

यत्तो चिय तं मुत्तं, मुत्तबलाहाणओ कुंभो ।
देहाइ कज्जमुत्ता-इओव भणिए पुणो भणइ ॥

यत एव तुल्यसाधनानां कर्मनिबन्धनफलभेदोऽत एवोच्यते मूर्त्तं कर्म्म मूर्त्तस्य देहादेर्बलाधानकारित्वात्कुम्भवद्यथा निमित्तमात्रभावित्वेन घटो देहादीनां बलमाधत्ते एवं कर्माप्यन्न मूर्त्तमित्यर्थः । अथवा मूर्त्तं कर्म्म मूर्त्तेन स्रक्चन्दनादिना तस्योपचयलक्षणस्य बलस्याधीयमानत्वात्कुम्भवद्यथा मूर्त्तत्वेन तैलादिना बलस्याधीयमानत्वात्कुम्भो मूर्त्तः । एवं स्रक्चन्दनादिना उपचीयमानत्वात्कर्म्मापि मूर्त्तमिति भावः । यदि वा मूर्त्तं कर्म्म देहादेस्तत्कार्यस्य मूर्त्तत्वात्परमाणुवद्यथा घटादेस्तत्कार्यस्य दर्शनात्परमाणवो मूर्त्ताः एवं देहादेस्तत्कार्यस्य मूर्त्तस्य दर्शनात् कर्म्मापि मूर्त्तमित्यर्थः । एवं भणितेन पुनर्भणति परः किमित्याह ।

तो किं देहाईणं, मुत्तत्तणओ तयं हवइ मुत्तं ।
अह सुहदुक्खाईणं, कारणभावादरूवं ति ॥

ततः किं देहादीनां कर्म्मकार्याणां मूर्त्तानां दर्शनात्तत्कर्म्म मूर्त्तं भवत्वाहोस्वित्सुखदुःखक्रोधमानादीनां जीवपरिणामभूतानां तत्कार्याणाममूर्त्तानां दर्शनात्तत्कारणभावेनामूर्तमस्तु कर्मेत्येवं मूर्त्तत्वामूर्तत्वाभ्यामुभयथापि तत्कार्यदर्शनात्किं मूर्तं वा कर्म्म भवत्विति निवेद्यतामिति । एवं प्रेरकेणोक्ते सत्याह ।

न सुहाईणं हेऊ, कम्मं चि य किं तु ताण जीवो वि ।
होइ समवायकारण-मियरं कम्मं ति को दोसो ॥

सुखादीनां कर्म्मैव केवलं कारणं न भवति किं तु जीवोऽपि तेषां समवायिकारणं भवति कर्म्म पुनरेतदसमवायिकारणं भवतीति को दोषः । इदमुक्तं भवति सुखादेरमूर्त्तत्वेन समवायिकारणस्य जीवस्यामूर्त्तत्वमस्त्येव असमवायिकारणस्य तु कर्म्मणः सुखाद्यमूर्त्तत्वेन मूर्त्तत्वं न भवतीत्यपीति न दोष इति । तदेवमुक्तमर्थमुपसंहरन्केवलपुण्यलक्षणं प्रथमविकल्पं दूषयितुमाह ।

इय रूविते सुहदुक्ख-कारणत्ते य कम्मणो सिद्धो ।
पुण्णावगरिसमेत्तेण, दुक्खबहुलत्तणमजुत्तं ॥

इत्येवं पञ्चविकल्पोपन्यस्तस्वभाववादनिरासेन पुण्यपापात्मकस्य कर्मणः सुखदुःखकारणत्वे रूपित्वे च सिद्धे पुण्यापकर्षमात्रेण यत् दुःखबहुलत्वं प्रथमविकल्पोपन्यासे प्रोक्तं तदयुक्तमिति कुतोऽयुक्तमित्याह ।

कम्मप्पगरिसजणियं, तदवस्सं पगरिसाणुभूईओ ।
सोक्खप्पगरिसभूई, जह पुण्णप्पगरिसप्पभवा ॥

तत् दुःखबहुलत्वं पुण्यापकर्षजनितं न भवति किंतु स्वानुरूपकर्मप्रकर्षजनितं प्रकर्षानुभूतित्वात्प्रकर्षानुभवरूपत्वादिति हेतुः यथा सौख्यप्रकर्षानुभूतिः स्वानुरूपकर्मप्रभवा इति दृष्टान्तः।
उपपत्त्यन्तरमाह ।

तह बज्झसाहणप्पग-रिसंगभावादिहन्नया न तयं ।
विवरीयबज्झसाहण-बलप्पगरिसं अवेक्खेज्ज ॥

तथेत्युपपत्त्यन्तरार्थः इह देहिनां दुःखबहुत्वं केवलपुण्यापकर्षमात्रजनितं न भवति कुत इत्यत्र हेतुमाह । बाह्यानि यान्यनिष्टाहारादीनि साधनानि तेषां यस्तदनुरूपः प्रकर्षस्तस्याङ्गभावात्कारणभावादिति । विपर्यये बाधकमाह । इहेत्यादि तद्दुःखमन्यथा यदि पुण्यापकर्षमात्रजन्यं भवेत्तदा पुण्यसंपाद्येष्टाहारापचयमात्रादेव भवेन्न तु पापोदयसंपाद्यानिष्टाहारादिरूपविपरीतबाह्ये साधनानां यद्बलं सामर्थ्यं यस्य स्वानुरूपो यः प्रकर्षस्तमपेक्षेत । इदमत्र हृदय यदि पुण्यापकर्षमात्रजन्यं दुःखं भवेत्तदा पुण्योदयप्राप्येष्टाहारादिसाधनापकर्षमात्रादेव भवेन्न चैतदस्ति इष्टविपरीतानिष्टाहारादिसाधनसामर्थ्यादेव तद्भावादिति । अपि च ॥

देहो नोपचयकओ, पुण्णुक्करिसे व मुत्तिमत्ताओ ।
होज्ज सुभहीणतरओ, कहमसुभयरो महल्लो व ॥

यो दुःखितहस्त्यादिदेहः केवलपुण्यापचयमात्रकृतो न भवति मूर्तिमत्त्वाद्यथा पुण्योपकर्षस्तज्जन्योऽनुत्तरसुरचक्रवर्त्यादिदेहः यश्च पुण्यापचयमात्रजन्यः स मूर्तिमानपि न भवति यथा न कोऽपि यदि च पुण्यापचयमात्रेण देहो जन्येत तदा हीनतरः शुभ एव च स्यात्कथं महानशुभतरश्च भवेन्महतो महापुण्योपचयजन्यत्वादशुभस्य वा शुभकर्मनिर्वर्तितत्वात्पुण्येन पुनरणीयसापि शुभदेहो जन्येत। ननु दुःखितः अणीयसापि हि सुवर्णलवेन अणीयानपि सौवर्ण एव घटो भवति न तु मार्त्तिकस्ताम्रादिर्वेति। अथ केवलपापपक्षं सङ्कीर्णं पुण्यपापपक्षं च दूषयितुमाह ।

एवं चिय विवरीयं, जोएज्जा सव्वपावपक्खे वि ।
न य साहारणरूवं, कम्मं तक्कारणाभावा ॥

सर्वं पापमेवास्ति न तु पुण्यं पापापचयमात्रजन्यत्वात्सुखस्येत्येतस्मिन्नपि पक्षे एवमेव केवलपुण्यवादोक्तदूषणाद्विपरीततया सर्वं योजयेत्तद्यथा पापापकर्षमात्रजनितं सुखं न भवति पापस्याल्पीयसोऽपि दुःखजनकत्वान्न ह्यणीयानपि विषलव स्वास्थ्यहेतुर्भवति तस्मात्पुण्यजनितमेवाल्पमपि सुखमित्यादि स्वबुद्ध्याऽभ्यूह्य वाच्यमिति पृथक् सुखदुःखयोः कारणभूते स्वतन्त्रे पुण्यपापे द्रष्टव्ये। अत एव साधारणेऽपि संकीर्णे पुण्यपापे नेष्टव्ये कुत इत्याह । नयेत्यादि न च साधारणरूप सङ्कीर्णस्वभावं पुण्यपापात्मकमेकं कर्मास्ति तस्यैवंभूतस्य कर्मणः कारणाभावात्प्रयोगो नास्ति सङ्कीर्णोभयरूपं कर्म असंभाव्यमानैवविधकारणत्वाद्गगनकुसुमवदिति हेतोरसिद्धतां परिहरन्नाह ।

कम्मं जोगनिमित्तं, सुभो असुभो वा भवेगसमयम्मि ।
होज्ज न उ उभयरूवो, कम्मं पि तओ तयणुरूवं ॥

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इति पर्यन्ते योगाभिधानात्सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाविनाभावात् योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति कर्मयोगनिमित्तमुच्यते । स च मनोवाक्कायात्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेन्न तूभयरूपोऽतः कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य कर्मापि तदनुरूपं शुभ पुण्यरूपं बध्यते । ननु संकीर्णस्वभावमुभयरूपमेकमिहैव बध्यत इति प्रेरकः प्राह ॥

ननु मणवइकायजोगो, सुभासुभा एगसमयम्मि दीसंत ।
दव्वम्मि मीसभावो, भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभाशुभाश्च मिश्रा इत्यर्थः । एकस्मिन् समये दृश्यन्त तत्कथमुच्यते । शुभोऽशुभो वा (एगसमयम्मित्ति) तथा हि किञ्चिदविधिना दानादिवितरण चिन्तयतः शुभोऽशुभो मनोयोगस्तथा किमप्यविधिनैव दानादिधर्ममुपदिशत शुभाशुभो वाग्योगस्तथा किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनादिकायचेष्टां कुर्वतः शुभाशुभकाययोग इति तदेतत् अयुक्तं कुत इत्याह " दव्वम्मीत्यादि " इदमुक्तं भवति इह द्विविधो योगो द्रव्यतो भावतश्च तत्र मनोवाक्काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि मनोवाक्कायपरिस्पन्दात्मको योगश्च द्रव्ययोगः यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः स भावयोगस्तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्त्तको द्विविधेऽपि द्रव्ययोगे व्यवहारनयविवक्षादर्शनमात्रेण भवेदपि शुभाशुभत्वोपलक्षणो मिश्रभावः न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणे भावात्मके योगेऽयमभिप्रायः। द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपीष्यते निश्चयनयेन तु भूयोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति यथोक्तचिन्तादेशनादिप्रवर्त्तकद्रव्ययोगानामपि शुभाशुभमिश्ररूपाणां तन्मतेनाभावात्मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणभावयोगे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति निश्चयनयदर्शनस्यैवागमेऽत्र विवक्षितत्वान्न हि शुभान्यशुभानि वाध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते येनाध्यवसायरूपे भावयोगे शुभाशुभत्व स्यादिति भावस्तस्माद्भावयोग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति न तु मिश्रस्ततः कर्मापि तत्प्रत्ययं पृथक् पुण्यरूपं पापरूप वा बध्यते न तु मिश्ररूपमिति स्थितं एतदेव समर्थयन्नाह ॥

झाणं सुभमसुभं वा, न उ मीसं जं च झाणोवरमे वि ।
लेसा सुभासुभा वा, सुभमसुभं वा तओ कम्मं ॥

ध्यान यस्मादागमे एकदा धर्मशुक्लध्यानात्मक शुभमार्तरौद्रात्मकमशुभ वा निर्दिष्ट न तु शुभाशुभरूपं यस्माच्च ध्यानोपरमेऽपि लेश्या तेजसीप्रभृतिका शुभा कापोतीप्रमुखा वा शुभा एकदा प्रोक्ता न तु शुभाशुभरूपा ध्यानलेश्यात्मका स्वभावयोगास्ततस्तेऽप्येकदा शुभा अशुभा वा भवन्ति न तु मिश्रास्ततो भावयोगनिमित्त कर्माप्येकदा पुण्यात्मकं शुभं बध्यते पापात्मकमशुभं वा बध्यते न तु मिश्रमपि। अपि च ।

पुव्वगहियं च कम्मं, परिणामवसेन मीसइयं नेज्जा ।
इयरेयरभावं वा, सम्मामिच्छाइ न उ गहणे ॥

इत्यथवा एतद्यथापि सम्भाव्यते यत्पूर्वं गृहीतं पूर्वं बद्धं मि-

थ्यात्वलक्षणं कर्म परिणामवशात्पुञ्जत्रयं कुर्वन्मिश्रता सम्यक्त्वमिथ्यात्वपुञ्जरूपतां नयेत्प्रापयेदिति। इतरेतरभावं वा नयेत्सम्यक्त्वमिथ्यात्वञ्चेति । इदमुक्तम्भवति पूर्वबद्धात् मिथ्यात्वपुद्गलाद्विशुद्धपरिणामं संशोधयित्वा सम्यक्त्वरूपतां नयेदविशुद्धपरिणामं तु समुत्कर्षं नीत्वा सम्यक्त्वपुद्गलान् मिथ्यात्वपुञ्जे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयेदिति पूर्वगृहीतस्य सत्तावर्तिनः कर्मण इदं कुर्यात् । ग्रहणकाले पुनर्न मिश्रं पुण्यपापरूपतया संकीर्णस्वभावं कर्म बध्नाति । नापि इतररूपतां नयतीति विशे०। (पुण्यपापप्रकृतयः अत्रैव कम्मशब्दे वक्ष्यन्ते) तदेवं पुण्यपापे पृथग्व्यवस्थाप्येदानीं तयोरेव पृथग्लक्षणमाह ।

सोहणवसाइगुणं, सुभाणुभावं च जं तयं पुन्नं ।
विवरीयमसुभपावं, न बायरं नाइसुहुमं च ॥

शोभना: शुभा वर्णादयो गन्धरसस्पर्शलक्षणा गुणा यस्य तच्छोभनवर्णादिगुणं तथा यच्छुभानुभावं शुभविपाकमित्यर्थः। तत्पुण्यमभिधीयते । यत्पुनरतः पुण्याद्विपरीतलक्षणमशुभवर्णादिगुणमशुभविपाकं चेत्यर्थः। तत्पापमुच्यते। एतच्चोभयमपि कथंभूतमित्याह । न मेर्वादिभावेन परिणतस्कन्धवदतिबादरं सूक्ष्मेण कर्मवर्गणाद्रव्येण निष्पन्नत्वान्नापि परमाण्वादिवदतिसूक्ष्मवदिति । आह ननु तत्पुण्यपापरूपं कर्मद्वयं गृह्णानो जीवः कीदृशं गृह्णाति कथं च गृह्णातीत्याह ।

गिण्हइ तं जोग्गं चिय, रेणुं पुरिसो जहा कयब्भंगो ।
एगक्खेत्तोगाढं, जीवो सव्वप्पएसेहिं ॥

तस्य पुण्यपापात्मकस्य कर्मणो योग्यमेव कर्मवर्गणागतं द्रव्यं जीवो गृह्णाति। न तु परमाण्वादिकमौदारिकादिवर्गणागतं वा योग्यमित्यर्थः। तदप्येकक्षेत्रावगाढमेव गृह्णाति न तु स्वावगाढप्रदेशेभ्यो भिन्नप्रदेशावगाढमित्यर्थः । तच्च यथा तैलादिकृताभ्यङ्गः पुरुषो रेणुं गृह्णाति। तथा रागद्वेषक्लिन्नस्वरूपो जीवोऽपि गृह्णाति न तु निर्हेतुकमिति भावः। इदं च सर्वैरपि स्वप्रदेशैर्जीवो गृह्णाति न तु कैश्चिदित्यर्थः । उक्तं च ।

एगपएसोगाढं, सव्वपएसेहिं कम्मणो जोग्गं ।
बंधइ जहुत्तहेउं, साइयमणाइयं वा वि ॥

उपशमश्रेण्या प्रतिपतितो मोहनीयादिकं कर्मादि बध्नाति । शेषस्त्वनवाप्तोपशमश्रेणिजीवो नाद्यमेव बध्नातीत्यर्थः इति। अथ प्रेरकः प्राह ।

अविसिट्ठपोग्गलघणे, लोए थूलतणुकम्मपविभागो ।
जुज्जेज्ज गहणकाले, सुभासुभविवेयणं कत्तो ॥

नन्वविशिष्टे प्रत्याकाशप्रदेशमनन्तानन्तशुभाशुभादिभेदनाव्यवस्थितैः पुद्गलैर्घनो निरन्तरं व्याप्तो यो लोकस्ततश्च ग्रहणकाले गृह्णतो जीवस्य स्थूलसूक्ष्मकर्मप्रविभागो युज्येत। ततो "न बायर नाइसुहुमं चे" ति विशेषणमुपपन्नमेतद्विशेषणविशिष्टादन्यस्य स्वभावत एव जीवैरग्रहणाद्यत्तु शुभाशुभविवेचनं तत्समयमात्ररूपे कर्मग्रहणकाले तत्क्षण एव गृह्णतो जीवस्य कुतः संभाव्यते न कुतश्चिदिति परस्याभिप्रायः । ततश्च "सोहणवसाइगुणमि" त्यादिविशेषणं न युज्यत इति प्रेरकाकूतमिति । आचार्यः प्राह ।

अविसिट्ठं चिय तं सो, परिणामासयसभावओ खिप्पं ।
कुरुते सुभमसुभं वा, गहणे जीवो जहाहारं ॥

स जीवस्तत्कर्मग्रहणे ग्रहणकाले शुभाशुभादिविशेषणाविशिष्टमपि गृह्णन् क्षिप्रं तत्क्षणमेव शुभमशुभं वा कुरुते शुभाशुभविभागेन स्थापयतीत्यर्थः । कुत इत्याह (परिणामासयसभावओत्ति) इहाश्रयो द्विविधः कर्मत्वशुभाशुभत्वस्य तस्य द्विविधस्याप्याश्रयस्वभावः परिणामश्चाश्रयस्वभावश्च परिणामाश्रयस्वभावौ ताभ्यामेतत्कुरुते । इदमुक्तं भवति जीवस्य शुभोऽशुभो वा परिणामोऽध्यवसायस्तद्वशाद् ग्रहणसमय एव कर्मणां शुभत्वमशुभत्वं वा जनयति तथा जीवस्यापि कर्माश्रयभूतस्य स कोऽपि स्वभावोऽस्ति येन शुभाशुभत्वेन परिणमयन्नेव कर्म गृह्णाति तथा कर्मणोऽपि शुभाशुभभावाद्याश्रयस्य स स्वभावः स कश्चिद्योग्यता विशेषोऽस्ति येन शुभाशुभपरिणामान्वितजीवेन गृह्यमाणमेवैतद्रूपतया परिणमति उपलक्षणं चैतत्प्रकृतिस्थित्यनुभागवैचित्र्यं प्रदेशानामल्पबहुभागवैचित्र्यं च जीवः कर्मणो ग्रहणसमय एव सर्वं करोतीत्युक्तञ्च "गहणसमयम्मि जीवो,उप्पाए य गुणे सव्वपच्चयओ । सव्वजियाणंतगुणे,कम्मपएसेसु सव्वेसु। आउयभागो थोवो,नामे गोए समो तओ अहिगो । आवरणमंतराय-सरिसो अहिगोयमोपविसव्वो। वरिवेयणीयभागो, अहिगो उ कारणं किं तु । सुहदुक्खकारणत्ता,विसेसविसेसेण सेसासुत्ति " एतत्सर्वं कर्मणो ग्रहणसमये आहारदृष्टान्तेन जीवः करोतीति । आहारदृष्टान्तमेव भावयति ।

परिणामासयवसओ, धेणुस्स जह पओ विसमहिस्स ।
तुल्लो वि तदाहारो, तह पुण्णापुण्णपरिणामो ॥

(तदाहारोत्ति) तयोरहिधेन्वोराहारस्तदाहारः स तुल्योऽपि दुग्धादिको गृहीतः परिणामाश्रयवशाद्यथा धेन्वाः पयो दुग्धं भवति। अहेस्तु स एव विषं विषरूपतया परिणमति। तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यापुण्यपरिणाम इदमुक्तं भवति अस्ति स कश्चित्स्याहारस्य परिणामो येन तुल्योऽपि सन्नाश्रयवैचित्र्याद्विचित्रतया परिणमति आश्रयस्याप्यहिधेनुलक्षणस्यापि तत्तन्निजसामर्थ्यं येन तुल्योऽपि गृहीत आहारस्तद्रूपतया परिणमति । तथा पुण्यपापयोरुपनययोजना कृतैवेति । अथवा अयमेवाहारदृष्टान्तो भाव्यते तद्यथा ।

जह वेगसरीरम्मि वि—सारासारपरिणामयामेइ ।
अविसिट्ठो आहारो, तह कम्मसुभासुभविभागो ॥

धेनुविषधरयोः भिन्नशरीरे आहारस्य परिणामवैचित्र्यं दर्शितम्। वा इत्यथवा यथा एकस्मिन्नपि पुरुषादिशरीरे विशिष्टेऽप्येकरूप आहारो गृहीतस्तत्क्षण एव सारासारपरिणामतामेति । रसासृग्मांसादि रसपरिणामं मूत्रपुरीषरूपखलपरिणामं च युगपदागच्छतीत्यर्थः । तथा कर्मणोऽप्यविशिष्टस्य गृहीतस्य परिणामवशात् शुभाशुभविभागो द्रष्टव्य इति। तदेवं पुण्यपापयोर्लक्षणादिभेदं प्रसाध्य तद्भेदभूतप्रकृतिभेदेनापि तयोर्भेदमुपदर्शयन्नाह ।

सायं सम्मं हासं, पुरिसरइसुभाउनामगोत्ताइं ।
पुन्नं सेसं पावं, नेयं सविवागमविवागं ॥

सातवेदनीयं शोधितमिथ्यात्वपुद्गलरूपं सम्यक्त्वं हास्यं पुरुषवेदो रतिः शुभायुर्नामगोत्राणि चेत्येतत्सर्वं पुण्यमभिधीयते। तत्र नारकायुर्वर्ज्जं शेषमायुस्त्रयं शुभं देवद्विकयशःकीर्तितीर्थंकरनामाद्याः सप्तत्रिंशत्प्रकृतयो नामकर्माणि शुभा ।गोत्रे पुनरुच्चैर्गोत्रं शुभमेतो षट्चत्वारिंशत्प्रकृतयः किल शुभत्वात्पुण्याः । अन्ये तु मोहनीयभेदान्सर्वानपि जीवस्य विपर्यासहेतुत्वात्पापमेव मन्यन्ते तत सम्यक्त्वादस्य पुरुषवेदरतिवर्ज्जा द्विचत्वारिंशदेव प्रकृतय पुण्यास्तद्यथा ॥

सो यं उच्चारो यं, नरतिरिदेवाउयाइ तह नामे ।
देवदुगं मणुयदुगं, पणिंदजाईयतणुपणगं ॥
अंगोवंगाणतिगं, पढमसंघयणमेव सिच्चयणं ।
सुन्नवणणाई सुचउक्कं, अगुरुलहू तह य परघायं ॥
ऊसासं आयावं, उज्जोयविहागई विप्पएसतथा ।
तसबायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुन्नं सुभगं ॥
सुस्सर आपज्ज जसं, निमेण तित्थयरमेव एआउ ।
बायालं एगई उ, पुणंति जिणेहिं नणिया उ ॥

शेषास्तु या द्व्यशीतिप्रकृतयस्ततसर्वमशुभत्वात्पापं विज्ञेयं सम्यक्त्वं कथमशुभं कथं तत्पापमिति चेदुच्यते रुचिरूपमेव हि सम्यक्त्व शुभ तत्त्वेन विचार्यते किं तु शोधितमिथ्यात्वपुद्गलरूपं तच्चा शङ्काद्यनर्थहेतुत्वादशुभमेव अशुभत्वाच्च पापं सम्यग्रुचेश्चातिशयेन नानाचारकत्वादुपचारमात्रमेवेदं सम्यक्त्वमुच्यते परमार्थतस्तु मिथ्यात्वमेवैतदित्यलं प्रसङ्गेन। इदं च पुण्यपापलक्षणमुभयमपि सविपाकमविपाक च मन्तव्य यथा बद्ध तथैव विपाकतः किंचिवेद्यते किंचिदनुमन्दरस नीरस वा कृत्वा प्रदेशोदयेनाविपाक वेद्यत इत्यर्थ। तदेव पुण्य पाप च भेदेन व्यवस्थाप्य निरस्तः सकीर्णपुण्यपापपक्षः। इतश्चायमुक्तः सर्वस्यापि सन्मिश्रसुखदुःखाख्यकार्यप्रसगान्न चैतदस्ति देवादीनां केवलं सुखाधिक्यदर्शनान्नारकादीनां केवलदुःखप्राचुर्यनिर्णयान्न च सर्वथा सन्मिश्रैकरूपस्य हेतोरल्पबहुत्वभेदेऽपि कार्यस्य प्रमाणतोऽल्पबहुत्वं विहाय स्वरूपतो भेदो युज्यते । न हि मेचककारणप्रभव कार्यमन्यतमवर्णोत्कटं घटते तस्मात्सुखातिशयस्यान्यन्निमित्तमन्यच्च दुःखातिशयस्येति। न च सर्वथैव रूपस्य सकीर्णपुण्यपापलक्षणस्य हेतोः सुखातिशयनिबन्धनं पुण्यांशवृद्धिर्दुःखातिशयस्य कारणपापांशहान्या सुखातिशयप्रभवाय कल्पयितु न्याय्या पुण्यांशपापांशयोर्भेदप्रसंगात्तथा हि यत् वृद्धावपि न वर्द्धते तत्ततो भिन्न यथा देवदत्तवृद्धावप्यवर्द्धमानो यज्ञदत्तो न वर्द्धते पुण्यांशवृद्धौ पापांशस्तस्मात्ततो भिन्नोऽसाविति तस्मान्न सर्वथैकरूपता पुण्यपापांशयोर्घटते कर्मसामान्यरूपतया यद्यसौ तयोरिष्यते तदा सिद्धसाध्यता सातयशःकीर्त्यादेः पुण्यस्य, असातायश कीर्त्यादेस्तु पापस्य, अस्माभिरपि कर्मत्वेनैकताया अभ्युपगमात्तस्मात्पुण्यपापरूपा विविक्ते एव पुण्यपापे स्त इति। नत सुखदुःखवैचित्र्यनिबन्धनयोः पुण्यपापयोर्यथोक्तनीत्या साधितत्वान्न कर्तव्य तत्संशयः किं वा सत्त्वे पुण्यपापयोर्वेदोक्तनीत्या साधितस्याग्निहोत्रादेः लोकप्रसिद्धस्य च दानादेर्वैफल्य स्यादिति दर्शयन्नाह ।

असइ वहि पुन्नपावे, जमग्गिहोत्ताइ सग्गकास्स ।
तदसंबद्धं सव्वं, दाणाइफलं च लोयम्मि ॥

पुण्यपापयोरसत्त्वे यदेतद्वहिरग्निहोत्राद्यनुष्ठानं स्वर्गकामस्य यच्च दानहिंसादिफल पुण्यपापात्मकं लोके प्रसिद्ध तत्सर्वमसबद्ध स्यात्स्वर्गस्यापि पुण्यफलत्वात्पुण्यपापयोश्च भवदभिप्रायेणासत्त्वात्तस्मादभ्युपगन्तव्ये एव पुण्यपापे तदेव वेदपदवचनप्रामाण्याद्युक्तितश्च छिन्नस्तस्य संशय इति। तत किं कृतवानसावित्याह ।

छिन्नम्मि संसयम्मि, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वईओ, तिहिं उसहखंमियसएहिं ॥

गतार्थो इति चतुश्चत्वारिंशद्गाथार्थः विशे० ।

(१६) कर्मणश्चतुर्विधत्वम् ।

पुण्यपापयोः पृथक्त्वख्यापके सूत्रे ।

एगे पुण्णे एगे पावे (स्था० १ ठा०) चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा सुन्ने णामं एगे सुन्नेसुभेणाममेगे असुन्ने असुभेणाममेगे ४। चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा सुन्नेणाममेगे सुभविवागे सुन्नेणाममेगे असुन्नविवागे असुन्नेणाममेगे सुन्नविवागे असुभेणाममेगे असुन्नविवागे ४।

क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादि तत् शुभपुण्यप्रकृतिरूप पुनः शुभं शुभानुबन्धित्वाद्भरतादीनामिव शुभं तथैवाशुभमशुभानुबन्धित्वात् ब्रह्मदत्तादीनामिव अशुभं पापप्रकृतिरूपं शुभ शुभानुबन्धित्वात् दुःखितानामकामनिर्जरावतां गवादीनामिव अशुभं तथैव पुनरशुभमशुभानुबन्धित्वान्मत्स्यबन्धादीनामिवेति।तथा शुभं सातासातादित्वेनैव बद्ध तथैवोदेति यत्तत्शुभविपाक यत्पुनर्बद्धं शुभत्वेन संक्रमकरणवशात्तदेति च शुभत्वेन तत् द्वितीय भवति च कर्मणि कर्मान्तरानुप्रवेशसक्रमाभिधानकरणवशादुक्त च "मूलप्रकृत्यभिमानः संक्रमयति गुण उत्तरा॰ प्रकृतीः । न त्वात्मा मूर्तत्वा–दध्यवसानप्रयोगेणेति"॥१॥ तथा मतान्तर "मोत्तूणमाउय खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च। सेसाण पयडीण, उत्तरविहि संकमो भणिओति "॥ १ ॥ यद्बद्धमशुभतयोदेति च शुभतया तत् तृतीय चतुर्थं प्रतीतमिति तृतीय कर्मसूत्रमनन्तरद्वितीयोद्देशकबन्धसूत्रवत् ज्ञेयमिति चतुर्विधकर्मस्वरूपम्॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० ॥

(१७) अथ कर्मणोऽबद्धस्पृष्टत्वादिगोष्ठामाहिलनिह्नवमतम् ॥

किं कंचुउव्व कम्मं, पइप्पएसमह जीवपज्जंते।
पइदेसं सव्वगयं, तदंतरालाणवत्थाओ ॥
अह जीववहिंतो ना–णुवत्तएत्तं भवंतरालम्मि ।
तदणुगमाभावा उ–वज्झंगमलोव्व मुच्चंतं ॥
एवं सव्वविमोक्खो, निक्कारणो वि सव्वसंसारो ।
भवमुक्काणं च पुणो, संसरणमउआणासासो ॥

ननु " पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणमित्यादि " गाथायां कञ्चुकमिव स्पृष्टमेव जीवे कर्म न तु बद्धमिति यदुच्यते। भवता तद्विचार्यते किं कञ्चुकवत्स्पृष्टं कर्म जीवस्य प्रतिदेशं वृत्तं सदुच्यते। आहोस्विज्जीवपर्यन्ते त्वक्पर्यन्त एव वृत्त स्पृष्टमिष्यत इति द्वयी गतिः तत्र यदि प्रतिप्रदेशं वृत्तत्वात्स्पृष्टमिष्ट तर्हि जीवे सर्वगत कर्म प्राप्नोति। नभोवत् कुत सर्वगतमित्याह। तदन्तरालेत्यादि तस्य जीवस्यान्तरालं मध्यं तदन्तराल तस्यानवस्थातस्तस्य कर्मोव्यासस्यानवस्थानादनुद्धरणादित्यर्थ। न हि प्रति प्रदेश वृत्तो कर्मणि जीवस्य कोऽपि मध्यप्रदेश उद्धति येन कर्मणस्तत्रासर्वगतत्व स्यात्तस्मादाकाशेनैव कर्मणा जीवस्य प्रतिप्रदेश व्याप्तत्वात्तस्य जीवे सर्वगतत्व सिद्धमेव एव च सति साध्यविकलत्वात्कञ्चुकदृष्टान्तोऽसंबद्ध एव प्राप्नोति साध्यस्य यथोक्तस्पर्शनस्य कञ्चुके भावादिति द्वितीय विकल्पमधिकृत्याह " अहेत्यादि " अथ जीवस्य बहिस्त्वक्पर्यन्ते वृत्तत्वात्कञ्चुकवत्स्पृष्ट कर्मेष्यते तर्हि भवाद्भवान्तर संक्रामतोऽन्तराले तन्नानुवर्तते तदनुवृत्तिर्न प्राप्नोति त्वक्पर्यन्तवृ-

न निवर्तते " नो चेव ण भवसिद्धिए विरहिए लोए भविस्सइत्ति" वचनात्तर्हि भव्याः कथं ते व्यपदिश्यन्ते इति चेदुच्यते। योग्यतामात्रेण न च योग्यः सर्वोऽपि विवक्षितपर्यायेण युज्यते प्रतिमादिपर्याययोग्यानामपि तथाविधदारुपाषाणादीनां तथाविधसामग्र्यभावे केषांचित्तदयोगादित्यत्र विस्तरेण। प्रागेव गणधरवादे अस्यार्थस्य विस्तरेणोक्तत्वात्। कर्म जीवान्न वियुज्यते अन्योन्याविभागेनावस्थितत्वादित्यनैकान्तिकमुपायतो दृश्यमानवियोगैः क्षीरनीरकाञ्चनोपलादिभिर्व्यभिचारात्। ननु प्रस्तुतो जीवकर्मविभागः केनोपायेन विघटित इति चेत्सम्यग्दर्शनज्ञानक्रियोपायत इति मिथ्यादिभिर्हि जीवकर्मसंयोगः क्रियते मिथ्यात्वादिविपक्षभूताश्च सम्यग्ज्ञानादयोऽतस्तैस्तद्वियोगैर्युक्तियुक्त एव अन्नभोजनादिविपक्षभूतैर्लङ्घनादिभिस्तज्जनिताजीर्णसंयोगवदिति। अथादेवादिषु देवादिपुद्ध्याऽभिगमनवन्दनाभिर्हिंसादिभिश्च क्रियाभिर्जीवस्य कर्मणा संयोग इष्यते न तु दयादानशीलपालनसमितिगुप्त्यादिक्रियाभिस्तद्वियोग इत्याशङ्क्याह ॥

कह वा दाणे किरिया-साफल्लं नेह तव्विघायम्मि ।
किं पुरिसगारसज्झं. तस्से वा मज्झमेगंतो ॥
असुभो तिव्वाईओ, जह परिणामो तदज्जणे भिमओ ।
तह तव्विहो च्चिय सुभो, किं नेट्ठो तव्विओगे वि ॥

वाशब्दो युक्तेरन्युच्चये। कथं वा हन्त ! कर्मणः आदाने ग्रहणे क्रियाणां साफल्यमिह त्वयेष्यते न तु दयादानादिक्रियाणां तद्विघाते साफल्यमिति प्रेर्यते किमत्र राज्ञामाज्ञा प्रभवति न तु युक्ति । किं चेदमपि प्रष्टव्योऽसि किं पापस्यानुव्याप्तपुरुषकारसाध्य " एगंतो " इहापि संबध्यते एकं कर्मण आदानमिष्यते एकं तु यत्तस्य निर्जरणं तत्तस्यैव सयमादिस्थानविहितपुरुषकारस्यासाध्यमिष्यते इत्येतदपि व्यक्तमेवेश्वरचेष्टितं भवत । स्वेच्छाप्रवृत्तेरुपसंहरन्नाह । (तोत्ति) तस्माद्यथा येन प्रकारेण तीव्रमन्दमध्यमभेदभिन्नोऽशुभपरिणामस्तदर्जने तस्य कर्मणोऽर्जनमुपादानं ग्रहणं तत्र हेतुर्भवतोऽभिमतस्तथा तेनैव प्रकारेण तद्विध एव तीव्रादिभेदभिन्नशुभपरिणामोऽशुभविपक्षत्वात् कर्मार्जनविपक्षभूते तद्वियोगेऽपि हेतु' किं नेष्टो ननु युक्तियुक्तत्वादेष्टव्य एवेति भाव' । तस्माज्जीवेन सहाविभागस्थितस्यापि कर्मणः सिद्धो वियोग इति । विशे०। आ० म० द्वि० ।

कर्मविषये शास्त्रान्तरीयमतम् ।

अविद्याक्लेशकर्मादि, यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत्, संज्ञाभेदमुपागतम् ॥

" अविद्येति " अविद्या वेदान्तिनां, क्लेश' सांख्यानां, कर्म जैनानाम्, आदिशब्दाद्वासना सौगतानां पाश शैवानाम्, यतो यस्माच्चकारो वक्तव्यान्तरसूचनार्थः । भवकारणं ससारहेतुस्त तस्तस्मादविद्यादीनां भवकारणत्वाद्धेतो प्रधानमेवैतदस्मदभ्युपगतं भवकारणं सत्संज्ञाभेदं नाम नानात्वमुपागतम् । द्वा० १६ द्वा० । यो० विं० । " कम्मति त्ति वा कलुसाति वा वज्जंति वा वेरं ति वा पंको त्ति वा मलो त्ति एगट्ठिया इति" व्य०१ उ०।

अथ कतिभेदं कर्मेत्याशङ्क्याह ।

पयइठिइरसपएसा, तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंतो ।

तत्कर्म पूर्वव्यावर्णितशब्दार्थं चतुर्धा चतुःप्रकारं चतुर्भेदं भवतीति शेषः । कथमित्याह (पयइठिइरसपएसत्ति) इह गम्ययपः कर्माधारे इति पञ्चमी यथा प्रासादात्प्रेक्षते इति। ततश्च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशमाश्रित्य प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धरसबन्धप्रदेशबन्धतयेत्यर्थः । तत्र स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः । अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः । कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थः । कर्मपुद्गलानामेव यद्ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसंख्याप्राधान्येनैव करोति प्रदेशबन्धः। उक्तं च। " ठिइबंधदलस्स ठिई,पएसबंधो पएसगहणं जं। ताण रसो अणुभागो,तस्समुदओ पगइबंधो" अन्यत्राप्युक्तम्। "प्रकृतिः समुदायः स्यात्स्थितिकालावधारणम् । अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसचयः " इदं च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानां स्वरूपं मोदकस्य कणिक्कादिमयलड्डुकस्य दृष्टान्ताद् दृष्टान्तेन भावनीयम्। दृष्टान्तादित्यत्र तृतीयार्थे पञ्चमी। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे व्यत्ययोऽप्यासामिति । यथा वातविनाशिद्रव्यनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमुपशमयति । पित्तोपशमकद्रव्यनिर्वृत्त' पित्त कफापहारिद्रव्यसमुद्भूत कफमित्येवंस्वभावा प्रकृति' स्थितिस्तु तस्यैव कस्यचिद्दिनमेकम्, अपरस्य तु दिनद्वयम्, एवं यावत्कस्यचिन्मासादिकमपि कालं भवति ततः परं विनाशादिति । रसः पुनः स्निग्धमधुरादिरूपस्तस्यैव कस्यचिदेकगुणोऽपरस्य द्विगुणोऽन्यस्य त्रिगुण इत्यादिकः । प्रदेशाश्च कणिक्कादिरूपास्तस्यैव कस्यचिदेकप्रसृतिप्रमाणा. अन्यस्य तु प्रसृतिद्वयप्रमाणा' यावदपरस्य सेटकादिप्रमाणा' एवं कर्मणोऽपि कस्यचन ज्ञानादिच्छादनस्वभावा प्रकृतिः अपरस्य दर्शनावरणरूपा अन्यस्य आह्लादादिप्रदानलक्षणा कस्यचित्सम्यग्दर्शनादिविघातजननस्वभावेत्यादि । स्थितिश्च तस्यैव कस्यचित्त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटीरूपा अपरस्य तु सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिलक्षणेत्यादि । रसस्त्वनुभागशब्दवाच्यस्यैवैकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानादिरूपः प्रदेशा अल्पबहुतरबहुतमादिरूपा इति । कर्म० ।

दुविहे कम्मे पएणत्ते तं जहा पदेसकम्मे चेव अणुभावकम्मे चेव । (स्था० २ ठा०) चउव्विहे कम्मे पएणत्ते तं जहा पगडीकम्मे ठिइकम्मे अणुभावकम्मे पदेसकम्मे । स्था० ४ ठा० ।

(१७) मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृत्यादिना द्वैविध्यं निरूप्य नामादितोऽष्टविधत्वमाह ।

मूलपगइट्ठ उत्तर-पगई अट्ठपंचसयभेयं ति ।

मूलप्रकृतय. सामान्यरूपा अष्टावष्टसंख्या यत्र तन्मूलप्रकृत्यष्टम् उत्तरप्रकृतीनां मूलप्रकृतिविशेषरूपाणामष्टपञ्चाशच्छतं भेदा यस्य तदुत्तरप्रकृत्यष्टपञ्चाशच्छतभेदमिति । कर्म० । आचा० । सूत्र० । उत्त० । नं । भ० । पा० प्रज्ञा० । आ०। अन्त० । प० स० ।

अथ कर्मप्रकृतय उच्यन्ते

अट्ठकम्माइ वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवत्तई । १ ।

हे जम्बूस्वामिन्' अहं यथाक्रममानुपूर्व्या अनुक्रमेण तानि अष्ट

कर्माणि वक्ष्यामि । क्रियन्ते मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्हेतुभिर्जीवेन इति कर्माणि अष्टसंख्यानि । यद्यप्यानुपूर्वी त्रिविधा वर्तते तथापि यथाक्रमं पूर्वानुपूर्व्या प्रारब्धत्वात् तृतीयास्थाने प्रथमा । तानि कानि कर्माणि यैर्बद्धानि कर्मबद्धो नियन्त्रितोऽयं जीवः संसारे चतुर्गतिभ्रमणे परिवर्तते विविधान् पर्यायान् ।

नाणावरणं चेव, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तथा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठे व उ समासओ ॥

युग्मम् । एवममुना प्रकारेण एतानि अष्टौ कर्माणि समासतः संक्षेपतो ज्ञेयानि इति शेषः । एतानि कानि तत्र प्रथमं ज्ञानावरणं कर्म चेव पादपूरणे । तथा द्वितीयं दर्शनावरणं दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनावरणं प्रतीहारवत् सम्यक्त्वभूपं न दर्शयति । २ । तथा वेदनीयं वेद्यते सातासाते अनेनेति वेदनीयं मधुलिप्तखड्गधारातुल्यं तृतीयं कर्म । तथा पुनर्मोहं मुह्यते मूढो भवति जीवोऽनेनेति मोहो मद्यवत् चतुर्थं मोहनीयं मोहाय योग्यं मोहनीयं कर्म ज्ञेयम् । तथैव च आयाति स्वकीयावसरे इत्यायुः गतिर्निस्सरितुमिच्छन् अपि जीवो निर्गन्तुं न शक्नोति यस्मिन् सति निगडबद्ध इव तिष्ठतीत्यायुषः स्वभावः पञ्चममायुष्कर्म । ५ । तथा नामयति चतसृषु गतिषु नवीनान् पर्यायान् प्रापयति जीवं प्रति इति नाम चित्रकारवत् नामकर्म षष्ठं ज्ञेयम् । गोऽयन्ते आहूयते लघुना दीर्घेण वा शब्देन जीवोऽनेनेति गोत्रं कुम्भकारवत् घटकलशशरावकुम्भकादिभाण्डकृद्भवति इदं गोत्रकर्म सप्तमम् । तथाऽन्तर्मध्ये दातृग्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायो यथा राजा कस्मैचिद्दातुमुपदिशति तत्र भाण्डागारिकोऽन्तराले विघ्नं कुरुते तादृगन्तरायं कर्म अष्टमं भवति । अत्र चाष्टानां कर्मणामादौ ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च प्रतिपादितम् । तत्र आत्मनः स्वभावस्तु ज्ञानदर्शनरूप एवास्ति अतस्तदावरणमादावुक्तम् । याभ्यां कर्मभ्यां जीवस्य स्वभाव आव्रियते अतस्तयोर्मुख्यत्वं ज्ञानदर्शनयोश्च समानत्वेऽपि अन्तरङ्गत्वेन विशेषतो ज्ञानोपयोगे एव सर्वलब्धीनां प्राप्तिः स्यात् तस्मात् ज्ञानस्य प्राधान्यादादौ तदावरणमुक्तं तदनु सामान्यज्ञानोपयोगत्वाद्दर्शनावरणमुक्तम् । एवं शेषकर्मणामपि विशेषस्तु स्वयमेव ज्ञेयः ।३। (उत्त० ३३ अ०) । नन्वित्थं ज्ञानावरणाद्युपन्यासे किंचिदस्ति प्रयोजनमुत यथाकथञ्चिदेव प्रवृत्त इति ? अस्तीति ब्रूमः किं तदिति चेदुच्यते । इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतं तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात् चेतनालक्षणो हि जीवस्ततः स कथं ज्ञानदर्शनाभावे भवेत् ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधानं ज्ञानं तद्वशादेव सकलशास्त्रादिविचारसन्ततिप्रवृत्तेः । अपि च सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयुक्तस्य जायन्ते न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य । "सव्वाओ लद्धीओ, सागारोवओगोवउत्तस्स नो अणागारोवओगोवउत्तस्सेति" वचनप्रामाण्यात् । अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो जीवः संजायते तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव न दर्शनोपयोगोपयुक्तो दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमयेऽभावात् । ततो ज्ञानं प्रधानं तदावरणकं ज्ञानावरणं कर्म ततस्तत् प्रथममुक्तं तदनन्तरं च दर्शनावरणं ज्ञानोपयोगात् च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात् । एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवतः । तथा हि ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्राप्तं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारासमर्थमात्मानं जानानः खिद्यते भूयिष्ठोऽत्र ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया विन्दानो बहुजनातिशायिनमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते । तथाऽतिनिबिडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखसंदोहं वचनगोचरातिक्रान्तदर्शनावरणक्षयोपशमपरिष्ठतापरिष्कारितश्च स्पष्टचक्षुरादयुपेतो यथावद्वस्तुनिकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयते अमन्दमानन्दसंदोहम् । ततः एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणं वेदनीयं च सुखदुःखे जनयतीन्यभीष्टानभीष्टविषयसंबन्धे चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ तौ च मोहनीयहेतुकौ ततः एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहणं मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बह्वारम्भाः परिग्रहप्रभृति कर्मादानासक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति । ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणं नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्ति । ततः आयुरनन्तरं नामग्रहणं नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यमतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणं गोत्रोदये चोच्चैः कुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयोपशमो भवति राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात् नीचैः कुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदयो नीचजातीनां तथा दर्शनात् । ततः एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणमिति । कर्म० ॥

नैरयिकाणां कर्मप्रकृतयः ।

नेरइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ ? पण्णत्ताओ ।
गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव वेमाणियाणं प्रज्ञा०
२३ पद० ॥

इत्थं कर्मणां मूलप्रकृतीरुक्त्वोत्तरप्रकृतीराह ।

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

ज्ञानावरणं कर्म पञ्चविधं कथितं श्रुतज्ञानावरणम् । तथा आभिनिबोधिकं मतिज्ञानं तदावरणं द्वितीयम् । तृतीयमवधिज्ञानावरणम् । तथा मनोज्ञानं मनःपर्यायज्ञानावरणं चतुर्थम् । तथा पञ्चमं केवलज्ञानावरणम् ।

अथ दर्शनावरणस्य द्वितीयकर्मणो भेदानाह ।

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य ।
तत्तो व थीणगिद्धी, उ पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥

निद्रा सुखजागरणरूपा । तथैव प्रचला द्वितीया स्थितस्योपविष्टस्य समायाति । तृतीया निद्रानिद्रा दुःखप्रतिबोधा । चतुर्थी प्रचलाप्रचला । चलमानस्य या आयाति सा प्रचलाप्रचला । ततः पञ्चमी स्त्यानगृद्धिनाम्नी ज्ञेया स्त्याना पुष्टा गृद्धिर्लोभो यस्यां सा स्त्यानगृद्धिः । अथवा स्त्याना संहता उपचिता ऋद्धिर्यस्यां सा स्त्यानर्द्धिः यस्या उदये हि वासुदेवार्द्धबलः प्रबलरागद्वेषवांश्च जन्तुर्जायते । अत एव दिनचिन्तितार्थसाधिनी इयं पञ्चमी भवति । ५ ।

चक्खुमचक्खुओहिस्स, दरिसणे केवले आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दरिसणावरणं ॥६॥

एवं तु अमुना प्रकारेण नवविकल्पं नवविधं दर्शनावरणं कर्म ज्ञातव्यम् दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनावरणम् । पञ्च

निद्राः पूर्वगाथायामुक्ताः। चत्वारोऽमी भेदास्ते के उच्यन्ते (चक्खुमचक्खुओहिस्स दरिसणे इति) तत्र चक्खुमचक्खुओहिस्सेत्येक पद चक्षुश्च अचक्षुश्च अवधिश्च चक्षुरचक्षुरवधिस्तस्य चक्षुरचक्षुरवधेरावरणं चक्षुरचक्षुरवधेरित्यत्र प्राकृतत्वात् द्वन्द्वे एकत्वं पुंस्त्वं च दर्शने रूपसामान्यग्रहणे यदावरणं च पुनः केवले केवलज्ञाने यदावरणम् एवं नवविधम्। चक्षुषा दृश्यते ज्ञायते इति चक्षुर्दर्शनं तदावृणोति आच्छादयतीति चक्षुर्दर्शनावरणम् ।१। तथा चक्षुषोऽन्यदचक्षु श्रोत्रघ्राणरसनास्पर्शरूपमिन्द्रियचतुष्कं तेन अचक्षुषा दृश्यते इति अचक्षुर्दर्शनं तदावृणोतीति अचक्षुर्दर्शनावरणं रूपवद्द्रव्य सामान्यप्रकारेण मर्यादासहित दृश्यते इति। अवधिदर्शनं तदावृणोतीति अवधिदर्शनावरणम्। एव त्रयो भेदाश्चतुर्थं पुन. केवले केवलदर्शनेऽप्यावरणं ज्ञेयं केवलं सर्वद्रव्यपर्यायाणां सामान्येन स्वरूपं दृश्यते इति केवलदर्शनं तत्र यदावरणं केवलदर्शनावरणम्। एवं निद्रापञ्चानां निद्राचतुर्णामावरणानां च एकत्रीकरणात् नवविधं दर्शनावरणं ज्ञातव्यमित्यर्थः। ६।

वेयणीयं पि दुविहं, सायमसायं च आहियं ।
सायस्स य बहुभेया, एमेवासायस्स वि ॥ ७ ॥

वेदनीय कर्म अपि द्विविधं वेदितु योग्य वेदनीय कर्म द्विभेदमाख्यात कथितमेक सात च पुनरसातम्। तत्र सातयते शारीर मानसं च सुखमनेनेति सातं सातावेदनीयं ततोऽन्यदसातमसातावेदनीयमित्यर्थः। तु पुन. सातस्यापि सातावेदनीयस्यापि बहवोऽनुकम्पादयो भेदा भवन्ति। एवमसातस्यापि असातावेदनीयस्याऽपि बहवः आर्तिशोकसन्तापादयो भेदा भवन्ति इति शेषः ॥ ७ ॥

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणीज्जस्स दंसणे ॥९॥
चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं ।
कसायमोहणिज्जं च, नो कसाय तहेव य ॥ १० ॥
सोलसविहभेएणं, कम्मं तु य कसायजं ।
सत्तविहनवविहं, वा कम्मं नो कसायजं ॥ १० ॥

तिसृणां गाथानामर्थः। मोहयति जीवं घूर्णयति मद्यवत् परवशं करोतीति मोहस्तद्वद् मोहनीय कर्म अपि द्विविधं भवति दर्शने तथा चरणे दर्शने दर्शनविषये मोहनीय तथा चरणे चरणविषये मोहनीयम्। तत्र दर्शनं तत्त्वरुचिरूपं चरणं विरतिरूपम्। तत्रापि दर्शने यन्मोहनीयं तत्त्रिविधं तीर्थकरैरुक्तं चरणे चारित्रे यन्मोहनीयं तद् द्विविधं भवेत् ॥ ८ ॥ दृश्यन्ते ज्ञायन्ते जीवादय पदार्था अनेनेति दर्शनम्। तत्र मोहयति मूढीकरोतीति दर्शनमोहनीयं त्रिविधं सम्यक्त्वम् १ मिथ्यात्व २ सम्यग्मिथ्यात्वं ३ मिश्रमित्यर्थः। एव पादपूरणे सम्यक्त्वमोहनीय मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयम्। तत्र सम्यक्त्व हि मिथ्यात्वस्यैव पुद्गलाः अशुद्धरूपपुद्गला' अत्यन्तविशुद्धा भवन्ति तदा सम्यक्त्व कथ्यते। तत्सम्यक्त्वमेव दर्शनं कथ्यते दर्शनसम्यक्त्वयोर्नामान्तरमत्र गृह्यते। यदा सम्यक्त्व मिथ्यात्वप्रकृतित्व भजति सम्यक्त्वस्य अतीचारा लगन्ति तदा मिथ्यात्वं भवति। यदा दर्शनप्रकृतिषु मोहो भवति अथवा औपशमिकादिकं मोहयति तदापि सम्यक्त्वमोहनीयमुच्यते। अथ मिथ्यात्वमोहनीयस्वरूपमुच्यते। सम्यक्त्वाभावे मिथ्यात्वम् अशुद्धदलिकस्वरूपं यत्तत्त्वे अतत्त्वरुचिरतत्त्वे तत्त्वरुचिरूपयते तन्मिथ्यात्वं तत्र मुह्यते इति मिथ्यात्वमोहनीयम्। यत्तु सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय तत्तु शुद्धाशुद्धदलिकरूपं यस्माज्जिनधर्मोपरि रागोऽपि न भवति द्वेषोऽपि न भवति अन्तर्मुहूर्तस्थितिरूपं यथा नारिकेरद्वीपवासिपुरुषोऽन्योपरि रागोऽपि न भवति द्वेषोऽपि न भवति तादृक् स्वभावं मिश्रमोहनीयं तृतीयमुच्यते। एतास्तिस्र. प्रकृतयो दर्शने सम्यक्त्वे। अथ दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य च मोहनीयकर्मणो ज्ञेया इति शेष.। सम्यक्त्वस्य अज्ञानं सम्यक्त्वमोहनीयं मिथ्यात्वस्य अज्ञानं मिथ्यात्वमोहनीय मिश्रस्य मोहो मिश्रमोहनीयमिह हि सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्ररूपा जीवस्य धर्मा उच्यन्ते ।९। दर्शनमोहनीयं त्रिविधमुक्त्वा। अथ चारित्रमोहनीयभेदानाह (चरित्तेत्ति) गाथापूर्वमेवोक्ता। अथान्वयः तीर्थकरैश्चारित्रमोहनं कर्म द्विविधं व्याख्यातं चारित्रे चारित्रग्रहणे मोहयति मूढं करोति इति चारित्रमोहनम्। तत्र हि चारित्रमोहनं यत्र चारित्रफलं जानन् अपि तन्नाद्रियते तद् द्वैविध्यमाह। कषायमोहनीयं प्रथमं कषाया. क्रोधादयश्चत्वारस्तैर्मोहयतीति कषायमोहनीयम्। १ । तथा नोकषायैर्नवभिर्हास्यादिषट्कवेदत्रिकरूपैर्मोहयतीति नोकषायमोहनीयम् ।१०। तत्र यत्प्रथमं कषायजं मोहनीयं कर्म तत्षोडशविधं भवति। कषाया हि क्रोधमानमायालोभा प्रत्येकमनन्तानुबन्धा. प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानसंज्वलनरूपैश्चतुर्भिर्भेदैः षोडशभेदाः भवन्ति। अथ नोकषायज मोहनीय कर्म सप्तविधं नवविधं वा भवति हास्य १ रत्य २ रति ३ भय ४ शोक ५ जुगुप्सा ६ वेदत्रयाणां च सामान्याद्गणनया एकत्वमेव गम्यते हास्यादिषट्कं वेदश्च एव सप्तविधम्। यदा हि त्रयो वेदा पुंस्त्रीनपुंसकरूपा. गण्यन्ते तदा नवविधं नोकषायज मोहनीय भवतीत्यर्थः। ११।

अथायुष्कर्मप्रकृतीराह।

नेरइयतिरिक्खा उ, मणुस्सा उ तहेव य ।
देवा उ चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

आयुष्कर्म चतुर्विधं भवति यथा नैरयिकतिर्यगायुः निरये भवा नैरयिका. नैरयिकाश्च तिर्यञ्चश्च नैरयिकतिर्यञ्चस्तेषामायुर्नैरयिकतिर्यगायु आयुशब्दस्य प्रत्येकं संबन्ध'। तथैव तृतीय मनुष्यायुश्च पुनश्चतुर्थं देवायु.। एवं चतुर्विधमायुर्भवति ।१२।

अथ नामकर्मप्रकृतीराह।

नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं ।
सुहस्स बहुभेया, एमेव असुहस्स वि ॥

नामकर्म द्विविधं व्याख्यातं शुभं च पुनरशुभं शुभनामकर्म अशुभनामकर्म एवं द्विविधम्। तत्र शुभस्य शुभनामकर्मणो बहुभेदाः सन्ति। एवमेवाशुभस्य अशुभनामकर्मणोऽपि बहुभेदा भवन्ति। तत्र शुभस्य उत्तरोत्तरभेदतोऽनन्तभेदत्वेऽपि मध्यमापेक्षया सप्तत्रिंशद्भेदा भवन्ति ते चामी मनुष्यगति १ देवगति २ पञ्चेन्द्रियजात्यौ ३ दारिक ४ वैक्रिय ५ आहारिक ६ तैजस ७ कार्मण ८ समचतुरस्रसंस्थान ९ वज्रऋषभनाराचसंहननौ १०।११ दारिकाङ्गोपाङ्ग १२ हारकाङ्गोपाङ्ग १३ प्रशस्तवर्ण १४ प्रशस्तगन्ध-

त्येकं संबन्धात्। ध्रुवाणि बन्धोदयमस्ति यासां ता. ध्रुवबन्धोदयसत्यः (घाइइति) सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थ (पुरणत्ति) पुण्यप्रकृतयः (परियत्तत्ति) परिवृताः परावर्तमानाः। (सेयरत्ति) सेतराः सप्रतिपक्षाविपक्षयुक्ता इत्यक्षरार्थः। भावार्थोऽय ध्रुवबन्धिन्य.१ अध्रुवबन्धिन्यः२ ध्रुवोदया ३ अध्रुवोदयाः ४ ध्रुवसत्ताकाः ५ अध्रुवसत्ताकाः ६ सर्वदेशघातिन्य ७ अघातिन्यः ८ पुण्यप्रकृतयः ६ पापप्रकृतय १० परावर्तमाना ११ अपरावर्तमानाश्चेति १२। द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये (कर्म०) (अत्रत्यपीठः इह कम्मशब्दे अनुपयुक्तत्वात्स्यक्तैव व्याख्या यते) (चउव्विहविवागत्ति) चतुर्धा क्षेत्रभवपुद्गलविपाकाः प्रकृतीर्वक्ष्ये। तथा। (बंधविहत्ति) विधानानि विधा भेदाः बन्धस्य विधा बन्धविधाः प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धरसबन्धप्रदेशबन्धलक्षणांस्तान् वक्ष्ये। एष च प्रकृत्यादिस्वभावश्चतुर्विधोपकर्मणा उपादानकाल एव बध्यत इति बन्धश्चतुर्विध सिद्धो भवति। तथा ममरुकमणिन्यायेन बन्धशब्द इहापि योज्यते ततो बन्ध स्वामित्वेन वक्ष्ये। क. कस्याः प्रकृतेः स्थितेर्वा क. कस्यामस्य तीव्रमन्दादिरूपस्य कश्च कस्य प्रदेशाग्रस्य जघन्यत्वादिलक्षणस्य बन्धक इत्यादि स्वामित्वेन वक्ष्ये। चशब्दादुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यादिकं वक्ष्ये। कर्म०। पं० सं०। अथ यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात्तत्प्रथमतो ध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीर्व्याचिख्यासुराह।

> वणचउतेयकम्मा–गुरुलहुनिम्मणोवघायभयकुच्छा।
> मिच्छत्तकसायावर–णा विग्घधुवबंधि सगवत्ता॥ २॥

प्राकृतत्वाल्लिङ्गवचनव्यत्ययेन ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः (सगवत्ति) सप्तचत्वारिंशत्संख्या भवन्ति। तथा हि वर्णेनोपलक्षितं चतुष्क वर्णचतुष्क वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षण ततो वर्णचतुष्क च तैजस च कार्मण चागुरुलघु चेत्यादि द्वन्द्वे वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातभयकुत्साः। कुत्सा जुगुप्सा तथा मिथ्यात्व कषायाश्च आवरणानि च मिथ्यात्वकषायावरणानि। तत्र वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः। भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येता एकोनविंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः। आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश। विघ्नमन्तरायं दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायभेदात्पञ्चविधमित्येवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यो निजहेतुसद्भावेऽवश्यबन्धसद्भावादिति। उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः।

सांप्रतमध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीरभिधित्सुराह।

> तणुवंगागिइसंघयण–जाइगइखगइपुव्विजिणुस्सासं।
> उज्जोयायवपरघात–तसवीसा गोयवेयणियं॥ ३॥
> हासाइजुयलदुगवे–य आउतेवुत्तरिअधुवबंधा।
> भंगा अणाइसाई–अणंतसंतुत्तरा चउरो॥ ४॥

तनव शरीराणि औदारिकवैक्रियाहारकलक्षणानि ततस्तैजसकार्मणयोर्ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात् उपाङ्गानि औदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गाहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीण्याकृतय संस्थानानि समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिकुब्जवामनहुण्डाख्या षट्। संहननानि अस्थिनिचयात्मकानि वज्रऋषभनाराचऋषभनाराचनाराचार्द्धनाराचकीलिकासेवार्तलक्षणानि षट्। यावत एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियरूपा. पञ्च गतयो देवमनुष्यतिर्यङ्नारकलक्षणाश्चतस्रः। खगतिर्विहायोगति प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्विधा (पुव्वित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादानुपूर्व्यो देवानुपूर्वीमनुजानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीनरकानुपूर्वीरूपाश्चतस्रः। जिननाम तीर्थकरनाम श्वासनाम उच्छ्वासनामेत्यर्थः उद्योतनाम आतपनाम पराघातनाम (तसवीसत्ति) त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिस्त्रसदशक स्थावरदशकमित्यर्थ। गोत्रम् उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा। वेदनीय सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा। हास्यादियुगलद्विकं हास्यरत्यरतिशोकाभिधम् वेदा. स्त्रीपुंनपुंसकरूपास्त्रयः। आयूंषि देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इत्येतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयोऽध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः। एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यबन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम्। तथा हि आतप पुनरेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव पराघातोच्छ्वासनाम्नोः पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापर्याप्तनाम्नाऽतोऽध्रुवत्वं नान्यदा उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेनैव सह बध्यते आहारकद्विकजिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयमसम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम्। शेषशरीरोपाङ्गत्रिकादीनां पट्षष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वान्निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुप्रतीतमेव। उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः। कर्म०। पं० सं०।

(२१) साम्प्रतं ध्रुवबन्धिन्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् ग्रन्थलाघवार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान्बन्धमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह (भंगा अणाइसाई इत्यादि) भङ्गा भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति कथमित्याह। अनादिसादयोऽनन्तसान्तोत्तरा.। इदमुक्तं भवति। अनादिसादशब्दौ आदौ येषां ते अनादिसादयः प्राकृतत्वादादिशब्दस्य लोप अनन्तसान्तशब्दा. उत्तरे उत्तरपदे येषां तेऽनन्तसान्तोत्तरास्ते लुग्वेति सूत्रेण पदशब्दस्य लोपः। यदि वा भङ्गा अनादिसादयोऽनन्तसान्तोत्तराः सन्तश्चत्वारो भवन्ति। तद्यथा अनाद्यनन्तः १ अनादिसान्त २ साद्यनन्तः ३ सादिसान्तश्चेति ४ उक्ता भङ्गाः।

अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गका घटन्ते तानाह।

> पढमबियाइधुवउदइसु, धुववंधिसु तइयवज्जभंगतिगं।
> मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहावि अधुवा तुरिय भंगा॥५॥

प्रथमद्वितीयावनाद्यनन्तौ। अनादिसान्तलक्षणौ ध्रुवोदयासु प्रकृतिषु भङ्गकौ भवतः तथा हि न विद्यते आदिर्यस्य अनादिकालात् सन्तानभावेन सतत प्रवृत्तेः सोऽनादिरनादिस्वासाय नन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्तः। अयं च भङ्गको निर्माणस्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णचतुष्कनिर्माणज्ञानपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्कलक्षणानां षड्विंशतिप्रकृतीनां ध्रुवोदयानामभव्यानाश्रित्य वेदितव्य.। यतो भव्यानां ध्रुवोदयप्रकृत्यनुदयो न कदाचिद्भविष्यतीति। तथा अनादिश्चासौ सान्तश्चानादिसान्तः। तत्र ज्ञानपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात्सन्तानभावेनानादि सन् यदा क्षीणमोहचरमसमये उदयो व्यवच्छिद्यते तदा अयमनादिसान्तभङ्गक। निर्माणस्थिरास्थिरगुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णचतुष्कलक्षणानां द्वादशानामपि नामध्रुवोदयप्रकृतीनां

सन्तानोदयेनानादिरस्यो भूत्वा सयोगिकेवलिचरमसमये यदोदयव्यवच्छेदमनुभवति तदा नादिसान्तभङ्गकः स्यात् । ध्रुवबन्धिनीषु पूर्वोक्तस्वरूपासु सप्तचत्वारिंशत्संख्यासु तृतीयवर्जभङ्गत्रिकं भवति । तथा हि यो बन्धोऽनादिकालादारभ्य सन्ताननाभावेन सततं प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमागतो न चोत्तरकाले कदाचिद् व्यवच्छेदमाप्स्यते सोऽनादिरनन्तोऽभव्यानामेव भवति । यस्य पुनरनादिकालात्सततं प्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेदं प्राप्स्यति असावनादिसान्तोऽयं भव्यानाम् । सादिरनन्तलक्षणस्तु तृतीयभङ्गकः शून्य एव न हि यो बन्धः सादिर्भवति स कदाचिदनन्तः सम्भवतीति तृतीयभङ्गकवर्जनम् । यः पुनः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पुनर्बन्धनेन सादित्वमासाद्य कालान्तरे भूयोऽपि व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽयं सादिसान्तः इत्येवंस्वरूपं सादिरनन्तलक्षणतृतीयशून्यभङ्गवर्जितभङ्गकत्रयं ध्रुवबन्धिनीषु भवति । सूत्रेऽपि पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । प्राकृते लिङ्गव्यभिचारोऽपि भवति यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे लिङ्गं व्यभिचार्यपीति । तत्र प्रथमभङ्गकस्तासां सर्वासामप्यनाद्यभव्य एव ध्रुवबन्धिनीः प्रति तद्बन्धस्यानाद्यनन्तत्वादिति । द्वितीयभङ्गकस्तु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात्सन्तानभावेनानादिसन्तबन्धसम्परायचरमसमये यदा बन्धो व्यवच्छिद्यते तदा भवति । आसामेव चतुर्दशप्रकृतीनामुपशान्तमोहे यदा अबन्धकत्वमासाद्यायुःक्षयेणाद्धाक्षयेण वा प्रतिपतितः सन् पुनर्बन्धेन सादित्वं विधाय भूयोऽपि सूक्ष्मसम्परायचरमसमये बन्धव्यवच्छेदं विधत्ते तदा सादिसान्तलक्षणश्चतुर्थः । चतुर्दशानां च प्रकृतीनां तृतीयभङ्गको न लभ्यत इति सञ्ज्वलनकषायचतुष्कस्य तु सदैवानादिबन्धभावो यदा तत्प्रथमतया अनिवृत्तिबादरादौ बन्धव्यवच्छेदं विधत्ते तदाऽनादिसान्तस्वभावस्तस्य द्वितीयो भङ्गः । यदा ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धेन सञ्ज्वलनबन्धं सादिं कृत्वा पुनरपि कालान्तरेऽनिवृत्तिबादरादिभावं प्राप्तः सन् तान् न भन्त्स्यति तदा सादिसान्तस्वरूपः सञ्ज्वलनचतुष्कस्य चतुर्थ इति । निद्राप्रचलातैजसकार्मणवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणभयजुगुप्सास्वरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामनादिकालादनादिबन्धं विधाय यदा अपूर्वकरणाद्धायां यथास्थानं बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयो भङ्गकः । यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति । चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां बन्धो देशविरतगुणस्थानकं यावदनादिस्ततः प्रमत्तादौ बन्धोपरमात्सान्त इति द्वितीयो भङ्गः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुनः प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गकः । अप्रत्याख्यानावरणानामविरतसम्यग्दृष्टिं यावदनादिबन्धं कृत्वा यदा देशविरतादौ अबन्धको भवति तदा द्वितीयः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बध्नाति पुनस्तेषां यदा देशविरतेऽबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति । मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिनां तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयः । पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति भूयोऽपि बन्धं न विधत्ते तदा चतुर्थः । इत्येवं ध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकत्रयनिरूपणमिति । तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गाः । अनाद्यनन्ता १ अनादिसान्त २ सादिसान्त ३ स्वभावास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानां यतस्तेषां न कदाचिन्मिथ्यात्वोदयविच्छेदः समपादि सम्पत्स्यति चेति । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टेः प्रथमतया सम्यक्त्वलाभे मिथ्यात्वस्याभावात् सादिसान्तः पुनः प्रतिपतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये सम्पन्ने पुनरपि सम्यक्त्वलाभान्मिथ्यात्वोदयाभावे सम्भवतीति (दुहा वि अधुवा तुरिअभंगत्ति) द्विधापि द्विभेदा अपि बन्धमाश्रित्योदयमाश्रित्याध्रुवा अध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवोदयाश्चेत्यर्थः । तुरीयश्चतुर्थो भङ्गः सादिसान्तलक्षणो यासां ता तुरीयभङ्गा भवन्ति । तत्राध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तस्वरूपाणां त्रिसप्ततिसंख्याप्रभृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षणः एक एव भङ्गो भवति । तथाऽध्रुवोदयानामुदयः सद्धादिना उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयभवनस्वभावेन वर्तत इति सादिः । सादिश्चासौ सान्तश्च पुनरुदयव्यवच्छेदात्सपर्यवसानश्च सादिसान्तस्ततश्चाध्रुवोदयानामयमेवैको भङ्गो भवति नान्यो ध्रुवत्वादेवेति भावः । उक्ताः सप्रायार्था ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतयः प्रसङ्गतो ध्रुवाध्रुवोदयानां प्रकृतीनां भङ्गकाश्च ।

सम्प्रति ध्रुवोदयप्रकृतिविभागनिरूपणायाह ।

निमिण थिराथिर अगुरुल-हु सुहअसुह तेअकम्म चउवन्ना ।
नाणंतरायदंसण-मिच्छं धुवउदयसगवीसा ॥ ६ ॥

(निमिणत्ति) प्राकृतत्वान्निर्माणं स्थिरास्थिरम् (अगुरुत्ति) अगुरुलघु शुभाशुभं तैजसं कार्मणं चतुर्वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणमित्येता द्वादश नाम्नो ध्रुवोदया ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनचतुष्कं मिथ्यात्वमिति सप्तविंशतिप्रकृतयो ध्रुवोदया नित्योदयाः सर्वासामपि स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदव्यवच्छिन्नोदयत्वादिति अभिहिता ध्रुवोदया प्रकृतयः ।

इदानीमध्रुवोदयाः प्रकृतीराह ।

थिरसुभियर विणु अधुव-बंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निदोवघायमीसं, सम्मं अ पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥

इतरशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् स्थिरेतरशुभेतरप्रकृतिचतुष्कं विना स्थिरमस्थिरं शुभमशुभं विना शेषा एकोनसप्ततिसंख्या अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयस्तथा हि तैजसकार्मणवर्जं शरीरत्रिकमङ्गोपाङ्गत्रयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं जातिपञ्चकं गतिचतुष्कं विहायोगतिद्विकमानुपूर्वीचतुष्कं जिननाम उच्छ्वासनाम उद्योतमातपं पराघातं त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिरूपमुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं सातासातवेदनीयं हास्यरती अरतिशोकौ स्त्रीपुंनपुंसकरूपं वेदत्रयमायुश्चतुष्कमिति । तथा मिथ्यात्वं विना मोहध्रुवबन्धिन्योऽष्टादश तद्यथा षोडश कषायाः भयं जुगुप्सा निद्रापञ्चकमुपघातनाम मिश्रं सम्यक्त्वमिति पञ्चनवतिरध्रुवोदया व्यवच्छिन्नस्याप्युदयस्य पुनरुदयसद्भावादिति । यद्येवं मिथ्यात्वस्याप्यध्रुवोदयतैव युज्यते सम्यक्त्वप्राप्तौ व्यवच्छिन्नस्यापि तदुदयस्य मिथ्यात्वगमने पुनः सद्भावादित्यत्रोच्यते आसां च प्रकृतीनां येषु गुणस्थानकेषु गुणप्रत्ययतोऽद्याप्युदयव्यवच्छेदो न विद्यते अथवा द्रव्यक्षेत्रकालापेक्षया तेष्वेव गुणस्थानकेषु कदाचिदसौ भवति कदाचिन्नेति ता एवाध्रुवोदया यथाभिप्राया मिथ्यादृ-

ष्टेरारभ्य क्षीणमोहं यावदुदयो व्यवच्छिन्नो वर्तते । अथ च न सततमसौ भवतीति मिथ्यात्वस्य तु नेद लक्षण यतस्तस्य यत्र प्रथमगुणस्थानके नाद्याप्युदयव्यवच्छेदस्तत्र सततोदय एव न कादाचित्क इति ध्रुवोदयतैव तस्येति । उक्तमध्रुवोदयप्रकृतिद्वारम् । कर्म० ।

सम्प्रति ध्रुवसत्ताकाध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयं निरूपयन्नाह ॥

तसवन्नवीससग–तेयकम्मधुववंधिसेसवेयतिगं ।
आगिइतिगवेयणियं, दुजुयलसगउरलसासचउ ॥८॥
खगइतिरियदुगनीयं, धुवसत्तासम्ममीसमणुयदुगं ।
विउव्विकारजिणाउ, हारसगुच्चा अधुवसत्ता ॥ ९ ॥

इह विंशतिशब्दस्य प्रत्येक योगात्त्रसविंशतिश्च तत्र त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिस्तथा हि त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिनामेति त्रसदशकम् । स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनामेति स्थावरदशकमुभयमीलने त्रसविंशतिरियमुच्यते । वर्णविंशतिरियं कृष्णनीललोहितहरितसितवर्णभेदात्पञ्च वर्णाः । सुरभ्यसुरभिगन्धभेदेन द्वौ गन्धौ तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात्पञ्च रसाः । गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शभेदादष्टौ स्पर्शाः । सर्वमीलनेन वर्णविंशतिरित्युच्यते वर्णेनोपलक्षिता विंशतिरिति कृत्वा (सगतेयकम्मत्ति) तैजसकार्मणसप्तकं (कर्म०) (धुववधिसेसत्ति) वर्णचतुष्कतैजसकार्मणस्योक्तत्वाच्छेषा एकचत्वारिंशत् ध्रुवबन्धिन्यः । तथा हि अगुरुलघुनिर्माणोपघातभयजुगुप्सामिथ्यात्वकषायषोडशकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरण – नवकान्तरायपञ्चकमिति । वेदत्रिकं स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणम् । [आगिइतिगत्ति] "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइइत्यादि" संज्ञा गाथोक्तमाकृतित्रिक गृह्यते । तत आकृतय संस्थानानि षट् संहननानि षट् जातयः पञ्चेत्येवमाकृतित्रिकशब्देन सप्तदश भेदा गृह्यन्ते वेदनीय सातासातभेदात् द्विधा । द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगल हास्यरत्यरतिशोकरूपं [सगउरलत्ति] औदारिकसप्तकम् औदारिकशरीरं १ दारिकोङ्गापाङ्गं २ दारिकसंघातनं ३ दारिकवन्धनं ४ दारिकतैजसबन्धनं ५ दारिककार्मणवन्धनं ६ दारिकतैजसकार्मणबन्धनरूपम् ७ (सासचउत्ति] उच्छ्वासचतुष्कमुच्छ्वासोद्योतातपपराघाताख्यम् [खगइतिरिदुगत्ति] द्विकशब्दस्य प्रत्येक सबन्धात् खगतिद्विकं प्रशस्तविहायोगत्यप्रशस्तविहायोगतिलक्षणं तिर्यग्गतिद्विक तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूप [नीयत्ति] नीचैर्गोत्रमित्येतास्त्रिंशदुत्तरशतसंख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका अभिधीयन्ते ।

ध्रुवसत्ताकत्व चासां सम्यक्त्वलाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात् । अथानन्तानुबन्धिनां कषायाणामुज्ज्वलनसंभवादध्रुवसत्ताकतैव युज्यते अतः कथं ध्रुवसत्ताकप्रकृतीनां त्रिंशदधिकशतसंख्या संगच्छते मैवं वाच्यो यतोऽवाप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानामेव जीवानामेतद् द्विसयोगो न सर्वजीवानामध्रुवसत्ताकता वा न चातोत्तरगुणजीवापेक्षयैव चिन्त्यते अतोऽनन्तानुबन्धिनां ध्रुवसत्ताकतैव । यदि चोत्तरगुणप्राप्त्यपेक्षया अध्रुवसत्ताकता कक्षीक्रियते तदा सर्वासामपि प्रकृतीनां स्यात्रानन्तानुबन्धिनामेव यतः सर्वा अपि प्रकृतयो यथास्थानमुत्तरगुणेषु सत्सु सत्ताव्यवच्छेदमनुभवन्त्येवेति । तथा(सम्मत्ति) सम्यक्त्वमिश्र मनुजद्विक मनुजगतिमनुजानुपूर्वीरूपम् । (विउव्विकारत्ति) वैक्रियैकादशक देवगति १ देवानुपूर्वी २ नरकगति ३ नरकानुपूर्वी ४ वैक्रियशरीर ५ वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ६ वैक्रियसघातन ७ वैक्रियवैक्रियबन्धन ८ वैक्रियतैजसबन्धन ९ वैक्रियकार्मणबन्धन १० वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन ११ जिननामायुश्चतुष्कम् (हारसगत्ति) प्राकृतत्वादाकारलोपः आहारकसप्तकम् । आहारकशरीर१हारकाङ्गोपाङ्ग२हारकसघाता ३ हारकबन्धना४ हारकतैजसबन्धना ५ हारककार्मणबन्धना ६ हारकतैजसकार्मणबन्धनाख्यम् ७ उच्चैर्गोत्रमित्येता अष्टाविंशतिसंख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका उच्यन्ते । अयमिह भावार्थः सम्यक्त्वं मिश्र वा अभव्यानां प्रभूतभव्यानां च सत्तायां नास्ति केषांचिदस्तीति । तथा मनुष्यद्विक वैक्रियैकादशकमित्येतास्त्रयोदश प्रकृतयस्तेजोवायुकायिकजीवमध्यगतस्योद्वर्तनाप्रयोगेण सत्तायां न लभ्यन्ते तत इतरस्य तु भवति । तथा वैक्रियैकादशकमसंप्राप्तत्रसत्वस्य संबन्धाभावाद्विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभाव गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते तदन्यस्य संभवत्यपि । तथा सम्यक्त्वहेतौ सत्यपि जिननाम कस्यचिद्भवति कस्यचिन्नेति । तथा देवनारकायुषी स्थावराणां तिर्यगायुष्कं त्वहमिन्द्राणां देवानां मनुजायुष्कत्वं पुनस्तेजोवायुसप्तमपृथिवीनारकाणां सर्वैथैव तद्बन्धाभावात्सत्तायां न लभ्यते अन्येषां तु सम्भवत्यपि । तथा संयमे सत्यपि आहारकसप्तकं कस्यचित्तद्बन्धसद्भावे सत्तायां स्यात्तदभावे कस्यचिन्नेति । तथोच्चैर्गोत्रमसंप्राप्तत्रसत्वस्य संबन्धाभावाद्विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्ताया न लभ्यते तेजोवायुकायिकजीवमध्यगतस्योद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्तायां न लभ्यते इतरस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता । उक्त ध्रुवसत्ताकाध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयम् । कर्म० ।

संप्रतिगुणस्थाकेषु कासांचित्प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवसत्तां गाथात्रयेण निरूपयन्नाह ।

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइ दसगे वा । १ ।

प्रथमा आद्यास्त्रयस्त्रिसंख्या गुणा गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणास्तेषु प्रथमत्रिगुणेषु मिथ्यात्व मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृतिर्नियमान्निश्चयेन सद्विद्यमानं सत्तायां प्राप्यत इत्यर्थः । अयताद्यष्टके अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसपरायोपशान्तमोहलक्षणेषु अष्टगुणस्थानेषु भाज्यं विकल्पनीय कदाचित् मिथ्यात्व सत्तायामस्ति कदाचिन्नास्ति । तथा हि अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति उपशमिते त्वस्ति सास्वादने खलु नियमेन (सम्मति) सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनमोहनीयलक्षणा प्रकृति सद्विद्यमान सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थः । यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयावशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकावशिष्टायां सास्वादनो लभ्यते । तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैवासावितिं भावः । मिथ्यात्वादिदशके मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसंख्येषु वा विकल्पेन भजनया सम्यक्त्वं सत्तायां स्याल्लभ्यते स्यान्न वेति । तथा हि मिथ्यादृष्टौ जीवनादिर्याद्विंशतिसत्कर्मण्युद्वलितसम्यक्त्वपुञ्जे वा मिश्रे उद्वलितसम्यग्दर्शने अविरतादौ चोपशान्तमोहान्ति क्षीणसप्तके सम्यग्दर्शनमोहनीय सत्तायां न प्राप्यते अन्यत्र सर्वत्र लभ्यत इति ।

सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अणनियमा, भइया मीसाइनवगम्मि । ११ ।

सास्वादन च मिश्र च सास्वादनमिश्र तयोः सास्वादनमिश्रयो । बहुत्व च प्राकृतवशात् यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादा द्विवचनस्य बहुवचनं यथा "हत्था पाया" इत्यादौ । सास्वादनगुणस्थाने सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने चेत्यर्थः । ध्रुवमवश्यभावेन मिश्रं सम्यग्मिथ्यादर्शनमोहनीय सदिति पूर्वोक्तगाथातो ममरुकमणिन्यायादिहापि सवध्यते । इदमत्र हृदयम् । सास्वादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति मिश्रस्त्वष्टाविंशतिसत्कर्मा विसयोजितसम्यक्त्व सप्तविंशतिसत्कर्मा उद्वलितानन्तानुबन्धिचतुष्कश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा वा तत एतेषु सत्तास्थानकेषु मिश्र सत्ताऽवश्य लभ्यते षड्विंशतिसत्कर्मा तु मिश्रो न सभवत्येव मिश्रपुञ्जस्य सत्तोदयाभ्या व्यतिरेकेण मिश्रगुणस्थानकाप्राप्तेरिति मिथ्यात्वादि नवसु सास्वादनसम्यग्मिथ्यात्वरहितेषु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वित्यर्थ । भजनया विकल्पेन मिश्रं स्यात्सत्तायामस्ति स्यान्नेति । किमुक्त भवति यो मिथ्यादृष्टि षड्विंशतिसत्कर्मा ये वाऽविरतिसम्यग्दृष्ट्यादय उपशान्तमोहान्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तेषु मिश्रं सत्ताया नावाप्यते अन्यत्र प्राप्यत इति । तथा आद्यद्विके प्रथमगुणस्थानकयुगले मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानकद्वय इत्यर्थ. (अणत्ति) अनन्तानुबन्धिन प्रथमकषाया' क्रोधमानमायालोभाख्या नियता अवश्यभावेन सत्तायामवाप्यन्ते । यतो मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्टी नियमेनानन्तानुबन्धिनो बध्नाति इति भावः । तथा भाज्या भक्तव्या विकल्पनीया मिश्रादिनवके सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वनन्तानुबन्धिनः सत्तामाश्रित्य भक्तव्या इत्यर्थ. । इयमत्र भावना । विसयोजितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्कर्मण' सम्यग्मिथ्यादृष्टे. क्षीणसप्तकस्यैकविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिरहितचतुर्विंशतिसत्कर्मणो वद्धविरतसम्यग्दृष्ट्यादेरनन्तानुबन्धिनः सत्तायां न सन्ति तदितरस्य तु सन्तीति । एतच्च शेषकर्मग्रन्थाभिप्रायेणोक्तम् । कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण पुन श्रीशिवशर्मसूरिपादा एवमाहुः ।

बीयतइएसु मीस, नियमा ठाणनवगम्मि भइयव्वं ।
संजोयणा उ नियमा, दुसु पचसु हुति भइयव्वा ॥

पूर्वार्द्ध सुगमं चोत्तरार्द्धस्येयमक्षरगमनिका । संयोजयत्यात्मनोऽनन्तकालमिति " रम्यादिभ्य. कर्तरी " त्यनट् प्रत्यये संयोजना । अनन्तानुबन्धिकषाया. । तु' पुनरर्थे नियमा न द्वयोर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनयो सत्तामाश्रित्य भवन्ति यत एतावस्यामनन्तानुबन्धिनौ बध्नीत इति पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृतिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु सत्तां प्रतीत्य भक्तव्याः । यदि उद्वलितास्ततो न सन्ति इतरथा तु सन्तीत्यर्थः । तदुपरितनेषु पुनरपूर्वकरणादिषु सर्वथैव तत्सत्ता नास्ति यतस्तदभिप्रायेण विसयोजितानन्तानुबन्धिकषाय एवोपशमश्रेणिमपि प्रतिपद्यत इति ।

आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छे, अंतमुहुत्तं भवे तित्थे । १२ ।

आहारकसप्तकमाहारकशरीरा१हारकाङ्गोपाङ्गा२हारकसघातना ३ हारकबन्धना ४ हारकतैजसबन्धना ५ हारककार्मणबन्धना ६ हारकतैजसकार्मणबन्धनलक्षणं ७ वा विकल्पेन भजनया सर्वगुणेषु सर्वगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्ययोगिकेवलपर्यवसानेषु । सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात्ततश्च सर्वगुणस्थानकेषु विकल्पनया सत्तां प्रतीत्याहारकसप्तक प्राप्यते । इदमत्र हृदयम् । योऽप्रमत्तसयतादिः संयमप्रत्ययादाहारकसप्तकबन्ध समारोहति, यश्च कश्चिदविशुद्धाध्यवसायवशादुपरितनगुणस्थानकेभ्योऽधस्तनगुणस्थानकेषु प्रतिपतति स आहारकसप्तकं न बध्नात्येव तद्बन्धं विनैवोपरितनगुणस्थानकेष्वभ्यारोहति तदधस्तनेषु सत्तायां नावाप्यते इति तथा (विति गुणेविणा तित्थति) कोलिकनक्रकन्यायेन सर्वगुणेषु चेत्यत्रापि संबन्धनीयं सर्वगुणस्थानकेषु द्वितीयतृतीयगुणस्थानके विना सास्वादनमिश्रगुणस्थानकरहितेषु द्वादशस्वित्यर्थ. । वा विभाषया भजनया तीर्थकरनाम सत्तायां प्राप्यत इति । कश्चिच्च बद्धतीर्थकरनामकर्माऽप्यविशुद्धिवशात् मिथ्यात्वमपि गच्छति तदा सास्वादनमिश्ररहितेषु द्वादशगुणस्थानकेषु तीर्थकरनामकर्म सत्तायामवाप्यते तीर्थकरनामसत्ताको हि मिश्रसास्वादनभाव न प्रतिपद्यते स्वभावादेवेति तद्वचनात् । यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये " तित्थयरेण विहीण, सीयालसय तु सतए होइ । सासणयम्मि उ गुणे, संगमीसे य पयमीणं " । यः पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वेऽपि सति तन्न बध्नाति तस्य सर्वगुणस्थानकेषु सत्त्वात् न लभ्यते यतोऽनयो' संयमसम्यक्त्वलक्षणस्वप्रत्ययसद्भावेऽपि बन्धाभावान्नावश्य सत्तासभवः । यदुक्त कर्मप्रकृतिसग्रहण्याम् (आहारगातित्थयरा भजन्ति) आहारकसप्तकतीर्थकरनाम्नी सत्ता प्रतिभाज्येति भावः । एवमाहारकसप्तके तीर्थकरनामनि च प्रत्येक सत्तारूपेणावतिष्ठमाने मिथ्यादृष्टिरपि जन्तुर्भवतीति । निश्चितमुभयसत्तायामसौ भवति न वेति विनेयाशङ्कायामाह (नोभयं सते मिच्छेत्ति) नो नैवोभयस्याहारकसप्तकतीर्थकरनामलक्षणद्विकस्य सत्वे सद्भावे सति (मिच्छेत्ति) मिथ्यादृष्टिर्भवेत् कोऽर्थ. उभयसत्तायां मिथ्यात्व न गच्छतीति भावः । नर्हि केवलतीर्थकरनामसत्तायां कियन्तं काल मिथ्यादृष्टिर्भवतीत्याह । (अतमुहुत्त भवे तित्थेत्ति) अन्तर्मुहूर्तमन्तर्मुहूर्तमात्रकाल भवेज्जायेत (मिच्छेत्ति) इत्यस्यात्रापि सबन्धान्मिथ्यादृष्टिर्भवतीति क सतीत्याह (तित्थेत्ति) तीर्थकरनामकर्मणि सत्तायां वर्तमाने इति गम्यते । इदमुक्त भवति यो नरके बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा सस्तत्रोत्पित्सुरवश्यं सम्यक्त्वं परित्यजति उत्पत्तिसमनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्य सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तस्यायमुक्तप्रमाण. ? लो लभ्यते इति उक्त सप्रतिपक्षं ध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारम् । ६.भ० ।

(२२)अधुना सप्रतिपक्षं सर्वदेशघातिप्रकृतिद्वार प्रतिपादयन्नाह ।

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा वारसाइमकसाया ।
मिच्छत्ति सव्वघाई, चउनाणतिदसणावरणा ॥१३॥
संजलणनोकसाया,विग्घं इय देसघाइ य अघाई ।
पत्तेय तणुट्ठाऊ, तसवीसा गोयदुगवन्ना ॥ १४ ॥

केवलजुगल केवलज्ञानकेवलदर्शनरूप तस्यावरणे आच्छादके कर्मणी केवलजुगलावरणे केवलज्ञानावरण केवलदर्शनावरणं चेत्यर्थ.। पञ्च निद्रा.। निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ ऽप्रचला ४ स्त्यानर्द्धिरूपा ५ द्वादशेति संख्या आदिमकषाया सज्वलनापेक्षया प्रथमकषाया क्रोधमानमायालोभनामैकैकशोऽनन्तानुबन्ध्य १ प्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरणलक्षणनामत्रयेण द्वा-

शघात्व मिथ्यात्वमित्यनेन प्रदर्शितप्रकारेण सर्वमपि स्वावार्य
णं घातयन्तीत्येवंशीलाः सर्वघातिन्यो विंशतिसंख्या भवन्ती-
क्षरार्थो भावार्थः पुनरयम् इह केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्य-
वलज्ञानलक्षणो गुणः स च यद्यपि सर्वात्मनाऽऽव्रियते तथापि
र्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते तदा-
रणे तस्य सामर्थ्याभावात् यदाहुः श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः ।
सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ
चिट्ठइत्ति" कथं तर्हि सर्वघातित्वमिति चेदभिधीयते । यथा अ-
बहुलजलदपटलेन सातितरामुन्नतेन बहुतराया आवृतत्वात्स-
ऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभा तेनावृतेति वचनरचना प्रवर्तते । अ-
त्रापि काचित्प्रभा प्रसरति । "सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा
दसूराण मिति" वचनादनुभवसिद्धत्वाच्च तथाऽऽपि प्रबलके-
लज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवा-
ते । यदि पुनस्तदप्यावृणुयात्तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् ।
दुक्तम् नन्दध्ययने " जइ पुण सो वि आवरिज्ज तो णं
वो अजीवत्तणं पाविज्ज " सोऽपि चावशिष्टोऽनन्तभागो ज-
पटलानावृतदिनकरप्रसर इव कटकुड्यादिभिर्मतिश्रुतावधिमन-
र्ययज्ञानावरणैराव्रियते तदा काचिन्निगोदावस्थायामपि ज्ञान-
त्राऽवतिष्ठते । अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात्मतिज्ञानादिविषयभूतां-
चार्थान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणोदयो न भवति किं
र्हि मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । केवलदर्शनावरणस्य सम-
तवस्तुस्तोमसामान्यावबोधः आवार्यस्तं सर्वं हन्तीति सर्वघात्य-
भिधीयते तदनन्तभागं त्विदमपि सामर्थ्याभावान्नावृणोति सोऽ
चानावृतोऽनन्तभागश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणैराव्रियते शे-
ो जलधरदृष्टान्तादवार्यस्तथैव यच्चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्था-
पश्यति स केवलदर्शनावरणोदयो न भवति किं तर्हि चक्षुर्द-
नावरणाद्युदय एवेति । यद्येवं तर्हि केवलज्ञानावरणकेवलदर्श-
ावरणक्षये सत्यपि मतिज्ञानादिचक्षुर्दर्शनादिविषयाणामर्थाना-
ववोधो न प्राप्नोति भिन्नज्ञानविषयत्वादिति चेत् तदयुक्तम् ।
च्यते केवलालोकलाभे शेषावबोधलाभान्तर्भावात् ग्रामलाभे
त्रलाभो ग्राम लाभान्तर्भाववदिति । निद्रापञ्चकमपि सर्ववस्त्व-
वोधमावृणोतीति सर्वघाति । यत्पुनः स्वापावस्थायामपि कि-
ञ्चित् किञ्चिच्चेत्ति तत्र धाराधरनिदर्शनं वाच्यम् । तथाऽनन्तानुब-
न्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा. प्रत्याख्यानावरणाश्च प्रत्येकं चत्वा-
रो यथाक्रमं सम्यक्त्वदेशविरतिचारित्रं सर्वविरतिचारित्रं स-
र्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषायाः । यः पुनस्तेषां
प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिविरमणमुपलभ्यते तत्र वारिवाहह-
ष्टान्तो वाच्य । तथा मिथ्यात्वं तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानस्वरूपं
सम्यक्त्वं सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति । यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि
मनुष्यपश्वादिवस्तुश्रद्धानं तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति
भाविताः सर्वघातिन्यः । संप्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते[चउना
णतिदंसणावरणत्ति] आवरणशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धान्मति-
ज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यायज्ञानावरणल-
क्षणं दर्शनावरणत्रिकं चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणाव-
धिदर्शनावरणरूपमिति । संज्वलनाश्चत्वारः क्रोधमानमाया-
लोभाः । नोकषाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीवेदपुवेदन-
पुंसकवेदस्वरूपा नवपञ्चविधमन्तरायं दानलाभभोगोपभोग-
वीर्यान्तरायलक्षणमित्यमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्यः पञ्च-
विंशतिसंख्याः भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयं मतिज्ञानाव-
रणादिचतुष्कं केवलज्ञानावरणावृतं ज्ञानदेशं हन्तीति देशघा-

तीदमुच्यते । मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यन्नाव-
बुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव तद्विषयभूतांस्त्वनन्त-
गुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति । चक्षु-
रचक्षुरवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणानावृतकेवल-
दर्शनैकदेशमावृण्वन्तीति देशघातीनि । तथा हि चक्षुरचक्षुर-
वधिदर्शनविषयभूतानेवार्थान् एव तदुदयान्न पश्यति तद्वि-
षयभूतांस्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समी-
क्षते । तथा संज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य
देशमेव घ्नन्तीति देशघातिनस्तेषां मूलोत्तरगुणानामतीचारज-
नकत्वात् । यदवादि श्रीमदाराध्यपादैः । " सव्वे वि य अइ-
यारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति । मूलविज्जं पुण होइ, बा-
रसण्ह कसायाणं " मिति दानान्तरायादीनि पञ्चान्तराया-
ण्यपि देशघातीन्येव तथा हि दानलाभभोगोपभोगानां ताव-
द् ग्रहणधारणयोग्यान्येव द्रव्याणि विषयस्तानि च समस्तपु-
द्गलास्तिकायस्यानन्तभागरूपे देश एव वर्तन्ते । अतो यदुदया-
त्तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि यद्दातु लब्धु भोक्तु-
मुपभोक्तुं च न शक्नोति तानि दानलाभभोगोपभोगान्तरा-
याणि तावद्देशघातीन्येव । यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न
ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते न तद्दानान्तरायाद्युदयात् ।
किं तु तेषामेव ग्रहणधारणाविषयत्वेनाशक्यानुष्ठानत्वादिति
मन्तव्यम् । वीर्यान्तरायमपि देशघात्येव सर्वं वीर्यं न घातय-
तीति कृत्वा तथा हि सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मणोऽभ्यु-
दये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमनकर्मदलिकग्रहणगत्यन्तरग-
मनादिविषय एतावान् वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते न-
त्क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवमादौ कृत्वा यावत्क्षीणमो-
हस्तावद्वीर्यमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं च तारतम्याद्भवतीति ।
केवलिनश्च तत्कर्मक्षयसंभूतं सर्वं वीर्यं भवतीति देशघाती-
दम् । यदि पुनः सर्वघाति स्यात्तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषा-
यद्वादशकस्य च उदये तदावीर्यं सम्यक्त्वगुणं देशसर्वसंयम-
गुणं च जघन्यमपि न लभ्यते तथैव तदुदयेऽपि तदा वीर्यं
जघन्यमपि वीर्यगुणं न लभेत न चैवमस्ति तस्मादिदमपि दे-
शघातीति स्थितमित्युक्ताः सर्वदेशघातिन्यः । सम्प्रति तत्प्रतिप-
क्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह (अघाईइत्यादि) अघा-
तिन्य एताः पञ्चसप्ततिसंख्याः प्रकृतयोऽभिधीयन्ते तद्यथा
(पत्तेयत्ति) प्रत्येक प्रकृतयः पराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरु-
लघुतीर्थकरनिर्माणोपघातरूपा अष्टौ (तणुट्ठत्ति) तनवा श-
ब्देनोपलक्षितमष्टक " तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपु-
व्वित्ति " लक्षणं तन्वष्टकं तत्र तनव औदारिकवैक्रियाहारक-
तैजसकार्मणलक्षणाः पञ्च । उपाङ्गानि त्रीणि । आकृतयः सं-
स्थानानि षट् । संहननानि षट् । जातयः पञ्च । गतयश्चतस्रः ।
खगती द्वे । पूर्व्यानुपूर्व्यश्चतस्रः । एवं तन्वष्टके प्रकृतयः पञ्चाशि-
शत् । आयूंषि चत्वारि । त्रसविंशतिस्त्रसदशकस्थावरदशक-
मीलनात् (गोयदुगत्ति) गोत्रशब्देनोपलक्षितं द्विकं (गोय-
वेयणीयमिति) गाथांशेन प्रतिपादितं गोत्रमुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्र-
मिति । सातासातभेदाद्वेदनीयं द्विधा । तदेवं गोत्रद्विकशब्देन
प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते (वन्नत्ति) वर्णगन्धरसस्पर्शाख्याः
श्चतस्रः प्रकृतयो गृह्यन्ते इत्येता प्रकृतयोऽघातिन्यो न कंचन
ज्ञानादिगुणं घातयन्तीति कृत्वा केवलं सर्वदेशघातिनीभिः सह
वेद्यमाना एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाकं दर्शयन्ति ।
देशघातिनीभिः सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसं यथा स्वयम-

उत्तराति] तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं " तणुवगागिइसंघयण " इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कं तत्र तैजसकार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः औदारिकवैक्रियाहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेव तनुचतुष्कशब्देन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते । उपघातं साधारणमितरञ्च तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं [जोयतिगंति] 'उज्जोयायवपरघाइत्ति' वचनादुद्योतातपपराघातलक्षणमित्येताः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः [पुग्गलविवागत्ति] पुद्गलेषु शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाक उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः । तथा हि निर्माणस्थिरास्थिराद्युदयाच्छरीरतया परिणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्तास्थ्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शि प्रभृतीनां शुभत्वं पादानामशुभत्वमित्यादि तदुदयाच्छरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ते अङ्गोपाङ्गोदयाच्च शिरोग्रीवाद्यवयवविभागो जायते आकृतिनामोदयात्तेष्वेवाकारविशेषाः संपद्यन्ते संहननोदयात्तेषामेव वज्रऋषभनाराचादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति । उपघातसाधारणप्रत्येकोद्योतातपादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात्सुप्रतीतमेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति । उक्ताश्चतुर्विधविपाकाः प्रकृतय । कर्म० । पं० सं० । इह पुद्गलविपाकिनीनामौदयिकभावत्वमुक्तं ततस्तत्प्रसङ्गेन शेषप्रकृतीनामपि यथासंभवं भावानभिधित्सुराह ।

मोहस्सेव उवसमो, खाओवसमो चउण्ह घाईणं ।
खयपरिणामियउदया, अट्टण्ह वि होंति कम्माणं ॥

अष्टानां कर्मणां मध्ये मोहस्यैव मोहनीयस्यैवोपशमो विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भण नान्येषामुपशमश्चेह सर्वोपशमो विवक्षितो न देशोपशमस्तस्य सर्वेषामपि कर्मणां संभवात् । तथा उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेणानुदयावलिकाप्रविष्टस्योपशमेन विपाकोदय निरोधलक्षणेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः । स च चतुर्णामेव घातिकर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायरूपाणां भवति न शेषकर्मणां चतुर्णामपि च केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहितानां तयोर्विपाकोदयविष्कम्भाभावतः क्षयोपशमासंभवात् । क्षयपारिणामिकौदयिकभावा अष्टानामपि कर्मणां भवन्ति । तत्र क्षय आत्यन्तिकोच्छेदः स च मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमये शेषाणां तु त्रयाणां घातिकर्मणां क्षीणकषायगुणस्थानस्य अघातिकर्मणामयोगिकेवलिनः । तथा परिणमनं परिणाम परिणाम एव पारिणामिकः जीवप्रदेशैः सह संवलतया मिथोभावनमिति भावः । यद्वा तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालाध्यवसायापेक्षया तथा तथा संक्रमादिरूपतया यत्परिणमनं स पारिणामिको भावः । उदयस्तु प्रतीत एव सर्वेषामपि संसारिजीवानामपि कष्टानामपि कर्मणामुदयदर्शनात् । एष चात्र तात्पर्यार्थः मोहनीयस्य क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकौदयिकपारिणामिकलक्षणाः पञ्चापि भावाः संभवन्ति । ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामौपशमिकवर्जाः शेषाश्चत्वारः नामगोत्रवेदनीयायुषां क्षायिकौदयिकपारिणामिकलक्षणास्त्रय इति ।

सम्प्रति यस्मिन् भावे ये गुणाः प्रादुष्षन्ति तत्र तानुपदर्शयन्नाह ।

सम्मत्ताइ उवसमे, खाओवसमे गुणा चरित्ताई ।
खइए केवलमाई, तब्बवएसो उ ओदइए ॥

उपशमे मोहनीयस्यौपशमिके भावे जाते सति सम्यक्त्वादिः सम्यक्त्वमौपशमिकमादिशब्दाच्चारित्रं च सर्वविरतिरूपमौपशमिक भवति चतुर्णां घातिकर्मणां क्षायोपशमिके भावे वर्तमाने गुणाश्चारित्रादयो ज्ञानदर्शनलाभादयः प्रादुष्षन्ति । तत्र चारित्र देशविरतिरूपं सर्वविरतिरूप वा सर्वविरतिरूपमिति सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिक सूक्ष्मसंपराय वा यथाख्यात तस्योपशमे क्षये वा संभवात् । ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायलक्षण न केवलज्ञानं तस्य क्षायिकत्वात् । दर्शन चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूप तत्रेदं चिन्त्यते न केवलदर्शनमपि तस्य क्षायिकत्वात् । सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकं सुप्रतीतम् दानलाभादयो दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि । आह ज्ञानदर्शने परित्यज्य किमिति चारित्रादयो गुणा इति अभिहितम् ? उच्यते चारित्रसद्भावे ज्ञानदर्शनयोरवश्यंभाव इति ज्ञापनार्थं तथा क्षायिके भावे ज्ञाने सति केवलादयः केवलज्ञानकेवलदर्शनचारित्रज्ञानलब्ध्यादयः । तत्र ज्ञानावरणक्षये केवलज्ञानं दर्शनावरणक्षये केवलदर्शनं मोहनीयक्षये चारित्रमन्तरायक्षये दानादिलब्धयः सकलकर्मक्षयपरिनिर्वृतत्वमिति औदयिके पुनर्भावे विजृम्भमाणे तेन तेनौदयिकेन भावेनैव व्यपदेशो भवति यथा प्रबलज्ञानावरणोदये अज्ञानी प्रबलदर्शनावरणोदये अन्धो बधिर एकाक्षचेतनाविकल इत्यादि वेदनीयोदये सुखी दुःखी वा । क्रोधाद्युदये क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादि । नामोदये नारकतिर्यङ्मनुष्यदेव एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियस्त्रसो बादरः पर्याप्त इत्यादि । उच्चैर्गोत्रोदये क्षत्रियपुत्रोऽयं श्रेष्ठिपुत्रोऽयमित्येवमसौ कार प्रशंसागर्भो व्यपदेशो नीचैर्गोत्रोदये वेश्यासुतोऽयं श्वपाकोऽयमित्यादिरूपतया निन्दागर्भो व्यपदेशः । अन्तरायोदये अदाता अलाभी अभोगीत्यादि ।

सम्प्रति पारिणामिकभावगतविशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

नाणंतरायदंसण–वेयणियाणं तु भंगया दोन्नि ।
साइअपज्जवसाणो, वि होइ सेसाण परिणामो ॥

ज्ञानावरणान्तरायदर्शनावरणवेदनीयानामपवादापेक्षया सामान्यतः पारिणामिके भावे चिन्त्यमाने द्वौ भङ्गौ लभ्येते । तद्यथा अनाद्यपर्यवसानोऽनादिपर्यवसानश्च । तत्र अभव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानस्तथा हि जीवकर्मणोरनादिः संबन्ध इत्यादेरभावादनादिर्मुक्तिगमनसमये च व्यवच्छेदात्सपर्यवसानः । अभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसान तथानादित्वभावना प्राग्वत् । अपर्यवसानत्वं कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात् शेषकर्मणां मोहनीयायुर्नामगोत्राणां परिणामः सादिपर्यवसानोऽपि भवति । आस्तामनाद्यपर्यवसानोऽनादिपर्यवसानरूप इत्यपिशब्दार्थः । इह गाथापूर्वार्द्धे तुशब्दो भिन्नक्रमत्वादुत्तरार्द्धे सेसाणेत्यत्र योज्यते स च विशेषार्थसंसूचकत्वादमु विशेषं सूचयति । मोहनीयायुर्नामगोत्राणां काश्चिदेवोत्तरप्रकृतीरधिकृत्यायं सादिपर्यवसानलक्षणस्तृतीयो भङ्गः प्राप्यते । काश्चित्पुनरधिकृत्य पूर्वोक्तावेव द्वौ भङ्गौ तथा ह्यौपशमिकसम्यक्त्वावाप्तौ सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः संभव । पञ्चेन्द्रियत्वप्राप्तौ वैक्रियषट्कस्य सम्यक्त्वप्राप्तौ तीर्थकरनाम्नः संयमावाप्तावाहारकद्विकस्येति सादिपर्यवसानता अनन्तानुबन्धिमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रादीनामुद्वलितानामपि भूयोऽपि बन्धसंभवादायुःप्रकृतीनां च पर्यायेण भवनात् स्फुटैव सादिपर्यवसानता । अप्रत्याख्यानक्रोधादीनां दिकदारिकादिर्नीचैर्गोत्रप्रकृतीनां पुनरुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य भव्यानामनादिसपर्यवसान अभव्यानामनाद्यपर्यवसान इति द्वावेव भङ्गौ । यद्यपि

मूलप्रकृतिविषया प्रत्येकं चिन्ता तदाप्येतावेव द्वौ भङ्गाविति । आह क्षायोपशमिको भावः कर्मणामुदये सति भवत्यनुदये वा ? न तावदुदये विरोधात् । तदाहि क्षायोपशमिको भाव उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सत्यनुदितस्य चोपशमे विपाकोदय विष्कम्भलक्षणे प्रादुर्भवति नान्यथा ततो यद्युदयः कथं क्षयोपशमः क्षायोपशमश्चेत्कथमुदय इति । अथानुदय इति पक्षस्तथा सति किं तेन क्षायोपशमिकेन भावेन उदयाभावादेव विवक्षितफलसिद्धेः । तथा हि मतिज्ञानादीनि ज्ञानावरणाद्युदयाभावादेव सेत्स्यन्ति किं क्षायोपशमिकभावपरिकल्पनेन । उच्यते उदये क्षायोपशमिको भावो न च तत्र विरोधो यत आह । " उदये व्वि य अविरुद्धो खाअवसमो अणेगभेउ त्ति " जइ भवइ तिण्ह एसो, पदेसउदयम्मि मोहस्स " इह ज्ञानावरणीयादीनि कर्माण्यासर्वक्षयात् ध्रुवोदयानि ततस्तेषामुदय एव क्षयोपशमो घटते नानुदये उदयाभावे तेषामेवासंभवात् तत उदय एव विरुद्धः क्षायोपशमिको भावः । यदपि विरोधोद्भावनं कृतं यद्युदयः कथं क्षयोपशम इत्यादि तदप्ययुक्तं देशघातिस्पर्द्धकानामुदये ऽपि कतिपयदेशघातिस्पर्धकापेक्षया यथोक्तक्षयोपशमाविरोधात् स च क्षयोपशमो नैकभेदस्तत्र द्रव्यक्षेत्रकालादिसामग्रीतो वैचित्र्यसम्भवादनेकप्रकारः । उदय एव वा विरुद्ध एव क्षायोपशमिको भावो यदि भवति तर्हि न सर्वप्रकृतीनां किं तु त्रयाणामेव कर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां मोहनीयस्य तर्हि का वार्तेति चेदत आह । मोहस्य मोहनीयस्य प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावो विरुद्धो न विपाकोदये यतोऽनन्तानुबन्ध्यादिप्रकृतयः सर्वघातिन्यः सर्वघातिनीनां च रसस्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि सर्वघातीन्येव न देशघातीनि सर्वघातीनि च रसस्पर्द्धकानि स्वघात्य गुण सर्वात्मना घ्नन्ति न देशतस्तेषां विपाकोदयेन क्षयोपशमसंभवः किं तु प्रदेशोदये । ननु प्रदेशोदयेऽपि कथं क्षायोपशमिकभावसंभवः ? सर्वघातिरसस्पर्द्धकप्रदेशानां सर्वस्वघात्यगुणघातनस्वभावत्वात्तदयुक्तम वस्तुतत्वापरिज्ञानात् ते हि सर्वघातिरसस्पर्धकप्रदेशास्तथाविधाध्यवसायविशेषतो मनाग्मन्दानुभावीकृत्यविरलविरलतया वेद्यमानदेशघातिरसस्पर्द्धकेष्वन्तः प्रवेशिता न यथावस्थितमात्ममाहात्म्यं प्रकटयितुं समर्थास्ततो न ते क्षयोपशमहन्तार इति न विरुध्यते प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावः " अणेगभेउ त्ति " इत्यत्रेतिशब्दस्याधिकस्याधिकार्थसंसूचनात् मिथ्यात्वाद्यद्वादशकषायवर्जितानां शेषमोहनीयप्रकृतीनां प्रदेशोदये विपाकोदये वा क्षयोपशमोऽविरुद्ध इति द्रष्टव्यम् । तासां देशघातित्वात् तत्राप्ययं विशेषस्ताः शेषा मोहनीयप्रकृतयो ध्रुवोदयास्तथो विपाकोदयाभावे क्षायोपशमिके भावे विजृम्भमाणप्रदेशोदयसंभवेऽपि न ता मनागपि देशविघातिन्यो भवन्ति विपाकोदये तु प्रवर्तमाने क्षायोपशमिकभावे मनाग्मालिन्यमात्रकारित्वाद्देशघातिन्यो भवन्ति ॥ २६ ॥

इह प्रकृतीनामौदयिको भावो द्विधा भवति तद्यथा शुद्धः क्षायोपशमिकानुविद्धश्च । तत्र एतद्व्यक्तीकरणाय प्रथमतः स्पर्द्धकप्ररूपणामाह ।

चउतिट्ठाणरसाइं, सव्वघाईणि होंति फड्डाइं ।
दुट्ठाणि याणि मीसाणि, देसघाईणि सेसाणि ॥२७॥

रसस्पर्द्धकानि कर्मप्रकृतिसंग्रहाधिकारे बन्धनकरणेऽनुभागबन्धावसरे स्वरूपतोऽभिधास्यन्ते तानि चतुर्धा तद्यथा एकस्थानकानि द्विस्थानकानि त्रिस्थानकानि चतुःस्थानकानि च । अथ किमिदं रसस्यैकस्थानकत्वद्विस्थानकत्वादि उच्यते । इह शुभप्रकृतीनां रसः क्षीरखण्डादिरसोपमोऽशुभप्रकृतीनां तु निम्बघोषातक्यादिरसोपमः वक्ष्यति च " घोसायइनिंबुवमो, असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो" । क्षीरादिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानक उच्यते द्वयोस्तु कर्षयोरावर्तने कृते सति योऽवशिष्यते एकः कर्षः स द्विकस्थानकः त्रयाणां कर्षाणामावर्तने कृते सति एकः कर्षोऽवशिष्टः त्रिस्थानकश्चतुर्णां कर्षाणामावर्तने कृते सत्युद्धरितो य एकः कर्षः स चतुःस्थानकः । एकस्थानकोऽपि च रसो जललवबिन्दुचुलकप्रसृत्यञ्जलिकरककुम्भद्रोणादिप्रक्षेपान्मन्दमन्दतरादिभेदत्वं प्रतिपद्यते । एवं द्विस्थानकादयोऽपि । तथा कर्मणामपि चतुःस्थानकादयो रसा भावनीयाः प्रत्येकमनन्तरभेदभिन्नाश्च कर्मणां चैकस्थानकरसात् द्विस्थानकादयो रसा यथोत्तरमनन्तगुणाः । वक्ष्यति च । "अनंतगुणिया कमे नियरे" तत्र सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां वा प्रकृतीनां यानि चतुःस्थानकरसानि त्रिस्थानकद्विस्थानकरसानि वा स्पर्द्धकानि तानि सर्वघातिनीनां सर्वघातीन्येव देशघातिनीनां तु मिश्राणि कानिचित् सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि । शेषाणि त्वेकस्थानकरसानि स्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि देशघातीन्येव तानि च देशघातिनीनां संभवन्ति न सर्वघातिनीनां कृता स्पर्द्धकप्ररूपणा ॥२७॥

संप्रति यथौदयिको भावः शुद्धो भवति यथा च क्षयोपशमानुविद्धस्तथोपदर्शयति ।

निहएसु सव्वघाई, रसेसु फड्डेसु देसघाईणं ।
जीवस्स गुणा जायं–ति ओहिमणचक्खुमाई य ॥२८॥

अवधिज्ञानावरणप्रभृतीनां देशघातिनां कर्मणां सम्बन्धिषु सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु तथाविधविशुद्धाध्यवसायविशेषबलेन निहतेषु देशघातिरूपतया परिणामितेषु देशघातिरसस्पर्द्धकेष्वपि चातिस्निग्धेष्वल्परसकृतेषु तेषां मध्ये कतिपयरसस्पर्द्धकगतस्योदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये शेषस्य चोपशमे विपाकोदयविष्कम्भरूपे सति जीवस्यावधिमनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनादयो गुणाः क्षायोपशमिका जायन्ते प्रादुर्भवन्ति । किमुक्तं भवति । यदा अवधिज्ञानावरणीयादीनां देशघातिनां कर्मणां सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि विपाकोदयमागतानि वर्तन्ते तदा तद्विषय औदयिक एक एव भाव केवलो भवति । यदा तु देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदयस्तदा तदुदयादौदयिको भावः कतिपयानां च देशघातिरसस्पर्द्धकानां सम्बन्धिन उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये शेषस्य चानुदितस्योपशमे क्षायोपशमिक इति क्षयोपशमानुविद्ध औदयिकभाव । मतिश्रुतावरणचक्षुर्दर्शनावरणप्रकृतीनां तु सदैव देशघातिनामेव रसस्पर्द्धकानामुदयो न सर्वघातिनां तेन सर्वदापि तासामौदयिकक्षायोपशमिकौ भावौ सम्मिश्रौ प्राप्येते न केवल औदयिकः । इह प्राक् प्रकृतीनां रसश्चतुरादिस्थानक उक्तस्तत्प्रसङ्गेन सम्प्रति यासां प्रकृतीनां यावन्ति बन्धमधिकृत्य रसस्पर्द्धकानि भवन्ति तासां तावन्ति निर्दिदिक्षुराह ।

आवरणमसव्वग्घं, पुंसंजलणंतरायपगडीओ ।
चउठाणपरिणयाओ, दुतिचउठाणरसा उ सेसा उ ॥

आवरणं ज्ञानावरणं दर्शनावरण च । तत्कथम्भूतमित्याह असर्वघ्नं सर्वं ज्ञानं दर्शनं वा हन्तीति सर्वघ्नं सर्वघातिनां च प्र-

क्रमात् केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं च । न विद्यते सर्वघ्नं यत्र तत् असर्वघ्नं केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहितमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति केवलज्ञानावरण च जातिविशेषाणि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणलक्षणानि-चत्वारि ज्ञानावरणानि केवलदर्शनावरणवर्जानि, शेषाणि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणरूपाणि त्रीणि दर्शनावरणानि । तथा (पुसजलणतरायत्ति) पुरुषवेद चत्वारः संज्वलनक्रोधादयः पञ्चविधमन्तराय दानान्तरायादि सर्वसंख्यया सप्तदश प्रकृतयश्चतुःस्थानपरिणता एकद्वित्रिचतुःस्थानकरसपरिणताः प्राप्यन्ते । बन्धमधिकृत्यासामेकस्थानको द्विस्थानकः त्रिस्थानकः चतुःस्थानको वा रसः प्राप्यते इति भावः । तत्र यावन्नाद्यापि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते जन्तवस्तावदासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनां यथाध्यवसायसंभव द्विस्थानकं चतुःस्थानकं वा रसं बध्नन्ति । श्रेणिं तु प्रतिपन्ना अनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु सत्सु ततः प्रभृत्येतासां प्रकृतीनां शुभत्वादत्यन्त विशुद्धाध्यवसाययोगतः एकस्थानकं रसं बध्नन्ति तत एव बन्धमधिकृत्य चतुःस्थानपरिणता प्राप्यन्ते शेषास्तु सप्तदशव्यतिरिक्ता शुभा अशुभा वा (दुतिचउट्ठाणाउत्ति) बन्धमधिकृत्य द्विस्थानकरसास्त्रिस्थानकरसाश्चतुःस्थानकरसाश्च न तु कदाचनाप्येकस्थानकरसाः । कथमेतदवसेयमिति चेत् इह द्विधा प्रकृतय । तद्यथा शुभा अशुभाश्च तत्र शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धसंभवोऽनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो नार्वाग् तथाऽध्यवसायस्थानासंभवात् परतोऽप्युक्तरूपाः सप्तदश प्रकृतीर्व्यतिरिच्य शेषा अशुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति तद्बन्धहेतुव्यवच्छेदात् । येऽपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणे बन्धमायातस्तयोरपि सर्वघातित्वात् द्विस्थानक एव रसो बन्धमागच्छति नैकस्थानकः सर्वघातिनीनां जघन्यपदेऽपि द्विस्थानकरसबन्धसंभवात् । यास्तु शुभाः प्रकृतयस्तासामत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानश्चतुःस्थानकमेव रसं बध्नाति न त्रिस्थानकं द्विस्थानकं वा मन्दमन्दतरविशुद्धौ तु वर्तमानस्त्रिस्थानकं वा बध्नाति द्विस्थानकं वा । यदाऽत्यन्तविशुद्धसंक्लेशाद्धायां वर्तते तदा तस्य शुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति कुतस्तत्तद्रसस्थानचिन्ता । या अपि च नरकगतिप्रायोग्य बध्नतोऽतिसंक्लिष्टस्यापि वैक्रियतैजसादिका प्रकृतयो बन्धमायान्ति तासामपि तथा स्वाभाव्यात् द्विस्थानकस्यैव रसस्य बन्धो नैकस्थानकस्य यत्तश्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति परमिह प्रस्तावादुक्तम् तत इह शेषप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धासंभवात् समिचीनमुक्तम् । द्वित्रिचतुःस्थानपरिणताः शेषा प्रकृतयः इति । तदेवमुक्तानि विभागशः प्रकृतीनां रसस्थानानि ॥ २८ ॥

सम्प्रति यानि रसस्थानानि येभ्यः कषायेभ्यः उपजायन्ते तानि तथोपदर्शयति ।

उप्पलभूमीवालुय–जलरेहासरिससंपराएसु ।
चउठाणाई असुहाण, सेसयाणं तु वच्चासो ॥ २९ ॥

अशुभानामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानादिकः चतुःस्थानकः त्रिस्थानको द्विस्थानक एकस्थानकश्च रसो बन्धमायाति यथाक्रममुपलभूमिवालुकाजलरेखासदृशेषु संपरायेषु कषायेषु । इयमत्र भावना । उपल• पाषाणस्तद्रेखासदृशैरनन्तानुबन्धसंज्ञैः संपरायैः सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानकरसबन्धः क्रियते दिनकरातपशोषितनागभूरेखासदृशैः प्रत्याख्यानसंज्ञैस्त्रिस्थानकरसबन्धः सिकताकणसंहतिगतरेखासदृशैः प्रत्याख्यानावरणसंज्ञैर्द्विस्थानकरसबन्धो जलगतरेखासदृशैः संज्वलनसंज्ञैरेकस्थानकरसबन्धः संभवति । चतुर्थपादे तुशब्दस्याधिकार्थसूचनात् पूर्वोक्तानामेव सप्तदशसंख्यानामवसेयो न सर्वाशुभप्रकृतीनाम् (सेसयाणं तु वच्चासो इति) शेषाणां शुभप्रकृतीनां व्यत्यासो विपर्यासो बोद्धव्यः स चैवमुपलरेखासदृशैः कषायैर्द्विस्थानकरसबन्धो दिनकरातपभूरेखासदृशैस्त्रिस्थानकरसबन्धः सिकतागतरेखासदृशैश्चतुःस्थानकरसबन्धः ॥ २९ ॥

संप्रति रसस्वरूपमेव शुभाशुभप्रकृतीनामुपमाद्वारेण प्ररूपयति।

घोसाडइनिंबुवमो, असुहाण सुभाण खीरखंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो, अणंतगुणिया कमेणियरे ॥ ३० ॥

अशुभानामशुभप्रकृतीनामेकस्थानको रसो घोषातकीनिम्बोपमो घोषातकीनिम्बरसोऽतीवविपाककटुक इति भाव । शुभानां शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थानकरसः शुभप्रकृतीनां द्विस्थानकरसबन्धो न भवति एतच्च प्रागेव भावितमतो यद्यप्येकस्थानको रस इत्युभयत्रापि साम्येनोक्तं तथापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थानकएकस्थानकशब्देनोक्तो वेदितव्यः स क्षीरखण्डोपमः क्षीरखण्डमरसोपमः परममनःप्रह्लादहेतुरिति । यावत् तस्माच्च एकस्थानकात् रसादितरे द्विस्थानकादयो रसाः क्रमेण अनन्तगुणिता भवगन्तव्याः । तद्यथा एकस्थानकाद् द्विस्थानकोऽनन्तगुणस्तस्मादपि त्रिस्थानकोऽनन्तगुणः ततोऽपि चतुःस्थानकोऽनन्तगुणः । इयमत्र भावना इहैकस्थानकोऽपि रसो मन्दतरादिभेदादनन्तभेदत्वं प्रतिपद्यते एव प्रत्येकं द्विस्थानकादयोऽपि । एतच्च प्रागपि सप्रपञ्चमुदितं तत्राशुभप्रकृतीनां यः सर्वजघन्य एकस्थानको रसः स निम्बघोषातकीरसोपमः । यश्च शुभप्रकृतीनां सर्वजघन्यो द्विस्थानकरसः स क्षीरखण्डादिरसोपमः शेषाणि त्वशुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसोपेतानि शुभप्रकृतीनां तु द्विस्थानकरसोपेतानि स्पर्धकानि यथोत्तरमनन्तगुणान्यवसेयानि ततोऽप्यशुभप्रकृतीनां द्विस्थानकत्रिस्थानकचतुःस्थानकानि शुभप्रकृतीनां त्रिस्थानकचतुःस्थानकानि रसस्पर्धकानि क्रमेणानन्तगुणानि भावनीयानि तदेवमुक्तं सकलमपि प्रसक्तानुप्रसक्तम् ।३०।

संप्रति द्वारगाथाचशब्दसूचितं यत् प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवसत्ताकत्व तदभिधित्सुराह ।

उच्चं तित्थं सम्मं, मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि ।
मणुदुगआहारदुगं, अट्ठारस अधुवसत्ता उ ॥ ३१ ॥

उच्चैर्गोत्र तीर्थकरनाम सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियषट्कं नरकायुःप्रभृतीनि चत्वार्यायूंषि मनुष्यद्विकं मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीलक्षणमाहारद्विकमाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गरूपमित्येता अष्टादश प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका अध्रुवाः कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न भवन्ति इत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताकाः । तथा हि उच्चैर्गोत्र वैक्रियषट्कमित्येताः सप्त प्रकृतयोऽप्राप्तत्रसत्वावस्थायां न भवन्ति त्रसत्वे तु प्राप्ते भवन्ति । यद्वा त्रसत्वावस्थायां बद्धा अपि स्थावरभाव गतेनावस्थाविशेषं प्राप्योद्वल्यन्ते ततोऽध्रुवसत्ताकाः । तथा सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं च यावन्नाद्यापि तथा भव्यत्वं परिपाकमायाति तावन्न भवति तथा भव्यत्वपरिपाकसंभवे च भवति प्राप्ते वा सम्यक्त्वे मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्युद्वल्यते अभव्यानां च तत्सर्वथा न

भवति ततस्तदप्यध्रुवसत्ताकं तीर्थकरनामसम्यक्त्वे तथाविधविशुद्धिविशेषसमन्विते भवति । आहारकद्विकमपि तथारूपे संयमे सति बन्धमायाति न तदभावे । अपि च बद्धमपि तदा विरतिप्रत्ययतो भूयोऽप्युद्वर्त्तते मनुष्यद्विकमपि तेजोभवे वायुभवे वा गतेनोद्वर्त्यते ततस्तीर्थङ्करनामादीन्यप्यध्रुवसत्ताकानि । देवभवे नारकायुर्नारकभवे देवायुरानतादिदेवानां तिर्यगायुस्तेजोवायुभवे सप्तमपृथिवीनारकभवे वा मनुष्यायुर्न सत्तायामिति चत्वार्यप्यायूंषि अध्रुवसत्ताकानि शेषास्तु त्रिंशदुत्तरशतसंख्याकाः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताकाः । आह अनन्तानुबन्धिनामपि कषायाणामुद्वलनासंभवादध्रुवसत्ताकतैव युज्यते कथमुक्ता ध्रुवसत्ताकता ? तदप्ययुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । इह यानि कर्माणि प्रतिनियतामेवावस्थामधिकृत्य बन्धमायान्ति न सर्वकालं यानि च विशिष्टगुणावाप्तिमन्तरेण तथाविधभवप्रत्ययादिकारणवशत उद्वलनयोग्यानि भवन्ति तान्यध्रुवसत्ताकान्यभिप्रेतानि विशिष्टगुणप्रतिपत्तिं सत्ताक्षयात् विशिष्टगुणप्रतिपत्त्या सर्वेषामपि कर्मणां सत्ताच्छेदसंभवात् । अनन्तानुबन्धिनश्चानवाप्तसम्यक्त्वादिगुणानां सर्वजीवानामप्यविशेषेण सकलकालं विद्यन्ते उद्वलना च तेषां विशिष्टसम्यक्त्वादिगुणप्रतिपत्तिनिबन्धना न सा सामान्यभवादिप्रत्यया ततो न ते अध्रुवसत्ताकाः । इहोच्चैर्गोत्रादीनि कर्माणि विशिष्टावस्थाप्रतिबद्धानि बन्धसंभवात्तथाविधविशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण चोद्वलनयोगादध्रुवसत्ताकानि भवन्ति नान्यथा ॥ ३१ ॥

तत एतत्प्रसङ्गतः श्रेण्यारोहाभावे या उद्वलनयोग्याः प्रकृतयस्तासां परिमाणमाह ।

पढमकसायसमेया, एयाओ आउतित्थवज्जाओ ।
सत्तरसुव्वलणाओ, तिगेसु गइआणुपुव्वीओ ॥ ३२ ॥

एता एवानन्तरोक्ता अष्टादश प्रकृतय आयुश्चतुष्टयतीर्थकरनामवर्जाः प्रथमकषायसमेता अनन्तानुबन्धिचतुष्टयसहिताः सप्तदश उद्वलनयोग्या वेदितव्याः । यास्तु शेषाः षट्त्रिंशत्प्रकृतय उद्वलनयोग्यास्ताः श्रेण्यारोहे एव नान्यत्र ततो नेह प्रतिपादिताः किं त्वग्रे प्रदेशसंक्रमाधिकारे वक्ष्यन्ते । तथा यत्र कुत्रापि देवत्रिकं मनुष्यत्रिकमित्येवं त्रिकमुपादीयते तत्र तत्र तद्गतिस्तदानुपूर्वी तदायुरिति त्रिकमवगन्तव्यम् । तदेवमुक्ताः सप्रतिपक्षाः ध्रुवसत्ताकाः प्रकृतयः ।

संप्रति द्वारगाथोपन्यस्तानां ध्रुवबन्ध्यादिपदानामर्थं स्पष्टयितुकाम आह ।

नियहेउसंभवे वि हु, भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं ।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयनिजबंधा उ ॥ ३३ ॥

यासां प्रकृतीनां निजबन्धहेतुसंभवेऽपि बन्धो भजनीयो विकल्पनीयो भवति यथा कदाचिद्भवति कदाचिन्न ता अध्रुवा अध्रुवबन्धिन्यस्ताश्चेमास्तद्यथा नरकद्विकमाहारकद्विकं गतिचतुष्टयं जातिपञ्चकं विहायोगतिद्विकमानुपूर्वीचतुष्टयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं त्रसादिविंशतिरुच्छ्वासनाम तीर्थकरनामातपनाम उद्योतनाम पराघातनाम सातासातवेदनीये आयुश्चतुष्टयं द्विविधं गोत्रं हास्यरतिशोका वेदत्रयमिति एता हि त्रिसप्ततिसंख्याकाः प्रकृतयो निजबन्धहेतुसंभवेऽपि नावश्यं बन्धमायान्ति तथा हि पराघातोच्छ्वासनाम्नोरविरत्यादिनिजबन्धहेतुसंभवेऽपि यदा पर्याप्तकनाम बध्यते तदा बन्धमायातो नाम पर्याप्तकनाम । यन्धकाले आतपनामाप्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिबन्धे बन्धमागच्छति न शेषकालम् । तीर्थकरस्याहारकद्विकस्य च यथाक्रमं सम्यक्त्वे संयमे च सामान्यतो निजबन्धहेतौ विद्यमानेऽपि कदाचिदेव बन्धः शेषाणामपि नरकद्विकादीनां सप्रतिपक्षप्रकृतीनां स्वबन्धहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावः सुप्रतीत एव तदेताः सर्वा अप्यध्रुवबन्धिन्यः याः पुनर्निजबन्धहेतुसद्भावे सत्यभजनीयबन्धा अवश्यभाविबन्धास्ता ध्रुवबन्धिन्यो मतिज्ञानावरणीयाद्यस्ताश्च प्रागेव प्रतिपादिताः ॥ ३३ ॥

(३४) सम्प्रति ध्रुवोदयानां प्रकृतीनामर्थमभिधित्सुः प्रथमत उदयहेतुमुपदर्शयति ।

दव्वं खेत्तं कालो, भवो य भावो य हेयवो पंच ।
हेउसमासेणुदओ, जायइ सव्वाण पगईणं ॥ ३४ ॥

इह सर्वासां प्रकृतीनां सामान्येन पञ्च उदयहेतवस्तद्यथा द्रव्यं क्षेत्रं कालो भवश्च भावश्च । तत्र द्रव्यं कर्मपुद्गलरूपं यद्वा बाह्यं किमपि तथाविधमुदयप्रादुर्भावनिमित्तं यथा श्रूयमाणदुर्भाषितभाषापुद्गलद्रव्यं क्रोधोदयस्य क्षेत्रमाकाशं कालः समयादिरूपो भवो मनुष्यादिभवः भावो जीवस्य परिणामविशेषः । एते च नैकैकश उदयहेतवः किं तु समुदितास्तथा चाह हेतुसमासेन समुदायेन तत्स्वरूपाणां द्रव्यादीनां हेतुना समासेन समुदायेन जायते सर्वासां प्रकृतीनामुदयः केवलं क्वापि द्रव्यादिसामग्री कस्याश्चित्प्रकृतेरुदयहेतुरिति न हेतुत्वव्यभिचारः । उक्ता उदयहेतवः ॥ ३४ ॥

सम्प्रति ध्रुवत्वमुदयमधिकृत्य चिन्तयन्नाह ।

अव्वोच्छिन्नो उदओ, जाणं पगईण ता धुवोदइया ।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदयो ताओ ॥ ३५ ॥

यासां प्रकृतीनां स्वोदयकालव्यवच्छेदावधिं यावदव्यवच्छिन्नोऽनुसन्तत उदयस्ता ध्रुवोदयाः मतिज्ञानावरणादयः । यासां पुनः प्रकृतीनां व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि हु निश्चितं तथाविधद्रव्यादिसामग्रीविशेषरूपं हेतुं सम्प्राप्य भूयोऽप्युदय उपजायते ता अध्रुवोदयाः सातवेदनीयादयः ॥ ३५ ॥

सांप्रतं सर्वघात्यसर्वघातिशुभाशुभलक्षणमाह ।

असुहसुभत्तणघाइ-त्ताणाइ रसभेयओ मुणिज्जाहि ।
सविसयघायणभेए-ण वा वि घाइत्तणं नेयं ॥ ३६ ॥

अशुभत्वं शुभत्वं च घाति सर्वदेशभेदभिन्नं प्रकृतीनां रसभेदतो मन्तव्यम् । तथा हि या विपाकदारुणकटुरसाः प्रकृतयस्ता अशुभाः यास्तु जीवप्रमोदहेतुरसोपेतास्ताः शुभाः । तथा याः सर्वथा सर्वघातिरसस्पर्द्धकान्विताः ताः सर्वघातिन्यो यास्तु देशघातिरसस्पर्द्धकान्वितास्ता देशघातिन्यः । प्रकारान्तरेण सर्वघातित्वं च प्रतिपादयति सविषयो ज्ञानादिलक्षणो गुणस्तस्य यत्पातनं तस्य यो भेदो देशकार्त्स्न्यविषयस्तेन वाशब्दः पक्षान्तरद्योतने अपिः समुच्चये घातित्वं सर्वघातित्वं देशघातित्वं च ज्ञेयं सर्वस्वविषयघातिन्यः सर्वघातिन्यः स्वविषयैकदेशघातिन्यो देशघातिन्य एतच्च प्रागेव भावितमिति न भूयो भाव्यते ॥ ३६ ॥ इह रसभेदतः प्रकृतीनां सर्वघातित्वं देशघातित्वं च ज्ञेयमतो रसमेव सर्वदेशघातित्वेन प्ररूपयति ।

जो घाएइ सविसयं, सयलं सो होइ सव्वघाइ रसो ।
निच्छिद्दो निद्धो तणु, फलिहब्भहारअइविमलो ॥ ३७ ॥

यः स्वविषयं ज्ञानादिकं सकलमपि घातयति स्वकार्यसाधनं प्रत्यसमर्थं करोति स रसः सर्वघाती भवति स च ताम्रभाजन-

षत् निश्छिद्रो घृतमिवातिशयेन स्निग्धः द्राक्षावत्तनुकस्तनुप्रदेशोपचितः स्फाटिकाभ्रहारवच्चातीव निर्मलः। ईदृ रस. केवलो न भवति ततो रसस्पर्द्धकसघात एवरूपो द्रष्टव्यः ॥ ३७ ॥

देशघातिरसस्वरूपमाह ।

देसविघाइत्तणओ, इयरो कमकंबलंसुसंकासो ।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य ।।३८।

इतरो देशघाती देशघातित्वात्स्वविषयैकदेशघातित्वाद्भवति एष विविधबहुछिद्रभृतस्तद्यथा कश्चिद्वंशदलनिर्मापितकट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसकुल. कश्चित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसकुल. कोऽपि पुनस्तथाविधमसृणवासोवदतीवसूक्ष्मविवरसंवृतः (कडकवलसुसंकास) इति कटो वंशदलनिर्मापितः, कम्बल ऊर्णामयः अंशुक वस्त्रं तत्सकाशस्तथा स्वरूपतोऽल्पस्नेहः स्तोकस्नेहो विभागसमुदायरूपोऽविमलश्च नैर्मल्यरहितश्चेति गाथार्थ ॥ ३८ ॥

अघातिरसस्वरूपमाह ।

जाणं न विसओ घाइ–त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो।
जायइ घाइसगासेण–चोरया चेव चोराणं ॥ ३९ ॥

यासां प्रकृतीनां घातित्वे घातित्वमधिकृत्य न कोऽपि विषयः न किमपि याः प्रकृतयो ज्ञानादिक गुणं घातयन्तीत्यर्थः।तासामपि घातिसकाशेन सर्वघातिप्रकृतिसपर्कतो जायते सर्वघाती रस.। अत्रैव निदर्शनमाह। यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता॥३९॥ संप्रति यदुक्तम् प्राग् देशघातिक तत्संज्वलननोकषायाणां विभावयन्नाह ।

घाइखओवसमेणं, सम्मचरित्ताइ जाइ जीवस्स ।
ताणं हणंति देसं, संजलणा नोकसाया य ।। ४० ।।

मिथ्यानन्तानुबन्ध्यादीनां क्षयोपशमेन ये जाते जीवस्य सम्यक्त्वचारित्रे तयोर्देशमेकदेशविपाकोदयं प्राप्ताः सन्तः सज्वलना. क्रोधादयो नोकषाया हास्यादयो घ्नन्ति मालिन्यमावमुत्पादयन्तीति भावः । तत संज्वलना नोकषायाश्च देशघातिनः । एव ज्ञानदर्शनदानादि लब्ध्येकदेशघातित्वान्मतिज्ञानावरणीयादयोऽपि प्रकृतयो देशविघातिन्यो भावनीया. ॥ ४० ॥

सप्रति परावर्तमानप्रकृतीनां लक्षणमाह ।

विनिवारिय जा गच्छइ, बंधं उदयं च अन्नपगईए ।
सा हु परियत्तमाणी, अणिवारेंती अपरियत्ता ॥ ४१ ॥

या प्रकृतिरन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदय वा निवार्य स्वयं बन्धमुदय वा गच्छति सा हु निश्चितं परावर्तमानाश्च सर्वसख्यया एकनवतिस्तद्यथा निद्रापञ्चकं सातासातवेदनीयौ षोडश कषायाः वेदत्रयं हास्यरत्यारतिशोका आयुश्चतुष्टय गतिचतुष्टयं जातिपञ्चकमौदारिकद्विक वैक्रियद्विकमाहारद्विक षट् सहननानि षट् स्थानानि चतस्र आनुपूर्व्यो विहायोगतिद्विकमातपनाम उद्योतनाम त्रसादिविंशति उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्र च । कथमेता. परावर्तमाना इति चेदुच्यते इह यद्यपि षोडश कषायाः पञ्च निद्राश्च ध्रुवबन्धित्वात् युगपदपि बन्धमायान्ति न परस्परसजातीयप्रकृतिबन्धनिरोधपुरस्सर तथापि यदोदयमयन्ते तदा सजातीयप्रकृत्युदय विनिवार्यैव नान्यथा तत एता एकविंशतिरपि प्रकृतय. उदयमधिकृत्य परावर्तमानाः स्थिरशुभास्थिराशुभप्रकृतयो युगपदप्युदयमश्नुवते परं स्थिरशुभे अस्थिराशुभबन्धमस्थिराशुभे स्थिरशुभबन्ध निरुध्य तमपेक्ष्यैताः परावर्तमानाः शेषास्तु गत्यादयो बन्धमुदयं वा सजातीयप्रकृतिबन्धोदयनिरोधतः प्रपद्यन्ते ततस्ता उभयथापि परावर्तमानाः ॥ ४१ ॥

संप्रति विपाकतश्चतुर्धेति तदुक्तं तद्व्याख्यानयन्नाह ।

दुविहा विवागओ पुण, हेउविवागा उ रसविवागा उ ।
एक्केक्का वि य चउहा, जओ चसद्दो विगप्पेणं ।।४२।।

विपाकतो विपाकमाश्रित्य प्रकृतयो द्विविधा द्विप्रकारा भवन्ति । तद्यथा हेतुविपाका रसविपाकाश्च । तत्र हेतुतो हेतुमधिकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ता— हेतुविपाकाः । रसतो रसमुररीकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ता रसविपाकाः । रसविपाका अपि पुनश्चतुर्धा चतु प्रकारास्तत्र पुद्गलक्षेत्रभवजीवहेतुभेदाच्चतुर्विधा हेतुविपाकास्तद्यथा पुद्गलविपाका. क्षेत्रविपाका भवविपाका जीवविपाकाश्च । ताश्च प्रागेवोक्ता.। तथा चतुस्त्रिद्व्येकस्थानकरसभेदाच्चतुर्विधा रसविपाकास्तद्यथा चतु स्थानकरसास्त्रिस्थानकरसा द्विस्थानकरसा एकस्थानकरसाश्च । एकस्थानकादिभेदभिन्नश्च रसः प्रागेवोक्त । ननु विपाकतो द्विधा प्रकृतयो भवन्तीति द्वारगाथायां नोपात्त तत्कथमिदानीं विभ्रियते तदयुक्तमनुपात्तत्वात् सिद्धे. तथा चाह यतश्चशब्दोऽपि विकल्पेन यथाऽतो यस्माद् द्वारगाथायां प्रकृतयश्चेत्यत्र चशब्दो विकल्पेन विकल्पलक्षणेनार्थेन बोद्धव्यस्ततोऽयमर्थो विपाकतश्चतुर्धा भवत्यन्यथा वा । तत्रान्यथात्वं हेतुरसभेदात् द्वैविध्यरूपं द्रष्टव्यमिति । ४२ ।

संप्रति हेतुविपाकत्वमेव भावयन्नाह ।

जा जं समेच्च हेउं, विवागउदयं उवेंति पगईओ ।
ता तव्विवागसन्ना, सेसाभिहाणाइं सुगमाइं ।।४३ ।।

या. प्रकृतयः संस्थाननामादिका यं पुद्गलादिलक्षणं हेतुं कारणं समेत्य संप्राप्य विपाकोदयमुपयान्ति तास्तद्विपाकसंज्ञा यथा संस्थाननामादिकाः प्रकृतयः औदारिकादीन् पुद्गलान् संप्राप्य विपाकोदयमाश्रयन्ते ततस्ताः पुद्गलविपाका. आनुपूर्व्यश्च तथाभापि क्षेत्रं प्राप्य विपाकोदयं गच्छन्तीति क्षेत्रविपाका इत्यपि शेषाभिधानानि तु ध्रुवसत्कर्माध्रुवकर्मोद्वलनादीनि सुगमानि ततो न विशेषतो विभाव्यन्ते एवमुक्ते सति पुद्गलविपाकत्वमधिकृत्य यत्परस्य वक्तव्यं तदनूद्य प्ररूपयति ।

अरइरईणं उदओ, किं न भवे पोग्गलाणि संपप्प ।
अप्पुट्ठेहि वि किं नो, एवं कोहाइयाणं पि ।।४४।।

ननु यदि याः प्रकृतयः पुद्गलान् संप्राप्य विपाकोदयमाश्रयन्ति ता· पुद्गलविपाकास्तर्हि रत्यरत्योरप्युदय किं न पुद्गलान् संप्राप्य भवति तयोरपि पुद्गलानेव संप्राप्योदयो भवति इति भावः । तथा हि कण्टकादिसस्पर्शादरतेर्विपाकोदय पुष्पादिसस्पर्शात्तु रतेः । ततस्ते अपि पुद्गलविपाकिन्यौ युक्ते न जीवविपाकिन्याविति एवं परेण काका प्रश्ने कृते सत्याचार्योऽपि काका प्रत्युत्तरमाह (अप्पुट्ठे हि वि किं नो) अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया अस्पृष्टेष्वपि पुद्गलेष्वपि किं तयो रत्यरत्योर्विपाकोदयो न भवति भवत्येवेति भावस्तथा हि कण्टकादिस्पर्शव्यतिरेकेऽपि प्रियाप्रियदर्शनस्मरणादिना दृश्यते रत्यरत्योर्विपाकोदयस्ततो न पुद्गलविपाकिन्यौ किं तु जीवविपाकिन्यौ एव परोपन्यस्तपूर्वपक्षव्युदासेन क्रोधादीनामपि जीवविपाकित्वं भावनीयम्।संप्रति भवविपाकित्वमधिकृत्य परो ब्रूते नन्वायुषां यथा स्वस्वभव एव विपाकोदयो भवति नान्यत्र तथा गतीनामपि

न खलु गतयोऽपि स्वस्वभवव्यतिरेकेणान्यत्र विपाकोदयमधिश्रयन्तीति सुप्रतीतमेतत् जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनां ततो गतयोऽप्यायुर्वद्भवविपाकाः किं नाभिधीयन्ते ॥ ४४ ॥

एवं परेणोक्ते सति सूरिः परोक्तमनूद्य प्रतिषेधयति।

आउव्व भवविवागा, गई न आउस्स परभवे जम्हा।
नो सव्वहा वि उदओ, गईण पुण संकमेण त्थि ॥४५॥

आयुर्वद्गतयो भवविपाका न भवन्ति यस्मादायुषः परभवे सर्वथाऽपि संक्रमेणाप्युदयो न भवति ततः सर्वथा स्वभवव्यभिचाराभावादायुषि भवविपाकानि व्यपदिश्यन्ते। गतीनां पुनः परभवेऽपि संक्रमेणोदयोऽस्ति ततः स्वभवव्यभिचारान्न ता भवविपाकिन्यः।

संप्रति क्षेत्रविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्तुमाह।

आणुपुव्वीण उदओ, किं संकमेण नत्थि संते वि।
जह खेत्तहेउओ ताण, न तहा अन्नाण सविवागो ॥४६॥

ननु यदि गतीनां स्वस्वभवव्यतिरेकेणाप्यन्यत्र भवान्तरे संक्रमेणोदयोऽस्तीति कृत्वा स्वभवव्यभिचारान्न ता भवविपाकिन्य उच्यन्ते किं तु जीवविपाकिन्यस्तर्ह्यानुपूर्व्यो स्वयोग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र किमुदयः संक्रमेण नास्ति न विद्यते येन ता नियमतः क्षेत्रविपाकिन्यो व्यवह्रियन्ते अन्यत्राप्यस्ति संक्रमेणोदयस्ततः स्वक्षेत्रव्यभिचारान्न ताः क्षेत्रविपाकिन्यो वक्तुमुचिताः किं तु जीवविपाकिन्य एवेति परस्याभिप्रायः। अत्रोत्तरमाह (सते वित्यादि) सत्यपि स्वयोग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र संक्रमोदये यथा तासां क्षेत्रहेतुकः स्वविपाकः स्वविपाकोदयप्रादुर्भावस्तथा नान्यासां प्रकृतीनामित्यसाधारणक्षेत्रलक्षणहेतुख्यापनार्थं क्षेत्रविपाकिन्य उच्यन्ते।

जीवविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपनुदन्नाह।

संपप्प जीयकाले, उदयं काउं न जंति पगईओ।
एवमिणमोहहेउं, आसिज्ज विसेसया नत्थि ॥ ४७ ॥

ननु काश्ताः प्रकृतयो या जीवं कालं चाश्रित्य नोदयमधिगच्छन्ति सर्वा अपि जीवकालावधिकृत्य गच्छन्तीति भावः जीवकालयोरन्तरेणोदयासंभवात् ततः सर्वा अपि जीवविपाका एवेति प्रष्टुरभिप्रायः। अत्राचार्य आह (एवमिणमित्यादि) ओघतः सामान्येन हेतुं हेतुत्वमात्रमाश्रित्य एवमेतत् यथा त्वयोक्तं तथैव विशेषितं त्वसाधारणं तु हेतुमाश्रित्य एतन्न भवति जीवः कालो वा सर्वासामपि प्रकृतीनामुदयं प्रति साधारणस्ततस्तदपेक्षया चेत् प्रकृतीनां चिन्ता क्रियते तर्हि सर्वा अपि जीवविपाका एव कालविपाका एव वा नास्त्यत्र संदेहः। परं कासांचित् प्रकृतीनां क्षेत्रादिकमप्यसाधारणमुदयं प्रति हेतुरस्ति ततस्तदपेक्षया क्षेत्रविपाकत्वादिव्यपदेश इत्यदोषः।

संप्रति रसमधिकृत्य परं पूर्वपक्षयति।

केवलदुगस्स सुहुमो, हासाइसु कहं न कुणइ अपुव्वो।
सुभमाईणं मिच्छो, किलिट्ठओ एगठाणिरसं ॥ ४८ ॥

ननु यथा श्रेण्यारोहे अनिवृत्तिबादरसंपराद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु परतोऽतिविशुद्धिसंभवान्मतिज्ञानावरणीयादीनामशुभप्रकृतीनामेकस्थानकं रसं बध्नाति तथा क्षपकश्रेण्यारोहे सूक्ष्मसंपरायश्चरमद्विचरमादिषु समयेषु वर्तमानोऽतीवविशुद्धत्वात्केवलद्विकस्य केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्य किं नैकस्थानकं रसं निर्वर्तयति केवलद्विकं ह्यशुभमतिविशुद्धकश्च बन्धेषु क्षपकश्रेण्यारूढः सूक्ष्मसंपरायस्ततो मतिज्ञानावरणीयादेरिव संभवति केवलद्विकस्याप्येकस्थानकरसबन्धः स किं नोक्त इति प्रष्टुरभिप्रायः। तथा हास्यादिषु षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् हास्यादीनां हास्यरतिभयजुगुप्सानामशुभत्वात् अपूर्वोऽपूर्वकरणो हास्यादिबन्धकानां मध्ये तस्यातिविशुद्धिप्रकर्षप्राप्तत्वात् शुभादीनां च शुभप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टः संक्लेशप्रकर्षसंभवेऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानकोऽपि रसबन्धः संभाव्यते इति कथमेकस्थानकं रसं न बध्नाति येन पूर्वोक्ता एव सप्तदश प्रकृतयश्चतुस्त्रिद्व्येकस्थानकरसा उच्यन्ते न शेषाः प्रकृतयः ॥ ४८ ॥

अत्र सूरिराह।

जलरेहसमकसाए, वि एगठाणी न केवलदुगस्स।
जं अणुयं पि हु भणियं, आवरणं सव्वघाई से ॥४९॥

जलरेखासमेऽपि जलरेखातुल्येऽपि कषाये संज्वलनलक्षणे उदयमागते न केवलद्विकस्य केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्यैकस्थानिको रसो भवति कुत इत्याह यत् यस्मात् (से) तस्य केवलद्विकस्य तनुकमपि सर्वजघन्यमपि आवरणं रसलक्षणं हु निश्चितं सर्वघाति भणितं तीर्थकरगणधरैः सर्वजघन्योऽपि रसस्तस्य सर्वघाती भणित इति भावार्थः। सर्वघाती च रसो जघन्यपदेऽपि द्विस्थानक एव भवति नैकस्थानकस्ततो न केवलस्यैकस्थानकरसबन्धसंभवः ॥ ४९॥

संप्रति हास्यादिप्रकृतीरधिकृत्योत्तरमाह।

सेसासुभाण वि न जं, खवगियराणं न तारिसा सुद्धी।
न सुभाणं पि हु जम्हा, ताणं बंधो विसुज्झंतो ॥५०॥

शेषाशुभानामपि प्रागुक्तमतिज्ञानावरणीयादिसप्तदशप्रकृतिव्यतिरिक्तानामशुभप्रकृतीनां नैकस्थानकरससंभवो यद् यस्मात् कारणात् क्षपकेतरेषां क्षपकस्यासर्वकरणस्येतरयोरप्रमत्तप्रमत्तसंयतयोर्न तादृशी शुद्धिर्येन एकस्थानकरसबन्धो यदा त्वेकस्थानकरसबन्धयोग्या परमप्रकर्षप्राप्ता विशुद्धिरनिवृत्तिबादरसंपराद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो जायते तदा बन्धेनैव ता आयान्तीति नासामेकस्थानको रसः। तथा शुभानामपि मिथ्यादृष्टिसंक्लिष्टो हु निश्चितं नैकस्थानकं रसं बध्नाति यस्मात्तासां शुभप्रकृतीनामतिसंक्लिष्टे मिथ्यादृष्टौ बन्धो न भवति किं तु मनाक् विशुध्यमाने संक्लेशोत्कर्षे च शुभानामधिकृतानामेकस्थानकरसबन्धसंभवो न तदभावे ततस्तासामपि जघन्यपदेऽपि द्विस्थानक एव रसो नैकस्थानकः। यस्त्वतिसंक्लिष्टेऽपि मिथ्यादृष्टौ नरकगतिप्रायोग्या वैक्रियतैजसादिकाः शुभाः प्रकृतयो बन्धमायान्ति तासामपि तथा स्वाभाव्यात् जघन्यतोऽपि द्विस्थानक एव रसो बन्धमधिगच्छति नैकस्थानकः ॥ ५० ॥

अत्र परः प्रश्नयति।

उक्कोसठिई अज्झव-साणेहिं एगठाणिओ होति।
सुभाणं तं न जं ठिइ, असंखगुणिया उ अणुभागा ॥५१॥

ननु सर्वासामपि शुभानामशुभानां वा प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य भवति नान्यथा। उक्तं च। "सव्वठिईणमुक्कोसगो उक्कोससंकिलेसेण" ततो यैरेवाध्यवसायैः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति तैरेवाध्यवसायैरेकस्थानकोऽपि रसो भविष्यति ततः कथमुच्यते न शुभानामपि प्रकृतीनामेक-

स्थानकरसबन्धः । अत्रोत्तरमाह " तनेत्यादि " यदेतदुक्तं तन्न यस्मात् स्थितिरसङ्ख्येयगुणा एवानुभागा. तुरेवकारार्थः । कोऽत्र भाव इति चेदुच्यते । इह प्रथमस्थितेरारभ्य समयसमयवृद्ध्या सर्वसकलनेन परिभाव्यमानाः असङ्ख्येया. स्थितिविशेषा एकैकस्यां च स्थितावसंख्येया ये रसस्पर्द्धका रसस्पर्द्धकसघातविशेषाः तत उत्कृष्टस्थितौ वध्यमानायां प्रतिस्थितिविशेषमसङ्ख्येया ये रसस्पर्द्धकसंघातविशेषास्ते तावन्तो द्विस्थानकरसस्यैव घटन्ते नैकस्थानकस्येति न शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽप्येकस्थानकरसबन्धः ॥ ५१ ॥

संप्रति सत्कर्माधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्तुमाह ।

दुविहमिह संतकम्मं, धुवाधुवं सूइयं च सद्देणं ।
धुवसंतं चिय पढमा, जश्रो न नियमा वि संजोगा ॥५२॥

द्वारगाथोपन्यस्तेन चशब्देनेह सत्कर्म द्विविध द्विप्रकार सूचितम् तद्यथा ध्रुवमध्रुव च । तत्र यत्सर्वससारिणामनवाप्तोत्तरगुणानां सातत्येन भवति तत् ध्रुवसत्कर्म । एतच्च प्रागेवोक्तम् । ध्रुवसत्कर्मप्रकृतयश्च चतुरुत्तरशतसंख्याकास्ताश्चेमास्तद्यथा ज्ञानावरणनवकं सातासातवेदनीये मिथ्यात्व षोडश कषाया नव नोकषायास्तिर्यग्द्विकं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं तैजसकार्मणे संस्थानषट्कं सहननषट्कं वर्णादिचतुष्कं विहायोगतिद्विक पराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुनिर्माणोपघातनामानि त्रसादिविंशतिर्नीचैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकमिति । यत्पुनरवाप्तगुणानामपि कदाचिद्भवति कदाचिन्न तदध्रुवसत्कर्म एव च सति यत्परेणोच्यते नन्वनन्तानुबन्धिनामप्युद्वलना संभवतीति कथ तेषामध्रुवसत्कर्मता नाभिधीयत इति तदपास्तमवगन्तव्यम् । तथा चाह "ध्रुवसंतमित्यादि" यतो यस्मात्कारणात् न प्रथमानामनन्तानुबन्धिनां कषायाणां नियमात् गुणप्राप्तिमन्तरेणावश्यंभावितया विसंयोगो विसयोजना भवति किं तु उत्तरगुणप्राप्तिवशात् नवोत्तरगुणप्राप्तिवशतः सत्तोपरम. प्रकृतीनामध्रुवसत्कर्मव्यपदेशहेतुरन्यथा सर्वासामपि कर्मप्रकृतीनां तत्तदुत्तरगुणयोगतः सत्तोपरमोऽस्तीति सर्वा अप्यध्रुवसत्कर्मव्यपदेशयोग्या भवेयुर्नचैनदस्ति तस्माद् प्रथमा अनन्तानुबन्धिनः कषाया ध्रुवसन्त एव सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वतीर्थकराहारकद्विकानि तदुत्तरगुणप्राप्तावेव सत्तां लभन्ते अतस्तानि सुप्रतीतान्येवाध्रुवसत्ताकानि ॥ ५२ ॥

इह वक्ष्यमाणप्रकृतिस्वरूपप्रतिपादकमन्यकर्तृकं द्वारगाथाद्वयमस्ति तच्च मन्दमतीना सुखावबोधहेतुरतस्तदपि लिख्यते ।

अणुदयउदओभयबं-धिणी उ उभबंधउदयवोच्छेया ।
संतरउभयनिरंतर-बंधा (उ) दयसंकमुक्कोसा ॥५३॥
अणुदयसंकमजेट्ठा, उदए णुदए य बंध उक्कोसा ।
उदयाणुदयवईओ, तितिचउदुहउ सव्वाओ ॥५४॥

इह प्रकृतयस्त्रिधा तद्यथा स्वानुदयबन्धिन्य' स्वोदयबन्धिन्यः उभयबन्धिन्यश्च । तत्र स्वस्यानुदये एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वानुदयबन्धिन्य' । स्वस्योदय एव बन्धो विद्यते यासां ता. स्वोदयबन्धिन्य. । तथा उभयस्मिन् उदयेऽनुदये वा बन्धोऽस्ति यासां ता उभयबन्धिन्यः । पुनरप्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयस्तद्यथा समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदया. उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाश्च । तत्र समकमेककालं व्यवच्छिद्यमानो बन्धोदयो यासां ताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। ताश्च "उभ" इत्यनेन पदेन गृहीता. । तथा क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येवंरूपेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदया. । ताश्च "बंध" इत्यनेनांशेन परिगृहीता. । तथा उत्क्रमेण पूर्वमुदयः पश्चाद्बन्धः इत्येवंलक्षणेन व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदया.।एताश्च"उदय" इत्यनेनावयवेन संगृहीता.।पुनरप्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयस्तद्यथा " संतरउभयनिरंतरबंधाउत्ति " सान्तरबन्धा. उभयबन्धा इति सान्तरानिरन्तरबन्धा. निरन्तरबन्धाश्च। एतासां च लक्षणं स्वयमेवाचार्योऽग्रे वक्ष्यतीति नाभिधीयते पुनरप्यन्यथा चतुर्धा प्रकृतयस्तथा चाह। "उदयसकमुक्कोसा इत्यादि" उदयसक्रमोत्कृष्टा "अणुदयसंकमजेट्ठा इति" अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा । "उदएणुदए य बंधउक्कोसा इति" उदयबन्धोत्कृष्टा अनुदयबन्धोत्कृष्टाश्च। तथा पुनरन्यथा द्विधा प्रकृतयस्तद्यथा उदयवत्योऽनुदयवत्यश्च " तिति इत्यादि " एताः सर्वा अपि प्रकृतयो यथाक्रमं त्रित्रिचतुर्धा भवन्ति ताश्च तथैव पूर्वमुद्दिष्टाः। सम्प्रत्येता. सर्वा अपि क्रमेण वक्तव्यास्तत्र प्रथमतः स्वानुदयोदयोभयबन्धिनी. प्रकृतीर्निदिदिक्षुराह।

देवनिरयवेउव्वि-यछक्कमाहारजुयलतित्थाणं ।
बंधो अणुदयकाले, धुवोदयाणं तु उदयम्मि ॥ ५५ ॥

देवायुर्नरकायुर्देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रिय—शरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियषट्कमाहारकद्विकमाहारकशरीरमाहारकाङ्गोपाङ्गरूप तीर्थङ्करनामैतासामेकादशप्रकृतीनां बन्धः स्वस्वानुदयकाल एव तथा हि देवगतित्रिकस्य देवगतौ वर्तमानस्योदयो नरकत्रिकस्य नरकगतौ वैक्रियद्विकस्योभयत्र । न च देवा नारका वा एताः प्रकृतीर्बध्नन्ति तथा भवस्वाभाव्यात्। तीर्थकरनामापि च केवलज्ञानप्राप्तावुदयमागच्छति न च तदानीं तस्य बन्ध. अपूर्वकरणगुणस्थानक एव तस्य बन्धव्यवच्छेदात्। आहारककरणव्यापृतश्च लब्ध्युपजीवनेन प्रमादभावतस्तदुत्तरकालवर्त्ती तु तथाविधविशुद्ध्यभावतो मन्दसंयमावस्थानवर्तित्वान्नाहारकद्विकबन्धमारभते तत एता. सर्वा अपि स्वानुदयबन्धिन्य. ध्रुवोदयानां पुनर्ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकमिथ्यात्वनिर्माणतैजसकार्मणास्थिरास्थिरवर्णादिचतुष्कागुरुलघुशुभाशुभलक्षणानां सप्तविंशतिप्रकृतीनामुदय एव सति बन्ध उपजायते ध्रुवोदयतया तासां सर्वदोदयभावात् अतो ध्रुवोदयाः स्वोदयबन्धिन्य' शेषास्तु निद्रापञ्चकजातिपञ्चकसस्थानषट्कसंहननषट्ककषायषोडशकनवनोकषायपराघातोपघातातपोद्योतोच्छ्वाससातासातवेदनीयोच्चनीचैर्गोत्रमनुष्यत्रिकतिर्यक्त्रिकौदारिकद्विकप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणसुस्वरसुभगादेययशःकीर्तिदुःस्वरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिरूपा व्यशीतिसङ्ख्या. स्वोदयानुदयबन्धिन्य.।तथा ह्येता प्रकृतयस्तिरश्चां मनुष्याणां वा यथायोगमनुदये उदये वा बन्धमायान्ति तत. स्वोदयानुदयबन्धिन्य उच्यन्ते ॥ ५५ ॥

संप्रति समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयादिप्रकृतीरभिधित्सुराह ।

गयचरिमलोभधुवबं-धिमोहहासरइअरइमणुयपुव्वीणं ।
सुहुमतिगआयवाण, सपुरिसवेयाण बंधुदया ॥ ५६ ॥

वोच्छिज्जंति समं चिय, कमसो सेसाण उक्कमेणं तु ।
अट्ठएहमजसमुरातिग-वेउव्वाहारजुयलाणं ॥ ५७ ॥

गतोऽपनीतश्चरमो लोभः सञ्ज्वलनरूपो यस्य स गतचरमलोभ स चासौ ध्रुवबन्धिप्रकृत्यात्मको मोहश्च गतचरमलोभध्रुवबन्धिमोहः मोहनीयसत्काः सञ्ज्वलनलोभहीनाः पञ्चदशकषायमिथ्यात्वभयजुगुप्सारूपा अष्टादश ध्रुवबन्धिन्य इत्यर्थः तासां तथा हास्यरत्यरतिमनुजानुपूर्वीणां तथा सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपसूक्ष्मत्रिकातपनाम्नोः सपुरुषवेदयोः पुरुषवेदसहितयोः सर्वसंख्यया षड्विंशतिप्रकृतीनां सममेव समकालमेव बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते तथा हि सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वानां मिथ्यादृष्टावनन्तानुबन्धिनां सासादने मनुष्यानुपूर्व्या द्वितीयकषायाणामविरते प्रत्याख्यानावरणकषायाणां देशविरते हास्यरतिभयजुगुप्सानामपूर्वकरणे सञ्ज्वलनत्रिकपुवेदयोरनिवृत्तिवादरसपराये बन्धोदयौ समकमेव व्यवच्छेदमाप्नुतः तत एताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः शेषाणां तूक्तवक्ष्यमाणव्यतिरिक्तानां षडशीतिप्रकृतीनां क्रमेण बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते तद्यथा पूर्वं बन्धस्य व्यवच्छेदः पश्चादुदयस्य तथा हि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयानां सूक्ष्मसंपरायचरमसमये बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायचरमसमये निद्राप्रचलयोः बन्धव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणप्रथमभागे उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायद्विचरमसमये तथा असातवेदनीयस्य प्रमत्ते सातवेदनीयस्य सयोगिचरमसमये तथा असातवेदनीयचरमसमये बन्धव्यवच्छेद उदयव्यच्छेद पुनरुभयोरपि सयोगिकेवलिचरमसमये अयोगिकेवलिचरमसमये वा। तथा चरमसंस्थानस्य मिथ्यादृष्टौ मध्यमसंस्थानचतुष्टयाप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनाम्नां सासादने औदारिकद्विकप्रथमसंहननयोरविरतसम्यग्दृष्टौ अस्थिराशुभयोः प्रमत्ते तैजसकार्मणसमचतुरस्रसंस्थानवर्णादिचतुष्कादिगुरुलघुचतुष्टयप्रत्येकस्थिरशुभसुस्वरनिर्माणानामपूर्वकरणषष्ठे भागे बन्धव्यच्छेदः। पुनरासां सर्वासामपि प्रकृतीनामष्टाविंशतिसंख्यानां सयोगिकेवलिचरमसमये तथा मनुष्यत्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदोऽविरतसम्यग्दृष्टौ पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेयतीर्थङ्करनाम्नामपूर्वकरणषष्ठभागे यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मसंपरायचरमसमये उदयव्यवच्छेदः। पुनरासां द्वादशानामपि प्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये।तथा स्थावरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीनां नरकत्रिकस्यान्तिमसंहननस्य नपुंसकवेदस्य मिथ्यादृष्टौ बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथाक्रमं सासादने अविरतसम्यग्दृष्टावप्रमत्तसंयते अनिवृत्तिवादरसंपराये तथा तिर्यगानुपूर्वीदुर्भगानादेयानां तिर्यग्गतितिर्यगायुरुद्योतनीचैर्गोत्राणां स्त्यानर्द्धित्रिकस्य चतुर्थपञ्चमसंहननयोर्द्वितीयतृतीयसंस्थानयोश्च बन्धव्यवच्छेदः सासादनस्य सम्यग्दृष्टौ उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथासंख्यमविरते देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते उपशान्तमोहे तथा अरतिशोकयोर्बन्धव्यवच्छेदः प्रमत्तसंयते उदयव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणे सञ्ज्वलनलोभस्य बन्धे व्यवच्छेदोऽनिवृत्तिवादरसंपरायचरमसमये उदयव्यच्छेदः सूक्ष्मसंपरायान्तिमसमये तत एताः षडशीतिरपि प्रकृतयः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। तथा अष्टानामयशःकीर्तिसुरत्रिकवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणामुत्क्रमेण प्रागुदयस्य व्यवच्छेदः पश्चाद्बन्धस्यैवंरूपेण व्यवच्छिद्येते बन्धोदयौ। तथा हि अयशःकीर्तेः प्रमत्ते देवायुषोऽप्रमत्ते देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपूर्वकरणे बन्धव्यवच्छेदः उभयव्यवच्छेदस्तु षण्णामप्यविरतसम्यग्दृष्टौ आहारकद्विकस्य पुनरपूर्वकरणे बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदोऽप्रमत्तसंयते तत एता अष्टावपि उत्क्रमबन्धव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः।

सांप्रतं सान्तरादिप्रकृतीः प्ररूपयति।

धुवबंधिणी उ तित्थगर-नाम आउयचउक्कवावन्ना ।
एया निरंतराओ, सगवीसुभसंतरा सेसा ॥ ५८ ॥

ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणनवककषायषोडशकमिथ्यात्वभयजुगुप्साऽगुरुलघुनिर्माणतैजसकार्मणोपघातवर्णादिचतुष्टयरूपा सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः तीर्थङ्करनाम आयुष्कचतुष्टयमिति द्विपञ्चाशत्संख्या प्रकृतयो निरन्तरा वक्ष्यमाणशब्दार्था वेदितव्याः। तथा वक्ष्यमाणाः सप्तविंशतिप्रकृतय (उभ) इति उभयाः सान्तरनिरन्तरा इत्यर्थः शेषास्तु एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः सान्तराः।

अधुना पूर्वोद्दिष्टाः सप्तविंशतिप्रकृतीरुपदर्शयति।

चउरंसउसहपरघाय-उसासपुंमगलसायसुभखगई ।
वेउव्विउरलसुरनर-तिरिगोयसुसरतसतिचऊ ॥ ५९ ॥

समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं पराघातनाम उच्छ्वासनाम पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः सातवेदनीयं शुभविहायोगतिः वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकं सुरद्विकं मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं गोत्रद्विकं (सुसरतिचउत्ति) यथाक्रममत्र संख्यासंख्येययोजना सुस्वरत्रिकं सुस्वरसुभगादेयरूपं त्रसचतुष्कं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकलक्षणमित्येताः सप्तविंशतिप्रकृतयः सान्तरनिरन्तराः।

सांप्रतं सान्तरादिव्यपदेशनिबन्धनमाह।

समयाउ अंतमुहुत्त-उक्कोसो जाण संतरा ताओ ।
बंधे हियम्मि उभया-निरंतरा तम्मि उ जहन्ने ॥ ६० ॥

यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रबन्ध उत्कर्षतः समयादारभ्य यावदन्तर्मुहूर्तं न परतस्ताः सान्तराभिधानाः बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्येऽपि सह अन्तरेण अवधानेन व्यवच्छेदलक्षणेन वर्तन्ते यास्ताः सान्तरा इति व्युत्पत्तिवशात्ताश्चेमास्तद्यथा। असातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकनरकद्विकाहारकद्विकाद्यरहितसंस्थानपञ्चकाद्यरहितसंहननपञ्चकजातिचतुष्कातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभयशःकीर्तयः स्थावरादिदशकं च। एता हि जघन्यतः समयमात्रं बध्यन्ते उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्तं परतस्तु निजबन्धहेतुसद्भावेऽपि तथास्वाभाव्यतस्तद्योग्याध्यवसायपरावर्तनेन नियमतः प्रतिपक्षप्रकृतीर्बध्नाति ततः सान्तरा अभिधीयन्ते। तथा यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धमुत्कर्षतः समयादारभ्य नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्तस्योपर्यपि असंख्येयं कालं यावत् ता उभयाः सान्तरनिरन्तरा इत्यर्थः। बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्ये सान्तराश्च निरन्तराश्चेति कृत्वा ताश्च प्रागुक्ताः समचतुरस्रादयः सप्तविंशतिः प्रकृतयः ता हि जघन्यतः समयमात्रं बध्यन्ते ततः सान्तरा उत्कर्षतो ऽनुत्तरसुरादिभिरसंख्येयमपि कालं ततोऽन्तर्मुहूर्तमध्ये व्यवच्छेदाभावान्निरन्तरा। (तम्मि उ जहन्ने इत्ति) जघन्ये इति जघन्येनापि याः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् नैरन्तर्येण बध्यन्ते ता निरन्तराः। निर्गतं बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्ये अन्तरं व्यवधान

व्यवच्छेदो यकाभ्यः ता निरन्तरा इति व्युत्पत्ते ताश्च प्रागुक्ता ध्रुवबन्धिन्यादयः ता हि जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्तं यावदवश्य नैरन्तर्येण बध्यन्ते इति । तदेवमुक्ता निरन्तरादिप्रकृतय. ॥ ६० ॥

संप्रत्युदयबन्धोत्कृष्टादिप्रकृतीर्विवक्षुः प्रथमतोऽभिधानकारणमाह ।

उदए व अणुदए वा, बंधाओ अन्नसंकमाओ वा ।
ठिइसंतं जाण भवे, उक्कोसं ता तदक्खाओ ॥ ६१ ॥

यासां प्रकृतीनामुदये वा अनुदये वा बन्धादन्यप्रकृतिदलिकसंक्रमतो वा स्थितिसत्कर्मोत्कृष्ट भवति तास्तदाख्यास्तदनुरूपसंज्ञका वेदितव्यास्तद्यथा । यासां प्रकृतीनां विपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्ट स्थितिसत्कर्मावाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञा यासां तु विपाकोदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिस्ता अनुदयबन्धोत्कृष्टा यासां पुनर्विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्ट सत् स्थितिकर्म लभ्यते न बन्धतस्ता उदयसत्कर्मोत्कृष्टाभिधानाः। यासां पुनरनुदये संक्रमत. उत्कृष्टस्थितिलाभस्ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाख्याः ॥ ६१ ॥

तत्रानुपूर्व्यप्यस्तीति ख्यापनाय प्रथमत उदय— संक्रमोत्कृष्टाख्या. प्रकृतीः कथयति ।

मणुगइसायं सम्मं, थिरहासाइछ वेयसुभखगई ।
रिसहचउरंसगाई, पडुच उदसंकमुक्कोसा ॥६२॥

मनुष्यगति. सातवेदनीयं सम्यक्त्व स्थिरादिषट्कं स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययश कीर्तिलक्षण हास्यादिषट्कं हास्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षण वेदत्रिक पुंनपुंसकस्त्रीवेदरूप शुभविहायोगतिवज्रर्षभनाराचादीनि संहननानि समचतुरस्रादीनि पञ्च संस्थानानि उच्चैर्गोत्रमित्येनास्त्रिंशत्प्रकृतय उदयसंक्रमोत्कृष्टाः आसां हि प्रकृतीनामुदयप्राप्तानां या विपक्षभूता नरकगत्यसातवेदनीयमिथ्यात्वादय. प्रकृतयस्तासामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा भूय आसामेवोदयप्राप्तानां बध्यमानासु चैतासु अनन्तरवक्ष्यनरकगत्यादिविपक्षे प्रकृतिदलिक संक्रमयति शुभप्रकृतीनां स्थितिः स्वबन्धेन स्तोकैव भवति अशुभानामुत्कृष्टा तत. संक्रमत. आसामुत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते इत्येता उदयसंक्रमोत्कृष्टाभिधानाः ॥६२॥

सांप्रतमनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः प्रतिपादयति ।

मणुयाणुपुव्वीमीसग, आहारगदेवजुगलविगलाणि ।
सुहुमाइ तिगं ति अ—णुदयसंकमणउक्कोसा ॥६३॥

मनुष्यानुपूर्वी सम्यग्मिथ्यात्वमाहारकयुगलमाहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण देवयुगल देवगतिदेवानुपूर्वीरूपं विकलत्रिक विकलेन्द्रियजातित्रिकम् द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिरूपं सूक्ष्मत्रिक सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षण तीर्थङ्करनाम एतास्त्रयोदश प्रकृतय' अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा यत एतासामुत्कृष्टा स्थिति. स्वबन्धतो नावाप्यते किं तु संक्रमत. संक्रमतोऽप्युत्कृष्टा स्थितिस्तदावाप्यते यदा एतद्विपक्षप्रकृतीरुत्कृष्टस्थितीर्बध्वा तदनन्तरमेतासु बध्यमानासु तद्दलिक संक्रमयति एतद्विपक्षप्रकृतीनां च उत्कृष्टस्थितिबन्धकः प्रायो मिथ्यादृष्ट्यादिर्मनुष्यो नच तदानीमासामुदयोऽस्तीत्यनुदयसंक्रमोत्कृष्टा. ॥ ६३ ॥

सम्प्रत्यनुदयबन्धोत्कृष्टोदयबन्धोत्कृष्टप्रकृतीराह ।

नारयतिरिउरलदुगं, छेवट्टेगिंदियावरायावं ।
निद्दा अणुदयजेट्ठा, उदउक्कोसा पराणाउ ॥६४॥

नरकतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकसेवार्तसंहननैकेन्द्रियजातिस्थावरातपनामानि पञ्च निद्रा इत्येता पञ्चदश प्रकृतयोऽनुदयबन्धोत्कृष्टा. शेषाः पुनरनायुष आयुश्चतुष्टयरहिताः पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासोद्योतविहायोगतयोऽगुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणोपघातवर्णादिचतुष्कान्यस्थिरादिषट्कं त्रसादिचतुष्कमसातवेदनीय नीचैर्गोत्र षोडश कषाया मिथ्यात्वं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चक दर्शनावरणचतुष्टयमित्येताः षष्टि. प्रकृतय उदयबन्धोत्कृष्टाः एतासामुदयप्राप्तानां स्वबन्धतः उत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते एता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधानाः आयुषां तु न परस्परसंक्रमो नापि बध्यमानायुर्दलिक पूर्वबद्धस्यायुष उपचयाय भवति तत एकेनापि प्रकारेण तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टा स्थितिर्नावाप्यते इति ते अनुदयबन्धोत्कृष्टादिसंज्ञाचतुष्टयातीते । देवनारकायुषी तु यद्यपि परमार्थतोऽनुदयबन्धोत्कृष्टे तथापि प्रयोजनाभावतः पूर्वसूरिभिः संज्ञाचतुष्टयातीते विवक्षिते इति तयोरपि प्रतिषेधः ।

संप्रत्युदयवत्यनुदयवत्योः प्रकृत्योर्लक्षणमाह ।

चरिमसमयम्मि दलियं, जासिं अन्नत्थ संकमे ताओ ।
अणुदयवइयरा उ, उदयवई होंति पगईओ ॥६५॥

यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्त्यसमये अन्यत्रान्यासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयेत् संक्रमय्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत् न स्वोदयेन ता अनुदयवत्योऽनुदयवतीसंज्ञाः इतरास्तु प्रकृतय. उदयवत्यो भवन्ति यासां दलिक चरमसमये स्वविपाकेन वेद्यते ।

सम्प्रति ता एवोदयवतीरभिधातुकाम आह ।

नाणंतरायआउग—दंसणचउ वेयणीयमपुमित्थी ।
चरिमुदयउच्चवेयग—उदयवई चरिमलोभो य ॥६६॥

ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमायुश्चतुष्टयं दर्शनचतुष्टयं सातासातवेदनीये स्त्रीनपुंसकवेदौ चरमोदया नामनवकरूपा— स्ताश्चेमा मनुष्यगति. पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम शुभनाम सुस्वरनाम आदेयनाम तीर्थङ्करनाम तथा उच्चैर्गोत्र वेदकसम्यक्त्वं चरमलोभ. संज्वलनलोभः इत्येताश्चतुस्त्रिंशत् प्रकृतय. उदयवत्यस्तथा हि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायान्त्यसमये चरमोदयानां च नामनवकलक्षणानां सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च सर्वसंख्यया द्वादशप्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायान्त्यसमये वेदकसम्यक्त्वस्य स्वक्षपणपर्यवसानसमये स्त्रीनपुंसकवेदयोः क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धाया. संख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु तदुदयान्तरसमये आयुषां च स्वस्वभवचरमसमये स्ववेदनमस्ति तत एता उदयवत्योऽभिधीयन्ते । यद्यपि सातासातवेदनीययोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चानुदयवतीत्वमपि संभवति तथाऽपि प्रधानमेव गुणमवलम्ब्य सत्पुरुषा व्यपदेश प्रयच्छन्तीति उदयवत्यः पूर्वपुरुषैरुपदिष्टाः शेषास्तु चतुर्दशोत्तरशतसंख्या अनुदयवत्यः तासां दलिकस्य चरमसमये अन्यत्र संक्रमणतः स्वविपाकवेदनाभावात् तथाहि चरमोदयसंज्ञा नामनवकनरकतिर्यग्द्विकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतवर्जाः शेषा नाम्न एकसप्ततिप्रकृतयो नीचैर्गोत्रं चेत्येता द्विसप्ततिप्रकृती सजातीयासु परप्रकृतीषूदयमागतासु चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेण प्रक्षिप्य परप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवत्ययोगिकेवली एव निरूपयन्नेव क्षीणकषायः तथा मिथ्यात्व सम्यग्-

मिथ्यात्वं तदपि सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य सप्तकक्षयकालेऽनुभवति अनन्तानुबन्धिनां क्षपणसमये तद्दलिकं बध्यमानासु चारित्रमोहनीयप्रकृतिषु गुणसङ्क्रमेण संक्रम्य उदयावलिकागतमुदयवतीषु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति स्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकद्विकतिर्यग्द्विकरूपा नामत्रयोदश प्रकृतीर्बध्यमानायां यशःकीर्तिगुणसंक्रमेण संक्रमय्य तासामुदयावलिकागतं दलिकं नाम्न उदयमागतासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण प्रक्षिप्य तद्व्यपदेशेनानुभवति स्त्यानर्द्धित्रिकमपि दर्शनावरणचतुष्टये प्रथमतो गुणसंक्रमेण संक्रमयति तत उदयावलिकागत स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति एवमष्टौ कषायान् हास्यादिषट्कं पुरुषवेदं संज्वलनक्रोधादित्रिकमुत्तरोत्तरञ्च प्रकृतिषु मध्ये प्रक्षिपति तत एताः सर्वा अपि चतुर्दशोत्तरशतसंख्या' प्रकृतयोऽनुदयवत्यः। इति श्रीमलयगिरिविरचितायां पञ्चसंग्रहटीकायां बन्धव्याभिधानं तृतीयं द्वारं समाप्तम्। (बन्धशब्देऽनुभागप्ररूपणे आसां वर्गः प्ररूपयिष्यते) कर्मणां संवेधः।

(२५) अथ ज्ञानावरणं शेषैः सह चिन्त्यते।

जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं जस्स दंसणावरणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं नियमं अत्थि। जस्स दंसणावरणिज्जं तस्स वि नाणावरणिज्जं नियमं अत्थि। १। जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं जस्स वेयणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि। जस्स पुण वेयणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि २। जस्स पुण भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं जस्स मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं नियमं अत्थि ३। जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स आउयं एवं जहा वेयणिज्जेण समं भणियं तहा आउएण वि समं भाणियव्वं एवं नामेण वि एवं गोएण वि समं अंतराइएणं जहा दंसणावरणिज्जेण समं तहेव नियमं परोप्परं भाणियव्वाणि।

अकेवलिनं केवलिनं च प्रतीत्याकेवलिनो हि वेदनीयं ज्ञानावरणीयं चास्ति केवलिनस्तु वेदनीयमस्ति न तु ज्ञानावरणीयमिति। (जस्स नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्ज सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति) अक्षपक क्षपकं च प्रतीत्य अक्षपकस्य ज्ञानावरणीयं मोहनीयं चास्ति क्षपकस्य तु मोहक्षये यावत्केवलज्ञानं नोत्पद्यते तावज्ज्ञानावरणीयमस्ति न तु मोहनीयमिति। एवं च यथा ज्ञानावरणीयं वेदनीयेन सममधीतं तथा आयुषा नाम्ना गोत्रेण च सहाध्येयमुक्तप्रकारेण भजनायाः सर्वेष्वेतेषु भावात्। अन्तरायेण च सम ज्ञानावरणीय तथा वाच्यं यथा दर्शनावरणीयं निर्भजनमित्यर्थ. एतदेवाह। "एव जहा वेयणिज्जेण सममित्यादि" (नियमा परोप्पर भाणियव्वाणि त्ति) कोऽर्थ. "जस्स नाणावरणिज्ज तस्स नियमा अतराइय जस्स अतराइयं तस्स नियमा नाणावरणिज्ज" मित्येवमनयोः परस्परं नियमो वाच्य इत्यर्थ.।

अथ दर्शनावरणं शेषैः षड्भिः सह चिन्तयन्नाह।

जस्स णं भंते ! दंसणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं जस्स वेयणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं ? जहा नाणावरणिज्जं उवरिमेहिं सत्तहिं कम्मेहिं समं भणियं तहा दंसणावरणिज्जं पि उवरिमेहिं छहिं कम्मेहिं समं भाणियव्वं जाव अंतराइएणं। जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं जस्स मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं ? गोयमा ! जस्स वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि। जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स आउयं एवं एयाणि परोप्परं नियमं जहा आउएण समं एवं नामेण वि गोएण वि समं भाणियव्वं। जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि। जस्स पुण अंतराइयं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि।

(जस्सेत्यादि) अयञ्च गमो ज्ञानावरणीयगमसम एवेति "जस्स णं भंते वेयणिज्ज" मित्यादिना तु वेदनीयं शेषैः पञ्चभिः सह चिन्त्यते तत्र च "जस्स वेयणिज्ज तस्स मोहणिज्ज सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति" अक्षीणमोह क्षीणमोहं च प्रतीत्य अक्षीणमोहस्य हि वेदनीय मोहनीय चास्ति क्षीणमोहस्य तु वेदनीयमस्ति न तु मोहनीयमिति (एवमेयाणि परोप्पर नियमंति) कोऽर्थ. यस्य वेदनीय तस्य नियमादायुर्यस्यायुस्तस्य नियमाद्वेदनीयमित्येवमेते वाच्ये इत्यर्थः। एवं नामगोत्राभ्यामपि वाच्यम्। एतदेवाह " जहा आउएणेत्यादि " अन्तरायेण तु भजनया यतो वेदनीयमन्तरायं चाकेवलिनामस्ति केवलिनां तु वेदनीयमस्ति न त्वन्तरायमेतदेव दर्शयतोक्तम् " जस्स वेयणिज्जं तस्स अंतराइय सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति।

अथ मोहनीयमन्यैश्चतुर्भि. सह चिन्त्यते।

जस्स णं भंते ! मोहणिज्जं तस्स आउयं जस्स आउयं तस्स मोहणिज्जं ? गोयमा ! जस्स मोहणिज्जं तस्स आउयं नियमं अत्थि। जस्स पुण आउयं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि एवं नामं गोयं अंतराइयं च भाणियव्वं। जस्स पुण भंते ! आउयं तस्स नाम पुच्छा गोयमा ! दो वि परोप्परं नियमं एवं गोत्तेण वि समं भाणियव्वं जस्स णं भंते ! आउयं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि। जस्स पुण अंतराइयं तस्स आउयं नियमं अत्थि। जस्स णं भंते ! नामं तस्स गोयं जस्स गोयं तस्स नामं ? गोयमा ! जस्स नामं तस्स नियमा गोयं जस्स गोयं तस्स नियमा नामं। जस्स णं भंते ! नामं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स नामं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण अंतराइयं तस्स नामं नियमं अत्थि। जस्स

णं भंते ! गोयं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स गोयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण अंतराइयं तस्स गोयं नियमं अत्थि ॥ ७ ॥

यस्य मोहनीयं तस्यायुर्नियमादकेवलिन इव यस्य पुनरायुस्तस्य मोहनीयं भजनया यतोऽक्षीणमोहस्यायुर्मोहनीयं चास्ति क्षीणमोहस्य त्वायुरेवेति (एवं नामं गोयं अंतराइयं च भाणियव्वंति) अयमर्थो यस्य मोहनीयं तस्य नाम गोत्रमन्तरायं च नियमादस्ति यस्य पुनर्नामादित्रयं तस्य मोहनीयं स्यादस्त्यक्षीणमोहस्येव स्यान्नास्ति क्षीणमोहस्येवेति । अथायुरन्यैस्त्रिभिः सह चिन्त्यते (जस्स णं भंते ! आउयमित्यादि दो वि परोप्पर नियमत्ति) कोऽर्थः । " जस्स आउयं तस्स नियमा नाम जस्स नाम तस्स नियमा आउयं " इत्यर्थः । एवं गोत्रेणापि (जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति) यस्यायुस्तस्यान्तरायं स्यादस्त्यकेवलिवत् स्यान्नास्ति केवलिवदिति " जस्स णं भंते ! नाम " इत्यादिना नाम अन्येन द्वयेन सह चिन्त्यते । तत्र यस्य नाम तस्य नियमाद्गोत्रं यस्य गोत्रं तस्य नियमान्नाम । तथा यस्य नाम तस्यान्तरायं स्यादस्त्यकेवलिवत्स्यान्नास्ति केवलिवदिति । एवं गोत्रान्तराययोरपि भजना भावनीयेति भ० ८ श० १० उ० । इत्युक्तं प्रकृतिकर्म ।

अथ स्थितिकर्म तत्र कर्मणा स्थितिनिषेकौ ।

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणिया कम्मठिई कम्मणिसेगो ।

ज्ञानावरणीयस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलावरणभेदतः पञ्चप्रकारस्य कर्मणो भदन्त ! कियन्तं कालं यावत् स्थितिः प्रज्ञप्ता एवमुक्ते भगवानाह । गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तं तच्च सर्वलघु सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य स्वगुणस्थानकचरमसमये वर्तमानस्य वेदितव्यम् । उत्कर्षतस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः सा च मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्यावसातव्या तदेवं नियता प्रागुक्तस्य प्रश्नस्योत्तरसिद्धिः । इदमपृष्टव्याकरणं त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति । किमर्थमिति चेदुच्यते स्थितिद्वैविध्यप्रदर्शनार्थं तथा हि द्विविधा स्थितिः कर्मरूपतावस्थानलक्षणा अनुयोग्या च । तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणां स्थितिमधिकृत्येदमुक्तम् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य इति । अनुभवयोग्या च वर्षसहस्रत्रयोना यत आह च त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा इदमुक्तं भवति ज्ञानावरणीयकर्मोत्कृष्टस्थितिकं बध्यं सत् बन्धसमयादारभ्य त्रीणि वर्षसहस्राणि यावन्न किंचिदपि स्वादयते जीवस्य बाधामुत्पादयति तावत्कालमध्ये दलिकनिषेकस्याभावात् । तत ऊर्ध्वं हि दलिकनिषेक । तथा चाह अबाधोना अबाधाकालपरिहीना अनुभवयोग्या कर्मस्थितिः किमुक्तं भवति कर्मनिषेकः । स चैव प्रथमस्थितौ प्रभूतो द्वितीयस्थितौ विशेषहीन एव विशेषहीनो विशेषहीनश्च तावद्वक्तव्यो यावत् स्थितिचरमसमयः । एतावता च यदुक्तमग्रायणीयाख्ये द्वितीये पूर्वकर्मप्रकृते प्राभृते बन्धविधाने स्थितिबन्धाधिकारे चत्वार्यनुयोगद्वाराणि तद्यथा स्थितिबन्ध-स्थानप्ररूपणा अबाधाकण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनिषेकप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा चेति तत्रोत्कृष्टाबाधाकण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनिषेकप्ररूपणा च दर्शिता भवति । अबाधाकालपरिज्ञापनीयश्चायं यस्य यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तस्य तावन्ति वर्षशतान्यबाधा । यस्य पुनः सागरोपमकोटीकोट्यो मध्ये स्थितिस्तस्यायुर्वर्जस्यान्तर्मुहूर्तमायुषस्तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमबाधा उत्कर्षतः पूर्वकोटीत्रिभागः । तत एवमबाधाकालं परिभाव्याबाधाविषयाणि स्वयं भावनीयानि ।

तत्र निद्रापञ्चकविषयं सूत्रमाह ।

निद्दापंचयस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स तिण्णि सत्त भागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिण्णि वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणिया कम्मट्ठिई कम्मनिसेगो ।

अत्र जघन्यतः त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोनाः । काऽत्र भावनेति चेदुच्यते पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां चतसृणां दर्शनावरणप्रकृतीनां चक्षुर्दर्शनादीनां संज्वलनलोभस्य पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां च जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तं सातवेदनीयस्य सकषायिकस्य द्वादश मुहूर्ताः । इतरस्य तु द्वौ प्रथमसमये बन्धो द्वितीयसमये वेदनं तृतीयसमये त्वकर्मी भवनमिति यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः । पुरुषस्याष्टौ संवत्सराणि संज्वलनक्रोधस्य द्वौ मासौ संज्वलनमानस्यैको मासः संज्वलनमायाया अर्द्धमासः शेषाणां तु प्रकृतीनां या या स्वकीया स्थितिस्तस्या उत्कृष्टायाः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणाया मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तत्पल्योपमासंख्येयभागहीनं जघन्यस्थितिपरिमाणम् । तत्र निद्रापञ्चकस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यस्तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयेदिति वचनात् लब्धाश्चात्र ये सागरोपमस्य सप्त भागाः ते पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते ततो भवति यथोक्तं जघन्यस्थितिपरिमाणमिति ॥

दर्शनचतुष्कस्य ।

दंसणचउक्कस्स णं भंते ! पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडीकोडीओ तिन्नि य वाससहस्सं अबाहा ॥

वेदनीयस्य ।

सातवेदणिज्जस्स इरियावहियबंधगं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं दो समया संपराइयबंधगं पडुच्च जहन्नेणं बारस मुहुत्ता उक्कोसेणं पन्नरस सागरोवमकोडाकोडी पन्नरस य वाससहस्साइं अबाहा । असातावेदणिज्जस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्त भागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता उक्कोसेण तीसं सागरोवमकोडाकोडी तिन्नि वाससहस्साइं अबाहा । सम्मत्तवेदणिज्जस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं सातिरेगाइं ।

(सायावेयणिज्जस्स इति) " इरियावहियबंधगं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं दो समया संपराइयबंधगं पडुच्च जहन्नेणं बारस मुहुत्ता" इति प्रागेव भावितम् । असातवेदनीयस्य जघन्यास्त्रयः सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना निद्रापञ्चकवद् भावनीया

स्तस्याप्युत्कर्षत स्थिति त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्

(२६) सम्यक्त्ववेदनीयस्य ।

सम्मत्तवेदणिज्जस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं सातिरेगाइं ॥

सम्यक्त्ववेदनीयस्य जघन्यत स्थितिपरिमाणमन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षत षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि तद्वेदनमाश्रित्य वेदितव्य न बन्धनमाश्रित्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्बन्धाभावात् मिथ्यात्वपुद्गला एव हि जीवेन सम्यक्त्वानुगुणविशोधिवशतस्त्रिधा क्रियन्ते तद्यथा सर्वविशुद्धा अर्द्धविशुद्धा अविशुद्धाश्च तत्र ये सर्वविशुद्धास्ते सम्यक्त्ववेदनीयव्यपदेशं लभन्ते येऽर्द्धविशुद्धास्ते सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशमविशुद्धा मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशमतो न तयोर्बन्धसंभव । यदा तु तेषां सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वपुद्गलानां स्वरूपत स्थितिश्चिन्त्यते तदाऽन्तर्मुहूर्तोना सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा वेदितव्या । सा च यावता यथा भवति तथा कर्मप्रकृतिटीकाया संक्रमणकरणे भणितमिति ततोऽवधार्यम् ।

मिथ्यात्वस्य ।

मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नेणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेण ऊणगं उक्कोसेणं सत्तरिकोडाकोडीओ सत्तवाससहस्साइं अबाहा ऊणिता उ सम्मामिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ॥

मिथ्यात्ववेदनीयस्य जघन्या स्थितिरेकं सागरोपमं पल्योपमासंख्येयभागोनमुत्कर्षतः तस्योत्कृष्टस्थिते सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य जघन्यत उत्कर्षतो वा अन्तर्मुहूर्तं वेदनापेक्षया पुद्गलानां स्वयस्थानमुत्कर्षत प्रागेवोक्तम् ।

कषायस्य ।

कसायबारसगस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागूणता उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीसं वाससयाइं अबाहा जाव निसेगो ॥

कषायद्वादशकस्यानन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानचतुष्टयप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरूपस्य प्रत्येक जघन्या स्थितिश्चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः । पल्योपमासंख्येयभागोना उत्कर्षतस्तेषां स्थिते चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् ।

कोहसंजलणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दो मासा उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीसं वाससयाइं जाव निसेगो । माणसंजलणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं मासं उक्कोसेणं जहा कोहस्स । मायासंजलणाए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अद्धमासं उक्कोसेणं जहा कोहस्स । लोभसंजलणेणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं जहा कोहस्स ॥

सज्वलनानां च जघन्या स्थितिर्मासद्वयादिप्रमाणा क्षपकस्य स्वबन्धचरमसमयेऽवसातव्या ।

इत्थीवेदस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढसत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणत्तं उक्कोसेणं पन्नरस सागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरसवाससयाइं अबाहा। पुरिसवेदस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ संवच्छराइं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा जाव निसेगो । नपुंसगवेदस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेण सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा ॥

स्त्रीवेदस्य जघन्या स्थितिर्द्व्यर्द्धसागरोपमस्य सप्त भागा पल्योपमासंख्येयभागोना कथमिति चेदुच्यते त्रैराशिककरणवशात् तथा हि यदि दशानां सागरोपमकोटीकोटीनामेकः सागरोपम सप्त भागा लभ्यन्ते तत पञ्चदशभिः सागरोपमकोटीकोटीभि किं लभ्यते राशित्रयस्थापना । १० । १ ।१५। अत्रान्त्येन राशिना पञ्चदशलक्षणेन मध्यो राशिरेकलक्षणो गुण्यते जाता पञ्चदशैव एकस्य गुणने तदेव भवतीति वचनात् तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागहरण लब्धाः सार्द्धा सप्त भागा इति ।

हासरतीणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स एक्कं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेणं ऊणं उक्कोसेण दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा अरतिभयसोगदुगुंछाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता उक्कोसेणं वीससागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा ॥

(हासरइभयसोयदुगंछाणं जहन्नुक्कोसठिई भाणियव्वा इति) हास्यरतिभयशोकजुगुप्साना जघन्योत्कृष्टा च स्थितिर्वक्तव्या सा च सुप्रसिद्धत्वान्नोक्ता कथ वक्तव्येति चेदुच्यते । " हासरईण पुच्छा गोयमा ! जहन्नेण एगो सागरोवमस्स सत्तभागो पलिओवमस्स असंखेज्जभागेण ऊणो उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा जाव निसेगो इति" ज्ञेयमिति ।

आयुषः ।

नेरइयाउयस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तित्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडितिभागमब्भहियाइं । तिरियाउयस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीतिभागमब्भहियाइं एवं मणुस्साउयस्स वि देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स ठितित्ति ।

तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि च त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि यदुक्त तत्पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यग्मनुष्यानुबन्धिकानधिकृत्य वेदितव्यम् । अन्यत्रैतावत्याः स्थितेः पूर्वकोटित्रिभागरूपाया अबाधायाश्चासंभवमानत्वात् प्रज्ञा० २३ पद । प्रव० ।

नामकर्मण पृच्छा ।

निरयगतिनामएणं भंते ! कम्मस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स

असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोमाकोमीओ वीसयवाससयाइं अवाहा तिरियगतिनामाए जहा नपुंसगवेदस्स। मणुयगतिनामाए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तनागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागऊणगं उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडाकोमीओ पन्नरसवाससयाइं अवाहा देवगतिनामाए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्सएणं सत्तभागपलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं जहा पुरिसवेदस्स ।

"तिरियगइनामाए जहा नपुंसकवेयस्स" इति जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशति सागरोपमकोटीकाटय इत्यर्थः। मनुष्यगतिनाम्नी। "जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढसत्तसागं पलिओवमस्स असंखेज्जनागेण ऊणगं ति" अत्र भावना स्त्रीवेदवद्भावनीया "दिवड्ढसत्तभागमि" त्यादौ तु नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात् नरकगतिनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ किमुक्तं भवति सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ सहस्रगुणितौ चेति तदुत्कृष्टस्थितेर्विंशतिसागरोपमकोटी-कोटीप्रमाणत्वात् तद्बन्धस्य च सर्वजघन्यस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य भावात् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियकर्मबन्धस्य च जघन्यस्य च अयमर्थो वैक्रियकचिन्तायां देवगतिनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रैकः सप्तभाग. एकसागरोपमस्य सप्तभागसहस्रगुणित इति भावः । तस्य हि उत्कृष्टा स्थितिर्दशसागरोपमकोटीकोटयः ततः प्रागुक्तकारणवशादेव सागरोपमस्य सप्तभागो लब्ध. बन्धोऽपि चास्य जघन्यतोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्येति सहस्रगुणितः। देवगतिनामसूत्रे "उक्कोसेणं जहा पुरिसस्स वेयस्स इति" "दससागरोपमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अवाहा अबाहूणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो इति" वक्तव्यमिति भाव. ।

जातिनाम्न. ।

एगिंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइनागेणं ऊणगा उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोमाकोमीओ वीसयवाससयाइं अवाहा । बेइंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइनागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा । तेइंदियजातिनामाएणं जहन्नेणं एवं चेव उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोमाकोमीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा । चउरिंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइनागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोमीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा। पंचिंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तनागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोमाकोमीओ वीसयवाससयाइं अवाहा । ओरालियसरीरा वि एवं चेव ॥

द्वीन्द्रियजातिनामसूत्रे "जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणवीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता इति" द्वीन्द्रियादिनाम्नो ह्युत्कृष्टा स्थितिरष्टादशसागरोपमकोटाकोटयः "अट्ठारससुहुमविगलतिगे" इति वचनात् । ततोऽष्टादशानां सागरोपमकोटाकोटीनां मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणाया भागो न्हियते भागश्च न पूर्यते ततः शून्य शून्येन पात्यते जाता उपरि अष्टादशाधस्तात् सप्ततिस्तयोरर्द्धेनापवर्तनाल्लब्धा नवपञ्चत्रिंशद्भागास्ते पल्योपमासंख्येयभागोनाः क्रियन्ते आगत सूत्रोक्तं परिमाणमिति। एव त्रिचतुरिन्द्रियनामसूत्रे अपि भावनीये ।

वेउव्वियसरीरनामाएणं भंते ! पुच्छा ? जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तनागा पलिओवमस्स असंखेज्जइनागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोमीओ वीसयवाससयसयाइं अवाहा । आहारगसरीरनामाए जहन्नेणं अंतो सागरोवमकोमाकोडीए उक्कोसेणं अंतोसागरोवमकोमाकोमीए तेआकम्मगसरीरनामाए । जहन्नेणं दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोमाकोमीओ वीसयवाससयाइं अवाहा । सरीरबंधणनामाए वि पंचएह वि एवं चेव सरीरसंघातनामाए वि पंचएह वि जहा सरीरनामाए कम्मस्स ठितित्ति ॥

वैक्रियनामसूत्रे "जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता इति" इह वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टा विंशतिसागरोपमकोटीकोट्य. स्थितिस्ततः प्रागुक्तकरणवशेन जघन्यस्थितिचिन्तायां तस्या द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ लभ्येते पर वैक्रियषट्कमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च न बध्नन्ति किंत्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ततो जघन्यतोऽपि बन्धं कुर्वाणा एकेन्द्रियबन्धापेक्षया सहस्रगुणं कुर्वन्ति "पणवीसा पन्नासा सयं सहस्सं च गुणकारो" इतिवचनात् । ततो यौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ प्रागुक्तकरणवशाल्लब्धौ तौ सहस्रेण गुण्यन्ते ततः सूत्रोक्तं परिमाणं भवति सागरोपमस्य द्वौ सहस्रौ सप्तभागानां सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागाविति हृकोऽर्थः । आहारकशरीरनाम्नो जघन्यतोऽप्यन्त.सागरोपमकोटाकोटी उत्कर्षतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटाकोटी नवरं जघन्यादुत्कृष्टं संख्येयगुण द्रष्टव्यम । अन्ये त्वाहारकचतुष्कस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमिच्छन्ति तद्ग्रन्थः "पुव्वेय अठवासा, अठ मुहुत्ता जसुच्च गोयाणं। साए बारस आहार—वग्गपवरनाण किन्चूण"।१।(अत्र किंचूणमिति) अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । तदत्र तत्वं केवलिनो विदन्ति । यथा च शरीरपञ्चकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिपरिमाणमुक्तं तेनैव क्रमेण शरीरबन्धनपञ्चकस्य शरीरसंघातपञ्चकस्य वक्तव्यं तथाचाह । "सरीरबंधननामाए वि पंचएह वि इति"।

वइरोसभनारायसंघयणनामाए जहा रतिनामाए। उसभनारायसघयणनामाए जहन्नेणं सागरोपमस्स छप्पणतीसइनागा पलिओवमस्स असंखेज्जनागेणं ऊणता उक्कोसेणं बारससागरोवमकोडाकोमीओ बारस वाससयाइं

अबाहा । नारायसंघयणनामाए जहन्नेणं सागरोवमस्स सत्तपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं चोद्दससागरोवमकोडाकोडीओ चोद्दसवाससयाइं अबाहा । अद्धनारायसंघयणनामस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स अट्ठपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं सोलससागरोवमकोडाकोडीओ सोलसवाससयाइं अबाहा । कीलियासंघयणेणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अबाहा । छेवट्ठसंघयणनामस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा । एवं जहा संघयणनामाए (छ) भणिया एवं छ संठाणा वि भाणियव्वा ।

(वइरोसभनारायसंघयणनामाए जहा रइनामाए इति) वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नो यथा प्राक् रतिनाम्नो मोहनीयस्योक्त तथा वक्तव्यम् । "वइरोसहनारायसंघयणनामाए णं भंते ! कम्मस्स केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं सत्तभागपलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ इति" ऋषभनाराचसूत्रम् "सागरोवमस्स छप्पन्नतीसभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता इति" ऋषभनाराचसंहननस्य ह्युत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशसागरोपमकोटीकोट्य तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागो ह्रियते तत्र भागहारासंभवात् शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्तनाल्लब्धा सागरोपमस्य षट् पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते एवं नाराचसंहनननाम्नो जघन्यस्थितिचिन्तायां सप्त पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कृष्टा स्थितिश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । अर्द्धनाराचसंहनननाम्नोऽष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना उत्कृष्टा स्थितिः षोडशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । कीलिकासंहनननाम्नो नव पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कृष्टस्थितेरष्टादशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणत्वात् परिभावनीया । सेवार्तसंहननसूत्रं तु सुगमम् । यथा संहननषट्कस्य स्थितिपरिमाणमुक्तं तेनैव क्रमेण संस्थानषट्कस्यापि वक्तव्यं तथा चाह । " एवं जहा संघयणनामा छ भणिया एवं संठाणा छ भाणियव्वा " उक्तश्चायमर्थोऽन्यत्रापि " संघयणे संठाणे, पढमे दस उवरिमेसु दुगवुड्ढी इति "

वर्णनामपृच्छा ।

सुक्किवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागं ऊणगं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा । हालिद्दवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स पंच अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अद्धतेरससागरोवमकोडाकोडीओ अद्धतेरसवाससयाइं अबाहा । लोहियवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स छ अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरसवाससयाइं अबाहा । नीलवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स सत्त अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अद्धट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अद्धट्ठारसवाससयाइं अबाहा । कालवन्ननामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्स ॥

हारिद्रवर्णनामसूत्रे "जहन्नेण सागरोवमस्स पंच अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणगा" इति हारिद्रवर्णनाम्नो हि सार्द्धा द्वादश सागरोपमकोटीकोट्य तथाचोक्तमन्यत्रापि । "सुक्किलसुरभिमहुराण दस उ तहा सुभगउण्हफासाण । अड्ढाइज्जपवुड्ढी अंबिलहालिद्दपुव्वाण " तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो भागो ह्रियते तत्र शून्येन पातना तेनोपरितनो राशिः सांश इति सामस्त्येन चतुर्भागकरणार्थं चतुर्भिर्गुण्यते जाता पञ्चाशत् अधस्तनोऽपि सप्ततिलक्षणश्छेदराशिः चतुर्भिर्गुण्यते जाते द्वे शते अशीत्यधिके ततो भूयोऽपि शून्येन पातनाल्लब्धाः पञ्च अष्टाविंशतिभागा ते पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते । आगतं सूत्रोक्तं परिमाणम् । अनेनैव गणितक्रमेण लोहितवर्णनाम्नो जघन्या स्थितिः षट् अष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कर्षतस्तस्य स्थितेः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । नीलवर्णनाम्नः सप्ताष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतस्तस्य स्थितेः सार्द्धसप्तदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् परिभावनीयाः " कालवन्ननामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्स त्ति " सेवार्तसंहननस्येव जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः कृष्णवर्णनाम्नोऽपि वक्तव्या इति भावः ।

सुब्भिगंधनामाए जहा सुक्किल्लवन्ननामस्स दुब्भिगंधनामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्स ॥

सुरभिगन्धनाम्न शुक्लवर्णनाम्न इव "सुक्किलसुरभिमहुराण दस उ" इति वचनात् सुरभिगन्धनाम्नो यच्च सेवार्त्तसंहननस्य तच्चानन्तरमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते ।

रसाणं महुरादीणं जहा वन्नाणं भणियं तहेव परिवाडीए भाणियव्वं फासा जे अपसत्था तेसिं जहा छेवट्ठस्स, जे पसत्था तेसिं जहा सुक्किल्लवन्ननामस्स, अगुरुलहुनामाए जहा छेवट्ठस्स एवं उवघातनामाए वि एवं चेव ॥

रसानां मधुरादीनां परिपाट्या क्रमेण तथा वक्तव्य यथा वर्णानामुक्त तच्चैव मधुररसनाम्नो जघन्यस्थितिरेक सागरोपमस्य सप्तभाग पल्योपमासंख्येयभागहीन उत्कर्षतो दशसागरोपमकोटीकोट्यो दशवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मदलिकनिषेक अम्लरसनाम्नो जघन्यत पञ्च सागरोपमस्याष्टाविंशतिभागा पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कर्षतोऽर्द्धत्रयोदशसागरोपमकोटीकोट्य नं स दशवर्षशतान्याबाधा कटुकरस-

नाम्नो जघन्यतः सागरोपमस्य सप्ताष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतः सार्द्धाः सप्तदशसागरोपमकोटीकोट्यः सार्द्धसप्तदशशतान्याबाधा। तिक्तरसनाम्नो जघन्यतः सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मदलिकनिषेक इति। स्पर्शा द्विविधास्तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ताश्च। प्रशस्ता मृदुलघुस्निग्धोष्णरूपा अप्रशस्ताः कर्कशगुरुरूक्षशीतरूपा। प्रशस्तानां जघन्यतः स्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्तभागः पल्योपमासंख्येयभागहीन उत्कर्षतो दशसागरोपमकोटाकोट्यो दशवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः। अप्रशस्तानां जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो विंशतिवर्षशतान्याबाधाकालोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः। तथाचाह "फासा जे अप्पसत्था तेसिं जहा सेवट्टस्स जे पसत्था तेसिं जहा सुक्किल्लवण्णनामस्सेति"॥

निरयाणुपुव्वीनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागा, पलिओवमस्स असंखेज्जभागऊणया उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा। तिरियाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा। मणुयाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरस य वाससयाइं अबाहा। देवाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्सएगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा॥

नरकानुपूर्वीनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ सहस्रगुणिताविति भावः। भावना नरकगतिवद्भावयितव्या मनुष्यानुपूर्वीनामसूत्रे " जहन्नेण सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभाग पलिओवमस्स असंखेज्जभागेण ऊणगंति "। तदुत्कृष्टस्थितिर्नि पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणत्वात्। उक्तञ्चान्यत्रापि " तीस कोडाकोडी असाधआवरण अंतरायाण। मिच्छेसयरी इत्थी मणदुगसयाणुपन्नरस " देवानुपूर्वीनाम्नोऽपि जघन्यत एकसागरोपमस्य सप्तभागा सहस्रगुणिताः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतो हि तत्स्थितिर्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। तथाचोक्तम् "पुहासरई उच्चे, सुभखगइत्थिराइछक्कदेवदुगे। दस सेसाण वीसा, एवइयाबाहावाससया " बन्धश्चास्य जघन्यतोऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु इति॥

उस्सासनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहा तिरियाणुपुव्वीए आयवनामाए वि एवं चेव उज्जोयनामाए वि। पसत्थविहायोगतिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा। अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा। तसनामाए थावरनामाए य एवं चेव। सुहुमनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अबाहा। बादरनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स। एवं पज्जत्तनामाए वि। अपज्जत्तनामाए जहा सुहुमनामस्स पत्तेगसरीरनामाए वि दो सत्तभागा साहारणसरीरनामाए जहा सुहुमस्स। थिरनामाए एगं सत्तभागं अथिरनामाए दो सुभनामाए एगो असुभनामाए दो सुभगनामाए एगो दुब्भगनामाए दो सुस्सरनामाए एगो दुस्सरनामाए दो आदेज्जनामाए एगो अनादेज्जनामाए दो जसोकित्तीनामाए जहन्नेणं अट्ठ मुहुत्ता उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा। अजसोकित्तिनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स एवं निम्माणनामाए वि। तित्थगरनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीए एवं जत्थ एगो सत्तभागो तत्थ उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ दस वाससयाइं अबाहा। जत्थ दो सत्तभागा तत्थ वीसं उक्कोसेणं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा॥

तथा सूक्ष्मा नाम सूत्रे जघन्यतो नवसागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागा पल्योपमासंख्येयभागहीना द्वीन्द्रियजातिनाम्न इव भावनीयाः। सूक्ष्मनाम्नो ह्युत्कर्षतः स्थितेरष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। " अट्ठारस सुहुमविगलतिग " इति वचनात् एवमपर्याप्तसाधारणनाम्नोरपि भावनीयम्। बादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नां तु जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोटयस्तथा " बायरनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगइनामाए एव पज्जत्तनामाए वि इत्यादि" स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयरूपाणां पञ्चानां नाम्नां जघन्यतः स्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना। यशःकीर्त्तिनाम्नस्तु जघन्यतोऽष्टौ मुहूर्ताः " अट्ठमुहुत्ता जसुच्चगोय " मिति वचनात् उत्कृष्टा पुनः षष्ठामपि दशसागरोपमकोटीकोटयः "थिराइछक्कदेवदुगे" इति वचनात्। अस्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तिनाम्नां तु जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोटयः एवं निर्माणनाम्नोऽपि वक्तव्यं तीर्थकरनाम्नो जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटी उत्कर्षतोऽप्यन्त सागरोपमकोटीकोटी। ननु यदि जघन्यतोऽपि तीर्थकरनाम्नोऽन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा स्थितिस्तर्हि तावत्याः स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् कियन्त कालं तीर्थकरनामसत्कर्माऽपि तिर्यग् भवेत्। स चागमे निषिद्धस्तथा चोक्तम्। " तिरिएसु नत्थि

तित्थयर-नामसनति देसियसमए। कहयाविरिओ न होही, अथ सागरोवमकोमीकोमीए" इति तत कथमेतदिति चेदुच्यते इह यन्निकाचिते तीर्थकरनामकर्म न तत्तिर्यग्गतौ सत्तायां निषिद्धं यत्पुनरुद्वर्त्तनापवर्त्तनासाध्य तद्भवदपि तिर्यग्गतौ न विरोधमास्कन्दति तथाचोक्तम् "जमिह निकाइयतित्थ-तिरियभवे न निसेहिय सत । इयरम्मि नत्थि दोसा, उव्वट्टसावट्टणा सेसे" ॥१॥ इति ।

उच्चागोयस्स पुच्छा, ? गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ मुहुत्ता उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोमीओ दसवाससयाई अबाहा । नीयागोयस्स पुच्छा ? गोयमा! जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स । अंतराइएण पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोमाकोमीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अवाहा अवाहूणिया ॥

गोत्रान्तरायसूत्राणि सुप्रतीतानि नवरम् " अन्तराइयस्स ण पुच्छा इति " । पञ्चप्रकारस्यापीति वाक्यशेष.। निर्वचनमपि पञ्चप्रकारस्यापि द्रष्टव्यं तदेवमुक्त जघन्यत उत्कर्षतश्च सामान्यत सर्वासा प्रकृतीनां स्थितिपरिमाणम ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियानधिकृत्य तासां तदभित्सुराह ।

एगिंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधइ ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्ने बंधंति । एवं निद्दापंचगस्स वि दंसणचउक्कस्स वि

" एगिंदियाण भंते ! जीवाण नाणावरणिज्जस्स किं बधंति " इत्यादि॥ अत्रेय भावना यस्य कर्मणो या या उत्कृष्टा स्थिति प्रागभिहिता तस्यास्तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते यल्लभ्यते तत्पल्योपमासख्येयभागहीना जघन्या स्थिति.। सैव पल्योपमासख्येयभागरहिता उत्कृष्टेति तदेतत् परिभाव्य सकलमप्येकेन्द्रियगत सूत्र स्वय परिभावनीयम । तथापि विनेयजनानुग्रहाय किंचिल्लिख्यते । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां जघन्यत एकेन्द्रियाणां स्थितिबन्धस्त्रय. सागरोपमस्य सप्त भागा' पल्योपमासख्येयभागहीना उत्कृष्टतस्त एव परिपूर्णास्त्रय सागरोपमस्य सप्त भागा ॥

एगिंदियाणं भंते ! जीवा सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभाग पलिओवमस्स असखेज्जइभागं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति । असायावेदणिज्जस्स जहा नाणावरणिज्जस्स एगिंदियाणं भंते ! जीवा सम्मत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बधंति ? गोयमा ! णत्थि किंचि बंधंति। एगिंदियाणं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणं उक्कोसेणं त चेव पडिपुन्नं बंधंति। एगिंदियाणं भंते! जीवा सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! नत्थि किंचि बधंति ॥

सातावेदनीयस्त्रीवेदमनुष्यानुपूर्वी जघन्यत· सार्द्धसागरोपमस्य सप्तभाग· पल्योपमासख्येयभागहीन उत्कर्षत स एव सार्द्धसप्तभाग परिपूर्ण· मिथ्यात्वस्य जघन्यत एक सागरोपम पल्योपमासख्येयभागहीनमुत्कर्षतस्तदेव परिपूर्ण· । सम्यक्त्ववेदनीयस्य सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य च नहि किंचिदपि बध्नन्ति न किंचिदपि वेद्यमानतयाऽऽत्मप्रदेशै सह बन्धयन्तीति भाव । एकेन्द्रियाणा सम्यक्त्ववेदनस्य सम्यग्मिथ्यात्ववेदनस्य चासम्भवात् यस्तु साक्षाद् बन्ध· सम्यग्मिथ्यात्वयोर्न घटत एवेति प्रागेवाभिहितम ।

एगिंदियाणं कसायवारसगस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं तं चेव पमिपुण्णं बंधंति एव कोहसंजलणाए वि जाव लोहसंजलणाए वि । इत्थीवेदस्स जहा सातावेदणिज्जस्स एगिंदिया पुरिसवेदस्स जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं त चेव पमिपुन्न बंधंति । एगिंदिया नपुंसगवेदस्स जहन्नं सागरोवमस्स दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्नं बंधंति । हासरती जहा पुरिसवेदस्स अरतिभयसोगदुगुंछा जहा नपुंसगवेदस्स ॥

कषायषोडशकस्य जघन्यतश्चत्वार सागरोपमस्य सप्तभागा पल्योपमासख्येयभागहीना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णा । पुरुषवेदहास्यरतिप्रशस्तविहायोगतिस्थिरादिषट्कप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननशुक्लवर्णसुरभिगन्धमधुररसोच्चैर्गोत्राणा जघन्यत एक सागरोपमस्य सप्तभागा पल्योपमासख्येयभागहीन· उत्कर्षत स एव परिपूर्ण· द्वितीयसंस्थानसंहननयोर्जघन्यत षट् पञ्चत्रिंशद्भागा· पल्योपमासख्येयभागहीना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णा त्रय· संस्थानसंहननयोर्जघन्यत सप्तसागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागा· पल्योपमासख्येयभागहीना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णा । हारिद्रवर्णाम्लरसयोर्जघन्यत पञ्च सागरोपमस्याष्टाविंशतिभागा पल्योपमासख्येयभागहीना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णा· । नीलवर्णकटुकरसयो सप्तसागरोपमस्याष्टाविंशतिभागा पल्योपमासख्येयभागोना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णा । नपुंसकवेदनकजुगुप्साशोकरतितिर्यगौदारिकद्विकचरमसंस्थानचरमसंहननकृष्णवर्णतिक्तरसागुरुलघुपराघातोच्छ्वासोपघातत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायश·कीर्तिस्थावरातपोद्योता शुभविहायोगतिनिर्माणैकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणानां जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासख्येयभागहीनौ उत्कर्षतस्तावेव परिपूर्णाविति । नैरयिकद्विकदेवद्विकवैक्रियचतुष्टयाहारकचतुष्टयतीर्थकरनाम्नां त्वेकेन्द्रियाणां न बन्धः ॥

नेरइयाउय देवाउय निरयगतिनाम वेउव्वियसरीरनाम आहारिकसरीरनाम नेरइयाणुपुव्वीनाम देवाणुपुव्वीनाम तित्थगरनाम एतानि पदानि बंधंति । तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोमी सत्तहिं वाससहस्सेहिं वाससहस्सतिभागेण अभिहियं बंधंति एव मणुस्साउयस्स वि । तिरियगइनामाए जहा नपुंसयवेयस्स

मणुयगतिनामाए जहा सातावेदणिज्जस्स । एगिंदियजातिनामाए पंचिंदियजातिनामाए जहा नपुंसगवेदस्स । बेइंदिय तेइंदियजातिनामाए जहन्नं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति । चउरिंदियनामाए वि जहन्न सागरोवमस्स नवपणतीसइभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति एवं जत्थ जहन्नगं दो सत्तभागा तिन्नि वा चत्तारि वा सत्त भागा अट्ठावीसइभागा भवंति तत्थ णं जहन्नेणं ते चेव पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा भाणियव्वा उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ना बंधंति । तत्थ जहन्नेणं एगो वा दिवड्ढो वा सत्तभागो तत्थ जहन्नेणं तं चेव पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणयं भाणियव्वं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्न बंधति । जसोकित्तिउच्चागोयाणं जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणयं उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्नं बंधंति । अंतराइयस्स णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहा नाणावरणिज्ज जाव उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्नं बंधंति ॥

आयुश्चिन्तायामपि एकेन्द्रिया देवायुर्नैरयिकायुर्वा न बध्नन्ति तथा भवस्वाभाव्यात् किंतु तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा तदपि च बध्नन्तो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं बध्नन्ति उत्कर्षतः पूर्वकोटिप्रमाणं नाधिकं केवलमुत्कृष्टं चिन्त्यते इत्येकेन्द्रिया द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणायुषः स्वायुषस्त्रिभागावशेषपरभवायुर्बध्नन्तः परिगृह्यन्ते इति सप्तवर्षसहस्राणि वर्षसहस्रत्रिभागोत्तराण्यधिकानि लभ्यन्ते ततस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुश्चिन्तायां सूत्रोक्तं परिमाणमिति ।

सम्प्रति द्वीन्द्रियानधिकृत्य तमभिधित्सुराह ।

बेइंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपणवीसाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्ने बंधंति । एवं निद्दापंचगस्स वि एवं जहा एगिंदियाणं भणियं तहा बेइंदियाण वि भाणियव्वं नवरं सागरोवमपणवीसाए सह भाणियव्वा । पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणा सेसं तं चेव । जत्थ एगिंदिया न बंधंति तत्थ एते वि न बंधंति बेइंदियाणं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेदणिज्जस्स किं बंधति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपणवीसं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणय उक्कोसेणं त चेव पडिपुन्नं बंधंति । तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्न अंतोमुहुत्त उक्कोसेणं पुव्वकोडिं चउहिं वासेहिं अहियं बंधति । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा एगिंदियाणं जाव अंतराइयस्स ॥

अत्रेय परिभाषा यस्य यस्य कर्मणो या या स्थितिरुत्कृष्टा प्रागभिहिता तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते यल्लभ्यते तत्पञ्चविंशत्या गुण्यते गुणितं च सत् यावद्भवति तावत्पल्योपमासंख्येयभागहीनं द्वीन्द्रियाणां बन्धकानां जघन्यस्थितिपरिमाणं तदेव परिपूर्णमुत्कृष्टस्थितिपरिमाणं तद्यथा ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः पञ्चविंशत्या गुणिता वस्तुवृत्त्या पञ्चविंशतेः सागरोपमाणां त्रयः सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना जघन्यस्थितिबन्धपरिमाणं त एव परिपूर्णा उत्कृष्टमित्यादि ।

तेइंदियाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपन्नासाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणया उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति एवं जस्स जइ भागा ते तस्स सागरोवमपन्नासाए सह भाणियव्वा । तेइंदियाणं भंते ! मिच्छत्तवेदणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपन्नासं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्नं बंधंति । तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिसोलसेहिं राइंदियतिभागेण य अहियं बंधंति । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स ॥

त्रीन्द्रियबन्धचिन्तायां तदेव भागलब्धं पञ्चविंशत्या गुण्यते ।

चउरिंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति गोयमा ! जहन्नं सागरोवमसयस्स तिण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधति । एवं जस्स जइ भागो ते तस्स सागरोवमस्स तेण सह भाणियव्वो । तिरिक्खजोणियाउयस्स कम्मस्स जहन्नं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिं दोहिं मासेहिं अहियं । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा बेइंदियाणं नवरं मिच्छत्तवेदणिज्जस्स णं जहन्नं सागरोवमसयं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणय उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति सेसं जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स । असन्नीणं भंते ! जीवा पंचिंदिया नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमसहस्सं तिन्नि य सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने एवं सो चेव गमो जहा बेइंदियाणं नवरं सागरोवमसहस्सेण समं भाणियव्वो जस्स जइ भाग त्ति । मिच्छत्तवेयणिज्जस्स जहन्न सागरोवमसहस्सं पडिपुन्नं । नेरइयाउयस्स जहन्नं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडितिभागमब्भहियं बंधति । एवं तिरिक्खजोणियाउयस्स वि नवरं जहन्नं अंतोमुहुत्तं एवं मणुस्साउयस्स वि । देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स । असन्नीणं भंते ! जीवा पंचिं-

ढिया निरयगतिनामाए कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहएए सागरोवमसहस्सं दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे ऊणोसेणं ते चेव पडिपुणे । एवं तिरियगतिए वि मणुयगतिए वि एवं चेव नवरं जहएणेणं सागरोवमसहस्सदिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे ऊणग उक्कोसेणं तं चेव पडिपुणं बंधंति । एवं देवगतिनामाए वि नवरं जहएणं सागरोवमसहस्सं एगं सत्तभाग पलिओवमस्स असंखेज्जभागं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुएणं । वेउव्विय सरीरनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहएणेणं सागरोवमसहस्सं दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जभागे ऊणगं उक्कोसेणं दो पडिपुएणे सम्मत्तसम्मामिच्छत्त- आहारसरीरनामाए तित्थयरनामाए य न किंचि बंधंति अवसेसं जहा बेइंदियाणं नवरं जस्स जत्तिया भागा तस्स ते सागरोवमसहस्सेण सह भाणियव्वा सव्वेसिं आणुपुव्वीए जाव अंतराइयस्स ॥

चतुरिन्द्रियबन्धचिन्तायां सहस्रेण आह च कर्मप्रकृतिसंग्रहणिकारः " पणवीसा पन्नासा, सय सहस्सं च गुणकारो । कमसो विगल असन्नीणमिति " । तदेतदनुसारेण सूत्रं स्वयं निगमनीयं सुगमत्वात् नवरं 'सागरोवमपणवीसाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा इति " अत्रेयं गणितभावना पञ्चविंशतिसागरोपमाणां सप्तभिर्भागे ह्रियमाणे यल्लभ्यते तत् त्रिगुणीकृत्य पल्योपमासंख्येयभागेन हीयते । एवं सर्वत्रापि यथायोगं गणितभावना कर्त्तव्या ॥

सन्नीणं भंते ! जीवा पंचिंदिया नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं ? बंधंति । गोयमा ! जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा । सन्नी णं भंते ! पंचिंदिया निद्दापंचगस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहएणं अंतो सागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा । दंसणचउक्कस्स जहा नाणावरणिज्जस्स सातावेदणिज्जस्स जहा ओहियाई भणिया तहेव भाणियव्वा । इरियावहियबंधयं पडुच्च संपराइयबंधयं च । असातवेदणिज्जस्स जहा निद्दापंचगस्स सम्मत्तवेदणिज्जस्स सम्मामिच्छत्तवेदणिज्जस्स य जा ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति । मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ सत्त य वाससहस्साइं अबाहा । कसायबारसगस्स जहणं एवं चेव उक्कोसं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीस य वाससयाइं अबाहा । कोहमाणमायालोभसंजलणाए य दो मासा मासो अद्धमासो अंतोमुहुत्तो एयं जहन्नगं उक्कोसगं पुण जहा कसायबारसगस्स चउएह वि आउयाणं जा ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति । आहारगसरीरस्स तित्थगरनामाए य जहन्नेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ उक्कोसेण वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीए बंधंति पुरिसवेदस्स जहएणं अट्ठसंवच्छराइं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा । जसोकित्तिनामाए उच्चागोयस्स एवं चेव नवरं जहन्नेणं अट्ठमुहुत्ता, अंतराइयस्स जहा नाणावरणिज्जस्स सेसएसु सव्वेसु ठाणेसु संघयणेसु संठाणेसु वन्नेसु गंधेसु य जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ उक्कोसं जा जस्स ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति नवरं इय नाणत्तं अबाहा अबाहा भणिता न वुच्चंति एवं आणुपुव्वीए सव्वेसिं जाव अंतराइयस्स ताव भाणियव्वं ॥

संज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धकसूत्रं ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जघन्यतः स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं क्षपकस्य स्वस्वबन्धचरमसमये प्रतिपत्तव्यं निद्रापञ्चकासातवेदनीयमिथ्यात्वकषायद्वादशकादीनां तु क्षपणादर्वाग्बन्ध इति तेषां जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः उत्कृष्टो मिथ्यादृष्टेः सर्वसंक्लिष्टस्य नवरं तिर्यग्मनुष्यदेवायुषां स्वस्वबन्धकेऽतिविशुद्धस्येति प्रज्ञा० २३ पद । कर्म० (कर्मणो रागद्वेषतारतम्याद् बन्धवैचित्र्य चिउचित्त शब्दे)

(२७) अधुना तीर्थकराहारकद्विकयोः प्रागभिहितामपि जघन्यां स्थितिं पुनर्मतान्तरेणाह ।

" केस्सुरासम " इत्यादि केचनाचार्याः सुरायुषा देवायुष्केण दशवर्षसहस्रप्रमाणेन समं तुल्यं सुरायुस्समं देवायुस्तुल्यस्थितिकं जघन्यतो बध्यते किं तदित्याह (जिणति) तीर्थकरनामकर्म ब्रुवते तथा च तैरभ्यधायि " सुरनारयाण दसवाससहस्सलहु सतित्थाण " (लहुत्ति) जघन्या स्थितिः सतीर्थयोस्तीर्थकरनामयुक्तयोरित्यर्थः तथा (आहारति) आहारकाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यतो बध्यते किंचिदून मुहूर्त्तस्थितिकं जघन्येन बध्यते इति ब्रुवते तथा च तैरुक्तम् " आहारकविग्घावरणाण किं चूणति " किंचिदून मुहूर्त्तं जघन्या स्थितिरिति तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थितिः ।

(२८) इह संज्ञिपञ्चेन्द्रियसूत्रे ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाण उक्तः स कस्मिन् स्वामिनि लभ्यते इति जिज्ञासुः पृच्छति ।

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्ने ठितिबंधए के ? गोयमा ! अन्नयरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवगए वा एसणं गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते अजहन्ने एवं एतेणं अभिलावेणं मोहाउयवज्जाणं सेसकम्माणं भाणियव्वं मोहणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए के ? गोयमा ! अन्नयरे बायरसंपराए उवसामए वा खवए वा एसणं गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते अजहन्ने ॥

“नाणावरणिज्जस्स” इत्यादि सुगमं नवरमन्यतरसूक्ष्मसम्पराय इति यदुक्तमस्य व्याख्यानं क्षपक उपशामको वा सूक्ष्मसम्पराय इह ज्ञानावरणस्य बन्धः क्षपकस्य उपशामकस्य च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततोऽन्तर्मुहूर्त्तत्वाविशेषात् उपशामको वा सूक्ष्मको वा इत्युक्तमन्यत्रापि क्षपकापेक्षया उपशामकस्य

बन्धो द्विगुणो वेदितव्यो यत आह कर्मप्रकृतिसग्रह णकार " खवगुणसामगपरिञ्चय-माणो दुगुणो तहिं तहिं बंधो " । इति ततो वेदनीयस्य साम्परायिकबन्धचिन्तायां जघन्यस्थितिबन्धक्षपकस्य द्वादश मुहूर्त्ता उपशमकस्य चतुर्विंशतिर्नामगोत्रयोर्जघन्यत. क्षपकस्याष्टौ मुहूर्त्ता उपशमकस्य षोडश परमुपशमकस्यापि जघन्यो बन्ध' शेषबन्धकापेक्षया सर्वजघन्य इति तत्सूत्रेष्वपि " अन्नयरे सुहुमसंपराए उपसमे वा खवगे वा " इति वक्तव्य तथा च वक्ष्यति " एएण अभिलावेण माहाउयवज्जाण सेसकम्माण भाणियव्वति " उपसंहारसूत्रे " तव्वइरित्ते अजहन्ने" इति तद्व्यतिरिक्त' क्षपकोपशमकसूक्ष्मसंपरायव्यतिरिक्तो जघन्यो जघन्यस्थितिबन्धक. ।

आउयस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए के ? गोयमा ! जे णं जीवे असंखेप्पाद्धापविट्ठे सव्वनिरुद्धे से आउए सेसे सव्वमहंतीए आउयबंधद्धाए तीसे णं आउबंधद्धाए चरिमकालसमयंसि सव्वजहन्नियं अपज्जत्तापज्जत्तियं निव्वत्तेइ एसणं ? गोयमा ! आउयकम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते अजहन्ने । उक्कोसट्ठितियाउएणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं किं नेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति तिरिक्खजोणिणी बंधति मणुस्सो बंधति मणुस्सी बंधति देवो बंधति देवी बंधति ? गोयमा ! नेरइओ वि बंधति जाव देवी वि बंधति । केरिसए ण भंते ! णेरइए उक्कोसकालट्ठिइयं नाणावरणिज्जस्स कम्मं बंधति गोयमा ! सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्ते सागारे जागरे सुत्तोवउत्ते मिच्छादिट्ठी कण्हलेसे उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे ईसमज्झमपरिणामे वा एरिसएणं ? गोयमा ! णेरइए उक्कोसकालट्ठितिय नाणावरणिज्जं कम्मं बंधति । केरिसएण भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितियाणं नाणावरणिज्जं कम्मं बधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा सन्नीपंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए सेसं तं चेव जहा णेरइयस्स । एवं तिरिक्खजोणिणी वि मणूसे वि मणूसी वि । देवो देवी जहा णेरइए एवं आउयवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं उक्कोसकालट्ठिइयाणं भंते ! आउयकम्मं किं णेरइओ बधति ? गोयमा ! नो णेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति । मणुस्सो वि बंधति मणुस्सी वि बंधति नो देवो बंधति नो देवी बंधति । केरिसएणं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिइयं आउयं कम्मं बधति गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए सागारे जागरे सुत्तोवउत्ते मिच्छदिट्ठी कण्हलेसे उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे एरिसएणं गोयमा ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितियं आउयं कम्मं बंधति । केरिसएणं भंते ! मणूसे उक्कोसकालट्ठितियं आउयकम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा जाव सुत्तोवउत्तो सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा कण्हलेसे वा सुक्कलेसे वा नाणी वा अन्नाणी वा उक्कोसेणं संकिलिट्ठपरिणामे वा असंकिलिट्ठपरिणामे वा एरिसएणं गोयमा ! मणूसे उक्कोसकालट्ठिइय आउयं कम्मं बंधति । केरिसियाणं भंते ! मणुस्सीओ उक्कोसकालट्ठितियं आउयं कम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिपलिभागी वा जाव सुत्तोवउत्ता सम्मादिट्ठी सुक्कलेसा तप्पाओग्गविसुज्झमाणपरिणामा एरिसियाण गोयमा ! मणुस्सी आउयं कम्मं बंधति । अंतराइयं जहा नाणावरणिज्जं । इति पन्नवणाए भगवईए कम्मोति पदं तेवीसइयं सम्मत्तं ॥

आयुर्बन्धकसूत्रे " जे जीवे असंखिप्पद्धा पविट्ठे " इत्यादि इह द्विविधा जीवाः सोपक्रमायुषो निरुपक्रमायुषश्च तत्र देवा नैरयिका असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यग्मनुष्या संख्येयवर्षायुषोऽप्युत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयश्चरमशरीरिणश्च निरुपक्रमायुष एव शेषास्तु सोपक्रमा अपि निरुपक्रमा अपि उक्तं च " देवा नेरइया या, असंखवासाउया य तिरिमणुया । उत्तमपुरिसा य तहा, चरमसरीरा य निरुवकमा ॥ सेसा ससारत्था, भइया सोवक्कमा च इयरे वा । सोवक्कमानिरुवक्कम-भेओ भणिओ समासेण" ॥ १ ॥ तत्र देवा नैरयिका असख्येयवर्षायुषस्तिर्यग्मनुष्याश्च षण्मासावशेषायुष. परभविकायुर्बन्धका ये पुनस्तिर्यग्मनुष्याः सख्येयवर्षायुषोऽपि निरुपक्रमायुषस्ते नियमात् त्रिभागावशेषायुष. परभवायुर्बध्नन्ति ये तु सोपक्रमायुषस्तस्य तत्त्रिभागावशेषत्रिभागावशेषायुषो यावदसंक्षेप्याद्धाप्रविष्टा इति । तत आह " जेण जीवे " इत्यादि यो णमिति वाक्यालंकारे जीवोऽसंक्षेप्याद्धाप्रविष्ट. त्रिभागादिना प्रकारेण या सक्षेप्तु न शक्यते साऽसंक्षेप्या सा चासौ अद्धा च असंक्षेप्याद्धा तां प्रविष्टः असंक्षेप्याद्धाप्रविष्ट ततश्च आह (से) तस्यासंक्षेप्याद्धाप्रविष्टस्य जीवस्यायु सर्वं निरुद्धमुपक्रमहेतुभिरभिसंक्षिप्तीकृत आयुर्बन्धनिर्वर्त्तनमात्र एव कालस्तस्यास्ति न परतो जीवनकाल इति भाव । एव तदेव स्पष्टतरमाह " सेससव्वमहतीए आउयबंधद्धाए" इह सर्वमहती आयुर्बन्धाद्धा अष्ट कर्षप्रमाणा तस्याः शेष एककर्षप्रमाणस्तावन्मात्र सर्वनिरुद्ध तस्यायुर्वर्तते इति भावः ततोऽसंक्षेप्याद्धाप्रविष्ट. स इत्थंभूतस्तस्या आयुर्बन्धाद्धायाश्चरमकालसमये चरमकालावसरे एककर्षप्रमाणा इह चरमसमयकालग्रहणेन परमनिरुद्ध समय परिगृह्यते, किंतु यथोक्तरूप. काल' तेन हीनेन कालेनायुर्बन्धस्यासंभवात् यत उक्त प्राक् व्युत्क्रान्तपदे " जीवाण भंते ! जिहनामनिहिताउय कइहिं आगरिसेहिं पकरेइ ? गोयमा ! जहन्नेण उक्कोसेण अट्ठहिं आगरिसेहिं" इति एकेन वा कर्षेणायुर्निर्वर्त्तयति सर्वजघन्यं यत आह (सव्वजहन्नियामीति) सर्वजघन्यां सर्वजघन्यां स्थितिमिति गम्यते निर्वर्तयति बध्नातीति भाव । किं विशिष्टामित्याह पर्याप्तापर्याप्तिकां शरीरेन्द्रियपर्याप्तिनिर्वर्तनोच्चामित्याह सपर्याप्तस्य निर्वर्त्तनसमर्था कथमेतदवसेय तत्सर्वजघन्यामपि स्थितिनिर्वर्तनसमर्था न ततो हीनतरामिति चेत् उच्यते । युक्तिवशात्तथाहि इह सर्व एव देहिन परभवायुर्बध्वा म्रियन्ते नान्यथा परभवायुषश्च बन्ध औदारिकवैक्रियाहारके वा योगे वर्तमानस्य न कार्मणे औदारिकादिमिश्रे वा तथाचाह मूलटीकाकार. " जओरालियाईण तिण्हं सरीराण कायजोगे वट्ट-

माणो माउयबंधयो व कम्मए उरालियाउमिस्सी वा" इति औदारिककाययोगश्च विशिष्टो भवति शरीरेन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तस्य न केवलं शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य तत एतस्मिन् शरीरपर्याप्त्या इन्द्रियपर्याप्त्या च पर्याप्तस्य मरणं नान्यथेति सर्वजघन्यामपि स्थितिं निर्वर्त्तयति शरीरेन्द्रियपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो न ततोऽपि हीनतरामिति । (एसणं गोयमे) त्याद्युपसंहारवाक्यं तदेवमुक्तो जघन्यस्थितिबन्धकः । सम्प्रत्युत्कृष्टस्थितिबन्धकं पृच्छति "उक्कोसेय कालट्ठिइय णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं किं नेरइयाओ बंधई त्यादि" सुगमं नैरयिकसूत्रे (सागारि- इति) साकारोपयुक्तः (जागरे इति) जाग्रत् नारकाणामपि किंचनापि निद्रानुभवोऽस्ति तत उक्तं जाग्रदिति (सुत्तोवउत्ते इति) श्रुतोपयुक्तः साभिलापज्ञानोपयुक्त इति भावः तिर्यग्योनिकसूत्रे (कम्मभूमिगपलिभागी वा) कर्मभूमिगाः कर्मभूमिजातास्तेषां प्रतिभागः सादृश्यं तदस्यास्तीति कर्मभूमिगप्रतिभागी कर्मभूमिगसदृश इत्यर्थः कोऽसाविति चेदुच्यते । या कर्मभूमिजा तिर्यक्स्त्री गर्भिणी सती केनाप्यपहृत्याकर्मभूमौ मुक्ता तस्यां जात कर्मभूमिगसदृश अन्ये तु व्याचक्षते कर्मभूमिग एव यदा केनाप्यकर्मभूमौ नीतो भवति तदा स कर्मभूमिगप्रतिभागी व्यपदिश्यते इति उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धचिन्तायां नैरयिकतिर्यग्योनिकस्त्रीदेवदेवीनां प्रतिषेधस्तासामुत्कृष्टस्थितिषु नारकादिषूत्पत्त्यभावात् मनुष्यसूत्रे (सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी वा इति) इह द्वे उत्कृष्टे आयुषी तद्यथा सप्तमनरकपृथिव्यायुः यदा बध्नाति तदा मिथ्यादृष्टिः यदा पुनरनुत्तरसुरायुस्तदा सम्यग्दृष्टिः (कण्हलेसे वा) नारकायुर्बन्धकः (सुक्कलेसा वा इति) अनुत्तरसुरायुर्बन्धकः सम्यग्दृष्टिरप्रमत्तश्चाने उत्कृष्टपरिणामो नारकायुर्बन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुध्यमानपरिणामोऽनुत्तरसुरायुर्बन्धकः मानुषी तु सप्तमनरकपृथिवीयोग्यमायुर्न बध्नाति अनुत्तरसुरायुस्तु बध्नातीति तत्सूत्रं सर्वं प्रशस्तं नेयम् । इहातिविशुद्धः आयुर्बन्धमेव न करोतीति तत्प्रायोग्यग्रहणं शेषं सुपाठ्यम् । प्रज्ञा० २३ पद । कर्म० ।

(२९) अथोत्तरप्रकृतीनामित्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमाह ।

अविरयसम्मो तित्थ, आहारदुगामराउअपमत्तो ।
मिच्छादिट्ठी वंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥

अविरतसम्यक्त्वोऽविरतसम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति" न्यायान्मनुष्य पूर्वं नरकबद्धायुष्को नरकं जिगमिषुरवश्यं मिथ्यात्वं यत्र समये प्रतिपद्यते ततोऽनन्तरेऽर्वाक् स्थितिबन्धे (तित्थति) तीर्थकरनाम उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति " तित्थयरम्मि मणूसो, अविरयसम्मो समज्जेइ " इति वचनात् । इयमत्र भावना तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना बन्धका न भवन्ति किन्तूत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यते स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेन अस्यैवोपादानमिति भावः । तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्नः पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव भवन्तीति मनुष्यग्रहणम् । बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरकं न व्रजतीति पूर्वं नरकबद्धायुष्कस्य ग्रहणम् क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत्सम्यक्त्वेऽपि कश्चिन्नरकं प्रयाति किं तु तस्य विशुद्धत्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वाभावस्त्वस्या एव चेह प्रकृतत्वान्नासौ गृह्यतेऽतस्तीर्थकरनामकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वान्मिथ्याभिमुखस्यैव ग्रहणमिति । तथा आहारद्विकमाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणम । (अपमत्तात्ति) अप्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तभावाभिवर्तमान इति विशेषो ज्ञेय उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते तद्बन्धकश्च अप्रमत्तयतिरप्रमत्तभावान्निवर्त्तमान एवोत्कृष्टक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्थं विशिष्यते । तथा अमरायुर्देवायुष्कं प्रमत्तसंयतः पूर्वकोट्यायुरप्रमत्तभावाभिमुखो वेद्यमानपूर्वकोटिलक्षणायुषो भागद्वये गते सति तृतीयभागस्याद्यसमये उत्कृष्टस्थितिकं पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणं बध्नाति पूर्वकोटित्रिभागस्य द्वितीयादिसमयेषु बध्नतो नोत्कृष्टा लभ्यते अबाधाया परिगलितत्वेन मध्यमत्वप्राप्तेरित्याद्यसमयग्रहणम् अप्रमत्तभावाभिमुखताविशेषणं तर्हि किमर्थमिति चेदुच्यते शुभेयं स्थितिर्विशुद्ध्या बध्यते सा चास्य अप्रमत्तभावाभिमुखस्यैव लभ्यत इति तर्ह्यप्रमत्त एव कस्मादेतद्बन्धकत्वेन नोच्यते इति चेदुच्यते अप्रमत्तस्यायुर्बन्धारम्भनिषेधात् " देवाउय पमत्तो " इति वचनात् । प्रमत्तेनैवारब्धमायुर्बन्धमप्रमत्त कदाचित्समर्थयते " देवाउयं च इक्क नायव्व अप्पमत्तम्मि " इति वचनात् । शेषाणां षोडशोत्तरशतसंख्यप्रकृतीनां ज्येष्ठस्थितिमुत्कृष्टस्थितिं मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति यतः स्थितिरशुभासंक्लेशप्रत्ययावसंक्लिष्टश्च बन्धकेषु मध्ये मिथ्यादृष्टिरेव भवतीति भावः । अत्र च प्रायोवृत्त्या सर्वसंक्लिष्टत्वमुच्यते यावता तिर्यङ्मनुष्यायुषी उत्कृष्टे तत्प्रायोग्यो विशुद्धो बध्नातीति इष्टव्यं तयोः शुभस्थितिकत्वेन विशुद्धिजन्यत्वात् उक्तं च " सव्वट्ठिईण उक्को-सओ उ उक्कोससंकिलेसेण । विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्जसेसाण " ति ननु यदि विशुद्धित इदमायुष्कद्वयं बध्यते तर्हि मिथ्यादृष्टेः सकाशात्सास्वादनो विशुद्धतरः प्राप्यते स कस्मादेतद्बन्धकत्वेन नोक्तो न च वक्तव्यं तिर्यङ्मनुष्यायुषी सास्वादनो न बध्नाति तद्बन्धस्य सप्ततिकादिष्वभ्यनुज्ञानात्तथा चोक्तमायुः संवेधभङ्गकावसरे सप्ततिकाटीकायां तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्मनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा तत्कथमुक्तं " मिच्छद्दिट्ठी बंधइ जिट्ठठिइं सेसपयडीणमिति " । अत्र प्रतिविधीयते सत्यामपि हि सामान्यतो मनुष्यतिर्यगायुर्बन्धानुज्ञायामसंख्येयवर्षायुष्कयोग्यमुत्कृष्टं प्रस्तुतायुर्द्वयं सास्वादनो न निर्वर्तयति सास्वादनस्य गुणप्रतिपाताभिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सकाशाद्विशुद्ध्याधिकस्यानवगम्यमानत्वात् शास्त्रान्तरेऽपि च मिथ्यादृष्टेः सकाशादविरतादय एव यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धाः पठ्यन्ते न सास्वादन । नचै तन्निजमनीषिकाशिल्पिकल्पितं यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिपूज्या " सव्वुक्कोसठिईण, मिच्छद्दिट्ठी उ बंधओ भणिओ । आहारगतित्थयरं, देवाउं वा वि मुत्तूण " इह पूर्वं संक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः षोडशोत्तरप्रकृतिशतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकः सामान्येनैवोक्तः स च नारकादिभेदेन चिन्त्यमानश्चतुर्धा भवति ततो नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च मिथ्यादृष्टयः पृथक्केषां कर्मणां स्थितीरुत्कृष्टा बध्नन्तीति भेदतश्चिन्तयन्नाह ।

विगल सुहुमाउगतिगं, तिरिमणुयासुरावेउव्विनिरयदुगं ।
एगिंदि थावरायव-आईसाणसुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् विकलत्रिकं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-

चतुरिन्द्रियजातिलक्षणं सूक्ष्मत्रिक सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपम् आयुस्त्रिक देवायुर्वर्जे नारकतिर्यग्मनुष्यायुर्लक्षणम् । द्विकशब्दस्यापि प्रत्येकं संबन्धात् सुरद्विक सुरगतिसुरानुपूर्वीस्वरूप वैक्रियद्विक वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षण नरकद्विक नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणमित्येतासां पञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं नरकतिर्यङ्मनुष्या एव मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति न देवनारका ह्येतासां मध्ये तिर्यङ्मनुष्यायुर्द्वयं मुक्त्वा शेषास्त्रयोदश प्रकृतीर्भवप्रत्ययेनैव न बध्नन्ति तिर्यङ्मनुष्यायुषोरपि देवगुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टस्त्रिपल्योपमलक्षणः स्थितिबन्धः प्रकृतस्तत्र च देवनारका भवप्रत्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषां न सम्भवति तस्मादेते तिर्यङ्मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यङ्मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्या विशुद्धास्त्वायुस्त्रिभागाद्यसमये वर्त्तमाना बध्नन्ति सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्धः स्यादिति मिथ्यादृष्टित्वतत्प्रायोग्यविशुद्धत्वरूपविशेषणद्वय नारकायुषः पुनरेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वाच्याः अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसंक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति नरकद्विकवैक्रियद्विकयोस्त्वेक एव सर्वसंक्लिष्टाः पूर्वोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्याः । विकलजातित्रिकसूक्ष्मत्रिकयोस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः अतिसंक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यमेव निवर्तयेयुर्विशुद्धास्तु विशुद्धितारतम्यात्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य वा मनुष्यप्रायोग्य वा देवप्रायोग्य वा बन्धयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम् । देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्या । अतिसंक्लिष्टानामधोवर्त्तिमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धप्रसङ्गाद्विशुद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भाविता पञ्चदशादिप्रकृतयः । तथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य आ ईशानात् ईशानदेवलोकमभिव्याप्य सुरा देवाः । कोऽर्थः भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्मेशानदेवाः (उक्कोसति) उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति तथाहि ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्यान्येतानि न बध्नन्त्येवेति तन्निषेधः । तिर्यग्मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्त्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति तेषामपि निषेधः । ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्त्यतस्त एव स्थावरैकेन्द्रियातपलक्षणप्रकृतित्रयस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति ।

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठसुरनिरयसेसचउगइया ।
आहारजिणमपुव्वो, नियट्टिसजलणपुरिसलहु ॥ ४४ ॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् तिर्यग्द्विकं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपमौदारिकद्विकमौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुद्योतनाम सेवार्त्तसंहनननाम इत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं सुरनारका बध्नन्ति सर्वत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् न मनुष्यतिर्यञ्चः ते हि तद्बन्धार्हसंक्लेशे वर्तमाना एतासां षट्प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽष्टादशकोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमां स्थितिमुपरचयन्ति अथात्यधिकसंक्लेशे वर्त्तमाना गृह्यन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपरचयेयुः । देवनारकास्तु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्य तत्र तेषामुत्पत्त्यभावात्तस्माद्देवनारका एव संक्लिष्टाः । प्रस्तुतप्रकृतिषट्कस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टां स्थितिं रचयन्ति अत्र सामान्योक्तावपि सेवार्त्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव द्रष्टव्याः । ईशानान्ता देवास्ते हि तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्त्तमानाः प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽष्टादशकोटीकोटीलक्षणां मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति । अथ सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्यन्ते तर्ह्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुर्न चैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे एते प्रकृती बध्येते तेषां संहननोपाङ्गाभावात् । "सुरनेरइया एगिंदिया जे सव्वे असंघयणा" इति वचनात् । सनत्कुमारादिदेवाः पुनः सर्वसंक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्य तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावात्तस्मात्प्रस्तुतप्रकृतिद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसंक्लिष्टाः सनत्कुमारादय एव बध्नन्ति नाधस्तना देवा इति । तदेवं जिननाम आहारकद्विकदेवायुर्विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकायुष्कत्रिकदेवद्विका वैक्रियद्विकनरकद्विकैकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकोद्योतनामसेवार्त्तसंहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन उक्ताः । शेषप्रकृतीनां तु का वार्तेत्याशङ्कयाह (सेसचउगइयत्ति) भणिताष्टाविंशतिप्रकृतिभ्य शेषाणां द्विनवतिसंख्यप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातभयजुगुप्सामिथ्यात्वकषायषोडशकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकान्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाणां तथा अध्रुवबन्धिनीनामपि मध्ये असातारतिशोकनपुंसकवेदपञ्चेन्द्रियजातिहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासाशुभविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकमस्थिराशुभदुःस्वरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रलक्षणानां च विंशतेः प्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टां स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति शेषाणां त्वध्रुवबन्धिनीनां सातहास्यरतिस्त्रीपुंवेदमनुष्यद्विकसेवार्त्तवर्जसंहननपञ्चकहुण्डवर्जसंस्थानपञ्चकप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभशुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां तद्बन्धके तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाश्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तीति उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन । अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह " आहारजिणमपुव्वो " इत्यादि आहारकद्विकं जिननाम (लहुत्ति) लघुस्थितिक जघन्यस्थितिक करोतीति शेषः । क इत्याह (अपुव्वित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादपूर्वोऽपूर्वकरणक्षपकस्तद्बन्धस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः स्थितिमात्रित्येत्यर्थः तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् । तिर्यङ्मनुष्यदेवायुर्वर्जकर्मणां च जघन्यस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वात् । तथा (अनियट्टिसजलणपुरिसलहुत्ति) सज्वलनानां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां पुरुषस्य पुरुषवेदस्य च (लहुत्ति) लघुस्थितिं जघन्यस्थितिबन्धम् (अनियट्टित्ति) अनिवृत्तिबादरक्षपकस्तद्बन्धस्य यथा स्वचरमस्थितिबन्धे वर्तमानः करोति तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ।

सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्वि छ असन्नी ।
सन्नी वि आउबायर, पज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥

सात सातवेदनीयं (जसुत्ति) यशःकीर्तिनाम (उच्चत्ति) उच्चैर्गोत्रम (आवरणत्ति) ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कं विघ्नमन्तरायपञ्चकं (सुहुमत्ति) सूक्ष्मसंपरायक्षपकश्चरम-

स्थितिबन्धे वर्तमानो लघुस्थितिकं करोति तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् (विउव्वि असन्निति) वैक्रियषट्कं नरकद्विक वैक्रियदेवद्विकलक्षणम् असंज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तो लघुस्थितिकं करोति विमुक्तं भवति वैक्रियषट्कं हि नामप्रकृतय नाम्नश्च द्वौ सप्तभागौ पल्योपमसंख्येयभागोनौ एकेन्द्रियाणां जघन्या स्थिति प्रतिपादिता सा च सहस्रगुणिता सागरोपमसप्तभागसहस्रद्वयप्रमाणा वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवति । वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियादयस्ते यासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्या स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि यदुक्तम् ।

" वेउव्वियछक्के सहस्स-ताडिय ज असन्निणो तेसिं ।
पलिया संखंसूण, ठिइ अबाहूणिय निसेगो " ॥

अस्याक्षरगमनिका " वागुक्कोसेठिइए, मिच्छत्तुक्कोसियाइ " इत्यनेन करणेन यल्लब्धं तत्सहस्रताडित सहस्रगुणित तत पल्योपमासंख्येयतमेन भागेन न्यूनं सद्वैक्रियषट्के देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वी वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थिते परिमाणमवसेयम् । कुत इत्याह यस्मात्कारणात्तेषां वैक्रियषट्कलक्षणानां कर्मणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धकास्ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामन्तर्मुहूर्तमबाधा अबाधाहीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेके इति । किं च एता षट्प्रकृतयो यथासंख्यं नरकदेवलोकप्रायोग्या बध्यन्ते तत्र च देवनारकासंज्ञिमनुष्यैकेन्द्रियविकलेन्द्रियनरकेषु देवलोकेषु नोत्पद्यन्त एवेति तेषामेतद्बन्धाभावः । तिर्यग्मनुष्यास्तु संज्ञिनः स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमामुत्कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः (सन्नी विआउम्मि) संज्ञी अपि शब्दादसंज्ञी गृह्यते ततः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुष्प्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति तत्र देवनारकायुषो पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या मनुष्यतिर्यगायुषो पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्तारो द्रष्टव्याः । उक्ताः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । शेषाणामाह (बायरपज्जेगिंदिओ सेसाणं त्ति) शेषाणां भणितोद्धरितानां निद्रापञ्चकसातवेदनीयानन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कनपुंसकवेदस्त्रीवेदहास्यादिषट्कमिथ्यात्वमनुष्यगतितिर्यग्गतिजातिपञ्चकौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मणसंहननषट्कसंस्थानषट्कवर्णचतुष्कमनुजानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुनिर्माणोपघातत्रसनवकस्थावरदशकनीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरः पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धः एकेन्द्रियः पल्योपमासंख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति । अन्ये ह्येकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्ध्यभावाद्बृहत्तरां स्थितिमुपकल्पयन्ति विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्यैव ग्रहणमिति प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्य स्वामित्वम् (कर्म०) ।

(बन्धशब्दे स्थितिबन्धप्रस्तावे गुणस्थानकेष्वस्य चिन्ता)

(अनुभागकर्म तच्चाऽनुभागशब्दे दर्शितम्) प्रज्ञा० ।

अथप्रदेशकर्म तत्र यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदाह ।

अंतिमचउफासदुगंधं-पंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरस-मणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥

जीवः कर्मस्कन्धदलं गृह्णातीत्युत्तरगाथायां संबन्धः । तत्र (अंतिम त्ति) अन्ते भवा अन्तिमाः पश्चादन्ताद्यादिम इतीमप्रत्ययः अन्त्याः पर्यन्तवर्तिनः अन्तिमत्वं च " फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खट्ठ " इति कर्मविपाकस्तत्र प्रतिपादितक्रममाश्रित्य ज्ञेयं चत्वारश्चतुः संख्याः स्पर्शाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षलक्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थः तदन्तिमचतुःस्पर्शम् अयमत्राशयः अमीषां चतुर्णां स्पर्शानां मध्यात्कोऽपि परमाणुः केनाप्यविरुद्धेन संयुक्तस्तत्र विद्यते तथा हि स्निग्धोष्णस्पर्शद्वितीययोगतः कश्चित्परमाणुस्तत्र भवति कश्चन रूक्षशीतस्पर्शद्वययुक्तः परमाणुः कश्चिच्च स्निग्धशीतस्पर्शद्वयोपेतः कश्चित्तु रूक्षोष्णस्पर्शद्वयसमन्वित इत्यतः स्कन्धद्रव्यमभव्यानन्तगुणपरमाणुनिर्वृत्तं सिद्धानन्तभागवर्तिपरमाणुकलितमविरुद्धस्पर्शद्वयोपेतपरमाणुसहिततया चतुःस्पर्शसंयुक्तं सत्त्वं तु एव गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शवन्तश्च ये परमाणवस्ते कर्मस्कन्धद्रव्येण भवन्तीत्येतच्च प्रज्ञाप्तिकर्मप्रकृत्याद्यभिप्रायेणोक्तं बृहच्छतकटीकायां तु मृदुलघुलक्षणस्पर्शद्वयं तावदवस्थितं भवत्यपरौ च स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ वा रूक्षोष्णौ रूक्षशीतौ वा द्वावविरुद्धौ भवत इति चतुःस्पर्शोक्तिरुक्ता । तथा द्वौ सुरभिदुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धपञ्चशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात्पञ्चेति पञ्चसंख्या वर्णाः कृष्णनीललोहितहारिद्रशुक्ललक्षणा यस्य तत्पञ्चवर्णम् पञ्च रसास्तिक्तकटुककषायाम्लमधुरस्वरूपा यस्य तत्पञ्चरसम् । कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्मस्कन्धास्त एव यथा स्वकालं दलनात्फलदानाद्यथा तद्दलं फलाविशरणे इति वचनाद्दलं दलिकं कर्मस्कन्धदलं ततोऽन्तिमचतुःस्पर्शं च तत् द्विगन्धं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धं च तत्पञ्चवर्णं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णं च पञ्चरसं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसं च तत् कर्मस्कन्धदलं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसकर्मस्कन्धदलम् इह कर्मस्कन्धग्रहणेन एतत्सूचयति ये कर्मस्कन्धास्त एव चतुःस्पर्शवन्तो जीवेन गृह्यन्ते औदारिकवैक्रियाहारकशरीरयोग्यास्तु स्कन्धा अष्टस्पर्शा एव गृह्यन्ते इति तैजसाद्याश्च ये ग्रहणप्रायोग्यास्तेऽपि सर्वे चतुःस्पर्शवन्त एव जीवेन गृह्यन्ते इति मन्तव्यम् । वर्णगन्धरसा पुनरौदारिकादीनां सर्वेषामपि स्कन्धानां यथोक्तप्रमाणा एव भवन्ति । उक्तं च " पचरसपंचवन्नेहिं, परिणाया अट्ठफासदो गंधा । जीवाहारग जोगा, चउफासविसेसिया उवरिं " आहारकस्कन्धेभ्य उपरितनास्तैजसाद्याः स्कन्धा ग्रहणप्रायोग्या सर्वे चतुःस्पर्शा भवन्तीत्यर्थः । तथा सर्वजीवेभ्योऽनन्तो गुणो येषां ते सर्वजीवानन्तगुणाः । रस्यते विपाकानुभवेनास्वाद्यत इति रसोऽनुभागस्तस्याणवोऽशाः रसाणवः सर्वजीवानन्तगुणाश्च ते रसाणवश्च सर्वजीवानन्तगुणाः रसाणवस्तैर्युक्तं समन्वितं इदमत्र हृदयम् इह सर्वजघन्यरसस्यापि पुद्गलस्य रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति ते च भागा अतिसूक्ष्मतया परभागाभावान्निरंशा अंशा रसाणव इत्युच्यन्ते रसाणवो रसावभागा रसपरिच्छेदाभावपरमाणव इति पर्यायाः । ते च रसाणवः प्रतिस्कन्धं सर्वकर्मपरमाणुषु सर्वजी-

वानन्तगुणा विद्यन्ते तैश्चैवं विधै रसाणुभिर्युक्त परिगत कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णातीति एतदुक्तं भवति निम्बेक्षुरसाद्यविश्रयणैस्तण्डुलेषु प्रत्येक यथारसाविशेष तत्तद्रूप पक्ताजनयति तथा अनुभागबन्धाध्यवसायैः सर्वस्कन्धेष्वभव्यानन्तगुणकर्मप्रदेशनिष्पन्नेषु प्रतिपरमाणुसर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसविभागपलिच्छेदान् जीवो जनयतीति । तथा (अणन्तए पसन्ति) अनन्ता अभव्यानन्तगुणाः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनाः प्रदेशा· पुद्गला यत्र तदनन्तप्रदेशम् । इदमुक्तं भवति । अभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनैः परमाणुभिर्निष्पन्नमेकैक कर्मस्कन्धं गृह्णाति तानपि स्कन्धान् प्रतिसमयमभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागवर्तिन एव गृह्णातीति ॥

एगपएसोगाडं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थोवो आउतदंसो, नामेगो एमओ अहिओ ॥ ७९ ॥

एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽवगाढस्तेष्वेव यत्कर्मपुद्गलद्रव्य तद्रागादिस्नेहगुणयोगादात्मनि लगति यदाह वाचकमुख्य " स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुनाश्लिष्यते यथा । रागद्वेषानुरक्तस्य, कर्मबन्धस्तथाभ्रुवम् " नत्वनन्तरपरपरप्रदेशावगाढ भिन्नदेशस्थस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्राह्यत्वपरिणामाभावात् यथाहि देहिनः स्वप्रदेशस्थितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येवं जीवोऽपि स्वक्षेत्रस्थमेव द्रव्यमादत्ते नत्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् एतच्च द्रव्यं गृह्यमाण जीवेन नैकेन प्रदेशेन न द्व्यादिभिर्वा प्रदेशै किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह निजा आत्मीया· सर्वे समस्ताः प्रदेशा निजसर्वप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशत आद्यादेराकृतिगणत्वात्तस्प्रत्यय· निजसर्वप्रदेशै· कर्मस्कन्धदलिकं गृह्णातीत्यर्थः । जीवप्रदेशानां सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस्पर सबन्धविशेषभावात् । तथाहि एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा· प्रदेशा वर्तन्ते मिथ्यादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वथा तत्प्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद्ग्राह्ये कटादिके गृह्यमाणे मणिबन्धकूर्परांशादयोऽपि तद्ग्रहणाय अनन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्ते इति । कर्मं० ५ क० ॥

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइया अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता ? गोयमा ! अणंता अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता ॥

(अविभागपलिच्छेदेति) परिच्छिद्यन्त इति परिच्छेदा अंशास्ते च सविभागा अपि भवन्त्यतो विशेष्यन्ते अविभागाश्च ते परिच्छेदाश्चेत्याविभागपरिच्छेदा निरंशा अंशा इत्यर्थस्ते च ज्ञानावरणीयस्य कर्मणोऽनन्ता· कथं ज्ञानावरणीय यावतो ज्ञानस्याविभागभेदानावृणोति तावन्त एव तस्याविभागपरिच्छेदा दलिकापेक्षया वाऽनन्ततत्परमाणुरूपा ॥

नेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइया अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता ? गोयमा ! अणंता अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता एवं सव्वजीवाणं जाव वेमाणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! अणंता अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता एवं सव्वजीवाणं एवं जहा नाणावरणिज्जस्स अविभागपलिच्छेदा भणिया तहा अट्ठण्ह वि कम्मपगडीणं भाणियव्वा जाव वेमाणियाए अंतराइयस्स ।

" अविभागपलिच्छेदेहिंत्ति " तत्परमाणुभिः ।

एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स एगमेगे जीवप्पएसे नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढियपरिवेढिए ? गोयमा ! सिय आवेढियपरिवेढिए सियनो आवेढियपरिवेढिए । जइआवेढियपरिवेढिए नियमा अणंतेहिं एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स एगमेगे जीवप्पएसे नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढियपरिवेढिए ? गोयमा ! नियमं अणंतेहिं जहा नेरइयस्स एवं जाव वेमाणियस्स नवरं मणूसस्स जहा जीवस्स एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स एगमेगे जीवप्पएसे दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं एवं जहेव नाणावरणिज्जस्स तहेव दंडगो भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स एवं जाव अंतराइयस्स भाणियव्वं । नवरं वेयणिज्जस्स आउयस्स नामस्स गोयस्स ! एएसिं चउण्ह वि कम्माणं मणूसस्स जहा नेरइयस्स तहा भाणियव्वं सेसं तं चेव ।

तत्परमाणुभिः (आवेढियपरिवेढियत्ति) आवेष्टितपरिवेष्टितोऽत्यन्तं वेष्टित इत्यर्थः आवेष्ट्य परिवेष्टित इति वा (सिय नो आवेढियपरिवेढिएत्ति) केवलिन प्रतीत्य तस्य क्षीणज्ञानावरणत्वेन तत्प्रदेशस्य ज्ञानावरणीयाविभागपरिच्छेदैरावेष्टनपरिवेष्टनाभावादिति (मणूसस्स जहा जीवस्सत्ति) " सिय आवेढियेत्यादि" वाच्यमित्यर्थो मनुष्यापेक्षया आवेष्टितपरिवेष्टितत्वस्य तदितरस्य च सम्भवात् । एव दर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायेष्वपि वाच्यं वेदनीयायुष्कनामगोत्रेषु पुनर्जीवपदे एव भजना वाच्या सिद्धापेक्षया मनुष्यपदे तु नासौ तत्र वेदनीयादीनां भावादित्येतदेवाह नवर " वेयणिज्जस्सेत्यादि " भ० ८ श० १० उ० । उत्त० (बन्धाइ शब्देषु प्रदेशब धाद्यधिकारेऽन्यत्)

प्रथमतः करणाष्टकमभिधित्सुराह ।

बंधण १ संकमणु २ व्वट्टणा य ३ अववट्टणा ४ उदीरणया ५ उवसामणा ६ निहत्ती ७ निकायणा ८ चतिकरणाइं २

इह करणशब्देन सह पर्यन्ते सामानाधिकरण्याभिधानात् प्रत्येक करणशब्दोऽभिसबन्धनीय तद्यथा बन्धनकरण सक्रमकरणमित्यादि । क० प्र० । प्रदेशाग्रमुक्त्वा कर्मणां क्षेत्र वदन्ति

सव्वजीवाणं कम्मं तु, संगहेछद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥ १८ ॥

कर्म्म ज्ञानावरणीयादिक सर्वजीवानां एकेन्द्रियादीनां सग्रहे सग्रहक्रियायां योग्यं तु षड्दिशागत स्यात् षण्णां दिशां समाहार· षड्दिशं तत्र गतं षड्दिक्स्थितमित्यर्थ· । तत्र अतस्

पूर्वाद्या दिशः ऊर्द्धाधो दिग्द्वयं चेदमेवं दिग्षट्कमत्र षड्दि-
ग्गत कर्म द्वीन्द्रियादिर्जीवान् एव अधिकृत्य सग्रहक्रियायां
योग्य स्यादिति नियम' एकेन्द्रियाणां तु आगमेत्यादि दिक्कस्थ
कर्म ग्रहणक्रियायां योग्यमपि उक्तमस्ति । अपरत्रागमे च त-
दाह " एगेंदिया ण भंते ! तेयाण कम्मपुग्गलाणं गमणं करे-
माणे किं तिदिसिं करेइ गोयमा ! सिय तिदिसिं सिय चउ-
दिसिं सिय पचदिसिं करेइ बेइंदियाण भंते ! पुच्छा गोयमा !
बेंदिया जाव पचेंदिया नियमा छद्दिसिं करेइ " कथ सग्रह-
क्रियायां योग्यं केन सह कियद्वा स्यादित्याह सर्वैरप्यात्मप्र-
देशै सर्वंज्ञानावरणादि सर्वेण प्रकृतिस्थित्यादिना प्रकारेण
बद्धकमन्योऽन्य सम्बन्धतया क्षीरोदकवत् आत्मप्रदेशै. श्लिष्ट
तदेव बद्धक कर्म सग्रहे योग्यं भवति नत्वन्यत् । आत्मा हि
सर्वप्रकृतिप्रायोग्यपुद्गलान् सामान्येन आदाय तान् पुद्गलान्
अध्यवसायविशेषात् पृथग् ज्ञानावरणादिरूपत्वेन परिणम-
यति । यत्र हि आकाशे जीवोऽवगाढस्तत्र ये आकाशप्रदेशा
आत्मन्याश्रितास्तेषु ये कर्मपुद्गलादिरागादिस्नेहयोगत आ-
त्मनि लगन्ति ते एव कर्मपुद्गला जीवाना सग्रहयोग्या न तु प्रदे-
शान्तरावगाढा कर्मपुद्गला जीवानां सग्रहणार्हा भिन्नदेशस्था-
ना ग्रहणयोग्याभावात् " सव्वेसु पएसेसु " इति प्राकृतत्वात्
तृतीया बहुवचनस्थाने सप्तमीबहुवचन भिन्नप्रदेशस्था. क-
र्मपुद्गलाः कथं ग्रहणयोग्या भवन्ति अत्र दृष्टान्तो यथाऽग्नि-
स्वप्रदेशस्थान् प्रायोग्यपुद्गलान् आत्मसात् करोति एव जी-
वोऽपि स्वप्रदेशस्थान् कर्मपुद्गलान् आत्मसात् करोति कि-
ञ्चिद्विदिक्स्थितमपि कर्म आत्मा गृह्णाति परमल्पत्वान्न विव-
क्षितम् उत्त० ३३ अ० । कर्मणामुदय उदय शब्दे (एव उईरणा
शब्दे उदीरणा बन्धो बन्ध शब्दे) एव बन्धनादिकरणाष्टकं
यावद् व्यक्तिकरणम् ।

अथ बन्धोदयसत्तास्थानानां सवेध' ॥

सिद्धपएहिं महत्थं, बंधोदयसतपयडिठाणाणि ।
वुच्छं सुणु संखेवं, नीसंदं दिट्ठिवादस्स ॥ १ ॥

प्रकृतीना स्थानानि द्वित्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः स्थान-
शब्दोऽत्र समुदायवाची बन्धोदयसत्तासु प्रकृतिस्थानानि-
बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां सक्षेप वक्ष्ये तं च वक्ष्य-
माणशृणु शृणिवति क्रियापद च श्रोतॄणां कथञ्चिदनाभोगव-
शत प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्वेजितव्यं किन्तु सुमधुर-
वचोभि' शिक्षानिबन्धनै श्रोतॄणां मनांसि प्रसाद्य यथार्हमा-
गमार्थो निवेदनीय इति ख्यापनार्थ तदुक्तम् "अणुवत्तणापसेहा
पाय पावनि जोगय परम । रयण पियगुरुकरिस, उव्वेइ सोह-
भगुणं गयेण।पत्थ य पमायखलिया. पुव्वभासेण कस्ससव
न होंति । जो ते वणेइ सम्म, गुरुत्तण तस्स सफलंति । को
नामसारहीण, स होज्ज जो भद्द वाइणो दमए । दुट्टे वि य जो
पासे, दमेइ त सारहिं विंति " सक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह ।
महार्थो महान् प्रभूतोऽर्थोऽभिधेयो यस्य स महार्थ ननु सक्षे-
पाविस्तरार्थसग्रहस्तत. स महार्थ एव भवतीति किमर्थमिति
विशेषण तदयुक्त सक्षेपस्य अन्यथाऽपि सम्भवात् तथाह्याख्या-
नालापकसगरणसग्रहण्य सक्षेपरूपा दृश्यन्ते न च महार्थस्त
त्तात्पर्यार्थस्याल्पीयस्त्वात् । ततस्तत्कल्पनममु सक्षेप नाम्नासी
क्लिनेयजन इत्यमहार्थत्वाच्छङ्कापनोदार्थं महार्थइति विशेष-
णम् पुनरप्यमु विशेषयति नि'स्यन्ददृष्टिवादस्य दृष्टिवादमहा
र्णवस्य विन्दुभूत नि स्यन्दकल्प दृष्टिवादो हि परिकर्म्म तत्र
प्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकारूपपञ्चप्रस्थानः तत्र पूर्वेषु मध्ये
द्वितीये अग्रायणीयाभिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत्प-
ञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाण तस्य चतुर्थं यत् कर्म्मप्रकृ-
तिनामक चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमय प्राभृतं तस्मादिमे अयोब-
न्धादय. सूत्रकृता लेशतो वक्ष्यन्ते ततोऽन्यं बन्धोदयसत्प्रकृति-
स्थानानां सक्षेपो दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूप. अनेन च प्रकर-
णस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या दृष्टिवादो हि भग-
वता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेनवीरवर्द्धमानस्वामिन'
साक्षादर्थतोऽभिहितः सूत्रतस्तु सुधर्मस्वामिना तन्निष्यन्द-
रूप चेद प्रकरणमतः सर्वविन्मूलमिति । ननु बन्धोदयसत्प्र-
कृतिस्थानानां सक्षेपोऽभिधातव्य. किं प्रत्येकमाहोस्वित् सवे-
धरूप उच्यते सवेधरूपस्तथा चामुमेव सवेधरूप सक्षेप वि-
वक्षुः शिष्यान् प्रश्नं कारयति ॥

कइबंधतो वेअइ, कइकइ वा संतपयडि ठाणाणि ।
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोद्धव्वो ॥ २ ॥

कतिशब्द' परिमाण पृच्छायां कति कर्म्मप्रकृतीर्बध्नन् कति
कर्म्मप्रकृतीर्वेदयते कति वा तथा बध्नतो वेदयमानस्य प्रकृ-
तिसत्कर्म्मस्थानानि प्रकृतिसत्तास्थानानि एव शिष्यै प्रश्ने कृते
सत्याचार्योऽस्मिन् विषये भगजालमानकप्रकारं वचोमात्रेण
यथावत्प्रतिपादयितुमशक्यं जानान सामान्येनैव प्रत्युत्तरमा-
ह मूले प्रकृतिषु ज्ञानावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च मति-
ज्ञानावरणादिश्रुतज्ञानावरणादिरूपासु उभयीषु च वक्ष्यमाण-
स्वरूपासु प्रत्येक बन्धोदयसत्तासवेधमधिकृत्य चिन्त्यमाना-
सु बन्धोभङ्गः सम्भवति ते चास्मिन् प्रकरणे यथावत् वैविक्त्ये
न प्रतिपाद्यमाना सम्यग्बोद्धव्याः । तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ त-
द्यथा ज्ञानावरणं दर्शनावरण वेदनीय मोहनीयम् । आयुः
नाम गोत्रमन्तराय च (कर्म०) ।

तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बन्धम्प्रतीत्य चत्वारि प्रकृ-
तिस्थानानि । तद्यथा अष्टौ सप्त षट् एकश्च । तत्र सर्वप्रकृ-
तिसमुदायोऽष्टौ एतासां च बन्धो जघन्यतोत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त-
प्रमाणः आयुषि हि बध्यमाने अष्टानां प्रकृतीनां बन्ध प्राप्यते
आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव काल भवति न ततोऽप्याधिकम् ।
तथा त एवाष्टावायुर्वर्जा' सप्त एतासां च बन्धो जघन्येनान्त-
र्मुहूर्तं यावत् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि षण्मासो-
नानि अन्तर्मुहूर्त्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा ता
एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जाः षट् । एतासां च बन्धो जघन्येनै-
क समय तथाहि एतासामुक्तरूपाणां षण्णां प्रकृतिरूपाणां षण्णां
प्रकृतीनां बन्ध सूक्ष्मसपराये सर्वोपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं
भूत्वा द्वितीयसमये भवक्षयेण दिव गतः सम्प्रविरतो भव-
ति अविरतत्वे चावश्य सप्त प्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो ज-
घन्येनैक समयं यावत् उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं सूक्ष्मसपरायगुण-
स्थानकस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्ध-
व्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपाया. प्रकृतेर्बन्धः स च जघन्येनै-
क समयमेकसमयभावोपशमश्रेण्यामुपशान्त मोहगुणस्था-
ने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीय. उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं
यावत् । सर्वोत्कर्षत. कस्या वेदितव्य इति चेत् उच्यते यो
गर्भवासे माससप्तकमुषित्वा ऽनन्तर शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमण-
जन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि संयम प्रतिपन्न. प्रतिपत्त्यनन्तरं
च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनस्तस्य सयोगिके-

बन्धिनो वेदितव्यः तदेव बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । कर्म० । पं० सं० ।

बन्धेन बन्धस्य सम्वेधः । संप्रति कस्यां प्रकृतौ बध्यमानायां कतिप्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते इति निरूप्यते तत्रायुषि बध्यमाने अष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते मोहनीयेऽतु बध्यमाने अष्टौ सप्त वा तत्राष्टौ सर्वा· प्रकृतयस्ता एवायुर्वर्जा· सप्त ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौ सप्त षट् । तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव मोहनीयायुर्वर्जा· षट् ताश्च सूक्ष्मसंपराये प्राप्यन्ते वेदनीये तु बध्यमाने अष्टौ सप्त षट् एका च तत्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते । उक्तं च 'आउम्मि अट्ठमो हे०, सत्त एक च छाइए । बज्झतयम्मि बज्झ— ति, सेसएसु छसत्तट्ठ " कर्म० । पं० स० ।

सम्प्रति किं कर्म बध्नन् कानि कर्माणि बध्नातीति बन्धसंबधं विचिन्तयिषु· प्रथमतो ज्ञानावरणीयेन सह सम्बन्ध चिन्तयति।

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा ॥

"जीवेण भंते" इत्यादि सुगम नवरं सप्तविधबन्धक आयुर्बन्धाभावकाले अष्टविधबन्धकमायुरपि बध्नन् षड्विधबन्धको मोहायुर्बन्धाभावे स च सूक्ष्मसंपरायः उक्तंच–" सत्तविह बंधगा होंति, पाणिणो आउवज्जगाण तु । तह सुहुमसंपराया, छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ मोहाउ य वज्जाणं, पयडीण ते उ बंधगा भणिया " इति । एकविधबन्धकस्तु न लभ्यते एकविधबन्धका हि उपशान्तकषायादयस्तथाचोक्तम् "उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहं बंधो । ते पुण दुसमयठियस्स, बंधगा न उणं संपरायस्स " ॥ १ ॥ न चोपशान्तकषायादयो ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नान्ति तद्बन्धस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमय एव व्यवच्छेदात् किंतु केवलं सातवेदनीयमिति ।

एतदेव नैरयिकादिदण्डकक्रमेण चिन्तयति ।

णेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा एवं जाव वेमाणिए नवरं मणुसे जहा जीवे ।

"नेरइयाणं भंते !" इत्यादि इह मनुष्यवर्जेषु शेषेषु पदेषु सर्वेष्वपि द्वावेव भङ्गकौ द्रष्टव्यौ सप्तविधबन्धको वा अष्टविधबन्धको वा इति नतु तृतीय· । षड्विधबन्धक इति तेषु सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानासम्भवात् । मनुष्यपदेषु त्रयोऽपि वक्तव्याः तत्र सूक्ष्मसंपराये त्वसंभवात् तथाचाह " एवं जाव वेमाणिए । नवरं मणुसे जहा जीवे" इति उक्त एकत्वेन दण्डकः ।

सम्प्रति बहुत्वेनाह ।

जीवा णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विह बंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधगा य । णेरइयाणं भंते! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य तिन्नि भंगा । एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि । एवं जाव वणस्सइकाइया वि । विगलिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण य तियभंगो सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगाय ॥

"जीवाण भंते !" इत्यादि इह जीवाः सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धकाश्च सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते षड्विधबन्धकस्तु कदाचित्सर्वथा न भवति षण्मासान् यावदुत्कर्षतस्तदन्तरस्य प्रतिपादनात् यदापि लभ्यते तदापि जघन्यपदे एको वा द्वौ वा उत्कर्षतोऽष्टाधिक शतम् । तत्र यदैकोऽपि न लभ्यते तदा प्रथमो भङ्गः यदा त्वेको लभ्यते तदा द्वितीयो बहूनां लाभे तु तृतीय इति । नैरयिका षड्विधबन्धका न भवन्ति अष्टविधबन्धका अपि कदाचित्कास्तत्र यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदा सर्वेऽपि तावद्भवेयु सप्तविधबन्धका इति भङ्ग· । यदा त्वेकोऽष्टविधबन्धकस्तदा द्वितीयो यदा तु बहवस्तदा तृतीय इति एतदेव भङ्गत्रिक दशस्वपि भवनपतिषु भावनीयम् पृथिव्यादिषु पञ्चसु सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपीत्येक एव भङ्गोऽष्टविधबन्धकानामपि सदैव तेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रेषु भङ्गत्रिक नैरयिकवत् ।

मणुसाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधए य अट्ठविहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा छव्विहबंधए य ४ । अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधए य ६ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य ७ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य ८ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ९ । एवं एते नव भंगा सेसा वाणमंतराइया जाव वेमाणिया जहा णेरइया सत्तविहादिबंधया भणिया तहा भाणियव्वा । एवं जहा नाणावरणं बंधमाणा जहिं भणिया दंसणा वरणं पि बंधमाणा तहिं जीवादिया एगत्तपोहत्तेहिं भाणियव्वा ॥

मनुष्यसूत्रे भङ्गनवकमष्टविधबन्धकस्य च कदाचित् सर्वथाऽप्यभावात् तत्राष्टविधषड्विधबन्धकाभावे सर्वेऽपि तावद्भवेयु सप्तविधबन्धका इति प्रथमो भंग· सप्तविधबन्धकानां सदैव बहुत्वेन प्राप्यमाणत्वात् एकाष्टविधबन्धकाभावे द्वितीयसप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकश्च बह्वष्टविधबन्धकभावे तृतीयसप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्च । एवमेवाष्टविधबन्धकाभावे षड्विधबन्धकपदेनाप्येकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गाविति द्विकसंयोगे चत्वारो भङ्गा· त्रिकसंयोगेऽप्यष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकपदयो प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गाविति चत्वार इति । सर्वसंख्यया नव व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका नैरयिकवत् ।

यथा च ज्ञानावरणीय चिन्तित तथा दर्शनावरणीयमपि चिन्तयितव्यम् ।

वेयणिज्जं बंधमाणे जीवे कइ कम्म ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा एवं मणूसे वि सेसा नारगादीया सत्तविह अट्ठविहबंधगा जाव वेमाणिए । जीवाणं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं बंधइ पुच्छा, सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबन्धगा य एगविहबन्धगा य छव्विहबन्धगा य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य । छव्विहबंधए य । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अवसेसा नारगादिया जाव वेमाणिया जाहिं नाणावरणं बंधमाणा बंधंति ताहिं भाणियव्वा नवरं मणूसाणं भंते ! वेदणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सप्तविधबंधगा य एगविहबंधगा य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविह बंधगा य अट्ठविहबंधए य २ । अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ । अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य ४ । अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५ । अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य ६ । अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगाए य छव्विहबंधगा य ७ । अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य ८ । अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ९ । एए नव भंगा । मोहणिज्जं बंधमाणे जीवे कइ कम्मपयडीओ बंधइ ? गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो जीवेगिंदिया सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि जीवे णं भंते ! आउयं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! नियमा अट्ठ एवं नेरइए जाव वेमाणिए । एवं पुहत्तेण वि । नामगोयंतराइं बंधमाणे जीवे कइ कम्मपयडीओ बंधइ ? गोयमा ! जाहिं नाणावराणिज्जं बंधमाणे बंधइ ताहिं भाणियव्वो एवं नेरइए जाव वेमाणिए । एवं पुहत्तेण वि भाणियव्वं ॥

वेदनीयचिन्तायाम् "एकविधबंधए वा इति" उपशान्तमोहादिः शेष प्राग्वत् । मनुष्यपदविषयाचिन्तायामपि त एव प्रागुक्ता नव भङ्गा. सप्तविधबन्धकानां च सदैव बहुत्वेनावस्थिततया भङ्गान्तरासम्भवान्मोहचिन्तायां जीवपदे पृथिव्यादिषु पदेषु च प्रत्येकमेक एव भङ्ग । सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपि उभयेषामपि सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । षड्विधबन्धकस्तु मोहनीयबन्धको न भवति मोहनीयबन्धो ह्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानक यावत् एकविधबन्धकास्तु सूक्ष्मसंपराय इति आयुर्बन्धकस्तु नियमादष्टविधबन्धक इति तच्चिन्तयति तच्चिन्तायामेकवचनबहुवचने च सर्वत्राभङ्गकं नामगोत्रान्तरायसूत्राणि ज्ञानावरणीयसूत्रवत् प्रज्ञा० २५ पद ।

बन्धवेदौ सम्प्रति किं कर्म वेदयते का' कर्मप्रकृतीर्बध्नीतइत्युदयेन सह सम्बन्धस्य सम्बन्धं चिन्तयिषुरिदमाह ॥

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा ॥

" जीवे णं भंते" इत्यादि सुगमं नवरं ज्ञानावरणीयं कर्म वेदयमान एकविधबन्धक उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा न तु सयोगिकेवली तस्य ज्ञानावरणीयोदयाभावात् ।

जीवाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य । १ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य । २ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य । ३ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगे य । ४ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य । ५ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य एगविहबंधगे य । ६ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य एगविहबंधगा य । ७ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एगविहबंधगेय । ८ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एवं एते नव भंगा अवसेस्साणं एगिंदियमणुस्सवज्जाणं तियभंगो जाव वेमाणियाणं एगिंदियाणं सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ॥

बहुवचनचिन्तायां षड्विधबन्धका सूक्ष्मसम्पराया एकविधबन्धका उपशान्तमोहक्षीणमोहा कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्या इत्युभयेषामप्यभावे सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपित्वेको भङ्गो द्वयानामपि सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् तत षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गौ एवमेव द्वौ भङ्गावेकविधबन्धकप्रक्षेपेऽपि उभयोरपि युगपत् प्रक्षेपे पूर्ववच्चत्वार इति सख्यया नव नैरयिकादिषु तु पदेष्वेकेन्द्रियमनुष्यवर्जेषु बहुवचनचिन्तायां भङ्गत्रिकमष्टविधबन्धकाना कादाचित्कतया एकत्वादिना भाज्यतया च लभ्यमानत्वात् । एकेन्द्रियेषु त्वभङ्गक सप्तविधबन्धकाष्टविधबन्धका अपीति उभयेषामपि सदा बहुत्वेन प्राप्यमाणत्वात् ।

मणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधए य एवं छव्विहबंधएण वि समं दो भंगा- एगविहबंधएण वि सम दो भंगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य चउभंगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबन्धएय एगविहबन्धएय चउभंगा अहवा- सत्त विहबन्धगाय छव्विहबंधए य एगविहबंधए य चउभंगा

अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधए य एगविहवंधए-य जंगा अट्ठ। एवं एते सत्तावीसं भंगा एवं जहा नाणावरणिज्जं तहा दरिसणावरणिज्जं अंतराइयं पि जीवे णं भंते वेयणिज्ज कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ वंधइ ? गोयमा ! सत्तविहवंधए वा अट्ठविहवंधए वा छव्विहवंधए वा एगविहवंधए वा अवंधए वा एवं मणूसे वि अवसेसा नारयादिया सत्तविहवंधगा अट्ठविहवंधगा एवं जाववेमाणिया

मनुष्येषु तु सप्तविंशतिभङ्गा अष्टविधवन्धकषड्विधवन्धकैकविधवन्धकानां कादाचित्कतया एकत्वादिना भाज्यतया च लभ्यमानत्वात् तत्रामीषामभावे सप्तविधवन्धका इत्येको भङ्गः ततोऽष्टविधवन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधवन्धकप्रक्षेपे इति सप्त ततोऽष्टविधवन्धकषड्विधवन्धकपदप्रक्षेपे चत्वारोऽष्टविधवन्धकैकपदप्रक्षेपे चत्वारः एकोनविंशति ततोऽष्टविधवन्धकषड्विधवन्धकैकविधवन्धकपदानां युगपत्प्रक्षेपेऽष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः ।

जीवा णं भंते ! वेदणिज्जकम्मं वेदेमाणा कइ कम्मपयडीओ वंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधगा य एगविहवंधगा य अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधगा य एगविहवंधगा य छव्विहवंधए य अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधगा य एगविहवंधगा य छव्विहवंधगा य अवंधएण वि समं दो जंगा नेयव्वा । अहवा सत्तविहवंधगा य अट्ठविहवंधगा य एगविहवंधगा य छव्विहवंधए य अवंधए य चउजंगा एवं एते नव भंगा एगिंदियाणं अजंगयं नारगादीणं तियजंगा जाव वेमाणियाणं नवरं मणुस्साणं पुच्छा, सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहवंधगा य एगविहवंधगा य अहवा सत्तविहवंधगा य एगविहवंधगा य छव्विहवंधए य अट्ठविहवंधए य अवंधए य । एवं एते सत्तावीसं जंगा जाणियव्वा जहा किरियासु पाणाइवायाविरयस्स । एवं जहा वेदणिज्जं तहा आउयं नामं गोयं च भाणियव्वं मोहणिज्जं वेदमाणे जहा वंधे नाणावरणिज्जं तहा जाणियव्वं ।

वेदनीयसूत्रे एकविधवन्धकसयोगिकेवल्यपि तस्यापि वेदनीयोदयवन्धसम्भवात् अवन्धकोऽयोगिकेवली तस्ययोगाभावतो वेदनीय वेदयमानस्यापि तद्बन्धासम्भवात् वेदनीयसूत्रे एकवचनबहुवचनचिन्तायां जीवपदे नव भङ्गा तत्र सप्तविधवन्धकाष्टविधवन्धकैकविधवन्धकाना सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । बहुवचनात्मके इतरपदद्वयाभावे एकस्तत षड्विधवन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ एवमेव द्वावेकविधवन्धकपदप्रक्षेपे चत्वार उभयपदप्रक्षेपे इति मनुष्यपदे सप्तविंशति तत्र हि सप्तविधवन्धका एकेन बहुत्वेन सदाऽवस्थिता इतरेषु त्रयोऽप्यष्टविधवन्धका अवन्धकाश्च कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्यास्ततस्तेषामभावे सप्तविधवन्धका अप्येकविधवन्धका अपीत्येको भङ्ग ततोष्टविधवन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधवन्धकपदप्रक्षेपे द्वावेकविधवन्धकप्रक्षेपे इति षट् । तथा त्रयाणां पदानां त्रयो द्विकसंयोगा एकैकस्मिन् द्विकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यां चत्वार इति द्विकसंयोगे द्वादश त्रिकसंयोगेऽष्टाविंशति. सर्वसंख्यया सप्तविंशति. एवमायुर्नामगोत्रसूत्राण्यपि भावनीयानि । मोहवेदनीयं कर्म वेदयमानो जीवः सप्तविधवन्धकोऽष्टविधवन्धक. षड्विधवन्धको वा सूक्ष्मसम्परायावस्थायामपि मोहनीयवेदनसम्भवात् एव मनुष्यपदेऽपि वक्तव्यं नारकादिषु तु पदेषु सप्तविधवन्धकोऽष्टविधवन्धको वेत्येव वक्तव्य सूक्ष्मसम्परायत्वाभावत. षड्विधवन्धकत्वासम्भवात् । बहुवचनचिन्तायां जीवपदे भङ्गत्रिक तत्र सूक्ष्मसम्पराया. कादाचित्का इतरे च द्वये सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते इति षड्विधवन्धकपदाभावे सप्तविधवन्धका अष्टविधवन्धका अपीत्येको भङ्गस्तत. षड्विधवन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वावेतौ भङ्गाविति नैरयिकादिषु स्तनितकुमारपर्यवसानेषु सप्तविधवन्धका. सदा बहुत्वेनावस्थिताः । अष्टविधवन्धकास्तु कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्या इति अष्टविधवन्धका इत्येको भङ्ग. । ततोऽष्टविधवन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वाविति पृथिव्यादिषु पञ्चस्वप्यभङ्गक सप्तविधवन्धका अपीति उभयेषामपि तेषु सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु च नैरयिकवत् भङ्गत्रिक मनुष्येषु नव भङ्गाः । तत्र सप्तविधवन्धका इत्येको भङ्ग. ततोऽष्टविधवन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधवन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां चत्वारः उभयपदप्रक्षेपे इति तथाचाह । " मोहणिज्ज वेएमाणे जहा बंधे नाणावरणिज्ज तहा भाणियव्वमिति " इतिश्रीमलयगिरिविरचितायां षड्विंशतितम वेदबन्धाख्य पद०समाप्तम प्रज्ञा० २६पद० ।

सम्प्रति किं कर्म वेदयमान. कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते इत्युदयस्योदयेन सह संबंध चिन्तयति ।

जीवेणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! सत्तविहवेयए वा अट्ठविहवेयए वा एवं मणुस्सेण वि अवसेसा एगत्तेण वि पुहत्तेण वि नियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेइ जाव वेमाणिया ।

तत्र सप्तविधवेदक उपशान्तमोहक्षीणमोहौ वा तयोर्मोहनीयोदयासम्भवात् शेषास्तु सूक्ष्मसम्परायादिरष्टविधवेदक एव मनुष्यपदेऽपि वाच्य, नैरयिकादयस्तु नियमादष्टविधवेदकाः ।

जीवाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपयडीओ वेदेंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज अट्ठविहवेदगा अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदए य अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदगा य । एवं मणुस्सा वि । दरिसणावरणिज्जं अंतराइयं च एवं चेव भाणियव्वं । वेदणिज्जआउयनामगोयाइं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! जहा बंधगा वेदगस्स वेयणिज्जं तहा जाणियव्वाणि जीवेणं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणा कइ कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! नियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेइ । एव णेरइए जाव वेमाणिए । एवं पुहत्तेण वि ।

बहुवचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे च भङ्गत्रिक तत्र सर्वेऽपि तावद्भवेयु. अष्टविधवेदका इत्येको भङ्ग तत. सप्तविध-

न्धकस्यैकस्य भावे द्वितीयो बहूनां भावे तृतीयः शेषेषु तु नैरयिकादिषु पदेषु अष्टभङ्गमष्टविधवेदका इति। सप्तविधवेदकत्वस्य तत्रासम्भवात् एव दर्शनावरणीयान्तरायसूत्रेऽपि वक्तव्ये वेदनीयसूत्रे जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमष्टविधवेदको वा सप्तविधवेदको वा चतुर्विधवेदको वेति वक्तव्य शेषेषु तु नैरयिकादिषु अष्टविधवेदक इत्येतेषामुपशान्तमोहत्वाद्यवस्थासम्भवात् तत्रैव वेदनीयसूत्रे बहुवचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येक भङ्गत्रिक तत्राष्टविधवेदकाश्चेत्येको भङ्ग एष सर्वथा सप्तविधवेदकानामभावे तत सप्तविधवेदकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्या द्वौ भङ्गाविति शेषेषु तु नैरयिकादिषु स्थानेष्वभङ्गकमष्टविधवेदका इति। एवमायुर्नामगोत्रसूत्राण्यपि भावनीयानि मोहनीय कर्म वेदयमानो नियमादष्टविधवेदक इति जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेष्वेकवचनचिन्तायां बहुवचनचिन्तायां च सर्वत्राप्यभङ्गकम्। अष्टौ कर्मप्रकृतीर्वेदयते वेदयन्ते वा प्रज्ञा० २७ पद०। भ०।

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते उदयमप्रतित्रीणि प्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टौ सप्त चतस्र.। तत्र सर्वप्रकृति समुदायोऽष्टौ तासां च उदयोऽभव्यानाधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितोभव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसान.उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य पुन. सादिसपर्यवसान स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः उपशमश्रेणीत प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तम् कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्ते उत्कर्षेण तु देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्त. तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जा. सप्त तासामुदयो जघन्येनैक समय तथा हि सप्तानामुक्तरूपाणा प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते तत्र कश्चिदुपशान्तमोहगुणस्थानके एक समय स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिव गच्छन्नविरतो भवति अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदय स्तत सप्तानामुदयो जघन्येनैक समय यावत्प्राप्यते उत्कर्षेण तु अन्तर्मुहूर्त उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा सप्तोदयहेतोरान्तर्मौ हूर्त्तिकत्वा त्तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतय तासामुदयो जघन्येनान्तर्मुहूर्तिक उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाण. तदेव कृता उदयमधिकृत्य स्थानप्ररूपणा। सम्प्रति कस्या. प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते इति निरूप्यते। तत्र मोहनीयस्योदये अष्टानामुदय मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्मणामुदये अष्टानां वा तत्राष्टाना सूक्ष्मसपरायगुणस्थानकं यावत् सप्तानामुपशान्तमोहक्षीणमोहे वा वेदनीयायुर्नामगोत्राणामुदये अष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदय।तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्पराय यावत् सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिन्ययोगिकेवलिनि च। सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते सत्ताम्प्राति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टौ सप्त चतस्र। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ एतासां चाष्टाना सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनादिपर्यवसाना भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसाना तथा मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता। सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा सा हि क्षीणमोहे क्षीणमोहगुणस्थानके चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति घातिकर्मचतुष्टयक्षये च चतसृणां सत्ता सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणोत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा। सम्प्रति कस्या प्रकृतौ सत्या कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते इतिनिरूप्यते मोहनीयसत्ताष्टानामपि सत्ता ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां सत्ताया मष्टानां सप्तानां वा तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानक यावन्मोहनीये क्षीणे सप्तानां सा च क्षीणमोहगुणस्थानके वेदनीयायुर्नामगोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता तत्राष्टानां सप्तानां च भावना प्रागिव चतसृणां सत्ता वेदनीयादीनामेव सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या। कर्म०।

सम्प्रति बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानां परस्पर बन्धप्ररूपणार्थमाह॥

अट्ठविह सत्त छ बंधगेसु अट्ठे व उदयसंतंसा।
एगविहे तिविकप्पा, एगविगप्पा अ अबंधम्मि। ३।

अष्टविधबन्धकसप्तविधबन्धकषड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाऽष्टौ कर्म्माणि प्राप्यन्ते कथमिति चेदुच्यते इह अष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ता' सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसपरायपर्यवसाना' षड्विधबन्धकाश्च सूक्ष्मसपराया। एते च सर्वेऽपि सरागा सरागत्वं च मोहनीयोदयादुपजायते उदये च सत्यवश्य सत्ता ततो मोहनीयोदयसत्तासंभवात् सप्तविधाष्टविधषड्विधबन्धकेष्ववश्यमुदये सत्तायां वा अष्टौ प्राप्यन्ते एतेन च त्रयो भङ्गा दर्शिता.। तद्यथा अष्टविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तानामवसेयो न शेषाणामायुर्बन्धासंभवात्तथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता एषविकल्प आयुर्बंधभावे एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामनिवृत्तिबादरसपरायाणामवसेय। तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्ट विधा सत्ता एष विकल्प' सूक्ष्मसपराया (एगविहे तिविगप्पोत्ति) एकविधे एकप्रकारबन्धे एकस्मिन् केवलिवेदनीये बध्यमान इत्यर्थ। विकल्प इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात्पुस्त्वनिर्देश. त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थ.। तद्यथा एकविधो बन्ध. सप्तविध उदय. अष्टविधा सत्ता एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्योदयो न विद्यते सत्ता पुनरस्ति तथा एकविधो बन्ध सप्तविधा सत्ता एष विकल्प' क्षीणमोहे गुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्य नि.शेषतोऽपगमात् तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष पुनर्विकल्प. सयोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्य नि शेषतोऽपगमात्। तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष पुनर्विकल्प. सयोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते तत्र घातिकर्मणामपशेषापगमात् चतसृणा चाघातिप्रकृतीनामुदये सत्तायां प्राप्यमाणत्वात् (एगविगप्पो अबंधम्मित्ति) अत्र बन्धाभावे एक एव विकल्पस्तद्यथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते। तत्र हि योगाभावात् बन्धो न भवति उदयसत्ते चाघातिकर्मणां भवत. तदेव मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां परस्पर संवेधे सप्तविकल्पा उक्ताः कर्म० प०स।

जीवस्थानेषु विवृण्वन्नाह।

सत्तट्ठबंध अट्ठुदयसततेरससुजीवठाणेसु।
एगमि पंचद्वीभगा होंति केवलिणो॥ ४॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश तद्यथा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय' पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय अपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय पर्याप्तबादरैकेन्द्रियः अपर्याप्तद्वीन्द्रिय पर्याप्तद्वीन्द्रिय अपर्याप्तत्रीन्द्रिय पर्याप्तत्रीन्द्रिय अपर्याप्तचतुरिन्द्रिय' पर्याप्तचतुरिन्द्रिय. अपर्याप्तसंज्ञिप-

श्चेन्द्रिय· पर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियः पर्या-
प्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियः इति एतानि च सप्ततिकाशीतिकवृत्तौ व्याख्या-
तानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते । तत्र त्रयोदशसु आद्येषु जीव-
स्थानेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ भवत । तद्यथा सप्तविधो बन्धो
ष्टविध उदयः अष्टविकल्प· आयुर्बन्धकाल मुक्त्वा शेषकालं
सर्वदैव लभ्यते अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा
सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एष चान्तर्मौहूर्तिकः आयुर्ब-
न्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तमुहूर्त्त प्रमाणत्वात [एगम्मि
पञ्चभंगत्ति] एकस्मिन् पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्चभंगा भ-
वन्ति तत्रादिमौ द्वौ भंगौ प्रागिव भावनीयौ त्रयस्तु शेषा इमे ष-
ड्विधबन्ध· अष्टविधा सत्ता अष्टविध उदय एष विकल्पः सू-
क्ष्मसंपरायस्य उपशमश्रेण्यां वर्त्तमानस्य वेदितव्यः तथा ए-
कविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प उ-
पशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते । तथा एकविधो बन्धः सप्त-
विध उदयः सप्तविधा सत्ता एष च क्षीणमोहस्थानके तथा
द्वौ द्वौ भंगौ भवतः केवलिनः तद्यथा एकविधो बन्ध चतुर्विध
उदय· चतुर्विधा सत्ता । एष च विकल्प· सयोगिकेवलिनो ब-
न्धाभावे चतुर्विध उदय· चतुर्विधा सत्ता एव विकल्पो योगि-
केवलिनः । इह केवलिग्रहणं सञ्ज्ञिव्यवच्छेदार्थं द्वौ भंगौ भवत· के-
वलिनो नतु सञ्ज्ञिन इत्यर्थ· अत एव केवलग्रहणादिदमवसीयते
केवलिमनोविज्ञानरहितत्वात् सञ्ज्ञी न भवतीति ॥

सम्प्रति तानेव सप्तविकल्पान् गुणस्थानेषु चिन्तयन्नाह ।

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसन्निएसु दुविगप्पा ।
पत्तेयं पत्तेयं, बंधोदय संतकम्माणं ॥ ५ ॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश तानि च षडशीतिकवृत्तौ सवि-
स्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते । तत्र अष्टगुणस्थान-
नकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायो-
पशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येक बन्धोदय
सत्कर्मणामेकविकल्पो भवति तद्यथा सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपू-
र्वकरणानिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्ध· अष्टविध उदयः अ-
ष्टविधा सत्ता । अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्धः कस्मान्न भवति ?
उच्यते स्वभावत एव एतेषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्य-
त्वात् सूक्ष्मसंपराये षड्विधो बन्ध· अष्टविध उदयः अष्टविधा
सत्ता सूक्ष्मसंपरायो हि बादरकषायाभावादायुर्मोहनीयं च न
बध्नाति ततश्च षड्विध एव बन्धो भवति । उपशान्तकषायस्य
एकविधो बन्धः सप्तविध उदय अष्टविधा सत्ता । यत उप-
शान्तमोहकषायोदयाभावात् न ज्ञानावरणानि बध्नाति किंतु
वेदनीयमेव केवलं ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति मोहनी-
यस्य चोपशान्तत्वेनोदयाभावादुदय· सप्तविध क्षीणमोहस्य
एकविधो बन्ध· सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता । अत्र मोहनी
य क्षीणत्वात् उदये सत्तायां च न प्राप्यते ततः सप्तविधा स-
त्ता सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्ध· चतुर्विध उदयः चतुर्वि-
धा सत्ता केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीनां क्षयेण भव-
ति ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधैव च सत्ता । अयोगिके-
वलिनो बन्धो न भवति योगाभावात् ततश्चतुर्विध उदयश्चतुर्वि-
धा सत्ता । तथा षट्सु गुणसंज्ञितेषु गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टि-
सास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिप्रमत्ताप्रमत्तरूपेषु प्रत्येक
बन्धोदयसत्कर्मणा द्वौ द्वौ विकल्पौ भवत· तद्यथा अष्टविधो
बन्ध· अष्टविध उदय· अष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्ध-
काले एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसंभवात् बन्धः उ-
पपद्यते । तथा सप्तविधो बन्ध· अष्टविध उदय अष्टविधा स-
त्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकाल सर्वदा लभ्य-
ते तदेव मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां परस्पर
संवेध उक्त स्वामित्वं च उत्तरप्रकृतिषु सम्वेध । कर्म० प०सं०॥

सम्प्रतिज्ञानावरणीयस्य तत्तुल्यत्वादन्तरायस्य चोत्तरप्रकृती-
रधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह ॥

बंधोदयसंतं सा, नाणावरणंतराइए पंच ।
बंधो चरमे वि उदय संतंसा होंति पंचेव ॥ ७ ॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकबन्धोदयसत्तारूपाः अंशाः पञ्च
पञ्चप्रकृत्यात्मका· । इदमुक्त भवति । ज्ञानावरणे बन्धमुदयं
सत्ता चाधिकृत्य सदैव पञ्चप्रकृतयो मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावर
णावधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणरूपाः प्राप्यन्ते नत्वेकद्वित्र-
यादिका ध्रुव बन्धादित्वात् । अन्तरायेऽपि बन्धमुदय सत्तां चा
धिकृत्य प्रत्येक सदैव दानान्तरायलाभान्तरायभोगान्तरायवीर्या-
न्तरायरूपा पञ्च प्रकृतय प्राप्यन्ते नत्वेकद्वित्र्यादिका ध्रुवबन्धा-
दित्वादेव । तथा च मतिज्ञानावरणान्तराये च बन्धादिषु प्रत्ये-
कमेव पञ्च प्रकृत्यात्मक प्रकृतिस्थानमिति । संप्रतिसंवेध उच्यते
ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्च विधो बन्धः पञ्चविध उदय· प
ञ्चविधा सत्ता । एवमन्तरायस्यापि एष एव विकल्पो द्वयोरपि
सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानक यावदवगन्तव्य· । बन्धाभावे पुनर्ज्ञा-
नावरणे अन्तराये च प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता
तथा चाह बन्धश्चरमेऽपि बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणान्तराययो-
स्तथेति समुच्चये उदयसत्ते भवत पञ्चैव पञ्चप्रकृत्यात्मिके
एव न त्वेकद्वित्र्यादिके ध्रुवोदयसत्ताकत्वात् । एष एव विकल्पो
द्वयोरप्युपशान्त मोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते ॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य ।
बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह ।

बंधस्स य संतस्स य, पगइट्ठाणाइ तिन्नि तुल्लाइं ।
उदयट्ठाणाइ दुवे, चउपणगं दंसणावरणे ॥ ८ ॥

दर्शनावरणाख्ये द्वितीयकर्म्मणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्पर
तुल्यानि तुल्यस्वरूपाणि त्रीणि प्रकृतिस्थानानि भवन्ति तद्यथा
नव षट् चतस्र तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव ता एव नव स्त्यान-
र्द्धित्रिकहीना· षट् एताश्च षट् निद्रा प्रचलाहीनाश्चतस्र· । तत्र
नव प्रकृत्यात्मक बन्धस्थान मिथ्यादृष्टौ सासादने वा । त-
च्चाभव्यानाधिकृत्यानाद्यपर्यवसानं कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावा-
त् । भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसान कालान्तरव्यवच्छेदसंभ-
वात् । सम्यक्त्वात्प्रतिपत्य मिथ्यात्व गतानां सादिसपर्यवसा-
नं तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तकाल यावदुत्कर्षतो देशोनापार्द्धपु-
द्गलपरावर्त्तं षट्प्रकृत्यात्मक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुण-
स्थानकमारभ्यापूर्वकरणस्य प्रथम भाग यावत् तच्च जघन्यतो-
ऽन्तर्मुहूर्त्तं कालमुत्कर्षतो द्वे षट्षष्टीसागरोपमाना सम्यक्त्व-
स्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितस्यैतावन्त कालमवस्थानस-
भवात् तत ऊर्द्ध्व तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते कश्चिन्मिथ्यात्वम
कश्चित्पुनर्मिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति अवश्यं नवविधो बन्ध
चतु प्रकृत्यात्मकं तु बन्धस्थानमपूर्वकरणाद्वितीयभागादार-
भ्य सूक्ष्मसंपरायं यावत् जघन्येनैक समयमुत्कर्षतोऽन्त-
र्मुहूर्त्तम् एक समय यावत् कथ प्राप्यते । इति चेत् उच्यते

उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधं बन्धमारभ्यानन्तरसमये कश्चित्कालं करोति कालं कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति अविरतत्वे च षड्विधो बन्ध इत्येकसामायिकी चतुर्विधस्थानस्य स्थितिः । तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा अनाद्यपर्यवसितमनादिसपर्यवसितं च । तत्रानाद्यपर्यवसितमभव्यानां कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् अनादिसपर्यवसितं तु न भवति । नवप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानव्यवच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति सत्र क्षपकश्रेणितः प्रतिपातो भवतीति एतच्च सत्तास्थानमुपशमश्रेणिमधिकृत्योपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य प्रथमे भागे तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणं तच्चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागादारभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावद्वसेयं चतुःप्रकृत्यात्मकं त्वेकसामायिकं क्षीणकषायचरमसमयभावित्वादिति । उदयस्थाने पुनर्द्वे भवतः तद्यथा चतस्रः पञ्च च तत्र चतस्रश्चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणकेवलदर्शनावरणरूपाः । एतासां च समुदायो ध्रुवोदय इति एकप्रकृतिस्थानम् । एतासु च चतसृषु मध्ये निद्रादीनां पञ्चानां प्रकृतीनां मध्यादन्यतमस्या प्रकृतौ प्रक्षिप्तायां पञ्च नहि निद्रादयो द्व्यादिका युगपदुदयमायान्ति किन्त्वेकस्मिन् काले एकैवाऽन्यतमा काचित्, निद्रादयश्च ध्रुवोदया न भवन्ति कादाचित्कत्वात् अत इदं पञ्चप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं कदाचिल्लभ्यते तदेवमुक्तानि दर्शनावरणस्य बन्धोदयसत्तामधिकृत्य स्थानानि । सम्प्रति संवेधमभिधित्सुराह ।

बीयावरणे नवबं-धगेसु चउपंचउदयनवसंता ।
छच्चउबंधे चेवं, चउबंधुदए छलंसा य ॥ ९ ॥
उवरयबंधे चउपण, नवंसचउरुदयछच्च चउसंता ।
वेयणियाउयगोए, विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ १० ॥

द्वितीयावरणं दर्शनावरणं तस्मिन् द्वितीयावरणे नवबन्धकेषु सकलदर्शनावरणोत्तरप्रकृतिबन्धकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनेषु (चउपंचउदयत्ति) उदयश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा तत्र चतुर्विधश्चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणकेवलदर्शनावरणरूपः स एव निद्रापञ्चकस्यान्यतमप्रकृतिप्रक्षेपात्पञ्चविधः । सत्तामधिकृत्य पुनः प्रतिस्थानं नव नवप्रकृत्यात्मकं तदेव नवविधबन्धकेषु द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा नवविधो बन्धश्चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पो निद्रोदयाभावे निद्रोदये च नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता (छच्चउबंधे चेवं ति) षड्बन्धे चतुर्बन्धे च एवं पूर्वोक्तप्रकारेण उदयसत्तास्थानानि वेदितव्यानि इदमुक्तं भवति ये षड्विधबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्ताः कियत्कालमपूर्वकरणाश्च तेषां चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता अथवा षड्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता । एतौ च द्वौ विकल्पौ क्षपकं मुक्त्वाऽन्यत्र सर्वत्रापि प्राप्येते क्षपके त्वेक एव विकल्पस्तद्यथा षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता क्षपकस्य हि अत्यन्तविशुद्धत्वेन निद्राप्रचलयोर्नोदयः सम्भवति तदुक्तं सत्कर्मग्रन्थे "निद्दादुगस्स उदओ, खीणगखवगे य परिवज्ज " तथा चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणिं प्रतीत्य चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव कारणमत्र प्रागेवोक्तम् । केचित्पुनः क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छन्ति तत्कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थैः सह विरुध्यते इत्युपेक्षते यावच्च क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते तावत्सत्ता नवविधैव सा स्त्यानर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा तथाचाह (चउबंधुदए छलंसा यत्ति) इह अंश इति सत्कर्माऽभिधीयते यदाह चूर्णिकृत् । अंश इति"संत कम्म भन्नइ"चतुर्विधे बन्धे चतुर्विध उदयः अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतः स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता एष विकल्पस्तावत्प्राप्यते यावत्सूक्ष्मसम्परायाद्धाचरमसमयः परतस्तु न प्राप्यते बन्धाभावात् तदेवं चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पास्तद्यथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता एष उपशमश्रेण्यां वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः नवविधा सत्ता । एष उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां तु पञ्चविधोदयस्याभावात् तथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षपकश्रेण्यां स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयानन्तरमवसेयः "उवरयबंधे" इत्यादि उपरते व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते उपशमश्रेण्यां हि निद्राप्रचलयोरुदयः संभवति स्त्यानर्द्धित्रिकं च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो भवति नवविधा च सत्ता प्राप्यते तथा चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणकषायस्य चरमसमये निद्राप्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपितत्वात् । तदेवं दर्शनावरणे सर्वसंख्यया एकादश विकल्पाः । यदि पुनः क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्ता बन्धाभावे पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्ता इत्येतौ द्वौ विकल्पौ अधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्याः । वेदनीयस्य संबन्धस्तत्र वेदनीयायुर्गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह (वेयणियाउयगोए विभज्ज त्ति) वेदनीये आयुषि गोत्रे च यथागमं बन्धादिस्थानानि संवेधमाश्रित्य विभजेत् विकल्पयेत् तत्र वेदनीयस्य चान्येनैकं बन्धस्थानं तद्यथा सातमसातं वाऽनयोः परस्परविरुद्धत्वात् सत्तास्थाने द्वे तद्यथा द्वे एकं च । तत्र यावदेकमन्यतरत् न क्षीयते तावत् अपि सती अन्यतमस्मिंश्च क्षीणे एकमिति । सम्प्रति संवेध उच्यते असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती । अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती । एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः परतोऽसातस्य बन्धाभावात् तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत्सम्भवतः ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः सातस्योदयः सातस्य सत्ता एतौ च द्वावपि विकल्पावेकसामायिकौ सर्वसंख्यया च वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः । तथा आयुषि सामान्येनैकं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यत-

मत् परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्विआयुषां बन्धाभावात् उदयस्थानमप्येकं तदपि चतुर्णामन्यतमत् युगपद् द्विआयुषामुदयाभावात् द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्वे एकं च । तत्रैकं चतुर्णामन्यतमत् याव दन्यतरमन्यायुर्न बध्यते परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवेनोत्पद्यते तावद् द्वे सती । सम्प्रति संवेध उच्यते तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्थास्तद्यथा परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च । तत्र नैरयिकस्य परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वनरकायुष उदयो नरकायुष सत्ता एष विकल्प आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु शेषगुणस्थानकस्य नरकेष्वसम्भवात् परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धो नारकायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा द्वयोरेवाद्ययोर्गुणस्थानकयोस्तिर्यगायुषो बन्धसम्भवात् । अथवा मनुष्यायुषो बन्धो नारकायुष उदयो नारकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वा बन्धोत्तरकाल नारकायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्प आद्येषु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु तिर्यगायुर्बन्धानन्तरं कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसम्भवात् । अथवा नारकायुष उदयो मनुष्यनारकायुषी सती इह नारका देवायुर्नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति तत्रोत्पत्त्यभावात् । यदुक्तम् "देवा नारका वा देवेसु नारकेसु वि न उववज्जंतित्ति " ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसंख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति एवं देवानामपि पञ्चविकल्पा भावनीया नवरं नरकायुः स्थाने देवायुरिति वक्तव्यं तद्यथा देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि । तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु शेषगुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसम्भवात् । एष विकल्प परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वं बन्धकाले तु नारकायुषां बन्धस्तिर्यगायुष उदयः नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात् । अथवा तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य सम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य तिरश्चोऽविरतस्य च देवायुष एव बन्धसम्भवात् । अथवा देवायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः देवतिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः तस्यायुर्बन्धासंभवात् एते चत्वारो विकल्पा परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानेषु नरकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात् अथवा तिर्यगायुष उदयो तिर्यक्तिर्यगायुषी सती अथवा तिर्यगायुष उदयो देवतिर्यगायुषी सती एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु सर्वसंख्यया तिरश्चां नव विकल्पा चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसम्भवात् तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुष सत्ता एष विकल्पोऽयोगिकेवलिन यावत् । तथा नारकायुषो बन्धे मनुष्यायुष उदय नारकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देवमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् एते चत्वारो विकल्पा परभवायुर्बन्धकाले बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नरकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष त्रिकल्पः प्राग्वत् मनुष्यायुष उदयो देवमनुष्यायुषी सती एष त्रिकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसंभवात् सर्वसंख्यया मनुष्याणां नव भङ्गाः तदेवमायुषि सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिभङ्गाः । तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानं तद्यथा उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् उदयस्थानमप्येकं तदपि द्वयोरन्यतरत् परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात् द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्वे एकं च । तत्र उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे तेजस्कायिकावस्थायामुच्चैर्गोत्रे उद्वलिते एकम् । अथवा नीचैर्गोत्रे अयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम् सम्प्रति संवेध उच्यते नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रस्य सत् एष विकल्पस्तेजस्कायिकवायुकायिकेषु लभ्यते तद्भवादुद्वृत्तेषु वा शेषजीवेष्वेकद्वित्रिचतुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिषु सासादनेषु वा न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु तेषां नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् न परतः परतो बन्धाभावात् बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्यायोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावदवसेयः । उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत् एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः । (पर मोह वोच्छं) अतः परं मोहं वक्ष्ये मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्ये इत्यर्थः । "गोअम्मि सत्त भंगा, अट्ठ य भंगा हवंति वेअणिए । पण नव नव पण भंगा, आउचउक्के वि कमसो उ ॥११॥" इयं गाथा मूलपुस्तकेषूपलभ्यमानापि टीकापुस्तके नास्तीति नास्माभिः स्थूलाक्षरैः प्रकाशिता, नापि व्याख्याता । तत्र प्रथमं बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह ॥

> वावीसएक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
> चउतिगदुगं च एक्कं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १२ ॥

मोहस्य दश बन्धस्थानानि तद्यथा द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च तत्र सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतो न च त्रयाणां वेदानां युगपद्बन्धः किंत्वेककालमेकस्यैव हास्यरतियुगलारतिशोकयुगले अपि न युगपद्बन्धमायात किंत्वेकमेव युगलं ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते ततः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावात् । एकविंशति यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यते इत्येकविंशतिरेव बन्धः । ततो मिश्राविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानकषायाणां बन्धाभावात् यो देशविरतस्ततोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु प्रत्याख्यानावरणानां बन्धाभावात् तत्र यद्यप्य-

रतिशोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्यरतियुगलं प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्तापूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते ततो हास्यरतिभयजुगुप्साऽपूर्वकरणचरमसमये बन्धकानाश्रित्य व्यवच्छिद्यते इति अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणां बन्धः तृतीयभागे संज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावात् द्वयोः पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावात् एकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः ततः परं बादरसंपरायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्धः तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि ।

सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह ।

एगं व दो व चउरो, एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा।
ओहेण मोहणिज्जे, उदयट्ठाणाणि नव हुंति ॥ १३ ॥

ओघेन सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति तद्यथा एकं द्वे चत्वारि अतश्चतुष्कादूर्ध्वं त्वेकाधिका उदयविकल्पास्तावदवगन्तव्या यावदुत्कर्षतो दशदशक (१ । २ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १०) मुदयस्थानं भवतीत्यर्थः । कर्म्म०॥

एतानि चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किंचिद्भाव्यन्ते तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्योदये एकमुदयस्थानं तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकं तत्रापि हास्यरतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कं तत्रैव भयप्रक्षेपात्पञ्चकं जुगुप्साप्रक्षेपात्षट्कं तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकं तत्रैव वा प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे अष्टकं तत्रैव चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकं तत्र मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम् । एतच्च सामान्येनोक्तं विशेषतस्त्वग्रे सूत्रकृदेव सप्रपञ्चं कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्यते । तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि । कर्म्म० । प० सं० ॥

संप्रति बन्धस्थाने सत्तास्थाने च प्रतिपिपादयिषुराह ।

अट्ठगसत्तगछच्चउ–तिगदुगएगाहिया भवे वीसा ।
तेरसबारिकारस, इत्तो पंचाइ एकूणा ॥ १४ ॥
संतस्स पगइठाणा–इं ताणि मोहस्स होंति पन्नरस ।
बंधोदयसंते पुण, भंगविगप्पा बहू जाण ॥ १५ ॥

विंशतिरष्टकसप्तकषट्कचतुस्त्रिद्व्येकाधिका । तथा त्रयोदशद्वादशैकादशकात् सत्तास्थानात् एकोनानि एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायाः प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि तानि च सर्वसंख्यया पञ्चदश भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यम् । मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः । तत्र सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिस्ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः सत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः ततोऽष्टस्वप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्ञकेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः ततश्च संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रस्ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे ततोऽपि संज्वलनमायाया क्षपितायामेका प्रकृतिर्भवतीति । तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि । एतेषु पुनर्बन्धोदयसत्तास्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन च बहवो भङ्गा भवन्ति तांश्च भङ्गान् यथावत्प्रतिपाद्यमानान् सम्यग्जानीहि ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह ॥

छब्बावीसे चउ इग–वीसे सत्तरस तेरसे दो दो ।
नव बंधगे उ दोन्नि उ, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥ १६ ॥

द्वाविंशतौ द्वाविंशतिबन्धे षड्विकल्पा भवन्ति । तत्र द्वाविंशतिरियं मिथ्यात्वं षोडश कषायास्त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलं भयं जुगुप्सा च । अत्र भङ्गाः षट् । तथाहि हास्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः प्राप्यते इति तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाता षट् ते च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिर्नवरमत्र द्वयोरन्यतरो वेद इति वक्तव्यम् । ये च एकविंशतिबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयस्ते च स्त्रीवेदं वा बध्नन्ति पुरुषवेदं वा, न नपुंसकवेदं नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् सासादनानां च मिथ्यात्वोदयाभावात् । अत्र च भङ्गाश्चत्वारः तथा चाह (चउवीसएगंमि) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गाः तत्र हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ तौ च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः सैव चैकविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश नवरमत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको वक्तव्यो न स्त्रीवेदं बध्नन्ति तद्बन्धस्याऽनन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात् सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानुबन्ध्युदयाभावात् । अत्र च हास्यरतियुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ ता एव सप्तदश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ तथा चाह (सत्तरसतेरसे दो दो) सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धके द्वौ भङ्गौ तौ च प्रमत्ते द्वावपि लभ्येते । अप्रमत्तापूर्वकरणयोस्त्वेक एव भङ्गस्तत्रारतिशोकरूपस्य युगलस्य बन्धासंभवात् तथा ता एव नव हास्यरतियुगलभयजुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च अत्रैक एव भङ्ग एव चतुस्त्रिद्व्येकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैक एव भङ्गो वाच्यः । तथा चाह (एक्केक्कमओ परं भंगा) अतो नवकबन्धात्परं पञ्चादिषु भङ्गाः प्रत्येकमेकैकः एकैकसंख्या वेदितव्याः मकारस्त्वलाक्षणिकः अमीषां च द्वाविंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदं द्वाविंशतिबन्धस्य कालोऽभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसितः भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसितः सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाण उत्कर्षतो देशोनोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः एकविंशतिबन्धस्य कालो जघन्येन समयमात्र उत्कर्षतः षडावलिकाः सप्तदश । बन्धस्य कालो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं उत्कर्षतः किंचित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । तथाहि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसुरस्य प्राप्यन्ते अनुत्तरसुरभवाच्च च्युत्वा यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं च न प्रतिपद्यते तावत्सप्तदश बन्ध एवेति किंचित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि त्रयोदश बन्धस्य नव बन्धस्य च कालः प्रत्येकं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी यतस्त्रयोदश बन्धा देशविरतौ नवकबन्धस्तु सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटीप्रमाणा पञ्चादिषु पुनर्बन्धस्थानेषु कालः प्रत्येकं जघन्येनैकं समयमुत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्तमेव । एकसम-

यता कथमिति चेत् उच्यते उपशमश्रेण्यां पञ्चविध बन्धमारभ्य द्वितीये समये कालं कृत्वा देवलोकं याति देवलोके च गतः स-न्नविरतो भवति अविरतत्वे च सप्तदश बन्ध इत्येकसमयता एव चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम् । तदेव कृता कालनिरूपणा ।

सम्प्रत्येतेषामेव बन्धस्थानानां मध्ये कस्मिन् कियन्ति प्रागुक्तान्युदयस्थानानि भवन्तीत्येतन्निरूप्यते ।

दस बावीसे नवइग-वीसे सत्ताइ उदयकम्मंसा ।
छाईनव सत्तरसे, तेरं पंचाइ अट्ठे व ॥१७॥
चत्तारि आइनववं-धगेसु उक्कोससत्त उदयंसा ।
पंचविहबंधगे पुण, उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥ १८ ॥

द्वाविंशतिबन्धे सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्या-नावरणसञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिका यत एक-स्मिन् क्रोधे वेद्यमाने सर्वेऽपि क्रोधा वेद्यन्ते समजातीयत्वात् । एवं मायालोभानामुदयः परस्परं विरोधादित्यन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते । तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगला-रतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलमेतासां सप्तप्रकृतीनां द्वाविंश-तिबन्धके मिथ्यादृष्टावुदयो ध्रुवः । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिः तद्यथा हास्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्य-ते इति द्वौ भङ्गौ तौ प्रत्येकं त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् ते च प्रत्येकं त्रिष्वपि क्रोधादिषु चतु-र्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिता जाताश्चतुर्विंशतिः तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः । अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्याः । ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमन-न्तानुबन्धिनामुदयः सम्भवति तत्कथमिह मिथ्यादृष्टिः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रोक्तः । उच्यते इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसं-योजिता एतावतैव च स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्यु-क्तवान् तथाविधसामग्र्यभावात् ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति ततो बन्धावलिका यावन्नाद्याप्यतिक्रामति तावत्तेषामुदयो न भवति बन्धावलिकायां त्वतिक्रान्तायां भवेदिति । ननु कथं बन्धावलि-कातिक्रमेऽप्युदयः सम्भवति यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः अबा-धाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेण तु चत्वारि वर्षसहस्राणीति नैष दोषः यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां ताव-त्सत्ता भवति सत्तायां च सत्यां बन्धे प्रवर्त्तमाने पतद्ग्रहता पतद्ग्रहतायां च शेषसमानजातीयप्रकृतिदलिकं सङ्क्रान्तिः सङ्क्रा-मद्दलिकं पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमते ततः सङ्क्रमावलि-कायामतीतायामुदयस्ततो बन्धावलिकायामतीतायामुदयोऽभि-धीयमानो न विरुध्यते । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सयो-रथवा भयानन्तानुबन्धिनोः यद्वा जुगुप्सानन्तानुबन्धिनोः प्रक्षि-प्तयोर्नवानामुदयः अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे प्रागुक्तक्रमेण भङ्ग-कानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयो द्रष्टव्याः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानां च उदयः अत्रैकैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया द्वाविंशतिबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः (नवएक्कवीसत्ति) एक-विंशतौ एकविंशतिबन्धे सप्तादीनि नव पर्यन्तानि त्रीणि उदय-स्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव तत्र सप्त अनन्तानुब-न्ध्यप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे च चत्वारः क्रो-धादिकास्त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमेतासां सप्तप्रकृतीनामुदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदयः । अत्र द्वे चतुर्विं-शती भङ्गकानां भयजुगुप्सायां युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्र चैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया एकविंशतिबन्धे चतस्रश्चतुर्विंशतयः अयं च एकविंशतिबन्धः सासादने प्राप्यते । सासादनश्च द्विधा श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च । तत्राश्रेणिगत सा-सादनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यवगन्तव्यानि । यस्तु श्रेणिगतस्तत्रादेशद्वयी केचिदाहुः । अनन्तानुबन्धिसत्कर्मस-हितोऽप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तेषां मतेनानन्तानुबन्धिनामप्यु-पशमता भवति एतच्च सूत्रेऽपि संवादि तदुक्तं सूत्रे " अणद-सनपुंसनपुंसत्थी " इत्यादि श्रेणीतश्च प्रतिपतन् कश्चित्सासाद-नभावं चोपगते यथोक्तानि त्रीण्युदयस्थानानि भवन्ति । अपरे पुनराहुः । अनन्तानुबन्धिनः क्षपयित्वैवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते न तत्र कर्म्म तेषां मतेन श्रेणीतः प्रतिपतन् सासादनो न भवति तस्या-नन्तानुबन्ध्युदयाभावात् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च सासा-दन इष्यते "अनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्स, सासणभावो न सम्भव-ति " इति वचनात् । अथोच्यते यदा मिथ्यात्वं प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदानीमनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽ-पि सासादनस्तेषां मते न भविष्यतीति किमत्रायुक्तं तदयुक्तमेव सति तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवेयुः न च भवन्ति सूत्रे प्रतिषेधात् । तैरप्यनभ्युपगमाच्च । तस्माद-नन्तानुबन्ध्युदयरहितः सासादनो न भवतीत्यवश्यं प्रत्येयम् । (छाईनवसत्तरसे) सप्तदशके बन्धस्थाने षडादीनि नवपर्य-न्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव सप्तदश बन्धकादिद्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्य-ग्दृष्टयश्च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जाः क्रोधादयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलं स-म्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुदयः सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः अस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदयः । अत्र च द्वे चतुर्विंशती भङ्गानाम् । भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयो-र्नवानामुदयः अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतस्रश्चतुर्विंशतयः । अविरतसम्यग्दृष्टीनां सप्तदश बन्धकानां चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव तत्रोपशमकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां च अवि-रतसम्यग्दृष्टीनामनन्तानुबन्धिवर्जाः क्रोधादयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमिति अषण्णामुदयो ध्रुवः अत्र प्रागिव भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः अ-स्मिन्नेव षट्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः । अत्र भयादिषु प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्रा-प्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युग-पत्प्रक्षिप्तेषु नवानामुदयः । अत्र चैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः अवि-रतसम्यग्दृष्टीनां सर्वाश्चतुर्विंशतयोऽष्टौ सर्वसंख्यया सप्तदशब-न्धे द्वादश चतुर्विंशतयः (तेरेपचाइअट्ठचाउ) त्रयोदशके ब-न्धस्थाने पञ्चादीन्यष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनक्रो-

धादीनामन्यतमो द्वौ क्रोधादिकौ त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदो द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनामुदयः त्रयोदशबन्धके ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् क्षिप्ते षण्णामुदयः अत्र भयादिभ्यो विकल्पाः एकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिरिति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोरथवा जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु अष्टानामुदयः अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया त्रयोदशबन्धेऽष्टौ चतुर्विंशतयः "चत्तारीत्यादि" । नव च बन्धेषु प्रमत्तादिगुणस्थानेषु सत्यर्थनानि चत्वारि उदयस्थानानि उदयस्थानानीत्यर्थः । तद्यथा चत्वारः पञ्च षट् सप्त तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमः एकः क्रोधादिक त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु वा प्रमत्तादिषु ध्रुवः अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव चतुष्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः । अत्र भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयस्तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु तु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः । अत्र भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया नवकबन्धेऽष्टौ चतुर्विंशतयः (पंचविहेत्यादि) पञ्चविधबन्धकेषु पुनर्द्वयोः प्रकृत्योर्द्वयात्मकमुदयस्थानमिति भावः । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामेकतमः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिश्च संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः ॥

एत्तो चउबंधाई, एक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्ज ॥१९॥

इतः पञ्चविधबन्धादनन्तरं चतुर्बन्धादयः सर्वेऽपि प्रत्येकमेकैकोदयाः एकैकप्रकृत्युदया भवन्ति ज्ञातव्याः । तथाहि चतुर्विधो बन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति पुरुषवेदस्य च युगपद् बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते । ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति स च चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमः अत्र चत्वारो भङ्गाः यतः कोऽपि संज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते कोऽपि संज्वलनमानेन कोऽपि संज्वलनमायया कोऽपि संज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गाः । इह केचिच्चतुर्विधबन्धसंक्रमणकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते तदुक्तं पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम् " चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदिच्छन्ति अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि " इति । तथा च सति तेषां मतेन सर्वसंख्यया द्विकोदयश्चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेयाः । संज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे सति त्रिविधो बन्धः तत्राप्येकविध एवोदयः अत्र त्रयो भङ्गाः नवरमत्र संज्वलनक्रोधवर्जानां त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम् । यतः संज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्यं संज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् " जे वेयइ " इति वचनात् तथा च सति चतुर्विध एव बन्धः प्रसक्तस्ततः संज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यते इति त्रिविधे बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यं संज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे सति द्विविधो बन्धः । तत्राप्येकविध एवोदयः केवलं " मायया लोभेन वा " इति वक्तव्यम् युक्तिः प्रागिवात्राप्यनुसरणीया । अत्र च द्वौ भङ्गौ संज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य संज्वलनलोभस्य बन्धस्तस्यैव च उदयः अत्रैको भङ्गः । इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु संज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चिद् विशेषस्तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गाः पृथग्गणयिष्यन्ते तथा बन्धोपरमेऽपि बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकविध उदयो भवति स च संज्वलनलोभस्यावसेयः तथा सूक्ष्मकिट्टिवेदनात् तत उपरमेऽनुदयाभावेऽपि उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीयं सद्भवति एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम् अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्परं संवेधेन चिन्त्यमानेषु नेदं सत्कर्माभिधानमुपयोगीति ।

सम्प्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु यावन्तो भङ्गा
भवन्ति तावन्तो निर्दिदिक्षुराह ।

एगं च छक्केयारस-दससत्तचउक्कएक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया, बारदुगेक्कम्मि एक्कार ॥ २० ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासंख्यं संख्यापदयोजना कर्तव्या सा चैवं दशोदये एका चतुर्विंशतिर्नवोदये षट् तद्यथा द्वाविंशतिबन्धे तिस्रः एकविंशतिबन्धे मिथ्याविरतिसम्यग्दृष्टिबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः । एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे द्वे त्रयोदशबन्धे चैका । तथा सप्तोदये दश तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः नवकबन्धे त्वेका । तथा षडुदये सप्त तत्र चाविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः । तथा पञ्चकोदये चतस्रः तत्र त्रयोदशबन्धे एका नवबन्धे तिस्रः चतुष्कोदये एका चतुर्विंशतिः (एए चउवीसगयत्ति) एते अनन्तरोक्ता एकादिका संख्याविशेषाः चतुर्विंशतिगताः चतुर्विंशत्यभिधायका एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसंख्यया चत्वारिंशत् तथा (बारदुगेत्ति) द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम् एतच्च मतान्तरेणोक्तमन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः (इक्कम्मि इक्कारत्ति) एकोदये एकादश भङ्गास्ते चैव चतुर्विधे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयो द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एकः बन्धाभावे चैक इति ।

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसंख्यानिरूपणार्थमाह ।

नवपंचाणउइसए, उदयविगप्पेहि मोहिया जीवा ।
अउणुत्तरि एगुत्तरि, पयविंदसएहि विन्नेया ॥२१॥

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषूदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशच्चतुर्विंशतयो लब्धास्तत एकचत्वारिंशच्चतुर्विंशत्या गुण्यते गुणितायां च सत्यां जातानि नवाशीत्यधिकानि नवशतानि तत्रैकोदये भङ्गाः । एकादशसु प्रक्षिप्तेषु नवशतानि पञ्चनवत्यधिकानि भवन्ति । एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवा मोहमापादिता विज्ञेयाः । सम्प्रति पदसंख्यानिरूपणार्थमाह (अउणुत्तरिएत्ति) इह पदानि नाम मिथ्यात्वमप्रत्याख्यानक्रोधप्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि । ततो वृन्दानां दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि आर्षत्वात् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दश-

न्दस्य परनिपातः तेषां शतैरेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसंख्यैर्मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः । एतावत्संख्याभिः कर्मप्रकृतिभिर्यथायोग मोहिताः संसारिणो जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसंख्यानि पदानां शतानि भवन्तीत्युच्यते इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतय उदयमागता इत्यर्थः । एव नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदयो एको दशभिर्गुण्यते नवोदयाश्च षट् नवभिरष्टोदयाश्चैकादश अष्टभिः सप्तोदया एकादश सप्तभिः षट् उदयाः सप्त षड्भिः पञ्चकोदयाश्चत्वारः पञ्चभिः चतुरुदय एकश्चतुर्भिः द्विकोदय एको द्वाभ्यां गुणयित्वा चैते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते ततो जाते द्वे शते नवत्यधिके एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां प्राप्यते इति भूयश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते गुणितेषु च सत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तसंख्यान्येव पदानां शतानि भवन्ति । इय च उदयस्थानसंख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विधबन्धसंक्रमणकाले द्विकोदये द्वादश भङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्या यदा पुनरेते नाधिक्रियन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसंख्या ।

नवतेसीयसएहिं, उदयविगप्पेहि मोहिया जीवा ।
अउणुत्तरि सीयाला, पयविंदसएहिं विन्नेया ॥ २२ ॥

उदयविकल्पैरुयशीत्यधिकनवशतसंख्यैस्तथा दशोदयादिरूपवृन्दास्तद्गतानां पदानां शतैः सप्तचत्वारिंशदधिकैकोनसप्ततिसंख्यैर्यथायोग सर्वेऽपि संसारिणो जीवा मोहिता मोहमापादिता विज्ञेयाः । तत्रोदयस्थानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण परिसंख्यायमानेषु ये मतान्तरेणोक्ताश्चतुर्विधबन्धस्थाने द्विकोदये द्वादश भङ्गास्तेऽपसार्यन्ते ततो नव शतानि अशीत्यधिकानि उदयविकल्पानां भवन्ति पदेषु च परिसंख्यायमानेषु मतान्तरोक्तद्वादशभङ्गगतानि चतुर्विंशतिपदान्यपनीयन्ते ततो यथोक्ता पदानां संख्या भवति । इह दशादय उदयास्तद्भङ्गाश्च जघन्यत एकसामायिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिकाः । तथाहि चतुरादिषु दशोदयपर्यन्तेष्ववश्यमन्यतमो वेदोऽन्यतरत् युगल वेद्यते वेदयुगलयोश्च मध्येऽन्यतरदवश्यं मुहूर्त्तादारभ्य परावर्त्तते । तदुक्त पञ्चसंग्रहमूलटीकायां वेदेन युगलेन वा अवश्य मुहूर्त्ताद् रभ्य परावर्त्तितव्यमिति । तत उत्कर्षतश्चतुष्कोदयादयः सर्वेऽप्यान्तर्मौहूर्तिका द्विकोदयैकोदयाश्च आन्तर्मौहूर्त्तिका सुप्रतीता एव । तथा यदा विवक्षिते उदये भङ्गे वा एक समय वर्तित्वा द्वितीये समये गुणस्थानान्तर गच्छति तदा अवश्य बन्धस्थानभेदात् स्वरूपतो वा भिन्नमुदयान्तर भङ्गान्तर वा यातीति सर्वेऽप्युदया भङ्गाश्च जघन्यत एकसामायिकास्तदेव बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्पर संवेध उक्तः । सत्तास्थानस्य बन्धस्थानेन सह संवेध ।

सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह ॥

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छच्चेव तेरनववं-धगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २३ ॥
पंचविह चउविहेसु, छछक्कसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि उ बंधवोच्छेए ॥ २४ ॥

द्वाविंशतौ द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशति सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । तथाहि द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेश्चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा सप्ताष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदय अष्टाविंशतिरेक सत्तास्थान यत सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति अनन्तानुबन्ध्युदयेन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनः उद्वलिता तत कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्व गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन ते अनन्तानुबन्धिनो बद्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकाकाल यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्य स चाष्टाविंशतिसत्कर्मैवेत्यष्टाविंशतिरेवैक सप्तोदये सत्तास्थानमष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि । यतोऽष्टोदयो द्विधा अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च । तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्त्याऽष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि तत्र यावन्नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिसत्कर्म उद्वलिते सप्तविंशति मिश्रमोहनीयं षड्विंशति अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशति । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि (इगवीसे अट्ठवीसत्ति) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धे अष्टाविंशतिरेक सत्तास्थानम । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति सासादनत्व च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्व त्रिधा कृत तद्यथा सम्यक्त्व मिश्र मिथ्यात्व च । ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वात् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेक सत्तास्थान भवति । (सत्तरसे छच्चेव) सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति तद्यथा सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशति प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले उपशमश्रेण्यां तु प्रतिपद्यते उपशान्तानुबन्धिनामष्टाविंशतिरुद्वलितानन्तानुबन्धिना चतुर्विंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां त्वेकविंशतिरेव । क्षायिकसम्यक्त्व हि सप्तकक्षये भवति सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति सर्वसंख्यया षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशति सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिः सप्तोदयेऽमिश्रदृष्टीनां त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशति सप्तविंशतिश्चतुर्विंशति तत्र योऽष्टाविंशति सत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्व प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशतिः येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथम सम्यक्त्वमुद्वलित सम्य मिथ्यात्व च नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामवशात् मिथ्यात्वाद्विनिवृत्य सम्यग्मिथ्यात्व प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशतिः । य पुनः सम्यग्दृष्टि सन्ननन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य पश्चात्परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्व प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशति । सा चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति तदुक्त कर्मप्रकृत्याम् " चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि विसंजोयणा विसंजोयंति । करणेहिं तिहिं सहियाणंतरकरणं उवसमो व " इति अत्र (तिन्निविन्ति) अविरता देशविरताः सर्वविरता वा यथायोगमिति अनन्तानुबन्धि विसंयोजनानन्तर च केचित्परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते ततश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतुर्विंशति

ऽभवति अविरतसम्यग्दृष्टीनां तु सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा चतुर्विंशतिस्तूभयेषां नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव तथाहि कश्चिन्मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः क्षपणायाभ्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सति त्रयोविंशतिः मिश्रे क्षपिते द्वाविंशतिः । स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तदवस्थायां वर्तमानः कश्चित्पूर्वबद्धायुष्कः कालमपि करोति काल च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गताबुत्पद्यते । तदुक्तम् । " पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु " ततो द्वाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव यत सप्तकक्षये क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य सप्तके क्षीणे च सा । एवमष्टोदयेऽपि अविरतसम्यग्दृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टिप्रायोग्यान्यन्यूनातिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि एवं नवोदयेऽपि । नवरं नवोदयोऽविरतानां वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव संभवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि । तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च । एतानि च प्रागिव भावयितव्यानि (तेरसनववंधगेसु पंचेव ठाणाणि-त्ति) त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धकेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरतास्ते च द्विधा तिर्यञ्चो मनुष्याश्च । तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतसृष्वप्युदयस्थानेषु द्वे एव सत्तास्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकालेऽन्तरकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चिद् देशविरतिमपि प्रतिपद्यते कश्चित् मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि । तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ " उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं पि पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ सासायणो पुण न किमवि लहइ त्ति " वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषु विसंयोजितेषु वेदकसम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या । शेषाणि तु सर्वाण्यपि त्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां न संभवन्ति तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति किंतु मनुष्या एव । अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यते एव तत्कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न संभवन्तीति तदयुक्तं यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते किं त्वसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते । न च तत्र देशविरतिः तदभावाच्च न तत्र त्रयोदशबन्धकत्वम् अथ त्रयोदशबन्धे सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि वर्तन्ते तत्र एकविंशतिरपि त्रयोदशबन्धे तिर्यक्षु न प्राप्यते तदुक्तं चूर्णौ "एगवीसा तिरिक्खेसु संजयासंजएसु न संभवइ कहं संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी उववज्जइ असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा तस्स देसविरई नत्थि त्ति" ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिरष्टाविंशतिश्च । षट्कोदये सप्तोदये

च प्रत्येकं पञ्चापि सत्तास्थानानि । अष्टकोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि तानि चाविरतसम्यग्दृष्ट्युक्तभावनानुसारेण भावनीयानि । एवं बन्धकानामपि प्रमत्ताप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि । (पञ्चाइवंधगेसु छक्काइ त्ति) पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् सत्तास्थानानि । तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश च । तत्राष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां पुनरष्टौ कषाया यावन्न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिरष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश । ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश पश्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत्षट् नोकषायाः सन्त एवेति । चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेकादश पञ्च चतस्रः । तत्राष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतयः उपशमश्रेण्यामेकादशादयः क्षपकश्रेण्यां प्राप्यन्ते । इह कश्चिन्नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणीं प्रतिपन्नः स च स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति । स्त्रीवेदनपुंसकवेदक्षयसमकालमेव पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते तदनन्तरं च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदस्ततस्तदनन्तरं पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति यावच्च न क्षीयते तावत्तत्रापि चतुर्विधबन्धे वेदोदयरहितस्यैकोदये वर्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते । पुरुषवेदहास्यादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीयमाणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सन्ति । एवं च न स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानमवाप्यते । यः पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य षट् नोकषायाः क्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदो भवति ततस्तस्य चतुर्विधबन्धकाले एकादशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते किंतु पञ्चप्रकृत्यात्मकं पञ्चसमयाद्धायाः ऊनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रस्ता अप्यन्तर्मुहूर्तकालं यावत् सत्योऽवगन्तव्याः (सेसेसु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयं ति) शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र त्रिविधे बन्धे अमूनि अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्चतस्रस्तिस्रः । तत्रादिमानि त्रीण्युपशमश्रेणीमधिकृत्य वदितव्यानि शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्यां ते चैवं सञ्ज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्धोदयोदीरणा युगपद्व्यवच्छेदमायान्ति व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः । सञ्ज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत्सर्वं क्षीणं तदपि च समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति यावच्च न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयस्त्रिविधबन्धे सत्यः क्षीणे तु तस्मिन् तिस्रस्ताश्चान्तर्मुहूर्तकालं यावदवगन्तव्याः । द्विविधबन्धे पुनरमूनि पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्तिस्रो द्वे च । तत्राद्यानि त्रीणि प्राग्वत् शेषे तु क्षपकश्रेण्यां ते चैवं सञ्ज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते तासु व्यवच्छिन्नासु बन्धो द्विविधो भवति संज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामा-

र्ं समयद्वयोनावलिकाद्वयबद्ध च दलिकं सद् अन्यत् सर्वं क्षीणं तदपि समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यति यावच्च नाद्यापि क्षीयते तावत्तिस्रः सत्य क्षीणे तु तस्मिन् द्वे ते अप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत्सत्यौ। एकविधबन्धे पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः द्वे एका च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्यां शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्यां ते चैवं संज्वलनमायाया प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्धोदयोदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति व्यवच्छिन्नासु तासु बन्ध एकविधो भवति संज्वलनमायायास्तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्र समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्ध च सदस्ति अन्यत्समस्त क्षीण तदपि च तत्समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपगमिष्यति यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे सती क्षीणे च तस्मिन्नेका प्रकृतिः संज्वलनलोभरूपा सती (चत्तारि उ बंधवोच्छेए) बन्धाभावे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेका च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम् एका तु संज्वलनलोभप्रकृतिः क्षपकश्रेण्यां तदेवं कृता संवेधचिन्ता।

सम्प्रत्युपसंहारमाह।

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसंतपयडिठाणाइं।
भणियाइं मोहणिज्जे, एत्तो नामं परं वोच्छं ॥ २५ ॥

बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानि यथासंख्य दश नव पञ्चदश संख्यानि प्रत्येक संवेधद्वारेण च भणितानि इतः परमत ऊर्ध्व नाम वक्ष्ये नाम्नो बन्धस्थानानि वक्ष्ये। तत्र प्रथमतो बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह।

तेवीसपनवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीसमेक्कं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ २६ ॥

नाम्नोऽष्ट बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च। अमूनि तिर्यग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेकप्रकाराणि ततस्तथैवोपदर्श्यन्ते। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्य बध्नत सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरियं तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थान वर्णगन्धरसस्पर्शाः अगुरुलघु उपघातनाम स्थावरनाम सूक्ष्मबादरयोरेकतरमपर्याप्तकनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम निर्माणनाम एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्चापर्याप्तप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अत्र भङ्गाश्चत्वारः तथाहि बादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सहावाप्यते द्वितीया साधारणनाम्ना एव सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्यमाने द्वे त्रयोविंशती सर्वसंख्यया चतस्रः। एषैव त्रयोविंशतिः पराघातोच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सह प्राप्यते द्वितीया साधारणनाम्ना नवरमेवमभिलपनीयम तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादरसूक्ष्मयोरेकतर पर्याप्तकं प्रत्येकसाधारणयोरेकतर शुभाशुभयोरेकतर यशःकीर्त्योरेकतरमयशःकीर्त्योरेकतर दुर्भगनामानादेयनिर्माणमिति। एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय। एक बन्धस्थान तच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गा विंशति। तत्र बादरपर्याप्तप्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गा तथाहि बादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभेषु बध्यमानेषु यशःकीर्त्या सह एकः द्वितीयोऽयशःकीर्त्या। एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते ततो जाताश्चत्वारः स्थिरपदेन लब्धाः। एवमस्थिरपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ। एव पर्याप्तबादरेषु साधारणेषु बध्यमानेषु स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः यत साधारणेन सह यशःकीर्तिबन्धो न भवति "नो सुहुमतिगेण जसं" इति वचनात्ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते तदेव सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गाः एषैव पञ्चविंशतिरातपोद्योतान्यतरसहिता षड्विंशतिर्नवरमेवमभिलपनीया तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्यैकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थान वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघु पराघातमुच्छ्वासनाम आतपोद्योतयोरेकतरं बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरास्थिरयोरेकतर शुभाशुभयोरेकतरं दुर्भगमनादेय यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतर निर्माणमिति एतासां षड्विंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् एतच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यमातपोद्योतान्यतरसहित बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गाः षोडश ते चातपोद्योतस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिपदैरवसेयाः आतपोद्योताभ्यां च सह सूक्ष्मसाधारणबन्धो न भवति ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते एकेन्द्रियाणां सर्वसंख्यया भङ्गाश्चत्वारिंशत् तदुक्तम् "चत्तारि वीस सोलस, भंगा एगिंदियाण चत्ताला" द्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो बन्धस्थानानि त्रीणि तद्यथा पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थान सेवार्त्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्ग वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघूपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरमशुभदुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिनिर्माणमिति एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थानम् तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अपर्याप्तकेन सह परावर्त्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमायान्तीति कृत्वा अत्रैक एव भङ्ग। एषैव पञ्चविंशति पराघातोच्छ्वासाप्रशस्तविहायोगतिपर्याप्तकदुःस्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद्भवति नवरमेवमेव वक्तव्यं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीद्वीन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजसकार्मणे हुण्डसंस्थान सेवार्त्तसंहननं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघु पराघातमुपघातमुच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तक प्रत्येक स्थिरास्थिरयोरेकतर शुभाशुभयोरेकतर दुःस्वर दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतर निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थान तच्च पर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टेः प्रत्येतव्यम्। अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः सैव एकोनत्रिंशत् उद्योतसहिता त्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया सप्तदश एव त्रीन्द्रियप्रायोग्य चतुरिन्द्रियप्रायोग्यं च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि नवर त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिरभिलपनीया चतुर्जातिसङ्गाश्च प्रत्येकं सप्तदश सर्वसंख्यया एकपञ्चाशत्। उक्तं च "एग-ट्ठअट्ठविगलि-दियाण इगवन्न तिण्हं पि" तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिर्द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत इव वेदितव्या नवर द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या तत्र च एको भङ्ग एकोनत्रिंशत् पुनरियं तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रि-

यजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजसकार्मणे षषां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षषां संहननानामेकतमत्संहनन वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू उपघात पराघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरं त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिरास्थिरयोरेकतर शुभाशुभयोरेकतर सुभगदुर्भगयोरेकतर दुःस्वरसुस्वरयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतर यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टेः पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्यम् यदि पुनः सासादनो बन्धको भवति तर्हि तस्य पञ्चानां संस्थानानामन्यतमत्संस्थान पञ्चानां संहनननानामन्यतमत्संहननमिति वक्तव्यम् । अस्यां चैकोनत्रिंशति सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिराभ्यां शुभाशुभाभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसंख्याका वेदितव्या एषैव एकोनत्रिंशत् उद्योतसहिता त्रिंशद्भवति अत्रापि मिथ्यादृष्टिसासादनानाधिकृत्य तथैव विशेषोऽवगन्तव्यः सामान्येन च भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसंख्याकाः । उक्तञ्च "गुणतीसे तीसे वा, भंगा अट्ठाहिया छयालसया । पंचिंदियतिरियोगे-पणवीसे बंधभंगेक्को " सर्वसंख्यया द्वानवतिशतानि सप्तदशाधिकानि । तथा मनुष्यगतिप्रायोग्य बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र पञ्चविंशतिर्यथा प्रागपर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतोऽभिहिता तथैवावगन्तव्या नवरमत्र मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वी इति वक्तव्यम । एकोनत्रिंशत् त्रिधा एका मिथ्यादृष्टीन् बन्धकानाश्रित्य वेदितव्या द्वितीया सासादनान् तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन् वा । तत्राद्ये द्वे प्रागिव भावनीये । तृतीया पुनरियं मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराचसंहनन वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघूपघातपराघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिरास्थिरयोरेकतर शुभाशुभयोरेकतर शुभग सुस्वरमादेय यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतर निर्माणमिति । अस्यां चैकोनत्रिंशति प्रकारायामपि सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिराभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसंख्या भङ्गा वेदितव्या । यैव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सैव तीर्थकरसहिता त्रिंशत् । अत्र च स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गा सर्वसंख्यया मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गाः षट्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि । उक्तञ्च "पणुवीसयम्मि एक्को, छयालसया उ अट्ठोत्तर । गुत्तीसे छ सव्वे, छयालसया उ सत्तरस "

तथा देवगतिप्रायोग्य बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तथा अष्टाविंशतिरियं देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू पराघातमुपघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोः शुभाशुभयोरेकतरं सुभग सुस्वरमादेय यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतर निर्माणमिति । एतासां समुदाय एक बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतानां सर्वविरतानां देवगतिप्रायोग्य बध्नतामवसेयम् । अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गा एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा नवरमेनां देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो बध्नन्ति । त्रिंशत् पुनरियं देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियाङ्गोपाङ्गमाहारकमाहारकाङ्गोपाङ्ग तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू पराघातमुपघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनामापर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिर शुभनाम शुभगनाम सुस्वरनाम अनादेयनाम यशःकीर्त्तिनाम निर्म्माणनामेति । एतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एक बन्धस्थानम् । एतच्च देवगतिप्रायोग्य बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम् । अत्र सर्वाण्यपि शुभान्येव कर्माणि बन्धमायान्तीति कृत्वा एक एव भङ्ग । एषैव त्रिंशत्तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद्भवति । अत्राप्येक एव च भङ्ग सर्वसंख्यया देवगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गा अष्टादश । तदुक्तम् " अट्ठ एक्केक्कमभंगा अट्ठारस देवजोग्गेसु " तथा नरकगतिप्रायोग्य बध्नत एकं बन्धस्थानमष्टाविंशति । सा चेयं नरकगतिर्नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रिया जाति वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजसकार्मणे हुण्डसंस्थान वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू उपघात पराघातमुच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरमशुभ दुर्भग दुःस्वरमनादेयमयशःकीर्त्तिर्निर्माणमिति । एतासामष्टाविंशतिप्रकृतीनामेक बन्धस्थानमेतच्च मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र त्रीण्यप्यशुभान्येव कर्माणीत्येक एव भङ्ग एक शुबन्धस्थान यशःकीर्तिलक्षणं तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवगन्तव्यम् ।

सम्प्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गाः सर्वसंख्यया प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह।

चउपण वीसा सोलस, नव वाणउइयसयाइं अडयाला ।
एयालुत्तरछाया-लसया एक्किक्कबंधविही ॥२७॥

विंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासंख्यं चतुरादिसंख्या बन्धविधयो बन्धप्रकारा बन्धभङ्गा वेदितव्याः । तत्र ये विंशतिबन्धस्थानेषु भङ्गाश्चत्वारस्ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गाः अत्रैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं बध्नतो विंशति । अपर्याप्तकद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्य बध्नतामेकैक इति सर्वसंख्यया विंशतिः । षड्विंशतिबन्धस्थानेषु यथासंख्य चतुरादिसंख्या बन्धविधयो बन्धप्रकारा बन्धभङ्गा वेदितव्याः । तत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भङ्गाश्चत्वारः ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः । ते भङ्गाः षोडश ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेया अन्यत्र षड्विंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव । तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ नरकगतिप्रायोग्यां तु बध्नत एक इति एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने भङ्गाः अष्टचत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि । तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यां देवगतिप्रायोग्यां च तीर्थकरसहितां बध्नतां प्रत्येकमप्यष्टाविति विंशतिबन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिं-

शच्छतानि । तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशत वध्नतोऽष्टाविकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यामाहारकसहितां त्रिंशत वध्नत एक इति । तथा एकत्रिंशद्बन्धस्थाने एकः एकविधे चैक सर्वसख्यया सर्वबन्धस्थानेषु भङ्गास्त्रयोदश सहस्राणि नव शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानीति। तदेवमुक्तानि सप्रभेद बन्धस्थानानि ।

सप्रत्युदयस्थानप्रतिपादनार्थमाह ।

वीसिगवीसा चउवी–सगा य एगाहिया य इगतीस ।
उदयट्ठाणाणि भवे, नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥ २८ ॥

उदयस्थानानि द्वादश तद्यथा विंशतिरेकविंशतिश्चतुर्विंशत्यादय एकाधिका एकैकाधिकाः तावद्वक्तव्या यावदेकत्रिंशत् तद्यथा चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तथा नव अष्टौ च एतानि चैकेन्द्रियाद्यपेक्षया नानाप्रकाराणीति तान्याश्रित्य सप्रपञ्चमुपदर्श्यते। तत्र एकेन्द्रियाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशति· पञ्चविंशति· षड्विंशति· सप्तविंशति·। तत्र तैजसकार्मणे अगुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णगन्धरसस्पर्शा निर्माणमित्येता द्वादश प्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवा । एतास्तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी स्थावरनामैकेन्द्रियजातिर्बादरसूक्ष्मयोरेकतरमपर्याप्तपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेय यशःकीर्त्ययश·कीर्त्योरन्यतरन्नवप्रकृतिसहिता एकविंशति· । अत्र भङ्गा पञ्च बादरसूक्ष्माभ्यां प्रत्येक पर्याप्तापर्याप्ताभ्यामयश कीर्त्या सह चत्वारः बादरपर्याप्तयश कीर्त्तिभि सह एक इति सूक्ष्मापर्याप्ताभ्यां सह यश कीर्त्तेरुदयो न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते एष चैकविंशतिरेकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य वेदितव्या ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीर हुण्डसस्थानमुपघात प्रत्येकमिति चतस्र प्रकृतय· प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति अत्र च भङ्गा दश तद्यथा बादरपर्याप्तस्य प्रत्येकसाधारणयश·कीर्त्ययश·कीर्त्तिपदैश्चत्वार अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येकसाधारणाभ्यामयश·कीर्त्या सह द्वौ सूक्ष्मस्य पर्याप्तापर्याप्तप्रत्येकसाधारणैर्यश·कीर्त्या सह चत्वार इति दश । बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रिय वक्तव्य ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते केवलमिह बादरपर्याप्त्यैका यश·कीर्त्तिपदैरेक एव भङ्ग· । तैजस्कायिकवायुकायिकयोः साधारणयश कीर्त्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। सर्वसख्यया चतुर्विंशतेरुदये एकादश भङ्गास्तत· शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशति । अत्र भङ्गा· षट् तद्यथा बादरस्य प्रत्येकसाधारणयश कीर्त्ययश कीर्त्तिपदैश्चत्वार सूक्ष्मस्य प्रत्येकसाधारणाभ्यामयश कीर्त्त्या सह द्वौ। तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत· शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिर्भवति अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्ग· सर्वसख्यया पञ्चविंशतौ सप्त भङ्गा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशति अत्रापि भङ्गा· प्रागिव षट्। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिर्भवति अत्रापि भङ्गा षट् । तद्यथा बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येकसाधारणयश कीर्त्ययश कीर्त्तिपदैश्चत्वार आतपसहितस्य च प्रत्येकस्य यश कीर्त्ययश कीर्त्तिपदैर्द्वौ बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वतः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते प्रागुक्ता पञ्चविंशति· षड्विंशतिर्भवति तत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः तैजस्कायिकवायुकायिकयोरातपोद्योतयश·कीर्त्तीनामुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते सर्वसख्यया षड्विंशतौ त्रयोदश भङ्गा । तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहिताया षड्विंशतौ आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति अत्र भङ्गा षट्। ये प्रागातपोद्योतान्यतरसहितायां षड्विंशतौ प्रतिपादिता । सर्वसख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गा द्विचत्वारिंशत् उक्तं च "एगिंदिय उदएसु, पंच य एक्कार सत्त तेरस य । छक्क कमसो भंगो, बायाला हौंति सव्वे वि" द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तापर्याप्तयोरेकतर दुर्भगमनादेय यश·कीर्त्ययश·कीर्त्योरेकतरमित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सह एकविंशति·। एषा चापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य द्वीन्द्रियस्यावाप्यते अत्र भङ्गास्त्रय· तद्यथा अपर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य अयश·कीर्त्त्या सह एक । पर्याप्तनामोदये वर्त्तमानस्य यशःकीर्त्ययश कीर्त्तिभ्यां द्वाविति ततस्तस्यैव च शरीरस्य औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्ग हुण्डसस्थान सेवार्त्तसहननमुपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतय· प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते जाता षड्विंशति । अत्रापि भङ्गास्त्रयस्ते च प्रागिव द्रष्टव्या· । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगतिपराघातयोः प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशति· । अत्र यश कीर्त्ययश – कीर्त्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ अपर्याप्तकप्रशस्तविहायोगत्योरभ्युदयाभावात् ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ सर्वेऽप्येकोनत्रिंशत् चत्वारो भङ्गा· ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वरदु स्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशत भवति । अत्र सुस्वरदु - स्वरयशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारो भङ्गा । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवति अत्र यशःकीर्त्ययश·कीर्त्तिविकल्पाभ्यां द्वौ भङ्गौ सर्वे त्रिंशति षट् भङ्गाः एकोनत्रिंशति सुस्वरदु स्वरयोरेकतरस्मिन् उद्योते च क्षिप्ते एकत्रिंशत् सुस्वरदु स्वरयश·कीर्त्ययश कीर्त्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः एव सर्वसख्यया द्वाविंशतिर्भङ्गा । एव त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च प्रत्येक षट् उदयस्थानानि भावनीयानि नवर द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियाणा त्रीन्द्रियाणा त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधातव्या प्रत्येक भङ्गा द्वाविंशतिरिति सर्वसख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गा षट्। तदुक्तम् " तिगतिगदुगचउछच्च, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्ह पि " प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति· एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तापर्याप्तकयोरेकतर सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतर यश कीर्त्ययश कीर्त्योरेकतरमित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसख्याभिर्ध्रुवोदयाभि· सह एकविंशतिः एषा चापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्या । अत्र भङ्गा नव । पर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य सुभगदुर्भ

गाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यश कीर्त्ययश कीर्त्तिभ्या चाष्टौ भङ्गा । अपर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य दुर्भगानादेयायश कीर्त्तिभिरेक । अपरे पुनराहु सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलाभ्यां यश कीर्त्ययश कीर्त्तिभ्यां च चत्वारो भङ्गा अपर्याप्तकसातोदये त्वेक इति सर्वसख्यया पञ्च । एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भङ्गत्रयस्य स्वधिया परिभावनीयम् । तत शरीरस्थस्य आनुपूर्वीमपनीय औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्ग षष्णां संस्थानानामेकतमत्संस्थान षण्णां संहनननामेकतमत्संहननमुपघात प्रत्येकमिति षट्क प्रक्षिप्यते ततो जाता षड्विंशतिः । अत्र भङ्गानां द्वे शते एकोननवत्यधिके तत्र पर्याप्तस्य षड्भि संहननै सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्या यश कीर्त्ययश कीर्त्तिभ्या च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके अपर्याप्तकहुण्डसंस्थानसेवार्त्तदुर्भगानादेयायश कीर्त्तिपदैरेक इति । अस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशति । तत्र ये प्राक् पर्याप्ताना द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते अवगन्तव्ये । तथाच सत्यत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्रापि भङ्गा प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि भङ्गा पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसख्यया भङ्गानामेकोनत्रिंशत् द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरदु स्वरयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवति । अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि उक्तानि तान्येव स्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवति अत्रापि भङ्गाना प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसख्यया त्रिंशति भङ्गानां सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि । तत स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद्भवति । अत्र ये प्राक् स्वरसहितायां त्रिंशति भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकैकादश सख्या उक्तास्ते पञ्चाशदत्रापि द्रष्टव्या । सर्वसख्यया प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयभङ्गा एकोनपञ्चाशच्छतानि षडधिकानि । इदानीं वैक्रियतिरश्चामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशति सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रमुपघात प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतय प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत पञ्चविंशतिर्भवति । अत्र सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यश - कीर्त्ययश कीर्त्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गा । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशति अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्ते अष्टाविंशतिर्भवति । अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति तत्राप्यष्टौ भङ्गा । सर्वसख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां सप्तविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् । अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । सर्वसख्यया एकोनत्रिंशति षोडश । तत सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशत् अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । सर्वसख्यया वैक्रिय कुर्वतां षट्पञ्चाशत् भङ्गा । सर्वेषा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सर्वसख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि भङ्गानामवसेयानि । सामान्येन मनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि नवर तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीस्थाने मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये । एकोनत्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या वैक्रियाहारकसयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्याणामुद्योतोदयाभावात् तत एकोनत्रिंशति भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । त्रिंशत्येकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकान्यवगन्तव्यानि । सर्वसख्यया प्राकृतमनुष्याणा षड्विंशतिशतानि द्विकाधिकानि भङ्गाना भवन्ति । वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रमुपघात त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगदुर्भगयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतर यश कीर्त्ययश कीर्त्योरेकतर त्रयोदश प्रकृतयो द्वादशसख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सह पञ्चविंशति । अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययश कीर्त्ययश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा देशविरताना सयताना च वैक्रिय कुर्वतां सर्वप्रशस्त एक एव भङ्गो वेदितव्यः तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशति । अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशति । अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अथवा सयतानामुत्तरवैक्रिय कुर्वता शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशति । अत्रैक एव भङ्ग । सयताना दुर्भगानादेयायश कीर्त्युदयाभावात् । सर्वसख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद्भवति । अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा सयताना स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति । अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्ग सर्वसख्यया एकोनत्रिंशति भङ्गा नव । सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति सयतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्ग सर्वसख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गा पञ्चत्रिंशत् । आहारकसयतानामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र आहारकमहारकाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतय । प्रागुक्ताया मनुष्यगतिप्रायोयोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशति । केवलमिह एतानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति । आहारकसयताना दुर्भगानादेयायश कीर्त्युदयाभावात् । अत एक एवात्र भङ्ग । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशति अत्राप्येक एव भङ्ग । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्ग । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्ग । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्राप्येक एव भङ्ग । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोन-

त्रिंशत् अत्राप्येक एव भङ्ग॰ सर्वसख्यया एकोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसख्यया आहारकशरीरिणा सप्त भङ्गा॰ । केवलिनामुदयस्थानानि दश तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः षड्विंशति॰ सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च । तत्र मनुष्यगति॰ पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तक सुभगमादेयं यशःकीर्त्तिरित्येता अष्टौ ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसख्याभि॰ सह विंशति । अत्रैको भङ्ग एषा च तीर्थंकरकेवलिन॰ समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या सैव विंशतिस्तीर्थंकरनामसहिता एकविंशति । अत्राप्येको भङ्ग॰ एषाऽपि तीर्थंकरकेवलिन॰ समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या । तथा तस्यामेव विंशतावौदारिकशरीरिणां सस्थानानामेकतमत्सस्थानमौदारिकाङ्गोपाङ्ग वज्रर्षभनाराचसहननमुपघात प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते ततः षड्विंशतिः एषा च तीर्थंकरकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या । अत्र षड्भि सस्थानै षड् भङ्गा भवन्ति पर ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि सम्भवन्तीति न पृथक् गण्यन्ते एषैव षड्विंशतिस्तीर्थंकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति एषा तीर्थंकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्यावसेया अत्र सस्थान समचतुरस्रमेव वक्तव्य तत एक एवात्र भङ्ग॰ । सैव षड्विंशति॰ पराघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगति सुस्वरदु स्वरान्यतरस्वरसहिता त्रिंशद्भवति एषा च तीर्थंकरस्य सयोगिकेवलिन औदारिककाययोगे वर्त्तमानस्यावगन्तव्या । अत्र सस्थानषट्कप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरदु स्वरसहितैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गास्ते च सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि प्राप्यन्ते इति न पृथक् भण्यन्ते एषैव त्रिंशत्तीर्थंकरनामसहिता एकत्रिंशद्भवति सा च सयोगिकेवलिनस्तीर्थंकरस्यौदारिककाययोगे वर्त्तमानस्यावसेया । एषैव एकत्रिंशत् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद्भवति उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे एकोनत्रिंशत् । अतीर्थंकरकेवलिन॰ प्रागुक्ता त्रिंशत् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि षड्भि॰ सस्थानै षड् भङ्गा॰ प्राप्यन्ते विहायोगतिद्विकेन बद्धा द्वादश ते च प्रागिव न पृथग् गणयितव्याः । तत उच्छ्वासे निरुद्धे सति अष्टाविंशतिः अत्रापि सस्थानगता षड् भङ्गा न पृथग्गणयितव्या सामान्यमनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात् । तथा मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगमादेयं यश॰कीर्त्तिस्तीर्थंकरनामेति नवोदया॰ । एष च तीर्थकृतोऽयोगिकेवलिनश्चरमसमये वर्त्तमानस्य प्राप्यते स एव तीर्थंकरनामरहितोऽष्टोदय॰ । इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशतिरेकविंशतिः सप्तविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशन्नवाष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्ग प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गा॰ । तत्र विंशत्यष्टकयोर्भङ्गावतीर्थकृतः शेषेषु षट्सूदयस्थानेषु तीर्थकृत॰ षम् भङ्गा सर्वसंख्यया मनुष्याणामुदयस्थानेषु षड्विंशतिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । देवानामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्त सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतर यश॰कीर्त्ययश कीर्त्योरेकतरमिति नव प्रकृतयो द्वादशसख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सह एकविंशति॰ । अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययश॰कीर्त्ययश कीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गा दुर्भगानादेयायश कीर्त्तीनामुदय पिशाचादीनामवगन्तव्य । तत॰ शरीरस्थस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गमुपघात प्रत्येक समचतुरस्रसस्थानमिति पञ्च प्रकृतय॰ प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चत्रिंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तत्रिंशति॰ अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशति॰ अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा॰ षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद्भवति अत्राप्यष्टौ भङ्गा॰ दुःस्वरोदयो देवाना न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति उत्तरवैक्रिय हि कुर्वतो देवस्योद्योतोदयो लभ्यते अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति षोडश भङ्गा॰ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसख्यया देवानां चतु षष्टिर्भङ्गा॰ । नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशति पञ्चविंशतिः सप्तविंशति रष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । तत्र नरकगतिर्नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयमयश कीर्त्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशति । अत्र सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्ग॰ । तत॰ वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग हुण्ड सस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतय प्रक्षिप्यन्ते नरकानुपूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते अशुभविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिरत्राप्येक एव भङ्ग॰ । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिस्तत्राप्येक एव भङ्गः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गा॰ । सकलोदयस्थानभङ्गा॰ पुनः सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि ॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गा प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह ।

एक्कबयालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा ।
बारस सत्तरससया-णहिगाणि विपंचसीएहिं ॥२९॥
अउणत्तीसेक्कारस, सयाणहिगसतर पंचसट्ठीहिं ।
एक्केक्कगं च वीसा, दट्ठुदयं तेसु उदयविही ॥ ३० ॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासंख्यमेकादिसंख्या उदयविकल्प॰ उदयप्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थ॰ । तत्र विंशतावेको भङ्ग स चातीर्थंकरकेवलिनोऽवसेय । एकविंशतौ द्विचत्वारिंशत् तत्रैकेन्द्रियानाधिकृत्य पञ्च विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव मनुष्यानप्यधिकृत्य नव तीर्थंकरमाधिकृत्यैक॰ सुरानाधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत् । चतुर्विंशतावेकादश ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियानाधिकृत्य सप्त वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य अष्टौ वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ आहारकसयतानाश्रित्यैक देवानधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् । षड्विंशतौ षट् शतानि तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयो

दश विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके प्राकृतमनुष्यानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके इति षट् शतानि । सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट् वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ आहारकसयतानधिकृत्यैकः केवलिनमधिकृत्यैक देवानधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् । अष्टाविंशतौ द्व्यधिकानि द्वादश शतानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट् प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव आहारकसयतानधिकृत्य द्वौ देवानधिकृत्य षोडश नारकानधिकृत्यैक इति । एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्याधिकानि सप्तदश शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ तीर्थकरमधिकृत्यैक देवानधिकृत्य षोडश नारकानधिकृत्यैक इति त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदशश तान्यष्टाविंशत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ मनुष्याननधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्यैक आहारकसयतानधिकृत्यैक केवलिनमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्याष्टौ । एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि तीर्थकरमधिकृत्यैक. एको नवोदये एकोऽष्टोदये सर्वोदयस्थानेषु सर्वसख्यया सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि इति तदेवमुक्तानि सप्रभेदमुदयस्थानानि द्वितीयगाथाया अर्थ कस्मिंश्चिद्देशे गाथाटीकायामन्यथा प्रतिभातीति तच्चाययेद् व्याख्यायते एकोनत्रिंशच्छतके सप्तति चैकादशशतके पञ्चषष्ट्यधिका कुर्यात् तदा त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि भवन्ति । तानीत्थम् विकलेन्द्रियाणामष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टाविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि मनुष्याणां द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियतिरश्चामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामेकमाहारकाणामेक केवलिन एक देवानामष्टौ एव पूर्वोक्ता सख्या । तथैकत्रिंशदुदय विकलेन्द्रियाणां द्वादश पञ्चेन्द्रिय तिरश्चां द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि केवलिन एकमित्थ पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि एकैको भङ्गोऽष्टनवोदये केवलिनो भवति अतो नवोदयेऽष्टोदये चैको भङ्ग । विंशत्युदयस्थानादारभ्याष्टोदयपर्यन्त द्वादशोदयस्थानानि । एव सर्वसख्यया एकनवत्यधिकानि सप्तशतयुतानि सप्तसहस्राणि भवन्ति ।

सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह ।

तिदुनउईगुणनउई, अमसीइछसीअसीइगुणसीइ ।
अट्ठ य छप्पन्नत्तरि, नव अट्ठ य नामसंताणि ॥३१॥

नाम्नो नामकर्म्मणो द्वादश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीति षडशीति अशीतिरेकोनाशीतिरष्टसप्तति षट्सप्तति. पञ्चसप्तति नव अष्टाविति । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्ट सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिस्त्रिनवतिरेवाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गाहारकसंघाताहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवति । सैव तीर्थकररहिता अष्टाशीति ततो नरकगतिनरकानुपूर्व्योरथवा देवगतिदेवानुपूर्व्योरुद्वलितयो षडशीति अथवा अशीति. । तत्कर्म्मणो नरकगतिप्रायोग्य बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गवैक्रियसघातवैक्रियबन्धनबन्धे षडशीतिः अथवा अशीति. तत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्य बध्नतो देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयबन्धे षडशीतिस्ततो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयोद्वलने अथवा देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीतिः । ततो मनुजगतिमनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्तति. । एतान्यक्षपकाणां सत्तास्थानानि । क्षपकाणां पुनरमूनि त्रिनवतेर्नरकगतिर्नरकानुपूर्वी तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्व्येकेन्द्रियजातिर्द्वीन्द्रियजातिस्त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियजाति. स्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति। द्विनवते क्षीणे एकोनाशीति एकोननवतेः क्षीणे षट्सप्ततिः अष्टाशीते. क्षीणे पञ्चसप्ततिर्मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनामबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकराणीति नवक सत्तास्थान तच्चायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते तदेव तीर्थकरकेवलिनश्चरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति । तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि ॥

सम्प्रति सवेधप्रतिपादनार्थमुपक्रमते ।

अट्ठयबारसबारस, बंधोदयसंतपयमिठाणाणि ।
ओहेणाएसेण य, जत्थ जहासंभवं विभजे ॥ ३२ ॥

नाम्नो बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्टौ द्वादश द्वादशसंख्याकानि तानि ओघेन सामान्येन आदेशेन च विशेषेण च यथासत्र यानि यत्र यथा सम्भवन्ति तानि तत्र तथा विभजेत् विकल्पयेत् । उत्तरग्रन्थानुसारेण अत्र अमुक बन्धस्थानं बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्य मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्थानेषु प्रत्येक एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एव तेषां परस्परं सवेधः इत्यादेश. । अत्र प्रथमत. सामान्येन सवेधचिन्तां कुर्वन्नाह ॥

नवपंचोदयसंता, तेवीसे पणवीसछव्वीसे ।
अट्ठ चउरट्ठवीसे, नवसत्तिगुणतीसतीसम्मि ॥ ३३ ॥
एगेगमेगतीसे, एगे एगुदयअट्ठसंतम्मि ।
उवरयबंधो दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥ ३४ ॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येक नव नव उदयस्थानानि । पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्ये एव तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । एतेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोग सामान्येन नवोदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशति पञ्चविंशतिः षड्विंशति सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तथा त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्तमानानामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामवसेय । तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियाणा वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनां षड्विंशत्युदया. । पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनां सप्तविंशत्युदया. पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनामेकत्रिंशदुदया विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनामुक्तशेषा त्रयोविंशतिबन्धका न भवन्ति । तेषां च त्रयोविंशति—

बन्धकानां सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्त्तमानानां सर्वेषामपि पञ्चापि सत्तास्थानानि केवलं मनुष्याणामष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि यतोऽष्टसप्ततिर्मनुष्यानुपूर्व्यां उद्वलितायाः प्राप्यते न च मनुष्याणां तदुद्वलनसम्भव । चतुर्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि केवल वायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वतश्चतुर्विंशत्युदये वर्त्तमानस्याशीत्यष्टसप्ततिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि यतस्तस्य वैक्रियषट्कं मनुष्यद्विकं च नियमादस्ति यतो वैक्रियं हि साक्षादनुभवन् वर्त्तते इति न तदुद्वलयति तदभावाच्च न देवद्विकनरकद्विके अपि समकालं वैक्रियषट्कस्योद्वलनसम्भवात्तथा स्वाभाव्यात् वैक्रियषट्के चोद्वलिते सति पश्चात् मनुष्यद्विकमुद्वलयति न पूर्वं तथा चोक्तं चूर्णौ " वेउव्वियछक्कं उव्वलेइ पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ" इत्यशीत्यष्टसप्ततिवर्जसत्तास्थानसम्भवः। पञ्चविंशत्युदयेऽपि पञ्च सत्तास्थानानि तथाऽष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिकतैजस्कायिकान् अधिकृत्य प्राप्यते नान्यान् यतस्तैजस्कायिकवायुकायिकवर्जोऽन्यः सर्वोऽपि पर्याप्तको नियमान्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति तथा चाह चूर्णिकृत् " तेउवाउवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइ नियमा बंधइ " ततोऽन्यत्राष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । षड्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि नवरमष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिकतैजस्कायिकानां द्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियाणां वा तेजोवायुभवादनन्तरगतानां पर्याप्तापर्याप्तानां ते हि यावन्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ न बध्नन्ति तावत्तेषामष्टसप्ततिः प्राप्यते नान्येषाम् । सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्युदयो हि तेजोवायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रियवैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां तेषां चावश्यं मनुष्यद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । अथ कथ तेजोवायूनां सप्तविंशत्युदया न भवन्ति येन,तद्वर्जन क्रियते उच्यते सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातपोद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते । न च तेजोवायुष्वातपोद्योतोदय सम्भवति ततस्तद्वर्जनम् । अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकत्रिंशत् त्रिंशदुदयेषु नियमादष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्युदयो हि पर्याप्तविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामेकत्रिंशदुदयश्च पर्याप्तविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिरश्चां ते चावश्यं मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीसत्कर्माण इति । तदेव त्रयोविंशतिर्यथायोग नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत्सङ्ख्यानि भवन्ति पञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धकानामप्येवमेव केवल पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशति (षड्विंशति) बन्धकानां देवानामेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । अपर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्या तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति अपर्याप्तेषु विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात् । सामान्येन त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येक नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशति. पञ्चविंशति षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । इह द्विधा अष्टाविंशतिर्देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्यायां बन्धेऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते नरकगतिप्रायोग्यायास्तु बन्धे द्वे तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदय क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामपान्तरालगतौ वर्त्तमानानामवसेयः । पञ्चविंशत्युदयः आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । षड्विंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां शरीरस्थानां सप्तविंशत्युदयः आहारकसंयताना वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां तु सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रम शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां प्राणापानपर्याप्त्या चापर्याप्तानां तिर्यग्मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तथा आहारकसयतानां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां वा मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । त्रिंशदुदयास्तिर्यग्मनुष्याणां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च । तथा आहारकसयतानां वैक्रियसयतानां च एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा नरकगतिप्रायोग्यां त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदयः । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनामेकत्रिंशदुदय । पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशामष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवति. एकोननवतिरष्टाशीति. षडशीतिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्त्तमाना देवगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिर्बन्धकाना द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशत्युदयेऽप्यष्टाविंशतिबन्धकानामाहारकसंयतवैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां सामान्येन ते एव द्वे सत्तास्थाने । तत्र आहारकसंयतो नियमादाहारकसत्कर्मा ततस्तस्य द्विनवतिः सत्तास्थानं शेषाश्च तिर्यञ्चो मनुष्या वाऽऽहारकसत्कर्माण तद्रहिताश्च भवन्ति ततस्तेषां द्वे अपि सत्तास्थाने । षड्विंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे सत्तास्थाने सामान्येन वेदितव्ये । त्रिंशदुदये देवगतिनरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीति' षडशीतिश्च । तत्र द्विनवति अष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया । एकोननवति पुनरेवं कश्चिन्मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धनरकायुष्को नरकाभिमुख सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य मिथ्यात्व गत. तस्य तत्रा तीर्थकरनामबन्धाभावान्नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतः एकोननवति सत्तायां प्राप्यते । षडशीतिस्त्वेवं इह तीर्थकराहारकचतुष्कदेवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीतिर्भवति तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यो वा जातस्सन् सर्वाभि. पर्याप्तिभि. पर्याप्तो यदि विशुद्ध ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तद्बन्धे च देवद्विक वैक्रियचतुष्टय सत्तायां प्राप्यते इति तस्य षडशीति. । अथ सर्वसंक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिस्तद्बन्धे नरकद्विक वैक्रियचतुष्टयं चावश्य बन्धमानत्वात् सत्तायां प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीति. । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्चैकोननवतिरिह न प्राप्यते एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते न चातिर्यक्षु तीर्थकरनाम सम्भवति तीर्थकरनामसत्कर्मणां तिर्यक्षु चोत्पादाभावात् । षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव बोद्धव्या । तदेवमष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनत्रिंशत सङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति (नवसत्तिगुणतीसतीसम्मि) एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानायां प्रत्येक नव नव उदयस्थानानि सप्त च सत्तास्थानानि । तत्रोदयस्थानान्यमूनि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशति पञ्चविंशति. षड्विंशति सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदय.

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतम बध्नतापर्या-
प्तैकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां देवनैरयिका-
णां च । चतुर्विंशत्युदय पर्याप्तापर्याप्तैकेन्द्रियाणां पञ्च-
विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देवनैरयिकाणां वैक्रियतिर्य-
ग्मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनां, षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां प-
र्याप्तापर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां, सप्तविंशत्यु-
दयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देवनैरयिकाणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणा-
मष्टाविंशत्युदयः एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चे-
न्द्रियमनुष्याणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्यदेवनैरयिकाणां चात्रिंशदुदयः
विकलेन्द्रियमनुष्याणां देवानामुद्योतवेदकानामेकत्रिंशदुदयः प-
र्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदकानाम् । तथा दे-
वगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतो मनुष्याविरतसम्यग्दृष्टेरु-
दयस्थानानि पञ्च । तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशति-
रेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च
इमानि पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशति-
रष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंयतानां संयतासंयतानां
च वैक्रियं कुर्वतां मनुष्याणां त्रिंशद्वर्जानि चत्वार्युदयस्थानानि ।
त्रिंशत्कस्मान्न भवति इति चेत् उच्यते संयतान्मुक्त्वा अन्येषां मनु-
ष्याणां वैक्रियमपि कुर्वतामुद्योतोदयाभावात् । सामान्येनैकोनत्रिं-
शद्बन्धे सप्त सत्तास्थानान्यमूनि तद्यथा द्विनवतिः द्विनवतिरे-
कोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । तत्र विक-
लेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्तापर्या-
प्तैकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये च वर्त-
मानानां पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षड-
शीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विं-
शत्युदयेष्वपि वक्तव्यम् । सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंश-
देकत्रिंशदुदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्था-
नानि भावनीयानि । यथा त्रयोविंशतिबन्धकानां प्रागुक्ता । तथा
अत्रापि वक्तव्या मनुजगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रि-
यविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्गतिमनुष्यगतिप्रायोग्य
पुनर्बध्नतां मनुष्याणां च स्वोदयस्थानेषु यथायोगं वर्तमानाना-
मष्टसप्ततिवर्जानि तान्येव चत्वारि सत्तास्थानानि वेदितव्यानि ।
देवनैरयिकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंश-
तं बध्नतां स्वस्वोदयेषु वर्तमानानां द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा
द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । केवलं नैरयिकस्य मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरस-
त्कर्मणो मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः स्वोदयेषु पञ्च-
सु यथायोगं वर्तमानस्यैकोननवतिरेवैका वक्तव्या यतस्तीर्थक-
रनामसहितस्याहारकचतुष्टयरहितस्यैव मिथ्यात्वगमनासम्भव
" उभयसंति उ न मिच्छो " इति वचनात् ततस्त्रिनवतेराहारक-
चतुष्केऽपनीते सत्येकोननवतिरेव तस्य सत्तायां भवति देवग-
तिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नत पुनरवि-
रतस्य सम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्यैकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्ता-
स्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एवं पञ्चविंशतिषड्विं-
शतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे
द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । आहारकसंयतानां पुनः स्वस्वो-
दये वर्तमानानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानमवगन्तव्यं
तदेवं सामान्येनैकविंशत्युदये सप्त सत्तास्थानानि चतुर्विंश-
त्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये सप्त, सप्तविं-
शत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदु-
दये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् स-
त्तास्थानानि । तथा तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रि-
यविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजदेवनैरयिकाणामुदयस्थाना-
नि भावितानि तथा त्रिंशतमप्युद्योतसहितां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां
बध्नतामेकेन्द्रियादीनामुदयसत्तास्थानानि भावनीयानि । मनुष्य-
गतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां देवनैरयिका-
णामुदयसत्तास्थानान्युच्यन्ते तत्र देवस्य यथोक्तां त्रिंशतं बध्न-
त एकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने त्रिनवतिरेकोननव-
तिश्च । एकविंशत्युदये वर्तमानस्य नैरयिकस्यैकं सत्तास्थान-
मेकोननवतिस्त्रिनवतिरूपं तस्य सत्तास्थानं न भवति तीर्थकरा-
हारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् । उक्तं च चूर्णौ " जस्स
तित्थगराहारगाणि जुगवं संति सो नेरइएसु न उववज्जइ " इति
एवं पञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि भा-
वनीयं नवरं नैरयिकस्य त्रिंशदुदयो न विद्यते त्रिंशदुदयो
हि उद्योते सति प्राप्यते न च नैरयिकस्योद्योतोदयो भवति
तदेवं सामान्येन त्रिंशद्बन्धकानामेकविंशत्युदये सप्त चतुर्विंशत्यु-
दये पञ्च पञ्चविंशत्युदये सप्त षड्विंशत्युदये पञ्च सप्तविंशत्यु-
दये षट् अष्टाविंशत्युदये षट् एकोनत्रिंशदुदये षट् त्रिंशदुदये षट्
एकत्रिंशदुदये चत्वारि सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशत् (एगेगमेगती-
सत्ति) एकत्रिंशति बध्यमानायामेकमुदयस्थानं त्रिंशत् यत
एकत्रिंशतं देवगतिप्रायोग्यां तीर्थकराहारकद्विकसहितां बध्नतो-
ऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा प्राप्यते न च ते वैक्रियमाहारकं
वा कुर्वन्ति ततः पञ्चविंशत्यादय उदया न प्राप्यन्ते इति एकं स-
त्तास्थानम् त्रिनवतिः तीर्थकराहारकचतुष्टये एव सत्तासम्भवा-
त् (एगे एगुदय अट्ठसत्तम्मि) एकस्मिन् यशःकीर्तिरूपे कर्मणि
बध्यमाने एकमुदयस्थानं त्रिंशत् एका हि यशःकीर्तिं बध्नाति
अपूर्वकरणादयस्ते चातिविशुद्धत्वाद्वैक्रियमाहारकं वा नारभन्ते
ततः पञ्चविंशत्यादीन्युदयस्थानानीहापि न प्राप्यन्ते अष्टौ सत्ता-
स्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः
अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्र यानि च-
त्वारि सत्तास्थानानि उपशमश्रेण्यामथवा क्षपकश्रेण्यां यावद-
निवृत्तिबादरगुणस्थाने गत्वा त्रयोदश नामानि न क्षीयन्ते त्रयो-
दशसु च नामसु क्षीणेषु नानाजीवापेक्षयोपरितनानि चत्वारि
लभ्यन्ते तानि च तावल्लभ्यन्ते यावत् सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम् ।
(उवरयबंधे दस दस वेयगसंतम्मि ठाणाणि) उपरते बन्धे
बन्धाभाव इत्यर्थः (वेयगत्ति) वेदनं वेदः वेद एव वेदकः
वेदे उदये इत्यर्थः सत्तायां च प्रत्येकं दश दश सत्तास्था-
नानि तथाऽमूनि दश उदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेक-
विंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्
त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्येकविंशती य-
थासंख्यमतीर्थकरतीर्थकरयोः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाय-
योगे वर्तमानयोः । षड्विंशतिसप्तविंशती तयोरेवौदारिकमिश्र-
काययोगे वर्तमानयोरेव तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्त-
स्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्तस्यैवोच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंश-
तिस्तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत् तस्यैव स्वरे निरुद्धे सति
त्रिंशत् उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत् एवं च द्विधा त्रिंशदे-
कोनत्रिंशतौ प्राप्येते । अयोगिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये
वर्तमानस्य नवोदयाः अतीर्थकरस्यायोगिनश्चरमसमये अष्टो-
दया दश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननव-
तिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव
अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने एकोनाशीतिः पञ्च-

सप्ततिश्च एवं षड्विंशत्यष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्या । एकविंशत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिश्च एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिरेकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च यत एकोनत्रिंशत्तीर्थकरस्यातीर्थकरस्य च भवति । तत्राद्ये द्वे तीर्थकरमधिकृत्य वेदितव्ये अन्तिमे द्वे अतीर्थकरमधिकृत्य । त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशान्तकषायस्य क्षपकस्य च त्रयोदशक न क्षीयतेऽन्यानि चत्वारि क्षीणत्रयोदशकस्य केवलिनो वा आहारकमनुक्रमेणस्तीर्थकरस्याशीतिस्तस्यैवातीर्थकरस्यैकोनाशीतिः आहारकचतुष्टयरहितस्य तीर्थकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा षट्सप्ततिः तस्यैवातीर्थकरस्य पञ्चसप्ततिः । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिश्च तीर्थकरकेवलिनो वेदितव्ये अतीर्थकरकेवलिन एकत्रिंशदुदयस्यैवाभावात् । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिर्नव च तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयं तावदयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य वेदितव्ये चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिरष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अयोगिकेवलिनोऽतीर्थकरस्य द्विचरमसमयं यावत् वेदितव्ये चरमसमये त्वष्टाविति । एवं बन्धकस्य दशाप्युदयस्थानानि भवन्ति तदेवमुक्ता उत्तरप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः सवेधश्च ॥ सवेधस्वामित्वं गुणस्थानानि चाश्रित्य स्वामी निदर्श्यते ।

तत्रोक्तक्रमेणैवैषां जीवस्थानानि ।

तिविगप्पपगइठाणे-हिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥ ३५ ॥

त्रयो विकल्पा बन्धोदयसत्तारूपास्तेषां सम्बन्धीनि स्थानानि त्रिप्रकृतिस्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैर्जीवसञ्ज्ञितेषु गुणसञ्ज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः । भङ्गा पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः । कथमित्याह (जत्थ जहा संभवो भवइ) यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च यथा सम्भवो भवति यथा घटना भवति तत्र तथा प्रयोक्तव्या यो यत्र यथा भङ्गो घटते स तत्र तथा कर्त्तव्य इत्यर्थः ।

तत्र प्रथमजीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति ।

तेरससु जीवसंखे-वएसु नाणंतरायतिविगप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥३६॥

सङ्क्षिप्यन्ते सगृह्यन्ते जीवा एभिरिति सङ्क्षेपा अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरजातिभेदाः । जीवानां सङ्क्षेपा जीवसङ्क्षेपाः जीवस्थानानीत्यर्थः । पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु ज्ञानावरणान्तराययोर्बन्धोदयरूपास्त्रयो विकल्पास्तद्यथा पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता ज्ञानावरणान्तराययोर्ध्रुवबन्धोदयसत्ताकत्वात् (तिविगप्पो इति) द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात्पुस्त्वनिर्देशः (एगम्मि तिदुविगप्पो) एकस्मिन् पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो विकल्पा भवन्ति द्वौ वा विकल्पौ । तत्र त्रयो विकल्पा इमे पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । एते च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते ततः परं बन्धच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ तद्यथा पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता अत्रान्यो भङ्गो न सम्भवति उदयसत्तयोर्युगपत् व्यवच्छेदात् (करणं पइ एत्थ अविगप्पोत्ति) इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य सञ्ज्ञिनो न भवन्ति द्रव्यमनःसम्बन्धात् पुनस्तेऽपि सञ्ज्ञिनोऽव्यवह्रियन्ते उक्तं च चूर्णौ "मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चंति मणोविन्नाणं पडुच्च तेन सन्निणो हवंति त्ति " ततः करणं द्रव्यमनो रूपं प्रतीत्य यः सञ्ज्ञी सयोगिकेवली या भवस्थस्तस्मिन् । अत्र ज्ञानावरणेऽन्तराये च अविकल्पानामभाव । आमूलं तदुच्छेदे सति केवलित्वभावात् ।

सम्प्रति दर्शनावरणं जीवस्थानेषु चिन्तयति

तेरे नव चउपणगं, नव संतेगम्मि भंगमिक्कारा ।
वेअणिअआउगोए, विभज्ज मोहं परं वुच्छं ॥ ३७ ॥

पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्धश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्तेत्येतौ द्वौ विकल्पौ (एगम्मि भंगमिक्कारसि) एकस्मिन् पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गास्ते च तथा प्राक् सामान्येन संवेधचिन्तायामुक्तास्तथैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्याः (वेअणिअआउगोए विभज्जत्ति) वेदनीये आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथाक्रमं जीवस्थानेषु विभजेत् विकल्पयेत् । तत्र वेदनीयगोत्रयोर्विकल्पनिरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा

पज्जत्तगसन्नियरे, अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा ।
सत्तयतिगं च गोए, पत्तेयं जीवठाणेसु ॥ ३७ ॥

पर्याप्ते सञ्ज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भङ्गास्तद्यथा असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति गुणस्थानकं यावत् न परतः परतोऽसातस्य बन्धाभावात् । तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती । एतौ च अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती । एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदयः सातस्य सत्तेति सर्वसङ्ख्यया अष्टौ भङ्गाः । इह सयोगिकेवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात्सञ्ज्ञी व्यवह्रियते ततः सञ्ज्ञिनि पर्याप्ते वेदनीयस्याष्टौ भङ्गा उच्यमाना न विरुद्ध्यन्ते इतरेषु पर्याप्तसञ्ज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गा भवन्ति तद्यथा असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती "सत्तय तिगं च गोए" इति गोत्रे सञ्ज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गा तद्यथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् एष विकल्पस्तेजोवायुभवादुद्धृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसञ्ज्ञित्वेनोत्पन्ने कियत्कालं प्राप्यते उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एतौ च विकल्पौ पर्याप्ते सञ्ज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ तत्र नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः परतो

नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष च विकल्प सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावदवसेय परतो बन्धाभावात् । उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती । एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिनि द्विचरमसमय यावद्वाप्यते । उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्र सत् एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये इतरेषु पुन पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येक त्रयस्त्रयो भङ्गास्तद्यथा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय नीचैर्गोत्र सत् । अय च विकल्पस्तेजोवायुषु उच्चैर्गोत्रोद्वलनानन्तर सर्वकाल तेजोवायुभवादुद्वृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिषु कियत्कालं प्राप्यते नान्येषु । तथा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्चनीचैर्गोत्रे सती शेषा विकल्पा न सम्भवन्ति तिर्यगुच्चैर्गोत्रस्योदयाभावात् ।

सम्प्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा

पज्जत्ता पज्जत्तग-समणा पज्जत्त अमणसेसेसु ।
अट्ठावीस दसग, नवग पणग च आउस्स ॥ ३९ ॥

समना संज्ञी तत्र पर्याप्ते संज्ञिन्यायुषो भङ्गा अष्टाविंशति । अपर्याप्ते संज्ञिनि भङ्गानां दशक पर्याप्ते अमनसि असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गानां नवक शेषेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गानां प्रत्येक पञ्चकमिति । तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गा । नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायु सत् अय परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्ध नरकायुष उदय नरकतिर्यगायुषी सती । अथवा मनुष्यायुषो बन्ध नरकायुष उदय नरकमनुष्यायुषी सती । अथवा नरकायुष उदय नरकमनुष्यायुषी सती । इह नारका देवायुर्नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति तत्रोत्पत्त्यभावात् । ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसंख्यया पञ्च विकल्पा । एव देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीया नवरं नारकायु स्थाने देवायुरिति वक्तव्यम् तद्यथा देवायुष उदय देवायुष सत्ता इत्यादि । तथा तिर्यगायुष उदय तिर्यगायुष सत्ता अय विकल्प परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदय नरकतिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदय तिर्यक्तिर्यगायुषी सती । अथवा मनुष्यायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदय मनुष्यतिर्यगायुषी सती । अथवा देवायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदय देवतिर्यगायुषी सती परभवायुर्बन्धोत्तरकाल तिर्यगायुष उदयो नरकतिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्तिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती अथवा तिर्यगायुष उदय देवतिर्यगायुषी सती । सर्वसंख्यया संज्ञिपर्याप्ततिरश्चां नव विकल्पा । एव मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीया केवल तिर्यगायु स्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम् । तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुष सत्ता इत्यादि । तदेव सर्वसंख्यया संज्ञिनि पर्याप्ते अष्टाविंशतिर्भङ्गा अपर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो दश भङ्गास्ते च इमे तिर्यगायुष उदय तिर्यगायुष सत्ता अय विकल्प परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदय तिर्यक्तिर्यगायुष सत्ता । अथवा मनुष्यायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती परभवायुर्बन्धोत्तरकाल तिर्यगायुष उदय तिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती । एव तिरश्चोऽपर्याप्तसंज्ञिनः पञ्च भङ्गाः एव मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्या । सर्वसंख्यया दश शेषा न भवन्ति । अपर्याप्तो हि संज्ञी तिर्यग्मनुष्यो वा न देवनारकौ नचापि स देवायुर्नरकायुर्वा बध्नाति ततो दशैव यथोक्ता भङ्गा । तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चा नव भङ्गा उक्तास्ते एवासंज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्या ततोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादि ततोऽत्र तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते । तथा ये पर्याप्तसंज्ञितिरश्चा पञ्च भङ्गा प्रागुक्तास्त एव भङ्गा शेषेष्वप्येकादशसु जीवस्थानेषु वक्तव्या सर्वेषामपि तिर्यक्त्वात् देवादिपूत्पादाभावाच्च ।

(मोह परं वोच्छं ति) अत पर मोहनीय जीवस्थानेषु वक्ष्ये ।

अट्ठसु पंचसु एगे, एगदुगं दस य मोहबंधगए ।
तिग चउ नव उदयगए, तिगतिगपन्नरस संतम्मि ॥४०॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रममेक द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानि स्थानानि भवन्ति तत्राष्टसु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादरद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु एक बन्धस्थान द्वाविंशतिरूपम् । द्वाविंशतिश्चेय मिथ्यात्व षोडश कषाया त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलं भय जुगुप्सा चेति । अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्या षट् भङ्गा भवन्ति पर्याप्तबादरद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने तद्यथा द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशति प्रागिव सप्तभेदा वक्तव्या सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशति सा च केषांचित् करणापर्याप्तावस्थायां सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषा शेषकाले वा । अत्र चत्वारो भङ्गा यत इह नपुंसकवेदो न बन्धमायाति मिथ्यात्वोदयाभावात् नपुंसकवेदस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् ततो द्वाभ्यां वेदाभ्यां युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गा एकस्मिंश्च पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनि दश बन्धस्थानानि तानि च प्राग्वत्सप्तभेदानि वक्तव्यानि "तिग चउनवउदयगिहे" इति यथोक्तरूपेष्वष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येक त्रीणि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । यत्तु सप्तकमुदयस्थानमनन्तानुबन्ध्युदयरहित तन्न प्राप्यते तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात् वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद एव, न स्त्रीवेदपुरुषवेदौ । ततोऽष्टोदये मिथ्यात्व क्रोधादीनामन्यतमाश्चत्वार क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरत् युगलमित्येवरूपैश्चतुर्भि क्रोधादिभिर्द्वाभ्या च युगलाभ्यां भङ्गा अष्टौ एष भये वा जुगुप्सायां वा प्राप्ताया नवोदय । अत्रैकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गा अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसंख्यया नवोदये भङ्गा षोडश । जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्दशोदय अत्र भङ्गा अष्टौ । सर्वसंख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येक द्वात्रिंशद्भङ्गा । तथा उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येक चत्वारि चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सासादनकाले एकविंशतिबन्धे सप्ताष्टनवरूपाणि त्रीणि उदयस्थानानि वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेदस्ततोऽन्यतमे चत्वार क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरयुगलमिति । सप्तोदय एकविंशतिब धे ध्रुव अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततो भये जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदय अत्राष्टावेव भङ्गा सर्वसंख्यया सासादनभावे भङ्गा द्वात्रिंशत् सासादनभावाभावे द्वाविंशतिबन्धे पुन त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । एतानि प्रागिव भावनीयानि चूर्णिकारस्त्वसंज्ञिन्यपि लब्धपर्याप्तिके त्रीन् वेदान् यथायोगमुदयप्राप्तानि-

ध्नाति ततस्तन्मतेन तस्य द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे च प्रत्येकमेकैकस्मिन् सप्तादौ उदयस्थाने त्रिभिर्भङ्गैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गा। अवसेयाः । एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने नवोदयस्थानानि तानि च प्रागिव सप्तभेदानि वक्तव्यानि (तिगतिगपन्नरस संतम्मित्ति) अष्टसु पूर्वोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । पञ्चस्वपि चोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु तान्येव त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिनि पञ्चेन्द्रियरूपे जीवस्थाने पुनः पञ्चदश सत्तास्थानानि तानि च प्रागिव सप्तभेदानि वक्तव्यानि। सम्प्रति संवेध उच्यते। तत्राष्टसु जीवस्थानेषु द्वाविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । एकैकस्मिन् उदयस्थाने त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । सर्वसंख्यया नव सत्तास्थानानि एवमुक्तरूपेषु । जीवस्थानेषु द्वे द्वे बन्धस्थाने तद्यथा द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिबन्धे प्रागुक्तान्येव त्रीण्युदयस्थानानि एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने तान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि एकविंशतिबन्धे अमूनि त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव । एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने एकैकं सत्तास्थानमष्टाविंशतिः । एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते सासादनाश्चावश्यमष्टाविंशतिसत्कर्माणस्तेषां दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात्। ततः तेषु सत्तास्थानमष्टाविंशतिः एकविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि द्वाविंशतिबन्धे च नव इति। सर्वसंख्यया पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति एकस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते पुनर्जीवस्थाने संवेधः प्रागुक्त एव सप्रपञ्चो द्रष्टव्यः । कर्म० ६ क० ।

सम्प्रति नामकर्मजीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह ॥

पणदुगपणगं पणचउ-पणगं पणगा हवंति तिन्नेव ।
पणछप्पणगं छच्छ-प्पणगं अट्टट्ठदसग त्ति ॥ ४१ ॥
सत्तेव अपज्जत्ता, सामी सुहुमा य बायरा चेव ।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ,तह य असन्नी य सन्नी य ।४२।

अनयोर्गाथयोः पदानां यथाक्रमं संबन्धस्तद्यथा " पणदुगपणगंति सामी सत्तेव अपज्जत्ता " बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानां यथाक्रमं पञ्चकं द्विकं पञ्चकं च प्रतिस्वामिनः सप्तैवापर्याप्ताः । इयमत्र भावना सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि द्वे द्वे उदयस्थाने पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तत्र बन्धस्थानान्यमूनि त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् अपर्याप्ता हि सर्वेऽपि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न देवनरकप्रायोग्यं ततो यथोक्तान्येवेह बन्धस्थानानि प्राप्यन्ते न न्यूनाधिकानि च । तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणि प्रागिव सप्रपञ्चं वक्तव्यानि उदयस्थाने पुनरपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रिययोरिमे एकविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्रापर्याप्तबादरस्यैकविंशतिरियं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी तैजसकार्मणागुरुलघुवर्णादिचतुष्टयमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम स्थिरास्थिरे शुभाशुभे दुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिर्निर्माणमिति— एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते अत्र च एक एव भङ्गः उभयोरपि तस्यामेकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयेऽपि प्रक्षिप्ते तिर्यगानुपूर्व्यां चापनीतायां चतुर्विंशतिः। अत्र प्रत्येकसाधारणाभ्यां सूक्ष्मापर्याप्तस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ तदेवं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वयोरपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः। विकलेन्द्रियासंज्ञिसंज्ञ्यपर्याप्तानां प्रत्येकमिमे द्वे द्वे उदयस्थाने तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरपर्याप्तद्वीन्द्रियाणामिदं तैजसं कार्म्मणमगुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्म्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिरिति एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्यावसेया । अत्र सर्वाण्यपि पदान्यप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः ततः शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिर्भवति। अत्राप्येक एव भङ्गः । एवं त्रीन्द्रियादीनामप्यवगन्तव्यं नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियजातिरित्युच्चारणीयं तदेवमपर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वौ द्वौ भङ्गौ वेदितव्यौ केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वारः यतो द्वौ भङ्गावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्च प्राप्येते द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति प्रत्येकं सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः रष्टसप्ततिश्च । एतेषां च स्वरूपं प्रागिव द्रष्टव्यम् " पणचउपणगंति सुहुमा " इति संबध्यते सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि च तिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्याण्येव द्रष्टव्यानि तत्रैव सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्पादसंभवात् । एतेषां च स्वरूपं प्रागिव सप्रपञ्चं द्रष्टव्यम् । उदयस्थानानि चत्वारि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः । तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणमगुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिरिति । एषा चैकविंशतिः सूक्ष्मपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य वेदितव्या । अत्रैको भङ्गः प्रतिपक्षपदविकल्पस्यैकस्याप्यभावात् । अस्यामेवैकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातं प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते पञ्चविंशतिः तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति । सा च शरीरस्थस्य प्राप्यते तत्र प्रत्येकसाधारणाभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिरत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया सूक्ष्मपर्याप्तस्य चत्वार्युदयस्थानान्यधिकृत्य भङ्गाः सप्त पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । केवलं पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं यः साधारणपदेन सह भङ्गस्तत्राष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि। शरीरपर्याप्त्या हि पर्याप्तस्तेजोवायुवर्जः सर्वोऽपि मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ नियमात् बध्नाति पञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयौ च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य भवतः ततः साधारणस्य सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये चाष्टसप्ततिर्न प्राप्यते प्रत्येकपदे पुनस्तेजोवायुकायिकावप्यन्तर्भवन इति तदपेक्षया तत्राष्टसप्ततिर्लभ्यते । तदेवं साधारणपदानुगौ पञ्चविंशतिसत्कौ द्वौ भङ्गौ चतुःसत्तास्थानकौ शेषास्तु पञ्च भङ्गाः पञ्च सत्तास्थानकाः " पणगाहि वंति तिन्नेव" अत्र बादरा इति संबध्यते पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणि तानि च प्रागिव

रूपव्यानि । उदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः । तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणं गुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्व्यां एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयमयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तबादरस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया । अत्र यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति । अत्र प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । वैक्रियं कुर्वतः पुनर्बादरवायुकायिकस्यैकः यतस्तस्य साधारणयशःकीर्ती उदयं नागच्छतः । अन्यच्च वायुकायिकचतुर्विंशतावौदारिकशरीरस्थाने वैक्रियशरीरमिति वक्तव्यं शेषं तथैव सर्वसंख्यया चतुर्विंशतौ पञ्च भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रक्षिप्ते पञ्चविंशतिरत्रापि तथैव पञ्च भङ्गास्ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिः । अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते आतपोद्योतान्यतरस्मिंश्चोदिते षड्विंशतिः । अत्रातपेन प्रत्येकयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ साधारणस्यातपोदयाभावात् तदाश्रितौ विकल्पौ न भवतः । उद्योतेन प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः सर्वसंख्यया षड्विंशतावेकादश भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायां षड्विंशतावातपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सप्तविंशतिः । अत्र प्रागिवातपेन द्वौ उद्योतेन सह चत्वार इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतौ षड् भङ्गाः सर्वे बादरपर्याप्तस्य भङ्गा एकोनत्रिंशत् सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । इह पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकायशःकीर्तिभ्यामेकैको द्वौ भङ्गौ यौ च द्वौ भङ्गावेकविंशतौ ये च वैक्रियबादरवायुकायिकवर्जाश्चतुर्विंशतौ भङ्गाश्चत्वारस्ते सर्वेऽपि संख्ययाऽष्टौ पञ्चसत्तास्थानकाः शेषास्त्वेकविंशतिसंख्याकाश्चतुःसत्तास्थानकाः । "पणउप्पणगति" अत्र "विगलिंदिया उ तिन्नि उ" इति सम्बध्यते विकलेन्द्रियाणां त्रयाणां पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतान्यपि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणि तानि च प्रागिव रूपव्यानि षट् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्र पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणमगुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमिति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया अत्र द्वौ भङ्गौ यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां ततः शरीरस्थस्यौदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिर्भवति । अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते अप्रशस्तविहायोगतौ प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ अत्रापि तस्यामेवाष्टाविंशतावुच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्र भङ्गाः सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः । अथवा उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशत् अत्रोद्योतयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया त्रिंशति षड् भङ्गाः । स्वरसहितायामेव त्रिंशत् । अत्र सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्भङ्गाश्चत्वारः सर्वसंख्यया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भङ्गा विंशतिः सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । अत्र यावेकविंशत्युदये द्वौ भङ्गौ यौ च षड्विंशत्युदये एते चत्वारः पञ्च सत्तास्थानकाः यतोऽष्टसप्ततिस्तेजोवायुभवादुद्धृत्य पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नानधिकृत्य कियत्कालं प्राप्यते शेषास्तु षोडश भङ्गाश्चतुःसत्तास्थानकास्तेष्वष्टसप्ततेरप्राप्यमाणत्वात् । तेजोवायुवर्जा हि शरीरपर्याप्त्या नियमतो मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नन्ति ततः सप्तविंशत्युदयेष्वष्टसप्ततिर्न प्राप्यते एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् (छच्चप्पणग ति) अत्र "असन्नी य" इति सम्बध्यते असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य षड् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि पर्याप्ता नरकगतिदेवगतिप्रायोग्यमपि बध्नन्ति ततस्तेषामष्टाविंशतिरपि बन्धस्थानं लभ्यते षडुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणं गुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयं निर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमिति एषा चैकविंशतिरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः ततः शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत् संहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिः । अत्र षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः अत्र पाश्चात्या एव भङ्गा विहायोगतिद्विकेन गुण्यन्ते ततो भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् । अत्रापि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योते तूदिते एकोनत्रिंशत् । अत्रापि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भङ्गानां सर्वसंख्यया एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवन्ति । अत्र पाश्चात्यान्युच्छ्वासलब्धानि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सुस्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततः एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि भवन्ति । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवन्ति अत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसंख्यया त्रिंशति भङ्गाः सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद्भवति अत्र भङ्गानामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि सर्वसंख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशच्छतानि चतुरधिकान्यस-

ज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च वैक्रियलब्धिहीनत्वात् वैक्रिय नारभन्ते तत-स्तदाश्रिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवति· अष्टाशीति षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च तत्रैकविंशत्युदयसत्का अष्टौ भङ्गाः षड्विंशत्युदयसत्काश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसंख्याः पञ्च सत्तास्थानका· शेषा· सर्वेऽपि चतु·स्थानका· । युक्तिरत्र प्रागुक्ता दृष्टव्या (अट्ठछदसग ति) संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य सर्वाणि बन्धस्थानानि तानि चाष्टौ विंशतिचतुर्विंशतिनवाष्टरहितानि सर्वाण्यप्युदयस्थानानि तान्यप्यष्टौ विंशतिनवाष्टोदया हि केवलिनो भवन्ति चतुर्विंशत्युदयश्चैकेन्द्रियाणामत एते वर्ज्यन्ते । अत्र केवली संज्ञित्वेन न विवक्षित इति कृत्वा तदुदयनिषेधो नवाष्टरहितानि सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि तानि च दश अत्राप्येकविंशत्युदयभङ्गा अष्टौ षड्विंशत्युदयभङ्गाश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसंख्या· पञ्च सत्तास्थानकाः शेषाश्चतु सत्तास्थानका· । सम्प्रति संवेधश्चिन्त्यते । सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीति· षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एव चतुर्विंशत्युदयेऽपि सर्वसंख्यया दश एव पञ्चविंशति षड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य प्रत्येक दश दश सत्तास्थानानि अवगन्तव्यानि सर्वसंख्यया पञ्चाशत् । एवमन्येषामपि षण्णामपर्याप्तानां भावनीयं नवरमात्मीये आत्मीये उदयस्थाने प्रागुक्तस्वरूपे वक्तव्ये सूक्ष्मपर्याप्तविंशतिबन्धकानामेकविंशत्यादिषु चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया विंशतिः एवं पञ्चविंशति· षड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्य तत· सूक्ष्मपर्याप्तानां सर्वसंख्यया सत्तास्थानानां शत बादरैकेन्द्रियपर्याप्ताना त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशतिचतुर्विंशतिषड्विंशत्युदयेषु पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सप्तविंशत्युदये चत्वारि सर्वसंख्यया चतुर्विंशति एव पञ्चविंशति षड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि प्रत्येक चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशति· सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां विंशतिशतं सत्तास्थानानाम् । द्वीन्द्रियपर्याप्तकानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकत्रिंशदुदयेषु प्रत्येक चत्वारि चत्वारि सर्वसंख्यया षड्विंशतिः । एवं पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानां प्रत्येक षड्विंशतिः षड्विंशति सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया त्रिंशच्छतम् । एवं त्रयाणां चतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये च प्रत्येक पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशदुदयेषु तु चत्वारि चत्वारीति सर्वसंख्यया षड्विंशतिः । पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । अष्टाविंशतिबन्धकानां पुनस्तेषां द्वे एवोदयस्थाने तद्यथा त्रिंशदेकत्रिंशच्च तत्र प्रत्येक त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या ततस्तस्यां बध्यमानायामवश्य वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते इत्यशीत्यष्टसप्तती न प्राप्येते सर्वसंख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्त्रिंशदधिक सत्तास्थानानां शत पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां प्रागिव षड्विंशति सत्तास्थानानि वाच्यानि । एव पञ्चविंशतिबन्धकानामपि नवर देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च एते एव द्वे पञ्चविंशतिषड्विंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्ये त्रिंशदुदये चत्वारि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । एतेषा च भावना प्रागेवाष्टाविंशतिबन्धे संवेधचिन्तायां विस्तारेण कृतेति न भूय· क्रियते विशेषाभावात् ग्रन्थगौरवभयाच्च । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीति· षडशीतिश्च । सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धकानामेकोनविंशति· सत्तास्थानानि एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि तानि च त्रिंशत् नवरमत्र विशेषो भण्यते अविरतसम्यग्दृष्टेर्देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नतः एकविंशतिषड्विंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने भवत· । तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च वैक्रियसयतासयतान—धिकृत्य ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । अथवाऽऽहारकसंयतानधिकृत्य पञ्चविंशत्युदये च त्रिनवति· नैरयिक तीर्थकरसत्कर्माण मिथ्यादृष्टिमधिकृत्यैकोननवति· । सर्वाणि चतुर्दश सर्वसंख्ययैकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि चतुश्चत्वारिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि तानि च त्रिंशत्, केवलं देवानां मनुजगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतामेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिश्च एतानि च द्वादश ततः सर्वसंख्यया त्रिंशद्बन्धकानां द्विचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि एकत्रिंशद्बन्धकानामष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीति षडशीतिः एकोनाशीति षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामथवा क्षपकश्रेण्यां यावन्नाद्यापि त्रयोदश नामानि क्षीयन्ते तेषु तु क्षीणेषु उपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि लभ्यन्ते बन्धाभावे संज्ञिपर्याप्तानामष्टौ सत्तास्थानानि तानि च अनन्तरोक्तान्येव दृष्टव्यानि केवलमाद्यानि चत्वारि क्षीणमोहगुणस्थाने तदेव सर्वसंख्यया संज्ञिपर्याप्तानां द्वे सत्तास्थानानामष्टाधिके । यदि पुनर्द्रव्यमनोभिः सम्बन्धादत्र केवलिनोऽपि संज्ञिनो विवक्ष्यन्ते तदानीं केवलिसत्कानि षड्विंशतिसत्तास्थानान्यपि भवन्ति तद्यथा केवलिनां दश उदयस्थानानि तद्यथा विंशति· एकविंशति षड्विंशति सप्तविंशतिः अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने तद्यथा एकोनाशीति पञ्चसप्ततिश्च । एते एव षड्विंशत्युदयाष्टाविंशत्युदययोरपि प्रत्येक दृष्टव्ये एकविंशत्युदयेऽपि इमे द्वे सत्तास्थाने अशीति· षट्सप्ततिश्च ते एव सप्तविंशत्युदयेऽपि एकोनत्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि । तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीति· पञ्चसप्ततिश्च । एकोनत्रिंशदुदयो हि तीर्थकरे अतीर्थकरे च प्राप्यते तत्र तीर्थकरमधिकृत्य द्वे द्वे सत्तास्थाने अतीर्थकरमधिकृत्य पुनरन्तिमे त्रिंशदुदये चत्वारि पूर्वोक्तानि एव एकत्रिंशदुदये द्वे अशीति षट्सप्ततिश्च । नवोदये त्रीणि तद्यथा अशीति· षट्सप्तति नव च । तत्राद्ये द्वे तीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमय यावत् चरमसमये त्वष्टाविति सर्वसमुदायेन संज्ञिनां चतुस्त्रिंशदधिके द्वे शते सत्तास्थानानां तदेव जीवस्थानान्यधिकृत्य स्वामित्वमुक्तम् ।

सम्प्रति गुणस्थानान्यधिकृत्याह ।

नाणंतरायतिविहम--वि दससु दो होंति दोसु ठाणेसु ।
मिच्छासाणे बीए, नव चउपण नव य संतंसा ॥ ४६ ॥

मनुष्याणां च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भङ्गो न प्राप्यते इति षड्विंशतिः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेः षोडश सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि आयुर्बन्धमारभन्ते ततः आयुर्बन्धकाले नारकाणां यौ द्वौ भङ्गौ ये च तिरश्चां चत्वारो ये च मनुष्याणामपि चत्वारः यौ च देवानां द्वौ तानेतान् द्वादश वर्जयित्वा शेषाः षोडश भवन्ति अविरतसम्यग्दृष्टेर्विंशतिर्भङ्गाः कथमिति चेदुच्यते तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले ये नरकतिर्यग्मनुष्यगतिविषयास्त्रयस्त्रयो भङ्गाः यश्च देवनैरयिकाणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले तिर्यग्गतिविषय एकैको भङ्गः तानविरतसम्यग्दृष्टयो न बध्नन्ति तत शेषा विंशतिरेव भवन्ति । देशविरतेर्द्वादश भङ्गा यतो देशविरतिस्तिर्यग्मनुष्याणामेव भवति ते च तिर्यग्मनुष्या देशविरता आयुर्बध्नन्तो देवायुरेव बध्नन्ति न शेषमायुस्ततस्तिरश्चां मनुष्याणां च प्रत्येक परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वमेकैको भङ्ग परभवायुर्बन्धकालेऽपि चैकैक आयुर्बन्धोत्तरकाले च चत्वारश्चत्वारः । यतः केचित्तिर्यञ्चो मनुष्याश्चतुर्णामेकमन्यतमदायुर्बद्ध्वा देशविरतिं प्रतिपद्यन्ते ततस्तदपेक्षया यथोक्ताश्चत्वारो भङ्गा प्राप्यन्ते सर्वसङ्ख्यया द्वादश (छ दोसु त्ति) द्वयोः प्रमत्ताप्रमत्तयोः प्रत्येकं षट् भङ्गाः प्रमत्ताप्रमत्तसंयता हि मनुष्या एव भवन्ति तत आयुर्बन्धकालात् पूर्वमेकः आयुर्बन्धकालेऽप्येकः । प्रमत्ताप्रमत्ता हि देवायुरेवैकं बध्नन्ति न शेषमायुर्बन्धोत्तरकाले च प्रागुक्ता देशविरत्युक्तानुसारेण चत्वार इति (दो चउसु त्ति) चतुर्षु अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहरूपेषु गुणस्थानकेषूपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वमथवा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यदेवायुषी सती एष विकल्पः परभवायुर्बन्धोत्तरकालम् । एते ह्यायुर्न बध्नन्ति अतिविशुद्धत्वात् पूर्वबद्धायुषोऽपि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते देवायुष्येव नान्यायुषि तदुक्तं कर्मप्रकृतौ " तिसु आउगसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ " तत उपशमश्रेणिमधिकृत्य एतेषु द्वौ द्वावेव भङ्गौ पूर्वबद्धायुष्कास्तु न क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते तत उपशमश्रेणिमधिकृत्येत्युक्तं क्षपकश्रेण्यां त्वेतेषामेकैको भङ्गस्तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेति (तिसु इक्कति) त्रिषु क्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिरूपेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गस्तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता शेषा न सम्भवन्ति तदेवमायुषो गुणस्थानकेषु भङ्गा निरूपिता ।

सम्प्रति मोहनीयं प्रत्याह (मोह परं वुच्छं)
अतः परं मोहनीयं वक्ष्ये ।

गुणठाणगेसु अट्ठसु, एकेकं मोहबंधठाणं तु ।
पंचानियट्टिठाणा, बंधोवरमो परं तत्तो ४८ ॥

मोहनीयसत्कबन्धस्थानेषु मध्ये एकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु भवति तद्यथा मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिः सासादनस्यैकविंशतिः सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्च प्रत्येकं सप्तदश देशविरतस्य त्रयोदश प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां प्रत्येकं नव नव । एतानि च द्वाविंशत्यादीनि नवपर्यन्तानि नव बन्धस्थानानि प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानीति न भूयो भाव्यन्ते विशेषाभावात् केवलमप्रमत्तापूर्वकरणयोर्भङ्ग एकैक एव वक्तव्य अरतिशोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छेदात् । प्राक् प्रमत्तापेक्षया नवकबन्धस्थाने द्वौ भङ्गौ दर्शितौ (पञ्चानियट्टिठाणे) अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके पञ्चबन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च प्रकृतिरिति । ततोऽनिवृत्तिस्थानात् परं सूक्ष्मसम्परायादौ बन्धोपरमो बन्धाभावः ।

सम्प्रत्युदयस्थानप्ररूपणार्थमाह ।

सत्ताइ दस उ मिच्छे, सासायणमीसए नवुक्कोसो ।
छाई नव उ अविरई, देसे पंचाइ अट्ठेव ॥ ४९ ॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्च पुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण, एको व दुवे व उदयंसा ॥ ५० ॥
एगं सुहुमसरागो, वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भंगाण च पमाणं, पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ५१ ॥

मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः । अत्र चतुर्भिः कषायैस्त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां भङ्गाश्चतुर्विंशतिस्तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वाऽनन्तानुबन्धिनि च प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सयोरथवा भयानन्तानुबन्धिनोर्यद्वा जुगुप्सानन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिषु युगपत्प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः । सासादने मिश्रे च सप्तादीनि नवोत्कर्षाणि नवपर्यन्तानि त्रीणि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव अत्र सासादने अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्हि युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः अत्र प्रागिवैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः । तत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु प्रक्षिप्तयोर्नवोदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसङ्ख्यया सासादने चतस्रश्चतुर्विंशतयः मिश्रे अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं मिश्रमिति सप्तानां प्रकृतीनामुदयो ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसङ्ख्यया मिश्रेऽपि चतस्रश्चतुर्विंशतयः (छाई नव उ अविरए त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टौ षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति षण्णां प्रकृतीनामुदयोऽविरतस्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयोऽत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सयोर्भयवेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत् प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सयोर्वेदकसम्यक्त्वे च युगपत्प्रक्षिप्ते नवानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसङ्ख्यया अविरतसम्यग्दृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः । (देसे पञ्चाइ अट्ठेव) देशे देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि च-

त्वारि उदयस्थानानि तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति पञ्चानां प्रकृतीनामुदयो देशविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा भवति । अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिस्ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते षण्णामुदयः अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोर्युगपज्जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोर्भयवेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत्प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोर्वेदकसम्यक्त्वे च युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया देशविरतेऽष्टौ चतुर्विंशतयः । तथा विरते प्रमत्ते अप्रमत्ते चेत्यर्थः विरतो हि द्वेधा प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च क्षायोपशमिकादिभेदात्त्रिधा विवक्ष्यते ततश्च प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकं चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकं संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति चतसृणां प्रकृतीनामुदयः । अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सयोर्जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोर्भयवेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकमष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः (इय पुनरम्मि) अपूर्वकरणे चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा चतस्रः पञ्च षट् तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयोऽपूर्वकरणे ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां वा पञ्चानामुदयः अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भयजुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया अपूर्वकरणे चतस्रश्चतुर्विंशतयः अनिवृत्तिबादरे पुनरेको द्वौ वा उदयाः उदयभेदा उदयस्थाने इत्यर्थः अत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतम एकः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः इति द्विकोदयः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः । ततो वेदोदयव्यवच्छेदे एकोदयः स च चतुर्विधबन्धे त्रिविधबन्धे द्विविधबन्धे एकविधबन्धे च प्राप्यते । तत्र यद्यपि प्राक् चतुर्विधबन्धे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयः द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एक इति दश भङ्गाः प्रतिपादितास्तथाप्यत्र सामान्येन चतुर्विधैकत्वविवक्षया चत्वार एव भङ्गा विवक्ष्यन्ते (एगं सुहुमसरागे वेय इति) सूक्ष्मसम्पराये बन्धाभावे एकं किट्टीकृतसंज्वलनलोभं वेदयते अत्रैक एव भङ्गः एवमेकोदयभङ्गाः सर्वसंख्यया पञ्च । तथा शेषा उपरितना उपशान्तमोहादयः सर्वेऽप्यवेदकाः "भगाण च पमाण" मित्यादि तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु उदयस्थानभङ्गानां प्रमाणं पूर्वोद्दिष्टेन पूर्वोक्तेन प्राक् सामान्योक्तमोहनीयोदयस्थानचिन्ताधिकारोक्तेन प्रकारेण ज्ञातव्यम् ।

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादीन्यधिकृत्य दशादिष्वेकपर्यवसानेषु भङ्गसंख्यानिरूपणार्थमाह ।

एक्कगछक्किक्कारि–क्कारस एक्कारसे व नव तिन्नि ।

एए चउवीसगया, बारदुग पंच एक्कम्मि ॥५२॥

इह दशादीनि चतुरन्तानि उदयस्थानान्यधिकृत्य यथासंख्यमेकादिसंख्यापदयोजना कर्त्तव्या सा चैवं दशोदये एका चतुर्विंशतिः नवोदये षट् । तत्र मिथ्यादृष्टौ तिस्रः सासादने मिश्रे अविरते च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश । तत्र मिथ्यादृष्टौ अविरते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः । सासादने मिश्रे च प्रत्येकं द्वे द्वे । देशविरते चैका । सप्तोदये चैकादश । तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने मिश्रे प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकमेकैका । अविरते देशविरते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः । षडुदये । एकादश । तत्राविरतसम्यग्दृष्टौ अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका देशविरते प्रमत्ते प्रत्येकं तिस्रः अप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः पञ्चकोदये नव । तत्र देशविरते एका प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः अपूर्वकरणे द्वे चतुरुदये तिस्रः । प्रमत्ते अप्रमत्ते अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेका । एते च अनन्तरोक्ता एकादिकाः संख्याविशेषाश्चतुर्विंशतिगताश्चतुर्विंशतिसंख्याधायिका एता अनन्तरोक्तचतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशत् द्विके द्विकोदये भङ्गा द्वादश एकोदये पञ्च । एते च प्रागेव भाविताः ।

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसंख्यानिरूपणार्थमाह ।

बारस पणसट्ठिसया, उदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा ।

चुलसीई सत्तुत्तरि, पयविन्दसएहिँ विन्नेया ॥५३॥

इह दशादिषु चतुःपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गकानां द्विपञ्चाशच्चतुर्विंशतयो लब्धास्ततो द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते गुणितायां च सत्यां द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततो द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि भवन्ति एतैरुदयविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवा मोहिता मोहमापादिता विज्ञेयाः । सम्प्रति पदसंख्यानिरूपणार्थमाह (चुलसीईसत्तुत्तरित्ति) इह पदानि नाम मिथ्यात्वं प्रत्याख्यानक्रोधः अप्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि ततो वृन्दानां दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि आर्षत्वात् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः । तेषां सप्तसप्तत्यधिकचतुरशीतिशतसंख्यैर्मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः । एतावत्संख्यानि कर्मप्रकृतिभिः यथायोगं मोहिता जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अथ कथं सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि पदानां भवन्ति उच्यते इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतयः उदयं समागता इत्यर्थः । एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि भावनीयानि ततो दशोदय एकेन गुण्यते जाता दश नवोदयः षड्भिर्गुणितो जाताश्चतुःपञ्चाशत् अष्टोदय एकादशभिर्जाता अष्टाशीतिः सप्तोदय एकादशभिर्जाता सप्तसप्ततिः षडुदय एकादशभिर्जाता षट्षष्टिः पञ्चकोदयो नवभिर्जाता पञ्चचत्वारिंशत् चतुरुदयश्च त्रिभिर्गुणितो जाता द्वादश एते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि त्रीणि शतानि । एतानि चतुर्विंशतिगुणितानि अष्टचत्वारिंशदधिकचतुःशतयुतान्यष्टसहस्राणि प्राप्यन्ते इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते ततो द्विकोदयपदानि द्वादशगुणितानि चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततस्तेषु प्र-

क्लिसेषु त्रिंशदधिकानि यथोक्तसख्यान्येव पदानां शतानि ।

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रत्येकमुदयभङ्गनिरूपणार्थं भाष्य-
कृदन्तर्गाथामाह ।

अट्ठगचउचउचउर-ट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा ।
मिच्छाइ अपुव्वंता, बारस पणगं च अनियट्टी ॥ ५४ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अष्टादिचतुर्विंशतयो भवन्ति किमुक्तं भवति मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु चतुर्विंशतयो यथासख्यमष्टादिसख्या भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टावष्टौ सासादने चतस्रः मिश्रे च चतस्रः (चउरट्ठगत्ति) अविरतादिषु अप्रमत्तपर्यवसानेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमष्टौ अपूर्वकरणे चतस्रः एताश्च प्रागेव भाविताः । अनिवृत्तौ अनिवृत्तिबादरे द्विकोदये द्वादश भङ्गा एकोदये पञ्च चशब्दोऽनिवृत्तिबादरे एकोदये चत्वारः एकः सूक्ष्मसपराये इति विशेष द्योतयति

सम्प्रत्येतेषामेवोदयभङ्गानामुदयपदानां च योगोपयोगादि-
भिर्गुणनार्थमुपदेशमाह ।

जोगोवओगलेसा, इएहिं गुणिया हवंति कायव्वा ।
जे जत्थ गुणट्ठाणे, हवंति ते तत्थ गुणकारा ५५ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु ये योगोपयोगादयस्तैरुदयभङ्गा गुणिताः कर्त्तव्या इत्यर्थः । कतिसख्यैर्गुणयितव्या इत्यत आह ये योगादयो यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो भवन्ति तावन्तस्तस्मिन् गुणस्थानके गुणकरास्तैस्तावद्भिस्तस्मिन् गुणस्थानके उदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थः । तत्र प्रथमतो योगैर्गुणनभावना क्रियते इह मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसंपरायपर्यवसानेषु सर्वसख्ययोदयभङ्गाः पञ्चषष्ट्यधिकानि द्वादश शतानि तत्र वाग्योगचतुष्टयमनोयोगचतुष्टयौदारिककाययोगाः सर्वेष्वपि मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु सम्भवन्तीति ते नवभिर्गुण्यन्ते ततो जातानि एकादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि । तथा मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे अत्रापि चतुर्विंशतयः प्राप्यन्ते वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रः चतस्रः एताश्च या अनन्तानुबन्ध्युदयसहितास्ता एव द्रष्टव्याः । यास्त्वनन्तानुबन्ध्युदयरहितास्ता अत्र न प्राप्यन्ते किं कारणमिति चेदुच्यते । इह येन पूर्वं वेदकसम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनो विसयोजिता विसयोज्य च परिणामपरावृत्त्या सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बन्धमारभन्ते तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्बन्धावलिकामात्रं यावदनन्तानुबन्ध्युदयो न प्राप्यते न शेषस्य अनन्तानुबन्धिनश्च विसयोज्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्ते जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तावशेषायुष्का एव अनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्य मिथ्यादृष्टेः कालकरणप्रतिषेधात् । तथोक्तं " कुणइ जन्नसो कालमिति " ततस्तस्मिन्नेव भवे वर्त्तमानो मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति बन्धावलिकाभिश्च प्रवेदयते ततोऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य भवान्तरे वा प्रथममुत्पन्नस्य मिथ्यादृष्टेः सतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता उदयविकल्पाः न प्राप्यन्ते । अथ च कार्मणकाययोगेऽपान्तरालगतौ औदारिकमिश्रकाययोगे वैक्रियमिश्रकाययोगे च भवान्तरे उत्पद्यमानस्य तत कार्मणकाययोगादौ प्रत्येकं चतस्रः चतस्रश्चतुर्विंशतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता न प्राप्यन्ते वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे प्रथमत एवोत्पद्यमानस्य भवतीति यदुक्तं तद्बाहुल्यमाश्रित्योक्तमन्यथा तिर्यङ्मनुष्याणामपि मिथ्यानामपि मिथ्यादृशां वैक्रियकारिणां वैक्रियमिश्रमवाप्यते एव परं चूर्णिकृता तदात्र विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम् । एवमुत्तरत्रापि चूर्णिकारमार्गानुसरणं परिभावनीयम् । तथा सासादनस्य कार्मणकाययोगे वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयः सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे चतस्रः अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे अष्टौ देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ । प्रमत्तसंयतप्रमत्तासंयतस्यापि वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे अष्टौ सर्वसख्यया चतुरशीतिश्चतुर्विंशतयः । चतुरशीतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता जातानि षोडशाधिकानि विंशतिशतानि तानि च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे वर्त्तमानस्य ये चत्वारोऽप्युदयस्थानविकल्पास्तद्यथा सप्तोदय एकविधः अष्टोदयो द्विविधो नवोदय एकविध अत्र नपुंसकवेदो न लभ्यते । वैक्रियकाययोगिषु नपुंसकवेदेषु मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् ये च अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्थानविकल्पा एषु स्त्रीवेदो न लभ्यते वैक्रिययोगिषु स्त्रीवेदेषु मध्ये अविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तमन्यथा कदाचित् स्त्रीवेदेष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवेदिति । उक्तं च चूर्णौ " कया वि हुज्ज इत्थिवेअगेसु वि वेउव्वे मीसगस्स त्ति " प्रमत्तसंयतस्य " आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च प्रमत्तसंयतस्याहारककाययोगे ये प्रत्येकमष्टावष्टावुदयस्थानविकल्पास्तेऽपि स्त्रीवेदरहिता वेदितव्या आहारकं हि चतुर्दशपूर्विणां भवति " आहार चोद्दपुव्व पुव्विणो व " इति वचनात् न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वस्याधिगमः सम्भवति सूत्रे प्रतिषेधात् तदुक्तम् ।

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुव्वला य धिइए य ।
इअ अइसेसज्झयणा, भूअवाओ अ नो त्थीण ॥

भूतवादो नाम दृष्टिवाद एते सर्वेऽप्युदयस्थानविकल्पाः सर्वसख्यया चतुश्चत्वारिंशत् । एतेषु चोक्तप्रकारेण द्वौ द्वावेव वेदौ लब्धौ तत प्रत्येकं षोडश षोडश भङ्गाः ततश्चतुश्चत्वारिंशत् षोडशभिर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि चतुरधिकानि तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते तथा अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे ये अष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुवेदसहिता एव प्राप्यन्ते न स्त्रीवेदनपुंसकवेदसहितास्तिर्यङ्मनुष्येषु स्त्रीवेदेषु मध्ये अविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तं तेन मल्लिस्वाम्यादिजिने व्यभिचारः । एतेषु चैकेन पुरुषवेदेन प्रत्येकमष्टावष्टौ एव भङ्गा लभ्यन्ते ततोऽष्टभिर्गुण्यन्ते जाता चतुःषष्टिः सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते तत आगतानि चतुर्दशसहस्राणि शतं चैकोनसप्तत्यधिकम् । (१४१६९) एतावन्तो मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसपरायपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु उदयभङ्गा ये गुणितास्ते प्राप्यन्ते तदुक्तम् " चउदस य सहस्साइ, सय च गुणहत्तर उदयमाण " सम्प्रति पदवृन्दानि योगगुणितानि प्राप्यन्ते तत्र उदयपदप्ररूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा ॥

अट्ठट्ठी बत्तीसं, बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना ।
चोयालदोसु वीसा, मिच्छामाईसु सामन्न ॥ ५६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु यथासख्यमष्टषष्ट्यादिसख्यानि उदयपदानि भवन्ति तथाहि मिथ्यादृष्टौ चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र दशोदय एको दशभिर्गुण्यते जाता दश नवोदयास्त्रयो नवभि जाता सप्तविंशतिः

षष्ठोदयाल्पयोऽष्टभिः जाता चतुर्विंशतिः सप्तोदयश्चैक. सप्तभिर्जाता सप्त सर्वसङ्ख्यया सप्तषष्टिः. एवं द्वात्रिंशदादीनामन्येषामपि उदयपदानां भावना कर्त्तव्या। सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि चतुरशीतिशतानि द्विकोदया द्वादश द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि पञ्च सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते ततो जातानि सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि। एतानि वाग्योगचतुष्टयमनोयोगचतुष्टयौदारिककाययोगसहितानि प्राप्यन्ते इति नवभिर्गुण्यन्ते ततो जातानि षट्सप्ततिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके। ततो वैक्रियकाययोगे मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिसंख्यानि उदयपदानि एतानि च प्राग्वत् भावनीयानि। वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत् उदयपदानि । वैक्रियमिश्रादौ हि उदयपदान्यनन्तानुबन्ध्युदयसहितान्येव प्राप्यन्ते न शेषाणि कारणं प्रागेवोक्तं तत षट्त्रिंशद्भवन्ति। तथा ह्येकोऽष्टोदयो द्वौ नवोदयौ एको दशोदयोऽनन्तानुबन्धिसहित प्राप्यते ततोऽष्टोदय एकोऽष्टभिर्जाता अष्टनवोदयौ द्वौ नवभिः जाता अष्टादश दशोदय एको दशभिर्गुण्यते जाता दश एवं सर्वसंख्यया षट्त्रिंशत् । एवमन्यत्रापि भावना स्वधिया कर्त्तव्या। सासादनस्य वैक्रियकाययोगौदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे षष्टिः देशविरतस्य वैक्रियमिश्रवैक्रियकाययोगे च प्रत्येकं द्विपञ्चाशत् प्रमत्तसंयतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत् । अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् सर्वसंख्यया षट् शतानि । एतानि चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि चतुर्दश सहस्राणि चत्वारिंशच्छतानि एतानि च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे द्वात्रिंशदुदयपदानि एषु नपुंसकवेदो न लभ्यते युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे प्रत्येकं षष्टिः अत्र स्त्रीवेदो न लभ्यते कारणं प्रागेवोक्तम् । प्रमत्तसंयतस्याहारककाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् अत्रापि स्त्रीवेदो न लभ्यते युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता सर्वसंख्यया द्वे शते चतुरशीत्यधिके एतानि चोक्तप्रकारेण द्विवेदसहितान्येव प्राप्यन्ते इति द्विवेदसमयः । षोडशभिर्गुण्यन्ते जातानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे षष्टिरुदयपदानि एतानि पुरुषवेद एव प्राप्यन्ते न स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः कारणमत्र प्रागेवोक्तं तत एतानि अष्टभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि अशीत्यधिकानि एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते ततो जातः पूर्वराशिः पञ्चनवतिसहस्राणि सप्त शतानि सप्तदशाधिकानि। एतावन्ति योगगुणितानि (सत्तरसा सत्त सया पणनउइसहस्सपयसंखा) सम्प्रत्युपयोगगुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते । तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने च प्रत्येकं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनरूपा पञ्च पञ्च उपयोगाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतानां मतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपाः प्रत्येकं षट् षट् प्रमत्तादीनां सूक्ष्मसम्परायान्तानां त एव षट् मनःपर्यवज्ञानसहिताः सप्त सप्त मिथ्यादृष्ट्यादिषु चतुर्विंशतिगता उदयविकल्पा " अडगचउचउचउरट्ठगा य" इत्यादिना ये प्रागुक्तास्ते यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते तद्यथा मिथ्यादृष्टेरष्टौ सासादने च चत्वारः मिलिता द्वादश । एते पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः । तत्र

मिश्रस्य चत्वारः उदयस्थानविकल्पा अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ देशविरतस्याप्यष्टौ सर्वसंख्यया विंशतिः । सा च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातं विंशतिशतम् । तथा प्रमत्तस्याष्टौ उदयस्थानविकल्पा अप्रमत्तस्याप्यष्टौ अपूर्वकरणस्य चत्वारः सर्वे मिलिता विंशतिः । सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातं चत्वारिंशच्छतं सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि विंशत्यधिकानि ये त्वाचार्या मिश्रेऽपि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनरूपान् पञ्चैवोपयोगानिच्छन्ति तेषां मतेन त्रीणि शतानि षोडशोत्तराणि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते ततो जातानि अशीत्यधिकानि षट्सप्ततिशतानि। मतान्तरेण पञ्चसप्ततिशतानि चतुरशीत्यधिकानि । ततो द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च सर्वे मिलिता सप्तदश ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमेकोनविंशाधिकं शतं तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते ततः पूर्वराशिर्जातो नवनवत्यधिकानि सप्तसप्ततिशतानि । मतान्तरेण सप्त त्र्युत्तराणि । उक्तं च " उदयाणुवओगेसु सगसयरिसया तिउत्तरा होंति " एतावन्त उपयोगगुणिता उदयभङ्गा। सम्प्रति पदवृन्दानि उपयोगगुणितानि भाव्यन्ते तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि "अट्ठट्ठी बत्तीसमित्यादीनि " यानि प्रागुक्तानि तानि यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिरुदयस्थानपदानि सासादनस्य द्वात्रिंशत् मिलितानि शतं तत्पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि पञ्च शतानि सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टेः षष्टिः देशविरतस्य द्विपञ्चाशत् सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतम् एतच्च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि चतुःषष्ट्यधिकानि अष्ट शतानि तथा प्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत् अप्रमत्तस्यापि चतुश्चत्वारिंशत् अपूर्वकरणस्य विंशतिः सर्वसंख्यया जातमष्टाधिकं शतमेतत्सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि सर्वसंख्यया विंशत्यधिकान्येकविंशतिशतानि । अन्ये तु मिथ्यादृष्टाविव मिश्रेऽपि पञ्चोपयोगानिच्छन्ति तन्मतेन सर्वसंख्यया अष्टाशीत्यधिकानि विंशतिशतानि ततश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि पञ्चाशत्सहस्राणि अष्टौ शतानि अशीत्यधिकानि । मतान्तरेण पञ्चाशत्सहस्राणि शताधिकानि द्वादशोत्तरशतानि । ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशतिरेकोदयपदानि पञ्च सर्वे मिलिता एकोनत्रिंशत् सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जाते द्वे शते त्र्युत्तरे ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते ततो जातः पूर्वराशिः एकपञ्चाशत्सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि मतान्तरेण पुनः पञ्चाशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि । उक्तं च " पन्नास सहस्सा तिन्निसया चेव पन्नारा " एतावन्त्युपयोगगुणितानि पदवृन्दानि । सम्प्रति लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः भाव्यन्ते । तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिष्वविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्तेषु प्रत्येकं षट् लेश्याः देशविरतिप्रमत्तेषु तेजःपद्मशुक्लरूपास्तिस्रः कृष्णलेश्यायास्तु देशविरत्यादिप्रतिपत्तेरभावात् ।अपूर्वकरणादौ एका शुक्ललेश्या मिथ्यादृष्ट्यादिषु अपूर्वकरणपर्यन्तेषु च ये चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा अष्टचतुरादिसंख्यास्ते यथायोगं लेश्याभिर्गुण्यन्ते तद्यथा मिथ्यादृष्टेरष्टावुदयस्थानविकल्पाः सासादनस्य चत्वारः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्चत्वारः अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ मिलिता जाता चतुर्विंशतिः सा च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते जातं चतुश्चत्वारिंशत् शतम् । तथा देशविरतस्याष्टौ प्रमत्तस्याप्यष्टौ अप्रमत्तस्यापि चाष्टौ सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिः सा त्रिभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जाता द्विसप्ततिः । अपूर्वकरणे चतस्रः अत्रैकैव लेश्या एकेन च गुणितं तदेव भवतीति चत्वारः।

एवं सर्वे मिलिता द्वे शते विंशत्यधिके एते चतुर्विंशतिगता इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि अशीत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि। ततो द्विकोदया द्वादश एकोदयाः पञ्च मिलिताः सप्तदश ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते ततो जातानि सप्तनवत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि एतावन्ति लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः। सम्प्रति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि भाव्यन्ते। तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि मिथ्यादृष्टौ अष्टषष्टिः सासादने द्वात्रिंशत् सम्यग्मिथ्यादृष्टावपि द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टौ षष्टिः सर्वसंख्यया द्विनवत्यधिकं शतम् एतच्च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि। तथा देशविरतौ द्विपञ्चाशत् प्रमत्ते चतुश्चत्वारिंशत् अप्रमत्तेऽपि चतुश्चत्वारिंशत् सर्वे मिलिता चत्वारिंशदधिकं शतम् एतच्च तिसृभिर्लेश्याभिर्गुण्यन्ते जातानि विंशत्यधिकानि चत्वारि शतानि। अपूर्वकरणे विंशतिः सा एकया लेश्यया गुणिता सैव विंशतिर्भवति ततः सर्वसंख्यया जातानि द्विनवत्यधिकानि पञ्चदश शतानि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि अष्टात्रिंशत्सहस्राणि द्वे शते अष्टाधिके। ततो द्विकोदयैकोदयपदान्येकोनत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते ततो जातानि अष्टत्रिंशत्सहस्राणि द्वे शते सप्तत्रिंशदधिके एतावन्ति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि उक्तं च "तिगहीणा तेवन्ना, सयाउ उदयाण होंति लेसाण। अडतीस सहस्साइं, पयाण सय दो य सगतीसा" तदेवमुक्तानि सप्रपञ्चमुदयस्थानानि।

साम्प्रतं सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते।

तिन्नेगे एगेगं, तिगमीसे पंचचउसु तिगपुव्वे।
एक्कार बायरम्मि उ, सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥५७॥

एकस्मिन् मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः। अत्र भावना प्रागेवोक्ता। तथा एकस्मिन् सासादने एकं सत्तास्थानं तद्यथा अष्टाविंशतिः। मिश्रे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः। तथा चतुर्ष्वविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिः। निवृत्तेऽपूर्वकरणे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च। तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्यामेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा (एक्कार बायरम्मि त्ति) बादरेऽनिवृत्तिबादरे एकादश सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च। तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्यामपि यावत्कषायाष्टकं न क्षीयते कषायाष्टके तु क्षीणे त्रयोदश नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः सज्ज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः सज्ज्वलनमाने क्षीणे द्वे ततः सज्ज्वलनमायायां क्षीणायामेकेति (सुहुमे चउत्ति) सूक्ष्मसम्पराये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेका च। तत्राद्यानि त्रीणि उपशमश्रेण्यामेका प्रकृतिः क्षपकश्रेण्यामुपशान्ते उपशान्तमोहे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः प्राग्वद्भावना। सम्प्रति संवेध उच्यते। तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिर्बन्धस्थानं चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश। तत्र सप्तोदये अष्टाविंशतिरूपमेकं सत्तास्थानम्। अष्टादिषु तूदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च। सर्वसंख्यया दश। सासादने एकविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव। एतेषु प्रत्येकमेकं सत्तास्थानं तद्यथा अष्टाविंशतिः सर्वसंख्यया त्रीणि सत्तास्थानानि। सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। सर्वसंख्यया नव। अविरतसम्यग्दृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव तत्र षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च। सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिः। एतान्येव पञ्च अष्टोदये, नवोदये चत्वारि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिः। सर्वसंख्यया सप्तदश। देशविरते त्रयोदशबन्धस्थानं चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः षडुदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च। तान्येव पञ्च सप्तोदये। अष्टोदये त्वेकविंशतिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च प्रमत्ते नव बन्धस्थानानि चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् सप्त। तत्राद्ये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च। पञ्चकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च एवं षडुदयेऽपि सप्तोदये एकविंशतिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च सर्वसंख्यया सप्तदश। एवमप्रमत्तेऽपि बन्धोदये सत्तास्थानसंवेधोऽन्यूनातिरिक्तो वक्तव्यः। अपूर्वकरणे बन्धस्थानानि नव, त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः सर्वसंख्यया नव। अनिवृत्तिबादरे पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे एकं च। तत्र पञ्चके बन्धस्थाने द्विकोदये षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश। चतुष्के बन्धस्थाने एकोदये षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः एकादश पञ्च चत्वारस्त्रिके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्चत्वारि त्रीणि। द्विके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रीणि द्वे एकस्मिन् बन्धे एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वे एकं च। सर्वसंख्यया सप्तविंशतिः सत्तास्थानानि बन्धाभावे सूक्ष्मसम्पराये एकोदये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेकं च। उपशान्तमोहे बन्धोदयौ न स्तः। सत्तास्थानानि पुनस्त्रीणि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः सर्वत्रापि च यथास्थानं भावना यथा प्रागधस्तात्संवेधचिन्तायां कृता तथा अत्रापि कर्तव्या तदेवं चिन्तितं गुणस्थानकेषु मोहनीयम्।

सम्प्रति नाम विचिन्तयिषुराह।

छन्नवछक्कं तिगसत्त, दुगं दुगं तिगदुगं ति अट्ठ चउ।
दुग छच्चउ दुग पण चउ, दुग चउ चउ पणग एग चउ ॥५८॥

एगेगमट्ठइगेग-मट्ठ छ उमत्थकेवलिजिणाणं ।

एगं चउ एगं चउ, अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥ ५९ ॥

मिथ्यादृष्टौ नाम्नः षट् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रापर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रयोविंशतिस्तस्यां च बध्यमानायां बादरसूक्ष्मप्रत्येकसाधारणैर्भङ्गाश्चत्वारः । पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यं च बध्नतः पञ्चविंशतिः । तत्र पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ बध्यमानायां भङ्गा विंशतिः । अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यायां तु बध्यमानायां प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिः पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः षड्विंशतिः तस्यां च बध्यमानायां भङ्गाः षोडश देवगतिप्रायोग्यां नरकगतिप्रायोग्यां वा बध्नतोऽष्टाविंशतिः । तत्र देवगतिप्रायोग्यायामष्टाविंशतौ अष्टौ भङ्गा नरकगतिप्रायोग्यायां त्वेक इति । सर्वसंख्यया नव । पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत् तत्र पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि मनुष्यगतिप्रायोग्यायामपि अष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति बन्धे चत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि अत्र तीर्थकरसहितदेवगतिप्रायोग्यायामष्टौ भङ्गा न प्राप्यन्ते सम्यक्त्वाभावे तीर्थकरनामकर्मणो बन्धाभावात् । पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यायां त्रिंशति प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः । तथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि सर्वसंख्यया त्रिंशति द्वात्रिंशदुत्तराणि षट्चत्वारिंशच्छतानि या च मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत् या च देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विकसहिता ते उभे अपि मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायातः । तीर्थकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वादाहारकनाम्नस्तु संयमप्रत्ययत्वात् । उक्तं च " सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारमिति ।"

त्रयोविंशत्यादिषु च बन्धस्थानेषु यथासंख्य भङ्गसंख्यानिरूपणार्थमाह ॥

चउ पण वीसा सोलस, नव चत्ताला सया य बाणउइ ।

बत्तीसुत्तरछाया-लसया मिच्छस्स बंधविही ॥ ६० ॥

सुगमा तथा मिथ्यादृष्टेर्नव उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एतानि सर्वाण्यपि नानाजीवापेक्षया यथा प्राक् सप्रपञ्चमुक्तानि तथाऽत्रापि वक्तव्यानि केवलमाहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां केवलिनां च सम्बन्धीनि न वक्तव्यानि तेषां मिथ्यादृष्टित्वासम्भवात् सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टौ उदयस्थानभङ्गाः सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि । तथाहि एकविंशत्युदये एकचत्वारिंशत् तत्रैकेन्द्रियाणां पञ्च द्वीन्द्रियाणां नव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नव मनुष्याणां नव देवानामष्टौ नारकाणामेकः । तथा चतुर्विंशत्युदये एकादश ते च एकेन्द्रियाणामेव अत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये द्वात्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियाणां सप्त वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानामष्टौ नारकाणामेकः । षड्विंशत्युदये षट्शतानि तत्रैकेन्द्रियाणां त्रयोदश विकलेन्द्रियाणां नव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते एकोननवत्यधिके मनुष्याणामपि द्वे शते एकोननवत्यधिके । सप्तविंशत्युदये एकत्रिंशत् । तत्रैकेन्द्रियाणां षट् वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानामष्टौ नारकाणामेकः । अष्टाविंशत्युदये एकादश शतानि नवनवत्यधिकानि तत्र विकलेन्द्रियाणां षट् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानां षोडश नारकाणामेकः । एकोनत्रिंशदुदये सप्तदश शतान्येकाशीत्यधिकानि । तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानां षोडश नारकाणामेकः । त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशाधिकानि । तत्र विकलेन्द्रियाणामष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ मनुष्याणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि देवानामष्टौ । एकत्रिंशदुदये एकादश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि । तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । सर्वसंख्यया सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि । मिथ्यादृष्टेः षट् सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः । तत्र द्विनवतिः चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनामवसेया । यदा पुनर्नरकेषु बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् तीर्थकरनामसहितः परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकेषु समुत्पद्यते तदा तस्यैकोननवतिरन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्यते उत्पत्तेरूर्ध्वमन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं तु सोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनाम् । षडशीतिरशीतिश्चैकेन्द्रियेषु यथायोगं देवगतिप्रायोग्ये नरकगतिप्रायोग्ये चोद्वलिते सति लभ्यते अशीतिश्चैकेन्द्रियेषु त्रिनवतेस्तीर्थकरनामाहारकचतुष्के वैक्रियषट्के नरकद्विके चोद्वलिते सति लभ्यते तत एकेन्द्रियभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभावादूर्ध्वमप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्यते परतोऽवश्यं वैक्रियशरीरादिबन्धसम्भवात् । अष्टसप्ततिस्तेजोवायूनां मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते तेजोवायुभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा मध्ये समुत्पन्नानामन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् परतोऽवश्यमिति मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्योर्बन्धसम्भवात् । तदेवं सामान्येन मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि । सम्प्रति संवेध उच्यते । तत्र मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशतिं बध्नतः प्रागुक्तानि नवाप्युदयस्थानानि सप्रभेदानि सम्भवन्ति केवलमेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपेषु षट्सु उदयस्थानेषु देवनैरयिकानधिकृत्य ये भङ्गाः प्राप्यन्ते ते न सम्भवन्ति । त्रयोविंशतिर्हि अपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्या न च देवा अपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्ति तेषां तत्रोत्पादाभावात् । नापि नैरयिकास्तेषां सामान्यतोऽप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धासम्भवात् । ततोऽत्र देवनैरयिकसत्कोदयस्थानभङ्गा न प्राप्यन्ते सत्तास्थानानि च पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयेषु पञ्चापि सत्तास्थानानि नवरं पञ्चविंशत्युदये तेजोवायुकायिकमधिकृत्याष्टसप्ततिः प्राप्यते । षड्विंशत्युदये तेजोवायुकायिकास्तेजोवायुभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नान् विधाकृत्य सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्रूपेषु

पञ्चसु अष्टसप्ततिवर्ज्जानि शेषाणि प्रत्येक चत्त्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। सर्वसंख्यया सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य चत्वारिंशत्सत्तास्थानानि । एव पञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यं केवलमिह देवोऽप्यात्मीयेषु सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु वर्त्तमान' पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं षड्विंशतिं च बध्नातीत्यवसेय नवर पञ्चविंशतिबन्धे बादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगानादेययशःकीर्त्ययश कीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गा अवसेया न शेषा सूक्ष्मसाधारणापर्याप्तेषु मध्ये देवस्योत्पादाभावात्। सत्तास्थानभावना पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रागिव कर्तव्या सर्वसंख्यया चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेर्द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत्। तत्र त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य एकत्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानेव अष्टाविंशतिबन्धकस्य चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवति· अष्टाशीति· षडशीतिः । तत्र त्रिंशदुदये चत्वार्यपि तत्राप्येकोननवतियो नामवेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्व गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तमधिकृत्य वेदितव्या शेषाणि पुनस्त्रीणि सत्तास्थानान्यविशेषेण तिर्यग्मनुष्याणामेकत्रिंशदुदये एकोननवतिवर्ज्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि। एकोननवतिर्हि तीर्थकरनामसहिता न च तीर्थकरनाम तिर्यक्षु संभवति सर्वसख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि देवगतिप्रायोग्यवर्ज्जां शेषामेकोनत्रिंशत विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्या च बध्नतो मिथ्यादृष्टे सामान्येन नवापि प्राकृतानि उदयस्थानानि । षट् सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीति षडशीतिरशीतिरष्टसप्तति· । तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपीमानि प्राप्यन्ते तत्राप्येकोननवतिबद्धतीर्थकरनामानं मिथ्यात्वं गत नैरयिकमधिकृत्यावसेया। द्विनवति' अष्टाशीतिश्च देवनैरयिकमनुजविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजैकेन्द्रियानाधिकृत्य वेदितव्या। अष्टसप्ततिरेकेन्द्रियाविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात्। पञ्चविंशत्युदयेऽपि षट् सत्तास्थानानि तानि यथैकविंशत्युदये भावितानि तथैव भावनीयानि। षड्विंशत्युदये एकोननवतिवर्ज्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि तानि प्रागिव भावनीयानि एकोननवतिस्तु न लभ्यते यतो मिथ्यादृष्टे· सत एकोननवतिर्नरकेषूत्पद्यमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य । नच नैरयिकस्य षड्विंशत्युदय सभवति। सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि। तत्रैकोननवति' प्रागुक्तस्वरूप नैरयिकमधिकृत्य द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देवनैरयिकमनुजविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य अष्टसप्ततिश्च न संभवति तत सप्तविंशत्युदये तेजोवायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामातपोद्योतान्यतरसहिताना नारकादीना वा भवति । नच तेषामष्टसप्ततिस्तेषामवश्य मनुष्यद्विकबन्धसंभवात् । एतान्येव पञ्च सत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिरशीति प्रागिव भावनीया षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या । एवमेकोनत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव पञ्चसत्तास्थानानि भावनीयानि ।त्रिंशदुदये चत्वारि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरेतानि विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि एकोननवतिस्तु न प्राप्यते यतः सा मिथ्यादृष्टे सता बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्व गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते। न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति। एकत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव चत्वारि तानि च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्रष्टव्यानि । सर्वसख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि। या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति कारण प्रागेवोक्तम्। मनुष्यदेवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषां त्रिंशत विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः सामान्येन प्रागुक्तानि नवोदयस्थानानि एकोननवतिवर्जानि पञ्च सत्तास्थानानि। एकोननवतिस्तु न संभवति सत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धाऽऽरम्भसम्भवात् तानि च पञ्च सत्तास्थानानि एकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयेषु प्रागिव भावनीयानि । सप्तविंशत्यष्टविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्रूपेषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्ज्जानि प्रत्येकं शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि भावनीयानि अष्टसप्ततिप्रतिषेधकारण प्रागुक्तमनुसरणीयम । सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टेस्त्रिंशतं बध्नतः चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि मनुजगतिदेवगतिप्रायोग्या त्रिंशत् मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति मनुजगतिप्रायोग्या हि त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता, देवगतिप्रायोग्या त्वाहारकद्विकतीर्थकरनामसहिता तत सा कथ मिथ्यादृष्टेर्बन्धमायाति । तदेवमुक्तो मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानसंवेध। सम्प्रति सासादनस्य बन्धोदयसत्तास्थानान्युच्यन्ते ((तिगसत्तदुगत्ति) त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्द्वेधा देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र नरकगतिप्रायोग्या सासादनस्य न बन्धमायाति देवगतिप्रायोग्यायाश्च बन्धकास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च। तस्यां चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गाः । तथा सासादना एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां वा एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति न शेषाम् । अत्र च भङ्गा· चतुःषष्टिशतानि । तथाहि सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामष्टाविंशतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नन्ति तथापि न ते हुण्डसस्थान सेवार्त्त च सहनन बध्नन्ति मिथ्यात्वोदयाभावात् ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नत' पञ्चभि· सस्थानै· पञ्चभि सहननैः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिराभ्यां शुभाशुभाभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदु स्वराभ्याम आदेयानादेयाभ्या यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्या च भङ्गा द्वात्रिंशच्छतानि । एव मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि। ततः सर्वसख्यया चतु षष्टिशतानि। तत· सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रिया· तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशत बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहितां न शेषाम, तां बध्नतां च प्रागिव भङ्गानां द्वात्रिंशच्छतानि। सर्वबन्धस्थानभङ्गसख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ।

उक्तभङ्गसख्यानिरूपणार्थमियमन्तराऽप्यगाथा ।

अट्ठ सया चउसट्ठी, बत्तीस सया ड सासणे भेआ ।
अट्ठावीसाईसु, सव्वाणट्ठाहिअ छन्नउई ॥ ६१ ॥

सासादनस्योदयस्थानानि सप्त तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशति· पञ्चविंशति षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत त्रिंशदेकत्रिंशत ।

तत्र एकविंशत्युदय एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य वेदितव्य नरकेषु सासादनो नोत्पद्यते इति कृत्वा तद्विषय एकविंशत्युदयो न गृह्यते तत्रैकेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवतः न शेषा सूक्ष्मेष्वपर्याप्तकेषु च मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् । अत एव विकलेन्द्रियाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च प्रत्येकमपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्ग स इह न संभवति किंतु शेषा एव । ते च विकलेन्द्रियाणां द्वौ द्वाविति षट् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ मनुष्याणामष्टौ देवानामप्यष्टौ सर्वसंख्यया एकविंशत्युदये द्वात्रिंशद्भङ्गाश्चतुर्विंशत्युदये एकेन्द्रियेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य अत्रापि बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव संभवतः न शेषा सूक्ष्मेषु साधारणेषु तेजोवायुषु च मध्ये सासादनस्योत्पादासंभवात् । पञ्चविंशत्युदयो देवेषु मध्ये उत्पन्नस्यावश्यं प्राप्यते न शेषस्य । तत्र चाष्टौ भङ्गाः ते च स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरवसेयाः । (भाष्यटीकायां सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैः अष्ट भङ्गाः प्रतिपादिता) षड्विंशत्युदयो विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य अत्राप्यपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्ग स न संभवति अपर्याप्तकमध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् शेषास्तु सम्भवन्ति ते च विकलेन्द्रियाणां प्रत्येक द्वौ द्वाविति षट् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके, मनुष्याणामपि द्वे शते अष्टाशीत्यधिके सर्वसंख्यया षड्विंशत्युदये पञ्च शतानि अशीत्यधिकानि सप्तविंशत्यष्टाविंशत्युदयौ न सम्भवतस्तौ हि उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते सति भवतः सासादनभावस्योत्पत्त्यनन्तरमुत्कर्षतः किञ्चिदूनषमावलिकामात्र कालं तत एतौ सासादनस्य प्राप्येते । एकोनत्रिंशदुदयो देवनैरयिकाणां स्वस्थानगतानां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां प्राप्यते । तत्र देवस्यैकोनत्रिंशदुदये भङ्गा अष्टौ नैरयिकस्यैक इति सर्वसंख्यया नव । त्रिंशदुदयस्तिर्यग्मनुष्याणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां देवानां वा उत्तरवैक्रिये वर्त्तमानानां सासादनानाम् । तत्र तिरश्चां मनुष्याणां च त्रिंशदुदये प्रत्येक द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि । देवस्याष्टौ सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्ताना प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम् । अत्र भङ्गा एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ॥

इगचसिगारवत्ती-स छ सयइगतीसिगारनवनउइ ।

सत्तरिगसि गुत्तिस, चउदइगारचउसट्ठि मिच्छुदया ॥६२॥

(इय गाथा लिखितपुस्तकेष्वनुपलभ्यमानापि मुद्रितपुस्तकेषूपलभ्यते इति व्याख्येयापि सोपयोगापि असत्पुस्तके नास्तीति न व्याख्यायते त्रुटितेति न संभावयाम किन्तु ग्रन्थकारैरेव न गृहीतेति निश्चिनुम । तत्वं केवलिनो विदन्ति)

उक्तरूपाया एव भङ्गसंख्याया निरूपणार्थमाह । तत्रान्तर्भाष्यगाथा

बत्तीस दोन्नि अठ य, बासीइसया य पंच नव उदया ।

बारहिया तेवीस, बावन्निक्कारस सया य ॥ ६३ ॥

सुगमा सर्वभङ्गसंख्यया सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्र द्विनवतिर्य आहारकचतुष्टयं बध्वा उपशमश्रेणितः प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यते न शेषस्य अष्टाशीतिश्च चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम् । संप्रति संवेध उच्यते तत्राष्टाविंशतिं बध्नतः सासादनस्य द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशदेकत्रिंशत् । अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बन्धयोग्या भवति देवगतिविषया च । न च करणापर्याप्तसासादनो देवगतियोग्यां बध्नाति ततः शेषा उदया न सम्भवन्ति । अत्र मनुष्यानधिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् सासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव यतो द्विनवतिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपततो लभ्यते नच तिरश्चामुपशमश्रेणिसंभवः । एकत्रिंशदुदयेऽप्यष्टाशीतिरेव यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां न च तिरश्चां द्विनवतिः संभवति प्रागुक्तयुक्तेः । एकोनत्रिंशत तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यां बध्नतः सासादनस्य सप्ताप्युदयस्थानानि । तत्र एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवनैरयिकाणां सासादनानां स्वीयस्वीयोदयस्थानेषु वर्त्तमानानामेव सत्तास्थानानामष्टाशीतिः नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्त्तमानस्योपशमश्रेणीतः प्रतिपततः सासादनस्य द्विनवति । एवं त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्य सर्वाण्युदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसंख्यया सासादनस्याष्टादशसत्तास्थानानि । संप्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानान्यभिधीयन्ते (दुगतिगपत्ति) तत्र द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । ततः तिर्यग्मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यमेव बन्धमायाति ततस्तेषामष्टाविंशतिः तत्र भङ्गाः अष्टौ । एकोनत्रिंशत मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां देवनैरयिकाणामप्यष्टौ भङ्गाः ते च उभयत्रापि स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरवसेयाः । शेषास्तु परावर्त्तमानप्रकृतयः शुभा एव सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति ततः शेषा भङ्गाः न प्राप्यन्ते । सर्वसंख्यया षोडश भङ्गाः त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशति देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गा नैरयिकानधिकृत्यैकः सर्वसंख्यया नव । त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पर्याप्त्यपर्याप्तिथोग्यानि द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि मनुष्यानधिकृत्य एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि सर्वोदयस्थानभङ्गसंख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चपष्ट्यधिकानि । संप्रति संवेध उच्यते सम्यग्मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत् । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानमेकोनत्रिंशत् अत्रापि द्वे सत्तास्थाने तदेवमेकैकस्मिन् उदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसंख्यया षट् । संप्रत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्धोदयस्थानान्यभिधीयन्ते(तिगछचउत्ति) त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र तिर्यग्मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्य च बध्नतामष्टाविंशतिः तत्राप्यष्टौ भङ्गा अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यग्मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्य बध्नन्ति तेन नरकगतिप्रायोग्या अष्टाविंशतिर्न लभ्यते मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरसहितां बध्नतामेकोनत्रिंशत् । अत्राप्यष्टौ भङ्गा । देवनैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्य बध्नतामेकोनत्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां बध्नतां त्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा (सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत) एवमष्टाबुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदयो

नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य वेदितव्यः। क्षायिकसम्यग्दृष्टेः पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य संभवात्। अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तेषु नोत्पद्यते ततोऽपर्याप्तकोदयवर्जाः शेषा भङ्गाः सर्वेष्वपि वेदितव्याः। ते च पञ्चविंशतिः तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ मनुष्यानधिकृत्याष्टौ देवानप्यधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैकः । पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ देवान् नैरयिकान् वैक्रियतिर्यग्मनुष्यांश्चाधिकृत्यावसेयौ । तत्र नैरयिकः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टिर्वा देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि। उक्तं च चूर्णौ "पणवीस सत्तवीसोदया य देवनेरइए वेउव्वियम्मि तिरियमणुए पडुच्च नेरइगो खाइगवेयगसम्मादिट्ठी देवा तिविहसम्मादिट्ठी वि तिभंगा" षड्विंशत्युदयस्तिर्यग्मनुष्याणां क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टीनाम् औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तिर्यग्मनुष्येषु मध्ये नोत्पद्यते इति त्रिविधसम्यग्दृष्टीनामिति नोक्तं वेदकसम्यग्दृष्टीनां च तिरश्चां द्वाविंशतिसत्कर्मणां वेदितव्यः। अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयौ नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवानां त्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामेकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। अत्र भङ्गाः आत्मीया आत्मीयाः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः । चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । तत्र योऽप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराहारकसहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा पश्चादविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो जातस्तमधिकृत्य त्रिनवतिः यस्त्वाहारकं कृत्वा परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वमुपगम्य चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पन्नस्तस्य तत्र तत्र गतौ भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्य द्विनवतिर्देवमनुष्येषु मध्ये मिथ्यात्वमप्रतिपन्नस्यापि द्विनवतिः प्राप्यते एकोननवतिः देवनैरयिकमनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनाम् । ते हि त्रयोऽपि तीर्थकरनामसत्कर्माणोऽप्युत्पद्यन्ते इति तिर्यङ् न गृहीतः अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामविरतसम्यग्दृष्टीनाम् । संप्रति संवेध उच्यते । तत्राविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावप्युदयस्थानानि तानि तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य तत्रापि पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ । वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य एकैकस्मिन् उदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशत् द्विधा देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता तां च मनुष्या एव बध्नन्ति न तिर्यञ्चः एतेषां च उदयस्थानानि सप्त तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। मनुष्याणामेकत्रिंशन्न भवति एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं बध्नतां देवनैरयिकाणां तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशद्देवानां पञ्च तावदेतान्येव न त्रिंशत् सा च उद्योतवेदकानामवगन्तव्या एकैकस्मिन् द्वे उदयस्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतमविरतसम्यग्दृष्टयो देवा नैरयिकाश्च बध्नन्ति तत्र देवानामुदयस्थानानि षट् तान्येव एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तेषु उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने त्रिनवतिरेकोननवतिश्च नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तेषु प्रत्येकं सत्तास्थानमेकोननवतिः तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् । तदेवं सामान्येन एकविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु उदयस्थानेषु सत्तास्थानानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । एकत्रिंशदुदये द्वे नवतिरष्टाशीतिश्च। सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्। संप्रति देशविरतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते (दुगछक्क चउक्क ति) देशविरतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् तत्राष्टाविंशतिर्मनुष्यतिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देशविरतस्य देवगतिप्रायोग्या। तत्राष्टौ भङ्गाः सैव तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशत् सा च मनुष्यस्यैव । न तिरश्चां तीर्थकरसत्कर्मबन्धाभावात् अत्राप्यष्टौ भङ्गाः षट् उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्राद्यानि चत्वारि चत्वारि वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणामत्र एकैको भङ्गः सर्वपदानां प्रशस्तत्वात् त्रिंशत्स्वभावस्थानामपि तिर्यग्मनुष्याणामत्र भङ्गानां चतुश्चत्वारिंशच्छतम् । तत्र षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुस्वरदुःस्वराभ्यां प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां च जायते दुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामुदयो गुणप्रत्ययादेव न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको भङ्गः (सर्वसंख्यया नवाशीत्यधिकं शतद्वयम्) एकत्रिंशत् तिरश्चां अत्रापि त एव भङ्गाः (सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशदधिकं चतुःशतम्) अत्र चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च तत्र योऽप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराहारकं बद्ध्वा परिणामह्रासेन देशविरतो जातस्तस्य त्रिनवतिः । शेषाणां भावना अविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्त्तव्या । संप्रति संवेध उच्यते तत्र मनुष्यस्य देशविरतस्याष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतेषु च प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवं तिरश्चोऽपि नवरं तस्य एकत्रिंशदुदयोऽपि वक्तव्यः । तत्रापि चैते एव द्वे सत्तास्थाने एकोनत्रिंशद्बन्धो मनुष्यस्यैव देशविरतस्य तस्योदयस्थानान्यनन्तरोक्तान्येव पञ्च तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तदेवं देशविरतस्य पञ्चविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने सर्वसंख्यया द्वाविंशतिः ॥ संप्रति प्रमत्तसंयतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते (दुगपणचउ त्ति) प्रमत्तसंयतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । एते देशविरतस्येव भावनीये । पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् (भाषाटीकायां तत्राद्यानि चत्वारि आहारकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वेदितव्यानि चत्वारि अवशिष्टं कस्येत्यनुक्रमतो निस्सारमिमं इत्थमुपलक्ष्यते प्रमीणीमः) एतानि सर्वाण्यप्याहारकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वा वेदितव्यानि । त्रिंशत् स्वभावस्थसंयतस्यापि तत्र वैक्रियसंयतानामाहारकसंयतानां च पृथक् पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदये प्रत्येकमेकैको (द्वौ द्वौ इति भाषापुस्तके) भङ्गः अष्टाविंशतौ एकोनत्रिंशति द्वौ द्वौ त्रिंशति चैकैकः सर्वसंख्यया चतुर्दश । त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्यापि प्राप्यते ततश्चतुश्चत्वारिंशच्छतम् तच्च देशविरतस्यैव भावनीयं सर्वसंख्यया अष्टपञ्चाशदधिकं शतम् चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । संप्रति संवेध उच्यते अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव आहारकसत्कर्मा ह्याहारकशरीरमुत्पादयतीति ततस्तस्य द्विनवतिरेव वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि तीर्थकरनामसत्कर्मणश्चाष्टाविंशतिं बध्नतः त्रिनवतिरेकोननवतिः तथाहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव तस्यैको-

नविंशद्बन्धकस्य नियमतस्तीर्थकराहारकसद्भावात् । वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि तत्रैव प्रमत्तसंयतस्य सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि प्राप्यन्ते एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। सर्वसंख्यया विंशतिः । इदानीमप्रमत्तसंयतस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (चउदुगचउक्ति) अप्रमत्तसंयतस्य चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् तत्राद्ये द्वे प्रमत्तसंयतस्यैव भावनीये सैवाष्टाविंशतिराहारकद्विकसहिता त्रिंशत् आहारकद्विकतीर्थकरसहिता त्वेकत्रिंशत् एतेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेषु भङ्ग एकैक एव वेदितव्य अस्थिराशुभायशःकीर्तीनामप्रमत्तसंयतबन्धाभावात् द्वे उदयस्थाने तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्रैकोनत्रिंशत् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकवैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्ततामुपगच्छति तस्य प्राप्यते । अत्र द्वौ भङ्गौ एको वैक्रियस्यापर आहारकस्य । एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ स्वभावस्थस्याप्रमत्तसंयतस्य त्रिंशदुदयो भवति । तत्र भङ्गाः षट्चत्वारिंशच्छतं सर्वसंख्यया अष्टचत्वारिंशच्छतम् । सत्तास्थानानि चत्वारि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरष्टाशीतिरेकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम् एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानं द्विनवतिः एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः । यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत्स नियमात्तद्बध्नाति तेन एकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वे अष्टौ । संप्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (पणगेगाति) अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि एका तु यशःकीर्तिः सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या । तत्र प्रत्येकमेकैको भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्च तत्र प्रत्येकबन्धस्थाने एकत्रिंशदुदयस्थानको वेदितव्यः तत्राद्यसंहननस्य षड्भिः संस्थानविकल्पैः षड् भङ्गास्तद्यथा षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तस्थानसुस्वरप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशति (भाषार्टीकायाम् त एव षड्भङ्गाः शुभाशुभखगतिभ्यां द्वादश तथा सुस्वरदुःस्वराभ्यां चतुर्विंशतिः प्रोक्ता) अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते आद्यसंहनननयुक्ता न त्वन्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः । एवमनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् । चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिस्त्रिनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिरेकोननवतिर्द्विनवतिस्त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि कथमिति चेदुच्यते । इह अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धका प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति । अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि सत्तास्थानानि प्राप्यन्ते । सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरबन्धस्थानान्युच्यन्ते (एगेगमट्ठत्ति) अनिवृत्तिबादरस्य एकं बन्धस्थानं यशःकीर्तिरेकमुदयस्थानं त्रिंशत् अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावन्नाम त्रयोदशकं न क्षीयते त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रमं क्षीणेषु त्रिनवत्यादेरुपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति बन्धोदयस्थाने भेदाभावात् । अतोऽत्र संवेधः न सम्भवतीति नाभिधीयते । सूक्ष्मसंपरायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (एगेगमट्ठत्ति) सूक्ष्मसंपरायस्य एकं बन्धस्थानं यशःकीर्तिः एकमुदयस्थानं त्रिंशत् अष्टौ सत्तास्थानानि तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम् (छउमत्थकेवलिजिणाणमित्यादि) छद्मस्थजिना उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च केवलिजिना सयोगिकेवलिजिना अयोगिकेवलिनश्च तेषां यथाक्रममुदयसत्तास्थानानि " एगं चऊ " इत्यादीनि । तत्रोपशान्तमोहस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत् चत्वारि सत्तास्थानानि । तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । क्षीणकषायस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत् । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरेव वज्रर्षभनाराचसंहननयुक्तस्यैव क्षपकश्रेण्यारम्भसम्भवात् तत्रापि तीर्थकरसत्कर्मण क्षीणमोहस्य सर्वसंस्थानादिप्रशस्तमित्येक एव भङ्ग । चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनाशीतिपञ्चसप्तती अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये । अशीतिषट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मण । सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । एतानि सामान्यतो नाम्न उदयस्थानचिन्तायां सप्रपञ्चं निरूपितानीति न भूयो विव्रियते । अत्र चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः । संवेध उच्यते स च चतुर्दशसु जीवस्थानेषु पर्याप्तसंज्ञिद्वारे यथा कृतस्तथात्रापि भावयितव्य । अयोगिकेवलिनो द्वे उदयस्थाने तद्यथा नव अष्टौ च । तत्राष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत्प्राप्येते चरमसमये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिर्नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः चरमसमये नव । तदेवं गुणस्थानकेषु बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि ।

सांप्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानकेषु विचिन्तितेषु प्रथमतो गतिषु तावच्चिन्तयन्नाह ।

दो छक्कट्ठचउक्कं, पण नव इक्कारछक्कगं उदया ।
नेरइयाइसु संता, ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥६४॥

नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवानां यथाक्रमं द्वे षट् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि । तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशत् मनुष्यगतितिर्यग्गतिप्रायोग्या वेदितव्या । त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थकरसहिता भङ्गाश्च प्रागुक्ताः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः । तिरश्चां षड् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च या तीर्थकराहारकसहिता सा न वक्तव्या तिरश्चां तीर्थकराहारकबन्धासम्भवात् । मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् एका च । एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि मनुष्याणां चतुर्गतिकप्रायोग्यबन्धसम्भवात् । देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च-

विंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अत्र पञ्चविंशतिः षड्विंशतिश्च पर्याप्तबादरप्रत्येकसहितमेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्या । अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्ति २ भिरष्टौ भङ्गाः षड्विंशतिरातपोद्योतान्यतरसहिता भवति ततोऽत्र भङ्गाः षोडश एकोनत्रिंशत् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया । त्रिंशत्पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाभिश्च षट्चत्वारिंशच्छतसंख्यभेदोपेता प्रागिव वक्तव्या । या तु मनुष्यगतिप्रायोग्यतीर्थकरनामसहिता तत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्ति २ भिरष्टौ भङ्गाः । सम्प्रति उदयस्थानान्यभिधीयन्ते (पण नव एक्कारसक्कगं उदयन्ति) नैरयिकाणां पञ्च (उदयाः) उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि । तिरश्चां नव उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । एतानि च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसवैक्रियावैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् नव अष्टौ । एतानि च स्वभावस्थमनुष्यवैक्रियमनुष्याहारकसंयत तीर्थकराहारकसयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य प्राग्वद्भावनीयानि । देवानां षट् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि प्रागिव सप्रपञ्चमुक्तानि न भूय उच्यन्ते । सम्प्रति सत्तास्थानान्यभिधीयते (ति पंच एक्कारस चउक्कंति) नैरयिकाणां सत्तास्थानानि त्रीणि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकेषूत्पद्यमानस्यावसेया त्रिनवतिस्तु न सम्भवति तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् । तिरश्चां पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । तीर्थकरसंबन्धीनि क्षपकसंबन्धीनि च सत्तास्थानानि सम्भवन्ति तीर्थकरनाम्नः क्षपकश्रेण्याश्च तिर्यक्षु असंभवात् । मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिर्नव अष्टौ च । अष्टसप्ततिश्च न सम्भवति मनुष्याणामवश्यं मनुष्यद्विकसम्भवात् । देवानां चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः शेषाणि तु न सम्भवन्ति शेषा हि कानिचिदेकेन्द्रियसंबन्धीनि कानिचित् क्षपकसंबन्धीनि ततः कथं तानि देवानां भवितुमर्हन्ति । सम्प्रति संवेध उच्यते । नैरयिकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्च उदयस्थानानि तानि चानन्तरमेवोक्तानि तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः । तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासम्भवात् एकोननवतिर्न लभ्यते मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्वेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः । तीर्थकरसत्कर्मा हि नरकेषूत्पन्नो यावन्मिथ्यादृष्टिस्तावदेकोनत्रिंशतं बध्नाति सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्त्रिंशतं तीर्थकरनामकर्मणोऽपि बन्धात् । तिर्यग्गतिप्रायोग्यामुद्योतसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया । मनुष्यप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानमेकोननवतिः सर्वबन्धस्थानोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि चत्वारिंशत् । सम्प्रति तिरश्चां संवेध उच्यते । त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि चतुरुदयस्थानानि तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तत्राद्येषु चतुर्ष्वेकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः । इहाष्टसप्ततिस्तेजोवायून् तद्भवादुद्वृत्तान्वाऽधिकृत्य वेदितव्या शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टाविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियमतो मनुष्यगतिद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते । एवं पञ्चविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं नवरमेकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतः सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र एकविंशतिषड्विंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपाः पञ्च उदयाः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा द्वाविंशतिसत्कर्मणां पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्याः । एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने त्रिंशदेकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्तानां सम्यग्दृष्टीनां वाऽवसेयौ । एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । षडशीतिर्मिथ्यादृशामवगन्तव्या सम्यग्दृष्टीनां च न सम्भवति तेषामवश्यं देवद्विकादिबन्धसम्भवात् तदेवं सर्वबन्धस्थानसर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां द्वे शते अष्टादशाधिके । तथाहि त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशच्चत्वारिंशदष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश । संप्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य उदयाः सप्त तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् शेषाः केवल्युदया इति न सम्भवन्ति त्रयोविंशतिबन्धकस्य पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणौ वेदितव्यौ एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिश्च पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकरक्षपकश्रेणिकेवलिशेषगतिप्रायोग्याणीति न सम्भवन्ति सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिः एवं पञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यं मनुजगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च बध्नतामप्येवमेव । अष्टाविंशतिबन्धकानां सप्तोदयास्तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्र एकविंशतिषड्विंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टेः करणापर्याप्तस्य पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ वैक्रियाहारकसंयतस्य चाष्टाविंशत्येकोनत्रिंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टीनां वैक्रियकारिणामाहारकसंयतानां च त्रिंशत् सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । आहारकस्य द्विनवतिरेव त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकोननवतिः नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरसहितां

बध्नतः सप्त उदयस्थानानि तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव द्रष्टव्यानि नवरं त्रिंशदुदय सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्य यत एकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थंकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति सर्वेष्वपि च उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । आहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव सर्वसंख्यया चतुर्दश । आहारकद्विकसहितत्रिंशत्याहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्याभावात् द्वयोरप्युदयस्थानयो प्रत्येकमेक सत्तास्थान द्विनवति । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थान त्रिंशत एक सत्तास्थानं त्रिनवतिः । एकविधबन्धकस्य एकमुदयस्थान त्रिंशत्, अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवति द्विनवतिरेकोननवति अष्टाशीति अशीतिः एकोनाशीति. षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । सर्वबन्धोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां शतमेकोनषष्ट्यधिकं तद्यथा त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिषु चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशति सत्ता अष्टाविंशतिबन्धे षोडश मनुजगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धे चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशति । देवगतिप्रायोग्यतीर्थकरसहितैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुर्दश एकत्रिंशद्बन्धे एकमेव प्रकृतिबन्धे अष्टाविति, बन्धाभावे उदयस्थानसत्तास्थानयो परस्परसंवेध. सामान्यत संवेधचिन्तायामिव वेदितव्य. । सम्प्रति देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां षट्स्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवं षड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । उद्योतसहितां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतमपि बध्नतामेवमेव, तीर्थंकरसहिता पुनस्त्रिंशतमथोन्मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां षट्स्वपि उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि षष्टि तदेवं गतिमाश्रित्योक्तम् ।

सम्प्रतीन्द्रियमाश्रित्याभिधीयते ।

इगविगलिंदियसगले, पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणं ।
पणछक्केकारुदया, पण पण बारस य संताणि ॥ ६५ ॥

एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रम बन्धस्थानानि पञ्च पञ्च अष्टौ । तत्रैकेन्द्रियाणा पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशति पञ्चविंशति. षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि सर्वगतिप्रायोग्यानि बन्धस्थानानि सप्रभेदानि वक्तव्यानि । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपीत्येव पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि । पञ्चेन्द्रियाणां (त्रयोविंशति पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत त्रिंशदेकत्रिंशदेक चेति) सर्वाण्यपि बन्धस्थानानि सर्वगतिप्रयोग्यानि सप्रभेदानि द्रष्टव्यानि । सम्प्रत्युदयस्थानान्युच्यन्ते (पणछक्केकारुदयत्ति) एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रम पञ्च षमेकादश उदयस्थानानि । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशति सप्तविंशति. एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि । विकलेन्द्रियाणां षट् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । एतान्यपि यथाऽधस्तादुक्तानि तथैव वक्तव्यानि । पञ्चेन्द्रियाणाममून्येकादशोदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशति. पञ्चविंशतिः षड्विंशति. सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत त्रिंशत एकत्रिंशत नवाष्टौ । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसत्कोदयस्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्चेन्द्रियाणां सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

सम्प्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते (पण पण बारस य संताणित्ति) एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रम पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि । तत्रैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां पञ्च इमानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । पञ्चेन्द्रियाणा (त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीति षडशीतिरशीतिरेकोनाशीतिरष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिर्नवाष्टौ चेति) सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि तदेव सामान्यतो बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि । सम्प्रति संवेध उच्यते एकेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्युदयेष्वष्टसप्ततिवर्ज्जानि शेषाणि चत्वारि एव पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्य सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि विंशशतम् । विकलेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि शेषेषु चतुर्षूदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्ज्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि एव पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्य सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि त्रिंश शतम् । पञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां षडुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत एकत्रिंशत । एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य भावनीयानि । अत्रैकविंशत्युदयेषु च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि शेषेषु तूदयेष्वष्टसप्ततिवर्ज्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया षड्विंशति सत्तास्थानानि । पञ्चविंशतिबन्धकस्याष्टौ उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । इहैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च शेषेष्वष्टाविंशत्यादिषु चतुर्षूदयस्थानेषु प्रत्येकमष्टसप्ततिवर्ज्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया त्रिंशत् सत्तास्थानानि । एव षड्विंशतिबन्धकानामपि अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशति पञ्चविंशति. षड्विंशति सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत त्रिंशत एकत्रिंशत एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकविंशत्यादिष्वेकोनत्रिंशत्पर्यन्तेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । त्रिंशदुदये चत्वारि द्विनवतिरष्टाशीति. षडशीतिरशीतिश्च । एकोननवतिस्तीर्थंकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्य बध्नतो मनुष्यस्यावसेया शेषाणि पुन. सामान्येन तिरश्चो मनुष्यान्वाऽधिकृत्य वेदितव्यानि । एकत्रिंशदुदये त्रीणि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेयानि अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् एमशीतिश्च मिथ्यादृष्टीना तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया न सम्यग्दृष्टीना सम्यग्दृष्टीनामवश्य देवद्विकबन्धसम्भवेनाष्टाशीतिसम्भवात् अत्र सर्वसंख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशति एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवाष्टावुदयस्थानानि तत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीति षडशीतिरशीति षट्सप्ततिस्त्रिनवतिरेकोननवतिः। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नत आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयेषु तान्येवाष्टसप्ततिवर्जानि षट् सत्तास्थानानि। एकत्रिंशदुदये आद्या-

नि चत्वारि। पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदययोः पुनरिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिस्त्रिनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । सर्वाङ्कस्थानानि । सर्वसंख्यया पुनरेकोनत्रिंश-
२१ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ द्वन्धे चतुश्चत्वारिंशत्
७ ४ ७ ४ ६ ६ ६ ४
सत्तास्थानानि त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टाबुदयस्थानानि तान्येव प्रत्येक सत्तास्थानानि केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवत्यष्टाशीतिषडशीत्यशीत्यष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशत बध्नतो वेदितव्यानि न मनुष्यगतिप्रायोग्या तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात्। देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदाहारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न सभवति त्रिनवत्येकोननवती मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशत बध्नतो देवस्य वेदितव्ये षड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि। षड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणा वा पर्याप्तावस्थायां न च तदानीं देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्यायास्त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवत्येकोननवतं। न प्राप्येते शेष तथैव सर्वाङ्कस्थापना २१ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१
७ ४ (७)५ ४ ६ ६ ६ ४
सर्वसंख्यया त्रिंशद्बन्धे द्विचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य च उदयसत्तास्थानसंवेधस्तद्यथा प्राग्मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्य । तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्त' ।

इयकम्मपगइठाणाइं, सुठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गइयाइएहिं अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥ ६६ ॥

इत्युक्तेन प्रकारेण बन्धोदयसत्तानां सम्बन्धीनि कर्मप्रकृतिस्थानानि सुष्ठु अत्यन्तमुपयोग कृत्वा गत्यादिभिः (प्रकारैर्वाच्यानि)

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायनाणे य ।
संजमदंसणलेसा, भवसम्मे सन्निआहारे ॥ ६७ ॥

इत्येवरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैरष्टसु अनुयोगद्वारेषु ।

संतपयपरूवणया, दव्वपमाण च खेत्तफुसणा य ।
कालंतरं च भावे, अप्पाबहुयं च दराइं ॥ ६८ ॥

इत्येवरूपेषु ज्ञातव्यानि तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तो विशेषतस्तु गतीन्द्रियाणि चाश्रित्य एतदनुसारेण काययोगादिभिर्मार्गणास्थानेषु वक्तव्य प्रमाणादीन्यष्टानुयोगद्वाराणि कर्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिज्ञाव्य वक्तव्यानि ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न संप्रति वर्तन्ते इति लेशतोऽपि दर्शयितु न शक्यन्ते। यस्त्वैदयुगीनेऽपि श्रुते सम्यग्गतस्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिभाव्य दर्शयितु शक्नोति तेनाऽवश्य दर्शयितव्यानि प्रज्ञोन्मेषो हि सतामद्यापि तीव्रतीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो विजायमानो लक्ष्यमाणो लक्ष्यते। अपिचान्यदपि यत्किञ्चिदपि दूषणमापतित तत्तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुपदेष्टव्य सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति कथं पुनरष्टस्वनुयोगद्वारेषु बन्धोदयसत्तास्थानानि ज्ञातव्यानीत्याह चतु प्रकारेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपेण प्रकृतिगतानि बन्धोदयसत्तास्थानानि प्राय उक्तानि एतनुसारेण स्थित्यनुभागप्रदेशगतादीन्यपि भावनीयानि। इह बन्धोदयसत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या। उदये सत्युदीरणाया अपि भावात् (एतद्विशेषतो वर्णनं सप्ततिकानामकषष्ठकर्मग्रन्थप्रकरणतोऽवसेय') कर्म०६क०। इह बन्धोदयसत्कर्मणां संवेधश्चिन्तित. सोऽपि सामान्येन ततो बन्धोदयसत्कर्मसु विशेषजिज्ञासायामतिदेशमाह ।

दुरहिगमनिपुणपरम-त्थरुइरबहुभंगदिट्ठिवायाओ ।
अत्था अणुमरियव्वा, बंधोदयसंतकम्माणं ॥६१॥

दु.खेन महता कष्टेन प्रमाणनयनिक्षेपादिभिरधिगमो निपुणः सूक्ष्मबुद्धिगम्य' परमार्थो यथावस्थितार्थो रुचिर. सूक्ष्मतरार्थ । तत्र पटुप्रज्ञानां मन.प्रह्लादकरो बहुभङ्गो बहुविकल्पो दृष्टिवादस्तस्माद्बन्धोदयसत्कर्मणां विषयेऽर्था विशेषरूपा अनुसर्त्तव्या ज्ञातव्या. । इह तु संक्षिप्तरुचिसत्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यन्ते कर्म० ६क०। प०स० । "दुविह समेच्च मेहावी, किरियमक्खायमणेलिस" (द्वे विधे प्रकारावस्येति किं तत्कर्म तच्चेर्याप्रत्ययं सांपरायिकं च आचा०।१श्रु०९अ०। (विशेषतो व्याख्या उवहाणसुय शब्दे) "सपराइयणियच्छति" द्विविध कर्म ईर्यापथ सांपरायिक च सूत्र० १ श्रु० । चतुर्विध कर्मचयं न गच्छति भिक्षुसमये इति तदभिधित्सुराह।

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं ॥

अथेत्यानन्तर्ये अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत पुरा पूर्वमाख्यात कथित किं पुनस्तदित्याह । क्रियावादिदर्शनम् । क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधान मोक्षाङ्गमित्येववदितु शील येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनमागम' क्रियावादिदर्शनम् । किम्भूतास्ते क्रियावादिन इत्याह । कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्यालोचन कर्मचिन्ता तस्या प्रणष्टा अपगता' कर्मचिन्ताप्रणष्टाः। यतस्ते अविज्ञानाद्युपचित चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्त्यतः कर्मचिन्ताप्रणष्टास्तेषां चेद दर्शन दु खस्कन्धस्यासातोदयपरपराया विवर्धन भवति । क्वचित्संसारवर्धनमिति पाठ'। ते ह्येवं प्रतिपद्यमाना संसारस्य वृद्धिमेव कुर्वन्ति नोच्छेदमिति ।

(२५) यथा ते कर्मचिन्तातो नष्टास्तथा दर्शयितुमाह ।

जाणं काएण णाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

यो हि जानन्नवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति कायेन चानाकुट्टी कुट्ट च्छेदने । आकुट्टनमाकुट्ट स विद्यते यस्यासावाकुट्टी नाकुट्टयनाकुट्टी । इदमुक्त भवति । यो हि कायादेर्निमित्ताद केवल मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके व्यापारे वर्त्तते न तस्याऽवद्यम्। तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थ. । तथाऽबधोऽजानानः कायव्यापारमात्रेण च हिनस्ति प्राणिन तत्रापि मनोव्यापाराभावान्न कर्मोपचय इति अनेन च श्लोकार्धेन यदुक्त निर्युक्तिकृता यथा "चतुर्विध कर्म नोपचीयते भिक्षुसमय इति" तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचितानुपचीयते भिक्षुसमय इति" तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्य भेदद्वय साक्षादुपात्त शेष त्वीर्यापथस्वप्नान्तिकभेदद्वय चशब्देनोपात्तम् । तत्रेरणमीर्या गमन तत्सबद्ध पन्था ईर्यापथस्तत्प्रत्यय कर्मेर्यापथम । एतदुक्त भवति । पथि गच्छतो यथाकथञ्चिदनभिसन्धेर्यत्प्राणिव्यापादन भवति कर्मणश्च यो न भवति । तथा स्वप्नान्तिकमिति । स्वप्न एव लोकोक्त्या स्वप्नान्त. स विद्यते यस्य तत्स्वप्नान्तिक तदपि न कर्म बन्धाय यथा स्वप्ने भुजि क्रियायां तृप्त्यभावस्तथा कर्मणोऽपीति कथ तर्हि तेषां कर्मोपचयो भवतीत्युच्यते। यद्यसौ हन्यमानः प्राणी

भवति हन्तुश्च यदि प्राणित्येवज्ञानमुत्पद्यते तथैन हन्मीत्येव च यदि बुद्धिः प्रादुःस्यादेतेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्त्तते तस्यामपि यद्यसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा । ततश्च कर्मोपचयो भवतीत्येषामन्यतराभावेऽपि न हिंसा न च कर्मचयः । अत्र च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गा भवन्ति । तत्र प्रथमभङ्गे हिंसकोऽपरेष्वेकत्रिंशत्स्वहिंसकः । तथा चोक्तं । "प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा" किमेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव काचिदव्यक्तिमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चार्द्धमाह । (पुट्ठोत्ति) तेन केवलमनोव्यापाररूपपरिज्ञोपचितेन केवलकायक्रियोच्छेदेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्नान्तिकेन च चतुर्विधेनापि कर्मणा स्पृष्ट ईषत्स्पृष्टः सत्तत्कर्मासौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति न तस्याधिको विपाकोऽस्ति कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत्स्पर्शानन्तरमेव परिशटतीत्यर्थः । अत एव तस्य चयाभावोऽभिधीयते न पुनरत्यन्ताभाव इति । एवं च कृत्वा तदव्यक्तमपरिस्फुटं खुरवधारणे अव्यक्तमेव स्पष्टविपाकानुभावाभावात् । तदेवमव्यक्तं सद्यावद्येन गर्ह्येण वर्तते तत्परिज्ञोपचितादिकर्मेति ॥ २५ ॥

ननु च यदनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथं तर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह ।

संति मे तउ आयाण, जेहिं कीरइ पावगं ।

अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया २६ ॥

(सन्ति मे इत्यादि) सन्ति विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि । एतदेव दर्शयति । यैरादानैः क्रियते विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषं तानि चामूनि तद्यथा अभिक्रम्येत्याभिमुख्येन वध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानम् । तथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्य समादिश्य यत्प्राणिव्यापादनं तद् द्वितीयं कर्मादानमिति । तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं कर्मादानम् । परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह त्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति ॥२६॥ तदेवं यत्र स्वयंकृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणातिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नान्यत्रेति दर्शयितुमाह ।

एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।

एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

(एएउ इत्यादि) तुरवधारणे एतान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचीयत इति । एवं च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणं प्रति न विद्यन्ते तथाभावशुद्ध्या अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवर्त्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते केवलेन मनसा कायेन वा मनोभिसन्धिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेर्न कर्मोपचयस्तदभावाच्च निर्वाणं सर्वद्वन्द्वोपरतिभावमभिगच्छत्यभिमुखेन प्राप्नोतीति । भावशुद्ध्या प्रवर्त्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्रार्थे दृष्टान्तमाह ।

पुत्त पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए ।

भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नो विलिप्पइ ॥ २८ ॥

पुत्रमपत्यं पिता जनकः समारभ्य व्यापाद्याहारार्थं कस्यांचित्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्टोऽसंयतो गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि चशब्दस्याशब्दार्थत्वादिति । तथा मेधाव्यपि संयतोऽपीत्यर्थः तदेव गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताश्यपि कर्मणा पापेन नोपलिप्यते नाश्लिष्यत इति यथा चात्र पितुः पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्तद्विष्टमनसः कर्मबन्धो न भवति तथाऽन्यस्याप्यरक्तद्विष्टान्तःकरणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति ।

सांप्रतमेतद्दूषणायाह ।

मणसा ये पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।

अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

ये हि कुतश्चिन्निमित्तान्मनसाऽन्तःकरणेन प्रदुष्यन्ति प्रद्वेषमुपयान्ति तेषां वधपरिणतानां शुद्धं चित्तं न विद्यते तदेव यच्चैरभिहितं यथा केवलमनःप्रद्वेषेऽप्यनवद्यं कर्मोपचयाभाव इति ततस्तेषामतथ्यमसदर्थाभिधायित्वं यतो न ते संवृत्तचारिणो मनसोऽशुद्धत्वात् । तथाहि कर्मोपचये कर्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं यतस्तैरपि मनोरहितकेवलकायव्यापारे कर्मोपचयाभावोऽभिहितः ततश्च यद्यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारणमिति । ननु तस्यापि कायचेष्टारहितस्याऽकारणत्वमुक्तम् सत्यमुक्तम् । अयुक्तं तूक्तं यतो भवतैवैवं भावशुद्ध्या निर्वाणमभिगच्छतीति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्यमभ्यधायि तथाऽन्यदप्यभिहितम् "चित्तमेव हि संसारे रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते" तथान्यैरप्यभिहितम् "मतिविभवमनस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसां, परिणमति शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव । नियतनरकवर्त्मप्रस्थिताः कष्टमेव, झुपाचितशुभशक्त्या सूर्यसभेदिनोऽन्ये" १ तदेवं भवदभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तं भवति । तथेर्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो घातितवान् ततोऽनुपयुक्ततैव क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव । अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव तथा चोक्तम् "उच्चालियं मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥ ण य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समये । अणवज्जो उपयोगे, ण सव्वभावेण सो जम्हा" ॥२॥ स्वप्नान्तिके ऽप्यशुद्धचित्तसद्भावादीषद्बन्धो भवत्येव स च भवतोऽप्यभ्युपगतप्रायोऽव्यक्तं तत्सावद्यमित्यनेनेति तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारबन्धसद्भावात् यदुक्तं भवता प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि तत्सर्वं प्लवत इति । यदप्युक्तं पुत्रं पिता समारभ्येत्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं यतो मारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूत्तावन्न कश्चिद्व्यापादयति एवंभूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता चित्तसंक्लेशे चावश्यंभावी कर्मबन्धः इत्युभयोरपि संवादोऽत्रेति । यदपि च तैः क्वचिदुच्यते यथा परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष इति तत्र पिशितभक्षणेऽनुमतिरप्रतिहता ऽस्माच्च कर्मबन्ध इति । तथा चान्यैरप्यभिहितम् । "अनुमन्ता विशसिता, सहर्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्टघातकाः " यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तज्जैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति । तदेवं कर्मचतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिदधाना कर्मचिन्तानो नष्टा इति सुप्रतिष्ठमिदमिति ॥ २९ ॥

अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरंपरां दर्शयितुमाह ॥

इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया ।

सरणं ति मन्नमाणा, सेवंती पावगं जणा ॥ ३० ॥

त्येताभिः पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति दृष्टिभिरभ्युपगमैस्ते वादिनः सातागौरवनिश्रिताः सुखशीलतायामासक्ता यत्किंचनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं शरणमिदमस्मदीयं दर्शनमित्येवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया सेवन्ते कुर्वन्ति पापमवद्यमेव व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अस्यवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह ।

जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयई ॥ ३१ ॥

(जहा अस्साविणिमित्यादि) आ समन्तात्स्रवति तच्छीला आस्राविणी सच्छिद्रेत्यर्थः । तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्य पारं तटमागन्तु प्राप्तुमिच्छत्यसौ तस्याश्च स्राविणीत्वेनोदकप्लुतत्वादन्तराले जलमध्य एव विषीदति वारिणि निमज्जति । तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥ ३१ ॥

सांप्रतं तद्दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह ।

एवं तु समणा एगे, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टं ति त्ति बेमि ३२ ॥

यथाऽन्धः सच्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नालं तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः । तथा पिशिताशनानुमतेरनार्याः स्वदर्शनानुरागेण संसारपारकाङ्क्षिणो मोक्षाभिलाषुका अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनानिपुणत्वाच्छास्त्रमनस्य संसारमेव चतुर्गतिसंसरणरूपमनुपर्यटन्ति । भूयो भूयस्तत्रैव जन्मजरामरणादौ गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते न विवक्षितमोक्षसुखमाप्नुवन्तीति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥३२॥ सूत्र०१श्रु०१अ०२उ०।

(३६) सोपक्रमनिरुपक्रमादिना कर्मद्वैविध्यमाह ।

कर्मभेदा सोपक्रमनिरुपक्रमाद्यस्तत्र यत्फलजननाय सहोपक्रमेण कार्यकारणाभिमुख्येन वर्त्तते यथोष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रं वस्त्रं शीघ्रमेव शुष्यति निरुपक्रमं त्र विपरीतं यथा तदेवार्द्रं वासः पिण्डीकृतमनुष्णे देशे चिरेण शोषमेतीति द्वा० २६ द्वा० ॥

अस्योदाहरणम् ॥ ननु तीर्थंकरा यत्र विहरन्ति तत्र देशे पञ्चविंशतियोजनानि आदेशान्तरेण द्वादशाना मध्ये तीर्थंकरातिशयान्न वैरादयोऽनर्था भवन्ति यदाह " पञ्चुप्पन्ना रोगा, पसमंति इइवेरमारीओ । अइवुट्ठि अणावुट्ठी न होइ दुब्भिक्खडमरं वेति " तत्कथं श्रीमन्महावीरे भगवति पुरिमताले नगरे व्यवस्थित एवाभग्नसेनस्य पूर्ववर्णितो व्यतिकरः संपन्न इत्यत्रोच्यते सर्वमिदमर्थानर्थजातं प्राणिनां स्वकृतकर्मणः सकाशादुपजायते । कर्म च द्विधा सोपक्रमं निरुपक्रमं च तत्र यानि वैरादीनि सोपक्रमसपाद्यानि तान्येव जिनातिशयादुपशाम्यन्ति सदौषधात्साध्यव्याधिवत् । यानि तु निरुपक्रमकर्मसपाद्यानि तान्यवश्यं विपाकतो वेद्यानि नोपक्रमकारणविषयाणि असाध्यव्याधिवत् । अत एव सर्वातिशयसंपत्समन्वितानां जिनानामप्यनुपशान्तवैरभावा गोसालकादय उपसर्गान् विहितवन्त इति । विपा० ३ अ० ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते छट्ठस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था। तत्थ णं रायगिहस्स बहिया उत्तरपुरिच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसेलिए णामं चेइए होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसेलए चेइए तेणेव समोसढे अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ परिसा णिग्गया सेणिओ विणिग्गओ धम्मो कहिओ परिसा णिग्गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे अदूरसामंते जाव सुक्कज्झाणोवगए विहरति । तए णं से इंदभूई जायसड्ढे एवं वयासी । कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छति गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे एगमहं सुक्कं तुंबं निच्छिड्डं निरुवहय दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ वेढेइत्ता मट्टियालेवेणं लिंपति उण्हे दलयति दलयइत्ता सुक्कं समाणं दोच्चं पि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ वेढेइत्ता मट्टियालेवेणं लिंपइ लिंपइत्ता उण्हे सुक्कं समाणं तच्चंपि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेति मट्टिया लेवेणं लिंपइ । एवं खलु एएणं उवाएणं अंतरा वेढेमाणे अंतरा लिंपेमाणे अंतरा सुक्कावेमाणे जाव अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं आलिंपति अत्थाहं सिअ तारमसिय अपारमपोरसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा से णूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयभारियत्ताए उप्पिं सलिलमतिवत्तित्ता अहे धरणितले पइट्ठाणे भवति । एवामेव गोयमा ! जीवावि पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं आणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ समज्जिणित्ता तासिं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयभारियत्ताए कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवइत्ता अहेणरगतलपइट्ठाणो भवति एवं खलु गोयमा ! जीवो गुरुयत्तं हव्वमागच्छति । अहण्णं गोयमा ! से तुंबे तेसिं पढमिल्लगंसि मट्टियालेवंसि तित्तंसि कुहियंसि परिसडियंसि ईसिं धरणितलाओ उप्पइत्ताणं चिट्ठति । तयाणंतरं च णं दोच्चं पि मट्टियालेवे जाव उप्पइत्ताणं चिट्ठइ । एवं खलु एएणं उवाएणं तेसु अट्ठसु मट्टियालेवेसु तित्तेसु जाव निमुक्कबंधणे अहेधरणियलमवइत्ता उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवइ । एवामेव गोयमा ! जीवा पाणातिवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं आणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्गपइट्ठाणा भवंति एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति एवं खलु जंबू समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ॥

सर्व्वं सुगमं नवरं निवहतं वातादिभिर्दर्भैरप्रभूतैः कुशैर्मूलभूतैर्जात्या दर्भः कुशभेद इत्यन्ये (अत्थाहमिति) अस्ताधे अगाधे इत्यर्थः पुरुषः परिमाणमस्येति पौरुषिकं तद्विशेषात् पौरुषिकं मृल्लेपानां सम्बन्धाद् गुरुकतया गुरुकतैव कुतः भारिकतया मृल्लेपजनितभारवत्त्वेनेति भावः । गुरुकभारिकतयेति तु धर्म्मद्वयमप्यधोमज्जनकारणताप्रतिपादनायोक्तम् (उप्पि) उपरि 'अइवइत्ता' अतिपत्यातिक्रम्य (तिमसिति) स्तिमिते आर्द्रतां गते ततः कुथिते कोथमुपगते ततः परिसटिते पतित इति । इह गाथे "जह मिउलेवालित्तं, गुरुयं तुंबं अहो वयइ एवं । आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१॥ तं चेव तिव्वमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जाइ लहुभावं । जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति " ज्ञा० ६ अ० ।

आह गुरुलघुकमगुरुलघुकं वा द्रव्यं भवति नचैकान्तगुरुकमनेकान्तलघुकमित्यागमेऽभिधीयते ततः कर्मणा गुरवस्तदा जीवा अधो गच्छन्ति लघुतया चोर्द्ध्वमिति कथं न विरुध्यते उच्यते इह हि यदागमे गुरुलघुकमगुरुलघुकं वा द्रव्यमुक्तं तन्निश्चयनयमते "निच्छयओ सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं " इति वचनात् । इह तु व्यवहारनयमते "गुरुयं लहुयं मीसं" इत्यादि वचनात् गुरुकं लघुकं मिश्रं गुरुलघुकमिथ गुरुलघुकमित्यर्थः । एवं व्यवहारनयमतेनोक्तम् । तत्र पुनरेतेषां मध्ये ये प्रथमद्वितीयपदे ते सर्वत्रापि निश्चयनयमताश्रितेषु सूत्रेषु प्रतिषिद्धे । तथाहि स निश्चयनयो ब्रवीति नास्त्येकान्तेन गुरुस्वभावं किमपि वस्तु पराभिप्रायेण गुरुत्वेनाभ्युपगतस्यापि लोष्टादेः परप्रयोगादूर्ध्वादिगमनदर्शनात् । एवमेकान्तेन लघुस्वभावमपि नास्ति इति लघ्वोरपि बाष्पादेः करतालनादिना अधोगमनादिदर्शनात् । तस्मादिह वस्तुनः परिभाषा यत्किमप्यत्र जगति बादरं वस्तु न सर्वं गुरु लघु शेषं तु सर्वमप्यगुरुलघुकमिति । इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह ।

ओराल वेउव्वाहार तेयगं सरीरं, गुरुलहुदव्वाणि कायजोगा य ।
मणभासा अगुरुलहु, अरूविदव्वा य सव्वे वि ॥

औदारिकशरीरादारभ्य तैजसशरीरं यावत् यानि द्रव्याणि यश्च तेषामेव संबन्धात् काययोगः शरीरव्यापार एतत्सर्वं गुरुलघुकमिति निर्दिष्टम् । यानि तु मनोभाषाप्रायोग्याण्युपलक्षणत्वादानपानकर्मणा प्रायोग्याणि तदपान्तरालवर्तीनि च द्रव्याणि यानि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायलक्षणान्यरूपिद्रव्याणि तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम् ।

अहवा बायरबोंदी, कलेवरा गुरुलहू भवे सव्वे ।
सुहुमाणंतपएसा, अगुरुलहू जाव परमाणू ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने बादरा बोन्दिः शरीरं येषां ते बादरबोन्दयो बादरनामकर्मोदयवर्तिनो जीवा इत्यर्थः तेषां सम्बन्धीनि यानि कलेवराणि यानि वा पराण्यपि बादरपरिणतानि तत्राम्भोधरादीनि शक्रचापगन्धर्वपुरप्रभृतीनि वा वस्तूनि तानि सर्वाण्यपि गुरुलघून्युच्यन्ते यानि तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिनां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अनन्तप्रदेशिकादीनि परमाणुपुद्गलं यावत् द्रव्याणि तानि सर्वाण्यगुरुलघूनि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह ।

ववहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुया य मीसगा चेव ।
लहुगपदीवपासुव्व, एवं जीवाण कम्माइं ॥

व्यवहारनयं प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि द्रव्याणि भवन्ति तद्यथा गुरुकाणि लघुकानि मिश्रकाणि च गुरुलघूनीत्यर्थः । तत्र यानि तिर्यगूर्द्ध्वं वा प्रक्षिप्तान्यपि स्वभावादेवाधो निपतन्ति तानि गुरुकाणि यथा लेष्टुप्रभृतीनि । यानि तूर्द्ध्वगतिस्वभावानि तानि लघुकानि यथा प्रदीपकादीनि । यानि तु नाधोगतिस्वभावानि न वा ऊर्द्ध्वगतिस्वभावानि किं तर्हि तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि यथा मारुतो वायुस्तत्प्रभृतीनि एवं जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधा भवन्ति गुरूणि लघूनि गुरुलघूनि वा । तत्र यैरमी जीवा अधोगतिं नीयन्ते तानि गुरुकाणि यैस्तु न पयोर्द्ध्वगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि यै पुनस्तिर्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा गतिं कार्यन्ते तानि गुरुलघुकानीति तदेव व्यवहारनयाभिप्रायेण समर्थितः कर्मणां गुरुत्वलघुत्वगुरुलघुत्वपरिणामः । अथ परः प्राह । ननु जीवास्तावत् स्ववशा एव ज्ञानावरणादिकं कर्मोपचिन्वन्ति ततो गतिरपि तेषां स्ववशतया किं न प्रवर्त्तते यदेषां कर्मोदयबलादूर्द्ध्वमधस्तिर्यग्वा नीयन्ते । उच्यते ।

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होंति ।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परवसो तत्तो ॥

जीवाः स्ववशाः स्वतन्त्रा एव मिथ्यात्वाविरत्यादिभिः कर्म चिन्वन्ति बध्नन्तीत्यर्थः परं तस्य कर्मण उदये ते जीवाः परवशा भवन्ति । अथ कश्चित्पुरुषो वृक्षमारोहन् स्ववशः स्वाभिप्रायानुकूल्येनारोहति स च कुतश्चिद् दुष्प्रमादात्ततो विगलन् परवशः स्वकाममन्तरेणैव विगलति । आह यद्येवं ततः किं संसारिणो जीवाः सर्वथैव कर्मपरवशा एव । उच्यते नायमेकान्तो यत आह ।

कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिं वि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणओ कत्थई बलवं ॥

कर्मवशाः खलु प्रायेण अमी संसारिणो जीवाः परं कुत्रचित्प्रबलधृतिबलादिसद्भावे कर्माण्यपि जीववशानि । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति यथा कुत्रचिज्जनपदादौ धनिको व्यवहारको बलवान् कुत्रचित्पुनः प्रत्यन्तग्रामादौ धारणिकः ऋणधारकोऽपि बलवान् । इयमत्र भावना । यदि जनपदमध्यवर्त्ती अविद्यमानविभवो वा धारणिकस्तदा धनिको बलीयान् । अथ धारणिकः प्रत्यन्तग्रामे वा पल्ल्यां वा गत्वा स्थितः तथा तस्य तथाविधं किमपि द्रव्यमस्ति ततो धारणिको बलवान् भवति । एष दृष्टान्तः । अथार्थोपनयमाह ।

धणियसरिसं तु कम्मं, धारणिगसमा उ कम्मिणो होंति ।
संतासंतधणा जह, धारणिगा धिइबलं तणु ॥

एवंविधधनिकसदृशं कर्म धारणिकसमानाः कर्मिणः सकर्मका जीवा भवन्ति सुखदुःखोपभोगादिऋणधारकत्वात्तेषामिति भावः । यथा च सन्तो विद्यमानविभवा असन्तोऽविद्यमानविभवा धारणिका भवन्ति तत्र च विद्यमानविभवे धारणिके धनिकस्य यदि कार्यं भवति तदा राजकुलबलेन तं धारणिकं धृत्वा स्वकीयं द्रव्यं बलादपि गृह्णाति स च धारणिकस्तस्मिन् द्रव्ये दत्ते सति अनृणी भवति । अथ सोऽविद्यमानविभवस्ततो धनिकेन स्ववशीक्रियते स्ववशीकृतश्च तत्पारवश्येन वर्तमानो दुःसहं दासत्वादि महादुःखोपनिपातमनुभवति । एवमत्रापि धृतिबलं (तणुत्ति) शारीरं च बलं यस्याभिमानवतां कलमवसेयम् । इदमुक्तं भवति यस्य जीवस्य वज्रकुड्यसमान

विशिष्टं मनःप्रणिधानबलं वज्रऋषभनाराचसंहननलक्षणं च शारीरं बलं भवति स धनिकसदृशं कर्म क्षपयित्वा सुखेनैवानृणीभवति। यस्य तु धृतिबलं शारीरबलं वा न भवति स तेन कर्मणा वशीक्रियते वशीकृतश्च तत्परतन्त्रतया वर्तमानो विविधशारीरमानसदुःखोपनिपातमनुभवति। आह धृतिसंहननबलोपेतो यत्कर्म क्षपयति तत्किमुदीर्यानुदीर्यं वा क्षपयतीत्युच्यते।

महणासहणो कालं, जह धणिओ एवमेव कम्मं तु ।
उदियाणुदिक्खवणा, होज्ज भिया आउवज्जेसु ॥

धनिको द्विधा सहिष्णुरसहिष्णुश्च। यः सहिष्णुः स विवक्षितं कालं प्रतीक्षते इतरस्तु न प्रतीक्षते एवमेव कर्मापि किंचित्स्वकालमूर्त्ती किंचित्पुनरतामन्तरेणापि स्वविपाकं दर्शयतीत्येवमुदीर्णस्यानुदीर्णस्य वा कर्मणः क्षपणा धृतिसंहननबलोपेतस्य भवेत् (सियत्ति) स्यात्कदाचित्कस्याप्येव भवति न सर्वस्य। यस्तु संहननबलविहीनः स उत्कर्ममनुदीर्णं कर्म देशतः क्षपयेत् न सर्वतः (आउवज्जेसु त्ति) आयुःकर्मवर्ज्जानां शेषकर्मणामनुदीर्णानामपि क्षपणं भवति आयुषः पुनरुदीर्णस्यैव क्षपणमिति भावः। तदेवं धनिकधारणिकदृष्टान्तेन जीवकर्मणोरुभयोरपि तुल्यमेव यथायोगं बलीयस्त्वं द्रष्टव्यम्। उक्तं च "दृग्नाशो ब्रह्मदत्ते भरतनृपजयः सर्वनाशश्च कृष्णे, नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलत्वम्। निर्वाणं नारदेऽपि प्रशमपरिणतः स्याच्चिलातीसुतेऽपि, इत्थं कर्मात्मवीर्ये स्फुटमिह जयति स्पर्धया तुल्यरूपं" इत्यलं सप्रपञ्चं भावाधिकरणम्। वृ० १ उ०।

सह कलेवर रे वद चिन्तय, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा ।
बहुतरं च सहिष्यसि कर्म हे, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते
आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

कम्माणि णूण घणचिक्कणाइं, गहिआइं वइरसाराइं ।
णाणड्डिय पि पुरिसं, पथओ उप्पहं तिणो आचा०६अ०३उ० ॥

भवो यः स्वत एव मोहसलिलो जन्मालवालोऽशुभो ।
रागद्वेषकषायसन्ततिमहानिर्विघ्नबीजस्त्वया ।
रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमितः कर्मद्रुमः सांप्रतं, ।
सोढा नो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरधोगामिभिः ।
पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तथाऽयं, ।
न खलु भवति नाशः कर्मणां सञ्चितानाम् ।
इति सह गणयित्वा यद्यदा याति सम्यक्,
सदिति वद विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्त्यः । आचा० १ श्रु० २ अ०।

शुभाशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः ।
स्वयमेवोपभुज्यन्ते, दुःखानि च सुखानि च उत्त० १ अ०।
यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते सूत्र० २ श्रु० १ अ०।
दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः स्या० ॥

क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते ।
योगादेव क्षयस्तेषां, न भोगादनवस्थितेः ॥ ३१ ॥
ततो निरुपमं स्थान-मनन्तमुपतिष्ठते ।
भवप्रपञ्चरहितं, परमानन्दमेदुरम् ॥ ३२ ॥

क्लेशा इति नोऽस्माकं मते पापान्यशुभविपाकानि बहुभेदानि विचित्राणि कर्माणि ज्ञानावरणीयानि क्लेशा उच्यन्तेऽतः कर्मक्षय एव क्लेशहानिरिति भावः। तत्तु "नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभं" मिति वचनाद्भोगादेव कर्मणां क्षये तस्याप्यपुरुषार्थत्वमनिवारितमेवेत्यत आह योगादेव ज्ञानक्रियासमुच्चयलक्षणात् क्षयस्तेषां नानाभवार्जितानां प्रचितानां न भोगादनवस्थितेर्भोगजनितकर्मान्तरस्यापि भोगनाश्यत्वादनवस्थानात्। ननु त्वरितापिप्रवृत्तभोगस्य न कर्मान्तरजनकत्वं प्रचितानामपि च तेषां क्षयो योगजादृष्टाधीनं कायव्यूहबलाद्भुज्यत इति चेन्न प्रायश्चित्तादिनापि कर्मनाशोपपत्तेः कर्मणां भोगैकनाश्यत्वस्याव्यवस्थितौ योगेनापि तन्नाशसंभवे कायव्यूहादिकल्पने प्रमाणाभावात्। कर्मणां ज्ञानयोगनाश्यतया "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनेति" भवदागमेनापि सिद्धत्वात्। नरादिशरीरसत्त्वे शूकरादिशरीरानुपपत्तेः कायव्यूहानुपपत्तेर्मनोन्तरप्रवेशादिकल्पने गौरवाच्च। ये त्वाहुः पातञ्जला "अग्नेः स्फुलिङ्गानामिव कायव्यूहदशायामेकस्मादेव चित्तात्प्रयोजकाऽभावाच्चित्तानां परिणामोऽस्मितामात्रादिति" तदुक्तं "निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामिति" तेषामप्यनन्तकालप्रचितानां कर्मणां नानाशरीरोपभोगनाश्यत्वकल्पनमोह एव तावदृष्टानां युगपद्वृत्तिलाभानुपपत्तेरिति निरुपक्रमकर्मण एव भोगैकनाश्यत्वमाश्रयणीयमिति सर्वमवदातम् ३१ (तत इति) सुगमम् ३२। द्वा०२६ द्वा०।

(३७) कर्मक्षयविचारः ।

तस्य सम्यग्ज्ञानस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वान्निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद्रागादयो न भवन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादाद्रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्व्यावर्त्तते तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिरारब्धकार्ययोश्चोपभोगात्प्रक्षय इति सञ्चितयोश्च तयोः प्रक्षयस्तत्त्वज्ञानादेव तदुक्तं "यथैधांसि समिद्धोऽग्नि-र्भस्मसात्कुरुते क्षणात्। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात्कुरुते तथा" अथोपभोगादपि प्रक्षये "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपी" त्यागमोऽस्ति तथा च विरुद्धार्थत्वादुभयोरेकत्रार्थे कथं प्रामाण्यमुपभोगाच्च प्रक्षयेऽनुमानोपन्यासमपि कुर्वन्ति। पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वाद्यद्यत्कर्म तत्तदुपभोगादेव क्षीयते यथाऽऽरब्धशरीरं कर्म तथा चैतत्कर्म तस्मादुपभोगादेव क्षीयत इति। न चोपभोगात्प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यंभावात्संसारानुच्छेदः। समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धानविकलस्य कर्मानुपपत्तिस्तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तेर्ज्ञानतोऽपि तदर्थितया प्रवृत्तेर्वैद्योपदेशादातुरस्यैवौषध्याद्याचरणे ज्ञानमप्येवमशेषशरीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात्कर्मणां विनाशव्यापारादग्निरिवोपचर्यत इति व्याख्येयम्। ननु साक्षान्नैतद्वाच्यं तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानादितरेषां तूपभोगादिति ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात् नच मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य सहकारिणोऽभावाद्विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरशरीराण्यारभन्त इत्यभ्युपगमः श्रेयोऽनुत्पादितकार्यस्य कर्मलक्षणस्य कार्यवस्तुनः प्रक्षयान्नित्यत्वप्रसक्तेः। अथानागतयोर्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधस्तत्त्वज्ञानिनां नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं कथं प्रत्यवायपरिहारार्थं तदुक्तं "नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्॥ अभ्यासात्पक्वविज्ञानः, कैवल्यं लभते नरः"॥ केवलं काम्ये निषिद्धे च प्रवृत्तिप्रतिषेधस्तदुक्तं "नित्यनैमित्तिके कुर्या-त्प्रत्यवायजिहासया। मोक्षार्थी न

प्रवर्तेत, तत्र काम्यनिषिद्धयोरिति " सम्म १५५ पत्र ॥

अस्य खण्डनम् ।

यत्तूक्तमारब्धकार्ययोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात्प्रक्षयः सञ्चितयोश्च तत्त्वज्ञानादित्यादि तदपि न सङ्गतमुपभोगात्कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमयेऽपरकर्मनिमित्तस्याभिलापपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारस्वरूपस्य समवादविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणः सद्भावात्कथमात्यन्तिकः कर्मक्षयः सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञाननिवृत्त्यादिक्रमेण पापक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्यागामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत्संचितकर्मक्षयेऽपि सामर्थ्यं सम्भाव्यत एव यथोष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ समर्थस्य पूर्वप्रवृत्तशीतस्पर्शादिध्वंसेऽपि सामर्थ्यमुपलब्धं किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानं न पुनरेकान्तनित्यात्मादिविषयं तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेर्यथा चैकान्तवादिपरिकल्पित आत्मादयोऽर्थो न सम्भवति तथा स्थाने निवेदयिष्यते। मिथ्याज्ञानस्य च मुक्तिहेतुत्वं परेणापि नेष्यत एवातो यदुक्तं 'यथैधांसीत्यादि' तत्सर्वं संवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षयसामर्थ्यमभ्युपगम्यते तत्सिद्धमेव साधितम् । यच्चोपभोगादशेषकर्मक्षयेऽनुमानमुपन्यस्तं तत्र यदेवागामिकर्मप्रतिबन्धे सामर्थ्यं सम्यग्ज्ञानादि तदेव सञ्चितक्षयेऽपि परिकल्पयितुं युक्तमिति प्रतिपादितं सर्वज्ञसाधनप्रस्तावेवोपभोगात्तु प्रक्षये स्तोकमात्रस्य कर्मणः प्रचुरतरकर्मसंयोगसञ्चयोपपत्तेर्न तदशेषक्षयो युक्तिसंगतः । कर्मत्वादिति च हेतुः सन्तानत्ववदसिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वान्न प्रकृतसाधकः । असिद्धत्वादिदोषोद्भावनं च सन्तानत्वहेतुदूषणानुसारेणातिसंख्यानेन निवर्त्तयितुमशक्यत्वान्मानसो विकल्पः । तथा ह्यनुमानबलात्क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽपि नानेकत्वप्रत्ययो विवर्त्तते शाक्यान्ते तु प्रतिसंख्यानेन विचारयितुं कल्पना न पुनः प्रत्यक्षबुद्धयस्तत्साध्याऽश्व विकल्पयतोऽपि गोदर्शनान्न गोप्रत्ययो विकल्पस्तथा स्वयमेव वाच्यं न पुनरुच्यते ग्रन्थगौरवभयात् । यच्च समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्येत्यादि तदप्ययुक्तमभिलापरूपरागाद्यभावे ह्युपभोगासम्भवात् सम्भवेऽपि चावश्यंभावि ऋद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि प्रचुरतरधर्माधर्मसम्भवोऽतिमोगिन इव नृपत्यादेर्वैद्योपदेशप्रवर्त्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसंगतः तस्यापि नीरुग्भावाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्यौषध्याद्याचरणे वीतरागत्वासिद्धेः । न च मुमुक्षोरपि मुक्तिसुखाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्य सरागत्वं सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरागविगमस्य सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या प्राक्प्रसाधितत्वाद्भवोपग्राहिकर्मनिमित्तस्य तु आहारबुद्धिशरीरारम्भप्रवृत्तिरूपस्य सातजनकस्य शैलेश्यवस्थाया मुमुक्षोरभावात् । प्रवृत्तिकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य मोक्षसुखाभिलाषस्याप्यासिद्धेर्न मुमुक्षो रागित्वम् । प्रसिद्धश्च भवतां प्रवृत्त्याख्यो भाविधर्माधर्मप्रतिबन्धकः यश्च भाविधर्माधर्माभ्यां विरुद्धो हेतुः स एव सञ्चिततत्क्षयेऽपि युक्त इति प्रतिपादितमत एव सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मक एव हेतुर्भाविभूतकर्मसम्बन्धप्रतिघातकत्वान्मुक्तिप्राप्त्यवन्ध्यकारणं नान्य इति तेन यदुक्तं तत्त्वज्ञानादिभिन्न तदयुक्तमेव । यत्त्वितरेषामुपभोगादिति तदयुक्तमुपभोगात्तत्क्षयानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात् । यत्तु नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुत्वेन प्रतिपादितं तदिष्टमेवास्माकं केवलज्ञानप्राप्तोत्तरकालं तु शैलेश्यवस्थायामशेषकर्मनिर्जरणरूपायां सर्वक्रियाप्रतिषेध एवाभ्युपगम्यत इति न तन्निमित्तो धर्माधर्मफलप्रादुर्भावः । प्रवृत्तिनिमित्तेरात्यन्तिक्यास्तत्क्षयहेतुत्वसिद्धेः सम्म० । तथा मूर्त्तैः कर्मभिरमूर्त्तस्य जीवस्य वह्न्ययःपिण्डन्यायेन कथं सम्बन्ध इति प्रश्ने अरूपिभिः सह रूपिणां संयोगसम्बन्धसम्भवत्येव यथाऽऽकाशेन सह परमाणूनां पक्षिणां वा वह्न्ययःपिण्डन्यायेन तु सम्बन्धविशेषो व्यवस्थाप्यते न तु रूपिष्वनियतः सम्बन्ध इति न किंचिदनुपपन्नम् । ४०७ श्येन ३ उल्ला० ।

कम्मओ—कर्मतस्—अव्य० कर्मणः सकाशादित्यर्थे, भ० १२ श० ५ उ० ।

कम्मंत—कर्मान्त—पुं० कर्महेतौ, "तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जति" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कम्मंतसाला—कर्मान्तशाला—स्त्री० न० "सुहादिया जत्थ कम्मं विज्जंति सा कम्मंतसाला " क्षुधादि यत्र परिकम्यते सा कर्मान्तशाला इत्युक्तलक्षणायां शालायाम्, कर्मान्तगृहमप्यत्र नि० चू० ८ उ० । प्रश्न० ।

कम्मंस—कर्मांश—पुं० कर्मभेदेषु, भ० १५ श० १ उ० । व्यापारांशेषु, औ० ।

पढमसमयजिणस्स णं चत्तारि कम्मंसा खीणा भवंति तंजहा णाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्जं मोहणिज्जं अंतराइयं । उप्पन्नणाणदंसणधरेणं अरहा जिणे केवली चत्तारि कम्मंसे वेदेति तंजहा वेयणिज्जं आउयं णामं गोयं ॥

प्रथमः समयो यस्य स तथा स चासौ जिनश्च सयोगिकेवलिप्रथमसमयजिनस्तस्य कर्मणः सामान्यस्यांशा ज्ञानावरणीयादयो भेदा इति । उत्पन्ने आवरणक्षयाज्जाते ज्ञानदर्शने विशेषसामान्यबोधस्वरूपे धारयतीति उत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽनेनानादिसिद्धकेवलज्ञानवत सदाशिवस्यासद्भावं दर्शयति न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य सकलसन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहा देवादिपूजार्हत्वेनार्हन्वा । रागादिजेतृत्वाज्जिनः । केवलानि परिपूर्णानि ज्ञानादीनि यस्य सन्ति स केवलीति । सिद्धत्वस्य कर्मक्षपणस्य च एकसमये सम्भवात् स्था० ४ ठा० । (के देवा कियता कालेनाऽनन्तान् कर्मांशान् क्षपयन्तीति खवण शब्दे)

कम्मकड—कर्मकृत—त्रि० ३ त–कर्मनिर्वर्तिते, ७ ब० कर्मकरणाधिकरणे, "इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए मेहुणवत्तिए नाम संजोए समुप्पज्जइ" – नामकर्मनिर्वर्तितायां योनौ, अथवा कर्म मदनोद्दीपको व्यापारस्तत्कृत यस्या सा कर्मकृता भ० ७ श० ५ उ० ।

कम्मकर—कर्मकर—त्रि० कर्म करोतीति कृ–ट–वेतनेन कर्मकारके, स्त्रियां ङीप्–वाच० । आचा० । औ० । आ० म० द्वि० । भृतके, वृ० १ उ० । लोकहितादिकर्मकरे, दशा० ७ अ० । कर्माश्रित्य करं, आ० म० द्वि० । (करशब्दे तन्निक्षेपे विवृतिः) ताच्छील्ये–दासे कर्मकरणशीले, स्त्रीयां ङीप् ढाहिंसायाम्–कृ–मन्–कर्म हिंसां करोतीति । हेत्वादौ, यमे, पु० मेदि० । सर्वप्राणिहिंसाया तस्याधिकृततया च तस्य तथात्वम् सर्वाऽलतायाम्, स्त्री० मेदि० ।

कम्मकरण—कर्मकरण—न० कर्मविषयं करणं बन्धसंक्रमादिनिमित्तभूते जीववीर्ये, भ० ६ श० १ उ० ।

कम्म (कत्ता) कारि-कर्मकर्त्तृ-पु० कर्मैव कर्त्ता (कत्ताशब्दे विवृत्तिः) व्याकरणोक्ते कर्मण. कर्तृत्वविवक्षया प्राप्तकर्तृत्वभावे कर्मणि, क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति। सुकरै' स्वैर्गुणै' कर्ता कर्मकर्त्तेति तद्विदुः" यथा देवदत्त ओदन पचतीति कर्त्तुर्देवदत्तस्याविवक्षया पच्यते ओदनः स्वयमेव अत्र कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः । इत्यतिदेशात् यगात्मनेपदादयः वाच० । " कइ दिसिं पोग्गला चिज्जंति" पुद्गलाश्चीयन्ते कर्मकर्त्तरि प्रयोग. स्वय चयनमागच्छन्तीत्यर्थ. प्रज्ञा० २१ पद. ।

कम्मकिव्विस-कर्मकिल्बिष-त्रि० कर्मणा तत्तत्कृत्यनुरूपचेष्टितेन किल्बिषाः अधमाः कर्मकिल्बिषा. । कर्मभिर्मलिनेषु, किल्बिषकर्मन् । किल्बिषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्बिषकर्म्माणः । प्राकृतत्वात् पूर्वपरानिपातः । अशुभकर्मसु, उत्त० ३ अ० । एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा । न निविज्जंति ससारे , सव्वट्ठेसु व खत्तिया " उत्त० ३ अ० । (चउरंगशब्दे व्याख्या)

कम्मक्खंध--कर्मस्कन्ध- पु० कार्मणवर्गणाप्रधानेषु स्कन्धेषु, कर्म० ५ क० ॥

कम्मक्खंधदल-कर्मस्कन्धदल-न० कार्मणवर्गणाप्रधाना स्कन्धा. कर्मस्कन्धास्त एव यथा स्वकाल दलनाद्विशरारुभवनात् दल भिफला विशरणे इति वचनात दल दलिक कर्मस्कन्धदलम् । कर्मदलिके, कर्म० ५ क० (यादृश कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदेतत्कम्मशब्दे उक्तम) ॥

कम्मक्खय-कर्मक्षय-पु० ज्ञानावरणीयाद्यष्टवियोगे, पा० । आचा० ।

कम्मक्खयकरणी-कर्मक्षयकरणी-स्त्री० कर्मक्षय क्रियतेऽनयेति कर्मक्षयकरणी करणेऽनट् । कर्मक्षयसाधिकायाम, व्य० १ उ० ।

कम्मक्खयसिद्ध-कर्मक्षयसिद्ध-पु० " सो कम्मक्खयसिद्धो, जा सव्वखीणकम्मसो" स कर्मक्षयसिद्धो य. सर्वक्षीणकर्मांशः । सर्वे निरवशेषा क्षीणाः कर्मांशा. कर्मभेदा यस्य स तथा इत्युक्तलक्षणे क्षीणकर्माष्टके भावसिद्धे, आ० म० द्वि० । आ० क० । आ० चू० । (सिद्धशब्दे तस्य विवृतिर्भविष्यति)

कम्मगइ-कर्मगति-स्त्री० क्रियते इति कर्म ज्ञानावरणादि पारिभाषिक क्रिया वा । कर्म च तद्गतिश्चासौ कर्मगति । गमन गच्छति वाऽनयेति गति । ज्ञानावरणादिरूपे गतिहेतौ, गमनक्रियायां च " विहगगई चलणगई, कम्मगईओ समासओ दुविहा । सदुदयवेययजीवा, विहगमा एव्व विहगगई "द० १ अ० । [विहंगमशब्दे व्याख्या]

कम्मगुरुया-कर्मगुरुता-स्त्री० कर्मणां गुरुता । कर्ममहत्त्वायाम्, भ० ए श० ३२ उ० ।

कम्मगुरुसंभारियता-कर्मगुरुसम्भारिकता-स्त्री० गुरोः सम्भारिकस्य च भावो गुरुसम्भारिकता गुरुता सम्भारिकता चेत्यर्थः । कर्मणां गुरुसम्भारिकता कर्मगुरुसम्भारिकता । कर्मणामतिप्रकर्षावस्थायाम् , भ० ९ श० ३२ उ० ।

कम्मगंथ-कर्मग्रन्थ-पु० कर्मप्रतिपादके कर्मविपाकादिग्रन्थषट्के, तत्र प्रथमः कर्मविपाकः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितस्तत्कृतयैव टीकया समलङ्कृतः । ग्रन्थमानं द्व्यशीत्युत्तराष्टशताधिकमेकसहस्रम (१८८२) द्वितीयः कर्मस्तवस्तेनैव देवेन्द्रसूरिणा विरचितष्टीकितश्च तन्मान च (८३०) अष्टशताधिक त्रिंशत् । तृतीयः कर्मस्तवो बन्धस्वामित्व देवेन्द्रसूरिलिखितं तद्ग्रन्थमान मेकोनपञ्चाधिक (४५ए) चतु शतम् । चतुर्थ' षडशीतिशास्त्र देवेन्द्रसूरिणा कृत व्याख्यातं च तन्मानमष्टाविंशतिशतम [२८००] पञ्चमः शतकः शिवशर्मसूरिणा कृतः पूर्वमग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य ततो देवेन्द्रसूरिणा विरचितटीकितश्च ग्रन्थमान चत्वारिंशदुत्तरत्रिशताधिक चतु.सहस्रम (४३४०) षष्ठ. सप्ततिकाद्व्यः चन्द्रमहत्तरकृतो मलयगिरिविरचितटीकासमन्वितस्तन्मानं नवाशीत्युत्तरषट्शताधिक त्रिसहस्रम [३६८ए] सर्वग्रन्थमानम् चतुर्दशसहस्रम । कर्म. । अत्र श्रीहीरविजयसूरिं प्रति पण्डितश्रीजगमालिगणिकृतप्रश्नः षष्ठकर्मग्रन्थकर्त्ता चन्द्रमहत्तरा साध्वीति सत्य नवेति ? उत्तरम् षष्ठकर्मग्रन्थकर्त्री चन्द्रमहत्तरा साध्वीति प्रवादो मिथ्येति प्रतिभाति यतस्तट्टीकायामाचार्येणोक्तमस्ति । तथैव तदत्रचुर्णौ चन्द्रमहत्तरकृतप्रकरण व्याख्यायते इत्युक्तम । ह्री० ।

कम्मघण-कर्मघन-पुं० कर्मैव जीवस्वभावावरणाद् घन.कर्मघन. आव० ४ अ० । ज्ञानावरणादिकर्ममेघे, द० ६ अ० । उक्तंच "स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञान, तदावरणमभ्रवदिति " आव० ४ अ० । कर्मबहुले, त्रि० नि० चू० ६ उ० ।

कम्मचिंता-कर्मचिन्ता-स्त्री० ज्ञानावरणादिके कर्मणि पर्य्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

कम्मचिंतापणट्ठ-कर्मचिन्ताप्रनष्ट-स्त्री० कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्य्यालोचनं तस्याः प्रनष्टा अपगता. कर्मचिन्ताप्रनष्टा. । कर्माभिज्ञताशून्येषु , " कम्मचिंतापणट्ठाणं, ससारस्स पवड्ढण " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

कम्मजणण-कर्मजनन-न० कर्मबन्धकरणे, नि० चू० २ उ० ।

कम्मजोग-कर्मयोग-पुं० क्रियाऽऽचरणायोगद्वये, तत्र विंशतिकानुसारेण लक्षणादिक निरूप्यते तत्र स्थानरूपं कायोत्सर्गादि । जैनागमोक्तक्रियाकरणे, करचरणासनमुद्रारूपमुक्त च विंशतिकायाम "ठाणावत्तच्छाल वणरहिओ तंमि पच्चहा एसो। दुगमित्थकम्मजोगो, तहा तिय णाणजोगो उ" अष्ट०। कर्म० । कर्मसु योग. कौशलम् फलसाधनस्यापि कर्मणोऽफलसाधनत्वापादनरूपे कौशलभेदे, पुं० कमनीयताहेतौ, आ० १४ अ० ।

कम्मजोणि-कर्मयोनि-स्त्री० साङ्ख्यमतप्रसिद्धेपदार्थे, धृतिश्रद्धासुखविविदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्च कर्मयोनयः स्या० ।

कम्मट्ठग-कर्माष्टक-न० ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाह्वये कर्मणामष्टसंख्याके गणे, क० प्र० ।

कम्मट्ठाण-कर्मस्थान-न० अयस्कारवर्द्धकिकुल्यादिके कर्मकारस्थाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

कम्मट्ठिइ-कर्मस्थिति-स्त्री० कर्मावस्थानकाले, भ० ६ श० ३ उ० । (यथा दर्शित कम्म शब्दे) कर्मत्वोपादानमात्ररूपायामवस्थानरूपायां वा अवस्थितौ, सम० । कर्म्मणः कर्मपुद्गलेभ्य. सकाशात् स्थितिर्येषां ते कर्मस्थितय'। कर्महेतुकस्थितिकेषु नैरयिकादिवैमानिकान्तेषु, भ० १४ श० ६ उ० ।

कम्मणिदाण-कर्मनिदान-पु० कर्म निदानं नारकत्वनिमित्त कर्मबन्धनिमित्त वा येषां ते कर्मनिदानाः । तथाविधेषु नार-

कादिवैमानिकपर्य्यन्तेपु, भ० १४ श० ६ उ० ।

कम्मणिव्वत्ति–कर्मनिर्वृत्ति–स्त्री० कर्मणो ज्ञानावरणादितया निष्पत्तौ,

कइविहा णं भंते ! कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता तंजहा णाणावरणिज्ज-कम्मणिव्वत्ती जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती । णेरइयाणं भंते ! कइविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता० तंजहा णाणावर-णिज्जकम्मणिव्वत्ती जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती य एवं जाव वेमाणियाणं भ० १९ श० ८ उ० ।

कम्मणिसेग–कर्मनिषेक–पु० कर्मदलिकस्यानुभवनार्थं रचना-विशेषे, भ० ६ श० ३ उ० । (यथा कम्म शब्दे दर्शितम्)

कम्मण–कार्मण–न० कर्मणो विकार कार्मण विकारेऽण्प्रत्ययः यद्वा कर्मैव कार्मण प्रज्ञादिभ्योऽण्प्रत्यय । कर्मजशरीरे, कर्म० । (कम्मज शब्दे विवृति.)

कम्मत्त–कर्मार्त्त–त्रि० इत पूर्वाचरितैः कर्मभिर्दुःखिते, कर्मभिः कृष्यादिभिरार्त्तो । कृष्यादिकर्मफर्तुमसमर्थे, " कम्मत्ता दु-ब्भगा चेव, इच्चार सुसढो जणा " एतैः पूर्वाचरितैः कर्मभि-रार्त्ता पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति । यद्वा कर्मभि कृ-ष्यादिभिरार्त्तास्तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्ना. सन्तो यतय. संवृत्ता इति सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

कम्मत्थय–कर्मस्तव–पुं० देवेन्द्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते क-र्मग्रन्थे, तदधिकारा " बन्धोदयोदीरणसत्पदस्थ, नि शेषक-र्माँरिवल निहत्य । य सिद्धिसाम्राज्यमलचकार, श्रिये स वः श्रीजिनवीरनाथ १ " " नत्वा गुरुपदकमल, गुरुपदेशाद्यथा-श्रुत किंचित् । कर्मस्तवस्य विवृतिं, विदधे स्वपरोपकाराय २ तत्रादावेव मङ्गलार्थमभीष्टदेवतास्तुतिमाह ।

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बंधुदयोदीरणया, सत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

तथा तेन प्रकारेण स्तुमोऽसाधारणसद्भूतसकलकर्मनिर्मू-लक्षपणलक्षणगुणोत्कीर्तनेन स्तवनगोचरीकुर्म. क वीरजि-नम् (कर्म०) यथा येन प्रकारेण " अभिनवकर्म्मग्गहण, बधो ओहेण सत्तवीससय । तित्थयराहारदुग-वज्ज मिच्छम्मि सत्तरसय " मित्यादि वक्ष्यमाणेषु गुणस्थानेषु परमपदप्रासा-दशिखरारोहणसोपानकल्पेषु व्याख्यास्यमानस्वरूपेषु मिथ्या दृष्ट्यादिषु सकलानि समस्तानि मतिज्ञानावरणप्रभृत्युत्तर-प्रकृतिकदम्बकमहितानि कर्माणि ज्ञानावरणीयादिमूलप्रकृति-रूपाण्यष्टौ कर्माणि त्र स्वोपज्ञकर्मविपाके विस्तरेण व्याख्याना-निकथम्भूतानि 'बन्धुदओदीरणया सत्तापत्ताणित्ति' कर्म० । (वि-शेषत उपयोगाभावान्न सर्वतो व्याख्यायते) पर्यन्ते । इति श्रीदे-वेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां सत्ताधिका समाप्तस्तत्समाप्तौ च समर्थिता लघुकर्मस्तवटीका ॥

सत्ताधिकारमेन, विवृण्वता यन्मार्जित सुकृतम् ।
नि शेषकर्मसत्ता-रहितस्तेनास्तु लोकोऽयम् ॥ १ ॥
विष्णोरिव यस्य विभो , पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
कर्ममलपटलमुक्त, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ २ ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरै , सुरनीकृतसकलविष्टपाभोग ।
च्यवनखशतविनतपद , श्रीगौतमगणधर पातु ॥ ३ ॥
तदनु सुधर्मा स्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठा. ।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयास श्रेयसे सन्तु ॥ ४ ॥
क्रमात्प्राप्ततपाचार्ये-त्यभिख्याभिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरय ॥ ५ ॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेया समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरय ॥ ६ ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
कर्मस्तवस्य टीकेय, सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ७ ॥
विबुधवरधर्मकीर्त्ति-श्रीविद्यानन्दिसूरिमुख्यबुधै ।
स्वपरसमयैककुशलै-स्तदैव सशोधिता चेयम् ॥ ८ ॥
यदुदितमल्पमतिना सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञै , प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ९ ॥
कर्मस्तवसूत्रमिद, विवृण्वता यन्मयाऽर्जित सुकृतम् ।
सर्वेऽपि कर्मबन्धा-त्तेन त्रुट्यन्तु जगतोऽपि १० कम्म० १क० ।

कम्मदव्व–कर्मद्रव्य–न० कर्मवर्गणाद्रव्ये, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ॥

कम्मदोस–कर्मदोष–पु० कर्मैव दोष. कर्मणि दोष कर्महेतुर्दो-षो वा । दुष्टे पापजनके हिंसादौ कर्मणि, कर्मजन्ये पापादौ, सकलकर्महेतौ मिथ्याज्ञानजन्यवासनारूपे दोषे, नैया० वाच० । गुणप्रतिबन्धककर्मविपाके च । पंचा० १४ विव० ।

कम्मद्दुम–कमद्रुम–पु० द्रुमत्वेनोत्प्रेक्षिते कर्मणि, " इतो य स्वन एव मोहसलिले जन्मालवालेऽशुभो , रागद्वेषकषायसन्तति-महान् निर्विघ्नबीजस्त्वया । रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमित कर्म-द्रुम सांप्रत, सोढानो यदि सम्यगेव फलितो दुःखैरधोगामि-भि. ॥ १ ॥ आचा०१ श्रु० ७ अ० ४ उ० ।

कम्मधारय–कर्मधारय–पु० तत्पुरुषः समानाधिकरण. कर्मधा-रय इति लक्षिते समासभेदे,

से किं तं कम्मधारए ? कम्मधारए धवलो वसहो धवल-वसहो किण्हो मियो किण्हमियो सेतो पडो सेतपडो रत्तो पडो रत्तपडो सेत्तं कम्मधारए ॥

धवलश्चासौ वृषभश्च धवलवृषभ इत्यादि अनु० ॥ तथा समा-साधिकारे कर्मधारयसमासप्रयोजन न प्रतिजानीते यतस्तस्य तत्पुरुषसमासात्पृथग्लक्षणाभाव इति प्रश्ने जरती चासौ गौश्च जरद्गवी इत्यत्र कर्मधारयसमासत्वात् पुवत्कर्मधारये इत्यनेन पुंवद्भावस्तत्पुरुषत्वाच्च गोस्तत्पुरुषादिरयट् समासान्त टित्वाच्च ङी प्रत्यय इत्येकत्र समासद्वयप्रयोजनसद्भावस्तथा विशेषण विशेष्यैककार्य्यं कर्मधारयश्चेति पृथग्लक्षणसद्भावाच्च न का-व्याशङ्केति १३८ श्येन० २ उल्ला० ।

कम्मपइट्ठिय–कर्मप्रतिष्ठित–त्रि० कर्माश्रिते, " जीवा कम्मपइ-ट्ठिया" कर्म्मवशवर्त्तित्वात् स्था० ७ ठा० ।

कम्मपग (य) मि–कर्मप्रकृति–स्त्री० कर्मणो मूलभेदे,

कइ णं भंते ! कम्मपगमीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ क-म्मपगमीओ पण्णत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्ज जाव अं-तराइय जाव वेमाणियाणं ॥ भ० १६ श० ३ उ० ।

(कम्मशब्देऽत्र वक्तव्य सर्वमावेदितम् । नवरम्)

जीवा णमट्ठकम्मपयमीओ चिणंसु वा चिणंति वा चि-णिस्संति वा तंजहा णाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्जं वे-

यणिज्जं मोहणिज्जं आउयं नामं गोयं अंतराइयं ॥

"जीवा णमित्यादि" प्रागिव व्याख्येय नवर चयन व्याख्यान्तरेणाकलनमुपचयन परिपोषण बन्धन निर्मापणमुदीरणं करणेनाकृष्य दलिकस्योदये दान वेदनमनुभव उदय इत्यर्थ. । निर्जरा प्रदेशेभ्य शटनमिति ॥ स्था० ८ ठा० । कर्मभेदप्रतिबद्धवक्तव्यताके त्रयस्त्रिंशे उत्तराध्ययने, उत्त० ४ अ०। बन्धनादिकरणाष्टकप्रतिपादके स्वनामख्याते ग्रन्थे, तत्रादो ।

प्रणम्य कर्मद्रुमचक्रनेमिं, नमत्सुराधीशमरिष्टनेमिम ।
कर्मप्रकृत्याः कियतां पदानां, सुखावबोधाय करोमि टीकाम ।१।
अथ गुणश्चूर्णिकृतः समग्रो, यदस्मदादिर्वदतीह किंचित् ।
उपाधिसंपर्कवशाद्विशेषो, लोकेऽपि दृष्टः स्फटिकोपलस्य ॥२॥

इह शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमानाः सन्त इष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरमेव प्रवर्तन्ते न चायमाचार्यो न शिष्ट इति शिष्टसमयपरिपालनाय तथा श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति उक्तञ्च । " श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायका " इति । इद च प्रकरण सम्यग्ज्ञानहेतुत्वात् श्रेयोभूतमतो मा भूदत्र विघ्न इति विघ्नविनायकोपशान्तये चेष्टदेवतानमस्कार तथा न प्रेक्षापूर्वकारिण. क्वचिदपि प्रयोजनादिविरहे प्रवर्त्तन्ते इति प्रेक्षावता प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादिक च प्रतिपिपादयिषुरादावेदमाह क० प्र० ।

सम्प्रति प्रकरणप्रज्ञाननिबन्धना विशिष्टफलसंप्राप्तिमाह ।

करणोदयसंतविऊ, तन्निज्जरकरणसंजमुज्जोया ।
कम्मट्ठगुदयनिट्ठा–जणियमणिट्ठं सुहमुवेंति ॥ ४७३ ॥

करणानामुक्तस्वरूपाणामुदयसत्तयोश्च सम्यक्परिज्ञानयुक्तस्तन्निर्जराकरण (संजमुज्जोयत्ति] तासां करणोदयसत्तानां या निर्जरा तस्या. करण निर्वर्तन तदर्थं संयम प्रति उद्योग उद्यमो येषां ते तन्निर्जराकरणसंयमोद्योगा ते इत्थंभूता (सन्तमित्यादि) कर्माष्टकोदयसत्तानिष्ठाजनित कर्माष्टकस्य अष्टानां कर्मणामुदयनिष्ठया उदयग्रहण बन्धस्याप्युपलक्षण ततोऽयमर्थः बन्धोदयसत्ताक्षयेण जनितमुत्पादित यत् (मणिट्ठंति) मनस इष्टमथवा (अणिट्ठंति) न विद्यते निष्ठा पर्यवसान यस्य तत् अनिष्ठम् । अनिष्ठमपर्यवसानं सुखमुपयन्त्यापि मोक्षसुख तत् (उपयति) प्राप्नुवन्ति तस्मादवश्यमिह प्रकारेण प्रेक्षावद्भिर्निरन्तरमभ्यासः करणीय. कृत्वा च यथाशक्तिसंयमाध्वनि प्रवर्त्तितव्य प्रवृत्तेन च सता संक्लिष्टाध्यवसायरूपकुपथपरिहारे यत्न आस्थेय इति । सम्प्रत्याचार्य आत्मन औद्धत्य परिहरन् अन्येषां बहुश्रुतानां प्रकरणार्थपरिभावनाविषये प्रार्थनां कुर्वन् प्रेक्षावता प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य परपरया सर्वविन्मूलतां ख्यापयति ।

इय कम्मप्पगडीओ, जहासुहं नीयमप्पमइणावि ।
मोहियऽणाभोगकयं, कहं तु वरदिट्ठिवायन्नू ॥४७४॥

अल्पमतिनाऽपि अल्पबुद्धिनाऽपि सता इत एवमुक्तेन प्रकारेण गुरुचरणकमलपर्युपासनां कुर्वता गुरुपादमूले यथा मया श्रुतं तथा कर्मप्रकृते कर्मप्रकृतिनामकात्प्राभृतात् दृष्टिवादे हि चतुर्दश पूर्वाणि तत्र च द्वितीयमाग्रायणीयाभिधानमनेकवस्तुसमन्वित पूर्वे पञ्चम वस्तुविंशतिप्राभृतिपरिमाण तत्र कर्मप्रकृत्याख्य चतुर्थं प्राभृतं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं तस्मात् इद प्रकरण नीतम् आकृष्टमित्यर्थः। अस्मिश्च प्रकरणे यत् किमपि स्खलित तदनाभोगकृतमनाभोगजनितम् । छद्मस्थस्य हि कृतप्रयत्नस्याप्याव-रणसामर्थ्यात् नो अनाभोगादिः सम्भवति तत आभोगः सम्भवति आभोगजनितं यत् किमपि स्खलित तत् शोधयित्वा अपनयन्तु ये वरा उत्कलितबुद्ध्यतिशयसंपन्ना दृष्टिवादज्ञा अवशकाङ्क्षिदस्ते ममोपरि महतीमनुग्रहबुद्धिमाधाय तत्रान्यत् पदम गमानुसारि प्रक्षिप्य कथयन्तु यथेदमत्र पद समीचीनं नेदमिति । न पुनरुपेक्षारुपोऽप्रसादस्तैः कर्त्तव्यः इयमत्र भावना । अत्र " कम्मपयडीउ " इत्यादिना ग्रन्थेन प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या । दृष्टिवादो हि भगवता साक्षादर्थतोऽभिहितः सूत्रेण वस्तुनस्तु सुधर्मस्वामिना दृष्टिवादान्तर्गत च कर्मप्रकृतिप्राभृत तस्माच्चेद प्रकरणमुद्धृतमिति परम्परया सर्वविन्मूलम । इह शास्त्रस्यादौ मध्ये अवसाने च मङ्गलमवश्यमभिधातव्यम् आदिमङ्गलाभिधाने हि शास्त्रमविघ्नेन परिसमाप्तिमियर्त्ति मध्यमङ्गलाभिधानतश्च प्रशिष्यादिपरम्परागमनेन स्थैर्यमाधत्ते । पर्यन्तमङ्गलाभिधानप्रभावत पुन. शिष्यप्रशिष्यादिभिरवधार्यमाण तेषां चेतसि सुप्रतिष्ठितं भवति । तत्रादिमङ्गलम "सिद्ध सिद्धत्थस्स सत्थुय" मित्याद्युक्तम । मध्यमङ्गलं तु " अकरणअणुआइ अणुयोगधरे पणिवयामीति " ॥

सम्प्रति पुनरवसानमङ्गलमाह ।

जस्सवरसासणावयव-फरिमपविकसियविमलमइकरणा ।
विमलेंति कम्ममइले, सो मे सरणं महावीरो ॥

यस्य भगवतो महावीरस्य वरमनुत्तर यत् शासन तदवयवसंस्पर्शात् प्रकर्षेण विकसिता उद्बोध गता विमला अपगतमिथ्याज्ञानस्वरूपमला मतिकिरणा मतिरेव किरणास्ते कर्ममलिनः कर्मतो मलीमसान् असुमतो विमलयन्ति विमलीकुर्वन्ति स भगवान् महावीरो वर्द्धमानस्वामी मे मम ससारभयभीतस्य शरणं परित्राणहेतुर्नान्य इति ।

कर्मप्रपञ्चं जगतो ऽनुबन्ध–क्लेशावहं सूक्ष्मकृपापरीत ।
उपाय तस्योपादिदेश रत्न–त्रयं स जीयाज्जिनवर्द्धमानः ॥
निरस्तकुमतध्वान्त, सत्पदार्थप्रकाशकम् ।
नित्योदय नमस्कुर्मो, जैनसिद्धान्तभास्करम ॥
पूर्वान्तर्गतकर्म-प्रकृतिप्राभृतसमुद्धृता येन ।
प्रकृतिरियमवधिमन–श्रुतकेवलगम्यभावार्थ. ॥
तत. क्व चैषा विषमार्थयुक्ता,
क्व चाल्पशास्त्रार्थकृतश्रमोऽहम ।
तथापि सम्यग्गुरुसम्प्रदायात्,
किंचित् स्फुटार्था विवृता मयैषा ॥ ४ ॥
कर्मप्रकृतिनिधान, बद्धर्थे येन मादृशां योग्यम ।
चक्रे परोपकृतये, श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥ ५ ॥
एनामतिगम्भीरां, कर्मप्रकृतिं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोक ॥ ६ ॥
अर्हन्तो मङ्गलं मे स्यु, सिद्धाश्च मम मङ्गलम् ।
मङ्गल साधवः सम्य–ग्जैनो धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

इतिश्रीमलयगिरिविरचिता कर्मप्रकृतिटीका समाप्ता क० प्र०। आग्रायणीयाभिधानद्वितीयपूर्वस्य पञ्चमवस्तुसत्कचतुर्थे प्राभृते, क० प्र० ।

कम्मपयडिसंगह–कर्मप्रकृतिसंग्रह–पु० कर्मप्रकृतिलक्षणस्य ग्रन्थस्य बन्धविधिलक्षणस्यार्थाधिकारस्य संग्रहो यत्र स तथा पञ्चसंग्रहग्रन्थस्य पञ्चमाधिकारे, पं० सं०। सम्प्रति कर्मप्रकृतिसंग्रहोऽभिधातव्य कर्मप्रकृतिश्च शास्त्रान्तर महार्थं च ततो

न मादृशैरल्पमेधोभिः स्वमतिप्रभावतः समग्रहीतु शक्यते किन्तु कर्मप्रकृतिप्राभृताभिधशास्त्रार्थपारगामिविशिष्टश्रुतधरोपदेशपारम्पर्यतस्ततोऽवश्यमिह ते नमस्करणीया इति । पं० सं० । ते भ्यो नमस्कारं प्राक्तनग्रन्थेन सह वक्ष्यमाणग्रन्थस्य सम्बन्धं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह ।

नमिऊण सुयहराणं, वोच्छं करणाणि बंधणाईणि ।
संकमकरणं बहुसो, अइदिसियं उदयसंतं जं ॥

नत्वा श्रुतधरेभ्यः सकलश्रुतमहार्णवपारगामिभ्यः अत्र शयनादिनिर्बहुलमिति सूत्रेण सम्प्रदानसंज्ञाया चतुर्थी यथा पत्ये शेते प्रणम्य शास्त्रेषु गतायेत्यादौ चतुर्थी प्रसङ्गे च "छट्ठीविभत्तीए जन्मइ चउत्थि त्ति" प्राकृतलक्षणात् षष्ठी श्रुतधरेभ्यो नत्वा किमित्याह करणानि वीर्यविशेषरूपाणि बन्धनादीनि बन्धनसंक्रमणोद्वर्त्तनापवर्तनोदीरणोपशमनानिधत्तनिकाचनारूपाणि पं०सं०६६पत्र ।

कम्मपट्ठवणासय-कर्मप्रस्थापनाशत-न० कर्मप्रस्थापनाद्यर्थप्रतिपादनपरे भगवत्या एकोनत्रिंशत्तमे शते, भ० २९ श० । (भगवत्या वक्तव्यता भग शब्दे)

कम्मपरिण्णा-कर्मपरिज्ञा-स्त्री० कर्मणोऽनेकप्रकारतापरिज्ञाने, 'दुक्खस्स कुसला परिणमुदाहरंति ' इति "कम्म परिणाय सव्वसो" कर्म बन्धोदयसत्कर्मताविधानतः परिज्ञाय सर्वेश सर्वैः प्रकारैः कुशलाः प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति । यदि वा मूलोत्तरप्रकृतिप्रकारं सर्व परिज्ञायेति मूलप्रकारा अष्टौ उत्तरप्रकृतिप्रकारा अष्टपञ्चाशदुत्तरं शतम् । अथवा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रकारैर्वैदिवंध्यप्रकारैर्बन्धसत्कर्मताकरणैश्च कर्म परिज्ञायेति आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । "कम्मभूमियाओ पण्णरसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पंच भरहेसु पंच एरवएसु पंच महाविदेहेसु " जी० ३ प्रति० ।

कम्मपरिसाडणा-कर्मपरिशाटना-स्त्री० ६ त० ज्ञानावरणादीनां कर्मणां जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

कम्मपादव-कर्मपादप-पु० पादपत्वेनोत्प्रेक्षिते वृक्षे, यथा सर्वपादपानां भूमौ प्रतिष्ठितानि मूलानि एवं कर्मपादपानां संसारे कषायरूपाणि मूलानि प्रतिष्ठितानि । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कम्मपुरिस-कर्मपुरुष-पु० कर्मानुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः । कर्मकारादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कर्माणि महारम्भसपापानि नरकायुष्कादीनि तदर्जनपरः पुरुषः कर्मपुरुषः । उत्तमपुरुषभेदे, "कम्मपुरिसा वासुदेवा" कर्मपुरुषशब्दाभिधेया वासुदेवादयः स्था० ३ ठा० ।

कम्मपवाय-कर्मप्रवाद-न० कर्म ज्ञानावरणीयादिकमष्टप्रकारं तत्प्रकर्षेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशादिभिर्भेदैः सप्रपञ्चं वदतीति कर्मप्रवादम् न० । ज्ञानावरणादिकमष्टविधं कर्म प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशादिभिर्भेदैरन्यैश्चोत्तरोत्तरभेदैर्यत्र वर्ण्यते तत्कर्मप्रवादम् ॥ अष्टमे पूर्वे, तत्पदपरिमाणमेका कोटी अशीतिश्च सहस्राणि स० २०० पत्र । न० । द० । स्था० । "कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता " स० । विशे० ।

कम्मप्पवयणिज्ज-कर्मप्रवचनीय-पु० कर्म क्रियां प्रोक्तवान् इति कर्मप्रवचनीयः । कर्त्तरि भूते चानीयर् । कर्मप्रवचनीया इत्यधिकृत्य पाणिन्युक्ते अन्वादिषु शब्देषु, ते हि सम्प्रति क्रियां न कथयन्ति नापि द्योतयन्ति किन्तु क्रियानिरूपितसम्बन्धविशेषं द्योतयन्तीति तेषां तथात्वम् । यथोक्तं हरिणा "क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः । नापि क्रियापदाक्षेपी, सम्बन्धस्य तु भेदकः" इति "अधिपरी अनर्थकावित्यादेस्तद्द्योतकत्वाभावेऽपि योग्यतया तथात्वम् वाच० ।

कम्मप्पसंग-कर्मप्रसङ्ग-पु० कर्मण्यभ्यासे, आ०म० द्वि० ।

कम्मप्पसंगसत्त-कर्मप्रसङ्गसक्त-त्रि० कर्म कृष्याद्यनेकप्रकारं तस्य प्रसङ्गोऽनुष्ठानं तत्र प्रसक्तस्तात्सिद्धः । कृष्यादिकर्मनिरते, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

कम्मबंध-कर्मबन्ध-पु० क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादिलक्षणं तस्य बन्धः । कर्मणो विशिष्टरचनयाऽऽत्मनि स्थापने, कर्मणा वाऽऽत्मनो बन्धः आत्मनः स्वस्वरूपतिरस्करणलक्षणे कर्मणा बन्धे, आव० ३ अ० । आ० चू० । ज्ञानावरणीयाद्युपश्लेषे, जीवानु० । (अविज्ञानाद्युपचितस्य चतुर्विधकर्मणो बन्धचिन्ता कम्मशब्दे कृता प्रकृतिबन्धादिप्ररूपणा बंधशब्दे) नवरमिह विवेकपत्र्यगणिकृतप्रश्नस्य हीरविजयसूरिकृतमुत्तरम् यथा कस्यचिज्जानतोऽभिनिविष्टस्य संसारवृद्धिहेतुः कर्मबन्धो भूयानुतानभिनिविष्टस्य तन्मार्गानुयायिनो वाऽजानत इति प्रश्ने उत्तरमाह अत्र व्यवहारेण जानतः कर्मबन्धो भूयानित्यवसीयते । तथा कश्चिदजानन् हिंसादिना कर्म चिनोति कश्चित्तु जानन् इत्यनयोः कस्य कर्मबन्धदार्ढ्यमिति प्रश्ने उत्तरमाह अत्र उभयोरपि क्रोधादिपरिणामस्य दृढत्वे कर्मबन्धस्य दार्ढ्यं मन्दत्वे तु मन्दत्वं भवति । ही० ।

कम्मब्भुदय-कर्माभ्युदय-पु० ज्ञानावरणादीनां कर्मणामभ्युदये, " कर्माभ्युदयो भावोपसर्ग इति " सूत्र० १ श्रु०३अ०१उ० ।

कम्मभारियता-कर्मभारिकता-स्त्री० भारोऽस्ति येषां तानि भारिकाणि तद्भावो भारिकता कर्मणो भारिकता कर्मभारिकता । कर्मणो भारे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

कम्मभूमग-कर्मभूमक-पु० कर्म कृषिवाणिज्यादि मोक्षानुष्ठानं वा कर्मप्रधाना भूमिर्येषां ते कर्मभूमा आर्षत्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः । कर्मभूमा एव कर्मभूमकाः । कर्मभूमिजेषु मनुष्येषु, प्रज्ञा० १ पद० । जी० । आ० म० द्वि० ।

सम्प्रति कर्मभूमिकप्रकृतिप्रतिपादनार्थमाह ।

से किं तं कम्मभूमगा ? कम्मभूमगा पण्णरसविहा पण्णत्ता तंजहा पंचहिं भरहेहिं पंचहिं एरवएहिं पंचहिं महाविदेहेहिं । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता तंजहा आयरिया य मिलक्खू य ॥

(सेकिंतमित्यादि) अथ के ते कर्मभूमिकाः सूरिराह । कर्मभूमिकाः पञ्चदशविधाः प्रज्ञप्तास्तच्च पञ्चदशविधकत्वं क्षेत्रभेदात् तथाचाह । " पंचहिं भरतेहिं" इत्यादि पञ्चभिर्भरतैः पञ्चभिरैरावतैः पञ्चभिर्महाविदेहैर्भिद्यमाना पञ्चदशविधा भवन्ति । ते च पञ्चदशविधाः समासतो द्विधा प्रज्ञप्तास्तद्यथा आर्या म्लेच्छाश्च । तत्रारात् हेयधर्मेभ्यो याता प्राप्ता उपादेयधर्मैरित्यार्याः पृषोदरादय इति रूपनिष्पत्तिः । म्लेच्छा अव्यक्तभाषासमाचाराः म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि इति वचनात् भाषाग्रहणं चोपलक्षणं तेन शिष्टासम्मतसकलव्यवहारा म्लेच्छा इति प्रतिपत्तव्यम् । प्रज्ञा० १ पद० ।

कम्मभूमि-कर्मभूमि-स्त्री० कृषिवाणिज्यतपःसंयमानुष्ठानादिकर्मप्रधाना भूमयः कर्मभूमयः । भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहाविदेहपञ्चकलक्षणासु भूमिषु, न० । भ० । प्रज्ञा० । पञ्चदशकर्मभूमयो यत्र तीर्थकरादय उत्पद्यन्ते प्रव० १ द्वा० । स्था० । ता. पञ्चदशैवम् ॥

जंबूद्दीवे दीवे तओ कम्मभूमिओ पण्णत्ताओ तंजहा भरहे एरवए महाविदेहे एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्छिमद्धे।

एकं भरतक्षेत्रं जम्बूद्वीपे द्वे धातकीखण्डे द्वे च पुष्करवरद्वीपार्द्धे एवं भरतानि पञ्च एवं महाविदेहा ऐरवतानि च प्रत्येकं पञ्च पञ्चेति प्रव० ६३ द्वा० ॥

कइविहे णं भंते ! कम्मभूमीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पण्णरसकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ तंजहा पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पंच महाविदेहाइ भ० २० श० ८ उ० ।

कम्मभूमिग-कर्मभूमिग-पुं०कर्मभूमिजाते, प्रज्ञा० २३ पद ।

कम्मभूमिगपलिभागि (ण्)-कर्मभूमिप्रतिभागिन्-पुं० कर्मभूमिगाः कर्मभूमिजातास्तेषां प्रतिभागः सादृश्यं तदस्यास्तीति कर्मभूमिगप्रतिभागी । कर्मभूमिगसदृशे, कोऽसावितिचेदुच्यते या कर्मभूमिजा तिर्यक्स्त्री गर्भिणी सती केनाप्यपहृत्याकर्मभूमौ मुक्ता तस्यां जातः कर्मभूमिगसदृशः । अन्ये तु व्याचक्षते कर्मभूमिग एव यदा केनाप्यकर्मभूमौ नीतो भवति तदा स कर्मभूमिगप्रतिभागी व्यपदिश्यते इति प्रज्ञा० २३ पद. ॥

कम्मभूमिय-कर्मभूमिज-पुं० स्त्री० कृष्यादिकर्मप्रधाना भूमिः कर्मभूमिः । भरतादिका पञ्चदशधा तत्र जाता कर्मभूमिजाः । कर्मभूमिजातेषु मनुष्येषु, तेषां स्त्रीषु, स्त्री० स्था० ३ ठा०। जी०।

कम्ममल-कर्ममल-पुं० त्याज्यत्वेन मलोपमिते कर्मणि, " उदय अकम्ममल हरेज्जा " सूत्र० ७ अ० १ उ० । विशे० ॥

कम्ममल्ल-कर्ममल्ल-पुं० कर्माण्येव मल्लः सुभटः कर्ममल्लः । अष्टाचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतिरूपे कर्मणि, " हतूण कम्ममल्लं सिद्धिपरागा तु मे लद्धा " सथा० ।

कम्ममास-कर्ममास-पुं० श्रावणमासे, तत्र हि त्रिंशद्वात्रिन्दिवानि तथाहि कर्मसंवत्सरस्त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि तेषां द्वादशभिर्हृते भवन्ति यथोक्तं कर्ममासपरिमाणम् । ज्यो० १ पाहु० ।

कम्ममासय-कर्ममाषक-पुं० प्रतिमानभेदे, तत्स्वरूपं चेत्थम् । पञ्च गुञ्जा एकः कर्ममाषकः अथवा चतस्रः काकण्य एकः कर्ममाषकः । यद्वा त्रयो निष्पावका एकः कर्ममाषकः । अत्र भेदो नास्ति गुञ्जापञ्चककाकणीचतुष्कनिष्पावत्रिकाणामेकमानत्वात् प्रतिमानशब्दे सूत्रेण सटीकेन दर्शयिष्यमाणत्वात् । अनु० । स्था० । आव० ॥

कम्मय-कर्मक-न० कर्म-स्वार्थे क-कार्मणशरीरनामकर्मोदयनिर्वर्त्ये अशेषकर्मणां प्ररोहभूमौ आधारभूते संसार्यात्मना गत्यन्तरसंक्रमणे साधकतमे कार्मणवर्गणास्वरूपे शरीरभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ॥

कर्मज-न० कर्मणो जातं कर्मजम् । कार्मणशरीरे, जी० १ प्रति० । किमुक्तं भवति कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह ये क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः शरीररूपतया परिणमन्ते ते कर्मजं शरीरमिति । अत एवैतदन्यत्र कार्मणमित्युक्तम् । कर्मणो विकारः कार्मणमिति तथा चोक्तम् ।

कम्मविगारो कम्मण-मट्ठविचित्तकम्मनिप्पन्नं ।
सव्वेसि सरीराणं, कारणभूतं मुणेयव्वं ॥ १ ॥

अत्र (सव्वेसिमिति) सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं बीजभूतं कार्मणशरीरं न खल्वामूलसमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कर्मणि वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावः । इदं च कार्मणं शरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसंक्रान्तौ साधकतमं करणं तथाहि । कर्मणैव वपुषा तैजससहितेन परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि तैजससहितकार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति तर्हि स गच्छन् आगच्छन् वा कस्मान्न दृष्टिपथमवतरति ? उच्यते कर्मपुद्गलानां चातिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् तथा च परतीर्थिकैः प्रज्ञाकरगुप्तैरप्युक्तम् " अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते । निष्क्रामन् प्रविशन्वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपीति " प्रज्ञा० २१ पद. । जी० ॥ कर्म० । अनु० । आव० ।

कार्मक-न० कर्मपरमाणुकेषु भवं कार्मकम् । कार्मणशरीरे, कर्म० ३ क० ।

कम्मगसरीरेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा एगिदियसरीरे जाव पंचिंदियसरीरे एवं जहेव तेयगसरीरस्स भेदो संठाणओगाहणा भणिया तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव अणुत्तरोववाइयत्ति प्रज्ञा० २१ पद. ।

कम्मयओ-कर्मकतस्-अव्य० इह कप्रत्ययः स्वार्थिकः कर्मभिरित्येतस्यार्थे, पचा० १ विव० ।

कम्मय (ग) कायजोग-कार्मक (ण) काययोग-पुं० कार्मणमेव कायस्तेन योगः कार्मणकाययोगः । काययोगभेदे, कर्म० १ क० ।

कम्मयग-कर्मजक-न० कर्मणो जातं कर्मजं कर्मात्मकमित्यर्थः। तदेव कर्मजकं जातौ वा स्वार्थे क इति प्राकृतलक्षणात् कप्रत्ययः । कार्मणशरीरे, पं० सं० ।

कम्मय-(ण) णाम-कार्मक (ण) नामन्-न० कार्मक (ण) निबन्धनं नाम कार्मक (ण) नाम । शरीरनामभेदे, य दुदयात् कार्मणप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कार्मणशरीररूपतया परिणमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति । कर्म० १ क० ।

कम्मय(ण)वग्गणा-कार्मक(ण)वर्गणा-स्त्री. कर्मणा नामकर्मोत्तरप्रकृत्या निर्वृत्तं कार्मणम् । ज्ञानाद्यष्टविधकर्मस्वप्रायोग्यपुद्गलानां गृहीतानां तत्तद्रूपेण परिणामजनकमित्यर्थ तत्र वर्गणा । ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मपरिणामहेतुके दलिके, कर्म० २ क० । [वग्गणाशब्दे स्वरूपं वक्ष्यते]

कम्मया-कर्मजा-स्त्री० अनाचार्यकं कर्म साचार्यकं शिल्पम् । अथवा कादाचित्कं शिल्पं सार्वकालिकं कर्म । कर्मणो जाता कर्मजा । कृषिवाणिज्यादिकर्माभ्यासप्रभवे बुद्धिभेदे, न० ३१ पत्र. । ज्ञा० । अथ कर्मजाया बुद्धेर्लक्षणमाह ।

उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ।
साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ ९ ॥

(उवओगेत्यादि) उपयोजनमुपयोगो विवक्षितकर्म्मणि मनसोऽभिनिवेश सारस्तस्यैव विवक्षितकर्म्मण. परमार्थ. उपयोगेन दृष्ट सारो यया सा उपयोगदृष्टसारा । अभिनिवेशोपलब्धकर्म्मपरमार्था इत्यर्थः । तथा कर्म्मणि प्रसङ्गोऽभ्यास परिघोलनं विचारः ताभ्यां विशाला विस्तारमुपगता कर्म्मप्रसङ्गपरिघोलनविशाला । तथा साधु कृत सुष्ठु कृतमिति विद्वद्भ्यः प्रशसा साधुकारस्तेन युक्त फल साधुकारफल तद्वति साधुकारपुर सर चेतनादिलाभरूपं तस्या. फलमित्यर्थ । सा तथा- कर्म्मसमुत्था भवति बुद्धिः ।

अस्या विनेयजनानुग्रहाय उदाहरणै स्वरूपं दर्शयति ॥

हेरन्निए करिसए, कोलिय मोवे य मुत्तिघयपवए ।
तुन्नायवड्ढइ पूइ-ए य घडचित्तकारे य ॥ १० ॥

" होरन्नि" इत्यादौ षष्ठ्यर्थे सप्तमी ततोऽयमर्थो (हिरण्णित्ति) हैरण्यकस्य कर्म्मजा बुद्धि । एव सर्वत्रापि योजना कार्या । हैरण्यको हि स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तोऽन्धकारेऽपि हस्तस्पर्शविशेषेण रूपक यथावस्थित परीक्षते (करिसगेत्ति) अत्रोदाहरणम् । कोऽपि तस्करो रात्रौ वणिजो गृहे पद्माकार खात खातवान् । तत. प्रातरलक्षित. तस्मिन्नेव गृहे समागत्य जनेभ्य प्रशसामाकर्णयति तत्रैक. कर्षकोऽब्रवीत् किं नाम शिक्षितस्य दुष्करत्व यद्येन सदैवाभ्यस्त कर्म्म स तत्प्रकर्ष प्राप्त करोति नात्र विस्मय. । तत स तस्कर एतद्वाक्यममर्षवैश्वानरसधुक्षणसममाकर्ण्य जज्वाल कोपेन । तत. पृष्ठवान् कमपि पुरुष कोऽय कस्य वासक इति ज्ञात्वा तमन्यदा छुरिकामाकृष्य गत । क्षेत्रे तस्य पार्श्वे रे मारयामि त्वा सम्प्रति । तेनोक्त किमिति सोऽवादीद् तत्त्वया तदानीं मम खात न प्रशसितमिति कृत्वा, सोऽब्रवीःसत्यमेतत् यो यस्मिन् कर्म्मणि सदैवाभ्यासपर स तद्विषये प्रकर्षवान् भवति । तत्राहमेव दृष्टान्त । तथा ह्यमून् मुद्गान् हस्तगतान् यदि भणसि तर्हि सर्वानप्यधोमुखान् पातयामि यद्वा ऊर्ध्वमुखान् अथवा पार्श्वस्थितान् इति । तत सोऽधिकतर विस्मितचेता प्राह । पातय सर्वानप्यधोमुखान् इति विस्तारितो भूमौ पट पातिता. सर्वेऽप्यधोमुखा मुद्गा । जातो महान्विस्मयः चोरस्य प्रशसितं भूयो भूयस्तस्य कौशलमहो विज्ञानमिति वदति चौर । यदि नाधोमुखाः पातिता. अभविष्यन् ततो नियमात् त्वामहममारयिष्यमिति कर्षकस्य चोरस्य च कर्मजा बुद्धि । (कोलियत्ति) कौलिकस्तन्तुवाय. स मुष्ट्या तन्तूनादाय जानाति एतावद्भि. कण्डकै. पटो भविष्यति (डोएत्ति) दर्वी वर्द्धकिर्जानाति एतावदत्र मास्यतीति (मुत्तित्ति) मणिकारो मौक्तिकमाकाशे प्रक्षिप्य सूकरवाल तथा धारयति यथा पततो मौक्तिकस्य रन्ध्रे स प्रविशतीति (घयत्ति) घृतविक्रयी स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तो यदि रोचते तर्हि शकटेऽपि स्थितोऽधस्तात् कुण्डिकानालेऽपि घृत प्रक्षिपति (पवयत्ति) प्लवक स चाकाशस्थितानि करचरणानि करोति (तुण्णगत्ति) सीवनकर्मकर्त्ता स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तस्तथा सीवति यथा प्रायो न केनापि लक्ष्यते (वड्ढइत्ति) वर्द्धकि. स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तोऽमित्वाऽपि देवकुलरथादीनां प्रमाण जानाति (पूइयत्ति) आपूपिकः स चामित्वाऽप्यपूपानां दलस्य मान जानाति (घडत्ति) घटकार. स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्त. प्रथमत प्रमाणयुक्तां मृदं गृह्णाति (चित्तकारत्ति) चित्रकर. स च रूपकतूलिकाममित्वाऽपि रूपकप्रमाण जानाति तावन्मात्रं वा वर्णकुञ्चिकया गृह्णाति यावन्मात्रे प्रयोजनमिति । उक्ता कर्मजा बुद्धिः । नं० ३६ पत्र. । आ० क० । आ० म० द्वि० ।

कम्मरय-कर्मरजस्-न० कर्म ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं तदेव जीवस्य गुण्डनेन मालिन्यापादनाद्रजो भण्यते नं० । आत्मरञ्जनाद्रजउपमिते कर्मणि, दश० ४ अ० ।

कम्मरिवु-कर्मरिपु-पु० रिपुत्वोपमिते कर्मणि, " कम्मरिवुजएण सामाइय लब्भति" आ० चू० १ अ० ।

कम्मलाघव-कर्मलाघव-न० भावतो लाघवे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

कम्मलेस्सा-कर्मलेश्या-कर्मणः सकाशाद्या लेश्या जीवपरिणति. सा कर्मलेश्या । भ० १४ श० १ उ० । कर्मणो योग्या लेश्या कृष्णादिका कर्मलेश्या (श्लिष श्लेषणे) इति वचनात् कृष्णादिलेश्यायाम्, भ० १४ श० १ उ० । भावलेश्यायाम, भ० १४ श० १ उ० ।

कम्मव-उप-भुज्-धा० आत्म० रुधादि-उपभोगे, " वोपेन कम्मव. ८।४।१११ उपेन युक्तस्य भुजे. कम्मव इत्यादेशो वा भवति । कम्मवइ उपहुंजइ उपभुङ्क्ते । उपभोग करोति प्रा० ।

कम्मवणविभावसु-कर्मवनविभावसु-पु० कर्मवनस्य ज्ञानावरणादिसमुदायरूपस्य विभावसुरिवाग्निरिव तद्दाहकत्वेन । कर्मक्षपणहेतौ केवलिप्रज्ञप्ते धर्म्मे, सू० प्र० १ पाहु० ।

कम्मवाइ (ण्)-कर्मवादिन्-पु० कर्म ज्ञानावरणीयादि तद् वदितु शीलमस्य । कर्मणो जगद्वैचित्र्यवादिनि, यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगै पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्माण्याददते पश्चात्तासु तासु विरूपरूपासु योनिषु उत्पद्यन्ते कर्म च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशात्मकमवसेयमिति । अनेन च कालयदृच्छानियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अस्य मतम् । जन्मान्तरोपात्तमिष्टानिष्टफलद कर्म सर्वजगद्वैचित्र्यकारणमिति कर्मवादिनस्तथा चाहु " यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मण., फल निधानस्थमिवावतिष्ठते । तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मति. प्रवर्तते " तथा च " स्वकर्मणा युक्त एव, सर्वो ह्युत्पद्यते नर. । स तथा कृष्यते तेन, यथाऽयं स्वयमिच्छति " तथाहि समानमीहमानाना समानदेशकालकुलाकारादिमतामर्थप्राप्त्यप्राप्तिना निमित्तेऽप्यनिमित्तस्य देशादिना प्रतिनियमायोगात् । न च परिदृश्यमानकारणप्रभवस्तस्य समानतयोपलम्भात्चैकरूपत्वकार्यभेदस्तस्याहेतुकत्वप्रशक्तेरहेतुकत्वे च तस्य कार्यस्यापि तद्रूपतापत्ते. । भेदाच्चेद्व्यतिरिक्तस्य तस्यासत्वान्न ततो यन्निमित्ते एते तददृष्टकारणव्यतिरिक्तमदृष्टकारण कर्मेति । असदेतत् कुलालादेर्घटादिकारणत्वेनाध्यक्षत प्रतीयमानस्य परिहारेण परादृष्टकारणप्रकल्पनया तत्परिहारेण परादृष्टकारणकल्पनया अनवस्थाप्रसङ्गतः क्वचिदपि कारणप्रतिनियमानुपपत्तेः । नच स्वतन्त्रं कर्मवैचित्र्य कारणमुपपद्यते तस्य कर्त्रधीनत्वात् । नचैकस्वभावात् ततो जगद्वैचित्र्यमुपपत्तिमत्कारणवैचित्र्यमन्तरेण कार्यवैचित्र्यायोगात् । वैचित्र्ये वा तदेककार्यताप्रच्युतेरनेकस्वभावत्वे च कर्मणो नाममात्रनिबन्धनैव विप्रतिपत्तिः । पुरुषकालस्वभावादेरपि जगद्वैचित्र्यकारणत्वेनार्थतोऽभ्युपग-

मात् नच तेन चेतनवताऽनधिष्ठितमचेतनत्वाद्वास्यादिवत् वर्तते अथ तदधिष्ठायकः पुरुषो ऽभ्युपगम्यते न तर्हि कर्मैकान्तवाद् पुरुषस्य तदधिष्ठायकत्वेन जगद्वैचित्र्यकारणत्वोपपत्तेः नच केवल किंचिद्वस्तु नित्यानित्य चाकार्यकृत संभवतीत्यसकृत्प्रतिपादित तत्र कर्मैकान्तवादोऽपि युक्तिसगत सम्म० नची० १८४ पत्र. । सूत्र० ॥

कम्मवावार–कर्मव्यापार–पु० अज्ञानादिजनकज्ञानावरणादिलक्षणसामर्थ्ये, पञ्चा० ३ विव० ।

कम्मवाहिकिरिया–कर्मव्याधिक्रिया–स्त्री० कर्मरोगचिकित्सायाम्, " इय कम्मवाहिकिरियं वज्ज भावओ पवएस्स " पंचा० १६ विव० ।

कम्मविउस्सग्ग–कर्मव्युत्सर्ग–पु० ज्ञानावरणादिकर्मबन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकत्वादीनां त्यागे, भ० २५ श० ७ उ० ।

तद्भेदा यथा ।

से किं तं कम्मविउस्सग्गे ? कम्मविउस्सग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते तंजहा णाणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे दरिसणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे वेअणीअकम्मविउस्सग्गे मोहणीयकम्मविउस्सग्गे आउअकम्मविउस्सग्गे नामकम्मविउस्सग्गे गोअकम्मविउस्सग्गे अंतरायकम्मविउस्सग्गे सेत्तं कम्मविउस्सग्गे ।

कम्मविगइ–कर्मविगति–स्त्री० अनुभावानां कर्मणां स्थितिमाश्रित्य विगमे, भ० ए श० ३२ उ० ।

कम्मविवाग–कर्मविपाक–पु० ६ त० पुण्यपापात्मकस्य कर्मण फले, स० । स्था० । " सव्वो पुव्वकयाण, कम्माण पावए फलविवाग । अवराहेसु गुणेसु य, निमित्तमित्त परो होइ " सूत्र०१ श्रु० १२ अ० (किरियावाइशब्दे व्याख्यास्यामि)

पुनरपि तद्गरीयस्त्वख्यापनाय प्राणिनां संसारनिर्वेदवैराग्योत्पत्त्यर्थमभिधित्सुकाम आह ।

तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया तामेव सयं असयं अतिअच्च उच्चावए फासे पडिसंवेदेंति बुद्धेहिं एअं पवेदितं । संति पाणा वासगा रसगा उदए उदयचरा आगासगामिणो पाणापाणे किलेसंति पासलोए महब्भयं बहुदुक्खा हु जंतवो सत्ताकामेहिं माणवा अवलेणवहं गच्छंति सरीरेणं भंगुरेणं अट्ठे से बहुदुक्खे इति बाले पकुव्वंति एते रोगे बहु णच्चा आउरा परितावएणालं पास अलं तवे तेहिं एयं पासमुणी महब्भयं णातिवातेज्ज कंचण आयाणओ सुस्सूसमो ।

(तमित्यादि) त कर्मविपाक यथावस्थितं तथैवमावेदयत शृणुत यूय तद्यथा नारकतिर्यग्नरामरलक्षणाश्चतस्रो गतयस्तत्र नरकगतौ चत्वारो योनिलक्षा पञ्चविंशतिकुलकोटिलक्षास्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिर्वेदनाश्च परमाधार्मिकपरस्परोदीरितस्वाभाविकदु खानां नारकाणां या भवन्ति ता वाचामगोचरा । यद्यपि लेशतस्तत्कथयितुं तदभिधेयविषय न वागवतरति तथापि कर्मविपाकावेदनेन प्राणिनां वैराग्य यथा स्यादित्येवमर्थ. श्लोकैरेव किंचिदभिधीयते ।

"श्रवणलवनं नेत्रोद्धार' करक्रमपाटनम् ।
हृदयदहन नासाच्छेदप्रतिक्षणदारुणम् ॥
कटिविदहन तीक्ष्णपाताविशूलविभेदनम् ।
दहनवक्त्रैः कङ्कैर्घोरैः समन्तविमर्दनम् ॥
तीक्ष्णैरसिभिर्दीप्तैः, कुन्तैर्विषमैः परश्वधैश्चक्रैः ।
परशुत्रिशूलमुद्गर–तोमरवासीमुशुण्ढीभिः ॥
संभिन्नतालुशिरसा–च्छिन्नभुजाश्छिन्नकर्णनासौष्ठाः ।
भिन्नहृदयोदरान्त्रा, भिन्नाक्षिपुटाः सुदु खार्ता. ॥
निपतन्त उत्पतन्तो, विचेष्टमाना महीतले दीना' ।
नेक्षन्ते त्रातारं, नैरयिकाः कर्मपटलान्धाः ॥
छिद्यन्ते कृपणाः कृतान्तपरशोस्तीक्ष्णेन धारासिना,
क्रन्दन्तो विषवीचिभिः परिवृता' सम्भक्षणव्यावृतिः ।
पाट्यन्ते क्रकचेन दारुवदसिप्रच्छिन्नबाहुद्वयाः,
कुम्भीषु त्रपुपानदग्धतनवो मूषास्तुवान्तर्गता ।
भृज्यन्ते ज्वलदम्बरीषु हुतभुग्ज्वालाभिराराविणो,
दीप्ताङ्गारनिभेषु वज्रभवनेष्वङ्गारकेषूत्थिता. ।
दह्यन्ते विकृतोर्ध्वबाहुवदना क्रन्दन्त आर्तस्वनाः,
पश्यन्त' कृपणा दिशो विशरणास्त्राणाय को नो भवेदिति"

तथा तिर्यग्गतौ पृथिवीकायजन्तूनां सप्त योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्षाः स्वकायपरकायशस्त्राणि शीतोष्णादिका वेदना । तथाऽप्कायस्यापि सप्त योनिलक्षा सप्त च कुलकोटिलक्षा वेदना अपि नानारूपा एव । तथा तेजस्कायस्य सप्त योनिलक्षास्त्रय कुलकोटीलक्षाः पूर्ववच्छेदनादिकम् । वायोरपि सप्त योनिलक्षा सप्त च कुलकोटिलक्षा वेदना अपि शीतोष्णादिजनिता नानारूपा एव प्रत्येकवनस्पतेर्दश योनिलक्षा. साधारणवनस्पतेश्चतुर्दश उभयरूपस्याप्यष्टाविंशति. कुलकोटीलक्षास्तत्र च गतोऽसुमाननन्तमपि काल छेदनभेदनमोटनादिजनिता नानारूपा वेदना अनुभवन्नास्ते । विकलेन्द्रियाणामपि द्वौ द्वौ योनिलक्षौ कुलकोटयस्तु द्वीन्द्रियाणां सप्त. त्रीन्द्रियाणामष्टौ, चतुरिन्द्रियाणां नव दु ख तु क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिजनितमनेकधाऽध्यक्षमेव । तेषामिति पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारो योनिलक्षाः कुलकोटिलक्षास्तु जलचराणामर्द्धत्रयोदश, पक्षिणां द्वादश, चतुष्पदानां दश, उर परिसर्पाणां दश, भुजपरिसर्पाणां नव, वेदनाश्च नानारूपा यान्तिरश्चा सम्भवन्ति ता. प्रत्यक्षा एवेति । उक्त च "क्षुत्तृड्हिमात्युष्णभयार्दिताना, पराभियोगव्यसनातुराणाम् । अहो तिरश्चामतिदु'खितानां, सुखानुषङ्ग किल वार्त्तमेत " दित्यादि मनुष्यगतावपि चतुर्दश योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्षा वेदनास्त्वेवभूता इति ।

दु.ख स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां ,
बालत्वे चापि दु ख मललुलिततनुस्त्रीपय पानमिश्रम् ।
तारुण्ये चापि दु ख भवति विरहज वृद्धभावोऽप्यसारः,
ससारे रे मनुष्या! वदत यदि सुख स्वल्पमप्यस्ति किंचित् ।१।
बाल्यात्प्रभृति च रोगै–र्दष्टोऽभिभवश्च यावदिह मृत्यु. ।
शोकवियोगायोगै–र्दुर्गतदोषैस्त्वनेकविधैः ॥

क्षुत्तृड्हिमोष्णानिलशीतदाह–प्रियादियोगे प्रियविप्रयोगैः ।
दौर्भाग्यसौख्यानभिजात्यदास्य–वैरूप्यरोगादिभिरस्वतन्त्र ।१।
इत्यादि देवगतावपि चत्वारो योनिलक्षा षड्विंशति कुलकोटिलक्षास्तेषामपीर्ष्याविषादमत्सरच्यवनभयशल्यविलुप्तमानसा दु खानुषक्त एव सुखाभासाभिमानस्तु केवलमित्युक्त च " देवेषु च्यवनवियोगदु खितेषु, कोपेर्ष्यामदमदनातिपाति-

मेषु । नार्थः तस्तादिह विचार्य सरितस्तु, यस्तोऽपि किमपि नि- धेत्तोऽमरुना " इत्यादि सदैव पर्युलितधीना समाशिलो ना- गस्य कर्मविपाकस्यानुजवत्सोऽधेवदेव सूत्रेण दर्शयितुमाह । (सन्ति पाणा इत्यादि) सन्ति विद्यन्ते प्राणाः प्राणिनो वा नत्- [illegible] अपि स्वकृतविपाकफलानुभवस्य ध [illegible] इति । किञ्च व्याख्या तानेव इत्यादि तानेवम्भूता कुष्ठाद्यवस्थाविशेषो दुःखापन्नान् [illegible] तन्नामतोऽपि [illegible] इत्याह " फुसंति इत्यादि " [illegible] प्रकर्षेणानोऽत्यर्थ [illegible] 'समं ति विद्यन्ते प्राणा प्राणिनो बालका [illegible] । [illegible] इत्याह " उवधे इत्यादि " उदके उदकरूपा [illegible] जन्तव पर्याप्तकापर्याप्तक- भेदेन व्यवस्थिता । तथोदके [illegible] धपि केचन जलाश्रिता महोरगादयः [illegible] दृश्यो द्रष्टव्या । अपरे [illegible] स्वोऽपि प्राणाः प्राणिनो [illegible] दिना वा [illegible] । यदेव तत् किमित्यत आह " पास इत्यादि " [illegible] चतुर्दशरज्ज्वात्मके कर्मविपाका [illegible] नानागतिषु [illegible] त्मकमिति किमिति कर्मविपाकात्मक महद्भयमित्याह "बहु- इत्यादि" बहूनि दुःखानि कर्मविपाकापादितानि येषां जन्तूनां ते तथा दुःखमाद्येव तस्मात्प्रमादवता भाव्य किमित्येव भूयो भूय उपदिश्यत इत्यत आह । "सत्ता इत्यादि" यस्मादना- दिनयाभ्यासेनानादिजीवपरिणामा, सत्त्वा गृद्धा कामेष्वि- च्छामदनरूपेषु मानवा पुरुषा इत्यतो न पुनरुक्तोपानुषङ्गः । कामासक्ताश्च यदवाप्नुवन्ति तदाह " अबलेण इत्यादि " य- स्तरहितेन निस्सारेण तुषमुष्टिकल्पेनौदारिकेण शरीरेण प्रभ- ङ्गुरेण त्वत एव [illegible] तत्सुखाधानतया कर्मोपचि- त्याऽनेकशो वध गच्छन्ति । कः पुनरसौ विपाककटुकेषु का- मेषु यो गर्न विदध्यादित्याह " अट्टे इत्यादि " मोहोदयादा- र्तोऽगणितकार्याकार्यविवेकतोऽनुमान । बहु दुःख प्राग्भवमने- नेति बहुदुःख इत्यनेन कामानुषक्त प्राणिना क्लेश याति यान्तो रागद्वेषाकलित प्रकर्षेण करोति प्रकरोति तज्जनितकर्मवि- पाकाद्यानेकशो वध गच्छन्ति । यदि वा रोगेषु सत्सु इत्येत- द्वक्ष्यमाण बालोऽत्र प्रकरोति तदाह "एए इत्यादि" एतान् गण्डकुष्ठराजयक्ष्मादीन् रोगान् बहुदुत्पन्नानिति ज्ञात्वा तद्रो- गवेदनाया आतुरा. सन्तश्चिकित्सार्थं प्राणिन परितापये- युर्लावककादिपिशितादिना किल क्षयव्याध्युपशम स्यादि- त्यादिवाक्याकर्णनात्तज्जीवितार्थया शरीरस्यापि प्राग्युपमर्द्दे प्रवर्तेरंस्तत्कृतधारयेयुर्यथा स्वकृतावन्ध्यकर्मविपाकोदयादे- तत्कृतोपशमाद्योपशम प्राग्युपमर्दचिकित्सया च किल्बिषानु- षङ्ग एतेन्येतद्दर्शयत्याह " णाल इत्यादि " पश्यैतद्विमलविवेकाव- लोकनेन यथा नाल न समर्थाश्चिकित्साविधय. कर्मोदयोप- शमं विधातुम । यदेव तत किं कर्त्तव्यमिति दर्शयति । अलं पर्याप्त तव सदसद्विवेकिन एभि. पापोपादानभूतैश्चिकित्सा- विधिभिरिति । किञ्च " एयं इत्यादि " एतत्प्राण्युपमर्दादिक महाभयमाकलय्य हेमुने ! जगत्त्रयस्थभाववेदिन् ! महत्कृत्स्नयहे- तुत्वात्त्यज यदेवम् । ततः किं कुर्यादिति दर्शयति नाति- पातयेत् हन्यात्कञ्चन प्राणिन यत एकस्मिन्नपि प्राणिनि हन्यमानेऽष्टप्रकारमपि कर्म बध्यते तच्चानुत्तरससारग- मनायेत्यतो मातिपातयेदिति । यदि वा " एए रोगे बहु णचे " इत्यादिको ग्रन्थः कामानधिकृत्य ज्ञेय । एतान् रोगरूपान् कामान् बहून् ज्ञात्वा कामैषणाप्रतापेनातुराः कामेच्छातुरा अपनत्र प्राणिन परितापयेयुरित्यादिना प्रक्रमेणेति आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । ज्ञानावरणादिकर्मणां तत्तद्द्रा- नलक्षण स्वप्रदेशफलप्रदानलक्षणे विपाके, दर्श० " पयइठिइपएस- रस-सुभासुभभिन्न सुहासुहविपाक । ओगासुजावजणिअ, क- म्मविवाग वियाणिज्जा " धा०७४ सू० (णाण शब्दे व्याख्या) कर्मणा ज्ञानावरणादीनां विपाकोऽनुभवः कर्मविपाकः । कर्म- विपाकप्रतिपादके प्रथमे कर्मग्रन्थे, "दिनेशवद्ध्यानपरप्रतापैरन- न्तरागमप्रहित समन्तात् । योऽशीषयत्कर्मविपाकपङ्क देवो मुदे सोऽस्तु स वर्द्धमान ॥१॥ ज्ञानादिगुणगुरूणां, धर्मगुरूणां प्रणम्य पदकमलम् । कर्मविपाके विवृति, स्मृतिबीजाय स्वकृते विदधे ॥२॥ तत्रादौ शास्त्रादिस्तवतामस्तुत्यादिमतिपादिकामिमां गाथामाह ।

सिरिवीरजिणं वंदिअ, कम्मविवाग समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहि, जेणं तो भन्नए कम्मं ॥ १ ॥

श्रिया सकलत्रिभुवनजनमनश्चमत्कारकारि मनोहारि परमा- र्हन्त्यमहामहिमविस्तारि " अशोकवृक्षः १ सुरपुष्पवृष्टि, २ र्दि- व्यो ध्वनि ३ श्चामर ४ मासन च ५ । भामण्डल ६ दुन्दुभि ७ रातपत्र ८ सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणामिति" स्पष्टाष्टप्रातिहा- र्यशोभया चतुस्त्रिंशदतिशयविभूत्या वा समन्वितो वीर. श्री- वीर स चासौ रागद्वेषमोहप्रभृतिवैरिवारपराजयाज्जिनेश्च श्रीवीरजिनस्त श्रीवीरजिन श्रीवर्द्धमानस्वामिन वन्दित्वा विशुद्ध्यमानमणिधानसमन्वितेन वाग्योगेन स्तुत्वा काययोगेन च प्रणम्य पुन स्तुत्यभिवादनयोरिति वचनात् एतेन मङ्गला- र्थमभीष्टदेवतायाः स्तुतिरुक्ता क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासा- पेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह कर्मविपाक वक्ष्ये । तत्र कर्मणां ज्ञाना- वरणादीनां विपाकोऽनुभवः कर्मविपाकस्त कर्मविपाकं वक्ष्ये ऽभिधास्ये । अनेनाभिधेयमाह । कथमित्याह समासत सङ्क्षेपे ण विस्तरेण दुष्षमानुभावापचीयमानमेधायुर्बलादिगुणानामैद- युगीनजनानां विस्तराभिधाने सति उपकारासम्भवात्तदुपकारार्थ च एव शास्त्रारम्भप्रयासः । एतेन सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे । सम्बन्धस्त्वर्थापत्तिगम्य स चोपायोपेयलक्षण साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्य इति कर्म० १ क० ।

कम्मविवागदसा—कर्मविपाकदशा—स्त्री० बहुव० कर्मणोऽशुभ- स्य विपाक. फलं कर्मविपाकस्तत्प्रतिपादिका दशा अध्ययनात्म- कत्वाद्दशा. कर्मविपाकदशा । विपाकश्रुताख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे, द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दशाध्ययनात्मकः कर्मविपाकप्रतिपादकश्च । नचासाविहाभिमत. स्थानाङ्गेऽन्यथा विवृतत्वात् । इति । स्था० । इय विवृतिः ।

कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता तंजहा ।

मियापुत्ते य गुत्तासे, अंडे सगडे इयावरे ॥
माहणे नंदिसेणे य, सूरिए य उदुंबरे ॥१॥
सहस्सुद्दाहे आमलए, कुमारे लेच्छईतिय ॥

(मिगेत्यादि) श्लोकः सार्द्धः मृगा मृगग्रामाभिधाननगरराजस्य विजयनाम्नो भार्या तस्याः पुत्रो मृगापुत्रस्तत्र किल नगरे महावीरो गौतमेन समवसरणागत जात्यन्ध नरमवलोक्य पृष्टो भदन्तान्योऽपीहास्ति जात्यन्धो भगवांस्तं मृगापुत्रं जात्यन्धमनाकृतिमुपदिदेश । गौतमस्तु कुतूहलेन तद्दर्शनार्थं तद्गृहं जगाम मृगादेवी च वन्दित्वा गमनकारणं पप्रच्छ । गौतमस्तु त्वत्पुत्रदर्शनार्थमित्युवाच । ततः सा भूमिगृहस्थ तदुद्घाटनतस्त गौतमस्य दर्शितवती । गौतमस्तु तमतिघृणास्पद दृष्ट्वाऽऽगत्य च भगवन्तं पप्रच्छ । कोऽयं जन्मान्तरेऽभवत् भगवानुवाच अय हि विजयवर्द्धमानकाभिधाने खेटे मकायीत्यभिधानो लञ्चोपचाराद्भिर्लोकोपतापकारी राष्ट्रकूटो बभूव । ततः षोडशरोगातङ्काभिभूतो मृतो नरक गतस्तत. पापकर्मविपाकेन मृगापुत्रो लोष्टाकारोऽव्यक्तेन्द्रियो दुर्गन्धो जातः । ततो मृत्वा नरकं गत इत्यादि तद्वक्तव्यता प्रतिपादकप्रथममध्ययनं मृगापुत्रमुक्तमिति । (गोत्तासेत्ति) गास्त्रासितवानिति गोत्रासोऽय हि हस्तिनागपुरे भीमाभिधानकूटग्राहस्योत्पलाभिधानाया भार्यायाः पुत्रोऽभूत् । प्रसवकाले चानेन महापापसत्वेनाराज्यात् गावस्त्रासिता यौवने चायं गोमांसान्यनेकधा भक्षितवान् । ततो नारको जातस्ततो वाणिजग्रामनगरे विजयसार्थवाहभद्राभार्ययोरुज्झितकाभिधानः पुत्रो जातः । स च कामध्वजगणिकार्थे राज्ञा तिलशो मांसच्छेदनेन तत्स्वादनेन च चतुष्पथे विरूप्य व्यापादितो नरकं जगामेति गोत्रासवक्तव्यताप्रतिबद्ध द्वितीयमध्ययनं गोत्रासमुच्यते । इदमेव चोज्झितकनाम्ना विपाकश्रुते उज्झितकमुच्यते इति ॥ २ ॥ (अडेत्ति) पुरिमतालनगरवास्तव्यस्य कुक्कुटाद्यनेकविधाण्डकभाण्डव्यवहारिणो वाणिजकस्य निन्नकाभिधानस्य पापविपाकप्रतिपादकमण्डमिति । स च निन्नको नरकङ्गतस्तत उद्धृतोऽभग्नसेननामा पल्लीपतिर्जातः । स च पुरिमतालनगरवास्तव्येन निरन्तर देशलूषणातिकोपितेन विश्वास्यानीय प्रत्येकं नगरचत्वरेषु तदग्रतः पितृव्यपितृव्याप्रभृतिकं स्वजनवर्गं विनाश्य तिलशो मांसच्छेदनरुधिरमांसभोजनादिना कदर्थयित्वा निपातित इति विपाकश्रुते वा भग्नसेन इतीदमध्ययनमुच्यते ३ (सगडियावरेत्ति) शकटमिति चापरमध्ययनं तत्र शाखाञ्जन्यां नगर्यां सुभद्राख्यसार्थवाहभद्राभिधानतद्भार्ययोः पुत्र शकटः । स च सुषेणाभिधानामात्येन सुदर्शनाभिधानगणिकाव्यतिकरे सगणिको मांसच्छेदादिनाऽत्यन्त कदर्थयित्वा विनाशित । स च जन्मान्तरे छगलपुरे नगरे छन्निकाभिधानच्छागलिको मांसप्रिय आसीदित्येतदर्थप्रतिबद्ध चतुर्थमिति ॥ ४ ॥ (माहणेत्ति) कौशाम्ब्यां बृहस्पतिदत्तनामा ब्राह्मणः स चान्त·पुरव्यतिकरे उदायनेन राज्ञा तथैव कदर्थयित्वा मारितो जन्मान्तरे चासावासीन्महेश्वरदत्तनामा पुरोहित । स च जितशत्रो राज्ञः शत्रुजयार्थं ब्राह्मणादिभिर्होमं चकार तत्र प्रतिदिनमेकैक चातुर्वर्ण्यदारकमष्टम्यादिषु द्वौ द्वौ चतुर्मास्यां चतुरश्चतुरः षण्मास्यामष्टावष्टौ संवत्सरे षोडश षोडश परचक्रागमेऽष्टशतमष्टशत परचक्रं च जीयते तदेव मृत्वाऽसौ नरकं जगामेत्येव ब्राह्मणवक्तव्यताप्रतिबद्ध पञ्चममिति ५ (नंदिसेणयत्ति) मथुरायां श्रीदामराजसुतो नन्दिषेणो युवराजो विपाकश्रुते च नन्दिवर्द्धनः श्रूयते स च राजद्रोहव्यतिकरे राज्ञा नगरचत्वरे तप्तस्य लोहस्य द्रवेण स्नान तद्विधसिंहासनोपवेशन क्षारतैलभृतकलशैः राज्याभिषेकञ्च कारयित्वा कष्टमारेण परासुतान्नीतो नरकमगमत् । स च जन्मान्तरे सिंहपुरनगरराजस्य सिंहरथाभिधानस्य दुर्योधननामा गुप्तिपालो बभूव । अनेकविधयातनाभिर्जनं कदर्थयित्वा मृतो नरक गतवानित्येवमर्थं षष्ठमिति ॥६॥ (सोरियत्ति) सौरिकदत्तो नाम्ना मत्स्यबन्धपुत्र· स च मत्स्यमांसप्रियो गलविलग्नमत्स्यकण्टको महाकष्टमनुभूय मृत्वा नरक गतः । स च जन्मान्तरे नन्दिपुरनगरराजस्य मित्राभिधानस्य श्रीको नाम महानसिकोऽभूत् जीवघातरतिर्मांसप्रियश्च मृत्वा चासौ नरक गतवानिति सप्तमम् ॥७॥ इदं चाध्ययनं विपाकश्रुतेऽष्टममधीतम् । (उदुंबरोत्ति) पाटलीखण्डे नगरे सागरदत्तसार्थवाहसुत उदुम्बरदत्तो नाम्नाऽभूत् । स च षोडशभी रोगैरेकदाऽभिभूतो महाकष्टमनुभूय मृत । स च जन्मान्तरे विजयपुरराजस्य कनकरथनाम्नो धन्वन्तरिनामा वैद्य आसीत् । मांसप्रियो मांसोपदेष्टा चेति कृत्वा नरक गतवानित्यष्टमम् ॥ ८ ॥ (सहस्सुद्दाहेत्ति) सहसाऽकस्मादुद्दाहः प्रकृष्टो दाह· सहसोद्दाहः सहस्राणां वा लोकस्योद्दाहः सहस्रोद्दाह (आमलएत्ति) एतुतेर्लश्रुतिरित्यामरकः सामस्त्येन मारिरेवमर्थप्रतिबद्धं नवमम् । तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तस्तद्वचनादेकोनानि पञ्चशतानि देवीनां तां मिमारयिषूणि ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातृणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्वा भक्तादिभि· सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा षष्ठ्यां च गत्वा रोहीतके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताभिधानाऽभवत् । सा च पुष्यनन्दिना राज्ञा परिणीता स च मातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासीत्तया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वलल्लोहदण्डस्यापानप्रक्षेपात्सहसा दारुणवधो व्यधायि राज्ञा चासौ विविधविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताभिधान नवममिति ॥९॥ तथा (कुमारेत्ति) कुमारा राज्यार्हा अथवा कुमाराः प्रथमवयस्थास्तान् (लेच्छईयाति) लिप्सुश्च वणिजश्चाश्रित्य दशममध्ययनमिति शेषश्च परिसमाप्तौ भिन्नक्रमश्चेति । अयमत्र भावार्थो यदुत इन्द्रपुरे नगरे पृथिवीश्रीनामगणिकाऽभूत्सा च बहून् राजकुमारवणिक्पुत्रादीन् मन्त्रचूर्णादिभिर्वशीकृत्योदारान् भोगान् भुक्तवती षष्ठ्यां च गत्वा वर्द्धमाननगरे धनदेवसार्थवाहदुहिता अञ्जूरित्यभिधाना जातेति सा च विजयराजपरिणीता याऽतिशूलेन कृच्छ्रं जीवित्वा नरक गतेति । अत एव विपाकश्रुते अञ्जू इति दशममध्ययनमुच्यत इति स्था० १० ठा०।

कम्मविवेग–कर्मविवेक–पुं० कर्मनिर्जरायाम्, आव० ६ अ० ।

कम्मविस–कर्मविष–न० कर्मैव विषमात्मनो विकारहेतुत्वात् कर्मविषम् । विषत्वोपमिते कर्मणि, पंचा० ४ विव० ।

कम्मविसुद्ध–कर्मविशुद्ध–पु० क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणादिलक्षण तेन विशुद्धो वियुक्तः कर्मविशुद्ध कर्मकलङ्करहिते, " कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाए " दश० १ अ० ।

कम्मविसुद्धि–कर्मविशुद्धि–स्त्री० प्रदेशापेक्षयाऽनुभागानां कर्मणां विगतौ, भ० ९ श० ३२ उ० ।

कम्मविसोहि–कर्मविशोधि–स्त्री० रसमाश्रित्य कर्मणां विगमे, भ० ९ श० ३२ उ० ।

कम्मविहूणण–कर्मविधूनन–न० कर्मणां विधूनने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्र० [धूताध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके उक्तम्]

कम्मवीय–कर्मवीज–न० वीजत्वोत्प्रेक्षिते कर्मणि, "अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातन कर्मवीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः " "दग्धे वीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मवीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः " आ० म० द्वि० । सूत्र० ।

कम्मवेयय–कर्मवेदक–पु० कर्मणां वेदप्ररूपके प्रज्ञापनाया पञ्चविंशतितमे पदे, प्रज्ञा० २५ पद० ।

कम्मस–कल्मष–न० कर्म शुभाशुभं स्यति सो–क–पत्व रस्य लः । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे " ८ । २ । ७९ इति लुक्–द्वित्वम् प्रा० । पापे, को० । मलिने, त्रि० जटाधरः । " जन्मन्यृक्षे यदि स्यातां, वारौ भौमशनैश्चरौ । स मासः कल्मषो नाम, मनोदुःखप्रदायकः " दीपकोक्ते मासभेदे, वाच० ।

कम्मसंगरकेलि–कर्मसंगरकेलि–पु० कर्मक्षयकरसग्रामे, "हृतमोहास्त्रवैफल्य–ज्ञानवर्म बिभर्ति य । क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः कर्मसङ्गरकेलिषु " अष्ट० ३३ पत्र ।

कम्मसंवच्छर–कर्मसंवत्सर–पु० कर्म लौकिको व्यवहारस्तत्प्रधान संवत्सरः कर्मसंवत्सर । ऋतुसंवत्सरे, यस्मिंस्त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि परिपूर्णान्यहोरात्राणां भवन्ति । लोको हि प्राय सर्वोऽप्यनेनैव संवत्सरेण व्यवहरति तथा चैतद्गत मासमधिकृत्यान्यत्रोक्तम् "कम्मो निरंसयाए, मासो ववहारकारगो लोए । सेसा उ संसयाए, ववहारे दुक्करा धित्तुं " सू० प्र० १० पाहु० । जं० ।

कम्मसमज्जणसय–कर्मसमर्जनशत–न० कर्मसमर्जनलक्षणार्थप्रतिपादके भगवत्याः अष्टाविंशे शतके, भ० २८ श० । (अत्रत्या वक्तव्यता बंध शब्दे)

कम्मसमारंभ–कर्मसमारम्भ–पु० ६ त० ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारस्य कर्मण उपादानहेतौ उपार्जनोपाये, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पशुघातमांसभक्षणसुरापाननिर्लाञ्छनादिके सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

कम्मसह–कर्मसह–त्रि० कर्मविपाकसहिष्णौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कम्मसाला–कर्मशाला–स्त्री० कुम्भकारगृहस्थाने, यत्र कुम्भकारो घटादिभाजनानि करोतीति वृ० २ उ० ।

कम्मसिद्ध–कर्मसिद्ध–पु० ३ त० कर्मशब्दोक्ते "कम्म जमणायरिअ" इत्युक्तलक्षणे कर्मणि निष्ठां गते, आ० म० द्वि० ।

सम्प्रति कर्मसिद्धमोदाहरणमभिधित्सुराह ।

जो सव्वकम्मकुसलो, जो वा जत्थ सुपरिनिट्ठिओ होइ ।
सज्जगिरिसिद्धगो विव, स कम्मसिद्धो त्ति विन्नेओ ॥

य कश्चित् सर्वकर्मकुशलो यो वा यत्र कर्मणि सुपरिनिष्ठितो भवत्येव कस्मिन्नपि कर्मणि सह्यगिरिसिद्धक इव स कर्मसिद्ध इति विज्ञेय । कर्मसिद्धो ज्ञातव्य इत्यर्थ । एष गाथाक्षरार्थ । भावार्थ कथानकादवसेय । तच्चेद " कोंकणे एगम्मि दुग्गे सज्झस्स णग ओरुहंति चिलयंति यताए वि विसमे गुरुभारवाहि त्ति काऊण रण्णा समाणत्त एएसिं मए वि पथो दायव्वो न उण एएहिं कस्स वि । इतो य एगो सिंधवतो पुराणो सो पडिभज्जतो चितेइ तेहिं जामि जहिं कम्मेण एस जीवो भज्जइ सुहं न विंदए सो तेसिं मिलितो । सो गतुकामो रयणिपज्जवसाणे भणइ कुडुक्कपभिवोहियहुओ । सिद्धओ भणइ सिद्धिय देहि मम जह सिरूय सिद्धया गया । सज्झ य " अत्र कुदुरुक कुर्कुटः सह्यक सह्यपर्वत " सो य तेसिं महत्तुरत्तो सव्ववहु भार वहइ । अन्नया साहू तेण मग्गेण आगच्छति तेण तेसिं साहूण मग्गो छिन्नो । वेरुद्धा रान्नो गया रायाण वन्नेवेंति । अम्ह राया वि मग्ग देइ भारेण दुक्खाविज्जताण एस पुण समणस्स रित्तस्स मग्गं देइ । रण्णा भणियं अन्ने दुट्ठ ! ते कहं मम आणा लुंपिया । तेण भणियं देव ! तुमे गुरुभारवाहि त्ति काऊण मे य माणत्त रण्णा आमंति पभिसुणतेण भणियं जइ एवं ता सो गुरुतरवाहा कह जं सो अवासमतो अट्ठारससीलंगसहस्सनिब्भरं भार वहति जाम एव वोढु न पारिओ एत्थंतरा धम्मकहा तेण कहिया ते महाराया बुज्झति नाम भारा ते च्चिय बुज्झंति वासमतेहिं मीअभंगो वोढव्वो जावज्जीव अवीसामो राया पभिबुद्धो सो य सवेगतो पुणरवि पवज्जाए अब्भुट्ठितो एसो कम्मसिद्धो " ॥ आ० म० द्वि० । आ० चू० ॥

कम्महय–कर्महत–त्रि० कर्मभग्ने, व्य० ६ उ० ॥

कम्माजीव–कर्माजीव–पु० कर्म कृष्याद्यनाचार्यकं वा सूचादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिग्राहके आजीवनामकैषणादोषदुष्टे, स्था ॥ ठा

कम्माणुबंधच्छेयग–कर्मानुबन्धच्छेदक–त्रि० कर्मसत्ताव्यवच्छेदके, पचा० १५ विव० ।

कम्मादान–कर्मादान–न० कर्माणि ज्ञानावरणादीनि आदीयन्ते यैस्तानि कर्मादानानि । अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च कर्महेतव इति विग्रह भ० ८ श० ५ उ० । कर्मोपादानहेतुषु, उत्त० ११ अ० । भ० । "जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं णो कप्पति इमाइं पण्णरस कम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा० इंगालकम्मे " इत्यादि । भ० ८ श० ५ उ० । कर्मादानानीत्यनुपसावद्यजीवनोपायाश्चात्रेऽपि तेषामुत्कटज्ञानावरणीयादिकर्महेतुत्वादादानानि कर्मादानानि ज्ञातव्यानि । आव० ६ अ० । (उपभोग परिभोगवय शब्दे विवृत) कर्मणां ज्ञानावरणादीनामादानम् । बन्धस्थानहेतौ, अन्त० ७ वर्ग० । तथा भगवत्यां श्राद्धानां पञ्चदशकर्मादाननिषेधे प्रोक्ते तत्सेवनं कल्पते नवेति प्रश्नेऽत्रोत्तरं श्राद्धानां पञ्चदशकर्मादाननिषेध आधुनिको ज्ञेयोऽपवादपदे तु परिहाराशक्तौ शकटालादीनामिव तानि कल्पन्तेऽपीति १०४ प्रश्नेन १ उल्ला० ।

कम्मायक–कर्मातङ्क–पु० क्लिष्टे कर्मणि, प० सू० ।

कम्माययण–कर्मायतन–न० कर्मणां ज्ञानावरणादीनामायतनम् । बन्धस्थानहेतौ, अन्त० ७ वर्ग० ॥

कम्मा (रिय) यरिय–कर्मार्य–पु० दौष्यिकसौत्रिकादौ कर्मणार्ये, प्रज्ञा० १ पद (आयरिय शब्दे दर्शितोऽस्य भेद)

कम्मार–कर्मकार–पु० ग्रगणपुञ्जाद्यपनेतरि, ज० २ वक्ष० । लोहादिकर्मकरे, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

कर्म्मार–पु० कर्म ऋच्छति ऋ–अण्–वर्णभेदे, कर्मरङ्गवृक्षे च राजनि० । कर्मप्राप्तरि, त्रि० स्वार्थे कन् तत्रैव वाच० । अयस्कारे

" कम्मार इवादायादोप सरूासहोहाण " विशे० । लोहकारे, नि० चू० १ उ० । (सिद्धिः कम्मासरीरकायप्पओगशब्दे)

कम्मारग्गाम–कर्मारग्राम–पु० ज्ञातखण्डोद्यानसमीपे स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र भगवान् वीरः ज्ञातखण्डात् प्रस्थितः आ०चू० १ अ० । आ० म० द्वि ।

कम्मारदारय–कर्म्मारदारक–पुं० लोहकारदारके, जी० ३ प्रति० ।

कम्मारभिक्खुय–कर्मकारभिक्षुक–पु० देवद्रोणीवाहकभिक्षुविशेषे, बृ० ३उ० ।

कम्मासरीरकायप्पओग–कार्मणशरीरकायप्रयोग–पुं० कायप्रयोगभेदे, कार्मणशरीरकायप्रयोगे विग्रहे, समुद्घातगतस्य च केवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भवति उक्तं च " कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च " भ० ८ श० १ उ० । (अत्र मूलपुस्तके कम्मासरीरकायप्पओगेत्युक्तमितीहापि तथैवोक्तं वस्तुतस्तु कम्म (ण) यसरीरेति यकारप्रकरणे पवोपयुज्यते यद्वा आर्षत्वाद्यकारलोपः दीर्घे कम्मासरीरेति । अथवा कगचजेत्यादिना यकारलोपे उभयोरकारयोर्दीर्घे कम्मासरीरेति)

कम्मि (ण्) कर्म्मिन्–त्रि० कर्मास्त्यस्य व्रीह्यादित्वादिन् व्यापारयुक्ते, स्त्रियां ङीप् वाच० । सावद्यानुष्ठानवति, कर्मवति पापिनि, सूत्र० १ श्रु० ए अ० सपापे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कम्मिंदिय–कर्म्मेन्द्रिय–न० कर्मणां वचनादीनां निमित्तमिन्द्रियम् । वचनादिकर्मकरेषु वागादिषु, वाक्पाणिपादपायू–पस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः । वचनादानविहरणो–त्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्" वाच०[एषामिन्द्रियत्वनिराकरणमिंदिय शब्दे उक्तम्]

कम्मिया–कर्मिता–स्त्री० कर्म विद्यते यस्याऽसौ कर्मी तद्भावस्तत्ता । कर्मवत्त्वे, भ० १ श० १ उ० ।

कार्मिका–अन्ये त्वाहुः कर्मणां विकारः कार्मिका । अक्षीणे कर्मशेषे, " कम्मियाए संगियाए देवा देवलोगेसु उववज्जंति " अक्षीणेन कर्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः । भ० १ श० १ उ० ।

कम्मुम्मीसग–कर्मोन्मिश्रक–न० कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्रके व्याप्ते । अवश्यसंयुक्ते, ।

चत्तारि सरीरगकम्मुम्मीसगा पन्नत्ता तंजहा ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए ॥

(कम्ममीसगत्ति) कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्रकाणि न केवलानि यथौदारिकादीनि त्रीणि वैक्रियादिभिरमिश्रकाण्यपि भवन्ति नैव कार्मणेनेति शरीराणि कार्मणेनोन्मिश्राणीत्युक्तम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

कम्मुरलदुग–कर्मौदारिकद्विक– न० कार्मणे औदारिकद्विके, औदारिकलक्षणे च । प० स० ।

कम्मोदय–कर्मोदय–पु कर्मणामुदयः । कर्मणामुदितत्वे, भ० ए श० ३२ उ० ।

कम्मोदयपच्चयज्झाण–कर्मोदयप्रत्ययध्यान–न० कर्मणामुदयः प्रत्ययो हेतुर्यस्य ध्यानस्य तत्कर्मोदयप्रत्ययध्यानम् । कर्मोदयप्रत्ययेन वा ध्यान कर्मोदयप्रत्ययध्यानम् । प्रथम शुभपरिणामवतोऽपि पश्चात्कुतश्चित्कर्मोदयतोऽशुभपरिणामत्वे, यथा पर्यन्तकाले इभ्यस्य आतु० ६ प० ।

कम्मोपा (वा) हिविणिम्मुक्क–कर्मोपाधिविनिर्मुक्त–त्रि० कर्मणामौपाधिकानामन्यद्रव्याणां कुतश्चित सद्गतानामुपाधिः साहचर्यं तेन विनिर्मुक्तो रहितः कर्मोपाधिविनिर्मुक्तः । सिद्धे, द्र० २१ पत्र । (पर्यायार्थिकनयस्य पञ्चमभेदस्वरूपे विवृतिः)

कम्मोवग–कर्मोपग–पु० कर्म ज्ञानावरणादिपुद्गलरूपमुपगच्छति बन्धनद्वारेणोपयातीति कर्मोपग० भ० १४ श० ६ उ० । आयुःकर्मबद्धे, कर्मढौकिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । " तहुच्चकमा कम्मोवगा कम्मणियाणेण तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति " (सूत्र०) तथाविधेन वनस्पतिकायसम्भवेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिषु उप सामीप्येन तस्यामेव च पृथिव्यां गच्छन्तीति कर्मोपगा भण्यन्ते (सूत्र०) ते हि कर्मवशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषु उत्पद्यन्ते न चान्यत्रोप्ता अन्यत्र प्रविष्यन्तीति । उक्तं च " कुसुमपुरोप्ते बीजे, मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति । यत्रैव तस्य बीज, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः " सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

कम्मोवसंति–कर्मोपशान्ति–स्त्री० अशेषद्वन्द्वमातात्मकसंसारतद्बीजभूतानां कर्मणामुपशमे, आचा० १ श्रु० २ अ० ।

कम्मोवहि–कर्मोपधि–पु० उपधीयते पोष्यते जीवोऽनेनेत्युपधिः कर्म एवोपधिः कर्मोपधिः । उपधिभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या उवहिशब्दे)

कम्हलय–कश्मलज–त्रि० पापोत्पन्ने, अष्ट० ६ अ० ।

कम्हा–कस्मात्–किम–ङस्–ङसेर्म्हा ८ । ३ । ६६ । इति ङसेर्म्हा इत्यादेशः । कुत इत्यर्थे, प्रा० ।

कम्हार–कश्मीर–पु० "आत् कश्मीरे" ८।१।१०० । कश्मीरशब्दे इकारस्य आद् भवति प्रा० । " कश्मीरेम्भो वा ८।२।६० । इति संयुक्तस्य म्भो वा । कम्भारो कम्हारो प्रा० । नवमे ऋषभदेवपुत्रे, तदधिष्ठितदेशभेदे च. कल्प० ।

कय–कच–पु० कच्–अच्–केशे, त० । बृहस्पतिपुत्रे, शुष्कव्रणे, मेघे, शब्दमा० । हस्तिन्याम्, स्त्री०मेदनी० भावे घ० बन्धे, शोभायां च । वाच० ।

कृत–त्रि० कृ–कर्मणि–क्त. । ऋतोऽत् ८ । १ । १२६ । इति ऋतोऽत्वम् प्रा० । विहिते, "कयकोउयमंगलपायच्छित्ता" विपा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । आचा० । निर्वर्तिते, भज्यस्ते, आव० ४ अ० । निष्पादिते, संथा० । " अणुगयसुकयवयरहेश्या " रा० । आतु० । "कयाहाराओ" कृतोऽभ्यवहृत आहारो याकाभिस्तास्तथा । औ० । अर्जिते, आतु० । उत्पन्ने, आ० म० द्वि० । अर्थे, प्रयोजने "अत्थकए" अर्थकृते अर्थार्थम् दश० ए अ० । सूत्र० अनुष्ठिते, स० । आचरिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

क्रय–पु० क्री भावे० अच्–क्रयण क्रयः । लाभार्थमल्पमूल्येन बहुल्पवस्तुग्रहणे, आतु० । (क्रीयकयशब्दे क्रयेण वस्त्रपात्राद्युपभोगो निषेत्स्यते)

कयंजलि–कृताञ्जलि–पु० कृतोऽञ्जलिरिव पत्रसङ्कोचो येन । लज्जालुवृक्षे, सम्पुटीकृतहस्ते, त्रि० धरणि वाच० । " कयजल्ली सयगुरू सरणमुपगतो " आ० म०प्र० । "कयजलिउमा" कृताञ्जलिपुटा आ० म० प्र० ।

कयंगला–कृतङ्गला–स्त्री० श्रावस्तीनगरीसमीपवर्तिन्यां, नगर्याम्, "तीसे ण कयंगलाए नयरीए अदूरसामंते सावत्थी णाम नयरी होत्था" भ० २ श० १ उ० । आ० म० द्वि० ।

कयंत–कृतान्त–पुं० कृतः अन्तो विपर्ययनाशो निश्चयो विषय-

रिच्छेदो वा येन। सिद्धान्ते, वाच०। "नियमाद्दिव्यज्ञानमुत्पद्यते इति भवतां कृतान्तः" अने०। कृत निष्पादितं यद्यपि कार्य्यमन्त नयनीति व्युत्पत्त्या कृतघ्ने, यमे, तत्तुल्यप्रदेशे, "कयतस्स सोढुमइ तिक्खरोसो अहिगं वा" बृ० १ उ०। पापे, प्राग्भवजन्ये दैवे अमर। शनौ, हक्कितलक्षणया द्वित्वसख्यायां च वाच०।

कयंव–कदम्ब–पु० समूहे, कल्प०। वृक्षविशेषे, रा०। प्रज्ञा०। "घणपत्तच्छाया बहुलफुल्लइ जाम्बुकयवु" प्रा०। शत्रुञ्जये पर्वते च ती० १ कल्प०।

कयकज्ज–कृतकार्य्य–त्रि० विहितसमस्तवसतिप्रमार्जनादिव्यापारे, नि० चू० २० उ०।

कयकरण–कृतकरण–त्रि अभ्यस्तक्रिये, पं० व० ४ द्वा०। प्रकरणानुरोधात् धनुर्वेदकृताभ्यासे सहस्रयोधिनि, सूत्र० १ उ०। बहुशो विहितचौराद्यनुष्ठाने, "कयकरणलद्धलक्खा" प्रश्न आश्र ३ द्वा० षष्ठाष्टमादिभिर्विविधतपोविधानैः परिकर्मितशरीरे,

कयकरणा इयरे वा, सावेक्खो खलु तहेव निरवेक्खो।
निरवेक्खो जिणमादी, सावेक्खो आयरियमादी॥

कृतकरणा नाम षष्ठाष्टमादिभिर्विविधतपोविधानैः परिकर्मितशरीरा इतरे अकृतकरणाः षष्ठाष्टमादिभिस्तपोविशेषैरपरिकर्मितशरीराः। तत्र ये कृतकरणास्ते द्विविधास्तद्यथा सापेक्षाः खलु तथैव निरपेक्षाः। सह अपेक्षा गच्छस्येति गम्यते येषां ते सापेक्षा गच्छवासिन। निर्गता अपेक्षा येभ्यस्ते निरपेक्षास्ते त्रिविधा जिनादयः तद्यथा जिनकल्पिका शुद्धपरिहारिका यथालन्दकल्पिकाश्च एते नियमात्कृतकरणा अकृतकारणानामन्यतमस्यापि कल्पस्य प्रतिपत्त्ययोगात्। सापेक्षा अपि त्रिविधा आचार्यादयस्तद्यथा आचार्या उपाध्याया भिक्षवश्च। एते प्रत्येकं द्विधात्वात्षड् भवन्ति तद्यथा आचार्या कृतकरणा अकृतकरणाश्च। उपाध्याया अपि कृतकरणा अकृतकरणाश्च भिक्षवोऽपि कृतकरणा अकृतकरणाश्च। तत्र कृतकरणाना चिन्त्यमानत्वाद्स्यां गाथायामेते कृतकरणा ग्राह्या।

अथ किंस्वरूपाः कृतकरणा इति कृतकरणस्वरूपमाह।

छट्ठट्ठमाइएहिं, कयकरणा ते उभे य परियाए।
अहिगयकयकरणत्त, जो मायतगारिहा केई॥

कृतकरणा नाम ये षष्ठाष्टमादिभिस्तपोविशेषैरुभयपर्याया श्रामण्यपर्याया दीक्षापर्याया वेत्यर्थः। परिकर्मितशरीरास्ते ज्ञातव्यास्तद्विलक्षणा इतरे सामर्थ्यादकृतकरणाः। अत्रैव मतान्तरमाह "अहिगएत्यादि" केचिदाचार्या ये अधिगतास्ते नियमात् कृतकरणा इत्यधिगतानां कृतकरणत्वमिच्छन्ति कस्मादिति चेदत आह। "जोगायतगारिहा इति" निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति वृद्धवैयाकरणप्रवादात् हेतावत्र प्रथमा ततोऽयमर्थः यतस्तैर्महाकल्पश्रुतादीनामायतका योगा उद्वृढास्तत आयतकयोगार्हा अगवश्चिनि नियमतोऽधिगता कृतकरणा इति तदेव कृता पुरुषभेदमार्गणा व्य० १ उ०। अत्र्य प्रायश्चित्त पच्छित्त शब्दे) नि० चू०। "गीयत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गभीरा" कृतकरणा अनेकवारमालोचनायां सहायभवनात् व्य० ४ उ०।

कयकरणिज्ज–कृतकरणीय–त्रि० कार्य्याणि कृतवति, कृतकरणा नाम गीतार्थतया परिणामकतया चान्यदाऽपि अन्यैः सहानकसदृशानि कार्याणि कृतवन्तः। यद्यपि च कदाचित् द्वितीयः सहायो न कृतवान् तथापि योग्यतया स कृतकरणीय इव रूपणीयः। व्य० ४ उ०।

कयकिच्च–कृतकृत्य–त्रि० निष्ठितार्थे, षो० २ विव०।

कयकिरिय–कृतक्रिय–त्रि० कृता शोभना गृहकरणादिक्रिया येन स कृतक्रियः। सुकृतगृहकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। आचा०। कृता स्वभ्यस्ता क्रिया सयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः। सयते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

कयकोउयमंगलपायच्छित्त–कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्त–त्रि० कृत कौतुक मषीपुण्ड्रादि मङ्गल दध्यक्षतचन्दनादि एते च प्रायश्चित्तदुःस्वप्नादिप्रतिघातत्वेनावश्यकार्यत्वाद्येन स तथा। कौतुकमङ्गलरूपप्रात कृत्य कृतवति, उपा० ७ अ०। "कयबलिकम्मा कयकोउयमगलपायच्छित्ता सुरूप्पा भ० २ श० ५ उ०। कल्प०। त०। विपा०।

कयग–कतक–पु० कस्य जलस्य तको ह्रासो यस्मात्, वृक्षभेदे, राजनि०। तस्य फलम्–अण्। तस्य लुक् तत्फले, नपु० "जलप्रसादि कतकस्तत्फल कतक स्मृतम्" भावप्र० वाच०। कतकोवृक्षस्तत्फल कतकम् आव० ३ अ०।

कृतक–त्रि० कृत करण भावे क्त०। तत आगतः कन्। कृतमेव स्वार्थे कः कृन्तति स्वरूप कृत कन् वा कृत्रिमे, करणाज्जाते, विमूलवणे, न० अमरः। वाच०। एतावत्काल त्वद्दास इत्यभ्युपगमिते दासभेदे, पु० "त पडिविक्किणइ ततो कयगा भणति" आ० म० प्र०। भयगभत्त वा बलभत्त वा कयगभत्त वा नि० चू० ९ उ०। सुवर्णे, ज्ञा० १ अ०।

कयगह–कचग्रह–पु० मैथुनप्रथमसरम्भे, रभसवशान्मुखचुम्बनार्थं युवत्या पश्चाद्भागिनि केशेषु ग्रहणे, आ० म० प्र०। जीवा०। "कयगहगहियकरयल पब्भट्ठ विमुक्केण" इह मैथुनसमारम्भे यद्युवतेः केशेषु ग्रहण स कचग्रहस्तेन गृहीतम्। तथा करतलात् विमुक्त सत् प्रभ्रष्ट करतलप्रभ्रष्टविमुक्तम् प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः रा० ३६ प०। कचानां ग्रहो यत्र। केशकर्षणेन धर्षणे, वाच०।

कयग्घ–कृतघ्न–त्रि० कृत हन्ति हन्–टक्। कृतोपकारस्यापकारके, वाच०। कृत वस्त्राभरणपात्रादि प्रदत्त घ्नन्ति सर्वथा नाशयन्तीत्येवशीलाः कृतघ्नाः। स्त्रीषु, त०।

कयज्ज–कदर्य्य–पु० यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थ सञ्चिनोति न तु कचिद् व्ययति तस्मिन्, ध० १ अधि०।

कयसु (न्नू)–कृतज्ञ–त्रि० स्वल्पमपि उपकारमैहिक पारत्रिक च परकृत जानाति न निह्नुते इति कृतज्ञ प्रव० २४ द्वा०।

परोपकाराविस्मारके एकोनविंशश्रावकगुणविशिष्टे श्रावके, ध० र०। दर्श०। कृतघ्नो हि सर्वत्राप्यमन्दां निंदां समासादयतीति अकृतघ्नस्य गुणवत्त्वम्। प्रव० २४ द्वा०॥

साम्प्रतमेकोनविंशस्य कृतज्ञतागुणस्यावसरस्तत्र परेण कृतमुपकारमविस्मृत्या जानातीति कृतज्ञः। प्रतीत एव ततस्त फलद्वारेण व्याचष्टे।

बहु मन्नइ धम्मगुरुं,
परमुवयारि त्ति तत्तबुद्धीए।
तत्तो गुणो ण बुद्धी,
गुणारिहो तेणिह कयन्नू॥ २६॥

बहु मन्यते सगौरव पश्यति धर्मगुरु धर्मदातारमाचार्यादिकं परमोपकारी ममायमुद्धृतोऽहमनेनाकारणवत्सलेनातिघोरसंसारकूपकुहरे निपतन्नित्येवंप्रकारतया तत्त्वबुद्ध्या परमार्थसारमत्या स हि भावयत्येव परमागमवाक्यम् ।"तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो तंजहा अम्मापिऊणं १ भट्टिस्स २ धम्मायरियस्स य ३ तत्थ सयपागो वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगित्ता सुरहिणा गंधोदएणं उव्वट्टित्ता तेहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालंकारविभूसियं करित्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भोयावित्ता जाव जीवं पिट्ठिवडिंसियाए परिवहिज्जा तेणा वि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं हवइ । अह णं से तं अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावित्ता भवइ । तेणामेव अम्मापिउस्स सुपडियारं भवइ ' समणाउसो ' केइ महच्चे दरिद्द समुक्कसिज्जा तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विपुलभोगसमिइसमन्नागए यावि विहरिज्जा तए णं से महच्चए अन्नया कयाइ दरिद्दी हूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छिज्जा । तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलइज्जा तेण वि तस्स दुप्पडियारं हवइ । अह णं से तं भट्टिं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावइत्ता भवति । तए णं से तस्स भट्टिस्स सुपडियारं भवइ ।२। केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सुच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने । तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरिज्जा कंताराओ वा निक्कंतारं दीहकालिएण वा रोगायंकेण अभिभूयं विमोइज्जा । तेण वि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं हवइ । अह णं से तं धम्मायरियं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावित्ता भवइ । तए णं तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं हवइ त्ति । वाचकमुख्येनाप्युक्तम् " दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरः प्रतीकारः " इति । ततस्तस्मात्कृतज्ञताभावजनितगुरुबहुमानात् गुणानां क्षान्त्यादीनां ज्ञानादीनां वा वृद्धिर्भवतीति गम्यते । गुणार्हो गुणप्रतिपत्तियोग्यस्तेन कारणेनेह धर्माधिकारविचारे कृतज्ञ उक्तशब्दार्थो धवलराजतनूजविमलकुमारवत् । तच्चेदं पुनरिदम् ।

पुरमत्थि वद्धमाणं, सुवद्धमाण सिरीहिं पउराहिं ।
बहुविहमहल्लकल्लाण, कारणं वद्धमाण व ॥१॥
रभसवसनमिरनिवनियह, भसलसेविज्जमाणकमकमलो ।
रज्जभरधरणधवलो, धवलो नामेण तत्थ निवो । २ ।
सयय सुहासिणी सुम-णसगया किं तु अइसयकुलीणा ।
देवी इव देवीकमल-सुंदरी नाम तस्सत्थि । ३ ।
नीसेसकलाकुसलो, सरूवसरलो विमुक्ककलिलमलो ।
ताण तणओ विमलो,कयन्नुया हंसवरकमलो । ४ ।
किर सामदेवसिट्ठिस्स, नंदणो बहुलियाइ कुलभवणं ।
जाओ य वामदेवु त्ति, तस्स मित्तं महामइणो । ५ ।
कइया वि कीलणकए, अन्नन्न कीलियव्व नेहेण ।
कीलानंदणनामे, उज्जाणे दो वि ते पत्ता । ६ ।
तत्थ नरमिहुणपयप-तिमुत्तमं वालुयागयं दट्ठुं ।
मणुलक्खणनिउणमई, मित्तं पइ भणए विमलो । ७ ।
जाण इमा पयपंती, चक्कंकुसकमलकलसकयसोहा ।
दीसइ खेयरमाभाहिं, तेहिं वरमित्त नवियंत्र । ८ ।
तयणु घणकोउगेण, पुरओ गंतु लयागिहस्संते ।
आसीणं तं मिहुणं, नियंति ते परमसुंदेरं । ९ ।
इत्तो य दुवे पुरिसा, कढियकरवालभीसणकरग्गा ।
हण हण हणंत्ति भणिए, लयागिहस्सुवरि संपत्ता । १० ।
एगेण ताण वुत्तं, रे रे निल्लज्ज होसु तं पुरिसो ।
सुमरेसु इट्ठदेवं, कुणसु सुदिट्ठं व जियलोयं । ११ ।
तं सुणिय पुरिसगुरुको-वपसरमिममिसनअहरदलो ।
वल्लिगियमज्झिमनरो, विणिग्गओ खग्गवग्गकरो । १२ ।
तो मुक्कहवदुअग्गि, खमकसमतंखेयरीविंदं ।
जाय नेसिं गयणं, गणम्मि अइदारुणं जुज्झं । १३ ।
जो पुण बीओ पुरिसो, लयागिहं सो पविट्ठमहिलसइ ।
तत्तो मिहुणनारित्थी, भयकंपंता विणिक्खंता । १४ ।
दट्ठुं च भणइ विमलं, पुरिसुत्तम ! रक्ख रक्ख मं नाय ।
सो भाइ हो सुतहे, वीसत्था नत्थि तुज्झ भयं । १५ ।
इत्तो तग्गहणत्थं, पत्तो सो खेयरो गयणमग्गो ।
विमलगुणतुट्ठवणदे-वयाइ अह थंभिओ सहसा । १६ ।
सो वि य जुज्झतनरो, विजिओ मिहुणगनरेण य पलाणो ।
तप्पुट्ठीए लग्गो, जियकासी मिहूणगो सो वि । १७ ।
भणियनरेण दिट्ठो, सजाया तयणुतस्स गमणिच्छा ।
तं नाउ देवीए, झमित्ति उत्तभिओ सो उ । १८ ।
लग्गो य तेसि पिट्ठे, तिविद्धिं पत्ता अदसणपहम्मि ।
अह बाला कयइ हहा, म मुत्तु नाह ! कत्थ गओ । १९ ।
इत्थंतरम्मि जयलच्छि, परिगओ आगओ मिहूणपुरिसो ।
जाया य हट्ठतुट्ठा, सा बाला अमयसित्त व्व ॥ २० ॥
सो नमिय भणइ विमलं, तं चिय बंधू तुमेव मह मित्तं ।
जं एसा मज्झ पिया, हीरंती रक्खिया धीर ! ॥ २१ ॥
विमलो वि भणेइ भो, कयन्नु सिररयणसंभमेण इह ।
किं तु इमं वुत्तत्तं, कहेसु एसो वि इय भणइ ॥ २२ ॥
अत्थिह वेयड्ढगिरि-दसेढिए रयणसंचए नयरे ।
राया मणिरहनामो, कणयसिहा भारिया तस्स ॥ २३ ॥
ताण च अत्थि पुत्तो, विणयपरो रयणसेहरो नाम ।
धूया उ दुन्नि पवरा, रयणसिहा मणिसिहा य तहा ॥२४॥
रयणसिहा ससिणेहं, परिणीया मेहनायखयरेण ।
तेसिं च अह पुत्तो, नामेण रयणचूडु त्ति ॥ २५ ॥
अमियप्पहखयरेण, परिणीया मणिसिहा उ तेसिं पि ।
संजाया दुन्नि सुया, अचलो चवलो य पवलबला । २६ ।
तह रयणसेहरस्स वि, रइकंता नामियाइ दइयाए ।
जाया एसा किर चूय मंजरी वल्लहा धूया । २७ ।
सव्वेहि वि बालत्ते, सह पंसुकीलिएहि अम्हेहिं ।
गहिया उ नियकुलक्कम-समागयाओ य विज्जाओ । २८ ।
चंदणभिहाणनियमित्त-सिरूपुत्तस्स संगमवसेण ।
जाओ मह माउलओ, अच्चंत जइणधम्मरओ । २९ ।
तेण महासएण, जणणी जणगो य मज्झ अहयं च ।
कहिऊण जिणधम्मं, गिहिधम्मधुरंधरा विहिया । ३० ।
निद्दिट्ठो य अह चं-दणेण पासित्तु लक्खणं किं पि ।
विज्जा चक्की होही, एसो खलु दारगो अइरा । ३१ ।
तो विमलो मित्तेण, वुत्तो सवयइ तुम्ह तं वयणं ।
सो भणइ न मे वयणं, किं तु इमं आगमुद्दिट्ठं ।३२।

तच्चिय न सुपुरिसाण, काउं विणयाइय सुहगुरुम्मि।
साहम्मियमित्तस्स वि, भणिय किर वंदणाईय ॥ ८१ ॥
खयरो जपइ नेव, कुणु अरिहेइ नरवग्गरुहो ।
ज गुणपगरिसरूवो, त च्चिय सव्वेसि होसि गुरू ॥ ८२ ॥
भणइ कुमारो गुणगण-घमियाण कयं तु याणसु नराणं।
एय च्चिय इह लिंगे, ज गुरुणो पूयण निच्चं ॥ ८३ ॥
स महप्पा सो धन्नो, स कयन्नू सो कुलुब्भवो धीरो ।
सो भुवणवंदणिज्जो, सो तवस्सी पंडिओ सो उ ॥ ८४ ॥
दासत्त पेसत्त-सेवगभाव च किंकरत्त च ।
अणवरयं कुव्वंतो, जो सुगुरूणं न लज्जेइ ॥ ८५ ॥
निच्चियमणवयणतणू, सुकयत्था गुणगुरूण सुगुरूण ।
जे निरुच्चितणसधणण-विणयकरणुज्जुया सयय ॥ ८६ ॥
समत्तदायगाण, दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु ।
सव्वगुणमेलियाहिं वि, उवयारसहस्सकोडीहिं ॥ ८७ ॥
भो सुपुरिस ! वुत्तो हं, तुज्झ पसाएण गिण्हिहं दिक्ख ।
किं तु मह तायपमुहा, बहवे इह बंधवा संति ॥ ८८ ॥
जइ तेसिं पडिबोहो, जायइ तो ह भवामि कयकिच्चो ।
ता उवदंस सुगुरु मे, अह हिट्ठो भणइ खयरिंदो ॥ ८९ ॥
अत्थि बुहनामसूरी, जलजरभरियंबुवाहसमघोसो ।
जइ एइ कह वि सो इह, तो पडिबोहिज्ज तुह बंधू ॥ ९० ॥
कुमरेण तओ भणिय, सो दिट्ठो कत्थ ते महाभाग ! ।
सो आह इहुज्जाणे, जिणभवणासन्नभागे ॥ ९१ ॥
ज अज्ज अट्ठमीए, सपरियणेणागएण मे इत्थ ।
पविसतेण जिणम-दिरम्मि दिट्ठ सुमुणिविंद ॥ ९२ ॥
तस्स य मज्झे एगो, साहू मसिअंजियलाकसिणदेहो ।
पिंगलसिरचिहुरभरो, सेलु व्व जलंतववजलणो ॥ ९३ ॥
आखु व्व लहुयकन्नो, दुट्ठबिरालु व्व पिंगनयणजुओ ।
पवग व्व चिविडनासो, मिय व्व अइदीहकंठो ॥ ९४ ॥
लंबोयरो य थूलो-यरो य उव्वेगजणगरूवधरो ।
धम्म वागरमाणो, दिट्ठो महुमहुरसद्देण ॥ ९५ ॥
न अमरिसगुणजुत्त, वट्टुं मे चिंतिय इम हियए ।
जइ एयस्स भगवओ, गुणाणुरूव न रूव ति । ९६ ।
तो पविसिय जिणभवण, जिणपडिम एहाविय पूइऊण च ।
खणमित्तेण साहु-ण वंदणत्थ विणिक्खंतो । ९७ ।
ता सो चेव वरमुणी, उवविट्ठो विमलकणयकमलम्मि।
सुमुक्क व्व अणगो, ससहर इव रोहिणीरहिओ । ९८ ।
भासुरसुवण्णवन्नो, तणुप्पहा पडलदलियतमपसरो ।
अलिउलकज्जलकेसो, सुसिलिट्ठपलवसवणजुगो । ९९ ।
नीलुप्पलदलनयणो, अइउन्नयसरलनासियावंसो ।
कयबिंबबिंबखंतो, नवपल्लवअरुणअहरुट्ठो । १०० ।
केसरिकिसोरवयरो, विसालवच्छत्थलजणियकणयसिलो ।
सुरकिंनरपरियरिओ, दिट्ठो दिट्ठीए सुहहेऊ ॥ १०१ ॥
तो चिंतियमिमए कह, एस खणेण अणेरिसो जाओ ।
अहवा चदणगुरुणा, कहिया से विविहलद्धीओ ॥ १०२ ॥

तथाहि ।

आमोसहि १ विप्पोसहि २ खेलोसहि ३ जल्लओसही चेव ४
सव्वोसहि५ संभिन्ने, ६ ओहि७रिउ८विउलमइलद्धी९ ।१०३।
धारण १० आसीविस ११ के-
वली य १२ मणनाणिणो य १३ पुव्वधरा १४ ।
अरहंत १५ चक्कवट्टी, १६ बलदेवा १७ वासुदेवा य १८ ।१०४।
खीरमहुसप्पिआसव, १९ कोट्ठयबुद्धी २० पयाणुसारी य २१।
तह बीयबुद्धि२२ तेयग, २३ आहारग२४ सीयलेसा य२५ ।१०५।
वेउव्वी देहलद्धी, २६ अक्खीणमहाणसी २७ पुलाया य २८
परिणामतववसेण, एमाई हुंति लद्धीओ ॥ १०६ ॥
संफरिसणमामोसो, मुत्तपुरीसाण विप्पुसो वावि ।
अन्ने विडंति विट्ठं, भासंति एहनि पासवण ॥ १०७ ॥
एए अन्नेवि बहू, जेसिं सव्वे वि सुरहिणो वयवा।
रोगोवसमसमत्था, ते हुंति तओसहिप्पत्ता ॥ १०८ ॥
जो सुणइ सव्वओ सुण- इ सव्वविसए य सव्वसोएहिं ।
सुणइ बहु एय सद्दे, भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥ १०९ ॥
रिउसामन्नं समत्त-गाहिणी रिउमई मणोनाण ।
पायं विसेसविमुहं, घममित्त चिंतिय मुणइ ॥ ११० ॥
विउल वत्थुविसेसण-नाणं तग्गाहिणी मई विउला ,
चिंतयमणुसरइ घम, पसंगओ पज्जवसएहिं ॥ १११ ॥
अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहिं चारणमुणीओ ।
जंघाहिं जाइ पढमो, निस्सकाउं रविकरे वि ॥ ११२ ॥
एगुप्पायण गओ, रुयगवरम्मि तो पडिनियत्तो ।
बीएण नंदिसरमेइ, इहं तइयएण पुणो एइ ॥ ११३ ॥
पढमेण पंडगवणं, बीउप्पाएण नंदण एइ ।
तइउप्पाएण तओ, इह जंघाचारणो एइ ॥ ११४ ॥
पढमेण माणुसत्तर, नगंसु नंदीसरं तु बीएण ।
एइ तओ तइएण, कयचेइयवंदणो इहयं ॥ ११५ ॥
पढमेण नंदणवणे, बीउप्पाएण पंडगवणम्मि ।
एइ इह तइएण, जो विज्जाचारणो होइ ॥ ११६ ॥
आसीविसा तगय-महाविसा सीविसा भवे दुविहा ।
ते कम्मजाइभेएण, अणेगहा चउविहविगप्पा ॥ ११७ ॥
खीरमहुसप्पिसाओ, वमाणवयणा तया सवा हुंति ।
कुट्ठयधन्नसुनिग्गल-सुत्तत्था कुट्ठबुद्धी य ॥ ११८ ॥
जो सुत्तपएण बहु, सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो ।
जो अत्थपएणत्थ, अणुसरइ स बीयबुद्धी उ ॥ ११९ ॥
समओ जहन्नमन्तर-मुक्कोसेणं तु जाव छम्मासा ।
आहारसरीराणं, उक्कोसेण नव सहस्सा ॥ १२० ॥
चत्तारि य वारा उ, चउद्दसपुव्वी करेइ आहार ।
संसारम्मि वसतो, एगभवे दुन्निवाराओ ॥ १२१ ॥
तित्थयररिद्धिसंद-सणत्थ (१) सत्थोवगहणहेउ वा (२)
संसयवुच्छेयत्थ,(३) गमण (४) जिणपायमूलम्मि ॥१२२॥
रस्समणी १ मवगयवेय,
२ परिहार ३ पुला य ४ मप्पमत्तं च ५ ।
चउद्दसपुव्वि ६ आहा-रग च ७ न कयाइ संहरइ ॥१२३॥
वेउव्वियलद्धीए, अणु व्व सुहमा खणेण जायंति ।
कंचणगिरि व्व गुरुणो, लहुदेहा अकतूल व ॥१२४॥
एमओ पंडकोडीओ, पकुणंति घडा उ घडसहस्साइं ।
चित्तयमित्त रूव, कुणंति भणिएण किं बहुणा ॥ १२५ ॥
अंतमुहुत्त नरए, मुहुत्त चत्तारि तिरियमणुएसु ।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणा कालो ॥ १२६ ॥
अक्खीणमहाणसिया, भिक्ख जेणाणिय पुणो तेण ।
परिभुत्त च्चिय खिज्जइ, बहुएहिं वि न उण अन्नेहिं ॥ १२७ ॥
भवसिद्धियपुरिसाण, एया उ हवंति भणियलद्धीओ ।
भवसिद्धियमहिलाण वि, जत्ति य जायंति त वुच्छं ॥ १२८ ॥
अरिहंत१ चक्कि२ के.सव, बल४ संभिन्ना य५ चारण६ पुव्वा ।७

गणहरदुप्पायएआहा-रगच१०न हु भवियमहिलाणं ॥१२९॥
अभवियपुरिसाण पुण, दसपुव्विल्लाउ केवलित्तं च ।
उज्जुमइविउलमई, तेरस एया उ न हु हुंति ॥ १३० ॥
अभवियमहिलाण पि हु, एया न हु हुंति भणियलद्धीओ ।
महुखीरासवलद्धी, वि नेव सेसा उ अविरुद्धा ॥ १३१ ॥
ता नूण वेउव्विय-लद्धिपभावेण निम्मिय पहुणा ।
पुव्विं विरूवरूवं, इमस्स साहाविय तु इमं ॥१३२ ॥
तो विम्हिएण गुरुणो, मुणिणो य मए भिवंदिया सव्वे ।
दिन्नो य तेहिं कयसिव-सुहलाभो धम्मलाभो मे ॥ १३३ ॥
गुणिणा य सुहारसवरि--सम्मुदरा देसणा खणं तेसिं ।
पुट्ठो य मुणी एगो, किं नामा एस मुणिनाहो ॥१३४॥
भणियं च तेण मुणिणा, अम्ह गुरू एस भुवणविक्खाओ ।
बुहनामा लद्धिनिही, विहरइ अणिययविहारेण ॥१३५ ॥
तं सुणिय अहं हिट्ठो, नामेउ गुरुणो गओ सगणम्मि ।
परउवयारिक्कगुरू, गुरू वि अन्नत्थ विहरित्था ॥ १३६ ॥
तेण भणेमि अहं तो, बुहसूरी जइ य एइ इह कह वि ।
तो तुज्झ बंधवग्गं, सुहेण धम्म पि बोहिज्ज ॥ १३७ ॥
जं मह परिवारस्स य, धम्मे विन्नत्थ मे वि तइया वि ।
विहिय विउव्विरूवं, तेणं परिहियकयमणेणं ॥ १३८ ॥
विमलो भणेइ सुपुरिस, ! अब्भत्थिय इत्थ सो समणसीहो ।
तुमं इह्वेय आणेओ, एवं ति पवज्जए खयरो ॥१३९ ॥
तो अणुपुन्नवयणो, कुमरं आपुच्छिउ रयणचूमो ।
सपत्तो सट्ठाण, सुमरंतो विमलगुणनिवहं ॥१४० ॥
कुमरो वि जिणं थुणिउं, निग्गतूण जिणिंदभवणाओ ।
पभणेइ मित्त ! एय, रयणं इत्थोवगोवेहि ॥ १४१ ॥
गुरुए कहिं चि कज्जे, उवउज्जिहिइ इम महारयण ।
गेहे नीय एमेव, जाइ ही पुण अणायरओ ॥ १४२ ॥
जं आणवेइ कुमरम्मि, भणिय तत्थेव गुविलदेसम्मि ।
सो गोवइ त रयण, अह पत्ता दो वि सगिहेसु ॥ १४३ ॥
लहुलीवसओ पविसिय, बुद्धी चिंतेइ सामदेवसुओ ।
वचित्तु विमलकुमरं, हरेमि गतुं तय रयणं ॥ १४४ ॥
अगणियकुमरुवयारे, अणियतइया वि चेव सो पावो ।
जत्थ निहित्थ चिट्ठइ, रयणं पत्तो तमुद्देस ॥ १४५ ॥
तत्तो उक्खणिउं त, तत्थ वल वत्थ वेढउ खविउ ।
अन्नत्थ निहियरयणं, गिहपत्तो चिंतइ निसाए ॥ १४६ ॥
न हु साहु मए विहिय, ज रयणं नाणिय तय गेहे ।
गिण्हिहिइ को वि अन्नो, केण वि दिट्ठं धुवं होही ॥१४७॥
इच्चाइ वागजालं, परिचिंततस्स तस्स पावस्स ।
वारिगयस्स गयस्स व, न मणागवि आगया निद्दा ॥१४८॥
उट्ठित्तु सो पभाए, तुरियं तुरिय गओ तहिं ठाणे ।
जागिणिहस्सइ रयण, ता कुमरो तग्गिहे पत्तो ॥१४९॥
उज्जाणगय सुणिउ, च वामदेवं लहुं कुमारो वि ।
पत्तो तहिं चि दिट्ठो, आगच्छतो य इयरेण ॥१५०॥
तो अइसभतेण, तेण विस्सरियरयणठाणेण ।
भीएण सुन्नहियएण, गिरिहउं उवलक्खडंत ॥१५१॥
खिविय कडिवट्टीए, पुट्ठो विमलेण कीस सभतो ।
दीससि वयसु तुह विरह-भावओ सो वि पच्चाह ॥१५२॥
त सदच्चिउ कुमारो, पत्तो जिणमदिरे सम तेण ।
मज्झम्मि गओ विमलो, ठिओ य वालो वहिं तहिं देसे १५३
नाम्मा कुमरेण अह-ति संकिरो भीयमाणसो धणियं ।
नट्ठो नट्ठविवेगो, तओ पएसा उ सिट्ठसुओ ॥ १५४ ॥
दवदवपएहिं तिहिं वा-सरेहिं अडवीसजोयणे गतुं ।
जा छोडइ मणिगंठिं, ता पिच्छइ उवलसकल सो ॥१५५॥
हा हा हओ हओ म्हि, त्ति मुच्छिओ निवडिओ धरणिपिट्ठे ।
पच्चागयचेयन्नो, विविहपलावे करेसी य ॥१५६॥
तत्थुज्जु वि गतूण, गेहेमि त रयणमियविचिंतेउ ।
वलिओ सदेसभिमुहं, मुहु मुहु मणम्मि झूरतो ॥ १५७ ॥
इत्तो य नमियदेवं, जिणभवणाओ विणिग्गहो कुमरो ।
मित्तमपासित्तु तओ, गवेसए काणणाईसु ॥ १५८ ॥
सव्वत्थ वि अनियतो, चउदिसिं पेसए निए पुरिसे ।
सो पत्तो एगेहिं, उवणीओ कुमरपासम्मि ॥१५९॥
अद्धासणे निवेसिय, पुट्ठो कुमरेण कहसु मे मित्त ।
ज अणुभूयं तुमए, सुहदुक्खं तो वि इय आह ॥ १६० ।
तइया जिणनमणत्थं, चेइगेहं तो गओ नमु कुमरो ।
जिणभवणदारदेसे, अह य पुण जाव चिट्ठामि ॥१६१॥
ताव सहस त्ति पत्ता, एगा खयरी य कड्ढियकिवाणा ।
सरीरसाए तीए, गयणे उप्पाडिओ य अह ॥१६२॥
नीओ य दूरदेसे, इत्तो अन्ना वि आगया खयरी ।
सा मह रूवविमूढा, उद्दालेउ समाढत्ता ॥१६३॥
ताण जुज्झतीण, पडिओ ह महीयले तओ नट्ठो ।
पत्तो य तुह नरेहिं, निवनंदण त च मिलिओ सि ॥ १६४ ॥
तेण निदसियसलिलो-हत्रयणरयणाइरजिओ कुमरो ।
पभणइ रुइरं जाय, जं दिट्ठीए तुम दिट्ठो ॥१६५॥
इत्थतरम्मि वामो, अक्कतो इव महामहिधरेण ।
वलिओ विव वज्जेण, पडिओ वेयणसमुग्घाए ॥१६६॥तथाहि-
उप्पन्ना सिरवियणा, गलति अगाइ पचलियदसणा ।
सजायमुयरसूलं, भग्गतारायण सहसा ॥१६७॥
तो आदओ विमलो, गुरुओ हा हा रओ समुच्छलिओ ।
पत्तो धवलनरिंदो, किं किं ति जणो बहू मिलिओ ॥१६८॥
आहूयावरविज्जा, तेहिं पउत्ता उ विविहकिरियाओ ।
न य जाओ को वि गुणो, सरियं विमलेण अह रयणं ॥१६९॥
त सव्वरोगहरणं, ति तत्थ गतूण पिच्छए जाव ।
तमदट्ठुं च विसन्नो, मित्तसमीवं पुणो पत्तो ॥ १७० ॥
अह एगा वुड्ढित्थी, वियंभिया मोडियं नियं अगं ।
उव्विल्लिय भुयजुय, केसा विहुमुकलीहूया ॥१७१॥
मुक्का सिक्काररवा, अइविगराल पयासिय रूवं ।
भीओ जणो य पुच्छइ, हेभयवइ ! कहसु का वि तुमं ॥१७२॥
सा आह अह वणदे-वय म्हि एसो मए कओ एवं ।
ज इमिणा पावेणं, सरलो वि पवचिओ विमलो ॥१७३॥
इयरइयमालजाल, तं रयणं विणिहिय अमुगदेसे ।
ता चूरिस्सं सज्जण-जणवामं वामदेवं ति ॥१७४॥
तो विमलेण देविं, अब्भत्थिय मोइओ नियमित्तो ।
सो धिद्धिक्कारहओ, जाओ बहुओ तणाओ वि ॥ १७५ ॥
तह वि हु विमलकुमारो, गभीरिमविजियअनिमसमुद्दो ।
पुव्व पि व त पिच्छइ, न हु दमइ कत्थइ वियारं ॥१७६॥
अन्नदिणम्मि समित्तो, कुमरो पत्तो जिणिंदभवणम्मि ।
पूइत्तु रिसहनाहं, एव थुणिउं समाढत्तो ॥१७७॥
सिरिरिसहनाह ! तुह पय-नहकतीओ जयतु तिजयस्स ।
जती उवज्जपिंजर, भाव भावारिजीयस्स ॥ १७८ ॥

तुह कमकमल विमल, दट्ठुं दूराउ देवपइदिवसं ।
धम्मा कलिमलमुक्का, रायमरालु व्व धावंति ॥१७९॥
असरिसभवदुहददो–लिपीलियाणं जियाण जइ नाह !।
तं चिय इक्को सरणं, सीयत्ताण व्व दिणनाहो ॥१८०॥
तिहुयणपहुअमयं पिव, सम्मं तुह पवयणे परिणयम्मि ।
अजरामरभाव खलु, लहंति लहु लहुयकम्माणो ॥१८१॥
देव वरनाणदंसण, दुहावि तुह दसणेण देहीणं ।
नीरेण चीवराण व, खणेण खयमेइ मालिन्नं ॥ १८२ ॥
तुह समरणेण सामिय, किलिट्ठकम्मो वि सिज्झए जीवो ।
किं न हु जायइ कणगं, लोह पि रसस्स फरिसेणं ॥१८३॥
पहु ! तुह गुणथुणणेण, विसुद्धचित्ताण भवियसत्ताण ।
घणनीरेण व जंबू–फलाइ विगलं ति पावाइं ॥ १८४ ॥
दसणपवणे नयणे, भालं भालं हवेइ तुह नमणे ।
ता पच्चक्खीभावं, लहु महुंति जई स वियरेसु ॥ १८५ ॥
इय सथुओ सि देविंद–विंदवंदियजुगाइजिणचंद ! ।
मह देसु निप्पकंपं, भवे भवे नियपए भत्तिं ॥ १८६ ॥
एवं जा धवलनरिंद–नंदणो थुणियपढमजिणचंद ।
चउ व्व विमललेसो– पचग कुणइ पणिवाय ॥१८७॥
ता तव्वेल पत्तो, बहुखयरपरिगओ रयणचूमो ।
त सुणिय विमलविहिय, थय पहिट्ठो भणइ एवं ॥ १८८ ॥
भो साहु साहु सुपुरिस, ! निच्छिन्नो ते भवोयही एस ।
जस्सेरिसी जिणिंदे, भत्ती विप्फुरइ अकलंका ॥ १८९ ॥
तत्तो नमिउं देव, परुप्पर वंदणाइय काउ ।
मणिपीढियइच्चाहिं, हिट्ठा ते दोवि उवविट्ठा ॥ १९० ॥
अह पुच्छियतणुकुसल, खयरिंदो भणइ भो महाभाग ! ।
ज मह कालविलंबो, जाओ हेउं सुणसु तत्थ ॥ १९१ ॥
तइया तुम्ह सयासा, पत्तो सपुरम्मि पणमिया पियरो ।
अभिनंदिओ य तेहिं, हरिसंसुयपुन्ननयणेहिं ॥ १९२ ॥
अक्कंते तम्मि दिणे, मह सयणगयस्स सरियजिणगुरुणो ।
निद्दागया निसाए य, दिव्वओ भावओ न उण ॥१९३ ॥
भो भुवणेसरभत्तय, ! उट्ठसु एव सुणतओ वयणं ।
बुद्धो निएमि पुरओ, रोहिणिपमुहा उ विज्जाओ ॥ १९४ ॥
तुह धीरधम्मथिरभाव–रंजिया पुन्नपेरिया अम्हे ।
सिद्धाउ त्ति भणित्ता, मह अग्गे अणुपविट्ठा उ ॥ १९५॥
तो सयलखेयरेहिं, विहियो मे खयर चक्किअभिसेओ ।
बोलीणा के वि दिणा, नवरज्ज सठवनस्स ॥ १९६ ! ॥
सुमरिय तुह आएस, परिनमिओ सूरिमकलेसु अह ।
दिट्ठो एगत्थ मए, बुहसूरी सूरिसीसजुओ ॥ १९७ ॥
कहिओ तुह वुत्तंतो, सयलो वि हु तस्स समणसीहस्स ।
तुम्हाणणुग्गहट्ठा, अइरा इह सो पहू एहि ॥ १९८ ॥
इय कारणाउ अह य, कालविलंबेण कुमर ! इह पत्तो ।
इय जा कहेइ खयरो, ता पत्तो तत्थ सो भयवं ॥ १९९ ॥
उज्जाणपालएहिं, तुरियं वद्धाविओ धवलराओ ।
विमलखयराइसहिओ, पत्तो गुरुचरणनमणत्थ ॥ २०० ॥
तिपयाहिणीकरेउ सपरियणो पणमिऊण गुरुपाए ।
भत्तिनरपुलइअंगो, उवविट्ठो उचियदेसम्मि ॥ २०१ ॥
अथ राजा गुरो रूप, भुवनानन्ददायकम् ।
साक्षाच्छ्रीरीदय निर्व्याज, व्याजहार सविस्मय ॥ २०२ ॥
भगवन्नीदृशे रूपे, राज्यभारोचितेऽपि हि ।
कुतो वैराग्यता पूज्यै–र्जगृहे दुष्कर व्रतम् ॥ २०३ ॥
अवबुध्य ततस्तेषां, प्रतिबोध विशेषतः ।
वाचस्पतिमतिर्वाच–मुवाचेति यतिप्रभुः ॥ २०४ ॥
राजन् ! राजकराकार–जैनमन्दिरसुन्दरम् ।
प्रभूतवृत्त वृत्तान्तं, पुरमस्ति धरातलम् ॥ २०५ ॥
राजा शुभविपाकाख्य–स्तत्र शत्रुवनानलः ।
सदा नभोगा देवीव, तद्देवीनिजसाधुता ॥ २०६ ॥
तस्मात्तयोः समुद्भूतः, सद्भूतगुणमन्दिरम् ।
केतकीपत्रपावित्र–चरित्रस्तनयो बुधः ॥ २०७ ॥
शुभाभिप्रायभूपस्य, पुत्रिकां धिषणाभिधाम् ।
गृहे स्वयवरायाता–मुपायंस्त स यौवने ॥ २०८ ॥
तथाऽशुभविपाकोऽस्ति, भ्राता तस्यैव भूपतेः ।
भार्या परिणतिस्तस्य, तथा मन्दाह्वयः सुतः ॥ २०९ ॥
अन्योऽन्यदृढसौहार्दौ, बुधमन्दौ महामुदा ।
एकदा निजकक्षेत्रे, परिक्रीडितुमीयतुः ॥ २१० ॥
तस्यान्ते ददृशे ताभ्यां, विशालो भालपर्वतः ।
रोलम्बनीलकेशालि–वनराजिविराजितः ॥ २११ ॥
अधस्ताद्भालशैलस्य, वरापवरकद्वया ।
ददृशेऽन्तःस्फुरत्कान्ता, नासिकानामिका गुहा ॥ २१२ ॥
तद्गुहाश्रयिणा घ्राणा–भिधेन शिशुना समम् ।
शिश्या भुजगतानाम्न्या, मन्दो मैत्रीं मुदाऽकरोत् ॥ २१३ ॥
दध्यौ बुधस्तु शुद्धात्मा, सतामन्यस्त्रिया सह ।
आलापोऽपि न युक्तः स्या–न्मित्रतायास्तु का कथा ॥ २१४ ॥
तन्मे भुजगता हेया, हेया घ्राणस्त्वसौ भुवम् ।
स्वक्षेत्रादिगुहामध्य–वास्तव्योऽर्हति पालनम् ॥ २१५ ॥
एव ध्यात्वा बुधः कृत्वा, घ्राणेन सह मैत्रिकाम् ।
तताभ्यामपि मन्दस्तु, स्वस्वमद्म समीयतुः ॥ २१६ ॥
अथो भुजगता दोषात्, सुगन्धाघ्राणलम्पटः ।
अमन्दमन्दधीर्मन्दो, प्राप दुःख पदे पदे ॥ २१७ ॥
इतश्च यौवनारूढो, विचारो बुधदारकः ।
कथञ्चिन्निरगाद्गेहा–द्देशदर्शनकाम्यया ॥ २१८ ॥
बहिरङ्गान्तरङ्गेषु, भूरिदेशेषु भूरिशः ।
सभूरिकौतुको भ्रान्त्वा, तदागान्निजमन्दिरे ॥ २१९ ॥
अथ तस्मिन् समायते, मुदितौ धिषणाबुधौ ।
सतुष्ट राजक सर्व, भृशमानन्दित पुरम् ॥ २२० ॥
वृत्ते महाविमर्देन, तत्रागमनोत्सवे ।
साक्षायि मैत्रिका तेन, घ्राणेन बुधमन्दयो ॥ २२१ ॥
ततः पितरमेकान्ते, विचारः प्रोचिवानिति ।
तात घ्राणेन ते मैत्री, न भव्या शृणु कारणम् ॥ २२२ ॥
तदहं तातमम्बां चा––नापृच्छ्य निरगां गृहात् ।
देशान् दिदृक्षुरभ्राम्य, तात ! देशेषु भूरिषु ॥ २२३ ॥
अन्यदा भवचक्राख्ये, समाप्तोऽह महापुरे ।
तत्र राज्यपथेऽपश्य–मेकां प्रवरसुन्दरीम् ॥२२४॥
तां दृष्ट्वा तात जातोऽहं, प्रमोदपुलकाङ्कितः ।
चित्तमार्द्रीभवेद् दृष्टे, ह्यविज्ञातेऽपि सज्जने ॥ २२५ ॥
सोऽपि मां वीक्ष्य सजह्रे, क्षिप्ते च सुखसागरे ।
सिक्ते वाऽमृतसेकेन, प्राप्तराज्येव हर्षभाक् ॥ २२६ ॥
तत कृतप्रणामोऽह, प्रोक्तो दत्ताशिषा तया ।
कस्त्व वत्स ! मयाऽप्युक्त, धिषणाबुधनन्दनम् ॥ २२७ ॥
अपृष्ट्वाऽपितरौ मात–र्देशकालिकया गत ।
अथो सा मां परिष्वज्य, प्रोचे हर्षाश्रुपूर्णदृक ॥ २२८ ॥

धन्याऽस्मि कृतकृत्याऽस्मि, यद् दृष्टस्त्वं मयाऽनघ !।
त्वं न जानासि मां वत्स ! लघुर्मुक्तोऽसि यत्तदा ॥ २२९ ॥
अहं हि बुधराजस्य, सर्वकार्येषु संमता।
धिषणाया वयस्याऽस्मि, नाम्ना मार्गानुसारिता ॥ २३० ॥
अतो मे भागिनेयस्त्वं, सुन्दर कृतवानसि।
यद्देशदर्शनाकाङ्क्षी नगरेऽत्र समागमः ॥ २३१ ॥
येनेदं नगरं दृष्टं, भूरिवृत्तान्तसंयुतम् ।
तेन वत्सेक्षितं सर्वं, भुवनं सचराचरम् ॥ २३२ ॥
मयोक्तमम्ब ! यद्येवं, तन्मे सद्दर्शयाधुना ।
पुरमेतत्तथैवास्था, मम सर्वमदीदृशत् ॥ २३३ ॥
अथैकत्र मया दृष्टं, पुरं तत्र महागिरिः।
तच्छिखरेऽतीव रम्यं, निविष्टमपरं पुरम् ॥ २३४ ॥
मयोक्तमम्ब ! किं नाम, पुरमेतद्वान्तरम् ।
किंनामायं गिरिः किंच, शिखरे दृश्यते पुरम् ॥ २३५ ॥
अम्बा जगाद वत्सेदं, पुरं सात्विकमानसम् ।
विवेकोऽयं गिरिःशृङ्ग-मप्रमत्तत्वमित्यदः ॥ २३६ ॥
इदं तु भुवनख्यातं, वत्स ! जैनं महापुरम् ।
तव विज्ञाततत्त्वस्य, कथं प्रष्टव्यतां गतम् ॥ २३७ ॥
यावत्सा कथयत्येवं, तात ! मह्यं स्फुटाक्षरम् ।
तावज्जातोऽपरस्तत्र, वृत्तान्तः श्रूयतां स तु ॥ २३८ ॥
गाढं प्रहारनिर्भिन्नो, नीयमानः सुविह्वलः ।
पुरुषैर्वेष्टितो व्यैक्षि, मयैको राजदारकः ॥ २३९ ॥
मयोक्तं दारकः कोऽयं, किं वा गाढप्रहारितः ।
कुत्र वा नीयते लग्नः, के चामी परिवारकाः ॥ २४० ॥
अम्बिका स्माह हे वत्स, ! विद्यतेऽत्र महागिरौ ।
राजा चारित्रधर्माख्यो, यतिधर्मा च तत्सुतः ॥ २४१ ॥
तस्यायं संयमो नाम, पुरुषः प्रौढपौरुषः ।
एकाकी च क्वचिद् दृष्टो, महामोहादिशत्रुभिः ॥ २४२ ॥
बहुत्वादथ शत्रूणां, प्रहारैर्जर्जरीकृतः ।
अथ निस्सारितो वत्स, ! रणभूमेः पदातिभिः ॥ २४३ ॥
प्रक्षिप्य डोलिकायां च, नीयतेऽसौ स्वमन्दिरे ।
अस्य चात्र पुरे जैने, सर्वे तिष्ठन्ति बान्धवाः ॥ २४४ ॥
ततोऽहं कौतुकाक्षिप्त-स्तात ! मात्रा समं क्षणात् ।
तेषामनुसमारूढो, विवेकगिरिमस्तके ॥ २४५ ॥
अथ तत्र पुरे जैने, राजमण्डलमध्यगः।
दृष्टश्चित्तसमाधाने, मण्डपे स महानृपः ॥२४६॥
सत्यशौचतपस्त्याग-ब्रह्माकिंचनतादयः ।
अन्येऽपि मण्डलाधीशा, अम्बया दर्शिता मम ॥ २४७ ॥
इतश्च तैर्नरैस्तूर्णं, समानीतः स संयमः ।
दर्शितोऽस्य नरेन्द्रस्य, वृत्तान्तश्च निवेदितः ॥ २४८ ॥
तद्धेतुकस्ततस्तात, ! मोहचारित्रभूभुजोः ।
तदा महाहवो जज्ञे, विश्वस्यापि भयंकरः ॥ २४९ ॥
रणाच्चारित्रभूपालः, सबलो बलशालिना ।
जिग्ये मोहनरेन्द्रेण, नष्ट्वा स्वस्थानमाश्रयत् ॥ २५० ॥
ततः परिणतं राज्यं, महामोहमहीपतेः ।
चारित्रधर्मराजस्तु, निरुद्धो व्यन्तरे स्थितः ॥२५१॥
मार्गानुसारिताऽवादीद्, दृष्टं वत्स ! कुतूहलम् ।
स्पष्टं दृष्टं मयाऽप्युक्त-मम्बिकायाः प्रसादतः ॥ २५२ ॥
केवलं कलहस्यास्य, मूलमम्ब ! परिस्फुटम् ।
अहं विज्ञातुमिच्छामि, प्रोचेऽम्बा शृणु पुत्रक ! ॥ २५३ ॥
रागकेशरिराजस्य, मन्त्री प्रोत्साहसाहसः ।
त्रैलोक्यमपि विषया-भिलाष इति विश्रुतः ॥ २५४ ॥
अनेन मन्त्रिणा पूर्वं, विश्वसाधनहेतवे ।
मानुषाणि प्रयुक्तानि, पश्चात्मीयानि सर्वतः ॥ २५५ ॥
स्पर्शनं रसना घ्राणं, दृक् श्रोत्रमिति नामतः ।
जगज्जयप्रवीणानि, विश्वाद्वैतबलानि च ॥ २५६ ॥
क्वापि तान्यभिभूतानि, संतोषेण पुरा किल ।
चारित्रधर्मराजस्य, मन्त्रपालेन लीलया ॥२५७॥
तन्निमित्तः समस्तोऽयं, जातोऽमीषां परस्परम् ।
कलहो वत्स ! साटोप-मन्तरङ्गमहीभुजाम् ॥ २५८ ॥
मयाऽवाच्यथ पूर्णं मे, देशदर्शनकौतुकम् ।
साम्प्रतं तातपादानां, समीपे गन्तुमुत्सुकः ॥२५९॥
मात्रोक्तं गम्यतां वत्स, ! निरूप्य जनचेष्टितम् ।
अहमप्यागमिष्यामि, तत्रैव तव सन्निधौ ॥ २६० ॥
ततोऽहमागमं क्षिप्रं, निश्चित्येदं प्रयोजनम् ।
ततस्तातामुना मैत्री, घ्राणेन न तवोचिता ॥२६१ ॥
यावन्निवेदयत्येवं, विचारो निजवीजिने ।
मार्गानुसारिता ताव-दागाद्धवलभूपतेः ॥ २६२ ॥
समर्थितं तया सर्वं, विचारकथितं वचः ।
त्यजामि घ्राणमित्येवं, बुधस्यापि, हृदि स्थितम् ॥ २६३ ॥
इतो भुजङ्गतायुक्तो, घ्राणलालनलालसः ।
मन्दः सुगन्धिगन्धानां, सदान्वेषणतत्परः ॥ २६४ ॥
तत्रैव नगरे भ्राम्यन्, लीलावत्या निजस्वसुः ।
देवराजस्य भार्याया, ययौ गेहे कदाचन ॥ २६५ ॥
सपत्नीपुत्रघातार्थं, तस्मिन्नेव क्षणे तया।
आप्तो योम्बकराद्गन्ध, संयोगो मरणात्मकः ॥ २६६ ॥
तां गन्धपुटिकां द्वारे, मुक्त्वा लीलावतीगृहे ।
प्रविवेश स च प्राप्तो, मन्दः सा तेन वीक्षिता ॥ २६७ ॥
ततो भुजगता दोषा--च्छोटयित्वा पुटीमसौ ।
तान् गन्धान् सहसाऽजिघ्र-त्प्राणैश्च मुमुचे क्षणात् ॥२६८॥
तं मन्दं घ्राणदोषेण, विपन्नं वीक्ष्य शुद्धधीः ।
विरक्तः प्राव्रजत्सूरि-घोषाचार्यान्तिके बुधः ॥ २६९ ॥
स क्रमेण समस्ताङ्गो--पाङ्गपूर्वविशारदः ।
अनेकलब्धिवार्यब्धि--संप्राप्तसुरवैभवः ॥ २७० ॥
विहरंस्तत्र संप्राप्तः, स एषोऽहं नरेश्वर ! ।
व्रतहेतुः पुनर्जज्ञे, तन्मे मन्दस्य चेष्टितम् ॥ २७१ ॥
तच्छ्रुत्वा विस्मयस्मेर--लोचनो धवलो नृपः ।
विमलाद्या जना सर्वे, कृताञ्जलय ऊचिरे ॥ २७२ ॥
अहो भगवतो रूप--महो मधुरिमा गिराम् ।
अहो परोपकारित्व--महो बोधनचातुरी ॥ २७३ ॥
अहो सदा स्वयं बोध-बन्धुरैकधुरीणता ।
यद्वा भगवतोऽमुष्य, चरित्रं सर्वमप्यहो ॥ २७४ ॥
अह सविसेस राया, संवेगगओ पयं पए कुमरं ।
तुं वच्छ ! गिरह रज्जं, वयं तु दिक्खं गहिस्सामो ॥२७५॥
भणइ कुमारो किं ताय, तुह अहं इह अणिट्ठओ तणओ ।
रज्जपयाणमिसेणं, जेणमिमं खिवसि भवअवडे ॥ २७६ ॥
तं सुणिय मणे तुट्ठो, धवलो विमलस्स मंदरय वत्थुं ।
कमलं कयलिद्दच्छं, नियरज्जभरम्मि संठवइ ॥ २७७ ॥
विमलकुमारेण समं, अनेगरपवरमतिमाइलुओ ।
गिसिबुहसूरिसमीवे, गिरहइ दिक्खं धवलराओ ॥२७८॥

इत्थनयरम्मि नट्ठो, सुठी बधित्तु वामदेवो सो ।
मा हु कुमारो दिक्खं, बलाविम गाहइस्सत्ति ॥ २७७॥
कुमरमुणिणा वि किमिण, ति पुच्छिउ जपए समणसीहो ।
विमलअनिम्मलचरिए-णिमिणा किं पुच्छिए णते ॥२७०॥
नियकज्जविग्घजणगे, इमस्स चरिए वहीरए कुणसु ।
इयरो वि आह एवं, ज पुज्जा आणवंति त्ति ॥ २८१ ॥
अह कयकिच्चं अप्प, मन्नतो रयणचूमखयरिंदो ।
नमिउ गुरुपयकमल, संपत्तो नियनयरम्मि ॥ २८२ ॥
चिंतइ कुमारसाहू, कयन्नुसिरसेहरो कया वि मणे ।
परउवयारपरत्त, अहो अहो रयणचूडस्स ॥२८३॥
पढमजिणनाहदसण-पवरवरत्ताइजेण पढमं पि ।
भवभीमकूवकुहरे, निवडंतो रक्खिओ तइया ॥ २८४ ॥
सिरिगुहमुणिंददंसण-दंसणपायणेण पुण अहुणा ।
अह य तइ एस जणो, सिद्धिपुरीसंमुहो विहिओ ॥२८५॥
इय चिंततो निच्च, कमेण निट्ठवियअट्ठकम्ममलो ।
विमलो तह धवलनिवो-अइविमलपय समणुपत्तो ॥२७६॥
तइया स वामदेवो, दिक्खागाहणभया तओ नठो ।
कचणपुरम्मि पत्तो, ठिओ गिहे सरलसिठिस्स ॥ २८७ ॥
सिट्ठी सो य अपुत्तो, तं सव्वत्थ वि गणेइ पुत्त च ।
अतद्धण पि दसइ, अइसरलो तस्स कुमिलस्स ॥२७८ ॥
कइयावि सो निसाए, अतरूणमुक्खिणित्तु अन्नत्थ ।
हट्टाउ उवइ छुन्न, वहेरिओ दडपासीहिं ॥ २७७ ॥
ता उग्गओ दिणयरे, मुठो मुट्ठुति तेण पुक्करिय ।
मिलिओ पञ्चूयलोओ, सरलो जाओ विमन्नमणो ॥ २७० ॥
मा कुणसु सिठि ! खेय, लद्धो चोरु त्ति भणिय पासीहिं ।
बधित्तु वामदेवो, नीओ नरनाहपासम्मि ॥ २६१ ॥
कुविएण तेण वज्झो, आणत्तो सरलसिठिणा तत्तो ।
दाऊण पहूयधण, कहकहमवि मोइओ एसो ॥ २७२ ॥
तो निंदिज्जइ लोए, कयग्घचूमामणी इमो पावो ।
जेण नियजणयतुल्लो, वीससिओ वचिओ सरलो ॥ २९३ ॥
अन्नदिणे निवगिह, भिन्न केणावि सिद्धविज्जेण ।
न य लक्खिओ य एसो, तो कुविओ नरवई वाढ ॥ २६४ ॥
एय तु वामदेवस्स, कम्ममिय जपिउ तय पाव ।
ओबधावइ सो वि हु, मरिउ पत्तो तमतमाए ॥ २७५ ॥
तत्तो अणतकाल, भमियभवे कहवि लहियनरजम्म ।
होउ कयन्नुपवरो, सिव गओ वामदेवो वि " ॥ २७६ ॥
" इत्येव च कृतज्ञतागुणसुधां सतापनिर्व्वापिकां ।
दुष्प्रापामजरामरास्पदकरीं प्राथ्यां बुधानामपि ।
पाय पायमपायमुक्तननव' स्फारीभवत्समदा,
भो भव्या भवताऽनिश विमलधि शेषतृष्णोज्झिताः ॥२६७॥
उक्त कृतज्ञ इत्येकोनविंशतिमो गुण' ध०र० ॥
गुरुविहितोपकारज्ञे, स्वार्थे क कृतज्ञतकस्तत्रैव पचा०२१विव०

कयण्णुया–कृतज्ञता–स्त्री० कृतस्य ज्ञता ज्ञान परोपकृतस्य अनिह्नवे, (ध०) कृतज्ञतासु दाक्षिण्य, सदाचार प्रकीर्तित " ध०। एव हि तस्य महान् कुशललाभो भवति अत एव कृतोपकार शिरसि भारमिव मन्यमाना कदाऽपि न विस्मरन्ति साधवस्तदुक्तम् । प्रथमवयसि पीत तोयमल्प स्मरन्त, शिरसि निहितभारा नारिकेरा नराणाम् । उदकममृतकल्प दद्युराजीवितान्त, नहि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति " इति । ध० १ अधि० । परोपकारपरिज्ञाने, द्वा० । कृतज्ञता चित्ते आज्ञायोगस्तत्सत्यकरणता चेति गुरुविनय' । यो हि गुरुकृतमुपकार' मात्मविषय विवेकसपन्नतया जानाति यथाऽस्मास्वनुग्रहप्रवृत्तैः स्वकीयक्लेशानिरपेक्षतया रात्रिंदिव महान् प्रयासः शास्त्राध्ययनपरिज्ञानविषयः प्रभूत काल यावत् कृत इति सकृतज्ञ उच्यते। अथवाऽल्पमप्युपकार भूयांस मन्यते । अथवा कृताकृतयोर्लोकप्रसिद्धयोर्विभागेन कृतस्य मतिपाटवाद् विशेष विषय स्वरूप परिच्छिनत्ति न पुनर्जडतया कृतमपि साक्षात् प्रणालिकया वा न वा न वेति ततस्तद्भावः कृतज्ञता तेषु गुरुषु कृतज्ञतासहितं चित्त कृतज्ञताचित्तम् षो० १३ विव०। "एवं गुरुबहुमाणो, कयण्णुया सगलगच्छगुणवुड्ढी " गुरुमनुज्ञता कृतज्ञता चाराधिता भवति प्रधानश्चाय पुरुषस्य गुणो लोकेऽपि गीयते । तथाहि " स कलाकलापकुशलः, स पण्डितः सकलशास्त्रवेदी सः । निःशेषगुणगरिष्ठः। कृतज्ञता य समाश्रयते " लोकोत्तरेऽपि एकविंशतिगुणमध्ये पठित एवेति । ध० र० ।

कयत्थ–कृतार्थ–त्रि० कृतोऽर्थ· प्रयोजन येन । कृतस्वप्रयोजने, प्र० १ श० ८ उ० । ज्ञा० । आ० म० प्र० । कृतकृत्ये, आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणपदपञ्चकयोग्यत‐या शिष्याणां निष्पादनेन निष्ठितार्थे, "कृतार्थानां निरपेक्ष-यतिधर्मोऽतिसुन्दरः " ध० ४ अधि० ।

कृतास्त्र–त्रि० कृतं शिक्षितमस्त्रं येन । शिक्षितास्त्रे, वाच० ।

कदर्थ–पु० कुत्सितोऽर्थः " को' कद् ततः तत्करोतीति णिच्० । कदर्थयति कुत्सितमर्थं करोतीत्यर्थः । ततः कः कदर्थितः कुत्सितार्थीकृते, वाच० । " गोसालो वि कयत्थियपुच्छिमाए दिवसतो पुच्छइ " आ० म० द्वि० । ल्युट् कदर्थनम् कुत्सितार्थे, करणे–युच्–कदर्थना तत्रैव स्त्री० । वाच० । बहुना कदर्थना आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

कयदाण–कृतदान–कृत दानमनेन तत्प्रयोजनमिति प्रत्युपकारार्थं यद्दान तत्कृतदानमित्युच्यते। दानभेदे, उक्त च " शतशः कृतोपकारो, दान च सहस्रशो ममानेन । अहमपि ददामि किञ्चित्, प्रत्युपकाराय तद्दानमिति" १ स्था० १० ठा० ।

कयादिट्ठधम्म–कृतदृष्टधर्म–त्रि० कृत आचरितो दृष्टो व्यवसितोऽवगतश्च धर्मो येन स तथा । ज्ञातश्रुतधर्मे, " भिक्खुमुयच्चे कयादिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

कयाधि–कृतधि–त्रि० कृतोपरिकर्मिता तत्वोपदेशपेशलैस्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण सस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां ते कृतधिय' । विपश्चिद्रूपेषु पुरुषेषु, ' त्वमेवातस्तातस्त्वयि कृतसपर्या' कृतधिय." स्या०।

कयपजलि–कृतप्राञ्जलि–त्रि० प्रणत्यर्थं कृतप्राञ्जलिपति, कयपजलिअभिमुहो, त जाणसु भासणासुद्ध " आव० ६ अ० ।

कयपमिकइ–कृतप्रतिकृति–स्त्री० विनयात्प्रसादिताः सूरयः श्रुत दास्यन्तीत्यभिप्रायेणाशनदानादियत्नरूपे लोकोपचारविनयभेदे, पचा० १६ विव० । सं० । " कयपमिकई नहय " कृते भक्तादिनोपचारे प्रसन्नाः गुरव प्रतिकृतिं प्रत्युपकार सूत्रादिदानेन मे करिष्यन्ति नो नामैकेव निर्जरेति भक्तादिदाने यत्नः कार्य्य.। श्रुतप्रापणादिकं निमित्त कृत्वा श्रुत प्रापितोऽहमनेनेति हेतोरित्यर्थः विशेषेण विनये वर्तितव्यम् ध० ३ अधि० । " कज्जे पमिकिती चेय " कृते कार्ये यः क्रियते विनयः स प्रतिकृतिरूपत्वात् प्रतिकृतिरूपे च विनये, व्य०१ उ० । (आसे-

पपरिहारौ विणयशब्दे वक्ष्यते) उपकृते सति प्रत्युपकारे च "कयपडिकइ एसते गुणो दीवेज्ज" कृतप्रतिकृतये इति एके- नैकस्योपकृतं गुणा धोत्कीर्तिताः स तस्यासतोऽपि गुणान् प्र- त्युपकारार्थमुत्कीर्तयतीत्यर्थः स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कयपडिकइया-कृतप्रतिकृतिता-स्त्री० कृते भक्तादिनोपचारे प्रसन्ना गुरवः प्रतिकृतिं प्रत्युपकारं सूत्रादिदानतः करिष्यन्तीति भक्तादिदान प्रति यतितव्यमित्येवं रूपे लोकोपचारविनये, स्था० ७ ठा०।

कयपडिकयय-कृतप्रतिकृतक-त्रि० कृते उपकृते प्रतिकृत प्रत्यु- पकार' तद्यस्यास्तीति स कृतप्रतिकृतिकः । कृतप्रत्युपकर्त्तरि, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कयपडिकिरिया-कृतप्रतिक्रिया-स्त्री० अध्यापितोऽहमनेनेति बुद्ध्या भक्तादिदाने, गा० १ अधि०।

कयपवयणप्पणाम-कृतप्रवचनप्रणाम-त्रि० कृतो विहित प्रव- चनशब्दे दर्शयिष्यमाणार्थस्य प्रवचनस्य प्रणामो येन स कृत- प्रवचनप्रणामः । नमस्कृतप्रवचने, " कयपवयणप्पणामो वो- च्छं चरणगुणसंगहं सयल" विशे०।"कयपवयणप्पणामो वुच्छं पच्छित्तदाणसंखेवं" जीत०। (इत्युभयत्र कयपवयणेत्युक्त्या उ- भयोरपि विशेषावश्यकजीतयोर्भाष्यकृदेक एव जिनभद्रगणि- क्षमाश्रमणः स्वशैलीं सूचितवान्)।

कयपुण्ण-कृतपुण्य-त्रि० जन्मान्तरोपात्तसुकृते, ज्ञा० १ अ०। उ- पार्जितशुभकर्मणि, पंचा० ६ विव०। नि०। पायसदानेन देव- लोकं गत्वा च्युते राजगृहे नगरे धनवहस्य श्रेष्ठिनः पुत्रे, (साम- इयशब्दे दानेन तल्लाभेऽस्य वक्तव्यता वक्ष्यते)

कयपुव्व-कृतपूर्व्व-त्रि० पूर्वकृते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

कयबलिकम्म-कृतबलिकर्मन्-त्रि० कृत निष्पादितं स्नानानन्तर बलिकर्म स्वगृहे देवतानां पूजा येन स कृतबलिकर्मा । तं० २७ प०। भ०। देवतानां विहितबलिविधाने, विशे०।

कयभूमिकम्मंत-कृतभूमिकर्मान्त-न० कृत भूमिकर्म छगणलेप- नादिकर्मान्तेषु प्रान्तप्रदेशेषु येषां तानि कृतभूमिकर्मान्तानि । छगणलेपादिना सत्कृतप्रान्तेषु, " बलयाणि पामिसाभिमभुज- तगा य कयभूमिकम्मता " वृ० २ उ०।

कयमंगला-कृतमङ्गला-स्त्री० स्वनामख्यातपुर्याम्, " कयमंगला- पुरीए, धणसिट्ठिसुया उ बालविहवासी । जयसुंदरीति तीसे, भत्तिजुया भायरा एव " स्था०।

कयमाल-कृतमाल-पुं० कृता मालाऽस्य आरग्वधे, कर्णिकारे च। अमरः। वाच०। यक्षे, जं०। माला कृतवति, त्रि० वाच०।

कयमालय-कृतमालक-पु०भरते वर्षे, दीर्घवैताढ्यसत्कतमिस्र- गुहाधीश्वरे देवे, स्था० २ ठा० ३ उ०। येन चक्रवर्तिनस्तत्र ग- च्छन्तः सत्क्रियन्ते इतरे राजानो नाश्यन्ते यथा भरतचक्रिणो जययात्रायाम आ० चू०।" तए ण से चक्करयणे पच्चच्छिम- दिसि तिमिसगुहाभिमुहे पयाया वि होत्था जाव तीए गुहा ते अदूरसामते खंधावारकरण तहेव अट्ठमभत्तंसि परिणम- माणंसि कयमालए देवे चलियासणे त्वागते जाव पीतिदाणाइ थीरयणस्स विजगचोद्दस भरालकारकमगाणि य जाव आभ- रणाणि य" आ०चू०१ अ०।कोणिको राजा कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधन प्रवृत्तः कृतमालयदेण गुहाद्वारे व्या- पादितः स्था० ४ ठा० ३ उ० । आव० । देवे च " मंदरस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा अट्ठ त- मिस्सगुहाओ अट्ठ कयमालगा देवा" स्था०८ ठा० आ०म०प्र०।

कयमोहत्थवेफल्ल-कृतमोहास्त्रवैफल्य-त्रि० कृतं मोहस्य अ- स्त्रस्य वैफल्य निष्फलत्वं येन । मोहरूपास्त्रस्य विदारणेन निष्फलताऽऽपादके, " कृतमोहास्त्रवैफल्य, ज्ञानचर्म्म विभर्त्ति यः। क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसङ्गरकेलिषु" अष्ट०१४अ०।

कयर-कतर-त्रि० किम्-डतर-द्वयोर्मध्ये जात्यादिभिर्निर्धार- णार्थे प्रश्नविषये, वाच०। किम्भूते, " कयरे मग्गे अक्खाए माहणेण मईमया " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । " कयरे जे ते सोपरिया मच्छवधा " प्रश्न० आश्र० १ द्वा० ।

कदर-पुं० कं जलं दृणाति दृ-अच्-श्वेतखदिरे, तस्य सेव- नात् मुखस्थितस्य श्लेष्मणा संहतरूपजलस्य दारणात् वाच०

कयरिवुफला-कचरिपुफला-स्त्री० कचस्य रिपुः फलमस्य श- टीवृत्ते, राजनि वाच०।

कयल-कदल-पुं० वृषा० कलच्। रम्भावृत्ते, मेदि०। वाच०। कदलीफले, न०। वृ० १ उ०। डिम्बिकायाम, शाल्मलिवृक्षे च स्त्री० मेदि०। अजादेराकृतिगणत्वात् टाप् वाच०।

कयलक्खण-कृतलक्षण-त्रि० कृतानि सार्थकानि लक्षणानि देहचिह्नानि येन स कृतलक्षणः । भ० ६ श० ३३ उ०। कृतफ- लवच्छरीरलक्षणे, ज्ञा० १ अ० । भ० । नि०।

कयलिघरग-कदलीगृहक-न० कदलीमयगृहे, जी० ३ प्रति० २ उ०। ज्ञा०।

कयलिसमागम-कदलीसमागम-पुं० स्वनामख्याते ग्रामभेदे' यत्र मङ्खलिसुतस्य गोशालस्य दधिसम्मिश्रं क्रूरं भोजनमभूत् आ०म०द्वि०। आ० चू०।

कयली-कदली-स्त्री० काय जलाय दल्यते तत्त्वगादौ जलबा- हुल्यात् गौरा०ङीष् रम्भावृक्षे, अमरः वाच० । वलयानि केतकीकदल्यादीनि आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञा०। वैजयन्त्याम्, कदल्याकारवस्त्ररूपत्वात्तथात्वम् । हस्तिपता- कायाम्, हारा०। मृगभेदे च वाच०।

कयलीखंभ-कदलीस्तम्भ-पुं० कदलीवृक्षे, " कयलीखंभा- तिरेगसठियणिव्वणसुकुमालमउयकोमलअइविमलसमसंह- त सुजायवट्टपीवरनिरंतरोरू " कदलीस्तम्भाभ्यामतिरेके- णातिशायितया संस्थितं संस्थानं ययोस्तौ कदलीस्तम्भातिरे- कसंस्थितौ निर्व्रणौ विस्फोटिकादिक्षतक्षतरहितौ सुकुमाराव- कर्कशौ मृदू अकठिनौ कोमलौ दृष्टिसुभगौ अतिविमलौ स- र्वथा स्वाभाविकागन्तुकमललेशेनाप्यकलङ्कितौ समसंहतौ स- मप्रमाणौ सन्तौ संहतौ समसंहतौ सुजातौ जन्मदोषरहितौ वृत्तौ वर्तुलौ निरन्तरावुपचितावयवतया अपान्तरालवर्जितौ ऊरू यासां तास्तथोक्ता० जी० ३ प्रति०।

कयवम्म-कृतवर्मन्-पुं० त्रयोदशतीर्थकरस्य पितरि, स०।आव०।

कयवयकम्म-कृतव्रतकर्मन्-पुं० कृतमनुष्ठितं व्रतादीनां कर्म त- द्वाणुव्रत ज्ञानवाञ्छाप्रतिलक्षणं येन प्रतिपन्नदर्शनेन स कृतव्र- तकर्मा । प्रतिपन्नाणुव्रतादौ, द्वितीयश्रावकप्रतिमां प्रतिपन्ने,।

तद्भेदा यथा-

तत्थायमणिजाणण, २ गिण्हण ३ पडिसेवणेसु ४

ज्जुत्ता। कयवयकम्मो चउहा, भावत्थो तस्सिमो होइ ।३४।
तत्र तेषु षट्सु लिङ्गेषु मध्ये कृतव्रतकर्मा चतुर्द्धा चतुर्भेदो भवतीति संबन्धः । तानेव भेदानाह । आकर्णनं श्रवणम् १ ज्ञानमवबोधः २ ग्रहणं प्रतिपत्तिः ३ प्रतिसेवनं सम्यक् पालनम् ४ ततो द्वन्द्वस्तेषु व्रतानामिति प्रक्रमाद्गम्यते उद्युक्त उद्यमवान् भावार्थः पद तस्य चतुर्विधस्याप्ययमासन्नं भणिष्यमाणो भवतीति १२ ध०र० ५६प०।,ध०। (आकर्णनादिशब्देषु तद्व्याख्या)

कयवर–कचवर–पुं० अवकरे, ज्ञा० ७ अ० । श्लक्ष्णतृणधूल्यादिपुञ्जरूपे (टी०। आचा०) गुहमले, आव०१अ. ।"बहुकुसिरदव्वसंकरो कयवरो भण्णति " नि० चू० ७ उ० ।

कयवरणिस्सिय–कचवरनिश्रित–पुं० यत्र तृणधूलिसमुदायस्तन्निश्रितः कृमिकीटपतङ्गादौ जीवभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

कयवरोज्झिया–कचवरोज्झिका–स्त्री० अवकरशोधिकायाम्, ज्ञा० ७ अ० । गृहदास्याम्, वाच० ।

कयविक्कय–क्रयविक्रय–पुं० मूल्येन वस्तुनो ग्रहणग्राहणयोः,ग०।

जत्थ य मुणिणो कयवि–क्कयाइँ कुव्वंति संजमब्भट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर ! विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥

यत्र गणे मुनयो द्रव्यसाधवः क्रयं मूल्येन वस्त्रपात्रौषधशिष्यादिग्रहणं विक्रयं च मूल्येनान्येषां वस्त्रपात्रादिकार्याणां कुर्वन्ति चशब्दादन्यैः कारयन्ति अनुमोदयन्ति वा किंभूता मुनयः संयमभ्रष्टाः दूरीकृतचारित्रगुणाः गुणसागरेति गोतमामन्त्रणं तं गच्छं विषमिव हालाहलमिव दूरतः परिहरेत् सन्मुनिः। अत्र विषस्योपमा देशसाम्ये यतो विषादेकमरणं भवति संयमभ्रष्टगच्छात्त्वनन्तानि जन्ममरणानि भवन्तीति गाथाछन्दः ग० २ अधि०।

कयविक्कय (यंता) ज्झाण–क्रयविक्रयध्यान–न० क्रयणं क्रयो लाभार्थमल्पमूल्येन बहुमूल्यवस्तुग्रहणं विक्रयणं विक्रयः बहुमूल्येनाल्पमूल्यवस्तुग्रहणम्। क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयौ तयोर्ध्यानम् लोहमूल्येन स्वर्णकुशग्राहिलोभनन्दस्येव ध्यानभेदे, आतु० ।

कयविक्कयसण्णिहिउवरय–क्रयविक्रयसन्निध्युपरत–त्रि० क्रयविक्रयसन्निधिभ्यः उपरतो विरतः द्रव्यभावभेदभिन्नक्रयविक्रयपर्युषितस्थापनेभ्यो निवृत्ते, दश० १ अ० ।

कयविहंग–कृतविभङ्ग–त्रि० कृता विहिता मृगादिरेव (विहंगभि) विभागा यस्य । खण्डशः कृते, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

कयविहव–कृतविभव–त्रि० कृतसफलसंपदि, ज्ञा०१ अ० ।

कयवीरिय–कृतवीर्य–पुं० कार्त्तवीर्य्यार्जुनपितरि,यो हि स्वभार्याव्यतिकरे यमदग्निना विनाशितः सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । वीर्य्यान्विते, त्रि० वाच० ।

कयवीरियायार–कृतवीर्याचार–त्रि० विहितस्वशक्तिव्यापारे, पंचा० ४ विव० ।

कयवेयद्दिय–कृतवितर्दिक–न० रचितवेदिके, ज्ञा०१ अ०।औ०।

कयव्वय–कृतव्रत–पुं० स्त्री० उपस्थापिते, " गवेसऊमायकयव्वया जे सव्वे " व्य० ४ उ० ।

कयसपरिय–कृतसपर्य्य–त्रि० कृता कर्तुमारब्धा सपर्य्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्य्याः । सेवितु मप्रवृत्तेषु, स्था० ।

कया–कदा–अव्य० कस्मिन् काले, "कया णं अहं अप्पं वा बहुं, वा" स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

कयाइ–कदाचित्–अव्य० कदाचनार्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०। " नठेसि कयाइ त्ति " कदाचिदिति वितर्कार्थः। अहमेवं मन्ये यदुत नष्टस्त्वमसीति भ० १५ श० १ उ० । कदाचनादयोऽप्यत्र वाच० ।

कयाकय–कृताकृत–त्रि० कृतश्चासावकृतश्च कृताकृतः मयूरव्यंसकादय इति समासः। नैगमनयमतेन कृते शेषाणामकृते, आ० म० द्वि०। किञ्चित्कृते किञ्चिदकृते च । कृतं कार्य्यं च अकृतं कारणं च समा० द्व०। कार्य्यकारणयोः, क्तेन नञ्विशिष्टेनाऽनञ्" पा० । कृते अकृते च । भावे-क्त-करणाकरणयोः, न० द्वि०वाच०

कयागम–कृतागम–त्रि० कृतपरिज्ञाने, व्य० १ उ० । कृत आगमो येन आगमकर्त्तरि, वाच० ।

कयाभरण–कचाभरण–न० केशाभरणे, औ० ।

कर–कृ–धा० तना० उभ०सक० अनिट्। ऋवर्णस्यारः ८।४।२३ इत्यन्तस्य अरादेशः करइ–करोति, प्रा० ।

कर–पुं० वर्षोपले, रश्मौ, कीर्य्यते विक्षिप्यते कृ-करणे-अप्-पाणौ, हस्तिशुण्डे च । तयोर्जलादिक्षेपसाधनत्वात्तथात्वम् कर्मणि अप्-किरणे, मेदि० । वाच०। जं० ।"तुलारगंधारपीवरकरः " ज्ञा० १६ अ० । औ० । गवादीनां प्रतिवर्षे राजदेये द्रव्ये ज्ञा० १ अ० ।कल्प० । राजदेयभागे, प्रव० २ द्वा० । पिं० । हेत्वादौ-कर्मोपपदे-कृ-कर्त्तरि, अट् तत्कर्मकारके, त्रि० यथा श्रेयस्करः इत्यादि वाच० ।

अस्य निक्षेपः ।

नामकरो ठवणकरो, दव्वकरो खेत्तकालभावकरो ।
एसो खलु निक्खेवो, करणस्स उ छव्विहो होइ ॥

नामकरः स्थापनाकरः "खेत्तकालभावकरो" इति करशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते क्षेत्रकरः कालकरो भावकरः। एष खलु करणं करस्तस्य निक्षेपः षड्विधो भवति। तत्र नामस्थापने सुकरत्वादनादृत्य द्रव्यकरमभिधित्सुराह ।

गोमहिसुट्टपसूणं, छगलीणं पि य करा मुणेयव्वा ।
तत्तो य तणपलाले, भुसकट्ठिंगारकरमेव ॥
सीउंवरजंघाए, बलिवद्दकरे घमे य चम्मे य ।
चोल्लगकारयजणिए, अट्ठारसमाकरुप्पत्ती ॥

गोमहिषोष्ट्रपशूनां छगलीनामपि च करा ज्ञातव्याः। तत्र गोकरयाचनं यथा एतावतीषु गोषु विक्रीतास्वेका गौर्दातव्येति। यदि वा गोविक्रयस्वरूपं रूपकयाचनं गोकरः ।१। एवं महिषकरः। २ उष्ट्रकरः ३ पशुकरः ४ छगली छागा तत्करः छगलीकरः ५ ततस्तृणविषयः करस्तृणकरः ६ पलालकरः ७ तथा बुसकरः ८ काष्ठकरः ९ अङ्गारकरः १० सीता लाङ्गलपद्धतिः तामाश्रित्य करो भागो धान्ययाचनं सीताकरः ११ उम्बरो देहली तद्विषयः करो रूपकयाचनम् उम्बरकरः १२ एवं जङ्घाकरः १३ बलीवर्दकरः १४ घटकरः १५ कर्मकरः १६ चुल्लगो भोजनं तदेव करः चुल्लगकरः स चायं ग्रामेषु पञ्चकुलादीनधिकृत्य प्रसिद्ध एव १७ अष्टादश करस्योत्पत्तिः स्वकल्पनाशिल्पनिर्मिता पूर्वोक्तसप्तदशकरव्यतिरिक्तः स्वेच्छया कल्पितोऽष्टादशः करः स चौत्सिक इति प्रसिद्धः। उक्तो द्रव्यकरः ।

सम्प्रति क्षेत्रकरादीनभिधित्सुराह।

खेत्तम्मि जम्मि खेत्तो, काले जो जम्मि होइ कालम्मि।
दुविहो य होइ भावे, पसत्थो तह अप्पसत्थो य॥

यो यस्मिन् क्षेत्रे शुल्कादिरूपो विचित्रः करः स क्षेत्रे क्षेत्रविषयः करः। तथा यो यस्मिन् काले भवति तुटिकादानादिरूपः करः स काले कालकरः। द्विविधश्च भवति भावे भावकरः। द्वैविध्यमेव दर्शयति प्रशस्तस्तथा अप्रशस्तश्च। तत्र प्रशस्तपर्यन्ते प्रशस्तसद्भाव इति आदावप्रशस्तमेवाभिधित्सुराह।

कलहकरो ममरकरो, असमाहिकरो अनिव्वुइकरो य।
एसो उ अप्पसत्थो, एवमाई मुणेयव्वो॥

आह उक्तप्रयोजनसद्भावादुद्देशेऽप्ययमेवादावप्रशस्तः कस्मान्नोपन्यस्तः उच्यते इह समुत्क्षुण्णः प्रशस्त एव भाव आसेवनायोग्यो नेतर इति ख्यापनार्थमादौ प्रशस्त उक्त इत्यदोषः। तत्र कलहो वाचिकभण्डनं तत्करणशीलः प्रशस्तक्रोधाद्यौदयिकभाववशतः कलहकरः। कायवाङ्मनोभिर्विचित्रं नामनं ममरं तत्करणशीलो ममरकरः। तथा समाधानं समाधिः स्वास्थ्यं न समाधिरसमाधिरस्वास्थ्यनिबन्धना सा सा कायादिचेष्टा तत्करणशीलोऽसमाधिकरः। निर्वृतिः सुखमनिर्वृतिः पीडा तत्करणशीलोऽसमाधिकरः एव तुशब्दस्यावधारणार्थत्वादेष एव जात्यपेक्षया न तु व्यक्त्यपेक्षया एवमादिर्व्यक्त्यपेक्षयाऽन्यः प्रशस्तो भावकरो ज्ञातव्यः। सम्प्रति प्रशस्तभावकरमभिधित्सुराह।

अत्थकरो य हियकरो, गुणकरो कित्तिकरो जसकरो य।
अभयकरनिव्वुइकरो, कुलकरतित्थंकरंतकरो॥

इह अर्थो नाम विद्यापूर्वधनार्जनं शुभमर्थ इति स च प्रशस्तविचित्रकर्मक्षयोपशमाविर्भावनस्तत्करणशीलोऽर्थकरः। एवं हितादिष्वपि भावनीयं नवरं हितं परिणामपथ्यं यत्किञ्चित्कुशलानुबन्धि, कीर्तिर्दानपुण्यफला, गुणा ज्ञानादयः, यशः पराक्रमकृतं पराक्रमसमुत्थः साधुवाद इति भावः। अभयादयः प्रकटार्थाः। नवरमन्तकरः इत्यत्रान्तः कर्मणा तत्फलभूतस्य वा संसारस्य परिगृह्यते। उक्तो भावकरः आ०म०द्वि०। आ०चू०। वाच०।

करज-करञ्ज-पुं० कं शिरः जलं वा रञ्जयति अण्० नखमाले, प्रज्ञा० १ पद०। "करञ्जो नखमालश्च, करजश्चिरबिल्वकः। घृतपूर्णकरञ्जोऽन्यः, प्रकीर्यः पूतिकोऽपि च॥ स चोक्तः पूतिकरजः, सोमवल्कश्च स स्मृतः। करज्ञः कटुकस्तीक्ष्णो, वीर्योष्णो योनिदोषहृत्॥ कुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शो-व्रणकृमिकफापहः"। उदकीर्य्यपर्याये तु स्त्रीत्वमपि गौरा० ङीष् तत्तैलगुणाश्च "करञ्जतैलं सुस्निग्धं, वातहृत् स्थिरदीप्तिकृत्। नेत्रामयवातरोग-कुष्ठकण्डू विशूचिकाः। नाशयेत् तीक्ष्णमुष्णं च, लेपनाद्यर्भदोषहृत्॥ राजनि वाच०। आचा०। स्वार्थे कन् करञ्जकोऽप्यत्र पुं० वाच०॥

करड-करट-पुं० वंशे, पिटकमयाण अणु०।

करंडग-करण्डक-पुं० करण्ड-स्वार्थे कन्। वंशके, त०। वस्त्राभरणादिस्थाने, समुद्गे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। नि० चू०। (स्वपाकवेश्यागृहपतिगजकरण्डकव्याख्या आयरियशब्दे कृता)।

करंब-करम्ब-पुं० दधियुक्तकूरनिष्पन्ने दधिविषये विकृतिगते, प्रव० ४ द्वा०। ध०॥

करकंडु-करकण्डु-पुं० स्वनामख्याते प्रत्येकबुद्धे, "करकण्डूकलिंगेसु" श्रीवासुपूज्यजिनपतिकल्याणकपञ्चकास्तेष्वय प्रथमस्तच्चरित्रमेवम् विनष्टपापायां चम्पायां नगर्यां दधिवाहननामा नृपोऽभूत् तस्य चेटकमहाराजपुत्री पद्मावती प्रिया जाता साऽन्यदा गर्भिणी बभूव गर्भानुभावेन च तस्या ईदृशो दोहदमुत्पन्नः अहं पुंवेषधरा भर्त्रा धृतातपत्रा गजाग्रभागारूढा आरामे सञ्चरामि लज्जया इदं दोहदं भूपते पुरो वक्तुमशक्ता सा कृशाङ्गी बभूव। राज्ञाऽन्यदा तस्याः कृशाङ्गकारणं पृष्टम्। अतिनिर्बन्धेन सा स्वदोहदं कथयामास राजा अत्यन्तं तुष्टस्ता पट्टहस्तिस्कन्धे समारोप्य स्वयं तच्छिरसि छत्रं धृतवान् तादृश एव राजा गजारूढो राज्ञी पश्चाद्भागे स्थितो वने ययौ। तस्मिन्समये तत्र जलधरारम्भो बभूव तत्र सल्लकीप्रमुखविविधवृक्षपुष्पगन्धैर्जलसिक्तमृद्गन्धैश्च विह्वलीभूतः स करी मदोन्मत्तः स्वकीयाम्भूमिं स्मरन् अटवीं प्रति अधावत्। अश्ववारैः पदातिभिश्चासौ न स्पृष्टः तेन गजेन गर्जान्वितया कदलीकोमलशरीरया राज्ञ्या सार्द्धं स राजा महाटव्यां नीतः। समविषमोन्नतदूरासन्नानेकभावान् पश्यन् भूपतिर्वटमेकमायातं दृष्ट्वा भार्यां प्रतीदमवदत् हे देवि! पुरः स्थस्यास्य वटस्य शाखामेकामवलम्ब्य अहमस्मिन्नेका शाखामाश्रयिष्यामि गजस्तु एवमेव यातु एवमुक्त्वा राजा वटशाखायां लग्नः राज्ञी तु भयव्यग्रा वटावलम्बं कर्तुमक्षमा हस्तिनाऽग्रतो नीता। राजा तु वटादुत्तीर्य शनैः शनैर्मिलितसैन्यः पत्नीविरहदुःखितश्चम्पायां प्रविष्टः। राज्ञी दुष्टेन तेन हस्तिना महतीमटवीं नीता तृषाकुलः स हस्ती चतुर्दिक्षु पानीयं पश्यन् एकं सरो दृष्ट्वा तत्पाल्यामवतीर्य यावज्जलं पतति तावत्सा राज्ञी वृक्षावलम्बेन तत्स्कन्धादुत्ततार गजस्तु ग्रीष्मतापितः सरोऽन्तर्विवशः। राज्ञी कान्तारं दृष्ट्वा भृशमर्दिता सती मनसि एवं चिन्तयामास। क्व तन्नगरं क्व च सा श्रीः क्व तन्मन्दिरं क्व सा सुखशय्या दुष्कर्मणां विपाकात् सर्वं मे गतम्। अथवाऽत्र वने विविधश्वापदैःप्रमादवशगाया मम मृत्युर्भविष्यति तदा मम दुर्गतिर्भवेति मत्वाऽप्रमत्ता सती आराधनां व्यधात्। सुकृतानि अनुमोद्य सर्वजीवेषु क्षमां कृत्वा चानशनं साकारं प्रपेदे नमस्कारं ध्यायन्ती ततः उत्थाय सा एकया दिशा गच्छन्ती पुरस्तादेकं तापसं ददर्श। तापसेनेयमेवं पृष्टा वत्से! त्वं कस्य पुत्री कस्य प्रिया आकृत्यैव त्वं मया भूरिभाग्या ज्ञाता इयं का तवावस्था कथय वयम् अभयाश्रमिणः सः। सा राज्ञी तापसं निर्विकारं निर्मलकरं ज्ञात्वा स्ववृत्तान्तं सकलं जगौ। एतस्या राज्ञ्या पितुश्चेटकराजस्य मित्रेण तेन तापसेन उक्तं वत्से! त्वया मातः परं चिन्ता कार्या अयम्भवः सर्वविपदामास्पदं सर्ववस्तूनामनित्यता चिन्तनीया एवं प्रतिबोध्य सा राज्ञी तेन तापसेन स्वाश्रमं नीता। तस्याः प्राणाशा फलैः कारिता। अथ स्वदेशसीम्नि तां नीत्वा स तापस एवं जगाद हे पुत्रि! अतः परं हलकृष्टा सावद्या धरा वर्त्तते सा मुनिभिर्नोल्लङ्घ्या ततोऽहं पश्चाद्वलामि अयं मार्गो दन्तपुरस्य वर्त्तते तत्र दन्तवक्रनामा राजा वर्त्तते इत सुसार्थेन त्वं पुरे गच्छ। एवं निगद्य स तापसः स्वाश्रमं जगाम राज्ञी तु पुरान्तः साध्व्युपाश्रये जगाम साध्व्या पृष्टे तया सकलोऽपि वृत्तान्तः कथितः। साध्वी तस्या एवमुपदेशं ददौ अस्मिन् वने तु खागारे संसारे सुखाभास एव सर्वेषां सर्वोऽपि भवनिस्तारो भवद्भिस्त्याज्य एव साध्वी वचसा वैराग्यं गता सा तदैव दीक्षां जग्राह स्ववतविघ्नभिया सती सन्तमपि गर्भं न जगौ। कालान्तरे तस्या उदरवृद्धौ साध्व्या पृष्टे किमेतदभवेति तयोक्तं मम पूर्वावस्थायामभवं गर्भो वर्त्त-

ते मया तु घतविघ्नभयान्नोक्तः । ततो महत्तरा साध्वी तां साध्वीमुड्डाहभयेन एकान्ते संस्थापयामास । काले सा पुत्रं प्रसूय रत्नकम्बलेन सवीतं पितृनाममुद्राङ्कितञ्च कृत्वा श्मशाने द्रागमुमोच श्मशानपतिर्जनंगमस्त बालकं तथाविधमालोक्य गृहीत्वा च अनपत्यायाः स्वपत्न्याः समर्पयत् । सा श्रमणी गुप्तचर्यया तं व्यतिकर ज्ञात्वा महत्तराया अग्रे एवमाचख्यौ मृत एव बालो जातस्ततो मया त्यक्तस्ततः स बालो लोकोत्तरकान्तिर्जनंगमधाम्नि दत्तापकर्णिकनामा ववृधे । सा साध्वी सतत बहिर्व्रजन्ती पुत्रस्नेहेन मातङ्ग्या सह कोमलालापैः सङ्गतिं चक्रे स बालकः प्रतिवेश्मिकबालकैस्सह क्रीडन् महातेजसा भृशं राजते आगर्भबहुशाकाद्यशनदोषेण तस्य बालकस्य कण्डूलतादोषोऽभवत् स्वयं राजचेष्टां कुर्वाणः स बाल परबालैः सामन्तीकृतैर्देहकण्डूमपाकारयति । ततो लोकैः करकण्डूरिति नाम दत्तम् । सा साध्वी तद्वदनविलोकनार्थं मातङ्गपाटके निरन्तर याति भिक्षालब्ध मोदकादि तस्मै ददाति श्रमणत्वेऽप्यपत्यजा प्रीतिस्तस्या दुस्तरेति बालकोऽपि तस्यां दृष्टायां बहु विनयं करोति प्रीतिञ्च दधाति । स बालकः षण्वर्षः पितुरादेशात् श्मशान रक्षति । अन्यदा तस्मिन् श्मशाने रक्षति सति कोऽपि साधुर्लघुसाधु प्रति तच्छ्मशानस्थं सुलक्षण वश दर्शितवान् । उक्तवांश्च मूलतश्चतुरङ्गुलमिम वशमादाय यः स्वसमीपे स्थापयति सोऽवश्यं राज्यं प्राप्नोति । इदं साधुवचस्तेन बालकेन तत्रस्थेनैकेन द्विजेन च श्रुत द्विजस्तु त वशमाचतुरङ्गमूल भित्वा यावद् गृह्णाति तावत्करकण्डुना तत्करात् स वशो गृहीतः स्वकरे गृहीत्वा कलहं कुर्वतो द्विजस्य करकण्डुना उक्तम् । मत्पितृश्मशानवनोत्थं वश नाहमन्यस्मै दास्ये स ब्राह्मणः करकण्डु बालश्चेति द्वावपि विवदन्तौ नगराधिकारिपुरो गतौ नगराधिकारिभिर्भणितमहो बाल ! तवायं वशः किं करिष्यति स प्राह ममायं राज्यं दास्यति तदाधिकारिणः स्मित्वा एवमूचुर्यदा तव राज्य भवति तदा त्वयाऽस्य ब्राह्मणस्य एको ग्रामो देयः शिशुस्तद्वचोऽङ्गीकृत्य स्वगृहमगात् । स विप्रोऽन्यविप्रैः सम्भूय तं बालं हन्तुमुपाक्रमत तं द्विजोपक्रमं ज्ञात्वा करकण्डुपिता जनङ्गमः स्वकलत्रपुत्रयुक्तस्त देशं विहाय अनेशत् । सकुटुम्बं स जनङ्गम क्षितितलं क्रामन् कञ्चनपुरं जगाम । तत्र अपुत्रे नृपे मृते सचिवैराधिवासितस्तुरग करकण्डुं दृष्ट्वा हेषारवं कृतवान् तं सलक्षणं दृष्ट्वा नगरलोका जयजयारावञ्चक्रुः । अवादितान्यपि वाद्यानि स्वयं निनदुः स्वयं छत्रं शिरसि स्थितम् । ततोऽमात्यैरपि नवीनानि वस्त्राणि परिधाप्य स करकण्डुस्तमश्वमारोह्य यावन्नगरालोकैः परमप्रमोदेन पुरान्तः प्रवेश्यते तावद्विप्रास्तं म्लेच्छोऽयमिति कृत्वा न मेनिरे तदा क्रुद्धः स शिशुस्तं वंशदण्डं रत्नमिव करे जग्राह । अधिष्ठातृदेवैर्व्योम्नि इति घुष्टम् य इमं राजानमवगणयिष्यति तस्य मूर्ध्नि असौ दण्डः पतिष्यति इत्युक्त्वा सुरास्तदुरसि पुष्पवृष्टिं चक्रुः । भीताः सन्तो विप्रास्तस्य स्तुतिं कृत्वा वारंवारमाशीर्वादमुच्चरन्ति करकण्डुस्तेमुवाच अहो ब्राह्मण ! एते भवद्भिश्चाण्डाला गर्हितास्तत सर्वेऽप्यमी वाटधानवास्तव्याश्चाण्डालाः संस्कारैर्ब्राह्मणाः कार्याः संस्कारादेव ब्राह्मणो जायते न तु जात्या कश्चिद् ब्राह्मणो भवतीति भवद्ग्रन्थवचनात् । अथ ते ब्राह्मणाः प्रकाम प्रीतात्मनो वाटधानवा[illegible]श्चाण्डाला ब्राह्मणीकृता । [illegible]मवेन कञ्चनपुरे प्रवेशित[illegible] करकण्डुरमात्यैर्नृप—

पट्टेऽभिषिक्तः क्रमान्महाप्रतापोऽभूत् अन्यदा स वंशप्रतिवादी विप्रस्त भूपं निशम्य ग्रामाभिलाषकः सन् करकण्डुनृपपर्षदि प्राप्तः करकण्डुनोपलक्ष्य तस्य विप्रस्योक्तं तव यदिष्ट तत्कथय ब्राह्मणेनोक्तं मद्गृहं चम्पायां वर्त्तते तेन तद्विषयग्राममेकमहमीहे । अथ करकण्डुनृपतिश्चम्पापुरनाथस्य दधिवाहनभूपतेः अस्मै द्विजाय त्वद्विषयग्राममेकं देहीति आज्ञां प्राहिणोत्, आज्ञाहारिणं करकण्डुनृपस्य दूतं विस्मितचित्तः क्रुद्धश्च चम्पापतिर्दधिवाहनः प्राह । अरे स म्लेच्छबालो मृगतुल्यः करकण्डुः सिंहतुल्येन मया सह विरुध्यते परवस्त्वभिलाषभवस्य पातकस्य तव स्वामिनः शुद्धिं मत्खड्गतीर्थस्नान दास्यति एवमुक्त्वा दधिवाहनेन तिरस्कृतः स दूतस्तत्र गत्वा करकण्डुनृपाय यथार्थमवदत् । करकण्डुनृपोऽपि प्रकाम क्रुद्धः स्वसैन्यपरिवृतश्चम्पापुरसमीपे समायातः । दधिवाहनोऽपि पुरीं दुर्गे सज्जीकृत्य स्वयं बहिर्निस्ससार उभयोः सैन्ये सज्जीभूते यावद्योद्धुं लग्ने तावत्साध्वी तत्रागत्य करकण्डुनृपतिं प्रति एवमूचे अहो करकण्डुनृप ! त्वया अनुचितं पित्रा सह युद्धं किमारब्ध करकण्डुनृपः प्राह हेमहासति ! कथमेष दधिवाहनोऽस्माकं पिता साध्वी स्वस्वरूपमखिलमूचे । आर्य्यां मातरं दधिवाहनञ्च पितरं मत्वा करकण्डुनृपो जहर्ष तथापि करकण्डुनृपोऽभिमानात् स्वपितरं दधिवाहन नन्तुं नोत्सहते तदा साध्व्यपि दधिवाहनसमीपे गता दधिवाहनभृत्यैरुपलक्षिता दधिवाहनभूपाय राज्ञी साध्वीरूपा समागतेति वर्द्धापनिका दत्ता । अथ दधिवाहननृपोऽपि तां साध्वीं ननाम गर्भवृत्तान्तं प्रपच्छ साध्वी ऊचे सोऽय ते तनयः येन सह त्वया युद्धमारब्धम् । अथ दधिवाहननृपः प्रीतात्मा पादचारी करकण्डुनृप प्रति गत्वा वत्स ! उत्तिष्ठेत्युक्त्वा तमुत्थाप्य आश्लिष्य च शिरसि आजिघ्रत् हर्षाश्रुजलसहितैस्तीर्थजलैः पुत्रोऽय राज्यद्वयेऽपि दधिवाहनेनाभिषिक्तः दधिवाहनः कर्मविनाशाय स्वयं दीक्षां गृहीतवान् । करकण्डुनृपो राज्यद्वय पालयामास चम्पायामेव स्ववासमकरोत् । तस्य गोकुलानि इष्टानि आसन् संस्थानाकृतिवर्णविशिष्टानि गोकुलानि कोटिसङ्ख्यानि तेन मेलितानि स तानि निरन्तरं पश्यन् प्रकामं प्रमोदं लभते । अन्येद्युः स्फटिकसमान एको गोवत्सस्तेन गोकुलमध्ये दृष्टः अयं कण्ठपर्यन्तदुग्धपानैः प्रत्यहं प्रोषणीय इति गोपालान् स आदिष्टवान् अन्यदा स मासैः पुष्टतनुर्बलशाली घनघर्घरशब्देन अन्यवृषभान् त्रासयन् भूपतिना दृष्टः तथापि भूपतेस्तस्मिन् वृषे प्रीतिरेव बभूव । साम्राज्यकार्यकरणव्यग्रो भूपतिः कतिचिद्वर्षाणि यावद्गोकुले नायात अन्यदा तद्दर्शनोत्कण्ठः स नृपतिस्तत्र समायातः स वृषः क इति गोपालान् नृपतिः प्रपच्छ गोपालैर्जराजीर्णपतितदशनो हीनबलो वत्सैर्घट्टितदेह कृशाङ्गः स दर्शितः तं तथाविध दृष्ट्वा नवदशां विषमां विचारयन् करकण्डू राजा एवं चिन्तयति यथाऽसौ वृषभः पूर्वावस्थां मनोहरां परित्यज्य इमां वृद्धावस्थां प्राप्त तथा सर्वोऽपि संसारी संसारे नवां नवामवस्थामाप्नोति मोक्षे चैव एकावस्था मोक्षस्तु जिनधर्मादेव प्राप्यते अतो जिनधर्ममेव सम्यगाराधयामीति परं वैराग्यं प्राप्तः । करकण्डू राजा स्वयमेव प्राग्भवसंस्कारोदयात् प्रतिबुद्धः । सद्यः शासनदेव्यर्पितलिङ्गस्तृणवद्राज्य परित्यज्य प्रव्रज्या प्रप उक्तं च “ इयेन सुजातं सुविभक्तशृङ्गं, गोष्ठाङ्गणे वीक्ष्य वृषं ज-

रार्तम् । ऋद्धिं च वृद्धिञ्च समीक्ष्य बोधात्, कलिङ्गराजर्षिरवाप धर्मम्" १ इति करकण्डूचरित्रम् उत्त० ९ अ० । नि० । आव० । नी० । आ० चू० । आ० क० । (करकण्डू इति दीर्घान्तोऽप्ययम्)

करकचिय-क्रकचित-त्रि० करपत्रविदारिते काष्ठादौ, अनु० ।

करकडि-करकटि-स्त्री० कठिनायाम्, "अधाओ करकडीओ" कठिने निर्मांसे इत्यर्थः उपा० २ अ० । हस्तयोर्बद्धे कटीदेशे, "बज्झकरकमीजुयणियत्थे" करयोर्हस्तयोर्बद्धं कटीदेशस्ययुगं युग्मम् । विपा० २ अ० ।

करकय-क्रकच-न० करपत्रे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । जी० । सूत्र० ।

करकरसुंठ-करकरशुण्ठ-पु० तृणविशेषे, "एरडे कुरुविंदे करकरसुंठे तह विमगू य" प्रज्ञा० १ पद ।

करकरिग-करकरिक- पु० पञ्चाशीतितमे महाग्रहे, " दो करकरिगा" स्था० २ ठा० ३ उ० । कर' करिकश्चेति द्वौ महौ तत्र करकश्चशीतितम करिकश्चतुरशीतितम इति "अगाप्प वियालए इति" पाठे अङ्कानुसारात् ज्ञायते परं (स्था०२ठा० ३ उ०) सूत्रानुसारात्करकरिक इति पञ्चाशीतितमस्य विशिष्टा सञ्ज्ञा स्पष्टं प्रतीयते चन्द्र० २० पाहु० । कल्प० ।

करकुडिया-करकुटिका-स्त्री० निन्द्यचीवरिकायाम्, "बज्झकरकुडिजुय णियत्थ" बद्धस्य यत्करकुटिकायुग निन्द्यचीवरिकाद्वयं तन्निवसितो यः स तथा विपा० २ अ० ।

करग-करक-पु० न० किरति विक्षिपति करोति वा जलमत्र कृ० वा-कृञादिसञ्ज्ञायां वुन् । कमण्डलौ, वाच० । वार्धटिकायाम्, अनु० ३ वर्ग० । जलाधारे, मदिराभाजने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । घनोपले, जी० १ प्रति० उ० १ । कठिनोदके, दश० ४ अ० । आचा० । द्रवीभूतास्वप्सु, ध० ३ अधि० । पक्षिभेदे, पुं० स्त्री० । करञ्जभेदे, रत्नमा० स्वार्थे कन् राजकरे, हस्ते च. पलाशवृक्षे, हारा० । कोविदारवृक्षे, वकुलवृक्षे, करीरे, नारिकेलास्थनि च राजनि० । वाच० ।

करगगीवा-करकग्रीवा-स्त्री वार्धटिकाग्रीवायाम्, अनु०३वर्ग० ।

करग्गहमह-करग्रहमह-पुं० पाणिग्रहणमहोत्सवे, अष्ट २७अष्ट

करच्छिय-कराक्षिप्त-त्रि० कराकृष्टे, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

करञ्ज-भञ्ज-धा० भञ्जेर्वेमयमुसुमूरसूरसूडविरपविरञ्जकरञ्जनीरञ्जाः ८।४।१६ इति भञ्जेः करञ्जादेशः'करञ्जइ'भनक्ति प्रा० ।

करड-करट-पु० किरति मदम्-कृ-अटन् गजगण्डे, काके, पु० स्त्री० अमर स्त्रियां ङीप् कुसुमवृक्षे, पुं० निन्द्यजीविनि, त्रि० स्त्रियां करटा दुर्दुरूढे, दुरूढयमतक वादिनि, वाद्यभेदे च पु० मेदि० । स्वार्थे कन् काके, पु०स्त्री० शब्दर० । स्त्रियां ङीप् स्तेयशास्त्रप्रवर्त्तके, वाच० । रक्तपादपक्षके, आ० चू० १ अ० । नि०चू० ।

करडी-करटी-स्त्री० वाद्यभेदे, " अट्ठसय करडीण अट्ठसय करडीवायगाण" जं० २ वक्ष० ।

करडुयभुत्त-करमुकभुक्त-न० मृतकभोजने मांसादौ, पिं० ।

करण-करण-न० कृ भावादौ ल्युट् । क्रियायाम्,

करणपदस्य शब्दार्थं भेदांश्चाह ।

करणं किरिया भावो, संभवओ चेह छव्विहं तं च ।
नाम ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य ॥

करण क्रियते भावो वा भावमात्राभिधं वाच्यम् (सम्भवओ चेह इति) अथवा सम्भवतो यथासम्भवमिदं शब्दार्थो वक्तव्यम् यथा क्रियते तदिति करण क्रियते वाऽस्मिन्निति वा करणमित्यादि तच्च करण नामादिभेदात्षड्विधमिति ।

अथ नामस्थापनाकरणमाह ।

नामं नामस्स व नाम-ओ वा करंति नामकरणंति ।
ठवणाकरणं नासो, करणागारो व जो जस्स ॥

(नामं ति) नामैव करणमिति सामानाधिकरण्ये द्रष्टव्यम् । अथवा नाम्नः करण नामकरण नामतो वा करण नामकरण "करणति" इत्ययं करणशब्दः प्रत्येकं योजनीय. स च योजित एव [नामकरणति] द्वारपरामर्शः (ठवण त्ति) स्थापनाकरणमुच्यत इत्यर्थ. । किं तदित्याह । करणस्य करणशब्दस्य न्यास. करणन्यास. । अथवा यो यस्य करणस्य दात्रादेराकार' काष्ठादौ विन्यस्तः स स्थापनाकरणमिति । अथ द्रव्यकरणमभिधित्सुर्द्रव्यकरणशब्दस्य व्युत्पादनार्थमाह ।

तं तेण तस्स तम्मि व, संभवओ व किरिया मया करणं ।
दव्वस्स व दव्वेण व, दव्वम्मि य दव्वकरणंति ॥

क्रियते तदिति करणमिति करणशब्द. कर्म्मसाधन. क्रियतेऽनेनेति करणसाधन', तस्य द्रव्यस्य कृति करणमिति भावसाधन , क्रियते तस्मिन्नित्यधिकरणसाधन । तत्र कर्म्मकरणाधिकरणपक्षेषु द्रव्यं च तत्करण च द्रव्यकरणमिति कर्म्मधारय एव समास इत्येतत्स्वयमेव द्रष्टव्यम् (सम्भवओ व किरिया मया करणमिति) अथवा सम्भवतो यथासम्भवमपर षष्ठीतत्पुरुषादिक समासमपेक्ष्य क्रियैव मतं करणं सर्वकारकनिष्पाद्यत्वाद्धात्वर्थस्येति तमेव षष्ठीतत्पुरुषादिक समास दर्शयति । द्रव्यस्य करण द्रव्यकरण द्रव्येण वा करण द्रव्यकरण द्रव्ये करण द्रव्यकरणमिति अस्य च द्रव्यकरणस्यागमतो नोआगमतश्चेत्यादिविचारः सुकर एव तावद्यावद् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यकरण व्याख्यायते तच्च द्रव्यकरण द्विधा संज्ञाकरणं नोसञ्ज्ञाकरण च । तत्र सञ्ज्ञाकरणमाह ।

दव्वकरणं तु सण्णा-करणं पेलुकरणाइयं बहुहा ।
सण्णा नामं ति मई, तं नो नाम जमभिहाणं ॥
जं वा तदत्थविगले, कीरइ दव्वं तु दविणपरिणामं ।
पेलुकरणाइनदिंतं, तदत्थसुन्नं न वा सद्दो ॥
जइ न तदत्थविहीणं, तो किं दव्वकरणं पसत्तेण ।
दव्वं कीरइ सण्णा, करणाति य करणरूढी उ ॥

द्रव्यकरणं तु यत्तावत्सञ्ज्ञाकरण तत्पेलुकरणादिक बहुधा बहुभेद तत्र लाटदेशे रूतसंबन्धिनी या पूणिकेति प्रसिद्धा सैव महाराष्ट्रकविषये पेलुरित्युच्यते तस्या करण निर्वर्तकं वंशशलाकामयी शलाका पेलुकरणम् । आदिशब्दा "त्कुटकरण पाश्लुकादि" तथा वार्त्ताकरण बालानामधीयानानां वर्त्तनक तथा काण्डकरणमुपकरणविशेषरूप काण्डकरण परिगृह्यन्ते । एवमन्यदपि लोके प्रसिद्ध सञ्ज्ञाविशिष्ट करण सञ्ज्ञाकरण वेदितव्यम् । ननु सञ्ज्ञा नामैवोच्यते ततश्च सञ्ज्ञाकरणनामकरणयोर्विशेषो न प्राप्नोतीति परस्य मतिर्भवेत्तदेतन्नो नैव युक्त यस्मात्करणमित्यक्षरत्रयात्मकमभिधानमात्रमेव नाम न तु द्रव्यम् । अथवा यत्तदर्थविकले वस्तुनि सकेतमात्रत करणमिति नाम क्रियते तन्नामक''पन्देण यद् द्रव्य गमन तत्परिणामस्तत्स्वभावमभिधीयते हि यस्मात्र तावेलुकरणादिद्रव्य तदर्थशून्य करण

शब्दार्थविकल पूणिकादिकरणपरिणामान्वितत्वाभावेऽपि शब्दः करणाभिधानमात्ररूपः इति नामकरणसंज्ञाकरणयोर्भेद इति । आह ननु यदि तदर्थविहीन करणशब्दार्थरहित संज्ञाकरणं न भवति ततस्तर्हि किं कस्माद् द्रव्यकरणमेतत्किमिति द्रव्यविचारे इह पठ्यते ननु भावकरणमेवेत्यभिप्रायः उच्यते यतस्तेन पेलुकरणाभिना संज्ञाकरणेन द्रव्य पूणिकादिक क्रियते निर्वर्त्यते अतो द्रव्यस्य करण द्रव्यकरणमिति व्युत्पत्त्यर्थमाश्रित्य द्रव्यकरणमिदमुच्यते । संज्ञाकरण त्विद करणरूढितो भण्यते करणसंज्ञातो लोकेऽस्य रूढत्वादित्यर्थ ।

अथ नोसंज्ञाकरणमाह ।

नोसन्नाकरणं पुण, दव्वस्सारूढकरणसन्नं पि ।
तक्किरिया भावाओ, पओगओ वीससाओ य ॥
साइयमणाइयं वा, अजीवदव्वाण वीससा करणं ।
धम्माधम्मनयाणं, अणाइसंघायणाकरणं ॥

नोसंज्ञाकरण द्रव्यस्य प्रयोगतो विस्रसातश्च भवति कथभूतमित्याह । अरूढकरणसंज्ञमप्यरूढा अप्रसिद्धा करणमिति संज्ञा यस्य तदरूढकरणसंज्ञमपि अत एव करणसंज्ञायास्तत्राभावान्नोसंज्ञाकरणमुच्यते अरूढकरणसंज्ञ करणमिदमित्यर्थ । यदि करणसंज्ञा तत्र नास्ति तर्हि करणमपि कथमुच्यते इत्याह (तक्किरिया भावाओत्ति) सा चासौ करणलक्षणा क्रिया च तत्क्रिया तस्या सद्भावादिति । इदमुक्त भवति । यद्यपि शरीराभ्रेन्द्रधनुरादौ करणसंज्ञा नास्ति तथापि प्रयोगविस्रसाजनितकरणक्रिया विद्यते अतस्तदपेक्षयमेतेषां करणत्व न विरुध्यत इति । तथा अजीवद्रव्याणां विस्रसाकरण सादिकमनादि च भवति तत्र धर्माधर्मास्तिकायनभसा संघातनाकरण प्रदेशानां परस्पर संहत्यवस्थानकरणरूपमनादिरूप विज्ञेयमिति ।

अत्र पर प्राह ।

णणु करणमणाइयं च, विरुद्धमवि भन्नए न दोसो त्ति ।
अन्नोन्नसमाहाणं, जमिह करणं तं निव्वत्ती ॥

ननु कृतिर्निर्वृत्तिर्वस्तुनः करणमुच्यते तच्च सादेव भवति घटकटशकटादिकरणवत् ततश्च करणमनादि चेत्युच्यमान विरुद्धमेव माता मे वन्ध्येत्यादिवचनवदिति । भण्यते अत्रोत्तर नाय दोषो यस्माद्धर्मास्तिकायादे प्रदेशानामन्योन्यं परस्पर यत्सम्यगाधान समाधानमनादिकालात्संहत्यावस्थानं धातूनामनेकार्थत्वात्तदेव करणमभिप्रेत न पुनरपूर्वादिवृत्तिः धर्मास्तिकायादिप्रदेशराशेश्च तस्यानादित्व न किंचिद्विरुध्यते अनादिकालीनत्वादस्येति ।

अथवा धर्माधर्मनभसां सादिकमपि
करण भवतीति दर्शयन्नाह ।

अहव परपच्चयाउ, संजोगादि करणं नभोईणं ।
साइयमुनयाराउ, पज्जाया देसओ वा वि ॥

अथवा उपचारान्नभ प्रभृतीनां करण सादिक विज्ञेयम् उपचारोऽपि कुत इत्याह । परप्रत्ययाद्घटादिवस्तून्याश्रित्येत्यर्थ. । कथभूत करण संयोगादि आदिशब्दाद्विभागादिपरिग्रह । इदमुक्त भवति । आकाशादीनां घटादिसंयोगाद्य सादय सपर्यवसानाश्च ततो यत्तेषां घटादिभि. सह संयोगादिकरण तत्सादिक भवत्येव । अथवा पर्यायरूपतया सर्वं वस्तु जैनानां सादि सपर्यवसितमेव भवति अत पर्याया देशत पर्यायानाश्रित्य नभ प्रभृतीनामपि करण सादिक बोद्धव्यमिति । तदेवमरूपिणामजीवद्रव्याणां सादनादि च विस्रसाकरणमुक्तम् ।

अथ रूप्यजीवद्रव्याण्याश्रित्याह ।

चक्खुसमचक्खुसं, पि य साई य रूविवीससाकरणं ।
अब्भाणुप्पाभिईणं, बहुहा संघायभेयकायं ॥

इहाभ्रेन्द्रधनुःपरमाणुप्रभृतीनां रूप्यजीवद्रव्याणा विस्रसाकरणं चक्षुर्भ्यां दृश्यते इति चाक्षुषमभ्रादीनां चक्षुर्गोचरातीतमचाक्षुष परमाणुकादीनां एतद्द्विविधमपि संघातभेदकृत बहुधा बहुभेद सादिक भवति । अभ्रादीनां तु केचित्पुद्गलाः संहन्यन्ते केचिद्भिद्यन्ते ततस्तेषां नानारूपा भवन्ति एव द्व्यणुकादिस्कन्धेष्वपि वाच्य परिणामास्तु स्कन्धाद्भेदकृतमेव करण भेदाद्रणुरिति वचनादिति करण चेह कृतिः स्वभावत एव निर्वृतिर्गृह्यते न पुनः क्रियत इति करणमिति । विशे० ।

सम्प्रति चाक्षुषभेदमेव विशेषेण प्रतिपादयति ।

संघायभेयतदुभय-करणं इंदा उ होइ पच्चक्खं ।
दुअअणुमाईणं पुण, छउमत्थाईण पच्चक्खं ॥

संघातः संहनन भेदो विघटन तच्छब्देन संघातभेदौ परामृश्येते । तयोः तत् उभय च तदुभय संघातभेदतदुभयैः करण क्रियते इति करण कर्मसाधन करणशब्द संघातभेदतदुभयकरणम । इन्द्रायुधादिस्थूलमनन्तपुद्गलात्मक प्रत्यक्ष चाक्षुषमित्यर्थ । तथाहि । अभ्रादीनां कचित्केचित्पुद्गला संहन्यन्ते एव कचित्केचित् भिद्यन्त एव काचित्केचित्संहन्यन्ते भिद्यन्ते केचित्संघातभेदतदुभयकरणम् । द्व्यणुकादीनामादिशब्दात्तथाविधानन्ताणुकान्तानां पुन करणमिति वर्त्तते द्व्यणुकादीनामादिशब्दः स्वगतानेकभेदप्रतिपादनार्थ. । अप्रत्यक्षमचाक्षुषमित्यर्थ. । उक्त विस्रसाकरणम् । आ० म० द्वि० ।

अथ प्रयोगकरणमाह ।

होइ उ एगो जीव-व्वावारो तेण जं विणिम्माणं ।
सज्जीवमजीवं वा, पओगकरण तयं बहुहा ॥
सज्जीवं मूलुत्तर-करणं मूलकरणजमाईयं ।
पंचण्हं देहाण, उत्तरमाई तियस्सेव ॥

प्रयोजन प्रयोगो भवति क इत्याह । जीवव्यापारस्तेन यद्विनिर्माणं निर्मापण तत्प्रयोगकरण भण्यते तच्च सज्जीवमजीव च बहुधा भवति । सन् विद्यमानो जीवो यत्र तत्सज्जीव प्रयोगकरण पञ्चानामौदारिकादिशरीराणां द्रष्टव्यम इद च मूलकरणोत्तरकरणभेदाद् द्विविधम । अत एवाह (सज्जीव मूलुत्तरकरणति) सज्जीव प्रयोगकरणं द्विभेद तद्यथा मूलकरणमुत्तरकरण च तत्र (मूलकरणजमाईय ति) पञ्चानामपि शरीराणां यदाद्य पुद्गलसंघातकरण तन्मूलकरण वेदितव्यम् (उत्तरमाइतियस्सेवत्ति) उत्तरकरणत्वादित्रिकस्यैव आद्यानामेवौदारिकवैक्रियाहारकशरीराणां भवति नतु तैजसकार्मणयोरित्यर्थ. । तत्रस्याद्यशरीरत्रयस्य शिरउरःप्रभृतीन्यङ्गानि कर्णचरणाङ्गुल्यादीनि चोपाङ्गानि भवन्ति तत्रापि कियदिह मूलकरण कियच्चोत्तरकरणमिति विभागेन कथ्यतामित्यत्राह

मूलकरणं सिरोउरु, पिट्ठीबाहोदरोरुनिम्माणं ।
उत्तरमवसेसाणं, करणं केसाइकम्म च ॥

इहौदारिकादिशरीरत्रये याच्छिरउर पृष्ठिबाहुद्वयोदरोरुद्वय

त्रणानामष्टानामङ्गानां निर्माणं निष्पादनं तन्मूलकरणम् अवशेषाणां तु करणचरणाङ्गुल्यादीनामुपाङ्गानां यन्निर्माणं तदुत्तरकरणं तथौदारिकवैक्रियशरीरयोः केशनखदशनादिसंस्काररूपं यत्केशादिकर्म्म तदपि तयोरुत्तरकरणमिति ।

अपरमप्यौदारिकवैक्रियशरीरयोरुत्तरकरणं दर्शयन्नाह ।

संठवणमणेगविहं, दोएहं पढमस्स भेसएहिं पि ।

वन्नाईणं करणं, परिकम्मं तइय नत्थिव्व ॥

विनष्टकर्णाद्यवयवसंघातादिरूपमौदारिके केशाद्युपरचनरूपं तु संस्थापनं वैक्रिये इत्येवं द्वयोराद्यशरीरयोः संस्थापनं संस्करणमनेकविधं भवति । प्रथमस्य पुनरौदारिकशरीरस्यान्योऽपि विशेषः क इत्याह भेषजैरपि लक्षपाकतैलादिभिर्वर्णादीनां विशेषापादनं तत्तस्योत्तरकरणम् । तृतीये त्वाहारकशरीरे केशनखदन्तादिपरिकर्म्म नास्त्येव स्वरूपेणैव विशिष्टत्वात्प्रयोजनाभावाच्चेति । विशे० । उत्त० । आ०म०द्वि० । सूत्र० ।

अथवा प्रकारान्तरेणापि त्रिविधं जीवप्रयोगकरणं विज्ञेयं कथमित्याह ।

संघायणपडिसाडण–मुभयं करणमहव सरीराणं ।

आदाणं मुयणसमयं, तदंतरालं च कालो सिं ॥

अथवौदारिकशरीराणां संघातनं परिशाटनं संघातपरिशाटोभयलक्षणमुभयं चेत्येवं त्रिविधं करणं विज्ञेयम् । तत्र पूर्वभविकमौदारिकादिशरीरं परित्यज्य अग्रेतनभवे पुनरपि तद्धतो यत्पुद्गलानां संघातनं ग्रहणं स संघातः । यस्तु नवैरौदारिकादिशरीरं परित्यज्यतश्चरमसमये सर्वथा तत्पुद्गलानां परित्यागः। सदूल रुजाविशरणगत्यवसादनेष्विति धातोः पुद्गलानां परिशाटनमवसादनं परिशाटः संघातनपरिशाटसमययोश्चापान्तरालसमयेषु सर्वेष्वपि संघातपरिशाटोभयं द्रष्टव्यं सर्वत्र पूर्वगृहीतपुद्गलानां मोचनादन्येषां च ग्रहणादिति । तत्राद्यशरीरत्रयस्य संघातपरिशाटोभयलक्षणं त्रिविधमपि करणं भवति । तैजसकार्म्मणयोस्तु संघातो न भवत्येव परित्यक्तयोस्तयोः पुनर्ग्रहणादिति । अथ संघातादीनां कालप्रमाणमभिधित्सुराह (सिंति) एतेषां संघातपरिशाटद्वयोभयानां कालोऽभिधीयते कियानित्याह (आदाणमुयणसमयति) आदानमौदारिकादिशरीरपुद्गलानां प्रथमं ग्रहणं संघातनं संघात इत्यर्थः । अयमेकमेव समयं भवति ततः परं संघातपरिशाटोभयप्रवृत्ते मोचनं पुद्गलानां परिशाटनं परिशाटः सोऽप्येकमेव समयं भवति । तदन्तरालं संघातपरिशाटोभयलक्षणमिह गृह्यते तस्य कालो वक्ष्यत इति शेषः । चशब्दात्संघातादीनामन्तरकालश्च वक्ष्यत इति द्रष्टव्यमिति ।

तत्रौदारिकशरीरस्य संघातपरिशाटोभयकालमाह ।

खुड्डागभवग्गहणं, तिसमयहीणं जहन्नमुभयस्स ।

पल्लतियं समऊणं, उक्कोसोरालकालो यं ॥

अत्र संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यकाले प्रतिपाद्ये विग्रहेणोत्पादनीये ते एवाह ।

दो विग्गहम्मि समया, समओ संघायणाय ते हू णं ।

खुड्डागभवग्गहणं, सव्वजहन्नडिई कालो ॥

इह यत्पञ्चाशदधिकावलिकाशतद्वयमायुषो जघन्यस्थितिरूपं क्षुल्लकभवग्रहणमुच्यते । तथा च वृद्धोक्तम् "दो य सया छप्पन्ना, आवलियाण तु खुड्डभवमाणं । जियरागदोसमोहेहिं, जिणवरेहिं विणिद्दिट्ठं" । इदं च क्षुल्लकभवग्रहणं द्वाभ्यां विग्रहसमयाभ्यामेकेन च संघातसमयेन न्यूनं संघातपरिशाटलक्षणस्योभयस्य जघन्यस्थितिमानं जघन्यतोऽपि संघातपरिशाटोभयमेतावन्तं कालं भवतीत्यर्थः । अत्राह कश्चिद् ननु " विदिसाउ दिसिं पढमे य, बीए पविसेइ लोगमज्झंमि । तइए उप्पिं धावइ, नामिवहिं जायइ चउत्थे " इतिवचनाद्यदा अधस्त्रसनाड्या बहिर्विदिशायूर्ध्वलोके त्रसनाड्या बहिरेव निगोदादिजीवश्चतुर्भिः समयैरुत्पद्यते तदा विग्रहगतावपान्तरालगतौ आद्यास्त्रयः समयाश्चतुर्थस्तु संघातसमय इत्येवं चतुर्भिरपि समयैर्न्यूनं क्षुल्लकभवग्रहणं संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यकालं प्राप्यते तत्किमितीह त्रिभिरेव समयैर्न्यूनं क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्यतस्तत्काल उक्तः । सत्यं किंत्वस्यां चतुःसमयायां विग्रहगतौ य आद्यः समयः स इह परभवप्रथमसमये न विवक्षितः किंतु पूर्वभवचरमसमय एव पूर्वभवशरीरस्य तत्र मुच्यमानत्वान्मुच्यमानं चामुक्तमिति व्यवहारनयमताश्रयणादिति । अथवा त्रसजीवसंबन्धिन्येवेहापान्तरालगतिर्विवक्षिताऽत्रसजीवास्त्रोत्कृष्टतोऽपि तृतीयसमये उत्पत्तिस्थानं प्राप्नुवन्तीत्यदोष इति तावद्व्ययमवगच्छामः तत्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति । इह चैतानि क्षुल्लकभवग्रहणानि एकस्मिन्नुच्छ्वासनिःश्वासे सातिरेकाणि सप्तदश मन्तव्यानि यत उक्तम् " खुड्डागभवग्गहणा सत्तरस हवंति आणुपाणम्मि " इत्यादि ।

अथ पल्लतियमित्याद्युत्कृष्टसंघातपरिशाटोभयकालभावनामाह ।

उक्कोसो समऊणो, जो सो संघायणासमयहीणो ।

किह न दुसमयविहीणो, परिसाडसमए वणीयम्मि ॥

इह यो देवकुर्वादिषूत्पन्न औदारिकशरीरस्य प्रथमसमये संघातं कृत्वा त्रीणि च पल्योपमानि उत्कृष्टमायुः परिपाल्य म्रियते तस्य संघातसमयन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि उत्कृष्टसंघातपरिशाटोभयकालः प्राप्यते । अत्राह ननु कथमेकेनैव समयेन न्यूनोऽयमभिधीयते यावता यथा शरीरग्रहणप्रथमसमये सर्वतस्तथा तन्मोक्षसमये सर्वपरिशाटोऽपि भवति ततस्तस्मिन्नपि परिशाटसमये अपनीते समयद्वयहीन एव प्राप्नोतीति ।

अत्र प्रतिविधित्सुराह ।

भण्णइ भवचरिमम्मि वि, समये संघायमारुणे चेव ।

परभवपढमे साडण–मउतइओ न कालोत्ति ॥

भण्यते अत्रोत्तरं भवस्य चरमेऽपि समये संघातपरिशाटोभयमेव प्रवर्त्तते यत्तु शरीरपुद्गलानां केवलं परिशाटनमेव तत्परभवस्य प्रथमसमये एव मन्तव्यम् (परभवपढमे साडणमिति) निश्चयनयमताश्रयणादतस्तेन परिशाटसमये न न्यूनं संघातपरिशाटोभयकालो न भवतीति ।

अत्र व्यवहारनयवादी प्रेरयति ।

जइ परपढमे साडो, निव्विग्गहओ य तम्मि संघाओ ।

तणुसव्वसाडसंघाय–णा उ समए विरुज्झाउ ॥

ननु निश्चयनयवादिन् यदि परभवप्रथमसमये शाटोऽभ्युपगम्यते निर्विग्रहतश्च ऋजुश्रेण्या चोत्पद्यमानस्य तस्मिन्नेव समये संघात इष्यते तदा त्वहो सर्वशाटसंघातौ युगपदेकस्मिन्नेव समये विरुद्धौ तव प्राप्नुतः सर्वशाटस्य पूर्वभवशरीरसंबन्धित्वात्सर्वसंघातस्य भवान्तरगतशरीरविपर्ययत्वाद्भवद्वयशरीरयोर्युगपत् सत्वस्य दूरविरुद्धत्वादिति ।

निश्चयनयवादी प्रतिविधानमाह ।

जम्हा विगच्छविगयं-एां विगयमुप्पज्जमाणमुप्पन्ने ।
तो परज्जवाइसमए, मोक्खादाणाण न विरोहो ॥

यस्मात्पूर्वभवशरीरं परभवाद्यसमये विगच्छद्विगतमुत्पद्यमान त्वग्रेतनजवशरीरमुत्पन्नं क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्ततस्तत्र मोक्षादानयोरिष्यमाणयोर्न कश्चिद्विरोधो मुच्यमानस्य मुक्तत्वेनैकस्यैवाग्रेतनजवशरीरस्य सद्भावादिति । अपि च मरणसमयः परभवाद्यसमयत्वेनाभ्युपगन्तव्य एवान्यथा दोषसंभवादित्याह।

चुइसमये नेह भवो, इह देहविमोक्खओ जहा तीए ।
जइ न परज्जवो वि नहिं, तो सो को होउ संसारी ॥

च्युतिसमये इह भवपरजवशरीरायुः पुलपूर्वपरिशाटसमये नाप्यनिह जवो न भवति इह भवदेहस्यायुषश्च मुच्यमानत्वान्मुच्यमानस्य च सर्वथा विमोक्षात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदादिति (जहा तीयत्ति) यथा अतीतजन्मनीह भवो नास्त्यत्रत्यदेहाभावात्तथा च्युतिसमयेऽप्यसौ न जवत्येव इह भवदेहाभावस्याविशेषादित्यर्थः । एवं च सति यदि तस्मिंश्च्युतिसमये परभवोऽपि जवता नाभ्युपगम्यते तदाऽसौ संसारी जीव को जवतु । इह भवत्वस्य तावन्मुक्तित एव निषेधात्परभवत्वस्य तु त्वयाप्यनभ्युपगम्यमानत्वात्संसारित्वेन च मुक्तव्यपदेशाभावान्निर्व्यपदेश एवासौ स्यादिति ।

व्यवहारनयवादी प्राह ।

नणु जह विग्गहकाले, देहाभावे वि परज्जवग्गहणं ।
देहाभावम्मि वि हो-ज्जेव भवो वि को दोसो ॥

ननु यथा विग्रहकाले विग्रहेण परभवगमनकाले पारभविकदेहाजावेऽपि जीवस्य परभवग्रहणं नारकादिपारभाविकव्यपदेश तथा च्युतिसमयेऽपीह भवशरीराभावेऽपीह जवो यदि जवेदिह जवव्यपदेशोऽपि यदि स्यात्तर्हि को दोषो न कश्चिन्न्यायस्य समानत्वादिति ।

निश्चयवादी प्रतिविधानमाह ।

ज चिय विग्गहकालो, देहाभावे वि नो परभवो सो ।
चुइसमए उ न देहो, न विग्गहो जइ स को हेऊ ॥

हन्त यत एवापान्तरालगतौ जीवस्य विग्रहकालो न तु पूर्वजवकाल तत एव देहाभावेऽप्यसौ परभवसबन्धित्वेन व्यपदेश्यः परभवायुष उदीर्णत्वात्पूर्वभवायुषस्तु प्रागेव निर्जीर्णत्वान्निरायुषश्च जीवस्य संसारे असजवादिति । च्युतिसमये तु न पूर्वजवे देहः तस्य त्यक्तत्वान्नापि विग्रहो वक्राभावाद्यद्येव तर्हि स च्युतिसमय इहत्यपारत्रिकजवसमयानां मध्यात्को जवत्विति कथ्यताम् । ननु प्रोक्तं मया यथा विग्रहकाले परजवदेहाजावेऽपि परभवस्तथा च्युतिसमये इहत्यदेहाभावेऽपि इह जवोऽस्तु को दोषोऽसत्यमुक्तमिदं त्वया न तु युक्तं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्तथाहि च्युतिसमये इहत्यदेहाभावस्तथा इहत्यायुषोऽप्यभावस्तस्यापि निर्जीर्यमाणस्य तत्र निर्जीर्णत्वात्ततः कथमसौ च्युतिसमय इह भवो जवतु इहत्यायुष्कोदयाजावाद्विग्रहकाले तु युक्तं परभवायुष्कोदयसद्भावादिति तस्मात्परजवश्च्युतिसमय परभवायुष्कोदयाद्विग्रहकालवदन्यथा तस्य निर्व्यपदेशप्रसङ्गादत "परभवपढमे साडणमिति" स्थितम् । तदेव औदारिकसंघातपरिशाटोभयानां काल उक्तः ।

अथ तेषामेवान्तरकालमभिधित्सुः संघातस्य तावज्जघन्यमन्तरकालमाह ।

संघायंतरकालो, जहन्नओ खुड्डयं ति समऊणं ।
दोविग्गहम्मि समया, तइयसंघायणा समओ ॥
ते हू एां खुड्डजवं, धरिउं परजवमविग्गहेणेव ।
गंतूण पढमसमये, संघायस्स उ स विन्नेओ ॥

एकदा औदारिकशरीरस्य संघातं कृत्वा पुनस्तत्संघातं कुर्वतस्त्रिभि समयैर्न्यूनं क्षुल्लकजवग्रहणं जघन्योऽन्तरकालः प्राप्यते स च यदा कश्चिदेकेन्द्रियादिजीवो मृत समयद्वयं विग्रहे कृत्वा क्षुल्लकभवग्रहणायुष्को पृथिव्यादिषूत्पन्नस्तृतीयसमये औदारिकस्य संघातं कृत्वा यथोक्तैस्त्रिभि समयैर्न्यूनक्षुल्लकभवग्रहणं संघातपरिशाटोभयं विधाय मृतो निर्विग्रहेणैव ऋजुश्रेण्या अग्रेतनजवे पृथिव्यादिषूत्पन्न औदारिकशरीरस्य संघातं करोति तदा तस्य जन्तोरौदारिकशरीरसंघातस्य च त्रिसमयन्यूनक्षुल्लकजवग्रहणलक्षणो जघन्योऽन्तरकालो विज्ञेयः । इह च जघन्यान्तरकालस्य प्रतिपादयितुं प्रस्तुतत्वात्प्रथम विग्रहेणाग्रेतनभवे तु निर्विग्रहेणोत्पादितोऽन्यथा मध्यमान्तरकालप्रसङ्गादिति ।

अथौदारिकस्यैवोत्कृष्टसंघातान्तरकालमाह ।

उक्कोसं तेत्तीसं, समयाहियपुव्वकोमिसहियाइं ।
सो सागरोवमाइं, अविग्गहेणेव संघायं ॥
काऊण पुव्वकोमिं, धरिउं सुरजेट्ठमाउय तत्तो ।
भोत्तूण इहं तइए, समए संघाययं तस्स ॥

सागरोपमाणीत्यस्य व्यवहितः सबन्धः ततश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयाधिकपूर्वकोट्यधिकान्यौदारिकसंघातान्तरमुत्कृष्टं भवतीति गम्यते । कदा पुनरयं संघातान्तरकालो लभ्यत इत्याह । स उत्कलक्षणः काल इह तृतीयसमये संघातयतः औदारिकशरीरस्य संघातं कुर्वतो लभ्यत इति द्वितीयगाथायां सटङ्कः । किं कृत्वा इत्याह कुतश्चित्पूर्वजवादविग्रहेणेह तावन्मनुष्यभवे समागत्य प्रथमसमये संघातं कृत्वा पूर्वकोटिं विधृत्य पूर्वकोटिप्रमाणमिहायुष्कं परिपाल्य ततश्च ज्येष्ठमायुष्कं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणमनुत्तरसुरेष्वनुभूय ततश्च्युत्वा समयद्वयं विग्रहे विधायेति अत्र च विग्रहसत्कसमयद्वयमध्यादेकं प्राक्तनपूर्वकोट्यां प्रक्षिप्यते एवं च सति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयाधिकपूर्वकोट्यधिकानि उत्कृष्टमौदारिकशरीरसंघातान्तरं सिद्धं भवति । अस्य चोपलक्षणत्वात्पूर्वकोट्यायुषो मत्स्यस्याप्रतिष्ठाननरके समुत्पद्येत्थं पुनर्मत्स्येषूत्पन्नस्येदमन्तरं मन्तव्यमिति ।

अथौदारिकस्यैव संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरकालमाह ।

उभयंतरं जहन्नं, समओ निव्विग्गहेण संघाए ।
परमं स तिसमयाइं तेत्तीसं उयहिनामाइं ॥

संघातपरिशाटोभयस्यैकः समयो जघन्यमन्तरं भवति क्व निर्विग्रहेण संघाते सति । इदमुक्तं भवति । इह औदारिकशरीरी आयु पर्यन्तं यावत्संघातपरिशाटोभयं कृत्वा अग्रेतनभवे अविग्रहेणोत्पद्यौदारिकस्यैव संघातं कृत्वा पुनरपि तदुभयमारजते तस्य स एवैकः संघातसमयो जघन्यमुभयान्तरं भवति परम

सूत्कृष्टमेतदन्तरं स हि त्रिभिः समयैर्वर्तते त्रिसमयानि त्रयस्त्रिंशदुदधिनामानि सागराभिधानानि सागरोपमाणि भवन्तीत्यर्थः ।

कदा पुनरेतानि प्राप्यन्त इत्याह ।

अणुभविउं देवाइसु, तेत्तीसमिहागयस्स तइयम्मि ।
समये संघायसाएण, दुविहं सामतरं वोच्छं ॥

देवादिष्वादिशब्दादप्रतिष्ठाने वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूयेहागतस्य तृतीयसमये संघातयतो लभ्यन्ते । अयमत्र भावार्थः । इह कश्चिन्मनुष्यादिः स्वभवचरमसमये संघातपरिशाटोभयं कृत्वा अनुत्तरसुरेष्वप्रतिष्ठाने वा यदा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूय पुनरपीह समयद्वयविग्रहेणागत्य तृतीयसमये औदारिकस्य संघातं कृत्वा तत उभयमारभते तदा द्वौ विग्रहसमयावेकश्च संघातसमयो देवादिभवसंबन्धीनि च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टेोभयान्तरे प्राप्यन्त इति । तदेवमौदारिकविषयस्य संघातस्योभयस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमुक्तम् । अथ परिशाटस्य तदभिधित्सुराह (दुविहमित्यादि) द्विविधं जघन्यमुत्कृष्टं च शाटस्यान्तरं वक्ष्यत इति यथाप्रतिज्ञातमेवाह ।

खुड्डागभवग्गहणं, जहन्नमुक्कोसयं च तेत्तीसं ।
तं सागरोवमाइं, सपुन्ना पुव्वकोडी य ॥

इहौदारिके शाटस्य चान्तरे जघन्यतः क्षुल्लकभवग्रहणं भवति उत्कृष्टं तु तत् शाटान्तरं पूर्वकोट्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवन्ति । अत्राह नन्वेतन्नावगच्छामो जघन्यपक्षे समयोनक्षुल्लकभवग्रहणप्राप्ते उत्कृष्टपक्षेऽपि समयोनपूर्वकोट्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावाप्तेरिति तथाहि यः क्षुल्लकभवग्रहणायुष्केषु वनस्पत्यादिपूत्पद्यते स "परं भवपढमे साडणमिति" वचनाच्चस्य क्षुल्लकभवग्रहणस्यादिसमये प्राक्तनौदारिकशरीरस्य सर्वशाटं करोति ततः क्षुल्लकभवग्रहणपर्यन्ते मृतः समयोनक्षुल्लकभवग्रहणं प्राप्नोति । उत्कृष्टपक्षेऽपि संयतमनुष्यः कश्चिन्मृतो देवभवाद्यसमये औदारिकस्य सर्वशाटं कृत्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुत्तरसुरेष्वायुरतिवाह्यैव पूर्वकोट्यायुष्केषु मनुष्येषूत्पद्य मृतो यदा पुनरपि भवाद्यसमये औदारिकस्य सर्वशाटं करोति पूर्वकोटिमध्याद्यसमयो देवभवायुष्के क्षिप्यते तदा औदारिकस्य शाटस्य चान्तरे उत्कृष्टतः समयोनपूर्वकोट्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि लभ्यन्ते नत्कथमिदं नैतदेवमिति सत्यमुक्तं किन्तु इह क्षुल्लकभवग्रहणाद्यसमये परिशाटो नेष्यते किंतु पूर्वभवचरमसमये विगच्छद्विगतमिति व्यवहारनयमताश्रयणादेव भवाद्यसमयपरिशाटो न क्रियते किंतु स्वभवचरमसमये । अत्रापि व्यवहारनयमताश्रयणात्तत एव जघन्यपदे उत्कृष्टपदे चादौ व्यवहारनयमताश्रयणे पर्यन्ते तु निश्चयनयमताङ्गीकारे सर्वमपि भाष्यकारोक्तमविरोधेन गच्छतीति वृद्धा व्याख्याते तत्त्वं तु गम्भीरमार्गिनाना परमगुरव एव विदन्ति । तदेवमौदारिकसंघातपरिशाटोभयानां कालोऽन्तरं चोक्तम् ।

अथ वैक्रियशरीरस्य जघन्यसंघातकालमाह ।

वेउव्वियसंघाओ, समओ सो पुण विउव्वणाईए ।
ओरालियाणमहवा, देवाईणाइगहणम्मि ॥

वैक्रियशरीरस्य संघातो जघन्यतः एकसमयः स च (ओरालियाणंति) औदारिकशरीरिणामुत्तरवैक्रियलब्धिमतां तिर्यग्मनुष्याणां विकुर्वणमुत्तरवैक्रियकरणं तस्यादिर्विकुर्वणादिस्तस्मिन्वैक्रिये तिरश्चो मनुष्यस्य वा उत्तरवैक्रियं कुर्वत एकस्मिन्प्रथमसमये संघातो भवतीत्यर्थः । अथवा देवादीनां देवनारकाणां वैक्रियशरीरग्रहणस्यादावेकस्मिन् समये संघातो भवतीति ।

अथोत्कृष्टं वैक्रियसंघातकालमाह ।

उक्कोसो समयदुगं, जो समयविउव्वियमओ विइए ।
समए सुरेसु वच्चइ, निव्विग्गहओ तयं तस्स ॥

उत्कृष्टसंघातकालः समयद्वयं भवति (तयं तस्सत्ति) तच्च समयद्वयं तस्य भवति यः औदारिकशरीरी समयमेकमुत्तरवैक्रियं कृत्वा मृतो द्वितीयसमये निर्विग्रहेण ऋजुगत्या सुरेषु व्रजति तत्र च प्रथमसमये वैक्रियस्य संघातं करोति तस्यैको वैक्रियसंघातसमयोऽत्रत्यद्वितीयस्तु देवसंबन्धीति ।

अथ वैक्रियस्यैव जघन्यमुत्कृष्टं च संघातपरिशाटोभयकालमाह ।

उभयजहन्नं समओ, सो पुण दुसमयविउव्वियमयस्स ।
परमियराई संघा-यसमयहीणाइं तेत्तीसं ॥

वैक्रियसंघातपरिशाटोभयस्य शाटस्य च जघन्यतः समयो भवति स च समयः समयद्वयं वैक्रियं कृत्वा मृतस्य द्रष्टव्यः । इदमुक्तं भवति केनचिदौदारिकशरीरिणा उत्तरवैक्रियमारब्धं स च तत्र प्रथमसमये संघातं द्वितीयसमये तु संघातपरिशाटोभयं कृत्वा यदा म्रियते तदा तस्य संघातपरिशाटोभयस्य समयलक्षणो जघन्यः कालः प्राप्यत इति परमुत्कृष्टमुभयस्य स्थितिमान तरीतु लङ्घयितुमशक्यान्यतराणि सागरोपमाणि एकेन संघातसमयेन हीनानि त्रयस्त्रिंशदनुत्तरसुरेष्वप्रतिष्ठाननरके वा बोद्धव्यानीति । तदेवं वैक्रियसंघातस्य चोभयस्य च कालं उक्तः परिशाटस्य त्वेकसमयलक्षणकालः स्वयमेव द्रष्टव्यः ।

अथ वैक्रियसंघातस्य जघन्यमन्तरकालमाह ।

संघायंतरसमओ, समयविउव्वियमयस्स तइयम्मि ।
सो दिवि संघायणओ, तइए व मयस्स तऽयम्मि ॥

वैक्रियसंघातस्य देववैक्रियसंघातस्य च जघन्यमन्तरं समयो भवति । स च औदारिकशरीरिणि समयमेकमुत्तरवैक्रियं कृत्वा मृतस्य द्वितीये समये विग्रहं विधाय तृतीयसमये दिवि देवलोके संघातयतो वैक्रियशरीरसंघातं कुर्वतो विज्ञेयः । अत्र हि प्राक्तनोत्तरवैक्रियसंघातस्य देववैक्रियसंघातस्य च विग्रहसमयोऽन्तरं भवति । अथवा तस्यौदारिकशरीरिणः समयद्वयमुत्तरवैक्रियं कृत्वा तृतीयसमये मृतस्य निर्विग्रहेण च दिवि समुत्पन्नस्य तस्मिन्नेव तृतीयसमये देववैक्रियसंघातं कुर्वतः एकः संघातपरिशाटोभयसमयः संघातान्तरं भवतीति ।

अथ वैक्रियसंघातपरिशाटोभयस्य शाटस्य च जघन्यमन्तरकालमाह ।

उभयस्स चिरं विउव्विय-मयस्स देवेसु विग्गहगयस्स ।
सामस्संतमुहुत्तं, तिण्ह वि तसकालमुक्कोसं ॥

उभयस्य वैक्रियस्य संबन्धिनः संघातपरिशाटलक्षणस्य समय एको जघन्यमन्तरं भवतीत्यध्याहारः । कस्य जन्तोरित्यत्राह चिरमन्तर्मुहूर्तमानं कालं विकुर्व्य वैक्रियवपुषि स्थित्वा मृतस्य देवेष्वविग्रहगतस्य जन्तोः संघातसमयोऽन्तरं प्राप्यते । अयमत्र भावार्थो यः औदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिमानुपकालितवैक्रियशरीरः परिपूर्णं तिर्यङ्मनुष्यवैक्रियस्थितिकालं यावत्संघातपरिशाटौ विधाय म्रियते अविग्रहेण च सुरालये समुत्पद्य प्रथमसमये वैक्रियसंघातं करोति द्वितीयादिसमयेषु

तु संघातपरिशाटौ तत्संबन्धिन उभयस्य चान्तरे स एवोक्तः संघातसमयो भवतीति। ननु यद्येव तर्हि 'चिर विउव्वियमयस्से' त्यत्र चिरग्रहणमपार्थकमिह हि मनुष्यादिषु यश्चिरं स्तोक वा काल वैक्रियसंघातपरिशाटौ कृत्वा अविग्रहेण दिवि समुत्पद्यते तेनैव प्रयोजन किं चिरशब्दविशेषणेन सत्यम्। किंतु प्रथमसमयेऽपि मरणनिषेधार्थमित्थमुक्तम् यदि वा अनन्तर वैक्रियसंघातानन्तर भावयता सप्रयोजनत्वाद् द्वितीयादिसमयेष्वाकस्मिकसमाप्तवैक्रियस्यापि मरणमुक्तम् अत्र त्वसमाप्तवैक्रियस्यापि मरणोपदर्शनेनेन किंचित्प्रयोजनमिति ख्यापनार्थं चिरग्रहणेन परिपूर्णान्तर्मुहूर्तिकमनुष्यादिवैक्रियास्थितिकालानुज्ञामपि कृतवानाचार्य इत्यदोषः (साऽस्संतमुहुत्त नि) एकदा वैक्रियसर्वशाट कृत्वा पुनरपि तत्सर्वशाट कुर्वतोऽन्तर्मुहूर्त्त जघन्यमन्तर भवति । कथमिति चेदुच्यते कश्चिदौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिमान् कचित्प्रयोजनवैक्रिय शरीर कृत्वा सर्वपर्यन्ते तस्य सर्वपरिशाट विधाय पुनरौदारिकशरीरमाश्रयति तत्र चान्तर्मुहूर्त्त स्थित्वा पुनरप्युत्पन्नप्रयोजने वैक्रिय करोत्यन्तर्मुहूर्त्त च तत्र स्थित्वा पुनरप्यौदारिकमागच्छद्वैक्रियस्य सर्वशाट करोत्येव च सति वैक्रियशरीरगतमन्तर्मुहूर्त्तद्वयं भवति । अनेन चान्तर्मुहूर्त्तद्वयेनापि बृहत्तरमेकमवान्तर्मुहूर्त्तं विवक्षितमतो युज्यते जघन्य वैक्रियशाटान्तरमन्तर्मुहूर्त्तमिति तदेव वैक्रियसंघातोभयशाटान्तर जघन्योत्तरकाल उक्त' अथ त्रयाणामप्येतेषामुत्कृष्टमन्तरकालमाह । " तिएहवित्यादि " इह यदा कश्चिज्जीवो वैक्रियशरीरस्य संघातादित्रय कृत्वा वनस्पतिषूत्पद्यते तत्र चानन्तकालमतिवाह्य तत उद्वृत्तः पुनरपि कचिद्वैक्रियशरीरमासाद्य तत्संघातादित्रय करोति तदा तत्संबन्धेन संघातपरिशाटोभयत्वलक्षणस्य त्रयस्यापि स एवानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपो वनस्पतिकालो अन्तरे भवतीति ।

अथाहारकशरीरसंघातपरिशाटतदुभयानां
कालोऽन्तर च वक्तव्य तत्राह ।

आहारोभयकालो, दुविहो अंतरचियं जहन्न ति ।
अंतोमुहुत्तमुक्को–समध्दपरियट्टमूणं च ॥

आहारकशरीरसंघात परिशाटश्च प्रत्येक सामायिको भवति स च सुगमत्वाद्गाथायां न लिखित स्वयमेव तु द्रष्टव्य इति । संघातपरिशाटोभयकालस्तु द्विविध' उत्कृष्टतो जघन्यतश्च। संघातपरिशाटोभयाना यदन्तरत्रिकमन्तरकालत्रयं जघन्य तदेतत्सर्वमन्तर्मुहूर्त्तकालमानमवगन्तव्य केवल तदेवान्तर्मुहूर्त्तलघु बृहच्च तारतम्येनावसेयमिति। आहारकशरीर स ह्यन्तर्मुहूर्तकालस्थितिकमेव भवत्यतस्तत्संबन्धिनः संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्त्तकालभावित्वात्सिद्धमेवेति एकदा कृत चाहारकशरीर प्रयोजनसिद्धौ परित्यज्य चतुर्दशपूर्वधरो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तात्पुनरप्युत्पन्नप्रयोजनस्तत्करोत्यतस्तत्कृतसंघातपरिशाटोभयाना भवति जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमिति । उत्कृष्टत्वन्तर त्रयाणामपि संघातपरिशाटोभयानां किंचिन्न्यूनार्द्ध पुद्गलपरावर्त्तरूप भवति । इह च यश्चतुर्दशपूर्वधर आहारकशरीर कृत्वा प्रमादात्प्रतिपत्तौ वनस्पत्यादिषु यथोक्तकाल स्थित्वा पुनरपि चतुर्दशपूर्वधरत्वमवाप्याहारकशरीर करोति तस्य द्रष्टव्यमिति ।

अथ तैजसकार्मणाविषयं संघातादिविचार चिकीर्षुराह ।

तेयाकम्माणं पुण, संताणाणाइओ न संघाओ ।
भव्वाण होज्ज साओ, सेलेसी चरिमसयम्मि ॥
उभयं अणाइनिहणं, संतं भव्वाण होज्ज केसिंचि ।
अंतरमणाइ भावा, अच्चंतविओगओ णेयं ॥

तैजसकार्मणयो पुन संघातस्तावन्न भवत्येव तयोरनादिकालात्संतानेन प्रवृत्तत्वात्संघातस्य तु गृह्यमाणशरीरप्रथमसमयविषयत्वादिति प्रागप्युक्त सर्वपरिशाटोऽपि तैजसकार्मणयोरभव्यानां न भवत्येव तस्य त्यज्यमानशरीरविषयत्वात्तेषां च तत्यागासंभवाद्भव्यानां तु केषांचिच्छैलेशीचरमसमये भवेच्छाटः स च सामयिको द्रष्टव्यः उभय तु संघातपरिशाटलक्षणम आदिश्च निधन चादिनिधने न विद्येते आदिनिधने यस्य तदनादिनिधनमेवाभव्यानां भवति तत्यागाभावाद्भव्यानां तु केषांचित्सिद्धिगमनसमये सान्तमुभय भवेत्तदानीं सर्वथा तत्यागादन्तर तु (सिं ति) एतयोर्न भवत्येव अभव्यानामनादिनिधनत्वात्तयो भव्यानां तु अनिधनत्वेऽप्यत्यन्तवियोगेन त्यागात्पुनस्तद्ग्रहणाभावात्यक्तस्य पुनर्ग्रहणाद्यन्तरकालसंभवादिति । संघातपरिशाटवक्तव्यता समाप्ता तदेवमुक्त सज्जीवप्रयोगकरणम्।

अथाजीवप्रयोगकरणमभिधित्सुराह ।

अज्जीवाणं करणं, नेयं पडसंखसगडथूणाणं ।
संघायणपरिसाडण, उभयं तदनोभयं चेव ॥

अजीवानां करण ज्ञेय किं तदित्याह । संघातन तन्तूनां पटे परिशाटनामेव केवलं श्लक्ष्णीकरण शङ्खस्य उभय संघातपरिशाटलक्षण तत्क्षणकीलिकादियोगाच्छकटस्य (नो भयति) संघातपरिशाटोभयनिषेधः । स्थूणायाः केवलोर्द्धकरणादिभावेन तदभावादिति । एवमन्यदपि यज्जीवप्रयोगादजीवानां क्रियते तत्सर्वमजीवकरणमिति दर्शयन्नाह ।

जं जं निज्जीवाणं, कीरइ जीवप्पओग ओतं व ।
वन्नाइ रूवकम्माइ, वा वि तदजीवकरणं ति ॥

एव यद्यदजीवानां वस्त्रकाष्ठपाषाणादीनां जीवप्रयोगाज्जीवव्यापारेण कुसुम्भमञ्जिष्ठादिभिर्वर्णादि क्रियते पुत्तलिकादिक रूपकर्म्मादि वा विधीयते तत्सर्वमजीवकरणमिति । तदेवमुक्त द्रव्यकरणम् । विशे० । उत्त० । सूत्र० ।

अथ क्षेत्रकरणमभिधित्सुराह ।

इह दव्वं चेव निवा–समेत्तपज्जायभावओ खेत्तं ।
भन्नइ नन्नं न तस्स, पकरणं निवत्तिओ भिहियं ॥
होज्ज व पज्जायाउ, य ज्जाओ जेण दव्वओ णन्नो ।
उवयारमेत्तओ वा, जह लोए सालिकरणाई ॥
खेत्ते व जत्थ करणं, तिखित्तकरणं तहं जहासिध्दं ।
खेत्तं पुन्नामिणं पुन्न–करणसंबंधमेत्तेणं ॥

इह द्रव्यमेव सन्नन' क्षेत्र भण्यते कुत इत्याह । "निवासेत्यादि " मात्रशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगो निवासपर्यायभावमात्रत इत्यर्थ.। इदमुक्त भवति । क्षि निवासगत्यो' इति क्षियन्ति निवसन्ति जीवा अजीवाश्चात्रेत्यौणादिके त्रप्रत्यये क्षेत्रमित्यस्मादन्वर्थाद्द्रव्यमपि नन क्षेत्रमुच्यते तस्य च नभसो निर्वृत्तितो निष्पादकेन करण नाभिहितमकृत्रिमत्वादस्येति । यदि तस्य करण नास्ति तर्हि करणभेदेषु पाठ किमर्थमित्याशङ्क्याह । (होज्ज वेत्यादि) भवेद्वा क्षेत्रस्याऽपि करण (पज्जायाउत्ति) पर्याया हि घटपटादिसंयोगवियोगादिपर्यायाभिस्येत्यर्थः ।

सर्वेषामपि वस्तूनामनित्या इष्यतस्तेषां करणमपि सम्भवति। यदि नामपर्यायाणां करणं सम्भवति तर्हि द्रव्यस्य किमायातमित्याह पर्यायो येन द्रव्यादनन्योऽभिन्नस्तेन पर्यायस्य करणे द्रव्यस्यापि करणं भवत्येवेति उपचारतो वा क्षेत्रस्य करणं भण्यते(जह लोए सालिकरणा इति) यथा लोके वक्तारो भवन्ति शालिक्षेत्रमिक्षुक्षेत्रं वा मया कृतमित्यादि। अथवा क्षेत्रस्य करणमिति षष्ठीतत्पुरुषो न क्रियते किंतु क्षेत्रे करणं क्षेत्रकरणं सप्तमीतत्पुरुष इति दर्शयन्नाह (खेत्ते चेत्यादि) अथवा यत्र क्षेत्रे करणं पुण्यादेस्तत्क्षेत्रकरणं यथा लोकोऽपि सिद्धमेतत्पुण्यमिदमुज्जयन्तशत्रुंजयादिक्षेत्रं पुण्यकरणसम्बन्धमात्रेण तत्र हि ये दानानशनादिकं कुर्वन्ति तेषां महत्पुण्यं भवतीत्यतः पुण्यस्य तत्र करणात्पुण्यक्षेत्रं तदिति, विशे०। आ० म० द्वि० उत्त०।

पुन क्षेत्रकरणम्।

ण विणा आगासेणं, कीरइ जं किंचि खेत्तमागासं।

वंजणपरियावन्नं, उच्छुक्करणमादियं बहुहा॥ उत्त०नि०।

आह नित्यत्वात् क्षेत्रकरणं न संगच्छते तत्कथं क्षेत्रकरणसम्भव उच्यते न विनाकाशेन क्रियते न निर्वर्त्यते यदिति यस्मात्किंचिदित्यल्पमपि द्व्यणुकस्कन्धाद्यतस्तत्प्राधान्याद्द्रव्यकरणमपि क्षेत्रकरणमुच्यते इत्युपस्कारः ननु यथाकाशेन विना न किंचित्क्रियते तदाकाशकरणेनैवास्तु कथं क्षेत्रकरणतोच्यते क्षेत्रमिति क्षेत्रशब्दवाच्यमाकाशं तथा च पर्यायशब्दत्वादनयोरित्थमभिधानमदुष्टमेवेति भावः तथा व्यञ्जनशब्दस्तस्य पर्यायोऽन्यथान्यथा च भवनं व्यञ्जनपर्यायः तमापन्नं प्राप्तं व्यञ्जनपर्यायापन्नम् (उच्छुकरणमाइयत्ति) प्रक्रमात्क्षेत्रकरणमागमिकत्वादिक्षुक्षेत्रकरणादिकं बहुधा बहुप्रकारमेकत्वेऽपि क्षेत्रस्य इक्षुक्षेत्रादिकरणरूपेणाभिलापस्य बहुप्रकारत्वात्तथा च संप्रदाय "वंजणपरियावन्नं नाम जं खेत्तंति अभिलप्पति तं जहा उच्छुखेत्तकरणं सालिखेत्तकरणं तिलखेत्तकरणं" तिलखेत्तकरणमेवमादि अथवा यस्मिन् क्षेत्रकरणं क्रियते वर्ण्यते वा तत् क्षेत्रकरणमिति गाथार्थः। उत्त० ४ अ०।

साम्प्रतं कालकरणमभिधित्सयाऽऽह।

कालो जो जावइओ, जं कीरइ जम्मि जम्मि कालम्मि।

ओहेण णामतो पुण, करणा एक्कारस हवंति॥

(कालो जो इत्यादि) कालस्याभिमुख्यं करणं न सम्भवतीत्यौपचारिकं दर्शयति कालो यो यावानिति। यः कश्चिद् घटिकादिको नलिकादिना व्यवच्छिद्य व्यवस्थाप्यते तद्यथा षट्पञ्चाशदुदकपलमाना घटिका द्विघटिको मुहूर्त्तस्त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्रमित्यादि तत्कालकरणमिति। यद्वा यत् यस्मिन् काले क्रियते यत्र वा काले करणं व्याख्यायते तत् कालकरणमेतदोघतः [सूत्र०१ श्रु १अ १उ] एतद्गाथाव्याख्या प्रकारान्तरेणाह (कालोगाहा) कालो यः समयादिर्यावत्परिमाणो यत्करणनिष्पत्त्यपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियते। किमुक्तं भवति यस्य भोजनादेर्यावता घटिकाद्वयादिकालेन निष्पत्तिस्तस्य स एव कालकरणं तत्रैव तस्य साधकतमत्वेन विवक्षितत्वात्। यदि वा यत्करणं क्रियते निष्पाद्यते यस्मिन् यस्मिन् काले तस्य स एव कालः करणम्। कालकरणमत्राधिकरणसाधकत्वेन विवक्षितत्वात् करणशब्दस्य ओघेनेति नामादिविशेषानपेक्षमेतत्कालकरणं तथाच वृद्धा "कालकरणं जं जावतिएणं कालेणं कीरति जम्मि वा" 'कालमिति' इहापि कालस्याकृत्रिमत्वेन करणसम्भवादित्थमुपन्यासः। नामतः पुनर्भवत्येकादश करणानि कालविशेषरूपाणि चतुर्थमप्रमाणानि। करणत्वं तेषां तत्र क्रियासाधकतमत्वादिति गाथार्थः। उत्त०४अ०।

अथ कालकरणं वाच्यं तत्र कालस्याप्यकृत्रिमत्वात्करणं नास्ति द्रव्यपर्यायत्वविवक्षया तस्य तद्वदेवेति दर्शयति।

जं वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ।

तो तेण तस्स तम्मि व, न विरुद्धं सव्वहा करणं॥

यस्मात्प्रागुक्तस्वरूपो वर्त्तमानादिरूपः कालो द्रव्यस्यैव पर्यायः पर्यायश्च द्रव्यादभिन्नस्ततो यथा द्रव्यस्य तथा तस्यापि करणं न विरुद्धम्। कथमित्याह। तेन कालेन तस्य वा तस्मिन्वेत्यादिभिः सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैरिति।

अथवा ज्योतिष्कमार्गप्रसिद्धमेवेह कालकरणं गृह्यत इति दर्शयति।

अहवेह कालकरणं, ववाइ जोइसियगइविसेसेणं।

सत्तविहं तत्थ चरं-चउव्विहं थिरमहक्खायं॥

अथवा ववबालवादिरूपं चन्द्रादित्यादिज्योतिष्कदेवगतिविशेषेण यद्भवति तदिह कालकरणं गृह्यते। तत्र च ववादिरूपं कालकरणं सप्तविधं चरम् अन्यान्यतिथिषु भावाच्चतुर्विधं तु स्थिरमाख्यातं नियतास्वेव तिथिषु भावादिति।

तत्र यत्सप्तविधं चरं तदाह।

ववं च बालवं चेव, कोलवं थीविलोयणं।

गराति वणियं चेव, विट्ठी हवइ सत्तमा॥

अस्य सप्तविधस्यापि चरस्य करणस्यानयनोपायमाह।

पक्खतिहउ दुगुणिया, दुरूवरहिया य सुक्कपक्खम्मि।

सत्तहिए देवसियं, तं चिय रूवाहियं रत्ति॥

कृष्णस्य शुक्लस्य वा प्रस्तुतपक्षस्य यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ता द्विगुणीक्रियन्ते ततश्चागतराशेः सप्तभिर्भागो ह्रियते एवं च कृते यत्करणमागच्छति तत्प्रस्तुततिथौ कृष्णपक्षे दैवसिकं विज्ञेयम्। रूपाधिकं तु तदेव रात्रौ यथा कृष्णदशम्या द्विगुणिताया विंशतिर्भवति ततः सप्तभिर्भागे हृते षट् शेषा भवन्ति। तथा चेदं षष्ठं वणिजाभिधानं दैवसिकं करणं लब्धं रूपे तत्र प्रक्षिप्ते रात्रिगतं विष्टयभिधानं सप्तमं करणं लभ्यते एवमन्यत्रापि कृष्णपक्षे द्रष्टव्यम्। शुक्लपक्षे विशेषमाह। (दुरूवरहिया य सुक्कपक्खम्मिति) शुक्लपक्षे द्विगुणिततिथिराशेर्द्वौ पात्येते ततो दैवसिकं करणमागच्छति सप्तभिश्च भागो न पूर्यते तनस्तद्दैवसिकं षष्ठं करणं लब्धं रूपे तु प्रक्षिप्ते सप्तमं विष्टयभिधानं रात्रिगतं करणं लभ्यते एवमन्यान्यपि शुक्लपक्षे भावनीयानि। इह च लोकप्रसिद्धकरणनयनोपायोऽन्योऽपि विद्यते। तद्यथा "तिहिदुगुणी य किहिं ऊणीसत्तहिं हरण सेस करणमिति" युक्तः केवलमिह मासतिथयो द्विगुणियितव्या यदागच्छति तद्रात्रिगतकरणं रूपे तु पातिते दिवसगतं द्रष्टव्यमिति।

अत्र चतुर्विधस्थिरकरणमाह।

सउणिचउप्पयनागं, किंथुग्घं करणं थिरचउहा।

बहुलचउद्दसरत्तिं, सउणिं सेसं तियं कमसो॥

कृष्णचतुर्दशीरात्रौ सदावस्थितं शकुनिनामकं करणं भवति अमावस्यायां दिवसे चतुष्पदं रात्रौ नागं प्रतिपदि दिवा किंस्तुघ्नं शेषरजनीदिनयोर्यथोक्तोपायतश्चरकरणमवसेयमिति। विशे०॥

करणानां भेदानाह ।

कति णं भंते ! करणा पन्नत्ता ? गोयमा ! एक्कारस करणा पन्नत्ता तंजहा बवं बालवं कोलवं थीविलोअणं गराइ वणिज्ज विट्ठी सउणी चउप्पयं नाग किंथुग्गं एतेसि णं भंते ! एक्कारसण्हं करणाण कति करणा चरा कति करणा थिरा पन्नत्ता ? गोअमा ! सत्त करणा चरा चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता तंजहा बवं बालव कोलवं थीविलोअणं गरादिं वणिज्ज विट्ठी एतेसि णं सत्त करणा चरा । चत्तारि करणा थिरा पन्नत्ता तंजहा सउणि चउप्पयं णागं किंथुग्ग एते णं चत्तारि करणा थिरा पन्नत्ता । एतेसि णं भंते ! चरा थिरा कया भवति ? गोअमा ! सुक्कपक्खस्स पाडिवाए राओ बवे करणे भवइ बितिआए दिवा बालवे करणे भवइ राओ कोलवे करणे भवइ ततिआए दिवा थीविलोअणं करणं भवइ राओ गराइं करण भवइ चउत्थीए दिवा वणिजं राओ विट्ठी पंचमीए दिवा ववं राओ बालव छट्ठीए दिवा-कोलवं राओ थीविलोअणं सत्तमीए दिवा गराति राओ वणिजं अट्ठमीए दिवा विट्ठी राओ ववं णवमीए दिवा बालवं राओ कोलवं दसमीए दिवा थीविलोअणं राओ गराइं एक्कारसीए दिवा वणिजं राओ विट्ठी बारसीए दिवा बव राओ बालवं तेरसीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं चउद्दसीए दिवा गराति करणं राओ वणिज्जं पुण्णिमाए दिवा विट्ठीकरणं राओ ववं करणं भवइ । बहुलपक्खस्स पडिवाए दिवा बालव राओ कोलवं बितिआए दिवा थीविलोअणं राओ गरादिं ततिआए दिवा वणिजं राओ विट्ठी चउत्थीए दिवा ववं राओबालवं पंचमीए दिवा कोलव राओ थीविलोअणं छट्ठीए दिवा गराइ राओ वणिज्जं सत्तमीए दिवा विट्ठी राओ ववं अट्ठमीए दिवा बालवं राओ कोलवं णवमीए दिवा थीविलोअणं राओ गराइ दसमीए दिवा वणिज्ज राओ विट्ठी एक्कारसीए दिवा ववं राओ बालव बारसीए दिवा कोलव राओ थीविलोअण तेरसीए दिवा गराइ राओ वणिज्जं चउद्दसीए दिवा विट्ठी राओ सउणि अमावसाए दिवा चउप्पयं राओ णागं सुक्कपक्खस्स पडिवाए दिवा किंथुग्घं करणं भवइ ।

कति ? भदन्त ! करणानि प्रज्ञप्तानि गौतम ! एकादश करणानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा बव बालव कौलवं स्त्रीविलोचन अन्यत्रास्य स्थाने तैतिलमिति गरादि अन्यत्र गर वणिज विष्टि शकुनिः चतुष्पद् नाग किंस्तुघ्नमिति । एतेषां चरस्थिरत्वादिव्यक्तिप्रश्नमाह (एतेसि ण इत्यादि) एतेषां भदन्त ! एकादशानां करणानां मध्ये कति करणानि चराणि कति करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि । चकारोऽत्र गम्य भगवानाह गौतम ! सप्त करणानि चराणि अनियततिथिभावित्वात् । चत्वारि स्थिराणि नियत तिथि भावित्वात् तद्यथा बवादीनि सूत्रोक्तानि ज्ञेयानि एतानि सप्त करणानि चराणि इत्येतन्निगमनवाक्यम् । चत्वारि करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा शकुन्यादीनि सूत्रोक्तानि एतानि चत्वारि करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि इति तु निगमनवाक्यम् । प्रारम्भकनिगमनवाक्यद्वयभेदेन नात्र पुनरुक्तिः । एतेषां स्थाननियम प्रष्टुमाह (एतेसिणमित्यादि) सर्वं चैतन्निगदसिद्ध नवर दिनरात्रिविभागेन यत् पृथक् २ कथन तत् करणानां तिथ्यर्द्धप्रमाणत्वात् कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ शकुनिः अमावस्यायां दिवा चतुष्पद रात्रौ नाग शुक्लपक्षप्रतिपदि दिवा किंस्तुघ्न चेति चत्वारि स्थिराणि । आस्वेव तिथिषु भवन्तीत्यर्थ । जं० ७ वक्ष० । ज्यो० । सूत्र० । आ० म० द्वि० ।

एषु कर्त्तव्यमाह ।

वव १ बालवं च २ तह को-लवं ३ च थीलोयणं ४ गराइं ५ च ।
वणियं ६ विट्ठी य तहा, ७ सुद्धपडिवए निसाई य ॥ ४२ ॥
सउणि चउप्पयनागं, किंथुग्गं च करणा धुवा हुति ॥
किण्हचउद्दसरत्ति, सउणी पडिवज्जए करणं ॥ ४३ ॥
का न णु तिहिं विउणं, जण्हे गो साहए न पुण काले ॥
सत्तहिं हरिज्जभागं, जं सेसं तं भवे करणं ॥ ४४ ॥
ववे य बालवे चेव, कोलवे वणिए तहा ॥
नागे चउप्पएया वि, सेहनिक्कमणं करे ॥ ४५ ॥
चउवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ।
सउणम्मि य विट्ठीए, अणसण तत्थ कारए ॥ ४६ ॥
(दारम् ४) गुरुसुक्का सोमदिवसे, सेहनिक्खवणं करे ।
चउवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ॥ ४७ ॥
रविभोमकोणदिवसे, चरणकरणाणि कारए ।
तवो कम्माणि कारिज्जा, पाओवगमणाणि य ॥ ४८ ॥
(दारम् ५) रुद्दो उ मुहुत्ताणं, आईच्छिन्नवइअंगुलच्छाओ ।
सेओ हवइ सट्ठी, वारसमित्तो हवइ जुत्तो ॥ ४९ ॥
छच्चेव य आरभमो, सावित्तो पंच अंगुलो होइ ।
चत्तारि य वइरिज्जो, दुच्चेव य सावसू होइ ॥ ५० ॥
परिमंमलो मुहुत्तो, असीत्ति मज्झति तेट्टिए दोइं ।
दो होइ रोहणो पुण, बलो य चउरंगुलो होइ ॥ ५१ ॥
विजओ पंचंगुलिओ, छच्चेव य नेरिओ हवइ जुत्तो ।
वरुणो य हवइ बारस, अज्जमदे वो हवइ सट्ठी ॥ ५२ ॥
छन्नउइ अंगुलाइं, पुण होइ भगोत्तरअत्थमणावलए ॥
एए दिवसमुहुत्ता, रत्तिमुहुत्ते अओ वुच्छं ॥ ५३ ॥
हवइ विवरीयधणो, पमोयणो अज्जमित्तहासीणो ।
रक्खसपासाइज्जो, सोमो वंभो वहसमइया ॥ ५४ ॥
विण्हू तहा पुणो रि, त्तो रत्तिमुहुत्ता वियाहिया ।
दिवसमुहुत्तगईए, छायामाणं मुणेयव्वं ॥ ५५ ॥
मित्ते नंदे तह सुट्ठिए य, अभिइ चंदे तहेव य ।
वरुणग्गो वेसईसाणे, आणंदे विजएइ य ॥ ५६ ॥
एए मुहुत्तजोएसु सेहनिक्खमणं करे ॥

चउवट्ठावणाइं च, अणुन्ना गणिवायए ॥ ५७ ॥
थंभे व लय वाउम्मि, उसभे वरुणे तहा ।
अणसणं पायवगमणं, उत्तमट्ठं च कारए ॥ ५८ ॥
(दारम् ६) पुन्नामधिज्ज सउणेसु, सेहनिक्खमणं करे ।
थीनामेसु सउणेसु, समाहिं कारए विऊ ॥ ५९ ॥
नपुंसएसु सवणेसु, सव्वकम्माणि वज्जए ।
वोमेसेसु निमित्तेसु, सव्वारंभाणि वज्जए ॥ ६० ॥
तिरियं वाहरंतेसु, अद्धाणागमणं करे ।
पुप्फिए फलिए वच्छे, सज्झायं करणं करे ॥ ६१ ॥
दुमखंधे वाहिरंतेसु, सेहुवट्ठावणं करे ।
गयणवाहरंतेसु, उत्तमट्ठं तु कारए ॥ ६२ ॥
बिलमूले वाहरंतेसु, ठाणं तु परिगिण्हए ।
उप्पयम्मि वयतेसु, सउणेसु भरणं भवे ॥ ६३ ॥
पक्कमंतेसु सउणेसु, हरिं तुट्ठिं च वागरे ।
(दारम् ७) चलरासिविलग्गेसु, सेहनिक्खमणं करे ॥६४॥
थिररासिविलग्गेसुं, चउवट्ठावण करे ।
सुये खंधाअणुन्नाओ, उद्दिसे य समुद्दिसे ॥ ६५ ॥
बिसरीरविलग्गेसु, सज्झायं करणं करे ।
रविहोराविलग्गेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥ ६६ ॥
चंदहोराविलग्गेसु, सेहीणं संगहं करे ।
समुद्दे कोणलग्गेसु, वरणं करणं तु कारए ॥ ६७ ॥
कूणद्दिकाणलग्गेसुं, उत्तमट्ठं तु कारए ।
एवं लग्गाणि जाणिज्जे, दिक्काणे सुमसंसओ ॥ ६८ ॥
सोमग्गहविलग्गेसु, सेहनिक्खमणं करे !
कूरग्गहविलग्गेसु, उत्तमट्ठं तु सारए ॥ ६९ ॥
राहुकेउविलग्गेसु, सव्वकम्माणि वज्जए ।
विलग्गेसु पसत्थेसु, सुवसत्थाणि आरभे ॥ ७० ॥
अप्पसत्थेसु, लोगेसु, सव्वकम्माणि वज्जए ।
विलग्गणिज्जाजाणिज्जा, गहणं जिणभासिए ॥ ७१ ॥
न निमित्ता विवज्जंति, न मिच्छा रिसिभासियं ।
(दारम् ८) दुद्दिट्ठेण निमित्तेणं,
आदेसो उ विणस्सइ ॥ ७२ ॥
सुदिट्ठेणं निमित्तेणं आदेसो न विणस्सइ ।
जा य अप्पाइया भासा, जं च जंपति बालया ॥ ७३ ॥
जं वि त्थीओ य भासंति, नत्थि तस्स वइक्कमो ।
तज्जाएण य तज्जाय, तन्निभेण य तन्निभं ॥ ७४ ॥
तारूवेण य तारूव, सरिसं सरिसेण निद्दिसे ।
इत्थीपुरिसनिमित्तेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥ ७५ ॥
नपुंसकनिमित्तेसु, सव्वकज्जाणि वज्जए ।
वामिस्सेसु निमित्तेसु, सव्वारंभे विवज्जए ॥ ७६ ॥
निमित्ते किंचि मे नत्थि, निमित्ते भाविसुज्झए ।
जेण सिद्धा वियाणंति, निमित्तुप्पायलक्खणं ॥ ७७ ॥
निमित्तेसु पसत्थेसु, बलेसु चलिएसु य ।
सेहनिक्खमणं कुज्जा, चउवट्ठावणाणि य ॥ ७८ ॥
गणसंगहणं कुज्जा, गणहरे इत्थथावए ।
सुयक्खंधाणुन्नाओ, अणुन्ना गणिवायए ॥ ७९ ॥
निमित्तेसु पसत्थेसु, सिढिलेसु बलेसु य ।
सव्वकज्जाणि वज्जिज्जा, अप्पसाहरण करे ॥ ८० ॥
एअत्थेसु निमित्तेसु, सुपसत्थाणि साहए ।
अप्पसत्थनिमित्तेसु, सव्वकज्जाणि वज्जए ॥ ८१ ॥
दिवसाओ निहिवलिओ,
तिहिओ बलि तु सुणइ रिक्खं ।
नक्खत्ता करणमाहंसु, करणा गहदिणी बली ॥ ८२ ॥
गहादिणाउ मुहुत्तो, मुहुत्ता सउणो बली ।
सउणाओ बलविलग्गो, तओ निमित्तं पहाण तु ॥ ८३ ॥
विलग्गाओ निमित्ताओ, निमित्त बलमुत्तमं !
नंत संविज्जए लोए, निमित्ता जं बले भवे ॥ ८४ ॥
एसा बलाबलविही, समासओ कित्तिओ सुविहिएहिं ।
अणुओगेण नाणगब्भो, नायव्वो अप्पमत्तेहिं ॥ ८५ ॥
गणिविज्जा पयन्न सम्मत्तं ८०५० ४ पय० ॥

अथवा भावकरणमाह ।

भावस्स व भावेण व, भावे करणंति भावकरणंति ।
तं जीवाजीवाणं, पज्जवविसेसओ बहुहा ॥

भावस्य पर्यायस्य करणं भावकरणं भावेन वा करणं तच्च जीवानां पर्यायविशेषेण पर्यायविशेषानाश्रित्य बहुधा बहुभेदं भवति तत्राल्पवक्तव्यत्वादजीवभावकरणं तावदाह ।

अपरप्पओगजं जं, अजीवरूवाई पज्जयावत्थं ।
तमजीवभावकरणं, तप्पज्जायप्पणावेक्ख ॥

परप्रयोगाज्जातं परप्रयोगजं न परप्रयोगजं स्वभाविकमित्यर्थः यदप्रयोगजं तदजीवभावकरणम् इति सम्बन्धः कथम्भूतमित्याह । अजीवरूपादिपर्याया रूपं वाऽवस्थास्वरूपं यस्याजीवभावकरणस्य तदजीवरूपादिपर्यायावस्थं परप्रयोगमन्तरेणैव यदभ्राद्यजीवानां स्वभाविकं रूपरसगन्धस्पर्शसंस्थानादिपर्यायकरणं तदजीवभावकरणमित्यर्थः, विशे० ।

तत्थ जमजीवकरणं, तं पंचविहं तु णायव्वं ।
वण्णरसगंधफासे, संठाणे चेव होइ णायव्वं ॥
पंचविहं पंचविहं, दुविहऽट्ठविहं च पंचविहं । उत्त० नि० ।

तत्र तयोर्मध्ये यदजीवकरणं तत्पञ्चविधं पञ्चप्रकारमेव ज्ञातव्यमवसेयमिति गाथार्थः । एतदेव स्पष्टयितुमाह (वण्णगाहा) वर्णरसगन्धस्पर्शसंस्थान चैवोभयत्र विषयसप्तमी ततो वर्णादिविषयं भवति ज्ञातव्यमजीवकरणमिति प्रक्रमस्तत्र वर्णः कृष्णादिः रसः पञ्चविधस्तिक्तादिः गन्धो द्विभेदः सुरभिरितरश्च स्पर्शोऽष्टविधः कर्कशादिः संस्थानं पञ्चविधं परिमण्डलादि पतन्त्रेदात्करणमप्येतद्विषयमेतावद्भेदमेवात एवाह "पञ्चविधमित्यादि" ननु द्रव्यकर

पर्यायापेक्षया तथा भवनमभिप्रेत द्रव्यकरणे तु द्रव्यस्यैव तथा तथोत्पादो द्रव्यास्तिकमतापेक्षयेति विशेषः ।

उक्त च "अपरप्पओगज ज, अजीवरूवादि पज्जया वत्थं । तमजीवभावकरण, तप्पज्जाअप्पणावेक्ख ॥

को दव्वविस्ससाकरणाउ, विसेसो इमस्स णणु भणियं । इह पज्जवविक्खाए, दव्वट्ठियनयमय त च" इति गाथार्थः ॥

ननु तर्हि द्रव्यविस्रसाकरणादस्य को भेद इत्याशङ्कयाह । (तप्पज्जायप्पणाविक्खत्ति) तेषामजीवानां पर्याया रूपादयस्तत्पर्यायास्तेषामर्पणं प्राधान्येन विवक्षण तत्पर्यायार्पणं तस्यापेक्षा यत्र तत्पर्यायार्प्पणापेक्षम् । इदमुक्त भवति । पूर्व द्रव्यप्राधान्यविवक्षया द्रव्यविस्रसाकरणमिह तु रूपादिपर्यायप्राधान्यमपेक्ष्यैतदेव भावकरणामभिहितमिति इद च 'तप्पज्जायप्पणावेक्ख' मित्यनेन दत्तमप्युत्तरमनवगच्छत परस्य मतमाशङ्कयाह।

को दव्ववीससाकरणाउ, विसेसा इमस्स णणु भणिय । इह पज्जायावेक्खा, दव्वट्ठियनयमयं तं च ॥ गतार्था ।

अथाजीवकरणमाह ।

इह जीवभावकरणं, सुयकरणं सुयाभिहाणं च । सुयकरणं दुवियप्प, लोइयलोउत्तरं चेव ॥ बद्धाबद्धं च पुणो, सत्थासत्थोवए सभेया उ । एक्केक्कं सद्दनिसी-हकरणभेयं मुणेयव्वं ॥

जीवस्य भावो जीवभावस्तस्य करणं जीवभावकरणं तच्च द्विविध श्रुतज्ञानभावकरण नोश्रुताभिधान च नोश्रुतज्ञानभावकरण चेत्यर्थ । आह ननु यथा श्रुतज्ञान जीवस्य भावस्तथा शेषज्ञानान्यपि विद्यन्ते ततो मत्यादिज्ञानभावकरणमपि कस्मान्नोक्तम् । सत्य किंतु यथा परायत्तत्वाद् गुरूपदेशादिना श्रुतज्ञान क्रियते नैव शेषज्ञानानि तेषां स्वावरणक्षयोपशमतस्तस्थ्यां स्वत एव जायमानत्वादेव सम्यक्त्वादयोऽपि जीवभावानैकान्तेन परायत्तास्तेषां नारकादिष्वन्यथाभावादिति । श्रुतज्ञानकरणमपि द्विविध लौकिक, लोकोत्तर च । पुनरप्येकैकं द्विधा बद्धमबद्ध च । तत्र गद्यपद्यरूपतया रचित बद्धम् । इदं च शास्त्रोपदेशरूप भवति यत्पुनरशास्त्रोपदेशरूप कण्ठादेव स्तूयते तदबद्धम् । इदं च बद्ध च एकैक द्विधा भवति शब्दकरण निशीथकरण चेति ।

अथ शब्दकरणस्य निशीथकरणस्य च व्याख्यानमाह ।

उत्तीउ सद्दकरणं, पगासपाठ च सरविसेसो वा । गूढत्तं तु निसीहं, रहस्ससुत्तत्थमहवा जं ॥

(उत्तीउ सद्दकरणति) उक्तिविशेषः शब्दकरणमथवा प्रकाशपाठ शब्दकरण यदि वा उदात्तादिस्वरविशेषः शब्दकरणमुच्यत इति । गूढो गुप्तोऽनवगम्यमानोऽर्थोऽस्य तद्गूढार्थं पुनर्निशीथकरणमुच्यते । अथवा यद्रहस्यसूत्रार्थ तन्निशीथकरणमुच्यते यथा निशीथाध्ययन रहस्यमप्रकाश्य सूत्रमर्थश्च यस्य तद्रहस्यसूत्रार्थमिति समास ।

किं पुनस्तल्लौकिक लोकोत्तर वा बद्धश्रुतमित्याह ।

लोए अणिबद्धाइं, अनिहियपच्चङ्गियाईं करणाइं । पंचादेससयाई, मरुदेवाईणि उत्तरिए ॥

लोके अनिबद्धान्युपदेशमात्ररूपाणि न पुन शास्त्रनिबद्धानि मल्लानां करणविशेषरूपाण्यनिहिकादिप्रत्यङ्गिकादीनि विज्ञेयानि । लोकेत्तरे त्वनिबद्धानि पञ्चशतान्यादेशाना बोद्धव्यानि (मरुदेवाईणित्ति) मरुदेव्यादेश आदौ येषां तानि मरुदेव्यादीनि पञ्चादेशशतानि यथा अत्यन्तस्थावरा अनादिवनस्पतिकायाद्धृत्य मरुदेवी प्रथमजिनमाता सिद्धेति । यदुक्त " उत्तीउसद्दकरणमित्यादि" तत्र प्रेर्य परिहार चाह ।

भावकरणादिगारे, किमिहं सद्दाइदव्वकरणेणं । भण्णइ तत्थ वि भावो, विवक्खिओ तव्विसिट्ठो उ ॥

नन्विह भावकरणाधिकारे किमप्रस्तुतेन शब्दादिद्रव्यकरणोपन्यासेन आदिशब्दगतानेकभेदसंग्राहकः भण्यते अत्रोत्तर तत्रापि शब्दद्रव्यकरणे भाव एव भावश्रुतमेव विवक्षित कथभूतो भावस्तद्विशिष्टः शब्दविशिष्ट । अयमभिप्राय प्रकाशपाठादिके शब्दकरणेऽपि न केवल शब्द एव विवक्षित किं तु यत्तस्य कारणरूप कार्यरूप च भावश्रुत तदेव शब्दविशिष्टमिह विवक्षितमित्यदोष इति । उक्त श्रुतकरणम् ।

अथ नोश्रुतकरणमाह ।

नोसुयकरणं दुविहं, गुणकरणं जुंजणाभिहाणं च । गुणकरणं तवसंजम-करणं मूलुत्तरगुणं वा ॥

नो शब्दस्य सर्वनिषेधवचनाच्छ्रुतव्यतिरिक्त यत्तप संयमादिरूपस्य जीवभावस्य करण तन्नोश्रुतभावकरणम् तच्च द्विविध गुणकरणं तथा (जुंजणाभिहाण ति) युज्यन्त इति योगा मन प्रभृतयस्तेषां यत्करण यद्योजनाभिधान करणमिति तत्र गुणकरण तप संयमयोः करणम् । अथवा मूलगुणकरणमुत्तरगुणकरण च गुणकरणमुच्यत इति ।

अथ योगकरणव्याख्यानमाह ।

मणवयणकायकिरिया, पन्नरसविहा उ जुंजणाकरणं । सामाइयकरणमिणं, किं नामाईए होजाहिं ॥

सत्यादिभेदतश्चतुर्विधं मनः चतुर्विधं वचनमौदारिकमिश्रादिभेदात्सप्तविधः काय इत्येवमेतत्क्रियाऽपि पञ्चदशविधा योजनाकरणत्वेनावगन्तव्या तदेवमवसित भावकरणम् । तदवसाने चोक्तं नामादिभेदतः षड्विधमपि करणमिति, विशे० । आ० म० द्वि० । उत्त० । आव० ।

प्रकारान्तरेण भावकरणप्रतिपादनायाह ।

भावे पओगवीसस, पओगसामूलउत्तरे चेव । उत्तरकमसु य जोव्वण-वण्णाई भोअणाईसु ॥ १४ ॥

(भावे पओगेत्यादि) भावकरणमपि द्विधा प्रयोगविस्रसाभेदात् । तत्र जीवाश्रितं प्रायोगिकं मूलकरणं पञ्चानां शरीराणां पर्याप्तिस्तानि हि पर्याप्तिनामकर्मोदयादौदयिके भावे वर्त्तमानो जीव सवीर्यजनितेन प्रयोगेण निष्पादयति । उत्तरकरण तु गाथापश्चार्द्धेनाह उत्तरकरण क्रमश्रुतयौवनवर्णादिचतूरूपम् तत्र क्रमकरणं शरीरनिष्पत्त्युत्तरकाल बालयुवस्थविरादिक्रमेणोत्तरोत्तरोऽवस्थाविशेष । श्रुतकरण तु व्याकरणादिपरिज्ञानरूपोऽवस्थाविशेषोऽपरकलानां परिज्ञानरूपश्चेति । यौवनकरण कालकृतो वयोऽवस्थाविशेषो रसायनाद्यापादितो चेति । तथा वर्णगन्धरसस्पर्शकरण विशिष्टेषु भोजनादिषु सत्सु यद्विशिष्टवर्णाद्यापादनमित्येतच्च पुद्गलविपाकित्वाद्वर्णादीनामजीवाश्रितमपि द्रष्टव्यमिति ॥ १४ ॥

इदानीं विस्रसाकरणमभिधित्सयाऽऽह ।

वण्णादिया य वण्णा-दिएसु जे केइ वीससा मेला । ते हुंति थिरा अथिरा, छायातवदुद्धमादीसु ॥ १५ ॥

(वसा इत्यादि) वर्णादिका इति रूपरसगन्धस्पर्शास्ते यदा परेषामपरेषां वा स्वरूपादीनां मिलन्ति ते वर्णादिमेलका विस्रसाकरणम् । ते च मेलकाः स्थिरा असङ्ख्येयकालावस्थायिनोऽस्थिराश्च क्षणावस्थायिनः । संध्यारागाभ्रेन्द्रधनुरादयो भवन्ति । तथा छायात्वेनातपत्वेन च पुद्गलानां विस्रसापरिणामत एव परिणामो भावकरणम् । स्तनप्रच्यवनानन्तरं दुग्धादेश्च प्रतिक्षणं कठिनाम्लादिभावेन गमनमिति ॥ १५ ॥

सांप्रतं श्रुतज्ञानमधिकृत्य मूलकरणाऽभिधित्सयाऽऽह ।

मूलकरणं पुण सुते, तिविहे जोगे सुभासुभज्झाणे ।
ससमयसुएण पगयं, अज्झवसाणेण य सुहेणं ॥१६॥

(मूलेत्यादि) श्रुते पुनः श्रुतग्रन्थे मूलकरणमिदं त्रिविधे योगे मनोवाक्कायलक्षणे व्यापारे शुभाशुभे च ध्याने वर्त्तमानैर्ग्रन्थरचना क्रियते । तत्र लोकोत्तरैः शुभाशुभध्यानावस्थितैर्ग्रन्थरचना विधीयते लोके त्वशुभध्यानाश्रितैर्ग्रन्थग्रन्थनं क्रियत इति लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् कर्तुरशुभध्यायित्वमवसेयम् इह तु सूत्रकारस्य तावत्स्वसमयेन शुभाध्यवसायेन च प्रकृतं यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्गीकृतमिति ॥१६॥ तेषां च ग्रन्थरचनां प्रति शुभध्यायिनां कर्मद्वारेण योऽवस्थाविशेषस्तद्दर्शयितुकामो निर्युक्तिकृदाह ।

ठिइअणुभावे बंधण-निकायणनिहत्तदीहहस्सेसु ।
संकमउदीरणाए, उदये वेदे उवसमे य ॥१७॥

" ठिइ इत्यादि " तत्र कर्मस्थितिं प्रति अजघन्योत्कृष्टस्थितिभिर्गणधरैः सूत्रमिदं कृतमिति । तथाऽनुभावो विपाकस्तदपेक्षया मन्दानुभावैस्तथा बन्धमङ्गीकृत्य ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीर्मन्दानुभावा बध्नद्भिस्तथाऽनिकाचयद्भिरेवं निधत्तावस्थामकुर्वद्भिस्तथा दीर्घस्थितिकाः प्रकृतीर्लघीयसीर्जनयद्भिस्तथोत्तरप्रकृतीर्बध्यमानासु संक्रामयद्भिस्तथोदयवतां कर्मणामुदीरणां विदधानैरप्रमत्तगुणस्थैस्तु सातासातायूंष्यनुदीरयद्भिस्तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गादिकर्मणामुदये वर्त्तमानैस्तथा वेदमङ्गीकृत्य पुंवेदे सति तथा (उवसमेत्ति) सूचनात्सूत्रमिति क्षायोपशमिकाभावे वर्त्तमानैर्गणधारिभिरिदं सूत्रकृताङ्गमन्थितमिति ॥१७॥

साम्प्रतं स्वमनीषिकापरिहारद्वारेण करणप्रकारमभिधातुकाम आह ।

सोऊण जिणवरमतं, गणहारी काउ तक्खओवसमं ।
अज्झवसाणेण कयं, सुत्तमिणं तेण सूयगमं ॥१८॥

"सोऊणेत्यादि" श्रुत्वा निशम्य जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायं मातृकादिपदं गणधरैर्गौतमादिभिः कृत्वा तत्र ग्रन्थरचने क्षयोपशमं तत्प्रतिबद्धं कर्म क्षयोपशमादवधानैरिति भावः । शुभाध्यवसाये च सता कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥१८॥

इदानीं कस्मिन् योगे वर्त्तमानैस्तीर्थकृद्भिर्भाषितं कुत्र वा गणधरैर्लब्धमित्येतदाह ।

वइजोगेण पभासिय-मणेगजोगंधराण साहूणं ।
तो वयजोगेण कयं, जीवस्स सभावियगुणेण ॥१९॥

"वइजोगेत्यादि" तत्र तीर्थकृद्भिः क्षायिकज्ञानवर्तिभिर्वाग्योगेनार्थः प्रकर्षेण भाषितः प्रभाषितो गणधराणां ते च न प्राकृतपुरुषकल्पाः किं त्वनेकयोगधराः । तत्र योगः क्षीराश्रवादिलब्धिकलापसंबन्धस्तं धारयन्तीत्यनेकयोगधरास्तेषां प्रभाषितमिति सूत्रकृताङ्गाऽपेक्षया नपुंसकता । साधवश्चात्र गणधरा एव गृह्यन्ते तदुद्देशेनैव भगवतामर्थप्रभाषणादिति । ततोऽर्थं निशम्य गणधरैरपि वाग्योगेनैव कृतं तच्च जीवस्य स्वाभाविकेन गुणेनेति । स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृत इत्यर्थः प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति न पुनः संस्कृतया लक्षणोदिलङ्घनप्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नयेति ॥१९॥

पुनरन्यथा सूत्रकृद् निरुक्तमाह ।

अक्खरगुणमतिसंघा-यणाए कम्मपरिसाडनाए य ।
तदुभयजोगेण कयं, सुत्तमिणं तेण सुत्तगडं ॥२०॥

(अक्खरेत्यादि) अक्षराणि अकारादीनि तेषां गुणोऽनन्तगमपर्यायत्वमुच्चारणं वाऽन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् मतेर्मतिज्ञानस्य संघटना अक्षरगुणेन मतिसंघटना भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनमित्यर्थः । अक्षरगुणस्य वा मत्या बुध्या संघटना रचनेति यावत् तयाऽक्षरगुणमतिसंघटनया । तथा कर्मणां ज्ञानावरणादीनां परिशाटना जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणरूपा तया च हेतुभूतया सूत्रकृताङ्गं कृतमिति संबन्धः । तथाहि यथा यथा गणधराः सूत्रकरणायोद्यमं कुर्वन्ति तथा तथा कर्मपरिशाटना भवति यथा यथा च कर्मपरिशाटना तथा तथा ग्रन्थरचनायोद्यमः संपद्यत इति एतदेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति (तदुभयजोगेनेति) अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च यदि वा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्र तेन सूत्रकृतमिति, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। इह " करणेऽप्पयअते " इत्यादिगाथायाः समनन्तर "नामं ठवणादविए" इत्यादिका बह्वो गाथा निर्युक्तौ दृश्यन्ते ताश्च भाष्यकारेण प्रक्षेपरूपत्वादिना केनापि कारणेन प्रायो न लिखिता केवलं तदर्थ एव भाष्यगाथाभिर्लिखितस्तदत्र कारणं स्वधियाऽप्यूह्यमिति । तदेवं व्याख्यातं " करणे भए अ अंते " इत्यादिगाथायाः करणलक्षणम् । करणं चेह सामायिकस्यैव प्रस्तुत करोमि भदन्त! सामायिकमिति संबन्धात् ततस्तदेव सामायिककरणमप्युत्पन्नविनेयवर्गव्युत्पादनार्थं सप्तभिरनुयोगद्वारैः । कृता विशे० ६७२ पत्र । (कृतादिभिः पुनर्निरूपणं सामाइकशब्दे करिष्यते) इदानीं करणं कति विहं ति (दारं) आयादियस्स चउव्विहं तंजहा उद्देसणाकरणं वायणाकरणं समुद्देसणाकरणं अणुण्णाकरणं सिस्से विहु उद्दिसिज्जमाणकरणं वयुज्झमाणकरणं अणुण्णविज्जमाणकरणं दारम् ॥

दण्डकः ।

कइविहा णं ? भंते ! करणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे करणे पण्णत्ते तंजहा दव्वकरणे खेत्तकरणे कालकरणे भावकरणे णेरइयाणं भंते ! कइविहे करणे पण्णत्ते गोयमा पंचविहे करणे पण्णत्ते तंजहा दव्वकरणे जाव भावकरणे एवं जाव वेमाणिया । कइविहाणं ? भंते ! सरीरकरणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे सरीरकरणे पण्णत्ते तंजहा ओरालियसरीरकरणे जाव कम्मा सरीरकरणे एवं जाव वेमाणिया जस्स जइ सरीराणि कइविहेणं भंते ! इंदियकरणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा सोइंदियकरणे जाव फासिंदियकरणे एवं जाव वेमाणिया जस्स जइ इंदियाइं एवं

एएणं कमेणं भासाकरणे चउव्विहे, मणकरणे चउव्विहे, कसायकरणे चउव्विहे, समुग्घायकरणे सत्तविहे, सण्णाकरणे चउव्विहे, लेस्साकरणे छव्विहे, दिट्ठिकरणे तिविहे, वेदकरणे तिविहे पण्णत्ते तंजहा इत्थिवेदकरणे पुरिसवेदकरणे णपुंसगवेदकरणे एए सव्वे णेरइयादिदंडगा जाव वेमाणिया जस्स जं अत्थि तं तस्स सव्वं भाणियव्वं । कइविहे णं भंते ! पाणाइवायकरणे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा एगिंदियपाणाइवायकरणे जाव पंचिंदियपाणाइवायकरणे एवं णिरवसेसं जाव वेमाणिया कइविहे णं भंते ! पोग्गले करणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे पोग्गले करणे पण्णत्ते तंजहा वन्नकरणे गंधकरणे रसकरणे फासकरणे संठाणकरणे वन्नकरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा कालवन्नकरणे जाव सुकिल्लवन्नकरणे एवं भेदो गंधकरणे दुविहे रसकरणे पंचविहे फासकरणे अट्ठविहे संठाणकरणेणं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा परिमंडलसंठाणकरणे जाव आयतसंठाणकरणे सेवं भंते भंतेत्ति । जाव विहरइ । दव्वे खेत्ते काले, भवे य भावे य सरीरकरणे य । इंदियकरणे भासा, मणे कसाए समुग्घाए ॥ १ ॥ सण्णालेस्सादिट्ठी, वेए पाणाइवायकरणे य । पोग्गलकरणे वन्ने, गंधरसफास संठाणे ॥२॥ एगूणवीसइमस्स णवमो उद्देसो सम्मत्तो । (भ०)

" कइविहेणमित्यादि " तत्र क्रियतेऽनेनेति करणं क्रियायाः साधकतमं कृतिर्वा करणं क्रियामात्रं न अन्यस्मिन् व्याख्याने करणस्य निर्वृत्तेश्च न भेदः स्यान्निर्वृत्तेरपि क्रियारूपत्वान्नैव करणमारम्भक्रियानिर्वृत्तिस्तु कार्यस्य निष्पत्तिरिति (दव्वकरणेत्ति) द्रव्यरूपं करणं दात्रादि द्रव्यस्य वा कटादेर्द्रव्येण वा शलाकादिना, द्रव्ये वा पात्रादौ, करणं द्रव्यकरणम् (खेत्तकरणंति) क्षेत्रमेव करणं क्षेत्रस्य वा शालिक्षेत्रादेः करणं क्षेत्रेण वा क्षेत्रे वा करणं स्वाध्यायादेः क्षेत्रकरणम् (कालकरणेत्ति) काल एव करणं कालस्य वाऽवसरादेः करणं कालेन काले वा करणं कालकरणम् (भवकरणंति) भवो नारकादिः स एव करणं तस्य वा तेन वा तस्मिन्वा करणम् एवं भावकरणमपि शेषं तु उद्देशकसमाप्तिं यावत्सुगममिति एकोनविंशतितमशते नवमः, भ० १९ श० ९ उ० । निष्पादने, आसेवने, आव० ४ अ० । संयमव्यापारे, ज्ञा० १ अ० । समाचरणे, ध० र० । व्यापारे, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । अनुष्ठाने, स्था० ३ ठा० ४ उ० । प्रश्न० । विधाने, औ० । स्था० । सूत्र० । " करणतिग " करणत्रिकं करणकारणानुमोदनारूपम् व्य० १० उ० । तिविहकरणं कृतं कारितमनुमोदितं च, नि० चू० १९ उ० । उपाये, "एत्तो आउट्टीओ, वोच्छं जहक्कमेण सूरस्स । चंदस्स य लहुकरणं, जह दिट्ठं पुव्वसूरीहिं" लघुकरणं लघूपायम्, ज्यो० १२ पाहु० । जीववीर्यविशेषे, कर्मणामष्टौ करणानि "बंधण १ संकमणु २ व्वट्टणा य ३ अववट्टणा ४ उदीरणया ५ । उवसामणा ६ निहत्ती, ७ निकायणा ८ चेति करणाइं" क० प्र० १ क० (बन्धनादिकरणानां व्याख्या बधादशब्देषु)

सप्रत्ययानामपि करणानां येऽध्यवसायास्तेषां परिमाणनिरूपणार्थमाह ।

थोवा कसायउदया, ठिइबंधोदीरणा य संकमणा । उवसामणाइसु अज्झव-साया कमसो असंखगुणा ॥ ३७ ॥

स्थितिबन्धे उपलक्षणमेतत् अनुभागबन्धे वा ये प्रायोग्यास्ते, सर्वे स्तोकाः प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगादित्युक्त इति ताविह न गृह्येते अनुभागबन्धश्चोपलक्षणव्याख्यानात् गृहीतस्ततश्च स्थितिबन्धे कषायोदयाः स्तोका इति । किमुक्तं भवति बन्धनकरणाध्यवसायाः सर्वस्तोकास्तेभ्य उदीरणाध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि संक्रमाध्यवसाया असंख्येयगुणाः संक्रमग्रहणेन चोद्वर्त्तनापवर्त्तने गृहीते द्रष्टव्ये । संक्रमभेदत्वात्तयोः तत उपशान्तोपशमनाध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि निधत्ताध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि निकाचनाध्यवसाया असंख्येयगुणा इति श्रीमलयगिरिविरचितायां कर्मप्रकृतिटीकायां करणाष्टकं समाप्तम् तदेवमुक्तानि करणानि, क० प्र० १०८ पत्र । पं० सं० । मल्लशास्त्रप्रसिद्धे अङ्गमर्द्दनविशेषे, औ० । क्रियते येन तत्करणम् । मननादिक्रियासु प्रवर्त्तमानस्यात्मन उपकरणभूते तथा तथा परिणामवत्पुद्गलसंघाते, स्था० ।

तिविहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वयकरणे कायकरणे एवं णेरइयाणं विगलिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं ॥

मनस एव करणं मनःकरणमेवमितरे अपि एवमित्यादि तिदेशसूत्रं पूर्ववदेव भावनीयमिति । अथवा योगप्रयोगकरणशब्दानां मनःप्रभृतिकमभिधेयतया योगकरणसूत्रेऽप्यभिहितमिति नार्थभेदोऽन्वेषणीयस्त्रयाणामप्येषामेकार्थतया, आगमे बहुशः प्रवृत्तिदर्शनात् । तथाहि योगः पञ्चदशविधः शतकादिषु व्याख्यातः प्रज्ञापनायां त्वेवमेवायं प्रयोगशब्देनोक्तस्तथाहि " कतिविहे णं भंते ! पओगे पण्णत्ते गोयमा ! पण्णरसविहेत्यादि " तथा आवश्यके अयमेव करणतयोक्तस्तथाहि " जुंजकरणं तिविहं, मणवइकाए य मणसि सच्चाइ । सट्ठाणे तेसिं भेओ, चउचउहा सत्तहा चेव त्ति " स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कइविहे णं भंते ! करणे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वयकरणे कायकरणे कम्मकरणे । णेरइया णं भंते ! कइविहे करणे पण्णत्ते गोयमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे जाव कम्मकरणे । एवं पंचिंदिआणं सव्वेसिं चउव्विहे करणे पण्णत्ते एगिंदियाणं दुविहे कायकरणे य कम्मकरणे य । विगलिंदिआणं वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे । णेरइआणं भंते ! किं करणओ असायं वेयणं वेदेंति अकरणओ असायं वेयणं वेदेंति ? गोयमा ! णेरइया णं करणओ असायं वेयणं वेदेंति णो अकरणओ असायं वेयणं वेदेंति ? से केणट्ठेणं ? गोयमा ! णेरइयाणं चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वय(इ)करणे कायकरणे कम्मकरणे । इच्चेतेणं चउव्विहेणं असुभेणं करणेणं णेरइया करणओ असायं वेयणं वेदेंति णो अकरणओ । से तेणट्ठेणं । असुरकुमाराणं किं करणओ अकरणओ ? गोयमा ! करणओ णो अकरणओ

णओ से केणट्ठेण ? गोयमा ! असुरकुमाराणं चउव्विहे करणे पम्पत्ते तंजहा मणकरणे वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे इच्चेतेणं सुभेणं करणेणं असुरकुमारा करणओ सायं वेयणं वेदेंति नो अकरणओ एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं एवामेव पुच्छा णवरं एच्चेएणं सुभासुभेणं करणेणं पुढविकाइया करणओ वेमायाए वेयणं वेदेंति नो अकरणओ उरालियसरीरा सव्वे सुभासुभेणं वेमायाए देवा सुभेणं सायवेयणं वेदेंति, भ०६ श०१ उ०।

प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह ।

तिविहे करणे पम्पत्ते तंजहा आरंभकरणे संरंभकरणे समारंभकरणे णिरंतरं जाव वेमाणियाणं ।

(तिविहे इत्यादि) आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनं तस्य कृति करणं स एव वा करणमित्यारम्भकरणमेवमितरे अपि वाच्ये नवरमयं विशेषः संरम्भकरणं पृथिव्यादिविषयमेव मनः सक्लेशकरणं समारम्भकरणं तेषामेव संतापकरणमिति । आह च " सकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो । आरंभो उद्दवओ, सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं " त्ति ॥१॥ इदमारम्भादिकरणत्रयं नारकादीनां वैमानिकान्तानां भवतीत्यतिदिशन्नाह (निरंतरमित्यादि) सुगमं केवलं संरम्भकरणमसंज्ञिनां पूर्वभवसंस्कारानुवृत्तिमात्रतया भावनीयमिति, स्था० ३ ठा० १ उ०।

पुनरपि प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह ।

तिविहे करणे पम्पत्ते तंजहा धम्मिए करणे अधम्मिए करणे धम्मियाधम्मिए करणे ॥

कृतिः करणमनुष्ठानम्, तच्च धार्मिकादिस्वामिभेदेन त्रिविधं तत्र धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकमेवमितरत् नवरमधार्मिकोऽसंयतस्तृतीयो देशसंयतः अथवा धर्मे भावधर्मे वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकं विपर्ययस्तु इतरत्। एवं तृतीयमपि, स्था०३ ठा०४ उ०। क्रियते येन तत्करणम् । क्रियां प्रति साधकतमे, करोतीति करणं 'कृत्यल्युटो बहुलमिति' (पाणि०) वचनात् कर्त्तरि ल्युट् कर्त्तरि, तत्र "तइया करणम्मि कया" करणे तृतीया कृता त्रिहिना यथा नीतं शस्यं तेन शकटेन । हृतं कुलम मयेति, स्था० ८ ठा० । अनु० । करणे, येन कर्त्ता कार्यं निर्वर्त्तयति, आ० चू० १ उ० । " कज्जपसाहगतमं करणम्मि उ पिंमदमाह " कार्यप्रसाधकतमं कारणं करणमुपादाननिमित्तभेदाद् द्विभेदं तत्र घटे मृत्पिण्डमुपादानं दण्डादिनिमित्तम् । अष्ट० ११ अष्ट० । औ० । "इयाणिं करणे पगत्ते जहा दात्रेण लुनाति पिप्पलकेण वा दसाकप्पण करेति पुहत्ते दात्रैर्लुनति परसुहिं वा रुक्खे कप्पेति" नि० चू० १ उ०। विशे०। स्था०। चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु, जं०२ वक्ष०। " करणं द्विविधं ज्ञेयं, बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः । यथा लुनाति दात्रेण, मेरुं गच्छति चेतसा " स्था० १ ठा० । करणं द्विधा अन्तःकरणं बहिःकरणं च । अन्तःकरणं मनो, बहिःकरणं पञ्चेन्द्रियाणि, षो० १५ विव०। स्था०। आ० म० प्र०। प्रश्न०। न०। आचा०। " तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे " करणानि तत्साधकतमानि आवश्यकदेहरजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि, अनु० । आचा०। क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणम्, विशे०। सम्यक्त्वाद्यनुगुणे विशुद्धरूपे जीवपरिणामविशेषे, आ० म० प्र०।

करणं अहापवत्तं, अपुव्वमनियट्टिमेव भव्वाणं ।

इयरेसिं पढमं चिय, भम्मइ करणं ति परिणामो ॥

इह भव्यानां त्रीणि करणानि भवन्ति तद्यथा यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं चेति । तत्र येन अनादिसंसिद्धप्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं सर्वत्र जीवपरिणाम एवोच्यते यथाप्रवृत्तं च तत्करणं च यथाप्रवृत्तकरणमेवमुत्तरत्रापि करणशब्देन कर्मधारयः । अनादिकालात्कर्मक्षपणप्रवृत्तोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमित्यर्थः । अप्राप्तपूर्वमपूर्वंस्थितिघातरसघाताद्यपूर्वार्थनिवर्त्तकं वा अपूर्वनिवर्त्तनशीलं 'निवर्त्ति' आसम्यग्दर्शनलाभान्न निवर्त्तत इत्यर्थः । एतानि त्रीण्यपि यथोत्तरं विशुद्धविशुद्धतरविशुद्धतमाध्यवसायरूपाणि भव्यानां करणानि भवन्ति इतरेषां त्वभव्यानां प्रथममेव यथाप्रवृत्तकरणं भवति नेतरे द्वे इति एतेषां करणानां मध्ये कस्यामवस्थायां किं भवतीत्याह ।

जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छिओ अपुव्वं तु ।

अनिअट्टिकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥

अनादिकालादारभ्य यावद्ग्रन्थिस्थानं तावत्प्रथमं यथाप्रवृत्तकरणं भवति कर्मक्षपणनिबन्धनस्याऽध्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावात् अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयप्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति ग्रन्थिं तु समतिक्रामतो भिदानस्यापूर्वकरणं भवति प्राक्तनाद्विशुद्धतराध्यवसायरूपेण तेनैव ग्रन्थेर्भेदादिति । अनिवृत्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वं पुरस्कृतमभिमुखं यस्यासौ सम्यक्त्वपुरस्कृतोऽभिमुखसम्यक्त्व इत्यर्थः तस्मिन्नेवभूते जीवे भवति ततः प्रत्यातिशुद्धतमाध्यवसायरूपादनन्तरं सम्यक्त्वलाभादिति गाथादशकार्थः, विशे०। आ० म० प्र०। कर्म०। प० स०। आचा०। अष्ट०। यो०विं० (यथा प्रवृत्त्यपूर्वकरणानिवृत्तिकरणानां क्रम उवसमसेणिशब्दे उक्तः) (गंठिभेदशब्दे ग्रन्थिभेदप्रस्तावे एषा चर्चाऽभिधास्यते) नागरकादिप्रारम्भयन्त्रे, दश० ६ अ० । क्रियत इति करणम् उत्तरगुणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । पिण्डविशुद्ध्यादौ, आव० ३ अ० ।

पिंमविसोही ४ समिई, ५

जावण १२ पडिमाय १२ इंदियनिरोहो ५ ।

पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३,

अभिग्गहा ४ चेव करणं तु ॥

वस्त्र १ पात्र २ वस ३ त्याहारशुद्धिलक्षणा चतुर्धा पिण्डविशुद्धिः 'इरियासमिई १ भासासमिई २ एसणासमिई ३ आयाणभंमसत्तनिक्खेवणासमिई ४ उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिई ५' इति समितिः । अनित्यताभावना १ अशरणभावना २ भवभावना ३ एकत्वभावना ४ अन्यत्वभावना ५ अशौचभावना ६ आश्रवभावना ७ संवरभावना ८ निर्जराभावना ९ धर्मस्वाख्याततभावना १० लोकभावना ११ बोधिभावना १२ इति भावना । बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ तंजहा मासियभिक्खुपडिमा १ दोमासिया २ तिमासिया ३ चउमासिया ४ पंचमासिया ५ छमासिया पडिमा ६ सत्तमासिया पडिमा ७ सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा ८ दोच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा ९ तच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा १० अहोराइया भिक्खुपडिमा ११ एगराइया भिक्खुपडिमा १२ इति प्रतिमा । मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्द १ रूप २ गन्ध ३ रस ४ स्पर्शेषु ५ । श्रोत्र १ चक्षु २ घ्राण ३ जिह्वा ४ त्वगिन्द्रिय ५ विषयीभूतेषु रागद्वेषवर्जनात्पञ्चधेन्द्रियनिरोधः ।

दिट्ठिपडिलेहएगा, छउड्ढपक्खोडतिगतिगंतरिया ।
अक्खोडपमज्जणया, नवनवमुहपुत्तिपणवीसा ॥

प्रथम दृष्टिप्रतिलेखना १ ततः पार्श्वद्वयेऽपि त्रयस्त्रय ऊर्ध्वप्रस्फोटाः कार्याः एवमलगयद्भिरास्फोटा लगयद्भिः प्रथमार्जनाश्च परस्परं त्रिकात्रिकान्तरिताः प्रत्येक नव नव कार्याः एवमष्टादश इति मुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनाः पञ्चविंशतिः स्युः " पायाहिणेण तिअ तिअ, वामेयर बाहुसीसमुहहियए। अंसुगाहो पिट्ठे, चउऽप्पयदेहपणवीसा" इति प्रतिलेखनाः पञ्चविंशतिः मनोवाक्कायगुप्तिरूपास्तिस्रो गुप्तयो द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाश्चत्वारोऽभिग्रहाः इति कारणमिति गाथार्थः। ग०१ अधि० । औ०। नं०। आ० चू० । आ० म० द्वि० । प्रव० । ज्ञा० । सम्म० । प्र० । उपधौ, करणमुच्यते उपधिर्भण्यते, नि० चू० १ उ०। तपोनियमवन्दनाद्यनुष्ठाने, ध० २ अधि० । आधारे ल्युट् क्षेत्ररूपे देहे, अमरः। करणाश्रयत्वात्तस्य तथात्वम् । "उपमानमभूद् विलासिनां, करणं यत्तवकान्तिमत्तया" कुमा०। भावे-ल्युट्-क्रियायाम्, वैश्येन शूद्रायामुत्पन्ने वर्णशङ्करजातिभेदे, वाच० ।

करणओ (तो)-करणतस्-अव्य० प्रयोगत इत्यर्थे " अत्थतो य करणतो य सेहविहित्ति" स्था० ३ ठा० ।

करणकया-करणकृता-स्त्री० करणं क्रिया तया कृता यथाप्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिकरणसाध्यक्रियाविशेषकृतायामुपशमनायाम्, क०-प्र० ए४ पत्र० ।

करणगुण-करणगुण-पुं०कलाकौशले, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

करणचरणप्पहाण-करणचरणप्रधान-त्रि० चारित्रप्रधाने, नि०।

करणजड-करणजड-पुं० करण क्रिया तस्यां जडः करणजडः समितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणादिक्रियां पुन पुनरुपदिश्यमानामप्यतीव जडतया गृहीतुमशक्ते, ध० ३ अधि० । आव० ।

करणट्ठग-करणाऽष्टक-न० करणानां वीर्यविशेषरूपाणामष्टक करणाष्टकम् । बन्धनादौ,"कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदयसंताणि वोच्छामि " क० प्र० ।

करणणिप्फन्न-करणनिष्पन्न-त्रि० निमित्तनिष्पन्ने, "विषणा णिप्पणत्ति वा करणणिप्पणत्ति वा णिमित्तणिप्पणत्ति वा एगट्ठ" आ० चू० १ उ० ।

करणतिय-करणत्रिक-न० मनोवाक्कायलक्षणे करणत्रये, दश० १० अ० ।

करणपज्जत्त-करणपर्याप्त-पुं० शरीरेन्द्रियादीनि निर्वर्तितवति पर्याप्तभेदे, कर्म० १ क० ।

करणया-करणता-स्त्री० संयमस्याऽनुष्ठाने, प्र०१श्र० ३३ उ० ।

करणवीरिय-करणवीर्य-न० क्रियावीर्ये, यथा घटकरणक्रियावीर्यं पटकरणक्रियावीर्यम् " एव जत्थ जत्थ उट्ठाणकम्मबलसत्ती भवति तत्थ तत्थ करणवीरियं मनोवाक्कायकरणवीरियं " नि० चू० १ उ० ।

करणसच्च-करणसत्य-न० प्रतिलेखनादिक्रियाविषये निरालस्ये करणसत्यस्य फलं प्रश्नपूर्वकमाह ।

करणसच्चे णं भंते ! किं जणयइ करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ, करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जाहवाई तहा कारी या वि भवइ ।

हे भदन्त ! करणसत्येन जीवः किं जनयति करणे प्रतिलेखनादिक्रियायां सत्य यथोक्तविधिना आराधनं करणं सत्यं तेन करणसत्येन जीवः किं फलमुपार्जयति तदा गुरुराह हेशिष्य ! करणसत्येन करणशक्तिं क्रियासामर्थ्यं जनयति पुनः करणसत्ये वर्त्तमानो जीवो यथा वादी तथा कारी भवति क्रियासत्यः पुमान् यादृशं सूत्रार्थं पठति तादृशं क्रियाकलापं । वदति तथैव करोति इति भावः । (उत्त०) करणे सत्यं करणसत्यं यत्प्रतिलेखनादिक्रियां यथोक्तां सम्यगुपयुक्तः कुरुते तेन करणशक्तिं तन्माहात्म्यात्पुरानध्यवसितक्रियासामर्थ्यरूपां जनयति । तथा करणसत्ये वर्त्तमानो जीवो यथावादी तथा कारी चापि भवति । स हि सूत्रमधीयानो यथा एव क्रियाकलापं वदनशीलः करणशीलोऽपि तथैवेति। उत्त० २६ अ० । आव० ।

करणाणुओग-करणानुयोग-पुं० क्रियन्ते इति करणानि । तेषामनुयोगः करणानुयोगः । द्रव्यानुयोगभेदे, तथाहि " जीवद्रव्यस्य कर्तुर्विचित्रक्रियासु साधकतमानि कालस्वभावनियतिपूर्वकृतानि नैकाकी जीवः किञ्चन कर्तुमलमिति मृद्द्रव्यं च कुलालश्चक्रचीवरदण्डादिककरणकलापमन्तरेण न घटलक्षणं कार्यं प्रति घटत इति तस्य तानि करणानीति द्रव्यस्य करणानुयोग इति, स्था० १० ठा० ।

करणाणुपालग-करणानुपालक-पुं० अनु पश्चात्पालकः पिण्डविशुद्ध्यादेः करणस्य पूर्वर्षिपरंपराक्रमेण पालके, बृ० ३ उ०।

करणापज्जत्त-करणापर्याप्त-पुं० करणैरपर्याप्तेषु, ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति अवश्यं पुरस्तान्निवर्त्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः" कर्म० १ क०। प०स०।

करणालस-करणालस-त्रि० करणालसे, धर्मे प्रत्यनुद्यमे, " एवं केइ जंपंति इड्ढीरससायगारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति धम्मवीमंसएण मोसं " प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।

करणि-करणि-पुं० सादृश्ये, अनु० ।

करणिज्ज-करणीय-त्रि० कृ-अनीयर् " वोत्तरीयानीयतीयकृद्ये ज्जः ८।१।२४८ इति यकारस्य द्विरुक्तो जः वा करणिज्जं करणीअं करणीयम् प्रा० । कर्त्तव्ये, प्रयोजने, आ० ३ अ० । आचा० । अनुष्ठेये, दश० १० अ० । कर्तुं योग्ये, न० । अवश्यंकर्त्तव्ये, जीत० । व्य० । सामान्येन कर्त्तव्ये, आव० ४ अ० ।

करणीज्जकिरिया-करणीयक्रिया-स्त्री० यद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा इत्येवरूपे क्रियाभेदे, तथा हि घटो मृत्पिण्डादिकया एव क्रियते न पाषाणसिकतादिकयेति सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

करणोदयसंता-करणोदयसत्ता-स्त्री० करणेषूदये, सत्तायां च " करणोदयसत्ताणं सामित्तो घेहि सेसग नेयं " क० प्र० ।

करणोवाय-करणोपाय-पुं० क्रियते विविधावस्था जीवस्यानेन । क्रियते वा तदिति करणम् । कर्मबन्धकक्रियाविशेषो वा करणं करणमिव करणं स्थानान्तरप्राप्तिहेतुतासाधर्म्यात्कर्मैव तदेवोपायः कर्मरूपे हेतौ, मिथ्यात्वादिके कर्मबन्धहेतौ च । " अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं एव खलु ते जीवा परभवियाउयं पकरेंति " भ०२५ श०८ उ० ।

करत (य) ल-करतल-न० हस्तस्य तले करस्तलमिव हस्ते, वाच० । प्रश्न० । भ० । उपचाराद् हस्तवाचे करो हस्तस्तस्य

तल करतलम । " हस्तशस्त्र पूरेतित्ति मुक्त भवति अथवा वा करतलेन घात करोति " नि०चू० १ उ० ।

करत (य) लपरगहिय-करतलप्रगृहीत-त्रि० करतलाभ्यां प्रकर्षेण गृहीते, व्य० १ उ० । " करयलपरिग्गहियं दसणहं मत्थए अंजलिं कट्टु जयएं वद्धावेइ " रा० ६७ पत्र. ।

करत (य) लपब्भट्ठविप्पमुक-करतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्त-त्रि० करतलात् विप्रमुक्त सत् प्रभ्रष्ट करतलविप्रमुक्तम । प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः । ततो विशेषणसमास. । हस्ततलाद्विप्रमुक्ते सति प्रभ्रष्टे, रा० ३६ पत्र. । जी० ।

करत (य) लमाइय-करतलमेय-त्रि० मुष्टिग्राह्ये, कल्प० ।

करत (य) लपरिमिय-करतलपरिमित- त्रि० मुष्टिग्राह्ये, औ० । रा० । ज्ञा० । " करयलपरिमियपसत्थतियलियवलियमज्झा" करतलपरिमितो मुष्टिग्राह्य: प्रशस्त. प्रशस्तलक्षणोपेतस्त्रिवलिको वलिकत्रयोपेतो रेखात्रयोपेतो बलवान् मध्यो मध्यभागो यस्या सा " करतलपरिमितप्रशस्तत्रिवलिकवलिकमध्या, रा० १५ पत्र. ।

करपत्त-करपत्र-न० करात् पतति, पत्-ष्ट्रन् । क्रकचे, दारुभेदके अस्त्रभेदे, विपा०६ अ० । ज्ञा० । स्था० । करावेव पत्रं वाहन यत्र जलक्रीडायाम्, जटाधर. । तत्र हि हस्ताभ्यां जलमुत्तोल्य परस्परं क्रीड्यते, वाच० ।

करपत्तदारण-करपत्रदारण-न० नरके करपत्रेण नारकदेहदारणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

करप्पहार-करप्रहार-पु० करेणाभिघाते, कल्प० ।

करंब-करम्बक-पु० तथा दध्ना पर्युषितौदनमेकीकृत्य करम्बको विहित' स तृतीयदिने यतीनां कल्पते नवेति प्रश्ने । उत्तरम दध्ना तक्रेण वा द्वितीयदिनौदनो द्वितीयदिने तृतीयदिने वा करम्बको विहित' स तृतीयदिने साधूनां विहर्तुं कल्पते इति परपरास्तीति ६८ (सेन०३ उ०) तथा केवलदुग्धराद्धत्तैरेयी पर्युषिता साधूनां गृहीतु न कल्पते करम्बकस्तु नवीनतक्रादिसंस्कारार्हत्वात्कल्पत इति १२२ सेन० ४ उ० ।

करज (ञ्ज)-करञ्ज-पु० कृ-अभच् करे भाति मणिवन्धात् कनिष्ठापर्य्यन्ते करस्य वाह्यदेशे, अमर । करिशावके, उग्रशिग्रौ, गन्धद्रव्यभेदे, उग्रमात्रे, पु० स्त्री० मेदि० । वाच० । प्रज्ञ० ।

करजिउत्त-करभ्यागुप्त-त्रि० करञ्ज्यां प्रक्षिप्य रक्षिते, बृ०२उ० ।

करञ्जी-करञ्जी-स्त्री० करभ ङीप् उष्ट्र्याम्, पिं० । घटसस्थानसस्थिते धान्याधारे, बृ० २ उ० ।

करञ्जीखीर-करभीक्षीर-न० उष्ट्रीदुग्धे, "आहारओ पचगवज्जणेण, मोक्ख' इति केचित्तत्र । लसण पलाण्डु करञ्जीक्षीर गोमांस मद्यं चेत्येतत् पञ्चकवर्जनेन मोक्षं वदन्ति, सूत्र०१श्रु०७ अ० (एत न्निराकरण 'कुसील' शब्दे)

करय-करक-पु० घनोपले, प्रज्ञा०१ पद । सूत्र० । वार्घटिकाधारके, उपा० ७ अ० । अनु० ।

कररुह-कररुह-न० पु० करे रोहति रुह्-क-प्राकृते, गुणाद्याः क्लीवे वा ८ । ७ । ३४ । इति वा क्लीवत्वम । कररुह कररुहो प्रा० । नखे, अमर. । कृपाणे च, वाच० ।

करलाघव-करलाघव-न० चतुस्त्रिंशत्तमकलायाम्, कल्प० ।

करली-कदली-स्त्री० कदल्यामद्रुमे । ८ । १ । २२ । कदलीशब्दे अद्रुमवाचिनि दस्य रो भवति द्रुमविशेषाभिधे कदलीशब्दार्थे, करली अद्रुम इति किम् कअली. केली, प्रा० ।

करवंदण-करवन्दन-न० अनिर्जरार्थं कर मन्यमानेन वन्दनरूपे वन्दनकस्य पञ्चिशे दोषे, " करमिव मण्णइ दिंतो वदणय आरहति अंकइत्ति" आव०३ अ० । वन्दनक ददत् करमिव राजदेयभागमिव मन्यते अर्हत कर इति, वृ०३ उ० । कर इव राजदेयभाग इवार्हत्प्रणीतो वन्दनकरोऽवश्य दातव्य इति धिया वन्दनम्, ध० २अधि० । आ० चू० ।

करवीर-करवीर-पु०कर वीरयति चुरा० वीरविक्रान्तौ, अण् कृपाणे, खड्गे, स्वनामख्याते वृक्षभेदे च, मेदि० । श्मशाने, हेम०आचा.

करसी-श्मशान-न० गोणादयः । ८ । २ । ७४ । इति श्मशानशब्दस्थाने निपात । पितृवने, प्रा० ।

करसेवण-करणासेवन-न०द्वि०व०द्वन्द्वसमास प्राकृतशैल्या करणासेवनस्थाने, "करसेवणम" करणे, आसेवने च । सप्राप्तक्रमभेदे, तत्र करण सुरतारम्भयन्त्र चतुरशीतिभेद वात्स्यायनप्रसिद्धम् । आसेवन मैथुनक्रिया, प्रव० १७० द्वा० । अथवा करण नागरक्षादिप्रारम्भयन्त्रम आसेवन तु मैथुनम् । दशा० १ चूलि० ।

करहेडग-करहेटक-पु० तीर्थभेदे, " करहेटके उपसर्गहर पार्श्वनाथ " ती० ४५ कल्प० ।

करादल्लणरिंद-करादल्लनरेन्द्र-पु० स्वनामख्याते चौलुराजे, " जत्थ महोवा पुव्वीं समुद्दवसीया करादल्लणरिंदकुलसभूया रायाणो उट्टनत्ता अज्जवि नियदव्वस्स पुरउमहग्घमुल्लं पल्लाणीअ अलंकिअ विभूसिय महातुरगम ढोअंति " ती०३७ कल्प० ।

कराल-कराल-पु० कराय विक्षेपायाऽऽलति पर्याप्नोति कर लाति ला-क-वा-सर्जरसयुक्ते तैले, कृष्णकुटेरके, तुङ्गे, दन्तुरे, उन्नतदन्ते, भयानके, त्रि० मेदि० । आ० म० द्वि० । शारिचौपधौ, स्त्री० राजनि० । गौरा०ङीष् । दन्तरोगभेदे, पु० कस्तूरीमृगे, पु० स्त्री० स्वार्थे-कन् करालक' उक्तार्थे, तुलस्याम्, पु० वाच० । करालनामके वैदेहराजे, " दाण्डक्यो नाम भोज कामात् । ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमान सबन्धुराष्ट्रो विननाश करालजनकश्च वैदेह , ध० १ अधि० ।

कराव-कारि-धा०कृ-णिच् क्रियायां प्रवर्त्तने, " णेरदेदावावे ८ । ३ । ४९ इति णे स्थाने, अत-एत-आव-आवे-एते चत्वार आदेशाः । कारेइ । करावइ । करावेइ, प्रा० । अस्य भावकर्मणि । के च लुगावी क्तभावकर्मसु ८ । ३ । ५२ । णे स्थाने लुगावी इत्यादेशौ भवत क्ते भावकर्मविहिते च प्रत्यये परत । कारिअ करावि । भावकर्मणो कारीअइ करावीअइ । कारिज्जइ करा विज्जइ । अदेल्लुक्यादेरत आ ८ । ३ । ५३ । इति णेरदेल्लोपेषु कृतेषु आदेरकारस्य आ भवति । एति कारेइ लुकि कारीअ कारीअइ कारिज्जइ, प्रा० ।

करावण-कारापन-न० क्रियायां प्रवर्त्तने, प्रश्न० सव० ३ द्वा० ।

करि (ण्)-करिन्-पु० स्त्री० कर शुण्डः प्राशस्त्येनास्त्यस्य इनि । हस्तिनि, वाच० प्रश्न० ।

करिअ-कृत्वा-अव्य० कृ०-क्त्वा कृगमोमडु अ० ८ । ४ । २७ इति कृधातोः परस्य क्त्वाप्रत्ययस्य मित अडुअ इत्यादेशो वा कमुअ पक्षे करिअ करदूण, प्रा० ।

करिएव्वउं-कर्त्तव्य-त्रि० कृ-तव्य०-अपभ्रंशे, "तव्यस्य इएव्वउ

गव्वउ एव्वाः ८ । ४ । ३८ । इति तव्यप्रत्ययस्य एव्वउं एव्वउ एव्वा इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति । करणीये, " महुकरिएव्वउ किं पि ण विमरिएव्वउ परदिज्जइ " प्रा० ।

कारिंसु–कुर्वत्–त्रि० कृतवति, स्था० ८ ठा० ।

कारिंसुगसय- कृतवच्छत–न० कारिंसु इत्यनेन शब्देनोपलक्षितं शतं प्राकृतभाषया " कारिंसुगसयति " भगवत्याः सप्तविंशे शतके, भ० २७ श० । (तत्रत्या वक्तव्यता वम्घशब्दे)

करित्ता–कृत्वा–अव्य० विधायेत्यर्थे, " दुक्कराइ करित्ताणं दुस्सहाइ सहेउ य " दश० ३ अ० ।

करिदूण–कृत्वा–अव्य० विधायेत्यर्थे, प्रा० ।

करिय–करिक–पु० केवलानुसारेण चतुरशीतितमे महाग्रहे, च० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । कल्प० ।

करिल्ल–करील–न० प्रत्यग्रकन्दले, अणु० ३ वर्ग० । किमिद मभूतवशकरिलमामिप चेति, विशे० ।

करिस–कृष्–धा० विलेखने, आकर्षणे च, भ्वा० पर० अनिट् 'कृषादीनामरिः' ८।४।२४ इति ऋस्थाने अरिः। करिसइ कर्षति " कृषेः। कड्डसाअड्डाञ्चाणच्छापच्छाइञ्छा " ८।४।८६ कृषेरेते षडादेशा वा भवन्ति । कड्डइ साअड्डइ अञ्चइ अणच्छइ अपञ्छइ आइञ्छइ । पक्षे करिसइ प्रा० ।

करिस–कर्ष–पु० पलचतुर्भागे, " अर्द्धतृतीयानि धराणि एकः सुवर्णः सचैकः सुवर्णः कर्ष इत्युच्यते, ज्यो० २ पाहु० । षोडश माषः कर्षः अशीतिगुञ्जप्रमाण इत्यर्थः " दशार्द्धगुञ्ज प्रवदन्ति माष, माषाह्वयैः षोडशभिश्च कर्षम । लीला० तन्मिते सुवर्णे च विभीतकवृक्षे, पु० शब्दर०। कृष् भावे घञ् । आकर्षणे, तुदा० कर्ष-भावे-घञ् विलेखने, वाच० । स्था० ।

करिसग–कर्षक- त्रि० कृष् विलेखने एवुञ् कृष वले, उत्त० ३ अ० । " हेराणिए करिसए (कर्षकोऽभीक्ष्णयोगेन फलनिष्पत्तिं जानाति इति कम्मयाशब्दे उदाहृतम) आ० म० द्वि० ।

करिसण–कर्षण–न० तुदा०-कृष-भावे ल्युट् लाङ्गलादिना भूमेर्लेखने, हेम०। वाच०। कृषौ, प्रश्न० आश्र०१ द्वा०। भ्वा कृष भावे ल्युट् आकर्षणे, क्षीरिणीवृक्षे, राजनि०। गौरा० ङीष् वाच०।

करिसद्ध–कर्षार्द्ध–न० एकस्य कर्षस्य पलचतुर्भागरूपस्यार्द्धे अर्द्धकर्षरूपपरिमाणसूचिकायाम् तुलारेखायाम, ज्यो०१ पाहु०

करिसावण–कर्षापण–पु० कर्षेणापणयते क्रीयते रूप्यके, षोडशपणपरिमाणकर्षस्य षोडशमाशकमितत्वेन षोडशभिः पणैस्तस्य क्रयणात् तत्सख्यासाम्यात् तथात्व तत॰ प्रज्ञादि० स्वार्थे अण् । कार्षापणोऽप्यत्र अर्द्धर्चादि० तेन पु० न० वाच०। "जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा " अनु० । त० ।

करिसिय–कृशित–त्रि० । तनुके, दुर्बले, सूत्र० ३ श्रु० ३ अ० ।

करिसुत्तरा–कर्षोत्तरा–स्त्री० कर्षाद्येककर्षवृद्धिसूचिकायां रेखायाम् , कर्षोत्तराकर्षाद्येककर्षवृद्धिसूचिकाश्चतस्रो रेखा भवन्ति तद्यथा द्वितीयकर्षरूपपरिमाणसूचिका तृतीया द्विकर्षसूचिका चतुर्थी त्रिकर्षसूचिका पञ्चमी चतु कर्षसूचिका पञ्चसूचिकेत्यर्थ , ज्यो० २ पाहु० ।

करीर–करीर–पु० कृ ईरन्- घटे, मेदि० । वंशाङ्कुरे, अमर । अङ्कुरमात्र, भावप्र० । गूढपत्रे , मरुभूमिजे , उष्ट्रप्रिये वृक्षभेदे , भावप्र०। चीरिकायाम, झिल्ल्याम, हस्तिदन्तमूले, स्त्री० उणादि०वाच०। करमद्दअट्टरूसग करीरए रात्रणमहत्ये, प्रश्न.१ पद। तत्सन्निकृष्टदेशादौ, त्रि० स्त्रियां ङीष् वाच० ।

करीरपाणग–करीरपानक–न० करीरसमर्दनेन कृते पानकभेदे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

करीसंग–करीषाङ्ग–न० अग्न्युद्दीपनकारणे, उत्त० १२ अ० ।

करेंत–कुर्वत–त्रि० कृ- शतृ- चर्मकारे, भृत्ये, विश्व० । कर्तरि त्रि० स्त्रियां ङीप् वाच० । प्रश्न० ।

करेणु–करेणु–पु० कृ-एणु. के मस्तके रेणुरस्य वा गजे, अमर। कर्णिकारवृक्षे, विश्व०। वाच०। हस्तिन्याम, स्त्री०बृ०१ उ०। ज्ञा० स्वार्थे कन् करेणुकाऽप्यत्र स्त्री० रायमुकुटस्तु करेणुशब्द दीर्घान्तं पठित्वा हस्तिनि, पु० स्त्री त्याह । वाच० ।

करेणुदत्त–करेणुदत्त–पु० ब्रह्मदत्तचक्रिणः पितृवयस्ये ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, स्त्री. उत्त० १३ अ० ।

करेणुसेणा–करेणुसेना–स्त्री० ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, उत्त० १३ अ० ।

करेत्तए–कर्तुम्–अव्य० विधातुमित्यर्थे, भ०८ श० २ उ०।

करेमाण–कुर्वत्–कुर्वाण–त्रि० विदधाने, "पक्खुभिय महासमुद्दरवभूय पिवे करेमाणे" औ० ।

करोडग–करोटक–पु० कटोरके पात्रभेदे, " ततो पासेहिं करोडगा कट्टोरगा मङ्कुया सिप्पाइ पट्टाविज्जति" नि०चू० १ उ०। योगशास्त्रप्रवर्त्तके गणिनि, गोपेन्द्रादीनां गोपेन्द्रवाचककरोटकगणिप्रभृतीनाम् , प० व० ।

करोडिय–करोटिक–पु० कापालिके; ज्ञा० १ अ० । औ० । दीर्घककारादिरप्यत्र, ज्ञा० १ अ० ।

करोडिया–करोटिका–स्त्री० अतीवविशालमुखायां कुण्डिकायाम, अनु० । स्थगिकायाम, ज्ञा० १ अ० । मृण्मयभाजनविशेषे च, औ० ।

करोडियाधारि (ण्)-करोटिकाधारिन्–पु० स्थगिकाधारिणि, भ० ११ श० १ उ० ।

करोडी–करोटी–स्त्री० कपाले, ज्ञा० ८ अ० ।

कल–कल–धा० सख्याने, सक०शब्दे, अक०भ्वा-आत्म० सेट् । वाच० । कलसख्याने धातवोऽर्थान्तरेऽपि इति संज्ञानेऽपि 'कलइ' जानाति सख्यान करोतीति वा, प्रा०। विशे० प्र०। कलगतौ सख्यायां च अद० चुरा०सक० सेट्-कलयति (ते) वाच०।

कल–पु० रसोर्लशौ ८ । ४ । ८७ इति मागध्या रस्थाने ल: कर-हस्ते, प्रा० ।

कल–पु० कल शब्दे , घञ्-नि० अवृद्धि । अत्यन्तश्रवणहृदयहरे अव्यक्तध्वनौ मधुरे, ज्ञा०१ अ०। व्याकुलशब्दसमूहे, च०प्र० १९ पाहु० " कलरिभियमहुरततीतलताल वकुहवसाभिराम" ज्ञा० १७ अ० । कलाये, त्रिपुटाख्ये वृत्तचणके वा, अ० २ वक्ष० ज्ञा० १७ अ० । प्रज्ञा० । कम-मदे अच् मधान्यविशेषे, भ० १५ श० १ उ० । प्रज्ञा० । कम-मदे अच् मस्य ल शुक्रे, चरमधातौ, न० मेदि० कोलिवृक्षे, पु० शालवृक्षे, पु० राजनि० । अजीर्णे, मेदि० । कलाऽस्त्यस्य अच्-कलान्वितेऽवयवे च, वाच० ।

कलअ–कालक–पु० काल-स्वार्थे क· "वाऽव्ययोत्खातादावदातः ८ । १ । ६७ इत्यादेरातोऽत वा कलओ, कालओ कालशब्दार्थे, प्रा० ।

कलंक–कलङ्क–पुं० कलयति-क्विप्-कल चाऽसावङ्कश्च कप्रमाणमपि लङ्कयति गच्छति लकि गतौ अण् वा चिह्ने, अपवादे, ताम्रादिधातूनां मलभेदे, ताम्रादियोगात् अम्लादिविकारे च। मेदि०। वाच०। " मलकलकरफा " आव० ४ अ०। स्वनामख्याते विद्रुमभेदे, तथा चाह कलंक "भेदानेदात्मके ज्ञेये, भेदाभेदाविसम्भव " शा० म० द्वि०। ततोऽस्त्यर्थे इति कलङ्किन् तद्युक्ते स्त्रियां ङीप् तत' तारका०जातार्थे इतच् कलङ्कित । जातकलंके, त्रि० वाच०

कलंकण–कलङ्कन–न० कलङ्कस्य करणे, अभ्याख्याने, असद्दोषस्यारोपणे, प्रश्न० ८ द्वा०।

कलंकणिम्मुक्क–कलंकनिर्मुक्त–त्रि० कलङ्करहिते, ध० २ अधि०।

कलंकल–कलङ्कल–त्रि० असुन्दरवस्तुनि, स्था०।

कलंकलीभाव–कलङ्कलीभाव–पुं० संसारगर्भादिपर्यटने, आचा० १ श्रु०। असमञ्जसत्वे, औ०।

कलंत–क्लान्त–त्रि० क्लमे, " अप्पकलंताण बहुसुनेण दिवसो वइक्कतो " आव० ३ अ०।

कलंद–कलन्द–न० कुण्डके, औ०। उपा०। वर्णशङ्करजातौ, लात्यार्थ्यविशेषे, स्था० ६ ठा०।

कलंब–कदम्ब–पुं० कन्दुकरणे अम्बच् वृक्षविशेषे, औ०। प्र०। " कलंबोऽपिसायाण " स०। तस्य भेदाः " नीपो महाकदम्बः स्यात्, धाराकदम्ब इत्यपि। द्वितीयोऽल्पप्रसारश्च, वृत्तपुष्प. कदम्बक । हारिद्रस्तुरजोवल । " धूलीकदम्बको धारा-कदम्बः षट्पदप्रिय । वृत्तपुष्पं केशराढ्य , प्रावृषेण्यः कदम्बक। नीपो महाकदम्बोऽपि, तथा बहुफलो मत । इति भरत वाच०।

कलंबचीर–कलम्बचीर–न० शस्त्रविशेषे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कलंबवालुया–कदम्बवालुका–स्त्री० कदम्बपुष्पाकारा वालुका कदम्बवालुका, नरकनद्याम्, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०। सूत्र०। " महादवग्गिसंकासे, मरुम्मि वइरवालुए। कलंबवालुयाए य, दड्ढपुव्वो अणंतसो, उत्त० १९ अ०।

कलंबचीरिया–कदम्बचीरिका–स्त्री० तृणविशेषे, स च दर्भादप्यतीव तुदक । अत. " कलंबचीरियापत्तेइ वा कुतगो वा नोमरगोत्ति वा" दु स्पर्शत्वेनोपमानम् । जी० ३ प्रति० १ उ०। स्था०। कदम्बचीरिकेति विशुद्धं प्रतिभाति, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कलंबुआ–कलम्बुका–स्त्री० नालिकायाम्, पुष्पप्रधानवृक्षभेदे, सू० प्र० ४ पाहु०। जलरुहभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। कदम्बपुष्पाकारमांसगोलके, विशे०। स्वनामख्याते सन्निवेशे च। यत्र भगवतो महावीरस्य कालहस्तिना उपसर्ग. कृतो मेघेन च तद्भ्राता पूजा कृता, आ० म० द्वि०। आ० चू०।

कलंबुआपुप्फ–कलम्बुकापुष्प–न० नालिकापुष्पे, तच्च दाडिमपुष्पमिति सम्भाव्यते। सू० प्र० ४ पाहु०।

कलक–कलक–पुं० स्त्री० कल-चुरा०-ण्वुल् । शकुलमत्स्ये, हेम०। स्त्रियां जातित्वात् ङीप् वाच०। स्कन्दकाचार्यशिष्याणां वादे पराजिते द्विजातौ, येन तेषामेकोनपञ्चशतानि कुम्भानि अनशन प्रापितानि, संथा०।

कलकल–कलकल–पुं० कलप्रकार' गुणवचनत्वात् प्रकारे द्वित्वम् कोलाहले, वाच०। व्यक्तवचने, रा०। विपा०। औ०। भ०। उपलभ्यमानवचनविभागे ध्वनौ, भ० ९ श० ३३ उ०। जी०। ज्ञा०। औ०। व्याकुलशब्दसमूहे, सू० प्र० १९ पाहु०। ज०। " कलकल ण वयण छुब्भति " कलकलशब्दयोगात् कलकलम्, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०। कलस्य शालवृक्षस्य कला यत्र शालनिर्यासे, मेदि०। वाच०।

कलकलंत–कलकलायमान–त्रि० कलबोल कुर्वाणे, कलकल कुर्वति, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०। " कलकलंतबोलबहल " कलकलायमानो यो बोलो ध्वनि स बहलो यत्र स तथा, औ०। " कलकलंतक्खारपरिसित्तगाढडज्झतगत्ता " कलकलायमानक्षारेण यत्परिषिक्त परिषेक तेन (गाढमत्यर्थं) मज्झतत्ति । दह्यमानगात्र येषान्ते तथा, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०।

कलकलंतवेयरणी–कलकलायमानवैतरणी–स्त्री० कलकलायमान यत् त्रपुकादि तद्भृता वैतरण्यभिधाना या नदी सा कलकलायमानवैतरणी। नरकनद्याम्, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०।

कलकलभरिय–कलकलभृत–त्रि० चूर्णादिमिश्रजलभृते, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कलकलरव–कलकलरव–पुं० कलकललक्षणे रवे, " मयरामुहसतरुसनकलकलरवे " प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०।

कलण–कलन–न० कलयत्यनेन कलगतौ गत्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वात् ज्ञाने, करणे ल्युट् चिह्ने, वातपित्तादिदोषे च। त. स्वरूपानुमानात् तथात्वम् । ग्रहणं, ग्रासे, ज्ञाने च, वाच०। संशब्दने, संख्याने च, विशे०। " क जल लाति उत्पत्तिसाधनत्वेन तथा सन्नमति नम्-ड-क । वेतसवृक्षे, पुं० राजनि०। तस्य जलसमीपजातत्वात् तत्स्रोतसा नमनाच्च तथात्वम्, वाच०।

कलत्त–कलत्र–न० गडसेचने अत्रन् आदेश्च क इस्य ल कल त्रायते त्रैक. करु-शासने वा अत्र नरस्य लो वा भार्य्यायाम्, वाच०। दारेषु, आव० ४ अ० " मित्तकलत्ताइ सेवई " प्रश्न० आश्र० ४ द्वा०। आव०। नितम्बे, अमर । नृपाणां दुर्गस्थाने, हेमच०, वाच० ॥

कलभा कलभा–स्त्री० बालावस्थायाम् , ज्ञा० १ अ०।

कलभाणण–कलभानन–त्रि० स्वल्पमनोज्ञानने, स्त्रियां कलभाणणी व्य० ७ उ०।

कलम–कलम–पुं० कलते अराणि कल-कमच लेखन्यां, जटाधर। वाच०। "कलमावणगोधूमतित्ति " "कलमा महामलगप्पमाण गेण्हंति " नि० चू० १ उ०। शालिभेदे, स च कलम कलिविख्यातो जायते स वृहद्वने कश्मीरदेशे प्रवोक्तो महातण्डुलगर्भक इति भावप्र०। उत्खातप्रतिरोपितधान्यभेदे च० "आपादपद्मप्रणता, कलमा इव ते रघुम्" कलयति परस्व कल्-अमच् चौरे, पुं०, आचा०। आम० द्वि०।

कलमल-कलमल–पुं० अपवित्रमले " रागेण न जाणति वराया कलमलस्स निद्धमण " त०। जठरद्रव्यसमूहे, 'कलमलजम्बालाए' कलमलो जठरद्रव्यसमूह' स एव जम्बाल , स्था० ३ ठा० ३ उ०। कर्दमो यस्या सा तथा शरीरसत्काऽशुभद्रव्यविशेषे, " कलमलाहियासदुक्खबहुजणसाहरणा " कलमलस्य शरीरसत्काशुभद्रव्यविशेषस्याऽधिवासेनावस्थानेन दु'खा दूरूपा ये ते तथा। बहुजनाना साधारणाभाग्यत्वेन ये ते तथा। तत कर्मधारय., भ० ९ श० ३३ उ०।

कलमसालि–कलमशाली–पुं० पूर्वदेशप्रसिद्धे (उपा० १ अ०) शालिविशेषे, ज० २ वक्ष०।

कलमसालिणिव्वत्तिय-कलमशालीनिर्वर्तित-त्रि० कलमशालिमये, जी० ३ प्रति० ३ उ० ।

कलमोयण-कलमोदन-कलमशालिकूरे, व्य० १० उ० ।

कलल-कलल-पु० न० कल-कृपा-कलच् गर्भवेष्टचर्मणि, अमर. "एकरात्रेण पच्यमाने गर्भावयवभूते रेतोविकारे, वाच० । उत्पत्तिक्रमे, एवं "सत्ताहं कललं होइ, सत्ताहं होइ बुब्बुयं" सप्ताहोरात्राणि यावत् शुक्रशोणितसमुदायमात्रं कललं भवति, तं० ।

कलस-कलश-पु० कलं मधुरोऽव्यक्तं ध्वनिं शवति शु-गतौ वा-ड. । घटे, वाच० । भृङ्गारे, रा० । महाघटे, जं० २ वक्ष० । अस्याष्टमङ्गलेष्वन्तर्गणना । रा० । औ० । ज० । विवाहादौ, उत्सवे यो मण्ड्यते तस्यैव माङ्गलिकत्वात् ग्रहणम्, स्था० ।

कलसंग (सिंब) लिया-कलसङ्गलिका-स्त्री० ' कलत्ति ' कलाया धान्यविशेष. तेषां " संगलियत्ति " फलिका अनु० ३ वर्ग० । कलायाभिधान्यफलिकायाम्, भ० ७ श० १ उ० ।

कलसय-कलशक-पु० आकाराविशेषवति. वृहद्घटे, उपा०७अ० ।

कलसि-कलशि-स्त्री० पृश्निपर्यायाम्, अमरः । घटे, हेमचं० । अस्य कृदिकारान्तत्वात् वा ङीप् "कलशीत्यप्युभयत्र" वाच० ।

कलसिया-कलशिका-स्त्री० लघुतरे कलशे, अनु० । आतोद्यविधाने, आ०चू० १ अ० । रा० ।

कलसीपुर-कलशीपुर-न० पुरभेदे, येन घोषवतीसेना, वसन्त। कलसीपुरे। धारिता वामहस्तेन, क्षत्रियः सैष वेम(ग) वान्। ॥२३॥ प्रव० २ द्वा० ।

कलह-कलह-पु० न० कलं कामं हन्ति अत्र । हन्-वा-आधारे, ड., वाच० । द्वन्द्वाधिकरणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । वचनराटौ, भ० ३ श० ६ उ० । आतु० । परस्पर राटौ, पिं० । प्रश्न० । जी० । प्रव० । औ० । प्रज्ञा० । दशा० । स्था० । वाचिकमण्डने, आ०म०द्वि० । प्रश्न० । कलौ, प्रव० ३८ द्वा० । वाग्युद्धे, प्रति० ।जी० । द० । उत्त० । बुग्गहोत्ति वा कलहोत्ति वा भण्डणत्ति वा विवादोत्ति वा एगट्ठ " नि० चू० १६ उ० । (अहिगरणशब्दे वक्तव्यतोक्ता) महता शब्देनान्योऽन्यमसमञ्जसभाषणे, एतच्च क्रोधकार्य्यमिति (भ० १२ श० ५ उ०) क्रोधे, उत्त० ८ अ० । तद्रूपे मोहनीयकर्मणि, स० सङ्ग्रामे च, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

कलहंझाण-कलहध्यान-न० कलहो वाचिकाराटिः तस्य ध्यान कलहध्यानम् । रुक्मिणीसत्यभामयोर्व्यतिकरे, कलहप्रियदुर्योधननृपस्येव कमलामेलादिव्यतिकरे नारदस्येव वा दुर्ध्याने, आतु० ।

कलहंस-कलहंस-पुं स्त्रि०कला मधुरशब्दा येहंसा कलहंसा । राजहंसेषु, कल्प० । जी० । प्रज्ञा० ।नृपश्रेष्ठे,मेदि० । कलप्रधानो हंसः वाक्हंसभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् वाच० ।

कलहकर-कलहकर-पुं०कलहो वाचिक भण्डनं तत्करणशीलः अप्रशस्तक्रोधाद्यौदयिकभाववशतः कलहकरणशीले, आ०म० द्वि० । कलहहेतुभूतकर्तव्यकारिणि , प्रश्न० संव० ३ द्वा० । स० । " कलहकरी असमाहिकरे " आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति सचैव गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानमष्टवशं भवति, दशा० १ अ० । आ० चू० । आव० ।

कलहकारग-कलहकारक-त्रि० राटिजनके णिसायसरमताओ हवति कलहकारगा, अनु० ।

कलहप्पिय-कलहप्रिय-त्रि० राटिवल्लभे, " भेवयसरसपक्खा भवति कलहप्पिया" स्था० ७ ठा० । सारिकापक्षिण्याम्, स्त्री० राजनि०, वाच० ।

कलहमित्त-कलहमित्र-न० कलहानन्तरं जाते मित्रे, व्य० ४ उ.

कलहाभिणंदि (ण)-कलहाभिनन्दिन्-त्रि० महर्षिनारदस्थानिनि कलहप्रिये, नं० ।

कलहासंगकर-कलहासङ्गकर-कलह संग्रामस्तत्रासङ्ग सम्बन्धः कलहासङ्गस्तत्करः युद्धससर्गकृति, कलहः क्रोध आसङ्गो रागस्तयत रागद्वेषकारिणि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

कला-कला-स्त्री० कल अच्. टाप् विज्ञाने, ताश्च कलनीयभेदाद् द्विसप्ततिर्भवन्ति ।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स बावत्तरिपुरवरसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बावत्तरिकलाओ पण्णत्ताओ तंजहा । लेहं १ गणियं २ रूवं ३ नट्टं ४ गायं ५ वाइयं ६ सगरयं ७ पुक्खरगयं ८ समताल ९ जूयं १० जणवायं ११ पोक्कच्चं १२ अट्ठावयं १३ दगमट्टियं १४ अन्नविही १५ पाणविही १६ वत्थविही १७ सयणविही १८ अज्जं १९ पहेलियं २० मागहियं २१ गाहं २२ सिलोगं २३ गंधजुत्ति २४ मधुसित्थं २५ आभरणविही २६ तरुणीपडिकम्मं २७ इत्थीलक्खणं २८ पुरिसलक्खणं २९ हयलक्खणं ३० गयलक्खणं ३१ गोणलक्खणं ३२ कुक्कडलक्खणं ३३ मिंढयलक्खणं ३४ चक्कलक्खणं ३५ छत्तलक्खणं ३६ दंडलक्खणं ३७ असिलक्खणं ३८ मणिलक्खणं ३९ कागणिलक्खणं ४० चम्मलक्खणं चदलक्खणं सूरचरियं राहुचरियं गहचरियं सोभागकरं दोभागकरं विज्जागयं मंतगयं रहस्सगयं ४१ सभासंचारं ४२ वूहं ४३ खधावारमाणं ४४ नगरमाणं ४५ वत्थुमाणं ४६ खंधनिवेसं ४७ वत्थुनिवेसं ४८ नगरनिवेसं ४९ ईसत्थं छरूप्पवायं ५० आससिक्खं ५१ हत्थिसिक्खं ५२ धणुव्वेयं ५३ हिरण्णपागं ५४ सुवण्णपागं ५५ मणिपागं ५६ धातुपागं ५७ बहुजुद्धं ५८ लयाजुद्धं ५९ मुट्ठिजुद्धं ६० जुद्धं ६१ निजुद्धं ६२ जुद्धाइजुद्धं ६३ सुत्तखेडं ६४ वट्टखेडं ६५ नालियखेडं ६६ चम्मखेडं ६७ पत्तछेज्जं ६८ कडगछेज्जं ६९ सजीवं ७० निज्जीवं ७१ सउणरुयं ७२ । स० १३० पत्र ।

अत्र 'लेह' मित्यादीनि द्वासप्तति पदानि राजप्रश्नीयानुसारेण द्वितीयान्तानि प्रतिभासन्ते इत्यत्रापि व्याख्याया तथैव दर्शयिष्यन्ते समवायाङ्गानुसारेण च विभक्तिव्यत्ययेन प्रथमान्ततया स्वयं योजनीयानीति । तत्र लेखन लेखोऽक्षरविन्यासस्तद्विषया कला विज्ञानं लेख एवोच्यते त भगवानुपदिशतीति प्रकृते योजनीयम् । एवं सर्वत्र योजना कार्या । स च लेखो द्विधा लिपिविषयभेदात् । तत्र लिपिरष्टादशस्थानोक्ता अथवा लाटादिदेशभेदतस्तथाविधविचित्रोपाधिभेदतो वाऽनेकविधेति । तथापि यत्रवल्कलकाष्ठदन्तलोहताम्ररजतादयोऽ

दरगतामाधारतया लैगनोलिकरतस्यूनन्यूनतिरभिन्नद्-त्वसंक्रान्तितोऽन्तरागि भवन्तीति । विषयापेक्षयाऽप्यनेकधा स्वामिभृत्यपितृपुत्रगुरुशिष्यभार्यापतिरागमित्रादीनां लेखाविधयाऽऽसामप्यनेकत्वात्सधार्यप्रयोजनभेदाच्च तदनुदोषाः । "पतिकार्यमतिस्थौल्यं, वैषम्यं पङ्क्तिवक्रता । अतुल्यानां च सादृश्य-मविभाग पदेषु च " इति १ तथा गणितं सम्यानं संकलिताद्यनेकभेदम्पार्टीगणितम् २ रूपं लेप्यशिलासुवर्ण-मणिवस्त्रचित्रादिषु रूपनिर्माणम् ३ नाट्यं साभिनयनिरभि-नयभेदभिन्नं ताण्डवम् ४ गीतं गन्धर्वकलागानविज्ञान-मित्यर्थः ५ वादितं वाद्यं ततवितनादिभेदभिन्नम् ६ स्वरगतं गीतमूलभूतानां षड्जऋषभादीनां स्वराणां ज्ञानम् ७ पुष्करगतं पुष्करं मृदङ्गमुरजादिभेदभिन्नं तद्विषयकं विज्ञानम् वाद्यान्तर्गतत्वेऽप्यस्य यत् पृथगुपादानं तत्परमसर्गितताङ्गत्वस्थापनार्थम् ८ समतालं गीतादिमानकालस्तालः स समोऽन्यूनाधिकमात्रि-कत्वेन यस्मात् ज्ञायते तत्समतालविज्ञानम् " कचित्तालमान-मिति " पाठः ९ द्यूतं सामान्यतः प्रतीतम् १० जनवादः द्यूतवि-शेषम् ११ पाशकः प्रतीतम् १२ अष्टापदं सारिफलकद्यूतं त-द्विषयककला १३ पुरःकाव्यमिति पुरतः पुरतः काव्यं शीघ्रक-वित्वमित्यर्थः १४ (दगमट्टियामिति) दकमृत्तिकासंयुक्ता विवे-कश्चप्रयोगपूर्विका तद्विवेचनकलाऽप्युपचारादकमृत्तिका-ताम् १५ अन्नविधिं सूपकारकलाम् १६ पानविधिं दकमृ-त्तिकाकलया प्रसादितस्य सहजनिर्मलस्य तत्संस्कारक-रणम्, अथवा जलपानविधि जलपानविषये गुणदोषविज्ञान-मित्यर्थः यथा " अमृतं भोजनस्यार्धे, भोजनान्ते जलं विषम् " इत्यादि १७ वस्त्रविधिं वस्त्रस्य परिधानीयादिरूपस्य नवकोणादिविकादिभागयथास्थाननिवेशादिविज्ञानं या अनादिवस्तु अनन्तविज्ञानान्तर्गतमिति नेह गृह्यते १८ विलेपनविधिं य-क्षकर्दमादिपरिज्ञानम् १९ शयनविधिं शयनं शय्या पल्य-ङ्कादिस्तल्लक्षिभिः स चैव "कर्माङ्गुलं यवाष्टक-मुदरासक्त तुषैः परित्यक्तम् । अङ्गुलशतं नृपाणां, महती शय्या जयाय कृता ॥ १ ॥ नवतिः सैव षडूना, द्वादशहीना विष-ड्दशहीना च । नृपपुत्रमन्त्रिबलपति-पुरोधसां स्युर्यथासख्यम् ॥ २ ॥ अर्धमतोऽष्टांशोनं, विष्कम्भो विश्वकर्मणा प्रोक्तः । आयामत्र्य-शसमः, पादोच्छ्रायः सकुक्षिशिराः " ३ इत्यादिकं विज्ञानम् । अथवा शयनं स्वप्नः तद्विषयको विधिस्तु यथा पूर्वस्यां शिरः कु-र्यादित्यादिकं विधिम्, २० आर्यां सप्तचतुष्कसगणादिव्यवस्था-नियतां मात्राछन्दोरूपाम् २१ प्रहेलिका गूढाशयपद्यम् २२ मागधिकां रसविशेषम् । तल्लक्षणं चेदम् "दिसाघसुदुन्निटगणा, समेसु पोटो तओ दुसु वि जत्थ । लहु उकगणो लहु त-कगणा त मुणह मागहिअ" ति २३ गाथां संस्कृतेतरभाषानिबद्धामा-र्यामेव २४ गीतिकां पूर्वार्द्धसदृशापरार्द्धलक्षणामार्यामेव २५ श्लोकमनुष्टुब्विशेषम् २६ हिरण्ययुक्तिं हिरण्यस्य रूप्यस्य युक्तिं यथोचितस्थाने योजनम् २७ एवं सुवर्णयुक्तिम् २८ चूर्णयुक्तिं कोष्ठादिसुरभिद्रव्येषु चूर्णितेषु तत्तदुचितद्रव्यमेलनम् २९ आभरणविधिं दक्षम् ३० तरुणीपरिकर्म युवतीनामनङ्गसा-तक्रियां वर्णादिवृद्धिरूपाम् ३१ स्त्रीपुरुषलक्षणे सामुद्रिकप्रसिद्धे ३२ । ३३ हयलक्षणं दीर्घग्रीवाक्षिकूटं इत्यादिकमश्वलक्षणवि-ज्ञानम् ३४ गजलक्षणं " पञ्चोन्नतिः सप्त मृगस्य दैर्घ्य-मष्टैव हस्ताः परिणाहमानम् । एकद्विवृद्धावथ मन्द्रभद्रौ, संकीर्णनागो नियतप्रमाणः " १ इत्यादि ज्ञानम् ३५ । (गोणलक्खणति) गोजा-तीयलक्षणं " सास्नाविषाणाग्रतिरक्षा मूषिकनयनाश्च न शुभदा गावः " इत्यादिकम् ३६ कुक्कुटलक्षणं "कुक्कुटस्त्वृजुतनूरुहाङ्गुलि-स्ताम्रवक्त्रनखचूलिकः सितः " इत्यादिकम् ३७ छत्रलक्षणं यथा चक्रिणां छत्ररत्नस्य ३८ दण्डलक्षणम् "यथाऽऽतपत्राङ्कुशवेत्र-चापवितानकुन्तध्वजचामराणाम् । व्यापात १ तन्त्री २ मधु ३ कृष्ण ४ वर्ण क्रमोत्क्रमेणैव हिताय दण्डः ॥ १ ॥ मन्त्रि १ भू २ धन ३ कुल ४ लाभाय ५ रोग ५ मृत्यु ६ जननाश पर्वभिः । द्व्यादिभिर्द्वि-कविवर्द्धितैः क्रमाद्, द्वादशान्तविरतैः समैः फलम् ॥ २ ॥ यात्राप्रसि-द्धि १ द्विषतां विनाशो, २ लाभ ३ प्रभूतो वसुधागमश्च ॥ ३ ॥ वृद्धिः पशूनां ४ मभिवाञ्छितार्थं ६-इत्यादिष्वयुग्मेषु तदीश्वराणाम् " ४ इत्यादि ३९ असिलक्षणम् " अङ्गुलशतार्द्धमुत्तम, ऊनः स्या-त्पञ्चविंशति खड्गः । अङ्गुलमानाज्ज्ञेयो, व्रणोऽशुभो विषम-पर्वस्थः " १ अत्र व्याख्या अङ्गुलशतार्द्धमुत्तमः खड्गः पञ्च-विंशत्यङ्गुलप्रमाणनिनः । अनयोः प्रमाणयोर्मध्यस्थितः प्रथम-तृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वङ्गुलेषु स्थितः स अशुभः अर्थादेव समाङ्गुलेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु य स्थितः स शुभः मिश्रेषु समविषमाङ्गुलेषु मध्यम इत्यादि ४० मणिलक्ष-णं रत्नपरीक्षा ग्रन्थोक्तकाकपदमक्षिकापदकेशरादित्यशर्क-रतास्वप्नवर्णोचितफलदायित्वादिमणिगुणदोषविज्ञानम् ४१ काकणी चक्रिणो रत्नविशेषस्तस्य लक्षणं विषहरणमानो-न्मानादियोगप्रवर्त्तकत्वादि ४२ वास्तुनो गृहभूमेर्विद्या वा-स्तुशास्त्रप्रसिद्धगुणदोषविज्ञानम् ४३ स्कन्धावारस्य मानम् । "एकैभैकरथाश्वाः, पत्तिः पञ्चपदातिका । सेना सेनामुखं गु-ल्मो, वाहिनी पृतना चमूः १ अनीकिनी च पत्तेः स्या-द्विभाचे-स्त्रिगुणैः क्रमात् । दशानीकिन्योऽक्षौहिणीत्यादि" ४४ नगरमानं द्वा-दशयोजनायामनवयोजनव्यासादिपरिज्ञानम् । उपलक्षणाच्च कक्ष-शादिनिरीक्षणपूर्वकस्तम्भन्यासयथास्थानवर्णादिव्यवस्थापरिज्ञा-नम् ४५ चारो ज्योतिश्चारस्तद्विज्ञानम् ४६ प्रतिचारं प्रति-कूलश्चारो ग्रहाणां वक्रगमनादिस्तत्परिज्ञानम् । अथवा प्रति-चरणं प्रतिचारो रोगिणः प्रतीकारकरणं तज्ज्ञानम् ४७ व्यूहं युयुत्सूनां सैन्यरचनां यथा चक्रव्यूहे चक्राकृतौ तुम्बारकपरिध्या-दिषु गज रथस्थापनेति ४८ प्रतिव्यूहं तत्प्रतिद्वन्द्विनां तद्भङ्गोपा-यप्रवृत्तानां व्यूहम् ४९ सामान्यतो व्यूहान्तर्गतत्वेऽपि प्रधानान्-श्रीनिह व्यूहविशेषानाह चक्रव्यूहं चक्राकृतिसैन्यरचनामित्यर्थः ५० गरुडव्यूहं गरुडाकृतिसैन्यरचनामित्यर्थः ५१ एवं शकटव्यूहम् ५२ युद्धं कुक्कुटानामिव मुण्डामुण्डि शृङ्गिणामिव शृङ्गाशृङ्गि युयुत्सया अनयोर्वल्गनम् ५३ नियुद्धं मल्लयुद्धम् ५४ युद्धाति-युद्धं खड्गादिप्रक्षेपपूर्वकं महायुद्धं यत्र च प्रति द्वन्द्विहतानां पुरुषाणां पातः स्यात् ५५ दृष्टियुद्धं योधप्रतियोधयोश्चक्षुषोर्नि-र्निमेषावस्थानम् ५६ मुष्टियुद्धं योधयोः परस्परं मुष्ट्या हननम् । ५७ बाहुयुद्धं योधप्रतियोधयोरन्योऽन्यं सारियाल्लोरिव वि-भक्तया वल्गनम् ५८ लतायुद्धं यथा लता वृक्षमारोहन्ती आमूलमाशिरस्तमावेष्टि तथा यत्र योधः प्रतियोधशरीरं गाढं निपीड्य भूमौ पातयति तल्लतायुद्धम् ५९ (ईसत्थति) प्राकृत-शैल्या इषुशास्त्रं नागवाणादिदिव्यास्त्रादिसूचकं शास्त्रम् ६० (छरुप्पवायंति) त्सरुः खड्गमुष्टिस्तदवयवयोगात् त्सरुश-ब्देनात्र खड्ग उच्यते अवयवे समुदायोपचारस्तस्य प्रवादो यत्र शास्त्रे तत् त्सरुप्रवादं खड्गशिक्षाशास्त्रमित्यर्थः । प्रश्नव्याकरणे तु " त्सरुप्रगतम् " इति पाठः ६१ धनुर्वेदं धनुःशास्त्रम् ६२ हि-रण्यपाकसुवर्णपाकौ रजतसिद्धिकनकसिद्धी च ६३, ६४ (सु-

त्तखेमति) सूत्रखेल्ल सूत्रक्रीडाम् अत्र खेलशब्दस्य 'खेम' इत्यादेश ६५ एव वट्टखेलमपि ६६ एतत् कलाद्वय लोकतः प्रत्येतव्यम् (नालिआखेडति) नालिकाखेल द्यूतविशेषं मा भूदिष्टदायाद्विपरीतपाशकनिपतनमिति नालिकायां यत्र पाशकः पात्यते द्यूतग्रहणे सत्यपि अभिनिवेशे निबन्धनत्वेन नालिकाखेलनप्राधान्यज्ञापनार्थं भेदेन ग्रहः ६७ पत्रच्छेद्यम् अष्टोत्तरशतपत्राणां मध्ये विवक्षितसंख्याकपत्रच्छेदने हस्तलाघवम् ६८ कटच्छेद्य कटवत् क्रमाच्छेद्य वस्तु यत्र विज्ञाने तत्तथा इद च न्यूनपटोद्वेष्टनादौ भोजनक्रियादौ चोपयोगि ६९ (सजीवति) सजीवकरण मृतधात्वादीनां सहजस्वरूपापादनम् ७० (निज्जीवति) निर्जीवकरण हेमादिधातुमारण रसेन्द्रस्य मूर्च्छाप्रापण वा ७१ शकुनरुतम् अत्र शकुनपद रुतपद चोपलक्षण तेन वसन्तराजाद्युक्तसर्वशकुनसंग्रहः गतिचेष्टादिगवलोकनादिपरिग्रहश्च ७२ इति द्वासप्तति पुरुषकला , ॥ चतुःषष्टिः स्त्रीकलाः (ताश्च इत्थीशब्दे स्त्रीपुरुषकलानां परस्पर साङ्कर्येऽपि न पुनरुक्ततेत्यपि तत्रैव) ताश्च प्रथम श्रीऋषभस्वामी महाराजवासे वसन् "लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअपज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ उपदिदेश" जं० २ वक्ष० ।

(इद जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यनुसारेण व्याख्यातम् । परन्तु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तेर्निम्नलिखितकलानामर्थेषु समवायाङ्गस्य निम्नलिखितकलानामर्थास्तात्पर्यविचारतो यथासंभव लभ्यन्ते । तथाहि । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ते (१५)पञ्चदश्या कलाया समवायाङ्गस्य (२५)पञ्चविंशकलाया मधुरादिषड्रसप्रयोगरूपोऽर्थोऽन्तर्भवति । एवमङ्कक्रमेण । १६-२४ गन्धद्रव्यविरचनम् । २७-२६ आभूषणाना विरचनघटनपरिधानानि । ३४-५१ अश्वशिक्षा । ३५-५२ गजगतिशिक्षा । ३७-३४ मेषलक्षणज्ञानम् । ४१-४१ चन्द्रग्रहणादिज्ञान चर्मगुणदोषज्ञान च । ४२-३५ चक्ररत्नलक्षणम् । ४३-४८ वस्तुस्थापनविधानम् । ४४-४७ कटकनिवासविधानम् । ४५-१२,४६ नगररक्षा, नगरनिवेशविधिश्च । ४६-४१ सूर्यराहुग्रहाणामुदयास्तनादिफलज्ञानम् । ४७-४१,४२ सौभाग्यदौर्भाग्यविद्यामन्त्ररहस्यविज्ञान, सभाप्रवेशविधान च । ६४-५६,५७ मणिरत्नादिपाक , ताम्रादिधातुपाकश्च । ६७-६७ चर्मविधिविशेषविज्ञानम् । ११-११ जनवाद (लोके सहालापसलापविधिः) । अयमेवोभयोर्भेद ,अन्यत्सर्व समानम् । नन्वेव परस्परग्रन्थभेदात्सूत्राप्रामाण्यमिति चेन्न । अन्यासामन्यास्वन्तर्भावमिच्छद्भिर्ग्रन्थकारैर्नता' पृथक्तयोपात्ता । यथा ' व्यूह ' इति सामान्यकलायामेव, प्रतिव्यूहशकटव्यूहादीनामन्तर्भावमिच्छद्भि समवायाङ्गकारै पृथक्तया नो पात्ता । विशेषतयाऽऽवश्यकता दर्शयद्भिर्जम्बूप्रज्ञप्तिकारै पृथक्तया निर्दिष्टा । द्वासप्ततिसंख्यायामुभयोरपि साम्यमिति न विरोधसंभावना । वस्तुगत्या भगवद्भिः किंरूपतया का उपदिष्टेति तु केवलिन एव विदन्ति न तु चर्मचक्षुष्का इति) कल्प० । आ० म० द्वि० । प्रव० । ति० । ज्ञा० । विपा० । प्रश्न० । औ० । कलाग्रन्थाश्च नोआगमतो लौकिकभावश्रुतेऽन्तर्भवन्तीति मिथ्यादृक्प्रणीतत्वात्तेषा लौकिकभावश्रुतत्वम् तथाहि 'भारह रामायण' इत्युपक्रम्य 'अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि वेया सगोवगा' इति तत्र कलनानि वस्तुपरिज्ञानानि कलास्ताश्च द्विसप्तति समवायाङ्गादिग्रन्थप्रसिद्धा । अनु० । " चउसट्ठिकलापण्डिया चउसट्ठिगणियगुणोववेया " चतु षष्टिकला गीतनृत्यादिका स्त्रीजनोचिता वात्स्यायनप्रसिद्धा " ज्ञा० ३ अ० । "कलाना ग्रहणादेव, सौभाग्यमुपजायते । देशकालौ त्वपेक्ष्यासा, प्रयोगः सम्भवेन्न वा " ॥१॥ दश० ३ अ० । मात्रायाम्, च० प्र०१ पाहु० । अंशे, स्था० १० ठा० । पलद्वयात्मके काले, धात्वाशयान्तरस्थे देहस्थे धातुक्लेदभेदे, एकमात्रात्मकलघुवर्णे, "स्युर्विषमेऽष्टौ समे कलाः" ऋणप्रयोगे, मूलधनादधिके आयत्वेनाधमर्णेन उत्तमर्णाय दीयमाने वृद्धिरूपे, मेदि० । रजसि, नौकायाम् , कपटे च, विश्वः । वाच० । "कलाकुसलसव्वकाललालियसुहोचिया" कलाकुशलसर्वकाललालितसुखोचिताः कलाकुशलाश्च ताः सर्वकाल लालिताश्चेति कलाकुशलसर्वकाललालितास्ताश्च ताः सुखोचिताश्चेति विग्रहः । कलाकौशल्यसार्वकालिकलालनशालिनीषु सुखोपभोगयोग्यासु राजपुत्र्यादिषु, भ० ९ श० ३३ उ० ।

कलातीत–कलातीत–त्रि० त्यक्तकदाग्रहे विपश्चिद्भेदे, षो० विं० ।

कला (य) द–कलाद–पुं० कलामंशमादत्ते आ-दा० क-स्वर्णकारे, अमरः । अलङ्कारघटनार्थे गृहीतधनस्यांशहरणात्तस्य तथात्वम्, वाच० । प्रश्न० । ज्ञा० । कलादनाम्ना प्रसिद्धे मूषिकारदारके, यस्य भद्रायां स्वभार्यायामुत्पन्ना पोट्टिला नाम्नी दारिका तेतलिपुत्रेण परिणीतेति, ज्ञा० १४ अ० । आ० म० प्र० । आ० चू० । (तेतलिपुत्तशब्दे कथा)

कलाय–कलाय–पु० कलामयते अय-अण्-वृत्तचणके, प्रव० १५६ द्वा० । नि० चू० । ग० । अणु० । "कलाया वट्टचणगा" स्था० ५ ठा० ४ उ० । दशा० । " कलायरूवे " उपा० १ अ० ।

कलायरिअ–कलाचार्य्य– पु० लिप्यादिकलाशिक्षणोपाध्याये, षो० विं० ।

कलाव–कलाप–पु० कलां मात्रामाप्नोति आप्-अण्-"पोवः" ८।१।२३१। इति पस्य व । प्रा० । समूहे, ज्ञा० १अ० । ज । आ० म० प्र० । "आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियदामकलावा" प्रज्ञा० २ पद । "सूपाकलावसगणसङ्गिए" प्रज्ञा० २१ पद । स० । औ० । शिखण्डे, 'उक्खित्तचदगाइयकलावे' ज्ञा०३ अ० । ग्रीवाभरणविशेष, उपा० ७ अ० । ज्ञा० । औ० । शरपूर्णे चर्ममये भस्त्रारूपे तूणे, शरे, धनुषि, विदग्धे, वाच० ।

कलावई–कलावती–स्त्री० शङ्खराजभार्य्यायाम्, या पञ्चमे भवे कनकसुन्दरीनाम्नी मथुरायां राज्यभूत्, ती० ६ कल्प ।

कलावग–कलापक–पु० कलाप स्वार्थे–कन् कलापार्थे, हस्तिकस्कन्धबन्धे, हेमच० । एकवाक्यतापन्ने श्लोकचतुष्के, न० "कलापक चतुर्भिश्च" कलापिनो मयूरा यस्मिन् काले सोऽपि कालः कलापी उपचारात् तस्मिन् काले देये ऋणे, न० सिद्धा०कौ० । वाच० । ग्रीवाभरणे, न० । प्रश्न० सव० ५ द्वा० ।

कलावि (ण्)-कलापिन्-पु० कलापो बर्होऽस्यास्ति इति मयूरे, कलापशब्दार्थवति, त्रि० वाच० । सूत्र० ।

कलासवम–कलासवर्ण–न० कलानामंशानां सवर्णन सवर्णसदृशीकरण यस्मिन् संख्याने तत् कलासवर्णम् । संख्यानभेदे, स्था० १० ठा० । सूत्र० ।

कलि–कलि–पु० कल-शब्दादौ इन् चतुर्थयुगे, वाच० । कलौ लक्षचतुष्टय वर्षाणाम्, स्था० ४ ठा०२ उ० (परसमयाभिप्रायातदुक्तम्) जघन्ये कालविशेषे, अनु० । एकके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । प्रथमे भङ्गे, "कलीणामपढमभगे" नि०चू० १५ उ०

कलहे, प्रप० ३ द्वा०, शूरे, युद्धे च, हेम० । वाच० । स्वनामख्याते कलीनाम गुप्तपुरुषे, येन धर्मस्य 'गामघोहस्स' भार्य्या परीक्षिता, दर्श० (मुद्दशब्दे उदाहरणम्) चम्पानगर्य्याः समीपे पर्व्वतभेदे, " चपानयरीए नाइदूरे कायवरीनाम अमवी होत्था तत्थ कली नाम पव्वश्रो " ती० ५४ कल्प ।

कलिओय–कल्योज (स्)–पु० कलिना एकेन आदित एव कृतयुग्माद्यैपरिवर्तिना ओजो विषमराशिविशेषः कल्योज. इति । युग्मराशिविशेषे. (भ०) । " जेण रासीचउक्कएण अवहारेण अवहीरमाणे अवहीरमाणे एगपज्जवसिए सेत्त कलिओए " भ० १८ श० ४ उ० । स्था० ।

कलिओगकडजुम्म–कल्योजकृतयुग्म–पु० महायुग्मराशिभेदे, " जेण रासीचउक्कएणं अवहारेण अवहीरमाणे चउपज्जवसिए जेण तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्त कलिओगकडजुम्मे" कल्योजकृतयुग्मे चतुरादय । भ० ३४ श० १ उ० ।

कलिओगकलिओग–कल्योजकल्योज–पु० महायुग्मराशिभेदे, " जेण रासीचउक्कएण अवहारेण अवहीरमाणे एगपज्जवसिए जेण तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्त कलिओगकलिओगे" कल्योजकल्योजे तु पञ्चादय , भ० ३४ श० १ उ० ।

कलिओगतेओग–कल्योजत्र्योज–पु० महायुग्मराशिभेदे, "जेणं रासीचउक्कएण अवहारेण अवहीरमाणे तिपज्जवसिए जेण तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्त कलिओगतेओगे" (भ०) कल्योजत्र्योजराशौ सप्तादय. भ०३४ श० १ उ० ।

कलिओगदावरजुम्म–कल्योजद्वापरयुग्म–पु० महायुग्मराशिभेदे, " जेण रासीचउक्कएण अवहारेण अवहीरमाणे दुपज्जवसिए जेण तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्त कलिओगदावरजुम्मे" कल्योजद्वापरे षमादय भ० ३४ श० १ उ० ।

कलिंग–कलिङ्ग–पु० स्त्री० के मूर्ध्नि लिङ्गमस्य धूम्याटे पक्षिणि, भ्रमरे । तस्य मस्तके पीतचिह्नवत्त्वात्तथात्वम् स्त्रियां जातित्वेऽपि सयोगोपधत्वात् टाप् । कलिं गच्छति वा खच् मित् मुम् च । पूतिकरञ्जे, हेमच० । कुटजे, तस्य फलम् अण् तस्य लुप् । इन्द्रयवे, न० । शिरीषवृक्षे, प्लक्षवृक्षे च, मेदि० । वाच० । देशभेदे, यत्र काञ्चनपुर नगरम् । प्रज्ञा० १ पद । कल्प० । प्रव० । दर्श० । सूत्र० । आचा० ।

कलिंगराय–कलिङ्गराज–पु० कलिङ्गजनपदानां राजनि , आव० ४ अ० ।

कलिंज–कलिञ्ज–पु० क–वात लञ्जति रोधनेन ' लजि भर्जने' अच्–कटे, हेमच० । तस्य गृहाद्यावरणेन वातरोधनात्तथात्वम् वाच० । " कलिंजो णाम वसमगा कमवट्ठोसकती वि भण्णति" नि० चू० १७ उ० ।

कलिंव–कलिम्ब–पु० वशकपर्य्याम बृ० ४ उ० । नि० चू० । "कलिंबो वसकप्परी" ग०२ अधि० । शुष्ककाष्ठे, भ०८श०३उ० ।

कलिकरंड–कलिकरण्ड–पु० कलीना कलहाना करण्डक इव भाजनविशेष इव कलिकरण्ड । एकोनविंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० आश्र० ५ द्वा० ।

कलिकलह–कलिकलह–पु० राटीकलहे, " कलिकलहवेहकरण " कलिकलहश्च राटीकलहो न तु रतिकलह. । प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

कलि (लि) कलुस–कलिकलुष–न० कलहहेतुकलुषे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

कलिकुंड–कलिकुण्ड–न० कलिपर्वतस्याऽधोभूमिस्थे सगोवरे, तत्कल्पश्चायम् । अगजणवए करकंडुनिवपालिज्जमाणाए चपानयरीए नाइदूरे कायवरी नाम अडवी होत्था । तत्थ काली नाम पव्वश्रो तस्स अहो चूमीए कुंड नाम सरवर । तत्थ जूहाहिवई महिहरो नाम हत्थी होत्था । अन्नया छउमत्थविहारेण विहरन्तो पासमामी कलिकुमसमीवदेसे काउसग्गेण ठिओ सो य जूहनाहो पहु पिक्खतो जाइसरो जाओ चिंतेइ । 'अहहा ह विदेहेसु, हेमधरो नाम माहणो । अहेसि जुयाणा वि डा य मा ओवहसति, १ तओ वेरग्गेण नमिरसाहस्स साहिणो साहाए उच्च ठिओ मरिउ कामो अह दिट्ठो सुपण्डसद्धेण पुट्ठो अ कारण मए जहट्ठिए वुत्ते तेणाह सुगुरुपासे नीओ गाहिओ सम्मत्त । अते कयाणसणेण नियाण मए कय जहा भवतरे उद्धो ह हुज्ज त्ति । मरिऊण हत्थी जाओ ह । इह भवणे तओ इम भगवत पज्जुवासामित्ति चिंतिअ ततो चेव सरवराओ थित्तु सरसकमल तेहिं जिण पूएइ परिनालिअपुव्वगहिअसम्मत्तो अणसण काउ महिड्ढिओ वतरो जाओ । पयमच्चत्थुअ चारेहिंतो सोच्चा करकडू राया तया तत्थागओ । न दिट्ठो सामी । राया अईव अप्पाण निंदेइ धन्नो सो हत्थी जेण भयव पूइओ । अह तु अधन्नो त्ति । एव सोअतस्स पुरओ धरणिंदप्पभावेण नवहत्थप्पमाणा पमिमा पाउब्भूया तओ तुट्ठो राया जय जय त्ति भणतो तीए णमइ पूअइ अ चेइअ तत्थ कारेइ तत्थ निमज्ज पुप्फाणि सथुइअ पिक्खणय च कारे तेण रन्ना कलिकुमतित्थ पयासिअ । तत्थ सो हत्थी वतरो सानिज्झ करेइ पव्वए य पूरेइ, नवजतीए मुहजंताणि कलिकुममेते य कम्मकरे पयासेइ । जहा गामवासी जणो गामुत्ति भण्णइ तहा कलिकुमनिवासिजिणो वि कलिकुडो । एसा कलिकुडस्स उप्पत्ती । ती० १५ कल्प । कलिकुण्डे नागहृदे (हृदे) च श्रीपार्श्वनाथ. ती० ४५ कल्प ।

कलिगिरि–कलिगिरि–पु० चम्पानगर्य्या समीपे कलिपर्वते, यस्योपत्यकावर्ति कुण्ड नाम सर , ती० ३५ कल्प ।

कलिजुग–कलियुग–न० कर्म० स० राहुशिरोवक्तपुरुषो वा कलिरूपे युगे कालविशेषे, वाच० ।

कलियुगोत्पत्तिर्लोके एवम् ।

तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे पाणयकप्पट्ठिए पुप्फुत्तरविमाणे वीससागरोवमाइ आउ परिपालित्ता तओ चुओ समाणो तिणाणोवगओ इमीसे उस्सप्पिणीए तिसु अरएसु वइक्कतेसु अद्धनवमासाहिअपचहत्तरीवासावससेसे चउत्थए अरए आसाढसुद्धछट्ठीए उत्तरफग्गुणी रिक्खे माहणकुडग्गामे नयरे उसभदत्तमाहणभारियाए देवाणदाए कुच्छसि सीहगयवसहाइचउदसमहासुमिणससूइओ अवइन्नो । तत्थ वासीइदिणाणतरे सक्काइडेण हरिणेगमेसिणा आसोयबहुलतेरसीए तम्मि चेव रिक्खे खत्तिअकुमग्गामे नयरे सिद्धत्थरन्नो देवीए तिसलाए गब्भाविणिमय काउ गब्भम्मि साहरिओ । माएण सिणेह नाउ सत्तममासे अम्मापियरेहिं जीवतेहिं नाह समणो होहिंनि गहीआभिग्गहो नवण्ह मासाण अद्धट्ठमाणराइदियाण अते चित्तसियतेरसीअद्धरत्ते तम्मि चेव रिक्खे जाओ । अम्मापिऊहि कयवद्धमाणनामो मेरुकप्पसुरभवणा इद-

वायरणपणयणाइ पयमअवदाओ पुत्तभोगा अम्मापिऊहिं देव-त्तग्एहिं तीस वासाइं आगारवासे वसित्ता सवच्छरिअं दाण दाउ चदप्पहाए सिवियाए एगागी एगदेवदूसेण मग्गसिरक-सिणदसमीए तम्मि चेव वरिसे छट्ठेण अवरण्हे नायसंडवणे निक्खमंतो । वीयदिणे बाहुलविप्पेण पायसेण पाराविओ पच्च दिव्वाइ पाउब्भूयाइ ततो बारसवासाइ तेरसपक्खे अ नरसुरतिरियकओवसग्गे सहित्ता उग्गं च तव चरित्ता जंभियग्गामे उज्जुवालिआतीरे गोदोहिआसणेण छट्ठभत्तेण तम्मि चेव नक्खत्ते वइसाहसुद्धदसमीए पहरतिगे केवलनाणं पत्तो । इक्कारसीए अ मज्झिमपावाए महसेणवणे तित्थं पइट्ठिअं । इदभूइप्पमुहा गणहरा दिक्खिआ सपरिवारा वयनिदिणाओ भयवओ बायालीस वासा चउम्मासीओ जायाओ तजहा एगा अट्ठिअगामे, तिन्नि चंपासु, दुवालस वेसालीवाणियग्गामेसु, चउद्दस नालदारायगिहेसु, छ मिहिलाए दो भद्दियाए, एगा आलभियाए एगा पणिअभूमीए, एगा सावत्थीए, चरमा पुण मज्झिमपावाए, हत्थिपालरण्णो अ रज्जसभाए सुक्कसालाए आसि । तत्थ आउसेस जाणतो सामी सोलसपहराइ देसणं करेइ तत्थ वदिउमागओ पुण्णपालो राया अट्ठण्ह सुदिट्ठाण सुमिणाण फल पुच्छेइ भयव वागरेइ ते अ इमे । पढमो ताव चलपासाएसु गया चिट्ठति तेसु पमतेसु वि ते न णिति केवि तहा निग्गच्छति जहा तप्परूणाओ विणस्सति एयस्स सुमिणस्स फल एव दूसमगिहिवासा चलपासायत्थाणीआ सपयाण सिणेहाण निवासाण च अविरत्ताओ ह भो दुस्समाए डुप्पजीविइवाइवयणाओ गया धम्मत्थीसावया इयरपरमसमयगिहत्थेहिं लो पमत्तणेण ते अ गिहवासाए पडिहति देसभगाईहिं तहवि निग्गतु न इच्छिस्सति वयगहणेण जे विणीहिंति ते वि अविहिनिग्गमेण तओ ते विणिस्सिस्सति गिहिं सकिलेसमज्झे आगया भग्गपरिणामा भविस्सति विरला य सुसाहुणो होऊण आगमाणुसारेण गिहिसकिलेसाइ मज्झे आगए वि अवगणिऊण छुलीणत्तणेण निव्वहिस्सति त्ति पढमसुमिणत्थो । बीओ पुण इमो बहवो वानरा तेसिं मज्झे जूहाहिवइणो ते अ मज्जाण अप्पाण विलिंपति अन्नो वि अतओ लोगो हसइ ते भणति न एअमसुइ गोसीसचदण खु एय विरला पुण वानरा न लिप्पति । अते अलित्तेहिं खिसिज्जति त्ति । एयस्स फल पुण इम वानरत्थाणीआ गच्छिल्लगा अप्पमत्तत्तेण चलपरिणामत्तेण च जूहाहिवइ गच्छाहिवइ आयरिआइणो असुइविलेवण तु तेसिं अहाकम्माइ सावज्जसेवण अन्नविलेवणं च अन्नेसिं वि तक्करेण लोगहसण च तेसिं असुचियपावित्तीए य वयणहीला । ते भणिस्सति न एय गरहिय किं तु धम्मगमय विरला तदणुरोहेणावि न सावज्जे पयट्टिहिंति । ते य तेहिं खिसिज्जिहिंति जह एअवग्गीआ अकिंचिकरा य त्ति । बीयसुमिणत्थो ॥ २ ॥ तइओ पुण इमो सज्झायखीरतरूण हिट्ठे बहवे सीहपोअया पसतरूवा चिट्ठति ते य लोएहिं पससिज्जति अहिगमति य बबूलाण च हिट्ठे सुणगत्ति । फल तु एयस्सेम खीरतरुत्थाणीयाणि साहूण विहरणपाउग्गाण खित्ताणि सावया वा सड्ढेण भत्तिबहुमाणवता धम्मोवग्गहदाणपरा सुसोहरक्खावणपरा य ते य रुंधिहिंति बहुगा सीहपोयगा नीयावासिपासत्थोसन्नाई किट्टुत्तणओ अन्ने सीहासणाओ अ ते अप्पाण जणरजणत्थ पसत दरिसिहिंति । तहाविहकोउहल्लिअलोगेहिं पससिज्जिहिति अहिगमिस्सति अतव्वयकरणाओ य ते अत्थयकयाइ केई धम्मसड्ढगा वेहारुगपरिहारगवो दूइज्जति तेअ तेसिं तब्भाविआण च सुणगाइ पडिहासिस्संति अभिक्खण सुद्धधम्मकहणेणं भसिस्सति त्ति जेसु कुलेसु दूइज्जंति ते पडिहासिस्सति अवण्णाए दूसमवासेण धम्मगच्छा सीहपोअगा इव भविस्संति त्ति ॥ ३ ॥ चउत्थो पुण एव केवि कागा वावीए तडे तिसाए अभिभूया मायासर दट्ठु तत्थ गंतु पवित्ता केण वि निसिद्धा न एवं जलंति ते असद्दहता तत्थ गया विणट्ठायाति । फल तु इम वावी वाणीआसु साहुणई अइगंभीरा सुभाविअत्था उस्सग्गाववायकुसला अगाहिलगहिलो राया इइनाएण कालोचिअधम्मनिरया अणिस्सिउवस्सिया तत्थ कागसमा अइवकजडा अणेगकलकोवहया धम्मट्ठी ते अज्जयधम्मसद्धाए अभिभूया मायासरप्पाया पुण पुव्वुत्तविवरीया धम्मधारिणो अईवकट्ठाणुट्ठाणनिरया वि य परिणताओ अणुवायपयट्टत्ताओ अकम्मवंधहेउणो ते दट्ठु मूढधम्मिया तत्थ गच्छिहिंति त्ति । केण वि गीयत्थेण ते भणिहिंति जहा न एस धम्मसग्गो किं तु तयाभासोय तहवि ते असद्दहता के य जाहिंति विणिस्सिहिंति अ ससारे पयडणेण वाहिंति ते अ मूढसाहगा भविस्संति त्ति ॥ ४ ॥ पचमो इमो अणेगसावयगणाउले विसमे वणे मज्झे सीहो मओ चिट्ठइ न य त को वि सिगालाई विणासेइ कालेण तत्थ मयसीहकलेवरे कीडगा उप्पन्ना तेहिंति भक्खियं दट्ठुं ते सियालाई उवद्दवंति त्ति । फलं तु एयस्स सीहो पवयणं परवाइमयदुद्धरिसत्ताओ वण पविरलसुपरिक्खगधम्मिअजणा भारहवासं सावयगणा परतित्थिआइ पवयणपच्चणीया तेहिं एवं मन्नंति एवं पवयणमम्हाणं पूआसक्कारदाणाइवुच्छेयगरतो जहा तहा फिट्टओ त्ति विसम अमज्झत्थजणसकुल तं च पवयण मय अइसयवयवगमेण निप्पभाव भविस्सइ तहा वि पच्चणीया भएण न त उवद्दविहंति किर इत्थ परप्पर संगई अत्थि सुट्ठियत्तवत्ति कालदोसेण तत्थ कीमगप्पाया पवयणनिंदया समयतरीयाई उप्पज्जिहिंति ते य परोप्परं वि तमेसुत्ति धुव निरइसेस मेय पि त्ति निब्भयत्तेणं उवद्दविस्संति पवयणति ॥ ५ ॥ छट्ठो पुण इमो पउमागरा सरागाई अपउमा गद्दभगजूहा वा पउमा पुण रुक्करुट्टियाए ते वि विरला न तहा रमणिज्जत्ति फलं तु पउमागरत्थाणीयाणि धम्मखित्ताइ सुकुलाइ वा तेसिं धम्मो पयाट्ठिस्सइ ते वि अट्ठाणुप्पत्तिदोसाणुओ लोएण खिंसिज्जमाणा ईसाइदोसदुट्ठे तेण न स कज्जं साहिस्सति त्ति ॥ ६ ॥ सत्तमो इमो को वि करसगो डुब्बियड्ढो डुट्ठघुणक्खयाइं परोहअजुग्गाइ बीयाइ सम्म बीयाइ मन्नतो किणित्ता य खित्तेसु ऊसराइसु वयएइ तम्मज्झे सयागय विरल सुद्ध बीयं अवणेइ सुखित्त च परिहरइ त्ति एयस्स फल इम करिसगत्थाणीया दाणधम्मरुइ ते य डुब्बियड्ढा आणाग मत्ता अप्पाउग्गाणि वि संघभत्ताइ दाणाणि पाउग्गाणि मन्नता ताणवि अपत्तेसु दाहिंति इत्थ चउभगो एगो सुद्धो अप्पाउग्गमज्झे किंचि सुद्ध देय भवइ त अवपोहिंति सुपत्त वा समागय परिहरिस्सति परसाणि दाणाणि दायगा गाहगा य भविस्सति । अन्नहा वा वक्खाण अनीया असाहुणो ते वि साहुबुद्धीए डुब्बियड्ढा गिण्हिस्सति अट्ठाणेसु अविहीएसु अ वाविस्सति जहा डुब्बियड्ढो कोइ करिसओ अवीसओ अबीयाणि बीयाणि मन्नतो तहा उवेइ तत्थ वा ठावेइ जहा जत्थ य कीममावण्णा खज्जति वोप्पडाइणा वा विणस्सति अन्नहा वा परोहस्स अजोग्गाणि भवति एव अयाणगधम्मसड्ढि आपत्ता वि णिब्विणिजाणि भवति

सीए सयहुमाणमभासिमाईहिं तहा कारिस्संति जहा पुन्नपसत्थ नक्खमाइ होहिंति ॥ ७ ॥ अट्ठमो आएसो पायायमिदरे खीरोदभरिश्रा सयाइमझंफियगा घा पत्लसा चिट्ठंति तमे य भूमीए बीयरूा श्रोगासमयफलिया कालेण ते सुइफलास्सा निफाणाओ चहिश्रा बीयरूयडाण उवरि पडिया वि अपारि फलं तु फलसमाणीश्रा सुराइणो पुव्वं उग्गहरिदारेण विहरंता पुज्जा होऊण कालादोसश्रो निवासयमग्गा उद्धरिश्रा उसप्पीसूया सीयलविहारिणो पायं भविस्संति इयरे पुण पासत्थाई भूमिट्ठिया चेव भूमिरयणोगासप्पाय समरमहाणमयफलिश्रा बीयरूयकप्पाया लिस्सपरिणामा चेव होहिंति ते य सुराइणो हसता श्रयादिहागसउमायाश्रो बीयरूयगणकप्पाणं पासत्थाईणं उवरिं पान करिस्संति गे य मागिसरसामएण पीमिया सता निरूयसएण सुहरय मेसि सविलेम मा य होहिंति तो पगप्परयिवायं कुणतो या वि सज्जमाणो भमिस्सति "रुद्धे तवगारगिआ, अन्ने सिढिला सयमम्मदिवियातु । सत्तुत्थयामणतुसिति, होहिंति अपुतृधम्माणो ॥ १ ॥" केइ पुण अगारिश्रे नरिंदाइजगयसक्खाणगविहीए कालाइदोसे वि अप्पाण निच्चरइस्संति त य सम्माणयमेयं पजयंति पुत्रायरिस्सा पुरि किर पुहवीपुरीए पुणो नाम राया तस्स भज्जा सुपुत्ती नाम भगया सोगदेवो नाम नेमिंत्तिओ भागओ सो य दुब्भिक्खमतिगा भागमेसि काल पुट्ठो तेण भणिअ मास.पतरे एत्थ जलहरो वरिसिस्सइ तस्स जल जो पाहिइ सो सव्वो वि गहग्गहो भविस्सइ किंचिय वि काले गए सुपुट्ठी भविस्सइ तज्जलपाणेण पुणो जणा सुत्थि भविस्सति तओ भणिणा तं राइणो विनत्तं रण्णा वि पडहघोसेण वारिसं गहत्थो जणो आइट्ठो जणेण वि तस्सगहो कओ मासेए वुट्ठो मेहो न य संगहियं नीर कालेण निट्ठियं लोएहिं नवोदग चेव पाउमाढत्त तओ गहिलीहूया सव्वलोगा सामंताई गायति नच्चति सुरयाए वि चिट्ठतो केवल राया समच्चो अ सगहिअ जलं न निट्ठियंति तं चेव मुत्था चिट्ठंति तओ सामंतार्णेहि विसरिसचिट्ठे रायसामच्चे निरिक्खिऊण परप्पर मतिअं जहा गहिल्लो राया मंतीया एए अम्हाहिंतो वि विसरिसायारा तओ एए अवसारिऊण अन्नरे अप्पतुल्लायारे रायाण ठवाविस्सामो मंतीऊण तेसिं मंत नाऊण राइणो विन्नवेइ रण्णा वुत्त कहमेए हुंतो अप्पा रक्खियव्वो चिट्ठइ नरिंदतुल्लं हवइ मंतिणा भणियं महाराय! अगहिलेहिं पि अम्हेहिं गहिल्ली होऊण गयव्वं न अन्नहा मुक्खो तओ किंत्तिमगहिल्ली होउ ते राया मच्चा तेसिं मज्झे निअमयय रक्खंता चिट्ठति तओ ते सामंताई तुट्ठा अहो राया मच्चा वि अम्हसरिसा संजायत्ति उवाएण तेण तेहिं अप्पा रक्खियो तओ कालंतरेण सुहवुट्ठी आया नवोदगे पाए सव्वे लोगा पगइमावण्णा सुच्छा संवुत्ता एव दूसमकाले गीयत्था कुलिंगीहिं सरिसा होऊण वट्टता अप्पणो समय भाविण पडियालितो अप्पाणं निव्वाहइस्संति एव भावि दूसमविलसिअसूअगाण अट्ठण्हं सुमिणाणं फल सामिमुहाओ सोऊण पुन्नपालनरिंदो पव्वइओ सिद्धं गओ एय च दूसमासमाविलसिअ लोच्या वि कलिकालव्ववएसेण पयासिंति जहा पुव्वि किर धावरजुगउप्पन्नेण रण्णा जहुट्ठिल्लेण रायवाहिआगएण कत्थ वि पएसे वच्छियाए हिट्ठो एगा गावी थणपाणं कुणंती दिट्ठा त च अच्छेरय दट्ठूण राइणा हियधरा पुट्ठा किमेयंति तेहिं भणिअ देव! आगामिणो कलिजुगस्स सूयगमेय इमस्स अच्छुभस्स फलमिणं कलियुगे अम्मापिअरो कण्णय कस्स वि रिद्धिसंपन्नस्स दाउ त उवजीविस्संति तओ दविणगहणाइणा तओ अग्गउ जुत्तं पच्छिमएण सलिलवीमालियवालुयाए रज्जु उ वरंता के वि दिट्ठा खणमित्तेण ताओ रज्जुओ वायायवसजोगेण मुक्कालिआ तओ महाराइणा पुच्छिएहिं भणिअ दिएहिं महाराय! एयस्स फल ज दविण किच्छवत्तीए लोया विढविस्संति त कलिजुगम्मि चोरग्गिरायदंडदाईएहिं विणस्सिहइ पुणरवि पग्गओ गहिलएण धम्मपुत्तेण दिट्ठ अह वीमपलुट्ठिअ जलं कूवे परत तत्थ वि वुत्त माहणेहिं देव ज दव्व पयाओ असिमसिकिसिवाणिज्जाईहिं उवज्जिहिति त सव्वे रायउले गच्छिहिंति एएसु जुगेसु किर रायाणो नियदव्व दाऊण लोअं सुहिअ करिस्सु पुणो पुरओ वच्चतेण निवइ एगरायचंपय तरू च एगम्मि पएसे दिट्ठा तत्थ समीवायवस्स वेइयावद्धजमणगधमलाइपूया गीयनट्टमहिमा य जणेण कीरमाणी पलोइआ चंपयस्स तरुणो वत्तायारस्स वि महमहिमकुसुमसमिद्धस्स वि घत्त वि को वि न पुच्छिस्सत्ति तस्स फल वरवाणिय विप्पेहिं जहा गुणवत्ताण महप्पाण सज्जाणाण न पूआ भविस्सइ न य गिरिं पायंदिति निग्गुणाण पाविट्ठाण खलाण पूआ सक्कारो इट्ठी य कलिजुगे भविस्सइ भुज्जो पुरोपविट्ठिएण राइणा दिट्ठा एगा सिला लुहमच्छिद्दयरूवावग्गआलयणेण अतरिक्खट्ठिआ तत्थ वि पुट्ठेहिं सिद्ध सुत्तकठेहिं जहा महाभाग! कलिकाले सिलातुल्ल पाव विउल भविस्सइ वालग्गसरिसो धम्मो पयट्टिही पर तिच्चियस्स वि धम्मस्स माहप्पेण कंचिकाल निव्वरिस्सइत्ति लोओ तम्मि वि तुट्टे सव्व बुडिस्सइ दूसमसुसमाए पुव्वसूरीहिं पलोइया विक्खाए कलिजुगमाहप्पमित्थ साहिय

" कूवावाहजीवण-तरुफलविहगा वि घत्थधावणया ।
लोए थिथजकलिमल-सप्पगरुइपूअपूआय ॥ १ ॥
हत्थगुलिदुगघट्टण-गयगद्दभसगरुयालम्मिलधरण ।
एमाइं आहरणा, लोअम्मि वि कालदोसेण ॥ २ ॥
लयघरकलहकुलेयर-मेराअणुलुरूधम्मपुढविहिई ।
वालुगचकारज्जो, एमाइआइ सहेण ॥ ३ ॥
कलिअयारे किलिनि-जएसु चउसु पि परूवेसु तह ।
मोइवहाइकहाए, जामिगजोगम्मि कहिणाओ ॥ ४ ॥
तत्तो जुहट्ठिलेण, जियम्मि ठिइदाइए तम्मि ।
एमाइं अट्ठुत्तर-सएण सिद्धानियट्ठिइ त्ति " ॥ ५ ॥

एयासिं गाहाणं अत्थो कूवेण आवाहो उवजीविस्सइ । राया कुवणत्थाणीओ सव्वेसिं धनखत्तिअवइससुद्दाण भरणीयत्तणेण आवाहतुल्लाए कलिजुगदोसाओ अत्थग्गहण करिस्से १ तहा तरूण फलनिमित्तो वहो छेओ भविस्सइ फल तुम्हा पुत्तो तरुतुल्लस्स पिउणो घहपारय उद्देस गधणपत्तलेहणा उप्पाइस्सइ २ वच्छियातुल्लाए कण्णाए विक्कमाइणा गोतुल्ला जणणी धावणतुल्ला उवजीवण करिस्सइ ३ होइसई कडाही तिस्सावि घरा सो सुगंधितिलघयपागवित्थाए कलमलस्स पिसियाइणो पागो हविस्सइ । स जाइवग्गपारेहारेण अनालयरूसु परजणेसु आदाण भविस्सइ त्तिभावो ४ सप्पसरिसेसु निद्दाएसु धम्मवज्झेसु दाणाइसक्कारो गरुरूप्पायेसु पुज्जेसु धम्मचारिसु अपूया य भविस्सइ ५ हत्थस्स अंगुलिदुगेण घट्टण घवण भविस्सइ हत्थतुल्लस्स पिउणो अंगुलिदुगतुल्लेहिं बहुपुत्तेहिं लयगघरकरणाइओ घट्टण नास लोओ भविस्सइ ६ गयवोढव्व सगम गद्दभवोढव्व भविस्सइ गयत्थाणीएसु उच्चकुलेसु गद्दभत्था य सगरुवाहणोचिएसु कलहो नायलो वा भवि-

स्सइ इय नीयकुलेसु गहन्नत्थाणीएसु मेरा नीई भविस्सइ ७ बालवज्ञा सिला धरिस्सइ अणुम्मि सुहुमयरे बालप्पाएसु धम्मे सत्थाणुसारिणिसिलातुल्लाए पुढवीए निम्नियासिलोअस्स ठिई निव्वहण भविस्सइ ८ जहा वालुयाए चक्को तया गहिट्ठ न तीरइ एव आरजाओ वि वाणिज्जकिसिसेवाई आउविसिद्ध पयासाणरूव फलं न पाविस्सइ ए सेसगाहा डुगन्थोकहाणय- गम्मो त चेम किल पचपढवा दुज्जोहणदूसासणाओ भाहुसए कण्णगंगेयदोणायरिएसु अ सगामसीसे निहएसु चिर रज्ज प- रिवालिअ कलियुगपविसकाले महापह पट्ठिआ कत्थ वि वणु- इसे पत्ता तओ रत्तीए जुहिट्ठिलेण भीमाइणो पइपहरपाहरि- अत्ते निरूविआ ततो सुत्तेस्सु धम्मपुत्ताइसु पुरिसरूव काउ कली भीममुट्ठिअट्ठिओ अहिखित्तो य तेण भीमो । रेभावअ ! गुरुपिआमहाइणो सपइ धम्मत्थ पट्ठिओ तुम ता केरिसो तुह धम्मो तओ भीमो कुद्धो तेण सह जुज्झिउमारद्धो जहा जहा भीमो जुज्झइ तहा तहा कली वड्ढइ तओ निज्जिओ कलिणा भीमो । एव बीयजामे अज्जुणो तइअचउत्थजामेसु नकुलसह- देवा तेण अहिखित्ता रुट्ठा निज्झिया य तओ सावसेसाए निसाए उट्ठिएसु जुहिट्ठिल्ले जुज्झिओ तुट्ठो कली ते उरवतीए च्चेव निज्जिओ कली सो सकोअनेउ सरावमज्झे ठविओ पभाए य भीमाईण दसिओ । एस सो जेण तुम्हे निज्झिया एमाईणं ड्ढितुताण अट्ठुत्तरसएण महाभारहे वासे सिणा कसिट्ठिई द- सियत्ति । अल पसगेण । ती० २१ कल्प० ।

कलित्त–कमि (लि) त्र–न० क्षतविशेषे, ज्ञा०१ अ० । औ०।

कलिदप्पदह–कलिदर्पन्हृद–न० हास्तिनापुरस्थे न्हदभेदे, ती० ४ए कल्प० ।

कलिय–कलित–त्रि० कल–कर्मणि–क्त–युक्ते, स० । स्था०। ज्ञा० प्रश्न० । “ सुदरथणजघणवयणकरचरणणयणलावण्णविलास- कलिया ” विपा० १ श्रु० २ अ० । रा०। ज०। औ०। उपेते, बहु- रत्नजपेयकलिअ ” प्रश्न० आश्र० २ द्वा० । आचा० । विदिते, प्राप्ते, च मेदि०। भेदिते, सख्याते, शब्दर० ।गृहीते, उक्ते, विचा- रिते, बद्धे, च भावे क्त· ज्ञानलाभादौ, न० वाच० ।

कलुण–करुण–त्रि० करोति मन आनुकूल्याय क उनन् “ हरि- द्रादौ ल·८।१।५४ इति रस्य ल· प्रा०। करुणोत्पादके, ।विपा०१ श्रु० ७ अ० । प्रश्न० । दयास्पदे, प्रश्न०। आश्र० ३ द्वा०। विपा०। दीने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । “ कुत्सित रौत्यनेनेति निरु- क्तिवशात्करुणः । करुणास्पदत्वात्करुण । प्रियविप्रयोगादिदु - खहेतुसमुत्थे शोकप्रकर्षस्वरूपे रसविशेषे, अनु० ।

अथ हेतुतो लक्षणातश्च करुणरसस्वरूपमाह ।

पिअविप्पओगबंध–वहवाहिविणिवायसंभमुप्पण्णो ।
सोइअविलविअपराहाय, रुण्णलिंगो रसो करुणो ॥१६॥

प्रियविप्रयोगबन्धव्यथाव्याधिविनिपातसभ्रमेभ्य समुत्पन्नः करुणो रस इति योगस्तत्र विनिपात· सुतादिमरण सभ्रम प- रचक्रादिभय शेष प्रतीम । किं लक्षण इत्याह । शोचितविलपि- तप्रम्लानरुदितानि लिङ्गानि लक्षणानि यस्य स तथा । तत्र शोचित मानसो विकारः शेषं विदितमिति ।

उदाहरण यथा ।

पज्झाय किलामि अय, वाहागयपप्फुअत्थिअं बहुसो ।
तस्स विओगे पुत्तया, दुब्बलयं ते मुहं जायं ॥१७॥

अत्र प्रियविप्रयोगभ्रमितां बालां प्रति वृद्धा काचिदाह तस्य कस्यचित्प्रियतमस्य वियोगे पुत्रिके दुर्बलक ते मुख जात कथ भूतम । (पज्झायकिलामितयति) प्रध्यात प्रियजनविषयमति- चिन्तित तेन क्लान्तम (वाहागयपप्फुअत्थियति) बाष्पस्यागनमा- गमन तेनोपप्लुते व्याप्ते अक्षिणी यत्र तत्तथा बहुशोऽभीक्ष्ण- मिति ॥१७॥ अनु० ३४० पत्र०। कामभेदे, मनुष्याणां करुणा म- नोज्ञत्वस्या तथाविधत्वात् तुच्छत्वेन क्षणदृष्टनष्टत्वेन शुक्रशो- णितादिप्रभवदेहाश्रितत्वेन च शोचनात्मकत्वात् करुणो हि रस· शोकस्वभावः करुण शोकप्रकृतिरिति वचनादिति, स्था० ४ ठा० ४ उ० । वृत्तभेदे, पु० वाच० ।

कलुणवामिया–करुणप्रतिज्ञा–स्त्री० करणार्थं गृह्णामीत्येव प्रति- ज्ञाने, “कलुणपडियाए जाएज्जा धम्मियाए जायणाए जाए- ज्जा” आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

कलुणाविणीय–करुणविनीत–त्रि० करुणालापविनयपूर्वके,“म णवधणेहिं णेगेहिं कलुणाविणीयमुवगसित्ताण ” सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

कलुणा–करुणा–स्त्री० कृपायाम, पो० ४ विव० । दीनादिष्वनु- कम्पायाम, ध० १ अधि० ।

करुणा दुःखहानेच्छा, मोहादुःखितदर्शनात् ।
संवेगाच्च स्वभावाच्च, प्रीतिमत्स्वपरेषु च ॥

(करुणेति)दु खहानस्य दुःखपरिहारस्येच्छा सा च मोहादज्ञा- नादेका यथा ग्लानयाचिता पथ्यवस्तुप्रदानाभिलाषलक्षणाऽ- न्या च दुःखितस्य दीनादेर्दर्शनात् तस्य लोकप्रसिद्धाहारवस्त्र- शयनासनादिप्रदानेन सवेगान्मोक्षाभिलाषाच्च सुखितेष्वपि स- त्वेषु प्रीतिमत्सु सांसारिकदु·खपरित्राणेच्छा छद्मस्थानामपरा पुनरपरेषु च प्रीतिमत्ता सबन्धिविकलेषु सर्वेष्वेव स्वभावाच्च प्रवर्त्तमाना केवलिनामिव भगवतां महामुनीनां सर्वानुग्रहपरा यणानामित्येव चतुर्विधा । तदुक्त “ मोहासुखसवेगान्यहितयुता चैव करुणेति ” द्वा० । षो० ४ विव० ।

कलुस–कलुष–पु० स्त्री० कल–उष च सुर्पाहिंसायां कस्य जल- स्य लुषो घातक इति वा । महिषे, राजनि० ।स्त्रियां जातित्वात् । ङीप् अनच्छे, आविले, त्रि० अमरः। गर्हिते, त्रि०। शब्दचि०। अ- क्षीण अनच्छे, आविले, त्रि० अमरः। गर्हिते, त्रि०। शब्दचि०। अ- समर्थे, वाच० । प्रीतिवर्जिते, स्था० ४ ठा० ४ उ०। द्वेषलोभादि- लक्षणे पापे, नपु० स०। प्रश्न०। सूत्र०“कम्मति वा खहति वा वो- णानि कलुसति वा वेज्जति वा वेरति वा पकोत्ति वा मलोत्ति वा एते “कलुस- पगचित्ता” नि० चू०१२ उ०। आ० चू०। कासाये, पु० “कलुस- स्स य णिक्खेवो चउब्विहो कोहादि पकारो” नि० चू०१ उ०।

कलुसकम्म (ण)–कलुषकर्मन्–न० मित्रद्रोहादिव्यापाररूपे मलीमसे कर्मणि, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

कलुससमावन्न-कलुषसमापन्न-त्रि मतिमालिन्यमुपगते,ज्ञा०३अ । एवमिद सर्व जिनशासनोक्तमन्यथा वेति कलुषसमापन्ने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । “ स सकिते जाव कलुससमावण्णे णो सचाए त्ति ” कलुष समापन्न प्राक्तननिश्चयविपर्ययलक्षण अथवा गोशालकमतानुसारिणां मतेन मिथ्यात्व प्राप्त इत्यर्थ । अथवा कलुषभाव जितोऽहमनेनेति खेदरूपमापन्न इति, उपा०६ अ० ।

कलुसहियय–कलुषहृदय–त्रि० दुष्टचित्ते, ज्ञा० १६ अ० ।

कलुसाउ (वि) लचेय–कलुषाकु (वि) लचेतस्–त्रि० क-

रत्र संभवत्येते ज्ञाननिर्वाणे समाहारद्वन्द्वत्वात्केवलज्ञाननिर्वृत्योरेव च केषां गर्भादिष्वित्याह भुवनगुरूणां जगज्ज्येष्ठानां जिनानामर्हतां किमित्याह । कल्याणानि स्वःश्रेयसानि भवन्ति वर्त्तन्ते ज्ञातव्यानि ज्ञेयानीति गाथाद्वयार्थः । ततश्च ।

तेसु य दिणेसु धण्णा, देविंदाई करिंति भत्तिणया ।
जिणजत्तादिविहाणा, कल्लाणा अप्पणो चेव ॥३२॥

तेषु च पुनर्दिनेषु दिवसेषु येषु गर्भादयो बभूवुर्धन्या धर्मधनं लब्धारः पुण्यभाजः इत्यर्थः । देवेन्द्रादयः सुरेन्द्रप्रभृतयः कुर्वन्ति विदधति भक्तिनता बहुमाननम्राः किमित्याह । जिनयात्राद्यर्हदुत्सवपूजास्नात्रप्रभृतिस्थ कुत इत्याह । विधानाद्विधिना अथवा जिनयात्रादिविधानानि किं भूत जिनयात्रादीत्याह । कल्याणं स्व श्रेयस कस्येत्याह । आत्मनः स्वस्य चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां चेति गाथार्थः यत एवम् ।

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिं पि तेसु कायव्वं ।
जिणजत्तादिसहरिसं, ते य इमे वद्धमाणस्स ॥३३॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्ता जीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणाः । ते इति येषु जिनगर्भाधानादयो भवन्ति दिना दिवसाः दिनशब्दः पुंल्लिङ्गेऽप्यस्ति प्रशस्ताः श्रेयांसस्तत किमित्याह । ता इति यस्मादेव तस्मात् शेषैरपि देवेन्द्रादिव्यतिरिक्तैर्मनुष्यैरपि न केवलमिन्द्रादिभिरेवेत्यपिशब्दार्थः । तेषु गर्भादिकल्याणदिनेषु कर्त्तव्य विधेय जिनयात्रादि वीतरागोत्सवपूजाप्रभृतिकं वस्तु सहर्ष सप्रमोद यथा भवति कानि च तानि दिनानीत्यस्यां जिज्ञासाया सर्वजिनसम्बन्धिनां तेषां च वक्तुमशक्यत्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नत्वादेकस्यैव महावीरस्य तानि विवक्षुराह (ते य त्ति) तानि पुनर्गर्भादिदिनानि इमानि वक्ष्यमाणानि वर्द्धमानस्य महावीरजिनस्य भवन्तीति गाथार्थः ।

तान्येवाह ।

आसाढसुद्धछट्ठी, चेते तह सुद्धतेरसी चेव ।
मग्गसिरकिण्हदसमी, वइसाहे सुद्धदसमी य ॥३४॥
कत्तियकिण्हे चरिमा, गब्भाइदिणा जहक्कमं एते ।
हत्थुत्तरजाएणं, चउरो तह सातिणा चरमो ॥३५॥

आषाढशुद्धषष्ठी आषाढमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठीतिथिरित्येव दिनमेव चैत्रमासे तथेति समुच्चये । शुद्धत्रयोदश्येवेति द्वितीयं चैवेत्यवधारणे । तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयम् । वैशाखशुद्धदशमीति चतुर्थं चशब्दः समुच्चयार्थः । कार्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् एतानि किमित्याह । गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसा यथाक्रम क्रमेणैवैतान्यनन्तरोक्तान्येषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यासां हस्तोपलक्षिता वा उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तरफाल्गुन्यस्तासांयोग सम्बन्धश्चन्द्रस्येति हस्तोत्तरायोगस्तेन करणभूतेन चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति तथेति समुच्चये स्वातिना स्वातिनक्षत्रेण युक्त (चरमोत्ति) चरमकल्याणकदिनमिति प्रकृतत्वादिति गाथाद्वयार्थः ।

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्याह ।

अहिगयतित्थविहाया, भगवंति णिदंसिया इमे तस्स ।
सेसाण वि एवं चि य, णियणियतित्थेसु विसेया ॥३६॥

अधिकृततीर्थविधाता वर्त्तमानप्रवचनकर्त्ता भगवान्महावीर इति हेतोर्निदर्शितान्युक्तानि इमानि कल्याणकदिनानि तस्य वर्द्धमानजिनस्य अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह शेषाणामपि न वर्द्धमानस्यैव ऋषभादीनामपि वर्तमानावसर्पिण्यां भरतक्षेत्रापेक्षया एवमेवेह तीर्थे वर्द्धमानस्येव निजनिजतीर्थेषु स्वकीयप्रवचनावसरेषु विज्ञेयानि ज्ञातव्यानि मुख्यवृत्त्या विधेयतयेति । इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपभारतानामृषभादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च यान्येव च एतेषामस्यामवसर्पिण्यां तान्येव व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ पंचा० ८ विव० (कल्याणकेषु यात्राविधान अणुजाण शब्दे उक्तम्)

अथ षट्कल्याणकवादी प्राह ।

ननु " पंचहत्थुत्तरे साइणा परिनिव्वुडेत्ति " इति वचनान्महावीरस्य षट् कल्याणकत्व संपन्नमेव नैवम् एवमुच्यमाने "उसभेण अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीइ छट्ठे होत्थाति" जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवचनात् श्रीऋषभस्यापि षट् कल्याणकानि वक्तव्यानि स्युः न च तानि त्वयापि तथोच्यन्ते तस्माद्यथा पञ्च उत्तरासाढे इत्यत्र नक्षत्रसाम्यात् राज्याभिषेको मध्ये गणितः परं कल्याणकानि तु "अभीइछट्ठे" इत्यनेन सह पञ्चैव तथाऽत्रापि "पंचहत्थुत्तरे" इत्यत्र नक्षत्रसाम्याद् गर्भापहारो मध्ये गणितः परं कल्याणकानि तु "साइणा परिनिव्वुडे" इत्यनेन सह पञ्चैव तथा श्रीआचाराङ्गटीकाप्रभृतिषु " पंचहत्थुत्तरे " पञ्च वस्तून्येव व्याख्यातानि न तु कल्याणकानि किं च । श्रीहरिभद्रसूरिकृतयात्रापञ्चाशकस्य अभयदेवसूरिकृतायां टीकायामपि आषाढशुक्लषष्ठ्यां गर्भसंक्रमः १ चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां जन्म २ मार्गसितदशम्यां व्रतम् ३ वैशाखशुद्धदशम्यां केवलं ४ कार्तिक्यामावस्यायां मोक्षः ५ एवं श्रीवीरस्य पञ्च कल्याणकानि उक्तानि । अथ यदि षष्ठं स्यात्तदा तस्यापि दिनमुक्तं स्यात् अन्यच्च नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्वकथनमनुचितम् । अथ " पंचहत्थुत्तरे " इत्यत्र गर्भापहरणं कथमुक्तमितिचेत् सत्यम् अत्र हि भगवान् देवानन्दाकुक्षौ अवतीर्णः प्रसूतवती च त्रिशलेति असंगतिः स्यात्तन्निवारणाय " पंचहत्थुत्तरेति " वचनमित्यलं प्रसंगेन । कल्याणकानि पञ्चैव कल्प० सु० । पञ्चकल्याणकशोध्या अतीचाराः (पंचकल्लाणगशब्दे) काम्पिल्यपुरस्य नगरस्य राज्ञो ब्रह्मदत्तस्य आहारे, नि०चू०१ उ० । महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवान्यद्वेति प्रश्ने उत्तरमाह । महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवेति न सम्भाव्यते यदा अत्रत्यतीर्थकृतां च्यवनादिकल्याणकं तदा तत्र दिवससद्भावात् तत्प्रतिपादकान्यक्षराण्यपि नोपलभ्यन्ते, । ह्री० २ प्रश्न० ।

कल्लाणगघत–कल्याणकघृत–न० सुश्रुतोक्ते ओषधिभेदयुक्ते घृतभेदे, नि०चू० १ उ० । (तन्निर्माणविधिः सुश्रुते एतच्छब्दे एव वाचस्पती च)

कल्लाणगजत्ता–कल्याणकयात्रा–स्त्री० कल्याणकदिवसेषु कल्याणकजिनोत्सवे, पचा० ६ विव० ।

कल्लाणगतव–कल्याणकतपस्–न० तपोविशेषे, प्रव० द्वा० । तथाधिकमासे कल्याणकानि पूर्वे पाश्चात्ये वा मासि क्रियन्ते केवन परपाक्षिका वदन्ति प्रथमश्रावणकृष्णपक्षे द्वितीयश्रावणशुक्लपक्षे कल्याणकतपो निर्धार्यते तत्सङ्गतवितथं वेति प्रश्ने । उत्तरम् । दैवकमासापेक्षया वृद्धिप्राप्तं विमुच्य कल्याणकतपःकरणयुक्तिमदिति, सेन० १५१ प्र०३ उल्ला० । तथा चैत्रमासवृद्धौ कल्याण-

कादि तप प्रथमे द्वितीये वा मासि कार्यत इति प्रश्ने । उत्तरम् प्रथमचैत्रासितद्वितीयचैत्रसितपक्षाभ्यां चैत्रमाससत्क कल्याणकादि तपः श्रीतातपादैरपि कार्यमाण दृष्टमस्ति तेन तथैव कार्यमन्यथा भाद्रपदवृद्धौ मासक्षपणादितपांसि कुत्र क्रियन्तामिति ११८ सेन० ३ उल्ला० । (तद्वक्तव्यता पंच-कल्लाणगशब्दे वक्ष्यते)

कल्लाणगवत्थपरिहिय–कल्याणकवस्त्रपरिहित–त्रि० कल्याणक कल्याणकारि प्रवरवस्त्र परिहितं यैस्ते कल्याणकवस्त्रपरिहिताः । सुखादिदर्शनाभिष्टान्तस्याऽत्र पाक्षिक परनिपात परिहितप्रवरकल्याणकवस्त्रेषु, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

कल्लाणणयर–कल्याणनगर–न०कल्याणदेशे नगरभेदे, "इत्थोत्र कल्लाणदेसे कल्लाणनयरे सफरो नाम राया जिणभत्तो हुत्था " ती० ५१ कल्प० ।

कल्लाणदियह–कल्याणदिवस–न० पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्ध-दिने, " मणुरुव फायव्वा जिणाण कल्लाण दियहेसु " पंचा० ए विव० ।

कल्लाणपरंपरा–कल्याणपरम्परा–स्त्री० माङ्गल्यपदार्थसन्ततौ, सथा० । ध० ।

कल्लाणपावय–कल्याणपापक–न० इष्टाऽनिष्टफले शुभाऽशुभे-कर्मणि, उपा० २ अ० ।

कल्लाणपुक्खलविसालसुहावह–कल्याणपुष्कलविशालसुखा-वह–त्रि०कल्याणं पुष्कल संपूर्णं न च तदल्प किन्तु विशाल विस्तीर्णमेवभूत सुखमावहति प्रापयतीति कल्याणपुष्कलविशालसुखावह । अपवर्गसुखप्रापके, " कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स, को देवदाणवणरिंदगणच्चियस्स । धम्मस्स सारमुवलब्भकरे पमाय " ध० २ अधि० ।

कल्लाणफल–कल्याणफल–त्रि० निःश्रेयससाधने, पचा० ९ विव० ।

कल्लाणफलविवाग–कल्याणफलविपाक–न० कल्याणस्य पुण्यस्य कर्मणः फल कार्य्यं विपाच्यते व्यक्तीक्रियते यैस्तानि कल्याणफलविपाकानि । पुण्यफलविपाकेषु अप्रश्नव्याकरणेषु अध्ययनेषु श्रीवीरो भगवान् "पणपन्न अज्झयणाइ कल्लाणफल-विवागाइ वागरित्ता सिद्धे" स० ११६ पत्र ।

कल्लाणभायण–कल्याणभाजन—न० रोहिकाद्यभ्युदयपात्रे, पचा० ११ विव० ।

कल्लाणविजय–कल्याणविजय–पु० हीरविजयसूरिशिष्ये, प्रमोद येषां सद्गुणगणभृता बिभ्रति यश., सुधां पाय पाय किमिह निरपाय न विबुधाः । अमीषां (हीरविजयसूरिणां) पट्टतार्किदधिमथनमन्थानमतयः, सुशिष्योपाध्यायाः वभूरिह हि कल्याणविजयाः । द्वा० ३१ द्वा० । न० ।

कल्लाणसागर–कल्याणसागर–पु०अञ्चलगच्छीये धर्ममूर्त्याचार्यस्य शिष्ये अमरसागरस्य गुरौ, अथ च विक्रम सवत् षट्सप्तत्यधिकषोडशशततमे वर्षे विद्यमान आसीत् जामनगरवास्तव्य लालनगोत्र वर्धमानशाहनामान गृहपतिं प्रतिबोध्य तत्र जिनालयमकारयत् प्रातिष्ठिपच्च स्वयमिति तत्र शिलासु लिखितमस्ति, जै० इ० ।

कल्लाणि (ण)–कल्याणिन्–त्रि० कल्याण-अस्त्यर्थे इनिः । कल्याणवति, स्त्रियां ङीप् सा च वलानामोषधौ, राजनि० । वाच० । पचा० ।

कल्लाल–कल्पपाल–पु० मद्यवणिजि, "कल्लालघरेसु अविल" कल्पपालगृहेषु किल अम्लशब्दसमुच्चारिते सुरा विनस्यति अनु० ।

कल्लालत्त–कल्पपालत्व–न० रसवाणिज्ये, " रसवाणिज्ज कल्लालत्तण तत्थ सुरापाणे बहू दोसा मारणक्कोसवहादी तम्हा न कप्पइ " आव० ६ अ० ।

कल्लुग (य)–कल्लुक–पु० द्वीन्द्रियभेदे, जी०१ प्रति० । "कल्लुका. पाषाणेषु धेन्द्रियजातिविशेषा भवन्ति " बृ० ४ उ० ।

कल्लुरिया–कल्लुरिका–स्त्री० खाद्यकापणे, आ० म० द्वि० ।

कल्लोमय–कल्वोटक–पु० गोरहके, (दम्ये वृषभे) आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कल्लोल–कल्लोल–पु० कल्ल–वा–ओलच्–कम जलं लोलं चपल यस्माद् वा महोर्मौ, औ० । स्था० । को० । हर्षे च । वैरिणि त्रि० मेदि० वाच० ।

कल्हार–कह्लार–न० के जले ह्लाते ह्लाद अच् पृषो दस्य रः ह्लोल्हः ८ । २ । ७६ । हस्थाने लकाराक्रान्तो ल. प्रा० । सौगन्धिके, आ. म० प्र० । प्रज्ञा० ।

कवलु–कमल–न० "मोऽनुनासिके वो वा ८ । ४ । ३७ इत्यपभ्रंशे-मकार अनुनासिको व' । अन्त्याकारस्योत्वमिति दुमि' । कवलू कमलम् पद्मे, प्रा० ।

कवाचिया–कवाचिका–स्त्री० कलाचिकायाम्, भ०११ श० ११उ.

कवट्टिअ–कदर्थित–त्रि० कदर्थि–क्त प्राकृते "कदर्थिते वः ८ । १ २४ । कदर्थिते दस्य वो भवतीति । दस्य व । वृत्तप्रवृत्तमृत्तिका-पत्तनकदर्थिते ट. ८ । २ । १९ एषु सयुक्तस्य टो भवति इति ट. कुत्सितार्थीकृते, प्रा० ।

कवड–कपट–स्त्री० कप- अटन्–क ब्राह्मणमपि पटति आच्छादयति पट-अच्-वा-अर्द्धर्चादि अमर. । वाच० । वेषादन्यथात्वेन क्रियमाणे छद्मनि, ज्ञा० ९ अ० । वञ्चनाय वेषान्तरादिकरणे, प्रश्न० आश्र०२ द्वा । ज्ञा. । कपटमिति, कैतवमिति शठतापि चेति एकार्थाः प्रव०२ द्वा० । देशभाषानेपथ्यादिविपर्य्ययकरण कपट यथाऽऽषाढभूतिना नटेन वा परापरवेषपरावृत्त्याचार्य्योपाध्यायसघाटकात्मार्थ चत्वारो मोदका अवाप्ता, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दशा० ।

कवड्ड–कपर्द–पु० पर्वपूरणे, क्विप् "सम्मर्दवितर्दिविच्छर्दच्छर्दिकपर्दमर्दितेर्दस्य ८।२।३६। एषु र्दस्य ड्ड' । हरजटायाम्, प्रा० । स्वार्थे क. वराटके, आव० ५ अ० ।

कवड्डिजक्ख–कपर्दि (क) यक्ष–पु० स्वनामख्याते यक्षभेदे,

" सिरिसित्तुजयसिहरे, पणिमिअ परूमिऊण रिसहजिणं ।
तस्सेव यक्खस्स पुच्छ, कवड्डिजक्खस्स कप्पमहं " ॥१॥

अत्थि वालक्कजणवए पालित्ताणयं नाम नयरं तत्थ कवड्डिनामधिज्जो गामो महत्तरो । सो अ मज्जमंसमहुजीवघायअलीयवयणपरधणहरणपररमणीरमणाइ पावठाणपवसत्तचित्तो अणहीनामियाए अणुरूविठियाए भज्जाए सह विसए उवभुजतो गामाइकालं । अन्नया तस्स मचयट्ठियस्स साहुजुअल घरे पत्त तेणा वि दिट्ठिय पणाम काउ विन्नत्त जोडिअ करणे भयव ! किमित्थागमनकारण तुम्हाण । अम्ह वरे डुक्कटहिअयत-काइ पओरमत्थि जेण कज्जं त आऽऽसह साहुहिं भणिअ न अम्हे-भिक्खट्ठमागया किं तु अम्ह गुरुणो सपरिवारा चिट्ठति मयह-

रेण भिणत्तं दिसो मए उवस्सओ आगच्छत सूरिणो चिट्ठतु आहासुहं केवलं अम्हाणं पावनिरयाणं धम्मोवएसो न दायव्वो त्ति। साहूहिं भणिअं एवं होउ त्ति। तओ आगया गुरूणो विआ वासा चाउम्मासिं कुणंति संतयं सज्झायं सोसंति दहुमाईहिं नियतणु कामणअहकते वासारत्ते परेणए मुक्कलाविंति भयहर गुरुणो सो तेसिं सव्वपइण्णत्तणओ परितुट्ठो नियनयरसीमसंधि जाव बोलाविउं पट्ठविओ पत्ताए सीमसंधीए सूरिहिं जपिय भोमयहरत्तए अम्हाण उवस्सयदाणाइणा बहुवयारो कओ अओ संपइ किंचि धम्मोवएसं देमो जेण पच्चुवयारो कओ हवइ। मयहरेण भणियं नियमो न ताव मह निव्वहइ किं च मंतक्खरं उवइसह। तओ सूरिहिं अणुकंपया पंचपरमिट्ठिनवकारमहामंतो सिक्खाविओ। जलजलणथंभणाइ पभावो अ तस्स उववण्णिओ। पुणो गुरूहिं भणिअं पइदिअहं सेतुंजयदिसाए होऊण तुमए पणामो कायव्वो मयहरेण तहत्ति पमिवज्जिऊण गुरुणो पणमिऊण नियघरे आगए सूरिणो अन्नत्थ विहरिया। अह कमेण त पंचपरमिट्ठिमंतं जवंतो नियम च निव्वाहिंतो काल अइवाहेइ अन्नया नियघरणीए कलहे काऊण गेहाओ नीसारिओ आरुहिओ लग्गो सित्तुंजगिरिसिहरं जाव मज्जभरियं भायणं करे धरित्ता वरुक्खछायाए मज्जपाण करिउं कामो उवविट्ठो ताव गिज्झमुहरट्ठियअहिगरलविंदूमज्जपत्ते पमिओ दिट्ठो। त दट्ठूण विरत्तमणो मज्जं निअमेइ भवविरत्तो अ अणसणं काऊण तक्खणं आइजिणंदचलणकमल नवकारं च संभरतो सुहज्झाणेण मरणसपत्तो तित्थमाहप्पेण नवकारप्पभावेण च कवड्डिजक्खो उप्पन्नो ओहिनाणेण पुव्वभव सभरिआ आइजिणिंद आइचेइ त्ता य तस्स गेहिणी तव्वइयर सुणित्ता तत्थ आगतूण अप्पाण निंदती अणसण करित्ता जिणद सुमरंती कालधम्ममुवगया जाया तस्सेव करिवरत्तेण ण वाहण कवड्डिजक्खस्स चउसु वि अ दमेसु कमेण पासं कुमुदविणवासणिआ बीयपूराइ चिट्ठति पुणो सो ओहिणा आभोएऊण पुव्वभवगुरूण पायमूले पत्तो वंदित्ता जोमियकरयलो विन्नवेइ भयवं, तुम्ह पसाएण परिसा मए रिद्धी लद्धा सपयं मह किं वि किच्चमाइसह गुरूण जंपियं इत्थ तित्थे निच्च तुमए वाएयव्वं तिकाल जुगाइनाहो अंचिअव्वो जत्तागयभवियजणाणं मणवंछिअफल पूरेयव्वं सयलसंघस्स विग्घा अवहरिअव्वा। तओ गुरूणं पाए वंदिअ तहत्ति पमिवज्जिय गओ जक्खाहिवो विमलगिरिसिहरं करेइ जहा गुरूवइट्ठ "इअ अवादेवीए, कवड्डिजक्खस्स जक्खरायस्स। लिहिअकप्पजुगजिणप्पह-सूरीहिं बुद्धवयणाओ॥१॥ कपर्दियक्षकल्पः, ती० ३० कल्प.।

कवण-किम्-पुं० "किमः काइं कवणौ वा।८।४।३६७। अपभ्रंशे किम स्थाने कवणादेश· कुत्सिते, जिज्ञासिते, वितर्कविषये, वाच०। "जइ न सुआवइ दइ, घरुकाइं अहो मुह तुज्झ। वयणज्जुखमइ तउ, सहिए सो पिउ होइ न मज्झु" प्रा०।

कवय-कवच-पुं० गर्दभाण्डे वृक्षे, पटहवाद्ये च मेदि० सन्नाहे, गात्रत्राणे, योद्धृभिर्युद्धकाले शस्त्राघातरक्षणार्थमङ्गे धार्ये लोहादिनिर्मिते वर्मणि, पुं०न० अमर। वाच०। सन्नाहविशेषे, औ०। तनुत्राणविशेषे, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०। जी०। ज्ञा०। आ०म०प्र०। "कटके सणद्धवरूवम्मियकवयस्ति" ज्ञा० १ अ०। सूत्र०। स्त्रियां ङीप् तन्त्रोक्ते मन्त्रसाधनाङ्गे, वाक्यसघभेदे, च वाच०।

कवल-कवल-पुं० केन जलेन चलते वल चलने अच्। ग्रासे, कुक्कुटाण्डकप्रमाणो बद्धोऽशनपिण्डः कवलोऽभिधीयते प्रव० ४ द्वा०। आव०। उत्त०। विशे०। औ०। द्विसाहस्त्रिकेण तण्डुलेन कवलो भवति तं० (कवलप्रमाणमाहारशब्दे उक्तम्) आ०म०द्वि०। मत्स्यभेदे, शब्दचिं०। वाच०।

कवल्लि-कवल्लि-स्त्री० गुडादिपाकभाजने, विपा०१ श्रु०३ अ०।

कवाम-कपाट-पुं० न० कं वात पाटयति तद्गतिं रुणद्धि पटणिच्-अण्। प्रतोलीद्वारसत्के, प्रज्ञा०२ पद। द्वारस्थगने, दशा० ५ अ०। औ०। जी०। प्रश्न०। रा०। स्था०। द्वारयन्त्रे, दशा०४ अ०। "मक्कगवमुसधिन्नरोहसयग्धिजमलकवामघणदुप्पावरणा" रा०। ज्ञा०। स०। ज०।

कवामग-कपाटक-न० कपाटमिव कपाटकम् क उपमार्थः। कपाटसस्थानेनावस्थिते आत्मप्रदेशचये, यथोऽन्ययोः प्राक् प्रत्यग्दिशोस्तिर्यग् विस्तीर्णमवागुदग्दिशोर्हस्वमूर्द्धाधोदिशोरुच्छ्रित कपाटमिति शब्द्यते तथा समुद्घातकरणवशान्निर्गतानामात्मप्रदेशानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरासु दिक्षु कपाटसस्थानेनावस्थानात् कपाटकत्वसिद्धिः आ० चू० १ अ०। (तत्करण समुग्घायशब्दे)

कवामभयअ-कपाटभृतक-पुं० क्षितिखानके, ओन्द्रादिर्यस्य स्वकर्माप्यते द्विहस्ता त्रिहस्ता वा त्वया भूमिः खनितव्यैतावत्ते धन दास्यामीत्येव नियम्यते "कवालवडमाइहत्थमिय कम्मपत्ति य धणेण एत्थिरकाउव्व ते कायव्वं कम्म ज विंति" स्था० ४ ठा० १ उ०।

कवाल-कपाल-न० पुं० कं-जलं शिरो वा पालयति पाल-अण् घटकर्परादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। सूत्र०। भाण्डखण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। समूहे, च मेदि०। शिरोऽस्थि, यतीनां भिक्षापात्रे, अण्डादीनामवयवे च। भर्जनपात्रभेदे च, वाच०।

कवि-कपि-पुं० वानरे, अमर०। अष्ट०। सिल्हके, गन्धद्रव्यभेदे, तस्य कपिजातत्वात् वराहे, धात्रिकायाम्, रक्तचन्दने तद्वर्णे, पिङ्गले, च पुं० तद्वर्णवति, त्रि० वाच०।

कवि-पुं० काव्यकारिणि, स्था० ७ ठा०। कविरपि च प्रवचनस्य उद्भावकः, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। खलीने, स्त्री० मेदि०। वा ङीप् स्तोतरि, त्रि० वाच०।

कविंजल-कपिञ्जल-पुं० स्त्री० कपिरिव जवते ईषत् पिङ्गलो वा कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति निरुक्तेः पृषो० पक्षिभेदे, चातके, राजवल्लभ०। जलयाचनाय तस्य शब्दकरणात् तथात्वम् तित्तिरौ, त्रिका०।वाच०। जी०। प्रज्ञा०। आचा०।प्रश्न०।सूत्र०।

कविंजलकरण-कपिञ्जलकरण-न० कपिञ्जलानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थाप्यन्ते तत्र तस्मिन् स्थाने, "कवोयकरणाणि वा कविंजलकरणाणि वा अन्नयरसि तहप्पगारंसि णो उच्चार पासवणं वोसिरेज्जा" आचा० २ श्रु०।

कविकच्छु-कपिकच्छू-स्त्री० कपीनामपि कच्छू-यस्मात् ५ ब० कण्डूतिजनके वल्लीविशेषे, जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०।

कविट्ठ-कपित्थ-पुं० कपिस्तिष्ठत्यत्र तत्फलप्रियत्वात् स्था-क पृषो० वाच०। (कवीठ) बहुबीजकवृक्षभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ० ५ उ०। जी०। ज०।प्रज्ञा०। उत्त०।अस्य फले, न० "अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिया" प्रज्ञा० २ पद। कपेरिव लम्बते

कपित्थम, अनु० । कायोत्सर्गदोषभेदे , " छुप्पइ आएभएए कुएइ अपट्ट कविट्ठं व " आव० ५ अ० । षट्पदिकानां भयेन कपित्थवद्वृत्ताकारत्वेन संवर्त्य जङ्घादिमध्ये पद कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति कपित्थदोषः, प्रव० ५ द्वा० ।

कविल-कपिल-पु० सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तके मुनौ, वाच० कापिलानां देवतरि, औ० । सूत्र० । कापिलानां शास्त्र द्विविध सेश्वर निरीश्वर च तत्र सेश्वर सांख्य भगवदवतार कपिलः प्रणीतवाम् निरीश्वरं सांख्य तु अन्यवतारः कपिल इति सांख्यशास्त्रानुयायिन', वाच० । समयविदस्तु अपगतरोगस्य च मरीचेः कपिलो नाम राजपुत्रो धर्म्मशुश्रूषया तदन्तिकमागत इति कथिते साधुधर्म्मे स आह । यद्यय मार्ग किमिति भवतैतदङ्गीकृतम् । मरीचिराह " पापोदं लोइदिपत्यादि " विज्ञापा पूर्ववत् कपिलोऽपि कर्म्मोदयात्साधुधर्म्मानभिमुख. खल्वाह तथापि किं भवद्दर्शनेनास्त्येव धर्म्म इति मरीचिरपि प्रचुरकर्मा खल्वय न तीर्थकरोक्त प्रतिपद्यते वर मे सहायः सवृत्त इति सचिन्त्याह । कपिला (एत्थ पि त्ति) अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वाभिरुपचरित' खल्वत्रैव साधुमार्गे (इहइ पित्ति) स्वल्पस्त्वत्रापि वियत इति गाथार्थ' । स रोवमाकर्ण्य' तत्सकाश एव प्रव्रजित ॥ ५ ॥ (आ० म०) कपिलोऽपि ग्रन्थार्थपरिज्ञानशून्य एव तद्दर्शितक्रियारतो विजहार आसुरनामा च शिष्योऽनेन प्रव्राजित इति तस्य स्वसमाचारमात्र दिदेश एवमन्यानपि शिष्यान्सगृह्य शिष्यप्रवचनानुरागतत्परो मृत्वा ब्रह्मलोक एवोत्पन्नः स ह्युत्पत्तिसमनन्तरमेवावधि प्रयुक्तवान् किं मया हुत चेष्टं वा दान येनैषा दिव्या देवर्द्धिः प्राप्तेति स पूर्वभव विज्ञाय चिन्तयामास मम शिष्यो न किंचिद्वेत्ति तत्तस्योपदिशामि तत्वमिति तस्मै आकाशस्थपञ्चवर्णमण्डलकस्थत्व जगाद " कविलो अतछिओ कहए " कापिल' अन्तर्हित. कथितवान् किमव्यक्ताद् व्यक्तं प्रभवति तत षष्टितन्त्रं जात तथाचाहुस्तन्मतानुसारिण प्रकृतेर्म्महांस्ततोऽहकारस्तस्माद्गणश्च षोमशक । तस्मादपि षोमशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानीत्यादि " अल विस्तरेण प्रकृतं प्रस्तुम इति गाथार्थः, आ० म० प्र०। आ०चू० । (संखशब्दे सर्वमतमुपपादयिष्यामि)जीर्णे भोजनमात्रेय , कपिल. प्राणिनां दया। वृहस्पतिरविश्वासः, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् । आ०म०द्वि०। काश्यपब्राह्मणस्य यशानाम्न्यां ब्राह्मण्यां जाते पुत्रे,

कपिलनिक्षेपमाह ।

निक्खेवो कविलम्मि, चउव्विह दुविहो य होइ दव्वम्मि।
आगम नो आगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥

निक्षेपो न्यासः कपिले कपिलविषयश्चतुःप्रकारो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्तत्राद्ये प्रतीते द्विविधो द्विभेदो भवति द्रव्य इति द्रव्यविषये । द्वैविध्यमेवाह आगमतो नोआगमतस्तत्रागमतो ज्ञातानुपयुक्तो नो आगमतश्च स द्विविधस्त्रिभेद इति गाथार्थ ॥

त्रैविध्यमेवाह ।

जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो।
एगभवियबद्धाउय, अभिमुहो नाम गोए य ॥

कपिलशब्दार्थज्ञशरीर पश्चात् कृतपर्यायं ज्ञशरीरमित्युच्यते तदेव द्रव्यकपिला. (भवियत्ति) भव्यशरीर पुरस्कृतकपिलशब्दार्थज्ञानात्मकपर्यायं द्रव्यकपिलस्तद्व्यतिरिक्तश्च सः । तद्व्यतिरिक्तः द्रव्यकपिलः पुनस्त्रिविधस्त्रिभेदस्त्रैविध्यमेवाह । एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति गाथार्थः ।

भावकपिलमाह ।

कविलाउनामगोयं, वेयंतो भावतो भवे कविलो ।
तत्तो समिट्ठियमिण, अज्झयणं काविलिज्जंति ॥

कपिलायुर्नामगोत्र वेदयन् अनुभवन् भावतो भावमाश्रित्य भवेत्कपिलस्ततस्तस्मात् समुत्थितमिद प्रस्तुतमध्ययनम् (काविलिज्जति) कापिलीयमित्युच्यते इति गाथार्थ. ।

कथ पुनरिद कपिलात्समुत्थितमित्याह ।

कोसंबि कासवजसा, कविलो सावत्थि इंददत्ते य ।
इब्भे य सालिभद्दे, धणसिट्ठियसेणई राया ॥८८॥
कविलो निज्जिय परिवे-सिया य आहारमित्तसंतुट्ठो ।
वावारिओ य दुहिमा-सएहिं सो निग्गतो रत्ति ॥८६॥
दक्खित्तं पच्छेत्तो, वद्धो य हतो य अपि उ रन्नो ।
राया से देइ वरं, किं देमी केण ते अट्ठो ॥९०॥

श्लोको भणति ।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहालोहो पवड्ढइ ।
दो मासकणय कज्जं, कोमीए वि न ढियं ॥९१॥
कोडी विदेमि अज्जो-त्ति भणइ राया पहट्ठमुहवन्नो ।
सो वि चइऊण कोडिं, जाउं समणो समियपावो ॥६२॥
छम्मासे छउमत्थो, अट्ठारस जोयणाइ रायगिहे ।
बलभद्दप्पमुहाणं, इक्कडदासाण पंच सया ॥९३॥

आसामक्षरार्थे सुगम एव नवर (निज्जियपरिवेसियायत्ति) नैत्तिकपरिवैपिकतया प्रतिदिननियुक्तभक्तदात्र्या वा (वारिउत्ति) व्यापारितो नियुक्त' (दुहिं मासेहिं ति) द्वाभ्यां माषकाभ्यां तादर्थ्ये चतुर्थी (दक्षिणति) प्राकृतत्वात् दक्षिणा (पहट्ठमुहवन्नत्ति) प्रहृष्ट' प्रहर्षवान् मुखवर्णो मुखच्छाया यस्य स तथा मुखस्य प्रहृष्टत्वादुपचारात्तद्वर्णोऽपि प्रहृष्ट. उक्तः । यद्वा प्रहृष्टमुखस्येव मुखवर्णो यस्य स तथा । मयूरव्यंसकादित्वात्समासो मानसत्वाच्च हर्षादीनां मुखस्यापि हृष्टत्व रूढित इति भावनीयम् । इक्कडदासजातीनाम् अतिशेषे अतिशये (होही अट्ठो इमो त्ति) भविष्यत्यर्थः। प्रयोजनमय पूर्वसगतिकचौरशतपञ्चकप्रतिबोधलक्षण इति ज्ञात्वा च (अद्धाणगमणचिंतति) अध्वा मार्गस्तद्गमने चित्तमभिप्रायोऽध्वगमनचित्त तत्करोतीव करोति तत्वतो हि केवलित्वेनामनस्कत्वान्न तस्याभिप्रायकरणसभव (धम्मट्ठयत्ति) आर्षत्वाद्धर्म्मार्थतत्वावबोधतस्तेषां धर्म. स्यादित्येवमर्थं (गीयन्ति) वस्य गम्यमानत्वात् गीत च स्वरगामानुगतगीतिकानिबद्धमिदमेवाध्ययन करोतीति योगो वर्त्तमाननिर्देशस्तु सूत्रस्य त्रिकालगोचरतामाह । यदिवा गीतमिति स्वराद्यनुगमनेन शब्दितमिदमध्ययनमिति गम्यते भावार्थ' कथानकादवसेयस्तत्र च सप्रदायः २३ उत्त० ८ अ० । यथा कौशाम्ब्या नगर्या जितशत्रू राजा राज्य करोति तत्र काश्यपो ब्राह्मणः चतुर्दशविद्यास्थानपारग पौराणां राज्ञश्चातीव सम्मत. तस्य राज्ञा महती वृत्तिर्दत्ता काश्यपब्राह्मणस्य यशा नाम्नी भार्या वर्त्तते तयो. कपिलनामा पुत्रोऽस्ति तस्मिन् कपिले बाले एव सति काश्यपो ब्राह्मण. काल गत तदधिकारो राज्ञाऽन्यस्मै ब्राह्मणाय दत्त. । सोऽश्वारूढश्छत्रेण ध्रियमाणेन नगरान्तर्व्रजति । एकदा त तथा व्रजन्त दृष्ट्वा यशा भृश रुरोद कपिलेन पृष्ट मात. ! किं रोदषीति सा प्राह वत्स

तव पिता ईदृश्या ऋद्ध्या पुरान्तर्भ्रमन्नभूत् मृते च तव पितरि त्वयि चाविदुषि सति अय तव पैत्र्यं पदं प्राप्तस्ततो रोदिमि कपिल ऊचे अहं भणामि यथा आह पुत्र ! अत्र तव न कोऽप्येतल्लील्या पाठयिष्यति ततस्त्वं श्रावस्त्यां व्रज तत्र त्वत्पितृमित्र इन्द्रदत्तो ब्राह्मणस्त्वां पाठयिष्यति । कपिलः श्रावस्त्यां तत्समीप गतः तेन पृष्टं कस्त्वं कुत आयातः । कपिलेन सर्वे स्वस्वरूपमूचे तेन मित्रपुत्रत्वात् सविशेष पाठ्यते पर स्वगृहे भोजनं तस्य कारयितु न शक्यते ततोऽनेन शालिभद्रनामा तत्रत्यो व्यवहारी प्रार्थितः यथाऽस्य त्वया निरन्तरं भोज्य देय त्वत्प्रसादान्निश्चिन्तोऽसौ पठति तेनापि प्रतिपन्नम । कपिल. शालिभद्रगेहे प्रत्यह भुङ्क्ते इन्द्रदत्तगुरुसमीपेऽध्येति । शालिभद्रगृहे चैका दासी वर्तते दैवयोगात्तस्यामसौ रक्तोऽभूत् । अन्यदा सा गर्भिणी जाता कपिल प्रत्याह । अह तव पत्नी जाता ममोदरे त्वद्गर्भो जातः अतस्त्वया मे भरणपोषणादि कार्यम । कपिलस्तद्वचनश्रवणाद् भृशं खिन्नः परमामधृतिं प्राप न च तस्यां रात्रौ निद्रां प्राप । पुनस्तया भणित स्वामिन् ! खेद मा कुर्या. मदुक्तमेकमुपायं शृणु । अत्र धननामा श्रेष्ठी वर्त्तते तस्य यः प्रथम प्रभाते गत्वा वर्द्धापयति तस्य सुवर्णं माषद्वयं ददाति ततस्त्वमद्य प्रभाते गत्वा प्रथम वर्द्धापय यथा सुवर्णमाषद्वय प्राप्नुयाः । कपिलस्तस्या वच. श्रुत्वा मध्यरात्रावुत्थितस्तस्य धाम्नि अपर कश्चिन्मा प्रथम यायादिति मत्वौत्सुक्येन गच्छन् कपिल. पुरा रक्षकैर्गृहीतः चौरधिया वद्ध. प्रभाते पुरस्वामिनः पुरो नीतः । पुर. स्वामिना पृष्ट कस्त्व किमर्थमर्द्धरात्रौ निर्गतस्तेन सकल स्वरूपं प्रकटीकृतम । सत्यवादित्वात्तस्य तुष्टो राजा प्राह । यत्त्व मार्गयसि तदह ददामि । स प्राह । विमृश्य मार्गयिष्यामि राजा प्राह । या हि अशोकवनिकायां विचारय स्वेष्टम । कपिलस्तत्र गत इति चिन्तयितुमारब्धवान् चेदहं सुवर्णमाषद्वयं मार्गयामि तदा तस्या दास्या. शाटिका मात्र जायते न तु आभरणानि । ततः सहस्र मार्गयामि । तदापि तस्य आभरणानि न जायन्त ततोऽह लक्ष मार्गयामि तदापि मम जात्यतुरङ्गमोत्तमगजेन्द्रप्रवररथादिसामग्री न जायते ततः कोटिं मार्गयामीति चिन्तयन्नेव स्वय सवेगमागत । सुवर्णमाषद्वयार्थं निर्गतस्यापि मम कोट्यापि तुष्टिर्न जातेति धिगिमां तृष्णामिति विचार्य स्वमस्तके लोच कृतवान् । शासनदेवतया तस्य रजोहरणादिलिङ्गमर्पित कपिलो द्रव्यभावाभ्यां यतिर्भूत्वा राज्ञः पुर. समागत' राज्ञा भणितं त्वया विचारितम् । आह स "जहा लाहो तहा लोहो, लाहालोहो पवड्ढइ । दोमासकणय कज्जं, कोडीए वि न निट्ठिय" मिति । विचार्याह त्यक्ततृष्णः सयमी जात. । राज्ञोक्त कोटिमपि तवाह ददामि तेनोक्त सर्वोऽपि परिग्रहो मया व्युत्सृष्टो न मे कोट्यापि कार्यमित्युक्त्वा स श्रमणस्ततो विहृत. षण्मासान् यावत् छद्मस्थ एवासीत् पश्चात्केवली जात. । इतश्च राजगृहनगरान्तरालमार्गे बलभद्रप्रमुखाश्चौरा. सन्ति एतेषां प्रतिबोधो भवो भविष्यतीति ज्ञात्वा स कपिल केवली गत तैर्दृष्टः प्रोक्तश्च । भोः श्रमण ' नृत्यं कुरु केवली प्राह । वादक कोऽपि नास्ति तत. स्ते पञ्चशतचौरास्तालानि कुट्टयन्ति कपिलकेवली गायति । उत्त० ८ अ० । तद्गीतवृत्तमाह ।

अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ॥

सो हि भगवान् । कपिलनामा स्वयं बुद्धश्चौरसघातसंबोधनायेम ध्रुवक संगीतवान् । ध्रुवकलक्षण चेदम् " ज गिज्जइ पुव्व चिय, पुणो पुणो सव्वकव्वबंधेसु । धुवयंति तमिह तिविह, कप्पाय चउप्पय छप्पयति " तत्र ध्रुवो य एकास्पदप्रतिबद्धो न तथा ध्रुवस्तस्मिन् संसार इति सबन्धः । भ्रमति ह्यस्मिन्ननेकेषूच्चावचस्थानेषु जन्तव इति तेषां क्वचिदनुपूर्वत्वाभावाद्युक्त च वाचकैः " रंगभूमिर्न सा काचित्, शुद्धा जगति विद्यते । विचित्रैः कर्मनेपथ्यै, र्यत्र सत्त्वैर्न नादित " मिति । सास्वतं नित्यमविद्यमानं सास्वतमस्मिन्नित्यशास्वतस्तस्मिन् । ससार एवासास्वत हि सकलमिह राज्यादि तथा आह हारिलवाचकः " चल राज्यैश्वर्यं धनकनकसार परिजनो, नृपत्व चाञ्चल्यं चलममरसौख्य च विपुलम । चलं रूपारोग्य चलमिह वर जीवितमिदं, जनो दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः । " यद्वा ध्रुवो नित्यो न तथा ध्रुवस्तस्मिन्नेव च कियत् कालावस्थायित्वमप्याशङ्क्येत । अत आह शश्वद्भवनाच्छाश्वतो न तथा शाश्वतस्तस्मिन् शश्वद्भवने हि ह्यादिक्षणावस्थितिरपि संभवेत्तन्निषेधे तु तस्या अपि निषेधात्पर्यायार्थतया तडित्सपात वत्क्षणमात्रावस्थायिनीत्युक्त भवति एकार्थे वा पदद्वयमुपदेशत्वादातिशयख्यापकत्वाच्च न पौनरुक्त्यम । क पुनरीदृशि ससरन्त्येतस्मिन् स्वकर्मवशवर्त्तिनो जन्तव इति ससारस्तस्मिन् (दु.क्खपउराए त्ति) प्रचुराण्येव प्रचुरकाणि प्रभूतानि दुःखानि शारीरमानसानि यस्मिन् स तथा । तस्मिन् प्राकृतत्वाच्च सूत्रे एव निर्देशो यद्वा दुःखाना प्रचुर आयो लाभो यस्मिन् स तथा तस्मिन् । किमिति प्रश्ने नामेति सम्भावनायां वाक्यालंकारे वा भवेत् स्यात्तत्क्रियत इति कर्म तदेव कर्मकमनुष्ठान यत् । कीदृगित्याह येन कर्मणा हेतौ तृतीया अहमित्यात्मान निर्दिशति दुर्गतिं नरकादिकां न गच्छेय न यायाम् पठन्ति च (जेणाहं दोगती व मोच्चेज्ज त्ति) सुगममत्र भगवत. स्विस्यशयत्वे मुक्तिगामितया दुर्गत्यसत्त्वेऽपि च प्रतिबोध्य पूर्वसगतिकापेक्षमित्थमभिधानम् । नागार्जुनीयास्तु प्रथमपदमेवं पठन्ति (अधुवमि मोहग्गहणाए) तत्र मुह्यतेऽनेन जानन्नपि जन्तुरिति मोहो दर्शनमोहनीयादि तेन गहनो गुपिलो मोहगहन. स एव मोहगहनकस्तस्मिन्निति सूत्रार्थ. । एवं च भगवतोद्गीते तेऽप्येनमेव ध्रुवकं प्रत्युद्गायन्ति ताल च कुट्टयन्ति तैश्च प्रत्युद्गीते भगवानाह ।

विजहित्तु पुव्वसंजोगं, न सिणेहं कहिंवि कुव्विज्जा ।
असिणेहसिणेहकरेहिं, दोसपदोसेहिं मुच्चए भिक्खू ।२।

विहाय विशेषेण तदननुस्मरणात्मके न हित्वा कमित्याह पुरा परिचिता मातृपित्रादय पूर्वशब्देनोच्यन्ते ततस्तैरुपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभि सयोग. सबन्ध. पूर्वसयोगस्त तत किमित्याह न स्नेहमभिष्वङ्ग क्वचिद्बाह्ये वस्तुनि अभ्यन्तरे वा (कुव्विज्ज त्ति) कुर्वीत तथा च को गुण इत्याह । (असिणेह त्ति) प्राकृतत्वाद्विसर्जनीयलोपे स्नेहे विद्यमानप्रतिबन्ध (सिणेहकरेहिं ति) सुव्यत्ययादपेर्गम्यमानत्वाच्च स्नेहकरणशीलेष्वपि पुत्रकलत्रादिष्वास्तामन्येष्वपीत्यपिशब्दार्थो दोषपदैरपराधस्थानैर्मुच्यते तत्पद्यते किमुक्त भवति निरतिचारचारित्रो भवत्यसक्तस्नेहो हि कलत्राद्यभिष्वङ्गाद्दोषपदमतिचाररूपमाप्नुयात् । भिक्षुरिति साधुः पागन्तरश्च दोषप्रदोषैस्तत्र दोषैरिहैव मनस्तापादिभिः प्रद्वेषैश्च परत्र नरकागत्यादिभिरिति सूत्रार्थः ।

पुनर्यदसौ कृतवांस्तदाह ।

तो नाणदंसणसमग्गे, हियनिस्सेसा य सव्वजीवाणं ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥

ततोऽनन्तर भाषते मुनिवर इति सम्बन्धः। स च कीदृग् ज्ञायतेऽनेन विशेषात्मना वस्त्विति ज्ञान दृश्यते सामान्यरूपेण वस्त्विति दर्शन ताभ्या प्रस्तावात् केवलाभ्यां समग्र समन्वितो यदि वा प्राकृतत्वात्समग्रे परिपूर्णे ज्ञानदर्शने यस्यासौ सम्यग्ज्ञानदर्शन किमर्थमसौ भाषत इत्याह (हियनिस्सेसा इति) सूत्रत्वाद्धित पथ्यो भावारोग्यहेतुत्वान्निःश्रेयसो मोक्षो हितश्चासौ निःश्रेयसश्च हितनिःश्रेयसस्तस्मै । यद्वा प्राकृतत्वादेव निःशेष समस्त हित सम्यक्ज्ञानादि तस्यैव तत्वतो हितत्वात्। ततो निःशेष च तद्धित च निःशेषहित तस्मै। कथ नाम निःशेषहितावाप्ति स्यादिति चशब्दो भिन्नक्रमस्तेषामित्यत्र योज्यते केषां सर्वजीवानामशेषप्राणिनां तेषा च पञ्चशतसङ्ख्यचौराणा विमोक्षणमष्टविधकर्मण पृथक्करण तदेवार्थ प्रयोजन विमोक्षणार्थं तस्मै तन्निमित्त भाषत इति वर्तमाननिर्देश प्राग्वद् यद्वा भवति सतामतीत प्रासो यो नाम वर्त्तमानत्वमिति वचनात्तस्यापि तदा वर्त्तमानत्वेति तत्कालत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोष मुनिवरो मुनिप्रधान । विगतो विनष्टो मोहो यस्य यस्माद्वा स तादृक् इह च विगतमोहवचनेन चारित्रमुक्त ननु " हियनिस्सेसाय सव्वजीवाणं ती" त्युक्त "तेसिं विमुक्खणट्ठा इति "अतिरिच्यते न तानेवोद्दिश्यास्य भगवत प्रवृत्तिरिति प्रधानत्वात्पुनस्तद्विमोक्षणार्थताभिधानम । दृश्यते हि ब्राह्मण आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति सामान्योक्तावपि पुन प्रधानस्याभिधानमिति सूत्रार्थ ।

यदसौ भाषते तदाह ।

सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहविहं भिक्खु ।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ॥ ४ ॥

सर्वमशेष ग्रन्थ बाह्यमाभ्यन्तर च । तत्र बाह्य धनाद्याभ्यन्तर मिथ्यात्वादि कलहहेतुत्वात् कलह क्रोधस्त चशब्दात् मानादींश्चाभ्यन्तर ग्रन्थरूपत्वेऽपि चैषां पृथगुपादान बहुदोषख्यापनार्थम (विप्पजहेत्ति) विप्रजह्यात्परित्यजेत्तथाविधमिति कर्मबन्धहेतु ननु धर्मोपकरणमपीत्यभिप्राय । पागान्तरश्च तथाविधो भिक्षुर्यति तस्यैवविधधर्माईत्वादेवमभिधानमन्योक्त्या वाऽत एवैवमुच्यते ततश्च किं स्यादित्याह । सर्वेष्वशेषेषु कामजातेषु मनोज्ञशब्दादीना प्रकारेषु समूहेषु वा (पासमाणोत्ति) पश्यन् प्रेक्षमाणो विपाक कटुकात्मक तद्विषय दोषमिति गम्यते न लिप्यते कर्मणा नोपदिह्यते कामदोषकृस्य तेषु प्राय प्रवृत्तेरभावादिति भाव तायते त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानमेकेन्द्रियादिप्राणिनो चाऽवश्यमिति तायी त्रायी वेति सूत्रार्थ । इत्थ ग्रन्थत्यागिनो गुणमभिधाय व्यतिरेके दोषमाह ।

भोगामिसदोसविसन्ने हि-अणिस्सेयसबुद्धिवोचत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झई मत्थि व खेलंमि ॥

भुज्यन्त इति भोगा मनोज्ञा शब्दादयस्ते च ते आमिष चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिष तदेव दूषयत्यात्मान दुःखलक्षणविकारकरणेन भोगामिषदोषस्तस्मिन् । विशेषेण सन्नो निमग्नो भोगामिषदोषविषण्ण । यद्वा भोगामिषाद्दोषा भोगामिषदोषास्ते च तद्वासक्तस्य विचित्रक्लेशा अपत्योत्पत्ती च तत्पालनोपायपरतया व्याकुलत्वादयस्तैर्विषण्णो विषाद गतो भोगामिषदोषविषण्णः आह च " जयाय कुकुमवम्सं, कुतत्तीहिं विहम्मइ । हत्थीव बधणे बद्धो, पसन्था परितप्पति । पुत्तदारपरिकिन्नो, मोहसताण सतओ। पकासन्नो जहा नागो, पसत्थापरितप्पई" (हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्ति) हित एकान्तपथ्यो निःश्रेयसो मोक्षोऽनयो कर्मधारये हितनिःश्रेयसौ । यद्वा हितो यथाभिलषितविषयावाप्त्याऽभ्युदयो निश्रेयसः स एव तयोर्द्वन्द्वस्ततश्च तत्र तयोर्वा बुद्धिस्तत्प्राप्त्युपायविषया मतिस्तस्यां विपर्यस्तो विपर्ययवान् स वा विपर्यस्ता हितनिःश्रेयसबुद्धिर्यस्य सः विपर्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिर्वा विपर्यस्तशब्दस्य तु परनिपात प्राग्वत । यद्वा विपर्यस्ता हिते निःशेषा बुद्धिर्यस्य स तथा बालश्चाज्ञः (मदियत्ति) सूत्रत्वान्मन्दो धर्म्मकार्यकरण प्रत्यनुद्यतो मूढो मोहाकुलितमानस स एवविध किमित्याह । बध्यते श्लिष्यतेऽर्थात् ज्ञानावरणादिकर्म्मणा मक्षिकेव (खेले) श्लेष्मणि रजसेति गम्यते । इदमुक्त भवति यथाऽसौ तत्स्निग्धतागन्धादिभिराकृष्यमाणा तत्र मज्जति मज्ञा च रेणवादिना बध्यत एव जन्तुरपि भोगामिषे मग्न कर्मणेति सूत्रार्थः। ननु यद्येवममी भोगाः कर्मबन्धकारण किं नैतान् सर्वेऽपि जन्तवस्त्यजन्तीत्याह ।

दुप्परिचया इमे कामा, णो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतर वणिया वा ॥६॥

दुःखेन कृच्छ्रेण परित्यज्यन्ते परिह्रियन्ते इति दुष्परित्यजा इमे प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना कामभोगा नो नैव (सुजहत्ति) सूत्रत्वात्सुखेनानायासेन हीयन्ते इति सुहाना सुत्यजा विषसपृक्तस्निग्धमधुरान्नवत्। कैरधीरपुरुषैरबुद्धिमद्भिरसत्वैर्वा नरैः पुरुषग्रहण तु ये तावदल्पवेदोदयतया सुखेनैव त्यक्तार सभवन्ति तैरप्यमी न सुखेन त्यजन्त इत्यास्तामतिदारुणस्त्रीपण्डकवेदोदयाकुलितैः स्त्रीनपुंसकैरिति । यच्चेह दुष्परित्यजा इत्युक्त्वा पुनर्न सुहाना इत्युक्त तदत्यन्तदुस्त्यजताख्यापक प्रपञ्चितज्ञविनयानुग्रहार्थं चेत्यपुनरुक्तमेव । अधीरग्रहणेन तु धीरैः सुत्याज्या एवेत्युच्यते अत एवाह अथेत्युपन्यासे सन्ति विद्यन्ते शोभनानि सम्यग्ज्ञानाधिष्ठितत्वेन व्रतानि हिंसाविरमणादीनि येषां ते सुव्रता । शान्त्या चोपलक्षिताः सुव्रता शान्तिसुव्रता। इह च सन्तीति शेष । साधयन्ति पौरुषेयीभि क्रियाभिर्मुक्तिमिति साधवो ये किमित्याह ये तरन्ति परंपरावाप्त्यातिक्रामन्ति कमतर तरीतुमशक्य विषयगण भव वा क इव वणिज इव चशब्दस्यैवार्थत्वात् । यथाहि वणिजोऽतर नीरधिया न पात्रादिनोपायेन तरन्त्येवमेतेऽपि धीरा व्रतादिनोपायेनोकरूपमतरमधीरैरेयोकनीतितोऽस्य दुस्तरत्वात्। पठन्ति च (जे तरति वणिया व समुद्द ति) स्पष्टम उक्तच केनचित् " विषयगण कापुरुष, करोति वशवर्त्तिन न सत्पुरुषम । बध्नाति मसकमेव हि, लूतातन्तुर्नमातङ्ग " मिति सूत्रार्थ । किं सर्वेऽपि साधवोऽतर तरन्त्युत नेत्याह ।

समणा मु एगे वयमाण, पाणवहमिया अयाणंता ।
मंदा निरयं गच्छंति, बाला पावियाहिं दीट्ठीहिं ॥७॥

श्राम्यन्ति मुक्त्यर्थं खिद्यन्त इति श्रमणा साधवो 'मु' इत्यमात्मनिर्देशार्थत्वाद्वयमित्येके केचन तीर्थान्तरीया वदमाना स्वाभिप्रायमुद्दीपयन्तो " भासनोपसभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्र-

णेसु वदः"। १।१।४७। इत्यनेन (पाणिनिवचनेन) आत्मनेपदम्। प्राणा उक्तरूपास्तेषां वधो घातस्तमजानन्त इति संबन्धो मृगा इव मृगाः प्राग्वदज्ञा अजानन्त इति ज्ञपरिज्ञया के प्राणिनः। के वा तेषां प्राणाः कथं वा वध इत्यनवबुध्यमानाः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्वधमप्रत्याचक्षाणोऽनेन च प्रथमव्रतमपि न विदन्त्यास्तां शेषाणीत्युक्तं भवत्यत एव मन्दा इव मन्दा मिथ्यात्वमहारोगग्रस्ततया निरयं पाठान्तरतो नरकं वा प्रतीत गच्छन्ति यान्ति बाला हेयोपादेयविवेकविकलत्वात् (पावियाहिंति) प्रापयन्ति नरकमिति प्रापिकास्ताभिर्यद्वा पापा एव पापिकास्ताभिः परस्परविरोधादिदोषात् स्वरूपेणैव कुत्सिताभिः मा हिंस्यात्सर्वा भूतानीत्याद्यभिधाय "श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम " इत्यादिपरस्परविरुद्धार्थाभिधायिनीभिः पापहेतुभिर्वा पापिकाभिर्दृष्टिभिर्दर्शनाभिप्रायरूपाभिः "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत इन्द्राय क्षत्रं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्" यथा "यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्। आकाशमिव पङ्केन, न स पापेन लिप्यते " इत्यादिकाभिर्द्यादमवहिष्कृताभिस्तद्वहिष्कृतानां हि विविधवल्कलवेषादिधारिणामपि न केनचित्पापात्परित्राणम् । तथा च वाचकः " चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डजटाशिखाः। न व्यपोहन्ति पापानि, सोधकौ तु दयादमा " विति सूत्रार्थः ।

अत एवाह । सूत्रकृत ।

नहु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाइं ।
एवायरिएहिं अक्खायं, जेहिं सो साधुधम्मो पण्णत्तो ॥

(नहु) नैव प्राणवधं प्राणघातं मृषाभाषाद्युपलक्षणं चैतत् (अणुजाणेत्ति) अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वादनुजानन्नप्यास्तां कुर्वन् कारयन् वा मुच्येत त्यजेत । संभावने लिङ् ततो मुक्तिसंभावनापि नास्तीत्युक्तं भवति कदाचित् कस्मिंश्चिदपि काले कैर्मुच्यते इत्याह । (सव्वदुक्खाणति) दुःखयन्तीति दुःखानि कर्माणि सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वदुःखानि तैः सुप्व्यत्ययाच्च तृतीयार्थे षष्ठी । यद्वा सर्वदुःखैर्नरकादिगतिनिबन्धिभिः शरीरमानसैः क्लेशैस्ततः प्राणातिपातनिवृत्ता एव चान्तरं तरन्ति न त्वितर इत्युक्तं भवति । किमेतत् त्वयैवोच्यते इत्याह (एवायरिएहिंति) एवमुक्तप्रकारेणार्यैः सकलहेयधर्मेभ्यो दूरं यातैस्तीर्थकरादिभिराचार्यैर्व्याख्यात कथितम् । ये कीदृशा इत्याह । यैरार्यै राचार्यैर्वायं साधुधर्मो हिंसानिवृत्त्यादिः प्रज्ञप्तः प्ररूपितोऽयमित्यनेन चात्मनि वर्तमान तेषां प्रज्ञाप्य चौराणां प्रत्यक्ष साधुधर्मं निर्दिशतीति सूत्रार्थः ।

यद्येव तत. किं कृत्यमित्याह ।

पाणे य णाइवाएज्जा, सेसमीएत्ति वुच्चई ।
ताई तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥

(पाणे य णाइवाएज्जत्ति) च शब्दो व्यवहितसंबन्धस्ततश्च प्राणानिन्द्रियपञ्चकादीन्नातिपातयेत् स्वयमिति गम्यते । च शब्दात्करणानुमत्योरपि निषेधो मृषावादादिनिवृत्त्युपलक्षणं चैतत् । किमिति प्राणान्नातिपातयेदित्याह । य प्राणान्नातिपातयिता स समित समितिमानित्युच्यतेऽभिधीयते कीदृशः मन्नित्याह त्रायी त्ववश्यं प्राणित्राता समितत्वेऽपि को गुण उच्यते । तत इति तस्मात्समितत्वात् (से) इत्यघं पापकर्माशुभ कर्म्म ज्ञानावरणादि निर्याति निर्गच्छति । पठन्ति च "निन्ना"इति अत्र च दे दीपदत्वादधो गच्छन्ति किमियोदकमिव कुतः स्थलादत्युन्नतप्रदेशादनेन च पूर्वबद्धस्य कर्मणो नाश उक्तो न लिप्यते त्रायीति च वक्ष्यमाणस्येति न पौनरुक्त्यं पापकग्रहणं चास्याबध्यतया नावश्यापकं पुण्यस्य हि सहननादिदोषात् मुक्त्यनवाप्तेर्देवाद्युत्पत्तौ संभवोऽपि स्यादेवान्यथाहि पुण्यस्यापि स्वर्णनिगडप्रायतया विनिर्गम एव विमुक्तिरिति सूत्रार्थः । यदुक्तं "प्राणान्नातिपातयेति" तदेव स्पष्टयितुमाह ।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥१०॥

जगल्लोकस्तस्मिन्निश्रितान्याश्रितानि जगन्निश्रितानि तेषु भूतेषु जन्तुषु (तसनामेसुत्ति) त्रसनामकर्मोदयवत्सु द्वीन्द्रियादिषु स्थावरेषु तन्नामकर्मोदयवर्त्तिषु पृथिव्यादिषु चः समुच्चये (नो) नैव (तेसिंति) तेषु रक्षणीयत्वेन प्रतीते. प्रारभेत कुर्यादण्डयन्ति दण्डः स चेहातिपातात्मकस्तं (मणसा वयसा कायसा चेवत्ति) आर्षत्वान्मनसा वचसा कायेन चशब्द. शेषभङ्गोपलक्षकस्ततश्च यथा मनसा वचसा कायेन च दण्डं नारभयेत नवा रभमाणानप्यन्याननुमन्येत एवोऽवधारणे भिन्नक्रमश्चात एव नो इत्यस्यानन्तरं योजितः । पठ्यते च " जगनिस्सियाण भूयाण तसाण थावराण य । नो तेसिमारभे दंडति " गतार्थमेव । अपरे तु " जगनिस्सीएहित्यादि " तृतीयान्ततयैवाधीयते । तत्र च जगन्निश्रितैर्भूतैस्त्रसैः स्थावरैश्च हन्यमानोऽपीति शेषो नैव तेष्वारभेत दण्डमुज्जयनीश्रावकपुत्रवदत्र च संप्रदायः। " उज्जेणीए सावगसुओ चोरेहिं हरिउ मालवगे सूयगारस्स हत्थे विक्कीओ लावगे मारयसु ण मारयामीति हत्थी पादत्तासणं सीसारक्खकरणं चेति" स एवं प्राणत्यागेऽपि सत्वानुपरोधी एवमन्यैरपि यतितव्यमिति सूत्रार्थः । उक्ता मूलगुणाः ।

संप्रत्युत्तरगुणा वाच्यास्तेष्वप्येषणा समितिप्रधानेति तामाह ।

सुद्धेसणा उ णच्चाणं, तत्थ ठाविज्ज भिक्खु अप्पाणं ।
जायाए घासमेसिज्जा, रसगिद्धे ण सिक्खाए ॥११॥

शुद्धाः शुद्धिमत्यो दोषरहिता इत्यर्थः । ताश्च ता एषणाश्चोद्गमैषणाद्या शुद्धैषणा यद्वैषणाः सप्त संसृष्टाद्यास्तद्यथा "संसट्ठमसंसट्ठा, तह उद्ध तह अप्पलेवडा चेव । उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया" एतासु च शुद्धैषणाः पञ्च जिनकल्पिकापेक्षमेतदुक्तं भवति तदधिकारे " पंचसु गहो दोसु अभिग्गहोत्ति " एताश्च ज्ञात्वाऽवबुध्य किमित्याह । ज्ञानस्य फलं विरतिरिति । तत्रैषणासु स्थापयेन्निवेशयेद्भिक्षत इत्येवं धर्मो यस्यासौ भिक्षुः स्वात्मानं स्व किमुक्तं भवत्यनेषणापरिहारी चेति भिक्षुः ... आहारेण एषणा शुद्धमेव गृह्णीयात्तदपि किमर्थमित्याह । (जायाए घासमेसिज्जत्ति) यात्रार्थं संयमनिर्वहणनिमित्त (घासमिति) ग्रासमेषयेत् ... यदुक्तं "जह सगडक्खोवंगो, कीरइ भरवहणकारणा णवरं । तह गुणभरवहणत्थं, आहारो बंभयारीणं" ति । एषणासु च ... अप्यादाय कथं भोक्तव्यमिति ग्रासैषणामाह रसेषु स्निग्धमधुराद्यादिषु गृद्धो गृद्धिमान् रसगृद्धो न स्यान्न भवेत् । (भिक्खादाएत्ति) भिक्षादौ भिक्षाको वा अनेन रागपरिहार उक्तो द्वेषपरिहारोपलक्षणं चैव ततश्च रागद्वेषरहितो भुञ्जीतेत्युक्तं भवति यदुक्तं "रागद्दोसविमुक्को, भुंजिज्जा णिज्जरापेहि" ति सूत्रार्थः ।

अगृद्धश्च रसेषु यत्कुर्यात्तदाह ।

पंताणि चेव सेविज्जा, सीयं पिंडं पुराणकुम्मासं ।
अदु वुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठा ए सेवए मंथुं ॥१२॥

प्रान्तानि नीरसान्यन्नपानानीति गम्यते चशब्दादन्तानि वा एवावधारणे स च भिन्नक्रम. " सेविज्ज " इत्यस्यानन्तर द्रष्टव्य । ततश्च प्रान्तान्यन्तान्यन्नानि च सेवेतैव न तु साराणीति परिस्थापयेऽच्छनिर्गतापेक्षया प्रान्तानि चैव सेवेत सम्य तथाविधानामेव ग्रहणानुज्ञानात् । कानि पुनस्तानीत्याह (सीयपिंड ति) शीतः शीतल. पिण्ड आहार' शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्डस्तम् । शीतोऽपि शाल्यादिपिण्ड. सरस एव स्यादत आह पुराण प्रभूतवर्षधृता' कुल्माषा एते हि पुराणा अत्यन्तपूतयो नीरसाश्च भवन्तीत्येव तद्ग्रहणमुपलक्षण चैतत्पुराणमुद्गादीनाम् । (अदु) इत्यथवा (बुक्कस) मुद्गमाषादि (नक्खिका) निष्पन्नमतिनिष्पीडितरस वा पुलकमसारं वल्लचनकादि वा समुच्चये (जेवणट्ठत्ति) यापनार्थ शरीरानिर्वाहार्थ वासमुच्चये चसरत्र योक्ष्यते (सेवएत्ति) सेवेतोपभुञ्जीत । यापनार्थमित्यनेन एतच्चूचितं यदि शरीरयापना भवति तदैव निषेवेत । यदि त्वतिवातोद्रेकादिना तद्यापनैव न स्यात्ततो न निषेवेत अपि गच्छगतापेक्षमेतत्तन्निर्गतश्चैतान्येव यापनार्थमपि निषेवेत "मंथुं" वा बदरादिचूर्णमनतिरुक्षतया चास्य प्रान्तत्व सेवेतेति सवन्ध । पठ्यते च "अ वणट्ठाएनिसेवए मधुत्ति" तथैव नवरं मथुमित्यत्र चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्योऽसारवस्तूपलक्षण चोभयत्र मधुग्रहण पुन क्रियाभिधान च न सकृदेवाप्राप्तान्यमूनि सेवेत किन्त्वनेकधापीति स्यापनार्थमिति सूत्रार्थः । यदुक्त शुद्धैषणा स्वात्मान स्थापयेति तद्विपर्यये बाधकमाह

जे लक्खणं च सुविणं, अंगविज्जा य जे पउंजंति ।
न हु ते समणा वुच्चति, एवं आयरिएहिँ अक्खायं ।१३।

ये इति प्राग्वल्लक्षण च शुभाशुभसूचकं पुरुषलक्षणादिरुदित- स्तत्प्रतिपादक शास्त्रमपि लक्षण तद्यथा " अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु । गतौ यान स्वरे चाज्ञा, सर्वे सत्वे प्रतिष्ठित " स्वप्नं चेत्यत्रापि रुढित' स्वमस्य शुभाशुभफलसूचक शास्त्रमेव तद्यथा " अलं कृतानां द्रव्याणां, वाजिवारणयोस्तथा । वृषभस्य च शुक्लस्य दर्शने प्राप्नुयाद्यशः" तथा "मूत्र वा कुरुते स्वप्ने, पुरीष वा विलोडितम् । प्रतिबुद्धस्तदाकश्चिल्लभते सोऽर्थनाशनम् " (अगविज्ज च त्ति) अङ्गविद्यां च शिर'प्रभृत्यङ्गस्फुरणत. शुभाशुभसूचिका शिरःस्फुरणे " किरज्ज " मित्यादिकां प्रणवमायावीजादिवर्णविन्यासात्मिकां वा यद्वा अगान्यङ्गविद्यान्यावर्णितानि भौमान्तरिक्षादीनि "विद्या हिलिहिलिमातङ्गिनी स्वाहा" इत्यादयो विद्या नवादप्रसिद्धास्ततश्चाङ्गानि च विद्यास्वाङ्गविद्या' प्राग्वद्वचनव्यत्ययश्चः सर्वत्र वाशब्दार्थो ये प्रयुञ्जते व्यापारयन्ति पुनर्ये इत्युपादान लक्षणादिभि' पृथक् सबन्धसूचनार्थ ततश्च प्रत्येकमपि लक्षणादीनि प्रयुञ्जते न तु समस्तान्येव ते किमित्याह " न हु "नैव त एव विधा श्रमणाः साधव उच्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इह च पुद्गलस्मान विनैतद्व्यापारेण एवमुच्यते अन्यथा करवीरलताभ्रामकतपस्विनोऽप्येवविधत्वापत्तेरेवमार्यैराचार्यैर्व्याख्यात कथितमनेन यथावस्थितवस्तुवादितयाऽऽत्मनि परापवाददोषं व्यपोहत इति सूत्रार्थः । ते चैवंविधा यदवाप्नुवन्ति तदाह ।

इह जीवियं अणियमित्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिँ ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जंति आसुरे काए ।१४।

इहास्मिन् जन्मनि जीवितमसंजमजीवितमनियम्य द्वादशविधतपोविधानादि अनियन्त्र्य प्रभ्रष्टाश्च्युताः केभ्यः समाधिजोगेभ्य. समाधिश्चित्तस्वास्थ्य तत्प्रधाना योगा' शुभमनोवाक्कायव्यापाराः समाधियोगा. । यद्वा समाधिश्च शुभचित्तैकाग्रता योगाश्च प्रथगेव प्रत्युपेक्षणादयो व्यापाराः समाधियोगास्तेभ्यो नियन्त्रितात्मनं हि पदे पदे तद्भ्रंससम्भव इति तेऽनन्तरमुक्ता कामभोगेष्वभिहितस्वरूपेषु रसोऽत्यन्ताशक्तिरूपस्तेन गृद्धास्तेष्वेवाभिकाङ्क्षावन्तः कामभोगरसगृद्धा' । यद्वा रसा पृथगेव शृङ्गारादयो मधुरादयो वा भोगान्तर्गतत्वेऽपि चैषां पृथगुपादानमतिगृद्धिविषयताख्यापनार्थमुपपद्यन्ते जायन्ते आसुरेऽसुरसवन्धिनिकाये असुरनिकाय इत्यर्थ. । इदमुक्त भवत्येव विधा कश्चित् कादाचित्कमनुष्ठानमनुतिष्ठन्तोऽप्यसुरेष्वेवोत्पद्यन्त इति सूत्रार्थ' ।

ततोऽपि च्युतास्ते किमाप्नुवन्तीत्याह ।

तत्तो वियउवट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियट्टंति ।
बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥१५॥

ततोऽपि चासुरनिकायादुद्धृत्य तत्परित्यागेनान्यत्र गत्वा ससार चतुर्गतिरूप " बहुशब्दस्य बहुतापे घृत श्रेय " इत्यादिषु विपुलवाचिनो दर्शनाद्बहु विपुलं विस्तीर्णमिति यावद्बहु प्रकार वा चतुरशीतियोनिलक्षतया " अणुपरिचित्ति " " अणुपरियत्ति " सातत्येन पर्यटन्तीत्यर्थ पठन्ति च "अणुचरतित्ति" स्पष्टम् । किं च बहूनि च तानि अनन्ततया कर्म्माणि च क्रियमाणतया ज्ञानावरणादीनि बहुकर्म्माणि तानि लेप इव लेपो बहुकर्म्मणां वा लेप उपचयो बहुकर्म्मलेपस्तेन लिप्तास्तेषां बोधिं प्रेत्य जिनधर्मावाप्तिर्भवति जायते सुदुर्लभाऽतिशयदुरापा तेषामिति ये लक्षणादि प्रयुञ्जते पठन्ति च (बोही अत्थसुदुल्लहा तेसिं ति) बोधिर्यत्र संसारे- सुदुर्लभा तेषां तमनुपरियन्तीति योजनीयम् । यतश्चैवमुत्तरगुणविराधनायां दोषस्ततस्तदाराधनायामेव यतितव्यतिति भाव इति सूत्रार्थः । आह किममी द्रव्यश्रमणा जानन्तोऽपि एव लक्षणादि प्रयुञ्जते । उच्यते लोभतोऽत एव तदाकुलितस्यात्मनो दुष्पूरतामाह ।

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुन्नं दलिज्ज एक्कस्स ।
तेणावि से न तुसिज्जा, इति दुप्पूरए इमे आया ॥

कृत्स्नमपि पूर्णमपि यः सुरेन्द्रादिरिम प्रत्यक्ष लोक जगत्परिपूर्णं धनधान्यहिरण्यादिभृत (दलेज्ज) दद्यात् किं बहुन्य इत्याह । (एकस्सत्ति) एकस्मै कस्मैचित्कयचिदाराधितवते तेनापि धनधान्यादिभृतसमस्तलोकदायकेन हेतौ तृतीया (से) इति स न सतुष्येन्न तुष्येत् किमुक्त भवति ममैतावद्दत्ताऽनेन परिपूर्णता कृतेति न तुष्टिमाप्नुयात् । उक्तहि " न वह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधि. । नचैवात्मार्थसारेण, शक्यस्तर्पयितु क्वचित् ॥ यदि स्याद्रत्नपूर्णोऽपि, जम्बूद्वीपः कथचन । अपर्याप्त. प्रदानाय, लोभार्त्तस्य जिनै. स्मृत. " इतिरेवमर्थे एवममुनोक्तन्यायेन दु.खेन कृच्छ्रेण पूरयितु शक्यो दुष्पूरो दु'पूरक (इमेति) अय प्रत्यक्ष आत्मा जीव एतदिच्छाया. परिपूरयितुमशक्यत्वादिति सूत्रार्थ. । किमिति न सतुष्यतीति स्वसंविदित हेतुमाह ।

जहा लाहो तहा लोभो, लाहा लोभो पवड्ढई ।
दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१७॥

यथा येन प्रकारेण लाभो गार्हमभिकाङ्क्षेति यावत् प्रवर्ततीति शेषः किमेवमित्याह । लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते प्रकर्षेण वृद्धिं स-

जते इह च लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इति वचनाद्यथा तथेत्यत्र वीप्सा गम्यते ततश्च यथा यथा लाभस्तथा तथा लोभो भवतीत्युक्तं भवति । लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इत्यपि कुत इत्याह । लाभाभ्यां द्विसंख्याकाभ्यां माषाभ्यां पञ्चरक्तिकामानाभ्यां क्रियते निष्पाद्यत इति द्विमाषकृतमार्षत्वाद्वर्तमानकाले क्तः कार्यं प्रयोजन तच्चेह दास्यां पुष्पतांबूलमूल्यरूप कोट्यापि सुवर्णशतलक्षात्मिकया न निष्ठितं न निष्पन्नं तदुत्तरोत्तरविशेषवाञ्छात इति भाव इति सूत्रार्थः ।

संप्रति यदुक्तं द्विमाषकृत कार्यं कोट्यापि न निष्ठितमिति तत्र तदनिष्ठितिः स्त्रीमूलेति तत्परिहारार्थतोपदर्शनायाह ।

नो रक्खसीसु गिज्झिज्जा, गंमवच्छासु ऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेलंति जहा व दासेहिं ॥१८॥

नो नैव राक्षस्य इव राक्षस्यः स्त्रियस्तासु यथाहि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्त्येवमेता अपि तत्वतो हि ज्ञानादीन्येव जीवितं स्वार्थश्च तानि च ताभिरपाक्रियन्त एव तथा च हारिलः " वातोद्धूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां, मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेह तथैव। ज्ञान शील विनयविनवौदार्यविज्ञानदेहान्, सर्वानर्थान् दहति वनिताऽमुष्मिकानैहिकांश्च ॥(गिज्झेज्जत्ति) गृद्धस्त्वेदभिकाङ्क्षावान् भवेत् । कीदृशीषु (गंमवच्छासुत्ति) गण्डमिह चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासंभवाच्च तदुपमत्वाद्गण्डे कुचावुक्तौ ते वक्षसि याभ्यां तास्तथाभूतास्तासु वैराग्योत्पादनार्थ चेत्थमुक्तम् । तथा अनेकान्यनेकसख्यानि चञ्चलतया चित्तानि मनांसि यासां तास्तासु अनेकचित्तासु आहच " अन्यस्याङ्के ललति विशद, चान्यमालिङ्ग्य शेते, अन्य वाचा वपयति हसत्यन्यमन्य च रौति । अन्य द्वेष्टि स्पृशति कशति प्रोर्णुते चान्यमिष्टं, नार्यो नृत्यत्तडित इव धिक् चञ्चला वाहिकाश्च" तथा (जाओत्ति) याः पुरुष मनुष्य कुलीनमपीति गम्यते प्रलोभ्य त्वमेव शरणं त्वमेव च प्रीतिकृदित्यादिकाभिर्वाग्भिर्विप्रतार्य क्रीमन्ति (जहा वत्ति) वाशब्दस्येवकारार्थत्वाद्यथैव दासैरे ह्यागच्छ मा या त्व मायासीरित्यादि विवक्षितप्रभृतिभिः क्रीमाभिर्विलसन्तीति सूत्रार्थ ।

पुनस्तासामेवातिहेयतां दर्शयन्नाह ।

नारीसु नो पगिज्झिज्जा, इत्थीविप्पयहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं नच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खुमप्पाणं ॥

नारीषु नो नैव प्रगृह्येत्प्रशब्द आदिकर्मणि ततो गृद्धिमारब्धेतापि न किं पुनः कुर्यादिति भाव (इत्थीविप्पयहित्ति) स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजतीति स्त्रीविप्रजहः "उणादयो बहुलम्" ३।३।१। इति बहुलवचनाच्छः । यद्वा- (इत्थित्ति) स्त्रियो (विप्पजहेत्ति) विप्रजह्यात्पूर्वत्र नारीग्रहणान्मनुष्यास्त्रिय एवोक्ता इह च देवतिर्यक्सम्बन्धिन्योऽपि त्याज्यनयोरुच्यन्ते इति न पौनरुक्त्यमुपदेशत्वाद्वा । अनगारः प्राग्वत् किं पुनः कुर्यादित्याह धर्ममेव ब्रह्मचर्यादिरूप चस्यावधारणार्थत्वात्पेसलमिह परत्र चैकान्तहितत्वेनातिमनोज्ञं ज्ञात्वा अववुध्य तत्रेति धर्मे स्थापयेन्निवेशयेद्भिक्षुर्यतिरात्मानं विषयाभिलाषनिषेधे इति सूत्रार्थः । अध्ययनार्थोपसहारमाह ।

इति एस धम्मे अक्खाए,
कविलेण च विसुद्धपण्णेण ।
तरिहिंति जे उ काहिंति,
तेहिं आराहिया दुवे लोग त्तिवेमि ॥२०॥

इतीत्यनेन प्रकारेण एषोऽनन्तरमुक्तरूपो धर्मो यतिधर्म आख्यातः सकलतत्त्वस्वरूपाभिव्याप्याख्यातः कथितः ख्यातकेनेत्याह । कपिलेनेत्यात्मानमेव निर्दिशति पूर्वसगतिकत्वादमी मद्वचनतः प्रतिपद्यन्तामिति चः पूरणे विशुद्धप्रज्ञेन निर्मलावबोधेनातोऽर्थसिद्धिमाह (तरिहिंति) तरिष्यन्ति भवार्णवमिति शेषः । ये इत्यविशेषाभिधानं तुः पूरणे ततोऽविशेषत एव तरिष्यन्ति ये करिष्यन्त्यनुष्ठास्यन्ति प्रक्रमादमुं धर्ममन्यच्च तैराराधितौ सफलीकृतौ द्वौ द्विसख्यौ लोकाविह लोकपरलोकावित्यर्थः । इह महाजनपूज्यतया परत्र च निःश्रेयसाभ्युदयप्राप्त्येति सूत्रार्थ इति परिसमाप्तौ ब्रवीमिति । नयाश्च प्राग्वदिति । उत्त० ८ अ० । भरतखण्डकृष्णवासुदेवसमकालीने धातकीखण्डान्तर्गतपूर्वार्द्धभारतवर्षसत्कचम्पानगर्य्यां भवे वासुदेवे, ज्ञा०१६ अ०। स्था० (येन विजितापरकङ्काधीशपद्मनाभस्य कृष्णवासुदेवस्य शङ्खशब्दः श्रुतः श्राविताश्चेति द्रौपदी (दुवइ) शब्देवक्ष्यते) सुस्थिताचार्य्यस्य क्षुल्लके शिष्ये, येन शय्यातरस्नुषिका (कन्या) निमित्त शिष्ये क्षिप्ते तृतीयवेद उत्पन्नः बृ० ४ उ० । (पडिसेवणाशब्दे कथा) नन्दामात्यस्य कल्पकस्य पितरि, आ० क०। आव० । आ० चू० । (कप्पअशब्दे उक्तम) पक्षिविशेषे, ज्ञा० १७ अ० । औ० । प्रश्न० । वर्णविशेषे, उपा० २ अ० । अनु० । तद्वर्णवति, पिङ्गले, त्रि० । उपा० २ अ० । कपिलपुष्पायां शिशपायाम, स्त्री०, राजनि०। रेणुकानामगन्धद्रव्ये कपिलवर्णायां स्त्रियां तुदावेव वर्णवाचित्वेऽपि अनुदात्तत्वाभावात् । कुकुरजातिस्त्रियां तु जातित्वात् ङीप् वाच० ।

कविलकविल-कपिलकपिल-त्रि० अतिकडारे, उपा०२अ० ।

कविलदंसण-कपिलदर्शन-न० शास्त्रशास्त्रे, " अमर्त्त्यश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने " गा० (एतन्निराकरणं संखशब्दे)

कविलपलियकेस-कपिलपलितकेश-पुं० कपिला पलिताश्च शुक्लाः केशा येषां ते तथा । अतिवृद्धेषु, प्र० ७ श० ६ ड० ।

कविलय-कपिलक-पु० राहुदेवस्य कृष्णपुद्गलभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० ।

कविला-कपिला-स्त्री० स्वनामख्यातायां ब्राह्मण्याम, "अदि कालसोयरिपसूणं मोयहिं अदि य कविल माहणि भिक्खं दीवावेहि " आ० चू० ४ अ० ।

कवि (वे) ल्लुय-कविल्लुक-न० मण्डकपचनिकायाम, स- था०। " भसे कविल्ले विडुपचिते " बृ० ५ उ० । "पच्छा गोवालाण ज जेण कवेल्ल भरुयं" आ० म० द्वि०। आव०। अ०। आ ।

कवि (वे) ल्लुयावाय-कवेल्लुकापाक- पुं० कवेल्लुकानि प्रतीतानि तेषामापाक । भाण्डपचनस्थाने, स्था० ८ ठा० । जी० ।

कविसीस-कपिशीर्ष-न० कपीनां प्रियं शीर्षमग्रम्, शाक०। प्राकाराग्रे, त्रिका० । कपीनां प्राकाराग्रवासित्वं लोकसिद्धम स्वार्थे कः तत्रैव, वाच०। " कविसीसयवट्टरइयसठियविरायमाणा " कपिशीर्षकैः वृत्तरचितैर्वर्तुलीकृतैः संस्थितैर्विशिष्टसंस्थानवद्भिर्विराजमाना शोभमाना या सा तथा।ज्ञा०१अ०। रा०।

कविहसिय-कपिहसित-न० नभसि विकृतिरूपस्य वानरमुखसदृशस्य अट्टाट्टहासे, व्य० ७ उ० । औ० । आ० चू० । नि० चू० । आव० । आकस्मान्नभसि ज्वलद्दीप्तशब्दे, जी० ।

कवोय-कपोत-पु० स्त्री० पारावते, पिं० । विपा० । उपा० । स च त्रिधा गृहकपोतवनकपोतचित्रकपोतभेदात्, वाच० ।

कवोयकरण-कपोतकरण-न० कपिञ्जलानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते तस्मिन् स्थाने, आचा० २ श्रु० ।

कवोयपरिणाम-कपोतपरिणाम-त्रि० कपोतस्येव पक्षिविशेषस्येव परिणाम आहारपरिपाको येषां ते कपोतपरिणामाः । आहारपरिपाकलक्षोदराग्निषु, कपोतस्य हि जठराग्निः पाषाणलवानपि जरयतीति (जन) श्रुतिः, तं० । प्रश्न० । जी० ।

कवोयसरीर-कपोतशरीर-न० कपोतकदेहे, कूष्माण्डफले, च "खेतीए गाहावतीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो दुवे कवोया" सिंहानगार प्रति वीरजिनः इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते । अन्ये त्वाहुः कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् द्वे फले वर्णसाधर्म्यात् ते कपोते कूष्माण्डे हस्वे कपोतके ते च ते शरीरे च वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे । अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतकशरीरे कूष्माण्डफले एव ते उपस्कृते संस्कृते, भ० १५ श० १ उ० ।

कवोल-कपोल-पु० सौ कप्-ओलच्. गण्डे, गल्ले, उपा० २ अ० । "पीणमंसलकवोलदेसभागा" पीनौ पुष्टौ यतो मांसलौ उपचितौ कपोललक्षणौ देशभागौ मुखावयवौ येषां ते, जं० २ वक्ष० । औ० ।

कव्व-काव्य-न० कवेरभिप्राय काव्यम् । रत्ने. अनु० । कवेः भृगुपुत्रस्यापत्य यञ्-शुक्रे, अमर० । कवेरिदं यञ् कविसम्बन्धिनि, कव्-वर्णने, स्तुतौ, च । कर्मणि-ण्यत् । वर्णनीये, स्तुत्ये, च त्रि० । स्त्रियां टाप् शार्ङ्गरवादौ तु काव्यशब्दस्य यञन्तस्यैव ग्रहणात् ततः स्त्रियां ङीन् । कवेः कर्म ष्यञ्-कविकृतगद्यपद्यात्मके ग्रन्थे, वाच० ।

चउव्विहे कव्वे पण्णत्ते तंजहा गज्जे पज्जे कत्थे गेये ।

काव्यं चैतन्नवर काव्य ग्रन्थ गद्यमच्छन्दोनिबद्धं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनवत् पद्य छन्दोनिबद्धं विमुक्ताध्ययनवत् । कथायां साधु कथ्यं ज्ञाताध्ययनवत् । गेयं गानयोग्यम् । इह गद्यपद्यान्तर्भावेऽपीतरयोः कथा गानधर्मविशिष्टतया विशेषो विवक्षित इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । "णट्टविही णामयविही, कव्वस्स चउव्विहस्स उप्पत्ती । सखेवमहाणिहिम्मि, तुडियगाण च सव्वेसिं" स्था० ९ ठा० ।

कव्वऽत्त-काव्यवत्-त्रि० काव्य-मतुप्-"आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः । ८ । २ । १५९ । इति मतुप स्थाने इत्तादेश काव्यविशिष्टे, प्रा० ।

कव्वड-कर्वट-न० कर्व-अट-क्षुल्लकप्राकारवेष्टिते, अभितः पर्वतवृते, जं० २ वक्ष० । महाक्षुद्रसन्निवेशे, दशा० १ चूलि० । कर्वटजनावासे कुनगरे, उत्त० ३० अ० । स्था० । रा० । प्रश्न० । कल्प० । औ० । ज्ञा० । आचा० । अनु० । जं० । तद्वासिनि जने, च त्रि० । कब्बाडी, उत्त० ३० अ० ।

कव्वरस-काव्यरस-पु० कवेरभिप्रायः काव्य रस्यन्ते अन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसास्तत्सहकारिकारणनिधानोद्भूताश्चेतोविकारविशेषाः इत्यर्थः । उक्तं च "बाह्यार्थालम्बनो वस्तुविकारो मानसो भवेत् । स भावः कथ्यते सद्भिस्तस्योत्कर्षो रस स्मृतः" ॥ काव्येषूपनिबद्धा रसा काव्यरसाः । वीरशृङ्गारादिषु रसेषु, ।

से किं तं णवनामे णवनामे णव कव्वरसा पण्णत्ता तंजहा
"वीरो सिंगारो अब्भुओ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो ।
वेलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ ॥ (अनु०)

(वीरादिशब्देषु व्याख्या)

साम्प्रतं नवानामपि रसानां संक्षेपत स्वरूप कथयन्नुपसंहरन्नाह

एए नवकव्वरसा, बत्तीसा दोसविहिसमुप्पण्णा ।
गाहाहिं मुणेअव्वा, हवंति सुद्धा व मीसा वा ॥ २० ॥
सेत्तं नवनामे ।

एते नव काव्यरसा अनन्तरोक्तगाथाभिर्यथोक्तप्रकारेणैव मुणितव्या ज्ञातव्याः । कथंभूताः "अलियमुवघायजणय, निरत्थयमवत्थयछलं दुहिलं" मित्यादयोऽत्रैव वक्ष्यमाणाः । यद्वा त्रिंशत्सूत्रदोषास्तेषां विधिर्विरचनं तस्मात्समुत्पन्ना । इदमुक्तं भवत्यलीकताख्यो यस्तावत् सूत्रदोष उक्तस्तेन कश्चिद्रसो निष्पद्यते यथा "तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी" ॥ १ ॥ इत्येव प्रकार सूत्रमलीकतादोषदुष्ट रसश्चायमद्भुतः ततोऽनेनालीकतालक्षणेन सूत्रदोषेणाद्भुतो रसो निष्पन्नस्तथा कश्चिद्रस उपघातलक्षणेन सूत्रदोषेणाभिनिर्वर्त्तते यथा स 'एव प्राणिति प्राणी, प्रीतेन कुपितेन च । चित्रैर्विपक्षकैश्च, प्रीणिता येन मार्गणा' इत्यादिप्रकार सूत्रं परोपघातलक्षणदोषदुष्ट वीररसश्चायम् । ततोऽनेनोपघातलक्षणेन सूत्रदोषेण वीररसोऽत्र निर्वृत्त इत्येवमन्यत्रापि यथासम्भव सूत्रदोषविधानाद्रसनिष्पत्तिर्वक्तव्या प्रायो वृत्तिं चाश्रित्यैवमुक्त तपोदानविषयस्य वीररसस्य प्रशान्तादिरसाना च क्वचिद् वृत्तादिसूत्रदोषानन्तरेणापि निष्पत्तेरिति । पुनः किंविशिष्टा अमी भवन्तीत्याह (हवंति सुद्धा वा मीसा वत्ति) शुद्धा वा मिश्रा वा भवन्ति क्वचित्काव्ये शुद्ध एक एव रसो निष्पद्यते क्वचित्तु द्व्यादिरससंयोग इति भाव इति गाथार्थः । अनु० १४१ पत्र

कव्वलिंग-काव्यलिङ्ग-न० हेतोर्वाक्यपदार्थतेति लक्षिते अर्थालङ्कारभेदे, प्रति० १७ पत्र० ।

कव्वसत्ति-काव्यशक्ति-स्त्री० एकोनविंशतितमायां स्त्रीकलायाम्, कल्प० ।

कव्वुर-कर्बुर-पुं० चित्रे, ज्ञा० ८ अ० । आचा० । शबले, त्रि० । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कव्वुरय-कर्बुरक-पु० षोडशे सप्तदशे वा महाग्रहे, "दो कव्वुरया" स्था० २ ठा० ३ उ० । च० प्र० । जं० । कल्प० ।

कस-कश-पु० आलजनकायाम्, (उत्त० १ अ०) चर्मयष्टिकायाम्, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । उत्त० ।

कष-पु० न० कष-अच् । कष शिषेति दण्डकधातुर्हिंसार्थः । कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिनः इति कषः । कर्म० १ क० । आ० म० प्र० । प्रव० । आचा० । कष्यतेऽस्मिन् प्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति कषः । कषति हिनस्ति "पुंसि सञ्ज्ञायां घ प्रायेण" । ३।३।११८ इति प्रायग्रहणात् च । अन्यथा हलन्तत्वाद्धलश्चेति घञ् स्यात्

दर्श० १८० पत्र. संसारे, उत्त०४ अ०। आचा०। कषति देहिन कष इति कषम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। कषयन्ते बाध्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति कषम् कर्मणि प्रावे च घः, विशे०। स्वर्णवर्णरूपज्ञानार्थे पाषाणभेदे, अस्यादेस्तीक्ष्णीकरणसाधने, शाणाख्येऽर्थे च अमर०। वाच०।

कसट–कष्ट–न० कष क्त–नेट् "यस्तष्टा रियसिनसटा क्वचित्" ८।४।२३। इति ष्टस्थाने सटादेशः पीमायाम्. प्रा०।

कसपट्टिय–कषपट्टक–पु० कषे, ज० ७ श० २ उ०।

कसण–कसन–पु० कसति हिनस्ति कस् ल्युट् कासरोगे, लूताभेदे, वाच०।

कृष्ण–पु० "कृष्णे वर्णे वा ८।२।११० कृष्णवर्णवाचिनि सयुक्त्यअनान्पूर्वाअदितौ वा भवत.। कसणो कसिणो कण्हो वर्ण इति किम् विष्णौ कण्हो, प्रा०।

कसणफणि (ण्) कृष्णफणिन्–पुं० "फो महौ" ८।१।२३६। इत्यस्य प्रायिकत्वान्न फस्य भः कृष्णसर्पे, प्रा०।

कसपट्टय–कषपट्टक–पु० निकषे, अनु०।

कसप्पहार–कशप्रहार–पुं० वर्द्धतामने, ज्ञा० २ अ०।

कसर–कसर–पु० (कणरूकन) खसरे, "कच्छकसराभिभूया" ज० २ वक्ष०। भ०।

कससुद्धि–कषशुद्धि–स्त्री० विधिप्रतिषेधयोर्बाहुल्येनोपवर्णने धर्मशुद्धिभेदे, विधिप्रतिषेधौ कष इति विधिरविरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्य यथा 'स्वर्गकेवलार्थिना तपो ध्यानादि कर्त्तव्य' समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया इत्यादि प्रतिषेधः पुन 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि नानृत वदेत्' इत्यादि ततो विधिश्च प्रतिषेधश्च विधिप्रतिषेधौ किमित्याह कषः सुवर्णपरीक्षायामिव कषपट्टके रेखा इदमुक्त भवति। यत्र धर्म्मे उक्तलक्षणो विधिः प्रतिषेधश्च पदे पदे सुपुष्कल उपलभ्यते स धर्म्मः कषशुद्धः। न पुनरन्यधर्मस्थिता सत्वा असुरा इव विष्णुना उच्छेदनीयास्तेषां हि वधे दोषो न विद्यते इत्यादिकवाक्यगर्भ इति। ध० १ अधि०।

अथास्य लक्षणमाह।

सुहुमो असेसविसओ, सावज्जे जत्थ अत्थि पमिसेहो।
रागाइविअमणसहं, झाणाइअ एस कससुद्धो ॥६८॥

सूक्ष्मो निपुणोऽशेषविषय. व्याप्त्येत्यर्थः सावद्ये सपापे यत्रास्ति प्रतिषेधः श्रुतधर्म्मे। तथा रागादिविकुट्टने सह समर्थं ध्यानादि च एष शुद्धः श्रुतधर्म्म इति गाथार्थः।

इत्थ लक्षणमभिधायोदाहरणमाह।

जह मणवयकाएहिं, परस्स पीमा दढं न कायव्वा।
झाएअव्वं च सया, रागाइविपक्खजालं तु ॥६९॥

यथा मनोवाक्कायैः करणभूतैः परस्य पीमा दृढ न कर्त्तव्या क्षान्त्यादिभेदेन तथा ध्यातव्य च सदा विधिना रागादिविपक्षजाल तु यथोचितमिति गाथार्थः।

व्यतिरेकत कषशुद्धिमाह।

थूलो ण सव्वविसओ, सावज्जे जत्थ होइ पमिसेहो।
रागाइविअडणसहं, न य झाणाई वि तदसुद्धो ॥७०॥

स्थूलोऽनिपुण न सर्वविषय अव्यापक सावद्ये वस्तुनि यत्र भवति प्रतिषेध आगमे रागादिविकुट्टनसमर्थं न च ध्यानाद्यपि यत्र स तदशुद्ध कषाशुद्ध इति गाथार्थः।

अत्रैवोदाहरणमाह।

जह पंचहिंविहुएहिं व, एगा हिंसा मुसंविसंवाए।
इच्चाओज्झाणम्मिअ, झाएअव्वं अगाराइं ॥७१॥

यथा पञ्चभिः कारणैः प्राण्यादिभिः बहुभिर्वैकेन्द्रियादिभिरेका हिंसा यथोक्तं "प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्त च तद्गताचेष्टा। प्राणैश्च विप्रयोगः,पञ्चभिरापद्यते हिंसा" तथाऽन्यस्थिमतां शकटभरैणैको घात इति तथा मृषा विसंवादे यास्तव इत्याह। "असन्तोऽपि स्वका दोषा, पापशुद्ध्यर्थमीरिताः। न मृषायै विसंवाद–विरहात्तस्य कस्यचित्" इत्यादौ विचारे तथा ध्याने च ध्यानव्यमकारादि यथोक्त 'अकारोऽत्र विज्ञेयो, हाकारोऽविष्णुरुच्यते। महेश्वरो मकारस्तु,त्रयमेकत्र तत्वतः" इति गाथार्थः। प० व० ४ द्वा०।

कसा–कषा–स्त्री० अश्वादिताडनसाधिकायां चर्मयष्टिकायाम्, विपा० ६ अ०। आ०क०। ज्ञा०।

कसाइ (ण्)–कषायिन्–पु० कषाया विद्यन्ते यस्याऽसौ कषायी, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। क्रोधमानमायालोभिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०। प्रज्ञा०।

कसाइय–कषायित–त्रि० कषायोदयं प्राप्ते, व्य० ६ उ०। आ० म० द्वि०।

कसाइयमेत्त–कषायितमात्र– त्रि० उदीर्णमात्रक्रोधादिकषाये, "ज अज्जिय चरित्त, देसूणाए वि पुव्वकोमीए। त पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण" बृ० १ उ०।

कसाओवगय–कषायोपगत–न०क्रोधाद्युदयवशगमने,ध ३ अधि.

कसाय–कषाय–पु० न० कषति कण्ठम् आय–अर्द्धर्चादि। शषोः स ८।१।२६० इति षस्य स, प्रा०। रक्तदोषापहर्तरि विसीतकामलककपित्थाद्याश्रिते रसविशेषे, यदभाणि "रक्तदोष कफं पित्त, कषायो हन्ति सेवित.। रूक्षः शीतो गुरुग्राही, रोचकश्च स्वरूपत ॥१॥ कल्प०। ज०। प्रश्न०। अनु०। 'एगे कसाए' अन्तरुचिस्तज्जनकत्कषायः स्था० १ ठा०। तद्वति बज्ञादौ, दश०५ अ०। तं० मुज्ञादौ, ज्ञा० १७ अ०। कृषन्ति विलिखन्ति कर्मक्षेत्रं सुखदु.खफलयोग्यं कुर्वन्ति कलुषयन्ति वा जीवमिति निरुक्तविधिना कषाया। औणादिक आयप्रत्ययो निपातनाच्च ऋकारस्य अकार.। यदि वा कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्म मलिन कुर्वन्ति जीवमिति कषाया पूर्ववत् आयप्रत्ययो निपातनाच्च कलुषशब्दस्य णिजन्तस्य कषायादेशः उक्त च "सुहदुक्खबहुसहिय, कम्मखेत्तं कसति ज जम्हा। कलुसति ज च जीव, तेण कसाइत्ति वुच्चति" प्रज्ञा० १३ पद।

कम्मं क स भवो वा, कसमाओसिं जओ कसाया तो।
कसमाययंति व जओ, गमयन्ति कमं कसायन्ति॥
आउब्व उवायाणं, तेण कसाया जओ कसस्साया।
जीवपरिणामरूवा, जेण उ नामाइ नियमो यं॥

कषशिषेत्यादि हिंसार्थो दण्डकधातु. कष्यन्ते बाध्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति कष कर्म्म भवो वा तदायो लाभ एषां यतस्तत. कषाया. क्रोधादय.। अथवा यथोक्त कषमायधातोर्ण्यन्तस्यापयन्ति गमयन्ति प्रापयन्ति यतस्तत कषाया इति। अथवा आय उपादानहेतु. पूर्वोक्तस्य कषस्याय उपादान हेतवो यस्मात्तत कषाया विशे०। उत्त०। कष्यतेऽस्मिन्प्राणी पुन.पुन-

रागोऽभिमायमनुज्झति कषोपलकल्पमाजवञ्जवस्थिति । कष संसारः तस्मिन्नाममनन्तात्प्रयन्ते गच्छन्त्येभिरसुमन्त इति कषायाः यथा कषाया इव कषायाः यथाहि तुवरिकादिकषायकलुषिते वाससि, मञ्जिष्ठादिरागाः श्लिष्यन्ति चिरं चावतिष्ठन्ते तथैतत्कलुषिते आत्मनि कर्म्म संबध्यते चिरं स्थितिकं च जायते तदाय त्तत्वात्स्थितेः । उक्तं हि शिवशर्म्मणा " जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ त्ति " ॥ ३१ ॥ उत्त० ४ अ० कर्म० । स्था० । दर्श० । प्र० सू० । ध० । पं० सं० । उत्त० । पा० । मोहनीयकर्म्मपुद्गलोदयजन्यात्मपरिणामेषु क्रोधमानमायालोभेषु, स्था० १ ठा० । विशे० ।

तेषां कषायाणां नामादिना येन दशमाणनामादिभेदेऽसंख्येय-निक्षेपोऽयमन्येव शरीरस्योमानो दर्श्यत इति तेन च इत्याह ।

नामं ठवणा दविए, उप्पत्ती पच्चए य आएसे ।
रसभावे कसाए वि य, परूवणा तेसिमा होइ ॥

अत्र नामस्थापने सुगमे द्रव्यकषायनिक्षेपोऽपि सुगमो यतः इव्यादयोऽपि कषायादिद्रव्यकषायमाह ।

दुविहो दव्वकसाओ, कम्मद्दव्वे य नो य कम्मम्मि ।
कम्मद्दव्वकसाओ, चउव्विहो पोग्गलाणुइया ॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्विविधो द्रव्यकषायः, कर्म्मद्रव्यक-षायो नोकर्म्मद्रव्यकषायश्च । तत्र कर्म्मद्रव्यकषायो " जोग्गा बद्धा बज्झमाणाः" इत्यादिना प्राग्वत् । अनुदितावस्थाः पुद्गला इत्यर्थः । नोकर्म्मद्रव्यकषायमुत्पत्तिकषायं चाह ।

सज्जकसायाईओ, नोकम्मद्दव्वउ कसाओ य ।
खेत्ताइसमुप्पत्ती, जत्तोपभवो कसायाण ॥

नोकर्म्मद्रव्यतोऽयं कषायः, इत्याह । सर्जकषायादिक स्तस्य विभीतकहरीतकयादयो बहुप्रतीतिविषया नोकर्म्मद्रव्य कषाया इत्यर्थः । क्षेत्रादिकं वस्तु (समुत्पत्तिरिति) उत्पत्तिक-षाय इति सर्वे नेयाः यतः क्षेत्रादेः कषायाणां प्रभवः । समुत्-पद्यते भवति । यत क्षेत्रादिकमाश्रित्योदिता अकारणकषायोत्पत्ति-र्भवति तदेवमुक्तादिकं वस्तु कषायोत्पत्तिहेतुत्वादुत्पत्तिक-षाय उच्यते । तथा च कषायेः अकारणकषायोत्पत्तिः उक्त, च "किं एत्तो कट्टयरं, जं मूढो खाणुगम्मि अप्फडिओ । खाणुस्स तस्स रूसइ, न अप्पणो दुप्पओगस्स" त्ति ।

प्रत्ययकषायमाह ।

होइ कसायाणं बंध-कारणं जं स पच्चयकसाओ ।
सद्दाइउत्ति केई, न समुप्पत्तीए भिन्नो सो ॥

कषायाणां यदन्तरङ्गमविरत्याद्यात्मादिकं बन्धकारणं सोऽन्तर-ङ्गकषायकारणरूपः प्रत्ययकषायो भवति । अन्ये तु केचिच्छब्दादिक मेव बाह्यकषायविषयमाम प्रत्ययकषाय इति व्याचक्षते त-दायुक्तं यत उत्पत्तिकषायात्मसौ भिद्यते द्रव्यादेरिव तस्मा-दपि पृथिग्भूतकषायोत्पत्तेरिति ।

आदेशकषायमाह ।

आएसओ कसाओ, कइयवकयभिउडिभंगुरागारो ।
केई चित्ताइगओ-ठवणाणत्थंतरो सो य ॥

योऽन्तरङ्गकषायमन्तरेणापि कुपितोऽयमित्यादिरूपेणादिश्यते स आदेशकषायः । स चैष कैतवकृतभ्रुकुटिभङ्गुराकारो नटादि-कस्य । केचित्तु नटपूर्णधरादिप्रवाश्रितो जीव आदेशकषाय इति व्याचक्षते तदयुक्तं स्थापनानर्थान्तरत्वात्तस्येति ।

रसकषायमाह ।

रसओ रसो कसाओ, कसायकम्मोदओ य भावम्मि ।
सो कोहाइ चउद्धा, नामाइचउव्विहेक्केक्को ॥

हरीतक्यादीनां यो रसः स रसतः कषायो रसकषायः । भा-वकषायस्तु मोहनीयकर्म्मोदयसमुत्थानितश्च कषायपरिणामः । स च क्रोधादिभेदाच्चतुर्धा । क्रोधादिरपि प्रत्येकं नामादिभे-दाच्चतुर्विध इति ।

अथ नामादिकषायाणां को नयः कमिच्छतीत्याह ।

भावं सद्दाइनया, सद्दविसमुज्जुसुअनेगमाईया ।
नाएसुप्पत्तीओ, सेसा जं पच्चयविगप्पा ॥

भावकषायमेव शुद्धत्वाच्छब्दनया इच्छन्ति नामादिकषायान शेषास्तु ऋजुसूत्रसंग्रहौ नैगमादिनया शुद्धा अशुद्धाश्च । तत्राविशुद्धत्वान्नैगमव्यवहारावपि नामादिकषायानिच्छन्ति ये तु विशुद्धास्तदा ऋजुसूत्रवादिनस्तेऽनर्थेऽप्यादेशोत्पत्तिकषायौ नेच्छन्ति न पुनः इत्याह । (ज पच्चयविगप्पा इति) यस्मादेतौ प्रा-गपि प्रत्ययकषायविकल्पौ प्रत्ययकषायान्न भिद्येते तथा इत्युत्प त्तिकषायः कषायोत्पत्तौ प्रत्ययः इत्युक्तमेव । तथा आदेशकषा-योऽपि कैतवकृतोऽप्यकषायोत्पत्तौ प्रत्ययो भवत्येवेति न तस्मा त्तौ भिन्नाविति ।

अथ नामादिके द्रव्यक्रोधे व्यतिरिक्तव्यतिरिक्त-मिति द्रव्यक्रोधमाह ।

दुविहो दव्वकोहो, कम्मद्दव्वे य नोय कम्मम्मि ।
कम्मद्दव्वे कोहे, तज्जोग्गा पोग्गलाणुइया ॥
नो कम्मदव्वकोहो, नो उ चम्मारनीलिकोहाई ।
जं कोहवेयणिज्जं, समुइण्णं भावकोहो सो ॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो क्रोधो द्विधा कर्म्मद्रव्यक्रोधो नोक-र्म्मद्रव्यक्रोधश्च । तत्र योग्या योऽनुदितावस्थाश्चतुर्विधाः पुद्गलाः कर्म्मद्रव्यक्रोधः । नोकर्म्मद्रव्यक्रोधस्तु (कोहाइ) प्राकृतश-ब्दस्याप्यर्थस्य चर्म्मकार, चर्म्मकोथो नीलीकोथादिकश्च ज्ञेयः । भा-वक्रोधमाह । यत्क्रोधवेदनीयं कर्म्म विपाकतः समुदीर्णमुदय-मागतं तज्जनितश्च क्रोधपरिणामः स भावक्रोध इति । एवं मानादयोऽपि नामादिभेदसंयोगेन चतुर्विधा वाच्या । अथवा पृथगनन्तानुबन्ध्यादिभेदात्सर्वेऽपि क्रोधादयश्चतुर्विधा ज्ञेया इति दर्शयन्नाह ।

माणाईओ वि एवं, नामाई चउव्विहा जोग्गं ।
नेया पिहप्पिया वा, सव्वे णंताणुबंधाई ॥

गतार्थाः । तत्रानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावर-णसंज्वलनरूपाणां क्रोधादीनां पश्चानुपूर्व्या प्रत्येकं स्वरूपमाह ।

जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठिय, सेलत्थंभोवमो माणो ॥
मायावलेहिगोमुत्ति-मिंढसिंगघणवंसमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजण, कद्दमकिमिरागसामाणो ॥
पक्खचउमाससंवच्छर, जावज्जीवाणुगामिणो कमसो ।
देवनरतिरियनारय-गइसाहणहेयवो नेया ॥

एता, स्थानान्तरेष्वतिप्रतीतार्थत्वान्नेह व्याख्यायन्त इति । विशे० । आ०म०द्वि० । आ० चू० । उत्त० । आव० । धा० ।

चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोभकसाए एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

यथा सामान्यतश्चत्वारः कषायास्तथा विशेषतो नारकाणामसुराणां यावच्चतुर्विंशतितमे पदे वैमानिकानामिति । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । आचा० । प्रज्ञा० ।

आवर्त्तदृष्टान्तेनैते भेदाः ।

चत्तारि आवत्ता पण्णत्ता तंजहा खरावत्ते उन्नयावत्ते गूढावत्ते आमिसावत्ते । एवामेव चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा खरावत्तसमाणे कोहे उन्नयावत्तसमाणे माणे गूढावत्तसमाणा माया आमिसावत्तसमाणे लोभे । खरावत्तसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ। उन्नयावत्तसमाणं तं चेव गूढावत्तसमाणं मानमेवं चेव आमिसावत्तसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ ।

सुगम चैतन्नवरं खरो निष्ठुरोऽतिवेगितया पातकश्छेदको वा आवर्त्तमावर्त्त स च समुद्रादेश्चक्रविशेषाणां चेति खरावर्त्त उन्नत उच्छ्रितः सचासावावर्त्तश्चेति उन्नतावर्त्तः स च पर्वतशिखरारोहणमार्गस्य वातोत्कलिकाया वा । गूढश्चासावावर्त्तश्चेति गूढावर्त्तः स च गेन्दुकदवरकस्य दारुग्रन्थादेर्वा । आमिषं मासादि तदर्थमावर्त्तः शकुनिकादीनामामिषावर्त्त इति । एतत्समानता च क्रोधादीनां क्रमेण परोपकारकरणदारुणत्वात् पत्रतृणादिवस्तुन इव मनस उन्नतत्वारोपणात् अत्यन्तदुर्लक्ष्यस्वरूपत्वात् अनर्थशतसपातसकुलेऽप्यवपतनकारणत्वाच्चेति । इयं चौपमा प्रकर्षवतां कोपादीनामिति तत्फलमाह (खरावत्तेत्यादि) अशुभपरिणामस्याशुभकर्मबन्धनिमित्ततया दुर्गतिनिमित्तत्वादुच्यते (णेरइएसु उववज्जइत्ति) स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कषायस्वरूपं दर्शयितुकामः क्रोधस्योत्तरत्रोपदर्शयिष्यमाणत्वान्मायादिकषायत्रयप्रकरणमाह ।

चत्तारि केअणा पण्णत्ता तंजहा बंसीमूलकेअणए मेढविसाणकेअणए गोमुत्तिकेअणए अविलेहणियाकेअणए एवामेव चउव्विहा माया पण्णत्ता तंजहा बंसीमूलकेअणसमाणा जाव अवलेहणियाकेअणसमाणा । बंसीमूलकेअणसमाणं मायं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ मेढविसाणकेअणसमाणं मायामणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ । गोमुत्तिअं जाव कालं करेइ मणुस्सेसु उववज्जइ अवलेहणिया जाव देवेसु उववज्जइ ।

प्रगट किन्तु केतन सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वशादिदलक तच्च वक्रं भवति केवलमिह सामान्येन वक्रं वस्तु केतन गृह्यते तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनमेव सर्वत्र नवर मेढविषाण मेषशृङ्गं गोमूत्रिका प्रतीता (अवलेहणियत्ति) अवलिख्यमानस्य वंशशलाकादेर्या प्रतन्वी त्वक् साऽवलेखनिकेति । वंशीमूलकेतनकादिसमता तु मायायास्तद्वतामनार्जवभेदात्तथाहि यथा वंशीमूलमतिगुपिलवक्रमेव कस्यचिन्मायाऽपीत्येवमल्पाल्पतरालपनमानार्जवत्वेनान्यापि भावनीयेति । इयञ्चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपा क्रमेण ज्ञेया, प्रत्येकमित्यन्ये । तेनैवानन्तानुबन्धिन्या उदयेऽपि देवत्वादि न विरुध्यते एवं मानादयोऽपि । वाचनान्तरे तु पूर्वं क्रोधमानसूत्राणि ततो मायासूत्राणि ! तत्र क्रोधसूत्राणि " चत्तारि राईओ पण्णत्ताओ तंजहा पव्वयराई पुढविराई रेणुराई जलराई एवामेव चउव्विहे कोहे " इत्यादि । मायासूत्राणि " चाधीतानि फलसूत्रे अनुपविष्टस्तदुदयवर्त्तीति स्था० ४ ठा० २ उ० ।

चत्तारि थंभा पण्णत्ता तंजहा सेलथंभे अट्ठिथंभे दारुथंभे तिणिसलयाथंभे । एवामेव चउव्विहे माणे पण्णत्ते तंजहा सेलथंभसमाणे जाव तिणिसलयाथंभसमाणे । सेलथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ एवं जाव तिणिसलयाथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ ।

शिलाविकारः शैलः स चासौ स्तम्भश्च स्थाणुः शैलस्तम्भ एवमन्येऽपि नवरमस्थि दारु च प्रतीत तिनिशो वृक्षविशेषस्तस्य लता कम्बा तिनिशलता सा चात्यन्तमृद्वीति मानस्यापि शैलस्तम्भादिसमानता तद्वतां नमनाभावविशेषाज्ज्ञेयेति । मानोऽप्यनन्तानुबन्ध्यादिरूपः क्रमेण दृश्यः । तत्फलसूत्र व्यक्तम् ।

चत्तारि वत्था पण्णत्ता तंजहा किमिरागरत्ते कद्दमरागरत्ते खंजणरागरत्ते हलिद्दरागरत्ते । एवामेव चउव्विहे लोभे पण्णत्ते तंजहा किमिरागरत्तवत्थसमाणे कद्दमरागरत्तवत्थसमाणे खंजणरागरत्तवत्थसमाणे हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणे। किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ नेरइएसु उववज्जइ । तहेव जाव हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ।

कृमिरागे वृद्धसंप्रदायोऽयं मनुष्यादीनां रुधिरं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजने स्थाप्यते ततस्तत्र कृमय उत्पद्यन्ते ते च वाताभिलाषिणश्छिद्रनिर्गता आसन्ना भ्रमन्तो नीहारलालां मुञ्चन्ति ततः कृमिसूत्रं भण्यते तच्च स्वपरिणामरागरञ्जितमेव भवति । अन्ये भणन्ति ये रुधिरकृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्तार्य तद्रसे किञ्चित् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति स च रसः कृमिरागो भण्यते । अनुत्तारीति तत्र कृमीणां रागो रञ्जकरस कृमिरागस्तेन रक्तं कृमिरागरक्तमेव सर्वत्र नवर कर्दमो गोवाटादीनां खञ्जन दीपादीनां हरिद्रा प्रतीतैवेति । कृमिरागादिरक्तवस्तुसमानता च लोभस्यानन्तानुबन्ध्यादि तद्भेदवतां जीवानां क्रमेण दृढहीनहीनतरहीनतमानुबन्धित्वात् । तथाहि कृमिरागरक्त वस्त्र दग्धमपि न रागानुबन्धं मुञ्चति तद्भस्मनोऽपि रक्तत्वादेव यो मृतोऽपि लोभानुबन्धं न मुञ्चति तस्याभिधीयते लोभ कृमिरागरक्तवस्त्रसमानोऽनन्तानुबन्धी चेति । एवं सर्वत्र भावना कार्येति । फलसूत्रं स्पष्टम् स्था० ४ ठा० २ उ० । (इह कषायप्ररूपणागाथाः अनुपदमेवोक्ताः)

चतु प्रतिष्ठिताः क्रोधादयः ।

कति पतिट्ठिए णं भंते ! कोहे पन्नत्ते ? गोयमा ! चउपइट्ठिए कोहे पण्णत्ते तंजहा आयपतिट्ठिए परपइट्ठिए त-

दुभयपइट्ठिए अप्पइट्ठिए । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं दंडओ, एवं माणेणं दंडओ, मायाए दंडओ लोभेणं दंडओ ।

कतिषु कियत्प्रकारेषु स्थानेषु प्रतिष्ठितो भदन्त ! क्रोध भगवानाह । चतु प्रतिष्ठितस्तद्यथा आत्मप्रतिष्ठित इत्यादि । आत्मन्येव प्रतिष्ठितः आत्मप्रतिष्ठितः । किमुक्तं भवति स्वयमाचरितस्य ऐहिक प्रत्यपायमवबुध्य यदा कश्चिदात्मन एवोपरि क्रुध्यति तदा आत्मप्रतिष्ठित क्रोध प्रतिष्ठित इति । यदा पर उदीरयति आक्रोशादीनां कोप तदा किल तद्विषय. क्रोध उपजायते इति स परप्रतिष्ठित इति । नैगमनयदर्शनमेतत् । नैगमनयो हि तद्विषयमात्रेणापि तत्प्रतिष्ठित मन्यते यथा जीव सम्यग्दर्शनमजीवसम्यग्दर्शनमित्यादयोऽष्टौ भङ्गा सम्यग्दर्शनस्याधिकरणचिन्तायामावश्यके तदुभयप्रतिष्ठित आत्मपररूपोभयप्रतिष्ठित यदा कश्चित्तथाविधापराधवशादात्मपरविषयक्रोधमाधत्ते इति । अप्रतिष्ठितो नाम यदैष. स्वय दुश्चरणमाक्रोशादिक च कारण विना निरालम्बन एव केवलक्रोधवेदनीयादुपजायते स हि नात्मप्रतिष्ठित' स्वय दुश्चरणाभावनाद्यात्मविषयत्वाभावात् । नापि परप्रतिष्ठित. परस्यापि निरपराधतया अपराधसम्भावनाया अभावत क्रोधालम्बनत्वायोगात् । दृश्यते च कस्यापि कदाचिदेवमेव केवल क्रोधवेदनीयोदयादुपजायमान क्रोधस्तथा च स पश्चात् ब्रूते अहो मे निष्कारणकोपो नैपथिकरूप भाषते न च किञ्चिद्विनाशयतीति । अत एवोक्त पूर्वमहर्षिभिः सापेक्षाणि निरपेक्षाणि च कर्माणि फलविपाकेषु सोपक्रम निरुपक्रम च दृष्ट यथायुष्कमिति । एव मानमायालोभा अपि आत्मपरोभयप्रतिष्ठिताश्च भावनीया । तदेवमधिकरणभेदेन भेद उक्त ।

सम्प्रति कारणभेदतो भेदमाह ।

कहि णं भंते ! ठाणेहिं कोहुप्पत्ती भवति ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती हवइ । तंजहा खित्तं पमुच वत्थुं पमुच सरीरं पमुच उवहिं पमुच्च । एव नेरइयाण जाव वेमाणियाण एव माणेण वि मायाए वि लोभेण वि । एवं एते वि चत्तारि दंडगा । कतिविहेणं भंते ! कोहे पणत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे कोहे पण्णत्ते, तंजहा अणंताणुबंधी कोहे अपच्चक्खाणावरणे कोहे पच्चक्खाणावरणे कोहे संजलणे कोहे एवं नेरइयाण जाव वेमाणियाणं एव माणेणं मायाए लोभेण एए वि चत्तारि दंडया ।

निष्ठन्येभिरिति स्थानानि करणानि कतिभि कियत्संख्याकैः स्थानैः कारणैः क्रोधोत्पत्तिर्भवति ? भगवानाह–चतुर्भि स्थाने नान्येव स्थानान्याह । (खेत्त पडुच्च इत्यादि) तत्र नैरयिकाणां नैरयिकक्षेत्र प्रतीत्य निरइचा तिर्यक्क्षेत्र मनुष्याणां मनुष्यक्षेत्रम् देवाना देवक्षेत्रम (वत्थु पमुचेत्ति) वस्तु सचेतनमचेतन वा शरीर प्रतीत्य दुःसंस्थित विरूप वा उपधि प्रतीत्येति यद्यस्योपकरण तस्य तच्चौरादिना अपन्हियमाणमन्यथा वा प्रतीत्य एव नैरयिकादिदण्डकसूत्रमपि, प्रज्ञा० १४ पद । अनन्त भवमनुबध्नाति अविच्छिन्न करोतीत्येव शीलोऽनन्तानुबन्धी अनन्तो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमादिस्वरूपोपशमादिचरणलवप्रतिबन्धी चारित्रमोहनीयत्वात्तस्य न चोपशमादिभिरेव चारित्री अल्पत्वात् यथा अमनस्को न सञ्ज्ञी किंतु महता मूलगुणादिरूपेण चारित्रेण चारित्री मन सञ्ज्ञया सञ्ज्ञिवदत एव त्रिविध दर्शनमोहनीय पञ्चविंशतिविध चारित्रमोहनीयमिति । ननु "पढमिल्लुयाण उदये नियमे" इत्यादि विरुध्यते चारित्रावारकस्य सम्यक्त्वावारकत्वानुपपत्तेरन एव सप्तविध दर्शनमोहनीयमेकविंशतिविध चारित्रमोहनीयमिति मत सगतमाभातीत्यत्रोच्यते । पढमिल्लुयाणेत्यादि यदुक्त तदनन्तानुबन्धिना न सम्यक्त्वावारकतया किंतु सम्यक्त्वसहभाव्युपशमाद्यावारकतया अन्यथाऽनन्तानुबन्धिभिरेव सम्यक्त्वस्यावृतत्वात् किमपरेण मिथ्यात्वेन प्रयोजनमावृतस्याप्यावरणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्तस्माद्यथा "केवलियणाणलम्भो, जन्नत्थखए कसायाण ति " इह कषायाणा केवलज्ञानस्यानावारकत्वेऽपि कषायक्षयः केवलज्ञानकारणतयोक्तस्तस्मिन्नेव तस्य भावादेवमनन्तानुबन्धिक्षयोपशम एव सम्यक्त्वलाभ उच्यते तस्मिन् सति तस्य भावाद्यतोऽनन्तानुबन्धिषूदितेषु मिथ्यात्वक्षयोपशममुपयाति तदभावाच्च न सम्यक्त्वमिति । यच्च सप्तविध सम्यग्दर्शनमोहनीयमिति मतान्तर तत्सम्यक्त्वसहचरितत्वेनोपशमादिगुणाना सम्यक्त्वोपचारादिति मन्यामहे इत्यादि । न विद्यते प्रत्याख्यानमणुव्रतादिरूप यस्मिन् सोऽप्रत्याख्यानो देशविरत्यावारक. । प्रत्याख्यानमामर्यादया सर्वविरतिरूपमेवेत्यर्थः । वृणोतीति प्रत्याख्यानावरण । सज्वलयति दीपयति सर्वसावद्यविरतिमपीन्द्रियार्थसम्पाते वा सज्वलति दीप्यत इति सज्वलनः । यथा ख्यातचारित्रावारक' एव मानमायालोभेष्वप्यनन्तानुबन्ध्यादिभेदचतुष्टयमध्येतव्यमिति । एषा निरुक्ति. पूज्यैरियमुक्ता " अनन्तान्यनुबध्नन्ति, यतो जन्मनि भूतये । अतोऽनन्तानुबन्धाख्या, क्रोधाद्येषु प्रदर्शिता ॥ १ ॥ नाल्पमप्युत्सहेद्येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात् । अप्रत्याख्यानसञ्ज्ञातो, द्वितीयेषु निवेशिता ॥ २ ॥ सर्वसावद्यविरति., प्रत्याख्यानमुदाहृतम । तदावरणसञ्ज्ञात-स्तृतीयेषु विवेशिता ॥ ३ ॥ शब्दादीन् विषयान् प्राप्य, सज्वलन्ति यतो मुहु । अतः संज्वलनाह्वान, चतुर्थानामिहोच्यते"॥ ४ ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सम्प्रत्येषामेव विशेषत. किंचित्स्वरूप प्रतिपिपादयिषुराह ।

जा जीव वरिसचउमास, पक्खगानरयतिरियनरअमरा ।
सम्माणुसव्वविरई, अहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

"यावत्तावज्जीविताववर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवेव " ८ । १ । २७१ इति प्राकृतसूत्रेण वकारलोपे च जावज्जीव च वर्ष च चतुर्मास च पक्षश्च यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षास्तान् गच्छन्तीति यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षगा. "नाम्नो गमे खमौ विहायसस्तु विह" इति ड प्रत्यय । इदमुक्त भवति । यावज्जीवानुगानन्तानुबन्धिन वर्षगा अप्रत्याख्यानावरणचतुर्मासगा प्रत्याख्यानावरणपक्षगा सज्वलन. । इद च " परुसवयणेण दिण तव अहिक्खिवतो य हणइ मासतव " मित्यादिवद्व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते अन्यथा हि बाहुबलिप्रभृतीना पक्षादिपरतोऽपि सज्वलनाद्यवस्थितिः श्रूयते अन्येषा च सयतादीना मासवर्षादिकाले प्रत्याख्यानावरणानामप्रत्याख्यानावरणानामनन्तानुबन्धिनां चान्तर्मुहूर्त्तादिक कालमुदय. श्रूयते इति । तथा नरकगतिकारणत्वानन्तानुबन्धिन कषाया अपि नरका भवन्ति च कारणे कार्योपचाराद्यथा आ-

युर्घृत नष्ठलोदकं पादरोग इति । एवं तिर्यग्गतिकारणत्वात्तिर्यञ्चोऽप्रत्याख्यानावरणाः नरगतिकारणत्वान्नराः प्रत्याख्यानावरणाः । अमरगतिकारणत्वादमराः सज्वलनाः । एतदुक्तं भवति । अनन्तानुबन्ध्युदये मृतो नरकगतावेवगच्छति अप्रत्याख्यानावरणोदये मृतस्तिर्यक्षु प्रत्याख्यानावरणोदये मृतो मनुष्येषु संज्वलनोदये पुनर्मृतोऽमरेष्वेव गच्छति । उक्तश्चायमर्थः पश्चानुपूर्व्या अत्रापि " पक्खचउमासवत्सर-जावज्जीवाणुगामिणो भणिया । देवनरतिरियनारय, गइसाहणहेयवो नेया " इदमपि व्यवहारनयमधिकृत्योच्यते अन्यथा हि अनन्तानुबन्ध्युदयवतामपि मिथ्यादृशां केषांचिदुपरितनग्रैवेयकेषूत्पत्तिः श्रूयते अप्रत्याख्यानावरणोदयवतामविरतसम्यग्दृशां तिर्यग्मनुष्याणां चासुरेषूत्पत्तिः प्रत्याख्यानावरणोदयवतां च देशविरतानां देवगतिः अप्रत्याख्यानावरणोदयवतां च सम्यग्दृष्टिदेवानां मनुष्यगतिः । तथा (समति) सम्यक्त्व च (अणुसव्वविरइत्ति) विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सबन्धात् अणुविरतिश्च देशविरतिः सर्वविरतिश्च । यथाख्यातचारित्रं च "सम्माणु"सर्वविरतियथाख्यातचारित्राणि तेषां घातो विनाशः "सम्माणु" सर्वविरति यथाख्यातचारित्रघातस्तं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः संमाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातकराः । एतदुक्त भवति । अनन्तानुबन्धिन कषायाः सम्यक्त्वघातकरा यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः " पढमिल्लुयाण उदए, नियमा सजोयणा कसायाण । समद्दंसणलभं, भवसिद्धीया वि न लहंति " अप्रत्याख्यानावरणा देशविरतिघातकराः न सम्यक्त्वस्येत्यर्थाल्लब्धम् । यदाहुः पूज्यपादाः " बीयकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाण । सम्मद्दसणलभं, विरियाविरिय न य लहंति " प्रत्याख्यानावरणास्तु सर्वविरतेर्घातकाः सामर्थ्याच्च देशविरतेः उक्तच " तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाण । देसिक्कदेसविरयं, चरित्तलभ न उ लहंति " सज्वलनाः पुनर्यथाख्यातचारित्रस्य घातका न सामान्यतः सर्वविरतेः उक्त च श्रीमदाराध्यपादैः "मूलगुणाण लंभ, न लहइ मूलगुण घाइण उदए । सजलणाण उदए, न लहइ चरण अहक्खायमि " ति ।

अथ जलरेखादिदृष्टान्तेन किंचित्सविशेषक्रोधादिकषायाणां स्वरूपं व्याचिख्यासुराह ।

जलरेणुपुढविपव्वय-राई सरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठऽट्ठिअ, सेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं सबध्यते ततो जलराजिसदृशस्तावत्संज्वलनः क्रोध यथा यष्टयादिभिर्जलमध्ये राजीरेखा क्रियमाणा शीघ्रमेव निवर्तते तथा यः कथमप्युदयप्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्त्तते स संज्वलनः क्रोधोऽभिधीयते । रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरणक्रोधः अयं हि सज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्रत्वाद्रेणुमध्यविहितरेखावच्चिरेण निवर्तत इति भावः । पृथिवीराजीसदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरणः यथास्फुटितपृथिवीसबन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते एवमेषोऽपि प्रत्याख्यानावरणापेक्षया कष्टेन विनिवर्तत इति भाव । विदलितपर्वतराजिसदृश पुनरनन्तानुबधी क्रोधः कथमपि निवर्त्तयितुमशक्य इत्यर्थ । उक्तश्चतुर्विधः क्रोध । इदानीं मानोऽभिधीयते तत्र तिनिसलतोपम सज्वलनो मान यथा तिनिसो वनस्पति विशेषस्तत्सबन्धिनी लता सुखेनैव नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीव स्वाग्रहं मुक्त्वा सुखेनैव नमति स सज्वलनमानः । यथा स्तब्ध किमपि काष्ठमग्निस्वेदादिबहूपायैः कष्टेन नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवोऽपि कष्टेन नमति स काष्ठोपमः प्रत्याख्यानावरणो मानः यथाऽस्थि हड्ड बहुतरैरुपायैरतितरां महता कष्टेन नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवोऽप्यतितरां महता कष्टेन नमति सोऽस्थ्युपमोऽप्रत्याख्यानावरणो मान । शिलायां घटितः शैलः शैलश्चासौ स्तम्भश्च शैलस्तम्भस्तदुपमस्त्वनन्तानुबन्धी मानः कथमप्यनमनीय इत्यर्थः । उक्तश्चतुर्विधो मानः ।

अथ मायालोभौ व्याख्यानयन्नाह ।

मायावलेहिगोमुत्ति, मिंढसिंगघणवंसमूलसमा ।
लोहो हलद्दखंजण-कद्दमकिमिराग सारित्थो (सामाणो) २०

मायाऽवलेखिकासमा संज्वलनी धनुरादीनामुल्लिख्यमानानां याऽवलेखिका वक्रत्वरूपा पतति यथासौ कोमलत्वात् सुखेनैव प्राञ्जलीक्रियते एव यस्या उदये समुत्पन्नापि हृदयकुटिलता सुखेनैव निवर्तते सा सज्वलनी माया गौर्बलीवर्दस्तस्य मार्गे गच्छतो वक्रतया पतिता मूत्रधारा गोमूत्रिकाऽभिधीयते यथाऽसौ शुष्का पवनादिभिः कमपि कष्टेनापनीयते एवं यज्जनिता कुटिलता कष्टेनापगच्छति सा गोमूत्रिकासमा प्रत्याख्यानावरणी माया ।१। एव मेषशृङ्गसमायामप्यप्रत्याख्यानावरणमायायां भावना कार्या नवरमेषा कष्टतरनिवर्त्तनीया । घनवंशीमूलसमा त्वनन्तानुबन्धिनी माया यथा निबिडवंशीमूलस्य कुटिलता केवलवह्निनापि न दह्यते एव यज्जनिता मनःकुटिलता कथमपि न निवर्त्तते सानन्तानुबन्धिनी मायेत्यर्थः । तथा लोभो हरिद्रारागसमान सज्वलनः यथा वाससि हरिद्रारागः सूर्यातपस्पर्शादिमात्रादेव निवर्तते तथाऽयमपीत्यर्थः । कष्टनिवर्तनीयो वस्त्रविलग्नप्रदीपादिखञ्जनसमानः प्रत्याख्यानावरणलोभः । कष्टतरापनेयो वस्त्रविलग्ननिबिडकर्दमसमानोऽप्रत्याख्यानावरणलोभः । कृमिरागरक्तपट्टसूत्ररागसमानः कथमप्यपनेतुमशक्योऽनन्तानुबन्धी लोभ इति । कर्म० १ क० । आचा० आतु० । पं० स० । स्था० । विशे० ।

सम्प्रति एतेषामेव क्रोधादीनां निवृत्तिभेदतोऽवस्थाभेदतश्च भेदमाह ।

कतिविहे णं भंते ! कोहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे कोहे पण्णत्ते तंजहा आभोगणिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिए उवसंते अणुवसंते । एव नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एवं माणेण वि मायाए वि लोभे ण वि चत्तारि दंडगा ।

यदा परस्यापराध सम्यगवबुध्य कोपकारणं च व्यवहारतः पुष्टमवलम्ब्य नान्यथास्य शिक्षोपजायते इत्याभोग्यकोप च विधत्ते तदा स कोप आभोगनिर्वर्त्तितः । यदा त्वेनमेव तथाविधमुहूर्त्तवशाद्गुणदोषविचारणाशून्यः परवशीभूय कोप कुरुते तदा स कोपो नाभोगनिर्वर्त्तितः उपशान्तोऽनुदयावस्थ अनुपशान्त उदयावस्थः । एवमेतद्विषयं दण्डकसूत्रमपि भावनीयम् एव मानमायालोभा प्रत्येक चतुःप्रकाराः सामान्यतो दण्डकक्रमेण च वेदितव्याः ।

सम्प्रति फलभेदेन कालत्रयवर्त्तिनां भेदमभिधातुकाम आह ।

जीवाणं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइयाणं जाव

वेमाणियाणं । जीवेणं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपयडीओ चिणंति ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेइया जाव वेमाणिया जीवेण भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगमीओ चिणिस्संति ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठकम्मपगमीओ चिणिस्संति तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं । एवं नेरइया जाव वेमाणिया । जीवाणं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगमीओ उवचिणिंसु ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया । जीवाणं पुच्छा ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं उवचिणंति कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया एवं उवचिणिस्संति । जीवाण भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठकम्मपगमीओ बंधिंसु ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगमीओ बंधिंसु तजहा कोहेण जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया बंधिंसु बंधंति बंधिस्संति उदीरेंसु उदीरंति उदीरिस्संति वेदिंसु वेदंति वेदिस्संति निज्जरेंसु निज्जरंति निज्जरिस्संति । एवं एते जीवादीया वेमाणिया पज्जवसाणा अट्ठारस दंडगा जाव वेमाणिया निज्जरेंसु निज्जरंति निज्जरिस्संति " आतपतिट्ठिति खेत्तं, पडुच्च अणंताणुबंधिआभोगे । चिणउवचिणबंधउदी-रण वेद तह णिज्जरा चेव " ।

जीवा भदन्त! कतिभि स्थानैरष्टौ कर्मप्रकृतीश्चितवन्तः चयनं नाम कषायपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्र भगवानाह । गौतम ! चतुर्भि स्थानैस्तद्यथा क्रोधेन मानेन मायया लोभेन । एव नैरयिकादिदण्डकोऽपि वक्तव्य एष दण्डकोऽतीतकालविषय एव वर्त्तमानकालभविष्यत्कालविषयावपि वाच्यौ, एवमुदयबन्धोदीरणवेदननिर्जराविषया अपि प्रत्येक त्रयस्त्रयो दण्डका वाच्या इति सर्वसंख्ययाऽष्टादश दण्डकास्तत्रोपचयो नाम स्वस्वाबाधाकालस्योपरिज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलाना वेदनार्थं निषेकः । सचैव प्रथमस्थितौ सर्वप्रभूत द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषहीन, ततोऽपि तृतीयस्यां विशेषहीनम् एव विशेषहीन विशेषहीन तावद्वाच्य यावत्तत्कालबध्यमानाया स्थितेश्चरमा स्थितिरेतच्च सविस्तर कर्मप्रकृतिटीकायां पञ्चसंग्रहटीकायां चाभिहितमिति ततोऽवधार्यम् । बन्धनं नाम ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलाना यथोक्तप्रकारेण स्वस्वाबाधाकालोत्तरकाले निषक्तानां यद्भूयकषायपरिणतिविशेषान्निकाचनमुदीरणामुदीरणाकरणवसत कर्मपुद्गलानामनुदयप्राप्तानामुदयावलिकानां प्रवेशन तदपि हि किञ्चित्तथाविधकषायपरिणतिवशाद्भवतीति "चउहिं ठाणेहिं उदीरहिंसु उदीरंति उदीरिस्संती" त्युक्तम् । अन्यथा कषायव्यतिरेकेणापि क्षीणमोहोदये ज्ञानावरणादीनामुदीरिका वर्त्तन्ते इति वेदना स्वस्वाबाधाकालक्षया-उदयप्राप्तस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य कर्मण उपभोग निर्जरा कर्मपुद्गलानामनुभूयानुभूय कर्मत्वापादानमात्मप्रदेशे संश्लिष्टाना ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानामनुभूयानुभूय शातनमिति भाव । उक्तञ्च "पुव्वकयकम्मसामण निज्जरा इति " इयञ्च देशनिर्जरा द्रष्टव्या कषायजनितत्वान्न सर्वनिर्जरा । सा हि निष्कषायस्य सर्वनिरुद्धयोगस्य मोक्षप्रासादमधिरोहतो भवति न शेषस्यात एव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रमप्यविरुद्ध देशनिर्जराया सर्वकाल सर्वेषामपि भावात् । सम्प्रति यत्पदमधिकृत्य प्राक् सूत्राण्युक्तानि तानि विनेयजनानुग्रहाय सङ्ग्रहणिगाथया निर्दिशति । " आयपइट्ठिए " इत्यादि प्रथम सामान्यसूत्रे सुप्रतीतमिति न सगृहीत द्वितीयमात्मप्रतिष्ठितपदोपलक्षित सूत्र ततोऽनन्तानुबन्धिपदोपलक्षितं तदनन्तरमाभोगपदोपलक्षित ततश्चयोपचयबन्धोदीरणवेदनानिर्जराविषयाणि क्रमेण सूत्राणि । अत्र "चिणेति" उपचयसूत्रोपलक्षणम् । प्रज्ञा० १४ पद । स्था० । जी० । "मूल संसारस्स य, होंति कसाया अणंतपत्तस्स । विणओ ठाणपउत्तो, दुक्खविमुक्खस्स मोक्खस्स" दश० ४ अ० । "कसायवुड्ढिं करेज्जा गच्छवज्झो" प्राय । महा० ७ अ० । " कोह माणं माय, लोह च महज्झयाणि चत्तारि । जो रुंभइ सुद्धत्था, एसो नोइंदिअपणिही ॥ जस्स वि य दुप्पणिहिआ, होंति कसाया तव चरतस्स । सो बालतवस्सो विव, गयण्हाण परिस्समं कुणइ ॥ सामन्नमणुचरतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति । मन्नामि उच्छुफुल्लं, व णिप्फल तस्स सामन्न ॥ दश० ८ अ० । (पणिहिशब्दे व्याख्यास्यन्ते) " अकसाय तु चरित्त, कसायसहितो न सजओ होइ " (इति अहिगरणशब्दे उपपादितम्) ।

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसाइं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥ ३७ ॥

क्रोध मान च मायां च लोभ च पापवर्द्धन सर्वे एते पापहेतव इति पापवर्द्धनव्यपदेश । यतश्चैवमतो वमेच्चतुरो दोषानेतानेव क्रोधादीन् हितमिच्छन्नात्मन एतद्वमने हि सर्वं सादिति सूत्रार्थ ।

अवमने त्विह लोके एवापायमाह ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३८॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति क्रोधान्धवचनतस्तदुच्छेददर्शनात् मानो विनयनाशन अवलेपेन मूर्खतया तदकरणोपलब्धेर्माया मित्राणि नाशयति कौटिल्यवतस्तत्त्यागदर्शनात् । लोभ सर्वविनाशन तत्वतस्त्रयाणामपि तद्भावभावित्वादिति सूत्रार्थ ।

यत एवमत ।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥३९॥

उपशमेन क्षान्तिरूपेण हन्यात् क्रोधमुदयनिरोधोदयप्राप्ताफलीकरणेन एवं मानं मार्द्दवेनानुत्थिततया जयेत् उदयनिरोधादिनैव मायां च ऋजुभावेनाशठतया उदयनिरोधादिनैव एव लोभ सन्तोषेण निःस्पृहत्वेन जयेत्तदुदयनिरोधोदयप्राप्ताफलीकरणेनेति सूत्रार्थ ।

क्रोधादीनामेव परलोकापायमाह ।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभे य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचिंति मूलाई पुणब्भवस्स ॥४०॥

क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ उच्छृङ्खलौ माया च लोभश्च वि-

वर्द्धमानौ वृद्धिं गच्छन्तौ चत्वारि एते क्रोधादयः कृत्स्नाः सपूर्णाः कृष्णा वा क्लिष्टा वा कषायाः (सिंचंति) अशुभभावजलेन मूलानि तथाविधकर्मरूपाणि पुनर्भवस्य पुनर्जन्मतरोरिति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० । (पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्यापादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति धम्मशब्दे सुदृढमुपपादयिष्यते)

अथ गाथात्रयेण कषायानाश्रित्य गणस्वरूपमेवाह ।

जत्थ मुणीण कसाया, जगडिज्जंता वि परकसाएहिं ।
ण इच्छंति समुट्ठेउं, सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥९७॥

यत्र गच्छे मुनीनां कषाया परकषायैः (जगडिज्जंतावित्ति) पीडादिकरणेनोदीर्यमाणा अपि समुत्थातुं नेच्छन्ति स्कन्दकाचार्यशिष्या. १ अर्जुनमालाकार २ दमदन्तादीनामिव ३ स्ववीर्यं दर्शयितुं नोत्सहन्ते । अत्र कषायाणां स्वातन्त्र्यविवक्षितया कर्तृत्वं यथा उत्पद्यते घटः इत्यत्र कुम्भकारेणोत्पद्यमानस्यापि घटस्य स्वातन्त्र्यविवक्षितयैव कर्तृत्वमिति । अत्र दृष्टान्तमाह (चेवत्ति) यथा सुनिविष्टः सुखोपविष्टः पङ्गुलः पादविकलः समुत्थातुं नेच्छति नोत्सहते हेगौतम ! स गच्छः स्यादिति शेष इति ॥ ९७ ॥ (स्कन्दकाचार्यशिष्यादीनां सम्बन्धः स्वस्वशब्दे)

धम्मंतरायभीए, संसारगब्भवसहीणं ।
न उदीरंति कसाए, मुणीणं तयं गच्छं ॥९८॥

यत्र गच्छे धर्मस्यान्तरायः कषायोदीरणाजन्यो विघ्नः तस्माद्भीताः तथा संसारगर्भवसतिभ्यः संसारमध्यवसनेभ्यो भीताः अत्र 'क्वचिद्द्वितीयादे' इति प्राकृतसूत्रेण पञ्चम्यर्थे षष्ठी एवंविधा मुनयो मुनीनां कषायान् क्रोध १ मान २ माया ३ लोभरूपान् नोदीरयन्ति इहपरलोकयोर्महापापफलप्रदत्वात् हेगौतम ! सगच्छ इति अत्र क्रोधफले क्षपकोदाहरणम् । ग० २ अधि० । (तच्च खमगकोमियशब्दे) (कषाया एव दुष्परपराया मूलबीजमिति जिनकप्पियशब्दे) कषायाणां दुरन्तत्वम् । तथाच एतदेव दुरन्तं कषायसामर्थ्यमुत्कीर्तयन्नाह ।

उवसामं उवणीया, गुणमहया जिणचरित्तसरिसं पि ।
पडिवायंति कसाया, किं पुण से संसरं गच्छे ॥

उपशमनमुपशमस्तमपिशब्दात् क्षयोपशममपि उपनीता. केनोपशममुपनीता इत्याह गुणैर्महान् गुणमहान् तेन महता उपशमकेन प्रतिपातयन्ति कषायाः संसारके तमेवोपशमकं कथंभूतमित्याह जिनचारित्रसदृशमपि जिनस्य केवलिनश्चारित्रेण कृत्वा सदृशस्तुल्यो जिनचारित्रतुल्यो द्वयोरपिकषायोदयरहितचारित्रयुक्तत्वात् । तमेव नूनमपि प्रतिपातयन्ति अथोपशान्ताः सन्तः कषायाः कथं स्वस्वरूपमुपदर्शयन्तीत्युच्यते इह यथा भस्मच्छन्नोऽग्निः स्वरूपेणाद्यापि सत्वात्पवनादिसहकारिकारणान्तरमासाद्य पुनः स्वं स्वरूपमुपदर्शयति । यथा वा अञ्जनद्रुमो वनदवध्यामितोऽप्यन्तःसारस्याद्यापि सचेतनत्वादुदकसेकादिकारणसामग्रीमवाप्य पुनरप्यङ्कुरपुष्पपत्रप्रवालादिरूपं निजस्वरूपमुपदर्शयति एवमुपशान्ता अपि कषायाः स्वरूपेणाद्यापि सन्त इति । तथाविधं किंचिन्निमित्तमासाद्य स्वं स्वरूपं प्रकटयन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तान्नियमेन प्रतिपतति । उक्तं च " दवदड्ढयजणदुमो, गरच्छन्नो मणि व्व पच्चयतो । दाबेइ जह सरुवं, तह सकसातोदयो सु (सु) ज्जो " प्रतिपतितश्च संसारं पर्यटति तथाहि स तावत् भवे एव निर्वाणं न लभते उत्कर्षतस्तु देशोनमर्द्धपुद्गलपरावर्त्तमपि संसारमनुभ्राम्यति । उक्तं च "तम्मि भवे निव्वाणं, न लभइ उक्कोसतो व संसारं । पोग्गलपरियट्टद्धं, देसूणं कोइ हिंमिज्जा" यत एव तीर्थंकरोपदेशोऽत औपदेशिकं गाथाद्वयमाह ।

जइ उवसंतकसातो, लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं ।
न हु भे वीसमियव्वं, थोवे वि कसायमेसम्मि ॥
अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
न हु भे वीसमियव्वं, थोवं पि हु तं वहुं होइ ॥

यद्युपशान्तकषायोऽप्यनन्तं भूयोऽपि प्रतिपातं लभते ततः स्तोकेऽपि कषायशेषे न हु नैव (भे) भवद्भिर्विश्वसितव्यम् । अमुमेवार्थं सदृष्टान्तं भावयति (अणथोवमित्यादि) ऋणस्य स्तोकं ऋणस्तोकं व्रणस्तोकमग्निस्तोकं कषायस्तोकं च दृष्ट्वा न हु नैव (भे) भवद्भिर्विश्वसितव्यं यतः स्तोकमपि ततः ऋणादिबहु प्रभूतं भवति तथा चानेकदोषसंभवः । तथाहि ऋणं प्रवर्द्धमानं गच्छता कालेनातिप्रभूतं सत् तद्दासत्वमुपनयति यथा वणिग्दुहितुः साधुतरंगिण्या व्रणश्च विसर्पन् अतिप्रभूतो भूत्वा स्तोककालेन मरणम् । वह्निरपीनादिसामग्रीवशादतिप्रसरमधिरोहन् सर्वस्यापि ग्रामनगरादेर्दाहं कषायाः पुनः प्रवर्द्धमाना भवमनन्तमिति । उक्तं च " दासत्तं देइ अणं, अचिरा मरणं वणो विसप्पंतो । सव्वस्स दाहमग्गी, देंति कसाया भवमणंतं" आ० म० प्र० ।

कसायअसंकिलेस-कसायासङ्क्लेश-पु० असङ्क्लेशभेदे, स्था०१०ठा.

कसायकुसील-कषायकुशील-पु० कषायैः सञ्ज्वलनक्रोधाद्युदयलक्षणैः कुशीलः कषायकुशीलः । कुशीलभेदे, (कुशीलशब्देऽस्य पञ्चविधत्वम्) प्रव० ९३ द्वा० । भ० ।

कसायजय-कषायजय-पु० कषायाः क्रोधमानमायालोभलक्षणाश्चत्वारस्तेषां जयोऽभिभवः । क्रोधादीनामुदितानां विफलीकरणे नानुदितानां चानुत्पादनेन अभिभवे संयमभेदे, कषायजयोपायस्तु तत्तद्दोषप्रतिपक्षसेवादिना स्यात्तथाहि क्रोधः क्षमया १ मानो मार्दवेन २ मायार्जवेन ३ लोभः सतोषेण ४ रागो वैराग्येण ५ द्वेषो मैत्र्या ६ मोहो विवेकेन ७ कामः स्त्रीशरीराशौचभावनया ८ मत्सरः परसंपदुत्कर्षेऽपि चित्तानावाधया ९ विषयाः संयमेन १० अशुभमनोवाक्काययोगा गुप्तित्रयेण ११ प्रमादोऽप्रमादेन १२ अविरतिर्विरत्या १३ च सुखेन जीयन्ते । ध० २ अधि० ।

कसायणडिय-कषायनटित-त्रि० क्रोधाद्यभिभूते, " केई कसायनडिया, तं पि हु हीलंति मूढमई " जीवा० १८ पत्र. ।

कसायणाम-कषायनामन्-न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं विभीतकादिवत् कषायं भवति तत्कषायनाम । कर्म० १ क० ।

कसायणिव्वति-कषायनिर्वृत्ति-स्त्री० जीवनिर्वृतिभेदे,

कइविहाणं भंते ! कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता तंजहा कोहकसायणिव्वत्ती जाव लोभकसायणिव्वत्ती एवं जाव वेमाणियाणं भ० १९ श० ८ उ० ।

कसायपच्चक्खाण–कषायप्रत्याख्यान–न० क्रोधादिप्रत्याख्याने, तान् (क्रोधादीन्) न करोमीति प्रतिज्ञाने, भ० १७ श० ३ उ०। उत्त० ।

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ? कसायपच्चक्खाणेणं वीयरायभावं जणयइ वीयरायभावं पडिवन्ने य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

हे स्वामिन् ! कषायप्रत्याख्यानेन जीवः किं जनयति । गुरुराह हे शिष्य ! कषायप्रत्याख्यानेन क्रोधमानमायालोभत्यागेन जीवो वीतरागभावं जनयति । प्रतिपन्नवीतरागभावो जीवः समसुखदुःखो भवति । उत्त० २९ अ० ।

कसायपडिक्कमण–कषायप्रतिक्रमण–न० कषायाणां प्राग्निरूपितशब्दार्थानां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणे, आव० ४ अ० । (पडिक्कमणशब्दे उदाहरणं वक्ष्यामि)

कसायपरिणाम–कषायपरिणाम–पुं० कषन्ति हिंसन्ति परस्पर प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः संसारस्तमयन्ते अन्तर्भूतणयर्थत्वात् गमयन्ति प्रापयन्ति ये ते कषायाः "कर्मणयऽण्।३।२।१। इत्यण् प्रत्ययः । कषाया एव परिणामः कषायपरिणामः । जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा० १३ पद ।

कसायमोहणिज्ज–कषायमोहनीय–न०मोहनीयकर्मभेदे, कर्म० १ क० (मोहनीयशब्दे व्याख्या) ।

कसायवयण–कषायवचन–न० क्रोधप्रधानकटुकवचने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

कसायबारसग–कषायद्वादशक–न० अनन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानचतुष्टयप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरूपे कषायाणां द्वादशसंख्याश्रिते गणे, प्रज्ञा० १३ पद । (कषायाणां स्थितिं ठिइशब्दे वक्ष्यामि)

कसायविजयजुय–कषायविजययुत–त्रि० क्रोधादिकषायपरिभवनशीले, कर्म० १ क० ।

कसायविजयतव–कषायविजयतपस्–न० कषायाणां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां विजयोऽभिभवन यस्मादिति कृत्वा तपोभेदे, कषायविजयतपः प्राह ।

एक्कासणगं तह, निव्विगइयमायंबिलं अभत्तट्ठे ।
इह होइ लयचउक्कं, कसायविजए तवच्चरणे य ॥

एकासनकं निर्विकृतिकमाचामाम्लम् । अभक्तार्थश्चोपवास इत्येका लता प्रतिकषायं चैकैका लता क्रियते एतत्कषायविजय तपश्चरण कषायाणां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां विशेषेण जयोऽभिभवन यस्मादिति कृत्वा अस्मिंश्च तपसि चतस्रो लताः षोडश दिवसानि प्रव०, २७१ द्वा० ।

कसायसंकिलेस–कषायसंक्लेश–पुं० कषाया एव कषायैर्वा सक्लेशः कषायसक्लेशः । सक्लेशभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

कसायसंलीणया–कषायसंलीनता–स्त्री० कषायाणामनुदीर्णानामुदयनिरोधेन उदीर्णानां च निष्फलीकरणेन कषायविषयायां संलीनतायाम्, " सद्देसु भद्दयपावएसु सोयविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं " प्रव० ७ द्वा० ।

कसायसमुग्घाय–कषायसमुद्घात–पुं० कषायैः क्रोधादिभिर्हेतुभूतैः समुद्घातः कषायसमुद्घातः । कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रये समुद्घातविशेषे, प्रज्ञा० ३६ पद । तथाहि तीव्रकषायोदयाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिपति तैः प्रदेशैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि वा पूर्यायामतो विस्तरतश्च देहमात्रक्षेत्रमभिव्याप्य वर्तते तथाभूतश्च प्रभूतान् कषायकर्मपुद्गलान् परिशाटयति, प्रव० २२१ द्वा० । स० । प्रज्ञा० । आचा० । स्था० (समुग्घायशब्दे एतमाश्रित्य दण्डक वक्ष्यामि)

कसायाईय–कषायातीत–पुं० अकषायिणि, विशे० ।

कसायाता–स्त्री० कषायात्मन्–त्रि० क्रोधादिकषायविशिष्ट आत्मा कषायात्मा अक्षीणानुपशान्तकषायाणामात्मभेदे, भ० १२ श० १० उ० ।

कसाहि–कशाहि–पुं० मुकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कसिण–कृत्स्न–त्रि० कृत–क्स्न " ईः श्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्टयासिति ८।२।१०४। इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्वं इकारः प्रा० । सम्पूर्णे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० । उत्त० । " कसिणो णाम सपुण्णो " आ० चू० २ अ० । नि० चू० । सर्वशब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (वत्थशब्दे कृत्स्नवस्त्रनिक्षेपः) परिपूर्णे, आ० म० द्वि० । निरवशेषे, व्य० १ उ० । "कसिणे अणंते केवलणाणे" कृत्स्न सकलपदार्थविषयत्वात्, स्था० १ ठा० १ उ० । जले, कुक्षौ, पुं० वाच० ।

कृष्ण–त्रि० क्लिष्टे, दशा० ८ अ० । मयूरग्रीवसन्निभे, कृष्णवर्णे, नि० चू० २ उ० । परमकालिमोपेते, " आणामियचावरुइरतणुकसिणसिद्धराइया " जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । श्यामवर्णे, कल्प० । असिते, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० । (कृष्णवस्तुगुणान् नेमिशब्दे कथयिष्यामि) क० । नि० चू० । दीर्घदशानां पञ्चमेऽध्ययने च, स्था० १० ठा० ।

कसिणगुणोववेय–कृत्स्नगुणोपपेत–त्रि० अशेषगुणान्विते, पञ्चा० १४ विव० ।

कसिणब्भपुडागम–कृत्स्ना (ष्णा) भ्रपुटागम–पुं० कृत्स्नस्य कृष्णस्य वाऽभ्रपुटस्यापगमे, "विराइकम्मघणम्मि अवगए कसिणब्भपुडावगमे व चंदे " विराजते शोभते कर्मघने ज्ञानावरणीयादिकर्ममेघेऽपगते सति निदर्शनमाह । कृत्स्नाभ्रपुटापगम इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने कृष्णे वाऽभ्रपुटेऽपगते सति चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसावपेतकर्मघनः समासादितकेवलालोको विराजते इति, दश० ९ अ० ।

कसिणसंजम–कृत्स्नसंयम–पुं० सर्वथा प्राणवधविरतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

कसिणा–कृत्स्ना–स्त्री० आरोपणाभेदे, कृत्स्ना पुनर्यत्र झोषो न क्रियते । झोषस्त्वयमिह तीर्थे षण्मासान्तमेव तपस्ततः षण्णां मासानामुपरि यान् मासानापन्नोऽपराधी तेषां क्षपणमनारोपण प्रस्थे चतु सेटकातिरिक्तधान्यस्यैव छादनमित्यर्थः । झोषाभावेन सा परिपूर्णेति कृत्स्ना इत्युच्यत इति भावः, स्था० ५ ठा० १ उ० । नि० चू० । (आरोपणाशब्दे विवृतिः) ।

कसेरु–क (शे) सेरु–पुं० कस उ ए रुगागमः । कशेरौ, शूकरस्य प्रिये जलकन्दभेदे, च । कशेरुभेदे आचा० । प्रज्ञा० । राजनि० । वाच० ।

कह (हं) कथम्–अव्य० किम्प्रकारे, थमु कादेशश्च "मांसादेर्वा" ८ । १ । २९ इत्यनुस्वारस्य लुक्वा प्राकृते कह कहं वा ।

प्रा० । शौरसेन्यां तु "थो धः" ८ । ४ । ६६ शौरसेन्याम् थस्य थो वा कहं कधं, प्रा० । केन प्रकारेणेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "कहं मुत्ता भत्तारेण सव्व कहेति" नि० चू० १ उ० । "कह चरे कह चिट्ठे, कह मासे कह सए । कह भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ" । कथ केन प्रकारेण, दश० ३ अ० ।

कहकहा–कथंकथा–स्त्री० कथ कथमपि कथा रागकथादिका विकथायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

कहंवि–कथमपि–अव्य० कथं च अपि च द्वन्द्वस० पदद्वयमित्येके केनचित्प्रकारेणेत्यर्थे, अतिकष्टेनेत्यर्थे च आ० ।

कहकह–कहकह–पुं० अनुकरणम् प्रमोदकलकले, "देवकहकहत्ति" देवकृतप्रमोदकलकलः । स्था० ३ ठा० १ उ० । आचा० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्बोलकोलाहले, आ० म० प्र० ।

कहकह (ग) भूय–कहकह (क) भूत–त्रि० कहकहेत्यनुकरणं कहकहेति भूत प्राप्त कहकहभूतम् । निरन्तर तत्तद्विशेषदर्शनतः सम्पलितप्रमोदभरपरवशसकलदिक्चक्रवालवर्तिप्रेक्षकजनकृतप्रशंसावचनबोलकोलाहलव्याकुलीभूते, रा० । हर्षाट्टहासादिनाऽव्यक्तवर्णकोलाहलमये, कर्म० २ क० ।

कहग–कथक–त्रि० सरसकथाकथनेन श्रोतृरसोत्पत्तिकारके, ज० २ वक्ष० । सरसकथावक्तरि, कल्प० ३० । औ० । नि० चू० । प्रश्न० । रा० । अनशनिनः पुरतो धर्मकथके, प्रव० ७२ द्वा० ।

कहण–कथन–न० प्रज्ञापने, ध० १ अधि० "परूवणात्ति वा कहणत्ति वा वक्खाणमग्गोत्ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ उ० ।

कहणविहि–कथनविधि–पुं० कथनप्रकारे, ।

आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेअव्वो ।
दिट्ठंतिअदिट्ठंता, कहणविहि विराहणा इहरा ॥ ७१ ॥

आज्ञा आगमस्तद्ग्राह्यस्तद्विनिश्चयोऽर्थः अनागतातिक्रान्तप्रत्याख्यानादि आज्ञयैवागमेनैवासौ कथयितव्यो न दृष्टान्तेन तथा दार्ष्टान्तिकः दृष्टान्तपरिच्छेद्यः प्राणातिपाताद्यनिवृत्तानामेतेऽदोषा भवन्त्येवमादिर्दृष्टान्तात् दृष्टान्तेन कथयितव्यः । कथनेऽस्य विधिरेष कथनप्रकारः प्रत्याख्याने वा । यद्वा सामान्येनैवाज्ञाग्राह्योऽर्थः सौधर्मादिराज्ञयैवासौ कथयितव्यो न दृष्टान्तेन तत्र तस्य वस्तुनोऽसम्भावात् । तथा दार्ष्टान्तिक उत्पादादिमानात्मा वस्तुत्वाद् घटवदित्येवमादिदृष्टान्तात्कथयितव्य एष कथनविधिः । विराधना इतरथा विपर्ययेऽन्यथाकथनविधेरप्रतिपत्तिहेतुत्वात् अधिकतरसमोहादिति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ इति कथनविधिः । आव० ६ अ० ।

कहणिज्ज–कथनीय–न० उत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादौ कथ्ये, पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कहप्पगार–कथम्प्रकार–त्रि० किम्प्रकारे, भ० ५ श० ६ उ० ।

कहवि–कथमपि–अव्य० कृच्छ्रादित्यर्थे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० ।

कहा–कथा–स्त्री० कथ णि–अ० । 'स्फटिकनिकषचिकुरेषु ह' इत्यत. ह इत्यनुवर्त्य 'खघथधभा' ८ । १ । १८७ इति थस्य ह, प्रा० तन्नामोच्चारणतद्गुणोत्कीर्तनतच्चरितवर्णनादिकायां वचनपद्धत्याम्, ध० २ अधि० । स्था० । अनु० । प्रश्न० । ग० । वसुदेवचरितचेटककथादौ, बृ० १ उ० वाक्यप्रबन्धे, शास्त्रे, स० "तिविहा कहा पन्नत्ता तंजहा अत्थकहा धम्मकहा कामकहा" स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सांप्रत कथामाह ।

अत्थकहा कामकहा, धम्मकहा चेव मीसिया य कहा ।
एत्ता एक्केक्का वि य, णेगविहा होइ नायव्वा ॥ १९५ ॥

(अत्थकहेति) विद्यादिभिरर्थस्तत्प्रधाना कथा अर्थकथा । एवं कामकथा धर्मकथा चैव मिश्रा च कथा अत आसां कथानामेकैकापि च कथा अनेकविधा भवति ज्ञातव्योपन्यस्तगाथार्थः १९५ । द० नि० ३ अ० (अत्थकथादिशब्देषु अर्थकथादिव्याख्याः) (अन्तर्गृहे धर्मकथा न कर्तव्येति अतरगिहशब्दे)

अत्रैव प्रक्रमे कथामाह ।

तवसंजमगुणधारी, जं चरणरया कहिंति सब्भावं ।
सव्वजगजीवहियं; सा उ कहा देसिया समए ॥ २१६ ॥

तपःसंयमगुणान् धारयन्तीति तच्छीलाश्चेति तपःसंयमगुणधारिणः य कचन चरणरताश्चरणप्रतिबद्धा न त्वन्यत्र निदानादिना कथयन्ति सद्भाव परमार्थ किंविशिष्टमित्याह । सर्वजगजीवहित न तु व्यवहारतः कतिपयसत्वहितमिति । तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सैव कथा निश्चयन देशिता समये निर्जराख्यफलसाधनात् कर्तॄणां श्रोतॄणामपि चेतःकुशलपरिणामनिबन्धना कथैव नो चेष्टाज्येति गाथार्थः ।

इहैव विकथामाह ।

जो संजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ ।
सा उ विकहा पवयणे, पण्णत्ता धीरपुरिसेहिं ॥ २१७ ॥

यः संयतः प्रमत्तः कषायादिना प्रमादेन रागद्वेषवशगतः सन् तु मध्यस्थ परिकथयति किंचित् सा तु विकथा प्रवचने सा पुनर्विकथा सिद्धान्ते प्रज्ञप्ता धीरपुरुषैस्तीर्थकरादिभिः । तथा विभ्रपरिणामनिबन्धनत्वात्कर्तृश्रोत्रोरिति । श्रोतृपरिणामभेदे तु त प्रति कथान्तरमेवैव सर्वत्र भावना कार्येति गाथार्थः ।

सांप्रत श्रमणेन यथाविधा न कथनीया तथाविधामाह ।

सिंगाररसुत्तुइया, मोहकुवियफुंफुगाहसहसिं ति ।
जं सुणमाणस्स कहं, समणेण न सा कहेयव्वा ॥ २१८ ॥

श्रृङ्गाररसेन मन्मथदीपकेन उत्तेजिता अधिक दीपिता केत्याह मोह एव चारित्रमोहनीयकर्मोदयसमुत्थात्मपरिणामरूप कुपितः फुफुकाघट्टितकुकुला (हसहसितत्ति) जाज्वल्यमाना जायत इति वाक्यशेष यां शृण्वतः कथां मोहोदयो जायत इत्यर्थः । श्रमणेन साधुना न सा कथयितव्या आकुलभावनिबन्धनत्वादिति गाथार्थः ।

यत्प्रकारा कथनीया तत्प्रकारामाह ।

समणेण कहेयव्वा, तव नियमकहा विरागसंजुत्ता ।
जं सोऊण मणूसो, वच्चइ संवेगणिव्वेयं ॥ २१९ ॥

श्रमणेन कथयितव्या किंविशिष्टेत्याह तपोनियमकथा अनशनादिपञ्चाश्रवविरमणादिरूपा सापि विरागसंयुक्ता न निदानादिना रागादिसगता अत एवाह यां कथां श्रुत्वा मनुष्य श्रोता व्रजति गच्छति (संवेयणीवेदति) संवेग निर्वेदं चेति गाथार्थः ।

कथाकथनविधिमाह ।

अत्थमहंती विकहा, अपरिकिलेसबहुला कहेयव्वा ।
हंदि महया चमगर–त्तणेण अत्थं कहा हणइ ॥ २२० ॥

महार्थाऽपि कथा अपरिक्लेशबहुला कथयितव्या नातिविस्तरकथनेन परिक्लेश्य कार्य इत्यर्थः किमित्येवमित्याह हन्दीत्यु-

पदर्शने महता चमत्करत्वेन अतिप्रपञ्चकथनेनेत्यर्थः किमित्याह । अर्थं कथा हन्ति भावार्थं नाशयतीति गाथार्थः ।

विधिशेषमाह ।

खेत्तं कालं पुरिसं, सामत्थं चप्पणो वियाणेत्ता ।
समणेण उ अणवज्जा, पगयम्मि कहा कहेयव्वा ॥२११॥

क्षेत्रं मैमादिभावितं कालं क्षीयमाणादिलक्षणं पुरुषं पारिणामिकादिरूपं सामर्थ्यं चात्मनो ज्ञात्वा प्रकृते वस्तुनीति योगः श्रमणेन त्ववद्या पापानुबन्धरहिता कथा कथयितव्या नान्यथेति गाथार्थः । उक्ता कथा । दश० नि० ३ अ० । "णिसम्म भासीय विणीय गिद्धिं, हिंसण्णियं वा ण कहं करेज्जा " गृद्धिं गार्द्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु विनीयापनीय निशम्यावगम्य पूर्वोत्तरेण पर्य्यालोच्य भाषको भवेत् तदेव द्रढयति हिंसया प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां युक्तां कथां न कुर्य्यात् । न तत्प्रब्रूयात् यत्परात्मनोरुभयोर्वा बाधकं वचः इति भावः तद्यथा " अश्नीत पिबत स्वादत मोदत हत छिन्दत प्रहरत पचते " त्यादि कथां पापोपादानभूतां न कुर्य्यादिति (सूत्र०) नैयायिकसम्मते वादाद्यात्मके पदार्थभेदे, " तिस्रः कथा वादो जल्पो वितण्डा चेति " तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः प्रतिपक्षपरिग्रहो वाद । स च तत्वज्ञानार्थं शिष्याचार्य्ययोर्भवति । स एव विजिगीषुणा सार्धं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति । (एतत्खण्डन यथा) तत्रासां तिसृणामपि कथानां भेद एव नोपपद्यते यतस्तत्वचिन्तायां तत्वनिर्णयार्थं वादो विधेयो न छलजल्पादिना तत्वावगमः कर्तुं पार्यते । छलादिकं हि परवञ्चनार्थमुपन्यस्यते । न च तेन तत्वावगतिरिति । सत्यपि भेदे नैषां पदार्थता यतो यदेव परमार्थतो वस्तुवृत्त्या वस्त्वस्ति तदेव परमार्थतयाऽभ्युपगन्तु युक्तं वादास्तु पुरुषेच्छावशेन भवन्तोऽनियता वर्त्तन्ते न तेषां परमार्थतेति । किंच पुरुषेच्छानुविधायिनो वादाः कुक्कुटलावकादिष्वपि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण भवन्त्यतस्तेषामपि तत्वप्राप्तिः स्यान्न चैतदिष्यत इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । समवायाङ्गे तु पञ्च प्रतिपादिता तत्र चतुर्थी प्रकीर्णकथा सा चोत्सर्गकथास्तिकनयकथा वा । तथा निश्चयनयकथा पञ्चमी सा चापवादकथा पर्यायास्तिकनयकथा वेति । स० १२ स० । " वादो जप्पवितंडा, पइण्णगकहा य णिच्छयकहा य । सजोगविहिविभत्ता, कधपडिवंधा विलट्ठाणा ॥२३१॥ वाद जप्पवितड, सव्वे हि वि कुणति समणिवज्जेहिं । समणीण विपडिकुट्ठा, होंति सपरे वि तिणिह कहा ॥२३२॥ उसग्गपइण्णकहा, अववातो होति णिच्छय कधा तु । अहवा ववहारणया, पइण्णसुद्धा य णिच्छइगा ।२३३। (सभोगशब्दे सव्याख्याका इमा वक्ष्यन्ते) नि०चू०५ उ० । स० ।

कहापवधण–कथाप्रवन्धन–न० कथा वादादिका पञ्चधा तस्याः प्रवन्धनं प्रवन्धेन करणं कथाप्रवन्धनम् वादादिकथा प्रवन्धकरणे, तत्र सम्भोगाऽसम्भोगौ भवतः । स० १२ स० । नि० चू० (कथाशब्दे उक्रम)

कहाकहण–कथाकथन–न० पञ्चपञ्चाशतमे स्त्रीकलाभेदे, कल्प

कहावण–का (क) र्षापण–न० कर्षस्येदं स्वार्थे वा अण् । तेन आपण्यते आ-पण-कर्मणि घ "कार्षापणे ८।२।७१ कार्षापणे सयुक्तस्य हो भवति । काहावणो कथकहावणो ? ह्रस्वः संयोग इति पूर्वमेव ह्रस्वत्वे पश्चादादेशे कर्षापणशब्दस्य वा भविष्यति । प्रा० "ह्रोः" । ८ । २ । ६३ इति हस्य न द्वित्वम् प्रा० अशीतिरक्तिके ताम्रिके, कर्षे, वाच० ।

कहासेसा–कथाशेषा–स्त्री० उज्जयिनीप्रत्यासन्नग्रामवास्तव्यभरतनटदुहितरि, आ० क० । (बुद्धिसिद्धशब्दे कथा)

कहाहिगरण–कथाधिकरण–न० कथा वाक्यप्रवन्धः शास्त्रमित्यर्थस्तद्रूपाण्यधिकरणानि कथाधिकरणानि । कौटिल्यशास्त्रादिषु प्राण्युपमर्दनप्रवर्त्तकत्वेन तेषामात्मदुर्गतावधिकारित्वकरणात् । कथया क्षेत्राणि कृषतः गानमसूयतेत्यादि कथाऽधिकरणानि तथाविधप्रवृत्तिरूपाणि । असत्प्रवृत्तिषु, कथा च अधिकरणानि च द्वन्द्वः । राजकथादिकायां कथायाम्, यन्त्रादिषु कलहेषु वा अधिकरणेषु, स० । " जे कहाहिगरणाइं सपउजे पुणो पुणो " स० ।

कहिं–क–अव्य० प्राकृते किम्-ङि " नवाऽनिदमेतदो हिम् " ८ । ३ । ६० इति किमः स्थाने हिमादेशः प्रा० । किमः कादेशः । कस्मिन्नित्यर्थे, जी० ३ प्रति० । " कहिं ण जंबुद्दीवे दीवे " कस्मिन् देशे, इत्यर्थः भ० ६ श० १ उ० । "से कहिं खाइण भंते । सिद्धा परिवसंति " क देशे, औ० । " कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया । कहिं वोंदिं चइत्ताण, कत्थ गतूण सिज्झइ " औ० । " कहिं अणुपविट्ठे " क्वानुप्रविष्टः क्वानुलीन इति भावः रा० । काले तु " ङेर्डाहे डालाइआ काले " ८।३।६५। इति ङेः स्थानेडाहे डाला इआ इत्यादेशत्रये काहे काला कइआ । पक्षे कहिं कस्सिं कम्मि कत्थ । कस्मिन् काले, इत्यर्थः प्रा० ।

कहिय–कथित–त्रि० कथ-गौणकर्मणि क्त-तदसमभिव्याहारे मुख्ये कर्मणि क्त-उक्ते, वाच० । आख्याते, पञ्चा० १७ विव० । आव० । प्रतिपादिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । उपदिष्टे, सू० प्र० १ पाहु० । कर्णतोऽर्थतश्चोक्ते, रूढ्या किञ्चिद्रूपेण प्रतिपादिते गौणे कर्मणि क्तः यस्यावबोधाय कश्चिदर्थः प्रतिपाद्यते तस्मिन्नर्थे, त्रि० । भावे क्त-कथने, न० वाच० ।

कहेत्ता–कथयितृ–त्रि० कथ णिच् । शीलार्थे तृन् कथनशीले, "इत्थिकहं भत्तकहं रायकहं कहेत्ता भवइ" स्था०४ ठा०२ उ० ।

काअव्व–कर्त्तव्य–त्रि० कृ–तव्य–'आ कृगोभूतभविष्यतोश्च' ८ । ४ । २१३ इति तव्ये परे कृधातोराकारान्तादेशः । करणीये, प्रा० ।

काइँ–किम्–त्रि० "अपभ्रंशे किम काइं कवणौ" ८।४।३७०। इति काइँ आदेशः । "जइ न सुआवइ दूअहु, काइँ अहो मुहतुज्झु । वयणजु खडइ तउ सहिए, सो पिउ होइ न मज्झु " प्रा० ।

काइय–कायिक–त्रि० कायेन शरीरेण निवृत्तः कायिकः । कायकृते, आव० ४ अ० । विशे० । हस्तपादादिके सघट्टे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । शारीरिके इन्द्रियपञ्चकादिप्राणतत्वे, स्था० ए ठा० । कायः प्रयोजनं प्रयोजकोऽस्यातिचारस्येति कायिकः । कायाज्ञातेऽतिचारे, "जो मे अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ" आ०चू०४ अ० । काये भवः कायिकः रोगादौ, उत्त०३२ अ० ।

काइयजोग–कायिकयोग–पुं० कायेन निर्वृत्तः कायिकः योजनं योगो व्यापारः कर्म क्रियेत्यनर्थान्तरम् । कायिक्यां क्रियायाम्, विशे० । " गिण्हइय काइएण, निसिरइ तह वाइएण जोगेण । एगतर च गिण्हइ निसिरइ एगतर चेव " विशे० । (भाषाशब्दे विवृतिः)

काइया–कायिकी–स्त्री० चीयत इति काय शरीरं काये भवा कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी । भ० ३ श० १ उ० । प्रज्ञा० । क्रियाभेदे, कायचेष्टायाम्, स० । स्था० । ध० । हस्तादिव्यापारणे, प्रति० । कायव्यापारे,

काइया किरिया दुविहा, पन्नत्ता तंजहा अणुवरयकायकिरिया चेव दुप्पउत्तकायकिरिया चेव ॥

कायिकी द्विधा (अणुवरयकायकिरिया चेवत्ति) अनुपरतस्याविरतस्य सावद्यात् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रियोत्क्षेपादिलक्षणा कर्मबन्धनिबन्धनमनुपरतकायक्रिया तथा (दुप्पउत्तकायकिरिया चेवत्ति) दुष्प्रयुक्तस्य दुष्प्रयोगवतो दुष्प्रणिहितस्येन्द्रियाण्याश्रित्येष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् सवेदनिर्वेदगमनेन तथाऽनिन्द्रियमाश्रित्याऽशुभमनःसंकल्पद्वारेणापवर्गमार्गं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य प्रमत्तसंयतस्येत्यर्थः । कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रियेति । ४ । स्था०२ ठा०१ उ० । प्रज्ञा० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । सा पुनस्त्रिधा अविरतकायिकी दुष्प्रणिहितकायिकी उपरतकायिकी । तत्र मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्चाद्या अविरतस्य कायिकी उत्क्षेपादिलक्षणा क्रिया कर्मबन्धनिबन्धना अविरतकायिकी एवमन्यत्रापि षष्ठीसमासो योज्यः । द्वितीया प्रमत्तसंयतस्य सा पुनर्द्विधा । इन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी नोइन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी च । तत्राद्येन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्दुष्प्रणिहितस्य इष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् अग्रे निर्वेदद्वारेणापवर्गमार्गं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी । एव नोइन्द्रियेण मनसा दुष्प्रणिहीतस्याशुभसंकल्पद्वारेण दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी । तृतीया अप्रमत्तसंयतस्य उपरतस्य प्रायः सावद्ययोगेभ्यो निवृत्तस्य कायिकी । गता कायिकी (आव०४ अ०) ध० मोचे मूत्रपुरीषयोः " आहारमोयमसिणाइ मोयत्ति काइय वोसिरित्र दव ण गेण्हति" नि० चू० १ उ० । वलीवर्दादिकायपरिश्रमसाध्यायाम्, मूलधनाविरोधेन प्रत्यहमविरोधेन प्रत्यहमधमर्णदेयपणपादादिरूपाया वा वृद्धौ, च । वाच० ।

काउ–काकु–स्त्री० कक–उण्–" भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः, काकुरित्यभिधीयते " इत्युक्तलक्षणे शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेर्विकारे, विरुद्धार्थकल्पके, नञादौ शब्दे, च उदा० " गुरुपरतन्त्रतया वत, दूरतरदेशमुद्यतो गन्तुम् । अलिकुलकोकिललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ " नेष्यति अपि तर्हि एष्यत्येवेति काका व्यज्यते इत्युक्तम् वाच० । आचा० ।

काउँ–कर्तुम्–अव्य० कृ तुमुन् "आ कृगो भूतभविष्यतोश्च" ८।४ २१३ । इति कृ-धातोरन्त्यस्य आ । विधातुमित्यर्थे, प्रा० । कृत्वा विधायेत्यर्थे, त० ॥

काउंबर–काकोडु (दु) म्बर–पुं० काकमीषज्जलमत्र काकस्य प्रिय उदु (डु) म्बरो वा । उडुम्बरभेदे, शब्दरत्ना० । स्वार्थे कन् अत इत्वम्, स्वार्थिकप्रत्ययस्य प्रकृतिलिङ्गव्यतिक्रम । काकोडुम्बरिकाप्यत्र स्त्री० अमरः । वाच० । प्रज्ञा० । जी० ।

काउसग्ग–कायोत्सर्ग–पुं० कायः शरीरं तस्योत्सर्गः षष्ठीसमासः (कायोत्सर्गशब्दस्य सूचिरूपेण पञ्चदशाधिकाराः यथा)

(१) कायोत्सर्गशब्दार्थाः ।
(२) प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सां संपाद्य वैचित्र्येण दशधा प्रायश्चित्तभेषज समभिहितम् ।
(३) द्रव्यभावयोर्भेदेन व्रणद्वैविध्यमनेकभेदाभिधानेनोक्तम् ।
(४) कायोत्सर्गमधिकृत्यैकादश मूलद्वाराणि निर्युक्तिकानि ।
(५) तृतीयविधानमार्गणामूलद्वारावयवस्य सद्व्याख्योक्ता ।
(६) चतुर्थं कालपरिमाणमूलद्वारमुक्तम् ।
(७) पञ्चम भेदपरिणाममूलद्वारं नवभेदेनान्वितं बहुविस्तरवृत्त्या सम्यग्निरूपितं दैवसिकरात्रिकावश्यकसूत्रालापकानि सङ्गत्योक्तानि, व्युत्सर्गातिचाराः, मुनेः क्रिया, प्रतिलेखनाविधिश्चोक्त ।
(८) नियतानियतकायोत्सर्गावुक्तौ ।
(९) केषु केषु कार्येषु कियदुच्छ्वासमानव्युत्सर्गमत्र द्वारगाथा सद्व्याख्यया समभिहिता ।
(१०) षष्ठाशठनाममूलद्वारमत्र दार्ष्टान्तिकयोजनां मायावतो दोषांश्च प्रतिपाद्य वयोबलमधिकृत्य चतुर्भङ्ग्युक्ता ।
(११) सप्तम शठनामकं मूलद्वारमत्र शुकहेतुभि कारकाणां कूटमनुष्ठानमुक्तम् ।
(१२) अष्टम विधेर्मूलद्वारमत्र कथं कयारीत्या कायोत्सर्गे स्थातव्यमिति विधिः ।
(१३) नवमद्वारम् कायोत्सर्गस्य ' घोडगलयखंभाई ' इत्याद्येकोनविंशतिदोषव्याख्यागर्भितम् ।
(१४) दशम कस्येति मूलद्वारमत्रोक्तदोषरहितस्यायं व्युत्सर्गः यथोक्तफलको भवतीत्युक्त्वा त्रिधोपसर्गसहिष्णोरेवाय भवतीति प्रदर्शितम् ।
(१५) एकादश फलस्यात्रैहिकामुत्रिकलोकापेक्षया द्विधा फलं सुदर्शनादिनिदर्शनपूर्वक, कर्मक्षयफलमतिचारे प्रायश्चित च समभिहितम् ।

(१) कायोत्सर्गशब्दार्थाः ।

देहस्य कृताकारस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकक्रियान्तराध्यासमधिकृत्य परित्यागे, ल० । प्रति० । अतिचारशुध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जने, कायममत्ववर्जने, उत्त० २९ अ० । धर्मकायातिचारव्रणशोधके, आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य अध्ययनविशेषे च, पा० ।

(२) प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सां सपाद्य वैचित्र्येण दशधा प्रायश्चित्तभेषज समभिहितम् ।

तत्र कायोत्सर्गवक्तव्यता कायोत्सर्गाध्ययनात्सगृह्यते । तत्रेद कायोत्सर्गमध्ययनमारभ्यते अस्य चायमभिसबन्धः अनन्तराध्ययने वन्दनाद्यकरणादिना स्खलितस्य निन्दा प्रतिपादिता । इह तु स्खलितविशेषतोऽपराधव्रणविशेषसंभवादेतावता शुद्धस्य सतः प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सा प्रतिपाद्यते यथा प्रतिक्रमणाध्ययने मिथ्यात्वादिप्रतिक्रमणद्वारेण कर्म्मनिदानप्रतिषेधः प्रतिपादित. । यथा चोक्तम् । " मिच्छत्तपडिक्कमण, तहेव असंयमे पडिक्कमण । कसायाण पडिक्कमण, जो याणमप्पसत्थाण" मित्यादि । इह तु कायोत्सर्गकरणात् प्रागुपात्तकर्म्मक्षय. प्रतिपाद्यते वक्ष्यते च " जह करगओ णिकितइ, दारुइतो पुणो विवञ्चतो । इअ कितंति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइ । काउस्सग्गे जह सुट्ठिय स्स भज्जति अगुवगाइ । इअ भिंदति सुविहिया, अट्ठविह कम्म संघाय " मित्यादि । अथवा सामायिके चारित्रमुपवर्णितं चतुर्विंशतिस्तवे त्वर्हद्गुणस्तुतिः सा च ज्ञानदर्शनरूपा एवमिद द्वितयमुक्तम् । अस्य च वितथासेवनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं तच्च वन्दनपूर्वमित्यतस्तन्निरूपित निवेद्य भूयः शुभोऽवस्थानेषु प्रतिक्रमण-

मासेयनीयमित्यनन्तराध्ययने तन्निरूपित इह तु तथाप्यशुद्धस्यापराधव्रणचिकित्साप्रायश्चित्तभेषजं प्रतिपाद्यते ।

तत्र प्रायश्चित्तभैषजमेव तावद्विचित्रं प्रतिपादयन्नाह ।

आलोअण १ पडिकमणे, २ मीस ३ विवेगे ४ तहा विउस्सग्गे ५ ।
तव ६ छेअ ७ मूल ८ अणव-ट्ठया य ९ पारंचिए चेव ॥ १ ॥

(आलोयणत्ति) आलोचनाप्रयोजनतो हस्तशताद्बहिर्गमनादौ गुरोर्विकटना १ (पडिक्कमणेत्ति) प्रतिक्रमणं प्रतिक्रमणे सहसा समित्यादौ मिथ्यादुष्कृतकरणमित्यर्थः २ (मीसत्ति) मिश्रशब्दादिषु रागादिकरणे विकटना मिथ्यादुष्कृतावित्यर्थः ३ (विवेगेत्ति) विवेकः अनेषणीयस्य सकाशे कथंचिद्गृहीतस्य परित्याग इत्यर्थः ४ तथा (विउस्सग्गेत्ति) तथा व्युत्सर्गः कुस्वप्नादौ कायोत्सर्ग इति भावना ५ (तवेत्ति) कर्मतापनात्तपः पृथिव्यादिसंघट्टनादौ निर्विकृतिकादि ६ (छेयत्ति) तपसा दुर्दमस्य श्रमणपर्यायच्छेदनमिति छेदयम् ७ (मूलेत्ति) प्राणातिपातादौ पुनर्व्रतारोपणमित्यर्थः ८ (अणवठ्ठप्पेत्ति) हस्तातालादिप्रमाददोषदुष्टतरपरिणामत्वात्तेषु नावस्थाप्यते इत्यनवस्थाप्यस्तद्भावोऽनवस्थाप्यता च ९ (पारंचिए चेवत्ति) पुरुषविशेषस्य स्वलिङ्गराजपत्न्याद्यासेवनायां पारंचिकं भवति पारं प्रायश्चित्तान्तमञ्चति गच्छति इति पारंचिकं न तत ऊर्ध्वं प्रायश्चित्तमस्तीति गाथार्थः ॥ १ ॥ एवं प्रायश्चित्तभेषजमुक्तम् ।

(३) साम्प्रतं व्रणः प्रतिपाद्यते स च द्विभेदः द्रव्यव्रणो भावव्रणश्च । द्रव्यव्रणः शरीरक्षतलक्षणः । असावपि द्विविध एव तथा चाह ।

दुविहो कायम्मि वणो, तदुब्भवागंतुगो अ नायव्वो ।
आगंतुगस्स कीरइ, सल्लुद्धरणं न इयरस्स ॥ २ ॥

द्विविधो द्विप्रकार (कायम्मि वणोत्ति) चीयत इति कायः शरीरमित्यर्थः तस्मिन् व्रणः क्षतलक्षणः । द्वैविध्यं दर्शयति । तस्मिन्नुद्भवोऽस्येति गण्डादिरागन्तुकश्च ज्ञातव्यः । आगन्तुकः कण्टकादिप्रभवः तत्रागन्तुकस्य क्रियते शल्योद्धरणं नेतरस्य तदुद्भवो यस्येति गाथार्थः ।२।

यद्यस्य यथोद्ध्रियते उत्तरपरिकर्म्म च क्रियते द्रव्यव्रणे एव तदभिधित्सुराह ।

तणुओ निक्खतुंमो, असोणिओ केवलं तयालग्गो ।
उद्धरिओ अवणिज्जइ, सल्लो न मलिज्जइ वणओ ॥ ३ ॥

लग्गुद्धिअम्मि बीए, मइलिज्ज परं अदूरगे सल्ले ।
उद्धरणमलणपूरण-दूरयरगए तईअम्मि ॥ ४ ॥

(तणुओ) तनुरेव तनुकः सूक्ष्म इत्यर्थः । न तीक्ष्णतुण्डमतीक्ष्णमुखमिति भावः । न यस्मिन् शोणितं विद्यत इत्यशोणितं केवलं नवरं त्वग्लग्नं बाह्यत्वाद्विलग्नमुद्धृत्य (अवणिज्जइ सल्लोत्ति) परित्यज्यते शल्यं प्राकृतशैल्यात्र पुल्लिङ्गनिर्देशः (ण मलिज्जइ वणो) न च मृज्यते व्रणः अल्पत्वाच्छल्यस्येति गाथार्थः ॥ ३ ॥ प्रथमशल्यजेऽयं विधिः । द्वितीयादिशल्यजे पुनरयं (लग्गुद्धिअम्मिगाहा) लग्नमुद्धृतं तस्मिन् द्वितीये चास्मिन् अदूरगते शल्ये इति योगः मनाग् दृढलग्न इति भावना । अत्र (मलिज्जति परंति) मृज्यते यदि परं व्रण इति उद्धरणं शल्यस्य मर्द्दनं व्रणस्य पूरणं कर्णमलादिना तस्यैवैतानि क्रियन्ते दूरतरगते तृतीये शल्ये इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

मा वेअणा उ तो उ-द्धरिउ गालंति सोणिअं चउत्थे ।
रुज्झइ लहुंति चिट्ठा, वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥ ५ ॥

मा वेदना भविष्यतीति तत उद्धृत्य शल्यं गालयति शोणितं चतुर्थे शल्ये इति तथा रुध्यतां शीघ्रमिति चेष्टा परिस्पन्दनालक्षणा वार्यते निषिध्यते पञ्चमे शल्ये उद्धृते व्रणोऽस्यास्तीति व्रणी तस्य व्रणिनः रौद्रतरत्वाच्छल्यस्येति गाथार्थः ॥ ५ ॥

रोहेइ वणं छट्ठे, हिअमिअभोई अभुंजमाणो वा ।
तित्तिअमित्तं छिज्जइ, सत्तमए पूइमंसाई ॥ ६ ॥

रोहयति व्रणं षष्ठे शल्ये उद्धृते सति हितमितभोजी हितपथ्यं मितं स्तोकं अभुञ्जानो वा तथा यावच्छल्येन दूषितं (तत्तियमित्तंति) तावन्मात्रं छिद्यते सप्तमे शल्ये उद्धृते किं पूतिमांसादीति गाथार्थः ॥ ६ ॥

तह वि य अट्ठायमाणे, गोणसभक्खिअखिआइरक्खिए वा वि ।
कीरइ तदंगछेओ, स अट्ठिओ सेसरक्खट्ठा ॥ ७ ॥

तथापि च (अट्ठायमाणेत्ति) अतिष्ठति सति विसर्पतीत्यर्थः । गोनसभक्षिताक्षितादौ रक्षिके वापि क्रियते तदङ्गच्छेदः सहास्था शेषरक्षार्थमिति गाथार्थः । एवं तावद्द्रव्यव्रणचिकित्सा च प्रतिपादिता ॥ ७ ॥

अधुना भावव्रणः प्रतिपाद्यते ।

मूलुत्तरगुणरूवस्स, ताइणो परमचरणपुरिसस्स ।
अवराहसल्लपभवो, भाववणो होइ नायव्वो ॥ ८ ॥

इयमन्यकर्तृका सोपयोगा चेति व्याख्यायते मूलगुणाः प्राणातिपातादिविरमणलक्षणाः उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्यादयः एत एव रूपं यस्य स मूलगुणोत्तरगुणरूपः तस्य तायिनः परमस्यास्य चरणपुरुषस्येति समासान्तस्यापराधो गोचरादिगोचरः त एव शल्यानि तेभ्यः प्रभवः सम्भवो यस्य स तथाविधभावव्रणो भवतीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

साम्प्रतमस्यानेकभेदभिन्नस्य व्रणस्य विचित्रप्रायश्चित्तभेषजेन चिकित्सा प्रतिपाद्यते ।

भिक्खायरिआइ सुज्झइ, अइआरो कोई विअडणाए उ ।
बिइओ अ असमिओ मित्ति, कीस सहसा अगुत्तो वा ॥ ९ ॥

भिक्षाचर्यादि शुद्ध्यत्यतिचारः कश्चिद्विकटनयैवालोचनयैवेत्यर्थः । आदिशब्दाद्विहारभूम्यादिगमनजो गृह्यते अत्रातिचार एव व्रण एव सर्वत्र योज्यम् । (बितिओत्ति) द्वितीयो व्रणोऽप्रत्युपेक्षितखेलविवेकादौ हा असमितोऽस्मीति किमिति सहसा अगुप्तो वा मिथ्यादुष्कृतमिति चिकित्सेत्ययं गाथार्थः ॥ ९ ॥

सद्दाइएसु रागं, दोसं व मणे गओ तइअवणो ।
नाउं अणेसणिज्जं, भत्ताइविगिंचणचउत्थे ॥ १० ॥

शब्दादिविषयादिष्विषु रागं द्वेषं च मनसा गतः अत्र (तइयवणोत्ति) तृतीयो व्रणः मिश्रभेषजचिकित्सा आलोचनाप्रतिक्रमणशोध्य इत्यर्थः ज्ञात्वा अनेषणीयभक्तादि विकिंचना चतुर्थ इति गाथार्थः ॥

उस्सग्गेण वि सुज्झइ, अइआरो कोइ कोइ उ तवेणं ।
तेणं वि असुज्झमाणे, छेअविसेसो विसोहिंति ॥ ११ ॥

कायोत्सर्गेणापि शुद्ध्यति अतिचारः कश्चित्कुस्वप्नादि कश्चित्तु तपसा पृथिव्यादिसंघट्टनादिजन्यो निर्विकृतिकादिना षण्मास

तेनाप्यशुध्यमान तथाभूत गुरुतर भेदविशेषा विशोधयन्तीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ एव सप्तप्रकारभावव्रणचिकित्साऽपि प्रदर्शिता मूलादीनि तु विषयनिरूपणद्वारेण स्वस्थानादवसेयानि नेह वितन्यन्ते इत्युक्तमानुषङ्गिकम् । प्रकृत प्रस्तुमः एवमनेनानेकरूपेण सबन्धेनायातस्य कायोत्सर्गाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वक्तव्यानि तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे कायोत्सर्गाध्ययनमिति कायोत्सर्गाध्ययन च ।

(४) कायोत्सर्गमधिकृत्य द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः ।

निक्खेवे १ गह्न २ विहाण, मग्गण ३ काल ४ भेअपरिमाणे ५ । असढ ६ सढे ७ विहि ८ दोसा, ९ कस्स ति १० फलं च ११ दाराइं ॥ १२ ॥

(णिक्खेवेत्ति) कायोत्सर्गस्य नामादिलक्षणो निक्षेप कार्य १ (एगट्ठित्ति) एकार्थकानि वक्तव्यानि (विहाणमग्गत्ति) विधानं भेदोऽभिधीयते भेदमार्गणा कार्या ३ (कालभेदपरिमाणेत्ति) कालभेदपरिमाणमभिभवकायोत्सर्गादिना वक्तव्यम् ४ भेदपरिमाणमुत्थितादिकायोत्सर्गभेदानां च यावन्तपस इति ५ (असढत्ति) असठकायोत्सर्गकर्त्ता वक्तव्य ६ स्तथा सठश्च वक्तव्यः ७ (विहित्ति) कायोत्सर्गकरणविधिर्वाच्यः ८ (दोसत्ति) कायोत्सर्गदोषाश्च वक्तव्याः ९ (कस्सत्ति) कस्य कायोत्सर्ग इति वक्तव्यम् १० (फल चत्ति) ऐहिकामुष्मिकभेदफल च वक्तव्यम् ११ (दाराइत्ति) एतावन्ति द्वाराणीति गाथासमासार्थः ॥ १२ ॥

काए उस्सग्गम्मि अ, निक्खेवे हुंति दुन्नि उ विगप्पा । एएसिं दुण्हंपी, पत्तेअपरूवणं वुच्छं ॥ १३ ॥

व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं भाष्यकृदेवाभिधास्यति (काएत्ति १३) तत्र काये कायस्य उत्सर्ग. कायोत्सर्गविषयश्च एव निक्षेपानिक्षेपविषयौ भवतः द्वावेव विकल्पौ द्वावेव भेदौ अनयोर्द्वयोरुत्सर्गविकल्पयोः प्रातिकीं प्ररूपणां वक्ष्य इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ (कायशब्दनिक्षेप. कायशब्दे वक्ष्यते । उस्सग्गशब्दे उत्सर्गनिक्षेप उक्तः)

अधुना इह एकार्थकान्युच्यन्ते तत्रेय गाथा ।

उस्सग्ग १ विउस्सरण २ उज्झणा य, ३ अवकिरण ४ छड्डण ५ विवेगो ६ । वज्जण ७ चयण ८ म्मुअणा, ९ परिसाडण १० सामणा चेव ॥४०॥

उत्सर्गः व्युत्सर्जना उज्झना च अवकिरण छर्दनं विवेकः वर्जनं त्यजनम् उन्मोचना परिशातना शातना चैवेति गाथार्थः । मूलद्वारगाथायामुक्तान्युत्सर्गैकार्थकानि ततश्च कायोत्सर्ग इति स्थित कायस्य उत्सर्गः कायोत्सर्ग इति ।

(५) इदानीं मूलद्वारगाथागतविधानमार्गणाद्वारावयवार्थव्याचिख्यासयाह ।

उस्सग्गे निक्खेवो, चउक्कओ छक्कओ अ कायव्वो । निक्खेवं काऊण, परूवणा तस्स कायव्वा ॥४१॥ सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्टाए अभिभवे अ णायव्वो । भिक्खायरिआइ पढमो, उवसग्गाभिजुंजणे बीओ ॥४२॥

कायोत्सर्गो द्विविधः (चेट्ठाएअभिभवेयणायव्वो) चेष्टाया अभिभवे च ज्ञातव्यः । तत्र (भिक्खायरियाइ पढमो) भिक्षाचर्यादौ विषये प्रथमश्चेष्टा कायोत्सर्गस्तथाहि चेष्टाविषय एवासौ भवतीति (उवसग्गभिजुंजणे बितिओ) उपसर्गा दिव्यादयस्तैरभियोजनमुपसर्गाभियोजनं तस्मिन्नुपसर्गाभियोजने द्वितीयोऽभिभवकायोत्सर्ग इत्यर्थः । दिव्याद्यभिभूत एव महामुनिस्तदैवायं करोतीति हृदयम् । अथवा उपसर्गैणाभियोजनं सोढव्यमथोपसर्गास्तद्वय न कार्यमित्येवभूतं तस्मिन् द्वितीय इति गाथार्थः ॥४२॥

इत्थ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः कायोत्सर्गे हि साधूनां नोपसर्गाभियोजन कार्यम ॥

इहरह वि ता न जुज्जइ, अभिओगो किं पुणाइ उस्सग्गे । नणु गव्वेण परपुरं, अभिगिज्जइ एवमेअं पि ॥४३॥

इतरथाऽपि सामान्यकार्येऽपि तावत्कचिदवस्थानादौ न युज्यतेऽभियोगः । कस्यचित्कर्तुं (किं पुणाइ उस्सग्गेत्ति) किं पुनः कायोत्सर्गकर्म्मक्रयाय क्रियमाणे स हि सुतरां गर्वरहितेन कार्यः । अभियोगश्च गर्वो वर्त्तते नन्वित्यसूयया गर्वेणाभियोगेन परपुरं शत्रुनगरमभिगृह्यते यथा तत्कर्तव्यकरणमसाधु एवमेतदपि कायोत्सर्गेऽभियोजनमशोभनमेवेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाचार्यः ।

मोहपयमीभयं अभि–भवितुं जो कुणइ काउसग्गं तु । भयकारणे उ तिविहे, नाभिभवो नेह पडिसेहो ॥४४॥

मोहप्रकृतितो भयं मोहप्रकृतिभयम् । अथवा मोहप्रकृतिश्चासौ भयमिति समासः मोहनीयकर्म्मभेद इत्यर्थः । तथा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साषट्क मोहनीयभेदतया प्रतीत तद अभिभवितुमभिभूय कश्चित्करोति कायोत्सर्गम् । तुशब्दो विशेषणार्थः नान्यत् किंचन बाह्यमभिभूयेति भयकारणे तु त्रिविधे बाह्ये (भयकारणेति) दिव्यमनुष्यतिर्यग्भेदभिन्ने सति तस्य नाभिभव' नाभियोगः । अथ इत्थंभूतोऽप्यभियोगः इत्यत्रोच्यते (णेहपमिसेहो) इत्थंभूतस्याभियोगस्य नैव प्रतिषेध इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ किंतु ।

आगारेऊण परं, रणिव्व जइ सो करिज्ज उस्सग्गं । जुज्जए अभिभवो तो, तदभावे अभिभवो कस्स ॥४५॥

(आगारेऊणत्ति) आकार्य रे क यास्यसि इदानीमेव परमन्य कचन (रणिव्व) सग्राम इव यदि स कुर्यात्कायोत्सर्गं युज्यते अभिभवस्तत. तदभावे पराभावे अभिभवः कस्यचिदितिभावार्थः ॥४५॥ तत्रैतस्माद्वयमपि कर्मांशो वर्त्तते कर्मणोऽपि बाभिभवः चोदकोक्त. खल्वेकान्तेन नैव कार्य एत्येतदयुक्तम् यतः ।

अट्ठविहं पि अ कम्मं, अरिभूअं तेण तज्जयट्ठाए । अब्भुट्ठिआ उ तवसं–जमं च कुव्वंति निग्गंथा ॥४६॥

अष्टविधमप्यष्टप्रकारमपि चशब्दो विशेषणार्थस्तस्य व्यवहितः संबन्ध. (अट्ठविह पि अ कम्म अरिभूत च) ततश्चायमर्थः यस्माद्ज्ञानावरणीयादि अरिभूत शत्रुभूत वर्तते भवति बन्धनत्वात् चशब्दादचेतन चेतनकारणं न तज्जयार्थं कर्म्मजयनिमित्तम (अब्भुट्ठियात्ति) आभिमुख्येनोत्थिता एव एकान्तेन गर्वविकला अपि तपो द्वादशप्रकार सयम च सप्तदशप्रकार कुर्वन्ति निर्ग्रन्थाः साधव इत्यत कर्मजयार्थमेव स्यादिति भावनापि कायोत्सर्गे कार्यैवेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

तथा चाह ।

तस्स कसाया चत्तारि, नायगा कम्मसत्तुसिन्नस्स । काउस्सग्गमभंगं, करेंति तो तज्जयट्ठाए ॥ ४७ ॥

तस्य प्रकृतशत्रुसैन्यस्य कषायाः प्राग्निरूपितस्वरूपाश्चत्वारः क्रोधादयो नायकाः प्रधानाः [काउस्सग्गमभग्गं करेंति तो तज्जयट्ठाएत्ति] कायोत्सर्गमपीमित कुर्वन्ति साधवस्ततस्तज्जयनिमित्तं तप संयमवदिति गाथार्थः ॥४७॥ गतसूत्रगाथायां विधानमार्गणाद्वारम् ।

(६) अधुना कालपरिमाणद्वारावसरस्तत्रेयं गाथा ।

संवच्छरमुक्कोसं, अंतमुहुत्तं च अभिभवस्सग्गे ।
चेट्ठा उस्सग्गस्सउ, कालपमाणं उवरि वुच्छं ॥ ४८ ॥

" संवच्छर " इत्यादि संवत्सरमुत्कृष्टकालपरिमाण तथा च बाहुबलिना संवत्सरकायोत्सर्गः कृत इति (अंतोमुहुत्त च) अभिभवकायोत्सर्गे अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकालपरिमाणमभिभवकायोत्सर्गे इति चेष्टा कायोत्सर्गस्य तु कालपरिमाणमनेकभेदभिन्नम (उवरि वोच्छति] उपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥४८॥ उक्त तावदोघत कायोत्सर्गपरिमाणद्वारम् ।

(७) अधुना भेदपरिमाणमधिकृत्याह ।

उसिउस्सिओ अ १ तह उ-स्सिओ अ २ उस्सिअनिसन्नओ चेव ३ । निसन्नउसिओ ४ निसन्नो, ५ निसन्नगनिसन्नओ चेव ६ ॥ ४९ ॥ निवन्नुसिओ ७ निवन्नो, ८ निवन्नगनिवन्नगो अ नायव्वो ९ । एएसिं तु पयाणं, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥ ५० ॥

उत्सृतोत्सृत' १ उत्सृतश्च २ उत्सृतनिषण्णः ३ निषण्णोत्सृत. ४ निषण्ण' ५ निषण्णनिषण्ण ६ श्चैवेति गाथासमासार्थः ॥ ४९ ॥ [णिवण्णुसिउगाहा] निषण्णोत्सृतः ७ निपन्न. ८ निपन्ननिपन्न ९ श्च ज्ञातव्य. । एतेषां तु पदानां प्रत्येक प्ररूपणं वक्ष्ये इति गाथासमासार्थः ॥ ५० ॥

अवयवार्थमुपरिष्टाद्वक्ष्याम तत्र ।

उस्सिअनिस्सन्नगनिव-न्नगे अ इक्किक्कम्मि पदे ।
दव्वेण य भावेण य, चउक्कभयणा उ कायव्वा ॥५१॥

उत्सृतनिषण्णनिपन्नेषु एकैकस्मिन्नेव पदे [दव्वेण य भावेण य] द्रव्यभावाभ्यां चतुष्कभजना कार्या । "चउक्कभयणा उ कायव्वा" द्रव्यतः उत्सृत' ऊर्द्ध्वस्थानस्थः भावत. धर्मशुक्लध्यायी १ अन्यस्तु द्रव्यत उत्सृतः ऊर्द्ध्वस्थानस्थो न भावत उत्सृत ध्यानचतुष्टयरहितः कृष्णादिलेश्या गतपरिणाम इत्यर्थः. २ अन्यस्तु न द्रव्यत उत्सृत ऊर्द्ध्वस्थानस्थो भावत उत्सृतः धर्मशुक्लध्यायी ३ अन्यस्तु न द्रव्यतो नापि भावत । इत्यय प्रतीतार्थ एवमन्यपदचतुर्भङ्गकावपि वक्तव्याविति गाथार्थ ॥ ५१ ॥ इत्थ सामान्येन भेदपरिमाणे निदर्शिते सत्याह चोदक । ननु कायोत्सर्गकरणे कः पुनर्गुण इत्यत्राहाचार्य ।

देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा ।
झायइ अ सुह झाणं, एगग्गो काउस्सग्गम्मि ॥५२॥

(देहमइजड्डसुद्धित्ति) देहजाड्यशुद्धिश्लेष्मादिप्रहाणतो मतिजाड्यशुद्धिस्तथावस्थितस्योपयोगविशेषतः (सुहदुक्खतितिक्खयत्ति) सुखदुःखतितिक्षा सुखदुःखातिसहनमित्यर्थ. [अणुप्पेहा) अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा च तथा ऽवस्थितस्य भवति । तथा [झायइ य सुह झाणंति] ध्यायति च शुभध्यान धर्म्मशुक्लकलक्षणम् एकाग्र एकचित्तः शेषव्यापाराभावात्कायोत्सर्गे इति इहानुप्रेक्षा ध्यानादौ ध्यानोपरमे च भवतीति कृत्वा भेदेनोपन्यस्तेति गाथार्थ ॥ ५२ ॥ इह ध्यायति च शुभध्यानमित्युक्त तत्र किमिद ध्यानमित्यत आह ।

अंतोमुहुत्तकालं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।
तं पुण अट्ट रुद्दं, धम्मं सुक्कं च नायव्वं ॥ ५३ ॥

द्विघटिको मुहूर्त्त भिन्नो मुहूर्त्त इत्युच्यतेऽन्तर्मुहूर्त्तकाल चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानमिति कृत्वा तत्पुनरार्त्तं रौद्र धर्म्मं शुक्ल च ज्ञातव्यमिति । तथा च स्वरूपं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने प्रतिपादितं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

तत्थ उ दो आइल्ला, झाणा संसारवट्टणा भणिया ।
दुन्नि य विमुक्खहेऊ, ते हहिगारो न इयरेहिं ॥५४॥

निगदसिद्धा । साम्प्रत यदा भूतो यत्र यथा स्थितो यच्च ध्यायति तदेतदभिधित्सुराह ।

संवरिआसवदारो, अव्वावाहे अकंटए देसे ।
काऊण थिरं ठाणं, ठिओ निसन्नो निवन्नो वा ॥५५॥
चेअणमचेअणं वा, वत्थुं अवलंबिउं घणं मणसा ।
झायइ सुअमत्थं वा, दविअं तप्पज्जए वा वि ॥५६॥

(संवरिआसवदारोत्ति) संवृतानि स्थगितानि आश्रवद्वाराणि प्राणातिपातादीनि येन स तथाविधः ध्यायति (अव्वावाधे अकटए देसत्ति) अव्याबाधे गन्धर्वादिलक्षणभावव्याबाधाविकले अकण्टके पाषाणादिद्रव्यकण्टकविकले देशे भूभागे कथं व्यवस्थितो ध्यायति (काऊण थिरं ठाण ठितो णिसण्णो निवण्णो वा) कृत्वा स्थिर निष्प्रकम्पनं स्थानमवस्थितविशेषलक्षण स्थितो निषण्णो निपन्नो वेति प्रकटार्थः । चेतन पुरुषादि अचेतनं प्रतिमादि वस्तु अवलम्ब्य विषयीकृत्य घन दृढमनसा अन्त करणेन ध्यायति "सुय वा अत्थ वा" ध्यायति सदध्यते सूत्र गणधरादिनिबद्धम अर्थं वा तद्गोचरम् किंभूतमर्थमित्यत आह [दविय तप्पज्जवेयावि] द्रव्य तत्पर्यायान् वा इह च यदा सूत्र ध्यायति तदा तदेव सूत्रगतधर्ममालोचयति न त्वर्थं यदार्थं न तदा सूत्रमिति गाथाद्वयार्थः ॥५६॥

अधुनाप्रकटप्रकृत एव कुचोद्यपरिहारायाह ।

तत्थ उ भणिज्ज कोई, झाणं जो माणसो परीणामो ।
तं न भवइ जिणदिट्ठं, झाणं तिविहे वि जोगम्मि ॥५७॥

तत्र भणेत् ब्रूयात् कश्चित् किं ब्रूयादित्याह । (झाण जो माणसो परिणामोत्ति) ध्यान यो मानस. परिणाम. ध्यै चिन्तायामित्यस्य चिन्तार्थत्वादित्थमाशङ्क्योत्तरमाह । तन्न भवति [जिणदिट्ठं झाण तिविहे वि जोगम्मि) तदेतन्न भवति तत्परेणाभ्यधायि कुतः यस्माज्जिनैर्दृष्ट ध्यान त्रिविधेऽपि योगे मनोवाक्कायलक्षण इति गाथार्थः ॥५७॥ किंतु कस्यचित्कदाचित्प्राधान्यमाश्रित्य भेदेन व्यपदेश. प्रवर्तते तथा चामुमेव न्यायं प्रदर्शयन्नाह ।

वायाई धाऊणं, जो जाहे होइ उक्कडो धाऊ ।
कुविउत्ति सो पवुच्चइ, न य इअरे तत्थ दो नत्थि ॥५८॥

वातादिधातूनामादिशब्दाद्वातपित्तश्लेष्मणां यो यदा
त्कट' प्रचुरो धातु. कुपित इति स ।
न्यात (न य इयरे तत्थ दो नत्थित्ति) न ौ
इति गाथार्थः ॥५८॥

एमेव य जोगाणं, तिण्हवि जो ।

तस्स तहिं निद्देसो, इअरे तत्थि क्क दो व न वा ॥५९॥

एवमेव च योगानां मनोवाक्कायानां त्रयाणामपि यो यदा उत्कटः योगस्तस्य योगस्य तदा तस्मिन्काले निर्देश (इतरेतत्थिक्क दो व न वा) इतरस्तत्रैको भवति द्वौ वा भवतः न वा भवत्येव । इयमत्र भावना केवलिनः वाचि उत्कटायां कायोऽप्यस्ति अस्मदादीनां तु मनः कायो न वेति केवलिनः एव शैलेश्यवस्थायां काययोगनिरोधकाले स एव केवल इत्यनेन च शुभयोगोत्कटत्व तथा निरोधश्च द्वयमपि ध्यानमित्यादि वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ इत्थ य उत्कटो योगस्तस्यैवेतराऽसद्भावेऽपि प्राधान्यात् सामान्येन तमभिधायाधुना विशेषेण त्रिप्रकारमप्युपदर्शयन्नाह ।

काए वि अ अज्झप्पं, वायाऽमणस्स चेव जह होइ ।
कायवयमणो जुत्तं, तिविहं अज्झप्पमाहंसु ॥६०॥

कायेऽपि च अध्यात्मनि वर्त्तत इत्यध्यात्म ध्यानमित्यर्थः । एकाग्रतया एजनादिनिरोधात् (वायाएत्ति) तथा वाचि अध्यात्म तथा एकाग्रतयैवायतभाषानिरोधात् [मणस्स चेव जह होइत्ति] मनसश्चैव यथा भवत्यध्यात्मम् । एवं कायेऽपि वाचि चेत्यर्थः । एव भेदेनाभिधायाधुनैकदैवोपदर्शयन्नाह " कायवाङ्मनोयुक्त त्रिविधमध्यात्ममाख्यातवन्तस्तीर्थकरा गणधराश्च वक्ष्यन्ते च " भंगिय सुय गुणं ते वट्टइ तिविहे जोग " मिति गाथार्थः ॥६०॥

पराभ्युपगतध्यानसाम्यप्रदर्शनेनानभ्युपगतयोरपि ध्यानतां प्रदर्शयन्नाह ।

जइ एगग्गं चित्तं, धारयओ वा निरुंभओ वा वि ।
झाणं होइ नणु तहो, इअरेसु वि दोसु एमेव ॥६१॥

हे आयुष्मन्यद्येकाग्र चित्त क्वचिद्वस्तुनि धारयतो वा स्थिरतया देहव्यापिविषवद्दङ्क इति निरुम्भतो वा चित्तनिरुधानस्य वा तदपि योगनिरोध इव केवलिनः किमित्याह ध्यानं भवति मानसं यथा तथा इतरयोरपि द्वयोर्वाक्काययोरेवमेव एकाग्रधारणादिनैव प्रकारेण तल्लक्षणयोगध्यान भवतीति गाथार्थ ॥६१॥ इत्थ त्रिविधे ध्याने सति यस्य यदोत्कटत्व तस्य तदेतरसद्भावेऽपि प्राधान्याद्व्यपदेश इति लोकोत्तरानुगतश्चाय न्यायो वर्त्तते तथाचाह ।

देसिअदंसिअमग्गे, वच्चंतो नरवई लहइ सद्दं ।
रायत्ति एस वच्चइ, सेसे अणुगामिणो तस्स ॥६२॥

देशयतीति देशकः अग्रयायी देशकेन दर्शितो मार्गः पन्था यस्य स तथोच्यते व्रजन् गच्छन् नरपती राजा लभते शब्द प्राप्नोति । शब्द किं भूतमित्याह (रायत्ति एव वच्चइ त्ति) राजा एष व्रजतीति न चासौ केवलः प्रभूतलोकानुगतत्वाच्च तद्व्यपदेशस्तेषामप्राधान्यात् तथा चाह [सेसा अणुगामिणो तस्सत्ति] शेषा अमात्यादयः अनुगामिनोऽनुयातारस्तस्य राज्ञः इत्यत प्राधान्याद्राजेति व्यपदेश इति गाथार्थ ॥६२॥

अय लोकानुगतो न्यायः अयं पुनर्लोकोत्तरानुगतः ।

पढमिल्लुगस्स उदए, कोहस्सिअरे वि तिन्नि तत्थ त्थि ।
न य ते न संति तहिअ, नयपाहन्नं तहेअ पि ॥६३॥

प्रथम एव प्रथमेल्लुकः । प्रथमत्वं चास्य सम्यग्दर्शनाख्यप्रथमगुणघातित्वात्तस्य प्रथमेल्लुकस्य उदये कस्य क्रोधस्य अनन्तानुबन्धिन इत्यर्थः । [इयरे वि तिन्नि तत्थ त्थि] शेषा अपि त्रयः अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनोदयवन्तस्तत्र जीवद्रव्ये सति न चानीताद्यपेक्षया तत्सद्भावः प्रतिपाद्यते । यत आह [न य ते न सति तहिअ] न च ते अप्रत्याख्यानावरणादयो न सन्ति तदा किंतु सत्येव नत्र प्राधान्य तेषामतो न व्यपदेशः। आद्यस्यैव व्यपदेशः [तहेयं पि] तथैतदप्यधिकृत वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥६३॥

अधुना स्वरूपतः कायिकं मानसं च ध्यानमावेदयन्नाह ।

मा मे एअउ काओ त्ति, अचलओ काइअं हवइ झाणं ।
एमेव य माणसिअं, निरुद्धमणसो हवइ झाणं ॥६४॥

मा मे मम [एअउ काउत्ति] एजतु कम्पतां कायो देह इति एवमचलन एकाग्रतया स्थितस्येति भावना । किं कायेन निर्वृत्त कायिक भवति ध्यानम् एवमेव मानस निरुद्ध मनसो भवति ध्यानमिति गाथार्थः ॥६४॥

इत्थ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः ।

जह कायमणनिरोहे, झाणं वायाऽजुज्जइ न एवं ।
तम्हा वई उ जाणं, न होइ को वा वि मेञुत्थ ॥६५॥

ननु यथा कायमनसो निरोधे ध्यानं प्रतिपादित भवता [वायाए जुज्जइ न एवंति] वाचि युज्यते [ण एवंति] नैव कदाचिदप्रवृत्त्यैव निरोधाभावात् । तथाहि न कायमनसी यथा सदावृत्ते तथा वागिति । [तम्हावति तु झाण नहोई] तस्माद्वाग्ध्यान न भवत्येव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्व्यवहितप्रयोगाच्च को वा विशेषोऽत्र येनेत्थमपि व्यवस्थिते सति वाक्प्राधान्य भवतीति गाथार्थ ।

इत्य चोदकेनोक्ते सत्याह गुरुः ।

मा मे चलउ त्ति तणू, जह तं झाणं णिरेइणो होइ ।
अजया भासविवज्जिस्स, वाइअं झाणमेवं तु ॥६६॥

मा मे चलतु कम्पतामितिशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः । त दर्शयिष्यामः तनुः शरीरमेव चलनक्रियानिरोधेन यथा तद्ध्यान [णिरियणो होत्ति] निरेजनस्य निष्कम्पस्य भवति [अजयाभासविविज्जिस्स वाइय झाणमेव तु] अयतो भाषाविवर्जिनो दुष्टवाक्परिहर्तुरित्यर्थ । वाचिकध्यानमेव यथा कायिक तुशब्दोऽवधारणार्थे इति गाथार्थः ।

साम्प्रतं स्वरूपत एव वाचिकध्यानमुपदर्शयन्नाह ।

एवंविहा गिरा मे, वत्तव्वा एरिसा न वत्तव्वा ।
इअ वेआलिअवक्कस्स, भासओ वाइअं झाणं ॥६७॥

एवंविधेति निरवद्या गीर्वागुच्यते मेति मया वक्तव्या । [एरिसित्ति] ईदृशी सावद्या न वक्तव्या [इयवेयाजियवक्कस्स भासतो वाचिअ झाण] एवमेकाग्रतया विचारितवाक्यस्य सतो भाषमाणस्य वाचिक ध्यानमिति गाथार्थः ॥६७॥

एव तावद्व्यवहारभेदेन त्रिविधमपि ध्यानमावेदितमधुनैकदैव एकत्रैव त्रिविधमपि दर्श्यते ।

मणसा वावारतो, कायं वायं च तप्परीणामो ।
भंगिअसुअ गुणतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि ॥६८॥

मनसाऽन्तःकरणेनोपयुक्तः सन्व्यापारयन्काय देह च वाच च भारतीं च [तप्परिणामोत्ति] तत्परिणामो विवक्षितश्रुतपरिणामः । अथवा तत्परिणामो योगत्रयपरिणामः । स तथाविधशस्तो योगत्रयपरिणामो यस्यासौ तत्परिणाम इति । तत्र भं-

कश्रुतद्दष्टिवादान्तर्गतमन्यद्वा तथाविध. [गुणतोचि] गुणयन् वर्त्तते त्रिविधेऽपि ध्याने मनोवाक्कायव्यापारलक्षण इति गाथार्थः ॥६८॥ अवसातमानुषङ्गिक साम्प्रत भेदपरिणामं प्रतिपादयन्त उत्थितोत्थितादिभेदो यो नवधा कायोत्सर्ग उपन्यस्तः स यथायोग व्याख्यायत इति । तत्र

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो ।

एसो काउस्सग्गो, उसिउसिओ होइ नायव्वो ॥६९॥

धर्मे शुक्लं च प्राक्प्रतिपादितस्वरूपमेते द्वे ध्यायते ध्याने यः कश्चित्स्थितः सन् एष कायोत्सर्ग उत्थितो भवति ज्ञातव्यो यस्मादिह शरीरमुत्थितभावोऽपि धर्मं शुक्लं ध्यात्वा उत्थित एवेति गाथार्थ ॥६९॥ गतः खल्वेको भेदः ।

अधुना द्वितीय प्रतिपाद्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइं ।

एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ होइ नायव्वो ॥७०॥

धर्मं शुक्लं च द्वे नापि ध्यायति नापि आर्त्तरौद्रे एष कायोत्सर्गो द्रव्योत्थितो भवतीति ज्ञातव्य इति गाथार्थ ।

कस्यां पुनरवस्थायां न शुभं ध्यानं ध्यायति नाप्यशुभमित्यत्रोच्यते ।

पयलायं तसु सुत्तो, नेव सुहं झाइ झाणमसुहं वा ।

अव्वावारिअचित्तो, जागरमाणो वि एमेव ॥७१॥

प्रचलायमान ईषत्स्वपन्नित्यर्थः [सुत्तेति] सुप्तु सुप्तः स खलु नैव शुभं ध्यायति ध्यान धर्मं शुभलक्षण अशुभ वा आर्त्तरौद्रलक्षण न व्यापारित कचिद्वस्तुनि चित्त येन स अव्यापारितचित्त यश्चिर जाग्रदपि एवमेव शुभ ध्यायति नाप्यशुभमिति गाथार्थः ॥७१॥ किं च

अचिरोववन्नगाणं, मुच्छिअ अव्वत्तमत्तसुत्ताणं।

ओहारिअमव्वत्तं, च होइ पाएण चित्तंति ॥७२॥

न चिरोपपन्नका अचिरोपपन्नकास्तेषामचिरोपपन्नानामचिरजातानामित्यर्थः । मूर्छितान्यक्तमत्तसुप्तानां मूर्छितानामभिघातादिना अव्यक्तानामव्यक्तचेतसा मत्तानां मदिरादिना सुप्तानां निद्रया इहाव्यक्तानामिति यदुक्त तत्राव्यक्तचेतसः अव्यक्तास्तत्पुनरव्यक्तं कीदृशमित्याह [ओहामियमव्वत्त च होइ पाएण चित्त तु] स्थगित विषादिना तिरस्कृतस्वभावमव्यक्तं च अव्यक्तमेव चशब्दोऽवधारणे भवति प्रायश्चित्तमिति प्रायोग्रहणादन्यथाऽपि सम्भवतीति गाथार्थ ।स्यादेतत् एवंभूतस्यापि चेतसो ध्यानताऽस्तु को विरोध इत्यत्रोच्यते । तदेव यस्मात् ॥

गाढालंवणलग्गं, चित्त वुत्तं निरेअणं झाणं ।

सेसं न होइ झाणं, मउअमवत्तं भमं तं च ॥ ७३ ॥

गाढालम्बने लग्न गाढालम्बनलग्नम् । गाढालम्बनमेकालम्बने स्थिरतया व्यवस्थितमित्यर्थ । चित्तमन्त करणमुक्त भणित निरेजन निष्प्रकम्प ध्यान यतश्चैवमत शेषमस्मादन्यत्तत्र भवति ध्यानं किंभूतम् [मउयमवत्त भम त च] मृदुभावनायामकठोरमव्यक्त पूर्वोक्त भ्रमत्वानवस्थित चेति गाथार्थः । आह, यदि चित्त ध्यान न भवति वस्तुतः अव्यक्तत्वात्कथमस्य पश्चादपि व्यक्तता इत्यत्राह।

उम्हासेसो वि सिही, होउं इन्धिणो पुणो जलइ ।

इअ अव्वत्तं चित्तं, होउं वत्तं पुणो होइ ॥ ७४ ॥

ऊष्मावशेषोऽपि मनागपि उष्ण इत्यर्थः शिखी अग्निः भूत्वा लब्धेन्धनः प्राप्तकाष्ठादिः सन्पुनर्ज्वलति [इअत्ति] एवमव्यक्त चित्त मदिरादिना भूत्वा व्यक्त पुनर्भवत्यग्निवदिति गाथार्थः ।

इत्थ प्रासंगिक किंचिदप्युक्तम् अधुना प्रक्रान्तवस्तुशुद्धिः क्रियते । किं च प्रक्रान्त कायिकादिविधध्यानं यत उक्त "भंगियसुय गुणेतो. वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि"इत्यादि एवं च व्यवस्थिते "अतो मुहुत्तकाल, चित्तमेगग्गया भवति झाण" यदुक्तमस्माद्विनेयस्य विरोधाशङ्काव्यामोहः स्यादतस्तदपनोदायाशङ्कामाह

पुण पुव्वं च जदुत्तं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।

आवन्नमणेगग्गं, चित्तं चिअ तं न तं झाणं ॥ ७५ ॥

पुनस्त्रिविधे ध्याने सति पूर्वं च यदुक्त चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानम् । "अतोमुहुत्तकाल चित्तस्सेगग्गया भवति झाण" इति वचनात् चशब्दादनेनेतन ऊर्द्धमुक्तम् " भंगियसुयं गुणेतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि " तदेतत्परस्परविरुद्ध कथ यत त्रिविधे ध्याने सति आपन्नमनेकविषय ध्यानमिति तथाहि मनसा किंचिद्ध्यायति वाचाऽभिधत्ते कायेन क्रियां करोतीत्यनेकाग्रता । अत्राचार्य इदमनादृत्य सामान्येनानेकाग्रचित्त हृदि कृत्वा काक्काह "चित्त चिय त न त झाण" यदनेकाग्र तच्चित्तमेव न तद्ध्यानमिति गाथार्थः । आह-उक्तन्यायादनेकाग्र त्रिविध ध्यान तस्मात्तर्हि ध्यानत्वानुपपत्तिर्नाभिप्रायपरिज्ञानात् तथाहि ।

मणसहिएण उ काएण, कुणइ वायाइ भासई जं च ।

एअन्दि भावकरणं, मणरहिअं दव्वकरणं तु ॥ ७६ ॥

मनःसहितेनैव कायेन करोति यदिति सवध्यते उपयुक्तो यत्करोतीत्यर्थः । वाचा भाषते यच्च मनःसहितया एतदेव भावकरण वर्त्तते । भावकरण च ध्यानं मनोरहित तु द्रव्यकरण भवति । ततश्चैतदुक्त भवतीहानेकाग्रतैव नास्ति सर्वेषामेव मनःप्रभृतीनामेकविषयत्वात् । तथाहि स यदेव मनसा ध्यायति तदेवाभिधत्ते तत्रैव च कायक्रियेति गाथार्थः।

इत्थ प्रतिपादिते सत्यपरस्त्वाह ।

जइ ते चित्तं झाणं, एवं झाणमवि चित्तमावन्नं ।

तेन किर चित्तझाणं, अह नेवं झाणमन्नं ते ॥ ७७ ॥

यदि ते तव चित्तं ध्यानम् " अतो मुहुत्तकालं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाण" इति वचनात् । एव ध्यानमपि चित्तमापन्न ततश्च कायिकवाचिकध्यानासंभव इत्यभिप्रायस्तेन किल चित्तमेव ध्यान नान्यदिति हृदयम । अथ नैवमिष्यते माभूत्कायिकवाचिके ध्याने न भविष्यत इति इत्थ तर्हि ध्यानमन्यत्ते तव चित्तादिति गम्यते यस्मान्नावश्यं ध्यान चित्तमिति गाथार्थ ।

अत्राचार्य आह अभ्युपगमादिदोषम् तथाहि ।

नियमा चित्तं झाणं, चित्तं झाणं न या विभइअव्वं ।

जह खइरो होइ दुमो, दुमो अ खइरो अ खइरो वा ॥७८॥

" निअमा झाणं चित्तं चित्तं झाणं" इति पाठान्तरं व्याख्यान्तरे नियमान्नियमेन उक्तलक्षण चित्त ध्यानमेव [झाण विभइयव्वं] ध्यानं तु चित्त न चाप्येव विभक्तव्यं विकल्पनीयम् । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह " जह खइरो होइ दुमो, दुमो अ खइरो अ खइरो वा] यथा खदिरो भवति द्रुम एव द्रुमस्तु खदिरः अखदिरो वा धवादि चेत्यय गाथार्थः। अन्ये पुनरिद गाथाद्वयमतिक्रान्ते गाथां चैवाक्षेपद्वारेणान्यथा व्याचक्षते यदुक्त "चित्त चिय त न तं झाणति" इत्येतदसत्कथम् " यदि ते

चित्त ध्याण, एवं ध्याणमवि चित्तमावन्न । सामान्येन " तेन किर चित्तझाणं, अह नेव झाणमन्न ते " चित्तात् अत ऊर्ध्वं पाठान्तरेणोत्तरगाथा " नियमा झाणं चित्त, चित्त झाण न या निभइयव्व " । यतो व्यक्तादि चित्त न ध्यानमिति । 'जह खइरो' इत्यादि निदर्शन पूर्ववत् अल प्रसङ्गेन । प्रकृत प्रस्तुमः । प्रकृतश्च द्वितीय उत्थिताभिधानकायोत्सर्गभेद इति स व्याख्यातः नवर तत्र ध्यानचतुष्टयध्यायी लेश्यापरिगतो वेदितव्य इति ।

इदानीं तृतीयः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते ।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो ।
एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ जावओ निसन्नो ॥ ७९ ॥

निगदसिद्धैव ।

अधुना चतुर्थकायोत्सर्गभेद' प्रदर्श्यते तत्रेयं गाथा ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निसन्नो अ ।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नुसिओ होइ नायव्वो ॥८०॥

निगदसिद्धैव । नवर कारणिक एव ग्लानस्थविरादिनिषण्णकारी वेदितव्यः वक्ष्यते अत्रान्तरत इत्यादि । अधुना पञ्चमकायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइं ।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नओ होइ नायव्वो ॥ ८१ ॥

अधुना षष्ठ कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते ।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निसन्नो उ ।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नगनिसन्नगो नाम ॥ ८२ ॥

अधुना सप्तम· कायोत्सर्गभेद· प्रतिपाद्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निवन्नो उ ।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नुसिओ होइ नायव्वो ॥ ८३ ॥

निगदसिद्धा । नवर कारणिक एव ग्लानस्थविरादिर्यो निष्पन्नोऽपि कर्तुमसमर्थः स निषन्नकारी गृह्यते ।

साम्प्रतमष्टमकायोत्सर्गभेदो निदर्श्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि य अट्टरुद्दाइं ।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नओ होइ नायव्वो ॥ ८४ ॥

निगदसिद्धा । इहापि च प्रकरणानि निषन्नः सन्धर्मादीनामध्यापयतीत्यवगन्तव्यम् ।

अधुना नवमः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते ।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निवन्नो उ ।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नगो होइ नायव्वो ॥ ८५ ॥
अतरंतो निस्सन्नो, करिज्ज तह वि अ सहू निवन्नो उ ।
संबाहुत्तरस्स ए वा, कारणिअ समत्थ वि निसन्नो ॥८६॥

निगदसिद्धा [अतरंतोगाहा] निगदसिद्धैव नवरम् [कारणिसमत्थो वि निसन्नोत्ति] यो हि गुरुवैयावृत्यादिना व्यावृत्त· कारणिकः समर्थोऽपि निषन्नः करोतीति । इत्थ तावत्कायोत्सर्ग उक्त । अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः स चान्यत्रान्यकृतनिरूपितत्वान्नेहाधिकृत· । गतो नाम निष्पन्नो निक्षेपः । साम्प्रत सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः । स च तावत् सति भवति सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चो वक्तव्य यावत् तच्चेदं सूत्रम् ।

नमो अरिहंताणं करेमि भंते ! सामाइयं० इच्छामि ठामिकाउस्सग्गं जो मे देवसिओ० ॥

" करेमि भंते ' सामाइय " इत्यादि यावत् " अप्पाण वोसिरामि " । अस्य संहितादिलक्षणा व्याख्या यथा सामायिकाध्ययने तथाऽवगन्तव्या पुनरभिधाने च प्रयोजन वक्ष्यामः । इदमपरं सूत्रम् "इच्छामि ठामि काउस्सग्ग जो मे देवसिओ अइयारो कओ" इत्यादि यावत् "तस्स मिच्छामि दुक्कम" अस्य व्याख्या तल्लक्षण चेद संहिता चेत्यादि तत्र इच्छामि स्थातु कायोत्सर्गे यो मे दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादि । संहितापदानि तु इच्छामि स्थातु कायोत्सर्गे यो मया दैवसिक· अतिचारः कृत इत्यादीनि । पदार्थस्तु "इषु इच्छायाम्" इत्यस्योत्तमपुरुषैकवचनस्य "इषुगमियमां छः ७।३।७७" इति छत्वे इच्छामीति भवति इच्छाम्यभिलषामि स्थातुमिति 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य स्थातुमिति भवति । कायोत्सर्गमिति 'चिञ् चयने' अस्य घञन्तस्य 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च क ३।३।४१' इति चीयत इति कायः देह इत्यर्थ· 'सृजविसर्गे' उत्पूर्वस्य घञि उत्सर्गो भवति । शेषपदार्थो यथा प्रतिक्रमण इति पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषामेव भवति नान्येषामिति नात्र इच्छामि स्थातु कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्गः इति त शेषपदविग्रहो यथा प्रतिक्रमण एव चालना प्रत्यवस्थान च यथासम्भवमुपरिष्टाद्वक्ष्याम· ।

तथेदमन्यत्सूत्रम् ।

तस्सुत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउसग्गं अन्नत्थुससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएण जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥

अस्य व्याख्या । तस्योत्तरीकरणेन तस्येति तस्यानन्तरप्रस्तुतस्य श्रमणयोगसंघातस्य कथंचित्प्रमादात् खण्डनादिनाध· कृतस्य उत्तरीकरणेन हेतुभूतेन "ठामि काउस्सग्गं" नियोगः तत्रोत्तरद्वारेण पुन संस्करणद्वारेणोत्तरीकरणमुच्यते अनुत्तरमुत्तर क्रियत इति उत्तरीकरण कृतिः करणमिति । तत्र प्रायश्चित्तकरणद्वारेण भणतीत्यत आह [पायच्छित्तकरणेणं] प्रायश्चित्तशब्दार्थं वक्ष्यामस्तस्य करण प्रायश्चित्तकरण तेन अथ वासादीनि प्रतिक्रमणवासनानि विशुद्धौ कर्त्तव्यायां मूलकरणमिद पुनरुत्तरकरणमतस्तेनोत्तरकरणेन प्रायश्चित्तकरणेनेति क्रिया पूर्ववत्प्रायश्चित्तकरण च विशुद्धिद्वारेण भवत्यत आह । [विसोहीकरणेणं] विशोधन विशुद्धिरपराधमलिनस्यात्मन इत्यर्थ· तस्याः करण तेन हेतुभूतेनेति । विशुद्धिकरण च विशल्याः करणद्वारेण भवत्यत आह [विसल्लीकरणेणं] विगतानि शल्यानि मायादीनि यस्यासौ विशल्यस्तस्य करण तेन हेतुभूतेन [पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं] पापानां संसारनिबन्धनानां कर्म्मणां ज्ञानावरणादीनां निर्घात-

नार्थं निर्घातननिमित्त व्यापत्तिनिमित्तमित्यर्थं किं तिष्ठामि कायोत्सर्गं कायस्योत्सर्ग. कायोत्सर्गः कायपरित्याग इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति अनेकार्थत्वाद्धातूनां तिष्ठामीति करोमि कायोत्सर्गंव्यापारवत' कायस्य परित्याग इति भावना । किं सर्वथा नेत्याह [अन्नत्थुससिएणति] अन्यत्रोच्छ्वसितेन उच्छ्वसित मुक्त्वा येऽन्यो व्यापारस्तेन व्यापारवत इत्यर्थः ॥

एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्रोर्द्ध्वप्रबल श्वसितमुच्छ्वसित तेन [णीससिएणति] अध. श्वसित तेन नि श्वसितेन (खासिएणति) कासितमिति प्रतीतम् [छीएणति] क्षुतेन एतदपि प्रतीतमेव [जभाइएणति] जृम्भितेन विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमो जृम्भितमुच्यते [उड्डुएणति] उध्मात प्रतीत [वायनिसग्गेण] अपानेन वातनिर्गमो वातनिसर्गो भण्यते तेन [भमलीएत्ति] भ्रमल्या इयमाकस्मिकी शरीरभ्रमिलक्षणा प्रतीतैव [पित्तमुच्छाएत्ति] पित्तमूर्च्छया पित्तप्राबल्यात्मना मूर्च्छा भवति [सुहुमेहिं अगसचालेहिं] सूक्ष्मैरङ्गसचारलक्षणैर्गात्रविचलनप्रकारै रोनोद्गमादिभि [सुहुमेहिं खेलसचालेहिं] सूक्ष्मै. खेलसचारैः यस्मात्सयोगिवीर्य. स द्रव्यतया तेन खेल भवति [सुहुमेहिं दिट्ठिसचालेहिं] सूक्ष्मैर्दृष्टिसचारनिर्निमेषादिभि. [एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो] एवमादिभिरित्यादिशब्द वक्ष्यामः । आक्रियन्त इत्याकारा. अगृह्यन्ते इति भावना सर्वथा कायोत्सर्गापवादे प्रकारा इत्यर्थ तैराकारैर्विद्यमानैरपि न भग्नोऽभग्न सर्वथाऽविनाशित. । न विराधितोऽविराधितोऽविराधितो देशभग्नोऽभिधीयते मे मया कायोत्सर्गः क्रियते यावदित्याह [जाव अरिहताण भगवताण नमोकारेण न पारेमि] यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि यावदिति कालावधारणमशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्यर्हन्तस्तेषामर्हतां भग ऐश्वर्यादिलक्षण स विद्यते येषां ते भगवन्तस्तेषां भगवतां सम्यग्भिनो नमस्कारेण [नमो अरिहताणति] अनेन पारयामि पार गच्छामि तावत्किमित्याह [तावकाय ठाणेण मोणेण झाणेण अप्पाण वोसिरामि] तावच्छब्देन कालनिदर्शमाह । कायो देहः स्थानेनोर्द्ध्वस्थानेन तथा मौनेन वाग्निरोधलक्षणेन तथा ध्यानेन शुभेन [अप्पाणति] प्राकृतशैल्या आत्मीयमन्येन पठन्त्येवैनमालापक व्युत्सृजामि परित्यजामि इयमत्र भावना कार्यस्थाने मौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियाऽन्त्राराध्या सच्चारेण व्युत्सृजामि नमस्कारपाठ यावत्प्रलम्बभुजो निरुद्धवाक्प्रसरः प्रशस्तध्यानानुगस्तिष्ठामि तथा च कायोत्सर्गपरिसमाप्तौ नमस्कारमपठतस्तद्भङ्ग एव द्रष्टव्य इत्येष तावत्समासार्थ । अवयवार्थं तु भाष्यकारो वक्ष्यति । आव० ५ अ०। कायोत्सर्गे का गतिरिति जघन्यतोऽपि तावदष्टोच्छ्वासमानमिह च प्रमादमदिरामदापहृतचेतसा यथावस्थितं भगवद्वचनमनालोच्य तथाविधजनासेवनमेव प्रमाणयत. पूर्वापरविरुद्धमित्थमभिदधति तत्सूत्रमेतत् साध्वादिलोकेनाऽनाचरितत्वात् एतद्यायुक्तम् । अधिकृतकायोत्सर्गसूत्रस्येवार्थान्तराभावात् उक्तार्थतायां चोक्तविरोधात् । अथ भवत्वयमर्थ' कायोत्सर्गकरणे न पुनरय स इति किमर्थमुच्चारणमिति वाच्य वन्दनार्थमिति चेन्नानर्थत्वात् । अत एवोच्चारणेनातिप्रसङ्ग. । कायोत्सर्गयुक्तमेव वन्दनमिति चेत्कर्त्तव्यस्तर्हि स इति भुजप्रलम्बमात्र. क्रियत एवेति चेन्न तस्य नियतप्रमाणत्वात चेष्टाभिभवभेदेन द्विप्रकारत्वादुक्त च " सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे य णायव्वो । भिक्खायरियाइपढमो, उवसग्गभीओ जणो वीओ " अयमपि च्युतदोरेवान्यतर. स्यात् अन्यथा कायोत्सर्गस्य चाणीयसोऽप्युक्तमानत्वात् । उक्त च " उद्देस सत्तवीस, अणुस्सवणियाय अट्ठे व । ये उस्सासा पढवए, पडिक्कमणाइ अन्नाय " न गृहीत इति चेतनादिशब्दावरुद्धत्वाद्उपन्यस्तगाथासूत्रस्योपलक्षणत्वादन्यत्रापि चागमे एवंविधसूत्रोपगत एवानुकार्थसिद्धे. । उक्त च "गोसमुहणतगादी, आलोइयदेसिए य अइयारे । सव्वे समाणइत्ता, हियए दोसे ठ वेयाहि " अत्र मुखवस्त्रिकामात्रोक्ते आदिशब्दे पापकरणादिपरिग्रहोऽवसीयते सुप्रसिद्धत्वात्प्रतिदिवसोपयोगाच्च । अथेद नोक्तमिति अनियतत्वात् । समानजातीयोपादानादिह तद्ग्रहणमस्त्येव समानजातीय च मुखवस्त्रिकाया. शेषोपकरणमिति चेत् तत्रापि तन्मानकायोत्सर्गलक्षणसमानजातीयत्वमस्त्येवेति मुच्यतामभिनिवेश. । न चेद साध्वादिलोकेनानाचरितमेव क्वचित्तदाचरणोपलब्धौ आगमविदाचरणश्रवणाच्च न चैवभूतमनाचरितमपि प्रमाण तल्लक्षणायोगादुक्त च " असढेण समाइण्ण, ज कत्थइ केणई असावज्ज। ण णिवारियमण्णेहिं, ज बहुमयमेयमायरिय " न चैतदसावद्य सूत्रार्थस्य प्रतिपादितत्वात् । तस्य चाधिकतरगुणान्तरभावात्तथाकरणविरोधात् । न चान्यैरनिवारित तदासेवनपरैरागमविद्भिर्निवारितत्वादत एव न बहुमतमपीति भावनीयम् अल प्रसङ्गेन । यथोदित तथैवेह कायोत्सर्ग इति इहोच्छ्वाससमानार्थम् । न पुनर्हेयनियम । यथा परिणामेनैतत स्थापने च गणास्तत्वानि यानि स्थानवर्णार्थालबनानि वा आत्मीयदोषप्रतिपक्षो वा एतद्विद्याजन्मबीज तत्पारमेश्वर मन इत्थमेवोपयोगसिद्धे शुद्धभावोपात्त कर्मावन्ध्य सुवर्णघटाद्युदाहरणात् । एतद्यतो विद्याजन्मकारणानुरूपत्वेन युक्त्यागमसिद्धम् एतल्लक्षणानुपाति च । यच्चोगृहकर्मिर्यद्र-न्मानुष्य प्राप्य सुन्दर । तत्प्राप्तावपि तस्येच्छा, न पुन तत्प्रवर्त्तते ॥१॥ विद्याजन्माशितस्तद्-द्विषयेषु महात्मनः। तत्त्वज्ञानसमेतस्य, न मनोऽपि प्रवर्त्तते ॥ २ ॥ विषग्रस्तस्य मन्त्रेभ्यो, निर्विषाङ्गोद्भवो यथा । विद्याजन्मन्यलमोह-विपत्याग्रस्तस्यैव हि ॥ ३ ॥ शैवे मार्गे स एवाऽसौ, याति नित्यमखेदित । ननु मोहविषग्रस्त, इतरस्मिन्निवेतरत ॥४॥ क्रियाज्ञानात्मके योगे, सातत्येन प्रवर्त्तनम् । वीतस्पृहस्य सर्वत्र, यानमप्राहु' शिवाध्वनि ॥५॥ इतिवचनात् अत्र-सितमानुषगिकम् । प्रकृत प्रस्तुमः स' हि कायोत्सर्गान्ते यथैक एव ततो नमो अरहताणति नमस्कारेणोत्सार्य स्तुतिमपठत्यन्यथा प्रतिज्ञाभङ्ग' । जाव अरहताण इत्यादिनास्यैव प्रतिज्ञातत्वात् नमस्कारत्वेनास्यैव रूढत्वादन्यैतदर्थाभिधानेऽपि दोषसभवात् तदन्यमन्त्रादौ तथा दर्शनादिति । अथ बहवस्तत एक एव स्तुतिं पठत्यन्ये तु कायोत्सर्गेणैव तिष्ठन्ति यावत् स्तुतिपरिसमाप्तिः अत्र चैव वृद्धा वदन्ति, यत्र किलायतने देववन्दनञ्चिकीर्षित तत्र यस्य भगवत सन्निहित स्थापनारूप तत्पुरस्कृत्य प्रथम कायोत्सर्गस्तुतिश्च तथा शोभनभावजनकैवमतस्यैवोपकारित्वात्तत. सर्वेऽपि नमस्कारोच्चारणेन पारयन्तीति व्याख्यातो वन्दनाकायोत्सर्ग' । ल० ॥

तत्रेच्छामि स्थातु कायोत्सर्गमित्याद्यसूत्रावयवमधिकृत्याह परः कायोत्सर्गस्थानं च कार्यप्रयोजनरहितत्वात्तथाविधपर्यटनवदित्यत्रोच्यते प्रयोजनरहितत्वमसिद्धम् ॥ यत.-

काउस्सग्गम्मि ठिओ, निरेयकाओ निरुद्धवयपसरो ।
जाणइ सुहमेगमणो, मुणि देवसि . ॥ ८७ ॥

परिजाणिऊण य जओ, सम्मं गुरुजणपगासणेणं तु ।
सोहइ अप्पगं सो, जम्हा य जिणेहिं सो जणिओ ।८८।

(काउस्सग्गं गाहा) इह च सबन्धगाथाद्वयमन्यकर्तृक तथापि सोपयोगमिति कृत्वा व्याख्यायते कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे स्थित. सन्निरेजकायो निष्प्रकम्पदेह इति भावना निरुद्धवाक्प्रसरो मौनव्यवस्थित. सन् जानीते सुखमेकमना एकाग्रचित्त. सन्कोऽसौ मुनिः साधु' किं दैवसिकाद्यतिचारम् । आदिशब्दाद्रा क्रियाग्रह इति गाथार्थ. ॥ ८७ ॥ ततः किमित्याह (परिजाणिऊणत्ति) परिज्ञाय अतिचार यस्मात्कारणात सम्यगशठभावेन गुरुजनप्रकाशनेनेति हृदयम तुशब्दादिष्टप्रायश्चित्तकारणेन च शोधयत्यात्मानमसौ अतिचारमलिन क्षालयतीत्यर्थ । तच्चातिचारपरिज्ञानमविकलकायात्सर्गव्यवस्थितस्य भवत्यतः कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति । किं च यस्माज्जिनैर्भगवद्भिरय कायोत्सर्गो भणितः उक्तः तस्मात् कायोत्सर्गस्थान कार्यमिति गाथार्थ' ॥ ८८ ॥

यतश्चैवमतः ।

काउस्सग्गं मोक्खप-हदेसिओ जाणिऊण तो धीरा ।
दिवसाइआरजाण-ट्टमिड ठायंति उस्सग्गं ॥ ८९ ॥

मोक्षस्य पन्थास्तीर्थकरैरेव भण्यते तत्प्रदर्शकत्वात्करणे कार्योपचारात्तेन मोक्षपथेन देशित उपदिष्टः मोक्षपथदेशितस्त (जाणिऊणति) दिवसाद्यतिचारपरिज्ञानोपायतः विज्ञाय ततो धीराः साधवः दिवसातिचारज्ञानार्थमित्युपलक्षण राज्यतिचारज्ञानार्थमपि (ठायति उस्सग्ग) तिष्ठन्ति कायोत्सर्गं कुर्वन्ति कायोत्सर्गमित्यर्थः । यतश्च कायोत्सर्गस्थान कार्यमेव सप्रयोजनत्वात्तथाविधवैयावृत्यवदिति गाथार्थ ।

साम्प्रत यदुक्त दिवसातिचारज्ञानार्थमिति तत्रौघतो विषयद्वारेण तमतिचारमुपदर्शयन्नाह ।

सयणासणन्नपाणे, चेइअजइसिज्जकाइउच्चारे ।
समिईभावणगुत्ती, वितहायरणे अईआरो ॥ ९० ॥

शयनीयवितथाचरणे सत्यतिचारः । एतदुक्तं भवति सस्तारकादेरविधिना ग्रहणादौ अतिचार इति [आसणत्ति) आसनवितथाचरणे सत्यतिचारः पीठकादेरविधिना ग्रहणादावतिचार इति भावना [अन्नपाणेत्ति] अन्नपानवितथाचरणे सत्यतिचार. अन्नपानस्याविधिनाऽग्रहणादावतिचार इत्यर्थः [चेतियत्ति] चैत्यवितथाचरणे सत्यतिचार. । चैत्यविषये च वितथाचरणमविधिना वन्दने अकरणे चेत्यादि [जइत्ति] यतिवितथाचरणे सत्यतिचारः यतिविषयं च वितथाचरण यथार्हं विनयाद्यकरणमिति (सेज्जत्ति) शय्यावितथाचरणे सत्यतिचारः शय्या वसतिरुच्यते तद्विषय वितथाचरणमविधिना प्रमार्जनादौ स्त्र्यादिससक्तायां वा वसतौ । इत्यादि कायिकावितथाचरणे सत्यतिचारः वितथाचरणं वाऽस्थण्डिले कायिकान्युत्सृजत. । स्थण्डिले वाऽप्रत्युपेक्षिते वेत्याह (उच्चारेत्ति) उच्चारः वितथाचरणे सत्यतिचारः उच्चार. पुरीषो भण्यते वितथाचरण चैतद्विषयं यथा कायिक (समितित्ति) समितिर्वितथाचरणे सत्यतिचारः समितयः श्चेय समितिप्रमुखा पञ्च यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरण वा समविधिनासेवनमनासेवन चेत्यादि (भावणेत्ति) भावना वितथाचरणे सत्यतिचारः भावनाश्चानित्यत्वादिगोचरा द्वादश तथा चोक्त भावयितव्यमनित्यत्वमसरणत्वं तथैकतान्यत्वे अशुचित्व संसारः कर्माश्रवः संवरविधिश्च निर्ज्जराणां लोकविस्तारो धर्मः स्वाख्याततत्त्वचिन्ता च बोधे सुदुर्लभत्व च भावना द्वादश विशुद्धाः अथ वा पञ्चविंशतिर्भावना यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरण वाऽऽसामविधिनासेवनमित्यादि (गुत्तित्ति) गुप्तिर्वितथाचरणे सत्यतिचारः ताश्चेमा नोगुप्तिप्रमुखास्तिस्रो गुप्तयः यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरणमपि गुप्तिविषयं यथा समितिष्विति गाथार्थ. ॥ ९० ॥

इत्थ सामान्येन विषयद्वारेणातिचारमभिधायाधुना कायोत्सर्गगतस्य मुनेः क्रियामभिधित्सुराह ।

गोसमुहणंतगाई, आलोए देसिए अईआरे ।
सव्वे समापइत्ता, हिअए दोसे ठविज्जाहि ॥९१॥

गोसः प्रत्यूषो भण्यते (मुहणंतगाईत्ति) मुखवस्त्रिका आदिशब्दाच्छेषोपकरणादिग्रहस्ततश्चैतदुक्त भवति गोसादारभ्य मुखवस्त्रिकादौ विषये (आलोए देसिए अईआरेत्ति) अवलोकयेन्निरीक्षेत दैवसिकानतिचारानविधिना प्रत्युपेक्षितादीनिति ततः (सव्वे) सर्वानतिचारान्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादारभ्य यावत्कायोत्सर्गमवस्थान्तरम (समापइत्ता) समाप्य बुद्ध्यवलोकनेन समाप्तिं नीत्वा एतावानेव नातः परमतिचारोस्तीति हृदये चेतसि दोषान्प्रतिषेधकरणादिलक्षणानालोच्य स्थापयेदिति गाथार्थः ॥

काउ हिअए दोसे, जहक्कमं जाव ताव पारेइ ।
ताव सुहुमाणुपाणू, धम्म सुक्कं च झाइज्जा ॥९२॥

[काउं हिअयेत्ति] कृत्वा हृदये दोषान्यथाक्रममिति प्रतिषेधनानुलोम्येन आलोचनानुलोम्येन च प्रतिषेधनानुलोम्य नाम ये यथा सेविता इति आलोचनानुलोम्य तु पूर्व यद्यत् आलोचित तत्तत्पश्चाद्गुरुरिति (जाव ताव पारेइत्ति) यावत्तावत्पारयति गुरुर्नमस्कारेण (ताव सुहुमाणुत्ति) तावदितिकालावधारणार्थे सूक्ष्मप्राणापानः सूक्ष्मोच्छ्वासनि.श्वास इत्यर्थ. (धम्म. सुक्क च झाइज्जा) धर्म. ध्यानप्रतिक्रमणाध्ययनोक्तस्वरूप. शुक्लं च ध्यायेदिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

देसिअराइअपक्खे, चाउम्मासे तहेव वरिसे अ ।
इक्किके तिन्नि गमा, नायव्वा पंचसेएसु ॥ ९३ ॥

दैवसिके प्रतिक्रमणे दिवसेन निर्वृत्त दैवसिक (राइयत्ति) रात्रिके (पक्खियत्ति) पाक्षिके चातुर्मासिके (तहेव वरिसे- अत्ति) तथैव वार्षिके च वर्षेण निर्वृत्त वार्षिकं सांवत्सरिकमिति भावना एकैकस्मिन्प्रतिक्रमणे दैवसिकादौ त्रयो गमाः ज्ञातव्या. पञ्चस्वेतेषु दैवसिकादिषु कथ त्रयो गमा. सामायिक कृत्वा कायोत्सर्गाकरण सामायिकमेवंकृत्वा प्रतिक्रमण सामायिकमेव कृत्वा पुनः कायोत्सर्गाकरणमिह यस्माद्दिवसादितीर्थे दिवस प्रधान च तस्माद्दैवसिकमादाविति गाथार्थः ९३ ॥ अत्राह चोदकः-

आइमकाउस्सग्गो, पमिक्कमं ताउ काकाउ ।
सामइअंतो किं करे-ह बीअं तइअं च पुणो विउस्सग्गो॥

व्या०-(आइमकाउस्सग्गेत्ति) प्रथमकायोत्सर्गं कृत्वा सामायिकमिति योग. ॥

पमिक्कमं ताव बीयं, काउं सामाइयं तिओगोतो ।
किं करेह तइयं सा-मइयं पुणो वि उस्सग्गो य ॥९५॥

चालना चेयमत्रोच्यते-

समभावम्मि ठिअप्पा, उस्सग्ग करिअ तो पडिकमई ।
एमेव य समभावे, ठिअस्स तइअ तु उस्सग्गे ॥१६५॥

इह समभावव्यवस्थितस्य भावप्रतिक्रमण भवति,नान्यथा,ततश्च समभावे रागद्वेषमध्यवर्त्तिनि स्थित आत्मा यस्यासौ स्थितात्मा,(उस्सग्ग करिय तो पडिकमइ)दिवसाचारपरिज्ञानाय कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोरतिचारजात निवेद्य तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तसमभावपूर्वकमेव तत प्रतिक्रामतीति। एवमेव च (समभावे ठिअस्स तइयं तु उस्सग्गे) एवमेव समभावे स्थितस्य सतश्चारित्रशुद्धिरपि भवतीति कृत्वा तृतीय सामायिक कायोत्सर्गे प्रतिक्रान्तोत्तरकालभाविनि क्रियत इति गाथार्थ ॥ १६५ ॥

प्रत्यवस्थानमिदमथवा-

सज्झायझाणतवओ-सहेसु उवएसथुइपयाणेसु ।
संतगुणकित्तणेसु अ, न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥१९६॥
मित्तिमिउमद्दवत्त, छत्तिअदोसाण छायणे होइ ।
मित्तिअमेराइ ठिओ, दुत्तिदुगंछा मि अप्पाणं ॥१९७॥
कत्ति कमं मे पावं, मत्तिअमेवेमि तं च उवसमेणं ।
एसो मिच्छाओक्कम-पयक्खरत्थो समासेणं ॥१९८॥

सज्झायगाहा निगदसिद्धा (१९६)इदानीं "जो मे देवसिओ अइआरो कओ" इत्यादिसूत्रमध्ये व्याख्यातत्वादनादृत्य "तस्स मिच्छामि दुक्कम ति" सूत्रावयव व्याचिख्यासुराह-मित्तिमिउ गाहा (१९७) कत्तिकड मे गाहा इतिगाथायुगलक यथा सामायिकाध्ययने व्याख्यात तथैव द्रष्टव्यमिति ॥१९८॥

साम्प्रत तस्योत्तरकरणमिति सूत्रावयव विवृण्वन्नाह-

खंमिअविराहिआणं, मूलगुणाण सउत्तरगुणाणं ।
उत्तरकरणं कीरइ, जह सगमरहगगेहाणं ॥१९९॥

खण्डितविराधितानां-खण्डिता सर्वथा भग्ना , विराधिता देशतो भग्ना , मूलगुणानां प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणां, सह उत्तरगुणैः पिण्डविशुद्ध्यादिभिर्वर्त्तन्त इति सोत्तरगुणाः, तेषामुत्तरकरण क्रियते, आलोचनादिना पुन संस्करणमित्यर्थः । दृष्टान्तमाह-यथा शकटरथाङ्गगेहानां वहित्रचक्रगृहाणामित्यर्थः। तथा च शकटादीनां खण्डितविराधितानामक्षचेलिकादिनोत्तरकरण क्रियत इति गाथार्थः ॥ १९९ ॥

अधुना प्रायश्चित्तकरणेनेति सूत्रावयव व्याचिख्यासुराह-

पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं ति भन्नई तेणं ।
पाएण वा वि चित्त, विसोहई तेण पच्छित्तं ॥ २०० ॥

पाप कर्मोच्यते, तत्पाप छिनत्ति यस्मात्कारणात् प्राकृतशैल्या " पायच्छित्त ति " भण्यते तेन कारणेन। संस्कृते तु पाप छिनत्तीति पापच्छिदुच्यते ।प्रायशो वा चित्त जीव शोधयति कर्ममलिन विमलीकरोति तेन कारणेन प्रायश्चित्तमित्युच्यते । प्रायो बाहुल्येन चित्त स्वेन रूपेण अस्मिन्सति भवतीति प्रायश्चित्तम्। प्रायोग्रहण सवराटेरपि तथाविधचित्तसद्भावादिति गाथार्थ ॥

अधुना "विसोहीकरणेन"इत्यादिसूत्रावयव व्याचिख्यासयाऽऽह-

दव्वे भावे अ दुहा, सोही सल्ल च इक्कमिक्कं तु।
सव्वं पावं कम्म, भामिज्जइ जेण संसारे ॥ २०१ ॥

द्रव्यतो भावतश्च द्विविधा शुद्धि ,शल्य च (इक्कमिक्क तु) एकैकम ।शुद्धिरपि।द्रव्यभावभेदेन द्विधा।शल्यमपीत्यर्थ । तत्र द्रव्यशुद्धिर्जलादिना वस्त्रादे ,भावशुद्धि. प्रायश्चित्तादिना आत्मन । एव द्रव्यशल्य कण्टकशिलीमुखफलादि;भावशल्य तु मायादिशल्यम्। सर्वं ज्ञानावरणीयादि कर्म पाप वर्त्तते। किमिति ?-भ्राम्यते येन कारणेन तेन कर्मणा जीव ससारे तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभवलक्षणे, तथा च दग्धरज्जुकल्पेन भवोपग्राहिणा अल्पेनापि सता केवलिनोऽपि न मुक्तिमासादयन्तीति दारुण ससारभ्रमणनिमित्त कर्मेति गाथार्थ ॥२०१॥

साम्प्रतमन्यत्रोच्छ्वसितेनेत्यवयव विवृणोति-

उस्सासं न निरुंभइ, आभिग्गहिओ वि किमुअ चेट्ठाओ।
सज्जमरण निरोहे, सुहुमुस्सासं तु जयणाए ॥ २०२ ॥

ऊर्द्ध्व प्रबलो वा श्वास उच्छ्वास', त (न निरुभइ त्ति) न निरुणद्धि, (आभिग्गहिओ वि) अभिगृह्यत इत्यभिग्रह ,अभिग्रहेण निर्वृत्त' आभिग्रहिक कायोत्सर्ग , तद्व्यतिरेकात् ततोऽप्यानिग्रहिको भण्यते । असावप्यभिनवकायोत्सर्गकार्यपीत्यर्थ' । (किमुअ चेट्ठाओ त्ति) किंपुनश्चेष्टाकायोत्सर्गकारी । स तु सुतरां न निरुणद्धीत्यर्थ ।किमित्यत आह-(सज्जमरण निरोहे त्ति) सद्यो मरण निरोधे उच्छ्वासस्य, ततश्च (सुहुमुस्सास तु जयणाए त्ति) सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुञ्चति, नोल्वण, मा भूत्सत्त्वघात इति गाथार्थ. ॥ २०२ ॥

अधुना कासितेनेत्यादिसूत्रावयवार्थ प्रचिकटयिषयेदमाह-

कासखुअजंभिए मा, हु सत्थमनिलोऽनिलस्स तिव्वुण्हो ।
असमाही अ निरोहे, मा मसगाई अ तो हत्थे ॥२०३॥

इह कायोत्सर्गे काशक्षुतजृम्भितानि नाऽयतनया क्रियन्ते । किमिति-(मा हु सत्थमनिलोऽनिलस्स तिव्वुण्हो त्ति) मा शस्त्र भविष्यति काशितादिसमुत्थोऽनिलो वायुरनिलस्य बाह्यस्य वायो' । किंभूत -तीव्रोष्ण ,बाह्यानिलापेक्षया अत्युष्ण इत्यर्थः। न च न क्रियन्ते, निरुध्यन्त एव (असमाही य निरोहे त्ति) असमाधिश्च, चशब्दान्मरणमपि सभाव्यते, कासितादिनिरोधे सति। तथा-मा मशकादयश्च कासितादिसमुद्भवपवनश्लेष्मादिनिहता मरिष्यन्ति, जृम्भिते वा वदनप्रवेश करिष्यन्ति, ततो हस्तः अग्रतो दीयते इति, यतनेयमिति गाथार्थ. ॥ २०३ ॥

आह-निश्वसितेनेति सूत्रावयवो न व्याख्यात इति किमत्र कारणम् ? । उच्यते-उच्छ्वसितेन तुल्ययोगक्षेमत्वादिति ।

इदानीमुद्गारितेनेत्यादिसूत्रावयव व्याचिख्यासुराह-

वायनिसग्गुग्गारे, जयणा सद्दस्स नेव य निरोहे ।
उग्गारे वा हत्थे, भमलीमुच्छासु अ निवेसे ॥ २०४ ॥

वातनिसर्ग उक्तस्वरूप , उद्गारोऽपि। तत्राय विधि यतना शब्दस्य क्रियते न निसृष्ट मुच्यत इति । (णेव य निरोहे त्ति) नैव च निरोध क्रियते, असमाधिभावादेव । उद्गारे ऽन्तर दीयत इति । (भमलीमुच्छासु अ निवेसे त्ति) भ्रमल्यादिषु उपवेशो मा सहसा पतितस्यात्मविराधना इति गाथार्थ ॥ २०४ ॥

साम्प्रत सूक्ष्मैरङ्गसंचारैरित्यादिसूत्रावयवव्याचि-
ख्यासयाऽऽह-

वीरिअसजोगयाए, संचारा सुहुमबायरे देहे ।
बाहिं रोमंचाई, अंतो खेलानिलाईआ ॥ २०५ ॥

वीर्यसयोगतया कारणेन सचारा सूक्ष्मबादरदेहे अवश्य भाविनः, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमक्षयजः खल्वात्मपरिणामो भण्यते। योगास्तु मनोवाक्काया, तत्र वीर्यसयोगतयैव अतिचाराः सूक्ष्मबादरा भवन्ति,न केवल वीर्यादिति। देह एव च सति भवन्ति नादेहस्य,तत्र (बाहिं रोमंचाई) बहिः रोमाञ्चादयः, आदिशब्दादुत्कम्पग्रहः। (अंतो खेलानिलादीआ) अन्तर्मध्ये सूक्ष्माः श्लेष्माऽनिलादयो विचरन्तीति गाथार्थः ॥ २०५ ॥

अधुना सूक्ष्मैर्दृष्टिसंचारैरिति सूत्रावयव व्याख्यानयति-

आलोअचलं चक्खू, मणुव्व तं दुक्करं थिरं काउं ।
रूवेहिं तयं खिप्पइ, सभावओ वा सयं चलइ ॥२०६॥

आलोकनमवलोकः, ततस्तस्मिन्नवलोके चलं चञ्चलं, दर्शनलालसमित्यर्थः। किं चक्षुर्नयन, यतश्चैवमतो मनोवत् अन्तःकरणमिव,तच्चक्षुर्दुष्करं स्थिर कर्तुं, न शक्यते इत्यर्थः। यतो रूपैस्तदाक्षिप्यते, स्वभावतो वा स्वभावेन वा नैसर्गिकेन, स्वयं चलत्यात्मनैव चलतीति गाथाऽर्थः ॥ २०६ ॥

यस्मादेव तस्मात्—

न कुणइ निमेसजत्तं, तत्थुवओगेण माण झाइज्जा ।
एगनिसिं तु पवन्नो, झाइ सहू अणिमिसच्छो वि ॥२०७॥

न करोति निमेषयत्न कायोत्सर्गकारी। किमिति (तत्थुवओगेण माण झाएज्जा) तत्र निमेषयत्ने य उपयोगस्तेन सता मानध्यानं ध्यायेत अभिप्रेतमिति (एगनिसिं तु पवन्नो झाइ सहू अणिमिसत्थो वि) एकरात्रिकीं तु प्रतिमां प्रतिपन्नो महासत्त्वः ध्यायति समर्थ, अनिमिषाक्षोऽपि अनिमिषे अक्षिणी यस्य सः अनिमिषाक्षः, निश्चलनयन इति गाथाऽर्थः ॥२०७॥

अधुना एवमादिभिराकारैरित्यादि सूत्रावयव
व्याचिख्यासुराह-

अगणी १ उच्छिंदेज्ज व,२ बोहिअखोभाइ ३ दीहडके वा ४।
आगारेहि अभग्गो, उस्सग्गे एवमाईहिं ॥ २०८ ॥

यदा ज्योति स्पृशति तदा प्रावरणाय कल्पग्रहण कुर्वतोऽपि न कायोत्सर्गभङ्गः। आह-नमस्कारमेवाभिधाय किमिति तद्ग्रहण न करोति येन तद्भङ्गो न भवति। उच्यते-नात्र नमस्कारेण पारणमेवाविशिष्ट कायोत्सर्गमान क्रियते, किंतु यो यत्परिमाणो यत्र कायोत्सर्ग उक्तस्तत ऊर्द्धमिति समासेऽपि तस्मिन्नमस्कारमपठतो भङ्ग इत्यर्थः। अपरिसमाप्तेऽपि च पठतो भङ्ग एव। स चात्र न भवतीत्येव सर्वत्र भावनीयम। (उच्छिंदेज्ज व त्ति) मार्जारी मूषिकादिर्वा पुरतो यायात्तत्राप्यग्रतः सरतो न कायोत्सर्गभङ्ग। (बोहियखोभाइ त्ति) बोधिकाः स्तेनकास्तेभ्यः क्षोभ सम्भ्रमः, आदिशब्दाद्राजादिक्षोभः परिगृह्यते। तत्रास्थानेऽप्युच्चारयतो वा न कायोत्सर्गभङ्गः। (दीहडक्के व त्ति) सर्पदष्टे वाऽऽत्मनि परे वा साधौ सहसाऽऽकारण एवोच्चारयत. तथैव। आक्रियन्त इत्याकाराः, तैराकारै., अभग्नः स्यात्कायोत्सर्गः, एवमादिभिरिति गाथार्थ. ॥ २०८ ॥

अधुनौघतः कायोत्सर्गविधि प्रतिपादयन्नाह-

ते पुण समूरिउ चिअ, पासवणुच्चारकालभूमीओ ।
पेहित्ता अत्थमिए, तं तुस्सग्गं सए ठाणे ॥ २०९ ॥

ते पुनः कायोत्सर्गकर्त्तार. साधव ससूर्य एव दिवसे प्रस्रवणोच्चारणकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य,द्वादश प्रस्रवणभूमयः आलयपरिभोगाभ्यन्तः षट्,षट् बहि"। एवमुच्चारभूमयोऽपि द्वादश। प्रमाणं चाऽऽसां तिर्यग् जघन्येन हस्तमात्रम,अधश्चत्वार्यङ्गुलान्यचेतनम, उत्कृष्टतस्तु स्थण्डिलं द्वादशयोजनमानम्। नचतेनाधिकार। तिस्रस्तु कालभूमय कालमण्डलाख्या ,यावच्चैनमन्य च श्रमणयोग कुर्वन्ति कालवेलायां तावत्प्रायशोऽस्तमुपयात्येव सविता;ततश्च (अत्थमिए त तुस्सग्ग सए ठाणे त्ति) उक्तम। अन्यथा यस्य यदैव व्यापारपरिसमाप्तिर्भवति स तदैव सामायिक कृत्वा तिष्ठतीति गाथार्थः ॥२०९॥

अय च विधिः केनचित्कारणान्तरे गुरोर्व्याघाते सति-

जइ पुण निव्वाघाओ, आवस्सं ता करंति सव्वे वि।
सड्ढाइकहणवाघा-ययाइ पच्छा गुरू ठंति ॥ २१० ॥

यदि पुनर्निर्व्याघात एव सर्वेषामावश्यक प्रतिक्रमण, ततः कुर्वन्ति सर्वेऽपि सहैव गुरुणा (सड्ढाइकहणवाघाययाइ पच्छा गुरू ठंति) इति निगदसिद्धमिति गाथार्थः ॥२१०॥

यदा च पश्चाद् गुरवस्तिष्ठन्ति तदा-

सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ता ण ठंति सट्ठाणे ।
सुत्तत्थसरणहेऊ, आयरिए ठिअम्मि देवसिअं ॥२११॥

शेषास्तु साधव ,यथाशक्ति शक्त्यनुरूप, यो हि यावन्त कालं स्थातु समर्थ. " आपुच्छित्ता तु गुरु ठंति सट्ठाणे सामायिक काऊण। किं निमित्तम्? (सुत्तत्थसरणहेउ) सूत्रार्थस्मरणहेतुम। (आयरिए ठियम्मि देवसिय त्ति)'आयरिए पुरओ ठिए तस्स सामाइयावसाणे देवसिय अइयार चिंतंति'। अन्ने भणंति-"जाहे आयरिओ सामाइयं कड्ढइ,ताहे ते वि तट्ठिया चेव सामाइयसुत्तमणुपेहंति, गुरुणा सह पच्छा देवसियं ति" गाथार्थः ॥२११॥

शेषास्तु यथाशक्तीत्युक्तम,यस्य कायोत्सर्गेण स्थातु शक्तिरेव नास्ति स किं कुर्यादिति तद्गतं विधिमभिधित्सुराह-

जो हुज्जउ असमत्थो, बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो।
सो विगहाइविरहिओ, झाइज्जा जा गुरू ठंति ॥२१२॥

यः कश्चित्साधुर्भवेदसमर्थः कायोत्सर्गेण स्थातुम्। स किंभूत इत्याह-बालो वृद्ध ग्लानः परितान्तोऽतिपरिश्रान्तो गुरुवैयावृत्त्यकरणादिना। असावपि विकथादिरहितः सन् ध्यायेत्सूत्रार्थम। (जा गुरू ठंति) यावत् गुरवस्तिष्ठन्ति कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥२१२॥

आचार्ये स्थिते देवसिकमित्युक्तं तद्गत विधिमभिधित्सुराह-

जा देवसियं दुगुणं, चिंतेइ गुरू अहिंडिओ चेट्ठं।
बहुवावारा इअरे, एगगुणं ता वि चिंतंति ॥ २१३ ॥

निगदसिद्धा। नवर चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥२१३॥

पव्वइआए व चेट्ठं, नाऊण गुरुं बहुं चहुविहीअं ।
कालेण तदुचिएण, पारेइ य थोवचेट्ठो वि ॥२१४॥
नमोकार चउवीसग-किइकम्मालोअणं पडिक्कमण ।

किइकम्मदुरालोइअ-दुप्पमिकंते अ उस्सग्गे ॥७१॥

(नमोक्कारे त्ति) "काउस्सग्गसमत्तीए नमोक्कारेण पारेति,नमो अरिहंताणं ति। (चउवीसग त्ति) पुणो जेहिं इम तित्थ देसिय तेसिं तित्थगराणं उसभाईण चउवीसत्थएण उक्कित्तण करेंति, 'लोगस्सुज्जोयगरे' त्ति भणिय होइ।(किइकम्मं ति) ततो वंदिउकामा गुरु सडासय पडिलेहित्ता उवविसंति । ततो मुहणतगं पमिलेहिय स सीसोवरि य कायं पमज्जंति,पमज्जित्ता परेण विणएण तिकरणपरिसुद्धं किइकम्म करेंति, वंदणगमित्यर्थः । उक्त च-"आलोयणवागरण-स्स पुच्छणे पूयणाइसज्झाए। अवराहे य गुरूण,विणओ मूल च वंदणग" ॥ इत्यादि। (आलोयण ति) एव च वंदित्ता उत्थायोभयकरगहियरओहरणअद्धावणयकाया पुव्व परिचिंतिए दोसे जहाराइणियाए सजयभासाए जहा गुरू सुणेइ, तहा पवड्ढमाणसंवेगा मायामयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोयंति" । उक्त च-

" विणएण विणयमूल, गतूणायरियपायमूलम्मि ।
जाणाविज्ज सुविहिओ, जह अप्पाण तह पर पि ॥ १ ॥
कयपावो वि मणूसो, आलोइयनिंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरिअभरु व्व भारवहो" ॥ २ ॥

तथा—

उप्पन्नाऽणुप्पन्नो, मायाअणुमग्गओ निहंतव्वा ।
आलोयणनिंदणगरि-हणाहिं ण पुणो त्ति या बितिय ॥ ३ ॥
तस्स य पायच्छित्तं, जम्मग्गविऊ गुरू उवइसति ।
तं तह अणुचरियव्व, अणवत्थपसंगभीएणं" ॥ ४ ॥

(पडिक्कमण ति) "आलोइऊण दोसे, गुरुणा पडिवन्नपायच्छित्ता तो । सामाइयपुव्वग, समभावे ठाऊण य पमिक्कम ति" ॥५॥ सम्ममुवउत्ता पयपएण पमिक्कमण कड्ढंति अणवत्थपसंगभीया। अणवत्थाए पुण उदाहरण-तिलहारगफप्फडगो त्ति। (किइकम्म ति) " तओ पडिक्कमित्ता खामणानिमित्त पमिक्कमणनिवेयणत्थ वदति। तओ आयरियमाई पमिक्कमणत्थमेव दसेमाणा खामेंति " ।

उक्त च-

" आयरियउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे या ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
सव्वस्स समणसघ-स्स भगवओ अजलिं करिय सीसे।
सव्व खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहय पि ॥ २ ॥
सव्वस्स जीवरासि-स्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहय पि" ॥३॥ इत्यादि।

'दुरालोइए दुप्पडिकते य काउस्सग्गो' त्ति एव खामेत्ता आयरियमाइ,तओ 'दुरालोइअ वा होज्जा दुप्पडिकत वा होज्जा अणाभोगादिणा कारणेण । ततो पुणो वि कयसामाइया चरित्तविसोहणत्थमेव काउस्सग्ग करेति त्ति " गाथार्थः ॥ आव० ५ अ०।

एवंविहपरिणामा, भावेणं तत्थ नवरमायरियं ।
खामंति सव्वसाहू, जइ जिट्ठो अन्नहा जेट्ठं ॥ ७२ ॥

एवविधपरिणामा सन्तो भावेन परमार्थेन, तत्र नवरमाचार्यं प्रथम क्षमयन्ति सर्वे साधवः, यदि ज्येष्ठोऽसौ पर्यायेण,अन्यथा ज्येष्ठेऽमति ज्येष्ठमसावपि क्षमयति, विज्ञागोत्पन्ने शिष्यकादिश्रद्धाभङ्गनिवारणार्थ कदाचिदाचार्यमेवेति गाथार्थः ।

आयरिय-उवज्झाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं ।
उप्पमिवाडीकरणे, दोसा सम्मं तहाऽकरणे ॥ ७३ ॥

आचार्योपाध्याययोः कृत्वा,क्षमणमिति गम्यते। शेषाणां साधूनां यथारत्नाधिकतया कर्त्तव्यम्। उत्परिपाटीकरणे, विपर्ययकरणे इत्यर्थः । दोषा आज्ञादयः। सम्यक् तथा अकरणे, विकलकरणे च दोषा इति गाथार्थः।

जा दुचरिमो त्ति ता हो-ई खमणं तीरिए पमिक्कमणे ।
आइज्जं पुण तिण्हं, गुरुस्स दोण्हं च देवसिए ॥७४॥

यावत् द्विचरम इति,द्वितीयश्च स चरमश्च क्षमणापेक्षया तावद्भवति क्षमणः तीरिते प्रतिक्रमणे, पर्यन्ते प्रतिक्रमणे इत्यर्थः । आचरितं पुनस्त्रयाणां गुरोर्द्वयोश्च शेषयोर्दैवसिक इति गाथार्थः॥

आचरितकल्पप्रवृत्तिमाह—

घिइसंघयणाईणं, मह्र हाणिं च जाणिउं थेरा ।
सेहअगीअत्थाणं, ठवणा आइण्णकप्पस्स ॥ ७५ ॥

धृतिसंहननादीनां हानिं च ज्ञात्वा स्थविरा गीतार्थाः, शिष्यकागीतार्थयोर्विपरिणामनिवृत्त्यर्थं स्थापनं कुर्वन्तीति । स्थापना आचरितस्य कल्पस्येति गाथार्थः ॥

अथवा—

असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केणइ असावज्जं ।
न निवारिअमण्णेहिं, अ बहुमणुमयमेअमाइण्णं ॥ ७६ ॥

अशठेन समाचरित यत्किंचिद् कुत्रापि द्रव्यादौ केनचित्प्रमाणस्थेन असावद्यं न निवारितमन्यैश्च गीतार्थैश्चाशत्वादेवेत्थ बहुनुमतमेतदाचरितमिति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं विशेषेणाह-

विअडणपच्चक्खाणे, सुए अ रयणाहिआ वि उ करिंति ।
मज्झिल्लो ण करेंती, सो चेव य तेसिं पकरेई ॥७७॥

विकटनप्रत्याख्यानयोरित्यत्र विकटनमालोचनम्,प्रत्याख्यान प्रतीतम्। श्रुते चोद्दिश्यमानादौ रत्नाधिका अपि तु ज्येष्ठार्या अपि कुर्वन्ति, वन्दनमिति प्रक्रमाद् गम्यते। मध्यम इति, क्षमण इत्यर्थः। न कुर्वन्ति, अपि तु स एवाचार्यस्तेषां रत्नाधिकानां करोति वन्दनमिति गाथार्थः ॥

खामिंतु तओ एवं, करेंति सव्वे वि नवरमणवज्जं ।
रेहिम्मि दुरालोइअ-दुप्पमिकंतस्स उस्सग्गं ॥७८॥

क्षमयित्वा ततस्तदनन्तरम्,एवमुक्तेन प्रकारेण, कुर्वन्ति सर्वेऽपि साधवः,नवरमनवद्य,सम्यगित्यर्थः। रेखायां दुरालोचितदुष्प्रतिक्रान्तयोः,एतन्निमित्तमिति भाव । कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥

अत्रापि कायोत्सर्गकरणे प्रयोजनमाह-

जीवो पमायबहुलो, तब्भावणभाविओ अ संसारे ।
तत्थ वि संजाविज्जइ, सुहमो सो तेण उस्सग्गो ॥७९॥

जीवः प्रमादबहुलः,तद्भावनाभावित एव प्रमादभावनाभावित-

स्तु, संसारे ततश्चैवम । यतोऽभ्यासपाटवात्तत्राप्यालोचनादौ संभाव्यते सूक्ष्मोऽसौ प्रमादः ततश्च दोष इति, तेन कारणेन तज्जयाय कायोत्सर्ग इति गाथार्थः ॥

चोएइ हंदि एवं, उस्सग्गम्मि वि स होइ अणवत्था ।
भष्मइ तज्जयकरणे, का अणवत्था जिए तम्मि ॥८०॥

चोदयति शिक्षकः-हन्दि यद्येव कायोत्सर्गेऽपि स सूक्ष्मः प्रमादो भवति ततश्च तत्रापि दोषः । तद्यथा-अपरकरणं तत्राप्येष एव वृत्तान्त इत्यनवस्था । एतदाशङ्क्याह-भण्यते,प्रतिवचनम्-तज्जयकरणे अधिकृतसूक्ष्मप्रमादजयकरणे प्रस्तुते, काऽनवस्था?, जिते तस्मिन् सूक्ष्मप्रमादे इति गाथार्थः ॥

तत्थ वि अ जो तओ वि हु, जीअइ तेणेव य सयाकरणं ।
सव्वो वि साहुजोगो, तं खलु तप्पच्चणीओ त्ति ॥८१॥

तत्रापि च इतरकायोत्सर्गे,य पूर्वोक्तयुक्त्या पतितः सूक्ष्मः प्रमादः,नकोऽप्यसावपि, जीयते तिरस्क्रियते, यदितरेण तदुत्तरकालभाविना कायोत्सर्गेण,तत्रापि य ,असावपीतरेण स्यादेतत्,एवं सदा कायोत्सर्गकरणापत्तिरित्याशङ्क्याह-स च सदाकरण, कायोत्सर्गस्येति गम्यते। कुत इत्याह-सर्वोऽपि साधुयोगस्तत्रोक्तः श्रमणव्यापारः यस्मात् । खलुशब्दो विशेषणार्थः, भावप्रधान इत्यर्थः। तत्प्रत्यनीक इति-सूक्ष्मप्रमादप्रत्यनीक । अत एव भगवन्तुक्तानुपूर्व्या विहितानुष्ठानवन्तो विनिर्जित्य प्रमादं वीतरागा भवन्ति । इत्थ जेयतया एव तस्य भगवद्भिर्ज्ञाततत्त्वा इति बहुवक्तव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥

सूत्रगाहा-

एस चरित्तुस्सग्गो, दंसणसुद्धीएँ तइओ होइ ।
सुअनाणस्स चउत्थो, सिद्धाणं थुई य किइकम्मं ॥८२॥

एष चारित्रकायोत्सर्गस्तदा दर्शनशुद्धिनिमित्त तृतीयो भवति । प्रारम्भकायोत्सर्गापेक्षया तस्य तृतीयत्वम । श्रुतज्ञानस्य चतुर्थ । एवमेव सिद्धाना स्तुतिश्च, तदनु कृतिकर्म- वन्दनमिति सूत्रगाथासमासार्थ ॥

अवयवार्थमाह-

सामाइअपुव्वगं, करिंति तं चरित्तसोहणनिमित्तं ।
पियधम्मऽवज्जभीरू, पन्नासुस्सासगपमाणं ॥८३॥

सामायिकपूर्वकं प्रतिक्रमणोत्तरकालभाविनं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति चारित्रशोधननिमित्तम । किंविशिष्टाः सन्त इत्याह-प्रियधर्मोऽवद्यभीरव. पञ्चाशदुच्छ्वासप्रमाणमिति गाथार्थः ॥

उस्सारिऊण विहिणा, सुद्धचरित्ता थयं पकड्ढित्ता ।
कड्ढंति तओ चेइअ-वंदणदंमं तउस्सग्गं ॥ ८४ ॥

उत्सार्य विधिना-'णमो अरहंताणमिति' अभिधानलक्षणेन,शुद्धचारित्राः सन्तः, स्तवं 'लोकस्योद्योतकररूपं,' प्रकृष्य, पठित्वेत्यर्थः । कर्षन्ति, पठन्तीत्यर्थः । ततस्तदनन्तरं चैत्यवन्दनं दण्डकं कर्षन्ति, तत कायोत्सर्गं कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥

किमर्थमित्याह-

दंसणसुद्धिनिमित्तं, करिंति पणवीसगप्पमाणेणं ।
उस्सारिऊण विहिणा, कड्ढंति सुअत्थयं ताहे ॥८५॥

दर्शनशुद्धिनिमित्त कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणेन उत्सार्य विधिना पूर्वोक्तेन, कर्षन्ति श्रुतस्तव तत. 'पुष्करवरेत्यादि' लक्षणमिति गाथार्थ ॥

सुअनाणस्सुस्सग्गं, करिंति पणवीसगं पमाणेणं ।
सुतइयारविसोहण-निमित्तमह पारिउं विहिणा ॥८६॥

श्रुतज्ञानस्य कायोत्सर्गं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासमेव प्रमाणेन सूत्रातिचारशोधननिमित्तम्, अथानन्तर पारयित्वा विधिना पूर्वोक्तेनेति गाथार्थः ॥

चरणं सारो दंसण-नाणा अंगं तु तस्स निच्छयओ ।
सारम्मि अ जइअव्वं, सुद्धी पच्छाऽणुपुव्वीए ॥८७॥

किमित्याह-

सुद्धसयलाइआरा, सिद्धाण थयं पढंति तो पच्छा ।
पुव्वभणिएण विहिणा, किइकम्मं दिंति गुरुणाओ ॥८८॥

शुद्धसकलातिचाराः सिद्धानां सम्बन्धिन स्तव पठन्ति 'सिद्धाणमित्यादि' लक्षणम्, तत पश्चात् पूर्वभणितेन विधिना, कृतिकर्म वन्दन ददति गुरोरप्याचार्यायैवेति गाथार्थ. ॥८८॥ प० व० ३ द्वार ॥

एस चरित्तुस्सग्गो, दंसणसुद्धीएँ तइओ होइ ।
सुअनाणस्स चउत्थो, सिद्धाए थुई अ किइकम्मं ॥२२४॥

(एस चरित्तुस्सग्गो त्ति) चरित्तातियारविसुद्धिनिमित्तो त्ति भणिय होइ। अयं च पन्नासुस्सासपरिमाणो, ततो णमोक्कारेण पारेत्ता विसुद्धचरित्ता विसुद्धचरित्त देमि सया ण दमणविसुद्धिनिमित्त एस नामुक्कित्तण करेंति चारित्तविसोहिय। इयाणि दसणविसोहिजइ त्ति कट्टु त पुण नामकित्तणमेव करेंति- 'लोगस्सुज्जोयगरेत्यादि,' अय चतुर्विंशतिस्तवश्चतुर्विंशतिस्तवे न्यक्षेण व्याख्यात इति नेह पुनर्व्याख्यायते ॥२२५॥

चतुर्विंशतिस्तव चाभिधाय दर्शनविशुद्धिनिमित्तमेव कायोत्सर्ग चिकीर्षन्तः पुनरिद सूत्र पठन्ति-

सूत्रम्

सव्वलोए अरिहंतचेइआणं वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए बोहिलाभवत्तियाए निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं ॥

अस्य व्याख्या-सर्वलोकेऽर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गमिति । तत्र लोक्यते दृश्यते केवलज्ञानभास्वतेति लोक , चतुर्दशरज्ज्वात्मकः परिगृह्यते इति। उक्त च-"धर्मादीनां वृत्ति-र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यै. सह लोक-स्तद्विपरीत ह्यलोकाख्यम्"॥१॥ य. सर्वे खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्न.,सर्वश्चासौ लोकश्च सर्वलोकस्तस्मिन्सर्वलोके, त्रैलोक्य इत्यर्थः। तथाहि-अधोलोके चमरादिभवनेषु, तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु, सन्त्येवार्हच्चैत्यानि । ऊर्ध्वलोके सौधर्मविमानादिषु सन्त्येवार्हच्चैत्यानि । तत्र अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तीर्थकरा', तेषा चैत्यानि प्रतिमालक्षणान्यर्हच्चैत्यानि । इयमत्र भावना-चित्तमन्त.करण, तस्य भावे कर्मणि वा, "वर्णदृढादि"-॥७।१।६६॥ इत्यणेति ष्यणि कृते चैत्य भवति। तत्रार्हतां प्रतिमा प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वादर्हच्चैत्यानि भण्यन्ते। तेषां किं करोमीत्युत्तमपुरुषैकवचननिर्देशेनात्माभ्युपगम दर्शयति । किमित्याह-काय शरीरं तस्योत्सर्गं कृत्वा, कायस्य स्थान मौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य

परित्याग इत्यर्थः, तं कायोत्सर्गमाह। कायस्योत्सर्ग इति षष्ठ्या समास कृत। अर्हच्चैत्यानामिति प्रागुक्तम्। तत्किमर्हच्चैत्यानां कायोत्सर्ग करोति?, नेत्युच्यते-षष्ठ्यानिर्दिष्ट तत्पद पदद्वयमतिक्रम्य मण्डूकप्लुत्या वन्दनप्रत्ययमित्यादिभिरभिसंबध्यते। ततश्चार्हच्चैत्यानां वन्दनप्रत्यय करोमि कायोत्सर्गमिति द्रष्टव्यम्। तत्र वन्दनमभिवादनम्, प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः। तत्प्रत्यय तन्निमित्त, तत्फल मे कथ नु नाम कायोत्सर्गादेव स्यादित्यतोऽर्थमिति। एव सर्वत्र भावना कार्या। तथा-(पूयणवत्तियाए त्ति) पूजनप्रत्यय पूजननिमित्त, तत्र पूजन गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्चनम्। तथा-(सक्कारवत्तियाए त्ति) सत्कारप्रत्यय सत्कारनिमित्त, तत्र प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चन सत्कार। आह-यदि पूजनसत्कारप्रत्यय कायोत्सर्ग क्रियते, ततस्तावेव कस्मान्न क्रियेते?। उच्यते-द्रव्यस्तवत्वादप्रधानत्वात्। यदुक्तम्—

" दव्वत्थओ य भाव-त्थओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिया।
अनिऊण जणवयणमिण, छज्जीवहियं जिणा बिंति ॥१॥
छज्जीवकायसंजम-दव्वत्थए सो विरुज्झती कसिणो।
तो कसिणसंजमे वि उ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥२॥
अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणो, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥३॥ "

अत श्रावका पूजनसत्कारावपि कुर्वन्त्येव। साधवस्तु प्रशस्ताध्यवसायनिमित्तमेवेत्थमभिदधति। तथा-(सम्माणवत्तियाए त्ति) सम्मानप्रत्यय सम्माननिमित्तम्, तत्र स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरण संमान, तथा मानसप्रीतिविशेष इत्यन्ये। अथ वन्दनपूजनसत्कारसम्माना एव किं निमित्तमित्यत आह-(बोहिलाभवत्तियाए) बोधिलाभनिमित्त प्रेत्य जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभो भण्यते। अथ बोधिलाभ एव किं निमित्तमित्यत आह-(निरुवसग्गवत्तियाए) निरुपसर्गप्रत्यय निरुपसर्गनिमित्तम्, निरुपसर्गो मोक्षः। अयं च कायोत्सर्गः क्रियमाणोऽपि श्रद्धादिविकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह-(सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं ति) श्रद्धया हेतुभूतया तिष्ठामि कायोत्सर्गं, न बलाभियोगादिना। श्रद्धा निजोऽभिलाषः। एव-मेधया पटुत्वेन, न जडतया। अन्ये तु व्याचक्षते-मेधयेति मर्यादावर्तित्वेन, नासमञ्जसतयेति। एव-धृत्या मनःप्रणिधानलक्षणया, न पुना रागद्वेषाकुलतया। धारणया अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया, न तु तच्छून्यतया। अनुप्रेक्षया अर्हद्गुणानामेव मुहुर्मुहुरविच्युतिरूपेणानुचिन्तनरूपया, न तु तद्वैकल्येन। वर्द्धमानयेति प्रत्येकमभिसंबध्यते। श्रद्धया वर्द्धमानया। एव मेधयेत्यादि। एव तिष्ठामि कायोत्सर्गम्। आह-उक्तमेव-'करोमि कायोत्सर्गं,' सांप्रत 'तिष्ठामीति' किमर्थमिति?। उच्यते-'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति कृत्वा करोमि करिष्यामीति क्रियाभिमुख्यमुक्तम्। इदानीं त्वासन्नतरत्वात् क्रियाविशिष्टत्वात् क्रियाकालनिष्ठाकालयो कथञ्चिदभेदात्तिष्ठाम्येव। आह-किं सर्वथा?, नेत्याह-अन्नत्थ ऊससिएणमित्यादि पूर्ववत् यावद्वोसिरामि त्ति। "एय च सुत्त पढित्ता पणवीससुस्सासपरिमाण काउस्सग्ग करेंति दसणसुद्धीए तइय उद्धाइ त्ति" तृतीयत्व चास्यातिचारालोचनविषयप्रथमकायोत्सर्गापेक्षयेति। ततो-"नमोक्कारेण पारित्ता सुयनाणपरिवुड्ढिनिमित्तं अइयारविसोहणत्थ च सुयधम्मस्स भगवतो पराए भत्तीए तप्परूवगनमोक्कारपुव्वग थुइ पढति" ॥ आव० ५ अ० ॥ "काउस्सग्गस्स गाणविही जधा ओहनिज्जुत्तीए" आ०चू० ५ अ०॥

इदानीमेनामेव द्वारगाथा विशेषेण व्याख्यानयन्नाह-

उड्ढनिसीयतुयट्टण, ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं।
उड्ढं उच्चाराई, गुरुमूले पडिक्कमागम्म ॥ ४१५ ॥

तत्र स्थान त्रिविध ज्ञातव्यम्-ऊर्द्ध्वस्थान, निषीदनस्थान, त्वग्वर्तनस्थान च। तत्राद्यमूर्द्ध्वस्थान व्याख्यानयन्नाह-(उड्ढ) उच्चारार्थं ऊर्द्ध्वं स्थान कायोत्सर्गः। स उच्चारादीन् कृत्वा, आदिग्रहणात्प्रस्रवण कृत्वा, ततश्च गुरुमूल आगत्य प्रतिक्रामत, काम, ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतो भवति ॥

पक्खे ऊसासाई, पुरओ अविणीयमग्गओ वाऊ।
णिक्खमपवेसवज्जण, भावासन्नो गिलाणाए ॥ ४१६ ॥

कायोत्सर्गं कुर्वता आचार्यपक्षके पक्षप्रदेशे न स्थातव्यम्, यत गुरुरुच्छ्वासेनाभिहन्यते। नापि पुरत स्थातव्यम्, यत पुरत अविनीतत्वमुपजायते गुरुमाच्छाद्य तिष्ठन्। नापि मार्गत गुरोः पृष्ठतो, यतो गुरोर्वायुनिरोधेन ग्लानता भवति। वायुर्योऽपानेन निर्गच्छति। कथ पुन स्थातव्यम्?, यत्र निष्क्रमप्रवेशस्थान, तत् वर्जयित्वा कायोत्सर्गं करोति (भावासन्नो त्ति) यः उच्चारादिना पीडित स च निर्गमे रुद्धे सञ्ज्ञानिरोध करोति, ततश्च ग्लानता भवति। अथ निर्गच्छति तत कायोत्सर्गभङ्ग ॥

भारे वेयण खमगुण्ह-मुच्छपरिताव छेदणे कलहो।
अव्वाबाहे ठाणे, सागारपमज्जणे जयणा ॥ ४१७ ॥

तथा च मार्गे कायोत्सर्गकरणे एते दोषा-भिक्षामटित्वा कश्चिदायातः साधुः, स च भारे सति यदि प्रतिपालयति ततो वेदना भवति। तथा-क्षपकः कश्चिद्भक्त गृहीत्वाऽऽयातः, तथाऽन्य उष्णसतप्त आयात। अनयोर्द्वयोरपि प्रतिपालयतो यथासंख्य मूर्च्छापरितापौ भवत। क्षपकस्य मूर्च्छा, उष्णतप्तस्य परिताप। अथैवं कायोत्सर्गं छित्त्वा प्रविशन्ति तत परस्पर कलहो भवति। तस्मात् अव्याबाधे स्थाने कायोत्सर्ग कर्त्तव्य, एतद्दोषभयात्। (सागारपमज्जणे जयणे त्ति) यदा तु पुन सागारिको भवति कायोत्सर्गं कुर्वतस्तदा अप्रमार्जनमेव करोति, यतनया वा प्रमार्जयति-रजोहरणेन बाह्यनिषद्यया प्रमृज्य कायोत्सर्गस्थान, ततस्तां निषद्यां सागारिकपुरत एकान्ते मुञ्चति, गते च तस्मिन् गृह्णाति। उक्तमूर्द्ध्वस्थानम् ॥ ओघ०।

"निव्वाघाते ठायता चेव पुव्वं सामायिकं कारित्ता सुत्तं अणुपेहति, जाव आयरिएण 'वोसिरामि' त्ति भणित, ताहे इमे वि अतियारसुहमे भिया पडिलेहणादिय चिंतेंति। अन्ने भणति-जाहे आयरिया सामाइय एगट्ठिता ताहे ते तहट्ठिता चेव अणुप्पेहांति पढम सुत्त चिंतेंति। अत्राह-एत्थ किंनिमित्त काउस्सग्गो कीरति, जेण णेरच्चयस्स णिरवज्जता होति, सुह च एक्कगो चिंतेहिति?। उक्त च-

" काउस्सग्गम्मि ठिओ, निरेइकायो निरुद्धवयपसरो।
जाणइ सुहमेगमणो, मुणिदेवसियाइ अइयार ॥८७॥
परिजाणिऊण य जओ, सम्म गुरुजण पयासणेण तु।
सो होइ अप्पग सो, जम्हा य जिणेहिँ सो भणिता" ॥८८॥
सो काउस्सग्गो।

काउस्सग्ग मोक्खपह-देसियं जाणिऊण तो धीरा।
दिवसाइयारजाणण-ट्ठयाइ ठायंति उस्सग्ग ॥८९॥ आव०नि०।

काउस्सग्ग मोक्खपह इति देसितं जिणेहिं, जेण थि-

रखन्ना होइ त्ति । अहवा मोक्खपहो जैनशासनं, तम्मि देसिसं विशेषेणेन, मोक्खपहगेहिं वा जिणेहिं दर्शितं मोक्खजिगमिषूणां कर्तव्यतया । अहवा—मोक्खपहो णाणादीणि, तस्स देसियं, देसयतीति देसियं; त देशयतीत्यर्थः । एव जाणिऊण, ततो धीरा, धी बुद्धिस्तया राजन्त इति धीराः । देवसियातियारस्स य पारजाणणटुं काउस्सग्ग ठाति त्ति । एव काउस्सग्गे ठितेण मुहणंतिमादि काउ जाव एत्थ काउस्सग्गे ठितो ताव अणुप्पेहेतव्वं, सव्वं देवसिय चिंतेत्ता जावइया देवसियाऽतियारा ते सव्वे समणेइत्ता ते दोसे आलोयणाणुलोमे पडिसेवणाणुलोमे य ठवेज्जा । तेसु समत्तेसु धम्मसुक्काणि झाएज्जा जाव आयरिएहिं उस्सारियंति । आयरिया पुण अप्पणोच्चय देवसिय चेट्ठ दोवारे चिंतेंति, ताव इमेहिं एक्कसि चितिते होति । किं कारणं?, तस्स अ हिंडिहिंतस्स अप्पा अतियारा, सिस्सादीणं हिंडिताणं च बहुतरा, दिवस्सगहणं किं निमित्तं?, दिवसादीयं तित्थं पसत्थो भवति । एव एताओ तिण्णि गाहाओ दिवसे, एवं पक्खिए वि दिवसो, चाउम्मासिए वि दिवसो, संवच्छरिए वि दिवसो, तेण दिवसा तिण्णि । तिण्णि, एव ताए दोसो, पच्चूसे रातिया अतियारा पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिया णत्थि । एतेण कारणेण दिवसग्गहणं, पुव्वपदे वा केवल दुगुणाऽणुप्पेहा पञ्चहयाणं वा पयोगत णाऊण अपरिमितेण कालेण उस्सारेतव्व, तं च णमो अरिहंताण ति भणित्ता पारेति । पच्छा थुतिं भणति । सा य थुती—जहिं इम तित्थं इमाए उस्सप्पिणीए पदेसियं णाणदंसणचरित्तस्स य उवदेसो तेसिं महतीए भत्तीए बहुमाणेतो संथवो कायव्वो । एतेण कारणेण काउस्सग्गाणतर चउवीसत्थओ । सा य उवएसेहिं पहित्ता गुणवतो पडिवत्तिनिमित्त सबहुमाण सवेगसार अवराधालोयणा कातव्वा । विणयमूलो धम्मो त्ति काउं वंदितुकामो गुरु संडासयं पडिलेहित्ता उवेट्ठो मुहणंतय पडिलेहेति । से सीसं काय पमज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्ध कितिकम्म कातव्व ।

तत्थ सुत्तगाहा—

आलोयणवागरण-स्स पुच्छणे पूयणाए सज्झाए ।
अवराहे य गुरूणं, विणओ मूलं च वंदणयं ॥ २१६ ॥

एव विणयं पउंजित्ता अब्भुत्थाय जहारातिणियाए दोहिं हत्थेहिं रयहरण गहाय अक्खलिय आलोएति जधा गुरु सुणेति डण तओ सजतभासाए पुव्वरइए दोसे वागरेति गुरुस्स ।

तत्थ सुत्तगाधाओ—

विणएण विणयमूलं, गंतूण साधुपादमूलम्मि ।
जाणावेज्ज सुविहिओ, जह अप्पाणं तह पर पि ॥२१७॥
कयपावो वि मणूसो, आलोइय णिंदिओ गुरुसंगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो ॥२१८॥
उप्पण्णानुप्पण्णा, माया अणुमग्गतो णिहंतव्वा ।
आलोयणणिंदणगर-हणेहिं ण पुणोत्तिया वितियं॥२१९॥

जदि नत्थि अतियारो ताहे संदिसह त्ति, भणितो पडिक्कमति नाणियव्व । अह अतियारो पायच्छित्त पुरिमड्ढादीह ति, त च तहेव अणुचरितव्वं, मा अणुवत्थादीया दोसा भविस्सति ।

एत्थ सुत्तगाधा—

तस्स य पायच्छित्तं, जम्मग्गविदू गुरू उवदिसंति ।
तं तह अणचरितव्वं, अणवत्थपसंगभीतेणं ॥२२०॥

अणवत्थाए उदाहरणं—तिलहारेण येडेणं कद्दमलित्तएण तेणएण पसगावणिवारणट्ठाए आता उवालभितव्वो, जधा ण पुणो अतियरति । एतेण कारणेण वंदणाणतर आलोयणा आलोइए, पुणरवि सामाइय ववगयरागदोसमोह होऊण पंचिदियसवुडो सचित्तो समणो जाव तब्भावणाभावितो सुत्ते सुत्ते उवउत्तो अणेसरेज्जा । एतेण अभिसंबधेण आलोयणाणतर सामाइय, ततो णाणदसणचरित्ताणं विसुद्धिणिमित्त पडिसिद्धाण वागरणातिचारस्स किच्चाण अकरणातियारस्स जहोवदेसस्स अ सद्दहणा अतियारस्स वि तहा, परूवणातियारस्स य विसोहिनिमित्त उवेड पडिक्कमण पडिपदेणं अणुमज्झिनव्व, उवउत्तेण वि त निंदामि, अणागत पच्चक्खामि त्ति, कालविभागेण य सव्वेसु ठाणेसु जहा अप्पगो ठाति तहा कातव्व ।

तत्थ सुत्तगाथा—

एते चेव अणजिगतो, भावविवरीततो अभिणिविट्ठो ।
मिच्छादंसणमिणमो, बहुभागारं वियाणाहि ॥
एव णाऊणं, अविवरीत पदं पदेण णेतव्व ।
पुणरव त्ति उवट्ठिते, तो वेज्जति गयं पुव्व ॥

दिट्ठतेण विणयमूलो धम्मो त्ति पुव्वत्तविहिणा वदणकमावणाणुव्व णिवदेण च पडिक्कतेमि त्ति आयरियाण वदण काउ सेसगा वि खमावेतव्वा ।

तत्थ सुत्तगाधा—

आयरियउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे वा ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥२२२॥
सव्वस्स समणसघ-स्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स य तुम पि ॥२२३॥

एएणाभिसबधेण वदणाणतर खमासमणा, ततो सेसगा वि जीवा खमावेइतव्वा । एव विगतरागदोसमोह इति पुणरवि सामाइकपुव्वगं चरित्तविसोधणहेतु काउस्सग्गो ठेज्जति । गयदिट्ठते चेव जे केइ चारित्तविराधणाकता पडिक्कमणालोयणालाहेण सुद्धा, तेसिं विसोहिणिमित्त काउस्सग्गो त्ति वा, जोगनिग्गहो त्ति वा, एतेण कारणेण चरित्तानियारविसोधिनिमित्त सामाइय कड्ढिऊण काउस्सग्ग इच्छामि ठाइउं जाव तस्स उत्तरीकरणेण जाव वोसिरामि त्ति । एव णिरवज्जेण णिरेजेण तस्स भत्तीए काउस्सग्गो कायव्वो । केवचिर काल पमाणेण । 'उस्सासाण'सिलोगे चत्तारि पादा, पादे पादे उस्सासो । तत्थ गाथा-

" पादसमा उस्सासा, कालपमाणेण होंति णातव्वा ।
एत कालपमाणं, उस्सग्गो होइ णातव्वो " ॥

तत्थेमा परिमाणगाथातो साए सत गोसद्धं साय वेतत्थेमा ... ।

तत्थ अत्थेट्ठपडिक्कमणे पढिते पच्छा तिसु वि काउस्सग्गेसु उस्सासासत भवति । तेसिं पढमो चारित्तकाउस्सग्गो तत्थ पण्णास उस्सासाण उस्सारेत्ता विसुद्धचरित्तदेसयाण महामुणीणं महाजसाण महाणाणीण जेहिं निव्वाणवग्गोवदेसो कतो तेसिं तित्थगराण अविहत-

मग्गो त्रेसगाणं दसणसुद्धिणिमित्त णामुक्कित्तणा कीरति । किं-निमित्त ?, चरित्त विसोधितं। इदाणिं दसणविसोधी कातव्व त्ति । एतेणाभिसंबंधेण चउवीसत्थओ सो पुव्वभणितो, तस्स विसोहणनिमित्त काउस्सग्ग करेंतो पराए भत्तीए भणति- " सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं वंदणवत्तियाए " इत्यादि । अस्य व्याख्या-न केवल चउवीसाए, जे वि सव्वे एए सिद्धादी अरिहंता,चेइयाणि य, तेसिं चेव प्रतिकृतिलक्षणानि । चिती सञ्ज्ञाने, सञ्ज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा जथा अरहंतपडिमाए सा इति । अन्ने भणति-अरहंता तित्थगरा, तेसिं चेइयाणि अरिहंतचेइयाणि; अर्हत्प्रतिमा इत्यर्थः । तासिं वंदनादिप्रत्यय ठामि काउस्सग्गमिति योगः । तत्र वन्द्यत्वात्तेषा वन्दनार्थं कायोत्सर्गं करेमि । श्रद्धाभिर्वर्द्धमाने सद्गुणसमुत्कीर्तनपूर्वक कायोत्सर्गेणैव पूजनं करोमीत्यर्थः। जधा कोइ गधचुण्णवासमल्लादीहिं समभ्यर्चन करोतीति एव सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए वि भावेतव्व । णवरं सक्कारो जधा वत्थाभरणादीहिं सक्कारेण सम्माणो सम्माणण । केइ भणति-वंदणादयो एगट्ठिया आदरार्थं उच्चारिज्जति त्ति। अथ वंदणादीणि किमत्थमित्याह-" बोधिलाभवत्तियाए " बोधे लाभो सम्मद्दसणादीहिं अविप्पयोगो सधर्मावाप्तिरित्याह-प्रेत्य सधर्मावाप्तिर्बोधि लाभ इत्येतदर्थं बोधिलाभः । किमर्थमित्याह-" निरुवसग्गवत्तियाए " निरुवसग्गो मोक्खो, तदर्थं 'एत्थ य सिद्धाए मेहाए धितीए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि करेमि काउस्सग्गमिति " । तच्छ्रद्धाद्यत्यतिशयसाभिलाषता इत्यन्ये । समत्त तीव्राभिनिवेश इत्यन्ये । तीए वड्ढमाणीए । एव मेहाए । मेहा पटुत्त नव न वघलत्तो । तद्गुणपरिज्ञानमित्यन्ये । अन्ये पुन मेधाए त्ति आसातणाविरहितो तत्थेव मग्गो ट्ठितो इति । वित्तीमणो सुप्पणिहाणेण दुरागार्ट्टीहिं आकुलो, धारणा य वोपद्देसाविस्मरणं । अन्ये तु धारणाए ति अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया, न तु तच्छून्यतया इति । अनुप्रेक्षा तद्गुणानामनुचिंतन, वड्ढमाणी वर्द्धमाना । केइ पुण अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ण पढति । अन्ने पुण भणति-सद्धानिमित्त श्रद्धार्थं श्रद्धानिमित्त च ठामि काउस्सग्ग । एव मेहादिसु वि भावितव्व । ठामि काउस्सग्ग इत्यादि पूर्ववत् । पणुवीस उस्सासकाउस्सग्गा णमोक्कारेण पारेति, ततो णाणातियारविसुद्धिनिमित्त सुत्तणाणेण मोक्खसाहणाणि साहिज्जति त्ति काउ तस्स भगवतो पराए भत्तीए । एतप्परूवगणमोक्कारपुव्वग थुतिकित्तण करेति। (आ० चू० ५ अ०)

तद्यथा-

पुक्खरवरदीवड्ढे, धातइसंडे अ जंबुदीवे अ ।
भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमसामि ॥ १ ॥
तमतिमिरपडलविद्ध-सणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स ।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स ॥ २ ॥
जाईजरामरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥ ३ ॥

अस्य व्याख्या-पुष्कराणि पद्मानि तैर्वर प्रधान पुष्करवरः, पुष्करवरश्चासौ द्वीपश्चेति समासः तस्यार्द्ध मानुषोत्तराचलार्वाग्भागवर्ति, तस्मिन् । तथा-धातकीखण्डानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीप ,तस्मिंश्च। तथा जम्ब्वोपलक्षितस्तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीप , तस्मिंश्च। एतष्वर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु महाक्षेत्रप्राधान्याङ्गीकरणतः पश्चानुपूर्व्योपन्यासः। तेषु यानि भरतैरवतविदेहानि । प्राकृतशैल्या त्वेकवचननिर्देश । द्वन्द्वैकवद्भावात् भरतैरवतविदेहमित्यपि भवति । तत्र धर्मादिकरान्नमस्यामि। " दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद्धारयते तत । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृत " ॥१॥ स च द्विभेद -श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च। श्रुतधर्मेणेहाधिकार तस्य भरतादिष्वादौ करणशीलास्तीर्थकरा एव अतस्तेषा स्तुतिरुक्ता । साम्प्रत श्रुतधर्मस्योच्यते-(तमतिमिरपडलविद्धसणस्स सुरगण इत्यादि) तम अज्ञान तदेव तिमिर, तमस्तिमिरम् अथवा-तमो बद्धस्पृष्टनिधत्त ज्ञानावरणीय निकाचित तिमिर, तस्य पटल वृन्द तमस्तिमिरपटल, तद्विध्वसयति नाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वसनस्तस्य,तथा चाज्ञाननिरासेनैवास्य प्रवृत्तिः । तथा-सुरगणनरेन्द्रमहितस्य, तथा चाग ममहिमान कुर्वन्त्येव सुरादय । तथा-सीमां मर्यादां धारयतीति सीमाधर ,सीम्नि वा धारयतीति। तस्येति द्वितीयार्थे कर्मणि षष्ठी। तं वन्दे ।तस्य वा यन्माहात्म्य तद्वन्दे । अथवा-तस्य वन्द इति वन्दन करोमि । तथा ह्यागमवन्त एव मर्यादां धारयन्ति। किं भूतस्य ?, प्रकर्षेण स्फोटित मोहजाल मिथ्यात्वादि येन स तथोच्यते तस्य।तथा चास्मिन्सति विवेकिनो मोहजाल विलयमुपयात्येव। इत्थ श्रुतधर्ममभिवन्द्याधुना तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेण प्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह-(जाईजरामरणेत्यादि) जातिरुत्पत्ति ,जरा वयोहानि ,मरण प्राणत्याग , शोक मनसो दुःखविशेष । जातिश्च जरा च मरण च शोकश्चेति द्वन्द्व । जातिजरामरणशोकान्प्रणाशयन्त्यपनयति जातिजरामरणशोकप्रणाशन तस्य । तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानाद् जात्यादयः प्रणश्यन्त्येव । अनेन चास्यानर्थप्रतिघातित्वमाह । कल्यमारोग्यमणतीति कल्याण, कल्य शब्दयतीत्यर्थः । पुष्कल सपूर्णम् । न च तदल्प, किं तु विशाल विस्तीर्णम्, सुख प्रतीतम्। कल्याण पुष्कल विशाल सुखमावहति प्रापयति कल्याणपुष्कलविशालसुखावह , तस्य । तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानाद्धकलक्षणमपवर्गसुखमाप्यत एव । अनेन चास्य विशिष्टार्थप्रसाधकत्वमाह-क प्राणी देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य श्रुतधर्मस्य सार सामर्थ्यमुपलभ्य दृष्ट्वा विज्ञाय कुर्यात् प्रमादम् । सचेतनेन चारित्रधर्मप्रमाद कर्तुं न युक्त इति हृदयम्। आह-सुरगणनरेन्द्रमहितस्येत्युक्त, पुनर्देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति किमर्थमिति ?। अत्रोच्यते-तन्निगमत्वाददोष । तस्यैवगुणस्य श्रुतधर्मस्य सारमुपलभ्य क सकर्ण प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म इति।

यतश्चैवमत -

सिद्धे भो ! पयतो 'णमो जिणमए' नंदी सयासंजमे,
देवंनागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं,
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥
सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं ॥

सिद्धे प्रतिष्ठिते प्रत्याख्याते भो इत्येतदतिशयिनामामन्त्रण, पश्यन्तु भवन्त , प्रयतोऽहं यथाशक्त्यैतावन्तं कालं प्रकर्षेण यत । इत्थ परमार्थिक प्रयतो भूत्वा पुनर्नमस्करोति-'नमो जिनमते' अर्थाद्विभक्तिपरिणाम -नमो जिनमताय। यतश्चैवभूतोऽहं

प्रयतो नन्दि सदा सर्वकाल. क्व?, सयमे चारित्रे, मम भवत्विल्यध्याहार्यम् । किंभूते सयमे ?, देवनागसुवर्णकिन्नरगणैः सद्भूतभावेनार्चिते । तथा च सयमवन्तः अर्च्यन्त एव देवादिभि । किंभूते जिनमते ?, लोक्यतेऽनेनेति लोक. ज्ञानमेव, स यत्र प्रतिष्ठित.. तथा जगदिद ज्ञेयतया । केचिन्मनुष्यलोकमेव जगन्मन्यन्ते ब्रयत आह-त्रैलोक्यमनुष्यासुरम्,आधाराधेयरूपमित्यर्थ । अयमित्थभूत श्रुतधर्मो वर्द्धतां वृद्धिमुपयातु, शाश्वतः द्रव्यार्थादेशान्नित्यः । तथा चोक्तम्-द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीदित्यादि । अन्ये पठन्ति-धम्मो वड्ढउ शाश्वतमिति,अस्मिन्पक्षे क्रियाविशेषणमेतत शाश्वत वर्द्धताम । अप्रच्युत्येति सर्वकालमिति भावना । विजयत कर्मपरप्रवादिविजयेनेति हृदयम । तथा-धर्मोत्तर चारित्रधर्मोत्तर वर्द्धतु । पुनर्वृध्याऽभिधान मोक्षार्थिना प्रत्यह ज्ञानवृद्धि. कार्येति प्रदर्शनार्थम । तथाच तीर्थकरनामकर्महेतून्प्रतिपादयतोक्तम्-" अपुव्वनाणगहणेत्ति सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए" इत्यादि प्राग्वत् यावद्वोसिरामि । एय सुत्त पढित्ता पणवीसुस्सासमेव काउस्सग्ग करेंति । आह च -"सुयनाणस्स चउत्थो ति" ततो नमोक्कारेण पारित्ता थिसुरूचरणदंसणसुयातियारमगहनिमित्त चरणदसणसुयदेसगाण सिद्धाण थुतिं कड्डति भणिय च सिद्धाण थुइए त्ति " ॥

सा चेय स्तुतिः-

> सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं ।
> लोगग्गमुवगयाणं, णमो सया सव्वसिद्धाणं ॥ १ ॥
> जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।
> तं देवदेवमहियं, सिरसा वंदे महावीरं ॥ २ ॥
> एको वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
> संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥ ३ ॥

(सिद्धाण बुद्धाणमित्यादि) अस्य व्याख्या-सित ध्यानमेतेषामिति सिद्धाः, निर्दग्धकर्मेन्धना इत्यर्थ । तेभ्यः सिद्धेभ्य. । ते च सामान्यतो विद्यासिद्धा अपि भवन्त्यत आह-बुद्धेभ्य, सूत्रावगताशेषाविपरीततत्वात् बुद्धा उच्यन्ते । तत्र कैश्चित्स्वतन्त्रतयैव तेऽपि स्वतीर्थोज्ज्वालनायेहागच्छन्तीत्यभ्युपगम्यते । अत आह-पारगतेभ्यः,पार पर्यन्त ससारस्य,प्रयोजनवातस्य वा गताः पारगता ,तेभ्य. तेऽपि चानादिसिद्धैकजगत्पतीच्छावशात्कैश्चित्तथाभ्युपगम्यन्ते । इत्यत आह-परम्परगतेभ्य, परम्परया एकेनाभिव्यक्तार्थादागमात्प्रवृत्तोऽन्योऽन्येनाभिव्यक्तार्थादन्योन्येनाप्यत इत्येवभूतया गताः परपरगतास्तेभ्य आह-प्रथम नाभिव्यक्तार्थादागमात्प्रवृत्त इत्युच्यते, अनादित्वात्सिद्धानां प्रथमत्वानुपपत्तिरिति । अथवा कथंचित्कर्मक्षयोपशमाद् दर्शन दर्शनाज्ज्ञान ज्ञानाच्चारित्रमित्येवभूतया परम्परया गता., तेभ्यः। तेऽपि च कैश्चित्सर्वलोकापन्ना एवोच्यन्ते । इत्यत आह-लोकाग्रमुपगतेभ्य. लोकाग्रमीषत्प्राग्भाराख्य तमुपगता ,तेभ्यः। आह--कथ पुनरिह सकलकर्मविप्रमुक्तानां लोकाग्र यावद्गतिर्भवति ?,भावे वा सर्वदैव कस्मान्न भवतीति?,अत्रोच्यते-पूर्वप्रयोगवशादप्रमादिचक्रभ्रमणवत् समयमेवैकमविरुद्धेति । नम. सदा सर्वकाल सर्वसिद्धेभ्यस्तीर्थकरसिद्धादिभेदभिन्नेभ्य. । अथवा सर्वं सिद्ध साध्य येषां ते सर्वसिद्धास्तेभ्य ॥१॥ इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कार कृत्वा पुनरासन्नोपकारित्वाद्वर्द्धमानतीर्थाधिपेतः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनः स्तुतिं कुर्वन्ति-"जो देवाण वि देवो ज देवा पंजली" इत्यादि । यो भगवान् वर्द्धमान. देवानामपि भवनवास्यादीनां देवः,पूज्यत्वात् । तथा चाह-य देवा प्राञ्जलयो नमस्यन्ति विनयरचितकरपुटा सन्तः प्रणमन्ति । (तं देवदेवमहिय) देवदेवा. शक्रादय तैर्महित पूजित,शिरसोत्तमाङ्गेनेत्यादरप्रदर्शनार्थमाह । वन्दे तं; कम ?, महावीरम् । ईर गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वा शिवमिति वा वीरः। महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तम् ॥२॥ इत्थ स्तुतिं कृत्वा पुन. फलप्रदर्शनमिद पठन्ति-(एक्को वि नमोक्कारो जिणवरवसहस्सेत्यादि) एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य ससारसागराद् तारयति नरं वा । नारिं वा इयमत्र भावना-सति सम्यग्दर्शने परया भावनया क्रियमाण एकोऽपि नमस्कारस्तथाभूताध्यवसायहेतुर्भवति यथाभूतात्श्रेणिमवाप्य निस्तरति भवोदधिमित्यत. कारणे कार्योपचारादेवमुच्यते, अन्यथा चारित्रादिवैफल्य स्यात् । आव० ५ अ०। अनेन ततत्कालापेक्षयैतावद्गुणसपत्समन्वितैवोत्तमधर्मसाधिकेति विद्वास. । केवलसाधकश्चायम-सति च केवले नियमान्मोक्ष इत्युक्तमानुषङ्गिक,तस्मान्नमस्कार. कार्य इत्याह-किमेष स्तुत्यर्थवादो यथा-एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति,उत विधिवाद एव यथाऽग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम इति । किं वा अत.?, यथाऽऽद्यः पक्ष -ततो यथोक्तफलशून्यत्वात् फलान्तरभावे च तदन्यस्तुत्यविशेषादलमिहैव यत्नेन, च यत्स्तुतिरप्यफलैवेति प्रतीतमेव । अथ चरमो विकल्पः-तत. सम्यक्त्वाणुव्रतमहाव्रतादिचारित्रपालनवैयर्थ्यम, तत एव मुक्तिसिद्धेः । न च फलासाधकमिष्यते, सम्यक्त्वादिमोक्षफलत्वेनेष्टत्वात् " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनादिति ?, अत्रोच्यते-विधिवाद एवायम् । न च सम्यक्त्वादिवैयर्थ्यम, तत्वतस्तद्भाव एवास्य भावात, दीनारादिभ्यो रूनिन्याय एव ,तदवन्ध्यहेतुत्वेन तथा तद्भावोपपत्ते । अवन्ध्यहेतुश्चाधिकृतफलसिद्धौ भावनमस्कार इति । अर्थवादपक्षेऽपि न सर्वा स्तुति. समानफलेत्यतो विशिष्टफलहेतुत्वेनात्रैव यत्न कार्य.। तुल्ययत्नादेव विषयभेदेन फलभेदोपपत्तेरबन्धूलकल्पपादपाऽऽदे प्रतीतमेतत् । भगवन्नमस्कारश्च परमात्मविषयतयोपमाऽतीतो वर्तते । यथोक्तम्-

> " कल्पद्रुम. परो मन्त्र. पुण्य चिन्तामणिश्च य ।
> गीयते स नमस्कारस्तथैवाक्षुरपरिक्रुता. ॥ १ ॥
> कल्पद्रुमो महाभाग., कल्पनागो चर फलम ।
> ददाति न च मन्त्रोऽपि, सर्वद्व खविषापह. ॥ २ ॥
> न पुण्यमपवर्गाय, न च चिन्तामणिर्यत. ।
> तत्कथ्यते नमस्कार,एभिस्तुल्योऽभिधीयते" ॥३॥ इत्यादि। ल०।

> चत्तारि अ हुंति चरित्ते, दंसणनाणे अ होइ इक्किक्को ।
> सुअरि वत्तदेवयाए, थुइअंते पंचमंगलयं ॥ २७ ॥

पतास्तिस्रस्तुतयो नियमेनोच्यन्ते । केचित्तु अन्या अपि पठन्ति,न च तत्र नियम इति । "कितिकम्म ति पुणो सडासय पडिलेहिय उवविसति, मुहपोत्तिय पडिलेहति, स सीसोवरि-काय पमज्जित्ता आयरियस्स वदण करेंति त्ति" गाथार्थ.॥

आह-किं निमित्तमिद वन्दनमिति ?, उच्यते-

> सुकयं आणत्तिं पि व, लोए काऊण सुकयकिइकम्मा ।
> वड्ढंति अ थुईओ, गुरुथुइ गहणे कए तिन्नि ॥२८॥

'सुकय आणत्तिं पि व लोए काऊण' त्ति जहा रन्नो मणूसा आणत्ति

अप्पाणं जावेमाणाणं बहुसुभेण भे दिवसो पोसहो प-क्खो वइक्कंतो अन्नो अ भे कल्लाणेणं पज्जुवट्ठिओ सिर-सा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ २ ॥

निगदसिद्धम् । आयरिओ भणइ साहूहिं समं ति, साधूहिं सम जमेय भणिय ति, ततो चेइयवंदावण साहुवंदावण च नि-वेदिउकामा भणति-

सूत्रम्-

इच्छामि खमासमणो ! पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता नमंस-इत्ता तुब्भन्नं पायमूले विहरमाणेण जे केइ बहुदेवसिया साहुणो दिट्ठा समणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दू-इज्जमाणा वा राइणिया संपुच्छंति ओमराइणिया व-दंति अज्जा वंदंति अज्जियाओ वंदंति सावया वंदंति सावियाओ वंदंति अहयं पि निस्सल्लो निक्कसाओ त्ति कट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ ३ ॥

निगदसिद्धम् ; नवरं समणा वुड्ढवासी, वसमाणा वा णव-विकप्पविहारी । वुड्ढवासी जंघाबलपरिक्खीणा नवविभागे खेत्त काऊण विहरंति, णवकप्पविहारी पुण उउबद्धे अट्ठमा-सकप्पेण विहरंति । एए अट्ठ विगप्पा वासावासम्मि एगम्मि चेव गामे करेंति । एस नवविकप्पो । अत्राचार्यो भणति-मत्थएण वंदामि अहं पि तेसिं । अन्ने भणति-अहमवि वंदा-वेमि त्ति । ततो अप्पगं गुरूण निवेदेंति चउत्थखामणासु-त्तेण; तच्चेदम्—

सूत्रम्-

अहमवि वंदावेमि चेइयाइं इच्छामि खमासमणो ! उव-ट्ठिओमि तुब्भण्हं संतियं अहाकप्पं वा वत्थं वा पडिग्ग-हं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अक्खरं वा पयं वा गाहं वा सिलोगं वा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं य चियत्तेणं दिन्नं मए अविणएण पडिच्छियं त-स्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥ ४ ॥

अहमवि वंदावेमि चेइयाइं निगदसिद्धम्, नवरं आयरिओ भ-णइ-आयरियसंतियं ति अहंकारपरिवज्जणत्थं किं ममाते ति । ततो ज वेणइया, तमणुसट्ठिं बहू मन्नंति पंचमखामणासुत्तेण; तच्चेदम्-

सूत्रम्-

इच्छामि अहमवि पुव्वाइं खमासमणो ! कयाइं च मे किइक-म्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहि-ओ उवग्गहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ चियत्ता मे पडिचोयणा उवट्ठिओ हं तुब्भण्हं तव तेयसिरीए इमाओ चाउरंतसंसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामि त्ति कट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ ५ ॥

इच्छामि खमासमणो कयाइं च मे किइकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवग्गहिओ णाणा-दिहिं सारिओ हिए पवत्तिओ वारिओ अहियाओ निव-त्तिओ चोइओ खलणाए पडिचोइओ पुणो पुणो अब्भत्थं ठिओ त्ति । एत्थ आयरिओ भणइ—नित्थारग त्ति । नित्थार-गाहाहिं त्ति गुरू भणति पयाइं वयणाइं ति वक्कसेसमय गाथार्थः ॥ २३१ ॥

एव सेसाण वि साहूणं खामणं वंदणं करेंति । अहवा अइवियालो वाघाओ वा ताहे सत्तण्हं पंचण्हं तिण्हं वा पच्छा देवसियं पडिक्कमंति । केई भणति सामन्नेण । अन्ने भणति खामणाद्य । अन्ने चरित्तुस्सग्गादिय । से जा दे-वयाए य उस्सग्गं करेंति पडिक्कताण गुरुसु वंदितेसु वड्ढमा-णीओ तिण्णि थुईओ आयरिया भणति । इमे वि अंजलिम-उलियग्गहत्था समत्ताए नमोक्कारं करेंति । पच्छा से-सगा वि भणंति । तद्दिवसं ते सुत्तपोरिसी ण अत्थपो-रिसी थुईओ भणति, जस्स जत्तियाओ पति । एसा प-क्खियपडिक्कमणविही मूलटीकाणुसारेण भणिया । अन्ने पुण आयरणाणुसारेण भणति । देवसिए पडिक्कते खामिए य ततो पढमं गुरू चेव उट्ठित्ता पक्खियं खामेइ जहाराइणि-याए, तओ उवविसइ । एव सेसगा वि जहाराइणियाए खामेत्ता उवविसंति । पच्छा वंदित्ता भणति-देवसियं पडिक्कत पक्खियं पडिक्कमावेह इत्यादि पूर्ववत् । गय पक्खियं । एवं चाउम्मासियं पि, नवरं काउस्सग्गो पंचुस्सासंसयाणि । एवं संवच्छरियं पि, नवरं काउस्सग्गो अट्ठसहस्सुस्सासं ति । चा-उम्मासियसंवच्छरिएसु सव्वे वि मूलगुणुत्तरगुणाण आलोयणं दाऊण पडिक्कमंति, खेत्तदेवयाए य उस्सग्गं करेंति । केइ पुण चा-उम्मासिगे सेज्जादेवयाए वि काउस्सग्गं करेंति, पभाए य आवस्सए कए पच कल्लाणगं गेण्हंति, पुव्वगहिए य अभिग्ग-हे निवेदेंति, जइ सम्मं नाणुपालिओ तो उस्सग्गं करेंति । पुणो-वि अन्ने गेण्हंति निरभिग्गहाण ण वट्टइ अत्थिओ संवच्छरिए य आवस्सए कए पाउसिए पज्जोसवणाकप्पो कड्डिज्जइ, सो पुण पुव्विं चेव अणागइ च पंचरत्तेण कड्डिज्जइ । एसा सामायारि त्ति ।

एतामेव लेशत उपसहरन्नाह भाष्यकार-

चाउम्मासिअवरिसे, आलोअण निअमसा उ दायव्वा ।
गहणं अभिग्गहाण य, पुव्वगहिए निवेएउं ॥ २३२ ॥
चाउम्मासिअवरिसे, उस्सग्गो खित्तदेवयाए उ ।
पक्खियसिज्जसुराए, करिंति चउमासिए वेगो ॥ २३३ ॥

गाथाद्वय गतार्थम् ।

(८) अधुना नियतकायोत्सर्गं प्रतिपादयन्नाह-

देसिअराइअपक्खिअ-चाउम्मासिअ तहेव वरिसे अ ।
एएसु हुंति निअया, उस्सग्गा अनिअया सेसा ॥ २३४ ॥

निगदसिद्धा, नवरं शेषा गमनादिविषया इति ॥ २३४ ॥

सांप्रत नियतकायोत्सर्गाणामोघत उच्छ्वासमान प्रतिपादयन्नाह-

सायं सयं गोसद्धं, तिन्नेव सया हवंति पक्खम्मि ।
पंच य चाउम्मासे, अट्ठसहस्सं च वारिसिए ॥ २३५ ॥
चत्तारि दो दुवालस, वीसं चत्तारि हुंति उज्जोआ ।
देसिअराइअपक्खिअ-चाउम्मासे अ वरिसे अ ॥ २३६ ॥
पणवीसमद्ध तेरस, सिलोग पन्नत्तरिं च बोधव्वा ।
सयमेगं पणुवीसं, बेबावन्ना य वारिसिए ॥ २३७ ॥

(साय ति) साय प्रदोष, तत्र शतमुच्छ्वासाना भवति चतुर्भि-रुद्योतकरैरिति भावित एवायमर्थः प्राक् । (गोसद्ध ति) प्रत्यूषे

हस्तशतस्याभ्यन्तरे उच्चार प्रश्रवणं तन्मात्रक वा परिष्ठापयति तदाऽपि विचार इति वचनात् ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरः पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणः कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम् ।

सम्प्रति 'सुत्त' इति पदं व्याचिख्यासुराह-

उद्देससमुद्देसे, सत्तावीसं तह अणुएणाए ।
अट्ठेव य ऊसासा, पट्ठवणपमिक्कमणमादी ॥

उद्देशो वाचनासूत्रप्रदानमित्यर्थः । समुद्देशो व्याख्या, अर्थप्रदानमिति भावः । अनुज्ञा सूत्रार्थयोरन्यप्रदान प्रत्यनुगमनम्; एतेषु, तथेतिशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन श्रुतस्कन्धपरिवर्त्तने अङ्गपरिवर्त्तने च कृते तदुत्तरकालनविधिसमाचरणपरिहाराय प्रायश्चित्त कायोत्सर्गः सप्तविंशत्युच्छ्वासप्रमाणः पर्यन्तैकपादहीनः समस्तश्चतुर्विंशतिस्तवस्तत्र चिन्तनीय इति भावः । (अट्ठेव य इत्यादि) प्रस्थापन स्वाध्यायस्य, प्रतिक्रमण कालस्य, तयोः करणे कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तमष्टावेवोच्छ्वासा , अष्टोच्छ्वासप्रमाणः । आदिशब्दात् मात्रकमपि परिष्ठाप्य ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणोत्तरकाल कायोत्सर्गोऽष्टोच्छ्वासप्रमाणः करणीय इति द्रष्टव्यम् । एतच्चास्यैव व्यवहारस्य चूर्णौ दृष्ट्वा लिखितमिति ।

अत्रैवाऽऽक्षेपमभिधित्सुराह-

पुव्वं पट्ठवणा खलु, उद्देसाई य पच्छतो हुंति ।
पट्ठवणुद्देसादिसु, अणाणुपुव्वी कया किं तु ॥

ननु पूर्वं प्रस्थापना खलु स्वाध्यायस्य क्रियते, पश्चादुद्देशादयो भवन्ति, तत प्रस्थापनोद्देशादिषु प्रस्थापनाऽनन्तरमुद्देशादिषु व्यवस्थितेषु, किं तु इत्याक्षेपे । किमर्थं ननु अनानुपूर्वी अनन्तरगाथाया कृता, किमिति पश्चात्गाथायां पूर्वमुद्देशादय उक्तास्तदनन्तर प्रस्थापनमिति भावः ? । नैष दोषः; मतान्तरेणैवंरूपाया अप्यानुपूर्व्या सम्भवात् ।

तथा चाह-

अज्झयणाणं तितयं, पुव्वुत्तं पट्ठविज्जई जेहिं ।
तेसिं उद्देसादी, पुव्वमतो पच्छ पट्ठवणा ॥

यैराचार्यैरध्ययनानाम्, उपलक्षणमेतत् । उद्देशकप्राभृतादीनां च त्रितयं उद्देशसमुद्देशानुज्ञालक्षण, पूर्वोक्तं पूर्वप्रवर्तितं, प्रस्थाप्यते उद्देशादिषु कृतेषु पश्चात्तेषां प्रस्थापना यैराचार्यैरुपवर्ण्यते, तेषां मतेनायमेव क्रम इति वाक्यशेषः । अतः प्राग्गाथायां पूर्वमुद्देशादय उक्ताः पश्चात्प्रस्थापनेति ।

संप्रति 'सुत्ते वा' इति वाशब्दसमुच्चितं दर्शयति-

सव्वेसु खलियादीसु, झाएज्जा पंच मंगल ।
दो सिलोगे वि चिंतेज्जा, एगग्गो वा वि तक्खणं ॥

इह यदि बहिर्गमने प्रयोजनानन्तरप्रारम्भे वा वस्त्रादेः स्खलनं भवति । आदिशब्दात् शेषापशकुनदुर्निमित्तपरिग्रहः । तेषु सर्वेषु स्खलितादिषु समुपजातेषु तत्प्रतिघात्यते त्रिविधमपि, मुख्यतस्तु कायिकम् ।

तथाचाह-

कायचिट्ठं निरुंभित्ता, मण वायं च सव्वसो ।
वट्टई काइए झाणे, सुहुमुस्सासवं मुणी ॥

कायचेष्टां कायव्यापारं, तथा वाचं च सर्वशः सर्वात्मना निरुध्य कायोत्सर्गः क्रियते । तत कायोत्सर्गस्थो मुनिः सूक्ष्मोच्छ्वासवान् । उपलक्षणमेतत्-सूक्ष्मदृष्टिसञ्चारादयोऽपि, न खलु कायोत्सर्गे सूक्ष्मोच्छ्वासादयो निरुध्यन्ते, तन्निरोधस्य कर्तुमशक्यत्वात् । वर्तते कायिके ध्याने एतच्चैवमुच्यते, तस्य स्पष्टमुपलक्ष्यमाणत्वात् । यावता पुनर्वाचिकमानसे अपि ध्याने रुध्येते ।

तथाचाह-

न विरुज्झंति उस्सग्गे, झाणा वाइयमाणसा ।
तीरिए पुण वुस्सग्गे, तिएहमन्नयरे सिया ॥

न विरुध्येते उत्सर्गे कायोत्सर्गे ध्याने वाचिकमानसे वाङ्मनोयोगयोरपि, विषयान्तरतो निरुध्यमानत्वात् । सूत्रे च द्वित्वेऽपि बहुवचन प्राकृतत्वात् । उक्तं च-"बहुवयणेण दुवयणमिति" । तीरं सजातमस्येति तीरितः परिपूर्णे सति सम्यग्विधिना पारितः, तस्मिन् तीरिते कायोत्सर्गे, पुनस्त्रयाणां ध्यानानामन्यतरत् अन्यतमत्स्यात् न पुनस्त्रितयमपि । भङ्गिकश्रुत गुणनव्यतिरेकेण प्रायोऽन्यत्र व्यापारान्तरे ध्यानत्रितयाऽसम्भवात् । अथवा कायोत्सर्गे किमन्येऽपि गुणाः सम्भवन्ति, किं वा नेति ? । उच्यते-सम्भवन्तीति ब्रूमः ।

तथाचाह-

मणसो एगग्गत्तं; जणयइ देहस्स हणइ जड्डत्तं ।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव ॥

कायोत्सर्गस्य गुणाः कायोत्सर्गगुणा । कायोत्सर्गगुणाः खल्वमी । तद्यथा-कायोत्सर्गः सम्यग्विधिना विधीयमानो नाम मनसश्चित्तस्य एकाग्रत्वमेकालम्बनतां जनयति । तच्चैकाग्रत्व परम ध्यानम्; "जं थिरमज्झवसाणं तं झाणमिति" वचनात् । देहस्य शरीरस्य, जडत्व जाड्य, हन्ति विनाशयति, प्रयत्नविशेषत परमलाघवसम्भवात् । तथा-कायोत्सर्गस्थितानां वासीचन्दनकल्पत्वात् सुखदुःखमध्यस्थता सुखदु खे च परैरुदीर्यमाणे रागद्वेषाकरणम्, अन्यथा सम्यक्कायोत्सर्गस्यैवासम्भवात् । उक्तं व्युत्सर्गार्हं प्रायश्चित्तम् । व्य० १ उ० । ध० ।

जुज्जइ अकालपढिआ-इएसु दुट्ठ अ पडिच्छिआईसु ।
समणुन्नसमुद्देसे, काउस्सग्गस्स करण तु ॥ २४२ ॥

युज्यते सगच्छते घटते अकालपठितादिषु कारणेषु सत्सु, अकाले पठितम्, आदिशब्दात्कालेन पठितमित्यादि । दुष्टु च प्रतीच्छितादिषु दुष्टविधिना प्रतीच्छितम्, आदिशब्दात्कृतहीलनादिपरिग्रह । (समणुन्नसमुद्देसि त्ति) समनुज्ञासमुद्देशयोः, समनुज्ञायां समुद्देशे च कायोत्सर्गस्य करण युज्यत एवेति योग , अतिचारसम्भवादिति गाथार्थः ॥ २४२ ॥

जं पुण उद्दिसमाणे, अणइकंता वि कुणह उस्सग्गं ।
एस अकओ वि दोसो, परिघिप्पइ किं मुहा भंते! ॥२४३॥

यत्पुनरुद्दिश्यमानाः श्रुतमनतिक्रान्ता अपि निर्विषयत्वादपराधमप्राप्ता अपि (कुणह उस्सग्ग त्ति) कुरुत कायोत्सर्गम्; एष अकृतोऽपि दोष कायोत्सर्गशोध्य परिगृह्यते. किं मुधा भदन्त ! तत्परिगृह्यते, न कर्तव्यः तदुद्देशे कायोत्सर्ग इति गाथाभिप्रायः ।

अत्राहाचार्यः-

पावुग्घाई कीरइ, उस्सग्गो मंगलं ति उद्देसे ।
अणुवहियमंगलाणं, मा हुज्ज कहचि णे विग्घं ॥२४४॥

पावुग्घादिगाहा निगदसिद्धा ॥ २४४ ॥
'सुमिणदंसणे रामो त्ति' द्वारं व्याख्यानयन्नाह-

पाणवहमुसावाए, अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव ।
सयमेगं तु अणूणं, उस्सासाणं नविज्जाहि ॥२४५॥

सुमिणग वि पाणवहमुसावाए अदत्ते मेहुणपरिग्गहे चेव आसेविए समाणे (सयमेग तु अणूणं, उस्सासाण नवेज्जाहि) मेहुणे दिट्ठिविपरियासियाए सय इत्थीविपरियासियाए अट्ठसय ति गाथाऽर्थ ॥ २४५ ॥

उक्त च-

दिट्ठीविप्परियासे, सयमेहुण विपरियासे ।
अट्ठसयं ववहारे, अणजिस्संगस्स साहुस्स ॥२४६॥

'नावा नइसंतरे त्ति' द्वारत्रय व्याचिख्यासुराह-

नावाए उत्तरिउं, वहमाई तह नइं च एमेवं ।
संतारेण चलेण य, गंतुं पणवीस उस्सासा ॥२४७॥

गाथेयमन्यकर्तृकी सोपयोगा च निगदसिद्धा ।

इदानीमुच्छ्वासमानप्रतिपादनायाऽऽह-

पायसमा उस्सासा, कालपमाणेण हुंति नायव्वा ।
एअं कालपमाणं, उस्सग्गो होइ नायव्वं ॥२४८॥

निगदसिद्धा, नवरं पादः श्लोकपादः व्याख्याता गमनागमनेत्यादि २३८ द्वारगाथा ॥

(१०) अधुना द्वारगाथागतमशठद्वार व्याख्यायते । इह विज्ञानवता शाठ्यरहितेनाऽऽत्महितमिति कृत्वा स्वबलापेक्षया कायोत्सर्गं कार्यं, अन्यथाकरणेऽनेकदोषप्रसङ्ग ।

तथाचाह भाष्यकार.—

जो खलु तीसइवरिसे, सत्तरिवरिसेण पारणाइसमो ।
विसमेव कूडवाही, निव्विन्नाणे हु से जड्डे ॥२४९॥

य कश्चित्साधु., खलुशब्दो विशेषणार्थं । त्रिंशद्वर्ष सन्, खलुशब्दाद्बलवानातङ्करहितश्च, सप्ततिवर्षेणान्येन वृद्धेन साधुना पारणकया सम, कायोत्सर्गप्रारम्भपरिसमाप्त्या तुल्य इत्यर्थ । विषम इव उद्दङ्कादाविव कूटवाही विषमवाही बलीवर्दवत्, निर्विज्ञान एवासौ जड, स्वहितपरिज्ञानशून्यत्वात् । तथा चात्महितमेव सम्यक्कायोत्सर्गकरणम्, स्वकर्मक्षयफलत्वादिति गाथार्थ. ॥४६॥

अधुना दृष्टान्तमेव विवृण्वन्नाह-

समभोमे वि अइभारो, उज्जाणे किमुअ कूडवाहिस्स ।
अइभारेणं भज्जइ, तुत्तयघाएहि अ मरालो ॥२५०॥

समभूमावपि अतिभारो विषमवाहित्वात् 'उज्जाणे किमुत कूटवाहिस्स' ऊर्द्ध्वं यानमस्ति इत्युद्यानमुट्टङ्क, तस्मिन्नुद्याने, किमुत सुतरामित्यर्थ ?। कस्य ?, कूटवाहिनो बलीवर्दस्य, तस्य च दोषद्वयम । कथमित्याह-(अइभारेणं भज्जइ तुत्तयघाएहि य मरालो त्ति) अतिभारेण भज्यते, यतो विषमवाहिन एवातिभारो भवति, तुत्तकघातैश्च विषमवाह्येव पीड्यते । तुसगो मायिणगो मरालो गलिरिति गाथाऽर्थ ॥ २५० ॥

साम्प्रत दार्ष्टान्तिकयोजनां कुर्वन्नाह-

एमेव बलसमग्गो, ण कुणइ मायाइ सम्ममुस्सग्गं ।
मायावत्तियं कम्मं, पावइ उस्सग्गकेसं च ॥ २५१ ॥

इयमन्यकर्तृका सोपयोगा चेति व्याख्यायते । एवमेव मरालबलीवर्दवत् बलसमग्र सन् न करोति मायया कारणेन सम्यक् सामर्थ्यानुरूप कायोत्सर्गं स मूढ मायाप्रत्ययं कर्म प्राप्नोति नियमत एव, तथा कायोत्सर्गक्लेश च निष्फल प्राप्नोति । तथा निर्मायस्यैवापेक्षारहितस्य स्वशक्त्यनुरूप च कुर्वत एव सर्वमनुष्ठान फलवद्भवतीति गाथाऽर्थ. ॥२५१॥

अधुना मायावतो दोषानुपदर्शयन्नाह-

मायाए उस्सग्गं, सेसं च तवं अकुव्वओ सहुणो ।
को अन्नो अणुहविही, सकम्मसेसं अणिज्जरिअं ।२५२।

मायया कायोत्सर्गं, शेषं च तप. अनशनादि अकुर्वत सहिष्णो. समर्थस्य (को अन्नो त्ति) कोऽस्याऽन्योऽनुभविष्यति, किम ?, स्वकर्मशेषमनिर्जरितम । शेषता चास्य सम्यक्त्वप्राप्त्योत्कृष्टकर्मापेक्षयेति । उक्त च-" सत्तण्ह पगडीण, अब्भितरओ अ कोडिकोडीओ । काऊण अयराण, जदि लहइ चउण्हमन्नयर" ॥ अन्ये पठन्ति-"एवमेव य उस्सग्ग ति" । नचायमतिशोभनपाठ इति गाथाऽर्थ. ॥ २५२ ॥

यतश्चैवमत -

निक्कूडं सविसेसं, वयाणुरूवं बलाणुरूवं च ।
खाणु व्व उद्धदेहो, काउस्सग्गं तु ठाइज्जा ॥ २५३ ॥

निष्कूटमिति अशठम्, सविशेषमिति समबलादन्यस्मात्सकाशात् नचाहमहमिकया, किंतु वयोऽनुरूप, बलानुरूप च, स्थाणुरिवोर्द्ध्वदेहो निष्प्रकम्प समशत्रुमित्र कायोत्सर्गं तु तिष्ठेत । तुशब्दादन्यच्च भिक्षाटनाद्येवभूत एवानुतिष्ठेदिति गाथार्थ ।२५३।

इदानीं वयोबल चाधिकृत्य कायोत्सर्गकरणविधिमभिधत्ते-

तरुणो बलव तरुणो, अ दुब्बलो थेरओ बलसमिद्धो ।
थेरो अबलो चउसु वि, भंगेसु जहाबलं ठाइ ॥२५४॥

तरुणो बलवान् १, तरुणश्च दुर्बल २, स्थविरो बलसमृद्ध ३, स्थविरोऽबल ४, चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु यथाबल तिष्ठति, बलानुरूपमित्यर्थ. न त्वभिमानत. । कथमनेनापि वृद्धेन न तुल्यबलवताऽपि स्थातव्यम, उत्तरत्रासमाधानग्लानादावधिकरणबलसम्भवादिति गाथार्थ ॥ २५४ ॥ गत सप्रसङ्गमशठद्वारम् ।

(११) साम्प्रत शठद्वारावसरस्तत्रेय गाथा-

पयलायइ पडिपुच्छइ, कंटग वीआर पासवण धम्मे ।
निअडी गेलन्नं वा, करेइ कूड हवइ एअं ॥ २५५ ॥

कायोत्सर्गकरणवेलायां मायया प्रचलायति निद्रा गच्छति, प्रतिपृच्छति सूत्रमर्थं वा, कण्टकमपनयति । (वियार त्ति) पुरीषोत्सर्गाय गच्छति (पासवण त्ति) कायिकीं व्युत्सृजति । (धम्मे त्ति) धर्मं कथयति, निकृत्या मायया ग्लानत्व वा करोति, कूट भवत्येतदनुष्ठानमिति गाथार्थ ॥२५५॥ गत शठद्वारम ।

(१२) अधुना विधिद्वारमाख्यायते, तत्रेय गाथा-

पुव्वं ठंति उ गुरुणो, गुरुणा उस्सारिअम्मि पारंति ।
ठायंति अ सविसेसं, तरुणा अतुन्नविरिआओ ॥२५६॥

' गुरुणो ' इत्यादि प्रकटार्थम् ।

चउरंगुल मुहपत्ती, उज्जुए मव्वहत्थ रयहरणं ।
वोसट्ठचत्तदेहो, काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥ २५७ ॥

(चउरंगुल त्ति) चत्वारि अङ्गुलानि पादयोरन्तर कर्तव्यम । (मु-

हपोत्ति उज्जुए त्ति) दाहिणहत्थेण मुहपोत्तिया घेत्तव्वा, रुव्वहत्थे रयहरणं कायव्वं । एएण विहिणा (वोसट्ठ चत्तदेहो त्ति) ता पूर्ववत् काउस्सग्गं करेज्जाहि त्ति गाथार्थः ॥२५७॥ गत विधिद्वारम् ॥ आव० ५ अ० । आ० चू० ।

(१२) अधुना दोषद्वारावसरस्तत्रेदं गाथाद्वयम्-

घोमग लया य खंभे, कुड्डे माले अ सबरि वहु निअले ।
लंबुत्तर थण उद्धी, संजइ खलिणे अ वायस कविट्ठे ॥२५९॥
सीसुक्कंपिअ मूई, अंगुलिभमुहा अ वारुणी पेहा ।
एए काउस्सग्गे, हवंति दोसा इगुणवीसं ॥२६०॥
(नाभीकरयलकुप्पर-ओस्सारिअपारिअम्मि थुई)

तत्रैते कायोत्सर्गे भवन्ति दोषा एकोनविंशतिरिति सटङ्क । कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेणान्यत्रोच्छ्वासितादिभ्यः क्रियान्तराध्यासमाश्रित्य य उत्सर्गस्त्यागो "नमो अरिहंताणमिति" वचनात्, पूर्वं स कायोत्सर्गः । स च द्वेधा-चेष्टायामभिभवे च । चेष्टायां गमनागमनादावैर्यापथिक्यादिप्रतिक्रमणभावी । अभिभवे च सुरादिविधीयमानोपसर्गजयार्थम । यदुक्तम्-"सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे य नायव्वो । भिक्खायरियाइ पढमो, उवसग्गऽभिजुंजणे बीओ" त्ति । स च दोषरहितो विधीयमानो निर्जराहेतुर्भवति । दोषाश्चैते-घोटकलतास्तम्भकुड्यमालशवरीवधूनिगमलम्बोत्तरस्तनोर्द्धिकासंयतीखलीनवायसकपित्थशीर्षोत्कम्पितमूकाङ्गुलिभ्रकुटीवारुणीप्रेक्षा इत्येकोनविंशतिः ।

इदानीं नामतोऽभिहितानेतान् स्वयमेव विवृणोति-

आसो व्व विसमपायं, आउंटावित्तु ठाइ उस्सग्गे ।
कंपइ काउस्सग्गे, लय व्व खरपवणसंगेणं ॥ २६१ ॥
खंभे वा कुड्डे वा, अवट्ठंभिय कुणइ काउसग्गं तु ।
माले य उत्तमंगं, अवठंभिय ठाइ उस्सग्गं ॥ २६२ ॥
सवरी वसणविरहिया, करेहिं सागारियं जह ठवेइ ।
ठइऊण गुज्झदेसं, करेहिं इय कुणइ उस्सग्गं ॥ २६३ ॥
अवणामिउत्तमंगं, काउस्सग्गे जहा कुलवहु व्व ।
नियलियओ विव चरणे, वित्थारिय अहव मेलविउं ॥२६४॥
काऊण चोलपट्टं, अविहीए नाहिमंडलस्सुवरिं ।
हेट्ठा य जाणुमित्तं, चिट्ठइ लंबुत्तरुस्सग्गं ॥ २६५ ॥
पच्छाइऊण यथणे, चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं ।
दंसाइरक्खणट्ठा, अहवाऽणाभोगदोसेहिं ॥ २६६ ॥
मेलित्तु पण्हियाओ, चलणे वित्थारिऊण बाहिरओ ।
काउस्सग्गो एसो, बाहिरउद्धी मुणेयव्वो ॥ २६७ ॥
अंगुट्ठे मेलविओ, वित्थारिय पण्हिया उ बाहिं तु ।
काउस्सग्ग एसो, भणिओ अब्भिंतरुद्धि त्ति ॥ २६८ ॥
कप्पं वा पट्टं वा, पाउणिय संजइ व्व उस्सग्गं ।
ठायइ खलिणं च जहा, रयहरणं अग्गओ काउं ॥२६९॥
भामेइ तहा दिट्ठिं, चलचित्तो वायसो व्व उस्सग्गे ।
छप्पइयाण भएण, कुणइ य पट्टं कविट्ठं च ॥ २७० ॥
सीसं पकंपमाणो, जक्खाइट्ठो व्व कुणइ उस्सग्गं ।
मूउ व्व हुहुअंतो, तहेव छिज्जतमाईसुं ॥ २७१ ॥
अंगुलिभमुहाओ वि य, चालंतो कुणइ तह य उस्सग्गं ।
आलावगगणणट्ठा, संठवणत्थं च जोगाणं ॥ २७२ ॥
काउस्सग्गम्मि ठिओ, सुरा जहा बुगबुगेइ अव्वत्तं ।
अणुपेहंतो तह वा-नरो व्व चालेइ हुट्ठउडे ॥ २७३ ॥

आकुञ्चितस्यैकपादस्य घोटकस्येव स्थानं घोटकदोषः । कम्पते कायोत्सर्गे लतेव खरपवनसङ्गेनेति लतादोषः । स्तम्भे वा कुड्ये वा अवष्टभ्य स्थानं स्तम्भकुड्यदोषः । तथा माले उपरितनभागे उत्तमाङ्गमवष्टभ्य करोत्युत्सर्गमिति मालदोषः । शवरी पुलिन्द्रिका वसनविरहिता कराभ्यां सागारिकं गुह्यं यथा स्थगयति, एवं स्थगयित्वा गुह्यदेशं कराभ्यां करोत्युत्सर्गमिति शवरीदोषः । अवनामितोत्तमाङ्गः कुलवधूरिव तिष्ठन् करोत्युत्सर्गमिति वधूदोषः । निगडनियन्त्रित इव चरणौ विस्तार्यायवा मीलयित्वा करोत्युत्सर्गमिति निगडदोषः । कृत्वा चोलपट्टमविधिना नाभिमण्डलस्योपरि अधस्ताच्च जानुमात्रं तिष्ठति कायोत्सर्गे इति लम्बोत्तरदोषः । अवच्छाद्य स्थगयित्वा स्तनौ चोलपट्टेन दंशादीनां रक्षणार्थम्, अथवा अनाभोगदोषेण, अज्ञानदोषेण वा करोत्युत्सर्गमिति स्तनदोषः । ऊर्द्धिकादोषो द्विधा-बाह्योर्द्धिकादोषोऽभ्यन्तरोर्द्धिकादोषश्च । तत्र च द्वावपि पदौ क्रमेण मीलयित्वा पार्ष्णी चरणावग्रभागे विस्तार्य बाह्यतो बहिर्मुखं तिष्ठत्युत्सर्गे एष बहिःशकटोर्द्धिकादोषो ज्ञातव्यः । तथा-अङ्गुष्ठौ मीलयित्वा विस्तार्य पार्ष्णी तु बाह्यतस्तिष्ठत्युत्सर्गे एष भणितोऽभ्यन्तरशकटोर्द्धिकादोषः । कल्पं वा पटीपट्टं वा चोलपट्टं संयतीव स्कन्धदेशयोरुपरि प्रावृत्य तिष्ठत्युत्सर्गे इति संयतीदोषः । खलीनमिव कविकमिव रजोहरणमग्रतः कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति खलीनदोषः । वाऽत्र समुच्चये । अन्ये खलीनार्तवाजिवदूर्ध्वाधःशिरःकम्पनं खलीनदोषमाहुः । तथा-दृष्टिं भ्रमयति चलचित्तो वायस इवेतस्ततो नयनगोलकभ्रमणं दिङ्निरीक्षणं वा कुरुते उत्सर्गं इति वायसदोषः । षट्पदिकाभयेन कपित्थवद्वृत्ताकारत्वेन संवर्त्य जङ्घादिमध्ये पट्टं कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति कपित्थदोषः । एवमेव मुष्टिं बध्वा स्थानमित्यन्ये । भूताविष्टस्येव शीर्षं कम्पयतः कायोत्सर्गकरणं शीर्षोत्कम्पितदोषः । तथा-छिद्यमानेषु केनचित् गृहस्थादिना कायोत्सर्गव्यवस्थितप्रत्यासन्नप्रदेशवर्तिषु हरितादिषु तन्निवारणार्थं मूक इव हु हुमित्यव्यक्तं शब्दं कुर्वंस्तिष्ठत्युत्सर्गे इति मूकदोषः । तथाऽऽलापकगणनार्थमङ्गुलीश्चालयन्, तथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापारान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् भ्रूसंज्ञां कुर्वन्, चकारादेवमेव वा भ्रूनृत्तं कुर्वन्नुत्सर्गे तिष्ठतीति अङ्गुलिभ्रूदोषः । तथा-कायोत्सर्गस्थितो निष्पद्यमानसुरेव बुडबुडाशब्दमव्यक्तरावं करोतीति वारुणीदोषः । अनुवारुणीमत्तस्येव घूर्णमानस्य स्थानं वारुणीदोष इत्यन्ये । अनुप्रेक्षमाणो नमस्कारादिकं चिन्तयन्नुत्सर्गतो वानर इव चलयत्योष्ठपुटाविति प्रेक्षादोष इत्येकोनविंशतिः । अन्ये त्वेकविंशतिं मन्यन्ते । तत्र स्तम्भकुड्यदोषेण स्तम्भदोषः, कुड्यदोषश्चेति द्वौ विवक्षितौ । तथाऽङ्गुलिभ्रूदोषेणापि अङ्गुलिदोषो, भ्रूदोषश्चेत्येवमेकविंशतिः । एके चान्यानपि कायोत्सर्गदोषानाहुः-

यथा—

" निष्ठीवन वपु स्पर्श, प्रपञ्चबहुला स्थिति ।
सूत्रोदितविधेर्न्यून, वयोऽपेक्षाविवर्जनम् ॥ १ ॥
कालापेक्षाव्यतिक्रान्ति-र्व्याक्षेपासक्तचित्तता ।
लोभाकुलितचित्तत्व, पापकार्योद्यम परः ॥ २ ॥
कृत्याकृत्यविमूढत्व, पट्टकाद्युपरि स्थितिरिति " ।

इदानीमेतानुपसहरन्नाह—

एए काउस्सग्गं, कुणमाणेण विबुहेण दोसा उ ।
सम्मं परिहरियव्वा, जिणपडिसिद्ध त्ति काऊण ॥२७४॥

एते पूर्वभणिता दोषा कायोत्सर्गं कुर्वता विबुधेन सम्यग् परिहर्तव्या, जिनैस्तीर्थकरैः प्रतिषिद्धा निवारिता इति कृत्वा । जिनाज्ञाकरण हि सर्वत्र श्रेयस्करमिति । प्रव० ५ द्वार । ध० २० । आव० । आ० चू० ।

(१४) साम्प्रत कस्येति द्वार व्याख्यायते । नन्वोक्तदोषरहितोऽपि यस्याऽयं कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तमुपदर्शयन्नाह—

वासीचंदणकप्पो, जो मरणे जीविए अ समसन्नो ।
देहे अप्पडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥ २७५ ॥

वासीचन्दनकल्प उपकार्यनुपकारिणोरपि मध्यस्थ । उक्त च—"जो चंदणेण बाहु, आलिंपइ वासिणा उ तच्छेइ । संथुणइ जो य निंदति, महरिसिणो तत्थ समभावो" ॥ अनेन पर प्रति माध्यस्थ्यमुक्त भवति । तथा-यो मरणे प्राणत्यागलक्षणे, जीविते च प्राणसधारणलक्षणे, चशब्दादिहलोकादौ च समसज्ञ, तुल्यबुद्धिरित्यर्थ । अनेन चात्मान प्रति माध्यस्थ्यमुक्त भवति । तथा-देहे च शरीरे चाप्रतिबद्धश्चशब्दादुपकरणादौ च कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तस्येति गाथार्थ ॥ २७५ ॥

तिविहाऽणुवसग्गाणं, दिव्वाणं माणुसाण तिरिआणं ।
सम्ममहिआसणाए, काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥२७६॥

त्रिविधाना त्रिप्रकाराणामुपसर्गाणां दिव्यानां व्यन्तरादिकृतानां, मनुष्याणा म्लेच्छादिकृतानां, तैरश्चादीना सिंहादिकृतानां सम्यगमध्यस्थभावेन अतिसहनायां सत्यां कायोत्सर्गो भवति शुद्ध, अविपरीत इत्यर्थ । ततश्चोपसर्गसहिष्णो कायोत्सर्गो भवतीति गाथार्थ ॥२७६॥

(१५) सांप्रत फलद्वारमभिधीयते । तच्च फलमिहलोकपरलोकापेक्षया द्विधा भवति । तथा चाह ग्रन्थकार—

इहलोगम्मि सुभद्दा, राया उदिओ अ सिट्ठिभज्जा य ।
सो दासखग्गथंभण, सिद्धीसग्गो अ परलोए ॥२७७॥

इहलोके यत्कायोत्सर्गफल तत्र सुभद्रोदाहरणम् । कथम् ?—"वसंतपुर नगर, तत्थ जियसत्तू राया, जिणदत्तो सेट्ठी, सजयसड्ढओ, तस्स सुभद्दा दारिगा धूआ अतीव रूविस्सिणी ओरालियसरीरा साविगा य । स त असाहम्मियाण न देइ । तच्चणियसड्ढेण चपाओ वाणिज्जेण्ण दिट्ठा । तीए रूवलोभेण कवडसड्ढओ जाओ । धम्म सुणेइ, जिणसाहु य पूजेइ । अन्नया भावो समुप्पन्नो आयरियाण आलोयइ, तेहिं वि अणुसासिओ, जिणदत्तेण वि से भाव नाऊण धूआ दिन्ना, वीवाहो कओ, चिरकालस्स वि सो त गहाय चप गओ, णणदसासुगमाइयाओ तच्चणियसड्ढिगाओ त खिसति । तओ जुअगं घरं कय, ततोऽणेगसमणसमणीओ य पाओग्गनिमित्तमागच्छति । ततो तच्चणियसड्ढियाओ भणति—एसा सजतेण वृढ रत्त त्ति । भत्तारो से न पत्तियइ । अन्नया कोइ वलरूवाइगुणपुन्नो तरुणभिक्खू पाओग्गनिमित्त गओ । तस्स य वाउक्खूय अच्छिम्मि कणुग पविट्ठ । सुभद्दाए तं जीहाए लिहिऊण अवणीय, तस्स निडाले तिलओ संकतो । तेण वि दव्वखित्तचित्तेण ण जाणिओ । सो नीसरइ ताव तच्चणियसड्ढगाहिं अत्थकागयस्स भत्तारस्स दंसिओ—पेच्छ इम वीसत्थरमियसंकत समणाए सतग तिलगं ति । तेण वि चिंतिय—किमिदमेव पि होहेज्जा?, अहवा बलवन्तो विसया, अणेगभवब्भत्थगा य किं न होइ त्ति मदनेहो जाओ । सुभद्दाए वि कहवि विदिओ एस वुत्ततो । चिंतिय च ताए—पावयणिओ एस उड्डाहो कह फेडिओ त्ति पवयणदेवयनिमित्त धारिऊण रयणीए काउस्सग्ग ठिया । अह सांनिहिया काइ देवया तीए सीलसमायार नाऊण आगया । भणिय च तीए—किं ते पिय करेमि त्ति ?, तीए भणियं—उड्डाहं फेडिहि । देवयाए भणिय—फेडेमि, पच्चूसे इमाए नयरीए दाराणि थभेमि । ततो आउलगेसु नगरेसु आगासत्था भणिस्सामि । जाए परपुरिसो मणेण वि ण चिंतिओ सा इत्थिगा चालणीए पाणियं छोढु गतूण तिन्नि वारे छडेइ, तओ उग्घाडाणि भविस्सति । ततो तुम वि भासिए सेसनागरिगाहिं पच्छा जाएज्जासि, ततो उग्घाडिहिसि, ततो फिट्टिहि उड्डाहो, पसस च पाविहिसि । तहेव कय, पसस च पत्ता" ॥ एय इहलोइय काउस्सग्गफल ॥ अन्ने भणति—"वाणारसीए सुभद्दाए काउस्सग्गो कओ, पलुगच्छुप्पत्ती भाणियव्वा । राया उदिओदिए त्ति । उदिओदियस्स रन्नो भज्जा लोभागयतिवरोहियस्स उवसग्गपसमण जायं सेट्ठिभज्जाए त्ति । चपाए सुदसणो सेट्ठिपुत्तो । सो सावगो अट्ठमिचउद्दसीसु चच्चरे उवासगपडिम पडिवज्जइ । सो महादेवीए पत्थिज्जमाणो न इच्छइ, अन्नया वोसट्ठकाउदेवपडिम त्ति वत्थवेढिओ चेडीहिं अंतेउर अतिणीओ, देवीए निबधो कओ । नेच्छइ पडुच्छाए । कोलाहलो कओ, रन्ना वज्झो आणेतो, निज्जमाणो भज्जाए से मित्तवतीए साविगाए सुय, सव्वाण अक्खस्साराधणाए काउस्सग्ग ठिया । सुदसणस्स विय अट्ठक्खडाणि कीर तु त्ति सव्वे असी बाहिउ सव्वाण अक्खेण पुप्फदाम कओ । मुक्को रन्ना पूइओ य । ताहे मित्तवतीए पारिय । तहा (सो दास त्ति) सो दासो राया जहा नमोक्कारे (खग्गथभणे त्ति) कोइ विराहियसामन्नो खग्गो समुप्पन्नो अट्टाए मारेइ । साहू पडाविया तेण दिट्ठा आगओ, इयरे वि काउस्सग्गेण ठिता न भवइ, पच्छा तं दट्ठूण उवसतो" । एतदैहिक फल । (सिद्धी सग्गो य परलोए) सिद्धिर्मोक्ष, स्वर्गो देवलोक । चशब्दाच्चक्रवर्तित्वादि परलोके फलमिति गाथार्थ । आह—सिद्धिः सकलकर्मक्षयादवाप्यते; "कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष" इति वचनात् । सा कथ कायोत्सर्गफलमिति । उच्यते-कर्मक्षयस्यैव कायोत्सर्गफलत्वात् परम्पराकारणस्यैव विवक्षितत्वात् कायोत्सर्गफलत्व कर्मक्षयस्य । कथम् ?, यत आह भाष्यकार—

जह करगओ निकिंतइ, दारुं इंतो पुणो वि वच्चंतो ।
इअ किंतति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइं ॥२७८॥

यथा (करगओ त्ति) करपत्र निकृन्तति छिनत्ति विदारयति, किम्?, दारु काष्ठ, किं कुर्वन् ?, आगच्छन्, पुनश्च व्रजन्नित्यर्थः । एवमेवं

घ्नन्ति सुविहिताः साधवः कायोत्सर्गेण हेतुभूतेन कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । तथाऽन्यत्राप्युक्तम्-
" संवरेण भवे गुत्तो, गुत्तीए संजमुत्तमो ।
संजमाओ तवो होइ, तवाओ होइ निज्जरा ॥
निज्जराए सुन कम्म, खविज्जइ कमसो सदा ।
आवस्सगजुत्तस्स, काउस्सग्गे विसेसओ" ॥ इत्यादिगाथार्थः ।

आह-किमिदमित्थमिति ?, अत आह-

काउस्सग्गे जह सु-ट्ठिअस्स भज्जंति अंगुवंगाइं ।
इअ भिंदति मुणिवरा, अट्ठविहं कम्मसंघाय ॥ १७९ ॥

कायोत्सर्गे सुस्थितस्य सतः भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि । (इअ त्ति) एव चित्तनिरोधेन भिन्दन्ति विदारयन्ति मुनिवराः साधव. अष्टविध-मष्टप्रकार कर्मसघात ज्ञानावरणादिलक्षणमिति गाथार्थ. ॥७६॥
आह-यदि कायोत्सर्गे सुस्थितस्य भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि ततश्च दृष्टापकारित्वादेवालमेतेनेत्यत्रोच्यते-सौम्य ! नैवम्-

अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयबुद्धी ।
दुक्खपरिकिलेसकर, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ १८० ॥

अन्यदिद शरीर निजकर्मोपात्तमालयमात्रमशाश्वतम्, अन्यो जीवोऽस्याधिष्ठाता शाश्वत. स्वकृतकर्मफलोपभोक्ताऽयम्, इत्येवकृतबुद्धि. सन् दु खपरिक्लेशकरं छिन्धि ममत्व शरीरात् । किंच-यद्यनेनाप्यसारेण कश्चिदर्थ सपद्यते पारलौकिक , ततः सुतरां यत्न कार्य इति गाथार्थ· ॥ २८० ॥

किंचैव च भावनीयम्-

जावइआ किर दुक्खा, संसारे जे मए समणुभूआ ।
तत्तो दुव्विसहतरा, नरएसु अणोवमा दुक्खा ॥१८१॥
तम्हाउ निम्ममेणं, मुणिणो उवलद्धसुत्तसारेण ।
काउस्सग्गो उग्गो, कम्मखयट्ठाय कायव्वा ॥ २८२ ॥

यावन्त्यकृतजिनप्रणीतधर्मेण, किलशब्द· परोक्षाऽऽगमवादससूचक । दु खानि शारीरमानसानि । ससारे तिर्यक्नरनारकामरभवानुभवलक्षणे, यानि मया अनुभूतानि, ततस्तेभ्यो दुर्विषहतराणि अग्रतोऽप्यकृतपुण्यानां नरकेषु सीमन्तकादिष्वनुपमानि उपमारहितानि दुःखानि, दुर्विषहत्व चैतेषां शेषगतिसमुत्थदु·खापेक्षयेति गाथार्थ. ॥ २८१ ॥ तस्मान्निर्ममेन ममत्वरहितेन मुनिना साधुना, किंभूतेन ?, उपलब्धसूत्रसारेण विज्ञातसूत्रपरमार्थेन, किम् ?, कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे, उग्रः शुभाध्यवसाय· प्रबलकर्मक्षयार्थं न तु स्वर्गादिनिमित्त कर्तव्य इति गाथार्थः ॥ २८२ ॥ इत्युक्त कायोत्सर्गः । आव० ५ अ० ।

अधुना कायोत्सर्गफल प्रश्नपूर्वकमाह-

काउस्सग्गे णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। काउस्सग्गे णं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्त विसोहेइ । विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरु व्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥ १२ ॥

हे भदन्त ! कायोत्सर्गे अतीचारविशुद्ध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जनेन जीवः किं जनयति ?। गुरुराह-हे शिष्य ! कायोत्सर्गेण अतीतं चिरकालसम्भूत, प्रत्युत्पन्नम् आसन्नकाले वर्तमानं प्रायश्चित्तम्, उपचारात् प्रायश्चित्तार्हम् अतीचार विशोधयत्यपनयति। विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निर्वृतं स्वस्थीकृतं हृदयं यस्य स ... यः । प्रशस्तसद्भावनया उपगतः सुख सुखेन विहरति परम्परया विचरति। क इव ?, अपहृतभारो भारवाह इव। उत्तारितभारभरो भारवाहकः सुख सुखेन विहरति, तथा ...योत्सर्गेण प्रायश्चित्तविशुद्धिं विधाय स्वस्थीकृतहृदयो जीवः ...खेन विचरतीति भाव· । उत्त० २६ अ० ।

कायोत्सर्गातिचारे प्रायश्चित्तम्-

फिट्टियमयमुस्सारिय-भग्गे चेगाऽऽवंदणुस्सग्गे ।
निव्वीइयपुरिमेगा-सणाइ सव्वेसु चाचामं ॥ ५१ ॥

स्फिटिते स्वयमुत्सारिते भग्ने च एकादिवन्दिनोत्सर्गे निर्वृकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनानि सर्वेषु चाचामाम्लमिति । अथ भाष्यार्थ निद्राऽऽदिप्रमादवशतो गुरुभिः सह प्रतिक्रमणे स्फिटितेन ... त एकस्मिन्कायोत्सर्गे निर्वृकृतिक द्वयोः पुरिमार्द्ध, त्रयाणामेकाशनम् । तथा-गुरुभिरपारितेऽपि कायोत्सर्गे स्वयमात्मना प्रथममेव पारिते भग्ने वा कायोत्सर्गे अचिन्तयित्वाऽपि सर्वं चिन्तनीयमन्तराल एव पारिते एकद्वित्रिसख्ये कायोत्सर्गे यथासख्य निर्वृकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनानि सर्वेष्वपि च कायोत्सर्गेषु स्फिटितत्वे भग्नत्वे च आचामाम्लम् । एव वन्दनकेऽपि स्फिटितत्व, पश्चात्पतितत्वे गुरोर्वन्दनक ददानस्य स्वयमप्रवृत्त , प्रदत्ते कृतापकृतत्वेन भग्ने वा यथासङ्ख्यमेकस्मिन् द्वयेषु त्रिषु सर्वेषु आचामाम्लम ॥५१॥

यस्तु कायोत्सर्गादीनि न कारयेत, तस्य किमित्याह-

अकएसु य पुरिमासण-माचामं सव्वमो चउत्थं तु ।
पुव्वमपेहिय थंडिल-निसि वोसिरिणे दिया सुवणे ॥५३॥

अकृतेषु पुनः कायोत्सर्गेषु वन्दनकेषु च एकादिषु एकाद्वित्रिषु पुरिमैकाशनाचामाम्लानि (सव्वसो चउत्थ तु) सर्वस्मिस्तु प्रतिक्रमणे अकृते चतुर्थं तु। तथा पूर्वं सध्यायामप्रेक्षितस्थण्डिले निशि सञ्ज्ञोत्सर्गे कृते चतुर्थम । तथा दिवसे निद्राकृते चतुर्थम् । जीत०। (कायोत्सर्गस्तु श्रावकस्यास्तीति 'आवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे ४५७ पृष्ठे प्रतिपादितम, व्याख्यानादौ कायोत्सर्गकरण 'वक्खाणविहि' शब्दादौ वक्ष्यते)

काउस्सग्गपडिमा-कायोत्सर्गप्रतिमा-स्त्री० । पञ्चम्यामुपासकप्रतिमायाम्, उपा० १ अ० । (स्वरूप चास्याः 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीय भागे ११०४ पृष्ठे समुक्तम)

काऊण (णं)-कृत्वा-अव्य० । " क्त्वस्तुमत्तूणतुआणाः " ॥ ८ । २ । १४६ ॥ इति त्वाप्रत्ययस्य तूणादेशः । 'कट्टु' इति तु आर्षे । प्रा०२ पाद । "क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा" ॥८।१।२७॥ इत्यनुस्वारान्तादेशो वा । प्रा० १ पाद। "आ' कृगो भूतभविष्यतोश्च" ॥८।४।२१४॥ इति कृगोऽन्त्यस्य त्वाप्रत्यये आकारान्तादेश. विधायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । पञ्चा० ।

काउल्लेस्स-कापोतलेश्य-त्रि० । कापोतलेश्या विद्यतेऽस्य, कापोतलेश्यापरिणामवति जीवे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

काउलेस्सा-कापोतलेश्या-स्त्री० । कपोतस्य पक्षिविशेषस्य वर्णेन तुल्यानि यानि द्रव्याणि, धूम्राणि इत्यर्थ.। तत्साहाय्यादुजाता कापोतलेश्या । स्था० १ ठा० १ उ० । वर्णतोऽतसीकुसुमपारावतशिरोधराफाखिनीकन्दलादिधूम्रद्रव्यतुल्यवर्णा, रसवस्तरुणाम्रपलककपित्थादिसमाधिकरसे , गन्धत· कथितस-

रीसृपादिसमधिकगन्धैः, स्पर्शेन कठोरपलाशतरुपत्रादिसमधिकस्पर्शैः सकलप्रकृतिनिष्यन्दभूतैः कपोताभद्रव्यैर्निष्पन्ने लेश्याभेदे, पा० ।

काओदर–काकोदर–पुं० । स्त्री० । कुत्सित कुटिलमकति, अक वक्रगतौ, अच्, को काटेश । काकमुदरं यस्य । वाच० दर्वीकरसर्पविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तस्य उरसा कुटिलगामित्वात् तथात्वम् । स्त्रियां तु जातित्वाद् ङीष् । वाच० ।

काओली–काकोली–स्त्री० । काकोलशब्दाद् गौरादित्वाद् ङीष् । लताभेदे, वाच० । अनन्तजीवे कन्दभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

काओवग–कायोपग–पुं० । कायात्कायेषु चोपगच्छन्तीति कायोपगा । संसारिषु, "तेणातिसजोगमविप्पहाय, कायोवगाऽणंतकरा भवति " । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

काक [ग]–काक–पुं० । वायसे, अनु० ३ वर्ग । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० । घूकारौ, त० । पञ्चत्रिंशत्तमे महाग्रहे, " दो काका " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

काक [गं] दिय–काकन्दिक–पुं० । काकन्दी नगरी, तद्भवः ज्ञा० ७ अ० । काकन्द्यां नगर्यां जाते, सुहस्तिन शिष्ये च । " सुट्ठियसुपडिबुद्धा कोडियकाकंदगा वग्घावच्चसगुत्ता " कौटिककाकन्दिकाविति तु नामनी, अनेन सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ इति नामनी, कोटिश सूरिमन्त्रजपात् काकन्द्यां नगर्यां जातत्वाच्च कौटिककाकन्दिकाविति विशेषणम् । कल्प० ८ क्षण० । " तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दिकावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कोटिकगच्छस्तत समभूत् ॥१॥" ग० ४ अधि० ।

काक [गं] दिया–काकन्दिका–स्त्री० । स्थविरादभद्रयशात् भारद्वाजसगोत्रात् निर्गतस्य उडुपाटिकगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण० ।

काकंदी–काकन्दी–स्त्री० । नगरीभेदे, ज्ञा० ९ अ० । या पुष्पदन्तस्य तीर्थकरस्य जन्मभूमि । स्था० ५ ठा० १ उ० । यत्र च भद्रासार्थवाहीसुतो धन्यको नाम महावीरसमीपे धर्ममनुश्रित्य महाविभूत्या प्रव्रजित । स्था० १० ठा० । अन्त० । अनु० ।

काक[ग] जंघ–काकजङ्घ–पुं० । स्वनाम्ना ख्यातिमागते पाटलिपुत्रेश्वरे, येन उज्जयिनीपतिः अवरुद्धो भयात् शूलेन मृतः, तत्सत्कर्मकर्मठेन तैललेपादापादितकाकश्यामजङ्घताऽऽसीत् । आ० क० । (' सिप्पसिद्ध ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

काक (ग) जंघा–काकजङ्घा–स्त्री० । काकस्य जङ्घेवाऽवयवो यस्याः ।

" काकजङ्घा नदीकान्ता, काकतिक्ता सुलोमशा ।
पारावतपदी दासी, काकाह्वाऽपि प्रकीर्तिता ॥
काकजङ्घा हिमा तिक्ता, कषाया कफपित्तजित् ।
निहन्ति ज्वरपित्तास्र–ज्वरकण्डूविषक्रमीन् " ॥

इत्युक्तगुणे (वाच०) वनस्पतिभेदे, अनु० । " काकजंघा ति वा" (धन्याऽनगारस्य जङ्घा) सा हि परिदृश्यमानस्नायुका स्थूलसन्धिस्थाना च भवतीति तया जङ्घयोरुपमानम्, अथवा काको वायस । अनु० ३ वर्ग ।

काक [ग] णि–काकणि–स्त्री० । क्षत्रियभाषया राज्ये, विशे० । " चंदगुत्तपपुत्तो य, बिंदुसारस्स नत्तुओ । असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायति कागणिं " ॥ ८६२ ॥ बृ० १ उ० । रूपकद्रव्यस्य अशीतितमे भागे, उत्त० ७ अ० । स० ।

काक [ग] णिमंसग–काकणिमांसक–न० । देहोत्कृत्तश्लक्ष्णमांसखण्डे, विपा० १ श्रु० २ अ० । दशा० । देहोत्कृत्तश्लक्ष्णमांसखण्डे, औ० ।

काक [ग] णिरयण–काकणिरत्न–न० । काकणी सुवर्णमयी अधिकरणीसंस्थानेति तद्रूप रत्नम् । स० १४ सम० । चक्रवर्तिरत्नभेदे, " चउरंगुलप्पमाणा सुवण्णवरकागणी नेया " स्था० ७ ठा० । काकणिरत्नमष्टसौवर्णिक समचतुरस्रसंस्थानसंस्थित विषापहारसमर्थ, यत्र चन्द्रप्रभा सूर्यप्रभा वह्निर्दीप्तिर्वा न तमःस्तोमपहर्तुमलं समर्था, तत्र तमिस्रगुहायामपि निबिडतिमिरनिरस्करणदक्षं, यस्य दिव्यप्रभावकलिततया द्वादशयोजनानि यावत् तमिस्रविसरविनाशका गभस्तयो विवर्धन्ते, यच्च सर्वकाल चक्रवर्ती निजस्कन्धावारे रात्रौ करोति, तद्धि प्रकाश दिवसालोकभूत रजन्यामादधाति, यस्य च प्रभावेन चक्रवर्ती द्वितीयमर्धभरतमभिजेतु सकलसैन्यसमेतस्तमिस्रगुहा प्रविशति । तथाहि–तत्र प्रविष्ट सन् पूर्वभित्तितटे पश्चिमभित्तितटे च प्रत्येक योजनान्तरितानि पञ्चधनुःशताऽऽयामविष्कम्भान्युभयपार्श्वयोर्योजनोद्द्योतकराणि चक्रनेमिसंस्थानानि चन्द्रमण्डलप्रतिनिभानि वृत्तहिरण्यरेखारूपाणि गोमूत्रिकान्यायेनैकस्यां भित्तौ पञ्चविंशतिरपरस्यां चतुर्विंशतिरित्येकोनपञ्चाशत मण्डलान्यालिखन् व्रजति, तानि च मण्डलानि यावच्चक्रवर्ती चक्रवर्तिपदं परिपालयति तावदवतिष्ठते, गुहाऽपि तथैवोद्घाटिता तिष्ठति, उपरते तु चक्रिणि सर्वमुपरमति । प्रव० २१२ द्वार । अनु० । आ० चू० । उत्त० । जं० । आदित्ययशसस्तु काकणीरत्न नासीत् सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान्, महायश प्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानीत्येव यज्ञोपवीतप्रसिद्धि' । आ० म० प्र० ।

एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठ सोवण्णिए कागिणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अधिकरणिसंठिए पण्णत्ते ।

एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिन इत्यन्यान्यकालोत्पन्नानामपि तुल्यकाकिणीरत्नप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहण, निरुपचरितराजशब्दविषयज्ञापनार्थं राजग्रहण, षट्खण्डभरतादिभोक्तृत्वप्रतिपादनार्थं चतुरन्तचक्रवर्तिग्रहणमिति , अष्टसौवर्णिक काकिणीरत्न, सुवर्णमान तु चत्वारि मधुरतृणफलान्येकः श्वेतसर्षप , षोडश श्वेतसर्षपा एक धान्यमाषफल, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जा एक कर्ममाषक , षोडश कर्ममाषका एक सुवर्णः । एतानि च मधुरतृणफलादीनि भरतकालभावीनि गृह्यन्ते, यत सर्वचक्रवर्तिना तुल्यमेव काकिणीरत्नमिति षट्तलं द्वादशास्रि अष्टकर्णिकम्–अधिकरणीसंस्थित प्रज्ञप्तमिति । तत्र तलानि मध्यखण्डानि, अस्रय कोटय , कर्णिका कोणविभागा , अधिकरणी स्वर्णकारोपकरण प्रतीतमेवेति । इद च चतुरङ्गुलप्रमाणम् । स्था० ८ ठा० ।

काक [ग] णिलक्खण–काकणिलक्षण–न० । कलाभेदे, काकणिरत्नपरीक्षायाम्, ज्ञा० १ अ० । स० । औ० ।

काक[ग]तालिज्ज–काकतालीय–न० । काकागमनसमये ताल-

पतनमतर्कितहेतुक सदिव अवितर्कितसम्भवे याहच्छिकागतौ, वाच० । यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वक, न काकस्य बुद्धिरस्ति मयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः-काकोपरि पतिष्यामि । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

काक(ग)तुंम–काकतुण्ड–पु० । ६ न० । काकास्ये, काकतुण्डस्येव वर्णोऽस्त्यस्य अच् । कालागुरुणि, वाच० । अष्ट० ।

काक[ग]धट्ठ–काकधृष्ट–त्रि० । काकवद्धृष्टे, "तत्थ एगो भणति कागधट्ठो भणाति," आ० चू० ४ अ० । आव० ।

काक[ग]पाल-काकपाल-पु० । महाकुष्ठभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

काक[ग]पिंमी–काकपिण्डी–स्त्री० । अग्रपिण्डे, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

काक[ग]ल–काकल–न० । ईषत् कलो यस्मात् , को कादेशः । ग्रीवास्थे उन्नतप्रदेशे, षष्टिकधान्यभेदे च । वाच० । अणु० ।

काक[ग]लि[ली]–काकलि[ली]–स्त्री० । कल इन् ईषत् कलि०, कोः कादेशः, कृदिकारान्तत्वाद् वा ङीप् । सूक्ष्ममधुरास्फुटध्वनौ, वाच० । सूक्ष्मकण्ठ्यगीतध्वनौ, स्था० १० ठा० । काकलं गलस्थोन्नतप्रदेशाकार० अस्त्यस्य अच्, गौरा० ङीप् । काकलाकारे स्तेयसाधने पदार्थे, काक काकवर्णमर्धफलं लाति–गौरा० ङीष् । गुञ्जायाम्, वाच० । अभिनन्दनस्य देव्याम्, श्रीअभिनन्दनस्य काकलीनाम्नी देवी श्यामकान्ति० पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया नागाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

काकवस–काकवर्ण–पु० । काकजङ्घनृपे, यो हि तैलेन जङ्घयोर्दग्धत्वात् काकश्यामजङ्घः । आ० म० द्वि० । आ० चू० । ('सिप्पसिद्ध' शब्दे कथा वक्ष्यते)

काक[ग]स्सर–काकस्वर–पु० । श्लक्ष्णानाऽऽश्रये स्वरे, जं० ३ वक्ष० ।

कागिणि–काकिणी–स्त्री० । काकिणी चतुर्भागो माषकस्य इत्युक्ते माषकचतुर्थभागे, पणचतुर्थभागे च । " वराटकानां दशकद्वयं यत्सा काकिणी ताश्च पणः चतस्रः " । वाच० । रूपकरूप्यस्य अशीतितमे भागे, उत्त० ७ अ० । सुवर्णमयेऽधिकरणीसंस्थाने, स० १४ सम० । अष्टसौवर्णिके चक्रवर्तिरत्ने, " अट्ठसोवण्णिक कागणिरयणं " आ० चू० २ अ० । (' अगुल ' शब्दे प्रथमभागे ४५ पृष्ठे प्रसङ्गाद् व्याख्यातैषा)

काकिनी–स्त्री० । पणपादे, मानपादे, वराटके च । वाच० ।

कागी–काकी–स्त्री० । काकस्त्रियाम्, काक्यपि हि किलैक वारं प्रसूते इति प्रसिद्धि० । व्य० ३ उ० । परिव्राजकविद्याविशेषे च । आ० क० । कल्प० । आ० म० । काकवर्णत्वात् वायसीलतायाम्, काकोल्यां च । वाच० ।

काच–कच–त्रि० । "स्वराणां स्वरा० प्रायोऽपभ्रंशे" । ८ । ४ । ३२९ । इत्याकार० । आमे, प्रा० ४ पाद ।

काठ–गाढ–न० । गाह–क । "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ, " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति वर्णविपर्यय० पैशाच्याम्, अतिशयदृढे, प्रा० ४ पाद ।

काण–काण–पु० । स्त्री० । कण निमीलने, संज्ञायां कर्तरि घञ् । काके, वाच० । भिन्नैकाक्षे, दश० ७ अ० । एकाक्षे, प्रव० ११० द्वार । व्य० । नि० चू० । चक्षुर्विकले, बृ० १ उ० । " काणो निमग्नविषमोत्कटदृष्टिरेक०, शक्तो विरागजनने जनतातुराणाम् । यो नैव कस्यचिदुपैति मन०प्रियत्व–मालेख्यकर्मलिखितोऽपि किमु स्वरूपः ? " ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

काणक [ग]–काणक–त्रि० । चोरिते, " काणकमाहिसे वा " यथा चोरितमहिष० । प्रव० ११० द्वार । व्य० । व्याधिविशेषात्सच्छिद्रे, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

कानक–त्रि० । कनकस्येदमण् । कनकसम्बन्धिनि, कनक फलमिव उग्रफलमस्त्यस्य अण् । जयपालबीजे, वाच० ।

काणक्खि–काणाक्षि–न० । अप्रशस्ते चक्षुर्भेदे, महा० ४ अ० ।

काणच्छिया–काणाक्षिका–स्त्री० । काणस्येवाक्षिकारिकायाम्, " तत्थ हसइ गायति य अट्टट्टहासे मुंचति काणच्छिया तो य जहा विडो तहा करेइ " आ० म० द्वि० । बृ० ।

काणण–कानन–न० । कन् दीप्तौ णिच् ल्युट्, ल्युर्वा । स्त्रीपकस्य पुरुषपकस्य चैकतरभागेषु भोग्ये वनविशेषे, यत्परत पर्वतोऽटवी वा भवति तस्मिन्, ज्ञा० १ अ० । सामान्यवृक्षजातियुक्ते नगराभ्यर्णवर्तिनि, शीर्णवृक्षकलिते वा, अनु० । प्रश्न० । ज्ञा० । भ० । औ० । सामान्यवृक्षवृन्दे, जी० ३ प्रति० । वृहद्वृक्षाणामाम्रराजादनादिनरूणां वने, 'काणणुज्जाणसोहिए' उत्त० १९ अ० । कस्य ब्रह्मण आननम् । ब्रह्मणो मुखे, वाच० ।

काणणदीव–काननद्वीप–पु० । जलपत्तनभेदे, आचा० १ श्रु० ७ अ० ६ उ० ।

काणिका–काणिका–स्त्री० । पाषाणमय० पक्केष्टका वा बलिका महत्यश्च काणिका उच्यन्ते । इत्युक्तेऽर्थे, बृ० ३ उ० ।

काणिट्टघर–काणिष्टगृह–न० । लोष्टमयेष्टकागृहे, व्य० ४ उ० ।

काणिय–काण्य–न० । अक्षिरोगे, स च द्विधा–गर्भगतस्योत्पद्यते जातस्य च । तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्ध करोति, तदेवैकाक्षिगतं काणं विधत्ते, तदेव रक्तानुगत रक्ताक्ष, पित्तानुगत पिङ्गलाक्ष, श्लेष्मानुगत शुक्लाक्ष, वातानुगत विकृताक्ष, जातस्य च वातादिजनितोऽभिष्यन्दो भवति । तस्माच्च सर्वरोगा प्रादुःषन्तीति । उक्तं च–"वातात् पित्तात्कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विध० । प्रायेण जायते घोर०, सर्वनेत्रामयाकरः" ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

कादं [यं] ब–कादम्ब–पुं० । स्त्री० । हंसभेदे, स्त्रियां जातित्वेऽपि सयोगोपधत्वान्न ङीष्, किन्तु टाप् । तस्य च नीलवर्णत्वम् । इक्षौ, पु० । बाणे, कदम्बस्येदम् अण् । कदम्बसम्बन्धिनि, त्रि० । कदम्ब एव स्वार्थेऽण् । कदम्बवृक्षे, पुं० वाच० । प्रश्न० । गन्धर्वभेदे च । प्रज्ञा० १ पद ।

कादं[यं] बग–कादम्बक–पु० । कलहंसे, कल्प० ३ क्ष० ।

कादं [यं] बरी–कादम्बरी–स्त्री० । कुत्सितं मलिनमम्बरं

यस्य, कौ कदादेश , कदम्बरो नीलाम्बरो बलभद्रस्तस्य प्रिया अण् । हलिप्रियायां मदिरायाम्, वाच० । कादम्बकदम्बकोटरमुत्पत्तिस्थानत्वेन लाति ला-क० । लस्य र. मत्वर्थे, र वेति बोध्यम् । कादम्ब रस राति रा० क० गौरा० ङीप् । कोकिलायाम्, सरस्वत्याम्, शारिकायां च । वाणभट्टरचिते कथाभेदे, सा च वाणभट्टेन सामि कृता, तत्पुत्रेण समाप्तिं नीता । वाच० । चम्पाया नगर्या नातिदूरेऽटवीभेदे, " चपानयरीए नाइदूरे कायंबरी नाम अडवी हुत्था । तत्थ काली नाम पव्वश्रो " ती० १५ कल्प । अस्या करकण्डुनामधेयो भूमण्डलाखण्डलः । ती० ३५ कल्प ।

काउरिस-कापुरुष-पु० । कुत्सितपुरुष , कोः का, क्षुद्रसत्त्वे कुत्सितनरे, प० व०१द्वार । ज्ञा० । प्रश्न० । भ० । "त तह दुल्लहलभ, विज्जुलयाचचल य माणुसत्त । लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो" ॥ आ० म० द्वि० "स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति " सूत्र० १ श्रु०४ अ०२ उ० । कापुरुषस्येदम् अण् । कुत्सितपुरुषसम्बन्धिनि, त्रि० "कृत्वा कापुरुष कर्म, शूरोऽहमिति मन्यसे " स्त्रियां ङीप् । भावे, कर्मणि च ष्यञ् । कापुरुष्यम् । न० । वाच० ।

काफर-पारसीकशब्द० । इसलामाख्ययवनमताऽनभ्युपगन्तृमतेन धर्मभ्रष्टे, " हिन्दुतुरुक्ककाफराण " ती० १७ कल्प ।

काम-काम-पु० । काम्यन्तेऽभिलष्यन्त एव न तु विशिष्टशरीरसस्पर्शद्वारेणोपयुज्यन्ते ये ते कामा । मनोज्ञेषु शब्देषु संस्थानेषु वर्णेषु च । भ० ।

रूवी भंते ! कामा, अरूवी कामा ? । गोयमा ! रूवी कामा समणाउसो ! नो अरूवी कामा ।

रूपिणः कामा नो अरूपिणः, पुद्गलधर्मत्वेन तेषां मूर्तत्वादिति ।

सचित्ता भंते ! कामा, अचित्ता कामा ? । गोयमा ! सचित्ता वि कामा अचित्ता वि कामा ।

सचित्ता अपि कामाः समनस्कप्राणिरूपापेक्षया; अचित्ता अपि कामा भवन्ति, शब्दद्रव्यापेक्षया असज्ञिजीवशरीररूपापेक्षया चेति ।

जीवा भंते! कामा, अजीवा कामा? । गोयमा! जीवा वि कामा अजीवा वि कामा । जीवाणं भंते ! कामा अजीवाणं कामा ? । गोयमा! जीवाण कामा नो अजीवाणं कामा । कइविहे ण कामा पण्णत्ता? । गोयमा! दुविहा पण्णत्ता । त जहा-सद्दा य रूवा य ।

(जीवेत्यादि) जीवा अपि कामा भवन्ति, जीवशरीररूपापेक्षया । अजीवा अपि कामा भवन्ति, शब्दापेक्षया, चित्रपुत्रिकारूपापेक्षया चेति (जीवाणमित्यादि) जीवानामेव कामा भवन्ति, कामहेतुत्वात् । अजीवाना न कामा भवन्ति, तेषां कामासम्भवादिति । भ० ७ श० ७ उ० । शब्दरूपगन्धरूपे विषये, आतु० । औ० । दश० । उपा० । स्था० । कामौ शब्दरूपे सुखकारणत्वात् सुखम् । औ० । भ० । आ० चू० । सूत्र० । आचा० । आव० ।

चउव्विहा कामा पण्णत्ता । त जहा-सिंगारा कलुणा बीभच्छा रोद्दा । सिंगारा कामा देवाण, कलुणा कामा मणुयाणं, बीभच्छा कामा तिरिक्खजोणियाण, रोद्दा कामा णेरइयाणं ॥

कामाः शब्दादय शृङ्गारा देवानामैकान्तिकात्यन्तिकमनोज्ञत्वेन प्रकृष्टरतिरसास्पदत्वादिति । रूपो हि शृङ्गारो, यदाह व्यवहार - पुन्नार्योरन्योऽन्यरक्तयो रतिप्रकृति शृङ्गार इति । मनुष्याणां करुणा मनोज्ञत्वस्यातथाविधत्वात्, तुच्छत्वेन । क्षणदृष्टनष्टत्वेन शुक्रशोणितादिप्रभवदेहाश्रितत्वेन च शोचनात्मकत्वात् । करुणो हि रसः शोकस्वभाव , करुण शोकप्रकृतिरिति वचनादिति । तिरश्चां बीभत्सा जुगुप्सास्पदत्वात् । बीभत्सरसो हि जुगुप्सात्मक । यदाह-भवति जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्स इति । नैरयिकाणां रौद्रा दारुणाः, अत्यन्तमनिष्टत्वेन क्रोधोत्पादकत्वत् । रौद्ररसो हि क्रोधरूपः । यत आह-रौद्रः क्रोधप्रकृतिरिति । स्था० ४ ठा ४ उ० । ध० । उत्त० । कम भावे घञ् । कन्दर्पाभिलाषे, त० । सूत्र० । अभिलाषे, उत्त० ५ अ० । इच्छायाम्, उत्त० १४ अ० । सूत्र० । आच० । प्रज्ञा० भोगतीव्राभिलाषे, आव० ६ अ० । मदाभिलाषमात्रे, स्था० ५ ठा० १ उ० । इच्छाऽनङ्गरूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । यत आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः स काम । ध० १ अधि० । स्वेच्छायां, मैथुनसेवायां च । प्रज्ञा० २ पद । स्त्रीगात्रपरिष्वङ्गादौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अविचार्याऽऽत्मनः परस्य वा पापहेतौ, ध० १ अधि० ।

कामनिक्षेपः-

नामं ठवणा कामा, दव्वकामा य भावकामा य ।
एसो खलु कामाणं, निक्खेवो चउविहो होइ ॥१६७॥

नामस्थापना कामा इत्यत्र कामशब्दः प्रत्येकमभिसबध्यते । द्रव्यकामाश्च भावकामाश्च चशब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ । एष खलु कामाना निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गाथार्थः ॥१६७॥ तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यकामान्प्रतिपादयन्नाह-

सद्दरसरूवगंध-प्फासा उदयंकरा य जे दव्वा ।
दुविहा य भावकामा, इच्छाकामा मयणकामा ॥१६८॥

शब्दरसरूपगन्धस्पर्शा मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामा , मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि सघाटकविकटमांसादीनि, तान्यपि मदनकामाख्यभावकामहेतुत्वाद्द्रव्यकामा इति । भावकामानाह-द्विविधाश्च द्विप्रकाराश्च भावकामाः-इच्छाकामाः मदनकामाश्च । तत्र एषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इच्छाकामाः । तथा-मदयतीति मदनश्चित्रो मोहोदयः, स एव कामप्रवृत्तिहेतुत्वात्कामा , मदनकामा इति गाथार्थः ॥१६८॥

इच्छाकामान् प्रतिपादयति-

इच्छा पसत्थमपस-त्थिगा य मयणम्मि वेयउवओगो ।
तेणऽहिगारो तस्स उ, वयंति धीरा निरुत्तमिणं ॥१६९॥

इच्छा प्रशस्ताऽप्रशस्ता च । अनुस्वारोऽलाक्षणिकः मुखसुखोच्चारणार्थः । तत्र प्रशस्ता धर्मेच्छा मोक्षेच्छा, अप्रशस्ता युद्धेच्छा राज्येच्छा । उक्ता इच्छाकामा । मदनकामानाह-मदन इत्युपलक्षणार्थत्वान्मदनकामे निरूप्ये । कोऽसावित्यत आह-वेदोपयोग , वेद्यत इति वेद स्त्रीवेदादिस्तदुपयोगस्तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये । यथा-स्त्री वेदोदयेन पुरुष प्रार्थयते इत्या-

दि। तेनाधिकार इति । मदनकामेन शेषा उच्चारितमदशा इति प्ररूपिताः, तस्य तु मदनकामस्य,वदन्ति धीरास्तीर्थकरगणधराः, निरुक्तमिदं, वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः ॥१६९॥

विसयसुहेसु पसत्थं, अबुहजणं कामरागपमिबद्धं ।
उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा ॥१७०॥

विषीदन्त्याबध्यन्ते एतेषु प्राणिन इति विषयाः शब्दादयः, तेभ्यः सुखानि तेषु प्रशक्त आशक्तस्त, जीवमिति योगः । स एव विशिष्यते–अबुध. अविपश्चिद् जनः परिजनो यस्य स अबुधजनस्तम,अकल्याणमित्रपरिजनमित्यर्थ ।अनेन बाह्य विषयसुखप्रशक्तिहेतुमाह। कामरागप्रतिबद्धमिति । कामा मदनकामास्तेभ्यो रागा. विषयाभिष्वङ्गाः तैः प्रतिबद्धो व्याप्तस्तम् । अनेन तु आन्तरं विषयसुखप्रशक्तिहेतुमाह।ततश्चाऽबुधजनत्वात्कामरागप्रतिबद्धत्वाच्च विषयसुखेषु प्रशक्तमिति भाव । किं निरुक्तवैचित्र्यादाह–तत्प्रत्यलीकत्वादुत्कामयन्त्यपनयन्ति, जीवमनन्तरविशेषितम,कुतो?,धर्मात्। यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् येन कारणेन तेन सामान्येनैव कामरागा.,कामा इति गाथार्थः। अन्ये पठन्ति, 'उत्कामयन्ति यस्मादिति' अत्र चाबुधजन एव विशेष्यः, शेष पूर्ववत्।

अन्नं पि य से नाम, कामा रोग त्ति पंडिया विंति ।
कामे पत्थेमाणो, रोगे पत्थेइ खलु जंतू ॥१७१॥

अन्यदपि चैषा कामानां नाम । किंभूतमित्याह–कामा रोगा इति एवं पण्डिता ब्रुवते।किमित्येतदेवमत आह–कामान् प्रार्थयमानोऽभिलषन् रोगान् प्रार्थयते,खलु जन्तु ,तद्रूपत्वादेव कारणे कार्योपचारादिति गाथार्थ । दश० २ अ० ।

(२४) भेदा.–

कामो चउवीसविहो, संपत्तो खलु तहा असंपत्तो ।
संपत्तो चउदसहा, दसहा पुण होइ संपत्तो ॥ ७६ ॥

कामश्चतुर्विंशतिविधश्चतुर्विंशतिभेदो भवति,तत्र प्रथमं तावत्सामान्येन द्विधा-संप्राप्त कामिनामन्योऽन्यसंगमसमुत्थ , तथाऽसंप्राप्तश्च विप्रलम्भस्वरूपः तत्र संप्राप्तश्चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारः, दशधा पुन दशप्रकारो भवत्यसंप्राप्त इति।

तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादसंप्राप्त तावदाह–

तत्थ असंपत्तत्था, चिंता तह सद्ध संभरणमेव ।
विक्कवय लज्जनासो, पमाय उम्माय तब्भावे ॥ ७७ ॥
मरणं च होइ दसमे; संपत्त पि य समासओ वोच्छं ।
दिट्ठीए संपाओ, दिट्ठीसेवा य संभासो ॥ ७८ ॥

तत्र द्वयो. संप्राप्तासंप्राप्तयोर्मध्येऽसंप्राप्तोऽयम् (तत्थ त्ति) अर्थनमर्थाः, दृष्टेऽपि रमण्यादौ श्रुत्वा तदभिलाषमात्र,तथा-चिन्ता अहो ! रूपादयस्तस्या गुणा इत्यनुरागेण चिंतनं, तथा-श्रद्धा तत्सङ्गमाभिलाष., तथा-संस्मरण सकल्पितरूपस्यालेख्यादिदर्शनेनाऽऽत्मनो विनोदन, तथा–विक्लवता तद्विरहदुःखातिरेकेण हासादिष्वपि निरपेक्षता, तथा–लज्जानाश गुर्वादिसमक्षमपि तद्गुणोत्कीर्तनं, तथा-प्रमादस्तदर्थमेव सर्वारम्भेषु प्रवर्तनं, तथोन्मादो नष्टचित्ततया आलजालजल्पन,तथा-तद्भाव स्तम्भादीनामपि तद्बुद्ध्याऽऽलिङ्गनादिचेष्टा, मरण च भवति दशमः असंप्राप्तकामभेदः । इद च सर्वथा प्राणपरित्यागलक्षण न ज्ञातव्य,शृङ्गाररसभङ्गप्रसङ्गात्,किन्तु मरणमिव मरण निश्चेष्टावस्था मूर्च्छाप्राया काचिदित्यर्थ. । इत्थमेव चाभिनवगुप्तेन भरतवृत्तिकृताऽपि व्याख्यातत्वादिति। अथ संप्राप्त काममाह-(संपत्त पि अ समासओ वोच्छं। दिट्ठीए संपाओ १ दिट्ठीसेवा य२ संभासो३) संप्राप्तमपि काम समासत. सक्षेपेण वक्ष्ये । तदेवाह–दृष्टिसंपातः स्त्रीणां कुचाद्यवलोकन १, तथा-दृष्टिसेवा हावभावसारतदृष्टिमेलनम् २,तथा-संभाषणमुचितकाले स्मरकथाभिजल्पः ३।

हसिय ललिओवगूहिय, दंत नह निवाय चुंवणं चेव।
आलिंगणमादाणं, करसेवाऽणंगकीमा य ॥ ७९ ॥

हसित च वक्रोक्तिगर्भहसनं, ललित पासकादिक्रीडा, उपगूढ गाढतरपरिष्वङ्ग.,दन्तनिपातो दशनच्छेदनविधि.,नखनिपातः कररुहैर्विपाटनप्रकारः, चुम्बन वक्त्रसयोग., आलिङ्गनमीषत्स्पर्शनम्, आदान कुचादिग्रहणम , (करसेवण ति) प्राकृतशैल्या करणासेवने, तत्र करण सुरतारम्भयन्त्र चतुरशीतिभेद वात्स्यायनप्रसिद्धम्, आसेवन मैथुनक्रिया, अनङ्गक्रीडा चाऽऽस्यादावर्थक्रियेति । प्रव० १६९ द्वार । उत्त० । " कहन्नु कुज्जा सामन्न, जो कामे न निवारए । पए पए विसीयतो, सकप्पस्स वसगओ " दश० २ अ० । ('सामण्णपुव्वय' शब्दे-व्याख्या) "काम ! जानामि ते रूप, सकल्पात्किल जायसे । न त्वां सकल्पयिष्यामि,ततो मे न भविष्यसि"।१। आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । "सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी। कामग्गहो दुरप्पा,जेणऽभिभूयं जगं सव्वं"। महा० ७ अ०। (यथा स्थूलभद्रेण कामो विजितस्तथा 'थूलभद्द'शब्दे वक्ष्यते) कामो हि दुरतिक्रमः ।कामा द्विविधाः-इच्छाकामा मदनकामाश्च। तत्रेच्छाकामा मोहनीयभेदहास्यरत्युद्भवा', मदनकामा अपि मोहनीयभेदे वेदोदयात्प्रादु र्भव न्ति । ततश्च द्विरूपाणामपि कामाना मोहनीय कारण, तत्सद्भावे न कामोच्छेद. । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । मकरध्वजे, स्था० १ उ० । रौक्मिणेये, पुं० । बलदेवे, तस्य कामपालत्वाच्चधातत्वम् , महाराजयूते, कर्मपूर्वकात् कमयतेः कर्त्तरि अण् , तत्तत्पदार्थकामनायुक्ते, वाच० । दीर्घकाल जीवितुकामाः दीर्घकालमायुष्काभिलाषिण. । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । रेतसि, न० वाच० ।

कामं–कामम्–अव्य० । अनुमते, बृ०१ उ०। नि० चू०। अवमतार्थे, नि० चू० १० उ० । अवधृतार्थे, नि० चू० ५ उ० । काममित्यवधृतार्थे, अवधृतमेतत्। सूत्र० २ श्रु० १ अ० "काम खलु अत्र सद्दो" नि० चू० ११ उ० । चोदकाभिप्रायसमर्थताऽभिप्रायेण कामशब्दप्रयोग ,अहवा आचार्येण चोदकाभिप्रायोऽवधृत इत्यत. कामशब्दप्रयोग. । नि०चू० १५ उ०।'काम चोदकाऽभिप्रायस्य अणुमयत्थे,' नि० चू० १६ उ० । आव० । आ० चू० । काममित्येतदभ्युपगमे,यथा–इष्टमेवैतदस्माकम्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

कामंग–कामाङ्ग–पुं०। काम कामोद्दीपनमङ्ग मुकुलमस्य । आम्रवृक्षे जटाधर. । वाच० । स्नानादिषु कामोद्दीपनेषु , सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कामंदकि–कामन्दकि–न०। नीतिशास्त्रप्रणेतरि, वाच०। स्था०।

कामकंत–कामकान्त–न० । स्वनामख्याते कामादिविमानभेदे. जी० ३ प्रति० ।

कामकम-कामकम-न० । षष्ठदेवलोकेन्द्रस्य पारियात्रिकविमाने, स्था० १० ठा० ।

कामकहा-कामकथा-स्त्री० । कामप्रधानायां कथायाम्, दश० ।

साम्प्रत कामकथामाह—

रूवं वओ य वेसो, दक्खत्तं सिक्खियं च विसएसु ।
दिट्ठं सुयमणुभूयं, च संथवो चेव कामकहा ॥ १९७ ॥

रूप सुन्दरं, वयश्चोदग्र, वेष उज्ज्वल', दाक्षिण्य मार्दवं, शिक्षित विषयेषु शिक्षा च कलासु, दृष्टमद्भुतदर्शनमाश्रित्य, श्रुत च अनुभूत च संस्तवश्च परिचयश्चेति कामकथा । रूपे च वसुदेवादय उदाहरणम् । वयसि सर्व एव प्रायः कमनीया भवति, लावण्यात् । उक्त च-"यौवनमुदग्रकाले, विदधाति विरूपकेऽपि लावण्यम् । दर्शयति पाकसमये, निम्बफल चाऽपि माधुर्यम्" इति । वेष उज्ज्वल. कामाङ्गम्, 'यं कञ्चन उज्ज्वलवेष पुरुष दृष्ट्वा स्त्री कामयते' इति वचनात् । एव दाक्षिण्यमपि, 'पञ्चालस्त्रीषु मार्दवमिति वचनात् । शिक्षा च कलासु कामाङ्गम्, वैदग्ध्यात् । उक्त च-"कलानां ग्रहणादेव, सौभाग्यमुपजायते । देशकालौ त्वपेक्ष्याऽऽसा, प्रयोग. सम्भवेन्न वा " ॥ अन्ये त्वत्राचलमूलदेवौ देवदत्ता प्रतीत्येक्षुयाचनायां प्रभूताऽसस्कृत-स्तोकसस्कृतप्रदानद्वारेणोदाहरणमभिदधति । दृष्टमधिकृत्य कामकथा । यथा-नारदेन रुक्मिणीरूप दृष्ट्वा वासुदेवे कृता । श्रुत त्वधिकृत्य यथा-पद्मनामेन राज्ञा नारदाद् द्रौपदीरूपमाकर्ण्य पूर्वसस्तुतदेवेभ्य. कथिता । अनुभूत चाधिकृत्य कामकथा यथा-नरङ्गवत्या निजानुभवकथने । सस्तवश्च कामकथापरिचय कारणानीति कामसूत्रपाठात् । अन्ये त्वभिदधति-"सइदंसणाव पेम्म, पेमाउ रती रती य विस्संभो । विस्संभाओ पणओ, पञ्चविह वड्ढए पेम्म ॥ " इति गाथार्थ' ॥ १९८ ॥ उक्ता कामकथा । दश० ३ अ० ।

कामकाम-कामकाम-त्रि० । कामेन स्वेच्छया कामो मैथुनसेवा येषां ते कामकामा. । अनियनकामेषु, प्रज्ञा० २ पद । जी० । कामे शब्दरूपयो कामो वाञ्छामात्र यस्यासौ कामकाम. । शब्दरूपाभिलाषुके, त० । काम काम्य कामयते, कम णिङ् अण् । उप-स० । विषयप्रार्थके, स्त्रिया ङीप् । वाच० ।

कामकामि-कामकामिन्-त्रि० । कामान् कामयितुमभिलषितुं शीलमस्येति विषयप्रार्थनाशीले, आचा० ।

कामकामी खलु अयं पुरिसे से सोयति जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति ।

कामान् कामयितुमभिलषितुं शीलमस्येति कामकामी । खलु-र्वाक्यालङ्कारे । अयमित्यध्यक्ष, पुरुषो जन्तुर्यस्त्वेवंविधोऽविरतचेताः कामकामी स नानाविधान् दुःखविशेषाननुभवतीति दर्शयति-(से सोयमित्यादि) स इति कामकामी ईप्सितस्यार्थस्याप्राप्तौ तद्वियोगे च स्मृत्यनुबन्ध शोकस्तमनुभवति । अथवा शोचत इति काममहाज्वरगृहीत सन् प्रलपतीति । उक्तम्-"गते प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमाने च गलिते, निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः । तमुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि ! गतांस्तांश्च दिवसान्, न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ?" ॥ इत्यादि शोचते । तथा (जूरइ त्ति) हृदयेन खिद्यते । तद्यथा-"प्रथमतरमथेद चिन्तनीय न चासीद्, बहुजनदयितेन प्रेम कृत्वा जनेन । हत हृदय निरास क्लीव ! सतप्यसे किं, न हि जलगततोये सेतुबन्धा. क्रियन्ते" ॥ इत्येवमादि । तथा (तिप्पइ त्ति) 'तिपृ तेपृ' क्षरणार्थौ । तेपते क्षरति सचवति मर्यादातो भ्रस्यते, निर्मर्यादीभवतीति यावत् । तथा-शारीरमानसैर्दु खै. पीड्यते । तथा-परित. समन्ताद् बहिरन्तश्च तप्यते परितप्यते, पश्चात्ताप च करोति । यथा-पुत्रकलत्रादौ कोपात् क्वचित् समयाऽननुवर्तिते इति कोपात् परितप्यते । सर्वाणि चैतानि शोचनादीनि विषयविषावष्टब्धान्त'करणानां दु.खावस्थासंसूचकानि । अथवा-शोचत इति यौवनधनमदमोहाभिभूतमानसो विरूपाणि निषेव्य पुनर्वय परिणामेन मृत्युकालोपस्थानेन वा मोहापगमे सति किं मया मन्दभाग्येन पूर्वमशेषाशिष्टाऽऽचीर्णं. सुगतिगमनैकहेतुर्दुर्गतिद्वारपरिघो धर्मो नाचीर्ण इत्येव शोचते इति । उक्त च-"भवित्री भावानां परिणतिमनालोच्य नियतां, पुरा हा ! यत्किंचिद्विहितमशुभ यौवनमदात् । पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने, तदेवैक पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम्" ॥१॥ तथा जूरतीत्यादीन्यपि स्वबुद्ध्या योजनीयानीति । उक्त च-"सगुणमपगुण वा कुर्वता कार्यजात, परिणतिरवधार्या यत्नत पण्डितेन । अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाक. " ॥ १ ॥ इत्यादि । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

कामकुसल-कामकुशल-पु० । व्यवहारकुशलभेदे, स च यत्नेनाऽनुवर्त्तते प्रियां बाह्यानुवर्तितया कलहाभावादिति निर्वृतिर्भवति, नत उभयलोकसिद्धिरिति । यदा च चैत्याभिगमन करोति तदा तां मुखशुद्धिं कारयति, तद्गृहे स्नान न विधत्ते, करोति चेत्तदा यथा तद्वशगो न भवति, तद्वशगतत्वेऽभयलोकहानि स्यादिति । दर्श० ।

कामकूड-कामकूट-पु० । काम एव कूट शृङ्ग प्रधानमस्य । वेश्याप्रिये, वेश्याया विभ्रमे च । वाच० । विमानभेदे, जी० ३ प्रति ।

कामक्खंध-न०-कामस्कन्ध-पु० । काम्यत्वात् कामा. मनोज्ञशब्दादय, तद्धेतव. स्कन्धास्तत्तत्पुद्गलसमूहा. कामस्कन्धाः । उत्त० ४ अ० । शब्दादिद्रव्यस्कन्धेषु, उत्त० ।

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जई ॥ १७ ॥
मित्तं व नायवं होइ, उच्चा गोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥१८॥

क्षि निवासगत्यो:, क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्र, ग्रामाऽऽरामादिसेतुकेतूभयात्मक वा, तथा वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु; खातोच्छ्रितोभयात्मकम्, हिरण्य सुवर्णम्, उपलक्षणत्वात् रूप्यादि च, पशवोऽश्वादय, दास्यते दीयते एभ्य इति दासा. पोष्यवर्गरूपा., ते च, (पोरुस त्ति) सूत्रत्वात्पौरुषेय च पदातिसमूहः, दासपौरुषेय.चत्वार. चतुःसख्या., अत्र हि क्षेत्र वास्त्विति चैको, हिरण्यमिति द्वितीय., पशव इति तृतीयो, दासपौरुषेयमिति चतुर्थ । एते किमित्याह-काम्यत्वात्कामा मनोज्ञशब्दादय', तद्धेतवः स्कन्धास्तत्पुद्गलसमूहा कामस्कन्धाः, यत्र भवन्तीति गम्यते । प्राकृतत्वाच्च न निर्देश । तत्र तेषु कुलेषु (से इति) स उपपद्यते जायते, अनेन चैकमङ्गमुक्तम् । शेषाणि तु नवाङ्गान्याह । मित्राणि सह पांसुक्रीडनादीनि सन्त्यस्येति मित्रवान्, ज्ञातयः स्वज-

नाः सन्त्यस्येति ज्ञातिमान् भवति, उच्चैर्वदम्यादिकयेऽपि पूज्यतया गोत्र कुलमस्येत्युच्चैर्गोत्रः। चः समुच्चये। वर्णः श्यामादिः स्निग्धत्वादिगुणैः प्रशस्योऽस्येति वर्णवान्। अल्पातङ्कः आन्तकविरहितः,नीरोग इत्यर्थः। महती प्रज्ञाऽस्येति महाप्रज्ञः,पण्डितोऽभिजातो विनीतः, स हि सर्वजनाभिगमनीयो भवति, दुर्विनीतस्तु शेषगुणान्वितोऽपि न तथेति। अत एव च (जसो त्ति) यशस्वी, तथा च सति (बले त्ति) बली कार्यकरणं प्रति सामर्थ्यवान्, उभयत्रसूत्रत्वान्मत्वर्थीयलोपः। एकैकोऽपि हि मित्रवत्त्वादिगुणस्तत्कार्याभिनिर्वर्तनक्षमः, किं पुनरमी समुदिताः शरीरसामर्थ्यवान् वेह बलीति। उत्त० ४ अ०।

कामगम-कामगम-त्रि०। काम स्वेच्छया गमो येषां ते कमगमा.। स्वेच्छाचारिषु, जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०। षष्ठदेवलोकेन्द्रस्य यानविमाने, ज० ५ वक्ष०। श्रौ०।

कामगिद्ध-कामगृद्ध-त्रि०। ७ त०। कामेषु इच्छामदनरूपेषु अभ्युपपन्ने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

कामगुण-कामगुण-पुं०। काम्यन्ते अभिलष्यन्ते इति कामाः, ते च ते गुणाश्च पुद्गलधर्माः शब्दादयः। स० ५ सम०। पञ्चेन्द्रियसुखदेषु सद्वस्त्रसत्यमिष्टान्नपुष्पचन्दननाटकगीततातलवेणुवीणाकलितकाकलीगीतादिपदार्थेषु, उत्त० १४ अ०। आव०। आचा०। "पंच कामगुणा पण्णत्ता। त जहा-सद्दा रूवा रसा गंधा फासा"। स० ५ सम०। आचा०। ध०। स्था०।

> पंचेव य कामगुणे, (पंचेव य अण्हवे महादोसे)।
> परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच॥९॥

(पंचेव य त्ति) पञ्चैव मनोज्ञशब्दरूपरसगन्धस्पर्शभेदात्पञ्चसंख्या एव। चशब्दोऽर्थान्तराभिधानसमुच्चयार्थः। के इत्याह-काम्यन्ते रागातुरैः प्राणिभिरभिकाङ्क्ष्यन्त इति कामाः, अभिलषणीयपदार्थाः, त एवात्मसंयमैकहेतुत्वाद् गुणा सूत्रतन्तवः, आत्मगुणोपघातकारणत्वाद्वा गुणा कामगुणाः। अथवा-कामस्य मदनस्याभिलाषमात्रस्य वा सपादका गुणाः धर्मार्थपुरुषाणां कामगुणाः, ते चाऽनर्थहेतवः। यदुक्तम्-

> "कलरिभितमधुरगान्धर्व-तूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः।
> श्रोत्राऽवबद्धहृदयो, हरिण इव विनाशमुपयाति॥१॥
> गतिविभ्रमेङ्गिताका-रहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः।
> रूपावेशितचक्षुः, शलभ इव विपद्यते विवश॥२॥
> स्नानाङ्गरागवर्तिक-वर्णकधूपाधिवासपटवासैः।
> गन्धभ्रमितमनस्को, मधुकर इव नाशमुपयाति॥३॥
> मिष्टान्नपानमांसौ-दनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा।
> गलयन्त्रपाशबद्धो, मीन इव विनाशमुपयाति॥४॥
> शयनासनसंबाधन-सुरतस्नानानुलेपनाऽऽसक्तः।
> स्पर्शव्याकुलितमति-र्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः"॥५॥

इत्यतः स्नानादिकामगुणान् परिवर्जयन्निति योगः। पा०। आव०। मकरकेतुकार्ये, प्रश्न० ४ आश्र०द्वार। कामस्य कामकृतो वा गुण। अनुरागे, विषये, आभोगे च। वाच०।

कामगह-कामग्रह-पुं०। सुरतासेवनोद्रेकाद् विभ्रमे, पं०व०१द्वार।

कामजल-कामजल-न०। स्नानपीठे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०। "सिणाणपीढं तु कामजल" नि० चू० १३ उ०।

कामज्झय-कामध्वज-पुं०। विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामज्झया-कामध्वजा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ०। (वाणिजग्रामवास्तव्यायां यस्यामुज्झितकदारक आशक्तः; तथोक्तम् ' उज्झियय ' शब्दे द्वितीयभागे ७४६ पृष्ठे)

कामट्ठि [ण्]-कामार्थिन्-त्रि०। शब्दरूपार्थिनि, ज्ञा० १ अ०।

कामड्ढिय-कामर्द्धिक-न०। वैश्यपाटिकगणस्य तृतीये कुले, कल्प० ८ क्षण।

कामतिव्वराग-कामतीव्रराग-पुं०। कामः-शब्दरूपे, तत्र तीव्राभिलाषः। स्वदारसन्तोषस्य तृतीयेऽतिचारे, ध० २ अधि०।

कामतिव्वाभिलास-कामतीव्राभिलाष-पुं०। कामा शब्दादयस्तेषु तीव्राभिलाषः। कामभोगेऽध्यवसायत्वलक्षणे स्वदारसन्तोषस्य तृतीयेऽतिचारे, श्रा०। यतो वाजीकरणादिनाऽनवरतसुरतसुखार्थमदनमुद्दीपयति। पञ्चा० १ विव०।

कामदुह-कामदुघ-त्रि०। काम दोग्धि, दुह-क-घादेशः। अभीष्टसम्पादके, सुरभौ, गवि, स्त्री०। वाच०। "अप्पा कामदुघा धेणू, अप्पा मे णंदणं वणं"। आत्मैव कामदुघा धेनुर्वर्तते,काम दोग्धि पूरयतीति कामदुघा। जीवः शुभक्रिया करोति, सा शुभक्रिया, सुखदेत्यर्थः। उत्त० २० अ०।

कामदेव-कामदेव-पुं०। काम एव देवः। कन्दर्पे, वाच०। कादाचित् बृहत्कुमारिका वाञ्छितवरलाभाय कामदेवपूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता। स्था० ४ ठा० ३ उ०। नि० चू०। स्वनामख्याते चम्पानगरीवास्तव्ये उपासकभेदे, स्था० १० ठा०। ती०। सथा०।

जइ णं भंते! समणेणं० जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। दोच्चस्स णं भंते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?। एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए जियसत्तू राया, कामदेवे गाहावई, भद्दा भारिया, छ हिरण्णकोडीओ णिहाणपउत्ताओ, छ वुड्ढि छ पवित्थर छ व्वया दस गोसाहस्सीएणं वएणं समोसरणं जहा आणंदो तहा निग्गओ तहेव सावयधम्मं पडिवज्जइ, सा चेव वत्तव्वया जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे य ठवेत्ता मित्तनाइअं पुच्छित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जहा आणंदे० जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसं० विहरइ, तए णं तस्स कामदेवस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे माई मिच्छद्दिट्ठी अंतियं पाउब्भूए, तए णं से देवे एगं महं पिसायरूवं विउव्वइ।

अथ द्वितीये किमपि लिख्यते-(पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि त्ति) पूर्वरात्रश्चासावपररात्रश्चेति पूर्वरात्रापररात्रः, स एव कालः समयः कालविशेषः॥

तस्स णं देवस्स पिसायरूवस्स इमे एयारूवे वएणावासे पएणत्ते-सीसं से गोकिलंजसंठाणसंठियं सालिभसेल्लसरिसा से केसा कविलतेएणं दीप्पमाणा महल्लउट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं णिडालं मुंगु सपुच्छं व तस्स भूमगाओ फुग्गफुग्गाओ विगयबीभच्छदंसणाओ सीसिघडिविणिग्गयाइं अच्छीणि विगयबीभच्छदंसणाइं कएणा जह सुप्पकत्तरे चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा उरब्भपुडसंनिभा से नासा, झुसिरा जमलचुल्लीसंठाणसंठिया दो वि तस्स नासापुडया, घोडगपुच्छं व तस्स मंसूइं कविलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं उट्टा उट्टस्स चेव लंबा फालसरिसा से दंता जिब्भा जह सुप्पकत्तरं चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा हलकुद्दालसंठिया से हणुया गल्लकडिल्लं च तस्स खट्टं फुट्टं कविलं फरुसं महल्लं मुइंगाकारोवमे से खंधे पुरवरकवाडोवमे से वच्छे,कोट्टिया संठाणसंठिया दो वि तस्स बाहा, निसापाहाणसंठाणसंठिया तस्स दो वि हत्था, निसालोढसंठाणसंठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडगसंठिया से णहा,एहावियए पसेवओ व्व उरंसि लंबंति दो वि तस्स थणया पोट्टं अयकोट्टओ व्व वत्तं पाणं कलंदसरिसा से णाभी सिक्कगसंठाणसंठिते से पोत्ते, किएणपुडसंठाणसंठिया दो वि तस्स वसणा, जमलकोट्टियासंठाणसंठिया तस्स दो वि ऊरू, अज्जुणगुच्छं व तस्स जाणूइं कुडिलकुडिलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अहरीसंठाणसंठिया दो वि तस्स पाया,अहरीलोढसंठाणसंठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडसंठिया से णहा, लडहमडहजाणुए विगयभग्गभुग्गभमुए अवदालियवयणविवरनिल्लालियग्गजीहे सरडकयमालियाए उंदरमालापरिणद्धसुकयचिन्धे णउलकयकन्नपूरे सप्पकयवेगच्छे अप्फोडंते अभिगज्जंते भीममुक्कट्टहासे णाणाविहपंचवएणेहिं लोमेहिं उवचिये एगं महं नीलुप्पलगवलगुलियअयसिकुसुमप्पगासं असिं खुरधारं गहाय जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आसुरुत्ते रुट्टे कुविए चंडिकिए मिसिमिसीयमाणे कामदेवस्स एवं वयासी-

तत्र (इमे एयारूवे वएणावासे पएणत्ते त्ति) वर्णकव्यासो वर्णकविस्तरः [सीसं ति] शिरः [से] तस्य [गोकिलंज त्ति] गवां चरणार्थं यद्वंशदलमयमहद्भाजनं तद्गोकिलञ्जं ' मल्ले त्ति' यदुच्यते, तस्याधोमुखीकृतस्य यत् संस्थानं तेन संस्थितं, तदाकारमित्यर्थः । पुस्तकान्तरे विशेषणान्तरमुपलभ्यते- [विगयकप्पयनिभं ति] विकृतो योऽरञ्जरादीनां कल्प एव कल्पकच्छेद ,पाठ 'कप्परमि त्ति' तात्पर्यम, तन्निभं तत्सदृशमिति। कचित्तु 'वियमकोप्परनिभं' ति दृश्यते, तच्चोपदेशगम्यम्। [सालिभसेल्लसरिसं] व्रीहिकणिशसूकसमाः [से] तस्य केशा बालाः । एतदेव व्यनक्ति-[कविलतेएण दिप्पमाणा] पिङ्गलदीप्त्या रोचमानाः [उट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं] उष्ट्रिकामृण्मयो महाभाजनविशेषः,तस्याः [कभल्लं] कपालं तत्संस्थानं तद्वत्संस्थितम् [णिडालं त्ति] ललाटम् । पाठान्तरे-[महल्लउट्टियाकभल्लसरिसोवमे] महोष्ट्रिकाकपालसदृशमित्येव समुल्लेखेनोपमा उपमानवाक्यं यत्र तत्तथा। [मुगुं सपुच्छं व] मुजपरिसर्पविशेषो मुगु,सा च 'खाडहिल्ल त्ति' समाख्यते,तत्पुच्छवत्, तस्येति पिशाचरूपस्य [भूमगाओ त्ति] भ्रुवौ, प्रस्तुतोपमार्थमेव व्यनक्ति-[फुग्गफुग्गाओ त्ति] परस्परासम्बद्धरोमिके,विकीर्णरोमिके इत्यर्थः। पुस्तकान्तरे तु-[जडिलजडिलाओ त्ति]प्रतीतं, (विगयबीभच्छदंसणाओ त्ति) विकृतं बीभत्सं च दर्शनं रूपं ययोस्ते तथा। (सीसघडिविणिग्गयाइं) शीर्षमेव घटी तदाकारत्वात् शीर्षघटि ,तस्या विनिर्गते इव विनिर्गते शिरो घटीमतिक्रम्य व्यवस्थितत्वात्, अक्षिणी लोचने, विकृतबीभत्सदर्शने प्रतीतम्, कर्णौ श्रवणौ यथा सूर्पकर्तरमेव सूर्पखण्डमेव नान्यथाकारौ,इत्पराकाराविति। विकृतेत्यादि तथैव, (उरब्भपुडसन्निभा) उरभ्रः ऊरणस्तस्य पुटं नासापुटं तत्सन्निभा तत्सदृशी नासा नासिका। पाठान्तरे-(हुरब्भपुडसंठाणसंठिया) तत्र हुरभो वाद्यविशेषस्तस्या पुटं पुष्करं तत्संस्थाने संस्थिता। अतिचिपिटत्वेन समत्वादिति [झुसिर त्ति] महारन्ध्रा [जमलचुल्लीसंठाणसंठिया] यमलयो समस्थितद्वयरूपयोः चुल्ल्योर्यत् संस्थानं तत्संस्थिते द्वे अपि तस्य नासापुटे नासिकाविवरे। वाचनान्तरे-[महल्लकुब्बसंठिया दो वि ते कवोला]तत्र क्षीणमांसत्वात् उन्नतास्थित्वाच्च कुब्बति निम्नं क्षामामित्यर्थः। तत्संस्थितौ द्वावपि [से] तस्य कपोलौ गण्डौ, तथा [घोडग त्ति] घोटकपुच्छवदश्वबालधिवत्तस्य पिशाचरूपस्य श्मश्रूणि कूर्चकेशाः,तथा कपिलकपिलानि अतिकडाराणि विकृतानीत्यादि। तथैव पाठान्तरेण-[घोडयपुच्छं व तस्स कविलफरुसाओ उद्धलोमाओ दाढियाओ] तत्र परुषे कर्कशस्पर्शे ऊर्ध्वरोमिके,न तिर्यगवनते इत्यर्थः। दंष्ट्रिके उत्तरौष्ठरोमाणि, ओष्ठौ दशनच्छदौ उष्ट्रस्येव लम्बौ प्रलम्बमानौ। पाठान्तरेण-[उट्टासे घोमगस्स जहा दो वि लंबमाणा]तथा फाला लोहमयकुशास्तत्सदृशाः, दीर्घत्वात्। [से] तस्य, दन्ता दशनाः जिह्वा, यथा सूर्पकर्तरमेव नान्यथाकारो विकृतेत्यादि तदेव। वाचनान्तरे-"हिंगुलुयधाउकंदरबिलं व तस्स वयणं" इति दृश्यते। तत्र हिङ्गुलुको वर्णद्रव्यं,तद्रूपो धातुर्यत्र तत्तथाविधं यत्कन्दरबिलं गुहालक्षणं रन्ध्रं तदिव तस्य वदनम्। [हलकुद्दाल त्ति] हलस्योपरितनो भागः तत्संस्थिते तदाकारे अतिवक्रे दीर्घे [से] तस्य [हणुय त्ति] दंष्ट्राविशेषे [गल्लकडिल्लं च तस्स त्ति] गल्ल एव कपोल एव,कडिल्लं मण्डकादिपचनभाजनं गल्लकडिल्लम्। चः समुच्चये। तस्य पिशाचरूपस्य [खट्ट ति] गर्तरन्ध्राकारं निम्नमध्यभागमित्यर्थः। [फुट्ट ति] विदीर्णमनेनैव साधर्म्येण कडिल्लमित्युपमानं कृतं, 'कविल ति' वर्णतः 'फरुस ति' स्पर्शतः 'महल्ल ति' महत्, तथा मृदङ्गाकारेण मर्दलाकृत्योपमा यस्य स मृदङ्गाकारोपमः [से] तस्य, स्कन्धोंऽसदेशः [पुरवरे त्ति] पुरवरकपाटोपमं [से] तस्य,वक्ष उरःस्थलं, विस्तीर्णत्वादिति। तथा कोष्ठिका लोहादिधातुधमनार्थं मृत्तिकामयी कुशूलिका, तस्या यत् संस्थानं तेन संस्थितौ तस्य द्वावपि बाहू भुजौ, स्थूलाविन्यर्थः । तथा (निसापाहाणे त्ति) मुद्गादिदलनशिला, तत्संस्थितौ पृथुलत्वस्थूलत्वाभ्यां द्वावपि अग्रहस्तौ भुजयोर-

प्रभृतौ, करावित्यर्थः। तथा (निसालोढो त्ति) शिलापुत्रक तत्स्थानसंस्थिता हस्तयोरङ्गुल्य, स्थूलत्वदीर्घत्वाभ्याम्। तथा [सिप्पिपुड त्ति] शुक्तिसंपुटस्यैक दलं, तत्संस्थिताः [तस्स नख त्ति] नखा हस्ताङ्गुलिसम्बन्धिनः। वाचनान्तरे तु इदमपरमधीयते-[अडयालगसंठिओ उरो तस्स रोमविलो त्ति] अत्र 'अमयाल त्ति' अट्टालकः प्राकारावयवः सम्भाव्यते, तत्साधर्म्यं चोरसः क्षामत्वादिनेति। तथा [ण्हावियपसेवउ त्ति] नापितनखप्रसेवक इव नखशोधकक्षुरादिभाजनमिव उरसि वक्षसि [लंबति त्ति] प्रलम्बमानौ तिष्ठतः द्वावपि तस्य स्तनकौ वक्षोजौ, तथा [पोट्ट] जठरम् अय.कोष्ठकवल्लोहकुशूलवत् वृत्त वर्त्तुलं, तथा पान धान्यरससंस्कृत जलं, येन कुविन्दाश्चीवराणि पाययन्ति, तस्य कलन्द कुण्डं पानकलन्द तत्सदृशी गम्भीरतया [से] तस्य नाभिर्जठरस्य मध्यावयव। वाचनान्तरेऽधीतम्-[भग्गकमोविगयव कविट्ठीअ सरिसा दो वि तस्स फिसग्गा] तत्र भग्नकटिर्विकृतवक्रपृष्णिः फिसको पुतौ। तथा-सिक्कक दध्यादिभाजनाधारक दवरकमयमाकाशेऽवलम्बनं लोके प्रसिद्ध, तत्संस्थानसंस्थितं, [से] तस्य नेत्र मिथिदण्डाकर्षणरज्जु, तद्वद्दीर्घतया नग्नत्र शेफ उच्यते। तथा [किण्णपुडसंठाणसंठिए त्ति] सुरागोणकरूतएसुत्तकिण्वकृतगोणीपुटद्वयसंस्थानसंस्थिताविति सम्भाव्यते, द्वावपि तस्य वृषणौ पोत्रकौ। तथा [जमलकोट्ठिय त्ति] समतया व्यवस्थापितकुशूलिकाद्वयसंस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य ऊरू जङ्घे। तथा [अज्जुणगुच्छ व त्ति] अर्जुनस्तृणविशेष., तस्य गुच्छं स्तवकस्तद्वत्तस्य जानुनी अनन्तरोक्तोपमानसाधर्म्यं व्यनक्ति। कुटिले अतिवक्रे विकृतयोर्बीभत्सदर्शने तथा, जङ्घे जान्वोरधोवर्त्तिन्यौ [करकडीओ त्ति] कठिने, निर्मांसे इत्यर्थ.। तथा रोमभिरुपचिते। तथा-अधरी पेषणशिला, तत्संस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य पादौ। तथा-अधरीलोष्ट शिलापुत्रकस्तत्संस्थानसंस्थिताः पादयोरङ्गुल्य, शुक्तिपुटसंस्थिता. [से] तस्य पादाङ्गुलिनखा। आकेशाग्रान्नखाग्रं यावद्वर्णितं पैशाचरूपम्। अधुना सामान्येन तद्वर्णनायाह-[लडहमडहजाणुए त्ति] इह प्रस्तावे लडहशब्देन गन्त्याः पश्चाद्भागवर्त्ति तदुत्तङ्गरक्षणार्थं यत्काष्ठ तदुच्यते, तच्च गन्त्याः श्लथबन्धन भवति। एव च श्लथबन्धनत्वाल्लडह इव लडहे मडहे च स्थूलत्वाल्पदीर्घत्वाभ्यां जानुनी यस्य तत्तथा। विकृते विकारवत्यौ भुग्ने विसंस्थुलतया भुग्ने वक्रे भ्रुवौ यस्य पिशाचरूपस्य तत्तथा। इहान्यदपि विशेषणचतुष्टय वाचनान्तरे तु अधीयते-[मसिमूसगमहिसकालए] मषीमूषिकामहिषवत्कालक [भरियमेहवन्ने] जलभृतमेघवर्णं, कालमेघेत्यर्थ. [लंबोट्ठे निग्गयदंते] प्रतीत, नत्तथा अवदारित विवृतीकृत वदनलक्षण विवर येन तत्तथा। तथा-निर्लालिता निष्कासिता अग्रजिह्वा जिह्वाया अग्रभागो येन तत्तथा। तत. कर्मधारय.। तथा शरटैः कृकलासैः कृतमालिकस्रग्मुण्डे वक्षसि वा येन तत्तथा। उन्दुरमालया मूषकस्रजा परिणद्ध परिगतं सुकृत सुष्ठु रचित चिह्न स्वकीयलाञ्छन येन तत्तथा। तथा नकुलाभ्यां मङ्गुस्याभ्यां कृते कर्णपूरे आभरणविशेषौ येन तत्तथा। सर्पाभ्यां कृत वैकक्षमुत्तरासङ्गो येन तथा। पाठान्तरे-[मूसगकयभुंभुलए विच्छुयकच्छे सप्पकयजन्नोवइए] तत्र 'भुंभुलए त्ति' शेखर. [विच्छुय त्ति] वृश्चिका. यज्ञोपवीत ब्राह्मणकण्ठसूत्रम्। तथा [अभिन्नमुहनयणनक्खवरवग्घचित्तकित्तिनियसणे] अभिन्ना अविशीर्णा मुखनयननखा यस्यां सा तथा, सा च सैरवव्याघ्रस्य चित्रा कर्बुरा, कृत्तिश्चर्मेति कर्मधारय.। सा निवसन परिधान यस्य तत्तथा। [सरसरुहिरमंसावलित्तगत्ते] सरसाभ्यां रुधिरमांसाभ्यामवलिप्त गात्र यस्य तत्तथा। आस्फोटयन् करास्फोटं कुर्वन्नभिगर्जन् घनध्वनिं मुञ्चन् भीमो मुक्त. कृतोऽट्टहासो हासविशेषो येन तत्तथा। नानाविधपञ्चवर्णैं रोमभिरुपचितमेक महन्नीलोत्पलगवलगुलिकाऽतसीकुसुमप्रकाशमसिं क्षुरधारं गृहीत्वा यत्र पौषधशालायां यत्र कामदेवश्रमणोपासकस्तत्रोपागच्छति स्मेति। इह गवल महिषशृङ्ग, गुलिका नीली, अतसी धान्यविशेष., असि खड्ग, क्षुरस्येव धारा यस्यातिच्छेदकत्वादसौ क्षुरधारः। [आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसीयमाणे त्ति] एकार्थाः शब्दा. कोपातिशयप्रदर्शनार्थाः।

हंभो! कामदेवा समणोवासया अप्पत्थियपत्थिया दुरंतपंतलक्खणा हीणपुण्णचाउद्दसिया! सिरिहिरिधितिकित्ति ४ जाव परिवज्जिया धम्मकामया पुण्णसग्गमोक्खधम्मकंखिया ४ धम्मपिवासिया ४ णो खलु कप्पइ तव देवा० सीलाइं वयाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं चालित्तए वा खोभित्तए वा खंडित्तए वा भंजित्तए वा उज्झित्तए वा परिचइत्तए वा तं जइ णं तुम अज्ज सीलव्वयाइं० जाव पोसहोववासाइं ण छड्डेसि ण भंजेसि तो अहं अज्ज इमेणं णीलुप्पलेण० जाव असिणा खंडाखंडिं करेमि जहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

(अप्पत्थियपत्थिया) अप्रार्थितप्रार्थिक, दुरन्तानि दुष्टपर्यवसानानि, प्रान्तान्यसुन्दराणि लक्षणानि यस्य स तथा। (हीणपुण्णचाउद्दसि त्ति) हीना असम्पूर्णा पुण्या चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशीक., तदामन्त्रणम्। श्रीह्रीधृतिकीर्तिवर्जितेति व्यक्तम्। तथा धर्मं च श्रुतचारित्रलक्षण कामयतेऽभिलषति य. स धर्मकाम., तस्यामन्त्रण हे धर्मकाम!, या एव सर्वपदानि नवर पुण्यशुभप्रकृतिरूप कर्म स्वर्ग., तत्फल मोक्षो धर्मफल काङ्क्षा। अभिलाषातिरेका, पिपासा काङ्क्षातिरेका., एवमेतै. पदैरुत्तरोत्तराभिलाषप्रकर्ष एवोक्त.। (णो खलु इत्यादि) न खलु नैव कल्पन्ते शीलादीनि चलयितुमिति, मेयितु देशता भङ्क्तु सर्वत. केवल यदि त्व तान्यद्य न चलयसि ततोऽह त्वां खण्डाखण्डं करोमीति वाक्यार्थ.। तत्र शीलान्यणुव्रतानि, व्रतानि दिग्व्रतादीनि विरमणानि, रागादिविरतय. प्रत्याख्यानानि, नमस्कारसहितादीनि पौषधोपवासानाहारादिभेदेन चतुर्विधान्। (चालित्तए) भङ्गकान्तरकरणत क्षोभयितुमेतत्पालनविषयक्षोभ कर्तुं, खण्डयितु देशतो भङ्क्तु, सर्वत उज्झितु सर्वस्य देशविरतेस्त्यागत. परित्यक्तु, सम्यक् तस्यापि त्यागादिति। (अट्टदुहट्टवसट्टे त्ति) आर्त्तस्य ध्यानविशेषस्य यो (दुहट्ट त्ति) दुर्घटो दुस्थगो दुर्निरोधो वश. पारतन्त्र्य, तेन ऋत पीडित आर्त्तदुर्घटवशार्त्त.। अथवा-आर्त्तेन दुःखार्त्त आर्तदु.खार्त, तथा-वशेन च विषयपारतन्त्र्येण ऋत परिगतो वशार्त्तः। ततः कर्मधारय इति॥

तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं पिसायरूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए अतत्थे अणुव्विग्गे अक्खुभिए अचलिए असंभंते तुसणीए चिट्ठइ, धम्म-

ज्झाणोवगए विहरइ, तएणं से दिव्वे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं अतत्थं जाव धम्मज्झाणोवगयं विहरमाणं पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि कामदेवं एवं वयासी–हं भो कामदेवा समणोवासया अपत्थियपत्थिया ! जइ णं तुम अज्ज जाव ववरोविज्जसि तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं दोच्चं पि तच्चं पि० एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ, तए णं से देवे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते ४ तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु कामदेवं समणोवासयं नीलुप्पल० जाव असिणा खंडाखंडिं करेइ । तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं० जाव दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ जाव अहियासेइ । तए णं से दिव्वे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता जाव नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे संते परितंते सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं पिसायरूवं विप्पजहइ, दिव्वं एगं महं हत्थिरूवं विउव्वइ, सत्तंगपइट्ठियं सम्मं संठियं सुजायं पुरओ उदग्गं पिट्ठतो वराहं अयाकुच्छिं पलंबकुच्छिं पलंबलंबोदराधरकरं अब्भुग्गयमउलमल्लियाविमलधवलदंतं कंचणकोसीपविट्ठदंतं आणामियचावललियसंवेल्लियअग्गसोंडं कुम्मपडिपुन्नचलणं वीसइनक्खं अल्लीणपमाणजुत्तपुच्छं मत्तं मेहमिव गुलुगुलेंतं मणपवणजइणवेगं दिव्वं हत्थिरूवं विउव्वइ, जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कामदेवं एवं वयासी–हं भो कामदेवा ! तहेव भणइ० जाव ण भंजेसि तो ते अज्ज अहं सोंडाए गेण्हामि, गेण्हामित्ता पोसहसालाओ णीणेमि, णीणेमित्ता उड्ढं वेहासं उव्विहामि, उव्विहामित्ता तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छामि अहे धरणितलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि जहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥

अभीते इत्यादीन्येकार्थान्यातिशयप्रकर्षप्रदर्शनार्थानि । [तिवलिय ति] त्रिवलिका भ्रकुटीं दृष्टि रचनाविशेषं ललाटे संहृत्य विधायेति चालयितुमन्यथाकर्तुम् । चलनं च द्विधा–संशयद्वारेण, विपर्ययद्वारेण च । तत्र क्षोभयितुमिति संशयतो, विपरिणामयितुमिति च, विपर्ययतः श्रान्तादयः समानार्थाः । [सत्तंगपइट्ठिय ति] सप्ताङ्गानि–चत्वारः पादाः, करः, पुच्छं, शिश्नं चेति एतानि प्रतिष्ठितानि भूमौ लग्नानि यस्य तत्तथा । सममांसोपचयात् संस्थितं गजलक्षणोपेतं सकलाङ्गोपाङ्गत्वात् सुजातमिव सुजातं पूर्णदिनजातं पुरतोऽग्रत उदग्रमुच्चम्, समुच्छ्रितशिर इत्यर्थः । पृष्ठतः पृष्ठदेशे वराहः शूकरः स इव वराहः, प्राकृतत्वान्नपुंसकलिङ्गता । अजाया इव कुक्षी यस्य तदजाकुक्षि, प्रलम्बकुक्षी प्रलम्बत्वेन, प्रलम्बो दीर्घो लम्बोदरस्येव गणपतेरिवाधरोष्ठः करश्च हस्तो यस्य तत्प्रलम्बोदराधरकरम् । अभ्युद्गतमुकुला आयातकुसुमला या मल्लिका विचकिलः तस्या यो मुकुलस्तद्वत् विमलौ धवलौ दन्तौ यस्य । अथ वा प्राकृतत्वान्मल्लिकामुकुलवदभ्युद्गतावुन्नतौ विमलधवलदन्तौ यस्य तदभ्युद्गतमुकुलमल्लिकाविमलधवलदन्तं, काञ्चनकोशीप्रतिष्ठदन्तं, कोशीति प्रतिमा, आनामितमीषन्नामितं यच्चापं धनुस्तद्वत् ललिता च विलासवती संवेल्लिता च वेल्लन्ती सङ्कोचिता वा अग्रशुण्डा शुण्डाग्रं यस्य तत्तथा । कूर्मवत् कूर्माकाराः प्रतिपूर्णाश्चरणा यस्य तत्तथा । विंशतिनखमालीनप्रमाणयुक्तपुच्छमिति कण्ठ्यम् ।

तं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं हत्थिरूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ । तए णं से दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि कामदेवं एवं वयासी–हं भो कामदेवा ! णो विहरइ । तंसि दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं विहरमाणं पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते ४ कामदेवं समणोवासयं सोंडाए गिण्हेइ, गिण्हेइत्ता उड्ढं वेहासं उव्विहइ, उव्विहइत्ता तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता अहे धरणितलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ । तए णं से कामदेवे तं उज्जलं जाव अहियासेइ तए णं से दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं जाव नो संचाएइ जाव सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं हत्थिरूवं विप्पजहइ, विप्पजहइत्ता एगं महं दिव्वं सप्परूवं विउव्वइ, उग्गविसं दिट्ठीविसं महाकायं मसीमूसाकालगं नयणविसरोसपुण्णं अंजणपुंजनिगरप्पगासं रत्तच्छं लोहियलोयणं जमलजुयलचंचलजीहं धरणियलवेणिभूयं उक्कडफुडकुडिलजडिलकक्कसवियडफुडाडोवकरणदच्छं लोहागरधम्ममाणधमधमेंतघोसं अणागलियतिव्वपचंडरोसं सप्परूवं विउव्वित्ता जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी–हं भो कामदेवा ! जाव ण भंजेसि तओ अज्जेव अहं सरसरस्स कायं दुरूहामि, दुरूहामित्ता पच्छिमेणं भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेमि, वेढेमित्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरसि चेव निकुट्टेमि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट–अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि । तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं सप्परूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ । सो वि दोच्चं पि तच्चं पि भणइ, कामदेवो जाव विहरइ । तए णं से दिव्वे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव

पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते कामदेवस्स सरस्स कायं दुरूहइ, दुरूहइत्ता पच्छिमभाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढेइत्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरसि चेव निकुट्टेइ । तए णं कामदेवे तं उज्जलो जाव अहियासेइ । तए णं से दिव्वे सप्परूवे कामदेवं अभीयं पासइ, पासइत्ता जाहे नो संचाएति कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पवयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परित्तए वा ताहे संते ३ सणियं २ पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ, विप्पजहइत्ता एगं महं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ । हारविराइयवत्थं० जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं पासइ, दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता कामदेवस्स पोसहसालं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता अंतरिक्खपडिवन्ने सखिंखिणियाइं पंचवन्नाइं वत्थाइं परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी-हं भो कामदेवा समणोवासया ! धन्नोसि णं तुमं देवा० संपुन्ने कयत्थे कयलक्खणे सुलद्धेणं तव दे० माणुस्सजम्मजीवियफले जस्स णं दे० तव निग्गंथाओ पावयणाओ मेरु व्व पडिवत्ती लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया ॥

'उग्गविसं' इत्यादीनि सर्परूपविशेषणानि क्वचिद्यावच्छब्दोपात्तानि क्वचित्साक्षादुक्तानि दृश्यन्ते । तत्रोग्रविष दुरधिसह्यं विष, चण्डविषमल्पकालेनैव दष्टशरीरव्यापकविषत्वाद्, घोरविषं मारकत्वाद्, महाकाय महाशरीर, मषीमूषाकालक, नयनविषेण दृष्टिविशेण रोषेण च पूर्णं नयनविषरोषपूर्णम । अञ्जनपुञ्जानां कज्जलोत्कराणां यो निकरः समूहस्तद्वत्प्रकाशो यस्य तदञ्जनपुञ्जनिकरप्रकाश, रक्ताक्ष लोहितलोचन, यमलयोः समस्थयोर्युगलं द्वयं चञ्चलन्त्योरत्यर्थं चपलयोर्जिह्वयोर्यस्य तद् यमलयुगलचञ्चलजिह्व, धरणीतलस्य वेणीव केशबन्धविशेष इव कृष्णत्वदीर्घत्वाश्यामिति धरणीतलवेणिभूतम, उत्कटमनभिभवनीयत्वात, स्फुटो व्यक्तो भासुरतया दृश्यत्वात कुटिलो वक्रत्वात् जटिल· केशसटायोगात कर्कशो निष्ठुरो नम्रताया अभावाद् विकटो विस्तीर्णो य स्फुटाटोपः फणाडम्बर तत्करणे दक्षः उत्कटस्फुटकुटिलजटिलकर्कशविकटस्फुटाटोपकरणदक्षम । तथा-[लोहागरधम्ममाणधमधमतघोसं] लोहारकस्येव ध्मायमानस्य भस्त्रावातेनोद्दीप्यमानस्य धमधमायमानस्य धमधमेत्येव शब्दायमानस्य घोषः शब्दो यस्य तत्तथा। इह च विशेषणस्य पूर्वनिपातः प्राकृतत्वादिति। [अणागलियतिव्वपचण्डरोसं] अनाकलितोऽपरिमितोऽनर्गलितो वा निरोद्धुमशक्यस्तीव्र· प्रचण्डोऽतिप्रकृष्टो रोषो यस्य तत्तथा। [सरसरस्स त्ति] लौकिकानुकरणभाषा। [पच्छिमेणं भाएण ति] पुच्छेनेत्यर्थ· । [निकुट्टेमि त्ति] निकुट्टयामि प्रहरिम । [उज्जलति] उज्ज्वलां विपक्षलेशेनाप्यकलङ्कितां विपुलां शरीरव्यापकत्वात् कर्कशां कर्कशद्रव्यमिवानिष्टां प्रगाढां प्रकर्षवर्ती चण्डां रौद्रां [दुक्खं] दु खरूपां,न सुखामित्यर्थ·। किमुक्तं भवति?-[दुरहियासं ति] दुरधिसह्यमिति। "हारविराइयवत्थमित्यादौ" यावत्करणादिद दृश्यम-"कडगतुडियथंभियभुयं अगदकुंडलघट्टगण्डतलकण्णपीढधारिविचित्तहत्थाभरण विचित्तमालामउलिकल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधर भासुर-बोंदीकपलयवणमालाधर दिव्वेणं वण्णेण दिव्वेण गधेणं दिव्वेण फासेण दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेण संठाणेण दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पहाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेण तेएणं दिव्वाए लेसाए त्ति" कण्ठ्यम, नवर कटकानि कङ्कणविशेषास्तुटितानि बाहुरक्षकास्ताभिरतिबहुत्वात स्तम्भितौ स्तब्धीकृतौ भुजौ यस्य तत्तथा। अङ्गदे च केयूरे,कुण्डले च प्रतीतौ,घृष्टगण्डतले घृष्टगण्डोपकर्णपीठाभिधाने कर्णाभरणे च,धारयति यत्र तत्तथा। तत्र विचित्रमालाप्रधानो मौलिर्मुकुट मस्तक वा यस्य तत्तथा। कल्याणकमनुपहत प्रवर वस्त्र परिहित येन तत्तथा। कल्याणकानि प्रवराणि माल्यानि कुसुमानि अनुलेपनानि च धारयति यस्तत्तथा। 'भास्वरबोंदीकं' दीप्तशरीर, प्रलम्बा या वनमाला आभरणविशेषस्ता धारयति यस्तत्तथा। दिव्येन वर्णेन युक्तमिति गम्यते। एव सर्वत्र, नवरम् ऋद्धया विमानवस्त्रभूषणादिकया, युक्त्या इष्टपरिवारादियोगेन, प्रभया प्रभावेन, छायया प्रतिबिम्बेनार्चिषा दीप्तिज्वालया, तेजसा कान्त्या, लेश्यया आत्मपरिणामेनोद्योतयत् प्रकाशयत् शोभयन्निति प्रासादीय चित्ताह्लादक दर्शनीय यत्पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूप मनोज्ञ, प्रतिरूप द्रष्टार २ प्रति रूप यस्य विकुर्व्य वैक्रिय कृत्वा अन्तरिक्ष प्रतिपन्न· आकाशे स्थितः सकिङ्किणीकानि क्षुद्रघण्टिकोपेतानि ॥

एवं खलु देवा० सक्के देविंदे देवराया सयक्कउ सहस्सक्खे जाव सक्कंसि सीहासणंसि चउरासीतिए सामाणियसाहस्सीणं देवा जाव अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ ४ ; एवं खलु देवा० जंबुद्दीवे २ भारहे वासे चंपाए णयरीए कामदेवे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभचारी जाव दब्भसंथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसं० विहरइ । नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा गंधव्वेण वा जाव निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परित्तए वा तए णं अहं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एयमट्ठं असद्दहमाणे ३ इहं हव्वमागओ तं अहो देवा० इड्ढी ६ लद्धा ३ तं दिट्ठा णं देवा इड्ढी जाव अभिसमन्नागया तं खामेमि णं देवाणु० खमंतुम रुहंति णं दे० णाइभुज्जो करणयाए त्ति कट्टु पायवडिए पंजलिउडे एयमट्ठं भुज्जो २ खामेइ, खामेइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए, तए णं से कामदेवे समणोवासए णिरुवसग्गमिति कट्टु पडिमं पारइ ॥

'सक्के देविंदे इत्यादौ' यावत्करणादिद दृश्यम—"वज्जपाणी पुरन्दरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघव पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अयरम्बरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचा-

रुचिरत्तचञ्चलकुण्डलाविलिख्यमानगण्डे भासुरबोंदीपलम्बवणमालधरं सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सोहम्माए त्ति" । शक्रादिशब्दानां च व्युत्पत्त्यर्थभेदेन भिन्नार्थता द्रष्टव्या । तथाहि-शक्तियोगाच्छक्र', देवानां परमैश्वर्यत्वाद् देवेन्द्र', देवानां मध्ये राजमानत्वाच्छोभमानत्वाद्देवराज, वज्रपाणि कुलिशकर, पुरोऽसुरादिनगरविशेषस्तस्य दारणात् पुरन्दर', तथा शतक्रतुशब्देनेह प्रतिमा विवक्षिताः, तत. कार्तिकश्रेष्ठित्वे शत क्रतूनामभिग्रहविशेषाणां यस्यासौ शतक्रतुरिति चूर्णिकारव्याख्या । तथा-पञ्चानां मन्त्रिशतानां सहस्रमक्ष्णां भवतीति तद्योगादसौ सहस्राक्ष', तथा-मघशब्देनेह मेघा विवक्षितास्ते यस्य वशवर्तिन सन्ति स मघवान्,तथा-पाको नाम बलवांस्तस्य रिपुस्तच्छासनात्पाकशासन, लोकस्यार्द्धमर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोकस्तस्य योऽधिपति. स तथा । 'एरावणो' ऐरावणो हस्ती स वाहन यस्य स तथा, सुष्ठु राजन्ते एते सुरास्तेषामिन्द्र प्रभु सुरेन्द्र, सुराणां देवानां वा इन्द्र सुरेन्द्र, पूर्वत्र देवेन्द्रत्वेन प्रतिपादितत्वात् । अन्यथा वा पुनरुक्तपरिहार कार्य. । अरजांसि निर्मलानि अम्बरमाकाशं तद्वदच्छत्वेन यानि तान्यम्बराणि तानि वस्त्राणि धारयति य. स तथा, आलिङ्गितमालमारोपितस्रग् मुकुटो यस्य स तथा,नवे इव नवहेम्न सुवर्णस्य सम्बन्धिनी चारुणी शोभने चित्रे चित्रवती चञ्चले ये कुण्डले ताभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा । शेष प्रागिवेति । (सामाणियसाहस्सीण) इह यावत्करणादिद दृश्यम्— " तायत्तीसाए तायत्तीसगाण चउण्ह लोगपालाण अट्ठण्ह अग्गमहिसीण सपरिवाराण तिण्ह परिसाण सत्तण्ह अणियाण सत्तण्ह अणियाहिवईणं चउण्हं चउरासीण आयरक्खदेवसाहस्सीण्ण" । तत्र त्रयस्त्रिंशा पूज्याः महत्तरकल्पा लोकपाला पूर्वादिदिगधिपतय सोमयमवरुणवैश्रमणाख्या, अग्रमहिष्य प्रधानभार्या', तत्परिवार प्रत्येक पञ्च सहस्राणि, सर्वमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणि, तिस्र परिषदोऽभ्यन्तरा मध्यमा बाह्या च सप्तानीकानि पदातिगजाश्वरथवृषभभेदात् पञ्च सांग्रामिकाणि गन्धर्वानीक नाट्यानीक चेति सप्तानीकाधिपतयश्च सप्तैव प्रधानपति प्रधानो गज, एवमन्येऽपि आत्मरक्षार्थमङ्गरक्षकास्तेषां चतस्र सहस्राणां चतुरशीत्य आख्याति सामान्यतो भाषते विशेषत एतदेव प्रज्ञापयति प्ररूपयतीति पदद्वयेन क्रमेणोच्यत इति । देवेण वेत्यादौ यावत्करणादेव दृश्यम्- "जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गन्धव्वेण वा" इति ' इड्ढीए' इत्यादि यावत्करणादिद दृश्यम-"जुइ जसो बल वीरियं पुरिसक्कारपरक्कमे त्ति नाय भुज्जो करणया तनैव, ' आय ति ' निपातो वाक्यालङ्कार, अवधारणे वा । भूय. करणतायां पुनराचरणे, न प्रवर्त्तयिष्यते इति गम्यते ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए समणे जाव विहरइ, तए णं से कामदेवे समणोवासए इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे एव खलु समणे जाव विहरइ । तं सेयं खलु मम समणं भगवं महावीरं वंदित्ता णमंसित्ता तओ पमिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सुद्धप्पा वेसाइं वत्थाइं अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे मणुस्स वग्गुरापरिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता चंप नगरिं मज्झं मज्झेण णिग्गच्छइ, निगच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखे जाव पज्जुवासइ, तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स तीसे य जाव धम्मकहा सम्मत्ता कामदेवेइ समणे भगवं महावीरे कामदेवं एवं वयासी-से णूणं कामदेवा ! तुमं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतिय पाउब्भूए तए णं से देवे एगं महं पिसायरूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता आसुरत्ते ४ एगं महं नीलुप्पलअसिं गहाय तुम एवं वयासी-हं भो कामदेवा ! जाव जीवाओ ववरोविज्जामि तं तुमं तेणं देवेणं एवंवुत्ते समाणे अभीए जाव विहरासि, एवं वण्णगरहिया तिन्नि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगया से णूणं कामदेवा अट्ठे समट्ठे हंता ! अत्थि ।

[जहा सखे त्ति] यथा सङ्ख: श्रावको भगवत्यामभिहितस्तथाऽयमपि वक्तव्य., अयमभिप्राय -अन्ये पञ्चविधमभिगमं सचित्तद्रव्यव्युत्सर्गादिक समवसरणप्रवेशे विदधति, शङ्ख. पुनः पौषधिकत्वेन सचेतनादिद्रव्याणामभावात्तन्न कृतवानयमपि पौषधिक इति शङ्खेनोपमित. । यावत्करणादिद द्रष्टव्यम्-"जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ, करेइत्ता वदइ णमसइ, णमंसइत्ता णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे पजलिउडे पज्जुवासइ त्ति,तए णं समणे भगव महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य महइ महालीयाए परिसाए" । इत आरभ्य औपपातिकाधीन सूत्रं तावद्वक्तव्य यावत् धर्मकथा समाप्ता परिषत् प्रतिगता । तच्चैवं सकलशेषमुपदर्श्यते-"तए णं समणे भगव महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य महइ महालीयाए" तस्याश्च(महान्ती) महत्या इत्यर्थ इति । (परिसाए जइए परिसाए)तत्र पश्यन्तीति ऋषयोऽवध्यादिज्ञानवन्त, मुनयो वाचयमा', यतयो धर्मक्रियासु प्रयतमानाः, "अणेगसयाने अणेगसयवद्दपरिवारातो" अनेकशतप्रमाणानि यानि वृन्दानि परिवारो यस्यास्तथा,तस्या धर्मं परिकथयतीति सम्बन्ध । किंभूतो भगवान् ?, [ओहबले] ओघबले, यावत्करणादव्यवच्छिन्नबलः अतिबलोऽतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यग्बल, महाबलोऽप्रमितबल । एतदेव प्रपञ्च्यते-"अपरिमियबलवीरिय" अपरिमितानि यानि बलादीनि तैर्युक्तो य. स तथा । बल शारीर, प्राण वीर्यं जीवप्रभव. । "तेयमाहप्पकंतिजुत्ते' तेजो दीप्तिर्माहात्म्य महानुभावता, कान्ति. काम्यता, " सारयनवथणियमहुरगंभीरकोंचनिग्घोसदुंदुभिसरे " शरत्कालप्रभवाभिनवमेघशब्दवत् मधुरो निर्घोषो यस्य दुन्दुभेरिव स्वरो यस्य स तथा । (उरोवित्थडाए) गलविवरस्य वर्तुलत्वात् । (सिरे संकिन्नाए) मूर्द्धनि संकीर्णतायामस्य मूर्द्धास्खलितत्वात्, सरस्वत्येति सम्बन्ध । "कंटपीवट्टीयाए अगरजाते" व्यक्तवर्णघासेत्यर्थ । (अम्ममणाए) अनवरवञ्चमानयेत्यर्थ । "सव्वक्खरसन्निवायाए" सर्वाक्षरसयोगवत्या पुनरुक्त्या ते परिपूर्णमधुरया (सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए भणित्ता जोयणनीहारिणा सरेण) योजनातिक्रामिणा शब्देन " अद्धमागहीए भासाए भासइ अरहा धम्म परिकहेइ " अर्द्धमागधी-

भाषा यस्याम्, "रसोर्लशौ"॥८।४।२८८॥ मागध्यामित्यादिकं मागधीभाषालक्षणं परिपूर्णं नास्ति भाषते सामान्येन प्रज्ञापनामिति। किंविधो भगवान्?,अर्हन् पूजितो पूजोचितः अरहस्यो वा सर्वज्ञत्वात्, कं?,धर्मं श्रद्धेयज्ञेयानुष्ठेयवस्तुश्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप, तथा-परिकथयति अशेषविशेषकथनेनेति। तथा "तेसिं सव्वेसिं आयरियमणायरियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ" न केवल ऋषिपर्षदादीनां ये वन्दनाद्यर्थमागतास्तेषां च सर्वेषामार्याणामार्यदेशोत्पन्नानामनार्याणां म्लेच्छानामग्लान्या अखेदेनेति। "सा वि य णं अद्धमागही भासा, तेसिं आयरियमणारियाण अप्पणो भासाए परिणामेण परिणमइ" स्वभावापरिणामेनेत्यर्थः। धर्मकथामेव दर्शयति-"अत्थि लोए अत्थि अलोए एवं जीवा अजीवा बंधे मोक्खे पुण्णे पावे आसवे संवरे निज्जरे" एतेषामस्तित्वदर्शनेन शून्यज्ञाननिरात्माद्वैतैकान्तक्षणिकनित्यवादिनास्तिकादिकुदर्शननिराकरणात्परिणामवस्तुप्रतिपादनेन सकलैहिकामुष्मिकक्रियाणामनवद्यत्वमावेदितम्। तथा "अत्थि अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नेरइया तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ माया पिया रिसओ देवा देवलोया सिद्धी सिद्धा परिनिव्वाणे परिनिव्वुया" सिद्धा कृतकृत्यता, परिनिर्वाणं सकलकर्मकृतविकारविरहादतिस्वास्थ्यम्,एवं सिद्धपरिनिर्वृतानामपि विशेषोऽवसेयः तथा-"अत्थि पाणाइवाए मुसावाए अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे अत्थि कोहे माणे मायालोभे पिज्जे दोसे कलहे अब्भक्खाणे अरई रई पेसुन्ने परपरिवाए मायामोसे मिच्छादसणसल्ले अत्थिपाणाइवाइवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे किं बहुणा सव्वं अत्थि भाव अत्थ त्ति वयइ सव्वं नत्थि भावं नत्थि त्ति वयइ सुचिन्ना कम्मा सुचिन्नफला भवंति" सुचरिता क्रिया दानादिकाः सुचीर्णफला.,पुण्यफला भवन्तीत्यर्थः।"दुचिन्ना कम्मा दुच्चिन्नफला भवन्ति फुसइ पुण्णं पावे" बध्नात्यात्मा शुभकर्मणी,न पुनः सांख्यमते नैव न बध्यते "पच्चायति" जीवः प्रत्यायन्ते, उत्पद्यन्ते इत्यर्थः "सफले कल्लाणे पावए" इष्टानिष्टफल, शुभाशुभं कर्मेत्यर्थः। "धम्ममाइक्खइ" अनन्तरोक्तं ज्ञेयश्रद्धेयज्ञानरूपमाचष्टे इत्यर्थः। तथा-"इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे" इदमेव प्रत्यक्षं नैर्ग्रन्थं प्रवचनं जिनशासनं सत्यं सद्भूत, कषायादिशुद्धत्वात् सुवर्णवत्।"अणुत्तरे" अविद्यमान प्रधानतरं "केवलिए" अद्वितीय संशुद्धं निर्दोषं "पमिपुण्णे"सद्गुणभृत "नेयाउए" नैयायिकं न्यायनिष्ठं "सल्लगत्तणे" मायादिशल्यकर्त्तनं "सिद्धिमग्गे" हितप्राप्तिपथ "मुत्तिमग्गे" अहितविच्युतरूपो य "निव्वाणमग्गे" सिद्धिक्षेत्रावाप्तिपथः "परिनिव्वाणमग्गे" कर्माभावप्रभवसुखोपायः, "सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे" सकलदुःखक्षयोपाय., इदमेव प्रवचन फलतः प्ररूपयति—"इत्थ ठिया जीवा सिज्झंति" निष्ठितार्थतया "बुज्झंति" केवलतया 'मुच्चंति' कर्मभिः"परिनिव्वायते" स्वस्थीभवन्ति। किंमुक्त भवन्तीति?,"सव्वदुक्खाणमंतं करेंइ एगच्चा पुण एगभयंतारो" एकार्च्या अद्वितीयपूज्या. संयमानुष्ठानं वा एका असदृशी अर्चा शरीरं येषां ते एकार्चा· ते पुनरेकैकेन वा येन सिद्ध्यन्ति ते भक्तारः. निर्ग्रन्थप्रवचनसेवका भदन्ता वा भट्टारका भयत्रातारो वा, "पुव्वकम्मावसेसेणं अन्नतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, महड्ढिएसु महज्जुइएसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु दूरगएसु चिरट्ठिएसु तेणं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया जाव चिरट्ठिइया हारविराइयवत्थकडगतुमियथंभियभूया अगदकुंडलमट्ठगंडतलकन्नपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमाला मउलिमउडवि" दीप्तानि विचित्राणि वा 'मउलि त्ति' मुकुटविशेषः "कल्लाणपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरगंधमल्लाणुलेवणधरा भासरबोंदीपलंबवणमालधरा दिव्वेण वन्नेणं दिव्वेणं गंधेण दिव्वेण संघयणेण दिव्वेणं संठाणेण दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाए उज्जोएमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसि भद्दा पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा तमाइक्खति" यदिह धर्मफल तदाख्याति, तथा "एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति" एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणेति "णेरइयत्ताए कम्म पकरेत्ता नेरइएसु उववज्जंति। तं जहा-महारंभयाए महापरिग्गहाए पंचेंदियवहेणं कुणिमाहारेणं कुणमति मांस एव च एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिए सु माइल्लयाए अलियवयणेण उक्कंचणयाए वंचणयाए" तत्र माया वञ्चनबुद्धि,उत्कञ्चन मुग्धवञ्चन प्रवृत्तस्य समीपवर्तिविदग्धरक्षणार्थं क्षणमव्यापारतया अवस्थान वञ्चन विप्रतारणं "मणुस्सेसु पगइभद्दयाए पगइविणीययाए साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए" प्रकृतिभद्रकता स्वभावत एवापरोपतापता अनुक्रोशी। "देवेसु सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं अकामनिज्जराए बालतवोकम्माण तमाइक्खइ" यदेवमुक्तरूप नारकत्वादिनिबन्धनं तदाख्यातीत्यर्थः।

तथा—

"जहा नरया गम्मंती, जे नरया जाव वेयणा नरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥ १ ॥
माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवा य देवलोए, देवीहिं देवसोक्खाइं" ॥ २ ॥

देवांश्च देवलोकान्, देवेषु देवसौख्यान्याख्यातीति।

"नरगतितिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च ॥
सिद्धिं च सिद्धिवसहिं, छज्जीवणियं परिकहइ ॥३॥
जह जीवा बज्झंती, मुच्चंति जह य संकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं, करेंइ केई अपमिबद्धा ॥ ४॥
अट्टा अट्टियचित्ता, जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडेंति" ॥ ५ ॥

आर्त्ताः शरीरतो दुःखिता आर्त्तेन चिता. शोकादिपीडिता आर्त्तो वा ध्यानविशेषादार्त्तितचित्ता इति। "जह रागेण कडाणं, कम्माणं पावउ फलविवागो। जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति" ॥६॥ अथानुष्ठेयानुष्ठानलक्षणं धर्ममाह-"तमेव धम्मं दुविहमाइक्खिय" येन धर्मेण सिद्धा. सिद्धालयमुपयान्ति स एव धर्मो द्विविध आख्यात इत्यर्थं। "तं जहा अणगारधम्मं अणगारधम्मो इह खलु सव्वाओ" सर्वान् धनधान्यादिप्रकारानाश्रित्य 'सव्वत्ताए' सर्वात्मना सर्वैरात्मपरिणामैरित्यर्थः। "आगाराओ अणगारियं पव्वइयस्सति सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहराईभोयणाओ वेरमणं, एवं अयमाउसो अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणा आणाए आराहए भवइ,आगारधम्म दुवालसविहं आइक्खइ।तं जहा-पंचाणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं पंच

अणुव्वयाइ ति । त जहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमण, एव मुसावायाओ वेरमण, अदिन्नादाणाओ वेरमण सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे। तिन्नि गुणव्वयाइं। त जहा-अणट्ठदण्डवेरमण दिसिव्वय उवभोगपरिभोगे परिमाण। चत्तारि सिक्खावयाइ। त जहा-सामाइय देसावगासिय पोसहोववासो अतिहिसंविभागो अपच्छिममारणंतियसंलेहणा भूसणा आराहणा अयमाउसो अगारसामाइए धम्मे पन्नत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासिया वा विहरमाणाए आणाए आराहए भवइ,तए ण से मडई महालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेइ,करेइत्ता वदइ णमसइ,अत्थेगइया मुमा भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइया अत्थेगइया पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्म पडिवन्ना अवसेसा परिसा समण भगव महावीर वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—सुयक्खाए ण भते ! निग्गथे पावयणे एव सुपन्नत्ते " भेदत. ' सुभासिए ' वचनव्यक्तित ' सुविणीए ' सुष्ठु शिष्येषु विनियोजनात्, ' सुभाविते ' तत्त्वभणनात् । " अणुत्तरे भते ! निग्गथे पावयणे एव सुपहो धम्म त आइक्खमाणे उवसमत आइक्खह " । क्रोधादिनिग्रहमित्यर्थः । "उवसम आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह" बाह्यग्रन्थित्यागमित्यर्थः । "विवेग आइक्खमाणा वेरमण आइक्खह" मनोनिवृत्तिमित्यर्थः । "वेरमण आइक्खमाणा अकरण पावाण कम्माण आइक्खह" धर्ममुपशमादिस्वरूप ब्रूथ इति हृदयम् । "नत्थि ण अन्ने केइ समणे वा माहणे वा जे एरिस धम्मस्स माइक्खित्त ते" प्रभुरिति शेषः । "किमग ! पुण एत्तो उत्तरतर एव वदित्ता जामेव दिसि पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगयत्ति अट्ठे समट्ठे त्ति" अस्त्येष इत्यर्थः । अथवा मयोदितवस्तुसमर्थः सगत । हन्ता ! इति कोमलामन्त्रणवचनम् ।

अज्जो समणे भगव महावीरे वहवे समणे णिग्गंथे य णिग्गंथीओ य आमतेत्ता एवं वयासी—जइ ताव अज्जो समणोवासगा गिहिणो गिहमज्झा वसंता दिव्वमाणुसतिरिक्खजोणिए उवसग्गे सम सहइ जाव अहियासेइ सक्का पुणाइ अज्जो ! समणेहिं निग्गथीहिं दुवालसंग गणिपिडग अहिज्जमाणेहिं दिव्वमाणुसतिरिक्खजोणिएहिं सम सहितए जाव अहियासतए तए ण से वहवे समणा णिग्गथा य णिग्गथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से कामदेवे समणोवासए हट्ठतुट्ठ० समण भगव महावीरं पसिणाइ पुच्छइ , अट्ठमादियइ समण भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वदइ णमसइ, वंदित्ता णमसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया, तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया चपाओ पडिनिक्खमिया जणवय० जाव विहरइ । तए णं से कामदेवे समणोवासए पढम उवासगपडिम उवसपज्जित्ता ण जाव विहरइ, तए णं से कामदेवे समणोवासए बहुहिं० जाव भावेत्ता वीस वासाइ समणोवासगपरियागं पाउणित्ता एक्कारस उवासगपडिमं सम्म काएण फासेत्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताण झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइ अणसणाए छेएत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मावडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरच्छिमेण अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ ण अत्थेगइयाणं देवाण चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पन्नत्ता. कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलियोवमाइ ठिई पन्नत्ता ; से ण भंते ! कामदेवे तओ चेव देवलोगाओ आउक्खएणं अणंतरं चयइ, चइत्ता कहिं गमिहिंति कहि उववज्जिहिंति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति ॥

[अज्जो त्ति] आर्या इति एवमामन्त्र्यैवमवादीदिति । [सेहति त्ति] यावत्करणादिह दृश्यम्-"खमति तितिक्खति" एकार्थीश्चैते विशेषव्याख्यानमप्येषामस्ति, तदन्यतोऽवसेयमिति । 'निक्खेवओ त्ति' निगमनवाक्य वाच्यम् । तच्चेदम्-"एव खलु जबू ! समणेण जाव सपत्तेण दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमीति " । उपा० २ अ० । ध० र० । सथ ० । स्था० । आ० म० । प्राग्वाटवंशावतंसस्य साधुहालोकस्याऽऽत्मजे, यदर्थे श्रीमदजिननन्दनस्य चैत्य कारितम् । ती० ३२ कल्प । ऋषभदेवस्य पञ्चदशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण । ('अहिणदण' शब्द प्रथमभागे ७७६ पृष्ठे कथा निरूपिता)

कामदेवभवण-कामदेवभवन-न० । काममन्दिरे, "पवरिक्कसहिसमेया कामदेवभवणे,ममाइअणुरायनमतरियस्स पयस्स" दर्श० ।

कामपरिग्गहग्गही-कामपरिग्रहाग्रहिन्-त्रि० । विषयलोलुपे, कामपरिग्रहो गृहस्थभावमेव प्रशसति । वक्ति च-"गृहाश्रमपरो धर्मो, न भूतो न भविष्यति । पालयन्ति नरा शूरा , क्लीबाः पाखण्डमाश्रिता "॥१॥ गृहाश्रमाऽऽधारश्च सर्वेऽपि पाखण्डिन इत्येवं महामोहमोहिता इच्छामदनकामेषु प्रवर्तन्ते । आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कामपाल-कामपाल-पु० । कामान् पालयति । पाल रक्षणे-अण् । बलभद्रे, वाच० । द्वीपविशेषाधिपतौ, द्वी० ।

कामप्पभ-कामप्रभ-न० । स्वनामख्याते विमानभेदे जी० ३ प्रति० ।

कामफास-कामस्पर्श-पु० । सप्तचत्वारिंशे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । कल्प० ।

कामभोग-कामभोग-पु० । द्व० स० । कामभोगशब्दार्थयो , तत्र कामा कमनीया भोगा शब्दादयोऽथवा कामौ शब्दरूपे भोगा. गन्धरसस्पर्शा कामभोगा । स्था० ८ ठा० १ उ० । यदि वा कामा इच्छारूपा ,मदनकामास्तु भोगा । सूत्र० १ श्रु० २ अ० । कामानां शब्दादीना यो भोग । स्था० ४ ठा० १ उ० । शब्दादिभोगे,मदनसेवायां च । ग० १ अधि० । अथवा काम्यन्त इति कामा , मनोज्ञा इत्यर्थ , ते च ते । भुज्यन्त इति भोगा , शब्दादय इति भोगा । स्था० २ ठा० ४ उ० । इच्छा मदनकामा. शब्दादयो विषयास्ते एव भुज्यन्त इति भोगा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । मनोज्ञेषु,स्था० ४ ठा० ३ उ० । मदनकामप्रधानेषु शब्दादिषु विषयेषु, दशा० १ चू० । आ० म० ।

भेदाः—

कइविहा णं भंते ! कामभोगा पएणत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा कामभोगा पएणत्ता । तं जहा-सद्दा गंधा रूवा रसा फासा । जीवा णं भंते ! किं कामी भोगी ?। गोयमा ! जीवा कामी वि भोगी वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा ण कामी वि भोगी वि ?। गोयमा ! सोइंदियचक्खिंदियाइं पडुच्च कामी,घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च भोगी, से तेणट्ठेणं गोयमा० । जाव भोगी वि । नेरइया णं भंते ! किं कामी भोगी ?। एवं चेव । एवं थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा । गोयमा ! पुढविकाइया नो कामी भोगी । से केणट्ठेणं जाव भोगी ?। फासिंदियं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव भोगी । एवं जाव वणस्सइकाइया, बेइंदिया एवं चेव, णवरं जिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च तेइंदिया वि एवं चेव,नवरं घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च चउरिंदियाणं पुच्छा । गोयमा ! चउरिंदिया कामी वि भोगी वि । से केणट्ठेणं जाव भोगी वि ?। गोयमा ! चक्खिंदियं पडुच्च कामी घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च भोगी, से तेणट्ठेणं जाव भोगी वि । अवसेसा जहा जीवा जाव वेमाणिया । एएसि णं भंते ! जीवाणं कामभोगीणं नो कामीणं नो भोगीणं भोगीण य कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा कामभोगी,नो कामी,नो भोगी अणंतगुणा,भोगी अणंतगुणा ॥

(सव्वत्थोवा कामभोग त्ति) ते हि चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च स्युः,ते च स्तोका एव । (नो कामी नो भोगि त्ति) सिद्धास्ते च तेभ्योऽनन्तगुणा एव । (भोगि त्ति)एकद्वित्रीन्द्रियास्ते च तेभ्यो ऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तगुणत्वादिति । भ० ७ श० ७ उ० ।

ज्योतिष्काणां कामभोगानभिधित्सुस्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह—

ता चंदिमसूरिया णं जोतिसिंदा जोतिसरायाणो केरिसा कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?। ता से जहाणामं ते केइ पुरिसे पढमे जुव्वणुट्ठाए समत्थे पढमे जोव्वणबलसमत्थाए भारियाए सद्धिं अचिरवत्तवीवाहे अत्थत्थी अत्थगवेसणताए सोलसवासं विप्पवासिते से णं ततो लद्धट्ठे कति कज्जेणं ति अणहसमग्गे पुणरवि णियगं घर हव्वमागते राहाते कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पा वेसाइं मंगलाइं पवरवत्थाइं परिहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे मणुणं थालीपाकसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भुत्ते समाणे तंसि तारसगंसि वासघरंसि अंतो सचित्तकम्मे बाहिरित्तो दूमितघट्ठमट्ठे विचित्तउल्लोअचिल्लियतले बहुसमसुविभत्तभूमिभाए मणिरयणपणासितंधकारे कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूते तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि दुहतो उण्णते मज्झेणं गंभीरे सालिंगणवट्टिए पण्णत्तगंडविब्बोयणे सुरम्मे गंगापुलिणवालुयाउद्दालसालिसए सुविरइय-रयत्ताणे उयचियखोमियदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुयसंवुडे सुरम्मे आइणगरूयबूरणवणीततूलफासे सुगंधवरकुसुमचुएणसयणोवयारकलिते ताए तारिसाए भारियाए सद्धिं सिंगारागारचारुवेसाए संगतगयहसितभणितचिट्ठितसंलावविलासणिउणजुत्तोवयारकुसलाए अणुरत्ताए अविरत्ताए मणोणुकूलाए एगंतरतियसत्ते अण्णत्थ कत्थइ मणं अकुव्वमाणे इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे माणुसए कामभोगए पच्चणुब्भवमाणे विहरिज्जा । ता से णं पुरिसे वि उ समए कालसमयंसि केरिसये स ता सोक्खं पच्चणुब्भवमाणे विहरति ?। उरालं समणाउसो ! ता तस्स णं पुरिसस्स कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव वाणमंतराण देवाणं कामभोगा वाणमंतराणं देवाण कामभोगेहिंतो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं कामभोगा असुरिंदवज्जियाणं देवाणं कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतरा चेव असुरकुमाराणं इंदभूयाणं देवाण कामभोगा असुरकुमाराणं देवाणं कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव गहणक्खत्ततारारूवाणं कामभोग गहणक्खत्ततारारूवाणं कामभोगेहिंतो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव चंदिमसूरियाणं देवाण कामभोगा ता एरिसे णं चंदिमसूरिया जोइसिंदा जोइसरायाणो कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरति ॥

(ता चंदिमेत्यादि) ता इति पूर्ववत्,चन्द्रसूर्याः,णमितिवाक्यालङ्कारे,ज्यौतिषेन्द्रा ज्यौतिषराजाः, कीदृशान् कामभोगान्प्रत्यनुभवन्तो विहरन्त्यवतिष्ठन्ते ?। भगवानाह-(ता से जहेत्यादि 'ता इति' पूर्ववत् 'से' इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो नाम,यथा कोऽपि पुरुषः प्रथमयौवनोत्थाने प्रथमयौवनोद्गमे यद्बल शारीरप्राणस्तेन समर्थः प्रथमयौवनोत्थानबलसमर्थया भार्यया सह अचिरवृत्तविवाहः सन्, अर्थार्थी अर्थगवेषणया अर्थगवेषणनिमित्त षोडशवर्षाणि यावत् विप्रोषितो देशान्तरे प्रवासं कृतवान्, ततः षोडशवर्षानन्तरं स पुरुषो लब्धार्थः प्रभूतप्रापितार्थः, (अणहसमग्ग त्ति) अनघमक्षतं न पुनरपान्तराले केनापि चौरादिनाऽविलुप्तं,समग्रं द्रव्यं भाण्डोपकरणादि यस्य स तथा, स च पुनरपि निजकं गृहं शीघ्रमागतः, ततः स्नातः , कृतबलिकर्मा कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तः शुद्धात्मा, वेश्यानि वेषोचितानि प्रवराणि वस्त्राणि परिहितो निवसितः [अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे इति] अल्पैः स्तोकैर्महार्घैर्महामूल्यैराभरणैरलङ्कृतशरीरो मनोज्ञं कलमौदनादि,स्थाली पिठरी तस्यां पाको यस्य तत्तथा,अन्यत्र हि पक्वं न सुपक्वं भवति,तत इदं विशेषणं,शुद्धं भक्तदोषवर्जितं स्थालीपाकं च तत् शुद्धं च स्थालीपाकशुद्धम् । [अट्ठारसवंजणाउलमिति]अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकतक्रादिभिराकुलम्-अष्टादशव्यञ्जनाकुलम् । अथवा-अष्टादशभेदं च तत् व्यञ्जनाकुलं च अष्टादशव्यञ्जनाकुलं, शाकपार्थिवादिदर्शनात्पूर्वपदलोपः । (सूप्र०)एवंभूत भोजनं भुक्तः सन् तस्मिन् तादृशे वासगृहे, किं विशि-

हे?,इत्याह-अन्त' सचित्रकर्मणि,[दुमियघट्टमट्ठ त्ति]बहि' दुमिए सुधापङ्कधवलिते घृष्टे पाषाणादिना उपरिघर्षिते ततो मृष्टे मसृणीकृते, तथा विचित्रेण विविधचित्रयुक्तेनोल्लोचेन चन्द्रोदयेन [चिलिय ति] दीप्यमान गृहमध्यभागे उपरितनतल यस्य तत्तथा,तस्मिन्। तथा-बहुसम प्रभूतसमः सुविभक्त सुविच्छित्तिको भूमिभागो यत्र तस्मिन्। तथा-मणिरत्नप्रणाशितान्धकारे,तथा-कालागुरुप्रवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूपस्य यो गन्धो मघमघायमान उद्धूत इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिराम रमणीय तस्मिन्। तत्र कुन्दुरुक्क चीडातुरुक्कं सिल्हक। तथा-शोभनो गन्ध सुगन्धस्तेन कृत्वा वरगन्धिक,वरो गन्धो वरगन्ध सोऽस्यास्तीति वरगन्धिकम्।'अतोऽनेकस्वरात्' ।७।२।६। इतीकप्रत्यय । तस्मिन्, अत एव गन्धवर्तिभूते तस्मिन् तादृशे शयनीये उभयत उभयोः पार्श्वयोरुन्नते मध्येन च मध्यभागेन गम्भीरे, [सालिंगणवट्टीए त्ति] सहालिङ्गनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन वर्तते यत्तत्तथा।[उभयो विब्बोयणे इति] उभयो प्रदेशयो शिरोऽन्तपादान्तलक्षणयो , 'बिब्बोयणे ' उपधानके यत्र तत्तथा। तत्र क्वचित "पण्णत्तगमविब्बोयण त्ति" पाठ । तत्रैव व्युत्पत्ति -प्रज्ञया विशिष्टपरिकर्मविषयया सुष्ठ्वा आसे प्रासे,अतीव सुष्टु परिकर्मिते इति भाव । गण्डोपधानके यत्र तत्तथा। तत्र [उपचियखोमिअदुगूलपट्टपडिच्छायणे]उपचित सुपरिकर्मित क्षौमिक दुकूल कार्पासिकमतसीमय वा वस्त्र तस्य युगलरूपो य पट्टशाटक प्रतिच्छादनमाच्छादन यस्य तत्तथा तत्र। [रत्तसुयसवुडे] रक्तांशुकेन मशकगृहाभिधानेन वस्त्रविशेषेण सवृते समतत आवृत्ते [आइणगरुयबूरनवणीयतूलफासे] आजिनक चर्ममयो वस्त्रविशेष', स च स्वभावादतिकोमलो भवति। रुत च कार्पासोद्भूत, बूरो वनस्पतिविशेषः, नवनीत च म्रक्षण तूलश्चार्कतूल इति द्वन्द्व ! अत एतेषामिव स्पर्शो यस्य तत्तथा तस्मिन् । (सुगधवरकुसुमचुण्णसयणोवयारकलिए)सुगन्धीनि यानि वरकुसुमानि,ये च सुगन्धाश्चूर्णा' पटवासादयो,ये च एतद्व्यतिरिक्तास्तथाविधा शयनोपचारास्तै कलिततया तादृशया वक्तुमशक्यस्वरूपतया पुण्यवतां योग्यया, (सिंगारागारचारुवेसाए त्ति) शृङ्गारस्य पोषकः आकार सन्निवेशो यस्य स शृङ्गाराकार इत्थंभूतश्चारु शोभनो वेषो यस्या सा तथाभूता तया, [सगतगयहसियभणियचिट्ठियसलावविलासनिउणजुत्तोवयारकुसलाए] सगत गमन सविलास,चङ्क्रमणमित्यर्थ'। हसित सप्रमोद कपोलसूचित हसन,भणित मन्मथोद्दीपिका विचित्रा भणिति ,चेष्टित सकाममङ्गप्रत्यङ्गावयवप्रदर्शनपुरस्सर प्रियस्य पुरतोऽवस्थान, सलापः प्रियेण सह सप्रमोद सकाम परस्पर सकथा। एतेषु विलासेन शुभलीलया निपुण , सूक्ष्मबुद्धिगम्योऽत्यन्तकामविषयपरमनैपुण्योपेत इत्यर्थ' । युक्तो देशकालोपपन्न उपचारकुशलया अनुरक्तया कदाचिदप्यविरक्तया मनोऽनुकूलया भार्यया सार्द्धमेकान्तेन रतिप्रसक्तो रमणप्रसक्तोऽन्यत्र कुत्रापि मनोऽकुर्वन्, अन्यत्र मन करणे हि न यथावस्थितमिष्टभार्यागत कामसुखमनुभवति। इष्टान् शब्दस्पर्शरसरूपगन्धरूपान् पञ्चविधान् मानुषान् मनुष्यभवसबन्धिन कामभोगान् प्रत्यनुभवन्,प्रतिशब्द' आभिमुख्ये। सवेदयमानो विहरेदवतिष्ठेत। [ता से णामित्यादि]तावच्छब्द क्रमार्थ , आस्तां तावदन्यदमेतन वक्तव्यमिद तावत्कथ्यता, स पुरुषस्तस्मिन् काव्यसमये कालेन तथाविधेनोपलक्षित समयोऽवसर कालसमयस्तस्मिन् कादृश स्यात् रूपमाद्यरूप सौख्य प्रत्यनुभवन् विहरति । एवमुक्ते गौतमे आह- [उराल समणाउसो !]हे भगवन्! हे श्रमण! हे आयुष्मन्! उदारमत्यद्भुत सात सौख्य प्रत्यनुभवन् विहरति। भगवानाह-"तस्स ण मित्यादि " । [एत्तो] एतेभ्यस्तस्य पुरुषस्य सबन्धिभ्य कामभोगेभ्य [अणतगुणविसिट्ठतराए चेव त्ति] अनन्तगुणतया विशिष्टतरा एव व्यन्तरदेवानां कामभोगा ,व्यन्तरदेवकामभोगेभ्योऽप्यसुरेन्द्रवर्जानां देवानां कामभोगा अनन्तगुणविशिष्टतरा ,तेभ्योऽनन्तगुणविशिष्टतरा इन्द्रभूतानामसुरकुमाराणां देवानां कामभोगाः, तेभ्योऽप्यनन्तगुणविशिष्टतरा ग्रहनक्षत्रतारारूपाणां देवानां कामभोगा , तेभ्योऽप्यनन्तगुणविशिष्टतरा कामभोगाः चन्द्रसूर्याणामेतादृशां चन्द्रसूर्या ज्योतिषेन्द्रा ज्योतिषराजा कामभोगान् प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति। सू०प्र०२० पाहु०।भ०।च० प्र०।

" तणकट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउ कामभोगेहिं ॥ " द० प० ।
" कुरुम चोद्दसरज्जं, लोग अणतभोगेण वि भरेज्जा ।
एते य कामभोगे, कालमणत इह स उवभोगे ।
अप्पुव्व वि य मन्नइ, जीवो तह वि य विसयसोक्खं ।
जह कच्छू लोक तुय-माणो, दुह मुणेइ सोक्ख ॥
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामं दुह सुह बेंति ।
जाणति अणुहवति य, अणुजम्मजरामरणसभवे दुक्खे ।
न य विसएसु विरज्जति, गोयम ! दुग्गइगमणपत्थिए जीवे"॥
महा०६ अ० ॥
" न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगय उवेंति ।
जे तप्पओ सो अ परिग्गही अ,सो तेसु मोहा विगय उवेइ " ।
अष्ट०४ अष्ट० । (भोगभोगा 'भोगभोग' शब्दे सर्वेषामिन्द्राणां वक्ष्यन्ते)

कामभोगतसिय–कामभोगतृषित–त्रि० । अप्राप्तकामभोगेच्छे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

कामभोगतिव्वाभिलास–कामभोगतीव्राभिलाप–पुं० कामौ शब्दरूपे, भोगा गन्धरसस्पर्शा , तेषु तीव्राभिलाषोऽत्यन्त तदध्यवसायित्व कामभोगतीव्राभिलाप । स्वदारसंतोषस्य चतुर्थेऽतिचारे, तत्त्व च–स्वदारसन्तोषी हि विशिष्टविरतिमान् , तेन च तावत्येव मैथुनसेवा कर्तुमुचिता यावत्या वेदजनितबाधोपशाम्यति , यस्तु वाजीकरणादिभि कामशास्त्रविहितप्रयोगैश्च तामधिकामुत्पाद्य सतत सुरतसुखमिच्छति स मैथुनविरतिव्रत परमार्थतो मलिनयति। को हि नाम सकर्णक पामामुत्पाद्याऽग्निसेवाजनितसुख वाञ्छेदित्यतिचारत्व कामभोगतीव्राभिलाषस्येति । उपा० १ अ० । आव० । आ० चू० ।

कामभोगमार–कामभोगमार–पु० । कामभोगै सह मारा मदनो मरणं वा कामभोगमार । विंशतितमे गौणाब्रह्मणि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

कामभोगासंसाप्प(प)ओग-कामभोगाशंसाप्रयोग-पु० । कामौ शब्दरूपे, भोगा गन्धरसस्पर्शा । अत्राशसाप्रयोग । यथा-ममास्य तपस प्रभावात् प्रेत्य सौभाग्यादि भूयादिति। ध०र० अधि० । यदि मे मानुष्यकामभोगादिव्यापाराः संपद्यन्ते तदा साध्विति विकल्परूपे, उपा० १ अ० । जन्मान्तरे चक्रवर्ती स्यां वासुदेवो महामाण्डलिक सुभगो रूपवानित्यादि लक्षणे वा, अपश्चिममारणान्तिकसलेखनाजोषणाराधनाया पञ्चमेऽतिचारे, ध० २ अधि० । उपा० । आ० ।

काममतिवट्ट–काममतिवर्त्त–पुं०। कामेष्विच्छामदनरूपेषु मतेर्बुद्धेर्मनसो वा वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्त्तः। कामाभिलाषुके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

काममल्ल–काममल्ल–पुं०। दुर्जयत्वेन मल्लत्वोपमिते कामे, "धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, त्रैलोक्यं तैः पवित्रितम्। यैरेष भुवनक्लेशो, काममल्लो निपातितः" ॥१॥ पञ्चा० १ विव०।

काममहावण–काममहावन–न०। वाराणसीसमीपस्थे चैत्ये, "तत्थ णं जे से चउत्थे पउट्टपरिहारे से णं वाणारसीए णयरीए बहिया काममहावणंसि चेइयंसि मंमियस्स सरीरं विप्पजहामि"। भ० १५ श० १ उ०।

कामयुग–कामयुग–पुं०। लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

कामरय–कामरजस्–न०। कामः शब्दो रूपं, स एव रजः कामरजः। कामलक्षणे रजसि, औ०।

कामरत–न०। कामानुरागे, भ० १ श० ५ उ०।

कामरागपमिबद्ध–कामरागप्रतिबद्ध–त्रि०। कामा मदनकामा, तेभ्यो रागा विषयाभिष्वङ्गाः, तैः प्रतिबद्धो व्याप्तः। मनसा विषयसुखेषु प्रशक्ते, "विसयसुहेसु पसत्तं, अबुहजणं कामरागपडिबद्धं। ओकामयति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा" ॥ ध० २ अधि०।

कामरागमोह–कामरागमोह–पुं०। मन्मथरागमूढे, तं०।

कामरागविवड्ढण–कामरागविवर्धन–त्रि०। मैथुनाभिलाषवर्द्धके, 'इत्थीण तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ५८ ॥" दश० ८ अ०।

कामरूव–कामरूप–पुं०। प्राग्ज्योतिषाख्ये देशभेदे, स चेदानीन्तनराजभाषया आसामप्रान्ते स्वनाम्ना प्रसिद्धः। वाच०। कामं स्वेच्छया रूपं यस्य। स्वेच्छाविकुर्वितनानारूपेऽर्थे, प्रज्ञा० २ पद।

कामरूवदेहधारि (ण्)–कामरूपदेहधारिन्–त्रि०। कामं स्वेच्छया रूपं येषां ते कामरूपास्ते च ते देहाश्च कामरूपदेहास्तान् धरन्तीत्येवशीला: कामरूपदेहधारिणः। स्वेच्छाविकुर्वितनानारूपदेहधारिषु, प्रज्ञा० २ पद। जी०।

कामरूवि (ण्)–कामरूपिन्–त्रि०। कामं स्वेच्छापूर्वं रूपं येषां ते कामरूपिणः। उत्त० ५ अ०। स्वच्छन्दचारिषु, श्रा० म० द्वि०। यादृशं रूपं मनसि वाञ्छन्ति तादृशं कुर्वन्तीत्यर्थः। उत्त० ५ अ०। कामोऽभिलाषस्तेन रूपाणि कामरूपाणि, तद्वन्तः। विविधवैक्रियशक्त्यन्वितेषु, उत्त०५ अ०। विद्याधरे, पुं० स्त्री०। वाच०।

कामलालस–कामलालस–त्रि०। सरक्ते, "एव लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा। विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए" ॥ ५४ ॥ मघा०।

कामलेस्स–कामलेश्य–न०। स्वनामख्याते विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामवण्ण–कामवर्ण–न०। स्वनामख्याते विमानभेदे, जी०३प्रति०।

कामविगार–कामविकार–पुं०। इन्द्रियार्थविकोपने, स्था०६ ठा०।

कामविणय–कामविनय–पुं०। कामहेतुके विनयभेदे, दश०६अ०।

कामविणिच्छिय–कामविनिश्चय–पुं०। विनिश्चयभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

कामसत्थ–कामशास्त्र–न०। कामस्य स्वर्गादेः प्रतिपादकशास्त्रम्। स्वर्गादेः प्राप्त्युपायप्रतिपादके शास्त्रे, कामस्य तद्वेष्टितस्य प्रतिपादके शास्त्रे रतिशास्त्रे। वाच०। वात्स्यायनादिकृते, ध० २ अधि०। सूत्र०।

कामसमणुण्ण–कामसमनोज्ञ–त्रि०। कामा इच्छामदनरूपाः, सम्यग्मनोज्ञा यस्य स तथा। अथवा सह मनोज्ञैर्वर्तत इति समनोज्ञः। गमकत्वात्सापेक्षस्यापि समासः। कामैः समनोज्ञः कामसमनोज्ञः, यदि वा कामान् सम्यगनु पश्चात् सदानुबन्धा जानाति सेवते इति कामसमनोज्ञः। अनङ्गरङ्गसलम्पटके, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

कामसिंगार–कामशृङ्गार–न०। स्वनामख्याते विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामसिट्ठ–कामशिष्ट–न०। विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामसोक्ख–कामसौख्य–न०। मनोभवाऽऽनन्दे, "अत्थोपायणकामसोक्खे य लोयसारे हति।" "राज्ये सारं वसुधा, वसुधरायां पुरं पुरे सौधम्। सौधे तल्पं तल्पे, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कामावट्ट–कामावर्त–न०। विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामावसाइत्ता–कामावशायिता–स्त्री०। कामेन इच्छया अवशाययति पदार्थान् स्वचित्ते। सत्यसंकल्पत्वे योगिनामैश्वर्यभेदे, वाच०। सूत्र०।

कामाविकरण–कामाविष्करण–न०। पञ्चाशत्तमे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण।

कामासंस [सा] प्प [प] ओग–कामाशंसाप्रयोग–पुं०। शब्दादाद्यभिलाषमात्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कामासत्ति–कामाशक्ति–स्त्री०। शब्दरूपयोः प्राप्तिसम्भावनायाम्, भ० १३ श० ६ उ०।

कामासा–कामाशा–स्त्री०। गौणमोहनीयकर्मभेदे, स०५२ सम०।

कामि [ण्]–कामिन्–त्रि०। कम–णिङ्, णिनि०। कामे मदनायुक्ते, अतिशयस्मरवेगयुक्ते, वाच०। "कामी सघमनायुक्ते, अतिशयस्मरवेगयुक्ते, वाच०।" ... नि० चू० १५ उ०। र गणतो, मूलपट्टम्मि होइ दट्ठव्वाः" नि० चू० १५ उ०। कामं इच्छा अस्त्यर्थे इनिः। अभिलाषिणि, सूत्र०१ श्रु०१०अ०।

कामिअ–कामिक–पुं०। स्त्री०। कामोऽस्त्यस्य ठन्। कारण्डपक्षिणि, स्त्रियां जातित्वात् ङीष्, कामेन निर्वृत्तम्, ठञ्। कामेन निर्वृत्तकाम्ये, स्त्रियां ङीप्। कामिक काम्यमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः। अण्। काम्याधिकारेण कृते ग्रन्थे, वाच०। लौकिकेषु स्वनामख्याते सरोवरभेदे, तत्र पतन् तिर्यग्मनुष्यो देवो जायते। विशे०। ('लोभ' शब्दे कथा वक्ष्यते) "सत्तपुरद्दिसमुसीकामियतित्थ जिणेसरो पासो। तस्सेस मए कप्पे, लिहिओ गीयाणुसारेण" ॥१॥ ती० २८ कल्प।

कामिड्ढि–कामर्द्धि–पुं०। आर्य्यसुहस्तिनो वशिष्ठगोत्रस्य चतुर्थे शिष्ये, कल्प० ८ क्षण।

कामिणी-कामिनी-स्त्री० । कामिशब्दे दर्शितस्त्रीत्वविशिष्टार्थे, " ज चेत्र मउवण लोअणाणमनुबद्धं त चिअ कामिणीण।" प्रा० २ पाद ।

कामुत्तरवडिंसग-कामोत्तरावतंसक-न० । विमानभेदे, जी० ३ प्रति० ।

काय-काच-न० । काच्यतेऽनेन । क बन्धने, करणे घञ्, न कुत्वम् । (मोम) सिक्थे, तस्य बन्धहेतुत्वात्तथात्वम् । वाच० । पाषाणविकारे, औ० । काच. क्षारमृत्तिकाऽस्त्यस्याऽऽकरत्वेन अच् । क्षारमृत्तिकोद्भवे लवणभेदे, शिक्ये, मणिभेदे च । वाच० ।

काय-पुं० । चिञ् चयने इति धातोश्चयन काय', चीयतेऽनेनेति वा काय । विशे० । चीयते यथायोग्यमौदारिकादिवर्गणारूप चयं नीयत इति काय । "चिति देहावासोपसमाधाने कश्चादे." ॥५।३।७६॥ इति घञ् प्रत्ययश्चकारस्य ककारः। कर्म०४ कर्म० । पं० स० । आ० म० । औ० । शरीरे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । " एगविहो कायो सरीर देहो " आ० चू० ५ अ० । सूत्र० । उत्त० । "दो काया पन्नत्ता । त जहा-तसकाए चेव, थावरकाए चेव ।" स्था० । ज्ञा० । उत्त० । सूत्र० । आव० । आचा० । नि० चू० । भ० । जी० । द्व० । कर्म० । (व्याख्याऽस्य स्वस्वशब्दे)

कायनिक्षेप.-

काயस्स उ निक्खेवो, बारसओ छक्कओ अ उस्सग्गे ।
एएसिं दुन्हं पी, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥ १४ ॥

(कायस्स उ त्ति) कायस्य तु निक्षेप (बारसओ त्ति) द्वादशप्रकारक ,(छक्कओ य उस्सग्गे त्ति) षट्कश्चोत्सर्गविषय , षट्प्रकार इत्यर्थ. । पश्चार्द्धं निगदसिद्धम् ।

तत्र कायनिक्षेपप्रतिपादनायाऽऽह-

नामं ठवण सरीरे, गई निकायऽत्थिकाय दविए अ ।
माउअ संगह पज्जव, भारे तह भावकाए अ ॥ १५ ॥

नामकाय १ स्थापनाकाय' २ शरीरकाय. ३ गतिकाय' ४ निकायकाय ५ अस्तिकाय' ६ द्रव्यकायश्च ७, मातृकाय. ८ संग्रहकाय ९ पर्यायकाय १० भारकाय' ११ तथा भावकाय- १२ श्चेति गाथासमासार्थ ॥ १५ ॥

तत्र नामकायप्रतिपादनायाऽऽह-

काओ कस्सइ नाम, कीरइ देहो वि वुच्चई काओ ।
कायमणिओ वि वुच्चइ, बद्धमवि निकायमाहंसु ॥ १६ ॥

काय कस्यचित्पदार्थस्य सचेतनस्याचेतनस्य वा नाम क्रियते स नामकाय., नामाश्रित्य कायो नामकाय । तथा-देहोऽपि शरीरसमुच्छ्रयोऽपि उच्यते काय.। तथा-काचमणिरपि कायो भण्यते प्राकृते तु 'काय' इति। तथा-बद्धमपि किञ्चिच्छ्लेषादि[निकायमाहसु त्ति] निकाचितमाख्यातवन्त., प्राकृतशैल्या ' निकाय त्ति ' गाथार्थ ॥ १६ ॥

अधुना स्थापनाकायप्रतिपादनायाऽऽह-

अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे वा ।
सब्भावमसब्भावं, ठवणाकायं विआणाहि ॥ १७ ॥

'अक्खे' चन्दनके, वराटके वा कपर्दके, काष्ठे कुट्टिमे, पुस्ते वा वस्त्रकृते, चित्रकर्मणि वा प्रतीते । किमित्याह-सतो भावः सद्भावस्तथ्य इत्यर्थः। तमाश्रित्य, तथा-असतो भावोऽसद्भावः, अतथ्यभाव इत्यर्थ.। तमाश्रित्य, किम्?, स्थापनाकाय विजानीहीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

सामान्येन सद्भावासद्भावस्थापनोदाहरणमाह-

लिप्पगहत्थी हत्थि, त्ति एस सब्भाविआ भवे ठवणा ।
होइ असब्भावे पुण, हत्थि त्ति निरागई अक्खे ॥ १८ ॥

यदिह लेप्यकहस्ती हस्तीति स्थापनायां निवेश्यते[एस सब्भाविया भवे ठवण त्ति]एषा एव सद्भावस्थापना भवतीति। असद्भावे पुनर्हस्तीति निराकृतिर्हस्त्याकृतिशून्या । एष चतुरङ्गादाविति । तदेव स्थापनाकायोऽपि भावनीय इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

शरीरकायप्रतिपादनायाऽऽह-

ओरालिअ वेउव्विअ, आहारग तेअ कम्मए चेव ।
एसो पंचविहो खलु, सरीरकाओ मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

उदारैः पुद्गलै. निर्वृत्तमौदारिकम्, विविधा क्रिया विक्रिया, विक्रियायां भव वैक्रिय प्रयोजनादि, आह्रियत इति आहारक, तेजोमय तैजस, कर्मणा निर्वृत्त कार्मणम् । औदारिक वैक्रियमाहारक तैजस कार्मण चैव, एष पञ्चविध. खलु, शीर्यन्त इति शरीराण्येव पुद्गलसघातरूपत्वात् कायः शरीरकायो विज्ञातव्य. इति गाथार्थ ॥ १९ ॥

गतिकायप्रतिपादनायाऽऽह-

चउसु वि गईसु देहो, नेरइआईण जो स गइकाओ ।
एसो सरीरकाओ, विसेसणा होइ गइकाओ ॥ २० ॥

इयमप्यन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगेति च व्याख्यायते-चतसृष्वपि गतिषु नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणासु, देहाभिन्नत्वे शरीरसमुच्छ्रयो नारकादीना यः स गतौ काय इति कृत्वा गतिकायो भण्यते। अत्रान्तरे आह चोदक -(एसो सरीरकाओ त्ति) नन्वेष शरीरकाय उक्त । तथाहि-औदारिकादिव्यतिरिक्ता नारकतिर्यगादिदेहा इति। आचार्य आह-(विसेसणा होइ गतिकाओ त्ति)विशेषणाद् विशेषणसामर्थ्याद् भवति काय' गतिकायः। विशेषण चात्र गतौ कायो गतिकाय'। यथा द्विविधा ससारिण - त्रसा., स्थावराश्च ।पुनस्त एव स्त्रीपुरुषनपुसकविशेषैर्भिद्यन्ते इति । एवमत्रापीति गाथार्थ' ॥ २० ॥

अथवा सर्वसत्त्वानामपान्तरालगतौ य' कायः स गतिकायो भण्यते । तथाचाऽऽह-

जेणुवग्गहिओ वच्चइ, भवंतरं जच्चिरेण कालेण ।
एसो खलु गइकाओ, सतेयगं कम्मगसरीरं ॥ २१ ॥

येनोपगृहीत उपस्कृतो व्रजति गच्छति। किम्?, भवादन्यो भवो भवान्तरम् । तत एतदुक्त भवति-मनुष्यादिर्मनुष्यभवाच्च्युतः येनाश्रयेणापान्तराले देवादिभव गच्छति स गतिकायो भण्यते। तत् कालमानतो दर्शयति-[जच्चिरेण कालेण ति] स च यावता कालेन समयादिना व्रजति तावन्तमेव कालमसौ गतिकायो भ-

यग्ने। एष खलु गतिकायः। स्वरूपेणैव दर्शयन्नाह-[सतेयगं कम्मगसरीर] कार्मणस्य प्राधान्यात् सह तैजसेन वर्तत इति सतैजसं कार्मणशरीर गतिकाय ,तदाश्रयेणापान्तरालगतौ जीवगतेरिति जावनीयमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥

निकायकायः प्रतिपाद्यते-

निअयमहिगो व काओ, जीवनिकाओ निकायकाओ अ ।

[निययमहिगो व काओ जीवनिकाओ त्ति] नियतो नित्यः कायो निकाय ,नित्यता चास्य त्रिष्वपि कालेषु जावात्।अधिको वा कायो निकायः, यथाऽधिको दाहो निदाह इति।आधिक्यं चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया स्वजेदापेक्षया वा। तथा हि-एकादयो यावदसङ्ख्येयाः पृथिवीकायिकाः, तावत्काय एव स्वजातीयान्यप्रक्षेपापेक्षया निकाय इति। एवमन्येष्वपि विभाषेति। एव जीवनिकाय' सामान्येन निकायकायो जएयते। अथवा जीवनिकाय' पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो जएयते ; तत्समुदाय एव च निकायकाय इति ।

अधुनाऽस्तिकाय· प्रतिपाद्यते, तत्रेद गाथाशकलम्-

अत्थि त्ति बहुपएसा, तेणं पंचऽत्थिकाया उ ॥ २२ ॥

(अत्थि त्तीत्यादि) अस्तीत्यय त्रिकालवचनो निपातः। अभूवन् जवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना। बहुप्रदेशाश्च, यतस्तेन पञ्चैवास्तिकाया।तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न न्यूना नाऽप्यधिका इति।अनेन च धर्माधर्माकाशानामेकद्रव्यत्वादेकास्तिकायत्वानुपपत्ति· । अद्धासमयस्य चैकत्वादस्तिकायत्वापत्तिरित्येतत्परिहृतमवगन्तव्यम्।तेचामी पञ्च । तद्यथा-धर्मास्तिकाय , अधर्मास्तिकाय·, आकाशास्तिकायः,जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायश्चेति। अस्तिकायश्च काय इति हृदयमय गाथार्थ· ॥ २२ ॥

साम्प्रतं द्रव्यकायावसरस्तत्प्रतिपादनायाऽऽह-

जं तु पुरक्खमभावं, दविअं पच्छाकमं व जावाओ ।
तं होइ दव्वदविअं, जह जविओ दव्वदेवाइ ॥२३॥

यद्द्रव्यमिति योग ।तुशब्दो विशेषणार्थ· । किं विशिनष्टि?,जीवपुद्गलद्रव्य, न धर्मास्तिकायादि । ततश्चैतदुक्त भवति-यद् द्रव्य यद् वस्तु, पुरस्कृतभावमिति, पुरो यतः कृतो भावो येनेति समास ।जाविनो जावस्य योग्यमजिमुखमित्यर्थ· ।(पच्छाकम व भावाओ त्ति) वाशब्दस्य व्यवहित' सबन्ध ।ततश्चैव प्रयोग·-पश्चात्कृतजावम्।वाशब्दो विकल्पवचनः। पश्चात्कृत· प्राप्योज्झितो जावः पर्यायविशेषलक्षणो येन स तथोच्यते।एतदुक्त जवति-यस्मिन् जावे वर्तते द्रव्य ततो य· पूर्वमासीद्भावस्तस्मादपेत पश्चात्कृतजावमुच्यते। (त होइ दव्वदविय) तदित्थभूत द्विप्रकारमपि जाविनो, जूतस्य च जावस्य योग्य (दव्व ति) वस्तु वस्तुवतो ह्येको द्रव्यशब्दः। किंभवति?, द्रव्यम । भवतिशब्दस्य व्यवहित· प्रयोग·। इत्थ द्रव्यलक्षणमजिधायाधुनोदाहरणमाह-(जह भविओ दव्वदेवाई) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थ·। जव्यो योग्य । द्रव्यदेवादिरिति। इयमत्र भावना-यो हि पुरुषादिर्मृत्वा देवत्व प्राप्स्यति बद्धायुष्कः, अजिमुखनामगोत्रो वा स योग्यत्वाद्द्रव्यदेवोऽभिधीयते।एवमनुभूतदेवभावोऽपि। आदिशब्दाद्द्रव्यनारकादिपरिग्रह , परमाणुग्रहश्च । तथा ह्यसावपि द्व्यणुकादिकाययोग्यो भवत्येव, ततश्चेत्थभूत द्रव्य द्रव्यकायो भएयत इति गाथार्थ· ॥ २३ ॥

आह-किमिति तुशब्दविशेषणाज्जीवपुद्गलद्रव्यमङ्गीकृत्य धर्मास्तिकायादीनामिह व्यवच्छेद· कृत इति ?। उच्यते-तेषा च यथोक्तद्रव्यलक्षणायोगात् सर्वदैवास्तिकायत्वलक्षणजावोपेतत्वात्।

आह च भाष्यकारः—

जइ अत्थिकायजावो, इय एसो हुज्ज अत्थिकायाणं ।
पच्छाकमो व तो ते, हवेज्ज दव्वत्थिकाय त्ति ॥२४ ॥

यद्यस्तिकायभावः अस्तिकायत्वलक्षण· (इय एसो हुज्ज अत्थिकायाण)'इय त्ति' एव यथा जीवपुद्गलद्रव्ये विशिष्ट पर्याय इति, एष्य आगामी भवेत्। केषाम् ?, अस्तिकायानां, धर्मास्तिकायादीनामिति व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः।तथा-पश्चात्कृतो वा यदि जवेत् । (तो ते हवेज्ज दव्वत्थिकाय त्ति) ततस्ते जवेरन् द्रव्यास्तिकाया इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

तीअमणागयजावं, जमत्थिकायाण नत्थि अत्थित्तं ।
तेणिर केवल तेसुं, नत्थी दव्वत्थिकायत्त ॥२५ ॥

अतीतमतिक्रान्तम्,अनागतजाव भावि, यद्यस्मात्कारणात्,अस्तिकायानां धर्मादीनां, नास्ति न विद्यते अस्तित्व विद्यमानत्व, कायत्वापेक्षया सदैव कायत्वयोगादितिहृदयम्।(तेणिर त्ति) तेन (इर त्ति) किल केवल शुद्ध, तेषु धर्मास्तिकायादिषु, नास्ति न विद्यते(दव्वत्थिकायत्त)द्रव्यास्तिकायत्व, सदैव तद्भावयोगादिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

आह-यद्येवम्, द्रव्यदेवाद्युदाहरणोक्तमपि द्रव्य न प्राप्नोति, सदैव तद्भावयोगात्। तथाहि-स एव तस्य भावो योऽस्मिन् वर्तते इति । अत्र गुरुराह-

कामं जविअसुराइसु, भावो सो चेव जत्थ वट्टंति ।
एसो न ताव जायइ, तेणिर ते दव्वदेव त्ति ॥२६॥

काममित्यनुमतम्, यथा (भवियसुराइसु)भव्याश्च ते सुरादयश्चेति विग्रह ।आदिशब्दाद् द्रव्यनारकादिग्रह·। तेषु, तद्विषये विचारे, भाव· स एव यत्र वर्तते, तदानीं मनुष्यादिभावे इति, किं तु एष्यो जावी, न तावज्जायते, तदा (तेणिर ते दव्वदेव त्ति) न ते किल द्रव्यदेवा इति। योग्यत्वात,योग्यस्य च द्रव्यत्वात्। न चैवं धर्मास्तिकायादीनामस्ति,एष्यकालेऽपि तद्भावयुक्तत्वादेवेति गाथार्थ· ॥ २६ ॥

यथोक्तद्रव्यलक्षणमवगम्य तद्भावेऽतिप्रसङ्ग च मनस्याधायाऽऽह चोदक -

दुहओऽणंतररहिआ, जइ एवं तो भवा अणतगुणा ।
एगस्स एगकाले, जवा न जुज्जंती अणेगा ॥ २७ ॥

(दुहओ त्ति) वर्तमानभवे स्थितस्य उभयत एष्यकाले, अतीतकाले च (अणतररहित त्ति) अनन्तरौ एष्यातीतौ, अनन्तरौ च तौ रहितौ च, वर्तमानजवजावेनेति प्रकरणाद्गम्यते। अनन्तररहितौ तावपि (जइ त्ति) यदि तस्योच्यते, (एव तो जवा अणंतगुण त्ति) एव च सति ततो भवा अनन्तगुणा·,तद्भवद्रव्यतिरिक्ता वर्तमानभवभावेन रहिता एष्यातिक्रान्ताश्च तेपूच्येरन्। ततश्च तदपेक्षयाऽपि द्रव्यत्वकल्पना स्यात्। अथोच्यते-भवत्वेवमेव का नो हानिरिति ?। उच्यते-एकस्य पुरुषादे·, एककाले पुरुषादिकाले, जवा (न जुज्जति) न युज्यन्ते न घटन्ते, अनेके बहव इति गाथार्थ ॥ २७ ॥

इत्थं चोदकेनोक्ते गुरुराह—

दुहओऽणंतरजविअं, जह चिट्ठइ आउअ तु जं बद्धं ।
हुज्जिरेसु वि जइ तं, दव्वजवा हुज्ज तो ते वि ॥२८॥

वर्तमानभवे वर्तमानस्य अनन्तरपश्चे अतीते च, अनन्तरभाविक, पुरस्कृतपश्चात्कृतभवसम्बन्धीत्युक्तं भवति। यथा तिष्ठति आयुष्कमेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् न शेषं कर्म विवक्षितं यद् बद्धम्। अथ भावार्थः-पुरस्कृतभवसम्बन्धिभिन्नागाविशेषायुष्कः सामान्येन तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो बध्नाति, पश्चात्कृतसम्बन्धिनः पुनस्तस्मिन्नेव वेदयति। अतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमाह-(दुण्णिरेसु वि जइ स दव्वभवा हुज्ज तो ते वि) भवेद् इतरेष्वपि प्रभूतेषु अतीतेषु यद् बद्धम्, अनागतेषु च यद्धोक्ष्यते। यदि तस्मिन्नेव भवे वर्तमानस्य, द्रव्यभवा भवेरन्, ततस्तेऽपि, तदायुष्ककर्मसम्बन्धादिति हृदयम्। न चैतदस्ति; तस्मादसद्बोदकवचनमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

अस्यैवार्थस्य प्रसाधकं लोकप्रतीतं निदर्शनमभिधातुकाम आह—

संझासु होइ सूरो, अदिस्समाणो वि पप्प समईअं।
जह ओभासइ खित्तं, तहेव एअं पि नायव्वं ॥२९॥

संध्या च संध्या च संध्ये, तयो सन्ध्ययोर्द्वयोः प्रत्यूषप्रदोषप्रतिबद्धयोः, सूर्य आदित्य, अदृश्यमानोऽप्यनुपलभ्यमानोऽपि, प्राप्णीय प्राप्य, समतिक्रान्तं समतीत, यथाऽवभासते प्रकाशयति क्षेत्रम्। तद्यथा-प्रत्यूषसंध्यायां पूर्वविदेह भरतं च, प्रदोषसंध्यायां तु भरतमपरविदेह च, तथैव, यथा सूर्य, इदमपि प्रक्रान्त, ज्ञातव्यं विज्ञेयम्। एतदुक्तं भवति-वर्तमानभवे स्थितः पुरस्कृतभव पश्चात्कृतभव च आयुष्ककर्मसद्रूपतया स्पृशति, प्रकाशेनाऽऽदित्यवदिति गाथार्थ ॥ २६ ॥

अधुना मातृकाय प्रतिपाद्यते, मातृकेति मातृकापदानि "उप्पन्ने इ वा" इत्यादीनि, तत्समूहो मातृकायः, अन्योऽपि तथाविध पदसमूहो बह्वर्थ इति।

तथाचाह भाष्यकार –

माउअपयं ति णेयं, नवरं अन्नो वि जो पयसमूहो।
सो पयकाओ भन्नइ, जे एगपए बहू अत्था ॥३०॥

मातृकापदमिति (णेयं ति) चिह्नं, नवरमन्योऽपि यः पदसमूह पदसङ्घातः स पदकायो भण्यते; मातृकापदकाय इति भावना। नाविशिष्ट पदसमूहः, किं तु (जे एगपए बहू अत्था) यस्मिन्नेकस्मिन् पदे बहवोऽर्थाः, तेषा पदानां यत्समूह इति। पाठान्तरं वा-(जम्मेगपए बहू अत्थ त्ति) गाथार्थ ॥३०॥

संग्रहकायप्रतिपादयन्नाह-

संगहकाओऽणेगा, वि जत्थ एगवयणेण घिप्पंति।
जह सालिगामसेणा, जाओ वसई निविट्ठ त्ति ॥ ३१ ॥

संग्रहण संग्रहः, स एव काय संग्रहकायः स किंविशिष्ट इत्याह-(णेगा वि जत्थ एगवयणेण घेप्पति त्ति) प्रभूता अपि यत्रैकवचनेन गृह्यन्ते। यथा-शालिग्रामसेना जातो वसति निविष्टेति यथासंख्यम्। प्रभूतेष्वपि स्तम्बेषु सत्सु जात शालिरिति व्यपदेशः। प्रभूतेष्वपि पुरुषवनितादिषु वसति ग्रामः, प्रभूतेष्वपि हस्त्यादिषु निविष्टा सेनेति। अय शाल्यादिरर्थः संग्रहकायो भण्यते इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

साम्प्रत पर्यायकायं दर्शयति-

पज्जवकाओ पुण हुं-ति पज्जवा जत्थ पिंमिआ बहवे।
परमाणुम्मि वि कम्मि वि, जह वन्नाई अणंतगुणा ॥३२॥

पर्यायकायः पुनः, भवन्ति पर्याया वस्तुधर्मा यत्र परमाण्वादौ पिण्डिताः बहवः, तथा च परमाणावपि कस्मिंश्चिद्, सव्यवहारिक इति पाठोऽवबुध्यते। सांव्यवहारिके, यथा वर्णादयो वर्णगन्धरसस्पर्शाः अनन्तगुणाः, अन्यापेक्षया। तथाचोक्तम्-"कारणमेव तदन्त्य, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च"॥१॥ स चैकस्तिक्तादिरसः तदन्यापेक्षया तिक्ततरतिक्ततमादिभेदानन्त्य प्रतिपद्यते। एव वर्णादिष्वपि विभाषेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

अधुना भारकाय-

एगो काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगु मारिओ।
जीवंत मएण मारिओ त, लव माणव! केण हेउणा? ३३॥

एक काय क्षीरकायो द्विधा जात, घटद्वये न्यासात्। तत्र एकस्तिष्ठति, एको मारित, जीवन् मृतेन मारितः तदेतत् (लव माणव त्ति) ब्रूहि हे मानव! केन कारणेन? कथानक यथा प्रतिक्रमणाध्ययने परिहरणायामिति गाथार्थः। भारकायश्चात्र क्षीरभृतकुम्भद्वयोपेता कापोती भण्यते; भारश्चासौ कायश्चेति भारकाय अन्ये भणन्ति, अन्ये तु भारकाय कापोतेत्येवोच्यते इति।

भावकायप्रतिपादनायाऽऽह—

दुगतिगचउरो पच, भावा बहुआ व जत्थ विज्जंति।
सो होइ भावकाओ, जीवमजीवे विभासाओ ॥ ३४ ॥

द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च वा भावा औदयिकादयः प्रभूता अन्येऽपि यत्र सचेतनाचेतने वस्तुनि विद्यन्ते स भवति भावकाय, भावाना कायो भावकाय इति। [जीवमजीवे विभासाओ] जीवाजीवयोर्विभाषा स्वागमानुसारेण कार्येति गाथार्थः ॥३४॥

अधुनैकार्थिकान्युच्यन्ते—

काए १ सरीर २ देहे ३,
बुंदी ४ चय ५ उवचए अ ६ संघाए ७।
उस्सय ८ समुस्सए वा ९,
कडेवरे १० भत्थ ११ तणु १२ पाणू १३ ॥ ३५ ॥

कायः शरीरं देहो बोन्दिः चय उपचयश्च सङ्घात उच्छ्रयः समुच्छ्रयः कडेवर भस्त्रा तनुः पाणुरिति गाथार्थः ॥३५॥ आव० ५ अ०। दश०। आ०चू०। आ० म०। दर्श०। विशे०। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् षोढा काय। प्रव० २२५ द्वार। कर्म०। विशे०। चतुर्धा काय -पृथिव्यप्तेजोवायवश्च। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। दर्श०। पाञ्चभौतिके शरीरे, द्वा० २६ द्वा०। "वसाऽसृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जशुक्रान्त्रवर्चसाम्। अशुचीना पद काय, शुचित्व तस्य तत्कुतः?"॥१॥ अष्ट० १६ अ०। (कायाम्मलानि - सारणनिषेधो 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१४ पृष्ठे निरूपित) औदारिकादित्रये घातिचतुष्टये, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०।

आया भंते! काए अन्ने काए?। गोयमा! आया वि काए, अन्ने वि काए। रूवी भंते! काए अरूवी काए?। गोयमा! रूवी वि काए अरूवी वि काए। एवं एक्केके पुच्छा। गोयमा! सचित्ते वि काए, अचित्ते वि काए, जीवे वि काए अजीवे वि काए, जीवाण वि काए अजीवाण वि काए। पुव्विं भंते! काए पुच्छा। गोयमा! पुव्विं पि काए

काइज्जमाणे वि काए, कायसमयवीइकंते वि काए । पुव्विं भंते ! काए भिज्जइ पुच्छा। गोयमा ! पुव्विं पि काए भिज्जइ, काइज्जमाणे वि काए भिज्जइ, कायसमयवीइकंते वि काए भिज्जइ। कइविहे णं भंते! काए पण्णत्ते ?। गोयमा! सत्तविहे काए पण्णत्ते। तं जहा-ओरालिए, ओरालियमीसए, वेउव्विए, वेउव्वियमीसए, आहारए, आहारयमीसए, कम्मए।

[आया भंते! काये इत्यादि] आत्मा कायः,कायेन कृतस्यानुभवनात्, न ह्यन्येन कृतमन्योऽनुभवति,अकृतागमप्रसङ्गात्। अथान्य आत्मनः कायः, कायैकदेशच्छेदेऽपि सवेदनस्य संपूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्नः। उत्तर तु आत्माऽपि कायः, कथञ्चिदव्यतिरेकात्, क्षीरनीरवत्, अयःपिण्डवत्, काञ्चनोपलवद् वा, अत एव कायस्पर्शे सत्यात्मनः सवेदन भवति। अत एव च कायेन कृतमात्मना भवान्तरे वेद्यते, अत्यन्तभेदे चाऽकृतागमप्रसङ्ग इति। [अन्ने वि काए त्ति] अत्यन्ताभेदे हि शरीरांशच्छेदे जीवांशच्छेदप्रसङ्गः; तथा च सवेदनताऽसपूर्णता स्यात्। तथा शरीरस्य दाहे आत्मनोऽपि दाहप्रसङ्गेन परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यत कथञ्चिदात्मनोऽन्योऽपि काय इति। अन्यैस्तु कार्मणकायमाश्रित्य आत्मा काय इति व्याख्यातम्, कार्मणकायस्य ससार्यात्मनश्च परस्पराव्यभिचरितत्वेनैकस्वरूपत्वात्। [अन्ने वि काए त्ति] औदारिकादिकायापेक्षया जीवादन्यः कायः, तद्विमोचनेन तद्भेदसिद्धेरिति। [रूवी पि काए त्ति] रूप्यपि कायः, औदारिकादिकायस्थूलरूपापेक्षया। अरूप्यपि कायः, कार्मणकायस्यातिसूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्वविवक्षणात्। [एव एक्केके पुच्छा त्ति] पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकसूत्रे पृच्छा विधेया। तद्यथा-"सचित्ते भंते! काये" इत्यादि। अत्रोत्तरम्-(सचित्ते वि काए) जीवदवस्थायां चैतन्यसमन्वितत्वात्। (अचित्ते वि काए) मृतावस्थायां चैतन्यस्याभावात्। [जीवे वि काए त्ति] जीवोऽपि विवक्षितोच्छ्वासादिप्राणयुक्तोऽपि भवति कायः औदारिकादिशरीरमपेक्ष्य। [अजीवे वि काए त्ति] अजीवोऽप्युच्छ्वासादिरहितो भवति कायः कार्मणशरीरमपेक्ष्य। [जीवाण वि काए त्ति] जीवानां सम्बन्धी कायः शरीर भवति। [अजीवाण वि काए त्ति] अजीवानामपि स्थापनाऽर्हदादीनां कायः शरीर भवति, शरीराकार इत्यर्थः। [पुव्विं पि काए त्ति] जीवसम्बन्धकालात्पूर्वमपि कायो भवति; यथा भविष्यज्जीवसम्बन्ध मृतदर्दुरशरीरम्। [काइज्जमाणे वि काए त्ति] जीवेन चीयमानोऽपि कायो भवति, यथा जीवच्छरीरं [कायसमयविइक्कते वि काए त्ति] कायसमयो जीवेन कायस्य कायताकरणलक्षणः, त व्यतिक्रान्तो यः स तथा। सोऽपि काय एव, मृतकडेवरवत्। [पुव्विं पि काये भिज्जइ त्ति] जीवेन कायतया ग्रहणसमयात्पूर्वमपि कायो मधुघटादिन्यायेन द्रव्यकायो भिद्यते, प्रतिक्षणं पुद्गलचयापचयभावात्। [काइज्जमाणे वि काए भिज्जइ त्ति] जीवेन कायी क्रियमाणो पि कायो भिद्यते, सिकताकणकलापमुष्टिग्रहणवत् पुद्गलानामनुक्षण परिशाटभावात्। [कायसमयविइक्कते वि काए भिज्जइ त्ति] कायसमयव्यतिक्रान्तस्य च कायता भूतभावतया घृतकुम्भादिन्यायेन, भेदश्च पुद्गलानां तत्स्वभावत्वेति। चूर्णिकारेण-पुनः कायसूत्राणि कायशब्दस्य केवलं शरीरार्थत्यागेन चयमात्रवाचकतयाङ्गीकृत्य व्याख्यातानि। यदाह-" कायसद्दो सव्वभावसामण्णसरीरवाची " कायशब्दः सर्वभावनां सामान्यं यच्छरीर चयमात्र तद्वाचक इत्यर्थः। एवञ्च [आया वि काए सेसदव्वाणि वि काए त्ति]। इदमुक्त भवति-आत्माऽपि कायः,प्रदेशसञ्चय इत्यर्थः। तदन्योऽप्यर्थः कायः, प्रदेशसञ्चयरूपत्वादिति। रूपी कायः पुद्गलस्कन्धापेक्षया, अरूपी कायो जीवधर्मास्तिकायाद्यपेक्षया, सचित्तः कायो जीवच्छरीरापेक्षया, अचित्त कायोऽचेतनसञ्चयापेक्षया, जीवः काय उच्छ्वासादियुक्तावयवसञ्चयरूपः,अजीवः कायस्तद्विलक्षणजीवानां कायः जीवराशिः,अजीवानां कायः परमाण्वादिराशिरिति। एव शेषाण्यपि। अथ कायस्यैव भेदानाह-[कतिविहेणमित्यादि] अय च सप्तविधोऽपि प्रागिवस्तरेण व्याख्यात। इह तु स्थानाशून्यार्थं लेशतो व्याख्यायते-तत्र च [ओरालिए त्ति] औदारिकशरीरमेव पुद्गलस्कन्धरूपत्वादुपचीयमानत्वात्काय औदारिककायोऽयं च पर्याप्तकस्यैवेति। [ओरालियमीसए त्ति] औदारिकश्चासौ मिश्रश्च कार्मणेनेत्यौदारिकमिश्रोऽयं चापर्याप्तकस्य। [वेउव्विए त्ति] वैक्रियः पर्याप्तकस्य देवादेः [वेउव्वियमीसए त्ति] वैक्रियश्चासौ मिश्रश्च कार्मणेनेति वैक्रियमिश्रः, अय चाप्रतिपूर्णवैक्रियशरीरस्य देवादेः। [आहारए त्ति] आहारक आहारकशरीरनिर्वृत्तौ। [आहारगमीसए त्ति] आहारकपरित्यागेन औदारिकग्रहणायोद्यतस्याहारकमिश्रो भवति,मिश्रता पुनरौदारिकेणेति।(कम्मए त्ति) विग्रहगतौ केवलिसमुद्घाते वा कार्मणः स्यादिति। भ० १३ श० ७उ०। जीवनिकाये, स्था० ३ ठा० १ उ०। उत्त०। सूत्र०। कायशब्दः सर्वभावानां सामान्य यच्छरीरं चयमात्र तद्वाचक इत्यर्थः। भ० १३ श० ७ उ०। राशौ, स्था० ३ ठा० २ उ०। सघाते, अनु०। विशे०। पञ्चत्रिंशत्तमे महाग्रहे, " दो काया " स्था० २ ठा० ३ उ०। च० प्र०। सू० प्र०। अनार्यदेशविशेषे, प्रव० २७४ द्वार। सूत्र०। तन्निवासिनि जने, प्रज्ञा० १ पद। क प्रजापतिः, क सुख वा ततः देवतार्थे, तस्येद वा अण्, कस्येत इदन्तादेशे वृद्धिः। प्रजापतिदेवताके हविरादौ, कनिष्ठाऽङ्गुलिमूलस्थानरूपे प्रजापतितीर्थे, न०। कायसंबन्धिकार्योपयोगित्वाद् मनुष्यतीर्थे, न०। प्रजापतिदेवताके विवाहभेदे, पु०। चीयतेऽदः चि कर्मणि घञ्, चेः कत्वम्। मूलधने, पु०। मूलधनस्य वृद्ध्या उपचीयमानत्वात् तथात्वम्। करणे घञ्। वस्तुस्वभावेन पदार्थानां चीयमानत्वात् तथात्वम्, भावे घञ्। सघे, पुं०। वाच०। काया. पृथिव्यादयः। स्था० २ ठा० ४ उ०।

कायउज्जुयया-कायर्जुकता-स्त्री०। ऋजुकस्यामायिनो भावः कर्म वा ऋजुकता, कायस्य ऋजुकता कायर्जुकता। स्था०४ ठा० १ उ०। परावञ्चनपरकायचेष्टायाम्, भ० ८ श० ८ उ०।

कायक-कायक-न०। क्वचिद्देशे इन्द्रनीलवर्णः कार्पासो भवति, तेन निष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

कायकिलेस-कायक्लेश-पु०। कायस्य शरीरस्य क्लेशः खेदः पीडा कायक्लेशः। स्था० ७ ठा०। शरीरक्लेशने, स्था० ६ ठा०। तापशीतादीनां सहने, उत्त० ३० अ०। आव०। बाह्यतपोभेदे, पा०। न०। स च वीरासनादिभेदाच्चित्रः। दश० १ अ०।

गानतो लौकिक कायक्लेश-

सत्त स्सरा तओ गामा, मुच्छणा एगवीसती।

" कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए ।
जं इत्थ आहरिज्जइ, भणंति आहारगं तं तु ॥ १ ॥
पाणिदयरिद्धिसंदरि-सणत्थमत्थोवग्गहणहेउं वा ।
संसयवुच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि " ॥ २ ॥
तदेव कायः, तेन योग आहारककाययोगः । आहारक मिश्र यत्र, औदारिकेणेति गम्यते। स आहारकमिश्रः। सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकं परित्यज्यत औदारिकमुपाददानस्याहारकं प्रारभमाणस्य वा प्राप्यते । स एव कायः तेन योगः आहारकमिश्रकाययोगः । कर्म० ४ कर्म० ।

कायजोगि(ण्)-काययोगिन्-पुं० । जीवभेदे, काययोगिन एकेन्द्रियाः, अन्येषां मनोयोगवाग्योगयोरपि सत्त्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कायट्ठिइ-कायस्थिति-पुं० । काये निकाये पृथिव्यादिसामान्यरूपेण स्थितिः । स्थितिभेदे, "दोण्ह कायट्ठिई पन्नत्ता। तं जहा-मणुस्साण चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण चेव " । कायस्थितिरसंख्योत्सर्पिण्यादिका। स्था० २ ठा० २ उ० । काय इह पर्यायो गृह्यते, काय इव काय इत्युपमानात् । स च द्विधा-सामान्यरूपो विशेषरूपश्च । तत्र सामान्यरूपो निर्विशेषणो जीवत्वलक्षणः, विशेषरूपो नैरयिकत्वादिलक्षणः; तस्य स्थितिरवस्थानं कायस्थितिः । सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा पर्यायेणाविशिष्टस्य जीवस्याव्यवच्छेदेन भवने, प्रज्ञा० ।

(१) कायस्थित्यधिकारगाथा ।
(२) एकत्वेन जीवानां कायस्थितिः ।
(३) जीवानां नैरयिकत्वादिपर्यायैरवस्थानचिन्तनम् ।
(४) तिर्यक्तिर्यक्स्त्रीणां मनुष्यमनुष्यस्त्रीणां च कायस्थितिः।
(५) देवदेवीनां कायस्थितिविचारः ।
(६) पर्याप्तापर्याप्तत्वविशेषेण नैरयिकादीनां कायस्थितिः ।
(७) इन्द्रियद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(८) कायद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(९) योगद्वारमवलम्ब्य कायस्थितिविचारः ।
(१०) वेदद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(११) कषायद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१२) लेश्याद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१३) सम्यग्दृष्टिद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१४) ज्ञानद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१५) दर्शनद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१६) संयमद्वारमुपयोगद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१७) आहारद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१८) भाषकाभाषकद्वारं परित्तापरित्तद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१९) संज्ञिद्वारं भवसिद्धिकद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(२०) उदकगर्भादीनां कायस्थितिनिरूपणम् ।

(१) कायस्थित्यधिकारगाथामाह-

जीवगइंदियकाए, जोए वेदे कसाय लेस्सा य ।
सम्मत्तनाणदंसण, संजय उवओग आहारे ॥ १ ॥
भासगपरित्तपज्ज-त्तसुहुमसन्नी भवत्थिचरिमे य ।
एएसिं तु पदाणं, कायठिती होइ णायव्वा ॥ २ ॥

प्रथमं जीवपदम् । किमुक्तं भवति ?, प्रथमं जीवपदमधिकृत्य कायस्थितिर्वक्तव्या इति १, ततो गतिपदम् २, तदनन्तरमिन्द्रियपदम् ३, ततः कायपदम् ४, ततो योगपदम् ५, तदनन्तरं वेदपदम् ६, ततः कषायपदम् ७, ततो लेश्यापदम् ८, तदनन्तरं सम्यक्त्वपदम् ९, तदनन्तरं ज्ञानपदम् १०, तदनन्तरं दर्शनपदम् ११, ततः संयतपदम् १२, तत उपयोगपदम् १३, तदनन्तरमाहारपदम् १४, ततो भाषकपदम् १५, ततः परीत्तपदम् १६, ततः पर्याप्तपदम् १७, ततः सूक्ष्मपदम् १८, ततः संज्ञिपदम् १९, ततो भवसिद्धिपदम् २०, तदनन्तरमस्तिकायपदम् २१, ततश्चरमपदम् २२। एतेषां द्वाविंशतिसंख्यानां पदानां कायस्थितिर्भवति ज्ञातव्या; यथा च भवति ज्ञातव्या तथा यथोद्देशं निर्दिश्यते।

(२) जीवादिदण्डकः-

जीवे णं भंते! जीव त्ति कालओ केव चिरं होइ? । गोयमा! सव्वद्धं।

'जीवेणं भंते ' इत्यादि। इह जीवनपर्यायविशिष्टो जीव उच्यते, तत्प्रश्नयति-जीवो, णमिति वाक्यालंकारे। भदन्त ! जीव इति। जीवपर्यायविशिष्टतयेत्यर्थः । कालतः कालमधिकृत्य, कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति । भगवानाह-गौतम ! सर्वाद्धां, सर्वकालं यावत्। कथमिति चेत्?, उच्यते-इह जीवनमुच्यते प्राणधारणम्। प्राणाश्च द्विविधाः-द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च। द्रव्यप्राणा इन्द्रियपञ्चकबलत्रिकोच्छ्वासनिश्वासायुष्कर्मानुभवलक्षणाः,भावप्राणा ज्ञानादयः।तत्र संसारिणामायुष्कर्मानुभवलक्षणं प्राणधारणं सदैवावस्थितम्, न हि सा काचिदवस्था संसारिणामस्ति यस्यामायुष्कर्मानुभवनं न विद्यत इति । मुक्तानां तु ज्ञानादिरूपप्राणधारणमवस्थितम्, मुक्तानामपि हि ज्ञानादिरूपाः प्राणाः सन्ति, यैर्मुक्तोऽपि जीवतीति व्यपदिश्यते। ते च ज्ञानादयो मुक्तानां शाश्वतिकाः, अतः संसारावस्थायां च सर्वत्र जीवनमस्तीति सर्वकालभावी जीवनपर्यायः ।

(३) सम्प्रति तस्यैव जीवस्य नैरयिकत्वादिपर्यायैराविष्टस्य तैरेव पर्यायैरव्यवच्छेदेनावस्थानं चिन्तयन्नाह-

णेरइए णं भंते ! णेरइए त्ति कालओ केव चिरं होइ? । गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥

'नेरइएणं भंते' इत्यादि सुगमं, नवरं नैरयिकास्ततो भवस्वाभाव्यात् च्युत्वाऽनन्तरं न भूयो भूयो नैरयिकत्वेनोत्पद्यन्ते, ततो यदेव तेषां भवस्थितेः परिमाणं तदेव कायस्थितेरपीत्युपपद्यते जघन्यत उत्कर्षतश्च यथोक्तपरिमाणकायस्थितिः ।

(४) तिरश्चाम्—

तिरिक्खजोणिए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए त्ति कालओ केव चिरं होइ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ खित्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे ॥

(तिरिक्खजोणिए णं भंते इत्यादि) तत्र यदा देवो मनुष्यो नैरयिको वा तिर्यक्षूत्पद्यते तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूय स्वगतौ गत्यन्तरे वा संक्रामति, तदा लभ्यते जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा कायस्थितिः, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावत्। तस्य चानन्तस्य कालस्य प्ररूपणा द्विविधा । तद्यथा-कालतः, क्षेत्रतश्च । तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, उत्सर्पिण्य-

भाविनस्तिरश्चोऽधिकृत्य वेदनीयम्, अन्येषामेतावत्कालप्रमाणा-पर्याप्तावस्थायामविच्छेदेनाप्राप्यमाणत्वात्; अत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तस्या-पर्याप्तावस्थाया ग्रस्तत्वात् । एवं तिर्यक्स्त्रीमनुष्यमानुषीसूत्रे-ष्वपि भावनीयम् । तथा देवदेवीसूत्रयोस्तु जघन्यत उत्कर्ष-तश्च कायस्थितिपरिमाणं प्रागुक्तमेवापर्याप्तावस्थाभाविनामन्त-र्मुहूर्त्तेन हीनं परिभावनीयम् । गतं गतिद्वारम् ।

(७) इदानीमिन्द्रियद्वारमाभिधित्सुराह-

सइंदिए णं भंते ! सइंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? । गोयमा ! सइंदिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणाइए अपज्जव-सिए, अणाइए सपज्जवसिए ॥

[सइंदिए णं भंते ! इत्यादि] सह इन्द्रियं यस्य येन वा स सेन्द्रियः । इन्द्रियं च द्विधा-लब्धीन्द्रियं द्रव्येन्द्रियं च । तत्रेह लब्धीन्द्रियमवसेयं, तद्विग्रहगतावप्यस्ति । इन्द्रियपर्याप्तस्यापि च ततो निर्वचनसूत्रमुपपद्यते, अन्यथा तदघटमानमेव स्यात् । निर्वचनसूत्रमेवाह-[गोयमेत्यादि] इह यः संसारी स नियतमा-त्मेन्द्रियः, संसारश्चानादिरित्यनादि सेन्द्रियः । तत्रापि यः क-श्चित्कदाचिदपि न सेत्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, सेन्द्रियत्वे पर्या-यस्य कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् । यस्तु सेत्स्यति सोऽनादिसप-र्यवसितः, मुक्त्यवस्थाया सेन्द्रियत्वपर्यायस्याभावात् ।

एकेन्द्रियादीनाम्-

एगिंदिए णं भंते ! एगिंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो ॥

एकेन्द्रियसूत्रे यदुक्तं "उक्कोसेणं अणंतं कालमिति," तमेवानन्तं कालं सविशेषं निरूपयति-(वणस्सइकालओ इति) यावान् वन-स्पतिकालः अग्रे वक्ष्यति, तावन्तं कालं यावदित्यर्थः, वनस्प-तिकायस्यैकेन्द्रियपदे तस्यापि परिग्रहात् । स च वनस्पतिकाल एवंप्रमाणः-"अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खे-त्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा तेणं पोग्गलपरि-यट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे " इति ॥

द्वीन्द्रियादीनाम्-

बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जं कालं । एवं तेइंदियचउरिंदिए वि । पंचिंदिए णं भंते ! पंचिंदिए त्ति का-लओ केव चिरं होइ? । गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं । अणिंदिए णं पुच्छा ? । गोयमा ! साइए अपज्जवसिए । सइंदियअपज्जत्तए णं पुच्छा ? । गोय-मा ! जहन्नेणं वि उक्कोसेण वि अन्तोमुहुत्तं । एवं जाव पंचिं-दियअपज्जत्तए वि ॥

द्वीन्द्रियसूत्रे-(संखेज्जं कालं ति) संख्येयानि वर्षसहस्राणी-त्यर्थः; 'विगलिंदियाण य वाससहस्स संखेज्जा" इति वचनात् । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिययोरपि सूत्रे वक्तव्ये । तत्रापि जघन्यतो-ऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः संख्येयकालमिति वक्तव्यमिति भावः । संख्ये-यश्च कालः संख्येयानि वर्षसहस्राणि प्रत्येतव्यानि । पञ्चेन्द्रि-यसूत्रे-उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रं, तत्र नैरयिकति-र्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवभवभ्रमणेन द्रष्टव्यमधिकं तु न भवति, एतावत एव कालस्य केवलवेदस्योपलब्धत्वात् । अनिन्द्रियो द्र-व्यभावेन्द्रियविकलः, स च सिद्ध एव । सिद्धश्च साद्यपर्यवसित । तत उक्तम्-" साइ अपज्जवसिए" इति । 'सइंदियअपज्जत्तए णमि-त्यादि' । इहापर्याप्ता लब्ध्यपेक्षया, करणापेक्षया च द्रष्टव्याः; उ-भयथाऽपि तत्पर्याप्तस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण-त्वात् । एवं तावद्वाच्यं यावत्पञ्चेन्द्रियापर्याप्तकः पञ्चेन्द्रियापर्या-प्तकसूत्रम्; तच्च सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयम् । अनिन्द्रियो-ऽत्र न वक्तव्यः, तस्य पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहितत्वात् ।

सइंदियपज्जत्तए णं भंते ! सइंदियपज्जत्तए त्ति कालओ के-व चिरं होइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सा-गरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं । एगिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पु-च्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । बेइंदियपज्जत्तए णं पुच्छा ? । गोयमा ! जह-न्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । बेइ-न्दियपज्जत्तए णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्को-सेणं संखिज्जाइं वासाइं । तेइंदियपज्जत्तए णं पुच्छा ? । गो-यमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । चउरिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जा मासा । पंचिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं ॥

(सइंदियपज्जत्तए णं भंते ! इत्यादि) इह पर्याप्तो लब्ध्यपेक्षया वे-दितव्यः । स हि विग्रहगतावपि सम्भवति करणैरपर्याप्तस्यापि, तत उ-त्कर्षतः सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वमिति यन्निर्वचनं तदुपप-द्यते । अन्यथा करणपर्याप्तस्योत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तानां त्रयस्त्रिंश-त्सागरोपमप्रमाणतया लभ्यमानत्वात् यथोक्तं निर्वचनेनोपपद्य-ते । एवमुत्तरसूत्रेऽपि पर्याप्तत्वं लब्ध्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । एकेन्द्रिय-पर्याप्तसूत्रे-संख्येयानि वर्षसहस्राणीति । एकेन्द्रियस्य हि पृथिवी-कायस्योत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि भवस्थितिः । अप्कायस्य सप्त वर्षसहस्राणि, वातकायस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि, ततो निर-न्तरं कतिपयपर्याप्तभवसङ्कलनया संख्येयानि वर्षसहस्राणि घटन्ते इति । द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तसूत्रे-संख्येयानि वर्षाणि, द्वीन्द्रि-या ह्युत्कर्षतो भवस्थितिपरिमाणं द्वादशसंवत्सराणि । न च स-र्वेष्वपि भवेषूत्कृष्टस्थितिसम्भवः, ततः कतिपयनिरन्तरपर्याप्त-भवसङ्कलनयाऽपि संख्येयानि वर्षाण्येव लभ्यन्ते, न तु वर्षशतानि, वर्षसहस्राणि वा । त्रीन्द्रियपर्याप्तसूत्रे-संख्येयानि रात्रिंदिवानि; तेषां च भवस्थितिरुत्कर्षतोऽप्येकोनपञ्चाशद्दिनमानतया कति-पयनिरन्तरपर्याप्तभवसङ्कलनायामपि संख्येयानां रात्रिंदिवाना-मेव लभ्यमानत्वात् । चतुरिन्द्रियसूत्रे-संख्येया मासाः, तेषां भव-स्थितेरुत्कर्षतः षण्मासप्रमाणतया कतिपयनिरन्तरपर्याप्तकाल-स्थितेः सङ्कलनायामपि संख्येयानां मासानां प्राप्यमाणत्वात् । पञ्चेन्द्रिय-सूत्रं सुगमम् ।

(८) इदानीं कायद्वारमभिधित्सुराह-

सकाइए णं भंते ! सकाइए त्ति कालओ केव चिरं होइ ? ।

गोयमा ! सकाइए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणादिए अपज्जवसिए, अणादिए सपज्जवसिए । पुढविकाइए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं, असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खित्तओ असंखेज्जा लोगा । एवं आउतेउवाउकाइया वि । वणस्सइकाइया णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखिज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो । तसकाइए णं भंते ! तसकाइए त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं । अकाइए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अकाइए सादिए अपज्जवसिए ॥

(सकाइए णं भंते ! इत्यादि) सह कायो यस्य येन वा सकायः, सकाय एव सकायिकम् । आर्षत्वात् स्वार्थे इकप्रत्ययः । काय शरीर, तच्चौदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणभेदात्पञ्चधा । तत्रेह कार्मणं तैजसं वा द्रष्टव्यं, तस्यैवासंसारभावात् । अन्यथा विग्रहगतौ वर्त्तमानस्य शरीरपर्याप्तस्य च शेषशरीरासत्त्वादकायिकत्वं स्यात् । तथा च सति निर्वचनसूत्रमाह- (सकाइए दुविहे पन्नत्ते इत्यादि) तत्र यः संसारपारगामी न भविष्यति सोऽनाद्यपर्यवसित , कदाचिदपि तस्य कायस्य व्यवच्छेदाऽसम्भवात् । यस्तु मोक्षमधिगन्ता सोऽनादिसपर्यवसितः, तस्य मुक्त्यवस्थासम्भवे सर्वात्मना शरीरपरित्यागात् । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिसूत्राणि सुगमानि, अन्यत्रापि तदर्थस्य प्रतीतत्वात् । तथा चोक्तम्—" असंखोसप्पिणिउस्सप्पिणीओ एगिंदियाण चउण्ह ता चेवओ अणंतवणस्सईए बोधव्वा" । ननु यदि वनस्पतिकालप्रमाणमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः , ततो यच्छ्रीयते सिद्धान्ते मरुदेवाजीवो यावद् जीवभावं वनस्पतिरासीदिति तत्कथं स्यात्, कथं वा वनस्पतीनामनादित्वम् ?, प्रतिनियतकालप्रमाणतया वनस्पतिभावस्यानादित्वविरोधात् । तथा हि-असंख्येया पुद्गलपरावर्तास्तेषामवस्थानमान तत एतावति कालेऽतिक्रान्ते नियमात्सर्वेऽपि कायपरावर्तं कुर्वन्ति, यथा स्वस्थितिकालान्ते सुरादयः ।

उक्तञ्च-

"अह पुग्गलपरियट्टा, सखाईया वणस्सईकालो ।
अन्नतवणस्सईण-मणाइयत्तमत एव हेतूओ ॥ १ ॥
असंखेज्जा पुग्गल-परियट्टा तत्थऽवत्थाणं ।
कालेणेगज्झण, तम्हा कुव्वंति कायपल्लट्टं ॥ २ ॥
सव्वे वि वणस्सइणो, ठिइकाल ते जहा सुराई य " ।

किं चैव यद्वनस्पतीनां निर्लेपनमागमे प्रतिषिद्धं, तदपीदानीं प्रसक्तम् । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह प्रतिसमयं संख्येया वनस्पतिभ्यो जीवा उद्वर्तन्ते, वनस्पतीनां च कायस्थितिपरिमाणमसंख्येया: पुद्गलपरावर्त्ता , ततो यावन्तोऽसंख्येयेषु पुद्गलपरावर्तेषु समयास्तैरभ्यस्ता एकसमयोद्वृत्ता जीवा यावन्तो भवन्ति, तावत्परिमाणमागतं, न वनस्पतीनाम् । तत- प्रतिनियतपरिमाणसिद्ध निर्लेपन प्रतिनियतपरिमाणत्वादेव गच्छत्कालेन सिद्धिरपि सर्वेषां भव्यानां प्रसक्ता, तत्प्रसक्तौ च मोक्षपथव्यवच्छेदोऽपि प्रसक्त । सर्वभव्यसिद्धिगमनानन्तरमन्यस्य सिद्धिगमनायोगात् ।

आह च-

"कायट्ठिइकालेणं, तेसिमसंखेज्ज जाव भावेणं ।
निल्लेवणमावन्ना, सिद्धी वि य सव्वभव्वाण ॥ १ ॥
पइसमय संखेज्जा, जेणुव्वट्टंति ता तदव्वत्था ।
कायट्ठिइए समया, वणस्सईए होइ परिमाणं " ॥ २ ॥

न चैतदस्ति, वनस्पतीनामनादित्वनिर्लेपनप्रतिषेधस्य सर्वभव्यासिद्धेर्मोक्षपथव्यवच्छेदस्य तत्र तत्र प्रदेशसिद्धान्ताभिधानात् । उच्यते-इह द्विविधा जीवा -सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्च । तत्र ये निगोदावस्थात उद्धृत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति सांव्यवहारिका उच्यन्ते । ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति, तथाऽपि ते सांव्यवहारिका एव, सांव्यवहारे पतितत्वात् । ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिकाः । कथमेतदवसीयते द्विविधा जीवा:-सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति ?। उच्यते-युक्तिवशात् । इह प्रत्युत्पन्नवनस्पतीनामपि निर्लेपनमागमे प्रसिद्धम् , किं पुन. सकलवनस्पतीनाम्, तथा भव्यानामपि । यच्च यद् ये सांव्यवहारिकराशिनिपतिता अत्यन्तवनस्पतयो न स्युः, ततः कथमुपपद्यते ?, तस्मादवसीयते अस्त्यसांव्यवहारिकराशिरपि यद्गतानामनादिता । किञ्च-इयमपि गाथा गुरूपदेशादागता-" समए अत्थि अणंता, जीवा जेहिं न पत्तो तसाइपरिणामो । ते वि अणंताणंता, निगोयवासं अणुवसंति " ॥ १ ॥ तत इतोऽप्यसांव्यवहारिकराशि: सिद्धः । उक्तञ्च-"पच्चुप्पन्नवणस्सईण निल्लेवणं न भव्वाणं जुत्तं होइ , त जइ अन्नतवणस्सइ नत्थि, एव अणादिवणस्सईण अत्थित्तमत्थओ सिद्धं । भणइ इयमवि गाहा गुरूवएसागया-" समए अत्थि अणंता, जीवा " इत्यादि । तदेदं सूत्र सांव्यवहारिकानधिकृत्यावसेयम् । न चासांव्यवहारिकाद्विशेषविषयत्वात् सूत्रस्य, नचैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम्, यत आहुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादा -" तह कायट्ठिइ कालादओ विसेसे पडुच्च किर जीवो । नाणाइवणस्सइणो, जे संववहारबाहिरिया " ॥ १ ॥ अत्रापिशब्दात्सर्वैरपि जीवै अनन्तशः स्पृष्टमित्यादि । यदस्यामेव प्रज्ञापनायां वक्ष्यते, प्रागुक्तश्च परिग्रह , ततो न कश्चिद्दोषः । त्रसकायसूत्र सुप्रतीतम् ।

एतानेव सकायिकादीन् पर्याप्तापर्याप्तविशेषणविशिष्टान् चिन्तयन्नाह-

सकाइयअपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं , एवं जाव तसकाइयअपज्जत्तए । सकाइयपज्जत्तए पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तसातिरेगं । पुढविकाइयपज्जत्तए पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । एव आऊ वि । तेउकाइयपज्जत्तए पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त उक्कोसेण संखेज्जाइं राइंदियाइं । वाउकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । वणस्सइकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । तसकाइयपज्जत्त-

ए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं ।

" सकाइए " इत्यादि सुगम, नवरं तेजस्कायसूत्रे उत्कर्षतः संख्येयानि रात्रिन्दिवानीति । तेजस्कायस्य हि भवस्थितिरुत्कर्षेणोऽपि त्रीणि रात्रिन्दिवानि ततो निरन्तरं कतिपयपर्यासभवकलनायामपि सङ्ख्येयानि रात्रिन्दिवान्येव लभ्यन्ते, न तु वर्षाणि, वर्षसहस्राणि वा ।

संप्रति कायद्वारान्तःप्रवेशसंभवात् सूक्ष्मकायिकादीन् निरूपयितुकाम आह-

सुहुमे णं भंते ! सुहुम त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंसंखेज्जा लोगा । सुहुमपुढविकाइए सुहुमआउकाइए सुहुमतेउकाइए सुहुमवाउकाइए सुहुमवणस्सकाइए सुहुमनिगोदे जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखिज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा । सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति पुच्छा?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पुढविकाइयआउकाइयतेउकाइयवाउकाइयवणस्सइकाइयाण य एवं चेव । पज्जत्तियाणं जहा ओहियाणं ॥

[सुहुमेणं भंते ! इत्यादि] सूक्ष्मः सूक्ष्मकायिको भदन्त ! इति । सूक्ष्मत्वपर्यायविशिष्टः सन्नव्यवच्छेदेन कालतः कियच्चिरं भवति ?। भगवानाह-गौतम ![जहन्नेणमित्यादि] एतदपि सूत्र साव्यवहारिकजीवविषयमवसातव्यम् । अन्यथा उत्कर्षेणोऽसङ्ख्येयकालमिति यन्निर्वचनमुक्तं तन्नोपपद्यते, सूक्ष्मनिगोदजीवानामसांव्यवहारिकराशिनिपतितानामनादितायाः प्रागुपपादितत्वात् । [खेत्तओ असंखेज्जा लोगा इति] असङ्ख्येयेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावन्त्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्प्रमाणा असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । सूक्ष्मवनस्पतिकायसूत्रमपि प्रागुक्तयुक्तिवशात् सांव्यवहारिकजीवविषयं व्याख्येयम्, तथा सूक्ष्माः सामान्यतः पृथिवीकायिकादिविशिष्टाश्च पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च निरन्तरं भवन्तो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तकालं यावन्न परमिति; ततस्तद्विषयसूत्रकदम्बके सर्वत्राऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमुक्तम् ।

बादरसामान्यसूत्रे यदुक्तमसंख्येयं कालं तस्य विशेषनिरूपणार्थमाह-

बादरे णं भंते ! बादरे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । बादरपुढविकाइए णं भंते ! पुच्छा?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ । एवं बादरआउकाइए वि जाव बादरतेउकाइए वि । बादरवणस्सइकाइए णं भंते ! बादर त्ति पुच्छा?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिकोडाकोडीओ । निगोदे णं भंते ! निगोदे त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अड्डाइज्जा पोग्गलपरियट्टा । बादरनिगोदे णं भंते ! बादर त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमं सत्तरिकोडाकोडीओ । बादरतसकाइए णं भंते ! बादरतसकाइए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं, एतेसिं चेव अपज्जत्तगा सव्वे वि जहन्नेणं वि उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं । बादरपज्जत्तए णं भंते ! बादरपज्जत्तए त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहत्तं सातिरेगं। बादरपुढविकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । एवं आउकाइए वि । तेउकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । वाउकाइए वणस्सइकाइए पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइए पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । निगोदपज्जत्तए बादरनिगोदपज्जत्तए पुच्छा ?। गोयमा ! दोण्हं वि जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । बादरतसकाइयपज्जत्तए णं भंते ! बादरतसकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं ॥

असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः; इदं कालतः परिमाणमुक्तम् । क्षेत्रत आह-[अंगुलस्स असंखेज्जइभागमिति] अङ्गुलस्यासंख्येयो भागः । किमुक्तं भवति ?, अङ्गुलस्यासङ्ख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तेषां प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो लगन्ते । उच्यते-क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात् । उक्तञ्च-"सुहुमो य होइ कालो, तत्तो य सुहुमयरं हवइ खित्तं" इत्यादि । एतच्च बादरवनस्पतिकायापेक्षयाऽवसातव्यम्, तस्य बादरस्यैतावत्कायस्थितेरसम्भवात् । शेषसूत्राणि द्वारसमाप्तिं यावत्सुगमानि । गतं कायद्वारम् ।

(९) इदानीं योगद्वारमभिधित्सुराह-

सजोगी णं भंते ! सजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सजोगी दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए । मणजोगी णं भंते ! मणजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं वयजोगी वि ।

कायजोगी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो । अजोगी णं भंते! अजोगि त्ति कालओ केव चिर होइ ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए।

योगा मनोवाक्कायव्यापाराः, योगा एषां सन्तीति योगिनो मनोवाक्काया ; सह योगिनो यस्य येन वा सयोगी। अत्र निर्वचनम्-(सजोगी डुविहे पन्नत्ते इत्यादि) अनाद्यपर्यवसितो-यो न जातुचिदपि मोक्षगत. सर्वकालमवश्यमन्यतमेन योगेन सयोगी; ततोऽनाद्यपर्यवसितो-यस्तु यास्यति मोक्ष सोऽनादिसपर्यवसित'; मुक्तिपर्यायप्रादुर्भावे योगस्य सर्वथाऽपगमात् । मनोयोगिसूत्रे-जघन्यत एकं समयमिति यदा कश्चिदौदारिककाययोगेन प्रथमसमयमनोयोग्यान् पुद्गलानादाय द्वितीयसमये मनस्त्वेन परिणमय्य मुञ्चति तृतीयसमये चोपरमते म्रियते वा, तदा एक समय मनोयोगी लभ्यते उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्त निरन्तर मनोयोग्यपुद्गलानां ग्रहणविसर्गौ कुर्वन् तत ऊर्द्ध्व सोऽवश्य जीवस्वाभाव्यादुपरमते, उपरम्य च भूयोऽपि ग्रहणविसर्गौ करोति, पर कालसूक्ष्मात् कदाचिन्न स्वसंवेदनपथमायाति । उत्कर्षतोऽपि मनोयोग्यन्तर्मुहूर्त्तमेव ॥ (एव वययोगी वि इति) एव मनोयोगीव वाग्योग्यपि वक्तव्यः । तद्यथा-" वइजोगी ण भंते ! वइजोगि त्ति कालओ केव चिर होइ ?। गोयमा! जहन्नेण एक्क समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्तमिति "। तत्र य. प्रथमसमय काययोगेन भाषायोग्यानि द्रव्याणि गृह्णाति, द्वितीयसमये तानि भाषात्वेन परिणमय्य मुञ्चति. तृतीयसमये चोपरमते म्रियते वा, स एक समय वाग्योगी लभ्यते। आह च मूलटीकाकारः-" पढमसमये काययोगेण गहियाण भासादव्वाण, विइयसमये वइयोगेण निसम्म काऊण उवरमतस्स वा एगसमओ लब्भइ" इति। अन्तर्मुहूर्त्त निरन्तरं ग्रहणविसर्गौ कुर्वन् तदनन्तर चोपरमते, तथाजीवस्वाभाव्यात् । काययोगी जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति । इह द्वीन्द्रियादीनां वाग्योग्यपि लभ्यते । संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनोयोगोऽपि, ततो यदा वाग्योगो भवति मनोयोगो वा तदा न काययोगप्राधान्यमिति, सादिसपर्यवसितत्वभावात् । जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्त काययोगी लभ्यते, उत्कर्षतो वनस्पतिकाल.,स च प्रागेवोक्तः। वनस्पतिकायिकेषु हि काययोग एव केवलो न वाग्योगो, मनोयोगो वा । ततः शेषयोगासम्भवात्तेषां कायस्थिति. । सतत काययोग इति मानम्। अयोगी च सिद्ध., स च साद्यपर्यवसित इत्ययोगी साद्यपर्यवसित उक्तः। गत योगद्वारम् ।

(१०) इदानीं वेदद्वार प्रतिपिपादयिषुराह-

सवेदए णं भंते! सवेदए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सवेदए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे ते सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं । इत्थिवेदे णं भंते! इत्थिवेदे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! एगेणं आदेसेण जहन्नेणं एक्क समयं उक्कोसेण दसुत्तरं पलिओवमसत पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं । एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एक्क समयं उक्कोसेणं अट्ठारसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं । एगेणं आदेसेण जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चोद्दसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं। एगेण आदेसेणं जहन्नेणं एग समयं उक्कोसेणं पलिओवमसतं पुव्वकोडिमब्भहियं । एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमपुहुत्त पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ॥

(सवेदए णं भंते! इत्यादि) सह वेदो यस्य येन वा स सवेदक'। "शेषाद्वा" ।७।३।१७५। इति कप्रत्यय । स च त्रिविध. । तद्यथा-अनाद्यऽपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसित , सादिसपर्यवसितश्च । तत्र य उपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा न जातुचिदपि प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, कदाचिदपि तस्य वेदोदयव्यवच्छेदासम्भवात् । यस्तु प्राप्स्यत्युपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं वा सोऽनादिसपर्यवसित.; उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ वा वेदोदयव्यवच्छेदस्य भावितत्वात्। यस्तूपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तत्र चावेदको भूत्वा भूय उपशमश्रेणीतः प्रतिपतन् सवेदको भवति, स सादिसपर्यवसित. , स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्। कथमिति चेत्?, उच्यते-इह यदा कोऽपि उपशमश्रेणिमुपपद्य त्रिविधमपि वेदमुपशमय्यावेदको भूत्वा पुनरपि श्रेणीत. प्रतिपतन् सवेदकत्वं प्राप्य झटित्युपशमश्रेणिं कर्मग्रन्थिकाभिप्रायेण क्षपकश्रेणिं वा प्रतिपद्य च वेदत्रयमुपशमयति, क्षपयति वा अन्तर्मुहूर्तेन, तदा जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमवेदक , उत्कर्षतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तदेशोनम्,अपगतमर्द्धं यस्य स अपार्द्ध., देशोन किंचिदूनम्। उपशमश्रेणीतो हि प्रतिपतित एतावन्त काल ससार पर्यटन्ति, ततो यथोक्तमुत्कर्षतः सादिसपर्यवसितस्य सवेदकस्य कालमानमुपपद्यते । स्त्रीवेदविषये च पञ्चादेशा',तान् क्रमेण निरूपयति-(एगेण आदेसेणमित्यादि) तत्र सर्वत्रापि जघन्यतः समयमात्र भावनीयम्-काचित् युवतिरुपशमश्रेणिवेदत्रयोपशमेनावेदकत्वमनुभूय तत श्रेणिं प्रतिपतन्ती स्त्रीवेदोदयमेकसमयमनुभूय द्वितीयसमये काल कृत्वा देवेषूत्पद्यते; तत्र च तस्या. पुंस्त्वमेव न स्त्रीत्वम् । तत एव जघन्यत समयमात्र स्त्रीवेदः। उत्कर्षचिन्तायामिय प्रथमाऽऽदेशभावना-काश्चिज्जन्तुर्नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवान् अनुभूय ईशाने कल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिष्वपरिगृहीतासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्न , तत. स्वायुःक्षये च्युत्वा भूयोऽपि नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये स्त्रीत्वेनोत्पन्नः , ततो भूयोऽपि द्वितीयवारमीशाने देवलोके पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्न., ततः परमवश्य वेदान्तरमेव गच्छति। एव दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिक प्राप्यते । अत्र पर आह-ननु यदि देवकुरूत्तरकुर्वादिषु पल्योपमत्रयस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये समुपपद्यते, ततोऽधिकाऽपि स्त्रीवेदस्य स्थितिरवाप्यते, तत. किमित्येवोपदिष्टा?। तदयुक्तम्। अभिप्रायापरिज्ञानात्। तथाहि-इह तावद्देवीभ्यश्च्युत्वा असंख्येयवर्षायुष्कासु स्त्रीमध्ये नोत्पद्यते, देवयोनेश्च्युतानामसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये उत्पादप्रतिषेधात् । नाप्यसंख्येयवर्षायुष्का सती योषित उत्कृष्टासु देवीषु जायते । यत उक्तं मूलटीकाकृता-" जाता असंखेज्जा वासाउया उक्कोसट्ठिई न पावेइ " इति।

ततो यथोक्तप्रमाणैवोत्कृष्टा स्थितिः स्त्रीवेदस्याऽवाप्यते। द्वितीयादेशवादिनः पुनरेवमाहुः-नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवान् अनुभूय पूर्वप्रकारेणेशाने देवलोकेषु वारद्वयमुत्कृष्टस्थितिकासु देवीषु मध्ये उत्पद्यमाना नियमतः परिगृहीतास्वेवोत्पद्यते नापरिगृहीतासु। ततस्तन्मतेनोत्कृष्टमवस्थानं स्त्रीवेदस्याष्टादशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वं च। तृतीयादेशवादिनां तु-सौधर्मदेवलोके परिगृहीतासु सप्तपल्योपमप्रमाणोत्कृष्टासु वारद्वयं समुत्पद्यते, ततस्तन्मतेन चतुर्दशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वान्यधिकानि स्त्रीवेदस्य स्थितिः। चतुर्थादेशवादीनां तु मतेन-सौधर्मदेवलोके पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीष्वपि पूर्वप्रकारेण वारद्वयं देवीत्वेनोत्पद्यते, ततस्तन्मतेन पल्योपमशतपूर्वकोटिपृथक्त्वान्यधिकमवाप्यते। पञ्चमादेशवादिनः पुनरिदमाहुः-नानाभवभ्रमणद्वारेण यदि स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानं चिन्त्यते,तर्हि पल्योपमपृथक्त्वमेव पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते, न ततोऽधिकम्। कथमेतदिति चेत्?, उच्यते-नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये सप्तभवाननुभूयाष्टमभवे देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमस्थितिषु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन समुत्पद्यते; ततो मृत्वा सौधर्मदेवलोके जघन्यस्थितिकासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजायते, तदनन्तरं चावश्यं वेदान्तरमधिगच्छतीति। अमीषां च पञ्चानामादेशानामन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते। ते च भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ नासीरन्, केवलं तत्कालापेक्षया ये पूर्वतमाः सूरयस्तत्कालभाविग्रन्थपौर्वापर्यपर्यालोचनया यथास्वमति स्त्रीवेदस्य स्थितिं प्ररूपितवन्तः,तेषां सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवानार्यश्याम उपादिष्टवान्। तेऽपि च प्रावचनिकसूरयः स्वमतेन सूत्रं पठन्ते; गौतमप्रश्नभगवन्निर्वचनरूपतया पठन्ति; ततस्तदवस्थान्येव सूत्राणि लिखितानि-गोयमा! इत्याद्युक्तम्। अन्यथा भगवति गौतमाय निर्दिष्टरि न संशयकथनमुपपद्यते, भगवतः सकलसंशयातीतत्वात्।

पुरिसवेदे णं भंते! पुरिसवेदे त्ति पुच्छा?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं॥

पुरुषवेदसूत्रे-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति। यथा कश्चिदन्यवेदेभ्यो जीविक्य उद्धृत्य पुरुषवेदेषूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं सर्वायुर्जीवित्वा गत्यन्तरे अन्यवेदेषु मध्ये समुत्पद्यते, तदा पुरुषवेदस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानं लभ्यते। उत्कृष्टमानं कण्ठ्यम्।

नपुंसगवेदए णं भंते! पुच्छा?। गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

नपुंसकवेदसूत्रे-जघन्यत एकः समयः स्त्रीवेदस्यैव भावनीयः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः; स च प्रागेवोक्तः। एतच्च सांव्यवहारिकजीवानधिकृत्य चिन्ता क्रियते। तदा द्विविधा नपुंसकवेदाद्याः काँश्चिदधिकृत्यानाद्यपर्यवसाना; ये न जातुचिदपि सांव्यवहारिकराशौ निपतिष्यन्ति। काँश्चिदधिकृत्य पुनरनादिसपर्यवसानाः, येऽसांव्यवहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यवहारिकराशावागमिष्यन्ति। अथ किमसांव्यवहारिकराशेरपि विनिर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागच्छन्ति येनैवं प्ररूपणा क्रियते? उच्यते-आगच्छति। कथमेतदवसेयमिति चेत्?, उच्यते-पूर्वाचार्योपदेशात्। तथा चाह दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान्-" सिज्झंति जत्तिया किर, इह संववहारजीवरासीओ। इंति अणाइवणस्सइ-रासीओ तत्तिया तम्मि"॥१॥

अवेदकपृच्छामाह-

अवेदे णं भंते! अवेदे त्ति पुच्छा?। गोयमा! अवेदे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-साइए अपज्जवसिए वा, साइए सपज्जवसिए वा। तत्थ णं जे ते साइए सपज्जवसिए से णं एगं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

अवेदको द्विधा-साद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्र यः क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यावेदको भवति स साद्यपर्यवसितः क्षपकश्रेणिः,स च जघन्येनैकं समयम्। कथमेकसमयतेति चेत्?, उच्यते-यदा एकसमयवेदको भूत्वा द्वितीयसमये पञ्चत्वमुपगच्छति, तदा तस्मिन्नेव पञ्चत्वसमये देवेषूत्पन्नः पुरुषवेदोदयेन सवेदको भवति; तत एवं जघन्यत एकं समयमवेदक उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, परतोऽवश्यं श्रेणीतः प्रतिपतने वेदोदयसद्भावात्। गतं वेदद्वारम्। प्रज्ञा० १८ पद। ज्यो०।

(११) इदानीं कषायद्वारं, तत्रेदमादिसूत्रम्-

सकसाई णं भंते! सकसाइ त्ति कालओ केवचिरं होइ?। गोयमा! सकसाई तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-अणादिए अपज्जवसिए, अणादिए सपज्जवसिए, सादिए सपज्जवसिए जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। कोहकसाई णं भंते! पुच्छा?। गोयमा! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। एवं जाव माणमायाकसाई णं। लोभकसाई णं भंते! पुच्छा?। गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। अकसाई णं भंते! अकसाइ त्ति कालओ केवचिरं होइ?। गोयमा! अकसाई दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे ते सादिए सपज्जवसिए, से जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं॥

सह कषायो येषां यैर्वा ते सकषाया जीवपरिणामविशेषाः, ते विद्यन्ते यस्य स सकषायी। इदं सकलमपि सूत्रं सवेदसूत्रवद्विशेषेण भावनीयम्, समानभावनोक्तत्वात्। [कोहकसाई णं भंते इत्यादि] जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमिति, क्रोधकषायोपयोगस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् तथाजीवस्वाभाव्यात्। इह च सूत्रचतुष्टयमपि विशिष्टोपयोगापेक्षमिति। लोभकषायी जघन्येनैकं समयमिति,यदा कश्चिदुपशमश्रेणिपर्यवसाने उपशान्तवीतरागो भूत्वा श्रेणीतः प्रतिपतन् लोभानुवेदनप्रथमसमये सवेदनं एव कालं कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नः सन् क्रोधकषायी मायाकषायी भवति, तदैकसमये लोभकषायी लभ्यते। अथैवं क्रोधादिष्वप्येकसमयता कस्मान्न लभ्यते?। उच्यते-तथास्वाभाव्यात्। तथा यता यदि श्रेणीतः प्रतिपतन् मध्यानुवेदनप्रथमसमये वा यदि कालं करोति, कालं च कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तथापि तथास्वाभाव्यात् येन कषायोदयेन कालं कृतवान् तमेव कषायोदयं तत्रापि गतः सन्नन्तर्मुहूर्त्तमेव वर्त्तयति, एतच्चावसीयते अधिकृतसूत्रप्रामाण्यात् ततो नैकसमयता क्रोधादिष्विति। अकषायसूत्रमवेदसूत्रमिव भावनीयम्। गतं कषायद्वारम्।

(१२) अधुना लेश्याद्वारमाह—

सलेस्से णं भंते ! सलेस्से त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! सलेसे दुविहे पएणत्ते । तं जहा—अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए । कएहलेस्से णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । नीललेसे णं भंते ! नीललेसे त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमासंखेज्जइभागमब्भहियाइं । काउलेसे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं । तेउलेस्से णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं । पम्हलेसे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । सुक्कलेस्से णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । अलेसे णं पुच्छा ? । गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ॥

(सलेस्से णं भंते ! इत्यादि) सह लेश्या यस्य येन वा स सलेश्यः । स द्विविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-अनादिरपर्यवसितः-यो न जातुचिदपि संसारव्यवच्छेदकर्ता । अनादिसपर्यवसितः-यः संसारपारगामी । (कण्हलेस्से णं भंते ! इत्यादि) इह तिरश्चां मनुष्याणां च लेश्याद्रव्याण्यन्तर्मुहूर्तिकानि, ततः परमवश्यं लेश्यान्तरपरिणामं भजन्ते । देवनैरयिकाणां तु पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्तादारभ्य परभवाद्यमन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थितानि, ततः सर्वत्र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम्, उत्कृष्टं देवनैरयिकापेक्षया यथाचिन्त्यमिति भाव्यते । तत्र विचिन्त्यमिति यदुक्तं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानीति, तत् सप्तमनरकपृथ्व्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । तत्रत्या हि नैरयिकाः कृष्णलेश्याकाः, तेषां च स्थितिरुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, यत्तु पूर्वोत्तरभवगतो यथाक्रमं चरमाद्यौ अन्तर्मुहूर्ते, ते द्वे अप्येकमन्तर्मुहूर्तं तस्यासङ्ख्यातभेदभिन्नत्वात् । तथा चान्यत्राप्युक्तम्- "मुहुत्तद्धं जहन्ना, तित्तीसं सागरा मुहुत्तहिया । उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा कण्हलेस्साए" ॥ (अंतोमुहुत्तहिया इति) चूर्णिकृता व्याख्यातमन्तर्मुहूर्ताधिकेनेति । नीललेश्यासूत्रे—यानि दश सागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकान्युक्तानि तानि पञ्चमपृथिव्यपेक्षया वेदितव्यानि । तत्र हि प्रथमप्रस्तटे नीललेश्या, "पंचमियाए मीसा" इति वचनात् । तस्मिंश्च प्रथमप्रस्तटे स्थितिरुत्कर्षत एतावती । ये तु पूर्वोत्तरभवगते अन्तर्मुहूर्ते, ते पल्योपमासंख्येयभागे एवान्तर्गते इति न पृथग् विवक्षिते । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । कापोतलेश्यासूत्रे-त्रीणि सागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकानि तृतीयनरकपृथिव्यपेक्षयाऽवसातव्यानि ; तृतीयपृथिव्यामपि प्रथमप्रस्तटे कापोतलेश्याया भावात्, "तइयाए मीसिया" इति वचनात् । तत्र चोत्कृष्टस्थितेरेतावत्या सम्भवात् । तेजोलेश्यासूत्रे-द्वे सागरोपमे पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिके ईशानदेवलोके देवापेक्षया वेदितव्ये, हि तेजोलेश्याका उत्कर्षत एतावत्स्थितिकाश्च । पद्मलेश्यासूत्रे-दश सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि ब्रह्मलोकापेक्षया भावनीयानि । तत्र देवानां हि स्थितिरुत्कृष्टा दश सागरोपमाणि, लेश्या च पद्मलेश्या । ये च पूर्वोत्तरभवगते अन्तर्मुहूर्ते ते किलैकमन्तर्मुहूर्तमिति अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानीत्युक्तम् । शुक्ललेश्यासूत्रे-त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि अनुत्तरसुरापेक्षया, तेषामुत्कर्षतः स्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् । अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्वभावना च प्राग्वत् । अलेश्योऽयोगिकेवली सिद्धश्च, ततो न तस्यामप्यवस्थायामलेश्यत्वव्याघात इति साद्यपर्यवसितः । गतं लेश्याद्वारम् ॥

(१३) इदानीं सम्यग्दृष्टिद्वारम्-

सम्मदिट्ठी णं भंते ! सम्मद्दिट्ठि त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! सम्मदिट्ठी दुविहे पएणत्ते । तं जहा—सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए, से जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । मिच्छादिट्ठी णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! मिच्छादिट्ठी तिविहे पएणत्ते । तं जहा—अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । सम्मामिच्छादिट्ठी णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं वि उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं ॥

(सम्मदिट्ठी णं भंते ! इत्यादि) सम्यगविपर्यस्ता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः । स चान्तरकरणकालभाविना औपशमिकसम्यक्त्वेन सास्वादनसम्यक्त्वेन विशुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयसम्भविना क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन सकलदर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थक्षायिकसम्यक्त्वेन वा द्रष्टव्यः । निर्वचनम्-सम्यग्दृष्टिर्द्विविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-साद्यपर्यवसितः-एष क्षायिके सम्यक्त्वे उत्पादिते सति वेदितव्यः, तस्य प्रतिपाताभावात् । सादिसपर्यवसितः-एष क्षायोपशमिकादिसम्यक्त्वापेक्षया । तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितः सम्यग्दृष्टिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, परतो मिथ्यात्वगमनात्, उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । तत्र यदि वारद्वयं विजयादिषु चतुर्षु अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टस्थितिको देव उत्पद्यते वेलात्रयं वाऽच्युतलोके, तदो देवभवैरेव षट्षष्टिसागरोपमाणि परिपूर्णानि भवन्ति । ये तु मनुष्यभवाः सम्यक्त्वसहितास्तेऽधिका इति तैः सातिरेकाणीति । उक्तं च-" दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्निऽच्चुए अहव ताइं । अइरेगं नरभवियमिति । " (मिच्छादिट्ठी णं भंते ! इत्यादि) मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः, ननु मिथ्यादृष्टिरपि कश्चिद्भक्ष्यं भक्ष्यतया जानाति पेयं पेयतया मनुष्यं मनुष्यतया पशुं पशुतया, ततः स कथं मिथ्यादृष्टिरुच्यते ?, भगवति सर्वज्ञत्वस्य प्रत्ययाभावात् । इह हि भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येषां मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञप्रत्ययनाशात् ।

उक्तश्च-" सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टि । सूत्रं हि न प्रमाणं जिनाभिहितं किंपुन शेष भगवदर्हदभिहितम्। तथा च जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलो मिथ्यादृष्टिः । ननु सकलप्रवचनमर्थाभिरोचनात्तत्कृतकतिपयार्थानां चारोचनादेव न्यायतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति,कथं मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति?,उच्यते-सदसद्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह यदा सकलवस्तुजिनप्रणीततया सम्यक् श्रद्धत्ते तदानीमसौ सम्यग्दृष्टिः; यदा त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्यापरिज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं, नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः, तदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । उक्तञ्च शतकबृहच्चूर्णौ-"जहा नालिकेरिदीववासिस्स खुहाइयस्स विपत्थसमागयस्स पुरिसस्स य ओयणाइए अणेगविहे होइ एनस्स आहारस्स उवरिं न रुई न निंदा जेण तेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एव सम्मामिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाण उवरिं न य रुई नावि निंद त्ति "। यदा पुनरेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा एकान्ततो विप्रतिपद्यते तदा मिथ्यादृष्टिरेवेत्यदोषः। स च त्रिविध ।तद्यथा-अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यः कदाचनापि सम्यक्त्व नावाप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसित , यस्तु सम्यक्त्वमासाद्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं याति स सादिसपर्यवसितः। स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, तदनन्तर कस्यापि भूयः सम्यक्त्वावाप्ति । उत्कर्षतोऽनन्त कालम् । तमेवानन्त कालं द्विधा प्ररूपयति-कालत- क्षेत्रतश्च । तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो यावत्, क्षेत्रतोऽपार्द्ध पुद्गलपरावर्तं देशोनम । अत्र क्षेत्रत इति निर्देशात् क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः परिग्राह्यो न तु द्रव्यपुद्गलपरावर्तादयः । एवं पूर्वोत्तरत्रापि च भावनीयम् । (सम्मामिच्छादिट्ठी णमित्यादि) सम्यग्मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टि । स च जघन्यतो वोत्कर्षतो वा अन्तर्मुहूर्तं, परतोऽवश्य तत्परिणामविध्वंसात्, तथाजीवस्वाभाव्यात् । गतं सम्यक्त्वद्वारम् ।

(१४) इदानीं ज्ञानद्वारम्—

नाणी णं भंते! नाणि त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा! नाणी दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सादिए वा अपज्जवसिए,सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । आभिणिबोहियनाणी णं पुच्छा?। गोयमा ! एव चेव । एवं सुयनाणी वि। ओहिनाणी वि एवं चेव,नवरं जहन्नेणं एक्कं समयं । मणपज्जवनाणी णं भंते ! पुच्छा?। गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडिं ॥

(नाणी णं भंते!इत्यादि)ज्ञानमस्यास्तीति,"अतोऽनेकस्वरात्"।७। २।६। इति इन् प्रत्यय- । स द्विधा-साद्यपर्यवसितः,सादिसपर्यवसितश्च ।तत्र केवलज्ञानापेक्षया साद्यपर्यवसित', प्रतिपाताभावात्,शेषज्ञानानां प्रतिनियतकालभावात् स जघन्येनान्तर्मुहूर्त,परतो मिथ्यात्वगमनेन ज्ञानपरिणामापगमात्।उत्कर्षत षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि यावत्तानि सम्यग्दृष्टेरिव भावनीयानि, सम्यग्दृष्टेरेव ज्ञानित्वात्। आभिनिबोधिकज्ञानिसूत्रे-(एव चेव त्ति) यथा सामान्यतो ज्ञानी सादिसपर्यवसितो जघन्यत उत्कर्षतश्चोक्त तथाऽऽभिनिबोधिकोऽपि वक्तव्यः। स चैव-"जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण छावट्ठीसागरोवमाइ" । एव श्रुतज्ञान्यपि। अवधिज्ञान्यप्येवम्, नवरं जघन्यत एकं समय वक्तव्यम्। कथमेकसमयताऽवधिज्ञानस्येति चेत्?,उच्यते-इह तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो देवो वा विभङ्गज्ञानी सन् सम्यक्त्व प्रतिपद्यते, तस्य च सम्यक्त्वप्रतिपत्तिसमये एव सम्यक्त्वप्रभावतो विभङ्गज्ञानमवधिज्ञान जात, तच्च यदा देवस्य च्यवनेन मरणेनान्यस्यान्यथा वाऽनन्तरसमये प्रतिपतितत्तदा भवत्यवधिज्ञानस्यैकसमयता, उत्कर्षतः सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाणि, यावत्तानि वा प्रतिपतितावधिज्ञानस्य वारद्वय विजयादिषु गमनेन वारत्रयमच्युतदेवलोकगमने तथा वेदितव्यानि । मनःपर्यवज्ञानिन एकसमयता संयतस्याप्रमत्ताद्धायां वर्त्तमानस्य मनःपर्यवज्ञानमुत्पाद्यानन्तरसमये कालं कुर्वता भावनीया; उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी; तत ऊर्द्ध संयमाभावतो मनःपर्यवज्ञानस्याऽप्यभावात् ।

केवलनाणी णं पुच्छा?। गोयमा! सादिए अपज्जवसिए। अन्नाणी णं पुच्छा? । गोयमा ! अन्नाणी, मतिअन्नाणी सुयअन्नाणी तिविहे पन्नत्ते । तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। विभंगनाणी णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियाइं ।

अज्ञानी त्रिविध ।तद्यथा-अनाद्यपर्यवसित ,अनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यस्य न कदाचनापि ज्ञानलाभो भावी सोऽनाद्यपर्यवसित । यस्तु ज्ञानमासादयिष्यति सोऽनादिसपर्यवसितः। यः पुनर्ज्ञानमासाद्य भूयो मिथ्यात्वगमनेनाज्ञानित्वमधिगच्छति स सादिसपर्यवसितः । स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, परतः सम्यक्त्वस्यासादनेनाज्ञानित्वपरिणामापगमसम्भवात, उत्कर्षतोऽनन्त कालमित्यादि प्राग्वत ; तत ऊर्द्धमवश्य सम्यक्त्वावाप्तेरज्ञानित्वापगमात् । एव मत्यज्ञानी श्रुताज्ञानी च त्रिविधो भावनीय । विभङ्गज्ञानी जघन्यत एक समयम्। कथमिति चेत्?, उच्यते-कश्चित् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो देवो वा सम्यग्दृष्टिरवधिज्ञानी सन् मिथ्यात्व गत , तस्मिंश्च मिथ्यात्वप्रतिपत्तिसमये मिथ्यात्वप्रभावतोऽवधिज्ञान विभङ्गज्ञानभूतमाद्यत्रयमज्ञानमपि भवति, मिथ्यात्वसयुक्तमिति वचनात ; ततोऽनन्तरसमये देवस्य मरणेनान्यथा वा तद्विभङ्गज्ञान परिपतति, तत एवमेकसमयता विभङ्गज्ञानस्य उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि । तथाहि–यदि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा पूर्वकोट्यायु' कतिपयवर्षातिक्रमे विभङ्गज्ञानी जायते, जातश्च सन्नप्रतिपतितविभङ्गज्ञान एवाविग्रहगत्या सप्तमनरकपृथिव्या त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको नैरयिको जायते, तदा भवति यथोक्तमुत्कृष्ट-

नम्, तत ऊर्द्ध्वं तु सम्यक्त्वप्रतिपत्त्याऽवधिज्ञानभावतः सर्वथाऽपगमाद्वा तद्विभङ्गज्ञानमुपगच्छति । गतं ज्ञानद्वारम् ।

(१५) इदानीं दर्शनद्वारम्, तत्रेदमादिसूत्रम्-

चक्खुदंसणी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं । अचक्खुदंसणी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अचक्खुदंसणी दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए । ओहिदंसणी णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं इक्कं समयं, उक्कोसेणं दो छावट्ठीसागरोवमाणं सातिरेगाणं । केवलदंसणी णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ।

इह यदा त्रीन्द्रियादिश्चतुरिन्द्रियादिषूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि त्रीन्द्रियादिषु मध्ये उत्पद्यते, तदा चक्षुर्दर्शनी अन्तर्मुहूर्त्तं लभ्यते उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रं, तच्चतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियनैरयिकादिभवभ्रमणेनावसातव्यम् । अचक्षुर्दर्शनी अनाद्यपर्यवसित -यो कदाचिदपि न सिद्धिभावमधिगमिष्यति, यस्त्वधिगन्ता सोऽनादिसपर्यवसितः । तथा-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा तथाविधाध्यवसायावधिनाऽवधिदर्शनमुत्पाद्यानन्तरसमये यदि कालं करोति तदाऽवधिदर्शनं प्रतिपतति, तदाऽवधिदर्शनिन एकसमयता, उत्कर्षतोऽवधिदर्शनी द्विषट्षष्टिसागरोपमाणीति सातिरेके । कथमिति-चेत्?, उच्यते-इह कश्चिद्विभङ्गज्ञानी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा अप्रतिपतितविभङ्गज्ञान एवाविग्रहगत्याऽधःसप्तमनरकपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिर्नैरयिको जातः, तत्र चोद्वर्त्तनाप्रत्यासत्तिकाले सम्यक्त्वमुत्पाद्य ततः परिभ्रष्टः, ततोऽप्रतिपतितेन विभङ्गज्ञानेन पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु समुत्पन्नः, तत्र च परिपूर्णं स्वायुः प्रतिपाल्य पुनरप्रतिपतितविभङ्ग एवाधःसप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको नैरयिको जातः; तत्रापि चोद्वृत्त्य प्रत्यासत्तौ सम्यक्त्वमासाद्य परित्यजति, ततो भूयोऽप्यप्रतिपतितविभङ्ग एव पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु जातः, तदेवमेकषट्षष्टिसागरोपमाणामभूत्, सर्वत्र च तिर्यक्षूत्पद्यमानो विग्रहेणोत्पद्यते, विग्रहे विभङ्गस्य तिर्यक्षु मनुष्येषु च निषेधात्। यद्वक्ष्यति-"विभंगनाणी पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा आहारगा" इति। आह-किं सम्यक्त्वमेषोऽपान्तराले प्रतिपद्यते?। उच्यते-इह विभङ्गस्य उत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनपूर्वकोट्यधिकानि । तथा चोक्तं प्राक्-"विभंगनाणी जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाइं पुव्वकोडीओ अब्भहियाइं" इति। तत एतावन्तं कालमविच्छेदेन विभङ्गस्याप्रमाणत्वात् अपान्तराले सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते। ततोऽप्रतिपतितविभङ्ग एव मनुष्यत्वमवाप्य संयमं पालयित्वा द्वौ वारौ विजयादिषूत्पद्यमानस्य द्वितीया षट्षष्टिः सागरोपमाणां सम्यग्दृष्टेर्भवति । एवं द्वे षट्षष्टिसागरोपमाणामवधिदर्शनस्य । अथ विभङ्गावस्थायामवधिदर्शनं कर्मप्रकृत्यादिषु प्रतिषिद्धं, ततः कथमिह विभङ्गे तद्भाव्यते ?। नैष दोषः । सूत्रे विभङ्गेऽप्यवधिदर्शनस्य प्रतिपादितत्वात् । तथा ह्यत्र सूत्राभिप्रायः-विशेषविषयं विभङ्गज्ञानं, सामान्यविषयमवधिदर्शनम्। यथा हि सम्यग्दृष्टेर्विशेषविषयमवधिज्ञानं सामान्यविषयमवधिदर्शनमुच्यते, केवलं विभङ्गज्ञानिनोऽप्यवधिदर्शनमनाकारमात्रत्वेनाविशिष्टत्वादवधिज्ञानिनोऽवधिदर्शनं तुल्यमिति, तदप्यवधिदर्शनमुच्यते, न विभङ्गदर्शनमिति। आह मूलटीकाकारोऽप्येतद्भावनायाम्-"दंसणं च विभंगो हीणजाता तुल्लमेव अतो चेव छावट्ठीओ साइरेगाओ" इति । ततोऽस्माभिरपि विभङ्गेऽवधिदर्शनं भावितम् । कार्मग्रन्थिकाः पुनराहुः-यद्यपि साकारेतरविशेषभावेन विभङ्गज्ञानमवधिदर्शनं च पृथगस्ति, तथाऽपि न सम्यग् निश्चयो, विभङ्गज्ञानेन मिथ्यारूपत्वात्; नाप्यवधिदर्शनेन, तस्यानाकारमात्रत्वाद्, अतः किं तेन पृथग् विवक्षितेनापीति ?, तदभिप्रायेण न विभङ्गावस्थायामवधिदर्शनेन । न चैतत्स्वमनीषिकाकल्पितम्, पूर्वसूरिभिरप्येव मतविभागस्य व्यवस्थापितत्वात् । उक्तं च विशेषणवत्यां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः-

" सुत्ते विभंगस्स वि, परूविय ओहिदंसणं बहुसो ।
कीस पुणो पडिसिद्धं, कम्मपगडीण पगरणम्मि ? ॥ १ ॥
विभंगे वि दरिसणं, सामन्नविसेसविसयओ सुत्ते ।
तं च विसिट्ठमणागा-रमेत्ततो वि हि विभंगाणं ॥ २ ॥
कम्मपगडिमयं पुण, सागारेयरविसेसभाव वि ।
न विभंगनाणदंसण-विसेसणमणित्थियत्तणओ" ॥ ३ ॥ इति ।

अन्ये तु व्याचक्षते किं सप्तमनरकपृथिवीनिवासिनो नारककल्पनया सामान्येनैव नारकतिर्यङ्नरामरभवेषु पर्यटन्तः खल्ववधिविभङ्गा एतावन्तं कालं भ्रमन्ति, तत ऊर्द्ध्वमपवर्ग इति । केवलदर्शनसूत्रं केवलज्ञानिनः सूत्रवद्भावनीयम् । गतं दर्शनद्वारम् ।

(१६) इदानीं संयमद्वारम्-

संजए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ?। असंजए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! असंजए तिविहे पन्नत्ते । तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। संजयासंजए णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं । णो संजए णो असंजए णो संजयासंजए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए॥

जघन्यत एकसमयता संयतस्य, चारित्रपरिणामसमय एव कस्यापि कालकरणात्। असंयतस्तु त्रिधा-अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यः संयमं कदाचनापि न प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, यस्तु प्राप्स्यति सोऽनादिपर्यवसितः, यस्तु संयमं प्राप्य ततः परिभ्रष्टः स सादिसपर्यवसितः । स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, ततः परं कस्यापि पुनरपि संयमप्रतिपत्तिभावात् । उत्कर्षतोऽनन्तकालमित्यादि प्राग्वत् । तत ऊर्द्ध्वमवश्यं संयमप्राप्तिः। संयतासंयतो देशविरतः, स च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं, देशविरतिप्रतिपत्त्युपयोगस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात्। देशविरतिस्तर्हि द्विविधत्रिविधादिभङ्गबहुला, ततस्तत्प्रतिपत्तौ जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं लगति, सर्वविरतिस्तु सर्वं सावद्यमहं न करोमीत्येवरूपा, ततस्तत्प्रतिपत्त्युपयोग एकसामयिकोऽपि भवतीति प्राक् संयतस्य एकसमयतोक्ता । यस्तु न संयतो, नाप्यसंयतो, नो संयतासंयतः, स सिद्ध इति साद्यपर्य-

वसित इति । गत सयमद्वारम् । प्रज्ञा० १८ पद । (निर्ग्रन्थानां कायस्थिति. 'निग्गथ' शब्दे वक्ष्यते)

इदानीमुपयोगद्वारम् ; तत्रेदमादिसूत्रम्-

सागारोवउत्ते ण भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्त; अणागारोवउत्ते वि एवं चेव ॥

(सागरोवउत्ते ण भते ! इत्यादि) इह ससारिणामुपयोगः साकारोऽनाकारो वा जघन्यतोऽप्यान्तमुहूर्त्तिक उत्कर्षतोऽपि । तत' सूत्रद्वयेऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमुक्तम् । यस्तु केवलिनामुक्त एकसामायिक उपयोग. स इह न विवक्षित इति। गतमुपयोगद्वारम् ।

(१७) इदानीमाहारद्वारम्, तत्रेदमादिसूत्रम्-

आहारए ण भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! आहारए दुविहे पएणत्ते । तं जहा-छउमत्थआहारए य, केवलिआहारए य । छउमत्थाहारए णं भंते ! छउमत्थाहारए त्ति कालओ केव चिर होइ ?। गोयमा ! जहन्नेण खुड्डागभवग्गहणं दुसमऊणं, उक्कोसेणं असंखेज्ज कालं असखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ,खेत्तओ अंगुलस्स असखेज्जभाग । केवलिआहारए ण भते ! केवलिआहारए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त,उक्कोसेण देसूण पुव्वकोर्डि । अणाहारए ण भंते ! अणाहारए त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! अणाहारए दुविहे पएणत्ते। तं जहा-छउमत्थअणाहारए य, केवलिअणाहारए य ॥

"आहारए ण भंते' इत्यादि सुगमं, नवर "जहन्नेण खुड्डागभवग्गहण दुसमऊणमिति"। इह यद्यपि चतु'सामायिकी च विग्रहगतिर्भवति । आह च-" उज्जुया य एगवका, दुहतो वका गती विणिद्दिट्ठा । जुज्जइ तिचऊवका, वि नाम चउपचसमयाओ " ॥ १ ॥ इति । तथापि बाहुल्येन द्विसामायिकी त्रिसामायिकी वा प्रवर्तते, न चतु सामायिकी पञ्चसामायिकी वा प्रवर्तते, ततो न ते विवक्षिते ! तत्रोत्कर्षतस्त्रिसामायिक्यां विग्रहगतौ द्वावाद्यौ समयावनाहारक इत्याहारकत्वचिन्तायां क्षुल्लकभवग्रहण ताभ्या न्यूनमुक्तम्, ऋजुगतिरेकवक्रगतिश्च न विवक्षिता, सर्वजघन्यस्य परिचिन्त्यमानत्वात् । उत्कर्षतोऽसख्येय कालमित्यादि सुगम, नवरम् एतावत कालादूर्ध्वमवश्य विग्रहगतिर्भवति, तत्र चानाहारकत्वमित्यनन्त कालमिति नोक्तम् ।

छउमत्थअणाहारए ण भते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण एकं समय, उक्कोसेण दो समया । केवलिअणाहारए ण भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! केवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा सिद्धकेवलिअणाहारए य, भवत्थकेवलिअणाहारए य। सिद्धकेवलिअणाहारए ण पुच्छा?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए । भवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते ! पुच्छा?। गोयमा ! भवत्थकेवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते । त जहा-सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य, अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य । सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए ण भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तिन्नि समया। अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं पुच्छा?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

केवलिसूत्र सुगमम्। छद्मस्थाऽनाहारकसूत्रे-"उक्कोसेण दोसमया इति"। त्रिसामायिकीं विग्रहगतिमधिकृत्य चतु.सामायिकी पञ्चसामायिकी च विग्रहगतिर्न विवक्षितेत्यभिहितमनन्तरम् । सजोगिभवस्थकेवल्यनाहारकसूत्रे-त्रय. समया अष्टसामायिकस्य केवलिसमुद्घातस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपाः ।

उक्तं च-

"दण्डं प्रथमसमयके, कपाटमथचोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ १ ॥
संहरति पञ्चमे त्व-न्तराणि मन्थानमथ तथा षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाट, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥२॥
औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट. ।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीये तु ॥ ३ ॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात्" ॥४॥ इति । गतमाहारद्वारम् ।

(१८) अधुना भाषकाभाषकद्वारमाह-

भासए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्क समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । अभासए णं पुच्छा ?। गोयमा ! अभासए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सादिए वा अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए । तत्थ ण जे से सादिए सपज्जवसिए से-जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वणस्सइकालो ।

(भासए ण भंते ! इत्यादि) इह जघन्यत एकसमयता, उत्कर्षत आन्तर्मुहूर्तिकता च वाग्योगिन इवावसातव्या । अभाषकस्त्रिविधः । तद्यथा-अनाद्यपर्यवसित , अनादिसपर्यवसित., सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यो न जातुचिदपि भाषकत्व लप्स्यते सोऽनाद्यपर्यवसित. , यस्त्ववाप्स्यति सोऽनादिसपर्यवसित , यस्तु भाषको भूत्वा भूयोऽप्यभाषको भवति स सादिपर्यवसित. , स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त भाषित्वा किञ्चित्कालमवस्थाय पुनर्भाषकत्वोपलब्धे । अथवा द्वीन्द्रियादिभाषक एकेन्द्रियादिष्वभाषकेषूत्पन्न तत्र चान्तर्मुहूर्त जीवित्वा पुनरपि यदा द्वीन्द्रियादिरेवोत्पद्यते तदा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमभाषक उत्कर्षतो वनस्पतिकालम्, स च प्रागेवोक्त इति नोपदर्श्यते । गत भाषकाभाषकद्वारम् ।

इदानीं परीतद्वारम्-

परित्ते पुच्छा ?। गोयमा ! परित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-कायपरित्ते य, संसारपरित्ते य । कायपरित्ते णं पुच्छा ?। गोयमा ! पुढविकालो असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ । ससारपरित्ते णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं अणत कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्ट देसूण । अपरित्ते ण पुच्छा ?। गोयमा ! अपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । त जहा-काय-

अपरित्ते य, ससारअपरित्ते य । कायअपरित्ते णं पुच्छा ? । गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो । संसारअपरित्ते पुच्छा ?। गोयमा ! संसारअपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए । नोपरित्ते नोअपरित्ते णं पुच्छा ? । गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए । पज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं । अपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं वि उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं । नोपज्जत्तए नोअपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए । सुहुमे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुढविकालो । बादरे णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । नोसुहुमे नोबादरे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ।

परीतो द्विधा-कायपरीतः, ससारपरीतश्च । तत्र यः प्रत्येकशरीरी स कायपरीतः, यस्तु सम्यक्त्वादिना कृतपरिमितससारः स ससारपरीतः । कायपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स च यदा कश्चिन्निगोदादुद्वृत्य प्रत्येकशरीरिषु समुत्पद्य च तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि निगोदेषूत्पद्यते, उत्कर्षतोऽसख्येयं कालम्, स चाऽसङ्ख्येयकालः पृथिवीकालो, यावान् पृथिवीकायिककायस्थितिकालस्तावान् वेदितव्य इत्यर्थः । तमेव कालतो निरूपयति-असख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । ससारपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, ततः ऊर्द्ध्वमन्तकृतकेवलित्वयोगेन मुक्तिभावात् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालम् । तमेव निरूपयति-"अणंताओ" इत्यादि प्राग्वत्, ततः ऊर्द्धमवश्यं मुक्तिगमनात् । कायापरीतोऽनन्तकायिकः, ससारापरीतः सम्यक्त्वादिना अकृतपरिमितससारः । कायापरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स च यदा कश्चित्प्रत्येकशरीरिभ्य उद्वृत्य निगोदेषु समुत्पद्यते, ततश्चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि प्रत्येकशरीरिषूत्पद्यते तदाऽवसातव्यः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वाच्यः । स च प्रागेवोपदर्शितः, ततः ऊर्द्ध्वं नियमात्ततः उद्वृत्तेः । ससारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितः-यो न कदाचनापि ससारव्यवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽनादिपर्यवसितः । नोपरीतो नोऽपरीतश्च सिद्धः साद्यपर्यवसितः एव । पर्याप्तद्वारे-पर्याप्तो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, ततः ऊर्द्धमपर्याप्तत्वप्रसक्तेः । उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथक्त्वम्, एतावन्तं कालं पर्याप्तलब्ध्यावस्थानसंभवात् । अपर्याप्तो जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तम्, ततः ऊर्द्ध्वमवश्यमपर्याप्तत्वलब्ध्युत्पत्तेः । नोपर्याप्तो नोऽपर्याप्तश्च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसितः, सिद्धत्वस्याप्रच्युतेः । सूक्ष्मद्वारे सूक्ष्मसूत्रे-उत्कर्षतः पृथिवीकाल इति यावान् पृथिवीकायस्थितिकालस्तावान् वक्तव्यः । बादरसूत्रं सुगमम् । अनयोश्च भावना प्रागेव कृता । नोसूक्ष्मो नोबादरश्च सिद्धः, ततः साद्यपर्यवसितः ।

(१६) सञ्ज्ञिद्वारम्-

सन्नी णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो । नोसन्नी नोअसन्नी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ॥

सञ्ज्ञिसूत्रे-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति । यदा कश्चिज्जन्तुरसञ्ज्ञिभ्य उद्वृत्य सञ्ज्ञिषु समुत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयोऽपि असञ्ज्ञिषूत्पद्यते तदा लभ्यते । उत्कृष्टं सुगमम् । असञ्ज्ञी जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स चैकः कश्चित्सञ्ज्ञिभ्य उद्वृत्य सञ्ज्ञिषूत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि सञ्ज्ञिषु मध्ये समागच्छति, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो, वनस्पतिकालस्याप्यसञ्ज्ञिग्रहणेन ग्रहणात् । नोसञ्ज्ञी नोअसञ्ज्ञी च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसितः ।

भवसिद्धिकद्वारम्-

भवसिद्धिए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अणादिए सपज्जवसिए । अभवसिद्धिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! अणादिए अपज्जवसिए । नोभवसिद्धिए नोअभवसिद्धिए पुच्छा ? । गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ॥

(भवसिद्धिए णमित्यादि) भवसिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिकः, भव्य इत्यर्थः । स चानादिसपर्यवसितः, अन्यथा भव्यत्वायोगात् । अभवसिद्धिकोऽभव्यः, स चानाद्यपर्यवसितः, अन्यथाऽभव्यत्वायोगात् । नोभव्यो नोऽभव्यश्च सिद्धः, ततः साद्यपर्यवसितः । अस्तिकायाः पञ्चापि सर्वकालभाविनः ।

धम्मत्थिकाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सव्वद्धं एवं जाव अद्धासमए । चरिमे णं पुच्छा?। गोयमा ! अणादिए सपज्जवसिए । अचरिमे णं पुच्छा ?। गोयमा ! अचरिमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा अपज्जवसिए ॥

अद्धासमयोऽपि प्रवाहापेक्षया, तत उक्तम्-"एव जाव अद्धासमए." चरमो भवो भविष्यति यस्य स हि भव्यो चरमः, तद्विपरीतोऽचरमः, स चाभव्यः, तस्य चरमभवाभावात् । सिद्धश्च, तस्यापि चरमत्वायोगात् । तत्र चरमोऽचरमोऽनादिसपर्यवसितः, अन्यथा चरमत्वायोगात् । अचरमो द्विविधः, अनाद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्यवसितः सिद्ध इति । प्रज्ञा० १८ पद । प० सं० । दर्श० ।

(२०) उदकगर्भादीनाम्-

उदगगब्भे णं भंते ! उदगगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसं छम्मासा । तिरिक्खजोणियगब्भे णं भंते ! तिरिक्खजोणियगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नमंतोमुहुत्तं, उक्कोसं अट्ठ संवच्छराइं । मणुस्सीगब्भे णं भंते ! मणुस्सीगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसं बारस संवच्छराइं । कायभवत्थे णं भंते ! कायभवत्थे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नमंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउव्वीसं संवच्छराइं । मणुस्सपचिंदियतिरिक्खजोणियबीए णं भंते ! जोणियब्भूए केवइयं कालं संचिट्ठइ ?। गोयमा ! जहन्नेणमंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ।

परिचारणायां किल गर्भः स्यादिति गर्भप्रकरणम, तत्र (उदग-गब्भे य),क्वचित् 'दगगब्भे ण ति' दृश्यते । तत्र उदकगर्भः कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतुः पुद्गलपरिणाम , तस्य चावस्थान जघन्यत एक समयः,एकसमयानन्तरमेव प्रवर्षणात्। उत्कर्षतस्तु षएमासान्,षएमासानामुपरि वर्षणात्। अथ च मार्गशीर्षपौषादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्यारागमेघोत्पादादिलिङ्गो भवति।यदाह-"पौषे समार्गशीर्षे, सन्ध्यारागोऽम्बुदा सपरिवेषाः।नात्यर्थं मार्गशिरे, शीत पौषेऽतिहिमपातः"॥ १॥ इत्यादि । (कायभवत्थे य भते! इत्यादि) काये जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो जन्म स कायभव , तत्र तिष्ठति यः स कायभवस्थः,स च कायभवस्थ इति, एतेन पर्यायेणेत्यर्थः । (चउवीस सवच्छराइ ति) । स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनर्मृत्वा तस्मिन्नेवात्मशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिकतया इति,एवं चतुर्विंशतिवर्षाणि भवन्ति । केचिदाहु -द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यबीजेन तच्छरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिरिति । भ० २ श० ५ उ० । (पुद्गलानां कायस्थितिः 'पुग्गल' शब्दे वक्ष्यते)

कायट्ठिइकाल–कायस्थितिकाल–पु०। कायानां पृथिवीकायादीनामन्यनमस्मिन् मृत्वा मृत्वा तत्रैव भूयो भूयः स्थितिः,तस्याः कालः कायस्थितिकाल । कालभेदे, प०सू० ४ सूत्र ।

कायणिरोह–कायनिरोध–पु० । ऊर्द्धस्थानादिलक्षणे कायस्य निरोधे, प० व० २ द्वार । मनोवाक्कायानामकुशलानामकरणे कुशलानामपि निरोधे, आव० ४ अ० ।

कायतिगिच्छा–कायचिकित्सा–स्त्री० । ज्वरादिरोगग्रस्तशरीरस्य चिकित्सा रोगप्रतिक्रिया यत्राऽभिधीयते तत्कायचिकित्सैव । आयुर्वेदाङ्गे, तत्र हि मध्याङ्गसमाश्रितानां ज्वरातिसारादीनां शमनार्थं चिकित्साऽभिधीयते । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कायतिज्ज–कायतीर्य–त्रि० । कायतरणीये शरीरतरणयोग्ये, दश० ७ अ० ।

कायंदी–देशी–परिहासे, दे० ना० २ वर्ग ।

कायदंम–कायदण्ड–पु० । काय एव दण्डः कायदण्डः, कायेन वा दुष्प्रयुक्तेनात्मनो दण्ड । दण्डभेदे, स० १ सम० । " कायदंमो- कायेण असुभपरिणतो पमत्तो वा ज करेति सो कायदंडो, दिट्ठंतो- चंडरुद्दो आयरिओ उज्जेणिवाहिरगामातो अणुयाणपेक्खओ आगतो, सो य अतीव रोसणो, तत्थ य समोसरणे गणियाघरविहेडितो जातिकुलादिसंपण्णो इब्भदारओ सेहो उवट्ठितो । तत्थऽण्णेहिं असद्दहतेहिं चंडरुद्दस्स पासं पेसिओ-कलिणा कलिप्पसओ त्ति से तस्स उवट्ठितो । तेण से ताहे चेव लोयं काओ पव्वाइतो। पच्चूसे गामं वच्चताणं चंडरुद्दो पन्थरे आवडितो, रुट्ठो सेहं समएण मत्थए अभिहणति; कह ते पत्थरो न दिट्ठो त्ति ?। सेहो सम्म सहति, कालेण केवलणाणं चमरुद्दस्स चित्तं पासिता वेरग्गेण केवलणाणं अतो एतेहिं दमेहिं जो मे जाव दुक्करु " । आव० ४ अ० ।

कायदुक्कडा–कायदुष्कृता–स्त्री० । आसनगमनस्थानादिनिमित्तायामाशातनायाम् , ध० २ अधि० । आव० ।

कायदुप्पणिहाण–कायदुष्प्रणिधान–न० । कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ करचरणादीनां देहावयवानामनिभृतस्थापने,उक्तञ्च–"अनिरिक्खियऽप्पमज्जिय-थंडिल्ले ठाणमाइ सेवतो । हिंसाभावे वि न सो, कडसामइओ पमायाओ" ॥ १ ॥ आव० ६ अ० । अय च सामायिकस्यातिचारस्तृतीयः । ध० २ अधि० । प्रव० । उपा० ।

कायधुओ–देशी०–कामिञ्जुलाख्यपक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग।

कायपमज्जण–कायप्रमार्जन–न०। शरीरशोधने, "जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंत वा पमज्जंत वा साइज्जइ" ॥ १०७ ॥ नि० चू० १५ उ० ।

कायपरिया (या) रग–कायपरिचारक–पु० । परिचरन्ति सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारका , कायतः परिचारका कायपरिचारकाः "दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पण्णत्ता। त जहा-सोहम्मे चेव ईसाणे चेव"। स्था०२ ठा० ४ उ० । कायेन शरीरेण मनुष्यस्त्रीपुंसानामिव परिचारो मैथुनोपसेवन येषां ते कायपरिचारकाः । परिचारकदेवभेदे, ते हि परस्परोच्चावचमनःसकल्पमात्रेणैव कायपरिचारादनन्तगुण सुखमाप्नुवन्ति,तृप्ताश्च तावन्मात्रेणैवोपजायन्ते । प्रज्ञा० ३४ पद ।

कायपाइ (ए)–कायपातिन्–त्रि० । कायमात्रेणैव सावद्यक्रियाऽऽचारिणि, "कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम् । न चित्तपातिनस्ताव-देतदत्रापि युक्तिमत् ' ॥२७१॥ यो० बिं० ।

कायपाय–काचपात्र–न० । काचमये पात्रे, आचा० २ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

कायपिउच्छा–देशी–कोकिलायाम्, दे० ना० २ वर्ग।

कायपुण्ण–कायपुण्य–न० । कायेन पर्युपासनाद् यत्पुण्य तत्पुण्यम् । पुण्यभेदे, स्था० ९ ठा० ।

कायप्पओगपरिणत–कायप्रयोगपरिणत–त्रि० । औदारिकादिकाययोगेन गृहीते औदारिकादिवर्गणाद्रव्ये औदारिकादिकायतया परिणते, भ० ८ श० १ उ० ।

कायबंझ–कायवन्ध्य–पुं०।षट्त्रिंशत्तमे महाग्रहे,"दो कायबंझा" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कायवह–कायवध–पु० । वनस्पत्यादिवधे, "कूपोदाहरणादिह कायवधोऽपि गुणवान्" । षो० ६ विव० । जीवनिकायहिंसायाम्, पञ्चा० ४ विव० ।

कायभवत्थ–कायभवस्थ–पु० काये जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो जन्म स कायभवः, तत्र तिष्ठति यः स कायभवस्थः । मातुरुदरवर्तिनि जीवे, भ० २ श० ५ उ० ।

कायभाव–काचभाव–पु० । काचधर्मे, आव० ३ अ० ।

कायमत–कायवत्–त्रि० । कायो महाकायः प्रांशुत्व, तद् विद्यते येषां ते कायवन्तः । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

कायमणिया–काचमणिका–स्त्री० । काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः , कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः । अविमलकाचमणिषु, आव० ।

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उवेइ कायभावं, पाहन्नगुणेण निअएण ॥१॥

कुत्सितकाचमणय काचमणिका , तैरुप्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नोपैति न याति काचभाव काचधर्मं, प्राधान्यविमलगुणेन निजेनात्मीयेनः एव सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिः

सार्द्धं स वसन्नपि शीलगुणेनात्मीयेन न पार्श्वस्थादिभावमुपेत्यय भावार्थः । आव० ३ अ० ।

कायर-कातर-त्रि० । ईषत्तरति स्वकार्यसमाप्तिं गच्छति । तृ-अद् । कोः कादेशः। अधीरे, व्यसनाकुले च । वाच० । परीषहोपसर्गोपनिपाते सति । आचा० १श्रु०६ अ०४ उ०।हीनसत्त्वे, उत्त० २० अ० । विस्तावष्टम्भवर्जिते, ज्ञा० १ अ० । ग० । प्रश्न० । भीने, चिवशे, चञ्चले च । के जले आतरति मत्वते न तु विशेषतो मज्जति । उडुपे, मत्स्यभेदे च । स्त्रियां जातित्वाद् ङीप् । ऋषिभेदे, तत गोत्रे नडा० फक् कातरायण.। तद्गोत्रापत्ये,पु०। स्त्री० । भावे ष्यञ्। कातर्य्यव्याकुलतायाम, न०।"कातर्य्यं केवला नीतिः, शौर्य्यं श्वापदचेष्टितम् । " तल्-कातरता । स्त्री० । त्वे-कातरत्वम् । न० । तदर्थे, वाच० ।

कायरिय-कातारिक-पु० । आजीविकोपासकभेदे, भ० ८ श० ५ उ० ।

कायरिया-कातरिका-स्त्री० । मायायाम, "विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइ पीसणा " । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कायरो (दे)-देशी-प्रिये, दे० ना० २ वर्ग ।

कायवण-कायव्रण-पु० । शरीरशोथे,"दुविधो कायम्मि वणो, तदुब्भवागतुओ य णायव्वो ।"कायवणो दुविधो-तत्थेव काए उब्भवो जस्स सो य तब्भवो, आगतुएण सत्थादिणा कओ जो सो आगतुगो इमो, तस्य लेपो न कर्त्तव्य. । नि० चू० ३ उ० ।

जे भिक्खू दिया गोमयं पमिग्गाहेत्ता दिया गोमय कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपत वा विलिंपंत वा साइज्जइ ॥३९॥ जे भिक्खू दिया गोमय पमिग्गाहेत्ता रत्तिं कायसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंत वा विलिंपत वा साइज्जइ ॥४०॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पमिग्गाहेत्ता दिया कायसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपत वा विलिंपंत वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमय पमिग्गाहेत्ता रत्तिं कायसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

चउक्कभंगसुत्त उच्चारेयव्व । काय शरीर, वण क्षत, तेण गोमयेण आलिंपइ सकृत, विलिंपइ अनेकश , अपरिवासिते मास-लहु, परिवासिते चउभंगे चउलहु, तवकालविसिट्ठा आणादिया दोसा ।

ठियरातो गोमएणं, चउक्कभयणा तु जा वणे वुत्ता ।
एत्तो एगतरेण, मक्खेत्ताऽऽणादिणो दोसा ॥२१६॥

चउक्कभयणा चउभंगो तत्तियउद्देसए जा वणे वुत्तो इह पि सच्चेव।

तिव्वुप्पतिंत दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए ।
अदीणो अव्वहितो, तं दुक्खहि यासते सम्मं ॥२१७॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेउं वा ।
एतेहि कारणेहिं, जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥२१८॥

पूर्ववद् ।

गोमयगहणे इमा विही-

अभिणववोसट्ठाऽसति, इतरे उवयोग काउ गहणं तु ।
माहिस असती गव्व, अणातवत्थं च विसघाती॥२१९॥

वोसिरियमेत्त घेत्तव्व, त घहुण, तस्साऽसति इयर चिरकाल-वोसिरिय,न पि उवओग करेतु गहण, दिणसस्स पि माहिसं घेत्तव्व, माहिसाऽसति गव्व, त पि अणातवत्थ, छायायामित्यर्थः । त असुसिर विसघाती भवति,आयवत्थ पुण सुसिरयर, स ण गुणकारी ।

जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पमिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥ जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पमिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंत वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पमिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपत वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिगाहित्ता रत्तिं कायंसि वण आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

आलेवणजात आलेवणप्पगारा ।

ठियरातो लेवेणं, चउक्कभयणा उ जा वणे वुत्ता ।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेत्ताऽऽणादिणो दोसा ॥ २२० ॥
सो पुण लेवो चउहा, समणो पायी विरेग संरोही ।
वरुअल्लि तुवरमादी, अणाहारेण इह पगतं ॥२२१ ॥

वेदण जो उवसमेति, पाइणग करेति, विरेयणो पुव्व रुधिरं दोसे वा णिग्घाए अतिसारादी रोहवेति, आवइओ वरुअल्लिमादी तुवरा वेयणोवसमकारगा इह अणाहारिय परिसावेतस्स चउलहु ।

तिव्वुप्पतित दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए ।
अदीणो अव्वहितो, तं दुक्खहि यासए सम्मं ॥२२२॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेतु वा ।
एएहि कारणेहिं, कप्पति जयणाएँ मक्खेतुं ॥ २२३ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० १२ उ० ।

कायवर-काचवर-पु० । प्रधानकाचे, प्रश्न० ५ सम्व० द्वार ।

कायवायाम-कायव्यायाम-पु० । कायते इति काय· शरीर, तस्य व्यायामो व्यापार' कायव्यायामः । औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे, " एगे कायवायामे " कायव्यायाम औदारिकादिभेदेन सप्तप्रकारोऽपि जीवानन्तत्वेनानन्तभेदोऽपि वा एक एव कायव्यायामः सामान्यादिति ।

एगे कायवायामे देवासुरमणुयाणं तंसि तंसि समयंसि ।

कायव्यायाम काययोग , स चैषामेकदा एक एव , सप्तानां काययोगानामेकदा एकतरस्यैव भावात् । ननु यदाऽऽहारकप्रयोक्ता भवति तदौदारिकस्यावस्थितस्य शु-

यमाणत्वात् कथमेकदा न काययोगद्वयमिति ? । अत्रो-च्यते-सतोऽप्यौदारिकस्य व्यायामाभावादाहारकस्यैव च तत्र व्याप्रियमाणत्वादप्यौदारिकमपि व्याप्रियते तर्हि मिश्रयोगता भविष्यति, केवलिसमुद्घाते सप्तमषष्ठद्वितीयसमयेष्वौदारिकमिश्रवत्, तथा चाहारकप्रयोक्ता न लभ्येत, एवं च सप्तविधकाययोगप्रतिपादनमनर्थकं स्यादित्येक एव कायव्यायाम इति, एवं कृतवैक्रियशरीरस्य चक्रवर्त्यादेरप्यौदारिकं निर्व्यापारमेव। व्यापारवत्त्वाद्वेत्, उभयस्य व्यापारवत्त्वे केवलिसमुद्घातवन्मिश्रयोगतेत्येवमप्येकयोगत्वमव्याहतमेवेति । तथा काययोगस्याप्यौदारिकतया वैक्रियतया च क्रमेण व्याप्रियमाणत्वे आशुवृत्तितया मनोयोगवद् यदि यौगपद्यभ्रान्तिः स्यात्तदा को दोषइति?। एवं च काययौगिकत्वे सत्यौदारिकादिकाययोगाहृतमनोद्रव्यवाग्द्रव्यसाचिव्यजातजीवव्यापाररूपत्वान्मनोयोगवाग्योगयोरेककाययोगपूर्वकतयाऽपि प्रागुक्तमेकत्वमवसेयामिति। अथ चेदमेव वचनमात्रं प्रमाणम्, आज्ञाग्राह्यत्वादस्य। यतः-"आणागज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो । दिट्ठंतादिट्ठंतिय, कहणविहिविराहणा इयरा" ॥१॥ इति। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकः, अर्थ इत्यर्थः। ननु सामान्याश्रयैकत्वेनैव सूत्रगमकं भविष्यतीति किमनेन विशेषव्याख्यानेनेति?। उच्यते-नैवम्, सामान्यैकत्वेऽस्य पूर्वसूत्रैरेवाभिहितत्वादस्य पुनरुक्तत्वप्रसङ्गाद्देवादिग्रहणसमयग्रहणयोश्च वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्चेति। इह च देवादिग्रहणं विशिष्टवैक्रियलब्धिसम्पन्नतयैषामनेकशरीररचने सत्येकदा मनोयोगादीनामनेकत्वं शरीरवद्भविष्यतीति प्रतिपत्तिनिरासार्थं न तु तिर्यङ्नारकाणां व्यवच्छेदार्थम्। ननु तिर्यङ्नारका अपि वैक्रियलब्धिमन्तः, तेषामपि विक्रियायां शरीरानेकत्वेन मनःप्रभृतीनामनेकत्वप्रतिपत्तिः सम्भाव्यत एवेति तद्ग्रहणमपि न्याय्यमिति?। सत्यम्। किंतु देवादीनां विशिष्टतरलब्धितया शरीराणामत्यन्तानेकतेति तद्ग्रहणम्, तथा प्रधानग्रहणे इतरग्रहणं भवतीति न्यायाददोषः। नारकादिभ्यश्च देवादीनां प्रधानत्वं प्रतीतमेवेति । एतेषां च मनःप्रभृतीनां यथा प्राधान्यकृतः क्रमः; प्रधानत्वं च बह्वल्पाल्पतरकर्मक्षयोपशमप्रभवलाभकृतमिति । स्था० १ ठा० १ उ० ।

कायविणय–कायविनय–पुं० । कायस्य विनयार्हे कुशलप्रवृत्तौ, स्था० ७ ठा० ।

कायवीरिय–कायवीर्य–न०। औरस्ये बले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । ('वीरिय' शब्देऽस्य विवृतिः)

कायव्व–कर्तव्य–त्रि० । विधेये, पञ्चा० ६ विव० । प्रव० । सू०। नि० चू० । आचा० ।

कायसंकिलेस–कायसंक्लेश–पुं० । कायः शरीरं, तस्य संक्लेशः शास्त्राविरोधेन बाधनम्। अत्र तु तनोरचेतनत्वेऽपि शरीरशरीरिणोः कथञ्चिदभेदात् कायक्लेशोऽपि सम्भवत्येव। विशिष्टासनकरणेनाप्रतिकर्मशरीरत्वकेशोल्लुञ्चनादिना च देहस्यौचित्येन विबाधने बाह्यतपसि, ध० १ अधि० । अयं च स्वकृतक्लेशानुभवरूपः, परीषहास्तु स्वपरकृतक्लेशरूपाः, इति कायक्लेशस्य परीषहेभ्यो भेदः । ध० ३ अधि० ।

कायसंपया–कायसंपत्–स्त्री० ।"रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पद्" इति पतञ्जल्युक्ते उत्तमरूपादौ, द्वा० २६ द्वा० ।

कायसमय–कायसमय–पुं०। जीवेन कायस्य कायताकरणे, भ० १३ श० ७ उ० ।

कायसमयविइक्कंत–कायसमयव्यतिक्रान्त–त्रि० । जीवेन कायस्य कायताकरणलक्षणं समयं व्यतिक्रान्ते, "कायसमयविइक्कंते वि काए" कायसमयव्यतिक्रान्तोऽपि काय एव, मृतकलेवरवत् । भ० १३ श० ७ उ० ।

कायसमाहारणया–कायसमाधारणता–स्त्री० । संयमयोगेषु देहस्य सम्यग्व्यवस्थापनायाम्, उत्त० ।

तत्फलम्-

कायसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। कायसमाहारणयाए णं जीवे चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि केवलकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ५८ ॥

हे भगवन् ! कायसमाधारणया जीवः किं जनयति? । कायस्य समाधारणा संयमयोगेषु देहस्य सम्यग्व्यवस्थापना कायसमाधारणा, तया, जीवः किं फलमुत्पादयति? । तदा गुरुराह-हे शिष्य ! कायसमाधारणया चारित्रपर्यवान् चारित्रभेदान् क्षायोपशमिकान् विशोधयति, चारित्रपर्यवान् विशोध्य यथाख्यातचारित्रं विशोधयति, यथाख्यातचारित्रं निर्मलं कुरुते । ननु यथाख्यातचारित्रमविद्यमानं कथं निर्मलं भवति ?। अत्रोत्तरम् । यथाख्यातचारित्रं सर्वथा अविद्यमानं नास्ति, अविद्यमानस्य निर्मलत्वासम्भवात्, तस्माद् यथाख्यातचारित्रं पूर्वमस्ति, परं चारित्रमोहनीयेन मलिनमस्ति, तदेव यथाख्यातचारित्रं चारित्रमोहोदयनिर्जरेण निर्मलीकुरुते. यथाख्यातचारित्रं विशोध्य च केवलसत्कर्मांशान् चत्वारि विद्यमानकर्माणि भवघातीयानि वेदनीयायुर्नामगोत्रलक्षणानि क्षपयति, ततः सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वापयति, सर्वदुःखानामन्तं करोति। उत्त० २९ अ० ।

कायसमिइ–कायसमिति–स्त्री०। कायस्य स्थानादिसमितौ, स्था० ८ ठा० ।

कायसुहया–कायसुखता–स्त्री० । काये सुखं यस्यासौ कायसुखस्तद्भावः कायसुखता । सुखिते काये, प्रज्ञा० २३ पद ।

कायाग–कायाक–पुं० । वेषपरावर्तकारिणि नटविशेषे, बृ० ४ उ० ।

कायाणुवाय–कायानुपात–पुं० । पृथिव्यादीनां यत्कायं शरीरं तस्यानुपातो विनाशः । पृथिव्यादीनां द्वीन्द्रियादीनां च कायानामुपपाते, नि० चू० १२ उ० ।

कारं–देशी–कटुकाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कार–कार–पुं० । कृ कृतौ घञ् । क्रियायां, यत्ने च । वाच० । करणे, आतु० । प्रव० । करणे घञ् । बले, कस्य सुखस्य आरः प्राप्तिर्यत्र । रतौ, कृ हिंसायाम् भावे घञ् । वधे, धातूनामनेकार्थत्वात् निश्चये, कर्मणि घञ् । पूजोपहारे बलौ, कं सुखमृच्छत्यनेन, ऋ करणे घञ् । पत्यौ, कं सुखं निर्वृतिमृच्छति अयं, कं जलं निष्यन्दजमृच्छति अण् । यतित्वे चतुर्थाश्रमे, कं जलं निष्यन्दजमृच्छति अण् । हिमाचले, कर्मण्युपपदे कृ अण्, स्वर्णकार कुम्भकार इत्यादौ तत्तत्कर्मकारके, त्रि० । स्त्रियां टाप् । वाच० । "सघमज्झे कारे" कारशब्दोऽत्र रूपमात्रे सङ्घमध्ये

व्यवहर्त्तव्यः । व्य० ३ उ० । " वर्णात्कारः " इति वर्णवाचकात्कारप्रत्ययः । " सायंकारे त्ति " सायमिति निपातः सत्यार्थः, तस्माद् वर्णात्कार इत्यनेन छान्दसत्वात्कारप्रत्ययः, करण वा कारः, ततः सायकार इति । स्था० १० ठा० ।

कारंकमो-देशी-परुषे, दे० ना० २ वर्ग ।

कारंडव-कारण्डव-पुं० । स्त्री० । रम ड । रुस्य नेत्वम्, रणरु । ईषद् रणरुः कारण्डः, त वाति, करण्डस्येदं कारण्डं तदाकारं वाति वा । हसभेदे, वाच० । ज्ञा० । औ० । जी० ।

कारग-कारक-त्रि० । कृ-एवुल् । अनुष्ठातरि, उत्त० १ अ० ।

अस्य निक्षेपः षोढा-

दव्वे खित्ते काले, भावेण उ कारओ जीवो ॥४॥ सूत्र०नि० ।

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य द्रव्यादिकं दर्शयति-(दव्वे इति) द्रव्यविषये कारकश्चिन्त्यः । स च द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः । तथा-क्षेत्रे भरतादौ यः कारको यस्मिन् वा क्षेत्रे कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः । एवं कालेऽपि योज्यम् । भावेन तु भावद्वारेण चिन्त्यमानोऽत्र कारको यस्मात्सूत्रस्य गणधरः कारकः । एतच्च सूत्रकृदेवोत्तरत्र वक्ष्यति 'ठिइअणुभावेत्यादौ' ॥ ४ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । करोति कर्तृत्वादव्यपदेशान्, कृ एवुल्, कर्तृत्वादिसङ्गाप्रयोजके कर्मणि, क्रियायां, 'कारके' पाणिनिसूत्रम्, कर्तृत्वादिव्यपदेशकारिण्यां क्रियायामित्यर्थः । करोति क्रियां निष्पादयति, कृ एवुल् । क्रियानिष्पादकेषु कर्तृकर्मादिषु कारकसङ्ज्ञान्वितेषु, तेषां च क्रियायामेवान्वयः । कारकत्वं नाम-क्रियाजनकशक्तिमत्त्वम्, करोति क्रियां निर्वर्तयतीति महाभाष्ये व्युत्पादनात्, साधकं क्रियानिष्पादकं भवतीति वार्त्तिकोक्तेश्च । द्रव्यस्य तथात्वाभावेऽपि शक्त्याऽऽविष्टस्यैव तस्य तथात्वम् । ततश्चान्वयव्यतिरेकसत्त्वाच्छक्तिरेव कारकमिति मतान्तरम् । तदुक्तं हरिणा-" स्वाश्रये समवेतानां, तद्वदेवाश्रयान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तौ, सामर्थ्यं साधनं विदुरिति " । शक्तिशक्तिमतोरभेदाद् द्रव्यं कारकमिति व्यवहार इति । वाच० । तानि च कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणरूपाणि षट् । "आत्मन्येवात्मनः कुर्य्यात्, यः षट्कारकसङ्गतिम् । क्वाविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जडमज्जनात्?" ॥१॥ विशे० । अष्ट० । [एषां परस्परं स्याद्वादमुद्रया सवेधः 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते] "गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षासु च निःस्वनो मेघः । नीचो वदति न कुरुते, न वदति साधुः करोत्येव" ॥१॥ कल्प० ५ क्षण । "कारण ति वा कारग ति वा साहारण ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० । तुमर्थे एवुल् कर्तुमित्यर्थे, तद्योगे कर्मणि न षष्ठी, अतो घटं कारको व्रजत्येव प्रयोगः । करकायां इदं तत्र भवं वा अण् । करकासम्बन्धिनि तन्निष्यन्दिजले, न० । अप्सु, स्त्री० । ङीप् । वाच० । कारयति सदनुष्ठानमिति कारकम् । विशे० । सूत्राज्ञाशुद्धायां क्रियायाम्, तस्या एव परगतसम्यक्त्वोत्पादकत्वेन सम्यक्त्वरूपत्वात् । तदवच्छिन्ने वा सम्यक्त्वभेदे, ध० २ अधि० । यस्मिन् सम्यक्त्वे सति सदनुष्ठानं श्रद्धत्ते सम्यक् करोति च । विशे० । एतच्च साधूनां विशुद्धचारित्रिणामेव । ध० २ अधि० । आ० । दर्श० ।

कारगसुत्त-कारकसूत्र-न० । विस्तरेणाधिकृतार्थप्रसिद्धिकारके सूत्रभेदे, वृ० १ उ० । ('सुत्त' शब्देऽस्य विवृतिः)

कारण-कारण-न० । कारयति क्रियानिर्वर्त्तनाय प्रवर्त्तनाय प्रवर्त्तयति कृ-णिच्-ल्युट् । क्रियानिष्पादके, वाच० । हेतौ, हेतुर्निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम् । विशे० । आ० म० । "अत्थो त्ति वा हेउ त्ति वा कारण त्ति वा एगट्ठा " । नि० चू० २० उ० । आ० चू० । सथा० ।

निक्षेपः-

निक्खेवो कारणम्मी, चउव्विहो दुविहु होइ दव्वम्मि ।
तद्दन्नमन्नदव्वे, अहवा वि निमित्तनेमित्ती ॥२०६८॥

समवाइ असमवाई, छव्विह कत्ता य करण कम्मं च ।
तत्तो य संपयाणा-पयाण तह संनिहाणे य ॥२०६९॥

इह करोति कार्यमिति कारणम्, तस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधो निक्षेपो न्यासः । तत्र नामस्थापने सुज्ञाने । द्रव्यकारणं तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह-(दुविहु इत्यादि) व्यतिरिक्तद्रव्यकारणविषयो निक्षेपो द्विविधः । कथम्?, (तद्दव्वमन्नदव्वे त्ति) तद्द्रव्यकारणम्, अन्यद्रव्यकारणं चेत्यर्थः । तस्यैव जन्यस्य पटादेः सजातीयत्वेन सबन्धि द्रव्यं तन्त्वादि तद्द्रव्यम्, तच्च तत्कारणं च तद्द्रव्यकारणम्, तथा-यत्तद्विपरीतं तदन्यद्रव्यकारणं जन्यपटादिविजातीयं वेमादीत्यर्थः । तद्द्रव्यकारणत्वे कार्यकारणयोरेकत्वमिति प्रेर्यस्य परिहारं वक्ष्यति भाष्यकारः । अथ वा-अन्यथाव्यतिरिक्तकारणस्यैव द्वैविध्यम्-निमित्तकारणं, नैमित्तिककारणं चेति । तत्र कार्यात्मनः आसन्नभावेन जनकं निमित्तम्, यथा पटस्यैव तन्तवः, तद्व्यतिरेकेण पटस्यानुत्पत्तेः । तच्च तत्कारणं च निमित्तकारणम्, यथा च तन्तुभिर्विना पटो न भवति तथा तद्गताऽऽतानवितानादिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवत्येव । तस्याश्च तच्चेष्टाया वेमादि कारणम्, अतो निमित्तस्येदं नैमित्तिकमिति ॥२०६८॥ अथवा-अन्यथाव्यतिरिक्तकारणस्य द्वैविध्यमित्याह-(समवायीत्यादि) 'सम्' एकीभावे, अवशब्दोऽपृथक्त्वे, अय गतौ, इण् गतौ वा । ततश्चैकीभावेनापृथग्गमनं समवायः सम्श्लेषः, स विद्यते येषां ते समवायिनस्तन्तवः, यस्मात्तेषु पटः समवैतीति, समवायिनश्च ते कारणं च समवायिकारणम् । तन्तुसंयोगास्तु कारणरूपद्रव्यान्तरधर्मत्वेन पटाख्यकार्यद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम् । आह-ननु तद्द्रव्यादिप्रकारत्रयेऽपि यथोक्तन्यायेनार्थस्याभेद एव, इति किं भेदेनोपन्यासः ?। सत्यम्, किं तु तन्त्रान्तराभ्युपगतसङ्ज्ञान्तरप्रदर्शनपरत्वाददोषः । अथवा-व्यतिरिक्तं द्रव्यकारणम् (छव्विह त्ति) अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात् षड्विधं षट्प्रकारम् । कथम्?, कर्त्ता कुलालस्तत्तस्तावत्कार्यस्य घटादेः कारणम्, तस्य तत्र स्वातन्त्र्येण व्यापारात् । तथा करणं च मृत्पिण्डदण्डसूत्रादिकं घटस्य करणं, साधकतमत्वात् । तथा क्रियते निर्वर्त्यते यत्तत्कर्म घटलक्षणं तदपि कारणम् । आह-ननु कथमात्मैवात्मनः कारणम्, अलब्धात्मलाभस्य तस्य कारणत्वानुपपत्तेः ?। सत्यम्, कुलालादिकारणव्यापृतिक्रियाविषयत्वादुपचारतस्तस्य कारणत्वम् । उक्तं च-"निर्वर्त्यं वा विकार्यं वा, प्राप्यं वा यत् क्रियाफलम् । तद् दृष्टादृष्टसंस्कारं, कर्म कर्त्तुर्यदीप्सितम्" ॥ १ ॥ तदेव क्रियाफलत्वेन कार्यस्यापि कारणत्वम्, अन्यथा कुलालादिक्रियावैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । मुख्यवृत्त्या वाऽसौ कार्यगुणेन कारणत्वम् । तथा सम्यक् सत्कृत्य वा प्रयत्नेन दानं यस्मै तत्सम्प्रदानम्-घटग्राहकदेवादत्तादि । तदपि घटस्य कारणम्, तदुद्देशेनैव घटस्य निष्पत्तेः,

तदभावे तन्निष्पत्त्ययोगादिति। [अवयाण त्ति] 'दो अवखण्डने' दान खण्डनम्,अपखण्ड्य आमर्यादया दान खण्डन नियोजन मृत्पिण्डादेर्यस्मात् तद् मृत्पिण्डापायेऽपि ध्रुवत्वाद्भूमिलक्षणमपादानम्। तदपि कार्यस्य घटस्य कारणम्, तदन्तरेणाऽपि तस्यानुत्पत्ते । तथा-सन्निधीयते स्थाप्यते कार्यं यत्र तत्सनिधानमाधार, अधिकरणमित्यर्थ । तदपि कार्यस्य घटस्य कारणम्, आधारतया तस्यापि तत्रोपयोगात्। तच्च घटस्य चक्रम्,तस्यापि भूमिः, तस्याप्याकाशमिति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥२०६६॥

अथैतद्व्याचिख्यासुर्भाष्यकार' प्राह-

तद्दव्वकारणं तं-तवो पडस्सेह जेण तम्मयया ।
विवरीयमन्नकारण-मिठं वेमादओ तस्स ॥२१००॥

यदात्मक कार्यं दृश्यते तदिह तद्द्रव्यकारणम्-तस्य कार्यद्रव्यस्य सजातीयत्वेन सबन्धि कारण तद्द्रव्यकारणमित्यर्थः। यथा पटस्य तन्तव , येन तन्मयता तन्त्वात्मकता पटस्य । उक्तविपरीत तु यत्तदात्मक कार्यं न भवति तदन्यद् द्रव्यकारणमिष्टम्, यथा तस्यैव पटस्य वेमादय इति ॥ २१०० ॥

अत्र पर· प्रेरयन्नाह-

जइ तं तस्सेव मयं, हेऊ नणु कज्जकारणेगत्तं ।
न य तं जुत्तं ताइं, जओऽभिहाणाइभिन्नाइं ॥२१०१॥

ननु यदि तत् तस्यैव पटस्य संबन्धि तन्तुद्रव्य तस्यैव च पटस्य हेतु· कारण मत समतम्,तन्ननु कार्यकारणयोरेकत्व प्राप्नोति।ततश्च न तन्तुपटयोः कार्यकारणभाव·,एकत्वात्पटस्वरूपवदिति परस्याभिप्राय·। न च तत्कार्यकारणयोरेकत्व युक्तम्, यतस्ते कार्यकारणे अभिधानादिना भिन्ने वर्त्तेते, आदिशब्दात्सख्यालक्षणकार्यपरिग्रह'। तथाहि-पट , तन्तव इत्यभिधानभेद·। एक· पट', बहवस्तन्तव इति सख्याभेदः। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षण स्वरूपम्; तच्चान्यादृश पटस्य, अन्यादृश च तन्तूनामिति लक्षणभेदः। शीतत्राणादिकार्य' पट', बन्धनादिकार्यश्च तन्तव इति कार्यभेद·। ततश्च भिन्ने पटतन्तुलक्षणे कार्यकारणे, अभिधानादिभेदाद्,घटपटादिवदिति। तथा-च सति भवदभिप्रायेण यत्तयोरेकत्वमापतत्ति, तदयुक्तमेवेति ॥ २१०१ ॥

अत्रोत्तरमाह-

तुल्लोयमुवालंभो, भेए वि न तंतवो घडस्सेव ।
कारणमेगंते वि य,जओभिहाणादओ भिन्ना ॥२१०२॥

यस्तन्तुपटयोरभेदपक्षे कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गलक्षण उपालम्भस्तव चेतसि वर्तते, स भेदेऽपि भेदपक्षेऽपि तुल्य· समान एव वर्तते। तथाहि-न तन्तव· पटस्य कारण, भिन्नत्वाद्, घटस्येवेति। किं च-एत एकत्वेऽपि वस्तूनामभिधानादयो भिन्ना दृश्यन्त एव; ततोऽनैकान्तिको हेतुरिति शेष· । तथाहि-घटस्य रूपादीनां चैकत्व लोके प्रतीतम्,अथवाऽभिधानादयो भिन्ना एव। तद्यथा-घट , रूपादय इत्यभिधानभेदः। एको घट ,बहवो रूपादय इति सख्याभेद·। पृथुबुध्नोदराद्याकारलक्षणो घट , रक्तत्वादिलक्षणा रूपादय इति लक्षणभेद । जलाहरणादिक्रियाकारको घट ,रक्षाविधानादिहेतवश्च रूपादय इति कार्यभेद·। ततोऽभिधानादिभेदाद्भेद इत्यनैकान्तिको हेतु , यत एतदपि शक्यते वक्तुम्-अभिन्ने पटतन्त्वादिलक्षणे, कार्यकारणे अभिधानादिभेदाद्, घटरूपादिवदिति ॥ २१०२ ॥

आह-यद्येकत्ववद्भेदेऽपि कार्यकारणयोस्तुल्य उपालम्भः,तर्हि कथ नाम लोकप्रसिद्धस्तन्तुपटादीनां कार्यकारणभावः सिद्ध्यति?, इति भवन्त एव कथयन्त्वित्याह-

जं कज्जकारणाइं, पज्जाया वत्थुणो जओ ते य ।
अन्नेऽणन्नेण मया, तो कारणकज्जभयणेयं ॥२१०३॥

यद्यस्माद् घटमृत्पिण्डादिलक्षणे कार्यकारणे वस्तुन· पृथिव्यादेः पर्यायौ वर्तेते, तौ च घटमृत्पिण्डलक्षणौ पृथ्वीपर्यायौ परस्पर यतो यस्मादन्यावनन्यौ च मतौ। तत्र सख्यासंज्ञालक्षणादिभेदादन्यत्वं,मृदादिरूपतया सत्त्वप्रमेयत्वादिभिश्चानन्यत्वम्। तस्मात्कार्यकारणयोरियमन्यानन्यत्वलक्षणा भजना द्रष्टव्या । ततश्च कथञ्चित्तयोः परस्पर भेद, कथञ्चित्त्वभेद कार्यकारणभाव इति-भावार्थः ॥ २१०३ ॥

एतदेवाह-

नत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडो त्ति जं तेण जुज्जइ अणन्नो ।
जं पुण घडो त्ति पुव्वं,न आसि पुढवी तओ अन्नो ॥२१०४॥

पृथिव्या मृत्तिकाया विशिष्टो व्यतिरिक्तो तन्मयो घटो नास्ति न दृश्यते यद्यस्मात्,तेन तस्माद्युज्यते अनन्यो मृत्तिकातोऽभिन्नः। यत् पुनर्घट इति व्यञ्जन रूपेण पूर्वं घटनिष्पत्तेः प्राग् नासीन्नाभूत्किं तु पृथिवी मृत्तिकैवासीत्,अन्यथा सर्वथैकत्वे पृथिवीकालेऽपि घटो दृश्येतेति भाव'। ततस्तस्मात् ज्ञायते पृथिवीतोऽन्यो घट इति। एवं यथा मृद्घटयोरन्यानन्यत्वमेव,एव सर्वत्र कार्यकारणयोस्तद्भावनीयमिति ॥ २१०४ ॥

"अहवा वि निमित्तनेमित्ती" इत्येतद्व्याचिख्यासुराह-

जह तंतवो निमित्तं, पडस्स वेमादओ तहा तेसिं ।
जं चेट्ठाइ निमित्त, तो ते पडयस्स नेमित्तं ॥२१०५॥

यथा तन्तवः पटस्य निमित्तं कारण, तथा तेनैव प्रकारेण यस्मात्तेषां तन्तूनामातानवितानादि चेष्टाया निमित्त वेमादयस्ततस्ते निमित्तस्येद नैमित्तिकं कारण पटस्य भवतीति ॥ २१०५ ॥

समवायी असमवायीत्येतद्विवरणायाऽऽह-

समवाइकारणं तं-तओ पडे जेण ते समवयंति ।
न समेइ जओ कज्जे, वेमाइ तओ असमवाई ॥२१०६॥

समवायिकारण तन्तव· पटस्य,येन ते समवयन्ति पटे, येन पटस्तेषु समवेतः समुत्पद्यत इतीह तात्पर्यम्। इह तन्तुषु पट इत्येव वैशेषिकैरभ्युपगमात्। वेमादि पुनः पटाख्ये कार्ये न समवैति न संश्लिष्यते, ततोऽसमवायि कारण तदिति ॥ २१०६ ॥

वैशेषिकसिद्धान्तेऽपि मतभेदमुपदर्शयन्नाह—

वेमादओ निमित्त, संजोगा असमवाइ केसिं चि ।
ते जेण तंतुधम्मा, पडो य दव्वतरं जेण ॥२१०७॥
दव्वंतरधम्मस्स य, न जओ दव्वंतरम्मि समवाओ।
समवायम्मि य पावइ, कारणकज्जे गया जम्हा ॥२१०८॥

इह केषां चिद्वैशेषिकविशेषाणां मतेन वेमादय ,आदिशब्दात्सजातीयाऽतज्जातीयतुरीदिकादयश्च पटस्य निमित्त निमित्तकारणम् न त्वसमवायिकारणम्,तन्तुसंयोगमात्रनिमित्तत्वेन तत्कारणम् न त्वसमवायिकारणम्,तन्तुसंयोगमात्रनिमित्तत्वेन त-

र्थः, तन्तुलक्षणकारणाश्रितत्वात् । तथा चाह–ते तन्तुसंयोगा येन कारणेन तन्तुधर्म्माः, अतो निमित्तकारणं न भवति, तद्विलक्षणरूपत्वात् । भवन्तु तर्हि समवायिकारणम्, तन्तुवत्तेषामपि पटे समवेतत्वात् । नैवम् । यतस्तत्तुद्रव्यात् द्रव्यान्तरं पटः, तस्माच्च द्रव्यान्तरं तन्तवः, द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरमिति सिद्धान्तादिति । ततः किम् ?, इत्याह–द्रव्यान्तरधर्मस्य च यतो न द्रव्यान्तरे समवायः, शीतादीनामिव हुतभुजि, यस्मात्तन्तुधर्माणां तत्संयोगानां पटे द्रव्यान्तरे समवाये इष्यमाणे पटतन्तुलक्षणयोः कार्यकारणयोरेकता प्राप्नोति; इतरेतरगुणसमवायात् । ततश्च यथा पटधर्माः शुक्लादयः पटे समवेतत्वात्तद्व्यतिरिक्ताः सन्तो न पटस्य कारणम्, एवं तन्तुसंयोगा अपि न तत्कारणं स्युः, एकत्वे कार्यकारणभावायोगादिति । तदेवं वैशेषिका कार्यकारणयोरेकत्वं कथमपि नेच्छन्ति ॥ २१०७ ॥ २१०८ ॥

आचार्यस्तु जैनत्वात्स्याद्वादितया कारणात्कार्यं भिन्नमभिन्नं च पश्यन्नाह–

जह तंतूणं धम्मा, संयोगा तह पमो वि सगुणा व्व ।
समवायाइत्तणओ, दव्वस्स गुणादओ चेवं ॥२१०९॥
अभिहाणबुद्धिलक्खण–भिन्ना वि जहा सदत्थओऽणन्ने ।
दिक्कालाइविसेसा, तह दव्वाओ गुणाईआ ॥२११०॥
उवयारमेत्तभिन्ना, ते चेव जहा तहा गुणाईआ ।
तह कज्जं कारणओ, भिन्नमभिन्नं च को दोसो ? ॥२१११॥

ननु यथा तन्तूनां धर्मा वर्तन्ते, के ?, तत्संयोगादयः, तथा पटोऽपि तन्तूनां धर्म एव । यथा तेषामेव तन्तूनां स्वगुणाः शुक्लादयः तद्धर्मः । कुतः ?, समवायादित्वात् । इह यो यत्र समवेतः स तस्य धर्म एव, यथा तन्तूनां स्वगुणा शुक्लादयस्तद्धर्म्माः, समवेतश्च तन्तुषु पटः । तस्मात्तद्धर्मः पटः । यथा च तन्तूनां धर्मः पटः, एवं द्रव्यस्य गुणादयोऽपि, गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अपि धर्मा इत्यर्थः । यदि नाम तन्तूनां धर्मः पटः, द्रव्यस्य वा गुणादयो धर्माः, तथापि प्रस्तुते कारणात्कार्यस्य भेदाभेदे किमायातम् ?, इत्याह–(अभिहाणेत्यादि) यथा दिक्कालात्मादयो विशेषा अभिधानबुद्धिलक्षणादिभिर्भिन्ना अपि, सच्चासावर्थश्च सदर्थः, सत्ता–सामान्यमित्यर्थः । तस्मात्सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिभिरनन्ये अभिन्नाः । तथा तेनैव प्रकारेण द्रव्याद् गुणकर्मसामान्यसमवायादयोऽनन्ये अभेदवन्तः । इदमुक्तं भवति–दिक्कालादीनामन्यदभिधानम्, अन्यच्च सामान्यस्य, अन्यादृशी दिगादिषु बुद्धिः, अन्यादृशी च सत्ता–सामान्ये, अन्यत् दिगादीनां लक्षणं स्वरूपम्; अन्यादृशं च सत्तासामान्यस्य, इत्येवमभिधानादिवैलक्षण्याद्यथा भिन्ना अपि दिक्कालादयः सत्तासामान्यात्सत्त्वज्ञेयत्वादिभिरभिन्नाः, तथा द्रव्यादपि तन्त्वादिशुक्लगुणादयोऽभिधानादिभिर्भिन्ना अपि सत्त्वज्ञेयत्वादिभिरभिन्ना इति । यद्यभिन्नास्तर्हि भेदः कथमित्याह–(उवयारेत्यादि) ते चैव दिगादयो यथोपचारमात्रतः सत्तासामान्याद्भिन्नास्तथा गुणादयोऽपि द्रव्याद् भिन्नाः । इदमुक्तं भवति–यथा सत्तासामान्यादभिन्नेष्वपि दिगादिष्वभिधानादिभेदाद्भेद उपचर्यते, एवं द्रव्याद् गुणादीनामपि । तथाहि–प्रभातसमये मन्दमन्दप्रकाशे अविरलपत्रनिचितनगशाखानिलीनबलाकायाः पत्रविवरेण केनापि किंचिच्छुक्लमुपलभ्यत इत्येवं शुक्लतरं निश्चीयते, न तु बलाका । एतच्च गुणगुणिनोः कथंचिद्भेदमन्तरेण नोपपद्यते, एकान्ताभेदे गुणग्रहणे गुणिनोऽवश्यं ग्रहणप्रसङ्गात् । तस्माद् द्रव्याद्गुणादीनां कथञ्चिद्भेदः, कथञ्चित्त्वभेद इति । तथा तेनैवोक्तप्रकारेण कारणात्कार्यमभिधानादिभेदाद् भिन्नं, सत्त्वज्ञेयत्वादिभिस्त्वभिन्नं यदि स्यात्तर्हि को दोषः ?, येन वैशेषिकादयो भेद एव कार्यकारणभावमिच्छन्तीति ? । ॥ २१११ ॥

अथ षण्णां व्यतिरिक्तकारणं व्याचिख्यासुराह–

कारणमहवा छद्धा, तत्थ सतंतो त्ति कारण कत्ता ।
कज्जस्स साहगतमं, करणम्मि उ पिंड–दंडाई ॥२११२॥
कम्म किरिया कारण–मिह निव्वित्तो जओ न साहेइ ।
अहवा कम्मं कुंभो, स कारणं बुध्दिहेउ त्ति ॥२११३॥
भन्नोत्ति व जोगो त्ति व, सको त्ति व सो सरूवलाभस्स ।
कारणसन्निज्झम्मि वि, जन्नागा सत्थमारंभो ॥२११४॥
वज्झनिमित्तावेक्खं, कज्जं वि य कज्जमाणकालम्मि ।
होइ सकारणमिहरा, विवज्जया भावया होज्जा ॥२११५॥
देओ स जस्स तं सं–पयाणमिह तं पि कारणं तस्स ।
होइ तदत्थित्ताओ, न कीरए तं विणा जं सो ॥२११६॥
भूपिंमावायाओ, पिंडो वा सकारादवायाओ ।
चक्कमहावाओ वा–ऽऽपादाण कारण तं पि ॥२११७॥
वसुहाऽऽगासं चक्क, सरूवमिच्चाइ सन्निहाणं ज ।
कुंभस्स तं पि कारण–मभावओ तस्स जदसिध्दी २११८॥

सम्रापि प्रायो व्याख्यातार्था, नवरं क्रियते कर्त्रा निर्वर्त्यते इति व्युत्पत्तेः कर्म भण्यते । काऽसौ क्रिया कुम्भं प्रति ?, कर्तृव्यापाररूपा । सा च कुम्भलक्षणकार्यस्य कारणमिति प्रतीतमेव । आह–ननु कुलाल एव कुम्भं कुर्वन्नुपलभ्यते, क्रिया तु न काचिद् कुम्भकरणे व्याप्रियमाणा दृश्यत इत्याह–इह निश्चेष्टः कुलालोऽपि यस्मान्न घटं साधयति निष्पादयति, या च तस्य चेष्टा सा क्रिया; इति कथं न तस्याः कुम्भकारणत्वमिति ? । अथ वा–कर्तुरीप्सिततमत्वात्क्रियमाणः कुम्भ एव कर्म, नहिं कार्यमेवेदम्, अतः कथमस्य कारणत्वम् ? । न हि सुतीक्ष्णमपि सूच्यग्रमात्मानमेव विध्यति । ततः कार्यं निर्वर्त्यस्यात्मन एव कारणमित्यनुपपन्नमेव, इत्याह–(सकारणं बुद्धिहेउ त्ति) स कुम्भः कारणं हेतुः कुम्भस्य । कुतः ?, प्रस्तावात् कुम्भबुद्धिहेतुत्वात् । इदमुक्तं भवति–सर्वोऽपि बुद्धौ सकल्प्य कुम्भादिकार्यं करोतीति व्यवहारः, ततो बुद्ध्याऽध्यवसितस्य कुम्भस्य चिकीर्षितो मृन्मयकुम्भस्तद्बुद्ध्यालम्बनतया कारणं भवत्येव । न च वक्तव्यम्–अप्यन्नत्वादसन्नसौ तद्बुद्धेरपि कथमालम्बनं स्यादिति ?, द्रव्यरूपतया तस्य सर्वदा सत्त्वादिति । ननु य एवेह मृण्मयकार्यरूपो घटस्तस्यैव कारणत्वं चिन्त्यत इति प्रस्तुतम्, बुद्ध्याध्यवसितस्तु तस्मादन्य एव, इति तत्कारणत्वाभिधानमप्रस्तुतमेव । सत्यम् ?, भाविनि भूतवदुपचारन्यायेन तयोरेकत्वाऽध्यवसानाददोषः । श्वासकोशादिकारणकालेऽपि हि किं करोषीति पृष्टः कुम्भकारः, कुम्भं करोमीत्येवं वदति, बुद्ध्याध्यवसितेन निष्पत्स्यमानस्यैकत्वाध्यवसायादिति । अथ वा–भव्यो योग्यः स्वरूपलाभस्येति शक्यः उत्पादयितुम्, अतः सुकरत्वात्कार्यमप्यात्मनः कारणमित्युच्यते । अवश्यं च कर्मणः कारणत्वमेष्टव्यम्, यद् यस्मात्समस्तकारणसामग्रीसन्निधानेऽपि नैवमेवाकाशार्थं प्रारम्भः, किं तु विवक्षितकार्यार्थम्, अतस्तदविनाभावित्वात्तत्क्रियायाः कार्यमप्यात्मनः

कारणमिति । एतदेव भावयति-बाह्यानि कुलालचक्रचीवरादीनि यानि निमित्तानि तदपेक्ष क्रियमाणकालेऽन्तरङ्गबुद्ध्याऽऽलोचितं कार्यं भवति स्वस्यात्मनः कारणं स्वकारणम्, अन्यथा यदि बुद्ध्या पूर्वमपर्यालोचितमेव कुर्यात्तदाऽप्रेक्षापूर्वं शून्यमनस्कारम्भविपर्ययो भवेत्, घटकारणसन्निधानेऽप्यन्यत्किमपि शरावादिकार्यं भवेत्, अभावो वा भवेत्, न किञ्चित्कार्यं भवेदित्यर्थः । तस्माद् बुद्ध्यवसितं कार्यमप्यात्मनः कारणमेष्टव्यम् । किं बहुना ?, यथा यथा युक्तितो घटते तथा तथा सुधिया कर्मणः कारणत्वं वाच्यम्, अन्यथा कर्मणोऽकारकत्वे करोतीति कारकमिति षण्णां कारकत्वानुपपत्तिरेव स्यादिति । (भूपिंडेत्यादि) भूरुपादानम्, पिण्डाऽपायेऽपि ध्रुवत्वात् । अथ वाविवक्षया पिण्डोऽपादानम्, तद्गतशर्करादीनामपायेऽपि विवेकेऽपि ध्रुवत्वात् । अथ वा-घटाऽपायात्क्रमापाको वाऽपादानमिति । (वसुहेत्यादि) घटस्य चक्रं सन्निधानमाधारः, तस्यापि वसुधा, तस्या अप्याकाशम्, अस्य पुनः स्वप्रतिष्ठत्वात्स्वरूपमाधार इत्येवमादि यत्किमप्यानन्तर्येण परम्परया वा सन्निधानमाधारो घटस्य विवक्ष्यते तत्सर्वमपि तस्य कारणम्, तदभावे तस्य घटस्य यद्यस्मादसिद्धिरित्येकोनविंशतिगाथार्थः । तदेवमुक्तं द्रव्यकारणम् ।

अथ भावकारणमाह-

भावम्मि होइ दुविहं, अपसत्थ पसत्थयं च अपसत्थं ।
संसारस्सेगविहं, दुविहं तिविहं च नायव्वं ॥२११९॥

भवतीति भाव औदयिकादिः, स चासौ कारणं च संसारापवर्गयोरिति भावकारणम् । ततश्च भावे भावकारणे विचार्ये द्विविधं कारणं भवति-अप्रशस्तं प्रशस्तं च, शोभनमशोभनं चेत्यर्थः । तत्राप्रशस्तं संसारस्य संबन्ध्येकविधमेकप्रकारम्, द्विविधं, त्रिविधं च । चशब्दोऽनुक्तचतुर्विधादिसंसारकारणसमुच्चयार्थ इति ॥ २११९ ॥

अथ किं तदेकविधादिसंसारस्य कारणमित्याह-

अस्संजमो य एको, अन्नाणं अविरई य दुविहं च ।
मिच्छत्तं अन्नाणं, अविरई चेव तिविहं तु ॥ २१२० ॥

असंयमोऽविरतिलक्षणः, स प्रधानतया विवक्षितः सन्नेकविध एव संसारकारणम्, अज्ञानादीनां तदुपष्टम्भकत्वेनाप्रधानत्वविवक्षणात् । तथा-अज्ञानमविरतिश्च प्रधानतया विवक्षितं द्विविधं संसारस्य कारणम् । तत्राज्ञानं मिथ्यात्वतिमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्तो बोधः, अविरतिस्तु सावद्ययोगादनिवृत्तिः । तथा-मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चैवेति त्रिविधं संसारकारणम् । तत्र तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वं प्रतीतमेवेति । एवं कषायादियोगादन्येऽपि चतुर्विधादिसंसारकारणभेदा वक्तव्या इति । उक्तमप्रशस्तं भावकारणम् ॥

अथ प्रशस्तं भावकारणमाह-

होइ पसत्थं मोक्ख-स्स कारणमेगविह दुविह तिविहं च ।
तं चेव य विवरीयं, अहिगार पसत्थएणेत्थं ॥२१२१॥

इह यन्मोक्षस्य कारणं हेतुस्तत्प्रशस्तभावकारणमुच्यते । किं पुनस्तदित्याह-[तं चेव य विवरीयं ति] यदप्रशस्तमसंयमादिभावकारणमुक्तं तदेव विपरीतं सदेकविधं द्विविधं त्रिविधं च प्रशस्तं भावकारणं भवति । तत्रासंयमाद् विपरीतं संयम एकविधं प्रशस्तभावकारणं भवति, अज्ञानाविरतिविपरीतं तु ज्ञानसंयमौ द्विविधम्, मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिविपरीतं सम्यग्दर्शनज्ञानसंयमरूपं तु त्रिविधमिति । विशे० । स० । सूत्र० । न० । आचू० । आ० म० । प्रश्न० । प्रयोजने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । जी० । करोतीति कारणम् । परोक्षार्थनिर्णयनिमित्ते उपपत्तिमात्रे दुष्टहेतौ, यथा निरुपमसुखः सिद्धः, ज्ञानानावाधप्रकर्षात् । नात्र किल सकललोकप्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्तीत्युपपत्तिमात्रता, दृष्टान्तसद्भावेऽस्यैव हेतुव्यपदेशः स्यात् । स्था० १० ठा० । आ० म० । औ० । स० । " पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए " कारणमुपपत्तिमात्रं तद्विषयत्वात्कारणानि, एत एव तदन्ये वाऽस्तानि । भ० २ श० १ उ० । आलम्बने, तत्पुनः परिशुद्धं ज्ञानादिकम् । आ० म० प्र० । कारणम्-ज्ञानादित्रयस्य ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्यार्थस्य यत्प्रतिसेवनं तत्कारणम् ।

आह-किं तत्कारणम् ?, उच्यते-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
उत्तिमट्ठे य नाणे, तह दंसण चरित्ते य ॥

विवक्षितदेशे आगाढमशिवमौदर्यं राजद्विष्टं भयं वा प्रत्यनीकादिसमुत्थम् । आगाढशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा तत्र वसतां ग्लानत्वं भूयो भूय उत्पद्यते, यद्वा-देशान्तरे ग्लानत्वं कस्यापि समुत्पन्नं, तस्य प्रतिजागरणं कर्तव्यम् । उत्तमार्थं वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य निर्यापनं कार्यम् । तथा विवक्षिते देशे ज्ञानं वा दर्शनं चारित्रं वा नोत्सार्यते । बृ० १ उ० । अपवादे यथा-"अतरा वि अ से कप्पइ" इत्यादि । कल्प० ६ क्षण । दृष्टार्थानां हेतुषु कृषिपशुपोषणवाणिज्यादिषु, भ० १८ श० २ उ० । सिषाधयिषितप्रयोजनोपाये विषयभूते, विपा० १ श्रु० १ अ० । वेदनादिकारणाभावे भुञ्जानस्य आहारस्य कारणदोषे, जीत० । ध० । ग० । देहे, इन्द्रिये च । कृ वध स्वार्थे णिच्-भावे ल्युट् । वधे, करण एव कारणः । कायस्थे, पु० । करणमेव स्वार्थे अण् । साधने कर्मणि, वाच० ।

कारणअविणासओ-कारणाविनाशतस्-अव्य० । कारणानामेवाभावादित्यर्थे, "कारणअविणासओ य जीवस्स णिच्चत्त विन्नेय । " दश० ४ अ० ।

कारणअविभाग-कारणाविभाग-पुं० । पटादेस्तन्त्वादेरिव कारणविभागाभावे, दश० ४ अ० ।

कारणजाय-कारणजात-न० । कारणविशेषे, "एय गुणं स पउत्ता, कारणजाएण तेउवग्गो वि । " व्य० ४ उ० ।

कारणणिच्चवास-कारणनित्यवास-पुं० । हीनजङ्घाबलत्वलक्षणे कारणे नित्यवासे, दर्श० ।

कारणत्तण-कारणत्व-न० । बौद्धानां मते कारकस्य प्राग्भावित्वमात्रे, कारणस्य कार्यजनकशक्तौ च । सम्म० १ काण्ड ।

कारणदीवणा-कारणदीपना-स्त्री० । अन्यार्थितकार्याकरणे हेतुप्रकाशनायाम्, पञ्चा० १२ विव० ।

कारणदोस-कारणदोष-पुं० । साध्यं प्रति हेतुव्यभिचारे, यथा-अपौरुषेयो वेदः, वेदकारणस्याश्रूयमाणत्वादिति, अश्रूयमाणत्वं हि कारणान्तरादपि संभवति । स्था० १० ठा० । आहार वेदनादिकार-

समन्तरेण भुञ्जानस्य कारणदोषे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। (विवृतं चैतदनुपदमेव 'कारण' शब्दे)

कारणदोसविसेस–कारणदोषविशेष–पुं० । दोषसामान्यापेक्षया कारणदोषरूपे विशेषे, स्था० १० ठा० ।

कारणपडिसेवि(ण्)–कारणप्रतिसेविन्–त्रि० । कारणे प्रतिसेवते तच्छीलः । अशिवादिलक्षणे विशुद्धेनालम्बनेन बहुशो विचार्याशुद्धकादिपरिशुद्धिलाभाकाङ्क्षिणमिच्छयान्तेनाकृत्य यतनया प्रतिसेवत इत्येवशीले, "अवंके अकुडिले यावि, कारणपडिसेवि तह य आहच्च" । व्य० १ उ० ।

कारणवंदण–कारणवन्दन–न० । पञ्चदशे वन्दनकदोषे, वृ० ।

> नाणाइतिगं मुत्तुं, कारणमिह लोगसाहगं होइ ।
> पूयागारवहेउं, णाणग्गहणे वि एमेव ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं मुक्त्वा यत्किमप्यन्यदिह लोकसाधकं वस्त्रादिकं वन्दनकदानाद् साधुरभिलषति तत्कारणं भवतीति प्रतिपत्तव्यम्। ननु ज्ञानादिग्रहणार्थं यदा वन्दते तदा किमेकान्तेनैव कारणं न भवतीत्याशङ्क्याह-यदि पूजार्थं गौरवार्थं वा वन्दनकं दत्त्वा विनयपूर्वकं ज्ञात श्रुतं गृह्णाति येन लोके पूज्यो अन्येभ्यश्च श्रुतधरेभ्योऽधिकतरो भवतीति तदा तदप्येवमेव कारणं वन्दनकं भवतीति ।

तत्र किमभिप्रायवत इहलोकसाधकं कारणं भवतीत्याह—

> आयरतरेण हंदी, वंदामि णँ तेण पच्छ पणयिस्सं ।
> वंदणगमोल्लभावो, ण करिस्सइ मे पणयभंगं ॥

हंदीतीहलोकसाधककारणोपप्रदर्शने, अतिशयादरेण वन्दे प्रणमामि,णमित्येनमाचार्यं, तेन प्रवन्दनकप्रदानेन हेतुभूतेन, पश्चादमुं किञ्चिद्वस्त्राणि प्रणयिष्ये याचिष्ये, न चासौ मम प्रणयभङ्गं प्रार्थनाभङ्गं करिष्यति । कथंभूतः सन्नित्याह-वन्दनकमेव मूल्यं तत्र भावोऽभिप्रायो यस्य सूरेः स तथाभूतः , वन्दनकमूल्यवशीकृत इत्यर्थः । इत्यभिप्रायवतः कारणवन्दनकं भवतीति । वृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० । प्रव० ।

कारणविण्णाणबोह–कारणविज्ञानबोध–पुं० ।कारणरूपे विज्ञानस्य चिद्रूपतायाम्, कारणविज्ञानबोधोऽन्वयव्यतिरेकेण । अने० ४ अधि० ।

कारणविसेस–कारणविशेष–पुं० ।कारणविषये भेदरूपे विशेषभेदे, यथा परिणामि कारणं मृत्पिण्डोऽपेक्षाकारणं दिग्देशकालाकाशपुरुषचक्रादि, अथवोपादानकारणं मृदादि, निमित्तकारणं कुलालादि, सहकारिकारणं चक्रचीवरादीत्यनेकधा कारणम्। स्था० १० ठा० ।

कारणिय–कारणिक–त्रि० । कारणेषु भवः, कारणैर्निर्वृत्तं वा कारणिकम्। कारणान्यधिकृत्य प्रवृत्ते,व्य० २ उ० । कारणवशप्रवृत्ते, व्य० ६ उ० । कारणैश्चरति ठक्। कारणेन विचारके परीक्षके, कारणस्येदम् काश्या ठञ् मिठ् वा । करण—सम्बन्धिनि, स्त्रियां ठञि पित्वाद् ङीप्, मिठ इदुच्चारणार्थं । स्त्रियां टाप् इति भेदः। वाच० ।

कारणोवएस–कारणोपदेश–पुं० । हेतुकोपदेशे, " हेउगोवएसो त्ति वा कारणोवएसो त्ति वा पगरणोवएसो त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

कार(रा)वण–कारापण–न० । विधापने, पञ्चा० ६ विव० । कारापणं वा यत्स्वयं करणेऽकुशलानन्यानपीच्छाकारेण कारापयतीति । व्य० ३ उ० । कारापणं पुनर्मनसा चिन्तयति–करोत्वेष सावद्यम्,असावपि चिन्तितहोऽभिप्रायकस्तत्र प्रवर्त्तते । आ० ।

> मागहा इंगिएणं तु, पेहिएण य कोसला ।
> अद्धुत्तेण उ पंचाला, णाणुत्तं दक्खिणावहा ॥
> एवं तु अणुत्ते वी, मणसा कारापणं तु बोधव्वं ।
> मणसाऽणुण्णा साहू, चूयवणं वुत्तं वुप्पति वा ।

मागधा' मगधदेशोद्भवाः प्रतिपन्नमप्रतिपन्नं वा इङ्गितेनाकारविशेषेण जानन्ति । कोशला प्रेक्षितेन अवलोकनेन । पञ्चाला अर्द्धोक्तेन।नानुक्तं दक्षिणापथाः, किं तु साक्षाद्वचसा व्यक्तीकृतं ते जानते,प्रायो जडप्रकृतत्वात् । तत एव सति वचसाऽनुक्तेऽपि विवरणाभावात् मनसा कारापणं बोद्धव्यम् । व्य० १० उ० । "एवं भणति–तुम अप्पणो य अमुस्स वा हत्थकम्मं करेहि त्ति । आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्य एवं इच्छस्स वा अणिच्छस्स वा बलाभिओगा हत्थकम्मं कारावयतो कारावणा भवति" । नि० चू० १ उ० ।

कार(रा)वाहिय–कारवाहि(धि)क(त)–त्रि० । कर राजदेयद्रव्यं वहन्तीत्येवं शीलाः करवाहिनः, त एव कारवाहिकाः, कारवाहिता वा । भ० ६ श० ३३ उ० । नृपभागवाहिषु, औ० । कारेण कारागारेण वाधितः । कारागारपीडिते, ज्ञा० १ अ० ।

कार(रा)विय–कारित–त्रि० । अन्यैर्विधापिते, पा० ।

कारा–देशी–लेखायाम्, दे० ना० २ वर्ग। कृ भिदादित्वात् अङ् । बन्धनागारे, दूत्याम् , वीणाऽधः स्थकाष्ठमयभाण्डे, सुवर्णकारिकायां च । वाच० ।

कारि–कर्तृ–त्रि० । कर्मणो निर्वर्तके, आव० ४ अ०।

कारिगा–कारिका–स्त्री० । कृ–भावे ण्वुल् ।क्रियायाम्, कारो रोगवधः साध्यतयाऽस्त्यस्य ठन्। कृ हिंसायाम् ण्वुल् वा। रोगनाशिकायां कण्टकार्याम् नट्योषिति, विवरणश्लोके, अल्पाक्षरेण बह्वर्थज्ञापकश्लोकभेदे, शिल्पिरचनायाम्, वृद्धिभेदे, वाच० । आ० म० ।

कारिम–देशी–कृत्रिमे, दे० ना० २ वर्ग ।

कारिय–कारित–त्रि० ।कृ णिच् कर्मणि क्त । करणाय प्रेरिते, अधमर्णेन स्वकार्यसिद्धये नियतवृद्धेरङ्गीकृताधिकवृद्धौ, स्त्री० । वाच० । अन्यैर्विहिते, आतु० ।

कार्य–न० । प्रयोजने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । प्रश्न० ।

कारीसंग–कारीषाङ्ग–न० । अग्न्युद्दीपनकारणे, उत्त० १२ अ० ।

कारुइज्ज–कारुकीय–त्रि० । वहटछिम्पकादिषु कारुकेषु भवे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कारुणिय–कारुणिक–त्रि० । करुणा शीलमस्य ठक् । दयालौ, दयाशीले,वाच० [illegible] ...याधौ, स्था० ४ ठा०२उ०।

कारुस्स--कारुण्य--न० । करुणः करुणायुक्तः, करुणाविषयो वा, तस्य भाव., करुणैव वा कारुण्यम् । ष्यञ् । करुणायां परदुः- खप्रहारेच्छायाम्, करुणाविषयत्वे च । वाच० । "दीनेष्वार्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम् । उपकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभि- धीयते" ॥१॥ अष्ट० १६ अष्ट० ।

कारेइत्ता--कारयित्वा--अव्य० । कृ-णिच् त्वा । "णेरदेदावावे" । ८ । ३ । १४६ । इति णेरावादेशः । विधायेत्यर्थे, प्रा० ३ पाद ।

कारेमाण--कारयत्--त्रि० । अन्यैर्नियुक्तैः पुरुषैः (जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । जं० । कल्प०) अनुनायकैः सेवकानां नियोगिकैर्विधा- पयति, स० । स्त्रियां कारेमाणी । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

कारेयव्व--कारयितव्य--त्रि० । विधापयितव्ये, पञ्चा० ६ विव० ।

कारोडिय- कारोटिक--पुं० । कापालिके, ज्ञा० १ अ० ।

कालं--देशी--तामिस्रे, दे० ना० २ वर्ग ।

काल--काल--पुं० । कलए सङ्ख्याने । कलनं कालः, कल्यते वा परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः, कलानां वा समयादिरूपाणां समूहः कालः । कर्म० ३ कर्म० । आ० म० । ओघ० । विशे० । तेण वा करणभूतेन द्रव्यादिचउक्कयं कालिज्जतीति कालो ज्ञाय- त इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

(१) कालनिरुक्तम् ।
(२) कालस्य द्रव्यान्तरसिद्धौ विचारः ।
(३) मतान्तरखण्डनम् ।
(४) कालसिद्धिः ।
(५) काललक्षणम् ।
(६) कालभेदाः ।
(७) कालविषये दिगम्बरमतनिरूपणम् ।
(८) ततो दिगम्बरमतदूषणम् ।
(९) कालनिक्षेपः ।
(१०) मुहूर्तादिप्रमाणम् ।
(११) समयादीनां सङ्ख्येयासंख्येयत्वविचारः ।
(१२) समयादिज्ञानं मनुष्यक्षेत्र एव ।
(१३) काले ज्ञानाचारः ।
(१४) कोणिकभार्यायाः काल्यनामकात्मजवक्तव्यता ।

(१) तत्र कालशब्दव्युत्पादनार्थमाह -

कलणं पज्जायाणं, कलिज्जए तेण वा जओ वत्थु ॥
कलयंति तयं तम्मि व, समयाऽऽकलासमूहो वा ॥२०२८॥

कल शब्दसंख्यानयोः । नवपुराणादीनां समयादीनां वा पर्याया- णां कलनं सशब्दनं, सङ्ख्यानं वा भावप्रत्यये कालः । अथवा-मा- सिकोऽयं सांवत्सरिकोऽयं शारदोऽयमित्यादिरूपेण कल्यते परि- च्छिद्यते यतो यस्माद्वस्त्वनेनेति कालः । अथवा-कलयन्ति ज्ञानिनः समयादिरूपेण परिच्छिन्दन्ति तमिति कालः । यदि वा-मासिको- ऽयं सांवत्सरिकोऽयमित्यादिरूपतया कलयन्ति परिच्छिन्दन्ति वस्तु तस्मिन्सतीति कालः । समयादिकलानां वा समूहः कालः । आह-ननु मामूहिके प्रत्यये नपुंसकत्वं प्राप्नोति, यथा-कापोतं मायूरमित्यादि । सत्यम्, किं तु शिष्टप्रयोगात् रूढितश्चादोषः । तथा चाह-' लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति ' । तदेवं काल- स्यान्तरङ्गता-निरुक्ती भणिते ।

इदानीमुत्तरगाथासंबन्धनार्थमाह-

सो वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ ।
किंचिम्मेत्तविसेसे-ण दव्वकालाइवत्तएसो ॥ २०२९ ॥

स वर्तनादिरूपः कालो द्रव्यस्यैव पर्यायः । ततः, पर्यायरूपत- या तत्वत एकरूपस्यापि तस्य किञ्चिन्मात्रविशेषविवक्षया द्र- व्यकालः,अद्धाकालः यथाऽऽयुष्ककाल इत्यादिव्यपदेशः प्रवर्तत इति भाष्यगाथार्थः । विशे० । न्यायमतेन परापरव्यतिकरयौग- पद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गे द्रव्यभेदे, सम्म० ।

(२) स च द्रव्यान्तरम्-

तथाहि- परः पिताऽपरः पुत्रो,युगपद्युगपद्वा,तथा चिरं क्षिप्रं वा कृतं करिष्यते यत्परापरादिज्ञानं तदादिक्रिया द्रव्यव्यतिरि- क्त पदार्थनिबन्धनं तत्, प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्ययव- त् । योऽस्य हेतुः स पारिशेष्यात् कालः, यतो न तावत्पराऽप- रादिप्रत्ययो दिग्देशकृतोऽयम् । स्थविरे अपरदिग्भागावस्थि- तेऽपि परोऽयमिति प्रत्ययोत्पत्तेः । तथा यूनि परदिग्भागावस्थि- तेऽपि अपरोऽयमिति ज्ञानप्रादुर्भावात् । न च बलीपलितादिकृ- तोऽयं प्रत्ययः, तत्कृतप्रत्ययवैलक्षण्येनोत्पत्तेः । नापि क्रियानि- र्वर्तितस्तत्प्रतिभाति । तज्ज्ञानवैलक्षण्येन संवेदनात् । तथा च सूत्रम्-' अपरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि' इत्याकाशवदेवास्यापि विभुत्वनित्यत्वैकत्वादयो धर्मा अवगन्तव्याः । सम्म०१ काण्ड ।

(३) अथ खण्डनम्-

दिक्कालसाधनप्रयोगेष्वप्येते दोषाः-

सामान्येन साधने सिद्धसाध्यता, विशेषसाधने हेतोरन्वया- द्यसिद्धिरनुमानबाधितत्वं च प्रतिज्ञाया इति समानाः। तथाहि- पूर्वापरोत्पन्नपदार्थविषयपूर्वापरशब्दसंकेतवशादुद्भूतसंस्का- रनिबन्धनत्वात् कृतप्रत्ययस्य कारणमात्रे साध्ये कथं न सि- द्धसाध्यता ?, विशेषे च कथं नान्वयासिद्धिः ?, अनुमतिबाधा च प्रतिज्ञायाः पूर्ववद् भावनीया। अत एव नेतरेतराश्रयदोषो- ऽपि पूर्वपक्षोद्यतोऽपि विशिष्टपदार्थसंकेतप्रभवत्वे अस्य प्र- त्ययस्य । किं च-निरंशैकदिक्कालाख्यपदार्थनिमित्तत्वं परादिप्र- त्ययस्य प्रसादयितुमभ्युपगतम् । तच्चायुक्तम् । क्वचिदनुक्रा- दिप्रत्ययजनकस्य तद्विषयत्वात् । निरंशस्य पौर्वापर्यादिविभा- गाभावतस्तथाप्रत्ययोत्पादकत्वासंभवात् । तथाभूतप्रत्ययाद्वि- परीतार्थसिद्धेरिष्टविपर्ययसाधनाद्विरुद्धश्चैवं हेतुः स्यात् । अथ बाह्याऽऽध्यात्मिकभावपौर्वापर्यनिबन्धनस्य दिक्कालयोः पौर्वा- पर्यव्यपदेशस्य भावान्न हेतोर्विरुद्धता । नन्वेवं दिक्कालपरि- कल्पना व्यर्था, तत्साध्याभिमतस्य कार्यस्य बाह्याध्यात्मिकैः सम्बन्धिभिरेव निर्वर्तितत्वात् । तथाहि-दिक् पूर्वापरादि- व्यवस्थाहेतुरिष्यते, कालश्च पूर्वापरक्षणभवनिमेषकलामुहूर्तप्र- हरदिवसाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिप्रत्ययप्रभवनिमि-- त्तोऽभ्युपगतः । अयं च स्वरूपभेदः स्वात्मनि तयोः समस्तोऽ- प्यसंवीतसम्बन्धिषु पुनर्भावेषु विद्यमानस्तत्र प्रत्ययहेतुरिति व्यर्था तत्प्रकल्पना । अथ तत्सम्बन्धिष्वप्ययं भेदो अपरक्रिया- दिभेदनिमित्तस्तर्हि तत्राप्येवमित्यनवस्थाप्रसक्तिः । अथ पदार्थे- षु पूर्वापरभेदः कालनिमित्तः । ननु कालोऽप्यसौ न स्वत इति, परकालनिमित्तो यद्यभ्युपगम्यते तदाऽनवस्था । अथ स्वाभावे- दन्निमित्त ,तदेतरेतराश्रयप्रसङ्गः । अथ तत्र स्वत एवायं भेदः, पदार्थेष्वपि स्वत एवायं किं नाभ्युपगम्यते ?। तस्माद् पुनरपि

दिकालप्रकल्पनं व्यर्थम् । सम्म० २ काण्ड । जैनसमयेन विशिष्टप-
रापरप्रत्ययादिलिङ्गानुमेये द्रव्यभेदे, सम्म० २ काण्ड ।

(४) कालसिद्धि –

अथ काल एव कथमवसीयत इति चेत् ?, उच्यते–बकुलचम्प-
काशोकादिपुष्पप्रदानस्य नियमेन दर्शनात्, नियामकश्च काल
इति । स्था० १ ठा० १ उ० । कालो नाऽस्ति, अनुपलम्भात्; यश्च वन-
स्पतिकुसुमादिकालक्षणमाचक्षते, तत्तेषामेव स्वरूपमिति म-
न्तव्यम् । असत्यम् । तेषामपि स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात् ।
कुसुमादिकरणमकारणं तरूणां स्यात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

(५) काललक्षणम्–

कालस्तु परमार्थतो द्रव्यं नास्तीतिशङ्कमानं निराकुरुते–

वर्तनालक्षणः कालः, पर्यवद्रव्यमिष्यते ।
द्रव्यभेदात्तदानन्त्यं, सूत्रे ख्यातं सविस्तरम् ॥१०॥

[वर्तनेति] सर्वेषां द्रव्याणां वर्तनालक्षणो नवीनजीर्णक-
रणलक्षणः कालः पर्यायद्रव्यमिष्यते । तत्कालपर्यायेषु
अनादिकालीनद्रव्योपचारमनुसृत्य कालद्रव्यमुच्यते । अत एव
पर्यायेण द्रव्यभेदात् तस्य कालद्रव्यस्यानन्त्यम् । अनन्तकाल-
द्रव्यभावनं सूत्रे उत्तराध्ययने सविस्तरं ख्यातम् । तथा च
तत्सूत्रम्–" धम्मो अधम्मो आगास, दव्वमिक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो " ॥१॥ एतदुपजीव्या-
न्यत्राप्युक्तम्–' धर्माधर्माकाशान्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम् "
इति । ततो जीवद्रव्यमप्यनन्तं, तस्य च वर्तमानपर्यायस्यार्थे
कालद्रव्यमथानन्तमित्युक्तमागमे । विस्तरस्तु ततोऽवधारणीय ।
द्रव्या० १० अध्या० ।

कथं पुनर्द्रव्यस्य कालोऽन्तरङ्गं, न तु क्षेत्रमित्यादि–

जं वत्तणाइरूवो, वत्तुरणत्थंतरं मओ कालो ।
आहारमत्तमेव उ, खेत्तं तेणंतरंग सो ॥२०२९॥

वर्तना आदिर्येषां परिणामादीनां ते वर्तनादयः, त एव रूपं
यस्यासौ वर्तनादिरूपः तीर्थकरादीनां सम्मतः कालः । उक्तं च–
"वर्तना परिणामः क्रिया परापरत्वे च कालस्योपग्रह "इति । तत्र
विवक्षितेन नवपुराणादिना तेन तेन रूपेण यत्पदार्थानां वर्तनं श-
श्वद्भवनं सा वर्तना । परिणामोऽभ्रादीनां सादिः, चन्द्रविमानादी-
नामनादिः । क्रिया देशान्तरप्राप्तिलक्षणा । देवदत्ताद् यज्ञदत्तः प-
रः पूर्वमुत्पन्नः, यज्ञदत्तात्पुनर्देवदत्तोऽपरोऽर्वागुत्पन्न इत्यादिरूपं
परापरत्वम्, इत्येतानि कालस्योपग्रह उपकारः । एतानि चत्वार्यपि
कालस्यान्यापरिज्ञानानीति भावः । स च वर्तनादिरूपः कालो
यद्यस्माद्वर्तितुर्द्रव्यादनर्थान्तरमभिन्नस्वरूप एव वर्तते, क्षेत्रं तु
द्रव्यस्याधारमात्रमेव, न त्वर्थान्तरम् । तेन द्रव्यस्यान्तरङ्गः कालः,
बहिरङ्गं तु क्षेत्रम्, अतो द्रव्यनिर्गमादनन्तरं कालनिर्गमोऽभि-
धीयत इति । विशे० ।

तेषामेव द्रव्यकालादिभेदानां प्रतिपादनार्थं निर्युक्तिकारः प्राह–

दव्वे अद्ध अहाउ य, उवक्कमे देसकालकाले य ।
तह य पमाणे वन्ने, भावे पगयं तु भावेण ॥२०३०॥

इह नामस्थापने सुखावसेयत्वान्नोक्ते, शेषास्तु नवकालभेदाः
प्रोच्यन्ते–तत्र द्रव्य इति वर्तनादिरूपो द्रव्यकालो वाच्यः । (अ-
द्ध त्ति) चन्द्रसूर्यादिक्रियाऽभिव्यङ्ग्योऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्व-
र्त्यद्धाकालः समयादिलक्षणो वाच्यः । तथा यथायुष्ककालो देवा-
द्यायुष्ककालो देवाऽऽद्यायुष्कलक्षणो वक्तव्यः । तथा–उपक्रमका-
लोऽभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणः समाचारी, यथाऽऽयुष्कभे-
दभिन्नोऽभिधानीयः । तथा–देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय
इत्यनर्थान्तरम्; स देशरूपः कालो देशकालो वक्तव्यः, अभीष्ट-
वस्त्ववाप्त्यवसरकाल इत्यर्थः । तथा–कालकालोऽभिधानीयः, त-
त्रैकः कालशब्दोऽनन्तरनिरूपितशब्दार्थः, द्वितीयस्तु समयप-
रिभाषया कालो मरणमुच्यते । ततश्च कालस्य मरणक्रियारूपस्य
कलनं कालः, काल इत्यर्थः । तथा–प्रमाणकालोऽद्धाकालस्यैव
विशेषभूतो दिवसादिलक्षणो वक्तव्यः । तथा वर्णश्चासौ कालश्च
वर्णकालो भणनीयः । तथा (भावे त्ति) औदयिकादेर्भावस्य
सादिसपर्यवसानादिभेदभिन्नः कालो भावकालः प्ररूपणीयः ।
(पगयं तु भावेण त्ति) प्रकृतं प्रस्तुतं पुनरत्र भावेन भावका-
लेनेहाधिकारः । शेषास्तु द्रव्यकालादयः कालभेदमात्रतः
प्ररूपिताः । इति निर्युक्तिगाथाद्वारसंक्षेपार्थः ॥ २०३० ॥

अथ प्रतिद्वारं विस्तरार्थमभिधित्सुराह–

चेयणमचेयणस्स य, दव्वस्स ठिई उ जा चउविगप्पा ।
सा होइ दव्वकालो, अहवा दवियं तयं चेव ॥२०३१॥

चेतनमिति विभक्तिव्यत्ययात्षष्ठी द्रष्टव्या । चशब्दस्तु
समुच्चये । ततश्च चेतनस्य सुरनारकादेः, अचेतनस्य च पुद्गलस्क-
न्धादेः, द्रव्यस्य च याऽवस्थानरूपा स्थितिः सादिसपर्यवसानादि-
भेदाच्चतुर्विकल्पा चतुर्भेदा सा स्थितिर्भवति । किमित्याह–द्रव्य-
स्य कालो द्रव्यकालः, तत्पर्यायत्वात् । अथवा–तदेव सचेतनाचे-
तनरूपं द्रव्यं कालो द्रव्यकालः प्रोच्यते, पर्यायपर्यायिणोर-
भेदोपचारादिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २०३१ ॥

अथैतां भाष्यकारो व्याचिख्यासुराह–

दव्वस्स वत्तणा जा, स दव्वकालो तदेव वा दव्वं ।
न हि वत्तणाइभिन्नं, जम्हा दव्वं जओऽभिहियं ॥२०३२॥
सुत्ते जीवाजीवा, समयाऽऽवलियादओ पवुच्चंति ।
दव्वं पुण सामन्नं, भण्णइ दव्वट्ठयामेत्तं ॥२०३३॥

द्रव्यस्य या सादिसपर्यवसानादिलक्षणा तेन रूपेण वृ-
त्तिर्वर्तना स द्रव्यस्य कालो द्रव्यकालः समुत्कीर्त्यते । अथ
वा–तदेव चेतनाचेतनं द्रव्यं कालो द्रव्यकाल इष्यते । कुत इ-
त्याह–न खलु यस्माद्वर्तनापरिणामादिभ्यो भिन्नं पृथग्भूतं द्र-
व्यमस्ति, यतोऽभिहितं सूत्रे आगमे । किमभिहितमित्याह–
[जीवाजीवेत्यादि] समयावलिकादयः केऽभिधीयन्ते ?, इत्याह–
जीवाजीवा जीवाजीवद्रव्याण्येव समयावलिकादयो भण्यन्ते,
न पुनस्तद्व्यतिरिक्तास्त इति भावः । तदेव जीवाऽजीवेभ्योऽ-
व्यतिरिक्तः समयावलिकादिरूपः कालः । ते च जीवाऽजीवा
द्रव्यार्थतामात्ररूपं सामान्यतो द्रव्यमुच्यते । ततो द्रव्यमेव का-
लो द्रव्यकाल इति सिद्धम् । इह चागमोक्तोऽर्थ एव लिखितः, सूत्रं
पुनरित्थमवगन्तव्यम्–" किमियं भंते ! काले त्ति पवुच्चइ ? ।
गोयमा ! जीवा चेव, अजीवा चेव त्ति " ।

कथं पुनश्चेतनस्याचेतनस्य च द्रव्यस्य चतुर्विधा स्थितिरित्याह–

सुरसिद्धभव्वऽभव्वा, साइसपज्जवसियादओ जीवा ।
खंधाणागयतीया, नभादओ चेयणारहिया ॥२०३४॥

सुरग्रहणस्योपलक्षणत्वात्सुरनारकतिर्यङ्मनुष्याः, सुरत्वादिप-

र्यायमधिकृत्य सादिसपर्यवसितयः । सिद्धा· प्रत्येक सिद्धत्वमधिकृत्य साद्यपर्यवसानाः । भव्यजीवाः, भव्यत्वमाश्रित्य, केचनाप्यनादिसपर्यवसाना ; "सिद्धे नो भव्ये नो अभव्ये" इति वचनात् सिद्धत्वप्राप्तौ भव्यत्वनिवृत्तेः । अभव्यजीवाः, अभव्यत्वमङ्गीकृत्य, अनाद्यपर्यवसिताः । इत्येवं चेतनद्रव्यस्य सादिसपर्यवसितादिका चतुर्विधा स्थितिः । अचेतनद्रव्यमुररीकृत्याह-(खंधेत्यादि) द्व्यणुकादिस्कन्धाः सादिसपर्यवसिताः, एकेन द्व्यणुकत्वादिना परिणामेनोत्कृष्टतोऽपि पुद्गलद्रव्यस्यासंख्येयकालमेव स्थितेः। अनागताद्धा भविष्यत्कालरूपा साद्यपर्यवसिता । अतिक्रान्तकालरूपा अतीताद्धा अनादिसपर्यवसिता । आकाशधर्माधर्मास्तिकायादयस्त्वनाद्यपर्यवसिताः। इत्येवं चेतनारहितस्यापि द्रव्यस्य चतुर्विधा स्थितिः । तदेवमभिहितो द्रव्यकालः ॥ २०३४ ॥ (अद्धाकालस्वरूपोपदर्शनं 'अद्धाकाल' शब्दे प्रथमभागे ५६३ पृष्ठे कृतम्)

अथाऽऽयुष्ककालं विभणिषुर्भाष्यकारस्तत्स्वरूपमाह-

आउयमेत्तविसिट्ठो, स एव जीवाण वत्तणाइमओ ।
भण्णइ अहाउकालो, वत्तइ जो जच्चिरं जेण ॥२०३७॥

स एवोक्तरूपोऽद्धाकालो वर्तनादिमयो जीवानां नारकतिर्यङ्नरामराणां यथायुष्ककालो भण्यते । किं सर्वोऽपि? न, इत्याह-आयुष्कमात्रविशिष्टः, नारकाद्यायुष्कमात्रविशेषित इत्यर्थः । अत एवाय यथायुष्ककालो भण्यते । यद्येन तिर्यग्मनुष्यादिना जीवेन यथा येन रौद्रार्तधर्मध्यानादिना प्रकारेणोपार्जितमायुर्यथायुष्कम्, तस्याऽनुभवनकालो यथायुष्ककाल· । कियन्तमवधिं यावदसौ भवतीत्याह-यो जीवो येनात्मबद्धेनायुषा [जच्चिर ति] यावन्तमन्तर्मुहूर्तादिकं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपर्यन्त काल वर्तते, स तस्य जीवस्य तावन्तमवधिं यावद्यथायुष्ककालो भवतीति तात्पर्यार्थः । इत्येव विवक्षामात्रकृतोऽद्धाकालयथायुष्ककालयोर्भेदः । अतोऽद्धाकालस्यैव विशेषभूतत्वात्तदनन्तरं यथायुष्ककालमाहेति भाव इति गाथार्थः ॥ २०३७ ॥

इति विहितसम्बन्धमेव यथायुष्ककालं निर्युक्तिकारः प्राह-

नेरइयतिरियमणुआ-देवाण अहाउयं तु जं जेण ।
निव्वत्तियमन्नभवे, पालंति अहाउकालो उ ॥२०३८॥

नारकतिर्यग्मनुष्यदेवानां मध्याद्येन जीवेन यथा येन रौद्रध्यानादिना प्रकारेणान्यभवे पूर्वजन्मन्यभिनिर्वर्तितमायुरेतद् यथायुरिहोच्यते । तच्च यदा त एव नारकादयो विपाकतः पालयन्त्यनुभवन्ति, तदाऽसौ तेषां यथायुष्ककालोऽभिधीयते । तुशब्दो द्रव्यकालादिभ्योऽस्य विशेषणार्थ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥२०३८॥ (उपक्रमकालः 'उवक्कमकाल' शब्दे द्वितीयभागे ८७३ पृष्ठे द्रष्टव्य·) तत्र समाचारः शिष्टजनसमाचरित· क्रियाकलापः, तस्य भाव इति " गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च " (पाणि०) ५ । १ । १२४ । इति ष्यञ्प्रत्यये सामाचार्यम् । तत· सामग्रीत्यादाविव स्त्रीत्वविवक्षायामीप्रत्यये यलोपे च सामाचारी इति भवति, तस्या उपक्रमणमुपरितनश्रुतादिहानयनं सामाचार्युपक्रमः ; स चासावुपचारात्कालश्च सामाचार्युपक्रमकाल· । यथा बद्धस्यायुष्कस्योपक्रमण दीर्घकालभोग्यस्य लघुतरकालेनैव क्षपण यथायुष्कोपक्रम·, स चासावुपचारात्कालश्च यथायुष्कोपक्रमकालः । य सामाचार्युपक्रमणद्वारेणोपक्रम्यते कालः स सामाचार्युपक्रमकालः । यस्त्वायुष्कोपक्रमणद्वारेणोपक्रम्यते स यथायुष्कोपक्रमकाल इतीह तात्पर्यम् । तत्र सामाचारी त्रिविधा । कथ?, (ओहे दसहा पयविभागे त्ति) ओघ· सामान्यं तेन सामाचारी ओघसामाचारी, सामान्येन सङ्क्षेपतः साधुसमाचाराभिधानरूपा । सा चौघनिर्युक्तेर्वेदितव्या । दशधा सामाचारी पुनरिच्छाकारमिथ्यादुष्कृतादिदशविधसाधुसमाचाररूपा । विशे० । "अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाए । फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउ " ॥२०४१॥ (सप्तधा आयुर्भिद्यते इति 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १० पृष्ठे सविस्तरं व्याख्यातम्)

अथ प्रमाणकालाभिधित्सया तत्स्वरूपं विवरीषुर्भाष्यकारः प्राह-

अद्धाकालविसेसो, पत्थयमाणं व माणुसे खित्ते ।
सो संववहारत्थं, पमाणकालो अहोरत्तं ॥२०६८॥

स प्रमाणकाल इति समयविद्भिः प्ररूप्यते । यः कथभूतः ?, इत्याह-अद्धाकालस्यैव विशेषस्वरूपः । अयं च सूर्यादिगतिक्रियाभिव्यङ्ग्यत्वाद् मनुष्यक्षेत्र एव भवति, न परत·, सूर्यादिगतिक्रियाभावात् । किंविशिष्टः पुनरसावित्याह-अहोरात्रमहोरात्रसञ्ज्ञितः । किमर्थं पुनरसौ प्ररूप्यते?, इत्याह-सव्यवहारार्थं जीवाजीवादिस्थित्यादिमानव्यवहारार्थम् । किंवत्?, प्रस्थकमानवत् । यथा सामान्यमानस्य विशेषभूत मनुष्यक्षेत्रे धान्यादिमिततत्सव्यवहारार्थम् "दो असईओ पसईओ, दो पसईओ सेइया, चत्तारि सेइयाओ कुडवो, चत्तारि कुडवा पत्थो " इत्यादिना सूत्रे प्ररूपितं प्रस्थकमानम् । तथाऽयमप्यहोरात्ररूपः प्रमाणकाल इति गाथार्थः ॥ २०६८ ॥ विशे० । (वर्णकालभावकालादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ कण्ठतोऽपि सूत्रे जीवाजीवाभ्यामतीतः कालः कथितोऽऽतस्तमेव तथैव सूत्रयन्नाह-

जिवाजीवमयः कालः, समये न पृथक् कृतः ॥
इत्येके संगिरन्तेऽत्र, धारयन्तः शुभां मतिम् ॥११॥

समये सिद्धान्ते जीवाजीवमय· जीवाजीवरूप कालः कथित', पृथक् भिन्नस्ताभ्यां न कृतः, ततो भिन्नः कथ कथ्यते इति पूर्वोक्तमेके आचार्या· सङ्गिरन्ते भाषन्ते अत्र । किं कुर्वन्तः ?, शुभां विशुद्धां मतिं बुद्धिं धारयन्त· । शुद्धबुद्धिमतां सुधीराणां यथोक्तश्रीजिनप्रणीततत्त्ववेत्तॄण प्राणिनां सम्यक्त्वावाप्तिः सुलभा भवतीति ध्येयम् । तथा च गौतमेन भद्रकपरिणामशालिना भगवान् पृष्ट, तदाहेति भगवन् ! किमय कालो जीवस्तथाऽजीवश्चेति प्रश्ने भगवानाह-गौतम ! जीवोऽपि काल , अजीवोऽपि काल·, तदुभय काल एव, जीवाजीवयोः कालेनोपजीव्योपजीवकभावसम्बन्ध· संतिष्ठत इति ।

पुनस्तदेवाह-

आहुरन्ये भचक्रस्य, विश्वे चारेण या स्थितिः ।
कालोऽपेक्षाकारणं च, द्रव्यमित्यपि पञ्चमे ॥१२॥

अन्ये आचार्या एवं कथितवन्तः· भचक्रस्य ज्योतिश्चक्रस्य चारेण या विश्वे स्थितिरवस्थाविशेषः स काल इत्यभिधीयते । तथा च वर्तुलाकार ज्योतिश्चक्रं, तस्य चारेण परत्वापरत्वनवपुराणादिभावस्थितिहेतुः, तस्यापेक्षाकारणम् । मनुष्यलोके हि अर्थस्य सूर्यक्रियोपनायकद्रव्यचारक्षेत्रप्रमाणमेवोपकल्पनं प्र-

ष्टते, तत एतादृशं कालद्रव्यं कथ्यते । तत एव श्रीभगवत्यङ्गे-"कइ णं भंते ! दव्वा पणत्ता । गोयमा ! छ दव्वा पणत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए ।" एतद्वचनमस्ति । तस्य निरुपचरितव्याख्यानं घटते । तथा च वर्त्तनापर्यायस्य साधारणापेक्षा न कथ्यते तदा तु गतिस्थित्यवगाहनासाधारणापेक्षाकारणत्वेन धर्माधर्मास्तिकायौ सिद्धौ जातौ तथापि अनादरास आयाति । अथ च अर्थयुक्त्या ग्राह्यमस्ति तस्मात्केवलमाज्ञयैव ग्राह्योऽस्ति परं तु कथं सन्तोषधृती भवेताम् ? ।१२।

एतन्मतद्वयं धर्म-संग्रहिण्यां च भाष्यके ।
अनपेक्षितद्रव्यार्थि-कमते तस्य योजना ॥१३॥

एतन्मतद्वयं धर्मसंग्रहिण्यां श्रीहरिभद्रसूरिणा व्याख्यातम् । तथा च तद्गाथा-" जं वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ । सो चेव तओ धम्मो, कालस्स व जस्स जो ण लोए त्ति" ॥ १ ॥ एवमेतन्मतद्वयमत्र श्रीहरिभद्रसूरिसम्मतधर्मसंग्रहिणीसूत्रोक्तं ज्ञेयम् । तथाच एतन्मतद्वये भाष्यके श्रीतत्त्वार्थभाष्येऽपि वाचकैस्तथैव प्रणीतमस्ति । तथाच तद्ग्रन्थ -" कालश्चेत्येके " इति वचनात् द्वितीयमतं श्रीतत्त्वार्थव्याख्याने समर्थितम् । पुनस्तस्य कालस्य अनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयमते योजना युक्तिश्च भवति । तथाहि-स्थूललोकव्यवहारासिद्धोऽय कालोऽपेक्षारहितश्च ज्ञेयः । अन्यथा वर्त्तनापेक्षाकारणत्वेन यत्कालद्रव्यं साधितं तत्पूर्वापरादिव्यवहारविलक्षणपरत्वापरत्वादिनियामकत्वेन दिग्द्रव्यमपि सिद्धं स्यादिति । अथ च-"आकाशमवगाहाय, तदनन्या दिगन्यथा । तावप्येवमनुच्छेदात्ताभ्यां चान्यदुदाहृतम्" ॥१॥ इति सिद्धसेनदिवाकरकृतनिश्चयद्वात्रिंशिकार्थं विमृश्य आकाशादेव दिक्कार्यं प्रसिद्ध्यतीति । इत्थमङ्गीकुर्वतां कालद्रव्यं कार्यमपि कथञ्चित्तत एवोपपत्ति स्यात् । तस्मात् 'कालश्चेत्येके' इति सूत्रमनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयेनैव इति सूक्ष्मदृष्ट्या विभावनीयम् ॥ १३ ॥

(७)अथ कालद्रव्याधिकारं दिगम्बरप्रक्रियया उपन्यस्यन्नाह-

मन्दगत्याऽप्यणुर्यावत्, प्रदेशे नभसः स्थितौ ।
याति तत्समयस्यैव, स्थानं कालाणुरुच्यते ॥ १४ ॥

मन्दगत्या मन्दगमनेनाणु परमाणुः नभस आकाशस्य प्रदेशे स्थितौ स्थाने यावदिति यावता कालेन गच्छति तत्समयस्य तत्कालपरिमितस्य कालस्य स्थानं कालाणुरिति व्यवहारो जायत इति । एकस्य नभसः स्थाने मन्दगतिरणुर्यावता कालेन सञ्चरति तत्पर्यायेण समय उच्यते, तदनुरूपश्च यः स कालपर्यायसमयस्य भाजनं कालाणुरिति । स च एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकं एवं कुर्वतां समस्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः कालाणवो जायन्त इति । इत्थं कश्चिदपरो वदन् जैनाभासो दिगम्बर एवास्ति । उक्तं च द्रव्यसंग्रहे-" रयणाण रासी इव, ते कालाणु असंखदव्वाणि । " इति दिगम्बरमतमनुसृत्य योगशास्त्राभ्यासेन अपरोऽपि कश्चिदेतद्वचनमुदाजहार ॥ १४॥

तदेव दृष्टान्तयन्नाह-

योगशास्त्रान्तरश्लोके, मतमेतदपि श्रुतम् ।
लोकप्रदेशेऽप्यणवो, भिन्ना भिन्नास्तदग्रता ॥१५॥

योगशास्त्रान्तरश्लोके एतदपि मतं श्रुतं,दिगम्बरमतेऽपि अन्तरश्लोकव्याख्यानमपीष्टमस्ति । यतो लोकप्रदेशेऽपि भिन्ना भि-

न्ना अणवस्तन्मुख्यत्वमापादयन्ति । लोकप्रदेशे भिन्ना भिन्नाः कालाणवस्त एव मुख्यकाल इति व्यवहारः ।

तथाच तत्पाठः-

"लोकाकाशप्रदेशस्थाः, भिन्नाः कालाणवस्तु ये ।
भावानां परिवर्त्ताय, मुख्यः कालः स उच्यते" ॥१॥ इति ।

अस्य भावार्थः-लोकाकाशे यावन्त प्रदेशास्तेषु तिष्ठन्तीति लोकाकाशप्रदेशस्थाः, भिन्नाः पृथक् पृथक् एकनभोदेशे एकः,इत्थं सर्वत्र सर्वे ये कालाणवः सन्ति त एव तावन्त कालाणव इति । तु पुनर्भावानां पदार्थानां परिवर्त्ताय नूतनं कृत्वा जीर्णं करोति, जीर्णं कृत्वा नूतनं करोति एवं भावानां परिवर्त्ताय वर्त्तते स एव मुख्यः सर्वत्र प्रधानपदार्थः काल उच्यते इत्यर्थः ॥ १५ ॥

पुनस्तदेव चर्चयन्नाह-

प्रचयोर्ध्वत्वमेतस्य, द्वयोः पर्याययोर्भवेत् ।
तिर्यक्प्रचयता नास्य, प्रदेशत्वं विना क्वचित् ॥१६॥

एतस्य कालाणुद्रव्यस्य प्रचयोर्द्धत्वमूर्द्धताप्रचय द्वयोः पर्याययोः पूर्वापरयोर्भवेत् । यतो यथा मृद्द्रव्यस्य स्थासकोशकुशूलादिपूर्वापरपर्यायाः सन्ति तथा एतस्य कालस्य समयावलीमुहूर्तादयः पूर्वापरपर्याया वर्त्तन्ते, परं तु स्कन्धस्य प्रदेशसमुदाय कालस्य नास्ति तस्माद् धर्मास्तिकायादीनामिव तिर्यक्प्रचयता न सम्भवति, एतावता तिर्यक्प्रचयत्वं नास्ति । तेनैव कालद्रव्यमस्तिकाय इति नोच्यते । परमाणुपुद्गलस्येव पुनस्तिर्यक्प्रचयता नास्ति । तस्मात् उपचारेणापि कालद्रव्यस्य अस्तिकायता न कथनीया इति ॥ १६ ॥

(८) अथैतद्दिगम्बरमत वादेन दूषयन्नाह-

एवमणुगतेर्लात्वा, हेतुं धर्माणवस्तदा ।
साधारणत्वमेकस्य, समयस्कन्धताऽपि च ॥ १७ ॥

एवमनया रीत्या यदि अणुगते परमाणुगमनस्य हेतुमिति हेतुत्वं लात्वा गृहीत्वा धर्माणवो धर्मद्रव्याणवो भवन्ति तदैकस्य कस्यचित्पदार्थस्य साधारणत्वं गृहीत्वा समयस्कन्धता स्यादिति । अथ योजना एवम्-यदि मन्दाणुगतिकार्यहेतुपर्यायसमयभाजनं द्रव्यसमयाणुः कल्पते तदा मन्दाणुगतिहेतुतारूपगुणभाजनं धर्मास्तिकायोऽपि सिद्ध्यति । एवमधर्मास्तिकायस्याप्यणुप्रसक्तता स्यात् । अथ च सर्वसाधारणगतिहेतुतादिकं गृहीत्वा धर्मास्तिकायाद्येकस्कन्धरूपं द्रव्यं कल्पते तदा देशप्रदेशादिकल्पनाऽपि तस्य व्यवहारानुरोधेन पश्चात्कर्तव्या स्यात् । यदि च सर्वजीवाजीवद्रव्यसाधारणवर्तनाहेतुतागुणं गृहीत्वा कालद्रव्यमपि लोकप्रमाणं कल्पयितुं युज्यते धर्मास्तिकायादीनामधिकारेण साधारणगतिहेतुताऽऽद्युपस्थितिरेवास्ति । अस्या कल्पनायास्तु अभिनिवेशं विना द्वितीयं किमपि कारणं नास्ति ॥ १७ ॥

अथ पुनस्तदेवाह-

अप्रदेशत्वमासूत्र्य, यदि कालाणवस्तदा ।
पर्यायवचनोद्युक्तं, सर्वमेवौपचारिकम् ॥ १८ ॥

अप्रदेशत्वं प्रदेशरहितत्वं यदि आसूत्र्य प्रकल्पितस्य कालस्य अणवः कथ्यन्ते तदा पर्यायवचनेन योजितं क्रियते सर्वमप्युपचारेण इदमिति । तथाच यदा एव कथयत-सूत्रे कालोऽप्रदेशी कथितः तस्यानुसारेण कालाणवः कथ्यन्ते, तदा तु सर्वम-

पि जीवाजीवपर्यायरूपमेव काल इति कथितमस्ति तत्र विरोधो नास्ति, द्रव्यकालोऽपि कथ कथ्यते । ततस्तदनुसारेण कालस्याऽपि द्रव्यत्ववचनम । तथा लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानुवचनादीनि सर्वाण्युपचारेण योज्यानि । मुख्यवृत्त्या स पर्यायरूपः काल एव सूत्रसमतोऽस्ति । अत एव 'कालश्चेत्येके' अत्रैकवचनेन सर्वसंमतत्वाभाव सूचयामासेति । तेनाप्यत्र अप्रदेशत्व प्रदेशाऽभाव सूत्रेणानुसृत्य तस्य कालस्य अणु' कथ्यते, तदा सर्वमप्येतत् उपचारेण पर्यायवचनादिकेभ्यो युज्यमानं चारिमाणमश्नुतीति । अथ च-"परमाणुमयो भागोऽवयवस्तदितरस्तु प्रदेशः" इति वचनाद् व्योमाद्यपरिमाणजतया सप्रदेश स्यान्न तु सावयवमित्याचक्षीथा., तथाऽपि-

"दोषोल्लासवशप्रसृत्वरतमस्काण्डेऽपि देदीपया-
मासे नोऽवयवप्रदेशविषयो भेदस्त्वया दीपक. ।
अस्माभिः परमाणुतां प्रकटतामानेष्यमाणं पुरो,
दुर्वारव्यभिचारदीर्घरसनं निध्याय विश्वसितः" ॥ १ ॥

ननु पूर्वं तावदम्बरादेर्विभागा. परमाणुमया एव सन्ति न खलु कज्जलचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलपूरिते लोके स कश्चिन्नभसो विभागोऽस्ति यो निर्भर न बिभरांबभूवेऽणुभिः तत्कथ न हेतुरेष व्यभिचरिष्णुरिति दिक् ॥ १८ ॥

अथोपचारप्रकारमेव दर्शयन्नाह-

पर्यायेण च द्रव्यस्य, ह्युपचारो यथोदितः ।
अप्रदेशत्वयोगेन, तथाऽणूनां विगोचरः ॥१९॥

षडेव द्रव्याणीति सख्यापूरणार्थं यथा पर्यायेण पर्यायरूपेण द्रव्यस्य कालद्रव्यस्य एतावता पर्यायरूपकालद्रव्यविषये हि निश्चित द्रव्यस्योपचारो यथा उदितः द्रव्यत्वोपचारकल्पना विहिता भगवत्यादिसूत्रविशेषे कृता तथैव सूत्रे कालद्रव्यस्यापि अदेप्रशत्वयोगेन कालाणूनां विगोचरो विषयता ज्ञेयः । एतावता सूत्रे कालस्यात्र प्रदेशता सूत्रिता तथैव कालाणुताऽपि सूत्रिताऽस्ति तद्योजनया लोकाऽऽकाशप्रदेशस्थपुद्गलाणूनां विषये एव योगशास्त्रान्तरश्लोकेषु कालाणूनामुपचारो विहित. । मुख्यकाल इत्यस्य चानादिकालीनाप्रदेशत्वव्यवहारानियामकोपचारविषय इत्यर्थ. । अत एव मनुष्यक्षेत्रमात्रवृत्तिकालद्रव्य ये वर्णयन्ति तेषामपि मनुष्यक्षेत्रावच्छिन्नाकाशादौ कालद्रव्योपचार एव शरणमिति दिग्मात्रमेतत् ॥१६॥ द्रव्या० १० अध्या० । विशे० । दश० । उत्त० । आव० । आ० चू० ।

(६) अथ कालनिक्षेपमाह-

प्रायश्चित्तं च कालापेक्षया दीयत इति कालनिरूपणासूत्रम्-

चउव्विहे काले पन्नत्ते । तं जहा-पमाणकाले, अहाउणिव्वत्तिकाले, मरणकाले, अद्धाकाले ।

प्रमीयते परिच्छिद्यते येन वर्षशतपल्योपमादि तत्प्रमाण, तदेव काल' प्रमाणकालः । स च अद्धा कालविशेष एव दिवसादिलक्षणो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तीति । उक्तं च-"दुविहो पमाणकालो, दिवसपमाण च होइ राई य । चउपोरिसिओ दिवसो, राई चउपोरिसी चेव " ॥ १ ॥ यथा यत्प्रकारं नारकादिभेदेनायुःकर्मविशेषो यथाऽऽयुस्तस्य रौद्रादिध्यानादिना निर्वृतिर्बन्धन तस्याः सकाशात य. कालो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथाऽऽयुर्निर्वृत्तिकाल । अथवा यथायुषो निर्वृत्तिस्तथा य. कालो नारकादिभवेऽवस्थान स तथेति । अयमप्यद्धाकाल एवायुष्कर्मानुभवविशिष्टः सर्वससारजीवानां वर्तनादिरूप इति । उक्त च-"आउयमित्तविसिट्ठो, स एव जीवाण वत्तणादिमओ । भण्णइ अहाउकालो, वत्तइ जो ज चिर तेण " ॥ १ ॥ मरणस्य मृत्योः कालः समयः मरणकालोऽयमप्यद्धासमयविशेष एव । मरणविशिष्टो मरणमेव वा कालो, मरणपर्यायत्वात् । उक्त च-"कालो त्ति मय मरण, जहेव मरण गओ त्ति कालगओ । तम्हा स कालकाला, जस्स मओ मरणकालो त्ति" ॥१॥ तथा अद्धैव कालोऽद्धाकालः । कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकलादिष्वपि वर्तते, ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यत इति । अयञ्च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्त्ती समयादिरूपोऽवसेयः ।

उक्तं च—

"सूरकिरियाविसिट्ठो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।
अद्धाकालो भण्णइ, समयक्खेत्तम्मि समयाइ ॥ १ ॥
समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्त पक्खमासा य ।
सवच्छरजुगपलिया-सागरओसप्पिपरियट्टा " ॥ २ ॥

द्रव्यपर्यायभूतस्य कालस्य चतुःस्थानकमुक्तम ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ।

सम्प्रति 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात् प्रथमत. कालप्रमाणरूपं विवक्षुरिदमाह-

लोगाणुभावजणियं, जोइसचक्कं भणंति अरिहंता ।
सव्वे कालविसेसा, जस्स गइविसेसनिप्फन्ना ॥

यस्य ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रसूर्यनक्षत्रादिरूपस्य सबन्धिना गतिविशेषेण निष्पन्ना. सर्वे कालविशेषाश्चन्द्रमाससूर्यमासनक्षत्रमासादिकाः तज्ज्योतिश्चक्र लोकानुभावजनितमनादिकालसन्ततिपतिततया शाश्वत वेदितव्य, नेश्वरादिकृतमिति भणन्ति प्रतिपादयन्ति भगवन्तोऽर्हन्तः । तीर्थकृतां च वचनमवश्य प्रमाणयितव्यम्, क्षीणसकलदोषतया तद्वचनस्य वितथार्थत्वाभावात् । उक्त च-"रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात्" । अपि च युक्त्याऽपि विचार्यमाणो नेश्वरादिर्घटां प्राञ्चति, ततस्तदभावाद् युक्त्याऽपि ज्योतिश्चक्र लोकानुभावजनितमवसेयम । यथा च युक्त्या विचार्यमाणो नेश्वरादिर्घटते तथा तत्त्वार्थटीकादौ विजृम्भितमिति तत एवावधार्यम् । तदेव लोकानुभावजनिताद् ज्योतिश्चक्रात् कालविशेषो निष्पन्न इति सामान्यत कालस्य सभव प्रतिपाद्य सम्प्रति सक्षेपतः कालस्य भेदानाचष्टे । ज्यो० १ पाहु० भ० ।

संखेवेण उ कालो, अणागयातीत वट्टमाणो य ।

काल सक्षेपत' त्रिधा । तद्यथा-अनागतोऽतीतो वर्तमानश्च । ज्यो० १ पाहु० ।

तिविहे काले पण्णत्ते । तं जहा-तीते पडुप्पन्ने अणागए ।

अतिशयेन इतो गतोऽतीत., पिधानवदकारलोपेऽतीतो वर्त्तमानत्वमतिक्रान्त इत्यर्थः । साम्प्रत उत्पन्न प्रत्युत्पन्नो, वर्त्तमान इत्यर्थ । न आगतोऽनागतो वर्त्तमानत्वमप्राप्तो, भविष्यन्नित्यर्थ. । उक्त च-"भवति स नामाऽतीत, प्राप्तो यो वर्त्तमानत्वम । एष्यंश्च नाम स भवति, य. प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम " ॥ १ ॥ इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

तदेवमित्थ सक्षेपत कालस्य त्रैविध्य प्रतिपाद्य प्रकारान्तरेण सक्षेपत एव कालस्य त्रैविध्यमाह-

संखेज्जमसंखेज्जा, अणंतकालो उ णिद्दिट्ठो ।

त्रिविधः कालो भगवद्भिस्तीर्थङ्करगणधरैर्निर्दिष्ट । तद्यथा-संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तश्च । तत्र समयादि॰ शीर्षप्रहेलिकापर्यन्त सख्येय॰, असख्येय॰ पल्योपमादिक॰ । अनन्तः-अनन्तोत्सर्पिएयवसर्पिएयादिक॰ । ज्यो॰ १ पाहु॰ ।

तत्र प्रथमतः सख्येयं कालं विवक्षुरिदमाह-

समए आवलिआ आण पाणु थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से पुव्वंगे पुव्वे तुडिअंगे तुडिए अडडंगे अडे अववंगे अववे हुहुअंगे हुहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णालिणंगे णलिणे अत्थिनिऊरंगे अत्थिनिऊरे अउअंगे अउए नउअंगे नउए पउअंगे पउए चूलिअंगे चूलिआ सीसपहेलिअंगे सीसपहेलिआ पलिओवमे सागरोवमे अवसप्पिणी उस्सप्पिणी पोग्गलपरिअट्टे अतीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा । अनु॰ ।

(अस्य व्याख्या 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीये भागे १५१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

कालो परमनिरुद्धो, अविभज्जो तं तु जाण समयं तु ।
समया य असंखेज्जा, हवइ हु उस्सासनिस्सासो ।

काल॰ परमनिरुद्ध परमनिकृष्ट॰ । एतदेव व्याचष्टे-अविभेद्यो विभक्तुमशक्य॰ । किमुक्त भवति ?-यस्य भूयोऽपि विभाग कर्तुं न शक्यते स काल परमनिरुद्ध॰, इत्थभूत परमनिरुद्ध कालविशेष समय जानीहि । स च समयो दुरधिगम॰, त हि भगवन्त केवलिनोऽपि साक्षात् केवलज्ञानेन विदन्ति, न तु भङ्ग्याहिकया परेभ्यो निर्देष्टु शक्नुवन्ति । निर्देशो हि प्रथमत॰ कायप्रमाणेन भाषाद्रव्याएयादाय पश्चाद्वाक्पर्याप्तिकरणप्रयोगेतो विधीयते, ततो यावत्समय इत्येतावन्त्यक्षराएयुच्चार्यन्ते तावदसख्येया समया॰ समतिक्रामन्तीति न साक्षाद्विनिर्लुठितरूपतया निर्देष्टु शक्यन्ते । इत्थंभूता॰ समया असख्येया एक उच्छ्वासनि श्वासो भवति । किमुक्त भवति ?-अनन्तरोक्तस्वरूपा समया जघन्ययुक्ता सख्यातकप्रमाणा एका आवलिका, सख्येया आवलिका एक उच्छ्वास॰, तावत्प्रमाण एव एको नि श्वास । तयोश्चाय भेद॰-ऊर्द्धगमनस्वभाव उच्छ्वास . अधोगमनस्वभावो नि॰श्वास॰ ।

उस्सासो निस्सासो, दोहिँ वि पाणु त्ति भन्नए एक्का ।
पाणा य सत्त थोवा, थोवा वि य सत्त लवमाहू ।
अट्ठ य तीसं तु लवा, अष्ठलवो चेव नालिया होइ ॥

पुरुषस्य शारीरिकबलोपेतस्यानुपहतकरणग्रामस्य निरुजस्य प्रशस्ते यौवने वर्त्तमानस्यानाकुलचेतसो य एक उच्छ्वास सख्येयावलिकाप्रमाण , यश्चैको निश्वास॰ सख्यातावलिकाप्रमाण एव, तौ द्वावपि समुदितावेक प्राणो भण्यते । प्राणो नाम कालविशेष । एतदुक्त भवति-यथोक्तपुरुषगतोच्छ्वासनि श्वासप्रमित॰ कालविशेष॰ प्राण इति । यच्च पुरुषस्य शारीरिकबलोपेताद्विविशेषकलापोपादान तदन्यथाभूतपुरुषसम्बन्धिनावुच्छ्वासनि श्वासौ न प्राणरूपकालविशेषप्रमितिहेतू भवत इति प्रतिपत्त्यर्थम । ते च प्राणा॰ सप्त सप्तसख्या एक स्तोक , स्तोकानपि च सप्तसंख्यानेक लवमाहु॰ पूर्वसूरय॰ । ते पि च लवा अष्टात्रिंशत्सख्या अर्द्धलव । अर्द्ध लवस्य अर्द्धलवम, समेंऽशे । अर्द्धं नपुसकम ।२।२।२। इति समास॰ । चैवशब्दः समुच्चये । एका नालिका भवति । सार्द्धा अष्टात्रिंशल्लवा॰ समुदिता एका नालिका भवतीत्यर्थः । ज्यो॰ १ पाहु॰ । (नालिकादि (घटिकादि) प्रमाण स्वस्थाने द्रष्टव्यम)

(१०) सम्प्रति मुहूर्त्तादिप्रमाणमाह-

वे नालिया मुहुत्तो, सर्ट्ठि पुण नालिया अहोरत्तो ।
पन्नरस अहोरत्ता, पक्खो तीसं दिणा मासो ॥

द्वे नालिके द्वे घटिके समुदिते एको मुहूर्त्तः, स च धारिमप्रमाणचिन्तायां द्वे पलशते, मेयप्रमाणचिन्ताया चत्वार आढकाः । षष्टिः पुनर्नालिका घटिकाः समुदिता एको अहोरात्रस्त्रिंशन्मुहूर्ता एकोऽहोरात्रमित्यर्थ । तत्र च मेयप्रमाणचिन्ताया विंशत्युत्तरमाढकशतम, धारिमप्रमाणचिन्तायां षट्पलसहस्राणि, तानि यदि भारीकृत्य चिन्त्यन्ते तदा त्रयो भारा भवन्ति । पञ्चदश अहोरात्रा एकः पक्ष , स च मेयप्रमाणचिन्तायामष्टादश आढकशतानि, धारिमप्रमाणचिन्तायां पञ्च चत्वारिंशद् भाराः, तथा त्रिंशद् भारा॰ । तथा त्रिंशद्दिनान्यहोरात्र एको मास । स च धारिमप्रमाणचिन्तायां नवतिर्भाराः, मेयप्रमाणचिन्तायां षट्त्रिंशदाढकशतानि ।

संवच्छरो उ वारस, मासा पक्खा य ते चउव्वीसं ।
तिन्नेव सया सट्ठा, हवंति राइंदियाणं तु ॥

ते अनन्तरोक्तप्रमाणा मासा द्वादशसख्या एक॰ संवत्सरो भवति । ते च द्वादश मासा पक्षतया चिन्त्यमाना चतुर्विंशति पक्षा भवन्ति । रात्रिन्दिवतया चिन्त्यमानास्त्रीणि शतानि षष्टीनि; षट्पएयधिकानि भवन्ति रात्रिंदिवानामहोरात्राणाम् । एष च सवत्सरो यदा मेयरूपतया चिन्त्यते तदा शतद्वयाधिकानि त्रिचत्वारिंशत्सहस्राएयाढकानां भवन्ति (४३२००) तोल्यरूपतया तु चिन्त्यमानो भाराणामेक सहस्रमशीत्याधिकम् (१०८०) । एष च सवत्सरो लोके कर्मसवत्सर इति, ऋतुसवत्सर इति च प्रसिद्धिं गत॰ । तथाहि-लौकिकास्त्रिंशतमहोरात्रान् मासं परिगणयन्ति, इत्थभूतमासद्वयात्मक च वसन्तादिकमृतु,तथाभूतानां षण्णां वसन्तादीनामृतूना समुदाय सवत्सरम । यानि च लोके कर्माणि प्रवर्तन्ते तानि सर्वाण्यमु सम्वत्सरमधिकृत्य, एष कर्मसवत्सर॰, सावनसवत्सर ऋतुसवत्सर इति ख्यातः ।

तथा चाह-

इय एस कमो भणिओ, नियमा संवस्सरस्स कम्मस्स ।
कम्मो त्ति सावणो त्ति य, उउ त्ति य तस्स नामाणि ॥

एष पूर्वोक्त क्रमो भणितो ज्ञातव्यो नियमात् कर्मण॰ कर्मनाम्नः सवत्सरस्य, तस्य चैवरूपस्य सवत्सरस्यामूनि नामानि । तद्यथा-कर्मेति कर्म लौकिको व्यवहार ,तत्प्रधानत॰ सवत्सरोऽप्युपचारात् कर्म । (सावणो त्ति) सवन कर्मसु प्रेरण, षुञ् प्रेरणे इति वचनात् । तत्र भव एष सवत्सर इति सावन । ऋतुर्लोकप्रसिद्धो वसन्तादिः, तत्प्रधान एष सवत्सर इत्युपचारात् ऋतु । ज्यो॰ २ पाहु॰ । ['संवच्छर' शब्देऽस्य विशेष] सम्प्रत्युत्तरः कालविशेषश्चिन्त्यते-तत्रानन्तरोदितस्वरूपैश्चतुभिर्युगैर्विंशतिर्वर्षाणि, पञ्च विंशतानि वर्षशत, दश शतवर्षाणि वर्षसहस्र, शत सहस्रवर्षाणा वर्षलक्षं, चतुरशीतिवर्षलक्षाएयेक पूर्वाङ्ग, चतुरशीति पूर्वाङ्गलक्षाणि पूर्वम ।

तथा चैतदेवाह-

वाससहस्साइं चुल-सीइगुणाऽं य होज्ज पुव्वंगं ।
पुव्वंगसहस्साइं, चुलसीइगुणा हवइ पुव्वं ॥

सुगमा ।

सम्प्रति यथोक्तमेव पूर्वपरिमाणं मुग्धजनविबोधनार्थं वर्ष-कोटिभिः प्ररूपयति-

पुव्वस्स उ परिमाणं, सत्तरिं खलु होंति सयसहस्साइं ।
छप्पन्नं सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥

पूर्वस्य परिमाणं खलु निश्चितं भवति वर्षकोटीनां सप्ततिः शतसहस्राणि, तदुपरि षट् पञ्चाशत्सहस्राणि बोद्धव्यानि ॥

पुव्वाण सयसहस्सं, चुलसीइगुणं लयंगमिह भवति ।
तेसिं पि सयसहस्सं, चुलसीइगुणं लया होइ ॥
तत्तो महालया वी, चुलसीइं चेव सयसहस्साणि ।
नलिणंगं नाम भवे, एत्तो वोच्छं समासेण ॥

पूर्वाणां शतसहस्रं लक्षं चतुरशीतिगुणमिह प्रवचने एकं लताङ्गं भवति । किमुक्तं भवति ?-चतुरशीतेः पूर्वलक्षाण्येकं लताङ्गमिति । तेषामपि लताङ्गानां शतं प्रवचने सहस्रं च चतुरशीतिगुणमेका लता भवति । चतुरशीतिलताशतसहस्राण्येका महालता । ततो महालतारूपात् सङ्ख्यास्थानादूर्द्ध्वं यानि सङ्ख्यास्थानानि भवन्ति (एत्तो वोच्छं समासेणं ति) इतो नलिनानि,अत ऊर्ध्वं सङ्ख्यास्थानान्येव क्रमेण केवलानि निर्वक्ष्यामि, न प्राक्तनसङ्ख्यास्थानानीव प्रत्येकं गुणकारनिर्देशेन । यस्तु वक्ष्यमाणसकलनागुणकारः स पर्यन्ते कथयिष्यते इति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

नलिण महानलिणंगं, हवइ महानलिणमेव नायव्वं ।
पउमंगं तह पउमं, तत्तो महापउमअंगं च ॥ १ ॥
हवइ महापउमं वि य, तत्तो कमलंगमेव नायव्वं ।
कमलं महकमलंगं, तत्तो परतो महाकमलं ॥ २ ॥
कुमुयंग तह कुमुयं, तत्तो य महाकुमुयअंगं च ।
परतो य महाकुमुयं, तुडियंगं हवइ तुडियं तु ॥
तत्तो महतुडियंगं, महातुडियमेव नायव्वं ।
अममंगं पि य परतो, अडडमेव हवइ महाअडडंगं ॥
एवं चेव य तत्तो, नायव्व महाअडममेवं ।
ऊहंगं पि य ऊहं, भवइ महऊहं च ऊहंगं ॥
तत्तो य महाऊहं, हवइ तु सीसप्पहेलियाअंग ।
तत्तो परओ सीसग-पहेलिया होइ नायव्वा ॥

इह सर्वत्राऽपि चतुरशीतिशतसहस्रप्रमाणो गुणकारः " एत्थ सयसहस्साइं " इत्यादिवक्ष्यमाणवचनात् चतुरशीतिनलिनाङ्गशतसहस्राण्येकं नलिनं, चतुरशीतिनलिनशतसहस्राणि एकं महानलिनाङ्गं, चतुरशीतिमहानलिनाङ्गशतसहस्राण्येकं महानलिनम्, चतुरशीतिमहानलिनशतसहस्राणि एकं पद्माङ्गम्, चतुरशीतिसहस्राण्येकं पद्मं । ततश्चतुरशीतिपद्मशतसहस्राण्येकं महापद्माङ्गम् । "हवइ" इत्यादि द्वितीयगाथा-चतुरशीतिमहापद्माङ्गशतसहस्राण्येकं महापद्मं, महापद्मशतसहस्राण्येकं कमलाङ्गम् । चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं कमलम् । चतुरशीतिकमलशतसहस्राण्येकं महाकमलाङ्गम्, ततः परतश्चतुरशीतिमहाकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकमलम् । "कुमुयगमित्यादि" तृतीयगाथा-ततश्चतुरशीतिमहाकमलशतसहस्राणि एकं कुमुदाङ्गम् । चतुरशीतिकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं कुमुदम् । तथा ततः कुमुदरूपात्सङ्ख्यास्थानादूर्ध्वं चतुरशीतिकुमुदशतसहस्राण्येकं महाकुमुदाङ्गम्, ततः परतश्चतुरशीतिमहाकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकुमुदम् । चतुरशीतिमहाकुमुदशतसहस्राण्येकं त्रुटिताङ्गं बोधव्यम् । "तुडियेत्यादि" चतुर्थगाथा-चतुरशीतित्रुटिताङ्गशतसहस्राणि एकं त्रुटितम्, चतुरशीतित्रुटितशतसहस्राणि एकं महात्रुटितम् । ततः परतश्चतुरशीतिमहात्रुटितशतसहस्राण्येकमटटाङ्गम्, चतुरशीत्यटटाङ्गशतसहस्राणि एकमटटम्, ततः परतश्चतुरशीतिमटटशतसहस्राणि एकं महाटटाङ्गम्,चतुरशीतिमहाटटाङ्गशतसहस्राण्येकं महाटटम्, परतश्च महाटटशतसहस्राण्येकमूहाङ्गम्, चतुरशीत्यूहाङ्गशतसहस्राण्येकमूहम्, चतुरशीत्यूहशतसहस्राण्येकं महोहम्, चतुरशीतिमहोहशतसहस्राण्येकं शीर्षप्रहेलिकाङ्गम्, चतुरशीतिप्रहेलिकाङ्गशतसहस्राण्येका शीर्षप्रहेलिका ज्ञातव्या।

संप्रत्येषु सङ्ख्यास्थानेषु गुणकारनिर्देशमाह—

एत्थ सयसहस्साइं, चुलसीइं चेव होइ गुणकारो ।
एकेक्कम्मि उ ठाणे, अह संखा होइ कालम्मि ॥

अत्र एषु नलिनादिषु सर्वसङ्ख्यास्थानेषु शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तेषु मध्ये एकैकस्मिन्सङ्ख्यास्थाने पूर्वसङ्ख्यास्थानमधिकृत्य गुणकारो भवति चतुरशीतिशतसहस्राणि । किमुक्तं भवति ?-पूर्वं पूर्वं सङ्ख्यास्थानं चतुरशीतिशतसहस्रगुणमुत्तरमुत्तरं सङ्ख्यास्थानं भवति; एतच्च प्रागेव भावितमिति । इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्, ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः सङ्घमेलापकोऽभवत् । तद्यथा-एको वलभ्यामेको मथुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसंघटनेन परस्परं वाचनाभेदो जातः । विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा सङ्घटने भवत्यवश्यं वाचनाभेद इति न काचिदनुपपत्तिः । तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमानं माथुरवाचनानुगतम् । ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्यः, ततो यदिदं संख्यास्थानप्रतिपादनं तद् वालभ्यवाचनानुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसङ्ख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति । सम्प्रत्युपसंहारमाह-(अह (त्ति) एषा अनन्तरोदिता सङ्ख्या भवति काले कालविषया ।

एसो पन्नवणिज्जे, कालो संखेज्जओ मुणेयव्वो ।
वोच्छामि असंखेज्जं, कालं उवमाविसेसेणं ॥

एषोऽनन्तरोदितस्वरूपः कालः प्रज्ञापनीय इति । अत्र शङ्कावनीयप्रत्ययभूतोऽयमर्थः-प्रतिनियतप्रमाणतया प्रतिपादयितुमशक्यः सङ्ख्येयो ज्ञातव्यः । अत ऊर्द्ध्वमसङ्ख्येयं सङ्ख्यातीतकालं वक्ष्यामि । ननु यः सङ्ख्यातीतः स कथं प्रतिपादनीय इत्यत आह-उपमाविशेषेण उपमाभेदेन, पल्योपमया इत्यर्थः । ज्यो० २ पाहु० ।

अथ पल्योपमसागरोपमयोरतिप्रचुरकालत्वेन क्षयमसम्भावयन् प्रश्नयन्नाह-

अत्थि णं भंते ! एएसिं पलिओवमसागरोवमाणं खएइ

ज्ंते ! किं संखेज्जा आवलिया पुच्छा ? । गोयमा ! सखेज्जाओ आवलियाओ, णो असखज्जाओ आवलियाओ, णो अणंताओ आवलियाओ। एव थोवा वि । एवं जाव सीसप्पहेलिय त्ति । पलिओवमे णं ज्ंते ! किं मंखेज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, असंखेज्जाओ आवलियाओ, णो अणंताओ आवलियाओ । एवं सागरोवमे वि । एवं ओसप्पिणी वि उस्सप्पिणी वि । पोग्गलपरियट्टे पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ । एवं जाव सव्वद्धा। आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जाओ आवलियाओ पुच्छा ? । गोयमा ! सिय संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ, सिय अणंताओ । एव जाव सीसप्पहेलियाओ ।

विशेषाधिकारात्कालविशेषसूत्रम् । (आवलिया णमित्यादि) । बहुत्वाधिकारे-(आवलियाओ णमित्यादि) । (नो सखेज्जा समय त्ति) एकस्यामपि तस्यामसख्याताः समया., बहुषु पुनरसङ्ख्याता अनन्ता वा स्युर्न तु सङ्ख्येया इति ।

पलिओवमा णं पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ आवलियाओ, सिय अणंताओ आवलियाओ । एवं जाव उस्सप्पिणीओ त्ति । पोग्गलपरियट्टाओ पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ । थोवे णं ज्ंते ! किं संखेज्जाओ आणापाणूओ असंखेज्जाओ ? । जहा आवलियाए वत्तव्वया एवं आणापाणूओ वि णिरवसेसा । एवं एएणं गमएणं जाव सीसप्पहेलिया जाणियव्वा । सागरोवमे णं ज्ंते ! किं संखेज्जा पलिओवमा पुच्छा ? । गोयमा ! संखेज्जा पलिओवमा, णो असखेज्जा पलिओवमा, णो अणंता पलिओवमा । एव ओसप्पिणीओ वि । पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा, एवं जाव सव्वद्धा । सागरोवमा णं भंते ! किं संखेज्जा पलिओवमा पुच्छा ?। गोयमा ! सिय संखेज्जा पलिओवमा, सिय असंखेज्जा पलिओवमा, सिय अणंता पलिओवमा । एवं जाव ओसप्पिणीओ वि उस्सप्पिणीओ वि । पोग्गलपरियट्टा णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा । उस्सप्पिणीओ ण ज्ंते ! किं सखेज्जा सागरोवमा ?। जहा पलिओवमस्स वत्तव्वया तहा सागरोवमस्स वि । पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणिओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ ओसप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणीओ । पोग्गलपरियट्टा णं ज्ंते ! किं संखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ, णो असखेज्जाओ, अणंताओ। पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ । एवं जाव सव्वद्धा। पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं सखेज्जाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ,अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ । तीतद्धा णं भंते ! किं संखेज्जा पोग्गलपरियट्टा ?। गोयमा ! णो सखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, णो असंखेज्जा, अणंता पोग्गलपरियट्टा । एवं अणागया वि । एवं सव्वद्धा वि । अणागयद्धा णं ज्ंते ! किं संखेज्जाओ अतीतद्धाओ,असंखेज्जाओ, अणंताओ ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ तीयद्धाओ,णो असखेज्जाओ तीयद्धाओ,णो अणंताओ तीयद्धाओ। अणागया णं तीतद्धाओ समयाहिया, तीतद्धा णं अणागयद्धाओ समयूणा । सव्वद्धा णं ज्ंते ! किं संखेज्जाओ तीतद्धाओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ तीतद्धाओ, णो असंखेज्जाओ तीतद्धाओ, णो अणताओ तीतद्धाओ। सव्वद्धा णं तीतद्धाओ सातिरेगदुगुणो। तीतद्धा णं सव्वद्धाओ थोवूणाए अद्धे । सव्वद्धा णं ज्ंते ! किं संखेज्जाओ अणागयद्धाओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ अणागयद्धाओ, णो असंखेज्जाओ, णो अणंताओ अणागयद्धाओ । सव्वद्धा णं अणागयद्धाओ थोवूणगदुगुणो, अणागयद्धा णं सव्वद्धाओ सातिरेगे अद्धे ॥

(अणागयद्धाणं तीयद्धाओ समयाहिय त्ति) अनागतकालोऽतीतकालात्समयाधिकः। कथम् ?, यतोऽतीतानागतौ कालावनादित्वानन्तत्वाभ्यां समानौ, तयोश्च मध्ये भगवतः प्रश्नसमयो वर्त्तते। स चाविनष्टत्वेनातीतेन प्रविशत्याऽविनष्टत्वसाधर्म्यादनागते किंमस्तत समयातिरिक्ताऽनागताद्धा भवति। अत एवानागतकालादतीतकाल. समयोनो भवतीति । एतदेवाह-"तीतद्धाणमित्यादि" (सव्वद्धाण तीतद्धाओ साइरेगदुगुण त्ति) सर्वाद्धाऽतीतानागताद्धाद्वयम्। सा चातीताद्धात' सकाशात्सातिरेकाद्विगुणा भवति, सातिरेकत्व च वर्त्तमानसमयेन । अत एवातीताद्धा सर्वाद्धाया' स्तोकोनमर्द्धमूनत्वं च वर्त्तमानसमयेनैव। एतदेवाह-(तीतद्धाण सव्वद्धाए थोवूणाए अद्धे त्ति) इह कश्चिदाह-अतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणा यतो यदि ते वर्त्तमानसमये समे स्यातां ततस्तदतिक्रमेऽनागताद्धासमयेनोना स्यात । ततो द्ध्यादिभिरेव च समत्व नास्ति। ततोऽनन्तगुणाऽऽसावतीताद्धाया सकाशात्, अत एवानन्तेनापि कालेन गतेन नासौ क्षीयते । अत्रोच्यते-इह समत्वमुभयोरप्याद्यन्ताभावमात्रेण वि-

यक्तिमिति चादावेव निवेदितमिति पर्यवा उद्देशकादावुक्ताः, ते च भेदा अपि भवन्तीति । भ० २५ श० ५ उ० ।

(१२) समयादिप्रज्ञान मनुष्यक्षेत्र एव-

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं तत्थगयाणं एवं पन्नायए तं समयाइ वा आवलियाइ वा जाव ओसप्पिणीइ वा उस्सप्पिणीइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं जाव समयाइ वा आवलियाइ वा ओसप्पिणीइ वा उस्सप्पिणीइ वा ?। गोयमा ! इहं तेसिं माणं इहं तेसिं पमाणं इहं तेसिं एवं पन्नायए तं समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा से तेणं जाव नो एवं पन्नायए समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया। अत्थि णं भंते ! मणुस्साणं इहगयाणं एवं पन्नायइ तं समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा ?। हंता ! अत्थि। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! इह तेसिं माणं इह चेव तेसिं पमाणं इह तेसिं एवं पन्नायइ । तं जहा-समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं वाणमंतरजोइसवेमाणियाणं जहा नेरइयाणं ।

कालद्रव्यचिन्तासूत्रम् । (तत्थ गयाण ति) नरके स्थितै' षष्ठ्याः स्तृतीयार्थत्वात् । (एव पन्नायइ त्ति) एव प्रज्ञायते इद विज्ञायते (समयाइ व त्ति) समया इति वा (इह तेसिं ति) इह मनुष्यक्षेत्रे तेषा समयादीनां मान परिमाणम्, आदित्यगतिसमभिव्यङ्ग्यत्वात्तस्य आदित्यगतेश्च मनुष्यक्षेत्र-एव भावान्नरकादौ त्वभावादिति । (इह तेसिं पमाण ति) इह मनुष्यक्षेत्रे तेषां समयादीना प्रमाण प्रकृष्ट मानं, सूक्ष्ममानमित्यर्थ. । तत्र मुहूर्त्तस्तावन्मानं, तदपेक्षया लव. सूक्ष्मत्वात्प्रमाणम् । तदपेक्षया स्तोक प्रमाण, लवस्तु मानमित्येव नेय यावत्समय इति । ततश्च (इह तेसिमित्यादि) इह मर्त्यलोके मनुजैस्तेषां समयादीनां सम्बन्धि, एवं वक्ष्यमाणसरूप समय त्याद्येव ज्ञायते। तद्यथा-(समयाइ वेत्यादि) इह च समयक्षेत्राद्वहिर्वर्तिनां सर्वेषामपि समयाद्यज्ञानमवसेयम्, तत्र समयादिकालस्याभावेन तद्व्यवहाराभावात् । तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काश्च यद्यपि केचिन्मनुष्यक्षेत्रेऽपि सन्ति, तथापि तेऽल्पाः प्रायस्तद्व्यवहारिणश्चेतरे तु वहव इति तदपेक्षया ते न जानन्तीत्युच्यत इति । भ० ५ श० ९ उ० । (मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तराभ्यां कालविभाग. 'उदयसंठिइ' शब्दे द्वितीयभागे ७७५ पृष्ठे उक्त) "कालो वाघाइम, इयरो य नायव्वो " । इह कालो द्विविधो भवति । तद्यथा-व्याघातिम इतरश्च । व्याघातेन निर्वृत्तो व्याघातिम:; भावादिमप्रत्यय. । इतरो निर्व्याघातः । व्य० ७ उ० । " कालगहण " कालस्य प्रस्तावात्प्रादोषिकस्य ग्रहणम् । अय च कालो व्याघातिकोऽप्युच्यते । (तस्य ग्रहणप्रकारप्रदर्शन 'सज्झाय' शब्दे करिष्यामि)

निद्धेयरो य कालो, एगंतसिणिद्ध मज्झिम जहन्नो ।
लुक्खे वि होइ तिविहो, जहन्न मज्झमो य उक्कोसो ॥४३॥

इह कालः सामान्यतो द्विविधः । तद्यथा-स्निग्धो रूक्षश्च । तत्र सजलः सशीतश्च स्निग्ध. । उष्णो रूक्षः । स्निग्धोऽपि त्रिधा । तद्यथा-एकान्तस्निग्ध. मध्यमो जघन्यश्च । तत्र एकान्तास्निग्धोऽतिस्निग्ध । रूक्षोऽपि त्रिधा। तद्यथा-जघन्यो मध्यम उत्कृष्ट. । उत्कृष्टो नाम अतिशयेन रूक्षः। पिं० । औ० । " कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजा' । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रम' " ॥ १ ॥ आव० ४ अ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नाम नयरी होत्था ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये यस्मिन्नसौ नगरी बभूवेति । अधिकरणे चेय सप्तमी। अथ कालसमययोः क. प्रतिविशेष' ?। उच्यते-काल इति सामान्यकालः अवसर्पिण्याश्चतुर्थविभागलक्षण. । समयस्तु तद्विशेषः । अथवा तेन कालेन अवसर्पिणीचतुर्थारकत्वलक्षणेन हेतुभूतेन, समयेन तद्विशेषभूतेन हेतुना, चम्पा नाम नगरी (होत्य त्ति) अभवदासीदित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । विपा० । रा० । नि० । तेन कालेनेति दुःषमसुषमादिलक्षणे, आचा० । ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति द्रष्टव्यम् । अस्यायमर्थ.-यस्मिन् काले भगवान् वर्द्धमानस्वामी स्वय विहरति तस्मिन्निति । णमिति वाक्यालङ्कारे। दृष्टश्चान्यत्रापि णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थ । यथा-" इमा णं पुढवी " इत्यादाविति । काले अधिकृतावसर्पिणीचतुर्थविभागरूपे, रा० ।

(१३) काले ज्ञानाचार.-

काले विणए बहुमा-णे उवहाणे तहा अनिण्हवणे ।
वंजणअत्थ तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥

तत्र यो यस्याऽङ्गप्रविष्टादेः श्रुतस्य काल उक्त', तस्य तस्मिन्नेव स्वाध्याय. कार्य., नान्यदा, प्रत्यवायसम्भवात् । (तीर्थकरवचनविरोधात्। ध०१ अधि०) दृश्यते च लोकेऽपि कृष्यादेः कालकरणे फल, विपर्यये तु विपर्यय इति । यत उक्तम्-" कालम्मि कीरमाणे, किसिकम्म बहुफल जहा भणिय । इय सव्वा वि य किरिया, नियनियकालम्मि कायव्वा" ॥१॥ इति । प्रव० ६द्वार। दश० "कालो विव निरणुकपाओ"। स्त्रिय (कालो त्ति) दुर्भिक्षकालः, एकान्तदु'षमाकालो वा । यद्वा-लोकोक्तौ दुष्टसर्प., तद्वद् निरनुकम्पा दयावर्जिताः । त० । तथाविधाऽवसरे, भ० ११ श० ११ उ० । पञ्चा० । अभावे, कालशब्दोऽभाववाची । बृ० ४ उ० । मरणे, भ० ११ श० ११ उ० । मृत्यौ, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । काल इव काल. । मारणान्तिकसमुद्घाते, भ० १४ श० ७ उ० । क्रूरप्रकृतित्वात् कृतान्तसदृशे कृष्णे, ज० २ वक्ष०। घनमेघसदृशे सान्द्रजलदसमाने कालके, प्र० ५ श० १ उ० । कृष्णवर्णे, प्रज्ञा० २ पद । प्रश्न० । सू० प्र०। सप्तमनरकपृथिव्यास्तृतीये नरके, पु० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० क०। स० । षोडशानां पिशाचानां मध्ये पञ्चमे पिशाचे,प्रज्ञा०१ पद । दाक्षिणात्यानां पिशाचानामिन्द्रे, प्रज्ञा० २ पद । ज० । भ० । स्था० । काल्या अयमपत्य वा काल. । कोणिकभ्रातर्य्योयाः काल्या आत्मजे, नि० ।

(१४) तद्वक्तव्यता-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपा नामं नयरी होत्था । रिद्धत्थिमिए

चेइए तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए कूणिए नाम राया होत्था। महता तस्स णं कूणियस्स रन्नो पउमावई नाम देवी होत्था। सुखमाल० जाव विहरइ,तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कूणियस्स रन्नो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था। सुखमाल० जाव सुरूवा,तीसे णं कालीए देवीए पुत्ते काले नामं कुमारे होत्था। सुखमाल० जाव सुरूवे तते णं से काले कुमारे अन्नदा कदाइ तिहिं दंतीसहस्सेहिं तिहिं रहस्स सहस्सेहिं तिहिं आमसहस्सेहिं तिहिं मणुयकोमीहिं गरुलवूहे एक्कारसमेणं खंडेणं कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं उवागए। तते णं से कालीदेवीए अन्नदा कदाइ कुटुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अज्जत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु ममं पुत्ते कालकुमारे तिहिं दंतीसहस्सेहिं० जाव ओयाए से मन्ने किं जतिस्सति,नो जतिस्सति, जीविस्सइ, नो जीविस्सति, पराजणिस्सइ, णो पराजणिस्सइ। काले ण कुमारं अहं जीवमाणं पासिज्जाओ हयमणी जाव झियाति। तेण कालेणं तेणं समयेणं समणे भगवं महावीरे समोसरिते परिसा निग्गया। तते णं तीसे कालीए देवीए इमीसे कहाए लद्धट्ठाए समाणीए अयमेयारूवे अज्जत्थिए जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं इहमागते जाव विहरति। तं महाफलं खलु तहारूवाणं जाव विउलस्स अट्ठस्स गहणताए तं गच्छामि णं समणं जाव पज्जुवासामि। इमं च णं एयारूवं वागरणं पुच्छिस्सामि तिकट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कोमुवियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वदासि खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! धम्मियं जाणपवरं जुत्तामेव उवट्ठावेइ, उवट्ठाविता जाव पच्चुप्पिणंति। तेणं से काली देवी एहाया कयवलिकम्मा० जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा बहूहिं खुज्जाहिं० जाव महत्तरगवदपरिखित्ता अंतउरातो निग्गच्छति, निग्गच्छत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणपवरे तेणेव उवागच्छइ, धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहति, दुरूहित्ता नियगपरियाल संपरिवुडा चंपानयरिं मज्झं मज्झे ण निग्गच्छति। जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ,धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहिंति दुरूहित्ता नियगपरियालसंपरिवुडा चंपानयरीं० उत्तादीए धम्मियं जाणप्पवरं ठवेति,धम्मियाओ जाणप्पवराओ पचोरुहति। बहूहिं जाव खुज्जाहिं वंदपरिखित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वदति, वंदित्ता ठिया चेव सपरिवारा सुस्सूसमाणी नमसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिपुडा पज्जुवासति। तते णं समणे भगवं जाव कालीए देवीए तीसे य महइ महालियाए धम्मकहा जाणियव्वा, जाव समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणा आणाए आराहए भवति। तते णं सा काली देवी समणस्स भगवओ अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म जाव हयहियया समणं भगवं तिक्खुत्तो जाव एवं वयासी–एवं खलु भंते! मम पुत्ते काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रहमुसलसंगामे आयाति से णं भंते! किं जइस्सति जाव कालेणं कुमारं अहं जीवमाणं पासिज्जा कालीति समणे भगवं कालिं देविं एवं वयासी–एवं खलु कालि! तव पुत्ते काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं संगामेमाणे हयमहितए वरवीरघातिविवाडितचिंधद्धयपडागे निरालोयातो दिसातो कारेमाणे चेमगस्स रन्नो सपक्खं सपडिदिसिं रहेणं पमिरहं हव्वमागते।

"एवं खलु जंबू! तेणं कालेणमित्यादि" [इहेव त्ति] इहैव देशतः प्रत्यासन्ने न पुनरसंख्येयत्वाज्जम्बूद्वीपानामन्यत्रेति भाव। भारते वर्षे क्षेत्रे चंपा नगरी अभूत्। रिद्धेत्यनेन "रिद्धित्थिमियसमिद्ध" इत्यादि दृश्यम्। व्याख्या तु प्राग्वत्। तत्रोत्तरपूर्वदिग्भागे पूर्णभद्रनामकं चैत्यं व्यन्तरायतनम्। [कोणिय नाम राय त्ति] कूणिकनामा श्रेणिकनामा राजपुत्रो राजा [होत्थ त्ति] अभवत् तद्वर्णक' (महयाहिमवतमलयमंदरमहिंदसारे इत्यादि भाणे विहरइ) इत्येतदन्त'। तत्र महाहिमवानिव महान् शेषराजापेक्षया। तथा मलय' पर्वतविशेषो, मन्दरो मेरुर्महेन्द्रः शक्रादिर्देवो यस्य स तथा। तथा प्रशान्तानि डिम्बानि विघ्नामम्बराणि च राजकुमारादिकृता विभ्रमा यस्मिन् तत्तथा। प्रसाधयन् पालयन् विहरत्यास्ते स्म। कूणिकदेव्या. पद्मावतीनाम्न्या वर्णको यथा–(सुखमाल जाव विहरति) यावत्करणादेव दृश्यम्–"सुकुमालपाणिपाया अहीणपंचेंदियसरीरा" अहीनान्यूनानि लक्षणत स्वरूपतो वा पञ्चापीन्द्रियाणि यस्मिंस्तत्तथाविधं शरीरं यस्या. सा तथा। (लक्खणवंजणगुणोववेया) लक्षणानि स्वस्तिकचक्रादीनि व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि तेषां यो गुण प्रशस्तता,तेन उपपेता युक्ता या सा तथा। उप अप एते शब्दत्रयस्थाने शकन्धवादिदर्शनादुपपेति स्यात्। "माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा" तत्र मान जलद्रोणप्रमाणता, कथम्?, जलस्यातिभृते कुण्डे पुरुषे निवेशित यज्जल निःसरति, तद्यदि द्रोणमानं भवति तदा स पुरुषो मानप्राप्त उच्यते। तथा उन्मानमर्द्धभारप्रमाणता,कथम्?–तुलारोपित पुरुषो यद्यर्द्धभारं तुलति तदा स उन्मानप्रमाणमुच्यते। प्रमाण तु स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशतोच्छ्रायिता। ततश्च मानोन्मानप्रमाणप्रतिपूर्णान्यन्यूनानीति। सुजातानि सर्वाणि अङ्गानि शिर प्रभृतीनि यस्मिन् तत्तथाविधं सुन्दरमङ्गं यस्या सा तथा। "ससिसोमाकारकंत पियदंसणा" शशिवत्सौम्याकार कान्त च कमनीयमत एव प्रियं द्रष्टृणां दर्शनं रूपं यस्या सा तथा। अत एव सुरूपा स्वरूपत सा पद्मावती देवी "कूणिएण सद्धिं ओरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरई" भोगभोगान् अतिशयवद्भोगान् [तत्थ णमित्यादि] "सुकुमालपाणिपाया" इत्यादि पूर्ववद्वाच्यम्। अन्यच्च "कोमुईरयणियरविमलपडिपुन्नसोमवयणा" कौमुदीरजनिकरवद कार्तिकी-

तत्र । कूणिकस्य कालो दण्डनायको निजबलान्वितो युध्यमानस्तावद्गतो यावच्चेटकः । ततस्तेनैकशरनिपातेनासौ निपातितः । भग्नं च कूणिकबलम्, गतं बद्धमपि बलं निजमावासस्थानम् । द्वितीयेऽह्नि सुकालो नाम दण्डनायको निजबलान्वितो युध्यमानस्तावद्गतो यावच्चेटकः। एष सोऽप्येकशरेण निपातितः २। एवं तृतीयेऽह्नि महाकालः,सोऽप्येवम् ३। चतुर्थेऽह्नि कृष्णकुमारस्तथैव ४,पञ्चमे सुकृष्णः ५,षष्ठे महाकृष्णः ६, सप्तमे वीरकृष्णः ७, अष्टमे रामकृष्णः ८, नवमे पितृसेनकृष्णः ९,दशमे पितृसेनमहाकृष्णः १० चेटकेन एकैकशरेण निपातिताः। एवं दशसु दिवसेषु चेटकेन विनाशिता दशापि कालादयः। एकादशेऽपि दिवसे चेटकजयार्थं देवताऽऽराधनाय कूणिकोऽष्टमभक्तं प्रजग्राह। ततः शक्रचमरावागतौ। ततः शक्रो बभाषे-चेटकः श्रावक इत्यहं न तं प्रहरामि, नवरं त्वन्त सरक्षामि । ततोऽसौ तद्रक्षार्थं वज्रप्रतिरूपकमभेद्यं कवचं कृतवान्। चमरस्तु द्वौ संग्रामौ विकुर्वितवान्-महाशिलाकण्टकं, रथमुशलं चेति। तत्र महाशिलेव कण्टको जीवितभेदकत्वात् महाशिलाकण्टकः। ततश्च यत्र तृणशूकादिनाऽप्यभिहतस्याश्वहस्त्यादेर्महाशिलाकण्टकेनेवाभ्याहतस्य वेदना जायते स संग्रामो महाशिलाकण्टक एवोच्यते।(रथमुसले त्ति)यत्र रथो मुशलेन युक्तः परिधावन् महाजनक्षयं कृतवान् अतो रथमुशलः। उवाए त्ति) उपयातः संप्राप्तः । (किं जइस्सति) जयश्लाघां प्राप्स्यति। पराजेष्यति अभिभविष्यति,परं सैन्यं परानभिभविष्यति। तेन कालनामानं पुत्रं जीवन्तं द्रक्ष्याम्यहं न वेत्येवमुपहतो मनःसंकल्पो युक्तायुक्तविवेचने यस्याः सा उपहतमनःसंकल्पा। यावत्करणात्-"करयलपल्हत्थियमुही अट्टज्झाणोवगयाओ भंथियवयणनयणकमलाओ" भंथिय अधोमुखीकृतं वदनं च नयनं कमलेव यया सा तथा। "दीणविवन्नवयणा" दीनस्येव विवर्णं वदनं यस्याः सा तथा [झियायति] आर्त्तध्यानं ध्यायति " मणोमाणसिएण दुक्खेण अभिभूया "मनसि जातं मानसिकम्, मनस्येव यद्वर्तते तत् मानसिकं, दुःखवचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकं, तेन [अब्वहि] वर्त्तनाभिभूता। " तेणं कालेणमित्यादि " [अयमेयारूवे त्ति] अयमेतद्रूपो वक्ष्यमाणरूपः। [अब्भत्थिए त्ति] आध्यात्मिक आत्मविषयः चिन्तितस्मरणरूपः प्रार्थितं लब्धमाशंसितं मनोगतं मनस्येव वर्तते यद् न बहिः प्रकाशितं संकल्पविकल्पसमुत्पन्नं प्रादुर्भूतम् । तदेवाह-(एवमित्यादि)। यावत्करणात्-"पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए इह संपत्ते इह समोसढे इहेव चंपाए नयरीए पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिहित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स वि सवणयाए किमंग ! पुण अभिगमणवंदणनमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणाए एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग ! पुण विउलस्स अट्ठगहणयाए इच्छामि णं अहं समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि। एयं तो पिच्चभवे हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ,इमं च णं एयारूवं वागरणं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं संपेहेसि।" संप्रेक्षते पर्यालोचयति सुगमं, नवरम् (इहागए त्ति) चम्पां (इह संपत्ते त्ति) पूर्णभद्रे चैत्ये इह (समोसढे त्ति) साधूचितावग्रहे। एतदेवाह-"इहेव चंपाए इत्यादि" (अहापडिरूवं त्ति) यथाप्रतिरूपमुचितमित्यर्थः। (तमिति) तस्मात्(महाफल त्ति)महत्फलमाप्त्यां भवतीति गम्यम्। (तहारूवाणं ति) तत्प्रकारस्वभावानां, महाफलजननस्वभावानामित्यर्थं । (नामगोयस्स त्ति) नाम्नो यादृच्छिकस्याभिधानस्य गोत्रस्य गुणनिष्पन्नस्य (सवणयाए त्ति)श्रवणेन (किमंग! पुण इति) किं पुनरिति पूर्वोक्तार्थविशेषद्योतनार्थम् । अङ्गेत्यामन्त्रणे । यद्वा परिपूर्ण एवाय शब्दो विशेषणार्थः । अभिगमनं वन्दनं स्तुतिः नमनं प्रणमनं प्रतिप्रच्छनं शरीरादिवार्ताप्रश्नः, पर्युपासनं सेवा, तद्भावस्तत्ता, तथा एकस्याप्यर्थस्यार्थप्रणेतृकत्वाद् धार्मिकस्य धर्मप्रतिबद्धत्वाद् वन्दामि वन्दे स्तौमि नमस्यामि, सत्कारयामि आदरं करोमि । वस्त्राद्यर्चनं वा समानयामि उचितप्रतिपत्त्येति, कल्याणं कल्याणहेतुं मङ्गलं दुरितोपशमनहेतुं दैवं चैत्यं पर्युपासयामि सेवे । एतत् नोऽस्माकं प्रेत्य भवे जन्मान्तरे हिताय पथ्यान्नवत् सुखाय शर्मणे क्षेमाय संगतत्वाय निःश्रेयसाय मोक्षाय अनुगामिकत्वाय भवपरम्परासु सानुबन्धसुखाय भविष्यतीति कृत्वा इति हेतो संप्रेक्षते पर्यालोचयति।संप्रेक्ष्य च एवमवादीत्-शीघ्रमेव भो देवानुप्रिया! धर्माय नियुक्तं धार्मिकं यानप्रवरम् (चाउग्घंटं आसरहं ति) चतस्रो घण्टाः पृष्ठतोऽग्रतः पार्श्वतश्चालम्ब्यमाना यस्य स चतुर्घण्टः, अश्वयुक्तो रथोऽश्वरथः युक्तमेवाऽश्वादिभिरुपस्थापयन्ति प्रगुणीकृत्य मम समर्पयत (एहायन्ति)कृतमज्जनाः,स्नानानन्तरम् (कयबलिकम्म त्ति)स्वगृहे देवतानां कृतबलिकर्म्मा, (कयकोउयमंगलपायच्छित्त त्ति) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानीव दुःस्वप्नादिव्यपोहायावश्यं कर्मकर्तव्यत्वात् प्रायश्चित्तानि यया सा तथा । तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलादीनि सिद्धार्थदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादीनि। "सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा" सुगमम् । (उवट्ठाणसाला) उपवेशनमण्डपः। (दुरूहइ) आरोहति (बहूहिं खुज्जाहिं) तत्र कुब्जिकाभिर्वक्रजङ्घाभिः, चिलातीभिरनार्यदेशोत्पन्नाभिः, वामनाभिः ह्रस्वशरीराभिः, रूवाभिः पङ्कोष्ठाभिः, बब्बरीभिः बब्बरदेशे सम्भवाभिः,बकुसिकाभिः योनिकाभिः,पण्हकाभिः,इसिनिकाभिः,थारुकिनिकाभिः लासिकाभिः लकुसिकाभिः द्राविडीभिः सिंहलीभिः आरबीभिः पक्कणीभिः बाहुलीभिः मुरण्डीभिः शबरीभिः पारसीभिः नानादेशीभिः,बहुविधानार्यदेशोत्पन्नाभिरित्यर्थः। विदेशः, तदीयदेशापेक्षया चम्पा नगरी विदेशः। तस्याः परिमण्डिकाभिः,"इंगिय चिंतिय पत्थिय वियाणियाहिं" तत्र इङ्गितेन नयनादिचेष्टाविशेषेण, चिन्तितं च परेण कृतेप्सितप्रार्थितं चाभिलषितं च विजानन्ति यास्तास्तथाभिः, स्वस्वदेशे यन्नेपथ्य परिधानादिरचना तद्वद् गृहीतो वेषो याभिस्तास्तथा, ताभिः। निपुणानां मध्ये कुशला यास्तास्तथा, ताभिः, अत एव विनीताभिर्युक्तेति गम्यते। तथा चेटिकाचक्रवालेन, अर्थात् स्वदेशसम्भवेन वृन्देन परिक्षिप्ता या सा तथा। यत्रैव श्रमणो भगवान् तत्रैवोपागता संप्राप्ता, तदनु महावीरं त्रिःकृत्वा वन्दते स्तुत्या नमस्यति प्रणामतः स्थिता ऊर्ध्वस्थानेन कृताञ्जलिपुटा अभिमुखा सती पर्युपास्ते, धर्मकथाश्रवणानन्तरं त्रिःकृत्वा वन्दयित्वा एवमवादीत्-"एवं खलु भंते !" इत्यादि सुगमम् । अत्र कालीदेव्याः पुत्रः कालनामा कुमारो हस्तितुरगरथपदातिरूपनिजसैन्यपरिवृतः कूणिकराजनियुक्तो चेटकराजेन सह रथमुसलं संग्रामयन् सुभटैश्चेटकसत्कैर्यदस्य कृतं तदाह-(हयमहियपवरवीरघाइयविवडियचिंधज्झयपडागे) सैन्यस्य हतत्वात् महतो मानस्य मन्थनात् प्रवरवीराः सुभटाः, घातिता

च्छिन्नशिरा यस्य स तथा । विपातितनाथेकेतुपताका गरुडादिचि-ह्नयुक्तः केतुः पताका यस्य स तथा । ततः पदद्वन्द्वस्य कर्मधारयः । अतएव [निराहोयालो दिसाओ करेमाणे त्ति] निर्गतस्योका दिश कुर्वन्, चेटकराजस्य (सपक्खं सपडिदिसिं ति) सपक्षं समानपार्श्वं समानपार्श्वतया, समप्रतिदिक्-तयाऽऽभिमुख्येनेत्यर्थः । अभिमुखागमनो हि परस्परस्य समप्रतिदिक् भवतीत्यर्थः । तत एव विदिशापयीति ।

तते णं से चेडए राया कालं कुमारं एज्जमाणं पासति, कालं एज्जमाणं पासित्ता आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु धणुं परामुसति, परामुसित्ता उसुं परामुसइ, परामुसइत्ता विसाहं ठाणं ठाति, ठातित्ता आययकण्णायतं उसुं करेति, करेत्ता कालं कुमारं एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेति । तं कालगते णं काली ! काले कुमारे नो चेव णं तुमं कालकुमारं जीवमाणं पासिहिसि । तते णं सा काली देवी समणस्स भगवओ अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म महया पुत्तसोएणं अप्फुण्णा समाणी परसुनियत्ता विव चंपगलता धसत्ति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं संनिवडिया । तते णं सा काली देवी मुहुत्तंतरेण आसत्था समाणी उट्ठाए उट्ठेत्ति, उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ० एवं वयासी-एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! सच्चे णं एसमट्ठे से जहेयं तुब्भे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं वंदइ नमंसइ, वंदइत्ता नमंसइत्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहति जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगता । भंते ! त्ति भगवं गोयमे वंदति नमंसति, वंदइत्ता नमंसइत्ता एवं वयासी-काले णं भंते ! कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रहमुसलं संगामं संगामेमाणे चेडएणं रन्ना एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोविते समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गइहिं गते कहिं उववन्ने ?, गोयमेति समणे भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव जीवियाओ ववरोविते समाणे कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेमाभे नरगे दससागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने । काले णं भंते ! कुमारे केरिसएहिं आरंभसमारंभेहिं केरिसएहिं भोगेहिं संभोगेहिं केरिसएहिं संभोइएहिं भोगसंभोगेहिं केरिसेणं वा असुभकडकम्मपब्भारेणं कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पुढवीए० जाव नेरइयत्ताए उववन्ने । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था रिद्धत्थिमियसमिद्धा । तत्थ णं रायगिहे नयरे सेणिए नामं राया होत्था । महया० तस्स णं सेणियस्स रन्नो नंदा नामं देवी होत्था । सुकुमाला० जाव विहरति । तस्स णं सेणियस्स रन्नो नंदाए देवीए अत्तए अभए नामं कुमारे होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवे सामे दंडे जहा-चित्ते जाव रज्जधुरा चिंतए यावि होत्था ।

इत्येवं स कालोऽचेटकराजस्य रथेन प्रतिरथं (हव्वं) शीघ्रमागतं संमुखीनमागच्छन्तं दृष्ट्वा चेटकराजस्तं पश्यति, दृष्ट्वा च (आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसीमाणे त्ति) तथा आशु शीघ्रं रुष्टः क्रोधेन विमोहितो यः स आशुरुष्टः । आसुरं वा आसुरसत्कक्रोपेन दारुणत्वात् उक्तं भणितं यस्य स आसुरुक्तः रुष्टो रोषवान् (कुविए त्ति) मनसा कोपवान्, चाण्डिक्कितो दारुणीभूतः, ततः (मिसिमिसीमाणे त्ति) क्रोधज्वालया ज्वलन् (तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु त्ति) त्रिवलिकां भृकुटिं लोचनविकारविशेषं ललाटे संहृत्य विधाय धनुः परामृशति विशाखं स्थानं तिष्ठति [आययकण्णायतं त्ति] बाणमाकर्णम् [एगाहच्चं ति] एकयैवाहत्या हननप्रहारो यत्र स जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्यम्, तथा प्रश्नयत्येवम् । कथमित्याह-" कूडाहच्चं " कूटस्येव पाषाणमयमहामारणयन्त्रस्येव आहननं यत्र तत् कूटाहत्यम् । भगवतोक्तेव व्याख्या । नि० ॥ (कूणिकजन्मकथा 'कूणिय' शब्दे वक्ष्यते)

तत्थ णं चम्पाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्तो चेल्लणाए देवीए अत्तए कूणियस्स रन्नो सहोयरे कणीयसे भाया वेहल्ले नामं कुमारे होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवे । तते णं तस्स वेहल्लस्स कुमारस्स सेणिएणं रन्ना जीवन्तएणं चेव सेयणए गंधहत्थी अट्ठारसवंके हारे पुव्वं दिन्ने । तए णं से वेहल्लकुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा अंतेउरपरियालसंपरिवुडे चंपं नगरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छित्ता अभिक्खणं गंगं महानइं मज्जणयं ओयरति । तए णं से सेयणए गंधहत्थी देवीओ सोंडाए गिण्हति, गिण्हित्ता अप्पेगइयाओ पट्ठे ठवेति, एवं अप्पे कुंभे ठवेति, अप्पे सीसे ठवेति, अप्पे दंतमुसले ठवेति, अप्पेगइयाओ सोंडाए गहाय उड्ढं वेहासं उव्विहइ । अप्पे सोंडगयाओ अंदोलावेति, अप्पेगइया दंतंतरेसु नीणेति । अप्पे सीभरेणं ण्हाणेति । अप्पेगइयाओ अणेगेहिं कीलावणेहिं कीलावेति । तते णं चंपाए नयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा अंतेउर त चेव जाव णेगेहिं कीलावणएहिं कीलावेति । तए णं वेहल्ले कुमारे रज्जसिरिफलं पच्चणुभवमाणे विहरति, नो कूणिए राया, तते णं तीसे पउमावइए देवीए इमीसे कहाए लद्धट्ठाए समाणीते अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु वेहल्ले कुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा० जाव अणेगेहिं कीलावणएहिं कीलावेति । तए णं से

वेहल्ले कुमारे रज्जसिरिफलं पच्चणुब्भवमाणे विहरति, नो कूणिए राया, तं किणं अम्हं रज्जेणं वा जाव जणवएणं वा जइ णं अम्हं सेयणगे गंधहत्थी नत्थि तं सेयं खलु ममं कूणियं रायं एयमट्ठं विन्नवए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता जेणेव कूणियराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता करतल० जाव एवं वयासी-एवं खलु सामी ! वेहल्ले कुमारे सेयणगंधहत्थिणा० जाव अणेगेहिं कीलावणेहिं कीलावेति, तं केणं सामी ! अम्महं रज्जेणं वा जाणज्ज जणवएणं वा, जति णं अम्हं सेयणए गंधहत्थी नत्थि, तए णं से कूणिए राया पउमावईदेवीए एयमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणति, तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं सा पउमावई देवी अभिक्खणं कूणियं रायं एयमट्ठ विन्नवेइ । तते णं से कूणियराया पउमावईदेवीए अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं विन्नविज्जमाणे अन्नदा कयाइ वेहल्लं कुमार सद्दावेति, सद्दावेत्ता सेयणगं गंधहत्थि अट्ठारसवंकं च हार जायति । तते णं से वेहल्ले कुमारे कूणियं रायं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! सेणिएणं रन्ना जीवंतेणं चेव सेयणे गंधहत्थी अट्ठारसवंके य हारे दिन्ने, तं जइ णं सामी ! तुब्भे ममं रज्जस्स य अद्धं दलह तो णं अहं तुब्भे सेयणयं गधहत्थि अट्ठारसवंकं च हारं दलयामि । तते णं से कूणिए राया वेहल्लस्स कुमारस्स एयमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणइ, अभिक्खणं अभिक्खणं सेयणगं गंधहत्थि अट्ठारसवंकं च हारं जायति । तते णं तस्स वेहल्लस्स कुमारस्स एयमट्ठं नो आढाति, नो परियाणति, अभिक्खणं अभिक्खणं सेयण० तते णं० वेहल्ले कुमारे कूणिएणं रन्ना अभिक्खणं अभिक्खणं सेयण० हारं एवं अभिक्खविउकामेणं गिण्हिउकामेणं उद्दालेउकामेणं ममं कूणिए राया सेयणिगं गंधहत्थि अट्ठारसवंकं च हारं तं जाव ताव ममं कूणिएणं रन्ना सेयणग अभिक्खणं अभिक्खणं हारं गहाय अंतेउरपरिवुमस्स सभंमत्तोवकरणमाताए चंपातो नयरीतो पमिनिक्खमित्ता वेसालीए नयरीए अज्जगं चेडयं राय उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कूणियस्स रन्नो अंतराणि जाव पमिजागरमाणे परिजागरमाणे विहरति । तते णं से वेहल्ले कुमारे अन्नदा कदाई कूणियस्स रन्नो अंतर जाणति सेयणिग गंधहत्थि अट्ठारसवक च हारं गहाय अंतेउरपरियालपरिवुमे सभंडमत्तोवकरणम.याए चंपाओ नयरीतो पडिनिक्खमति, पमिनिक्खमत्ता जेणेव वेसाला नयरी तेणेव उवागच्छति, वेसालीए नयरीए अज्जगं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहराति । तते णं से कूणिए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु वेहल्ले कुमारे ममं असंविदितेणं सेयणगं गंधहत्थि अट्ठारसवकं च हारं गहाय अंतेउरपरियालसंपरिवुडे जाव अज्जयं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तं सेयं खलु ममं सेयणगं गंधहत्थि अट्ठारसवंकं हारं दूतं पेसित्तए एवं संपेहेति, दूतं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुम्हं देवाणुप्पिया ! वेसालिं नगरिं, तत्थ णं तुमं ममं अज्जगं चेडगं रायं करतलजाव वद्धावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेति-एस ण वेहल्ले कुमारे कूणियस्स रन्नो असंविदितेणं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय इहं हव्वमागए, तेणं तुब्भे सामी ! कूणिअं रायं अणुगिण्हमाणा सेयणगं गंधहत्थि अट्ठारसवंकं हारस्स कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणह, वेहल्लं कुमारे पेसह । तते णं से दूए कूणिए करतल० जाव पडिसुणित्ता जेणेव स ते गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तहेव चित्तो० जाव वद्धावित्ता एवं वयासी-एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ । एस णं वेहल्ले कुमारे तहेव भाणियव्वं जाव वेहल्लं कुमारं संपेसह । तए णं से चेडए राया तं दूयं एवं वयासी जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए ममं न तुए तहेव णं वेहल्ले वि कुमारे सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए मम न तुए सेणियेणं रन्ना जीवं तते णं चेव वेहल्ल० कुमारस्स सेणगे गंधहत्थी अट्ठारसवंके हारे पुव्वदिन्ने तं जइ णं कूणिए राया वेहल्लस्स रज्जस्स य जणवयस्स अद्धं दलयाति । तो णं अह सेयणगं अट्ठारसवंकं हार कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणामि, वेहल्लं च कुमारं पेसेमि, तं दूयं सम्माणेति, पमिविसज्जेति । तते णं से दूते चेडएणं रन्ना पमिविसज्जिए समाणे जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरुहंति वेसालिनगरिमज्झंमज्झेणं निगच्छइ, निगच्छइत्ता सुभेहिं वसहीहिं पायरासीहिं जाव वद्धावित्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुम्हं देवाणुप्पिया ! चंपं नगरिं चेडए राया आणवेति । जह चेव णं कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए मम न तुए तं चेव भाणियव्वं, जाव वेहल्ल च कुमारं पेसेमि, तं न देति, णं सामी ! चेडए राया सेयणगं अट्ठारसवंकं हार वेहल्लं नो पेसेति । तते णं से कूणिए राया दुच्चं पि दूयं सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! वेसालिं नगरिं, तत्थ णं तुमं मम अज्जगं चेडगं जाव एवं वयासी-एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ जाणि काणि रयणाणि समुप्पज्जंति सव्वाणि ताणि रायकुलगामीणि । सेणियस्स रन्नो रज्जसिरिकारेमाणस्स पालेमाणस्स दुवे रयणा समुप्पन्ना । तं जहा-सेयणए गंधहत्थी, अट्ठारसवंके हारे । तन्नं तुब्भे

सामी ! रायकुलपरंपरागयं ठिईयं आलोएमाणे सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणह, वेहल्लं कुमार पेसेह । तते ण से दूते कूणियस्स रन्नो तहेव० जाव वद्धावित्ता एवं वयासी–एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ–जाणिति जाव वेहल्लं कुमारं पेसेह । तते ण से चेडए राया तं दूयं एवं वयासी–जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए जहा पढम० जाव वेहल्लं च कुमार पेसेह त्ति दूतं सक्कारेति सम्माणेति पमिविसज्जेति । तते णं से दूए जाव कोणियस्स रन्नो वद्धावित्ता एवं वयासी–चेमए राया आणवेति जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कोणिए राया सेणियस्स रन्नो चेल्लणाए देवीए अत्तए० जाव वेहल्लं कुमारं पेसेमि तं न देति ण सामी ! चेडए राया सेयणग गधहत्थिं अट्ठारसवकं च हारं वेहल्लं कुमारं नो पेसेति । तते ण से कूणिए राया तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए जाव मिसिमिसेमाणे तच्चं दूतं सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! वेसालीए नयरीए चेमगस्स रन्नो वामेणं पादेणं पायपीढं अक्कमाहि, अक्कमित्ता कुंतग्गेणं लेहं पणावेहि, पणावेहित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिवलीं भिउमी निमाले साहट्टु चेमगं रायं एवं वयासी–हं भो चेमगराया ! अपत्थियपत्थिया दुरंत० जाव परिवज्जित्ता एस णं कूणिए राया आणवेइ–पच्चप्पिणाहि णं कूणियस्स रन्नो सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं हल्लवेहल्लं कुमारं पेसेहि, अहवा जुद्धं सज्जेह चिट्ठाहि, एस णं कूणिए राया सबलसवाहणे जुद्धसज्जे इह हव्वमागच्छति । तते ण से दूते करतल० तहेव जाव जेणेव चेमए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करतल० जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी–एस णं सामी ! ममं विणयपडिवत्ती इयाणिं कूणियस्स रन्नो आणुत्ती चेडगस्स रन्नो वामेणं पाएणं पादपीढं अक्कमति, अक्कमित्ता आसुरुत्ते कुंतग्गेणं लेहं पणावे, तं चेव सबलखधावारेणं इह हव्वमागच्छति । तते णं से चेमए राया तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते० जाव साहट्टु एवं वयासी–ता अप्पमेणं कूणियस्स रन्नो सेयणगं अट्ठारसवंक हारं वेहल्लं च कुमारं नो पेसेमि, एस णं जुद्धसज्जे चिट्ठामि, त दूयं असक्कारित असमाणितं अवद्दारेणं निच्छुहावेइ । तते णं से कूणिए तस्स दूतस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते कालादीए दसकुमारे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे ममं असंविदितेणं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं अंतेउरं सभंमं च गहाय चंपातो निक्खमति, वेसालिं अज्जग० जाव उवसंपज्जित्ता णं विहराति । तते ण मए सेयणगस्स गंधहत्थिस्स अट्ठारसवंकं अट्ठाए दूया पेसिया, ते य चेमए रन्ना इमेणं कारणेणं पडिसेहिता अदुत्तरं च णं ममं तच्चे दूते असक्कारिते असंमाणिते अवद्दारेणं निच्छुहावेति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं चेडगस्स रन्नो जुज्झं गिन्हित्तए, कालाइया दस कुमारा कूणियस्स रन्नो एयमट्ठं विणएणं पमिसुणेति । तते णं से कूणिए राया कालादीए दस कुमारे एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु रज्जेसु पत्तेयं पत्तेय ण्हाया जाव पायच्छित्ता हत्थिखधवरगया पत्तेयं पत्तेयं तिहिं दंतिसहस्सेहिं एवं तिहिं रहसहस्सेहिं तिहिं आससहस्सेहिं तिहिं मणुस्सकोमीहिं सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए जाव रवेणं सएहिं सएहिंतो नगरेहिंतो पमिनिक्खमंति, पमिनिक्खमंतित्ता ममं अंतियं पाउब्भवह । तते णं ते कालाइया दस कुमारा कोणियस्स रन्नो एयमट्ठं सोच्चा सएसु सएसु रज्जेसु पत्तेयं ण्हाया जाव तिहिं मणुस्सकोसीहिं सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए जाव रवेणं सएहिं सएहिंतो नगरेहिंतो पमिनिक्खमंति जेणेव अंगजणवए जेणेव चपा नगरी जेणेव कूणिए राया तेणेव उवगता करतल० जाव वद्धावेंति । तते णं से कूणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयण पमिकप्पह, से णं हयगयचाउरंगिणीसेण सन्नाहेह, ममं एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह० जाव परिप्पणंति । तते णं से कूणिए राया जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, जाव पमिनिग्गच्छित्ता जेणेव वाहिरिया उवट्ठाणसाला जाव नरवई दुरूढे, तते ण कूणिए राया तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रवेणं चंपं नगरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छित्ता जेणेव कालादीया दस कुमारा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता कालाइएहिं दसकुमारेहिं सद्धिं एगततो मेलायंति । तते णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दंतिसहस्सेहिं तेत्तीसाए आससहस्सेहिं तेत्तीसाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुमे सव्विड्ढीए० जाव रवेणं सुभेहिं वसहीहिं पातरासेहिं नातिविगिट्ठेहिं अंतरावासेहिं वसमाणे वसमाणे अंगजणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव विदेहे जणवए जेणेव वेसाली नगरी तेणेव पहारेत्थगमणा ते तते णं से चेडए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे नवमल्लिई नवलेच्छई कासीकोसलका अट्ठारस वि गणरायाणो सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे कूणियस्स रन्नो असंविदितेणं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय इह हव्वमागते, तते णं कूणिएणं सेयणगस्स अट्ठारसवंकस्स अट्ठाए तओ दूया पेसिया, ते य मए इमेणं कारणेणं पमिसेहिया, तते णं से कूणिए मम [illegible]
णाए सद्धिं

तं किन्नं देवाणुप्पिया! सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणामो वेहल्लं कुमारं पेसेमो उदाहु जुज्झित्था, तते णं नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो चेडगं राय एवं वयासी--न एयं सामी! जुत्तं वा पत्तं वा रायसरिसं वा जं तं सेयणगं अट्ठारसवंकं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पणिज्जति, वेहल्ले य कुमारे सरणागते पेसिज्जति, तं जइ णं कूणिए राया चाउरंगिणीसेणाए सद्धिं संपरिवुडे जुज्झं सज्जेइ इहं हव्वमागच्छति तते णं अम्हे कूणएणं रन्ना सद्धिं जुज्झामो, तते णं से चेडए राया ते नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो एवं वयासी--जइ णं देवाणुप्पिया! तुब्भे कूणिएणं रन्ना सद्धिं जुज्झह तं गच्छह णं देवाणुप्पिया! सएसु सएसु रज्जेसु एहाया जहा कालादीया जाव जएणं विजएणं वद्धावेति। तते णं से चेडए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी--आभिसेक्कं जहा कूणिए जाव दुरूढे। तते णं से चेडए राया तिहिं दंतिसहस्सेहिं जहा कूणिए जाव वेसालिं नगरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, जेणेव ते नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो तेणेव उवागच्छति। तते णं से चेडए राया सत्तावन्नाए दंतिसहस्सेहिं सत्तावन्नाए आससहस्सेहिं सत्तावन्नाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं सपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव रवेणं सुभेहिं वसहीहिं पातरासेहिं नातिविगिट्ठेहिं अंतरेहिं वसमाणे वसमाणे विदेहिं जणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव देसपंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खंधावारनिवेसणं करेति, करेतित्ता कूणियं रायं पडिवालेमाणे जुज्झसज्जे चिट्ठति। तते णं से कूणिए राया सव्विड्ढीए जाव रवेणं जेणेव देसपंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चेडगस्स रन्नो जोयणंतरियं खंधावारनिवेसं करेति, करेतित्ता तते णं से दोन्नि वि रायाणो रणभूमिं सज्जावेंति, रणभूमिं सज्जयंति, तते णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दंतिसहस्सेहिं० जाव मणुस्सकोडीहिं गरुलं वूहं रएति, रइत्ता गरुलवूहेणं रहमुसलं संगामं उवायाते, तते णं से चेडए राया सत्तावण्णाए दंतिसहस्सेहिं० जाव सत्तावण्णाए मणुस्सकोडीहिं सगडवूहं रएति, सगडवूहेणं रहमुसलं संगामं उवायाते। तते णं से दोन्नि वि राईण अणीया सन्नद्ध जाव गहियाउहपहरणं मगतेहिं फलतेहिं निक्कड्ढाहिं असीहिं असागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणूहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालितेहिं डाहिं ओसारियाहिं ऊरुघंटाहिं छिप्पतरेणं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठसीहनादं बोलकलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा सव्विड्ढीए जाव रवेणं हयगया हयगतेहिं गयगया गयगतेहिं पायत्तिया पायत्तिएहिं अन्नमन्नेहिं सद्धिं संपलग्गया वि होत्था। तते णं ते दोण्ह वि रायाणं अणीया णियसामीसासणाणुरत्ता महता जणक्खयं जणवहं जणप्पमद्दं जणसंवट्टकप्पं नच्चंतकबंधवारभीमं रुहिरकद्दमं करेमाणा अन्नमन्नेण सद्धिं जुज्झंति। तते णं से काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव मणुस्सकोडीहिं गरुलवूहेणं एक्कारसमेणं खंधेणं कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं संगामेमाणा हयमहितं जहा भगवता कालीए देवीए परिकहियं० जाव जीवियातो ववरोवेति। तं एवं खलु गोयमा! काले कुमारे एरिसएहिं आरंभेहिं जाव एरिसएणं असुभकडकम्मपब्भारेणं कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेमाभे नरए जाव नेरइयत्ताए उववन्ने। काले णं भंते! कुमारे चउत्थीए पुढवीए अंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति?। गोयमा! महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं जहा दढप्पइन्ने जाव सिज्झिहिति बुज्झिहिति जाव अंतं काहिति तं एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं निरयावलियाण पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति॥

(मणोमाणसिएण त्ति) मनसि जातं मानसिकम्। मनस्येव यद् वर्तते वचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकम्। तेनाबहिर्वर्तिना अभिभूता। "अंतेउरपरियालसंपरिवुडे चम्पानयरिं मज्झंमज्झेणं" इत्यादिवाक्यानि कण्ठ्यम्। (अक्खिविउकामेण त्ति) स्वीकर्तुकामेन। एतदेव स्पष्टयति--"गिण्हिउकामेण" इत्यादिना। "न जाव न उद्दालेइ ताव मम कूणियराया" इत्यादि सुगमम्। (अज्जं ति) मातामहं (संपेहे त्ति) पर्यालोचयति। अन्तराणि छिद्राणि प्रतिजागरन् परिभाववन् विचरत्यास्ते। अन्तरं प्रविरलमनुष्यादिकम्। (असविदिएण त्ति) असम्मति (हव्व त्ति) शीघ्रम्। (जहा चित्तो त्ति) राजप्रश्नीये द्वितीयोपाङ्गे यथा श्वेताम्ब्यां नगर्यां चित्रनामा दूतः प्रदेशिराज्ञा प्रेषितः श्रावस्त्यां नगर्यां जितशत्रुसमीपे स्वगृहान्निर्गत्य गतस्तथाऽयमपि कोणिकराजा यथा एव विहल्लकुमारोऽपि। (चाउग्घंट त्ति) चतस्रो घण्टाश्चतसृष्वपि दिक्षु अवलम्बिता यस्य स चतुर्घण्टो रथः (सुभेहिं वसहेहिं पायरासेहिं त्ति) प्रातराशः आदित्योदयादाद्यप्रहरद्वयसमयवर्ती भोजनकालः, निवासश्च निवसनभूमिभागः, तौ द्वावपि सुखहेतुकौ न पीडाकारिणौ, ताभ्यां सम्प्राप्तौ नगर्यां इष्टश्चेटकराजः। "जएण विजएण वद्धावेत्ता" एवं दूतो यदवादीत्तद्दर्शयति--"एवं खलु सामीत्यादिना" (आलोचेमाणे त्ति) एवं पदागतं प्रति आलोचयन्त (जहापढम त्ति) "रज्जस्स य जणवयस्स य अद्धं कोणिओ राया जइ वेहल्लस्स देइ तो अहं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं कोणियस्स पच्चप्पिणामि, वेहल्लं च कुमारं पेसेमि, न अन्नहा" तदनु द्वितीयदूतस्तस्य समीपे एनमर्थं श्रुत्वा कोणिकराज "आसुरुत्त" इत्येनावद्दूपरोषसपन्नो यदसौ तृतीयदूतप्रेषणेन कारयति भाणयति च तदाह--"एवं वयासीत्यादिना"। हस्तिहारसमर्पणकुमारप्रेषणस्वरूपं यदि न करोषि तदा युद्धसज्जो भवेति दूतः प्राह। "इमेण कारणेण त्ति" तुल्ययात्रिक-

सम्बन्धेन दूतद्वयं कोणिकराजप्रेषितं निषेधितम् । तृतीयदूत-स्त्वसत्कारितोऽपद्वारेण निष्कासितः । ततो यात्रां सङ्ग्रामयात्रां ग्रहीतुमुद्यता वयमिति कूणिकराजः कालादीन् प्रति भाणितवान् । तेऽपि च दशापि तद्वचो विनयेन प्रतिशृण्वन्ति गृह्णन्ति । [एव वयासि त्ति] एवमवादीत् तान् प्रति-गच्छत यूयं स्वराज्येषु निजनिजसामग्र्या सन्नह्य समागन्तव्यं मम समीपे, तदनु कूणिकोऽभिषेकार्हं हस्तिरत्नं निजमनुष्यैरुपस्थापयति प्रगुणीकारयति । " प्रतिकल्पयतेति पाठे " सन्नाहयन्त कुरुत इत्याज्ञां प्रयच्छति । [तओ दूय त्ति] त्रयो दूताः कोणिकेन प्रेषिताः । [मग्गएहिं त्ति] हस्तपाशितैः फलकादिभिः [तोणेहिं ति] इषुभिः [सजीवेहिं ति] सप्रत्यञ्चैर्धनुर्भिर्नृत्यद्भिः कबन्धैः शरैश्च हस्तच्युतैर्भीमं रौद्रं श्रेणिकनप्तॄणां पौत्राणां कालमहाकालाद्यङ्गजानां क्रमेण व्रतं पर्यायाभिधायिकम् । "दोण्ह च पच" इत्यादिगाथा । अस्यार्थः-दशसु मध्ये द्वयोः कालसुकालसत्कयोः पुत्रयोर्व्रतपर्यायः पञ्चवर्षाणि त्रयाणां चत्वारि त्रयाणां त्रीणि द्वयोर्द्वे द्वे वर्षे व्रतपर्यायः । तत्राद्यस्य यः पुत्रः पद्मनामा स कामान् परित्यज्य भगवतो महावीरस्य समीपे गृहीतव्रत एकादशाङ्गधारीभूत्वाऽत्युग्रं बहु चतुर्थषष्ठाष्टमादिकं तपःकर्म कृत्वा अतीव शरीरेण कृशीभूतः चिन्ता कृतवान्-यावदस्ति मे बलवीर्यादिशक्तिस्तावद्भगवन्तमनुज्ञाप्य भगवदनुज्ञया मम पादपोपगमनं कर्तुं श्रेय इति तथैवासौ समनुतिष्ठति । ततोऽसौ पञ्चवर्षव्रतपालनपरः मासिक्या संलेखनया कालगतः सौधर्मे देवत्वेनोत्पन्नो द्विसागरोपमस्थितिकः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे उत्पद्य सेत्स्यति । इति कल्पावतंसकोत्पन्नस्य प्रथममध्ययनं समाप्तम् । नि० १ वर्ग० । जम्बूद्वीपे आमलकल्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, ज्ञा०२ श्रु० १ अ० । यस्य पुत्री काली देवी चमरस्याग्रमहिषी जाता (इति 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्तम्) महानिधिभेदे,

" काले कालण्णाणं, भव्वपुराणं च तिसु वि वंसेसु ।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पजाए हितकराणि ॥१॥"

अष्टमषष्ठो निधिः (काले कालण्णाणमित्यादि) कालनामनि निधौ कालज्ञानं सकलज्योतिःशास्त्रानुबन्धि ज्ञानम्, तथा जगति त्रयो वंशा ,वंशः,प्रवाहः, आवलिका इत्येकार्थाः । तद्यथा-तीर्थकरवंशश्चक्रवर्तिवंशो बलदेववासुदेववंशश्च । तेषु त्रिष्वपि वंशेषु यद्भाव्यं यच्च पुराणमतीतम् । उपलक्षणमेतत्-वर्तमानं शुभाशुभं तत् सर्वमत्रास्ति इतो महानिधितो ज्ञायत इत्यर्थः । शिल्पशतं विज्ञानशतम्, घटलोहचित्रवस्त्रनापितशिल्पानां पञ्चानामपि प्रत्येकं विंशतिभेदत्वात् कर्माणि च कृषिवाणिज्यादीनि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि त्रीण्येतानि प्राजाया हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात्, एतत् सर्वमेवाभिधीयते । जं० ३ वक्ष० । स्था० । अष्टानुसारेण पटपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । कण्ठ्वादिषु नारकाणां पाचके यातनाकारके वर्णतश्च काले सप्तमे परमाधार्मिके, भ० ३ श० ६ उ० । आ० चू० । प्रश्न० ।

अपि च-

मीरासु सुंठएसु य, कंडूसु य पयणएसु य पयंति ।
कुम्भीसु य वल्लीसु य, पयंति काला उ णेरइए ॥ ७६ ॥

(मीरासु इत्यादि) तथा कालाख्या नरकपालाः सुराः मीरासु दीर्घचुल्लीषु, तथा शुण्ठकेषु, तथा कण्डुकेषु प्रचणकेषु तीव्रतापेषु नारकान् पचन्ति,तथा कुम्भीपूष्ट्रिकाकृतिषु, तथा वल्लीष्वायसकवल्लिषु नारकान् व्यवस्थाप्य जीवान्मत्स्यानिव पचन्ति । सूत्र०१ श्रु० ५ अ० १ उ० । कालावतंसकभवने स्वनामख्याते सिंहासने,ज्ञा०२श्रु०१अ० । यत्र चमराग्रमहिषी काली देवी उपपन्ना । लौहे, न० । धातुषु, तस्य कृष्णत्वात् तथात्वम् । कक्कोले, न० । कालीयके गन्धद्रव्यभेदे, न० । तयोर्गन्धद्रव्येषु कृष्णत्वात्तथात्वम् । कोकिले, पु० स्त्री० । तस्य पक्षिषु कृष्णत्वात्तथात्वम् । ङीष् । रालो, रक्तचित्रके, कसमर्दे (कालकसेन्दा) वृक्षे च । पु० । शनिग्रहे, कृष्णत्वात्तस्य तथात्वम् । वारविशेषे, दिग्भेदेन ज्योतिषोक्ते यात्रादौ निषिद्धे योगभेदे,"कौबेरीतो वैपरित्येन कालो, वारेऽर्काद्ये सम्मुखे तस्य पाशः । रात्रावेतौ वैपरीत्येन गम्यौ, यात्रायुद्धे सम्मुखौ वर्जनीयौ" ॥१॥ कालाये शिम्बीभेदे, वाच० । अष्टपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, "दो काला" स्था० २ ठा० ।

कालओ-कालतस्-अव्य० । काल प्रतीत्यर्थे, पा० । धूर्ते, दे० ना० २ वर्ग ।

कालंजर-कालञ्जर-पुं० । कालं जरयति जॄ-णिच् अच् वा । मुम् । पर्वतभेदे, "पण पुण वीयरणी कालंजरवत्तिणीए गंगाए महानदीए विक्कस्स य अंतरा " आ० म० द्वि० । देशभेदे, च० र० । स च कालञ्जरगिरिरूपजनपदावाधिभूतः, ततो भवादौ येपथत्वात् प्राग्वर्तित्वाच्च वुञ् । कालञ्जरके तद्भवे, त्रि० । काल मृत्युं जरयति, जॄ वा खच् । कालस्य मृत्योर्जरके, त्रि० । वाच० ।

कालकंखि (ण्)-कालकाङ्क्षिन्-त्रि० । अवसरज्ञे, उत्त० ६ अ० । " समिते सहिते सदाजते कालकखी परिव्वए "

काल इति मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धात्मकबन्धोदयसत्कर्मतया व्यवस्थापितम्, तथा बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थां गतं कर्म, तच्च न ह्रसीयसा कालेन क्षयमुपयातीत्यतः कालकाङ्क्षीत्युक्तम् । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

कालकप्प-कालकल्प-पुं० । मासकल्पादौ, पं० भा० ।

एत्तो उ कालकप्पं, वोच्छामि जहक्कमेणं तु ।
मासं पज्जोसवणा, वुड्ढावास-परियाय-कप्पो य ॥
उस्सग्गपडिक्कमणे, कितिकम्मे चेव पडिलेहा ।
सज्झायझाणभिक्खे, भत्तवियारे तहेव सज्झाए ।
णिक्खमणे य पवेसे, ·· · ·· ·· · पं० भा० ।

मासकल्पादीनाम्-

·· ·· · · , अहुणा वोच्छामि कालकप्पं तु ।
जावाउतंतुभीणं, अणुपालेत्ता व सामत्थं ॥
गीतसहाओ विहरे, संविग्गेहिं च जतणजुत्तो उ ।
असती वि मग्गमाणे, खेत्ते काले इमं माणं ।
पंच व छ सत्तसत्ते, अतिरेगं वा वि जोयणाणं तु ।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गे जो अपरितंतो ॥
एक्कं व दो व तिण्णि व, उक्कोसं बारसेव वासाइं ।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥
सविग्गो गीयत्थो, भंगचउक्के तु पढमउवसंपा ।
असती ततिय वितीए, चउत्थगणो ऊ उवसंपे ॥
उक्कमओ खलु लहुगो, चउरो अहुगा चउत्थभंगम्मि ।

जस्सडा उवसंपद, तं नत्थि चउत्थजंगम्मि ।
एतेसिं तु अलंभे, एगो थामावहारमकरेंतो ॥
विहरेज्ज गुणसमिद्धो, अणिदाणो आगमसहाओ ।
कालम्मि सकिलिडे, छक्कायदयावरो वि संविग्गो ॥
जयजोगीण अलंभे, पणगेण्हतरेण संवासो ।
पणगेण्हतरयसत्थे–मादिभंगे चउत्थए जयणा ।
जत्थ वसंती ते तु, ठाति तहिं वीसुवसहीए ॥
तेसिं निवेदिऊणं, अह तत्थ ण होज्ज अन्नवसहीओ ।
ण वहेज्ज वा उदंतं, वसेज्ज तो एक्कवसहीए ॥
अपरीभोगोगासे, तत्थ ठितो पुणो वि य जएज्जा ।
आहारमादिएहिं, इमेण विहिणा जहाकमसो ॥
आहारे उवहम्मि य, गेलण्णागाढकारणे वा वि ।
थामावहारविजढो, असतीजुत्तो ततो गहणं ॥
आहारउवहिमादी, उप्पादे अप्पणा विसुद्धं तु ।
असती सतलाभस्स उ, जो तेसिं साहुपक्खीओ ॥
सो तु कुलाइं पुच्छि–ज्जती मुदा एत्ति वा वि सो तेसिं ।
तह वि अलंभंतो तू, जतती पणहाणि जो लहुगा ॥
संविग्गपक्खिसहिओ, ताहे उप्पादएज्ज सुद्धं तु ।
असती पणहाणी वा, जतितु अप्पे पमिग्गहगं ॥
तह वसती तब्भादण–भाणीयं गिण्हती तहिं चेव ।
णियगे वि पमिग्गहगे–ण्हति पासत्थणाओ य ॥
उवहिं पुराणगहितं, अपरीभुत्तं तु गेण्हती तेसिं ।
असती तण्तरं पी, जदि य गिलाणो भवे तत्थ ॥
तत्थ वि जएज्ज एवं, असती सव्वं पि से करेज्जितरे ।
अहवा ते वि गिलाणा, हवेज्ज ताहे करे सो वि ॥
एतत्थं इच्छिज्जति, गच्छो अण्णोण्णजं तु साहज्जं ।
कीरति ण पमाओ खलु, तम्हा गेलण्णे कायव्वो ॥
दीहो व मसहओ वा, कम्मो चइउ हवेज्ज आतंको ।
मरुहो अदिग्घरोगो, तव्विवरीओ भवे इतरो ॥
कालचउक्के वी खलु, कायव्वं होति अप्पमत्तेणं ।
उमुवद्धे वासासु अ, दियराओ चउक्कमेतं तु ॥
जिणवयणभासियम्मी, णिज्जरगेलण्हकारणे विउला ।
आतंकपउरताए, कतपडिकइया जहक्खेणं ॥
जह भमरमहुयरगणा, णिवयंती कुसुमियम्मि वणसंमे ।
इय होति णिवइयव्वं, गेलण्हे कइवयजढेणं ॥
सयमेव दिट्ठिवादी, करेति पुच्छंति जाणगो वेज्जं ।
वेज्जाण अट्ठगं पुण, णायव्वमिणं समासेणं ॥
संविग्गअसंविग्गो, दिवसत्थे लिंगि सावए सण्ही ।
असन्नीसन्नि इतरे, परातित्थियकुसलए इत्थं ॥
जदि दिणमलब्भमाणे, तस्थ ठवेयव्वगं भवे किंचि
तत्थ तु भणेज्ज को वी, सुक्खं तु ठवे दवे दोसो ।

मंसत्तं पि सुखं तु अ–णिद्धं वसु सोढगंसु सारत्थं ।
अतगं होती इतरे, दोसा वा बहु इमे णिद्धे ॥
दव्वे पमणीए य, पमज्जणपाणतकणाहरणा ।
एते दोसा जम्हा, तम्हा तु दवं ण ठवेज्जा ॥
जाणहति जेणं कज्जं, तं ठवेज्जा तहिं तु जयणाए ।
आतंकविवच्चासे, चउरो लहुगा य गुरुगा य ।
जं सेवियं तु किंची, गेलण्णे तं तु जातु पउणो वि ।
आसेवने तु साधू, रसगिद्धो सेलओ चेव ॥
तंबोलपत्तणा ते–ण माहु सेसा वि तू विणस्सेज्जा ।
णिज्जूहंती तं तू, मा अण्हो वी तहा कुज्जा ॥
कालकप्पाहिगारे, तुमत्थुणा होति सो वि तस्सरिसो ।
कालविकप्पण्हो वी, असिवादीओ मुणेयव्वो ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे पवाददुट्ठे वा ।
आगाढे अण्णलिंगं, कालक्खेवोवगमणं च ॥
असिवे जदि जतियं ता, लिंगविवेगेण तक्खणं गच्छे ।
सव्वत्थ वा वि असिवे, कालक्खेवो विवेगेणं ॥
ओमे चेवं कुज्जा, पवादिदुट्ठेण वुड्ढलोयाणं ।
तत्थ वि य अन्नलिंगे, गिहिलिंगे वा वि जासेज्जा ॥
एयं चिय आगाढं, अहवा देहस्स जा तु वावत्ती ।
णिव्वसयाणत्तीए व, भत्तस्स णिसेहणे चेव ॥
एतेसामण्णतरं, अणगाढं लंपणो णिसेवेज्जा ।
तट्ठाणतावराहे, संवट्टियमोवराहाणं ॥
संवट्टितावराहे, तवो व छेदो तहेव मूलं च ।
आयारे कप्पे जं, पमाणणिम्माणचरिमम्मि ॥
एसो तु कालकप्पो,...... ...... । पं० भा० ।

इयाणिं कालकप्पो । कलणं कालः, कालसमूहो नीयते अने-नार्थे इति नयः । केवइय पुण कालं साहुणा संजम अणुपालेय-व्व ? । उच्यते–जाव आउसेस ताव अणुपालेयव्व । सो पुण कत्थ अणुपालेयव्वो ? । उच्यते–गीयत्थसविग्गसगासे, अह पुण वाघाएण गीयत्थसजया न होज्जा ताहे भग्गियव्वा । तत्थ गाहा-(पंचसत्तसया) गाहा सिद्धा, एव संविग्गो वि दो दो गाहाओ, जत्थ गओ तत्थ चउभंगो, तेसिं अगीयत्थसवि-ग्गाणं अलभे एगो वि रागदोसविप्पमुक्को थामावहार न क-रेंतो विहरेज्जा, परीसहेसु अपरितंतो अणगूहियबलवीरिओ आ-गमसहाओ । आगमो नाम सुत्तोऽत्थाणि । एएसु एएसु अयतो गीयत्थसविग्गो पुव्वभणिओ चउभंगो, तस्स सगासे अत्थइ, तस्सासइ विइयतइयाण कत्थ अत्थियव्व ? । गीयत्थसंविग्ग-पायमूले, तस्सा सइ विइए गीयत्थअसविग्गो पच्छा संविग्गअगी-यत्थे पच्छा चउत्थे पडिसेहो, आयतिय भगाण असइ य एगो वि थामावहारविजढो विहरिओ गाहाकालम्मि सकिलिट्ठे । सं-किलिट्ठकालो नाम जम्मि काले गीयत्थसविग्गा नत्थि, सो स-किलिट्ठकालो, तत्थ छक्कायदयावरो जुत्तजोगी भावसविग्गो, असंविग्गे पासत्थादयो जत्थ गामे तत्थ अत्थइ, अण्णाए वसहीए सक-वाडे ठक्कुडे बिलवज्जियाए उवस्सयरियं काऊण ओहनिज्जुत्ति-

वसहीए पएसिं निवेयए काऊण। अह अन्ना वसही न होज्जा,तत्थ वा वियरस्स उवंत न वहति,ताहे तेसिं चेव वसहीए अपरिभुज्जमाणे उवासे वाइ तत्थ ट्ठिओ आहारोवहिम्मि य जइ आहारो सयाए एसणाए हिंममाणो व लभेज्जा ताहे पणयपरिहाणीए जयइ जाव चउलहु पत्तो, जइ तह वि न लभेज्जा ते य पासत्थाइ निमंतेज्जा ताहे भणइ-उवएस देह, कुलाणि वा मम साहह भणइ, अह तह वि एगस्स न देंति ताहे जो धम्मसड्ढियतरो त पुव्व चेव गाहेइ, संविग्गभावए ताहे भणइ-एएण सम हिंडामि। तेण वि सम हिंडतो सयाए एसणाए लब्भए तं च भणइ-अह अप्पणा चेव जाणस्सामि ज मम गेण्हियव्व मा तुम मज्झाए गेण्हावेहिसि। अह तेण वि समं भायणे देज्जा ताहे धम्मसड्ढियं भणइ-तुम मम हिंडाहि,अहवा तुम एसणेज्ज देहि, असइ उक्कोडिय पि गेण्हइ, उवही य अप्पणा जयइ जाव चउलहुं पत्तो जाहे न लभइ तहा वि ताहे ते भणइ-मम दव्वावेह । अह तहा वि न लभइ ते य भणेज्जा-इम सीयं गाढं तुम च परित्तोवही इमं पि गेण्हाहि, ताहे तेसिं तणय जं अहिणवगहिय उग्गमुप्पायणे सुद्ध अपरिभुत्त त गेण्हइ, तस्स असइ मदपरिभुत्तं गेण्हइ, त चेव असइ परिभुत्त पि पच्छा पुराणगहिय उग्गमाइसुद्धं अपरिभुत्त, असइ परिभुत्तमवि तस्स सइ एसणाए असुद्ध अभिणवगहिय अपरिभुत्त मंदपरिभुत्तं पि पच्छाओ उप्पायणाए असुद्ध अभिणवगहियाइ पच्छा उग्गमेण वि सुद्ध अभिणवपुराणपरिभुत्त च एव जाव हसाइ पि रागद्दोसविमुक्को, गाहा-(दीहो व मरुहओ वा) अह तत्थ अत्थमाणो होज्जा, तत्थ जइ समत्थो अप्पणा चेव जयइ असइ लभे ताहे ते आणेते, एवं सो धामावहारविजढो असइ गिण्हइ, सो पुण आयको दीहो मरुहओ वा होज्जा दोसु वि कायव्वं । अहवा तेसिं गेलण्ह होज्जा ताहे सो तेसिं करेज्जा, एयनिमित्त गच्छवासो इच्छिज्जइ, परोप्परसाहिज्जगा य कालचउक्कतिओ व वासासु रत्तिदिवसओ वा जिणवयणनिहिट्ठा गेलण्हे करेमाणस्स विपुला निज्जरा, तम्हा कायव्व निज्जराकामेण । दव्वप्पमाणे ति वेज्जो पुच्छियव्वो । केइ भणति—गिलाणो नयव्वो वेज्जसगासं, एव भणतस्स चउगुरु, सो गिलाणो निज्जमाणो परितावणाइ गाढमगाढ अह सन्नणा वा महलकुले वेलाइ वेज्जो वा गिहेण समाणोऽसमाणो वि अब्भगिओ एगसाडओ छारउक्कुरुडे वि ठिओ वा कसाइओ वा भणेज्जा-किं मम घर सुसाणकुडी, अहवा तत्थ वेज्जगिहे अन्ने आउरा पासमगिहत्था य सेज्जासु नवणीयतूलिमिउलासु उक्खेवणयतालियंटमाइसु सीयघरे वासारत्ते सकप्पूरचक्कणेण हेमते वा कालागुरुमाइ आहारे य नाणप्पगारे पासित्ता सतविभवो रायमत्तो वा पव्वइओ, पमिगमणाइ असतविभवो निदाणं करेज्जा,जम्हा एए दोसा तम्हा न नेयव्वो गिलाणो वेज्जघर । सा पुण वेज्जपुच्छा विहिंअविही य एगो इंमो दो जमद्धया चत्तारि नीहारी तम्हा तिण्णि व पच व सत्त व ते पुण गच्छता आकछुविकट्ठी करेंति,कासयरपहरणं निसेज्जमइलाणि वा गेण्हति एक्केक्कम्मि चउगुरु । तम्हा सुक्किलया पसत्थचोलपट्टपहरणकप्प तत्थ गया वेज्जो कसाइओ अब्भंगिओ वा पुच्छति चउगुरु, पसत्थासणगओ य सतो पुप्फफलहत्थगओ आउरसत्थाणि वा वाएमाणो पच्छिज्जइ

आयाणनिदाणं च सेसा सहिज्जइ सो पुच्छओ उवदेस देज्जा, दव्वाइदव्वओ कलमसालितंदुलचाउरक्केण गोखीरेण अट्ठारसवजणाओ अहवा भोयण अच्छेसेज्जा खेत्तओ सीयकाले गम्भघरे उण्हकाले सीयघरे उक्खेवयतालियटमाइ सकप्पूरचदणाइ वा कालओ पुव्वण्हाइ जाव अड्ढरत्ते वा तावओ जत्थ गीयवाइयनाभयकुंभकाररहकारसुवण्णकारकंसकारहयसाल वा रंगसालाओ य जत्थ अणिट्ठा रहा नत्थि जहा रन्नो अपामकुलेसु सव्वकज्जेसु वि भाणियव्व। एव भणिए जइ भणइ कओ अम्ह एयाण चउगुरू गिलाणो परिचत्तो,एवमुवदिट्ठे भाणियव्वं-सावग ! तुब्भे रायमाईणं दरिद्दाण य तिगिच्छं करेह, विभवाणुरूव जाणह, तुब्भे जओ परदत्तोवजीवी सव्वमन्नओ मग्गियव्व, जया कलमसालीचाउरक्क वा न लभेज्जा तया किं कायव्व, तया इतर इतर वा गोखीर, एव जाव कोद्दवकूरो उल्लणाइसु वा ठिओ। खेत्तओ य किट्ठयमाइ जाव रुक्खमूले वि चिलिमिणी काऊण कालओ जाहे लब्भइ। भावओ जाणासु अम्हे वद्धावच्छ।तदुक्त भवति-"निद्देसमलुरूत्त, निकायणा पच्छ इच्छा य। आयकपउरयाए,पुण कयपडिकइया जहाथिया॥"त पुण कह गतव्व गिलाणस्स (जइ भमरमहुकरगणा)गाहासिद्ध। अह वेज्जो भणेज्जा-जामि पासामि गिलाण, सो वेज्जो सविग्गो गीयत्थो कुसलो तेण पढम पच्छा असविग्गो त्ति गीयत्थो कुसलो एव सावए गीयत्थसवेगपुराणकुसले पच्छा गीयत्थअसविग्गपुराणे कुसले गहियाणुव्वए गीयत्थे सविग्गभाविए कुसले अग्गहियाणुव्वए गीयत्थे सविग्गभाविए कुसले अग्गहियाणुव्वए वि कुसले असभाविकुसले पच्छा राया सन्नी गीयत्थकुसलो स एव सम्मदिट्ठीकुसले, एव तरतमजोगेण सव्वत्थकुसलेण ते इच्छा सेस जहाकप्पे गिलाण सुत्ते कयाइ सनिही कायव्विया होज्जा, सा पि ढोव्वरए जहा गीयत्था ण याणति असइ कडयतरिए वा चिलिमिणिअंतरिए वा उस्सग्गेण ताव पडिदिवस मथिज्जइ नेहाइपणगपरिहाणीए जाव चउगुरु पत्ता असइ वसहीए थारगस्स सनिज्जीए सावयस्स अम्मापिइसमाणस्स गिहे कालाइभायणे तस्स सयलाओ एस परिकम्म अहाकडे वि असइए जहा छिप्पमाणाइयो दोसा न भवंति पडिदिवसं पडिलेहिज्जइ इच्छाकारेण गुमिज्जइ जहा कीमियाइण विराहणा न भवइ, तत्थ कोइ भणेज्जा-सिद्धे दव्वे य एए य दोसा तत्थ छिप्पमाणे य निक्खिप्पमाणे य पाणाइविराहणा आणिज्जते य अरूवीओ पढमियमाइयसचित्तपुढविमाइविराहणा, एव भणतस्स चउगुरू आयकविवद्धासे । आयकविवद्धासो नाम आगाढे अहिदठाइ अणागाढ करेइ चउलहुगा ज च वय उवजीवइ ओ पुण पउणो वि समाणो त चेव आहारे पडिबंध करेइ, सेलओ विव तस्स त चोलपत्तादिट्ठतेण सेसदोसरक्खणट्ठाए मा अन्नो वि पडिसेविहिंति ताहे निच्छुभणा से । गाहा-(असिवे ओमोयरिए) अह कालकप्पाहिगारे वट्टमाणे असिवाईणि कारणाणि होज्जा, असिवे य जइ सपक्खघाई होज्जा सजयपताए तम्मि आगाढे ताहिं लिंगविवेग काऊण सिव वच्चइ। अह सव्वत्थ वि असिव होज्जा ताहे कालक्खेव करेंति लिंगविवेग काऊण अत्थाति जाव सिवं जाय। एव ओमे वि रायडुट्ठे वि पवयणवायदुट्ठे वि पुट्ठिलाइ अन्नलिंगे पुण गहिये इमा जयणा। जइ भिच्छुओ ताहे पिंडवाइयत्तण करेइ,

ताव अन्नत्थ वच्चइ । अन्नत्थ य गओ ताहे कप्पियारीओ भ-णाति-तुब्भे चेव जाणह ज कायव्व ज च पमाण गिरहयव्वे-त्ति, पनीए य पोग्गलपत्तफलाइ परिहरइ । वेज्जाहारो वि-त्तित्थूभयतीए जिणे मणसी करेऊण मन्ताऽनियत्तण च भावेइ, अह सरक्खो ताहे उद्दूयत्तणं करेइ,भणइ य-मम वेज्जोवएसे-ण उसिणोदग पायव्व । गाहा-(एतेसामण्णतरं) एएसिं कार-णाण विणा अणागाढे निरावत्तणो जो पडिसेवइ तद्दाणारोव-णा (सवद्धिया वराहे) गाहा। एस कालकप्पो सम्मत्तो। पं०चू०।

कालकरण-कालकरण-न० । कालभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (तत्सम्भवस्तृतीयभागे ३६५ पृष्ठे ' करण ' शब्द उक्तः)।

कालकाल-कालकाल-पु० । एकः कालशब्दः प्राङ्निरूपित एव, द्वितीयस्तु सामायिकः । कालो मरणमुच्यते । मरणक्रि-याकलने, दश० १ अ० । आ० म० द्वि० । सप्रति कालकालः प्रतिपाद्य.-कालो मरण तस्य कालः कालकाल । तथाचाह-" कालो त्ति मय मरण, जहेह मरण गतो त्ति कालगते । तम्हा स कालकालो. जो जस्स मओ मरणकालो " ॥१॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह—

कालेण कओ कालो, अम्हं सज्झायदेसकालम्मि ।
तो तेण हतो कालो, अकाले कालं करेमाणे ॥

कालेन शुना कृत. कालः कृत मरणमस्माकं स्वाध्यायदेशकाले स्वाध्यायकरणप्रस्तावे ततस्तेन शुना हतो भग्न. काल स्वा-ध्यायकरणकालः। अकाले प्रस्तावे मरण कुर्वतेति। तदनेन का-लशब्दस्य मरणवाचित्वमुपदर्शितम । आ० म०द्वि०। आ० चू०।

कालकूडकवलुग्गार-कालकूटकवलोद्गार-पु० । उद्गीर्यमा-णकालकूटकवले, "लब्धासादिति कालकूटकवलोद्गारा गिर. पाप्मनाम् "। प्रति० ।

कालकेय-कालकेय-पु० । काल्या अपत्ये, आ० चू० १ अ० ।

कालगज्ज-कालकार्य्य-पुं०। श्यामाचार्ये, विशे०। आ०म०। प्रति०।

कालकाचार्य-पु०। स्वनामख्याते आचार्ये, विशे० । तद्वृत्त चैव-माख्यान्ति-धारावासनाम्नि नगरे वैरसिंहनाम्नो राज्ञ. सुरसुन्द-र्या नाम देव्याः कुक्षे कालको नाम कुमारो जज्ञे। एकदा अय बालो-ऽश्वस्कन्धारूढ उद्यान गतस्तत्र देशनां ददतो गुणाकरमुनेर-न्तिके उपविष्टः। तेन च मुनिना योग्यं श्रोतारं ज्ञात्वा अगारधर्ममन-गारधर्मं च सम्यग्व्याख्याय प्रतिबोधित सविग्नः सन् माता-पित्रोराज्ञां गृहीत्वा तत्पादमूले प्राव्रजत् । तत्सहैव तद्भगिनी सरस्वती नाम्नी अपि प्रव्रजिता । तत. सर्वशास्त्रेष्वचिरेण का-लेन पारगतममु ज्ञात्वा स्वपदे स्थापयित्वा श्रीगुणाकरसूरिः स्वरगमत् । अन्यदा कालकाचार्य उज्जयिनीं नगरीं गतस्तत्र सह विहारेण समागतां मार्गे गच्छन्तीं सरस्वतीं नामैतस्य भगिनीं तत्रत्यो गर्दभिल्लो नाम राजा बलादहरत्। ततस्त बहु-भिरुपायैः प्रतिबोध्यापि तां मोचयितुमशक्नुवन् कालकाचार्य-स्तन्निग्रहे कृतप्रतिज्ञ सिन्धुनद्याः परतीरे शकान् सहायीकृत्य गर्दभिल्ल निगृह्य सरस्वतीं मुमोच, मूलच्छेदेन शोधयित्वा पुनः श्रामण्येऽस्थापयत् । (इत्येतदस्माभि प्रथमभागे ५८२ पृष्ठे ' अधिगरण ' शब्दे ' गर्दभिल्ल ' शब्दे च नि० चूर्णिपाठेन

र्येस्य भागिनेय एतस्य दर्शनोत्कण्ठितः स्वमन्त्रिण प्रेष्य आ-हूय विहारक्रमेण तत्र समागतमेन महतोत्सवेन नगरे प्रावेशय-त् । तत्र शकुनिकातीर्थे मुनिसुव्रतस्वामिन नत्वा स आचार्यस्त-न्महिमान राज्ञेऽश्रावयत्। राजा चाऽऽचार्ये भक्तिभरनिर्भरो जा-त.। ततस्तदसहिष्णुना पुरोहितेनानुकूलोपसर्गैरुपसृष्ट. प्रतिष्ठा-नपुरे शातवाहननृपते प्रार्थनया विहृतवान्। तत्र च प्राप्तपर्युष-णापर्वणि राजा प्रार्थयामास-भगवन्! भाद्रपदशुक्लपञ्चम्या मि-न्द्रध्वजमहोत्सवो भवतीति षष्ठ्यां साम्वत्सरिक कर्तव्यमिति। त-दाऽऽकर्ण्याचार्येणोक्तम-नैव भवितुमर्हति। तदा राज्ञोक्तम्-चतुर्थ्यां तर्हि कर्तव्यम्। गुरुणोक्तम्-कथञ्चिदेव भवितुमर्हतीति। तत. प्रभृ-ति चतुर्थ्यामेवैतत्पर्व भवति स्मेति। तुरिमिणयां नगर्यामस्यैव आ-मिजः दत्तो नाम राजा बहुयज्ञकृद् यज्ञानां नरक. फलमित्यनेन स्पष्टमुक्तः क्रुद्ध एतद्वचनन तत सप्तमेऽहनि रौद्रध्यानेन मृत्वा नरक गतः । सागरचन्द्रस्य स्वशिष्यस्य गर्वापमो-कोऽन्यत्र दर्शितः । अयं च कालकाचार्य. वीरमोक्षात् ३३६ वर्षे वि० सं० प्राक् १३७ वर्षे आसीत । प्रभावकचरि-त्रानुसारेण अस्मादेवाचार्यात् चतुर्थ्यां पर्युषणापर्व प्रच-लितमित्युक्तम । अन्ये पुनरन्यमेव कालकाचार्यं पर्युषणाप-र्वणश्चतुर्थ्यां प्रथमकारक वदति, स च वीरमोक्षात् ६६० वर्षे जातः। तृतीयोऽप्येकः कालकाचार्यो वीरमोक्षात् ९५३ वर्षेऽ-भवत्। प्रज्ञापनासूत्र च प्रथमेनैव रचितमिति प्रतीयते। जै०इ०।

कालगय-कालगत-त्रि०। दिवंगते, कल्प०८ क्षण। (कालगतस्य साधो. पारिष्ठापनिकी 'परिट्ठावणिया' शब्दे वक्ष्यते । आचार्ये मृतेऽन्यस्योपसंप्त 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ६७६ पृष्ठे उक्ता। आचारकल्पधरे व्युच्छिन्ने अन्यत्रोपसम्पदित्यपि ' उवसंपया ' शब्दे द्वितीयभागे ६८४ पृष्ठे उक्ता । कालगतासु सयतीसु प्रव-र्त्तिनीषु साध्वीनामन्यत्र गमन 'विहार ' शब्दे वक्ष्यते)

कालग्ग-कालाग्र-न० । कलनं कालः तस्याग्रम्। सर्वाद्धायाम, " कह समयो आवलिया लवो मुहुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खो मासो उउ अयण सवच्छरो जुगपलिओवम सागरोवमं ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पुग्गलपरियट्टो तीतद्धमणागतद्धा सव्व-द्धा एव सव्वेसिं अग्ग भवति बृहत्वात् कालग्ग"। नि०चू०१ उ०।

कालगहिय-कालगृहीत-त्रि० । कालेन मृत्युना गृहीतः का-लगृहीत. । पौनःपुन्येन मरणभाजि, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कालचउक्क-कालचतुष्क-न० । चतुर्षु कालेषु, नि०चू० १६ उ०।

कालचक्क-कालचक्र-न० । विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणे उत्सर्पिणीलक्षणे काले, तं० । ('काल' शब्दे तृतीयभागे ४७५ पृष्ठे उत्सर्पिण्यादिमानमुक्तम) । "जाहे एवमवि न सक्कइ ताहे कालचक्कं विउव्वइ " आ० म० द्वि० ।

कालचणग-कालचणक-पु० । पलिमन्थे, स्था० ५ ठा०३ उ० ।

कालचूला-कालचूडा-स्त्री० । अधिमासादौ अधिके काले, नि० चू० १ उ० । ('चूला' शब्देऽस्य विवृतिः)

कालच्चयावदिट्ठ-कालात्ययापदिष्ट-पुं०। कालात्ययेनापदिष्टः। २ त० । हेतुदोषे, तल्लक्षण गौतमसूत्रे दर्शितम । यथा-"काला-त्ययापदिष्टः कालातीत. "। कालात्ययेन प्रयुक्तो यस्यार्थ-स्यैकदेशोऽपदिश्यमानः स कालात्ययापदिष्टः कालातीत इत्यु-च्यते। निदर्शनम-नित्य' शब्द' सयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत् । व्यक्तेरवस्थित रूप प्रदीपघटसयोगेन व्यज्यते, तथा

च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा । तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वात् नित्यः शब्द इत्ययमहेतु, कालात्ययापदेशात्, व्यञ्जकस्य संयोगस्य काल न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरस्त्येति, सति प्रदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते, निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते, विभागकाले सेयं शब्दव्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिमित्ता भवति, कस्मात् कारणाद् भावाद्धि कार्याभाव इति । एवमुदाहरणसाधनस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति । वाच० । कालात्ययापदिष्टोऽपि । तथा ह्यस्य रूपं कालात्ययापदिष्टः कालातीत इति हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमयस्तमतीत्य प्रयुज्यमानः प्रत्यक्षागमबाधिते विषये वर्तमानः कालात्ययापदिष्टो भवतीति । अयं च किञ्चित्करदूषणेनैव दूषितोऽवसेय । रत्ना० ६ परि० ।

कालात्ययापदिष्टोऽपि हेत्वाभासोऽपरास्त्युपगमः । यथा-पक्वान्येतान्याम्रफलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवत् । अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि प्रत्यक्षबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात् अपदिष्टत्वागमकत्वे निबन्धनं हेतोः कालाद् दुष्टकर्मानन्तरं प्रयोग प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य दुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगाद्धेतुकालव्यतिक्रमेण प्रयोग । तस्माच्च कालात्ययापदिष्टशब्दाभिधेयता, हेत्वाभासता च । सम्म० २ काण्ड ।

कालच्छेय-कालच्छेद-पुं० । कालविभागे, ध० ३ अधि० ।

कालणरय-कालनरक-पुं० । नरकभेदे, यत्र यावती स्थितिरिति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कालणाण-कालज्ञान-न० । कालस्य शुभाशुभरूपस्य ज्ञाने, "काले कालणाणं" स्था० १० ठा० । "कालणाणसमासो, पुव्वायरियेहिं णिद्दिट्ठो एसो। दिणकरपक्खत्तीओ, सीसजणविबोहणट्ठाए " ॥१॥ ज्यो० २१ पाहु० । वाच० ।

कालणाणि (ण्)-कालज्ञानिन्-त्रि० । कालज्ञे, "काल कालणाणी जाणइ वेज्जय वेज्जो " । अनु० ।

कालणिवेसि (ण्)-कालनिवेशिन्-पुं० । अनस्तमिते रात्रिप्रथमायां पौरुष्यां निवेशं कृत्वा तिष्ठति, बृ० १ उ० । " कालणिवेसी जे अणत्थमिए आइच्चेऽवक्कमति" । नि० चू० १६ उ० ।

कालण्णु-कालज्ञ-त्रि० । कालं योग्यकालं ज्योतिषां कालावयवं वा जानाति । ज्ञा-क । कालज्ञानयुक्ते ज्योतिषिके, वाच० । उचितानुचितावसरज्ञे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । कालज्ञान् वैयान्तिके प्रविशतो य. कालः प्रस्तावस्तद्वेदिनः । सू० १ उ० ।

कालण्णुया-कालज्ञता-स्त्री० । कालं प्रस्तावमुपलक्षणत्वाद् देशं च जानातीति कालज्ञस्तद्भाव. कालज्ञता । देशकालपरिज्ञाने, तस्मिन् हि सति गुर्वादिछन्दसा गुर्वादिभ्य आहारादिप्रदानं करोति ततो विनयहेतुत्वात्तदपि देशकालपरिज्ञानं विनय इति औपचारिकः षष्ठोऽयं विनय. । व्य० १ उ० ।

कालतिग-कालत्रिक-न० । अतीतानागतवर्त्तमानकालरूपे कालत्रये, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

कालदव्व-कालद्रव्य-न० । काल एव तत्र तद्रूपद्रवणात् द्रव्यं कालद्रव्यम् । द्रव्यभेदे, कर्म० । कालद्रव्यस्य निष्प्रदेशता, तत्र काल एव तत्तद्रूपद्रवणाद्द्रव्यं कालद्रव्यं, तत्र च कालस्य वस्तुनः समयरूपस्य निर्विभागत्वान्न देशप्रदेशसम्भवः । अत एव नास्ति कालत्वाभावो वेदितव्य. । नन्वतीतानागतवर्तमानभेदेन कालस्यापि त्रैविध्यमस्तीति किमिति नोक्तम् ? । सत्यम् । अतीतानागतयोर्विनष्टाऽनुत्पन्नत्वेनाऽविद्यमानत्वाद्वार्तमानिक एव समयरूपः सद्रूप, यद्येव तर्हि पूर्वसमयनिरोधेनैवोत्तरसमयसद्भाव असङ्ख्यानानां समुदयसमित्याद्यसमवादावलिकादयः शास्त्रान्तरप्रतिपादिता. कालविशेषा. कथं सगच्छन्ते ? । सत्यम् । तत्त्वतो न सगच्छन्त एव, केवल व्यवहारार्थमेव कल्पिता इति । कर्म० ४ कर्म० ।

कालदेव-कालदेव पुं० । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० ।

कालदोस-कालदोष-पुं० । दुःषमाऽनुभावे, पञ्चा० १७ विव० । अवसर्पिणीलक्षणस्य हीनहीनतरादिस्वभावस्य समयस्याऽपराधे, हारि० १८ अष्ट० । सूत्रदोषविशेषे च । यत्र हि अतीतादिकालव्यत्ययो यथा रामो वनं प्राविशदिति वक्तव्ये रामो वनं प्रविशतीत्याह । अनु० । आ० म० । विशे० । बृ० ।

कालद्धाणाइक्कत-कालाध्वातिक्रान्त-त्रि० । प्रहरत्रयादूर्ध्वं ध्रियमाणे कालातिक्रान्ते, अर्द्धयोजनातिरेकादानीते च । तत्र साधूनामपरिभोगम् । आह-साधूनामुपयुक्तत्वात्कथं कालातिक्रान्तत्वसम्भवः । सत्यम् । सम्भवत्येव ग्लानादिहेतो. त्यक्तुं वा स्थण्डिलं न स्यात् सागारिको वा स्युश्चौरादिभयं वा तथा स्यादिति तत्र विवेकार्हं प्रायश्चित्तम् । जीत० ।

कालधम्म-कालधर्म-पुं० । कालो मरणं स एव धर्मो जीवपर्यायः कालधर्मः । ज्ञा० १ अ० । कालो मरणं तल्लक्षणो धर्मः पर्याय. कालधर्मः । विशे० । मरणे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । "तेणं कालेणं मण्याचम्रा मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति" स्था० ४ ठा० ३ उ० । "कालधम्मुणा संजुत्त त्ति" मृतमित्यर्थः । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

कालपच्चक्खाण-कालप्रत्याख्यान-न० । नमस्कारपौरुषीप्रत्याख्यानादौ, " कालपच्चक्खाणं णमोक्कारपोरिसीपुरिमड्ढ पच्छिमड्ढादि अद्धमासावसाणेण दो दिवसा तिण्णि दिवसा मासो वा जाव छम्मासो त्ति" । आ० चू० ६ अ० ।

कालपडिलेहणा-कालप्रतिलेखना-(प्रत्युपेक्षणा) स्त्री० । कालस्य व्याघातिकप्रभृतिकालचतुष्टयप्रतिलेखना प्ररूपणा कालग्रहणरूपा कालप्रतिलेखना । कालग्रहणे, उत्त० ।

तत्फलम्-

कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कालपडिलेहणयाए णं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ २५ ॥

हे भदन्त ! कालप्रतिलेखनया कालस्य प्रादोषिकप्राभातिकादिकस्य प्रतिलेखना प्रत्युपेक्षणा सिद्धान्तोक्तविधिना सत्यप्ररूपणा ग्रहणप्रतिजागरणसावधानत्वं कालप्रतिलेखना, तया जीव. किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! कालप्रतिलेखनया जीवो ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति । उत्त० २९ अ० ।

कालपरियाय-कालपर्याय-पुं० । मृत्योरवसरे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

कालपरियायमरण-कालपर्यायमरण-न० । संलेखनाकालपर्यायेण भक्तपरिज्ञादिमरणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

कालपुरिस–कालपुरुष–पुं०। कालः कालचक्रं पुरुष इव। मेषादिद्वादशराशिस्वरूपे कालव्यवहारकारके पुरुषाकारे गगनस्थे वायुचक्रभेदे, वाच०। 'पुरिस' शब्दे वक्ष्यमाणस्वरूपे पुरुषभेदे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

कालपोग्गलपरियट्ट–कालपुद्गलपरावर्त्त–पुं०। कालतः पुद्गलपरावर्त्ते, कालतस्तु यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेषु अपि क्रमेणोत्क्रमेण वा अनन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादरः कालपुद्गलपरावर्तो भवति, केवलं येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेकद्वित्र्यादिसमयक्रममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति। कर्म० ५ कर्म०।

कालपरिहीण–कालपरिहीन–न०। परिहानिः परिहीनं कालस्य परिहीनम्। कालविलम्बे, रा०।

कालप्पभ–कालप्रभ–पुं०। धरणादेरुत्पातपर्वते, स्था० १० ठा०। [स च येषां यावत्प्रमाणस्तथोक्तो द्वितीयभागे ८३३ पृष्ठे "उप्पाय" शब्दे]

कालप्पमाण–कालप्रमाण–पुं०। चतुःप्रमाणभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

कालवह–कालवध–पुं०। कालव्याघाते, "कधिहासिअविज्जुगमि अ, गज्जिअ उक्काय कालवहो"। आव० ५ अ०।

कालवाल–कालपाल–पुं०। व्यन्तरेन्द्राणां लोकपाले, स्था० १० ठा०।

कालभूमि–कालभूमि–स्त्री०। कालमण्डल्याम्, "ते पुण संदिउ चिअ पासवणुच्चारकालभूमीओ" आव० ४ अ०।

कालभोगि (ण्)–कालभोगिन्–त्रि०। मध्याह्ने सूर्येणापि भ्रियमाणे भुञ्जाने, बृ० १ उ०।

कालमाण–कालमान–न०। कालो मन्यतेऽसौ। मन्–कर्मणि घञ् सुप्–स०। कालपरिमाणे, वाच०। कालपरिमाणापेक्षायाम्, पञ्चा० १० विव०। (देवानामाहारोच्छ्वासयोः कालमान 'मान' शब्दे वक्ष्यते)

कालमास–कालमास–पुं०। कालो मरणं तस्य मासः प्रक्रमादवसरः कालमासः। मरणमासे, भ० ७ श० १० उ०। "कालमासे कालं किच्चा" भ० ७ श० ६ उ०।

कालमासिणी–कालमासिनी–स्त्री०। कालमासवत्यां गर्भाधानान्नवमासवत्याम्, "सिया य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी"। दश० ५ अ० १ उ०।

कालमिगपट्ट–कालमृगपट्ट–पुं०। कालमृगचर्मणि, अं० २ वक्ष०। जी०।

कालय–कालक–पुं०। भ्रमरे, विशे०। श्यामे, "तेण तेल्लेण डज्झतो कालओ जातो कागवण्णो नामेण विक्खातो" आ० म० द्वि०।

काललंघ–काललङ्घ–पुं०। कालस्य साधूचितभिक्षासमयस्य लङ्घः लङ्घनमतिक्रम इति यावत्। अतिथिसंविभागव्रतस्यातिचारे, कालं न्यूनमधिकं वा ज्ञात्वा साधवो न ग्रहीष्यन्ति, ज्ञास्यन्ति च यथाऽयं ददातीत्येव विकल्पतो दानार्थमभ्युत्थानमतीचार इति चतुर्थः। ध० २ अधि०।

काललोहसिंचण–काललोहसेचन–न०। काललोहेनाऽभिषेचनरूपे शारीरदण्डे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

कालवट्ठ–देशी–धनुषि, दे० ना० २ वर्ग।

कालवडिंसग–कालावतंसक–न०। चमरचञ्चाराजधान्यां स्वनामख्याते विमाने, यत्र चमराग्रमहिषी काली देवी उपपन्ना। ज्ञा० १ श्रु०।

कालवाइ (ण्)–कालवादिन्–पुं०। कालकृतमेव सर्वं जगन्मन्यमाने, न०। कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगन्मन्यन्ते। तथा च ते आहुः–न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसम्पादिता बालकुमारयौवनवलिपलितागमादयो वाऽवस्थाविशेषाः घटन्ते प्रतिनियतकालविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात्। अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत्। न चैतद् दृष्टमिष्टं वा। अपि च–मुद्गपक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ती दृश्यते, किं तु कालक्रमेण, अन्यथा स्थालीन्धनादिसामग्रीसम्पर्कसम्भवे प्रथमसमयेऽपि तस्याभावप्रसङ्गो न च भवति, तस्माद्यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतमिति। तथाचोक्तम्–

"न कालव्यतिरेकेण, गर्भबालशुभादिकम्।
यत्किञ्चिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल।
किंच कालादृते नैव, मुद्गपक्तिरपीक्षते।
स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि, ततः कालादसौ मता॥ २॥
कालाभावे च गर्भादि, सर्वं स्यादव्यवस्थया।
परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात्॥ ३॥
कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।" ॥ ४॥

अत्र परेष्टहेतुसद्भावमात्रादिति पराभिमतवनितापुरुषसंयोगादिमात्ररूपहेतुसद्भावमात्रादेव, तदुद्भवादिति गर्भाद्युद्भवप्रसंगात्। तथा कालः पचति परिपाकं नयति परिणतिं नयति भूतानि पृथिव्यादीनि; तथा कालः संहरते प्रजाः पूर्वपर्यायात्प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण प्रजाः लोकान् स्थापयति; तथा कालः सुप्तेषु जनेषु जागर्ति काल एव तं तं सुप्तं जनमापदो रक्षतीति भावः। तस्माद्धि स्फुटं दुरतिक्रमोऽपाकर्त्तुमशक्यः काल इति। न०। खण्डनम्–तत्र ये कालवादिनः सर्वं कालकृतं मन्यन्ते तान् प्रति ब्रूमः–कालो नाम किमेकस्वभावो नित्यो व्यापी, किं वा समयादिरूपतया परिणमतीति?। तत्र यद्याद्यः पक्षः। तदयुक्तम्। तथाभूतकालग्राहकप्रमाणाभावात् न खलु तथाभूतं कालं प्रत्यक्षेणोपलभामहे। नाप्यनुमानेन, तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। अथ कथं तदविनाभाविलिङ्गाभावो यावता दृश्यते भरतरामादिषु पूर्वापरव्यवहारः, स च न वस्तुस्वरूपमात्रनिमित्तो, वर्त्तमाने च काले वस्तुस्वरूपस्य विद्यमानतया तथा व्यवहारप्रवृत्तिप्रसक्तेः, ततो यन्निमित्तोऽयं भरतरामादिषु पूर्वापरव्यवहारः स काल इति। तथाहि–पूर्वकालयोगी पूर्वो भरतचक्रवर्ती, अपरकालयोगी चापरो रामादिरिति। ननु यदि भरतरामादिपूर्वापरकालयोगतः पूर्वापरव्यवहारस्तर्हि कालस्यैव कथं स्वयं पूर्वापरव्यवहारः?। तदन्यकालयोगादिति चेत्, न।

तत्राऽपि स एव प्रसङ्ग इत्यनवस्था। अथ मा भूदेष दोष इति तस्य स्वयमेव पूर्वत्वमपरत्वं चेष्यते, नान्यकालयोगादिति। तथाचोक्तम्-" पूर्वकालादियोगी यः, पूर्वादिव्यपदेशभाक् । पूर्वापरत्वं तस्यापि, स्वरूपादेव नान्यतः" ॥१॥ तदप्याकण्ठपीताऽऽसवप्रलापदेशीयम्। यत एकान्तेनैको व्यापी नित्यः कालोऽभ्युपगम्यते तत कथं तस्य पूर्वादित्वसम्भवः?। अथ सहचारिसम्पर्कवशादेकस्यापि तथात्वकल्पना। तथाहि-सहचारिणो भरतादयः पूर्वा अपरे च रामादयोऽपराः, ततस्तत्सम्पर्कवशात्कालस्यापि पूर्वापरव्यपदेशो भवति। सहचारिणो व्यपदेशो यथा-मञ्चाः क्रोशन्ति इति। तदेतदपि बालिशजल्पितम्। इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-सहचारिणां भरतादीनां पूर्वादित्वं कालगतपूर्वादित्वयोगात्, कालस्य च पूर्वादित्वं सहचारिभरतादिगतपूर्वादित्वयोगतः, ततः एकाऽसिद्धावन्यतरस्याप्यसिद्धिः। उक्तं च-

" एकत्वव्यापितायां हि, पूर्वादित्वं कथं भवेत् ?।
सहचारिवशान्नस-दन्योऽन्याश्रयतागमः ॥ १ ॥
सहचारिणां हि पूर्वत्वं, पूर्वकालसमागमात् ।
कालस्य पूर्वादित्वं च, साहचर्यवियोगतः " ॥ २ ॥

प्रागसिद्धावेकस्य कथमन्यस्य सिद्धिरिति तत्राद्य पक्षः श्रेयान्। अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽप्ययुक्तः, यतः समयादिरूपे परिणामिनि काले विशिष्टेऽपि फलवैचित्र्यमुपलभ्यते। तथाहि-समकालमारभ्यमाणायामपि मुद्गपङ्क्तिरविकला कस्यचिद् दृश्यते, अपरस्य तु स्थाल्यादिसंगतापि विकला। तथा समयकालमेकस्मिन्नेव राजनि सेव्यमाने सेवकस्यैकस्य फलमचिराद्भवति, अपरस्य तु कालान्तरेऽपि, तथा समानेऽपि समकालमपि क्रियमाणे कृष्यादिकर्मण्येकस्य परिपूर्णा धान्यसम्पदुपजायते, अपरस्य तु खण्डस्फुटिता वा न किञ्चिदपि। ततो यदि काल एव केवलः कारणं भवेत्तर्हि सर्वेषामपि सममेव मुद्गपक्त्यादिकं फलं भवेत्, न च भवति, तस्मान्न कालमात्रकृतं विश्ववैचित्र्यम्, किं तु कालादिसामग्रीसापेक्षं तत्तत्कर्मनिबन्धनमिति स्थितम्। नं०। [अनेकान्तेन स्याद्वादिनामपि कालस्य कारणत्वं सम्मतमेव] कालोऽपि कर्त्ता, यतो बकुलचम्पकाशोकपुन्नागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति । यच्चोक्तम्-कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत इति, तदस्मान् प्रति न दूषणम्, यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाभ्युपगम्यते, अपि तु कर्मापि, ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः। एकान्तवादसमाश्रयणे तु दोषः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

कालादेकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह-

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तणो चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं ॥१५०॥

कालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽप्येकका मिथ्यात्वम्, त एव समुदिताः परस्पराजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्त इति तात्पर्यार्थः। तत्र काल एवैकान्तेन जगतः कारणमिति कालवादिन आहुः। तथाहि-सर्वस्य शीतोष्णवर्षावनस्पतिपुष्पादेर्जगतः प्रभवस्थितिविशेषेषु ग्रहोपरागयुतियुद्धोदयास्तमयगतिगमनागमनादौ वा कालः कारणं, तमन्तरेण सत्यासत्योत्पत्तिकारणत्वाभिमतभावसद्भावेऽप्यभावात्, तत्सद्भावे च भावान्न युक्तम् "कालः पचति भूतानि" इत्यादि। असदेतत्। तत्कालसद्भावेऽपि वृष्ट्यादेः कदाचिददर्शनात्। न च तदभवनमपि तद्विशेषकृतमेव, नित्यैकरूपतया तस्य विशेषाभावात्। विशेषे वा तज्जननाजननस्वभावतया तस्य नित्यत्वव्यतिक्रमात् स्वभावभेदाद् भेदसिद्धेः। न च ग्रहमण्डलगत्यादिकृतो वर्षादिविशेषः, तस्याप्यहेतुकतयाऽभावात्। न च काल एव तस्य हेतुः, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। सति कालभेदे वर्षादिभेदहेतोर्ग्रहमण्डलादेर्भेदः, तद्भेदाच्च कालभेद इति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। अन्यतः कारणाद्वर्षादिभेदेन काल एव एकः कारणं भवेत् इत्यभ्युपगमविरोधः। कालस्य कुतश्चिद्भेदाभ्युपगमे अनित्यत्वमित्युक्तम्। तत्र च प्रभवस्थितिविनाशेषु यद्यपरः कालः कारणं, तत्र तत्रापि स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्थानान्न वर्षादिकार्योत्पत्तिः स्यात्। नचैकस्य कारणत्वं युक्तम्, क्रमयौगपद्याभ्यां तद्विरोधात्। तन्न काल एवैकः कारणं जगतः। सम्म० ३ काण्ड। आचा०।

कालवासि (ण्)-कालवर्षिन्-पुं०। अवसरवर्षिणि मेघे, अवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवर्तके पुरुषजाते च। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कालविमोक्ख-कालविमोक्ष-पुं०। चैत्यमहिमादिकेषु कालेषु, समायातादिघोषणापादितो यावन्तं कालमुच्यते यस्मिन् वा काले व्याख्यायते तस्मिन् विमोक्षभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

कालविभाग-कालविभाग-पुं०। अनाद्यपर्यवसितादिकालभेदेषु, " इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं "। उत्त० ३६ अ०।

कालविरुद्ध-कालविरुद्ध-त्रि०। कालप्रतिकूले, कालविरुद्धं त्वेवम्-शीततौ हिमालयपरिसरे, ग्रीष्मर्तौ मरौ, वर्षासु अपरदक्षिणसमुद्रपर्यन्तभूभागेषु मयहारण्ये यामिनीमुखवेलायां वा प्रस्थानम्, तथा फाल्गुनमासादनन्तरं तिलपीलनम्, तद्व्ययमायादि, वर्षासु वा पत्रशाकग्रहणादि ज्ञेयम्। ध० २ अधि०।

कालविवच्चास-कालविपर्यास-पुं०। ऋतुबद्धे अधिकवासे, वर्षासु विहारे च। "उउबद्धकाले अतिरेगो वासो एव सभवति दुब्भिक्खादुत्ता वा वासासु विहरति, एवं कालविवच्चास करेति" नि० चू० १ उ०।

कालवेला-कालवेला-स्त्री०। कालस्य शनेर्वेला कालभेदः। रव्यादिवारेषु दिवानिशोरर्द्धयामभेदे, वाच०। कालवेलायां प्रकरणानि निर्युक्त्यो वा साधुभिर्गण्यन्ते, न वा ?, तथा कालवेलायां श्राद्धैरपि संग्रहणीप्रमुखं गण्यते, न वेति प्रश्ने, कालवेलायां सर्वेषामप्याचारप्रदीपादौ निर्युक्तिभाष्यादिप्रभृति सर्वं पठनपाठनादि प्रतिषिद्धमस्ति। २६ प्र० सेन० २ उ०।

कालवेसिय-कालवैश्यक-पुं०। कालाख्याया वेश्यायाः पुत्रः कालवैश्यकः। मथुरानृपते कालवेश्यायां सञ्जाते पुत्रे, उत्त० २ अ०। ('रोगपरीसह' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)

कालसंजोग-कालसंयोग-पुं०। वर्तमानादिकालसम्बन्धानुभूतौ, मरणयोगे च। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

कालसंदीव-कालसन्दीप-पुं०। इन्द्रमहेश्वरमालिनि त्रिपुरासुरे, आ० क०। आ० चू०। सूत्र०। (" सिक्खा " शब्दे दृष्टान्तप्रमाणकथया स्पष्टीभविष्यति)

कालसमय-कालसमय-पुं०। कालश्चासौ समयश्च कालसमयः। कालरूपे समये, "पुक्खरद्धे कालसमयसि वासाण पढमे समए पमिवज्जइ।" पूर्वस्मिन् काले [समयसि त्ति] समयः सङ्केतादिरपि भवति। सू० प्र० ८ पाहु०।

कालसमा-कालसमा-स्त्री०। अवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या वा अरके कालविभागे, प्रथमः कालविभागः सुषमसुषमा, द्वितीयः सुषमा, तृतीयः सुषमदुःषमा, चतुर्थो दुःषमसुषमा, पञ्चमो दुःषमा, षष्ठो दुःषमदुःषमा इत्यर्थः। उक्तानि कालसमानामानि। ज्यो० २ पाहु०।

कालसमाहि-कालसमाधि-पुं०। समाधिभेदे, यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते। तद्यथा-शरदि गवां नक्तमुलूकानामहनि वायसानां यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन् वा समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

कालसमोसरण-कालसमवसरण-न०। समवसरणमेलापकभेदे, कालसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते च समवसरणं यत्र तत्कालप्राधान्यादिदमुच्यते। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

कालसहाव-कालस्वभाव-पुं०। कालसामर्थ्ये, पञ्चा० १७ विव०।

कालसिला-कालशिला-स्त्री०। मरणार्थपादपोपगमनशिलायाम्, संथा०।

कालसोअरिय-कालसौकरिक-पुं०। कालनामके सूनावृत्तिके, स चाऽविनीतो मृत्वा सप्तमपृथिवीं गतः, तत्पुत्रः सुलसः सुश्रावकोऽभूदिति। आ० क०। नि० चू०। स्था०। सूत्र०। ('सुलस' शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

कालहत्थि(ण्)-कालहस्तिन्-पुं०। कलम्बुकासन्निवेशस्थे प्रात्यन्तिके मेघस्य भ्रातरि, आ० म० द्वि०। आ० चू०। ('चोर' शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

काला-काला(ली)-स्त्री०। कालो वर्णोऽस्त्यस्या अर्श-अच्। काली वर्णश्चेदिति वार्तिकोक्तेः कालशब्दस्यैव वर्णवाचित्वे ङीष्। इह तु अर्श आद्यजन्तत्वात् न ङीप्। नीलिन्यां कृष्णत्रिवृतायां कृष्णजीरके च। कन्न विक्षेपे, णिच् पचाद्यच्। मञ्जिष्ठायाम्, कुलिकवृक्षे, अश्वगन्धावृक्षे, पाटलावृक्षे च। वाच०। प्राकृते तु "अजातेः पुंसः"। ८। ३। ३२। इति अजातिवाचिनो जातिभिन्नवाचकात् कालशब्दात् वा ङीप्। काला काली। जातिवाचकात्तु ङीवेव, काली। प्रा० ३ पाद।

कालाइक्कंत-कालातिक्रान्त-न०। कालं दिवसस्य प्रहरत्रयलक्षणमतिक्रान्तं कालातिक्रान्तम्। "जेण णिग्गंथे वा जाव साइमं पढमाए पोरिसीए पडिग्गहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवायणावित्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा! कालाइक्कंते पाणभोयणे" इत्युक्तस्वरूपे कालातिक्रमदोषदुष्टे पानभोजने, भ० ७ श० १ उ०। तृष्णाबुभुक्षाकालाऽप्राप्ते च पानभोजने, "कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य पाणभोयणेहिं अप्पया कयाइ सरीरगंसि विउलरोगातंके पाउब्भूए" भ० ए श० ३३ उ०।

कालाइक्कंतकिरिया-कालातिक्रान्तक्रिया-स्त्री०। वसतेः कालातिक्रमदोषे, आचा०।

से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा जे भयंतारो उउबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावेत्ता तं दुगुणा दुगुणेण अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो! इतरा उवट्ठाणकिरिया या वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संते गतिया सड्ढा भवंति। तं जहा-गाहावईउ वा जाव कम्मकरीउ वा तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति। तं जहा-आएसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सभाओ वा पवाणि वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुधाकम्मंताणि वा दब्भकम्मंताणि वा वद्धकम्मं पुव्वकम्मं इंगालकम्मंताणि वा कट्ठकम्मंताणि वा सुसाणकम्मं संतसुण्णागारगिरिकंदरा संति सेलोवट्ठाणकम्मं भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो! अभिक्कंतकिरिया वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो! अणभिक्कंतकिरिया या वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति। तं जहा-गाहावई वा जाव कम्मकरी वा तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति, जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ णो खलु एसिं भयंताराणं कप्पति आहाकम्मिए उवस्सए वत्थए सेज्जाणिमाणि अम्हं अप्पणो अट्ठाए चेइयाइं भवंति। तं जहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा सव्वाणि ताणि समणाणं णिसिरामो अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेतिस्सामो तं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छति, इयरा इतरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति अयमाउसो! वज्जकिरिया वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति तेसिं च णं आयारगोयरे जाव तं रोएमाणेहिं बहवे समणमाहण० जाव वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा उवागच्छति, इतरा इतरे-

हि पाहुमेहिं अयमाउसो! महावज्जकिरिया यावि भवति,इह खलु पाईण वा ४ संते गइया जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणजाए समुद्दिस्स तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा-आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इयरा इयरेहिं पाहुमेहिं अयमाउसो! सावज्जकिरिया यावि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति। तं जहा-गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसते भवति, तं सद्दहमाणेहिं ३ एकं समणजाय समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा-आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं एवं आउतेउवाउवणस्सइ महया तसकायसमारंभेणं महया संरंभेणं महया समारंभेणं महता आरंभेणं महया विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं तं जहा-छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहाणओ सीतोदए वा परिट्ठविय पुव्वे भवति, अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति इतरा इतरेहिं पाहुमेहिं दुपक्खते कम्मं सेवंति अयमाउसो! महासावज्जकिरिया यावि भवति,इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति,तं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इतरा इतरेहिं पाहुमेहिं एगपक्खते कम्मं सेवंति अयमाउसो! अप्पसावज्जकिरिया यावि भवति एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

साम्प्रतं कालातिक्रान्तवसतिदोषमाह-(से) इत्यादि। तेष्वारामागारेषु ये भगवन्त ऋतुबद्धमिति शीतोष्णकालयोर्मासकल्पमुपनीयातिवाह्य वर्षासु वा चतुरो मासानतिवाह्य तत्रैव पुनः कारणमन्तरेणासते, अयमायुष्मन्! कालातिक्रमदोषः संभवति। तथाच स्त्र्यादिप्रतिबन्धः स्नेहादुद्गमादिदोषसंभवो वेत्यतस्तथा स्थानं न कल्पते इति। इदानीमुपस्थानदोषमभिधित्सुराह-(से) इत्यादि। ये भगवन्तः साधव आगन्तारादिषु ऋतुबद्धं वर्षा वाऽतिवाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा द्विगुणत्रिगुणादिना मासकल्पेनापरिहृत्य द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति। अयमेवंभूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवतीत्यतस्तत्रावस्थातुं न कल्पत इति। इदानीमभिक्रान्तवसतिप्रतिपादनायाह-इह प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादिषु दिक्षु श्रावका प्रकृतिभद्रका वा गृहपत्यादयो भवेयुः तेषां च साध्वाचारगोचरः (णो सुणिसन्तो इति)न सुष्ठु निशान्तः श्रुतोऽवगतो भवतं साधूनामेवंभूतः प्रतिश्रयः कल्पते, नैवंभूत इत्येवं न ज्ञातं भवतीत्यर्थः। प्रतिश्रयदानफलं च स्वर्गादिकं तैः कुतश्चिदवगतं तच्छ्रद्दधानैः प्रतीयमानै रोचयद्भिरेकार्था एते, किञ्चिद्भेदाद्वा भेदः। तदेवंभूतैरगारिभिर्गृहस्थैर्बहून् श्रमणादीनुद्दिश्य तत्र तत्राऽऽरामादौ यानशालादीनि स्वार्थं कुर्वद्भिः श्रवणाद्यवकाशार्थम् (चेइयांति)महान्ति कृतानि भवन्ति चागाराणि, स्वनामग्राहं दर्शयति। तद्यथा-आवेशनानि लोहकारादिशाला, आयतनानि देवकुलपार्श्वापवरकदेवकुलानि प्रतीतानि, सभाश्चातुर्वेद्यादिशालाः,प्रपा उदकदानस्थानानि, पण्यगृहाणि पण्यापणाः, शाला यवशाला, यानगृहाणि यत्र यानानि तिष्ठन्ति, यानशाला यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते (सुधाकम्मं ति)तानि यत्र सुधा परिकर्म्म क्रियते। एवं दर्भवल्कवनाङ्गारकाष्ठकर्मगृहाणि द्रष्टव्यानि। श्मशानगृहं प्रतीतम्, शान्तिकर्म्मगृहं यत्र शान्तिकर्म्म क्रियते, गिरिगृहं पर्वतोपरिगृहं, कन्दरं गिरिगुहा संस्कृता, शैलोपस्थानं पाषाणमण्डपः, तदेवंभूतानि गृहाणि तैश्चरकब्राह्मणादिभिरभिक्रान्तानि पूर्वं पश्चाद् भगवन्तः साधवोऽवपतन्त्यवतरन्ति। अयमायुष्मन्! विनेयामन्त्रणम्। अभिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवत्यल्पदोषा चेयम्। इहेत्यादि सुगमं,नवरं चरकादिभिरनवसेवितपूर्वानभिक्रान्तक्रियावसतिर्भवतीयं चाऽनभिक्रान्तत्वादेवाकल्पनीयेति। साम्प्रतं वर्ज्याभिधानां वसतिमाह-इह खल्वित्यादि प्रायः सुगमम्। समुदायोऽन्यात्मार्थं गृहाणि निर्वर्तितानि साधुभ्यो दत्त्वा आत्मार्थं त्वन्यानि कुर्वन्ति,ते च साधवस्तेष्वितरेतरेषूच्चावचेषु(पाहुडेहिं ति)प्रदत्तेषु गृहेषु यदि वर्त्तन्ते ततो वर्ज्यक्रियाभिधाना वसतिः सा च न कल्पते इति। इदानीं महावर्ज्याभिधानां वसतिमधिकृत्याह-इहेत्यादि प्रायः सुगममेव, नवरं श्रमणाद्यर्थं निष्पादितायां यावन्ति वसतौ स्थानादि कुर्वतो महावर्ज्याभिधाना वसतिर्भवत्यकल्प्या चेयं विशुद्धकोटिश्चेति। इदानीं सावद्याभिधानामधिकृत्याह-इहेत्यादि प्रायः सुगमं, नवरं पञ्चविधश्रमणाद्यर्थमेवैषा कल्पिता,ते चामी श्रमणाः-"णिग्गंथसक्कतावसगेरुयआजीवपञ्चहा समणा इति" अस्यां च स्थानादि कुर्वतः सावद्यक्रियाऽभिधाना वसतिर्भवति, अकल्पनीया चेयं विशुद्धकोटिश्चेति। महासावद्याभिधानामधिकृत्याह-(इहेत्यादि) इह कश्चिद् गृहपत्यादिरेकं साधर्मिकमुद्दिश्य पृथिवीकायादिसंरम्भसमारम्भैरन्यतरेण वा महता तथा विरूपरूपैर्नानारूपैः पापकर्मकृत्यैरनुष्ठानैस्तद्यथा छादनतो लेपनतस्तथा संस्तारकार्थं द्वारढक्कनार्थं चेत्यादीनि प्रयोजनान्युद्दिश्य शीतोदकं त्यक्तपूर्वं भवेत्, अग्निर्वा प्रज्वालितपूर्वो भवेत्, तदस्यां वसतौ स्थानादि कुर्वन्तस्ते द्विपक्षं कर्मासेवन्ते। तद्यथा-प्रव्रज्यां आधाकर्म्मिकवसत्यासेवनाद् गृहस्थत्वं च रागद्वेषं च ईर्यापथं सांपरायिकं चेत्यादिदोषान् महासावद्यक्रियाभिधाना वसतिर्भवतीति। इदानीमल्पक्रियाभिधानामधिकृत्याह-इहेत्यादि सुगमं, नवरम् अल्पशब्दोऽभाववाचीति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति। "कालाइक्कंतुवट्ठाणा अभिक्कंता चेव अणभिक्कंता य वज्जा य महावज्जा सावज्जमहप्पकिरिया य"। एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नवभिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः, आसु च अभिक्रान्ता अल्पक्रिये योग्ये, शेषास्त्वयोग्या इति। आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०। पं० व०।

कालाइक्कंता-कालातिक्रान्ता-स्त्री०। कालमतिक्रान्ता कालातिक्रान्ता। कालातिक्रान्ताक्रियाख्ये वसतिदोषभेदे,"उउमास समईआ, कालाईआ उ सा भवे सिज्जा"। (ऋताविति) ऋतुबद्धे मासं समतीता या निवासेन,उपलक्षणाद्वर्षाकाले वा चतुरकालातीता सु कालातीतैव,सा भवेच्छय्या,शय्येति वसतिः। अन्ये तु ।

न्तर इत्थं व्याचष्टे-ऋतुवर्षयोः समतीता निज कालमृतुबद्धे मास वर्षाकाले चतुर इति शेषं मूलवत् । पं० व० ३ द्वार ।

कालाइक्कम-कालातिक्रम-पुं० । कालस्य साधूचितभिक्षासमयस्याऽनिक्रमोऽदित्सयाऽनागतभोजनपश्चाद्भोजनद्वारेणोल्लङ्घनं कालातिक्रमः । अतिथिसंविभागस्य चतुर्थशिक्षाव्रतस्याऽतिचारे, पञ्चा० १ विव० । । कालस्यातिक्रमः कालातिक्रम इत्युचितो यो भिक्षाकालः साधूनां, तमतिक्रम्यानागत वा भुक्तेऽतिक्रान्ते वा तदा च किञ्चित्तेन लब्धेनापि कालातिक्रान्तत्वात्तस्य । उक्तं च-"काले दिन्नस्स पहे-णयस्स अग्घो न तीरई किं तु । तस्सेव अ कालपणा-मियस्स गेएहतया नत्थि" ॥आव० ६ अ० ।

कालाइचार-कालातिचार-पुं० । दीर्घस्थितिके, "आउस्स कालाइचरं च घाए, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ।" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

कालाएस-कालादेश-पुं० । कालप्रकारे कालत इत्यर्थे, भ० २४ श० १ उ० ।

कालाकाल-कालाकाल-पु० । संचरणस्य उचिताऽनुचितरूपयोः समयाऽसमययोः, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कालाग (गु) रु-कालाग (गु) रु-न० । कृष्णागुरुणि, ज्ञा० १ अ० । "कालागुरुकडुरुक्कधूवमघमघायमाणगंधुद्धुयाभिरामे" । प्रज्ञा० २ पद । औ० । रा० ।

कालाणुओग-कालानुयोग-पुं० । तृतीयेऽनुयोगे, स च सूर्यप्रज्ञप्तिः, उपलक्षणमेतत्-चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिरपि । आ० म० द्वि० ।

कालाणुट्ठाइ (ण्)-कालानुष्ठायिन्-त्रि० । यद्यस्मिन् काले कर्त्तव्य तस्मिन्नेवानुष्ठातु शीलमस्येति कालानुष्ठायी । कालानतिपातकर्त्तव्योद्यते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

कालादेस-कालादेश-पु० । एकादिसमयस्थितिकत्वे, भ० ५ श० ८ उ० । कालविशेषितत्वलक्षणप्रकारे, भ० १४ श० ४ उ० ।

कालायस-कालायस्-न० । लोहविशेषे, भ० १ श० ५ उ० । औ० । ज० । "कालायससुकयणेमिजंतकम्मं" कालायसेन लोहविशेषेण सुष्ठु अतिशयेन कृतनेमेर्बाह्यपरिधेर्यन्त्रस्य चारकोपरिफलकचक्रवालस्य कर्म यस्मिन् स कालायससुकृतनेमियन्त्रकर्मा । जं० ३ प्रति० । लोहमात्रे, जं० ३ प्रति० ।

कालायार-कालाचार-पु० । ज्ञानाचारभेदे, नि० चू० ।

जं जम्मि होइ काले, आयरियव्वं स कालमायारो ।
वइरित्तो तु अकालो, लहुगा तु अकालकारिस्स ॥९॥

[जमिति] अणिदिट्ठं सुयं घेप्पइ [जम्मि] काले आधारभूते [होति] भवतीत्यर्थ । [आयरियव्व] णाम पढियव्वं सोयव्व वा, जहा सुत्तपोरिसीए सुत्तं कायव्वं, अत्थपोरिसीए अत्थो, अहवा कालिय कालए वणउग्घाडपोरिसीए, उक्कालियं सव्वासु पोरिसीसु कालवेलं मोत्तु [स] इति निद्देसो । अओ स एव कालो कालायारो भवति । वइरित्तो णाम जहाऽभिहियकालाओ अण्णो अकालो भवति, जहा सुत्तं वितियाए, अत्थ पढमाए पोरिसीए वा सज्झाए वा असज्झाए वा, तुसद्दो कारणावेक्खी, कारणं पप्प विवज्जासो वि कज्जति, अतो तम्मि अकाले दप्पेण पढतस्स सुणंतस्स या पच्छित्त भवति । त च इम लहुयाओ अकालकारिस्स सुत्ते अत्थे य । तुसद्दो केवि मतविसेसावेक्खी, तं च उवरिं भणीहि त्ति ।

इयाणिं चोदगो भणति—

को आउरस्स कालो, मइ णवर धोवणे व्व को कालो ।
जदि मोक्खहेउनाणं, को कालो तस्स कालो वा ॥१०॥

[को] क आतुरो रोगी, कलन कालः, कलासमूहः कालः, तेण वा कारणभूतेन दिव्वादिचउक्कयं कलिज्जतीति काल, ज्ञायत इत्यर्थः । कोकारसद्दाभिहाणेण य ण कोइ कालो कालोऽभिधारिज्जइ । यथाऽन्यत्राप्यभिहितम्-को राजा न रक्षति मलो जस्स विज्जति, त मइल अवर वत्थ तस्स य मइलवत्थस्स धोवणए प्रति कालाकालो न विद्यते, भणिया दिट्ठता । इयाणिं दिट्ठतितो अत्थो भण्णति-एव [जइ] जइ त्ति अब्भुवगमो सव्वकम्मावगमो मोक्खो भवति, तस्स य हेउ कारण निमित्तमिति पज्जाया । ज्ञायते अनेनेति ज्ञान, यद्येवमभ्युपगम्यते ज्ञान कारणं न भवति मोक्षस्यातो कालो तस्स अकालो वा कालः । [तस्सेति] तस्स णाणस्स अ कालो वा, मा भवतु इति वक्कसेसं ।

आयरिओ भणति-सुणेहि चोदग ! समयपसिद्धेहिं लोगपसिद्धेहि य कारणेहिं पव्वाइ-

आहारविहारादिसु, मोक्खहिगारेसु काल अकालो ।
जह दिट्ठो तह सुत्ते, विज्जाणं साहणे चेव ॥ ११ ॥

आहारिज्जतीति आहारो, सो य मोक्खकारण भवति, जहा तस्स कालो अकालो य दिट्ठो, भणिय च अकाले चरसि भिक्खुसिलोगो, विहरण विहारो, सो य उउबद्धेन वासासु अहवा दिवा न रातो, अहवा दिवसातो वि ततियाए न सेसासु, सो य विहारो मोक्खकारण भवति । [मोक्खहिगारेसु त्ति] मोक्खकारणेसु, अहवा मोक्खत्थ आहाराइसु अहिगारो कीरति, जहा जेण पगारेण दिट्ठो उवलद्धो कालो अकालो य तहा तेणप्पगारेण [सुत्ते त्ति] सुयणाणे तम्मि वि कालाकालो भवतीति वक्कसेस । किं च-विज्जाण साहणे चेव कालाकालो दिट्ठो, जहा काइ विज्जा कण्हचाउद्दसिअट्ठमीसु साहिज्जति, अकाले पुण साहिज्जमाणी उवघाय जणयति, तहा णाण पि काले अहिज्जमाण णिज्जराहेऊ भवति, अकाले पुण उवघातकर कम्मबधाय भवति, तम्हा काले पढियव्वं, अकाले पढतं पडिणीया देवता छलेज्ज ।

जहा-

तक्क कुमेणाहरणं, दोहियधमएहि होंति णायव्वं ।
अतिसिरिमिच्छंतीए, विणासितो अप्पहारं तु ॥ १२ ॥

तक्कं उदसी, कुडो घमो आहरण दिट्ठतो, तक्कभरिएण कुमेण आहरण दिज्जति, जहा महुराए णयरीए एगो साहू पाउसिय कालं घेत्तु अइक्कताए पोरिसीए कालियसुयमणुवओगेण पढति, त सम्मदिट्ठी देवया पासति, ताए चिंतिय-मा एय साहु पता देवता छलेहि, तओ णं पडिबोहेमि, ताए य आहीरीरूव काउं तक्ककुडं घेत्तु तस्स पुरओ 'तक्कं विक्कायइ' त्ति घोसती गताऽऽगताणि करेति, तेण साहुणा चिरस्स सज्झायवाघात करेति त्ति भणिया-को इमो तक्कविक्कयकालो ? । तयाऽऽभणियं तुमं पुणाइ को इमो कालियस्स सज्झायकालो अ । भणियं च-"सूई पदप्पमाणाणि, परिच्छिद्दाणि पाससि । अप्पणो बिल्लमेत्ता-

उवागच्छइत्ता थेरे भगवं एवं वयासी—थेरा सामाइयं ण याणंति, थेरा सामाइयस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणं न याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संवरं ण याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं न याणंति, थेरा विवेगं ण याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं न याणंति । तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जाणामो णं अज्जो ! सामाइयं, जाणामो णं अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठं, जाव जाणामो णं अज्जो ! विउस्सग्गस्स अट्ठं । तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी—जइ णं अज्जो ! तुब्भे जाणह सामाइयं, जाणह सामाइयस्स अट्ठं०, जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं । के भे अज्जो ! सामाइए, के भे सामाइयस्स अट्ठे० जाव के भे विउस्सग्गस्स अट्ठे ?। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—आया णे अज्जो ! सामाइए, आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे, जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे । तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी—जइ भे अज्जो ! आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे,० जाव आया विउस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोहमाणमायालोभे किमट्ठं अज्जो ! गरहह ?। कालासा ! संजमट्ठयाए । से भंते ! किं गरहासंजमे अगरहासंजमे ?। कालासा ! गरहासंजमे, नो अगरहासंजमे । गरहा वि य णं सव्वं दोसं पविणेइ सव्वं बालियं परिण्णाए एवं खु णे आयासंजमे उवहिए भवइ, एवं खु णे आयासंजमे उवचिए भवइ, एवं खु णे आयासंजमे उवट्ठिए भवइ, एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता एवं वयासी-एएसि णं भंते ! पयाणं पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अबोहियाए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं अस्सुयाणं असुयाणं अविण्णायाणं अव्वोकडाणं अव्वोच्छिण्णाणं अणिज्जूढाणं अणुवधारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहिए णो पत्तिइए णो रोइए, इयाणिं भंते ! एएसि णं पयाणं जाणणयाए सवणयाए बोहियाए अभिगमेणं दिट्ठाणं सुयाणं सुयाणं विण्णायाणं वोगडाणं वोच्छिण्णाणं णिज्जूढाणं उवधारियाणं एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेयं से जहेयं तुब्भे वयह । तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—सद्दहाहि अज्जो ! पत्तिआहि अज्जो ! रोएहि अज्जो ! से जहेयं अम्हे वयामो । तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंतो वंदइ नमंसइ, वंदित्ता

णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए। अहासुह देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तए णं से कालासवेसिए पुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसइत्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्म उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणइत्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे मुंडभावे अन्हाणयं अदंतधुवणयं अच्छत्तयं अणोवाहणयं भूमिसेज्जा फलहसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोओ बंभचेरवासो परघरप्पवेसो लद्धावलद्धी उच्चावया गामकंटया बावीस परीसहोवसग्गा अहियासिज्जइ तमट्ठं आराहेइ, आराहेइत्ता चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के परिनिव्वुए सव्वदुक्खप्पहीणे।

(तेणमित्यादि) (पासावच्चिज्जे त्ति) पार्श्वापत्यानां पार्श्वजिनशिष्याणामय पार्श्वापत्यीय । (थेरे त्ति) श्रीमन्महावीरजिनशिष्या श्रुतवृद्धाः । (सामाइय ति) समभावरूपम । (न याणंति त्ति) न जानन्ति, सूक्ष्मत्वात्तस्य (सामाइयस्स अट्ठ ति) प्रयोजन कर्मानुपादाननिर्जरणरूपम् । (पच्चक्खाण ति) पौरुष्यादिनियम. तदर्थं चाश्रवद्वारनिरोधम । (संजम ति) पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षण, तदर्थं चानाश्रवत्वम (संवर ति) इन्द्रियनोइन्द्रियनिवर्तन, तदर्थं तु अनाश्रवत्वमेव (विवेग ति) विशिष्टबोध, तदर्थं च त्याज्यत्यागादिकम । (विउस्सग्ग ति) व्युत्सर्गं कायादीनां, तदर्थं चानभिष्वङ्गताम। (अज्जो त्ति) हे आर्य ! ओकारान्तता सम्बोधने प्राकृतत्वात्। [के भे ति] किं भवतामित्यर्थ. (आयाणे त्ति) आत्मनोऽस्माक मते सामायिकमिति । यदाह-" जीवो गुणपडिवण्णो, न यस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं " । सामायिकार्थोऽपि जीव एव. कर्मानुपादानादीनां जीवगुणत्वात्, जीवाव्यतिरिक्तत्वाच्च तद्गुणानामिति, एव प्रत्याख्यानाद्यप्यवगन्तव्यम्। [जइ भे अज्जो त्ति] यदि भवतां हे आर्याः स्थविराः! सामायिकमात्मा, तथा (अवहट्टु त्ति) अपहृत्य त्यक्त्वा क्रोधादीन् किमर्थं गर्हध्वे । "निन्दामि गरहामि अप्पाण वोसिरामि " इतिवचनात् क्रोधादीनेव, अथवा अवद्यमिति गम्यते । अयमभिप्रायः-यः सामायिकवान् त्यक्तक्रोधादिश्च स कथ किमपि निन्दति। निन्दा हि किल द्वेषप्रभवेति । अत्रोत्तरम । संयमार्थमिति। अवद्ये गर्हिते संयमो भवति, अवद्यानुमतेर्व्यवच्छेदनात्। तथा गर्हासंयमस्तद्धेतुत्वान्न केवलमसौ, गर्हाकर्मानुपादानहेतुत्वात्संयमो भवति। (गरहा वि य त्ति) गर्हैव च सर्वं (दोस ति) दोष रागादिकं, पूर्वकृतपाप वा, द्वेष वा, प्रविनयति क्षपयति । किं कृत्वेत्याह-[सव्वं बालिय ति] बाल्य बालतां मिथ्यात्वमविरतिं च (परिण्णाए त्ति) परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यायेति । इह च गर्हायास्तद्वनस्याभेदादेककर्तृकत्वेन परिज्ञायेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययविधिरदुष्ट इति । (एव खु त्ति) एवमेव [णे इति] अस्माकम । (आयासंजमे उवहिए त्ति) उपहित- प्रक्षिप्तो न्यस्तो भवति । अथवा-आत्मरूपः संयम उपहितः प्राप्तो भवति। (आयासंजमे उवचिए त्ति) आत्मा संयमविषये पुष्टो भवति। आत्मरूपो वा संयम उपचितो भवति। (उवट्ठिए त्ति) उपस्थितोऽत्यन्तावस्थायी। [एएसि ण भंते ! पयाण इति] अस्य" अदिट्ठाणमित्यादिना" सम्बन्धः। कथमदृष्टानामित्यत आह-(अण्णाणयाए त्ति) अज्ञानो निर्ज्ञानस्तस्य भावोऽज्ञानता , तयाऽज्ञानतया, स्वरूपेणानुपलम्भादित्यर्थ । एतदेव कथमित्याह-[असवणयाए त्ति] अश्रवण. श्रुतिवर्जितस्तद्भावस्तत्ता, तया [अबोहिए त्ति] अबोधिर्जिनधर्मानवाप्ति., इह तु प्रक्रमान्महावीरजिनधर्मानवाप्तिस्तया, अथ वौत्पत्तिक्यादिबुद्ध्यभावेन [अणभिगमेण ति] विस्तरबोधाभावेन हेतुना अदृष्टानां साक्षात्स्वयमनुपलब्धानामश्रुतानामन्यतोऽनाकर्णितानाम [असुयाणं ति] अस्मृतानां दर्शनाकर्णनाभावेनाननुध्यातानाम्, अत एवाविज्ञाताना विशिष्टबोधाविषयीकृतानाम । एतदेव कुत इत्याह-- [अव्वोकडाण ति] अव्याकृतानां विशेषतो गुरुभिरनाख्यातानाम । [अव्वोछिण्णाण ति] विपक्षाद्व्यवच्छेदितानाम [अनिज्जूढाण ति] महता ग्रन्थात् सुखावबोधाय सक्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभि अनुद्धृतानाम , अत एवास्माभिरनुपधारितानामनवधारितानाम [एयमट्ठे त्ति] एव प्रकारार्थोऽथवाऽयमर्थो [नो सद्दहिए त्ति] न श्रद्धितः [नो पत्तिए त्ति] नो नैव ' पत्तिय ति ' प्रीतिरुच्यते, तद्योगात् 'पत्तिए त्ति ' प्रीतः प्रीतिविषयीकृतोऽथवा न प्रतीतो न प्रत्ययितो वा हेतुभि' [नो रोएइ त्ति] न चिकीर्षित. [एवमेय से जहेय तुब्भे वयह त्ति] अथ यथा एतद्वस्तु यूय वदथ, एवमेव तद्भवतीति भाव. [चाउज्जामाओ त्ति] चतुर्महाव्रतात्, पार्श्वनाथजिनस्य हि चत्वारि महाव्रतानि, नापरिगृहीता स्त्री भुज्यत इति मैथुनस्य परिग्रहेऽन्तर्भावादिति। (सपडिक्कमण ति) पार्श्वनाथधर्मो हि अप्रतिक्रमणः, कारण एव प्रतिक्रमणकरणादन्यथात्वकरणात्; महावीरजिनस्य तु सप्रतिक्रमण., कारण विनाऽप्यवश्य प्रतिक्रमणकरणादिति। (देवाणुप्पिय त्ति) प्रियामन्त्रणम् (मा पडिबंध) । मा व्याघात, कुरुध्वेति गम्यम । (मुंडभावे त्ति) मुण्डभावो दीक्षितत्वम् । (फलगसेज्ज त्ति) प्रतलायतविष्कम्भवत् काष्ठरूपा (कट्ठसेज्ज त्ति) असंस्कृतकाष्ठशयन काष्ठशय्या वा अमनोज्ञा वसति' । (लद्धावलद्धी त्ति) लब्ध च लाभोऽपलब्धिश्च मानापमानाभोऽपरिपूर्णलाभो वा लब्धापलब्धि । (उच्चावय त्ति) उच्चावचा अनुकूलप्रतिकूला असमञ्जसा वा (गामकंटय त्ति) ग्रामस्येन्द्रियसमूहस्य कण्टका इव कण्टका बाधकाः शत्रवो ग्रामकण्टका । क एत इत्याह-(बावीस परीसहोवसग्ग त्ति) परीषहाः क्षुधादय. त एवोपसर्गा. उपसर्जनाद्भंज्ञशनात्परीषहोपसर्गा । अथवा द्वाविंशति. परीषहा । तथा उपसर्गा दिव्यादयः, कालाश्यवैशिकपुत्र प्रत्याख्यानक्रियया सिद्ध इति । भ० १ श० ९ उ० ।

कालि (ण्)-कालिन्-पु० । कालयति, कल नोदने णिनिः। प्रेरके, त्रि० । वाच० । चम्पापुरीसमीपे कादम्बर्यटवीस्थे पर्वतभेदे, ती० १३ कल्प० ।

कालिंग-कालिङ्ग-न० । पु० । कुत्सित लिङ्गमस्य । हस्तिनि, सर्पे, लौहभेदे च । कलिङ्गानां राजा अण् । कलिङ्गेशनृपतौ, बहुषु तस्य लुक्-कलिङ्ग. । " कलिङ्गेशमारभ्य पञ्चप्रयोजन शिवे', दक्षिणस्यां महेशानि' , कालिङ्ग परिकी-

विंत" ॥ १ ॥ इत्युक्तदेशभेदे, गौरा० । ङीप् । राजकर्कट्याम्, वाच० । प्रज्ञा० । आचा० । स्था० ।

कालिंजणं—देशी—तापिच्छे, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिंजणी—देशी—तापिच्छलतायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिंजर—कालिञ्जर—पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, उत्त० । "दासा दस अेआ सीयमिया कालिंजरे नगे" । उत्त० १३ अ० ।

कालिंजरतित्थ—कालिञ्जरतीर्थ—न० । मथुरास्थे लौकिकतीर्थभेदे, ती० ६ कल्प ।

कालिआ—देशी—शरीरे, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिग—(य)—कालिक—पुं० । स्त्री० । काले वर्षाकाले चरति ठञ् । के जले अलति, अल वा इकन् । ७ त० वा । क्रौञ्चे, बके, स्त्रियां ङीप् । कालो वर्णोऽस्त्यस्य ठन् । कालाद् वर्णवाचित्वे जानपदा० ङीप् । तत स्वार्थे के ह्रस्व इति वा । कालिका । देवीमूर्तिभेदे, वृश्चिकपत्रवृक्षे, क्रमदेयवस्तुमूल्ये, धूसर्याम्, जटामांस्याम्, काक्याम्, पटोलशाखायाम्, रोमावल्याम्, शिवायाम्, मेघावल्याम्, स्त्री० । क्षीरकीटे, मत्स्याम्, काकोल्याम्, श्यामापक्षिणि, स्त्री० । हिमाचलभवायां त्रिशिराया हरीतक्याम्, स्त्री० । कालस्य भावो वा वुण् । कृष्णवर्णे, स्त्री० । स्वर्णदोषे, वह्निना दाहे, यद्योगात् स्वर्णस्य कृष्णता भवति सा च ताम्रादिधातुयोगे । काय जलाय अलति पर्याप्नोति । अल पर्याप्तौ ण्वुल् टाप् । अत इत्वम् । कुज्झटिकायाम्, नवमेघे, स्त्री० । काले, दीयते ठक् । प्रतिमासदेयवृद्धौ, क जलमलति भूषयति अल भूषणे ण्वुल् टाप् । अत इत्वम् । सुरायाम्, स्त्री० । कालो वर्णोऽस्त्यस्य ठन् । कालीयके कृष्णचन्दने, न० । प्रकृष्टो दीर्घ कालोऽस्य प्रकृष्टे ठञ् । वैरे, न० । तस्य दीर्घकालस्थायित्वात् तथात्वम् । "वर्णे चानित्ये" । ५ । ४ । ३१ । इत्यधिकारे "कालाच्च" । ५ । ४ । ३३ । [पाण०] कन् कालक । स्त्रियां टाप् । अत इत्वम् । कालिका शाटी । कालेन निर्वृत्त ठञ् कालिक । कालनिर्वृत्ते कालकृते, त्रि० । विशेष कालिकोऽवस्था । काले भव ठञ् । कालभवे, त्रि० । उभयत्र स्त्रियां ङीप् इति भेद । वाच० । "हत्था गया इमे कामा कालिया जे अणागया ।" काले भवाः कालिका । उत्त० ५ अ० । काले सम्भवन्ति कालिका । उत्त० ५ अ० ।

कालिगसण्णि—कालिकसञ्ज्ञिन्—त्रि० । कालिकसञ्ज्ञा दीर्घकालिकी सञ्ज्ञा साऽस्त्यस्येति कालिकसञ्ज्ञी, तत्सञ्ज्ञिनि, विशे० । (स च "सन्नी" शब्दे विवेचित)

कालिग (य) सुय—कालिकश्रुत—न० । यदिह दिननिशाद्यन्तपौरुषीद्वय एवाऽस्वाध्यायाभावे पठ्यते तत्कालेन निर्वृत्त कालिकम् । ध० ३ अधि० । काले प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालग्रहणपूर्वक पठ्यते इति कालिकम् । विशे० । तच्च श्रुत च । उत्तराध्ययनादौ, अङ्गबाह्येऽवश्यकव्यतिरिक्तश्रुतभेदे, यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते । स्था० २ ठा० १ उ० ।

तानि च—

से किं तं कालिअं ? कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं । तं जहा-उत्तराज्झयणाइं दसाउकप्पो ववहारो निसीयं महानिसीयं इसिभासियाइं जंबुद्दीवपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती चंदपन्नत्ती खुड्डिया विमाणपविभत्ती महल्लिया विमाणपविभत्ती अंगचूलिया वग्गचूलिया विवाहचूलिया अरुणोववाए वरुणोववाए गरुलोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए देविंदोववाए उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए नागपरियावणियाउ निरयावलियाउ कप्पियाउ कप्पवडिंसियाउ पुप्फियाउ पुप्फचूलियाउ वण्हीदसाउ एवमाइयाइं चउरासीइं पइन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणजिणवराणं चोद्दस पइन्नगसहस्साणि समणस्स भगवओ वद्धमाणसामिस्स अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव । सेत्तं कालियं, सेत्तं आवस्सयवइरित्तं सेत्तं अणंगपविट्ठं । नं० । पा० ।

कालिकश्रुतेऽनुयोगपार्थक्यमार्यरक्षितसूरिभ्य समारभ्य जातम् । आह-कियन्तं कालं यावत् पुनरिदमपृथक्त्वमासीत्, कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमभूदित्याह—

जाव ति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाणुओगस्स ।
तेणारेण पुहत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिक श्रुतानुयोगस्याऽपृथक्त्वमासीत्तदा व्याख्यातॄणां श्रोतॄणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्, कालिकग्रहण च प्राधान्यख्यापनार्थमन्यथोत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्र चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्नेवेति । तदारतस्त्वार्यरक्षितेभ्य समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमभूदिति निर्युक्तिगाथार्थ । विशे० । ('अज्जरक्खिय' शब्दे प्र० भा० २१५ पृष्ठे 'अणुओग' शब्दे प्र० भा० ३५० पृष्ठे वा व्यक्तेण प्ररूपितमेतत्)

कालिकश्रुतस्य पर पृच्छात्रयाद पृच्छति—

जे भिक्खू कालियसुयस्स पर तिण्हं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू दिट्ठिवायस्स पर सत्तण्हं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कालियसुयस्स उक्काले सज्झाय वा असज्झाए वा तिण्हं पुच्छाण परेण पुच्छति तस्स चउलहु । दिट्ठिवायस्स सज्झाय असज्झाए वा सत्तण्हं परेण पुच्छ तस्स ह ।

तिण्हुवरि कालियस्सा, सत्तण्ह परेण दिट्ठिवायस्स ।
जो जो भिक्खू पुच्छा, सा च सव्व पुच्छाऽऽणाई ॥३२॥

चउसु सज्झाय असज्झाए वा तस्स आणाई पुच्छा ।
ते पुण किं पमाणा ? अतो भण्णति—

पुच्छाणं परिमाणं—चरिय पुच्छति अणुगाढं ।
पुच्छंताई भिक्खू, पुच्छणिभंगा य चउभंगो ॥३३॥

[illegible] पुच्छ [illegible] पुच्छ [illegible] चउभागं कोत्तस्स इमे दोसा —

पुव्वगहितं च नासति, अपुव्वगहणं कओ स विकहाहिं ।
दिवसनिसिआदिचरमा-सु चतुसु सेसासु जइयव्वं ॥३४॥

सुत्तत्थो मोत्तु देस-भत्त-राय-इत्थिकहादिसु पमत्तो अत्थति, गुणंतस्स पुव्वगहितं णासति, विकहापमत्तस्स य अपुव्व गहणं णत्थि, तम्हा णो विकहासु रमेज्जा, दिवसस्स पढमचरिमासु, णिसिए य पढमचरिमासु य, एयासु चउसु वि कालियसुयस्स गहणं गुणणं व करेज्ज. सेसासु त्ति दिवसस्स वितियाए उक्कालियसुयस्स गहणं करेति, अत्थं वा सुणाति, एसा चेव भयणा, रातियाए वा निरक्खं हिंमइ, अह ण हिंडति तो उक्कालियं पढति, पुव्वगहियासु नक्कालियं वा गुणेति, अत्थं वा सुणइ वा, णिसिस्स ततियाए णिद्दामोक्खं करेति, उक्कालियं गेण्हति गुणेति वा, कालिकं य वा सुत्तमत्थं वा कूरति, एव सेसासु भावणा भावेयव्वा उक्कालिया ।

सज्झायस्स च अकरणे इमे कारणा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, कालं व पडुच्च णो कुज्जा ॥३५॥
सज्झायवज्जमसिवे, रायदुट्ठभयरोहगअसुब्भो ।
इतरमविरोह असिवे, जइतं इतरे पलंजयसु ॥३६॥

(सज्झायवज्जमसिवे त्ति) होगे असिवे वा साधू अप्पणा अगहिता तत्थ सज्झायं ण पट्ठवेंति आवस्सगादि उक्कालियं करेति, रायदुट्ठे वोहिगभए य तुरियहक्का अत्थति माणझिहामो, तत्थ कालिगमुक्कालिग वा ण करेंति, अहवा रायदुट्ठे भए त्ति णिव्विसया भत्तपाणे पभिसेहे य ण करेंति सज्झायं, उवकरणहरे दुविधे नेरवे य ण करेंति माणझीहामो त्ति, रोधगे असुरेण कालेण करेंति, इयरमवि आवस्सगादि उक्कालियं जत्थ रोधगे अवियत्त असिवेण य गहिया तत्थ त पि ण करेंति, इयरे ओमोदरिया तत्थ जयणा, जइ वितियजामादिसु वेलाओ ण करेंति सज्झायं, अह ण पुव्वं ति पुव्वसेयवेलातो आदिच्चोदयाओ आरब्भातो व हिंडति जाव अवराण्हो त्ति गेहघराणेसु न लभयमुत्ति, जइ गिलाणो सत्तो अहाणिगेण वा न खिप्पो तो करेंति अह सत्ता तो ण करेंति, अहवा गिलाणपडियरगा वा ण करेंति, कालं वा पडुच्च णो कुज्जति, असुरेण वा कालेण करेंति, तत्थ आवस्सगादी ण करेंति, अणुप्पेहा सव्वत्थ अविरुद्धा । नि० चू० १६ उ० ।

कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः-

एएसु णं भंते ! तेवीसाए जिणंतरे कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते ?। गोयमा ! एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमे पच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स अवोच्छेदे पण्णत्ते। मज्झिमएसु सत्तसु जिणंतरेसु, एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते । सव्वत्थ वि ण वोच्छेदे दिट्ठिवाए ॥

कस्य जिनस्य सम्बन्धिन' कस्मिन् जिनान्तरे कयोर्जिनयोरन्तरे कालिकश्रुतस्यैकादशाङ्गीरूपस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्त इति प्रश्नः । उत्तरं तु-"एएसु णमित्यादि" इह च कालिकस्य व्यवच्छेदेऽपि पृष्टे यदपृष्टस्याव्यवच्छेदस्याभिधानं तद्विपक्षज्ञापने सति विवक्षितार्थबोधनं सुकरं भवतीति कृत्वा कृतमिति । (मज्झिमएसु सत्तसु त्ति) अनेन "कस्स कहिं" इत्यस्योत्तरमवसेयम् । तथाहि-मध्यमेषु सप्तस्वित्युक्ते सुविधिजिनतीर्थस्य सुविधिशीतलजिनयोरन्तरे व्यवच्छेदो बभूव । तद्व्यवच्छेदकालश्च पल्योपमचतुर्भागः । एवमन्ये षट् जिनाः, षट् च जिनान्तराणि वाच्यानि, केवलं व्यवच्छेदकालः सप्तस्वप्येवमवसेयः १ । "चउब्भागो १ चउब्भागो २, तिण्णि य चउभाग ३ पलियमेगं च ४ । तिण्णेव य चउभागा ५, चउत्थभागो य ६ चउभागो ७ त्ति" । २ [एत्थ णं ति] एतेषु प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानेषु जिनान्तरेषु कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः । दृष्टिवादापेक्षया त्वाह-(सव्वत्थ वि ण वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए त्ति) सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जिनान्तरेषु न केवलं सप्तस्वेव क्वचित्कियन्तमपि कालं व्यवच्छिन्नो दृष्टिवाद इति । भ० २० श० ८ उ० । बृ० । सुमहाप्ययशब्दे एकादशाङ्गरूपे श्रुते, एकादशाङ्गरूपं सर्वमपि श्रुतं कालग्रहणादिविधिनाऽधीयत इति कालिकमुच्यत । विशे० ।

कालिगा(या)-कालिका-स्त्री० । कृष्णायां रात्रौ, व्य० ५ उ० । कालीदेव्यां च । ज्ञा० २ श्रु० १ अ० ।

कालिगायरिय-कालिकाचार्य-पुं० । आर्यश्यामे, येन प्रज्ञापनासूत्रं विरचितम् । [तत्प्रयोजन श्रीवेदस्य स्थितिचिन्तायामुक्तम्] । यथा-एतेषां पञ्चानामादेशानां मध्येऽन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः पूर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते, ते च भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ नासीरन्, केवलं तत्कालापेक्षया पूर्वपूर्वतनाः सूरयस्तत्कालभाविग्रन्थपौर्वापर्यपर्यालोचनया यथास्वमति श्रीवेदस्य स्थितिं प्ररूपयन्ति स्म, न च तेषां मतं किमपि मिथ्या ज्ञातुं शक्यते, ततस्तेषां सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवानार्यश्याम उपदिष्टवान्, तेऽपि प्रावचनिकसूरयः स्वमतेन सूत्रं पठन्तो गौतमप्रश्नभगवन्निर्वचनरूपतया पठन्ति, ततस्तदवस्थान्येव सूत्राणि लिखितानि-गोयमा ! इत्युक्तम् । अन्यथा भगवति गौतमाय साक्षान्निर्देष्टरि न सहायकथनमुपपद्यते, भगवतः सर्वसंशयातीतत्वात्, ततः "एगेणं आएसेण" ति वचनं आर्यश्यामस्य प्रतिपत्त्यं न भगवद्वर्द्धमानस्वामिन इति । प० सं० २ द्वार । दर्श० । आ० क० । ती० । ('अधिगरण' शब्दे प्रथमभागे ५८२ पृष्ठे अस्य गर्दभिल्लेन राज्ञा सह वैरमुपदर्शितम्) (चतुर्थभागे 'सुयमद' शब्दे सागरचन्द्रस्य एन प्रति गर्वकरणम्)

कालिगा (या) वाय-कालिकावात-पुं० । प्रतिकूलवायौ, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कालिज्ज-कालेय-न० । कलायै रक्तधारिण्यै हितं ढक् । य कृति, वाच० । वक्षोऽन्तर्गूढे मांसविशेषे, तं० ।

कालिदास-कालिदास-पुं० । ६ त० । सञ्ज्ञायां ह्रस्वः । रघुवंशादिकाव्यकर्तरि महाकविभेदे, वाच० । न० ।

कालियजोग-कालिकयोग-पुं० । साध्वीनां कालिकयोगक्रियाया आवकदत्तानि वन्दनकानि शुध्यन्ति नवेति प्रश्ने, साध्वीनां कालिकयोगक्रियायां आरूढत्वानि वन्दनकानि शुध्यन्तीति । सेन प्र० ६२ उल्ला० ।

कालियदीव-कालियद्वीप-पुं० । स्वनामख्याते लवणसमुद्रान्त-

गंते द्वीपजेदे, यत्र हस्तिशीर्षनगरवास्तव्या वाणिजका गत्वा रत्नान्यानीतवन्त इति । ज्ञा० १७ अ० । (एतच्च 'कुयई' शब्दे वक्ष्यते)

कालियसुयअणुओगिय-कालिकश्रुताऽनुयोगिक-पुं० । कालिकश्रुतानुयोगे व्याख्याने नियुक्त० कालिकश्रुतानुयोगिका । कालिकश्रुतानुयोग एषां विद्यते इति कालिकश्रुतानुयोगिन , ततः स्वार्थिककप्रत्ययविधानात्कालिकश्रुतानुयोगिकाः । कालिकश्रुतव्याख्याने नियुक्ते, " अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयअणुओगिए धीरे । " नं० ।

काली-काली-स्त्री० । कालस्य शिवस्य पत्नी ङीप् । शिवपत्न्याम, स्त्री० । कालाद् वर्णश्चेत, कालवर्णा । कृष्णवर्णायां स्त्रियाम, वाच० । "सामा गायइ महुरं,काली गायइ खरं च रुक्खं च।" स्था०७ ठा० । अनु० । अभिनन्दनस्य शासनाधिष्ठात्र्यां देव्याम्,श्री अभिनन्दनस्य काली नाम्नी देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया नागाङ्कुशाऽलङ्कृतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार । पञ्चा० । चमरस्याऽसुरेन्द्रस्य प्रथमाग्रमहिष्याम, स्था० ५ ठा० १ उ० । (अस्या भवान्तरवक्तव्यता ' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ता) काकजङ्घायाम्, उत्त० ७ अ० । श्रेणिकस्य भार्यायाम्, कूणिकस्य राज्ञो लघुमातरि, नि० १ वर्ग । ग०।('काल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४८३ पृष्ठे चैतदुक्तम)

जइ णं भंते ! अट्ठमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा-पढमस्स अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं णयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए कोणियराया, तत्थ णं चंपाए णयरीए सेणियस्स रण्णो भज्जा कूणियस्स रण्णो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था । वण्णओ जहा-णंदा जाव सामातियाति एगारस अंगाइं अहिज्जंति, अहिज्जतित्ता बहुहिं चउत्थ जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तते णं सा काली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जचंदणो अज्जा तेणेव उवागया एवं वयासी-इच्छामि णं अज्जातो तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा रयणावलितवो उवसंपज्जित्ता णं विहरति, ते अहासुहं तसा काली अज्जा अज्जचंदणा ते अब्भणुण्णायमाणे रयणावलितवोकम्मं उवसपज्जित्ता णं विहरति । तं जहा-चउत्थं करेति, चउत्थं करेतित्ता सव्वकामगुणे य पारित्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेतित्ता सव्वकामगु० पारि० अट्ठमं करेति २त्ता सव्वकाम० पारि० दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० दुवालसम करेति २ त्ता सव्वकाम० पारि० चउद्दसम करेति २ त्ता सव्व० पारि० सोलसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठारसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० वीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बावीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउवीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छवीसम करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठावीस करेति २ त्ता सव्व० पारि० तीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बत्तीसं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउतीसम करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउतीसम करेति २ त्ता सव्वकामगुणे य पारित्ता चउतीसं छगाइ करेति २ त्ता सव्व० पारि० चोत्तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बत्तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठावीसम करेति २ त्ता सव्व० पारि० छवीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउवीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बावीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० वीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठारसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० सोलसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउद्दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बारसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठम० करेति २त्ता सव्व० पारि० छट्ठ करेति २ त्ता सव्व०पारि० चतुत्थं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठमछट्ठाति करेति२त्ता सव्व० पारि० अट्ठमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छट्ठं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउत्थ करेति २ त्ता सव्व पारि० एवं खलु एसा रयणावलीए तवोकम्मस्स पढमा परित्रामी एगेणं संवच्छरेणं तिहिं मासेहिं बावीसाए य अहोरत्तेहिं अहासुत्तं जाव आराहिय भवेहि, तयाणंतरं च णं दोचाए परिपाडीए चउत्थं करेति विगतिवज्जं पारेति छट्ठं करेति, करेतित्ता विगतिवज्ज पारेति २ त्ता एवं जहा पढमाए परित्रामीए तहा बिइयाए वि, नवर सव्वत्थपारणए विगइवज्ज पारेति जाव आराहिया भवति, तयाणतरं च णं तच्चाए परित्रामीए चउत्थ करेति२त्ता अलेवाड पारेति, पारेतित्ता सेसं तहेव णवर अलेवाड पारेत्ता, एवं चउत्था वि परिवाडी, नवरं सव्वपारणए आयंबिल पारेति२त्ता सेसं त चेव, पढमम्मि सव्वकामगुणं पारणयं,बितियए विगतिवज्जं, तइयम्मि अलेवाडं आयंबिलेमो,चउत्थम्मि तते णं सा काली अज्जा तं रयणावलीतवोकम्मं पंचहिं संवच्छरेहिं दोहि य मासे य अट्ठावीसाए य दिवसेहिं अहासुत्तं जाव आराहेत्ता जेणेव अज्जचंदणा अज्जा तेणेव उवागच्छति,उवागच्छतित्ता अज्जचंदणं अज्जं वंदति, २ त्ता बहुहिं चउत्थ जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति,तते णं सा काली अज्जा तेणे उरालेणा जावधमणी संतया जाया या वि होत्था, सेज्जं जहा इंगाल जाव मुहुयहुयासणेति व भासरासि पलिच्छण्णा तवेणं तेएण तवतेयसिरीए अतीव २ उवसोभेमाणी२ चिट्ठति, तते णं से कालीए अज्जाए अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयासि अय अज्झत्थिय ते जहा खदयस्स चिंता जहा जाव अत्थि उ ठाणेणं वा तात्र ता मे सेयं कल्ल जाव जलते अज्जचंदणं अज्जं आपुच्छित्ता अज्जचदणाए अज्जाए अब्भणुण्णायाए समाणीए संलेहणा झूसणा २ भत्तपाण २ पडियातिक्खि

कालं अणवकंखमाणं विहरति ति कट्टु एव संपेहति, संपेहे-त्तिा कल्लं जेणेव अज्जचंदणा अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अज्जचंदणं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि ण अज्जो ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणी संलेहणाए जाव विहरित्ता, ते अहासुहं, तते णं से काली अज्जा अज्जचंदणाए० अब्भणुण्णाया समाणी संलेहणा झूसिय जाव विहरति, तस्स काली अज्जा अज्जचंदणाए अतिए सामातिमातियाइ एक्कारस अंगाइं अहिज्जित्ता बहुपडिपुण्णाइं अट्ठसवच्छराइं सामण्णपरियाग पाउणित्ता मासिया ते संलेहणा ते अत्ताणं झूसिया छडं भत्ताइ अणसणा ते छेदेति, छेदेतित्ता जस्सट्ठा ते कीरति नागिणभावे जाव चरिमुस्सासनिस्सासेहिं सिद्धं ५ प्रथमं अज्झयण १। निक्खेवो-तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए कोणिए राया तत्थ णं सेणियस्स रण्णो भज्जा कोणियस्स रण्णो चुल्लमाउया सुकाली नामं देवी होत्था, जहा काली तहा सुकाली वि निक्खता जाव बहूहिं चउत्थं० जाव भावेमाणे विहरति, तते णं सा सुकाली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जा चंदणा अज्जा जाव इच्छामि णं अज्जो ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाया समाणी कणगावलिं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता ण विहरति, ते एवं जहा रयणावली तहा कणगावली वि, नवरं तिसु ठाणेसु अट्ठमातिकरे जहा रयणावलीए छट्ठाती एक्काए परिवामीए एगे संवच्छरे पंच मासा बारस य अहोरत्ता चउण्हं पंच वरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा सेसं तहेव नव वासा परियातो पावणित्ता० जाव सिद्धा ॥५॥ अन्त० ८ वर्गे ॥

कालीपव्वंगसंकास-कालीपर्वाङ्गसङ्काश-त्रि० । काली काकजङ्घा, तस्याः पर्वाणि स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति, ततः कालीपर्वाणि जानुकूर्परादीनि येषु तानि कालीपर्वाणि, उष्ट्रमुखीवन्मध्यमपदलोपीसमासः । तथाविधैरङ्गैः शरीरावयवैः सम्यक् काशते तपसि वा दीप्यते इति कालीपर्वाङ्गसकाशः । यद् वा प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वाद् ग्रामो दग्ध इत्यादिवद् अवयवधर्मेणाप्यवयविनि व्यपदेशदर्शनाच्चाङ्गसन्धीनामपि कालीपर्वसदृशतायां कालीपर्वभिः सकाशानि सदृशान्यङ्गानि यस्य स तथा । विकृष्टतपोऽनुष्ठानतोऽपचितपिशितशोणिते, उत्त० २ अ० ।

कालुट्ठाइ-कालोत्थायिन्-त्रि० । उद्गते आदित्ये दिवसतो गच्छति, "कालुट्ठाइ कालणिवेसी, ठाणट्ठाई य कालभोई य । " नि० चू० १६ उ० ।

कालुणवडिया-कारुण्यप्रतिज्ञा-स्त्री० । कारुण्यवृत्तौ, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

कालुणिय-कारुणिक-त्रि० । करुणा शीलमस्य ठक् । दयालौ दयाशीले, वाच० । करुणाप्रधाने विलापापाये वचसि, अनुष्ठाने च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । कारुण्य शोकस्तेन पुत्रवियोगादिजनितेन तदीयस्यैव तल्पादेः सजन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य यद्दान तत्कारुण्यदान, कारुण्यजन्यत्वाद् वा दानमपि कारुण्यमुक्तम्, उपचारादीति । दानभेदे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

कालुसियझाण-कालुष्यध्यान-न० । अपमानतोऽपरगुणप्रशसायामीर्ष्यातो वा चित्तस्य कलुषभावः कालुष्य मलिनता, तस्य ध्यानं कालुष्यध्यानम् । बाहुसुबाहुप्रशसामसहमानयोः सिंहगुहास्थितक्षपकस्येव ध्याने, आतु० ।

कालेज्जं-देशी-तापिच्छकुसुमे, दे० ना० २ वर्ग ।

कालेज्ज-कालेय-पुं० । काल्या अपत्यम् ढक् । कालकेये, कालचन्दने, न० । कलायै रक्तधारिण्यै हित ढक् । यकृति, वाच० । हृदयान्तर्वर्तिमांसखण्डे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कालोद (य)-कालोद-पुं० । धातकीखण्डस्य सर्वतः परिक्षेपके समुद्रभेदे, धातकीपरितोऽपि शुद्धोदकरसास्वादः कालोदसमुद्र । अनु० । स्था० ।

संप्रति कालोदसमुद्रवक्तव्यतामाह—

धायइसमे णं दीवे कालोदे नामं वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठइ ॥

(धायइसमे णं दीवमित्यादि) धातकीखण्ड, णमिति पूर्ववत्, द्वीप कालोदसमुद्रो वृत्तो वलयाकारसस्थानसस्थितः सर्वत समन्तात् सपरिक्षिप्य वेष्टयित्वा तिष्ठति ।

कालोदे णं समुद्दे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिए ? । गोयमा ! समचक्कवालसंठिए, णो विसमचक्कवालसंठिए । कालोदे णं भंते ! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पन्नत्ते ? । गोयमा ! अट्ठजोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एकाणउतिजोयणसयसहस्साइं सत्तरिसयसहस्साइं छच्च पंचुत्तरे जोयणसये किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते । से णं एकाए पउमवरवेदियाए एगेण वणसंडेण य दोण्ह वि विण्णओ ॥

"कालोए णं भंते! समुद्दे किं समचक्कवालसंठिए" इत्यादि प्राग्वत्, प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एकनवतियोजनशतसहस्राणि सप्ततिसहस्राणि षट्शतानि पञ्चोत्तराणि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, एक च योजनसहस्रमुद्वेधेनेति गम्यते । उक्त च—

"अट्ठे य सयसहस्सा, कालोयचक्कवालविक्खंभो ।
जोयणसहस्समेग, उग्गाहेण मुणेयव्वो ॥
इगनउइसयसहस्सा-इ हवंति तह सत्तरीसहस्सा य ।
छच्च सया पचऽहिया, कालोयहिपरिरओ एसो " ॥

(से ण एक्काए इति) स कालोदः समुद्र एकया पद्मवरवेदिकया, एकेन च वनखण्डेन सर्वत समन्तात् सपरिक्षिप्तो, द्वयोरपि वर्णकः प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । परिक्षेपगणितभावना इयम्-कोलावसमुद्रस्य एकतोऽपि चक्रवालतायाः विष्कम्भोऽष्टौ योजनलक्षा

अपरतोऽपि इति षोमश, धातकीखएमस्यकतोऽपि चतस्रो लक्षा अपरतोऽप्यष्टौ, लवणसमुद्रस्य एकतोऽपि द्वे लक्षे, अपरतोऽपीति चतस्र, एको लक्षो जम्बूद्वीपस्येति सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशद्धता जाता. २९०००० । तेषां च वर्गो विधीयते, जातोऽष्टकश्चतुष्क एकक, शून्यानि दश, ततो दशभिर्गुणने जातान्येकादश शून्यानि ८४१००००००००००० । तेषां वर्गमूलानयने लब्ध यथोक्तं परिधिपरिमाणम–९१७०६०५ । शेष त्रिको नवकस्त्रिकस्त्रिको नवक. सप्तक. पञ्चक ३९३३९७५ इति यदवतिष्ठन्ते तदपेक्षया विशेषाधिकत्वमुक्तम । एकनवतिशतसहस्राणि सप्तशतानि सप्ततिसहस्राधिकानि नक्षत्रादिपरिमाणं चाष्टाविंशत्यादिसङ्ख्यानि नक्षत्रादीनि द्वाचत्वारिंशता गुणयित्वा परिभावनीयम् । च० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० ।

कालोए ण समुद्दे एकाणउइजोयणसयसहस्साइं साहियाइं परिक्खेवेण ॥

(कालोए ण त्ति) कालोदः समुद्र',स चैकनवतिर्लक्षाणि साधिकानि परिक्षेपेण आधिक्य च सप्ततया सहस्रै. पञ्चि. शतः पञ्चोत्तरै' सप्तदशभिर्धनु शतै' पञ्चादशोत्तरै. सप्ताशीत्या चाङ्गुलै. साधिकैरिति । स० ९१ सम० ।

द्वाराणि–

कालोयस्स णं भंते ! समुद्दस्स केवति दारा पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता । तं जहा–विजये वेजयंते जयते अपराजिए । कहि णं भंते ! कालोदस्स समुद्दस्स विजए णाम दारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कालोदसमुद्दपुरच्छिमापरंते पुक्खरवरदीवपुरच्छिमद्धस्स पच्चच्छिमे णं सीतोदाए महानदीए उप्पिं, एत्थ णं कालोदस्स विजये नामं दारे पएणत्ते गोयमा ! अट्ठ जोयण तं चेव पमाणं जाव रायहाणीओ । कहि णं भंते ! कालोयस्स समुद्दस्स वेजयंते णामं दारे पएणत्ते ?। गोयमा ! कालोयसमुद्दस्स दक्खिणापरंते पुक्खरवरदीवदक्खिणद्धस्स उत्तर एत्थ णं कालोयसमुद्दस्स वेजयते णामं दारे पएणत्ते । कहि णं भंते ! कालोयसमुद्दस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कालोयसमुद्दस्स पच्चच्छिमापरंते पुक्खरवरदीवपच्चच्छिमद्धस्स पुरच्छिमेणं सीताए महाणदीए उप्पिं जयते नामं दारे पएणत्ते । कहि णं भंते ! अपराजिए णाम दारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कालोदसमुद्दस्स उत्तरद्धापरते पुक्खरवरदीवोत्तरद्धस्स दाहिणाओ एत्थ णं कालोयसमुद्दस्स अपराजियनाम दारे, सेस त चेव ॥

कालोदस्य भदन्त ! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?। भगवानाह–गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–विजय वैजयन्त जयन्तमपराजितम । क्व भदन्त ! कालोदसमुद्रस्य विजय नाम द्वार प्रज्ञप्तम। भगवानाह–गौतम ! कालोदस्य समुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीतोदाया महानद्या उपरि, अत्र कालोदस्य विजय नाम द्वार प्रज्ञप्तम । एव विजयद्वारवक्तव्यता पूर्वानुसारेण वक्तव्या, नवर राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे । वैजयन्तद्वारप्रश्नसूत्र सुगमम । भगवानाह–गौतम ! कालोदसमुद्रदक्षिणपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्य उत्तरतोऽत्र कालोदसमुद्रस्य वैजयन्त नाम द्वार प्रज्ञप्तम। एत्र जम्बूद्वीपगतवैजयन्तद्वार वक्तव्यम । नवर राजधानी अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे, जयन्तद्वारप्रश्नसूत्र सुगमम । भगवानाह–गौतम ! कालोदसमुद्रपश्चिमपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य पूर्वत. शीताया महानद्या उपरि, अत्र कालोदसमुद्रस्य जयन्त नाम द्वार प्रज्ञप्तम, एतदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत्, नवर राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे। अपराजितद्वारप्रश्नसूत्रमपि सुगमम । भगवानाह–गौतम ! कालोदसमुद्रोत्तरार्द्धपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र कालोदसमुद्रस्यापराजित नाम द्वार प्रज्ञप्तम, तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवत, नवर राजधानी अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे ।

संप्रति द्वाराणा परस्परमन्तर प्रतिपिपादयिषुराह–

कालोदस्स णं भंते ! समुद्दस्स दारस्स २ य एस णं केवतिय अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ?। गोयमा ! बावीससयसहस्सा बाणउतिं खलु भवे सहस्साइं छच्च सया बत्ताला दारतर तिष्णि कोसा ये दारस्स २ य अवाहा अंतरे पण्णत्ते । कालोदस्स णं भंते ! समुद्दपदेसा पुक्खरवरदीव० तहेव, एवं पुक्खरवरदीवस्स वि जीवा उद्दाइत्ता तहेव भाणियव्वं ।

प्रश्नसूत्र सुगमम । भगवानाह–गौतम ! द्वाविंशतिर्योजनशतसहस्राणि द्विनवति. सहस्राणि षट् योजनशतानि षट् चत्वारिंशदधिकानि त्रयश्च क्रोशा द्वारस्य द्वारस्य परस्परमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम । तथाहि–चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश योजनानि, तानि कालोदसमुद्रपरिमाणात् १७०६०५ इत्येवरूपात शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातमिदम–एकनवतिर्लक्षा. सप्तति. सहस्राणि, पञ्च शतानि सप्ताशीत्यधिकानि ९१७०५८७, तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्त द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणम २२९२६४६ । उक्त च–"बायाला छच्च सया, बाणउइ सहस्सलक्खबावीस । कोसा य तिन्नि दार–तर तु कालोयहिस्स भवे " ॥१॥ "कालोदस्स ण भते ! समुद्दस्स पएसा" इत्यादिसूत्रचतुष्टय पूर्ववद्भावनीयम् ।

नामान्वर्थमभिधित्सुराह–

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति कालोयसमुद्दे कालो० २ ?। गोयमा ! कालोयस्स ण समुद्दस्स उदके आसले मांसले पेसले मासरासिवण्णाभे पगतीए उदगरसेण पण्णत्ते, काला महाकाला यऽत्थ दुवे देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठेण गोयमा ! जाव णिच्चे ।

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते–कालोद समुद्र कालोद समुद्र इति?। भगवानाह–गौतम ! कालोदस्य समुद्रस्य उदकम आसलमास्वाद्यम्, उदकरसत्वात् । मांसल गुरुधर्मत्वात, पेसलमास्वाद मनोज्ञत्वात् । काल कृष्णम,एतदेवोपमया प्रतिपादयति–माषराशिवर्णाभम । उक्त च–"पगई उदकरस कालोए उदगमासरासिनिभमिति।" तत.काल–मुदकं यस्यासौ कालोद , तथा कालमहाकालौ च तत्र द्वौ देवौ पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसत., तत. स कालोदः। तथाचाह–'से तेणट्ठेणमित्यादि'

चन्द्रादित्यौ—

कालोयणे णं भंते ! समुद्दे कति चंदा पभासिंसु वा ३ पुच्छा ? । गोयमा ! कालोयणे णं समुद्दे बायालीसं चंदा पभासिंसु वा ३ बायालीसं चंदा बायालीसं च दिणयरा दित्ता कालोदहिम्मि एते चरंति संबंधलेसागा णक्खत्तसहस्सं एगमेगं छावत्तरं च सतमएणं छच्च सया छएणउया महग्गहा तिरिण य सहस्सा अट्ठावीसं कालोदहिम्मि बाराइं सतसहस्साइं नव य सता पएणासा तारागणकोमीकोमीणं सोभं सोभंसु वा ३ ॥

चन्द्रादित्यादिसूत्रपाठसिद्धम् । एवरूपं च चन्द्रादीनां परिमाणमन्यत्राप्युक्तम्—

" बायालीसं चंदा, बायालीसं च दिणयरा दित्ता ।
कालोयहम्मि एए, चरंति संबंधलेसागा ।
नक्खत्ताण सहस्सा, सयं च छावत्तरं मुणेयव्वं ।
छच्च सया छ नउया, महग्गहा तिन्नेव य सहस्सा ।
अट्ठावीसं कालो—दहिम्मि बारसयसहस्साइं ।
नव य सया पन्नासा, तारागणकोमिकोमीणं" ।

स च पुष्करवरद्वीपः सर्वतः संपरिक्षिप्य स्थितः । जी० ३ प्रति० । (तद्वक्तव्यता 'पुक्खरवरदीव' शब्दे द्रष्टव्या) नन्दीश्वरद्वीपान्तरस्थे समुद्रभेदे, स्था० ७ ठा० ।

कालोदाइ [ए्]—कालोदायिन्—पुं० । स्वनामख्यातेऽन्ययूथिकभेदे, भ० ७ श० १० उ० । ['अएणउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४४९ पृष्ठे तद्वक्तव्यता उक्ता]

कालोभास—कालावभास—त्रि० । कालदीप्तौ, भ० ६ श० ५ उ० । यः काल एवाऽवभासते पश्यताम् । स्था० ८ ठा० ।

कालोवक्कम—कालोपक्रम—पुं० । कालस्योपक्रमः कालोपक्रमः । उपक्रमभेदे, "से किं तं कालोवक्कमे ? । कालोवक्कमे जण्णं नालिआईहिं कालस्सोवक्कमणं कीरई सेत्तं कालोवक्कमे" । अनु० । नि० चू० । (इति 'उवक्कम' शब्दे द्वितीयभागे ८७२ पृष्ठे व्याख्यातम्)

काव—काव—पुं० । भारोद्वहने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कावमिवाहके, त्रि० । जी० ३ प्रति० ।

कावकोमिय—कावकोटिक—त्रि० । कावो भारोद्वहनं तस्य कोटीभाग' कावकोटी, तया ये चरन्ति ते कावकोटिकाः । कावटिकेषु ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अनु० ।

कावमिक—कापटिक—त्रि० । कपटचारिणि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कावएणचाग—कार्पण्यत्याग—न० । कृपणभावपरित्यागेऽतुच्छवृत्तौ, षो० ४ विव० ।

कावध—कावध्य—पुं० । सप्तत्रिंशत्तमे महाग्रहे, चं०प्र० २० पाहु० ।

कावलिओ—देशी—असहने, दे० ना० २ वर्ग ।

कावलिय—कावलिक—न० । कवलैर्भवं कावलिकम् । आहारादौ, न० । कवलप्रक्षेपनिष्पादिते प्रक्षेपाहारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

कावालिय—कापालिक—पुं० । अस्थिरजस्के पाखण्डिकसाधौ, बृ० १ उ० । " कावालिकरूपेण तेण सह वच्चइ । " आव० ४ अ० । अनु० ।

काविट्ठ—कापित्थ—न० । स्वनामख्याते विमानभेदे, स० १४ सम० ।

काविल—कापिल—पुं० । कपिलो देवता येषां ते कापिलाः । निरीश्वरसाङ्ख्येषु, औ० । "जं काविलं दरिसणं, एवं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं " यत्कापिलं दर्शनं साङ्ख्यमतमेतत् । सम्म० १ काण्ड ।

काविलिय—कापिलीय—न० । उत्तराध्ययनानामष्टमेऽध्ययने, स० ३५ सम० । यत्र कपिलस्य महामुनेर्गृहान्तर्गर्भितनिर्लोभत्वदृढीकरणं कथितम् । उत्त० ७ अ० । सूत्र० । ['कविल' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३८७ पृष्ठे उक्तम्]

काविसायण—कापिशायन—न० । मद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

कावी—देशी—नीलवर्णायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कावोडी—कापोती—स्त्री० । भारकाये, दश० ४ अ० । ['काय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४४७ पृष्ठे तद्व्याख्यानेन स्पष्टीकृतम्]

कास—काश(स)—पुं० । केन जलेन कफात्मकेन अश्यते व्याप्यतेऽत्र । अश व्याप्तौ आधारे घञ् । काशरोगे, वाच० । उपा० । ज्ञा० । सप्तचत्वारिंशत्तमे महाग्रहे " दो कासा " स्था० २ ठा० ३ उ० । कुने, जलेनाकीर्णत्वात्तथात्वम् । काश दीप्तौ अच् । केशियातृणभेदे, तद्गुणाद्युक्तम् । तत्पुष्पे, न० । ईषदश्नाति अश—अच् । को का । मूषिकभेदे, पुं० । स्त्रीयां ङीप् । ऋषिभेदे, पुं० । काशस्य गोत्रापत्यम् । अश्वा० फञ् काशायन । तद्गोत्रापत्ये, पुं० । स्त्री० । वाच० । काशे भवं काश्यः । रसे, स्था० ७ ठा० । कस्यन्तेऽस्मिन्निति कासः । संसारे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । कस हिंसने कर्त्तरि ण । हिंसके, काशतेऽनेन काश करणे घञ् । रोगभेदे, पुं० । क जलमस्यतेऽनेन, असु क्षेपणे करणे घञ् । शोभाञ्जनवृक्षे, पुं० । तदञ्जनसेवने नेत्राञ्जलनिःसारणात्तस्य तथात्वम् । वाच० ।

काष—पुं० । कष्यतेऽनेन कष करणे घञ् । कषणपाषाणे प्रस्तरभेदे, ऋषिभेदे च । वाच० ।

कासंकस—कासंकष—पुं० । कस्यन्तेऽस्मिन्निति कासः संसारस्तं कषतीति तदभिमुखो यातीति कासङ्कषः । ज्ञानादिप्रमादवति, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

कासंत—काशमान—त्रि० । रोगविशेषे, "कासंता वाहिया य आमाभिभूयगता" । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कासग—कर्षक—पुं० । कृषीवले, बृ० ३ उ० । " जेण रोहति बीआइ, जेण जीवति कासगा । " नि० चू० १ उ० । उत्त० । क्षेत्रीकारके, उत्त० १२ अ० ।

कासण—कासन—न० । खट्करणे, ओघ० ।

कासदह—कासहद—पुं० । स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र त्रिभुवनमङ्गलकलश श्रीआदिनाथ । ती० ४३ कल्प ।

कासमाण—काशमान—त्रि० । काश कुर्वाणे, " णीससमाणे कासमाणे छीयमाणे वा । " आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

कासव—काश्यप—पुं० । काश्यं पिबति घञर्थे क० । उपा० स० । वाच० । "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" । ८ । १ । १७७ ।

घुस्तूराकारे वाद्यशब्दभेदे, वाच०। तूर्यविशेषे, आ०म०प्र०। औ०। न०। खरमुखयाम्, आ० म० प्र०। जं०। गोमुखयाम्, स्था० ७ ठा०।

काहलिया–काहलिका–स्त्री०। रत्नावलीनामभूषणस्य सौवर्णेऽवयवभेदे, अन्त० ८ वर्ग।

काहली–देशी–तरुण्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

काहिय–काथिक–पुं०। कथया चरति काथिकः। सूत्र० १ श्रु०२ अ० २ उ०। कुशीलभेदे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। यो भिक्षार्थं प्रविष्टो धर्मकथां महतीं करोति। ओघ०। कथाकथनैकनिष्ठे, ध० ३ अधि०।

अक्खाइयाउ अक्खा–णाइं गीयाइ छलियकव्वाइं।
कहयंता य कहाओ–ऽजिसमुत्था काहिया होंति॥

आख्यायिकास्तरङ्गवतीमलयवत्यादिप्रभृतयः, आख्यानकानि धूर्ताख्यानकादीनि, गीतानि ध्रुवकादिच्छन्दोनिबद्धानि गीतपदानि, तथा छलितानि शृङ्गारकाव्यानि, कथा वासुदेवचरितचेटककथा, दन्तकथया चरन्तीति व्युत्पत्तेर्यच्चेह समुत्था धर्मकामार्थत्रयवक्तव्यताप्रभवा, संकीर्णकथा इत्यर्थः। एता आख्यायिकादीनि कथयन्तः काथिका उच्यन्ते, तद्वन्दन निषिद्धम्। बृ० १ उ०।

जे भिक्खू काहियं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ॥ ५१॥
जे भिक्खू काहियं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ॥५२॥

दे सूत्रे सज्झायादिकरणिज्जे जोगे मोत्तु जो देसकहादिकहाओ कथेति सो काहिओ। इमा णिज्जुत्ती–

आहारादीणट्ठा, जसहेउं अहव पूयणणिमित्तं।
तक्कम्मो जो धम्मं, कथेति सो काथितो होति॥६३॥

धम्मकहं पि जो करेति आहारादिनिमित्तं, वत्थपातादिणिमित्तं वा, जसत्थी वा, वंदणादिपूयानिमित्तं वा, सुत्तत्थपोरिसिसु कयमाचारो अहो य रातो य धम्मकहादिपढणकहणवज्जो तदेवास्य केवलं कम्मं एवंविधो काहितो भवति।

चोदग आह–अणुमज्झाओ पंचविधो वायणादिगो, तस्स पंचमो भेदो धम्मकहा, तेण भव्वसत्ता पमिबुज्झंति, तित्थे य अव्वोच्छित्ती, पभावणा य भवति, अतो ताओ णिज्जरा चेव भवति, कह काहियं त पडिसिज्झति?। आचार्य आह–

कामं खलु धम्मकहा, सज्झायस्सेव पंचमं अंगं।
अव्वोच्छित्तीएँ ततो, तित्थस्स पभावणा चेव॥ ८४॥

पूर्वाभिहितनोदकार्थानुमते कामशब्दः, खलुशब्दोऽवधारणार्थे, किमवधारयति–इमं सज्झायस्स पंचमं अंगं धम्मकहा, अह य एवं–

तह वि य ण सव्वकालं, धम्मकहा जीयसव्वपरिहाणी।
नाउं व खेत्तकालं, पुरिसं च पवेदिते धम्मं॥ ८५॥

सव्वकालं धम्मो ण कहेयव्वो, जतो पडिलेहणादिसंजमजोगाणं सुत्तपोरसीण य आयरियगिलाणमादिकिच्चाण य परिहाणी भवति, अतो ण काहियत्त कायव्वं, जहा पुण धम्मं कहेति तहा णाउ साधु साधुणीण य बहुगच्छवमाह, खेत्त ति ओमकाले बहूणं साधुसाधुणीण उवग्गहकरा इमे दाणसड्ढादि भाविस्संति, धम्मं कहए रायादिपुरिसं वा णाउं करेज्जा, महाकुले वा इमेण एक्केण उवसंतेण पुरिसेण बहू उवसमतीति कहेज्जा। नि० चू० १३ उ०।

काहीइदाण–करिष्यतिदान–न०। करिष्यति कञ्चनोपकारं ममायमिति बुद्ध्या यद्दानं तत्करिष्यतीति दानमुच्यते। दानभेदे, स्था० १० ठा०।

किइ–कृति–स्त्री०। कृ भावादौ क्तिन्। "इत्कृपादौ"। ८।१।१२८। 'डुकृञ्' करणे इति ऋत इत्वम्। प्रा०१ पाद। करणे, विशे०। आ० म०। अनुष्ठाने, स्था० ३ ठा०४ उ०। अवनामादिकरणे, क्रियतेऽसाविति कृतिः। मोक्षायावनामादिचेष्टायाम्, आव० २ अ०। कृतिकर्मणि वन्दने, दशा० ८ अ०; उ०। व्य०। पुरुषप्रयत्ने कर्तृव्यापारे, कृ वधे क्तिन्। हिंसायाम्, विंशतिसंख्यायाम्,। कृत–वा–करणे–इक्। कर्त्तन्याम्, स्त्री०। वाच०।

किइकम्म–कृतिकर्मन्–न०। कृतिरेव कृतेर्वा कर्म क्रिया कृतिकर्म। वन्दनके, आव० ३ अ०। स०। आचा०। आ० चू०। कर्मापि द्विधा, द्रव्यतः कृतिकर्म निह्नवादीनामवनामादिकरणमनुपयुक्तमभ्यग्दृष्टीनां च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्तानामिति। एतच्च द्वाविंशतिजिनसमये स्थितम्। बृ० ६ उ०।

(१) कृतिकर्मद्वारं निरूप्य कृतिकर्मणि संयतेभ्यः संयतानां विशेषप्रतिपादनम्।
(२) यथार्हं वन्दनस्याकरणे दोषाः।
(३) कृतिकर्मणि द्रव्यभावप्रचिकटयिषया दृष्टान्तप्रतिपादनम्।
(४) कृतिकर्मकरणार्हसंयतादिनिरूपणानन्तरं वन्दनार्हसंयतादिनिरूपणम्।
(५) द्रव्यक्षेत्रकालभावतो भेदाः।
(६) आचरणालक्षणं प्रतिपाद्य पर्यायज्येष्ठैराचार्यस्य वन्दनविचारः।
(७) दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणयोर्मध्ये तिसृभिरेव स्तुतिभिराचार्यादिभिर्मङ्गलं विधेयम्।
(८) कृतिकर्म कस्य कर्त्तव्यं कस्य नेति विचारः।
(९) कारणतः पार्श्वस्थादीनां वन्दनप्रकारं निरूप्य तद्वन्दनकारणप्रतिपादनम्।
(१०) पार्श्वस्थादिवन्दनं निष्फलमिति निरूप्य तत्प्रतिषेधमकुर्वतामपायप्रदर्शनम्।
(११) गुणवतामपि पार्श्वस्थादिसंसर्गतो दोषसम्भवात्सद्दृष्टान्तं वन्दननिषेधप्रतिपादनम्।
(१२) पार्श्वस्थादिवन्दने चापायप्रदर्शनम्।
(१३) सुसाधुवन्दने गुणप्रदर्शनम्।
(१४) कृतिकर्मकरणस्यानुचितानामुचितानां च प्रतिपादनम्।
(१५) कदा कृतिकर्म कर्त्तव्यं कदा वा नेति प्ररूपणम्।
(१६) कतिकृत्वः कृतिकर्म कर्त्तव्यमिति नियतानियतत्वेन निरूप्य नियतवन्दनस्थानसंख्याप्रतिपादनम्।
(१७) कृतिकर्मस्वरूपनिरूपणम्।
(१८) कतिभिरावश्यकैः परिशुद्धमित्येतन्निरूपणम्।
(१९) विराधनगुणोपदर्शनम्।
(२०) वन्दनकरणकारणप्रतिपादनम्।
(२१) वन्दनकविधिनिरूपणम्।

[१] अथ कृतिकर्मद्वारमाह—

कितिकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणे तहेव वंदणगा ।
समणेहि य समणीहि य, जहारिहं होति कायव्वं ॥

कृतिकर्माऽपि द्विविधम्-अभ्युत्थानं, तथैव वन्दनकमपि द्विविधमपि तृतीयोद्देशके व्याख्यातम् । बृ० ६ उ० । (अभ्युत्थानम् "अब्भुट्ठाण" शब्दे प्र० भा० ६६३ पृष्ठे उक्तम्, वन्दनं तु 'वंदणग' शब्दे व्याख्यास्यते) उभयमपि च श्रमणैः श्रमणीभिश्च यथार्हं यथारत्नाधिकं परस्परं कर्त्तव्यम् । तथा श्रमणीनामयं विशेषः –

सव्वाहि संयतीहिं, कितिकम्मं संजताण कायव्वं ।
पुरिसुत्तरितो धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि ॥

सर्वाभिरपि संयतीभिश्चिरप्रव्रजिताभिरपि संयतानां तद्दिनदीक्षितानामपि कृतिकर्म कर्त्तव्यम् । कुत इत्याह-सर्वजिनानां सर्वेषामपि तीर्थकृतां तीर्थे पुरुषोत्तरो धर्म इति ।

किञ्च-

तुच्छत्तणेण गव्वो, जायति ण य संकते परिभवेणं ।
अन्नो वि होज्ज दोसो, थियासु माहुज्जहज्जासु ॥

स्त्रिया साधुना वन्द्यमानायास्तुच्छत्वेन गर्वो जायते, गर्विता च साधुं परिभवबुद्ध्या पश्यति, तत्र परिभवेन च नैव साधोः शङ्कते बिभेति । अन्योऽपि दोषः स्त्रीषु माधुर्यवतीषु मार्दवग्राह्यासु वन्द्यमानासु भवति, भावसम्बन्ध इत्यर्थः ।

अन्नं य हु पुरिसपणीतो, धम्मो पुरिसो य रक्खिउं सत्तो ।
लोगविरुद्धं चेव, तम्हा समणाण कायव्वं ॥

अन्यच्चेति कारणान्तराभ्युच्चये, पुरुषैस्तीर्थकरगणधरलक्षणैः प्रणीतः पुरुषप्रणीतो धर्मः, पुरुष एव च तं धर्मं रक्षितुं प्रत्यनीकादिभ्योपद्रूयमाणं पालयितुं शक्तः, लोकविरुद्धं चैतत्पुरुषेण स्त्रियो वन्दनम्, तस्मात् श्रमणानां तासिः कर्त्तव्यम् । बृ० ६ उ० । कल्प० । प्रव० । पञ्चा० ।

(२) यथार्हं वन्दनस्याकरणे दोषानाह-

पयस्स अकरणम्मी, माणो तह णीयकम्मबंधो त्ति ।
पवयणखिंसाऽयाणग, अबोहिभववुड्ढि अरिहम्मि ॥२५॥

एतस्य कृतिकर्मणोऽकरणेऽभिधाने मानोऽहङ्कारः कृतो भवति । तथेति समुच्चये । नीचकर्मबन्धो नीचैर्गोत्रकर्मबन्धनमिति, एतस्मान्मानात् स्यात् । तथा प्रवचनखिंसा शासननिन्दा-नूनमेतत्प्रवचने विनयो नाभिधीयते, यत एते वन्दनं यथायोग्यं न कुर्वन्तीत्येवरूपा । तथा (अयाणग त्ति) अज्ञायका अविज्ञा एते लोकरूढिमपि नानुवर्त्तयन्ति एवं विनिन्देति । अत एवाबोधिः सम्यग्दर्शनालाभः । अबोधिलाभफलं कर्मेत्यर्थः । ततश्च भववृद्धिः संसारवर्द्धनमिति दोषः । कृतस्याकरणे इत्याह-अर्हे योग्ये वन्दनस्य, न यत्र कुत्रचिदिति गाथात्रयार्थः । पञ्चा० ७ विव० । प्रव० । स्था० । जीत० । प० भा० । पं० चू० ।

वंदणचिइकिइकम्मं, पूआकम्मं च विणयकम्मं च ।
कायव्व कस्स व केण वा वि काहे व कइखुत्तो ? ॥

(गाथापूर्वार्द्धं 'वंदणग' शब्दे वक्ष्यते) आह-इदं वन्दनं कर्त्तव्यं कस्य वा केन वा कदा वा कस्मिन्वा काले कतिकृत्वो वा कियतो वा वारान् इति ।

किइओणयं कइ सिरं, कइहि व आवस्सएहि परिसुद्धं ।
कतिदोसविप्पमुक्कं, कितिकम्मं कीस कीरइ वा ? ॥

अवनतिरवनतं कृत्यवनतं तद्वन्दनं कर्त्तव्यम्, कति शिरः कति शिरांसि, तत्र भवन्तीत्यर्थः । कतिभिर्वाऽऽवश्यकैरावर्त्तादिभिः परिशुद्धं, कतिदोषविप्रमुक्तं ढोलगत्यादयो दोषाः । कृतिकर्म वन्दनकर्म [कीस किरइ व त्ति] किमिति वा क्रियत इति गाथासमुदायार्थः । आव० ३ अ० ।

(३) सांप्रतं वन्दनादिषु द्रव्यभावत्वं प्रविकटयिषुर्दृष्टान्तान् प्रतिपादयन्नाह—

सीयले खुड्डए कण्हे, सेवए पालए तहा ।
पंचेते दिट्ठंता, कितिकम्म होंति णायव्वा ॥ ३ ॥

शीतलः, क्षुल्लकः, कृष्णः, सेवकः पालकस्तथा पञ्चैते दृष्टान्ताः कृतिकर्मणि भवन्ति ज्ञातव्याः । आव० ३ अ० । (तत्र सकथानकः शीतलदृष्टान्तः 'सीयल' शब्दे वक्ष्यते)

अथ क्षुल्लकदृष्टान्तमाह, तत्रेदं कथानकम्—

"एगो खुड्डगो आयरिएण कालं करेमाणेण लक्खणजुत्तो आयरिओ ठविओ । ते सव्वे पव्वइया तस्स खुड्डगस्स आणानिद्देसे वट्टंति । तेसिं च कडादीण थेराण मूले पढइ । अन्नया मोहणिज्जेण वाहिज्जंतो भिक्खाए गएसु साहुसु बीतिज्जएण सन्नाभूमिं आणवेत्ता पत्तयं गहाय उव्वट्टयपरिणामो वच्चइ एगदिसाए, परिस्संतो एगम्मि वणसंडे वीसमइ, तस्स य पुप्फियफलियस्स मज्झे समिज्झरुक्खस्स पीढं बद्धं । लोगो तत्थ पूयं करेइ तिलगचउलादीणं, किंचि वि सो चिंतेइ । एयस्स पेढस्स गुणेण एइसे पूया किज्जइ चितिनिमित्तं । सो भणइ-एए किं अच्चेह ? । ते भणंति-पुव्विल्लेहिं कयल्लयं एयं, तं च जणो वंदइ । तस्स वि चिंता जाया-पेच्छ जारिसं समिज्झरुक्खं तारिसो मि अहं, अन्ने वि तत्थ बहुस्सुया रायपुत्ता इब्भपुत्ता अत्थि, ते ण ठविया, अहं ठविओ, मम पूयंति, कओ मज्झ समणत्तेण रयहरणचितिगुणेण वदंति, पडिनियत्तो इयरे वि भिक्खाओ आगया मग्गंति, न लभंति सुतिं वा पउत्तिं वा, सो आगओ आलोएइ-जहाऽहं सन्नाभूमिं गओ सूलो उट्ठाइओ तत्थ पडिओ अत्थिओ, इयाणिं उवसंते आगओ मि, ते तुट्ठा, पच्छा कमाईणं आलोएइ, पायच्छित्तं च पडिवज्जइ । तस्स पुव्विं दव्वचिती, पच्छा भावचिती जाया" ।

इदानीं कृष्णकथानकमाह—

"बारवईए वासुदेवो, वीरओ कोलिओ, सो वासुदेवभत्तो । सो य किर वासुदेवो वरिसारत्ते बहवे जीवा वहिज्जंति त्ति ओ नइ । सो वीरगो बारं अलभंतो पुप्फछज्जियाए अच्चणं काऊण वच्चइ, दिणे दिणे न य जेमेइ, परूढमंसू जाओ । वत्ते वरिसारत्ते नीतिराया सव्वे वि रायाणो उवट्ठिया, वीरओ पाएसु पडिओ । राया पुच्छइ-वीरओ दुव्वलो त्ति । बारवालेहिं कहियं जहावत्तं । रन्नो अणुकंपा जाया, अवारिओ पवेसो कओ वीरगस्स । वासुदेवो य किर सव्वाओ धूयाओ जाहे विवाहकाले पायं वंदिया एंति, ताहे पुच्छइ-किं पुत्ति ! दासी होइहिसि उदाहु सामिणि त्ति ? । ताओ भणंति-सामिणिओ होहामु त्ति । राया भणइ-तो अज्जं पव्वयह भट्टारगस्स पायमूले, पच्छा महया निक्खमणसक्कारेण सक्कारियाओ पव्वयंति, एवं वच्चइ कालो । अन्नया एगाए देवीए धूया, सा चिंतेइ-सव्वाओ पव्वाविज्जंति ।

तीए धूया सिक्खाविया-भणाहि, दासी होहामि त्ति। ताहे स-व्वालंकियभूसिया उवणीया पुच्छिया भणइ-दासी होहामि त्ति। वासुदेवो चिंतेइ-मम धूयाओ संसारं हिंडिहिंति कहं वा अन्ने-हिं अवमन्निज्जंति तो न लद्धो एको उवाओ, जेण अन्ना वि एवं न कारेहिंति त्ति चिंतेइ। लद्धो उवाओ वीरगं पुच्छइ-अत्थि ते किं-चि कयपुव्वयं ? । भणति-नत्थि। राया भणइ-चिंतेहि य। सुचिरं चिंतेत्ता भणइ-अत्थि बयरीए उवरिं सरडो, सो पाहाणेण आ-हणेत्ता पाडिओ मओ य, सगडवट्टाए पाणियं वहंतं वामपाए-ण धारियं उव्वेलाए गयं, पज्जणघडियाए मच्छियाओ पवि-ट्ठाओ हत्थेण ओहाडियाओ गुमगुमंतीओ होउंति । बीए दिव-से अत्थाणीए सोलसण्ह रायसहस्साण मज्झे सो भणति-सुणह भो ! एयस्स वीरयस्स कुलुप्पत्ती सुया, कम्माणि य । का णे कम्माणि ? । वासुदेवो भणति-जेण रत्तसिरो नागो वसंतो वद-रीवणे पाडिओ पुढविसत्थेण, चेमती नाम खत्तिओ, जेण च क्खुया गंगा वहंती कलुसोदयं धारिया वामपाएण, घेमती नाम खत्तिओ, जेण घोसवती सेणा वसती कलसीपुरे धारिया वामहत्थेण, घेमती नाम खत्तिओ, एयस्स धूयं देमि त्ति । सो भणिओ-धूयं ते देमि, तो नेच्छति, भीउडी कया, दिण्णा, नीया य घरं, सयणिज्जे अत्थति, इमो से सव्वं करेति। अन्नया राया पुच्छ-ति, किह ते वयणं करेति । वीरओ भणति-अहं सामिणीए दासो त्ति। राया भणति-सव्वं जइ न कारावेसि तो नत्थि ते निप्फेडओ। तेण रन्नो आकूयं नाऊण घरं गएण भणिया-जहा पज्जणं करेहि त्ति। सा रुट्ठा, कोलिय! अप्पयं न याणसि, तेण उट्ठेऊण रज्जुए आहया कूयंती रन्नो मूलं गया । पा-ए वंदिया भणइ-तेणाहं कोलिएण आहया। राया भणति-तेण चेव सि मए भणिया-सामिणी होहिहिति त्ति, तो दा-सत्तणं मग्गसि, अहमेत्ताहे न वसामि । सा भणति-सामि-णी होमि। राया भणति-वीरओ जइ मन्निहिति । मोइया प व्वइया। अरिट्ठनेमिसामी समोसरिओ। राया निग्गओ। सव्वे साहू वारसावत्तेण वंदति, रायाणो परिस्संताविया । वीरओ वासुदेवाणुवत्तीए वंदति, कन्ने वद्धसेओ जाओ। भट्टारओ पु-च्छिओ-तिहिं सएहिं सट्ठेहिं संगामाण न एवं परिस्संतो मि भगवं !। भगवया भणिय-कन्ह ! खाइगं ते समत्तं, उप्पाइयं ति-त्थगरनामगोयं च, जया किर पाए विद्धा तया निंदणगरिहणाए सत्तमाए पुढवीए वद्धेल्लयं आउयं उव्वढंतेण तच्चपुढविमाणीयं, जइ आउयं धरे तो पढमपुढविमाणेतो अन्ने भणंति-इहेव वद-तेण ति भावकितिकम्मं वासुदेवस्स, दव्वकितिकम्मं वीरयस्स"।

अथ सेवककथानकमाह-

"एगस्स रन्नो दो सेवया, तेसिं अल्लीणा गामा। तेसिं सीमानि-मित्तेणं भंडणं जातं, रायकुलं पहाविया। साहू दिट्ठो, एगो भणति भावेण साधुं दृष्ट्वा-'ध्रुवा सिद्धिः' पयाहिणीकाउ वंदित्ता गओ। वितिओ तस्स किर उग्घोडुयं करेति, सो वि वदति, तहेव भणति। ववहारो आवद्धो, जिओ, तस्स दव्वपूजा, इय-रस्स भावपूजा"।

इदानीं पालककथानकमाह-

"वारवतीए वासुदेवो राया पालयसंवादओ, से पुत्तो नेमी समो-सढो। वासुदेवो भणति-जो कल्लं सामिं पढमं वदति तस्सा-हं जं मग्गति तं देमि। संवेण सयणीआओ उट्ठित्ता वंदिओ। पालएण ओज्जेण भिन्भेण आसरयणेण वंदिउं गंतूण सो किर अभवसिद्धिओ वदति, हियएण अक्कोसति। वासुदेवो निग्गओ पुच्छति-केण तुज्झे अज्ज ! पढमं वंदिया। दव्वओ पालएण, भाव-ओ संवेण। संवस्स तं दिन्नं"। एवं तावद् द्रव्यपर्यायसमुद्रा-रेण निरूपितम्।

अधुना यदुक्तं कर्त्तव्यं कस्य वेति, स निरूप्यते, तत्र येषां न कर्त्तव्यं तानभिधित्सुराह-

> अस्संजयं न वंदिज्जा, मायरं पिअरं गुरुं ।
>
> सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि अ ॥ ४ ॥

न संयता असंयताः, अविरता इत्यर्थः; तान्न वन्देत। कान्?, मा-तरं जननीं, तथा पितरं जनकम्, असंयतमिति वर्त्तते। प्राकृतशै-ल्या चाऽसंयतशब्दो लिङ्गत्रयेऽपि यथायोगमभिसंबध्यते। तथा गुरुं पितामहादिलक्षणम्, असंयतत्वं सर्वत्र योजनीयम्। तथा हस्त्यश्वरथपदातिलक्षणा सेना, तस्याः पतिः सेनापतिः, गणराज इत्यर्थः। तं सेनापतिं, प्रशास्तारं प्रकर्षेण शास्ता, तं धर्मपाठकादिलक्षणम्, तथा बद्धमुकुटो राजाऽभिधीयते, तं रा-जानं, दैवतानि च न वन्देत, देवदेवीसंग्रहार्थं देवताग्रहणम्। चशब्दाल्लेखाचार्य्यादिग्रहो वेदितव्य इति गाथार्थः॥४॥

[४] इदानीं यस्य वन्दनं कर्त्तव्यं स उच्यते-

> समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहिअं ।
>
> पंचसमिअ तिगुत्तं, असंजमदुगुंछगं ॥ ५ ॥

श्रमणः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तं श्रमणं वन्देत नमस्कुर्यात्, कः ?, मेधावी न्यायावस्थितः। स खलु श्रमणो नामस्थापना-दिभेदभिन्नोऽपि भवति, अत आह-संयतम्, सम्यगेकीभावेन यतः संयतः, क्रियायां प्रयत्नवानित्यर्थः। असावपि च व्यवहारन-यामिप्रायतो द्रव्यलिङ्गनिमित्तमसंपूर्णदर्शनादिरपि स्या-द्यते, अत आह-सुसमाहितम्, दर्शनादिषु सुष्ठु सम्यगाहितः सुसमाहितस्तम्। सुसमाहितत्वमेव दर्शयते-पञ्चभिरीर्यास-मित्यादिभिः समितिभिः समितः पञ्चसमितस्तम्। तिसृभिर्म-नोगुप्त्यादिभिर्गुप्तः त्रिगुप्तस्तम्। प्राणातिपातादिलक्षणोऽसंयमः असंयमं गर्हति जुगुप्सनीयत्संयमजुगुप्सकस्तम्। अनेन द्रव्य-भेदाऽस्यावेदिता भवतीति गाथार्थः॥ ५ ॥

आह-किमिति यस्य कर्त्तव्यं वन्दनं स एवादौ नोक्तः, येन येषां न कर्त्तव्यं मात्रादीनां तेऽप्युक्ता इति ?, उच्यते-सत्पार्षदं हीदं शा-स्त्रम्, त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति-केचिदुद्घटितज्ञा भवन्ति, केचि-न्मध्यमबुद्धयः, केचित्प्रपञ्चितज्ञा इति । तत्र मा भूत् प्रपञ्चित-ज्ञानां मतिः-उक्तलक्षणश्रमणस्य कर्त्तव्यं, मात्रादीनां तु न वि-धिर्न प्रतिषेध इत्यतस्तेऽप्युक्ता इति। यद्येवं किमिति तेषां न कर्त्तव्यं त एवादावुक्ता इति ?। अत्रोच्यते-हिताप्रवृत्तेरहितप्रवृ-त्तिर्गरीयसी। गुरु संसारकारणमिति प्रदर्शनार्थमित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः। श्रमणं वन्देत मेधावी संयतमित्युक्तम्।

तत्रेत्थंभूतमेव वन्देत न तु पार्श्वस्थादीन्, तथा चाह-

> पंचण्हं किइकम्मं, पाडामरुएण होइ दिट्ठंतो ।
>
> वेरुलिअ नाण दंसण, नीआवासे अ जे दोसा ॥ ६ ॥

पञ्चानां पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दानां कृतिकर्म, न कर्त्तव्यमिति वाक्यशेषः। अयं च वाक्यशेषः-श्रमणं वन्देत मेधावी संयतमित्यस्माद्विध्यन्तदवगम्यते, पार्श्वस्थादीनां यथोक्तश्रमण-

गुणविकलत्वात् । तथा संयतानामपि ये पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेषामपि कृतिकर्म न कर्तव्यम् । आह-कुतोऽयमर्थोऽवगम्यते ?। उच्यते-मालामरुकाभ्यां भयंति इत्यादि वचनात् । वक्ष्यते च-" असुइट्ठाणे पडियेत्यादि " " चंपगकुसेत्यादि "। [विरुसिय त्ति] ससर्गजदोषनिराकरणाय यद्भूयस्त्यक्तो भविष्यति । वक्ष्यते च-" सुचिर पि अच्छमाणो " इत्यादि । तत्प्रत्ययत्वात् च " इक्खुस्स य लिंबस्स य " इत्यादिना सप्रपञ्चं वक्ष्यते । (नाणे त्ति) दर्शनचारित्राऽऽसेवनसामर्थ्यविकला ज्ञानप्रधाना एवमाहु-ज्ञानिन एव कृतिकर्म कर्तव्यम् । वक्ष्यते च " काम चरण भावो, त पुण णाणसहिओ समाणे त्ति । न य नाणं तु न भावो, तेण त्ताणि पणिवयामो " इत्यादि [दसणे त्ति] ज्ञानचरणधर्मविकला स्वल्पमत्या एवमाहु-दर्शनिन एव कृतिकर्म कर्तव्यम् । वक्ष्यते च " जह नाणेण विणा चर-ण नादसणिस्सइ य नाणं । न य करिसण ण भावो, ते ण-वरिहि पणिवयामो " इत्यादि । तथाऽन्ये सपूर्णचरणधर्मानुपालनासमर्था नित्यवासादि प्रशसन्ति सगमस्थविरोदाहरणेनापरे चैत्याद्यालम्बनं कुर्वन्ति । वक्ष्यते च-" जाहे वि य परितता, गामागरणयरपट्टणमडंबा । तो केती नियवासो, सगमथेर ववदसन्ति " इत्यादि । तत्र नित्यवासे च ये दोषा , यथाऽत्राऽऽर्यकेसलज्ञानदर्शन पक्षे चैत्यभावपक्षे चार्यिकासामयिकृतपरिभोगपक्षे च ते वक्तव्या इति वाक्यशेषः । एष तावद्गाथासंक्षेपार्थः ॥६॥

साम्प्रतं यदुक्तं पञ्चानां कृतिकर्म न कर्तव्यम्, अथ के एते पञ्च इति तत्स्वरूपतो निर्दर्शयन्नाह-

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो ।
अहछंदो वि अ एए, अवंदणिज्जा जिणमयम्मि ॥७॥

इयमन्यकर्तृकी सोपयोगा येति व्याख्यायते-अत्र पार्श्वस्थ. इ-र्शनादीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ. । यद्वा मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशाः,पाशेषु तिष्ठतीति पाशस्थ.। आव० ३ अ०।

कृतिकर्म कर्तव्यम्-

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए किइकम्मं करित्तए ।

अथ कोऽस्य सूत्रस्य सबन्ध इत्याह-

संथारं दुरुहंते, किइकम्म कुणइ वाचियं सायं ।
पातो वि य पणिवायं, पमिबुद्धो एक्कमेक्कस्स ॥

सायं प्रदोषसमयपर्यन्त्यां पूर्णायां गुरुप्रदत्तायां सुधि प्रस्तीर्यं सस्तारकमारोहन वाचिकं कृतिकर्म 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' इति लक्षण वाचनिक प्रणाम करोति । प्रातरपि च प्रभातेऽपि प्रतिबुद्ध एव एकैकस्य साधोः प्रणिपात वन्दन यथारत्नाधिकं करोति, अत इदं कृतिकर्मसूत्रमारभ्यते । अनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकं यो यो रत्नाधिकस्तदनतिक्रमेण कृतिकर्म कर्तुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकार आह-

किइकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणगं ।
वंदणगं तहिं ठप्पं, अब्भुट्ठाणं तु वोच्छामि ॥

कृतिकर्म द्विविधम् । तद्यथा-अभ्युत्थानं, वन्दनकं च । तत्र वन्दनकं स्थाप्यम्, अभ्युत्थान तु साम्प्रतमेव वक्ष्यामि । बृ० ३ उ० । (अभ्युत्थानम् ' अब्भुट्ठाण ' शब्दे प्र० भा० ६६३ पृष्ठे उक्तम् । वन्दनक ' वंदणग ' शब्दे वक्ष्यते)

[५] अथ द्रव्यक्षेत्रकालभावतः कृतिकर्मकरणविधिमाह-

आयरियउवज्झाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं ।
उप्परिवामी मासिग, मदरहिए तिन्नि य थुईओ ॥

प्रतिक्रमणसूत्राकर्षणानन्तरमाचार्योपाध्याययोः प्रथम कृतिकर्म कृत्वा ततः शेषसाधूनां यथारत्नाधिकक्रम कर्तव्यम् । अथोत्परिपाट्या वन्दते ततो लघुमासिकं, तेनापि चाचार्यादिना मदरहितेन वन्दनकं प्रतीच्छनीयम् । प्रतिक्रमणे च समाप्ते तिस्रः स्तुतयः स्वरेण छन्दसा च प्रवर्द्धमाना दातव्याः ।

आह-शेषसाधूनां किं सर्वेषामपि वन्दनं विधेयम्, उत नेत्यत्रोच्यते-

जा दुचरिमो त्ति ता हो-इ वंदणं तीरिए पडिक्कमणे ।
आइण्णं पुण तिण्हं, गुरुस्स दुण्ह व देवसिए ॥

प्रतिक्रमणसूत्रे तीरिते पारं प्रापिते सति वन्दनं भवति यावद् द्विचरमसाधुः । द्वौ साधू अवशिष्यमाणौ यावत् सर्वेषामपि वन्दनं कृत्वा क्षामणकं कर्तव्यमिति भावः । एष विधिः पूर्वं चतुर्दशपूर्वधरदशपूर्वधरादिकाले आसीत्; सम्प्रति पुनः पूर्वाचार्यैराचीर्णमिदम्-त्रयाणां साधूनां वन्दनकं कर्तव्यम्, तत्रैकस्य गुरोर्द्वयोश्चाऽऽद्ययोः साध्वोः पर्यायज्येष्ठयोः दैवसिके, उपलक्षणत्वाद् रात्रिके वा आवश्यके अयं विधिरवगन्तव्यः। पाक्षिके तु पञ्च साधवो वन्दित्वा क्षमयितव्याः । चातुर्मासिके सांवत्सरिके च सप्त । आह चावश्यकचूर्णिकृत्-" पक्खिए पंच अवस्सं, चाउम्मासिए संवच्छरिए सत्त अवस्सं ति "।

आह-किमत्र कारण मौलं विधिमुल्लङ्घ्य पूर्वसूरय इत्थमभिनवां सामाचारीं स्थापयन्तीत्युच्यते-

धिइसंघयणादीण, मेराहाणिं तु जाणिउं थेरा ।
सेहअगीतट्ठा वि य, ठवणे आइण्णकप्पस्स ॥

धृतिर्मानसावष्टम्भरूपा, सहनन वज्रऋषभनाराचादि, तयोः, आदिशब्दाद् द्रव्यक्षेत्रकालादीनां च या परिहाणिर्या च मर्यादा या सिद्धान्ताभिहितनिरपवादसमाचारीरूपा हानि , तां ज्ञात्वा पूर्वसूरयः ऐदंयुगीनसाधुजनोचितस्याचीर्णकल्पस्य स्थापनां कुर्वन्ति । किमर्थमित्याह-शैक्षाणामगीतार्थानां चाऽनुग्रहार्थम् , मा भूदमीषां बहुतरसाधूनां वन्दित्वा क्षमयतां विशिष्टधृतिसंहननादिविकलाभावात्परिभग्नानां विपरिणाम इति ।

[६] अथाचीर्णस्यैव लक्षणमाह-

असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ कारणे असावज्जं ।
ण णिवारियमन्नेहिं, बहुमणुमयमेतमाइण्णं ॥

अशठेन रागद्वेषरहितेन कालिकाचार्यादिवत्प्रमाणस्थेन सता समाचीर्णम् आचरितं भाद्रपदशुद्धचतुर्थीपर्युषणापर्ववत् । कुत्रचित् द्रव्यक्षेत्रकालादौ कारणे पुष्टालम्बने असावद्यं प्रकृत्या मूलोत्तरगुणसाधनाय अनाधाकर्म । न च नैव निवारितमन्यैस्तथाविधैरेव तत्कालप्रवृत्तिभिर्गीतार्थैः, अपि तु बहु यथा भवत्येवमनुमतमेतदाचीर्णमुच्यते ।

अथ ये आचार्यस्यापि पर्यायज्येष्ठास्तैः किमाचार्यस्य वन्दनकं कर्तव्यमुत नेत्यभिधीयते-

विंयमणपचक्खाणे, सुए खु राईणिगा वि हु करेंति ।
मज्झिमछे न कारिती, सो चेव करेइ तेसिं तु ॥

विकटनमनालोचन, प्रत्याख्यान प्रतीत, तयोः, तथा श्रुते चोदिश्यमानसमुद्दिश्यमानादौ रात्निका अपि ज्येष्ठाचार्या अप्युपसंपद्य प्रतिपन्ना अवमरात्निकस्याचार्यस्य वन्दनक कुर्वन्ति। ये तु मध्यम क्षामणकवन्दन तन्न कुर्वन्ति, किं तु स एवाचार्यस्तेषां रात्निकानां करोति।

[७] अथ यदुक्तं तिस्र स्तुतयो दातव्या इति तत्र विधिमाह—

थुइमंगलम्मि गणिणा, उच्चारिते सेसगा थुती दिंति ।
धम्मट्ठ मेरसारण, विणयो य ण फेमितो एवं ॥

पाक्षिकादिषु यद्यप्याचार्योऽवमरात्निकस्तथापि स एवावश्यके समापिते प्रथमतस्तिस्रः स्तुतीर्ददाति। दैवसिकरात्रिकयोरपि प्रथममाचार्येण स्तुतिमङ्गल प्रारम्भणीयम्, तत शेषै । अत एवाह-स्तुतिमङ्गले गणिना आचार्येणोच्चारिते सति शेषाः साधव स्तुतीर्ब्रुवते, ददतीत्यर्थ । धर्मार्थं गुरुपादमूल एव कियन्तमपि काल तिष्ठन्ति।किमर्थमिति चेत् ?. अत आह-कासिन्मर्यादा सामाचारी विस्मृता भवेत् तस्याः स्मारण गुरवः कुर्वीरन्, परमोपकारिणश्च गुरवः, तत एव प्रतिक्रमणानन्तर कियन्तमपि काल तेषु पर्युपास्यमानेषु विश्रमणादिविधानेन विनयोऽपि न स्फेटितो न हापितो भवति ॥

अथ के पुनस्ते ये आचार्यस्यापि रत्नाधिका भवन्ती— त्युच्यते—

अन्नोसिं गच्छाण, उवसंपन्नाण वंदणं ताहियं ।
बहुमाण तस्स वयण, उवसेवाऽऽलोयणा भणिया ॥

अन्येषां गच्छानां सबन्धिन आचार्या रत्नाधिकतरा सूत्रार्थनिमित्त कमप्यवमरात्निकमाचार्यमुपसंपन्नास्तेषां मध्यमवन्दनकम् अवमरात्निकेन दातव्य शेष काल. तेऽपि रात्निकास्तस्यावमरात्निकस्य बहुमान पूज्योऽयमस्माक गुणाधिकतयेति लक्षण वचनमाज्ञानिर्देश कुर्वन्ति। अवमेऽपि च तत्रालोचना भणिता भगवद्भि । किमुक्त भवति ?-तस्य पुरत आलोचन प्रत्याख्यान च वन्दनक दत्वा विहितमिति भगवतामुपदेश.।

(८) अथ पर' प्राह-कस्य पुन कृतिकर्म कर्त्तव्य कस्य वा नेति ?, उच्यते—

सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं बाहिराण भयितव्वं ।
सुत्तत्थजाणएणं, कायव्व आणुपुव्वीए ॥

सयमश्रेण्याः सबन्धीनि विशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतस्वरूपभेदरूपाणि यानि स्थानानि तेषु स्थितानां कृतिकर्म कर्त्तव्यम् । ये तु सयमश्रेणिस्थानेभ्यो बाह्यास्तेषां भक्तव्यं कर्त्तव्य वा न वेतिभावः। तत्र कारणे समुत्पन्ने सूत्रार्थज्ञेन गीतार्थेन आनुपूर्व्या "चायाऽ नमोक्कारो" इत्यादिकया वक्ष्यमाणपरिपाट्या, कर्त्तव्यम्, अन्यथा तु नेति पुरातनीगाथासमासार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह-

सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं सेढि इच्छिमो णाउं ।
तम्हा खलु सेढीए, कायव्व परूवणा इणमो ॥

सयमश्रेणिस्थानस्थितानां कृतिकर्म कर्तव्यमित्युक्ते कश्चिद् विनेयो ब्रूयात्-यथ तामेव श्रेणिं प्रथमतो ज्ञातुमिच्छामः।सूरिराहयत एव भवतः श्रेणिविषया जिज्ञासा साऽस्माभिरपि कर्त्तव्या श्रेणेः प्ररूपणया इय वक्ष्यमाणलक्षणा।

अतस्तामेव चिकीर्षुः प्रथमतः श्रेणिस्थितानां कृतिकर्मकरणे विधिमाह—

पुव्वं चरित्तसेढी, ठियस्स पच्छा ठिएण कायव्वं ।
सो पुण तुल्लचरित्तो, हविज्ज ऊणो व अहिओ वा ॥

पूर्वं प्रथम यः सामायिकस्य छेदोपस्थापनीयस्य वा प्रतिपत्त्या चारित्रश्रेण्यां स्थितस्तस्य पश्चात्स्थितेन कृतिकर्म कर्त्तव्यम । स पुनः पूर्वस्थितस्तं पश्चात्स्थितमपेक्ष्य निश्चयतस्तुल्यचारित्रो न्यूनो वा अधिको वा भवेत् । यत.-

निच्छयओ दुन्नेयं, को भावे कम्मि वट्टई समणो ।
ववहाराओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥

निश्चयतस्तत्त्ववृत्त्या क. पूर्वस्थितः पश्चात्स्थितो वा श्रमणः, कस्मिन् भावे चारित्राध्यवसायरूपे मन्दे मध्ये तीव्रे वा वर्तते इति दुर्ज्ञेयम, तदपरिज्ञानाच्च कथ निश्चयनयाऽभिप्रायेण कृतिकर्म कर्तुं शक्यम् । व्यवहारतस्तु व्यवहारनयमङ्गीकृत्य पुनः क्रियते कृतिकर्म यः पूर्वं चारित्रे स्थितस्तस्येति।

ननु फलसाधकत्वान्निश्चयस्यैव प्रामाण्य, न व्यवहारस्येत्याह-

ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरहा ।
जा होइ अणाभिन्नो, जाणंतो धम्मओ एयं ॥

व्यवहारोऽपि, आस्तां निश्चय इत्यपिशब्दार्थः। हु निश्चितम, बलवान् । यद्यस्माच्छद्मस्थमपि स्वगुरुप्रभृतिक वन्दते अरहा केवली। कियन्त कालमित्यादि-यावदसौ [अणाभिन्नो त्ति] केवलितया अनभिज्ञातो भवति तावदेन व्यवहारनयबलवत्त्वलक्षण धर्मतो जानन् छद्मस्थमपि वन्दते इति ।

कथं पुनरसौ केवलितया ज्ञायत इत्याह—

केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलिं अन्नं ।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूआसु व सुणंति ॥

अन्येन केनापि केवलिना कथिते-अय केवली ज्ञात इत्याख्याते सति अवन्दमानो वा केवलिनमन्य केवलितया ज्ञायते । व्याकरणपूर्वं वा अतिशयज्ञानगम्यार्थकथनपुरस्सर तेनैव केवलिना स्वयमेव कथिते सति, देवतापूजासु वा यथासंनिहितदेवैः क्रियमाणा महिमा दृष्ट्वा गुरुप्रभृतयस्त केवलिन विदन्ति।

अथ श्रेणिप्ररूपणामाह-

अविभागपलिच्छेया, ठाणंतरकंडए य छट्ठाणा ।
हिट्ठा पज्जवसाणे, वड्ढी अप्पाबहु जीवा ॥

अविभागपरिच्छेदप्ररूपणा,स्थानान्तरप्ररूपणा,काण्डकप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अध प्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, जीवप्ररूपणा चामूनि प्रतिद्वाराणि।

तद्यथा-

आलावगणणविरहिय-अविरहिय फासणा परूवणया ।
गणणपयसेढिअवहा-रभाग अप्पाबहुं समया ॥

आलापकप्ररूपणा, गणनाप्ररूपणा, विरहितप्ररूपणा, अविरहितप्ररूपणा, स्पर्शनाप्ररूपणा, गणनपदप्ररूपणा, श्रेण्यवहारप्ररूपणा, भागप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, समयप्ररूपणा इति द्वारगाथाद्वयम् ।

तत्राविभागपरिच्छेदप्ररूपणां करोति–

अविभागपलिच्छेओ, चारित्तपज्जवपएसपरमाणू ।
परमाणस्स परूवण, चउव्विहा भावओ णं सा ॥

इह संयमस्थानकेवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमान निरंशतया यदा विभागं न यच्छति तदाऽसावन्तिमोंऽशोऽविभागपरिच्छेद उच्यते । स चारित्रपर्यायश्चारित्रप्रदेशश्चारित्रपरमाणुर्वा भण्यते । परमाणोश्च सामान्यतश्चतुर्विधा प्ररूपणा, द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् । द्रव्यत एकाणुकं, क्षेत्रत आकाशप्रदेशः, कालतः समयः, भावतस्त्वेकगुणकालकादि । अत एव वा चारित्राविभागपरिच्छेदाः । ते चानन्ता अनन्तानन्तकप्रमाणाः ।

तथा चाह–

ते किंचिया पएसा, सव्वागासस्स मग्गणा होइ ।
ते जत्तिआ पएसा, अविभागतओ अणंतगुणा ॥

ते चारित्रस्य प्रदेशाः कियन्तः किं प्रमाणा इति चिन्तायां निर्वचनमाह–सर्वस्य लोकालोकगतस्याकाशस्य मार्गणा भवति । यावन्तः किल सर्वाकाशस्य प्रदेशास्ततस्तेभ्यः सर्वाकाशप्रदेशेभ्यश्चारित्रस्याविभागपरिच्छेदा अनन्तगुणाः सर्वजघन्येऽपि संयमस्थाने प्रतिपत्तव्याः, एषा अविभागपरिच्छेदप्ररूपणा । सर्वजघन्यात् संयमस्थानात् द्वितीयं संयमस्थानं ततस्तस्मादनन्तभागवृद्धम् । किमुक्तं भवति ? । प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागापेक्षया द्वितीये संयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति, एषा स्थानान्तरप्ररूपणा । तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत्र तेऽनन्तभागवृद्धा, एवं पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि अनन्ततमेन भागेन वृद्धानि निरन्तरं संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावदङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितानि स्थानानि कण्डकमित्युच्यते । एवं कण्डकप्ररूपणे अस्माच्च कण्डकात्परतो यदनन्तरं संयमस्थानं भवति तत् पूर्वस्मादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति–पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकानन्तरे संयमस्थाने निर्विभागा भागा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानम् । एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकप्रमाणानि भवन्ति । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति, ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानमनेनैव क्रमेण तृतीयं यावत् संख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि कण्डकमात्राणि भवन्ति तावद्वाच्यम्, तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकसंयमस्थानप्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि च वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानम् । अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत् कण्डकमात्राणि भवन्ति, तत उक्तक्रमेण पुनरपि संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि भवन्ति तेनैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, अमूनि चैवमसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकप्रमाणानि भवन्ति, ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसङ्गे अनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव क्रमेण भूयो वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, एवमनन्तगुणाधिकानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि, यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तत्र प्राप्य षट्स्थानस्य परिसमाप्तत्वात् । इत्थंभूतान्यसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि षट्स्थानकं भवति, तस्माच्च प्रथमषट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुत्तिष्ठति, एवमेव च तृतीयम्, एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयालोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च–" छट्ठाणमए अवसा–णे अन्न छट्ठाणय पुणोऽनत । एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाण मुणेयव्वा " । इत्थंभूतानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट् स्थानकानि संयमश्रेणिरुच्यते । तथा चोक्तम्–"छट्ठाणा उ असंखा, संजमसेढी मुणेयव्वा" तदेवमुक्ताऽविभागपरिच्छेदस्थानान्तरकण्डकषट्स्थानकानां प्ररूपणा ॥ साम्प्रतमधः स्थानप्ररूपणा क्रियन्ते–प्रथमादसंख्येयभागवृद्धात्स्थानादधः कियन्ति संयमस्थानान्यनन्तभागवृद्धानि ? । उच्यते–कण्डकमात्राणि । तथा प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते–कण्डकमात्राणि । एवमुत्तरोत्तरस्थानादधोऽध आनन्तर्येण तावत् मार्गणा कर्तव्या यावत्प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि ?, उच्यते–कण्डकमात्राणि ॥ इदानीमेकान्तरिता मार्गणा क्रियन्ते–तत्र प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात् स्थानादधः कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते–कण्डकवर्गः कण्डकं च । तथा प्रथमात्संख्येयगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते–कण्डकवर्गः कण्डकं च । तथा प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति संख्येयगुणवृद्धानि ? । उच्यते–कण्डकवर्गः कण्डकं च । एवमुक्तप्रकारेण द्व्यन्तरिता त्र्यन्तरिता चतुरन्तरिता च मार्गणा सुधिया परिभावनीया ॥ अथ पर्यवसानद्वारम्–तत्रानन्तगुणवृद्धकण्डकादुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि सर्वाणि स्थानानि गत्वा पुनरनन्तगुणवृद्धं स्थानं न प्राप्यते, षट्स्थानस्य परिसमाप्तत्वात् । ततस्तदेव सर्वान्तिमस्थानं षट्स्थानकस्य पर्यवसानम् ।

अथ भाष्यकारः प्रकारान्तरेणाधःपर्यवसानद्वारयोः युगपत्प्ररूपणायाऽऽह–

एयं चरित्तसेढिं, पडिवज्जइ हिट्ठ कोइ उवरिं वा ।
जो हिट्ठा पडिवज्जइ, सिज्झइ नियमा जहा भरहे ॥

एव चारित्रश्रेणिं कश्चिज्जीवोऽधस्तात् जघन्यसंयमस्थानेषु प्रतिपद्यते, कश्चित्पुनरुपरि उपरितनेषु पर्यन्तवर्त्तिषु उपलक्षणत्वान्मध्यमेषु वा संयमस्थानेषु प्रतिपद्यते । तत्र योऽधस्तनेषु संयमस्थानेषु चारित्रश्रेणिं प्रतिपद्यते, स नियमात्तत्रैव भवग्रहणेन सिध्यति, यथा भरतश्चक्रवर्त्ती ।

मज्झे वा उवरिं वा, नियमा गमणं तु हिट्ठिमं ठाणं ।
अंतो मुहुत्तवुड्ढी, हीणा वि तहेव नायव्वा ॥

यः पुनर्मध्ये वा मध्यमेषु, उपरि वा उपरितनेषु संयमस्थानेषु चारित्रश्रेणिं प्रतिपद्यते, तस्य नियमादधस्तनं सर्वजघन्यं संयमस्थानं यावद्गमनं भवति, ततोऽसौ तेनान्येन वा भवग्रहणे सर्वाणि संयमस्थानानि स्पृष्ट्वा सिध्यति, या पुनरधस्तनसंयमस्थानेभ्य उपरितनसंयमस्थानारोहणलक्षणा वृद्धिः सा अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं भवति, या चोपरितनसंयमस्थानेभ्योऽधस्तनसंयमस्थानेषु वाऽऽरोहणरूपा हानिः साऽपि तथैवान्तर्मुहूर्त्तमात्राऽवगन्तव्या; एतेन वृद्धिद्वारप्ररूपणाऽपि कृता । सम्प्रति अल्पबहुत्वद्वारं प्ररूप्यते-तत्र सर्वस्तोकान्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानानि, कण्डकमात्रत्वात्तेषाम् । तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि, कण्डकमात्रत्वात्तेषाम् । तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि । गुणकारश्च इह कण्डकप्रमाणो ज्ञातव्यः । एकैकस्यानन्तगुणवृद्धस्य स्थानस्याधस्तात्प्रत्येकमसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राणि प्राप्यन्ते इतिकृत्वा अनन्तगुणवृद्धस्थानकण्डकस्योपरि कण्डकमात्राणि असंख्येयगुणवृद्धानि प्राप्यन्ते, तत्रानन्तगुणवृद्धं स्थानं तेन उपरिष्टादेकस्य कण्डकस्याधिकस्य प्रक्षेपः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्यः संख्येयगुणवृद्धानि असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि संख्येयभागाधिकानि स्थानानि असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽसंख्येयभागाधिकानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽनन्तभागवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि, गुणकारेषु सर्वत्रापि कण्डकानामुपरि चैव कण्डकप्रक्षेपः । प्ररूपितमल्पबहुत्वद्वारम् । जीवपदप्रतिबद्धानां तु आलापगणनादीनां द्वाराणां प्ररूपणा संप्रदायाभावान्न क्रियते ।

अथ प्रस्तुतयोजनां कुर्वन्नाह-

सेढीठाणठियाणं, किइकम्म बाहिरे न कायव्वं ।
पासत्थाई चउरो, तत्थ वि आणादिणो दोसा ।

अनन्तरोक्तायाः श्रेणेः संबन्धिषु संयमस्थानेषु स्थितानां साधूनां कृतिकर्म कर्त्तव्यं, ये तु श्रेणेर्बाह्यास्तेषां न कर्त्तव्यम् । के पुनस्ते इत्याह-पार्श्वस्थादयश्चत्वारः, तत्र पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाछन्दाः पञ्चाप्येको भेदः । कार्थिकप्राश्निकमामांसकसम्प्रसारका द्वितीयः । अन्यतीर्थिकास्तृतीयः । गृहस्थाश्चतुर्थः । एते चत्वारोऽपि श्रेणिबाह्या मन्तव्याः । तत्राप्येतेषां कृतिकर्मकरणेऽपि, न केवलमभ्युत्थाने इत्यपिशब्दार्थः । आज्ञादयो दोषाः, प्रायश्चित्तं च प्राग् यथा अभ्युत्थाने पार्श्वस्थान्यतीर्थिकादिविषयं वर्णितं तथैव वक्तव्यम् ।

शिष्यः पृच्छति-

लिंगेण निग्गतो जो, पागडलिंगं धरेइ जो समणो ।
किध होइ णिग्गतो त्ति य, दिट्ठंतो सक्करकुडेणं ॥

लिङ्गेन रजोहरणादिना यो मुक्तः स संयमश्रेण्या निर्गतः प्रतीयते, यस्तु श्रमणः प्रकटमेव लिङ्गं धारयति स कथं निर्गतः श्रेणिबाह्यो भवति । श्रमणलिङ्गस्योपलभ्यमानत्वात् न भवतीति भावः । अत्र सूरिराह-दृष्टान्तः शर्कराकुटेनात्र क्रियते । "जहा कस्सइ रन्नो दो घडया सक्करा भरिया, ते अप्पणा मुद्दं दाऊण दोण्ह पुरिसाण समप्पिया, भणितो य-जहा सा रक्खह, जया मग्गिज्जइ तया दिज्जह" ।

ततः किमभूदित्याह-

दाउं हिट्ठा छारं, सव्वत्तो कंटियाहि वेढित्ता ।
सकवाममणाबाधे, पालेति तिसंज्झमिक्खंतो ।

तयोरेकः पुरुषस्तं राज्ञा समर्पितं घटं गृहीत्वा तस्याधः क्षारं दत्त्वा, यथा कीटिका नागच्छेयुरिति भावः । ततः सर्वतः कण्टिकाभिः तं वेष्टयित्वा सकपाटे पिधानमुक्तेऽनाबाधे प्रदेशे स्थापयित्वा त्रिसन्ध्यमीक्षमाणः सम्यक् पालयति ।

द्वितीयः पुनः किंभूतवानित्याह-

मुद्दं अविक्खवंतो-हि कीडियाहिं सचालणी चेव ।
जज्जरितो कालेणं, पमायकुडए णिवे दंडो ।

द्वितीयः पुरुषस्तं घटं कीटिकानगरस्यादूरे स्थापयित्वा मध्ये मध्ये नावलोकते । ततः शर्करागन्धघ्राणतः समायाताभिः कीटिकाभिर्मुद्रामविक्षवतीभिः स घटोऽधस्तात् कालेन जर्जरीकृतः, शर्करा सर्वाऽपि भक्षिता, अन्यदा राज्ञा तौ पुरुषौ घटं याचितौ, ततो द्वाभ्यामप्यानीय दर्शितयोर्घटयोः (पमायकुडए त्ति) येन कुटरक्षणे प्रमादः कृतः तस्य नृपेण दण्डः कृतः । उपलक्षणमिदं तेन यस्तं सम्यक् पालितवान् तस्य विपुलां पूजां विदधे । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-राजस्थानीया गुरवः, पुरुषस्थानीयाः साधवः, शर्करास्थानीयं चारित्रं, घटस्थानीय आत्मा, मुद्रास्थानीयं रजोहरणं, कीटिकास्थानीयान्यपराधपदानि, दण्डस्थानीया दुर्गतिप्राप्तिः, पूजास्थानीया स्वर्गादिसुखपरम्पराप्राप्तिः ॥

तथा चामुमेवोपनयन् लेशतो भाष्यकारोऽप्याह-

निवसरिसो आयरिओ, लिंगं मुद्दा उ सक्करा चरणं ।
पुरिसा य हुंति साहू, चरित्तदोसा मुइंगाओ ।

गतार्थाः, नवरं मुइङ्गाः कीटिकाः । यथा तस्य प्रमत्तपुरुषस्य मुद्रासद्भावेऽप्यधःप्रविशन्तीभिः कीटिकाभिर्घटं विभज्य शर्करा विनाशिता, एवं साधोरपि प्रमादिनो रजोहरणमुद्रासद्भावेऽप्यपराधपदैरात्मभिः अजर्जरितशर्करातुल्यं चारित्रं कालेन वा सद्यो वा विनाशमाविशति ।

तत्र कालेन यथा विनश्यति, तथा दर्शयति-

एसणदोसे सीयइ, अणाणुतावीण चेव वियडेइ ।
णेवइ करेइ सोधिं, ण य विरमति कालतो भस्से ॥

एषणादोषेषु सीदति, तद्दोषदुष्टं भक्तपानं गृह्णातीत्यर्थः । एवं कुर्वन्नपि पश्चात्तापं करिष्यतीत्याह-अननुतापी पुरःकर्मादिदोषदुष्टाहारग्रहणादनु पश्चात्तप्तः 'दुष्टं कृतं मयेत्यादि' मानसिकतापं भर्तुं शीलमस्येत्यनुतापी, न तथेत्यननुतापी, कथमेतज्ज्ञायते इति?, आह-न चैव विकटयति गुरूणां पुरतः स्वदोषान्न प्रकाशयति विकटयति वा, परं तस्य शोधिं प्रायश्चित्तं गुरुप्रदत्तं नैव करोति, न च नैवाशुद्धाहारग्रहणाद्विरमति । एवं कुर्वन् कालतः कियताऽपि कालेन चारित्रात्परिभ्रश्येत । यस्तु मूलगुणान् विराधयति स सद्यः परिभ्रश्यति ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह-

मूलगुणउत्तरगुणे, मूलगुणेहिं तु पागडो होइ।
उत्तरगुणपडिसेवी, संचयवोच्छेदतो तस्स ॥

इह प्रतिसेवको द्विधा-मूलगुणप्रतिसेवक उत्तरगुणप्रतिसेवकश्च। तत्र मूलगुणप्रतिसेवाया वर्तमानः प्रकट एव प्रतीयते, यथा चारित्रात्परिभ्रश्यति। उत्तरगुणप्रतिसेवी तु संचयेन बह्वपराधमीलकेन योऽशुद्धाहारग्रहणादेव व्यवच्छेदः परिणामस्यानुपरमस्ततो भ्रश्येत्, चारित्रात्परिभ्रंशमाप्नुयात्।

अथैवार्थे दृष्टान्तमाह-

अंतो भयणा बाहिं तु, निग्गते न तत्थ मरुगादिट्ठंतो।
संकर सरिसव सगडे, मण्डवत्थेण दिट्ठंतो ॥

इह संबन्धानुलोम्यतः प्रथममुत्तरार्द्धं व्याख्यायते-संकरस्तृणादिकचवरः, तद्दृष्टान्तो यथा-" आरामे सारणीए वहन्तीए एगं तणं नय लग्गं, तं ण अवणीयं, अन्नं लग्गं, तं पि न अवणीयं, एवं बहुहिं लग्गतेहिं तत्थ तेण आश्रयेण विकत्तगधूलीए संचओ जाओ। तेण सचएण तं पाणियं रुद्धं अन्नओ गतुं पवत्तं, ताहे सो आरामो सुक्को। एवमभिक्खणं अभिक्खणं उत्तरगुणपडिसेवाए अवराहसंचओ भवइ, तेण संजमजलं वहमाणं निरुज्झइ, तओ चारित्तारामो सुक्खइ"। सर्षपशकटमण्डपदृष्टान्तो यथा-शकटे मण्डपे वा कोऽप्येकः सर्षपः प्रक्षिप्तः, स तत्र यातः, अन्यः प्रक्षिप्तः, सोऽपि यातः, एवं प्रक्षिप्यमाणैः सर्षपैर्भविष्यति सुमण्डपो यः तं शकटं मण्डपं वा भनक्ति। एवं चारित्रेऽप्यशुद्धाहारग्रहणादिरेकोऽपराधः प्रक्षिप्तः, स तत्रावस्थितिं कृतवान्, द्वितीयः प्रक्षिप्तः सोऽप्यवस्थितः, एवमपरापरैरुत्तरगुणापराधैः प्रक्षिप्यमाणैर्भविष्यति स उत्तरगुणापराधः, येन चारित्रं सर्वथा भङ्गमुपगच्छति। अथ वस्त्रदृष्टान्तो भाव्यते-वस्त्रे कश्चिदेकस्तैलबिन्दुः कथमपि लग्नः, स न शोधितः, तदाश्रयेण रेणुपुञ्जका लग्नास्ततोऽपरे, एवमन्यस्मिन्नप्यवकाशे तैलबिन्दुर्लग्नः, सोऽपि न शोधितः, एवमन्यान्यैस्तैलबिन्दुभिर्गलद्भिरप्यशोध्यमानैः सर्वमपि तद्वस्त्रं मलिनीभूतम्। एवं चारित्रवस्त्रमप्यपरापरैरुत्तरगुणापराधैरुपलिप्यमानमचिरादेव मलिनीभवतीति, तदेवमुत्तरगुणप्रतिसेवी कालेन चारित्रात् परिभ्रश्यतीति स्थितम्। अथ कृतिकर्मविषयविशेषं विभणिषुराह-"अंतो भयणा" इत्यादि पूर्वार्द्धम्। यः संयमश्रेणेरन्तर्मध्ये स्थितस्तस्य कृतिकर्मकरणे भजना, सा चाग्रे दर्शयिष्यति, यस्तु श्रेणेर्बहिर्निर्गतस्तस्य न कर्त्तव्यम्, तथा च मरुको वा स्तेन, तस्य दृष्टान्तः क्रियते-

पक्कणउले वसंतो, सउणीपारो वि गरहितो होइ।
इय गरहिया सुविहिया, मज्झि वसता कुसीलाणं ॥

पक्कणकुलं मातङ्गगृहं, तत्र वसन् शकुनीपारगोऽपि द्विजो गर्हितो भवति। शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि गृह्यन्ते। तानि चामूनि-"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश ॥१॥" तत्राङ्गानि षट्-शिक्षा, व्याकरणं, कल्पः, छन्दो, निरुक्तं, ज्योतिषमिति। इय त्ति एवं सुविहिताः साधवः कुशीलानां मध्ये वसन्तो गर्हिता भवन्ति, अतो न तेषु वस्तव्यम्, न वा कृतिकर्मादि विधेयम्।

ननु च पार्श्वस्थादीनां कृतिकर्म न कर्त्तव्यमिति भवद्भिरभिहितं, तत्र पार्श्वस्थादीनां मध्ये कश्चिदप्रतिपत्रसोजित्वादिकल्पदोषरूपं कश्चित् तु स्त्रीसेवादिमहादोषरूपमावश्यकादिशास्त्रेष्वभिधीयते। ततश्च वयं तत्त्वं न जानीमहे कस्य कर्त्तव्यं कृतिकर्म कस्य वा नेत्याशङ्कावकाशमवलोक्य विषयविभागमुपदर्शयति-

संकिलिट्ठऽवराहपदे, अणाणुतावी य होइ अवरद्धे।
उत्तरगुणपडिसेवी, आलंबणवज्जितो वज्जो ॥

इह यो मूलगुणप्रतिसेवी स नियमादचारित्रीति कृत्वा स्फुटमेवावन्दनीय इति न तद्विचारणा, परं य उत्तरगुणविषये बहुभिरपराधपदैः सङ्कीर्णः शबलीकृतचारित्रः, अपरं च अपराधे अशुद्धाहारग्रहणादावपराधे कृतेऽपि अननुतापी, 'हा दुष्टु कृतम्' इत्यादिपश्चात्तापं न करोति, निःशङ्को निर्दयश्च प्रवर्तते इत्यर्थः एवंविध उत्तरगुणप्रतिसेवी यथालम्बनेन ज्ञानदर्शनचारित्ररूपत्रिशुद्धकारणेन वर्जितः, कारणमन्तरेण प्रतिसेवत इति भावः। तदाऽसौ वर्ज्यः कृतिकर्मकरणे वर्जनीयः। शिष्यः प्राह-नन्वेवमर्थादापन्नं आलम्बनसहितं उत्तरगुणप्रतिसेव्यपि वन्दनीयः। सूरिराह-न केवलमुत्तरगुणप्रतिसेवी, मूलगुणप्रतिसेव्यप्यालम्बनसहितः पूज्यः।

कथमिति चेदुच्यते-

हिट्ठट्ठाणठितो वी, पावयणिगगणट्ठया उ अधरे उ।
कमजोगि जं निसेवइ, आदिणिगंथो व सो पुज्जो ॥

अधस्तनस्थानेषु जघन्यसंयमस्थानेषु स्थितोऽपि, मूलगुणप्रतिसेव्यपीति भावः। कृतयोगी गीतार्थः, प्रावचनिकस्याचार्यस्य गणस्य च गच्छस्यानुग्रहार्थमधरे आत्यन्तिके कारणे समुपस्थिते यन्निषेवते, तत्रासौ संयमश्रेण्यामेव वर्त्तत इति कृत्वा पूज्यः। क इवेत्याह-आदिनिर्ग्रन्थ इव। इह पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाख्याः पञ्च निर्ग्रन्थाः। तेषामादिभूतः पुलाकस्तद्वत्, तस्य ह्येतादृशी लब्धिर्यया चक्रवर्तिस्कन्धावारमपि अभिवादनादौ कुलादिकार्ये स्तम्भीयात्, विनाशयेद्वा, न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात्।

तथा चाह-

कुणमाणो वि य कडणं, कतकरणो णेव दोसमब्भेति।
अप्पेण बहुं इच्छइ, विसुद्धआलंबणो समणो ॥

कडणं कटकमर्दं कुर्वाणोऽपि कृतकरणः पुलाको नैव स्वल्पमपि दोषमभ्येति प्राप्नोति। कुत इत्याह-यतोऽसौ श्रमणो विशुद्धालम्बनः सन् अल्पेन संयमव्ययेन बहु संयमलाभमिच्छति।

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह-

संयमहेउं अज्जे-तणं पि ण हु दोसकारगं बिंति।
पावण वोच्छेय वा, समाहिकारो वणादीणं ॥

प्रावचनिकादेः प्राणव्यपरोपणात् क्षिप इव रक्षणेन यः संयमस्तद्धेतोस्तन्निमित्तं पुलाकादेरयतमपि नहि नैव दोषकारकं ब्रुवते। यथा समाधिकरो वैद्यो व्रणादीनां यत्तथाविधौषधप्रलेपनेन पावनं, यच्च शस्त्रादिना विच्छेदनं, यद्वा व्यवच्छेदं लङ्घनं कारयति, तत्तु इदानीं पीडाकरमपि परिणामसुन्दरमिति कृत्वा न सदोषम्, एवमिदमपीति।

अथ परस्याभिप्रायमाशङ्कमान आह-

तत्थ भवे जति एवं, अम्मं अम्मेण रक्खए भिक्खू ।
असंजया वि एवं, अएां अम्मेण रक्खंति ॥

तत्रेत्यनन्तरोक्तेऽर्थे अभिहिते सति भवेत्, परस्याभिप्राय इति वाक्यशेषः । यथैव भिक्षुः पुलाकादिरन्यमाचार्यादिकमन्येन स्कन्धावारादिना कृत्वा रक्षति, एकस्य विनाशेनापरं पालयतीति भावः । तत एवमसंयता गृहस्था अप्यन्यमन्येन रक्षन्त्येव, अतो न कश्चिदसंयतानां संयतानां च प्रतिविशेषः ।

एवं परेणोक्ते सूरिराह-

न हु ते संजमहेउं, पालिंति असंजता अजतभावा ।
अच्छित्तिसंजमट्ठा, पालिंति जती जतिजणं तु ॥

न हु नैव तेऽसंयता अयतभावव्यवस्थितान् गृहस्थान् संयमहेतोः पालयन्ति, किं तु स्वात्मनो जीविकादिनिमित्तं, ये तु यतयस्तथा तीर्थस्याव्यवच्छित्तिर्यथा तेषां रक्ष्यमाणानामात्मनश्चान्योन्योपकारद्वारेण संयमस्तदर्थं यतिजनं पालयन्ति, तुशब्दो विशेषणार्थः । एष विशेषः साधूनां गृहस्थानां चेति ।

किञ्च-

कुणइ वयं धणहेऊ; धणस्स धणितो उ आगमं णाउं ।
इय संजमस्स वि वतो, तस्सेवट्ठा ण दोसाय ॥

यथा धनिको वाणिज्यं कुर्वन्नागमं लाभं ज्ञात्वा धनहेतोर्द्रव्योपार्जनार्थं शुल्ककर्मकरवृत्तिनाटकादिप्रदानेन धनस्य व्ययं करोति । (इयत्ति) एवं पुलाकादेर्मूलगुणप्रतिसेवनां कुर्वाणस्य यः कोऽपि संयमस्य व्ययः स तस्यैव संयमस्यार्थाय विधीयमानो न दोषाय संजायते; ततः पुष्टालम्बनसहितो मूलगुणप्रतिसेव्यपि शुद्ध इति स्थितम्, अथापुष्टालम्बनो निरालम्बनो वा प्रतिसेवते ततः संसारोपनिपातमासादयति ।

तथा चात्र दृष्टान्तमाह-

तुच्छमवलंबमाणो, पतति निरालम्बनो य दुग्गम्मि ।
सालंबनिरालंबे, अह दिट्ठंतो णिसेवंतो ॥

इहालम्बनं द्रव्यभावभेदाद्द्विधा, तत्र गर्तादौ पतद्भिर्यद् द्रव्यमालम्ब्यते तद् द्रव्यालम्बनम् । तच्च द्विधा-पुष्टमपुष्टञ्च । अपुष्टं दुर्बलं कुशवल्कलादि, पुष्टं बलिष्ठं तथाविधकठोरवल्ल्यादि । एवं भावालम्बनमपि पुष्टापुष्टभेदात् द्विधा, पुष्टं तीर्थाव्यवच्छित्तिग्रन्थाध्ययनादि, अपुष्टं शठतया स्वमतिमात्रोत्प्रेक्षितमालम्बनमात्रम् । ततश्च द्रव्यालम्बनमपुष्टमवलम्बमानो निरालम्बनो वा यथा दुर्गे गर्तादौ पतति, यस्तु पुष्टालम्बनमवलम्बते स सुखेनैवात्मानं गर्तादौ पतन्तं धारयति । एवं साधोरपि मूलगुणाद्यपराधान्निषेवमाणस्य सालम्बनिरालम्बविषयः, अथायं दृष्टान्तो मन्तव्यः । किमुक्तं भवति?-यो निरालम्बनोऽपुष्टालम्बनो वा प्रतिसेवते स आत्मानं संसारगर्तादौ पतन्तं न संधारयितुं शक्नोति । यस्तु पुष्टालम्बनः स तदवष्टम्भादेव संसारगर्तं सुखेनैवातिलङ्घयति, यत एवमतः पुष्टालम्बनवर्जितः कृतिकर्मणि वर्जनीय इति ।

अथ श्रेणिस्थानस्थिता अपि ये कृतिकर्मणि नियमेन भजनया वा न व्यवह्रियन्ते तान्प्रतिपादयति-

सेढीठाणे सीमा-कज्जे चत्तारि बाहिरा होंति ।
सेढीठाणे दुयभे-ययाएँ चत्तारि भइयव्वा ॥

श्रेणिस्थानं सीमास्थानमित्यनर्थान्तरम्, तत्र प्रवर्तमाना अपि चत्वारो जनाः प्रत्येकबुद्धादयो वक्ष्यमाणाः कार्ये बाह्या भवन्ति । इह कार्यं द्विधा-वन्दनकार्यं, कार्यकार्यं च । तत्र वन्दनकार्यं द्विधा-अभ्युत्थानं, कृतिकर्म च । कार्यकार्यं कुलकार्यादिभेदादनेकविधम्; कार्यमवश्यकर्तव्यरूपं यत्कार्यं तत्कार्यकार्यमिति व्युत्पत्तेः। एतद् द्विविधमपि प्रत्येकबुद्धादयो न कुर्वन्तीति भावः । तथा श्रेणिस्थाने वर्तमाना अपि गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकादयश्चत्वारो (दुयभेययाए त्ति) द्विकभेदकमनन्तरोक्तकार्यद्वयविधानमङ्गीकृत्य भक्तव्याः; तत्र व्यवह्रियन्ते वा न वेति भावः ।

इदमेव स्फुटतरमाह-

पत्तेयबुद्ध जिणक-प्पिया य सुद्धपरिहारिण अहालंदे ।
एए चउरो दुगभे-दया य कज्जेसु बाहिरगा ॥

प्रत्येकबुद्धा जिनकल्पिकाः शुद्धपरिहारिणोऽप्रतिबद्धयथालन्दिकाश्च, एते चत्वारो जना द्विकभेदानङ्गीकृतेषु कृतिकर्मकुलकार्यादिषु बाह्या भवन्ति, न तद्विषयं व्यवहारपथमवतरन्तीति भावः ।

गच्छम्मि णियमकज्जं, कज्जे चत्तारि होंति भइयव्वा ।
गच्छपडिबद्धअह-लंदियम्मि तह संजतीओ य ॥

गच्छे नियमादवश्यंतया कर्त्तव्यं यत्कार्यं कुलगणसङ्घविषयं तत्र कार्ये चत्वारो जना भक्तव्या भवन्ति-गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकाः, (आवन्न त्ति) आपन्नपरिहारिकाः, प्रतिमाप्रतिपन्नाः, संयत्यश्चेति । यथा सङ्घः कुलादिकार्यं कर्तुं न शक्नोति तत एतेऽपि कुर्वन्तीति, वन्दनकार्यं तु प्रतिबद्धयथालन्दिका यस्याचार्यस्य पार्श्वे तत्रार्थग्रहणं कुर्वते, तस्यावमस्यापि कुर्वन्ति, शेषसाधूनां तु न कुर्वन्ति । आपन्नपरिहारिणां प्रतिमाप्रतिपन्नानां संयतीनां च कृतिकर्म क्रियते वा न वा, तेऽपि कुर्वन्ति वा न वेति ।

इदमपि सविशेषमाह-

अंतो वि होइ भयणा, ओमे आवन्नसंयतीओ य ।
बाहिं पि होइ भयणा, अयवालगवायगे सीसा ॥

अन्तरेऽपि श्रेणेरभ्यन्तरतः स्थितानामपि वन्दनकं प्रतीत्य भजना भवति । कथमित्याह-(ओमे त्ति) योऽवमरात्निकः स आलोचनादौ कार्ये वन्द्यते, अन्यदा तु नेति । (आवन्न त्ति) आपन्नपरिहारिको न वन्द्यते स पुनराचार्यान् वन्दते । (संजइओ त्ति) संयत्योऽपि उत्सर्गतो न वन्द्यन्ते, अपवादपदे तु यदि बहुश्रुता महत्तरा काचिदपूर्वश्रुतस्कन्धं धारयति ततस्तस्याः सकाशाद् गृहीतव्येषु उद्देशसमुद्देशादिषु सा फेटावन्दनकेन वन्दनीया, न केवलमन्तः किं तु श्रेणेर्बहिरपि स्थितानां कृतिकर्मणि भजना मन्तव्या, कारणे तेषामपि कृतिकर्म विधेयमिति भावः । अथ न कुर्वन्ति ततो महान् दोषो भवति । यथा भजावः । अथ न कुर्वन्ति ततो महान् दोषो भवति । यथा अगीतार्थाः शिष्याः,-दोषं प्राप्तवन्तः पालकवाचकमवन्दमाना इति वाक्यशेषः । अथवा (सीस त्ति) संविग्नविहाराभिलाषिणा परिच्युतं स्वगुरुं रहसि शीर्षेण प्रणम्य वक्तव्यम्-भगवन् ! युष्माभिः परित्यक्ताः सन्तः सांप्रतमनाथा वयमतः कुरुतोद्यमं चरणकरणानुपालनायामिति ।

अथ 'ओमे आवन्नसंजईओ त्ति' गाथाऽवयवं विवृणोति-

आलोअणसुत्तत्था, खामण ओमे य संजतीडं वा ।
आवन्ने कज्जकज्जं, करेइ ण य वंदती अगुरुं ॥

आलोचननिमित्तसूत्रार्थप्रदानार्थं वाचकस्यापि वन्दनकं दातव्यम्, ज्ञानपक्षे तु स एव रत्नाधिकानां वन्दनकं ददाति। संयतीनामपि आलोचनसूत्रार्थनिमित्तं कृतिकर्म कर्त्तव्यम्, यः पुनरापन्नपरिहारिकः स कार्याकार्यं कुलकार्यादि करोति (कुणइ ति) गुरुं मुक्त्वा न कमपि साधुं वन्दते। तपश्चापन्नपरिहारकेन नचासौ केनाऽपि साधुना वन्द्यते।

यथाज्ञापकदृष्टान्तमाह-

पेसविया पच्चंतं, गीतासति खित्तपेहग अगीया ।
पडियक्खित्ता पुच्छ-ति वायगं कत्थऽच्छे त्ति ॥
ओसंक जे दट्ठुं, सकच्छेती उ वातगो कुविओ ।
पल्लिवतिकहणा रुंभण, गुरुआगम वंदणं सेहा ॥

केनचिदाचार्येण गीतार्थाभावे अगीतार्थाः साधवः प्रत्यन्तपल्लीं क्षेत्रप्रत्युपेक्षका प्रेषिताः तत्र च भ्रष्टव्रत एको वाचको गजकुले कृतप्रमाणः परिवसति, ते च प्रत्युपेक्षितक्षेत्राः साधवस्तं वाचकं लोकस्य समीपे पृच्छन्ति-कुत्रासौ तिष्ठति ?। लोकेनोक्तम्-अरण्ये। ततस्तेऽपि तत्र गताः, तं चाजारक्षणप्रवृत्तं भ्रष्टव्रतं दृष्ट्वा अवन्द्योऽयमिति विमृश्यागीतार्थत्वेन शनैरवष्वष्कन्ति। तांश्च तथा दृष्ट्वा वाचकस्य शङ्का ?-किमेतेऽपसर्पन्तीति नूनमत्र भ्रष्टव्रतं ज्ञात्वा, ततः शङ्कोच्छेदी स वाचकः कुपितः सन् पल्लीपतेः कथयित्वा तेषामगीतार्थानां (रुम्भणं) गुप्तौ प्रक्षेपणं कृतवान्, ततस्तदन्वेषणार्थं गुरूणां तत्रागमनम्, ते च तं वाचकं वन्दित्वा 'शिक्षका अगीतार्था एते' इत्युक्त्वा स्वशिष्यान् मोचितवन्तः, एवं श्रेणिबाह्यानामपि वन्दनकं कर्त्तव्यम् ।

अथ 'सीस त्ति' पदं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे-

अहवा लिंगविहारा-उ पडुच्च तं पाणिवयत्तु सीसेणं ।
भणति रहे पजलिओ, उज्जम भंते ! तवगुणेहिं ॥

अथवा लिङ्गाद्वा संविग्नविहाराद्वा प्रत्युत तं स्वगुरुं रहसि शीर्षेण प्रणिपत्य प्राञ्जलिको रचिताञ्जलिपुटो भणति-भदन्त ! प्रसादं विधायोद्यच्छत गुणेष्वनशनादौ तपःकर्मणि मूलगुणोत्तरगुणेषु च प्रयत्नं कुर्विति भावः। एवमादिके कारणे श्रेणिबाह्यानामपि कृतिकर्म कर्त्तव्यम् ।

अथ न करोति तत इदं प्रायश्चित्तम्-

उप्पन्नकारणम्मी, कितिकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।
पासत्थादीयाण, उग्घाया तस्स चत्तारि ॥

उत्पन्ने वक्ष्यमाणे कारणे यः कृतिकर्म द्विविधमप्यभ्युत्थानवन्दनकरूपं पार्श्वस्थादीनां न कुर्यात् तस्य चत्वार उद्घाता मासा भवन्ति , चतुर्लघुकमित्यर्थः ।

शिष्यः प्राह-

दुविहे किइकम्मम्मी, वाउलिया मो णिरुद्धबुद्धीया ।
आलिपमिसेहितम्मि, उवरिं आरोवणा गुनिया ॥

एवं द्विविधे अभ्युत्थाने वन्दनकलक्षणकृतकर्माणि पूर्वं प्रतिषिध्य पश्चादनुज्ञाते सति व्याकुलिता आकुलीभूता यथमत एव निरुद्धा संशयक्रोडीकृता बुद्धिर्येषां ते निरुद्धबुद्धिकाः संजाता वयम् । कुत इत्याह-आदौ प्रथमं प्रतिषिद्धं द्विविधमपि कृतिकर्म पार्श्वस्थादीनां कर्तुम्, आरोपणा च महती तत्कुर्वतो

निर्दिष्टा (उवरिं ति) इदानीं तु तेषां वन्दनकं प्रयच्छतो वा चतुर्लघुकाख्या आरोपणा प्रदिश्यते, स च गुणिता प्रस्तीर्णा, नत्वतो वयमत्र कर्तव्यमूढाः संवृत्ता इति भावः ।

(८) सूरिणेह-उत्तरीतो न कल्पते पार्श्वस्थादीन् वन्दितुं परम्-

गच्छपरिरक्खणट्ठा, अणागतं आउवायकुसलेण ।
एवं गणाहिवतिणा, सुहसीलगवेसणा कज्जा ॥

अवमराजद्विष्टादिषु समस्तेषु वा दर्शनज्ञानादिषु समुपस्थितेषु गच्छपरिपालनं तदर्थमनागतमेव वन्दनादिकारणे समुत्पन्न एव आयोपायकुशलेन, आयो नाम-पार्श्वस्थादेः पार्श्वान्निष्प्रत्यूहसंयमपालनादिको लाभः। उपायो नाम-यथा कथमपि करोति यथा तेषां वन्दनकमन्तरेणैव शरीरवार्तां गवेषयति, न च तथा क्रियमाणो तेषामप्रीतिकमुपजायते, प्रत्युत चेतसि ते चिन्तयन्ति-अहो एते स्वयं तपस्विनोऽपि वयं यस्मात्तुष्टाः, तत एतयोरायोपाययोः कुशलेन गणाधिपतिना भवितव्यम्, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण सुखशीलानां गवेषणा कार्या ।

तत्र येषु स्थानेषु कर्त्तव्या तानि दर्शयति-

बाहिं आगमणपहे, उज्जाणे देउले सभाए वा ।
रत्थउवस्सयबाहिया, अंतो जयणा इमा होइ ॥

यत्र ते ग्रामनगरादौ तिष्ठन्ति तस्य बहिः स्थितो यदा तान् पश्यति, तदा निराबाधवार्त्ता गवेषयति। यदा वा भिक्षाचर्यादौ तत्रागच्छन्ति, तदा तेषामागमनपथे स्थित्वा गवेषणं करोति। एवमुद्याने दृष्टानां चैत्यवन्दननिमित्तं गतैर्देवकुले वा समवसरणे वा दृष्टानां रथ्यायां वा भिक्षामटतामभिमुखागमने मिलितानां वार्त्ता गवेषणीया। कदाचित्ते पार्श्वस्थादयोऽभिवीरन्-अस्माकं प्रतिश्रयं कदाऽपि नागच्छत ?। ततस्तदनुवृत्त्या तेषां प्रतिश्रयमपि गत्वा तत्रोपाश्रयस्य बहिः स्थित्वा सर्वमपि निराबाधतादिकं गवेषयितव्यम्। अथ गाढतरं निर्बन्धं ते कुर्वन्ति तत उपाश्रयस्यान्तरमभ्यन्तरतोऽपि प्रविश्य गवेषयतां साधूनामियं वक्ष्यमाणा पुरुषविशेषवन्दनविषया यतना भवति ।

पुरुषविशेषं तावदाह-

मुक्कधुरा संपागम-अकिच्च चरणकरणपरिहीणा ।
लिंगावसेसमित्ते, जं कीरइ तारिसं वोच्छं ॥

धूः संयमधुरा सा मुक्ता परित्यक्ता येन स मुक्तधुरः, सम्प्रकटानि प्रवचनोपघाततन्निरपेक्षतया समस्तजनप्रत्यक्षाण्यकृत्यानि मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनारूपाणि यस्य तत्सम्प्रकटाकृत्यः। अत एव चरणेन व्रतादिना करणेन पिण्डविशुद्ध्यादिना परिहीनः। एतादृशे लिङ्गावशेषमात्रे केवलद्रव्यलिङ्गयुक्ते यत् यादृशं वन्दनं क्रियते तादृशमहं वक्ष्ये।

वायाएँ नमोक्कारो, हत्थुस्सेहो य सीसनमणं वा ।
संपुच्छणं अच्छ-णं छोभवंदणं वंदणं वा वि ॥

बहिरागमनपथादिषु दृष्टस्य पार्श्वस्थादेर्वाचा नमस्कारः क्रियते, वन्दामहे भगवन्त वयमित्येवमुच्चार्यते इत्यर्थः । प्रणामं करोति । अथासौ विशिष्टतरः प्रकटतरस्वभावो वा ततो वाचा नमस्कृत्य हस्तोत्सेधमञ्जलिं कुर्यात्, ततो विशिष्टतरे गाढतरस्वभावे वा द्वावपि वा नमस्कारहस्तोत्सेधौ कृत्वा तृतीयं शिरःप्रणाम

करोति । एवमुत्तरोत्तरविशेषकरणे पुरुषकार्यभेदः प्राक्तनोपचारानुवृत्तिश्च द्रष्टव्या। (सपुच्छण ति) पुरतः स्थित्वा भक्तिमिव दर्शयता शरीरवार्तायाः सम्प्रच्छन कर्त्तव्यम-'कुशल भवतां वर्तते' इति। (अत्थण ति) शरीरवार्त्ता प्रश्नयित्वा क्षणमात्र पर्युपासनम्। अथवा पुरुषविशेष ज्ञात्वा तदीय प्रतिश्रयमपि गत्वा छोभवन्दन संपूर्ण वा वन्दन दातव्यम्।

अथ किमर्थमत्र वाचैव नमस्कार' क्रियन्ते कारणाभावे वा किमिति मूलत एव कृतिकर्म न क्रियते इत्याशङ्क्याह-

जइ नाम सूइओ मि त्ति, विवज्जितो वा वि परहरति कज्जो ।
इय वि हु सुहसीलजणो, परिहज्जो अणुमती मा सा ॥

यदि नाम कश्चित्पार्श्वस्थादिर्वा नमस्कारमात्रकरणेन अहो ! सूचितास्तिरस्कृतोऽहममुना भङ्ग्यन्तरेणेति । सर्वथा कृतिकर्माकरणेन विवर्जितः परित्यक्तोऽहममीभिरिति पराभव मन्यमान. सुखशीलविहारिता परिहराति । (इय त्ति) एवविधमपि कारणमवलम्ब्य परिहार्यः कृतिकर्मणि सुखशीलजनः, न केवल पूर्वोक्त दोषजालमाश्रित्येत्यपिशब्दार्थः । अपिच-तस्य कृतिकर्मणि विधीयमानेन तदीयाया सवेद्यक्रियाया अप्यनुमतिः कृता भवति, अतः सा मा भूदिति बुद्ध्याऽपि न वन्दनीयोऽसौ।

किञ्च-

लोए वेदे समए, दिट्ठो दंडो अकज्जकारीणं ।
वस्सेंति दारुणा वि हु, दंमेण जहावराहेण ॥

लोके लोकाचारे, वेदे समस्तदर्शनिनां सिद्धान्ते, समये राजनीतिशास्त्रे, अकार्यकारिणा चौरिकाद्यपराधिनां दण्डोऽसभाव्यता शलाकाभिर्ग्रहणादिलक्षण' प्रयुज्यमानो दृष्टः । कुतः पुनरसौ प्रयुज्यत इत्याह--दारुणा रौद्रास्ते अपि यथापराधेनापराधानुरूपेण दण्डेन दीयमानेन वश्यन्ते वशीक्रियन्ते, अत इहापि मूलगुणाद्यपराधकारिणां कृतिकर्मवर्जनादिको दण्ड. प्रयुज्यते; एतच्च कारणाभावमङ्गीकृत्योक्तम, कारणे तु वागनमस्कारादिक वन्दनकपर्यन्तं सर्वमपि कर्त्तव्यम ।

यत आह-

वायाएँ कम्मणा वा, तह चेट्ठति जह ण होति से मंतुं ।
पस्सति जने अवायं, तदभावे दूरतो वज्जे ॥

यत' पार्श्वस्थादे. सकाशात् कृतिकर्मण्यविधीयमाने अपायं सयमात्मविराधनादिक पश्यति। सम्प्रति वाचा मधुरसभाषणादिना, कर्मणा शिर.प्रणामादिक्रियया, तथा चेष्टते यथा तस्य मन्युः, स्वल्पमप्यप्रीतिक,न भवति, अथावन्दनेऽपि संयमोपघातादिरपायो न भवति, ततस्तस्यापायस्याभावे दूरतस्त सुखशीलजन वर्जयेत् । एष विषयविभागः कृतिकर्मकरणाकारणयो--रिति भावः ॥

किं पुनस्तेषां वन्दने कारणानीत्याह-

एताइ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे ।
ण भवति पवयणभत्ती, अभत्तिमंतादिया दोसा ।

एतानि वाङ्नमस्कारादीनि पार्श्वस्थादीनां यथार्हं यथायोग्यम,अर्हद्दर्शिते मार्गे स्थित. सन् कषायोत्कटतया यो न करोति, तेन प्रवचने न भक्तिः कृता भवति किंतु अभक्तिमत्त्वादयो दोषा भवन्ति; तत्राऽऽज्ञाभङ्गेन भगवतां न भक्तिमत्त्व भवति । आदिशब्दात्स्वार्थपरिभ्रंशभारिकाहरिकाद्यभ्याख्यानप्राप्तिबन्धनादयश्च दोषा भवन्ति ।

कानि पुनस्तेषां वन्दने कारणानीत्याह-

परिवार परिस पुरिसं, खित्तं कालं च आगमं नाउं ।
कारणजाते जाते, जहारिहं जस्स कायव्वं ।

परिवार पर्षदं पुरुष क्षेत्र कालं च आगम ज्ञात्वा यथा कारणानि कुलगणादिप्रयोजनानि तेषा जात प्रकारः कारणजातं तत्र जाते उत्पन्ने सति यथार्हं यस्य पुरुषस्य यद् वाचिकं कायिक वा वन्दनमनुकूलं तस्य तत्कर्त्तव्यम्।

अथ परिवारादीनि पदानि व्याचष्टे-

परिवारो से विहितो, परिसगतो साहती व वेरग्गं ।
माणी दारुणभावे, णिसंस पुरिसाधमो पुरिसो ॥
लोगपगतो निवे वा, अहव स रायादिदिक्खित्तो अज्जो ।
खित्तं विहिमादि अज्जा-विंय च कालो वऽणाकालो ॥

'से' तस्य पार्श्वस्थादेर्य. परिवारः स सुविहितानुष्ठानयुक्तो वर्त्तते । पर्षदि गतो वा सभायामुपविष्टो वैराग्यमिति कारणे कार्योपचारात् ससारवैराग्यजनक धर्मं स कथयति, येन प्रभूताः प्राणिनः ससारविरक्तचेतसः सजायन्ते। तथा कश्चित्पार्श्वस्थादि स्वभावादेव मानी साहंकार , तथा दारुणभावो रौद्राध्यवसाय' नृशंसो नाम क्रूरकर्मा अवन्द्यमानो वधबन्धादिक कारयतीत्यर्थ. । अत एव पुरुषाणां मध्ये अधमः पुरुषाधमः एतादृश. पुरुष इह गृह्यते । यद्वा-लोके प्रकृतो बहुलोकसमतो, नृपप्रकृतो वा धर्मकथादिलब्धिसपन्नतया राजबहुमतः (अहव त्ति) अथवा राजादिदीक्षितोऽसौ शैलकाचार्यादिवत् । एवंविधपुरुष इह प्रतिपत्तव्य. । क्षेत्रं नाम-विहादिकमभावित वा। विह कान्तारम, आदिशब्दात्प्रत्यनीकाद्युपद्रवयुक्तम, तत्र वर्त्तमानानां साधूनामसाधूपग्रह करोति । अभावित नाम-सविग्न. साधुविषयः श्रद्धाविकल पार्श्वस्थादिभावितमित्यर्थ ; तत्र तेषामनुवृत्तिं विदधाने. स्थातव्यम । कालश्च अनाकालो वा दुष्काल उच्यते, तत्र साधूनां वर्त्तापन करोति । एव परिवारादीनि कारणाणि विज्ञाय कृतिकर्म विधेयम।

आगमग्रहणेन च द्वारगाथायां दर्शनज्ञानादिको भाव सूचितः, अतस्तमङ्गीकृत्य विधिमाह-

दंसणनाणचरित्तं, तवविणयं जत्थ जत्तियं जाणे ।
जिणपन्नत्तं भत्ती-इ पूयए तं तहिं भावं ।

दर्शन च निःशङ्कितादिगुणोपेत सम्यक्त्वम्,ज्ञान चाऽऽचाराङ्गश्रुत,चारित्र च मूलोत्तरगुणानुपालनात्मकम्-दर्शनज्ञानचारित्रम। द्वन्द्वैकवद्भावः । एवं तपश्चानशनादिविविध तावत्यैव भक्त्या कृतिकर्मादिलक्षणया पूजयेत् । वृ० ३ उ० । आव०।

(१०) पार्श्वस्थादिवन्दन निष्फलमित्याह-

पासत्थाइ वंदमा-णस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ ।
कायकिलेसं एमे-व कुणइ तह कम्मबंधं च ॥ ३१ ॥

पार्श्वस्थादीनुक्तलक्षणान्वन्दमानस्य नमस्कुर्वतः नैव कीर्तिर्न निर्जरा भवति । तत्र कीर्तन कीर्तिरहोऽयं पुण्यभागित्येव प्रशंसा, सा न भवति, अपि त्वकीर्तिर्भवति-नूनमयमप्येवस्वरूपो येनैषां वन्दनं करोति । तथा निर्जरण निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा

सा न भवति, तीर्थकराद्यविराधनाद्वारेण निर्गुणत्वात् तेषामिति। चीयत इति काय देह., तस्य क्लेशः अवनामादिलक्षणः कायक्लेशः, तं कायक्लेशम्, स एवमेव मुधैव, करोति निर्वर्तयति । तथा क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादिलक्षणं, तस्य बन्धो विशिष्टरचनया आत्मनि स्थापनं, तेन वाऽऽत्मनो बन्धः स्वस्वरूपतिरस्करणलक्षणः कर्मबन्धः, तं कर्मबन्धं करोति वर्तते। चशब्दादाज्ञाभङ्गादींश्च दोषानवाप्नुते। कथम्?, भगवत्प्रतिक्रुष्टवन्दन आज्ञाभङ्गः, तं दृष्ट्वाऽन्येऽपि वन्दन्ति इत्यनवस्था, तान्वन्दमानान् दृष्ट्वाऽन्येषां मिथ्यात्वम्, कायक्लेशतो देवताऽन्यो वाऽऽत्मविराधना, तद्वन्दनेन तत्कृतासयमानुमोदनात् संयमविराधनेति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

एवं तावत् पार्श्वस्थादीन् वन्दमानस्य दोषा उक्ताः, साम्प्रतं पार्श्वस्थादीनामेव गुणाधिकवन्दनप्रतिषेधमकुर्वतामपायान् प्रदर्शयन्नाह-

जे बंभचेरभट्ठा, पाए उड्डेंति बंभयारीणं ।
ते हुंति कुंटमंटा, बोही अ सुदुल्लहा तेसिं ॥३२॥

ये पार्श्वस्थादयः ब्रह्मब्रह्मचर्या, अपगतब्रह्मचर्या इत्यर्थः। ब्रह्मचर्यशब्दो मैथुनविरतिवाचकः, तथैवेत संयमवाचकश्च । [पाए उड्डेंति बंभयारीण त्ति] पादावभिमानतो व्यवस्थापयन्ति ब्रह्मचारिणां वन्दमानानामिति, तद्वन्दननिषेधनं न कुर्वन्तीत्यर्थः। ते तदुपात्तकर्मजं नारकत्वादिलक्षणं विपाकमासाद्य यथाकथञ्चित्कृच्छ्रेण मानुषत्वमासादयन्ति, तदापि भवन्ति कोण्टमण्टाः, बोधिश्च जिनशासनावबोधलक्षणा सकलदुःखविवेकभूता सुदुर्लभा, तेषां सकृत्प्राप्तौ सत्यामप्यनन्तससारत्वादिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

तथा-

सुट्ठुतरं नासंती, अप्पाणं जे चरित्तपब्भट्ठा ।
गुरुजण वंदावंती, सुस्समण जहुत्तकारिं च ॥ ३३ ॥

[सुट्ठुतरं ति] सुतरां नाशयन्त्यात्मानं सन्मार्गात्, के?, ये चारित्राद् प्राग्निरूपितशब्दार्थात्प्रकर्षेण भ्रष्टाः अपेताः सन्तः, गुरुजनं गुणस्थसाधुवर्गं, वन्दयन्ति कृतिकर्म कारयन्ति । किंभूतं गुरुजनम्?, शोभना श्रमणा यस्मिन् स सुश्रमणस्तम्। अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्य । तथा यथोक्तं क्रियाकलापं कर्तुं शीलमस्येति यथोक्तकारी, तं यथोक्तकारिणं चेति गाथार्थः॥३३॥

(११) एवं वन्दकवन्द्यदोषसंभवात्पार्श्वस्थादयो न वन्दनीया, तथा गुणवन्तोऽपि ये तैः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीयाः, किमित्यत आह-

असुइट्ठाणे पडिआ, चंपगमाला न कीरई सीसे ।
पासत्थाईठाणेसु, वट्टमाणा तह अपुज्जा ॥ ३४ ॥

यथा अशुचिस्थाने पतिता विट्प्रधानस्थाने पतिता, चम्पकमाला स्वरूपतः शोभनाऽपि सती अशुचिस्थानससर्गाद् न क्रियते शिरसि, पार्श्वस्थादिस्थानेषु प्रवर्त्तमानाः साधवः तथा अपूज्या अवन्दनीयाः । पार्श्वस्थादीनां स्थानानि वसतिनिर्गमनभूम्यादीनि परिगृह्यन्ते। अन्ये तु शय्यातरपिण्डाद्युपभोगलक्षणानि व्याचक्षते । तत्ससर्गात्पार्श्वस्थादयो भवन्ति, नचैतानि सुष्ठु घटन्ते, तेषामपि तद्भावापत्ते । चम्पकमालोदाहरणोपनयस्य च सम्यग् घटमानत्वादिति । तत्र कथानकम्-"एगो चंपगपिओ कुमारो चंपयमालाए सिरे कयाए आसगओ वच्चति । आसेण उद्धूतस्स सा चंपकमाला अमेज्झे पडिया, गेण्हामि त्ति अमेज्झ दट्ठूण मुक्का, सो य चंपएहिं विणा धिति न लभइ, तहा वि छाणदोसेण मुक्का। एव चंपयमालाथाणीया साहू, अमेज्झथाणिया पासत्थादओ, जो विसुद्धो तेहिं समं मिलति सवसति वा सो वि परिहरणिज्जो "।

अधिकृतार्थप्रसाधनायैव दृष्टान्तान्तरमाह-

पक्कणकुले वसंतो, सउणीपारो वि गरहिओ होइ ।
इय गरहिआ सुविहिआ, मज्झि वसंता कुसीलाणं ॥३५॥

पक्कणकुलं गर्हितकुलं तस्मिन् पक्कणकुले वसन् पारं गतवानिति पारगः शकुन्याः पारगः शकुनीपारगः, असावपि गर्हितो निन्द्यो भवति । शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि परिगृह्यन्ते-" अङ्गानि चतुरो वेदान्, मीमांसां न्यायविस्तरम्। पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश "॥ तत्राङ्गानि षट्। तद्यथा-शिक्षा,व्याकरणं,कल्पः,छन्दो, निरुक्तं, ज्योतिषमिति । (इय त्ति) एवं गर्हिताः साधवो मध्ये वसन्तः कुशीलानां पार्श्वस्थादीनाम् । अत्र कथानकम्-" एगस्स धिज्जाइयस्स पंच पुत्ता सउणीपारगा, तत्थेगो मरुगो एगाए दासीए सलग्गो, सा मज्जं पियति, इमो यइ । तीए भण्णइ-जइ तुमं पीयइ ताहे सोहणरत्ती होज्जा, इयरहा विसरिसो सजोगो त्ति। एवं सा बहुसो भणतीए पाइओ, सो पढमं पच्छन्नं पियति, पच्छा पयमं पिइउमाढत्तो। पच्छा अतिप्पसंगेण मंसासेवी सवुत्तो । पक्कणेहिं सह गोट्ठिमाढत्तो । तेहिं चेव सह खाति, पिवति, सवसति य। पच्छा पिउणा सयणेण य सव्ववज्झो अप्पवंसो कओ, अन्नया सो पमिलग्गो विनिओ । सो वि भायासिणेहेण तं कुर्डिं पविसिऊण पुच्छति, देति य से किंचि। सो पिउणा उवलंभिऊण निच्छूढो। ततिओ बाहिरपाडए बीय पुच्छति, विसज्जेति से किंचि । सो वि निच्छूढो । चउत्थो परपरएण देवावेति, सो वि निच्छूढो । पचमो गध पि नेच्छति, तेण मरुएण करए चभिऊण सव्वस्स घरस्स सो सामी कओ। इयरे चत्तारि वि बाहिरा कया, लोगगरहिया य जाया । एस दिट्ठतो । उवणओ सो इमो-जारिसा पक्कणा तारिसा पासत्थादी, जारिसो धिज्जाइओ तारिसो आयरिओ जारिसा पुत्ता तारिसा साहू, जहा ते निच्छूढा, एवं निच्छुभतो कुसीलससग्गिं करेंता गरहिया य पवयणे भवति । जो पुण परिहरति सो पुज्जो सातीअपज्जवसिय निव्वाणं पावेति । एवं ससग्गी विणासीया कुसीलेहिं। उक्तं च-"जो जारिसेण मेत्तिं, करेति अचिरेण तारिसो होइ। कुसुमेहि सह वसता,तिला वि तग्गंधिया होंति"॥ १॥ मरुय त्ति दिट्ठंतो गओ "।

पार्श्वस्थादिससर्गदोषादवन्दनीया साधवोऽप्युक्ताः, तत्राह चोदकः-कः पार्श्वस्थादिससर्गमात्राद्गुणवतो दोषः?, तथा चाह-

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उवेइ कायभावं, पाहन्नगुणेण निअएण ॥ ३६ ॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् वैडूर्यो मणिविशेषः काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः । कुत्सिताः काचमणयः काचमाणिकाः । तैरुत्प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नाप्येति न याति काचभावं काचधर्मं प्राधान्यगुणेन विमलगुणेन निजेनात्मीयेन । एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं सवसन्नपि शीलगुणेनात्मीयेन न पार्श्वस्थादिभावमुपैत्ययं भावार्थ इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अत्राह चाचार्य्य -यत्किञ्चिदेतत्, न हि दृष्टान्तमात्रादेवाभिलपितार्थसिद्धिः सञ्जायते, यतः-

भावुगअभावुगाणि अ, लोए दुविहाइँ हुंति दव्वाइं ।
वेरुलिओ तत्थ मणी, अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥ ३७॥

भाव्यन्ते प्रतियोगिनां स्वगुणैरात्मभावमापद्यन्त इति भाव्यानि कपिल्लुकादीनि, प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते । अथवा-प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथा भवनशीलानि भावुकानि, लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्"।३।३। इत्युकञ् तस्य ताच्छीलिकत्वादिति । तद्विपरीतानि अभाव्यानि च नलादीनि। लोके द्विविधानि द्विप्रकाराणि भवन्ति द्रव्याणि वस्तूनि । वैडूर्यस्तत्र मणिरभाव्यः अन्यद्रव्यैः काचादिभी रहित इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

स्यान्मतिर्जीवोऽप्येवम्भूत एव भविष्यति, न पार्श्वस्थादिसंसर्गेण तद्भावं यास्यतीत्येतन्यासन् । यतः-

जीवो अणाइनिहणो, तब्भावणभाविओ अ संसारे ।
खिप्पं सो भा इ, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ३८॥

जीवः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः, सोऽनादिनिधनः, अनाद्यपर्यन्त इत्यर्थः । तद्भावनाभावितश्च पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च, संसारे तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् क्षिप्रं शीघ्रं स भाव्यते प्रमादादिभावनया आत्मीक्रियते, मीलनदोषानुभावेन संसर्गदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ३८॥

अथ भवतो दृष्टान्तमात्रेण परितोषः, ततो मद्विवक्षितार्थप्रतिपादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव । शृणु-

अंबस्स य निंबस्स य, दुन्हं पि समागयाइँ मूलाइं ।
संसग्गीइ विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ ३९॥
सुचिरं पि अत्थमाणो, नलथंभो उच्छुवाममज्झम्मि ।
कीस न जायइ महुरो, जइ संसग्गी पमाणं ते ॥ ४०॥

चिरपतिततिक्तनिम्बोष्टकवासितायां भूमौ आम्रवृक्षः समुत्पन्नः । पुनस्तत्राम्रस्य निम्बस्य च द्वयोरपि समागते एकीभूते मूले, ततश्च संसर्गात्संगत्या विनष्ट आम्रः, निम्बत्वं प्राप्तः, तिक्तफलः संवृत्त इति गाथार्थः ॥३९॥ तदेवं संसर्गिदोषदर्शनात् त्याज्याः पार्श्वस्थादिसंसर्गिरिति । पुनरप्याह चोदकः-नन्वेतदपि सप्रतिपक्षम्, तथाहि-(सुचिरं पित्ति) सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् नलस्तम्भो वृक्षविशेषः इक्षुवाटमध्ये इक्षुसंसर्गतः किमिति न जायते मधुरः, यदि संसर्गिः प्रमाणं तवेति गाथार्थ ॥४०॥ आचार्य आह-ननु विहितोत्तरमेतत्-" भावुगअभावुगाणि " इत्यादिना ग्रन्थेन, अत्रापि च केवली अभाव्यः पार्श्वस्थादिभिः, सरागास्तु भाव्या इति ।

आह-तैः सहालापमात्रतायां संसर्गी क इव दोष उच्यते-

ऊणगसयभागेणं, बिंबाइं परिणमंति तब्भावं ।
लवणागराइसु जहा, वज्जेह कुसीलसंसग्गिं ॥ ४१ ॥

ऊनश्चासौ शततमश्चोनशततमभागः, शतभागोऽपि न पूर्यत इत्यर्थः । तेन तावतांशेन प्रतियोगिना सह संवदनमिति प्रक्रमाद्गम्यते । बिम्बानि रूपाणि परिणमन्ति तद्भावमासादयन्ति, लवणीभवन्तीत्यर्थः । लवणाकरादिषु यथा, आदिशब्दात्काष्ठखादिरक्षारकादिग्रहः , तत्र किल लोहमपि तद्भावमासादयति । तथा पार्श्वस्थाद्यालापमात्रसंसर्गादपि सुविहितास्तमेव भावं यान्ति, अतः [वज्जेह कुसीलससग्गिं]वर्जयत कुशीलसंसर्गिं परित्यजत कुशीलससर्गमिति गाथार्थ ॥ ४१॥

पुनरपि संसर्गिदोषप्रतिपादनायैवाह-

जह नाम महुरसलिलं, सागरसलिलं कमेण संपत्तं ।
पावइ लोणभावं, मेलणदोसाणुभावेण ॥ ४२ ॥
एवं खु सीलवंतो, असीलवंतेहिं मीलिओ संतो ।
पावइ गुणपरिहाणिं, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ४३ ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासः, नामेति निपातः । मधुरसलिलं नदीपयः, तत्र लवणसमुद्रं क्रमेण परिपाट्या प्राप्तं सत् (पावेति लोणभावं ति) प्राप्नोति आसादयति लवणभावं क्षारभावं मधुरमपि सन्मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥
(एवं खु त्ति) खुशब्दोऽवधारणे, एवमेव, शीलमस्यास्तीति शीलवान्, स खल्वशीलवद्भिः पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं मिलितः सन्प्राप्नोति आसादयति, गुणाः मूलोत्तरगुणलक्षणाः, तेषां परिहाणिरपचयः, तांस्तैर्हि कांश्चापायान् तत्कृतदोषसमुत्थानिति मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ४३॥

यतश्चैवमतः-

खणमवि न खमं काउं, अणाययणसेवणं सुविहिआणं ।
हंदि समुद्दमइगयं, उदयं लवणत्तणमुवेइ ॥ ४४ ॥
सुविहिअ दुव्विहिअं वा, नाहं जाणामि हं खु छउमत्थो ।
लिंगं तु पूअयामी, तिगरणसुद्धेण भावेणं ॥ ४५॥
जइ ते लिंग पमाणं, वंदेही निन्हए तुमं सव्वे ।
एए अवंदमाण-स्स लिंगमवि अप्पमाणं ते ॥ ४६॥
जइ लिंगमप्पमाणं, न नज्जई निच्छएण को भावो ।
दट्ठूण समणलिंगं, किं कायव्वं तु समणेणं ॥ ४७॥
अप्पुव्वं दट्ठूणं, अब्भुट्ठाणं तु होइ कायव्वं ।
साहुम्मि दिट्ठपुव्वे, जहारिहं जस्स जं जुग्गं ॥ ४८ ॥

लोचननिमेषमात्रः कालः क्षणोऽभिधीयते, त क्षणमपि, आस्तां तावन्मुहूर्तोऽन्यो वा कालविशेषः, न क्षमं न समर्थमयोग्यम्, किं कर्तुम् ?, (अणाययणसेवण ति) कर्तुं विधातुं अनायतनं पार्श्वस्थाद्यायतनं, तस्य सेवनं भजनम् अनायतनसेवनम्, केषाम्?, सुविहितानां साधूनाम्, किमित्यत आह-हन्दीत्युपप्रदर्शने, समुद्रमतिगतं लवणजलधिप्राप्तमुदकं मधुरमपि सत् लवणत्वमुपैति क्षारभावमुपैति । एवं सुविहितोऽपि पार्श्वस्थादिदोषसमुद्रं प्राप्तस्तद्भावमाप्नोति । अतः परलोकार्थिना तत्संसर्गिस्त्याज्येति ॥४४॥ ततश्च पर्यनुयोगमाह-दम्-येऽपि पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संसर्गिं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीया , सुविहिता एव वन्दनीया इत्यत्राह-(सुविहिअ त्ति) शोभनं विहितमनुष्ठानं यस्यासौ सुविहितस्तम् । अनुष्ठानोक्त दुष्टम् । दुर्विहितमस्तु पार्श्वस्थादिम् दुर्विहितं वाहं न जानामि नाहं वेद्मि, यतोऽहं खलु छद्मस्थोऽसर्वज्ञः सुविहितदुर्विहितम्, परमार्थस्तु तत्त्वतः सर्वज्ञविषयः,(अहं खु छउमत्थो त्ति)

अह पुनश्छद्मस्थः । अतो लिङ्गमेव रजोहरण गच्छप्रतिग्रहधरणलक्षण, पूजयामि वन्दे इत्यर्थ ; त्रिकरणशुद्धेन भावेन वाक्कायशुद्धेन मनसेति गाथार्थः ॥४५॥ आचार्य आह-(जइ ते) यद्दीत्यभ्युपगमप्रदर्शनार्थ. । ते तव लिङ्ग द्रव्यलिङ्गम् । अनुस्वारोऽत्र लुप्तो वेदितव्य. । प्रमाणं कारण वन्दनकरणे, इत्य तर्हि वन्दस्व नमस्व निह्नवान् जमालिप्रभृतान् त्व सर्वानविशेषात्, द्रव्यलिङ्गादियुक्तत्वाचेषामिति । अथैतान्मिथ्यादृष्टित्वान्न वन्दसे, ननु एतान् द्रव्यलिङ्गयुक्तानप्यवन्दमानस्याप्रणमतः लिङ्गमप्यप्रमाण तव वन्दनप्रवृत्ताविति गाथार्थ. ॥४६॥ इत्थं लिङ्गमात्रस्य वन्दनप्रवृत्तावप्रमाणतायां प्रतिपादितायां सत्यामनभिनिविष्ट एव सामाचारी जिज्ञासया आह चोदक.-[जइ त्ति] यदि लिङ्ग द्रव्यलिङ्गमप्रमाणम् अकारण वन्दनप्रवृत्तौ, इत्थ तर्हि न ज्ञायते नावगम्यते, निश्चयेन परमार्थेन, छद्मस्थेन जन्तुना कस्य को भाव. ?। यतोऽसयता अपि लब्ध्यादिनिमित्त सयतवच्चेष्टन्ते, सयता अपि च कारणतः असयतवदिति । तदेव व्यवस्थिते दृष्ट्वा आलोक्य, श्रमणलिङ्ग साधुलिङ्ग, किं पुनः कर्त्तव्य श्रमणेन साधुना । पुन शब्दार्थस्तुशब्द', व्यवहितश्चोत्तगाथानुलोम्यादिति गाथार्थ. ॥४७॥ एव चोदकेन पृष्टः सन्नाहाचार्य -[अपुव्व त्ति] अपूर्वमदृष्टपूर्वं, साधुमिति गम्यते । दृष्ट्वाऽवलोक्याभिमुख्येनोत्थानमभ्युत्थानम् आसनत्यागलक्षणम्, तुशब्दाद्दण्डकादिग्रहण च भवति कर्त्तव्यम् । किमिति कदाचित्कश्चिदसौ आचार्यादिः विद्याऽऽयतिशयसपन्न तत्प्रदानायैवागतो भवेत् शिष्यसकाशमाचार्यकालकवत्, स खल्वविनीत सन्नाव्य न तत्प्रयच्छति । तथा दृष्टपूर्वास्तु द्विप्रकारा.-उद्यतविहारिण., शीतलविहारिणश्च । तत्रोद्यतविहारिणि साधौ दृष्टपूर्वे उपलब्धपूर्वे यथार्हं यथायोग्यमभ्युत्थान वन्दनादि यस्य बहुश्रुतादेर्यद्योग्य, तत्कर्त्तव्य भवति । य पुनः शीतलविहारी,न तस्याभ्युत्थानवन्दनादि उत्सर्गत. किञ्चित्कर्तव्यमिति गाथार्थ ॥४८॥ आव० ३ अ० ।

एतच्च वाङ्नमस्कारादिना विशेषेण क्रियते, किं तर्हि-

परिआउ बंभचेरं, परिसावेणीआ सि पुरिस नच्चा वा ।
कुलकज्जादायत्ता, आघवउ गुणागमसुअं ग ॥५४॥
खित्तम्मि संवसिज्जइ, जस्स पभावेण निरुवसग्ग तु ।
ओमम्मि अपरितप्पइ, साहूणं आगमं तू अ ॥५५॥
एवंविहस्स कुज्जा, उप्पन्ने कारणप्पगारम्मि ।
कलिऊण जहाजुग्ग, वायाईणि ब ममग्गाणि ॥५६॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यमुच्यते, तत्प्रभूत कालमनुपालित येन, परिषद्विनीता वा तत्प्रतिबद्धा साधुसहतिः शोभना (से) तस्य [पुरिस नच्चा व त्ति] पुरुष ज्ञात्वा वा । अनुस्वारोऽत्र द्रष्टव्य'। कथ ज्ञात्वा ?, कुलकार्यादीन्यनेनायत्तानि, आदिशब्दाद्गणसघकार्यपरिग्रह. । [आघवउ त्ति] आख्यातस्तस्मिन् क्षेत्रे प्रसिद्ध , तद्बलेन तत्रास्यन इति क्षेत्रद्वारार्थ. । (गुणागमसुय व त्ति) गुणा अप्रमत्तजागरणादय इति कालद्वारावयवार्थ । आगम सूत्रार्थोभयरूप., श्रुत सूत्रमेव,गुणाश्चागमश्च श्रुत चेत्येकवद्भाव.। तद्वाऽस्यति विद्यत इत्येव ज्ञात्वेति गाथार्थ ॥ आव० ३ अ० ।
('पश्चाह' ४७ गाथा ५१६ पृष्ठे बृहत्कल्पपाठेन गतार्था)

एवमुद्यतेतरविहारिगतविधौ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः-मिश्रोऽनेन पर्यायान्वेषणेन सर्वथा भावशुद्ध्या कर्मापनयनाय जिनप्रणीतलिङ्गनमेव युक्तं, तद्गतगुणविचारस्य निष्फलत्वात् । न हि तद्गतगुणप्रभवा नमस्कर्तुर्निर्जरा अपि तु आत्मीयाध्यात्मशुद्धिप्रभवा । तथाहि-

तित्थयरगुणा, पडिमा-सु नत्थि निस्संसयं विआणंतो ।
तित्थयरु त्ति नमंतो, सो पावइ निज्जरं विउलं ॥५८॥

तीर्थकरस्य गुणा ज्ञानादयस्तीर्थकरगुणाः ते प्रतिमासु विम्बलक्षणासु [न त्थि] न सन्ति निःसशय सशयरहितं विजानन् अवबुध्यमानस्तथापि तीर्थकरोऽयमित्येव भावशुद्ध्या नमन् प्रणमन्प्रणामकर्त्ता प्राप्नोत्यासादयति निर्जरां कर्मक्षयलक्षणां विपुलां विस्तीर्णामिति गाथार्थ' ॥५८॥

एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनय.-

लिंगं जिणपन्नत्तं, एवं नमतस्स निज्जरा विउला ।
जइ वि गुणविप्पहीणं, वंदइ अज्झप्पसोहीए ॥५९॥

लिङ्ग्यतेऽनेन साधुरिति लिङ्ग रजोहरणादिधरणलक्षणम्, जिनैरर्हद्भिः प्रज्ञप्त प्रणीतम् । एव यथा प्रतिमा इति नमस्कुर्वत. प्रणमत. निर्जरा विपुला, यद्यपि गुणैर्मूलोत्तरगुणैर्विविधमनेकधा प्रकर्षेण हीन रहित गुणविप्रहीण वन्दते नमस्करोति, अध्यात्मशुद्ध्या चेत शुद्ध्येति गाथार्थ. ॥५९॥

इत्य चोदकेनोक्ते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमुपदर्शयन्नाहाचार्य्य.—

संता तित्थयरगुणा, तित्थयरे तेसिमं तु अज्झप्पं ।
न य सावज्जा किरिआ, इअरेसु धुवा समणुमन्ना ॥६०॥

सन्तो विद्यमानाः शोभना वा तीर्थकरस्य गुणा. ज्ञानादय , क्व तीर्थकरे अर्हति भगवति, इय च प्रतिमा तस्य भगवत. । (तेसिम तु अज्झप्प) तेषा नमस्कुर्वतामिदमध्यात्मम् इद चेत , तथा न च तासु सावद्या सपापा, क्रिया चेष्टा, प्रतिमासु, इतरेषु पार्श्वस्थादिषु ध्रुवा अवश्यभाविनी सावद्या क्रिया । प्रणमनस्तत्र किमित्यत आह-(समणुमन्ना) समनुज्ञा सावद्यक्रियायुक्तपार्श्वस्थादिषु प्रणमनात्सावद्यक्रियानुमतिरिति हृदयम् । अथवा सन्तस्तीर्थङ्करगुणास्तीर्थकरे तान् वय प्रणमाम , तेषामिदमध्यात्मम इद चेत ततोऽर्हद्गुणाध्यारोपेण प्रतिमाप्रणमनान्नमस्कर्तुर्नच सावद्यक्रिया परिस्पन्दनलक्षणा, इतरेषु पार्श्वस्थादिषु पूज्यमानेष्वशुभक्रियोपेतत्वात् तेषां नमस्कर्तुर्ध्रुवा समनुज्ञेति गाथाऽर्थ ॥ ६० ॥

पुनरप्याह चोदक –

जह सावज्जा किरिया, नत्थि उ पाडिमासु एवमिअरा वि ।
तयभावे नत्थि फलं, अह होइ अहेउअं होइ ॥ ६१ ॥

यथा सावद्या क्रिया सपापा क्रिया नास्त्येव न विद्यत एव प्रतिमासु,एवमितराऽपि निरवद्याऽपि नास्त्येव । ततश्च तदभावे निरवद्यक्रियाभावे नास्ति फल पुण्यलक्षणम्, अथ भवति, अहेतुक भवति निष्कारण च भवति,प्रणमस्य वस्तुगताक्रियाहेतुकत्वात्फलस्येत्यभिप्रायः । अहेतुकत्वे चाकस्मिककर्मसंभवान्मोक्षाद्यभाव इति गाथाऽर्थ' ॥६१॥

इत्थ चोदकेनोक्ते सत्याहाऽऽचार्य —

कामं उभयाभावो, तह वि फलं अत्थि मणविसुद्धीए ।

तीइ पुण मणविसुद्धी-इ कारणं हुंति पमिमाओ ॥६२॥

कामम् अनुमतमिदं यदुत तत्रयात्राव सावद्येतरक्रियाभावः प्रतिमासु, तथापि फलं पुण्यलक्षणम्, अस्ति विद्यते,मनसो विशुद्धि' मनोविशुद्धिः, तस्या मनोविशुद्धेः सकाशात्। तथाहि-स्वगतमनोविशुद्धिरेव नमस्कर्त्तुः पुण्यकारणं, न नमस्करणीयवस्तुगता क्रिया, आत्मान्तरे फलाभावात्। यद्येवं किं प्रतिमाभिरिति ?। उच्यते-तस्याः पुनर्मनोविशुद्धेः कारणं निमित्तं भवन्ति प्रतिमाः, तद्द्वारेण तस्याः संभूतिदर्शनादिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

आह-एवं लिङ्गमपि प्रतिमावन्मनोविशुद्धिकारणं भवत्येवेत्युच्यते-

जइ वि अ पमिमा उ जहा,मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंग।
उभयमवि अत्थि लिंगे, न य पडिमासूभयं अत्थि ॥६३॥

यद्यपि च प्रतिमा यथा, मुनीनां गुणाः मुनिगुणाः व्रतादयः, तेषु संकल्पः अध्यवसायः मुनिगुणसंकल्पः तस्य कारणं निमित्तं मुनिगुणसंकल्पकारणम्, लिङ्गं द्रव्यलिङ्गम्; तथापि प्रतिमाभिः सह वैधर्म्यमेव; यत उभयमप्यस्ति लिङ्गे, सावद्यकर्म निरवद्यकर्म च। तत्र निरवद्यकर्मयुक्त एव यो मुनिगुणसंकल्पः स सम्यक्संकल्पः, स एव च पुण्यफलः। यः पुनः सावद्यकर्मयुक्तेऽपि मुनिगुणसंकल्पः स एव विपर्याससंकल्पः, क्लेशफलश्चासौ, विपर्यासरूपत्वादेव। न च प्रतिमासूभयमस्ति, चेष्टारहितत्वात्। ततश्च तासु जिनगुणविषयस्य क्लेशफलस्य विपर्याससंकल्पस्याभावः, सावद्यकर्मरहितत्वात् प्रतिमानाम्। आह-इत्थं तर्हि निरवद्यकर्मरहितत्वात् सम्यक्संकल्पस्याऽपि पुण्यफलस्याप्यभाव एव प्राप्त इति ?, उच्यते-तस्य तीर्थकरगुणाध्यारोपेण प्रवृत्तेर्नाभाव इति।

तथा चाह-

निअमा जिणेसु उ गुणा,पडिमाओ दिस्स जं मणे कुणइ।
अगुणे उ विआणंतो, कं नमउ मणे गुणं काउं ॥६४॥

नियमादिति नियमेनावश्यतया, जिनेषु तीर्थकरेष्वेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, गुणा ज्ञानादयः,न प्रतिमासु, प्रतिमाः दृष्ट्वा तास्वध्यारोपद्वारेण यन्मनसि करोति चेतसि स्थापयति,न पुनर्नमस्करोति, अत एवासौ तासु शुभपुण्यफलो जिनगुणसंकल्पः, सावद्यकर्मरहितत्वात्। न चायं तासु निरवद्यकर्मानावमात्राद्विपर्याससंकल्पः, सावद्यकर्मोपेतवस्तुविषयत्वात् तस्य। ततश्चोऽन्यविकल एवाकारमात्रतुल्ये कतिपयगुणान्विते वाऽध्यारोपोऽपि युक्तियुक्तः, (अगुणे तु इत्यादि) अगुणानेव,तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, अविद्यमानगुणमेव विजानन्नवबुध्यमानः पार्श्वस्थादीन् (कं नमउ मणे गुणं काउं ति) कं मनसि कृत्वा गुणं,नमस्करोतु तानिति। स्यादेतत्, अन्यसाधुसंबन्धिनं तेष्वध्यारोपमुखेन मनसि कृत्वा नमस्करोतु, न, तेषां सावद्यकर्मयुक्ततया अध्यारोपविषयलक्षणविकलत्वात्, अविषये चाध्यारोपमपि कृत्वा नमस्कुर्वतो दोषदर्शनात्।

आह च-

जह वेलंबगलिंगं, जाणंतस्स नमओ हवइ दोसो।
निद्धंधसमिअ नाऊ-ण वंदमाणे धुवो दोसो ॥ ६५ ॥
कह लिंगमप्पमाणं, उप्पन्ने केवले वि जं नाणे।
न नमति जिणं देवा, सुविहिअनेवत्थपरिहीणं ॥ ६६ ॥

यथा विमम्बकलिङ्गं भण्डादिकृतं जानतोऽवबुध्यमानस्य नमतो नमस्कुर्वतो सतोऽस्य भवति दोषः,प्रवचनहीलनादिलक्षणः। निद्धन्धसं प्रवचनोपघातनिरपेक्षं पार्श्वस्थादिकं (इय त्ति) एवं ज्ञात्वाऽवगम्य (वन्दमाणे धुवो दोसो त्ति) वन्दति नमस्कुर्वन्ति नमस्कर्त्तरि ध्रुवोऽवश्यभावी दोषः, आज्ञाविराधनादिलक्षणः। पाठान्तरं वा-"निद्धंधसं पि नाऊण, वंदमाणस्स दोसा उ" इदं प्रकटार्थमेवेति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ एवं न लिङ्गमात्रमकारणतोऽवगतसावद्यक्रियं नमस्क्रियत इति स्थापितम्, भावलिङ्गमपि द्रव्यलिङ्गरहितमित्थमेवावगन्तव्यम्। भावलिङ्गभेदे तु द्रव्यलिङ्गं नमस्क्रियते,तस्यैवाभिलषितार्थक्रियाप्रसाधकत्वात्।

रूपकदृष्टान्तश्चात्राह-

रुप्पं टंकं विसमा-हयक्खरं न वि उ रूवओ छेओ।
दुन्हं पि समाओगे, रुप्पो छेअत्तणमुवेइ ॥ ६७ ॥

अत्र तावच्चतुर्भङ्गाः-रूपमशुद्धं, टङ्कं विषमाहताक्षरमित्येको भङ्गः। रूपमशुद्धं, टङ्कं समाहताक्षरमिति द्वितीयः। रूपं शुद्धं, टङ्कं विषमाहताक्षरमिति तृतीयः। रूपं शुद्धं, टङ्कं समाहताक्षरमिति चतुर्थः। अत्र च रूपकल्पं भावलिङ्गं, टङ्ककल्पं द्रव्यलिङ्गम्। इह च प्रथमभङ्गतुल्याश्चरकादयः, अशुद्धोभयलिङ्गत्वात्। द्वितीयभङ्गतुल्याः पार्श्वस्थादयः, अशुद्धभावलिङ्गत्वात्। तृतीयभङ्गतुल्याः प्रत्येकबुद्धाः, अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालमगृहीतद्रव्यलिङ्गाः। चतुर्थभङ्गतुल्याः साधवः शीलयुक्ताः, गच्छगता निर्गताश्च जिनकल्पिकादयः। यथा रूपको भङ्गत्रयान्तर्गतः "अच्छेकः" इत्यविकलतदर्थक्रियार्थिना नोपादीयते, चतुर्थभङ्गनिरूपित एवोपादीयते, एवं भङ्गत्रयनिदर्शितपुरुषा अपि परलोकार्थिनौघतो न नमस्करणीयाः, चरमभङ्गकनिदर्शिता एव नमस्करणीया इति भावना। अक्षराणि त्वेवं नीयन्ते-रूपं शुद्धाशुद्धभेदं, टङ्कं विषमाहताक्षरं विपर्यस्तनिविष्टाक्षरं, नैव रूपकश्छेकः, असाव्यवहारिक इत्यर्थः। द्वयोरपि शुद्धरूपसमाहताक्षरटङ्कयोः समायोगे सति रूपकश्छेकत्वमुपैतीति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

रूपकदृष्टान्ते दार्ष्टान्तिकनियोजनां निदर्शयन्नाह-

रुप्पं पत्तेअबुद्धा, टंकं जे लिंगधारिणो समणा।
दव्वस्स य भावस्स य, छेओ समणो समाओगे ॥६८॥

रूपं प्रत्येकबुद्धा इत्यनेन तृतीयभङ्गकाक्षेपः, टङ्कं ये लिङ्गधारिणः श्रमणा इत्यनेन तु द्वितीयस्य, अनेनैवाशुद्धशुद्धोभयात्मकस्यापि प्रथमचरमभङ्गद्वयस्येति। तत्र द्रव्यस्य च भावस्य च छेकः श्रमणः समायोगे समाहताक्षरटङ्कशुद्धरूपककल्पद्रव्यभावलिङ्गसंयोगे शोभनः साधुरिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ आव० ३ अ०। (ज्ञानप्राधान्यविचारोऽतथोपयुक्तत्वात्र कृतः)

अवसितमानुषङ्गिकम्, तस्मात् स्थितमिदं पञ्चानां कृतिकर्म न कर्त्तव्यम्, तथा च निगमयन्नाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालपासत्था।
एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स ॥ १२६ ॥

[दसणणाणचरित्ते त्ति] प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च दर्शनज्ञानचारित्राणां,तथा तपोविनययोः [निच्चकालपासत्थ त्ति]

नित्यकाल सर्वकाल पार्श्वे तिष्ठन्तीति नित्यकालपार्श्वस्थाः । नित्यकालग्रहणमित्वरप्रमादव्यवच्छेदार्थं, तथा चेत्वरप्रमादाक्षिप्रयतो ज्ञानाद्यपगमेऽपि व्यवहारतस्तु साधव एवेति । एते प्रस्तुता अवन्दनीया , किंभूता ?, यशोघातिन यशोविनाशकाः । कस्य?, प्रवचनस्य, कथ यशोघातिन ?, श्रमणगुणोपात्त यद्यश- तत्सद्गुणवितथासेवनतो घातयन्तीति गाथाऽर्थ. ॥१२६॥

(१२) पार्श्वस्थादिवन्दने चापायान् निदर्शयन्नाह-

किइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणम्मि कम्मबंधाय ।
जे जे पमायठाणा, ते ते उववूहिआ हुंति ॥१२७॥

कृतिकर्म वन्दनं, प्रशंसा च-'बहुश्रुतो विनीतो वाऽयमित्यादिलक्षणा, सुखशीलजने पार्श्वस्थजने, कर्मबन्धाय । कथम् ?, यतस्ते पूज्या एव वयमिति निरपेक्षतरा भवन्ति । एव यानि यानि प्रमादस्थानानि, येषु विषीदन्ति पार्श्वस्थादय., तानि तानि उपबृंहितानि भवन्ति समर्थितानि भवन्त्यनुमतानि भवन्ति । तत्प्रत्ययश्च बन्ध इति गाथाऽर्थ ॥ १२७ ॥

यस्मादेतेऽपायास्तस्मात्पार्श्वस्थादयो न वन्दनीया., साधव एव वन्दनीया इति निगमयन्नाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालमुज्जुत्ता ।
एए उ वंदणिज्जा, जे जसकारी पवयणस्स ॥ १२८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु, तथा तपोविनययो , नित्यकालं सर्वकालम्, उद्युक्ता उद्यता एते एव वन्दनीया , ये विशुद्धमार्गप्रभावनया यश-कारिण- प्रवचनस्येति गाथार्थ. ॥१२८॥

(१३) अधुना सुसाधुवन्दने गुणमुपदर्शयन्नाह-

किइकम्मं च पसंसा, संविग्गजणम्मि निज्जरट्ठाए ।
जे जे विरइट्ठाणा, ते ते उववूहिआ हुंति ॥१२९॥

कृतिकर्म वन्दन प्रशसा च-बहुश्रुतो विनीत. पुण्यभागित्यादिलक्षणा, सविग्नजने निर्जरार्थाय कर्मक्षयाय, कथम् ?, यानि यानि विरतिस्थानानि, येषु वर्तन्ते ते सविग्ना., तानि तान्युपबृंहितानि भवन्त्यनुमतानि भवन्ति, तदनुमत्या च निर्जरा । सविग्नाः पुनर्द्विविधा -द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यसविग्ना मृगाः, पत्रेऽपि चलति सदा त्रस्तचेतस., भावसविग्नास्तु साधव., तैरिहाधिकार इति गाथाऽर्थः ॥ १२९ ॥

गता सप्रपञ्च पञ्चानां कृतिकर्मेत्यादिद्वारगाथा । निगमयतोक्तमोघतो दर्शनाद्युपयुक्ता एव वन्दनीया इत्यधुना तानेवाचार्यादिभेदतोऽभिधित्सुराह-

आयरिअ उवज्झाओ, पवत्ति थेरे तहेव रायणिए ।
एएसिं किइकम्मं, कायव्वं निज्जरट्ठाए ॥ १३० ॥

आचार्य उपाध्याय- प्रवर्तक- स्थविरस्तथैव रत्नाधिकः। एतेषा कृतिकर्म कर्तव्य निर्जरार्थम् । तत्र चाचार्यः सूत्रार्थोभयवेत्ता, लक्षणादियुक्तश्च । आव० ३ अ० । (अधिकमन्यत्रम् , 'पवत्तग' शब्दे वक्ष्यते)

प्रथमद्वारगाथाया गत कस्येति द्वारम् ।

(१४) अधुना केनेति द्वारम् । केन कृतिकर्म कार्यं, केन वा न कर्त्तव्यम्, क- पुनरस्य करणोचित , अनुचितो वेत्यर्थः । तत्र मातापित्रादिरनुचितो गणः । तथाचाह ग्रन्थकारः-

मायरं पिअरं वा वि, जिट्ठगं वावि भायरं ।
किइकम्मं न कारिज्जा, सव्वे रायणिए तहा ॥ १३८ ॥
विअडप्पच्चक्खाणे, सुए अ रयणाहिआ वि हु करंति ।
मज्झिकहो न करेई, सा चेव य तेसि पकरेई ॥ १३९ ॥

मातर पितर वाऽपि ज्येष्ठक चापि भ्रातरम्, अपिशब्दान्मातामहपितामहादिपरिग्रह , कृतिकर्म अभ्युत्थितवन्दनं न कारयेत्, सर्वान् रत्नाधिकान् । तथा पर्यायज्येष्ठानित्यर्थ- । किमिति?, मात्रादीन्वन्दन कारयत- लोकगर्होपजायते, तेषा च कदाचिद्विपरिणामो भवति । आलोचनप्रत्याख्यानसूत्रार्थेषु तु कारयेत्, सागारिकाध्यक्ष तु यतनया कारयेत्, एष प्रव्रज्याप्रतिपन्नानां विधिः । गृहस्थांस्तु कारयेदिति गाथार्थ. ॥१३९॥

साम्प्रत कृतिकर्मकरणोचित प्रतिपादयन्नाह-

पंच महव्वयजुत्तो, अणलस माणपरिवज्जिअमई़ओ ।
संविग्ग निज्जरट्ठी, किइकम्मकरो हवइ साहू ॥१४०॥

पञ्च महाव्रतानि प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि तैर्युक्तः, (अणलस त्ति) आलस्यरहितः, मानवर्जितमति- जात्यादिमानपराङ्मुखमतिः, सविग्न प्राग्व्याख्यात एव, निर्जरार्थी कर्मक्षयार्थी, एवभूत- कृतिकर्मकारको भवति साधुः, एवभूतेन साधुना कृतिकर्म कर्त्तव्यमिति गाथार्थ' ॥ १४० ॥ गत केनेति द्वारम् ।

(१५) सांप्रत कदेत्यायातम्, कदा कृतिकर्म कर्तव्य कदा वा न कर्त्तव्यमित्यत आह-

वक्खित्त पराहुत्ते, अ पमत्ते मा कयाइ वंदिज्जा ।
आहारं च करते, नीहारं वा जइ करइ ॥ १४१ ॥

व्याक्षिप्त धर्मकथादिना, (पराहुत्ते य त्ति) पराङ्मुख च, चशब्दादुज्झनादिपरिग्रह- । प्रमत्त क्रोधादिप्रमादेन, मा कदाचिद्वन्देत, आहार कुर्वाण, नीहार वा यदि करोति । इह च धर्मान्तराया नवधारणप्रकोपाहारान्तरायपुरीषनिर्गमादयो दोषाः प्रपञ्चेन वक्तव्या इति गाथार्थ ॥ १४१ ॥

कदा तर्हि वन्देत इत्यत आह-

पसंते आसणत्थे अ, उवसंते उवट्ठिए ।
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजए ॥ १४२ ॥

प्रशान्त व्याक्षेपरहितम्, आसनस्थ निषद्यागतम्, उपशान्तं क्रोधादिप्रमादरहितम्, उपस्थित छन्देनेत्याद्यभिधानेन प्रत्युद्यतम्, एवभूत सन्तम्, अनुज्ञाप्य मेधावी, तत- कृतिकर्म प्रयुञ्जीत, वन्दन कुर्यादित्यर्थ- । अनुज्ञापनाया च आदेशद्वयम्-यानि ध्रुववन्दनानि तेषु प्रतिक्रमणादौ नानुज्ञापयति । यानि पुनरौत्पत्तिकानि तेष्वनुज्ञापयतीति गाथार्थ. ॥१४२॥ गत कदेति द्वारम् ।

(१६) अधुना कतिकृत्व- कृतिकर्म कार्यं, कियन्तो वारा इत्यर्थः । तत्र प्रत्यहं नियतान्यनियतानि वन्दनानि भवन्त्यत उभयस्थाननिदर्शनायाह निर्युक्तिकार-

पडिकमणे सज्झाए, काउस्सग्गावराहपाहुणए ।
आलोअणसंवरणे, उत्तमट्ठे अ वंदणयं ॥ १४३ ॥

प्रतीपं क्रमण प्रतिक्रमणम्, अपराधस्थानेभ्यो गुणस्थानेषु वर्तनमित्यर्थः । तस्मिन्सामान्यतो वन्दन भवति । तथा स्वाध्याये वाचनादिकक्षणे, कायोत्सर्गे यो हि विगतिपरिभोगायावाप्तविसर्जनार्थं क्रियते । अपराधे गुर्वविनयलङ्घनरूपे यतस्त वन्दित्वा क्षामयति पाक्षिकवन्दनान्यपराधे पतन्ति ।

ज्येष्ठे समागते सति वन्दन भवति, इतरस्मिन्नपि प्रतीच्छित-व्यम । अत्र चायं विधिः-

" संभोइयमसंभोइ-या य दुविहा भवंति पाहुणया ।
संभोइय आयरियं, आपुच्छित्ता उ वदंति ॥
इयर पुण आयरियं, वंदित्ता संदिसाविउ तह य ।
पच्छा वंदति जई, गयमोहो अहव वंदावे ॥ "

तथा आलोचनायां विहारापराधभेदभिन्नायां सवरणं भुक्ते प्रत्याख्यानम । अथवा कृतनमस्कारसहितादिप्रत्याख्यानस्यापि पुनरजीर्णादिकारणतोऽभक्तार्थं गृह्णतः सवरण तस्मिन्वन्दन भवति । उत्तमार्थे चानशनसंलेखनायां वन्दनमित्येतेषु प्रतिक्रमणादिषु स्थानेषु वन्दन भवतीति गाथार्थः ॥ १४३ ॥

इत्थं सामान्येन नियतानियतस्थानानि वन्दनानि प्रदर्शितानि, साम्प्रत नियतवन्दनस्थानसंख्याप्रदर्शनायाऽऽह-

चत्तारि पडिक्कमणे, किइकम्मा तिन्नि हुंति सज्झाए ।
पुव्वन्हे अवरन्हे, किइकम्मा चउदस हवंति ॥१४४॥

चत्वारि प्रतिक्रमणे कृतिकर्माणि, त्रीणि भवन्ति स्वाध्याये,पूर्वाह्णे प्रत्यूषसि । कथम-" गुरु पुव्वसंझाए वंदित्ता आलोएंति एय एक्कं । अब्भुट्ठियावसाणे ज पुणो वदति गुरुं एत वितीयं । एत्थ य विही पच्छा जहन्नेण तिन्नि । मज्झिम पंच वा सत्त वा, उक्कोसं सव्वे वि वंदियव्वा । जइ वाउलावक्खेवो वा तो एक्केण ऊणगा जाव तिन्नि अवस्स वंदियव्वा । एव देवसिए पक्खिए एव अवस्सं, चाउम्मासिए संवच्छरिए वि सत्त अवस्सं ति । ते वंदिऊण ज पुण आयरियस्स अल्लिविज्जंति तं ततियं, पच्चक्खाणे चउत्थ सज्झाए पुणो वंदित्ता पट्ठवेंति । पढमे पट्ठविए पवेदयंतस्स वितियं पच्छा उद्दिट्ठ समुद्दिट्ठ पढंति । उद्देससमुद्देसवंदणाणमिहेवं तब्भावो ततो जाहे चउब्भागावसेसा पोरुसी ताहे पाए पडिलेहेति । जति न पढिउकामो तो वंदति,अह पढिउकामो तो अवंदित्ता पाए पडिलेहेति । पडिलेहित्ता पच्छा पढति,कालवेलाए वंदिउ पडिक्कमति । एवं तच्च, एवं पूर्वाह्णे सप्त, अपराह्णे पि सप्तैव भवन्ति, अनुज्ञावन्दनानां स्वाध्यायवन्दनेष्वेवान्तर्भावात् । प्रतिक्रमणिकानि तु चत्वारि प्रसिद्धान्येवमेतानि ध्रुवाणि प्रत्यह कृतिकर्माणि चतुर्दश भवन्ति अभक्तार्थिकस्य । इतरस्य तु प्रत्याख्यानवन्दनेनाधिकानि भवन्तीति गाथार्थः ॥१४४॥ गत कतिकृत्वो द्वारम । आव० ३ अ० ।

(१७) कृतिकर्मस्वरूपनिरूपणम्-

दुवालसावत्ते कितिकम्मे पण्णत्ते । तं जहा-दुओणयं जहाजाय कितिकम्मं बारसावयं चउसिरं तिगुत्तं दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥

द्वादशावर्त्तं कृतिकर्म वन्दनकं प्रज्ञप्तम । द्वादशावर्त्ततामेवास्यानुवन्दनशेषांश्च तद्धर्मानभिधित्सितं रूपकमाह-(दुओणयेत्यादि) अवनतिरवनतम्, उत्तमाङ्गप्रधान प्रणमनमित्यर्थः। द्वे अवनते यस्मिंस्तद् द्व्यवनतम । तत्रैक यदा प्रथममेव-"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउ जावणिज्जाए निसीहियाए " त्ति अभिधायावग्रहानुज्ञापनायावनमति, द्वितीयं पुनर्यदावग्रहानुज्ञापनायैवावनमतीति यथाजात श्रमणत्वभवनलक्षणं जन्माश्रित्य योनिनिष्क्रमणलक्षण च, तत्र च रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टमात्रया श्रमणो जातो रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गत एवंभूत एव वन्दते, तदव्यतिरेकाद्वा यथाजात भण्यते, कृतिकर्म वन्दनकम् । (बारसावय ति) द्वादशावर्त्ताः सूत्राभिधानगर्भाः कायव्यापारविशेषाः यतिजनप्रसिद्धा यस्मिंस्तद् द्वादशावर्त्तम । तथा-(चउसिर त्ति) चत्वारि शिरांसि यस्मिंस्तच्चतुःशिरः । प्रथमप्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वय पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य द्वयमेवेति भावना । तथा-(तिगुत्त त्ति) तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः । पाठान्तरेऽपि तिसृभिः मनोगुप्तिभिरेवेति । तथा (दुपवेस ति) द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम । तत्र प्रथमोऽवग्रहमनुज्ञाप्य प्रविशतो, द्वितीयः पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति । (एगनिक्खमण ति) एकं निष्क्रमणमवग्रहादावश्यिकया निर्गच्छतः । द्वितीयवेलायां त्ववग्रहान्न निर्गच्छति पादपतित एव सूत्र समापयतीति । स० १२ सम० । नि० चू० ।

कत्यवनतमित्याद्यद्वारं तदर्थप्रतिपादनायाऽऽह-

दुओणय जहाजायं, किइकम्मं बारसावत्तं ।
चउस्सिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥ १४५ ॥

अवनतिरवनतम्, उत्तमाङ्गप्रधान प्रणमनमित्यर्थः । द्वे अवनते यस्मिंस्तद् द्व्यवनतम् । एव यदा प्रथममेव-"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए" त्ति अभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायावनमति । द्वितीय पुनर्यदा कृतावर्तो निष्क्रान्तः इच्छामीत्यादिसूत्रमभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायैवावनतमिति यथाजातं जन्मश्रमणत्वमाश्रित्य योनिनिष्क्रमणं च । तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टकमात्रया श्रमणो जातः, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवंभूत एव वन्दते । तदव्यतिरेकाच्च यथाजातं भण्यते, कृतिकर्म वन्दनम । (बारसावत्तं ति) द्वादशावर्त्ताः सूत्राभिधानगर्भाः कायव्यापारविशेषा यस्मिन्निति समासः; तद् द्वादशावर्त्तम । इह च प्रथमप्रविष्टस्य षडावर्त्ताः भवन्ति-" अहोकाय कायसंफास खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताण बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो, जत्ता भे जवणिज्ज च भे " एतत्सूत्रगर्भाः गुरुचरणन्यस्तहस्तशिरःस्थापनरूपा निष्क्रम्य पुनःप्रविष्टस्याप्येत एव षडिति; एतच्चापान्तरालद्वारद्वयमाद्यद्वारोपलक्षितमवगन्तव्यम । गत कत्यवनतद्वारम । सांप्रत कतिशिर एत्येतद् द्वारं व्याचिख्यासुरिदमपर गाथाशकलमाह-(चउसिरमित्यादि) चत्वारि शिरांसि यस्मिंस्तच्चतुःशिरः, प्रथमप्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वय, पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य शिरोद्वयमेवेति भावनाद्वारम । तिस्रो गुप्तयो यस्मिंस्तत् त्रिगुप्तम । मनसा सम्यक्प्रणिहितम, वाचा अस्खलितान्यक्षराण्युच्चारयन्, कायेन आवर्त्तने विराधयन् वन्दनं करोति यत । चशब्दोऽवधारणार्थः । द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम । प्रथमोऽनुज्ञाप्य प्रविशतो, द्वितीय पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति । एक निष्क्रमणम् आवश्यकया निर्गच्छतः । एतच्चापान्तरालद्वारत्रयं कतिशिरोद्वारेणैवोपलक्षितमवगन्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

[१८] सांप्रतं कतिभिर्वाऽऽवश्यकैः परिशुद्धमिति द्वारार्थोऽभिधीयते । तथाचाह—

अवणामा दुन्हा जायं, आवत्ता बारसे व य ॥
सीसा चत्तारि गुत्तीओ, तिन्नि दो अ पवेसणा ॥१४६॥
एगनिक्खमणं चेव, पणवीसं विराहिआ ।
आवस्सएहि परिसुद्धं, किइकम्मं जेहि कीरई ॥१४७॥

इदमन्यकर्तृकं गाथाद्वयं निगदसिद्धमेव । एभिर्गाथाद्वयोक्तैः पञ्चविंशतिभिरावश्यकैः परिशुद्धं कृतिकर्म कर्त्तव्यम्, अन्यथा द्रव्यकृतिकर्म भवत्यत आह-(एग त्ति) कृतिकर्माऽपि कुर्वन्न भवति कर्मनिर्जराभागी पञ्चविंशतेरावश्यकानाम् अन्यतरत् साधुस्थानं विराधयन्, विद्यादृष्टान्तोऽत्र । यथाहि-विद्या विकलानुष्ठाना फलदा न भवति, एवं कृतिकर्माऽपि निर्जराफलं न भवति, विकलत्वादेवेति गाथार्थः ॥ १४७ ॥

(१९) अधुना विराधनगुणोपदर्शनायाऽऽह-

पणवीसा परिसुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं ।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा ॥ १४८ ॥

पञ्चविंशत्याऽऽवश्यकान्यवनतादीनि प्रतिपादितान्येवं तच्छुद्धं, तदविकलं कृतिकर्म यः कश्चित्प्रयुङ्क्ते, करोतीत्यर्थः । कस्मै ?, गुरवे आचार्याय, अन्यस्मै वा गुणयुक्ताय, स प्राप्नोति निर्वाणं मोक्षम्, अचिरेण स्वल्पेन कालेन, विमानवासं वा सुरलोकं चेति गाथार्थः ॥ १४८ ॥ (कतिदोषविप्रमुक्तमिति यदुक्तं तत्र द्वात्रिंशद्दोषदर्शनं च 'वदण' शब्दे अनादृतादिशब्दव्याख्या 'अणाढिय' आदिशब्देषु वक्ष्यते)

किइकम्मं पि करंतो, न होइ किइकम्मनिज्जराभागी ।
बत्तीसामन्नयरं, साहू ठाणं विराहंतो ॥ १७५ ॥
बत्तीसदोसमुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं ।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा ॥ १७६ ॥

कृतिकर्माऽपि कुर्वन्न भवति कृतिकर्मा निर्जराभागी, द्वात्रिंशद्दोषाणामन्यतरत्साधुः स्थानं विराधयन्निति गाथार्थः ॥ १७५ ॥ दोषविप्रमुक्ते कृतिकर्मकरणे गुणमुपदर्शयन्नाह-द्वात्रिंशद्दोषपरिशुद्धं कृतिकर्म यः प्रयुङ्क्ते करोति गुरवे, स प्राप्नोति निर्वाणम्, अचिरेण विमानवासं वेति गाथार्थः ॥ १७६ ॥

अहो दोषपरिशुद्धाद्वन्दनात्को गुणः, येन तत एव निर्वाणप्राप्तिः प्रतिपाद्यते, इत्यत्रोच्यते-

आवस्सएसु जह जह, कुणइ पयत्तं अहीणमइरित्तं ।
तिविहकरणोवउत्तो, तह तह से निज्जरा होइ ॥ १७७ ॥

आवश्यकेष्ववनतादिषु दोषत्यागलक्षणेषु च यथा यथा करोति प्रयत्नम्, अहीनातिरिक्तं न हीनं नाप्यतिरिक्तम् । किंभूतः सन् ?-त्रिविधकरणोपयुक्तः मनोवाक्कायैरुपयुक्त इत्यर्थः । तथा तथा (से) तस्य वन्दनकर्तुर्निर्जरा भवति कर्मक्षयो भवति । तस्मान्निर्वाणप्राप्तिरित्यतो दोषपरिशुद्धादेव फलावाप्तिरिति गाथार्थः ॥ १७७ ॥ गतं सप्रसङ्गं दोषविप्रमुक्तद्वारम् ।

(२०) अधुना ' किमिति क्रियते ' इति द्वारम् । तत्र वन्दनकरणकारणानि प्रतिपादयन्नाह-

विणओवयार माण-स्स भंजणा पूअणा गुरुजणस्स ।
तित्थयराण य आणा, सुअधम्माराहणाऽकिरिया ॥ १७८ ॥

विनय एवोपचारो विनयोपचारः कृतो भवति । स एव किमर्थं इत्याह—मानस्याहङ्कारस्य भञ्जना विनाशः तदर्थः । मानेन च भग्नेन पूजना गुरुजनस्य कृता भवति, तीर्थकराणां चाज्ञा अनुपालिता भवति । यतो भगवद्भिर्विनयमूल एवोपदिष्टो धर्मः, स च वन्दनादिलक्षण एव विनय इति । तथा श्रुतधर्माराधना कृता भवति, यतो वन्दनपूर्वं श्रुतग्रहणम्, (अकिरिय त्ति) पारंपर्येणाक्रिया भवति । यतः-अक्रियः सिद्धः, असावपि पारम्पर्येण वन्दनलक्षणाद्विनयादेव भवति । उक्तञ्च परमर्षिभिः-"तहारूवे णं भंते ! समण वा माहणं वा वंदमाणस्स पज्जुवासमाणस्स किं फला वंदणपज्जुवासणया ? । गोयमा ! सवणफला सवणे णाणफले, णाणे विन्नाणफले, विन्नाणे पच्चक्खाणफले, पच्चक्खाणे संजमफले, संजमे अणण्हयफले, अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले, अकिरिया सिद्धगतिगमणफला । " तथा वाचकमुख्येनाप्युक्तम्-

"विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरति-र्विरतिफलं चाऽऽश्रवनिरोधः ॥ १ ॥
संवरफलं तपोबल-मथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ॥
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ २ ॥
योगनिरोधाद्भवसं-ततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः" ॥ इति गाथार्थः ॥ १७८ ॥

किञ्च-

विणओ सासणमूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥ १७९ ॥

शास्यन्तेऽनेन जीवा इति शासनं द्वादशाङ्गं, तस्मिन्विनयो मूलम् । यत उक्तम्-

"मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खधाउ पच्छा समुवेंति साहा ।
साहा प्पसाहा वि रुहंति पत्ता, पत्ता सि पुप्फं च फलं रसो य" ॥
"एवं धम्मस्स विणओ,मूलं परमो से मोक्खो । जेण कित्तिं सुयं सिग्धं, नीसेसं चाभिगच्छति" । अतो विनीतः संयतो भवेत्, विनयाद् विप्रमुक्तस्य कुतो धर्मः कुतस्तप इति गाथार्थः ॥ १७९ ॥

अतो विनयोपचारार्थं कृतिकर्म क्रियत इति स्थितम् । आह-विनय इति कः शब्दार्थ इत्युच्यते-

जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय ।
तम्हा उ वयंति विऊ, विणओ त्ति विलीणसंसारा ॥ १८० ॥

यस्माद्विनयति नाशयति कर्म अष्टविधम् । किमर्थम् ?, चतुरन्तमोक्षाय, संसारविनाशायेत्यर्थः । तस्मादेव वदन्ति विद्वांसः-विनय इति विनयनाद् विलीनसंसाराः क्षीणसंसाराः । अथवा "विणीअसंसारा" इति पाठे विनीतसंसारा नष्टसंसारा इत्यर्थः । यथा विनीता गौर्नष्टक्षीरा अभिधीयत इति गाथार्थः ॥ १८० ॥ किमिति क्रियत इति द्वारं गतम् । व्याख्याता द्वितीया कृत्यवनतमित्यादिद्वारगाथा । अत्रान्तरेऽध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितत्वान्नेहाधिकृतः । गतो नाम निष्पन्नो निक्षेपः ।

(२१) सांप्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चतो वक्तव्यम्, यावच्चेदं सूत्रम्-

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो जत्ता भे जवणिज्जं च भे खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए तेत्तीसन्नयराए

जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

अस्य व्याख्या,तल्लक्षणं चेदम् ।'संहिता चेत्यादि'। तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता । सा च-" इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए णिसिहीआए त्ति" इत्येवं सूत्रोच्चारणरूपा । अधुना पदविभाग.-इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या अनुजानीत मम मितावग्रहं नैषेधिकी अधःकायं कायसंस्पर्शः क्षमणीयः भवतां क्लमः अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः, यात्रा भवतां, यापनीयं च भवतां क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकव्यतिक्रमम्, आवश्यिक्या प्रतिक्रमामि, क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किञ्चिन्मिथ्यया मनोदुष्कृतया वाग्दुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया यो मया अतीचारः कृतः तस्य क्षमाश्रमण ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामि । एतावन्ति सर्वसूत्रपदानि । साम्प्रतं पदार्थः पदविग्रहश्च यथासंभवं प्रतिपाद्यते-तत्र 'इषु' इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनान्तस्य इच्छामीति भवति । 'क्षमूष्' सहने इत्यस्य अङ्प्रत्ययान्तस्य क्षमा । 'श्रमु' तपसि खेदे च, अस्य कर्त्तरि ल्युट् । आम्यत्यसाविति श्रमणः । क्षमाप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणः,तस्यामन्त्रणम् । वन्देस्तुमुन्प्रत्ययान्तस्य वन्दितुम् । 'या' प्रापणे अस्य ण्यन्तस्य पुक् कर्त्तर्यनीय', यापयतीति यापनीया, तया । 'षिधु' गत्यामस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः, निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वा नैषेधिकीत्युच्यते । एवं शेषपदार्थोऽपि प्रकृतिप्रत्ययव्युत्पत्त्या वक्तव्यः; विनेयासंमोहार्थं तु न ब्रूमः । अथ प्रकृतसूत्रार्थः-अवग्रहाद् बहिः स्थितो विनेयोऽर्द्धावनतकायः करद्वयगृहीतरजोहरणो वन्दनायोद्यत एवमाह-इच्छाम्यभिलषामि हे क्षमाश्रमण ! वन्दितुं नमस्कर्त्तुं, भवन्तमिति गम्यते । यापनीयया यावत्शक्त्या नैषेधिक्या प्राणातिपातादिनिवृत्तया तया, शरीरेणेत्यर्थः । अत्रान्तरे गुरुर्व्याक्षेपादियुक्तः त्रिविधेनेति भणति । ततः शिष्यः सङ्क्षेपवन्दनं करोति, व्याक्षेपादिविकलस्तु " छन्देण ति भणति " । ततो विनेयस्तत्रस्थ एवमाह-अनुजानीत अनुज्ञां प्रयच्छत, ममेत्यात्मनिर्देशिकम् । मितश्चासाववग्रहश्चेति मितावग्रहस्तं चतुर्दिक्ष्विहाचार्यस्यात्मप्रमाणं क्षेत्रमवग्रहस्तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते । ततो गुरुर्भणति-अनुजानामि । ततः शिष्यो नैषेधिक्या प्रविश्य गुरुपादान्तिके निधाय तत्र रजोहरणं तल्ललाटं च कराभ्यां संस्पृशंश्चेदं भणति-अधस्तात् कायः अधःकायः पादलक्षणः, तमधःकायं प्रतिकायेन निजदेहेन संस्पर्शः कायसंस्पर्शः, तं करोम्येतच्चानुजानीत, तथा क्षमणीयः, सह्यो भवताम् । अधुना क्लमः देहग्लानिरूपः,तथा अल्पं स्तोकं क्लान्तं क्लमो येषां तेऽल्पक्लान्तास्तेषामल्पक्लान्तानां बहु च तत् शुभं च बहुशुभं,तेन बहुशुभेन, प्रभूतसुखेनेत्यर्थः । भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः, युष्माकमहर्गतमित्यर्थः । अत्रान्तरे गुरुर्भणति-तथेति, यथा भवान् ब्रवीति । पुनराह विनेयः-यात्रा तपोनियमादिलक्षणा, क्षायिकोपशमिकभावलक्षणा वा उत्सर्पति भवताम् । अत्रान्तरे गुरुर्भणति-युष्माकमपि वर्तते । मम तावदुत्सर्पति, भवतोऽप्युत्सर्पत इत्यर्थः । पुनरप्याह विनेयः-यापनीयं च इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण भवतां,शरीरमिति गम्यते । अत्रान्तरे गुरुराह-एवं आम, यापनीयमित्यर्थः । पुनराह विनेयः-क्षमयामि मर्षयामि । क्षमाश्रमणेति पूर्ववत् । दिवसेन निर्वृत्तो दैवसिकस्तं व्यतिक्रममपराधम्;दैवसिकग्रहणं रात्रिकाद्युपलक्षणार्थम् । अत्रान्तरे गुरुर्भणति-अहमपि क्षामयामि दैवसिकं व्यतिक्रमं, प्रमादोद्भवमित्यर्थः । ततो विनेयः प्रणम्यैवं क्षामयित्वा लोचनार्हेण च प्रतिक्रमणार्हेण प्रायश्चित्तेनात्मानं शोधयन् अत्रान्तरे अकरणतयोत्थायाऽवग्रहान्निर्गच्छन् यथा यो व्यवस्थितस्तथा क्रियया प्रदर्शयन्नावश्यिक्येत्यादिकं दण्डकसूत्रं भणति । अवश्यं कर्तव्यैश्चरणकरणयोगैर्निर्वृत्ता आवश्यकी,तया आसेवनाद्वारेण हेतुभूतया, यदसाध्वनुष्ठितं तस्य प्रतिक्रमामि निवर्तयामीत्यर्थः । इत्थं सामान्येनाभिधाय विशेषेण भणति-क्षमाश्रमणानां व्यावर्णितस्वरूपाणां संबन्धिन्या दैवसिक्या दिवसेन निर्वृत्तया ज्ञानाद्याशातना तया, किं विशिष्टया ?, त्रयस्त्रिंशदन्यतरया । आशातनाश्च यथा दशासु तथा द्रष्टव्याः । अत्रैव वाऽनन्तराध्ययने तथा द्रष्टव्या-" ताओ पुण तेत्तीसं पि आसायणाओ इमासु चउसु मूलासायणासु समोयरंति । तं जहा-दव्वासायणाए दव्वासायणाराइणिएण समं भुंजंतो मणुन्नं असणं पाणं अप्पणो भुंजति, एवमुवहिसंथारगादिसु वि, खेत्तासायणा आसन्नं गंता भवति राइणियस्स । कालासायणा राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स तुसिणीए चिट्ठइ । भावासायणा आयरियं तुमं तुमं ति वत्ता भवति । एवं तेत्तीसं पि चउसु दव्वादिसु समोयरंति"। यत् किञ्चिन्मिथ्यया यत्किञ्चिदाश्रित्य मिथ्यया, मनसा दुष्कृता मनोदुष्कृता, तया, प्रद्वेषनिमित्तयेत्यर्थः । वाग्दुष्कृतया असाधुवचननिमित्तया, कायदुष्कृतया आसन्नगमनादिनिमित्तया, क्रोधयेति क्रोधवत्येति प्राप्ते अर्शादेराकृतिगणत्वाद् अच्प्रत्ययान्तत्वात्क्रोधया क्रोधानुगतया, मानया मानानुगतया, मायया मायानुगतया, लोभया लोभानुगतया । अथ भावार्थः-क्रोधानुगतेन या काचिद्विनयभ्रंशादिलक्षणा आशातना कृता तयेति; एवं दैवसिकी भणिता । अधुनेह भवान्यभवगतातीतानागतकालसंग्रहार्थमाह-सर्वकालेनातीतादिना निर्वृत्ता सार्वकालिकी, तया । सर्वे एव मिथ्योपचारा मातृस्थानगर्भाः क्रियाविशेषा यस्यामिति समासः, तया, सर्वधर्म्मा अष्टौ प्रवचनमातरः तासामतिक्रमणं लङ्घनं यस्याः सा सर्वधर्मातिक्रमणा, तया, एवंभूतया आशातनया इति निगमयति, यो मयाऽतिचारः अपराधः कृतो निर्वर्तित ,तस्यातिचारस्य हे क्षमाश्रमण ! युष्मत्साक्षिकं प्रतिक्रम्य पुनः करणतया निवर्तयामीत्यर्थः । तथा दुष्टकर्मकारिणं निन्दाम्यात्मानं प्रशान्तेन भवोद्विग्नेन चेतसा, तथा गर्हाम्यात्मानं युष्मत्साक्षिकं, व्युत्सृजाम्यात्मानं दुष्टकर्मकारिणम् । तदनुमतित्यागेन सामायिकानुसारेण च निन्दादिपदार्थो न्यक्षेण वक्तव्यः । एवं क्षामयित्वा पुनस्तत्रस्थ एवार्द्धावनतकाय एवं भणति-" इच्छामि खमासमणो !" इत्यादि सर्वं द्रष्टव्यमित्येवम्, नवरमयं विशेषः-" खामेमि खमासमणो !" इत्यादि सर्वं सूत्रमावश्यिक्या विरहितं तत्पादपतित एवं भणति । शिष्यासंमोहार्थं सूत्रस्पर्शिकगाथां स्वस्थाने

वासकंसवूसरयवरकणगरयणमादिपडिय " । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं द्रव्यम् । प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । अस्य पदद्वयत्वमते अकिञ्चित्कर इत्यादौ "सह सुपा" । २ । १ । ४ । इति समास इति बोध्यम् । इदंतया निर्देष्टुमशक्यत्वमेव किञ्चित्त्वम् । वाच० ।

किंजक्क–किञ्जल्क–पु० । किञ्चित् जलति । जल अपवारणे, कः, तस्य नेत्वम् । पुष्पकेशरे, पुष्परेणौ, नागकेशरे च । पद्ममध्यस्थे केशाकारे पदार्थे, वाच० । कुसुमासवलोला किञ्जल्कलम्पटा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

किंजक्खा–देशी– शिरीषे, दे० ना०२ वर्ग ।

किंजोणिय–कियोनिक–त्रि० । का योनिः उत्पत्तिस्थानं येषां ते कियोनिका । तेषां का योनिरितिप्रश्नविषयेषु, भ०१ श०६ उ० ।

किंणो–देशी–प्रश्ने, दे० ना०२ वर्ग ।

किंतु–किन्तु–अव्य० । पूर्ववाक्यसंकोचज्ञापने, प्रागुक्तविरुद्धार्थे, किंपुनरित्यर्थे च । वाच० । अभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने, स्था० ।

किंथुग्घ–किंस्तुघ्न–न० । बवादिकरणेष्वन्यतमे, आ० म० द्वि० । तच्च शुक्लपक्षप्रतिपदि भवति । विशे० । जं० । उत्त० । आ० चू० ।

किंधरो–देशी–लघुमत्स्ये, दे० ना० २ वर्ग ।

किंपओ–देशी–कृपणे, दे० ना०२ वर्ग ।

किंपज्जवसिय–किंपर्यवसित–त्रि० । कस्मिन् स्थाने निष्ठां गते, प्रज्ञा० ११ पद ।

किंपत्तिय–किंप्रत्यय–न० । किं कारणमाश्रित्येत्यर्थे, "किंपत्तिय णं भंते ! असुरकुमारा देवा वुड्ढिकायं पकरेंति" । भ०१४ श०५ उ० ।

किंपरिणाम–किम्परिणाम–त्रि० । किमाहारितं सत् परिणामयतीति प्रश्नविषये, भ० १४ श० ६ उ० ।

किंपहव–किंप्रभव–त्रि० । कस्मात्प्रभव उत्पादो यस्य तत् । सत्येऽपि मौले कारणे पुनः कस्मात् कारणान्तरादुत्पद्यत इति प्रश्नविषये, प्रज्ञा० ११ पद ।

किंपाग–किम्पाक–न० । कुत्सितः पाको यस्य । महाकाललतायाम्, वाच० । " किंपागफलमिव मुहमहुराओ " किम्पाकफलमिव मुखे आदौ मधुरा महाकामरसोत्पादिकाः पर पश्चाद्विपाकदारुणाः, ब्रह्मदत्तचक्रिवत् (स्त्रिय.) न० ।

किंपागफलोवम–किम्पाकफलोपम–त्रि० । त्रपुषीफलनिबन्धनकटौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

किंपुरिस–किम्पुरुष–पु० । रत्नप्रभायाः उपरि योजनसहस्रवर्तिव्यन्तरनिकायाष्टकमध्यगतषष्ठनिकायरूपे व्यन्तरविशेषे, ज० १ वक्ष० । स० । भ० । अनु० । ते च दश । प्रज्ञा० १ पद । औ० । स्था० । सत्पुरुषो महापुरुषश्चैषामिन्द्रौ । भ० ३ श० ८ अ० । प्रज्ञा० । बलिनो वैरोचनेन्द्रस्य रथानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० २ उ० । देवगायके, स च अश्वाकारजघनः नराकारमुखः । वाच० ।

किंपुरिसकंठ–किम्पुरुषकण्ठ–पुं० । किम्पुरुषकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, " भद्दसयं किंपुरिसकठाण " रा० । जी० ।

किंपुरिससंघाड–किम्पुरुषसंघाट–पु० । किंपुरुषयुग्मे, संघाटशब्दो युग्मवाची । ज० १ वक्ष० ।

किंपुरिसुत्तम–किम्पुरुषोत्तम–पु० । किन्नरभेदे, प्रज्ञा०१ पद ।

किंभय–किंभय–त्रि० । कस्माद् भयमेषां ते किम्भयाः । कुतो बिभ्यतु, स्था० ।

अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे गोयमाई समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी–किंभया पाणा समणाउसो !, गोयमाई समणा निग्गंथा समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति, उवसंकमित्ता वंदंति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–णो खलु वयं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं जाणामो वा, पासामो वा । तं जहा–जइ णं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं नो गिलायंति परिकहेत्तए तमिच्छामो णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तए अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे गोयमाई समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी–दुक्खभया पाणा समणाउसो !, से णं भंते ! दुक्खे केण कडे ?, जीवेण कडे पमाएणं, से णं भंते ! दुक्खे कहं वेइज्जंति ? अप्पमाएणं ।

(समणाउसो त्ति) हे श्रमणाः ! हे आयुष्मन्तः ! इति गौतमादीनामेषामन्त्रणमिति । अयं च भगवतः प्रश्नः शिष्याणां व्युत्पादनार्थं एवानेनापृच्छतोऽपि शिष्यस्य हिताय तत्त्वमाख्येयमिति ज्ञापयति । उच्यते च–

" कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिं चऽपुट्ठा वयंति आयरिया ।
सीसाण तु हियट्ठा, विउलतराग तुऽपुच्छाए " ॥ १ ॥

ततश्च (उवसंकमंति त्ति) उपसङ्क्रामन्ति उपगच्छन्ति तस्य समीपवर्तिनो भवन्ति । इह च तत्कालापेक्षया क्रियाया वर्तमानत्वमिति वर्त्तमाननिर्देशो न दुष्टः । उपसङ्क्रम्य वन्दन्ते स्तुत्या, नमस्यन्ति प्रणामतः, एवमनेन प्रकारेण (वयासि त्ति) गाम्भ सत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमिति । अवादिषुरुक्तवन्तः । णो जानीमो विशेषतो, नो पश्यामः सामान्यतः । वाशब्दौ विकल्पार्थौ, तदिति तस्मादेतमर्थं किंभयाः प्राणा इत्येवंलक्षणं । [णो गिलायति त्ति] न ग्लायन्ति न श्राम्यन्ति परिकथयितुं परिकथनेन [त ति] ततो [दुक्खभय त्ति] दुःखान्मरणादिरूपाद्भयमेषामिति दुःखभयाः [से ण ति] तद् दुःखं [जीवेण कडे त्ति] दुःखकारणकर्मकरणाद् जीवेन कृतमित्युच्यते । कथमित्याह–(पमाएण ति) प्रमादेनाज्ञानादिना बन्धहेतुना कारणभूतेनेति ।

उक्तं च–

" पमाओ य मुणिंदेहिं, भणियो अट्ठभेयओ ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य ॥ १ ॥
रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो ।
जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ " ॥ २ ॥

तच्च वेद्यते क्षिप्यते, अप्रमादेन बन्धहेतुप्रतिपक्षभूतत्वादिति । अस्य च सूत्रस्य "दुक्खभया पाणा १ जीवेण कडे दुक्खे पमाएण २ अप्पमाएण वेइज्जइ " इत्येवंरूपप्रश्नोत्तरत्रयोपेतत्वात् त्रिस्थानकावतारो द्रष्टव्य इति, जीवेन कृतं दुःखमित्युक्तम् । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

किंमज्झ–किम्मध्य–त्रि० । किं मध्यं यस्य तत् किम्मध्यम् । किंशब्दस्याक्षेपार्थत्वात् असारे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

किंसंठिय–किंसंस्थित–त्रि० । किं संस्थितं संस्थानं संस्थितिर्यस्याः सा किंसंस्थिता । च० प्र० ४ पाहु० । केन कारणेन संस्थितानां कस्येव संस्थानमस्या इति भावः । प्रज्ञा० ११ पद ।

किंसुय-किंशुक-पुं० । किञ्चित् शुक इव शुकतुण्डाभपुष्पत्वात् पलाशे, वाच० । स्था० । अनु० । रा० । औ० । पलाशकुसुमे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

किंसुयफुल्ल-किंशुकपुष्प-न० । पलाशकुसुमे, स्था० ८ ठा० ।

किंसुयफुल्लसमाण-किंशुकपुष्पसमान-त्रि० । रक्ततया पलाशकुसुमसमाने, " किंसुयफुल्लसमाणाणि उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाइं " स्था० ७ ठा० ।

किंसुयवण-किंशुकवन-न० । पलाशवने, रा० ।

किच्चंत-कृत्यमान-त्रि० । छिद्यमाने, पीड्यमाने च । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

किच्च-कृत्य-त्रि० । उचितकार्ये, उत्त० १ अ० । कार्ये, तं० । कर्त्तव्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । तं० । नि० चू० । प्रयोजने, नित्यकरणीये च । " किच्चाइं करणिज्जाइं । " उचितानुष्ठाने, उत्त० १ अ० । अनुष्ठाने, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । सूत्र० । विहितानुष्ठाने, प० व० ४ द्वार । कर्त्तव्यानि, प्रयोजनानीत्यर्थः । अथवा कृत्यानि नैत्यिकानि, करणीयानि कादाचित्कानि । ज्ञा० ३ अ० । कृत्य करणीय पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दकारी व्यापारः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । " पडिसिद्धाण करणे किच्चाणमकरणे " कृत्यानामासेवनीयानां कालस्वाध्यायादीनां योगादीनामकरणेऽनिष्पादनेऽनासेवने । आव० ४ अ० । कृतिं वन्दनक तदर्हति कृत्याः, दण्डादित्वाद् यप्रत्यय । अर्थात् आचार्यादिषु,उत्त० १ अ० । " न पिट्ठओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ " । उत्त० १ अ० । व्याकरणप्रसिद्धे पाणिन्यादिपरिभाषिते तव्यादौ तव्यत्तव्यानीयर्यत्केलिमाख्ये प्रत्यये, वाच० । कृत्य कर्त्तव्य सावद्यानुष्ठान, तत्प्रधानः कृत्यः । गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

किच्चकर-कृत्यकर-पु० । ग्रामकृत्ये नियुक्ते ग्रामव्यापके, नि० चू० २ अ० । बृ० ।

किच्चा-कृत्या-स्त्री० । कृ क्यप् टाप् । " ह्रस्वःपादौ " ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । व्यभिचारक्रियाजन्येऽभिचारोद्देश्यनाशके, देवादिमूर्त्तिभेदे च । सा च वैदिकाद्यभिचारक्रियाजन्या अदृष्टविशेषनिर्वर्त्या देवादिमूर्त्तिरूपतयोत्पद्य अभिचारोद्देश्य पुरुष निहत्य नश्यतीति अथर्ववेदे प्रसिद्धम् । वाच० ।

कृत्वा-स्त्री० । उपादायेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विधायेत्यर्थे, हिंसित्वेत्यर्थे च । वाच० ।

किचि-कृत्ति-स्त्री० । कृत्यते कृत कर्मणि क्तिन् " कृत्तिचत्वरे चः " ।८।२।१२। इति संयुक्तस्य चः । " अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् । ८ । २ । ८९ । इत्यादेशस्य चस्य द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । मृगादिचर्मणि, कृत्तिवासासि, त्वचि, भूर्जपत्रे, कृत्तिकानक्षत्रे च । गृहे, वाच० ।

किच्चोवएसग-कृत्योपदेशक (ग)-पुं० । कृत्यं करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दव्यापारस्तस्योपदेशः, तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः, कृत्योपदेशका वा । गृहिकृत्योपदेष्टृषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

किच्चोवएसिय-कृत्योपदेशिक-पु० । कृत्यं कर्त्तव्यं कर्त्तव्यानुष्ठानं तत्प्रधाना कृत्या गृहस्थाः, तेषामुपदेशः संरम्भसमारम्भारम्भरूप, स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः । सावद्यगृहिव्यापारे प्रवर्त्तकेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । " हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएस (सि) गा । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

किच्छ-कृच्छ्र-पु० । न० । कृत रक्, ऋतोऽन्तादेशः " ह्रस्वःपादौ " ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । वाच० । स्वनामख्याते व्रते, द्वा० ।

संतापनादिभेदेन, कृच्छ्रमुक्तमनेकधा ।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु, हन्त ! संतारणं परम् ॥१७॥

(संतापनादीति) संतापनादिभेदेन कृच्छ्र कृच्छ्रनामकं तपोऽनेकधोक्तम् , आदिना पादसंपूर्णकृच्छ्रग्रहः । तत्र संतापनकृच्छ्र यथा-" त्र्यहमुष्ण पिबेदम्बु, त्र्यहमुष्णं घृत पिबेत । त्र्यहमुष्ण पिबेन्मूत्र, त्र्यहमुष्ण पिबेत्पयः " इति । पादकृच्छ्रं त्वेतत्-" एकभक्तेन नक्तेन, तथैवायाचितेन च । उपवासेन चैकेन, पादकृच्छ्र विधीयते" इति । सम्पूर्णकृच्छ्र पुनरेतदेव चतुर्गुणितमिति । अकृच्छ्रादकष्टादतिकृच्छ्रेषु नरकादिपातफलेष्वपराधेषु, हन्तेति प्रत्यवधारणे, संतारण संतरणहेतु परं प्रकृष्ट प्राणिनाम् ॥१६॥ द्वा० १२ द्वा० । यो० बिं० । कष्टे, दुःखे, कष्टसाध्ये, कष्टयुक्ते च । त्रि० । वाच० । "परं किच्छेण जणो सो अतीव विसमो" आ० म० द्वि० । पापे, न० । मूत्रकृच्छ्ररोगे, पु० । कृच्छ्र वेदयते सुखा० क्यङ् । पापचिकीर्षायाम् , कृच्छ्राय पाप चिकीर्षति, सुखा० अस्त्यर्थे वा मतुप्, मस्य व., कृच्छ्रवत् पक्षे इनि । कृच्छ्रिन् । तद्युक्ते, त्रि० । वाच० ।

किच्छप्पाणगय-कृच्छ्रप्राणगत-त्रि० । कष्टे पतितप्राये, " किच्छप्पाणगए दिसो दिसिं पमिसेहित्था । " भ० ७ श० ६ उ० ।

किच्छलब्भ-कृच्छ्रलभ्य-त्रि० । दुर्लभे दुष्प्रापे, स्था० ६ ठा० ।

किच्छवित्ति-कृच्छ्रवृत्ति-स्त्री० । दुर्गमे, दुःखेन गमने, दुःखेन गम्यमाने च । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

किज्जंत-क्रियमाण-त्रि० । मूल्येन गृह्यमाणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

किट्ट-किट्ट-न० । किट् क्तः इडभावः । धातूनां मले, तैलादधोभागस्थे मले च । वाच० । लोहादिमले, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

किट्टइत्ता-कीर्तयित्वा-अव्य० । गुरु प्रति विनयपूर्वकं मया भवदन्त्य सकाशात् सम्यक् प्रकारेण सम्पूर्णमधीतमिति कथनेन कीर्त्तन कृत्वेत्यर्थे, " किट्टइत्ता सोहइत्ता आराहित्ता " उत्त० २९ अ० । आविर्भावयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । यथावस्थितान् भावान् प्रतिपादयित्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

किट्टण-कीर्तन-न० । कृत कीर्त्तादेशः । चौरा० कीर्त० वा, भावे ल्युट् । वाच० । कीर्त्तन नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा, सा भगवती सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पूज्या द्वीपत्राणं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि । एवं सर्वेषामपि प्रश्नव्याकरणश्लोकान् गुणान् कीर्त्तयति, बृ० ३ उ० । सूत्रार्थकथने, बृ० ३ उ० ।

किट्टि–किट्टि–स्त्री० । एकोत्तरां वृद्धिं त्याजयित्वाऽनन्तगुणहीनैकैकवर्गणास्थापनेन योगस्याल्पीकरणे,आ० म० द्वि० । "अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणूणविभयण किट्टी" अपूर्वया विशुद्ध्याऽनुभागस्योनस्योनस्य एकोत्तरवृद्धित्याजनेन हीनस्य हीनतरस्य यद् विभजनं सा किट्टिः । किमुक्तं भवति?–पूर्वस्पर्द्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यवस्थानं यथा यासां वर्गणानामसत्कल्पनया अनुभागानां शतमेकोत्तरमेकोत्तरं चाऽसीत्,तासामनुभागानां यथाक्रमं पञ्चविंशतिः पञ्चदशक पञ्चकमिति ताः किट्टयः । प० स० १२ द्वार । कर्म० ।

किट्टिघोस–कीर्तिघोष–न० । स्वनामख्याते विमानभेदे,स०६सम० ।

किट्टित्ता–कीर्तयित्वा–अव्य० । अन्येभ्यः उपदिश्येत्यर्थे, कल्प० ए क्षण ।

किट्टिय–कीर्तित–त्रि० । कृतः कीर्तादेशे क्तः । व्यावर्णिते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । कथिते, प्रतिपादिते च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "सत्त सत्त मियाण भिक्खुपडिमा अहाकप्पं फासिया तीरिया किट्टिया जाव आराहिया भवइ" कीर्तिता नामत इदं चेदं च कर्तव्यमस्यां तत्कृतं मयेत्येवमिति । स्था० १० ठा० । कीर्तिता पारणकदिनेऽयमथ चाभिग्रहकविशेष० कृत आसीदस्यां प्रतिमायां स चाराधित एवाधुना मुत्कलोऽहमिति गुरुसमक्षं कीर्तनात् । स्था० ७ ठा० । दशा० । आ० चू० ।

किट्टिया–कीटिका–स्त्री० । साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । अनन्तजीवविशेषे,भ०७श०२उ० ।

किट्टिस–किट्टिस–न० । खलांशे, अरसांशे, अनु० । सूत्रभेदे, ऊर्णादीनां यदुद्धरितं किट्टिसं तन्निष्पन्नं सूत्रमपि किट्टिसम्, अथवा एतेषामेवोर्णादीनां द्विकादिसंयोगनिष्पन्नं सूत्रं किट्टिसम्, अथवा उक्तशेषपश्वादिजीवलोमनिष्पन्नं किट्टिसम् । अनु० । विशे० । आ० म० ।

किट्टिसिय–किट्टिसिक–पुं० । प्राणकादौ, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

किट्टीकय–किट्टीकृत–त्रि० । श्लक्ष्णीकृते, प्रव० ७९ द्वार ।

किट्ठ–कृष्ट–त्रि० । कृष कर्मणि क्तः । हलविदारिते, पिं० । भावे न० । कर्षणे, तत दृढा० भावे इमनिच् । ऋतो रः । क्रष्टिमन् । कृष्टत्वे, कर्षणे, पु० । वाच० ।

किमि–किरि–पुं० । स्त्री० । "किरिभेरे रो मः" । ८ । १ । ५२ । इति रस्य मः । शूकरे, प्रा० १ पाद ।

किमिकिडिया–किटिकिटिका–स्त्री० । निर्मांसास्थिसंबन्धिनि उपवेशनादिक्रियासमुत्थे शब्दविशेषे, भ० २ श० १ उ० ।

किमिकिडियाभूय–किटिकिटिकाभूत–त्रि० । किटिकिटिकां भूतः प्राप्तो यः स किटिकिटिकाभूतः । कृशत्वादुपवेशनादिक्रियासमये शब्दायमानास्थिके, भ० २ श० १ उ० ।

किडिभ–किटिभ–पुं० । किटिरिव भाति कृष्णत्वात् । भा–कः । केशकीटे, सर्पदंशनोपद्रवभेदे, न० । तल्लक्षणं तन्त्रोक्तं यथा– "यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु, तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं वदन्ति" वाच० । इत्युक्तलक्षणे क्षुद्रकुष्ठविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० । "किडिभं अंघासु कासं तं रसिय वहति" नि० चू० १ उ० ।

किडी–किटी–स्त्री० । स्थविरश्राविकायाम्, बृ० २ उ० । शूकरे, पुं० । दे० ना० २ वर्ग ।

किडंत–क्रीडत्–त्रि० । अन्तर्भूतकारितार्थत्वात् अन्यान् क्रीडयति, भ० १३ श० ६ उ० ।

किड्डा–क्रीडा–स्त्री० । क्रीड भावे अः । प्रमोदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनादिकायां बहुकएडुकादिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "सहस्स दप्प रतिं किड्डं, सह भुत्तासणाणि य" उत्त० १६ अ० । नि० चू० । सारिचतुरङ्गद्यूताद्यायां क्रियायाम्,जीत० । क्रीडाप्रधानायां दशायाम्, 'बाला किड्डा मंदा' इति दशदशास्विय द्वितीया । तं० ।

किड्डापरिहार–क्रीडापरिहार–पुं० । सर्वद्यूतान्दोलकजलकुक्कुटयुद्धादिवर्जने, दर्श० ।

किड्डारतिपत्तिय–क्रीडारतिप्रत्यय–न० । क्रीडायां रतिरानन्दः क्रीडारति ,अथवा क्रीडा च रतिश्च क्रीडारती,सा,ते वा,प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम् । भ० १३ श० ६ उ० । क्रीडारूपा रतिः,अथवा क्रीडा च खेलनं, रतिश्च निधुवनं क्रीडारती, सैव, त एव वा प्रत्ययः कारणं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम् । क्रिडानिमित्तके, "किं पत्तिय णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुकायं पकरेंति ? । गोयमा ! किड्डारतिपत्तिय वा" । भ० १४ श० २ उ० ।

किढि–कृष्टि–पुं० । कृष्यते इति कृष्टिः । संभोगाय प्रतिरिक्ते स्थाने नीयमाने, "लिंगविवेगं काउं, सड्ढिकिढी पव्वावितो" व्य० ३ उ० । स्थविरे, बृ० १ उ० । आव० । आ० चू० ।

किढिण–कितिन–न० । वंशमये तापससम्बन्धिनि भाजनविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० ।

किढिणपडिरूवग–किठिनप्रतिरूपक–न० । किठिनं वंशमयस्तापससम्बन्धी भाजनविशेषः, तत्प्रतिरूपके किठिनाकारे वस्तुनि, "एगं महं आयसं किढिणपडिरूवगं विउव्वित्ता" भ० ७ श० ए उ० ।

किढिणसंकाइय–किठिनसाङ्कायिक–न० । किठिनं वंशमयस्तापसभाजनविशेषः,ततश्च तयोः साङ्कायिकं भारोद्वहनयन्त्रं किठिनसाङ्कायिकम् । कावडे, 'कावड' इति प्रसिद्धेऽर्थे, भ० ११ श० ए उ० ।

किढिय–किठिक–पुं० । स्थविरे, बृ० १ उ० ।

किणं–क्रीणत्–त्रि० । किञ्चित् क्रयेण गृह्णाति "से किण किणावेमाणे हण घायमाणे" सूत्र० २ श्रु० १ उ० ।

किण–किण–पुं० । कण गतौ अच्, पृषो० अत इत्वम् । शुष्कव्रणे, मांसग्रन्थौ, घर्षणजे चिह्ने च । वाच० । आचा० ।

किणण–क्रयण–न० । मूल्येन ग्रहणे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

किणावेमाण–क्रापयत्–त्रि० । क्रयेण परं ग्राहयति, "से किण किणावेमाणे" सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

किणिय–किणिक–पुं० । जुङ्गितजातिभेदे, ये वादित्राणि

परिणयन्ति,वध्यानां च नगरमध्ये नीयमानानां पुरतो वादयन्ति। व्य० ३ उ० । " किरियाउ वरत्ताओ वलिंति " पं० चू० ।

किरित-न० । वाद्यभेदे, रा० ।

किणो-अव्य० । प्रश्ने, "किणो प्रश्ने" । ८ । २ । २१६ । किणो इति प्रश्ने प्रयोक्तव्यम् । " किणो धुवसि " प्रा० २ पाद । कस्मात्, किं ङसि " किमो डिणोडीसौ " । ८ । ३ । ६८ । इति ङसेर्डिणादेशः । कुत इत्यर्थे, प्रा० ३ पाद० ।

किण्ण-किण्व-न० । सुराबीजे, पापे च । वाच० । अनन्तजीविकवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

कीर्ण-त्रि० । कॄ-क्तः । क्षिते, स्था० ६ ठा० । प्रश्न० । आच्छन्ने, निहिते, विक्षिते, हिंसिते च । वाच० ।

किष्णअ-क्लिन्न-त्रि० । आर्द्रे, प्रा० ४ पाद ।

किण्णपुडसंठाणसंठिअ-किण्वपुटसंस्थानसंस्थित-त्रि०। सुरागोणकरूपतत्पुसकिण्वप्रभृतगोणीपुटद्वयसंस्थानसंस्थिते,उत्त०२अ०।

किण्णपुत्तग-क्रीतपुत्रक-पुं० । दत्तकराजपुत्रे, आ० चू० ४ अ० ।

किण्णर-किन्नर-पुं० । रत्नप्रभाया उपरितनयोजनसहस्रवर्तिव्यन्तरनिकायाष्टकमध्यगतपञ्चमनिकायरूपे व्यन्तरविशेषे, जं० १ वक्ष० । कल्प० । नं० । प्रज्ञा० । रा० । उत्त० । अनु० । ज्ञा० । 'किन्नरा' इत्यादि किन्नरा दशविधाः । तद्यथा-किन्नरा १ किंपुरुषा. २ किंपुरुषोत्तमाः ३ किन्नरोत्तमाः ४ हृदयगमा. ५ रूपशालिन. ६ अनिन्दिताः ७ मनोरमाः ८ रतिप्रियाः ९ रतिश्रेष्ठा १० । चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरराजस्य रथानीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा०४उ० । वाद्यविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । श्रीधर्मस्य तीर्थकरस्य शासनयक्षे, स च त्रिमुखो यक्षः रक्तवर्ण कूर्मवाहन. षड्भुजो बीजपूरकगदाऽभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो नकुलपद्माऽक्षमालायुक्तपाणित्रयश्च । प्रव० २६ द्वार । उत्तराहाणां द्वीपकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

किण्णरकंठ-किन्नरकण्ठ-न० । किन्नरकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

किण्णरगेज्जसवण-किन्नरगेयश्रवण-न० । दिव्यगीतश्रवणे, घो० ११ विव० ।

किण्णरसंघाम-किन्नरसङ्घाट-पुं० । किन्नरयुग्मे, सघाटशब्दो युग्मवाची, जं० १ वक्ष० ।

किण्हं-दर्शी-शोभमाने. दे० ना० २ वर्ग ।

किण्ह-कृष्ण-पुं० । वर्णविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । औ० । रा० । " एके किण्हे " स्था० १ ठा० १ उ० । कृष्णवर्णयुक्ते, सू० प्र० २० पाहु० । कालवर्णे, औ० । प्रश्न० । कृष्णेनाष्टादशसहस्रसाधूनां वन्दनकानि दत्तानि, तानि किं लब्ध्या,अन्यथा वा ?, यदि लब्ध्या तदा वीराशालविकस्यापि तथैव,अन्यथा वेति प्रश्ने,उत्तरम-कृष्णेन सहस्रादिपरिवारसहित थावच्चापुत्रादीनामग्रेसराणा वन्दनकानि दत्तानि, तदनुयायिसमस्तपरिवारस्यापि तानि समागतान्येव, ततो मनसा त्वष्टादशसहस्रसाधूनां दत्तान्येव, यदीत्थं न कथ्यते तदा वेला न प्राप्नोति, यतो दिनमान तदा महन्नाभूत, तथा कृष्णस्यापि वन्दनकदानलब्धिर्ज्ञाता नास्ति,तस्माद्वीराशालविकस्य वन्दनकदाने न काऽप्याशङ्केति ज्ञेयम । ११७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

किण्हकन्गुअ-कृष्णकङ्गुक-न०।कृष्णवर्णे कङ्गुफले,स०१सम०।

किण्हकरवीर-कृष्णकरवीर-पुं० । कृष्णे वृक्षभेदे, रा० ।

किण्हकेसर-कृष्णकेशर-पुं० । कृष्णबकुले, रा० ।

किण्हगंग-कृष्णगङ्ग-पुं० । सप्तमे वासुदेवस्याचार्ये, ति० ।

किण्हचामरज्झय-कृष्णचामरध्वज-पुं० । कृष्णवर्णचामरयुक्तध्वजे, औ० । रा० । ज० ।

किण्हच्छाय-कृष्णच्छाय-त्रि० । कृष्णा छाया आकार सर्वाविसंवादितया येषां ते तथा । सर्वान् प्रति कृष्णाकारेषु, रा० ।

किण्हच्छाया-कृष्णच्छाया-स्त्री० । आदित्यावरणजन्ये वस्तुविशेषे, औ० ।

किण्हपक्खिय-कृष्णपाक्षिक-पुं० । "जेसिमवड्ढो पोग्गल-परियट्टो होइ ससारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, इयरेसु किण्हपक्खीय" इत्युक्तलक्षणे शुक्लपाक्षिकव्यतिरिक्ते, स्था० १ ठा० १ उ० ।

किण्हपत्त-कृष्णपत्र-पुं० । चतुरिन्द्रियसमूर्च्छिमनपुंसके चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा १ पद । जी० ।

किण्हबंधुजीव-कृष्णबन्धुजीव-पुं०।कृष्णवर्णे बन्धुजीववृक्षे,रा०।

किण्हमिगाइण-कृष्णमृगाजिन-न० । कृष्णहरिणचर्मणि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ० ।

किण्हलेस्सा-कृष्णलेश्या-स्त्री० । कृष्णादिद्रव्योपाधिकजीवपरिणामविशेषे, पा० ।

किण्हवासुदेव-कृष्णवासुदेव-पुं० । पाण्डवचरित्रे आश्विनसिताष्टम्यां कृष्णजन्मोक्तम, नेमिचरितादौ लोकोक्तौ च श्रावणासिताष्टम्यामिति, कथमनयो. सगतिरिति प्रश्ने ?, उत्तरम-अत्र मतान्तर ज्ञेयमिति । ६१ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

किण्हसप्प-कृष्णसर्प-पुं० । सर्पजातिविशेषे, जं० १ वक्ष० । रा० ।

किण्हसिरी-कृष्णश्री-स्त्री० । श्रीकुन्थुनाथस्य भार्यायाम्, स० ।

किण्हा-कृष्णा-स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेण वहन्त्या रक्ताया महानद्या समर्पिकायां महानद्याम्, स्था० १० ठा० ।

किण्होभास-कृष्णावभास-त्रि० । कृष्णोऽवभासो येषां ते कृष्णावभासा. । रा० । कृष्णप्रभेषु, कृष्णा एवावभासतः कृष्णावभासाः । औ० । ज्ञा० ।

कित्त-कीर्त्त-पुं० । संशब्दने, आ० चू० २ अ० । 'कृत' संशब्दने, "उपधायाश्च" ।७।१।१०१। इति (पाणि०) ऋत इद् रपरत्वम् । उपधाया चेति दीर्घ । वाच० । "अरिहंते कित्तइस्स,चउव्वीस पि केवली" । कीर्त्तयिष्ये नामोच्चारणपूर्वक स्तोष्ये । ध० २ अधि० । कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि । आ० म० प्र० । संशब्दयिष्यामि । आ० चू० २ अ० । कीर्त्तयिष्ये अभिधास्ये । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " कित्तइस्सामि परूविस्सामि पन्नवेस्सामि पगडा" । आ० चू० १ अ० । पारणकदिने इद वेद चैतस्या. कृत्यं कृतमित्येव कीर्त्तनात् । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

कित्तण-कीर्त्तन-न० । संशब्दने, व्य० ७ उ० । गुणोच्चारणस्य करणे, उत्त० ३१ अ० ।

कित्ति-कीर्त्ति-स्त्री० । कीर्त्तन कीर्त्तिः । अहो पुण्यभागित्येवं लक्षणे, आव० ३ अ० । सर्वदिग्व्यापिनि साधुवादे, स्था० १० ठा० । प्र० । कीर्त्तने, संशब्दने, श्लाघने च । कर्म० १ कर्म० । दानपुण्यफलायाम, एकदिग्गामिन्यां वा (कर्म० ६ कर्म०) प्रसिद्धौ, स्था० ८ ठा० । प्रश्न० । प० सं० । औ० । आ० म० । भ० । सूत्र० । श्लाघायाम, ष० १२ विव० । गुणोत्कीर्त्तनरूपायां प्रशंसायाम्, प० सं० ३ द्वार । सर्वत्र शुभप्रवादे, दश ७ अ० । कीर्त्यो उपलक्षितः " तहेव विजओ राया, अणट्ठा कित्तिपव्वए " उत्त० १८ अ० । पञ्चमगाणहिंसायाम्, तस्या. ख्यातिहेतुत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब०द्वार । केसरिमहाह्रदाधिपतिदेवतायाम्, नीलवति केसरिह्रदे कीर्तिदेवता । स्था० २ ठा० ३ उ० । नीलवद्वर्षधरपर्वतस्थे केशरिह्रदसुरीकूटे, जं० ४ वक्ष० । स्था० । सौधर्मे कल्पे कीर्त्यवतंसकविमानदेव्याम् , नि० । (तत्पूर्वभववक्तव्यता निरयावलिकादीनां चतुर्थवर्गस्य पुष्पचूलिकायां चतुर्थेऽध्ययने सूचिता, तत्रैवोक्ते श्रीदेवीवक्तव्यतयाऽवगन्तव्या) विस्तरे, कर्दमे च । वाच० ।

कित्तिकर-कीर्त्तिकर- त्रि० । सर्वदिग्व्यापिसाधुवादकरे, तं० । ख्यातिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । श्रीऋषभनाथस्य चत्वारिंशत्तमे पुत्रे, तत्पालिते देशभेदे च । पुं० । कल्प० ७ क्षण ।

कित्तिचंद-कीर्त्तिचन्द्र-पुं० । स्वनामख्याते चम्पेश्वरे, ध० र० । (तत्कथा 'अक्कूर' शब्दे प्र० भा० १२६ पृष्ठे उदाहृता)

कित्तिधम्म-कीर्त्तिधर्म-पुं० । स्वनामख्याते राजभेदे, " सीहउरे नयरे कित्तिधम्मो नाम राया, तस्स कुमरुणीए देवीए धूयाऽहं पउमसिरी णामा एसा वि मज्झ वय सिया " । दर्श० ।

कित्तिधर-कित्तिधर-पुं० । स्वनामख्याते राजभेदे, यस्य भार्य्यायाः कोशलजनन्याः निरनुकम्पतायां कथा प्रसिद्धा । त० ।

कित्तिपुरिस-कीर्त्तिपुरुष-पुं० । कीर्त्तिप्रधाने पुरुषे, " एए खलु पडिसत्तू, कित्ति (त्ती) पुरिसाण वासुदेवाण " स्था० ६ ठा० आव० ।

कित्तिम-कृत्रिम-त्रि० । कर्तृकरणव्यापारसाध्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ० म० ।

कित्तिमई-कीर्त्तिमती-स्त्री० । अजितसेनाचार्य्यसत्कमहत्तरिकायाम्, यदन्तिके कण्डरीकयुवराजभार्या प्रव्रजिता । आ० क० । ("अलोभया" शब्दे प्र० भा० ७७५ पृष्ठे कथा उक्ता) आव० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिलब्धायां कीर्तिसेनकन्यायाम्, उत्त० १३ अ० । कीर्तियुक्ते, त्रि० । वाच० ।

कित्तिय-कीर्त्तित-त्रि० । स्वनामभिः प्रोक्तेषु, त० । आव० । "कित्तियवंदियमहिया,जे जे लोगस्स उत्तमा सिद्धा" कीर्त्तिता स्वनामभिः प्रोक्ताः वन्दितास्त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुताः, महिताः पुष्पादिभिः पूजिताः । ध० २ अधि० । नामत उपादेयधिया संशब्दिते, स्था० २ ठा० ४ उ० । निरूपिते, त० । कीर्तितं भोजनवेलायामसुक मया प्रत्याख्यातं तत्पूर्णमधुना भोक्ष्ये इत्युच्चारणेन शब्दिते विशुद्धे प्रत्याख्याने, प्रव० ४ द्वार । आव० ।

कीर्त्तिद-त्रि० । कीर्त्तिप्रदे, औ० ।

कियत्-त्रि० । किम्प्रमाणे, "कित्तिया सिद्धा" व्य० २ उ० । तं० ।

कित्तियमित्त-कियन्मात्र-त्रि० । कियत्प्रमाणे, त० ।

कित्तिविजय-कीर्त्तिविजय-पुं० । श्रीहीरविजयसूरिशिष्ये, कल्प० ।
" श्रीहीरसूरिसुगुरोः प्रवरौ विनेयौ,
जातौ शुभौ सुरगुरोरिव पुष्पदन्तौ ।
श्रीसोमसोमविजयाभिधवाचकेन्द्रः,
सत्कीर्त्तिकीर्तिविजयाभिधवाचकश्च " ॥ १ ॥ कल्प० ९ क्षण ।

कित्तिसेण-कीर्त्तिसेन-पुं० । ब्रह्मदत्तलब्धकन्यारत्नस्य पितरि, उत्त० १३ अ० ।

किध-कथम्-अव्य० । " कथयथातथां थादेरमेमेहेधा डितः " । ८ । ४ । ४०१ । इति थादेरवयवस्य डित् इधादेशः । केन प्रकारेणेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

किमस्स-किमश्व-पुं० । स्वनामख्याते राजभेदे, यः शक्रं समरे निर्जित्याऽपि शापशतोऽजगरो जातः । नि० चू० १ उ० । [इति 'धुत्तक्खाण' शब्दे वक्ष्यते]

किमाहार-किमाहार-त्रि० । किमाहारयन्तीति प्रश्नविषये, भ० १४ श० ६ उ० ।

किमि-कृ (क्रि) मि-पुं० । क्रम इन्, अत इत्वम् । "क्रमेः सम्प्रसारण च" ॥५७०॥ (उणादि) इत्यतः सम्प्रसारणमनुवृत्तौ "क्रमितमिशमिस्तन्नामत इश्च" ॥५७१॥ (उणादि) इति कृमिः । प्रन्यथा क्रिमि । क्षुद्रजन्तुभेदे, लाक्षायां,कृमियुक्ते,खरे, गर्दभे च । वाच० । विष्ठानीलक्षौ, त० । भाव० । सूत्र० । "किमिउप्पयतपगलंतपूयरुहिर" कृमिभिरुत्पद्यमानानि ऊर्ध्वं बध्यमानानि प्रगलत्पूयरुधिराणि यस्य स तथा तम् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

किमिच्छय-किमिच्छक-न० । कः किमिच्छति, यो यदिच्छति तस्य तद्दानम्, समयपरिभाषयैव किमिच्छकमुच्यते । इच्छादाने, आ० म० प्र० । दशा० । किमिच्छसि किमिच्छसीति पृच्छति प्रश्नकारके, भोजनार्थमाह्वानाय नियुक्ते भृत्यादौ, इच्छाविषयप्रश्नपूर्वके पृच्छानुरूपदेयमात्रेऽपि, वाच० ।

किमिण-कृमिण-त्रि० । कृमियुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "किमिणबहुदुरभिगंधेसु" प्रश्न० ५ सब० द्वार । कृमिरस्त्यस्य । कृमिवति, वाच० ।

किमिय-कृमिज-न० । " कोसेज्जपट्टमादी, जं किमिय तु पवुच्चति " इत्युक्तलक्षणे कौशेयादौ वस्त्रभेदे, प० भा० । प० चू० ।

किमिरागकंबल-कृमिरागकम्बल-पुं० । कृमिरागरक्ते वस्त्रे, प्रज्ञा० १७ पद ।

किमिरागरत्त-कृमिरागरक्त-न० । कीटजसूत्रभेदे, वस्त्रभेदे च । आ० म० । अत्र वृद्धव्याख्या-कस्मिंश्चिद् विषये मनुष्यादिशोणितं गृहीत्वा केनाऽपि योगेन युक्त भाजनसम्पुटे स्थाप्यते, तत्र च प्रभूताः कृमयः समुत्पद्यन्ते, ते च वातायनाभिलाषिणो भाजनच्छिद्रैर्निर्गत्य तदासन्न पर्यटन्तो लालाजालं प्रमुञ्चन्ति,तच्च कीलकेषु लग्नाः परिगृह्यन्ते, तत्कृमिरागं पट्टसूत्रमुच्यते । तच्च स्वकवर्णकृमिसमुत्पत्त्वात् स्वपरिणामत एव रक्तं भवति । अन्ये त्वभिदधति-यदा तत्र शोणिते कृमयः समुत्पन्ना भवन्ति तदा सकृमिकमेव तन्मलित्वा किट्टं सपरित्यज्य रसो गृह्यते, तत्र च कश्चिद्योगः प्रक्षिप्यते, तेन यद्रज्यते पट्टसूत्रं तत् कृमिरागमिति । तच्च धौताद्यवस्थास्वपि न मनागपि रागं मुञ्चति । प्रा० म० प्र० । अनु० । ये रुधिरकृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्तार्य तद्रसे किञ्चिद् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति, स

णी, शिक्षायाम्, पूजायाम्, समवधारणे, विवादविचाराद्ये साधने, सामाद्युपाये, वाच० । करोतीत्यादिके आख्याते, प्रव० ३ द्वार ।

(१) क्रियायाः स्वरूपनिरूपणम् ।
(२) क्रियाया निक्षेपः ।
(३) क्रियाया भेदनिरूपणम् ।
(४) स्पृष्टास्पृष्टत्वादिना प्राणातिपातक्रियां निरूप्य क्रियायाः सक्रियत्वमक्रियत्वं प्राणातिपातक्रियायाः प्रकारस्य च निरूपणम् ।
(५) मृषावादादिकमाश्रित्य क्रियाकरणप्रकारः ।
(६) एकत्वं स्थानान्यधिकृत्य एकत्वपृथक्त्वाभ्यां कर्मबन्धोपदर्शनम् ।
(७) सामायिकजीवादि वर्मं यावत् जीव कतिभिः क्रियाभिः समाप्नवतीति चतुर्विंशतिमाश्रित्यैतन्निरूपणम् ।
(८) चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणैतन्निरूपणम् ।
(९) मृगवधादानुगतस्य क्रियां निरूप्य क्रियाजन्यं कर्म तद्वेदना चाधिकृत्य क्रियानिरूपणम् ।
(१०) व्यामिश्रायतः क्रियां निरूप्य क्रियान्तराणां विषयनिरूपणम् ।
(११) श्रमणोपासकस्य क्रियाः कथयित्वा अनायुक्तं गच्छतोऽनगारस्य क्रियाप्ररूपणम् ।
(१२) सम्यक्त्वेन तस्योदमुत्क्षिपतः क्रियाः ।
(१३) वर्षाज्ञानार्थं हस्तादिप्रसारयतः क्रियां निरूप्य तालप्रलम्बं तत्फलं पातयतः क्रियानिरूपणम् ।
(१४) शरीराणि निर्वर्त्तयतः क्रियामुक्त्वा प्राणातिपातादिना क्रियमाणाया क्रियाया निरूपणम् ।
(१५) ज्ञानयुक्तेनापि क्रिया विधेयेति क्रियाऽष्टकम् ।

(१) क्रियायाः स्वरूपनिरूपणम्—

क्रिया च भावना उत्पादनानुकूलव्यापाररूपा साध्यत्वेनाभिधीयमानेति बोध्यम् । "व्यापारो भावना सैवो-त्पादना सैव च क्रिया" इति हर्युक्तेः "यावत्सिद्धमसिद्धं वा, साध्यत्वेनाभिधीयते। आश्रितक्रमरूपत्वात्, सा क्रियेत्यभिधीयते" इति । "साध्यत्वेन क्रिया तत्र, तिङ्पदैरभिधीयते" इति वाक्यपदीयाच्च। (यावदिति) सर्वमित्यर्थः । तदेव विवृणोति-(सिद्धमसिद्धं वेति) सिद्धं वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगि, तद्भिन्नमसिद्धम् । तच्च वर्त्तमानं भविष्यच्चेति द्विविधम् ; तेनापचत् पक्ष्यति पचतीत्यादौ सर्वत्र साध्यत्वेन असत्त्वरूपत्वेनाभिधीयमाना क्रियेति, क्रियाशब्दस्य रूढिरनेन दर्शितेति भावः । यौगिकत्वमप्याह-(आश्रितक्रमरूपत्वादिति) आश्रितः क्रमो रूपं यस्यास्तत्त्वात् , पूर्वापरीभूतावयवकत्वादित्यर्थः । तदीयावयवानामधिश्रयणाद्यधःश्रयेणपर्यन्तानां क्रमेणोत्पत्तेः क्रियापदेन तत्समुदायोऽभिधीयते । यत्र च न क्रमिको व्यापारोऽस्ति तत्र रूढिरादरणीयेति पौर्वापर्यारोपेण वा सर्वत्र फलस्य स्वजनकव्यापारगतपौर्वापर्यारोपवत् यौगिकत्वम् । अत एव फलमात्रबोधकस्यापि क्वचित् धातुत्वसिद्धिरिति फलितार्थः । इयांस्तु विशेषः-पाक इत्यादौ धातुना साध्यत्वेनोपस्थाप्यायाः क्रियायाः सिद्धक्रियारूपे घञर्थे विशेषणत्वम् , पचतीत्यादौ तु नैवमिति । अत एव-"साध्यत्वेन क्रिया तत्र, तिङ्पदैरभिधीयते" इति वाक्यपदीयकारिकाव्याख्यायां भूषणसारदर्पणे तिङ्पदैरित्येतत् तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा तिङन्तपदैर्धातुभिरित्यभिहितम् । तेन सर्वत्र धातोः

साध्यरूपक्रियाबोधकत्वम् । किञ्च-क्रमिकावयवानामेकदाऽसत्त्वेऽपि यत्किञ्चिदवयवसत्त्वकाले वर्त्तमानत्वव्यवहारः, अवयवावयविनोरभेदारोपात् । भूतभविष्यत्वव्यवहारस्तु सर्वेषामवयवानां भूतभविष्यत्वयोरेव, न तु यत्किञ्चित्क्रियाव्यक्तिभूतत्वादौ । उक्तञ्च वाक्यपदीये-

" गुणभूतैरवयवैः, समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः, क्रियेति व्यपदिश्यते" ॥१॥ इति ।

अस्यार्थः-क्रमिकतत्तद्व्यापारं प्रति गुणभूतैर्गुणभावेन भासमानैरवयवैरुपलक्षितः बुद्ध्या प्रकल्पितोऽभेदो यस्मिन् तद्रूपः क्रमजन्मनां व्यापाराणां समूहः क्रियेति । अत्र क्षणनश्वराणां व्यापाराणां मेलनासिद्ध्या बुद्ध्येत्युक्तम् । तथा च बुद्धिजन्यसंस्कारद्वारा तेषां मेलनसम्भव इति भाव. । अत एव भाष्ये क्रिया हि नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा पूर्वापरीभूतावयवा न शक्यते पिण्डीभूता निदर्शयितुमिति व्यापारसमुदायात्मिकायाः क्रियाया दर्शनायोग्यत्वोक्त्या तदवयवानां तद्विषयत्व व्यतिरेकमुखेन दर्शितम । तस्याश्चाभिन्नैकबुद्धिविषयतया एकत्वव्यवहार इत्यपि बोद्ध्यम् । अथवाऽनेकव्यापारव्यतिवृत्तिर्जातिरेव क्रियेति सिद्धान्तकल्प आदरणीयः; तस्याश्च व्यक्तिद्वारैव साध्यत्वम् । अस्ति च पचित्वादिक जातिः, पचतीत्याद्यनुगतव्यवहारात । तज्जातेश्चैक्यादेकत्वव्यवहार इति मन्तव्यम् । तदुक्तं वाक्यपदीये-"जातिमन्ये क्रियामाहु-रनेकव्यक्तिवर्तिनीम् । असाध्यां व्यक्तिरूपेण,सा साध्येत्यभिधीयते" इति। युक्तञ्चैतत् । सर्वत्रैव लाघवाज्जातिशक्तिस्वीकारेण पच्यादिधातूनामपि तत्रैव शक्तिरुचितेति दिक् । सा च क्रिया धातुवाच्या फलव्यापाराश्रयरूपा, तद्विशिष्टरूपा वा । "फलव्यापारयोर्धातु." इत्यभियुक्तवचनात । व्यवस्थापयिष्यते च मतभेदेन फलव्यापारयोः पृथक्.शक्त्या विशिष्टशक्त्या वा धातुवाच्यता । अत्र फलांशस्य कर्तुरुद्देश्यत्वेऽपि प्राधान्याभावात् व्यापारस्यैव प्राधान्यं समुचितम । तस्य च साध्यतया कर्मातिरिक्तसर्वकारकाणां तत्रैव स्वस्वव्यापारद्वारासाधकत्वेनान्वयः । कर्मणस्तु फल एव, क्रियाजन्यफलाश्रयतयैव तस्योद्देश्यत्वादिति विवेक. । उक्तं च वाक्यपदीये-

"प्राधान्यात्तु क्रिया पूर्व-मर्थस्य प्रविभज्यते ।
साध्यप्रयुक्तान्यङ्गानि, फल तस्याः प्रयोजकमिति" ।

अर्थस्य फलस्य तदपेक्षयेत्यर्थः । प्राधान्यात् विशेष्यत्वात् साध्य प्रयुक्त ये तानि साध्यसाधकानि अङ्गानि,कारकाणीत्यर्थः। अत्र फलस्य क्रियाप्रयोजकत्वाभिधानम, तदुद्देशेनैव क्रियायां प्रवृत्तिरित्येवाभिसधाय,तथा च सर्वो लोकः स्वाभीष्टफलमभिप्रेप्सुस्तत्साधनाय यतते,लभते च ततस्तत्फलमुपायससाधनेन । एव च क्रियाफल विक्लित्त्यादिकमभीप्सु. पाकाय यतमानो जनः पाकससाधनेन फल लभते । ततश्च फलसाधनतया पाकादेरपीष्टत्वात् साध्यत्वम् । फलविशिष्टक्रियाया धात्वर्थत्वमते तु विशिष्टत्वेनैवेष्टत्वात् विशिष्टस्यैव साध्यत्वमिति विशेष. । कारकान्वयस्त्वेतन्मते पूर्वोक्तदिशाऽवसेयः, एकदेशान्वयस्वीकाराच्च न कर्मणोऽनन्वयमिति बोध्यम् । तथा चैवरीत्या साध्यत्वेन क्रियां जानता जनेन तस्याः प्राधान्यबुबोधयिषयैवाख्यातान्ततया धातुः प्रयुज्यते । अन्यथा कृदन्ततयेति, एवञ्च भावकृदन्तस्थले धातुना साध्यरूपक्रियाऽवबोधनेऽपि तस्या. प्रत्ययार्थसिद्धरूपक्रियाविशेषणत्वेन न प्राधान्यम् । भावप्रधानमाख्यातमित्यादिनिरुक्तवचनस्य, प्रकृतिप्रत्ययार्थयो' प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिति न्यायस्य च परस्पर विरोधपरिहाराय न्यायस्य भावप्रधानातिरिक्तविषयत्वव्यवस्थापनम । हरिणाऽपि धातुभावकृतोः क्रियावाचित्वाविशेषेऽपि धातुना साध्यत्वेन,कृता तु सिद्धत्वेन क्रियाया बोधनमिति व्यवस्थापितम । यथा- 'साध्यत्वेन क्रिया तत्र, धातुरूपनिबन्धना । सिद्धभावस्तु यस्तस्याः,स घञादिनिबन्धनः '॥१॥ इति । "आख्यातशब्दे भागाभ्यां, साध्यसाधनवर्तिता । प्रकल्पिता यथा शास्त्रे, स घञादिष्वपि क्रम." ॥१॥ इत्येताभ्यां भागाभ्यां पश्य मृगो धावतीत्यादौ तिङन्ताभ्यां साध्यसाधनवर्तितेति । मृगो धावतीत्येतस्य साधनत्वम्.अपरस्य साध्यत्वम,क्रियाकारकभावेन तयोरन्वयात । घञर्थक्रियायास्तु इतरक्रियायामेव साधनत्वमिति विवेकः। साध्यत्वञ्च लिङ्गसङ्ख्याऽनन्वयित्वम, तद्विपरीत सिद्धत्वम । तथा च घञाद्युपस्थाप्यक्रियायाः लिङ्गसङ्ख्यान्वयित्वेनापराक्रियायां साधनत्वम । युक्तञ्चैतत् । यत् घञन्तादौ द्विविधक्रियायां भानम,कारकाणा साध्यक्रियायामेवान्वयोपगमात् । कृदन्तस्थले कारकविभक्तिप्रयोगस्य सार्वजनीनतया साध्यत्वेन तदुपस्थितावेव कारकान्वयोपपत्तिः। "साध्यस्य साधनाकाङ्क्षेति" ' नियत साधने साध्यं, क्रिया नियतसाधनेति" "साध्यत्वेन निमित्तानि, क्रिया परमपेक्षते" इति चाभियुक्तोक्तेः । अत एव स्तोक पाक इत्यादौ द्वितीयान्ततोपपत्ते, साध्यक्रियाफलस्य विशेषणेऽपि द्वितीयानुशासनात् । घञाद्युपस्थाप्यक्रियाविशेषणस्य तु विशिष्य लिङ्गतया प्रथमाद्यन्तता, "कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते" इति भाष्योक्तेः। कृदभिहित. कृता बोधित , भावो भावना, धात्वर्थस्वरूपमिति यावत् द्रव्येण तुल्य प्रकाशते द्रव्यधर्मान् लिङ्गसङ्ख्याकारकत्वानि भजते इति यावत् । अत्र द्रव्यत्वं लिङ्गसङ्ख्यान्वयित्वमेव, योग्यत्वात्, न तु पृथिव्याद्यात्मकत्व, ज्ञानपाकादौ तदभावात् । नापि "वस्तूपलक्षण यत्र, सर्वनाम प्रयुज्यते । द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो, भेद्यत्वेन विवक्षित. " ॥ १ ॥ इति पारिभाषिकसर्वनामपरामर्शयोग्यत्वादिरूपम्, भाष्यक्रियाया अपि तथात्वेनाविशेषापत्तेः,किन्तु सत्त्वप्रधानानि नामानीत्येकवाक्यतया सत्त्वद्रव्ययो पर्यायत्वस्य बहुषु स्थलेषु दर्शनात् सत्त्वभूतत्वमेव द्रव्यत्वमिति फलितार्थः। क्रिया न युज्यते इत्यादिना लिङ्गाद्ययोगस्यासत्त्वलक्षणत्वाभिधानात्, तद्योगस्यैव सत्त्वलक्षणत्वौचित्यादिति तु तत्त्वम । वैयाकरणादिमते चल इत्यादौ क्रियायां शक्तिः । वाच० । देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतौ, सम्म० १ काण्ड । कर्मणि, प्रति० । नचैकस्य देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतु. क्रिया न केनचित् प्रमाणेनावसातु शक्येति वक्तव्यम्, पूर्वपर्यायग्रहणपरिणाममगुञ्चताऽस्यक्षणोत्तरग्रहणात्, यथा स्तम्भादावधोभागग्रहणमत्यज्यन ऊर्ध्वादिभागग्रहणम् । सम्म० १ काण्ड । द्रव्यसमवायिनि कर्माख्ये वैशेषिकसंमते पदार्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स्था० । परिस्पन्दे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । " णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेव सन्न णिवेसए " क्रिया परिस्पन्दलक्षणा, तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । करणे, कर्मनिबन्धनचेष्टायाम, प्रज्ञा० २२ पद । आव० ।

(२) तत्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकां क्रियां प्रतिपादयितुमाह--

दव्वे किरिए अ एयण, पयोगुवाय करणिज्ज समुदाणे ।
इरियावहसंमत्ते, सम्मत्ते चैव मिच्छत्ते ॥१५५॥ सूत्र०नि०।

(दव्वे इत्यादि) तत्र द्रव्ये द्रव्यविषये या क्रिया एजनता । 'एजृ' कम्पने, जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्य-

क्रिया, साऽपि प्रयोगाभिसम्बन्धात् वा भवेत् । तद्वाऽप्युपयोगपूर्विका वाऽनुपयोगपूर्विका वाऽक्षिनिमेषमात्रादिका वा सा सर्वा कर्मक्रियेति । साधक्रिया त्रिविधा-तद्यथा प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया, करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ईर्यापथक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया चेति । तत्र प्रयोगक्रिया मनोवाक्कायलक्षणा त्रिधा । तत्र स्फुरन्द्रियमनोद्रव्यैरात्मन उपयोगो भवति, एष वा कायचेष्टाऽपि गमनादिका । तत्र शास्त्रे मिथ्यात्वे वाक्प्रयोगोऽप्युपयोग । तथा चोक्तम्- "निवद्दइ य काइया, छिसिरइ तह वाइ- यस्स जोगेण । " गमनादिका तु कायक्रियैव । उपायक्रिया तु घटादिक द्रव्य येनोपायेन क्रियते । तद्यथा-मृत्खननमर्दनचक्रा- रोपणदण्डकरणकुलालकृतव्यापारादिवक्रियादि । क्रियते सा करणीयक्रिया । करणीया तु येन प्रकारेण करणीय वस्तु क्रियते सा यथा । तथाहि-घटो मृत्पि- ण्डादिकेनैव क्रियते, न पाषाणसिकतादिभ्यः इति ३ । समुदा- नक्रिया तु य कर्म प्रयोगगृहीत समुदायावस्थ सत्प्रकृति- स्थित्यनुभावप्रदेशरूपतया यया व्यवस्थाप्यते सा समुदानक्रि- या । सा च मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्पराय यावद् भवति ।४, ईर्यापथक्रिया उपशान्तमोहादारभ्य सयोगिकेवलिन यावद्भवति ५ । सम्यक्त्वक्रिया तु सम्यग्दर्शनयोग्या कर्मप्रकृतीः समस्त- भिरुक्तया यया बध्नाति साऽभिधीयते । मिथ्यात्वक्रिया तु स- र्वा प्रकृतिर्तीर्थकराहारकद्विकवर्जिता बध्नाति सा मिथ्यात्वक्रियेत्यभिधीयते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

(२) क्रियाया भेदानाह-

एगा किरिया ।

एका सविवक्षितविशेषतया करणमात्रविवक्षणात् करणं क्रिया कायिक्यादिका । स्था० १ ठा० । शान्तिकमातम् । स० १ सम० ।

दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-जीवकिरिया चेव, अजीवकिरिया चेव ॥

सूत्राणि पदार्थगत, करणं क्रिया, क्रियत इति वा क्रियेति । ते च द्वे प्रज्ञप्ते प्ररूपिते जिनैः । तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीव- क्रिया । तथा अजीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्मतया परिणमन सा अजीवक्रियेति । इह 'चेव' शब्दस्य 'चेव' शब्दस्य च पाठः तदे प्राकृतत्वाद् द्विर्भाव इति, चेवशब्द च समुच्चयमात्र एव प्रतीयेत, अपि चेत्यादिवदिति । स्था० २ ठा० १ उ० ।

पुन प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति—

दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-काइया चेव, आहिगरणिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पाउसिया चेव, पारियावणिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पाणाइवायकिरिया चेव, अपच्चक्खाणकिरिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-आरंभिया चेव, परिग्गहिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-मायावत्तिया चेव, मिच्छादंसणवत्तिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-दिट्ठिया चेव, पुट्ठिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पाडुच्चिया चेव, सामन्तोवनिवाइया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-साहत्थिया चेव, नेसत्थिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-आणवणिया चेव, वेयारणिया चेव । दो किरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-अणाभोगवत्तिया चेव, अणवकंखवत्तिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पेज्जवत्तिया चेव, दोसवत्तिया चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

(अणाभोगवत्तिया चेव त्ति) अनाभोगोऽज्ञानादि, अज्ञान प्रत्ययो निमित्त यस्याः सा तथा । (अणवकंखवत्तिया चेव त्ति) अनाकाङ्क्षा स्वशरीराद्यनपेक्षत्व, सैव प्रत्ययो यस्याः सा । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० । (प्रभेदादिप्ररूपणा तत्त- च्छब्दे वक्ष्यते)

तिविहा अन्नाणकिरिआ पन्नत्ता । तं जहा-मइअण्णाणकिरिया, सुयअण्णाणकिरिया, विभंगअण्णाणकिरिया ॥

(मइअण्णाणकिरिय त्ति) "अविसेसिया मइ च्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं । मइअन्नाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव" त्ति । मत्यज्ञानक्रिया अनुष्ठानं मत्यज्ञानक्रिया, एवमितरेऽपि । नवरं विभङ्गो मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभङ्गाज्ञानमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

" एताहिं पचहिं पणवीसाकिरियाओ सूचिताओ । तं जहा-मिच्छाकिरिया १ पयोगकिरिया २ समुदानकिरिया ३ ई- र्यापथिका ४ कायिका ५ अधिकरणक्रिया ६ प्राद्वेषिकी ७ प- रितापनिका ८ प्राणातिपातक्रिया ९ दर्शनक्रिया १० स्पर्शनक्रि- या ११ सामन्तक्रिया १२ अनुपातक्रिया १३ अनाभोगक्रिया १४ स्वहस्तक्रिया १५ निसर्गक्रिया १६ विदारणक्रिया १७ आ- ज्ञापनक्रिया १८ अनाकाङ्क्षक्रिया १९ आरम्भक्रिया २० प- रिग्रहक्रिया २१ मायाक्रिया २२ रागक्रिया २३ द्वेषक्रिया २४ अप्रत्याख्यानक्रिया २५" इति । आ० चू० ४ अ० । आ० म० । भ० । दुष्प्रयोगविशेषे, स० ४ सम० । ध० ।

कइ णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-काइया, आहिगरणिया, पाउसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया ॥

करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धन चेष्टा इत्यर्थः । सा पञ्चधा । तद्यथा-(काइया इत्यादि) चीयते इति कायः शरीरं, काये भवा, कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी । तथा-अधिक्रियते स्थाप्यते नरकादिष्वात्माऽनेनेत्यधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्य वस्तु खड्गकूटादि तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता आधिकरणिकी । (पाउसिया इति) प्रद्वेषो मत्सरः कर्मबन्धहेतुरकुशलो जीवपरिणामविशेष इत्यर्थः । तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता, स एव वा प्राद्वेषिकी । (पारियावणिया इति) परितापनं परितापः, पीडाकरणमित्यर्थः । तस्मिन् भवा, तेन वा निर्वृत्ता, परितापनमेव वा पारितापनिकी (पाणाइवायकिरिया इति) प्राणा इन्द्रियादयः, तेषामतिपातो विनाश, तद्विषया, प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया । प्रज्ञा० २२ पद । स्था० ।

पाउसिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभं मणं पधारेइ, सेत्तं पाउसिया किरिया ॥

प्राद्वेषिकी त्रिभेदा । तद्यथा-(जेणं अप्पणो इत्यादि) येन प्रकारेण जीवा आत्मनः स्वस्य वा, अन्यस्य वा आत्मव्यतिरिक्तस्य,

उभयस्य वा स्वपरलक्षणस्योपरि अशुभमकुशलं मनोऽन्तःकरणं प्रधारयति प्रकर्षेण धारयति, करोतीत्यर्थः। तेन कारणेन विषयस्य त्रैविध्यात् त्रिविधा प्राद्वेषिकी क्रिया । तथाहि-कश्चित्कस्मिन् प्रयोजने स्वयमनुतिष्ठते, पर्यन्ते विपाकदारुणे सवृत्ते सति अविवेकादात्मन एवोपरि अकुशलं मनः सम्प्रधारयति । एवं कश्चित्परस्य कश्चित्स्वपरयोरपीति ।

पारियावणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पन्नत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पन्नत्ता । तं जहा-जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असायं वेदणं उदीरेति, सेत्तं पारियावणिया किरिया ।

पारितापनिक्यपि त्रिविधा। तद्यथा-"जेणं अप्पणो" इत्यादि। येन प्रकारेण कश्चित् कुतश्चित् हेतोरविवेकत आत्मन एवासातां दुःखरूपां वेदनामुत्पादयति । कश्चित्परस्य, कश्चिदुभयस्य । ततः स्वपरतदुभयभेदाद्भवति त्रिधा पारितापनिकी क्रिया । आह-एवं सति लोचकरणतपोऽनुष्ठानाकरणप्रसङ्ग, यथायोगं स्वपरोभयासातवेदनाहेतुत्वात् । तदयुक्तम् । विपाकहितत्वेन चिकित्साकरणवत् लोचकरणादेरसातवेदनाहेतुत्वायोगात्, अशक्यतपोऽनुष्ठानप्रतिषेधाच्च । उक्तञ्च-" सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति " ॥ १ ॥ " कायो न केवलमयं परिपालनीयो, मृष्टैरसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः । चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु, वश्यानि येन च तथाऽऽचरितं जिनानाम् " ॥२॥ इति ।

पाणाइवायकिरिया णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पन्नत्ता । तं जहा-जेणं अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा जीवियाओ ववरोवइ, सेत्तं पाणाइवायकिरिया ।

प्राणातिपातक्रियाऽपि त्रिविधा । तद्यथा-(जेण अप्पाणं इत्यादि) येन प्रकारेण कश्चिदविवेकी भैरवप्रतापादिनाऽऽत्मानं जीविताद्व्यपरोपयति, कश्चित्प्रद्वेषादिना परम्, कश्चिदुभयमपीत्यतः प्राणातिपातक्रियाऽपि त्रिविधा । अत एव कारणाद्भगवद्भिरकालमरणमपि प्रतिषिद्धम्, प्राणातिपातक्रियादोषसम्भवात् ।

(४) स्पृष्टास्पृष्टत्वादिना प्राणातिपातक्रियां निरूपयति-

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? जाव निव्वाघाएणं । छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं । सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ ?। गोयमा ! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ । सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभयकडा कज्जइ ?। गोयमा ! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभयकडा कज्जइ । सा भंते ! किं आणुपुव्विकडा कज्जइ, अणाणुपुव्विकडा कज्जइ ?। गोयमा ! आणुपुव्विकडा कज्जइ, नो अणाणुपुव्विकडा कज्जइ । जा य कडा जा य कज्जइ जा य कज्जिस्सइ, सव्वा सा आणुपुव्विं कडा नो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया । अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवायकिरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ जाव नियमा छद्दिसिं कज्जइ । सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ, तं चेव जाव नो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया । जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा जाव वेमाणिया । एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा । तहा पाणाइवाए तहा मुसावाए तहा अदिन्ने मेहुणे परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले । एवं एएणं अट्ठारसचउव्वीसं दंडगा भाणियव्वा । सेवं भंते ! भंते ! भगवं गोयमे समणं जाव विहरइ ॥

"अत्थीत्यादि" । (अत्थि त्ति) अस्त्ययं पक्षः (किरिया कज्जइ त्ति)। क्रियत इति क्रिया कर्म, सा क्रियते भवति। 'पुट्ठा' इत्यादेर्व्याख्या पूर्ववत् ।(कडा कज्जइ त्ति) कृता भवति, अकृतस्य कर्मणोऽभावात् । (अत्तकडा कज्जइ त्ति) आत्मकृतमेव कर्म भवति नान्यथा । (अणाणुपुव्विकडा कज्जइ त्ति) पूर्वपश्चाद्विभागो यत्र नास्ति तदनानुपूर्वीशब्देनोच्यत इति। (जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्व त्ति) नारकवदसुरादयोऽपि वाच्याः । एकेन्द्रियवर्जाः,ते त्वन्यथा, तेषां हि दिक्पदे "निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं" इत्यादेर्विशेषाभिलापस्य जीवपदोक्तस्य भावात् । अत एवाह-(एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्व त्ति जाव मिच्छादंसणसल्ले) इह यावत्करणात्-(माणे माया लोभे पेज्जे) अनभिव्यक्तमायालोभस्वभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम (दोसे) अनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपमप्रीतिमात्रं द्वेषः । कलहो राटिः। (अब्भक्खाणे) असद्दोषाविष्करणम् । (पेसुन्ने) प्रच्छन्नमसद्दोषाविष्करणम् । (परपरिवाए) विप्रकीर्णं परेषां गुणदोषवचनम् । [अरइरई] अरतिर्मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः तत्फला, रतिर्विषयेषु मोहनीयोदयात् चित्ताभिरतिः अरतिरतिः [मायामोसे] तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगः । अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः । अथवा वेषान्तरभाषान्तरकरणेन यत्परवञ्चनं तन्मायामृषेति । मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्यथानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति । भ० १ श० ६ उ० ।

सम्प्रति एताः किमविशेषेण सर्वेषां जीवानां सन्ति किं वा नेति जिज्ञासुरिदमाह-

जीवा णं भंते ! किं सकिरिया अकिरिया ?। गोयमा ! जीवा सकिरिया वि, अकिरिया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि । गोयमा ! जीवा दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य । तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा, ते णं सिद्धा, सिद्धाणं अकिरिया । तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसिपडिवन्नगा य । तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं अकिरिया, तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं सकिरिया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि ॥

" जीवा णं भंते ! " इत्यादि सुगमम्, नवरम् (ससारसमावन्नगा इति) ससार चतुर्गतिभ्रमणरूप सम्यगेकीभावेनापन्ना एव ससारसमापन्नकाः । प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययः । तद्विपरीता असंसारसमापन्नकाः । चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ । तत्र येऽसंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभावतोऽक्रिया', ये तु ससारसमापन्नकास्ते द्विविधा –शैलेशीप्रतिपन्नका अशैलेशीप्रतिपन्नकाश्च । शैलेशी नामायोग्यवस्था, तां प्रतिपन्नाः शैलेशीप्रतिपन्नाः, ततः पूर्ववत् स्वार्थिकः कप्रत्ययः । शैलेशीप्रतिपन्नका । तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेशीप्रतिपन्नकाः । तत्र शैलेशीप्रतिपन्नकास्ते सूक्ष्मबादरकायवाङ्मनोयोगनिरोधादक्रिया', ये त्वशैलेशीप्रतिपन्नकास्ते सयोगित्वात् सक्रियाः । " से तेणट्ठेण " इत्याद्युपसहारवाक्यम् । तदेव ये सक्रिया ये चाऽक्रियास्ते उक्ताः ॥

संप्रति यथा प्राणातिपातक्रिया भवति तथा दर्शयति–

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? । हंता अत्थि ॥

"अत्थि णं भंते !" इत्यादि । अस्त्येतत्, णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! जीवानां प्राणातिपातेन प्राणातिपाताध्यवसायेन, क्रिया, सामर्थ्याद् प्राणातिपातक्रिया क्रियते । कर्मकर्त्तर्यय प्रयोगो भवतीत्यर्थः । अनद्यतनयाऽभिप्रायात्मकोऽय प्रश्न । कतमोऽत्र नयोऽयमध्यवसायस्पृष्ट इति चेत्, उच्यते–ऋजुसूत्रम् । तथाहि–ऋजुसूत्रस्य हिंसापरिणतिकाल एव प्राणातिपातक्रियोच्यते, पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्, नान्यथा परिणतावि ति । भगवानपि तां ऋजुसूत्रनयमधिकृत्य प्रत्युत्तरमाह–" हता अत्थि " । हन्तेति प्रेषणप्रत्यवधारणविवादेषु । अत्र प्रत्यवधारणे, अस्त्येतत् प्राणातिपाताध्यवसायेन प्राणातिपातक्रिया भवति । "परिणामिय पमाण, णिच्छयमवलवमाणाणं " इत्याद्यागमवचनस्य स्थितत्वात् । अमुमेव वचनमधिकृत्यावश्यकेऽपीद सूत्र प्रावर्त्तिष्ट–" आया चेव अहिंसा, आयाहिं सात्ति निच्छओ एस " इति । तदेव यथा प्राणातिपातक्रिया भवति तथोक्तम् ।

संप्रति कस्मिन् विषये सा प्राणातिपातक्रिया भवतीत्येतन्निरूपयति–

कम्हि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! छसु जीवणिकाएसु ॥

'कम्हि णं' इत्यादि सुगमम्, नवर मारणाध्यवसायो जीवविषयो भवति नाजीवविषयोऽपि, रज्ज्वादौ सर्पादिबुद्ध्या मारणाध्यवसायोऽपि सर्पोऽयमिति बुद्ध्या प्रवर्त्तमानत्वात् जीवविषय एव, न खलु रज्ज्वादौ रज्ज्वादितया परिच्छिन्ने कश्चित्तद्विषय मारणाध्यवसाय विदधाति, ततः प्राणातिपातक्रिया षट्सु जीवनिकायेषूक्ता ।

एतामेव प्राणातिपातक्रियामुक्तप्रकारेण नैरयिकादिकं चतुर्विंशतिदण्डकमधिकृत्य चिन्तयति–

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव निरंतरं वेमाणियाणं ।

(अत्थि ण भते ! इत्यादि) नवरमेष सूत्रपाठ–" अत्थि ण भते ! नेरइयाण पाणाइवाएण किरिया कज्जइ ? । हता अत्थि । कम्हि ण भते ! पाणाइवाएण किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! छसु जीवनिकाएसु " एवं तावद्वाच्य यावद्वैमानिकसूत्रम् । तदेव यथा प्राणातिपातक्रिया भवति यद्विषया च तत्प्रतिपादितम् ।

(४) सम्प्रत्येवमेव मृषावादादिविषयाण्यपि सूत्राण्याह–

अत्थि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ? । हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! सव्वदव्वेसु । एव निरंतरं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । अत्थि ण भंते ! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ? । हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु । एवं णेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं । अत्थि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ? । हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु । एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? । हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! सव्वदव्वेसु । एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एव कोहेणं माणेणं मायालोभेणं पेज्जेणं दोसेणं कलहेणं अब्भक्खाणेणं पेसुन्नेणं परपरिवाएणं अरतिरतिए मायामोसेणं मिच्छादंसणसल्लेणं सव्वेसु जीवणेरइयभेदेणं भाणियव्वं निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति; एवं अट्ठारस एए दंडगा ॥

"अत्थि ण भंते ! मुसावाएण" इत्यादि सुगमम्, नवर (किरिया कज्जइ इति) यथायोग प्राणातिपातादिका क्रिया भवतीत्यर्थः । तथा सतोऽपलापोऽसतश्च प्ररूपण मृषावाद', स च लोकालोकगतसमस्तवस्तुविषयोऽपि घटते । तदुक्त मृषावादसूत्रम्–"सव्वदव्वेसु" इति । द्रव्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन पर्यायेष्वपीत्यपि द्रष्टव्यम् । यथा यद्वस्तु गृहीतुं धारयितु वा शक्यते तद्विषयमादान भवति न शेषविषयमतोऽदत्तादानसूत्रे "गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु " इत्युक्तम् । मैथुनाध्यवसायेऽपि चित्रलेपकाष्ठादिकर्मगतेषु रूपेषु सहगतेषु वा स्त्र्यादिषु सतो मैथुनसूत्रे उक्तम्–"रूवेसु वा रूवसहगएसु वा इति " । तथा परिग्रहः स्वस्वामिभावेन मूर्च्छा, सा च प्राणिनामतिलोभात्सकलवस्तुविषयाऽपि प्रादुर्भवति । तत परिग्रहसूत्रे उक्तम्–"सव्वदव्वेसु" इति । अत एवान्यत्रापि प्रथमव्रतं सर्वजीवविषयमुक्तम्, द्वितीयचरमे सर्ववस्तुविषये, चतुर्थे तदेकदेशविषये इति । उक्तञ्च–"पढमम्मि सव्वजीवा, बीए चरिमे य सव्वदव्वाइ । सेसा महव्वया खलु, तदेकदेसम्मि नायव्वा " ॥ १ ॥ क्रोधादयः सुप्रतीताः, नवर कलहो राटिः, अभ्याख्यानमसद्दोषारोपणम् । यथा–अचौरेऽपि चौरस्त्वम्, अपारदारिकेऽपि पारदारिकस्त्वमित्यादि । इद मृषावादेऽप्यन्तर्गत परमुत्कृष्टोऽयं दोष इति पृथगुपात्तम् । पैशुन्य परोक्षे सतोऽसतो वा दोषस्योद्घाटनम् । परपरिवाद' प्रभूतजनसमक्षपरदोषविकत्थनम् । अरतिरती प्रतीते । इदमेक समुदित पापस्थानम् । (मायामोसेणमिति) माया च मृषा च समाहारो द्वन्द्वः । द्वन्द्वैकत्व नपुसकत्वमिति "क्लीबे" ॥ २ । ४ । ६७ ॥ इति ह्रस्वत्वम्, तेन विवक्षितो म-

हाकर्मबन्धहेतुश्चेति मृषावादमायाभ्यां पृथगुपात्तम । [मिच्छादंसणसल्लेणं ति] मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वं तदेव शल्यम्, तेन। (अट्ठारस एए दंडगा इति) एते अनन्तरोदितपदोल्लेखोपदर्शिताः सर्वसङ्ख्ययाऽष्टादश दण्डका भवन्ति, प्राणातिपातादीनां पापस्थानानामष्टादशत्वात् । तदेवमष्टादशपापस्थानान्यधिकृत्य जीवानां क्रियाऽक्रियाविषयश्चोपदर्शितः ।

[६] साम्प्रतं तान्येवाधिकृत्य जीवानामेकत्वपृथक्त्वाभ्यां कर्मबन्धत्वमुपदर्शयितुमाह—

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा, एवं णेरइए जाव वेमाणिए । जीवा णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि, अट्ठविहबंधगा वि । णेरइयाणं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य, अहवा सत्तविहबंधगा य, अट्ठविहबंधगा य । एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा । पुढविआउतेउवाउवणस्सइकाइया य एए सव्वे वि जहा ओहिया जीवा अवसेसा जहा णेरइया । एवं एए जीवा एगिंदियवज्जा तिन्नि भंगा सव्वत्थ भाणियव्व त्ति जाव मिच्छादंसणसल्लेणं । एवं एगत्तपोहत्तिया छत्तीसं दंडगा होंति ।

"जीवे ण भंते !" इत्यादि सुगमम्, नवरं सप्तविधबन्धकत्वमायुर्बन्धविरहकाले आयुर्बन्धकाले चाष्टविधबन्धकत्वं पृथक्त्वचिन्तायां सामान्यतो जीवपदे सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धका अपि सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते, तत उभयत्रापि बहुवचनमित्येवं रूप एक एव बन्धभङ्गः । नैरयिकसूत्रे सप्तविधबन्धका अवस्थिता एव, हिंसापरिणामपरिणतानां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानानां सप्तविधबन्धकत्वस्यावश्यभावित्वात् । ततो यदा एकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदैष भङ्गः । सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इति । यदा पुनरेकोऽष्टविधबन्धकः, शेषाः सर्वे सप्तविधबन्धकास्तदा द्वितीयो भङ्गः । सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकाश्च । यदा त्वष्टविधबन्धका अपि बहवो लभ्यन्ते तदोभयगतबहुवचनरूपस्तृतीयो भङ्गः । सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकाश्च । एवं भङ्गत्रयेणासुरकुमारादयोऽपि तावद् वक्तव्या यावत् स्तनितकुमाराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकाः । यथा सामान्यतो जीवा उक्तास्तथा वक्तव्या उभयत्रापि बहुवचनेनैक एव भङ्गो वक्तव्य इति भाव, पृथिव्यादीनां हिंसापरिणामपरिणतानां प्रत्येकं सप्तविधबन्धकानामष्टविधबन्धकानां च सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषा द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका यथा नैरयिका भङ्गत्रिकेणोक्तास्तथा वक्तव्याः । यथा च प्राणातिपातेनैकत्वपृथक्त्वाभ्यां द्वौ दण्डकावुक्तावेवं सर्वपापस्थानैरपि प्रत्येकं द्वौ द्वौ दण्डकौ वक्तव्यौ । तथा चाह—"जाव मिच्छादसणसल्लेण।" सर्वसङ्ख्यया कियन्तो दण्डका भवन्तीति चेत्, अत आह—"एवं एगत्तपोहत्तिया छत्तीसं दण्डगा होंति" अष्टादशानां द्वाभ्यां गुणने षट्त्रिंशद्भावात् ।

(७) ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् जीवः कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति बहुत्वमाश्रित्याह—

जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए जाव वेमाणिए । जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं णेरइया जाव वेमाणिया । एवं दरिसणावरणीयं वेयणिज्जं मोहणिज्जं आउयं नामं गोयं अंतराइयं च अट्ठ वि कम्मपगडीओ भाणियव्वाओ एगत्तपोहत्तिया सोलस दंडगा भवंति ।

"जीवा ण भंते !" इत्यादि । अथ कोऽस्य सूत्रस्यापि सम्बन्धः। उच्यते—इह प्रागुक्तं जीवप्राणातिपातेन सप्तविधमष्टविधं वा कर्म बध्नाति, स तु तमेव प्राणातिपातं ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति प्रतिपाद्यते । अपिच कार्येण ज्ञानावरणीयाख्येन कर्मणा कारणस्य प्राणातिपाताख्यस्य निवृत्तिभेद उपदर्श्यते, तद्भेदाच्च बन्धविशेषोऽपीति । उक्तञ्च—"तिसृभि॰ चतसृभिरथ प॰-ञ्चभिश्च हिंसा समाप्यते क्रमशः । बन्धोऽस्य विशिष्टः स्या-द्योगप्रद्वेषसाम्यं वा" इति । तदेव प्राणातिपातस्य निवृत्तिभेदं दर्शयति—"सिय तिकिरिये" इत्यादि । स्यात्कदाचित् त्रिक्रियः, कदाचिच्चतुष्क्रियः, कदाचित्पञ्चक्रियः । तत्र त्रिक्रियता कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीभिः क्रियाभिः । कायिकी नाम—हस्तपादादिव्यापारणम् । आधिकरणिकी—खड्गादिप्रगुणीकरणम् । प्राद्वेषिकी—मारयाम्येनमित्यशुभमनःसम्प्रधारणमिति । चतुष्क्रियता कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीपारितापनिकीभिः । पारितापनिकी नाम—खड्गादिघातेन पीडाकरणम्, पञ्चक्रियता यदा प्राणातिपातक्रियाऽपि पञ्चमी भवति, प्राणातिपातक्रिया जीविताद्व्यपरोपणम् । एवं नैरयिकादारभ्य चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । सूत्रपाठस्त्वेवम्—"नेरइया ण भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ किरिए पन्नत्ते" इत्यादि । तदेवमेकत्वेन दण्डक उक्तः । सम्प्रति बहुत्वेनाह—"जीवा ण भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह—गौतम ! जीवास्त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि । किमुक्तं भवति ?, जीवा ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नन्तः सदैव बहव एव त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि लभ्यन्ते इत्येक एव भङ्गः । यथा च सामान्यतो जीवपदेऽभङ्गक तथा नैरयिकादिषु चतुर्विंशतौ स्वस्थानेषु प्रत्येकमभङ्गक द्रष्टव्यम्, नैरयिकादीनामपि ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नतां सदैव त्रिक्रियाणामपि चतुष्क्रियाणामपि पञ्चक्रियाणामपि च बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । यथा च ज्ञानावरणीयं कर्माधिकृत्य एकत्वपृथक्त्वाभ्यां द्वौ दण्डकावुक्तौ तथा दर्शनावरणीयादीन्यपि कर्माण्यधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ दण्डकौ वक्तव्यौ । तत एव सति सर्वसङ्ख्यया षोडश दण्डकाः ॥

जीवे णं भंते ! जीवातो कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए ॥

(जीवे णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए इति) । अथ कोऽस्य सूत्रस्य सम्बन्ध ?। उच्यते-इह न केवल वर्तमानभववर्तिनो जीवस्य ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धो भेदप्ररूपणे कायिक्यादिक्रियाविशेषण. प्राणातिपातभेदो भवति, किन्त्वतीतभवकायसम्बन्ध. कायिक्यादिक्रियाविशेषणापि । तत एतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम्। अस्य चेयमेवं पूर्वाचार्योपदर्शिता भावना-"इह संसारामवीए परिब्भमंतेहिं सव्वजीवेहिं तेसु तेसु ठाणेसु सरीरोवाहिणा विप्पमुक्का तेहि य सव्वजूएहिं जया कस्सइ" स्वतः परितापनादयो भवन्ति "तया तस्सामिणो भवंतर गयस्स वि" तत्रानिवृत्तत्वात् "किरिया संभवइ" इति। व्युत्सृष्टे तु न भवति, निवृत्तत्वात् । एत्थ उदाहरणम्-"वसंतपुरे नयरे अज्जसेणस्स रन्नो परिचारणगा दुवे कुलपुत्तगा । तत्थेगो समणसड्ढो, इयरो मिच्छादिट्ठी । अन्नया रयणीए रन्नो निस्सरणं, संभमतुरंताण तेसिं घोडगारूढाणं खग्गा पब्भट्ठा, सड्ढेण जत्ताकोलाहलो मग्गिओ न लहइ। इयरेण हसियं। किमक्षे ण होसति। सड्ढेण अहिगरणं ति कट्टु वोसिरियं । इयरे खग्गग्गाहिणो वद्गिगहसाहसिएहिं खग्गा गहिआ, अन्नेहिं रायवहे-रुओ पलायमाणो घावाइओ। तओ आरक्खिएहिं गहिऊण रायसमीव नीया। कहिओ वुत्तंतो। कुविओ राया। पुच्छियं च णेण-कस्स तुब्भे ?। तेहिं कहिय-अणाहा कल्ल चिय कप्पडिया एत्थ एतम्ह खग्गा कहिं लद्धि त्ति पुच्छिएहिं कहियं-एभिया इति। तओ सामरिसेण रन्ना भणियं-गवेसह तुरियं मम अणवद्धवेरिए ईसरपुत्तस्स ण महापमत्ताए केसि इमे खग्ग ति ?। तओ तेहिं निउण गवेसिऊण विन्नत्त रन्नो-सामि! गुणचंदबालचंदाणिति। तओ रन्ना वि हप्पिट्ठं सद्दावेऊण भणियासेह नियखग्गे। एक्केण गहियं, पुच्छिओ रन्ना कइ ते पणट्ठं ति। तेण कहिय जहावित्तं, कीस न गविट्ठ ?। भणइ-सामि ! तुम्ह पसाएण पइदमेवमवि गवेसामि। सड्ढो नेच्छइ। रन्ना पुच्छिओ-कीस न गेण्हसि ?। तेण भणियं-सामि ! अम्हाणमेस ठिई चेव नत्थि, अमेवं गिण्हिज्जइ, अहिगरणतणओ पर संभमेण मग्गंतेण वि लद्धं ति वोसिरिय, अतो न कप्पइ मे गिण्हिउं। तओ पमायकारी अणुसासिओ। इयरो वि मुक्को य। एस दिट्ठतो य। सो य से अत्थोवणओ-जहा सो पमायगब्भेण अवोसिरियदोसेण अवराहं पत्तो, एव जीवो वि जम्हतरब्भत्थ देहोवहाइ अवोसिरंतो भणुभयभावतो पावेइ दोस"। श्रूयते च-जातिस्मरणादिना विज्ञाय पूर्वदेहमतिमोहात सुरनन्दीप्रत्यस्थिशकलानि नयन्तीति। इदानीं सूत्रव्याख्या-जीवो भदन्त ! जीवमधिकृत्य कतिक्रियः प्रज्ञप्त. ?। भगवानाह-गौतम ! स्यात्कदाचित् त्रिक्रिय', कायिक्याधिकरणकीप्राद्वेषिकीभावात्,ततो वर्तमानभवमधिकृत्य भावना प्राग्वद्भावनीया । अतीतभवमाधिकृत्यैवम्-कायिकी, तत्सम्बन्धिनः कायस्य कायैकदेशस्य वा व्याप्रियमाणत्वात्। आधिकरणिकीवत्सयोजितानां हलगरकूटयन्त्रादीनां तन्निर्वर्त्तितानां वा असिकुन्ततोमरादीनां परोपघाताय व्याप्रियमाणत्वात्। यदि वा देहोऽप्यधिकरणमित्याधिकरणिक्यपि प्राद्वेषिकी तद्विषया कुशलपरिणामप्रवृत्तेरप्रत्याख्यानत्वात् स्याच्चतुष्क्रियाः। पारितापनिक्यपि कायेन कायैकदेशेनाधिकरणेन वा तत्सम्बन्धिनी क्रिया क्रियमाणत्वात् स्यात्पञ्चक्रिय'। यदा तेन जीवितादपि व्यपरोपणमाधीयते स्यादक्रिय', यदा पूर्वजन्मभाविशरीरमधिकरण वा त्रिविध त्रिविधेन व्युत्सृष्टं भवति, नचापि तज्जन्मभावना शरीरेण काचिदपि क्रियां करोति। इद चाक्रियत्व मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम्, तस्यैव सर्वविरतिभावात्, सिद्धापेक्षया वा तस्य देहमनोवृत्त्यभावेनाक्रियत्वात् ।

(८) अमुमेवार्थं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

जीवे णं भंते ! णेरयियाओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए । एवं जाव थणियकुमाराओ पुढविकाइयाओ आउकाइयाओ तेउकाइयवाउकाइयवणस्सइकाइयबेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदिए तिरिक्खजोणियमणुस्साओ जहा जीवाओ वाणमंतरजोइसियवेमाणियातो जहा णेरइयाओ ।

'जीवे ण भंते ! नेरइयाओ कइ किरिए' इत्यादि सुगमम्। नवरमयं भावार्थ.-देवनारकान् प्रति चतुष्क्रिय एव, तेषां जीविताद् व्यपरोपणस्यासम्भवात् , अनपवर्त्यायुषो नारकदेवा इति वचनात् । शेषान् सख्येयवर्षायुषः प्रति पञ्चक्रियोऽपि, तेषामपवर्त्यायुष्कतया जीविताद् व्यपरोपणस्यापि सम्भवात् । तदेवमेकस्य जीवस्य एकजीवं प्रति क्रियाश्चिन्तिता. ।

सम्प्रत्येकस्यैव जीवस्य बहून् जीवान् प्रति क्रियाश्चिन्तयति-

जीवे णं भंते ! जीवेहिंतो कति किरिए पण्णत्ते ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए । जीवे णं भंते ! नेरइएहिंतो कति किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए । एवं जहेव पढमो दंडओ तहा एसो वि बितिओ भाणियव्वो । जीवा णं भंते ! जीवाओ कति किरिया ?। गोयमा ! सिय तिकिरिया वि, सिय चउकिरिया वि , सिय पंचकिरिया वि ॥

"जीवे णं भंते ! जीवेहिन्तो कइ किरिए" इत्यादि। एषोऽपि दण्डकः प्रथमदण्डकवदवसेय' ।

अधुना बहूनां जीवानां बहून् जीवानधिकृत्य सूत्रमाह—

जीवा णं भंते ! नेरइयाओ कति किरिए ?। गोयमा ! जहेव आदिल्लदंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणिय त्ति। जीवा णं भंते! जीवेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि, अकिरिया वि। जीवा णं भंते ! नेरइएहिंतो कति किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, अकिरिया वि, असुरकुमारेहिंतो वि एवं चेव जाव वेमाणिएहिंतो ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो ॥

'जीवा ण भंते!' इत्यादि। अत्र प्रश्न पाठसिद्ध'। निर्वचनमिदम्-गौतम ! त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि । कस्याऽपि जीवस्य कमपि जीव प्रति त्रिक्रियत्वात्, कस्यापि चतुष्क्रियत्वात्, कस्यापि पञ्चक्रियत्वात् । कस्यापि मनुष्यस्य सर्वोत्तमचारित्रिण. सिद्धस्य वा शेषस्याऽक्रियत्वादिति। सर्वत्र बहुवचनरूप एक एव भङ्ग . । एवं नैरयिकादिक्रमेण तावद्वक्तव्य यावद्वैमानिकसूत्रम्, नवरं नैरयिकान् देवांश्च प्रति त्रिक्रि-

या अपि चतुष्क्रिया अपि अक्रिया अपीति वक्तव्यम् । शेषान् सख्येयवर्षायुषः प्रति पञ्चक्रिया अपीति । तदेव सामान्यतो जीवपदमधिकृत्य दण्डकचतुष्टयमुक्तम् ।

सम्प्रति नैरयिकपदमधिकृत्याऽऽह–

नेरइए णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । नेरइए णं भंते ! नेरइयातो कइ किरिए?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवर णेरइयस्स णेरइएहिंतो देवेहिन्तो य पंचमा किरिया नत्थि । णेरइया णं भंते ! जीवाओ कइकिरिया ?। गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंचकिरिया । एवं जाव वेमाणियाओ, नवरं णेरयियाओ देवाओ य पंचमा किरिया नत्थि । णेरइए णं भंते ! जीवेहिंतो कइ किरिया ? । गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि । णेरइया णं भंते ! णेरइएहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि । एव जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो ॥

" नेरए णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ? " इत्यादि । " एव जाव वेमणिएहिंतो " इति । अत्र यावत्करणात् नैरयिको ,जीवान् प्रति कतिक्रिय इति । इत्यादिरूपो द्वितीयोऽपि दण्डक उक्तो द्रष्टव्य· । सर्वत्र औदारिकशरीरान् सख्येयवर्षायुषः प्रति स्यात्त्रिक्रियः स्याच्चतुष्क्रियः स्यात्पञ्चक्रिय इति वक्तव्यम् । नैरयिकदेवान् प्रति पञ्चमी जीविताद्व्यपरोपणरूपा क्रिया नास्ति,तेषामनपवर्त्यायुष्कत्वात् । ततस्तान् प्रति स्यात्त्रिक्रिय· स्याच्चतुष्क्रिय इति वक्तव्यम । नैरयिको देवान् प्रति कथ चतुष्क्रिय इति चेत्,उच्यते-इह भवनवास्यादयो देवाः तृतीयां पृथिवीं यावद्गता गमिष्यन्ति च ।किमर्थं गता गमिष्यन्ति?, इति चेत् । उच्यते–पूर्वसाङ्गतिकस्य वेदनामुपशमयितु पूर्ववैरिणो वेदनामुदीरयितु तत्र गच्छन्ति, तदानीमनन्तकालादेतदपि भवति तद्गता· सन्तो नारकैर्बध्यन्त इति । आह च मूलटीकाकारोऽपि—तत्र गता नारकैर्बध्यन्ते इत्यप्यनन्तकाल एव कथञ्चित्सम्भवमात्रमिति । अत्रापर आह—तं तु नारकस्य द्वीन्द्रियादीनधिकृत्य कायिक्यादिक्रियासम्भव । उच्यते--इह नारकैर्यस्मात्पूर्वभवशरीर न व्युत्सृष्ट, विवेकाभावात्, तद्भावश्च भवप्रत्ययात्, ततो यावच्छरीर तेन जीवेन निर्वर्तित सतत शरीरपरिणाम सर्वथा न परित्यजति,तावद्देशतोऽपि त परिणाम भजमान पूर्वभावप्रज्ञापनया तस्येति व्यपदिश्यते, घृतघटवत् । यथा हि घृतपूर्णो घटो घृतेऽपगते पि घृतघट इति व्यपदिश्यते, तथा तदपि शरीर तेन निर्वर्तितमिति तस्येति व्यपदेशमर्हति। ततस्तस्य शरीरस्य एकदेशेनाग्न्यादिना योऽन्य· प्राणातिपात करोति तत· पूर्वनिर्वर्तितशरीरजीवोऽपि कायिक्यादिक्रियाभिर्युज्यते, तेन तस्याव्युत्सृष्टत्वात् । तत्रैव पञ्चानामपि क्रियाणां भावना-तत्कायस्य व्याप्रियमाणत्वात्कायिकी, कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्त प्राक्, तत आधिकरणकीप्राद्वेषिक्यादयस्त्वेवम्-यदा तमेव शरीरैकदेश अभिघातादिसमर्थमन्यः कश्चनापि प्राणातिपातोद्यतो दृष्ट्वा तस्मिन् भातेन्द्रियादौ समुत्पन्ने क्रोधादिकारणोऽभिघातादिसमर्थमिदं शस्त्रमिति चिन्तयन् अतीव क्रोधादिपरिणाम भजते, पीडां चोत्पादयति,जीविताच्च व्यपरोपयति, तदा तत्सबन्धप्राद्वेषिक्यादिक्रियाकारणत्वात् । नैगमनयाभिप्रायेण तस्यापि प्राद्वेषिकी पारितापनिकी प्राणातिपातक्रिया च ॥

असुरकुमारे णं भंते ! जीवाओ कति किरिए ?। गोयमा ! जहेव णेरइए चत्तारि दंडगा तहेव असुरकुमारे वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा । एवं उववज्जिऊण भावेयव्वं ति । जीवे मणुस्से य अकिरिए वुच्चइ,सेसा अकिरिया ण वुच्चंति सव्वजीवा । ओरालियसरीरेहिंतो पंच किरिया । णेरइयदेवेहिंतो पंच किरिया ण वुच्चंति । एवं एकेकजीवपदे चत्तारि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा एवं एतं दंडगसतं सव्वे वि य जीवादिया दंडगा ॥

यथा च नैरयिकपदे चत्वारो दण्डका उक्ताः,तथा असुरकुमारादिष्वपि, शेषेषु त्रयोविंशतौ स्थानेषु चत्वारश्चत्वारो दण्डका वक्तव्याः । नवरम् जीवपदे मनुष्यपदे वा क्रिया इत्यादि वक्तव्यम, विरतिप्रतिपत्तौ व्युत्सृष्टत्वेन तन्निमित्तक्रियाया असम्भवात्, शेषा अक्रिया नोच्यन्ते, विरत्यभावत· स्वशरीरस्य भवान्तरगतस्याव्युत्सृष्टत्वेनावश्यक्रियासम्भवात् । तदेवं सामान्यतो जीवपदे एकम्,शेषाणि तु नैरयिकादीनि स्थानानि चतुर्विंशतिरिति सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिः, एकैकस्मिंश्च स्थाने चत्वारो दण्डका इति सर्वसङ्कलया दण्डकशतम् । प्रज्ञा० २२ पद ।

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंच किरिए । असुरकुमारे णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिए? । एवं चेव जाव वेमाणिए,णवरं मणुस्से जहा जीवे । जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए जाव सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिए?। एवं एसो जहा पढमो दंडओ तहा इमो वि अपरिसेसो भाणियव्वो जाव वेमाणिए, णवरं मणुस्से जहा जीवे । जीवा णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिया ?। गोयमा ! सिय तिकिरिया जाव सिय अकिरिया । नेइया णं भते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिया?। एवं एसो वि जहा पढमो दंडओ तहा भाणियव्वो जाव वेमाणिया, णवरं मणुस्सा जहा जीवा । जीवा णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंच किरिया वि अकिरिया वि । नेरइया णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं जाव वेमाणिया,णवरं मणुस्सा जहा जीवा । जीवे णं भंते ! वेउव्वि-

यसरीराओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते ! वेउव्वियसरीराओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए एवं जाव वेमाणिए, णवरं मणुस्से जहा जीवे । एवं जहा ओरालियसरीरेयं चत्तारि दंडगा तहा जाणियव्वा, णवरं पंचमकिरिया न जणइ, सेसं तं चेव, एवं जहा वेउव्वियं तहा आहारगं पि, तेयग पि, कम्मगं पि जाणियव्वं । एकेके चत्तारि दंडगा भाणियव्वा जाव वेमाणिया । वेमाणिया णं भंते ! कम्मगसरीरेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, सेवं भंते भंते त्ति ॥

"जीवे ण" इत्यादि ।(ओरालियसरीराओ त्ति) औदारिकशरीरात्परकीयमौदारिकशरीरमाश्रित्य कतिक्रियो जीव ?, इति प्रश्न । उत्तरं तु-(सिय तिकिरिए त्ति) यदैको जीवोऽन्यस्य पृथिव्यादे. सम्बन्ध्यौदारिकशरीरमाश्रित्य काय व्यापारयति तदा त्रिक्रिय', कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीनां भावात । एतासां च परस्परेणाविनाभूतत्वात्स्यात त्रिक्रिय इत्युक्तम । न पुन' स्यादेकक्रिय' स्याद्क्रिय इति, अविनाभावश्च नासामेव । अधिकृतक्रिया ह्यवीतरागस्यैव नेतरस्य, तथाविधकर्मबन्धहेतुत्वात । अवीतरागकायस्य चाधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायक्रियासद्भावे इतरयोरवश्यभाव.,इतरभावे च कायिकीसद्भावः। उक्तञ्च (वक्ष्यते चाग्रे) प्रज्ञापनायामिहार्थे-"जस्स ण जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया नियमा कज्जइ । जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ" इत्यादि । तथाऽऽद्यक्रियात्रयसद्भावे उत्तरक्रियाद्वय भजनया भवति । यदाह-"जस्स ण जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ. सिय नो कज्जइ" इत्यादि । ततश्च यदा कायव्यापारद्वारेणाऽऽद्यक्रियात्रय एव वर्तते, न तु परितापयति, न चातिपातयति तदा त्रिक्रिय एवेत्यतोऽपि स्यात त्रिक्रिय इत्युक्तम,यदा तु परितापयति तदा चतुष्क्रिय , आद्यक्रियात्रयस्य तत्रावश्यम्भावात् । यदा त्वतिपातयति तदा पञ्चक्रिय , आद्यक्रियाचतुष्कस्य तत्रावश्यंभावात् । उक्तञ्च "जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया नियमा कज्जइ" इत्यादीति । अत एवाह-(सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए त्ति) । तथा (सिय अकिरिए त्ति) । वीतरागावस्थामाश्रित्य तस्यां हि वीतरागत्वादेव न सन्त्यधिकृतक्रिया इति । (नेरइए णमित्यादि) नारको यस्मादौदारिकशरीरबन्धं पृथिव्यादिकं स्पृशति परितापयति विनाशयति च तस्मादौदारिकात् स्यात त्रिक्रिय इत्यादि । अक्रियस्त्वयं न भवत्यवीतरागत्वेन क्रियाणामवश्यम्भावित्वादिति । (एव चेव त्ति) स्यात त्रिक्रिय इत्यादि सर्वेष्वसुरादिपदेषु वाच्यमित्यर्थ. । (मणुस्से जहा जीवे त्ति) । जीवपदे इव मनुष्यपदेऽक्रियत्वमपि वाच्यमित्यर्थ. । जीवपदे मनुष्यसिद्धापेक्षयैवाऽक्रियत्वस्याऽधीतत्वादिति । (ओरालियसरीरेहिंतो त्ति) औदारिकशरीरेभ्य इत्येव बहुत्वापेक्षोऽयमपरो दण्डक. । एवमेतौ जीवस्यैकत्वेन द्वौ दण्डकौ । एवञ्च जीवबहुत्वेनापरौ द्वावेवमौदारिकशरीरापेक्षया चत्वारो दण्डका इति । "जीवे णमित्यादि" जीवः परकीयं वैक्रियशरीरमाश्रित्य कतिक्रियः ?।उच्यते-स्यात् त्रिक्रिय इत्यादि । पञ्चक्रियश्चेह नोच्यते,प्राणातिपातस्य वैक्रियशरीरिणः कर्तुमशक्यत्वाद्विरतिमात्रस्य चेह विवक्षितत्वात । अत एवोक्तम्-"पंचमकिरिया न भणइ त्ति" एवं 'जहा वेउव्विय तहा आहारय पि तेयग पि कम्मग पि भाणियव्व ति" अनेनाहारकादिशरीरत्रयमप्याश्रित्य दण्डकचतुष्टयेन नैरयिकादिजीवानां त्रिक्रियत्वं चतुष्क्रियत्व चोक्तम । पञ्चक्रियत्वं तु निवारित, मारयितुमशक्यत्वात्तस्येति । अथ नारकस्याधोलोकवर्तित्वादाहारकशरीरस्य च मनुष्यलोकवर्तित्वेन तत्क्रियाणामविषयत्वात कथमाहारकशरीरमाश्रित्य नारक' स्यात्त्रिक्रियः स्याच्चतुष्क्रिय. ? इति। अत्रोच्यते-यावत्पूर्वशरीरमव्युत्सृष्ट जीवनिर्वर्तितपरिणाम न त्यजति तावत्पूर्वभावप्रज्ञापनानयमतेन निवर्तकजीवस्यैवेति व्यपदिश्यते घृतघटन्यायेनेत्यतो नारकपूर्वभवदेहो नारकस्यैव तद्देशेन च मनुष्यलोकवर्तिनाऽस्थ्यादिरूपेण यदाहारकशरीर स्पृश्यते, परिताप्यते वा, तदाहारकदेहान्नारकस्त्रिक्रियश्चतुष्क्रियो वा भवति, कायिकीभावे इतरयोरवश्यम्भावात्, पारितापनिकीभावे चाद्यत्रयस्यावश्यम्भावादिति । एवमिहान्यदपि विषयमवगन्तव्यम । यच्च तैजसकार्मणशरीरापेक्षया जीवाना परितापकत्व तदौदारिकाद्याश्रितत्वेन तयोरवसेयम्, स्वरूपेण तयोः परितापयितुमशक्यत्वादिति । भ० ८ श० ६ उ० ।

अथ केषां जीवानां कति क्रिया इति निरूपणार्थं
प्रागुक्तमेव सूत्र पठन्ति-

कति णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! पंच किरिया पण्णत्ता । तं जहा-काइया जाव पाणाइवायाकिरिया ।

" कइ ण भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ?" इत्यादि प्राग्वत् ।
एता एव क्रियाश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति-

णेरइया णं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ?। पंच किरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-काइया जाव पाणाइवायकिरिया । एवं जाव वेमाणियाणं ।

" णेरइयाण भंते ! इत्यादि पाठसिद्धम ।
संप्रत्यासामेव क्रियाणामेकजीवाश्रयेण परस्परमविनाभावित्व चिन्तयति-

जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ, जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया नियमा कज्जइ, जस्साहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ । जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पाओसिया कज्जइ, जस्स पाओसिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! एवं चेव । जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ, जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ, सिय

नो कज्जइ । जस्स पुण पारियावणिया कज्जइ तस्स काइया नियमा कज्जइ । एवं पाणाइवायकिरिया वि । एवं आदिल्लाओ परोप्परं नियमा तिन्नि कज्जइ । तस्स उवरिल्लाओ दोन्नि सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स उवरिल्लाओ दोन्नि कज्जइ तस्स आदिल्लाओ नियमा तिन्नि कज्जइ ॥

" जस्स णं भंते!" इत्यादि । इह कायिकी क्रिया औदारिकादिकायाश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्तनसमर्था प्रतिविशिष्टा परिगृह्यते । अनयोः काचन कार्मणकायाश्रिता वा तत आद्यानां तिसृणां,क्रियाणां परस्पर नियम्यनियामकभावः कथमिति चेत्?, उच्यते-कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्त प्राक् । तत कायस्याधिकरणत्वात् कायिक्यां सत्यामवश्यमाधिकरणिकी, आधिकरणिक्यामवश्यं कायिकी । सा च प्रतिविशिष्टा कायिकी क्रिया प्रद्वेषमन्तरेण न भवति, ततः प्राद्वेषिक्याऽपि सह परस्परमविनाभावः । प्रद्वेषोऽपि च काये स्फुटलिङ्ग एव, वक्त्ररूक्षत्वादेस्तदविनाभाविनः प्रत्यक्षत एवोपलम्भात् । उक्तञ्च-"रूक्षयति रूक्षतो ननु, वक्त्र स्निह्यति च रज्यत. पुसः । औदारिकोऽपि देहो, भाववशात्परिणमत्येवम् " ॥ १ ॥ परितापनस्य प्राणातिपातस्य चाद्यक्रियात्रयसम्भवेऽप्यनियमः कथमिति चेत्?, उच्यते-यद्यसौ घात्यो मृगादिर्घातकेन धनुषा क्षिप्तेन बाणादिना विध्यते ततस्तस्य परितापन मरण वा भवति, नान्यथा, ततो नियमाभावः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य च भावे पूर्वक्रियाणामवश्यभावः, तासामभावे तयोरभावात् । ततोऽमुमर्थं परिभाव्य कायिकी शेषाभिश्चतसृभिः क्रियाभिः सह, आधिकरणकी तिसृभि , प्राद्वेषिकी द्वाभ्यां सूत्रतः सम्यक् चिन्तनीया ॥

पारितापनिकीप्राणातिपातक्रिययोस्तु सूत्रं साक्षादाह-

जस्स णं भंते ! जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ, जस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरया कज्जइ ? । गोयमा ! जस्स णं जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स पुण पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया नियमा कज्जइ । जस्स णं भंते ! णेरइयस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अधिगरणिया कज्जइ ?। गोयमा ! जहेव जीवस्स तहेव णेरइयस्स वि । एवं जाव निरंतरं वेमाणियस्स ।

" जस्स ण भंते ! " इत्यादि । पारितापनिक्याः सद्भावे प्राणातिपातक्रिया स्याद्भवति, स्यान्न भवति । यदा बाणाद्यसिघातेन जीवितात् च्याव्यते तदा भवति, शेषकाल न भवतीत्यर्थं । यस्य पुनः प्राणातिपातक्रिया तस्य नियमात्परितापनमन्तरेण प्राणव्यपरोपणा । सम्प्रति नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण परस्परमविनाभावं चिन्तयति-" जस्स ण भंते ! नेरइयस्स काइया कज्जइ " इत्यादि प्रतीतम्, भावितत्वात् । तदेवमेको दण्डक उक्तः ।

संप्रति कालमधिकृत्योक्तप्रकारेणैव द्वितीयदण्डकमाह-

जं समयं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तं समयं अधिगरणिया किरिया कज्जइ, जं समयं अहिगरणिया कज्जइ तं समयं काइया किरिया कज्जइ ?। एवं जहेव आइल्लओ दंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स ॥

"जं समयं णं भंते !" इत्याद्यारभ्य सर्वं पूर्वोक्तं तदवस्थं तावद्वक्तव्य यावद्वैमानिकसूत्रम् । तथा चाह-" एवं जहेव आइल्लओ दण्डओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स " इति । समयग्रहणेन चेह सामान्यतः कालो गृह्यते न पुनः परमनिरुद्धो यथोक्तस्वरूपो नैश्चयिकः समयः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य वा बाणादिक्षेपजन्यतया कायिक्याः प्रथमसमये एवासम्भवात् । एष द्वितीयो दण्डकः ।

सम्प्रति द्वौ दण्डकौ क्षेत्रमधिकृत्याह-

जं देसे णं भंते ! जीवस्स काइया कज्जइ तं देसं अहिगरणिया तहेव जाव वेमाणियस्स । जं पदेसे णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तं पदेसं अहिगरणिया किरिया कज्जइ । एवं तहेव जाव वेमाणियस्स । एवं एते जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं चत्तारि दंडका होंति ॥

"जं देसे णं भंते!" इत्यादि । अत्रापि सूत्रं पूर्वोक्त तदवस्थं तावद्वक्तव्य यावद्वैमानिकसूत्रम् । तथा चाह-" तहेव जाव वेमाणियस्स " एष तृतीयो दण्डकः । " जं पदेसे णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ " इत्यादिश्चतुर्थः । अत्रापि सूत्र प्रागुक्तक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । तथा चाह-"एव तहेव जाव वेमाणिए " इति । दण्डकसकलनामाह-एवमेते इत्यादि । एताश्च यथा ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धकारणं तथा संसारकारणमपि, ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धस्य संसारकारणतया तद्धेतुत्वेन तासामपि संसारकारणत्वोपचारात् । तथा चाह-

कति णं भंते! आओजियाओ किरियाओ पण्णत्ताओ । गोयमा ! पंच आओजिताओ किरियाओ पण्णत्ताओ ?। तं जहा- काइया जाव पाणाइवायकिरिया । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ॥

आयोजयन्ति जीवं संसारे इत्यायोजिकाः कायिक्यादिकाः । शेषं सर्वं सुगमम् । सूत्रपाठस्तु पूर्वोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्यो यावत्-

जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया आओजिता किरिया अत्थि, तस्स अहिगरणिया आओजिआ किरिया अत्थि, जस्स अधिगरणिया आओजिता किरिया अत्थि, तस्स काइया आओजिया किरिया अत्थि ? । एवं एतेणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा णाणियव्वा । जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं जाव वेमाणियाणं ॥

(जस्सेति) यं समयमिति य देसमिति यं प्रदेशमिति परिपूर्णाः चत्वारो दण्डकाः । यं समयमित्यादि " कालाध्वनोर्व्याप्तौ " ॥२।२।४२॥ इत्यधिकरणे द्वितीया । ततो यस्मिन् समये, यस्मिन् देशे यस्मिन् प्रदेशे, इति व्याख्येयम् ।

जीवे णं भंते ! जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारितावणियाए पुट्ठे, पा-

णाइवायकिरियाए पुट्ठे ?। गोयमा ! अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए पुट्ठे १। अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समय काइयाए अधिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे त समयं पारितावणियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे २। अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ ज समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए अपुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे ३।

"जीवे णं भते!" इत्यादि। अत्राऽपि समयग्रहणेन सामान्यतः कालो गृह्यते। प्रश्नसूत्र सुगमम्। निर्वचनसूत्रे भङ्गत्रयी-कञ्चिज्जीवमधिकृत्य कश्चिज्जीवो यस्मिन् समये काले क्रियात्रयेण स्पृष्टस्तस्मिन्समये पारितापनिक्या स्पृष्टः प्राणातिपातक्रिया चेति एको भङ्गः। पारितापनिक्या स्पृष्ट प्राणातिपातेनास्पृष्ट इति द्वितीयः। पारितापनिक्या प्राणातिपातक्रियया वा स्पृष्ट इति तृतीयः। एष च तृतीयो भङ्गो बाणादेर्लक्ष्यात्परिभ्रंशेन घात्यस्य मृगादेः परितापनाद्यसम्भवे वेदितव्य। यस्तु यस्मिन् समये च जीवमाधिकृत्याऽऽद्यक्रियात्रयेणास्पृष्ट. स तस्मिन् समये तमधिकृत्य नियमात्पारितापनिक्या प्राणातिपातक्रियया वा स्पृष्ट, कायिक्याद्यभावे परितापनादेरभावात्। तदेवमुक्ताः क्रिया।

साम्प्रत प्रकारान्तरेण क्रियां निरूपयति-

कति णं भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-आरंभिया पारिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया ॥

"कति ण भते!" इत्यादि। आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः। उक्तं च- "सकप्पो सरंभो, परितावकरो भवे समारंभो। आरंभो उद्दवनो, सुद्ध नयाणं तु सव्वेसिं" ॥१॥ आरम्भः प्रयोजन कारण यस्या. सा आरम्भिकी। (पारिग्गहिय त्ति) परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज्यवस्तुस्वीकारः, धर्मोपकरणमूर्च्छा च। परिग्रह एव पारिग्राहिकी, परिग्रहेण निर्वृत्ता वा पारिग्राहिकी। (मायावत्तिया इति) माया अनार्जवम्, उपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रह.। माया प्रत्यय कारण यस्याः सा मायाप्रत्यया। (अपच्चक्खाणकिरिया इति) अप्रत्याख्यान मनागपि विरतिपरिणामाभाव, तदेव क्रिया (मिच्छादसणवत्तिया इति) मिथ्यादर्शन प्रत्ययो हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया।

एतासां क्रियाणां मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य तां निरूपयति-

आरंभिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि पमत्तसंजतस्स। पारिग्गहिया णं भते ! किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि संजतासंजतस्स। मायावत्तिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि अपमत्तसंजयस्स। अपच्चक्खाणकिरिया णं भंते ! कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि अपच्चक्खाणियस्स। मिच्छादंसणवत्तिया णं किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि मिच्छादंसणस्स ॥

"आरंभिया णं भते!" इत्यादि। (अन्नयरस्स वि पमत्तसंजयस्स इति)। अत्रापिशब्दो भिन्नक्रम। प्रमत्तसयतस्याप्यन्यतरस्य एकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुष्प्रयोगभावत. पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवात्। अपिशब्दोऽन्येषामधस्तनगुणस्थानवर्त्तिना नियमप्रदर्शनार्थ.। प्रमत्तसयतस्याप्यारम्भिकी क्रिया भवति, किं पुन. शेषाणां देशविरतिप्रभृतीनामिति। एवमुत्तरत्रापि यथायोगमपिशब्दभावना कर्त्तव्या। पारिग्राहिकी सयतासयतस्यापि देशविरतस्यापीत्यर्थः, तस्याऽपि परिग्रहधारणात्। मायाप्रत्यया अप्रमत्तसयतस्याऽपि। कथमिति चेत् ?, उच्यते-प्रवचनोड्डाहप्रच्छादनार्थं वल्लीकरणसमुद्देशादिषु अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः, अन्यतरदपि न किञ्चिदपीत्यर्थ। यो न प्रत्याख्याति तस्येति भावः। मिथ्यादर्शनक्रिया अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमप्यक्षर वाऽरोचयमानेत्यर्थ. मिथ्यादृष्टेर्भवति।

एता एव क्रियाश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

णेरइयाणं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया ; एव जाव वेमाणियाणं ॥

"णेरइयाण भते!" इत्यादि सुगमम्। सम्प्रत्यासां क्रियाणां परस्परमविनाभाव चिन्तयति-यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य पारिग्रहिकी स्याद्भवति, स्यान्न भवति। प्रमत्तसयतस्य न भवति, शेषस्य भवतीत्यर्थ।

जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ, जस्स पारिग्गहिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ; जस्स पुण पारिग्गहिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया णियमा कज्जइ, जस्स पुण मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पच्चक्खाणकिरिया कज्जइ पुच्छा ?। गोयमा ! जस्स जीवस्स आरंभिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स पुण अपच्चक्खाणकिरिया तस्स आरंभिया नियमा कज्जइ। एवं मिच्छादंसणवत्तियाए वि समं। एवं पारिग्गहिया वि तिहिं वि उवरिल्लाहिं समं संचारेयव्वा, जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ दो वि सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स उवरिल्लियाओ दो कज्जइ तस्स मायावत्तिया नियमा कज्जइ। जस्स अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ

तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ ॥

तथा यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य मायाप्रत्यया नियमाद्भवति, यस्य मायाप्रत्यया तस्यारम्भिकी क्रिया स्याद् भवति, स्यान्न भवति । प्रमत्तसंयतस्य देशविरतस्य च न भवति, शेषस्याविरतिसम्यग्दृष्ट्यादेर्भवतीति भावः । यस्य पुनरप्रत्याख्यानक्रिया तस्यारम्भिकी नियमात्, अप्रत्याख्यानिनोऽवश्यमारम्भसम्भवात् । एवं मिथ्यादर्शनप्रत्ययाऽपि सहाविनाभावो भावनीयः । तथाहि-यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य मिथ्यादर्शनप्रत्यया स्याद्भवति, स्यान्न भवति । मिथ्यादृष्टेर्भवति, शेषस्य न भवतीत्यर्थः । यस्य तु मिथ्यादर्शनक्रिया तस्य नियमादारम्भिकी, मिथ्यादृष्टेरविरतत्वेनावश्यमारम्भसम्भवात् । तदेवमारम्भिकी क्रिया पारिग्राहिक्यादिभिश्चतसृभिरुपरितनीभिः क्रियाभिः सह परस्परमविनाभावेन चिन्तिता । एवं पारिग्रहिकी तिसृभिर्मायाप्रत्यया, द्वाभ्यामप्रत्याख्यानक्रिया, एकया मिथ्यादर्शनप्रत्ययया चिन्तनीया । तथा चाह-" एवं पारिग्गहिया वि तिहिं उवरिल्लाहिं सम संचारेयव्वा " इत्यादि सुगमं भावनीयाः, सुप्रतीतत्वात् ।

अमुमेवार्थं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

णेरइयस्स आदिल्लियाओ चत्तारि परोप्परं नियमा कज्जइ, जस्स एताओ चत्तारि कज्जइ तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया भइज्जइ, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स एता चत्तारि नियमा कज्जइ । एवं जाव थणियकुमारस्स पुढविकाइयस्स जाव चउरिंदियस्स पंच वि परोप्परं नियमा कज्जइ ।

'नेरइयस्स आइल्लियाओ चत्तारि' इत्यादि । नैरयिका ह्युत्कर्षतोऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं यावन्न परतः, ततो नैरयिकाणामाद्याश्चतस्रः क्रिया परस्परमविनाभाविन्यः, मिथ्यादर्शनक्रियां प्रति स्याद्वादः । तमेवाह- "जस्स एयाओ चत्तारि" इत्यादि । मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादर्शनक्रिया भवति, शेषस्य न भवतीति भावः । यस्य पुनर्मिथ्यादर्शनक्रिया तस्याद्याश्चतस्रो नियमान्मिथ्यादर्शने सत्यारम्भिक्यादीनामवश्यं भावात् । एवं तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमारस्य पृथिव्यादीनां चतुरिन्द्रियपर्यवसानानां पञ्च क्रिया परस्परमविनाभाविन्यो वक्तव्याः, पृथिव्यादीनां मिथ्यादर्शनक्रियाया अप्यवश्यभावात् ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स आइल्लियाओ तिन्नि वि परोप्परं नियमा कज्जंति । जस्स एताओ कज्जंति तस्स उवरिल्लियाओ दो भइज्जंति । जस्स उवरिल्लियाओ दो वि कज्जंति तस्स एताओ तिन्नि नियमा कज्जंति । जस्स अपच्चक्खाणकिरिया तस्स मिच्छादंसणवत्तिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ । मणुस्सस्स जहा जीवस्स वाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स जहा णेरइयस्स । जं समयं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तं समयं पारिग्गहिया किरिया कज्जइ । एवं एते जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं ण य चत्तारि दंडगा नेयव्वा । जहा णेरइयाणं तहा सव्वदेवाणं नेयव्वं वेमाणियाणं ।

तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्याद्यास्तिस्रः परस्परमविनाभूताः, देशविरतिं यावद्दाभामवश्यभावात् । उत्तराभ्यां तु द्वाभ्यां स्याद्वादः । तमेव दर्शयति-" जस्स एयाओ कज्जंति " इत्यादि । देशविरतस्य न भवतः, शेषस्य भवत इति भावः । यस्य पुनरुपरितन्यौ द्वे क्रिये तस्याद्यास्तिस्रो नियमाद्भवन्ति, उपरितन्यौ हि क्रिये-अप्रत्याख्यानक्रिया मिथ्यादर्शनप्रत्यया च । तत्राप्रत्याख्यानक्रिया अविरतिसम्यग्दृष्टिं यावत्, मिथ्यादर्शनक्रिया मिथ्यादृष्टेः, आद्याश्चतस्रो देशविरतिं यावत् । अत उपरितन्याभावेऽवश्यमाद्यानां तिसृणां भावः । सम्प्रत्यप्रत्याख्यानक्रियायाः मिथ्यादर्शनक्रियायास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य परस्परमविनाभावं चिन्तयति- "जस्स अपच्चक्खाणकिरिया" इत्यादि भावितम् । मनुष्ये यथा जीवपदे तथा वक्तव्यम्, व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां यथा नैरयिकस्य एवमेष एको दण्डकः । एवमेव "जं समयं णं भंते ! जीवस्स" इत्यादिका द्वितीयः । "जं देसं णं" इत्यादिकस्तृतीयः । "जं पएसं णं" इत्यादिकश्चतुर्थः ।

अथ षट्काया प्राणातिपातादिक्रियाहेतव एव भवन्ति, किं वा तद्विरमणहेतवोऽपीति पृच्छति-

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ ? । हंता ! अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ ? । गोयमा ! छसु जीवनिकाएसु । अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । एवं जाव वेमाणियाणं नवरं मणुस्साणं जहा जीवाणं एवं मुसावाएणं जाव मायामोसेणं जीवस्स य मणुस्सस्स य, सेसाणं णो इणट्ठे समट्ठे । णवरं अदिन्नादाणे गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु मेहुणरूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु सेसाणं दव्वेसु सव्वेसु । अत्थि णं भंते ! जीवाणं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जइ ? । हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जइ ? । गोयमा ! सव्वदव्वेसु । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं एगिंदियविगलिंदियाणं णो इणट्ठे समट्ठे ।

"अत्थि णं भंते !" इत्यादि । सर्वत्र क्रियते कर्मकर्तरि प्रयोगः, ततो भवतीति द्रष्टव्यम् । प्राणातिपातादिविरमणविषयाश्च षट्कायादयः प्रागेव भाविता इति न भूयो भाव्यन्ते । विरतिश्च प्राणातिपातादीनां मायामृषापर्यन्तानां जीवपदे मनुष्यपदे च वक्तव्या, शेषेषु तु स्थानेषु नायमर्थः समर्थ इति वक्तव्यम्, तेषां भवप्रत्ययतः सर्वविरत्यसम्भवात् । मिथ्यादर्शनविरमणविषयचिन्तायां सर्वद्रव्येष्विति । उपलक्षणमेतत् सर्वपर्यायेष्वपि, अन्यथा एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये वा मिथ्यात्वभावे मिथ्यादर्शनविरमणासम्भवात्, सूत्राक्षरस्यैकस्याप्यरोचनादन्तरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः, सूत्रं हि न प्रमाणं जिनाभिहितमिति वचनात् मिथ्यादृष्टेर्हि

द्वादश भङ्गाः । अथाष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकायन्धकरूपाणां पदानां संयोगे प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गाः । सर्वसंकलनया सप्तविंशतिर्भङ्गाः । अत्रापर आह-ननु विरतस्य कथं बन्धः ?, न हि विरतिर्बन्धहेतुर्भवति । यदि पुनर्विरतिरपि बन्धहेतुः स्यात्ततो निर्मोक्षप्रसङ्गः, उपायाभावात् । उच्यते-न विरतिर्बन्धहेतुः, किं तु विरतस्य ये कषाययोगास्ते बन्धकारणम् । तथाहि-सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकेष्वपि संयमेषु कषायाः सज्वलनरूपा उदयप्राप्ताः सन्ति योगाश्च,ततो विरतस्यापि देवायुष्कादीनां शुभप्रकृतीनां तत्प्रत्ययो बन्धः । यथा च प्राणातिपातविरतस्य सप्तविंशतिर्भङ्गा उक्ताः तथा मृषावादविरतस्य यावन्मायामृषाविरतस्य ।

मिथ्यादर्शनशल्यविरतिमधिकृत्य सूत्रमाह-

मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते ! जीवे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा । मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते ! नेरइए कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिए मणुस्से जहा जीवे । वाणमंतरजोइसियवेमाणिए जहा नेरइए ॥

" मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते ! " इत्यादि सुगमम्, नवरं सप्तविधबन्धकत्वमष्टविधबन्धकत्वं षड्विधबन्धकत्वमेकविधबन्धकत्वमबन्धकत्वं च मिथ्यादर्शनशल्यविरतेरविरतसम्यग्दृष्टेरारभ्यायोगिकेवलिनं यावद्भावात् । नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां मनुष्यवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु सप्तविधबन्धकत्वमष्टविधबन्धकत्वं वा, न षड्विधबन्धकत्वादिश्रेणिप्रतिपत्त्यसम्भवात्; मनुष्यपदे च यथा जीवपदे तथा वक्तव्यं, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात् ।

बहुवचनेनैतद्विषय सूत्रमाह-

मिच्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! जीवा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! ते चेव सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा । मिच्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! णेरइया णं कइ कम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा य, अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य । एवं जाव वेमाणिया नवरं मणुस्सा णं जहा जीवा णं ॥

"मिच्छा" इत्यादि । अत्रापि ते एव पूर्वोक्ताः सप्तविंशतिभङ्गाः, नैरयिकपदे भङ्गत्रिकम् । तत्र सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इत्येको भङ्गः । अथ च यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदा भवति, यदा पुनरेकोऽष्टविधबन्धको लभ्यते तदाऽयं द्वितीयो भङ्गः, सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकश्च । यदा पुनरष्टविधबन्धका अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयः सप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्च, एवं भङ्गत्रिकं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्,नवरं मनुष्यपदे सप्तविंशतिभङ्गका यथा जीवपदे इति ।

अथारम्भिक्यादीनां क्रियाणां मध्ये का क्रिया प्राणातिपातविरतस्येति, चिन्तयति-

पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! पाणाइवायविरयस्स जीवस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स अपच्चक्खाणवत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । मिच्छादंसणवत्तियाए पुच्छा ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । एवं पाणाइवायविरयस्स मणुस्सस्स वि, एवं जाव मायामोसविरयस्स जीवस्स मणुस्सस्स य ॥

"पाणाइवायविरयस्स णं भंते !" इत्यादि । आरम्भिकी क्रिया स्याद्भवति, प्रमत्तसंयतस्य भवति, शेषस्य न भवतीति भावः । पारिग्रहिकी निषेध्या, सर्वथा परिग्रहान्निवृत्तत्वात्, अन्यथा सम्यक् प्राणातिपातविरत्यनुपपत्तेर्मायाप्रत्यया स्याद्भवति,स्यान्न भवति । अप्रमत्तस्यापि हि कदाचित्प्रवचनमालिन्यरक्षणार्थं भवति,शेषकालं तु न भवति । अप्रत्याख्यानक्रिया मिथ्यादर्शनप्रत्यया च सर्वथा निषेध्यते, तदभावे प्राणातिपातविरत्ययोगात् । प्राणातिपातविरतेश्च द्वे पदे । तद्यथा-जीवो, मनुष्यश्च । तत्र यथा सामान्यतो जीवमधिकृत्योक्तम्,तथा मनुष्यमधिकृत्य वक्तव्यम् । तथा चाह-"एवं पाणाइवायविरयस्स मणुस्सस्स वि" इति । एवं तावद्वक्तव्यं यावन्मायामृषाविरतस्य जीवस्य मनुष्यस्य च ।

मिथ्यादर्शनशल्यविरतिमधिकृत्य सूत्रम्-

मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! मिच्छादंसणसल्लविरयस्स जीवस्स आरंभिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । एवं जाव अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ । मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! णेरइयस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणकिरिया वि कज्जइ । मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ एवं जाव थणियकुमारस्स । मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स एवमेव पुच्छा ?। गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया न कज्जइ, मणुस्सस्स जहा जीवस्स । वाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स जहा णेरइयस्स ।

" मिच्छादंसण " इत्यादि । आरम्भिकी स्याद्भवति, स्यान्न भवति । प्रमत्तसंयतस्य भवति, शेषस्य न भवतीति भावार्थः । पारिग्रहिकी देशविरतिं यावद्भवति,मायाप्रत्ययाऽप्यनिवृत्तिबादरसम्परायं यावद्भाविनी,परतो न भवति । अप्रत्याख्यानक्रियाऽ-

प्यविरतिसम्यग्दृष्टि यावन्न परतः । तत एता अपि क्रिया अधिकृत्य " सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ " इति वक्तव्यम् । तथाचाह-(एवं जाव अपच्चक्खाणकिरिया इति) मिथ्यादर्शनप्रत्यया पुनर्निषेध्या, मिथ्यादर्शनविरतस्य तस्या असम्भवात् । चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां नैरयिकाणां स्तनितकुमारपर्यवसानानां चतस्रः क्रिया वक्तव्या., मिथ्यादर्शनप्रत्यया निषेध्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाद्यास्तिस्रः क्रिया नियमतो वक्तव्याः, अप्रत्याख्यानक्रिया भाज्या । देशविरतस्य न भवति, शेषस्य भवतीत्यर्थः । मिथ्यादर्शनप्रत्यया निषेध्या मनुष्यस्य यथा सामान्यतो जीवस्य व्यन्तरादीनां यथा नैरयिकस्य ।

सम्प्रत्यासामेवारम्भिक्यादीनां क्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं भंते ! आरंभियाणं जाव मिच्छादंसणवत्तिया ण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मिच्छादंसणवत्तियाओ किरियाओ अपच्चक्खाणकिरियाओ विसेसाहियाओ पारिग्गहियाओ विसेसाहियाओ आरंभियाओ किरियाओ विसेसाहियाओ मायावत्तियाओ विसेसाहियाओ किरियापदं सम्मत्तं ।

"एतासि णं भंते !" इत्यादि । सर्वस्तोका मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया, मिथ्यादृष्टीनामेव भावात् । ततोऽप्रत्याख्यानक्रिया विशेषाधिका, अविरतिसम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च भावात् । ताभ्योऽपि पारिग्रहिक्या विशेषाधिका, देशविरतानां पूर्वेषां च भावात् । आरम्भिक्या विशेषाधिकाः, प्रमत्तसंयतानां पूर्वेषां च भावात्, ताभ्योऽपि मायाप्रत्यया विशेषाधिकाः, अप्रमत्तसंयतानामपि भावात् । प्रज्ञा० २२ पद । (नैरयिकादीनां समक्रियत्वनिर्वचनं 'सम' शब्दे करिष्यते)

(६) मृगवधायोद्यतस्य क्रिया-

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एए मिए त्ति काओ अन्नयरस्स मियवहाए कूडपासं उद्दाइ; तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ? । गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ? । गोयमा ! जे भविए उद्दवणयाए णो बंधणयाए णो मारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए तिहिं किरियाहिं पुट्ठे जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि नो मारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे से तेणट्ठेणं जाव पंचकिरिए ॥

तत्र (कच्छंसि व त्ति) कच्छे नदीजलपरिवेष्टिते वृक्षादिमति प्रदेशे । (दहंसि व त्ति) ह्रदे प्रतीते । (उदगंसि व त्ति) उदके जलाशयमात्रे (दवियंसि व त्ति) द्रविके तृणादिद्रव्यसमुदाये (वलयंसि व त्ति) वलये वृत्ताकारनद्याद्युदककुटिलगतियुक्तदेशे (णूमंसि व त्ति) नूमे अवतमसे गाढतमसे (गहणंसि व त्ति) गहने वृक्षवल्लीलतावितानवीरुत्समुदाये (गहणविदुग्गंसि व त्ति) गहनविदुर्गे पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्ल्यादिसमुदाये (पव्वयंसि व त्ति) पर्वते (पव्वयविदुग्गंसि व त्ति) पर्वतसमुदाये (वणंसि व त्ति) वने एकजातीयवृक्षसमुदाये (वणविदुग्गंसि व त्ति) नानाविधवृक्षसमूहे, मृगैर्हरिणैर्वृत्तिर्जीविका यस्य स मृगवृत्तिकः । स च मृगरक्षकोऽपि स्यादित्यत आह-(मियसंकप्पे त्ति) मृगेषु संकल्पो वधाध्यवसायश्छेदनं वा यस्यासौ मृगसङ्कल्पः । स च चलचित्ततयाऽपि भवतीत्यत आह-(मियपणिहाणे त्ति) मृगवधैकाग्रचित्तः (मियवहाए त्ति) मृगवधाय (गंता त्ति) गत्वा, कच्छादाविति योगः । (कूडपासं ति) कूटं च मृगग्रहणकारणं, गर्तादिपाशश्च तद्बन्धनमिति कूटपाशम् । (उद्दाइ ति) उद्दधाति, रचयतीत्यर्थः । (तओ ण ति) ततः कूटपाशकरणात् । (कइ किरिए त्ति) कति क्रियाः, क्रियाश्च कायिक्यादिकाः (जे भविए त्ति) यो भव्यो योग्यः, कर्त्तेति यावत् । "जाव च णं" इति शेषः । यावन्तं कालमित्यर्थः । कस्याः कर्त्तेत्याह-(उद्दवणयाए त्ति) कूटपाशकरणतया, ताप्रत्ययश्चेह स्वार्थिकः । (ताव च ण ति) तावन्तं कालं (काइयाए त्ति) गमनादिकायचेष्टारूपया [अहिगरणियाए त्ति) अधिकरणेन कूटपाशरूपेण निर्वृत्ता या सा तथा, तया । (पाओसियाए त्ति) प्रद्वेषो मृगेषु दुष्टभाव , तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी, तया (तिहिं किरियाहिं ति) क्रियन्त इति क्रियाश्चेष्टाविशेषाः [पारितावणियाए त्ति] परितापनप्रयोजना पारितापनिकी । सा च बद्धे सति मृगे भवति, प्राणातिपातक्रिया च घातिते इति ।

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय अगणिकायंसि निसिरइ तावं च णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ? । गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि नो दहणयाए चउहिं जे भविए उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि दहणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे से तेणट्ठेणं गोयमा ! ।

(ऊसविय त्ति) उत्सर्प्य " कासिकिऊणेत्यादि " ऊर्ध्वीकृत्येति वा [निसिरइ त्ति] निसृजति, क्षिपति, यावदिति शेष ।

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एए मिए त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं निसिरइ ततो णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ? । गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । से केणट्ठेणं गोयमा ! जे भविए निसिरणयाए तीहिं जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि नो मारणयाए चउहिं जे भविए निसि-

रणयाए वि विद्धंसणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव अन्नयरस्स मियस्स वहाए आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता चिट्ठिज्जा अन्नयरे पुरिसे मग्गओ आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा से य उसू ताए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा । से णं भंते ! पुरिसे किं मियवेरेण य पुट्ठे पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?। गोयमा ! जे मियं मारेइ से मियवेरेणं पुट्ठे,जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव से पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?। से णूणं गोयमा ! कज्जमाणे कडे संधेज्जमाणे संधिए निव्वत्तिज्जमाणे निव्वत्तिए निसिरिज्जमाणे निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया । हंता भगवं ! कज्जमाणे कडे जाव निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! जे मियं मारेइ से मियवेरेणं पुट्ठे, जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे, अंतो छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, बाहिं छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

"उसु ति" (बाणं आययकण्णाययं ति) कर्णं यावदायत आकृष्टः कर्णायतः । । आयतप्रयत्नवत् यथा भवतीत्येव कर्णायत आयतकर्णायतः, तम् । (आयामेत्त त्ति) आयम्याकृष्य (मग्गओ त्ति) पृष्ठतः (सयपाणिण त्ति) स्वकपाणिना स्वहस्तेन (पुव्वायामणयाए त्ति) पूर्वाकर्षणेन (से णं भंते ! पुरिसे त्ति) स शिरश्छेत्ता पुरुषः (मियवेरेण ति) इह वैरं वैरहेतुत्वाद्वधः पापं वा वैरं वैरहेतुत्वादिति । अथ शिरश्छेत्तृपुरुषहेतुकत्वादिषु निपातस्य कथं धनुर्धरपुरुषो मृगवधेन स्पृष्ट इत्याकूतवतो गौतमस्य तदभ्युपगतमेवार्थमुत्तरतया प्राह—क्रियमाणं धनुष्काण्डादिकृतमिति व्यपदिश्यते । युक्तिस्तु प्राग्वत् । तथा सन्धीयमानं प्रत्यञ्चायामारोप्यमाणं काण्डं धनुषाऽऽरोप्यमाणप्रत्यञ्चं सन्धितं कृतसन्धानं भवति तथा निर्वृत्यमानं नितरां वर्तुलीक्रियमाणं प्रत्यञ्चाकर्षणेन निर्वृत्तितं वृत्तीकृतं मण्डलाकारं कृतं भवति । तथा निसृज्यमानं निक्षिप्यमाणं काण्डनिसृष्टं भवति, यदा च निसृज्यमानं निसृष्टं तदा निसृज्यमानतया धनुर्द्धरेण कृतत्वात्तेन काण्डनिसृष्टं भवति, काण्डनिसर्गाच्च मृगस्तेनैव मारितः । ततश्चोच्यते-" जे मियं मारेत्यादीति " । इह च क्रियाः प्रक्रान्तास्ताश्चानन्तरोक्ते मृगादिवधे यावत्यो यत्र यत्र कालविभागे भवन्ति तावतीस्तत्र दर्शयन्नाह-" अंतो छण्हमित्यादि " । षण्मासान् यावत्प्रहारहेतुकं मरणम्, परतस्तु परिणामान्तरापादितमिति कृत्वा षण्मासादूर्द्ध्वं प्राणातिपातक्रिया न स्यादिति हृदयम् । एतच्च व्यवहारनयापेक्षया प्राणातिपातक्रियाव्यपदेशमात्रोपदर्शनार्थमुक्तम्; अन्यथा यदा कदाऽप्यधिकृतप्रहारहेतुकं मरणं भवति तदैव प्राणातिपातक्रियेति ॥

पुरिसे णं भंते ! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेज्जा, तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ?। गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधंसेइ सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे आसन्नवहएण य अणवकंखवत्तीएणं पुरिसवेरेणं पुट्ठे ॥

(सत्तीए त्ति) शक्त्या प्रहरणविशेषेण (समभिधंसेज्ज त्ति) हन्यात् (सपाणिण त्ति) स्वकहस्तेन (से त्ति) तस्य (काइयाए त्ति) कायिक्या शरीरस्पन्दरूपया, आधिकरणिक्या शक्तिखड्गव्यापाररूपया, प्राद्वेषिक्या मनोदुष्प्रणिधानेन, पारितापनिक्या परितापनरूपया प्राणातिपातक्रियया मारणरूपया (आसन्न त्ति) इत्यादिशक्त्या अभिध्वंसकोऽसिना वा शिरश्छेत्ता पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः, तथा पुरुषवैरेण च स्पृष्टो मारितः पुरुषवैरिभावेन । किम्भूतेनेत्याह-आसन्नो वधो यस्माद्वैरात्तत्तथा तेनासन्नवधकेन भवति च वैराद्वधो वधकस्य तमेव वध्यमाश्रित्यान्यतो वा तत्रैव जन्मनि जन्मान्तरे वा । यदाह-" वहमारणअब्भक्खा-णदाणपरधणविलोवणाईणं । सव्वजहन्नो उदओ, दसगुणिओ एक्कसि कयाणं " ॥ १ ॥ चः समुच्चये । अनवकाङ्क्षणा परप्राणनिरपेक्षा स्वगतापायपरिहारनिरपेक्षा वा वृत्तिर्वर्त्तनं यत्रैव वैरे तत्तथा, तेनानवकाङ्क्षणवृत्तिकेनेति ॥ भ० १ श० ८ उ० । (पृथ्वीकायमान यत्तत्कतिक्रिय इति 'आन' शब्दे द्वि० भा० १०८ पृष्ठे समुक्तम्)

अथ क्रियाजन्यं कर्म तद्वेदनां चाधिकृत्याह-

पुव्विं भंते ! किरिया पच्छा वेयणा, पुव्विं वेयणा पच्छा किरिया ? । मंडियपुत्ता ! पुव्विं किरिया पच्छा वेयणा, णो पुव्विं वेयणा पच्छा किरिया ॥

" पुव्विं भंते ! " इत्यादि । क्रियाकरणं तज्जन्यत्वात् कर्मापि क्रिया । अथवा क्रियत इति क्रिया कर्मैव । वेदना तु कर्मणोऽनुभवः, सा च पश्चादेव भवति, कर्मपूर्वकत्वात्तदनुभवनस्येति ॥

(१०) अथ क्रियामेव स्वामिभावतो निरूपयन्नाह-

अत्थि णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । कहिं णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?। मंडियपुत्ता ! पमायपच्चया जोगनिमित्तं च, एवं खलु समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ॥

"अत्थि ण" इत्यादि । अस्त्ययं पक्षो यदुत क्रिया क्रियते, क्रिया भवति, प्रमादप्रत्ययात् । यथाऽऽह-प्रयुक्तकायक्रियाजन्यं कर्म, योगनिमित्तं च, यथैर्यापथिकं कर्म । भ० ३ श० ३ उ० । ('दुक्ख' शब्दे क्रियायाः कृतात्वे करणं भाण्डाचहारे वक्ष्यते)

अथ क्रियान्तराणां विषयनिरूपणायाह-

गाहावइस्स णं भंते ! विक्किणमाणस्स केइ भंडं अवहरेज्जा, तस्स णं भंते ! भंडं अणुगवेसमाणस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ, परिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणीया मिच्छादंसणवत्तिया ?। गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ, परिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ, मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । अह से भंडे अभिसमन्नागए भवइ, तओ से पच्छा

सव्वाओ ताओ पयणुईभवंति। गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा भंडे य से अणुवणीए सिया। गाहावइस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ, जाव मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ। कइयस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ?। गोयमा ! गाहावइस्स ताओ भंडाओ आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ । मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति। गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स जाव भंडे से उवणीए सिया, कइयस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ, गाहावइस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया ?। गोयमा ! कइयस्स ताओ भंडाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति। मिच्छादंसणकिरिया भयणाए गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति ॥

गृहपतिर्गृही। "मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ इत्यादि" मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया स्यात्कदाचित् क्रियते भवति, स्यान्नो क्रियते कदाचिन्न भवति। यदा मिथ्यादृष्टिर्गृहपतिस्तदाऽसौ भवति, यदा तु सम्यग्दृष्टिस्तदा न भवतीत्यर्थः। अथ क्रियास्वेव विशेषमाह-(अहेत्यादि) अथेति पक्षान्तरद्योतनार्थ । (से भंडे त्ति) तद्भाण्डम् । (अभिसमण्णागए त्ति) गवेषयता लब्ध भवति। (तओ त्ति) समन्वागमनात् (से त्ति)तस्य गृहपते' पश्चात्समन्वागमानन्तरमेव (सव्वाओ त्ति) यासां सम्भवोऽस्ति ता आरम्भिक्यादिक्रियाः (पयणुईभवति त्ति) प्रतनुकीभवन्ति ह्रस्वीभवन्ति । अपहृतभाण्डगवेषणकाले हि महत्यस्ता आसन् प्रयत्नविशेषपरत्वात्, गृहपतेस्तल्लाभकाले तु यत्नविशेषोपरतत्वात्ता ह्रस्वीभवन्तीति। (कइए भंडं साइज्जेज्ज त्ति) क्रयिको ग्राहको भाण्डं स्वादयेत् सत्यङ्कारदानत. स्वीकुर्यात्। (अणुवणीए सिय त्ति) क्रयिकाया. समर्पित स्यात् (कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवति त्ति) अप्रासमाणमत्वेन तद्गतक्रियाणामल्पत्वादिति, गृहपतेस्तु महत्यो भाण्डस्य तदीयत्वात् १ । क्रयिकस्य भाण्डे समर्पिते महत्यस्ता, गृहपतेस्तु प्रतनुका• २। इद भाण्डस्यानुपनीतोपनीतभेदात्सूत्रद्वयमुक्तमेव धनस्यापि वाच्यम्।

गाहावइस्स णं भंते! भंडं जाव धणे य से अणुवणीए सिया, एयं पि जहा भंडे उवणीए तहा णेयव्वं। चउत्थो आलावगो धणे य से उवणीए सिया जहा पढमो आलावगो भंडे य से अणुवणीए सिया तहा नेयव्वो पढमं चउत्थाणं एक्को गमो वितियतइयाणं एक्को ॥

तत्र प्रथममेवम्-" गाहावइस्स ण भते ! भड विक्किणमाणस्स कइए भंडे साइज्जेज्जा धणे य से अणुवणीए सिया कइयस्स ण भते ! ताओ धणाओ किं आरभिया किरिया कज्जइ ४। गाहावइस्स य ताओ धणाओ किं आरभिया किरिया कज्जइ ५?। गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जति, मिच्छादंसणकिरिया भयणाए गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवति" धने अनुपनीते क्रयिकस्य महत्यस्ता भवन्ति, धनस्य तदीयत्वात्। गृहपतेस्तु नास्तनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात्। एव द्वितीयसूत्रसमानमिद तृतीयम्। अत एवाह-"एय पि जहा भडे उवणीए तहा नेवयव्व ति" द्वितीयसूत्रसमतयेत्यर्थ । चतुर्थ त्वेवमध्येयम्-" गाहावइस्स ण भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंम साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया गाहावइस्स णं भते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ । कइयस्स वा ताओ धणोओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! गाहावइस्स वा ताओ धणाओ आरंभिया किरिया ४ मिच्छादसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवति।" धन उपनीते धनप्रत्ययत्वात्तासां गृहपतेर्महत्यः, क्रयिकस्य तु प्रतनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात्। एवं च प्रथमसूत्रसममिद चतुर्थमित्येतदनुसारेण च सूत्रपुस्तकाक्षराण्यनुगन्तव्यानि। भ० ५ श० ६ उ०।

(११) श्रमणोपासकस्य क्रियाः-

समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अत्यमाणस्स तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ?। गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं जाव संपराइया ?। गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाइयकमस्स समणोवस्सए अत्यमाणस्स आया अहिगरणी भवइ आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ से तेणट्ठेणं ।

"समणेत्यादि" (सामाइयकडस्स त्ति) कृतसामायिकस्य तथा श्रमणोपाश्रये साधुवसतावासीनस्य तिष्ठतः (तस्स त्ति) यो यथार्थस्तस्य श्रमणोपासकस्येति किलाकृतसामायिकस्य तथा साध्वाश्रयेऽनवतिष्ठमानस्य भवति सांपरायिकी, क्रिया विशेषणद्वययोगे पुनरैर्यापथिकी युक्ता, निरुद्धकषायत्वादित्याशङ्कातोऽय प्रश्नः। उत्तर तु-(आयाहिगरणी भवइ त्ति) आत्मा जीवोऽधिकरणानि हलशकटादीनि कषायाश्रयभूतानि यस्या. सन्ति साऽधिकरणी, ततश्च (आयाहिगरणवत्तिय च णं ति) आत्मनोऽधिकरणानि आत्माधिकरणानि, तान्येव प्रत्ययः कारण यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययम । साम्परायिकी क्रिया क्रियत इति योगः। भ० ७ श० १ उ०।

अनगारस्यानायुक्ते गच्छत•-

अणगारस्स णं भंते ! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा ३ अणाउत्तं वत्थपरिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठेण ?। गोयमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोहमाणमायालोभा अव्वोच्छिण्णा भवंति

तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ। अहासुत्तं रियमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रियमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ,से णं उस्सुत्तमेव रियइ, से तेणट्ठेणं।

सुगमम्। भ० ७ श० १ उ०।

संवुडस्स णं भंते! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जाव आउत्तं वत्थपडिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ?। संवुडस्स णं अणगारस्स जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ संवुडस्स णं जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ?। गोयमा! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ, से णं अहासुत्तमेव रियइ से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ।

सुगमम्। भ० ७ श० ७ उ०।

(१२) सण्डासकेन तप्तलोहमुत्क्षिपतः-

पुरिसे णं भंते! अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पविहमाणे वा कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहिंति वा पविहिंति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरिया पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे; जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए अयकोट्ठे णिव्वत्तिए संडासए णिव्वत्तिए इंगाला णिव्वत्तिया इंगालकड्ढिणी णिव्वत्तिया भत्था णिव्वत्तिया ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। पुरिसे णं भंते! अयं अयकोट्ठाओ अयोमएणं संडासएणं गहाय अहिगरिणी उक्खिवमाणे वा णिक्खिवमाणे वा कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठाओ जाव णिक्खिवइत्ता तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए संडासए णिव्वत्तिए चम्मेट्ठए णिव्वत्तिए मुट्ठिए णिव्वत्तिए अधिगरिणीणिव्वत्तिए अधिगरणिखोडीणिव्वत्तिए उदगदोणीणिव्वत्तिए अधिगरणसालीणिव्वत्तिया ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा॥

"पुरिसे णं भंते!" इत्यादि। (अय त्ति) लोहं (अयकोट्ठंसि त्ति) लोहप्रतापनार्थे कुशूले (उव्विहमाणे व त्ति) उत्क्षिपन् वा (पविहमाणे व त्ति) प्रक्षिपन् वा (इंगालकड्ढिणि त्ति) ईषद्वक्रा लोहमययष्टिः। (भत्थ त्ति) ध्मानखल्लाप.। इह चायःप्रभृतिपदार्थनिर्वर्त्तकजीवानां पञ्चक्रियत्वमविरतिभावेनावसेयमिति। (चम्मेट्ठि त्ति) लोहमयः प्रतलायतो लोहादिकुट्टनप्रयोजनो लोहाकाराद्युपकरणविशेषः (मुट्ठिए त्ति) लघुतरो घनः (अहिगरणिखोडि त्ति) यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते (उदगदोणि त्ति) जलभाजनं, यत्र तप्त लोहं शीतलीकरणाय क्षिप्यते। (अहिगरणसाल त्ति) लोहपरिकर्मगृहम्। भ० १६ श० १ उ०।

धनुषा विध्यतः-

पुरिसे णं भंते! धणुं परामुसइ २ उसुं परामुसइ २ ठाणं ठाइ २ आययकण्णाययं उसुं करेइ २ उड्ढं वेहासं उसुं उव्विहइ, तए णं से उसुं उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणइ वत्तेइ लेस्सेइ संघाएइ संघट्टेइ परितावेइ किलामेइ ठाणाओ ठाणं संकामेइ जीवियाओ ववरोवेइ। तए णं भंते! से पुरिसे कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसइ २ जाव उव्विहइ, तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, एवं धणू पिट्ठे पंचहिं किरियाहिं जीवा पंचहिं ण्हारू पंचहिं उसू पंचहिं सरे पत्ताणे फले ण्हारू पंचहिं अहे णं से उसू अप्पणो गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयसंभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से उसू अप्पणो गुरुयत्ताए जाव ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते जीवा चउहिं किरियाहिं धणू पुट्ठे, चउहिं जीवा, चउहिं ण्हारू, चउहिं उसू, पंचहिं सरे, पत्ताणे फले ण्हारू पंचहिं जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे चिट्ठंति ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा॥

(पुरिसे णमित्यादि) (परामुसइ त्ति) परामृशति गृह्णाति (आययकण्णाययं ति) आयतः क्षेपाय प्रसारितः कर्णायतः आ कर्णं यावदाकृष्ट., ततः कर्मधारयाद् आयतकर्णायतः, अतस्तम् इषुं बाणं (उड्ढं वेहासं ति)। ऊर्ध्वमिति वृक्षशिखराद्यपेक्षयाऽपि स्यादत आह-विहायसीत्याकाशे (उव्विहइ त्ति) ऊर्ध्वं विजहाति, ऊर्ध्वं क्षिपतीत्यर्थः। (अभिहणइ त्ति) अभिमुखमागच्छतो हन्ति (वत्तेइ त्ति) वर्तुलीकरोति, शरीरसङ्कोचापादनात्। (लिसेइ त्ति) श्लेषयत्यात्मनि श्लिष्टान् करोति (संघाएइ त्ति) अन्योऽन्य गात्रैः संहतान् करोति (संघट्टेइ त्ति) मनाक् स्पृशति (परितावेइ त्ति) समन्ततः पीडयति (किलामेइ त्ति) मारणान्तिकादिसमुद्घातं नयति (ठाणाओ ठाणं संकामेइ त्ति) स्वस्थानात् स्थानान्तरं नयति, (जीवियाओ ववरोवेइ त्ति) च्युतजीवितान् करोतीति। (किरियाहिं पुट्ठे त्ति) क्रियाभिः स्पृष्टः, क्रियाजन्य

कर्मणा बद्ध इत्यर्थः। (धणु त्ति) धनुर्दण्डगुणादिसमुदाय । ननु पुरुषस्य पञ्च क्रिया भवन्तु,कायादिव्यापाराणां तस्य दृश्यमानत्वात् धनुरादिनिर्वर्तकशरीराणां तु जीवानां कथं पञ्च क्रियाः?, कायमात्रस्यापि तदीयस्य तदानीमचेतनत्वात्,अचेतनकायमात्रादपि बन्धाभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गः. तदीयशरीराणामपि प्राणातिपातहेतुत्वेन लोके विपरिवर्त्तमानत्वात् । किञ्च-यथा धनुरादीनि कायिक्यादिक्रियाहेतुत्वेन पापकर्मबन्धकारणानि भवन्ति तज्जीवानामेवं पात्रदण्डकादीनि जीवरक्षाहेतुत्वेन पुण्यकर्मनिबन्धनानि स्युर्न्यायस्य समानत्वादिति?। अत्रोच्यते-अविरतिपरिणामाद्बन्धः । अविरतिपरिणामश्च यथा पुरुषस्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्तकशरीरजीवानामपीति,सिद्धानां तु नास्त्यसाविति न बन्धः । पात्रादिजीवानां तु न पुण्यबन्धहेतुत्वं,तद्धेतोर्विवेकादेस्तेष्वभावादिति । किञ्च-सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद्यथोक्तं तत्तथा श्रद्धेयमेवेति। इषुरिति शरपत्रफलादिसमुदाय । " अहे ण से उसु " इत्यादि। इह धनुष्मदादीनां यद्यपि सर्वक्रियासु कथञ्चिन्निमित्तभावोऽस्ति तथापि विवक्षितबन्धं प्रत्यमुख्यवृत्तिकतया विवक्षितवधक्रियायास्तैः कृतत्वेनाविवक्षणात् , शेषक्रियाणां च निमित्तभावमात्रेणापि तत्कृतत्वेन विवक्षणाच्चतस्रस्ता उक्ताः, वाणादिजीवशरीराणां तु साक्षाद्वधक्रियायां प्रवृत्तत्वात्पञ्चेति। भ० ५ श० ६ उ० ।

(१३) वर्षज्ञानार्थं हस्तादिप्रसारयतः-

पुरिसे णं भंते! वासं वासति वासं णो वासति हत्थं वा पायं वा बाहुं वा ऊरुं वा आउंट्टावेमाणे वा पसारेमाणे वा कइकिरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे वासं वासइ वासं णो वासतीति हत्थं वा जाव ऊरुं वा आउंटावेति वा पसारेति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

(वासं वासइ त्ति) वर्षो मेघो वर्षति नो वा वर्षो वर्षतीति ज्ञानार्थमिति शेषः । अचक्षुरालोके हि वृष्टिराकाशे हस्तादिप्रसारणादवगम्यत इतिकृत्वा हस्तादिकं आकुण्टयेद्वा, प्रसार्यं प्रसारयेद्वा, आदित एवेति । भ० १६ श० ८ उ० ।

तालमारुह्य तत्फलं प्रपातयतः -

पुरिसे णं भंते ! तालमारुहइ, तालमारुहइत्ता तालाओ तालफलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए?। गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तालमारुहइ, तालमारुहइत्ता तालाओ तालफलं पचालेइ वा पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले णिव्वत्तिए तालफले णिव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

(ताल त्ति) तालवृक्षं (पचालेमाणे व त्ति) प्रचालयन् वा (पवाडेमाणे व त्ति) अधः प्रपातयन् वा (पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे त्ति) तालफलानां तालफलाश्रितजीवानां च पुरुषः प्राणातिपातक्रियाकारी, यश्च प्राणातिपातक्रियाकारको सावाप्यानामपीति कृत्वा पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्ट इत्युक्तम् १ । येऽपि च तालफलनिर्वर्तकजीवास्तेऽपि च पञ्चक्रियास्तदन्यजीवान् संघट्टनादिभिरुपद्रावयन्तीति कृत्वा २ ।

अहे णं भंते ! से तालफले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव पच्चोवयमाणा जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ ॥

(अहे णमित्यादि) अथ पुरुषकृततालफलप्रचलनादेरनन्तरं तत्तालफलमात्मनो गुरुकतया, यावत्करणात्संभारिकतया, गुरुसम्भारिकतयेति दृश्यम् । (पच्चोवयमाणे त्ति) प्रत्यवपतत् यास्तत्राकाशादौ प्राणादीन् जीविताद्व्यपरोपयति ।

तए णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे तालफले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ३ । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले णिव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ४। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो तालफले णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ५। जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उग्गहे वट्टंति, ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ६ । पुरिसे णं भंते! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए?। गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे रुक्खस्स मूलं पचालेइ वा पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा । अहे णं भंते! से मूले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव जीवियाओ ववरोवेइ, तए णं से पुरिसे कइकिरिए?। गोयमा! जावं च णं मूले अप्पणो जाव ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसिं पि णं सरीरेहिंतो कंदे णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठा । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। जे वि य णं से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उग्गहे वट्टंति ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। पुरिसे णं भंते! रुक्खस्स कंदं पचालेमाणस्स गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा पंचहिं किरियाहिं अहे णं भंते ! से कंदे जावं च णं से कंदे अप्पणो चउहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले ^

व्वत्तिए खंधे णिव्वत्तिए जाव चउहिं पुट्ठे । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो कंदे णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा जाव पंचहिं पुट्ठो । जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवय० जाव पंचहिं पुट्ठा जहा कंदए, एवं जाव वीयं ॥

(ततो णं ति) तेभ्यः सकाशात्कतिक्रियोऽसौ पुरुष.। उच्यते–चतुष्क्रियः, वधनिमित्तभावस्याल्पत्वेन तासां चतसृणामेव विवक्षणात् । तदल्पत्व च यथा पुरुषस्य तालफलप्रचलनादौ साक्षाद्वधनिमित्तभावोऽस्ति, न तथा तालफलव्यापादितजीवेष्विति कृत्वा ३ । एव तालनिर्वर्तकजीवा अपि ४ । फलनिर्वर्तकास्तु पञ्चक्रिया एव, साक्षात्तेषां वधनिमित्तत्वात् ५ । ये चाधोनिपततस्तालफलस्योपग्रहे उपकारे वर्त्तन्ते जीवास्तेऽपि पञ्चक्रियाः, वधे तेषां निमित्तभावस्य बहुतरत्वात् ६ । एतेषां च सूत्राणां विशेषतो व्याख्यान पञ्चमशतोक्तकाण्डक्षेत्र-पुरुषसूत्रादवसेयम् । एतानि चलनद्वारेण षट्क्रियास्थानान्युक्तानि, मूलादिष्वपि यथैव भावनीयानि । "एव जाव वीयं ति" अनेन कन्दसूत्राणीव कन्दत्वक्शालप्रवालपत्रपुष्पफलबीजसूत्राण्यध्येयानीति सूचितम् । भ० १७ श० १ उ० ।

(१४) शरीराणि निर्वर्त्तयतः–

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरे णं णिव्वत्तिएमाणे कइकिरिए ? । गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए;एवं पुढवीकाइए वि। एवं जाव मणुस्से ॥

" जीवे णं भंते!" इत्यादि। (सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए त्ति) यदौदारिकशरीरं परपरितापाद्यभावेन निर्वर्तयति तदा त्रिक्रिय , यदा तु परपरितापं कुर्वंस्तन्निर्वर्तयति तदा चतुष्क्रियः । यदा तु परमतिपातयंस्तन्निर्वर्तयति तदा पञ्चक्रिय इति । पृथक्त्वदण्डके स्याच्छब्दप्रयोगो नास्ति, एकदाऽपि सर्वविकल्पसद्भावादिति ॥

जीवा णं भंते ! ओरालियसरीरं णिव्वत्तेमाणा कइकिरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि । एवं पुढवीकाइया वि । एवं जाव मणुस्सा । एवं वेउव्वियसरीरेण वि दो दंडगा णवरं जस्स अत्थि वेउव्वियं एवं जाव कम्मगसरीरं । एवं सोइंदियं जाव फासिंदियं । एवं मणजोगं वइजोगं कायजोगं जस्स जं अत्थि तं भाणियव्वं एते एगत्तपुहत्तेणं छव्वीसदंडगा ॥

(छव्वीसदंडग त्ति) पञ्च शरीराणि, इन्द्रियाणि च, त्रयो योगाः, एते च मीलितास्त्रयोदश । एते च एकत्वपृथक्त्वाभ्यां गुणिताः षड्विंशतिरिति । भ० १७ श० १ उ० ।

प्राणातिपातादिना क्रियमाणायाः क्रियायाः स्पर्शना–

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ,अपुट्ठा कज्जइ ?। गोयमा ! पुट्ठा कज्जइ,णो अपुट्ठा कज्जइ, एव जहा पढमसए छट्ठुद्देसए जाव णो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया, एवं जाव वेमाणियाणं,णवरं जीवाणं एगिंदियाण य णिव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं सेसाणं णियमं छद्दिसिं । अत्थि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ?। जहा पाणाइवाएणं दंडओ, एवं मुसावाएण वि,अदिण्णादाणेण वि, मेहुणेण वि, परिग्गहेण वि । एवं एए पंच दंडगा । जं समए णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ, सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ?; एवं तहेव जाव वत्तव्वं सिया जाव वेमाणियाणं,एवं जाव परिग्गहेणं । एव एए वि पंच दंडगा । जं देसेणं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति जाव परिग्गहेणं । जं पदेसेणं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति, सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ ? एवं तहेव दंडओ । एवं जाव परिग्गहेणं । एवं एए वीस दंडगा ॥

" तेणमित्यादि " (एवं जहा पढमसते छट्ठुद्देसए त्ति) अनेनेदं सूचितम-"सा भंते ! किं ओगाढा कज्जइ,अणोगाढा कज्जइ ?। गोयमा ! ओगाढा कज्जइ,णो अणोगाढा कज्जइ" इत्यादि। व्याख्या चास्य प्राग्वत्। (जं समयं ति) यस्मिन्समये प्राणातिपातेन क्रिया कर्म क्रियते इह स्थाने, तस्मिन्निति वाक्यशेषो दृश्यः। (जं देसं ति) यस्मिन्देशे क्षेत्रविभागे प्राणातिपातेन क्रिया क्रियते, तस्मिन्निति शेषोऽत्रापि दृश्यः। (ज पदेस ति)यस्मिन्प्रदेशे लघुतमे क्षेत्रविभागे क्रिया प्रागुक्ता सा च कर्म, कर्म च दुःखहेतुत्वाद् दुःखमिति। तन्निरूपणायाह-(जीवाणमिति) तन्निरूपणाय दण्डकद्वयम् । कर्मजन्या च वेदना भवतीति तन्निरूपणाय दण्डकद्वयमाह–(जीवाणमित्यादि) । भ० १७ श० ४ उ० ।
(कायवङ्मनसोरुच्छ्वासनिश्वासावधिकृत्य क्रिया द्वितीयभागे १०८ पृष्ठे ' आणा ' शब्दे समुक्ता)

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारितावणियाए पाणाइवायाकिरियाए ॥

प्रतिक्रमामि पञ्चभि· क्रियाभिर्व्यापारलक्षणाभिर्योऽतिचारः कृतः । तद् यथा–कायिकयेत्यादि । आव० ४ अ० । आ० चू० । " आवत्ताइसु जुगव, इह भणिओ कायवायवावारो । दुन्हेगया य किरिया, जओ निसिद्धा अओ जुत्तो ॥१८६॥ भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगया न एगम्मि । जोगतिगस्स विभंगिअ, सुत्ते किरिया जओ भणिआ" ॥१६०॥ आव० ३ अ०। (किइकम्म शब्दे५२५पृष्ठे व्याख्यातं) "ण उवओगा, न होज्ज किरियाण को दोसो ?"॥ ('भासा' शब्दे चैषा हणविसम्मापयत्ता, परोप्परविरोहिणो कह समए । समए दो व्याख्यास्यते) (' दोकिरिय ' शब्दे क्रियाद्वयस्य युगपदनुभव· खण्डयिष्यते) जीवादिसत्तारूपे, उत्त० १४ अ० । आस्ति–जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिके, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आस्तिक्ये, पञ्चा० ११ विव०। "अकिरिय परियाणामि किरिय उवसपज्जामि" । सम्यग्वादे, ध० ३ अधि० । ज्ञानपूर्वकसावद्यानवद्यप्रयोगानिवृत्तिप्रवृत्तिरूपे, विशे० । सम्यक्संयमानुष्ठाने, प्रव० १४१ द्वार । सदनुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । समाचारे, पो० ६ विव० । धर्मानुष्ठाने, उत्त० २८ अ० । [' किरियाणय ' शब्दे क्रियाप्राधान्य वक्ष्यते]

[१५] क्रियाऽष्टकम्-

क्रियते आत्मकर्तृत्वे सा क्रिया कर्तुं द्रव्यस्य प्रवृत्तिः स्वरूपाभिमुखदर्शनज्ञानोपयोगता ज्ञान स्वरूपाभिमुख-वीर्यप्रवृत्तिक्रिया । एव ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः । तत्र ज्ञान स्वपरावभासनरूपम्, क्रिया स्वरूपरमणरूपा । तत्र चारित्रवीर्यगुणैकत्वपरिणति क्रिया सा साधिका । अत्रानादिसंसारे अशुद्धकायिक्यादिक्रियाव्यापारानिष्पन्नः संसरति, स एव विशुद्धसमितिगुप्त्यादिविनयवैयावृत्त्यादिसत्क्रियाकरणेन निवर्तते, अतः संसारक्षपणाय क्रिया संवरनिर्जरात्मिका करणीया । नामस्थापने सुगमे । द्रव्यक्रिया-शुद्धा अशुद्धा च । तत्र शुद्धा स्वरूपानुयायियोगप्रवृत्तिरूपा, अशुद्धा कायिक्यादिव्यापाररूपः । भावक्रिया वीर्यप्रवृत्तिरूपा । पुद्गलानुयाय्यौदारिकादिकायव्यापारसमुखा अशुद्धा । शुद्धा पुनः स्वगुणपरिणमनत्वनिमित्तवीर्यव्यापाररूपा क्रिया भावक्रिया । तत्र क्रिया सकल्प, नैगमेन संग्रहेण सर्वे संसारजीवाः सक्रिया उक्ताः । व्यवहारेण शरीरपर्याप्त्यनन्तर क्रिया । ऋजुसूत्रनयेन कार्यसाधनार्थे योगप्रवृत्तिमुख्यवीर्यपरिणामरूपा क्रिया, शब्दनयेन वीर्यपरिस्पन्दात्मिका समभिरूढेन गुणसाधनानुरूपसकलकर्तव्यव्यापाररूपा । एवम्भूतनयेन तत्त्वैकत्ववीर्यतीक्ष्णतासाहाय्यगुणपरिणमनरूपा । अत्र साधकस्य साधनक्रिययाऽवसरः "नाणचरणेन मुक्खो," तेन चरणगुणप्रवृत्तिस्वरूपग्रहणपरभावत्यागरूपा क्रिया मोक्षसाधका । अत ज्ञानतत्त्वेन तत्त्वसाधनार्थं सम्यक् क्रिया करणीया । तदुपदेशः क्षायिकसम्यक्त्व यावत्, निरन्तर निःशङ्काद्यष्टदर्शनाचारसेवना केवलज्ञान यावत्, कालविनयादिज्ञानाचारता निरन्तर यथाख्यातचारित्रादर्वाग्,चारित्राचारसेवना पर शुक्लध्यान यावत् । तप आचारसेवना सर्वसंवर यावत् । वीर्याचारस्याराधनाऽवश्यभाविनी, न हि पञ्चाचारमन्तरेण मोक्षनिष्पत्तिः । दर्शनादिस्वगुणाना प्रवृत्तिः क्रिया, दर्शनादिगुणविशुद्ध्यर्थं तन्निमित्तमवलम्ब्य प्रवर्तनम् आचार इति । अत एव गुणपूर्णतानिष्पत्तेरर्वाक् आचरणा करणीया, आचरणातः गुणनिष्पत्तिर्भवत्येव । पूर्णगुणानां तु आचरणा परोपकाराय इति सिद्धम् ।

अत एव उच्यते-

ज्ञानी क्रियोद्यतः शान्तो, भावितात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः, परं तारयितुं क्षमः ॥ १ ॥

ज्ञानी यथार्थतत्त्वस्वरूपाववोधी, यदा क्रिया साधनकारणानुयायियोगप्रवृत्तिरूपा, स्वगुणानुयायिवीर्यप्रवृत्तिरूपा वा, तस्याम् उद्यत । पुनः शान्त कषायतापरहितः । भावितात्मा भावित शुद्धस्वरूपरमणमयः आत्मा यस्य स भावितात्मा । जितेन्द्रियः पराजितेन्द्रियव्यापारः । भवसमुद्रात्स्वयं तीर्णः पार गतः, परम् आश्रितम् , उपदेशदानादिना तारयितु क्षमः समर्थो भवति । यो हि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणत आत्मारामी आत्मविश्रामी आत्मानुभवमग्नः स स्वय संसाराद् निवृत्त , तत्सेवना परान्निस्तारयति । अत्र द्रव्यज्ञान भावनारहित वचनव्यापारमनोविकल्परूप संवेदनज्ञान यावत् । तच्च भावज्ञानतत्त्वानुभवनरूपोपयोगस्य कारणम् । द्रव्यक्रिया योगव्यापारात्मिका । साऽपि भावक्रिया स्वगुणानुयायि स्वगुणप्रवृत्तिरूपाया कारणम् । अत्र ज्ञानस्य फल विरतिः, तेन ज्ञान विरतिकारणम् । उक्त च तत्त्वार्थटीकायाम्-

दर्शनज्ञाने चारित्रस्य कारणम्, चारित्र मोक्षकारणम् । उत्तराध्ययनेऽपि-"नादसणिस्स नाण, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा । अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण " ॥ ३० ॥ उत्त० २८ अ० ।

क्रियाविरहितं हन्त !, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥ २ ॥

अतः ज्ञान क्रियायुक्त हिताय,नैकमेव इत्याह-क्रियाविरहित हन्त ! इति । हन्त ! क्रियाविरहित, क्रिया साधनप्रवृत्तिरूपा, तया रहित, ज्ञानमात्र संवेदनज्ञानम् । अनर्थक न मोक्षरूपकार्यसाधकम् । तत्र दृष्टान्तः--पथज्ञोऽपि मार्गज्ञाता अपि, गतिं विना चरणविहारक्रिया विना,ईप्सितं इच्छितं,पुरं नगर, न आप्नोति न प्राप्नोति । चरणचङ्क्रमणेनैव ईप्सितनगरप्राप्तिरिति, "नाणचरणेन मुक्खो" इति वचनात् । "सव्वाणनाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउ धम्मसचय । अणुत्तरे नाणधरे जससी, ओभासई सूरिए वतलिक्खे ॥२३॥" इति उत्तराध्ययने २१ अ० ।

पुनस्तदेव द्रढयन्नाह—

स्वानुकूलां क्रियां काले, ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते ।
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि, तैलपूर्त्यादिकां यथा ॥ ३ ॥

ज्ञानपूर्णोऽपि स्वपरविवेचनविशिष्टोऽपि, काले अवसरे कार्यसाधनक्षणे, स्वानुकूलां तत्कार्यकरणरूपा,क्रियाम् अपेक्षते । तत्त्वज्ञानी सम्यग्ज्ञानी प्रथमसंवरकार्यरुचि दिग्विरतिसर्वविरतिग्रहणरूपा क्रियाम् आश्रयति, पुनश्चारित्रयुक्तोऽपि तत्त्वज्ञानी केवलज्ञानकार्यनिष्पादनरसिकः शुक्लध्यानारोहरूपां क्रियाम् आश्रयति । केवलज्ञानी सर्वसंवरपूर्णानन्दकार्यावसरे योगरोधरूपां क्रियां करोति । अत एव उच्यते-ज्ञानी क्रियाम् अपेक्षत एव, तदर्थमेव आवश्यककरण मुनीनाम् । तत्र दृष्टान्त -यथा प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्त्यादिका क्रियाम् अपेक्षते, एव सम्यग्ज्ञानी अपि क्रियारुची भवति । क्रिया हि वीर्यशुद्धिहेतुः, अशुद्धवीर्यविहिताश्रवः संसरति संसारे, स एव गुणी सेवनगुणप्राग्भावोद्यतः संवरी भवति । कर्मप्रदेशग्रहणं योगैः, योगाः वीर्यप्रभवाः, तेन योगा परमात्मवन्दनस्वाध्यायाध्ययनादियोजिता न कर्मग्रहणाय भवन्ति, योगानां सत्प्रवृत्तिः क्रिया इति ।

बाह्यभावं पुरस्कृत्य, ये क्रियां व्यवहारतः ।
वदने कवलक्षेपं, विना ते तृप्तिकाङ्क्षिणः ॥४॥

बाह्यभावं बाह्यत्वं पुरस्कृत्य अङ्गीकृत्य ये नरा असेवितगुरुचरणाः व्यवहारतः क्रियां निषेधयन्ति, किं बाह्यक्रियाकरणेन इति उक्त्वा क्रियोद्यम मन्दयन्ति, ते नरा वदने मुखे कवलक्षेपं विना तृप्तिकाङ्क्षिणः तृप्तिवाञ्छका इति ।

गुणवद्बहुमानादे-र्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।
जातं न पातयेद्भाव-मजातं जनयेदपि ॥ ५ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रक्षमामार्दवाऽऽर्जवादिगुणवन्तः,तेषां बहुमान स्वतोऽधिकगुणवतां बहुमानम्, आदिशब्दाद् दोषपश्चात्तापः, पापजुगुप्सा, अतीचारालोचन, देवगुरुसाधर्मिकभक्ति , उत्तरगुणारोहणादिकं सर्वं ग्राह्यम् । च पुनः नित्यस्मृतिः पूर्वगृहीतव्रतस्मरणम्, अभिनवप्रत्याख्यानसामायिकचतुर्विंशतिस्तवगुरुवन्दनप्रतिक्रमणकायोत्सर्गप्रत्याख्यानादीनां नित्यस्मृत्या सत्क्रिया भवति । अत्र गाथाः श्रीहरिभद्रपूज्यैर्विंशतिकायाम्-

" तम्हा णिच्च सए बहु-माणेण च अहिगयगुणम्मि ।
पडिवक्खदुगुंछाए, परिवाडिआलोयणाए च ॥१॥
तित्थकरभत्तीए, सुसाहुजणपज्जुवासणाए य ।
उत्तरगुणसद्धाए, एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥२॥
एवमसंतो विरई, सो जाइ जिओ अ न पाडइ कया वि ।
ता एत्थं बुद्धिमया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥३॥
सुहपरिणामो निच्चं, चउसरणगमाइआयरं जीवो ।
कुसलपयडीउ बंधइ, बद्धा उ सुहाणुबंधा उ ॥४॥"

इत्यादिक्रिया, जातम उत्पन्नं, भाव सम्यग्ज्ञानादिसंवेगनिर्वेदलक्षणं, न पातयेत् । अपि च, न जात धर्मध्यानशुक्लध्यानादिक भावमपि, अनुत्पन्नम् अपि, जनयेत् निष्पादयेत्, श्रेणिककृष्णादीनां गुणिबहुमानेन, मृगावत्या पश्चात्तापेन, आलोचनेन अतिमुक्तनिर्ग्रन्थस्य, गुरुभक्त्या चण्डरुद्राशिष्यस्य, इत्याद्यनेकवाच्यमाना परमानन्दनिष्पत्तिः श्रूयते आगमे ॥ ५ ॥

क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तया ।
पतितस्यापि तद्भाव-प्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥ ६ ॥

चारित्रानुगवीर्यक्षयोपशमे जाते या क्रिया वन्दननमनादिका क्रियते, तया क्रियया, पतितस्यापि गुणपराङ्मुखस्यापि जीवस्य, पुनः तद्भावप्रवृद्धिः सम्यग्ज्ञानादिगुणभावप्रवृद्धिर्जायते । उक्तं च-"खाओवसमिगभावे दढजत्तकयं सुहं अणुट्ठाणं । परिवडियं पि अ हुज्जा, पुणो वि तब्भावबोहिकरं" ॥१॥ औदयिकभावेऽपि क्रिया भवति, सा न तादृग्गुणवृद्धिकरी । औदयिकी क्रिया च उच्चैर्गोत्रसुभगोदययशोनामकर्मोदयेन अन्तरायोदयेन उच्चैर्गोत्रोदयेन च तपःश्रुतादिलाभः प्रज्ञापनासूत्रतो ज्ञेयः । इति ज्ञानावरणदर्शनावरणदर्शनमोहचारित्रमोहान्तरायक्षयोपशमतः शुद्धधर्मप्राग्भावार्थं या क्रिया क्रियते सा आत्मगुणप्रकाशकरी भवति ।

पुनः तदेव दर्शयति-

गुणवृद्ध्यै ततः कुर्यात्, क्रियामस्खलनाय वा ।
एकं तु संयमस्थानं, जिनानामवतिष्ठते ॥७॥

ततः स्वधर्मप्राग्भावहेतुत्वात् क्रियां सत्प्रवृत्तिं कुर्यात् । किमर्थम्?, गुणवृद्ध्यै गुणा ज्ञानादयः तेषां वृद्धिः तस्यै, गुणप्रोल्लासार्थमिति; न ह्याहारादिपञ्चदशसंज्ञानिमित्तम् । पुनः अस्खलनाय अप्रतिपाताय क्रियारहितः साधकत्वे अवस्थातुमसक्तः, यतो वीर्यस्य चापल्यं, तच्च क्रियावतः सत्क्रियादियुक्तं प्रतिपाताय न भवति । अन्यथा च अनादिप्रवृत्तिप्रवृत्तः सन् स्खलनाय भवति, क्रियया उत्तरोत्तरस्थानारोहणं च श्रूयते आगमे । तथा च-एकमप्रतिपाति संयमस्थानं, जिनानां क्षायिकज्ञानं, चारित्रवतां एक पूर्णस्वरूपैकत्वरूपं स्थानमवतिष्ठते नान्यस्य । अतः साधकेनाभिनवगुणवृद्ध्यर्थं क्रिया करणीया । अत एव वननिवसन्ति निर्ग्रन्थाः, चैत्ययात्राद्यर्थं गच्छन्ति, नन्दीश्वरादिषु कायोत्सर्गयन्ति, शरीरमाकुञ्चन्ति, विग्रहं वीरासनेन संलेखनान्त्यनशनोत्सुकाः गृह्णन्ति परिहारविशुद्धिजिनकल्पाद्यभिग्रहव्यूहम् ।

अथ विषाद्यनुष्ठानदूषिता सानुष्ठाना हि क्रिया भवहेतुरेव, तेन रहिता या क्रिया साधनहेतुः सा एव । आह-

वचोऽनुष्ठानतोऽसङ्गक्रिया सङ्गतिमङ्गति ।
सा एव '' ''' ॥ ८ ॥

वचोऽनुष्ठानत इति । वचनमर्हदाज्ञा, तदनुयायि क्रिया धर्महेतुः ।

यतः-

"प्रशान्तचित्तेन गभीरभावे-नैवाहता सा सफला क्रिया च ।
अङ्गारवृष्ट्यै सहसा न चेष्टा, नासङ्गदोषैकगुणप्रकर्षा " ॥१॥

विषगरलान्योन्यानुष्ठानत्यागेन श्रीमद्वीतरागवाक्यानुसारतः उत्सर्गापवादसापेक्षरूपा क्रिया वचनानुष्ठानक्रियाकरणतः असङ्गक्रियासङ्गतिं सयोगिताम् अङ्गति प्राप्नोति वचनक्रियावान् । अनुक्रमेण असङ्गक्रियां निर्विकल्पनिष्प्रयासरूपां क्रियां प्राप्नोति । सा एव असङ्गक्रिया एव, ज्ञानक्रियाया अभेदभूमिः ज्ञेया । असङ्गक्रिया भावक्रिया शुद्धोपयोगः शुद्धवीर्योल्लासः तदात्मतां दधाति । ज्ञानवीर्यैकत्वं ज्ञानक्रिया अभेद इत्यनेन यावत् गुणपूर्णता न तावद् निरनुष्ठानादिक्रिया करणीया । न हि तत्त्वज्ञानक्रिया निषेधिका, किन्तु क्रिया हि शुद्धरत्नत्रयीरूपवस्तुसाधने कारणम्, न धर्मम्, धर्मे च आत्मस्थमेव । उक्तं च श्रीहरिभद्रपूज्यैः दशवैकालिकवृत्तौ-"धर्मसाधनत्वात् धर्म" इति । अतो द्रव्यक्रियां धर्मत्वेन यद् गृह्णन्ति, तत्कारणे कार्योपचार एव, नान्यः । एतच्छ्रद्धानविकलानां क्रिया न धर्महेतुः । "बहुगुणविज्जानिलओ, उस्सुत्तभासी तहा वि मुत्तव्वो । जह एवरमणीजुत्तो, विग्घकरो विसहरो लोए ।१।" इति षष्टिशतप्रकरणे । तथा च आचाराङ्गे-"भयविचिकित्साया न समम" इति । अतो निमित्तहेतुत्वेन क्रिया निरनुष्ठाना करणीया, इयं असङ्गक्रिया । सा अनाहपिच्छली स्वाभाविकानन्दामृतरसार्द्रा । अत आत्मतत्त्वाव्याबाधानन्दोत्थकैर्निरनुष्ठाना सत्प्रवृत्त्यसत्प्रवृत्तिपरित्यागरूपा क्रिया द्रव्यतो भावतः स्याद्वादस्यगुणानुयायी वीर्यप्रवृत्त्यभिनवगुणवृद्धिरूपा संयमस्थानारोहणतत्त्वैकत्वरूपा क्रिया प्रतिसमयं करणीया साध्यसापेक्षत्वेन, अत एव ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः इति निर्द्धारणीयम् । द्रव्यक्रियोद्यतो भावक्रियावान् भवति, ततश्च स्वरूपास्वादी भवति इति श्रेयः । अष्ट० ६ अष्ट० । "नत्थि काइ किरिया वा एव भणंति नत्थियवादिणो" नास्ति काचित् क्रिया वा अनिन्द्यक्रिया वा अक्रिया वा पापक्रिया वेतरक्रिययोरास्तिककल्पितत्वेनापारमार्थिकत्वात् । भणन्ति च-"पिव खाद च चारुलोचने! यदतीत वरगात्रि! तन्न ते । न हि भीरु! गत निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥" प्रश्न० २ आश्र० द्वार । धर्मान्तराये, प्रति० । वैद्योपदेश्यादौ-षधपाने, नि० चू० १ उ० । चिकित्सायां, श्राद्धे, शौचे, प्रयोगे च । वाच० ।

किरियाकप्प-क्रियाकल्प-पुं० । क्रियायां चिकित्सायां कल्पो विधिः । अथातः क्रियाकल्पं व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य सुश्रुतोक्ते उत्तरतन्त्रे अष्टाध्यायप्रतिपाद्ये क्रियाभेदे, वाच० । स च दशमः कलाभेदः । कल्प० ७ क्षण ।

किरियाकय-क्रियाकृत-त्रि० । क्रियोद्यमविहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

किरियाकिरिया-क्रियाक्रिया-स्त्री० । द्वि० व० द्वन्द्वः । क्रियाकिरीण शब्दार्थयो, सूत्र० । "पुढो य छेदा इह माणवाओ, किरियाकिरीण च पुढो य वाय । आयस्स बालस्स पकुव्व देह, पवड्ढती वेरमसंजतस्स" सूत्र० १ श्रु० १० अ० । (एतद्व्याख्या 'समाहि' शब्दे वक्ष्यते)

किरियाकुसल-क्रियाकुशल-त्रि० । सदनुष्ठानकुशले, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

किरियाचरण-क्रियाचरण-पुं० । क्रियामात्रस्यैव प्राणातिपातादेर्जीवैः क्रियमाणस्य दर्शनात् तद्धेतुकर्मणश्चादर्शनात् क्रियैवाचरणं कर्म यस्य स क्रियाचरणः । व्यापारमात्रकर्मोपेते, "किरियाचरणे जीवे" क्रियाचरणः, कोऽसौ?, जीवः, इत्यमहज्जपरं यद् विम-

ङ्ग तत्तृतीयम् । तृतीयो विभङ्गज्ञानभेदः । विभङ्गता चास्य कर्मणोऽदर्शनेनानभ्युपगमात् । स्था० ७ ठा० ।

किरियाजोग-क्रियायोग-पु० । क्रियैव योगो योगोपाय.। योगे, "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग." इति पातञ्जल्युक्ते योगोपायभूते क्रियाभेदे, वाच० । सदाचारे च । द्वा० १४द्वा० । क्रियासम्बन्धे, वाच० ।

किरियाट्ठाण-क्रियास्थान-न० । करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टेत्यर्थ । तस्याः स्थानानि भेदा. पर्याया' । निषिद्धकरणादिषु प्रकारेषु, आव० ४ अ० । स० । तत्प्रतिपादके सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयेऽध्ययने, सूत्र० ।

तन्निरुक्तिश्चैवम्-

किरियाओ भणियाओ, किरियाठाणं ति तेण अज्झयणं ।
अहिगारा पुण भणिओ, बधे तह मोक्खमग्गे य १५०।सूत्र०नि०।

"किरियाओ" इत्यादि । तत्र क्रियन्त इति क्रिया.,ताश्च कर्मबन्धकारणत्वेनावश्यकान्तर्वर्तिनि प्रतिक्रमणाध्ययने, "पडिक्कमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं ति" अस्मिन् सूत्रेऽभिहिताः । यदि वा ऐहिकक्रिया भणिता अभिहितास्तेनेदमध्ययन क्रियास्थानमित्युच्यते । तच्च क्रियास्थानं क्रियावत्स्वेव भवति, नाक्रियावत्सु । क्रियावन्तश्च केचिद्बध्यन्ते केचिन्मुच्यन्ते अतोऽध्ययनार्थाधिकारः पुनरभिहित.—' बन्धे तथा मोक्षमार्गे चेति ' ।

(क्रियायाः स्थानस्य च स्वस्थाने निक्षेपः)

इह पुनर्यया क्रियया येन च स्थानेनाधिकारस्तद्दर्शयितुमाह-

समुदाणियाणिह तओ, सम पउत्ते य भावठाणम्मि ।
किरियाहि पुरिसपावा-उए उ सव्वे परीक्खेय १६१।सूत्र०नि०।

"समुदाणीत्यादि" । क्रियाणां मध्ये समुदानिका क्रिया व्याख्याता; तस्याश्च कषायानुगतत्वात् बहवो भेदा यत.,ततस्तास्तां समुदानिकानां क्रियाणामिह प्रकारे (तओ त्ति) अधिकारो व्यापारः सम्यक्प्रयुक्ते च भावस्थाने, तथेह विरतिरूपं संयमस्थानं प्रशस्तभावसधानरूप च गृह्यते । सम्यक्प्रयुक्तभावस्थानग्रहणसामर्थ्यादैर्यापथिकी क्रियाऽपि गृह्यते । समुदानिकक्रियाग्रहणाच्चाप्रशस्तभावस्थानान्यपि गृहीतानि । आभिश्च पूर्वोक्ताभिः क्रियाभि पूर्वोक्तान् पुरुषान् तद्द्वारायातान्प्रावादुकांश्च परीक्षते सर्वानपीति । यथा चैव तथा स्वत एव सूत्रकार.-"तं जहा से एगइया मणुस्सा भवति" इत्यादि । तथा प्रावादुकपरीक्षायामपि-" णायउ भगरव व विप्प जहा भिक्खायरियाए समुट्ठिया " इत्यादिना वक्ष्यतीति । गतो निर्युक्त्यनुगमः । सूत्र० ।

साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्-

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं; इह खलु किरियाट्ठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते । तस्स ण अयमट्ठे । इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति । तं जहा-धम्मे चेव, अधम्मे चेव, उवसंते चेव, अणुवसंते चेव ॥ १ ॥

"सुयं मे आउसतेणमित्यादि" । सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह-तद्यथा , श्रुत मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु क्रियास्थानं नामाध्ययनम् । तस्य चायमर्थ-(इह खलु संजूहेण ति) सामान्येन सक्षेपेण समासतो द्वे स्थाने भवत. । ये क्रियावन्तस्ते सर्वेऽप्यनयोः स्थानयोरेवमाख्यायन्ते । तद्यथा-धर्मे चैवाधर्मे चैव । इदमुक्त भवति-धर्मस्थानमधर्मस्थान च । यदि वा धर्मादनपेतं धर्मं, विपरीतमधर्मम् । कारणशुद्ध्या च कार्यशुद्धिर्भवतीत्याह-उपशान्त यत्तद्धर्मस्थानम्, अनुपशान्त वाऽधर्मस्थानम् । तत्रोपशान्ते उपशमप्रधाने धर्मस्थानेऽधर्मस्थाने वा केचन महासत्त्वा' समासन्नोत्तरश्रुभादयो वर्तन्ते , परे च तद्विपर्यस्ते विपर्यस्तमतय. ससाराभिष्वङ्गिणोऽधोऽधोगतयो वर्तन्ते । इह च यद्यप्यनादिभवाभ्यासादिन्द्रियानुकूलतया प्रायश' पूर्वमधर्मप्रवृत्तो भवति,पश्चात्सदुपदेशयोग्याऽऽचार्यससर्गाद्धर्मस्थाने प्रवर्तते, तथाऽप्यत्र्यार्हितत्वात्पूर्वं धर्मस्थानमुपशमस्थान च प्रदर्शित, पश्चात्तद्विपर्यस्तमिति ॥ १ ॥

सांप्रतं तु यत्र प्राणिनामनुपदेश' स्वपरप्रवृत्त्यादावेवं स्थान भवति तदधिकृत्याह—

तत्थ ण जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते । इह खलु पाईणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति । त जहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे ॥२॥ तेसिं च णं इमं एतारूवं दंमसमादाणं संपेहाए । तं जहा-णेरइएसु वा तिरिक्खजोणिएसु वा मणुस्सेसु वा देवेसु वा जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति ॥३॥

तत्रेति वाक्योपन्यासार्थे, णमिति वाक्यालङ्कारे, योऽसौ प्रथमानुष्ठेयतया प्रथमस्याधर्मपक्षस्य स्थानस्य विविधो भङ्गो विचारस्तस्यायमर्थ इति । इहास्मिन् जगति प्राच्यादिषु दिक्षु मध्येऽन्यतरस्यां दिशि भन्ति विद्यन्ते एके केचन मनुष्याः पुरुषास्ते चैवंभूता भवन्तीत्याह । तद्यथा-आराद्याता' सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्या. । तद्विपरीताश्चाऽनार्या , एके केचन भवन्ति यावद् दुरूपाः, सुरूपाश्चेति । तेषां चाऽऽर्यादीनामिद वक्ष्यमाणमेतद्रूपम् । दण्डयतीति दण्ड',पापोपादानसंकल्पः, तस्य समादान ग्रहण [संपेहाए त्ति] समीक्ष्य । तच्चतुर्गतिकानामन्यतमस्य भवतीति दर्शयति-"त जहेत्यादि" । तद्यथा-नारकादिषु ये चान्ये तथाप्रकारास्तद्वेदवर्तिन. सुवर्णदुर्वर्णादय प्राणा प्राणिनो विद्वांसो वेदनां ज्ञानं तद्वेदयन्त्यनुभवन्ति । यदि वा सातासातरूपां वेदनामनुभवन्तीत्यत्र चत्वारो भङ्गा' । तद्यथा-सज्ञिनो वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च १, सिद्धास्तु विदन्ति नानुभवन्ति २, असज्ञिनोऽनुभवन्ति न पुनर्विदन्ति ३, अजीवास्तु न विदन्ति नाप्यनुभवन्तीति ४ ।

इह पुनः प्रथमतृतीयाभ्यामधिकारो, द्वितीयचतुर्थाववस्तुभूताविति—

तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीति मक्खायं । तं जहा-अट्ठादंमे अणट्ठादंमे हिंसादंडे अकम्हादंडे दिट्ठीविपरियासियादंडे मोसवत्तिए अदिन्नादाणवत्तिए अज्झत्थवत्तिए माणवत्तिए मित्तदोसवत्तिए मायावत्तिए लोभवत्तिए इरियावहिए ॥ ४ ॥

तेषां च नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवानां तथाविधज्ञानवतामिमानि वक्ष्यमाणलक्षणानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्तीत्येवमाख्यात तीर्थंकरगणधरादिभिरिति । कानि पुनस्तानीति दर्शयितुमाह-[तं जहेत्यादि] तद्यथेत्ययमुदाहरणवाक्योपन्या-

सार्थः । आत्मार्थाय स्वप्रयोजनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम् १। तथाऽनर्थदण्ड इति निष्प्रयोजनमेव सावद्यक्रियानुष्ठानमनर्थदण्डः २ । तथा हिंसनं हिंसा प्राण्युपमर्दरूपा तया, सैव वा दण्डो हिंसादण्डः ३। तथाऽकस्मादनुपयुक्तस्य दण्डोऽकस्माद्दण्डः, अन्यस्य क्रियया अन्यस्य व्यापादनमिति ४। तथा दृष्टेर्विपर्यासो रज्ज्वामिव सर्पबुद्धिस्तया दण्डो दृष्टिविपर्यासोऽबुद्धिदण्डः । तद्यथा-लेष्टुकादिबुद्ध्या शराद्यभिघातेन चटकादिव्यापादनम् ५। तथा मृषावादप्रत्ययिकः, स च सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणः ६। तथा अदत्तस्य परकीयस्याऽऽदानं स्वीकरणमदत्तादानं स्तेयं तत्प्रत्ययिको दण्ड इति ७ । तथा आत्मन्यध्यध्यात्मं, तत्र भव आध्यात्मिको दण्डः। तद्यथा-निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते ८। तथा जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः परावमदर्शी तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति ९। तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोषस्तत्प्रत्ययिको दण्डो भवति १०।तथा माया परवञ्चनबुद्धिस्तया दण्डो मायाप्रत्ययिकः ११। तथा लोभप्रत्ययिको लोभनिमित्तो दण्ड इति १२। तथा एवं पञ्चभिः समितिभिः समितस्य तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तस्य सर्वोपयुक्तस्यैर्याप्रत्ययिकः सामान्येन कर्मबन्धो भवति १३ । एतच्च त्रयोदश क्रियास्थानमिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० । प्रश्न० । (अर्थदण्डादीनां व्याख्यासूत्राण्यर्थदण्डादिशब्देषु द्रष्टव्यानि)

एतानि त्रयोदश क्रियास्थानानि न भगवद्वर्धमानस्वामिनैवोक्तानि, अपि त्वन्यैरपीत्येतद्दर्शयितुमाह-

से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिंसु वा भासेंति वा भासिस्संति वा पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविस्संति वा एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा ॥२४॥

(से बेमीत्यादि) सोऽहं ब्रवीमीति यत्प्रागुक्तं तद्ब्रवीमीति । तद्यथा—ये तेऽतिक्रान्ता ऋषभादयस्तीर्थकृतो, ये च वर्त्तमानाः क्षेत्रान्तरे सीमंधरस्वामिप्रभृतयो, ये चाऽऽगामिनः पद्मनाभादयोऽर्हन्तो भगवन्तः सर्वेऽपि ते पूर्वोक्तान्येतानि त्रयोदश क्रियास्थानान्यभाषन्त, भाषन्ते, भाषिष्यन्ते च । तथा तत्स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च प्ररूपितवन्तः प्ररूपयन्ति प्ररूपयिष्यन्ति च । तथैतदेव त्रयोदशं क्रियास्थानं सेवितवन्तः सेवन्ते सेविष्यन्ते च । तथाहि-जम्बूद्वीपे सूर्यद्वय तुल्यप्रकाशं भवति । यथा वा सदृशोपकरणाः प्रदीपास्तुल्यप्रकाशा भवन्त्येवं तीर्थकृतोऽपि निरावरणत्वात् कालत्रयवर्त्तिनोऽपि तुल्योपदेशा भवन्ति ॥२४॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आव० । आ० चू० । ध० ।

किरियाणय-क्रियानय-पुं० । क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वादित्यभ्युपगमपरे नयविशेषे, दश० । क्रियानयदर्शनं चेदम्-क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वात् । तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह-

णायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइयव्वमेव इइ जो, उवएसो सो नओ नामं ॥ १५५ ॥

दश० १ अ० ।

तत्र क्रियानयो वदति-इह ज्ञातेऽप्यर्थे सर्वामपि पुरुषार्थसिद्धिमभिलषता यतितव्यमिति विलक्षणा क्रियैव कर्त्तव्येत्येवम् । अत्र व्याख्याने एवकारः स्थाने एव योज्यते । एवं च सति ज्ञातेऽप्यर्थे क्रियैव साध्या ततो ज्ञानं क्रियोपकरणत्वाद् गौणमित्यतः सकलस्यापि स्य क्रियैव प्रधान कारणमित्ययमुपदेशः । स यानयः । शेषं पूर्ववत् । अयमपि स्वपक्षसिद्धये ननु क्रियैव प्रधान पुरुषार्थसिद्धिकारणं विरहेण ज्ञानवतोऽप्यभिलषितार्थसंप्राप्त्यदर्शनात् । तथा रप्युक्तम्-" क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्री-भक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥१॥ " तथा आगमेऽपि करगणधरैः क्रियाविकलानां ज्ञानं निष्फलमेवोक्तम्—

"सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पमुक्कस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ।
नाणं सविसयनियय, न नाणमेत्तेण कज्जनिप्फत्ती ॥
मग्गन्नू दिट्ठंतो, होइ सचेट्ठो अचेट्ठो य ।
जाणंतो वि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजई जो उ ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो" ॥

" जहा खरो चंदणभारवाही " इत्यादि । एवं तावत्क्षायोपशमिकीं चरणक्रियामङ्गीकृत्य प्राधान्यमुक्तम् । अथ क्षायिकीमप्याश्रित्य तस्या एव प्राधान्यमवसेयम् । यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्त्यवाप्तिः संपद्यते, यावदखिलकर्मेन्धनानलज्वालाकलापकल्पा शैलेश्यवस्थायां सर्वसंवररूपचारित्रक्रिया न प्राप्नोति, तस्मात् क्रियैव प्रधान सर्वपुरुषार्थसिद्धिकारणम् । प्रयोगश्चात्र-यद्यत्समनन्तरभावि तत्कारणं, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तपृथिव्यादिसामग्र्यनन्तरभावी तत्कारणोऽङ्कुरः, क्रियाऽनन्तरभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति । ततश्चैष चतुर्विधसामायिके सर्वदेशविरतिसामायिके एव मन्यते । क्रियारूपत्वेन प्रधानमुक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्वश्रुतसामायिके तु तदुपकारित्वमात्रतो गौणत्वान्नेच्छतीति । विशे० । आव० । आचा० । आ० म० द्वि० । व्य० । बृ० । सूत्र० । नि० चू० ।

अधुना क्रियानयाभिप्रायोऽभिधीयते । तद्यथा--क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, यस्माद्दर्शितेऽपि ज्ञानेनार्थक्रियासमर्थेऽर्थे प्रमाता प्रेक्षापूर्वकारी यदि हानोपादानरूपां प्रवृत्तिक्रियां न कुर्यात्ततो ज्ञानं विफलतामियात्तदर्थत्वात् तस्येति । " यस्य हि यदर्थं प्रवृत्तिस्तत्तस्य प्रधानमितरदप्रधानम् " इति न्यायात् संविदा विषयव्यवस्थानस्याप्यर्थक्रियार्थत्वात् क्रियायाः प्राधान्यमन्वयव्यतिरेकावपि क्रियायां समुपलभ्येते । यतः सम्यक्चिकित्साविधिज्ञोऽपि यथा पथ्यौषधाद्यासेवनक्रियारहितो नोल्लाघतामेति । तथा चोक्तम्-

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः,
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
संचिन्त्यतामातुरमौषधं हि,
न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् " ।

तथा-

" क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् ।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् । "इत्यादि ।
यतिक्रियायुक्तश्च यथाभिज्ञानितार्थभाग्भवत्यपि, कुत इति चेत्?, य

हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न च सकललोकप्रत्यक्षसिद्धे अर्थे अन्यत्प्रमाणान्तरं मृग्यत इति । तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि तपश्चरणादिका क्रियैव कर्त्तव्या, मौनीन्द्रप्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितम् । यत उक्तम्-"चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणसुए य । सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजमसुज्जमंतेण" ॥१॥ इतश्चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम् यतस्तीर्थकृदादिभिः क्रियारहितं ज्ञानमप्यफलमुक्तम् । उक्तं च-'सुबहुं पि सुअमधीतं, किं काही चरणविप्पहूणस्स । अंधस्स जह पलित्ता, दीवसतसहस्सकोडी वि ।" इतीक्रियापूर्वकक्रियाविफलत्वात्तस्येति भावः । न केवलं क्षायोपशमिकाद् ज्ञानात् क्रिया प्रधाना, किन्तु क्षायिकादपि; यतः सत्यपि जीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदके ज्ञाने समुल्लसिते न व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यानक्रियामन्तरेण भवधारणीयकर्मोच्छेदः । तदुच्छेदाच्च न मोक्षम्, चारित्रतो न ज्ञानं प्रधानम्, चरणक्रियायां पुनरैहिकामुष्मिकफलावाप्तिरित्यतः सैव प्रधानभावमनुभवतीति । आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० ।

किरियाणास-क्रियानाश-पु० । स्वाचारभ्रंशे, विटचेष्टायां च । "साहूणमणुग्घाओ, किरियाणासो उ उववाए" पञ्चा० ७ विव० ।

किरिया (य) रय-क्रियारत-त्रि० । भिक्षाशुद्ध्यप्रतिकर्मताप्रान्तोपधितायापनामासक्षपणाद्यनुष्ठानविरते, पञ्चा० ११ विव० ।

किरियारुइ-क्रियारुचि-स्त्री० । पु० । कर्म० स० । दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयाद्यनुष्ठानविषयिण्यां रुचौ, सम्यक्त्वभेदे, ध० २ अधि० । क्रिया सम्यक्संयमानुष्ठानम्, तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः । दर्शनार्थभेदे, प्रज्ञा० ।

क्रियारुचिमाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सव्वसमिइगुत्तीसु ।
जो किरिया-भावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥

दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्रम् । समाहारे द्वन्द्वः, तस्मिन् । तथा तपसि विनये च, तथा सर्वासु समितिषु ईर्यासमित्यादिषु, सर्वासु च गुप्तिषु मनोगुप्तिप्रभृतिषु यः क्रियाभावरुचिः । किमुक्तं भवति ? यस्य भावतो दर्शनाद्याचारानुष्ठाने रुचिरस्ति, स खलु क्रियारुचिर्नाम । प्रज्ञा० १ पद । उत्त० ।

किरियावंत-क्रियावत्-त्रि० । क्रियाऽस्त्यस्य मतुप्, मस्य वः । क्रियाविशिष्टे, क्रियानिरते, "यः क्रियावान् स पण्डितः" क्रियाश्रये कर्तरि च । वाच० । जिनकल्पादितुल्यक्रियाऽभ्यासिनि, अष्ट० ११ अष्ट० ।

किरियावाइ (ण्)-क्रियावादिन्-पु० । क्रियां जीवाजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवं रूपां वदन्ति इति क्रियावादिनः । आस्तिकेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । रा० । क्रियैव परलोकसाधनायालमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः । दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमपरेषु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञानादिरहितां क्रियामेकामेव स्वर्गापवर्गसाधनत्वेन वदितुं शीलवत्सु, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । क्रियामात्मसमवायिनीं वदन्ति तच्छीलाश्च, न कर्तारमन्तरेण क्रिया पुण्यबन्धादिलक्षणा सम्भवति तत एवं परिज्ञायताम् । क्रियाऽऽत्मसमवायिनीत्यभ्युपगमपरेषु, नं० । ध० । तेषां च १८० भेदाः-" असियसय किरियाणं " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । तत्र जीवाजीवाश्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाख्या नव पदार्थाः । स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावेश्वरात्माश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्, एते चास्तित्ववादिनोऽभिधीयन्ते । इयमत्र भावना-अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत १, अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः २, अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः३, अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ४ इत्येवं नित्येन कालेन चत्वारो भेदा लब्धाः । एवं नियतिस्वभावेश्वरात्मभिरप्येकैकेन चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते । एते च पञ्च चतुष्ककाः विंशतिर्भवति । इयं च जीवपदार्थेन लब्धा । एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिभेदाश्च । ततश्च नवविंशतयः शतमशीत्युत्तरं भवति (१८०) । तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः शाश्वतो न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम् । उक्तं च-"कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥१॥" स चातीन्द्रियो युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्त्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्तातीतानागतवर्तमानसर्वाद्धादिव्यवहाररूपः । द्वितीयविकल्पे तु कालादेवात्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयम्, किन्त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽयम्, पूर्वविकल्पात् । तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ?, नन्वेतत्प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदः, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदः, ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येत्येवमेव चाऽऽत्मानम्, स्तम्भकुम्भादिसमीक्षातस्तद् व्यतिरिक्ते वस्तुन्यात्मनि बुद्धिः प्रवर्तत इति । अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्य्यते, न स्वत इति । चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः । तथाऽन्ये नियतिरेवात्मनः स्वरूपमवधारयन्ति । का पुनरियं नियतिरिति ? । उच्यते-पदार्थानामवश्यतया यथाभवने प्रयोजककर्त्री नियतिः । उक्तं च-"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥" इयं च मस्करिपरिव्राजकानुसारिणां प्राय इति । अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यवस्थामभ्युपयन्ति । कः पुनरयं स्वभावः ? । वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः । उक्तं च-

"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ॥
स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः ।
नाहं कर्त्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति ॥
केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां,
कोऽलङ्करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान् ।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति,
को वा दधीत विनयं कुलजेषु पुंसु ? ॥ "

तथाऽन्येऽभिदधते-समस्तमेतज्जीवादि ईश्वरात्प्रसूतम्, तस्मादेव स्वरूपेऽवतिष्ठते । कः पुनरयमीश्वरः ?, अणिमाद्यैश्वर्ययोगादीश्वरः । उक्तं च-" अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा" ॥१॥ तथाऽन्ये ब्रुवते-न जीवादयः पदार्थाः कालादिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, किं तर्ह्यात्मनः । कः पुनरयमात्मा ?, आत्माऽद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूप आत्मा । उक्तं च-"एक एव हि

त्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१॥ तथा-"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्," इत्यादि। एवमस्त्यजीवः स्वतः नित्यः कालत इत्येवं सर्वत्र योज्यम्। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आव०। सूत्र०।

सम्मद्दिट्ठी किरिया-वादी सेसा य मिच्छवाई ।
जहिऊण मिच्छवायं,सेवह वायं इमं सच्चं ।२३। सूत्र० नि०।

ननु च क्रियावाद्यप्यशीत्युत्तरशतभेदो भवति, तत्र तत्र प्रदेशे कालादीनभ्युपगच्छन्नेव मिथ्यावादित्वेनोपन्यस्तः, तत्कथमिह सम्यग्दृष्टित्वेनोच्यत इति ?। उच्यते-स तत्रास्त्येव जीव इत्येवमावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन् काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणम्, तथा स्वभाव एव, नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाभ्युपगमान्मिथ्यात्वम्। तथाहि-अस्त्येव जीव इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्यात्। यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्,अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितम्। तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति। ननु च कथं कालादीनां प्रत्येकं निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः। न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदायेऽपि भवितुमर्हति । सिकतातैलवत् ?। नैतदस्ति, प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानाऽपि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा। न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति यत्किञ्चिदेतत्। तथा चोक्तम्-

"कालो सहाव णियई, पुव्वकय पुरिसकारऽणेगंता ।
मिच्छत्तं,ते चेव उ,समासओ होंति सम्मत्तं ॥ १ ॥
सव्वे वि य कालाइय-समुदायेण साहगा भणिया ।
जुज्जंति य एमेव य, सम्मं सव्वस्स कज्जस्स ॥ २ ॥
न हि कालादीहिंतो, केवलएहिं तु जायए किंचि ।
इह मुग्गरंधणादि वि, ता सव्वे समुदिता हेऊ ॥ ३ ॥
जहऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियादी मणी वि संजुत्ता ।
रयणावली व एस, ण लहति महग्घमुल्लं वि ॥ ४ ॥
तह णियवादसुविणि-च्छिया वि अप्पाणपक्खनिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं, सव्वे वि णया ण पाविंति ॥ ५ ॥
जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा ।
रयणावलि त्ति भण्णइ, चयंति पाडिक्कसण्णाओ ॥ ६ ॥
तह सव्वे णयवाया, जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।
सम्मद्दंसणसद्दं, लभंति न विसेससण्णाओ ॥ ७ ॥
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी, सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णनिस्सिया पुण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ ८ ॥"

यत एवं तस्मात् त्यक्त्वा मिथ्यात्ववादं कालादिप्रत्येकैकान्तकारणरूपं, सेवध्वमङ्गीकुरुध्वं सम्यग्वादं परस्परसव्यपेक्षं कालादिकारणरूपमिममिति मयोक्तं प्रत्यक्षावसक्तं सत्यमवितथमिति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। नि०।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वस्थानकयोरुक्तम्, एवप्रकारं क्रियावादतदितरवादेष्वतिदिशन्नाह-

इत्थमेव क्रियावादे, सम्यक्त्वोक्तिर्न दुष्यति ।
मिथ्यात्वोक्तिस्तथाऽज्ञाना-क्रियाविनयवादिषु ॥ १२७ ॥

(इत्थमेवेति) इत्थमेव मार्गप्रवेशत्यागाभ्यामेव,क्रियावादे सम्यक्त्वोक्तिः 'सम्मद्दिट्ठी किरियावाई' इत्यादिलक्षणा, अक्रियाज्ञानविनयवादिषु च मिथ्यात्वोक्तिः "सेसा य मिच्छवाई" इत्यादिः न दुष्यति न दोषावहा भवति फलतः इत्थ मार्गाभिमुख्यापत्त्या विरोधाज्जाताया चान्यत्र ... एवेः ॥१२७॥

क्रियावादस्य सम्यक्त्वरूपतामेव युक्त्यन्तरेण दृढयति-

क्रियायां पक्षपातो हि, पुंसां मार्गाभिमुख्यकृत् ।
अन्त्यपुद्गलभावित्वा-दन्येभ्यस्तस्य मुख्यता ॥१२८॥

(क्रियायामिति) क्रियायां पक्षपातो मोक्षेच्छयाऽऽवेशो हि पुंसां मार्गाभिमुख्यकृत् मार्गानुसारितः स्थैर्याधायको भवति। तेनान्त्यपुद्गलभावित्वाच्चरमपुद्गलपरावर्त्तमात्रसम्भवत्वादन्येभ्योऽक्रियावादादिभ्यस्तस्य क्रियावादस्य मुख्यता। तदुक्तं दशाचूर्णौ—" जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा कण्हपक्खिओ सुक्कपक्खिओ वा । जो किरियावाई सो णियमा भविओ णियमा सुक्कपक्खिओ अंतोपुग्गलपरियट्टस्स सिज्झइ " इत्यादि। नयो०।

क्रियात एव मोक्षवादिनां मतं दुदूषयिषुस्तन्मतमाविष्कुर्वन्नाह—

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं,तहा (गया) तहा समणा माहणा य।
सयंकडं णन्नकडं च दुक्खं,आहंसु विज्जाचरणं य मोक्खं ।११।

ये क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षाया दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति, ते एवमाख्यान्ति। तद्यथा-अस्ति माता पिता, अस्ति सुचीर्णस्य कर्मणः फलमिति। किं कृत्वा त एवं कथयन्ति ?- क्रियात एव सर्वं सिध्यतीति स्वाभिप्रायेण लोकं चराचरात्मकं समेत्य ज्ञात्वा किल वयं यथावस्थितवस्तुनो ज्ञातार इत्येवमभ्युपगम्य सर्वमस्त्येवेत्येव सावधारणं प्रतिपादयन्ति, न कथञ्चिन्नास्तीति कथमाख्यान्ति ?। तथा तेन प्रकारेण यथा यथा क्रिया तथा तथा स्वर्गनरकादिकं फलमिति। ते च श्रमणास्तीर्थिका ब्राह्मणा वा क्रियात एव सिद्धिमिच्छन्ति। किञ्च-यत् किमपि संसारे दुःखं तथा सुखं च तत्सर्वं स्वयमेवात्मना कृतं नान्येन कालेश्वरादिना। न चैतदक्रियावादे घटते। तत्र हि-अक्रियात्वादात्मनोऽकृतयोरेव सुखदुःखयोः सम्भवः स्यात्, एवं च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम् ?। अत्रोच्यते-सत्यम्, अस्त्यात्मसुखदुःखादिकम्, न त्वस्त्येव। तथाहि-यद्यस्त्येव सावधारणमुच्येत,ततश्च न कथञ्चिन्नास्तीत्यापन्नम्, एवं च सति सर्वं सर्वात्मकमापद्येत। तथा च सर्वलोकस्य व्यवहारोच्छेदः स्यात्। न च ज्ञानरहितायाः क्रियायाः सिद्धिः, तदुपायपरिज्ञानाभावात्। नचोपायमन्तरेणोपेयमवाप्यत इति प्रतीतम्। सर्वा हि क्रिया ज्ञानवत्येव फलवत्युपलक्ष्यते। उक्तं च-

"ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः ।
उपेक्षितैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते" ॥ १ ॥

"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठति सव्वसंजए ॥
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावगं" ॥ १ ॥

इत्यतो ज्ञानस्यापि प्राधान्यम्। नापि ज्ञानादेव सिद्धिः, क्रियारहितस्य पङ्गोरिव कार्यसिद्धेरनुपपत्तिरित्यालोच्याह-(आहंसु विज्जाचरणं य मोक्खं ति) न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिरन्धस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरित्येवमवगम्याहुरुक्तवन्तः,तीर्थंकरगणधरादयः

किमाहुः ?, मोक्षम् । कथम् ?, विद्या च ज्ञानं, चरणं च क्रिया, ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्य " अर्श आदिभ्योऽच् " ५ । २ । १२७ । इति [पाणि०] सूत्रेण मत्वर्थीयोऽच् । तस्मो विद्याचरणो मोक्षः, ज्ञानक्रियाभ्यां साध्य इत्यर्थः । तमेव साध्यं मोक्षं प्रतिपादयन्ति । यदि वाऽन्यथा वा पातनिका-केनैतानि समवसरणानि प्रतिपादितानि ?, इत्येतत् पृष्टः सन्नेतदाह-[ते एवमक्खन्तीत्यादि] ते अनिरुद्धा ज्ञानिनः केवलिनः, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा ज्ञानं, येन तीर्थकृता निरावरणप्रकाशं वज्ञानं तेनैव प्रक्रियया सम्यगाख्यान्ति प्रतिपादयन्ति । लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, स्थावरजङ्गमात्मकं वा, समेत्य केवलज्ञानेन करतलामलकवत् ज्ञात्वा । तथागता-स्तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं वा गताः श्रमणाः साधवो ब्राह्मणाः संयताऽसंयताः, लौकिकी वाचोयुक्तिः । किंभूतास्त एवमाख्यान्तीति स्वयम् । 'तहा तहेति' वा क्वचित्पाठः । यथा यथा समाधिमार्गो व्यवस्थितस्तथा तथा कथयन्ति । एतच्च कथयन्ति-यथा यत्किञ्चिदसातादिकं दुःखमात्मोदयकृतं, नान्येन कृतं, न च कालेश्वरादिना कृतं, तत्स्वकृतं, कर्मणा कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना कृतमिति । तथा चोक्तम्-

" सर्वो पूर्वकृतानां कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकम् । अपराधेषु गुणेषु च, निमित्तमात्रं परो भवति " ॥ १ ॥ एतच्चात्र तीर्थकरगणधरादयः । तद्यथा-विद्या ज्ञानं, चरणं चारित्रं क्रिया, तत्प्रधानो मोक्षस्तमनुवदन्ति, न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परानपेक्षाभ्यामिति । तथा चोक्तम् "क्रिया च सज्ज्ञानवियोगनिष्फला, क्रियाविहीना च विबोधसम्पत् । निरस्तक्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः" ॥ १ ॥

किञ्च-

ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ, मग्गाऽणुसासंति हितं पयाणं ।

तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव ! संपगाढा ॥ १२ ॥

(ते चक्खुलोगंसिहेत्यादि) ते तीर्थकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके, चक्षुरिव चक्षुर्वर्त्तन्ते । यथा हि चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति, एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति । यथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः प्रधानाः । तुशब्दो विशेषणे । सदुपदेशदानतो वा नायका इति । एतदाह-मार्गं ज्ञानादिकं मोक्षमार्गम्, अनुशासन्ति कथयन्ति । प्रजायन्त इति प्रजाः प्राणिनः, तेषाम् । किंभूतम् ?, हितं सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकम् । किञ्च-चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके पञ्चास्तिकायात्मके वा येन प्रकारेण द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण यद्वस्तु शाश्वतं तत्तथा आहुरुक्तवन्तः । यदि वा लोकोऽयं प्राणिगणः संसारान्तर्वर्ती यथा यथा शाश्वतो भवति तथा तथैवाहुः । तद्यथा-यथा यथा मिथ्यादर्शनाभिवृद्धिस्तथा तथा शाश्वतो लोकः । तथाहि-तत्र तीर्थकराहारकवर्ज्याः सर्वे एव कर्मबन्धाः सम्भाव्यन्त इति । तथा च महारम्भादिभिश्चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नरकायुष्कं यावन्निवर्तयन्ति तावत्संसारानुच्छेद इति । अथवा यथा यथा रागद्वेषादिवृद्धिस्तथा तथा संसारोऽपि शाश्वत इत्याहुः । यथा यथा च कर्मोपचयमात्रा तथा तथैव संसाराभिवृद्धिरिति । दुष्टमनोवाक्कायाभिवृद्धौ वा संसाराभिवृद्धिरवगन्तव्या, तदेव संसारस्याभिवृद्धिर्भवति । यथाऽस्मिंश्च संसारे प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवः । हे मानव ! मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणम् । सम्यग्नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन प्रगाढाः प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ॥ १२ ॥

लेशतो जन्तुभेदप्रदर्शनद्वारेण तत्पर्यटनमाह-

जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया ।

आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥ १३ ॥

ये केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः, तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते । तथा यमलौकिकात्मनोऽम्बर्षादयः, तदुपलक्षणात्सर्वभवनपतयः, तथा ये च सुराः सौधर्मादिवैमानिकाः । चशब्दाज्ज्योतिष्काः सूर्यादयः, तथा ये गान्धर्वा विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा । तद्ग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम् । तथा कायाः पृथिवीकायादयः षडपि गृह्यन्ते इति । पुनरन्येन प्रकारेण सत्त्वान्संजिघृक्षुराह-ये केचनाऽऽकाशगामिनः संप्राप्ताकाशगमनलब्धयश्चातुर्विधदेवनिकायविद्याधरपक्षिवायवः, तथा ये च पृथिव्याश्रिताः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः, ते सर्वेऽपि स्वकृतकर्मभिः पुनः पुनर्विविधमनेकप्रकारं पर्यासं परिक्षेपमरहट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणमुप सामीप्येन यान्ति गच्छन्तीति ॥ १३ ॥

किञ्चान्यत्-

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं,

जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।

जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं,

दुहओ वि लोयं अणुसंचरंति ॥ १४ ॥

यं संसारसागरमाहुरुक्तवन्तस्तीर्थकरगणधरादयः तद्विदः । किमाहुः ?-स्वयंभूरमणसलिलौघवदपारम्, यथा स्वयंभूरमणसलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते, एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति दर्शयति, जानीहि अवगच्छ, णमिति वाक्यालङ्कारे । भवगहनमिदं चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणं यथाऽऽत्मनः संख्येयाऽसंख्येयानन्तस्थितिकम् । दुःखेन मुच्यत इति दुर्मोक्षं दुरुत्तरमस्तिवादिनामपि, किंपुनर्नास्तिकानाम् । पुनरपि भवगहनोपलक्षितं संसारमेव विशिनष्टि-यस्मिन् यत्र संसारे सावद्यकर्मानुष्ठायिनः कुमार्गपतिता असत्समवसरणग्राहिणो विषण्णा अवसक्ता विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदि वा विषयाश्चाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिर्वशीकृताः सर्वत्र सदनुष्ठानेऽवसीदन्ति । त एव विषयाङ्गनादिके पङ्के विषण्णा द्विधाऽप्याकाशाश्रितं पृथिव्याश्रितं च लोकम्, यदि वा स्थावरजङ्गमलोकमनुसञ्चरन्ति गच्छन्ति । यदि वा द्विधाऽपि लिङ्गमात्रप्रव्रज्ययाऽविरत्या च रागद्वेषाभ्यां वा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्वकृतकर्मप्रेरिता अनुसञ्चरन्ति भ्रमन्त्यन्त इति ॥ १४ ॥

किञ्चान्यत्-

न कम्मणा कम्म खवेंति वाला,

अकम्मणा कम्म खवेंति धीरा ।

मेधाविणो लोभभयावतीता,

संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥ १५ ॥

ते एवमसत्समयशरणाश्रिता मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः

सावद्येतरविशेषानभिज्ञाः सन्तः कर्मक्षपणार्थमभ्युद्यता निर्विवेकतया सावद्यमेव कर्म कुर्वते। न च कर्मणा सावद्यारम्भेण कर्म पाप क्षपयन्त्यपनयन्त्यज्ञत्वाद् बाला इव बालास्त इति। यथा च कर्म क्षिप्यते तथा दर्शयति-अकर्मणा त्वाश्रवनिरोधेन तु अन्तशः शैलेश्यवस्थायां कर्म क्षपयन्ति धीरा महासत्त्वाः सद्वैद्या इव चिकित्सयाऽऽमयानीति। मेधा प्रज्ञा विद्यते येषां ते मेधाविनः हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञा लोभमय परिग्रहमेवातीताः परिग्रहातिक्रमाल्लोभाता वीतरागा इत्यर्थः। सन्तोषिणो येन केनचित्सन्तुष्टा अवीतरागा अपीति। यदि वा यत एवातीतलोभा अत एव सन्तोषिण इति। त एवंभूता भगवन्तः पापमसदनुष्ठानापादित कर्म न कुर्वन्ति नाददति। क्वचित्पाठः-' लोभभयादतीता '। लोभश्च भय च समाहारद्वन्द्वः। लोभाद्धा भय तस्मादतीताः सतोषिण इति। न पुनरुक्ताशङ्का विधेयेत्यतो लोभातीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः। सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति। यदि वा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः; सतोषिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वेन उत्कटलोभा इति। लोभाभाव दर्शयन् अपरकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह। ये च लोभातीतास्तेऽवश्य पाप न कुर्वन्तीति स्थितम्। १५।

ये च लोभातीतास्ते किंभूता भवन्तीत्यत आह-

ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं।
णेतार अन्नेसि अणण्णणेया,बुध्दा हु ते अंतकडा भवंति।१६।

ते वीतरागा अल्पकषाया वा लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य प्राणिलोकस्य वाऽतीतान्यन्यजन्माचरितानि उत्पन्नानि वर्त्तमानावस्थायीन्यनागतानि च भवान्तरभावीनि सुखदुःखादीनि तथागतानि यथाऽवस्थितानि तथैवावितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति। तथाहि आगमः- "अणगारे णं भंते! माई मिच्छादिट्ठी रायगिहे णयरे समोहए वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ जाव से दसणे विवज्जासे भवति" इत्यादि। ते चातीतानागतवर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वाऽप्रत्यक्षज्ञानिनोऽन्येषां संसारोत्तितीर्षूणां भव्यानां मोक्ष प्रति नेतारः-सदुपदेश प्रत्युपदेष्टारो भवन्ति। न च ते स्वयबुद्धत्वादन्येन नीयन्ते-तत्त्वावबोध कार्यन्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहार प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भाव.। ते च बुद्धाः स्वयबुद्धास्तीर्थकरगणधरादयः। हुशब्दश्चशब्दार्थे, विशेषणे च, तथा च प्रदर्शित एव। ते च भवान्तकरा., ससारोपादानभूतस्य वा कर्मणोऽन्तकृा भवन्तीति ॥१६॥

यावदद्यापि भवान्तं न कुर्वन्ति तावत्प्रतिषेध्यमंशं दर्शयितुमाह-

ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूताहिसंकाएँ दुगुंछमाणा।
सया जता विप्पणवति धीरा,विण्णत्ति वीरा य हवंति एगे।१७।

ते प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनो वा विदितवेद्या' सावद्यमनुष्ठानं भूतोपमर्दाभिशङ्कया पापं कर्म जुगुप्सन्त. सन्तो न स्वत. कुर्वन्ति, नाप्यन्येन कारयन्ति, कुर्वन्तमप्यपरं नानुमन्यन्ते। तथा स्वतो न मृषावादं जल्पन्ति, नान्येन जल्पयन्ति, नाप्यपरं जल्पन्तमनुजानन्ति, एवमन्यान्यपि महाव्रतान्यायोज्यानीति। तदेवं सदा सर्वकाल, यता. सयताः पापानुष्ठानान्निवृत्ताः, विविधं संयमानुष्ठान प्रति प्रणमन्ति प्रह्वीभवन्ति। के ते?, धीरा महापुरुषा इति। तथैके केचन हेयोपादेय विज्ञाय अपिशब्दात्सम्यक् परिज्ञाय वा तदेव निशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येव कृतनिश्चयाः कर्मणि विदारयितव्ये वीरा भवन्ति। यदि वा परीषहोपसर्गानीकविजयाद्वीरा इति। पाठान्तरं वा-(विण्णत्ति वीरा य भवन्ति एग) एके केचन गुरुकर्मणोऽल्पसत्त्वा' विज्ञप्तिर्ज्ञान तन्मात्रेणैव वीरा नत्वनुष्ठाने, न च ज्ञानादेवाऽभिलषितावाप्तिरुपजायते। तथाहि-"अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान्। संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम्" ॥ १ ॥ १७ ॥

कानि पुनस्तानि भूतानि यच्छङ्कयाऽऽरम्भं जुगुप्सन्ति सन्त इत्येतदाशङ्कयाह-

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आतओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहती लोगमिणं,महन्तं बुध्देऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा।१८।

ये केचन (डहरे त्ति) लघव. कुन्थ्वादयः सूक्ष्मा वा, ते सर्वेऽपि प्राणाः प्राणिनः, ये च वृद्धा बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान् आत्मवत्पश्यति सर्वस्मिन्नपि लोके; यावत्प्रमाण मम तावदेव कुन्थोरपि, यथा वा मम दुःखमनभिमतमेवं सर्वलोकस्यापि, सर्वेषामपि प्राणिनां दु.खमुत्पद्यते, दुःखादुद्विजन्ति। यथा चागम.-"पुढविकाए णं भंते! अक्कंते समाणे केरिसयं वेयण वेएइ?" इत्याद्याः सूत्रालापका इति मत्वा तेऽपि नाक्रमितव्या न सघट्टनीया इत्येवं यः पश्यति। तथा लोकमिमं महान्तमुत्प्रेक्षते. पट्जीवसूक्ष्मबादरभेदैरपकुलत्वान्महान्तम्; यदि वा अनादिनिधनत्वान्महान् लोक'। तथाहि-कालतो भव्या अपि केचन सर्वेणाऽपि कालेन न सेत्स्यन्तीति। यद्यपि द्रव्यतः षड्द्रव्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणतया सावधिको लोक, तथापि कालतो भावतश्चानाद्यनिधनतयाऽपर्यायाणां चानन्तत्वान्महान् लोक', तमुत्प्रेक्षत इति। एवं च लोकमुत्प्रेक्षमाणो बुद्धोऽवगन्तव्यः। सर्वाणि प्राणिस्थानान्यशाश्वतानि तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मन्यमानोऽप्रमत्तेषु सयमानुष्ठायिषु मध्ये तथाभूत एव परि समन्ताद् व्रजेद। यदि वा बुद्धः सन् प्रमत्तेषु गृहस्थेषु अप्रमत्त. सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥ १८ ॥

जे आयओ परओ वा वि णच्चा,
अलमप्पणो होति अलं परेसिं।
तं जोइभूतं च सयाऽऽवसेज्जा,
जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं ॥ १९ ॥

यः स्वय सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थदर्शी यथावस्थितं लोकं ज्ञात्वा, तथा यश्च गणधरादिक. परतस्तीर्थकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति, स एवंभूतो हेयोपादेयवेद्यात्मनस्त्रातुमलमात्मान ससारावटात्पालयितु समर्थो भवति। तथा परेषां सदुपदेशदानतस्त्राता जायते। तं सर्वज्ञं स्वत एव सर्ववेदिनं तीर्थकरादिक, परतो वेदिन च गणधरादिक, ज्योतिर्भूत पदार्थप्रकाशकतया चन्द्रादित्यप्रदीपकल्पमात्महितमिच्छन् संसारदु.खोद्विग्न' इतार्थमात्मानं भावयन् सततमनवरतमावसेत सेवेत गुर्वन्तिक एव यावज्जीव वसेत्। तथा चोक्तम्-" णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंस-

णे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचति"॥१॥ के एवं कुर्युरिति दर्शयति-ये कर्मपरिणतिमनुविचिन्त्य, "माणुस्सखेत्तजा" इत्यादिदुर्लभां च सद्धर्मावाप्तिं सद्धर्मं वा श्रुतचारित्राख्य क्षान्त्यादिक दशविध साधुधर्मं वाऽनुविचिन्त्य पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथानुष्ठानतः प्रादुष्कुर्युः प्रकटयेयुः, ते गुरुकुलवास यावज्जीवमासेवन्त इति । यदि वा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति, तथा आगमज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य लोक पञ्चास्तिकायात्मक चतुर्दशरज्ज्वात्मक वा प्रादुष्कुर्युरिति क्रिया ॥ १६ ॥

किञ्चान्यत्-

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं,
गइं च जो जाणइ ऽणागइं च ।
जो सासयं जाण असासयं च,
जातिं च मरणं च जणोववायं ॥ २० ॥

यो ह्यात्मानं परलोकयायिन शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति । येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहम्प्रत्ययग्राह्योऽभिज्ञातो भवति तेनैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावाद भाषितुमर्हतीति द्वितीयवृत्तान्तस्य क्रिया । यश्च लोक चराचर वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकार, चशब्दादलोकं चानन्ताकाशास्तिकायमात्र जानाति, यश्च जीवानामागतिमागमन, कुत समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवा ?, कैर्वा कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्त इत्येव यो जानाति, तथाऽनागतिं चाऽनागमन च, कुत्र गतानां नागमन भवति । चकारात्तद्गमनोपाय च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक यो जानाति, तत्रानागतिः सिद्धिरशेषकर्मच्युतिरूपा लोकाग्राऽऽकाशदेशस्थानरूपा वा ग्राह्या, सा च सादिरपर्यवसाना । यश्च शाश्वत नित्य सर्ववस्तुजात द्रव्यास्तिकनयाश्रयादशाश्वत वाऽनित्य प्रतिक्षणविनाशरूप पर्यायनयाश्रयणात्, चकारान्नित्यानित्य चोभयाकार सर्वमपि वस्तुजात यो जानाति । तथाहि आगमः- "णेरइया दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया" । एवमन्येऽपि तिर्यगादयो द्रष्टव्याः । अथ वा निर्वाण शाश्वत, ससारोऽशाश्वतः, तद्गताना ससारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति । तथा जातिमुत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणा च, मरणं चाऽऽयुष्कक्षयलक्षणम् । तथा जायन्त इति जनाः सत्त्वाः, तेषामुपपात जानाति ; स च नारकदेवयोर्भवतीति । अत्र च जन्मचिन्तायामसुमतामुत्पत्तिस्थान योनिर्भणनीया; सा च सचित्ताऽचित्ता मिश्रा च । तथा शीता उष्णा मिश्रा च । तथा सवृता विवृता मिश्रा चेत्येव सप्तविंशतिविधेति । मरण पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोश्च्यवन ज्योतिष्कवैमानिकानाम, उद्वर्त्तन भवनपतिव्यन्तरनारकाणामिति ॥ २० ॥

किञ्च—

अहो वि सत्ताण विउट्टणं च,
जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्ख च जो जाणति निज्जरं च,
सो भासिउमरिहइ किरियवादं ॥ २१ ॥

सत्त्वानां स्वकृतकर्मफलभुजामधस्तान्नारकादौ दुष्कृतकर्मकारिणां त्रिविधां विरूपां वा कुट्टनां जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीडां, चशब्दात्तदभावोपाय यो जानाति । इदमुक्तं भवति-सर्वार्थसिद्धादारतोऽध सप्तमीं नरकभुव यावदसुमन्त सकर्माणो विवर्त्तन्ते, तत्रापि ये गुरुतरकर्माणस्तेऽप्रतिष्ठाननरकयायिनो भवन्तीत्येव यो जानीते । तथा आश्रवत्यष्टप्रकारक कर्म येन स आश्रवः, स च प्राणातिपातरूपो, रागद्वेषरूपो वा, मिथ्यादर्शनादिको वेति तम् । तथा सवरणमाश्रवनिरोधरूप यावदशेषयोगनिरोधस्वभाव, चकारात्पुण्यपापे च यो जानीते । तथा दुःखमसातोदयरूप, तत्कारण च यो जानाति, सुख च तद्विपर्ययभूत यो जानाति तपसा निर्जरां च । इदमुक्त भवति-यः कर्मबन्धहेतून् तद्विपर्यासहेतूंश्च तुल्यतया जानाति । तथाहि—" यथाप्रकारा यावन्त, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणावेशहेतवः " ॥ १ ॥ स एव परमार्थतो भाषितु वक्तुमर्हति । किं तत् ?, इत्याह-क्रियावादम । अस्ति जीवोऽस्ति पुण्यमस्ति च पूर्वाचरितस्य कर्मणः फलमित्येव वादमिति । तथाहि-जीवाजीवाश्रवसवरबन्धपुण्यपापनिर्जरामोक्षरूपा नवापि पदार्थाः श्लोकद्वयेनोपात्ता । तत्र य आत्मान जानातीत्यनेन जीवपदार्थो, लोकमित्यनेनाजीवपदार्थ, तथा गत्या गतिः शाश्वतेत्यादिनानयोरेव स्वभावोपदर्शनं कृतम । तथा आश्रवसवरौ स्वरूपेणैवोपात्तौ । दुःखमित्यनेन तु बन्धपुण्यपापानि गृहीतानि, तदविनाभावित्वाद् दुःखस्य । निर्जरायास्तु स्वाभिधानेनैवोपादानम, तत्फलभूतस्य मोक्षस्योपादान द्रष्टव्यमिति । तदेवमेतावन्त एव पदार्थाः, तदभ्युपगमे नवास्तीत्यादिकः क्रियावादोऽभ्युपगतो भवतीति । यश्चैतान् पदार्थान् जानात्यभ्युपगच्छति स परमार्थतः क्रियावाद जानाति । ननु चापरदर्शनोक्तपदार्थपरिज्ञानेन सम्यक्त्वादिक कस्मान्नाभ्युपगम्यते, तदुक्तपदार्थानामेवाघटमानत्वात् । सूत्र० । (नैयायिकदर्शनमन्यत्रापाकरिष्यते) तस्मात्पारिशेष्यसिद्धा अर्हदुक्ता नव पदार्थाः सत्याः, तत्परिज्ञान च क्रियावादे हेतुर्नापरपदार्थपरिज्ञानमिति ॥ २१ ॥

सांप्रतमध्ययनार्थमुपसजिहीर्षुः सम्यग्वादापरिज्ञानफलमादर्शयन्नाह-

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवितं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥ २२ ॥
त्ति बेमि ॥

" सद्देसु" इत्यादि । शब्देषु वेणुवीणादिषु श्रुतिसुखदेषु, रूपेषु च नयनानन्दकारिष्वासङ्गमकुर्वन् गार्ध्यमकुर्वाणोऽनेन रागो गृहीतः, तथा गन्धेषु कुथितकलेवरादिषु, रसेषु चान्तप्रान्ताशनादिषु अदुष्यमाणो मनोज्ञेषु द्वेषमकुर्वन् । इदमुक्त भवति-शब्दादिष्विन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो जीवितमसयमजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि परीषहोपसर्गैरभिद्रुतो मरणमभिकाङ्क्षेत् । यदि वा जीवितमरणयोरनभिलाषी सयममनुपालयेदिति । तथा मोक्षार्थिना दीयते गृह्यत इत्यादानं सयम, तेन तस्मिन् वा सति गुप्तः, यदि वा मिथ्यात्वादिना दीयते इत्यादानमष्टप्रकार कर्म, तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च । तथा भाववलय माया तया, विमुक्तो मायामुक्तः । इति

परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमीति पूर्ववत्; नयाः पूर्ववदेव ॥ २२ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानमोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः । चैत्यमादित एव मोक्षवादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । (तेषां मतं चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति लक्षणं "कम्म" शब्देऽत्रैव भागे ३३१ पृष्ठे दर्शितम्) व्यवहारे साध्यादिप्रमाणरूपक्रियासाध्ययुक्ते वादिनि, वाच० । यो मोक्षार्थं क्रियां करोति स क्रियावादीति प्रघोषः सत्योऽसत्यो वा ? । यदि सत्यस्तर्हि मोक्षार्थं जीवघातं कुर्वत्सु सत्स्वपि तुरुष्कादिफिराङ्गिकपर्यन्तसर्वमिथ्यादृष्टिषु क्रियावादित्वं स्यात्, तत्तु केषाञ्चिदात्मश्लाघानामसत्यदुण्ढिकरवाद्यानां च चेतसि प्रतिभासते । प्रत्युत दुण्ढिका इत्थं कथयन्ति-श्रीमतां ये ये गीतार्था अत्र समायान्ति ते सर्वेषां क्रियाकुर्वतां मिथ्यादृशां क्रियावादित्वं कथयन्ति । तदसमीचीन भवतानम् । ते तु दुण्ढिकाः सम्यग्दृशां सम्यक्त्वाभिमुखाणां च क्रियावादित्वं कथयन्ति, नान्येषामिति प्रश्ने उत्तरम्-यो मोक्षार्थं क्रियां करोति स क्रियावादीति प्रघोषः सत्य एव लक्ष्यते । न च कोऽपि मोक्षार्थं जीवघातादिकं करोति, यतः तुरुष्काणामपि मूलशास्त्रेषु जीववधस्य निषिद्धत्वात्, याज्ञिकानामपि स्वर्गाद्यर्थमेव यज्ञस्य प्ररूपणात्; तथा सम्यग्दृश एव, सम्यक्त्वाभिमुखा एव वा क्रियावादिन इत्यक्षराणि शास्त्रे न सन्ति,प्रत्युत भगवतीवितृताविस्तुकमस्ति-एते च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टयोऽभिहितास्तथापि इहाद्याः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, सम्यगस्तित्ववादिनामेव तेषां समाश्रयणात् । भगवतीसूत्र च विशेषपरम्,तेन तत्र क्रियावादिपदेन सम्यग्दृष्टयो गृहीताः,अत्र तु मिथ्यादृष्टयोऽपि,तत उभयेऽपि क्रियावादिन इति तत्त्वम् । ३२१प्र०। सेन०३उल्ला०। अथ नवीननगरसंघकृतप्रश्नाः, तदुत्तराणि च । यत्र यः सम्यक्त्वमन्तर्मुहूर्तं स्पृशति सोऽर्द्धपुद्गली कथ्यते,क्रियावादी चैकपुद्गली नियमात् शुक्लपक्षीति श्रूयते,तत्कथमिति प्रश्ने उत्तरम्-क्रियावादी सम्यग्दृष्टिः,तथा मिथ्यादृष्टिः,द्वावपि भव्यौ शुक्लपाक्षिकौ च ज्ञेयौ । तौ नियमात् पुद्गलपरावर्तमध्ये सिद्ध्यतः,एवंविधाक्षराणि दशाश्रुतस्कन्धचूर्णिमध्ये सन्ति, परं सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योरेकीभूतसामान्यलक्षणं ज्ञेयम् । यतो मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिकृतपुष्पमालासूत्रवृत्तिमध्ये-"अतो मुहुत्तमेत्तं,पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं । तेसिं अवड्डपुग्गल-परिअट्टो चेव ससारो" ॥१॥ एतद्गाथाव्याख्यानुसारेण पुद्गलपरावर्त्तसंसारो ज्ञायते,एतद्विशेषस्तत्तद्ग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः । तथा श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्रवृत्तिमध्ये ययोः सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योर्देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तससारो भवति,तौ शुक्लपाक्षिकौ कथ्येते,यस्य च ततोऽधिकससारो भवति स कृष्णपाक्षिकः कथ्यते इति कथितमस्ति, परं तन्मतान्तरं संभाव्यते । प्र० १२०। सेन० ४ उल्ला० । तथा त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयपाषण्डिकानां मध्ये अशीत्यधिकशतक्रियावादिनः सन्ति, ते सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अशीत्यधिकशतक्रियावादिनो मिथ्यादृष्टयो ज्ञेया इति । १२१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

किरियाविसाल-क्रियाविशाल-न० । यत्र क्रियाः कायिक्यादिकाः विशालाः विस्तीर्णाः सभेदत्वादभिधीयन्ते तत् क्रियाविशाल पूर्वम् । स० १४ सम० । क्रियाः कायिक्यादयः सयमक्रियाछन्द क्रियादयश्च ताभिः प्ररूप्यमाणाभिर्विशालम् । त्रयोदशे पूर्वे, तस्य पदपरिमाण नवपदकोट्य. । नं० । स्था० । स० । "किरियाविसालस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णत्ता" स० । नं० ।

किरीय-किरीय-पुं० । म्लेच्छदेशभेदे, तत्रोत्पन्ने म्लेच्छे च। सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

किरो-देशी-सूकरे, दे० ना० २ वर्गे ।

किल-किल-अव्य० । वार्त्तायाम्, अनुशयार्थे, प्रसिद्धार्थद्योतने, हेतौ, अरुचौ, अलीके, तिरस्कारे च । वाच० । सत्ये, अष्ट० ५ अष्ट० । परोक्षागमवादसमूचने, आव० ५ अ० । ध० ध० । आप्तोपदेशे, प्रव० ३५ द्वार । आप्तोक्तौ, विशे० । सं० था० । नं० । निश्चये, आतु० । रूप्या० । आ० । वाक्यालङ्कारे, उत्त० ११ अ० ।

किलंत-क्लान्त-त्रि० । क्लम् क्तः । "लात्" ८ । २ । १६ । संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् प्राक् पूर्वमिद् भवति, इतीडागमः । प्रा० २ पाद । परिश्रान्ते, सू० ३ उ० । ग्लानिमुपगते, 'क्लमु' ग्लानाविति वचनात् । जी० ३ प्रति० । ग्लानीभूते, ज्ञा० १श्रु०१ अ० । प्रश्न० ।

किलकिलाइय-किलकिलायित-न० । कृते किलकिलेति संनादे, " ततो तेण जूहाहिवेण तेसिं किलकिलाइयं सद् सोऊण भसिणो गंतूण दिट्ठो सो साहू" । आ० म० द्वि० ।

किलणी-देशी-रथ्यायाम, दे० ना० २ वर्गे ।

किलाड-किलाट-पुं० । 'नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः' इति परिजापिते विमथितदुग्धस्य पाकेन घनीभूते पिण्डाकारे पदार्थे, ततः स्वार्थे क किलाटकः । तत्रार्थे कूर्चिकायां क्षीरविकारभेदे, स्त्री० । गौरा० ङीष् । वाच० । देशविशेषे. तत्रोत्पन्ने जने च । "चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्गीः पीनघनस्तनी । किलाटी नामतः सा स्या-द्देवानामपि दुर्लभा " ॥ १ ॥ स्था० ४ ठा० २ उ० ।

किलाम-क्लम-पुं० । संस्पर्शे सति देहग्लानिरूपे, भ० ३ श० श० । आव० । खेदे, रा० । विशे० । " योऽनायासः श्रमो देहे, प्रवृद्धः श्वाससङ्कुलः । क्लमः स इति विज्ञेयो, इन्द्रियार्थप्रबाधकः" ॥ १ ॥ इति । वाच० ।

किलामणया-क्लामना-स्त्री० । ग्लानिनयने, भ० ३ श० ३ उ० । दश० ।

किलामिय-क्लामित-त्रि० । मारणान्तिकसमुद्घातं गमिते, भ० ८ श० ७ उ० । ग्लानिमापादिते, आव० ४ अ० ।

किलामेंत-क्लामयत्-त्रि० । मारणान्तिकसमुद्घातं नयति, भ० ५ श० ६ उ० ।

किलिट्ठ- क्लिष्ट-त्रि० । क्लिश क्तः,वा इडभावः । "लात्" ८।२।१६। इति इडागमः । प्रा०२ पाद । रागाद्युपहितचित्ते, उत्त०३२ अ० । पूर्वापरविरुद्धार्थके वाक्ये, न० । वाच० । क्लिष्ट यथा-यत्कृतक, कृतकश्चायम्, यथा घटः, तस्मादनित्यः, तस्मान्नित्यम् । कृतकत्वाच्छब्दोऽनित्य इत्यादि । रत्ना० ८ परि० । क्लेशयुक्ते, उपतापिते च । वाच० ।

किलिट्ठकम्मकलातीय-क्लिष्टकर्मकलातीत-त्रि० । क्लिष्टा क्लेशस्वरूपभवहेतुत्वेन क्लेशिका या कर्मकलाः ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारकर्मांशाः,तेभ्योऽतीतोऽपेतो यः स क्लिष्टकर्मकलातीतः । सिद्धे, हा० १ अष्ट० ।

किलिट्ठचित्त-क्लिष्टचित्त-त्रि० । क्लिष्टाऽध्यवसाये, " जो पुण किलिट्ठचित्तो, णिरविक्खो एत्थदइपाविट्ठो।" पं०व०४ द्वार।

किलिट्ठया-क्लिष्टता-स्त्री० । दुष्टतायाम, निरुपक्रमतायाम, पञ्चा० १६ विव०।

किलिट्ठसत्त-क्लिष्टसत्त्व-त्रि० । क्लिष्ट सत्त्व येषां ते तथा । क्लिष्टसत्त्वविशिष्टेषु, संक्लेशबहुलजीवेषु, " होइ य पाएण सा, किलिट्ठसत्ताण मइयुक्कोएणं । " पञ्चा० १६ विव०।

किलिण्ण-क्लिन्न-त्रि० । क्लिद० क्तः । नत्वम् । "लात्" ।८।२।१०६। सयुक्तस्याऽन्त्यव्यञ्जनाल्लात्पूर्वम् इद् भवति, इतीदागमः। प्रा० २पाद। आर्द्रीकृते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। प्रश्नण।बाधिते, उत्त० २ अ०। अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् निचिते, उत्त० ३ अ० ।

किलिण्णगाय-क्लिन्नगात्र-त्रि० । क्लिन्नमनेकार्थत्वात् धातूनां निचित, गात्र शरीर यस्य । निचितशरीरे, उत्त० ३ अ० । बाधितशरीरे, उत्त० २ अ०।

किलिम्मिअं-देशी-कथिते, दे० ना०२ वर्ग।

किलिव-क्लीव-पुं० । नपुंसके, व्य० २ उ० । प० ज्ञा० ।

किलिस्संत-क्लिश्यत्-त्रि० । क्लेशं कुर्वति, क्लिश्यमाने, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

किलेस-क्लेश-पुं० "लात्" ८।२।१०६। इतीदागमः। प्रा० २ पाद। रागादौ खेदे, स्त्री०। प्रश्न०। स्था०। शारीर्यां मानस्यां च बाधायाम, सू० प्र० २० पाहु०। पञ्चा०। उपतापे, क्लिश्नाति । क्लिश बाधने,कर्तरि अच्।वाच०। क्लिश्यन्ते बाध्यन्ते शारीरमानसैः दुःखैः ससारिण सत्त्वा एभिरिति क्लेशाः । अष्टकर्मसु, सू० १ उ० । अशुभविपाके पापे, " क्लेशा पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते"। क्लेशा इति । नोऽस्माक मते पापान्यशुभविपाकानि बहुभेदानि विचित्राणि कर्माणि ज्ञानावरणीयानि क्लेशा उच्यन्ते । द्वा० २५ द्वा० । क्लेश साङ्ख्यानां जन्मकारणम् । द्वा० १६ द्वा० । " अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशा " इति पतञ्जल्युक्ते अविद्यादिपञ्चके, द्वा० १६ द्वा०। कोपे, व्यवसाये च । तयोरपि तद्धेतुत्वात्तथात्वम्। वाच०।

किलेसक्खय-क्लेशक्षय-पुं० । कर्मक्षये, " क्लेशक्षयो हि मण्डूक-चूर्णतुल्यः क्रियाकृतः । दग्धस्तच्चूर्णसदृशो, ज्ञानसारकृत: पुरा ॥ " अष्ट० ३२ अष्ट० । (क्लेशहानोपायद्वात्रिंशिका ' मोक्ख ' शब्दे वक्ष्यते)

किलेसद्धंस-क्लेशध्वंस-पुं० । रागादिपरिक्षये, द्वा० १० द्वा० ।

किलेसविच्चि-क्लेशवृत्ति-त्रि० । एकान्तक्लेशवेष्टिते, दश० १ चू० । प० चू०।

किव-कृप-पुं० । कृप् अच् । "इत्कृपादौ" । ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम्, प्रा० १ पाद । राजर्षिभेदे, कृपाऽस्त्यस्य पालनसाधनत्वेन अर्श अच् । शरद्वतो गौतमस्य पुत्रे, तत्सुतायाम् , स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

किवण-कृपण-पुं० । कृप-क्युन् । दरिद्रे, अणु० ३ वर्ग । आचा० । दु:स्थे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । रङ्के, अत्यागिनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। अपरित्यागशीले, स्वभावतो दरिद्रे, नि० चू० १५ उ० । लोभमग्ने, अष्ट० १ अष्ट०। स्वभावत एव सतां कृपास्थाने, द्वा० १२ द्वा० । दीने, सूत्र० १ श्रु०,२ अ० ३ उ० । क्लीबे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पिण्डोलके, दश० ५ अ० २ उ० । मन्दे, त्रि० । महाव्यसनप्राप्ते दीने, क्रिमौ, पु० । कृत' पणो यस्य। वेदे नित्य तलोपः । कृतपणे पणक्रीते दासादौ, वाच०।

किवणकुल -कृपणकुल-न० । तर्कणवृत्तिनि, स्था० ८ ठा०। अदातृकुले, कल्प० २ क्षण।

किवणत्त-कृपणत्व-न० । नूनं गतैस्तेभ्य' किमपि दातव्य भविष्यतीत्येवरूपे, आ० म० द्वि० । द्रव्यव्ययासहिष्णुत्वलक्षणे, उत्त० ३ अ० ।

किवा-कृपा-स्त्री० । कृप-भिदा० अङ्।"कृपेः सम्प्रसारण च"। वाच० । " इत्कृपादौ "८। १ । १२८ । इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद । दयायाम् , आचा० १ श्रु० ६ अ०५ उ० । अनुकम्पायाम, अष्ट० २७ अष्ट० । " तस्स किवा जाया अधम्मो कतो । " आ० म० द्वि०।

किवाण-कृपाण-पुं० । कृपा नुदति । नुद डः, सज्ञायां णत्वम् । "इत्कृपादौ " । ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम । प्रा० १ पाद। खड्गे । गौरा० ङीप् । कर्तर्य्याम, स्त्री० । छुरिकायाम्, स्त्री० । स्वार्थे के कृपाणक' खड्गे, पु० । टाप् । अत इत्वम् । कृपाणिका । छुरिकायाम्, स्त्री० । वाच० । आचा० ॥

किवाणुग-कृपानुग-त्रि० । कृपया करुणया अनुगमनुगतम । करुणापरे, षो० ३ विव० ।

किविमी-देशी-पार्श्वद्वारे, दे० ना० २ वर्ग ।

किविण-कृपण-त्रि० । "इत्कृपादौ" ८ । १ । १२८ । कृपा इत्यादिषु आदेर्ऋत इत्वम । प्रा० १ पाद । "इ स्वप्नादौ" । ८ । १ । ४६ । इति पकारादेरस्य इत्वम । दरिद्रे, प्रा० १ पाद ।

किव्विस-किल्बिष-न० । किल टिषच् बुक् च। वाच०। पातके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । षो० । रोगे, पापहेतुत्वात्तस्य तथात्वम । वाच० । अष्टादशे गौणाद्वीके, तस्य किल्बिषस्य पापस्य हेतुत्वात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । यतो मायाविशेषाज्जन्मान्तरेऽत्रैव वा भवे किल्बिष किल्बिषिको भवति स किल्बिष एवेति। प्र०१२ श० ५उ०। द्वादशे गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम०। मलिने, अधमे, उत्त० ३ अ० । कर्बुरे, त० । किल्बिष पाप ज्ञानकेवल्याद्याशातनादिकम, तद्योगाद्देवा अपि किल्बिषाः; प्राक् सयतभवकृतज्ञानाद्याशातनेषु देवमतङ्गत्वेनोत्पन्नेषु, आतु० ।

किव्विसकम्म-किल्बिषकर्मन्-त्रि० । किल्बिषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते कर्मकिल्बिषाः । किल्बिषिकेषु,प्राकृतत्वात्पूर्वापरनिपातः । "कम्मकिव्विसा" इति। उत्त० ३अ०।

किव्विसत्त-किल्बिषत्व-न० । चण्डालप्रायदेवविशेषत्वे, प्र० अ० २ सव० द्वार।

किव्विससुर-किल्बिषसुर-पुं० । किल्बिषसुराणां प्रथमद्वितीयकल्पाधस्तृतीयकल्पाधः षष्ठकल्पाधश्च स्थितिरुक्ताऽस्ति, तत्राधःशब्देन किमभिधीयते ?-अधस्तः प्रस्तट, तस्माद्प्यधोदेशो वा,अन्यच्च द्वात्रिंशदादिलक्षविमानानां मध्ये साधारणदेवीनां

सिवैतेषां कतिचिद्विमानानि सन्ति, विमानैकदेशे विमानाद् बहिर्वा तिष्ठन्ति, चण्डालस्थानीयत्वात्तेषां विमानमध्ये वासोऽनुचितः । विमानानामपान्तराले भुवोऽभावाद् बहिरपि तद्वासः कथं घटते?, इति किल्बिषानां वासस्थान ग्रन्थाक्षरपूर्वक प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-किल्बिषसुराणां वास. कल्पद्धिकादीनामधो प्रणिगत इत्यत्राधःशब्दस्तत्स्थानवाचको ज्ञेय. । न चात्राधःशब्दे प्रथमप्रस्तटार्थो घटते, तृतीयषष्ठकल्पसत्ककिल्बिषिकामराणां तत्प्रथमप्रस्तटयोस्त्रिसागरोपमत्रयोदशसागरोपमस्थित्योरसंभवात्, तथा तद्विमानानां सख्या शास्त्रे नोपलभ्यते, तथा देवलोकगतद्वात्रिंशल्लक्षादिविमानसंख्यया मध्ये तद्विमानानां गणन न सभाव्यते, तेषां कल्पवृक्षादीनामधोवासाऽभिधानात् । तत्त्वं तु सर्वविद्वेद्यमिति । ३२७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

किव्विसिय-किल्बिषिक-पु० । किल्बिषिकीभावनोपात्त किल्बिषं पापमुदये विद्यते येषां ते किल्बिषिकाः स्था० ३ ठा० ४ उ० । परविदूषकत्वेन पापव्यवहारिषु भाण्डादिषु, औ० । भ० । प्रज्ञा० । पातकफलवत्सु नि स्वान्धपङ्ग्वादिषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अधमेषु प्रेष्यभूतेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । ('देवकिव्विसिय' शब्दे व्याख्यास्यामि चैतत्)

किव्विसिया-कैल्बिषिकी-स्त्री० । किल्बिषाः पापाः, अत एवास्पृश्यादिधर्मका. देवाः किल्बिषा , तेषामिय कैल्बिषिकी । संक्लिष्टभावनाभेदे, ध० ३ अधि० । सा पञ्चधा-द्वादशाङ्गीरूपश्रुतज्ञानकेवलिधर्माचार्यसर्वसाधूनामवर्णवदनं, स्वदोषगूहने च मायित्वमिति पञ्चविधाः । ध० ३ अधि० । प० व० ।

कैल्बिषिकीमाह-

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं ।
भासं अवन्नमाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥३६॥

ज्ञानस्य श्रुतरूपस्य केवलिनां वीतरागाणां धर्माचार्याणां गुरूणा सर्वसाधूनां सामान्येन भाषमाणोऽवर्णमश्लाघारूप, तथा मायी सामान्येन य. स कैल्बिषिकीं भावना तद्भावाभ्यासरूपा करोतीति गाथार्थ. । ग० २ अधि० । (ज्ञानावर्णादिव्याख्याऽन्यत्र)

किस-कृश-त्रि० । कृश के । "इत्कृपादौ" । ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । दुर्बले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । भ० । तनुके, आव० ४ अ० । तनुशरीरे, स्था० ४ ठा० २ उ० । " धुणिया कुलिय व लेववं, किसए देहमणासणा इह । अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥ " कृश भवति एवमनशनादिदेंह कर्शयेत् अपचितमांसशोणित विदध्यात् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

किसमिस-पारसीकशब्द.-द्राक्षाभेदे, लघ्वी द्राक्षा किसमिसेति व्यवह्रियते, हरीतकीकिसमिसद्राक्षाखर्जूरमरिचेत्यादि । ध० २ अधि० ।

किसर-कृशर-पुं० । कृशमल्पमात्र राति । रा-कः । "इत्कृपादौ" । ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । " तिलतन्दुलसम्मिश्रः, कृशर. परिकीर्तित. " इत्युक्ते पक्वान्नभेदे, वाच० । वर्णसंयोगनिष्पन्ने वर्णे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

केशर-पु० । न० । " एत इद् वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे " ८ । १ । ४६ । इति एत इत्व वा । " महमहियदसणकिसर किंजक्के " । प्रा० १ पाद ।

किसल(अ)-किस (श)लय-पुं० । न० । किञ्चित् शलति, शल-चलने वा कयन् । पृषो० । वाच० । " किसलयकालायसहृदये यः" । ८ । १ । २६९ । इति सस्वरव्यञ्जनस्य यकारस्य लुग्वा । "किसल किसलअ" । प्रा० १ पाद । अवस्थाविशेषोपेते पल्लवविशेषे, रा० । ज० । जी० । औ० । ज्ञा० । कोमलपत्रविशेषे, अनु० । "सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणतओ भणिओ ।" प्रज्ञा० १ पद । ('अणतजीव' शब्दे प्र० भा० २६३ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्)

किससरीर-कृशशरीर-त्रि० । विचित्रतपसा भाविते शरीरेण दुर्बले, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

किसाण-कृषाण-त्रि० । कृष् वा आनक् । "शषोः सः" । ८ । १ । २६० । इति षस्य स. । प्रा० १ पाद । कर्षके, वाच० ।

किसाणु-कृशानु-पु० । कृश आनुक्, "इत्कृपादौ" । ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । वह्नौ, चित्रकवृक्षे च । तस्य तन्नामकत्वात् । सोमपालके, सव्यपार्श्ववरहिमधारके च । ततः मत्वर्थे गोषदा० टन् । कृशानुकवह्नियुक्ते, त्रि० । तद्गणे कृशानुस्थाने 'कृशाकु' इति वा पाठ. । कृशाकोश्च बहिरेवार्थ. । वाच० ।

किसि-कृषि-स्त्री० । कृष इक् । धान्यार्थक्षेत्रकर्षणे, स्था० ।

चउव्विहा किसी पण्णत्ता । तं जहा-वाविया परिवाविया णिंदिया परिणिंदिया ॥

कृषिर्धान्यार्थे क्षेत्रकर्षणम् । (वाविय त्ति) सकृद्धान्यवपनवती (परिवाविय त्ति) द्वित्रिर्वा उत्पाद्य स्थानान्तरारोपणतः परिवपनवती, शालिकृषिवत् । (णिंदिय त्ति) एकदा विजातीयतृणाद्यपनयनेन शोधिता निन्दिता (परिनिन्दिय त्ति) द्वित्रिर्वा तृणादिशोधनेनेति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । वा ङीप् । कृषीत्यप्यत्र, स्वार्थे के कृषिकाऽप्यत्र । स्त्री० । आधारे, किः । भुवि, वाच० । कृष्युपलक्षितः कृषिः । कृषिकर्मोपजीविनि, तं० ।

किसिकम्म-कृषिकर्मन्-न० । कृषिसाध्यधान्यनिष्पत्तौ, ज्ञा० १८ द्वा० । षो० ।

किसिपलाल-कृषिपलाल-न० । ७ त० । कर्षणे, "तुसे अणुसगयाइं इह किसिपलाल व " कृषौ कर्षणे पलाल तुसं,तद्वदिति । पञ्चा० ५ विव० ।

किसीवल-कृषीवल-त्रि० । कृषिरस्त्यस्य वृत्तित्वेन वलच्, दीर्घः । कर्षके कृषिजीविनि, वाच० । आचा० ।

किस्सइत्ता-क्लिशित्वा-अव्य० । क्लेशमनुभूयेत्यर्थे, संसारान्तर्भूत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

किह-कथम्-अव्य० । केन प्रकारेणेत्यर्थे, व्य० ३ उ० । नि० चू० । "से काहे आ किह वा केवचिरेण वा किह व त्ति" केन वा प्रकारेण साक्षात् दर्शनत. श्रवणतो वा । भ० ३ श० २ उ० ।

" किह लुज्झामो तुमं भूमीए " आ० म० प्र० । प्रा० । आचा० ।

कीकस-कीकश-पु० । कीति कशति । कश-शब्दे, अच् । कृमिजन्तुभेदे, अस्थि, न० । कठिने, त्रि० । वाच० । जं० ।

कीड-कीट-पु० । कीट अच् । कृमिभ्यः स्थूले क्षुद्रजन्तुभेदे, स्वार्थे के पूर्वोक्तार्थे, मागधजातौ, कठिने च । त्रि० । वाच० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० २ अ० । जी० । " तओ कीड-पयंगो य, तओ कुंथुपिपीलिया । " उत्त० ३ अ० । अनु० ।

कीडय-कीटज-न० । कीटाद् जाते सूत्रभेदे, यत्तथाविधकीटेभ्यो लालात्मक प्रभवति, यथा पट्टसूत्रम् । उत्त० २६ अ० । " कीडयं पचविह पन्नत्त । तं जहा-पट्टे मलए अंसुए चीणंसुए किमिरागे " अनु० । (पट्टादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

कीडाविया-क्रीडापिका-स्त्री० । क्रीडनधात्र्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

कीडिया-कीटिका-स्त्री० । पिपीलिकायाम्, " ताहे संतो त सा हरित्ता कीडियाओ वज्जतुभियाओ विउव्वए " आ० म० द्वि० ।

कीणास-कीनाश-पु० । कुत्सित नाशयति । यमे, वानरे च । पुं० क्षुद्रे , वाच० । को० ।

कीय-क्रीत-त्रि० । क्री-कर्मणि क्तः । क्रियते स्मार्थदानेन गृह्यते स्मेति क्रीतम् । पञ्चा० १३ विव० । क्रये, न० । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । मूल्येन गृहीते, त्रि० । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । दश० । उद्गमदोषभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । " उद्देसियं कीय आहट्टु दिज्जमाणं" भुज्यमाने सबले, स० २१ सम० । द्रव्येण भावेन वा क्रीतं स्वीकृत यत्तत् क्रीतमिति । यतोऽभ्यधायि-"दव्वाइएहि किणए, साहूण हाए कीय तु " स्था० ६ ठा० । " तत्तो य रायपिंड कीमं " आव० ४ अ० । स्था० ।

कीच-पुं० । युधिष्ठिरसमकालिके विराटनगराधिपतौ, " नवम दूयं विराडनगर, तत्थ ण तुम कीय रायं भाउयसयसमग्ग कर-यल० जाव समोसरह" । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

कीयक (ग) म-क्रीतकृत-त्रि० । क्रीतेन क्रयेण कृतं निष्पादित क्रीतकृतम् । पिं० । क्रयण क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्यय । साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृत निर्वर्त्तित क्रयक्रीतम् । दश० ३ अ० । क्रीते, अष्टमोद्गमदोषविशिष्टे, पिं० । साध्वर्थं मूल्येन गृहीते, बृ० १ उ० ।

तद्भेदादिवक्तव्यता चैवम् । अथ क्रीतद्वारमाह-

कीयगडं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमेक्केक्कं ।
आयकीय परकीयं, परदव्वं तिविह चित्ताई ॥२३०॥

क्रयणं क्रीतं, तेन कृतं निष्पादितम्, क्रीतकृतमित्यर्थ । तदपि, आस्तां प्रादुष्करणमित्यपिशब्दार्थ । द्विविध द्विप्रकारम् । तद्यथा-(दव्वे भावे य) अत्र तृतीयार्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थः-द्रव्येण क्रीत, भावेन च क्रीतमित्यर्थः । पुनरप्येकैक द्रव्यक्रीत भावक्रीतं च प्रत्येक द्विधा । तद्यथा-आत्मक्रीत, परक्रीत च । आत्मद्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं च; परद्रव्यक्रीत, परभावक्रीत चेत्यर्थ । तत्राऽऽत्मना स्वयमेव द्रव्येणोज्जयन्तभगवत्प्रतिमाशेषाऽऽदिरूपेण प्रदानत परमावर्जयन् भक्तादि गृह्यते तदात्मद्रव्यक्रीतम् । यत्पुनरात्मना स्वयमेव भक्ताद्यर्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य भक्तादि ततो गृह्यते तत् आत्मभावक्रीतं तत्परद्रव्यक्रीतम् । उक्तं च परद्रव्यक्रीतम्-यत्पुनः परेण साध्वर्थं निजविज्ञानप्रदर्शनेन धर्मकथादिना वा परमार्थतो गृहीत तत्परभावक्रीतम्, तत्र विचित्रा गतिरिति प्रथमतः परद्रव्यक्रीतस्य स्वरूपमाह-परद्रव्यं गृहस्थसत्क द्रव्यं त्रिविधम् । तद्यथा-चित्तादि । सचित्तमचित्तं वा मिश्र वा । तेन परेण साध्वर्थं यत् क्रीतं तत् परद्रव्यक्रीतम्, उक्त वा परद्रव्यक्रीतम् ।

संप्रति शेषं भेदत्रयं सामान्यतः कथयति-

आयकियं पुण दुविहं, दव्वे भावे य चुन्नदव्वाइ ।
भावम्मि परस्सट्ठा, अहवा वी अप्पणा चेव ॥२३१॥

आत्मक्रीत पुनर्द्विविधम् । तद्यथा-(दव्वे भावे य त्ति) अत्रापि तृतीयार्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थ-आत्मनाऽपि क्रीतं द्विधा । तद्यथा-द्रव्येण, भावेन च । तत्र द्रव्येण चूर्णादिना वक्ष्यमाणेन, भावेन पुन परस्य साधोरर्थाय स्वनिजविज्ञानप्रदर्शनादिना पार्ज्यते तत् भावक्रीतम्, परभावक्रीतमित्यर्थः । अथवा भावेन तदात्मना स्वयमेवाऽऽहारार्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य ततो गृह्यते तद् भावक्रीतम्, आत्मक्रीतमित्यर्थ । तदेव सामान्यतस्त्रयोऽपि भेदा उक्ताः ।

सम्प्रत्यात्मद्रव्यक्रीत सप्रपञ्चं विवरीषुरिदमाह-

निम्मल्लगंधगुलिया-वन्नयपोयाइ आयकयदव्वे ।
गेलन्ने उड्डाहो, पउणे चाडुगारि अहिगरणं ॥२३२॥

निर्माल्य तीर्थादिगतसप्रभावप्रतिमाशेषा, गन्धाः पटवासादय, गुलिका मुखप्रक्षेपकस्वरूपपरावर्त्तादिकारिका गुटिका, वर्णकश्चिन्तनम्, पोतानि लघुबालकयोग्यानि वस्त्रखण्डानि, आदिशब्दात्कण्डकादिपरिग्रह । एतानि कार्ये कारणोपचारादात्मद्रव्यक्रीतानि । किमुक्त भवति ?, निर्माल्यादिप्रदानेन परमावर्ज्य यत्ततो भक्तादि गृह्यते तदात्मद्रव्यक्रीतमिति । अत्र दोषमाह-(गेलन्ने इत्यादि) निर्माल्यप्रदानानन्तर यदि कथमपि दैवयोगतो ग्लानो भवति तर्हि प्रवचनस्योड्डाह-साधुनाऽहं ग्लानीकृत इत्यादिप्रजल्पनत शासनस्य मालिन्योपपत्ति । अथ कथमपि प्रगुणो नीरोगो भवति तर्हि स सर्वदा सर्वजनसमक्ष चाटुकारी भवति-यथाऽह साधुना प्रगुणीकृत इति, अतिशयी चासौ साधु सकलज्ञातव्यकुशल परिहततिमिर इत्यादि समक्ष परोक्ष वा सदैव प्रशसां करोति । तथा च सत्यधिकरण भूयस्यधिकरणप्रवृत्ति , तादृशीं हि तस्य प्रशंसामाकर्ण्याऽन्य समागत्य त साधुं निर्माल्यगन्धादि याचते, ततस्तत्प्रार्थनापरवशोऽधिकरणमपि समारभते ।

सम्प्रति परभावक्रीत विवृण्वन्नाह-

वइयाएँ मंखमाई, परभावकीयं तु संजयट्ठाए ।
उप्पायणा निमंतण-कीयगमं अभिहडे ठविए ॥२३३॥

व्रजिका लघुगोकुलम्, उपलक्षणमेतत्, तेन पत्तनादिपरिग्रह । तत्र व्रजिकादौ मङ्खादि , मङ्ख केदारकः, य पटमुपदर्श्य लोकमावर्जयति । आदिशब्दात् तथाविधान्यपरिग्रहः । भक्तिवशात् संयतार्थं यत् घृतदुग्धादेरुत्पादन करोति, कृत्वा च निमन्त्रयति तत् परभावक्रीतम्, परेण मङ्खादिना संयतार्थं भावेन स्वपटप्रदर्शनादिरूपेण क्रीतं तत् परभावक्रीतम् । इत्थं

भूते च परभावक्रीते त्रयो दोषाः-एकं तावत् क्रीतकृतं, द्वितीयमन्यस्माद् गृहादानीतमित्यभ्याहृतम्, आनीय चैकत्र साधुनिमित्तं स्थाप्यत इति स्थापितम्। तस्मात्तादृशमपि साधूनां न कल्पते।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टयन्नाह-

सागारि मंख छंदण, पडिसेहो पुच्छऽवहु गए वासे।
कयरिं दिसिं गमिस्सह, अमुडं तह संथवं कुणइ ॥३३४॥
दिज्जंते पडिसेहो, कज्जे पच्छं निमंतण जईणं।
पुव्वगओ आगएसु, संछुहई एगगेहम्मि ॥६३५॥

शालिग्रामो नाम ग्रामः, तत्र देवशर्माऽभिधानो मङ्खः, तस्य च गृहैकदेशे कदाचित्केचित्साधवो वर्षाकालमवस्थिताः। स च मङ्खस्तेषां साधूनामनुष्ठानमरक्तद्विष्टता चोपलभ्यातीव भक्तिपरीतो बभूव। प्रतिदिवसं च भक्तादिना निमन्त्रयति। साधवश्च शय्यातरपिण्डोऽयमिति प्रतिषेधन्ति। ततः स चिन्तयामास-यथैते मम गृहे भक्तादि न गृह्णन्ति, यदि पुनरन्यत्र दापयिष्यामि तथाऽपि न गृहीष्यन्ति। तस्माद् वर्षाकालानन्तरं यत्रामी गमिष्यन्ति तत्राग्रे गत्वा कथमप्येतेभ्यो ददामीति। ततः स्तोकशेषे वर्षाकाले साधवस्तेन पपृच्छिरे-'यथा भगवन्! वर्षाकालानन्तरं कस्यां दिशि गन्तव्यम्?'। ते च यथाभावं कथयामासुर्यथाऽमुकस्यां दिशि। ततः स तस्यामेव दिशि क्वचित् गोकुले गन्धपटमुपदर्श्य वचनकौशलेन लोकमावर्जितवान्। लोकश्च तस्मै घृतदुग्धादिकं दातुं प्रावर्तिष्ट। ततः स बभाण-'यदा याचिष्ये तदा दातव्यमिति'। साधवश्च वर्षाकालानन्तरं यथाविहारक्रमं तत्राऽऽजग्मुः। तेन चात्मानमज्ञापयता पूर्वप्रतिपिद्धं घृतदुग्धादिकं प्रतिगृहं याचित्वा एकत्र च गृहे संमील्य मुक्तम्, ततः साधवो निमन्त्रिताः, तैश्च यथाशक्ति छद्मस्थदृष्ट्या परिभावितं, परं न लक्षितं, ततः शुद्धमिति कृत्वा गृहीतम्। न च तेषां तथा गृह्णतां कश्चिद्दोषः, यथाशक्तिपरिभावनेन भगवदाज्ञाया आराधितत्वात्। यदि पुनरित्थंभूतं कथमपि ज्ञायते, तर्हि नियमतः परिहर्तव्यम्, क्रीतकृताभ्याहृतस्थापनारूपदोषत्रयसद्भावादिति। सूत्रं सुगमं, नवरं सागारिकः शय्यातरः, संस्तवः परिचयः, निजपटप्रदर्शनेन लोकावर्जनमिति तात्पर्यार्थः। तदेवमुक्तं परभावक्रीतम्।

संप्रत्यात्मभावक्रीतं स्पष्टयन्नाह—

धम्मकहवायखमणे, निमित्तमायावणे सुयट्ठाणे।
जाईकुलगणकम्मे, सिप्पम्मि य भावकीयं तु ॥३३६॥

धर्मकथादिषु भावक्रीतं भवति। इयमत्र भावना-येन परिचितावर्जनार्थं धर्मकथावादं, क्षपणं षष्ठाष्टमादिरूपं तपो, निमित्तमातापनां वा करोति। यद्वा-श्रुतस्थानमाचार्योऽहमित्यादिकं कथयति। यदि वा जातिं कुलं गणं कर्म शिल्पं वा परेभ्यः प्रकटयति। इत्थं च परमावर्जयन् ततो भक्तादि गृह्णाति तदाऽऽत्मभावक्रीतम्। यदा च दुर्लक्ष्यार्थं च धर्मकथादिकं यथायोगं करोति तदा स प्रवचनप्रभावकतया महानिर्जराभाक् भवति। उक्तं च-"पावयणी धम्मकहा-वाई नेमित्तिओ तवस्सी य। विज्जासिद्धो य कई, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥१॥"

सम्प्रति धर्मकथारूपं प्रथमं द्वारं प्रपञ्चयितुमाह-

धम्मकहाअक्खित्ते, धम्मकहाओट्टियाण वा गिण्हे।
काहिंति साहवो च्चिय, तुमं व कहिं पुच्छिए तुसिणी ॥३३७॥

आहारार्थं धर्मकथां कथयता यदा ते श्रोतारो धर्मकथायाः सम्यगाक्षिप्ता भवन्ति तदा तेषां पार्श्वे यत् याचते तर्हि तदा प्रकर्षमागताः सन्तोऽभ्यर्थिता न विमुखं तिष्ठन्ति। यद्वा-धर्मकथात उत्थितानां सतां तेषां पार्श्वे यद् गृह्णाति तदात्मभावक्रीतम्। आत्मना स्वयमेव भावेन धर्मकथनरूपेण क्रीतमात्मभावक्रीतमिति। यद्वा-धर्मकथाकथकः कोऽपि प्रसिद्धो वर्तते, तदनुरूपाकारश्च विवक्षितः। ततश्च श्रावकाः पृच्छन्ति-यः कथी यो धर्मकथाकथकः श्रूयते स किं त्वमिति?। ततः स भक्तादिलोभादेवं वक्ति, यथा-साधव एव प्रायो धर्मकथां कथयन्ति, नान्ये। यदि वा तूष्णीं मौनेनावतिष्ठते। ततस्ते श्रावका मौनात् यथा स एवायम्, केवलं गम्भीरत्वादात्मानं न साक्षाद्वचसा प्रकाशयतीति; ततः प्रभूततरं तस्मै प्रयच्छन्ति। तच्च तेभ्यः प्रभूततरं लभ्यमानमात्मभावक्रीतं आत्मना स्वयमेव, भावेन स्वयमसावपि कथकः 'सोऽहं कथकः' इति ज्ञापनालक्षणेन, क्रीतमिति कृत्वा।

अथवा—

किं वा कहेज्ज छारा, दगसोयरिआ य अहवऽगारत्था।
किं छगलगगलवलया, मुंडकुडुंबी व किं कहए? ॥३३८॥

यो जगति निपुणो धर्मकथाकथकः श्रूयते स किं त्वमिति पृष्टे, एवमुत्तरमाह-किं क्षाराः क्षाराबगुण्ठितवपुषः, कथा येषु नैव, ते कथयन्ति, किं दकं जलं तस्य निरन्तरं विनाशकाः, तथा शौकरिका इव पापर्द्धिकारिण इव दकशौकरिकाः सांख्याः, किं वा अगारस्थाः गृहस्थाः शास्त्राध्ययनविकलाः। यद्वा-छगलकस्य पशोर्गले ग्रीवां वलयन्ति मोटयन्ति ते छगलकगलवालकाः, यदि मुण्डाः सन्तो ये कुटुम्बिनः सौद्धोदनीयाः, ते कथयेयुः?। नैव ते कथयन्ति, किं तु यतय एव। तत एवमुक्ते श्रावकाश्चिन्तयन्ति-'नूनं स एवायं धर्मकथाकथकः' इत्यादि। तदेव शेषं द्रष्टव्यम्।

तदेवं धर्मकथाद्वारं व्याख्याय शेषाण्यतिदेशेन व्याख्याति-

एमेव वाइखमए, निमित्तमायावगम्मि य विभासा।
सुयठाणं गणिमाई, अहवा वायगायरियमाई ॥३३९॥

यथा धर्मकथके विभाषा भावना कृता, एवमेव अनेनैव प्रकारेण वादिनि क्षपके निमित्तज्ञे आतापके च विभाषा कर्तव्या। यथा वादेनाक्षिप्तं याचते, यद्वा—ये वादिनः श्रूयन्ते ते किं यूयमिति प्रश्ने प्रायो यतय एव वादिनो भवन्तीति ब्रूते, यद्वा-मौनेनावतिष्ठते, यद्वा-किं भस्मावगुण्ठितवपुषः, किं वा दकशौकरिकाः। यद्वा, धिग्जातीयाः, यद्वा सौद्धोदनीया वादिनः भवन्तं वदन्तु, नैव ते वदन्ति, किं तु यतय एव, एवमुक्ते ते एवं परिजानते-'यथा त एवामी,' ततो विशिष्टमाहारादिकं तस्मै वितरन्ति, तच्च तथा लभ्यमानमात्मभावक्रीतमवसेयम्। तथा श्रुतस्थानं गण्यादि, तत्र गणित्वमाचार्यत्वम्, आदिशब्दादुपाध्यायत्वादिपरिग्रहः। यद्वा-वाचनाचार्यत्वम्, आदिशब्दात् प्रवर्तकत्वादिपरिग्रहः। तत्र भक्ताद्यर्थमाचार्या वयमुपाध्याया वयमित्यादि जनेभ्यः प्रकाशयति, येन जना आचार्यत्वादिकमवगम्य प्रभूततरं वितरन्ति। यद्वा-ये आचार्या महाविद्वांसः श्रूयन्ते, किं यूयमित्यादि तथैव भावनीयम्। जात्यादिकं त्वेतदर्थं कथयति, येन समानं जात्यादिकम्, उत्कृष्टं वा शिल्पादि ज्ञात्वा प्रभूतं प्रयच्छन्ति, तच्च तथा प्रभूतं लभ्यमानमात्मभावक्रीतम्। तदेवमुक्तं क्रीतद्वारम्। पिं०। प्रव०। ग०। ध०।

प्रश्न० । दर्श० । पञ्चा० । वृ० । " आयदव्वकीए परदव्वकीए भायभावकीए चउलहु " प० चू० । क्रीत द्विविधम्-द्रव्यक्रीतं, भावक्रीतं च । तत्र द्रव्यक्रीतं द्विविधम्-आत्मद्रव्यक्रीतं, परद्रव्यक्रीतं च । भावक्रीतमपि द्विधा-आत्मभावक्रीतं, परभावक्रीतं च । तत्र परभावक्रीते मासलघु, स्वग्रामाभ्याहृते मासलघु । वृ० १ उ० । " उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं । पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया " ॥१४॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । नि० चू० ।

जे भिक्खू पडिग्गाहं कीणइ कीणावेइ कीयमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥१॥

कयेण कडं कीतगेण वा कम कीयगडं, त तिविहेण वि कारणेण करेंतस्स चउलहु ।

कीयकिणावियअणुमो-दिते व वियडं जमाहितं सुत्ते ।
एक्केक्कं तं दुविहं, दव्वे भावे य णायव्वं ॥

अप्पणा वि जं किणाति त दव्वे भावे, किणावेंते वि पते चेव दो भेदा, जं पि अणुमोदित तं पि पतेहिं चेव काय । नि० चू० १४ उ० ।

जे भिक्खू वियम किणइ किणावेइ कीयमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

कीयकिणावियअणुमो-दिते व वियम जमाहितं सुत्ते ।
एक्केक्कं त दुविहं, दव्वे भावे य णायव्वं ॥ ३ ॥

अप्पणा किणति, अन्नेण किणावेइ साहुट्ठा वा, कीय परिभोगओ अणुजाणति, अहवा अणुमोदति, तस्स आणादिया य दोसा, चउलहु व । सो कयो दुविधो-अप्पणा परेण वा । एक्केक्को पुणो दुविहो-दव्वे भावे य । शेष पूर्ववत् । परभावकीए मासलहु, जं अप्पणा किणति एस उप्पायणा, जं परेण किणावेइ एस उग्गमो ।

एतेसामन्नतरं, वियम कीतं तु जो पडिग्गाहे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ४ ॥

कण्ठ्या । वियडग्गहणं अकप्पपडिसेवा य, संजमविराहणा य । जतो भणति—

इहरह ऽकितं ण कप्पति, किं तु वियडं कीतमादि अविसुद्धं ।
असमितेऽगुत्ति गेही, उड्डाहे महव्वया आदी ॥ ५ ॥

इहरहा अकीतं, किं पुण कीत उग्गमदोसजुत्तं सुट्ठुतरं न कप्पति । वियडत्तो पचसु वि समितीसु असमितो भवति, गुत्तीसु वि अगुत्तो, तम्मि वहमासा, जस्स अपरिच्चायगो गेही जणेण णाते उड्डाहो, पगहीणो वा महव्वए भज्जेज्ज । कह ? । उच्यते-

वियडतो छक्काए, विराहए वा सती तु सावज्जं ।
अगमागाणिउदएसु व, पडए वा तेसु घेप्पइ वा ॥ ६ ॥

परहीणत्तणओ छक्काए विराहेज्जा, मुसं वा भासेज्जा, अदत्तं वा गेण्हेज्जा, मेहुणं वा सेवेज्जा, हिरण्णादि परिग्गहं वा करेज्जा; आयविराहणा इमा-अगमेत्ति कूवे पडेज्ज, पडिते य वा मज्जिज्ज, उदगेण वा मरेज्ज, तेणेव कसायेण वा णिक्कासति तो तेहिं घेप्पइ । अहवा कारणे पच्छे गेण्हेज्जा-

वितियपदं गेलण्णे, विज्जुवदेसे तहेव सिक्खाए ।
एतेहिं कारणेहिं, जयणाए कप्पती घेत्तुं ॥ ७ ॥

घेज्जोवदेसेण गिलाणट्ठा घेप्पेज्ज, कस्स यि कोऽतिवाही, तदेव उवसमति त्ति ण दोसो, गिलाणट्ठा वा वेज्जो आणीतो तस्सट्ठा घिप्पेज्जा, पकप्पं वा सिक्खंतो गहणं करेज्ज । कह ? । उच्यते-

संभोइयऽण्णसंभो-इयाण असती य लिंगमादीणं ।
कप्पं अहिज्जमाणो, मुच्छासति कीयमादीणि ॥ ८ ॥

पकप्पो सिक्खियव्वो सुत्तओ अत्थतो वि, स गुरुस्स पासे, ताहे सगणे, सगणिस्स वि असती ताहे संभोतिताण सगासे सिक्खति, असति संभोतिताण ताहे असंभोतिताण सगासे, तेसिं पि असती य लिंगत्थादियाण पासे पकप्पं अधिज्जति, तस्स य लिंगिस्स त वियडव्वसणं हवेज्ज, सो य अप्पणा चेव उप्पाएओ, अह सो उप्पायउं सुत्तत्थेण तरति दाउं ताहे से साधू उप्पाएइ सुद्धं, जति सुद्धं ण लब्भइ ताहे कीयमादी गेण्हेज्जा । नि० चू० १७ उ० ।

कीयकारिय-क्रीतकारित-त्रि० । क्रीतेन उत्पादिते, क्रीतकृतदोषदुष्टे, व्य० ३ उ० ।

कीर-कीर-पुं० । स्त्री० । कीति ईर्यति-णिच्-अच् । शुके, पक्षिभेदे, " स्वयमागियमित्यतोऽपि किं न मुदं धास्यति कीरगीरिव । " जातित्वात् स्त्रियां ङीष् । काश्मीरदेश पुं० भूम्नि । अल्पार्थे कन्-कीरक । शुकशावे, संज्ञायां कन्, वृत्तभेदे, क्षपणके च । वाच० । दर्श० । आ० क० ।

कीरंत-क्रियमाण-त्रि० । कृ-कर्मणि लट्-यक्-शानच् । " इः कृगृञामीरः " । ८ । ४ । ४७ । इत्यन्त्यस्य ईरादेशः । तत्संयोगे क्यस्य च लुक् । प्रा० ४ पाद । आज्ञप्तिकिङ्करैः (प्रश्न० ३ आश्र० द्वार) विधीयमाने, पञ्चा० ४ विव० । पा० ।

कील-कील-पुं० । कील बन्धे यथायथ भावकरणादौ घञ् । वह्निशिखायाम्, शङ्कौ, स्तम्भे, लेशे, कफोणौ, कफोणिनिम्नदेशे, "परिखाश्चापि कौरव्य ', कीलैः सुनिचिता कृता " । रतिप्रहारभेदे, स्त्री० । "कीला उरसि कर्तरी शिरसि विद्धा कपोलयो । " बन्धे, वाच० । सूत्र० ।

कीलंत-क्रीडमान-त्रि० । कामक्रीडां कुर्वति, भ० १३ श० ६ उ० ।

कीलण-क्रीडन-न० । क्रीडायाम्, औ० । प्रश्न० ।

कीलणधाई-क्रीडनधात्री-स्त्री० । क्रीडनकारिण्यां धात्र्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कीलमाण-क्रीडमान-त्रि० । क्रीडां कुर्वति, "कणगगिरि र्मुमणेण कीलमाणा चिट्ठति " आ० म० द्वि० ।

कीलया-क्रीडना-स्त्री० । केलीविलसनायाम्, ध० ३ अधि० ।

कीलसंठाण-कीलसंस्थान-त्रि० । कीलवद्वृत्ते, ध० ३ अधि० ।

कीलावण-क्रीडन-न० । क्रीडने, ' छेल्लायणमंडिया-इ-बालकीलावणं च सेंटाइ " आ० म० प्र० ।

कीलावणधाई-क्रीडनधात्री-स्त्री० ।' दहस्सरपुलमुदो, गिराए य मम्मणुल्लावो । उल्लावणकाईहि य, करेंति या किड्ड ' ॥ ३० ॥ ल्यनकरणे धात्रीभेदे, नि० चू० ।

कीलिय-कीलित-न० । पूजा-दिम्मते, स्था० १ ना० । प्रज्ञ० । स्थापिते मर्दपूर्वकस्थापित्ते, उत्त०

कीलिया-कीलिया-स्त्री० । शङ्कौ, आसिका-दिवेधक कादीनि । स्था० ४ ठा० । [illegible]

मे सहनने, कर्म० ६ कर्म०। स्था० । यत्र पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धानि एव भवन्ति । कर्म० १ कर्म० । प० सं० । जी० ।

कीलियाणाम–कीलिकानामन्–न० । कीलिकानिबन्धने संहनननामभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

कीलियासंघयण–कीलिकासंहनन–न० । पञ्चमे सहनने, यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकासंहननम् । कर्म० ६ कर्म० ।

कीव–क्लीब–पुं० । न० । क्लीव–कः । क्लिश्यति इति क्लीवः । नि० चू० ११ उ० । मन्दसंहनने, भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० । असमर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । नपुंसकभेदे, बृ० ४ उ० । य. स्त्रीभिर्भोगैर्निमन्त्रितोऽसंवृताया वा स्त्रियोऽङ्गोपाङ्गानि दृष्ट्वा, शब्दं वा मन्मनोल्लापकं तासां श्रुत्वा समुद्भूतकामाऽभिलाषोऽभिसोढुं न शक्नोति स क्लीवः । ग० १ अधि० । प० भा० । पं० चू० । ध० ।

अथ क्लीबमाह–

कीवस्स गोणनामं, कम्मुदए णिरोहे जायती तति(ओ)।
तम्मि वि सो चेव गमो, पच्छित्तुस्सग्ग अववादे ॥३०५॥

क्लीबस्य गौणं गुणनिष्पन्नं नाम, क्लिश्यते इति क्लीबः। किमुक्तं भवति ?, मैथुनाभिप्राये यस्याङ्गादानं विकारं भजति बीजबिन्दून् वा परिगलति स क्लीबः। अयं च महामोहकर्मोदयेन भवति। यदा च परिगलनस्तस्य निरोधं करोति तदा निरुद्धवीर्यस्तत्कालान्तरेण तृतीयवेद उपजायते। स चतुर्धा– दृष्टिक्लीबः, शब्दक्लीबः, आदिग्धक्लीब, निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । तत्र यस्यानुरागतो विवस्त्राद्यवस्थं विपक्षं पश्यतो मेहनं गलति स दृष्टिक्लीबः। यस्य तु सुरतशब्दं शृण्वतः स द्वितीयः। यस्तु विपक्षेणोपगूढो निमन्त्रितो वा व्रतं रक्षितुं न शक्नोति स यथाक्रममादिग्धक्लीबो निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । चतुर्विधोऽप्ययमप्रतिसेवमानो निरोधेन नपुंसकतया परिणमति, तस्मिन् अपि क्लीबे स एव प्रायश्चित्तोत्सर्गापवादेषु गमो भवति य. पण्डकस्योक्त. । बृ० ४ उ० । ध० । नि० चू० ।

दुविहो य होति कीवो, अभिभूतो वा वि अणभिभूतो य ।
चउगुरुगा छग्गुरुगा, ततिए मूलं तु बोधव्वं ॥३५०॥
अहवा होई कीवो, अभिभूतो चेव अणभिभूतो य ।
अभिभूतो वि य दुविहो, निमतणाऽऽदिद्धकीवो य ।३५१।
दुविहो य अणभिभूतो, सद्दे रूवे य होइ नायव्वो ।
अभिभूतो जतुगादी, सेसा कीवा अपभिकुट्ठा ॥ ३५२ ॥
संफासमणुप्पत्तो, पमती जो सो तु अभिभूतो ।
णिवतति य इत्थिनिमंत-णेण एसो चेव अभिभूतो ।३५३।

अभिभूतो, अणभिभूतो य । अभिभूतो य पुणो दुविहो–णिमतणा कीवो, आदिद्धकीवो य । अणभिभूतो दुविधो–सद्दकीवो, दिट्ठिकीवो य । एस चउव्विहो कीवो । इमा परूवणा–इत्थिए णिमतितो भोगेहिं न तरति अहियासितुं एस णिमतणाकीवो। जतुघमो जहा अग्गिसन्निकरिसेण विलयन्ति एवं जो इत्थोरुकक्खपयोधरेहिं आदिद्धो पडिसेवति एस आदिद्धकीवो। इमो दिट्ठीकीवो—

दट्ठूण सनिविट्ठं, निगणमणायारसेवणिं वा वि।
सद्दं व सोतु ततितो, सज्जं मरणं व ओहाणं ॥३५४॥

दट्ठूण उवरि सरीरमप्पाणयं दुवियउरूसंनिविट्ठं असंवुमं(णिगिणं नि)एगा मेहुणमणायारसेवणिं वा जो खुब्भति सो दिट्ठीकीवो। इमो सद्दकीवो–(सद्दं व सोउ ति) भासाभूसणगीतपरियारणासद्दं च सोतुं जो खुब्भति सो सद्दकीवो। (ततिओ त्ति) एस ततिओ कीवो। अहवा एते निरुज्झमाणा ततिय त्ति णपुंसगा भवंति, सज्जं वा मरंति, वओ हाविंति वा। इमं दिट्ठीकीव भणति।

साहम्मियऽसाहम्मिय–गारात्थियइत्थियाउ दट्ठूणं ।
तो उप्पज्जति वेदा, कीवस्स ण कप्पती दिक्खा ।३५५।

एया तिविधत्थीउ दट्ठुं उक्कडवेदत्तणओ पुरिसवेदो उदिज्जति, उदिण्णे य वत्ता इत्थिग्गहणं करेज्ज, उड्डाहादी दोसा, तम्हा न दिक्खेयव्वा। दिक्खंतस्स इमं पच्छित्तं–आलिद्धकीवे चउगुरुं, णिमंतणकीवे छग्गुरु, दिट्ठीकीवे छेदो, सद्दकीवे मूलं। अहवा सामण्णेण कीवे मूलं, एते जदि पव्वाविता अजाणता तो इमा जयणा परियट्टणे—

संघाडगाणुबद्धा, जावज्जीवा वए णियमियचरित्ते ।
दो कीवे परियट्टति, ततियं पुण उत्तिमट्ठम्मि ॥४५६॥

सदा संघाडगाणुबद्धा सधितिया एवं अतीव नियत कज्जति। अभिभूतो दुविहो वि एव परियट्टिज्जति, ततिओ अणभिभूतो सो पर उत्तिमट्ठे पव्वाविज्जति। एसेवऽत्थो अहवा भन्नति–

अभिभूतो पुण जावितो, गच्छस्स वितिज्जगाउ सव्वत्थ।
इयरे पुण पभिसिद्धा, सद्दे रूवे य जे कीवा ॥३५७॥

पुण सद्देण अभिभूतो दुविहो-विभयणसद्दो सेवाए,अथवा अतिगच्छे वितिज्जगा अत्थि,नो ते पव्वाविज्जंति. से वितिज्जगा सव्वत्थ गच्छति, इयरे पुण जे सद्दविट्ठी कीवा,ते दो वि पडिसिद्धा, एतेसिं परं उत्तिमट्ठे दिक्खा। कीवे त्ति गयं। नि० चू० ११ उ० । स्था० । (स प्रव्रज्याऽयोग्य इति 'पव्वज्जा' शब्दे वक्ष्यते)

कीवसउण–क्लीबशकुन–पुं० । पक्षिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कीस–कीश–पुं० । स्त्री० । कस्य वायोरपत्यम्, "अत इञ्" ।४। १ । ९५ । (पाणि०)। कि. हनुमान् ईशो यस्य । कुत्सितं शेते वा । वानरे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । सर्पे, कपिकपोलतुल्यवर्णत्वात् तत्त्वम् । पक्षिणि,कुत्सितशयनात्तस्य तथात्वम् । नग्ने, कीशवत् वस्त्ररहितत्वात्तस्य तथात्वम् । वाच० ।

कस्मात्–अव्य० । " किमो डिणोडीसो " । ८ । ३ । ६८ । इति किमो ङसेर्डीसादेश. । प्रा० ३ पाद । कुत इत्यर्थे, उत्त० ६ अ० । प्रश्न० । व्य० ।

कीसु–क्रिये–क्रिया० । निर्वर्त्ये इत्यर्थे, " संता भोग जु परिहरइ, तसु कंतहो बलि कीसु " साध्यमानावस्थात 'क्रिये' इति संस्कृतशब्दादेष प्रयोगः । प्रा० ४ पाद ।

कु–कु–अव्य० । कु–सु । पापे, निन्दायाम्, वाच० । कुरित्ययं निपातो जुगुप्सायामशुद्धविषये वर्तते । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । निन्दायामीषदर्थे. निवारणे भूमिभागे, धरायां च, स्त्री० । वाच० । कुरिति पृथिव्याः संज्ञा । बृ० ३ उ० । आ० म० । आ० चू० । विशे० । कुमारे, निपा० १ श्रु० ६ अ० ।

कुइय-कुचिक-पुं० । स्त्री० । कुच् वा इकन् । मत्स्यभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । भारतवर्षे पेशान्यां दिशि देशभेदे, वाच० ।

कुचित-त्रि० । कुच् कितच् । परिमिते, वाच० । कुच् क. । अवस्यन्दिते, स्था० ६ ठा० ।

कुंआरी-कुमारी-स्त्री० । मांसलप्रणालाकारपत्रावल्याम्, ध० २ अधि० ।

कुंकण-कोङ्कण-पुं० । देशभेदे, तेषां राजा कोङ्कण' । तद्देशनृपे, बहुषु अणो लुक् । तत्रार्थे, स्वार्थे कः । " शाल्वाः कोङ्कणकास्तथा" वाच० । स च देशोऽनार्यक्षेत्रम्, तद्वासिनोऽनार्याः । प्रज्ञा० १ पद । अनु० । "अस्ति कोङ्कणदेशेऽत्र, सह्यनामा महागिरि" । आ० क० । कोकनदे, प्रज्ञा० १ पद । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

कुंकुम-कुङ्कुम-न० । कुक्यते आदीयते । कुक आदाने, उमक्, नि० मुम । काश्मीरादिदेशजे स्वनामख्याते गन्धद्रव्यभेदे, वाच० । रा० । आ० म० । प्रश्न० । ज्ञा० । अनु० । ज० ।

कुंच-कुञ्च-पुं० । स्त्री० । क्रुन् च अच् । बकभेदे, स्त्रियां सयोगोपधत्वात् टाप्, पुंयोगे तु अजा० टाप्, टावन्त । वीणाभेदे, स्त्री० । स्वार्थे अण् क्रौञ्च स्वनामख्याते पर्वते, ' कुमार. क्रौञ्चदारणः ' । बकभेदे च । स्त्रियां तु अणन्तत्वात् ङीप् । वाच० । पक्षिविशेषे, स० । शरत्काले क्रौञ्चा माद्यन्ति मधुरस्वनयश्च भवन्ति । स० । प्रश्न० । उत्त० । "अह कुसुमसभवे काले, कोइला पचमं सर । छट्ठं च सारसा कुचा, णेसाय सत्तम गओ " अनु० । अनार्यदेशभेदे, तद्वासिनि जने च । प्रव० २७४ द्वार ।

कुंचग-क्रौञ्चक-पुं० । पक्षिविशेषे, " जो कुचगावराहे पाणिदया कुचग तु नाइक्खे । जीवियमणुपेहत, मेतज्जरिसिं नमं सामि ॥" आ० म० द्वि० ।

कुंचज्झय-क्रौञ्चध्वज-पुं० । स्त्री० । क्रौञ्चा लेखरूपविहोपेते ध्वजे, रा० ।

कुंचल-देशी-मुकुले, दे० ना० २ वर्ग ।

कुचवीरग-क्रौञ्चवीरक-न० । शकटपक्षसदृशे जलयाने, नि० चू० १६ उ० ।

कुंचारि-क्रौञ्चारि-पुं० । स्कन्दे, को० ।

कुचि-कुञ्चिन्-त्रि० । कुटिले, मायाविनि च । व्य० १ उ० ।

कुंचिकरुण-कुञ्चिकर्ण-पुं० । स्वनामख्याते गोमण्डलाधिपतौ, ('वग्गणा' शब्दे तदुदाहृतिः करिष्यते)

कुंचिय-कुञ्चित-त्रि० । ईषत्कुटिले कुण्डलीभूते, ज० २ वक्ष० । भ० । उत्त० । औ० । तगरपुष्पे, न० । वाच० ।

कुचिक-पुं० । स्वनामख्याते तापसे, प्रतिकुञ्चनायां दृष्टान्तः । व्य० १ उ० ।

कुचियभाव-कुञ्चितभाव-पुं० कुटिलभावे, व्य० १ उ० ।

कुचिया-कुञ्चिका-स्त्री० । कुञ्चिण् आच्छादने, कुञ्चत्यच्छादयति इति कुञ्चिका । रुतपूरितपट्टे, या लोके माणिकीत्युच्यते । जीत० । गुञ्जायाम, वशशाखायां, कूर्चिकायाम, महीलतायां च । वाच० ।

कुंजर-कुञ्जर-पुं० । कौ जीर्यतीति कुञ्जरः । यदि वा कुञ्जे वनगहने रमते रतिमाबध्नाति इति कुञ्जरः । "क्वचित्" । ५।१। १७१। इति (हैम०) सूत्रेण ड' प्रत्ययः । जी० ३ प्रति० । हस्तिनि, स्था० ए ठा० । दन्तिनि, रा० । ज्ञा० । गजे, भ० ११ श० ११ उ० । उत्त० । को० । स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । पिप्पल्याम्, वाच० । श्रीऋषभदेवस्य ऽयशीतितमे पुत्रे कुञ्जरबले, तत्पालितदेशभेदे च । कल्प० १ क्षण ।

कुंजरसेणा-कुञ्जरसेना-स्त्री० । ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, उत्त० १३ अ० ।

कुंजराणीय-कुञ्जरानीक-न० । हस्तिसमूहे, स्था० ७ ठा० ।

कुंट-कुण्ट-त्रि० । विकलपाणौ; प्रव० ११० द्वार । हीनहस्ते, नि० चू० ११ उ० । प्रश्न० । "ते होंति कुटमंटा" आव० ३ अ० ।

कुंटत्त-कुण्टत्व-न० । पाणिविकलत्वादिके, कुब्जत्वे च । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

कुंटलविंटल-कुण्टलवेण्टल-न० । खटिकावप्पुटिकादौ, " तत्थमो रागसनिवेसे अच्छदो उ कुटलविंटलेण जीवइ" आ० म० द्वि० । वृ० । " पाखण्डद्वन्द्वकस्तन्त्र, मन्त्रतन्त्रादिजीवक " आ० क० ।

कुंटार-देशी-ग्लानार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंटी-देशी-पोट्टले वस्त्रनिबद्धद्रव्ये, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंठ-कुण्ठ-त्रि० । कुठि वैकल्ये अच् । बुद्धिविकले, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । मूर्खे, क्रियासु मन्दे, अकर्मण्ये, वाच० ।

कुंड-कुण्ड-न० । कुण्ड्यते रक्ष्यते जल वन्हिर्वाऽत्र । " कुडि " रक्षणे आधारे अच् णिलोप' । जलाधारे, वृत्ताकारे पात्रभेदे, होमार्थमग्न्याधारे स्थानभेदे, देवादिखातजलाशये, वाच० । गङ्गाकुण्डादौ ह्रदे, न० । स० । कादम्बर्यां कलिगिरेरुपत्यकावर्तिनि स्वनामख्याते सरोवरभेदे, ती० ३४ कल्प । कुण्डघते कुलमनेन । कुडि दाहे करणे घञ् । अमृते भर्तरि जारजाते, स्त्रियां टाप् । " पत्यौ जीवति कुण्डश्च स्यात् " तेन निर्वृत्ताद्यर्थे चातुरर्थ्यां कुण्डरः । तन्निर्वृत्तादौ, त्रि० । कुडि दाहे भावे अः । दाहे, वाच० ।

कुंमकोलिय-कुण्डकोलिक-पुं० । स्वनामाङ्किते उपासकभेदे, स्था० । कुण्डकोलिको गृहपति काम्पिल्यवासी धर्मध्यानस्थो यथा देवस्य गोशालमतमुद्ग्राहयत उत्तर ददौ, दिव च ययौ, यथा यत्राभिधीयते तत्तथेति उपासकदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

तद्वक्तव्यता चासौ-

छट्ठस्स उक्खेवओ-ते ण काले णं ते णं समए णं कंपिल्लपुरे णयरे सहसंबवणे उज्जाणे जियसत्तू राया, कुंमकोलिए गाहावई, पूसा भारिया, छ हिरण्णकोडीओ णिहाणपत्ताओ, छ वुड्ढि छ पवित्थरपत्ताओ छव्वया दस गोसाहस्सीएणं वएणं सामी समोसढो सावयधम्मं पडिवज्जइ जहा काम-

देवो, सो सव्वे वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। तए णं से कुंभकोलिए अण्णया कया वि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव पुढविसिलापट्टए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता णामसुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढविसिलापट्टए ठवेइ, ठवेइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं तस्स कुंभकोलियस्स समणोवासगस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था, तए णं से देवे णामसुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढविसिलापट्टयाओ गिण्हति, गिण्हतित्ता सखिंखिणि अंतलिक्खं पडिवन्ने कुंभकोलियं समणोवासयं एवं वयासी–हं भो ! कुंभकोलिया समणोवासया ! सुंदरी णं देवाणुप्पिया ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे ति वा परिकम्मे ति वा बले ति वा वीरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा णितिया सव्वभावा। मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती उट्ठाणे ति वा जाव० परक्कमे ति वा अणितिया सव्वभावा। तए णं से कुंभकोलिए तं देवं एवं वयासी-जइ णं देवाणुप्पिया ! सुंदरी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, णत्थि० जाव उट्ठाणे ति वा जाव णितिया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे ति वा जाव अणितिया सव्वभावा। तुमे णं देवाणुप्पिया ! इमे एया दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे किण्णा लद्धे किण्णा पत्ते किण्णा अभिसमण्णागए ?, किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं ?, उदाहु अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेण ? तए णं से देवे कुंभकोलियं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी अणुट्ठाणेणं० जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया।

किमपि लिख्यते षष्ठे-(धम्मपन्नत्ति त्ति) श्रुतधर्मप्ररूपणा दर्शनं मतम्, सिद्धान्त इत्यर्थः। उत्थानम्-उपविष्टः सन् यदूर्द्ध्वीभवति, कर्म गमनादिकं, बलं शारीरं, वीर्यं जीवप्रभवं, पुरुषकारः पुरुषत्वाभिमानः, पराक्रमः स एव संपादितस्वप्रयोजनः। इति उपप्रदर्शने, वा विकल्पने, अस्त्येतदुत्थानादि जीवानाम्, एतस्य पुरुषार्थप्रसाधकत्वात्। तत्साधकं च पुरुषकारसद्भावेऽपि पुरुषार्थसिद्ध्यनुपलम्भात्, एवं च नियताः सर्वभावाः, यैर्यथा भवितव्यं ते तथैव भवन्ति, न पुरुषकारबलादन्यथाकर्तुं शक्यन्त इति। आह च-

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः" ॥ १ ॥

तथा–

"न हि भवति यन्न भाव्यं,
भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति,
यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥ १ ॥"

(मंगुलि त्ति) असुन्दरा धर्मप्रज्ञप्तिः श्रुतधर्मप्ररूपणा। किंस्वरूपा असावित्याह–अस्तीत्यादि। अनियताः सर्वभावाः उत्थानादेर्भवन्ति, तदभावाच्च न भवन्तीति कृत्वा इत्येवं स्वरूपा। ततोऽसौ कुण्डकोलिकः तद्देवमेवमवादीत्–यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीन्यतो नियताः सर्वभावा इत्येवंरूपः। मङ्गुलश्च महावीरधर्मोऽस्ति कर्मादीन्यनियताः सर्वभावा इत्येवंस्वरूपमित्येवं तन्मतमनूद्य कुण्डकोलिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वयं कुर्वन्नाह–"तुमे ण" इत्यादि। पूर्ववाक्ये यदीतिपदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पदं द्रष्टव्यम्। इति त्वयाऽयं दिव्यो देवर्द्ध्यादिगुणः केन हेतुना लब्धः ?, किमुत्थानादिना, (उदाहु त्ति) आहोस्विदनुत्थानादिना तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भावः।

तए णं से कुंभकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी-जइ णं देवाणुप्पिया ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया, जेसिं णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणे ति वा० जाव परक्कमे ति वा ते किं न देवा ? देवाणुप्पिया ! अह णं, देवाणुप्पिया ! तुमे इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे उट्ठाणे ति जाव परक्कमेण वा ताओ ज वदसि सुंदरी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, णत्थि उट्ठाणे ति वा जाव णितिया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे ति वा जाव अणितिया सव्वभावा, तं ते मिच्छा, तए णं से देवे कुंभकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिते जाव कलुससमावण्णे णो संचाएति कुंभकोलियस्स समणोवासयस्स किं चि पामोक्खमाइक्खित्तए णामसुद्दं च उत्तरिज्जयं च पुढविसिलापट्टए ठवेति, ठवेतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढो। तए णं से कुंभकोलिए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ तुट्ठ जाव हियया जहा कामदेवे तहा णिग्गच्छइ जाव पज्जुवासइ धम्मकहा कुंडकोलिए त्ति समणे भगवं कुंडकोलियं समणं एवं वयासी–से णूणं कुंभकोलिया ! कल्लं तुम्हे पुव्वावरण्हकालसमयंसि असोगवणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से देवे णामसुद्दं च तं चेव जाव पडिगए, से णूणं कुंभकोलिया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, तं धण्णेसि णं तुमं जहा कामदेवे अज्जो त्ति समणे भगवं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी–जइ ताव अज्जो ! गिहिणो य गिहिमज्झा वसंतो णं अण्णउत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणे करेइ, सक्का पुणाइ अज्जो ! समणेहिं णिग्गंथेहिं दुवालसंगं गणिपिडगं अहिज्जमाणेहिं अण्णउत्थिया अट्ठेहि य० जाव णिप्पट्ठपसिणं करेत्तए, तए णं समणा निग्गंथा समणस्स

भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ। तए णं से कुंमकोलिए समणं भगवं वंदइ नमंसइ पसिणाइं पुच्छइ अट्ठमादियइ जामेव दिसं तामेव पडिगया समणोवासया वहिया जणवयविहारं विहरइ, तस्स कुंडकोलियस्स वहुहिं सील० जाव जावेमाणे चोद्दस संवच्छरा वितिकंता पन्नरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अण्णया जहा कामदेवो तहा जेट्ठपुत्त ठवेइ, ठवेइत्ता तहा पोसहसालाए जाव धम्मपण्णत्ती उवसंपज्जित्ता णं विहरइ; एवं एक्कारस उवासगपडिमाओ तहेव जाव सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव अंतं काहिंति। उवासगदसाणं छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ।

यदुत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वात् भवत',तथा येषां जीवानां नास्त्युत्थानादि, तपश्चरणकरणमित्यर्थे । ते इति जीवा. किं न देवा ?। पृच्छतोऽयमभिप्राय.–यथा त्व पुरुषकार विना देव. सवृत्तः स्वकीयाभ्युपगमत एव सर्वजीवा ये उत्थानादिवर्जितास्ते किं न देवत्व प्राप्नुवन्ति,न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम । अथ त्वयेयमृद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्वदसि–सुन्दरा गोशालकप्रज्ञप्ति', असुन्दरा महावीरप्रज्ञप्तिरिति तत्ते तव मिथ्यावचन भवति,तस्य व्यभिचारादिति। ततोऽसौ देवस्तेनैवमुक्त. सन् शङ्कितः सशयवान् जात –किं गोशालकमत सत्यमुत महावीरमतम?,महावीरस्य युक्तितोऽनेन प्रतिष्ठितत्वात्।एवंविधविकल्पवान् सवृत्त इत्यर्थ.।काङ्क्षितो ममापि, साध्ये तद्युक्त्युपेतत्वात् । इति विकल्पवान् सवृत्त इत्यर्थः । यावत्करणाद्भेद समापन्नो मतिभेदमुपागतो गोशालकमतमेव साध्विति निश्चयादपोढत्वात् । तथा कलुष समापन्न प्राक्तननिश्चयविपर्ययलक्षण गोशालकमताऽनुसारिणा मतेन मिथ्यात्वं प्राप्त इत्यर्थ. । अथ वा कलुषभावम-जितोऽहमनेनेति खेदरूपमापन्न इति । (नो सचाए इति) न शक्नोति (पामोक्ख ति) प्रमोक्षमुत्तरम, आख्यातु भणितुमिति।(गिहिमज्झा वसताण ति) गृहमध्ये वसन्तः । णमिति वाक्याऽलङ्कारे । अन्ययूथिकान् अर्थैर्जीवादिभि सूत्राभिधेयैर्वा हेतुभिश्चान्वयव्यतिरेकलक्षणै. प्रश्नैश्च परप्रश्नीयपदार्थै. कारणैरुपपत्तिमात्ररूपै. व्याकरणैश्च परेण प्रश्नितस्योत्तरदानरूपै (निप्पट्ठपसिणवागरणे त्ति) निरस्तानि स्पष्टानि व्यक्तानि व्याकरणानि प्रश्नव्याकरणानि येषां ते निस्पष्टप्रश्नव्याकरणा ।प्राकृतत्वाद्वा निष्पिष्टप्रश्नव्याकरणा , तान् कुर्वन्ति (सक्का पुण त्ति) शक्या एव हे आर्या' ! श्रमणैरन्ययूथिका निष्पष्टप्रश्नव्याकरणा. कर्तुमिति । षष्ठ विवरणतः समाप्तम । उपा० ६ अ० ।

कुंडग्गाम–कुण्डग्राम–पु० । स्वनामख्याते मगधदेशग्रामभेदे, स च ब्राह्मणकुण्डग्रामः क्षत्रियकुण्डग्राम इति च द्विधा विभक्त इति प्रतीयते ।तत्र श्रीवीर प्रतिमारूपेण प्रतिष्ठित. । ती० ४६ कल्प । " तेण सामी कुडग्गामे दिट्ठपुव्वो । " आ० म० द्वि० ।

कुंडधार–कुण्डधार–पु० । कुण्ड कुण्डाकार धारयति । धारि अण् उप० स० । नागभेदे, वाच० । यक्षभेदे च । " दो कुंडधारपडिमाओ सन्निक्खित्ताओ । " जी० ३ प्रति० ।

कुंडपुर–कुण्डपुर–न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठा भगिनी परिणीता । " कुंडपुर नगरं तत्थ सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदसणा नाम " आ० म० द्वि० । आ० चू० । इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुर नाम नगर, तत्र भगवत श्रीमहावीरस्य भागिनेयो जमालिनामा राजपुत्र आसीत् । विशे० । स्था० । दर्श० । आ० क० । कुण्डग्राम इति नामान्तरम् । तस्य दक्षिणोत्तरक्रमात् ब्राह्मणकुण्डग्रामः क्षत्रियकुण्डग्रामश्चेति द्वौ भागौ। तत्र ब्राह्मणकुण्डग्रामे देवानन्दाया गर्भे भूत्वा क्षत्रियकुण्डग्रामे त्रिशलाकुक्षौ सङ्क्रान्तो भगवान् महावीरः। आव० १ अ० । आ० म० ॥

कुंडभी–कुण्डभी–स्त्री० । लघुपताकायाम, आ० म० प्र० ।

कुंडमोद–कुण्डमोद–पुं० । हस्तिपादाकारे मृण्मये पात्रभेदे, दश० ६ अ० ।

कुंडल–कुण्डल–पु० । न० । अर्द्धर्चा० । कुण्ड्यते कुण्डयते 'कुडि' दाहे ' कुमि ' रक्षायां वा कर्तरि कर्मणि वा वृषा० डल च्।कुण्ड कुण्डाकार लाति ला० क० कुण्ड । तदाकारोऽस्त्यस्य सिध्मादित्वाल्लच् वा ।वाच० । कर्णाभरणे, त० । कर्णाभरणविशेषे, भ० २ श० ५ उ० । रा० । ज० । प्रज्ञा० । आ० म० । जी० । उत्त० । आचा० । औ० । " अगयकुडलमट्ठग जुयलकण्णपीढधारी " प्रज्ञा० २ पद । अरुणवरावभासपरिक्षेपिणि स्वनामख्याते द्वीपभेदे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रभेदे च । तत्र कुण्डले द्वीपे कुण्डलकुण्डलभद्रौ देवौ,कुण्डलसमुद्रे चक्षु शुभचक्षु'कान्तौ कुण्डलद्वीपदेवौ च । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । च० । द्वी० । एकादशद्वीपवर्तिनि चक्रवालपर्वते,स्था० १० ठा० । वलये, वेष्टने च । वाच० ।

कुंडलउज्जोइआणण–कुण्डलोद्योतिताानन–त्रि० । कुण्डलाभ्यामुद्योतितमाननं मुख यस्य स तथा । कुण्डलशोभितमुखे, औ० । कल्प० ।

कुंडलज्जोइय–कुण्डलद्योतित–त्रि० । कुण्डलयुक्ते, भ० ११ श० ११ उ० ।

कुंडलभद्द–कुण्डलभद्र–पु० । कुण्डलद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । द्वी० ।

कुंडलमहाभद्द–कुण्डलमहाभद्र–पु० । कुण्डलद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलमहावर–कुण्डलमहावर–पु० । कुण्डलवरसमुद्राधिपतौ, सू० प्र० १९ पाहु० ।

कुंडलवर–कुण्डलवर–पु० । कुण्डलसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपभेदे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च । तत्र कुण्डलवरे द्वीपे कुण्डलवरभद्रकुण्डलवरमहाभद्रौ, कुण्डलवरे समुद्रे कुण्डलवरकुण्डलमहावरौ देवौ। जी० ३ प्रति० । च० प्र० । अनु० । सू० प्र० । द्वी० । कुण्डलवराख्ये द्वीपे प्राकारकुण्डलाकृतौ माण्डलिकपर्वतविशेषे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

कुंडलवरभद्द–कुण्डलवरभद्र–पु० । कुण्डलवरद्वीपाधिपतिदेवे, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलवरमहाभद्द–कुण्डलवरमहाभद्र–पु० । कुण्डलवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलवरमहावर–कुण्डलवरमहावर–पुं०। कुण्डलवरसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च। जी० ३ प्रति०। "कुंडलवरोभासे दीवे कुंडलवरोभासभद्दमहाभद्दा इत्थं दो देवा, कुंडलवरोभाससमुद्दे कुंडलवरोभासवरमहावरा इत्थं दो देवा महड्डिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसति।" जी० ३ प्रति०। चं० प्र०। सू० प्र०।

कुंडलवरोभास–कुण्डलवरावभास–पुं०। कुण्डलवरसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च। जी० ३ प्रति०। "कुंडलवरोभासे दीवे कुंडलवरोभासभद्दकुंडलवरोभासमहाभद्दा जत्थ दो देवा।" जी० ३ प्रति०।

कुंडलवरोभासभद्द–कुण्डलवरावभासभद्र–पुं०। कुण्डलवरावभासद्वीपाऽधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति०।

कुंडलवरोभासमहाभद्द–कुण्डलवरावभासमहाभद्र–पुं०। कुण्डलवरावभासद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु०। जी०।

कुंडलवरोभासमहावर–कुण्डलवरावभासमहावर–पुं०। कुण्डलवरावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति०।

कुंडलवरोभासवर–कुण्डलवरावभासवर–पुं०। कुण्डलवरावभाससमुद्राधिपतौ, जी०। "कुंडलवरोभाससमुद्दे कुंडलवरोभासवरमहावरा इत्थ दो देवा महड्डिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसति।" जी० ३ प्रति०। चं० प्र०। सू० प्र०।

कुंडला–कुण्डला–स्त्री०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणतः। स्था० ८ ठा०। सुवत्सविजयक्षेत्रयुगले स्वनामख्याते पुरीयुगले, "दो कुंडलाओ" स्था० २ ठा० २ उ०। ज०।

कुंडलिया–कुण्डलिका–स्त्री०। मात्रावृत्तभेदे, तल्लक्षणं यथा–

" कुण्डलिका सा कथ्यते प्रथम दोहा यत्र।
बोलाचरणचतुष्टयं प्रभवति विमल तत्र॥
प्रभवति विमल तत्र पदमतिसुललितयमकम्।
अष्टपदी सा भवति विमलकविकौशलगमकम्॥
अष्टपदी सा भवति सुखितपठितमण्डलिका।
कुण्डलिनायकभणिता विबुधकर्णे कुण्डलिका॥" इति। वाच०।
कुण्डलाकारे वस्तुनि, उत्फणत्वे कुण्डलिकादिपर्यायसमन्वितसर्पवन्यवत्। आ० म० द्वि०।

कुंडलुल्लिहियगंडलेह–कुण्डलोल्लिखितगण्डलेख–त्रि०। कुण्डलाभ्यामुल्लिखिता स्पृष्टा गण्डलेखा कपोलविरचितमृगमदादिरेखा यस्य स कुण्डलोल्लिखितगण्डलेखः। कर्णाभरणशोभितकपोले, रा०।

कुंडलोद–कुण्डलोद–पुं०। कुण्डलद्वीपपरिक्षेपिणि समुद्रे, सू० प्र० १९ पाहु०। जी०।

कुंडाग–कुण्डाक–पुं०। स्वनामख्याते सन्निवेशभेदे, "ततो भयवं आलभियं नयरिं गतो, तत्थ सत्तमो वासारत्तो चउम्मासखमण करेइ, ततो बाहिं पारित्ता कुंडागो नाम सन्निवेसो तत्थ एइ।" आ० म० द्वि०। कल्प०।

कुंडिअपेसणं–देशी–ब्राह्मणविष्टौ, दे० ना० २ वर्ग।

कुंडिओ–देशी–ग्रामाधिपतौ, दे० ना० २ वर्ग।

कुंडिया–कुण्डिका–स्त्री०। कुण्डि पत्युः। कमण्डलौ, पिठरे च। वाच०। ज्ञा०। आचा०। अनु०। भ०। औ०।

कुंत–कुन्त–पुं०। कु भूमिमुनत्ति। उन्द–बा तः शकन्ध्वा०। गवेधुकायाम्, धान्यभेदे, प्रासाख्ये, क्षुद्रकीटभेदे, चण्डभावे, वाच०। तत्र प्रासाख्ये "हलगतमुसलचक्ककुंत०" प्रश्न०१ आश्र० द्वार। विपा०। औ०। "कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा" औ०।

कुंतल–कुन्तल–पुं०। कुन्तं क्षुद्रकीटं लाति। ला–कः। केशे, तदाकारत्वात्। ह्रीबेरे च। कुन्तलाकारं केशाग्राकारं लाति। ला० कः। यवे, चषके, पानपात्रे, लाङ्गले च। ध्रुवकभेदे, दाक्षिणात्यजनपदभेदे, तेषां राजा अण्। कौन्तलः तद्देशनृपे, बहुषु तस्य लुक्। क्वचिद्देकत्वेऽपि लुक्। सोऽभिजनोऽस्य अण्। कौन्तलः। पित्रादिक्रमेण तद्देशवासिनि, वाच०। आ० क०।

कुंतलो–देशी–सातवाहने, दे० ना० २ वर्ग।

कुंतलदेवी–कुन्तलदेवी–स्त्री०। स्वनामख्यातायां राज्ञ्याम्,

तत्कथानकं प्रस्यते—

कस्यचिन्नरपतेः कुन्तलदेव्यभिधाना पट्टराज्ञी बभूव। साऽन्यापराज्ञीमत्सरेण सर्वकमन्दिरे तत्तत्कृतपूजातः स्नानविलेपनवासधूपवस्त्राभरणाभिषेकरथयात्रास्नात्रादिकां पूजां जिनप्रतिकृतीनां कारितवती। एवं व्रजति काले ऽशुभकर्मोदयात् तस्याः कश्चिदसाध्यो रोगो जातः। जीवितशेषा च सवृत्ता। तां चैव दृष्ट्वा पूर्वदत्तं पट्टरत्नं द्वितीयपथेन सर्वभाभरणवस्त्रादि तत्पार्श्वाद् गृहीत्वा राजादेशेन नियोगिभिर्नृपतिभाण्डागारे क्षिप्तम्। ततस्तस्यास्तं पराभवं मन्यमानाया आर्तध्यानमभूत्। तत्परिणतौ च मृता सती शुनीत्वेनोत्पन्ना। अन्यदा तत्र केवली समायातः। स भगवानन्तःपुरिकाभिः सपत्नीभिः कुन्तलदेव्या उत्पत्तिः पृष्टा। भगवताऽपि वृत्तान्ते कथिते तासां संसारविरक्तिर्जाता। ततस्ताभिर्गत्वा दृष्टा सा शुनी, सस्नेह पुष्पचन्दनविशिष्टाहारदानादिभिः पूजिता। ततोऽस्या मण्डल्याः पूजादिकं ससंभ्रमं जिनमन्दिरे च दृष्ट्वा जातिस्मरणं समभूत्, बोधिश्च। क्षामितायाश्च ताभिः कषायोपशमे आराधना जातेति कुन्तलदेवीकथानकं समाप्तम्। जीवा० १२ अधि०।

कुंतला–कुन्तला–स्त्री०। स्वनामख्यातायां राज्ञ्याम्, दर्श०। (तत्कथा 'चेइय' शब्दे स्वयंकृतजिनबिम्बपूजाप्रस्तावे वक्ष्यते)

कुंती–कुन्ती–स्त्री०। वसुदेवभगिन्याम्, कुन्तिभोजदत्तकसुतायां पृथायां युधिष्ठिरादिमातरि, वाच०। पाण्डोः पत्न्याम्, स्था० १० ठा०। "वसुदेवानुजे कन्ये, कुन्ती माद्री च विश्रुते" अन्त० १ वर्ग। मञ्जर्याम्, दे० ना० २ वर्ग। ('दुवई' शब्देऽस्या द्वारिकागमनादिकथा वक्ष्यते)

कुंतीपोट्टलयं–देशी–चतुष्कोणे, दे० ना० २ वर्ग।

कुंतीविहार–कुन्तीविहार–पुं०। युधिष्ठिरेणोद्धारिते नासिक्यपुरस्थे चन्द्रप्रभस्वामिचैत्ये, "इत्यंतरे दावरजुगे पण्डुरायपत्तीए कुंतीदेवीए पउमपुत्ते जुहिट्ठिल्ले सजाए चंदप्पहसामिणो पासायं जिण्णं दट्ठूण उद्धारो काराविओ, से इयत्थे बिहुवणओ तत्थ ठाविओ, कुंतीविहारु त्ति नाम विक्खायं।" ती० २८ कल्प।

कुंथु–कुन्थु–पुं० । अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे षष्ठे चक्रवर्तिनि सप्तदशे तीर्थकरे, आ० म० । नामनिरुक्त्यन्तरम्–संप्रति कुन्थुः कुः पृथिवी तस्यां स्थितवान् कुन्थुः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । तत्र सर्वेऽपि भगवन्त एवंविधास्ततो विशेषमाह–"थूभ रयणविचित्तं, कुंथु सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो " जननी स्वप्ने कुस्थ मनोहरे अभ्युन्नते महीप्रदेशे स्तूपं रत्नविचित्रं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धवती, तेन कारणेन भगवान् नामतः कुन्थुजिनः । आ०म० द्वि० । आ० चू० । आव० । स० । ध० ।

इक्खागुरायवसहो, कुंथू नाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ३९ ॥

पुनः कुन्थुनामा नरेश्वरः षष्ठचक्री अनुत्तरां सर्वोत्कृष्टां गतिं प्राप्तः । कीदृशः कुन्थुः ?, भगवान् ऐश्वर्यज्ञानवान्, पुनः कीदृशः कुन्थुः ?, इक्ष्वाकुराजवृषभः इक्ष्वाकुवंशीयनृपेषु वृषभो वृषभसमानः, प्रधान इत्यर्थः । पुनः कीदृशः ?, विख्यातकीर्तिः । अत्र भगवानिति विशेषणेनाष्टमहाप्रातिहार्याद्यैश्वर्ययुक्तः सप्तदशमस्तीर्थंकरः षष्ठचक्री कुन्थुर्ज्ञेयः । अत्र श्रीकुन्थुनाथदृष्टान्तः–हस्तिनागपुरे सूरराज्ञः श्रीदेवी भार्या, तस्याः कुक्षौ श्रीभगवान् पुत्रत्वेनोत्पन्नः, जन्ममहोत्सवानन्तरं च स्वप्ने जनन्या रत्नस्तूपः कुन्थ्यो दृष्टः, गर्भस्थे च भगवति पित्रा शत्रवः कुन्थुवत् दृष्टा इति कुन्थुरिति नाम कृतम् । पित्रा प्राप्तयौवनश्चाय विवाहितो राजकुमारिकाभिः । काले च भगवन्तं राज्ये व्यवस्थाप्य सूरराजः स्वयं दीक्षां जग्राह । भगवांश्च उत्पन्नचक्ररत्नप्रसाधितभरतः चक्रवर्तिभोगान् बुभुजे । तीर्थप्रवर्तमानसमये च निष्क्रम्य षोडश वर्षाणि चोग्रविहारेण विहृत्य केवलज्ञानभाग् जातः, देवाश्च समवसरणमकार्षुः । प्रव्राजितः केवलपर्यायेण घनकालं विहृत्य समेतगिरिशिखरे मोक्षमगमत् । तस्य भगवतः कुमारत्वे त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, माण्डलिकत्वे च त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, चक्रित्वे त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, श्रामण्ये च त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि सार्द्धानि च सप्तशतानि वर्षाणि अभवन्, सर्वायुर्द्विनवतिवर्षसहस्राणि सार्द्धसप्तशतानि चास्य बभूव । इति श्रीकुन्थुनाथदृष्टान्तः । उत्त० १८ अ० । "कुंथू णं अरहा पंचाणउइवाससहस्साइं परमाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे जाव प्पहीणे " (स०) । कुन्थुनाथस्य सप्तदशतीर्थंकरस्य कुमारत्वमाण्डलिकत्वचक्रवर्तित्वानगारत्वेषु प्रत्येकं त्रयोविंशतेर्वर्षसहस्राणामर्द्धाष्टमवर्षशतानां च भावात्सर्वायुः पञ्चनवतिवर्षसहस्राणि भवन्तीति । स० ९५ सम० । प्रव० । नि० । स्था० । (अन्तरम् 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ९९ पृष्ठे उक्तम्) (वर्णादि 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) "कुंथू णं अरहा पणतीसं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था " स० ३५ सम० । " कुंथुस्स णं अरहओ सत्ततीसं गणा सत्ततीसं गणहरा होत्था " कुन्थुनाथस्येह सप्तत्रिंशद्गणधरा उक्ताः, आवश्यके तु पञ्चत्रिंशत् इति मतान्तरम् । स० ३७ सम० । " कुंथुस्स णं अरहओ बत्तीसं जिणसया होत्था " स० ३२ सम० । " कुंथुस्स णं अरहओ एक्कासीतिं मणपज्जवनाणिसया होत्था " स्था० ३ ठा० २ उ० । " कुंथुस्स णं अरहओ एकाणउइं आहोहियसया होत्था " स० ९१ सम० । लघुशरीरे त्रीन्द्रियजीवे, उत्त० ३६ अ० । " पाणकुंथुमे ।" प्राणसूक्ष्ममनुद्धरिः कुन्थुः, स हि चलनेनैव विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वादिति । स्था० ८ ठा० । जी० । प्रज्ञा० । दश० । आचा० । उत्त० । "जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं कुंथू अणुद्धरी नामं समुप्पन्ना जाविया अचलमाणा निग्गंथाण य निग्गंथीण य चक्खुफासं हव्वमागच्छइ" कल्प० ६ क्षण ।

कुंद–कुन्द–पुं० । कुं भूमिमुनत्ति । उन्द–अण् शक० । कौतेः अन् दा वन् मुमच् वा । कुन्दुरुनामगन्धद्रव्ये, भ्रमियन्त्रभेदे, कुबेरस्य निधिभेदे च । पुं० । करवीरवृक्षे, पुं० । स्वनामख्याते पुष्पवृक्षे, वाच० । महाजातौ, जं० २ वक्ष० । तत्पुष्पे धवलपुष्पविशेषे, कल्प० ३ क्षण । ज्ञा० । उत्त० । रा० । आ० म० । प्रज्ञा० । जी० । औ० । कुन्दाभिधानवनस्पतिकुसुमे, ज्ञा० १श्रु० १अ० ।

कुंदओ–देशी–कुशे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंदं–देशी–प्रभूते, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंदकुंद–कुन्दकुन्द–पुं० । स्वनामख्याते दिगम्बराचार्ये, भद्रबाहुर्गुप्तिगुप्तो माघनन्दिर्जिनचन्द्रः कुन्दकुन्दाचार्य इति तत्पट्टावल्यां शिष्यपरम्परा । अयमाचार्यो विक्रमसं० ४९ वर्षे वर्तमान आसीत् । अस्यैव वक्रग्रीवः एलाचार्यः गृद्धपिच्छः महनन्दिरित्यपराणि नामानि । जै० इ० ।

कुंदमालपरिगय–कुन्दमालापरिगत–त्रि० । कुन्दादिकुसुममालया व्याप्ते, कल्प० २ क्षण ।

कुंदीरं–देशी–बिम्ब्याः फले, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंदुक्क–कुन्दुक्क–पुं० । कुहनवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । " एए अणंतजीवा, कुंदुक्के होइ भयणाओ । " प्रज्ञा० १ पद ।

कुंदुरुक्क–कुन्दुरुक्क–पुं० । चीडाभिधाने गन्धद्रव्यविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतसुरभिमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे " अत्र कुन्दुरुक्कः कुर्कुटः । आ० म० द्वि० ।

कुंभ–कुम्भ–पुं० । कु भूमिं, कुत्सितं वा उम्भति 'उम्भ' पूरणे अच् शक० । घटे, वाच० । स्था० । सूत्र० । 'उंभ उम्भ' पूरणे । कुः पृथिवी तस्यां स्थितस्य उम्भनात् पूरणात्कुम्भः । अत्र यत् पृथिव्यां स्थितस्य पूरणं तत्कुम्भशब्दवाच्यम् इति समभिरूढनयमतेन घटात्कुम्भस्य भेदः । आ० म० द्वि० । "चत्तारि कुंभा पण्णत्ता । तं जहा–पुण्णे नाममेगे नो पुण्णे " स्था० ४ ठा० ४ उ० । (इत्यादि 'पुरिसजाय' शब्दे व्याख्यास्यते) धान्यप्रमाणभेदे, " सट्ठी आढयाइं जहन्नए कुंभे, असीती आढयाइं मज्झिमए कुंभे, आढयसयं उक्कोसए कुंभे " अनु० । आढकानां चतुष्षष्ट्या जघन्यः कुम्भः, अशीत्या मध्यमः, शतेनोत्कृष्टः । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । स्था० । तं० । जलतरणद्रव्यभेदे, "स च कुंभं एवं, अह वा चउकट्ठिं काउ कोणे घडओ वज्झति, तत्थ अवलंबिउं आरुहिय वा संतरणं कज्जति " । नि० चू० १ उ० । कुम्भ्यादिषु नारकाणां पाचनात्कुम्भः । भ० ३ श० ६ उ० । एकादशे परमाधार्मिके, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार० । प्रव० ।

कुंभीसु य पयणेसु य, लोहियसु य कुंदलोयकुंभीसु ।
कुंभी य णरयपाला, हणंति पायंति णरएसु ॥८०॥ सू०नि० ।

"कुंभीसु" इत्यादि । कुम्भीनामानो नरकपालाः केषु व्यवस्थितान् निघ्नन्ति तथा पाचयन्ति । केति कुम्भीषु उष्ट्रिकाकृतिषु तथा पचनेषु कडिल्लकाकृतिषु लोहीप्वायसभाजनविशेषेषु पाचयन्ति । सूत्र० २ श्रु० ८ अ० ।

मिथिलानगर्यधिपतौ अवसर्पिण्यामेकोनविंशतीर्थकरस्य मल्लीत्यभिधानस्य पितरि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । स० । प्रव० । आव० । ति० ।('मल्ली' शब्दे विशेषोऽस्य द्रष्टव्यः) अष्टादशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । "ललाटे पुण्णकुंभपासेहिं" कुम्भशब्देन ललाटमेव भण्यते । प्रव० २ द्वार । बृ० । हस्तिरोगभेदे, हस्तिशिरःस्थमांसपिण्डद्वये, कुम्भकर्णस्य पुत्रभेदे, वेश्यापतौ, प्राणायामाङ्गे श्वासरोधके चेष्टाभेदे, एकादशे राशौ, गुग्गुलौ, त्रिवृति च । वाच० ।

कुंभउर–कुम्भपुर–न० । नगरभेदे, यदधीशस्य श्रीशेखरस्य कुम्भश्रेणिर्दुहिता उत्पन्ना । दर्श० ।

कुंभग (य)–कुम्भक–पुं० । कुम्भशब्दात् स्वार्थे क । कुम्भ इव कारयति प्रकाशते निश्चलत्वात् । के क० वा । प्राणायामाङ्गे वायुरोधनव्यापारभेदे, वाच० । मल्लीजिनस्य पितरि च । स्था० १० ठा० । ज्ञा० ।

कुंभगा (या) र–कुम्भकार–पुं० । कुम्भं करोति कृ अण् उप स० प्राकृते कत्वाकि "स्वरस्योद्वृत्ते" ८ । १ । ८ । इति सन्धिविकल्पः । "कुम्भयारो कुमारो" प्रा० १ पाद । कुलाले, आ० म० द्वि० । (तस्य 'पडिक्कमण' शब्दे मिथ्यादुष्कृते कथा । यथा च कुम्भकाराणां च शिल्पं प्रथमं श्रीऋषभदेवस्वाम्युपादिशत् तथा 'उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम्) कुम्भकारके, वाच० ॥

कुंभगारचक्कभामगदंडाहरण–कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डाहरण–न० । कुम्भकारचक्रस्य कुशलचक्रस्य यो भ्रमको भ्रमणहेतुर्दण्डो यश्चिन्त्नलक्षणं यदुदाहरणं ज्ञातं तत्कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डोदाहरणम् । यथा कुम्भकारचक्रस्यैकस्मिन्नपि देशे दण्डेन प्रेरिताः सर्वे तद्देशा भ्रमिता भवन्त्येवमित्येवंरूपे दृष्टान्ते, "सुत्ताउपायरक्खण-गहणपयत्तविसया मुणेयव्वा । कुम्भारचक्कभामग-दंडाहरणेण धीरेहिं ॥ ३४ ॥" । पञ्चा० १ विव० ।

कुंभगारावाय–कुम्भकारापाक–पुं० । न० । कुम्भकारस्य भाण्डपचनस्थाने, स्था० ८ ठा० ।

कुंभग्ग–कुम्भाग्र–न० । मगधदेशप्रसिद्धे कुम्भपरिमाणे, जी० ३ प्रति० । रा० । आ० म० । स्था० ।

कुंभगारपक्खेव–कुम्भकारप्रक्षेप–न० । दण्डकराजप्रमार्जितशय्यातरकुम्भकारपल्ल्याम्, तस्यां देवतया पांशुवृष्टिः कृतेति ततः कुम्भकारप्रक्षेपेति नामकं पत्तनं सा बभूव । आ० चू० ३ अ० । ('रसखाम' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कुंभमुह–कुम्भमुख–न० । घटग्रीवायाम्, ओघ० ।

कुंभसेण–कुम्भसेन–पुं० । महापद्मस्य उत्सर्पिण्याः प्रथमतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, ति० ।

कुंभार–कुम्भकार–पुं० । 'कुंभगार' शब्दोक्तार्थे, प्रा० १ पाद ।

कुंभारचक्कभामगदंडाहरण–कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डाहरण–न० । 'कुंभगारचक्कभामगदंडाहरण' शब्दोक्तार्थे, पञ्चा० १ विव० ।

कुंभि (ण्) कुम्भिन्–पुं० । कुम्भोऽस्त्यस्य इनिः । हस्तिनि, कुम्भीरे, स्त्रियां ङीप् । गुग्गुलौ, जटाकलशधारिणि, स्त्रियां ङीप् वा । जयपालवृक्षे, वाच० । नपुंसकविशेषे, प्रव० । यस्य तु मोहोत्कटतया सागारिकं वृषणौ वा कुम्भवत् स्थूलीभवतः स कुम्भी । प्रव० १०९ द्वार । "दुविहो य होइ कुंभी, जाईकुंभी य वेदकुंभी य ।" पं० भा० । पं० चू० । नि० चू० । ध० । ग० । कुम्भी द्विधा–जातिकुम्भी, वेदकुम्भी च । यस्य सागारिकं प्रान्तद्वयं च ते दोषेण शून महाप्रमाणं भवति स जातिकुम्भी । अयं च प्रव्राजनायां भजनीयः, यदि तस्यातिमहाप्रमाणं सागारिकादिकं तदा न प्रव्राज्यते । वेदकुम्भी नाम यस्योत्कटमोहतया प्रतिसेवनामलभमानस्य मेहनं वृषणद्वयं वा शूनते स एकान्तेन निषिद्धो न प्रव्राजनीय इति । बृ० ४ उ० । कोणिकपूर्वभवजीवे, आ० क० । ('कूणिय' 'सेणिय' शब्दयोरस्य वक्तव्यता)

कुंभिणी–देशी–जलगर्ते, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंभिय–कुम्भिक–पुं० । कुम्भो (मुक्ताफलानां) परिमाणतया विद्यते येषु तानि कुम्भिकानि । कुम्भपरिमाण(कुम्भशब्दोक्त) परिमितेस्वर्थेषु, "तेसि णं वइरामएसु अंकुसेसु चत्तारि कुंभिया मुत्तादामा पण्णत्ता ।" आ० ४ ठा० २ उ० ।

कुंभियागुत्त–कुम्भ्यागुप्त–त्रि० । कुम्भी मुखाकारा कोष्ठिका, तस्यामागुप्तानि प्रक्षिप्य रचितानि कुम्भ्यागुप्तानि । कुम्भीभाण्डे रक्षितेषु, बृ० २ उ० ।

कुंभिल्ल–कुम्भिल–पुं० । कु-उम्भ इलच् शक० । चौरे, श्लोकार्थचौरे, श्यालकतुल्ये श्याले च । वाच० । "अले कुंभिला क-धेहि" प्रा० ४ पाद ।

कुंभिल्ल–देशी–खननीये, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंभी–कुम्भी–स्त्री० । कुम्भ अल्पार्थे ङीप् । क्षुद्रे कुम्भे, तदाकृतित्वात् । उखायाम्, वाच० । भाजनविशेषे, स० । कुम्भमुखाकारायां कोष्ठिकायाम्, बृ० २ उ० । संकटमुखे पिठरके, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । "कुंभीसु य पयणीसु य कडहिलेहिं कुंभीसु" आ० चू० ४ अ० । आव० । वनस्पतिविशेषे, (तत्प्रतिपादक उद्देशो 'वणप्फइ' शब्दे वक्ष्यते) पाटलावृक्षे, कुम्भिकायां, परिपण्र्याम्, कट्फले, कुम्भीपुष्पे, पर्पटवृक्षे, कदलीवृक्षे च । वाच० । घटे, "पुं० । दाहिणिल्लाए कुंभीए णिक्खिवइ" दाक्षिणात्ये कुम्भे निक्षिपति । 'कुम्भीए' इत्यत्र स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । जं० ३ वक्ष० । केशरचनायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंभीपक्क–कुम्भीपक्व–त्रि० । गर्तादावप्राप्तपाककाल एव बलात् पाकमानीयमाने फलादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

कुंभीपाग–कुम्भीपाक–पुं० । कोष्ठिकाकृतिततलोहभाजने नरकयातनाहेतौ "... ,कुंभीपागम्मि णरयसकासे । वुत्थो अभिज्जमज्जे, असुहप्पभवे असुहयम्मि" । ४ । त० । "नरयातिरिएसु कुंभीपाएसु कत्थइ" महा० १ चू० । नरकेषु, करपत्रदारणकुम्भीपाकतप्ततैलशाल्मलीसमालिङ्गनादीनि दुःखानि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भाजनविशेषे, (कुम्भ्याम्) पचने, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

कुंभीर–कुम्भीर–पुं० । स्त्री० । कुम्भिनं हस्तिनमीरयति । ईर अण् । जलजन्तुभेदे नक्रे, स्त्रियां ङीप् । सवत्सरं तु कुम्भीरस्ततो आ-

येत मानव." । ('कम्मविवाग' शब्दे वेदनाविस्तरः) कीटभेदे, वाच० । आचा० ।

कुकम्म-कुकर्मन्-न० । कुत्सितं कर्म । नित्य स० । लोकशास्त्रनिन्दिते कर्मणि, तद्युक्ते, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । वाच० । कुत्सित कर्म येषां ते कुकर्माणः । आस्थिकेषु, ओघ० ।

कुकम्मि (ण्) कुकर्म्मिन्-त्रि० । अङ्गारदाहककुम्भकारायस्कारादिषु कुत्सितकर्मकेषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कुकिच्च-कुकृत्य-न० । प्राणातिपातारम्भादिकृत्ये, "कुकृत्य कृत्यमाज्ञाति, कृत्यं चाकृत्यमेव च ।" द्वा० २२ द्वा० ।

कुकुहाइय-कुकुहायित-न० । गतिकाले शब्दविशेषे, त० ।

कुक्कुअ-कुत्कुच-त्रि० । कुदिति कुत्सायां निपातो, निपातानामानन्त्यम् । कुत्सितं च कुचति भ्रूनयनोष्ठनासाकरचरणवदनविकारैः सकुचतीति कुत्कुचः । ध० २ अधि० । अथ वा कुत्सितः कुच. कुकुच. । सकोचादिक्रियावति, प्रव० ६ द्वार ।

कुकूज-त्रि० । कुत्सितं कूजति आक्रन्दन्ति इति कुकूजः । आक्रन्द कुर्वति उत्त० २१ अ० ।

कुक्कुआ-कुचकुचा-स्त्री० । अवस्यन्दने, बृ० ६ उ० ।

कुक्कुइय-कौकुचिक (त)-पु० । 'कुचण्' अवस्यन्दने इति वचनात् कुत्सितमप्रत्युपेक्षितत्वादिना कुचितमवस्यन्दित यस्य स कुकुचितः । स एव प्रज्ञादिदर्शनात् स्वार्थिकाणप्रत्यये कौकुचित. । कुकुचा अवस्यन्दन प्रयोजनमस्येति कौकुचिक' बृ० ६ उ० । औ० । कौकुच्य भण्डचेष्टादिहास्यमुखविकारादिक, तत्करोतीति कौकुचिक. । भाण्डचेष्टादिकारिणि, उत्त०१७ अ० । स्था० । भाण्डे, भाण्डप्राये च । भ० ६ श० ३१ उ० । "कप्पस्स पलिमथू पण्णत्ता । त जहा-कुक्कुइए सजमस्स पलिमथू" कौकुचिक. सयमस्य प्रनिमन्थु. ।

कौकुचिकव्याख्यानायाऽऽह-

कोकुइअ संयमस्स उ, मोहरिए चेव सच्चवयणस्स ।
इरियाएँ चक्खुलोलो, एमणसमिईएँ तिंतिणिए ॥१॥
णासेति मुत्तिमग्गं, लोभेण णिदाणताएँ सिद्धिपहं ।
एतेसिं तु पदाणं, पत्तेयपरूवणं वोच्छ ॥ २ ॥

कौकुचिक. सयमस्य, मौखरिकः सत्यवचनस्य, चक्षुर्लोल ईर्यासमितेः, तिन्तिणिक एषणासमिते', परिमन्थुरिति प्रक्रमादवगम्यते । लोभेन च मुक्तिमार्गं नाशयति, निदानतया तु सिद्धिपथम् । एतेषां पदाना प्रत्येक प्ररूपणा वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव करोति-

ठाणे सरीरभासा, तिविधो पुण कुक्कुइय समासेणं ।
चलणे देहे पत्थर, सविगार कहक्क हडुओ य ॥

स्थाने स्थानविषयः, शरीरविषयो, भाषाविषयश्चेति त्रिविध समासेन कौकुचिक. । तत्र स्थानकौकुचिको यश्चलनमभीक्ष्ण भ्रमण करोति, देह शरीर तद्विषय. कौकुचिको यः प्रस्तरान् हस्तादिना क्षिपति, यस्तु सविकार परस्य हास्योत्पादक भाषते, कहकह वा महता शब्देन हसति स भाषाकौकुचिक. । एतेषु त्रिष्वपि प्रत्येक मासलघु ।

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमायाए ।
जंत व णट्टिया वा, विराहण मतेल्लए सुत्ते ॥

आज्ञादयश्च दोषा, सयमे आत्मविराधना भवति, यन्त्रकवर्त्तिकावद्वा भ्राम्यन् कौकुचिक उच्यते । यस्तु महता शब्देन हसति तस्य मक्षिकादीनां मुखप्रवेशेन सयमविराधना, शूलादिरोगप्रकोपेनात्मविराधना; (मएल्लए सुत्ते त्ति) मृतदृष्टान्त, सुप्तदृष्टान्तश्चात्र हास्यदोषोदये भवति, स चोपरत्र दर्शयिष्यते ।

अथैतदेव निर्युक्तिगाथाद्वयं विभावयिषुः
स्थानकौकुचिक व्याचष्टे-

आवमइ खंभकुड्डे, अभिक्खणं भमति जंतए चेव ।
कमफंदण आउटण, ण यावि वद्धासणा ठाणे ॥

इहोपविष्ट ऊर्द्धस्थितो वा स्तम्भे कुड्ये वा य आपतति, यन्त्रकमिव वा अभीक्ष्ण भ्रमति, क्रमस्य पादस्य स्पन्दनमाकुञ्चनं वा करोति, न च नैव, बद्धासनो निश्चलासनस्तिष्ठति कौकुचिकः ।

अत्रामी दोषा'-

संचारोवतिगादी, संजम आया विहिच्चुगादीया ।
उच्छक्क कुड्डिय मूले, चंड फमंते य दोसा तु ।

संचरका कुड्यादौ सचरणशीला ये उपइकादय उद्देहिका कुन्थुकीटिकाप्रभृतयो जीवास्तेषां या विराधना सा सयमविषया मन्तव्या । आत्मविराधनायामहिवृश्चिकादयस्तत्रोपद्रवकारिणो भवेयु । यदि वा-तत्र स्तम्भादौ स आपतति तदूर्द्धोधो, मूले वा कुपित भवेत्, ततस्तस्य पतने परितापनादिका ग्लानारोपणा (चड फरुते य त्ति) अभीक्ष्णमितस्ततो भ्राम्यत. सन्धिविसन्धी भवेदित्यादयो बहवो दोषा, एवमुत्तरत्रापि दोषा मन्तव्या' ।

अथ शरीरकौकुचिकमाह-

करगोफणधणुपादा-दिएहिं उच्छुभति पत्थरादीए ।
भमुगादाढिगथणपुत-विकंपणं णट्टवाइत्तं ॥

करगोफणधनुष्पादादिभिः प्रस्तरादीन् य उत्प्राबल्येन क्षिपति स शरीरकौकुचिक' भ्रूदाढिकस्तनपुतानां विकम्पन विविधमनेकप्रकारै' कम्पन यत्करोति तत् नृत्यपातित्वमुच्यते, नर्तकीत्वमित्यर्थ' । एतेन "नट्टिया व त्ति" पद व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् । गत. शरीरकौकुचिक' ।

अथ भाषाकौकुचिकमाह-

छेलिय मुहवाइत्ते, जंपति वयणं जह परो हसति ॥
कुणइ य रुए बहुविधे, वग्घामिय देसभासा य ॥

सेण्टितं मुखवादित्र करोति । तथा च वचनं जल्पति यथा परो हसति । बहुविधानि वा मयूरहंसकोकिलादीना जीवानां रुतानि करोति । वग्घामिका उग्घट्टककारिणी, देशभाषा वा मालवमहाराष्ट्रादिदेशप्रसिद्धा, तादृशीं भाषां भाषते यथा सर्वेषामपि हास्यमुपजायते, एष भाषाकौकुचिक ।

अस्य दोषानाह-

मच्छिगमाइपवेसो, असंपुडं चेव सेट्ठिदिट्ठंतो ।
दंमिय थतणो हासण, तहत्थिए तत्तफालेणं ॥

तदीयभाषणदोषेण ये मुखं विस्फाल्य हसन्ति तेषां मुखे मक्षिकादयः प्राणिनः प्रविशेयुः, प्रविष्टेष्वेते यत्परितापनादिकं प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं तस्य प्रायश्चित्तम्, हसतश्च मुखमसंपुटमेव भवेत, न तथा मिलेदित्यर्थः । तथा चात्र श्रेष्ठिदृष्टान्तः-कश्चिद्दण्डिको राजा,तस्य थतणो भण्डः,तेन राजसभायामीदृशं किमपि हास्यकारि वचनं भणितं येनप्रभूतजनस्य हास्यमायातम्, तत्र श्रेष्ठिनो महता शब्देन हसता मुखं तथैव स्थितं न संपुटीभवति, वास्तव्यवैद्यानां दर्शितं, नैकेनापि प्रगुणीकर्तुं पारितम्, नवरं प्राघूर्णकेनैकेन लोहमयः फालस्तप्तोऽग्निवर्णं कृत्वा मुखे ढौकितः, ततस्तदीयेन भयेन श्रेष्ठिनो मुखं संपुटं जातम् ।

अथ प्रागुद्दिष्टं मृतसुतदृष्टान्तद्वयमाह-

गोयरसाहूहसणं, गवक्खे दट्ठुं निवं भणति देवी ।
हसति मयगो कहिं सो, त्ति एस एमेव सुत्तो वी ॥

"एगो साहू गोयरचरियाए हिंममाणो हसतो देवीए गवक्खोपविट्ठाए दिट्ठो, राया भणिओ—सामि ! पेच्छ अच्छेरयं मुयं माणसं हसतं । दीसइ राया सन्तो कहं कहिं वा ? । सा साहुं दरिसेइ । राया भणइ-कहं मओ त्ति ? । देवी भणइ—इह भवे शरीरसंस्कारादिसकलसांसारिकसुखवर्जितत्वात् मृत इव मृतः । एवं सुत्तदिट्ठंतो वि भाणियव्वो" । अक्षरगमनिका त्वियम्-गोचरे साधोः पर्यटतो हसनं हास्यं दृष्ट्वा देवी नृपं भणति-मृतको हसति । नृपः पृच्छति-कुत्र स मृतको हसति ? । देवी हस्तसंज्ञया दर्शयति-एष इति । एवमेव मृतवत् सुप्तोऽपि मन्तव्यः; उभयोरपि निश्चेष्टतया विशेषाभावात् । गतः कौकुचिकः ।

प्रसङ्गतः सम्प्रति मौखरिकमाह-

मुहरिस्स गोण्ण णामं, आवहति अरिं मुहेण भासंतो ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

मौखरिकस्य गौणं गुणनिष्पन्नं नाम मुखेन प्रभूतभाषणादिमुखदोषेण प्रभाषमाणः अरिं वैरिणमावहति करोति मौखरिकः, तस्यैव मौखरिकत्वं कुर्वाणस्य लघुको मासः । आज्ञादयश्च दोषाः । विराधना च संयमात्मविषया द्विविधा । तत्र संयमविराधना मौखरिकस्य व्रतपरिमन्थुतया सुप्रतीता ।

आत्मविराधनां तु दृष्टान्तेनाह—

को गच्छेज्जा तुरियं, अमुगो त्ति य लेहएण सिग्घम्मि ।
सिग्घागतो य ठवितो, केणाहं लेहगं हणति ? ॥

"एगो राया, तस्स किंचि तुरियं कज्जं उप्पन्नं, ताहे सभामज्झे भणइ त्ति-को सिग्घं वच्चेज्जा ? । लेहओ भणइ-अमुगो पवणवेगेणं गच्छइ त्ति । रन्ना सो पेसिओ त कज्जं काऊण तद्दिवसमेव आगओ । रन्ना एसो सिग्घगामि त्ति काउं धावणओ ठविओ । तेण रुट्ठेण पुच्छियं-कहियं केणाहं सिग्घो ? त्ति अक्खाते अन्नेण सिट्ठं-जहा लेहएणं । पच्छा सो तेण तिक्खच्छेण छिद्दं दट्ठूण ओढविओ । एवं चेव जो समोहरियत्तं करेइ, सो आयविराहणं पावेइ त्ति" । अक्षरार्थस्त्वयम्-कस्त्वरितं गच्छेदिति राज्ञोक्ते लेखकेन शिष्टः-अमुक इति । ततः स तत्कार्यं कृत्वा शीघ्रमागतः,ततः स्थापितोऽसौ राज्ञा दौत्ये कर्मणि नियुक्तः। ततः केनाऽहं कथित इति पृष्ट्वा लेखकेनेति विज्ञाय लेखकं हतवान् । गाथायामतीतकाले वर्तमाननिर्देशः प्राकृतत्वात् । गतो मौखरिकः ।

तथैव प्रसङ्गतश्चक्षुर्लोलमाह—

आलोयणा य कहणा, परियट्टणुपेहणा अणाभोए ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

स्तूपादीनामालोचनां कुर्वाणः कथनां धर्मकथां परिवर्तमानानुप्रेक्षां च कुर्वन् यदनाभोगेनानुपयुक्तमार्गे व्रजति तस्य लघुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः, द्विविधा विराधना भवेत् ।

इदमेव भावयति-

आलोएंतो वच्चति, थूलादीणि च कहंति वा धम्मं ।
परियट्टणाणुपेहण, न याति पंथं ति चक्खुलो ॥

स्तूपादीनि स्तूपाचवकुरामादीनि आलोचमानो धर्मं वा कथयन् परिवर्तनामनुप्रेक्षां वा कुर्वाणो व्रजति, यद्वा सामान्येन न च नैवोपयुक्तः पथि व्रजति, एष चक्षुर्लोल उच्यते ।

अस्यैते दोषाः-

छक्कायाण विराहण, संजम आयाएँ कंटगादीया ।
आवमण भाणभेदो, खद्धे उड्डाह परिहाणी ॥

अनुपयुक्तस्य गच्छतः संयमे षट्कायानां विराधना भवेत, आत्मविराधनायां कण्टकादयः पादयोर्लगेयुः, विषमे वा प्रदेशे आपतनं भवेत, तत्र भाजनभेदः, खद्धे च प्रचुरे भक्तपाने भूमौ छर्दिते उड्डाहो भवेत्-अहो बहुभक्षका अमी इति भाजने च भिन्ने परिहाणिः । सूत्रार्थपरिमन्थो भाजनान्तरगवेषणे, तत्परिकर्मणायां च भवति । गतश्चक्षुर्लोलः ।

एवं प्रसङ्गतस्तिन्तिणिकमाह—

तिंतिणिए पुव्वभणिते, इच्छालोले य ऊवहिमतिरेगे ।
लहुओ तिविहं च तहिं, अतिरेगे जे भणिय दोसा ॥

तिन्तिणिक आहारोपधिशय्याविषयभेदात्त्रिविधः । स च पूर्वपीठिकायां सप्रपञ्चमुक्त इति नेहोच्यते । स च सुन्दरमाहारादिकं गवेषयन्नेषणासमितेः परिमन्थुर्भवतीति । इच्छालोलस्तु स उच्यते-यल्लोलाभिभूतत्वेनोपधिमतिरिक्तं गृह्णाति । तत्र लघुको मासः । त्रिविधं वा तत्र प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-जघन्ये उपधौ प्रमाणेन गणनया वाऽतिरिक्तधार्यमाणे पाराञ्चितम्, मध्यमे मासलघु, उत्कृष्टे चतुर्लघु । ये चातिरिक्ते उपधौ दोषाः पूर्वं तृतीयोद्देशके भणितास्ते द्रष्टव्याः ।

अथ निदानकरणमाह-

अनियाणं निव्वाणं, काऊणमुवट्ठितो भवे लहुओ ।
पावति धुवमायाती, तम्हा अणियाणता सेया ॥

योऽनिदानं निदानमन्तरेण साध्यनिर्वाणं भगवद्भिः प्रकृतं ततो यो निदानं करोति तस्य तद् ज्ञात्वा पुनरकरणेनोपस्थितस्य लघुको मासः प्रायश्चित्तम्, अपि च-यो निदानं करोति स यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन सिद्धिं गन्तुकामस्तथाऽपि ध्रुवमवश्यमायाति पुनर्भवागमनं प्राप्नोति, तस्मादनिदानता श्रेयसी ।

इदमेव व्याचष्टे-

इहपरलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं ।
सव्वत्थेसु भगवता, अणिदाणत्तं पसत्थं तु ॥

इहलोकनिमित्तमिहैव मनुष्यलोके अस्य तपसः प्रभावेण

यजणजणवया,कुक्कुडसंमेअगामपउरा य । उच्छुजवसालिकलिया " " ॥" कुक्कुडेत्यनेन लोकप्रमुदितत्वं व्यक्तीकृतम् । प्रमुदितो हि लोकः क्रीडाद्यर्थं कुक्कुटान् पोषयति, षण्डाँश्च करोति । औ० ।

कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्त–कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्र–पुं० । कुक्कुट्यण्डकस्य यत्प्रमाणं मानं तत्परिमाणं मानं येषां ते तथा । अथवा कुटीव कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी शरीरं, कुत्सिता अशुचिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी, तस्या अण्डकमिवाण्डकमुदरपूरकत्वादाहारः कुकुट्यण्डकं, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वात्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते तथा कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्राः । कुक्कुट्यण्डप्रमितेषु कवलेषु, " एवं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ " भ० ७ श० १ उ० । ('अप्पाहार' आदिशब्देषु व्याख्या) कवलानां च प्रमाणं कुकुट्यण्डम् । कुकुटी च द्विधा–द्रव्यकुक्कुटी, भावकुकुटी च । द्रव्यकुक्कुट्यपि द्विधा–उदरकुकुटी, गलकुकुटी च । तत्र साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं नाप्याध्मातं भवति स आहार उदरकुकुटी, उदरपूरक आहारः कुकुटीव उदरकुकुटीति,मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणात् । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं, तत्प्रमाणं कवलं स्यात् । तथा गलः कुकुटीव गलकुकुटी, गल एव कुकुटीत्यर्थः । तस्यान्तरालमण्डकम् । किमुक्तं भवति ?, अविकृतस्यास्य पुंसो गलान्तराले यः कवलोऽविलग्नः प्रविशति तावत्प्रमाणं कवलमश्नीयात् । अथवा शरीरमेव कुक्कुटी, तन्मुखमण्डकं, तत्राक्षिकपोलकण्ठादिविकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम् । अथवा कुक्कुटी पक्षिणी, तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य । भावकुक्कुटी–येन आहारेण भुक्तेन न न्यूनं नाप्याध्मानमुदरं भवति, धृतिं च समुद्वहति, ज्ञानदर्शनचारित्राणां च वृद्धिरुपजायते तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी । अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणादेव प्राक् द्रव्यकुक्कुट्यपि उक्ता इह भावकुक्कुटी उक्तः । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकप्रमाणं भक्तकस्य । पिं० । ग० ।

कुक्कुडी–कुकुटी–स्त्री० । कुक्कुटपक्षिण्याम्, कुक्कुट्यण्डशब्दोक्तकुक्कुटीशब्दार्थे च । पिं० । व्य० ।

कुक्कुडीपायपसार–कुक्कुटीपादप्रसार–पुं० । यथा कुक्कुटी पादौ आकाशे प्रथमं प्रसारयति एवं साधुनाऽपि आकाशे पादौ प्रथमं शक्नुवता प्रसारणीयाविति विधिना पादप्रसारणे, औ० । ('पडिक्कमण' शब्दे तदतिचारप्रतिक्रमणम्)

कुक्कुडेसर–कुकुटेश्वर–पुं० । चारणेश्वरराजकारितजिनप्रासादविभूषिते तीर्थभेदे, ती० । "पुव्विं पाससामी छउमत्थो रायसिरीए काउस्सग्गे ठिओ, तत्थ वाहकेलीए जंतस्स ईसरराणो वाणज्जुणनामा वंसो । भयवंतं पिच्छिऊण गुणकित्तणं करेइ–उस्सग्गे ठियो आससेणनिवपुत्तो जिणु त्ति । तं सोउं राया गयाओ उत्तरित्ता पहु पासंतो मुच्छिओ । पत्तचेयणो य पुट्ठो मंतिणा पुव्वभवे कहेइ-जहाऽहं चारुदत्तो होऊण पुव्वजम्मे वसंतपुरे पुरोहिअपुत्तो दत्तो आसि, कुट्ठाइरोगपीडिओ अ गंगाए निवडंतो चारणरिसिणा बोहिओ, अहिंसाई पंच वए पालेमि, इंदिए अ सासेमि, कसाए य जिणेमि, अन्नया चेइयहरमागओ जिणपडिमं पणमंतो दिट्ठो पुक्खलिसावएणं । तेण पुट्ठो गुणसागरमुणी–भयवं ! एयस्स चेयागमणे दोसो, न वा ?। मुणिणा भणियं–दूरओ देव पणमंतस्स को दोसो ?, मज्झ वि एसो कुक्कुडो भविस्सइ त्ति । तं सोऊण खेयं कुणंतो पुणरवि गुरुणा संबोहिओऽहं–तुमं जाईसरो अणसणे मरिउ रायसरीरं ईसरो नाम राया होहिसि त्ति । तओऽहं तुट्ठो तं सव्वं अणुभवित्ता कमेण राया जायाओ, पहु पिक्खिअ जायं मे जाईसरणं ति । एवं मंतिस्स कहित्ता भगवंतं पणमिअ तत्थ सगीअं कारेइ । पहुम्मि अन्नत्थ विहरिए तत्थ रण्णा पासाओ कारिओ, बिंबं च पइट्ठाविअं, कुक्कुडचारणईसररण्णा कारिय त्ति कुक्कुडेसरनामं तित्थं रूढं । सो य राया कमेण खीणकम्मो सिज्झिहिंति । एसा कुक्कुडेसरस्स उप्पत्ती" । ती० १६ कल्प । कुक्कुटेश्वरे विश्वगजः । ती० ४५ कल्प ।

कुक्कुर–कुक्कुर–पुं० । कोकते क्विप् कुरति शब्दायते 'कुर' शब्दे कर्म० । स्वनामख्याते पशौ, वाच० । श्वनि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । "कुक्कुरे कुक्कुरेति ततो ते कुक्कुरा रसति" । आ० म० द्वि० । स्त्रियां जातित्वात् ङीप् । ग्रन्थिपर्णीवृक्षे, न० । वाच० ।

कुक्कुस–कुक्कुस–पुं० । कुण्डे, कणिककुण्डं, कणिकाभिर्मिश्रा कुक्कुसा इत्यर्थः । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । " , सोरट्ठ पिट्ठ कुक्कुसए य । उक्किट्ठमसंसट्ठ, संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥" दश० ५ अ० ।

कुक्खि(च्छि)–कुक्षि–पुं० । कुष कसि " गोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ । इति संयुक्तस्य छ. । आर्षे तु न । प्रा० २ पाद । जठरदेशे, तं० । उदरदेशविशेषे, औ० । स्था० । द्विहस्तप्रमाणे भेदे, न० । "अमयालीस अंगुलाइं कुच्छी" जं० २ वक्ष० । "दो रयणिओ कुच्छी" रत्निद्वयं कुक्षिः । कुक्षौ भव अण् कौक्ष । उदरभवे, मनु० । मध्यभवे च । त्रि० । स्त्रियां ङीप् । कुक्षिदेशे भव. " धूमादिभ्यश्च " । ४ । २ । १२७ । इति वुञ् । कौक्षकमध्यदेशभवे, त्रि० । वाच० ।

कुक्खि (च्छि) किमि–कुक्षिकृमि–पुं० । कुक्षिप्रदेशोत्पन्ने द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

कुक्खि (च्छि) पूर–कुक्षिपूर–पुं० । उदरपूर्तौ, " आगासकुच्छिपूरो, उग्गहपमिसेहियम्मि जो कालो । " व्य० ४ उ० ।

कुक्खि (च्छि) वेयणा–कुक्षिवेदना–स्त्री० । कुक्षौ शूलादिवेदनारूपे, उत्त० १ अ० । रोगातङ्कभेदे, जी० ३ प्रति० ।

कुक्खि (च्छि) संभूय कुक्षिसंभूत–त्रि० । अपत्ये, " णियगकुच्छिसंभूयाइं" निजापत्यरूपाणीत्यर्थः । विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

कुक्खि (च्छि) संबल–कुक्षिसंबल–त्रि० । कुक्षावेव बहिः संचयाभावाज्जठर एव संबलं पाथेयं यत्रासौ कुक्षिसंबलः । संनिधिहीने, " अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खिसंबलस्स निरग्गिसरणस्स" पा० । भुक्तिमात्रपाथेये, ध० ३ अधि० ।

कुक्खि (च्छि) सूल–कुक्षिशूल–न० । पुं० । कुक्षौ शूलः ।

" प्रकुप्यति यदा कुक्षौ, वह्निमाक्रम्य मारुतः ।
तदाऽस्य भोजनं भुक्तं, सोपष्टम्भं न पच्यते ॥१॥

उच्छ्वसित्यामशक्तुता, शूलेनाऽऽहन्यते मुहुः ।
नैवाशने न शयने, तिष्ठन्न लभते सुखम् ॥ २ ॥
कुक्षिशूल इतिख्यातो, वातादामसमुद्भवः " ॥
इति सुश्रुतोक्ते शूलरोगभेदे, वाच० । विपा० १ श्रु० १ अ० । उपा० । जी० । ज्ञा० ।

कुक्खि (च्छि) हार–कुक्षिधार–पुं० । यानपात्रव्यापारविशेषयोगिनि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । नौपार्श्वनियुक्तिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कुखगइ–कुखगति–स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० २ कर्म० ।

कुग्गह–कुग्रह–पुं० । कुत्सितो ग्रहः कुग्रहः । दर्श० । स्वाभिप्रायेण दुष्टाभिनिवेशे, "कुग्गहविवज्जियाणं, अणिवणीयाण परिणयवयाणं ।" जी० १ प्रति० ।

कुग्गहविरह–कुग्रहविरह–पुं० । शास्त्रीयाभिनिवेशत्यागे, पञ्चा० ३ विव० । असदभिनिवेशवियोगे, ध० ३ अधि० ।

कुग्गाहिय–कुग्राहित–त्रि० । कुत्सित ग्राहिते, दर्श० ।

कुचर–कुचर–त्रि० । कुत्सितं चरन्तीति कुचराः । चौरपारदारिकादिषु, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

कुचिइयग्गह–कुचितिकाग्रह–पुं० । कौटिल्यावेशे, यो० विं० ।
आस्थितं चैतदाचार्यै–स्त्याज्ये कुचितिकाग्रहे ।
शास्त्रानुसारिणस्त–र्काद्यामन्नेदाद्युपग्रहात् ॥ २४ ॥
(आस्थितं चेति) एतच्च कालातीतमतमाचार्यैः श्रीहरिभद्रसूरिभिरास्थितमङ्गीकृत कुचितिकाग्रहे कौटिल्यावेशे त्याज्ये परिहार्ये, कुचितिकात्यागार्थमित्यर्थः । शास्त्रानुसारिणस्तर्कादर्थसिद्धौ सत्यामिति गम्यम्, नामभेदस्य सञ्ज्ञाविशेषस्यानुपग्रहादनभिवेशात्, तत्त्वार्थसिद्धौ नाममात्रक्लेशो हि योगप्रतिपन्थी न तु धर्मवादेन विशेषविमर्शोऽपीति भावः । तदिदमुक्तम्–
" साधु चैतद्यतो नीत्या, शास्त्रमत्र प्रवर्तकम् ।
तथाऽभिधानभेदात्तु, भेदः कुचितिकाग्रहः ॥ १ ॥
विपश्चितां न युक्तोऽय–मैदम्पर्यप्रिया हि ते ।
यथोक्तास्तत्पुनश्चारु, हन्तात्रापि निरूप्यताम् ॥ २ ॥
उभयोः परिणामित्वं, तथाऽभ्युपगमाद् ध्रुवम् ।
अनुग्रहात् प्रवृत्तेश्च, तथाऽद्धाभेदतः स्थितम् ॥ ३ ॥
आत्मना तत्स्वभावत्वे, प्रधानस्याऽपि संस्थिते ।
ईश्वरस्याऽपि सन्न्यायात्, विशेषोऽधिकृतो भवेत् " ॥ ४ ॥
द्वा० १६ द्वा० । यो० विं० ।

कुचेल–कुचैल–त्रि० । कुत्सित चेल यस्यास्य । कुत्सितवस्त्रधरे, वाच० । जीर्णवस्त्रपरिदधाने, वृ० १ उ० । " दुहजीविणो कुचेला, कुविति य चोरा चडालमुण्डिया " अनु० । कुचा सकुचा इला यस्याः । ५ त० । विद्धकण्ठ्यां पाठायाम्, स्त्री० । "विद्वौरादिभ्यश्च " । ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । वृके, स्त्री० । वाच० ।

कुच्चग–कूर्चक–पुं० । न० । कूर्च स्वार्थे कः । कूर्चशब्दार्थे, वाच० । तृणभेदे, येन कूर्चकाः क्रियन्ते । आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । अस्त्यर्थे इनि कूर्च किन् । सूच्यग्राकारयुक्ते, त्रि० । पञ्चगव्ये, वाच० ।

कुच्चिय–कूर्चिक–पुं० । कूर्चधरे, वृ० १ उ० ।

कुच्छ–कुत्स–पुं० । कुत्सयते संसारम् । कुत्स–अच् । ऋषिभेदे, तस्यापत्यम् ऋष्यण् कौत्सः । तदपत्ये, पुं० । स्त्री० । बहुषु तस्य "अत्रिभृगुकुत्स०" । २ । ४ । ६५ । इति पा० लुक् कुत्साः । तदपत्येषु, कु–वा–स० । "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् " । ६ । ३ । १०९ । कुर्वति, त्रि० । वाच० । " थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स थेरे अन्तेवासी कुच्छसगोत्ते" कल्प० ८ क्षण ।

कुच्छकुसिइया–कुत्सकुशिकिका–स्त्री० । कुत्सानां कुशिकानां च मैथुनम् " द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः " ॥ ४ । ३ । १२५ ॥ पाणि० । कुत्सगोत्राणां कुशिकगोत्राणां च स्त्रीपुंसां मैथुने, वाच० । " थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स थेरे अन्तेवासी कुच्छसगोत्ते " । कल्प० ८ क्षण ।

कुच्छग–कुत्सक–पुं० । वनस्पतिविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कुच्छण–कुत्सन–न० । कुत्स भावे ल्युट् । निन्दने, कुत्स्यतेऽनेन करणे ल्युट् । निन्दासाधनद्रव्ये, उपचारात्तद्युक्ते, त्रि० । वाच० ।

कोथन–न० । प्रतिग्रथने, वृ० १ उ० । अङ्गुल्यन्तराणां कोथे, व्य० ४ उ० ।

कुच्छणिज्ज–कुत्सनीय–त्रि० । जुगुप्सास्पदे स्थाने, वृ० १ उ० ।

कुच्छल्ल–देशी–वृत्तिविवरार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुच्छा–कुत्सा–स्त्री० कुत्स–अ–भावे । निन्दायाम्, वाच० । आव० । जुगुप्सायाम्, विशे० । कर्म० ।

कुच्छिय–कुत्सित–न० । कुत्स–कर्मणि क्तः । कुष्ठनामौषधौ, भावे क्तः । निन्दायाम् न० । कर्मणि क्ते निन्दिते, त्रि० वाच० । निन्द्ये, पञ्चा० ७ विव० । असारे, विशे० ।

कुच्छेअय–कौक्षेयक–पुं० । कुक्षौ यद्धोऽसिः । ढकञ् । "छोऽ-द्यादौ । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छः । कुक्षिप्रदेशे बद्धे तलवारे, वाच० । प्रा० २ पाद ।

कुज–कुज–पुं० । कौ पृथिव्यां जायते जन डः । मङ्गले, वाच० । वृक्षे च । " कुजगुम्मा " । जं० २ वक्ष० ।

कुजय–कुजय–पुं० । कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयः । द्यूतकारे, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति । सूत्र० । " कुजए अपराजिए जहा अक्खेहिं कुसलेहिं दीवियं " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

कुज्ज–कुब्ज–पुं० । ईषत् उब्जमार्जवं यत्र शक० । अपामार्गे, खड्गे, हृदयपृष्ठरोगे, पुं० । "हृदयं यदि वा पृष्ठ–मुन्नत क्रमशः सरुक् । क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्या–त्तदा तं कुब्जमादिशेत्" ॥ इति तल्लक्षणम् । तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । पृष्ठादौ कुब्जयोगात् कुब्जत्वयुक्ते, " गर्भे वातप्रकोपेण, दोहदे वाऽपमानिते । भवेत्कुब्जः कुणिः पङ्गु–र्मूको मन्मन एव वा" ॥ प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

कुज्जग–कुब्जक–पुं० । कौ उब्ज एवुल् शक० । अतिसुरभिपुष्पे वृक्षभेदे, वाच० । शतपत्रिकाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रज्ञा० ।

कुज्जा–कुब्जा–स्त्री० । कंसभवनस्थे सैरन्ध्रीभेदे, पादाभ्यामाक्रम्य श्रीकृष्णः सुरूपां चकार । वाच० । कुब्जरोगरुग्णायां योषिति, विशे० (कुब्जायाः पतद्ग्रहधारिण्या क्षेत्रानुयोगे कथानकम् 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३८९ पृष्ठे उक्तम् ।)

कुज्जिया–कुब्जिका–स्त्री० । अष्टवर्षायां कन्यायाम्, वाच० । वक्रजङ्घायाम्, रा० ।

कुज्झंत–क्रुध्यत्–त्रि० । क्रुध श्यन् शतृ " युधबुधगृधक्रुधसिधमुहां ज्झः "।८।४।२१७। इत्यन्त्यस्य ज्झः। कुप्यति, प्रा० ४ पाद ।

कुट्ट–कुट्ट–पुं० । कुट्टनात्कुट्टः । घटे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

कुट्टण–कुट्टन–न० । कुट्ट–ल्युट् । खदिरादेरिव भेदविशेषकरणे, औ० । आचा० । महतीकच्छपीचित्रवीणानां वादने, " कुट्टिअतीण कच्छभीण चित्तवीणाए " रा० ।

कुट्टणा–कुट्टना–स्त्री० । आतिजरामरणरोगशोककृतायां शरीरपीडायाम्, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

कुट्टणी–कुट्टनी–स्त्री० । कुट्ट ल्युट् ङीप् । परपुरुषेण सह परस्त्रियाः समागमकारिण्यां स्त्रियाम्, णिनि कुट्टिन्यप्यत्र । वाच० । कुट्टयतीति कुट्टनी । कण्डनकारिण्याम्, बृ० १ उ० ।

कुट्टिंतिया–कुट्टयन्तिका–स्त्री० । तिलादीनां चूर्णनकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

कुट्टिज्जमाण–कुट्यमान–त्रि० । उदूखलादिषु कुट्यमाने, जं० १ वक्ष० । रा० ।

कुट्टिम–कुट्टिम–पुं० । न० । "अर्द्धर्चाः पुंसि च"।२।४।३१। इति (पाणि०) पुनपुंसकत्वम् । कुट्ट–भावे घञ् तेन निर्वृत्त इमप् । सुधासिक्तभूतले, वाच० । मणिभूमिकायाम्, भ० ८ श० ६ उ० । कुटीरे, स्वल्पगृहे, दाडिम्ववृक्षे, बद्धभूमिभागे, सौधप्रदेशभेदे, वाच० ।

कुट्टिमतल–कुट्टिमतल–न० । मणिभूमिकायाम् , औ० । बद्धभूमितले, जी० ३ प्रति० । रा० ।

कुट्टिय–कुट्टित–त्रि० । कुट्ट क्त। भेदिते, खण्डीकृते, वाच० । " कुट्टिओ फाडिओ भिण्णो, " उत्त० १९ अ० । रजःकुट्टनेन पतितच्छिद्रे, बृ० १ उ० ।

कुट्टयित्वा–अव्य० । उदूखलादौ तिलादिकामिव कणरूयित्वेत्यर्थे,"कुट्टिय कुट्टिया च णं वा पक्खिवेज्जा"भ० १४ श० ८ उ० ।

कुट्टाओ–देशी–चर्मकारे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुट्ठ–कुष्ठ–पुं० । न० । कुष्णाति रोगम् कुष क्थन् । गन्धिकहट्टविक्रेये वस्तु–(गन्धद्रव्य) विशेषे, विशे० । ज्ञा० । आ० म० । ल० प्र० । उत्पलकुष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । " उक्त पुष्करमूल तु,पौष्कर पुष्कर च तत् । पद्मपत्र च काश्मीर,कुष्ठभेदमिम जगुः ॥ " वाच० । रोगविशेषे च । व्य० ६ उ० । पिं० ।

कुट्ठा–कुष्ठा–स्त्री० । चिञ्चिनिकायाम्, बृ० १ उ० । चण्ड्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कुट्ठाणासणकुसेज्जाकुभोयण–कुस्थानाशनकुशय्याकुभोजन–त्रि० । कुस्थानासनकुशय्याश्च ते कुभोजनाश्चेति समासः। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । कुत्सिताश्रयाविष्टरदुःशयनदुर्भोजनेषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

कुड–कुट–पुं० । कुट–क । कोटे, शिलाकुट्टे, वृक्षे, पर्वते, कलशे, पुं० । न०। वाच०। घटे, कुटा द्विधा–नवा जीर्णाश्च। तेऽप्यभाविताः भाविता। इति कुटदृष्टान्तेन शिष्यप्ररूपणा । बृ० १ उ० । आ० क० । नं० । विशे० । को० । नि० । आ० चू० । समभिरूढनयमते घटपर्यायस्याऽपि कुटशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भिन्नमेव । कुट कौटिल्ये, कुटनात्कुटः । अत्र पृथुबुध्नोदरादिकम्बुग्रीवाद्याकारकौटिल्यं कुटशब्दवाच्यम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० । स्था० विशे० ।

कुडंग–कुटङ्क–पुं० । कुटं गृहभूमिः टङ्क्यते आच्छाद्यतेऽनेन । 'टकि ' आच्छादने करणे घञ् । ६ त० । गृहाच्छादने तृणादौ, वंशजालिकायाम्, बृ० १ उ० । वंशादिगहने, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । वृक्षगहने, बृ० ३ उ० । गह्वरे, ओघ० । " ततो वंसीकुडंगेसु बूढो" आ० म० द्वि० ।

कुडंड–कुदण्ड–पुं० । बन्धनविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कुडंडग–कुदण्डक–न० । काष्ठमये प्रान्ते रज्जुपाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कुडंडिम–कुदाण्डिम–त्रि० । कुदण्डोऽसम्यङ्निग्रहस्तेन निर्वृत्तं द्रव्य कुदाण्डिमम् । कुदण्डेन निर्वृत्ते द्रव्ये, विपा० १श्रु० ३अ० ।

कुडग–कुटक–पुं० । घटे, आ० म० प्र० । द्रव्ये, पृथुबुध्नाद्याकार उदकाद्याधारक्षमे कुटकाख्ये शब्दस्य घटादेरभिनिवेशः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

कुडभी–कुटभी–स्त्री० । लघुपताकायाम्, " कुडभीसहस्सपरिमण्डियाभिरामो इदज्झओ " कुडभिति लघुपताकाः समाख्यते । स० ३४ सम० ।

कुडमुह–कुटमुख–न० । घटकण्ठके, बृ० १ उ० । " कुडमुहाओ घेप्पति " नि० चू० १ उ० ।

कुडय–कुटच–पुं० । कुट–इव चीयते चि० रूः। कुटजवृक्षे,वाच० । कुटज–पुं० । कुटे पर्वते जायते जन–रूः । वाच० । गिरिमल्लिकापर्याये, औ० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । प्रज्ञा० । पर्वकेष्वस्यान्तर्भावः । प्रज्ञा० १ पद । कुटे घटे जायते । अगस्त्यमुनौ, द्रोणाचार्ये च । वाच० ॥

कुडव–कुटप–पुं० । कुट–कपन् । मुनौ, गृहसमीपस्थोपवने,पद्मे,न० । वाच० । "चउसेइओ कुडओ चउकुडओ पत्थओ नेअत्थि" ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

कुडिआ–देशी–वृत्तविवरार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुडिल–कुटिल–त्रि० । कुट इलच् । वक्रे, जं० २ वक्ष० । उपा० । प्रश्न० । आचा० । स्था० । अतिवक्रे, उपा० २ अ० । " मणुकुडलवकयागारपरिक्खित्ता " औ० । रा० । आचा० । अनुजौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । " जिणवरवयणोवदिष्टमग्गेण अकुडिलेण " औ० । तगरपुष्पे, न० । युगादिभिः कुटिलमिति मत 'स्मौ भ्यौ गौ' वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, सरस्वत्याम्, स्त्री० । स्पृक्कानामगन्धद्रव्ये, स्त्री० । वाच० ।

कुडिलब्भु–कुटिलभ्रु–त्रि० । पुरस्त्याम्, "प्रत्यपिबति नो बान्तमवशः कुटिलभ्रुवाम्" । दश० २६ द्वा० ।

कुडिलसुसिणिद्धदीहसिरय–कुटिलसुस्निग्धदीर्घशिरोज–त्रि० । कुटिला॰ सुस्निग्धाः दीर्घा शिरोजा यस्य स । वक्रविकचकेशे, जी० ३ प्रति० ।

कुमिलविरूल-कुटिलविटल-न० । हस्तिशिक्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

कुमिल्लयं-देशी-कुटिले, दे० ना० २ वर्ग ।

कुमिव्वय-कुटीव्रत-त्रि० । कुटीचरेषु, ते च गृहे वर्तमाना व्यपगतक्रोधलोभमोहा अहङ्कारं वर्जयन्तीति । औ० ।

कुमी-कुटी-स्त्री० । कुट इन् ङीप् । गृहे, कुट्टिन्यां, सुरानामगन्धद्रव्ये च । वाच० । तत्र गृहे " एगस्स कुंभगारस्स कुडीए साहुणो ठिया " आ० म० द्वि० ।

कुडुंब-कुटुम्ब-पु० । न० । कुटुम्ब अच् । पोष्यवर्गे, बान्धवे, सन्ततौ, नामनि, वाच० । स्वजनवर्गे, उत्त० १४ अ० ।

कुडुंबय-कुटुम्बक-पुं० । वनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

कुडुंबि (ण्)-कुटुम्बिन्-त्रि० । कुटुम्ब इनिः । कुटुम्बयुक्ते, गृहस्थाश्रमे, कर्षके, त्रि० । वाच० । प्रभूतपरिवारकलोकपरिवृते रजोहरणमुख(वस्त्रिका) पोत्तिकादिलिङ्गधारिणि चारत्तकप्रतिच्छन्दे, बृ० १ उ० ।

कुडुंबेसर-कुटुम्बेश्वर-पुं० । अवन्तीस्थे स्वनामख्याते श्रीऋषभदेवप्रतिमाभेदे, ती० ।

"श्वेताम्बरेण चारण-मुनिनाऽऽचार्येण वज्रसेनेन ।
शक्रावतारतीर्थे, श्रीनाभेय प्रतिष्ठितो जीयात् ॥ १ ॥
कुटुम्बेश्वरनाभेय-देवस्यानल्पतेजस. ।
कल्प जल्पामि लेशेन, दृष्ट्वा शासनपट्टिकाम् " ॥ २ ॥

पूर्वं लाटदेशे मण्डनभृगुकच्छपुरालङ्कारे शकुनिकाविहारे स्थिताः श्रीवृद्धवादिसूरय ' येन निर्जीयते तेन तस्य शिष्येण भाव्यमिति' प्रतिज्ञां विधाय वादकरणार्थं दक्षिणपथायात कर्णाटभट्टदिवाकर निर्जित्य व्रत ग्राहयांचक्रिरे । किं सस्कृत कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्तस्तीर्थङ्करा गणधरा वा यदर्द्धमागधेनाम्नायमकुर्वन् । तदेव जल्पतस्तव महत् प्रायश्चित्तमापन्नम्, किमेतत्तवाग्रत. कथ्यते,स्वयमेव जानन्नसि । ततो विमृश्याभिदधेऽसौ-भगवन् ! आश्रीयमाणो द्वादशवार्षिकं पाराञ्चित नाम प्रायश्चित्त गुप्तमुखवस्त्रिकारजोहरणादिलिङ्ग' प्रकटितावधूतरूपश्चरिष्यामीति । आवश्यकमुपयुक्त इति गुरुभिराभिहितमाकर्ण्य देशान्तरग्रामनगरादिषु पर्यटन् द्वादशे वर्षे श्रीमदुज्जयिन्या कुटुम्बेश्वरदेवालये शेफालिकाकुसुमरञ्जितचोलपट्टालङ्कृतशरीर. समागत्यासांचक्रे । ततो देव कस्मान्न नमसीति लोकैर्जल्प्यमानोऽपि नाजल्पत् । एव च जनपरम्परया श्रुत्वा सर्वत्राऽनृणीकृतविश्वविश्वम्भराङ्कितनिजैकवत्सर. श्रीविक्रमादित्यदेव. समागत्य जल्पयांचकार-क्षीर लिलिक्षो ! भिक्षो ! किमिति त्वया देवो न नमस्यते । ततस्त्विदमवादि वादिना-मया नमस्कृते देवे लिङ्गभेदो भवतामप्रीतये भविष्यति । राज्ञोचे-भवतु क्रियतां नमस्कार. । तेनोक्तम्-श्रूयतां तर्हि । तत. पद्मासनेन भूत्वा द्वात्रिंशिकादिभिर्देवं स्तोतुमुपचक्रमे । तथाहि-

" स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्र-मनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोक-मनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् " ॥ १ ॥

इत्यादि प्रथम एव श्लोके प्रासादस्थिताच्च शिखिशिखाग्रादिव लिङ्गात् धूमवर्तिरुदस्थात् । ततो जनैर्वचनमिदमूचे-अणविधेशाधीश. कालाग्निरुद्रोऽयं भगवांस्तृतीयनेत्रानलेन भिक्षु भस्मसात् करिष्यति । ततस्तडित्तेज इव सतडत्कार प्रथम ज्योतिर्निर्गत्याप्रतिचक्रतोऽभ्यमानमिथ्यादृष्टिदैवतमामूलाल्लिङ्ग द्विधा भित्त्वा प्रादुरास पद्मासनासीन स्वयभूर्भगवान् नाभिसूनुः । तदनया दर्शनप्रभावनया तीर्णः पाराञ्चिताम्भोनिधिरिति विमुच्य रक्ताम्बराणि प्रकटीकृत्य मुखवस्त्रिकारजोहरणादिलिङ्गानि महाराजं धर्माङ्कुरैराशीर्वादयांचक्रे वादीन्द्र. । ततो विनयपुरस्सर-

" सूरये सिद्धसेनाय, दूरादुच्छ्रितपाणये ।
धर्मलाभ इति प्रोक्ते, ददौ कोटिं नराधिप " ॥ १ ॥

तत प्रभूत क्षमयित्वा नृपति' स्तुतिमकार्षीत् । यथा-

"उद्व्यूढपाराञ्चितसिद्धसेन-दिवाकराचार्यकृतप्रतिष्ठ. ।
श्रीमान् कुटुम्बेश्वरनाभिसूनु-र्देवः शिवायास्तु जिनेश्वरो नः" १ ।

ततो भगवतो भट्टश्रीदिवाकरसूरेर्देशनया सञ्जीविनीचारिचरकन्यायितस्वाभाविकभद्रतया विशेषत' सम्यक्त्वमूलां देशविरतिं प्रत्यपादि श्रीविक्रमादित्य. । ततश्च गोह्रदमण्डले सांबराप्रभृतिग्रामाणामेकनवतिं, चित्रकूटमण्डले वसाडप्रभृतिग्रामाणां चतुरशीतिं, तथा घुण्टरेसीप्रभृतिग्रामाणां चतुर्विंशतिमाहेरुवासकमण्डले ईसरोडाप्रभृतिग्रामाणां षट्पञ्चाशतं श्रीकुटुम्बेश्वरऋषभदेवाय शासनेन स्वानि श्रेयसार्थमदात् । ततः शासनपट्टिकां श्रीमदुज्जयिन्यां सवत् १ चैत्र सुदि १ गुरुभाट० देशीयमहाक्षपटलिकपरमार्हतश्वेताम्बरोपासकब्राह्मणगौतमसुतकात्यायनेन राजाऽलेखयत्, तत श्रीकुटुम्बेश्वर ऋषभदेवः प्रकटीभवति । तद्दिनात् प्रभृति सर्वात्मना मिथ्यात्वोच्छेदेन सर्वानपि जटाधरादीन् दर्शनिनः श्वेताम्बरान् कारयित्वा परिमुक्तमिथ्यादृष्टिदेवगुरुः सकलामप्यवन्तीं जैनमुद्राङ्किता चकार । तत. परितुष्टे श्रीसिद्धसेनसूरिभिरभिदधौ वसुधाधवः-

" पुण्णे वाससहस्से, सयम्मि अहिअम्मि नवनवइकालिए ।
होही कुमरनरिंदो, तुह विक्कमराय ! सारिच्छो " ॥ १ ॥

इत्थ ख्यातिं सर्वजगत्पूज्यतां चोपगत. श्रीकुटुम्बेश्वरो युगादिदेव इति ।

" कुटुम्बेश्वरदेवस्य, कल्पमेतं यथाश्रुतम् ।
रचिर रचयांचक्रु', श्रीजिनप्रभसूरय ' ॥ १ ॥ ती० ४६ कल्प ।

कुडुंभग-कुटुम्भक-पु० । जलमण्डूके, " कुडुभओ जलमडूओ भण्णति " नि० चू० १ उ० ।

कुडुकायरिय-कुटुकाचार्य-पु० । स्वनामख्याते दार्शनिकपण्डिते, अने० २ अधि० ।

कुडुल्ली-कुटिका-स्त्री० । अल्पकुट्याम्, "एक्क कुडुल्ली पंचहि रुद्धी, तहं पचहं वि जुअजुअ बुद्धी । " प्रा० ४ पाद ।

कुड्ड-कुड्य-न० । 'कुड्' कार्कश्ये ण्यत् । कौनिरन्त्याऽ०यक्,रुगागमश्च इत्युज्ज्वलदत्त । वाच० । प्राकृते-" अधो मनयाम् " ८ । २ । ७८ । इति यलुक् । प्रा २ पाद । " गोणादय " । ८ । २ । १७४ । इति वा निपात । प्रा० २ पाद । मृत्पिण्डादिनिर्मिते, बृ० २ उ० । पाषाणरचिते. उत्त० १६ अ० । खटिकादिरचिते, उत्त० २ अ० । भित्तिशब्दार्थे, उत्त० २५ अ० । म० । " कुड्डा सा भासा कुड्ड गिह " नि० चू० ८ उ० । विलेपने, कौतूहले, स्वार्थे के भित्तौ, वाच० ।

कुड्डंतर-कुड्यान्तर-न० । कुड्यमध्ये, " कुड्डनरपुव्वकीलिअपणीए" । इति कुड्यान्तर पञ्चमब्रह्मचर्यविषय । आव० ४ अ० ।

यत्रान्तरस्थेऽपि कुड्यादौ दम्पत्योः सुरतादिशब्दः श्रूयते तत्त्यागः । ध० ३ अधि० । प्रश्न० ।

कुढ--कुठ-पुं० । 'कुठ' छेदने घञर्थे कर्मणि कः । "ठो ढः" । ८ । १ । १९९ । इति ठस्य ढः । प्रा० १ पाद । वृक्षे, वाच० ।

कुढार--कुठार--पुं० । स्त्री० । कुठ करणे आरन् । "ठो ढः" । ८ । १ । १९९ । इति ठस्य. ढ. । प्रा० १ पाद । परशौ, अनु० । स्त्रीत्वे गौरा० ङीष् । वाच० । परशु-पर्शु-स्वधितिपर्यायाः । वाच० ।

कुढाल--कुठार-पुं० । स्त्री० । कुढारशब्दोक्तार्थे, अनु० ।

कुण--कृ-धा० । करणे "कृगेः कुणः" । ८ । ४ । ६५ । कृगेः कुण इत्यादेशो वा भवति । "व्यञ्जनाददन्ते" । ८ । ४ । २३९ । इत्यन्तेकारः । प्रा० ४ पाद । कुणइ, करइ, करोति ।

कुणंत--कुर्वत्--त्रि० । विदधति, जी० १ प्रति० ।

कुणक्क--कुणक-पु० । कुहणवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १पद । आचा० ।

कुणमाण--कुर्वत्--त्रि० । विदधाति, " पुढवाइयाणाइवायं कुणमाणे सवले" । आव० ४ अ० । आचा० ।

कुणव--कुणप--पुं० । क्वण-कपन् सम्प्र० । " पो वः । " । ८ । १ । २३१ । इति पस्य वः । प्रा० १ पाद । त्यक्तप्राणे, मृतदेहे, शवे, पूतिगन्धे, अस्त्रभेदे, वाच० ।

कुणाल--कुणाल--पुं० । श्रेणिकसुतकोणिकसुतोदायिपट्टोदितनवनन्दपट्टोद्भूतचन्द्रगुप्तसुतबिन्दुसारसुताऽशोकश्रीसुते, कल्प० । यस्य पुत्र. सम्प्रतिनामा परमार्हतोऽभूत् । कल्प० ८ क्षण । तस्यान्धीभूतत्वे कथानकं चेदम्--पाटलीपुत्रनामनगरे मौर्यवंशसमुद्भवोऽशोकश्रीर्नाम भूपाल. । तस्य चैकस्या राज्ञ्या. कुणालनामा तनयः समुत्पन्न. । तस्य च भुक्तौ उज्जयिनी नगरी नरपतिना प्रदत्ता । ततश्च सातिरेकाष्टवार्षिके तस्मिन् कुमारे लेखवाहकेनागत्य अशोकश्रीराजाय निवेदितम्, यथा-एतावति वयसि वर्त्तते युष्मत्पुत्र । ततश्चान्तःपुरोपविष्टेन भूपतिना स्वहस्तेनैव लिखित. कुमाराय लेख' । तस्य तत्र चेदमलेखि-'यथेदानीमधीयतां कुमारः' । त च लेखमसंवर्तितमेव मुक्त्वा शरीरचिन्तार्थमुत्थितो नरनाथ । ततश्चैकया राज्ञ्या गृहीत्वा वाचितोऽसौ लेख. । चिन्तितं च यथा-ममापि विद्यते पुत्रः, केवलं लघुरसौ, महांश्च कुणाल, तन्नस्तस्मिन् राज्ययोग्यतां बिभ्रति न मदीयपुत्रस्य राज्याऽऽवाप्ति., ततस्तथा करोमि यथा कुणालो राज्यस्याऽयोग्यो भवति, अवसरश्चायम् । इति विचिन्त्य निष्ठीवनार्द्रीकृतया हस्तस्थितनयनाञ्जनशलाकयाऽकारस्योपरि प्रदत्तो बिन्दु. । जात च ततो 'अन्धीयतां कुमार.' । ततस्तथैव राज्ञ्या मुक्तस्तत्रैव प्रदेशे लेखः । राज्ञाऽपि कथमपि पुनरवाचित एव संवर्तितोऽसौ । गतश्च कुमारसमीपम् । अवधारितश्च केनापि नियोगिना, अप्रकटश्च विरुद्ध इति मत्वा न वाचित. । कुमारनिर्बन्धे च वाचितः । ततो विज्ञातलेखार्थेन प्रोक्त कुमारेण-मौर्यवंशोद्भवानामस्माकमाज्ञां भुवनेऽपि न कश्चित् खण्डयति, तत. किमहमेव तातस्याज्ञां लङ्घयिष्यामि ?, न भवत्येवैतदित्युक्त्वा तत्क्षण एवाग्नितप्तां लोहशलाकां गृहीत्वा मुक्ताहारवे सर्वस्मिन्नपि परिजने निवारयत्यञ्जिते अक्षिणी, जातश्चान्धः । ततो विज्ञातसमस्तैतद्व्यतिकरो राजा महान्त खेद विधाय कुणालस्योज्जयिनीमुत्सार्यान्यत्र किमप्यन्यग्राममात्रं दत्तवान् । तत्र च स्थितेन कुणालकुमारेण शिक्षिता अंवती गीतकला । पुत्रश्चान्यदा तस्य समुत्पन्नः । ...वाप्तिनिमित्तं गतः पाटलीपुत्रं नगरं कुणालः । ...च तन्नगरनिवासी समस्तोऽपि लोकस्तेन गीतकलया । ...च तत्प्रसिद्धिः । भूपालान्तिकं नीतश्चासौ । तत्र कृतं च ...कान्तरे तेन गीतमतीवाऽऽक्षिप्तश्च जगाद पृथिवीपति. भोः ! प्रयच्छामि तव समीहितम् । ततः पठितं कुणालेन-

> चंदगुत्तपपुत्तो उ, बिंदुसारस्स नत्तुओ ।
> असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागणिं ॥ ८६२ ॥

अस्याऽयं भावार्थः-पाटलीपुरनगरे चाणक्यप्रतिष्ठितो मौर्यः प्रथम किल चन्द्रगुप्तो राजा बभूव । ततस्तत्पुत्रो बिन्दुसार समभूत् । तदनन्तरं तु तत्पुत्रोऽशोकश्रीर्जात. । तस्य चान्धोऽसौ कुणालः पुत्रः । एवं च सत्येष चन्द्रगुप्तस्य प्रपौत्र', बिन्दुसारस्य तु नप्तृकः पौत्रः, अशोकश्रीनृपतेस्तु पुत्रः, 'काकणिं' क्षत्रियभाषया राज्य याचत इति । ततो यवनिकापगमं कारयित्वा किञ्चित्सकौतुकेन राज्ञा सविशेषं पृष्ट' सर्वमपि स्वव्यतिकरं कुणालः कथयामास । ततः पृथिवीपतिना पृष्ट -अन्धस्त्वं राज्येन किं करिष्यसि ? । तेन प्रोक्तम्-देव ! मम राज्यार्ह. पुत्र उत्पन्नो वर्तते । राज्ञा प्रोक्तम-कदा ? । कुणालः प्राह-सम्प्रति । तत् सम्प्रतिरित्येव तस्य नाम प्रतिष्ठितम् । राज्यं च तस्मै प्रदत्तमिति । तदेव यथैकारस्योपर्येकेनाप्यधिकेन बिन्दुना कुमारस्य नेत्रापायो जात. तथा सूत्रेऽपि बिन्द्वाद्याधिक्यादर्थान्तरप्राप्त्या सर्वानर्थसम्भव इति भावनीयमिति । ८६२ । विशे० । बृ० । आचार्यजिनदेवसत्कभदन्तमित्रस्य भ्रातरि, आव० ४ अ० । ('पणिहि'शब्दे कथा)

कुणालणयर--कुणालनगर--न० । उज्जयिन्याम, " आसी कुणालनगरे रायनामेण वेसमणदासो । " कुणालनगरे उज्जयिन्यामित्यर्थः । संथा० ।

कुणाला--कुणाला--स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, "कालाख्ये नरकावासे, संजायेते स्म नारकौ । कुणालाया विनाशस्य, कालाद् वर्षे त्रयोदशे" । आ०क० । आ० म० । ऐरावतीनाम नदी कुणालाया नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोदकं वहति, बृ० ४ उ० । ग० । उत्तरस्यां दिशि आर्यजनपदभेदे, बृ० १ उ० । यत्र श्रावस्ती नगरी । प्रव० २७४ द्वार । स्था० । "तेणं कालेणं कुणाला नाम जणवए होत्था तत्थ ण रुप्पी णामं राया होत्था " ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० ।

कुणि--कुणि--पु० । कुण-इन् । तुन्दुवृक्षे, वाच० । गर्भाधानदोषाद् ह्रस्वैकपादे न्यूनैकपाणौ कुण्टे, प्रश्न० ५ सव० द्वार । आचा० । पादविकले, बृ० १ उ० ।

कुणिआ--देशी-वृत्तिविवरार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुणिम--कुणप--न० । पुं० । मांसे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । उपा० । औ० । व्य० । पिं० । सूत्र० । शवे, तद्रसे वसादौ, प्र० ७ श० ६ उ० । अनु० । प्रश्न० । " ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति त्ति" । कुणिमे रुधिरादाकुले । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दी० । मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिफिसकश्मलाकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दावधीरितदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कुणिमाहार-कुणपाहार-पुं० । कर्मधारयसमासः । मांसभोजने, भ० ८ श० ६ उ० । कुणपः शवस्तद्रसोऽपि वसादि कुणपं, तदाहारः । मृतकभक्षके, भ० ७ श० ६ उ० । जं० ।

कुतक्क-कुतर्क-पुं० । कुयुक्तौ, अष्ट० १६ अष्ट० ।

अथ कुतर्कत्यागशिक्षिका-

जीयमानेऽत्र राज्ञीव, चमूचरपरिच्छदः ।
निवर्त्तते स्वतः शीघ्रं, कुतर्कविषमग्रहः ॥ १ ॥

(जीयमान इति) जीयमानेऽत्राऽऽवेशसंपादके महामिथ्यात्वनिबन्धने चक्रवर्त्यादिरागाद्ये स्वतः परप्रयत्नेनापरोपदेशेन शीघ्रम्, कुतर्क एव विषमग्रहो दुरपायहेतुत्वेन दुर्ग्रहः, कुतर्कस्य विषमग्रहः कुटिलावेशरूपो विनिवर्त्तते । राजनि जीयमान इव चमूचरपरिच्छदः ॥ १ ॥

शमाऽऽरामानलज्वाला, हिमानी ज्ञानपङ्कजे ।
श्रद्धाशल्यं स्मयोल्लासः, कुतर्कः सुनयार्गला ॥ २ ॥
कुतर्केऽभिनिवेशस्तद्, न युक्तो मुक्तिमिच्छताम् ।
युक्तः पुनः श्रुते शीले, समाधौ शुद्धचेतसाम् ॥ ३ ॥
उक्तं च योगमार्गज्ञै-स्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भाविशोगिहितायोच्चै-र्मोहदीपसमं वचः ॥ ४ ॥
वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥ ५ ॥
विकल्पकल्पनाशिल्पं, प्रायोऽविद्याविनिर्मितम् ।
तद्योजनात्मकश्चायं, कुतर्कः किमनेन तत् ? ॥ ६ ॥

शमेति स्पष्टम् ॥ २ ॥ (कुतर्क इति) श्रुते आगमे, शीले परद्रोहविरतिलक्षणे, समाधौ ध्यानफलभूते ॥ ३ ॥ (उक्तं चेति) उक्तं च निरूपितं पुनर्योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिस्तपसा निर्धूतकल्मषैः प्रशमप्रधानेन तपसा क्षपितमार्गानुसारित्वोपघातकमोहमलैर्भाविशोगिहिताय भविष्यद्वियोगबद्धुमकालिकत्वयोगिहितार्थम्, उच्चैरत्यर्थं, मोहदीपसमं मोहान्धकारप्रदीपस्थानीयं, वचो वचनम् ॥ ४ ॥ (वादांश्चेति) वादांश्च पूर्वपक्षरूपान् प्रतिवादांश्च परोपन्यस्तपक्षप्रतिवचनरूपान्, वदन्तो ब्रुवाणा, निश्चितान् असिद्धानैकान्तिकादिहेत्वाभासनिरासेन । तथा तेन प्रकारेण तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेन सर्वेऽपि दर्शनिनो मुमुक्षवोऽपि, तत्त्वान्तमात्माद्दितत्त्वप्रसिद्धिरूपं, न नैव, गच्छन्ति प्रतिपद्यन्ते, तिलपीलकवत्तिलपीलक इव निरुद्धाऽक्षिसञ्चारस्तिलयन्त्रवाहनपरः । यथा ह्ययं नित्यं भ्राम्यन्नपि निरुद्धाक्षतया न तत्परिमाणमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवेशान्धाः विचित्रं वदन्तोऽपि नोच्यमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्त इति ॥५॥ (विकल्पेति) विकल्पाः शब्दविकल्पा अर्थविकल्पाश्च,तेषां कल्पनारूपं शिल्पं, प्रायो बाहुल्येनाऽविद्याविनिर्मितं ज्ञानावरणीयादिकर्मसंपर्कजनितं, तद्योजनात्मकस्तद्घटकव्यापारात्मा चायं कुतर्कस्तत्किमनेन मुमुक्षुणा,दुष्टकारणप्रभवस्य सत्कार्याहेतुत्वात् ।६।

जातिप्रायश्च बाध्योऽयं, प्रकृतान्यविकल्पनात् ।
हस्ती हन्तीति वचने, प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥ ७ ॥
स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽत्रापि च तत्त्वतः ।
नार्वाग्दृग्ज्ञानगम्यत्व-मन्यथाऽन्येन कल्पनात् ॥ ८ ॥

(जातिप्रायश्चेति) जातिप्रायश्च दूषणाभासकल्पश्च, बाध्यः प्रतीतिफलाभ्यामयं कुतर्कः । प्रकृतान्यस्योपादेयातिरिक्तस्याऽप्रयोजनस्य वस्तुमात्रस्य विकल्पनात्, हस्ती हन्तीति वचने हस्त्यारूढेनोक्ते प्राप्ताप्राप्तविकल्पवच्छैक्षविकल्पनस्य, यथा ह्ययमित्थं प्रकारं प्रति किमयं हस्ती प्राप्तं व्यापादयत्युताप्राप्तम् ? । आद्ये त्वामपि व्यापादयेदन्त्ये च जगदपीति विकल्पयन्नेव तस्मिन्ना गृहीतो मिण्ठेन कथमपि मोचितः,तथा तथाविधविकल्पकारी तत्तद्दर्शनस्थोऽपि कुतर्कहस्तिना गृहीतः सद्गुरुमिण्ठेनैव मोच्यत इति ॥ ७ ॥ (स्वभावेऽति) एष कुतर्कः स्वभावोत्तरपर्यन्तः, अत्र च "वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्" इति वचनात् । अत्रापि च स्वभावेनार्वाग्दृशामदृश्यस्य ज्ञानगम्यत्वं तत्त्वतः । अन्यथा कल्पनाशैलेन वादिना स्वभावस्याऽन्येनान्यथा-कल्पनात् ॥ ८ ॥

तथाहि—

अपां दाहस्वभावत्वे, दर्शिते दहनान्तिके ।
विप्रकृष्टेऽप्ययस्कान्ते, स्वार्थशक्तेः किमुत्तरम् ? ॥ ९ ॥
दृष्टान्तमात्रसौलभ्या-त्तदयं केन बाध्यताम् ।
स्वभावबाधने नालं, कल्पनागौरवादिकम् ॥ १० ॥

(अपामिति) अपां जलस्य स्वभावत्ववादिना परेण दहनान्तिके दाहस्वभावत्वे दर्शिते अयस्कान्ते विरोधपरिहाराद् विप्रकृष्टेऽप्ययस्कान्ते स्वार्थदाने लोहाकर्षणशक्तौ विप्रकर्षणमात्रस्याप्रयोजकत्वात् किमुत्तरम् ? । अयमावादिना स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वातिशेषस्यापि निगमात् । तदुक्तम्-

" अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बु, सन्निधौ दहतीति च ।
अयस्कान्तसिधौ तस्या-भाव्यादित्युदिते तयोः ॥ १ ॥
कोशपानादृते ज्ञानो-पायो नास्त्यत्र युक्तितः ।
विप्रकृष्टोऽप्ययस्कान्तः, स्वार्थकृद् दृश्यते यतः " ॥ २ ॥

(दृष्टान्तेति) दृष्टान्तमात्रस्य सौलभ्यात्तत्साधनमन्यथा स्वभावविकल्पकः कुतर्कः केन बाध्यताम् ? । अग्निसन्निधावपां दाहस्वभावत्वे कल्पनागौरवं बाधकं स्यादित्यत आह-स्वभावस्योपपत्तिसिद्धस्य बाधने कल्पनागौरवादिकं नालं न समर्थं, कल्पनासहस्रेणाऽपि स्वभावस्यान्यथाकर्त्तुमशक्यत्वात् । अत एव न कल्पनालाघवेनापि स्वभावान्तरं कल्पयितुं शक्यमिति द्रष्टव्यम् । अथ स्वस्य भावोऽनागन्तुको धर्मो नियतकारणत्वादिरूप एव, स च कल्पनालाघवज्ञानेन गृह्यते,अन्यथागृहीतश्च कल्पनागौरवज्ञानेन त्यज्यतेऽपीति चेन्न,गौरवेऽपि अप्रामाणिकत्वस्य दुर्भेदत्वात्प्रामाणिकस्य च गौरवादेरप्यदोषत्वादिति दिक् ॥ १० ॥

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञान-निदर्शनबलोत्थितः ।
धियां निरालम्बनतां, कुतर्कः साधयत्यपि ॥ ११ ॥
तत् कुतर्केण पर्याप्त-मसमञ्जसकारिणा ।
अतीन्द्रियार्थसिद्ध्यर्थं नावकाशोऽस्य कुत्रचित् ॥ १२ ॥

(द्विचन्द्र इति) द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाने एव निदर्शने उदाहरणमात्रे तद्बलादुत्थितः कुतर्कः धियां सर्वज्ञानानां,निरालम्बनतामलीकविषयतामपि साधयति ॥ ११ ॥ (तदिति) तदसमञ्जसकारिणा प्रतीतिबाधितार्थसिद्ध्यनुधाविना पर्याप्तं कुतर्केण, अ-

तीन्द्रियार्थानां धर्मार्थानां सिद्ध्यर्थं नास्य कुतर्कस्य कुत्रचिदवकाशः ॥ १२ ॥

शास्त्रस्यैवाऽवकाशोऽत्र, कुतर्काग्रहतस्ततः ।
शीलवान् योगवानत्र, श्रद्धावाँस्तत्त्वविद् भवेत् ॥ १३ ॥
तत्त्वतः शास्त्रभेदश्च, न शास्तॄणामभेदतः ।
मोहस्तदधिमुक्तीनां, तद्भेदाश्रयणं ततः ॥ १४ ॥

(शास्त्रस्येति) अत्रातीन्द्रियार्थसिद्धौ शास्त्रस्यैवावकाशः, तस्यातीन्द्रियार्थसाधनसमर्थत्वाच्छुष्कतर्कस्यातथात्वात् । तदुक्तम्-"गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः । चन्द्रसूर्योपरागादि संवाद्यागमदर्शनात्" ॥१॥ ततस्तस्मात् कुतर्काग्रहतोऽत्र शास्त्रे श्रद्धावान् शीलवान् परद्रोहविरतियोगवान् सदायोगतत्परः तत्त्ववित्सर्वातीन्द्रियार्थदर्शी भवेत् ॥ १३ ॥ ननु शास्त्राणामपि भिन्नत्वात्कथं शास्त्रश्रद्धाऽपि स्यादित्यत आह-(तत्त्वत इति) तत्त्वतो धर्मवादापेक्षया तात्पर्यग्रहाच्छास्त्रभेदश्च नास्ति । शास्तॄणां धर्मप्रणेतॄणामभेदतः तत्तन्नयापेक्षदेशनाभेदेनैव स्थूलबुद्धीनां तद्भेदाभिमानात् । अत एवाह-ततस्तस्मात्तदधिमुक्तीनां शास्तृश्रद्धावतां तद्भेदाश्रयणं शास्तृभेदाङ्गीकरणं मोहोऽज्ञान,निर्दोषत्वेन सर्वेषामैकरूप्यात् । तदुक्तम्-" न तत्त्वतो भिन्नमताः, सर्वज्ञा बहवो यतः । मोहस्तदधिमुक्तीनां, तद्भेदाश्रयण ततः " ॥ १ ॥ १४ ॥

सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्-प्रतिपत्तिश्च यावताम् ।
सर्वेऽपि ते तमापन्नाः, मुख्यं सामान्यतो बुधाः ॥ १५ ॥
न ज्ञायते विशेषस्तु, सर्वथाऽसर्वदर्शिभिः ।
अतो न ते तमापन्नाः, विशिष्य भुवि केचन ॥ १६ ॥

(सर्वज्ञ इति) सर्वज्ञो मुख्यस्तात्त्विकाराधनाविषय एकः,सर्वज्ञत्वजात्यविशेषात् । तदुक्तम्-"सर्वज्ञो नाम यः कश्चित्, पारमार्थिक एव हि । स एक एव सर्वत्र,व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः" ॥१॥ तत्प्रतिपत्तिः सर्वज्ञभक्तिश्च यावतां तत्तद्दर्शनस्थानां ते सर्वेऽपि बुधास्तं सर्वज्ञं मुख्यं सामान्यतो विशेषानिर्णयेऽप्यापन्ना आश्रिताः, निरतिशयितगुणवत्त्वेन प्रतिपत्तेर्वस्तुतः सर्वज्ञविषयकत्वाद् गुणवत्ताऽवगाहनेनैव तस्या भक्तित्वाच्च । यथोक्तम्-"प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य, सामान्येनैव यावताम् । ते सर्वेऽपि तमापन्नाः, इति न्यायगतिः परा " ॥ १ ॥१५॥ (नेति) विशेषस्तु सर्वज्ञज्ञानादिगतभेदस्तु असर्वदर्शिभिश्छद्मस्थैः, सर्वथा सर्वैः प्रकारैः, न ज्ञायते अतो न ते सर्वज्ञाभ्युपगन्तारस्तं सर्वज्ञमापन्ना आश्रिताः, विशिष्य भुवि पृथिव्यां केचन । तदुक्तम्-"विशेषस्तु पुनस्तस्य, कार्त्स्न्येनासर्वदर्शिभिः सर्वैर्न ज्ञायते तेन, तमापन्नो न कश्चन" ॥ १ ॥ १६॥

अतः सामान्यप्रतिपत्त्यंशेन सर्वयोगिषु परिशिष्टा
तुल्यतैव भावनीयेत्याह-

सर्वज्ञप्रतिपत्त्यंश-माश्रित्याऽमलया धिया ।
निर्व्याजं तुल्यता भाव्या, सर्वतन्त्रेषु योगिनाम् ॥ १७ ॥

अवान्तरभेदस्तु सामान्याविरोधीत्याह-

दूराऽसन्नादिभेदोऽपि, तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ।
एको नामादिभेदेन, भिन्नाचारेष्वपि प्रभुः ॥ १८ ॥

(सर्वज्ञेति) सर्वज्ञे प्रतिपत्त्यंशमाश्रित्य, अमलया रागद्वेषमलरहितया धिया बुद्ध्या निर्व्याजमौचित्येन सर्वलोकपालनपरतया तुल्यता भाव्या, सर्वतन्त्रेषु सर्वदर्शनेषु योगिनां मुमुक्षूणाम् । तदुक्तम्-"तस्मात्सामान्यतोऽप्येन-मभ्युपैति य एव हि । निर्व्याजं तुल्य एवासौ, तेनांशेनैव धीमता " ॥१॥१७॥ (दूरेति) दूराऽऽसन्नादिभेदस्तु तद्भृत्यत्वं सर्वज्ञोपासकत्वं न निहन्ति,एकस्य राज्ञो नानाविधप्रतिपत्तिकृतामपि एकभृत्यत्वाविशेषवत् प्रकृतोपपत्तेः । भिन्नाचारेष्वपि तथाधिकारभेदेन नानाविधानुष्ठानेष्वपि योगिषु नामादीनामर्हदादिसंज्ञादीनां भेदेन एकः प्रभुरुपास्यः । तदुक्तम्-

" यथैवैकस्य नृपते-र्बहवोऽपि समाश्रिताः ।
दूरासन्नादिभेदेऽपि, तद्भृत्याः सर्व एव ते ॥ १ ॥
सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन, तथा सर्वज्ञवादिनः ।
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेयाः, भिन्नाचारस्थिता अपि ॥२॥
न भेद एव तत्त्वेन, सर्वज्ञानां महात्मनाम् ।
तथा नामादिभेदेऽपि, भाव्यते तन्महात्मभिः " ॥३॥ १८ ॥

देवेषु योगशास्त्रेषु, चित्राचित्रविभागतः ।
भक्तिवर्णनमप्येवं, युज्यते तदभेदतः ॥ १९ ॥
संसारिषु हि देवेषु, भक्तिस्तत्कायगामिनाम् ।
तदतीते पुनस्तत्त्वे, तदतीतार्थयायिनाम् ॥ २० ॥

(देवेष्विति) एवमिष्टाऽनिष्टनामभेदेऽपि,तदभेदतः तत्त्वतः सर्वज्ञाभेदात्,योगशास्त्रेषु सौवाध्यात्मचिन्ताशास्त्रेषु देवेषु लोकपालमुक्तादिषु चित्राचित्रविभागतो भक्तिवर्णनं युज्यते । तदुक्तम्-" चित्राचित्रविभागेन, यच्च देवेषु वर्णिता । भक्तिः सयोगशास्त्रेषु, ततोऽप्येवमिदं स्थितम् " ॥१॥१९॥ (संसारिष्विति) संसारिषु हि देवेषु लोकपालादिषु भक्तिः सेवा तत्कायगामिनां संसारिदेवकायगामिनाम्, तदतीते पुनः संसारातीते तु तत्त्वे तदतीतार्थयायिनां संसारातीतमार्गगामिनां योगिनां भक्तिः ॥ २० ॥

चित्रा चाद्येषु तद्राग-तदन्यद्वेषसङ्गता ।
अचित्रा चरमे त्वेषा, शमसाराऽखिलैव हि ॥ २१ ॥
इष्टापूर्त्तानि कर्माणि, लोके चित्राऽभिसन्धितः ।
फलं चित्रं प्रयच्छन्ति, तथाबुद्ध्यादिभेदतः ॥ २२ ॥

(चित्रा चेति) चित्रा च नानाप्रकारा च, आद्येषु सांसारिकेषु देवेषु तद्रागतदन्यद्वेषाभ्यां स्वाभीष्टदेवतारागानभीष्टद्वेषाभ्यां सङ्गता युक्ता,मोहगर्भत्वात् । अचित्रा एकाकारा चरमे तु तदतीते तु,एषा भक्तिः,शमसारा शमप्रधानाऽखिलैव हि तथासम्मोहाभावादिति ॥२१॥ (इष्टापूर्त्तानीति) इष्टापूर्त्तानि कर्माणि लोके चित्राऽभिसन्धितः संसारिदेवस्थानादिगतविचित्राध्यवसायात् मृदुमध्याधिमात्ररागादिरूपात्, तथा बुद्ध्यादीनां वक्ष्यमाणलक्षणानां भेदतः फलं चित्रं नानारूपं प्रयच्छन्ति, विभिन्नानां नगराणामिव विभिन्नानां संसारिदेवस्थानानां प्राप्तेरुपायस्यानुष्ठानस्याभिसन्ध्यादिभेदेन विचित्रत्वात् । तदुक्तम्-

" संसारिणां हि देवानां, यस्माच्चित्राण्यनेकधा ।
स्थित्यैश्वर्यप्रभावाद्यैः, स्थानानि प्रतिशासनम् ॥ १ ॥
तस्मात्साधनोपायो, नियमाच्चित्र एव हि ।
न भिन्ननगराणां स्या-देकं वर्त्म कदाचन" ॥ २ ॥ २२ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह-स्त्रिविधो वोध इष्यते ।
रत्नोपलम्भतज्ज्ञान-तत्प्राप्तिनिदर्शनात् ॥ २३ ॥
आदरः करणे प्रीति-रविघ्नः संपदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च, सदनुष्ठानलक्षणम् ॥२४॥

(बुद्धिरिति) बुद्धिस्तथाविधोहरहितं शब्दार्थश्रवणमात्रज ज्ञानम्। यदाह-"इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिः","ज्ञानं तथाविधोहेन गृहीतार्थतत्त्वपरिच्छेदनम्। तदाह-"ज्ञानं त्वागमपूर्वकम्"। असंमोहो-हेयोपादेयत्यागोपादानोपहितं ज्ञानम्। यदाह-"सदनुष्ठानवच्चैत-दसंमोहोऽभिधीयते।" एवं त्रिविधो वोध इष्यते स्वस्वपूर्वाणां कर्मणां भेदसाधकः"तद्भेदात्सर्वकर्माणि,भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम्" इति वचनात्। रत्नोपलम्भतज्ज्ञान-तत्प्राप्तीनां निदर्शनात्। यथा ह्युपलम्भादिभेदाद् रत्नग्रहणभेदस्तथा प्रकृतेऽपि बुद्ध्यादिभेदादनुष्ठानभेद इति ॥२३॥ (आदर इति) आदरो यत्नातिशय इष्टार्थे करणे प्रीतिरभिष्वङ्गात्मिका अविघ्नः करण एवादृष्टसामर्थ्यादपायाभावः संपदागमस्तत एव शुभसम्भवपुण्यसिद्धेः जिज्ञासा इष्टादिगोचरा तज्ज्ञसेवा चेष्टादिज्ञसेवा, चशब्दात्तदनुग्रहः। एतत्सदनुष्ठानलक्षणं तदनुबन्धसारत्वात् ॥ २४ ॥

भवाय बुद्धिपूर्वाणि, विपाकविरसत्वतः ।
कर्माणि ज्ञानपूर्वाणि, श्रुतशक्त्या च मुक्तये ॥ २५ ॥
असंमोहसमुत्थानि, योगिनामाशु मुक्तये ।
भेदेऽपि तेषामेकोऽध्वा, जलधौ तीरमार्गवत् ॥२६॥

(भवायेति) बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि स्वकल्पनाप्राधान्याच्छास्त्रविवेकानादरात् विपाकस्य विरसत्वतो भवाय संसाराय भवन्ति। तदुक्तम्-"बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि,सर्वाण्येवेह देहिनाम्। संसारफलदान्येव, विपाकविरसत्वतः" ॥१॥ ज्ञानपूर्वाणि च तानि तथाविवेकसम्पत्तिजनितया श्रुतशक्त्याऽमृतशक्तिकल्पया मुक्तये निःश्रेयसाय। यदुक्तम्-"ज्ञानपूर्वाणि तान्येव, मुक्त्यङ्गं कुलयोगिनाम्। श्रुतशक्तिसमावेशा-दनुवन्धफलत्वतः" ॥ १ ॥ २५॥ (असंमोहेति) असंमोहसमुत्थानि तु कर्माणि योगिनां भवातीतार्थयायिनामाशु शीघ्रं न पुनर्ज्ञानपूर्वकवदभ्युदयलाभव्यवधानेऽपि मुक्तये भवन्ति। यथोक्तम्-

"असंमोहसमुत्थानि, त्वेकान्तपरिशुद्धितः ।
निर्वाणफलदान्याशु, भवातीतार्थयायिनाम् ॥ १ ॥
प्राकृतेष्विह भावेषु, येषां चेतो निरुत्सुकम् ।
भवभोगविरक्तास्ते, भवातीतार्थयायिनः" ॥२॥

भेदेऽपि गुणस्थानपरिणतितारतम्येऽपि तेषां योगिनामेकोऽध्वा एक एव मार्गः, जलधौ समुद्रे तीरमार्गवद् दूरासन्नादिदिग्भेदेऽपि तत्त्वतस्तदैक्यात्। प्राप्यस्य मोक्षस्य सदाशिवपरब्रह्मसिद्धात्मतथतादिशब्दैर्वाच्यस्य शाश्वतशिवयोगातिशयितसद्भावाद्व्यवनबृहत्त्वबृहकत्वनिष्ठितार्थत्वाकालतथाभावाद्यर्थाभेदेनैकत्वात्तन्मार्गस्यापि तथात्वात्। तदुक्तम्-

"एक एव तु मार्गोऽपि, तेषां शमपरायणः ।
अवस्थाभेदभेदेऽपि, जलधौ तीरमार्गवत् ॥ १ ॥
संसारातीततत्त्वं तु, परं निर्वाणसञ्ज्ञितम् ।
तद्ध्येकमेव नियमा-च्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ २ ॥
सदाशिवः परब्रह्म, सिद्धात्मा तथतेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्था-देकमेवैवमादिभिः ॥ ३ ॥
तल्लक्षणाविसंवादा-न्निराबाधमनामयम् ।
निष्क्रियं च परं तत्त्वं, यतो जन्माद्ययोगतः ॥ ४ ॥
ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्, न संमोहेन तत्त्वतः ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ, विवाद उपपद्यते" ॥ ५ ॥ २६ ॥

तस्मादचित्रभक्त्याऽऽप्याः, सर्वज्ञा न भिदामिताः ।
चित्रा गीर्भववैद्यानां, तेषां शिष्यानुगुण्यतः ॥ २७ ॥
तयैव बीजाधानादे-र्यथाभव्यमुपक्रिया ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्या-देकस्या वापि भेदतः ॥ २८ ॥
चित्रा वा देशना तत्त-न्नयैः कालादियोगतः ।
यन्मूला तत्प्रतिक्षेपो-ऽयुक्तो भावमजानतः ॥ २९ ॥

(तस्मादिति) तस्मात्सर्वेषां योगिनामेकमार्गगामित्वाद् अचित्रभक्त्या एकरूपया भक्त्या,आप्याः प्राप्याः सर्वज्ञा न भिदामिता न भेद प्राप्ताः। तदुक्तम्-"सर्वज्ञपूर्वकं चैत-न्नियमादेव यत् स्थितम्। आसन्नोऽयमृजुर्मार्ग-स्तद्भेदस्तत्कथं भवेत्" ॥१॥ कथं तर्हि देशनाभेदः? इत्यत आह-तेषां सर्वज्ञानां भववैद्यानां संसाररोगभिषग्वराणां चित्रा नानाप्रकारा, गीः शिष्यानुगुण्यतो विनेयाभिप्रायानुरोधात्; यथा वैद्या बालादीन् प्रति नैकमौषधमुपदिशन्ति,किं तु यथायोग्यं विचित्रं, तथा कपिलादीनामपि कालान्तरापायभीरून् शिष्यानधिकृत्योपसर्जनीकृतपर्याया द्रव्यप्रधाना देशना, सुगतादीनां तु भोगाऽऽस्थावतोऽधिकृत्योपसर्जनीकृतद्रव्या पर्यायप्रधाना देशनेति, न तु तेऽन्वयव्यतिरेकवस्तुवेदिनो न भवन्ति,सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः। तदुक्तम्-"चित्रा तु देशनैतेषां, स्याद्विनेयानुगुण्यतः। यस्मादेते महात्मानो, भवव्याधिभिषग्वराः" ॥२७॥ (तयैवेति) तयैव चित्रदेशनयैव बीजाधानादेर्भवोद्वेगादिभावलक्षणात्, यथाभव्यं भव्यसदृशमुपक्रिया उपकारो भवति। यदुक्तम्-"यस्य येन प्रकारेण, बीजाधानादिसम्भवः। सानुबन्धो भवत्येते, तथा तस्य जगुस्ततः" ॥ १ ॥ एकस्या वा तीर्थकरदेशनाया अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्याद्निर्वचनीयपरबोधाश्रयोपात्तकर्मविपाकाद्विभेदतः श्रोतृभेदेन विचित्रतया परिणमनाद् यथाभव्यमुपक्रिया भवतीति न देशनावैचित्र्यात् सर्वज्ञवैचित्र्यसिद्धिः। यदाह-

"एकाऽपि देशनैतेषां, यद्वा श्रोतृविभेदतः।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्या-त्तथा चित्राऽवभासते ॥ १ ॥
यथाभव्यं च सर्वेषा-मुपकारोऽपि तत्कृतः।
जायते वन्ध्यताऽप्येव-मस्याः सर्वत्र सुस्थिता" ॥ २ ॥

प्रकारान्तरमाह-(चित्रेति) वाऽथवा तत्तन्नयैर्द्रव्यास्तिकादिभिः कालादियोगतो दुःषमादियोगमाश्रित्य यन्मूला यद्वचनानुसारिणी चित्रा नानारूपा देशना कपिलादीनामृषीणां तस्य सर्वज्ञस्य प्रतिक्षेपः; भावं तत्तद्देशनानयाभिप्रायमजानतोऽयुक्तः, आर्षापवादस्यानाभोगजस्यापि महापापनिवन्धनत्वात्। तदुक्तम्-

"यद्वा तत्तन्नयापेक्षा, तत्तत्कालादियोगतः।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा, तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥ १ ॥
तदभिप्रायमज्ञात्वा, न ततोऽर्वाग्दृशां सताम्।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो, महानर्थकरः परः ॥ २ ॥
निशानाथप्रतिक्षेपो, यथाऽन्धानामसङ्गतः।
तद्भेदपरिकल्पश्च, तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥ ३ ॥

न युज्यते प्रतिक्षेपः, सामान्यस्यापि तत् सताम् ।
आर्यापवादस्तु पुन-र्जिह्वाच्छेदाधिको मतः ॥ ४ ॥
कुदृष्ट्यादि च नो सन्तो, भाषन्ते प्रायशः क्वचित् ।
निश्चितं सारवच्चैव, किं तु सत्त्वार्थकृत्सदा " ॥ ५ ॥ २९ ॥

तस्मात्सर्वज्ञवचनमनुसृत्यैव प्रवर्तनीयं, न तु तद्विप्रतिपत्त्यानुमानाद्यास्थया स्थेयं, तदननुसारिणस्तस्याव्यवस्थितत्वादित्यत्र भर्तृहरिवचनमनुवदन्नाह–

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यै-रन्य एवोपपद्यते ॥ ३० ॥

(यत्नेनेति) यत्नेनासिद्धत्वादिदोषनिरासप्रयासेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैर्व्याप्तिग्रहादिदक्षैरनुमातृभिः अभियुक्ततरैरधिकव्याप्त्यादिगुणदोषव्युत्पत्तिकैरन्यैरन्यथैवासिद्धत्वादिनैवोपपद्यते ॥ ३० ॥

अभ्युच्चयमाह–

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ३१ ॥
तत् कुतर्कग्रहस्त्याज्यो, ददता दृष्टिमागमे ।
प्रायो धर्मा अपि त्याज्याः, परमानन्दसंपदि ॥ ३२ ॥

(ज्ञायेरन्निति) हेतुवादेनानुमानवादेन, यदि अतीन्द्रिया धर्मादयः पदार्था ज्ञायेरन् तदा एतावता कालेन प्राज्ञैस्तार्किकैः, तेषु अतीन्द्रियेषु पदार्थेषु, निश्चयः कृतः स्यात् उत्तरोत्तरतर्कोपचयात् ॥ ३१ ॥

(तदिति) तत्तस्मात् कुतर्कग्रहः शुष्कतर्काभिनिवेशस्त्याज्यो दृष्टिमागमे ददता । परमानन्दसंपदि मोक्षसुखसंपत्तौ प्रायो धर्मा अपि क्षायोपशमिकाः क्षान्त्यादयस्त्याज्याः, तत कुतर्कग्रहः सुतरां त्याज्य एव, क्वचिदपि ग्रहस्यासङ्गानुष्ठानप्रतिपन्थित्वेनाश्रेयस्त्वादिति भावः । क्षायिकव्यवच्छेदार्थं प्रायोग्रहणम् । तदिदमुक्तम्–

" न चैतदेवं यत्तस्मा-च्छुष्कतर्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥१॥
ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन, मुमुक्षूणामसङ्गतः ।
मुक्तौ धर्मा अपि प्राय-स्त्यक्तव्याः किमनेन तत् " ॥२॥३२॥

इति । द्वा० २३ द्वा० ।

कुतक्कग्गह–कुतर्कग्रह–पुं० । शुष्कतर्काभिनिवेशे,द्वा० २३ द्वा० ।

कुतक्कराहुग्गसण–कुतर्कराहुग्रसन–न० कुविचाररूपराहुभक्षके, ध० ३ अधि० ।

कुतक्कविसमग्गह–कुतर्कविषमग्रह–पुं० । कुटिलावेशे, " जीयमानेऽत्र राज्ञीव, चमूचरपरिच्छदः । निवर्तते स्वतः शीघ्रं, कुतर्कविषमग्रहः " ॥१॥ द्वा० २३ द्वा० ।

कुतक्किय–कुतार्किक–पुं० । नैयायिके, द्वा० २३ द्वा० ।

कुतव–कुतप–पुं० । कुत्सितं पापं तपति, कुं भूमिं तपति।तप–अच कुत–पन्–वा० । सूर्ये, वह्नौ, अतिथौ, गवि, भागिनेये, द्विजातौ, दौहित्रे, वाद्यभेदे, नेपालकम्बले, कुशतृणे च । न० । पञ्चदशधाविभक्तदिनस्याष्टमे भागे, अर्द्धखादि० । वाच० । छागले, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कुतार–कुतार–त्रि० । कुत्सिततारके, ग० १ अधि० ।

कुतित्थ–कुतीर्थ–न० । गङ्गादौ, "गंगाती कुतित्थ केयारादिया एते सव्वे कुतित्था " नि० चू० ११ उ० ।

कुतित्थसमय–कुतीर्थसमय–पुं० । पाखण्डिकानामात्मीये आगमविशेषे, तदुक्तेऽनुष्ठाने च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कुतित्थिय–कुतीर्थिक–पुं० । दिगम्बरादौ पाखण्डिनि, ध० २ अधि० ।

कुतित्थियधम्म–कुतीर्थिकधर्म–पुं० । चरकादिधर्मे, दश० १अ० ।

कुतुम्बक–कुटुम्बक–पुं० । न० । " टोस्तुर्वा " ॥ ८ । ४ । ३११ ॥ इति पैशाच्यां टोः स्थाने तुर्वा । परिवारे, प्रा० ४ पाद ।

कुतुव–कुतुप–पुं० । न० । कुत पृपो० । पञ्चदशधाविभक्तदिवसस्याष्टमांशे, ह्रस्वा कुतू रुपच् । चर्ममये ह्रस्वे स्नेहपात्रे, पुं० । वाच० । तैलादिभाजनविशेषे, भ० ६ श० ३३ अ० ।

कुतूलखान–कुतूलखान–पुं० । पारसीकोऽयं शब्दः । जिनप्रभसूरिसमये दौलतावादनगराधीश्वरे, ती० ६ कल्प० ।

कुतूहल–कुतूहल–न० । कुक्कुटादिक्रीडायाम्,'उत्त० ३ अ० । "जसोमा अप्पाणा, पक्खेवं कुतूहला रमणा।"उत्त०नि० १ खण्ड।

कुतो–कुतस्–अव्य० । किम्–तसिल्–किमः कुः । कस्मादित्यर्थे, "उभयाभावे वि कुतो, वि अग्गओ हदि परिसो चेव । " पञ्चा० ५ विव० । निह्नवे च । आक्षेपविषये हेतौ, तत आक्षेपातिशयार्थे तरप् तमप् वा कुतस्तराम् कुतस्तमाम् । आक्षेपविषयहेत्वतिशये, अव्य० । ततो भवार्थे त्यप् । कुतस्त्य । कुतोभवे, त्रि० । वाच० ।

कुत्तिय–कुत्रिक–न० । ६ त० । कुरिति पृथिव्याः संज्ञा । तस्यास्त्रिक कुत्रिकम् । बृ० ३उ० । स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिके, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति तल्लोकेषु, विशे० । तद्वस्तुनि च । आ० म०द्वि० ।

कुत्रिज–न० । पृथिव्यां धातुमूलजीवलक्षणेभ्यः तेभ्यो जाते सर्वस्मिन् वस्तुनि, विशे० ।

कुत्तियावण–कुत्रिका (जा) पण–पुं० । कूनां स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिकं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा तल्लोका अपि कुत्रिकमुच्यते । कुत्रिकमापणायति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिकापणः । अथवा धातुमूलजीवलक्षणेभ्यस्त्रिभ्यो जातं त्रिजं, सर्वमपि वास्त्वित्यर्थः । कौ पृथिव्यां त्रिजमापणायति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिजापणः । विशे० । आ० म० । देवाधिष्ठितत्वेन स्वर्गमर्त्यपातालभूत्रित्रयसंभविवस्तुसंपादके आपणे हट्टे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तत्प्ररूपणा चैवम्–

कुं ति पुढवीअ सण्णा, जं विज्जति तत्थ चेदणमचेयं ।
गहणुवज्जोगे अ खमं, न तं तहिं आवणे णत्थि ॥

कुरिति पृथिव्याः संज्ञा, तस्यास्त्रिक कुत्रिक स्वर्गमर्त्यपातालक्षणं, तस्यापणो हट्ट कुत्रिकापणः । किमुक्तं भवती–त्याह–तत्र पृथिवीत्रये यत्किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्य संस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षमं विद्यते, तत्तत्रापणे न नास्ति, "द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः" इति वचनाद् अस्त्येवेति भावः । बृ० ३ उ० ।

अथोत्कृष्टमध्यमजघन्यमूल्यमानानि प्रतिपादयति–

पणतो पागतियाणं, साहस्सेहिं वि इब्भमादीणं ।

श्रोकास सतसहस्सं, उत्तमपुरिसाण उवधी उ ॥

प्राकृतपुरुषाणां प्रव्रजतामुपधिः कुत्रिकापणसत्कः पञ्चकः पञ्चरूपकमूल्यो भवति, इभ्यादीनामिति-श्रेष्ठिसार्थवाहादीनां मध्यमपुरुषाणां साहस्रः सहस्रमूल्य उपधिः, उत्तमपुरुषाणां चक्रवर्तिमाण्डलिकप्रभृतीनामुपधिः शतसहस्रमूल्यो भवति। एतच्च मूल्यमानं जघन्यतो मन्तव्यम्। उत्कर्षतः पुनस्त्रयाणामप्यनियतम्। अत्र पञ्चकं जघन्यं, सहस्रं मध्यमं, शतसहस्रमुत्कृष्टम्।

कथं पुनरेकस्यापि रजोहरणादिवस्तुन इत्थं विचित्रं मूल्यं भवतीत्युच्यते-

विक्कित्तगं जधा प-प्प होइ रयणस्स तव्विहं मुल्लं ।
कायगमासज्ज तहा, कुत्तियमुल्लस्स णिक्क ति ॥

यथा रत्नस्य मरकतपद्मरागादेर्विक्रेतारं प्राप्य प्रतीत्य तद्विधं मूल्यं भवति; यादृशो मुग्धः प्रबुद्धो वा विक्रेता तादृशमेव स्वल्पं बहु वा मूल्यं भवतीति भावः। एवं क्रायकं ग्राहकमासाद्य कुत्रिकापणे भाण्डमूल्यस्य निष्कं परिमाणं भवति, न प्रतिनियतं किमपीति भावः । इति शब्दस्वरूपोपदर्शने ।

एवं तिविहे जाए, मोल्लं इच्छाएँ दिज्ज बहुयं पि ।
सिद्धमिणं लोगम्मि वि, समणस्स य पंचगं भंडं ॥

एवं तावत्त्रिविधे प्राकृतमध्यमोत्तमभेदभिन्ने जाते मूल्यं पञ्चकादिरूप्यकपरिमाणं जघन्यतो मन्तव्यम्। इच्छया तु बह्वपि यथोक्तपरिमाणादधिकमपि प्राकृतादयो दद्युः, न कोऽप्यत्र प्रतिनियमः। न चैतदत्रैवोच्यते किं तु लोकेऽपि सिद्धं प्रतीतमिदम्, यथा श्रमणस्यापि पञ्चकं पञ्चरूपकमूल्यं भाण्डं भवति। इह च रूपको यस्मिन् देशे यन्नाणकं व्यवह्रियते तत् प्रतिपत्तव्यः ।

अथ कुत्रिकापणः कथमुत्पद्यते इत्याह-

पुव्वभविगा उ देवा, मणुयाण करेंति पाडिहेराइं ।
लोगच्छेरयभूया, तह चक्कीण महाणिहयो ॥

ये पूर्वभविका भवान्तरसङ्गतिका देवाः पुण्यवतां मनुजानां 'प्रातिहार्याणि' यथाभिलषितार्थोपढौकनलक्षणानि, कुर्वन्ति यथा लोकाश्चर्यभूता महानिधयो नैसर्पप्रभृतयः, चक्रिणां भरतादीनां प्रातिहार्याणि कुर्वन्ति। वर्तमाननिर्देशस्तात्कालिकमङ्गीकृत्यावसेयः, एवं कुत्रिकापण उत्पद्यते ।

भरुह अमदह भूय-ट्ट मयमहस्सेण देमि कम्मम्मि ॥
अदिज्जंते रुट्ठो, मारेती मो य नं घेत्तु ।
जलगच्छाऽऽगम बाबा-वडाण खिप्प च सो कुणति ।
जीएण खंभकरण, एत्थुम्मुग जा ण देमि वावारं ।
णिज्जित्त तत्तलागं, आमंगं पेहमी नाव ॥

चण्डप्रद्योतनाम्नि नरसिंहे अवन्तिजनपदाधिपत्यमनुभवति नव कुत्रिकापणा उज्जयिन्यामासीरन्। "तदा किल भरुकच्छाओ एगो वाणियओ अमइहतो उज्जेणीए आगन्तूण कुत्तियावणे भूय मग्गइ, तेण कुत्तियावणवाणियएण चिंतिय-एस ताव मए वंचेइ तो एय मोल्लेण वारेमि त्ति भणिय-जइ सयसहस्सं देसि तो देमि भूयं । तेण त पडिवन्नं । ताहे तेण भणइ-पच्चरत्ते उदिक्खाहि तओ दाहामि। तेण अट्ठम काऊण देवो पुच्छिओ। सो भणइ-देहि इम च भणिहिअ जइ कम्म न देसि तो भूओ तुमं ओघाएहिइ । एयं भयइ त्ति भणिऊण गहिओ। तेण भूओ भणइ-कम्मं मे देहि, दिन्नं खिप्पमेव कय पुणो भणइ कम्म, एवं सव्वम्मि कम्मे निट्ठिए पुणो भणइ-देहि कम्मं । तेण भणइ-एत्थ खंभे चडुत्तर करेहि जाव अन्नं किंचि कम्मं न देमि । भूओ भणइ-अलाहि, पराजितो मि चिंध ते करेमि जाव मा पमोदाहि ता एत्ता तलाग पविस्सइ। तेण खंभं चिंध गिण्हिऊण वाणिओ आगंतूण पलोइय, जाव तक्कालमेव कयं तेण भरुयच्छस्स उत्तरपासे भूयतलाग नाम तलाग"। अमुमेवार्थमभिधित्सुराह-(भरुगच्छ इत्यादि) भरुकच्छवणिजा अबहुधना भूतं विक्रीणीध्वमिति कुत्रिकापणे मार्गितः, ततोऽष्टमं कृत्वा सहस्रेण भूतं प्राप्तः, इदं च भणितः-कर्मण्यदीयमाने एष रुष्टः कुपितो मारयति। स च भूतं गृहीत्वा भरुकच्छे आगमनं कृत्वा व्यापारदानं कृतवान्। स च भूतस्य व्यापारं क्षिप्रमेव करोति। तत सर्वं कर्मपरिसमाप्तौ वणिजा भीतेन भूतस्य पार्श्वात् स्तम्भः एकः कारितः। ततस्तं भूतमभिहितवान्-यावत् कार्यं न ददामि तावदत्र स्तम्भे उत्तर, प्रत्यवतर च कुर्वन् भावः। ततः स भूत उक्तवान्-निर्जितोऽहं भवता, मम चिह्नं ततः पराजयचिह्नं करोमि, यावदत्र गच्छन् पाश्चात्यं प्रदेशं न पश्यसि तावत् प्रदेशे तडागं करिष्यामि इति भणित्वा तथैव कृते भूततडागं कृतवान् ।

कुदंमिम–कुदण्डिम–त्रि० । कुदण्डेन निर्वृत्ते रूप्ये, ज० १ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

कुदंसण–कुदर्शन–न० । क० स० । कुमते, "इम पि विचिय कुदंसणं असब्भाववादिणो पन्नवेंति" प्रश्न० २ पद । कुत्सितं दर्शनं यस्य सः । शाक्यादौ, प्रश्न० १ पद । ध० ।

कुदाण–कुदान–न० । भूम्यादिदाने, "भूमिदाण गोदाणं आसहत्थिसुवन्नादिया य सव्वे कुदाणा ।" नि० चू० ११ उ० ।

कुदिट्ठि–कुदृष्टि–स्त्री० । क० स० । बौद्धमतादौ, उत्त० १८ अ० । कुत्सिता जिनागमविपरीतत्वाद् दृष्टिर्दर्शनं येषां ते कुदृष्टयः । मिथ्यादृष्टिषु, सर्वज्ञप्रणीतदर्शनव्यतिरिक्तशाक्यकपिलकणादाक्षपादादिप्रणीतानुवर्त्तिषु पाषण्डिषु, पु० । ध० ३ अधि० ।

कुदिट्ठिपसंसा–कुदृष्टिप्रशंसा–स्त्री० । मिथ्यादृष्टीनां शाक्यादीनां 'पुण्यभाज एते, सुलब्धमेषां जन्म, दयालुव एते' इत्यादिकायां स्तुतौ, एषा सम्यक्त्वस्य पञ्चमोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

कुदिट्ठिसंथव–कुदृष्टिसंस्तव–पु० । मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र सवासात् परस्परालापादिजनितपरिचये, एष सम्यक्त्वस्यातिचारभेदः, एकत्र वासे हि तत्प्रक्रियाश्रवणात् तत्क्रियादर्शनाच्च दृढसम्यक्त्वस्यापि दृष्टिभेदः सम्भाव्यते, किमुत मन्दबुद्धेर्नवधर्मस्येति, तत्संस्तवोऽपि दूषणम् । ध० २ अधि० ।

कुदेसणा–कुदेशना–स्त्री० । सर्वज्ञाऽननुसारिप्ररूपणायाम्, "किंएत्तो पावयरं, सम अणहिगनधम्मसब्भावो । अन्नं कुदेसणाए, कट्ठयरागम्मि पाडेति" ॥ दश० टी० ४ अ० ।

कुदो–कुतस्–अव्य० । "अतो डो विसर्गस्य" ८ । १ । ३७ । इति संस्कृतलक्षणस्य अतः परस्य विसर्गस्य स्थाने डो इत्यादेशः । कस्मादर्थे, प्रा० १ पाद ।

कुद्दव–कुद्रव–पु० । कुं भूमिं द्रवति द्रावयति । अन्तर्भूतण्यर्थे अच् । कोद्रवे धान्यभूते, वाच० । ज० । विशे० ।

कुद्दाल–कुद्दाल–पु० । कु भूमिं दलति । दल अण्-उप-स० पृषो० । कोविदारवृक्षे, भूमिदारणास्त्रे, वाच० । आचा० ।

कोद्दाल–पु० । अवसर्पिण्याः प्रथमारके जाते वृक्षजातिभेदे, ज० २ वक्ष० ।

कुद्ध–क्रुद्ध–त्रि० । कुपिते, प्रश्न० २ सव० द्वार । ज्ञा० ।

कुद्धगामिणी–क्रुद्धगामिनी–स्त्री० । क्रुद्धायां सत्यां गमनशीलायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

कुधम्म–कुधर्म–पु० । मल्लगणादिधर्मे, "मल्लगणधम्मो सारस्सयगणधम्मो कूयसभाइया सव्वे कुधम्मा ।" नि० चू० ११ उ० । शाक्यादिप्रवचनेषु च, हा० २७ अष्ट० ।

कुधम्माइ–कुधर्मादि–त्रि० । ६ ब० । श्रुतचारित्रप्रत्यनीकत्वादिभावेषु शाक्यप्रवचनादिषु, , अन्यथा देशनाऽप्यलम् । कुधर्मादिनिमित्तत्वा-द्दोषायैव प्रसज्यते ॥ ८ ॥ हा० २७ अष्ट० ।

कुधि–कुधि–त्रि० । कुत्सितबुद्धौ, प्रति० ।

कुपक्ख–कुपक्ष–पु० । कुत्सितान्वये, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

कुप्प–कुप्–धा० । रोषे, दिवा-सक० प० सेट् । "शकादीनां द्वित्वम्" । ८ । ४ । २३० । इत्यन्तस्य द्वित्वम् । कुप्पइ, कुप्यति । प्रा० ४ पाद ।

कुप्प–कुप्य–न० । कुप क्यप् नि० । रूप्यस्वर्णव्यतिरिक्ते कांस्यलोहताम्रसीसकत्रपुमृद्भाण्डत्वचिसारविकारोदङ्किकाष्ठमञ्चकमञ्चिकामसूरकरथशकटहलादिगृहोपस्करे, ध० २० । "नाणाविहोवगरणं,णेगविह कुप्पलक्खण होइ" । नानाविधोपकरणं ताम्रकलशकरिल्लादि जातितः, अनेकविधं व्यक्तितः, कुप्यलक्षणं भवति । दश० ६ अ० । ध० । "लोहाइ उवक्खरो कुप्प" लोहादिरुपस्करः कुप्यमुच्यते । तत्र लोहोपस्करो लोहमयकरोटीकुद्दालिकाकुशादिकं, आदिशब्दान्मार्त्तिकोपस्करो घटादिकः कांस्योपस्करः स्थालकच्चोलकादिकः सर्वोऽपि परिगृह्यते । बृ० १ उ० ।

कूर्प–पु० । कुर पाति श० क० दीर्घः । भ्रुवोर्मध्ये, वाच० ।

कुप्पपमाणाइक्कम–कुप्यप्रमाणातिक्रम–पु० । कुप्यं शयनाशनकुन्तखड्गभाजनकच्चोलकादिगृहोपस्कररूपं तत्प्रमाणस्य भावेन पर्य्यायान्तररूपेणातिक्रमः स्थूलकप्राणातिपातविरमणस्य पञ्चमे ऽतिचारे, यथा किल केनापि कच्चोलकदशकलक्षणं अप्यमानं कुत कथञ्चित् तदधिकसम्भवे सति व्रतभङ्गभयाद् भञ्जयित्वा बहुभिरपि पर्य्यायान्तरेण दशैव कारयतः स्वसंख्यापूरणात् स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्चातिचार इति । ध० २० ।

कुप्पमाण–कुप्रमाण–त्रि० । अतिदीर्घे, अतिह्रस्वे वा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । क० प्र० । प्रमाणहीने, भ० ७ श० ६ उ० ।

कुप्पर–कु (कू) र्पर–पु० । कुर-क्विप्, कु पिपर्त्ति अच् पर० कर्म्म० । जानुनि, कफोणौ च । दीर्घमध्यपाठान्तरे नि० दीर्घः । वाच० । "से रहवरस्स कुप्परासन्ना" कूर्परौ कूर्पराकारत्वात् पिञ्जनके इति प्रसिद्धौ रथावयवौ । जं० ३ वक्ष० ।

कुप्पवयण–कुप्रवचन–त्रि० । कुत्सित प्रवचनं येषां ते कुप्रवचना । चरकचीरिकादौ, अनु० ।

कुप्पसंखा–कुप्यसंख्या–स्त्री० । कुप्यपरिमाणे, तदतिक्रमे च । स्थूलकपरिग्रहविरते पञ्चमोऽतिचारः । "कुप्प संख च अप्पधण बहुमोल्लं करेइ पंचमए दोसा" । कुप्यस्य रूप्यसुवर्णव्यतिरिक्तस्य कांस्यलोहताम्रत्रपुसीसकवशविकारकटमञ्चिकामञ्चकमन्थानतूलिकारथशकटहलमृद्भाण्डप्रभृतिकस्य गृहोपकरणकलापस्य संख्यां परिगणमतामल्पधनां बहुधनां करोति । कोऽर्थः?, स्थालादीनां कथञ्चिदधिकत्वे प्रतिपन्ननियमस्य जाते सत्यल्पमूल्यस्थालाद्यपरेणोत्कालितेन स्थालादिना मीलयित्वा बहुमूल्य करोति, यथा नियमो न भज्यते इति पर्यायान्तरकरणेन संख्यापूरणात्स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्च पञ्चमोऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

कुप्पावणिय–कुप्रावचनिक–न० । कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्रवचनाः, तेषामिदं कुप्रावचनिकम् । चरकचीरिकादिसम्बन्धिनि आवश्यकादौ, अनु० । ('आवस्सय' शब्दे द्वि० भा० ४५४ पृष्ठे कुप्रावचनिकभेदेषु स्पष्टम्) जमालिप्रभृतिषु निह्नवेषु, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

कुप्पावणियधम्म–कुप्रावचनिकधर्म्म–पु० । चरकपरिव्राजकादिकुतीर्थिकधर्मे, दश० १ अ० ।

कुप्पिय–कुपित–न० । भावे क्त । क्रुद्धे, "कुप्पित नाम कुप्पित्ते" । आ० चू० ४ अ० ।

कुप्पिस-कू(कु)र्पास-पुं०।न०।कुर्परे अस्यते आस्ते वा घञ्,पृ०। "इ सदादौ वा" ८।१।७२। इति प्रकृतेः अत इत्वम्।प्रा०१ पाद। स्त्रीणां कञ्चुलिकायाम्, स्वार्थे के तत्रैवार्थे, वाच०।

कुप्पोवगरण-कुप्योपकरण-न०। "णाणाविहोवगरण-लक्खणकुप्प समासनो होंति"। "कुप्पोवकरण णाणाविह अणेगलक्खण तब कंसभरं लोहमं ताम्रमय मृन्मयादि च। इति दर्शिते 'कुप्प' शब्दाभिधेये गृहोपकरणे, नि० चू० २ उ०।

कुब्बर-कुब्बर-पुं०। मल्लीजिनस्य यक्षे, प्रव० २७ द्वार।

कुबे (वे) र- कुबे (वे) र-पुं०। कुम्बति धनम् कुवि० परक् नि० नलोपश्च।कुत्सित वेरमस्य इति वा। धनदे, यक्षराजे, वाच०। को०। एकोनविंशजिनस्य शासनयक्षे,श्रीमल्लिजिनस्य कुबेरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरद-परशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो बीजपूरकमुद्गराक्षसूत्र-युतवामपाणिचतुष्टयश्च।अन्ये कुबरस्थाने कुबेरमाहुः।प्रव०२६ द्वार।तस्येदमित्यण् कौवेर ।तत्सम्बन्धिनि,त्रि०। स्त्रियां ङीप्। कुबेरवनमित्यादौ न णत्वम्।वा कप्।कुबेरकोऽप्यत्रार्थे,कुगतिस०। निन्दितदेहे, न०। वाच०। आर्य्यशान्तिश्रेणिकस्य तृतीयशिष्ये, कल्प० ८ क्षण।

कुबेरदत्त-कुबे(वे)रदत्त-पुं०। कुबेरसेनाया वेश्याया अपत्ये कुबेरदत्ताया भ्रातरि, आ० क०।

कुबेरदत्ता-कुबे (वे) रदत्ता-स्त्री०। कुबेरसेनायाः वेश्यायाः पुत्र्याम्, आ० क०। ती०।

कुबेरसेणा-कुबे (वे) रसेना-स्त्री०। कुबेरदत्तकुबेरदत्तानाम्नोः पुत्रयोर्जनन्यां वेश्यायाम्, आ० क०। ती०। (' सदारसंतोस' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कुबेरा-कुबेरा-स्त्री०। वैश्रवणप्रभस्य नगोत्तमस्य अपरतो जम्बूद्वीपसमायां राजधान्याम्, द्वी०। मथुरास्थायां नरवाहनायां तीर्थ (जैनशास्त्र) देव्यां च। ती० ए कल्प०।

कुबेरी-कुबेरी-स्त्री०। आर्य्यकुबेराग्निर्गतायां शाखायाम्, "थेरेहिंतो ण अज्जकुबेरेहिंतो इत्थ ण कुबेरी साहा णिग्गया।" कल्प० ८ क्षण।

कुभोयण-कुभोजन-त्रि०। कुभोजिनि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कुमइणी-कुमतिनी-स्त्री०।सिंहपुरनगराधीश्वरस्य कीर्त्तिधर्मस्य राज्ञो भार्यायाम्, दर्श०।

कुमग्ग-कुमार्ग-पुं०।शिवपुरप्रापकपथविपरीते पथि, दर्श०।

इड्डिरसमायगुरुया, छज्जीवनिकायघायनिरयाए।
जे उवदिसंति मग्गं,कुमग्गमग्गस्सिता ते उ॥१५॥सू०नि०।

(इड्डिरसेत्यादि) ये केचन अपुष्टधर्माण शीतलविहारिणो ऋद्धिरससातगौरवेण गुरुका गुरुकर्माण ,आधाकर्माद्युपभोगेन षड्जीवनिकायव्यापादनरताश्चापरे तेभ्यो मार्ग मोक्षमार्गमात्मानुचीर्णमुपदिशन्ति। तथाहि-शरीरमिदमाद्य धर्मसाधनमिति मत्वा कालसहननादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगोऽपि न दोषायेत्येव प्रतिपादयन्ति। तथैव प्रतिपादयन्त कुत्सितमार्गास्तीर्थकरास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति। तुशब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्त कुमार्गाश्रिता भवन्ति इति, किं पुनस्तीर्थिका इति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

कुमग्गट्ठिइ-कुमार्गस्थिति-स्त्री०। शिवपुरप्रापकपथविपरीतस्य स्थितिरवस्थानम्। कुमार्गावस्थाने, दर्श०।

कुमग्गट्ठिइसंकलाभंग-कुमार्गस्थितिसङ्कलाभङ्ग-पुं०। कुमार्गस्य शिवपुरप्रापकपथविरीतस्य स्थितिरवस्थान कुमार्गस्थिति, सैव सकला लोहमयनिगडबन्धनमिव कुमार्गास्थितिसकला। तस्या भङ्गः मिथ्यात्वमोहनीयकर्मापगमतया सत्त्वाधिकतया च परममुनिप्रणीतमार्गस्थितौ, दर्श०। "दुल्लह गुरुकम्माण, जीवाण सुधम्मबुद्धी वि। तीए सुगुरू तम्मि वि,कुमग्गट्ठिइसंकलाभगो" ॥ (इत्यादि 'मग्ग' शब्दे व्याख्यास्यते)

कुमग्गमग्गस्सिय-कुमार्गमार्गाश्रित-त्रि०। कुत्सितमार्गाणां तीर्थकराणां मार्गानाश्रितेषु, "इड्डिरससायगुरुया,छज्जीवनिकायघायनिरयाए। जे उवदिसंति मग्गं, कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥ १५॥" (इत्यनुपदमेव 'कुमग्ग' शब्दे व्याख्यातम्) सूत्र१ श्रु० ११ अ०।

कुमर-कुमार-पुं०। कुमारयति क्रीडयति। "सात्व्ययोत्खातादावदात"। ८। १। ६७। इत्युत्खातादित्वादातोऽत्। प्रा० १ पाद। बाले, राजार्हे च। "भारियो कुमरेण कावालिओ" दर्श०।

कुमरण-कुमरण-पुं०। दुःखमृत्यौ, उपा० ७ अ०।

कुमार-कुमार-पुं०। प्रथमवयस्थे, स्था० १० ठा०। किम्मदारककुमाराणामल्पबहुबहुतरकालकृतो भेद।ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। कौमार पञ्चमाब्दान्त, पौगण्ड दशमावधि"। वाच०। राज्यार्हे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। स्था०।

अधुना कुमारमाह-

पच्चंते खुब्भंते, दुद्दंते सव्वतो दुवेमाणो।
संगामनीतिकुसलो, कुमार एयारिसो होइ॥

प्रत्यन्तान् सीमासन्धिवर्तिन क्षुभ्यानि अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् समस्ता अपि सीमापर्यन्तवर्तिनी प्रजा क्षोभयति दुर्दान्तान् दुःशिक्षितान् संग्रामनीतिकुशलः सर्वत सर्वासु दिक्षु यो दमयन् वर्तते स एतादृश कुमारो भवति। व्य० १ उ०। "अभिक्खणं पुणो अकुमारे संते कुमारे इति भासइ" आव०४अ०। दशभवनपतिदेवा असुरकुमारनागकुमारादय। अथ कस्मादेते कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते? उच्यते-कुमारवच्चेष्टनात्। तथा हि-कुमारा एते सुकुमारमृदुमधुरललितगतय शृङ्गाराभिप्रायकृतविशिष्टशिष्टतरोत्तररूपक्रिया कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहना कुमारवच्चोल्वणरागा क्रीडनपराश्च तत कुमारा इव कुमारा इति। प्रज्ञा०१ पद। कार्त्तिकेये, शुके पक्षिणि, अश्ववारके, वरुणवृक्षे,सिन्धुनदे,शुद्धसुवर्णे,न०। सञ्ज्ञायां कन्। वरुणवृक्षे,तिकशाके, स्वार्थे क। बालके, तस्येद तस्य भावो वा अण्। कौमारशिशुत्वे बाल्यावस्थायाम्, वाच०। पूर्वदेशभाषायामाश्विने मासि, यथा च कुमारशब्द पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढ। स्था० २ ठा० १ उ०। लोहकारे, "चवेडमुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं अय पिव।" उत्त० २३ अ०। नासाद्यङ्गकर्तनादिकेन कुत्सितमारे, "इम जावज्जीव वहबधण करेह, इम अन्तयरेण असुभेण कुमारेण मारेह"। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

कुमारग-कुमारक-पुं०। बाले,सूत्र०२ श्रु० ६ अ०। क्षुल्लके,उत्त० २ अ०।

कुमारग्गह–कुमारग्रह–पुं० । कुमार (स्कन्द) कृते उन्मत्तताहेतौ उपद्रवे, जं० २ वक्ष० ।

कुमारग्गाम–कुमारग्राम–पुं० । स्वनामख्याते ग्रामभेदे, " कुमारग्गामसपत्थिया तत्थज्ज अतरा पगो तिलत्थमओ तं दट्टूण गोसालो भणति । " आ० चू० १ अ० । आ० म० । "वोसट्ठकाए चियत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारग्गामं समणुपत्ते ।" आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

कुमारणंदि (ण्) कुमारनन्दिन्–पुं० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सुवर्णकारे, स च स्त्रीलोलुपो व्यन्तरीयुगार्थं वह्नौ प्रविश्य पञ्चशैलाधिपतिर्देवो जातः, नागिलप्रतिबोधितो वीरप्रतिमामर्चयित्वा वीतभये उदायननृपान्तिके प्रेषयदिति । आ० क० । दर्श० । आ० म० । ती० । आ० चू० । ('दसउर' शब्दे तदुत्पत्तिकथा वक्ष्यते)

कुमारधम्म–कुमारधर्म–पुं० । स्थिरगुप्तात्पश्चिमे देवर्द्धिक्षमाश्रमणात्प्राचीने स्थविरभेदे, "तत्तो अ नाणदंसण-चरित्ततवसुट्ठिअं गुणमहंतं । थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणिं गुणोवेयं ॥११॥ " कल्प० ८ क्षण ।

कुमारपाल–कुमारपाल–पुं० । चौलुक्यवंशीये गुर्जरधरित्रीपतौ आर्हततवरिष्ठे नृपभेदे, "कुमारपालभूपाल-चौलुक्यकुलचन्द्रमाः । श्रीवीरचैत्यमस्योच्चैः, शिखरे निरमीममत्" ॥(अर्बुदाद्रेः), ती० ७ कल्प । स च श्रीहेमचन्द्रसूरिभिः प्रतिबोध्य परमार्हतीकृत इति तच्चरित्रादिभ्यो ज्ञेयम् । स्था० ।

कुमारपुत्तिय–कुमारपुत्र–पुं० । वीरतीर्थीये श्रमणभेदे, यस्य प्रत्याख्यानदानप्रकार उदकेन गौतमस्वामिनं प्रति पृष्टः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

कुमारभिच्च–कुमारभृत्य–न० । कुमाराणां बालानां भृतौ पोषणे साधु कुमारभृत्यम् । कुमारभरणक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यनिमित्तानां व्याधीनामुपशमनार्थे आयुर्वेदभेदे, स्था० ८ ठा० ।

कुमारभूय–कुमारभूत–त्रि० । कुमारब्रह्मचारिणि, " अकुमारभूए जे केइ, कुमारभूए त्ति हं वए । इत्थीहिं गिद्धे वसए, महामोहं पकुव्वइ ॥" स०३०सम० । क्षुल्लकभूते राजकुमाररूपे च । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कुमारवास–कुमारवास–पुं० । कुमाराणामराजभावेन वासे , "कुमारवासमज्झ वसित्ता मुंडे जाव पव्वइया" । स्था०५ ठा०३ उ० ।

कुमारसमण–कुमारश्रमण–पुं० । कौमार्ये प्रव्रजिते, "तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे अण्णया कयाइं " कुमारश्रमणः षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात् । आह च-"छव्वरिसो पव्वइओ, णिग्गंथो रोचिऊण पावयणं ति " । एतदेव चाश्चर्यमिहान्यथा वर्षाष्टकादाराद् न प्रव्रज्या स्यादिति । भ० ५ श० ४ उ० ।

कुमारा–कुमारा–स्त्री० । स्वनामख्याते संनिवेशे, " तते भगवं कुमाराए सण्णिवेसे गतो, तत्थ चंपए रमणिज्जे उज्जाणे पडिसंठितो ।" आ० म० द्वि० ।

कुमारिय–कुमारिक पुं० । कुत्सितो मारणीयसत्त्वप्रायोऽवेदनोत्पादकत्वाद् निन्द्यो यो मारो मारणं स विद्यते येषां ते कुमारिकाः । सौकरिकेषु, सू०१ अ० । आचा० ।

कुमारिल–कुमारिल–पुं० । पूर्वमीमांसाभाष्यवार्तिककारके मीमांसकभेदे,द्वे व्याख्ये मीमांसाशास्त्रस्य-भट्टमतेन, प्रभाकरमतेन च । तत्र भट्टः कुमारिलाख्य । वाच० । आह कुमारिलः-"अगोत्वव्यावृत्तिः सामान्य, वाच्य यै परिकल्पितम् । गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्त-मगोऽपोहगिरा स्फुटम" ॥ सम्म० २ काण्ड ।

कुमारी-कुमारी–स्त्री० । कुमारप्रथमवयोवचनत्वात् स्त्रियां ङीप् । वाच० । सूत्र० । "अजातेः पुंस" ८ । ३ । ३२ । इत्यस्य अप्राप्तविभाषात्वात् न प्राकृते ङीविकल्पः, किन्तु नित्यम् । प्रा०३पाद । अनूढकन्यायाम्,पार्वत्यां,नवमल्लिकायाम्,घृतकुमार्याम्,वाच० । या मांसलप्रणालाकारपत्रा (घिकुआँरी) इति प्रतीता । प्रव०४ द्वार । स० । अपराजितायां, सहायां, सीतायाम, वन्ध्यकर्कट्याम, स्थूलैलायाम, मेद्भिनीपुष्पे, तरुणीपुष्पे, श्यामापक्षिणि, वाच० ।

कुमाल–कुमार–पुं० । मागध्यां रस्य लः, अपभ्रंशे-" शेषं शौरसेनीवत् " । ८ । ४ । ३०१ । मागध्यां यदुक्तं ततोऽन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम् । बाले, राजार्हे च । "अय्य एशे क्खु कुमाले मलयकेदू " प्रा० ४ पाद ।

कुमुअ (य)–कुमुद–न० । कौ मोदते मुद-कः । कैरवे, वाच० । आ० म० । ज्ञा० । तच्च चन्द्रविकासि । जं० १ वक्ष० । रा० । चन्द्रबोध्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । रा० । औ० । जलरुहभेदे, आचा० । कर्पूरे, पुं० । वाच० । जं० । चतुरशीतिनलिनगुणिते कुमुदाङ्गे, ज्यो० २ पाहु० । समादिविमानेष्वन्तर्गते विमानभेदे, स० १७ सम० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते विजयक्षेत्रयुगले, स्था० ८ ठा० । ते च द्वे, "दो कुमुदा" स्था० ८ ठा० । अत्र नव कूटाः "सिद्धे कुमुए खंडग-माणी वेयड्ढे पुन तिमिसगुहा । कुमुए वेसमणे त्ति य, कुमुयकूडाण नामाइं" । स्था०७ ठा० । जम्बूद्वीपे मन्दरे पर्वते भद्रशालवने पश्चिमे दिग्हस्तिकूटे, स्था० ८ ठा० ।

कुमुअंग–कुमुदाङ्ग–न० । चतुरशीतिमहाकमलशतसहस्रेषु, ज्यो० २ पाहु० ।

कुमुअगुम्म–कुमुदगुल्म–न० । विमानभेदे, स० १७ सम० ।

कुमुअणंदि–कुमुदनन्दि–पुं० । सिद्धसेनदिवाकरेति प्रसिद्धापरनामके सूरौ, जै० इ० ।

कुमुअप्पभा–कुमुदप्रभा–स्त्री० । जम्बूद्वीपे उत्तरपौरस्त्ये प्रथमवनखण्डे पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्य उत्तरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम, जं० ४ वक्ष० । जी० ।

कुमुअवण–कुमुदवन–न० । मथुरायां वनभेदे, ती० २१ कल्प ।

कुमुअ [य] वणविबोहग–कुमुदवनविबोधक–पुं० । ६ त० । चन्द्रविकाशिकमलवनानां विकाशके चन्द्रे, कल्प० ३ क्षण ।

कुमुआ [या]–कुमुदा–स्त्री० । कुत्सितं मोदते मुद क-टाप् । कुम्भिकायाम, गम्भारीवृक्षे, शालपर्णीवृक्षे, मंजर्यां कट्फले, गौरा० । ङीप् । कुमुदी । कट्फले । स्त्री० । वाच० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमायां पुष्करिण्याम, जं० ४ वक्ष० । जी० । वरुणप्रजशैलस्यापरस्य राजधान्याम, द्वी० । "दधिमुखस्याञ्जनपर्वतस्य पश्चिमायां पुष्करिण्याम, द्वी० । स्था० । "कुमुदा" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कुमुआ (या) गर-कुमुदाकर-पुं० । ६ त० । कुमवखरडे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । कुमुदस्थाने दूदादौ, वाच० ।

कुमुदग-कुमुदक-न० । तृणभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कुम्म-कूर्म-पुं० । स्त्री० । कुत्सित ऊर्मिर्वेगो यस्य पृषो० । कच्छपे, वाच० । सूत्र० । स्था० । ज्ञा० । दश० । भ० । श्रीनमिजिनस्य कूर्मश्चिह्नम् । प्रव० २६ द्वार । पञ्चेन्द्रियगुप्तगुप्तिप्रदर्शनाय कूर्मोदाहरणम् । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । तत्प्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथाया प्रथमश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थेऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रश्न० । आव० । आ० चू० । देहस्थे वायुभेदे, वाच० ।

कुम्मगाम-कूर्मग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामभेदे, यत्र वैश्यायनतापसस्याऽऽतापनां कुर्वतो यूकाशय्यातरस्त्वमिति गोशालेन हसितस्य क्रुद्धस्य तेजोलेश्यया गोशालं दहन्ती श्रीवीरजिनेन्द्रेण शीतलेश्यया निवारिता । कल्प० ६ क्षण । आ० क० । "तए णं अहं गोयमा ! अरणया कयाइ गोसालेण मखलिपुत्तेण सद्धिं कुम्मगामाओ नयराओ सिद्धत्थगाम नयरं संपट्ठिए ।" भ० १५ श० १ उ० ।

कुम्मणाडी-कूर्मनाडी-स्त्री० । कण्ठकूपस्याधस्ताद् वर्त्तमानायां नाड्याम्, "कूर्मनाड्यामचापलम्" । कूर्मनाड्यां कण्ठकूपस्याधस्ताद् वर्त्तमानायाम संयमादचापलं भवति, मनःस्थैर्यसिद्धेः । तदुक्तं "कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्" । द्वा० २६ द्वा० ।

कुम्मपडिपुण्णचलण-कूर्मप्रतिपूर्णचरण-त्रि० । कूर्मवत् कूर्माकाराः प्रतिपूर्णाश्चरणा यस्य तस्या । कच्छपाकृतिपूर्णपादे, उपा० । "कुम्मपडिपुण्णचलणा वीसइ नख" उपा० २ अ० ।

कुम्मावल्लिया-कूर्मावलिका-स्त्री० । कच्छपपङ्क्तौ, भ० ८ श० ३ उ० ।

कुम्मास-कुल्माष-पुं० । कोलति कुल क्विप् । कुर्माषेऽस्मिन् ७ ब० । "अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूमा., अन्ये च चणकादय । कुल्माषा इति कथ्यन्ते" इत्युक्तेषु अर्द्धस्विन्नगोधूमादिषु, कुत्सिता माषा पृषो० । कुत्सितमाषे, वाच० । यमदे, राजमाषे, सू० १ अ० । उत्त० । पक्के माषे, पिं० । कुल्माषा. सिद्धमाषा, यवमाषा इति केचित् । दश० ५ अ० १ उ० । "एगाए सणाहाए कुम्मासपिंडियाए ।" कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादय., माषा इत्यन्ये । भ० १५ श० १ उ० । आ० क० । आ० म० । (कुल्माषविषयकोऽभिग्रहो वीरजिनेन्द्रस्य 'वीर' शब्दे वक्ष्यते) सूर्यस्य पारिपार्श्वकजेदे, शूकधान्ये, यवादौ च । काञ्जिके, मसीपरिणामे च । न० । माषादिमिश्राद्धपक्वभक्ते, रोगभेदे, वनकुलत्थे, वाच० ।

कुम्मीपुत्त-कूर्मीपुत्र-पुं० । कूर्म्या कच्छप्याः स्वनामख्याताया. कस्याश्चिद् योषितो वा पुत्रे, स च द्विहस्तप्रमाणोऽङ्गुल्यष्टकाधिकरत्निप्रमाणजघन्यावगाहनया सिद्धः । श्री० । "ते पुण होज्ज विहत्था, कुम्मीपुत्तादओ जहन्नेण" । आ० म० द्वि० ।

कुम्मुण्णया-कूर्मोन्नता-स्त्री० । कूर्मे कच्छपस्तद्वदुन्नता कूर्मोन्नता । योनिभेदे, "कुम्मुन्नया ण जोणी उत्तमपुरिसमाऊण । कुम्मुन्नया ण जोणीए तिविहा उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति । तं जहा-अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कुम्हा (ण्)-कुश्मन्-पुं० । "पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्ह" । ८ । २ । ७४ । इति श्मभागस्य म्ह । देशविशेषनिवासिनि, "कुश्मानः कुम्हाणो," प्रा० २ पाद । कुश द्युतौ श्लेषे वा मनिन् । द्योतके, श्लेषके च । वाच० ।

कुय-कुच-पुं० । कर्त्तरि कः । स्तने, संकुचिते । त्रि० वाच० । 'कुच' स्पन्दने । कुचतीति कुच । इगुपान्तलक्षण. कः (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । ३ । १ । १३५) शिथिले, व्य० ७ उ० ।

कुयबंधण-कुचबन्धन-न० । कुच शिथिल बन्धन यस्य । यद्वे सति स्पन्दमाने, " कुयबधणम्मि लहुगा, विराहणा होइ संजमाघाए " । व्य० ७ उ० ।

कुयर-कुचर-त्रि० । कुत्सित शिष्टजनजुगुप्सित चरन्तीति कुचराः । उद्भ्रामिकेषु, " किं नागओ सि समणे-हिँ ढक्किय दार कुयरा ज तु ।" बृ० १ उ० । पारदारिकेषु, नि० चू० १७ उ० ।

कुरंग-कुरङ्ग-पुं० । कौ रङ्गति अच् । " कुरङ्ग ईषत्ताम्र. स्यादहरिणाकृतिको महान्" इत्युक्तलक्षणे, वाच० । गोकर्णे मृगभेदे, ज० २ वक्ष० । प्रज्ञा० । को० । मृगे, मृगमात्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पिं० "हेतुरिन्दोः कलङ्के यो, विरहे रामसीतयो । नेमे राजीमतीत्यागे, कुरङ्गः सत्यमेव स." ॥१॥ कल्प० ७ क्षण ।

कुरंडा-कुरण्डा-स्त्री० । कुत्सितरण्डायाम्, रण्डाकुरण्डामुग्धिकादियहुप्रसङ्गे तदतदभावात् । त० ।

कुरय-कुरक-पुं० । कुहणभेदे, प्रज्ञा० ८ अ० ।

कुरर-कुरर-पुं० । स्त्री० । कुङ् शब्दे, करन् । उत्क्रोशविहगे, स्त्रियां जातित्वाद् ङीष् । वाच० । कुररा उत्क्रोशा । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । " · जिणुत्तमाण । कुररी विवाऽऽभोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ" ॥ ५० ॥ कुररीव पक्षिणीव । उत्त० २० अ० ।

कुरल-कुरल-पुं० । स्त्री० । कुरर-रस्य ल. । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । चूर्णकुन्तले, पु० । वाच० । कुरलो लोमपक्षिविशेष. । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

कुरा-स्त्री०-कुरु-पु० । ब० व० । अकर्मभूमिभेदे, स्था० ।

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो कुराओ पण्णत्ताओ । तं जहा-बहुसमतुल्ला अविसेस० जाव देवकुरा चेव उत्तरकुरा चेव । तत्थ णं दो महइ महालया महादुमा पण्णत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तोवेहसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा-कूडसामली चेव जंबू चेव सुदंसणा । तत्थ णं दो देवा महड्ढिया० जाव महासोक्खा पलिओवमट्ठिइया परिवसंति । तं जहा-गरुले चेव, वेणुदेवे अणाढिए चेव, जंबुद्दीवाहिवई ।

दक्षिणेन देवकुरवः, उत्तरेण उत्तरकुरवः, तत्राद्या विद्युत्प्रभसौमनसाभिधानवक्षस्कारपर्वताभ्यां गजदन्ताकाराभ्यामावृता, इतरे तु गन्धमादनमाल्यवद्भ्यामावृता, उभये चामी अर्द्धचन्द्राकारा दक्षिणोत्तरतो विस्तृता । तत्प्रमाण चैवम्-"अट्ठसया बायाला, एक्कारसहस्स दो कलाओ य । विक्खंभो य कुरूणं, तेवन्नसहस्स जीवासि ॥१॥" पूर्वापराऽऽयामाश्चैता इति । (महइ महालय त्ति) महान्तौ गुरू, अततीति अत्यन्त, महसां तेजसां महाना वोत्सवानामालयावाश्रयौ, महति महालयौ महातिमहालयौ वा, समदजाषया वा महान्तावित्यर्थः । महाद्रुमौ प्रशस्ततया

आयामो दैर्घ्यं,विष्कम्भो विस्तार,उच्चत्वमुच्छ्रयः,उद्वेधो भुवि प्रवेशः, संस्थानमाकारः, परिणाहः परिधिरिति ।

तत्र अनयोः प्रमाणम्-

" रयणमया पुप्फफला, विक्खंभो अट्ठ अट्ठ उच्चत्तं ।
जोयणमद्धुव्वेहो, खंधो दोजोयणुव्विद्धो ॥१॥
दो कोसा विच्छिन्नो, विडिमा छज्जोयणाणि जंबूए ।
चाउद्दिसिं पि साला, पुव्विल्ले तत्थ सालम्मि ॥२॥
भवणं कोसपमाणं, सयणिज्जं तत्थ णाढियसुरस्स।
तिसु पासाया साले-सु तेसु सीहासणा रम्मा " ॥ ३ ॥

शाल्मल्यामप्येवमेवेति,कूटाकारा शिखराकारा शाल्मली कूटशाल्मलीति संज्ञा, सुष्ठु दर्शनमस्या इति सुदर्शनेतीयमपि सञ्ज्ञेति। (नत्थि त्ति) तयोर्महाद्रुमयोर्महत्यादि । महती ऋद्धिरावासपरिवाररत्नादिका ययोस्तौ महर्द्धिकौ । यावद्ग्रहणात् "महज्जुइया महाणुभागा महायसा महाबला महासोक्खेति । " तत्र द्युतिः शरीराभरणदीप्तिः, अनुभागोऽचिन्त्या शक्तिः वैक्रियकरणादिका, यशः ख्यातिः, बलं सामर्थ्यं शरीरस्य, सौख्यमानन्दात्मकम्। "महेसक्खा" इति क्वचित् पाठः । महेसौ महेश्वरावित्याख्या ययोस्तौ, महेशाख्याविति पल्योपमं यावत् स्थितिरायुर्ययोस्तौ, तथा गरुडः सुपर्णकुमारजातीयः, वेणुदेवो नाम्ना, ' अणाढिओ त्ति ' नाम्ना । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जंबू! दोसु कुरासु मणुया सया सुसमसुसमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-देवकुराए चेव,उत्तरकुराए चेव।

(जंबू इत्यादि) सदा सर्वदा (सुसमसुसम त्ति) प्रथमाऽऽरकानुभागः सुषमसुषमा, तस्याः सम्बन्धिनी या सा सुषमेव, तामुत्तमर्द्धिं प्रधानविभूतिमुच्चैस्त्वायुःकल्पवृक्षदत्तभोगोपभोगादिकां प्राप्ताः प्रत्यनुभवन्तो वेदयन्तो, न सत्तामात्रेणेत्यर्थः । अथवा सुषमसुषमां कालविशेषं प्राप्ता अधिगता उत्तमामृद्धिं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति आसते इति। अभिधीयते च-

" दोसु वि कुरासु मणुया, तिपल्लपरमाउणो तिकोसुच्चा ।
पिट्ठकरंडसयाइं, दो छप्पन्नाइं मणुयाणं ॥ १ ॥
सुसमसुसमाणुभावं, अणुभवमाणेण वच्चगोवणया ।
अउणापन्नदिणाइं, अट्ठमभत्तस्स आहारो" ॥ २ ॥

देवकुरवो दक्षिणाः, उत्तरकुरव उत्तरास्तेष्विति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दश कुरवः—

समयखित्तेणं दस कुराओ पन्नत्ता । तं जहा-पंच देवकुराओ, पंच उत्तरकुराओ । तत्थ णं दस महइमहालया महादुमा पन्नत्ता । तं जहा-जंबू सुदंसणे धायइरुक्खे महाधायइरुक्खे पउमरुक्खे महापउमरुक्खे पंच कूडसामलीओ । तत्थ णं दस देवा महिड्ढिया जाव परिवसंति । तं जहा-अणाढिए जंबूद्दीवाहिवई सुदंसणे पियदंसणे पोंडरीए महापोंडरीए पंच गरुला वेणुदेवा। स्था० १० ठा० ।

कुराइ (ण्)-कुराजन्-पुं० । कुत्सिते राज्ञि, प्रत्यन्तनृपे च । नि० चू० ६ उ० । आचा० ।

कुरु-कुरु-पुं० । ब० व० । आर्यजनपदभेदे,यत्र हस्तिनापुरं नगरम्। ज्ञा० १श्रु० ८अ०।सूत्र०। आ० म०। प्रज्ञा०। स्था० । "आकरः सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः । समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सज्जनः" ॥१॥ आ०क० । स्वनामके ऋषभदेवपुत्रे,कल्प० ७ क्षण । महावीरशान्तिजिनपूर्वजेषु च । स्था० ६ ठा० ।

कुरुकुया-कुरुकुचा-स्त्री० । बहुना जलेन पादप्रक्षालनादौ,ओघ०। आचा० । नि० चू० ।

कुरुक्खेत्त-कुरुक्षेत्र-न० । कुरुणा चन्द्रवंश्यनृपभेदेन कृष्टं क्षेत्रं, कुरुदेशान्तर्गतं वा क्षेत्रम् । शाक० मध्यपदलोपः ।

" प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते,
सनातनी रामसमन्तपञ्चकम् ।
समीजिरे तत्र पुरा दिवौकसो,
वरेण सत्रेण महावरप्रदाः ॥ १ ॥
पुरा च राजर्षिवरेण धीमता,
बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा ।
प्रकृष्टमेतत् कुरुणा महात्मना,
ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे " ॥ २ ॥ वाच० ।

लोकोत्तररीत्या ऋषभदेवस्य पुत्रः कुरुः, तस्य क्षेत्रम् । हस्तिनापुरे, ती० १६ कल्प ।

"शतपुत्र्यामभूत्नाभि-सूनोः सूनुः कुरुर्नृपः ।
कुरुक्षेत्रमितिख्यातं, राष्ट्रमेतत्तदाख्यया ॥
कुरोः पुत्रोऽभवद्धस्ती, तदुपज्ञमिदं पुरम् ।
हस्तिनापुरमित्याहु-रनेकाश्चर्यसेवधिम्" ॥ ती० ४६ कल्प ।

कुरुचंद-कुरुचन्द्र-पुं० । काञ्चनपुराधीश्वरे स्वनामख्याते नृपभेदे, ध० र० । तत्कथा त्वेवम्-

"गयवज्जियं पि सगयं, केण वि अहयं पि सव्वया सुहयं ।
पुरमत्थि कंचणपुरं, कुरुचंदो तत्थ नरचंदो ॥ १ ॥
तस्सासि जिणोइयस-चतत्तवरतुरगगमणदुल्ललिओ ।
मिहिरु व्व तिमिरभरपसर-रोहगो रोहगो मंती ॥२॥
गडुरिगपवाह मुत्तु-मुत्तम सो नरुत्तमो धम्म।
सम्मं जिन्नासमणो, कया वि मंतिं भणइ एव ॥ ३ ॥
मह कहसु सचिवपुंगव !, को धम्मो उत्तमु त्ति सो आह ।
हेलाहीलियसुरनर-गणाण करणाण जत्थ जओ ॥ ४ ॥
कह नज्जइ त्ति रन्ना, वुत्ते मंती भणेइ वयणेणं ।
उग्गारेणं नज्जइ , भुत्तमदिट्ठं पि अह इत्थ ॥ ५ ॥
इय सोउं भणइ निवो, जइ एव तो तुम महामति ! ।
सव्वे दंसणिणो वा-हरित्तु धम्मं वियारेसु ॥ ६ ॥
होउ त्ति एव भणिऊण मंती, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ।
एव समस्साइपयं लिहेतुं, ओलंबिऊणं च भणेइ एवं ॥ ७ ॥
जो सह इमिणा पाए-ण सगयत्थेण पूरियसमस्स ।
रज्जेइ पुहइनाहं, तस्सेव इमो हवइ भत्तो ॥ ८ ॥
इय सोऊणं अहमह-मिगाइ सव्वे वि तत्थ दंसणिणो ।
तं गहिऊण पायं, रज्ज चित्त ससत्तीए ॥ ६ ॥
पत्ता निवअत्थाणे, आसीणाय भणे वि उवविट्ठा ।
तो रन्नोऽणुन्नाए, पढइ एवं सुगयसीसो ॥ १० ॥
मालाविहारम्मि मएऽज्ज दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी ।
वक्खित्तचित्तेण मए न नायं,सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥ ११ ॥

अन्यः प्रोवाच-

भिक्खाभमतेण मएऽज्ज दिट्ठं, पमदामुहं कमलविसालनेत्तं ।
वक्खित्तचित्तेण मए न नायं,सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥ १२ ॥

अपरः प्रणिजगाद-

फलोदएणं म्हि गिहं पविट्ठो, तत्थाऽऽसणत्था पमया म्हि दिट्ठा।

वक्खित्तचित्तेण मए न नाय,सकुडलं वा वयणं न व त्ति॥१३॥
तो सारेयरभाव, निवेण कव्वाण पुच्छिया विबुहा ।
जपंति न हु विसेसं, एसि वय देव ! पिच्छामो ॥ १४॥
ज इह रुमेहि वक्खित्त-चित्तया अक्खिया फुरु सो ज ।
अजिइंदियत्तमूल, स अधम्मो तेण चिंतमिण ॥ १५ ॥
त सोऊण सयमवि. वीमसित्ता पयपइ नरिंदो ।
कह मतिसत्तम ! अह, उत्तमधम्म वियाणिस्स ॥ १६ ॥
पजणइ मंती नरवर !, जिणदसणिणो वि अत्थि इह मुणिणो।
विहियपयत्था पालिय-महव्वया पवरगोयसमा ॥ १७ ॥
समतिणमणिणो सममित्त-सत्तुणो तुल्लरकनरवरणो।
महुयरवित्ती कयपाण-वित्तिणो धम्मफलतरुणो ॥ १८ ॥
सज्झायज्झाणरया, जिइंदिया जियपरीसहकसाया ।
ते आहूया वि इह, इति न इति व न याणामि ॥ १९ ॥
भणिय निवेण वरमं-ति ! झत्ति वाहरसु ते महामुणिणो ।
तत्तो अखुद्दबुद्धी, खुड्डमुणी तेण आहूओ ॥२०॥
नमिउ भणिय रन्ना, खुड्डय ! किं मुणसि काउ त कव्व ।
गुरुपायपसाएण, मुणेमि इय भणइ साहू वि ॥ २१ ॥
तो कुरुचदनरिंदो, तयं समस्सापय पयपेइ ।
सिंगारस्स विरहिया, मुणिणा वि हु पूरिया एव ॥ २२ ॥
खतस्स दतस्स जिइंदियस्स, अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स ।
किं मज्झ एएण वि चिंतिएण, सकुडल वा वयण न व त्ति॥२३॥
भणइ निवो खुड्ड ! तए, सिंगारेण न पूरिया किमिय ? ।
स भणिइ जिइंदियाण, जईण बुत्तु न सो जुत्तो ॥ २४ ॥
सिरिअगारो सिंगा-रउ त्ति जपात त पि जइ जइणो ।
॥ नूण चदबिंबा, अग्गीवुट्ठी समुप्पन्ना ॥ २५ ॥
किञ्च-
उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो ऽवलग्गई ॥ २६ ॥
एव लग्गंति दुम्मेहा,जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥ २७ ॥
इय दुद्दमइंदियदु-ट्ठस्स अस्सदमस्स वरमुणिणो ।
वयण सुणिउ राया, चमक्किओ चिंतए चित्ते ॥ २८ ॥
अमय रसेसु गोसी-सचदण चदणेसु जह पवर ।
तह सव्वेसु वि धम्मे-सु नूण धम्मो उ जिणभणिओ ॥ २९ ॥
एव चिंतिय सम्म खु-ड्डेण सम गमिसु गुरुपासे ।
सोऊण धम्मकह, गिहत्थधम्म पवज्जेइ ॥ ३० ॥
चिरकाल परिपालिय, धम्म सचिवेण रोहगेण सम ।
कुरुचदमहाराओ, जाओ सुक्खाण आभागी " ॥ ३१ ॥
"एव निशम्य चरित सुविवेकिकेकि,
जीमूतगर्जितनिभ कुरुचन्द्रराज्ञ ।
भव्या जना सपदि गड्डरिकाप्रवाह,
मुक्त्वाऽऽश्रयन्तु विशद जिनराजधर्मम्" ॥ ३२ ॥
इति कुरुचन्द्रनरेन्द्रकथा। ध०र०। आ० म० । श्रावस्त्यधीश्वरस्य ताराचन्द्रस्य पुत्रे बालवयस्ये,('ताराचद' शब्दे कथा वक्ष्यते) हरिचन्द्रस्य पितरि कुरुमत्या पत्यौ नास्तिकवादरते नृपभेदे, आ०म०प्र०। आ०चू० (तत्कथा 'ललिअगदेव' वक्तव्यतायाम्)

कुरुचर-कुरुचर-त्रि० । कुरुषु चरतीति कुरुचर । कुरुदेशजे, स्त्रियां टित्वाद् ङीप्। प्राकृते तु "प्रत्यये ङीर्नवा" ८।३। ३१। इति ङीर्वा । कुरुचरी, कुरुचरा । प्रा० ३ पाद ।

कुरुजगल-कुरुजाङ्गल-न० । जङ्गलमेव जाङ्गलम् । कुरुषु जाङ्गलम् । कुरुक्षेत्रे,कुरवश्च जाङ्गलाश्च द्वन्द्वः। कुरुदेशे,जाङ्गलदेशे च । पुं० भूम्नि, कुरवश्च जाङ्गल च "विशिष्टलिङ्गो नदीदेशो ग्रामाः" २ । ४ । ७ । (पाणि०) समा० । एकद्भावे कुरुजाङ्गलम् । तत्समाहारे, न० । वाच० । " इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे मज्झिमखडे कुरुजगलजणवए सखावई नाम नयरी । " ती० ७ कल्प ।

कुरुड-कुरुट-पु० । कुणालावास्तव्ये उत्कुरुटस्य मातृष्वस्रेयके भ्रातरि, आ० क० । ('सुयकरण' शब्द कथा वक्ष्यते) कुत्सित रोटति । 'रुट' दीप्तिप्रतीघाते क. । सितावरकशाके, वाच० ।

कुरण-कुरुण-न० । राजकीयेऽन्यदीये वा विस्ते, व्य० २ उ० ।

कुरुत्थल-कुरुस्थल-न० । मथुरास्थे स्थलभेदे, ती० ६ कल्प ।

कुरुदत्त-कुरुदत्त-पुं० । स्वनामख्याते हस्तिनापुरवास्तव्ये इभ्यपुत्रे, स प्रव्रजितो नैषेधिकीं परीषहमधिसह्य सिद्ध इति । उत्त० २ अ० । " कुरुदत्तो वि कुमारो, सवलिफालि व्व अग्गिणा दड्ढो । सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तम अट्ठ ॥ " सथा० ।

कुरुदत्तपुत्त-कुरुदत्तपुत्र-पु० । कुरुदत्तस्य पुत्रे ईशानेन्द्रपूर्वभवजीवे, भ० ।

तत्कथा—

एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी कुरुदत्तपुत्ते नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विणीए अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं पारणए आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसइत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे सयंसि विमाणंसि जाइसए वत्तव्वया सव्वे वि अपरिसेसा कुरुदत्तपुत्ते वि, णवरं सातिरेगे दो केवलकप्पे जंबूदीवे दीवे, अवसेसं तं चेव ॥ ज० ३ श० १ उ० ।

कुरुदत्तसुय-कुरुदत्तसुत-पु० । हस्तिनापुरे जाते स्वनामख्याते इभ्यपुत्रे, " कुरुदत्तसुतोऽनगारः " इति शान्त्याचार्य , कुरुदत्त इति लक्ष्मीवल्लभ । उत्त० ३ अ० ।

कुरुमइ-कुरुमती-स्त्री० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनः सकलान्त पुरप्रधानाग्रमहिष्याम्, उत्त० १३ अ० । स० । आचा० । कुरुचन्द्रनृपभार्यायाम्, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

कुरुया-कुरुका-स्त्री० । देशत सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालने, व्य० १ उ० ।

कुरुराय-कुरुराज-पु० । कुरूणां राजा टच् समा० । वाच० । कुरुदेशनाथे, " अदीणा सतकुरुराया " स्था० ७ ठा० ।

कुरुवासि (ण्)-कुरुवासिन्-पुं० । देवकुरूत्तरकुरुजेऽकृत्रिमम्नुष्यभेदे, स्था० ६ ठा० ।

कुरुविंद-कुरुविन्द-पु० । कुरून् मूलकारणत्वेन विन्दति । विद श । " शे मुचादीनाम् " ७ । १ । ५९ । इति (पाणि०) मुम् ।

मुस्तायाम, माषे, वाच० । तृणविशेषे, औ० । प्रश्न० । प्रज्ञा० । तं० । आचा० । कुटिलकाभिधाने रोगविशेषे, ओघ० । काचलवणे, माणिक्यरत्ने, न० । कुरुविल्वरत्ने, कुल्माषे, व्रीहिभेदे, दर्पणे, हिङ्गुले च । वाच० ।

कुरूव–कुरूप–न० । कुत्सितं यथा भवत्येवं रूपयति विमोहयति यत्तत्कुरूपम् । भाण्डादिकर्मणि मायाविशेषे, भ० १२ श० ५ उ० । तदात्मके मोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० । कुत्सितवर्णे, त्रि० । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

कुल–कुल–न० । कुल कः । कुङ् शब्दे कर्मणि वा लक् । कुं भूमिं लाति ला कः । कौ भूमौ लीयते अन्येभ्योऽपि पा० ड० यथायथं व्युत्पत्तिः । जनपदे, देशे, मध्यमहलद्वयेन यावती भूमिः कृष्यते तावत्यां भूमौ, वाच० । वंशस्यावान्तरभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । पैतृके पक्षे, नि० । तं० । रा० । औ० । ग० । प्रश्न० । "कुल पेइयं, माइया जाई ।" उत्त० ३ अ० । स्था० । ज्ञा० । गुणवत्पितृकत्वे, स्था० ४ ठा० २ उ० । इक्ष्वाक्वादौ, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० । राष्ट्रकूटादौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पितृपितामहादिपूर्वपुरुषवंशे, ध० १ अधि० । प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वे, सम्म० १ काण्ड । स्वगोत्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । नागेन्द्रादौ, वृ० १ उ० । विद्याधरादौ, आव० २ अ० । चान्द्रादिके साधुसमुदायविशेषे, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रश्न० । प्रति० । स्था० । बहूनां गच्छानामेकजातीयानां समूहे, ध० ३ अधि० । एकाचार्यसन्ततौ, कल्प० ८ क्षण । स्था० । पं० व० । "एत्थ कुलं विण्णेयं, एगायरियस्स संतई जाओ । तिण्ह कुलाणमिहो पुण, सावेक्खाण गणो होइ ॥" भ० ८ श० ८ उ० । गृहस्थानाम् (सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०) गृहे, कल्प० ६ क्षण । आचा० । सूत्र० । क्षत्रियादिगृहे, सूत्र० २ श्रु० ६ उ० । (ततो भगवान् ! श्रीऋषभः राज्ये हस्त्यश्वगवादिसंग्रहपुरस्सरमुग्रभोगराजन्यक्षत्रियलक्षणानि चत्वारि कुलानि व्यवस्थापितवान् इति 'उसभ' शब्दे द्वि० भा० ११२४ पृष्ठे दर्शितम्) कल्प० । कुटुम्बे, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । स्था० । कल्प० । वृन्दे, गजकुलवानरकुलानि । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सान्निध्ये, गुरुकुल, कुलं सान्निध्यं, गुरोः कुलं गुरुसान्निध्यम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । कुले भवः यत् कुल्यः । खे कुलीनः । ढकञ् कौलेयकः । कुलोद्भवे, त्रि० । वाच० । कुलसञ्ज्ञितेषु नक्षत्रेषु, सू० प्र० ।

तानि च–

ता कहं ते कुला आहिता ति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमे बारस कुला, बारस उवकुला, चत्तारि कुलोवकुलाए । बारस कुला । तं जहा–धणिट्ठाकुलं उत्तराभद्दवयाकुलं असिणीकुलं कत्तियाकुलं संठाणाकुलं पुस्सेकुलं महाकुलं उत्तराफग्गुनीकुलं चित्ताकुलं विसाहाकुलं मूलो कुलं उत्तरासाढाकुलं । बारस उवकुला । तं जहा–सवणो उवकुलं पुव्वभद्दवया उवकुलं रेवति उवकुलं भरणी उवकुलं पुणव्वसू उवकुलं असेसा उवकुलं पुव्वाफग्गुणी उवकुलं हत्थो उवकुलं साति उवकुलं जेट्ठा उवकुलं पुव्वासाढा उवकुलं । चत्तारि कुलोवकुलं । तं जहा–अभिई कुलोवकुलं सतभिसया कुलोवकुलं अद्दा कुलोवकुलं अणुराधा कुलोवकुलं ।

"ता कहं ते" इत्यादि । ता इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण, भगवन् ! त्वया कुलान्याख्यातानीति वदेत् ? । एवमुक्ते भगवानाह–"तत्थ" इत्यादि । इह न केवलं भगवता कुलान्येवाख्यातानि, किंतूपकुलानि, कुलोपकुलानि च, ततो निर्धारणार्थप्रतिपत्त्यर्थम् । तत्रेति भगवान् ब्रूते–तत्र तेषां कुलादीनां मध्ये अमूनि इमानि द्वादश कुलानि । सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । इमे इति प्रतिपदमभिसंबध्यते । इमानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि द्वादश उपकुलानि, इमानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि चत्वारि कुलोपकुलानि प्रज्ञप्तानि । अथ किं कुलादीनां लक्षणमुच्यते–इह यैर्नक्षत्रैः प्रायः सदा मासानां परिसमाप्तय उपजायन्ते, माससदृशनामानि नक्षत्राणि, तानि कुलानीति प्रसिद्धानि । तद्यथा–श्राविष्ठो मासः, प्रायः श्रविष्ठया धनिष्ठाऽपरपर्यायया परिसमाप्तिमुपैति । भाद्रपद उत्तरभद्रपदया, अश्वयुक् अश्विन्या इति । धनिष्ठादीनि प्रायो मासपरिसमापकानि माससदृशनामानि कुलानि, तेषामेव कुलानामधस्तनानि यानि नक्षत्राणि श्रवणादीनि तानि उपकुलानि, कुलानां समीपमुपकुलं, तत्र वर्त्तन्ते यानि नक्षत्राणि तान्युपचारादुपकुलानि । यानि च कुलानामुपकुलानां चाधस्तनानि तानि कुलोपकुलानि अभिजिदादीनि चत्वारि नक्षत्राणि । उक्तं च–

"मासाणं परिणामा, हुंति कुला उवकुला उ हिट्ठिमगा ।
हुंति पुण कुलोवकुला, अभिइसयअद्दअणुराहा" ॥ १ ॥

अत्र (मासाणं परिणामा इति) प्रायो मासानां परिसमापकानि । क्वचित्–"मासाण सरिसनामा" इति पाठः । तत्र मासाना सदृशनामानीति व्याख्येयम् । (सय त्ति) शतभिषक् । शेष सुगमम् ।

संप्रति यानि द्वादश कुलानि, यानि च द्वादश उपकुलानि, यानि च चत्वारि कुलोपकुलानि तानि क्रमेण कथयति–(बारस कुला तं जहा) इत्यादि सुगमम् । सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । जं० ।

कुलंप–कुलम्प–पुं० । अनार्यक्षेत्रभेदे, तद्वासिनि जने च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कुलक(ग)र–कुलकर–पुं० । कुलकरणशीलाः कुलकराः । कुलकरणशीलेषु विशिष्टबुद्धिषु लोकव्यवस्थाकारिषु पुरुषविशेषेषु, स्था० १० ठा० ।

इदानीं यस्मिन् काले क्षेत्रे च कुलकराणां प्रभवस्तदुपदर्शनायाह–

उस्सप्पिणी इमीसे, तइयाए समाएँ पच्छिमे भागे ।
पलिओवमट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती ॥
अद्धभरहमज्झिल्लति–भागे गंगसिंधुमज्झम्मि ।
एत्थ बहुमज्झदेसे, उप्पन्ना कुलगरा सत्त ॥

अस्यामवसर्पिण्यां वर्तमानायां या तृतीया समा सुषमदुःषमाभिधाना, तस्या यः पश्चिमो भागस्तस्मिन् । कियन्मात्रे इत्याह–पल्योपमाष्टभागे पल्योपमाष्टभागप्रमाणे शेषे तिष्ठति सति, कुलकरोत्पत्तिरभूदिति वाक्यशेषः । कुत्रेत्यत आह–अर्द्धभरतमध्यमत्रिभागे, किं विशिष्टे इत्याह–गङ्गासिन्धुमध्येऽत्र एतस्मिन्नर्द्धभरतमध्यमत्रिभागे बहुमध्यदेशे, न तु पर्यन्तेषु, उत्पन्नाः कुलकराः सप्त । इहार्द्धभरतं विद्याधरालयवैताढ्यपर्वतादारतः परिग्राह्यं, न तु परतः, व्याख्यानात् ।

संप्रति कुलकरवक्तव्यताभिधायिकां द्वारगाथां प्रतिपादयति–

पुव्वभवजम्मनाम–प्पमाणसंघयणमेव संठाणं ।
वन्नित्थियाऽऽउ भागा, भवणोवातो य नीई य ॥

कुलकराणां पूर्वभवा वक्तव्या, ततो जन्म, तदनन्तरं नामानि, सप्रमाणानि, तदनन्तरं संहनन वक्तव्यम्, एवशब्द पूरणार्थं । तथा संस्थानं,ततो वर्णो प्रतिपादयितव्या ,तदनन्तरं स्त्रिय.,तत आयुर्वक्तव्यम्, ततो भागा वाच्या -कस्मिन् वयोभागे कुलकरा संवृत्ता इति । भवनेषु उपपातो वक्तव्य , भवनग्रहण भवनपतिनिकायेषु तेषामुपपातो नान्येष्वेति प्रदर्शनार्थम, तथा नीतिश्च या यस्य हकारादिलक्षणा सा तस्य वक्तव्येति गाथाऽक्षरार्थं । भावार्थं तु प्रतिद्वार स्वयमेव वक्ष्यति ।

तत्र प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सयेदमाह-

अवरविदेहे दो वणि-वयंसा माइ उज्जुगे चेव ।
कालगया इह भरहे, हत्थी मणुओ य आयाया ॥
दट्टुं सिणेहकरणं, गयमारुहणं च नामनिव्वुत्ती ।
परिहाणि गेहि कलहो, सामत्थण विन्नवण ह त्ति ॥

अपरविदेहे द्वौ वणिग्वयस्यावभूताम । तद्यथा-एको मायी,अपरश्च ऋजु , तौ च कालगतावपि भरते आयातौ,मायी हस्ती,इतरो मनुष्य इति । ततो दृष्ट्वा परस्पर स्नेहकरण,ततो गजारोहण,तदनन्तर नामनिर्वृत्ति । गच्छता च कालेन कल्पद्रुमाणां परिहाणि , तत प्रभूता प्रभूततरा वृद्धि ,तदन तर कलह ,तत "सामत्थण त्ति" देशीवचनमेतत् । पर्यालोचननिरर्थं । ततो विज्ञपना, तदनन्तर हा इति हकारलक्षणा या नीति प्रवृत्ति । भावार्थं कथानकादवसेय । तच्चेदम्-"अवरविदेहे दो मित्ता वाणिया,तत्थेगो माई, इयरो उज्जुगो । ते पुण एगतो चेव ववहरंति । तत्थ जो माई सो त उज्जुगं अइसधेइ, इयरो सव्वमणुलतो सम्म ववहरइ । दो वि पुण दाणरुई, ततो सो उज्जुगो कालं काऊण इहेव दाहिणड्ढे मिहुणगो जातो । वको पुण तम्मि चेव पएसे हत्थिरयणं । सो य सेतो वयणेणं च उट्टुतो य । जाहे ते दो वि पडुप्पणसरीरगा जाया ताहे ते हिंडिउमारद्धा, तेण य हत्थिणा हिंमतेण सो मिहुणगो दिट्ठो, दट्ठूण य से परमा पीई उप्पना,न च से अभिओगनिव्वत्तिय कम्म उदिन्न,ततो तेण मिहुणग खधे विलइयं । ततो सव्वेण लोगेण त मिहुणग तहारूवं दट्ठूण अम्हेहिंतो मणुसो एसो, इम च से विमल वाहण,तिसे 'विमलवाहण' त्ति नाम कय,तेसिं च जाईसरणं च जाय,ताहे कालदोसेण इमे सत्त कप्परुक्खा परिहायंति-"मत्तंगया य भिंगा, चित्तंगा चेव तह य चित्तरसा । गेहागारअणिगणा, सत्तमया कप्परुक्ख त्ति" ॥१॥ तेसु परिहायंतेसु कसाया उप्पणा । अय मम,मा इत्थ कोइ अल्लिय उ त्ति भणिउ पवित्ता, जो ममीकयमल्लियइ,तेण इयरो कसाइज्जइ, ततो परोप्परमसंखमं ताहे चिंतिति-कचि अहिवई ठवेमो, जो ववत्थावेइ,ठवेइ ताहे तेहिं सो विमलवाहणो, एस अम्हेहिंतो अहिवो इति अहिवई ठविओ । ताहे तेण तेसिं रुक्खा विरिक्का, भणिया य-जो तुम्ह एयामर अइक्कमइ,त मम कहेज्जह, जेणाह से दंडं वत्तेमि, सो वि कह जाणइ, भणइ-सो जाईस्सरो त वाणियत्त सारइ, तेण जाणइ, ताहे तेसिं जो को वि अवरज्झइ सो तस्स कहिज्जइ, ताहे सो तेहिं दंड वत्तेइ, सो पुण दडो हक्कारो-हा तुमे दुट्ठु कय ति । ताहे सो जाणइ, अह सव्वस्सहरणो कतो,वर हतो होंतो,सीस वा मे वर छिन्न होंत, न य एरिसं विडंवण पावितो त्ति । एव बहु काल हक्कारदंडो अणुवत्तितो, तस्स य चदजसा, तीए सम भोगे भुजतस्स अवर मिहुणं जाय, तस्स वि कालतरेण अवर, एव ते एगवसम्मि सत्त

कुलगरा उप्पन्ना ॥ "पूर्वभवा सत्वमीषा प्रथमानुयोगतोऽवसेया , जन्म पुनरिहैव सर्वेषां द्रष्टव्यम्, व्याख्यातं पूर्वभवजन्मरूप द्वारद्वयम । आ० म० प्र० ।

सम्प्रति कुलकरनामप्रतिपादनार्थमाह-

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था । त जहा-'पढमित्थ विमलवाहण, चक्खुम जससं चउत्थमभिचदे । तत्तो पसेणई पुण, मरुदेवे चेव नाभी य' ॥१॥ स्था० ७ ठा० ।

प्रथमोऽत्र विमलवाहनो, द्वितीयश्चक्षुष्मान्, तृतीयो यशस्वी, चतुर्थोऽभिचन्द्र , पञ्चम प्रसेनजित, षष्ठो मरुदेव',सप्तमो नाभिरिति । गत नामद्वारम । आ० म० प्र० । आ० चू० । आ०क० ।

अधुना प्रमाणद्वारावयवार्थमभिधित्सुराह-

नवधणुसयाइ पढमो, अट्ठ य सत्तऽद्धसत्तमाइ च ।
छ चेव अद्धछट्ठा, पंच सया पणवीसाओ ॥

प्रथमो विमलवाहन उच्चैस्त्वेन नवधनु शतानि, द्वितीयश्चक्षुष्मान् अष्टौ धनु शतानि, तृतीयो यशस्वी सप्तधनु शतानि, चतुर्थोऽभिचन्द्रोऽर्द्धसप्तमानि धनु शतानि, पञ्चम प्रसेनजित् षट्धनुःशतानि, षष्ठो मरुदेवोऽर्द्धषष्ठानि धनुःशतानि, सप्तमो नाभि' पञ्चविंशानि पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनु.शतानि ५२५। गतं प्रमाणद्वारम ।

अधुना संहननसंस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

वज्जरिसहसंघयणा, समचउरंसा य होंति संठाणे ।
वण्णं वि य वोच्छामी, पत्तेय जस्स जो आसी ॥

सर्व एव विमलवाहनादयो वज्रर्षभसहनना , सस्थाने च चिन्त्यमाने समचतुरस्राश्च भवन्ति । वर्णद्वारसबन्धाभिधानार्थमाह- (वर्ण) " वण्ण वोत्यादि " वर्णमपि च वक्ष्ये प्रत्येक यस्य य आसीदिति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

चक्खुम जससं च पसे-णई य एए पियंगुवण्णाभा ।
अभिचदो ससिगोरा, निम्मलकणगप्पभा सेसा ॥

चक्षुष्मान् यशस्वी प्रसेनजित् एते द्वितीयतृतीयपञ्चमा' प्रियङ्गुवर्णा इवाभा छाया येषा ते तथा प्रियङ्गुश्यामा । अभिचन्द्रश्चतुर्थ कुलकर शशिवद् गौर.। निर्मलकनकवत् प्रभा छाया येषा ते तथा शेषा विमलवाहनमरुदेवनाभय । गत वर्णद्वारम । आ० म० प्र० ।

स्त्रीद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

एतेसि णं सत्तण्ह कुलगराणं सत्त भारिआ होत्था । तं जहा-'चंदजस चंदकता,सुरूवपडिरूवचक्खुकंता य । सिरिकंता मरुदेवी, कुलगरइत्थीण णामाइ' ॥१॥ स० । स्था० ।

विमलवाहनस्य पत्नी चन्द्रयशा , चक्षुष्मतश्चन्द्रकान्ता, यशस्विन. सुरूपा, अभिचन्द्रस्य प्रतिरूपा, प्रसेनजितश्चक्षुष्कान्ता, नाभेर्मरुदेवी । इमानि यथाक्रम कुलकरपत्नीना नामानि, एताश्च सहननादिभिः कुलकरतुल्या एव द्रष्टव्या ।

यत आह-

संघयणं संठाणं, उच्चत्त चेव कुलगरेहिँ समं ।
वण्णेण एगवण्णा. सव्वाउ पियंगुवण्णातो ॥

संहननं,संस्थानम्,उच्चैस्त्व चैव कुलकरैरात्मीयैरात्मीयैः सममनुरूपमासामधिकृतस्त्रीणा नवर प्रमाणेन ईषन्न्यूना इति सम्प्रदायः । तथा वर्णेन सर्वा अप्येकवर्णाः प्रियङ्गुवर्णा इति । गत स्त्रीद्वारम् ।

इदानीमायुर्द्वारमाह-

पलिओवमदसभागो, पढमस्साउं ततो असंखेज्जा ।
ते याणुपुव्विहीणा, पुव्वा नाभिस्स संखिज्जा ॥

प्रथमस्य विमलवाहनस्यायु पल्योपमदशभाग , तदनन्तरमन्येषां चक्षुष्मदादीनामसंख्येयानि, पूर्वाणीति सयध्यते । तान्यपि चानुपूर्व्या क्रमेण हीनानि । नाभेस्तु संख्येयानि पूर्वाण्यायुष्कमिति । अन्ये तु व्याचक्षते-प्रथमस्य पल्योपमदशमभाग एवायुः , ततो द्वितीयस्यासंख्येया पल्योपमासंख्येयभागा इति वाक्यशेषः । एव चानुपूर्व्या हीना शेषाणामायुष्कं द्रष्टव्यम्, तावद् यावत्संख्येयानि पूर्वाणि नाभेरायुष्कमित्यविरुद्धम् । अपरे व्याचक्षते-प्रथमस्यायु पल्योपमदशभाग.,ततोऽसंख्येया इति शेषाणां समुदितानां पल्योपमासंख्येयभागाः । किमुक्त भवति?-द्वितीयस्य पल्योपमासंख्येयभाग आयु',शेषाणा तत एवासंख्येयभाग ,असंख्येयभाग पात्यते तावद्यावन्नाभेरसंख्येयानि पूर्वाणि । तदेतदपव्याख्यानम् । कथमिति चेत्? उच्यते-इह पल्योपमाष्टभागे अशेषकुलकराणामुत्पत्तिः,'पलितोवमट्ठभागे,सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती।' इति वचनात् । तत्र पल्योपम किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भाग परिकल्प्यते,तस्याष्टमो भाग पञ्च चत्वारिंशद्भागा ,तत्रापि प्रथमस्य विमलवाहनस्यायुः पल्योपमदशभाग ,ततश्चत्वारश्चत्वारिंशद्भागास्तदायुषि गता., शेष एक. पल्योपमस्य चत्वारिंशत्तमः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते,स च चक्षुष्मदादिगतै पञ्चभिरसंख्येयभागैर्न पूर्यते इत्यपव्याख्या । अथ अत एव नाभेरसंख्येयानि पूर्वाण्यायुष्कमुक्तमिति । इदमयुक्त तूक्तम् । यतो मरुदेव्या संख्येयानि वर्षाण्यायुरसंख्येयवर्षायुषां केवलज्ञानाभावात्,ततो नाभे संख्येयवर्षायुष्कत्वमेव कुलकराणां,कुलकरपत्नीनां च,समानायुष्कत्वात् ।

तथाचाह-

जं चेव आउयं कुल-गराण तं चेव होइ तासिं पि ।
जं पढमगस्स आउ, तावइयं होइ हत्थिस्स ॥

यदेवायुष्क कुलकराणां प्रागुक्त,तदेव भवति तासामपि कुलकराङ्गनानां, संख्यासाम्याच्च तदेवेत्यभिधीयते,यावता प्रत्येक भिन्नमेव प्राणिनामायु , तथा यत्प्रथमस्य कुलकरस्य विमलवाहनाख्यस्यायुस्तावदेव भवति हस्तिन. । एव शेषकुलकरहस्तिनामपि कुलकरतुल्य द्रष्टव्यम् ।

भाग.-

सम्प्रति भागद्वारं वक्तव्यम्-यथा क' कस्य सर्वायुष्ककुलकरकाल इति । तत्रेदमाह-

जं जस्स आउयं खलु, तं दसभागे समं वि भइऊणं ।
मज्झिल्लट्ठतिभागे, कुलगरकाल वियाणाहि ॥

यद् यस्य कुलकरस्याऽऽयुस्तत् खलु दशभागान् समं विभज्य मध्यमेऽष्टभागात्मके त्रिभागे कुलकरकाल विजानीहि ।

अमुमेवार्थं प्रकटयन्नाह-

पढमो य कुमारत्ते, भागो चरिमो य वुड्ढभावम्मि ।
ते पयणुपेज्जदोसा, सव्वे देवेसु उववन्ना ॥

तेषां दशानां भागानां मध्ये प्रथमो भागः कुमारत्वे भवति, चरमो वृद्धभावे, शेषा मध्यमा अष्टौ भागा. कुलकरकाल इति । गत भागद्वारम् ।

उपपात.-

उपपातद्वारमुच्यते-ते प्रतनुप्रेमद्वेषा',प्रेम रागो, द्वेषः प्रसिद्धः, सर्वे विमलवाहनादयो देवेषूपपन्ना ।

तत्र न ज्ञायते केषु देवेषूपपन्ना इत्यत आह-

दो चेव सुवण्णेसुं, उदहिकुमारेसु होंति दो चेव ।
दो दीवकुमारेसुं, एगो नागेसु उववण्णो ॥

द्वौ आद्यौ विमलवाहनचक्षुष्मदभिधानौ सुपर्णेषु देवेषूत्पन्नौ, द्वावेव च यशस्व्यभिचन्द्राख्यावुदधिकुमारेषु भवतः, द्वौ प्रसेनजिन्मरुदेवाख्यौ द्वीपकुमारेषु, एको नाभिनामा सप्तमकुलकरो नागेषूपपन्न. ।

संप्रति कुलकरस्त्रीणां हस्तिनां चोपपातमभिधित्सुराह-

हत्थी छाचित्थीओ, नागकुमारेसु होंति उववन्ना ।
एगा सिद्धिं पत्ता, मरुदेवी नाभिणो पत्ती ॥

हस्तिन. सप्तापि, षट् च स्त्रियश्चन्द्रयशाप्रभृतयो नागकुमारेषूपपन्ना । अन्ये तु प्रतिपादयन्ति-एक एव हस्ती, षट् स्त्रियो, नागेषूपपन्ना , शेषाणामिहाऽनभिधानमेवेति । एका सप्तमी मरुदेवी नाभेः पत्नी सिद्धिं प्राप्ता । उक्तमुपपातद्वारम् । आ० म० प्र० ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्या पञ्चदश कुलकरास्तेषां नामायुरादीनि-

तीसे णं समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेसा, एत्थ णं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था । तं जहा-सुमई १ पडिस्सुई २ सीमंकरे ३ सीमंधरे ४ खेमंकरे ५ खेमंधरे ६ विमलवाहणे ७ चक्खुमं ८ जसमं ९ अभिचंदे १० चंदाभे ११ पसेणई १२ मरुदेवे १३ णाभी १४ उसभे १५ त्ति ॥

अत्राह कश्चित्-आवश्यकनिर्युक्त्यादिषु सप्तानां कुलकराणामभिधानादिह पञ्चदशानां तेषामभिधानं कथम्?,यदि वा भवतु नामैतत्, पुण्यपुरुषाणामधिकाधिकवर्णयपरुपवर्णनस्य न्याय्यत्वात्, परं पल्योपमाष्टमभागावशिष्टतावचन कालस्य सुतरा बाधते, अनुपपत्ते. । तथाहि-पल्योपमं किलाऽसत्कल्पनया चत्वारिंशद्भाग परिकल्प्यतेऽस्याष्टमो भागश्चत्वारिंशद्भागा पञ्च । तत्राप्याद्यस्य विमलवाहनस्यायु पल्योपमदशमभाग ,ततश्चत्वारश्चत्वारिंशद्भागास्तदायुषि गता ,शेष एक पल्योपमस्य चत्वारिंशत्तम. संख्येयो भागोऽवतिष्ठते,स चक्षुष्मदादीनामसंख्येयपूर्वैर्नाभे., संख्येयपूर्वैः श्रीऋषभस्वामिनश्चतुरशीत्या पूर्वलक्षैः शेषैश्चैकोननवत्या पक्षैः परिपूर्यते;तेन पूर्वेषां सुमत्यादिकुलकराणां महत्तमायुषां क्वावकाश.? उच्यते-आद्यस्य सुमतेस्तावत्पल्यदशमायु.,ततो द्वा-

अथ भरतचक्रवर्त्तिकाले कियत्यो दण्डनीतयः प्रावर्त्तिषतेत्यत आह-

परिहासणा उ पढमा, मंडलिबंधो उ होइ बीया उ।
चारगछविछेयाई, भरहस्स चउव्विहा नीती।

भरतस्य साम्राज्यानुभवनकाले चतुर्विधा दण्डनीतिरभूत्। तद्यथा-प्रथमा स्वल्पापराधविषया परिभाषणा प्रागुक्तस्वरूपा भगवता आदिनाथेन प्रवर्त्तिता आसीत्। द्वितीया मण्डलिबन्धो मण्डलिबन्धाख्या आदिनाथेनैव प्रवर्त्तिता, साऽपि किञ्चिन्महापराधविषया। तृतीया चारकलक्षणा भरतेन माणवकनिधिं परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधविषया। चतुर्थी छविच्छेदादिका, आदिशब्दाच्छिरःकर्त्तनादिपरिग्रहः। कुलकराणामुत्पत्तिः, "पलितोवमट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती" इति वचनात्। तत्र पल्योपमं किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भाग परिकल्पते, तस्याष्टमो भागः,पञ्च च, विधिं परिभाव्य प्रवर्त्तिता, सा गुरुतरापराधविषया, चतुर्थी छविच्छेदादिका । आदिशब्दाच्छिरःकर्त्तनादिपरिग्रह. । सा महापराधविषया, भरतेनैव माणवकनिधिं प्रवर्तितेति । अन्ये तु चतस्रोऽप्येताः दण्डनीतयो भरतेनैवोत्पादिता इति व्याचक्षते। आ० म० प्र०।

पञ्चदशकुलकराणां तु-

तत्थ णं सुमई-पभिस्सुई-सीमंकर-सीमंधर-खेमंकराणं एतेसिं ण पचण्ह कुलगराणं हक्कारे णामं दंडणीई होत्था। तेणं मणुआ हक्कारेणं दंडेणं हया समाणा लज्जिआ विलिआ विड्ढा भीआ तुसिणा विणओणया चिट्ठंति। तत्थ णं खेमंधरविमलवाहणचक्खुमंजसमअभिचंदाणं एतेसि णं पंचण्ह कुलगराणं मक्कारणामं दंडणीई होत्था। तेणं मणुआ मक्कारेणं दंडेण हया समाणा० जाव चिट्ठंति। तत्थ णं चंदाजपसेणईमरुदेवणाभिउसभाणं एतेसि णं पंचण्हं कुलगराणं धिक्कारे णामं दंडणीई होत्था । तेणं मणुआ धिक्कारेणं दंडेणं हया समाणा० जाव चिट्ठंति॥

तेषु पञ्चदशसु कुलकरेषु मध्ये सुमतिप्रतिश्रुतिसीमकरसीमन्धरक्षेमंकराणामेतेषां पञ्चानां कुलकराणां हा इत्यधिक्षेपार्थकशब्दस्य करणं हाकारो नाम दण्डोऽपराधिनामनुशासन तत्र नीतिर्न्यायोऽभवत्। अत्रायं संप्रदायः-पुरा तृतीयाऽऽरान्तकालदोषेण व्रतभ्रष्टानामिव यतीनां कल्पद्रुमाणा मन्दायमानेषु स्वदेहावयवेष्विव तेषु मिथुनानां जायमाने ममत्वेऽन्यस्वीकृतं तमन्यस्मिन् गृह्णाति, परस्पर जायमाने विवादे सदृशजनकृतपराभवमसहिष्णव आत्माधिक सुमतिं स्वामितया ते चक्रुः;स च तेषां तान् विभज्य स्थविरो गोत्रिणं द्रव्यमिव ददौ, यो य स्थितिमतिचक्राम तच्छासनाय जातिस्मृत्या नीतिज्ञत्वेन हाकारदण्डनीतिं चकार, तां च प्रतिश्रुत्यादयश्चत्वारोऽनुचक्रुरिति; तथा च ते कीदृशा अभवन्नित्याह-" तेणमित्यादि " ते (मणुजा णमिति) प्राग्वत्, हक्कारेण दण्डेन हताः सन्तो लज्जिता व्रीडिता, व्यलीकिताः संजातव्यलीका. । व्यलीकमपराध. । "विड्ढा" इति विशेषतो जातव्रीडाः, लज्जाप्रकर्षवन्त इत्यर्थः। एते त्रयोऽपि पर्यायशब्दा लज्जाप्रकृष्टतावाचनयोकाः। भीता व्यक्तम्, तूष्णीका मौनमाश्रो विनयावनता न तूल्लण्ठा इव निष्कम्पा निर्भया जल्पाका अहं-यवश्च तिष्ठन्ति । ते अनेनैव दण्डेन हतस्वमेवात्मानं मन्यमानाः पुनरपराधस्थाने न प्रवर्तन्त इत्याशयः। अत्र चादृष्टपूर्वशासनानां तेषां दण्डादिघातेभ्योऽप्यतिशायिसमर्माविच्छासनमिदमिति ज्ञता इति वचनम्। अथोत्तरकालवर्तिकुलकरकाले किं सैव दण्डनीतिरन्या वेत्याशङ्कायां समाधत्ते-(तत्थ णमित्यादि) तत्र क्षेमधरविमलवाहनचक्षुष्मद्यशस्व्यभिचन्द्राणामेतेषां पञ्चानां कुलकराणां मा इत्यस्य निषेधार्थस्य करणमभिधान माकारो नाम दण्डनीतिरभवत्। शेषं पूर्ववत् । आवश्यकादौ तु-विमलवाहनचक्षुष्मतो. कुलकरयोर्हाकाररूपा दण्डनीतिः, यशस्व्यभिचन्द्रप्रसेनजितोरन्तराले चन्द्राभस्याकथनमित्याद्युत्तर तद्वाचनान्तरेणेति। अयमर्थः-क्रमेणातिसक्तवादिना जीर्ण भीतिकत्वेन हाकारमतिक्रामंस्तु अङ्कुशमिव गम्भीरवेदिषु गजेषु युग्मिषु क्रेमंधर. कुलकुञ्जरो दुश्चिकित्से हि चिकित्सान्तरं कार्यमिति द्वितीयां माकाररूपां दण्डनीतिं चकार। ते च विमलवाहनादयश्चत्वारोऽनुचक्रु । अत्र संप्रदायविदः-महत्यपराधपदे माकाररूपा इत्यभिप्रेत्येव । श्रीहेमसूरयस्तु ऋषभचरित्रे सप्तकुलकराधिकारे यशस्विवारके दण्डनीतिमाश्रित्याह-"आगस्यल्पे नीतिमाद्यां, द्वितीयां मध्यमे पुन । महीयसि द्वे अपि च,स प्रायुङ्क्त महामति "॥१॥ इत्याद्युः। अथ तृतीयकुलकरपञ्चककृत्यव्यवस्थामाह-"तत्थ णमित्यादि" । इद सूत्र गतार्थं, नवरं धिगित्याक्षेपार्थ एव,तस्य करणमुच्चारण धिक्कार.। सम्प्रदायस्त्वयम्-पूर्वनीतिमतिक्रामत्सु तेषु अपामर्यादे इव कामुकेषु च धिग्नाम्नीं धिक्कारदण्डनीतिं विदधे, तां च प्रसेनजिदादयश्चत्वारोऽनुकृतवन्त.। महत्यपराधे धिक्कारो, मध्यमजघन्ययोस्तु माकारहाकाराविति । अन्यास्तु परिभाषणाद्या भरतकाले, "परिभासणा उ पढमा, मण्डलिबंधम्मि होइ बीआउ । चारगछविछेआई, भरहस्स चउव्विहा नीई"॥ इति वचनात्। ऋषभकाले इत्यन्ये। जं० २ वक्ष०।

अतीतायामुत्सर्पिण्याम्-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे तीयाए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था । तं जहा-" मित्तदामे सुदामे य, सुपासे य सयंपभे । विमलघोसे सुघोसे य, महाघोसे य सत्तमे"॥ स०। स्था०।

अतीतायामवसर्पिण्याम्-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे तीयाए ओसप्पिणीए दस कुलगरा होत्था। तं जहा-"सयंजले सयाऊ य, जियसेणाणंतसेणे य । कज्जसेणे भीमसेणे, महासेणे य सत्तमे"॥ दढरहे दसरहे सयरहे। स०। स्था०॥

आगमिष्यन्त्यामवसर्पिण्याम्-

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए ओसप्पिणीए दस कुलगरा भविस्संति। तं जहा-सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे विमलवाहणे । संमुची पडिस्सुए दढधणू सयधणू दसधणू। स्था० १० ठा०।

आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्याम्-

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा भविस्संति। तं जहा-"मित्तवाहण सुभोमे य,

सुप्पभे य सयंपभे । दत्ते सुहुमे सुबंधू य, आगमिस्सेण होक्खई "॥ १ ॥ स्था० ७ ठा० ।

आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते-

जंबुद्दीवे णं दीवे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए एरवए वासे दस कुलगरा भविस्संति । तं जहा-विमलवाहणे सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे दढधणू दसधणू सयधणू पडिसुई सुमई ति । स० ॥

कुलक (ग) रइत्थी-कुलकरस्त्री-स्त्री० । कुलकरपत्नीषु, " चंदजसा चंदकंता, सुरूव पडिरूव चक्खुकंता य । सिरिकंता मरुदेवी, कुलकरइत्थीण णामाइं ॥ १ ॥ " स्था० ७ ठा० ।

कुलक (ग) रगंडिया-कुलकरगण्डिका-स्त्री० । कुलकरवक्तव्यतार्थाधिकारानुगताया वाक्यपद्धतौ, यत्र कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वजन्मादिमभिधीयते । स० ।

कुलक (ग) रवंस-कुलकरवंश-पुं० । कुलकराणां प्रवाहे अन्वये, तत्प्रतिपादकत्वात् प्रवचने च । स० ।

कुलकहा-कुलकथा-स्त्री० । स्त्रीणां कुलप्रशंसायाम्, यथा-" अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम् । पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्नौ, या प्रेमरहिता अपि ॥ १ ॥ " प्रश्न० ४ सम० द्वार ।

कुलकित्तिकर-कुलकीर्तिकर-त्रि० । कुलख्याति (एकादिग्गामिप्रसिद्धि) करे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । कल्प० ।

कुलकेउ-कुलकेतु-त्रि० । केतुश्चिह्नं ध्वज इत्यनर्थान्तरम्, केतुरिव केतुरद्भुतत्वात्, कुलस्य केतुः कुलकेतुः । भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । कुले अद्भुते, कल्प० ३ क्षण ।

कुलकोडी-कुलकोटि (टी)-स्त्री० । एकेन्द्रियादीनां जातिविशेषे, यथा द्वीन्द्रियाणां गोमये उत्पद्यमानानां कृम्याद्यनेकाकाराणि कुलानि । स्था० १० ठा० ।

इदानीं " कुलकोडीणं संखा जीवाण त्ति " पञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह-

बारस सत्त य तिन्नि य, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं ।
नेया पुढविदगागणि-वाऊणं चेव परिसंखा ॥ ९७७ ॥

पृथिव्युदकाग्निवायूनामेव कुलान्याश्रित्य परिसंख्यानं परिसंख्या यथाक्रमं ज्ञेया । तद्यथा-द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि दृष्टा पृथिवीकायिकानां, सप्त उदकजीवानां, त्रीण्यग्निकायिकानां, वायूनां पुनः सप्तैव कुलकोटिशतसहस्राणि ।

कुलकोडिसयसहस्सा, सत्तऽट्ठ य नव य अट्ठवीसं च ।
बेइंदिअतेइंदिअ-चतुरिंदियहरियकायाणं ॥ ९७८ ॥

अत्रापि यथासंख्येन योजना-द्वीन्द्रियाणां सप्त कुलकोटिशतसहस्राणि, अष्टौ त्रीन्द्रियाणाम्, नव चतुरिन्द्रियाणाम्, अष्टाविंशतिर्हरितकायिकानां समस्तवनस्पतिकायिकानाम् ।

अद्धत्तेरस बारस, दस दस नव चेव सयसहस्साइं ।
जलयरपक्खिचउप्पय-उरभुयसप्पाण परिसंखा ॥ ९७९ ॥

अत्रापि यथाक्रमं पदघटना । जले चरन्ति पर्यटन्तीति जलचरा, मत्स्यमकरादयः, तेषामर्द्धत्रयोदशकुलकोटिशतसहस्राणि, सार्द्धद्वादश कुलकोटिलक्षा इत्यर्थः । पक्षिणां केकिकाकादीनां द्वादश, चतुष्पदानां गजगर्दभादीनां दश, उरःपरिसर्पाणां भुजङ्गादीनां दश, भुजपरिसर्पाणां गोधानकुलादीनां नव कुलकोटिलक्षाणि भवन्ति ।

छव्वीसा पणवीसा, सुरनेरइयाण सयसहस्साइं ।
बारस य सयसहस्सा, कुलकोडीणं मणुस्साणं ॥ ९८० ॥

षड्विंशतिर्देवानां, पञ्चविंशतिः नारकिणां, मनुष्याणां पुनर्द्वादश कुलकोटीनां शतसहस्राणि भवन्ति ।

अथ पूर्वोक्तानामेव कुलानां सर्वसंख्यामाह-

एगा कोडाकोडी, सत्ताणउई भवे सयसहस्सा ।
पन्नास च सहस्सा, कुलकोडीण मुणेयव्वा ॥ ९८१ ॥

सर्वसंख्यया एका कुलकोटिकोटिः सप्तनवतिकुलकोटीनां शतसहस्राणि पञ्चाशच्च सहस्राः कुलकोटीनां ज्ञातव्याः । प्रव० १५१ द्वार ।

चउरिंदियाणं नव जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता । भुयगपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं नव जाइकुलकोडिजोणिपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ॥

" नव जाइत्यादि " । चतुरिन्द्रियाणां जातौ यानि कुलकोटीनां योनिप्रमुखानां योनिद्वाराणां शतसहस्राणि तानि तथा भुजैर्गच्छन्तीति भुजगा गोधादय इति । स्था० ६ ठा० ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइकुलकोडिजोणीपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता । उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ॥

" चउप्पय " इत्यादि । चत्वारि पदानि पादा येषां ते चतुष्पदाः, ते च ते स्थले चरन्तीति स्थलचराश्चेति चतुष्पदस्थलचराः, ते च ते पञ्चेन्द्रियाश्चेति विग्रहः । पुनस्तिर्यग्योनिकाश्चेति कर्मधारयः, तेषां दशेति दशैव, जातौ पञ्चेन्द्रियजातौ, यानि कुलकोटीनां जातिविशेषलक्षणानां योनिप्रमुखानि उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसहस्राणि लक्षाणि तानि तथा प्रज्ञप्तानि सर्वविदा । तत्र योनिर्यथा-गोमयो द्वीन्द्रियाणामुत्पत्तिस्थानमङ्गुलानि तत्रैकत्रापि द्वीन्द्रियाणां कृम्याद्यनेकाकाराणि प्रतीतानि । तथा उरसा वक्षसा परिसर्पन्ति सञ्चरन्तीत्युरःपरिसर्पास्ते च ते स्थलचराश्चेत्यादि । स्था० १० ठा० ।

आचाराङ्गप्रथमाध्ययनषष्ठोद्देशकवृत्तौ-" कुलकोडिसयसहस्सा, बत्तीसमट्ठनव य पणवीसा । एगिंदियबेइंदिय-चउरिंदियहरिअकायाणं " ॥ १ ॥ अत्र गाथायां पृथिव्यादिचतुर्णां कुलकोटिलक्षा द्वात्रिंशद्वनस्पतिकायानां पञ्चविंशतिकुलकोटिलक्षाः । संग्रहण्यां तु-" एगिंदिएसु पचसु, बारसगतिसत्तअट्ठवीसा य " इति । अत्र चतुर्णां पृथिव्यादीनां द्वादशसप्तत्रिसप्तमीलने एकोनत्रिंशत्कुलकोटिलक्षा भवन्ति । आचाराङ्गवृत्तौ तु पृथिव्यादीनां पृथक् २ कति कुलकोटिलक्षा इति सम्यक् प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरं तु आचाराङ्गोक्तपृथिव्यादीनां चतुर्णां द्वात्रिंशत्कुलकोटिलक्षेषु प्रत्येकं व्यक्तिर्नोपलभ्यत इति । प्र० १६ । सेन० ४ उल्ला० ।

तथा-कुलकोटीमध्ये एककुलस्य कियन्तः पुरुषाः सन्ति,उत्तम-मध्यमजघन्यभेदज्ञानञ्च कियन्त इति प्रश्ने, उत्तरम्-अष्टाधिकशतपुरुषा एककुलमध्ये भवन्तीति प्रसिद्धिरस्ति इति, परम् उत्तममध्यमजघन्यभेदास्तु ज्ञाता न सन्ति; तथा एतस्य व्यक्ताक्षराणि शास्त्रे न दृष्टानीति । ४६८ प्र० । सेन०प्र०३ उल्ला० ।

कुलक्ख-कुलक्ष-पुं० । अनार्यक्षेत्रभेदे, तद्वासिनि जने च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कुलक्खय-कुलक्षय-पुं० । कुलनाशे, जी० ३ प्रति० ।

कुलगणसंघवज्झ-कुलगणसङ्घबाह्य-त्रि० । कुलगणसङ्घेभ्य आर्हतसमुदायविशेषलक्षणेभ्यो बहिष्कृते, तत्र येषु कृत्येषु कुलगणसङ्घबाह्यः क्रियते तानि-

गुरु पडिसूरेज्जा, अन्नं वा गणहरगाइयं कहिं वि हीलिज्जा, गच्छायार वा संघायारं वा वंदणपडिक्कमणमाइमंडलिधम्मं वा अइक्कमेज्जा, अविहीए पव्वावेज्ज वा, उवसग्गस्स वा उवट्ठावेज्ज वा सुत्तं वा अत्थं वा उभयं वा परूवेज्ज अविहीए सारेज्ज वा वारिज्ज वा चाएज्ज वा विहीए वा सारणवारणचोयणं ण करेज्जा उम्मग्गपट्ठियस्स वा, जहा-विहीए जाव णं सयलजणसन्निज्जं परिवामीए ण जाणेज्जा हियं भासं सपक्खगुणावहं; एतेसुं सव्वेसुं पत्तेगं कुलगणसंघवज्झो; कुलगणसंघवज्झीकयस्स णं अचंतयो खीरतवाणुट्ठाणं भिरयस्स वि ण गोयमा ! अणुप्पेही, तम्हा कुलगणसंघवज्झीकयस्स णं खणखणद्धमिगं वा ण चिट्ठेयव्वं ति । महा० ७ अ० ।

कुलघर-कुलगृह-न० । पितृगृहे, औ० ।

कुलघररक्खिय-कुलगृहरक्षित-त्रि० । पितृगृहपालिते, औ० ।

कुलजसकर-कुलयशस्कर-त्रि० । कुलस्य सर्वदिग्गामिख्यातिकरे, "एकदिग्गामिनी कीर्तिः,सर्वदिग्गामि वै यशः" इति वचनात् । कल्प० ३ क्षण । भ० । ज्ञा० ।

कुलजुअ-कुलयुत-पुं० । कुल पैतृक, तथा च लोके व्यवहारः-इक्ष्वाकुकुलजोऽयमित्यादि, तेन युतः । कुलीने, कुलयुतः सूरिः प्रतिपन्नार्थनिर्वाहको भवति । द्वितीयगुणवत्त्वं तस्य । प्रव० ६४ द्वार ।

कुलजोगि (ण्)-कुलयोगिन्-पुं० । योगिकुलजाते योगिनि, तल्लक्षण चेदम्-

ये योगिनां कुले जाता-स्तद्धर्मानुगताश्च ये ।
कुलयोगिन उच्यन्ते, गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥ २१ ॥

(ये इति) योगिनां कुले जाता लब्धजन्मान, तद्धर्मानुगताश्च योगिधर्मानुसरणवन्तश्च ये प्रकृत्याऽन्येऽपि ते कुलयोगिन उच्यन्ते । द्रव्यतो भावतश्च गोत्रवन्तोऽपि सामान्येन कर्मभूमिभव्या अपि नाऽपरे कुलयोगिन इति ॥ २१ ॥

सर्वत्राद्वेषिणश्चैते, गुरुदेवद्विजप्रियाः ।
दयालवो विनीताश्च, बोधवन्तो जितेन्द्रियाः ॥ २२ ॥

(सर्वत्रेति) एते च तथाविधाग्रहाभावेन सर्वत्राद्वेषिण, तथा धर्मप्रभावाद् यथास्वाचार गुर्वादिप्रिया, तथा प्रकृत्या क्लिष्टपापाभावेन दयालव. विनीताश्च कुशलानुबन्धिभव्यतया बोधवन्तो ग्रन्थिभेदेन जितेन्द्रियाश्चारित्रभावेन । द्वा०१६द्वा० ।

कुलडा-कुलटा-स्त्री० । कुलात् कुलान्तरमटति अट अच् शक० पररूपम् । स्वैरिण्यां वेश्यास्त्रियाम्, बृ० १ उ० । या तु भिक्षार्थं कुलमटति सा कुलाटा इति न शक० इतिभेद । वाच० ।

कुलणंदिकर-कुलनन्दिकर-त्रि० । कुलस्य नन्दिर्वृद्धिस्तत्करः । कल्प० ३ क्षण । कुलवृद्धिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कुलसमृद्धिहेतौ, भ० ११ श० ११ उ० ।

कुलणाम (ण्)-कुलनामन्-न० । कुलमाश्रित्य क्रियमाणे नामस्थापने, अनु० ।

से किं तं कुलनामे ? । कुलनामे उग्गे भोगे रायणे खत्तिए इक्खागे णाते कोरवे, सेत्त कुलनामे ।

"से किं तं कुलनामे" इत्यादि । यो यस्मिन्नुग्रादिकुले जातस्तस्य तदेवोग्रादिकुलनाम स्थाप्यमान कुलस्थापनानामोच्यत इति भावार्थः । अनु० ।

कुलतंतु-कुलतन्तु-पुं० । ६ त० । कुलसन्ताने, व्य० ६ उ० । कुलस्य तन्तुरिव । कुलावलम्बने, वाच० ।

कुलतिलग (य)-कुलतिलक-त्रि० । कुलस्य भूषकत्वादविशेषके, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

कुलत्थ-कुलत्थ-पुं० । कुलं भूलग्नं सत् तिष्ठति स्था-क-पृषो० । वाच० । धान्यभेदे, प्रव० १५६ द्वार । प्रज्ञा० । ज० । आचा० । कुलत्थाश्च चवलकतुल्याश्चिपिटा भवन्ति । ज० २ वक्ष० । भ० । "कुलत्था चवलगसरिसा चिप्पमिया भवति" स्था० ५ ठा० ३ उ० । वाच० । वनकुलत्थे, स्त्री० टाप् ।

तत्पर्य्यायादि उक्तम्-

"कुलत्थिका कुलत्थश्च, कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ।
कुलत्थ. कटुक. पाके, कषायो रक्तपित्तकृत् ॥
लघुर्विदाही वीर्य्योष्णः, श्वासकासकफानिलान् ।
हन्ति हिक्काश्मरीशुक्र-दाहानाहान् सपीनसान् ॥
स्वेदसंग्राहको मेदो, ज्वरकृमिहर. परः ॥"

कुलत्थिकेति निर्देशात् स्त्रीत्वमपि । सा च उपचारात् तद्वत्याञ्जने, वनकुलत्थायाम्, स्त्री० । "कुलाली लोचनहिता वल्लुष्या कुम्भकारिका । (कुलत्थिकेति) वनकुलत्थापरपर्याये उक्ते स्वार्थे कः तत्रैवार्थे कुलत्थे,सञ्ज्ञायां कन् । कुलत्थाञ्जनाकारप्रस्तरभेदे, वाच० ।

कुलत्थ-त्रि० । कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः कुलीने,नि० ३ वर्ग । ज्ञा० । "कुलत्था ते भंते ! भक्खेया अभक्खेया ? । सोमिला ! कुलत्था मे भक्खेया वि अभक्खेया वि ।" भ० १८ श० १० उ० । (सोमिलादिशब्देषु वक्ष्यते)

कुलत्थेर-कुलस्थविर-पुं० । पं० चू० ।

चरणकरणे समग्गो, जो जत्थ जदा कुलप्पहाणो तु ।
सो होति कुलत्थेरो, कुलचरित्तवियारओ धीरो ।
पासत्थोसन्नकुसी-लट्ठाणपरिरक्खितो दुपक्खे वि ।
सो होति कुलत्थेरो, कुलथेरगुणेहिं उववेदो ॥ पं० भा० ।

कुलगणसंपउत्तो पुण सो कुलत्थेरो होइ चरणकरणसमग्गो सम्यग उपपेत इत्यर्थः । अहवा-चरणकरणाना सामग्री यो

यदा यस्मिन् कुले प्रधानः, एवंगुणसमत्वागतः स भवान् कुलस्थविरो भवति, कुलाचारविहिन्नू पासत्थाइठाणपरिक्खआ सप्पए च पर च परिरक्खइ सो कुलथेरो भवइ । कुलथेरो गुणेहिं उववेओ " । इत्युक्तलक्षणे स्थविरभेदे, पं० चू० ।

कुलदिणयर-कुलदिनकर-पुं० । कुले दिनकर इव प्रकाशकत्वात् य. सः । कुलप्रकाशके, कल्प० ३ क्षण ।

कुलदीव-कुलदीप-पुं० । कुले दीप इव दीपः प्रकाशकत्वात् । भ०११श० ११ उ० । कुलप्रकाशके, मङ्गलकारके च । कल्प० ३ क्षण । ज्ञा० ।

कुलदेवया-कुलदेवता-स्त्री० । कुले पूज्या देवता । कुलक्रमेणोपास्यदेवतायाम्, वाच० । " तत्थतरस्स कुलदेवया मा अकिज्जुमायरओ वाहेमि त्ति" । आ० म० द्वि० । स्वगृहे कुलदेवताऽग्निनिवेशात् । स्था ४ ठा० ३ उ० ।

कुलधम्म-कुलधर्म-पुं० । उग्रादिकुलाचारे, कुलं चान्द्रादेकमार्हतानां गच्छसमूहात्मक तस्य धर्म. । गच्छसामाचार्य्याम्, स्था० १० ठा० ।

कुलपत्त-कुलप्राप्त-न० । सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुले कृतो यथेदं सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्तम् । सचित्तादिके विवादास्पदीभूते व्यवहारेण छेद्यतया कुल प्राप्ते, व्य० ३ उ० ।

कुलपव्वय-कुलपर्वत-पुं० । कुले पर्वत इव कुलपर्वत अनभिभवनीय , स्थिराश्रयसाधर्म्यात् । भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । कुले अपराभवनीये स्थिरे, कुलस्याधारे, कल्प० ३ क्षण । क्षेत्रमर्यादाकारित्वेन कुलकल्पेषु पर्वतेषु, कुलानि हि लोकानां मर्यादानिबन्धनानि भवन्तीतीह तैरुपमा कृता ।

समयक्खेत्ते एगूणचत्तालीसं कुलपव्वया पण्णत्ता । तं जहा-तीसं वासहरा पंच मंदरा चत्तारि उसुकरा ।

तत्र वर्षधरास्त्रिंशद्, जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्कराद्धर्पूर्वापरार्द्धेषु च प्रत्येक हिमवदादीनां षण्णां भावात् । मन्दरा. पञ्चेषुकारा धातकीखण्डपुष्करार्द्धयो पूर्वेतरविभागकारिणश्चत्वार., एवमेव एकोनचत्वारिंशदिति । स० ४० सम० ।

कुलपायव-कुलपादप-पुं० । छायाकरत्वात् आश्रयत्वाच्च कुलस्य पादप इव वृत्त इव कुलपादपः । कल्प० ३ क्षण । कुलस्याश्रयणीयत्वाये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० ।

कुलपुत्त-कुलपुत्र-पुं० । कुलरक्षक पुत्र. । वंशधरे पुत्रे, ततः कर्मणि च मनोज्ञा० वुञ् कौलपुत्रकः । तद्भावे, तत्कर्मणि च । न० । वाच० । उत्त० १ अ० । आव० । (एकस्य कुलपुत्रस्य भ्रातृघ्नमोचने क्रोधाऽसत्यताकरणे उदाहरण ' कोह ' शब्दे वक्ष्यते)

कुलप्पसूअ-कुलप्रसूत-त्रि० । कुले सत्कुले प्रसूतः । सत्कुले जाते, वाच० । " तरिअव्वा व पइन्निआ, मरिअव्व वा समरे समत्थेण । असरिसजणउल्लावा, न हु सहिअव्वा कुले पसूएण ॥ " आव० ४ अ० ।

कुलवहू-कुलवधू-स्त्री० । कुले गृहे एव स्थिता वधू । गृहमात्रस्थितायां योषिति, " मृते भूतां मलकुलवधू. कापि साध्वी मात्रे । " कुलयोषिदादयोऽप्यत्र । "असस्कृतप्रमीतानां, त्यागिनां कुलयोषिताम् " वाच० । आव० ५ अ० ।

कुलवहूणाय-कुलवधूज्ञात-न० । कुलाङ्गनोदाहरणे, पञ्चा० ११ विव० ।

कुलमंडण-कुलमण्डन-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, स च वि०सं० १४०९ मिते जात. स० १४१७ मिते देवसुन्दरसूरिपार्श्वे प्रव्रजितः सं०१४४२मिते सूरिपदे स्थापित ,सिद्धान्तालोकोद्धारविचारसङ्ग्रहनामानौ ग्रन्थौ रचयित्वा स०१४५५मिते देवलोक गत. । जै० इ० ।

कुलमय-कुलमद-पुं० । कुलजात्याद्यभिमाने, " दसहिं ठाणेहिं अहमतीति थमेज्जा । तं जहा-जाइमएण वा कुलमएण वा । " स्था० १० ठा० । स० ।

कुलमसी-कुलमषी-स्त्री० । कुलमालिन्यहेतौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार० ।

कुलमहत्तरिया-कुलमहत्तरिका-स्त्री० । कुले प्रतिष्ठितायां वृद्धस्त्रियाम्, अवतीर्य वर स्वयमेवाभरणान्युन्मुञ्चति वीरजिन., तानि कुलमहत्तरिका छिन्नमुक्ताफलप्रकाशान्यश्रूणि विनिर्मुञ्चन्ती हंसलक्षणेन पटशाटकेन प्रतीच्छति । आ० म० द्वि० ।

कुलय-कुलज-पुं० । स्त्री० । प्रशस्यकुलजाते, आभिजकुलजाते, पञ्चा० १ विव० । विशिष्टकुलोत्पन्ने, स ह्यङ्गीकृतभारपारगमन प्रति समर्थो भवतीति तस्य जिनभवनकरणेऽधिकारित्वम् । दर्श० ।

कुलय-न० । गण्डूषे, ध० २ अधि० ।

कुलरोग-कुलरोग-पुं० । कुलव्यापके रोगे, जं० २ वक्ष० ।

कुलल-कुलल-पुं० । गृध्रे, उत्त० १४ अ० । शकुनौ, उत्त० १४ अ० । जलाश्रये आमिषजीविनि पक्षिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । मार्जारे, "जहा कुक्कुडपोयस्स णिच्चं कुललओ भय" कुललतो मार्जारात् । दश० ४ अ० ।

कुलव-कुड (ल) व-पुं० । मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे, रा० । "चउसेइयाओ कुलओ" ओघ० । चतस्र सेतिका कुडवः । अनु० । "पत्थेण व कुलएण व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वधन्नाइं, " दश० ४ अ० । "तिण्णि व पलाणि कुलवो, करिसद्धं चेव होइ बोधव्वो । चत्तारि चेव कुलवा, पत्थो पुण मागहो होइ ॥" इह कुलवो मागधदेशप्रसिद्धो यदा धरिमप्रमाणेन मातुमिष्यते तदा स त्रीणि पलानि, एकस्य च कर्षस्य पलचतुर्भागरूपस्यार्द्धं बोद्धव्य. । ज्यो० २ पाहु० ।

कुलवइ-कुलपति-पुं० । "मुनीनां दशसाहस्रं, योऽन्नदानादिपोषणात् । अध्यापयति विप्रर्षि-रसौ कुलपति स्मृत " ॥ इति पुराणोक्तलक्षणे मुनिभेदे, वाच० । "स चातिकोपनत्वेन, ख्यातोऽभूच्चण्डकौशिक । मृते कुलपतौ तत्र, सोऽभूत्कुलपतिस्तत ॥ " आ० क० । आ० चू० । वंशश्रेष्ठे च । कुलनायकादयोऽप्यत्र । वाच० ।

कुलवंस-कुलवंश-पुं० । क० स० । कुलरूपे वंशे, भ० ११ श० १० उ० ।

कुलवंस्य-कुलवंक्षणे वंश्ये, "आलत्तकामाउ कुलवंसाउ य क्काम भोत्तु परिजाएत्तु तआ ण होहि ।" भ० ९ श० ३३ उ० । कुलवंश्यात् कुलवंक्षणवंशे भव. कुलवंश्यस्तस्मात्सप्तम पुरुष यावदित्यर्थः । भ० ९ श० ३३ उ० । ज्ञा० ।

कुलवडिंसय–कुलावतंसक–पुं० । कुले अवतंसक इव मुकुट इव य. स., शोभाकरत्वात् । कल्प० ३ क्षण । कुलस्यावतंसकः शेखरः उत्तमत्वात् । भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

कुलवद्धन–कुलवर्द्धन–त्रि० । कुलवृद्धिकारके, नामसत्योदाहरण यथा कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन उच्यते इति । स्था० १ ठा० ।

कुलवित्तिकर–कुलवृत्तिकर–त्रि० । कुलस्य वृत्तिर्निर्वाहस्तत्करः । कुलनिर्वाहके, कल्प० ३ क्षण । ज्ञा० ।

कुलविवद्धणकर–कुलविवर्द्धनकर–त्रि० । विविधैः प्रकारैर्वर्धनं विवर्धनं तत्करणशीलः कुलस्याऽनेकैः प्रकारैर्वर्द्धके, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । " अम्हं कुलकेउ अम्हं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलगं कुलकित्तिकर कुलवित्तिकर कुलदिणयर कुलआधारं कुलणंदिकरं कुलजसकरं कुलपायवं कुलविवद्धणकर सुकुमालपाणिपाय जाव दारयं पयाहिसि । " कल्प० ३ क्षण ।

कुलविहि–कुलविधि–पुं० । कुलकोटिप्रकारे, " उववायठिइसमुग्घाय च वणजाई कुलविहीओ" भ० ७ श० ५ उ० ।

कुलवेयावच्च–कुलवैयावृत्य–न० । गच्छसमुदायस्य वैयावृत्ये, औ० ।

कुलसंताणतंतुवद्धणकर–कुलसन्तानतन्तुवर्द्धनकर–त्रि० । कुलरूपो यः सन्तानः स एव तन्तुर्दीर्घत्वात्तद्वर्धनकरं माङ्गल्यत्वात्तथा । माङ्गल्यत्वात्कुलवर्द्धके, ज० ८ श० २ उ० ।

कुलसंपण्ण–कुलसंपन्न–त्रि० । कुलं पैतृकः पक्षः तत्सम्पन्न । उत्तमपैतृकपक्षयुके, नि० । औ० । रा० । ज्ञा० । स्था० । "जाई कुलसंपन्नो–पायमकिंचन सेवई किंचि । आसेविउं च पच्छा, तगुणओ सम्ममालोए ॥ ति " स्था० ८ ठा० । गुणवत्पितृकत्वे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कुलसमय–कुलसमय–पुं० । कुलाचारे, यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कुलसयणमित्तभेयणकारग–कुलस्वजनमित्रभेदनकारक–त्रि० । वशज्ञातिसुहृद्विनाशजनके, तं० ।

कुलसरिस–कुलसदृश–त्रि० कुलप्रतियोगिकसादृश्यवति, यथा बलस्य राज्ञः पुत्रस्य महाबल इति नाम । तत्र कुलसदृशं तत्कुलस्य बलवत्पुरुषकुलत्वात् महाबल इति नाम्नश्च बलवदर्थाभिधायकत्वात् । कुलस्य महाबल इति नाम्नश्च सादृश्यमिति । ज० १० श० ११ उ० ।

कुलहेउ–कुलहेतु–पुं० । कुलकारणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कुलाजीव–कुलाजीव–पुं० । कुलमुग्रादिकं गुरुकुलं वाऽऽजीवत्युपजीवति तत्कुलजमात्मान सूचनादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति कुलाजीवः । आजीवभेदे, आजीवपिण्डदोषयुक्तसाधुभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

कुलाण–कुलाण–पुं० । लणयोर्विपर्ययः । आवस्तीनगरीप्रतिबद्धे देशभेदे, "सावित्थी य कुणाला कोडीवरिस च लाढा य । " सत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । नि० चू० ।

कुलाणुरूप–कुलानुरूप–त्रि० । कुलोचिते, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

कुलादिपत्थार–कुलादिप्रस्तार–पुं० । कुलस्य गणस्य वा विनाशे, व्य० ३ उ० ।

कुलाय–कुलाय–पुं० । कुलं पक्षिसंघातोऽयतेऽत्र अय घञ् । पक्षिनिलये नीडे, वाच० । " पक्षिणामप्यमकान्यस्ति, कोऽप्याकस्य फणी तरौ । कुलायमागत, सो हि, गृध्रेण निहितोऽन्यदा ॥ " आ० क० । स्थानमात्रे, कौ लायो गतिरस्मात् । देहे, न० । वाच० ।

कुलायार–कुलाचार–पुं० । कुलसमये, यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कुलायारसमण्णिय–कुलाचारसमन्वित–त्रि० । कुलदोषरहिते, व्य० १ उ० ।

कुलारिय–कुलार्य–पुं० । कुलं पैतृकः पक्षः तेन आर्यः । अपापा निर्दोषाः कुलार्याः । विशुद्धपितृकेषु, "छव्विहा कुलारिया मणुस्सा पण्णत्ता । तं जहा–उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा णाया कोरवा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कुलाल–कुलाल–पुं० । स्त्री० । कुल कालन्द अल् अण् कुलमालाति आ ला क वा । वाच० । कुम्भकारे, उपा० ७ अ० । को० । कर्म० । कुक्कुभपक्षिणि, जातित्वात्स्त्रियां ङीष् । ततस्तेन कृतमित्यर्थे संज्ञायां कुलाला । बुञ् कौलालकः । तत्कृते शरावादौ, त्रि० । वाच० ।

कुलालय–कुलाढ–पुं० । कुलानि गृहाण्याभिषान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाढाः । मार्जारेषु, कुलाढा इव कुलाढाः । ब्राह्मणेषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

कुलालय–पुं० । कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्कुणामालयो येषां ते कुलालयाः । क्षत्रियादिगृहे नित्यं भिक्षां याचमानेषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । " सिणायगाण तु दुवे सहस्से जे भोयए णितिए कुलालयाणं "। सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

कुलिंग–कुलिङ्ग–न० कुत्सितं लिङ्गं कुलिङ्गम् । शिवसुखाऽसाधके, दर्श० तापसपरिव्राजकादीनां स्वकाचिविरचिताकारे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । कुतीर्थिनि, पुं० । आ० म० द्वि० ।

कुलिंगाल–कुलाङ्गार–पुं० कुलस्य स्वगोत्रस्याङ्गार इवाङ्गारो दूषकत्वादुपतापकत्वाद् वा । कण्डरीककल्पे सुतभेदे, कूलवालुकतुल्ये उदायिनृपमारकसदृशे वा शिष्यभेदे च । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

कुलिंगि (ण्)–कुलिङ्गिन्–पुं० कुत्सितो लिङ्गी कुलङ्गी । विशे० । कुत्सित लिङ्ग कुलिङ्ग शिवसुखसाधक, तद्विद्यते येषां ते कुलिङ्गिनः । स्वकाचिविरचिताकाराचारेषु त्रिदण्डिबौद्धतापससरजस्कादिषु, "गिहिलिंगि कुलिंगी य दव्वलिंगिणो तिन्नि हुति भवमग्गा । " दर्श० । कुतीर्थिकेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । कुत्सितानि लिङ्गानि इन्द्रियाणि यस्याऽसौ कुलिङ्गी । द्वीन्द्रियादौ, "कुलिंगी मरिज्ज त ओगमासंज्ञ । " ओघ० ।

चोदगाह-किं वुत्त कुलिंगी काणि वा लिंगाणि को वा लिंगी-

कुत्यितलिंग कुलिंगी, जस्स न पंचेंदिया असपुण्णा ।
लिंगिंदियाइं आता-उ लिंगं तो घिप्पते तेहिं ॥६६॥

कुसद्दो अरिट्ठवादी, कुत्सितेन्द्रिय इत्यर्थः । सेस कंठ।(जस्सेत्ति) जस्स पाणिणो (पंचिंदिया असपुण्ण त्ति) णत्थि पंचिंदिया, किं नर्हि असपुण्णा, जहा असण्णिणो परिफुडत्थपरिच्छेइणो ण भवति त्ति भणियं भवति,एरिसे अत्थे एयं वयण ण भवति, इमं तु एत्त ए कप्पति त्ति भणिय भवति,द्वीन्द्रियादारभ्य यावत् चतुरिन्द्रिय इत्यर्थः । सो कुलिंगी, लिङ्गमिति जीवस्य लक्षणं, यथा अप्रत्यक्षोऽप्यग्निर्धूमेन लिङ्ग्यते ज्ञायत इत्यर्थः । एव लिंगाणिंदियाणि अतो आत्मा लिङ्गमस्यास्तीति लिङ्गी, आत्मा लिंगी कहं घेप्पते, तेहिं इन्द्रियैरित्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

कुलिय-कुलिक-त्रि० । कुलमधीनत्वेन प्राशस्त्येन वाऽस्त्यस्य ठन् । कुलश्रेष्ठे, शिल्पप्रधाने, नागभेदे पुं० । वाच० । हलविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अधोनिपतत्तिर्यक्कृततीक्ष्णलोहपट्टिक कुलिक लघुतर काष्ठ तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रे वाह्यते तन्मरुमण्डलादिप्रतिद्ध कुलिकमुच्यते । अनु० । दन्तान्तरालवर्तिन्यक्तलकाष्ठे उभयपार्श्वनिपातकाष्ठमयफालफयोस्तिर्यग्व्यवस्थापिततीक्ष्णलोहपट्टक इरितादिच्छेदनार्थं क्षेत्रेषु यद्वाह्यते तद्वाटादिकुरोपलप्रतीत वेदितव्यम । विशे० । कुलिन णाम लुग्गा वि नते कुड्डत्थपमाण कठ, तस्स मते अयखीलगा, तेसु एगयाओ एगदारो य लोहपट्टो मज्जिज्जति सो जावति त दोआदि तण न सव्व छिंदतो गच्छति,एय कुलिय । नि०चू० १ उ० । आचा० ।
कुड्य-न० । भित्तौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । नि० चू० । इष्टकादिरचिता भित्ति ,मृत्पिण्डादिनिर्मितं कुड्यम । वृ० २ उ० ।

कुलियकड-कुलिकाकृत-त्रि० । कुड्यालीने कुड्ये स्थापिते, वृ० २ उ० ।

कुलिया-कुलिका-स्त्री० । कुड्ये, वृ० २ उ० ।

कुलिव्वत-कुलिवत्-त्रि० । समानकुलान्वये, "अहवा कुलिव्वतो उप्पव्वज्जा एगपक्खीओ।" वृ०४ उ० । कुलसत्के, "दोएह वहूणं च पिमए कुलिव्वमत जयाभिधारे" (कुलिव्वमत ति) कुलसत्कमन्यसामाचार्यामभिधारयति । व्य० ४ उ० ।

कुलीण-कुलीन-पुं० । स्त्री० । कुले ख । विशुद्धकुलोत्पन्ने, वृ० १ उ० । सत्कुलजे हये,स्त्रियां ङीप् । कौ पृथिव्या लीनः । भूमिलग्ने, त्रि० । सञ्ज्ञायां कन् । वाच० ।

कुलोवकुल-कुलोपकुल-न० । कुलानामुपकुलानां चाधस्तने नक्षत्रे, च० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० । ज० । (तानि च 'कुल' शब्देऽत्रैव भागे ५७२ पृष्ठे दर्शितानि)

कुल्ल-कुल्य-न० । कुल-क्यप् । "सर्वत्र लवरामवन्द्रे" । ८ । २ । ७६ । इति लकाराद्ध स्यस्य यस्य लोपः । अस्थि, प्रा० २ पाद । अष्टद्रोणपरिमाणे शूर्पे, आमिषे च । कुले भव' यत् । कुलजाते, मान्ये च । त्रि० । कुलाय हितं यत् । कुलहिते, त्रि० । कुल्यायां भवः यत्, यलोप । कुल्याभवे, त्रि० । वाच० ।

कुल्ला-कुल्या-स्त्री० । कुल्य टाप् । "सर्वत्र लवरामवन्द्रे" । ८ । २ । ७९ । इति लकारादधस्थस्य यस्य लोपः । प्रा० २ पाद । कृत्रिमायां नद्याम, पयःप्रणाल्याम, जीवन्त्यामौषधौ, नदीमात्रे च । स्त्री० । वाच० ।

कुल्लाग-कुल्लाग-पु० । स्वनामख्याते सन्निवेशे,यत्र धम्मिल्लविप्रस्य भद्दिल'भार्यायां सुधर्मा स्वामी जज्ञे । कल्प० ८ क्षण ।

कुल्लुगिया-कुल्लुगिका-स्त्री० । घटिकायाम, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कुवणय-देशी-लकुटे, वृ० १ उ० ।

कुवल-कुवल-न० । कौ वलति वल्-अच् । उत्पले, मुक्ताफले च । तदर्थाम, "षिद्गौरादिभ्यश्च" ४ । १ । ४१ । इति (पाणि०) ङीष् । तस्याः फलम, अण् लुक् । वदरीफले, न० । कौ वलनात् जले, सर्पोदरे च । न० । "कुवल जुवलनाम वा-लवुक्का,नाण वि जेण समाधी तत्कर्तव्यमिति" । नि०चू०१ उ० ।

कुवलय-कुवलय-न० । कौर्वलयमिव शोभाहेतुत्वात् । उत्पले, वाच० । नीलोत्पले, च० प्र० १ पाहु० । रा० । प्रश्न० । ज्ञा० । जी० । स्था० । चन्द्रविकाशिनि कमले, कल्प०३ क्षण । को० ।

कुवलयदलसाम-कुवलयदलश्याम-पु० । नीलोत्पलदलसदृशे श्यामले,ज० २ वक्ष० ।

कुवलयप्पभ (ह)-कुवलयप्रभ-पु० । पापमतिलिङ्गमात्रोपजीविसाधुकृतसावद्याचार्येत्यपरनामके मरकतच्छवौ तपस्विनि उग्रविहारिणि आचार्यभेदे, यो हि चारित्रभ्रष्टैः स्वाभिमतचैत्यालयसंपादनायाऽर्थितः, वक्तव्येऽपि पापमित्युक्त्वा भव तीर्णवान्, भ्रष्टैश्च कुपितैः सावद्याचार्य इति प्रथां नीतः । प्रति० । ग० । (कथानक च 'सावज्जायरिय' शब्दे भावयिष्यामि)

कुवलयायरिय-कुवलयाचार्य-पु० । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् कुवलयप्रभाचार्ये । सावद्याचार्ये, "भ्रष्टैश्चैत्यकृतेऽर्थितः कुवलयाचार्यो जिनेन्द्रालये । यद्यप्यस्ति तथाऽप्यद· सतम इत्युक्त्वा भव तीर्णवान्" । प्रति० ।

कुवसहि-कुवसति-स्त्री० । अमनोज्ञे वासस्थाने, "कुभोयणकुवाससाकुवसहीसु किलिस्सता नेव सुह नेव निव्वुइ उवलभति" । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कुवाइ (ण्)-कुवादिन्-त्रि० । कुत्सितवादिनि, एकांशग्राहकनयानुयायिनि अन्यतीर्थिके, स्या० । "न्यास्तिकरथारूढ·, पर्यायोद्यतकार्मुकः । युक्तिसन्नाहवान् वादी, कुवादिभ्यो भवत्यलम ॥१॥" सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

कुवाइकुरंगसंतासणसीहणाद-कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनाद-पु० । कुवादिन' कुत्सितवादिन एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनव्यसनितया कुरङ्गा मृगा ,तेषां सम्यक् त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादा' । जिनवचनेषु,यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति तथा भगवद्जिनप्रणीतैवप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रासतामश्नुवते, प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत् । "अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् । इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि -कुरङ्गसंत्रासनसिंहनादा·" ॥ २२ ॥ स्या० ।

कुव्वावारपोसह-कुव्यापारपोषध-पुं० । देशत एकतरस्य कस्यापि कुव्यापारस्याकरणे, सर्वतस्तु सर्वेषां कृषिसेवापाशुपाल्यगृहकर्मादीनामकरणे, ध० २ अधि० ।

कुवास-कुवासस्-त्रि० । ब० स० । मलिनजीर्णवस्त्रावृते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कुविंद-कुविन्द-पुं० । स्त्री० । कुं भुवं कुत्सितं विन्दति विद् शः । तन्तुवाये, वाच० । प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

कुविंदवल्ली-कुविन्दवल्ली-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कुवित्ति-कुवृत्ति-स्त्री० । कुगति० समा० । निन्दिताचरणे, ईर्ष्याचरणे च । ब० व० । तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । अनु० ।

कुविय-कुपित-त्रि० । प्रवृद्धकोपोदये, विपा० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० । जातकोपोदये, भ० ३ श० १ उ० । कोपं गते, तं० । कोपवति, विपा० १ श्रु० ८ अ० । कृतकोपे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । "आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए" । उत्त० १ अ० । कुपितमिति सकोपमनुशासनौदासीनतादिभिः । "पुरिसजाए वि तहा, विणीयविणयम्मि णत्थि अहिभोगो । सेसम्मि उ अहिओगो, जणवयजाए जहा आसे ॥" इत्यागमात् कृतबहिष्कोपं वा । उत्त० १ अ० । आ० म० ।

कुप्य-न० । आसनशयनभाण्डकरोटकलोहाद्युपस्करजाते, आव० ६ अ० । ध० । "कुवियं घरोवक्खरकणगवारसलोहीकडाहगादि णाणाविहं" आ० चू० ६ अ० । "लोहाइउवक्खरो कुप्प" लोहादि उपस्करः कुप्यमुच्यते । तत्र लोहोपस्करो लोहकवल्लीकुद्दालिकाकुठारादिक, आदिशब्दान्मार्त्तिकोपस्करो घटादिकः, कांस्योपस्करः स्थालकच्चोलकादिक इत्यादिकः सर्वोऽपि परिगृह्यते । सू० १ उ० ।

कुवियपमाणाइक्कम-कुप्यप्रमाणातिक्रम-पुं० । गृहोपस्करस्य स्थालकच्चोलकादेः प्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोल्लङ्घने, उपा० १ अ० । अयं च इच्छापरिमाणस्य पञ्चमोऽतिचारोऽनाभोगादिना अथवा पञ्चैव स्थालानि परिगृहीतव्यानीत्याद्यभिग्रहवतः कस्याप्यधिकतराणां तेषां संपत्तौ प्रत्येकं द्वयादिमीलनेन पूर्वसङ्ख्यावस्थापनेनातिचारोऽयमिति । उपा० १ अ० । आव० ।

कुवियफुंफुगा-कुपितफुंफुगा-स्त्री० । घट्टितकुकुलायाम्, "सिंगाररसत्तइया, मोहकुवियफुंफुगा हसहसिं ति । जं सुणमाणस्स कह, समणेण न सा कहेयव्वा ॥२१७॥" दश० ३ अ० ।

कुवियसाला-कुपितशाला-स्त्री० । तल्पादिगृहोपस्करणशालायाम्, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

कुवुट्ठि-कुवृष्टि-स्त्री० । कुत्सिता वृष्टिः कुवृष्टिः । कर्षकजनानभिलषणीयायां वृष्टौ, जं० १ वक्ष० ।

कुवेज्ज-कुवैद्य-पुं० । कुगति० स० । दुर्भिषजि, पञ्चा० १५ विव० । तल्लक्षणदोषादिकं सुश्रुते उक्तम्, यथा-

" यस्तु केवलशास्त्रज्ञः, कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य, प्राप्य भीरुरिवाऽऽहवम् ॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो, धाष्ट्यच्छास्त्रबहिष्कृतः ।
स सत्सु पूजां नाप्नोति, वधं चार्हति राजतः ॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्द्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥
ओषध्योऽमृतकल्पास्ते, शस्त्राशनिविषोपमाः ।
भवन्त्यज्ञैरुपहृता-स्तस्मादेतौ विवर्जयेत् ॥
छेद्यादिष्वनभिज्ञो यः, स्नेहादिषु च कर्मसु ।
स निहन्ति जनं लोभात्, कुवैद्यो नृपदोषतः ॥
यस्तूभयज्ञो मतिमान्, स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं, द्विचक्रः स्यन्दनो यथा"॥ वाच० ।

कुवेज्जकिरियादिणाय-कुवैद्यक्रियादिज्ञात-न० । दुर्भिषक्प्रवर्तितरोगचिकित्साप्रभृत्युदाहरणे, " इहरा विवज्जओ वि हु, कुवेज्जकिरियादिणायतो णेओ । अवि होज्ज तत्थ सिद्धी, आणाभंगो न उ य तत्थ ॥" आदिशब्दाद्विधिविद्यासाधनादिपरिग्रहः । पञ्चा० १५ विव० ।

कुवेणि (णी)-कुवेणि (णी)-स्त्री० । कु ईषत् वेण्यन्ते मत्स्याः अत्र । वेण इन् । वा ङीप् । मत्स्यधान्याम्, वाच० । "तो अ कुवेणा पीढा" कुवेणयत्र रूढिगम्या । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कुवेरग्ग-कुवैराग्य-न० । दुःखगर्भमोहगर्भवैराग्ये, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

कुव्वकारिया-कुर्वत्कारिका-स्त्री० । गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कुव्वमाण-कुर्वत्-त्रि० । विदधति, "आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव कुव्वमाणे विहरइ" प्रज्ञा० २ पद । आचरति, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

कुव्वय-कुव्रत-न० । कुत्सिते व्रते, "गोव्वदियादि सावेक्खिया पचग्गितावया पंचगव्वासणिया एवमादिया सव्वे कुव्वया" नि० चू० ११ उ० ।

कुस-कुश-पुं० । कौ शेते शी-कः । कु पापं श्यति शो ड वा । " श-षोः सः " । ८ । १ । २६० । इति शस्य सः । प्रा० १ पाद । वाच० दर्भे, उत्त० १७ अ० । ज्ञा० । दर्भविशेषे, उत्त० ७ अ० । निर्मूलदर्भे, भ० ८ श० ६ उ० । दर्भाः समूलाः, कुशाः निर्मूलाः । विपा० १ श्रु० ६ अ० । नि० । कुशैर्दर्भैरव्यच्छिन्नमूलैः । भ० ५ श० ६ उ० । औ० । 'कुसो दब्भो' नि० चू० १ उ० । प्र० । आचा० । प्रज्ञा० । कुशनामके श्रीरामसुते, पुं० । जले, न० । सर्पान्तरे, वाच० । वेधप्रोते काष्ठे, कुशो यो वेधप्रोतः प्रवेश्यते । सू० १ उ० ।

कुसंघयण-कुसंहनन-त्रि० । सेवार्त्त्याऽसहननयुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सेवाऽऽर्त्तसंहनने, भ० ७ श० ६ उ० । जं० । बलविकले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कुसंठिय-कुसंस्थित-त्रि० । हुण्डादिसंस्थाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । दुःसंस्थाने, भ० ७ श० ६ उ० ।

कुसंत-कुशान्त-पुं० । दर्भपर्यन्ते, रा० ।

कुसंसग्ग-कुसंसर्ग-पुं० । साधुजनैर्निन्दनीये सहवासादौ, ध० ३ अधि० ।

कुसंसग्गचाय-कुसंसर्गत्याग-पुं० । कुत्सितः साधुजनैर्निन्दनीयः संसर्गः सहवासादिस्तस्य त्यागो वर्जनम् । पार्श्वस्थादिभिः सह सम्बन्धत्यागे, ध० । कुसंसर्गश्च साधूनां पार्श्वस्थादिभिः पापमित्रैः सह संबन्धरूपः, तैः सह वासे हि स्वस्मिन्नपि तादृगभाव-

त्तिरवश्यभाविनी । यत -"जो जारिसेण सग. करेइ सो तारिसो होइ। कुसुमेहिँ सह वसंता, तिला वि तग्गधया जाया" ॥१॥ तत एव च पार्श्वस्थादिरिव पार्श्वस्थादिसंसर्गी अपि शास्त्रगर्हणायनयोक्तः। ध० ३ अधि० । ('कुसील' शब्दे 'पासत्थ' शब्दे चैतद् भावयिष्यामि)

कुसग्ग-कुशाग्र-न० । कुशस्याग्रे, उत्त० १ अ० । " जहा कुसग्गे उदग, समुद्देण सम मिणे । एव माणुस्सया कामा, देवकामाण अंतिए ॥२३॥" उत्त०७ अ० "कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोव चिट्ठइ लंबमाणए । एव मणुयाण जीविय, समय गोयम ! मा पमादए ॥ २ ॥" उत्त० १० अ० । कुशस्याग्रमिव सूक्ष्मत्वात् । कुशाग्रतुल्यसूक्ष्मे अतिदुर्बोधग्राहके , वाच० । कुशाग्रीयया शेमुष्या । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

कुसग्गपुर-कुशाग्रपुर-न० । राजगृहे, प्राग् राजगृहस्य कुशाग्रपुरमिति नामाऽऽसीत् । "तत्रापि क्षयिणं प्रेक्ष्य, कुशस्तम्ब महोत्थिसम । तद्विदेऽकारयस्तत्र, कुशाग्रपुरपत्तनम्" ॥ ४ ॥ आ० क० । " क्षितिप्रतिष्ठ चणक-पुरर्षभपुराभिधम् । कुशाग्रपुरसंज्ञ च, क्रमाद् राजगृहाह्वयम्" ॥ १४ ॥ ती० ११ कल्प । आव० ।

कुसत्त (च)-कुसत्त्व-त्रि० । कुत्सितं सत्त्वं यस्य भवति स कुसत्त्व. । अलसत्वे, नि० चू० १६ उ० ।

कुसण-कुसण-न० । मुद्गदाल्यादिके, तस्योदके च । बृ० ३ उ० ।

कुसत्त-कुशक-पुं० । आस्तरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कुसत्थ-कुशास्त्र-न० । मिथ्यादृष्टिशास्त्रे,"शाक्यमत कपिलमत ईसरमनादिया सव्वे कुसत्था । " नि०चू०११ उ०। "शिवमस्तु कुशास्त्राणा, वैशेषिकपाष्टिनन्त्रबौद्धानाम । येषां दुर्विहितत्वाद् भगवत्यनुरज्यते चेत." ॥१॥ आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

कुसपडिमा-कुशप्रतिमा-स्त्री० । मृतकशरीराऽप्राप्तौ तत्सस्कारार्थे क्रियमाणे पुत्तलके, आ० चू० ४ अ० । आव० ।

कुसमट्टिया-कुशमृत्तिका-स्त्री० । दर्भैः सह कुट्यमानायां मृत्तिकायाम, नि० चू० १७ उ० ।

कुसमय-कुसमय-पुं०।कुत्सित समय' कुसमय. । आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०।कुशास्त्रे, प्रति०। कुसिद्धान्ते, स०। परतीर्थिकप्रवचने,नं० । कुत्सित. समय. सिद्धान्तो यस्य स. । कुतीर्थिके; स०।

कुसमयमयनासणय-कुसमयमदनाशनक-न०। कुत्सिताः समया. परतीर्थिकप्रवचनानि तेषां मदोऽत्रेपस्तस्य नाशनं, तत स्वार्थिककप्रत्यये कुसमयमदनाशनकम । जिनेन्द्रप्रवचने, कुसमयनाशनत्व चास्य कुसमयानां यथोक्तसर्वभावदेशकत्वायोगात् । "कुसमयमयनासणय, जिणिंदवरवीरसासणय। " नं०।

कुसमयमोहमोहमइमोहिय-कुसमयमोहमोहमतिमोहित-कुसमयमोघ (मौघ) मोहमतिमोहित-कुसमयौघमोहमतिमोहित-त्रि०। कुत्सित. समय. सिद्धान्तो येषां त कुसमया कुतीर्थिका',तेषां मोहः पदार्थेष्वयथावबोध कुसमयमोह ,तस्माद् यो मोह श्रोतमनोमूढना,तेन मतिर्मोहिता मूढतां नीता, येषां ते कुसमयमोहमोहमतिमोहिता , अथ वा कुसमया कुसिद्धान्तास्तेषामोघ. सङ्घो, मकारस्तु प्राकृतत्वाद, तस्माद्यो मोहो मूढता तेन मतिर्मोहिता येषां ते कुसमयौघमोहमतिमोहिता ; अथवा कुसमयाना कुतीर्थिकानां मोघो मौघो वा शुभफलापेक्षया।निष्फलो यो मोहस्तेन मतिर्मोहिता येषां ते कुसमयमोघमोहमतिमोहिता., कुसमयमोहमोहमतिमोहिता वा । परतीर्थिकविपरिणामितेषु, "अचिरकालपव्वइयाणं कुसमयमोहमोहमइमोहियाणं सदेहजायसहजबुद्धिपरिणामसंसइयाणं । " स० ।

कुसमयविमासण-कुसमयविशासन-न० । कुत्सिता. प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन समया. कपिलादिप्रणीतसिद्धान्तास्तेषां सन्ति " पचमहब्भूया " इत्यादिवचनसदर्भेण दृष्टे विषये विरोधात्तदुद्भावकत्वेन विशासन विध्वंसकम् । जैनशासने, सम्म० २ काण्ड ।

कुसमयसुइ-कुसमयश्रुति-त्रि०। कुसिद्धान्तमतौ,जीवा०२७अधि०।

कुसल-कुशल-त्रि० । हिताहितप्रवृत्तिनिपुणे, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। आचा०।ज्ञा०। आव०। सूत्र०। ज०। अवगततत्त्वे, आचा०१ श्रु० २ अ०२ उ०। सुकुमेक्षिणि,आचा० १ श्रु० २ अ०४ उ० । विवेकिनि, कल्प०३ क्षण । तत्त्वाऽभिज्ञे, उत्त०२५ अ०। मोक्षमार्गाभिज्ञे, सूत्र०१ श्रु०७ अ० । सम्यक्क्रियापरिज्ञानवति, रा० । आ० म०। जी०। अनुमतरि, उत्त०२ अ०। व्याप्तिग्रहादिदक्षे, ज्ञा०२३ ज्ञा०। आलोलितकारिणि,भ० १४ श० १ उ०। अनु०। उपा०। प्रधाने कर्मक्षपणसमर्थे, नि० चू० १ उ० । आश्रवादीनां हेयोपादेयतास्वरूपवेदिनि, भ० २ श० ५ उ० । ज्ञानकुशानष्टविधकर्मरूपान् लुनाति छिनत्ति कुशल । प्राणिनः कर्मोच्छित्तये निपुणे, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।"कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के"। कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्मांशो विवक्षित',स च तीर्थकृत् सामान्यकेवली वा, छद्मस्थो हि कर्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषक., केवली तु पुनर्घातिकर्मक्षयान्नो बद्धो भवोपग्राहिककर्मसदभावान्नो मुक्त. । यदि वा छद्मस्थ एवाभिधीयते कुशलोऽवाप्तज्ञानदर्शनच।रित्रो मिथ्यात्वद्वादशकषायोपशमसद्भावात् तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्मतासद्भावान्नो मुक्त इत्यादि। आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।"स पंचधा आयारकुसलसजमपवयणपण्णत्तिसगहोवग्गहे" अत्र कुशलशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येक सबध्यते । व्य०३ उ०। (आचारकुशलशब्दस्य प्रवचनकुशलशब्दस्य प्रज्ञप्तिकुशलशब्दस्य सग्रहकुशलशब्दस्य उपग्रहकुशलशब्दस्य च व्याख्या सयमकुशलादिशब्देषु) गीतार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । दक्षे, त्रि० श्रु० । " जे यावि भुंजति तहप्पगार, सेवंति ते पावमजाणमाणा । मणं न एय कुसला करेंती, वाया वि एसा बुइयाउ मिच्छा" ॥ ३६ ॥ कुशला निपुणा मासाशित्वविपाकवेदिनस्तद्भिवृत्तिगुणाभिज्ञाश्च न कुर्वन्ति। सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । कुत्सित शलति इति कुशल ।'शल, पल, पतृ ' गतौ । कुत्सिताद् वा निर्गत कुशल ।वृद्धे, पं०चू० । प्रधाने, "कुसलं पहाण विसोहिकारणमिति वुत्तं भवति । " नि० चू० १ उ० । पुण्ये, पञ्चा० ६ विव० । कल्याणे, वाच० । सुखे, रा० ।

कुसलजोग-कुशलयोग-पुं० । प्रशस्तव्यापारे, पञ्चा०८ विव०। "तह किरियाभावाउ, सद्धामेत्तेण कुसलजोगाउ" कुशलयोग-त्वात्प्रशस्तमनोव्यापारत्वात् । पञ्चा० १३ विव० ।

कुसलणर-कुशलनर-पुं० । विज्ञपुरुषे,औ० । रा० । जी० । भ०।
"कुसलणरच्छेयसारहिसुसंपग्गहिए" कुशलनरच्छेकसारथिसु-

संप्रग्रहीतः, कुशलनररूपो यश्छेकः सारथिर्दत्तप्राजिता, तेन सुष्टु सप्रग्रहीतो य. स तथा । भ० ७ श० ६ उ० ।

कुसलत्त–कुशलत्व–न० । प्रावीण्ये, उत्त० ३ अ० ।

कुसलदंसण–कुसलदर्शन–न० । तीर्थकृतोऽभिप्राये, "ते मा हो-ज एय कुसलस्स दसण, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्स-ण्णी तन्निवेसणे ।" आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

कुसलदिट्ठ–कुशलदृष्ट–त्रि० । जिनोपलब्धे, ग० १ अधि० । निपुणोपलब्धे, सर्वज्ञप्ररूपिते, पञ्चा० १५ विव० ।

कुसलधम्म–कुशलधर्म–पुं० । प्राणातिपातविरमणादिके शुभसमाचारे, पञ्चा० । "पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम । अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम्" ॥१॥ पञ्चा० १० विव० । बौद्धैः पुनरेतानि कुशलधर्मा उक्ता. । यदाहुस्ते दश कुशलानि । तद्यथा-"हिंसा स्तैन्योऽन्यथाकाम-पैशुन्यपुरुषानृतम । सम्भिन्नालाप व्यापाद-मभिध्यां दृग्विपर्ययम । पाप कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् " । अत्र चान्यथाकाम पारदार्यम, भिन्नालापोऽसबद्धभाषणं,व्यापाद- परपीडाचिन्तनम्, अभिध्या धनादिष्वसंतोषः, परिग्रह इति तात्पर्यम् । दृग्विपर्ययो मिथ्याऽभिनिवेश., एतद्विपर्ययश्च दश कुशलधर्मा भवन्तीति । वैदिकस्तु ब्रह्मशब्देनैतान्यभिहितानीति । द्वा० १३ अष्ट० । द्वा० ।

कुसलपक्खहेतु–कुशलपक्षहेतु–पुं० । पुण्यपक्षकारणे, प० व० १ द्वार ।

कुसलपरिणाम–कुशलपरिणाम–पुं० । शुभाध्यवसाये, पञ्चा० ४ विव० ।

कुसलबंध–कुशलबन्ध–पुं० । पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्मबन्धने, पञ्चा० ६ विव० ।

कुसलमणउईरण–कुशलमनउदीरण–न० । धर्मध्यानादिप्रवृत्त्या शुभचित्तोदीरणे, दश० । "अकुसलचित्तणिरोहो कुसलमणउईरण ।" दश० ९ अ० १उ० ।

कुसलया–कुशलता–स्त्री० । कौशल्ये, दर्श० ।

कुसलविभाग–कुशलविभाग–त्रि० । कुशलो विभागो कुशलविभाग, राजदन्तादित्वाभ्युपगमात् कुशलशब्दस्य पूर्वनिपातः । वणिजीव विभागकुशले, "कुशलविभागसरिसओ, गुरुसाहूया होंति वणिया व ॥" व्य० १ उ० ।

कुसला–कुशला–स्त्री० । विनीताया नगर्या अदूरस्थिता जना विनीताः । वास्तव्यान् जनान् कलासु विशारदानुपलभ्यैवमूचु - अहो! कुशला अमी जनास्ततः कुशलपुरुषयोगाद् विनीता नगरी कुशलेत्युच्यते । विनीतायाम् अयोध्यायाम्, आ० म० प्र० ।

कुसलासय–कुशलाशय–पुं० । शुभाभिसन्धौ, द्वा० २९ अष्ट० ।

कुसवर–कुशवर–पुं० । भुजगवरद्वीपाद् असङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा सम्भवति द्वीपभेदे, अनु० ।

कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूल–कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूल–त्रि० । कुशा दर्भा विकुशा विल्वजादयस्तृणविशेषास्तैर्विशुद्धानि तदपेतानि वृक्षमूलानि तदधोभागा येषा ते तथा । कुशविकुशरहितमूलभागे, ज्ञ० ६ श० ७ उ० । रा० । (वृत्तवर्णके चैतत्स्पष्टीभविष्यति)

कुसिय–कौशिक–पुं० । गाधिनृपजनके विश्वामित्रपितामहे, वाच० ।

कुशित–त्रि० । कुश इतच् । जलमिश्रिते, उणा० । वाच० ।

कुषित–त्रि० । ईषद् दुर्गन्धे, आ० १ श्रु० १२ अ० ।

कुसित–पुं० । वृद्धिजीविनि, वाच० ।

कुसील–कुशील–न० । कुत्सित शीलं कुशीलम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । अब्रह्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । कुत्सितं शीलमाचारो यस्य स कुशीलः । आव० ३ अ० । आतु० । व्य० । स्था० । भ० । कुत्सितमुत्तरगुणप्रतिसेवया सज्वलनकषायोदयेन वा दूषितत्वात् शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रभेदं यस्य स कुशीलः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । मूलोत्तरगुणविराधनात् सज्वलनकषायोदयाद्वा (प्रव० ९३ द्वार । ध०) कालविनयादिभेदभिन्नानां ज्ञानदर्शन चारित्राचाराणां विराधके, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । स च निर्ग्रन्थभेदः, पार्श्वस्थाद्यन्यतमो वा ।

(१) कुशीलभेदाः ।
(२) कुशीलप्ररूपणा ।
(३) एतेषु कौतुककारिषु प्रायश्चित्तम् ।
(४) कुशीलवृत्तम् ।
(५) पाखण्डकाधिकार ।
(६) अग्निकायसमारम्भे च प्राणातिपातो भवति ।
(७) पार्श्वस्थादिससर्गो न कर्तव्यः ।
(८) पार्श्वस्थादिसंसर्गे दोषा ।

(१) तद्भेदा यथा-

कुसीले णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–पडिसेवणाकुसीले य, कसायकुसीले य । (पडिसेवणाकुसीले य त्ति) तत्र सेवना सम्यगाराधना, तत्प्रतिपक्षस्तु प्रतिसेवना, तया कुशील. । (कसायकुसीले त्ति) कषायैः कुशील कषायकुशील. ।

पडिसेवणाकुसीले णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–णाणपडिसेवणाकुसीले दंसणपडिसेवणाकुसीले चरित्तपडिसेवणाकुसीले लिंगपडिसेवणाकुसीले अहासुहुमपडिसेवणाकुसीले णाम पंचमे । कसायकुसीले णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–णाणकसायकुसीले दंसणकसायकुसीले चरित्तकसायकुसीले लिंगकसायकुसीले अहासुहुमकसायकुसीले णामं पंचमे ॥

(नाणपडिसेवणाकुसीले त्ति) ज्ञानस्य प्रतिसेवनया कुशीलो ज्ञानप्रतिसेवनाकुशील । एवमन्येऽपि । उक्तं चेह-"इह नाणाइकुसीलो, उवजीव होइ नाणपभिईए । अह सुहुमो पुण तुस्स, एस तवस्सि त्ति ससाए" ॥ १ ॥ (नाणकसायकुसीले त्ति) ज्ञानमाश्रित्य कषायकुशीलो ज्ञानकषायकुशील । एवमन्येऽपि । इह गाथा–

" नाण दंसणलिंगे, जो जुजइ कोहमाणमाईहिं ।
सो नाणाइकुसीलो, कसायओ होइ विन्नेओ ॥ १ ॥
चारित्तम्मि कुसीलो, कसायओ जो पयच्छई साव ।
मणसा कोहाईए, निसेवयं हो अहासुहुमो ॥ २ ॥
अहवा वि कसाएहिं, नाणाईणं विराहओ जो उ ।
सो नाणाइकुसीलो, नेओ वक्खाणभेएणं ॥ ३ ॥
भ० २५ श० ६ उ० । प्रव० । आव० । नि० चू० । ध०

(२) अधुना कुशीलप्ररूपणामाह—

एत्तो तिविहं कुसीलं, तमहं वुच्छामि आणुपुव्वीए ।
दंसणनाणचरित्ते, तिविह कुसीलो मुणेयव्वो ॥

त्रिविधं कुशीलमहमानुपूर्व्या वक्ष्यामि । यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-(दंसणेत्यादि) त्रिविधः कुशीलो ज्ञातव्यः । तद्यथा-दर्शने, ज्ञाने, चारित्रे च ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह—

नाणे नाणायारं, जो उ विराहेइ कालमादी य ।
दंसणे दंसणायारं, चरणकुसीलो इमो होइ ॥

यो ज्ञानाचारकाले 'विणएत्यादि' रूपं विराधयति स ज्ञाने ज्ञानकुशील उच्यते। यस्तु दर्शनाचारं निःशङ्कितत्वादिकं विराधयति स दर्शने दर्शनकुशीलः । चरणकुशीलोऽयं वक्ष्यमाणस्वरूपो भवति ।

तमेवाह-

कोउय भूईकम्मे, पसिणापसिणा य निमित्तमाजीवो ।
कक्क कुरुया य लक्खण-मुवजीवति विज्जमंतादी ॥

कौतुकं नाम आश्चर्यं यथा मायाकारको मुखे गोलकान्प्रक्षिप्य कर्णेन निष्काशयति, नासिकया वा। तथा मुखादग्निं निष्काशयतीत्यादि । अथवा परेषां सौभाग्यादिनिमित्तं यत् स्नपनादि क्रियते एतत् कौतुकम् । उक्तं च-"सोहग्गाति निमित्तं, परेसि ण्हवणादि कोउगं भणियं" इति । एवंभूतानि कौतुकानि । तथा भूतादिकर्म नाम यद् ज्वरितादीनामभिमन्त्रितेन क्षारेण रक्षाकरणम् "जरियादिभूतिदाणं भूतीकम्मं विणिद्दिट्ठं" इति वचनात् । प्रश्नाप्रश्नं नाम यत् स्वप्नविद्यादिभिः शिष्टस्यान्येभ्यः कथनम् । उक्तं च-" सुविणगविज्जाकहियं, आयखिणिघंटियादिकहियं वा । जं सीसइ अन्नेसिं, पसिणापसिणं हवइ एयं ॥ " निमित्तमतीतादिभावकथनम् । तथा आजीवो नाम आजीविका, स च जात्यादिभेदः सप्तप्रकारस्तान् । तथा कल्को नाम प्रसूत्यादिषु रोगेषु क्षारपातनमथवाऽऽत्मनः शरीरस्य देशतः सर्वतो वा लोध्रादिभिरुद्वर्तनम् । तथा कुरुका देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालनम् । लक्षणं पुरुषलक्षणादि । तथा ससाधना विद्या, असाधनो मन्त्रः । यदि वा यस्याधिष्ठात्री देवता सा विद्या, यस्य पुरुषः स मन्त्रः, आदिशब्दान्मूलकर्मचूर्णादिपरिग्रहः । तत्र मूलकर्म नाम पुरुषे द्वेषिण्याः सत्याः सपुरुषद्वेषिणीकरणमपुरुषद्वेषिण्याः सत्या अपुरुषद्वेषिणीकरणम्, गर्भोत्पादनं गर्भपातनमित्यादि । चूर्णयोगादयश्च प्रतीताः । एतानि य उपजीवति स चरणकुशीलः ।

सम्प्रत्याजीवं व्याख्यानयति-

जाती कुले गणे या, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव ।
सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ ॥

जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकं, गणो मल्लगणादि, कर्म अनाचार्यकम्, आचार्योपदेशजं शिल्पं, तपःश्रुते प्रतीते, एवं सप्तविधमाजीवं य उपजीवति जीवनार्थमाश्रयते । तद्यथा-जातिं कुलं वाऽऽत्मीयं लोकेभ्यः कथयति, येन जातिपूज्यतया कुलपूज्यतया वा भक्तपानादिकं प्रभूतं लभेयमिति । अनयैव बुद्ध्या मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कर्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्मशिल्पकौशलं कथयति । तपस उपजीवना-तपः कृत्वा क्षपकोऽहमिति जनेभ्यः कथयति विश्रुतोऽयमिति । उक्तः कुशील इति ।

(३) सांप्रतमेतेषु कौतुकादिषु प्रायश्चित्तमाह-

भूतीकम्मे लहुतो, लहु गुरुग निमित्त सेसए इमं तु ।
लहुगा य सयं करणे, परकरणे हुंतऽणुग्घाया ॥

भूतिकर्मकरणे प्रायश्चित्तं मासलघु, अतीतनिमित्तकथने चत्वारो लघुमासाः, अतीतनिमित्तकथने चत्वारो गुरुमासाः । वर्तमाननिमित्तकथने चत्वारो लघुमासाः, वर्तमाननिमित्तकथने चत्वारो गुरुमासाः । शेषके कौतुकादौ इदं प्रायश्चित्तम्-स्वयं कौतुकादिकरणे चत्वारो लघुकाः । परैः कारणे भवन्ति चत्वारोऽनुद्धाता गुरवो मासाः । मूलकर्मकरणे मूलमिति । व्य० १ उ० ।

जे भिक्खू कुसीलं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥
जे भिक्खू कुसीलं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे कुसीलं वंदतीत्येव द्वे सूत्रे । कुत्सितशीलः कुत्सितेषु शीलं करोतीत्यर्थः नि०चू० । वंदणादि उवयारं करेंतस्स आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं । नि० चू० १३ उ० ।

तत्थ कुसीले ताव समासओ दुविहे णेए-परंपरकुसीले, अपरंपरकुसीले य । तत्थ णं जे ते परंपरकुसीले ते वि उ दुविहे णेए-सत्तट्ठगुरुपरंपरकुसीले एगवितिगुरुपरंपरकुसले य । जे वि य ते अपरंपरकुसीले ते वि उ दुविहे णेए-आगमओ णोआगमओ य । तत्थ आगमओ गुरुपरंपरएणं आवलियाएण केई कुसीले आसीओ ते चेव कुसीले भवाते । नोआगमओ अणेगविहा । तं जहा-णाणकुसीले दंसणकुसीले चारित्तकुसीले तवकुसीले वीरट्ठकुसीले । तत्थ णं जे से णाणकुसीले से णं तिविहे णेए-पसत्थापसत्थे नाणकुसीले अपसत्थणाणकुसीले सुपसत्थनाणकुसीले । तत्थ जे से पसत्थापसत्थनाणकुसीले से दुविहे णेए-आगमओ नोआगमओ य । तत्थ आगमओ विहंगनाणी पसविय पसत्थापसत्थपयत्थजाल-अज्झयणज्झावणकुसीले । नोआगमओ अणेगहा-पसत्थापसत्थपरपासंडसत्थजालाहिज्जणे अज्झावणवायणापहणकुसीले । तत्थ जे ते अपसत्थनाणकुसीले ते एगूणतीसइविहे दट्ठव्वे । तं जहा-सावज्जवायविज्जामंततंताहिज्जणकुसीले वत्थुविज्जापउंजणाहिज्जणकुसीले गहरिक्खचारजोइसमत्थपउंजणाहिज्जणकुसीले निमित्तलक्खणपउंजणाहिज्जणकुसीले सउणलक्खणपउंजणाहिज्जणकुसीले हत्थिसिक्खापउंजणाहिज्जणकुसीले धणुव्वेयपउंजणाहिज्जणकुसीले गंधव्ववेयपउंजणाहिज्जणकुसीले पुरिसि-

त्थीलक्खणपउंजणाहिज्जणकुसीले काममत्थपउंजणाहिज्जणकुसीले कुहुगिंदजालसत्थपउंजणाहिज्जणकुसीले आलेक्खविज्जाहिज्जणकुसीले लेप्पकम्मविज्जाहिज्जणकुसीले वमणविरेयणावहुवेल्लिजालसमुद्धरणकटणकाटणवणस्सईवल्लिमोडणतच्छणाइबहुदोसविज्जगसत्थपउंजणाहिज्जणजावणकुसीले; एवं जाणयोगचुन्नवन्नधाउवायरायदंडणीइसत्थअसणिपच्चग्घकंडरयणपरिक्खारसवेहत्थअप्पसिक्खागूढमंततंतकालदेससंधिवग्गहोवएससत्थममजाणववहारनिरूवणत्थसत्थपउंजणाहिज्जणं अपसत्थनाणकुसीले, एवमेएसिं चेव पावसुयाणं वायणापेहणापरावत्तणाअणुसधणासवणायण अपसत्थनाणकुसीले तत्थ जे य ते सुपसत्थनाणकुसीले ते वि य दुविहे णेए-आगमओ, नो आगमओ य। तत्थ आगमओ सुपसत्थं पंचप्पयारं णाणं आसायंते सुपसत्थणाणधरेइ वा आसायंते सुपसत्थनाणकुसीले। नोआगमओ य सुपसत्थनाणकुसीले अट्ठहा णेए। तं जहा-अकालेणं सुपसत्थणाणाहिज्जणजावणकुसीले अविणएण सुपसत्थणाणाहिज्जणजावणकुसीले अवहुमाणेणं सुपसत्थनाणाहिज्जणकुसीले अणोवहाणेणं सुपसत्थनाणाहिज्जणज्जावणकुसीले, जस्स य सयासे सुपसत्थसुत्तत्थोभयमहियं तं निन्हवणसुपसत्थनाणकुसीले सरवंजणहीणक्खरियज्जहीणजावणसुपसत्थनाणकुसीले विवरियसुत्तत्थोभयाहियजावणसुपसत्थनाणकुसीले संदिद्धसुत्तत्थोभयाहियज्जावणसुपसत्थनाणकुसीले तत्थ एएसिं अट्ठण्हं पि पयाणं गोयमा ! जे केइ अणोवहाणेणं सुपसत्थं नाणमहीयंति अज्झावयंति वा अहीयंति वा अज्झावयंतेइ वा समणुज्जाणंति ते णं महापापकम्मे महती सुपसत्थनाणस्सासयणं पकुव्वंति। महा० ३ अ० । (पञ्चमङ्गलोपधानकर्तव्यता 'उवहाण' शब्दे द्वि० भा० १०४६ पृष्ठे उक्ता)

जइ अन्नहा ण सुत्तं अत्थे वा किं वि वाएज्जा एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं जावज्जीवं अभिग्गहेणं वा उक्कालियं सज्झायं कायव्वं ति तहा य गोयमा ! जे भिक्खू विहीए सुपसत्थनाणमहिज्जेऊण नाणमयं करेज्जा से वि नाणकुसीले, एवमाइनाणकुसीले अणेगहा पन्नविज्जति। से भयवं ! कयरे ते दंसणकुसीले ?। दंसणकुसीले दुविहे णेए-आगमओ नोआगमओ य । तत्थ आगमओ सम्मदंसणं संकते कंखते वितिगिच्छते दिट्ठिमोहं गच्छते अणोवबूहाए परिवामियधम्मसद्धामंसत्तमुज्झिउकामाणं अथिरिकरणेण साधम्मियाणं अवच्छलतणेणं अप्पभावणाए एतेहिं अट्ठहिं पि ठाणंतरेहिं कुसीले णेए।

णोआगमओ दंसणकुसीले अणेगहा। तं जहा-चक्खुकुसीले घाणकुसीले सवणकुसीले जिब्भाकुसीले सरीरकुसीले। तत्थ चक्खुकुसीले तिविहे णेए। तं जहा-पसत्थचक्खुकुसीले, पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले, अपसत्थचक्खुकुसीले। तत्थ जे केइ पसत्था उसभादितित्थयरबिंबं पुरओ चक्खुगोयरट्ठियं तमेव पासेमाणा अन्नं किंपि मणसा अपसत्थमज्झवसेसेणं पसत्थचक्खुकुसीले, तहा पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले तित्थयरबिंबहियएणं अच्छीहिं अन्नं किं पि पेहिज्जा से णं पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले, तहा पसत्थाइं अपसत्थाइं दव्वाइं कागबगढेकातित्तिरमयूराइं सुकं तदितिच्छिमं वा दट्ठूणं तए हुतं चक्खुं विमज्जे, सो वि पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले, तहा अपसत्थचक्खुकुसीले तिसट्ठिपगारेहिं अपसत्था सरागा चक्खू एती। से भयवं ! कयरे ते अपसत्थे तिसट्ठीचक्खुभेए ?। गोयमा ! इमे। तं जहा-मन्दकडक्खातो रामदा महालसा वंका विवका कुसीला अद्धक्खिया काणक्खिया साणुरागा भामिया उब्भामिया वलियावलिया चलवलिया अद्धमिल्ला मिल्लिमिल्ला माणुसा पासवा पक्खा सरीसिवा असंता अपसंता अथिरा बहुविगरा साणुरागा रोगाईरणी रोगजन्नामयुप्पायणी मयणी मोहणी वंमोहणी भउड्डरणी भयजम्मा भयंकरी हियभेयणी संसयावहरणी चित्तचमकुप्पायणी णिबद्धी अनिबद्धा गया आगया गयागया गयगयपच्चागया निद्धारणी अहिलसणी अरइकरा रइकरा दीणा दीणावणा सूरा धीरा हणणी मारणी संतावणी तावणी कुद्धा पकुद्धा घोरा महाघोरा चंडा रुद्दा सुरुद्दा हाहाभूयरणा रुक्खा साणिद्धा रुक्खसणिद्धेति महिलाणं चलणंगुट्ठकोडिणट्ठकरणसुविलिहियदिन्नाल्लत्तगायं च णहमाणिकिरणनिवद्धमकव्वा वा कुमुन्नयचलणं समग्गानिमग्गवद्धगूढजाणुजंघापिहुलकारिवा कुमुन्नयचलणं समग्गानिमग्गवद्धगूढजाणुजंघापिहुलकायमज्झोगानयणनियंवणाही घणगुज्झंतरकढाजूया लट्ठीओ अहरोट्ठदसणं पंती कन्ननासानयणजुयलाभमुहानि मुहानिलाडसिररुहसीमंतया मोमयपट्टतिलगकुंडलकवोलकज्जलतमालकलावहारकडिसुत्तगणेउरबाहुरक्खगमणिरयणकडगकंकणमुद्दियाइसुकतादिताभरणदुगुल्लवमणनेवत्था कामग्गिसंधुक्खणी निरयतिरियगईसु अणंतदुक्खदायगा एम महिला ससरागदिट्ठत्ति एसव्वचक्खुकुसीले, तहा घाणकुसीले जे केइ सुरहिगंधिसुसंगं गच्छइ दुरहिगंधि दुगुंछइ से णं घाणकुसीले, तहा सवणकुसीले दुविहे णेए-पसत्थे अपसत्थे य। तत्थ जे भिक्खू अपसत्थाई कामरागसंधुक्खणदीवणउज्जालणपज्जालणसंदीवणाइं गंधव्वनट्टधणुव्वेयहत्थसिक्खाकामरतीसत्थाई णिग्गथाइं सुणे-

ऊणं णालोएज्जा जाव णं णो पायच्छित्तमणुचरेज्जा से णं अपसत्थसवणकुसीले णेए, तहा जे भिक्खू पसत्थाइं सिद्धंतायरियपुराणधम्मकहाओ य अन्नाइ च गंथसत्थाइ सुणेत्ता णं न किंचि आयहियं अणुट्ठेइ णाणमयं वा करेइ से णं पसत्थसवणकुसीले णेए, तहा जिब्भाकुसीले से णं अणेगहा। तं जहा-तित्तकडुयकसायमहुराइं लवणाइं रसाइं आसायते अदिट्ठासुयाइं हियपरलोगोभयविरुद्धाइं सदोसाइं मयारजयारुच्चारणाइ अयसज्झाखाणासताभिओगाइं वा भणंते असमयन्नुधम्मदेसणावत्तणाए य जिब्भाकुसीले णेए। से भयवं! किं भासाए वि भासियाए कुसीलत्त भवति?। गोयमा! भवइ। से भयवं! जइ एवं ताव धम्मदेसणं ण कायव्वं?। गोयमा! सावज्जाणवज्जाण वयणाणं जो न जाणइ विसेसं वुत्तं पि तस्स न खमं किमंग! पुण देसणं काओ, तहा सरीरकुसीले दुविहे-चिट्ठाकुसीले विभूसाकुसीले य। तत्थ जे भिक्खू एयं किमिकुलनिलय सिउण साणाइभत्त सडणपडणविद्धंसणधम्मं असुयं असासय असार सरीरग आहारादीहिं णिच्चं चेट्ठेज्जा णो णं इणमो भवसयसुलद्धनाणं दंसणाइसमन्निएण सरीरेण अच्चतघोरवीरग्गकट्ठघोरतवसयममणुट्ठे सेज्जाए चेट्ठाकुसीले, तहा जे ण विभूसाकुसीले से वि अणेगहा। तं जहा-तेल्लाब्भंगणविमद्दणसंवाहणसिणाणुव्वट्टणपरिहसणतंबोलधूवणवासणदसणग्घसणसमालहणपुप्फोमालणकेसमसारणसोवाहणदुवियट्टगइभणियहसियउवविट्ठट्ठियसचित्तनेवत्थया विभूसा व त्ति से वि गाराणेय सणुत्तरीयपाउरणं दंडगगहणमाई सरीरविभूसाकुसीले णेए। एए य पवयणउड्डाहपरे दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापावकम्मकारी विभूसाकुसीले भवंति। गयदंसणकुसीले तहा चारित्तकुसीले अणेगहा-मूलगुणउत्तरगुणेसु। तत्थ मूलगुणा पंचमहव्वयाणि राईभोयणछट्ठाणि, तेसु जे पमत्ते भवेज्जा तत्थ पाणाइवाय पुढविदगागणिमारुयवणप्फइबितिचउपंचिंदियाईणं संघट्टणपरियावणकिलामणोद्दवणेसुमावायसुहुमं बायरं च। तत्थ सुहुमपयाउला उल्लामरुए एवमादि बादरा कन्नालिगादि अदिन्नं ढाणं सुहुमं बादरं च। तत्थ सुहुमं तणडगलछारमल्लगादीणं गहणं बादरं हिरण्णसुवण्णादी मेहुणं दिव्वोरालियं मणोवयकायकरणकारावणाणुमइभेदेण अट्ठारसहा, तहा करकम्मादी सचित्ताचित्तभेदेण णवगुत्तीविराहणेण वा विभूसावत्तिएण वा परिग्गहं सुहुमं बायरं च। तत्थ सुहुमं कप्पट्टगरक्खणममत्तो बादरं हिरण्णमादीणं गहणं धारणे वा राईभोयणं दिया गहियं दिया भुत्तं एवमाइ उत्तरगुणा। "पिंडस्स जा विसोही, समितीओ भावणा तवो दुविहो। पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि।" तत्थ पिंडविसोही "सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणा य दोसाओ। दस एसणाएँ दोसा, संजोयणमाइ पंचेव"। तत्थ उग्गमदोसा "आहाकम्मुद्देसिय-पूईकम्मे य मीसजाए य। ठवणा पाहुडियाए, पाओयरकीयपामिच्चे। परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे इअ अच्छिज्जे। अणिसट्ठेयज्झोयरए य, सोलसमे पिंडुग्गमे दोसा"। इमे उप्पायणादोसा "धाईदूइनिमित्ते, आजीववणीमगतिगिच्छाए। कोहे माणे माया, लोभे य हवंति दस एए॥ पुव्विं पच्छा संथव-विज्जा मंते य चुन्नजोगे य। उप्पायणाइ दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य"। एसणदोसा-"संकियमक्खियनिक्खित्त-पिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डिय-एसण दोसा हवंति एए य"। तत्थुग्गमदोसे गिहत्थसमुत्थे। उप्पायणा य दोसे साहुसमुत्थे। एसणादोसे उभयसमुत्थे। संजोयणा पमाणे इंगालधूमकरणे पंचमं छीमयदोसे भवति। तत्थ संजोयणा उवकरणभत्तपाणसाब्भितरबाहिएणं पमाणं "बत्तीसं किर कवले, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। रागेण सयंगालं, दोसेण सधूमगं ति नायव्वं"। कारणं "वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए। नत्थि छुहाए सरिसिया, वियणा भुंजिज्ज तप्पसमणट्ठाए"। तओ वेयावच्चं ण तरइ काउं अओ भुंजे "इरियं पि न सोहिस्सं, पेहाइयं च संजमं काउं। थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो"। पिंडविसोही गया। ईर्यादी समितीउ पंच। तं जहा-इरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई, आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिई। तहा गुत्तीओ तिन्नि-मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती। तह भावणाओ दुवालस। तं जहा-अणिच्चत्तभावणा, असरणभावना, अन्नत्तभावणा, असुइभावणा, विचित्तसंसारभावणा, कम्मासवभावणा, संवरभावणा, विनिज्जरभावणा, लोगवित्थरभावणा, धम्मं सुयक्खायं सुपन्नत्तं तित्थयरे तत्थ चिंताभावणा, बोहिसुदुल्लहा जम्मंतरकोडीहिं वि त्ति भावणा। एवमादियाणतरेसु जे पमाई कुज्जा से णं चरित्तकुसीले णेए। तहा तवकुसीले दुविहे णेए-बज्झतवकुसीले, अब्भंतरतवकुसीले य। तत्थ जे केइ विचित्त अणसणऊणोदरिया वित्तीसंखेवणं रसपरिच्चाओ। कायकिलेसो संलीणया य त्ति छट्ठाणेसुं न उज्जमेज्जा, से णं बज्झतवकुसीले। तहा जे केइ विचित्तपच्छित्तविणयवेयावच्चे सज्झायज्झाणउस्सग्गम्मि वि एसु छट्ठाणेसु ण उज्जमेज्जा से णं अब्भितरतवकुसीले। तहा पडिमाओ बारस। तं जहा-मासाई सत्ता एगदुतिसत्तराइंदिणा अहराइगराती भिक्खुपडिमाण बारसग, तहा अभिग्गहा दव्वओ खेत्तओ कालओ

भावओ । तत्थ दव्वे कुम्मासाइं दव्वं गहेयव्वं । खेत्तओ गामे बहिं वा गामस्स, कालओ पढमपोरिसिमाइसु, भावओ कोहमाइसंपन्नो जं देहं इमं गहिस्सामि । एवं उत्तरगुणा संखेवओ सम्मत्ता । संमत्तोयं संखेवेणं चरित्तायारो । तवायारो वि संखेवेणाइंतरगओ तहा वीरीयारो । एएसु चेव जाअट्ठा-णी पएसु पंचसु आयाराइयारेसु जं आयट्ठियाए दप्पओ मएओ कप्पेण वा अजयणाए वा जयणाए वा पडिसेवियं वं तहेवालोइत्ताणं, जं मग्गं वि उ गुरु उवइसंति, तं मुहा पायच्छित्तं णाणुचरेइ । एवं अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं जं जत्थ एए पमत्ते भवेज्जा से णं ते णं पमायदोसेणं कुसीले णेए । महा० ३ अ० । स्था० । ध० र० । उत्त० ।

पार्श्वस्थादीनामन्यतमे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आव० । आख्याने-णाविष्कृतवीर्ये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अन्यतीर्थिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । काथिकपश्यकसंप्रसारकमामकरूपेषु, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । निन्दितशीले (वृत्ते), तथाविधेषु द्यूतकारादिषु च । उक्तं च-" जूयरसालमेठावट्टाउब्भामगाइणो जे य । एते इति कुसीला, वज्जेयव्वा पयत्तेणं " ॥ आव० ४ अ० । "जे एयं उंछं अणुगिद्धा अन्नयरा हुंति कुसीलाणं । सुतवस्सिए वि से भिक्खु, नो विहरे सह णमित्थीसु" ॥१२॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । "धुवमग्गमेव पवयंति वाया वीरियं कुसीलाणं ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

(४) अथ कुशीलपरिभाषाऽध्ययनोक्तं कुशीलवृत्तं लिख्यते-

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ,
तणरुक्खबीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउपाणा,
संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥ १ ॥

पृथिवी पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः स चाऽयं भेदः । पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च । ते च प्रत्येकं पर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदेन द्विधा । एवमप्कायिका अपि । तथाऽग्निकायिका, वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः । वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयति-तृणानि कुशादीनि, वृक्षाश्चाश्वत्थादयो, बीजानि शाल्यादीनि, एवं वल्लीगुल्मादयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः । त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयः प्राणिनो ये चाऽण्डाज्जाता अण्डजाः शकुनिसरीसृपादयः, ये च जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः । तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूका मत्कुणकृम्यादयः, ये च रसजाभिधाना दधिसौवीरकादिषु कृतपदमसञ्ज्ञिता इति ॥ १ ॥

नानाभेदभिन्नं जीवसंघातं प्रदर्श्याऽधुना तदुपघाते दोषं दर्शयितुमाह-

एयाइँ कायाइँ पवेदिताइँ, एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।
एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

(एयाइमित्यादि) एते पृथिव्यादयः काया जीवनिकाया भगवद्भिः प्रवेदिताः कथिताः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता । एतेषु च पूर्वं प्रतिपादितेषु पृथिवीकायादिषु प्राणिषु सातं सुखं जानीहि । एतदुक्तं भवति-सर्वेऽपि सत्त्वाः सातैषिणो दुःखद्विषश्चेति ज्ञात्वा प्रत्युपेक्षस्व कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेदिति । यैरेभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते तत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः । अथवैभिरेव कायैर्ये आयतदण्डा दीर्घदण्डाः । एतदुक्तं भवति-एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति पीडयन्तीति तेषां यद्भवति तद्दर्शयति-ते एतेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं परि समन्तादाशु क्षिप्रमुप सामीप्येन यान्ति व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः । यदि वा विपर्यासो व्यत्ययः सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते, तत्समारम्भेण च दुःखमेवाऽऽप्यते न सुखमिति । यदि वा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्याः क्रियाः कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति ॥२॥

यथा चाऽसावायतदण्डो मोक्षार्थी तान् कायान् समारभ्य तद्विपर्यासात् संसारमाप्नोति तथा दर्शयति-

जाईवहं अणु परिवट्टमाणे,
तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति जातिं बहुकूरकम्मे,
जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥ ३ ॥

(जाईवहमित्यादि) जातीनामेकेन्द्रियादीनां पन्थाः जातिपथः, यदि वा जातिरुत्पत्तिर्वधो मरणं जातिश्च वधश्च जातिवधं, तदनु परिवर्तमान एकेन्द्रियादिषु पर्यटन् जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवंस्त्रसेषु तेजोवायुद्वीन्द्रियादिषु स्थावरेषु च पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु समुत्पन्नः सन् कायदण्डविपाकजेन कर्मणा बहुशो विनिघातं विनाशमेत्यवाप्नोति, स आयतदण्डोऽसुमान् (जातिं) जातिमुत्पत्तिमवाप्य बहूनि क्रूराणि दारुणानि अनुष्ठानानि यस्य स भवति बहुक्रूरकर्मा, स एवंभूतो निर्विवेकः सदसद्विवेकशून्यत्वात् बाल इव बालो यस्यामेकेन्द्रियादिकायां जातौ यत्प्राण्युपमर्दकारि कर्म कुरुते स तेनैव कर्मणा मीयते म्रियते पूर्यते । यदि वा 'मीङ् हिंसायां' मीयते हिंस्यते । अथवा बहुक्रूरकर्मेति चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्येवं तेनैव कर्मणा मीयते परिच्छिद्यत इति ॥ ३ ॥

क्व पुनरसौ तैः कर्मभिर्मीयते इति दर्शयति-

अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

[अस्सिं चेत्यादि] यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं ददति, अथवा परस्मिन् जन्मनि नरकादौ तस्य कर्मविपाकं ददत्येकस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं तीव्रं ददति [शताग्रशो वेति] बहुषु जन्मसु येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरति तथैवोदीर्यते । तथा अन्यथा वेति, इदमुक्तं भवति-किञ्चित्कर्म तद्भवत एव विपाकं ददाति, किञ्चिच्च जन्मान्तरे । यथा मृगापुत्रस्य दुःखविपाकाख्ये विपाकश्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति दीर्घकालस्थितिकं स्वपरजन्मान्तरित वेद्यते येन प्रकारेण सकृत्तथैवाऽनेकशो वा, यदि वाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रशो वा शिरश्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं वाऽनुभूयत इति । तदेवं ते कुशीला आयतदण्डाश्चतुर्गतिकसंसारमापन्ना अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारं पर्यटन्तः परं परं प्रकृष्टं प्रकृष्टं दुःखमनुभवन्ति, जन्मान्तरकृतं कर्माऽनुभवन्तश्चैकमार्तध्यानोपहत-

ता अपर बध्नन्ति वेदयन्ति च,दुष्टं नीतानि दुर्नीतानि दुष्कृतानि, न हि स्वकृतस्य कर्मणो विनाशोऽस्तीति भावः। तदुक्तम्—

" मा होहि रे विसन्नो, जीव ! तुम विमण दुम्मणो दीणो ।
ण हु चिंतिएणं फिट्टइ, त दुक्खं जं पुरा रइय ॥ १ ॥
जइ पविससि पायाल, अडइं व दरिं गुहं समुद्दं वा ।
पुव्वकयाउ न चुक्कसि, अप्पाण घायसे जइ वि " ॥ २ ॥

(५) एवं तावदोघतः कुशीलाः प्रतिपादिताः, तदधुना पाषण्डिकानधिकृत्याऽऽह—

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा,
समणव्वए अगणिं समारभिज्जा ।
अहाहु से लोऍ कुसीलधम्मे,
भूताइँ जे हिंसति आयसाते ॥ ५ ॥

ये केचनाऽविदितपरमार्था धर्मार्थमुत्थिता मातरं पितरं च त्यक्त्वा, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वात् तदुपादानम्,अन्यथा भ्रातृपुत्रादिकमपि त्यक्त्वेति द्रष्टव्यम्। श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगम्याऽग्निकायं समारभन्ते पचनपाचनादिप्रकारेण कृतकारितानुमत्यौद्देशिकादिपरिभोगाद्वाऽग्निकायसमारम्भं कुर्युरित्यर्थः । अथेति वाक्योपन्यासार्थः, आहुरिति तीर्थकृद्गणधरादय एवमुक्तवन्तः, यथा-सोऽयं पापण्डिको लोको गृहस्थलोको वाऽग्निकायसमारम्भात् कुशीलः कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा। अयं किंभूत इति दर्शयति-अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि प्राणिनः,तान्यात्मसुखार्थं हिनस्ति व्यापादयति। तथाहि- पञ्चाग्नितपसा निष्टप्तदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च क्रियया पापण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति। तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाऽग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ॥ ५ ॥

(६) अग्निकायसमारम्भे च यथा प्राणातिपातो भवति तथा दर्शयितुमाह—

उज्जालओ पाण निवातएज्जा,
निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा ।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं,
ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥ ६ ॥

तपनतापनादिप्रकाशहेतु काष्ठादिसमारम्भेण योऽग्निकायं समारभते सोऽग्निकायमपरांश्च पृथिव्याद्याश्रितान् स्थावरांस्त्रसांश्च प्राणिनो निपातयेत्,त्रिभ्यो वा मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलेन्द्रियेभ्यो वा पातयेन्निपातयेत्, तथाऽग्निकायमुदकादिना निर्वापयेत् विध्यापयंस्तदाश्रितानन्यांश्च प्राणिनो निपातयेद्वा, तत्रोज्ज्वालकनिर्वापकयोर्योऽग्निकायमुज्ज्वलयति स बहूनामन्यकायानां समारम्भकः । तथा चाऽऽगमः—"दो भंते ! पुरिसा अन्नमन्नेणं सद्धिं अगणिकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से एगे णं पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, तेसिं भंते ! पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए अप्पकम्मतराए ?। गोयमा ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारभति। एवं आउकायं वाउकायं वणस्सइकायं अप्पतरागं अगणिकायं समारभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभइ जाव अप्पतरागं तसकायं समारभइ बहुतरागं अगणिकायं समारभइ। से एतेणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ" । अपि चोक्तम्-" भूयाणं एसमाघाओ, हव्ववाहे ण संसओ।" इत्यादि । यस्मादेवं तस्मान्मेधावी सद्विवेकः सश्रुतिकः समीक्ष्य धर्मं पापाद्डीनः पण्डितो नाग्निकायं समारभते, स एव च परमार्थतः पण्डितो योऽग्निकायसमारम्भकृतात् पापान्निवर्तेत इति ॥ ६ ॥

कथमग्निकायसमारम्भेण अपरप्राणिवधो भवतीत्याशङ्क्याह—

पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति ।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य,एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥

न केवलं पृथिव्याश्रिता द्वीन्द्रियादयो जीवाः, याऽपि च पृथ्वी मृल्लक्षणा असावपि जीवाः,तथा आपश्च द्रवलक्षणा जीवाः,तदाश्रिताश्च प्राणाः सपातिमाः शलभादयस्तत्र निपतन्ति । तथा संस्वेदजाः करीषादिष्विन्धनेषु घुणपिपीलिकाः कृम्यादयः काष्ठाद्याश्रिताश्च ये केचन,एतान् स्थावरजङ्गमान् स दहेद्योऽग्निकायं समारभतेऽतोऽग्निकायसमारम्भो महादोषायेति ॥ ७ ॥

एवं तावदग्निकायसमारम्भकास्तापसास्तथा पाकादनिवृत्ताः शाक्यादयश्चोपदिष्टाः। साम्प्रतं ते चाऽन्ये वनस्पतिसमारम्भादनिवृत्ताः परामृश्यन्ते इत्याह—

हरियाणि भूताणि विलंबगाणि,
आहारदेहाय पुढो सियाई ।
जे छिंदती आयसुहं पडुच्च,
पगब्भि पाणे बहुणं-तिवाती ॥ ८ ॥

हरितानि दूर्वाऽङ्कुरादीन्येतान्यप्याहारादेर्वृद्धिदर्शनाद् भूतानि जीवाः । तथा-विलम्बकानीति जीवाकारं यानि विलम्बन्ते धारयन्ति । तथाहि-कललार्बुदमांसपेशीगर्भप्रसवबालकुमारयुवमध्यमस्थविरावस्थान्तो मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातान्यभिनवानि सञ्जातरसानि यौवनवन्ति परिपक्वानि जीर्णानि परिशुष्काणि मृतानि,तथा वृक्षा अप्यङ्कुरावस्थायां जाता इत्युपदिश्यन्ते, मूलस्कन्धशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः परिवर्धमाना युवानः पोता इत्युपदिश्यन्त इत्यादि शेषास्वप्यवस्थास्वायोज्यम्। तदेवं हरितादीन्यपि जीवाकारं विलम्बयन्ति तत एतानि मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पादिस्थानेषु पृथक् प्रत्येकं व्यवस्थितानि, न तु मूलादिषु सर्वेष्वपि समुदितेषु एक एव जीवः। एतानि च भूतानि सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयानन्तभेदभिन्नानि, वनस्पतिकायाश्रितान्याहारार्थं वा देहकृतसंरोहणार्थं चात्मसुखं प्रतीत्याश्रित्य यश्छिनत्ति स प्रागल्भ्यात् धाष्टर्यावष्टम्भाद्बहूनां प्राणिनामतिपाती भवति, तदतिपाताच्च निरनुक्रोशतया न धर्मो नाऽप्यात्मसुखमित्युक्तं भवति ॥ ८ ॥

किञ्च-

जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते,
बीयाइ अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोऍ अणज्जधम्मे,
बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥ ९ ॥

जातिमुत्पत्तिं,तथाऽङ्कुरपत्रमूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन्, बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि छिनत्तीति। असंयतो गृहस्थः प्रव्रजितो वा, तत्कर्मकारी

गृहस्थ एव, स च हरितच्छेदं विधायाऽऽत्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः। स हि परमार्थतः परोपघातेनाऽऽत्मानमेवोपहन्ति। अथशब्दो वाक्यालङ्कारे, आहुरेवमुक्तवन्त इति दर्शयति-यो हरितादिच्छेदको निरनुक्रोशः सोऽस्मिन् लोकेऽनार्यधर्मा क्रूरकर्मकारी, भवतीत्यर्थः। स च एवम्भूतो यो धर्मोपदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् वनस्पतिकायं, हिनस्ति स पाषण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति संबन्धः ॥९॥

साम्प्रत हरितच्छेदकर्मविपाकमाह-

गब्भाइ मिज्जंति बुयाऽबुयाणा,
णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

इह वनस्पतिकायोपमर्दका बहुषु जन्मसु गर्भादिकास्ववस्थासु कललार्बुदमांसपेशीरूपासु म्रियन्ते, तथा ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च व्यक्तवाचोऽव्यक्तवाचश्च, तथा परे नराः पञ्चशिखाः कुमाराः सन्तो म्रियन्ते। तथा युवानो मध्यमवयसः,स्थविराश्च। क्वचित्पाठः-"मज्झिमपोरुसा य त्ति" तत्र मध्यमा मध्यमवयसः (पोरुसा य त्ति) पुरुषाणां चरमावस्थां प्राप्ता अत्यन्तवृद्धा एवेति यावत्। तदेवं सर्वास्वप्यवस्थासु बीजादीनामुपमर्दकाः स्वायुषः क्षये प्रलीनाः सन्तो देहं त्यजन्तीति। एवमपरस्थावरजङ्गमोपमर्दकारिणामप्यनियतायुष्कत्वमायोजनीयम् ॥ १० ॥

किञ्चान्यत्-

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं,
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए,
सकम्मणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

हे जन्तवः प्राणिनः! संबुध्यध्वं यूय,नहि कुशीलपाषण्डिकलोकस्त्राणाय भवति, धर्मं च सुदुर्लभत्वेन सबुध्यध्वम्। तथा चोक्तम्-" माणुस्सखेत्तजाई, कुलरूवारोग्गमाउयं बुद्धी। सवणोग्गहसद्धा स-ममो य लोगम्मि दुल्लहाइं ॥" तदेवमकृतधर्माणां मनुष्यत्वमतिदुर्लभमित्यवगम्य, तथा जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा, तथा बालिशेनाऽज्ञेन सद्विवेकस्याऽलम्भ इत्येतच्चावगम्य, तथा निश्चयनयमवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव लोकः संसारप्राणिगणः। तथाचोक्तम्—

" जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो " ॥

तथा-

" तण्हाइहस्स पाण, कूरो छायस्स उज्जए तेत्ती।
दुक्खसयसंपउत्तं, जरियमिव जगं कलयइ " ॥

इत्यत्र चैवंभूतलोके अनार्यकर्मकारी स्वकर्मणो विपर्यासमुपैति सुखार्थी प्राण्युपमर्दं कुर्वन् दुःखं प्राप्नोति तथा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति ॥११॥

उक्तः कुशीलविपाकोऽधुना तद्दर्शनान्यभिधीयन्ते-

इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीओदगसेवणेणं,हुएण एगे पवयंति मोक्खं॥१२॥

इहेति मनुष्यलोके,मोक्षगमनाधिकारे वा,एके केचन मूढा अज्ञानाऽऽच्छादितमतयः परैश्च मोहिताः, प्रकर्षेण वदन्ति प्रतिपादयन्ति। किं तत्?-मोक्षं मोक्षावाप्तिम्। केनेति दर्शयन्ति-आह्रियत इत्याहार ओदनादिस्तस्य संपद्रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहारसंपज्जन लवणं तेन ह्याहारस्य रसपुष्टिः क्रियते तस्य वर्जनं, तेनाऽऽहारसंपज्जनवर्जनेन लवणवर्जनेन मोक्षं वदन्ति। पाठान्तरं वा-"आहारसपञ्चयवज्जणेण" लवणपञ्चकमाहारसपञ्चकं, लवणपञ्चकं चेदम्-तद्यथा-सैन्धवं सौवर्चलं बिडं रौमं सामुद्रं चेति। लवणेन हि सर्वरसानामभिव्यक्तिर्भवति। तथा चोक्तम्-"लवणविहूणा य रसा,चक्खुविहूणा य इंदियग्गामा। धम्मो दयाएँ रहिओ, सोक्खं संतोसरहियं नो" ॥१॥ तथा लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्यानामिति। तदेवंभूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति, तत्त्यागाच्च मोक्षावाप्तिरित्येवं केचन मूढाः प्रतिपादयन्ति। पाठान्तरं वा-"आहारओ पञ्चकवज्जणेण" आहारत इति,ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी। आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति। तथा-लसुन पलाण्डुः करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति। तथैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषाः शीतोदकसेवनेन सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति। उपपत्तिं च ते अभिदधति-यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि। वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तराऽपि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते। तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति। ये किल स्वर्गादिफलमनाशस्य समिधा घृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति, शेषास्त्वभ्युदयायेति। युक्तिं चात्र ते आहुः-यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मलं दहत्येव दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ॥१२॥

तेषामसंबद्धप्रलापिनामुत्तरदानायाऽऽह-

पाओ सिणाणादिसु णत्थि मोक्खो,
खारस्स लोणस्स अणासएणं।
ते मज्ज मंसं लसणं च भोच्चा,
अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥ १३ ॥

प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्ष इति प्रत्यूषजलावगाहनेन निःशीलानां मोक्षो न भवति। आदिग्रहणाद् हस्तपादादिप्रक्षालनं गृह्यते। तथा ह्युदकपरिभोगेन तदाश्रितजीवानामुपमर्दः समुपजायते, न च जीवोपमर्दान्मोक्षावाप्तिरिति। न चैकान्तेनोदकं बाह्यमलस्याप्यपनयने समर्थम्, अथाऽपि स्यात्तथाऽप्यान्तरमलं न शोधयति,भावशुद्ध्या तच्छुद्धेः, अथ भावरहितस्यापि तच्छुद्धिः स्यात् ततो मत्स्यबन्धादीनामपि जलाभिषेकेण मुक्त्यवाप्तिः स्यात्। तथा क्षारस्य पञ्चप्रकारस्याऽपि लवणस्याऽनशनेनाऽपरिभोगेन मोक्षो नास्ति। तथाहि-लवणपरिभोगरहितानां मोक्षो न भवतीत्ययुक्तिकमेतत्। नचाऽयमेकान्ततो लवणमेव रसपुष्टिजनकमिति, क्षीरशर्करादिभिर्व्यभिचारात्। अपि चासौ प्रष्टव्यः किं द्रव्यतो लवणवर्जनेन मोक्षावाप्तिरुत भावत ?। यदि द्रव्यतस्ततो लवणरहितदेशे सर्वेषां मोक्षः स्यात्,न चैव दृष्टमिष्टं वा। अथ भावतस्ततो भाव एव प्रधानं किं लवणवर्जनेनेति?। तथा ते मूढा मद्यमांसलशुनादिकं वा भुक्त्वा अन्यत्र मोक्षादन्यत्र संसारे वासमवस्थानं तथाविधानुष्ठानमसद्भावात् सम्यग्दर्शन-

ज्ञानचारित्ररूपमोक्षमार्गस्याऽनुष्ठानाच्च परिकल्पयन्ति समन्ताद् निष्पादयन्तीति। (अतः परं चतस्रो गाथा 'उदग' शब्दे द्वि० भा० ७६१ पृष्ठे उक्ता। एका च गाथा 'अग्गिहोत्त' शब्दे प्र० भा० १७७ पृष्ठे उक्ता)

उक्तानि पृथक्कुशीलदर्शनानि, अयमपरस्तेषां सामान्योपालम्भ इत्याह-

अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी,
एहिंति ते घायमबुज्झमाणा ।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं,
विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥ १९ ॥

यैर्मुमुक्षुभिरुदकसपर्केणाऽग्निहोत्रेण वा प्राण्युपमर्दकारिणा सिद्धिरिति, ते च परमार्थमबुध्यमाना' प्राण्युपघातेन पापमेव धर्मबुद्ध्या कुर्वन्तो घात्यन्ते वा व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः सघात. संसारस्तमेष्यन्ति अप्कायतेजस्कायसमारम्भेण हि त्रसस्थावराणामवश्यंभावी विनाश ,तन्नाशे च संसार एव, न सिद्धिरित्यभिप्राय ; यत एव ततो विद्वान् सदसद्विवेकी यथावस्थिततत्त्व गृहीत्वा त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभि. कथ सांप्रत सुखमवाप्यत इति एतत्प्रत्युपेक्ष्य जानीहि अवबुद्ध्यस्व। एतदुक्त भवति-सर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दु खद्विष । न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति। यदि वा (विज्ज गहाय त्ति) विद्यां ज्ञान गृहीत्वा विवेकमादाय त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभि करणभूतै. सात सुख प्रत्युपेक्ष्य पर्यालोच्य जानीह्यवगच्छेति। यत उक्तम्-" पढम नाण तओ दया,एव चिट्ठइ सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही, किं वा णाही छेयपावगमित्यादि " ॥ १९॥

ये पुन प्राण्युपमर्देन सातमभिलषन्तीत्यशीला कुशीलाश्च ते संसारे एवंविधा अवस्था अनुभवन्तीत्याह-

थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी,
पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते,
दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥ २० ॥

तेजस्कायसमारम्भिणो भूतसमारम्भेण सुखमभिलषन्तो नारकादिगतिगतास्तीव्रदुःखैः पीड्यमाना असह्यवेदनाघ्रातमानसा अशरणा. स्तनन्ति केवल करुणमाक्रन्दन्तीति यावत्। (तथा लुप्पतीति) छिद्यन्ते खड्गादिभि', एव च कदर्थ्यमानास्त्रस्यन्ति प्रपलायन्ते। कर्माण्येषा सन्तीति कर्मिण., सपापा इत्यर्थः। तथा पृथक् (जगा इति) जन्तव इति। एव परिज्ञाय ज्ञात्वा भिक्षणशीलो भिक्षु., साधुरित्यर्थ'। यस्मात्प्राण्युपमर्दकारिण. संसारान्तर्गता विलुप्यन्ते तस्माद्विद्वान् पापेभ्यो विरत पापानुष्ठानादात्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो, मनोवाक्कायगुप्त इत्यर्थः। दृष्ट्वा च त्रसान्,'चशब्दात् स्थावरांश्च दृष्ट्वा परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां प्रतिसंहरेन्निवर्तयेदिति ॥ २० ॥

साम्प्रत स्वयूथ्याः कुशीला अभिधीयन्त इत्याह-

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे,
वियडेण साहट्टु य जे सिणाई ।
जे धोवती लूसयती व वत्थं,
अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥ २१ ॥

ये केचन शीतलविहारिणो धर्मेण सुधिकया लब्धं धर्मलब्धं, उद्देशकक्रीतकृतादिदोषरहितमित्यर्थ । तदेवभूतमप्याहारजात निधाय व्यवस्थाप्य सन्निधिं कृत्वा भुञ्जन्ते। तथा-ये विकटेन प्रासुकोदकेनाऽपि संकोच्याङ्गानि प्रासुक एव प्रदेशे देशसर्वस्नान कुर्वन्ति। तथा यो वस्त्र धावति प्रक्षालयति, तथा लूषयति शोभार्थ दीर्घमुत्पाटयित्वा ह्रस्व करोति, ह्रस्व वा सधाय दीर्घं करोति, एवं लूषयति, तदेव स्वार्थं परार्थं वा यो वस्त्र लूषयति अथाऽसौ (णागणियस्स त्ति) निर्ग्रन्थभावस्य सयमानुष्ठानस्य दूरे वर्तते, तस्य न सयमो भवत्येव तीर्थङ्करगणधरादय आहुरिति ॥ २१ ॥

उक्ताः कुशीला', तत्प्रतिपक्षभूता. शीलवन्त. प्रतिपाद्यन्त इत्येतदाह-

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे,
वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं ।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे,
विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥२२॥

धिया राजते इति धीरो बुद्धिमान्, (दगंसि त्ति) उदकसमारम्भे सति कर्मबन्धो भवति एव परिज्ञाय, किं कुर्यादित्याह-विकटेन प्रासुकोदकेन सौवीरादिना जीव्यात् प्राणसधारण कुर्यात् । चशब्दात् अन्येनाप्याहारेण प्रासुकेनैव प्राणवृत्तिं कुर्यात् । आदि ससारः, तस्मान्मोक्ष आदिमोक्ष', ससारविमुक्तिं यावदिति । धर्मकारणानां तावदादिभूत शरीर तद्विमुक्तिं, यावज्जीवमित्यर्थः। किञ्चासौ साधुर्बीजकन्दादीन् भुञ्जान', आदिग्रहणाद् मूलपत्रफलानि गृह्यन्ते । एतान्यप्यपरिणतानि परिहरन् विरतो भवति। कुत इति दर्शयति-स्नानाभ्यङ्गोद्वर्तनादिषु क्रियासु निष्प्रतिकर्मशरीरतयाऽन्यासु चिकित्सादिक्रियासु न वर्तते, तथा स्त्रीषु च विरतः वस्तिनिरोधग्रहणात् अन्येऽप्याश्रवा गृह्यन्ते। यश्चैवंभूत. सर्वेभ्योऽप्याश्रवद्वारेभ्यो विरतो नाऽसौ कुशीलदोषैर्युज्यते, तद्योगाच्च न ससारे पम्भ्रमीति । ततश्च न दुःखितः स्तनति, नापि नानाविधैरुपायैर्विलुप्यत इति ॥२२॥

पुनरपि कुशीलानेवमधिकृत्याह-

जे मायरं च पियरं च हिच्चा-ऽगारं तहा पुत्त पसुं धणं च ।
कुलाइँ जे धावइ साउगाइं,अहाहु से सामणियस्स दूरे।२३।

(जे मायर चेत्यादि) ये केचनाऽपरिणतसम्यक्धर्माणस्त्यक्त्वा मातर च पितर च मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वादुपादानम्, अतो भ्रातृदुहित्रादिकमपि त्यक्त्वेति एतदपि द्रष्टव्यम् । तथा अगार गृह, पुत्रमपत्यं, पशु हस्त्यश्वरथगोमहिष्यादिक धनं च त्यक्त्वा सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय पञ्चमहाव्रतभारस्य स्कन्ध दत्वा पुनर्हीनसत्त्वतया रससातादिगौरवगृद्धो य. कुलानि गृहाणि स्वादुकानि स्वादुभोजनवन्ति धावति गच्छति, अथाऽसौ श्रमणभावस्य श्रामण्यस्य दूरे वर्तत एवमाहुस्तीर्थङ्करगणधरादय इति॥ २३ ॥

एतदेव विशेषेण दर्शयितुमाह-

कुलाइँ जे धावइ साउगाइं,

अधाति धम्मं उदराणुगिध्दे ॥
अहाहु से आयरियाए सयं से,
जो लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥ २४ ॥

(कुलाइँ जे धावतीत्यादि) कुलानि स्वाद्भोजनवन्ति धावति गच्छति, तथा गत्वा धर्ममाख्याति भिक्षार्थं वा प्रविष्टो यद्यस्मै रोचते कथासम्बन्धस्त तस्याऽऽख्याति। किंभूत इति दर्शयति- उदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्धः उदरभरणव्यग्रः, तुन्दपरिमृज इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति-यो ह्युदरगृद्ध आहारादिनिमित्तं दानश्रद्धकाख्यानि कुलानि गत्वाऽऽख्यायिका कथयति स कुशील इति, अथाऽसावाचार्यगुणानां वा शतांशे वर्त्तत इति। यो ह्यस्य हेतुं भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणानपरेणालापयेद्भाणयेत् असावप्यार्यगुणानां सहस्रांशे वर्तते, किमङ्ग! पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसा विदधातीति ॥२४॥

किञ्च-

णिक्खम्म दीणे परभोयणम्मि,
मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे ॥
नीवारगिध्दे व महावराहे,
अदूरए एहइ घातमेव ॥ २५ ॥

यो ह्यात्मीय धनधान्यहिरण्यादिकं त्यक्त्वा निष्क्रान्तो निष्क्रम्य च परभोजने पराहारविषये दीनो दैन्यमुपगतो जिह्वेन्द्रियवशादार्त्तो वन्दिवन्मुखमाङ्गलिको भवति मुखेन मङ्गलानि प्रशंसावाक्यानि ईदृशस्तादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति। उक्तं च-"सो एसो जस्स गुणा, वियरंत न वारिया दस दिसासु। इहरा कहासु सुव्वसि, पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोसि" इत्येवमौदर्यं प्रति गृद्धोऽभ्युपपन्नः। किमिव नीवारः सूकरादिमृगभक्ष्यविशेषस्तस्मिन् गृद्ध आसक्तमना गृहीत्वा च स्वयूथं महावराहो महाकायः सूकरः। एवकारोऽवधारणे, अवश्य तस्य विनाश एव, नाऽपरा गतिरस्तीति, एवमसावपि कुशील आहारमात्रगृद्धः संसारोदरः पौन पुन्येन विनाशमेवैति ॥ २५ ॥

किञ्च-

अन्नस्स पाणस्सिह लोइयस्स,
अणुप्पियं भासति सेवमाणे ॥
पासत्थयं चेव कुसीलयं च,
निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥ २६ ॥

(अन्नस्सेत्यादि) स कुशीलोऽन्नस्य पानस्य वा कृतेऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते अनुप्रिय भाषते, यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनु पश्चाद् भाषतेऽनुभाषते। प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः। नमेव दातारमनुसेवमानः आहारमात्रगृद्धः सर्वमेतत्करोतीत्यर्थः। स चैवंभूतः सदाचारभ्रष्टः पार्श्वस्थभावमेव व्रजति कुशीलतां च गच्छति। तथा निर्गत एकान्ततः सारश्चारित्राख्यो यस्य स नि सार., यदि वा निर्गतस्य सारो नि सार, स विद्यते यस्याऽसौ नि.सारवान्, पुलाक इव निष्कणो भवति यथा, एवमसौ संयमानुष्ठानं निःसारीकरोति। एवंभूतश्चाऽसौ लिङ्गमात्रावशेषो बहूनां स्वयूथ्यानां तिरस्कारपदवीमवाप्नोति, परलोके च निकृष्टानि यातनास्थानान्यवाप्नोति ॥२६॥

उक्ताः कुशीलास्तत्प्रतिपक्षभूतान् सुशीलान् प्रतिपादयितुमाह-

अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा,
णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
सद्देहिँ रूवेहिँ असज्जमाणं,
सव्वेहि कामेहिँ विणीय गेहिं ॥ २७ ॥

अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाऽज्ञातपिण्डः, अन्तप्रान्त इत्यर्थः। अज्ञातेभ्यो वा पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातः तल्लब्धस्तथा लब्धस्तेनात्मानमधिसहेत् वर्त्तयेत् पालयेत्। एतदुक्तं भवति- अन्तप्रान्तेन लब्धेनाऽलब्धेन वा न दैन्य कुर्यात्, नाऽप्युत्कृष्टेन लब्धेन मदं विदध्यात्, नाऽपि तपसा पूजन सत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः। यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थत्वेन वा महताऽपि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसार कुर्यात्। तदुक्तम्-"परलोकाधिकं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम्। तदेवार्थित्वनिर्लुप्त-सारं तृणलवायते"॥ तथा च रसेषु गृद्धिं न कुर्यात्। एवं शब्दादिष्वपीति दर्शयति-शब्दैर्वेणुवीणादिभिराक्षिप्तः संस्तेष्वसज्जन्नासक्तिमकुर्वन् कर्कशेषु च द्वेषमगच्छन्, तथा रूपैरपि मनोज्ञेतरैः रागद्वेषमकुर्वन्। एवं सर्वैरपि कामैरिच्छामदनरूपैः सर्वेभ्यो वा कामेभ्यो गृद्धिं विनीयाऽपनीय संयममनुपालयेदिति। सर्वथा मनोज्ञेतरेषु विषयेषु रागद्वेष न कुर्यात्।

तथा चोक्तम्-

" सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण च, समणेण सया ण होयव्व ॥ १ ॥
रूवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण च, समणेण सया ण होयव्व ॥ २ ॥
गधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण च, समणेण सया ण होयव्व ॥ ३ ॥
भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुपगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण च, समणेण सया न होयव्व ॥ ४ ॥
फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण च, समणेण सया न होयव्व" ॥ ५ ॥ २७ ॥

यथा चेन्द्रियनिरोधो विधेय एवमपरसङ्गनिरोधोऽपि कार्य इति दर्शयति-

सव्वाइँ संगाइँ अइच धीरे,
सव्वाइँ दुक्खाइँ तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिध्दे अणिए य चारी,
अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥ २८ ॥

(सव्वाइ इत्यादि) सर्वान् बाह्यांश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणानतीत्य त्यक्त्वा धीरो विवेकी सर्वाणि तु यानि शारीरमानसानि त्यक्त्वा परीषहोपसर्गजनितानि तितिक्षमाणोऽधिसहमानोऽखिलो ज्ञानदर्शनचारित्रैः सम्पूर्णः, तथा कामेष्वगृद्धः, तथाऽनियतचारी अप्रतिबद्धविहारी, तथा-जीवानामभयकरोऽपि भिक्षणशीलो भिक्षु साधुरेवमनाविलो विषयकषायैरनाकुलात्मा यस्याऽसावनाविलात्मा संयममनुवर्तेत इति ॥२८॥

किञ्चान्यत्-

भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा,
कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ॥

दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा,
संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥ २९ ॥

संयमभारस्य यात्रार्थं पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थं, मुनिः कालत्रयवेत्ता, भुञ्जीत आहारग्रहणं कुर्वीत, तथा पापस्य कर्मणः पूर्वचरितस्य विवेकं पृथग्भावं विनाशमाकाङ्क्षेद्भिक्षुः साधुरिति। तथा दुःखयतीति दुःखं परीषहोपजनिता पीडा, तेन स्पृष्टो व्याप्तः सन् धूतं संयमं मोक्षं वा आददीत गृह्णीयात्, यथा सुभटः कश्चित् संग्रामशिरसि शत्रुभिरभिद्रुतः परं शत्रुं दमयति, एवं परं कर्मशत्रुं परीषहोपसर्गाभिद्रुतो दमयेदिति ॥ २९ ॥

अपि च-

अवि हम्ममाणे फलगाव तट्ठी,
समागमं कंखति अंतकस्स ।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ,
अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥ ३० ॥

(अविहम्ममाणेत्यादि) परीषहोपसर्गैर्हन्यमानोऽपि सम्यक् सहते। किमिव फलकवदवकृष्टः। यथा फलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तं द्विष्टं वा समवस्थेवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहो दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टः अन्तकस्य मृत्योः समागमं प्राप्तिमाकाङ्क्षत्यभिलषति। एवं चाष्टप्रकारं कर्म निर्धूयाऽपनीय न पुनः प्रपञ्चं जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यते बहुधा नट्यवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः संसारस्तं नोपैति न याति। दृष्टान्तमाह-यथाऽक्षस्य क्षये विनाशे सति शकटं गन्त्र्यादिकं समविषमपथरूपं प्रपञ्चमुपष्टम्भकारणभावान्नोपयाति, एवमसावपि साधुरष्टप्रकारस्य कर्मणः क्षये संसारप्रपञ्चं नोपयातीति। गतोऽनुगमोऽनया, पूर्ववदितिशब्दः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३० ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

(७) पार्श्वस्थादिसंसर्गो न कर्तव्यः-

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिवुज्झेज्ज ते विऊ ॥२८॥

कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः, स च पार्श्वस्थादीनामन्यतमः, न कुशीलोऽकुशीलः, सदा सर्वकालं भिक्षणशीलो भिक्षुः कुशीलो न भवेत् नापि कुशीलैः सार्धं संसर्गं सांगत्यं भजेत सेवेत । तत्संसर्गदोषोद्भिभावयिषयाऽऽह-सुखरूपाः सातागौरवस्वभावास्तत्र तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुष्पन्ति । तथाहि-कुशीलाः वक्तारो भवन्ति-कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपादवन्तादिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात् ?, तथा नाशरीरो धर्मो भवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाधाकर्मसान्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्तयेत् । उक्तं च-" अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं ।" इति " शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीरात्स्रवते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा ॥१॥" तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तवः इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुषज्जन्त्येवं विद्वान् विवेकी प्रतिबुध्येत जानीयात्, बुध्वा चापायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति ।

किञ्चान्यत्-

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए ।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

तत्र साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र न निषीदेन्नोपविशेत्, उत्सर्गतोऽस्यापवादं दर्शयति-नान्यत्रान्तरायेणेति। अन्तरायः शक्त्यभावः, स च जरसा रोगातङ्काभ्यां स्यात्तस्मिंश्चान्तराये सत्युपविशेद्यदि वोपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि, तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिकाऽसौ क्रीडा हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनाऽऽदिका, यदि वा वट्टकन्दुकादिका, तां मुनिर्न कुर्यात्, तथा वेला मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं, न हसेन्मर्यादामतिक्रम्य मुनिः साधुर्ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धभयान्न हसेत्। तथा चागमः-" जीवे णं भंते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविह बंधए वा अट्ठविह बंधए वा" इत्यादि।

किञ्च-

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥३०॥

उराला उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगन्धर्वयानवाहनादयः, तथा आज्ञैश्वर्यादयश्चैतेष्वपरेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्। पाठान्तरं वा-न निश्रितोऽनिश्रितोऽप्रतिबद्धः स्यात्। यतमानश्च संयमानुष्ठाने परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् व्रजेत् संयमं गच्छेत्। तथा चर्यायां भिक्षादिकायामप्रमत्तः स्यात्, नाहारादिषु रसगार्ध्यं विदध्यादिति । तथा स्पृष्टश्चाभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो विषहेत सम्यक् सहेतेति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

(८) पार्श्वस्थादिसंसर्गदोषमाह-

वज्जिज्ज य संसग्गिं, पासत्थाईहिं पावमित्तेहिं ।
कुज्जा य अप्पमत्तो, सुद्धचरित्तेहिँ धीरेहिं ॥ ३० ॥

विवर्जयेच्च संसर्गं सबन्धमित्यर्थः । कैरित्याह-पार्श्वस्थादिभिः पापमित्रैरकल्याणमित्रैः सह; कुर्याच्च संसर्गमप्रमत्तः सन् शुद्धचारित्रैर्धीरैः साधुभिः सहेति गाथार्थः ॥ ३० ॥

किमित्येतदेवमित्यत्राह-

जो जारिसेण मेत्तिं, करेइ अचिरेण तारिसो होइ ।
कुसुमेहि सह वसंता, तिला वि तग्गंधिया हुंति ॥ ३१ ॥

यः कश्चित् यादृशेन येन केनचित् सह मैत्रीं संसर्गरूपां करोति सोऽचिरात् तादृशो भवति । अत्र निदर्शनमाह-कुसुमैः सह वसन्तः सन्तस्तिला अपि तद्गन्धिनो भवन्ति कुसुमगन्धिन एवेति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अत्राह-

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उवेइ कायभावं, पाहण्णगुणेण नियएणं ॥ ३२ ॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् वैडूर्यो मणिविशेषः, काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः, कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः, तैरुत्प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नोपैति न याति काचभावं काचधर्मं प्राधान्यगुणेन वैमल्यगुणेन निजेनात्मीयेन, एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिर्न यास्यतीति गाथार्थः ॥३२॥

तथा-

सुचिरं पि अत्थमाणो, नलथंभो उच्छुवाडमज्झम्मि ।
कीस न जायइ महुरो, जइ संसग्गी पमाणं ते ? ॥ ३३ ॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि काल तिष्ठन् नलस्तम्बो वृक्षविशेषः इक्षुवाटमध्ये इक्षुससर्गात्किमिति न जायते मधुरः यदि संसर्गी प्रमाणं तवेति गाथार्थ ॥ ३३ ॥

अत्रोत्तरमाह-

भावुग अभावुगाणि अ, लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि ।
वेरुलिओ तत्थ मणी, अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥ ३४ ॥

भाव्यन्ते प्रतियोगिना स्वगुणैरात्मभावमापद्यन्त इति भाव्यानि कवेल्लुकादीनि, प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते । अथ वा प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथा भवनशीलानि भावुकानि, "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्" ३ । २ । १५४ । इति पाणिनिसूत्रादुकञ्, तस्य ताच्छीलिकत्वादिति । तद्विपरीतानि अभाव्यानि च नलादीनि लोके द्विविधानि द्विप्रकाराणि भवन्ति द्रव्याणि वस्तूनि, वैडूर्यस्तत्र मणिरभाव्योऽन्यद्रव्यैः काचादिभिरिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

स्यान्मतिर्जीवोऽप्येवंभूत एव भविष्यति न पार्श्वस्थादिसंसर्गेण तद्भाव यास्यतीत्येतच्च असद्, यतः—

जीवो अणाइनिहणो, तब्भावणभाविओ अ संसारे ।
खिप्पं सो भाविज्जइ, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ३५ ॥

जीवः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स ह्यनादिनिधनोऽनाद्यपर्यन्त इत्यर्थः । तद्भावनाभावितश्च पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च ससारे तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् क्षिप्र शीघ्रं स भाव्यते प्रमादादिभावनया आत्मीक्रियते मीलनदोषानुभावेन ससर्गदोषानुभावेनेति-गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथ भावतो दृष्टान्तमात्रेण परितोष', ततो मद्विवक्षितार्थप्रतिपादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव, शृणु-

अंबस्स य निंबस्स य, दोण्हं पि समागयाइं मूलाइं ।
संसग्गीएँ विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ ३६ ॥

तिक्तनिम्बोदकवासितायां भूमावाम्रवृक्षः समुत्पन्न., पुनस्तत्राम्रस्य च निम्बस्य च द्वयोरपि समागते एकीभूते मूले ततश्च ससर्गात् सगल्या विनष्ट. आम्रो निम्बत्वं प्राप्त, तिक्तफलः संवृत इतिगाथाऽर्थ ॥ ३६ ॥

दोषान्तरोपदर्शनेन प्रकृतमेव समर्थयन्नाह-

संसग्गीए दोसा, निअमादेवेह होइ अकिरिया ।
लोए गरिहा पावे, अणुमइ भो तह य आणाई ॥ ३७ ॥

संसर्गात् ससक्तेर्धा पार्श्वस्थादिभिः सहेति गम्यते, दोषा इमे नियमादेवेह, या च भवत्यक्रिया तदुपरोधेन तथा लोके गर्हा भवति-सर्वे एवैते एवंभूता इति, तथा पापेऽनुमतिर्भवति पार्श्वस्थादिसम्बन्धिनी, तत्सङ्गमात्रनिमित्तत्वादनुमते., तथा आज्ञादयश्च दोषा भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ ३७ ॥ पं० व० ।

(कुशीलसंसर्गे दोषाः ' किइकम्म ' शब्देऽपि ५०९ पृष्ठेऽस्मिन्नेव भागे भाविता', ततस्ते तत एवाऽवधार्याः)

कुसीलधम्म-कुसीलधर्मन्-न० । पुं० । कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा । सावद्यकर्मणा धर्मत्वाभिमानिषु, "अहाहु से लोएँ कुसीलधम्मे, भूताइँ जे हिंसति आयसाते ।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कुसीलपडिसेवणया-कुशीलप्रतिसेवनका (ता)-स्त्री० । कुशीलमब्रह्म, तस्य प्रतिसेवन कुशीलप्रतिसेवन, तद्भावः कुशीलप्रतिसेवनता, उपसर्गकुशीलस्य वा प्रतिसेवन येषु ते कुशीलप्रतिसेवनका । मानुष्योपसर्गभेदेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कुसीलपडिसेवणा-कुशीलप्रतिसेवना-स्त्री० । मैथुनप्रतिसेवनायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कुसीलपणग-कुशीलपञ्चक-न० । पार्श्वस्थावसन्नयथाच्छन्दससक्तकुशीलपञ्चके, महा० २ अ० ।

कुसीलपरिभासा-कुशीलपरिभाषा-स्त्री० । सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धस्य सप्तमेऽध्ययने, तत्र कुशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्या अशीलाश्च गृहस्थाः परि समन्ताद् भाष्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनाश्च निरूप्यन्त इति, तथा तद्विपर्ययेण कश्चित्सुशीलाश्चेति । निक्षेपश्चात्रौघनामसूत्रालापकभेदात् । तत्रौघनिष्पन्ननिक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने कुशीलपरिभाषेति । सूत्र० ।

साम्प्रतं कुशीलपरिभाषाख्यस्याऽध्ययनस्यान्वर्थतां दर्शयितुमाह-

परिभासिया कुसीला य, एत्थ जावंति अविरता केइ ।
सुत्तिपसंसासुद्धो, कुंति दुगुंछा अपरिसुद्धो ॥ ९० ॥

(परिभासिया इत्यादि) परि समन्ताद् भाषिताः प्रतिपादिताः कुशीलाः कुत्सितशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च । चशब्दाद् यावन्तः केचनाऽविरता अस्मिन्नित्यत इदमध्ययन कुशीलपरिभाषेत्युच्यते । किमिति कुशीला अशुद्धा गृह्यन्ते ?, इत्याह-सुरित्यय निपातः प्रशंसायां शुद्धविषये वर्तते । तद्यथा-सौराज्यमित्यादि । तथा कुरित्ययमपि निपातो जुगुप्सायामशुद्धविषये वर्त्तते, कुतीर्थं कुग्राम इत्यादि ।

यदि कुत्सितशीला' कुशीला. कथ तर्हि परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च तथाविधा भवन्ति इत्याह-

अप्फासुयपडिसेवी, णामं भुज्जो य सीलवादी य ।
फासुं वयति सीलं, अफासुया मो अभुंजंता ॥ ९१ ॥

(अप्फासुय इत्यादि) अस्त्यय शीलशब्दस्तत्स्वाभाव्ये । तथाहि-य. फलनिरपेक्षः क्रियास्वाभरणादिषु प्रवर्त्तते स चेह द्रव्यशीलत्वेन प्रदर्शितः, अस्त्युपशमप्रधाने चारित्रे । तथाहि-तत्प्रधानः शीलवानय तपस्वीति, तद्विपर्ययेण दुःशील इति । स चेह भावशीलग्रहणेनोपात्त इति । इह च यतीनां स्वाध्यायनादिक मुक्त्वा धर्माधारशरीरतत्पालनाहारव्यापार च मुक्त्वा नाऽपरः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीत्यतस्तदाश्रयेणैव सुशीलत्व च चिन्त्यते-तत्र कुतीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा अप्रासुक सचित्त प्रति सेवितु शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी, नामशब्दः संभावनायां, भूयः पुनर्धाष्ट्यच्छीलवन्तमात्मानं वदितुं शीलं यस्य स शीलवादी, किमित्येवं, वत. प्रासुकमचेतन शीलं वदति । इदमुक्तं भवति-य' प्रासुकमुद्गमादिदोषरहितमाहार भुङ्क्ते तं शीलवन्तं वदन्ति तज्ज्ञाः । तथाहि-यनयो प्रासुकमुद्गमादिदोषदुष्ट-

मेषाऽऽहारमभुञ्जाना शीलवन्तो भण्यन्ते नेतर इति स्थितम्। नाशब्दस्य निपातत्वेनाऽवधारणार्थत्वादिति ।

अप्रासुकभोजित्वेन कुशीलत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह-

जह णाम गोयमा चं-डिदेवगा वारिभद्दगा चेव ।
जे अग्गिहोत्तवादी, जलसोयं जे य इच्छंति ॥ ए२ ॥

(जह णाम इत्यादि) यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे, नामशब्दो वाक्यालङ्कारे। गौतमा इति गोव्रतिका गृहीतशिक्षं लघुकाय वृषभमुपादाय धान्यार्थं प्रतिगृहमटन्ति । तथा (चाडिदेवगा इति) चक्रधरप्रायाः । एवं वारिभद्रका अब्भक्षाः शैवलाशिनो नित्य स्नानपानादिधावनाभिरता वा । तथा ये चाऽन्येऽग्निहोत्रवादिनोऽग्निहोत्रादेव स्वर्गगमनमिच्छन्ति, ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्रासुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति। चशब्दात् ये च स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादय उद्गमाद्यशुद्धमाहारं भुञ्जन्ते, तेऽपि कुशीला इति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः ॥ सूत्र० नि० १ श्रु० ७ अ० । आ० चू० । आव० । स० । प्रश्न० ।

कुसीललिंग-कुशीललिङ्ग-न० । पार्श्वस्थादीनां चिह्ने, उत्त० २० अ० ।

कुसीलविहारि (ए्)-कुशीलविहारिन्-पुं० । आजन्माऽपि ज्ञानाद्याचारविराधके, भ० १० श० ४ उ० ।

कुसीलसंसग्गि-कुशीलसंसर्गि-पुं० । पार्श्वस्थादिसम्बन्धे , सावद्यमनायतनमशोधिस्थानं कुशीलसंसर्गिः, एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति । ओघ० ।

कुसीस-कुशिष्य-पुं० । दुष्टशिष्ये, उत्त० २७ अ० ।

कुसुंभ-कुसुम्भ-पुं० । लट्वायाम्, स्था० ८ ठा० । भ० । औषधिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । भ० । नि० चू० । लट्टकरागे, यत्पुष्पैर्वस्त्रादिरागः समुत्पद्यते । जं० २ वक्ष० । " चत्तारि हुति तेल्ला, तिलअयसिकुसुंभसरिसवाण य।" प्रव० ४ द्वार। " जे कुंसए से कुसुमए " अनु० । कमण्डलौ, स्वर्णे, न० । वाच० ।

कुसट्ट-कुशावर्त्त-पुं० । व० व० । आर्यदेशभेदे, यत्र सौरिकं नगर, ' सोरियं कुसट्टा य ' सौरिकं नगरं, कुशावर्त्तो देशः । प्रव० २७३ द्वार । सूत्र० ।

कुसुम-कुसुम-न० । कुस-उम । गुणाभावः । पुष्पे, जं० १ वक्ष० । जी० । रा० । दश० । स्था० । औ० । कल्प० । प्रज्ञा० । "पुप्फाणि य कुसुमाणि य,फुल्लाणि य तहेव होंति पसवाणि । सुमणाणि य सुहुमाणि य,पुप्फाण होंति एगट्ठा ॥" दश० ८ अ० । पद्मप्रभस्य यक्षे, स च नीलवर्णः कुरङ्गवाहनश्चतुर्भुजः फलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाक्षसूत्रवामपाणिद्वयश्च । प्रव० २७ द्वार ।

कुसुमकुंडल-कुसुमकुण्डल-न० । इक्षुपूरकपुष्पसमानाकृतिकर्णाभरणे, अन्त० ४ वर्ग ।

कुसुमकेउ-कुसुमकेतु-पुं० । अरुणवरद्वीपाधिपतिदेवे, द्वी० ।

कुसुमक्खयधूव-कुसुमाक्षतधूप-पुं० । पुष्पमालाद्यखण्डतण्डुलकृष्णागरुसारधूपेषु, दर्श० ।

कुसुमगंथण-कुसुमग्रथन-न० । स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

कुसुमघरय-कुसुमगृहक-न० । कुसुमप्रायवनस्पतिगृहे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । कुसुमप्रकारोपचिते गृहे,जं० १ वक्ष० । जी० । रा० ।

कुसुमणयर-कुसुमनगर-न० । पाटलिपुत्रे, आ० म० द्वि० ।

कुसुमदाम-कुसुमदामन्-न० । पुष्पमालायाम्, उपा० १ अ० ।

कुसुमदामकोदंड-कुसुमदामकोदण्ड-पुं० । कामदेवे," मुडमालिए ज पणएण त नमह कुसुमदामकोदंडकामहं " प्रा०४पाद ।

कुसुमप्पअर-कुसुमप्रकर-पुं० । " समासे वा " ८ । २ । ९७ । इति पद्वित्वं वा । पुष्पसमूहे, प्रा० २ पाद ।

कुसुमपुर-कुसुमपुर-न० । पाटलिपुत्रे, बृ० ३ उ० ।

कुसुमभर-कुसुमभर-पुं० । पुष्पसम्भारे, "कुसुमभरसमोणमन्तपत्तलविसालसाल " कुसुमभरेण पुष्पसम्भारेण समीषदवनमन्त्यः पत्रसमृद्धाः, पत्रसमिद्धति स्कन्धपत्रलमिति वचनात् विशाला विस्तीर्णाः शालाः शाखा यस्य सः कुसुमभरसमवनमत्पत्रलविशालशालः । रा० ।

कुसुमवुट्ठि-कुसुमवृष्टि-स्त्री० । दशार्द्धवर्णपुष्पवर्षे,पञ्चा०२ विव० । दशार्द्धवर्णजलजाधोभागस्थायिवृन्तजाम्बूनदप्रमाणकुसुमवर्षणे, दर्श० ।

कुसुमसंथर-कुसुमसंस्तर-पुं० । पुष्पशयने,प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

कुसुमसंभव-कुसुमसम्भव-पुं० । वनस्पतिषु बाहुल्येन कुसुमानां मल्लिकापाटलादीनां सम्भवो यस्मिन् स तथा । मधुमासे, "अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं ।" अनु० । कल्प० । स्था० । च० प्र० । जं० । ज्यो० । सू० प्र० ।

कुसुमसम-कुसुमसम-त्रि० । पुष्पसदृशे, तं० ।

कुसुमसार-कुसुमसार-पुं० । मलयमहायाः पितरि सार्थवाहे, " विजयमणणदणे णयरे कुसुमसारसत्थवाहसुकुमालियाए भारियाए मलयमहा नाम दुहिया" । दर्श० ।

कुसुमालिओ-देशी-शून्यमनसि, दे० ना० २ वर्ग ।

कुसुमासव-कुसुमासव-न० । कुसुमस्य तद्रसस्याऽऽसवम् । पौष्पे मधुनि, तज्जाते मद्ये च । वाच० । किञ्जल्के, औ० ।

कुसुमासवलोल-कुसुमासवलोल-त्रि० । किञ्जल्कपानलम्पटे, जी० ३ प्रति० । जं० । रा० । औ० ।

कुसुमिय-कुसुमित-त्रि० । कुसुमानि पुष्पाणि सञ्जातानि एषामिति कुसुमिताः। तारकादिदर्शनादितच् प्रत्ययः । रा० । स्था० । सञ्जातकुसुमेषु, भ० १ श० १ उ० । जी० । औ० । जं० । आ० म० । मुकुलितेषु, बृ० १ उ० ।

कुसुर -ताम्बूल-न० । " गोणाऽऽदयः " । ८ । २ । १७४ । इति ताम्बूलस्थाने कुसुराऽऽदेशः । नागवल्लीदले, प्रा० २ पाद ।

कुसूल-कुशूल-पुं०। कोष्ठे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

कुसेज्ज-कुशय्य-त्रि०। कुत्सितशयने, जं० २ वक्ष०। प्रश्न०।

कुह-कुह-पुं०। कुहयति विस्मापयति ऐश्वर्येण। कुह-अच्। कुबेरे, पुं०। विस्मापके,त्रि०। वाच०। वृक्षे, "कुहा महीरुहा वच्छा, रोवगा रुंजगा वि य"। एते द्रुमपर्यायाः। दश० ७ अ०। कुध्-स्त्री०। सम्पदादि० भावे क्विप्। क्रोधे, ध० २ अधि०।

कुहंड-कूष्माण्ड-पुं०। रत्नप्रभापृथिव्या उपरितनयोजनशतवर्तिनि व्यन्तरनिकायविशेषे, औ०।

कुहंडिया-कूष्माण्डिका-स्त्री०। पुष्पफल्याम्, रा०।

कुहंडियाकुसुम-कूष्माण्डिकाकुसुम-न०। पुष्पफलीकुसुमे, रा०। जी०।

कुहग (य)-कुहक-न०। कुह-वा क्विद्। इन्द्रजाले,असद्वस्तुनः सत्त्वेन बोधके व्यापारभेदे, वञ्चनायाम्, स्त्री०। क्षिपकादित्वाद् नेत्वम्। वाच०। धावतोऽश्वस्य उदरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छितवायुविशेषे, "घणगज्जियहयकुहए, विज्जुदुगिज्झगूढहिययाओ।" अत्र कुहकशब्देन यो धावतोऽश्वस्योदरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छितवायुविशेष उत्पद्यते स प्रोच्यते। यत उक्तं परिशिष्टपर्वणि श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः-'दृष्यौ च स्वर्णकागेऽपि, चरितं योषितामहो। अश्वानां कुहकाराव-मिह को वेत्तुमीश्वरः'?॥१॥ ग० २ अधि०।

कुहड-देशी-कुब्जे, दे० ना० २ वर्ग।

कुहण-कुहन-न०। ईषत् प्रयत्नेन हन्यते। हन्-कर्मणि वा अप्। मृद्भाण्डे, काचपात्रे च। तयोरीषत् प्रयत्नेन हन्यमानत्वात्तथात्वम्। कुत्सितावारेण हन्ति। हन् अच्। ईर्षालौ, त्रि०। कुं पृथिवीं हन्ति, हन अच्। मूषके, सर्पे च। पुं०। स्त्री०। स्त्रियां ङीप्। वाच०। भूमिस्फोटकाभिधाने वनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। प्रज्ञा०। उत्त०। भ०। 'से किं तं कुहणा? कुहणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-"आए काए कुहणे, कुणक्के दव्वहलियाए। सप्पभाए सत्ताए उत्तोए वसीणहिया कुहरए"॥१॥ या अण्णे तहप्पगारा सेत्त कुहणा"। प्रज्ञा० १ पद। सूत्र०। प्रश्न०।

कुहणी-कूष्माण्डी-स्त्री०। वल्लीभेदे,आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

कुहर-कुहर-न०। विवरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। रा०। पर्वतान्तराले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। जिनमण्डपादिके,नं०। कर्णे, कण्ठशब्दे, गले, समीपे च। न०। वाच०।

कुहाड-कुठार-पुं०। परशौ,सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विपा०। 'जो परं कुहाडेहिं छेत्तव्वो' नि० चू० १ उ०। काष्ठसंस्करणसाधनप्रहरणे, उत्त० १६ अ०।

कुहाडहत्थ-कुठारहस्त-त्रि०। परशुपाणौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

कुहाडी-कुठारी-स्त्री०। शस्त्रविशेषे,आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

कुहावणा-कुहना-स्त्री०। 'कुह' विस्मापने। अदन्तस्य चुरादित्वादिनि "ईषिपन्थ्यासिविदिकारितान्तेभ्यो युः" इति युप्रत्ययः। कुहना। विस्मयकारिण्यां दन्तक्रियायाम्, "धावणडेवणसधरिस-गमणकिड्डाकुहावणाईसु। उक्किट्ठगोयछेलिय-जीवरुयाईसु य चउत्था" ॥४५॥ इन्द्रजालगोलकखेलमायाः, आदिशब्दात्समस्याप्रहेलिकादयो गृह्यन्ते। जीत०।

कुहिय-कुथित-त्रि०। कोथमुपनीते,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कोथवति, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। पूतिभावमुपगते, जी० ३ प्रति०। विनष्टे च। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कुहियकढिणकट्ठभूय-कुथितकठिनकाष्ठभूत-त्रि०। विनष्टकर्कशदारुभूते, तं०।

कुहियकिमिय-कुथितकृमिक-त्रि०। विनष्टकृमिके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कुहियपूइय-कुथितपूतिक-त्रि०। अत्यन्तकुथिते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

कुहुव्वय-कुहुव्रत-पुं०। कन्दविशेषे, उत्त० ३६ अ०।

कुहेडग-कुहेटक-पुं०। अलीकाश्चर्यविधायकमन्त्रतन्त्रयन्त्रज्ञानात्मिकायां विद्यायाम्,उत्त० २० अ०। "तेसु न विम्हयइ सय, आहट्टु कुहेडएहिं व।" अत्र आहट्टु त्ति प्रहेलिका, कुहेटक आभाणकः प्रायः प्रसिद्ध एव। प्रव० ७३ द्वार। वक्रोक्तिविशेषे, बृ० १ उ०।

कुहेडगा-कुहेटका-स्त्री०। पिण्डार्थके, पञ्चा० ५ विव०। पिण्डाली, प्रव० ४ द्वार।

कुहेडयविज्जासवदारजीवि (ण्)-कुहेटकविद्याश्रवद्वारजीविन्-त्रि०। कुहेटका विद्याः कुहेटकविद्या अलीकाश्चर्यविधायकमन्त्रयन्त्रतन्त्रज्ञानात्मिकाः, ता एव आश्रवद्वाराणि, तैर्जीवितुमाजीविकां कर्तुं शीलं यस्य स कुहेटकविद्याश्रवद्वारजीवी। कुहेटकविद्यया कर्मोपार्जनहेतुभूतया जीवननिर्वाहके, "कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले।" उत्त० २० अ०।

कुहेवाग-कुहेवाक-पुं०। कुत्सिता हेवाका आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः। कदाग्रहेषु, "इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वमिति"। स्या० ३ श्लोक। स्था०।

कूअ-कुतप-पुं०। तैलादिभाजने, "कूअमादा" जं० ३ वक्ष०।

कूअणया-कूजनता-स्त्री०। आर्तस्वरकरणे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

कूइय-कूजित-न०। कासिते, अविधिना मुखवस्त्रिकां कर वा मुखेनाधमायकृते,आव० ४ अ०। पक्षिभेदे, अव्यक्तशब्दे च। वाच०।

कूचिया-कूर्चिका-स्त्री०। बिन्दुरूपेषु बुद्बुदेषु, विशे०। "अंबत्तणेण जीहाए, कूचिया होइ खीरमुदगम्मि। हंसो मुत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो" ॥१४६७॥ आ० म० प्र०। विशे०।

कूजंत-कूजत्-त्रि०। अव्यक्तं शब्दायमाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

कूड-कूट-पुं०। कूट-अच्। यथायथं कर्मादौ घञ् वा। अग्रस्थमुनौ, गृहे, पु०। स्त्री०। निश्चले राशौ, लौहमुद्गरे, दम्भे, मायायाम्,वाच०। असद्भूते, आव० ६ अ०। प्रव०। भ्रान्तिजनककूट्ये, भ० ७ श० ६ उ०। जं०। कार्षापणतुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं नानाविधकरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। न्यूनाधिककरणे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। प्रश्न०। अनेकेषां मृगादीनां ग्रहणाय आमातिधप्रयोगकरणे,रा०। गौणमोहनीयकर्मभेदे,स० ३० सम०। नरके, कश्चिदतिक्रूरकर्मा तन्मध्यात्कूटमिव कूटं प्रभूतप्राणिघातनिहेतुत्वात् नरक इत्यर्थः, यथैव हि कूटनिपतितो मृगो व्याधेरवशो

हन्यत एवं नरकपातितोऽपि जन्तुः परमाधार्मिकैरिति । उत्त० ५ अ० । "जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडा य गच्छति" । उत्त० ५ अ० । प्राणिनां पीडाकरे स्थाने, उत्त० ६ अ० । दुःखोत्पत्तिस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । हस्त्यादिबन्धनस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । सत्वबन्धनस्थाने, स्था० ४ ठा० १ उ० । गलयन्त्रपाशादिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । "एगतकूडे णरए महंते, कूडेण तत्थावि समे हताओ ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । शिखरे, स्था० ४ ठा० २ उ० । जं० । जी० । भ० । पर्वतशिखरे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । रा० । पर्वतोपरि व्यवस्थिते शिखरे, सू० प्र० १६ पाहु० । महति शिखरे, रा० । अधोविस्तीर्णे उपरि सकीर्णे वृत्तपर्वते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पर्वतानां मध्यभागे, जं० २ वक्ष० । रा० । जी० ।

अथ क्षुद्रहिमवदादीनां कूटानि । तत्र क्षुद्रहिमवतः-

चुल्लहिमवते णं भंते ! वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! इक्कारस कूडा पएणत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ चुल्लहिमवंतकूडे २ भरहकूडे ३ इलादेवीकूडे ४ गंगाकूडे ५ सिरिकूडे ६ रोहिअंसाकूडे ७ सिंधुदेवीकूडे ८ सुरादेवीकूडे ९ हेमवयकूडे १० वेसमणकूडे ११ । कहि णं भंते ! चुल्लहिमवते वासहरपव्वए सिद्धायययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं चुल्लहिमवंतकूडस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं सिद्धायययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं मज्झे तिण्णि अ पण्णत्तरे जोअणसए विक्खंभेणं उप्पिं अड्ढाइज्जे जोअणसए विक्खंभेणं मूले एगं जोअणसहस्सं पंच य एगासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं मज्झे एगं जोअणसहस्सं एगं च छलसीअं जोअणसयं किंचि विसेसूणं परिक्खेवेणं उप्पिं सत्त इक्काणउए जोअणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णे मज्झे संक्खित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते सिद्धायययणस्स कूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहु मज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते, पण्णासं जोअणाइं आयामेणं पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं छत्तीसं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव जिणपडिमा वण्णओ भाणिअव्वो । कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंतकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! भरहकूडस्स पुरच्छिमेणं सिद्धायययणकूडस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं चुल्लहिमंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंतकूडे णामं कूडे पएणत्ते । एवं जो चेव सिद्धायययणकूडस्स उच्चत्तविक्खंभपरिक्खेवो जाव बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहु मज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, बासट्ठिं जोअणाइ अद्धजोयणं च उच्चत्तेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिअपहसिए विविहमणिरयणभत्तिचित्ते वाउद्धूअविजयवेजयंतीपडागच्छत्ताइच्छत्तकलिए तुंगे गगणतलमभिलंघमाणसिहरे जालंतररयण पंजरुम्मीलिए व्व मणिरयणथूभिआए विअसिअसयवत्तपुंडरीअतिलयरयणद्धचन्दचित्ते णाणामणिमयदामालंकिए अंतो बाहिं च सण्हे वइरतवणिज्जरुइलवालुगापत्थडे सुहफासे सस्सिरीए अरूवे पासाइए जाव पडिरूवे तस्स णं पासायवडेंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पएणत्ते० जाव सीहासणपरिवारं । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ चुल्लहिमवंतकूडे कूडे ? । गोयमा ! चुल्लहिमवंते णामं देवे महिड्ढीए जाव परिवसइ । कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंतगिरिकुमारस्स देवस्स चुल्लहिमवंता णामं रायहाणी पण्णत्ता ? । गोयमा ! चुल्लहिमवंतकूडस्स दाहिणेणं तिरिअमसंखिज्जे दीवसमुद्दे वीई वइत्ता अण्णं जम्बुद्दीवं दीवं दाहिणेणं बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता इत्थ णं चुल्लहिमवंतस्स देवस्स चुल्लहिमवंता णामं रायहाणी पण्णत्ता, बारस जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एवं विजयरायहाणीसरिसा भाणियव्वा । एवं अवसेसाण वि कूडाणं वत्तव्वया णेअव्वा, आयामविक्खंभपरिक्खेवपासायदेवयाओ सीहासणपरिवारो अट्ठो अ देवाण य देवीण य रायहाणीओ णेअव्वाओ, चउसु देवा चुल्लहिमवंत १ भरह २ हेमवय ३ वेसमणकूडेसु ४ सेसेसु देवयाओ ॥

व्यक्त, नवरं सिद्धायतनकूट, क्षुल्लहिमवद्गिरिकुमारदेवकूट, भरताधिपदेवकूटम्, इलादेवीसुरादेवीकूटे तु षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीदेवीवर्गमध्यगते देवीकूटे, गङ्गादेवीकूट, श्रीदेवीकूटं, रोहितांशादेवीकूट, सिन्धुदेवीकूट, सुरादेवीकूटं, हैमवतवर्षेशसुरकूट, वैश्रमणलोकपालकूटम् । अथैतेषामेव स्थानादिस्वरूपमाह-(कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वते सिद्धायतनकूट प्रज्ञप्तम् ? । गौतमेत्यादिनिर्वचनसूत्र व्यक्त, नवरं पञ्चयोजनशतान्युच्चैस्त्वेन मूले पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण मध्ये त्रीणि च योजनशतानि पञ्चसप्ततिशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि विष्कम्भेण उपरि अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भेण मूले एक योजनसहस्र पञ्च एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि, किञ्चिदधिकानीत्यर्थः । मध्ये एक योजनसहस्रम्, एकं षडशीत्यधिकं योजनशत, किञ्चिदूनमित्यर्थः । अय भावः-एक सहस्रमेक शत पञ्चाशीतिर्योजनानि पूर्णानि, शेष च क्रोशात्रिकम्, धनुषामष्टशतानि त्रयोविंशत्यधिकानि इति किञ्चित् षडशीतितमं योजनं विवक्षितमिति । तथा उपरि सप्त योजनशतानि एकनवत्यधिकानि किञ्चिदूनानि परिक्षेपेण । अत्राप्ययं भावः-सप्तशतानि नवतिर्योजनानि पूर्णानि, शेष क्रोशद्विकं, धनुषां सप्तशतानि पञ्चविंशत्यधिकानीति किञ्चिद्विशेषोनम्, एकनवतितमं योजन विवक्षित, परिक्षेपेणेति सर्वत्र

ग्राह्यम्,शेषं स्पष्टम्। अथात्र पद्मवरवेदिकाद्याह-'से णमित्यादि' प्रकटम, अत्र यदस्ति तत्कथनायोपक्रमते-सिद्धायतनमित्यादिनिगदसिद्धम्, नवरं प्रथमयावत्पदेन वैताढ्यगतसिद्धायतनकूटस्यैवात्र वर्णको ग्राह्यः, द्वितीयेन तद्गतसिद्धायतनादिवर्णक इति। अथात्रैव क्षुल्लहिमवगिरिकूटवक्तव्यमाह-(कहि णमित्यादि) क भदन्त! क्षुल्लहिमवति वर्षधरपर्वते क्षुल्लहिमवत्कूट नाम कूटं प्रज्ञप्तम्? गौतमेत्यादि उत्तरसूत्रं प्राग्वत्, नवरं "एव जो चेत्यादि" अतिदेशसूत्रे एवमित्युक्तप्रकारेण य एव सिद्धायतनकूटस्योच्चत्वविष्कम्भाभ्यां युक्तः परिक्षेपः उच्चत्वविष्कम्भपरिक्षेपे मध्यमपदलोपी समासः, स इहापि हिमवत्कूटे बोध्य इत्यर्थः। इद च वचनं उपलक्षणभूतं, तेन पद्मवरवेदिकादिवर्णन सम-भूमिभागवर्णनं च ज्ञेयम्। कियत्पर्यन्तमित्याह-यावद्बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः। प्रासादानाम् आयामाद् द्विगुणोच्छ्रितवास्तुविशेषाणामवतंसक इव शेखरक इव प्रासादावतंसकः,प्रधानप्रासाद इत्यर्थः। स च प्रासादो द्वाषष्टिं योजनान्यर्द्धयोजन च उच्चत्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेण समचतुरस्रत्वादस्यायामचिन्ता सूत्रकृता न कृता, तत्र हेतुर्वैताढ्यकूटगतप्रासादाधिकारे निरूपित इति ततो ज्ञेयः। कीदृश इत्याह-अभ्युद्गता अभिमुखेन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता। यद्वा-अभ्रे आकाशे उद्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वतस्तिर्यक् प्रसृता एवंविधा या प्रभा तया सित इव बद्ध इव, तिष्ठतीति गम्यते। अन्यथा कथमिवासावत्युच्चैर्निराधारस्तिष्ठतीति भावः। अत्र हि उत्प्रेक्षया इदं सूचितं भवति—ऊर्द्धमधस्तिर्यक् आयततया या प्रासादप्रभास्ताः किल रज्जवस्ताभिर्बद्ध इति। यदि वा प्रबलश्वेतप्रभापटलतया प्रहसित इव प्रकर्षेण हसित इवेति। विविधा अनेकप्रकारा ये मणयो रत्नानि च, मणिरत्नयोर्भेदश्चात्र प्राग्वत्। तेषां भक्तिभिः छित्तिभिश्चित्रो नानारूप आश्चर्यवान् वा। वातोद्धूता वायुकम्पिता विजयोऽभ्युदयः, तत्संसूचिका वैजयन्तीनाम्न्यो याः पताकाः, अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते, तत्प्रधाना वैजयन्त्यः पताकाः,ता एव विजयावर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिच्छत्राण्युपर्युपरि स्थितान्यातपत्राणि तैः कलितं तुङ्गम्, उच्चैस्त्वेन सार्धद्वाषष्टियोजनप्रमाणत्वात्। अत एव गगनतलमभिलङ्घयदनुलिखच्छिखरं यस्य स तथा, जालानि जालकानि गृहभित्तिषु लोके यानि प्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि रचना वा यस्मिन् स तथा, सूत्रे च विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। पञ्जरादुन्मीलित इव बहिष्कृत इव,यथा किमपि वस्तु वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद्बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायं भवति एवं सोऽपि प्रासादावतंसक इति भावः। अथवा जालान्तरगतरत्नपञ्जरै रत्नसमुदायविशेषैः उन्मीलित इव,उन्मिषितलोचन इवेत्यर्थः। मणिकनकमयस्तूपिका इति प्रतीतम्। विकसितानि विकस्वराणि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च कमलविशेषा द्वारादिषु तैश्चित्रो नानारूप आश्चर्यवान् वा, नानामणिमयदामालङ्कृत इति व्यक्तम्। अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णो मसृणः, स्निग्ध इत्यर्थः। तपनीयस्य रक्तसुवर्णस्य सत्रिसया कापगिस्तासां प्रस्तट प्रतरः प्राङ्गणेषु यस्य स तथा। शेष पूर्ववत्। जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

महाहिमवत कूटानि-

महाहिमवंते वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता? । गोयमा ! अट्ठ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे, महाहिमवंतकूडे, हेमवयकूडे, रोहिअकूडे, हिरीकूडे, हरिकंतकूडे, हरिवासकूडे, वेरुलिअकूडे, एवं चुल्लहिमवंतकूडाणं जा वत्तव्वया सा चेव णेअव्वा ॥

(महाहिमवंते त्ति) महाहिमवद्वर्षधरपर्वते भगवन् कति कूटानि? । गौतमेत्यादिसूत्र सुगमम्। कूटानां नामार्थस्त्वयम्-सिद्धायतनकूट महाहिमवदधिष्ठातृकूटं रोहितानदीसुरीकूट ह्रीसुरीकूटं हरिकान्तानदीसुरीकूटं हरिवर्षपर्वतकूट, वैडूर्यकूट तु तद्रत्नमयत्वात् तत्स्वामिकत्वाद्वेति । एवमिति कूटानामुच्चत्वादि सिद्धायतनप्रासादानां चानादित्व तत्स्वामिनां च यथारूप महर्द्धिकत्वं यत्र च राजधान्यस्तत सर्वमत्रापि वाच्य, केवलं नामविपर्यास एव देवानां राजधानीनां चेति । जं० ४ वक्ष० ।

भरते दीर्घवैताढ्यपर्वतस्य—

जंबू ! मंदरदाहिणे णं भरहे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता।
तं जहा-"सिद्धे भरहे खंडग-माणी वेयड्ढपुण्णतिमिसगुहा।
भरहे वेसमणे य, भरहे कूडाण नामाइं" ॥ १ ॥

भरतग्रहणं विजयादिव्यवच्छेदार्थम, दीर्घग्रहणं वर्तुलवैताढ्यव्यवच्छेदार्थमिति । (सिद्धे त्ति) तत्र सिद्धायतनयुक्तं सिद्धकूटं सक्रोशयोजनषट्कोच्छ्रयमेतावदेव मूले विस्तीर्णम, पतदर्धोपरि विस्तार क्रोशायामेनार्द्धक्रोशविष्कम्भेण देशोनक्रोशोच्चेनापरदिग्द्वारवर्गपञ्चधनुःशतोच्छ्रयं तदर्द्धविष्कम्भद्वारत्रयोपेतेन जिनप्रतिमाष्टोत्तरशतान्वितेन सिद्धायतनेन विभूषितोपरितनभाग इति; तच्च वैताढ्ये पूर्वस्यां दिशि, शेषाणि तु क्रमेण परतस्तस्मादेवेति । भरतदेवप्रासादावतंसकोपलक्षितं भरतकूटम् (खंडग त्ति) खण्डप्रपाता नाम वैताढ्यगुहा, यया चक्रवर्ती अनार्यक्षेत्रात्स्वक्षेत्रमागच्छति तदधिष्ठायकदेवसन्निधित्वात्खण्डप्रपातकूटमुच्यते । (माणीति) मणिभद्राभिधानदेवावासत्वान्माणिभद्रकूटम् । (वेयड्ढ त्ति) वैताढ्यगिरिनाथदेवनिवासात् वैताढ्यकूटमिति । (पुण्ण त्ति) पूर्णभद्राऽभिधानदेवनिवासात् पूर्णभद्रकूटम । तिमिस्रगुहा, यया स्वक्षेत्राच्चक्रवर्ती विलातक्षेत्रं याति तदधिष्ठायकदेवावासात्तिमिस्रगुहाकूटमिति । (भरहे त्ति) तथैव वैश्रमणलोकपालावासत्वाद्वैश्रमणकूटमिति । स्था० ए ठा० ।

अथ यथोद्देशं निर्देश इति प्रथमं सिद्धायतनकूटस्थानप्रश्नमाह-

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढपव्वए सिद्धायतणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते? । गोयमा ! पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं दाहिणड्ढभरहकूडस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेअड्ढे पव्वए सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । छ सकोसाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले छ सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे देसूणाइं पंच जोअणाइं विक्खंभेणं उवरिं साइरेगाइं तिण्णि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले देसूणाइं वीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे देसूणाइं पण्णरस जोअणाइं परिक्खेवेणं उवरि साइरेगाइं णव जोअणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संक्खित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वरयणामए

मत्थे सण्हे जाव पडिरूवे सेणं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते पमाणं वण्णओ दोण्ह पि सिद्धायतणकूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव वाणमंतरा देवा य जाव विहरंति, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंनिविट्ठे खंभुग्गयसुकयवइरवेइआतोरणवररइआसालभंजिअसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलिअविमलखंभे णाणामणिरयणखचिअउज्जलबहुसमसुविभत्तभूमिभागे ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते कंचणमणिरयणथूभियाए णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडिअग्गसिहरे धवले मरीइकवयं विणिम्मुअंते लाउल्लोइअमहिए जाव झया तस्स णं सिद्धायतणस्स तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, तेणं दारा पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं से आवरकणगथूभिआगा दारवण्णओ० जाव वणमाला । तस्स णं सिद्धायतणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा सिद्धायतणस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे देवच्छंदए पण्णत्ते । पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए एत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठइ, एवं जाव धूवकडुच्छुगे । कहि णं भंते ! वेअड्ढे पव्वए दाहिणड्ढभरहे कूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! खंडप्पवायकूडस्स पुरच्छिमेणं सिद्धायतणकूडस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं वेअड्ढपव्वए दाहिणड्ढभरहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । सिद्धायतणकूडप्पमाणसरिसे जाव तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिअपहसिए० जाव पासाईए ४ तस्स णं पासायवडेंसगस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिआ पण्णत्ता । पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई तीसेणं मणिपेढिआए उप्पिं सिंहासणं पण्णत्ते, सपरिवारं भाणियव्वं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ दाहिणड्ढभरहकूडे णामं कूडे ? । गोयमा ! दाहिणड्ढभरहकूडेणं दाहिणड्ढभरहे णामं देवे महड्ढिए जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से णं तत्थ चउण्हं सामाणिअसहस्साणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणिआणं सत्तण्हं अणिआहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं दाहिणड्ढभरहस्स दाहिणड्ढाए रायहाणीए अण्णेसिं बहूणं देवाण य देवीण य० जाव विहरइ । कहि णं भंते ! दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढा णाम रायहाणी पण्णत्ता ? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अण्णं जंबुद्दीवं दीवं दक्खिणेणं बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ताए एत्थ णं दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढभरहा णामं रायहाणी भाणिअव्वा, जहा विजयस्स देवस्स, एवं सव्वकूडा णेयव्वा० जाव वेसमणकूडे परोप्परं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, इमीसिं वण्णावासे गाहा—"मज्झे वेअड्ढस्स उ, कणगमया तिण्णि होंति कूडाओ । सेसा पव्वयकूडा, सव्वे रयणामया होंति ॥ १ ॥" माणिभद्दकूडे १ वेयड्ढकूडे २ पुण्णभद्दकूडे ३, एए तिण्णि कूडा कणगमया, सेसा छप्पि रयणमया दोण्हं वि सरिसणामया देवा कयमालए चेव णट्टमालए चेव, सेसाणं छण्हं सरिसणामया "जं णामया य कूडा, तन्नामा खलु हवंति ते देवा । पलिओवमट्ठिईया, हवंति पत्तेअ पत्तेअं" ॥ १ ॥ रायहाणीओ जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण तिरिअं असंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं रायहाणीओ भाणिअव्वाओ विजयरायहाणीसरिसयाओ ॥

"कहि णमित्यादि" कण्ठ्यम, नवरं दक्षिणार्द्धभरतकूट बाह्यमस्मात्पश्चिमदिग्वर्तीनि, ततः पूर्वेणेति तच्चोच्चत्वादिना कियत्प्रमाणमित्याह-(छ सकोसाइं इत्यादि) सक्रोशानि षट्योजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन मूले सक्रोशानि षट् योजनानि विष्कम्भेण मध्ये देशोनानि पञ्च योजनानि, सपादक्रोशन्यूनानि पञ्च योजनानीत्यर्थः । विष्कम्भेण उपरि सातिरेकाणि त्रीणि योजनानि, अर्द्धक्रोशाधिकानि त्रीणि योजनानीत्यर्थः । विष्कम्भेणेति, अथास्य शिखरादधोगमने विवक्षितस्थाने पृथुत्वज्ञानाय करणमुच्यते-शिखरादेव प्रत्येक यावद्योजनादिकमतिक्रान्त तावत्प्रमाणे योजनादिके द्विकेन भक्ते कूटोत्सेधार्द्धयुक्ते च यज्जायते तदिष्टस्थाने विष्कम्भः । तथाहि-शिखरात्किल त्रीणि योजनानि, क्रोशार्द्धाधिकान्यवतीर्णः ततो योजनत्रयस्य क्रोशार्द्धाधिकस्य द्विकेन भागे लब्धाः षट् क्रोशाः, क्रोशस्य च पादः कूटोत्सेधश्च सक्रोशानि षट् योजनानि अस्यार्द्धं योजनत्रयी क्रोशार्द्धाधिका, अस्मिंश्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि सपादक्रोशानि पञ्च योजनानि, इयान्मध्यदेशे विष्कम्भः । एवमन्यत्रापि प्रदेशे भावनीयम् । तथा-मूलादूर्द्ध्वगमने इष्टस्थाने विष्कम्भपरिज्ञानाय करणमिदम्-मूलादतिक्रान्तयोजनादिके द्विकेन भक्ते लब्ध मूलव्यासाच्छोध्यते, अवशिष्टमिष्टस्थाने विष्कम्भः । तथाहि-मूलाद् योजनानि क्रो-

शार्द्धाधिकानि ऊर्द्धं गतः,अस्य द्विकेन भागे लब्धाः षट् क्रोशाः, क्रोशस्य च पादः, एतावन्मूलव्यासात् शोध्यते, शेषं पञ्च योजनानि सपादक्रोशोनानि,इयान्मध्यभागे विष्कम्भः। एवमन्यत्रापि प्रदेशे भाव्यम्। इमे चावरोहावरोहकरणे, शेषेषु वैताढ्यकूटेषु पञ्चशतिकेषु हिमवदादिकूटेषु सहस्राङ्केषु च हरिस्सहादिकूटेषु अष्टयोजनिकेषु ऋषभकूटेषु अवतारणीये। वाचनान्तरोक्तमानापेक्षया तु-ऋषभकूटेषु करण जगतीवदिति। अस्य पद्मवरवेदिकादिवर्णनायाह-'तेणमित्यादि' व्यक्तम्। अथ सिद्धायतनकूटस्योपरि भूमागवर्णनायाह-'सिद्धायतण इत्यादि' प्राग्वत्। अथात्र जिनगृहवर्णनायाऽऽह-(तस्स णमित्यादि)तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महदेकं सिद्धानां शाश्वतानामर्हत्प्रतिमानामायतनं स्थानं,चैत्यमित्यर्थः। प्रज्ञप्तम्,क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनं क्रोशमूर्द्धोच्चत्वेन,देशश्चात्र षष्ट्यधिकपञ्चशतधनूरूप इति। यत उक्तम्-'वीरं जय सेहरे'त्यादि क्षेत्रविचारस्य वृत्तौ-" ताणुवरिं चेइहरा, दहदेवीभवणतुल्लपरिमाणा " इत्यस्याः गाथाया व्याख्याने तेषां वैताढ्यकूटानामुपरि चैत्यगृहाणि ह्रदेवीभवनतुल्यपरिमाणानि वर्त्तन्ते, यथा श्रीगृहं क्रोशैकदीर्घं क्रोशार्द्धविस्तारं चत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतधनुरुच्चमिति । तथा-अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्ट, तदाधारकत्वेन स्थितमित्यर्थः । तथा-स्तम्भेषु वद्गता संस्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्परचितेवेति भावः । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। तादृशी वज्रा वेदिका द्वारमुण्डकोपरि वज्ररत्नमयी वेदिका तोरणं च स्तम्भोद्गतसुकृतं यत्र तत्तथा । तथा वराः प्रधानाः रतिदाः नयनमनःसुखकारिण्यः सालभञ्जिका येषु ते तथा, सुश्लिष्ट संबद्धं विशिष्टं प्रधानं लष्टं मनोज्ञं संस्थित संस्थान येषां ते तथा । ततः पदद्वयकर्मधारये तादृशाः प्रशस्ताः प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यविमलस्तम्भा यत्र तत्तथा। ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः। तथा नानामणिरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिरत्नखचितः। निष्ठान्तस्य परनिपातः, भार्यादिदर्शनात् । तादृश उज्ज्वलो निर्मलो बहुसमोऽत्यन्तसम सुविभक्तो भूमिभागो यत्र तत्तथा । (ईहामिगेत्यादि) प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं मरीचिकवचं किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चत्, तथा 'लाइअ' नाम यद् भूमेर्गोमयादिना उपलेपनम्, 'उल्लोइअं'कुड्यानामालयस्य च सेटिकादिभिः संमृष्टीकरणं 'लाउल्लोइअं'ताभ्यामिव महितं पूजितम् 'लाउल्लोइअमहिअं'। यथा गोमयादिनोपलिप्तं सेटिकादिना च धवलीकृतं यद् गृहादि सश्रीक भवति तथेदमपीति भावः। तथा-(जाव झया इति) अत्र यावत्करणात् वक्ष्यमाणयमिका राजधानी,प्रकरणगतसिद्धायतनवर्णकेऽतिदिष्टा,सुधर्मासभागमो वाच्यो,यावत् सिद्धायतनोपरि ध्वजा उपवर्णिता भवति, यद्यप्यत्र यावत्पदग्राह्ये द्वारवर्णकप्रतिमावर्णकधूपकडुच्छकादिकं सर्वमन्तर्भवति तथाऽपि स्थानाशून्यतार्थं किञ्चित् सूत्रे दर्शयति-(तस्स णं सिद्धायतणस्स इत्यादि) तस्य सिद्धायतनस्य तिसृणां दिशां समाहारस्त्रिदिक् तस्मिन्। अनुस्वारः प्राकृतत्वात्। पूर्वदक्षिणोत्तरविभागेषु त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तानि द्वाराणि पञ्चधनु शतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि, विष्कम्भेण तावन्मात्रमेव प्रवेशेन अर्द्धतृतीयानि, धनुःशतानीत्यर्थः । (से आवरकणगथूभिअगा इति) पदोपलक्षितो द्वारवर्णको मन्तव्यः, विजयद्वारवद्यावद्वनमालावर्णनम् । अत्रैव भूभागवर्णनायाह-(तस्स णमित्यादि) सुगमम् । (सिद्धाययणस्स इत्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महानेको देवच्छन्दको देवोपवेशनस्थानं प्रज्ञप्तः, अत्रानुक्ताऽपि आयामविष्कम्भाभ्यां देवच्छन्दकसमाना उच्चैस्त्वेन तु तदर्द्धमाना मणिपीठिका संभाव्यते। अन्यत्र राजप्रश्नीयादिषु देवच्छन्दकाधिकारे तथा मणिपीठिकाया दर्शनात् , तथा सूर्याभविमाने-(तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महा एगा मणिपेढिया पण्णत्ता सोलस जोअणाइं आयामविक्खम्भेणं अट्ठ जोअणाइं उच्चत्तेणं ति) तथा विजयराजधान्यामपि-(तस्स णं सिद्धाययणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिआ पण्णत्ता, दो जोअणाइं आयामविक्खम्भेणं जोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अतथा जाव पडिरूवा इति)। स च देवच्छन्दकः पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि साधिकानि पञ्चधनुःशतान्यूर्द्धोच्चत्वेन सर्वात्मना रत्नमयः, तत्र देवच्छन्दकेऽष्टशतमष्टोत्तरशतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां, जिनोत्सेधस्तीर्थकरशरीरोच्छ्रायः, तस्य च प्रमाणम् उत्कृष्टतः पञ्चधनुःशतात्मकं,जघन्यतः सप्तहस्तात्मकम्। इह च पञ्चधनुःशतात्मकं गृह्यते, तदेव मात्रं प्रमाण यासां तास्तथा, तासां तथा जगत्स्वाभाव्यात्, देवच्छन्दकस्य चतुर्दिक्षु प्रत्येकं सप्तविंशतिभागेन सन्निक्षिप्तं तिष्ठन्ति। ननु पद्मवरवेदिकादय इव शाश्वतभावरूपा जिनप्रतिमा भवन्तु, परं प्रतिष्ठितत्वाभावेन तासामाराध्यत्वं कथमिति चेत् ? उच्यते-शाश्वतभावा इव शाश्वतभावरूपा जिनप्रतिमा भावधर्मा अपि सहजसिद्धा एव भवन्ति, तेन शाश्वताः प्रतिमा इव शाश्वतप्रतिमा धर्मा अपि प्रतिष्ठितत्वाराध्यत्वादयः सहजसिद्धा एवेति किं प्रतिष्ठापनान्तरविचारेण। ततः शाश्वतप्रतिमासु सहजसिद्धमेवाराध्यत्वमिति न किञ्चिदनुपपन्नमिति। अत्र प्रतिमानामुत्सेधाङ्गुलमानेन पञ्चधनुःशतप्रमाणानां प्रमाणाङ्गुलमानेन पञ्चधनुःशतायामविष्कम्भे देवच्छन्दकेऽनवकाशचिन्ता न विधेयेति।

अत्र प्रतिमावर्णकसूत्रम्-

(तासि णं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा-तवणिज्जमया हत्थतलपायतला अंकामयाइं णक्खाइं अंतो लोहिअक्खपडिसेगाइं कणगामया पाया कणगमया गुप्फा कणगामईओ जंघाओ कणगमया जाणू कणगमयाओ ऊरू कणगमईओ गायलट्ठीओ रिट्ठामए मंसू तवणिज्जमईओ णाभीओ रिट्ठामईओ रोमराईओ तवणिज्जमया चुच्चू तवणिज्जमया सिरिवच्छा कणगमईओ बाहाओ कणगामईओ गीवाओ रिट्ठमयाइं मंसूइं सिलप्पवालमया ओट्ठा फलियामया दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुआ कणगमईओ णासिगाओ अंतो लोहिअक्खपडिसेगाओ अंकमयाइं अच्छीणि अंतो लोहिअक्खपडिसेगाइं पुलगामईओ दिट्ठीओ रिट्ठामईओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामईओ णिडालपट्टियाओ वइरामईओ सीसघडीओ तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमिओ रिट्ठामया उवरि मुद्धया तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठओ पत्तेअं पत्तेअं छत्तधारपडिमा पण्णत्ता, ताओ

णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदिंदुप्पगासाइं सकोरंटमल्लदामाइं धवलाइं आयवत्ताइं सलीलं ओहारेमाणीओ चिट्ठंति । तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेअं पत्तेअं दो दो चामरधरपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामरधरपडिमाओ चंदप्पहवइरवेरुलिअणाणामणिकणगरयणखइअमहारिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमयमहिअफेणपुंजसण्णिकासाओ सुहुमरययदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं धारेमाणीओ चिट्ठंति । तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो णागपडिमाओ दो दो जक्खपडिमाओ दो दो भूअपडिमाओ दो दो कुंडधारपडिमाओ विणओणयाओ पायपडियाओ पंजलिउडाओ सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठंति सव्वरयणामईओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ नीरयाओ निप्पंकाओ० जाव पडिरूवाओ । तत्थ णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं वंदणकलसाणं एवं भिंगाराणं आयंसगाणं थालाणं पाईणं सुपइट्ठगाणं मणगुलिआणं वातकरगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं हयकंठाणं० जाव उसभकंठाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं० जाव लोमहत्थपडलगाणं ।)

(तासां जिनप्रतिमानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-तपनीयमयानि हस्ततलपादतलानि, तथा कनकमयाः पादाः, तथा कनकमयाः गुल्फाः, अङ्करत्नमया अन्तर्लोहिताक्षरत्नप्रतिसेका नखाः, कनकमय्यो जङ्घाः, कनकमयानि जानूनि, कनकमया ऊरवः, कनकमय्यो गात्रयष्टयः, तपनीयमया नाभयः, रिष्टरत्नमय्यो रोमराजयः, तपनीयमयाश्चुचुकाः स्तनाग्रभागाः, तपनीयमयाः श्रीवत्साः, तथा-कनकमय्यो बाहवः, तथा कनकमय्यो ग्रीवाः, रिष्टरत्नमयानि श्मश्रूणि, शिलाप्रवालमया विद्रुममया ओष्ठाः, स्फटिकमया दन्ताः, तपनीयमय्यो जिह्वाः, तपनीयमयानि तालुकानि, कनकमय्यो नासिकाः, अन्तर्लोहिताक्षरत्नप्रतिसेकाः, अङ्कमयान्यक्षीणि अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकानि, रिष्टरत्नमय्योऽक्षिमध्यगतास्तारिकाः, रिष्टरत्नमयान्यक्षिपत्राणि नेत्ररोमाणि, रिष्टरत्नमय्यो भ्रुवः, कनकमयाः कपोलाः, कनकमयाः श्रवणाः, कनकमय्यो ललाटपट्टिकाः, वज्रमय्यः शीर्षघटिकाः, तपनीयमय्यः केशान्तकेशभूमयः, केशान्तभूमयः केशभूमयश्चेति भावः । रिष्टरत्नमया उपरि मूर्द्धजाः केशाः । ननु केशरहितशीर्षमुखानां भावजिनानां प्रतिरूपकत्वेन सद्भावस्थापना, जिनानां कुतः केशकूर्चादिसंभवः ?। उच्यते-भावजिनानामपि अवस्थितकेशादिप्रतिपादनस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात् । यदुक्तं श्रीसमवायाङ्गे अतिशयाधिकारे-"अवट्ठिअकेसमंसुरोमणहे" इति । तथा औपपातिकोपाङ्गे-"अवट्ठिअसुविभत्तचित्तमंसु" इति । अवस्थितत्वं च देवमाहात्म्यतः पूर्वोत्पन्नानां केशादीनां तथैवावस्थानं, न तु सर्वथाऽभाववत्त्वम्; इत्थमेव शोभातिरेकदर्शनं पुरुषत्वप्रतिपत्तिश्च, तेन प्रस्तुतेन तत्प्रतिरूपताव्याघातः । नन्वेवं सति अर्चनकेन किमालम्ब्य तेषां श्रामण्यावस्था भावनीयेति चेत्, उच्यते-परिकर्मितारिष्टमाणेमयतथाविधाल्पकेशादिरमणीयमुखादिस्वरूपमिति । यत्तु श्रीतपागच्छनायकश्रीदेवेन्द्रसूरिशिष्यश्रीधर्मघोषसूरिपादैर्भाष्यवृत्तौ भगवतोऽपगतकेशशीर्षमुखनिरीक्षणेन श्रामण्यावस्था सुज्ञानेत्यभिदधे, तदवर्द्धिष्णुत्वेनाऽल्पत्वेन चाभावस्य विवक्षणात्; श्रामण्यावस्थाया अप्रतिबन्धकत्वाच्चेति न किमप्यनुपपन्नम् । तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा प्रज्ञप्ता, ताश्च छत्रधारप्रतिमा हिमरजतकुन्देन्दुप्रकाशानि सकोरण्टमाल्यदामानि धवलानि आतपत्राणि सलीलं धारयन्त्यस्तिष्ठन्ति, तासां जिनप्रतिमानामुभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकं द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते, ताश्च चामरधारप्रतिमा चन्द्रप्रभश्चन्द्रकान्तो, वज्रं हीरकमणिः, वैडूर्यं च प्रतीतं, तानि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपा महार्हस्य महार्घस्य तपनीयस्य सत्का उज्ज्वला विचित्रा दण्डा येषु तानि तथा, (चिल्लियाउ इत्यादि) प्राग्वत्, नवरं (चामराउ त्ति) प्राकृतत्वात्स्त्रीत्वम्, चामराणि सलीलं धारयन्त्यो वीजयन्त्यस्तिष्ठन्ति । तासां जिनप्रतिमानां पुरतो द्वे द्वे नागप्रतिमे द्वे द्वे यक्षप्रतिमे द्वे द्वे भूतप्रतिमे द्वे द्वे कुण्डधारप्रतिमे आज्ञाधारप्रतिमे विनयावनते पादपतिते प्राञ्जलिपुटे सन्निक्षिप्ते तिष्ठतः, ताश्च "सव्वरयणामईओ" इत्यादि प्राग्वत् (तत्थ णमित्यादि) तस्मिन् देवच्छन्दके जिनप्रतिमानां पुरतोऽष्टशतं घण्टानाम्, अष्टशतं चन्दनकलशानां मङ्गल्यघटानाम् अष्टशतं भृङ्गाराणामष्टशतमादर्शानामष्टशतं स्थालानामष्टशतं पात्रीणामष्टशतं सुप्रतिष्ठकानामष्टशतं मनोगुलिकानां पीठिकाविशेषरूपाणामष्टशतं वातकरकाणामष्टशतं चित्राणां रत्नकरण्डकानामष्टशतं हयकण्ठानामष्टशतं गजकण्ठानामष्टशतं नरकण्ठानामष्टशतं किन्नरकण्ठानामष्टशतं किंपुरुषकण्ठानामष्टशतं महोरगकण्ठानामष्टशतं गन्धर्वकण्ठानामष्टशतं वृषभकण्ठानामष्टशतं पुष्पचङ्गेरीणामष्टशतं माल्यचङ्गेरीणामष्टशतं चूर्णचङ्गेरीणामष्टशतं गन्धचङ्गेरीणामष्टशतं वस्त्रचङ्गेरीणामष्टशतमाभरणचङ्गेरीणामष्टशतं सिद्धार्थकचङ्गेरीणामष्टशतं लोमहस्तकचङ्गेरीणां, लोमहस्तका मयूरपिच्छपुञ्जनिकाः, अष्टशतं पुष्पपटलकानामष्टशतं माल्यपटलकानां मुत्कलानि पुष्पाणि ग्रथितानि माल्यानि, अष्टशतं चूर्णपटलकानाम्, एवं गन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकपटलकानामपि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं द्रष्टव्यम् । अष्टशतं सिंहासनानामष्टशतं छत्राणामष्टशतं चामराणामष्टशतं तैलसमुद्गकानामष्टशतं कोष्ठसमुद्गकानामष्टशतं चोयकसमुद्गकानामष्टशतं तगरसमुद्गकानामष्टशतमेलासमुद्गकानामष्टशतं हरितालसमुद्गकानामष्टशतं हिङ्गुलकसमुद्गकानामष्टशतं मनःशिलासमुद्गकानामष्टशतमञ्जनसमुद्गकानां, सर्वाण्यप्येतानि तैलादीनि परमसुरभिगन्धोपेतानि द्रष्टव्यानि, अष्टशतं ध्वजानाम् ।

अत्र संग्रहणिगाथे-

"वंदणकलसा भिंगा-रगा य आयंसगा य थाला य ।
पाई उ सुपइट्ठा, मणुगुलिया वायकरगा य ॥ १ ॥
चित्ता रयणकरंडय-हयगयनरकंठगा य चंगेरी ।
पडलगसीहासणछ-त्तचामरा समुग्गयझया य" ॥ २ ॥

अष्टशतं धूपकडुच्छुकानां सन्निक्षिप्तं तिष्ठति ।

उक्ता सिद्धायतनकूटवक्तव्यता ।

अथ दक्षिणार्द्धभरतकूटस्वरूपं पृच्छन्नाह-(कहि णमित्यादि) अत्र सर्वाऽपि पदयोजना सुगमा, नवरं प्रासा-

दावतंसकः क्रोशमूर्द्धोच्चत्वेनार्द्धक्रोश विष्कम्भेन, अत्र सूत्रेऽनुक्तमप्यर्द्धक्रोशमायामेनेति बोध्यम् । " सेसेसु अ पासाया, कोसुच्चा अद्धकोसपिहुदीहा । " इत्यादि श्रीसोमतिलकसूरिकृतसिरिनिलयमिति क्षेत्रविचारवचनात् । श्रीउमास्वातिकृते जम्बूद्वीपसमासे तु प्रासादावतंसकः क्रोशार्द्धक्रोशदैर्घ्यविस्तारः किञ्चिन्न्यूनस्तदुच्छ्रय उक्तोऽस्तीति । (अब्भुग्गयमूसिअ) इत्यादि प्राग्वत् । अथ तत्र यदस्ति तदाह-(तस्स णं) इत्यादि सुगमं, नवरं (सपरिवारं ति) दक्षिणार्द्धभरतकूटाधिपसामानिकादिदेवयोग्यभद्रासनसहितमिति । अथ वा प्रस्तुतकूटनामान्वर्थं पृच्छति-(से केणट्ठेणमित्यादि) सर्वं चैतत्सूत्रं विजयद्वारनामान्वर्थसूचकसूत्रवत्परिज्ञावनीय, नवरं दक्षिणार्द्धाया इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पाठान्तरानुसाराद्वारा दक्षिणार्द्धभरताया राजधान्या इति । अत्र सूत्रेऽदृश्यमानमपि " से तेणट्ठेण " इत्यादि सूत्रं स्वयं ज्ञेयम् । तथा च दक्षिणार्द्धभरतकूटनामा देवः स्वामित्वेनास्यास्तीत्यभ्रादित्वादप्प्रत्यये दक्षिणार्द्धभरतकूटमिति । अथास्य राजधानी क्वास्तीति पृच्छति-(कहि ण) इत्यादि व्यक्तम् । अथापरकूटवक्तव्यता दक्षिणार्द्धभरतकूटातिदेशेनाह-(एव सव्व-इत्यादि) एवं दक्षिणार्द्धभरतकूटन्यायेन सर्वकूटानि तृतीयखण्डप्रपातगुहाकूटादीनि नेतव्यानि बुद्धिपथ प्रापणीयानि यावन्नवमं वैश्रमणकूटम् । [परोप्पर ति] परस्परम् [पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं ति) पूर्वापरेण । अयमर्थ:-पूर्वं पूर्वं पूर्वस्याम्, उत्तरमुत्तरमपरस्यां, पूर्वपरविभागस्यापेक्षिकत्वात् । (इमीसिं इत्यादि) एषां कूटानां वर्णकव्यासे वर्णकविस्तारे इमाः वक्ष्यमाणा गाथाः । " इम से " इति पाठे तु ' से ' इतिवचनव्यत्ययात् तेषां कूटानां वर्णावासे इमा गाथा इति योजनीयम् । (मज्झे वेअड्ढस्स उ इत्यादि) तुशब्दो विशेषे, स च व्यवहितसंबन्ध· । तेन वैताढ्यस्य मध्ये तु चतुर्थपञ्चमषष्ठरूपाणि त्रीणि कूटानि कनकमयानि भवन्ति । सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्राकृतत्वात् । शेषाणि पर्वतकूटानि वैताढ्यवर्षधरमेरुप्रभृतिगिरिकूटानि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति हरिस्सहहरिकूटबलकूटवर्जितानि रत्नमयानि ज्ञातव्यानि । यच्चात्र वैताढ्यप्रकरणे सर्वपर्वतगतकूटज्ञापनं तत्सर्वेषामेकवर्णकत्वेन लाघवार्थम् । तथा वैताढ्यस्येत्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, तेन सर्वेषामपि वैताढ्यानां भरतैरवतमहाविदेहविजयगतानां नवसु कूटेषु सर्वमध्यमानि त्रीणि त्रीणि कूटानि कनकमयानि ज्ञातव्यानि । एतदेव वैताढ्ये व्यक्त्या दर्शयति-(माणिभद्द इत्यादि) द्वयोः कूटयोर्विसदृशनामकौ देवौ स्वामिनौ । तद्यथा-कृतमालकश्चैव नृत्तमालकश्चैव । तमिस्रगुहाकूटस्य कृतमाल· स्वामी, खण्डप्रपातगुहाकूटस्य नृत्तमाल· स्वामी । शेषाणां षण्णां कूटानां सदृक् कूटनामसदृशं नाम येषां ते सदृग्नामका देवाः स्वामिनः । यथा दक्षिणार्द्धभरतकूटस्य दक्षिणार्द्धभरतकूटनामा देवः स्वामी । एवमन्येषामपि भावना कार्या । एतमेवार्थं सविशेष गाथयाऽऽह-यन्नामकानि कूटानि तन्नामान· खलु निश्चयेन भवन्ति देवाः पल्योपमस्थितिका भवन्ति प्रत्येकं प्रत्येक प्रतिकूटमित्यर्थः । एतेनाष्टानां कूटानां स्वामिन उक्ता· । सिद्धायतनकूटे तु सिद्धायतनस्यैव मुख्यत्वेन तत्स्वामिदेवानामभिधानमिति । ननु दक्षिणार्द्धभरतकूटानां स्वसदृशनामकदेवाश्रयभूतत्वात् नामान्वर्थः संगच्छते, यथा दक्षिणार्द्धभरतनामदेवस्वामिकत्वात् उपचारेण दक्षिणार्द्धभरतनामा देव स्वामित्वेनास्यास्तीति अभ्रादित्वादप्प्रत्यये वा दक्षिणार्द्धभरतम् । एवमन्येष्वपि, पर खण्डप्रपातगुहाकूटतमिस्रगुहाकूटयो· स कथम् ?, तत्स्वामिनोर्नृत्तमालकृतमालयोर्विसदृशनामकत्वात् । ननु खण्डप्रपातगुहाया उपरिवर्ति कूटं खण्डप्रपातकूटमित्यादिरेवान्वर्थोऽस्त्विति वाच्यम्, अत्र सूत्रे दक्षिणार्द्धभरतकूटवत् शेषकूटानामतिदेशात्; बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तौ एवं शेषकूटान्यपि स्वस्वाधिपतियोगतः प्रवृत्तान्यवसेयानीति श्रीमलयगिरिसूरिभिरुक्तत्वाच्चेति चेत्, उच्यते-खण्डप्रपातगुहाधिपस्य कूट खण्डप्रपातकूट, तमिस्रगुहाधिपस्य कूट तमिस्रगुहाकूटमिति स्वामिनो यौगिकनामान्तरापेक्षया अत्राप्यन्वर्थो घटत एव । यदुक्तं तैरेव तत्र-तृतीये कूटे खण्डप्रपातगुहाधिपतिदेवाधिपत्यं परिपालयति, तेन तत्खण्डप्रपातगुहाकूटमित्युच्यते इति न किमप्यनुपपन्नम् । अथ तृतीयादिकूटाधिपतीनां राजधान्यः क सन्तीति प्रश्नसूत्रमाह-(रायहाणीओ त्ति) अत्र निर्वचनसूत्रम्-(जम्बुद्दीवे दीवे इत्यादि) जम्बूद्वीपे द्वीपे इत्यादि सर्वं व्यक्तम्,नवरं खण्डप्रपातगुहाधिपतिदेवस्य राजधानी खण्डप्रपातगुहाऽभिधाना, माणिभद्रस्य माणिभद्रा इत्यादि सर्वाणि चोक्तवक्ष्यमाणानि कूटानि एकैकवनखण्डपद्मवरवेदिकायुतानि मन्तव्यानि । जं० १ वक्ष० ।

निषधवर्षधरे-

जंबू ! मंदरदाहिणे णं निसढवासहरे पव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-

"सिद्धे निसहे हरिवस्स, विदेहे हिरि धिई य सीओया ।
अवरविदेहे रुयगे, निसहे कूडाण नामाइं " ॥ १ ॥

(सिद्धे त्ति) सिद्धायतनकूट,तथा निषधपर्वताधिष्ठातृदेवनिवासोपेत निषधकूटं, हरिवर्षस्य क्षेत्रविशेषस्याधिष्ठातृदेवेन स्वीकृतं हरिवर्षकूटम्, एवं विदेहकूटमपि, ह्रीदेवीनिवासो ह्रीकूटम् । एवं धृतिकूटं,शीतोदा नदी तद्देवीनिवास· शीतोदाकूटम्, अपरविदेहकूटवदिति । रुचकश्चक्रवालपर्वतः तदधिष्ठातृदेवनिवासो रुचककूटमिति ।

नन्दनवने-

जम्बू ! मंदरपव्वए णंदणवणे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-

" नंदणे मंदरे चेव, निसढे हेमवयरययरुयए य ।
सागरचित्ते वइरे, बलकूडे चेव बोधव्वे " ॥ १ ॥

(नंदणे त्ति) नन्दनवनं मेरो· प्रथममेखलायां,तत्र "कूटानि" नंदण गाहा । तत्र नन्दनवने पूर्वादिदिक्षु चत्वारि सिद्धायतनानि,विदिक्षु चतुश्चतुष्पुष्करिणीपरिवृताश्चत्वार· प्रासादावतंसकाः, तत्र पूर्वस्मात्सिद्धायतनादुत्तरत उत्तरपूर्वस्थप्रासादाद्दक्षिणतो नन्दनकूट, तत्र देवी मेघकरा, तथा पूर्वसिद्धायतनादेव दक्षिणतो दक्षिणपूर्वप्रासादादुत्तरतो मन्दरकूट, तत्र मेघवती देवी, अनेन क्रमेण शेषाण्यपि यावदष्टमम् । देव्यस्तु निषधकूटे सुमेघा, हैमवतकूटे मेघमालिनी, रजतकूटे सुवत्सा, रुचककूटे वत्समित्रा, सागरचित्रकूटे वैरसेना, वैरकूटे बलाहकेति, बलकूट तु मेरोरुत्तरपूर्वस्यां नन्दनवने तत्र बलो देव इति । स्था० ९ ठा० ।

कहि णं भंते ! णंदणवणे णंदणवणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमिल्लसिद्धाययणस्स उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसयस्स दक्खि-

णेणं, एत्थ णं णंदणवणे णंदणवणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते, पंचसइआ कूडा पुव्ववसिआ जाणिअव्वा, देवी मेहंकरा च, रायहाणी विदिसाए, एआहिं चेव पुव्वाभिलावेणं णेअव्वा, इमे कूडा इमाहिं दिसाहिं पुरच्छिमिल्लस्स भवणस्स दाहिणेणं दाहिणपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं मंदरे कूडे मेहवई देवी रायहाणी पुव्वेणं दक्खिणिल्लस्स भवणस्स पुरच्छिमेणं दाहिणपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पच्चच्छिमेणं णिसहे कूडे सुमेहा देवी रायहाणी दक्खिणेण दक्खिणिल्लस्स भवणस्स पच्चच्छिमेणं दक्खिणपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पुरच्छिमेणं हेमवए कूडे हेममालिनी देवी रायहाणी दक्खिणेणं पच्चच्छिमिल्लस्स भवणस्स दक्खिणेणं दाहिणपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं रयए कूडे सुवच्छा देवी रायहाणी पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स दक्खिणेणं रुअगे कूडे वच्छमित्ता देवी रायहाणी पच्चच्छिमेणं उत्तरिल्लस्स भवणस्स पच्चच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पुरच्छिमेणं सागरचित्ते कूडे वइरसेणा देवी रायहाणी उत्तरेणं उत्तरिल्लस्स भवणस्स पुरच्छिमेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पच्चच्छिमेणं वइरे कूडे बलाहया देवी रायहाणी उत्तरेणं ति । कहि णं भंते ! णंदणवणे बलकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं णंदणवणे कूडे णामं कूडे पण्णत्ते । एवं जं चेव हरिस्सहकूडस्स पमाणं रायहाणी अ, तं चेव बलकूडस्स वि, णवरं बलो देवो रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं ति ॥

क्व भदन्त ! नन्दनवने नन्दनवनकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ? । गौतम ! मन्दरस्य पर्वतस्य सम्बन्धिनः पौरस्त्यसिद्धायतनस्योत्तरत उत्तरपौरस्त्येशानदिग्वर्तिनः प्रासादावतंसकस्य दक्षिणेन एतस्मिन् प्रदेशे नन्दनवनकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् । अत्रापि मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रम एव क्षेत्रनियमो बोद्धव्यः । अन्यथाऽस्य प्रासादभवनयोरन्तरालवर्तित्वं न स्यात् । अथ लाघवार्थमुक्तस्य वक्ष्यमाणानां च कूटानां साधारणमतिदिशति-पञ्चशतिकानि कूटानि पूर्वं दिग्हस्तिकूटप्रकरणे वर्णितानि उच्चत्वव्यासपरिधिवर्णसंस्थानराजधानीदिगादिभिः, नान्यत्र भणितव्यानीति शेषः । सदृशगमत्वात् । अत्र देवी मेघकरा नाम्नी, अस्या राजधानी विदिशि, अस्य पश्चोत्तर कूटस्थानीयत्वेन राजधानी विदिगुत्तरपूर्वप्राह्या । अथ शेषकूटानां तद्देवीनां तद्राजधानीनां च का व्यवस्था ? इत्याह-(एआहिं इत्यादि) एताभिर्देवीभिश्चशब्दाद् राजधानीभिरनन्तरसूत्रे वक्ष्यमाणाभिः सह पूर्वाभिलापेन नन्दनवनकूटसत्कसूत्रगमेन नेतव्यानि इमानि वक्ष्यमाणानि कूटानि इमाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्दिग्भिः एतदेव दर्शयति-(पुरच्छिमिल्लस्स इत्यादि) इदं च सर्वं भद्रशालवनगमसदृशम्, तेन तदनुसारेण व्याख्येयम् । विशेषश्चात्राय पञ्चशतिके नन्दनवने मेरुतः पञ्चाशद्योजनान्तरे स्थितानि पञ्चशतिकानि कूटानि किञ्चिन्मेखलातो बहिराकाशे स्थितानि बोध्यानि, बलकूटवद् एतत्कूटवासिन्यश्च देव्योऽष्टौ दिक्कुमार्यः । अत्र नवमं कूटं सहस्राङ्कमिति पृथक् पृच्छति-(कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! नन्दनवने बलकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ? । गौतम ! मेरोरीशानविदिशि नन्दनवनेऽत्रान्तरे बलकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् । अयमर्थः-मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रमे ईशानकोणे ऐशानप्रासादः, ततोऽपीशानकोणे बलकूटं, महत्तमवस्तुनो विदिशोऽपि महत्तमत्वात् । एवमनेनाभिलापेन यदेव हरिस्सहकूटस्य माल्यवद्वक्षस्कारगिरेर्नवमकूटस्य प्रमाणं सहस्रयोजनरूपं यथा चाल्पेऽपि स्वाधारक्षेत्रमहतोऽप्यस्यावकाशः, या च राजधानी चतुरशीतियोजनसहस्रप्रमाणा तदेव सर्वं बलकूटस्यापि, नवरमत्र बलो देवः, तत्र तु हरिस्सहनामा । जं० ४ वक्ष० ।

माल्यवत.—

जंबुद्दीवे दीवे मालवंते वक्खारपव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा—"सिद्धे य मालवंते, उत्तरकुरुकच्छसागरे रयए । सीया य पुण्णनामे, हरिस्सकूडे य बोधव्वे" ॥ १ ॥

(मालवंते इत्यादि) माल्यवान् पूर्वोत्तरो गजदन्तपर्वतः, तत्र सिद्धायतनकूटं मेरोरुत्तरपूर्वतः, एवं शेषाण्यपि, नवरं सिद्धकूटे भोगा देवी, रजतकूटे भोगमालिनी देवी, शेषेषु स्वसमाननामानो देवा, हरिस्सहकूटं नीलवत्पर्वतस्य नीलवत्कूटाद्दक्षिणतः सहस्रप्रमाणं, विद्युत्प्रभवर्ति हरिकूटं नन्दनवनवर्ति बलकूटं च,शेषाणि तु प्रायः पञ्चयोजनशतिकानीति । स्था० ६ ठा० । सर्वस्य प्रहायेति सिद्धायतनकूटं, चः पादपूरणे, माल्यवत्कूटं प्रस्तुतवक्षस्काराधिपतिवासकूटम्, उत्तरकुरुकूटमुत्तरकुरुदेवकूटं कच्छकूटं कच्छविजयाधिपकूटं, सागरकूटं, रजतकूटम्, इदं चान्यत्र रुचकमिति प्रसिद्धं, शीताकूटं शीतासरित्सुरीकूटं, पदैकदेशे पदसमुदायोपचार इति सिद्धिः । चः समुच्चये, पूर्णभद्रनाम्नो व्यन्तरेशस्य कूटं पूर्णभद्रकूटं, हरिस्सहनाम्न उत्तरश्रेणिपतिविद्युत्कुमारेन्द्रस्य कूटं हरिस्सहकूटम् । चैवशब्दः पूर्ववत् । जं० ४ वक्ष० ।

संप्रत्यमीषां स्थानप्ररूपणायाऽऽह-

कहि णं भंते ! मालवंते वक्खारपव्वए सिद्धायणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं मालवंतस्स कूडस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं एत्थ णं सिद्धायणकूडे पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अवसिट्ठं तं चेव, जाव रायहाणी, एवं मालवंतस्स कूडस्स उत्तरकुरुकूडस्स कच्छकूडस्स, एए चत्तारि कूडा दिसाहिं पमाणेहिं अ णेयव्वा कूडसरिसणामया देवा । कहि णं भंते ! मालवंते सागरकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! कच्छकूडस्स उत्तरपुरच्छिमेणं रययकूडस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं सागरकूडे णामं कूडे पण्णत्ते; पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अवसिट्ठं तं चेव । सुभोगा देवी रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं रययकूडे भोगमालिणी देवी, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं अवसिट्ठा कूडा उत्तरदाहिणेणं णेअव्वा एक्केणं पमाणेणं । कहि णं भंते ! मालवंते हरि-

रसहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पुण्णभद्दस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं हरिस्सहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । एगं जोअणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं जमगपमाणेणं रायहाणी उत्तरेणं असंखेज्जदीवे अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे उत्तरेणं बारस जोअणसहस्साइं उग्गाहित्ता, एत्थ णं हरिस्सहदेवस्स हरिस्सहा णामं रायहाणी पण्णत्ता । चउरासीइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं बे जोअणसयसहस्साइं पण्णट्ठिं च सहस्साइं छच्च छत्तीसे जोअणसए परिक्खेवेणं, सेसं जहा चमरचंचाए रायहाणीए तहा पमाणं भाणिअव्वं महिड्ढीए महज्जुईए ॥

"कहि णमित्यादि" प्रश्नः प्रतीतः। उत्तरसूत्रे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरपूर्वस्याम् ईशानकोणे प्रत्यासन्नमाल्यवत्कूटस्य दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतके,अत्र सिद्धायतनकूटं प्रज्ञप्तमिति गम्यं, पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन,अवशिष्टं मूलविष्कम्भादिकं वक्तव्य तदेव गन्धमादनसिद्धायतनकूटवदेव वाच्यं यावद्राजधानी भणितव्या स्यात्। अयमर्थः-सिद्धायतनकूटवर्णके सामान्यतः कूटवर्णकसूत्रं,विशेषतः सिद्धायतनादिवर्णकसूत्रं च द्वयमपि वाच्यम्,तत्र सिद्धायतनकूटे राजधानीसूत्रं न संगच्छते इति राजधानीसूत्रं विहाय तदधस्तनसूत्रं वाच्यमिति। अत्र यावच्छब्दो न संग्राहकः,किन्त्ववधिमात्रसूचकः। यथा-'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इत्यत्र (रघुकाव्ये) समुद्रं विहाय क्षितीशत्वं वर्णितमिति । लाघवार्थमत्रातिदेशमाह-(एव मालवंतस्स इत्यादि) एवं सिद्धायतनकूटरीत्या माल्यवत्कूटस्य कच्छकूटस्य वक्तव्यं, ज्ञेयमिति गम्यम् । अथैतानि किं परस्परं स्थानादिना तुल्यानि उताऽतुल्यानीत्याह-एतानि सिद्धायतनकूटसहितानि चत्वारि परस्पर दिग्भिरैशानविदिग्रूपाभिः प्रमाणैश्च नेतव्यानि, तुल्यानीति शेषः। अयमर्थः-प्रथमं सिद्धायतनकूटं मेरोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि ततस्तस्यामेव दिशि द्वितीयमाल्यवत्कूटं ततस्तस्यामेव दिशि तृतीयमुत्तरकुरुकूटं ततोऽप्यस्यां दिशि कच्छकूटम् । एतानि चत्वार्यपि कूटानि विदिग्भावीनि मानतो हिमवत्कूटप्रमाणानीति। कूटसदृग्नामकाश्चात्र देवाः। अत्र 'यावत् संभवस्तावद् विधिप्राप्तिः' इति न्यायात् सिद्धकूटवर्जेषु त्रिषु कूटेषु कूटनामका देवा इति बोध्यं सिद्धायतनम् । अन्यथा " छसयपरिक्खेसु तहा, चूला चउवणतरूसु जिणभवणं । भणिआ जबुद्दीवे, सदेवया सेसगणेसु " ॥ १ ॥ इति स्वोपज्ञक्षेत्रविचारे रत्नशेखरसूरिवचोविरोधमापद्यते इति । अथावशिष्टकूटस्वरूपमाह-(कहि णं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे कच्छकूटस्य च कूटस्य चतुर्थस्योत्तरपूर्वस्यां रजतकूटस्य दक्षिणस्याम्; अत्रान्तरे सागरकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तं पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, अवशिष्टं मूलविष्कम्भादिकं तदेव । अत्र सुभोगा नाम्नी दिक्कुमारी देवी, अस्या राजधानी मेरोरुत्तरपूर्वस्यां रजतकूटं षष्ठं पूर्वस्मादुत्तरस्याम्,अत्र भोगमालिनी दिक्कुमारी सुरी,राजधानी उत्तरपूर्वस्याम्, अवशिष्टानि शीताकूटादीनि उत्तरदक्षिणाभ्यां नेतव्यानि। कोऽर्थः ? पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरमुत्तरस्याम् २ उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वं २ दक्षिणस्याम् २ इत्यर्थः। एकेन तुल्यप्रमाणेन सर्वेषामपि हिमवत्कूटप्रमाणत्वात् । अथ नवरं सहस्राङ्कमिति पृथग् निर्देष्टुमाह-(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! माल्यवति वक्षस्कारगिरौ हरिस्सहकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ?। गौतम ! पूर्णभद्रस्योत्तरस्यां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणस्याम्, अत्रान्तरे हरिस्सहकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम्, एकं योजनसहस्रमूर्ध्वोच्चत्वेन; अवशिष्टं यमकगिरिप्रमाणेन नेतव्यम् । तच्चेदम्-" अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं उव्वेहेणं मूले एग जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणमित्यादि " । आह परः-पञ्चशतयोजनपृथुगजदन्ते सहस्रयोजनपृथु इदं कथं माति ?। उच्यते-अनेन गजदन्तस्य ५०० योजनानि रुद्धानि, ५०० योजनानि पुनर्गजदन्ताद्बहिराकाशे,ततो न कश्चिद्दोष इति। अस्य चाधिपत्यस्याऽपरराजधानीतो दिक्प्रमाणाद्यैर्विशेष इति तां विवक्षुराह-(रायहाणी इत्यादि) राजधानी उत्तरस्यामिति । एतदेव विवृणोति-(असंखेज्जदीवे त्ति) इद पदं स्मारकम् ,तेन "मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेण तिरिअमसंखेज्जाइ दीवसमुद्दाइं वीईवइत्ता" इति ग्राह्यम् । अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे उत्तरस्यां द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य। अत्रान्तरे हरिस्सहदेवस्य हरिस्सहा नाम्नी राजधानी प्रज्ञप्ता, चतुरशीतियोजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजनलक्षे पञ्चषष्टिं च योजनसहस्राणि षट् च द्वात्रिंशदधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण, शेष यथा चमरचञ्चायाश्चमरेन्द्रराजधान्याः प्रमाणं भणितं भवति तथा नेतव्या, प्रमाणं प्रासादादीनां भणितव्यमिति । " महिड्ढिए महज्जुईए " इति सूत्रेणास्य नामनिमित्तविषयके प्रश्ननिर्वचने सूचिते। तेषां चैवम्-"से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ हरिस्सहकूडे कूडे ?। गोयमा ! हरिस्सहकूडे बहवे उप्पलाइं पउमाइ हरिस्सहकूडसमवण्णाइं जाव हरिस्सहे णाम देवे अहत्थमहिड्ढीए जाव परिवसइ, से तेणट्ठेणं जाव अदुत्तरं च णं गोअमा ! जाव सासए णामधेज्जे। " इति । जं० ४ वक्ष०।

कच्छादिषु वैताढ्यपर्वतेषु-

जंबू ! कच्छे दीहवेयड्ढे णं नव कूडा पन्नत्ता । तं जहा-"सिद्धे कच्छे खंडग-माणी वेयड्ढपुण्णतिमिसगुहा । कच्छे वेसमणे य, कच्छे कूडाण नामाइं " ॥ १ ॥ जंबू ! सुकच्छे दीहे वेयड्ढे णं नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे सुकच्छखंडग-माणी, वेयड्ढपुण्णतिमिसगुहा । सुकच्छे वेसमणे य, सुकच्छकूडाण नामाइं " ॥ १ ॥ एवं जाव पुक्खलावइम्मि दीहवेयड्ढे एवं वच्छे दीहवेयड्ढे एवं जाव मंगलावइम्मि दीहवेयड्ढे ।

एव कच्छादिविजये वैताढ्यकूटान्यपि व्याख्यातानुसारेण ज्ञेयानि। नवरं "एवं जाव पुक्खलावइम्मीत्यादि" यावत्करणात् महाकच्छाकच्छावतीआवर्त्तमङ्गलावर्त्तपुष्कलेषु सुकच्छवद्वैताढ्येषु सिद्धकूटादीनि नव नव कूटानि वाच्यानि, नवरं द्वितीयाष्टमस्थानेऽधिकृतविजयनामवाच्यमिति। (एवं वच्छे त्ति) शीताया दक्षिणे समुद्रासन्ने "एवं जाव मगलावइम्मि" इत्यत्र यावत्करणात् सुवच्छमहावच्छवच्छावतीरम्यरम्यकरमणीयेषु प्रागिव कूटनवकं दृश्यमिति । स्था० ६ ठा०। जं० । (' कच्छ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७३ पृष्ठे वर्णक उक्तः) विद्युत्प्रभे, स्था०।

जंबू ! विज्जुप्पभे वक्खारपव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-
" सिद्धे य विज्जुनामे, देवकुरा पम्हकणगसोवत्थी ।
सीओदाए सजले, हरिकूडे चेव बोधव्वे " ॥ १ ॥

(जम्बुद्दीवेत्यादि) विद्युत्प्रभो देवकुरुपश्चिमगजदन्तकः, तत्र नव कूटानि पूर्ववत्, नवरं दिक्कुमार्यौ वारिसेनाबलाहकाभिधाने क्रमेण कनककूटस्वस्तिककूटयोरिति ।

पद्मादिषु विजयेषु दीर्घवैताढ्यानाम्-

जंबू ! पम्हे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धे पम्हे खंडगमाणी वेयड्ढए, एवं चेव जाव सलिलावइम्मि दीहवेयड्ढे, एवं वप्पे दीहवेयड्ढे एवं जाव गंधिलावइम्मि दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-" सिद्धे गंधिलखंडग-माणी-वेयड्ढपुन्नतिमिसगुहा । गंधिलावइवेसमणे, कूडाणं होंति नामाइं ॥ १ ॥ " एवं सव्वेसु दीहवेयड्ढेसु दो कूडा सरिसनामगा सेसा ते चेव ।

(पम्हे त्ति) शीतोदाया दक्षिणेन विद्युत्प्रभाभिधानगजदन्तकप्रत्यासन्नविजये (जाव सलिलावइम्मि) इत्यत्र यावत्करणात् सुपक्ष्ममहापक्ष्मपक्ष्मावतीशङ्खनालिनकुमुदेषु प्रागिव नव नव कूटानि वाच्यानि । एवमित्युक्ताभिलापेन (वप्पे त्ति) शीतोदाया उत्तरेण समुद्रप्रत्यासन्नविजये " जाव गंधिलावइम्मि " इत्यत्र यावत्करणात् सुवप्रमहावप्रवप्रावतीवल्गुसुवल्गुगन्धिलेषु नव नव कूटानि प्रागिव द्रष्टव्यानीति, पुनः पद्मादिविजयेषु षोडशस्वतिदिशति-" एवं सव्वेसु " इत्यादिना कूटाना सामान्यलक्षणमुक्तमिति । स्था० ६ ठा० ।

सौमनसे वक्षस्कारपर्वते-

जंबुद्दीवे दीवे सोमणसे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे सोमणसे य, बोधव्वे मंगलावई कूडे । देवकुरुविमलकंचण-विसिट्ठकूडे य बोधव्वे " ॥ १ ॥

(सिद्धे त्ति) सिद्धायतनोपलक्षितं कूटं मेरुप्रत्यासन्नम्, एवं सर्वगजदन्तकेषु सिद्धायतनानि शेषाणि, ततः परम्परयेति । (सोमणसे त्ति) सौमनसकूटं तत्समाननामकतदधिष्ठातृदेवतोपलक्षितं, मङ्गलावतीविजयसमनामदेवस्य मङ्गलावतीकूटम्, एवं देवकुरुदेवनिवासो देवकुरुकूटमिति, विमलकाञ्चनकूटे यथार्थे, क्रमेण च वत्सवत्समित्राभिधानाऽधोलोकनिवासिदिक्कुमारीद्वयनिवासभूते, विशिष्टकूटं तन्नामदेवनिवास एवमुत्तरत्रापि । स्था० ७ ठा० । जं० ।

रुक्मिणि-

जंबू ! मंदरउत्तरेणं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-" सिद्धे रुप्पी रम्मग-नरकंता बुद्धिरुप्पकूडे य । हेरण्णवए मणिकंचणे य रुप्पिम्मि कूडा य ॥१॥ "

जंबू ! मंदरपुरच्छिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"रिट्ठतवणिज्जकंचण-रययदिसा सावत्थिए पलंबे य । अंजणे अंजणपुलए, रुयगस्स पुरच्छिमे कूडा" ॥१॥

अनेनैव क्रमेण रुक्मिकूटान्यूह्यानि । तन्नाया 'सिद्धे रुप्पी' इत्यादि कण्ठ्यम् । 'जंबुद्दीवे' इत्यादि क्षेत्राधिकारात् रुचकाश्रितसूत्राष्टक कण्ठ्यम्, नवरं जम्बूद्वीपे यो मन्दरस्तदपेक्षया प्राच्यां दिशि रुचकवरे रुचकद्वीपवर्तिनि प्राग्वर्णितस्वरूपे चक्रवालाकारे अष्टौ कूटानि, तत्र रिष्टेत्यादि गाथा स्पष्टा, तेषु च नन्दोत्तराद्याः दिक्कुमार्यो वसन्ति, भगवतोऽर्हतो या जन्मन्यादर्शहस्ता गा-

यन्त्यस्तं पर्युपासन्ते, एवं दाक्षिणात्या भृङ्गारहस्ता गायन्ति, एवं प्रातीच्यास्तालवृन्तहस्ताः, एवमौदीच्याश्चामरहस्ताः देवाधिकारादेव । स्था० ८ ठा० ।

गन्धमादने-

जंबुद्दीवे दीवे गंधमायणे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे य गन्धमायणे, बोधव्वे गंधिलावई कूडे । उत्तरकुरुफलिहे लो-हियक्खआणंदणे चेव" ॥१॥ स्था०७ठा० ।

गंधमायणे णं वक्खारपव्वए कति कूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सत्त कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ गंधमायणकूडे २ गंधिलावइकूडे ३ उत्तरकुरुकूडे ४ फलिहकूडे ५ लोहिअक्खकूडे ६ आणंदकूडे ७। कहि णं भंते ! गंधमायणे वक्खारपव्वए सिद्धाययणणाम कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं गंधमायणकूडस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एत्थ णं गंधमायणे वक्खारपव्वए सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । ज चेव चुल्लहिमवंते सिद्धाययणकूडस्स पमाणं तं चेव एएसिं सव्वेसिं भाणिअव्वं, एवं चेव विदिसाहिं तिण्णि कूडा भाणिअव्वा, चउत्थे ततिअस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं, पंचमस्स दाहिणेणं, सेसाओ उत्तरदाहिणेणं फलोहिअक्खेसु भोगंकराभोगवईओ देवयाओ, सेसेसु सरिसणामया देवा छसु वि पासायवडेंसगरायहाणीओ विदिसासु ॥

"गंधमायणे" इत्यादि व्यक्तं, नवरं स्फटिककूटं स्फटिकरत्नमयत्वात्, लोहिताक्षकूटं लोहितरत्नवर्णत्वात्, आनन्दनाम्नो देवस्य कूटमानन्दकूटम् । ननु यथा वैताढ्यादिषु सिद्धायतनादिकूटव्यवस्था पूर्वापरायतत्वेन तदत्रापि, उत कश्चिद्विशेष इत्याह?- कहि णं भंते !) इत्यादि व्यक्त, नवरं यथा वैताढ्यादिषु सिद्धायतनं कूटं समुद्रासन्नं पूर्वेण तत क्रमेण शेषाणि स्थितानि, तथाऽत्र मन्दरासन्नं सिद्धायतनकूटं मन्दरादुत्तरपश्चिमायां वायव्यां दिशि गन्धमादनकूटस्य तु दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेय्यामस्ति यदेव क्षुद्रहिमवति सिद्धायतनकूटस्य प्रमाणं तदेवैतेषां सर्वेषां सिद्धायतनादिकूटानां भणितव्यम्, अर्थाद्वर्णनमपि तद्वदेवेति । व्यवस्था तु शेषकूटानामत्र भिन्नप्रकारेणेति मनसिकृत्याह-(एवं चेव इत्यादि) एवं चेवेत्येव सिद्धायतनानुसारेण विदिक्षु वायव्यकोणेषु त्रीणि कूटानि सिद्धायतनादीनि भणितव्यानि । उक्तवक्ष्यमाणानां मिथितनिर्देशस्तु " एवं चत्तारि वि दारा भाणिअव्वा " इति सूत्रविचारेणोक्तयुक्त्या समाधेयः । अयमर्थः-मेरुत उत्तरपश्चिमायां सिद्धायतनकूटं, तस्माच्चोत्तरपश्चिमायां गन्धमादनकूटं, तस्माच्च गन्धिलावतीकूटमुत्तरपश्चिमायामिति । अत्र तिस्रो वायव्यो दिशः समुदिता विवक्षिता इति बहुत्वेन निर्देशः । चतुर्थमुत्तरकुरुकूटं तृतीयस्य गन्धिलावतीकूटस्योत्तरपश्चिमायां पञ्चमस्य स्फटिककूटस्य दक्षिणतः । ननु यथा तृतीयाद्गन्धिलावतीकूटाच्चतुर्थमुत्तरकुरुकूटमुत्तरपश्चिमायां चतुर्थाच्च तृतीयं दक्षिणपूर्वस्यां तथा पञ्चमात् स्फटिककूटात् कथं दक्षिणस्यां चतुर्थं कूटं न संगच्छते? । उच्यते-पर्वतस्य वक्रत्वेन चतुर्थकूटेन एवं दक्षिणपूर्वां प्रति वलनात् पञ्चमाच्चतुर्थं दक्षिणस्यामिति; शेषाणि स्फटिककूटादीनि त्रीणि उत्तरद-

क्षिणश्रेण्यवस्थया स्थितानि; कोऽर्थः ? पञ्चमं चतुर्थस्योत्तरतः षष्ठस्य दक्षिणतः, षष्ठं पञ्चमस्योत्तरतः सप्तमस्य दक्षिणतः, सप्तमं षष्ठस्योत्तरत इति परस्य उत्तरदक्षिणभाव इति । अत्र पञ्चयोजनशतविस्तराण्यपि कूटानि यत्क्रमहीयमानेऽपि प्रस्तुतगिरिक्षेत्रे मान्ति, तत्र सहस्त्रा कूटरीतिर्ज्ञेया । अथैषामेवाधिष्ठातृस्वरूपं निरूपयति-(फलिहलोहिअक्खे) इत्यादि कूटलोहिताक्षकूटयोः पञ्चमषष्ठयोर्भोगंकराभोगवत्योर्द्वे देवते दिक्कुमार्यौ वसतः । शेषेषु कूटसदृशनामका देवाः षट्स्वपि प्रासादावतंसकाः स्वस्वाधिपतिवासयोग्याः; एषां च राजधान्योऽसंख्याततमे जम्बूद्वीपे विदिक्षु उत्तरपश्चिमासु ॥ जं० ४ वक्ष० ।

कूटानि-

जंबू ! मंदरदाहिणे णं छ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-चुल्लहिमवंतकूडे वेसमणकूडे महाहिमवंतकूडे वेरुलियकूडे निसहकूडे रुयगकूडे । जम्बू ! मंदरउत्तरे णं छ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-नीलवंतकूडे उवदंसणकूडे रुप्पिकूडे मणिकंचणकूडे सिहरिकूडे तिगिच्छिकूडे ॥

कूटसूत्रे हिमवदादिषु वर्षधरपर्वतेषु द्विस्थानकोक्तक्रमेण द्वे द्वे कूटे समवसेये इति । स्था० ६ ठा० ।

जंबू ! मंदरदाहिणे णं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"कणए कंचणपउमे, नलिणे ससिदिवाकरे चेव । वेसमणे वेरुलिए, रुयगस्स य दाहिणे कूडा" ॥१॥ स्था० ।

जंबू ! मंदरपच्चत्थिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-" सोत्थिए य अमोहे य, हिमवं मंदरे तहा । रुयगे रुयगुत्तमे चंदे, अट्ठमे अ सुदंसणे " ॥१॥ स्था० ।

जंबू ! मंदरउत्तररुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"रयणे रयणुच्चए सव्व-रयणे रयणसंचए । विजए वेजयंते य, जयवंते अपराजिए" ॥१॥ स्था० ८ ठा० ।

(दिक्कुमारीवक्तव्यता तु ' दिसाकुमारिया ' शब्दे वक्ष्यते)

अथात्र कूटानि प्रष्टव्यानि नीलवतः-

णीलवंते णं भंते ! वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धायणकूडे १ सिद्धे, णीले २ पुव्वविदेहे ३ सीआ य कित्ति ५ णारी अ ६ । अवरविदेहे ७ रम्मग-कूडे ८ उवदंसणे चेव " ॥१॥ सव्वे एए कूडा पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरे ॥

(णीलवंते णमित्यादि) नीलवति भदन्त ! वर्षधरपर्वते कति कूटानि प्रज्ञप्तानि ? । गौतम ! नव कूटानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-सिद्धायतनकूटम्, अत्र नवानामप्येकत्र संग्राहिका गाथा-(सिद्धे त्ति) सिद्धकूटं सिद्धायतनकूटं, तच्च पूर्वदिशि समुद्रासन्नं ततो नीलवत्कूटं न नीलवद्वक्षस्काराधिपकूटं पूर्वविदेहाधिपकूटं शीताकूटं शीतासुरीकूटं, च. समुच्चये, कीर्तिकूटं केसरिहदसुरीकूटं नारीकान्तनदीसुरीकूटं, चः पूर्ववत् । अपरविदेहकूटम्, अपरविदेहाधिपकूटं रम्यककूटं रम्यकक्षेत्राधिपकूटम्, उपदर्शनकूटं उपदर्शननामककूटम् । एतानि च कूटानि हिमवत्कूटवत् पञ्चशतिकानि पञ्चशतयोजनप्रमाणानि, वक्तव्यताऽपि तद्वत् कूटाधिपानां राजधान्यो मेरोरुत्तरस्याम् । जं० ४ वक्ष० ।

जम्बू ! मंदरउत्तरे णं एरवए दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-

" सिद्धेरवए खंमग-माणी वेयड्ढपुण्णतिमिसगुहा । एरवए वेसमणे, एरवए कूडनामाइं" ॥१॥ स्था० ९ ठा० ॥

तत्र यानि समानि-

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव विक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा-चुल्लहिमवंतकूडे चेव वेसमणकूडे चेव । जंबू ! मंदरदाहिणे णं महाहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव महाहिमवंतकूडे चेव वेरुलियकूडे चेव । एवं निसढे वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला, जाव निसढकूडे चेव रुयगकूडे चेव । जंबू ! मंदरस्स उत्तरे णं नीलवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव नीलवंतकूडे चेव उवदंसणकूडे चेव । एवं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव । तं जहा-रुप्पिकूडे चेव मणिकंचणकूडे चेव । एवं सिहरिम्मि वि वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता बहुसमतुल्ला । तं जहा-सिहरिकूडे चेव तिगिच्छिकूडे चेव ।

(जंबू इत्यादि) हिमवद्वर्षधरपर्वते ह्येकादश कूटानि-सिद्धायतन १ क्षुल्लहिमवत् २ भरत ३ इला ४ गङ्गा ५ श्री ६ रोहितांशा ७ सिन्धु ८ सुरा ९ हैमवत १० वैश्रमण ११ कूटाभिधानानि भवन्ति । पूर्वदिशि सिद्धायतनं कूटमतः क्रमेणापरतोऽन्यानि सर्वरत्नमयानि स्वनामदेवतास्थानानि पञ्च योजनशतोच्छ्रयाणि तावदेव मूले विस्तृतानि उपरि तदर्द्धविस्तृतानि, आद्ये सिद्धायतनं पञ्चाशद्योजनायामं तदर्द्धविष्कम्भं षट्त्रिंशदुच्चम्, अष्टयोजनायामैश्चतुर्योजनाविष्कम्भप्रवेशैस्त्रिभिर्द्वारैरुपेतं जिनप्रतिमाष्टोत्तरशतसमन्वितं, शेषेषु प्रासादाः सार्द्धषष्टियोजनोच्चास्तदर्द्धविस्तृतास्तन्निवासिदेवसिंहासनवन्त इति । इह तु प्रकृतनगनायकनिवासभूतत्वाद्देवनिवासभूतानामेषां मध्ये आद्यत्वाच्च हिमवत्कूटं गृहीतं, सर्वान्तिमत्वाच्च वैश्रमणकूटमिति द्विस्थानकानुरोधेनेति । आह च-"कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ घिप्पंति निरवसेसाइं । उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निउत्ताइं" ॥ १ ॥ कूटसंग्रहश्चायम्-"वेयड्ढ ६ मालवंते, ९, विज्जुप्पह ९ निसढ ९ नीलवंते य ९ । नव नव कूडा भणिया, एक्कारस सिहरि ११ हिमवंते ११ ॥१॥ रुप्पि ८ महाहिमवंते, ८ सोमणस ८ गंधमायणनगे य ७ । अट्ठ सत्त सत्त य, वक्खारगिरीसु चत्तारि ४ ॥ २ ॥ "

(जम्बू इत्यादि) महाहिमवति ह्यष्टौ कूटानि- सिद्ध-महाहिमवद्-हैमवत-रोहिता-ह्री-हरिकान्ता-हरि-वैडूर्यकूटाभिधानानि, द्वयग्रहणे च कारणमुक्तमेव इत्यादि एवं कथानानि, द्वयग्रहणे च कारणमुक्तमेव इत्यादि एव कधानानि, द्वयग्रहणे ' जम्बू ' इत्यादिरभिलापो दृश्यः । निषधवर्षधरपर्वते हि सिद्धनिषधहरिवर्षप्राग्विदेहहरिधृतिशीतोदाऽपरवि-

देहरुचकाख्यानि स्वनामदेवतानि नव कूटानि । इहाऽपि द्वितीयान्त्ययोर्ग्रहणं प्राग्वद् व्याख्येयमिति । (जम्बू इत्यादि) नीलवर्षधरपर्वते हि सिद्ध-नील-पूर्वविदेह-शीता-कीर्ति-नारिकान्ताऽपरविदेह-रम्यकोपदर्शनाख्यानि नव कूटानि । इहापि द्वितीयान्त्यग्रहणं प्राग्वदिति । एवमित्यादि । रुक्मिवर्षधरे सिद्ध-रुक्मि-रम्यक-नरकान्ता-बुद्धि-रूप्यकूला-हैरण्यवत-मणिकाञ्चनकूटाख्यानि अष्ट कूटानि । द्वयाभिधानं च प्राग्वदिति । एवमित्यादि । शिखरिणि हि वर्षधरे सिद्ध-शिखरि-हैरण्यवत-सुरादेवी-रक्ता-लक्ष्मी-सुवर्णकूला-रक्तोदा-गन्धपति-पेरवत-तिगिञ्छिकूटाख्यानि एकादश कूटानि । इहापि द्वयोर्ग्रहणं तथैवेति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सिहरिम्मि णं भंते ! वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! इक्कारस कूडा पएणत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ सिहरिकूडे २ हेरएणवयकूडे ३ सुवएणकूलाकूडे ४ सुरादेवीकूडे ५ रत्ताकूडे ६ लच्छीकूडे ७ रत्तावइकूडे ८ इलादेवीकूडे ९ एरवयकूडे १० तिगिच्छिकूडे ११; एवं सव्वे वि कूडा पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरेणं ॥

(सिहरिम्मि णं भंते ! वासहरपव्वए इत्यादि) शिखरिणि पर्वते भगवन् ! कति कूटानि प्रज्ञप्तानि ? । गौतम ! एकादश कूटानि प्रज्ञप्तानि । तद् यथा-पूर्वस्यां सिद्धायतनकूटं, ततः क्रमेण शिखरिवर्षधरनाम्ना कूटं, हैरण्यवतक्षेत्रसुरकूट, सुवर्णकूलानदीसुरीकूट, सुरादेवीदिक्कुमारीकूट, रक्तावर्तनकूट, लक्ष्मीकूट,पुण्डरीकह्रदसुरीकूट,रक्तावत्यावर्तनकूटम, इलादेवीदिक्कुमारीकूट, ऐरवतक्षेत्रपतिकूट तिगिञ्छिह्रदपतिकूटम । एवं सर्वाण्यप्येतानि पञ्चशतिकानि ज्ञातव्यानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यवक्तव्यताकानि ज्ञेयानि। एतत्स्वामिनां राजधान्य उत्तरस्यामिति । जं० ४ वक्ष० ।

सव्वे वि णं हरिहरिस्सहकूडा वक्खारपव्वयकूडवज्जा दस दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता । मूले दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं एवं बलकूडा वि नंदणकूडवज्जा।

हरिकूटं विद्युत्प्रभाऽभिधाने गजदन्ताकारवक्षस्कारपर्वते, हरिसहकूटं तु माल्यवद्वक्षस्कारे,तानि च पञ्चस्वपि मन्दरेषु भावात् पञ्च पञ्च भवन्ति सहस्रोच्छ्रितानि (वक्खारकूडवज्ज त्ति) शेषवक्षस्कारकूटेष्वेवमुच्चत्वं नास्त्येतेष्वेवास्तीत्यर्थः । एवं (बलकूडा वि त्ति) पञ्चसु मन्दरेषु पञ्च नन्दनवनानि तेषु प्रत्येकमैशान्यां दिशि बलकूटाऽभिधानं कूटमस्ति,ततः पञ्च शतानि सहस्रोच्छ्रितानि च (नंदनकूडवज्ज त्ति) शेषाणि नन्दनवनेषु प्रत्येकं पूर्वादिदिग्विदिग्व्यवस्थितानि चत्वारिंशत्सङ्ख्यानि नन्दनकूटानि वर्जयित्वा तानि साहस्रिकाणि न भवन्तीत्यर्थः । स० १०० सम० । पाषाणमयमारणमहायन्त्रे, नि० । समूहे, अण्डककूटमण्डकसमूहमित्यर्थः । नि० १ वर्ग । लौहमुद्गरे, तुच्छे, हलावयवभेदे, फालाधारे यन्त्रे, भग्नशृङ्गे, पुं० । पुरद्वारि, निश्चले, वाच० ।

कूडकाहावणोवजीवि (ण्)-कूटकार्षापणोपजीविन्-त्रि०। कार्षापणो द्रम्मः। असत्यकार्षापणोपजीविनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

कूडग-कूटक-पुं० । कूट-स्वुल् । सुरानामगन्धद्रव्ये, कवर्याम्, फाले, न० । वाच० । कूट-क० । असत्ये, " से दक्खिण दिसे तेण परिक्खावितो जाव कूडगो " आ० म० द्वि० ।

कूडग्गह-कूटग्रह-पुं० । कूटग्रहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कूडग्गाह-कूटग्राह-पुं० । कूटेन जीवान् गृह्णातीति कूटग्राहः। वञ्चनव्यापारविशेषेण जीवग्राहके, विपा० १ श्रु० २ अ० । स्त्रियां कूटग्राहिणी । " तत्थ णं हत्थिणाउरे भीमे णामं कूडग्गाहे होत्था । अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला णामं भारिया होत्था।अहीणतपणं सा उप्पला कूडग्गाहिणी । " विपा० १ श्रु० २ अ० ।

कूडजाल-कूटजाल-न० । कूटवागुरादौ, उत्त० १६ अ० ।

कूडतुलाकूडमाणकरण-कूटतुलाकूटमानकरण-न० । तुला प्रतीता, मान कुडवादि । कूटत्वं न्यूनाधिकत्वम् । उपा० १ अ० । तयोरन्येवस्थापेक्षया न्यूनाधिकयोः करणं कूटतुलाकूटमानकरणम् । ध० र० । तुलामानाभ्यां न्यूनाभ्यां ददतोऽधिकाभ्यां गृह्णतोऽनर्थदण्डविरमणस्य चतुर्थेऽतिचारे, आव० ४ अ० । उपा० । आ० ।

कूडपास-कूटपाश-पुं० । मत्स्यबन्धनभेदे, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

कूडप्पओग-कूटप्रयोग-पुं० । प्रच्छन्ने पापे, आव० ४ अ० ।

कूडया-कूटता-स्त्री० । तुलादीनामन्यथात्वे,प्रश्न० ४ आश्र०द्वार ।

कूडरूवसमा-कूटरूपसमा-स्त्री० । द्रव्यरहितटङ्कचित्रविशेषयुक्ततृतीयरूपकतुल्यायां वन्दनायाम्, पञ्चा० ३ विव० ।

कूडलेह-कूटलेख-पुं० । कूटमसद्भूतं तस्य लेखो लिखनं कूटलेख । अन्यसरूपाक्षरमुद्राकरणे,ध० २ अधि० । अन्यमुद्राक्षरविन्द्वादिना कूटस्यार्थस्य लेखने, एष च स्थूलकमृषावादस्य पञ्चमोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

कूडलेहकरण-कूटलेखकरण-न० । कूटमसद्भूतं लिख्यते इति लेख , करणं क्रिया, कूटलेखक्रिया कूटलेखकरणम । अन्यमुद्राक्षरबिन्दुसरूपलेखकरणे, आव० ६ अ० । असद्भूतार्थस्य लेखस्य विधाने, उपा० १ अ० । असद्भूतार्थसूचकाक्षरलेखनस्य करणे, ध० र० । इहापि मृषाभणनमेव मया प्रत्याख्यातमिदं तु लेखनमिति भावनया मुग्धबुद्धेर्व्रतसत्यापेक्षस्यातिचारता भावनीया । अन्यथा वा अनाभोगादिकारणेभ्योऽसौ वाच्येति । ध० र० । एतच्च यद्यपि कायेनासत्यं वाच न वदामीत्यस्य न वादयामीत्यस्य वा व्रतस्य भङ्ग एव,तथाऽपि सहसाकारानाभोगादिनाऽतिक्रमादिना वाऽतिचार । अथ वा सत्यमित्यसत्यभणनं मया प्रत्याख्यातमिदं तु लेखनमिति भावनया व्रतसव्यपेक्षस्यातिचार एवेति चतुर्थोऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

कूडलेहकिरिया-कूटलेखक्रिया-स्त्री० । कूटलेखस्य करणे, आव० ६ अ० ।

कूडवासि (ण्)-कूटवासिन्-पुं० । कूटेषु चन्दनवनकूटादिषु वस्तुं शीलं येषां ते तथा । वर्षधरादिवासिषु देवेषु, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

कूडवाहि (ण्)-कूटवाहिन्-पुं० । बलीवर्दे, " सममोमे वि अहमारो, उज्झाणे किमु अकूडवाहिस्स । " आव० ५ अ० ।

कूमसक्ख–कूटसाक्ष्य–न० । लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्य लज्जा-मत्सरादिना कूटं वदतः यथाऽहमत्र साक्षीति साक्षित्वदाने, ध० २ अधि० । कूटसाक्ष्यं तत्क्रोधमत्सराद्यभिभूतः प्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति यथाऽस्याहमत्र साक्षी । पञ्चा० १ विव० । उपा० ।

कूमसक्खित्त–कूटसाक्षित्व–न० । लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्योत्कोचमत्सराद्यभिभूतस्य कूटसाक्षिदाने, ध० २ अधि० । कूटसाक्षित्वमुत्कोचमत्सराद्यभिभूतप्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति अविधवाद्यनृतस्यात्रैवान्तर्भावो वेदितव्यः । आव० ६ अ० ।

कूमसामलि–कूटशाल्मलि–पुं० । स्त्री० । कूटाकारः शिखराकारः शाल्मलिः कूटशाल्मलिरिति संज्ञा । स्था० । "दो कूडसामली चेव" स्था० । स च देवकुरुषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! देवकुराए कूमसामलिपेढे पण्णत्ते । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं णिसहस्स वासहर-पव्वयस्स उत्तरेणं विज्जुप्पभस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीओदाए महाणईए पच्चच्छिमेणं देवकुरुपच्चच्छिमद्धस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं देवकुराए कूमसामलीए पेढे णामं पेढे पन्नत्ते, एवं जच्चेव जम्बूए सुदंसणाए वत्तव्वया सच्चेव सामलीए वि भाणिअव्वा णामविहूणा गरुलदेवे रायहाणी दाक्खिणे णं अवसिट्ठं तं चेव ॥

"कहि ण" इत्यादिप्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, नवरं कूटाकारा शिखराकारा शाल्मली तस्या पीठम्, उत्तरसूत्रे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतकोणे निषधस्योत्तरस्यां विद्युत्प्रभवक्षस्कारस्य सर्वेनः शीतोदाया महानद्याः पश्चिमायां देवकुरूणां शीतयोत्तरकुरूणामिव शीतोदयाद् द्विधाकृतानां पश्चिमार्द्धस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र प्रज्ञापकनिर्दिष्टदेशे देवकुरुषु कूटशाल्मल्याः कूटशाल्मलीपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तम् । एवमुक्तसूत्रानुसारेण यैव जम्ब्वा सुदर्शनाया वक्तव्यता सैव शाल्मल्या अपि भणितव्या । अत्र विशेषमाह–नामभिः प्राग्व्यावर्णितैर्द्वादशभिर्जम्बूनामभिर्विहीना भणितव्येति संयोजना । इह शाल्मलीनामानि न सन्तीत्यर्थः । तथा अनादृतस्थाने गरुडदेवः, अत्र गरुडो गरुडजातीयो वेणुदेवनामा, मतान्तरे गरुडवेगनामा देवः, राजधान्यस्य मेरुतो दक्षिणस्याम्, तथा सूत्रेऽनुक्तमपीदं बोध्यम् । अस्य पीठकूटानि च प्रासादभवनान्तरालवर्त्तीनि रजतमयानि, जम्बूवृक्षस्य तु सुवर्णमयानि । अपि चायं शाल्मलीवृक्षो यदा तदा वा सुवर्णकुमाराधिपवेणुदेववेणुदालिक्रीडास्थानम् । तथा चाह सूत्रकृताङ्गचूर्णिकृत् शाल्मलीवृक्षवक्तव्यताऽवसरे–"तत्थ वेणुदेवे वेणुदाली अ वसइ ।" तयोर्हि तत् क्रीडास्थानमिति, अवशिष्टं तदेव जम्बूप्रकरणतोक्तमेव यो विशेषः स दर्शित इत्यर्थः । जं० ४ वक्ष० ।

कूमसामली णं गरुलावासे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता ।

कूटशाल्मली वृक्षविशेषः, देवकुरुषु गरुडजातीयस्य वेणुदेवाभिधानस्य देवस्याऽऽवास इति । स० ७ सम० । नरकस्थे वृक्षविशेषे च, "अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली" । उत्त० २० अ० । स्था० ।

कूमागार–कूटाकार–पुं० । पर्वतशिखरस्य संस्थाने, औ० । शिखराकृतौ, रा० ।

कूटागार–न० । कूटानि शिखराणि स्तूपिकाः, तद्वन्ति अगाराणि गेहानि । स्था० ४ ठा० २ उ० । पर्वतोपरिगृहेषु, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० । हैमवत्कूटस्थेषु देवभवनेषु, स्था० २ ठा० ४ उ० । " पव्वयसठियं उवरुवरिभूमियाहिं उव्वट्टमाण कूडागारं " कूडेवागारं पर्वते कुट्टितमित्यर्थः । नि० चू० १२ उ० । कूटं सत्त्वबन्धनस्थानं तद्वदगाराणि कूटागाराणि । हिंसास्थानगृहेषु, स्था० ४ ठा० १ उ० । (कूटागारचातुर्विध्यदर्शनेन पुरुषजातप्ररूपणं ' पुरिसजाय ' शब्दे वक्ष्यते)

कूमागारसाला–कूटाका (गा) रशाला–स्त्री० । कूटस्येव पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा । रा० । सा चासौ शाला चेति समासः । विपा० १ श्रु० ३ अ० । स्था० । शिखराकृत्योपलक्षितायां शालायाम्, भ० ३ श० १ उ० । यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भावः । रा० ।

कूटागारशालास्वरूपं चेत्थम्–

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स एसा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभावे कहिं गते कहिं अणुप्पविट्ठे ? । गोयमा ! सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे ? । गोयमा ! से जहा णामए कूटागारसाला सिया दुहओ गुलित्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा तीसे णं कूमागारसालाए अदूरसामंते एत्थ णं महेगं जणसमूहे चिट्ठइ, तते णं से जहा जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलगं वा वासवद्दलगं वा महावायं वा एज्जमाणं पासति, पासित्ता णं कूमागारसालं अंतो २ अणुपविसित्ता णं चिट्ठइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ सरीरं अणुप्पविट्ठे ॥

(कहिं अणुप्पविट्ठे इति) क्वानुप्रविष्टः, क्वानुलीन इति भावः । भगवानाह–गौतम ! शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः । पुनः पृच्छति–(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन केन हेतुना भदन्त ! एवमुच्यते शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः । भगवानाह–गौतम ! "से जहा णामए" इत्यादि कूटस्येव पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा, यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भावः । कूटाकारा चासौ शाला च कूटाकारशाला । यदि वा कूटाकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाकारशाला या सा । (दुहओ गुलित्ता इति) बहिरन्तश्च गोमयादिना लिप्ता बहिः प्राकारावृता गुप्तद्वारा द्वारस्थगनात् यदि गुप्ताऽगुप्तद्वारा केषांचित् द्वाराणां स्थगितत्वात्केषांचिद-स्थगितत्वादिति, निवाता वायोरप्रवेशात् किल महद् गृहं निवातं प्रायो न भवति, तत आह–निवातगम्भीरा निवाता सती विशाला इत्यर्थः । ततस्तस्याः कूटाकारशालाया अदूरसामन्ते नातिदूरे नातिनिकटे वा प्रदेशे महान् एकोऽन्यतरो जनसमूहस्तिष्ठति । स च एकं महद् अभ्ररूपं वार्दलमभ्रवार्दलं धारानिपातरहितं सम्भाव्य वर्षं वार्दलमित्यर्थः । वर्षप्रधानं वार्दलकं वर्षं कुर्वन् वार्दलकं महावात (वा-

अविंदमाणे ओहय० जाव ज्झियामि । तए णं से अभए कुमारे सेणियं रायं एव वदासिमाणं तातो तुब्भे ओहय० जाव ज्झियाह अह णं तहा जत्तिहामि जहा णं मम चुल्लमाउआए चेल्लणाए देवीए तस्स दोहलस्स संपत्ती भविस्सतीति कट्टु सेणियं रायं ताहिं इट्ठाहिं जाव वग्गूहिं समासासेति,समासासेतित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता अब्भितरए रहस्सितिए ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेति,सद्दावेतित्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सूणातो अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च गिएहह, तते णं ते ठाणिज्जा पुरिसा अभएणं कुमारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव करतल० पडिसुणेत्ता अभयस्स कुमारस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमंतित्ता जेणेव सूणा तेणेव उवागच्छइ, अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च गिएहंति, गिएहतित्ता जेणेव अभए कुमारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करतल० अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च उवणेंति, तते णं से अभए कुमारे त अल्लं मंसं रुहिरं कप्पणिकप्पियं करेति, करेतित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता सेणियं रायं रहस्सिगयं सयणिज्जंसि उत्ताणयं निवज्जावेति, निवज्जावेतित्ता सेणियस्स उदरवलीसु तं अल्लं मंसं रुहिरं विरचेति,विरचेतित्ता वत्थपुडएणं वेढेती सवती करणेणं करेति,करेतित्ता चेल्लणं देविं उप्पिं पासादे अवलोयणवरगयं ठवेति, ठवेतित्ता चेल्लणाए देवीए अहे सपक्खं सपडिदिसिं सेणिय रायं सयणिज्जंसि उत्ताणगं निवज्जावेति, सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसाइ कप्पणिकप्पियाइं करेति, करेतित्ता सेयभायणंसि पक्खिवति, तते णं से सेणिए राया अलीयमुच्छियं करेति, करेतित्ता मुहुत्तंतरेणं अन्नमन्नेणं सद्धिं संलवमाणे चिट्ठति, तते णं से अभयकुमारे सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसाइं गिएहति, गिएहतित्ता जेणेव चिल्लणा देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता चिल्लणाए उवणेति, तते णं सा चिल्लणा सेणियस्स रन्नो तेहिं उदरवलिमंसेहिं सोल्लेहिं० जाव दोहलं विणेति,तते णं सा चिल्लणा देवी संपुन्नदोहलाए वसमाणी विच्छिन्नदोहलाए वसमाणी तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहति, तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए अन्नया कयायि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयमेया० जाव समुप्पज्जित्ता जइ ताव इमेणं दारएणं गब्भगएणं चेव पिउणो उदरवलिमंसाणि खाइयाणि तं सेयं खलु मम एयं गब्भं साडित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा विद्धंसित्तए वा एवं संपेहेति,संपेहेतित्ता तं गब्भं बहूहिं गब्भसाडणेहि य गालणेहि य गब्भविद्धंसणेहि य इच्छति साडित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा नो चेव णं से गब्भे साडति वा गालति वा विद्धंसति वा, तते णं सा चेल्लणा देवी तं गब्भं जाहे नो संचाएति बहूहिं गब्भसाडणेहि य० जाव गब्भपाडणेहि य साडित्तए वा० जाव विद्धंसित्तए वा ताहे संता तंता परितंता निव्विन्ना समाणी अकामिया अवसवसा अट्टवसट्टदुहट्टा तं गब्भं परिवहति ।

(अप्फुणा समाणी) व्याप्ता सती शेष सुगम यावत् (सोल्लेहि य त्ति) पक्वै. (तलिएहिं ति) स्नेहपक्वै. (भज्जिएहिं) भ्रष्टै' (पसन्नं च) द्राक्षादिद्रव्यजात्या मन प्रसत्तिहेतु. (आसाएमाणीओ त्ति) ईषत् स्वादयन्त्यो बहुंश्च त्यजन्त्य. इक्षुखण्डादेरिव (परिभाएमाणीओ) सर्वमुपभुञ्जानाः (सुक्ख त्ति) शुष्केव शुष्काभाः रुधिरक्षयात् (भुक्ख त्ति) भोजनाकरणतो बुभुक्षितेव (निम्मंसा) मांसोपचयाभावत. (ओरुग्ग त्ति) अवरुग्णा भग्नमनोवृत्तिः (ओलुग्गसरीरा) भग्नदेहा., निस्तेजाः गतकान्ति., दीना विमनोवदना, पाएडुकितमुखी पाएडुरीभूतवदना (ओमंथिय त्ति) अधोमुखीकृतोपहतमन.संकल्पा, गतयुक्तायुक्तविवेचना (करयल। कट्टु त्ति) (करयलपरिग्गाहिअं दसनहं सिरसावत्त मत्थए अंजलिं कट्टु सेणियं रायं एव वदासी)इति स्पष्टम्। एनमर्थं नाद्रियते अत्रार्थे आदरं न कुरुते, न परिजानीते नाभ्युपगच्छति, कृतमौना तिष्ठति (धन्नाओ ण कयलक्खणाओ णं सुलद्धे ण तासिं जम्मजीवियफले इट्ठाहिं अवणिज्जमाणंसि त्ति) अपूर्यमाणा (ज्झियामि त्ति) 'इट्ठाहिं' इत्यादीनां व्याख्या प्रागिहैवोक्ता। (उवट्ठाणसाला) आस्थानमण्डप(ठिइं वा)तथा(अविंदमाणे)अलभमाने (अतगमन)पारगमन तत्संपादने उपनमन.स्थानात् (वत्थिपुडग) उदरान्तर्वर्त्ति प्रदेशे(कप्पणिकप्पिय)आत्मसमीपस्थ सपक्षं संमत पार्श्वसमवामेतरपार्श्वतया सप्रति दिक्तया अन्यथंमभिमुखमित्यर्थं । अभिमुखावस्थानेन हि परस्पर समावेव दक्षिणवामपार्श्वे भवत. । एव विदिशावपि (अयमेयारूवे अब्भत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्जित्था) सातन पातन गालन विध्वंसनमिति कर्तुं संप्रधारयति उदरान्तर्वर्त्तिन औषधै' सातनम्,उदराद्बहिष्करण पातन, गालनं रुधिरादितया कृत्वा, विध्वंसन सर्वं गर्भपरिशाटनेन च शटनाद्यवस्थाऽस्य भवति। 'संता तंता परितंता' इत्येकार्था ,खेदवाचका एते ध्वनय 'अट्टवसट्टदुहट्टा' इत्यादि पूर्ववत्।

तते णं सा चिल्लणा देवी नवएहं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं० जाव सुकुमालं सुरूवं दारयं पयाया । तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए इमे एतारूवे० जाव समुप्पज्जित्था जइ ताव इमेणं दारएणं गब्भगएणं चेव पिउणो उदरवलिमंसाइं खाइयाइं तं तं नज्जइ एस णं दारए संवड्ढमाणे अम्हं कुलस्स अंतकरे भविस्सति,तं सेयं खलु अम्ह एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावित्तए एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता दासचेडिं सद्दावेति,सद्दावेतित्ता एवं वयासी—गच्छ ण तुमे देवाणुप्पिए ! एय दारग एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहि । तते ण सा दासचेडी चेल्लणाए देवीए एवं वुत्ता समाणी करतल० जाव कट्टु चिल्लणाए देवीए तमट्ठं विणएण पडिसुणेति,पडिसुणेतित्ता तं दारगं करतलपुडेणं गिएहति जेणेव असोगवणिया

तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झति, तते णं तेणं दारएणं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झितेणं समाणेणं सा असोगवणिया उज्जोविता यावि होत्था, तते णं सेणिए राया इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झियं पासेति, पासेतित्ता आसुरत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तं दारगं करतलपुडेणं गिण्हति, गिण्हवित्ता जेणेव चेल्लणा देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चेल्लणं देविं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आओसति, आओसतित्ता उच्चावयाहिं निब्भत्थणाहिं निब्भत्थेति, निब्भत्थेतित्ता एवं उद्धंसणाहिं उद्धंसेति, उद्धंसेतित्ता एवं वयासी-किस्स णं तुमं मम पुत्तं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावेसि त्ति कट्टु चेल्लणं देविं उच्चावयाहिं सावितं करेति, करेतित्ता एवं वयासी-तुमं णं देवाणुप्पिए ! एवं दारगं अणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेहि । तते णं सा चेल्लणा देवी सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणी लज्जिया विलिता करतलपरिग्गहियं सेणियस्स रन्नो विणएणं एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेतित्ता तं दारगं अणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेत्ति । तते णं तस्स दारगस्स एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिज्जमाणस्स अग्गंगुलिआए कुक्कुडपिच्छएणं दूमिया वि होत्था अभिक्खणं अभिक्खणं पूयं च सोणियं च अभिनिस्सवेति, तते णं से दारए वेदणाभिभूए समाणे महता महता सद्देणं आरसति, तते णं से सेणिए राया तस्स दारगस्स आरसितसद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव से दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं करतलपुडेणं गेण्हइ, गेण्हइत्ता तं अग्गंगुलियं आसयंसि पक्खिवति, पक्खिवतित्ता पूइं च सोणियं च आसएणं आमुसति, आमुसतित्ता तते णं से दारए निव्वेदणे तुसिणीए संचिट्ठइ जाहे वि य णं से दारए वेदणाए अभिभूते समाणे महता महता सद्देणं आरसति ताहे वि य णं सेणिए राया जेणेव से दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं करतलपुडेणं गिण्हति, त चेव० जाव निव्वेयणे तुसिणीए संचिट्ठइ । तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो ततिए दिवसे चंदसूरदंसणियं करेंति० जाव सपत्ते । वारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गुणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करेंति जहा णं अम्हं इमस्स दारगस्स एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिज्जमाणस्स अंगुली कुक्कुडपिच्छएणं दूमिया तं होउणं अम्हं इमस्स दारगस्स नामधेज्जं कूणिए, तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधिज्जं करेंति कूणिय त्ति, तते णं तस्स कूणियस्स दारगस्स अणुपुव्वेणं ठितिवडियं च जहा मेहस्स० जाव उप्पिं पासाए विहरति अट्ठदातिओ । तते णं तस्स कूणियस्स कुमारस्स अन्नदा पुव्वरत्ता० जाव समुप्पिज्जि एव खलु अहं सेणियस्स रन्नो वाघाएणं नो संचाएमि सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे पालेमाणे विहरित्तए तं सेयं मम खलु सेणियं रायं नियलबंधणं करेत्ता अप्पाणं महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता सेणियस्स रन्नो अंतराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य पडिजागरमाणे विहरति । तते णं से कूणिए कुमारे सेणियस्स रन्नो अंतरं वा० जाव संवा अलभमाणे अन्नदा कदायि कालादिए दस कुमारे नियघरे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे सेणियस्स रन्नो वाघाएणं णो संचाएमो सयमेव रज्जसिरिं करेमाणा पालेमाणा विहरित्तए तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सेणियरायं नियलबंधणं करेत्ता रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च जणवयं च एक्कारसभाए विरिचित्ता सयमेव रज्जं करेमाणाणं पालेमाणाणं० जाव विहरित्तए, तते णं कालादीया दस कुमारा कूणियस्स कुमारस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति, तते णं से कूणिए कुमारे अन्नदा कदायि सेणियस्स रन्नो अंतरं जाणति, जाणतित्ता सेणियं रायं निपलबंधणं करेति, करेतित्ता अप्पाणं महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावेति, तते णं से कूणिए कुमारे राजा जाते महता महता तते णं से कूणिए राया अन्नदा कदायि न्हाए० जाव सव्वालंकाराविभूसिए चेल्लणाए देवीए पायवंदए हव्वमागच्छति, तते णं से कूणिए राया चेल्लणं देविं ओहय० जाव झियायमाणिं पासति, पासतित्ता चेल्लणाए देवीए पायग्गहं करेति चेल्लणं देविं एवं वयासी-किं णं अम्मो ! न तुट्ठी वा न ऊसए वा न हरिसे वा ण णंदे वा जं नं अहं सयमेव रज्जसिरिं० जाव विहरामि, तते णं सा चेल्लणा देवी कूणिय रायं एवं वयासी-कहं णं पुत्ता ! मम तुट्ठी वा उसमहरिसाणंदे वा भविस्सति, जं णं तुम्हं सेणियं रायं पियं देवयं गुरुजणगं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करित्ता अप्पाणं महता महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावेसि । तते णं से कूणिए राया चेल्लणं देविं एवं वदासी-घातेउकामे णं अम्मो ! मम सेणिए राया एवं मारेतुं बंधितु निच्छुभितुकामए णं अम्मो ! ममं सेणिए राया त कहं णं अम्मो ! मम सेणिए राया अच्चतनेहाणुरागरत्ते ? । तते णं सा चेल्लणा देवी कूणियं कुमारं एवं वयासी-एवं खलु पुत्ता ! तुमंसि ममं गब्भे आभूते समाणे तिण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं मम अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूते धन्ना तो णं तातो अम्मया तो० जाव अंगपडिचारियाओ

निरवसेसं भाणियव्वं० जाव जाहे वि य णं तुमं वेयणे य अभिभूते महता०जाव तुसिणीए संचिट्ठसि एवं खलु तव पुत्ता! सेणिए राया अच्चंतनेहाणुरागरत्ते । तते णं से कूणिए राया चेल्लणादेवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म चेल्लणं देविं एवं वयासी–दुट्ठु णं अम्मो! मए कयं सेणियं रायं पियं गुरुजणगं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करेंति, तेणं तं गच्छामि णं सेणियस्स रन्नो सयमेव नियलानि छिंदामि त्ति कट्टु परसुहत्थगते जेणेव चारगसाला तेणेव पहारित्थ गमणाए । तते णं सेणिए राया कूणियं कुमारं परसुहत्थगयं एज्जमाणं पासति, पासतित्ता एवं वयासी–एस णं कूणिए कुमारे अपत्थियपत्थिए० जाव सिरिहिरिपरिवज्जिए परसुहत्थगए इह हव्वमागच्छति तं न नज्जइ णं ममं केणइ कुमारेणं मारिस्सतीति कट्टु० जाव संजायभए तालपुडगं विसं आसगं विसं आसगंसि पक्खिवइ । तते णं से सेणिए राया तालपुडगविसंसि आसगंसि पक्खित्ते समाणे मुहुत्तंतरेणं परिणममाणंसि निप्पाणे निच्चिट्ठे०जाव विप्पजढे उए। तते णं से कूणिए कुमारे जेणेव चारगसाला तेणेव उवागए २ त्ता सेणियं रायं निप्पाणं निच्चिट्ठं०जाव विप्पजढं उइणं पासति, पासतित्ता महता पितुसोएणं अप्फुण्णे समाणे परसुनियत्ते विव चंपगवरपादवे धसति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं संनिवडिए,तते णं से कूणिए कुमारे मुहुत्तंतरेणं आसत्थे समाणे रोयमाणे कंदमाणे सोयमाणे विलवमाणे एवं वदासी–अहो णं मए अधन्नेणं अपुन्नेणं अकयपुन्नेणं दुट्ठु कयं सेणियं रायं पियदेवयं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणे करेंति तेण मम मूलागं चेव णं सेणिए राया कालगति त्ति कट्टु ईसरतलवर०जाव सन्धिवालसद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे सोयमाणे विलवमाणे महया इड्डिसक्कारसमुदएणं सेणियस्स रन्नो नीहरणं करेति, बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति, तते णं से कूणिए कुमारे एतेणं महया मणोमाणसिएण दुक्खेणं अभिभूते समाणे अन्नदा कदायि अंतेउरपरियालपडिवुडे सभंडमत्तोवगरणमाताए रायगिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव चम्पा नगरी तेणेव उवागच्छइ । तत्थ वि णं विपुलभोगसमितिसमन्नागए कालेणं अप्पसोए जाए यावि होत्था । तते णं से कूणिए राया अन्नया कयाइं कालादीए दस कुमारे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता रज्जं च० जाव जणवयं च एक्कारसभाए विरचेति, विरचेतित्ता सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे पालेमाणे विहरति ।

(उच्चावयाहिं ति) उच्चानिराक्रोशे सति निर्भर्त्सना उद्घोषणाऽजिलज्जिता व्रीडिता (विग्घडिय ति) स्थितिपतित कुलक्रमागतं पुत्रजन्मानुष्ठानम् (अतराणि य) अवसरान् (छिद्दाणि) अल्पपरिवारादीनि, विरहो विजनत्व, तुष्टिरुत्सव हर्षे आनन्दः प्रमोदार्था एते घोषाः। (घायउकामेण) घातयितुकामः। णं वाक्यालङ्कारे, मां श्रेणिको राजा हनन मारणं बन्धन निर्भर्त्सनं एते पराभिभवसूचकाः ध्वनयः। निश्चेष्टः जीवितविप्रजढः प्राणापहारसूचका एते । अवतीर्णो भूमौ पतितः आपन्नो व्याप्तः सन् (रोअमाणे त्ति) रुदन् (कंदमाणे) क्रन्दन कुर्वन् (सोयमाणे) शोक कुर्वन् (विलवमाणे) विलापं कुर्वन् (नीहरणं ति) परोक्षस्य यन्निर्गमादिकार्यम् । (मणोमानसिएणं ति) मनसि जातं मानसिक मनस्येव यद्वर्तते वचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकं तेनाबहिर्वर्तिना अभिभूता (अंतेउरपरियालसपरिवुडे) नि० १ वर्ग । भ० । व्य० । आ० क० । आ० चू० । आव० । प्रत० । आ० म० । (चेटकराजेन सहाऽस्य सङ्ग्रामः कालकुमारवक्तव्यतायां ' काल ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४७१ पृष्ठे उक्तः । ' रहमुसल ' शब्दे ' महासिलाकंटय ' शब्देऽपि वक्ष्यते)

स च चम्पानगरीपतिर्जातः–

एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पा नामं नयरी होत्था, रिद्धपुन्नभद्दे चेइए, तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए कूणिए नाम राया होत्था । महता तस्स णं कूणियस्स रन्नो पउमावई नामं देवी होत्था, सुखमाल० जाव विहरइ । तत्थ णं चम्पाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कूणियस्स रन्नो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था सुकुमाल० जाव सुरूवा । नि० १ वर्ग ।

तद्वर्णक औपपातिके यथा–

तत्थ णं चम्पाए णयरीए कूणिए णामं राया परिवसइ महया हिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए णिरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे बहुजणबहुमाणपूजिए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुइए मुद्धाहिसित्ते माउपिउसु जाए दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले जणवयपुरोहिए सेउंकरे केउंकरे णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसासीविसे पुरिसपुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिण्णे विउलभवणसयणासणजाणवाहणाईण्णे बहुधणबहुजायरूवे रयते आओगपओगसपउत्ते वित्थड्डिअपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलकप्पभूते पडिपुण्णजंतकोसकोट्ठागाराउधागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं मलिअकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं उकंटयं ओहयसत्तुं निहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धिअसत्तुं निज्जिअसत्तुं पराइअसत्तुं ववगयदुब्भिक्खं मारिभयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरति ।

तद्राज्ञीवर्णकः–

तस्स णं कोणियस्स रण्णो धारिणी नामं देवी होत्था सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्ख-

णवंजणगुणोववेआ माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वं- गसुंदरंगी ससिसोमाकारा कंतपियदंसणा सुरूवा करयलपर- मिअपसत्थतिवलियवलियमज्झा कोमुइरयणियरविमलपडि- पुण्णसोमवयणा कुंडलुल्लिहियगंडलेहा सिंगारागारचारुवे- सा संगयगयहसिअभणिअचिट्ठिअविलासललिअसंलाव- णिउणजुत्तोवयारकुसला पासादीआ दरिसणिज्जा अभिरू- वा पडिरूवा कोणिएणं रएणा भंभसारपुत्तेणं सद्धिं अणु- रत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरति। तस्स णं कोणिअ- स्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकयवित्तिए भगवओ पवित्ति- वाउए भगवतो तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेएइ। तस्स णं पुरिस- स्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्णा भत्तिभत्तवेअणा भगवतो पवित्तिवाउआ भगवतो तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेदेंति। तेणं कालेणं तेणं समएणं कोणिए राया भंभसारपुत्ते बाहिरि- याए उवट्ठाणसालाए अणेगगणनायकदंडनायकराईसरत- लवरमाडंबिअकोडुंबिअमंतिमहामंतिगणकदोवारिअअमच्च- चेडपीढमद्दनगरनिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूतसंधिवालस- द्धिं संपरिवुडे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे (अ०) पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे चंपाए णयरीए बहिया उवणगरगामं उवागए चंपं नगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउकामे। तए णं से पवित्ति- वाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमा- णंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाण- हियए ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउअमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पवेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घा- भरणालंकियसरीरे सआओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, स- आओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता चंपाए णयरीए मज्झं- मज्झेणं जेणेव कोणियस्स रण्णो गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहिय सिरसावत्त मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी—जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं कंखंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पीहंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पत्थंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं अभिलसं- ति, जस्स णं देवाणुप्पिया णामगोत्तस्स वि सवणयाए हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया भवंति, से णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे चंपाए ण- यरीए उवणगरगामं उवागए चंपं णगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउकामे तं एअं णं देवाणुप्पियाणं पिअट्ठयाए पिअं णिवेदेमि—पिअं ते भवओ। तए णं से कूणिए रा- या भंभसारपुत्ते तस्स पवित्तिवाउअस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअए विअसियवरकमलणय- णवयणे पअलियवरकडगतुडियकेयूरमउडकुंडलहारविरा- यंतरइयवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरिअं चवलं नरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता पाउआओ उम्मुअइ, उ- म्मुअइत्ता अवहट्टु पंच रायककुहाइं। तं जहा—खग्गं १ छत्तं २ उप्फेसं ३ वाहणाउ ४ वालवीअणं ५, एकसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता आयंते चोक्खे परमसुइब्भूए अंज- लिमउलिअग्गहत्थे तित्थगराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छ- ति, सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छतित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निवेसेइ त्ति साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइत्ता ईसिं पच्चुण्णमति, पच्चुण्णमित्ता कडगतुडियथंभिआओ भुआओ पडिसा हरति, हरतित्ता करयल० जाव कट्टु एवं वया- सी—णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थगराणं सयं संबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहा- णं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्त- माणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जो- अगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणद- याणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवोत्ताणं सरणंगइपइट्ठा अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टच्छउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं सव्वन्नूणं सव्वद- रिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावि- त्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थगरस्स० जाव सं- पाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स वंदामि णं भगवं तत्थ गयं इह गते पासउ मे भगवं तत्थ गए इह गयं तिकट्टु वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता सीहा- सणवरगए पुरत्थाभिमुहे निसीअइ, निसीइत्ता तस्स प- वित्तिवाउअस्स अट्ठुत्तरसयसहस्सं पीतिदाणं दलयति, द- लइत्ता सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारित्ता संमाणित्ता एवं वयासी—जया णं देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे इह मागच्छेज्जा, इह समोसरिज्जा, इहेव चंपाए णयरीए बहि- आ पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता सं- जमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरेज्जा, तया णं मम ए- अमट्ठं निवेदिज्जासि त्ति कट्टु विसज्जिते। तए णं समणे भ- गवं महावीरे कल्लं पाओ पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलक-

मलकोमलुम्मिलितम्मि अहा पंडुरे पहाए रत्तासोगप्पगास- किंसुअसुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागरसंडवोहए उ- ट्ठियंमि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणअरे तेयसा जलंते जे- णेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छ- ति, उवागच्छतित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता सं- जमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरति (औ०)। तए णं चंपाए णयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहा- पहपहेसु महया जणसद्देति वा जणवूहेति वा जणबोलेति वा जणकलकलेति वा जणुम्मीति वा जणुक्कलियाति वा जण- सन्निवाएति वा बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे सयं संबुद्धे पुरिसुत्तमे० जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए इह संपत्ते इह समोसढे इहेव चंपाए णयरीए बाहिं पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति; तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोअस्स वि सवणताए, किमं- ग ! पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवास- णयाए, एकस्स वि आयरियस्स धम्मिअस्स सुवयणस्स सवणताए किमंग ! पुण विपुलस्स अत्थस्स गहणयाए, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअं विणएणं पज्जुवासामो, एतेणं पेच्चभवे इहभवे अ हियाए सुहाए खमाए निस्सेअसाए आणुगामिअत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता एवं दुपडो- आरेणं राइण्णा खत्तिआ माहणा भडा जोहा पसत्थारो मल्लई लेच्छई लेच्छईपुत्ता अण्णे य बहवे राईसरतलवरमा- डंबियकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहपभितिओ अ- प्पेगइआ वंदणवत्तिअं अप्पेगइआ पूअणवत्तियं एवं सक्का- रवत्तियं सम्माणवत्तियं दंसणवत्तिअं कोऊहलवत्तिय अ- प्पेगइआ अट्ठविणिच्छयहेउं अस्सुयाइ सुणेस्सामो, सुआइ निस्संकियाइं करिस्सामो, अप्पेगइआ अट्ठाइं हेऊइं कारणाइं वागरणाइ पुच्छिस्सामो, अप्पेगईआ सव्वओ समंताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइस्सामो, पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्पेगइआ जिणभत्तिरागेण अप्पेगइआ जीअमेअं ति कट्टु ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउअमंगलपायच्छित्ता सिर- सा कंठमालकडा आविद्धमणिसुवन्ना कप्पियहारद्धहार- तिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तयसुकयसोहाभरणा पवरव-

त्थपरिहिआ चंदणालित्तगायसरीरा अप्पेगइआ हयगया एवं गयगया रहगया सिबियागया संदमाणियागया अप्पे- गइया पायविहारचारिणो पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं पक्खुभियमहास- मुद्दरवभूतं पि व करेमाणा चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, णिग्गच्छतित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तातीए तित्थयराजिसेसे पासंति, पासित्ता जाणवाहणाइं ठावइंति, ठावइंतित्ता जाणवाहणेहिंतो पच्चो- रुहंति, पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवा- गच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आ- याहिणं पयाहिणं करेति, करित्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति। तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे० जाव हिअए ण्हाए० जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिअसरीरे सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता चंपानगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव बाहिरिया सच्चे बहेहिला वत्तव्वया० जाव णिसीयइ, णिसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अद्धतेरससयसहस्साइं पीइदाणं दलयति, दलयतित्ता सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ। तते णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउअं आमंतेति, आमंतेत्ता एव वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभि- सेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हयगयरहपवरजोहकलिअं च चाउरंगिणिं सेण सण्णाहेहि, सुभद्दापमुहाण य देवीणं बा- हिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएकाइं जत्ताभिमु- हाइं जुत्ताइ जाणाइ उवट्ठवेह, चंपं णगरिं सब्भिंतरबाहिरि- अं आसित्तसित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहिअं मचाइमंचक- लिअं णाणाविहरागउत्थियज्झयं पडागाइपडागमंडिअं लाउल्लोइयमहियं गोसीससरसरत्तचंदण० जाव गंधिवट्टिभूअं करेह, कारवेह, करित्ता कारवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पि- णह-निज्जाइस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवंदए; तए ण से बलवाउए कूणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हिअए करयलपरिग्गहिय सिरसावत्त मत्थए अंजलिं कए एवं बयासी-सामि त्ति आणाइ विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता हत्थिवाउअं आमंतेति, आमंतेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कूणिअस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिक- प्पेहि, हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिसेणं सण्णाहेहि, सण्णाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। तए ण से हत्थिवाउए बलवाउअस्स एअमट्ठं सोच्चा आ-

णाए विणएणं वयणं पमिसुणेइ, पडिसुणित्ता छेआय-
रिअउवदेसमतिविकप्पणाविकप्पेहिं सुणिउणेहिं उज्जलणे-
वत्थहत्थपरिवत्थिअसुसज्जं धम्मिअसएणद्धवद्धकवइयउ-
प्पीलियकच्छवच्छगेवेयबद्धगलवरजूसणविराइयं ति अहिय-
तेअजुत्तं सललिअवरकण्णपूराविराइअं पलंबउच्चूलमहुअर-
कयंधयारं चित्तपरिच्छेअपच्छंदं पहरणावरणभरिअजुद्ध-
सज्ज सच्छत्तं सज्झयं सघंटं सपडागं पंचामेलअपरिमंडि-
अाभिरामं ओसारिअजमलजुअलघंटं विज्जुपणद्धं व का-
लमेह उप्पाइयपव्वयं व चंकमंतं मत्तं गुलगुलंतं मणपवण-
जइणवेगं भीमं संगामियाओग्ग आभिसेक्कं हत्थिरयण प-
डिकप्पइ, पमिकप्पेत्ता हयगयरहपवरजोहकालिअं चाउरं-
गिणिं सेणं सणाहेइ, सणाहित्ता जेणेव वलवाउए तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं पच्चुप्पिणइ। तए णं
से वलवाउए जाणसालिअं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-
खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सुभद्दापमुहाणं देवीणं वाहि-
रियाए उवट्ठाणसालाए पमिअक्कपामिअक्काइं जत्ताभिमु-
हाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेइ, उवट्ठवेत्ता एअमाणत्तिअं
पच्चुप्पिणाहि। तते णं से जाणसालिए वलवाउअस्स ए-
अमट्ठं आणाए विणएणं वयणं पमिसुणेइ, पडिसुणित्ता
जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता
जाणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेइत्ता जाणाइं संपमज्जेइ,
सपमज्जेइत्ता जाणाइं संवट्टेइ, जाणाइं संवट्टेत्ता जाणाइं णीणेइ,
जाणाइं णीणेत्ता जाणाणं दूसे पवीणेइ, पवीणेइत्ता जाणाइं
समलंकरेइ, समलंकरेइत्ता जाणाइं वरभंडकमंडियाइं करेति,
करेतित्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उ-
वागच्छित्ता वाहणाइ पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेइत्ता वाहणा-
इं संपमज्जइ, संपमज्जइत्ता वाहणाइं णीणेइ, णीणेइत्ता वा-
हणाइं अप्पफालेइ, अप्पफालेइत्ता दूसे पवीणेइ, पवीणेइ-
त्ता वाहणाइ समलंकरेति, करेतित्ता वाहणाइ वरभंडक-
मंडियाइ करेइ, करेइत्ता वाहणाइं जाणाइं जोएइ, जो-
एइत्ता पतोदलट्ठिपत्तअधरे अ समं आउहइ, आउहित्ता
वट्टमग्गं गाहेइ, गाहेइत्ता जेणेव वलवाउए तेणेव उवाग-
च्छइ, उवागच्छइत्ता वलवाउअस्स एअमाणत्तिअ पच्चप्पि-
णाइ। ततं णं से वलवाउए णगरगुत्तिए आमंतइ, आमंतेइ-
त्ता एव वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चंपं णगरिं
सब्भिंतरवाहिरियं आसिय० जाव कारवेत्ता एअमाणत्ति-
अ पच्चप्पिणाहि। तते णं से णगरगुत्तिए वलवाउअस्स ए-
अमट्ठं आणाए विणएणं पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता चपं ण-
गरिं सब्भिंतरवाहिरिअं आसिअ० जाव कारवेत्ता जेणेव
वलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एअमाणत्तिअं
पच्चप्पिणइ। तते णं से वलवाउए कोणिअस्स रन्नो भंभसा-
रपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पमिकप्पिअं पासेइ, हयगय०
जाव सणाहिअं पासति, सुभद्दापमुहाणं देवीणं पडिजाणा-
इ उवट्ठविआइ पासति, चंपं णगरिं अब्भिंतर० जाव गं-
धवट्टिभूअं कय पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठि त्ति माणंदिए पी-
अमणे० जाव हिअए (औ०) जेणेव मज्जणघरे तेणेव
उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुप-
विसइ, अणुपविसइत्ता समुत्तजालाउलाभिरामे विचित्तम-
णिरयणकुट्टिमतले रमणिज्जे एहाणमंडवंसि णाणामणि-
रयणभत्तिचित्तंसि एहाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुद्धो-
दएहिं गंधोदएहिं पुप्फोदएहिं सुद्धोदएहिं पुणो पुणो
कल्लाणपवरमज्जणविहीए मधिए. तत्थ कोउअसएहिं व-
हुविहेहिं कल्लाणपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकमालगं-
धकासाइयलूहिअगे सरससुरहिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते
अहयसुमहग्घदूसरयणसुसवूए सुइमालावण्णगविलेवणे आ-
विद्धमणिसुवण्णे य कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलं-
वमाणिकडिसुत्तसुकयसोभे पिणद्धगेविज्जअंगुलिज्जगललि-
यंगयललियकयाभरणे वरकडगतुडियथंभिअभुए अहिय-
रूवसस्सिरीए मुद्दिआपिंगलंगुलिए कुंडलउज्जोविआणणे
मउडदित्तसिरए हारोत्थयसुकयरइयवच्छे पालंबपलंबमा-
णपडसुकयउत्तरिज्जे णाणामणिकणगरयणविमलमहरिह-
णिउणो वि अ मिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठ-
आविद्धवीरवलए किं बहुणा कप्परुक्खए चेव अलंकिय-
विभूसिए णरवईसकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं
चउचामरवालवीजियंगे मंगलजयसद्दकयालोए मज्जणघ-
राओ पमिनिक्खमइ, मज्जणघराओ पडिणिक्खमित्ता अणेग-
गणनायगदंडनायकराईसरतलवरमाडंवियकोडुंवियइब्भसे-
ट्ठिसेणावइसत्थवाहदूअसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे धवलम-
हामेहणिग्गए इव गहगणदिप्पनरिक्खतारागणाण मज्झे स-
सि व्व पिअदंसणे णरवई जेणेव वाहिरिआ उवट्ठाणसाला
जेणेव आभिक्खे हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छि-
त्ता अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवई णरवई दुरूढे, तए णं त-
स्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसिक्कं हत्थिरय-
ण दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगलया
पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, त जहा-सोवत्थियसिरि-
वत्थणंदिआवत्तवद्धमाणकभद्दासणकलसमच्छदप्पणा तया-
णंतरं च णं पुण्णकलसभिंगार दिव्वा य छत्तपडागा स-
चामरा दंसणरइअआलोअदरसणिज्जा वाउद्धूयविजय-
वेजयंती ऊसिआ गगणतलमणुलिहंती। पुरओ अहाणु-
पुव्वीए संपट्ठिआ, तयाणंतरं च ण वेरुलिअभिसंतविमलदंडं
पलंबकोरंटमल्लदामोवसोभिअं चंदमंडलणिभं समूसि अवि-

महं आयवत्तपवरं सीहासणं वरमणिरयणपादपीठं सपा- उआयो अ समाउत्तं बहुकिंकरकम्पकरपुरिसपायत्तपरि- क्खित्तं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा पात्थयग्गाहा फलकग्गाहा पीढग्गाहा वीणग्गाहा ह- रुफग्गाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तयाणंतरं ब- हवे मंमिणो मुंडिणो सिहिमिणो जडिणो पिच्छिणो हा- सकरा डमरकरा चाडुकरा वादकरा कंदप्पिकरा दव्वकरा कोकुइआ किट्टिकरा वायंता गायंता हसंता णच्चंता भासंता सावेंता रक्खंतो आलोअ च करेमाणा जयजयसद्दं पउं- जमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तयाणंतरं जच्चा- णंतरमल्लिहायणाणं हरिमेलामउलमल्लियत्थाणं चुंचुच्चिअ- ललियपुलियचलचवलचंचलगईणं लंघणवग्गणधावणधोर- णतिवईजइणसिक्खिअगईणं ललंतलामगललायवरभूसणा- णं मुहभंडगउच्चूलगथासगअहिलाणचामरदंमपरिमंमिय- कडीण किंकरवरतरुणपरिग्गहिआणं अट्ठसयं वरतुर- गाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिय, तयाणंतरं च णं ई- सीदंताणं ईसीमत्ताणं ईसीतुंगाणं ईसीउच्छंगविसालधवल- दंताणं कंचणकोसीपविट्ठदंताणं कंचणमणिरयणभूसिया- णं वरपुरिसारोहगसंपउत्ताणं अट्ठसयं गयाण पुरओ अ- हाणुपुव्वीए संपट्ठिय,तयाणंतरं सछत्ताण सज्झयाण सघंटा- ण सपमागाणं सतोरणवराणं सणंदिघोसाण संखिखिणी- जालपरिक्खित्ताणं हेमवयचेत्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारु- आण कालायससुकयणेमिजंतकम्माणं सुसिलिट्ठवत्तम- रूलधराणं आइसवरतुरगसंपउत्ताण कुसलनरछेअसा- रहिसुसंपग्गहिआणं बत्तीसतोणपरिमंमिआण सकं- कडवडंसकाणं सचावसरपहरणावरणभरिअजुद्धसज्जाणं अट्ठसय रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणं- तरं च णं असिसत्तिकोंततोमरसूललउडभिंडिमालधणुपा- णिसज्ज पायत्ताणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिअं। तते णं से कूणिए राया हारोत्थयसुकयरइयवच्छे कुंडलउज्जो- यिआणणे मउडदित्तसिरए णरसीहे णरवई णरिंदे णरवस- सहे मणुअरायवसभकप्पे अब्भहिअरायतेअलच्छीए दिप्पमाणे हत्थिक्खंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेअवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्व- माणीहिं वेसमणे चेव णरवई अमरवइसण्णिभाए इड्ढीए पहिअकित्ती हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणुगम्ममाणमग्गे जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव पहारित्थगमणाए, तए णं तस्स कूणिअस्स रण्णो भंभसा- रपुत्तस्स पुरओ महं आसा आसधरा उभतो पासिं णागा णागधरा पिट्ठओ रहसंगेल्ली। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते अब्भुग्गयभिंगरिपग्गहियतालियंटे उत्थियसे- अच्छत्ते पवीइअवालवीयणिए सव्विड्ढीए सव्वज्जुतीए स- व्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूइए सव्ववि- भूसाए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतुरि- असद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए महया जुतीए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडिअजमगसमगप्पवाइएणं सं- खपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरयमुअंगदुंदुभिणि- ग्घोसणाइयरवेणं चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छ- इ। तए णं कूणिअस्स रण्णो चंपानगरिं मज्झं मज्झेण णिग- च्छमाणस्स बहवे अत्थत्थिया कामत्थिआ भोगत्थिआ कि- व्विसिआ करोमिआ लाभत्थिया कारवाहिआ संखिआ च- क्किया लंगलिया मुहमंगलिया वद्धमाणा पुस्समाणआ खंमि- यगणा ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पिआहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं मणाभिरामाहिं हिययगमणिज्जाहिं वग्गूहिं जयविजयमंग- लसएहिं अणवरयं अभिणंदंता य अभिथुणंता य एवं वया- सी-जय जय णंदा,जय जय भद्दा,भद्द ते अजिअं जिणाहिं जिअपालेहिं जिअमज्झवसाहिं इंदो इव देवाणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं चंदो इव ताराण भरहो इव मणुआणं बहूइं वासाइं बहूइं वाससआइं बहूइं वाससह- स्साइं बहूइं वाससयसहस्साइं अणहसमग्गो हट्ठतुट्ठो पर- माउं पालयाहिं इट्ठजणसंपरिवुडो चंपाए णयरीए अण्णे- सिं च बहूणं गामागरणगरखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टण- आसमनिगमसंवाहसंनिवेसाण आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरे सेणावच्चं कारेमाणे पाले- माणे महया हयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडिअघणमुअं- गपडुप्पवाइअरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे वि- हराहि ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पे- च्छिज्जमाणे हिअयमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे अ- भिणंदिज्जमाणे मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे वि- च्छिप्पमाणे वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथु- व्वमाणे कंतिसोहग्गगुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे बहू- णं णरणारिसहस्साणं दाहिणहत्थेणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे मंजुमंजुणा घोसेण पडिबुज्झमा- णे पडिबुज्झमाणे भवणपतिसहस्साइं समइच्छमाणे समइ- च्छमाणे चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेण णिग्गच्छइ,णिग्गच्छ- इत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए ति- त्थयराइसए पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयण ठवेइ,

ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता अवहट्टु पंच रायककुहाइं। तं जहा-खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणाओ वालवीअणं, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंते। तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए एगसाडिअं उत्तरासंगं करणं चक्खुप्फासं अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तभावकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेत्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ। तं जहा-काइयाए वाइआए माणसिआए, कायाइए ताव संकुइअग्गहत्थपाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ, वाइआए जं जं भगवं वाकरेइ एवमेवं भंते! तहमेय भंते! अवितहमेयं भंते! असंदिद्धमेअं भंते! इच्छिअमेअं भंते! पडिच्छिअमेअं भंते! इच्छियपडिच्छियमेअं भंते! से जहेयं तुब्भे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासंति, माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्ते पज्जुवासइ। तते णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ अंतो अंतेउरंसि ण्हायाए० जाव पायच्छित्ताओ सव्वालंकारविभूसियाओ बहूहिं खुज्जाहिं चेलाहिं वामणीहिं वडभीहिं बब्बरीहिं पयाउसियाहिं जोणिआहिं पण्हविआहिं इसिगणिआहिं वासिइणिआहिं लासिआहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमिलिहिं आरवीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सवरियाहिं पारसीहिं णाणादेसविदेसपरिमंडिआहिं इंगियचिंतियपत्थिअविजाणियाहिं सदेसणेवत्थग्गहिअवेसाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकंचुइज्जमहत्तरगवंदपरिक्खित्ताओ अंतेउराओ णिग्गच्छंति, अंतेउराओ णिग्गच्छित्ता जेणेव पाडिएक्कजाणाइ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइ जाणाइ दुरुहंति, दुरुहित्ता णिअगपरिआलसद्धिं संपरिवुडाओ चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिगच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादिए तित्थयराभिसेसे पासंति, पासित्ता पाडिएक्कपाडिएक्काइ जाणाइं ठवंति, ठवित्ता जाणेहिंतो पच्चोरुहंते, जाणेहिंतो पच्चोरुहित्ता बहूहिं खुज्जाइ० जाव परिक्खित्ताओ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति। तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए विणओणताए गायलट्ठीए चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता कूणियं रायं पुरओ कट्टु ठिइयाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएणं पंजलिउडाओ पज्जुवासंति। तते णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स भंभसारपुत्तस्स सुभद्दापमुहाणं देवीणं तीसे अ महति महालियाए परिसाए इसीपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए देवपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयवंद्राए अणेगसयवंदपरिवाराए ओहबले अइबले महब्बले अपरिमिअबलवीरियतेयमाहप्पकंतिजुत्ते सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकोंचणिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थिडाए कंठे वट्टिआए सिरे समाइणाए अगरलोए अमम्मणाए सव्वक्खरसण्णिवाइयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सास्सईए जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासा भासति, अरिहा धम्मं परिकहेइ, तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ, सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमइ। तं जहा-अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा अजीवा वंधे मोक्खे पुण्णे पावे आसवे संवरे वेयणा णिज्जरा अरिहंता चक्कवट्टी वलदेवा वासुदेवा नरका णेरइया तिरिक्खजोणिआ तिरिक्खजोणिणीओ माया पिया रिसओ देवा देवलोआ सिद्धी सिद्धा परिणिव्वाणपरिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे, अत्थि कोहे माणे माया लोभे० जाव मिच्छादंसणसल्ले, अत्थि पाणाइवायवेरमणे मुसावायवेरमणे अदिण्णादाणवेरमणे मेहुणवेरमणे परिग्गहवेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे, सव्वं अत्थि भावं अत्थि त्ति वयति, सव्वं णत्थि भावं णत्थि त्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए धम्ममाइक्खइ, इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए संसुद्धे पडिपुण्णे णेआउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितहमविसंधिसव्वदुक्खप्पहीणमग्गे इह ट्ठिआ जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति, एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महड्ढीए० जाव महासुक्खेसु दूरगइएसु चिरट्ठिइएसु तेणं तत्थ देवा भवंति महड्ढीए० जाव चिरट्ठिई आहारविराइयवच्छा० जाव पभासमाणा कप्पोवगा गतिकल्लाणा आगमे से भद्दा० जाव पडिरूवा तमाइक्खइ। एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइअत्ताए कम्मं पकरंति,

णेरइअत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति । तं जहा-महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिंदियवहेण कुणिमाहारेणं । एवं एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिएसु माइल्लयाए णिअडिल्लयाए अलिअवयणेणं उक्कंचणयाए वंचणयाए मणुस्सेसु पगतिभद्दयाए पगतिविणीतताए साणुक्कोसयाए अमच्छरियताए देवेसु सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं अकामणिज्जराए बालतवोकम्मेणं तमाइक्खइ, जह णरगा गमंती, जे णेरगा जातवेयणा णरए सारीरमाणसाइं दुक्खाइं तिरिक्खजोणिए माणुस्स च अणिच्चं वाहिजरामरणवेयणापउरं देवे अ देवलोए देविड्ढिं देवसोक्खाइं नरगं तिरिक्खजोणिं माणुसभावं च देवलोअं च सिद्धे अ सिद्धवसहिं छज्जीवणियं परिकहेइ-जह जीवा बज्झंति मुच्चंति, जह य परिकिलिस्संति, जह दुक्खाणं अंतं करंति, केइ अपडिबद्धा अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति, जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडंति, जहा रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो, जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति, तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ । तं जहा-अगारधम्मं अणगारधम्मं च, अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइस्स सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायअदिन्नादाणमेहुणपरिग्गहराईभोअणाओ वेरमणं, अयमाउसो ! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति । अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ । तं जहा-पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं । पंच अणुव्वयाइं तं जहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे । तिण्णि गुणव्वयाइं-तं जहा-अणत्थदंडे वेरमणं दिसिव्वयं उवभोगपरिभोगपरिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइं-तं जहा-सामाइअं देसावगासिअं पोसहोववासे अतिहिसंविभागे अपच्छिममारणंतिआ संलेहणा झूसणा राहणा, अयमाउसो ! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते । एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासिआ वा विहरमाणे आणाइआराहए भवति ।

तए णं सा महति महालिआ मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया उट्ठाए उट्ठेति, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइआ पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवण्णा, अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे, एवं सुपण्णत्ते सुभासिए सुविणीए सुभाविए, अणुत्तरे ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे धम्मेणं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह, उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह, वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह, णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे एरिसधम्ममाइक्खित्तए किमंग ! पुण इत्तो उत्तरतरं, एवं वंदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआ तामेव दिसं पडिगया । तए णं कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे० जाव किमंग ! पुण एत्तो उत्तरतरं, एवं वंदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगए । तते णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअयाओ उट्ठाए उट्ठेंति, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे० जाव किमंग ! पुण एत्तो उत्तरतरं, एवं वंदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआओ तामेव दिसं पडिगयाओ । समोसरणं सम्मत्तं । औ० ।

केन कृतमित्यादि यत्र विधेयतयोपदिश्यते सा पृच्छा । यथा पृच्छनीया भाविनो निर्णयार्थिनि०, यथा भगवान् कोणिकेन पृष्टः । तथाहि-किल कोणिकः श्रेणिकराजपुत्रः श्रमणं भगवन्त महावीरं पप्रच्छ । तद्यथा-भदन्त ! चक्रवर्तिनः परित्यक्तकामा मृताः क्वोपपद्यन्ते ? । भगवताऽभिहितम्-सप्तमनरकपृथिव्याम् । ततोऽसौ बभाण-अहं क्वोत्पत्स्ये ? । स्वामिनोक्तम्-षष्ठ्याम् । स उवाच-अहं किं न सप्तम्याम् ? । स्वामिना अभदेसप्तम्यां चक्रवर्तिनो यान्ति । ततोऽसावभिदधौ-किमहं न चक्रवर्ती, यतो ममापि हस्त्यादिकं तत्समानमस्ति ? । स्वामिना प्रत्यूचे-तव रत्ननिधयो न सन्ति । ततोऽसौ कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधनप्रवृत्तः कृतमालकयक्षेण गुहाद्वारे व्यापादितः षष्ठीं गत इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

प्रथमोपाङ्गे कूणिकवर्णके “ माउपिउसुजाओ ” एतत्सूत्रवृत्तौ पित्रोर्विनीततया सत्पुत्र इत्युक्तं, तत्कथमिति प्रश्ने उत्तरम्-कूणिकः पित्रोर्विनीत एवास्ति, यत्त्वन्तराले श्रेणिकस्य किञ्चिद्विरूपमाचरितं तन्निदानवशादेव, कथमन्यथा पितृमरणशोकाकुलितो राजगृहं विहाय चम्पायामुषित इति । २३७ प्र० सेन० ३ उल्ला० । कूणिकरावणयोस्तीर्थंकरत्व कुत्र ग्रन्थे प्रोक्तमस्ति कस्मिन् केन कतिजवैरिति प्रश्ने उत्तरम्-रावणाख्यभवादारभ्य रावणजीवस्य चतुर्दशे भवे तीर्थंक-

त्न चिरहोज्यप्रकारैर्धे प्रोक्तमस्ति, केवलं पठितमस्तु न दृश्यते । कूणिककस्य तु गौर्यकरणमप्यत्र कृतानि कुत्रापि दृष्टानि न मन्तव्यानि । १४३ प्र० सम० ३ उद्दे० । ('रावण' शब्दे स्पष्टी-करिष्यते चैतत्)

कूणमाण–कूजत्–त्रि० । कूजनं भणति, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

कूर–कूर–पु० । न० । चेम भावे विचए ह० । कौ भूमौ ऊय वपन त्मानि सा क । स्वप्न ह० । भक्ते, पाच० । ओदने, उत्त० १२ अ० । " एगतेण न कप्पइ, मौवहकूरं अप्पुलिस्सणं च" स्था० १ सम० । कप्पहादमतिमिस्ते कमिस्तात्ती, स्था० ३ ठा० ३ उ० । " स-म्माणि य कडवहा, कूरं आहरे पगतोंम पु ।" स्था० १ सम० ।

क्रूर–त्रि० । रौद्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । आचा० । निर्घृणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दारुणे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । जीवोपघातोप-देशत्वात् क्रूरं, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । स्था० ।

कूरकम्म (ण्)–क्रूरकर्मन्–त्रि० । अनार्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । क्रूरं कर्म्मेति, " कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति" इत्यादि गलकर्त्तनादीनि क-र्माण्यनुष्ठानानि कुर्वाण प्रकृष्टानि विदधाति तेन कर्मविपा-केनादिनदुःखेन मोहोदयं मूढोऽपरतार्थे विपर्यासमुपैति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । क्रूराणि निर्दयानि निरनुक्रोशा-नि कर्माणि अनुष्ठानानि हिंसाऽनृतस्तेयादीनि सदसद्ब्राहा-सुहृदिकृतानि, अष्टादश वा पापस्थानानि । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

कूरगड्डुय–कूरगड्डुक–पु० । प्रत्यवमोदरिणि, आचा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ० ।

कूरपिउड–देशी–देशीवचनमेतत् । कूरपिष्टकादौ, आ० म० द्वि० । कूरपिष्टकादिदाने, निशी० ।

कूरिक–ईषत्कूरक–त्रि० । "गौलक्येपत कूरः" । ८ । २ । १२९ । ईषच्छब्दस्य गौणस्य कूर इत्यादेशो वा भवति । अत्पपक्के, ' चिब अ कूरपिका ' पक्षे–' इसिपिक्का ' प्रा० २ पाद ।

कूरभोयण–कूरभोजन– न० । कूरमात्रभोजने, पिं० ।

कूल–कूल–न० । कूलति आवृणोति जलप्रवाहम् । कूल अच् । स-मुद्रस्तीरे, कर्मणि घमर्थे क० । स्तूपे, तडागे, सैन्यपृष्ठे च । अ-भिषेके, वाच० । " रययामयकूलाओ " रजतमय रूप्यमय कूलं यासां ता रजतमयकूला: । रा० । आ० म० । सैन्यस्य पश्चाद्भागे, दे० ना० २ वर्ग ।

कूलधमग–कूलध्मायक–त्रि० । वानप्रस्थभेदे, ये कूले स्थित्वा शब्दं कृत्वा भुञ्जते । औ० । नि० ।

कूलवालग–कूलवालक–पु० । स्वनामख्याते मुनौ, आ० क० ।

तत्कथा चैवम्–

इतश्च श्रेणिकपुत्रः कोणिको राजा स्वपत्नीपद्मावतीप्रेरितः स्वभ्रातृहल्लविहल्लपार्श्वे जनकश्रेणिकार्पितदिव्यकुण्डले अष्टा-दशसरिकहार सेचनकहस्त्यादिक वस्तु मार्गितवान् । तौ च सर्वे लात्वा मातामहचेटकमहाराजपार्श्वे वैशालीनगर्यां गतौ । को-णिकेन मातामहचेटकमहाराजपार्श्वात्सर्ववस्तुसहितौ तौ भ्रातरौ मार्गितौ । शरणागतवज्रपञ्जरविरुदं वहता तेन न प्रेषितौ । ततो रुष्टः कोणिकः समाराधितशक्रचमरप्रभावेण स्वजीवित रक्षन् अमोघबाणमपि चेटकमहाराजं संग्रामे नि-र्जित्य वैशालीनगरीमध्ये क्षिप्तवान्, सज्जितवप्रां च तां वैशालीं नगरीं स कोणिको रोधयति स्म, नगरीमध्य-स्थितश्रीमुनिसुव्रतस्वामिस्तूपप्रभावात् तां नगरीं ग्रहीतुं न शक्नोति । ततो बहुना कालेन देवतयैवमाकाशे भाणितम्–"स-मणे जइ कूलवालए, मागहियं गणियं रमिस्सए । राया य अ-सोगचंदए, वेसालिं नगरिं गहिस्सए ॥१॥" कोणिकेनेमां वार्त्तां श्रुत्वा स कूलवालकश्रमणो विलोक्यमानस्तत्र स्थितो ज्ञातः । राजगृहाद्धाकारिता मागधिका गणिका । तस्याः सर्वं कथितम् । तयाऽपि प्रतिपन्नम्–तं कूलवालकश्रमणमहमत्राऽऽनेष्यामीति । कपटश्राविका जाता, सार्थेन तत्राऽऽगता । तं वन्दित्वा भणति–स्थाने स्थाने चैत्यानि साधूंश्च वन्दित्वाऽहं भोजनं कुर्वे । यूयमत्र श्रुता, ततो वन्दनार्थमागता, अनुग्रहं कुरुत, प्रासुकमेषणीयं भक्तं गृह्णीत । इति श्रुत्वा कूलवालुकश्रमणस्तस्या उत्तारके गतः । तया च नेपालगोटकचूर्णसंयोजिता मोदका दत्ताः । तद्भक्षणानन्तरं तस्य अतीसारो जातः । तया औषधप्रयोगेण निवर्तितः । प्रक्षालनोद्वर्त्तनादिभिस्तया तस्य चित्तं भेदितम् । स कूलवालकश्रमणस्तस्यामासक्तोऽभूत् । तयाऽपि स्ववशीभूतः स कोणिकसमीपमानीतः । कोणिकेनोक्तम्–भो कूलवालक श्रमण ! यथेयं वैशाली नगरी गृह्यते तथा क्रियताम् । तेनापि तद्वच प्रतिपद्य नैमित्तिक-रूपेण वैशालीनगर्यन्तरे गत्वा मुनिसुव्रतस्वामिस्तूपप्रभावो नगररोधकारी ज्ञातः । नैमित्तिकोऽयं नगरीलोकैः पृष्टः–कदा नगरीरोधोऽपगमिष्यति । स प्राह–यदा एनं स्तूपं यूयम् अपनयत तदा नगरीरोधापगमो भविष्यतीति श्रुत्वा तैर्लोकैस्तथा कृतम् । कूलवालकश्रमणेन बहिर्गत्वा सज्जितः कोणिकः । तेन तदैव स्तूपप्रभावरहिता सा नगरी भग्ना एव, पतितः कूलवालकश्रमणः, अविनीतत्वात् । इति कूलवालककथा ॥ उत्त० १ अ० । आ० क० ।

कूव–कूप–पु० । कु ईषत् आपो यत्र । कुवन्ति मण्डूकाः अस्मिन् कु-पक् दीर्घश्च वा । स्वनामख्याते जलाधारे, " भूमौ खातो-ऽल्पविस्तारो, गम्भीरो मण्डलाकृतिः । बद्धोऽबद्धः स कूपः स्यात्, तदम्भः कौपमुच्यते" ॥१॥ वाच० । "कूवे तोय सिणाया अइ । कूवे केवा पडिता" नि० चू० १ उ० । आ० क० ।

कूजक–त्रि० । व्यापर्त्तकबले, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

कूवणय–कूपनक–पु० । स्वनामख्याते कुम्भकारे, यस्य हि कुमारसन्निवेशे परमरमणीये उद्याने प्रतिसंस्थिते श्रीवीरभग-वति शालायां मुनिचन्द्रः स्थविरः स्थितः । आ० म० द्वि० ।

कूवणाय–कूपज्ञात–न० । भवटोदाहरणे, इह चैव साधनप्रयोगः–किञ्चित्सदोषमपि स्नानादि विशिष्टशुभभावहेतुभूत यत्तत् गुणकरं दृष्टं, यथा कूपखननम् । विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया स्नानादि ततो गुणकरमिति । कूपखननपक्षे शुभभावात् तृष्णा-दिव्युदासेनाऽऽनन्दावाप्तिरिति । इदमुक्तं भवति–यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्यनन्तरमुक्तदो-षापोह स्वोपकाराय परोपकाराय किल भवति । प्रति० ।

कूवतड–कूपतट–पुं० । कूपसमीपे, "गहिं मासेहिं संनिरुत्तवि-ग्गलतेयलेसो जातो कूवतडे दासीए विभासियं " आ० म० द्वि० ।

कूवत्थंभ–कूपस्तम्भ–पुं० । कूपमध्यस्थापितस्तम्भे, विशे० । कूप-कस्तम्भो यत्र सितपटो निबध्यते । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कूवमंडुक-कूपमण्डूक-पुं० । कूपस्थे मण्डूके, तत्तुल्ये एकदेशज्ञे, "तुम किं जाणयसि कूवमंडुको " नि० चू० १ उ० ।

कूवर-कूवर-पुं० । 'कू' शब्दे कुटादि० वरच् । कूबके, मनोहरे, युगन्धरे, रथावयवभेदे, वाच० । ज०। तुंडे, ज्ञा० १ श्रु० ६अ०।

कूवल-देशी-जघनवसने, दे० ना० २ वर्ग ।

कूविय-कूपिक-पुं०। स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र भगवान् वीरस्वामी उपसर्गितः पश्चात्पार्श्वनाथान्तेवासिनीभ्यां मोचितः। आ० म० द्वि० । मोषव्यावर्त्तके, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । चौरगवेषके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कूवियवल-कूपिकबल-न० । मोषव्यावर्त्तकसैन्यनिवर्त्तकसैन्ये, "सुबहुस्स वि कुवियबलस्स आगयस्स दुप्पयंसया वि होत्था" ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

कूविया-कूपिका-स्त्री०। कूप-इन् ङीष्। स्वार्थे कः। स्नेहपात्रभेदे, वाच० । "जो कुणति कूवियत्तं कूविया कूढिया भवति" नि० चू० १ उ० ।

कूवोदाहरण-कूपोदाहरण-न०। समयप्रसिद्धे कूपज्ञाते,षो० ८ विव० । ('कूवणाय' शब्देऽनुपदमेव दर्शितम्)

कूसारो-देशी-गर्ताकारे, दे० ना० २ वर्ग ।

कूहंड-कूष्माण्ड-पुं०। व्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरजातिविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

केअण-केतन-न० । वक्रे वस्तुनि, पुष्पकरण्डसंबन्धिनि मुष्टिग्रहणस्थाने वंशादिदलके, स्था० ।

"चत्तारि केअणा पण्णत्ता । तं जहा-वंसीमूलकेअणए, मेंढविसाणकेअणए, गोमुत्तिकेअणए, अवलेहणियाकेअणए ।

"चत्तारि" इत्यादि प्रकटम्,किन्तु केतनं सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वंशादिदलक तच्च वक्रं भवति, केवलमिह सामान्येन वक्रं वस्तु केतनं गृह्यते, तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनम्,एवं सर्वत्र, नवरं मेंढविषाण मेढश्टङ्ग, गोमूत्रिका प्रतीता (अवलेहणिय त्ति) अवलिख्यमानस्य वंशशलाकादेर्वा प्रतन्वी त्वक् साऽवलेखनिकेति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

केआ-देशी-दामनि, दे० ना० २ वर्ग ।

केआरवाणो-देशी-पलाशे, दे० ना० २ वर्ग ।

केइ-कश्चित्-केचित्-अव्य०।किमः सौ-जसि वा कः के, चित्-प्रत्यय. । पदद्वयमित्यन्ये । वाच० । अनिर्दिष्टस्वरूपे, विशे० । "केइ राया रायपुत्तो वा " विपा० १ श्रु० २ अ० । स्था० । अनु० । अन्यशब्दार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

केउ-केतु-पुं० । चाय-तु क्यादेशः । प्रज्ञायाम, राहोरर्द्धदेहात्मके ग्रहभेदे, वाच० । ज्ञा० । अङ्कविन्यासप्रामाण्याभ्युपगमे अष्टाशीतितमे महाग्रहे, कल्प० ६ क्षण । अन्यथा अष्टाशीतितमो भावकेतुः । सू० प्र० २० पाहु० । स्था० । चिह्ने, ध्वजे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । जं० । रा० । जी० । औ० । स० । दीप्तौ, ज्योतिषप्रसिद्धे उत्पातभेदे च । वाच० । कल्प०,दे० ना० २ वर्ग ।

केउकर-केतुकर-पुं० । अद्भुतकार्यकारित्वेन चिह्नकारिणि, औ० । ज्ञा० । स्था० । सूत्र० ।

केउखेत्त-केतुक्षेत्र-न० । आकाशोदकनिष्पाद्यशस्ये क्षेत्रभेदे, आव० ६ अ० । ध० ।

केउभूय-केतुभूत-त्रि० । दृष्टिवादस्य सिद्धश्रेणिकापरिकर्मणः चतुर्थे दशमे च भेदे, स० ।

केउमई-केतुमती-स्त्री० । किन्नरस्य किन्नरेन्द्रस्य किंपुरुषस्य किंपुरुषेन्द्रस्य चाग्रमहिष्याम,भ० १० श० ५ उ० । स्था० । (अस्या भवान्तरकथा 'अग्गमहिसी'शब्दे प्र० भा०१७९पृष्ठे दर्शिता)

केउय-केतुक-पु० । जम्बूद्वीपस्य बाह्याया वेदिकाया दक्षिणस्यां पञ्चनवतियोजनान्यवगाह्य स्थिते द्वितीयमहापाताले, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

केऊर-केयूर-पु० । के बाहुशिरसि याति,या ऊर किच्च, अलुक्समास. । वाच० । बाह्वाभरणविशेषे, आ० म० प्र० । औ०।रा०। जं० । " अगयाइं केऊराइं कडगाइं तुडियाइं कडिसुत्तयं दसमुद्दियाणंतयं " इत्यादि । अङ्गदं केयूर च बाह्वाभरणविशेष एतयोश्च यद्यपि नामकोशे एकार्थतोक्ता, तथाऽपीहाकारविशेषाद्भेदोऽवगन्तव्यः । भ० ९ श० ३३ उ० । ज्ञा० । मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि पातालकलशे, " वलयामुहकेऊरे, जूए य तह ईसरे य बोद्धव्वे । " केयूरः केऊरो वा । समवायाङ्गटीकायां तु केतुकः । प्रव० २७२ द्वार ।

केंसुअ-किंशुक-न० । किंशुकस्य पुष्पम् । पुष्पफले, "बहुलम्" ।८।१।२।इति अणो लुक् । "किंशुके वा"।८।१।८६।इत्यादेरित एकारः । प्रा० १ पाद । पलाशपुष्पे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

केकई-कै (के) क (के) यी-स्त्री० । केकयानां राजा अण् कैकेयः । जन्यजनकभावरूपे पुयोगे ङीप् । कैकेयी, कैकयी, केकयी वा । केकयनृपकन्यायाम,वाच० । अष्टमवासुदेवलक्ष्मणमातरि, आव० १ अ० । आ० चू० । ति० । अस्याः सुमित्रेति द्वितीयं नाम (भाषाटीका) स० । अपरविदेहे, सलिलावतीविजये वीतशोकायां नगर्याम, विभीषणवासुदेवस्य मातरि च । आ० म० प्र० ।

केयई-कै (के) क (के) यी-स्त्री० । पूर्वोक्तशब्दार्थे,वाच० ।

केक(य)य-केकय-पुं० । देशभेदे,स च अर्द्धेन आर्योऽर्द्धेनानार्यः। "केकयकिरायहयमुहखरमुहगयतुरगमिंढयमुहा य" प्रव०२७५ द्वार । प्रज्ञा० । सूत्र० । "केकय अद्धं च आरियं भणियं" सूत्र०१ श्रु० ५ अ० १ उ० । केकयार्द्धजनपद. श्वेतवीनगरीराजस्य । स्था०८ठा० । स च देश. कर्मविभागे उत्तरस्यामुक्तः । वाच० ।

केका (गा) इय-केकायित-न० । मयूराणां शब्दे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

केज्ज-क्रय्य-त्रि० । क्रयणीये, स्था० ७ ठा० ।

केढव-कैटभ-पुं० । " ऐत एत " ८ । १ । १४८ । इति ऐत एत्वम् । प्रा० १ पाद । "सटाशकटकैटभे ढः " ८ । १ । १९६ ।

इति टस्य ढः। प्रा० १ पाद। "कैटभे भो वः" ८।१।२४०। इति भस्य वः। मधुभ्रातरि दैत्यभेदे, प्रा० १ पाद।

केतिअ-कियत्-त्रि०। किमः परिमाणे वतुप्। वस्य य।" इदं किमश्च डेत्तिअडेत्तिलडेद्दहाः" ॥ ८। २। १५७॥ इदंकिंभ्यां यत्तदेतद्भ्यश्च परस्यातोर्मावतोर्वा डित् एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा भवन्ति, एतल्लुक् च। इयत. स्थाने डेत्तिअ केत्तिल केद्दह रूपमादेशत्रयम्; डित्वादिलोपः। केत्तिअं, केत्तिलं, केद्दहं। किंपरिमाणपरिमिते, प्रा० २ पाद।

केतिस-कीदृश-त्रि०। किम् दृश कञ् "इदकिमोरीशकी" ॥ ६। ३। ६०। इति (पाणि०) किम की। पैशाच्याम्-"याट्टशादेर्दुस्तिः" ८। ४। ३१७। इति ह इत्यस्य स्थाने तिरादेशः। किंप्रकारे, प्रा० ४ पाद।

केतूव-केयूप-पुं०। मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि महापाताले, जी० ३ प्रति०।

केत्तुल-(केवड) कियत्-त्रि०। "अतोर्डेत्तुलः" ८। ४। ४३५। इति किमः परस्यातो. प्रत्ययस्य डेत्तुल इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। "वेदकिमोर्यादेः" । ८। ४। ४०८। इति अन्वन्तस्य किमो यादेरवयवस्य डित् एव ऊ इत्यादेश. । प्रा० ४ पाद। किम्परिमाणपरिमिते, प्रा० ४ पाद।

केत्थु-कुत्र-अव्य०। "एत्थु कुत्रात्रे" । ८। ४। ४०५। अपभ्रंशे कुत्र इत्येतस्य शब्दस्य डित् एत्थु इत्यादेश.। कस्मिन्नित्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

केम्व-कथम्-अव्य०। अपभ्रंशे तथारूपता। केन प्रकारेणेत्यर्थे, "जो पुण अग्गि सीअला,तसु उण्हत्तणु केम्व?।" प्रा० ४ पाद।

केय-केत-पुं०। 'कित' निवासे इत्यस्य धातो कित्यन्ते उप्यन्तेऽस्मिन्निति घञि केत.। गृहे, प्रव० ४ द्वार। चिह्ने, अङ्कुशमुष्टिगृहादिके,स्था० ४ ठा०। केयमिति गृहम्।" केय णाम चिन्ह " आ० चू० ६ अ०। भावे घञ्। वासे, प्रज्ञायां, सकल्पे, मन्त्रणे, ज्ञातरि च। वाच०।

क्रेय-त्रि०। क्रयणीये, स्था० ७ ठा०।

केयइअद्ध-केकयार्द्ध-न०। केकयजनपदस्यार्द्धे, यत्र श्वेताम्बिका नगरी, तच्च आर्य्यक्षेत्रम्। "सेयविया य नयरी, केयइअद्ध च आरियं भणियं।" प्रज्ञा० १ पद। प्रव०।

केयई-केतकी-स्त्री०। केतकशब्दात् "षिद्गौरादिभ्यश्च" ४।१।४१। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् इति (पाणि०) ङीष्। वलयाख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। आचा०। गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। सख्यातजीववनस्पतिभेदे, भ० ८ श० ३ उ०। गन्धद्रव्यभेदे च। रा०। केतकी पाटला। ज० १ वक्ष०।

केयग-केतक-पुं०। कित निवासे एवुल्, केतक.। सूचिकापुष्पो जम्बुक. क्रकचच्छद इत्युक्तलक्षणे वृक्षे, तत्पुष्पे, न०। केत स्वार्थे कः। ध्वजे, पु०। वाच०। अङ्कुशमुष्टिग्रन्थिगृहादिके चिह्ने, स्था० १० ठा०।

केयण-केतन-न०। सङ्केते, व्य० ४ उ०। शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकायाम्,उत्त०।"धणु परक्कम किच्चा,जीव च इरिय सया॥ धिइं च केयण किच्चा,सच्चेण पलिमथए॥२१॥"केतन शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठ मुष्टिस्थान कृत्वा। उत्त० ६ अ०। मत्स्यबन्धने,सूत्र०१ श्रु० ३ अ० १ उ०। सामान्येन वक्रे वस्तुनि, पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धिनि मुष्टिग्रहणस्थाने वंशादिदलके,स्था० ४ ठा० २ उ०। नि० चू०। (तथाचातुर्विध्यदृष्टान्तेन मायाप्ररूपण 'माया' शब्दे करिष्यते) " से केयण अरिहइ पूरित्तए " कृत्यकेतन चालनीपरिपूर्णकः समुद्रो वेति, भावकेतनं लोभेच्छा, तदसावनेकचित्त केनाप्यभृतः पूर्वं पूरयितुमर्हति। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। निमन्त्रणे, ध्वजे, गृहे, चिह्ने, स्थाने, कृत्ये, ध्वजे, वाच०।

केयव-कैतव-न०। कितवस्य भावः कर्म्म वा। नाट्ये, द्यूते, वैदूर्य्यमणौ, स्वार्थे अण्। कितवे, शठे, द्यूतकारके, धत्तूरे च। पु०।" कैतवेनाक्षवत्यां वा, युक्तं वा नास्यतां धनुः "।" दीव्य यत् कैतव पाण्डव! तेऽवशिष्टम् "।' यदवोचस्तदवैमि कैतवम् '। वाच०। आ० म० द्वि०।

केयाघडिया-केयाघटिका-स्त्री०। रज्जुप्रान्तबद्धघटिकायाम्, भ० १३ श० ६ उ०।

केयाघडियाकिच्चहत्थगय-केयाघटिकाकृत्यहस्तगत-त्रि०। केयाघटिकालक्षण यत्कृत्य कार्य्यं तद्धस्ते गत यस्य स तथा। हस्तधृतकेयाघटिकाके, " केयाघडिय किच्च हत्थगयाइ रूवाइ विउव्वित्तए।" भ० १३ श० ६ उ०।

केयार-केदार-पुं०। के शिरसि दारोऽस्य, केन जलेन दारो यस्य वा। एत्वम्। हिमालयस्थे पर्वतभेदे,तत्स्थे शिवलिङ्गभेदे, जलनिवारणार्थे चतुष्पार्श्वे सेतुबन्धयुक्ते क्षेत्रे आलवाले, वाच०। वप्रे, आचा० २ श्रु० ११ अ०।

केरव-कैरव -पुं०। स्त्री०। के जले रौति रु अच्, अलुक्समासः। हंसे, वाच०। तस्य प्रियम् अण्। कुमुदे, शुक्लोत्पले, शत्रौ, पु०। कैतवे, न०। वाच०। आ० म०।

केरिस-कीदृश-त्रि०। "दृशेः क्विप् टक्सकः" ८। १। १४२। इति ऋतौ रिरादेशः। प्रा० १ पाद। " एत्पीयूषापीडविभीतककीदृशेदृशे "८। १। १०५। इति ईत एत्वम्। प्रा० १ पाद। किम्प्रकारे, "अणुन्नावे केरिसे वुत्ते" सू० प्र० १ पाहु०।

केल-कदल-पु०। वृषा०कलच्।" वा कदले " ८।१। १६७। इत्यादे स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा। प्रा० १ पाद। रम्भावृक्षे, वाच०।

केलाय-समारच्-णिच्-धा०। सम्यक् समन्तात् प्रतियत्ने, " समारचेरुवहत्थसारवसमारकेलायाः " ॥८। ४। ६५॥ इति-समारचेः केलायाऽऽदेशः। "केलायइ,समारभइ,समारचयति" प्रा० ४ पाद।

केलास-कैलास-पुं०। केला विलासः सीदत्यस्मिन्निति। सद आधारे-वा ड। स्फटिके, वाच०।

केलास-पु०। के जले लासो लसन दीप्तिरस्य। अलुक्समासः। केलासः स्फटिकस्तस्येव शुभ्रः अण्। केलीनां समूहः अण्। कैलम्। तेनास्यतेऽत्र। आस-आधारे घञ् वा। वाच०। " एत एत् " । ८। १। १४८। इत्यैकारस्य एत्वम्। प्रा० १ पाद। शिवकुबेरयोः स्थाने पर्वतभेदे, वाच०। " केलासभवणा एए, गुज्झगा आगया महिं। चरंति जक्खरूवेणं,पूयापूया हियाहिया॥१॥"स्था०

५ग०३उ०। अनुवेलन्धरनागराजभेदे, तदावासपर्वते च। स्था० ४ ठा० २ उ० । भाजनविशेषे, तैलकैलासो राष्ट्रप्रसिद्धो मृण्मयस्तैलभाजनविशेषः । नि० ३ वर्ग । ज्ञा० । नन्दीश्वरस्थे तदधिपदेवे, सू० प्र० १० पाहु० । राहुमण्डलस्थे नवमे कृष्णे पुद्गले, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० । साकेतनगरे जाते स्वनामख्याते गृहपतौ, तत्कथा अन्तकृद्दशासु षष्ठे वर्गे सप्तमेऽध्ययने सूचिता। यथा-स च साकेतनगरे जातस्तत्रैव श्रीवीरान्तिके प्रव्रज्य द्वादश वर्षाणि प्रव्रज्यापर्यायं परिपाल्य विपुले सिद्धः। अन्त०६वर्ग।

केलाससम-कैलाससम-त्रि० । कैलासपर्वततुल्ये, उत्त० ९अ० ।
" सुवन्नरुप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असखया । नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया " ॥ ४८ ॥ उत्त० ९ अ० ।

केलि-केलि-पुं० । स्त्री० । केल-इन् । द्यूतक्रीडादिकायां क्रीडायाम्, ध० २ अधि० । प्रव० । जी० । परिहासे, बृ० १ उ० । नर्मणि, कामे च । औ० । "विहारे सह कान्तेन,क्रीडितं केलिरुच्यते ।" पृथिव्याम्, वाच० ।

केली-कदली-स्त्री० । " वा कदले " ॥ ८ । १ । १६७ ॥ इति आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एदू वा । रम्भायाम्, प्रा० १ पाद ।

केवइय-कियत्-त्रि० । किंपरिमाणे, भ० ६ श० १ उ० । कियत्सख्याके, " केवइया ण भंते ! दीवसमूहा पराणत्ता ।" जी० ३ प्रति० । "ओभासति केवतिय, सेयाए किं ते सहिती।" सू० प्र० १ पाहु० । "केवइय काल ति" कियता कालेन निर्वर्त्यते । भ० १२ श० ४ उ० । कतिकाल यावति इत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

केवट्ट-कैवर्त्त-पुं० । स्त्री० । के जले वर्तते वृत् अलुक्समासः । तत. स्वार्थे अण् । " तस्याधूर्तादौ " । ८ । २ । ३० । इति र्त्तस्य ट्टः । 'केवट्टो '। प्रा० १ पाद । धीवरजातौ, वाच० ।

केवडिग-देशी-रूपके, बृ० १ उ० ।

केवल-केवल-न० । केवृ सेवने, वृषा० कल । शिरसि वलयति क्षुरा० वल प्रापणे अच् । वाच० । सपूर्णे, आ० चू० ३ अ० । परिपूर्णे,नि० १ वर्ग । विशे० ।स्था० ।ज्ञा० । अनु० । भ० । अनन्ते, एकस्मिन्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । असहाये, स्था० २ ठा० १ उ० । पा० । दशा० । औ० । आ० म० । कर्म० । अद्वितीये, भ० ९ श० ३३ उ० । ज्ञा० । शुद्धे अन्यपदार्थासंसृष्टे, दश०४ अ० । " केवलं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा " केवलां शुद्धां सपूर्णां वा, अनगारतामिति योग । भ० ६ श० ३१ उ० । 'केवलणाण' शब्दे दर्शयिष्यमाणस्वरूपे परिपूर्णे ज्ञाने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

केवलकप्प-केवलकल्प-पु० । केवल. परिपूर्ण कल्पत इति कल्पः, स्वकार्य्यकरणसामर्थ्योपेतः । ततः कर्मधारय । भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० । स्था० । नि० । केवलकल्पे परिपूर्णे, भ० ६ श० ५ उ० । " केवलकप्पं जंबुद्दीवं " जी० ३ प्रति० । 'केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा " केवलैव केवलकल्पा, ईषदूनता चेह न विवक्ष्यते, अत. परिपूर्णेत्यर्थ । परिपूर्णप्राया चेति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

केवलक्खर-केवलाक्षर-न० । केवलज्ञाने, विशे० ।

केवलजुयलावरण-केवलयुगलावरण-न० । केवलयुगल केवलज्ञानकेवलदर्शनरूप तस्य आवरणे आच्छादके कर्मणि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणद्विके, कर्म० ५ कर्म० ।

केवलणाण-केवलज्ञान-न० । "केवलणाणे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-भवत्थकेवलनाणे चेव, सिद्धकेवलनाणे चेव"। (व्याख्याऽस्य स्वस्थाने व्याख्यास्यते) स्था० २ ठा० १ उ० । कर्म० । भ० । यथावस्थिताशेषभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासिनि, स्था० ५ ठा० ३ उ० । समस्तपदार्थाविर्भावके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अनु० । प्रत्यक्षज्ञानभेदे, विशे० ।

(१) केवलज्ञानशब्दार्थनिरूपणम् ।
(२) केवलज्ञानस्वरूपनिर्वचनम् ।
(३) केवलज्ञानलक्षणम् ।
(४) केवलज्ञानस्य सिद्धिः ।
(५) केवलज्ञानस्य प्रतिपादनम् ।
(६) केवलज्ञानस्य साद्यपर्यवसितत्वनिरूपणम् ।
(७) अस्याप्राप्य विषयपरिच्छेदकत्वप्ररूपणम् ।
(८) केवलज्ञानभेदाः ।
(९) सिद्धकेवलज्ञानस्य द्वैविध्यनिरूपणम् ।
(१०) सिद्धस्वरूपनिरूपणम् ।
(११) समुत्पन्नकेवलज्ञानस्य शब्देन देशनां ददतो न काऽपि क्षतिः ।
(१२) सत्पदप्ररूपणा ।
(१३) कीदृश केवलज्ञान भवति ।
(१४) केवलज्ञानदर्शनयो प्रतिबन्ध ।

(१) अथ केवलज्ञानविषय शब्दार्थमाह—

केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च ।
पायं च नाणसद्दो, नामसमाणाहिगरणोऽयं ॥ ८४ ॥

केवलमिति व्याख्येयं पदम् । ततः केवलमिति कोऽर्थः ? इत्याह—एकमसहायम्, इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वात्, तद्भावे शेषछाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वा । शुद्ध निर्मल, सकलावरणमलकलङ्कविगमसंभूतत्वादिति । सकलं परिपूर्णं, संपूर्णज्ञेयग्राहित्वात्। असाधारणमनन्यसदृश, तादृशापरज्ञानाभावात् । अनन्तम् , अप्रतिपातित्वेनाविद्यमानपर्यन्तत्वात् । इत्येकादिष्वर्थेषु केवलशब्दोऽत्र वर्त्तते । केवलं च तद् ज्ञान च केवलज्ञानमिति समास । आह—नन्वाभिनिबोधिकादीनि ज्ञानवाचकानि सामान्येव भाष्यकृता " अत्थाभिमुहो नियओ " इत्यादौ सर्वत्र व्युत्पादितानि, ज्ञानशब्दस्तु न क्वचिदुपात्तः, स कथ लभ्यते ? इत्याशङ्क्याह—(पाय चेत्यादि) प्रक्रमलभ्यो ज्ञानशब्द आभिनिबोधिकश्रुतादिभिर्ज्ञानाभिधायकैर्नामभि स-मानाधिकरण स्वयमेव योजनीय , स च योजित एव । तथा-आभिनिबोधिक च तद् ज्ञान च, श्रुत च तज्ज्ञान चेत्यादि । क्वचिद्वैयधिकरण्यसमासोऽपि सभवतीति प्रायो ग्रहणम् । स च मन पर्यायज्ञाने दर्शित एव । अन्यत्रापि च यथासंभव द्रष्टव्यम् । इति गाथार्थ ॥ ८४ ॥ विशे० । बृ० । आ० म० । न० ।

(२) केवलज्ञानस्वरूपनिर्वचनम्—

केवलमेकमसहाय, मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् । केवलज्ञान—

प्रादुर्भावे मत्यादीनामसंभवात् । ननु पुनः कथमसंभवः ?, यावता मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुष्षन्ति, ततो निर्मूलस्वस्वावरणविलये तानि सुतरां भविष्यन्ति ?, चारित्रपरिणामवत् । उक्तं च-" आवरणदेसविगमे, जाइं विज्जंति मइसुयाईणि । आवरणसव्वविगमे, कह ताइं न होंति जीवस्स ?"॥१॥ उच्यते-इह जात्यस्य मरकतादिमणेर्मलोपादिग्धस्य यावन्नाद्यापि समूलमलापगमस्तावद्यथा यथा देशतो मलविलयस्तथा तथा देशतोऽभिव्यक्तिरुपजायते, सा च क्वचित्कदाचित्कथञ्चिद्भवति इत्यनेकप्रकारा, तथाऽऽत्मनोऽपि सकलकालावलम्बिनिखिलपदार्थपरिच्छेदकरणैकपारमार्थिकस्वरूपस्याप्याऽऽवरणमलपटलतिरोहितस्वरूपस्य यावन्नाद्यापि निखिलकर्ममलापगमस्तावद्यथा देशतः कर्ममलोच्छेदः तथा तथा देशतः तस्य विज्ञप्तिरुज्जृम्भते, सा च क्वचित्कदाचित्कथञ्चिदित्यनेकप्रकारा। उक्तं च-"मलविद्धमणेर्व्यक्ति-र्यथाऽनेकप्रकारतः । कर्मविद्धाऽऽत्मविज्ञप्ति-स्तथाऽनेकप्रकारतः" ॥१॥ सा चानेकप्रकारतः मतिश्रुतादिभेदेनावसेया। ततो यथा मरकतमणेरशेषमलापगमसम्भवे समस्तास्पष्टदेशव्यक्तिव्यवच्छेदेन परिस्फुटरूपैकाऽभिव्यक्तिरुपजायते,तद्वदात्मनोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रप्रभावतो निःशेषाऽऽवरणप्रहाणादशेषदेशज्ञानव्यवच्छेदेनैकरूपा अतिपरिस्फुटा सर्ववस्तुपर्यायसाक्षात्कारिणी विज्ञप्तिरुल्लसति। तथा चोक्तम्—" यथा जात्यस्य रत्नस्य, निःशेषमलहानितः। स्फुटैकरूपाभिव्यक्ति-र्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः " ॥ १ ॥ ततो मत्यादिनिरपेक्षं केवलज्ञानम् । नं० । तथा चागमः-" केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! केवली णं पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ० जाव निव्वुडे दसणे केवलिस्स से तेणट्ठेणं जीवाण य सुहं दुक्खं जीवे जीवइ तहेव भविया य एगंतदुक्खवेयणं अत्तमाया य केवली,सेवं भंते ! भंते त्ति। " भ० ६ श० १० उ० । अथ वा शुद्धं केवलं, तदाऽऽवरणमलकलङ्कस्य निःशेषतोऽभ्युपगमात्, सकलं वा केवलं,प्रथमत एवाशेषतदाऽऽवरणापगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः; असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं,ज्ञेयानन्तत्वात्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम् । नं०।

अथ किंरूपं केवलज्ञानम् ?, इत्याह-

स्वरूपमात्मनो ह्येतत्, किं त्वनादिमलाऽऽवृतम् ।
जात्यरत्नांशुवत्तस्य, क्षयात्स्याच्चदुपायतः ॥ ३ ॥

स्वरूपं स्वभाव एव, अवधारणार्थस्य हिशब्दस्येह सम्बन्धात्। कस्येत्याह-आत्मनो जीवस्य एतत् केवलज्ञानम्। एतेन चेदमुक्तं भवति-न प्रतियोगमात्रं केवलज्ञानं, तस्याभावरूपत्वात् । नाप्यात्मनो भिन्नं, पुरुषान्तरज्ञानसंवेदनप्रसङ्गात्। नापि समवायवशात् तत्र वर्तत इति समवायकृतो विशेषः,तस्यैकत्वेन सर्वत्र तद्वर्तनप्रसङ्गादिति। ननु यद्येतदात्मनः स्वरूपं तत्कुतः सदा नोपलभ्यते ?, इत्यत्राह-किं तु केवलमनादिरप्राथम्यो यो मलो ज्ञानावरणादिकर्मरूपः,तेनावृतमाच्छादितम्, अनादिमलावृतमिति कृत्वा सदा नोपलभ्यते। अनादित्वं च कर्ममलस्य प्रवाहापेक्षया, सादित्वे चास्य मुक्तस्येव बन्धाभावः स्यादिति । किंवदित्याह-जात्यं प्रधानं यद्रत्नं माणिक्यमरकतादि,तस्यांशवः किरणास्त इव, जात्यरत्नांशुवत् तस्यानादिमलस्य, क्षयाद्विनाशात्, स्यात्सञ्जायते तत्केवलज्ञानम् । मलक्षयः पुनः कथं स्यादित्याह-उपायतः उपायाद्धेतोः,सामायिकाभ्यासलक्षणात् । नन्वनादित्वादेव न युक्तोऽस्य कर्ममलवियोगो व्योमात्मनोरिव। नैवम् । अनादित्वेऽपि स्वर्णांशुमलसंयोगस्योपायतः क्षयदर्शनात् । आह च-"जह इह कणगोवल-संजोगोऽणाइ संतइगओ वि । वोच्छिज्जइ सुवायं, तह जोगो जीवकम्माणं ॥ ३ ॥ "

नन्वाऽऽत्मस्वरूपत्वेऽपीदं केवलज्ञानं कथं लोकालोकप्रकाशकमित्यत आह-

आत्मनस्तत्स्वभावत्वा-ल्लोकालोकप्रकाशकम् ।
अत एव तदुत्पत्ति-समयेऽपि यथोदितम् ॥ ४ ॥

आत्मनो जीवस्य, तल्लोकालोकप्रकाशनं, स्वभावो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्तत्स्वभावत्वात्, लोकालोकप्रकाशकं सकलपदार्थसार्थाविर्भावकमित्यर्थः, केवलमिति प्रकृतम् । ननूत्पत्तिसमये तद्यथोक्तप्रकाशं न सङ्गतम्,उत्पद्यमानत्वात् दीपादिरिव । दीपो हि क्रमेण स्वप्रकाश्यं प्रकाशयतीत्यत आह-(अत एवेति) यत एव तल्लोकालोकप्रकाशकस्वभावात्मरूपम् अत एव कारणात्तत्केवलज्ञानमुत्पत्तिसमयेऽपि प्रादुर्भावक्षणेऽपि, आस्तामुत्पत्तिसमयानन्तरम्। यथोदितमुक्तस्वरूपमेव, युगपल्लोकालोकप्रकाशकमित्यर्थः ॥४॥ द्वा० ३ अष्ट० । सम्म० ।

(३) तल्लक्षणम् । सकलप्रत्यक्षं लक्षयन्ति-

सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतसमस्तावरणक्षयाऽपेक्षं निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानमिति ॥२३॥

सामग्री सम्यग्दर्शनादिलक्षणाऽन्तरङ्गा, बहिरङ्गा तु जिनकालिकमनुष्यभवादिलक्षणा, ततः सामग्रीविशेषात्प्रकर्षप्राप्तसामग्रीतः,समुद्भूतो यः समस्तावरणक्षयः सकलघातिसंघातविघातः,तदपेक्षं सकलवस्तुप्रकाशस्वभावं,केवलज्ञानं ज्ञातव्यम् ।

(४) केवलज्ञानस्य सिद्धिः-

यस्तु नैतदमंस्त मीमांसकः, मीमांसनीया तन्मनीषा। तथाहि-बाधकभावात्साधकाभावाद्वा सकलप्रत्यक्षप्रतिक्षेपः स्यात्? । आद्यपक्षे प्रत्यक्षम्,अप्रत्यक्षं वा बाधकमभिदध्याः ?। प्रत्यक्षं चेत्पारमार्थिकं, सांव्यवहारिकं वा ? । पारमार्थिकमपि विकलं, सकलं वा ?। विकलमप्यवधिलक्षणं, मनःपर्यायरूपं वा ?। नैतत्पक्षद्वयमपि क्षेमाय, द्वयस्यास्य क्रमेण रूपिद्रव्यमनोवर्गणागोचरत्वेन तद्बाधनविधावधीरत्वात् । सकलं चेत्, अहो ! शुचिविचारचातुरी, यत्केवलमेव केवलप्रत्यक्षस्यास्याभाव विभावयतीति चेत्, वन्ध्याऽपि प्रसूयतामिदानीं स्तनन्धयान्, वान्ध्येयोऽपि च विधत्तामुत्तंसान्। सांव्यवहारिकमप्यनिन्द्रियोद्भवम्, इन्द्रियोद्भवं वा ?। न तावत् प्रथमम्, अस्य प्रातिभाऽतिरिक्तस्य स्वात्माविष्वग्भूतसुखादिमात्रगोचरत्वात् । प्रातिभं तु तद्बाधकं नानुभूयत एव। ऐन्द्रियं तु स्वकीयं, परकीयं वा ?। स्वकीयमपीदानीमत्र तद्बाधेत, सर्वत्र सर्वदा वा ?।प्राचि पक्षे पिष्टं पिनष्टि भवान्, तथा तदभावस्यास्माभिरप्यभीष्टेः । द्वितीये तु सर्वदेशकालानाकलय्य तदभावमुद्भावयेत्, इतरथा वा ?। आकलय्य चेदाकालं नन्दताद्भवान्, भवत्येव सकलकालकलाकलापाशेषदेशविशेषवेदिनि वेदनस्य तादृशप्रसिद्धेः । अनाकलय्य चेत्, कथं सकलदेशकालाऽनाकलने सर्वत्र सर्वदा वेदनं तादृक् नास्तीति प्रतीतिरुल्लसेत्, परकीयमपीदानीमत्र

तद्भाव बाधेत, सर्वत्र सर्वदा वेत्यादिविकल्पजालजर्जरीभूतं न तद्बाधनधुरां धारयितुं धीरतां दधाति। कथं वा परगृहरहस्याभिज्ञो भवानेवमभूत्? । तादृक्प्रत्यक्षप्रतिक्षेपकं प्रत्यक्षं प्रावर्तिष्ट ममेति तेन कथनाच्चेत्; यदि कथिते प्रत्ययः, तर्हि तादृक्षाध्यक्षप्रतिक्षेपि प्रत्यक्षं नास्त्येव, इत्युत्तम्भितहस्ता वयं व्याकुर्म्महे इति किं न तथाऽनुमन्यसे? । अथ न यौष्माकीणः प्रमाणप्रवीणः समुल्लापः, परकीयः कथमिति वाच्यम्? । न खल्वत्र स्वप्रत्यक्षं त्वत्प्रत्यक्षं कर्तुं शक्नोति, वचसा तु यथाऽसौ कथयति, तथा वयमपि । अथ तदुपदर्शितेऽर्थे संवादात्तद्वचः प्रमाणम् । नन्वेवं प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा संवादकं स्यात्? इत्यादि पूर्वोक्तावर्त्तनेनानवस्थावल्लिरुल्लसन्ती कथं कर्तनीया? । किञ्च सर्वविदामिन्द्रियागोचरत्वादैन्द्रियमध्यक्षं सकलप्रत्यक्षस्य विधौ, प्रतिषेधे वा मूकमेव वराकम् । न च त्वन्मतेनाऽभावः प्रत्यक्षेण ग्रह्यते । तथात्वे हि किमिदानीमपहस्तसर्वस्वेन तपस्विनाऽभावप्रमाणेन कर्त्तव्यम् ? । तन्न प्रत्यक्षं तद्बाधविधानसंविधानोद्धुरम् । अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षाभावमात्रम्, अपरप्रमाणरूपं वा प्रणिगद्येत ? । आद्यं चेत् तर्हि निद्राणदशायामम्भस्तम्भकुम्भाम्भोरुहाम्भोधरादिगोचरप्रत्यक्षाभावात् तेषामभावो भवेत् । द्वितीयं चेद्भावस्वभावम्, अभावस्वभावं वा? । भावस्वभावमप्यनुमानम्, शाब्दम्, अर्थापत्तिः, उपमानं वा?। अनुमानं चेत्, कस्तत्र धर्मी ?–सकलप्रत्यक्षं, पुरुषो वा कश्चित् ?। सकलप्रत्यक्षं चेत्, तत्रोपादीयमानः समस्तो हेतुराश्रयासिद्धतामाश्रयेत्, भवतस्तस्याऽप्रसिद्धेः । पुरुषोऽपि सर्वज्ञः, तदन्यो वा धर्मी वर्ण्येत ?। सर्वज्ञश्चेत्, किं सर्वज्ञत्वेन निर्णीतः, पराभ्युपगतो वा ?। निर्णीतश्चेत् कथं तत्र तादृक्प्रत्यक्षप्रतिक्षेपः प्रेक्षाकारिणः कर्तुमुचितः ?, तन्निर्णायकप्रमाणेनैव तद्बाधनात् । अथ सर्वज्ञत्वेन परैरभ्युपगतः पुमान् वर्द्धमानादिर्धर्मी, तर्हि किं तत्र साध्यम्?–नास्तित्वम्, असर्ववित्त्वं वा?। न तावन्नास्तित्वं, तथाविधपुरुषमात्रसत्तायामुभयोरविवादात्, तथा व्यवहारपारमार्थिकापारमार्थिकत्व एव विप्रतिपत्तेः । असर्ववित्त्वं चेत्, कस्तत्र हेतुः?–उपलब्धिः, अनुपलब्धिर्वा ?। उपलब्धिश्चेत्, अविरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धोपलब्धिर्वा?। अविरुद्धोपलब्धिस्तावद् व्यभिचारिणी, नित्यत्वनिषेधाभिधीयमानप्रमेयत्ववत् । विरुद्धोपलब्धिस्तु–किं साक्षाद्विरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धकारणोपलब्धिः, विरुद्धसहचराद्युपलब्धिर्वा स्यात् ? । नाद्या, सर्वज्ञत्वेन साक्षात् विरुद्धस्य किञ्चिज्ज्ञत्वस्य तत्र प्रसाधकप्रमाणाभावात् । नाप्येतन्नविकल्पचतुष्टयमपि घटामटाट्यते, प्रतिषेधस्य हि सर्ववित्त्वस्य विरुद्धं किञ्चिज्ज्ञत्वम्, तस्य च व्याप्यं कतिपयार्थसाक्षात्कारित्वं कार्यं, कतिपयार्थप्रज्ञापकत्वं कारणमावरणक्षयोपशमः, सहचरादि रागद्वेषादिकम्, न च विवादोपादाने पुंसि तेषामन्यतमस्यापि प्रसाधकं किञ्चित्प्रमाणं तत्रास्ति, यतस्तदुपलब्धीनां सिद्धिः स्यात् । वक्तृत्वरूपा विरुद्धकार्योपलब्धिरस्त्येव तन्निषेधे साधनं साधिष्ठमिति चेत् । ननु कीदृग् वक्तृत्वमत्र विवक्षाचक्रे, यत्सर्ववित्त्वविरुद्धस्य कार्यं स्यात्?–प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं, तदविरुद्धार्थवक्तृत्वं, वक्तृत्वमात्रं वा ? । आद्यभिदायाम् असिद्धं साधनम्, वर्द्धमानादौ भगवति तथाभूतार्थवक्तृत्वाभावात् । द्वितीयभिदि तु, नेयं विरुद्धकार्योपलब्धिः, किन्तु कार्योपलब्धिरेव तद्विधिसाधनी, धूमध्वजसिद्धिनिबन्धनोपन्यस्तधूमोपलब्धिवत्, तथा च विरुद्धो हेतुः । तृतीयभेदे त्वनैकान्तः, वक्तृत्वमात्रे सर्वविस्वकार्यत्वस्याविरोधात् । अनुपलब्धिरपि विरुद्धानुपलब्धिः, अविरुद्धानुपलब्धिर्वा ? । विरुद्धानुपलब्धिस्तात्त्विद्विधिसिद्धावेव साधीयस्तां दधाति, अनेकान्तात्मकं वस्तु, एकान्तस्वरूपानुपलब्धेः, इत्यादिवत् । अविरुद्धानुपलब्धिरपि स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, सहचराद्यनुपलब्धिर्वाऽभिधीयेत ? । स्वभावानुपलब्धिरपि सामान्येन, उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणा वा व्याक्रियेत?। पौरस्त्या तावन्निशाचरादिना व्यभिचारिणी । द्वितीया पुनरसिद्धा, सर्ववित्त्वस्य स्वभावविप्रकृष्टत्वात् । व्यापकानुपलब्धिप्रभृतयोऽपि विकल्पा अल्पीयांसः, यतः सर्ववित्त्वस्य व्यापकं सकलार्थसाक्षात्कारित्वं कार्यमतीन्द्रियवस्तूपदेशः, कारणमखिलावरणविलयः, सहचरादि क्षायिकचारित्रादिकम्; न च तत्र तदनुपलब्धीनां सिद्धौ साधनं किञ्चित्तेऽस्ति, इत्यसिद्धा एवामूः। अथ सर्वज्ञादन्यः कश्चिद्धर्मी, तर्हि तस्यासर्ववित्त्वे साध्ये सिद्धसाध्यता, तन्नानुमानं तद्बाधकम् ॥ नापि शाब्दम्, यतस्तदपौरुषेयं, पौरुषेयं वा स्यात्? । न तावदपौरुषेयम्, अपौरुषेयत्वस्य ववस्तु सम्भवाभावात् । पौरुषेयमपि केवलालोकाकलितपुरुषप्रणीतं, तदितरपुरुषप्रणीतं वा ? । आद्यं कथं बाधकं ?, विरोधात् । द्वितीये त्वसौ पुरुषः केवलालोकविकलाः सकलाः पुरुषपर्षदः प्रेक्षते, न वा ? । प्राच्यपक्षे, कथं तत्प्रतिषेधः ?। तस्यैव तदाकलितत्वात् । द्वितीयेऽपि कथन्तराम्, तत्प्रणीतशब्दस्य पांशुलपादकोपदिष्टशब्दस्येव प्रमाणत्वासम्भवात् ॥ नाप्यर्थापत्तिस्तद्बाधिका, तदभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्य कस्यचिदसत्त्वात् ॥ नाप्युपमानं, तस्य सादृश्यमात्रगोचरत्वात् । तन्न भावरूपं प्रमाणं तद्बाधकम् ॥ नाप्यभावरूपम्, तस्य सत्तापरामर्शिप्रमाणपञ्चकामवृत्तौ सत्यां भावात् । न चासौ समस्ति विवादास्पदं कस्यचित्प्रत्यक्षं, प्रमेयत्वात्पटवत्, इति भवद्ग्राहकानुमानस्य प्रवृत्तेः । तन्न बाधकभावात् सकलप्रत्यक्षाऽभावः । नापि साधकाभावात्, अनुमानस्यैव तत्साधकस्येदानीमेव निवेदनात् । इति सिद्धं करतलकलितनिस्तुलस्थूलमुक्ताफलायमानाकलितसकलवस्तुविस्तारं केवलनामधेयं संवेदनम् । इति सिद्धमेवं केवलज्ञानम् ॥ २३ ॥ रत्ना० २ परि० ।

(इह दिङ्मात्रमुपदर्शितं, विस्तरस्तु सर्वज्ञसिद्धिप्रक्रियाऽवसरे वक्ष्यते मतिज्ञानादिज्ञानचतुष्कमणनानन्तरम्)

(५) इदानीमवसरप्राप्तं केवलज्ञानं प्रतिपादयन्नाह–

अह सव्वदव्वपरिणा–मभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं णाणं ॥ ८२३ ॥

अथशब्द इहोपन्यासार्थः, पूर्वसमुद्देशसूत्रे मनःपर्यायानन्तरं केवलज्ञानमुपन्यस्तं, तस्मात्प्रति तात्पर्यनिर्देशार्थमुपन्यस्यते, इति पठितमप्युपन्यासार्थोऽथशब्दः । यत उक्तम्–'अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्विति' । सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च जीवादीनि, तेषां परिणामाः प्रयोगविस्रसोभयजन्या उत्पादादयः पर्यायाः सर्वद्रव्यपरिणामाः, तेषां भावः सत्ता स्वलक्षणं स्वं स्वमसाधारणं रूपं, तस्य विशेषेण ज्ञापनं विज्ञप्तिः, विज्ञानं वा विज्ञप्तिः, परिच्छेद इत्यर्थः । तस्याः कारणं हेतुः सर्वद्रव्यपरिणामविज्ञप्तिकारणं, केवलज्ञानमिति संबध्यते । उक्तं च–

"सव्वदव्वाण पओ-गवीससा-मीसजा जहाजोग्ग ।
परिणामा पज्जाया, जम्मविणासादओ सव्वे ॥ ८२५ ॥
तेसिं भावो सत्ता, सलक्खण वा विसेसओ तस्स ।
णाणं विसयसीए, कारण केवलणाण " ॥ ८२६ ॥

तथ ज्ञेयानन्तत्वादनन्त, तथा शश्वद्भव शाश्वत, सदोपयोगवदिति भावार्थः । तथा प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदाऽवस्थायीनि भावः । ननु यत् शाश्वतं तदप्रतिपात्येव,ततः किमनेन विशेषणेन?। तदयुक्तम्,सम्यक् शब्दार्थापरिज्ञानात्। शाश्वतं हि नाम अनवरत भवदुच्यते, शश्वद्भव शाश्वतमिति व्युत्पत्तेः । तच्च कियत्कालमपि भवति,यावद्भवति तावन्निरन्तर भवनात्ततः सकलकालभावप्रतिपत्त्यर्थमप्रतिपाति विशेषणोपादानम् । एव तात्पर्यार्थः-अनवरतं सकलकाल भवतीति, अथवा एकपदव्यभिचारेऽपि विशेषणविशेष्यभावो भवतीति ज्ञापनार्थं विशेषणद्वयोपादानम् । तथाहि-शाश्वतमप्रतिपात्येव, प्रतिपाति तु शाश्वतमशाश्वतं च भवति । यथा अप्रतिपात्यवधिज्ञानमिति । तथा एकविधमेकप्रकारं, तदावरणक्षयस्यैकरूपत्वात् ।

उक्त च-

" पज्जायओ अणंतं, सासयमिठं सदोवओगाओ ।
अव्वयओ पडिवादी, एगंविह सव्वसुद्धीए " ॥ ७२८ ॥

(विशे०) केवल च तद् ज्ञान च केवलज्ञानम्। आ० म०प्र० । (६) अथ साद्यपर्यवसित केवलज्ञान सूत्रे प्रदर्शितम् । अनुमान च तथाभूतस्य तस्य प्रतिपादक सभवति । तथाहि-घातिकर्मचतुष्टयक्षयादाविर्भूतत्वात् केवल सादि । न च तथोत्पन्नस्य पश्चात्तस्यावरणमस्त्यतोऽनन्तमिति न पुनरुत्पद्यते,विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्य ।

न हि घटस्याविनाशे कपालानामुत्पादो दृष्ट इत्यनुत्पादव्ययात्मक केवलमित्यभ्युपगमवतो निराकर्तुमाह-

केवलणाणं साई, अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।
तेत्तियमित्तो तूणा, केइ विसेसं ण इच्छंति ॥ ७७ ॥

केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति दर्शित सूत्रे इत्येतावन्मात्रेण गर्विता· केचन विशेष पर्याय पर्यवसितत्वस्वभाव विद्यमानमपि नेच्छन्ति; ते न च सम्यग्वादिन ॥ ७७ ॥

यत·—

जे संघयणाईया, भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ।
ते सिज्झमाणसमये, ण होंति विगयं तओ होइ ॥७८॥

ये वज्रऋषभनाराचसंहननादयो भवस्थकेवलिजन्मपुद्गलप्रदेशयोरन्योऽन्यानुवेधात् व्यवस्थिते· विशेषपर्याया·, ते सिध्यत्समये अपगच्छन्ति । तदपगमे तदव्यतिरिक्तस्य केवलज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यद्वारेण विगमात्, अन्यथाऽवस्थातुरवस्थानामात्यन्तिकभेदप्रसक्तेः, केवलज्ञान ततो विगत भवतीति सूत्रकृतोऽभिप्रायः ।

विनाशवत्केवलज्ञानस्योत्पादोऽपि सिद्धत्वसमय इत्याह-

सिद्धत्तणेण य पुणो, उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ ।
केवलभावं तु पडु-च केवलं दाइयं सुत्ते ॥ ७० ॥

सिद्धत्वेनाशेषकर्मविगमस्वरूपेण पुन पूर्ववदुत्पन्न एष केवलज्ञानाख्योऽर्थपर्यायः, उत्पादविगमध्रौव्यात्मकत्वाद् वस्तुनोऽन्यथा वस्तुहानि । यत्त्वपर्यवसितत्व सूत्रे केवलस्य दर्शित,तत्तस्य केवलभावं सत्तामात्रमाश्रित्य, कथञ्चित्तदात्मव्यतिरिक्तत्वात्तस्यात्मनश्च द्रव्यरूपतया नित्यत्वात् ॥ ६० ॥

ननु केवलज्ञानस्याऽऽत्मरूपतामाश्रित्य तस्योत्पादविनाशाभ्यां केवलस्य तौ भवत·, न चात्मन· केवलरूपतेति कुतस्तद्द्वारेण तस्य तावित्याह-

जीवो अणाइणिहणो, केवलणाणं तु साइयमणंतं ।
इय थोरम्मि विसेसे, कह जीवो केवलं होई ? ॥७१॥

जीवोऽनादिनिधनः,केवलज्ञान तु साद्यपर्यवसितम्,इति स्थूरे विरुद्धधर्माध्यासलक्षणे विशेषे न्यायाऽऽनपवदत्यन्तभेदात् कथं जीव· केवल भवेत्?,जीवस्यैव तावत् केवलरूपता असङ्गता दूरतः सहननादेरिति भावः।

तम्हा अण्णो जीवो, अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स ।
उवसमियाईलक्खण-विसेसओ केइ इच्छंति ॥ ७२ ॥

तस्माद् विरुद्धधर्माध्यासतोऽन्यो जीव ,अन्ये ज्ञानादिपर्याया·,लक्षणभेदाच्च तयोर्भेदः। तथाहि-ज्ञानदर्शनयोः क्षायिक·, क्षयोपशमिको वा भावो लक्षणम् । जीवस्य तु पारिणामिकादिभावो लक्षणमिति केचित् व्याख्यातार· प्रतिपन्नाः।

एतन्निषेधायाऽऽह-

अह पुण पुव्वपउत्तो, अत्थो एगंतपक्खपडिसेहो ।
तह वि उयाहरणमिणं,ति हेउपडिजोयणं वोच्छं ॥७३॥

यद्यप्ययं पूर्वमेव द्रव्यपर्यायो भेदाभेदैकान्तपक्षप्रतिषेधलक्षणोऽर्थः प्रयुक्तो योजित· । " अप्पायठी भगा " इत्यादिना अनेकान्तव्यवस्थापनात् , तथापि केवलज्ञानेनैकान्तात्मकैकप्ररूपप्रसाधकस्य हेतो साध्येनानुगमप्रदर्शकप्रमाणविषयमुदाहरणमिदमुत्तरगाथया वक्ष्ये ॥ ७३ ॥

तदेवाऽऽह-

जह कोइ सट्ठिवरिसो, तीसइवरिसो णराहिवो जाओ ।
उभयत्थ जायसद्दो, वरिसविभागं विसेसेइ ॥ ७४ ॥

यथा कश्चित्पुरुष षष्टिवर्ष· सर्वायुष्कमाश्रित्य, त्रिंशद्वर्षः सन्नराधिपो जात·, उभयत्र मनुष्ये राजनि च जातशब्दोऽय प्रयुक्तो वर्षविभागमेवास्य दर्शयति । षष्टिवर्षायुष्कस्य पुरुषसामान्यस्य नराधिपपर्यायो जातोऽभेदाध्यवसितभेदात्मकत्वात् पर्यायस्य, नराधिपपर्यायात्मकत्वेन वाऽय पुरुष· पुनर्जातो, भेदानुषक्ताभेदात्मकत्वात् । सामान्यस्यैकान्तभेदे अभेदे तयोरभावप्रसङ्गान्निराश्रयस्य पर्यायप्रादुर्भावस्य तद्विकलस्य वा सामान्यस्यासभवात् संशयविरोधवैयधिकरण्येऽनवस्थोभयदोषादीनामनेकान्तवादे च प्रागेव निरस्तत्वात् ॥६४॥

दृष्टान्त प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकयोजनायाऽऽह-

एवं जीवद्दव्वं, अणाइनिहणमविसेसियं जम्हा ।
रायसरिसो उ केवलि-पज्जावो तस्स सविसेसो ॥७५॥

एवमनन्तरोक्तदृष्टान्तवज्जीवद्रव्यमनादिनिधनमविशेषितभव्यजीवरूप सामान्य, यतो राजत्वपर्यायसदृशः केवलित्वपर्यायस्तस्य तथाभूतजीवद्रव्यस्य विशेषस्तस्माद् तेन रूपेण जीवद्रव्यसामान्यस्यापि कथञ्चिदुत्पत्तेः सामान्यमप्युत्पन्न, प्राक्तनरूपस्य विगमात् । सामान्यमपि तदभिन्नं कथञ्चिद्विगतए-

घोत्तरपिण्डघटपर्यायपरित्यागोपादानप्रवर्तकमृद्द्रव्यवत्केवलरूपतया जीवरूपतया वा अनादिनिधनत्वाच्चिन्त्यं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यं,प्रतिक्षणभाविपर्यायियुतस्य च मृद्द्रव्यस्याध्यक्षतोऽनुभूतेर्न दृष्टान्तासिद्धिः । तस्मात्केवलं कथञ्चित्सादिकं, कथञ्चिदनादिकं, कथञ्चित्सपर्यवसानं, कथञ्चिदपर्यवसानं सत्त्वादात्मवदिति स्थितम् ॥ ९५ ॥

न द्रव्य पर्यायेभ्यो भिन्नमेवेत्याह-

जीवो अणाइनिहणो, जीव त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो ।
जं पुरिसाउयजीवो, देवाउयजीवियविसिट्ठो ॥ ९६ ॥

जीवोऽनादिनिधनो जीव एव विशेषविकल्प इति न नियमतो वक्तव्य, यतः पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद्विशिष्टो जीव एव इति तत्त्वभेदे पुरुषजीव इत्यादिभेदो न भवेत्, केवलस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययाभिधानाभिर्निमित्तस्यापि विशेषप्रत्ययाऽभिधानस्य संभवे सामान्यस्याभिधानस्यापि निर्निमित्तस्यैव भावात्तन्निबन्धनसामान्याऽभ्युपगमोऽप्ययुक्तः स्यादिति सर्वाभावः । न च विशेषप्रत्ययस्य बाधारहितस्यापि मिथ्यात्वम्, इतरथाऽपि तत्प्रसक्तेरिति प्रतिपादनात्, केवलज्ञानस्य कथञ्चिदात्मव्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाव्यतिरेकात् ॥ ९६ ॥

कथञ्चिदेकत्व तयोरित्याह-

संखेज्जमसंखेज्जं, अणंतकप्पं च केवलं णाणं ।
तह रागदोसमोहा, अन्ने वि य जीवपज्जाया ॥ ९७ ॥

आत्मन एकत्वात् कथञ्चित्तदव्यतिरिक्त केवलमप्येकम्, केवलस्य वा ज्ञानदर्शनरूपतया द्विरूपत्वात्तदव्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपोऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वादात्मनः केवलमप्यसङ्ख्येयम् । अनन्तार्थविषयतया केवलस्यानन्तत्वादात्माऽप्यनन्तः, एव रागद्वेषमोहा अन्येऽपि जीवपर्याया छद्मस्थाऽवस्थाभाविनः सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रकारा आलम्ब्यभेदात्तदात्मकत्वात्स आत्माऽपि तद्वत् तथैव स्यात् । सोमिलब्राह्मणप्रश्नप्रतिवचने चागमे एतदर्थे प्रतिप्रश्न उत्तरम्—" सोमिल ! एगे वि अहं० जाव अणेगभूयभावभविए य अहं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगे वि अहं " इत्याद्युत्तरहेतुप्रश्ने हेतुप्रतिपादनम्—" सोमिल ! दव्वट्ठयाए एगे अहं णाणदंसणट्ठयाए अणेगे अहं " इत्यादि प्रकृतार्थसंवादिसिद्धे रागादीनां चैकाद्यनन्तभेदत्वमात्मपर्यायत्वात्, यो ह्यात्मपर्याय. स एकाद्यनन्तभेदो, यथा केवलावबोध', तथा च रागादय इति स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकत्वमर्हत्यपि सिद्धमिति । यत्परेणोक्तमनेकान्तात्मकत्वाभावेऽपि केवलिनि सत्त्वाद्,यत् सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति प्रतिपादकस्य शासनस्याव्यापकत्वात् कुसमयविशासित्व तस्यासिद्धमिति, तत्प्रत्युक्त द्रष्टव्यम् । सम्म० २ काण्ड ।

(७) अथेदं किं प्राप्य विषयं परिच्छिनत्ति, अप्राप्य वा ? ।
अप्राप्येति ब्रूम , कथम् ?, यत'—

आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्, संवित्त्या चैवमिष्यते ।
गमनादेरयोगेन, नान्यथा तत्त्वमस्य तु ॥ ५ ॥

आत्मनि जीवे शरीरपरिमाणे तिष्ठति इत्यात्मस्थम्, शरीरपरिमाणता चास्य तत्रैव तद्गुणोपलब्धे.। कुत ? आत्मस्थ तदित्याह-आत्मधर्मत्वात् जीवपर्यायत्वात् । यो हि यस्य धर्म. स तत्रैव वर्तते, यथा घटे रूपम्,आत्मधर्मश्च केवलज्ञानमिति,न केवलमात्मधर्मत्वात्तदात्मस्थ,संवित्त्या च स्वसंवेदनाच्च हेतो । तथाहि-यद्यत्र संवेद्यते तत्तत्रैव प्रवर्तते,यथा घटे रूपं, संवेद्यते चात्मनि ज्ञानमित्यात्मस्थज्ञानसिद्धिः । तथा यद् यत् ज्ञानं तत्तदात्मस्थं, यथा रूपज्ञान,ज्ञानं च केवलमिति । एवमनेन प्रकारेणाऽऽत्मस्थतालक्षणेनेष्यतेऽभिमन्यते, केवलमिति प्रक्रमः। तदेव संवेदनात् प्रणालिकयाऽऽत्मस्थकेवलसिद्धिः। अथ वा आत्मस्थं केवलमात्मधर्मत्वात् । अथाऽऽत्मधर्मत्वमेव कथम् ?, इत्याह-संवित्त्या पुनरेवमात्मधर्मत्वेन इष्यते केवलज्ञानं, संवेद्यते ह्यात्मधर्मतया ज्ञानं,ज्ञानं च केवलमित्यात्मधर्मस्तादित्यात्मधर्मलक्षणहेतुसिद्धिः। तथा गमनादेः केवलज्ञानस्य ज्ञेयदेशे गत्यादे.,आदिशब्दात् ज्ञेयदेशं गत्वा पुनः स्वस्थानागमनग्रहः। अयोगेनायुज्यमानत्वेन,केवलस्य ज्ञेयदेशगमने आत्मनो नि.स्वभावत्व स्यात्,तत्स्वरूपत्वादात्मन., केवलस्य चात्मधर्मत्वं न स्यात, आत्मविरहेऽपि भावादिति । किमित्यत आह-नान्यथा नैवान्येन प्रकारेण प्राप्य परिच्छेदतो नात्मस्थतालक्षणेन तत्त्व तत् रूपम्, अस्य केवलस्य, तुशब्दोऽवधारणे, तस्य च प्रयोगो दर्शित एव। ततो यदभिधीयते-"अज्ज वि धावइ नाणं, तह वि अलोओ अणतओ चेव। अज्ज वि न कोइ एव,पावइ सव्वस्सुयं जीवो ॥१॥" इति। तन्निरस्तमिति। अथ वा गमनादेरयोगेनाऽऽत्मस्थ तदिति योगोऽन्यथेति गमनादिसद्भावे पुनस्तत्त्वं केवलमस्य न स्यात्,केवलज्ञानं हि सकलज्ञानमुच्यते, अलोकस्यानन्तत्वेन गमनतः सकलो ज्ञातुमशक्यः । तुशब्द. पुनरर्थो, योजितश्चेति ॥ ५ ॥

अथ यदीदमात्मस्थमेव तदा कथ चन्द्रादिप्रभोपमानमेतदभिधीयते-" स्थित. शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञान, तदावरणमभ्रवत्" ॥ १ ॥ इति ।

अथोत्तरमाह मूलसूत्रम्-

यच्च चन्द्रप्रभाऽऽद्यत्र, ज्ञातं तज् ज्ञातमात्रकम् ।
प्रभा पुद्गलरूपा य-त्तद्धर्मो नोपपद्यते ॥ ६ ॥

आत्मस्थमेवेद तावत्केवलज्ञानं,यच्च यत्पुनश्चन्द्रप्रभाऽऽदिः शीतांशुरश्मिप्रभृतिकम्, आदिशब्दादादित्यदीपादिपरिग्रहः । अत्र केवलज्ञानस्वरूपे ज्ञापयितव्ये प्रकाशमात्रसाधर्म्यात् ज्ञानं ज्ञापकम्। तत्किमित्याह-ज्ञातमेव ज्ञातमात्र, तदेव चावगीत ज्ञातमात्रक,विशिष्टसाधर्म्याभावात् । कुत एतदेवमित्याह-प्रभा दीप्ति.,पुद्गलरूपा परमाणुप्रचयस्वभावा, यद् यस्मात्कारणात् ततोऽसौ प्रभा तद्धर्मश्चन्द्रादिपर्यायो नोपपद्यते, न घटते। न हि पुद्गलानां धर्मताऽस्ति,द्रव्यत्वात्, तदेवं केवलस्य जीवधर्मत्वात्, प्रभायाश्चाधर्मत्वात् न सर्वसाधर्म्यं, ततो ज्ञातमात्रकमेवैतदिति । अथ वा प्रभा पुद्गलरूपा यत्ततश्च प्रभाकेवलयोर्विशिष्टसाधर्म्याभ्युपगमे तदिति केवलज्ञान धर्मो जीवपर्यायो नोपपद्यते,द्रव्यत्वेन प्रभाया' केवलस्यापि द्रव्यत्वप्राप्तेः,अन्यथा सर्वसाधर्म्यं न स्यादित्यतो ज्ञानमात्रत्वमिति ॥ ६ ॥

पुनर्ज्ञातमात्रतामेवास्य समर्थयन्नाह-

अतः सर्वगताऽऽभास-मप्येतन्न यदन्यथा ।
युज्यते तेन सन्न्यायात्, संवित्त्याऽदोऽपि भाव्यताम् ॥७॥

अत एतस्माच्चन्द्रप्रभाज्ञानात्,सर्वेषु समस्तेषु वस्तुषु,गतः प्राप्तः, आभास. प्रकाशो यस्य तत्सर्वगताभासं, न केवलमात्मस्थमात्मधर्मो वा,न युज्यते सर्वगताभासमपि न युज्यत इति सम्बन्धः।

एतत्केवलज्ञान, न नैव, यद् यस्मात्कारणात्, अन्यथा अनन्तरोक्तप्रकारात् प्रकारान्तरेण चन्द्रप्रभाज्ञातस्य सर्वसाधर्म्यज्ञाततालक्षणे न युज्यते घटते। अघटना चैवम्-चन्द्रप्रभा हि न सर्वगताभासा, तत्साधर्म्याच्च केवलमपि तथा स्यादिति (तेनेति) तस्मात्कारणात् सन्न्यायाद्नुकलतया शोभनोपपत्त्या सविन्त्या स्वसंवेदनेन च अदोऽप्येतदपि प्रभाज्ञातस्य ज्ञातमात्रत्वमपि न केवलमात्मस्थत्व केवलस्य भाव्यतां पर्यालोच्यताम्। तथाहि-सवेद्यत एव ज्ञातस्य ज्ञातमात्रत्वं प्रभायाः पुद्गलद्रव्यत्वेन, केवलस्य च जीवधर्मत्वेन वैधर्म्यस्य स्पष्टत्वादिति।७॥

अथ पूर्वोक्तस्वरूपं केवलज्ञानं निगमयन्नाह-

नाऽरूप्योऽस्ति गुणोऽलोके, न धर्मान्तौ विभुर्न च।
आत्मा तद्गमनाऽऽद्यस्य, नास्तु तस्माद्यथोदितम् ॥८॥

न नैव, अरूप्यो रूप्यवर्जितोऽस्ति विद्यते, गुणो धर्मः, "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इति वचनात्। अत आत्मगुणत्वात केवलस्यात्मस्थमेव तदिति गर्भः। तथा अलोके केवलाऽऽकाशे, न नैव, धर्मश्च धर्मास्तिकायो जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भकारी, अन्तश्च पर्यवसान, धर्मान्तौ, स्त इति गम्यते। इदमुक्तं भवति-लोके गमनसंभवात संभवति तद्नात्मस्थमपि लोकप्रकाशम्, अलोके पुनर्धर्मास्तिकायाभावाद् गमनाभावेन अन्ताभावाच्च सर्वत्रालोक गन्तुमशक्तत्वेनात्मस्थमेव सत्तदलोकप्रकाशकमिति। अथ सर्वगतत्वादात्मन आत्मस्थमपि केवल लोकालोकप्रकाशकं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-विभुः सर्वव्यापी, नच नैव, आत्मा जीवः, शरीरमात्र एव चैतन्योपलब्धेरत शरीरावगाहमानमेव सत्तत्सर्वाभासकमिति भावः। तदिति यस्मादेव तस्माद्गमनादि गत्यादिका क्रिया, आदिशब्दादागमनपरिग्रहः। अस्य केवलज्ञानस्य, न नैवास्तीति गम्यते। अस्तु भवतु, तस्मात्कारणाद्, यथोदित यथाऽभिहितमात्मस्थ केवलमित्यर्थः। इति ॥ ८ ॥ द्वा० ३० अष्ट०। (केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपदुपयोगचिन्ता ' उवओग ' शब्दे द्वितीयभागे ८६२ पृष्ठे कृता)

(८) तद्भेदाः-

से किं तं केवलनाणं ?। केवलनाणं दुविहं पएणत्तं। तं जहा-भवत्थकेवलनाणं च, सिद्धकेवलनाणं च। से किं तं भवत्थकेवलनाणं ?। भवत्थकेवलनाणं दुविहं पएणत्तं। तं जहा-सजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अजोगिभवत्थकेवलनाणं च। से किं तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं ?। सजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पएणत्तं। तं जहा-पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च। अहवा चरमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अचरमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च। सेत्तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं। से किं तं अजोगिभवत्थकेवलनाणं ?। अजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पएणत्तं। तं जहा-पढमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अपढमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च। अहवा चरमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अचरमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च; सेत्तं अजोगिभवत्थकेवलनाणं।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तत् केवलज्ञानम् ?। सूरिराह-केवलज्ञान द्विविध प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-भवस्थकेवलज्ञान, सिद्धकेवलज्ञान च। भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म, तत्र इह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्यः, अन्यत्र केवलोत्पादाभावात्। भवे तिष्ठतीति भवस्थः "स्थादिभ्यः कः" ॥५। ३। ८२। इति (हैम०) कः प्रत्ययः। तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानम्। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। तथा 'षिधु' संसिद्धौ, सिध्यति स्म सिद्धः यो येन गुणेन परिनिष्ठितो न पुनः साधनीयः स सिद्ध उच्यते। यथा सिद्ध ओदनः। स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः। उक्तं च-"कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे अ आगमे। अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय" ॥१॥ अत्र कर्मक्षयसिद्धेनाधिकारोऽन्यस्य केवलज्ञानाभावात्। अथवा सितं बद्धं ध्मातं भस्मीकृतमष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्धः। "पृषोदरादयः" ।३।२। ११५। इति (हैम०) रूपसिद्धिः। सकलकर्मविनिर्मुक्तो, मुक्ताऽवस्थामुपगत इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानम्। अत्राऽपि चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् भवस्थकेवलज्ञानम्। भवस्थकेवलज्ञान द्विविध प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-सयोगिभवस्थकेवलज्ञान च, अयोगिभवस्थकेवलज्ञान च। तत्र योजन योगो व्यापारः। उक्त च-"कायवाङ्मन कर्मयोगः" इह औदारिकादिशरीरस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः। उक्त च-" अहवा तणु जोगाहिय, वइदव्वसमूहजीववावारो। सो वयजोगो भएणइ, वाया निसरिज्ज एतेण " ॥ १ ॥ तथा औदारिक वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः। उक्तं च-" तह तणु वावाराहिय-मणदव्वसमूहजीववावारो। सो मणजोगो भएणइ, मण्णइ नेयं जओ तेण " ॥ १ ॥ ततः सह योगेन वर्तन्ते ये ते सयोगाः मनोवाक्कायाः, ते यथासम्भवमस्य विद्यन्ते इति सयोगी, सयोगी चासौ भवस्थश्च सयोगिभवस्थः, तस्य केवलज्ञान सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्। तथा योगोऽस्य विद्यते इति योगी, न योगी अयोगी, अयोगी चासौ भवस्थश्च अयोगिभवस्थः, शैलेश्यवस्थामुपगत इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानमयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्। अथ किं तत् सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ?। सयोगिभवस्थकेवलज्ञान द्विविध प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, अप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान च। तत्रेह प्रथमसमयः केवलज्ञानोत्पत्तिसमयः, अप्रथमसमयः केवलोत्पत्तिसमयादूर्ध्वं द्वितीयादिकः सर्वोऽपि समयो यावत्सयोगित्वचरमसमय। अथ वेति प्रकारान्तरे, एष एवार्थः, समयविकल्पनेन अन्यथा प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। (चरमसमयेत्यादि) तत्र चरमसमयः सयोग्यवस्थाऽन्तिमसमयः, न चरमसमयः अचरमसमय, सयोग्यवस्थाचरमसमयादर्वाक्तनः सर्वोऽप्याकेवलप्राप्तेः। "सेत्तमित्यादि" निगमनं सुगमम्। (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ?। अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं द्विविध प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-प्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, अप्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। अत्र प्रथमसमयोऽयोगित्वोत्पत्तिसमयो वेदितव्यः; शैलेश्यवस्थाप्रतिपत्तिसमय इत्यर्थः। प्रथमसमयादन्यः सर्वोऽप्यप्रथमसमयो यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमयः। अथवेति प्र-

कारान्तरे, (चरमसमयेत्यादि) इह चरमसमयः शैलेश्यव-स्थाऽन्तिमसमयः, स चरमसमयादन्यः सर्वोऽप्यन्यः सर्वोऽप्यचरमसमयो यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमयः । " सेत्तं " अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्; तदेतदयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् । नं० । स्था० ।

(९) सिद्धकेवलज्ञानस्य द्वैविध्यम्-

से किं तं सिद्धकेवलणाणं ?। सिद्धकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं--अणंतरसिद्धकेवलनाणं च,परंपरसिद्धकेवलनाणं च ॥

" से किं तमित्यादि " अथ किं तत् सिद्धकेवलज्ञानम् ? । सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं च, परम्परसिद्धकेवलज्ञानं च । तत्र न विद्यते अन्तरं समयेन व्यवधानं यस्य सोऽनन्तरः, स चासौ सिद्धश्चानन्तरसिद्धः, सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमान इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानमनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम्। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । तथा विवक्षिते प्रथमसमये यः सिद्धः तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परः, तस्यापि यस्तृतीयसमयसिद्धः स परः। एवमन्येऽपि वाच्याः। परे च परे चेति वीप्सायां "पृषोदरादयः" ॥३।२।१५५॥ इति परम्परशब्दनिष्पत्तिः । परम्परे च ते सिद्धाश्च परम्परसिद्धाः । विवक्षितसिद्धत्वप्रथमसमयात्प्राग् द्वितीयादिषु समयेष्वनन्तामतीताद्धां यावद्वर्तमाना इत्यर्थः। तेषां केवलज्ञानं परम्परसिद्धकेवलज्ञानम् । अत्रापि चशब्दः स्वगतानेकभेदसंसूचकः । नं० ।

(१०) संप्रति विशेषान्तरं जिज्ञासुरनन्तरसिद्धस्वरूपं शिष्यः प्रश्नयन्नाह—

से किं तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं ?। अणंतरसिद्धकेवलनाणं पन्नरसविहं पण्णत्तं । तं जहा--तित्थसिद्धा १ अतित्थसिद्धा २ तित्थयरसिद्धा ३ अतित्थयरसिद्धा ४ सयंबुद्धसिद्धा ५ पत्तेयबुद्धसिद्धा ६ बुद्धबोहियसिद्धा ७ इत्थिलिंगसिद्धा ८ पुरिसलिंगसिद्धा ९ नपुंसयलिंगसिद्धा १० सलिंगसिद्धा ११ अन्नलिंगसिद्धा १२ गिहिलिंगसिद्धा १३ एगसिद्धा १४ अणेगसिद्धा १५ । सेत्तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं ॥

अथ किं तत् अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम् ? । सूरिराह--अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं पञ्चदशविधं प्रज्ञप्तम् । पञ्चदशविधता च तस्यानन्तरसिद्धानामनन्तरपाश्चात्यभवरूपोपाधिभेदापेक्षया, पञ्चदशविधत्वात्, ततोऽनन्तरसिद्धानामेवानन्तरभवोपाधिभेदतः, पञ्चदशविधतां मुख्यत आह--तद्यथेत्युपदर्शनम्, " तित्थसिद्धा " इत्यादि ।

से किं तं परंपरसिद्धकेवलनाणं ?। परंपरसिद्धकेवलनाणं अणेगविहं पण्णत्तं । तं जहा--अपढमसमयसिद्धा दुसमयसिद्धा तिसमयसिद्धा चउसमयसिद्धा० जाव दससमयसिद्धा संखिज्जसमयसिद्धा असंखिज्जसमयसिद्धा अनतसमयसिद्धा, सेत्तं परंपरसिद्धकेवलनाणं ।

" से किं तं परंपर " इत्यादि । न प्रथमसमयसिद्धा अप्रथमसमयसिद्धाः परपरसिद्धविशेषण प्रथमसमयवर्तिनः,सिद्धत्वसमयात् द्वितीयसमयवर्तिन इत्यर्थः । आदिषु द्वितीयसमयसिद्धादय उच्यन्ते। यद्वा-सामान्यतोऽप्रथमसमयसिद्धा इत्युक्तम । तत एतदेव विशेषेण व्याचष्टे-द्विसमयसिद्धास्त्रिसमय इत्यादि । नं० ।

अणंतरसिद्धकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा--एक्काणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव, अणेक्काणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव। परंपरासिद्धकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा--एक्कपरंपरासिद्धकेवलणाणे चेव, अणेक्कपरंपरासिद्धकेवलणाणे चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

द्रव्यक्षेत्रादिविषयाः-

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा--दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं केवलनाणी सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओ णं केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ ।

(समासतो इत्यादि) तदिद सामान्येन केवलज्ञानमभिगृह्यते। समासतः सङ्क्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तम। तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतो,णमिति वाक्यालङ्कारे। केवलज्ञानी सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि साक्षाज्जानाति,पश्यति । क्षेत्रतः केवलज्ञानी सर्वं क्षेत्र लोकालोकभेदभिन्नं जानाति,पश्यति । इह यद्यपि सर्वद्रव्यग्रहणेनाऽऽकाशास्तिकायोऽपि गृह्यते, तथाऽपि तस्य क्षेत्रत्वेन रूढत्वाद्भेदेनोपन्यासः । कालतः केवलज्ञानी सर्वकालमतीतानागतवर्तमानभेदभिन्नं जानाति, पश्यति । भावतः केवलज्ञानी सर्वान् जीवाजीवगतान् भावान् गतिकषायागुरुलघुप्रभृतीन् जानाति, पश्यति । (अग्रेतनपाठस्तु ६४४ पृष्ठस्थ आ० म० प्र० पाठेन गतार्थः)

(११)इह तीर्थकृत्समुपजातकेवलालोक तीर्थकरनामकर्मोदयतः तथास्वाभाव्याद्धुपकार्यकृतोपकारानपेक्ष सकलसत्त्वाऽनुग्रहाय सवितेव प्रकाशं देशनामातनोति; तत्राव्युत्पन्नविनेयानां केषाञ्चिदेवमाशङ्काभावात् भगवतोऽपि तीर्थकृतस्तावद् द्रव्यश्रुतं ध्वनिरूपं वर्तते, द्रव्यश्रुत च भावश्रुतपूर्वकं, ततो भगवानपि श्रुतज्ञानीति; ततस्तदाऽऽशङ्काऽपनोदार्थमाह-

केवलनाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे ।
ते भासइ तित्थयरो,वइजोगसुयं हवइ सेसं ॥८२६॥(नं०)

इह समुत्पन्नकेवलज्ञानः तीर्थकरादिरर्थान् धर्मास्तिकायादीन् मूर्ताऽमूर्ताभिलाप्याऽनभिलाप्यान् केवलज्ञानेनैव ज्ञात्वा मत्वाऽवबुध्य न तु श्रुतज्ञानेन,तस्य क्षायोपशमिकत्वात । केवलिनश्चावरणस्य सर्वथा क्षीणत्वेन तत् क्षयोपशमाभावात;नहि सर्वशुद्धे पटे देशशुद्धिः संभवति, तद्वदिहापीति भावः। ततः किम् ?, इत्याह--तत्र तेषामर्थानां मध्ये ये प्रज्ञापनीयाः प्ररूपणीयाः योग्यास्तानभिलप्यान् भाषते, नेतरान्--अनभिलप्यान् । प्रज्ञापनीयानपि न सर्वानेव भाषते तेषामनन्तत्वात्, आयुषस्तु परिमितत्वात्, किं तर्हि, योग्यानेव भाषते गृहीतृशक्त्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्य इति । यत्र चाऽभिहिते शेषमनुक्तमपि विनेयोऽभ्यूहति तदपि योग्यं भाषते,-यथा ऋषभसेनादीनामुत्पादादिपदत्रयोपन्यासेनैव शेषगति । तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भाष्यमाणः तस्य भगवतः । (वइजो-

ग त्ति) वाग्योग एव भवति, न तु श्रुतं, नाम कर्मोदयजन्यत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, ज्ञानमप्यस्य क्षायिकत्वात्केवलमेव, न भावश्रुतम् । आह-ननु वाग्योगो वाक्परिस्पन्दो वाग्वीर्यमित्यनर्थान्तरम् । अथ च भवतु नामकर्मोदयजन्य, भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः शब्दः किं भवतु ?, इति चेत् । उच्यते-सोऽपि श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतमात्र भवति, न तु भावश्रुतम् । तर्हि किं तद् भावश्रुतम् ?, इत्याह-(सुय हवइ सेस त्ति) यच्छद्मस्थानां गणधरादीनां श्रुतग्रन्थानुसारि ज्ञान तदेव केवलगतज्ञानापेक्षया शेषमन्यद्भावश्रुत भवति, क्षायोपशमिकोपयोगात्, न तु केवलिगत, तस्य क्षायिकत्वादिति । अथ वा 'सुय हवइ सेस' इत्यन्यथा व्याख्यायते-तद्भण्यमानं शब्दमात्र तत्काल एव श्रुत न भवति, किं तर्हि?, शेष, कालमिति वाक्यशेषः । इदमुक्त भवति-तत् केवलिन' शब्दमात्र श्रोतॄणां श्रवणानन्तरलक्षणे शेषकाले श्रोतृगतज्ञानकारणत्वे नोपचाराद् श्रुत भवति, न तु भणनक्रियाकाल इति । अथ वा अन्यथा व्याख्यायते-स केवलिन सबन्धी वाग्योग श्रुत भवति, कथभूतम्?, शेष-गुणभूतम्-प्रधानम, औपचारिकत्वादिति । अन्ये तु पठन्ति -'वइजोगसुय हवइ तेसिं ति' । तत्र तेषा भाष्यमाणानां सबन्धी वाग्योगः श्रोतृगतश्रुतकारणत्वात् श्रुत भवति, द्रव्यश्रुतमित्यर्थ । अथ वा तेषामिति श्रोतॄणां तानाश्रित्येत्यर्थ, भाषकगत वाग्योग एव श्रुत वाग्योगश्रुत भवति, भावश्रुतकारणत्वाद्द्रव्यश्रुतमेवेत्यर्थ । अथ वा, तानर्थान् भाषते केवली, वाग्योगश्चायमस्य भाषमाणस्य भवति, तेषा श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् श्रुतमसौ भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ८२९ ॥

अथ भाष्यम्-

नाऊण केवलेणं, भासइ न सुएण जं सुयाईओ ।
पन्नवणिज्जे भासइ, नाणज्झिप्पे सुयाईए ॥ ८३० ॥
तत्थ वि जोग्गे भासइ, नाजोग्गे गाहयाणुवित्तीए ।
भणिए व जम्मि सेसं, सयमूहइ भणइ तम्मत्तं ॥ ८३१ ॥
वइजोगो त न सुयं, खओवसमियं सुयं जओ न तओ ।
विन्नाणं से खइयं, सद्दो उण दव्वसुयमित्तं ॥ ८३२ ॥
सेसं छउमत्थाणं, विन्नाणं सुयाणुसारेणं ।
तं भावसुयं भण्णइ, खओवसमिओवओगाओ ॥८३३॥
भन्न तं वा न सुयं, सेसं काल सुयं सुणेंताणं ।
त चेव सुयं भण्णइ, कारणकज्जोवयारेण ॥ ८३४ ॥
अह वा वइजोगसुयं, सेसं सेसं ति जं गुणब्भूयं ।
भावसुयकारणाओ, जमप्पहाण तओ सेसं ॥ ८३५ ॥
वइजोगसुयं तेसिं, ति केइ तेसिं ति भासमाणाणं ।
अह वा सुयकारणओ, वइजोगसुयं सुणेंताणं ।८३६।

सत्ताऽपि व्याख्यातार्था एव । नवर, प्रथमगाथायां यद् यस्माच्छ्रुतातीत केवलज्ञानेनैवाभासितसमस्तत्रिभुवनोदरत्वाद् श्रुतातिक्रान्तोऽसौ भगवान् केवली (सुयाईए त्ति) वाग्गोचरातिक्रान्तत्वेन श्रुतातीतानर्थान्न भाषत इति । तृतीयगाथायां (न तओ त्ति) तक क्षयोपशमोऽस्य केवलिनो नास्तीति । विशे० ।

(१२) सत्पदप्ररूपणा-अथास्य गत्यादिद्वारेषु सत्पदप्ररूपणतादयो वाच्याः । तत्र गतौ तावत्-मनुष्यसिद्धयोः केवलज्ञानं प्राप्यते । इन्द्रियद्वारे-अतीन्द्रियाणाम्; कायद्वारे-त्रसकायाकाययोः; योगद्वारे-सयोगायोगयोः, वेदद्वारे-अवेदकानाम्; कषायद्वारे-अकषायाणाम, लेश्याद्वारे-सलेश्यालेश्ययो, सम्यक्त्वद्वारे-सम्यग्दृष्टीनाम, ज्ञानद्वारे-केवलज्ञानिनाम, दर्शनद्वारे-केवलदर्शनिनाम, सयतद्वारे-सयतानाम्, नोसयतासयतानां च; उपयोगद्वारे-साकारानाकारोपयोगयो; आहारकद्वारे- आहारकानाहारकयो', भाषकद्वारे-भाषकाऽभाषकयो; परीत्तद्वारे-परीत्तानां, नोपरीत्तापरीत्तानां च, पर्याप्तद्वारे-पर्याप्तानां, नोपर्याप्तापर्याप्तानां च; सूक्ष्मद्वारे-बादराणां, नोबादरसूक्ष्माणां च, सञ्ज्ञिद्वारे-नोसञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिनाम, भव्यद्वारे-भव्यानां, नोभव्याभव्याना च । चरमद्वारे-चरमाणां भवस्थकेवलिनां, नोचरमाचरमाणां च, सिद्धानां केवलज्ञान प्राप्यते । पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकयोजना तु स्वबुद्ध्या कर्तव्येति । द्रव्यप्रमाणद्वारे-प्रतिपद्यमानकानाश्रित्योत्कृष्टतोऽष्टोत्तरशत केवलिना प्राप्यते, पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यत उत्कृष्टतश्च कोटिपृथक्त्वप्रमाणा भवस्थकेवलिन प्राप्यन्ते, सिद्धास्त्वनन्ता । क्षेत्रस्पर्शनाद्वारयोस्तु जघन्यतो लोकस्यासंख्येयभागे केवली लभ्यते, उत्कृष्टतस्तु सर्वलोके । कालद्वारे-साद्यपर्यवसित काल सर्वोऽपि केवली भवति, अन्तर तु केवलज्ञानस्य नास्ति, उत्पन्नस्य प्रतिपाताभावात्, भागद्वार मतिज्ञानवदिति । भावद्वारे-क्षायिके भावे केवलमवाप्यते । अल्पबहुत्वद्वारे-मतिज्ञानवद्वाच्यमिति । तदेवं, केवलज्ञानं समाप्तम् । विशे० ।

तदेवं " तस्स फलजोगमगल-समुदायत्था तहेव दाराइ " इत्यादिकायां धुरि निर्दिष्टद्वितीयगाथाया मङ्गलरूप तृतीयद्वारं परिसमाप्य, चतुर्थ समुदायार्थद्वारमभिधानीयम्, इति चेतसि निधाय तावदिदमाह-

केवलनाणं नंदी, मंगलमिति चेह परिसमत्ताइं ।
अहुणा समंगलत्थो, भण्णइ पगओऽणुओग त्ति ।८३७।

विशे० । ध० र० । आ० चू० ।

(१३) अथ कीदृश केवलज्ञान भवति ?, तदाह-

जता से णाणावरणं, सव्वं होति खतं गतं ।
ततो लोगमलोग च, जिणो जाणति केवली ॥ ८ ॥

"जता से" इत्यादि । यदा यस्मिन्नवसरे, "से इति" अनिर्दिष्टनाम्नो जीवस्य ज्ञानावरण विशेषावबोधरूपप्रस्ताधात् केवलज्ञानावरण सर्वं निरवशेष क्षय गत भवति । ननु केवलज्ञानं तदैवोत्पद्यते यदा सर्वावरणविगमो भवतीति अर्थादागते किमर्थं सर्वग्रहणमित्याशङ्का । तत्रोच्यते-सर्वग्रहण ज्ञानान्तरभेदसूचक क्षेय यावदावरणविगमे ज्ञानान्तरव्यपदेशाद् दर्शितः, ततो न निरर्थकता आशङ्कनीया । "तत" इति तदा लोक चतुर्दशरज्ज्वात्मकमलोक चानन्त जिनो जानाति केवली लोकालोक च सर्व नान्यतरमेवेत्यर्थ । दशा० ५ अ० । विशे० ।

अथाऽऽवरणक्षये केवलज्ञानलाभ इत्यत्र निश्चयव्यवहारनयवादमुपदर्शयन्नाह-

आवरणक्खयसमये, नेच्छइअनयस्स केवलुप्पत्ती ।
तत्तोऽणंतरसमये, ववहारो केवलं भणइ ॥ १३३४ ॥

निश्चयनयस्यायमभिप्राय -यस्मिन्नेव समये आवरणस्य क्षयः-

क्षीयमाणमावरणमित्यर्थ । तस्मिन्नेव समये केवलज्ञानोत्पत्तिः क्षीयमाणस्य क्षीणत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वाद्, भेदे चान्यत्र काले क्रिया, अन्यत्र च कार्योत्पत्तिरिति स्यात्। इदं चायुक्तम्। क्रियाविरहेऽपि कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्,इत्थं च क्रियाऽऽरम्भकालात्पूर्वमपि कार्योत्पत्तिप्राप्तेरतिप्रसङ्गादिति। व्यवहारनयस्तु-आवरणक्षयसमयादनन्तरसमये केवलोत्पत्तिं भणति, आवरणस्य क्षयसमये क्षीयमाणत्वात्, क्षीयमाणस्य चाऽक्षीणत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोर्भेदाद्, तदेकत्वे च क्रियाकालेऽपि कार्यस्य सत्त्वे क्रियावैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च समानकालभाविनो क्रियाकार्ययोः कार्यकारणभावो युज्यते, सव्येतरगोविषाणादीनामपि तत्प्रसङ्गादिति ॥ १३३४॥

तथा च व्यवहारनयो निजपक्षं समर्थयति-

नाणं न खिज्जमाणे, खीणे जुत्तं जओ तदावरणे ।
न य किरियानिट्ठाणं, कालेगत्तं जओ जुत्तं ॥ १३३५ ॥

यस्मात्क्षीयमाणे तदावरणे ज्ञानमुत्पद्यते,इत्येतन्न युक्तम्। अस्य क्रियाकालत्वात्, तत्काले च कार्यसत्त्वाभ्युपगमस्य दूषितत्वात्; किं तु क्षीणे एव तदावरणे ज्ञानं युज्यते, अस्य निष्ठाकालत्वात्, न च क्रियानिष्ठयोः कालैकत्वं युज्यते, प्रतिविहितत्वादिति ॥ १३३५ ॥

अथ निश्चयः प्राह-

जइ किरियाए न खओ, को हेऊ तप्परिक्खए अन्नो ? ।
अह ताए किह काले,अण्णत्थ तई खओ अण्णत्थ? ॥ १३३६॥

हन्त व्यवहारवादिन् ! आवरणस्य क्षये भवता केवलोत्पत्तिरिष्यते, न तु तत्र क्षीयमाणे । तदत्र भवन्तं पृच्छाम -आवरणक्षयकाले क्रियाऽस्ति,न वा ? यदि नास्ति, तर्हि क्रियान्तरेणावरणक्षये कोऽन्यो हेतुरिति वक्तव्यम्?-न कोऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः। अथास्त्यावरणक्षयकाले तद्धेतुभूता क्रिया,तया च तत्क्षयो विधीयते; तर्ह्यायातं क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वम्, इति कथमुच्यते-'अन्यसमये क्रिया,अन्यत्र च तत्परिक्षयः'? ॥१३३६॥

किं च—

किरियाकालम्मि खओ, जइ नत्थि तओ न होज्ज पच्छा वि ।
जइ वा किरियस्स खओ,पढमम्मि वि किं न किरियाए? ॥ १३३७॥

यदि क्रियाकालेऽप्यावरणक्षयो नास्ति, ततः पश्चादप्यसौ न भवेत्, अक्रियत्वात्, पूर्वकालवदिति । अथ वा यदि क्रियानिवृत्तौ द्वितीयसमयेऽक्रियस्य सतः आवरणक्षयोऽभ्युपगम्यते, तर्हि क्रियाऽन्वितप्रथमसमये किं क्रियया?, तामन्तरेणाप्यावरणक्षयोपपत्तेः, क्रियाविरहितद्वितीयसमयवदिति ? ॥ १३३७ ॥

क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैकत्वमागमेऽप्युक्तम्, इति निश्चयः स्वपक्षं दृढयन्नाह-

जं निज्जरिज्जमाणं, निज्जिन्नं ति भणियं सुए जं च।
नो कम्मं निज्जरिइ, नावरणं तेण तस्स मए ॥ १३३८॥

यद्यस्माद् " चलमाणे चलिए० जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे " इति वचनान्निर्जीर्यमाणं कर्म निर्जीर्णं श्रुतेऽप्युक्तम्, अतः क्षीयमाणं क्षीणमेव, इति नानयोः कालभेदः। (जं च त्ति) यस्मादिदं चागमे प्रोक्तम् । किम् ? इत्याह-" कम्मं वेइज्जइ नो कम्मं निज्जरेज्ज " इति,एतावत् सूत्रं द्रष्टव्यं, वेद्यमानावस्थायां कर्म वेद्यते, निर्जरावस्थायां तु नोकर्म-अकर्मेत्यर्थः । अन्यश्च वेदनासमयः,अन्यश्च निर्जरासमयः। ततः तस्मात् कारणात्तत्समये आवरणक्षीयमाणतासमये-आवरणस्य निर्जरणसमये इत्यर्थः । (नावरणं ति) नास्त्यावरणं-नास्ति प्रतिबन्धकं कर्म, क्षीयमाणस्य क्षीणत्वादित्यर्थः ॥ १३३८॥

प्रतिबन्धकाभावाच्च भवत्येवावरणक्षीयमाणतासमये केवलज्ञानोत्पत्तिः. कस्तां निरुणद्धि ?, अहमिति चेदित्याह-

जइ नाणमणावरणे,वि नत्थि तो तं न नाम पच्छा वि ।
जायं च अकारणओ,तमकारणओ च्चिय पडेज्जा॥ १३३९॥

यद्यनावरणेऽप्यावरणाभावेऽपि केवलज्ञानमुत्पत्तिं न लभते, ततः पश्चादप्यावरणक्षयोत्तरकाले यदा किल त्वया इष्यते तदाऽपि तदुत्पत्तिर्न स्यात्। अथावरणाभावाविशेषेऽप्यावरणक्षयसमये केवलज्ञानं न भवति, तदुत्तरकालं तु पश्चाद्भवति, इति यदृच्छया प्रोच्यते; हन्त ! तर्ह्यकारणा यदृच्छयैव प्रसूतिरस्य, ततोऽकारणत एव जातम्, अकारणतयैव तत् प्रतिपतेत्, विशेषाभावादिति ॥ १३३९ ॥

तस्मात् किमिह स्थितम् ?, इत्याह—

नाणस्सावरणस्स य, समयं तम्हा पगासतमसो व्व ।
उप्पायव्वयधम्मा, तह नेया सव्वभावाणं ॥ १३४० ॥

तस्मात्केवलज्ञानस्य तदावरणस्य च युगपदेवोत्पादव्ययधर्मौ द्रष्टव्यौ । कयोरिव ?, इत्याह—प्रकाशतमसोरिव । यथा हि युगपदेव तमो निवर्तते, प्रदीपादिप्रकाशस्तूत्पद्यते, इति य एव तमसो निवृत्तिसमयः स एव प्रकाशस्योत्पादसमयः। एवमिहापि युगपदेवावरणं निवर्तते, केवलज्ञानं तूत्पद्यते । आत्मद्रव्यं त्ववतिष्ठते इति। य एवावरणस्य क्षयसमयः स एव केवलज्ञानस्योत्पादसमयः, तत्र हि समये आवरणस्य क्षीयमाणस्य क्षीणत्वात, केवलज्ञानस्य चोत्पद्यमानस्योत्पन्नत्वात्, आत्मद्रव्यस्य त्ववस्थितत्वादिति । एवं सर्वेषामपि भावानां मृद्कुण्डल्यादिपदार्थानां घटकुण्डलादिभिरपूर्वपर्यायैरुत्पादः, पिण्डशिवकरुचकसंकोचादिभिः, वक्रत्वादिभिश्च प्राक्तनपर्यायैर्व्ययः, मृद्कुण्डल्यादिद्रव्यरूपतया त्ववस्थानं युगपद्भवतीति ज्ञातव्यमिति ॥१३४०॥

यदि चरमसमये केवललाभः, ततः किम्?, इत्याह-

उभयावरणाईओ, केवलवरनाणदंसणसहावो ।
जाणइ पासइ य जिणो, नेयं सव्वं सयाकालं ॥ १३४१॥

ततश्च सर्वमपि ज्ञेयं साद्यपर्यवसितं सदाकालं जिनः केवली जानाति केवलज्ञानेन, पश्यति च केवलदर्शनेन । स कथंभूतः सन्?, केवलवरज्ञानदर्शनस्वभावस्तदर्व्यतिरिक्तस्वरूपः । तर्हि पूर्वमित्थमदृष्ट्वा किमिदानीमेव पश्यति ?, इत्याह-यत इदानीमुभयावरणातीतः. केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणद्वितयातीतत्वादित्यर्थ ॥ १३४१ ॥

अत एवाह-

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ १३४२॥

सम्-एकीभावेन भिन्नं संभिन्नं-यथा बहिस्तथा मध्येऽपीत्यर्थ । अथ वा द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं सर्वमपि ज्ञेयमत्र के

वलज्ञानस्य विषयत्वेन दर्शितम्, तत्र सम्भिन्नमिति द्रव्य गृह्यते, कालभावौ च तत्पर्यायत्वाद् गृह्येते, ताभ्यां च समस्ताभ्यां समन्ताद्वा भिन्नं सम्भिन्नमिति कृत्वा द्रव्य सम्भिन्नमुच्यते। तत्पश्यन्नुपलभमानो ' लोकमलोक च प्रसिद्धस्वरूप पश्यन् ' अनेन च क्षेत्र प्रतिपादित भवति। एतावदेव द्रव्यादिचतुर्विध ज्ञेय, नान्यदिति। किमेवमेकया दिशा पश्यन्?, इत्याह-सर्वत. सर्वासु दिक्षु। तास्वपि किं कियदपि द्रव्यादि, उत न?, इत्याह-सर्वं निरवशेषम्। अमुमेवार्थ स्पष्टयन्नाह-तन्नास्ति किमपि ज्ञेय भूतमतीत, भवतीति भव्य वर्तमान, भविष्यच्च यन्न पश्यति केवली इति निर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः ॥ १३४२ ॥

सम्भिन्न पश्यन्नित्युक्तं, तत्र सम्भिन्नम्, इति कोऽर्थ.?, इत्याह-

बाहिं जहा तहऽन्तो, संभिन्नं सव्वपज्जवेहिँ वा।
अत्तपरनिव्विसेसं, स-परपज्जायओ वा वि ॥१३४३॥

यथा बहिस्तथाऽन्तश्चेति सम्भिन्नम्। अथवा-सर्वपर्यायैः सकीर्ण व्याप्त सम्भिन्नम्, यदि वा-यथाऽऽत्मान जानाति तथा परमपि,यथा पर तथाऽऽत्मानमपि निर्विशेष जानाति,इत्येव स्वपरानिर्विशेष संभिन्न, स्वपरपर्यायैर्वा युक्त सम्भिन्नमिति ॥१३४३॥

अथवा-

संभिन्नग्गहणेणं, व दव्वमिह सकालपज्जवं गहियं।
लोगालोगं सव्वं, ति सव्वओ खित्तपरिमाणं ॥१३४४॥

सम्भिन्नग्रहणेनेह सकालपर्याय द्रव्य गृह्यते, कालश्च पर्यायाश्च कालपर्यायाः, सह तैर्वर्तत इति सकालपर्याय, सम्भिन्नम्। " लोकालोक च सर्वतः सर्वम् " इत्यनेन क्षेत्रपरिमाण गृहीतम्। एतावदेव च ज्ञेयं यद्द्रव्यादिचतुष्टयमिति ॥ १३४४ ॥

तच्च पश्यन् किम्? इत्याह-

तं पासंतो भूया-ई जं न पासइ तओ तयं नत्थि।
पंचत्थिकाय पज्जय-माणं नेयं जओऽभिहियं ॥१३४५॥

तद्य द्रव्यादि चतुर्विध ज्ञेय पश्यंस्ततोऽसौ केवली भूतादिकालविशिष्ट तत्किमपि वस्तु नास्ति,यन्न पश्यति। कुतः?, इत्याह-यतो यस्मात्पञ्चास्तिकायपर्यायराशिप्रमाणमेव ज्ञेयमागमेऽभिहित, नान्यत्। एतच्च द्रव्यादिचतुष्टय न गृहीतमेवेति भावः ॥ १३४५ ॥ विशे०। आ० म०।

(१४) केवलज्ञानदर्शनयो. प्रतिबन्धः-

चउहिँ ठाणेहिँ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे वि णो समुप्पज्जेज्जा, अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थिकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं कहेत्ता भवइ। १। विवेगेणं विउस्सग्गेणं णो सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवइ। २। पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ। ३। फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसइत्ता भवइ। ४। इच्चेएहिँ चउहिँ ठाणेहिँ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा० जाव नो समुप्पज्जेज्जा, चउहिँ ठाणेहिँ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे समुप्पज्जेज्जा। तं जहा-इत्थिकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं णो कहेत्ता भवइ। विवेगेण विउस्सग्गेणं सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवइ। पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ। फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स सम्मं गवेसइत्ता भवइ। ४। इच्चेएहिँ चउहिँ ठाणेहिँ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा० जाव समुप्पज्जेज्जा ॥

"चउहीत्यादि" सूत्रं स्फुट, पर निर्ग्रन्थीग्रहणात् स्त्रिया अपि केवलमुत्पद्यत इत्याह-अस्मिन्निति प्रत्यक्ष इवानन्त प्रत्यासन्ने समये (अइसेसे त्ति) शेषाणि मत्यादिचक्षुर्दर्शनादीनि अतिक्रान्त सर्वावबोधादिगुणैर्यत्तदतिशेषमतिशयवत. केवलमित्यर्थ.। (समुत्पत्तुकाममपीति) इहैवार्थो द्रष्टव्य., ज्ञानादेरभिलापाभावात्कथयितेति शीलार्थिकस्तृन्। तेन द्वितीया न विरुद्धा इति विवेकेनेति अशुद्धादित्यागेन (विउस्सग्गेणं ति) कायव्युत्सर्गेण पूर्वरात्रश्च रात्रेः पूर्वो भागः, अपररात्रश्च रात्रेरपरो भागस्तावेव काल. समयोऽवसरो जागरिकायाः पूर्वरात्रापररात्रकालसमय', तस्मिन् कुटुम्बजागरिकाव्यवच्छेदेन धर्मप्रधाना जागरिका निद्राक्षयेण बोधो धर्मजागरिका भावप्रत्युपेक्षेत्यर्थ.। यथा-

" किं कय किं वा सेस, किं करणिज्ज तवं च न करेमि।
पुव्वावरत्तकाले जा-गरओ भावपडिलेह त्ति ॥ १ ॥
अहवा को मम कालो, किमेयस्स उचियं असारा वि।
विसया नियमगामिणो, विरसावसाणा भीसणो मच्चू" ॥२॥

इत्यादिरूपा विभक्तिपरिणामात् तया जागरिता जागरको भवति, अथवा धर्मजागरिकां जागरिता कर्तेति द्रष्टव्यमिति। तथा प्रगता असव उच्छ्वासादय. प्राणा यस्मात् स प्रासुको निर्जीव', तस्य एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषरहिततयेत्येषणीयः कल्प., तस्य उञ्छ्यते अल्पाल्पतया गृह्यत इत्युञ्छो भक्तपानादि ,तस्य समुदाने भैक्षणे याच्ञायां भव सामुदानिक, तस्य नो सम्यगवेषयिता अन्वेष्टा भवतीति। एवप्रकारैरेतैरनन्तरोदितैरित्यादि निगमनम्। एतद्विपर्ययसूत्रं कण्ठ्यम्। स्था०४ठा०२ उ०।

केवलणाणजिण-केवलज्ञानजिन-पुं०। केवलप्रधानो जिनः केवलज्ञानजिन। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

केवलणाणदंसण-केवलज्ञानदर्शन-पुं०। केवले सपूर्णे ज्ञानदर्शने येषां ते तथाविधाः। सर्वज्ञेषु सर्वदर्शिषु, प० सू० १ सू०। (" पचहिँ ठाणेहिँ केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे न खुब्भइ " इत्यादि ' ओहिदंसण ' शब्देऽत्रैव भागे १६० पृष्ठे प्रोक्तम्)

केवलणाणायरिय-केवलज्ञानार्य-पुं०। केवलज्ञानेनाऽऽर्ये ज्ञानार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

केवलणाणावरण-केवलज्ञानावरण-न०। केवलज्ञानस्याऽऽवरण केवलज्ञानावरणम्। ज्ञानावरणकर्मण उत्तरप्रकृतौ,कर्म० १ कर्म०।

केवलणाणि (ण्)-केवलज्ञानिन्-पुं०। प्रथमे भारतातीतजिने, प्रव० ६ द्वार।

केवलत्त-केवलत्व-न०। शुद्धे भावे (कैवल्ये) "शुद्धो भावः केवलत्व-मन्यश्चौपाधिक' स्मृत। शुद्ध विना न मुक्तिश्च,विनाऽशुद्ध न लेपता " ॥ ९ ॥ द्रव्या० १२ अध्या०।

केवलदंस (दरि) ण-केवलदर्शन-न० । केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनम् । कर्म० १ कर्म० । केवलदर्शनावरणकर्मक्षयाविर्भूते कारणक्रमव्यवधानानिवर्त्तिसकललोकालोकविषयत्रिकालम्बभावपरिणामभेदानन्तपदार्थसामान्यसाक्षात्करणप्रवृत्ते, सम्म० २ काण्ड । सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपे दर्शनभेदे, पं० सं० १ द्वार । स्था० । " जया से दरिसणावरणे सव्व होइ खय गयं । तओ लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली " ॥ ६ ॥ दशा० ५ अ० ।

केवलदंस (दरिस) णावरण-केवलदर्शनावरण-न० । केवलमुक्तस्वरूप, तच्च दर्शनं च, तस्यावरण केवलदर्शनावरणम् । दर्शनावरणकर्मण उत्तरप्रकृतौ, स्था० ८ ठा० । स० ।

केवलदुग-केवलद्विक-न० । केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे केवलयुग्मे, प० सं० ११ द्वार ।

केवलबोहि-केवलबोधि-स्त्री० । शुद्धे सम्यग्दर्शने, " केवलं बोहिं बुज्झेज्जा " इति सूत्रे समासाभावेऽपि समाससंभवादेवमुपन्यस्त. शब्दः । भ० ९ श० ३१ उ० । (अश्रुत्वा केवलबोधिलाभो ' असोच्चा ' शब्दे प्र० भा० ८५६ पृष्ठे उक्त.)

केवलवरणाणदंसण-केवलवरज्ञानदर्शन-न० । केवलमभिधानतो वरं ज्ञानान्तरापेक्षया प्रधानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम् । समाहारद्वन्द्व । केवलज्ञानकेवलदर्शनयुगे, भ०१श०३१उ० । स्था० ।

केवलसिरि-केवलश्री-स्त्री० । केवलज्ञानलक्ष्म्याम्, द्वा० २४ द्वा० ।

केवलिआराहणा-केवल्याराधना-स्त्री० । आराधनाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० । (केवल्याराधनाऽपि द्विविधा 'आराहणा' शब्दे, द्वि० भा० ३८३ पृष्ठे सव्याख्याऽवसेया)

केवलि (ण्)-केवलिन्-पुं० केवलं परिपूर्णं केवलं शुद्धमनन्तं वा । त्रपा० ७ अ० । ज्ञानादित्रयमस्यास्तीति केवली । स्था० ५ ठा० ३ उ० । अनु० । आव० । आ० म० । औ० । सपूर्णासहायज्ञानादित्रययोगात् सर्वज्ञे, स्था० ९ ठा० । आतु० । सूत्र० । कल्प० । आचा० । भ० । उत्पन्नकेवलज्ञाने, ध० २ अधि० । तीर्थकृति, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । " लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली " ॥ आ० म० द्वि० । समस्तवस्तुस्तोमवेदिनि, ध० ३ अधि० । अतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । जिने, भ० ५ श० ४ उ० ।

(१) केवलिलक्षणम् ।
(२) शल्योद्धरणानुसारेण केवलिभेदाः ।
(३) अनुत्तराणि केवलिन. ।
(४) अन्तक्रिया ।
(५) अवगाहना ।
(६) अनुत्तरोपपातिकै. सहाऽऽलापः ।
(७) केवलिनामाहारविषये दिगम्बरैः सह विप्रतिपत्तिः ।
(८) उन्मेषनिमेषौ ।
(९) केवलिपरिज्ञानम् ।
(१०) केवलिनोऽन्तरज्ञानम् ।
(११) चरमकर्मणो ज्ञानम् ।
(१२) भाषणम् ।
(१३) मनोवाग्योग. ।

(१) लक्षणम्-

कसिणं केवलकप्पं, लोगं जाणंति तह य पासंति ।
केवलिचरित्तनाणी, तम्हा ते केवली होंति ॥ ४० ॥ आव० नि० ।

कृत्स्नं संपूर्णं, केवलकल्पं केवलोपमम्, इह कल्पशब्द औपम्ये गृह्यते । उक्त च-"सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा । औपम्ये चाऽधिवासे च, कल्पशब्द विदुर्बुधा." ॥ १ ॥ लोकं पञ्चास्तिकायात्मक, जानन्ति विशेषरूपतया, तथैव सपूर्णमेव, चशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, पश्यन्ति सामान्यरूपतया । इह ज्ञानदर्शनयोः सपूर्णलोकविषयत्वे बहुवक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात् इति, केवलं निर्विशेषं विशेषाणां ग्रहो दर्शनमुच्यते, विशिष्टग्रहणं ज्ञानमेवं सर्वगं द्वयमित्यनया दिशा स्वयमेवाभ्यूह्यमिति । धर्मसंग्रहणिकायाः परिभावनीया यतश्चैवं केवलचारित्रिण' केवलज्ञानिनश्च तस्मात्ते केवलिनो भवन्ति, केवलमेषां विद्यते इति केवलिन एषां व्युत्पत्ते. । अहो अत्राकाण्ड एव केवलचारित्र इति किमर्थमुक्तम् ? । उच्यते-केवलचारित्रप्राप्तिपूर्विका नियमत. केवलज्ञानावाप्तिरिति न्यायदर्शनार्थमित्यदोष. । तदेव व्याख्याता लोकस्येत्यादिरूपस्तत्र प्रथमश्लोक' ॥ ४० ॥ (आव०) आ० म० द्वि० । (अस्य भवस्थसिद्धकेवल्यादिभेदाः ' केवलणाण ' शब्देऽनन्तरमेव तद्विशेषणभूता' प्रोक्ता. सुविचक्षणै. स्वयमूह्या')

भवस्थकेवली तु-

उप्पन्नणाणदंसणधरे णं अरहा जिणे केवली चत्तारि कम्म से वेदेंति । तं जहा-वेयणिज्जं, आउयं, णाम, गोयं । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

(२) शल्योद्धरणानुसारेण केवलिभेदाः-

परमत्थतत्तसारत्थं, सल्लुद्धरणमिमं सुणे ।
सुणेत्ता तह मालोए, जह आलोयतो चेव ॥ ६५ ॥
उप्पाएँ केवलं णाणं, दिन्ने रिसभावत्थेहिं ।
नीसल्लाऽऽलोयणा जेण (आलोयमाणाणं चेव)
उप्पन्नं तत्थेव केवलं ॥ ६६ ॥
केसिंचि साहिमो नामे, महासत्ताण गोयमा ! ।
जेहिं भावेणालोयंते-हिं केवलणाणमुप्पाइयं ॥ ६७ ॥
हा हा दुट्ठु कडे साहू, हा हा दुट्ठु विचिंतिरे ।
हा हा दुट्ठु भाणिरे साहू, हा हा दुट्ठु मणुमते ॥ ६८ ॥
संवेगालोयगे तह य, भावालोयणकेवली ।
पयखेवकेवली चेव, मुहणंतगकेवली ॥ ६९ ॥
तह पच्छित्तकेवली सम्मं, महावेरग्गकेवली ।
आलोयणकेवली तह य, हाहं पाविचिकेवली ॥ ७० ॥
उस्सुत्तमग्गं पन्नवए, हा हा अणयारकेवली ।
सावज्जं न करेमि त्ति, अक्खंडियसीलकेवली ॥ ७१ ॥
तवसंजमवयसंरक्खे, निंदणगरहणे तहा ।
सव्वतो सीलसंरक्खे, कोमीपाच्छिसे वि य ॥ ७२ ॥
निप्पडिकम्मे अकंडु-यणे अणिमिसच्छी य केवली ।
एगपासियसदोपहरे, मूणव्वयकेवली तहा ॥ ७३ ॥

न सक्को काउ सामन्नं, अणसणे वामिकेवली ।
नवकारकेवली तह य, निन्नालोयणकेवली ॥ ७४ ॥
नीसल्लकेवली तह य, सल्लुध्दरणकेवली ।
धन्नो मित्तिसंपुन्नो, सताह पी किन्न केवली ॥ ७५ ॥
ससल्लोऽहं न पारेमि, वलकट्टपयकेवली ।
पक्खसुध्दाविहाणे य, चाउम्मासीयकेवली ॥ ७६ ॥
संवच्छरमहपच्छित्ते, जहा चल्लजीविते तहा ।
अणिचे खणविद्धंसी, मणुयत्ते केवली तहा ॥ ७७ ॥
आलोयंनिंदवंदियए, घोरपच्छित्तदुक्करे ।
लक्खोवभग्गपच्छित्ते, सम्महियासणकेवली ॥ ७८ ॥
हत्थोसरणनिवासे य, अट्ठकवलासिकेवली ।
एगासिद्धगपच्छित्ते, दसवासो केवली तहा ॥ ७९ ॥
पच्छित्ताढवगे चेव, पच्छित्तद्धकयकेवली ।
पच्छित्तपरिसमत्ती य, अट्ठमउकोसकेवली ॥ ८० ॥
न सुद्धी वि न पच्छित्ता, ता वर खिप्पकेवली ।
एग काऊण पच्छित्तं, वीयं न नवे जह चेव केवली ॥ ८१ ॥
तं वायराव पच्छित्तं, जेण गच्छइ केवली ।
त वायराम जेण सम, सफली होइ केवली ॥ ८२ ॥
किं पच्छित्तं चरतो, ह चिट्ठणो तवकेवली ।
जिणाण माणं ण लंघेयं, पाणपरिच्चयणकेवली ॥ ८३ ॥
अन्न होही सरीरं मे, नो बोही चेव केवली ।
सुलद्धमिण सरीरेणं, पाविणिदुहणकेवली ॥ ८४ ॥
अणाइपावकम्ममलं, निध्दोवेमीह केवली ।
वीय तं न समायरियं, पमाया केवली तहा ॥ ८५ ॥
देहे खवउ सरीर मे, निज्जराजावउ केवली ।
सरीरस्स संजमं सारं, निकलंकं तु केवली ॥ ८६ ॥
मणसा वि खरिए सीले, पाणे ण धरामि केवली ।
एव वइकायजोगेण, सीलं रक्खे अह केवली ॥ ८७ ॥
एवमाई अणाईया, कालाऊणंते मुणी ।
केई याऽऽलोयणासिध्दे, पच्छित्ता जाइ गोयमा ! ॥ ८८ ॥
महा० १ अ० । आ० म० ।

(३) अनुत्तराणि-

केवलिस्स णं पच अणुत्तरा पणत्ता । तं जहा-अणुत्तरे णाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए ।

तथा न सन्त्युत्तराणि प्रधानानि येभ्यस्तान्यनुत्तराणि, यथा स्वसर्वथाऽऽवरणक्षयात्, तथाचे ज्ञानदर्शनावरणक्षयादनन्तरमोहक्षयात्तपसश्चारित्रभेदत्वात्तपश्च केवलिनामनुत्तरं शैलेश्यवस्थाया शुक्लध्यानभेदत्वस्वरूप ध्यानस्याभ्यन्तरतपोभेदत्वाद्वीर्यान्तरायक्षयादिति । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

केवलिस्स णं दस अणुत्तरा पणत्ता । त जहा-अणुत्तरे णाणे अणुत्तरे दसणे अणुत्तरे चरित्ते अणुत्तरे तवे अणुत्तरे वीरिए अणुत्तरा खंती अणुत्तरा मुत्ती अणुत्तरे अज्जवे अणुत्तरे मद्दवे अणुत्तरे लाघवे । स्था० १० ठा० ।

(४) अन्तक्रिया । केवलीभूत्वैव सिद्धयति-

एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! एस णं पोग्गले तीतमणंत सासयं समयं भुवीति वत्तव्व सिया । एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पन्नसासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं । एस णं भंते ! पोग्गले अणागयमणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्व सिया ? । हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं, एव खंधेण वि तिन्नि आलावगा, एवं जीवेण वि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा । छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समय केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं बंभचेरवासेणं केवलाहिं पवयणमायाहिं सिज्झिसु बुज्झिसु० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, तं चेव० जाव अंत करिंसु ? । गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंत करिंसु वा, करिंति वा, करिस्सति वा, सव्वे ते उप्पन्नणाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चति, परिनिव्वायति० जाव सव्वदुक्खाणमंत करिंसु वा, करिंति वा, करिस्सति वा, से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव सव्वदुक्खाणमत करिंसु, पडुप्पन्ने वि एवं चेव, नवरं सिज्झंति भाणियव्वं, अणागए वि एवं चेव, नवरं सिज्झिस्सति भाणियव्व, जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमोहिओ वि तिन्नि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा ॥

इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेय, न पुनरकेवलिमात्रम्, उत्तरत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति । (केवलेण ति) असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णेन वा असाधारणेन वा । यदाह-"केवलमेग सुद्ध, सगलमसाहारण अणत च ।" (सजमेण ति) पृथिव्यादिरक्षणरूपेण (सवरेण ति) इन्द्रियकषायनिरोधेन, " सिज्झिसु " इत्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति । एतच्च गौतमेनानेनाभिप्रायेण पृष्टम्-यदुत उपशान्तमोहाद्यवस्थाया सर्वविशुद्धा सयमादयोऽपि भवन्ति, विशुद्धसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति, सा छद्मस्थस्यापि स्यादिति । (अतकरे त्ति) भवान्तकारिण, ते च दीर्घतरकालापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह-(अतिमसरीरिया व त्ति) अन्तिम शरीर येषामास्ति तेऽन्तिमशरीरिका, चरमदेहा इत्यर्थ । वाशब्दौ समुच्चये, "सव्वदुक्खाणमतं करिंसु" इत्यादौ "सिज्झिसु सिज्झति" इत्याद्यपि रूपत्रयम्, सिद्धयाद्यविनाभूतत्वात् सर्वदु खान्तकरणस्येति । (उप्पन्ननाणदसणधरा) उत्पन्ने ज्ञानदर्शने धारयन्ति ये ते तथा, न त्वनादिससिद्धज्ञाना, अत एव (अरह त्ति) पूजार्हाः (जिण त्ति) रागादिजेतारः ते छद्मस्था अपि भवन्तीत्यत आह-(केवलीति) सर्वज्ञा । "सिज्झति" इत्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमान-

निर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् "सिज्झिसु सिज्झति सिज्झिस्सति" इत्येवमतीतादिनिर्देशो दृष्टव्य । अत एव " सव्वदुक्खाण " इत्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । "जहा छउमत्थो" इत्यादेरियं भावना-"आहोहिए ण भंते ! मणूसे तीतमणत सासयं" इत्यादिदण्डकत्रय, तत्र अध परमावधेरधस्ताद्योऽवधि सोऽधोऽवधि, तेन यो व्यवहरत्यसावाऽधोऽवधिक , परिमितक्षेत्रविषयावधिक । (परमाहोहिय त्ति) परम आधोऽवधिकाय स परमाधोऽवधिक । प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देश । " परमोहिउ त्ति " क्वचित्पाठो व्यक्तश्च । स च समस्तरूपिद्रव्यासख्यात-लोकमात्रालोकखण्डासख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञान । (तिन्नि आलावग त्ति) कालत्रयवेदिन केवलिनोऽप्यत एव त्रयो दण्डकाः, विशेषस्तु सूत्रोक्त एवेति ।

से नूणं भंते ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वं सिया ?। हंता गोयमा! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वं सिया, सेवं भंते भंते त्ति ॥

" से नूणं " इत्यादिषु कालत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति । (अलमत्थु त्ति) अलमस्तु पर्याप्त भवतु, नात पर किञ्चिज्ज्ञानान्तर प्राप्तव्यमस्यास्तीति एतद्वक्तव्य स्याद्भवेत् , सत्यत्वादस्येति । भ० १ श० ४ उ० ।

(५) अवगाहना । केवली यस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाढस्तत्र हस्ताद्यवगाह्य स्थातु शक्त-

केवली भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरु वा उग्गाहित्ता णं चिट्ठइ पभू ! एं केवली से य कालंसि विएसु चेव आगासपएसेसु हत्थ वा० जाव उग्गाहित्ता णं चिट्ठित्तए?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! ० जाव केवली णं अस्सिं समयसि जेसु आगासपएसेसु० जाव चिट्ठइ णो णं पभू ! केवली से य कालंसि विएसु चेव हत्थ वा० जाव चिट्ठित्तए । गोयमा ! केवलिस्स णं वीरियस्स सजोगसद्दव्वयाए चलाइं उवगरणाइं भवंति चलोवगरणट्ठयाए णं केवली अस्सिं समयसि जेसु आगासपएसेसु हत्थ वा० जाव चिट्ठइ णो णं पभू ! केवली से य कालंसि विएसु चेव० जाव चिट्ठित्तए से तेणट्ठेणं० जाव वुच्चइ केवली णं अस्सिं समयंसि० जाव चिट्ठित्तए ।

(अस्सिं समयंसि त्ति) अस्मिन् वर्तमानसमये (ओगाहित्ता ण ति) अवगाह्याऽऽक्रम्य (से य कालंसि व त्ति) एष्यत्कालेऽपि(वीरियसजोगसद्दव्वयाए त्ति) वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयप्रभवा शक्ति , तत्प्रधान सयोग मानसादिव्यापारयुक्त यत्सत विद्यमान द्रव्य जीवद्रव्य तत्तथा; वीर्यसद्भावेऽपि जीवद्रव्यस्य योगान् विना चलन न स्यादिति, सयोगशब्देन सद् द्रव्य विशेषित, सदिति विशेषण च, तस्य सदा सत्ताऽवधारणार्थम् । अथवा स आत्मा, तद्रूप द्रव्य स्वद्रव्यं, तत कर्मधारय । अथवा वीर्यप्रधान सयोगो योगवान् वीर्यसयोग , स चासौ सद्द्रव्यश्च मन प्रभृतिवर्गणायुक्तो वीर्यसयोगसद्द्रव्य ,तस्य भावस्तत्ता, तया हेतुभूतया (चलाइं ति) अस्थिराणि (उवगरणाइं ति)अङ्गानि (चलोवगरणट्ठयाए त्ति) चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्च-लोपकरणार्थता, तया। चशब्द पुनरर्थः । भ० ५ श० ४ उ० ।

(६) अनुत्तरोपपातिकैः सहाऽऽलापः-

पभू णं भंते ! अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा इह गएण केवलिणा सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए ?। हंता पभू। से केणट्ठेणं० जाव पभू णं अणुत्तरोववाइया देवा० जाव करेत्तए ?। गोयमा ! जएणं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा पुच्छंति तएणं इह गए केवली अट्ठं वा० जाव वागरणं वा वागरेइ, से तेणट्ठेणं भंते ! इह गए केवली अट्ठ वा० जाव वागरेइ, तएणं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा जाणंति, पासंति, से केणट्ठेणं० जाव पासंति । गोयमा ! तेसि णं देवाणं अणंताओ मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं जएणं इह गए केवली० जाव पासइ ।

(आलाव व त्ति) सकृज्जल्प (संलावं व त्ति) मुहुर्मुहुर्जल्प मानसिकमेवेति, (लद्धाओ त्ति) तदवधेर्विषयभावं गताः (पत्ताओ त्ति) तदवधिना सामान्यतः प्राप्ता, परिच्छिन्ना इत्यर्थ । (अभिसमण्णागयाओ त्ति) विशेषत परिच्छिन्ना , यतस्तेषामवधिज्ञानं सम्भिन्नलोकनाडीविषय, यश्च लोकनाडीग्राहक तन्मनोवर्गणाग्राहक भवत्येव, यतो योऽपि लोकसङ्ख्येयभागविषयोऽवधि सोऽपि मनोद्रव्यग्राही, यः पुन सम्भिन्नलोकनाडीविषयोऽसौ कथ मनोद्रव्यग्राही न भविष्यति, इष्यते च लोकसङ्ख्येयभागावधेर्मनोद्रव्यग्राहित्वम्। यदाह-"सखेज्जमणोदव्वे, भागे लोगपलियस्स बोधव्वो " त्ति । भ० ५ श० ४ उ० ।

(७) आहारः । तत्र दिगम्बरै सह विप्रतिपत्ति-

सर्वथा दोपविगमात्, कृतकृत्यतया तथा ।
आहारसञ्ज्ञाविरहा-दनन्तसुखसङ्गतेः ॥ १ ॥
दग्धरज्जुसमत्वाच्च, वेदनीयस्य कर्मणः ।
अक्षोद्भवतया देह-गतयोः सुखदुःखयोः ॥ २ ॥
मोहात्परप्रवृत्तेश्च, सातवेद्यानुदीरणात् ।
प्रमादजननाद्दुच्चै-राहारकथयाऽपि च ॥ ३ ॥
भुक्त्या निद्रादिकोत्पत्तेः, तथा ध्यानतपोव्ययात् ।
परमौदारिकाङ्गस्य, स्थास्नुत्वाच्चा विनाऽपि च ॥ ४ ॥
परोपकारहानेश्च, पुरीषादिजुगुप्सया ।
व्याध्युत्पत्तेश्च भगवान्, भुङ्क्ते नेति दिगम्बराः ॥ ५ ॥

(सर्वथेति) सर्वथा सर्वप्रकारैर्दोपविगमात्, क्षुधायाश्च दोषत्वात्सदभावे कवलाहारानुपपत्ते । तथा कृतकृत्यतया केवलिन कवलभोजित्वे तदन्यापत्ते । आहारसंज्ञाविरहात् तस्याश्चाहारहेतुत्वात् । अनन्तसुखस्य संगते केवलिन कवलभुक्तौ तत्कारणक्षुद्वेदनोदयावश्यभावात्तेनानन्तसुखविरो-

धाव ॥ १ ॥ (दग्धेति) च पुनर्वेदनीयकर्मणो दग्धरज्जुसमत्वात्तादृशेन तेन स्वकार्यस्य क्षुद्वेदनोदयस्य जनयितुमशक्यत्वात् । देहगतयोः शरीराश्रितयोः सुखदुःखयोरक्षोद्भवतयेन्द्रियार्थाधीनतयाऽतीन्द्रियाणां भगवतां तदनुपपत्तेः ॥ २ ॥ (मोहादिति) मोहाद् मोहनीयकर्मणः परप्रवृत्तेः परद्रव्यप्रवृत्तेर्निर्मोहस्य सत आहारादिपरद्रव्यप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सातवेद्यस्य सातवेदनीयस्यानुदीरणात् सातासातमनुजायुषामुदीरणायाः सप्तमगुणस्थान एव निवृत्ते केवलिन कवलभुक्तौ तज्जन्यसातोदीरणप्रसङ्गात् । च पुनराहारकथयाऽप्युच्चैरत्यर्थं प्रमादजननादाहारस्य सुतरां तथात्वात् ॥ ३ ॥ (भुक्त्येति) भुक्त्या कवलाहारेण निद्रादिकस्योत्पत्ते ,आदिना रासनमतिज्ञानेर्यापथपरिग्रह । केवलिनां च निद्राद्यभावात् तद्व्याप्यभुक्तेरप्ययोगात् । तथा भुक्तौ सत्यां ध्यानतपसोर्व्ययात्, केवलिनश्च तयो सदातनत्वात् तां विनाऽपि च भुक्तिं विनाऽपि च परमौदारिकाङ्गस्य स्थास्नुत्वाच्चिरकालमवस्थितिशीलत्वात्तदर्थं केवलिनस्तत्कल्पनायोगात् ॥ ४ ॥ (परेति) परोपकारहानेश्च भुक्तिकाले धर्मदेशनाऽनुपपत्तेः, सदा परोपकारस्वभावस्य भगवतस्तद्व्याघातायोगात् । पुरीषादिजुगुप्सया भुक्तौ तद्धौव्यात् । व्याध्युत्पत्तेश्च भुक्तेस्तन्निमित्तत्वात् । भगवान् केवली भुङ्क्ते न इति दिगम्बरा वदन्ति ॥ ५ ॥

सिद्धान्तश्चायमधुना, लेशेनास्माभिरुच्यते ।
दिगम्बरमतव्याल-पलायनकथागुरुः ॥ ६ ॥
हन्ताज्ञानादिका दोषाः, घातिकर्मोदयोद्भवाः ।
तदभावेऽपि किं न स्या-द्वेदनीयोद्भवा क्षुधा ॥ ७ ॥
अव्याबाधविघाताच्चेत्, सा दोष इति ते मतम् ।
नरत्वमपि दोषः स्यात्, तदा सिद्धत्वदूषणात् ॥ ८ ॥
घातिकर्मक्षयादेवा-कृता च कृतकृत्यता ।
तदभावेऽपि नो बाधा, भवोपग्राहिकर्मभिः ॥ ९ ॥
आहारसंज्ञा चाहार-तृष्णाख्या न मुनेरपि ।
किं पुनस्तदभावेन, स्वामिनो भुक्तिबाधनम् ॥ १० ॥
अनन्तं च सुखं भर्तु-र्ज्ञानादिगुणसङ्गतम् ।
क्षुधादयो न बाधन्ते, पूर्णे त्वस्ति महोदये ॥ ११ ॥
दग्धरज्जुसमत्वं च, वेदनीयस्य कर्मणः ।
वदन्तो नैव जानन्ति, सिद्धान्तार्थव्यवस्थितिम् ॥ १२ ॥

सिद्धान्तश्चायमिति व्यक्तः ॥ ६ ॥ (हन्तेति) हन्त अज्ञानादिका घातिकर्मोदयोद्भवा दोषाः प्रसिद्धाः । तदभावेऽपि वेदनीयोद्भवा क्षुधा किं न स्यात् । न हि वय भवन्तमिव तत्त्वमनालोच्य क्षुत्पिपासादिनैव दोषानभ्युपेमो येन निर्दोषस्य केवलिन क्षुधाद्यभाव स्यादिति भाव ॥ ७ ॥ (अव्याबाधेति) अव्याबाधस्य निरतिशयसुखस्य विघातात् सा क्षुधा दोषो, गुणदूषणस्यैव दोषलक्षणत्वादिति चेद् यदि ते तव मत, तदा नरत्वमपि भवतो दोष स्यात्, सिद्धत्वदूषणात् । तस्मात्केवलज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन घातिकर्मोदयोद्भवानामज्ञानादीनामेव दोषत्व, न तु क्षुधादीनामिति युक्तमुत्पश्याम ॥ ८ ॥ (घातीति) घातिकर्मक्षयादेवाकृताऽहीना च कृतकृत्यता भवोपग्राहिकर्मभिर्वेदनीयादिभि सद्भि । तद्भावेऽपि कृतकृत्यत्वाभावेऽपि (नो) नैव बाधा । सर्वथा कृतकृत्यत्वस्य सिद्धेष्वेव संभवात् उपादित्साभावेऽप्युपादेयस्य मोक्षस्य सयोगिकेवलित्वकालेऽसिद्धेः । रागाद्यभावमात्रेण कृतकृत्यत्वस्य च भुक्तिपक्षेऽप्यबाध एवेति कथितप्रायमेव ॥ ९ ॥ (आहारसंज्ञा चेति) आहारसंज्ञा चाहारतृष्णाख्या मोहाभिव्यक्तचैतन्यस्य संज्ञा पदार्थत्वान्न मुनेरपि भावसाधोरपि, किं पुनस्तदभावेनाहारसंज्ञाभावेन स्वामिनो भगवतो भुक्तिबाधनम् ?। तथा चाहारसामान्ये तद्विशेषे वा आहारसंज्ञया हेतुत्वमेव नास्तीत्युक्त भवति । न च तद्विशेष तद्धेतुत्वमेवाप्रमत्तादीनां चाहाराभावान्न व्यभिचार इति कुचोद्यमाशङ्कनीयम्, आहारसंज्ञाया अतिचारनिमित्तत्वेन कदापि निरतिचाराहारस्य साधूनामप्राप्तिप्रसङ्गात् ॥ १० ॥ (अनन्तं चेति) अनन्त च सुख भर्तुर्भगवतो ज्ञानादिगुणसङ्गत तन्मयीभूतमिति यावद् अज्ञानादिजन्यदुःखनिवृत्ते सर्वेषामेव कर्मणां परिणामदुःखहेतुत्वाच्च क्षुदादयो न बाधन्ते, स्वभावनियतसुखानामेव तैर्बाधन, पूर्णं तु निरवशेष तु सुख महोदये मोक्षेऽस्ति, तत्रैव सर्वकर्मक्षयोपपत्ते ॥ ११ (दग्धेति) दग्धरज्जुसमत्व च वेदनीयस्य कर्मणो वदन्त सिद्धान्तार्थव्यवस्थितिं नैव जानन्ति ॥ १२ ॥

पुण्यप्रकृतितीव्रत्वा-दसाताद्यनुपक्षयात् ।
स्थितिशेषाद्यपेक्षं वा, तद्वचो व्यवतिष्ठते ॥ १३ ॥
इन्द्रियोद्भवता ध्रौव्यं, बाह्ययोः सुखदुःखयोः ।
चित्रं पुनः श्रुतं हेतुः, कर्माध्यात्मिकयोस्तयोः ॥ १४ ॥
आहारादिप्रवृत्तिश्च, मोहजन्या यदीष्यते ।
देशनाऽऽदिप्रवृत्त्याऽपि, भवितव्य तदा तथा ॥ १५ ॥
यत्न विना निसर्गाच्चेद्, देशनाऽऽदिकमिष्यते ।
भुक्त्यादिकं तथैव स्याद्, दृष्टबाधा समोभयोः ॥ १६ ॥
भुक्त्या या सातवेद्यस्यो-दीरणाऽऽपाद्यते त्वया ।
साऽपि देशनयाऽसात-वेद्यस्यैतां तवाक्षिपेत् ॥ १७ ॥
उदीरणाख्यं करण, प्रमादव्यङ्ग्यमत्र यत् ।
तस्य तत्त्वमजानानाः, खिद्यसे स्थूलया धिया ॥ १८ ॥
आहारकथया हन्त, प्रमादः प्रतिबन्धतः ।
तदभावे च नो भुक्त्या, श्रूयते सुमुनेरपि ॥ १९ ॥
निद्रा नोत्पाद्यते भुक्त्या, दर्शनावरण विना ।
उत्पाद्यते न दण्डेन, घटो मृत्पिण्डमन्तरा ॥ २० ॥
रासनं च मतिज्ञान-माहारेण भवेद्यदि ।
घ्राणीय स्यात्तदा पुष्पं, घ्राणतर्पणयोगतः ॥ २१ ॥
ईर्यापथप्रसङ्गश्च, समोऽत्र गमनादिना ।
अक्षते ध्यानतपसी, स्वकालासंभवे पुनः ॥ २२ ॥

(पुण्येति) पुण्यप्रकृतीनां तीर्थकरनामादिरूपाणां तीव्रत्वात्तीव्रविपाकत्वात्तज्जन्यसातप्राबल्ये वेदनीयमात्रस्य दग्धरज्जुसमत्वासिद्धेरसातादीनामनुपक्षयादसातवेदनीयस्यापि तदसिद्धे पापप्रकृतीना भगवति रसघातेन नीरसत्वाभ्युपगमे स्थितिघातेन नि स्थितिकत्वस्याप्यापत्ते ,अपूर्वकरणादौ वध्यमानप्रकृतिविषयकस्यैव तस्य व्यवस्थितेः। ननु तर्हि कथ भवोपग्राहिकर्मणां केवलिनां दग्धरज्जुकल्पत्वाभिधानम्, आवश्यक-

वृत्त्यादौ श्रूयते ?, इत्यत आह-स्थितिविशेषाद्यपेक्षं वा तद्वचो दग्धरज्जुकल्पत्ववचो व्यवतिष्ठते,न तु रसापेक्षया,अन्यथा सूत्रकृद्वृत्तिविरोधप्रसङ्गात्,असातादिप्रकृतीनामसुखदत्वाभिधानमप्यावश्यकनिर्युक्त्यादौ घातिकर्मजन्यबहुतरासुखविलयेनाल्पस्याविवक्षणात्। अन्यथा भवोपग्राह्ययोगादिति विभावनीयं सुधीभिः ॥ १३ ॥ (इन्द्रियेति) इन्द्रियोद्भवतया ध्रौव्यमावश्यकत्वं बाह्ययोरिन्द्रियार्थसम्बन्धापेक्षयोर्विलक्षणयोरेव सुखदुःखयो' आध्यात्मिकयोस्तयो' सुखदुःखयोः पुनश्चित्र कर्महेतुश्रुत क्वचिद् बहिरिन्द्रियव्यापाराभावेऽपि मनोमात्रव्यापारेण सदसच्चिन्ताभ्यामेव तयोरुत्पत्तेः । क्वचिच्च तस्याऽप्यभावे आध्यात्मिकदोषोपशमोद्रेकाभ्यामेव तदुत्पत्तेर्दर्शनाद्भगवत्यपि द्विविधवेदनीयोदयध्रौव्ये तयोः सुखत्वादिति । वस्तुतो बाह्ययोरपि सुखदुःखयोरिष्टानिष्टार्थशरीरसंपर्कमात्र प्रयोजकं, न तु बहिरिन्द्रियज्ञानमपीति भगवति तृणस्पर्शादिपरीषहाभिधानं सांप्रदायिकं सगच्छत इति न किञ्चिदेतत् ॥१४॥ (आहारादीति) आहारादिप्रवृत्तिश्च यदि मोहजन्या इष्यते भगवता बुद्धिपूर्वकपरदृव्यविषयकप्रवृत्तेर्मोहजन्यत्वनियमात्तदा देशनादिप्रवृत्त्याऽपि भगवतस्तथा मोहजन्यत्वेन भवितव्यम् ॥ १५ ॥ इच्छाभावाद्भगवतो नास्त्येव देशनाप्रवृत्ति , स्वभावत एव च तेषां नियतदेशकाला देशनेतीष्टापत्तावाह-(यत्नमिति) यत्नं ताल्वोष्ठादिव्यापारजनकप्रयत्नं विना निसर्गात् स्वभावाच्चेद् देशनादिकमिष्यते भगवत तदा भुक्त्यादिक तथैव यत्नं विनैव स्यात् दृष्टबाधोभयो पक्षयो' समा। भुक्तेरिव देशनाया अपि यत्नं विना क्वाप्यदर्शनात् । चेष्टाविशेषे यत्नहेतुत्वकल्पनस्य चोभयत्र साम्यात् । ननु प्रयत्नं विना चेष्टामात्रं न भवत्येव, देशना च भगवतामव्यापृतानामेव ध्वनिमयी सभवति, -अक्षरमय्यामेव तस्या यत्नजन्यत्वेनेच्छाजन्यत्वादिनियमावधारणादिति न साम्यम्।यदाह समन्तभद्रः-" अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम् । ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ?"॥ १ ॥ इति, मैवं, शब्दस्य शब्दान्तरपरिणामकल्पनस्य साजात्येन न्याय्यत्वेऽपि ध्वनेस्तत्कल्पनस्यातिशयतोऽप्यन्याय्यत्वाद्,भगवद्देशनाया ध्वनिरूपत्वेऽपि वाग्योगापेक्षत्वेन तादृशशब्दमात्रे पुरुषप्रयत्नानुसरणध्रौव्यात्। अन्यथा'अपौरुषेयमागम' वदतो मीमांसकस्य दुर्जयत्वापत्तेरिति न किञ्चिदेतत्। अथ मुग्धभावेन पृच्छाम -बुद्धिपूर्वकप्रवृत्तावच्छाया हेतुत्वात् कथ केवलिनो देशनादावाहारादौ च प्रवृत्तिरिति चेत्?,मुग्धभावेन ब्रूमः-बुद्धिः स्वत्विष्टसाधनताधीरन्यस्यातिप्रसक्तत्वात्,तत्पूर्वकत्व च यदीष्टसाधनताधीजन्यतावच्छेदक तदाऽप्यबुद्धिपूर्वकप्रवृत्तेर्जीवनयोनिभूताया इव भवोपग्राहिकर्मवशादुपपत्तेर्न कश्चिद्दोष इति।प्रवृत्तिसामान्ये तु योगानामेव हेतुत्वादिच्छापूर्वकत्वमार्थसमाजसिद्धमेव।यदवदाम-"परदव्वम्मि पवित्ती-ण-मोहजणिया व मोहजम्मा वा।जोगकया हु पवित्ती,फलकखा रागदोसकया"।१।इत्यधिकमन्यत्र॥१६॥(भुक्त्येति) भुक्त्या कवलाहारेण वा सातवेद्यस्य सातवेदनीयस्योदीरणा त्वयाऽपाद्यते। भुक्तिव्यापारेण सातोत्पत्तेः साऽपि देशनया सातवेद्यस्यैतामुदीरणां तवापि क्षिपेत्, ततोऽपि परिश्रमभङ्गसम्भवात् प्रयत्नजन्यत्वस्य तत्र व्यवस्थापितत्वादिति भाव ॥ १७ ॥ मुग्धभावेन समाधत्ते-(उदीरणाख्यमिति)उदीरणाख्य करणं यदान्तरशक्तिविशेषलक्षणं प्रमादव्यङ्ग्यं वर्तते, तस्य तत्त्व स्वरूपमजानानाः स्थूलया धिया बहिर्योगमात्रव्यापारगोचरया खिद्यसे त्वम्। योगव्यापारमात्रस्य तदाक्षेपकत्वे ततो मनोयोगेनाप्यप्रमत्ते सुखोदीरणप्रसङ्गात्, तदीयसुखस्य ज्ञानरूपत्वे सुखान्तरस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। सुख्यहमित्यनुभवस्य चाप्रमत्तेऽप्यक्षतत्वादिति॥१८॥ (आहारकथयेति) आहारकथया हन्त ! प्रतिबन्धतस्तथाविधाहारेच्छासंस्कारप्रवृद्धेः प्रमादो भवति, न त्वन्यथाऽपि। अकथाविकथानां विपरिणामस्य परिणामभेदेन व्यवस्थितत्वात्। तदभावे च प्रतिबन्धाभावे च ' नो ' नैव भुक्त्या श्रूयते मुमुनेरपि उत्तमसाधोरपि प्रमादः, किं पुनर्भगवत इति भावः। बहिर्योगव्यापारमात्रोपरमे एवाप्रमत्तत्वलाभ इति तु न युक्तम्,आरब्धस्य तस्य तत्रासङ्गतया निष्ठाया अविरोधादिति ॥ १९ ॥ निद्रेति स्पष्टं ॥ २० ॥ रासनं चेति स्पष्टं ॥२१॥ (ईर्येति) ईर्यापथप्रसङ्गश्चात्र भगवतो भुक्तौ गमनादिना समस्तेनापि तत्प्रसङ्गस्य तुल्ययोगक्षेमत्वात्, स्वाजाविकस्य च तद्गमनस्य दृष्टबाधेन कल्पयितुमशक्यत्वादिति भाव । स्वकालासम्भवे भुक्तिकालासंभविनी ध्यानतपसी पुनरस्ते। योगनिरोधदेहापवर्गकालयोरेव तत्स्वभावात् स्वभावसमवस्थितिलक्षणयोश्च तयोर्गमनादिनेव भुक्त्याऽपि न व्याघात इति दृष्टव्यम् ॥ २२ ॥

> परमौदारिकं चाङ्गं, भिन्नं चेत्तत्र का प्रमा ? ।
> औदारिकादभिन्नं चेत्, विना भुक्तिं न तिष्ठति ॥ २३ ॥
> भुक्त्याद्यदृष्टसंबन्ध-मदृष्टं स्थापकं तनोः ।
> तत्यागे दृष्टबाधा त्व-त्पक्षभक्षणराक्षसी ॥ २४ ॥
> प्रतिकूलानिवर्त्यत्वा-त्तत्तनुत्वं च नोचितम् ।
> दोषजन्म तनुत्वं च, निर्दोषे नोपपद्यते ॥ २५ ॥
> परोपकारहानिश्च, नियतावसरस्य न ।
> पुरीषादिजुगुप्सा च, निर्मोहस्य न विद्यते ॥ २६ ॥
> ततोऽन्येषां जुगुप्सा चेत्, सुरासुरनृपर्षदि ।
> नाग्न्येऽपि न कथं तस्या-वर्तमानोऽनुभूयते ॥ २७ ॥
> (गुणहानेरनिष्टत्वं, वैराग्याच्चाथ वेद्यते ।
> इच्छावत्वं विना नैवं, प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ २८ ॥)

(परमौदारिक चेति) परमौदारिकं चाङ्गं शरीरं भिन्नं चेदौदारिकादिभ्य कल्पशरीरेभ्यस्तर्हि तत्र का प्रमा किं प्रमाणम्?, न किञ्चिदित्यर्थः । औदारिकादभिन्नं चेत्तत्केवलमतिशयितरूपाद्युपेत तदेव तदा भुक्तिं विना न तिष्ठति । चिरकालीनौदारिकशरीरस्थितेर्भुक्तिप्रयोज्यत्वनियमात्। भुक्ते सामान्यत पुद्गलविशेषोपचयव्यापारकत्वेनैवोपयोगात्कल्पत्यादीनामपि जलाद्यभ्यादानेनैव चिरकालस्थितेः शरीरविशेषस्थितौ विचित्रपुद्गलोपादानस्यापि हेतुत्वेन त विना केवलिशरीरस्थिते कथमप्यसम्भवात् तत्र परमौदारिकभिन्नत्वस्य कैवल्याकालीनत्वपर्यवशितस्य विशेषणस्याप्रामाणिकत्वादिति॥२३॥ (भुक्त्यादीति) भुक्त्याद्यदृष्टेन भोजनादिफलहेतुजाभाविपाककर्मणा सबन्ध तनोः शरीरस्य स्थापकमदृष्टम्, दृष्टमिति शेष। तत्यागे केवलिन्यनुपगम्यमाने त्वत्पक्षभक्षणराक्षसी दृष्टबाधा समुपतिष्ठते । तथा च तद्भयादपि तव नेत्थ कल्पना हितावहेति भाव ॥ २४ ॥ ननु तनुस्थापकादृष्टस्य भुक्त्याद्यदृष्टनियतत्वेऽपि भुक्त्याद्यदृष्टस्य तनुत्वाद्भुक्त्याद्युपपत्तिर्भगवतो भविष्यतीत्यत आह-(प्रतिकूलेति) तस्य भुक्त्याद्यदृष्टस्य तनुत्व च नोचितं, प्रतिकूलेन विरोधिपरिणामेनानिवर्त्यत्वात्। न हि वीतरागत्वादिपरिणा-

मेन रागादीनामिव क्षुधादीनां तथाविधपरिणामेन निवर्त्यत्व-मस्ति,येन ततस्तज्जनकादृष्टतनुत्व स्यात् । अस्त्येवाभोजनभावनातारतम्येन क्षुन्निरोधतारम्यदर्शनादिति चेन्न । ततो भोजनादिगतस्य प्रतिबन्धमात्रस्यैव निवृत्तेः, शरीरादिगतस्येव शरीरादिभावनया । अन्यथा भोजनभावनाऽत्यन्तोत्कर्षेण भुक्तिनिवृत्तिवदशरीरभावनाऽत्यन्तोत्कर्षेण शरीरनिवृत्तिरपि प्रसज्येतेति महत्सङ्कटमायुष्मतः । ननु भुक्त्यादिविपरीतपरिणामेन भुक्त्याद्यदृष्टस्य मोहरूपप्रभूतसामग्रीं विना स्वकार्याक्षमत्वलक्षणं तनुत्वमेव क्रियते । तनुस्थापकादृष्टस्यापि अशरीरभावनया तद्भवबाह्ययोगक्रिया निरुणद्धेव । शरीरं तु प्रागेव निष्पादितं न बाधितुं क्षमत इत्यस्माकं न कोऽपि दोषः ? इति चेन्न, विपरीतपरिणामनिवर्त्यत्वे भुक्त्यादेस्तददृष्टस्य रागाद्यर्जकादृष्टवद् योगप्रकर्षवति भगवति निर्मूलनाशापत्तेर्विशेषाभावात् । घात्यघातिकृतविशेषाभ्युपगमे तु अघातिनां भवोपग्राहिणां यथाविपाकोपक्रममेव निवृत्तिसम्भवादिति न किञ्चिदेतत् । दोषजन्म अग्निमान्द्यादिदोषजनितं तनुत्वं च चिरकालविच्छेदलक्षणं निर्दोषे भगवति नोपपद्यते । नियतविच्छेदश्च नियतकालभुक्त्याद्यपेक्षक एवेति भावः । ॥ २५ ॥ (परोपकारेति) परोपकारस्य हानिश्च नियतावसरस्य भगवतो न भवति, तृतीययामममुहूर्त्तमात्र एव भगवतो भुक्तेः, शेषमशेषकालमुपकारावसरात् । पुरुषादिजुगुप्सा च निर्मोहस्य स्त्र्यादिजुगुप्सामोहनीयकर्मणो न विद्यते भगवतः ॥२६॥ (तत इति) ततः पुरीषादेरन्येषां लोकानां जुगुप्सा चेत्सुरासुरनृपर्षदि, उपविष्टस्येति शेषः । नान्येऽपि तेषां कथं न जुगुप्सा ?। अतिशयभोजयोः पक्षयोः समः । ततो भगवतो नान्याद्दर्शनवत्पुरीषाद्यदर्शनस्याप्युपपत्तेः । सामान्यकेवलिभिस्तु विविक्तदेशे तत्करणान्न दोष इति वदन्ति ॥ २७ ॥

स्वतो हितमिताहाराद्, व्याध्युत्पत्तिश्च काऽपि न ।
ततो जगवतो नुक्तौ, पश्यामो नैव बाधकम् ॥ २८ ॥

(स्वत इति) स्वतः पुण्याक्षिप्तनिसर्गतः हितमिताहाराद् व्याध्युत्पत्तिश्च काऽपि न जवति । ततो भगवतो भुक्तौ कवलभोजने नैव बाधकं पश्याम , उपन्यस्तानां तेषां निर्दलनात् । अन्येषामप्येतज्जातीयानामुक्तजातीयतर्केण निर्दलयितुं शक्यत्वादिति । तत्त्वार्थिना दिगम्बरमतिभ्रमध्वान्तहरणतरणिरुचिरध्यानममतपरीक्षा निरीक्षणीया सूक्ष्मधिया ॥२८॥ द्वा०३०द्वा०। अत शास्त्रे-

"विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अयोगीया। सिद्धा य अनाहारा,सेसा आहारगा जीवा"॥१॥ सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।('उवओग'शब्दे द्वि० जागे ८६० पृष्ठे उपयोगद्वयविचारे चैतत्स्पष्टीकृतम्)

(८) उन्मेषनिमेषौ-

केवली णं भंते ! उम्मिसेज्ज वा निम्मिसेज्ज वा ?। हंता गोयमा ! उम्मिसेज्ज वा निम्मिसेज्ज वा एव चेव, एवं आउट्टेज्ज वा पसारेज्ज वा,एवं ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएज्जा ॥

(ठाण ति) ऊर्द्धस्थानं, निषदनस्थानं, त्वग्वर्तनस्थानं चेति । (सेज्ज ति) शय्यां वसतिं (निसीहिय ति) अल्पतरकालिकां वसतिं (चेएज्ज त्ति) कुर्यादिति । भ० १४ श० १० उ० । (उपयोगद्वययौगपद्यविचारः ' उवओग ' शब्दे द्वि० भागे ८६५ पृष्ठे उक्तः । चतुर्दशपूर्वी केवलज्ञानिना सह ' चउद्दसपुव्वि ' शब्दे वक्ष्यते)

(९) केवलिपरिज्ञानम्-

सत्तहिं ठाणेहिं केवली जाणेज्जा। तं जहा-णो पाणे अइवाएत्ता जवइ० जाव जहा वाई तहा कारीया वि जवइ॥ स्था० ७ ठा० ।

कथं पुनरसौ केवलितया ज्ञायत इत्याह-

केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलिं अन्नं ।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूआसु व मुणंति ॥

अन्येन केनापि केवलिना कथिते अथ केवली ज्ञात इत्याख्याते सति अवन्दमानो वा केवलिनमन्यं केवलितया ज्ञायते व्याकरणपूर्वं वा अतिशयज्ञानगम्यार्थकथनपुरस्सरं तेनैव केवलिना स्वयमेव कथिते सति दैवतपूजासु वा यथा सन्निहितदेवैः क्रियमाणां महिमां दृष्ट्वा गुरुप्रभृतयस्तं केवलिनं विदन्ति। बृ० ३ उ० ।

(१०) केवलिनोऽन्तकरज्ञानम्-

केवली णं भंते ! अंतिकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ, पासइ?। हंता गोयमा! जाणइ पासइ। जहा णं भंते ! केवली अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ, तहा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणइ पासइ, पमाणओ वा। से किं तं सोच्चा? सोच्चा णं केवलिस्स वा केवलिसावयस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खियसावयस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा ।

यथा केवली जानाति तथा छद्मस्थो,न जानाति। कथञ्चित्पुनर्जानात्यपीत्येतदेव दर्शयन्नाह-" सोच्चेत्यादि " (केवलिस्स व त्ति) केवलिनो जिनस्य भयमन्तकरो भविष्यतीत्यादि वचनं श्रुत्वा जानातीति (केवलिसावयस्स व त्ति) जिनस्य समीपे यः श्रवणार्थी सन् शृणोति तद्वाक्यान्यसौ केवलिश्रावकः, तस्य वचनं श्रुत्वा जानाति, स हि किल जिनसमीपे वाक्यान्तराणि शृण्वन् अयमन्तकरो भविष्यतीत्यादिकमपि वाक्यं शृणुयात् , ततश्च तद्वचनश्रवणाज्जानातीति । (केवलिउवासगस्स व त्ति) केवलिनमुपास्ते यः श्रवणानाकाङ्क्षी तदुपासनामात्रपरः सन्नसौ केवल्युपासकः ,तस्य वचः श्रुत्वा जानाति। भावना प्राय प्राग्वत्। (तप्पक्खियस्स व त्ति)केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्येत्यर्थः । इह च श्रुत्वेति वचनेन प्रकीर्णकं वचनमात्रं ज्ञाननिमित्ततया अवसेयं, न त्वागमरूपं, तस्य प्रमाणग्रहणेन ग्रहीष्यमाणत्वादिति । भ० ५ श० ४ उ० ।

तओ केवली पण्णत्ता। तं जहा-ओहिनाणकेवली,मणपज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली।

केवलमेकमनन्तं पूर्णं वा ज्ञानादि येषामस्ति ते केवलिनः । उक्तं च-" कसिणं केवलकप्पं, लोगं जाणंति तह य पासंति। केवलचरित्तनाणी, तम्हा ते केवली होंति " ॥ १ ॥ इहापि जिनवद् व्याख्या । स्था० ३ ठा० ४ उ० । (केवलिनो यक्षावेशो न भवति इति ' जक्खावेस ' शब्दे वक्ष्यते)

केवली छद्मस्थमाधोवधिक वा जानाति-

केवली णं भंते ! छउमत्थं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । जहा णं भंते ! केवली छउमत्थं जाणइ पासइ, तहा णं सिद्धे वि जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ। केवली णं भंते! आहोधियं जाणइ पासइ ?। एवं चेव । एवं परमाहोहियं, एवं केवलिं, एवं सिद्धं० जाव । जहा णं भंते ! केवली सिद्धं जाणइ पासइ तहा णं सिद्धे वि सिद्धं जाणइ पासइ ? । हंता ! जाणइ पासइ ।

"केवलीत्यादि" । इह केवलिशब्देन भवस्थकेवली गृह्यते, उत्तरत्र सिद्धग्रहणादिति । (आहोहिय ति) प्रतिनियतक्षेत्रावधिज्ञानम् । (परमाहोहियं ति) परमावधिकम् । भ०१४ श०१० उ० ।

केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवीति जाणइ पासइ ?। हंता गोयमा ! जाणइ पासइ । जहा णं भंते ! केवली इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवि ति जाणइ पासइ, तहा णं सिद्धे वि इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवी ति जाणइ पासइ ?। हंता ! जाणइ पासइ। केवली णं भंते ! सक्करप्पभं पुढविं सक्करप्पभपुढवीति जाणइ पासइ ?। एवं चेव । एवं० जाव अहे सत्तमं। केवली णं भंते ! सोहम्मं कप्पं सोहम्मकप्पेति जाणइ पासइ ?। एवं चेव, एवं ईसाणं,एवं०जाव अच्चुयं। केवली णं भंते ! गेविज्जगविमाणं गेविज्जगविमाणे ति जाणइ पासइ ?। एवं चेव, एवं अणुत्तरविमाणे वि। केवली णं भंते ! ईसिप्पब्भारं पुढविं ईसिप्पब्भारा पुढवीति जाणइ पासइ ?। एवं चेव। केवली णं भंते ! परमाणुपोग्गलं परमाणुपोग्गलेति जाणइ पासइ ?। एवं चेव। एवं दुपदेसियं खंधं एवं० जाव जहा णं भंते ! केवली अणंतपदेसिए खंधेति जाणइ पासइ तहा णं सिद्धे वि अणंतपदेसियं०जाव पासइ ?। हंता ! जाणइ पासइ। सेवं भंते भंते त्ति । भ० १४ श० १० उ० । उप्पएणणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ पासइ, धम्मत्थिकायं० जाव परमाणुपोग्गलं । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

(११) चरमकर्मण-

केवली णं भंते ! चरिमकम्मं वा चरिमणिज्जरं वा जाणइ पासइ ?। हंता गोयमा ! जाणइ पासइ । जहा णं भंते ! केवली चरिमकम्मं वा जहा णं अंतकरेणं आलावगो तहा चरिमकम्मेण वि अपरिसेसिओ णेयव्वो ।

" केवली णं " इत्यादि चरमकर्म यच्छैलेशीचरमसमयेऽनुभूयते,चरमनिर्जरा तु यत्ततोऽनन्तरसमये जीवप्रदेशेभ्य' परिशटतीति । भ० ५ श० ४ उ० ।(परीषहसहनहेतु 'परीसह' शब्दे वक्ष्यते)

(१२) भाषणम्-

केवली णं भंते ! भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?। हंता भासेज्ज वा वागरेज्ज वा । जहा णं भंते ! केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा तहा णं सिद्धे वि भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जहा णं केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा णो तहा णं सिद्धे भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?। गोयमा ! केवली णं सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे सिद्धे ण अणुट्ठाणे० जाव अपुरिसक्कारपरक्कमे से तेणट्ठेणं० जाव णो वागरेज्ज वा ॥

(भासेज्ज त्ति) भाषेताऽपृष्ट एव [वागरेज्ज त्ति] पृष्टः सन् व्याकुर्यात् । भ० १४ श० १० उ० ।

(१३) मनोवाग्योग-

केवली णं भंते ! पणीयं मणं वा वइं वा धारेज्जा ?। हंता धारेज्जा । जहा णं भंते ! केवली पणीयं मणं वा वइं वा धारेज्जा त णं वेमाणिया देवा जाणंति पासंति ?। गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति; अत्थेगइया जाणंति ण पासंति । से केणट्ठेणं० जाव ण पासंति ?। गोयमा ! वेमाणिया देवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-माइमिच्छादिट्ठिउववण्णगा य, अमायिसम्मदिट्ठिउववण्णगा य । तत्थ णं जे ते माइमिच्छादिट्ठिउववण्णगा ते न जाणंति न पासंति, एवं अणंतरपरंपरपज्जत्तअपज्जत्ता य, उवउत्ता अणुवउत्ता, तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति, से तेणट्ठेण त चेव ।

(पणीय त्ति) प्रणीतं शुभतया प्रकृष्टं (धारेज्ज त्ति) धारयेद्, व्यापारयेदित्यर्थः । "एव अणंतरेत्यादि" । अस्यायमर्थः - यथा वैमानिका द्विविधा उक्ता मायिमिथ्यादृष्टीनां च ज्ञाननिषेधः एवममायिसम्यग्दृष्टयोऽनन्तरोपपन्नपरम्परोपपन्नकभेदेन द्विधा वाच्याः। अनन्तरोपपन्नकानां च ज्ञाननिषेधस्तथा परम्परोपपन्नका. पर्याप्तापर्याप्तकभेदेन द्विधा वाच्या । अपर्याप्तकाना च ज्ञाननिषेधस्तथा पर्याप्तका उपयुक्तानुपयुक्तभेदेन द्विधा वाच्या। अनुपयुक्तानां च ज्ञाननिषेधश्चेति। वाचनान्तरे त्विद सूत्र साक्षादेवोपलभ्यत इति । भ०५ श०४ उ०। चक्षुर्विकलस्य केवलज्ञानमुत्पद्यते न वेति प्रश्ने ? उत्तरम्-उत्पद्यत इति। १८६ प्र०सेन० ३ उल्ला० । (अमनस्कस्यापि केवलिनो ध्यान 'झाण' शब्दे वक्ष्यते) (केवलिन समुद्घात' 'केवलिसमुग्घाय' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) केवलिन. पट्टधरा भवन्ति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-

"प्राप्ते निर्वाणसमये, पूर्णवर्षशतायुषा ।
सुधर्मास्वामिनाऽस्थापि, जम्बूस्वामी गणाधिप. ॥ ५६ ॥
तप्यमानस्तपस्तीव्र, जम्बूस्वाम्यपि केवलम् ।
आसाद्य सद्यो भव्य-भविकान् प्रत्यबूबुधत् ॥ ६० ॥
श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि,
चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः ।
कात्यायन प्रभवमात्मपदे निवेश्य,
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद" ॥ ६१ ॥

इति परिशिष्टपर्वणि चतुर्थसर्गप्रान्तवचनानुसारेण केवलिनः पट्टधरा भवन्तीति प्रकटमेवावसीयत इति। ३६प्र०सेन०२उल्ला०। पन्यासचन्द्रविजयगणिकृतप्रश्ना., तदुत्तराणि यथा-तीर्थकरस्य सामान्यकेवलिनो वा वीर्यान्तराय. सहैव क्षय गतस्तत्कथ सा-

मर्थ्ये न्यूनाधिक्यं दृश्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकृत्केवलिनां सामान्यकेवलिनां च वीर्यान्तरायकर्मक्षयजनितस्यात्मवीर्यस्य समानत्वेऽपि नामकर्मभेदरूपशरीरलक्षणबाह्योपकरणभेदाद्बले भेदोऽत एव सामान्यकेवलिशरीरेभ्यस्तीर्थकरशरीरमनन्तबल-वज्जीर्णं, तुलादृष्टान्तोऽत्र भावनीय इति । ३६१ प्र० सेन० ३ उल्ला० । केवलिनां कति परीषहा भवन्तीति प्रश्ने ? उत्तरम्-केवलिना क्षुधा १ तृषा २ शीतोष्ण ३-४ दंश ५ चर्या ६ शय्या ७ वध ८ रोग ९ तृणस्पर्श १० मल ११ रूपैकादश परीषहा भवन्तीति भगवत्यष्टमशतकनवमोद्देशके इति । ८६ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

केवलिआगासपएस–केवल्याकाशप्रदेश–पुं० । " केवली णं भंते ! अस्सि समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा ओगाहित्ता णं चिट्ठति" इत्यालापकेऽपि भगवतीत आचाराङ्गवृत्तौ द्वितीयाध्ययनप्रथमोद्देशके पाठभेदोऽस्ति, सोऽपि कथं घटते ? । इति प्रश्ने, उत्तरम्-आचाराङ्गवृत्तावुक्त चेत्युक्तमस्ति न तूक्त भगवत्यामिति, तेनाय पाठो ग्रन्थान्तरगत. सभाव्यते । अथवा आचाराङ्गवृत्तिकारकालवर्तिभगवत्यादर्शेष्वय पाठो दृष्ट' सभाव्यत इति । १२ प्र० सेन० २ उल्ला० ।

केवलिउवासग–केवल्युपासक–पुं० । केवलिनमुपास्ते य श्रवणानाकाङ्क्षी तदुपासनामात्रपर सन्नसौ केवल्युपासक' । भ० ९ श० ४ उ० । केवलिन उपासनां विदधानेन केवलिनैवान्यस्य कथ्यमान श्रुत येनासौ केवल्युपासकः । केवलिन उपासनामात्र विदधाने, अन्य प्रति उपदिशत. केवलिन श्रावके च । भ० ९ श० ३१ उ० ।

केवलिखीणकसायवीयरागदंसण–केवलिक्षीणकषायवीतरागदर्शन–न० । क्षीणकषायवीतरागदर्शनभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

केवलिपक्खिय–केवलिपाक्षिक–पुं० । स्वयम्बुद्धे, भ० ९ श० ३१ उ० ।

केवलिपन्नत्त–केवलिप्रज्ञप्त–त्रि० । सर्वज्ञोपदिष्टे, पा० ।

केवलिपन्नत्तो धम्मो जावज्जीवं मे भगवं सरणं ।

केवलिप्रज्ञप्त. केवलिप्ररूपितो धर्म. श्रुतादिरूप. । पं० सू० ५ सूत्र । आ० चू० । आव० ।

अम्हे णं देवाणुप्पिए ! णं तवविचित्त केवलिपन्नत्तं धम्मं परिकहेमो ।

केवलिप्रज्ञप्तधर्मश्च–" जीवदया सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसील च । खंती पंचिंदियनि-ग्गहो य धम्मस्स मूलाइ " ॥ १ ॥ नि० ३ वर्ग ।

केवलिपरियाय–केवलिपर्याय–पुं० । जिनपर्याये, आ० म० द्वि० ।

केवलिमरण–केवलिमरण–न० । उत्पन्नकेवलज्ञानस्य सकलकर्मपुद्गलपरिशाटनतो म्रियमाणस्य मरणे, प्रव० १५७ द्वार । "केवलिमरणं तु केवलिणो" उत्त० नि० २ खण्ड । केवलिमरण तु ये केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञाना सकलकर्मपुद्गलपरिशाटनतो म्रियन्ते तज्ज्ञेयमिति । उत्त० ५ अ० ।

केवलिय–कैवलिक–त्रि० । केवलमेव कैवलिकम् । आव० ४ अ० । अद्वितीये, यस्मान्नापरमित्थभूतमस्तीत्यर्थं । " इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुन्नं । " ध० ३ अधि० । केवलिन इदं कैवलिकम् । केवलिना कथिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । ज्ञा० ।

"तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखाइमं केवलियं समाहिं" सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । ज्ञा० । केवलिसंबन्धिनि च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

केवलियणाणलंभ–कैवलिकज्ञानलाभ–पुं० । केवलज्ञानोपलब्धौ, आ० म० प्र० । आव० ।

केवलिलद्धि–केवलिलब्धि–स्त्री० । केवलिन' केवलज्ञानऋद्धिरूपे लब्धिभेदे, प्रव० २७० द्वार ।

केवलिसमुग्घाय–केवलिसमुद्घात–पुं० । केवलिन्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे भव समुद्घात. केवलिसमुद्घात' । प० स० २ द्वार । प्रव० । जिनसमुद्घाते, समुद्घातभेदे, विशे० ।

अशेषकेवलिसमुद्घातवक्तव्यता । सम्प्रति केवलिसमुद्घातविधौ यथास्वरूपैर्यावत्प्रमाणस्य क्षेत्रस्यापूरणमुपजायते तथास्वरूपैः पुद्गलैस्तावत्प्रमाणस्य क्षेत्रस्यापूरणमभिधित्सुराह–

अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला सव्वलोगं पि य णं भंते ! फुसित्ता णं चिट्ठंति ? । हंता गोयमा ! अणगारस्स भावियप्पणो केवली समुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं फुसित्ता णं चिट्ठंति ।

इह समुद्घातः केवलिनो भवति, न छद्मस्थस्य । केवली च निश्चयनयमते नानगारो न गृहस्थो नापि पाखण्डी, स च नियमाद् भावितात्मा, विशिष्टशुभाध्यवसानकलितत्वात्, अन्यथा केवलित्वानुपपत्ते, तत उक्तमनगारस्य भावितात्मनः । इह केवलिसमुद्घातेनोक्तस्वरूपेण समवहतस्य ये चरमाश्चरमसमयभाविन इत्यर्थ' । तैरेव सकललोकापूरणात् । (निर्जरा पुद्गला इति) निर्जरा निर्जीर्णा इत्यर्थ. । ते च ते पुद्गलाश्चेति विशेषणसमास. । किमुक्त भवति ?-ये लोकापूरणसमये पुद्गला आत्मप्रदेशेभ्यो विशिष्टा. परित्यक्तकर्मत्वपरिणामा इति (सुहुमा णं भंते ! पुग्गला) आत्मप्रदेशेभ्यो विशिष्टा. परित्यक्तकर्मत्वपरिणामा इति । (सुहुमा णं भंते ! पुग्गला इति) णमिति निश्चये, सूक्ष्माश्चक्षुरादीन्द्रियपथमतिक्रान्तास्ते पुद्गला. प्रज्ञप्ता. भगवद्भि हे श्रमण हे आयुष्मन् !, गौतमकृत भगवत सम्बोधनमेतत् । तथा (णमिति) निश्चितमेतत् । सर्वलोकमपि ते पुद्गला स्पृष्ट्वा, णमिति वाक्यालङ्कारे । तिष्ठन्ति । गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह–" हन्ता गोयमा !" इत्यादि । हन्तेति प्रोतौ । यदाह शाकटायन.–'हन्तेति' सम्प्रदान प्रीतिश्चात्र यथावस्थितस्वरूपप्रतिपादकत्वात् प्रश्नसूत्रस्य सामान्यलक्षणा वेदितव्या, न तु हर्षरूपा । क्षीणमोहत्वेन भगवतो हर्षविषादातीतत्वात् । सामान्यमेव ख्यापयति–यदुक्त गौतमेन तदनुवदति–"अणगारस्येत्यादि" भावितार्थसूक्ष्मपुद्गला इत्युक्तम् । तच्च सूक्ष्मत्वमपि भवति यथा बदरादीनामामलकाद्यपेक्षया वा, ततश्चक्षुरादीन्द्रियगोचरातिक्रान्तरूप ।

तत्प्रतिपिपादयिषुरिदमाह–

छउमत्थे णं भंते ! मणुसे तेसिं निज्जरापोग्गलाणं वन्नेणं वन्नं गंधेण गधं रसेण रस फासेण वा फासं जाणइ, पासइ ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठे णं भंते ! एवं

वुच्चइ–छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं नो किंचि वि वन्नेणं वन्नं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! अयन्नं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डुयाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए चेव एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोण्णि सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पन्नत्ते देवे णं महड्ढिए० जाव महासोक्खे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्गयं गहाय तं अवद्दालेइ, तं महं एग सविलेवणं गंधसमुग्गयं अवद्दालइत्ता इणमेव णं तिकट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहि अच्छराणि वा तेहिं सत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा। से नूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे तेहिं घाणपुग्गलेहिं फुडे ?। हन्ता फुडे। छउमत्थे णं गोयमा ! मणुसे तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ?। भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ छउमत्थेणं मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं नो किंचि वन्नेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ?। जे सुहुमा णं ते पोग्गला पन्नत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य ण फुसित्ता णं चिट्ठंति ॥

(छउमत्थे णमित्यादि) छद्मस्थो भदन्त ! मनुष्यः,तेषामनन्तरोद्दिष्टानां निर्जरापुद्गलानां किञ्चिदिति प्रथमतः सामान्येन प्रयुक्त जानाति पश्यतीति संबध्यते। एतदेव विशेषतो व्याचष्टे–वर्णेन वर्णग्राहकेण चक्षुरिन्द्रियेण वर्ण्यते यथास्थित वस्तुस्वरूप निर्णीयतेऽनेनेति वर्ण इति व्युत्पत्तेः वर्णं कृष्णादिरूपम्। गन्धेन गन्धग्राहकेण नासिकेन्द्रियेण 'गन्ध' आघ्राणे, चुरादिभ्यो णिच्, गन्ध्यते आघ्रायते शुभोऽशुभो वा गन्धोऽनेनेति गन्ध इति व्युत्पादनात् गन्ध शुभाशुभ वा। रसेन रसग्राहकेण रसनेन्द्रियेण रस्यते आस्वाद्यतेऽनेनेति शब्दार्थत्वात् रस तिक्तादिरूपम्। स्पर्शेन स्पर्शग्राहकेण स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृश्यतेऽनेनेति कर्कशादिरूपः परिच्छेद्यवस्तुगतः स्पर्श इति व्युत्पादनात् स्पर्शं कर्कशादिरूप जानाति पश्यतीति । भगवानाह—गौतम ! नायमर्थ उपपन्न इत्यर्थः । पुनर्गौतमः प्रश्नयति–"से केट्ठेण भंते !" इत्यादि उत्तानार्थम्। भगवानाह–गौतम ! "अयण्णमित्यादि" अय प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो, णमिति वाक्यालङ्कारे, अष्टयोजनोच्छ्रितया रत्नमय्या जम्ब्वा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः,द्वीपसमुद्राणा सर्वाभ्यन्तरक इति सर्वेषामभ्यन्तरो मध्यवर्ती सर्वाभ्यन्तरः, सर्वाभ्यन्तर एव सर्वाभ्यन्तरक, 'जातौ वा स्वार्थे कः' (स्वार्थे कश्च वा)॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति प्राकृतलक्षणवशात् स्वार्थे क प्रत्यय । केषां सर्वेषामभ्यन्तर इत्याह—सर्वद्वीपसमुद्राणां, तथाहि-सर्वे शेषा द्वीपसमुद्रा जम्बूद्वीपादारभ्याऽऽगमाभिहितेन क्रमेण द्विगुणद्विगुणविस्तारा व्यवस्थिताः,ततो भवति द्वीपसमुद्राणां च जम्बूद्वीपोऽभ्यन्तर। तथा (सव्वखुड्डागे इति) सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको ह्रस्वः सर्वक्षुल्लक इति। तथाहि–सर्वे लवणादयः समुद्राः सर्वे च धातकीखण्डादयो द्वीपाः, अस्माज्जम्बूद्वीपादारभ्य प्रवचनोक्तेन क्रमेण द्विगुणचक्रवालचिन्तनाः; ततः शेषद्वीपसमुद्रापेक्षया सर्वलघुरिति। तथा वृत्तो वर्तुलो यतस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषणं,तस्येव संस्थानसंस्थितस्तथा वृत्तो जम्बूद्वीपो यतो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थित रथस्य रथाङ्गस्य चक्रवाल मण्डलं तस्येव यत् संस्थान तेन संस्थितः। एवमुक्तमपि पदद्वय भावनीयम् (आयामविक्खभेण ति) आयामश्च विष्कम्भकश्चेति समाहारो द्वन्द्वः। तेन आयामेन विष्कम्भेण च प्रत्येकमेकं योजनशतसहस्रमित्यर्थः । परिधिपरिमाणानयनगणित च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादावनेकशो भावितमिति ततोऽवधार्यम्। "देवे णमित्यादि" देवश्च, णमिति वाक्यालङ्कारे। (महड्ढिए इति) महती ऋद्धिर्विमानपरिवारादिका यस्याऽसौ महर्द्धिकः। (जाव महासोक्खे इति) यावच्छब्दकरणात् "महज्जुईए इति महाबले महाजसे" इति द्रष्टव्यम्। तत्र महती द्युतिः शरीराभरणविषया यस्य सः महाद्युति, महद्बलं शारीरप्राणो यस्य स महाबलः, महत् यशः ख्यातिर्यस्य स महायशाः, तथा महत् प्रभूतं सौख्य यस्य प्रभूतसद्वेद्यकर्मोदयभावादिति । महासौख्यः। क्वचित् "महेसक्खे" इति पाठ, तत्र महान् ईशः ईश्वरः इत्याख्या शब्दप्रथा यस्य लोके स महेशाख्यः। अथवा ईशानमीशो भावे घञ्प्रत्ययः,ऐश्वर्यमित्यर्थः, 'ईश' ऐश्वर्ये इति वचनात् । तत ईशमैश्वर्यमात्मनः ख्यातिम्। अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति प्रकाशयति। तथा परिवारादिस्फीत्या वर्तत इति ईशाख्यः महांश्चासावीशाख्यश्च महेशाख्यः । अन्यत्र 'महासक्खे त्ति' पाठः, तत्रैवं वृद्धव्याख्या-आशुगमनादश्व मनः, अक्षाणि इन्द्रियाणि,स्वस्वविषयव्यापकत्वात्। अक्षशब्दो हि प्रायेण 'अशूङ्' व्याप्ताविरयस्य धातोर्निष्पाद्यते,अश्वश्च अक्षाणि च अश्वाक्षाणि, महान्ति स्फीतिमन्ति अश्वाक्षाणि यस्याऽसौ महाश्वाक्ष, स्फीतमनाः, स्फूर्तिमच्चक्षुरादीन्द्रियश्चेत्यर्थः । एक महान्तमति च गुरुकमन्यथा स्तोक तथा तद्गतैर्गन्धपुद्गलै सकलस्य जम्बूद्वीपस्य व्याप्तुमशक्यत्वात् । (सविलेवणमिति) सह विशिष्टमतिसूक्ष्मरन्ध्राणामपि स्थगनात् लेपन लेपो जत्वादिकृत पिधानोपरि वर्तते येन स तथा तम्। विशिष्टलेपप्रदानाभावे हि बहवः सूक्ष्मरन्ध्रैर्गन्धपुद्गला निर्गच्छन्ति,तत उद्घाटनवेलायां तेषां स्तोकीभावेन सकलजम्बूद्वीपापूरण नोपपद्यते। (गधसमुग्गयं ति) गन्धद्रव्यैरतिविशिष्टैः परिपूर्णभृत समुद्गको गन्धसमुद्गकस्तम्। (अवदाले इति) अवदलयति, उत्पाटयतीत्यर्थः। (इणमेवेति) एवमेवेत्यर्थः। (केवलकप्प ति) केवल केवलज्ञान तत्कल्प परिपूर्णतया तत्सदृश, परिपूर्णमित्यर्थः। जम्बूद्वीप त्रिभिरप्सरोनिपातो नाम चप्पुटिका,ततस्तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरिति द्रष्टव्यम्। चप्पुटिकाश्च कालोपलक्षणम्। ततोऽयमर्थः-यावत्कालेन तिस्रश्चप्पुटिकाः पूर्यन्ते तावत्कालमध्ये इति त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् अतिपरिवर्त्य सामस्त्येन परिभ्रम्य (हव्व) शीघ्रमागच्छेत्। "से नूणमित्यादि" 'से' शब्दो मगधदेशप्रसिद्ध्या अथशब्दार्थः । अथशब्दस्य चार्थो वाक्योपन्यासादयः। उक्तं च-"अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलाधिकारवाक्योपन्यासेषु" अत्राथ वाक्योपन्यासे। तद्भावना चैवम्। उक्तस्तावत्

विवक्षितार्थप्रतिपत्तिहेतोर्दृष्टान्तस्य पीठिकाबन्धः । सम्प्रति विवक्षितार्थप्रतिपत्तिहेतुदृष्टान्तवाक्यमुपन्यस्यते-नून निश्चित गौतम ! स केवलकल्पो जम्बूद्वीपस्तैर्गन्धसमुद्गकाद् विनिर्गतैर्घ्राणपुद्गलैः स्पृष्टो व्याप्त.। काका चेद सूत्रमभिधीयते, ततः प्रश्नोऽवगम्यते। अथवा प्रश्नार्थ सशब्द.। ततोऽञ्जसे प्रश्नयतीति गौतम आह-हन्त ! स्पृष्टो, गन्धपुद्गलानां सर्वतोऽभिसर्पणशीलत्वात् । पुनरपि भगवानाह-"छउमत्थे णमित्यादि" सुगमम् । एष चात्र भावार्थ.-यथा ते सकलजम्बूद्वीपव्यापिनो गन्धपुद्गलाः सूक्ष्मत्वान्न छद्मस्थानां चक्षुरादीन्द्रियगम्या', तथा सकललोकव्यापिनो निर्जरापुद्गला अपीति । उपसंहारमाह-(एसुहुमा ण ते) एतावत्सूक्ष्मा' ।

अथ यन्निमित्तं केवली समुद्धातमारभते तत् पिपृच्छिषुरिद प्रश्नसूत्रमाह-

कम्हा णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छइ ? । गोयमा ! केवलिस्स चत्तारि कम्मंसा अंता अक्खीणा अवेदिता अनिज्जिन्ना भवंति । तं जहा-वेदणिज्जे आउए नामे गोत्ते सव्वबहुए, से वेदणिज्जे कम्मे हवइ, सव्वत्थोवे, से आउए कम्मे हवइ, विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य विसमसमीकरणयाए बंधणेहिं ठिईहिं, एवं खलु केवली समोहणइ; एवं खलु समुग्घायं गच्छइ । सव्वे वि णं भंते ! केवली समोहणइ, सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । "जस्साउ पुण तुल्लाइ, बंधणेहिं ठिईहि य ।। भवोवग्गहकम्माइं, समुग्घातं(से) न गच्छइ ।। १ ।। अणंताणं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा । जरामरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगतिं गया" ।।२।।

"कम्हा णमित्यादि" कस्मात्कारणात्, णमिति वाक्यालङ्कारे। भदन्त ! केवली केवलज्ञानोपेत समुद्धातं गच्छत्यारभते, कृतकृत्यत्वात्किल तस्येति भावः। भगवानाह-"गोयमेत्यादि" गौतम ! केवलिनश्चत्वार. कर्मांशाः कर्मभेदा अक्षीणाः क्षयमनुपगता। कुत इत्याह-अवेदिता ,अत्र "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति न्यायात् हेतौ प्रथमा। ततोऽयमर्थ -यतो वेदिताः ततोऽक्षीणकर्मणां हि क्षयो नियमतः प्रदेशतो विपाकतो वा वेदनाद्भवति, "सव्वं च पएसतया, भुज्जइ कम्ममणुभावतो भइय" इत्यादि वचनात्। ते चत्वारोऽपि कर्मांशा अवेदिता अतोऽक्षीणा.। एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे-अनिर्जीर्णा. सामस्त्येनात्मप्रदेशेभ्यो परिशाटिता भवन्ति। तिष्ठन्ति। तानेव नामग्राहमभिधित्सुराह-"त जह."इत्यादि सुगमम् । तत्र यदा (से) तस्य केवलिन' सर्वबहुप्रदेश वेदनीयम,उपलक्षणमेतत्-नामगोत्रे च। तथा सर्वस्तोक प्रदेशमायु कर्म तदा। (सबंधणेहिं ठिईहि य त्ति)बध्यते भवचारकात् विनिर्गच्छन् प्रतिबध्यते यैस्ते बन्धना'। "करणाधारे" ॥५।३।१२९॥ इति(हैम०) करणे अनट्प्रत्यय । अथ वा बध्यन्ते आत्मप्रदेशै सह लोलीभावेन संश्लिष्टा क्रियन्ते योगवशात् ये ते बन्धना' "बहुलम्" ॥५।१।२॥ कृत् इति (हैम०) वचनात् कर्मणि अनट् । उभयत्रापि कर्मपरमाणवो वाच्या. स्थितयो वेदनाकाला । तथा चोक्त भाष्यकृता-"विसमं करेइ सम,बंधणेहिं ठिईहि य। कम्मदव्वाइँ बन्धणं,ठि य कालो वई तेसिं" ॥ ततश्च तैर्बन्धनै स्थितिभिश्च विषम सद्वेदनीयादिक समुद्धातविधिना समयायुषा सह करोति स एव खलु केवली बन्धनैः स्थितिभिश्च विषमस्य सतो वेदनीयादिकस्य कर्मणः (समीकरणयाए इति) अत्र ताप्रत्ययः स्वार्थिक. । ततोऽयमर्थः-समीकरणाय (समोहणइ त्ति) समवहन्ति । समुद्घाताय प्रयतन्त एव खलु समुद्धात गच्छति। उक्तञ्च-आयुषि समाप्यमाने शेषाणां कर्मणां यदि समाप्तिर्न स्यात, स्थितिवैषम्यात्गच्छति । स ततः समुद्धातं स्थित्या च बन्धनेन च समीक्रियार्थं हि कर्मणां तेषामन्तर्मुहूर्तशेषे तदायुः समुज्जिघांसति स न तु प्रभूतस्थितिकस्य वेदनीयादेरायुषा सह समीकरणार्थं समुद्धातमारभते इति । यदुक्तम्-तन्नोपपन्नं, कृतनाशादिदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—प्रभूतकालोपभोगस्य वेदनीयादेरारत एवापगमसम्भवात् कृतनाशः वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षयस्य पुनर्नाशसम्भवान्मोक्षेऽप्यनास्थाप्रसङ्ग । तदसत्। कृतनाशादिदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-इह यथा प्रतिदिवसं सेतिकापरिभोगेन वर्षशतोपभोग्यस्य कल्पितस्याहारकस्य भस्मकव्याधिना तत्सामर्थ्यात्स्तोकदिवसैर्नि.शेषतः परिभोगान्न कृतनाशोपम., तथा कर्मणोऽपि वेदनीयादेः तथाविधशुभाध्यवसायानुबन्धात्उपक्रमेण साकल्यतो भोगान्न कृतनाशरूपदोषप्रसङ्गः। द्विविधो हि कर्मणोऽनुभव -प्रदेशतो विपाकतश्च। तत्र प्रदेशतः सकलमपि कर्मानुभूयते न तदस्ति, किञ्चित्कर्म यत्प्रदेशतोऽप्यननुभूत सत् क्षयमुपयाति, ततः कथं कृतनाशदोषापत्ति.। विपाकतस्तु किञ्चिन्न,अन्यथा मोक्षाभावप्रसङ्गात्। तथाहि-यदि विपाकानुभूतित एव सर्वं कर्म क्षपणीयमिति नियमस्तर्ह्यसङ्ख्यातेषु भवेषु तथाविधविचित्राध्यवसायविशेषैर्यन्नरकगत्यादिक कर्मोपार्जितम, तस्यानेकस्मिन् मनुष्यादावेव भवेऽनुभव., स्वस्वनिबन्धनत्वात्तद्विपाकानुभवस्य क्रमेण च स्वभवानुगमनेन वेदने नारकादिभवेषु चारित्राभावेन प्रभूततरकर्मसन्तानोपचयात्तस्यापि स्वभवानुगमनेनानुभवोपगमात् कुतो मोक्ष.?। तस्मात्सर्वं कर्म विपाकतो भाज्यप्रदेशतोऽवश्यमनुभवनीयमिति प्रतिपत्तव्यम्, एवञ्च न कश्चिद्दोषः। नन्वेवमपि दीर्घकालभोग्यतया तद्वेदनीयादिक कर्मोपचितम्। अथ च परिणामविशेषादुपक्रमेणारादेव तदनुभवति,तत कथं न कृतनाशदोषापत्ति ?। तदप्यसम्यक्। बन्धकाले तथाविधाध्यवसायवशादादावुपक्रमयोग्यस्यैव तेन बन्धात्। अपि च-जिनवचनप्रामाण्यादपि वेदनीयादिकर्मणामुपक्रमो मन्तव्यः। यदाह भाष्यकृत्-'उदयक्खयखओवसमो, व समाज च कम्मुणो भणिया । दव्वाइ पंचम पइ-जुत्तमवक्कमेण मत्तो वि' ॥१॥ न चैव मोक्षोपक्रम हेतु. कश्चिदस्ति तथाविधोऽन्तिमसूत्रे भावयिष्यते। ततो यदुक्तं वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षय इत्यादि, न तत्सम्यगुपपन्नमिति स्थितम् । अपर आह-ननु यदा वेदनीयादिकमतिप्रभूतं सर्वस्तोक चाऽऽयुस्तदा समधिकवेदनीयादे सोपक्रमत्वात, यदा समधिकमायु. सर्वस्तोक तदा का वार्ता?। न खल्वायुष' समधिकस्य समुद्धाताय समुद्धात. कल्पते, चरमशरीरिणामायुषो निरुपक्रमत्वात्, चरमशरीराय "निरुवक्कमा" इति वचनात् । तदयुक्तम् । एवंविधभावस्य कदाप्यभावात् । तथाहि-सर्वदैव वेदनीयाद्येवायुषः सकाशादधिकस्थितिक भवति,न तु कदाचिदपि वेदनीयादेरायु.। अथैवंविधो नियम' कुतो लभ्यते?। उच्यते-परिणामस्वाभाव्यात् । तथाहि-इत्थम्भूत एवात्मन परिणामो येनास्यायुर्वेदनीयादेः समभवति,न्यूने वा,न तु कदाचनाऽप्यधिक, यथैतस्यैवायुष. खलु ध्रुवबन्ध । तथाहि-ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि आयुर्वर्ज्यानि सप्तापि सदैव बध्यन्ते, आयुस्तु प्रतिनियत एव काले स्वभवत्रि-

विशेषः कुतः?, इत्याह-"अतिगमम्मि जं दोषि त्ति" विदिशः सकाशात् भाषाद्रव्याणि लोकनाडीबहिरेव प्रथमे समये दिशि समागच्छन्ति, द्वितीये तु लोकनाडीमध्ये प्रविशन्ति, इत्येव यस्मादतिगमे नाडीमध्यप्रवेशे द्वौ समयौ लगतः शेषास्तु, त्रय समयाः चतुःसमयव्याप्तिवत् द्रष्टव्याः, इत्येव पञ्च समयाः, सर्वेऽपि च लोकापूरणे प्राप्यन्त इति ॥ ३८६ ॥

ननु यद्युक्तन्यायेन त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च समयैर्लोको वाग्द्रव्यैः पूर्यते, तर्हि किमिति निर्धार्य निर्युक्तिकृता चतुःसमयग्रहणमेव कृतम्?, इत्याशङ्क्याह-

चउसमयमज्झगहणे, तिपंचगहणं तुलाई मज्झस्स ।
जह गहणे पज्जंत-ग्गहणं चित्ता य सुत्तगई ॥३८७॥

(तिपंचगहणमिति) आद्यन्तवर्त्तिनां त्रयाणां पञ्चानां च समयानां ग्रहणमिह निर्युक्तिकृता विहितमेव द्रष्टव्यम्। क सती- त्याह-चतुःसमयरूपस्य मध्यस्य ग्रहणे कृते सति। ननु किमन्यत्रापि मध्यग्रहणे सत्याद्यन्तग्रहणं क्वापि दृष्टम्?। इत्याह-(तुलाईत्यादि) यथा तुलादीनाम्। आदिशब्दान्नाराचयष्ट्यादीनां, मध्यस्य ग्रहणे कृते पर्यन्तयोराद्यन्तलक्षणयोर्ग्रहणं पर्यन्तग्रहणं कृतमेव भवति, एवमिहापीति । नन्वऽय न्याय क्वाप्यागमे दृश्यते, येनैवमुच्यते?, इत्याह-चित्रा च भगवतः सूत्रस्य गतिः प्रवृत्तिर्दृश्यते ॥ ३८७ ॥

तथाहि—

कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ घेप्पंति निरवसेसाइं ।
उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निउत्ताइं ॥ ३८८ ॥

क्वापि सूत्रे देशस्यैकपक्षलक्षणस्य ग्रहणं, यथाऽत्रैव चतुःसमयलक्षणस्य, क्वचित्सूत्रे निरवशेषाण्यपि पक्षान्तराणि गृह्यन्ते। अपरं च-कानिचित्सूत्राणि कुतोऽपि कारणवशात् उत्क्रमयुक्तानि नियुक्तानि निबद्धानि दृश्यन्ते, कानिचित्तु क्रमयुक्तानीति, एवं विचित्रा सूत्रगतिः ॥ ३८८ ॥

अथ प्रस्तुतार्थस्यैव शास्त्रान्तरसंवादकारिणं दृष्टान्तमाह-

चउसमयविग्गहे सति, महल्लबंधम्मि तिसमओ जह वा ।
मोत्तुं तिपंचसमये, तह चउसमओ इह निबद्धो ३८९ ॥

यथा वा भगवत्यामष्टमशते महाबन्धोद्देशके सत्यपि चतुःसामयिके विग्रहे त्रिसामायिकोऽयमुपनिबद्धः, तथाऽत्रापि त्रीन् पञ्च च समयान् मुक्त्वा चतुःसामयिक एव लोकव्याप्तिपक्ष उपनिबद्ध इत्यदोष इति ॥ ३८९ ॥

तदुक्तम्-"लोगस्स य कइ भावे, कइ भागो होइ भासाए" (३७८) एतद्व्याचिख्यासुराह-

होइ असंखेज्ज इमे, भागे लोगस्स पढमबिइएसु ।
भासा असंखभागो, भयणा सेसेसु समएसु ॥ ३९० ॥

चतुर्दशरज्जूच्छ्रितस्य लोकस्याऽसख्याततमे भागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्या असंख्याततम एव भागो भवति । कदा?, इत्याह-प्रथमद्वितीयसमययोः । इदमुक्तं भवति-त्रिसमयव्याप्तौ, चतुःसमयव्याप्तौ, पञ्चसमयव्याप्तौ च प्रथमसमयद्वितीयसमययोस्तावन्नियमेन सर्वत्र लोकाऽसंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागलक्षण एव विकल्पः संभवति, नान्य॥ त्रिसमयव्याप्तौ हि प्रथमसमये दण्डषट्कं भवति, द्वितीयसमये तु षट् मन्थानः संपद्यन्ते। एते च दण्डादयो दैर्घ्येण यद्यपि लोकान्तस्पर्शिनो भवन्ति, तथापि वक्तृमुखविनिर्गतत्वात् तत्प्रमाणानुसारतो बाहुल्येन चतुरङ्गुलादिमाना एव भवन्ति। चतुरादीनि चाङ्गुलानि लोकाऽसंख्येयभागवर्तीन्येव। इति सिद्धस्त्रिसमयव्याप्तौ प्रथमद्वितीयसमययोर्लोकाऽसंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागः । चतुःसमयव्याप्तावप्येतदित्थमवगम्यत एव, प्रथमसमये लोकमध्यमात्र एव प्रवेशात्, द्वितीयसमये तु वक्ष्यमाणगत्या दण्डानामेव सद्भावादिति। पञ्चमसमयव्याप्तिपक्षे तु सुबोधमेव, प्रथमसमये भाषाद्रव्याणां विदिशो दिश्येव गमनात्, द्वितीयसमये तु लोकमध्यमात्र एव प्रवेशात्तस्मात् त्र्यादिसमयव्याप्तौ सर्वत्र प्रथमद्वितीयसमययोर्लोकाऽसंख्येयभागे भाषाया असंख्येयभाग एव भवति । (भयणा सेसेसु समएसु त्ति) उक्तशेषेषु तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भजना विकल्परूपा बोद्धव्या। क्वाऽपि लोकासंख्येयभागे स एव भाषाऽसंख्येयभाग एव भवति, क्वचित्तु लोकस्य संख्येयभागे भाषासंख्येयभागः, क्वापि समस्तलोकव्याप्तिः । तथाहि-त्रिसमयव्याप्तौ तृतीयसमये भाषायाः समस्तलोकव्याप्तिः, चतुःसमयव्याप्तितृतीयसमये तु लोकसंख्येयभागे भाषासंख्येयभागः। कथम्?, इति चेत् । उच्यते- स्वयम्भूरमणपश्चिमपरतटवर्तिनि लोकान्ते, त्रसनाडीबहिर्वा पश्चिमदिशि स्थित्वा ब्रुवतो भाषकस्य प्रथमसमये चतुरङ्गुलादिबाहुल्यो रज्जुदीर्घो दण्डस्तिरश्चीन गत्वा स्वयम्भूरमणपूर्वपरतटवर्तिनि लोकान्ते लगति । ततो द्वितीयसमये तस्माद्दण्डादूर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जूच्छ्रितः पूर्वापरतस्तिरश्चीनरज्जुविस्तृतः पराघातवासितद्रव्याणां दण्डो निर्गच्छति। लोकमध्ये तु दक्षिणतः, उत्तरतश्च पराघातवासितद्रव्याणामेव चतुरङ्गुलादिबाहुल्य रज्जुविस्तीर्णदण्डद्वय विनिर्गत्य स्वयम्भूरमणदक्षिणोत्तरवर्तिलोकान्तयोर्लगति । एवं च सति चतुरङ्गुलादिबाहुल्य सर्वतोऽपि रज्जुविस्तीर्णं लोकमध्ये वृत्तच्छत्वरं सिद्धं भवति। तृतीयसमये तूर्ध्वाधो व्यवस्थितदण्डाच्चतुर्दिशं प्रसृतः पराघातवासितद्रव्यसमूहो मन्थानं साधयति । लोकमध्यव्यवस्थितसर्वतो रज्जुविस्तीर्णच्छत्वरादूर्ध्वाधः प्रसृत पुनः स एव त्रसनाडीं समस्तामपि पूरयति। एवं च सति सर्वाऽपि त्रसनाडी ऊर्ध्वाधोव्यवस्थितदण्डमन्थिभावेन तदधिक च लोकस्य पूरितं भवति । एतच्चैतावत् क्षेत्र तस्य संख्याततमो भागः । तथा च सति चतुःसामयिक्या व्याप्तेस्तृतीयसमये लोकस्य संख्याततमे भागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्याः संख्याततमो भाग इति स्थितम् । पञ्चसामयिक्यास्तु व्याप्तेस्तृतीयसमये लोकासंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागः। कुतः?, इति चेत् । उच्यते-तस्यां तस्य दण्डसमयत्वात्, तत्र च संख्येयभागवर्तित्वस्य प्रागेव भावित्वादिति । चतुर्थसमये चतुःसामयिक्या व्याप्तौ मन्थान्तरपूरणात्समस्तलोकव्याप्तिः। पञ्चसामयिक्यां तु व्याप्तौ चतुर्थसमये लोकसंख्येयभागे भाषासंख्येयभागः, तस्यां तस्य मन्थिसमयत्वात्, तत्र च संख्येयभागवर्तित्वस्य प्रागेव भावितत्वादिति । पञ्चमसमये तु पञ्चसामयिक्यां व्याप्तौ मन्थाऽन्तरालपूरणात्समस्तलोकव्याप्तिरिति। एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भाविता भजना। तद्भावने च व्याख्यातम्-(भयणा सेसेसु समयेसु त्ति) एतच्च महाप्रयत्नवक्तृनिसृष्टद्रव्यापेक्षयैवोक्तं, मन्दप्रयत्नवक्तृनिसृष्टानि तु लोकासंख्येयभाग एव वर्तन्ते, दण्डादिक्रमेण तेषां लोकपूरणासंभवादिति ॥ ३९० ॥

अथ यदुक्तं " लोगस्स य चरिमते चरिमतो होइ भासाए " (३७६) तदेतद्भावयन्नाह—

आपूरियम्मि लोगे,दोएह वि लोगस्स तह य भासाए।
चरिमते चरिमंतो, चरिमे समयम्मि सव्वत्थ ॥ ३९१ ॥

चत्वादिसमयैरापूरिते लोके द्वयोरपि लोकभाषयोश्चरमान्ते चरमान्तो भवति। क ?, इत्याह–चरमे समये। केषु विषये योऽसौ चरमः समय ?,इत्याह–सर्वत्र सर्वेष्वपि चत्वादिसमयव्याप्तिपक्षेषु, इदमुक्तं भवति–त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च समयैर्भाषया पूरिते लोके तेषामेव चत्वादीनां लोकापूरकसमयानां यथास्वं योऽसौ चरमः समयस्तत्र लोकस्य चरमः पर्यन्तवर्त्ती अन्तो भवति–भाषायाश्च चरमः पर्यन्तवर्त्ती अन्तो भवति, त्र्यादिसमयानां चरमसमये लोके निष्ठाङ्गते भाषाऽपि निष्ठां याति,न पुनः परतोऽप्यलोके गच्छतीति भावः। जीवपुद्गलानां तत्र गतेरेवाभावादिति। इह च विवक्षया आदिरप्यन्तो भवति,तद्व्यवच्छेदार्थं चरमग्रहणं,चरमः पर्यन्तवर्त्ती अन्तो, न पुनरादिभूत इत्यर्थ इति ॥ ३९१ ॥

तदेवं " कइहिँ समएहिँ लोगो " (३७८) इत्यादिनिर्युक्तिगाथाद्वयव्याख्यानेन निराकुलीकृत्य " जइणसमुग्घायगई, केई भासंति " (३८३) इत्यादिना यदादेशान्तरमुक्तं, सोऽनादेश एवेति स्थापनार्थम्। तत्र दूषणमाह–

न समुग्घायगईए, मीसयसवणं मयं च दंडम्मि।
जइ तो वि तीहिँ पूरइ,समएहिँ जओ पराघाओ ॥३९२॥

(न समुग्घायगईए त्ति) जैनसमुद्घातगत्या भाषया लोकपूरणे इष्यमाणे न प्राप्नोतीति। किम् ?, इत्याह–मिश्रस्य शब्दस्य श्रवणं मिश्रश्रवणं, सर्वासु दिक्ष्विति शेषः। इदमुक्तं भवति–जैनसमुद्घाते ऊर्ध्वाधोदिग्द्वयगाम्येव प्रथमसमये दण्डो भवति, तद्यदि भाषाद्रव्येष्वप्येवमिष्यते, तर्हि ऊर्ध्वाधोदिग्द्वय एव मिश्रशब्दश्रवणं प्राप्नोति, न पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिक्षु, तासु विदिक्ष्विव वक्तृनिसृष्टद्रव्याणामगमनेन पराघातवासिततद्द्रव्याणामेव श्रवणादिति, अविशेषेण तु "भासासमसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणइ" (३५१) इत्यनेन दिक्षु मिश्रशब्दश्रवणमुक्तम्। अथवा–व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्यदि तव मतं समतम्,ऊर्ध्वाधोदिग्द्वयवर्जितदिक्षु एव मिश्रशब्दश्रवणं, शेषदिक्षु पराघातवासितद्रव्यश्रवणेऽप्यदोषादिति। भवत्येवं, (तो वि)तथापि त्रिभिस्समयैः पूर्यते लोको न चतुर्भिः, यतो भाषाद्रव्येषु पराघातोऽस्ति। यदि नाम तेषु पराघातस्ततः किम्?, इति चेत्। उच्यते–स खलु दण्ड ऊर्ध्वाधो गच्छन्नविशेषेण चतुर्दिशमपि शब्दप्रायोग्यद्रव्याणि पराहन्ति, वासयित्वा शब्दपरिणामवन्ति करोति, ततस्तानि द्वितीयसमये मन्थानं साधयन्ति, तृतीयसमये तु तदन्तरालपूरणात्पूर्यते लोक इति। एवं त्रिभिः समयैर्लोकपूरणं प्राप्नोति ॥ ३९२ ॥

ननु यथा जैनसमुद्घातश्चतुर्भिः समयैर्लोकमापूरयति, तथा भाषाऽपि तैः समापूरयिष्यति, को दोषः?, इत्याशङ्कयाऽऽह–

जइणेन पराघाओ, सजीवजोगो य तेण चउसमओ।
हेऊ होज्जाहि तहिं, इच्छा कम्मं सहावो वा ॥३९३॥

इह जैनसमुद्घाते जीवप्रदेशाः स्वरूपेणैव लोकमापूरयन्ति, न पुनस्तत्र कस्यापि पराघातोऽस्ति। ततो न द्वितीयसमये मन्था, किं तु कपाट एव भवति। किं च–स केवलिसमुद्घातो जीवस्य सयन्धी योगो व्यापारस्तेन लोकव्याप्तिमपेक्ष्याऽस्य चत्वारः समया, यत्र चतुः समयो भवति। यदि नाम जीवयोगस्तथापि कथं तस्य चतुःसमयता ?, इत्याह–तत्र तस्मिन् जीवव्यापारलक्षणे केवलिसमुद्घाते द्वितीयसमये मथ्यऽभावे हेतुर्भवेत्। क ?, इत्याह–(इच्छेत्यादि) तथाहि–तत्रैतच्छक्यते वक्तुम्–केवलज्ञानरूपा येयमिच्छाऽभिप्रायस्तद्वशाद् गुणदोषौ पर्यालोच्य केवली द्वितीयसमये मन्थानं न करोति। भवोपग्राहिकर्मवशाद्वा, स्वभावाद्वाऽऽसौ तदा तं न करोति। ततो द्वितीयसमये कपाट एव, तृतीयसमये मन्था, चतुर्थे त्वऽन्तरालपूरणम्, इति युज्यते जैनसमुद्घाते चतुस्समयता। विशे०।

अत्रैव विशेषपरिज्ञानायाऽऽह–

से णं भंते! तहा समुग्घायगए किं मणजोगं जुंजइ, वइजोगं जुंजइ, कायजोगं जुंजइ ?। गोयमा! नो मणजोगं जुंजइ, नो वइजोगं जुंजइ, गोयमा! कायजोगं जुंजइ। कायजोगे णं भंते! जुंजमाणे किं उरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ,किं वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ, वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ?। गोयमा! उरालियसरीरकायजोगं पि जुंजइ, उरालियमीससरीरकायजोगं पि जुंजइ, नो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ, नो वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, नो आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, नो आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजइ, कम्मगसरीरकायजोगं पि जुंजइ,पढमट्ठमेसु समएसु उरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, बितीयछट्ठसत्तमेसु समएसु उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ,ततियचउत्थपंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ। से णं भंते! तहा समुग्घायगए सिज्झइ,बुज्झइ,मुच्चइ,परिनिव्वाति, सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ?। गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

स भदन्त! केवली तथा दण्डकपाटादिक्रमेण समुद्घातं गतः सन् सिद्ध्यति–निष्ठितार्थो भवति। स च " वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा " ॥ ३। ३। १३१ ॥ इति (पाणि०) वचनात् सेत्स्यन्नपि व्यवहारत उच्यते। तत आह–बु–ध्यते अवगच्छति केवलज्ञानेन यथाऽहं निश्चयतो निष्ठितार्थो भविष्यामि निःशेषकर्मांशापगमतस्तत आह–मुच्यते,शेषकर्मांशैरिति गम्यते। मुच्यमानश्च कर्माणुवेदनापरितापरहितो भवति तत आह–परिनिर्वाति सामस्त्येन शीतीभवति। समस्तमेतदेकेन पर्यायेण स्पष्टयति—सर्वदुःखानामन्तं करोतीति। भगवानाह–गौतम! नायमर्थः समर्थः, नायमर्थः सङ्गतो यः समुद्घातं गतः सन् सर्वदुःखान्तं करोतीति योगनिरोधस्याद्याप्यकृतत्वात्, सयोगस्य च वक्ष्यमाणयुक्त्या सिद्ध्यभावादिति भावः।

किंकरोतीत्यत आह–

से णं भंते! तओ पडिनियत्तति, तओ पच्छा मणजोगं

पि जुंजइ, वइजोगं पि जुंजइ, कायजोगं पि जुंजइ ?। हंता० जाव कायजोगं पि जुंजइ, मणजोगं जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजइ, मोसमणजोगं जुंजइ, सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ? । गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजइ, नो मोसमणजोगं जुंजइ, नो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं पि जुंजइ। वइजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजइ, मोसवइजोगं जुंजइ, सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं जुंजइ ? । गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजइ, नो मोसवइजोगं जुंजइ, नो सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ । कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, गच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, निसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, उल्लंघिज्ज वा, पलंघिज्ज वा, पाडिहारियपीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जा ।

(से णमित्यादि) सोऽधिकृतसमुद्घातगतः, णमिति वाक्यालङ्कारे, ततः समुद्घातात् प्रतिनिवर्तते इति। निवर्त्य च ततः प्रतिनिवर्तनात्, पश्चादनन्तरं, मनोयोगमपि वाग्योगमपि काययोगमपि युनक्ति व्यापारयति, यतः भगवान् भवधारणीयकर्मसु नामगोत्रवेदनीयेष्वचिन्त्यमाहात्म्यसमुद्घातवशतः प्रभूतमायुषा सह समीकृतेष्वप्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदस्तस्मिन् काले यदनुत्तरोपपातिकादिना देवेन मनसा पृच्छयते, तर्हि व्याकरणाय मनःपुद्गलान् गृहीत्वा मनोयोगं युनक्ति, तमपि सत्यमसत्यामृषारूपं वा मनुष्यादिना पृष्टः सन्नपृष्टो वा कार्यवशतो वा पुद्गलान् गृहीत्वा वाग्योगं, तमपि सत्यमसत्यं मृषा वा, न शेषान् वाङ्मनसो योगान् क्षीणरागादित्वात् आगमनादौ चौदारिकादिकाययोगम्। तथाहि-भगवान् कार्यवशतः कुतश्चित् स्थानात् विवक्षिते स्थाने आगच्छेत्, यदि वा क्वापि गच्छेत्, अथवा तिष्ठेत्, ऊर्ध्वस्थाने वा तिष्ठेत्, निषीदेद्वा, तथाविधश्रमापगमनाय त्वग्वर्तनं कुर्यात्, अथवा विवक्षिते स्थाने तथाविधसम्पातिमसत्वाकुलां भूमिमवलोक्य तत्परिहाराय जन्तुरक्षानिमित्तमुल्लङ्घनं प्रलङ्घनं वा कुर्यात्, तत्र सहजात्पादविक्षेपान्मनागधिकतरः पादविक्षेप उल्लङ्घनम्, स एवातिविकटः प्रलङ्घनम्, यदि वा प्रातिहारिकपीठफलकशय्यासंस्तारकं प्रत्यार्प्यते यस्मादानीतं तस्मै समर्पयेत्, इह भगवताऽऽर्यश्यामेन प्रातिहारकपीठफलकादिना प्रत्यर्पणमेवोक्तं ततोऽवसीयते , नियमादन्तर्मुहूर्तविशेषायुष्क एवाऽऽवर्जीकरणादिकमारभते न प्रभूतावशेषायुष्कः, अन्यथा ग्रहणस्यापि सम्भवात्तदप्युपादीयते। एतेन यदाहुः-एके जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तशेषे समुद्घातमारभते, उत्कर्षतः षट्सु मासेषु शेषेष्विति। तदपास्तं द्रष्टव्यम् । षट्सु मासेषु कदाचिदपान्तराले वर्षाकालसम्भवात् तन्निमित्तपीठफलकादीनामादानमप्युपपद्यते । न च तत्सूत्रसम्मतमिति तत्प्ररूपणमुत्सूत्रमवसेयम्। एतच्चोत्सूत्रमावश्यकेऽपि समुद्घातानन्तरमव्यवधानेन शैलेश्यभिधानात् । तत्सूत्रम्-" दण्डकवाडे मथ-तरे य साहारणा सरीरत्थे । भासाजोगनिरोहे, सेलेसीसिज्झणा चेव ॥१॥" यदि पुनरुत्कर्षतः षण्मासरूपमपान्तरालं भवेत्ततस्तदप्यभिधीयेत, न चोक्तं, तस्मादेव तदयुक्तमेतदिति । तथाचाह भाष्यकारः-

" कम्मलहुयाए समओ, भिन्नमुहुत्ता विसेसओ कालो ।
अन्नं जहन्नमेयं, छम्मासुक्कोसमिच्छंति ।
तत्तोऽनंतरसेले-सिपयणो जं च पाडिहारीणं ।
पच्चप्पिणमेव सुए, इहरा गहणं पि होज्जाहि ॥"

अत्र कर्मलघुतानिमित्तं समुद्घातस्य समयोऽवसरो भिन्नमुहूर्त्ते विशेषकालः, शेषं सुगमं, तदेवमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यथायोगं योगत्रयव्यापारभाक् केवलीभूत्वा तदनन्तरमत्यन्ताप्रकम्पं लेश्यातीतं परमनिर्जराकारणं ध्यानप्रतिपित्सुरवश्यं योगनिरोधायोपक्रमते, योगे सति यथोक्तरूपस्य ध्यानस्याऽसम्भवात्। तथाहि-योगपरिणामो लेश्या, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, ततो यावद्योगस्तावदवश्यम्भाविनी लेश्येति, लेश्यातीते ध्यानसम्भव । अपि च-यावद् योगस्तावत्कर्मबन्धोऽपि-"जोगापयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति वचनात् केवलं स कर्मबन्धः केवलियोगनिमित्ततः समयत्रयावस्थायाम्। तथाहि-प्रथमसमये कर्म बध्यते, द्वितीयसमये वेद्यते, तृतीयेन तु समयेन कर्माकर्मीभवति । तत्र यद्यपि समयद्वयरूपस्थितिकर्माणि कियान्तःपूर्वाणि प्रलयमुपगच्छन्ति, तथाऽपि समये समये सन्तत्या कर्मादाने प्रवर्तमाने सति न मोक्षः स्यात्। अथवा अवश्य मोक्षं गन्तव्यं तस्मात्कुरुते सयोगनिरोधमिति । उक्तं च-

" सततं योगनिरोधं, करोति लेश्यानिरोधमभिकाङ्क्षन् ।
समयस्थितिं च बन्धं, योगनिमित्तं स निरुरुत्सुः ॥ १ ॥
समये समये कर्मा-ऽऽदाने सति सन्ततेन मोक्षः स्यात् ।
यद्यपि हि विमुच्यन्ते, स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥ २ ॥
नाकर्मणा हि वार्यं, योगद्रव्येण भवति जीवस्य ।
तस्यावस्थानेन तु, सिद्धः समवस्थितेर्बन्धः ॥ ३ ॥

अत्र बन्धस्य समयमात्रस्थितिकता बन्धसमयमतिरिच्य वेदितव्या । भाष्यमप्येवं पूर्वोक्तं सकलमपि प्रमेयं पुष्णाति । तथा च तद्गतो ग्रन्थः-

" विणिवित्तसमुग्घाओ, तिन्नि व जोगे जिणो पउंजिज्जा ।
सच्चमसच्चामोसं च सोमण तहा वईजोगं ॥ १ ॥
ओरालकायजोगं, गमणाई पाडिहारियाण वा ।
पच्चप्पिणं करेज्जा, जोगनिरोहं तओ कुरुते ॥ २ ॥
किं न सजोगी सिज्झइ, सबंधहेउ त्ति ज सजोगी य ।
न समेइ परमसुक्कं, सनिज्जराकारणं परमं" ॥ ३ ॥

अत एवाह-

से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ० जाव अंतं करेंति ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

" से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ " इत्यादि सुगमम्। योगनिरोधं च कुर्वन् प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि। तच्च पर्याप्तमात्रसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि , यावन्मात्रश्च तद्व्यापारः तस्मादसंख्येयगुणहीनं मनोयोगं प्रतिसमयं निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः साकल्येन निरुणद्धि। उक्तं च-

पज्जत्तमेत्तसन्नि-स्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।
होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ।
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
सव्वनिरोहं जोगी, करेइ संखेज्जसमएहिं " ॥

एतदेवाह-"से णं भंते !" इत्यादि। सोऽधिकृतकेवली योगनिरोधं चिकीर्षन् पूर्वमेव संज्ञिनः पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः स-

त्कस्य, मनोयोगस्येति गम्यते। अधस्तात् असङ्ख्येयगुणपरिहीन समये समये निरुन्धानो सङ्ख्येयैः समयैः, साकल्येनेति गम्यते। प्रथम मनोयोग निरुणद्धि, (तत्तोऽनतर च ण) इत्यादि। तस्मान्मनोयोगनिरुन्धानादनन्तर, चशब्दो वाक्ये, णमिति वाक्यालङ्कारे, द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः सत्कस्य, वाग्योगस्येति गम्यते। अधस्नात् वाग्योग संख्येयगुणपरिहीन समये समये निरुन्धानोऽसङ्ख्येयैः समयै, साकल्येनेति गम्यते। द्वितीय वाग्योग निरुणद्धि। आह च भाष्यकार —

" पज्जत्तमित्तबिंदिय-जहन्नवइजोगपज्जवा सेओ।
तदसखगुणविहीणे, समए समए निरुभतो।
सव्ववइजोगरोह, सखाईएहिँ कुणइ समएहिं " ॥

तत्तो अणंतरं सुहुमपणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हेट्ठा असखेज्जगुणपरिहीणं तच्च कायजोग निरुंभइ, से णं एएणं उवाएणं पढमं मणजोग निरुभइ, निरुंभइत्ता वइजोगं निरुभइ, निरुभइत्ता कायजोगं निरुभइ, निरुंभइत्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोह करेत्ता अजोगत्त पाउणइ, अजोगत्तं पाउणित्ता ईसिं हस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च ण कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं असखेज्जे कम्मखंधे खवयति, खवइत्ता वेदणिज्जाउयनामगोए, इच्चेतं चत्तारि कम्मं से जुगवं खवेइ, खवेइत्ता उरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहन्नाहिं विप्पजहयइ, विप्पजहयइत्ता उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगती एगसमएणं अविग्गहेणं उड्ढ गता सागारोवउत्ते सिज्झइ, वुज्झइ।

"ततोऽणतर च ण" इत्यादि। ततो वाग्योगादनन्तरं 'च ण' प्राग्वत्। सूक्ष्मस्य पनकजीवस्यापर्याप्तकस्य, प्रथमसमयोत्पन्नस्येति भावार्थ। जघन्ययोगिन सर्वाल्पवीर्यस्य पनकजीवस्य य काययोगस्तस्याधस्तात् असङ्ख्येयगुणहीन काययोग समये समये निरुन्धन् असङ्ख्येयैः समयैः; समस्तमपीति गम्यते। तृतीय काययोग निरुणद्धि, त च काययोग निरुन्धान. सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति ध्यानमधिरोहति, तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तथा चाह भाष्यकृत्-

" तत्तो य सुहुमपणग-स्स पढमसमयोववन्नस्स।
जो किर जहन्नजोगो, तदसखेज्जगुणहीणमेकेक्के ॥ १ ॥
समए निरुभमाणो, देहतिभाग च मुचतो।
रुभइ स कायजोग, सखाईएहिँ च्चवणसमएहिं " ॥ २ ॥

काययोगनिरोधकालान्तरचरमे अन्तर्मुहूर्तवेदनीयादित्रयस्य प्रत्येक स्थितिसर्वापवर्तनयाऽपवर्त्यायोग्यवस्थासमान क्रियन्ते गुणश्रेणिक्रमविरचितप्रदेशा। तद्यथा-प्रथमस्थितौ स्तोका प्रदेशा, द्वितीयस्या स्थितौ ततोऽसङ्ख्येयगुणा, तृतीयस्यां ततोऽप्यसङ्ख्येयगुणा। एव तावद्वाच्य यावच्चरमा स्थिति। एता प्रथमसमयगृहीतदलिकनिवर्तिता गुणश्रेणय., एव प्रतिसमयगृहीतदलिकनिवर्तिता. कर्मत्रयस्य प्रत्येकमसङ्ख्येया द्रष्टव्या, अन्तर्मुहूर्तसमयानामसङ्ख्यातत्वात्। आयुष स्थितिर्यथा बद्धैवावतिष्ठते। सा च गुणश्रेणिक्रमदलिकरचना स्थापना चेयम्। अयञ्च सर्वोऽपि मनोयोगादिनिरोधो मन्दमतिसुखावबोधार्थमाचार्येण स्थूरदृष्ट्या प्रतिपादित, यदि पुन. सूक्ष्मदृष्ट्या तत्स्वरूपजिज्ञासा भवति तदा पञ्चसङ्ग्रहटीका निभालनीया। तस्यामतिनिपुण प्रपञ्चेन तस्याभिधानादिह तच्च ग्रन्थगौरवभयान्नास्माभिरभिहित.। (से णमित्यादि) सोऽधिकृतकेवली। णमिति पूर्ववत्। एतेनानन्तरोदितेनोपायप्रकारेण। शेष सुगम यावदयोगिताम्। (पाउणइ त्ति) प्राप्नोति, अयोगिताप्राप्त्यभिमुखो भवतीति भावार्थ.। अयोगिता च प्राप्य अयोगिताप्राप्त्यभिमुखो भूत्वा, (ईसि त्ति) स्तोक कालं शैलेशीं प्रतिपद्यत इति सवन्ध। कियता कालेन विशिष्टामित्यत आह-ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणाद्धया। किमुक्त भवति?-नातिद्रुत नातिविलम्बित, किन्तु मध्येन प्रकारेण, यावता कालेन ङञणनम इत्येव रूपाणि, पञ्चाक्षराणि उच्चार्यन्ते, तावता कालेन विशिष्टामिति। एतावान् काल. किं समयप्रमाण इति निरूपणार्थमाह-असङ्ख्येयसामायिकामसङ्ख्येयसमयप्रमाणां, तच्च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण, तत एवाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेति व्याख्यानायाऽऽह-आन्तर्मौहूर्त्तिकीं शैलेशीमिति। शील चारित्र, तच्चेह निश्चयत. सर्वसवररूपं, तद् वाह्य, तस्यैव सर्वोत्तमत्वात्, तस्येश शैलेश., तस्य या अवस्था सा शैलेशी तां प्रतिपद्यते, तदानीं च ध्यान ध्यायति व्यवच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति। उक्तञ्च-

" सील य समाहाण, निच्छयओ सव्वसवरो सो य।
तस्सेसो सेलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥ १ ॥
हस्सक्खराइमज्झ, ण जेण कालेण पच भन्नति।
अत्थइ सेलेसिगतो, तत्तियमित्तत्तओ काल ॥२॥
तणुरोहारता उ-ज्झायइ सुहुमकिरियानियट्ट।
सो विच्छिन्नकिरियम-प्पडिवाई सेलेसिकालम्मि " ॥३॥

न केवल शैलेशीं प्रतिपद्यते पूर्वरचितगुणश्रेणीक च वेदनीयादिक कर्म, अनुभवितुमिति शेष.। प्रतिपद्यते च तत्पूर्वं काययोगनिरोधगते चरमे अन्तर्मुहूर्ते रचिता गुणश्रेणय. प्राग् निर्दिष्टस्वरूपा यस्य तत्तथा। तत. किं करोतीत्याह-(तो सेलेसिअद्धाए इत्यादि) तस्यां शैलेश्यद्धायां वर्त्तमानोऽसङ्ख्येयाभिर्गुणश्रेणीभि. पूर्वनिर्वर्त्तिताभि. प्रापिता ये कर्मत्रयस्य पृथक् प्रतिसमयमसङ्ख्येया. कर्मस्कन्धास्तान् क्षपयन् विपाकतः प्रदेशतो वा वेदनेन निर्जरयन् चरमे समये वेदनीयमायुर्नामगोत्रमित्येतान् चतुर कर्मांशान् कर्मभेदान् युगपत् क्षपयति, युगपच्च क्षपयित्वा ततोऽनन्तरसमये औदारिकतैजसकार्मणरूपाणि त्रीणि शरीराणि (सव्वाहिं विप्पजहन्नाहिं इति) सर्वैर्विप्रहीनै, सूत्रे स्त्रीत्व प्राकृतत्वात्। विप्रजहातीति। किमुक्त भवति?-यथा प्राक् देशतस्त्यक्तवान् तथा न त्यजति किन्तु सर्वै प्रकारै परित्यजतीति। उक्तञ्च-"ओरालियाई च याई, सव्वाइ विप्पजहन्नाईहिं। ज भणिय निस्सेस, नहा न जहा देसच्चाएण सो पुव्व " ॥ परित्यज्य च तस्मिन्नेव समये कोशबन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादेरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं--लोकान्ते गत्वेति सम्बन्ध। उक्तञ्च-" एरण्डइ फल जह, बधच्छेदेरिय दुह जाति। तह कम्मबधणच्छे-दणेरितो जाति सिद्धो वि"॥१॥ कथ गच्छत्यत आह-अविग्रहेण विग्रहस्याभावोऽविग्रह, तेन एकेन समयेन स्पृशन्, समयान्तरप्रदेशान्तरास्पर्शनेनेत्यर्थ। ऋजुश्रेणिञ्च प्रतिपन्न.। एतदुक्त भवति-यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाहस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमृजुश्रेण्यावगाहमा-

नो विवक्षितान्च समयादन्यत् समयान्तरमस्पृशन् गत्वा। तथा चोक्तमावश्यकचूर्णौ-"जावतिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उज्जुग गच्छइ न च किंचिइयं च समय न फुसइ" इति। भाष्यकारोऽप्याह-" रिउसेढिं पडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्झइ, इति इह सागरोवउत्तो सो ॥१॥" इत्थमूर्द्ध गत्वा किमित्याह-साकारोपयोगोपयुक्तः सन् सिद्ध्यति-निष्ठितार्थो भवति । सर्वा हि लब्धयः साकारोपयोगयुक्तस्य उपजायन्ते, नानाकारोपयुक्तस्य सिद्धिरप्येष्या, सर्वलब्ध्युत्तमा लब्धिरिति साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायते। आह च-" सव्वाओ लद्धीओ, ज सागारोवओगलाभाओ। तेणेह सिद्धिलद्धी, उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स" ॥१॥ तदनन्तरं तु क्रमेणोपयोगप्रवृत्तिः, तदेव केवली यथा सिद्धो भवति तथा प्रतिपादितम् । प्रज्ञा० ३६ पद । स्था० । कर्म० ।

जह अल्ला साडीया, आसुं सुक्कइ विरल्लिया संती ।
तह कम्मलहुयसमए, वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । आर्द्रा शाटिका,जलेनेति गम्यते। (आसु त्ति) शीघ्रं,शुष्यति शोषमुपयाति विरल्लिता विस्तारिता सती। तथा तेऽपि भगवन्तो जिना ,प्रयत्नविशेषात् कर्मोदयमधिकृत्याऽऽशु, शुष्यन्तीति शेषः। यतश्चैवमतः कर्मलघुतासमये कर्मणः आयुष्कस्य लघुना, लघोर्भावो लघुता, स्तोकता इत्यर्थ । तस्याः समयः कालः कर्मलघुतासमयः सर्वान्तर्मुहूर्त्तप्रमाण ,तस्मिन् । अथ वा कर्मभिर्लघुता, स्तोकतेत्यर्थः। तस्याः समयः कालः कर्मलघुतासमयः, सर्वान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः,तस्मिन् । अथवा कर्मभिर्लघुता कर्मलघुता,जीवस्येति सामर्थ्यादवसीयते। सा च समुद्घातानन्तरभाविन्येव भूतोपचार कृत्वा अनावृतैव गृह्यते । तस्याः समयः कालः कर्मलघुतासमयस्तस्मिन् जिना व्रजन्ति, समुद्घात प्राक् प्रतिपादितस्वरूपमिति ॥ आ० म० द्वि० । केवली केवलिसमुद्घात यदा करोति तदाऽऽत्मप्रदेशैस्त्रसनाडीमेव पूरयति, किं वा सपूर्ण लोकमिति प्रश्ने-उत्तरम्-अत्र केवली केवलिसमुद्घात यदा करोति तदा सपूर्ण लोक पूरयतीति । १७ प्र० ही० ४ प्रका० ।

केवल्ल-कैवल्य-न० । केवलस्य भाव ष्यञ् । आत्यन्तिकदुःखविगमरूपे मुक्तिभेदे, वाच० ।

स्मृता सिद्धिर्विशोकेयं, तद्वैराग्याच्च योगिनः ।
दोषबीजक्षये नूनं, कैवल्यमुपदर्शितम् ॥ १८ ॥

(स्मृतेति) इय विशोका सिद्धिः स्मृता । तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्याच्च योगिनो योगभाज । दोषाणां रागादीनां बीजस्याविद्यादेः, क्षये निर्मूलने, नून निश्चितम्, कैवल्यं पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तेः स्वरूपप्रतिष्ठितत्वमुपदर्शितम् । यत -" तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यमिति ।" द्वा० २६ द्वा० । कैवल्य स्वरूपेणास्त्यस्य अर्श० अच् । कैवल्यस्वरूपे,त्रि०। केवल एव स्वार्थे ष्यञ् । अद्वितीये वस्तुनि, न० । वाच० ।

केवल्लपाय-कैवल्यपाद-पु० । योगानुशासनचतुर्थपादे, द्वा० ११ द्वा० ।

केस-केश-पुं० । चिहुरकचपर्याये, क्लिश्यते क्लिश्नाति वा क्लिश अच् ललोपश्च । कस्य जलस्य ब्रह्मणो वा ईशो वा। वरुणे, ह्रीबेर, दैत्यभेदे, केशिनि, विष्णौ, काशते काश अच् पृषो० । सूर्याग्निप्रभृतिरश्मौ, के शिरसि शेते शीङ् अलुक् स० । चिकुरे, वाच० । शिरोजे, तं० । स्था० । शिरसिजे, रा० । नि० चू० । स० । आ० चू० । शिरःकूर्चसम्भवे, प्रव० ४० द्वार । को० । बालवर्षे, आ० चू० ४ अ० ।

केसंत-केशान्त-पुं० । केशानन्तयति छेदनात् हन्ति,अन्ति अण् । द्विजातीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्ये केशच्छेदनाख्ये गोदानाख्ये कर्मणि, वाच० । बालसमीपे, औ० । केशभूमिपर्यन्ते च । जी० ३ प्रति० । मध्यकेशे, नं० ।

केसंतकेसभूमि-केशान्तकेशभूमि-स्त्री० । बालसमीपे केशोत्पत्तिस्थानभूतायां मस्तकत्वचि, औ० । तं० । जी० । केशान्तभूमौ, केशभूमौ च । औ० । "दालिमपुप्फकासतवणिज्जसरिसणिम्मलसुणिद्धकेसंतकेसभूमी " औ० ।

केसपास-केशपाश-पु० । केशानां समूहः वा० पाशादेशः । केश पाश इव वा । केशसमूहे, " करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः " "तां कातरं प्रश्नवन्तीं केशपाशे परामृशत्", वाच० । आ० क० ।

केसवल्लरी-केशवल्लरी-स्त्री० । वल्लर्योपमितेषु केशेषु, " क्षालयन्त्यास्तदा तस्याः स्फुटिता केशवल्लरी ॥ " आ० क० ।

केसवाणिज्ज-केशवाणिज्य-न० केशशब्दः केशवदुपलक्षकस्ततो दासादिनृणां गवाश्वादितिरश्चां केशवताम् (ध०२अधि०) वाणिज्यम् । केशवज्जीवानां गोमहिषीस्त्रीप्रभृतिकाना विक्रये, भ० ८ श० ५ उ० । केशवाणिज्य " दासी उ गहाय अन्नत्थ विक्किणइ " आव० ६ अ० । आ० । आ० चू० । यत्र दासीदासहस्त्यश्वगवोष्ट्रादिजीवान् गृहीत्वा तत्रान्यत्र वा विक्रीणीते जीविकानिमित्त तत्केशवाणिज्यम् । प्रव० ६ द्वार । एतच्च कर्मत उपभोगपरिभोगस्य भेदः पापकर्मादानम् । उपा० १ अ० ।

केसभूमि-केशभूमि-स्त्री० । केशोत्पत्तिस्थानभूतायां मस्तकत्वचि, औ० ।

केसर-केश (स) र-पुं० । न० । के जले शिरसि वा शीर्य्यति शॄ-अच् । सरति सृ-अच् अलुक् स० । केश केशाकारोऽस्त्यस्य वा । किञ्जल्के, पद्मादिपुष्पमध्यस्थे केशाकारपदार्थभेदे, वाच० । अ० । ' कर्णिकापरितोऽवयवे, भ० ११ श० १ उ० । स्कन्धसन्धिरोमणि, कल्प० २ क्षण । तुरगस्कन्धस्थलोमपुञ्जरूपजटायाम्, हेमकेशरप्रधाने फुल्ले, जी० ३ प्रति० । वकुले, आ० म० प्र० । मिश्रफले, प्रज्ञा० १ पद । हिङ्गुवृक्षे, पुन्नागवृक्षे, कासीसे, बीजपूरके, पु० । स्वर्णे, न० । " अर्थीश्वाश्वैः ४-७-७-भभनयरगुरुगैर्वृत्त मत केसरम " वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, न० । वाच० । स्वनामख्याते काम्पिल्योद्याने, उत्त० १८ अ० । " अह केसरम्मि उज्जाणे नामेण गद्दभालिअणगारे । " उत्त० १७ अ० । ती० ।

केसरि (ण्) केसरिन्-पु० । स्त्री० । केश (स) रा सन्त्यस्य इनि । सिंहे, अश्वे च । वाच० । सूत्र० । को० । स्त्रियां ङीप् । पुन्नागवृक्षे, नागकेशरवृक्षे, पु० । बीजपूरकवृक्षे, पु० । हनुमत्पितरि, वानरभेदे, पु० । वाच० । चतुर्थवासुदेवस्य सुप्रभस्य प्रतिशत्रौ, स० । ति० ।

केसरिदह-केशरिहृद-पु० । नीलवद्वर्षधरपर्वतस्थे ह्रदभेदे, तत्र कीर्तिर्देवता । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

केसरिया-केशरिका-स्त्री० । प्रमार्जनार्थे चीवरखण्डे, भ० २ श० ५ उ० । औ० । ज्ञा० ।

केसलोय-केशलोच-पुं० । ६ त० । केशानामुत्पाटने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स च नियमेन धीरमहापरुषेरसीयंहलोचर्यं । व्या० ६ ठा० । " सतता केसलोयण, बम्भचेरपराइया । तत्थ मन्दा विसीयंति, मच्छा विद्धा व केयणे " ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

केसव-केशव-पुं० । केशाः प्रशस्ताः सन्त्यस्य " केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । " ॥ ५।२।१०९ ॥ पा० व । प्रशस्तकेशयुक्ते, केशं केशिनं वा निहन्ति वा क । विष्णौ, " यस्मात्त्वया हतः केशी, तस्मान्मच्छासनं शृणु । केशवो नाम नाम्ना त्वं, ख्यातो लोके भविष्यसि " ॥ वाच० । नारायणनामनि वासुदेवे, प्रव० ३४ द्वार । नवस्वपि वासुदेवेषु, स्था० । आ० म० । आव० । ति० । ('वासुदेव' शब्देऽस्य व्याख्या) यश्च केशवस्य बलं तद् द्विगुणं भवति चक्रवर्तिनः । विशे० । प्राचीने पश्चमे नये आद्यस्य नद्वंशस्य तीर्थे, तद्यथा भगवन्तं प्रति केवला-" पढमे य आवस्सोपियते पभकराए नयरी य, तत्थ सामी पिवामहो सुलेठनम पुत्तो केसवो नाम जातो, अहं पुण सेठिसुतो अनयघोसो, मम पि सो सिणेहाधिकता " आ० चू० १ अ० । अन्य तीर्थगणानपरिषदे केवपुत्रसुन्दराऽहं ओगंधोपुत्रः केशवनामा सिद्ध । कल्प० ७ क्षण । जलमध्ये जाते च । वाच० ।

केसवुट्ठि-केशवृष्टि-स्त्री० । केशानां वर्षणे, यद्गगनभागात्केशाः पतन्ति । प्रव० १३४ द्वार । स्था० । केशवृष्टिचिन्ताकारके शास्त्रे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

केसहत्थ-केशहस्त-पुं० । केशो हस्त इव । केशसमूहे, वाच० । केशपाशे, आ० १ श्रु० १ अ० । केशपाशे, कल्प० २ क्षण ।

केसालंकार-केशालङ्कार-पुं० । केशा एवालङ्कारः केशालङ्कारः । अलङ्कृतेषु केशेषु, केशानामलङ्कारः पुष्पादिः, आ० १ श्रु० ३२ ७० । केशोपलक्षितोऽलङ्कारः । कटककेयूरहारकङ्कणवस्त्राद्यलङ्कारे, आ० म० द्वि० ।

केसि (ण्)-केशिन्-पुं० । केशा:सन्त्यस्य कुसुमपुष्पसम्पर्काज्जाते निग्रन्थीपुत्रे, पं० व० १ द्वार । (स च यथा जातस्तथा 'अजगियकणिया' शब्दे, प्र० भागे २०१ पृष्ठे दर्शितः) स च कुमार एव प्रव्रजितः पार्श्वापत्यीयश्रमणोऽनगारगुणसम्पन्नः सूर्याभदेवजीव पूर्वभवे प्रदेशिनामानं राजानं प्राबोधयद्विति । रा० । नि० । ध० र० । (तद्वर्णकविशिष्टः 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते) ('गोयमकेसिज्ज' शब्दे गौतमेन सहास्य संवादो वक्ष्यते) उदायननृपभागिनेये, आव० ४ अ० । स च उदायनेन स्वपुत्रमभिजित वञ्चयित्वा राज्ये स्थापितः । (रोगग्रस्त च उदायन विषप्रदानेन मारितवानिति 'उदायन' शब्दे द्वि० भा० ७०६ पृष्ठे वर्णितम्) स्था० । ध० । आ० चू० । न० । अश्वरूपधारके कृष्णेन निहते दानवभेदे, वाच० । केशवे वासुदेवे, प्रव० ३४ द्वार ।

कीदृश-त्रि० । किम्प्रकारे, " केसी गायइ मधुर, केसी गायइ खर च रुक्ख च । " स्था० ७ ठा० ।

केसिआ-केशिका-स्त्री० । केशीव कायति, कै-क । शतावरी-वृक्षे, वाच० । केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका । केशवत्यां स्त्रियाम्, " जइ केसिआणं मए भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीए केसाण वि लुञ्चिस्स तत्थ मए चरिज्जासि । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

केहि-अव्य० । किमर्थे, " तादर्थ्ये केहि-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणा । " । ८ । ४ । ४२५ । इति तादर्थ्ये केहिं इति निपातः । प्रा० ४ पाद ।

कैअव-कैतव-न० । मले, कपटे, यद्यपि प्राकृते ऐकारो नास्ति तथापि क्वचिद् भवत्येव 'कैअव' । प्रा० १ पाद ।

कोआस-विकस-धा० । भ्वादि० अक० । विशेषेण दीप्तौ, " विकसेः कोआस-वोसट्टौ " ८ । ४ । १९५ । इति विपूर्वस्य कसेः कोआसादेशः । प्रा० ४ पाद ।

कोआसिय-विकसित-त्रि० । विशेषेण दीप्ते, " कोआसिअ पमासपसन्ना । (कोआसिअ त्ति) " विकसे कोआस-वोसट्टौ " ॥ ८ । ४ । १९५ । इति विपूर्वस्य कसेः कोआसादेशः । कोआसितं विकासितं भवति च कचिदेशे पक्षे पद्मवती आक्षिणी नेत्रे यस्यां से तथा । ज० २ वक्ष० ।

कोइल-कोकिल-पुं० । स्त्री० । कुक् इलच् । परपुष्टे, स्था० १० ठा० । परभृते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । पिके, रा० । स्वनामख्याते पक्षिणि, स्त्रियां जातित्वेऽपि अजा० टाप् । वाच० । औ० । " अइ कुसुमसमये काये, कोइला पञ्चम सरं " अनु० । स्था ० । " चक्षिग्धुल्ततालपिशाचो, लीलयैव हन स्वयम् । कोकिलौ श्वेतचिर्या च, सेवकाविव पार्श्वगौ " ॥ आ० क० । अङ्गारे, पुं० । मञ्जायां कन् " दयकगभिर्नजौ भजजला गुरु नर्दटकम । मुनिगुहकार्णवैः कृतयति वद कोकिलकम् " इति वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, न० । वाच० ।

कोइलच्छय-कोकिलच्छद-पुं० । तैलकण्टके, " कोइलच्छ कुसुमे इ वा " कोकिलच्छदस्तैलकण्टक । तथा च मूलटीकाकृत- " वनस्पतिविशेष जो पन्थ कोइलच्छदो, सो तिलकटओ भन्नइ त्ति । " प्रज्ञा० १७ पद ।

कोउय-कौतुक-न० । कुतुकस्य भावः । युवादि० अण् । प्रज्ञा० स्वार्थे अण् वा । कुतूहले, तच्च अद्भुतजिज्ञासाऽतिशय । वाच० । उत्सवविशेषे, रा० । सुरतविषये औत्सुक्ये, प० व० १ द्वार । चन्दननयनादिभये त०-आश्चर्ये, तच्च यथा-मायाकारको मुखे गोलकान् प्रक्षिप्य कर्णेन निष्काशयति नाशिकया वा, तथा मुखादग्नि निष्काशयति । व्य० १ उ० । मषीपत्रा-दिके, विपा० १ श्रु० १ उ० । मषीतिलकादिके, रा० । ज्ञा० । औ० । कल्प० । नि० । मषीपुण्ड्रकादिके, विपा० १ श्रु० ३ अ० । " कयकोउयमङ्गलपायच्छित्ता " औ० । अवतारणकादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । रक्षादिके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । औ० । आ० म० । समवसरणादिके, वृ० १ उ० । सौभाग्याद्यर्थं, प्रज्ञा० २० पद । बालादीनां रक्षार्थं स्नपनकरभ्रमणथुक्थुक्करणहोमधूपादिके, ध० ३ अधि० । परेषां सौभाग्यादिनिमित्त यत् स्नपनादि क्रियते तत् कौतुकम् । उक्तं च-" सोहग्गादिनिमित्तं, परेसिं ण्हवणादि कोउगं भणियम् " एवभूतानि कौतुकानि । व्य० १ उ० । आव० । प० व० ।

कौतुकद्वाराऽऽवयवार्थमाह-

विम्हवणहोमसिरपरि-रयाइ खारडहणाणि धूपे अ ।
असरिसवेसग्गहणा, अवयासणउच्छुभणबंधो ॥ ४३ ॥

विस्मापन बालस्नापन, होममग्निहवन, शिरःपरिरय करभ्रमणाभिमन्त्रणम् । आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापकः । बालस्नपनादी-

नामनेकप्रकारत्वात्। क्षारदहनानि तथाविधव्याधिशमनाय धूपश्चायोगगर्भ , असदृशवेशग्रहणानि नार्यादेरनार्यादिनेपथ्यकरणानि,अवत्रासन वृक्षादीनां प्रभावेन चालनम्, एवमवस्तम्भनम्, अनिष्टोपशान्तये तनुकनिष्ठीवना थुक्कथुक्करणम् । एव बन्धमन्त्रादिनाप्रतिबन्धन कौतुकमिति गाथार्थः । पं० व०४द्वार।बृ०। कौतुकं कुर्वन् आभियोगिकीं भावना करोति । पं० व० । नि० चू०। अभिलापे, नर्मणि, हर्षे, परम्परायातमङ्गले, गीतादिभोगे, भोगकाङ्क्षे च । वाच० ।

कोउयकम्म–कौतुककर्मन्–न० । सौभाग्यनिमित्तं स्नपनादिके, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

कोउयकरण–कौतुककरण–न० । सौभाग्यादिनिमित्तं परस्नपनादिकरणे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कोउयदंसण–कौतुकदर्शन–न० । उत्सवप्रेक्षणे, यथा वीरजिनेन्द्रनिष्क्रमणे–

" तिन्नि वि थीओं वल्लहाँ, कलिकज्जलसिंदूर ।
एए पुण अती हि वल्लहाँ, दूधजमाई तूर " ॥ चेष्टाश्चेमाः–
"स्वगल्लयोः काचन कज्जलाङ्कं, कस्तूरिकाभिर्नयनाञ्जन च ।
गले चलन्नूपुरमङ्घ्रिपीठे, ग्रैवेयक चारु चकार बाला ॥ १ ॥
कटीतटे काऽपि बबन्ध हार, काचित् क्वणत्किङ्किणिकां च कण्ठे।
गोशीर्षपङ्केन ररञ्ज पादा–वलक्तपङ्केन वपुर्लिलेप ॥ २ ॥
अर्द्धस्नाता काचन बाला, विगलत्सलिला विश्लथबाला ।
तत्र प्रथममुपेता त्रास, व्यधित न केषां ज्ञाता हासम् ॥३॥
काऽपि परिच्युतविश्लथवसना, मूढा करधृतकेवलरसना ।
चित्रं तत्र गता न ललज्जे, सर्वजने जिनवीक्षणसज्जे ॥ ४ ॥
सत्यज्य काचित्तरणी रुदन्त, स्वपोतमोतुं च करे विधृत्य ।
निवेश्य कट्यां त्वरया व्रजन्ती,हासावकाशं न चकार केषाम् ॥५॥
अहो महोरूपमहो महौजः, सौभाग्यमेतत्कटरे शरीरे ।
गृह्णामि दुःखानि करस्य धातु–र्यच्छिल्पमीदृग् वदति स्म काचित्॥
काश्चिन्महेला विकसत्कपोलाः, श्रीवीरवक्त्रेक्षणगाढलोलाः ।
विस्रस्य दूरं पतितानि तानि, नाज्ञासिषुः काञ्चनभूषणानि ॥७॥
हस्ताम्बुजाभ्यां शुचिमौक्तिकौघै–रवाकिरन्काश्चन चञ्चलाक्ष्यः।
काश्चिज्जगुर्मञ्जुलमङ्गलानि,प्रमोदपूर्णा ननृतुश्च काश्चित्" ॥८॥
कल्प० ५ क्षण ॥

कोउ (ऊ) हल (ल्ल)–कुतूहल–न० । "कुतूहले वा ह्रस्वश्च" । ८ । १ । ११७ । कुतूहलशब्दे उत ओद् वा भवति, तत्सन्नियोगे ह्रस्वश्च, 'कोऊहलं कुऊहल कोउहल्लम्,' प्रा० १ पाद । "सेवादौ वा " ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति लद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । औत्सुक्ये, " जायकोउहले " जातं कुतूहलं यस्य स तथा, जातौत्सुक्य इत्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चं०प्र०। "ते सव्वे परेण कोउहलेन पुच्छंति " आ० म० प्र० । ज्ञा० । औ० । नि० । कुतूहलाद् गीतनृत्तनाटकादिनिरीक्षणं कामशास्त्रप्रवृत्तिश्च द्यूतमद्यादिसेवन प्रमादाचरणम् । ध० २ अधि० । कौतुके, बृ० १ उ० । रा० ।

कुतूहलार्थं प्राणिविघातादिषु प्रायश्चित्तम्–

जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अण्णयरं तसपाणजायं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए बद्धेल्लय वा मुयइ, मुयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

तसपाणगतणगादी, कोतूहल्ल वडियाएँ जो उ बंधिज्जा ।
तणपासगमादीहिं, सो पावति आणमादीणि ॥ २ ॥
तएणगवानरवरहिण–चगोरहंससुगमाइणो पक्खी ।
गामारण्णिय चउप्पद, दिट्ठादिट्ठभूयउरपरिसप्पा ॥३॥

तसपाणगो वज्झमादि सेडुरं, आणादी चउलहुं च (तक्षगादा) तक्षगगहणातो इमे वि पक्खिणो गहीता। वरहिणो त्ति मोरो, रक्तपादो दीर्घग्रीवो जलचरो पक्खी चकोरो, अश्व वा किंचि किसोरादि गामेयग मृगादि वा, आरण्ण दिट्ठपुव्वं वा अदिट्ठपुव्व वा, णकुलादि वा भुयपरिसप्प, सप्पादि वा उरपरिसप्पं, पत्रमादि बंधन्ति मुयति वा । बंधमुयणे वा इमं कारणं–

दिस्सिहि ति चिरं बद्धो, णयणादि च उप्पडेंत दुप्पस्सा ।
गमणच्छुतादिकुतूहल, मुयति व जे तारिसे दोसा ॥४॥
वितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झा ।
जाणंते वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥ ५ ॥
वितियपदमणप्पज्झे, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंतो वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥ ६ ॥

उस्सग्गो अववादो जहा बारसमे उद्देसमे तहा भाणियव्वो ।

जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा भिंडमालियं वा मयणमालियं वा पिच्छमालियं वा दंतमालियं वा सिंगमालियं वा संखमालियं वा हड्डमालियं वा कट्ठमालियं वा पत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीजमालियं वा हरियमालियं वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा भिंडमालियं वा मयणमालियं वा पिच्छमालियं वा दंतमालियं वा सिंगमालियं वा संखमालियं वा कट्ठमालियं वा पत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीजमालियं वा हरियमालियं वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा० जाव हरियमालियं वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा० जाव हरियमालियं वा पिणद्धइ, पिणद्धंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयलोहाणी वा तंबलोहाणी वा सीसलोहाणी वा रुप्पलोहाणी वा सुवण्णलोहाणी वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयलोहाणी वा तंबलोहाणी वा सीसलोहाणी वा रुप्पलोहाणी वा सुवण्णलोहाणी वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयलोहाणी वा० जाव सुवण्णलोहाणी वा परिभुं–

जइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा, अद्धहाराणि वा, एकावली वा, मुत्तावली वा, कणगावली वा, रयणावली वा, कडगाणि वा, तुडियाणि वा, केऊराणि वा, कुंडलाणि वा, पट्टाणि वा, मउडाणि वा, पलंबसुत्ताणि वा, सोवण्णसुत्ताणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा० जाव सोवण्णसुत्ताणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा० जाव सोवण्णसुत्ताणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए आईणाणि वा आईणपावाराणि वा कंबलाणि वा कंबलपावाराणि वा सामाणि वा सामपावाराणि वा गोरमियाणि वा कालमियाणि वा पेट्टाणि वा पेट्टलेसाणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा परवंगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा खोमाणि वा तिरीडपट्टाणि वा पउण्णाणि वा आवरंताणि वा चीणाणि वा अंसुयाणि वा कणगकंताणि वा कणगखचियाणि वा कणगचित्ताणि वा कणगविचित्ताणि, आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए आईणाणि वा आईणपावाराणि वा० जाव आभरणाणि आभरणविचित्ताणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए आईणाणि वा आईणपावाराणि वा० जाव आभरणविचित्ताणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

एतेसि सुत्ताण आभरणादीण य अत्थो सत्तमुद्देसगे जहा भाणियव्वो, णवरं तत्थ माउग्गामस्स मेहुणवडियाए करेंति, इह पुण कोउहल्लवडियाए करेंति वि धरेंति वा कोउ धरेंति, कारणे पलिमंथने वा पिलिंधणं, एव सेसा वि अवयोगा भावेयव्या।

तणगादिमालियाओ, जत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते ।
ताओ कुतूहलेणं, धारिंते आणमादीणि ॥ ७ ॥

वितियपदमणप्पज्झे, बंधणे अविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणते वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥ ८ ॥

अयमादि आगरा खलु, जत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते ।
ताई कुतूहलेणं, माहेंती आणमादीणि ॥ ९ ॥

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

आमज्जणं सकृत्, पुनः पुनः प्रमार्जनम् । नि० चू० १७ उ० ।

कुतूहलेनाहारग्रहणं निषिद्धम्-

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाणि वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

'जे भिक्खू' पूर्ववत् । आगंतारो जत्थ आगारा आगंतु विहरंति तं आगंतागारं, गामपरिसट्ठाण त्ति वुत्तं भवति । आगंतुगाण वा कयं अगारं आगंतागारं, वहियावासो त्ति । आरामे अगारं आरामागारं गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं गिहपतिकुलं, अन्यगृहमित्यर्थः । गिहपज्जाय मोत्तुं पव्वज्जापरियाए ठिता, तेसिं आवसहो परियावसहो, एतेसु ठाणेसु ठितं अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणाइ ओभासति साइज्जति वा, तस्स मासलहुं । एस सुत्तत्थो । इमा सुत्तफासिया गाहा-

आगंतारादीसुं, असणादी जाचती तु जो भिक्खू ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ १ ॥

आगंतारादिसु गिहत्थमण्णतित्थियं वा जो भिक्खू असणाती ओभासति सो पावति आणाअणवत्थमिच्छत्तविराहणं च ॥

आगमेहि कतमा-गारं आगंतु जत्थ चिट्ठंति ।
आगारा परिगमणं, पज्जाओ चरगादी णेगविधो ॥ ३ ॥

आगमा रुक्खा, तेहिं कतं अगारं आगंतु जत्थ चिट्ठति अगारा तं आगंतागारं, परि समंता गमणं, गिहभावगतेत्यर्थः । पज्जायो पव्वज्जा, सो य चरगपरिव्वायसक्कआजीवागमादि णेगविधो ॥

भद्दतरा तु दोसा, हवेज्ज ओभासिते अठाणम्मि ।
अवियत्तोभावणता, पंतं चेद इमे होंति ॥ ४ ॥

अट्ठाणट्ठितोभासिते एते भद्ददोसा, पंतस्स अवियत्तं भवति, ओभावणता । अहो इमे भद्ददोसा—

जइ आगतो सि दीसइ, जह य विमग्गंति मं अठाणम्मि ।
दंतेंदिया तवस्सी, तो देमि णं भारितं कज्जं ॥ ५ ॥

जहा एय साहुस्सातरो दीसति, जह अयं अट्ठाणट्ठियं विमग्गति, दंतेंदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसिं लहुं से भारितं कज्जं, आपत्कल्पमित्यर्थः ।

सड्ढिगिहिं अण्णतित्थी, करिज्ज ओभासिते तु सो सड्ढो ।
उग्गमदोसेगतरं, खिप्पं से संजतट्ठाए ॥ ६ ॥

श्रद्धाऽस्यास्तीति श्राद्धी, सो य गिही अण्णतित्थिओ वा ओभासिए समाणे इति स गिही अण्णतित्थिओ वा खिप्पं तुरियं सएइ उग्गमदोसाण अणतरं करेज्जा संजयट्ठाए ।

एवं खलु जिणकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह चेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओभासितुं गच्छे ॥ ७ ॥

एव ता जिणकप्पे भणिय गच्छवासिणो वि णिक्कारणे । एव चेव कारणजाते पुण कप्पति ।

थेरकप्पियाण ओभासितुं किंचित्कारणं इमं—

गेलष्परायदुट्ठे, रोहगअद्धाण अंचिते ओमे ।
एतेहि कारणेहिं, असती लंभम्मि ओभासो ॥ ८ ॥

गिलाणट्ठा रायदुट्ठे वा रोहगे वा अतो अपच्चंता अंचिते वा अंचियण णाम दाअसधी तत्थ भवणाओ खधियाओ ण वा णिप्फष्णाणं णिप्फष्णे वा ण लब्भति,ओम दुर्भिक्षम् एव अचिए ओमे दीर्घं दुर्भिक्षमित्यर्थः ।एतेहिं कारणेहिं अलब्भते ओभासेज्जा ।

भिक्खं समतिक्कंतो, पुव्वं जतिऊण पणगपणगेहिं ।
तो मासियठाणेसुं, ओभासणमादिसूमसढो ॥ ९ ॥

इमा जयणा–पढम पणगदोसेण गेण्हति, पच्छा दस-पण्णरस-वीसभिण्णमासदोसेण य एव पणगभेदेहिं जाहे भिक्ख समतिक्कतो ताहे मासिअट्ठाणेसु ओभासणादिसु जतति असढो ।

तत्थ ओभासणे इमा जयणा—

तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेह ।
पुट्ठाऽपुट्ठा व ततो, करेंति ज सुत्तपडिकुट्ठं ॥ १० ॥

पढम घरे ओभासिज्जति अदिट्ठे, एव तओवारा घरे गवेसियव्वो, तत्थ भज्जादि णीया वत्तव्वा, तस्स आगयस्स कहेज्जाह-साधू तव सगास आगया, कज्जेण घरे अदिट्ठे पच्छा आगतारादिसु दिट्ठस्स घरगमणादि सव्व कहेउ तेण वंदिते अवंदिते वा तेणेव पुट्ठा अपुट्ठा वा ज सुत्ते पडिसिद्ध तं कुव्वति, ओभासति इत्यर्थः ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइ-कुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

एव अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा एवं अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा ।

पढमम्मी जो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो चेव ।
ततियचउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥ ११ ॥

पढमे सुत्ते जो गमो वितिए वि पुरिसपोहत्तियसुत्ते सो चेव गमो, ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो ॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउ वा गारत्थियाउ वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

" जे भिक्खू आगंतारेसु वा इत्यादि " कोउहल्लप्रतिज्ञया कौतुकेनेत्यर्थः ।

आगंतागारेसुं, आरामागारे तथेह वसहे वा ।
पुव्वट्ठिताण पच्छा,एज्ज गिही अण्णतित्थी वा ॥ १२ ॥

तमागत जे असणादीतोभासति तस्स मासलहु । धम्म सावगधम्म वा पेच्छामो एत्तो–

आहाभावेणं को-ऊहल्लं केइ वंदणणिमित्तं ।
पुच्छिस्सामो केई, धम्मं दुविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥
एगो एगतरेण, कारणजाएण आगंतं संतं ।
जो भिक्खू ओभासति, असणादी तस्सिमो दोसो॥१४॥

तस्सिमे भद्दपंतदोसा–

आतपरोभावणता, अदिण्णदिण्णे व तस्स अवियत्तं ।
पुरिसोभावणदोसा, सविसेसतरा य इत्थी य ॥ १५ ॥

अलद्धे अप्पणो ओभावणा लुद्धा न लभति तिण्णि अदिण्णे परस्स ओभावणा किवणो त्ति अदिण्णे वा अवियत्त भवति, महायणमज्झे वा पणइ तो देमि त्ति पच्छा अवियत्त भवति. दाओ पुरिसे ओभावणदोसा एव केवला इत्थिआसु ओभावणदोसा सकादोसा य आयपरसमुत्था य दोसा ।

भद्दो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छण्णअभिहडादीणि ।
पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तधा दुविधं ॥ १६ ॥

भद्दओ उग्गमेगतरदोस कुज्जा, पच्छण्णाभिहड पागडाभिहड वा आणेज्ज एतो साहुसु पेलवगहण करेज्ज । अहो इमे अदिण्णदाणा जो आगच्छति त ओभासति, साहु सावगधम्म वा पडिवज्जामि त्ति ओभासिउ उद्दुरुढो पडिणियत्तो जाहे सावगो होहामि ताहे ण सुरहिं ति, जइ पव्वज्ज घेच्छामो त्ति एगो विपरिणमति, तो मूल, दोसु णवम, तिसु चरिमं जं च ते वि परिणया अस्सजम काहिंति तमावज्जति, अध वा णिण्हएसु वच्चति, जम्हा एते दोसा तम्हा ण ओभासियव्वो आगओ, एव वि पच्छित्त परिहरिय,आणा अणुपालिया, अणवत्था मिच्छत्त परिहरिय, दुविहा विराहणा परिहरिय ता कारणे पुण ओभासति । इमे य कारणा–

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जतणा ओभासितुं कप्पे ॥ १७ ॥
तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स तु कहेह ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेंति संसुत्तपडिकुट्ठं ॥ १८ ॥
एगत्ते जो तु गमो, णियमा पोहत्तियम्मि सो चेव ।
एगत्तातो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तम्मि ॥ १९ ॥

क्खाण इत्थ न कायव्व, इत्थ बलिमरुवाइणा नत्थि श्रोगासो। तओ सूरीहिं भणिय-थोवमेव अज्ज वक्खाणिस्सामो, मा चाउम्मासीवक्खाणविच्छेश्रो भविस्सइ त्ति, त चेव न पडिवन्न गुट्ठिएहिं । तओ अमरिसविलक्खमाणसा पडिश्रागया उवस्सयमायरिया, तओ दूमिअचित्ते गुरुणो नाऊण सोवन्निअमोक्खदेवनायगनामगेहिं सड्ढेहिं मा अन्नया वि पराहवो एवविहो अवमाणो होउ त्ति घयवसहीसमीवे चेइअकरावणत्थ भूमी मग्गिया, न य कच्छरिद्धा, तओ कोकओ नाम सिद्धि भूमि मग्गआ, वारिओ अ सो घयवसहीगुट्ठिएहिं निउणदम्मदाणच्चणेण। तओ ससघा आगया सूरिणो कोकयस्स घर, तेण वि पडिवन्न काऊण भणिअ-दिन्ना मए भूमी जहोचिअमुल्लेण. पर मज्झ नामेण चेइअ कारेअव्व। तओ सूरीहिं मावन्नेहि अ 'तह' त्ति पडिवन्न तत्थ य घयवसहीआसन्न कारिअ चेइअ,'कोकावसहि' त्ति ठाविओ तत्थ सिरिपासनाहो पइट्ठिए तिकाल. कालक्कमेण सिरिभीमदेवरज्जे पट्टण भजनेण मालवरण्णा सा पासनाहपडिमा वि भग्गा, तओ सोवन्निअमोक्खदेवनायगमनाणुप्पन्नेहिं रामदेवआसाधरसड्ढेहिं उद्धारो करेउमाढत्तो, आएसणाश्रो फलहीनिग आणीय, निययन निद्दोस, तओ विघातिगे वि घडिए न परितोसो सजाओ गुरूण सावयाण च, तओ रामदेवेन अभिग्गहो गहिओ-जहा ह अकारावित्र पाससामिबिंब न भुजामि त्ति, गुरुणो वि वासे कुणति सह, तओ अट्ठमोववासे रामदेवस्स देवादेव सो जाओ, जहा जत्थ गोट्ठिलआ सपुप्फपक्खया दीसइ तस्स हिट्ठा इत्थेव चेइअ परिसरेइ त्ति, एहि हत्थेहिं फलही चिट्ठइ त्ति खणिऊण लद्धा फलही,कारिअ निरुवमरूव पासनाहबिंब, बारससयछासट्ठे (१२६६) विक्कमसवच्छरे देवाणदसूरीहिं पइट्ठिय,ठाविअ च चेइए, पसिद्ध च कोकापासनाह त्ति। रामदेवस्स पुत्ता निहुणजाजानामाणो निहुणणामस्स पुत्तो मल्लओ,तस्स पुत्ता लेएहणजइत्तसीहनामधेया, ते अ पूअति पइदिण पासनाह, अन्नया लेएहणस्स सिरिसखसरपासनाहेण सुमिणय दिएण । जहा-पहाए घडिआचउक्क जाव अह कोकापासनाहपडिमाए सन्निहिस्सामि, तम्मि घडिआचउक्के पअम्मि विवे पूइए किर अह पूइओ त्ति, तहेव लोगेहिं पूइज्जमाणो कोकापासनाहो पूरेइ सखेसरपासनाह व्व पच्चए, सखेसरपासनाहविसया पुज्जाजत्ताइअभिग्गहा तत्थेव पुज्जति जणाण, एव सन्निहिअपासिद्धे राजाओ भयव 'कोकयपासनाहो' तित्तीसपच्चमाणमुत्ती मलधारिगच्छपडिवद्धो ।" अणहिलपट्टणमण-सिरिकोकावसहिपासनाहस्स । इय एस कप्पलेसो, होउ जिणाण धुअकिलेसो" ॥ १ ॥ इति कोकापार्श्वनाथकल्प. समाप्त. ॥ ती० ४० कल्प ।

कोकासिय--विकसत-त्रि०। पद्मवाद्विकासिते, जी०३ प्रति०। त०। ज० । "कोकासियधवलपत्तच्छा" कोकासिते पद्मवद् विकसिते धवले कथञ्चिद्देशे पत्तले पक्ष्मवती अक्षिणी लोचने येषा ते कोकासितधवलपत्राक्षा.। जी० ३ प्रति० । त० ।

कोकुइय-कौकुचिक-त्रि० । भाण्डे, भाण्डप्राये वा । औ० । ग०।

कोक-वि-आ-हृ-धा० । आह्वाने, " व्याहगे कोकपोक्कौ " । ८ । ४ । ७६ । इति व्याहरते कोकादेश.। "कोक्काइ,वाहरइ" व्याहरति । प्रा० ४ पाद ।

कोकास-कोकास-पु० । स्वनामख्याते वर्द्धकिरत्ने, आ० म० द्वि० । (स च शिल्पसिद्ध इति ' सिप्पसिद्ध ' शब्दे वक्ष्यते) "कोक्कासो उज्जेणि गतो किह राय जाणावे" आ० चू० १ अ०।

कोगंमी-कोकाएमी-स्त्री० । पुरीभेदे, यत्र षष्ठवासुदेवो निदानमकार्षीत्। ती० १० कल्प ।

कोञ्चित-कोचित-पु० । शैक्षके, "समणो इड्ढिमावुड्ढो न कोञ्चितो वावि ।" व्य० ६ उ० ।

कोच्छ-कौत्स-पु० । स्त्री० । कुत्सस्य ऋषेरपत्यम् ऋष्यण्। कुत्सापत्ये, वाच० । कुत्साऽऽख्यपुरुषप्रभवे मनुष्यसन्ताने तद्रूपे मूलगोत्रभेदे, बहुत्वेणो लुक्, कुत्सा' शिवभूत्यादय । " कोच्छ सिवभूइ पि य" इति वचनात् । " जे कोत्था ते सत्तविहा पण्णत्ता । त जहा-ते कोत्था ते पोग्गलायणा ते पिंगायणा ते कोंडीणा ते मंडलिणो ते हारिया ते सोमया" । स्था०७ ठा०। कुक्षि-पुं० । उदरदेशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कोट्ट-कोट्ट-पु० । दुर्गे, उत्त० ३० अ० । अटव्यां चतुर्वर्णजनपदमिश्रे भिल्लदुर्गे, वृ० १ उ० । नि० चू० ।

कोट्टइत्ता-कुट्टयित्वा-अव्य० । खण्डशः कृत्वेत्यर्थे, "समीरिया कोट्टबलि करेंति " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

कोट्टकिरिया-कोट्टक्रिया-स्त्री० । महिषकुट्टनक्रियावत्यां रौद्ररूपायां चण्डिकायाम, भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० । अनु० । उपचारात्तदायतने च । ग० २ अधि० ।

कोट्टग-कुट्टक-पु० । काष्ठतक्षके वर्द्धकिनि, आचा० २ श्रु०१ अ०१ उ० । प्रचुरफलायामटव्याम्, गत्वा फलानि पर्याप्त गृहीत्वा यत्र गत्वा शोषयति पश्चाद् गन्त्री पोट्टलिकादिभिरानीय नगरे विक्रीणातीत्येष फलशोषणस्थाने, न० । बृ० १ उ० ।

कोट्टण-कुट्टन-न० । चूर्णने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कोट्टवीर-कोट्टवीर-पु० । शिवभूतेर्बोटिकाचार्यस्य शिष्ये, विशे०

कोट्टिज्जमाण-कुट्टयमान-त्रि० । उदूखलेन कुट्यमाने, आ० म० प्र० ।

कोट्टिम-कुट्टिम-न० । "ओत्संयोगे" । ८ । १ । ११६ । इति उकारस्यौकार । प्रा० १ पाद । उपरिबद्धभूमिकगृहे, व्य० ४ उ० ।

कोट्टिमतल-कुट्टिमतल-न० । मणिभूमिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । बद्धभूमितले, ज० १ वक्ष० ।

कोट्टिय-कुट्टयित्वा-अव्य० । खण्डश. कृत्वेत्यर्थे, जी० ३ प्रति०।

कोट्टिल-कौट्टिक-पु० । ह्रस्वमुद्गरविशेषे, विशे० ।

कोट्टुम्-रम्-धा० । क्रीडायाम, "रमे रन्तुडुखड्डुउब्भावकिलिकिञ्चिकोट्टुममोट्टायणीसरवेल्ला " ॥ ८ । ४ । १६८ ॥ इति रमे' कोट्टुमादेश । कोट्टुमइ, रमते । प्रा० ४ पाद ।

कोट्ठ-कोष्ठ--पु० । कुष थन्। गृहमध्ये,वाच०। धान्यभाजने, स्था० ३ ठा० ४ उ० । कुशले,स्था० ३ ठा० १ उ०। ब० । "झाणकोट्ठोवगए" औ० । भ० । ज० । उदरमध्ये आत्मीये, त्रि० । " स्थानान्यामाग्निपक्वानां, मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुक' फुप्फुसश्च, कोष्ठ इत्यभिधीयते" ॥ १ ॥ इति सुश्रुतोक्ते आमाग्निपक्वमूत्ररुधिरस्थाने, वाच० । " पचकोट्ठे पुरिसे, पचकोट्ठा इत्थिया " पञ्चकोष्ठ पुरुष , पुरुषस्य पञ्च कोष्ठका भवन्तीत्यर्थ. ।

षट् कोष्ठा स्त्री । कोष्ठकस्य रूप सम्प्रदायादवगन्तव्यमित्यर्थः । त० । कोष्ठ इव कोष्ठ । अविनष्टसूत्रार्थधारणे, न० । प्रश्ना० ।

कु (को) ट्ठ-पु० । न० । वाससमुदाये, भ० १६ श० ६ उ० । उत्पलकुष्ठे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । रा० ।

कोट्ठग-कोष्ठक-न० । आश्रयविशेषे, व्य० १ उ० । लोहकोष्ठकादौ, पो०११ विव० । आवासविशेषे, ओघ० । अपवरके, दश० ५ अ० १ उ० । श्रावस्तीनगरीस्थे तिन्दुकोद्याने स्वनामख्याते चैत्ये, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० । म० । आच० । स्था० । उत्त० ।

कोट्ठघर-कोष्ठगृह-न० । धान्यानां कोष्ठागारे गृहे, रा० ।

कोट्ठपुड-कोष्ठपुट-पु० । कोष्ठे यः पच्यते वाससमुदायः स कोष्ठ एव, तस्य पुट पुटिका कोष्ठपुट । भ० १६ श० ६ उ० । ज्ञा० । ज० । वासविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

कोट्ठवलि-कोष्ठवलि-पु० । कोष्ठवलौ,"विवद्धतपेहि विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्ठवलिं करिंति ।" सूत्र० १ श्रु०५ अ० २ उ० ।

कोट्ठबुद्धि-कोष्ठबुद्धि-पु० । कोष्ठकप्रक्षिप्तधान्यमिव यस्य सूत्रार्थौ सुचिरमपि तिष्ठतः स कोष्ठबुद्धि । विशे० । लब्धिमत्पुरुषभेदे,यथा कोष्ठके धान्य प्रक्षिप्त तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते न किमपि कालान्तरेऽपि गलति,एव येषु सूत्रार्थौ निक्षिप्तौ तदवस्थावेव चिरमप्यवतिष्ठेते ते कोष्ठबुद्धय. । वृ० १ उ० । "कुट्टयधण्णसुनिगल-सुत्तत्था कोट्ठबुद्धीए" कोष्ठकधान्यवत्सुनिर्गलावविस्मृतत्वाच्चिरस्थायिनौ सूत्रार्थौ येषां ते कोष्ठकधान्यसुनिर्गलितसूत्रार्थाः कोष्ठबुद्धय । विशे० । पा० । प्रश्न० । ग० । लब्धिभेदे, " कोट्ठबुद्धि य कोट्ठयवत्सुनिग्गलसुत्तत्था " कोष्ठ इव धान्य या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धि । प्रव० २३७ द्वार । आ० म० । प्रश्ना० । आ० चू० ।

कोट्ठसमुग्ग-कोष्ठसमुद्ग-पु० । कोष्ठा आवासविशेषास्तेषां समुद्गक सम्पुटक । आधारविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

कोट्ठाउत्त-कोष्ठागुप्त-त्रि० । कोष्ठे कुशूले आगुप्तानि तत्प्रक्षेपणेन सरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि । भ०६ श० ६ उ० । कुशूले सरक्षितेषु, वृ० २ उ० ।

कोट्ठागार-कोष्ठागार-न० । भाण्डागारे, नि० चू० ६ उ० । कोष्ठा धान्यपल्यास्तेषामगार तदाधारभूत गृहम्, उत्त०११ उ० । धान्यगृहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । औ० । रा० । कल्प० ।

कोट्ठि (ण्)-कुष्ठिन्-त्रि० । कुष्ठमष्टादशभेद, तदस्यास्तीति कुष्ठी । कुष्ठरोगिणि, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ० । (कुष्ठभेदाः 'कुठ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५७८ पृष्ठे उक्ता)

कोट्ठिया-कोष्ठिका-स्त्री० । लोहादिधातुधमनार्थमृत्तिकामय्यां कुशूलिकायाम्, उपा०२ अ० । आचा० । "पुस्सिज्जमाणा हीणधिया वा चिक्खल्लमती कोट्ठिया भवति" । नि० चू० १७ उ० । "जमलकोट्ठियमठाणसंठिय तस्स दो वि उरू" समतया व्यवस्थापितकुशूलिकाद्वयसस्थानसस्थितौ द्वावपि तस्य ऊरू जङ्घे । उपा० २ अ० ।

कोट्ठु-क्रोष्टुकि-पु० । नेमिराजीमतीविवाहमुहूर्त्तदे ज्योतिर्विद्भेदे, लग्न पृष्टश्च क्रोष्टुकिनामा ज्योतिर्विदित्याह-"वर्षासु शुभकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत् । गृहिणा मुख्यकार्यस्य,विवाहस्य तु का कथा" ॥ १ ॥ कल्प० ७ क्षण ।

कोम-कोट-पु० । कुट घञ् । कौटिल्ये,आधार घञ् । दुर्गे, वाच० ।

क्रोम--पुं० । 'क्रुड' घनीभावे । सज्ञायां घञ् । शूकरे, भुजयोरन्तरे, न० । स्त्री० । वृक्षकोटरे, घनीभूते, अश्वानामुरसि, उत्तरग्रामभेदे, वाराहीकन्दे, पु० । शनिग्रहे, वाच० । पत्रादिशाटने, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० ।

कोडग-कोटक-पु० । स्त्री० । कुट-एवुल् । जातिभेदे, वाच० । " काउकगे मुमकोमगादीणि खइताणि तेहिं सज्जेणहमतो " नि० चू० १ उ० ।

कोडर-कोटर-पु० । न० । कोट कौटिल्य राति रा०-क । वृक्षस्कन्धादिस्थगह्वरे दुर्गसन्निकृष्टदेशादौ, कोटर दुर्गसन्निकृष्ट वन तथाभूतवृक्षाणां वा वनम् कोटरा । पृषोदरादित्वात् दीर्घ णत्व च । कोटरावणम् । वनभेदे, न० । वाच० । आव० ।

कोडल-कोटर-पु० । पक्षिभेदे, जीवा० १ अधि० । औ० ।

कोडाल-कोडाल-पुं० । गोत्रप्रवर्त्तके ऋषिभेदे, " उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणदाए माहणीए " आचा० २ चू० । आ० म० । " कोडाले. समान गोत्र यस्य स तथा. तस्य कोडालगोत्रस्येत्यर्थः, कल्प० १ क्षण ।

कोडालसगोत्त-कोडालसगोत्र-त्रि० । कोडाले समान गोत्र यस्य स तथा । कोडालसगोत्रे, कल्प० १ क्षण ।

कोडि-कोटि-स्त्री० । कुट इञ् । धनुषोऽग्रभागे, वस्तुमात्रस्याग्रभागे, अस्त्राणां कोणे, उत्कर्षे, वाच० । स्था० । कर्णिकाकोणविभागे, स्था० ८ ठा० । विभागमात्रे, " नवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे पन्नत्ते " नवभिः कोटिभिर्विभागैः परिशुद्ध निर्दोष नवकोटिपरिशुद्धम् । स्था० ६ ठा० । दश० । द्रव्यसघातानां स्वरूपपरिमाणे, औ० । प्रयुते, कल्प० ७ क्षण । शत लक्षाणामेका कोटि । अनु० । शतलक्षेषु विंशतौ च । ही० ३ प्रका० । तत्सख्येये च, पृक्काख्याम्, सशयस्यालम्बने वादे निर्णयार्थं कृते पूर्वपक्षे, पा० ङीप् कोटीत्यप्यत्र । वाच० ।

कोडिक-कोटिक-पुं० । कोट्या बहुधा कायति प्रकाशते कै-कः इन्द्रगोपकीटे, वाच० । सुहस्तिशिष्ये सुस्थितसुप्रतिबद्धे, स्थविरे; कोटिशः सूरिमन्त्रजपात् कोटिश सूरिमन्त्रजापकं, कल्प० ८ क्षण । ज्ञा० । " तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दकावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबद्धौ, कौटिकगच्छस्ततः समभूत् " ॥ ग० ४ अधि० ।

कौटिक-त्रि० । कूटेन मृगबन्धनयन्त्रेण चरति ठक् । मांसविक्रयोपजीविनि, वाच० ।

कोडिग (य) गण-कोटिकगण-पु० । कोटिकान्निर्गते गणे, "थेरेहिंतो सुट्ठियसुप्पडिबद्धेहिंतो कोटिककाकंदिएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो इत्थ ण कोडियगणे णाम गणे निग्गए " कल्प० ८ क्षण ।

कोडिगसो-कोट्यग्रशस्-अव्य० । कोटिसख्ययेत्यर्थः, व्य० १ उ० ।

कोडिन्न-कौण्डिन्य-पु० । कौत्सगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्येषु च । स्था० ७ ठा० । कौण्डिन्यो मेनार्य्य., प्रज्ञासश्च । आ० म० द्वि० । महागिरिसूरीणां कौण्डिन्यो नाम शिष्यः यस्य शिष्योऽश्वमित्र । विशे० । स्था० । आ० चू० । कल्प० । आ० म० । उत्त० । शिवभूते सहस्त्रमल्लदीक्षितस्य (विशे० । आ०

चू०) गौतमस्वामिना प्रव्राजिते अष्टापदे प्रथममेवत्वामारूढे तापसगुरौ च । वाच० ।

कोडिण्णदंडणीइ-कौण्डिन्यदण्डनीति-स्त्री० । कौण्डिन्यप्रणीतासु दण्डनीतिषु, व्य० १ उ० ।

कोडिवष्ट-कोटिवद्ध-त्रि० । कोटिसंख्याके, व्य० ३ उ० ।

कोडिभूमि-कोटिभूमि-स्त्री० । चतुरशीतितीर्थेष्वन्यतमे कोटिभूमौ वीरकोटिभूमिनामके तीर्थे, यत्र श्रीवीरः प्रतिमारूपेण विराजते । ती० ४३ कल्प ।

कोडिल्ल-कौटिल्य-न० । कुटिलस्य भावः ष्यञ् । वक्रीभावे, चाणक्यमुनौ, वाच० । मुक्करे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

कोडिल्लय-कौटिल्लक-न० । लौकिके नोआगमतो भावश्रुते, अनु० ।

कोडिसिला-कोटिशिला-स्त्री० । भरतक्षेत्रमध्ये मगधेषु तीर्थभेदे, ती० ।

" नमिअ जिणे उवजीविअ, चक्काइ पुरिससीहाण ।
कोडिसिलाए कप्पं, जिणपहसूरी पयासेइ ॥ १ ॥
इह भरहखित्तमज्झे, तित्थमगहेसु अत्थि कोडिसिला ।
अज्ज वि ज पूइज्जइ, चारणसुरअसुरजक्खेहिं ॥ २ ॥
भरहद्धवासिणीहिं, अहिट्ठियदेवसयाइँ जास सय ।
जोअणमेग पिहुला, जोयणमेग च उस्सेहो ॥ ३ ॥
तिक्खरूपुहइविपइणो, निअ परिरक्खंति बाहुबलमखिला ।
उप्पाडिअ ज हरिणो, सुरनरखयराण पच्चक्ख ॥ ४ ॥
पढमेण कया छत्तं, बीएण पाविआ सिरं जाव ।
तइएण गीवाए, तओ चउत्थेण वच्छयले ॥ ५ ॥
अतरत पचमएण, तह य छट्ठेण कडियडं नीआ ।
उरुपज्जतेण सत्ते-मेण उप्पाडिया हरिणा ॥ ६ ॥
जाणूसु अट्ठमेण, नीआ चउरंगुल तु भूमीओ
उद्धरिआ चरमेण, कण्हेण वामबाहाए ॥ ७ ॥
अवसप्पिणिकालवसा, कमेण हायति माणववलाइ ।
तित्थयराण तु बल, सव्वेसिं होइ गुरुरूव ॥ ८ ॥
उप्पामेउ तीरइ, ज बलवतीए सुहरूकोडीए ।
तेणेसा कोडिसिला, इक्केणावि हरिणाओ ॥ ९ ॥
चक्काउहो त्ति नामे-ण सांति नाहस्स गणहरो पढमो ।
काऊण अणसणविहिं, कोडिसिलाए भिव पत्तो ॥ १० ॥
सिरिसंतिनाह-तित्थे संखिज्जाओ मुणीण कोडीओ ।
इत्थेव य सिद्धाओ, एव सिरिकुंथुसिद्धे वि ॥ ११ ॥
अरणाहजिणतित्थम्मि वि, बारस सिद्धा उ समणकोडीओ ।
छ कोडी उ रिसीण, सिद्धाओ मल्लिजिणतित्थे ॥ १२ ॥
मुणिसुव्वयजिणतित्थे, सिद्धाओ तिन्नि साहुकोडीओ ।
इक्का कोडी सिद्धा, नमिजिणतित्थेऽणगाराण ॥ १३ ॥
अन्ने वि अणेगे ति-त्थमहरिसीसा सय सय पत्ता ।
इह कोडिसिला तित्थ, विक्खायं पुहविवलयम्मि ॥ १४ ॥
' पुव्वायरिएहिं च इत्थ सविसेस किं पि भणिअ । त जहा-
जोअणपिहुलायामा, दसन्नपव्वयसमोवि कोडिसिला ।
जिणछक्कतित्थसिद्धा, तत्थ अणेगाउ मुणिकोडी ॥ १५ ॥
संखिज्जा मुणिकोडी, अमवीसजुगेहि कुंथुनाहस्स ।
अरजिण चुव्वीसजुग्गा, बारस कोडीउ सिद्धाओ ॥ १६ ॥
मल्लिस्स वि वीसजुगा, छ कोडि मुणिसुव्वयस्स कोडितिग ।
नमितित्थे इगकोडी, सिद्धा तेणेस कोडिसिला ॥ १७ ॥
छत्ते सिरम्मि गीवा, वच्छे उअरे कडीइ ऊरूसु ।
जाणू कहमवि जाणू, नीया सा वासुदेवेण ॥ १८ ॥
इय कोडिसिलातित्थं, तिहुअणजणजणिअनिव्वुअावत्थं ।
सुरनरखेअरमहिअं,भविआण कुणउ कल्लाण"।१९। ती०४१कल्प।

वासुदेवोत्पाट्या कोटिशिला शाश्वत्यशाश्वती वा ?,सा च कुत्र स्थानकेऽस्ति ?, तथा सर्वैर्वासुदेवैः सर्वाऽप्युत्पाट्यतेऽथ वैकदेशेन ?, तथा नराणां कोट्योत्पाट्या कोटिशिलेति यथार्थ नाम, अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्-कोटिशिलाऽशाश्वतीति ज्ञायते, गङ्गासिन्धुवैताढ्यादिशाश्वतपदार्थानां मध्ये शास्त्रे तस्या अदर्शनात्, तथा सा मगधदेशे दशार्णपर्वतसमीपे चास्तीति, तथा सर्वैरपि वासुदेवैः सर्वथाऽप्युत्पाट्यते, न त्वेकदेशेन, परं प्रथमेन छत्रस्थान, चरमेण च भूमेश्चतुरङ्गुलानि यावन्महता कष्टेन जानू यावद्वा नीयते, तथा नराणां कोट्योत्पाट्यत्वेन श्रीशान्तिनाथादिजिनषट्कतीर्थगतानेकमुनिकोटीना तत्र सिद्धत्वेन च कोटिशिलेत्यभिधीयते इत्येतदक्षरादि तीर्थकल्पादौ सन्तीति । ७ प्र० सेन० १ उल्ला० । आ० म० ।

कोडीकरण-कोटीकरण-न० । कोट्येव कोटीकरणमिति । विभागे, दश० ।

पिंडेसणा य सव्वा, संखेवेणोयरइ नवसु कोडीसु ।
न हणइ न पयइ न किणइ,तह कारवण अणुमईहिं नव ।३०५।

पिण्डैषणा च सर्वा उद्गमादिभेदभिन्ना संक्षेपेणावतरति नवसु कोटीषु । ताश्चेमाः-न हन्ति, न पचति, न क्रीणाति स्वयम् । तथा न घातयति,न पाचयति,न क्रापयत्यन्येन । तथा घ्नन्त वा पचन्त वा क्रीणन्तं वा न समनुजानात्यन्यमिति नव । एतदेवाह-कारणानुमतिभ्यां नवेति गाथार्थ ॥ ३०५ ॥

सा नवहा दुह कीरइ, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य ।
छसु पढमा ओयरई, कीयतियम्मी विसोही उ ॥ ३०६ ॥

सा नवधा स्थिता पिण्डैषणा द्विविधा क्रियते-उद्गमकोटी, विशुद्धिकोटी च । तत्र षट्सु हननघातनानुमोदनपचनपाचनानुमोदनेषु प्रथमा उद्गमकोटी अविशोधिकोट्यामवतरति । क्रीतत्रितये क्रयणकायणानुमतिरूपे विशोधिस्तु विशोधिकोटी द्वितीयेति गाथार्थः ॥ ३०६ ॥

एतदेव व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः-

कोडीकरणं दुविहं, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य ।
उग्गमकोडीछक्कं, विसोहिकोडी अणेगविहा ॥ ३०७ ॥

कोटीकरणमिति कोट्येव कोटीकरणम् । कोटीकरण द्विविधम्-उद्गमकोटी, विशोधिकोटी च । उद्गमकोटीषट्क हननादिनिष्पन्नमाधाकर्मादि, विशोधिकोटी क्रीतत्रितयनिष्पन्ना अनेकविधा ओघौद्देशिकादिभेदेनेति गाथार्थ. ॥ ३०७ ॥

षट्कोट्याऽऽह-

कम्मुद्देसियचरिमतिगं पूइय मीस चरिमपाहुडिया ।
अज्झोयरअविसोही, विसोहिकोडी भवे सेसा ॥३०८॥

कर्म सपूर्णमेव, औद्देशिकचरमत्रितय, कर्मौद्देशिकस्य पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थविषय पूर्ति भक्तपानपूत्येव,मिश्रग्रहणात् पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थमिश्रजम, चरमप्राभृतिका बादरेत्यर्थ.। अध्यव-

पूरक इत्यविशोधिरित्येतत्सूक्ष्म, विशोधिकोटी भवति शेषा, ओघौद्देशिकादिभेदभिन्नाऽनेकविधेति गाथार्थः ॥ ३०८ ॥

इहैव रागादियोजनया कोटीसंख्यामाह-

नव चेवऽट्ठारसगा, सत्तावीसा तहेव चउपन्ना ।
नउई दो चेव सया, सत्तरा हुंति कोडीणं ॥ ३०९ ॥
रागाई मिच्छाई, रागाईसमणधम्मनाणाई ।
नव नव सत्तावीसा, नव नउई एयगुणगारा ॥ ३१० ॥

नव चैव कोट्य ,तथा अष्टादशक कोटीनाम, तथा सप्तविंशतिः कोटीना,तथैव चतु पञ्चाशत्कोटीनां,तथा नवति कोटीना,द्वे एव च शते सप्तत्यधिके कोटीनामिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः । स चायम्-" नव कोडीओ दोहिं रागद्दोसेहिं गुणियाओ अट्ठारस हवंति । ताओ चेव नवतिहिं मिच्छत्ताणाणअविरतीहिं गुणिताओ सत्तावीस हवंति, सत्तावीसा रागदोसेहिं गुणिया चउपन्ना हवंति, ताओ चेव णवदसविहेण समणधम्मेण गुणियाओ विसुद्धाओ णउती भवति, सा णउती तिहिं नाणदसणचरित्तेहिं गुणिया दो सया सत्तरा हवन्तीति गाथाऽर्थ ॥ ३०६ । ३१० ॥ दश० ५ अ० २ उ० । पिं० । ('उग्गम' शब्दे द्वि० भागे ६७५ पृष्ठे चैतद् भावित न्यक्षेण)

कोडीनार-कोटीनार-न० । सौराष्ट्रविषये स्वनामख्याते नगरे, " अत्थि सुरट्ठाविसए धणकणयसपन्नजणसमिद्धे कोडीणार नाम नयरं तत्थ सोमो नाम रिद्धिसमिद्धो छक्कम्मपरायणो वा आगमपरायणो वभणो हुत्था । " ती० ४६ कल्प ।

कोडीवरिस-कोटीवर्ष-न० । लाटदेशराजधान्याम्, तस्यानार्यक्षेत्रेष्वन्तर्भाव । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " कोडीवरिस च लाडा य " प्रव० १७४ द्वार । आ० क० । आव० ।

कोडीवरिसिया-कोटीवर्षिका-स्त्री० । स्थविरादू गोदासात्काश्यपगोत्रान्तर्गतस्य गणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कोडीसहिय-कोटीसहित-न० । कोटीभ्यामेकस्य चतुर्थादेरन्तविभागोऽपरस्य चतुर्थादेरेवारम्भविभाग इत्येवं लक्षणाभ्यां सहित मिलित युक्त कोटीसहितम् ।, मिलितोभयप्रत्याख्यानकोटेश्चतुर्थादेः करण, स्था० १० ठा० । प्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ।

कोटीसहितमाह-

गोसेऽभत्तट्ठं जो, कार्यं तं कुणइ बीयगोसे वि ।
इय कोडीदुगमिलणे, कोडीसहियं तु नामेणं ॥ १४ ॥

(गोसे त्ति) प्रभाते अभक्तार्थमुपवास यः कृत्वा तमुपवास करोति द्वितीयप्रभातेऽपि, इति कोटीद्विकमिलने पूर्वदिनकृतोपवासप्रत्याख्याननिष्ठापनालक्षणाया द्वितीयदिनप्रभातक्रियमाणोपवासप्रस्थापनालक्षणायाश्च कोटेर्मेलने तस्य कोटीसहितमिति नाम्ना प्रत्याख्यानमेवमष्टमादिषु एकतः कोटिद्वयनिष्ठापनारूपमन्यतश्च तृतीयोपवासस्य प्रस्थापनरूपमनयोर्मीलने कोटिसहितम्, एवमाचाम्लनिर्विकृतिकैकासनैकस्थानेष्वपीति । यदाहुर्गणभृत -" पट्ठवणओ य दिवसो, पच्चक्खाणस्स निट्ठवणीओ य । जहिअ समिंति दोन्नि वि, त भन्नइ कोडिसहिअं ति" ॥ प्रव० ४ द्वार । "कोडीसहित णाम जत्थ कोणो य मिलति गोसे आवासे एकए अभत्तट्ठो गहितो अहोरत्त अत्थिऊण पच्छा पुणरावि अभत्तट्ठ करेति, बीयस्स ठवणा पढमस्स य निट्ठावणा, एए दोन्नि कोणा एगन्थ मिलिता, एव अट्ठमिमादि सु दुहओ कोडीसहिय जो चरिमदिवसो तस्स वि एगा कोडी, एव आयंबिलं णिव्विए य एगासणएगट्ठाणाण वि, अहवा इमो अण्णो विही, अभत्तट्ठो कतो आयंबिलेण पारिय, पुणरावि अभत्तो कीरति, एत्थ सजोगा कायव्वा णिव्विगतिकादिसु सव्वेसु सरिसे विसरिसेसु य " । आ० चू० ६ अ० । आव० । ल० ।

कोडुंबिणी-कौटुम्बी-स्त्री० । उत्तरबलिस्सहगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कोडुंबि (ण्)-कुटुम्बिन्-त्रि० । प्रधानकर्मकारिणि, कौटुम्बिका नरक यान्ति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कोडुंबिय-कौटुम्बिक-त्रि० । कुटुम्बभरणे प्रसृत' ठक् । कुटुम्बभरणे व्यापृते, कुटुम्बे भव ठक् । कुटुम्बमध्यपातिनि, वाच० । कतिपयकुटुम्बप्रभौ, (स्वामिनि) नायके, राजसेवके, भ० २ श० १ उ० । कल्प० । स्था० । औ० । अन्त० । रा० । ज० । अनु० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । जी० ।

अथ कौटुम्बिकदृष्टान्त भावयति—

वड्ढीधन्नसुभरियं, कोट्ठागारं तु डज्झते कुडुंबिस्स ।
किं अम्ह सुहा देई, केई तहियं न अल्लीणा ॥

एक कौटुम्बिक स कर्षणा कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या कालान्तररूपया धान्य ददाति, तया च वृद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोष्ठागाराणि धान्यस्य सुभृतानि जातानि, अन्यदा च तस्यैक कोष्ठागार वृद्धिधान्यसुभृत वह्निना प्रदीप्तेन दह्यते, तत्र केचित् कर्षका विध्यापननिमित्त तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारे समागता । किमेष कौटुम्बिकोऽस्माक सुधा ददाति येन वय विध्यापनार्थमभ्युद्यता भवाम ।

एयस्स पभावेणं, जीवा अम्हे ति एव नाऊणं ।
अण्णे उ समल्लीणा, विज्झविए तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वय जीवन्ति स्म । जीवा , अत्रप्रत्यय', जीविता इत्यर्थ । एव ज्ञात्वा समालीनास्तत्र समागता विध्यापनाय च प्रवृत्ता ततो विध्यापिते कोष्ठागारे स कौटुम्बिकस्तेषां तुष्ट ।

तत किमकार्षीदित्यत आह—

जे उ सहाएगत्त, करेसु तेसि अवड्ढियं दिन्नं ।
दट्ठुं ति न दिण्णयरे, अकासगा दुक्खजीवीया ॥

ये तु विध्यापने सहायत्वमकार्षु तेषामवृद्धिक कालान्तररहित धान्य दत्तम्, इतरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दग्धमित्युत्तर विध्यापने दत्त ततस्ते अकर्षकाः सन्तो दुःखजीविनो जाता ।

एष दृष्टान्त' । अथ उपनयमभिधित्सुराह—

आयरिय कुडुंबी वा, सामाणियथाणिया भवे साहू ।
वावाह अगणितुल्ला, सुत्तथा जाण धन्नं तु ॥

आचार्य' कुटुम्बीव, कुटुम्बीतुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षकस्थानीया' साधव', आचार्यस्य भिक्षाटने वातादिव्याबाधाग्नितुल्यान् सूत्रार्थान् जानीहि धान्य धान्यतुल्यान् ।

एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा ।
हावेंति उदासीणे, किलेसभागी य ससारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रह कुर्वन्ति सूत्रार्थान् प्रयच्छन्ति । यस्तदा उदासीनस्तत्र हापयन्ति इति, न प्रयच्छन्तीति भावः। स चोदा, सीनो वर्तमानः केवल सूत्रार्थायोग्यो भवेत्, क्लेशभागी च संसारे जायते। व्य०६ उ०। कुटुम्बभवेषु कार्येषु, जा०३ प्रति०।

कोडूसग–कोदूषक–पु० । कोद्रवविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कोढ–कुष्ठ–न०। रोगभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विपा० । आव० । उपा०। सप्त महाकुष्ठानि। तद्यथा–अरुणोदुम्बरनिश्यजिह्वकापालकाकनादपौण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति। महत्वं चैषां सर्वधात्वन्तः प्रवेशादसाध्यत्वाच्चेति । एकादश क्षुद्रकुष्ठानि। तद्यथा-स्थूलारुष्कमहाकुष्ठचर्मदलपरिसर्पविसर्पसिध्मविचर्चिकाकिटिभपामापशनारुकसंज्ञानीति सर्वाण्यप्यष्टादश। सामान्यतः कुष्ठं सर्वं सनिपातजमपि वातादिदोषोत्कटतयाऽनुभेदभाग्भवतीति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

कोढि–कुष्ठिन्–त्रि०। कुष्ठमष्टादशभेदमस्यास्तीति कुष्ठी। कुष्ठरोगग्रस्ते, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। आचा०।

कोण–कोण–पु० । कुण-करणे घञ्, कर्त्तरि अच् वा। येन धनुराकृतिना काष्ठेन वीणादयो वाद्यन्ते। तस्मिन् वादनसाधने काष्ठभेदे, अस्त्रौ, वाच०। वीणावादनदण्डे, जी० ३ प्रति०। लकुटे, "कोणओ लगुडो भण्णति" नि० चू०१ उ०। गृहादीनामेकदेशे, नि० चू० १ उ० । अस्त्राणामग्रभागे, मङ्गलग्रहे, शनिग्रहे, द्वयोर्दिशोर्मध्यभागे विदिशि, वाच० ।

कोणालग–कोनालक–पु० । स्त्री० । कोने जलोने अलति अपर्याप्नोति। अल एवुल्। सङ्घचारिणि, शवे, कृष्णपुच्छे, श्वेतोदरे, जलचरपक्षिभेदे, वाच० । प्रश्न० । कुन्थुजिने-ऽस्य पूजके, "सर्ट्ठि तु सहस्साइ, कुंथुजिणिंदस्स परिवारो। कोणालगमाहियस्स य, सिरीए सूरस्स य सुयस्स"। ती० ६ कल्प० ।

कोणाली–कोनाली–स्त्री० । गोष्ठयाम्, बृ० १ उ०। नि० चू० ।

कोणिग (अ)–कूणिक–पु० । श्रेणिकराजस्य चेल्लणायां जाते पुत्रे, कल्प०८ क्षण। ('कूणिय' शब्देऽत्रैव भागे ६२६ पृष्ठे कथोक्ता)

कोण्ठ–कुण्ठ–त्रि० । 'कुठि' वैकल्ये । अच् । "ओत्संयोगे" ८। १। ११६ । इत्यादेरुत ओत्त्वम् । प्रा० १ पाद ।

कोत–कुत्र–अव्य० । "ओत्संयोगे" ८। १। ११६। इति आदेरुत ओत्त्वम् । कस्मिन्नित्यर्थे, प्रा० १ पाद ।

कोतव–कौतव–न० । मूषिकलोमनिष्पन्ने सूत्रे, विशे० । अनु० । आ० म० । बृ० ।

कोत्तिय–कौत्रिक–पुं० । भूमिशायिनि वानप्रस्थे, औ० । नि० । भ० । मधुभेदे, स्था० ६ ठा०। आव० ।

कोत्थ–कुत्स–न०। गोत्रभेदे, "जे कोत्था ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा–ते कोत्था ते मुग्गलायणा ते पिंगायणा ते कोडीणा ते मंडलीणा ते हारिया ते सोमया"। स्था० ७ ठा०।

कोत्थलकारा–कोत्थलकारी–स्त्री०। भ्रमर्याम्, त्रीन्द्रियजीवे, बृ० १ उ० । प्रज्ञा० ।

कोत्थुम्भरी–कौस्तुम्भरी–स्त्री० । कुस्तुम्भशालिषु, जं० २ वक्ष० । नि० चू० ।

कोत्थुभ (ह)–कौस्तुभ–पुं० । कु भूमिं स्तुभ्नाति कुस्तुभो जलधिः। तत्र भवः अण्। "औत ओत्" ।८। १। १५९। इत्यौकारस्य ओकारः। प्रा० १ पाद। विष्णोर्वक्षस्थे मणौ, वाच० । "कोत्थुभो य मणी दिव्वो वासुदेवस्स"। ती० १० कल्प ।

कोदं (डं) ड–कोदण्ड–न०। 'कु'शब्दे विच्। को शब्दितो दण्डोऽस्य, धनुषि, तत्तुल्यत्वात् भ्रूलतायाम्, देशभेदे च । धनूराशौ च । वाच० । "कोदंडविप्पमुक्केणं उसुणा वामे पादे विद्धे समाणे" अन्त० ५ वर्ग ।

कोदंडिम–कुदण्डिम–त्रि० । कुदण्डेन निर्वृत्ते, जं० ३ वक्ष० ।

कोदूसग–कोदूषक–पु० । कोद्रवविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० ।

कोद्दव–कोद्रव–पु० । कु-विच्। को सन् द्रवति। द्रु-अच् । धान्यभेदे,वाच० । जं० । प्रज्ञा० । नि० चू० । आचा० । स्था० । सूत्र० । मदने, मदनकोद्रवे, कर्म० ६कर्म०। ('सम्मत्त'शब्दे त्रिपुञ्जीकरणप्रस्तावे मदनकोद्रवदृष्टान्तो द्रष्टव्यः)

कोप्पर–कूर्पर–पु० । न० । "ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये" ॥ ८ । १ । १२४ ॥ इति ऊकारस्य ओकारः। प्रा० १ पाद । प्रश्न० । कुहणिकायाम्,पञ्चा० ३विव०।

कोभीसणि–कौभीषणि–पु० । गोत्रप्रवर्तकर्षिभेदे, उमास्वातिवाचक कौभीषणिगोत्र । ती० ३६ कल्प ।

कोमल–कोमल–त्रि० । कु कलच्, मुट् च, गुणः । जले, मृदौ, वाच०। अकठोरे,भ० २ श० १ उ०। औ०। रा०। विपा०। आतु०। मनोज्ञे, न० । रा० । क्षीरिकायाम्, स्त्री० । टाप् । वाच०।

कोमलाविंलिया–कोमलाम्लिका–स्त्री० । अबद्धास्थिकायां चिञ्चिणिकायाम्, ध० २ अधि० । प्रव० ।

कोमारिया–कौमारिकी–स्त्री० । कुमारस्येयं कौमारी, सैव कौमारिकी । कुमारप्रव्रज्यायाम्, भ० १५ श० १ उ०।

कोमुइया–कौमुदिका–स्त्री० । कौमुदोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं वाद्यमानायां कृष्णवासुदेवभेर्याम्,विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

कोमुई (दी)–कौमुदी–स्त्री०। कुमुदस्येव प्रकाशकत्वात् प्रिया० अण्, ङीप् । "औत ओत्" ॥ ८ । १ । १५९ ॥ इत्यौकारस्य ओकारः । प्रा० १ पाद । वाच० । चन्द्रिकायाम्, औ० । ज्ञा० । तद्वत्प्रकाशिकायाम्, कुमुदस्येयम् अण्, ङीप् । "कुशब्देन मही ज्ञेया,मुद हर्षे ततो द्वयम् । धातुज्ञैर्नियमैश्चैव, तेन सा कौमुदी स्मृता" इत्युक्तायां कार्त्तिकपौर्णमास्याम्,वाच० । जं० । ज्ञा० । रा० । व्य० । आश्विनपौर्णमास्याम्, दीपोत्सवतिथौ, उत्सवे, कार्त्तिकोत्सवे, स्वार्थे के ह्रस्वे कौमुदिका । ज्योत्स्नायाम्, संज्ञाया कन् कुमुदकः । चातुरर्थ्याम् कुमुदात् ठक् कौमुदिकः । कुमुदसन्निकृष्टदेशादौ, त्रि० । वाच० ।

कोमुई (दी) चार–कौमुदीचार–पु०। कौमुद्याः ज्योत्स्नायाश्चारः प्राशस्त्यमत्र काले । आश्विनपौर्णमास्याम्, वाच० । कौमुदीमहे च । आ० क० । "असमो सोणिओ य पज्जुन्न कोमुदीचार पेच्छति" नि० चू० १ उ० । आव० ।

कोमुईजोगजुत्त–कौमुदीयोगयुक्त–त्रि० । कौमुदी कार्त्तिकीपूर्णमासी, तद्योगयुक्त । कार्त्तिक्यामभ्युदिते, "कोमुदीजोगजुत्त व, तारापरिवुडे ससि"। व्य० ४ उ० ।

कोमुईरयणीयर–कौमुदीरजनीकर–पु०। कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी, तस्यां रजनीकरश्चन्द्रः। रा०। कार्त्तिकीरजनीकरे,नि० १ वर्ग। " कोमुईरयणिगरविमलपडिपुन्नसोमवयणा " कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी, तस्यां रजनीकरश्चन्द्रस्तद्वत् विमल निर्मल प्रतिपूर्णमन्यूनानतिरिच्यमान सौम्यमरौद्राकार वदनं यस्याः सा तथा। रा०। जी०। नि०।

कोयवि–कोयवि–पु०। रूतपूरिते पटे, यो लोके माणिकी प्रसिद्धा। बृ० ३ उ०। प्रव०। नि० चू०।

कोरंट–(ग)-कोरण्ट (क)–पु०। पुष्पजातिविशेषे, रा०। ज्ञा०। जं०। स च कण्ठसेलियाख्यः सम्भाव्यते। जं० १ वक्ष०। अग्रबीजाः कोरण्टकादयः। आ० म० द्वि०। कोरण्टकादीनि लता, इति लतासु अग्रबीजवनस्पतिष्वन्तर्भवति। औ०। स्था०। आ० म०। स्वनामख्याते भरुकच्छीये," कोरण्टग जहाभावियधम्म पुच्छिऊण " कोरण्टक नाम भरुकच्छे उद्यान तत्र भगवान् मुनिसुव्रतस्वाम्यर्हन्नजीकृण समवसृतः। व्य० १ उ०।

कोरंटदाम–कोरण्टदामन्–न०। कोरण्टकाभिधाने पुष्पदामनि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

कोरंटमल्लदाम–कोरण्टमाल्यदामन्–न०। कोरण्टकः पुष्पजातिविशेष, स च कण्ठसेलियाख्यः सम्भाव्यते, तस्य माल्यै हितानीति कृत्वा माल्यानि पुष्पाणि तेषा दाम माला। जं० १ वक्ष०। कोरण्टकाभिधानकुसुमस्तवकवति माल्यदामनि, औ०। रा०। कोरण्टपुष्पमालायाम्, रा०। प्रज्ञा०। औ०।

कोरय–कोरक–पु०। न०। 'कुल' सख्याने एवुल्, लस्य रः। कलिकायाम्, वाच०। फलनिष्पादके मुकुले, (आम्रप्रलम्बकोरकदृष्टान्तेन कोरकचातुर्विध्य 'पुरिसजाय' शब्दे वक्ष्यते) स्था०। कक्कोले,मृणाले च। चोरनामगन्धद्रव्ये,तत तारका० सजातेऽर्थे इतच्, कोरकित। जातमुकुले, त्रि०। वाच०। जालके, विशे०। पक्षिभेदे, रा०।

कोरव–कौरव–पु०। स्त्री०। कुरोरपत्यादि,उत्सादित्वा०अञ्। तद्देशस्य राजा अण्। तेषु भवो वा अण्। वाच०। कुरुवशोद्भवे, बृ० १ उ०। औ०। भ०। कुरुवशभूते क्षत्रिये, औ०। तद्देशनृपे, पु०। कुरुसबन्धिनि, तद्देशभवे च। त्रि०। स्त्रियां ङीप्। वाच०।

कोरव्व कौरव्य-पु०। स्त्री०। कुरोरपत्यम्। कुर्वादि० ण्यः। कुरुवश्ये वाच०। कौरव्यगोत्रे ब्रह्मदत्त चुलनीसुते, जी० ३ प्रति०। स चाऽवसर्पिण्यामष्टमश्चक्रवर्त्ती। आव०४अ०। स०। प्रव०। ('बम्हदत्त' शब्दे कथाऽस्य वक्ष्यते) तस्यापत्य फिञ्, कौरव्यायणि। कुरुकुलोत्पन्ने ब्राह्मणादावपत्ये, पु०। स्त्री०। कुरूणां राजा ण्यः, कौरव्य। कुरुदेशराजे, स्त्रियां ङीप्, कौरवी। स्त्री०। ण्यन्तत्वात् यून्यपत्ये फिञो लुक्। कौरव्य –पिता पुत्रश्च। वाच०।

कोल–कोल–पु०। 'कुल' सस्त्याने। अच्। शूकरे,ज्ञा०१श्रु०१ अ०। त०। प्लवे, क्रोडे, शनिग्रहे, चित्रके, अङ्कपाली, आलिङ्गने, देशभेदे, पु०। वाच०। घुणकीटे, आचा० १ श्रु० ८ अ०८ उ०। उन्दुराकृतौ जन्तौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। असुरभेदे, पु०। ध० र०। नटात् धीवरकन्याजातिभेदे, मरिचे, न०। चव्ये, कर्कन्धूवृक्षे, स्त्री०। गौरा० ङीष्। तस्या फलम् अण्, तस्य लुक्। वदरीफले, न०। वाच०। आचा०। वदरचूर्णे,बृ०१ उ०।

कोलंब–कोलम्ब–पु०। अवनते शाखाग्रे, कोलम्बो हि लोके अवनतवृक्षशाखाग्रमुच्यते, विपा० १ श्रु० ३ अ०। ज्ञा०।

कोलग–कोलक–पु०। कुल एवुल्। अङ्कोटवृक्षे,बहुवारवृक्षे,गन्धद्रव्यभेदे, मरिचे, कक्कोले च। न०। वाच०। कोलजातौ, स्त्रियां तु "यदि एसा कोलगिणी एव करेति" आ० चू० ४ अ०।

कोलघरिय–कौलग्रहिक–पु०। कुलगृहसम्बन्धिनि, उपा०२ अ०।

कोलचुण्ण–कोलचूर्ण–पु०। वदरशक्तुषु, दश० ५ अ० १ उ०।

कोलज्जा–कोलार्या–स्त्री०। अधोवृत्तखाताकारे धान्यस्थाने, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ०।

कोलट्ठिय–कुवलयास्थिक–न०। वदरकुलके, भ०६ श०१० उ०।

कोलपा (वा) गपट्टण–कोलपाकपत्तन–न०। स्वनामख्याते तीर्थीभूते नगरे, कौलपाकपत्तने माणिक्यदेवः श्रीऋषभो मन्दोदरीदेवतावसरः,। ती० ४५ कल्प०।

कोलपा (वा) ल–कोलपाल–पु०। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य द्वितीये लोकपाले, भूतानन्दस्य च लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०। जं०। आ० चू०। विशे०। आ० म०।

कोलव–कौलव–न० बवादिषु तृतीये करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। भ०।

कोलवण–कोलवन–न० मथुरास्थे वनभेदे, ती० ६ कल्प।

कोलसुणइ–कोलश्वन् (शुनक्)–पु०। महाशूकरे, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ०। प्रश्न०। जं०। प्रज्ञा०। मृगया कुशले शुनि, प्रज्ञा० ११ पद।

कोलसुणिया–कोलशुनिका–स्त्री०। स्त्रीत्वविशिष्टे कोलशुनकजातौ, प्रज्ञा० ११ पद।

कोलाल–कौलाल–न०। कुलालाः कुम्भकारास्तेषामिद कौलालम्। मृद्भाण्डे, अनु०।

कोलालभंड–कौलालभाण्ड–न०। कुलालाः कुम्भकारास्तेषामिद कौलाल,तच्च तद् भाण्ड च पण्य भाजन वा कौलालभाण्डम्। कुम्भकारकृते मृद्भाण्डे," से सद्दालपुत्ते अन्नया कयाइ वाताहतय कोलालभड अतो सालाहिंतो वहितो णीणेइ" उपा० ७ अ०।

कोलालिय–कौलालिक–पुं०। कौलालानि मृद्भाण्डानि पण्यमस्येति कौलालिकः। अनु०। कुलालक्रयविक्रयिणि, बृ० ३ उ०।

कोलालियावण–कौलालिकापण–पु०। कौलालिकाः कुलालक्रयविक्रयिणस्तेषामापण। पणितशालायाम्, " कोलालियावणो खलु पणितसाला" कौलालिकापणः पणितशाला मन्तव्या। किमुक्तं भवति ?-यत्र कुम्भकारा भाजनानि विक्रीणते,वणिजो वा कुम्भकारहस्ताद् भाजनानि क्रीत्वा यत्रापणे विक्रीणन्ति। बृ०२ उ०।

कोलावास–कोलावास–पु०। कोला घुणास्तेषामावासः। दारुणि, "चित्तमताए सालाए कोलावास नि वा दारुए गणं वा स-

हिय वा चेतमाणे सबले " स० २१ सम० । आव० । दशा० । आचा० । अनु० ।

कोलाह–कोलाभ–पुं० । दर्वीकरसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कोलाहल–कोलाहल–पुं० । कुल–घञ्, तमाहलति अच् । वाच० । बहुजनमहाध्वनौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । प्रति० । अव्यक्ते (उत्त० ९ अ०) बोले, जी० ३ प्रति० । " ण य कोलाहल करे " सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । आर्तशकुनिसमूहध्वनौ, न० ७ श० ६ उ० । विलपिताक्रन्दिकले, उत्त० ६ अ० ।

कोलाहलगभूय–कोलाहलकभूत–त्रि० । कोलाहलो विलपिताक्रन्दिकलः, कोलाहल एव कोलाहलक, स भूत इति जातोऽस्मिन् तत् कोलाहलकभूतम्, आहिताग्न्यादिराकृतिगणत्वात् निष्ठान्तस्य परनिपातः । सजातबहुध्वनौ, यदि वा भूतशब्द उपमार्थस्तत. कोलाहलभूतम् । कोलाहलकरूपतामिवापन्ने, हा मातर्हा मातरित्यादिकलकलाकुलितया सीदद्भूते, " कोलाहलगभूय आसी मिहिलाए पव्वयत " उत्त० ९ अ० ।

कोलाहलगसंकुल–कोलाहलकसंकुल–त्रि० । बहलकलकलात्मकेन कोलाहलेन व्याकुले, "किणु तो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला । सुव्वति दारुणा सद्दा पसाए सुगिहेसु य " । उत्त० ९ अ० ।

कोलिय–कौलिक–त्रि० । कुलादागत. ठक् । कुलपरम्परागते आचारादौ कुले, कुलागमे सिद्ध ठक् । तन्त्रोक्ते कुलाचारे, कौलं कुलधर्मं प्रवर्त्तयति ठक् । कुलधर्मप्रवर्त्तके, शिवे, पाखण्डे, कुल तदाचार. प्रयोजनमस्य ठक् । कौले ब्रह्मविदि, वाच० । तन्तुवाये, न० । आ० म० । आव० । "पढमाए कोलियकआए दिट्ठंतो कीरइ (नियति शब्दे भावन कृष्णस्य, द्रव्यत. कौलिकवीरस्य 'किइकम्म' शब्दे ५०७ पृष्ठे दृष्टान्त उक्त) प्रव० २ द्वार । आव० ।

कोलियाजाल–कोलिकाजाल–न० । मर्कटकसन्ताने, आव० ४ अ० । नि० चू० । जालाकारे कोलिकाजालसन्ताने, वृ० १ उ० ।

कोलुण–कारुण्य–न० । अनुकम्पायाम्, नि० चू० ११ उ० ।

कोलुणपडिया–कारुण्यप्रतिज्ञा–स्त्री० । अनुकम्पाप्रतिज्ञायाम्, नि० चू० ।

> जे भिक्खू कोलुणपडियाए अण्णयरिं तसपाणजायं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा बधइ, बधंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू बंधेल्लय वा मुयइ, मुयत वा साइज्जइ ॥ २ ॥

भिक्खू पुव्ववण्णिओ, कोलुण ति कारुण्य अणुकपा, पडियाए त्ति प्रतिज्ञा, अनुकम्पाप्रतिज्ञया इत्यर्थः । त्रसन्तीति त्रसाः, ते च तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च प्राणिनो त्रसाः, एत्थ तेउवाउहिं णाहिकारो जाइग्गहणीउ वि सिद्धगो जाइवण्णयाईहिं अहिगारो, तणा दग्भाइया, पासो त्ति बधण, दग्भा रज्जु इत्यर्थः । वत्तपासग्गहणाओ सव्वे पासा गहिया, कट्ठपासग्गहणाओ कयलिखोडाइया गहिया, एवमाईहिं बधंतस्स चतुलहु, बितियसुत्ते वि बधेल्लग मुयतस्स चतुलहु चेव । इमा सुत्तफासिया गाहा–

> तसपाणगतणगादी, कलुणपरं नाएँ जो उ बधेज्जा ।
> तणपासगमादीहिं, मुंचति वा आणमादीणि ॥ २ ॥

गतार्था । जइ सेज्जगसेज्जायराई वलगखेत्ताई वच्छता भणेज्जा–

> ओहाए ति अज्जो ती, देज्जेवं तणगादीणं ।
> अम्हे तुज्झं इहयं, भायणभूता परिवसामो ॥ ३ ॥

ओहाए ति उवयोगो, अज्जो त्ति आमत्रणे, इह त्ति घरे, तण्णगाईण, आइसद्दाओ गवाइसु विविहोवक्खारेसु च, एव भणतेसु साहुणा वत्तव्व पच्छद्ध, भूतशब्दः भयणे तुल्यवाची, जहा अलदाइ भायणं गिहतो वाहिरे वा ठिय न किंचि घरवावार करेंति, तहेव अम्हे इह परिवसामो वसहिग्गहणकाले । अयवा वसता जइ गिही किंचि विज्ज पत्थेज्जा तत्थिम भासेज्जा–

> न वि जोइसं न गणितं, ण अक्खराणेण किंचि रक्खामो ।
> अप्पस्सगा अमुणगा, भायणखज्जावमावसिमो ॥ ४ ॥

घरे किंचि मुणगाइणा अवरज्झते अपस्सगा अम्हे, गिहिणो सादिसतस्स अमुणगा, अम्हं झाणोवगया वा अम्ह ण पस्सामो, सुणेमो वा, सेस कठ । तसगगहण किमर्थ चेत्?–

> घणजीवितिगं खलु त–सगगहणं तु तं बहु अवातं च ।
> सेसा वि सूइया खलु, तसगगहण नु गोणादी ॥ ५ ॥

बालयत्थं तसग, त घणजीवी बहुअवाय च । अओ तग्गहण कय सुत्ते तसग्गहणाओ य सेसा वि गोणाई सव्वे सूइया, न सव्वथितया इत्यर्थः । अहवा बध इतो आणाइया दोसा इमे य अन्ने य ।

> अचावेणा मरणं–तराय फडुंत अचपरहिंसा ।
> सिंगखुरपेल्लणं वा, उड्डाहो जह पता वा ॥ ६ ॥

अईव आवेढिय परितावेज्जइ, मरइ वा, अतराय च भवइ । बद्ध च तडफडत अप्पाण पर वा हिंसइ, एसा सजमविराहणा, त वा वज्झत सिंगेण खुरेण वा काएण वा साहु पेल्लेज्जा, एस साहुस्स आयविराहणा । त च दट्ठु जणो उड्डाह करेज्ज–अहा ! दुद्दिट्ठधम्मा परतत्तिवाहिणो, एव पवयणोवघाओ, भद्दपंतदोसा वा भवे । भद्दो भणाइ–अहो इमे साहवो अम्ह परोवक्काणघरवावार करेंति । पतो पुणो भणेज्ज–दुद्दिट्ठधम्मचाडुकारिणो कीस वा अम्ह वच्छे बधति, मुयति वा, दिया वा राओ वा निच्छुभेज्जा, वोच्छेय वा करेज्ज, एए बधणे दोसा ।

इमे मुयणे–

> छक्काय अगड विसमे, हिय णट्ठ पलाय खइय पीते वा ।
> जोगक्खेम वहंती, णेयं दोसा य जे वुत्ता ॥ ७ ॥

तसगाइ मुक्कमरुत छक्कायविराहण करेज्ज, अगडे विसमे वा पडिज्ज, तेणेहिं वा हीरेज्जा, नट्ठ अरुचीए रुलत अत्थेज्ज, मुक्क वा पलाइय वा पुणो वधितु न सक्कइ, दुगादिसणप्फइहिं वा खज्जइ, मुक्क वा माऊए थणात खीर पिएज्ज । जइ वि एवमाइ दोसा न होज्ज तहा वि गिहिणो वीसत्था अत्थेज्ज, अम्ह घरे साहवो सुत्तत्थजोगक्खेमवावारं वहति मए त्ति एव मणेण चिंतितुं अणुत्तसत्ता अप्पणो कम्म करेंति, अह तद्दोसभया मुक्क पुणो बधति, तत्थ बधणे दोसा जे वुत्ता ते भवति । जम्हा एते दोसा तम्हा ण बधति मुयति वा ।

कारणे पुण बंधमुयण करेज्जा–

> वितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झे ।
> विसमगड अगणिआऊ–वणप्फगादीसु जाणमवी ॥ ८ ॥

अणप्पज्झो बधइ, अविकोविओ वा, सेहो अहवा विकोवि–

ओ वा सेहो, अहवा विकोविओ अप्पज्झो, इमेहिं कारणेहिं बधति, विसमा अगडिअगणिकसु मरिज्जिहि इति डुगादिसणप्फपण वा मा खज्जिहि त्ति एव जाणणा वि बधइ, मुंचइ ।

तस्स इमं विइयपदं-

वितियपदमणप्पज्झे, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वावि पुणो, वल्लिपासगअगणिमादीसु ॥ ए ॥

वल्लिपासगो त्ति बंधणा तेण अईव गाढं बद्धो मूढो वा तरूफेडइ, मरइ वा जया, तया मुंचइ, मा मज्झिहि त्ति ।

बधणमुयणे इमा जयणा-

तेसु असाहीणेसुं, अहवा साहीणपत्थणे जयणा ।
केणं बद्धविमुक्को, पुच्छंति न जाणिमो केण ? ॥ १०॥

(तेसु त्ति) जया घरे गिहत्था असाहीणा तया एयं करेइ, साहीणेसु वा अपच्छमाणेसु मिगेसु, अह गिही पुच्छेज्जा-केण तत्रग बद्धं मुक्कं वा, तत्थ साहूहिं वत्तव्वं-न जाणामो अम्हे ॥ नि० चू० १२ उ० ।

कोल्लइर-कोल्लकिर-न० । वार्द्धक्ये, पिं० । कोल्लाकपुरे, यत्र सङ्गमस्थविरा नित्यवासमाश्रिताः । आव० ३ अ० । आ० चू० ।

कोल्लग-कोल्लक-पु० । दग्धकाष्ठलघुखएमेसु, "कोल्लपरंपर सकेल्लियाग्गसएणेति ।" नि० चू० १ उ० ।

कोल्लपागपुर-कोल्लपाकपुर-न० । माणिक्यदेव ऋषभस्थाने तीर्थे, ती० ५१ कल्प । ('माणिक्कदेव' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कोल्लयरपुर-कोल्लयरपुर-न० । स्वनामख्याते पुरे, यत्र धर्मसिंहाभिधान क्षत्रियमुनिः । सथा० ।

कोल्लाग-कोल्लाक-पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, कल्प० २ क्षण । यत्राऽव्यक्त. सुधर्मा च गणधरो जातः । आ० म० द्वि० । यत्र च बहुलब्राह्मणगृहे श्रीवीरजिनेन्द्रेण प्रथमभिक्षा लब्धा । कल्प० १ क्षण । आ० म० । त्र० । यत्र वा सङ्गमस्थविराः नित्यवास समाश्रिता' । "इहासन् कोल्लाकपुरे, निर्मलश्रुतसम्पदः सङ्गमस्थविराचार्या-स्तैर्दुर्भिक्षे स्वसाधवः" । आ० क० ।

कोल्लापुर-कोल्लापुर-न० । दक्षिणदेशस्थे पुरभेदे, यत्र शूद्रकनृपेण महालक्ष्मी तोषिता, सातवाहननृपभार्य्याः सातवाहन महिषीप्रवृत्ति व्यजिज्ञपन् । ती० ३४ कल्प० । (सातवाहनशब्दे कथा वक्ष्यते)

कोल्लासुर-कोल्लासुर-पुं० । स्वनामख्याते असुरभेदे,यो हि कोल्लापुरे महालक्ष्म्यादेशात्कृतहवनप्रत्यूहकरणाय कृतः शूद्रकनृपतिना मारितः । ती० ३४ कल्प । (सातवाहन शब्देऽस्य कथा)

कोल्लुग-कोल्लुक-पु० । इक्षुरसोत्पादके यन्त्रविशेषे, वघ्वा च "कोल्लुकचक्रन्यायेन परंपराया" बृ० १ उ० ।

कोल्लुगाणुग-क्रोष्टुकानुग-पु० । क्रोष्टुक. शृगालस्तद्नुगः शृगालोपमे आचार्य्यभेदे, वृषभभेदे, भिक्षुभेदे, यो हि रजोहरणनिषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा स्थितो वा वाचयति तिष्ठति वा शृगालानुगः । व्य० १ उ० । नि० चू० ।

कोव-कोप-पुं० । कुप भावे घञ् । कामाग्निजे चित्तवृत्तिभेदे, वधाद्यनुकूलचित्तवृत्तिभेदे, "मान. कोप. स तु द्वेधा, प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः । द्वयो. प्रणयमान. स्यात्,प्रमोदे तु महत्यपि ॥ प्रेम्ण कुटिलगामित्वात्,कोपो यः कारण विना" । इति साहित्यदर्पणोक्ते शृङ्गाररसाङ्गे,प्रणयकोपे च । धातुवैषम्यकारिदोषाणा विकारभेदे,वाच० । क्रोधोदयात् स्वभावाज्ज्वलनमात्रे,भ० १२ श० ५ उ० । तद्रूपे द्वितीये मोहनीये कर्मणि,स० ५२ सम० । ('कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६६ पृष्ठे प्ररूपितम्)

कोवघर-कोपगृह-न० । मानिनीनां कोपभवने, "देवी ईसाए कोवघर पविट्ठा ।" आ० म० प्र० ।

कोविय-कोपित-त्रि० । दूषिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

कोविद-पु० । 'कुइ' शब्दे । विच् । कोविंदस्तं वेत्ति । विद्-कः । पण्डिते, विदुषि, वाच० । कुशले, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । निपुणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अभ्यस्तसर्वागमत्वात् निपुणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । विपश्चिति, दश० ६ अ० ३ उ० ।

कोवीण-कौपीन-न० । कूपे पतनमर्हति खञ् । अकार्य्ये, पापे, गुह्यप्रदेशे , चीरे , मेखलाबद्धे वस्त्रखण्डे, (कपनी) तत्कारणेन कूपे पतनात् तस्य तथात्वम् । अकार्यवदाच्छाद्यत्वात् पुरुषलिङ्गे, तदावरकतया वस्त्रखण्डस्य कौपीनत्वम् । 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्त.' । 'पुरा कौपीनाच्छादनं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम्' । "अबलाः स्वल्पकौपीनाः, सुहृद. सत्यजिष्णवः ।" वाच० । ति० ।

कोस-कोष (श)-पुं० । न० । अर्द्धर्चादि० । कुश (ष) आधारादौ घञ् , कर्तरि अच् वा । अण्डे, कृताकृतयोर्हेमरूप्ययोः कुड्मले, मुकुले, समूहे, दिव्यभेदे, शब्दपर्यायज्ञापके अभिधाने, पानपात्रे, चषके, शिम्वायां, पनसादिमध्यस्थे (कोवा) ख्याते पदार्थे, ध० र० । शब्दान्तरपूर्वे तु गोलकाकारे पदार्थे, यथा नेत्रकोषः । वाच० । आश्रये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । धान्यनिधौ, स्था० ५ ठा० ३ उ० । भाण्डागारे, व्य० ४ उ० । औ० । कल्प० । रा० । स्था० । ज्ञा० । श्रीगृहे, स्था० ६ ठा० । वारकादिभाजने, "कोस यमो च मेहाए" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । खड्गपिधानके, त० । असिपरिवारे, "से जहाणामए केइ पुरिसे कोसाओ असिं अभिनिव्वट्टित्ता णं" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रत्याकारे, व्य० १० उ० । त्वगाद्यावरणे कोषवदावरकत्वात् पिधानमात्रे, कोशाधारे गृहे, कुशा भूमौ सन्त्यत्र अण् । कान्यकुब्जदेशे, मेघे," वाच० । धनुःसहस्रद्वये, स्था० ६ ठा० ।

कोसंब-कोशा-(षा) म्र-पु० । कोशे, (षे) आम्र इव फलप्रधानवृक्षभेदे,फलवृक्षे,वाच० । प्रज्ञा० । भ० । आचा० । ति० ।

कोसंबकाणण-कोशाम्रकानन-न० । स्वनामख्याते वने, यत्र पाण्डुमथुरां प्रति चलितः कृष्णवासुदेवजराकुमारेण पादे विद्धः । स्था० ८ ठा० ।

कोसंबगंडिया-कोशाम्रगण्डिका-स्त्री० । ६ त० । कोशाम्रस्य वृक्षविशेषस्य गण्डिकायां, खड्गविशेषे, भ० १६ श० ३ उ० ।

कोसंबपल्लवप्पविभत्ति-कोशाम्रपल्लवप्रविभक्ति-न० । कोशाम्रपल्लवप्रविभागाकाराभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा० ।

कोसंबी-कौशाम्बी-स्त्री० । वत्सदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, "वारवईए सुरट्ठा, मिहिलविदेहा य वच्छकोसंबी ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० म० । आव० । स्था० । प्रज्ञा० । अत्रैव भरतक्षेत्रे यमुनानदीकूले पूर्वदिग्वधूकण्ठ-

निवेशितमुक्ताकलकण्ठिकेव कौशाम्बी नगरी, तत्र सहस्रानीकराजसूनुः स्वकुलमहासरसि जायमानः शतानीको नाम राजा । विशे० । भ० । संथा० । बृ० । आ०व० । विपा० । वत्सदेशे कौशाम्बी नगरी । प्रव० १७४ द्वार ।

अथ कौशाम्ब्यां यद्यद्भूतत्संगृह्णन्नाह विविधतीर्थकल्पकृत्-"वच्छाजणवए कोसंबी नाम नगरी, जत्थ चंदसूरा सविमाणा सिरिवद्धमाण नमंसिउं समागया । तत्थ तस्स अज्जा य वेलं अजाणंती अज्जमिगावई समोसरणे पत्थाविया चंदाइच्चेसु सट्ठाण गएसु अज्जचंदणाइसाहुणीसु पच्चावस्सयासु पडिस्सयं हव्वमागया अज्जचंदणाए उवालद्धा निआवराह खमंती पायपडिया चेव केवल सपत्ता, जत्थ य उज्जेणी ओ पुरिसपरंपराणीयइट्टयाइ पयोअराओ मिगावईअज्झोववणेण दुग्गं कारिअ अज्ज चिट्ठिज्जइ, तत्थ य मिगावईकुच्छिसंभवो गंधव्ववेयनिउणो सयाणीयपुत्तो उदयणो वच्छाहिवो अहेसि । जत्थ चेइएसु पिक्खगजणनयणअमयंजणरूवा जिणपडिमाओ, जत्थ य कालिंदिजललहरिओलिगिज्झमाणाणि वणाणि, जत्थ पोसवहुलपाडिवयपडिवन्नाभिग्गहस्स सिरिमहावीरस्स चंदणबालाए पंचदिवसूणछम्मासेहिं सुप्पकोणट्ठियकुम्मासेहिं पारणं कारियं, वसुहारा य अद्धतेरसकोडिपमाणा देवेहिं वुट्ठा, अओ चेव सुहार त्ति गामो नयरीसान्निहिओ पसिद्धो वसइ, पंच दिव्वाणि अपाउब्भूआणि इ सुणिअ तद्दिणाओ पहुरुजिट्ठसुद्धदसमीए सामिपाएण दिणे वित्थन्हाणपाणाई आयारा, तत्थ अज्ज वि लोए पउमप्पहसामिणो चवणजम्मणदिक्खनाणकल्लाणगाइ संवुत्ताइ, जत्थ य सिणिरूच्छाया कोसंवितरुणो महापमाणा दीसंति, जच्च य पउमप्पहचेइए पारणकारावणदसाभिसंधिघरिया चंदणबालामुत्ती दीसइ । जत्थ य अज्ज वि तम्मि चेव चेइए पइदिणं पसंत मुत्ती सीहो आगतूण भगवओ भत्तिं करेइ ।

" सा कोसंबी नयरी, जिणजम्मणप्पवित्तिआ महातित्थं ।
अम्हाण वेउसिव्व, थुवती जिणप्पहसूरीहिं " ॥ १ ॥

इति श्रीकौशाम्बीकल्प. । ती० १२ कल्प० ।

दक्षिणस्यां दिशि यावत्कौशाम्बीविहारयोग्यो देशः । बृ०१ उ० ।

कोसंबिया–कोशाम्बिका–स्त्री० । स्थविरादुत्तरबलिसहान्निर्गतस्य गणस्य शाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कोसकोट्ठागारकहा–कोषकोष्ठागारकथा–स्त्री० । राजकथाभेदे, स्था० । (' रायकहा ' शब्दे व्याख्या)

कोसग–कोषग–पुं० । कोष–स्वार्थे कः । अण्डकोषे, वाच० ।

कोशक–पुं० । चर्ममयकोत्थलीप्राये पाषाणादिस्खलनया भज्यमाननखैरङ्गुष्ठादौ क्षिप्यमाने नखरदनगृहरूपे वा साधूनां चर्मोपकरणे, ध० ३ अधि० । " कोसगनहरक्खट्ठा, अंगुलीकोसो " नखनङ्करक्षार्थं गृह्यते, स च पादयोरङ्गुष्ठके च प्रक्षिप्यते । बृ० १ उ० । अनु० । सूत्रयोनौ, अनु० ।

कोसकार–कोश (ष) कार–पुं० । कोश (ष) करोति, कृ-एवुल् उप० स० । खड्गाद्यावरणकारके, वाच० । तस्य पत्नी ङीप् । इक्षुभेदे, कोषं स्ववेष्टन तन्तुभिः करोति । कृ-अण् वटकसुभादिकारणे, अनु० । कीटभेदे, वाच० ।

कोसल–कोश (स) ल–पुं० । व० व० । श्रीऋषभदेवस्य चतुर्विंशतितमे पुत्रे, तद्राज्यभूते देशभेदे च । स च देशः साकेत अयोध्याप्रतिबद्धआर्यक्षेत्रेषु अन्यतम । कल्प० ७ क्षण । " साकेयं कोसलागयपुरं कुमुदा य " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० । कोकेऽपि–"कोश (स) लो नाम मुदितः, स्फीतो जनपदो महान् । निविष्ट सरयूतीरे, प्रभुधान्यसमृद्धिमान् ॥" कोशलदेशो द्विविधः प्राच्योत्तरभेदात् । तत्र अयोध्यायुक्तदेशस्योत्तरकोशलत्वम् प्राच्यकोशलास्तु पूर्वस्याम् । वाच० ।

कौशल–न० । कुशलस्य भावो युवा० अण् दक्षतायाम्, वाच० ।

कोसलग–कोशलक–पुं० । कोशला अयोध्या, तज्जनपदोऽपि कोशला, तत्सम्बन्धिन. कोशलकाः । भ० ७ श० ६ उ० । कोशलदेशोद्भवेषु, पिं० । कोशलदेशोत्पन्नत्वात् कौशालिकेषु भरतादिषु, स्था० ५ ठा० २ उ० । कोशलदेशस्य राजसु, कल्प० ६क्षण ।

कोसलपुर–कोशलपुर–न० । अयोध्यायाम्, आव० १ अ० ।

कोसला–कोश (स) ला–स्त्री० । कुश (स) बृषा० कल नि० गुणः । वाच० । अयोध्यायाम्, ती० ११ कल्प । " अवज्झा कोसंविणिया साकेयं इक्खागुभूमी रायपुरि कोसल त्ति" अयोध्याया एकार्थिकानि । कल्प० । ज० । ('अउज्झा' शब्दे प्र० भा० ३४ पृष्ठे कल्प उक्तः) साकेतप्रतिबद्धे जनपदे च । कोशला अयोध्या, तज्जनपदोऽपि कोशला । भ० ७ श० ६ उ० । आ० म० द्वि० । प्रव० ।

कोसलाउर–कोशलापुर–न० । अयोध्यायाम्, "कोशलाउरे, नदस्स धूया सिरिसमती । " आ० म० द्वि० ।

कोसलिय–कौशलिक–पुं० । कुशला विनीता अयोध्या, तस्या अधिपतिस्तत्र भवो वा कौशलिकः, अध्यात्मादित्वादिकण् प्रत्ययः । आ० म० प्र० । कोशलदेशे भवः कौशालिकः । स० ८३ सम० । कोशलायामयोध्यायां भव । ज० २ वक्ष० । कोशलदेशे जाते, भ०२०श० ८उ० । कोशलदेशोत्पन्नत्वात् श्रीऋषभदेवे, "उसभेणं अरहा कोसलिए पंचसयाइ उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था " स्था० ५ ठा० ३ उ० । कुशलाय कर्मणि दीयते, ठक् । निजकार्यसाधनार्थं राजादिकार्य्यकरेभ्यो दीयमाने उत्कोचे, वाच० ।

कोसल्ल–कौश (स) ल्य–न० । कुशलमेव ब्राह्म० ष्यञ् । दक्षतायाम्, वाच० । निपुणत्वे, "निउणत्तणं च कोसल्लं तत्थ निसेवासयण" स्था० ।

कोसा–कोशा–स्त्री० । स्वनामख्यातायां वेश्यायाम्, यस्या गृहे द्वादश वर्षाण्युषित्वाऽपि श्रीस्थूलभद्रस्वामी न धैर्याच्चलितः । कल्प० ७ क्षण । आ० म० द्वि० । ती० । आ० चू० । (तत्कथा ' थूलभद्द'शब्दे कथयिष्यते)

कोसागार–कोशाकार पुं० । कमलकोरकाकृतिषु, पञ्चा० ३ विव० । विकासितकमलसदृशे, दर्श० ।

कोसातग–कोशा (षा) तक–पुं० । कोश (ष) मतति । अत-क्वुन् । कटे वेदशाखाभेदे, पटोल्याम्, घोषके, (तरुई । वाच० । आचा० ।

कोसिय–कौशिक–न० । कुशिकस्यापत्यम् ऋष्यण् । कुशेन वृत्तः अध्या० ठञ् । कुशिके, तद्वंशे भव अण् वा । वाच० । कुशिकाऽऽस्यपुरुषप्रभवे मनुष्यसन्ताने, तद्रूपे मूलगोत्रभेदे, स्था० ७ ठा० । "जे कोसिया ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा–ते कोसिया ते कच्चायणा ते सालकायणा ते गोलिकायणा ते पक्खिकायणा ते अग्गिच्चा ते लोहिच्चा" । कौशिका पशुलूकादय. । स्था०

७ ठा० । बहुलो वलिसहश्च द्वौ जमलभ्रातरौ कौशिकगोत्रौ, नं०। त्रिंशत्तितमनक्षत्रस्य गोत्र कौशिकम् । चं०प्र०१०पाहु०ज०। सूत्र० । अङ्गर्षिरुद्रकयोर्गुरौ, स्वनामख्याते ब्राह्मणोपाध्याये, आ० क०। ('अङ्गत्र' शब्दे प्र० भागे २१५ पृष्ठे कथोक्ता) आव० । आ० चू० । चण्डकौशिके, तस्य कौशिक इति मुख्यं नाम, चण्ड इति तीव्रकोपत्वाद् विशेषणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० । ('चण्डकोसिय' शब्दे कथा) कोलाकसन्निवेशे जाते ब्रह्मलोकाच्च्युते मरीचिजीवे ब्राह्मणे, आ० म० प्र० । आ० चू० । सिद्धार्थपुरेऽनार्यैर्गृहीतस्य वीरभगवतो मोचके स्वनामख्यातेऽश्ववणिजि, आ० म० द्वि० । आ० चू० । दी० ।

कोसियार-कोशिकार-पुं० । चीनविषये उत्पद्यमाने चीनांशुके, स्था० ५ ठा० ३ उ० । हसगर्भे सूत्रकारणे, अनु० । कोशकारके जीवभेदे, पुं० । कोशिकारकीटो हि दिग्भ्योऽनुदिग्भ्यश्च विश्यदात्मसरक्षणार्थं वेष्टन करोति। आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

कोसी-कोशी (षी)-स्त्री० । कुश (कुष) अच्, गौरा० ङीष्, चर्मपादुकायाम्, धान्याद्यग्रभागे च । वाच० ।

कोसी-स्त्री०। गङ्गामहानदीं सलिलैः समर्पयति। नदीभेदे,स्था० ५ ठा० ३ उ०। प्रतिमायाम्,स्था०५ठा० ३ उ०। ज्ञा० । उपा० ।

कोसेय-कौशेय-न० । कोशा (षा) दुत्थितम् ढक् । कृमिकोशादिजाते वस्त्रे, वाच० । त्रसरितन्तुनिष्पन्ने वस्त्रे, जी० ३ प्रति० । कौशेयकारोद्भवे वस्त्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । " कोसेज्जो वडमो भण्णति " । नि० चू० १ उ० । आ० म० । 'हलधरकोसेय।' बलदेववस्त्रम् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कोस्टागार- कोष्ठागार-न० । मागध्यां "ष्टयो स्टः" ।८।४।२९०। इति षकाराक्रान्तस्य ठकारस्य सकाराक्रान्तः टः। धान्यागारे, प्रा० ४ पाद ।

कोह-कोथ-पुं० । कुथित्वे शटने, भ० ३ श० ६ उ० ।

क्रोध-पुं०। क्रोधन कुध्यति वा येन स क्रोधः। स्था०४ ठा०१उ०। (चतुर्धा क्रोध• 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्तः) क्रुध घञ् । कोपे, पा० । प्रव० । दर्श० । उत्त० । रोषे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । अक्षान्तिपरिणतिरूपे, प्रव० २१६ द्वार । अविचार्य्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतौ अन्तर्बहिर्वा स्फुरणात्मनि, ध० १ अधि०। उत्त०। सूत्र० । स्वपरात्मनाऽप्रीतिलक्षणे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । क्रोधमोहनीयोदयसपाद्ये जीवस्य परिणतिविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ० । जातिकुलरूपबलादिसमुत्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ०४ उ० । कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलके प्रज्वलनात्मके चित्तधर्मे, द्वा० २१ द्वा० ।

क्रोधनिक्षेप -तत्र क्रोधो नामादिभेदाच्चतुष्प्रकारः । नामस्थापने क्षुण्णे, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यक्रोधः। प्राकृतशब्दसामान्यापेक्षया चर्मकारकोथ रजककोथो नीलिकोथश्च कोथ इति गृह्यते।नोआगमतो भावक्रोध क्रोधोदय एव।स च चतुर्भेद• । उक्त च-"जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरीसो चउव्विहो कोहो " ॥ (२९७०) विशे० । आ० म० द्वि० ।

अथ नामादिके द्रव्यक्रोधे ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यक्रोधमाह—

दुविहो दव्वकोहो, कम्मदव्वे य नो य कम्मम्मि ।
कम्मदव्वे कोहो, तज्जोग्गा पोग्गलाऽणुइया ॥२९८७॥
नो कम्मदव्वकोहो, नेओ चम्मारनीलिकोहाई ।
जं कोहवेयणिज्जं, समुइण्णं भावकोहो सो ॥ २९८८ ॥

ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यक्रोधो द्विधा-कर्मद्रव्यक्रोधो, नोकर्मद्रव्यक्रोधश्च । तत्र योग्यादयोऽनुदिताश्चतुर्विधा• पुद्गलाः कर्मद्रव्यक्रोध• ॥२९८७॥ नोकर्मद्रव्यक्रोधस्तु-(कोहि त्ति) प्राकृतशब्दमाश्रित्य चर्मकारचर्मकोथो नीलकोथादिश्च ज्ञेयः । भावक्रोधमाह-यत्क्रोधवेदनीय कर्म्म विपाकतः समुदीर्णमुदयमागतं तज्जनितश्च क्रोधपरिणाम• स भावक्रोध इति ॥२९८८॥ विशे० । " एगे कोहे " स्था० १ ठा० १ उ० ।

दुविहे कोहे पन्नत्ते । तं जहा-आयपइट्टिए चेव,परपइट्टिए चेव । एवं णेरइयाणं० जाव वेमाणियाणं एवं० जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥

(दुविहे कोहे इत्यादि) आत्मापराधादैहिकापायदर्शनादात्मनि प्रतिष्ठित आत्मविषयो जात आत्मना वा परआक्रोशादिना प्रतिष्ठितो जनित आत्मप्रतिष्ठित•, परेणाक्रोशादिना प्रतिष्ठित उदीरित• परस्मिन् वा प्रतिष्ठितो जात परप्रतिष्ठित इति । (एवमिति)यथा सामान्यतो द्विधा क्रोध उक्त,एव नारकादीनां चतुर्विंशतेर्वाच्य,नवर पृथिव्यादीनामसज्ञिनामुक्तलक्षणमात्मप्रतिष्ठितत्वादिपूर्वभवसस्कारात् क्रोधद्वयमवगन्तव्यमिति । एव मानादीनि मिथ्यात्वान्तानि पापस्थानकान्यात्मप्रतिष्ठितविशेषणानि, सामान्यपदपूर्वक चतुर्विंशतिदण्डकेनाध्येतव्यानि । अत एवाह-(एव जाव मिच्छादसणसल्ले त्ति) एतेषां च मानादीनस्वविकल्पजातपरजनितत्वाभ्यां स्वात्मवर्त्तिपरात्मवर्त्तित्वाभ्यां वा स्वपरप्रतिष्ठितत्वमवसेयम्, एते पापस्थानाश्रिताश्चयोदश दण्डका इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । (क्रोधस्यात्मप्रतिष्ठितत्वादिभेदा सदण्डकाः 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्ता•)

राजयः-

चत्तारि राईओ पण्णत्ता । तं जहा-पव्वयराई पुढविराई वालुयराई उदगराई । एवामेव चउव्विहे कोहे पण्णत्ते । तं जहा-पव्वयराईसमाणे पुढविराईसमाणे वालुयराईसमाणे उदगराईसमाणे । पव्वयराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ, पुढविराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे काल करेइ, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ, वालुयराइसमाणं कोहं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, मणुस्सेसु उववज्जइ, उदगराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे समाणे जीवे कालं करेइ, देवेसु उववज्जइ ।

अस्य चायमभिसम्बन्ध -पूर्वं चारित्रमुक्त तत्प्रतिबन्धकश्च क्रोधादिभाव• इति क्रोधस्वरूपनिरूपणायेदमुच्यते-तदेवं सबन्धस्यास्य दृष्टान्तभूतादिसूत्रव्याख्या राजी रेखा, शेष क्रोधव्याख्यानं मायादिवत् मायादिप्रकरणाच्चान्यत्र क्रोधविचारो विचित्रत्वात्सूत्रगते•। द्वितीय च सुगममेव। अयञ्च क्रोधो भावविशेष इति । भावप्ररूपणाय दृष्टान्तादिसूत्रद्वयमाह-(चत्तारीत्यादि) प्रसिद्ध किन्तु कर्दमो यत्र प्रविष्ट पादादिना कष्टं शक्यते, कष्टेन वा शक्यते, खञ्जन दीपादिखञ्जनतुल्य• पादादि-

लेपकारी कर्दमविशेष एव, वालुका प्रतीता, सा तु लग्नाऽपि जलशोषे पादादेरल्पेनैव प्रयत्नेनापैतीत्यल्पलेपकारिणी, शैलास्तु पाषाणाः श्लक्ष्णरूपाः, ते पादादेः स्पर्शनेनैव किञ्चित् दुःखमुत्पादयन्ति, न तु तथाविधं लेपमुपजनयन्ति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ० । आचा० ।

जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं संबध्यते, ततो जलराजिसदृशस्तावत्संज्वलन क्रोधः। यथा यष्ट्यादिभिर्जलमध्ये राजी रेखा क्रियमाणा शीघ्रमेव निवर्त्तते, तथा यः कथमप्युदयं प्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्त्तते, स संज्वलनक्रोधोऽभिधीयते, रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरण क्रोधः । अय हि संज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्रत्वाद्रेणुमध्यविहितरेखावच्चिरेण निवर्त्तत इति भावः। पृथिवीराजिसदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरण', यथा स्फुटितपृथिवीसबन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते, एवमेषोऽपि प्रत्याख्यानावरणापेक्षया कष्टेन विनिवर्त्तत इति भावः। विदलितपर्वतराजीसदृशः पुनरनन्तानुबन्धी क्रोधः, कथमपि निवर्तयितुमशक्य इत्यर्थः । उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः । कर्म० १ कर्म०। "कोहे कोवे रोसे दोसे अखमासंजलणे कलहे चंडिक्के भंडणे विवाए " इति दश नामानि क्रोधकषायस्य गौणमोहनीयकर्मणि अन्तर्भवन्ति । स० ५२ सम० । आ० म० । आ० चू० । (क्रोधे उदाहरणम् 'जमदग्गि' शब्दे)

कोहं असच्चं कुवेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ।

क्रोधमसत्यं कुर्यात् गुरुभिर्निर्भर्त्सितः कदाचित् सक्रोधः स्यात्तदाऽपि क्रोधं विफलं कुर्यात् अप्रियमपि गुरुवचनं प्रियमिव आत्मनो हितमिव स्वमनसि धारयेत् ।१४। अथ क्रोधस्य असत्यकरणे उदाहरणम् । यथा-कस्यचित् कुलपुत्रस्य भ्राता वैरिणा व्यापादितः, अन्यदा कुलपुत्रो जनन्या भणितः-पुत्र! त्वद्भ्रातृघातुक वैरिणं घातय। ततः स वैरी तेन कुलपुत्रेण शीघ्रं निजबलात् जीवग्राहं गृहीत्वा जननीसमीपे आनीत· भणितश्च । अरे । भ्रातृघातक! अनेन खड्गेन त्वामहं क्व हन्मि ?, तेनापि उद्गामितं प्रचण्ड दृष्ट्वा भयभीतेन भणितम्-यत्र शरणागता न हन्यन्ते एतद्वचः श्रुत्वा कुलपुत्रेण जननीमुखमवलोकितम् । जनन्या च सत्त्वमवलम्ब्य उत्पन्नकरुणया भणितम्-हे पुत्र ! शरणागता न हन्यन्ते । यतः-"सरणागयाणं विस्सं-भियाण पणयाण वसणपत्ताणं । रोगी अजुंगमाणं, सप्पुरिसा नेव पहरंति" ॥१॥ तेन कुलपुत्रेण भणितम्-कथ रोषं सफलीकरोमि ?। जनन्या उक्तम् वत्स ! सर्वत्र न रोषः सफलीक्रियते । जननीवचनात् स तेन मुक्तः । तयोश्चरणेषु पतित्वा क्षामयित्वा चापराध स गतः । एव क्रोधमसत्य कुर्यात् । इति कुलपुत्रस्य कथा । उत्त० १ अ० ।

"कोहो अप्पीइकरो. उव्वेयकरो य सुगइनिद्दलणो ।
वेराणुबंधजलणो, जलणो वरगुणगणवणस्स ॥८४॥
कोहंधा निहणंती, पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च ।
अणयं जणिं अप्पि पि, निग्घिणा किंच न कुणंति ? ॥ ८५ ॥
कोहग्गी पज्जलिओ, न केवल दहइ अप्पणो देहं ।
सत्ताविई य परपि हु, पहवइ परभवविणासाय ॥ ८६ ॥
ता कोहमहाजलणं, विज्झवियव्वो खमाजलेण सया" ।
न कारणवशां संख्या-ऽसंख्याताः कारणक्रुधः ।
कारणेऽपि न कुप्यन्ति, ये ते जगति पञ्चषाः" ॥ सङ्घ० १ प्रस्ता० ।

क्रोधकषायमुद्भावयितुमाह-

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ॥
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी ॥ ५ ॥

यो ह्यविदितकषायविपाकः प्रकृत्यैव क्रोधनो भवति, तथा जगदर्थभाषी यश्च भवति । जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभाषी तद्यथा— ब्राह्मणं ' डोमं ' इति ब्रूयात्तथा वणिजं 'किराट' इति, शूद्रम 'आभीरं' इति, श्वपाकं 'चाण्डाल' इत्यादि । तथा काणं काणमिति, तथा खंज कुब्ज वडभमित्यादि, तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि । यो यस्य दोषस्तं तेन खर परुष ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी । यदि वा जयार्थभाषी यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च, येन केनचित्प्रकारेणाऽसदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थ.। (विओसिय ति) विविधमवसितं पर्यवसितमुपशान्त द्वन्द्वं कलहं यः पुनरप्युदीरयेत् । एतदुक्त भवति-कलहकारिभिर्मिथ्यादुष्कृतादिना परस्पर क्षामितेऽपि तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषा क्रोधादयो भवन्ति । सांप्रतमेतद्विपाक दर्शयति-यथा ह्यन्धश्चक्षुर्विकलो दण्डपथ गोदण्डमार्गं प्रमुखोज्ज्वल गृहीत्वाऽऽश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया घृष्यते कण्टकश्वापदादिभिः पीड्यते, एवमसावपि केवल लिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोदीपकः, तथा (अविओसिय त्ति) अनुपशान्तद्वन्द्वः पापमनार्यं कर्मानुष्ठानं यस्यासौ पापकर्मा घृष्यते, चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौन.पुन्येन पीड्यत इति ॥५॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। "णत्थि कोहे व माणे वा. णेव सन्न निवेसए । अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्न निवेसए" ॥२०॥ इति क्रोधसिद्धिः 'अत्थिवाय' शब्दे प्र० भागे ५२१ पृष्ठे उक्ता) "विगिंच कोहं अविकपमाणे " कारणेऽकारणे वाऽतिक्रूराध्यवसायः क्रोधः,त त्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेध दर्शयत्यविकम्पमान· । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । " लोभी पश्येद्धनप्राप्तिं, कामिनी कामुकस्तथा । भ्रमन् पश्येदथोन्मत्तो, न किञ्चिच्च क्रुधाऽऽकुलः" ॥ १ ॥ उत्त० ७ अ० । क्रोधपरिणामजनके (मोहनीय) कर्मणि, भ० १२ श० ५ उ० ।

कोहंगक-कोहङ्गक-पु० । पक्षिभेदे, औ० । (अनन्तानुबन्ध्यादि चतुर्धा क्रोधः 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्तः)

कोहज्झाण-क्रोधध्यान-न० । कूलवालुकगोशालककपालकनमुचिशिवभूतिप्रभृतीनामिव क्रोधाध्यवसिते ध्याने, आतु० ।

कोहंड-कूष्माण्ड-पुं० । रत्नप्रभाया उपरि योजनशते व्यानपति अप्रज्ञप्त्यादिषु सप्तमे व्यन्तरनिकाये, प्रव० १९४ द्वार । पुष्पफले, अनु० । सौधर्मकल्पे स्वनामख्याते विमाने, ती० ५६ कल्प ।

कोहंडिदेव-कूष्माण्डिमदेव-पु० । सोमभट्टभार्याया अम्बिकाया· कूष्माण्डे कल्पे देवत्वेनोत्पन्ने जीवे, ती० ।

तत्कल्प इत्थम्-

" सिरिउज्जयतगिरिसिहर-सेहर पणमिऊण नेमिजिणं ।
कोहंडिदेवकप्पं, लिहामि वुड्ढोवएसाओ " ॥ १ ॥
अत्थि सुरट्ठाविसए धणकणयसंपन्नजणसमिद्धं कोडीनारं

आव० । आ० चू० । "कोहं परियाणइ से णिग्गंथे णो कोहणे सिया" इत्यादि मृषावादविरतेर्द्वितीया भावना । आचा०२ श्रु० ३ चू० ।

कोहणिग्गह–क्रोधनिग्रह–पुं० । क्रुध कोपे,क्रोधनं क्रोधः। निग्रहणं निग्रहः । तितिक्षात्मके चरणभेदे, ओघ० । प्रव० ।

कोहणिरोह–क्रोधनिरोध–पुं० । क्षमायाम्, "खम त्ति वा तितिक्ख त्ति वा कोहनिरोह त्ति वा एगट्ठा।" आ० चू० ४ अ० ।

कोहणिस्सिय–क्रोधनिश्रित–न०। क्रोधे निश्रितं क्रोधानिश्रितम्। क्रोधाश्रिते वृथाशब्दार्थे, तद्य यथा क्रोधाभिभूतोऽदासमपि दासमभिधत्त इति । स्था० १० ठा० । क्रोधे च माने च मूर्च्छाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

कोहदंसि (ण्)–क्रोधदर्शिन्–त्रि० । क्रोधस्य स्वरूपतो वेत्तरि, 'जे कोहदंसी से मानदंसी।' यो हि क्रोधं स्वरूपतो वेत्त्यनर्थपरित्यागरूपत्वात् ज्ञानस्य परिहरति च समानमपि पश्यति परिहरति चेति,यदि वा यः क्रोधं पश्यत्याचरति समानमपि पश्यति मानाध्मातो भवतीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

कोहपडिसंलीण–क्रोधप्रतिसंलीन–त्रि० । क्रोधं प्रति उदयनिरोधेनोदयप्राप्तविफलीकरणेन प्रतिसंलीनः । क्रोधनिरोधवति, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

कोहपिंड–क्रोधपिण्ड–पुं० । क्रोधः कोपस्तद्धेतुकः पिण्डः क्रोधपिण्डः प्रव० ६७ द्वार । विद्यातपःप्रभावज्ञापन राजपूजादिख्यापनं क्रोधफलदर्शनं वा भिक्षार्थं कुर्वतः सप्तमे उत्पादनादोषे, ध० ३ अधि० । पञ्चा० । उत्त० ।

अस्य सम्भवमाह–

विज्जा तवप्पभावं,रायकुले वा वि वल्लभत्तं ।
से नाउ उरस्सवलं, जो लब्भइ कोहपिंडो सो ॥

(से) साधोर्विद्याप्रभावमुच्चाटनमरणादिकं, तपःप्रभावं शापदानादिकं, राजकुले वल्लभत्वं वा ज्ञात्वा, यदि वा उरस्यं बलसहस्र योधित्वादिकं ज्ञात्वा यः पिण्डो लभ्यते गृहस्थेन दीयते स क्रोधपिण्ड ।

अथवा वृथा क्रोधपिण्डसंज्ञवस्तमेव दर्शयति–

अन्नेसि दिज्जमाणे, जायंतो वा अलद्धिओ कुप्पे ।
कोहफलम्मि वि दिट्ठे, जो लब्भइ कोहपिंडो सो ॥

अन्येभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो दीयमाने याचमानोऽपि साधुर्यदा न लभते तदा अलब्धिमान् सन् कुप्येत्, कुपिते च सति (तस्मात् साधुः कुपितो भव्यो न भवतीति) यद्दीयते स क्रोधपिण्डः,यदि वा तस्मिन्नप्येव वा क्रोधफले मरणादिशापे फलवति दृष्ट्वा लभ्यते स क्रोधपिण्डः ।

अत्रैवोदाहरणमाह–

करडुयभत्तमलद्धुं, अन्नहिं दाहित्थ एव वचंतो ।
थेरा भोयण तइए, आइक्खणा खामणा दाणे ॥

हस्तकल्पे नगरे कश्चित् ब्राह्मणगृहे मृतकभक्ते मासिके दीयमाने कोऽपि साधुः मासक्षपणपर्यवसाने भिक्षार्थं प्रविवेश, दृष्टाश्च तेन घृतपूरा ब्राह्मणेभ्यो दीयमानाः, सोऽपि च साधुः प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततः कुपितोऽवादीत्–(अन्नहिं दाहित्थ त्ति) अस्य चायमर्थः–अस्मिन् मासिके तावन्मया न लब्धं ततोऽन्यस्मिन् मासिके दास्यथेति।एवं अप्युक्त्वा निर्गतो,दैवयोगेन च तत्रान्यमानुषं पक्षमदिनमध्ये मृतं, ततस्तस्य मासिके दीयमाने भूयः स एव साधुर्मासक्षपणपारणे गतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततो भूयोऽपि कुपितोऽवादीत्–(अन्नहिं दाहित्थ त्ति)ततः पुनरपि दैवयोगतस्तत्रान्यमानुषं मृत,ततस्तस्यापि मासिके स एव साधुर्मासक्षपणपारणे भिक्षार्थमागतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण भणति–(अन्नहिं दाहित्थ त्ति) एतच्च श्रुत्वा तेन स्थविरेण दौवारिकेण चिन्तितम् पुराऽप्येतेन वारद्वयमित्थं शापो वितीर्णस्ततो द्वे मानुषे उपगते, संप्रति तृतीया वेला, ततो मा किमपि मानुषं म्रियतामिति निजानुकम्पया सर्वोऽपि वृत्तान्तो गृहनायकाय निवेदितः, तेन च समागत्य सादरं साधुं क्षमयित्वा घृतपूरादिकं तस्मै यथेच्छं व्यतारि, स क्रोधपिण्डः । सूत्रं सुगम, नवरं करडुकभक्तं मृतकभोजनं मासिकादि, पिं० । अत्राचामाम्लं प्रायश्चित्तम् । जी० १ प्रति० ।

जे भिक्खू कोहपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६५ ॥

क्रोधात् प्रमादात् यः पिण्डो लभ्यते स कोपपिण्डः ।

जे भिक्खु कोहपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जा ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १७७ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० १३ उ० ।

कोहपत्त–क्रोधप्राप्त–त्रि० । क्रोधोदये वर्तमाने, "कोहप्पत्ते को ही समावदेज्जा मोसवयणाइं ।" आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

कोहमुंड–क्रोधमुण्ड–पुं० । क्रोधे मुण्डः क्रोधमुण्डः। क्रोधापनोदनान्मुण्डमशब्दार्थतां प्राप्ते, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कोहल–कुतूहल–न० । "न वा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले" । ८ । १ । १७१ । 'कोहलं, कोउहल्लं' औत्सुक्ये, "तहमवे कोहलिए" प्रा०१पाद ।

कोहली–कूष्माडी–स्त्री० । "ओत्कूष्माण्डीतूणीरकूर्परस्थूलताम्बूलगुडूचीमूल्ये । " ८ । १ । १२४ । इति उत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । "कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तुण्डो वा" । ८ । २ । ७३ । कूष्माण्ड्यां मा इत्येतस्य हो भवति,एः इत्येतस्य तु वा लो भवति । "कोहली, कोहंडी।" पुष्पफल्याम्, प्रा० २ पाद ।

कोहविजय–क्रोधविजय–पुं० । क्रोधस्य विजयो दुरन्तादिपरिभावनेनोदयनिरोधः क्रोधविजयः। क्रोधनिग्रहे, उत्त० २९ अ० ।

क्रोधफल प्रश्नपूर्वकमाह–

कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कोहविजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६७ ॥

हे भगवन् ! क्रोधविजयेन जीवः किं जनयति ?। गुरुराह–हे शिष्य ! क्रोधविजयेन जीवः क्षान्तिं जनयति, क्रोधविजयी क्षान्तिमान् भवति इत्यर्थः । पुनः क्रोधवेदनीयं न कर्म बध्नाति,क्रोधोदयेन वेद्यते इति क्रोधवेदनीयं क्रोधहेतुभूतं पुद्गलरूपं मोहनीयकर्मणो भेदं न बध्नाति,'पूर्वबद्धं च कर्म निर्जरयति । उत्त० । तत्र क्रोधस्य विजयो दुरन्ततादिपरिभावनेनोदयनिरोधः क्रोध-

विजयः,तेन क्रोधेन कोपाध्यवसायेन वेद्यत इति क्रोधवेदनीयः, तद्धेतुभूतं पुद्गलरूपं कर्म न बध्नाति । " जं वेयति तं बंधइ " इति वचनात्तथा पूर्वबद्धं प्रक्रमात्तदेव निर्जरयति, तत एवं विशिष्टजीववीर्योल्लासात् । उत्त० २९ अ० ।

कोहविवेग-क्रोधविवेक-पुं० । कोपत्यागे,क्रोधस्य दुरन्ततादिपरिभावनेनोदयनिरोधे, प्र० १७ श० ३ उ० । " एगे कोहविवेगे " स्था० १ ठा० १ उ० ।

कोहवेयणिज्ज-क्रोधवेदनीय-न० । क्रोधेन कोपाध्यवसायेन वेद्यत इति क्रोधवेदनीयम् । कोपेन वेद्यमाने कर्मभेदे, उत्त० २९ अ० ।

कोहसण्णा-क्रोधसंज्ञा-स्त्री० । क्रोधोदयात्तदावेशगर्भा प्ररूक्षमुखनयनदन्तच्छदस्फुरणादिचेष्टैव संज्ञायते अनयेति क्रोधसंज्ञा । भ० ७ श० ८ उ० । प्रज्ञा० । संज्ञाभेदे, स्था० १० ठा० । आचा०

कोहा-क्रोधा-स्त्री० । क्रोध-अर्शआदित्वात् अच् । क्रोधवत्याम्, क्रोधानुमतायाम्, " से कोहाए माणाए लोहाए आसायणाए । " क्रोधयेति क्रोधवत्या इति प्राप्ते अर्शआदेराकृतिगणत्वाद् अच्प्रत्ययान्तत्वात् क्रोधया क्रोधानुमतया । आव० ३ अ० ।

कोहाइ-क्रोधादि-पुं० । क्रोधप्रभृतिकषाये,"कोहाती,आदिसद्दातो माणया लोभा घेप्पंति । " नि० चू० १ उ० ।

कोहाइदूसियमण-क्रोधादिदूषितमनस्-त्रि० । कोपलोभादिकषायकलङ्कितान्तःकरणे प्राणिप्राणप्रहाणनिरपेक्षे, पञ्चा० १ विव० ।

कोहाइमाण-क्रोधादिमान-न० । पुं० । क्रोध आदिर्येषां ते क्रोधादयः, मीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति मान स्वलक्षणमनन्तानुबन्ध्यादिर्विशेषः क्रोधादीनां मान क्रोधादिर्वा यो मानो गर्वः क्रोधकारणः । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । कषायमाने, "कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं ॥ तम्हा हि वीरे विरए वहाओ, छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

कोहाइविवेग-क्रोधादिविवेक-पुं० । क्रोधादयोऽप्रशस्ता भावास्तेषां विवेकः नरकयातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः । क्रोधादिभावे, दश० १ अ० ।

कोहि-क्रोधिन्-पुं० कुप्यतीति क्रोधी । हेतुमन्तरेणापि कुप्यति धर्म्मणि,उत्त० ७ अ० । "कोही समावदेज्जा । " आचा० ३ चू० । अनु० । क्रोधकषायिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

कोहिल्ल-क्रोधवत्-त्रि० । क्रोधिनि, बृ० १ उ० ।

कोहुप्पत्ति-क्रोधोत्पत्ति-स्त्री० । क्रोधजनने, स्था० ।

दसहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती सिया । तं जहा-मणुण्णाइं मे सद्द० जाव गंधाइं अवहरिंसु ॥१॥ अमणुण्णाइं मे सद्दाइं० जाव उवहरिंसु ॥ २ ॥ मणुण्णाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं अवहरइ ॥ ३ ॥ अमणुण्णाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं उवहरइ ॥४॥ मणुण्णाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं अवहरिस्सइ ॥५॥ अमणुण्णाइं मे सद्दाइं० जाव उवहरिस्सइ ॥ ६ ॥ मणुण्णाइं मे सद्द० जाव गंधाइं अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ ॥ ७ ॥ अमणुण्णाइं मे सद्द० जाव उवहरिंसु, उवहरइ, उवहरिस्सइ ॥ ८ ॥ मणुण्णामणुण्णाइं मे सद्दाइं० जाव अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ ॥ ९ ॥ उवहरिंसु उवहरइ उवहरिस्सइ ॥ १० ॥ अहं च णं आयरियउवज्झायाणं सम्मं वट्टामि ममं च णं आयरियउवज्झाया मिच्छं विप्पडिवन्ना ॥

गतार्थ,नवरं स्थानविभागोऽयं,तत्र मनोज्ञान् शब्दादीन् मे अपहृतवानित्येव भावयतः क्रोधोत्पत्तिः स्यादित्येकमेवममनोज्ञानुपहृतवानुपनीतवानिह चैकवचनबहुवचनयोर्नविशेषः, प्राकृतत्वादिति । द्वितीय एव वर्त्तमाननिर्देशेनापि द्वय भविष्यताऽपि द्वयमित्येवं षट् । तथा मनोज्ञानामपहारत. कालत्रयनिर्देशेन सप्तम एवममनोज्ञानामुपहर्त्तोऽष्टमं मनोज्ञामनोज्ञानामपहारोपहारतः कालत्रयनिर्देशेन नवमम । (अह चेत्यादि) दशम(मिच्छं ति) वैपरीत्य विशेषेण प्रतिपन्नो विप्रतिपन्नाविति ॥ स्था० १० ठा० । (चतुर्णां क्रोधोत्पत्ति० 'कसाय' शब्देऽत्रैव भागे ३९५ पृष्ठे उक्ता)

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८
श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजे-
न्द्रे ककारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

खकार

खख–ख–पुं०। खकारः व्यञ्जनवर्णभेदः। कवर्गद्वितीयवर्णे कण्ठ्ये, खन–धा० रुः । सुखे, सूर्ये, वितर्के, वेदने, निन्दायां, नृपे, क्षेपे, दिवि, अवसाने, अपवर्गे, परब्रह्मणि, न० । कूपे, क्षीने, उदरे, अग्नौ, कृपणे, निश्चये, शान्ते रसे, विहगनायके, क्षेत्रे, पुरे, इन्द्रौ, दन्तधावने, कुणहे, संवेशे, फुल्लणे, एका०। इन्द्रिये, न०। आ० म० प्र०। विशे०। खमित्याकाशम् । आ० चू० ६ अ०। "गज्जंते खे मेहा" प्रा० १ पाद। लग्नाद्दशमे स्थाने, वाच०।

खअ–क्षत–त्रि० । " क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ " । ८ । २ । ३ । इति प्राकृतसूत्रेण क्षस्य खः। प्रा० २ पाद। विदारिते, पीडिते, धर्षिते, क्षये, पुं० । विनाशे, वाच० ।

खअजलहल–क्षयजलधर–पुं० । " क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ " । ८ । २ । ३ । इति क्षस्य ख'। क्षस्य कः इति अनादावित्येव, जिह्वामूलीयः । प्रलयमेघे, प्रा० ४ पाद ।

खइत–खचित–त्रि० । निर्युक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रञ्जिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । मण्डिते, औ० । विच्छुरिते, आ० म० प्र० ।

खइय-क्ष(क्षा)यिक-पुं०। क्षयकर्मणामत्यन्तोच्छेदः । क्षय एव क्षायिकः, क्षयेण वा निर्वृतः क्षायिकस्तत्कर्माभावफलरूपो विचित्रो जीवस्य परिणतिविशेषः। भावभेदे परिणतिविशेषे, प्रव० २२१ द्वार । आ० म० । ल० । तत्त्व० । कर्म० । क्षयाज्जातः क्षायिकोऽप्रतिपातिज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः । अप्रतिपातिज्ञानादौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। अनु०। क्षायिको नवप्रकारः केवलज्ञानं, केवलदर्शनं, दानादिलब्धयः पञ्च, सम्यक्त्वं चारित्रं चेति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० । कर्म० । 'खइत' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

क्षायिको भावो द्विधा । तद्यथा–

से किं तं खइए ?। खइए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–खइए अ, खयनिप्फण्णे अ । से किं तं खइए ?। खइए अट्ठण्हं कम्मपयडीणं खइएणं। सेत्तं खइए। से किं तं खयनिप्फण्णे ?। खयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा–उप्पण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली खीणआभिणिबोहिअणाणावरणे खीणसुअणाणावरणे खीणओहिणाणावरणे खीणमणपज्जवणाणावरणे खीणकेवलणाणावरणे अणावरणे निरावरणे खीणावरणे णाणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के केवलदंसी सव्वदंसी खीणनिद्दे खीणनिद्दानिद्दे खीणपयले खीणपयलापयले खीणथीणगिद्धे खीणचक्खुदंसणावरणे खीणअचक्खुदंसणावरणे खीणओहिदंसणावरणे खीणकेवलदंसणावरणे निरावरणे खीणावरणे दरिसणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणसायावेअणिज्जे खीणअसायावेयणिज्जे अवेअणे निव्वेअणे खीणवेअणे सुभासुभवेअणिज्जविप्पमुक्के खीणकोहे० जाव खीणलोहे खीणपेज्जे खीणदोसे खीणदंसणमोहणिज्जे खीणचरित्तमोहणिज्जे अमोहे निम्मोहे खीणमोहे मोहणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणणेरइआउए खीणतिरिक्खजोणिआउए खीणमणुस्साउए खीणदेवाउए अणाउए निराउए खीणाउए आउकम्मविप्पमुक्के गइजाइसरीरंगोवंगबंधणसंघायणसंघयणसंठाणअणेगबोंदिविंदसंघायविप्पमुक्के खीणसुभनामे खीणअसुभनामे अणामे निणामे खीणनामे सुभासुभणामकम्मविप्पमुक्के खीणउच्चगोए खीणणीअगोए अगोए निगोए खीणगोए उच्चनीचगोत्तकम्मविप्पमुक्के खीणदाणंतराए खीणलाभंतराए खीणभोगंतराए खीणउवभोगंतराए खीणवीरियंतराए अणंतराए णिरंतराए खीणंतराए अणंतरायकम्मविप्पमुक्के सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिणिव्वुए अंतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे, सेत्तं खयनिप्फण्णे, सेत्तं खइए ॥

(से किं तमित्यादि) एषोऽपि द्विधा क्षयस्तन्निष्पन्नश्च । तत्र "खएणं" अत्र णमिति पूर्ववत् । क्षयोऽष्टानां ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतीनां सोत्तरभेदानां सर्वथाऽपगमलक्षणः । स च स्वार्थिकठक्प्रत्यये क्षायिकः, क्षयनिष्पन्नस्तु तत्फलरूपः, तत्र च सर्वेष्वपि कर्मसु सर्वथा क्षीणेषु विषये पर्यायाः संभवन्ति, तत्क्रमेण दिदर्शयिषुर्ज्ञानावरणक्षये तावदेवं भवन्ति । तानाह–(उप्पण्णनाणदंसणेत्यादि) उत्पन्ने श्यामतापगमेनादर्शमण्डलप्रभावत्सकलतदावरणापगमादभिव्यक्ते ज्ञानदर्शने धरति यः स तथा । अरहा अविद्यमानरहस्यो, नास्य गोप्यं किञ्चिदस्तीति भावः । आवरणशत्रुजेतृत्वाज्जिनः, केवलं संपूर्णं ज्ञानमस्यास्तीति केवली, क्षीणमाभिनिबोधिकज्ञानावरणं यस्य स तथा । एवं नेयं यावत् क्षीणकेवलज्ञानावरणम् । अविद्यमानमावरणं यस्य स विशुद्धाम्बरश्वेतरोचिरिवानावरणः, तथा निर्गत आगन्तुकादप्यावरणाद्राहुरहितरोहिणीशवदेव निरावरणः। तथा क्षीणप्रकाशेनापुनर्भावतया आवरणमस्येत्यपाकृतमनावरणजात्यमणिवत् क्षीणावरणः । निगमयन्नाह-ज्ञानावरणीयेन कर्मणा विविधमनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण मुक्तो ज्ञानावरणीयकर्मविप्रमुक्तः । एकार्थकानि वा एतान्यनावरणादिपदानि, अन्यथा वा नयमतभेदेन सुधिया भेदा वाच्याः। तदेवमेतानि ज्ञानावरणीयापेक्षाणि नामान्युक्तानि। अथ दर्शनावरणीयक्षयापेक्षाणि तान्यप्याह-केवलेन क्षीणावरणेन दर्शनेन पश्यतीति केवलदर्शी, क्षीणदर्शनावरणत्वादेव सर्वं पश्यतीति सर्वदर्शीत्येवं निद्रापञ्चकदर्शनावरणचतुष्कक्षयसमवीन्यपराण्यपि नामान्यत्र पूर्वोक्तानुसारेण व्युत्पादनीयानि, नवरं निद्रापञ्चकस्वरूपमिदम्–

"सुहपडिबोहो निद्दा, दुहपडिबोहो य निद्दनिद्दा य ।
पयला होइ ठियस्सा, पयलापयला य चंकमओ ॥ १ ॥
अइसंकिलिट्ठकम्मा–णुवेयणे होइ थीणगिद्धीओ ।
महानिद्दादि ण चिंतिय, वावारपसाहणीपायं " ॥ २ ॥

अपरं ज्ञानावरणादिशब्दाः पूर्वं ज्ञानावरणाभावापेक्षाः प्रवृत्ताः,

अत्र तु दर्शनावरणापरमोपेक्षा इति विशेष । वेदनीय द्विधा-प्रीत्युत्पादकं सातम्, अप्रीत्युत्पादक त्वसातम । तत्क्षयापेक्षास्तु क्षीणसातवेदनीयादय शब्दा. सुखोन्नेयाः,नवरमवेदनो वेदनारहित.,स च व्यवहारतोऽल्पवेदनोऽप्युच्यते । तत. प्राह-निर्वेदनोपगत. सर्ववेदनः,स च पुन कालान्तरभाविवेदनोऽपि स्यादित्याह-क्षीणवेदनोऽपुनर्भाविवेदनः। निगमयन्नाह-(सुभासुभवेअणिज्जकम्मविप्पमुक्के ति)। मोहनीयं द्विधा-दर्शनमोहनीय,चारित्रमोहनीय च। तत्र दर्शनमोहनीय त्रिधा-सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वभेदात् । चारित्रमोहनीयं च द्विधा-क्रोधादिकषायहास्यादिनोकषायभेदात्। तत एतत्क्षयसंभवीनि सूत्रलिखितानि क्षीणक्रोधादीनि नामानि सुबोधान्येव, नवरं मायालोभौ प्रेम,क्रोधमानौ तु द्वेषः। तथाऽमोहोऽपगतमोहनीयकर्मा,स च व्यावहारिकैरल्पमोहोदयोऽपि निर्दिश्यते । अत आह-निर्गतो मोहान्निर्मोह.,स च पुनः कालान्तरभाविमोहोदयोऽपि स्यादुपशान्तमोहवत्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-क्षीणमोहोऽपुनर्भाविमोहोदय इत्यर्थः । निगमयति-मोहनीयकर्मविप्रमुक्त इति । नारकाद्यायुष्कभेदेनायुश्चतुर्द्धा। तत्क्षयसमुद्भवानि च नामानि सुगमानि,नवरमविद्यमानायुष्कोऽनायुष्कस्तद्भविकायु क्षयमात्रेऽपि स्यादत उक्तम्-निरायुष्क'। स च शैलेशीं गतः किञ्चिदवतिष्ठमानायुःशेषोऽप्युपचारतः स्यादत उक्तम्-क्षीणायुरिति। आयु'कर्मविप्रमुक्त इति निगमन, नामकर्मसामान्येन शुभाशुभभेदतो द्विविधम, विशेषतस्तु गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिभेदाद् द्विचत्वारिंशद्भेदाः स्थानान्तरादवसेया.,तत्रेह तत्क्षयभावीनि कियन्ति नामानि ?। अभिधत्ते-(गइजाइसरीरेत्यादि) इह प्रक्रमान्नामशब्दो यथासम्भव द्रष्टव्य , ततश्च नारकादिगतिचतुष्टयहेतुभूत गतिनाम, एकेन्द्रियजातिपञ्चककारण जातिनाम, औदारिकादिशरीरपञ्चकनिबन्धन शरीरनाम, औदारिकवैक्रियाहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गनिर्वृत्तिकारणमङ्गोपाङ्गनाम, काष्ठादीनां लाक्षादिद्रव्यमिव शरीरपञ्चकपुद्गलानां परस्पर बन्धहेतु. बन्धननाम, तेषामेव पुद्गलानां परस्परबन्धनार्थमन्योऽन्यसान्निध्यलक्षणसङ्घातकारण काष्ठसन्निकर्षकृत्तथाविधकर्मकर इव सघातनाम, कपाटादीनां लोहपट्टादिरिवौदारिकशरीरास्थिपरस्परबन्धविशेषनिबन्धन संहनननाम । एतच्च बन्धनादिपदत्रय क्वचिद्वाचनान्तरे न दृश्यत इति । बोन्दिस्तनु. शरीरमिति पर्याया' । अनेकाश्च नाना भवेषु तासां भावात् तस्मिन्नेव वा भवे जघन्यतोऽप्यौदारिकतैजसकार्मणलक्षणानां तिसृणां भावानेकबोन्द्य , तासां वृन्द पटल, तदेव पुद्गलसङ्घातरूपत्वात् सङ्घातोऽनेकबोन्दिवृन्दसघात , गत्यादीनां च द्वन्द्वे गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गबन्धनसंहननानेकबोन्दिवृन्दसघातास्तैर्विमुक्तो यः स तथा । प्राक्तनेन शरीरशब्देन शरीराणां निबन्धनं नाम कर्मगृहीत, बोन्दिवृन्दग्रहणेन तु तत्कार्यभूतशरीराणामेव ग्रहणमिति विशेष'। क्षीणमपगत तीर्थकरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्यादिक शुभ नाम यस्य स तथा, क्षीणमपगतं नरकगत्यशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशोऽकीर्त्यादिकमशुभ नाम यस्य स तथा । अनामनिर्नामक्षीणनामादिशब्दास्तु पूर्वोक्तानुसारेण भावनीया । शुभाशुभनामविप्रमुक्त इति निगमनम् । गोत्र द्विधा-उच्चैर्गोत्र, नीचैर्गोत्र च। ततस्तत्क्षयसम्भवीनि क्षीणगोत्रादिनामान्युक्तानुसारत. सुखावसेयान्येव दानान्तरायादिभेदादन्तरायं पञ्चधा, तत्क्षयनिष्पन्नानि च क्षीणदानान्तरायादिनामानि विषमाण्येव । तदेवमेकैक प्रकृतिक्षयनिष्पन्ननामानि प्रत्येक निर्दिश्य साम्प्रत पुन. समुदितप्रकृत्यष्टकक्षयनिष्पन्नानि सामान्यतो यानि नामानि भवन्ति तान्याह-(सिद्धे इत्यादि) समस्तप्रयोजनत्वात् सिद्ध',बोधात्मकत्वादेव बुद्ध.,बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिबन्धनमुक्तत्वान्मुक्त',परि समन्तात् सर्वप्रकारैः निर्वृतः सकलसमीहितार्थलाभप्रकर्षप्राप्तत्वात् शीतीभूतः परिनिर्वृतः, समस्तसंसारान्त कृत्वाऽन्तकृदिति, एकान्तेनैव शारीरमानसदुःखप्रहाणात् सर्वदुःखप्रहाण इति ।(सेत्तमित्यादि) निगमनद्वयम्। उक्तो द्विविधोऽपि क्षायिकः। अनु०। पं०स०। क्षायिकभावगुणश्चतुर्द्धा। तद्यथा-क्षीणसप्तकस्य पुनर्मिथ्यागतगमन क्षीणमोहनीयस्यावश्यभाविशेषघातिकर्मक्षयः क्षीणघातिकर्मणोऽनावरणज्ञानदर्शनाविर्भावोपगताशेषकर्मणोऽपुनर्भवस्तथाऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधः परमानन्दलक्षणः सुखावाप्तिश्चेति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । गुणशब्दमत्र क्षायिक त्रिविधस्यापि दर्शनमोहनीयस्य क्षयेण निर्मूलमपगमेन निर्वृत्तम् । सम्यक्त्वस्य तृतीयभेदे,न० । उत्त० । नि० । ध० । प० स० । दर्श० । कर्म० ।

खादित–त्रि० । भक्षिते, आव० ४ अ० । (क्षायिकसम्यक्त्वस्यान्या व्याख्या 'सम्मत्त' शब्दे विलोकनीया)

खइर-खादिर-पु०।(खयर)इति ख्याते वृक्षभेदे,तस्य सारे स्थितत्वात्तथात्वम । चन्द्रे, शत्रुहिंसकत्वात्तथात्वम ।खे आकाशे दीर्यते इष्टापूर्तकारिभिर्यतः। 'द' अपादाने किरच् । चन्द्रे,वाच०। खदिरे मध्यगुरुत्वम् । आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। "खइरो होइ दुमो अखयरो खयरो वा" । आचा०१ श्रु०५ अ० १ उ०। खादिर "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" ॥८।१।६७॥ इति आत्वम् । प्रा०१ पाद ।

खइरवण–खदिरवन–न०। मथुरातीर्थे द्वादशवनानां खदिरवने सप्तमे, ती० ६ कल्प ।

खइरोल्लग–न० । खरण्टादौ, महा० ७ अ० ।

खउड–खपुट–पु०। विद्यासिद्धाचार्यभेदे, आ० म० प्र० । आ० क० । नि० चू० । (कथाऽस्य ' विज्जा ' शब्दे)

खउर–क्षुभ–धा०। अङ्गचालने,दिवादि आ०अक० सेट्।वाच०। "क्षुभेः खउरपड्डुहौ" ।८।४।१५४। इति क्षुभेः खउरादेश । ' खउरइ, खुब्भइ ' प्रा०४ पाद ।

खपुर–पु० । ख पिपर्ति उच्चतया, पृ कः । गुवाके, खमिन्द्रियं पिपर्ति पृ-क. । अलसे, त्रि० । खेन पूर्यते घञर्थे कर्मणि कः । भद्रमुस्तके, व्याघ्रनखवृक्षे, गन्धर्वनगरे, न०। वाच० । चिक्कणद्रव्ये, बृ० ३ उ० । नि० चू० । "तुम्बखउरादि दारु,तुम्बो बदरादियाण गोरखदिरमादियाण खउरो" । नि०चू० १६ उ० ।

खउरकढिण–खपुरकठिन–न० । तापसानां भोजनादिनिमित्ते उपकरणविशेषे, तच्च किल वंशकुन्दादिक द्रव्यमिति श्लक्ष्णं कुट्टयित्वा कमठाकार क्रियते । विशे० । विल्वरसभिल्लातकरसाभ्यां लिप्तत्वात् कठिनमतिशयेन घनं तद्द्रव्यमपि पानीयमप्यवस्रवति । बृ० १ उ० ।

खउरिय–क्षुभित–त्रि० । कलुषितचेतसि, बृ० ३ उ०। खरण्टिते, नि० चू० ५ उ० ।

खओवसमिय–क्षायोपशमिक–पुं० । क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमो विष्कम्भितोदयत्व क्षयोपशम.। भ०१४ श०

७ उ० । कर्म० । उदीर्णस्यांशस्य क्षयोऽनुदीर्णस्यांशस्य विपाकमधिकृत्योपशमः क्षयोशमः । प्रव० २२१ द्वार । स एव क्षायोशमिकः । क्रियामात्रे भावभेदे, क्षयोपशमेन वा निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः । भ० ७ श० १४ उ० । क्षयोपशमसंपाद्ये मतिज्ञानादिलब्धिरूपे आत्मनः परिणामविशेषे मिथ्यात्वमोहनीयादिकर्मविगमविशेषविहितात्मपरिणामे, पञ्चा० ३ विव० । भावभेदे, प्रव० ८७ द्वार । सूत्र० । अनु० ।

" ओहीखओवसमिए, भावे भणिओ भवो तहोदइए ।
तो किह भवपच्चइओ, वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्हं " ॥१॥ इति ।

यत.—

" उदयक्खओवसमओ, व समाज च कम्मणो भणिया ।
दव्वं खेत्त कालं, भव च भाव च सपप्प " ॥ १ ॥

तथा तदावरणस्य क्षयोपशमे भवं क्षायोपशमिकमिति । स्था० । "दोएह खओवसमिए पण्णत्ते । तं जहा-मणुस्साण चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण चेव।" स्था० २ ठा० १ उ० । कर्म० । पं० स० । आ० म० । " खओवसमितो णाम तस्स कम्मस्स सव्वघातिफड्डगाणं " उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिफड्डगाण उदयात् खतोवसमितो भावो भवति औपशमिकादस्य भेदः । आ० चू० १ अ० । " से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सठाणतुल्लए ?। सठाणतुल्लए गोयमा ! परिमंडलसंठाणे" भ० ७ श० १४ उ० ।

क्षायोपशमिकभेदानाह—

से किं तं खओवसमिए ?। खओवसमिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—खओवसमिए खओवसमनिप्पण्णे य । से किं तं खओवसमे ?। खओवसमे चउण्हं घाइकम्माणं खओवसमेणं तं जहा—णाणावरणिज्जस्स दंसणावरणिज्जस्स मोहणिज्जस्स अंतरायस्स, सेत्तं खओवसमे।

असावपि द्विरूप. क्षयोपशमस्तन्निष्पन्नश्च । तत्र विवक्षितज्ञानादिगुणविघातकस्य कर्मण उदयप्राप्तस्य क्षय सर्वथाऽपगम., अनुदीर्णस्य तु तस्यैवोपशमो विपाकत उदयाभाव इत्यर्थः । ततश्च क्षयोपलक्षित उपशमः क्षयोपशमः । ननु चौपशमिकेऽपि यदुदयप्राप्त तत्सर्वथा क्षीण शेषं तु न क्षीणं नाप्युदयप्राप्तमतस्तस्योपशम उच्यते इत्यनयोः कः प्रतिविशेषः ?। उच्यते-क्षयोपशमावस्थे कर्मणि विपाकत एवोदयो नास्ति प्रदेशतोऽस्त्येव, उपशान्तावस्थायां तु प्रदेशतोऽपि नास्त्युदय इत्येतावाता विशेष. । तत्र चतुर्णां घातिकर्मणां केवलज्ञानप्रतिबन्धकानां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणां य' क्षयोपशम' स क्षयोपशमरूपः क्षायोपशमिको भावः। णमिति पूर्ववत् " तद्यथेत्यादिना " स्वत एव घातिकर्माणि विवृणोति, शेषकर्मणां तु क्षायोपशमो नास्त्येव, निषिद्धत्वात् । "सेत्तमित्यादि" निगमनम् । तेन च क्षायोपशमेनोक्तस्वरूपेण निष्पन्न क्षयोपशमिको भावोऽनेकधा भवति । तमाह-(खओवसमिया आभिनिबोहियनाणलद्धीत्यादि) आभिनिबोधिकज्ञान मतिज्ञान तस्य लब्धिर्योग्यता स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमसाध्यत्वात् क्षयोपशमिकी, एव वक्तव्य यावन्मन. पर्यायज्ञानलब्धि'। केवलज्ञानलब्धिस्तु स्वस्वावरणकर्मण क्षय एवोत्पद्यत इति नेहोक्ता । कुत्सित ज्ञानमज्ञान, मतिरेव अज्ञान मत्यज्ञानम् । लब्धि- तत्व चेह मिथ्यादर्शनोदयदूषितत्वाद् द्रष्टव्यम् । दृष्टा च कुत्सार्थे नञो वृत्तिर्यथा-कुत्सितं शीलमशीलमिति । मत्यज्ञानस्य लब्धिर्योग्यता, साऽपि स्वावरणक्षयोपशमेनैव निष्पद्यते । एवं श्रुताज्ञानलब्धिरपि वाच्या । भङ्ग' प्रकारो, भेद इत्यर्थः । स चेह प्रक्रमादवधिरेव गृह्यते विरूपः कुत्सितो भङ्गो विभङ्ग', स एवार्थं परिज्ञानात्मकत्वात् ज्ञानं विभङ्गज्ञान, मिथ्यादृष्टेरेवावधिर्विभङ्गज्ञानमुच्यते इत्यर्थः । इह च विशब्देनैव कुत्सितार्थप्रतीतेर्न नञो निर्देशः. तस्य लब्धिर्योग्यता. साऽपि स्वावरणक्षयोपशमेनैव प्रादुरस्ति, एवं मिथ्यात्वादिकर्मणः क्षयोपशमसाध्या शेषा अपि सम्यग्दर्शनादिलब्धयो यथासम्भव भावनीया., नवरं बाला अविरता पण्डिता. साधव', बालपण्डितास्तु देशविरता', तेषां यथा स्ववीर्यलब्धिर्वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाद्भावनीया, इन्द्रियाणि चेह लब्ध्युपयोगरूपाणि भावेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां च लब्धिर्योग्यता मतिश्रुतज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमत्वात् क्षायोपशमिकीति भावनीयम् । आचारधरत्यादिपर्यायाणां च श्रुतज्ञानभेदत्वात्तस्य च तदावरणकर्मक्षयोपशमसाध्यत्वादाचारधरादिशब्दा इह पठ्यन्ते इति प्रतिपत्तव्यम् । " सेत्तमित्यादि " निगमनद्वयम् ।

से किं तं खओवसमनिप्पण्णे ?। खओवसमनिप्पण्णे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—खओवसमिआ आभिणिबोहिअणाणलद्धी, ० जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी, खओवसमिआ मतिअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुअअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभंगणाणलद्धी, खओवसमिआ चक्खुदंसणलद्धी, अचक्खुदंसणलद्धी, ओहिदंसणलद्धी, एवं सम्मदंसणलद्धी, मिच्छादंसणलद्धी, सम्ममिच्छादंसणलद्धी, खओवसमिआ सामाइअचरित्तलद्धी, एवं छेदोवट्ठावणलद्धी, परिहारविसुद्धिअलद्धी, सुहुमसंपरायचरित्तलद्धी, एवं चरित्ताचरित्तलद्धी, खओवसमिआ दाणलद्धी, एवं लाभभोगउवभोगलद्धी, खओवसमिआ वीरिअलद्धी, एवं पंडिअवीरिअलद्धी, बलवीरिअलद्धी, बालपंडिअवीरिअलद्धी, खओवसमिआ सोइंदिअलद्धी० जाव खओवसमिआ फासिंदिअलद्धी, खओवसमिआ आयारंगधरे, एवं सूअगडंगधरे ठाणंगधरे समवायंगधरे चेव, विवाहपण्णत्ती नायाधम्मकहा उवासगदसा अंतगडदसा अणुत्तरोववाइअदसा पण्हवागरणधरे विवागसुअधरे खओवसमिए दिट्ठिवायधरे खओवसमिए० णवपुव्वी खओवसमिए० जाव चउद्दसपुव्वी खओवसमिए गणी वायए खओवसमिए, सेत्तं खओवसमनिप्पन्ने, सेत्तं खओवसमिए । अनु० ।

अधुना क्षायोपशमिकभावभेदानष्टादशसंख्यानाह—

चउणाणमण्णाणतिगं, दंसणतिग पंचदानलद्धीओ ।
सम्मत्तं चारित्तं, च संजमासंजमो तइए ॥ ३ ॥

चत्वारि ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमन.पर्यायरूपाणि, अज्ञानत्रिक मतिश्रुताज्ञानविभङ्गरूप, दर्शनत्रिक चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनस्वभावं, पञ्चेतिसंख्या दानेनोपलक्षिता लब्धयो दानलब्ध-

यो दानलाभोपभोगभोगवीर्यलब्धयः समकत्व सम्यग्दर्शनं चारित्र च सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसपरायलक्षण संयमासयमोदेशविरतिरूप इत्येते अष्टादश भेदास्तृतीये क्षायोपशमिके भावे भवन्ति। तथाहि-ज्ञानचतुष्कमज्ञानत्रिक च यथास्वमावारकस्य मतिज्ञानावरणादिकर्मणः क्षायोपशमिक एव भवति। दर्शनत्रिकं तु चक्षुर्दर्शनावरणादिक्षायोपशमिके दानादिकाः पुनः पञ्च लब्धयः, अन्तरायकर्मक्षयोपशमे भवन्ति। ननु दानादिलब्धयः पूर्वं क्षायिकभाववर्तिन्य उक्ताः, इह तु क्षायोपशमिक इति कथं न विरोधः ?। नैतदेवम्। अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्। दानादिलब्धयो हि द्विधा भवन्त्यन्तरायकर्मणः क्षयसम्भविन्य, क्षायोपशमसम्भविन्यश्च। तत्र या क्षायिका पूर्वमुक्तास्ता क्षयसम्भूतत्वेन केवलिन एव भवन्ति। यास्त्विह क्षायोपशमिक्य उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसम्भूताः छद्मस्थानामेव भवन्ति। सम्यक्त्वमपि क्षायोपशमिक दर्शनसप्तकक्षयोपशमे, चारित्रचतुष्क तु चारित्रमोहनीयक्षयोपशमे संयमासंयमश्चाप्रत्याख्यानावरणकषायमोहनीयक्षयोपशमे इति। प्रव० २२१ द्वार। कर्म०। सूत्र०। उत्त०। ('भावे खओवसमिए, दुवालसंग पि होइ सुयनाणं' इत्यादि 'मोक्खशब्दे' व्याख्यास्यामि) उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण शेषस्य तूपशमेन निर्वृत्त क्षायोपशमिकम्। उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सति शेषस्य भस्मच्छन्नाग्नेरिवानुद्रेकावस्था उपशम, तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्। सम्यक्त्वभेदे, न०। न०।

अधुना क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमाह-

जो उ उदिण्णे खीणे, मिच्छे अणुदियम्मि उवसंते ।
संमीभावपरिणतो, वेयंतो पोग्गले मीसो ॥

यस्तु उदीर्णे उदयावलिकाप्रविष्टे मिथ्यात्वे क्षीणेऽनुदयप्राप्ते चोपशान्ते उपशान्त वा सन् किञ्चिन्मिथ्यात्वरूपतामपनीय सम्यक्त्वरूपतया परिणतं किञ्चिन्मिथ्यात्वरूपमेव सन् भस्मच्छन्नाग्निरिवानुद्रेकावस्थाप्राप्त तस्मिन् तथारूपे सति पुद्गलान् सम्यक्त्वरूपान् वेदयमानः सम्यग्भावपरिणतः स मिश्रक्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वरूपधर्मनिर्देशप्रक्रमेऽपि धर्मिणो निर्देशो धर्मधर्मिणो. कथञ्चिदभेदस्थापनार्थमेव पूर्वत्र परत्र च भावनीयम्। बृ० १ उ०। श्रा०। विशे०। दश०। क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ, ताभ्यां निर्वृत्त क्षायोपशमिकम्। मत्यधिज्ञानादिभेदे, न०। स्था०। स्पा०। (अत्र हेतु० 'ओहि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १३७ पृष्ठे वक्ष्य)

खंखर–खङ्खर–पुं०। वृक्षभेदे, (पलास) इति ख्याते "खखरपलासमज्झे सय सय भूसिरीपासनाहो अत्थद तत्थ पुरोदेवं वदेह।" ती० ५३ कल्प।

खंखुणग–खङ्खुनक–पुं०। बालक्रीडोपकरणविशेषे, आ०म०द्वि०।

खंगार–खङ्गार–पुं०। नृपविशेषे ती०। यो जयसिंहदेवेन मारितः "गुज्जरधराए जयसिंहदेवेण खगारराय हणित्ता सज्जणो दडाहिवो ठाविओ"। ती० ५ कल्प। विक्रमादेकादशशतके, जाते गुर्जरधरित्र्या राजनि, ती० ५ कल्प।

खंगारगढ–खङ्गारगढ–न०। जीर्णदुर्गे, (जूनागढ) इति ख्याते, ती० ५ कल्प।

खंज–खञ्ज–न०। (खोडा) पादविकले, स्था० ५ ठा०। श्यामीभूते सकटचक्रान्तर्गतलोहदण्डोपरिघृतादिसिक्तसणादिबन्धने, उत्त० ३४ अ०। स्वार्थे क.., ण्वुल्वा खञ्जकः। तत्रार्थे, वाच०।

खंजण–खञ्जन–खजि भावे ल्युट्। विकलगतौ, कर्तरि ल्युः। स्वनामख्याते पक्षिभेदे, स्त्रियां ङीप्। वाच०। दीपमल्लिकामले, जी० ३ प्रति०। आ० म०। जं०। रा०। स्था०। बृ०। प्र०। चन्द्र सूर्यं वा ग्रसतो राहोः कृष्णपुद्गलानां षष्ठे भेदे, चं० प्र०२० पाहु०। सू० प्र०। दीपकलिकासमाने, स्था० ४ ठा०२ उ०।

खंजणाभ–खञ्जनाभ–स्त्री०। खञ्जन दीपमल्लिकामलः, तस्य यो वर्णस्तद्वदाभा यस्य तथा। कृष्णवर्णे, भ०२२ श०६ उ०।

खंजरीड–खञ्जरीट–पुं०। स्त्री०। खञ्ज इव ऋच्छति। 'ऋ' गतौ। कीटन्। खञ्जनविहगे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष्। वाच०। आचा०।

खंड–खण्ड–पुं०। भागे, अंशे, आ० चू० १ अ०। उभयोः पर्वदेशसहिते इक्षुखण्डादौ, नि० चू० १५ उ०। अपरिपूर्णे, विपा० १ श्रु० १ अ०। वनसमूहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। अनेकजातीयवृक्षसमूहे, जी० ३ प्रति०। शर्करायाम्, (ज०) गुडविकारे, अ० २ वक्ष०। इक्षुरसविकारसंस्कारे, उत्त० ३४ अ०। देशविशेषभाषया लवणे, औ०। विड्लवणे, कर्मणि घञ्। अपरिमिते, त्रि०। वाच०। विरोधिते, न०।

खंडकण्ण–खण्डकर्ण–पुं०। अवन्त्यधीशचण्डप्रद्योतमन्त्रिणि, उत्त० १ उ०। खण्ड इव कर्णः कन्दो यस्य (सकरकद) आलुभेदे, वाच०।

खंडखंडग–खण्डखण्डक–न०। चतुर्भिः खण्डकैरेका रज्जुः परिकल्पिता, ततो रज्जुचतुर्थभागत्वात् खण्डकं (लोक) रज्जुपादे, प्रव० १४३ द्वार। (चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्यासत्कल्पनया खण्डकपरिमाणो 'लोक' शब्दे दर्शयिष्यते) दीर्घवैताढ्यपर्वतभरतैरवतवर्षयोः कच्छादिषु गन्धिलावतीपर्यन्तेषु विजयक्षेत्रेषु सन्ति तेषां तृतीयं कूट खण्डकनामकम्। स्था० ९ ठा०।

खंडण–खण्डन–न०। 'खडि' भावे ल्युः। देशतो भञ्जने, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०। छेदने, निराकरणे च। भावे युच्। वाच०। विनाशे, स्त्री०। नि० चू० १ उ०। "विराहणा खंडणा भंजणा य एगट्ठा।" नि० चू० १ उ०।

खंडदेउलिया–खण्डदेवकुलिका–स्त्री०। द्वादशव्रतभङ्गकसंख्याप्रदर्शकयन्त्रे, ध० २ अधि०। तत्स्थापना च प्र० भा० ४२० पृष्ठे द्रष्टव्या। (तदुपपत्तिः श्रावकव्रतव्याख्यातोऽवसेया)

खंडपट्ट–खण्डपट्ट–पुं०। खण्डोऽपरिपूर्णः पट्टः परिधानपट्टो यस्य स द्यूतादिव्यसनाभिभूततयाऽपरिपूर्णः परिधान प्राप्तः स खण्डपट्टः। द्यूतकारे, अन्यायव्यवहारिणि इत्यन्ये। विपा० १ श्रु० ३ अ०। धूर्ते, विपा० १ श्रु० १ अ०।

खंडपाणा–खंडपा (णा) णा–स्त्री०। धूर्ताख्यानं रूपयन्त्यां पञ्चशतधूर्तस्वामिन्यां स्वनामख्यातायां स्त्रियाम्, नि० चू० १ उ०। (अस्या कथा धूर्ताख्याने)

खंडप्पवायगुहा–खण्डप्रपातगुहा–स्त्री०। वैताढ्यगुहायाम्, यया चक्रवर्ती अनार्यक्षेत्रात् स्वक्षेत्रमागच्छति। स्था०६ ठा०। "खंडप्पवायगुहाणं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं।" स्था० ८ ठा०। एव धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च प्रत्येकमष्टपष्टिताऽसां प्रमाणम्। यथा-गिरिविस्तारायामा वेस्तारा अष्टयोजनोच्छ्रया

द्वारा वज्रकपाटपिहिता बहुमध्ये द्वियोजनान्तराभ्यां त्रियोजनविस्ताराभ्यामुन्मग्ननिमग्नजलाभिधानाभ्यां नदीभ्यां युक्ता। स्था० २ ठा०३ उ० । स० । जं० । (तत्र भरतचक्रिगमनं 'भरह' शब्दे)

खंडप्पवायगुहाकूड–खण्डप्रपातगुहाकूट–न० । खण्डप्रपातगुहाधिपदेवनिवासभूतं कूटं खण्डप्रपातगुहाकूटम् । वैताढ्यकूटानां तृतीयेषु कूटेषु, जं० १ वक्ष० । स्था० ।

खंडभेय–खण्डभेद–पुं० । लोहखण्डादेरिव यथा क्षिप्तमृत्पिण्डस्येव (स्था० १० ठा०) लोष्टादेर्वा खण्डशो जायमाने द्रव्यभेदे, भ० ५ श० ४ उ० । सूत्र० । प्रज्ञा० ।

खंडरक्ख–खण्डरक्ष–पुं० । दण्डपाशिके, रा० । ज्ञा० । आहिण्डके, बृ०२ उ० । शुल्कपाले, प्रश्न०३ आश्र० द्वार । उपा० । कम्पिल्यपत्तनवासिषु शौल्किकेषु श्रावकेषु, यैः समुच्छेदं वदन् अश्वमित्रनिह्नवः प्रतिबोधितः । विशे० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० ।

खंडाभेय–खण्डभेद–पुं० । 'खंडभेय' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

खंडित्तए–खण्डयितुं–अव्य० । देशतो भङ्क्तुमित्यर्थे, उपा० २ अ० । ज्ञा० ।

खंडिय–खण्डिक–पुं० । छात्रे, विशे० । उत्त० । कले, कुम्भे, त्रि० । वाच० ।

खंडित–त्रि० । देशतो भग्ने, ध०२ अधि० । आ० चू० । ग० । सर्वथा भग्ने, " खण्डिअविराहियाणं, मूलगुणाण सउत्तरगुणाण । " आव० ५ अ० । छिन्ने, द्विधाकृते च । "ज्ञातान्यासंगविकृते, खण्डितेर्ष्याकषायिता" इत्युक्तलक्षणायां स्त्रियाम्, स्त्री० । वाच० ।

खंडियगण–खण्डिकगण–पुं० । छात्रगणे, औ० ।

खंडियविहूण–खण्डिकविहीन–त्रि० । छात्ररहिते, नि० १ वर्ग ।

खंडी–खण्डी–स्त्री० । खडि अच्, गौरा० ङीष् । वनमुद्गे, प्राकारच्छिद्ररूपायां छिण्डिकायाम्, ज्ञा०१ श्रु० २ अ० । बृ० । नश्यत्तरनिर्गमापद्वारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

खंत–क्षान्त–त्रि० । क्षाम्यति क्षमां करोतीति क्षान्तः । बहुलवचनात्कर्तरि निष्ठा । क्षमागुणप्रधानभिक्षौ, दश० १० अ० । आ० चू० । नि० चू० । ज्ञा० । क्रोधविजयिनि, दश० २ अ० । ज्ञा० । क्षमायुक्ते, ग० २ अधि० । प्रश्न० । सूत्र० आलोचनादानयोग्ये, व्य० १ उ० । क्षान्तो नाम क्षमायुक्तः स कस्मिंश्चित्प्रयोजने गुर्वादिभिः खरपरुषमपि भणितः सम्यक्प्रतिपद्यते, यदपि च प्रायश्चित्तमारोपितं तत्सम्यग् वहति । आह च–"खंतो आयरिएहिं, फरुसं भणिओ वि न रूसेति ।" स्था० ८ ठा० । (खन्तपुत्तस्स 'अर्हन्नक' शब्दे प्र० भा० ७५६ पृष्ठे कथा)

खंतलक्ख–क्षान्तलक्ष्य–न० । वृद्धव्याजे, वृद्धवेषधारणेन, स्वरूपप्रच्छादने, बृ० १ उ० ।

खंताइजुय–क्षान्त्यादियुत–त्रि० । क्षमामार्दवार्जवसंतोषसमन्विते, षो० ६ विव० ।

खंति–क्षान्ति–स्त्री० । आक्रोशादिश्रवणेऽपि क्रोधत्यागे, द्वा० २७ द्वा० । दश० । षो० । पञ्चा० । ज० । पा० । उत्त० । शक्तस्याऽशक्तस्य वा सहनपरिणामे सर्वथा क्रोधविवेके, ध० ३ अधि० । आव० । उत्त० । ज्ञा० । स्था० । आव० । परुषभाषणादिसहने, उत्त० १ अ० । क्रोधोदयनिरोधे, औ० । कषायोपशमे, दर्श० । तितिक्षायाम्, ध० ३ अधि० । क्षान्तिश्च प्रथमः श्रमणधर्मः । स० १९ सम० । स्था० । शुक्लध्यानस्य प्रथममालम्बनम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । क्षान्तेः फलम् । "खंतिए णं भंते ! जीवे किं जणयइ? खंतिए णं परीसहे जणयइ ।" हे भगवन् ! क्षान्त्या क्षमया कृत्वा जीवः किं फलं जनयति? तदा गुरुराह–शिष्य ! क्षमया परीषहान् जयति, क्षान्तिः क्रोधनिग्रहस्तदनन्यत्वात् त्रयोदश्यां गौण्यामहिंसायाम्, उत्त० २९ अ० । प्रश्न० ।

इहादौ वचनक्षान्ति–र्धर्मक्षान्तिरनन्तरम् ।
अनुष्ठानं च वचना–नुष्ठानात्स्यादसङ्गतम् ॥ ६ ॥
उपकारापकाराभ्यां, विपाकाद्वचनात्तथा ।
धर्माच्च समये क्षान्तिः, पञ्चधा हि प्रकीर्तिता ॥ ७ ॥

(इहेति) इह दीक्षायामादौ प्रथमं वचनक्षान्तिः, अनन्तरं धर्मक्षान्तिर्भवति । अनुष्ठानं च वचनानुष्ठानादध्ययनाद्यभिरतिलक्षणादनन्तरं तन्मयीभावेन स्पर्शाप्तौ सत्यामसङ्गं स्यात् ॥ ६ ॥ (उपकारेति) उपकारेण क्षान्तिरुपकारिप्रोक्तदुर्वचनाद्यपि सहमानस्य; अपकारेण क्षान्तिर्मम दुर्वचनाद्यसहमानस्याऽयमपकारी भविष्यतीत्याशयेन क्षमां कुर्वतः । विपाकाच्चेह परलोकगतानर्थपरम्परालक्षणादालोच्यमानात् क्षान्तिर्विपाकक्षान्तिः । तथा वचनात्क्षान्तिरागममेवावलम्बनीकृत्योपकारित्वादिनैरपेक्ष्येण क्षमां कुर्वतः । धर्माच्चात्मशुद्धस्वभावलक्षणाज्जायमाना क्षान्तिश्चन्दनस्येव शरीरस्य छेददाहादिषु सौरभ्यादिस्वधर्मकल्पा परोपकारिणी सहजत्वेनावस्थिता अविकारिणी । एवं पञ्चधा क्षान्तिः समये प्रकीर्तिता । यदुक्तम्–" उपकार्यपकारिविपा–कवचनधर्मोत्तरा मता क्षान्तिः " इति ॥ ७ ॥ द्वा० २९ द्वा० ।

खंतिखम–क्षान्तिक्षम–त्रि० । क्षान्त्या क्षमया क्षमते न त्वसमर्थतया यः सः क्षान्तिक्षमः । कल्प० ४ क्षण । ज० । भ० । सत्यामपि शक्तौ तितिक्षौ, " कोहनिग्गहो खंती अक्कुस्समाणस्स वि अस्स खमाकरणे सामत्थमत्थि सो खंतिए खमो भण्णति, " अह वा खंतिखमो क्षमाया आधार इत्यर्थः । नि० चू० १० उ० ।

खंतिखमणया–क्षान्तिक्षमणता–स्त्री० । क्षान्त्या क्षम्यत इति क्षान्तिक्षमणः । क्षान्तिग्रहणमसमर्थताव्यवच्छेदार्थं, यतः समर्थोऽपि क्षमत इति । क्षान्तिक्षमणस्य भावस्तत्ता । शक्तस्यापि सहने, स्था० १० ठा० ।

खंतिजुय–क्षान्तियुत–त्रि० । क्षमान्विते, कर्म० १ कर्म० ।

खंतिप्पहाण–क्षान्तिप्रधान–पुं० । क्षान्तिः क्षमा प्रधाना सारभूता यस्याऽसौ क्षान्तिप्रधानः । क्षमासारे, पा० ।

खंतिसंजमरय–क्षान्तिसंयमरत–त्रि० । क्षान्तिप्रधानसंयमासेविनि, दश० ४ अ० ।

खंतिसूर–क्षान्तिशूर–पुं० । क्षमाधीरे शूरभेदे, "खंतिसूरा अरिहंता " क्षान्तिशूरा अर्हन्तो महावीरवत् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । सथा० ।

खंद–स्कन्द–पुं० । स्कन्दते उत्प्लुत्य गच्छति, अच् । वाच० । "शुष्कस्कन्दे वा" । ८ । २ । ५ । इति स्कस्य वा खः । प्रा० २ पाद । स्वामिकार्तिकेये, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । अनु० । जं० । भ० । जीवा० । नि० चू० । रा० । पात्रालकग्रामवास्तव्ये ग्रामकूट-

पुत्रे, येन स्वग्रामे गोशालकः कदर्थितः । आ० म० द्वि० । आ०
चू० । आचा० । ज्ञा० । अनु० ।

खंदग-स्कन्दक-पुं० । श्रावस्त्या नगर्यां जाते मुनिसुव्रतशिष्ये,
उत्त० । तत्सवन्धो यथा—श्रावस्त्यां जितशत्रुर्नृपो, धारिणी
प्रिया, तयोः पुत्रः स्कन्दकः, पुरन्दरयशा पुत्री, कुम्भका-
रकटके पुरे दण्डकनृपस्य दत्ता, तस्य पुरोहितः पालको मि-
थ्यादृक्, अन्यदा श्रावस्त्या मुनिसुव्रतस्वामी समवसृतः, तस्य
देशनां श्रुत्वा स्कन्दकः श्रावको जातः । एकदा पालकपुरोहितो
दूतत्वेन श्रावस्त्यां प्राप्तः राजसभायां जैनसाधूनामवर्णवाद व-
दन् स्कन्दकेन निरुत्तरीकृत्य निर्द्धारितः सन् स्कन्दककुमारोप-
रि रुष्टः छिद्राणि पश्यति । अन्यदा स्कन्दककुमारः श्रीमुनिसु-
व्रतस्वामिपार्श्वे पञ्चशतकुमारैः सह प्रव्रजितो गीतार्थो जातः,
स्वामिना ते कुमारशिष्यास्तस्यैव दत्ताः, अन्यदा स स्कन्दकः
स्वामिनं पृच्छति-हे भगवन्! भगिनीवन्दापनार्थं गच्छामि। स्वामिना
भणितम्-तत्र मारणान्तिकोपसर्गोऽस्ति । स्कन्दकेनोक्तम्-भग-
वन्! वयमाराधका विराधका वा? स्वामिना भणितम्-त्वां मुक्त्वा स-
र्वेऽप्याराधकाः । स्वामिनैव मुक्तेऽपि भावितव्यतावशेन पञ्चशत-
शिष्यपरिवृतः कुम्भकारकटकपुरे गतः। पालकेन तमागच्छन्तं
ज्ञात्वा पूर्ववैरं स्मरता साधुस्थितियोग्योद्याने षट्त्रिंशदायुधानि
भूमौ स्थापितानि। स्कन्दकाचार्यस्तु तत्रैव समवसृतः । ततः पा-
लकेन नृपस्याऽग्रे कथितम्-महाराज! अयं स्कन्दकः पञ्चशत-
साधवोऽपि च सहस्रयोधिनः परीषहभग्नास्तव राज्यं गृही-
तुकामाः समायातास्त्वां हनिष्यन्ति, राज्यञ्च गृहीष्यन्ति । यदि
न प्रत्ययस्तदा उद्यानं विलोकय । एभिरायुधानि भूमौ गोपिता-
नि सन्ति, नृपेण उद्यानं विलोकितम्, आयुधानि दृष्टानि, क्रोधा-
त्तेन ते साधवस्तस्यैव दत्ताः, तेन सर्वेऽपि यन्त्रेण पीलिताः । व-
धपरीषहस्य सम्यग् अधिसहनात् उत्पन्नकेवलज्ञानाः सिद्धाः,
स्कन्दकाचार्यस्तु सर्वेषां शिष्याणां तथाविधमरणं दृष्ट्वोत्पन्न-
क्रोधः सर्वस्याप्यस्य देशस्य दाहकोऽहं स्यामिति कृतनिदानो-
ऽग्निकुमारेषूत्पन्नः । अथाचार्यस्य रजोहरणं रुधिरलिप्तं सद् गृध्रैः
पुरुषहस्तं ज्ञात्वा चञ्चुपुटेनोत्पाट्य पुरन्दरयशापुरः पातितम् । सा-
ऽपि महतीमधृतिं चकार। साधवो गवेषिता न दृष्टाः, प्रत्यभिज्ञातानि
कम्बलाद्युपकरणानि, ज्ञातं च तया-साधवो मारिता इति, ततो
धिक्कृतस्तया नृपतिः, अहं तव मुखं न पश्यामि, प्रव्रजिष्याम्ये-
वेति वदन्तीं तां स्कन्दकभगिनीं देवाः श्रीमुनिसुव्रतस्वामिस-
मीपे मुक्तवन्तः । स्वामिना सा दीक्षिता। ततोऽग्निकुमारदेवेन स-
नगरो देशो दग्धः, ततो दण्डकारण्यं जातम् । अद्यापि तथैव
तज्जनैर्भण्यते। यथा एभिः साधुभिर्वधपरीषहः सोढस्तथा परैरपि
सोढव्यः । उत्त० २ अ० । वृ० । ग० । नि० चू० । संथा० । भू-
तभेदे च, प्रज्ञा० १ पद । श्रावस्त्यां गर्दभालिशिष्ये ; कात्याय-
नगोत्रे परिव्राजके, भ० ।

तच्चरित्रम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं कयंगला णामं नयरी होत्था ।
वष्णओ-तीसे णं कयंगलाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे
दिसीभाए छत्तपलासए णामं चेइए होत्था, वण्णओ-तए णं
समणे भगवं महावीरे उप्पन्ननाणदंसणधरे० जाव समोसर-
णं परिसा निग्गया, तीसे णं कयंगलाए नयरीए अदूरसामंते
सावत्थी णामं नयरी होत्था । वण्णओ-तत्थ णं सावत्थीए
णयरीए गद्दभालिस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणस-
गोत्ते परिव्वायगे परिवसइ । रिउव्वेय-जजुव्वेय-सामवेय-
अहव्वणवेय-इतिहासपंचमाणं निघंटुछट्ठाणं चउण्हं वेयाणं
संगोवंगाणं सरहस्साणं सारए वारए धारए पारए सडंगवी-
सट्ठितंतविसारए संखाणे सिक्खा कप्पे वागरणे छंदे निरु-
त्ते जोइसामयणे अन्नेसु य बहूसु बंभण्णएसु परिव्वायएसु
नएसु सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था । (पिङ्गलपृच्छा) तत्थ णं
सावत्थीए नयरीए पिंगलए नामं नियंठे वेसालियसावए प-
रिवसइ । तए णं से पिंगलए नामं नियंठे वेसालिसावए अ-
ण्णया कयाइं जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवाग-
च्छइ, उवागच्छइत्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं इणमक्खेवं पुच्छे
मागहा !-किं सअंते लोए, अणंते लोए, सअंते जीवे,
अणंते जीवे, सअंता सिद्धी, अणंता सिद्धी, सअंते सिद्धे,
अणंते सिद्धे, केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ
वा, एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणो, एवं तए णं से खंदए
कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं नियंठेणं वेसालीसावएणं इण-
मक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए भेद-
समावण्णे कलुससमावण्णे णो संचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स
वेसालियसावयस्स किंचि विप्पमोक्खमक्खाइओ तुसिणी-
ए संचिट्ठइ, तए णं से पिंगलए नियंठे वेसालीसावए खंद-
यं कच्चायणसगोत्तं दोच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छे मागहा-
किं सअंते लोए० जाव केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे
वड्ढइ वा, हायइ वा, एतावं ताव आइक्खाहि वु-
च्चमाणो, एवं तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं
नियंठेणं वेसालीसावएणं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छि-
ए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए भेदसमावन्ने क-
लुससमावन्ने नो संचाएइ, पिंगलस्स नियंठस्स वेसालिय-
सावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइओ तुसिणीए संचिट्ठइ,
तए णं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु महया
जणसम्मद्दे इ वा जणवूहे इ वा निग्गच्छइ, तए णं तस्स खंद-
यस्स कच्चायणसगोत्तस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा
निसम्म इमे एयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए
संकप्पे समुप्पज्जित्था, एवं खलु समणे भगवं महावीरे
कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए चेइए संजमेणं
तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं गच्छामि णं समणं
भगवं महावीरं वंदामि, नमंसामि, सेयं खलु मे समणं भगवं
महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं
मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता इमाइं च णं एयारूवाइं
अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं
संपेहेइ, संपेहइत्ता जेणेव परिव्वायगा वसही तेणेव उवा-
गच्छइ, उवागच्छइत्ता तिदंडं च कुंडियं च कंचणियं च क-

रोमियं च भिसियं च केसरियं च छणालिय च अंकुसयं च पवित्तयं च गणेत्तिय च छत्तयं च वाहणाउ य पाउयाउ य धाउरत्ताउ य गेण्हइ, गेण्हइत्ता परिव्वायगवसहीओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता तिदंडकुंडियं कंचणिय करोडियं भिसियकेसरियच्छनालियअंकुसयपवित्तियगणेत्तिय हत्थगए छत्तोवाहणसंजुत्ते धाउरत्तवत्थपरिहिए सावत्थीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ,निग्गच्छइत्ता जेणेव कयंगला नगरी जेणेव छत्तपलासए चेइए जेणेव समणे जगव महावीरे तेणेव पहारेत्थगमणाए गोयमाइ समणे भगवं महावीरे जगवं गोयमं एवं वयासी–दिच्छसि णं गोयमा ! पुव्वसंगइयं कंतं ?। कं भंते ! खंदयं नाम से काहे वा किहं वा केवच्चिरेण वा ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं सावत्थी णामं णयरी होत्था । वण्णओ–तत्थ णं सावत्थीए नगरीए गद्दजालिस्स अंतेवासी खंदए णामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ, त चेव०जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव पहारेत्थगमणाए से अदूरागए बहुसंपत्ते अद्धाण पडिवण्णे अंतरापहे वट्टइ,अज्जेव णं दिच्छसि गोयमा ! जंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एव वयासी–पहू णं जंते ! खंदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे जवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए । हता पहू ! जावं च णं समणे जगवं महावीरे जगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ, तावं च णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देसं हव्वमागए, तए णं जगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं अदूरमागयं जाणेत्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता खिप्पामेव पच्चुगच्छइ, पच्चुगच्छइत्ता जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता खंदयं कच्चायणसगोत्त एवं वयासी–हे खंदया ! सागयं खंदया !, सुसागयं खंदया !, अणुरागयं खंदया !, सागयमणुरागय खंदया !, से णूणं तुम खंदया ! सावत्थीए णयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए। मागहा ! किं सअंते लोए, एवं तं चेव जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–से केसि णं गोयमा ! तहारूवे णाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए जओ णं तुमं जाणासि, तए णं से जगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी–एवं खलु खंदया ! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदसणधरे अरहा जिणे केवली तीयपच्चुप्पण्णमणागयवियाणए सव्वण्णू सव्वदरिसी, जेणं मम एस अट्ठे तव ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं अहं जाणामि खंदया ! तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते जगवं गोयमं एव वयासी–गच्छामो णं गोयमा ! तव धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं जगवं महावीरं वंदामो, नमंसामो० जाव पज्जुवासामो। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं भगवं गोयमे खंदएणं कच्चायणसगोत्तेणं सद्धिं जेणेव समणे जगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थगमणाए,तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगव महावीरे वियट्टभोजी यावि होत्था, तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्टजोइस्स सरीरयं उरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं अणलंकियविभूसियं लक्खणवंजणगुणोववेयं सिरीए अतीव अतीव उवसोजेमाणे चिट्ठइ, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स जगवओ महावीरस्स वियट्टजोइस्स सरीरयं उरालयं० जाव अतीव अतीव उवसोजेमाणं पासइ, पासइत्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणदिए पीइमणे परमसोमणसिए हरिसवसविसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ०, जाव पज्जुवासइ, खंदयाइ, समणे जगवं महावीरे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी–से णूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए णयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालिसावएणं इणमक्खेवं, मागहा–किं सअंते लोए, अणंते लोए, एवं तं चेव० जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था, किं सअंते लोए, अणंते लोए, तस्स वि य णं अयमट्ठे, एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते। तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगे लोए सअंते, खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पण्णत्ता, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं लोए न कयाइ न आसि, न कदाइ न जवइ, न कदाइ न जविस्सइ, जविंसु य, भवति य, भविस्सइ य, धुवे णियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णत्थि पुण से अंते । जावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा, गंधरसफासा अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते, सेत्तं खंदया । दव्वओ लोगे सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालओ लोए अणंते, जावओ लोए अणंते, जे वि य ते खंदया० ! जाव सअंते जीवे अणंते जीवे तस्स वि य णं अयमट्ठे, एवं खलु० जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं जीवे न

कदाइ न आसि, णिच्चे, नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता नाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा, अणंता चरित्तपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा। नत्थि पुण से अंते सेत्तं दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते, भावओ जीवे अणंते, जे वि य णं ते खंदया पुच्छा ?। अंता सिद्धी, अणंता सिद्धी, तस्स वि य णं अयमट्ठे, मए चउव्विहा सिद्धी पण्णत्ता । तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगा सिद्धी सअंता, खेत्तओ णं सिद्धी पणयालीसजोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगा जोयणकोडी बायालीसं सयसहस्साइं तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापन्ने जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ता, अत्थि पुण से अंते, कालओ ण सिद्धी न कदाइ न आसि, जाव– ओ य जहा लोयस्स तहा भाणियव्वा। तत्थ दव्वओ सिद्धी सअंता, खेत्तओ सिद्धी सअंता, कालओ सिद्धी अणंता, भावओ सिद्धी अणंता, जे वि य ते खंदया०! जाव किं अणंते सिद्धे तं चेव० जाव दव्वओ णं एगे सिद्धे सअंते, खेत्तओ णं सिद्धे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थि पुण अंते, कालओ णं सिद्धे सादिए अपज्जवसिए, नत्थि पुण से अंते, भावओ णं सिद्धे, अणंता णाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा, अणंता अगुरुलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते सेत्तं दव्वओ सिद्धे सअंते, खेत्तओ सिद्धे सअंते, कालओ सिद्धे अणंते, भावओ सिद्धे अणंते, जे वि य ते खंदया ! इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए० जाव समुप्पज्जित्था। केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, तस्स वि य णं अयमट्ठे एवं खलु खंदया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते। तं जहा–बालमरणे य, पंडियमरणे य। से किं तं बालमरणे ?। बालमरणे दुवालसविहे पण्णत्ते। तं जहा–वलयमरणे वसट्टमरणे अंतोसल्लमरणे तब्भवमरणे गिरिपडणे तरुपडणे जलप्पवेसे जलणप्पवेसे विसभक्खणे सत्थोवाडणे वेहाणसे गिद्धपिट्ठे, इच्चेएणं खंदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, तिरियमणुदेवअणाइयं च णं अणवदग्गं दीहद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ, सेत्तं बालमरणेणं मरमाणे वड्ढइ, वड्ढइ, सेत्तं बालमरणे। से किं त पंडियमरणे ?। पंडियमरणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–पाओवगमणे य, भत्तपच्चक्खाणे य। से किं तं पाओवगमणे ?। पाओवगमणे दुविहे पणत्ते। तं जहा–नीहारिमे य, अनीहारिमे य नियमा अपडिकम्मे। सेत्तं पाओवगमणे। से किं तं भत्तपच्चक्खाणे ?। भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–नीहारिमे य, अनीहारिमे य, नियमा सपडिक्कमे, सेत्तं भत्तपच्चक्खाणे। इच्चेतेणं खंदया ! दुविहेणं पंडियमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं वि संजोएइ०, जाव वीयीवयइ, सेत्तं मरमाणे हायइ, सेत्तं पंडियमरणे। इच्चेएणं खंदया ! दुविहेणं मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, एत्थ णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स तीसे य महइ महालियाए परिसाए धम्मं परिकहेइ, धम्मकहा भाणियव्वा, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते !, अवितहमेयं भंते !, असंदिद्धमेयं भंते !, इच्छियमेयं भंते !, पडिच्छियमेयं भंते !, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते !, से जहेयं तुब्भे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभायं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता तिदंडं च कुंडियं च० जाव धाउरत्ताउ य एगंते एडेइ, एडेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिखुत्तो आदाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता० जाव नमंसइत्ता एवं वयासी–आलित्ते णं भंते ! लोए, जराए मरणेण य, से जहानामए केइ गाहावई आगारंसि झियायमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ, अप्पभारे मोल्लगुरुए तं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमइ, एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुराए हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे भंडे इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे विस्सासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे माणं सीयं माणं उण्हं माणं खुहा माणं पिवासा माणं चोरा माणं वाला माणं दंसा माणं मसया माणं वाइयपित्तियसंभियसन्निवाइयविविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु, एस नित्थारिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए नो सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पव्वावियं सयमेव मुंडावियं सयमेव सेहावियं सयमेव सिक्खावियं सयमेव आयारगो–

यरं विणयवेणइयचरणकरणजायामायावत्तियं धम्ममाइक्खियं,तए ण समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चायणसगोत्तं सयमेव पव्वावेइ० जाव धम्ममाइक्खइ, एवं देवाणुप्पिया ! चिट्ठियव्वं गंतव्वं, एवं निसीइयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं, एवं भुंजियव्वं,एवं भासियव्वं, एवं उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो किंचि पमाइयव्वं, तए ण से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं सम्मं संपडिवज्जइ, तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह निसीयइ, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाएइ, उट्ठाएइ, तह पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमेइ, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमायइ । तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे जाए इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए मणसमिए वयसमिए कायसमिये मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभचारी चाई लज्जू धन्ने खंतिक्खमे जिइंदिए सोहिए अणियाणे अप्पुस्सुए अवहिल्लेस्से सुसमणए दंते इणमेव निग्गंथं पावयणं पुरओ काउ विहरइ, तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ णयराओ छत्तपलासयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ, तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए ण खंदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव नमंसित्ता मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं से खंदए अणगारे मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासमं सम्मं काएण फासेइ,पालेइ, सोभेइ, तीरेइ, पूरेइ, किट्टेइ,अणुपालेइ,आणाए आराहेइ, सम्मं काएण फासित्ता० जाव आराहेत्ता, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं० जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे दोमासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं। तं चेव एवं दोमासियं तिमासियं चाउम्मासियं पंच छ सत्त, पढमं सत्तराइंदियं, दोच्चं सत्तराइंदियं, तच्चं सत्तराइंदियं, अहाराइंदियं, एगराइंदियं । तए णं से खंदए अणगारे एगराइं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं० जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणे भगवं महावीरं० जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे० जाव नमंसित्ता गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा-पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य,एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेणं चउत्थं मासं दसमं दसमेण पचमं मासं बारसमं बारसमेणं छट्ठं मासं चोद्दसमं चोद्दसमेणं सत्तमं मासं सोलसमं सोलसमेणं अट्ठमं मासं अट्ठारसमं अट्ठारसमेणं नवमं मासं वीसइमं वीसइमेणं दसमं मासं बावीसइमं बावीसइमेणं एक्कारसमं मासं चउवीसइमं चउवीसइमेणं बारसमं मासं छव्वीसइमं छव्वीसइमेणं तेरसमं मासं अट्ठावीसइमं अट्ठावीसइमेणं चोद्दसमं मासं तीसइमं तीसइमेणं पन्नरसमं मासं बत्तीसइमं बत्तीसइमेणं सोलसमं मासं चउत्तीसइमं चउत्तीसइमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेणं तए णं से खंदए अणगारे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं अहाकप्पं० जाव आराहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ,नमंसइ, बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से खंदए अणगारे तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धन्नेणं मंगलेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए किसे धम्मणिसंतए जाए यावि होत्था, जीवं जीवेणं गच्छइ, जीवं जीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भासं भासमाणे गिलाइ, भासं भासिस्सामीति गिलाइ, से जहानामए कट्ठसगडियाइ वा, पत्तसगडियाइ वा, पत्ततिलभंडगसगडियाइ वा, एरंडकट्ठसगडियाइ वा

इंगालसगमियाइ वा उएहे दिएणा सुक्का समाणी ससदं गच्छइ,ससदं चिट्ठइ, एवामेव खंदए अणगारे ससदं गच्छइ, ससदं चिट्ठइ,उवचिते तवेणं अवचिए मंससोणिएणं हुयासणे वि व भासरासिपमिच्छन्ने तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अतीव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणं चिट्ठइ। तेणं कालेणं तेण समएणं रायगिहे नयरे समोसरणं० जाव परिसा पमिगया। तए णं तस्स खंदयस्स अणगारस्स अएणया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए० जाव समुप्पज्जेत्था। एवं खलु अह इमेणं एयारूवेणं उरालेणं० जाव किसे धमाणिसंतए० जाव जीवं जीवेणं गच्छामि,जीवं जीवेणं चिट्ठामि०,जाव गिलामि,०जाव एवामेव अहं पि ससदं गच्छामि, ससदं चिट्ठामि, तं अत्थि तामे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तं० जाव तामे अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे०जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ,ताव तामे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहपंडुरे पभाए रत्तासोगप्पकासे किंसुयसुयमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागरसंमबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता० जाव पज्जुवासेत्ता समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुएणाए समाणे सयमेव पंचमहव्वयाणि आराहेत्ता समणा य समणीओ य खामेत्ता तहारूवेहिं थेरेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहित्ता मेहघणसंनिगासं देवसंनिवायं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहेत्ता दब्भसंथारयं संथरित्ता दब्भसंथारोवगयस्स संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, एवं संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए०जाव जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे०जाव पज्जुवासइ खंदयादि, समणे भगवं महावीरे खंदयं अणगारं एवं वयासी–से णूणं तव खंदया पुव्वरत्तावरत्त० जाव जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं तं चेव० जाव कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए० जाव जलंते जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे। हंता अत्थि,अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं से खंदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ० जाव नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ, आरुहेइत्ता समणा य समणीओ य खामेइ, खामेइत्ता, तहारूवेहिं थेरेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहेइ,दुरूहेइत्ता मेहघणसन्निगासं देवसन्निवायं पुढविसिलावट्टयं पडिलेहेइ,पडिलेहेइत्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ,पडिलेहेइत्ता दब्भसंथारयं संथरइ,संथरइत्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहिय दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अजलिं कट्टु एवं वयासी–नमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं,नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव संपाविउकामस्स वंदामि णं भगवं तं तत्थ गतं इह गओ पासउ,मे से भयवं तत्थ गए इह गयं ति त्तिकट्टु वदइ,णमसइ,वदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–पुव्विं पि मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणं पि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए०जाव मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि जावज्जीवाए,सव्वं असणपाणखाइमसाइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं० जाव फुसंतु त्ति कट्टु एयं पि णं चरिमेहिं उस्सासनीसासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु संलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं अणवकंखमाणे विहरइ। तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जित्ता बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियाग पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए, तए णं ते थेरा भगवंतो खंदय अणगारं कालगय जाणित्ता परिनिव्वाववत्तियं काउस्सग्गं करेंति,पत्तचीवराणि गिण्हंति, विपुलाओ पव्वयाओ सणियं सणियं पच्चोरुहंति, पच्चोरुहइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए णामं अणगारे पगइभद्दए पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाणमायालोभे मिउमद्दवसंपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए से णं देवाणुप्पिएहिं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आराहेत्ता समणा य समणीओ य खामेत्ता अम्हेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं तं चेव निरवसेसं०जाव आणुपुव्वीए कालगए इमे य से आयारभंडए भंते त्ति भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वदइ,

णमंसइ,वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणु-प्पियाण अंतेवासी खंदए णामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए कहिं उववन्ने ?। गोयमादि, समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी खंदए णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव से णं मए अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाई आरुहेत्ता तं चेव सव्वं अवसेसयं नेयव्वं० जाव आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे, तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं खंदयस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, से णं भंते ! खंदए देवत्ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिति कहिं उववज्जिहिति ?। गोयमा ! महाविदेहे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिनिव्वाहिति,सव्वदुक्खाणमंतं करिहिति। खंदओ सम्मत्तो ॥ भ०२श०१ उ०। ज्ञा०।

खंदग्गह-स्कन्दग्रह-पुं० । उन्मत्तताहेतौ स्कन्ददेवकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष०। ज्वरविशेषे, भ० ३ श० ६ उ० ।

खंदमह-स्कन्दमह-पुं० । स्कन्दः स्वामी कार्त्तिकेयस्तस्य महो महिमा पूजा। आचा०२ श्रु०१ अ० २ उ० । कार्त्तिकेयोत्सवे, भ० ९ श० ३३ उ० । विपा० ।

खंदसिरी-स्कन्दश्री-स्त्री० । शालाटव्यां चोरपल्ल्यां विजयस्य सेनापतेर्भार्यायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ('अभग्गसेण' शब्दे प्र० भागे ७०१ पृष्ठे कथा)

खंदिल्ल-स्कन्दिल-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, तेन मथुरायां संघमेलापकं कृत्वा शास्त्रवाचनाऽनुगमिता। ग०१ अधि०। नं०।

जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥३७॥

(जेसिमित्यादि) येषामयं श्रवणप्रत्यक्षत उपलभ्यमानोऽनुयोगोऽद्यापि अर्द्धभरते वैताढ्यादर्वाक् प्रचरति व्याप्रियते, तान् स्कन्दिलाचार्यान्,सिंहवाचकसूरिशिष्यान् बहुषु नगरेषु निर्गतं प्रसृतं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः,तान्,वन्दे। अथ येषामनुयोगोऽर्द्धभरते व्याप्रियमाणः, कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां सम्बन्धी ?। उच्यते-इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्तौ दुःषमसुषमाप्रतिपन्थिन्यास्तत्कृतसकलप्रभभावप्रसरैकसमारम्भाया दुःषमाया सहायकमासाद्य परमसुहृदिव द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षम् उदपादि, तत्र चैवंरूपे महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभस्यासंभवात् अवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थस्मरणश्रुतपरावर्तनानि मूलत एवापजग्मुः, श्रुतमपि चातिशायि प्रभूतमनेशत्। अङ्गोपाङ्गादिगतमपि भावतो विप्रनष्टं तत्परावर्तनादेरभावात्,ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने महति सुभिक्षे मथुरापुरि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रमणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यत्स्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुतपूर्वगतं च किञ्चिदनुसंधाय घटितं, ततश्चैतत् मथुरापुरि संघटितम्,अत इयं वाचना माथुरीत्यभिधीयते। सा च तत्कालयुगप्रधानानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता,तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं प्रापिता इति तदनुयोगः तेषामाचार्याणां व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहुः-न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशात्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म, प्रधाना येऽनुयोगधरा ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म,ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्तित इति माथुरी वाचना व्यपदिश्यते,अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति। नं०। येन (स्कन्दिलाचार्येण) च मथुरायां देवनिर्मितस्तूपे पक्षक्षपणेन देवतामाराध्य जिनभद्रक्षमाश्रमणैरुद्देहिकाभक्षितपुस्तकपत्रत्वेन त्रुटितं भग्नं महानिशीथं सन्धितम्। ती०६ कल्प। स्थूणानगर्यामेकस्यैवाचार्यस्य शिष्याणां पुष्पमित्रादीनामष्टानामन्यतम एवमेते त्रयः स्कन्दिलाचार्याः सभाव्यन्ते, तत्त्वं पुनः पुरातत्त्वविद्भिः स्वयमूह्यम्। व्य०। स च दशपूर्वी, युगप्रधानप्रवरश्च। कल्प० ८ क्षण ।

खंध-स्कन्ध-पुं० । स्कन्दन्ति शुष्यन्ति क्षीयन्ते च पुष्यन्ते पुद्गलानां चटनेन विचटनेन चेति स्कन्धाः। पृषोदरादित्वाद्रूपनिष्पत्तिः। प्रव०१ द्वार। "ष्कस्कयोर्नाम्नि" ८।२।४। इति स्कस्य खः। प्रा० २ पाद। पुद्गलप्रचयरूपेषु, आ० चू० १ अ०। अणुसमुदायेषु, स्था० १ ठा० १ उ० ।

निक्षेपः-

से किं तं खंधे ?। खंधे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-नामखंधे, ठवणाखंधे, दव्वखंधे, भावखंधे, नामठवणाओ पुव्वभणिआणुक्कमेण भाणिअव्वाओ ।

अथ किं तत् स्कन्ध इत्युच्यते?,इति प्रश्ने निर्वचनमाह-"खंधे चउव्विहे" इत्यादि। अत्र नामस्कन्धम् आवश्यकसूत्रं स्थापनास्कन्धप्रतिपादकसूत्रं नामस्थापनावश्यकप्रतिपादकसूत्रव्याख्याऽनुसारेण स्वयमेव भावनीयम्।

(द्रव्यस्कन्धः)

से किं तं दव्वखंधे ?। दव्वखंधे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-आगमतो अ,नोआगमतो अ। से किं तं आगमओ दव्वखंधे?। आगमतो दव्वखंधे जस्स णं खंधेत्ति पयं सिक्खितं, सेसं जहा दव्वावस्सए तहा भाणिअव्वं, नवरं खंधाभिलावो जाव। से किं तं जाणियसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे ?। जाणियसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-सचित्ते अचित्ते, मीसए ।

द्रव्यस्कन्धसूत्रमपि ज्ञशरीरद्रव्यस्कन्धसूत्रं यावद् द्रव्यावश्यकोक्तव्याख्याऽनुसारेणैव भावनीयम्। प्रायस्तुल्यवक्तव्यत्वादिति। "से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे" ? इति प्रश्ने निर्वचनमाह-" जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविहे पन्नत्ते" इत्यादि। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्धस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-सचित्तोऽचित्तो मिश्रः।

तत्राद्यभेदं जिज्ञासुः पृच्छति-

से किं तं सचित्ते दव्वखंधे ?। सचित्ते दव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा-हयखंधे गयखंधे नरखंधे, से तं सचित्ते दव्वखंधे ।

"से किं तमित्यादि"। अत्रोत्तरम्-"सचित्तदव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते" इत्यादि। चित्तं मनो विज्ञानमिति पर्यायाः। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः,स चासौ द्रव्यस्कन्धश्चेति सचित्त-

द्रव्यस्कन्धः। अनेकविधोऽनेकभेदतोऽनेकप्रकारः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-हयस्कन्ध इत्यादि। हयस्तुरगः,स एव विशिष्टपरिणामपरिणतत्वात् स्कन्धो हयस्कन्धः। एवं गजस्कन्धादिष्वपि समासः। नवरं किंनरकिंपुरुषमहोरगादिव्यन्तरविशेषाः। (उसभ त्ति) वृषभः क्वचित्पर्वतस्कन्धादीन्यधिकान्यप्युदाहरणानि दृश्यन्ते, सुगमानि च,नवरं "पसुपसयविहगवानरखंधे त्ति" क्वचिद् दृश्यते। तत्र पशुः छगलकः, पसयस्त्वाटविको द्विखुरः चतुष्पदविशेषः, विहगः पक्षी,वानरः प्रतीत , स्कन्धशब्दस्तु प्रत्येक रूपव्यः। इह च सचित्तस्कन्धाधिकाराज्जीवानामेव च परमार्थतः सचेतनत्वात्कथञ्चिच्छरीरैः सह भेदे सत्यपि हयादीनां संबन्धिनो जीवा एव विवक्षिता न तु तदधिष्ठितशरीराणीति सम्प्रदायः। न च जीवानां स्कन्धत्वं नोपपद्यते, प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशात्मकत्वेन तेषां स्कन्धत्वस्य सुप्रतीतत्वादिति हयस्कन्धादीनामन्यतरेणैकेनाप्युदाहरणेन सिद्धम्, किं प्रभूतोदाहरणाभिधानेनेति चेत्सत्यम् । किं तु पृथक् भिन्नस्वरूपं विजातीय स्कन्धबहुत्वाभिधानेनात्माद्वैतवादं निरस्यति, तथाऽभ्युपगमे मुक्तेतरादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। " सेत्तं " इत्यादि निगमनम्।

अथाचित्तद्रव्यस्कन्धनिरूपणार्थमाह-

से किं तं अचित्ते दव्वखंधे ? । अचित्ते दव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-दुपएसिए तिपएसिए० जाव दसपएसिए, संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपएसिए,सेत्तं अचित्ते दव्वखंधे ।

"से किं तं" इत्यादि । अत्र निर्वचनम्-"अचित्तदव्वखंधे" इत्यादि। अविद्यमानचित्तोऽचित्त ,स चासौ द्रव्यस्कन्धश्चेति समासः। अयमनेकविध, प्रज्ञप्त। तद्यथा-द्विप्रदेशस्कन्ध इत्यादि। तत्र प्रकृष्टः पुद्गलास्तिकायदेशः प्रदेशः, परमाणुरित्यर्थः। द्वौ प्रदेशौ यत्र स द्विप्रदेशिक, स चासौ स्कन्धश्च द्विप्रदेशिकस्कन्धः। एवमन्यत्रापि यथायोगं समासः। "सेत्तं" इत्यादि निगमनम्। अनु० ।

अथ मिश्रद्रव्यस्कन्धनिरूपणायाऽऽह-

से किं तं मीसए दव्वखंधे ? । मीसए दव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-सेणाए अग्गिमे खंधे, सेणाए मज्झिमे खंधे, सेणाए पच्छिमे खंधे । सेत्तं मीसए दव्वखंधे ।

अयमपरोऽचित्तमहाद्रव्यस्कन्धः । तद्व्याख्यानार्थमाह-

जइणसमुग्घायगईए, चउहिँ समएहिँ पूरणं कुणई ।
लोगस्स तेहिँ चेव य, संहरणं तस्स पडिलोमं ॥६४३॥

इह निर्युक्तिगाथायां "तहाऽचित्तित्ति" न केवलं मिश्र , तथा एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादचित्तमहास्कन्धश्च भवतीति गम्यते। स चास्यां प्रस्तुतगाथायां योज्यते। कथमिति चेत् ?, उच्यते-अचित्तमहास्कन्ध स भवति, य किमित्याह-जैनसमुद्घातगत्या " दण्ड प्रथमे समये,कपाटमथ चोत्तरेत्यादि " केवलिसमुद्घातन्यायेन विस्रसापरिणामवशाच्चतुर्भिः समयै लोकस्य पूरणं करोति । संहरणमपि प्रतिलोम पश्चानुपूर्व्या तस्याचित्तमहास्कन्धस्य तैरेव चतुर्भि समयैर्द्रष्टव्यम् । एवं च सत्यष्टौ समयान् कालमानेनासौ भवतीति ॥ ६४३ ॥

आह-ननु पुद्गला इह विचारयितुमुपक्रान्तास्ततश्च पुद्गलमहास्कन्धोऽचेतन एव भवति, किं तस्याचित्तत्वविशेषणेन, व्यवच्छेद्याभावादित्याशङ्क्याह-

जइणसमुग्घायसचि-त्तकम्मपोग्गलमयं महाखंधं ।
पइ तस्समाणुभावो, होइ अचित्तो महाखंधो ॥६४४॥

जैनसमुद्घाते यः सचेतनजीवाधिष्ठितत्वात्सचित्तः कर्मपुद्गलमयो महास्कन्धस्त प्रति तमाश्रित्य,तद्व्यवच्छेदायेत्यर्थः। किमित्याह-प्रस्तुत पुद्गलमहास्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धः इति व्यपदेश्यो भवति-अचित्तविशेषणेन विशेष्यो भवतीत्यर्थः । कुत इत्याह-यतस्तत्समानभावः, उपलक्षणत्वात्तत्समक्षेत्रकालानुभावः-तेन केवलिसमुद्घातवर्तिना कर्मपुद्गलमयमहास्कन्धेन समास्तुल्या क्षेत्रकालानुभावा यस्यासौ तत्समक्षेत्रकालानुभावः तत्र क्षेत्रं सर्वलोकलक्षण, कालोऽष्टसमयमानः, अनुभावो वर्णगन्धादिगुणः । अयमत्र भावार्थः-अनन्तानन्तपरमाणुपुद्गलोपचितस्कन्धे वक्तु प्रस्तुते यदि महास्कन्ध इत्येतावन्मात्रमेवोच्यते, तदा केवलसमुद्घातगतोऽनन्ताऽनन्तकर्मपुद्गलमयस्कन्धोऽपि लभ्येत, प्रस्तुतमहास्कन्धस्य केवलिसमुद्घातकर्मपुद्गलमयमहास्कन्धस्य च समानक्षेत्रकालानुभावत्वात् । तथाहि-चतुर्थे समये द्वावपि लोकक्षेत्रं व्याप्नुतः, अष्टसामयिकं च कालं द्वावपि तिष्ठतः, वर्णपञ्चकगन्धद्वयरसपञ्चकस्पर्शचतुष्टयलक्षणगुणयुक्तौ द्वावपि भवत । तदेव महास्कन्ध इत्युक्तेऽनन्तानन्तकर्मपुद्गलमयमहास्कन्धः केवलिसमुद्घातगतोऽपि लभ्येत, तस्यापि प्रस्तुतमहास्कन्धे समानक्षेत्रकालानुभावत्वात्। न च तेनेह प्रयोजनमतोऽचित्तविशेषणेन तद्व्यवच्छेदः क्रियते, जीवाधिष्ठितत्वेन किल तस्य सचेतनत्वादिति ॥६४४॥

अथाऽत्र केषांचिन्मतमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह-

सव्वुक्कोसपएसो, एसो केई न चायमेगंतो ।
उक्कोसपएसो जम-वगाहठिईओ चउट्ठाणो ॥६४५॥
अट्ठप्फासो य जओ, भणिओ एसो य जं चउप्फासो ।
अन्ने वि तओ पोग्गल-भेया संति त्ति सद्धेयं ॥६४६॥

एष प्रस्तुतोऽचित्तमहास्कन्धः सर्वोत्कृष्टप्रदेशनिर्वृत्तो, नान्यः। अथ औदारिकादिवर्गणाः सर्वा अप्यभिधाय पर्यन्ते प्रोक्तोऽतो ज्ञायतेऽयमेव सर्वोत्कृष्टपरमाणुसंख्याप्रचितो, न स्कन्धान्तराणि । निवर्तते ह्यत ऊर्ध्वं सर्वाऽपि पुद्गलविशेषाणां कथेति भावः। इत्येवं केचित् व्याचक्षते। नचायमेकान्तो,नैतद्व्याख्यानं सङ्गतमित्यर्थ, यद्यस्मादुत्कृष्टप्रदेशः स्कन्धः प्रतियोग्युत्कृष्टप्रदेशस्कन्धान्तरापेक्षया प्रज्ञापनायामवगाहनास्थितिभ्यां चतुःस्थानपतित उक्तः । तथा च तत्सूत्रम्-"उक्कोसपएसिआणं भंते ! खंधाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ?। गोयमा ! उक्कोसपएसिए खंधे, उक्कोसपएसिअस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले" (एकैकद्रव्यत्वात्) पएसट्ठयाए तुल्ले, (उत्कृष्टप्रदेशिकस्यैव प्रस्तुतत्वात्) ओगाहणट्ठियाए चउट्ठाणवडिए। तं जहा-असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जगुणब्भहिए वा असंखेज्जगुणब्भहिए वा । एवं ठिईए वि चउट्ठाणवडिए वण्णगंधरस० । अट्ठहिं फासेहिं छट्ठाणवडिए" ॥ अयं पुनरचित्तमहास्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धान्तरेण सहावगाहनास्थितिभ्यां तुल्य एव। अतो ज्ञायते-एतस्मादपर एव केचित्ते प्रज्ञापनोक्ता उत्कृष्टप्रदेशिकाः स्कन्धा इति। किं च-'अ-

दुप्फासो य जओ, भणिओ" 'उक्कोसपएसो' इत्यनन्तरगाथागतं संबध्यते। ततश्चाष्टस्पर्शस्य यतः "प्रज्ञापनायां" भणित उत्कृष्टप्रदेशिकः स्कन्धः। एष पुनरचित्तमहास्कन्धो यस्माच्चतुःस्पर्श इष्यते। तस्मादनयैवोत्कृष्टप्रदेशिकस्कन्धानां भेदसिद्ध्या पूर्वोक्तवर्गणाभिश्चाचित्तमहास्कन्धेभ्योऽन्येऽपि केचिदसंगृहीताः पुद्गलविशेषा अद्यापि सन्तीति श्रद्धेयम्, न पुनरेतावता सर्वोऽपि पुद्गलास्तिकायः संगृहीत इति भावः॥ ६४५। ६४६॥ विशे०। प्रज्ञा०। आ० म०।

अहवा जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-कसिणखंधे, अकसिणखंधे, अणेगदव्वियखंधे॥

"अहवा जाणगेत्यादि" अथ वा अन्येन प्रकारेण ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्कन्धस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-कृत्स्नस्कन्धोऽकृत्स्नस्कन्धोऽनेकद्रव्यस्कन्धः।

से किं तं कसिणखंधे ?। कसिणखंधे सो चेव हयक्खंधे गयक्खंधे० जाव उसभखंधे। सेत्तं कसिणखंधे॥

"से किं तमित्यादि"। अत्रोत्तरम्-"कसिणक्खन्धइत्यादि"। यस्मादन्यो बृहत्तरः स्कन्धो नास्ति कृत्स्नः परिपूर्णः स्कन्धः कृत्स्नस्कन्धः। कोऽयमित्याह-"सो चेत्यादि" स एव "हयक्खन्ध" इत्यादिनोपन्यस्तो हयादिस्कन्धः कृत्स्नस्कन्धः। आह-यद्येवं प्रकारान्तरत्वमसिद्धं सचित्तस्कन्धस्यैव संज्ञान्तरेणोक्तत्वात्। नैतदेवम्। प्राक् सचित्तद्रव्यस्कन्धाधिकारात् तथाचाविभक्तोऽपि बुद्ध्या निष्कृष्य जीवा एवोक्ताः, इह तु जीवाधिष्ठितः शरीरावयवलक्षणसमुदायः कृत्स्नस्कन्धत्वेन विवक्षित इत्यतोऽभिधेयभेदात्सिद्धं प्रकारान्तरत्वम्; यद्येव तर्हि हयादिस्कन्धस्य कृत्स्नत्वं नोपपद्यते, तदपेक्षया गजादिस्कन्धस्य बृहत्तरत्वात्। नैतदेवम्। यतोऽसंख्येयप्रदेशात्मको जीवस्तदधिष्ठिताश्च शरीरावयवा इत्येवंलक्षणः समुदायो हयादिस्कन्धत्वेन विवक्षितो जीवस्य वा सख्येयप्रदेशात्मकभयात्सर्वत्र तुल्यत्वात् गजादिस्कन्धस्य बृहत्तरत्वमसिद्धम्, यदिह जीवप्रदेशपुद्गलसमुदायः सामस्त्येन वर्तेत, तदा स्याद्गजादिस्कन्धस्य बृहत्त्व, तच्च नास्ति, समुदायवृद्ध्यभावात्, तस्मादितरेतरापेक्षया जीवप्रदेशपुद्गलसमुदायस्य हीनाधिक्याभावात्सर्वेऽपि समुदायादिस्कन्धाः परिपूर्णत्वात् कृत्स्नस्कन्धाः। अन्ये तु दूरं सचित्तस्कन्धविचारे जीवाधिष्ठितशरीरावयवसमुदायः सचित्तस्कन्धोऽत्र तु शरीरात् बुद्ध्या पृथक्कृत्य जीव एव केवलः कृत्स्नस्कन्ध इति व्यत्यय व्याचक्षते। अत्र च व्याख्याने प्रैर्यमेव नास्ति, हयगजादिजीवानां प्रदेशतो हीनाधिकयाभावेन कृत्स्नस्कन्धत्वस्य सर्वत्राविरोधादित्यल प्रसङ्गेन। "सेत्त" इत्यादिनिगमनम्।

अथाकृत्स्नस्कन्धनिरूपणार्थमाह-

से किं तं अकसिणखंधे ?। अकसिणखंधे सो चेव दुपएसियाइ खंधे० जाव अणंतपएसिए खंधे। सेत्तं अकसिणखंधे।

"से किं त मित्यादि।" अत्रोत्तरम्-"अकसिणखंधे सोचेत्यादि। न कृत्स्नोऽकृत्स्नः, स चासौ स्कन्धश्चाकृत्स्नस्कन्धो, यस्मादन्योऽपि बृहत्तरस्कन्धोऽस्ति सोऽपरिपूर्णत्वादकृत्स्नस्कन्ध इत्यर्थः। कस्यायमित्याह-"सो चेवेत्यादि"। स एव "दुपदेसिएखन्धे तिपएसिए खन्धे" इत्यादिना पूर्वमुपन्यस्तो द्विप्रदेशिकादिरकृत्स्नस्कन्ध इत्यर्थः। द्विप्रदेशिकस्य त्रिप्रदेशिकापेक्षया कृत्स्नत्वात् त्रिप्रदेशिकस्यापि चतुःप्रदेशिकापेक्षया कृत्स्नत्वादेवं तावद्वाच्यं यावत् कृत्स्नं नापद्यत इति पूर्वं द्विप्रदेशिकादिः सर्वोत्कृष्टप्रदेशश्च स्कन्धः सामान्येनाचित्ततया प्रोक्तः। इह तु सर्वोत्कृष्टस्कन्धादधोवर्तिन एवोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वतरा अकृत्स्नस्कन्धत्वेनोक्ता इति विशेषः। "सेत्तं" इत्यादिनिगमनम्।

अथानेकद्रव्यस्कन्धनिरूपणार्थमाह-

से किं तं अणेगदव्वियखंधे ?। अणेगदव्वियखंधे तस्स चेव देसे अवचिए, तस्स चेव देसे उवचिये, सेत्तं अणेगदव्वियखंधे। सेत्तं जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वखंधे। सेत्तं नोआगमतो दव्वखंधे।

"से किं तमित्यादि"। अत्रोत्तरम्-"अणेगदवियखंधस्येत्यादि" अनेकद्रव्यश्चासौ स्कन्धश्चेति समासः। तस्यैवेत्यत्रानुवर्तमानं स्कन्धमात्रं सबध्यते, ततश्च तस्यैव यस्य कस्यचित् स्कन्धस्य यो देशो नखदन्तकेशादिलक्षणोऽपि चितो जीवप्रदेशैर्विरहितस्तस्यैव देशः पृष्ठोदरचरणादिरुपचितो, जीवप्रदेशैर्व्याप्त इत्यर्थः। तयोर्यथोक्तदेशयोर्विशिष्टैकपरिणामपरिणतयोर्यो देहाख्यः समुदायः सोऽनेकद्रव्यस्कन्ध इति विशेषः। सचेतनमचेतनानेकद्रव्यात्मकत्वादिति भावः। स चैवभूतः सामर्थ्याद्धुरगादिस्कन्ध एव प्रतीयते। यद्येव तर्हि कृत्स्नस्कन्धादस्य को विशेष इति चेत्?। उच्यते-स किल यावानेव जीवप्रदेशानुगतस्तावानेव विवक्षितो, न तु जीवप्रदेशाव्याप्तनखाद्यपेक्षया, अयं तु नखाद्यपेक्षयाऽपीति विशेषः। पूर्वोक्तमिश्रस्कन्धादस्य तर्हि को विशेष इति चेत्?, उच्यते-तत्र खड्गाद्यजीवानां हस्त्यादिजीवानां च अपृथग्भूतव्यवस्थितानां समूहकल्पनया मिश्रस्कन्धमुक्तम्। अत्र तु जीवप्रयोगतो विशिष्टैकपरिणामपरिणतानां सचेतनद्रव्याणामनेकद्रव्यस्कन्धत्वमिति विशेष इत्यल प्रसङ्गेन। "सेत्तमित्यादि" निगमनं, तदेवमुक्तो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्कन्ध, तद्भणने च समर्थितो 'नोआगमतो' द्रव्यस्कन्धविचारः, तत्समर्थने च समर्थितो द्रव्यस्कन्ध इति। अनु०। उत्त०। दश०। सूत्र०। आ० म०। आचा०।

भावस्कन्धनिरूपणार्थमाह-

से किं तं भावखंधे?। भावक्खंधे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-आगमतो अ, नोआगमतो अ। से किं तं आगमतो भावक्खंधे?। जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमतो भावखंधे। से किं तं नोआगमतो भावखंधे?। एएसिं चेव सामाइअमाइयाणं छण्हं अज्झयणाणं समुदयसमिइसमागमेणं आवस्सयं सुअखंधे भावखंधे त्ति लब्भइ। सेत्तं नो आगमओ भावखंधे। सेत्तं भावखंधे॥

"से किं तमित्यादि।" अत्रोत्तरम्-"भावखधे दुविहे" इत्यादि। भावश्चासौ स्कन्धश्च भावस्कन्धः, भावमाश्रित्य वा स्कन्धो भावस्कन्धः। स च द्विविधः प्रज्ञप्त। तद्यथा-आगमतश्च, नोआगमतश्च। तत्रागमतः स्कन्धपदार्थज्ञ, तत्र चोपयुक्तस्तु तदुपयोगित्वाद्भावस्कन्धः। नोआगमतस्तु एतेषामेव प्रस्तुतावश्यकभेदानां सामायिकादीनां षण्णामध्ययनानां समुदायः। स चैतेषां विदलकलितानामपि तथाविधदेवदत्तादीनामिव स्यात्। अत उच्यते-समुदयस्य समितिर्नैरन्तर्येण मीलना, सा च नैरन्तर्याव्यवस्थितानां शालाकानामिव परस्परनिरपेक्षाणामपि स्यात्, अत उच्यते-

तस्याः समुदयसमितेर्य' समागमः परस्पर सबद्धतया विशिष्टै-कपरिणामसमुदायसमितिसमागमस्तेन निष्पन्नोऽयम् आवश्य-कश्रुतस्कन्ध. स भावस्कन्ध इति लभ्यते प्राप्यते भवति इति हृदयम् । इदमुक्त भवति-सामायिकादिषडध्ययनसहितिनिष्पन्न आवश्यकश्रुतस्कन्धो मुखवस्त्रिकारजोहरणादिव्यापारलक्षण-क्रियायुक्ततया विवक्षितो नो आगमतो भावस्कन्ध । नो शब्द-स्य देश आगमनिषेधपरत्वात, क्रियालक्षणस्य च देशस्यानाग-मत्वादिति भाव. । " सेत्तमित्यादि "। तदेवं प्रतिपादितो द्विवि-धोऽपि भावस्कन्ध इति। निगमयति-" सेत्त भावखधे त्ति "। अनु० । आ० चू० । विपा० ।

इदानीं त्वस्यैव एकार्थिकानाभिधित्सुराह-

तस्स णं सेत्तं इमे एगट्ठिया णाणा घोसा णाणा वंजणा नामधेज्जा भवंति। तं जहा-"गणकाए अ निकाए,खंधे वग्गे तहेव रासी अ। पुंजे पिंमे निगरे,संघाए आउलसमूहे"॥१॥ सेत्तं खंधे । अनु० ।

द्विप्रदेशिका यावदनन्तप्रदेशिका स्कन्धान्ता. । स्था० १ ठा० १ उ०। ('पज्जाय' शब्देऽस्य पर्याया द्रष्टव्या) समुच्चयेषु, स्था० १० ठा०। सर्वास्थिकायसघाते,आ० म० द्वि० । सुत्र० । ('पच खधे वयतेगे'इत्यादि 'खणिअवाइ' शब्दे उपपादयिष्यते,निराक-रिष्यते च) वनस्पतीनां स्थूमे, यतो मूलशाखा प्रभवन्ति।जी० ३ प्रति० । स्था० । औ० । ज० । रा० । ज्ञा० । अंशदेशे, उत्त० २ अ० । औ० । पृष्ठे स्कन्धप्रदेशप्रत्याशक्ते, पृष्ठमपि स्कन्ध इति व्यपदिश्यते।ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। एकस्य स्तम्भस्योपरि आ-श्रये, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०। अर्द्धप्राकारे, नि० चू० १२ उ० । द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

खंधंतर-स्कन्धान्तर-न० । एकस्मात् स्कन्धादन्यस्मिन् स्कन्धे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खंधकरणी-स्कन्धकरणी-स्त्री० । साध्वीनामुपकरणविशेषे, सा च " खधकरणी अ चउह-त्थवित्थडा वायविहूयरक्खठा । " स्कन्धकरणी च चतुर्हस्तविस्तरा समचतुरस्रा प्रावरणस्य वातविधूतरक्षणार्थं चतुष्पला (चतु.पुटीकृत्य) स्कन्धे कृत्वा प्रास्रियते । बृ० ३ उ० । प्रव० । ध० ।

खंधकुमार-स्कन्धकुमार-पु० । स्वनामख्याते कुमारे, " जंतेहिँ पीलिआ वि " इत्यादि उपदेशमालागाथावृत्तौ स्कन्दकुमारः पञ्चशतपरिकरो निष्क्रान्त इत्युक्तम् । ऋषिमण्डले तु " एगूणे पचसया" इत्युक्तम् ।तत्कथमिति प्रश्ने, उपदेशमालावृत्तौ प्रव्र-ज्याधिकारे पञ्चशतपरिकरितत्वमुक्तम , ऋषिमण्डले तु नि-र्वाणाधिकारे एकोनपञ्चशतत्वमिति न कश्चिद्विरोध इति । २४३ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

खंधचढियविहार-स्कन्धचटितविहार-पुं० । निजशिष्यसाध्व-सारूढाटने, जी० ।

एकविंशतिनममधिकारमाह-

अन्ने उणऽहम्माणी, नियया(नि)प्पायउज्जुयविहारी ।
नियसिस्सखधचढिया, भमति वहुगामनगरेसु ॥१॥

अन्ये पुनरपरे अहमानिनोऽहङ्कारिणो निजकाभिप्रायोद्युक्त-विहारिण सुमतसुविहिता. निजशिष्यस्कन्धचटिता. स्व-

साध्वसारूढाः अटन्ति ग्रामनगरेषु प्रभूतनिवासेष्वशेषकला-विहारिणो वयमिति शेष इति गाथार्थ ॥१॥

अत्रापि जीवोपदेशगर्भविरोधं दर्शयन् गाथाद्वयमाह-

तत्थ वि जावसु अहहा, अन्नाणविलसियं एयं ।
जं जत्था वसहीणा-ऽविहरणं वारियं वहुहा ॥ २ ॥
ववहारपंचकप्पा-इएसु गंथेसु सुत्तकेवलिणा ।
अइवित्थरेण भणिय, पज्जंते तत्थिमा गाहा ॥ ३ ॥

तत्रापि स्कन्धे चटितविहरणेऽपि हे जीव ! भावय चिन्तय। अ-हहा इत्याश्चर्ये, अज्ञानविलसित मूढताविकल्पितमेतत् विहरणं यद् यस्माद्यया वसहीनादिविहरणम् । आदिशब्दाद् ज्ञानादिपरि-ग्रह । वारित निषिद्ध वहुधाऽनेकप्रकार व्यवहारपञ्चकल्पादिषु प्रतीतेषु ग्रन्थेषु शास्त्रेषु सूत्रकेवलिना भद्रबाहुस्वामिना, कथ-मित्याह-अतिविस्तरेण महाप्रपञ्चेन भणितमुक्त पर्यन्ते तदधि-कारव्युच्छित्तौ तत्र तेषु ग्रन्थेषु, इयमग्रे भणिष्यमाणा गाथा छन्दोविशेषलक्षणा । इति गाथाद्वयार्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

तामेवाह-

जा गाउयं समत्थो, सूरादारब्भ भिक्खवेलाओ ।
विहरउ एसो सप-रक्कमाउ नो विहरि तेण परं ॥४॥

सुवोधा । नवर प्रहरद्वयेन गव्यूतमेक यावत् गन्तु शक्नोति चरणाभ्यां तावद्विहरतु, तदभावे स्थानस्थितेनैवासितव्यमिति तात्पर्यार्थ. ॥ ४ ॥

एवमवगत्य जीवोपदेशमाह-

ता जइ तुहऽत्थि सत्ती, विज्जंते सोहणा जइ सहाया ।
जीव ! तुमं तो विहरसु, अय नो संस विहरंते ॥५॥

ततो यदि तव भवतोऽस्ति विद्यते शक्तिः सामर्थ्यं, विद्यन्ते सन्ति शोभना भव्या यदि सहायाः गीतार्थादिसाधवः, जीवा-ऽऽत्मन् ! ततो विहर पर्यट, अथेति विकल्पार्थे । नो नैव, ततः शस श्लाघय विहरत आगमोक्तविधिना चरत इति गाथा-र्थः ॥ ५ ॥ जीवा० २१ अधि० ।

खंधसिरा-स्कन्धशिरा-स्त्री० । असधमन्याम, त० ।

खंधणिवेस-स्कंधनिवेश-स्त्री० । सैन्यस्थापनपरिज्ञानात्मिकायां सप्तचत्वारिंशकलायाम, स० ७४ सम० ।

खंधदेस-स्कंधदेश-पुं० । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिण-तानां बुद्धिपरिकल्पितेषु द्व्यादिप्रदेशात्मकेषु विभागेषु, ते च ध-र्मास्तिकायादीनां भवन्ति । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । सूत्र० ।

खंधप्पएस-स्कन्धप्रदेश-पु० । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरि-णतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशाः निर्विभागभागाः । परमाणुषु, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । सूत्र० ।

खंधप्पभव-स्कन्धप्रभव-पुं०। स्थूडोत्पादे,"मूलाओ खंधप्पभा-वो दुमस्स " दश० ९ अ० १ उ० ।

खंधमत-स्कन्धवत्-त्रि० । स्कन्धोऽस्यास्तीति । अतिशयितस्थूमे, वहुस्थूमे च । जी० ३ प्रति० । ज्ञा० । रा० ।

खंधवीय-स्कन्धवीज पु०। स्कन्ध स्थुडामिति प्रसिद्धम।(स्था०४ ठा० १ उ०) वीज येषां ते स्कन्धवीजा.। सल्लक्यादिषु, स्था० ५

ठा० २ ठ० । सूत्र० । विपा० । दश० । आ० म० । आचा० । इत्यु दशवैकालिकादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । तृणवनस्पतिभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

खंधसालि-स्कंधशालिन्-पुं० । दशानां महोरगाणां पञ्चमे व्यन्तरभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

खंधार-स्कन्धावार-पुं० । स्कन्ध० आ० वृ० घञ् । वाच० । "स्कस्कयोर्नाम्नि" । ८ । २ । ४ । इति कमागस्य खः । प्रा०२पाद । कटकोत्तरणनिवासे, उत्त० २७ अ० । शाकटकनिवेशे, स्था० ७ ठा० । राजविम्बसहिते स्वचक्रे, परचक्रे च । वृ० ३ उ० । चक्रवर्त्यादिस्कन्धावारेषु आशालिक उत्पद्यते । प्रज्ञा० १ पद । राजधान्याम्, वाच० ।

खंधावार-स्कन्धावार-पुं० । 'खंधार' शब्दार्थे, वृ० ३ उ० ।

खंधावारमाण-स्कन्धावारमान-न० । सैन्यप्रमाणज्ञानलक्षणे चतुश्चत्वारिंशे कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । स० ।

खंभ-स्तम्भ-पुं० । "स्तम्भे स्तो वा" ८ । २ । ८ । इति स्तस्य खः । "खघथधभाम्" । ८ । १ । १८७ । इति हः प्राप्तः । स्वरादित्येव इति हो न । "अनादौ" । ८ । २ । ८६ । इति न द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । स्थूणायाम्, भावे घञ् । जडीभावे, पुं० । वाच० । प्रासादादावष्टम्भहेतौ, जी० ४ प्रति० । प्रासादाधारे, ग० १ अधि० । स्तम्भे वा कुड्ये वा अवष्टभ्य स्थानम्, इति कायोत्सर्गदोषे तृतीये, प्रव० ५ द्वार । आव० । औत्पत्तिकबुद्धौ स्तम्भोदाहरणम् । आ० क० ।

खंभतित्थ-स्तम्भतीर्थ-न० । चतुरशीतितीर्थानामन्यतमे, यत्र पातालगङ्गाभिध. श्रीनेमिनाथ. । ती० ४५ कल्प ।

खंभवाहा-स्तम्भवाहा-स्त्री० । स्तम्भपार्श्वे, जी० ३ प्रति० ।

खंभपुडंतर-स्तम्भपुटान्तर-न० । द्वौ स्तम्भौ स्तम्भपुटं, तस्यान्तरं स्तम्भपुटान्तरं, द्वयोः स्तम्भयोरन्तराले, जी० ३ प्रति० ।

खंभाइत-स्तम्भादित्य-न० । "खंभात" इति ख्याते गुर्जरदेशीयपत्तने, यत्र यशोभद्रसूरिभिर्विक्रमात् ५०२ वर्षेष्वतिक्रान्तेषु तत्रत्यानां प्रतिमानां ध्वजारोपमहः कृतः । ती० २३ कल्प ।

खंभागरिसग-स्तम्भाकर्षक-पुं० । मन्त्रबलेन स्तम्भानामुत्पाटके, प्रभावके द्रव्यसिद्धे, आ० म० प्र० । ('भतसिद्ध' शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

खंभालण-स्तम्भालन-स्तम्भालगन-न० । स्तम्भालगने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार० ।

खंभुग्गय-स्तम्भोद्गत-त्रि० । स्तम्भेषु उद्गतो निविष्टः । भ० ६ श० ३३ उ० । स्तम्भोपरिवर्तिनि, " खंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामा" स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामाणि स्तम्भोद्गताभिः स्तम्भोपरिवर्तिनीभिः वज्ररत्नमयीभिर्वेदिकाभिः परिगतानि सन्ति यानि अभिरमणीयानि तानि । जी० ३ प्रति० । स्तम्भेषूद्गता निविष्टा या वज्रवेदिका तया परिगता परिकरिता अत एवाभिरामा रम्या या सा । भ० ६ श० ३३ उ० ।

खखर-खर्खर-पुं० । अश्वत्रासनाय चर्ममयवस्त्रविशेषे, स्फुटितवंशे च । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

खक्खरग-खर्खरक-न० । अनिष्टुष्करोटके, (खाखरा) इति ख्याते, ध० २ अधि० ।

खगइ-खगति-स्त्री० । प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५ कर्म० ।

खगइदुग-खगतिद्विक-न० । प्रशस्तविहायोगत्यप्रशस्तविहायोगतिलक्षणे, कर्म० ५ कर्म० ।

खगमुह-खगमुख-न० । चिह्नक्रमतुरगे तं० ।

खग्ग-खड्ग-पुं० । " क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵक ᳵपामूर्ध्वे लुक् " ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति डलुक् । प्रा० २ पाद । " डो लः " ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इत्यनेनासंयुक्तस्यैव लत्वम् । प्रा० १ पाद । " गुणाद्याः क्लीबे वा " ॥ ८ । १ । ३४ ॥ इति वा नपुंसकत्वम् । 'खग्गो, खग्गं' । प्रा०१ पाद । उज्ज्वलविकोशीकृतकरवाले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । तत्र प्रथम राजककुदम् । औ० । आटव्ये चतुष्पदविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । ज्ञा० । स्था० । यस्य गच्छतो द्वयोरपि पार्श्वयोः पक्षवच्चर्माणि लम्बन्ते शृङ्गं चैकं शिरसि भवति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । वृ० । स चाटव्यध्वचतुष्पथे जनं मारयित्वा खादयति । नं० । भि० चू० । प्रज्ञा० । औ० । चोरनामगन्धद्रव्ये, वाच० ।

खग्गधेणुया-खड्गधेनुका-स्त्री० । छुरिकायाम्, " तओ गहियखग्गधेणुया मए " दर्श० ।

खग्गपुरा-खड्गपुरा-(री)-स्त्री० । सुवल्गुविजयक्षेत्रवर्तिनि पुरीयुगले, " दो खग्गपुराओ " । स्था० २ ठा० ३ उ० । नवयोजनविस्तारा द्वादशयोजनायामा । स्था० ८ ठा० । " सुवग्गुविजयखग्गपुरा रायहाणी गंभीरमालिणी अंतरणई " अ० ४ वक्ष० ।

खग्गी-खड्गी-स्त्री० । आवर्ताख्यविजयक्षेत्रयुगलवर्तिनि पुरीयुगले, " दो खग्गीओ " । स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

खग्गूड-खग्गूढ-त्रि० । स्निग्धमधुराद्याहारलम्पटे, वृ० १ उ० । स्वभावाद्वक्राचारे, व्य० ३ उ० । निद्वालौ, वृ० १ उ० ।

खज्ज-खाद्य-त्रि० । कूरमोदकादौ, ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । "सुकं तु खज्जगं सुहयं " शष्कुलिकामोदकादिकं सर्वमपि खाद्यं सूचितम् । वृ० २ उ० ।

खज्जगवंजणविहि-खाद्यकव्यञ्जनविधि-पुं० । खाद्यकानि अशोकवृत्तयो व्यञ्जनं तक्रादीनि शालनकानि वा तेषां ये विधयः प्रकारास्ते खाद्यकव्यञ्जनविधयः । खाद्यव्यञ्जनलक्षणभोजनप्रकारेषु, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

खज्जगविहि-खाद्यकविधि-पुं० । अशोकवृत्तिमोदकादिपरिग्रहे, पञ्चा० ५ विव० । खण्डखाद्यादिलक्षणभोजनप्रकारे, भ० १५ श० १ उ० ।

खज्जगावण-खाद्यकापण-पुं० । कुल्लूरिकाहट्टे, विशे० । कन्दोइकापणे, आ० म० द्वि० ।

खज्जू-खर्जू-पुं० । स्त्री० । खर्ज उन् । कण्डाम्, स्था०१० ठा० । खर्जूरीवृक्षे, कीटभेदे, वाच० ।

खज्जूर-खर्जूर-पुं० । स्त्री० । खर्ज ऊरच् । 'खजूर' इति ख्याते वृक्षे, वाच० । स च सङ्ख्येयजीविकः । भ०८ श०३ उ० । प्रज्ञा० । जं० । पिण्डखर्जूरे, उत्त० ३४ अ० । तस्य फलम् अण्, तस्य लुक् । तत्फले, न० । रौप्ये, हरिताले, जले, तृणजातिभेदे, स्त्री० । वाच० ।

खज्जूरमत्थय-खर्जूरमस्तक-खर्जूरमध्यवर्त्तिनि गर्भे, आचा०।

खज्जूरसार-खर्जूरसार-पुं० । मूलदलखरसारनिष्पन्ने,आसवविशेषे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

खज्जूरीपत्तमुंज-खर्जूरीपत्रमुञ्ज-पुं० । खर्जूरीपत्रमयप्रमार्जन्यां मुञ्जमयबहुर्यां वा । " खज्जूरिपत्तमुंजेण, जो पमज्जे उवस्सय । नो दया तस्स जीवेसु, सम्म जाणाहि गोयमा ! " ॥ ग० ७ अधि० ।

खज्जोय-खद्योत-पुं० । खे द्योतते द्युत् अच्। कीटभेदे, वाच० । " जह देहपरिणामो रत्तिं खज्जोअगस्स सा उवमा " देहपरिणामः प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः रात्राविति विशिष्टकालनिर्देशः। खद्योतक इति प्राणिविशेषपरिग्रहः । यथा तस्याऽसौ देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिराविश्चकास्ति,एवमङ्गारादीनामपि । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

खट्ट-खट्ट-त्रि० । अम्ले, प्रज्ञा० १ पद ।

खट्टंग-खट्वाङ्ग-न० । (खाट के पाया) खट्वापादे, पट्टिकायुतखट्वाङ्गरूपे अङ्के, चतुर्थव्यन्तराणां मुकुटे चिह्न खट्वाङ्गम्। औ०।

खट्टमेह-खट्टमेघ-पुं० । अम्लजले मेघे, उत्पातमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

खट्टामल्ल-खट्वामल्ल-पुं० । प्रबलजराजर्जरितदेहतया यः खट्वाया उत्थातु न शक्नोति तस्मिन्,सूत्र० १ उ० ।

खट्टिय-खट्टिक-त्रि० खट्टनमाचरणं खट्टः, स शिल्पत्वेनास्यस्य वुन् । जालादिना पक्षिमारके, वाच० । शौकरिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

खट्टोदग-खट्टोदक-न० । ईषदम्लपरिणते जले, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

खडखडग-खटखटक-त्रि० । लघुष्वायतेषु च । जी० ३ प्रति०।

खडुग-खडुक-पुं० । टकरे, " खडुया मे चवेडा मे " उत्त० १ अ० ।

खड्डा-स्त्री० गर्त्त-पुं० । रन्ध्राकारे निम्नमध्यभागे, उत्त०२अ०। अवटे, पञ्चा० ७ विव० ।

खड्डातम-गर्त्ततट-पुं० । श्वभ्रतटयाम्, पञ्चा० ७ विव० ।

खडुय-खडुक-पुं०। न०। टकरे, (टकरा) व्य०१ उ० । अगुलीयकविशेषे,औ० । ज्ञा० । मुद्रारत्ने, आ० चू०१ अ०। आ० म०।

खण-क्षण-पुं०। " क्षण उत्सवे " ८ । २ । २० । इति उत्सवार्थे छः, अन्यत्र तु न । प्रा० २ पाद । बहुतरोच्छ्वासरूपे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । मुहूर्त्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । द्वादशभिर्लवैः परिमिते काले, त० । परमनिकृष्टे काले,सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । लोचननिमेषमात्रे काले, आव० ३ अ० । सख्यातप्राणलक्षणे काले, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

> स्यात् क्षणक्रमसंबन्ध-संयमाद्यद्विवेकजम् ।
> ज्ञानं जात्यादिभिस्तत्र, तुल्ययोः प्रतिपत्तिकृत् ॥ २० ॥

(स्यादिति) क्षणः सर्वान्त्य कालावयवस्तस्य क्रमः पौर्वापर्य तत्संबन्धसयमात्सूक्ष्मान्तरसाक्षात्करणसमर्थाद् यद्विवेकज ज्ञान स्यात् । यदाह-"क्षणक्रमयोः संबन्धसंयमाद्विवेकज ज्ञानमिति" (३-५२) तच जात्यादिभिस्तुल्ययोः पदार्थयोः प्रतिपत्तिकृत विवेचकम् । तदुक्तम्-" जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिरिति " (३-५३) पदार्थानां भेदहेतवो हि जातिलक्षणदेशा भवन्ति, जातिः पदार्थभेत्री, यथा गौरय महिषोऽयमिति । जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदकं यथेय कर्बुरा, इय चारुणेति । उभाभ्यामभिन्नयोर्देशो भेदहेतुर्यथा-तुल्यप्रमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः। यत्र च त्रयमपि न भेदक,यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोः, तत्र सयमजनिताद्विवेकजज्ञानादेव भवति भेदधीरिति ॥ २० ॥ द्वा० २६ द्वा० । अवसरे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

> इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहितं ॥
> एवं सहिएऽहिपासए, आहि जिणे इणमेव सेसगा ॥१९॥

इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं, क्षणमवसर, ज्ञात्वा तदुचित विधेयम्। तथाहि-द्रव्यं जङ्गमत्वपञ्चेन्द्रियत्वसुकुलोत्पत्तिमानुष्यलक्षण,क्षेत्रमप्यार्यदेशार्धषड्विंशतिजनपदलक्षणम् । कालोऽप्यवसर्पिणीचतुर्थारकादिधर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः। भावश्च धर्मश्रवणतच्छ्रद्धानचारित्रावरणकर्मक्षयोपशमाहितविरतिप्रतिपत्त्युत्साहलक्षणः , तदेवंविधं क्षणमवसर परिज्ञाय, तथा बोधिं च सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणां नो सुलभामित्येवमाख्यातामवगम्य, तदवाप्तौ तदनुरूपमेव कुर्यादिति शेष । अकृतधर्माणां च पुनर्दुर्लभा बोधिः । तथा हि-" लद्धेल्लिय च बोहिं, अकरेंतो अणागय च पत्थतो । अन्न दाइ बोहिं, लब्भिसि कयरेण मोल्लेण" ॥ तदेवमुत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणकालेन पुन सुदुर्लभा बोधिरित्येव सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत् बोधिसुदुर्लभत्व पर्यालोचयेत् । पाठान्तर वा (अहियासए त्ति) परीषहानुदीरणान् सम्यगधिसहेत। एतदाह जिनो रागद्वेषजेता नाभेयो ऋषभस्वामी वर्द्धमानस्वामी वा शिष्यानुद्दिश्य । तथा अन्येऽपि इदमेव शेषका जिना अभिहितवन्त इति, ॥ १९ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पञ्चा० । विश्रामे, निर्व्यापारस्थितौ, पराधीनतायाम, वाच० ।

खणजोइ-क्षणयोगिन्-त्रि० । परमनिकृष्टकालः क्षणः , क्षणेन योगः सबन्धः क्षणयोग.।स विद्यते येषा ते क्षणयोगिनः। क्षणमात्रावस्थायिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

खणट्ठिइधम्मय-क्षणस्थितिधर्मक-त्रि० । क्षणमात्रावस्थभावे, विशे० ।

खणण-खनन-न० । भूमिविदारणे,नि० चू० १ उ० । (भूमिखननस्य दोषा अपवादपदं च ' पडिसेवणा ' शब्दे वक्ष्यते)

खणमित्तपियरोह-क्षणमित्रप्रियरोष-त्रि० । तदैव रुष्टः तदैव अनवस्थितचित्ते, बृ० १ उ० ।

खणयन्नु-क्षणज्ञ-त्रि० । क्षण एव क्षणकोऽवसरो भिक्षार्थमुपसर्पणादिकस्त जानाति । भिक्षाद्यवसराभिज्ञे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

खणलवसमाहि-क्षणलवसमाधि-पुं० । क्षणलवग्रहणमशेषकालविशेषोपलक्षणम्। लवादिषु कालविशेषेषु निरन्तरं संवेगभावतो ध्यानासेवना, तस्य समाधौ, प्रव० १० द्वार ।

खणलाभदीवणा-क्षणलाभदीपना-स्त्री० । क्षणेनापि लाभस्य प्रकाशनायाम, पञ्चा० ।

आउयपरिहाणीए, असमंजसचेट्ठियाण व विवागे ।
खणलाभदीवणाए, धम्मगुणेसुं च विविहेसु ॥४०॥

क्षणे कालविशेषे स्तोककालेऽपीत्यर्थः, लाभोऽशुभाध्यवसायेन महतोऽशुभकर्मणः शुभाध्यवसायेन च महत इतरस्यार्जनं तस्य दीपना प्रकाशना क्षणलाभदीपना। अथवा, क्षणोऽवसरो मोक्षसाधनस्य। स च द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधः- तत्र द्रव्यतो मानुषत्वं, क्षेत्रत आर्यक्षेत्र,कालतो दुःषमसुषमादि कालविशेषो, भावतो बोधिरिति। तस्य क्षणस्य यो लाभो युगसमिलान्यायेन कष्टात्प्राप्तिस्तस्य या दीपना सा तथा, तस्याम्॥ पञ्चा० २ विव०।

खणि-खनी-स्त्री०। खन् इन् वा ङीप्। धातुरत्नादेरुत्पत्तिस्थाने, वाच०। आकरे, उत्त० १४ अ०। तं०।

खणिअवाइ-क्षणिकवादिन्-त्रि०। सर्वपदार्थानां क्षणभङ्गुरत्वप्रतिपादके शौद्धोदनिशिष्ये बौद्धे, ते च क्षणिकवादिनः एकान्तक्षणिकान् पञ्च स्कन्धान् वदन्ति । सूत्र० ।

(१) स्कन्धपञ्चकप्ररूपणपुरस्सरं तन्निराकरणम् ।
(२) क्षणिकत्वप्ररूपणखण्डने ।
(३) क्षणिकवादिनामैहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपत्तिरविमृश्यकारित्वं च ।
(४) वासनाप्ररूपणम् ।
(५) सर्वथाविनाशाभावप्ररूपणम् ।
(६) क्षणभङ्गवादे यन्नोपपद्यते तन्निरूपणम् ।
(७) क्षणभङ्गवादे दीक्षाया वैफल्यप्ररूपणम् ।
(८) स्थविराणामश्वमित्र प्रति शिक्षणम् ।
(१०) सांप्रत बौद्धमतं पूर्वपक्षयन् निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह—

पंच खंधे वयंतेगे, बालाउ खणजोइणो ।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥ १७ ॥

एके केचन वादिनो बौद्धाः पञ्च स्कन्धान् वदन्ति । रूप-वेदना-विज्ञान-संज्ञा-संस्काराख्याः पञ्चैव स्कन्धा विद्यन्ते, नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति । तत्र रूपस्कन्धः- पृथिवीधात्वादयो, रूपादयश्च ॥ १ ॥ सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदनास्कन्धः ॥ २ ॥ रूपविज्ञान-रसविज्ञानमित्यादिविज्ञानं विज्ञानस्कन्धः ॥ ३ ॥ संज्ञास्कन्धः-संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणात्मकः प्रत्ययः ॥ ४ ॥ संस्कारस्कन्धः-पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाय इति ॥ ५ ॥ न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षेणाऽध्यवसीयते, तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाभावात्। नाप्यनुमानेन । न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाऽविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीत्येवं बाला इव बाला यथाऽवस्थितार्थापरिज्ञानात् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति । तथा ते स्कन्धाः क्षणयोगिनः परमनिकृष्टः कालः क्षणः, क्षणेन योगः सम्बन्धः क्षणयोगः, स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः ,क्षणमात्राऽवस्थायिन इत्यर्थः । तथा च तेऽभिदधति-स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वरस्वभावो वा ? । यद्यविनश्वरः ततस्तद्व्यापिन्या क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याभावः प्रसजति । तथाहि—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति। स च नित्योऽर्थ क्रियायां प्रवर्त्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तते, यौगपद्येन वा ?। न तावत्क्रमेण, यतो ह्येकस्याऽर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थक्रियाकरणस्वभावो विद्यते वा, नवा ?। यदि विद्यते किमिति क्रमकरणम् ?। सहकार्यपेक्षयेति चेत् । तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते, न वा ?। यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेनापरित्यागेन वा ?। यदि परित्यागेन, ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम् । अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन, ततोऽतिशयाभावात्किं सहकार्यपेक्षया ?। अथाकिञ्चित्करोऽपि विशिष्टकार्यार्थमपेक्षते । तदयुक्तम् । यतः " अपेक्षेत परं कश्चि-द्यदि कुर्वीत किञ्चन । यदि किञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते ?" ॥ १ ॥ अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते। तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः । अथासौ नित्यो यौगपद्येनाऽर्थक्रियां कुर्यात्तथा सति प्रथमक्षण एवाऽशेषार्थक्रियाणां करणाद् द्वितीयक्षणेऽकर्तृत्वमायातम् । तथा च-सैवानित्यता। अथ तस्य तत्स्वभावत्वात्ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्यात्। तदसाम्प्रतम् । कृतस्य करणाभावादिति । किं च-द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात्। अतस्तत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति। तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति। अथाऽनित्यस्वभावः समुत्पद्यते। तथा च सति विनाशाभावादायातमस्मदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम् । तथा चोक्तम्—"जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन वा ?" ॥ १ ॥ ननु च सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतुसद्भावस्तस्य तदा विनाशः । तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमित्येतच्चानुपासितगुरोर्वचः । तथाहि-तेन मुद्गरादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते? किमत्र प्रष्टव्यम् ?। अभाव क्रियते । अत्र च प्रष्टव्यो देवानांप्रियः- अभाव इति किं पर्युदासप्रतिषेधोऽयम्,उत प्रसज्यप्रतिषेध इति ?। तत्र यदि पर्युदासस्ततोऽयमर्थो भावादन्यो भावो भावान्तरं घटात्पटादिः सोऽभाव इति। तत्र भावान्तरे यदि मुद्गरादिव्यापारो न तर्हि तेन किञ्चिद् घटस्य कृतमिति। अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदा यथार्थो विनाशहेतुरभावं करोति। किमुक्तं भवति?-भावं न करोतीति । ततश्च क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात् । न च घटादेः पदार्थस्य मुद्गरादिना करणम् । तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात् । अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात् । कुतस्तत्र कारणानां व्यापारोऽथ तत्रापि कारणव्यापारो भवेत्,खरशृङ्गादावपि व्याप्रियेरन् कारणानीति । तदेवं विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वात् स्वहेतुत एवाऽनित्यताक्रोडीकृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विघ्नहेतोश्चाभावात् क्षणिकत्वमवस्थितमिति । तुशब्दः पूर्वादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शकः । तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति-(अण्णो अणण्णो इति) ते हि बौद्धा यथाऽऽत्मषष्ठवादिनः-सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तः । यथा चार्वाका भूताऽव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा नैवाहुर्नैवोक्तवन्तः । तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः, कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इति यावत् । तथाऽहेतुकोऽनाद्यपर्यवसितत्वान्नित्य इत्येवमात्मानं ते बौद्धा नाऽभ्युपगतवन्त इति ॥१७॥ (सूत्र०) यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते, ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादिगाथा प्राग्वद् व्याख्येयेति। तदेवमात्मनोऽभावाद्योऽयं सर्वविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यताम् ?।

ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेत् । न । तस्यापि क्षणिकत्वात् । ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात्सुखदुःखानुभवाभावः । क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासङ्गतेः कृतनाशाकृताभ्यागमाऽऽपत्तिरिति ज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति । तस्यापि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावात् यत्किञ्चिदेतत् । पूर्वक्षण एव उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत् । तथा चोक्तम्-" यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा" ॥१॥ अत्रापीदं विकल्प्यते-सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा ? । यदि व्यतिरिक्ता, वासकत्वानुपपत्तिः । अथाव्यतिरिक्ता क्षणवत्क्षणक्षयित्व तस्याः । तदेवमात्माभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्यादस्ति च सुखदुःखानुभवोऽतोऽस्त्यात्मेति । अन्यथा पञ्चविषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानां स्वविषयादन्यत्राप्रवृत्तेः सङ्कलनाप्रत्ययो न स्यात् । आलयविज्ञानाद्भविष्यतीति चेत् । आत्मैव तर्हि संज्ञाऽन्तरेणाभ्युपगत इति । तथा बौद्धागमोऽप्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति । स चायम्-" इत एकनवतेः कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः । तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः " ॥ १ ॥ तथा—" कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनिगर्हणेन । प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषा-मत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि"॥१॥ इत्येवमादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

(२) शौद्धोदनिशिष्यः समाचष्टे-

अहो ! कष्टं शिष्टैरुपक्रान्तोऽयमेकस्यानेककालावस्थितिवादः । यतः-प्रतिक्षणभङ्गुरभावावभासनायामेव हि प्रमाणमुद्रा साक्षिणी । तथाहि-यत्सत्तत्क्षणिकं, सँश्च विवादाध्यासितः शब्दादिः । सत्त्वं तावत्कैश्चिदन्यथाऽस्तु, प्रस्तुते तावदर्थक्रियाकारित्वमेव मे सम्मतं, तच्च शब्दादौ धर्म्मिणि प्रत्यक्षप्रमाणप्रतीतमेव । विपक्षाच्च व्यापकानुपलब्ध्या व्यावृत्तम् । सत्त्वस्य हि क्षणिकत्ववत्क्रमाक्रमावपि व्यापकावेव । न हि क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः शङ्कितुमपि शक्यते, व्याघातस्योद्भटत्वात्, न क्रम इति निषेधादेवाक्रमोपगमात्, नाक्रम इति निषेधादेव च क्रमोपगमात् । तौ च क्रमाक्रमौ स्थिरात् व्यावर्त्तमानावर्थक्रियामपि ततो व्यावर्त्तयतः । वर्त्तमानार्थक्रियाकरणकाले ह्यतीतानागतयोरप्यर्थक्रिययोः समर्थत्वे तयोरपि करणप्रसङ्गः । असमर्थत्वे पूर्वापरकालयोरप्यकरणाऽऽपत्तिः । समर्थोऽप्यपेक्षणीयासन्निधेर्न करोति, तत्सन्निधेस्तु करोतीति चेत् । ननु किमर्थं सहकारिणामपेक्षा ?, किं स्वरूपलाभार्थम्, उतोपकारार्थम्, अथ कार्यार्थम् । न प्रथमः, स्वरूपस्य कारणाधीनस्य नित्यस्य वा पूर्वसिद्धत्वात् । न द्वितीयः, स्वयं सामर्थ्येऽसामर्थ्ये वा तस्यानुपयोगात् । तथा च-" भावः स्वतः समर्थश्चे-दुपकारः किमर्थकः ? । भावः स्वतोऽसमर्थश्चे-दुपकारः किमर्थकः ?" ॥१॥ अत एव न तृतीयः । उपकारवत्सहकारिणामप्यनुपयोगात् । तथा च-" भावः स्वतः समर्थश्चेत्, पर्याप्तं सहकारिभिः । भावः स्वतोऽसमर्थश्चेत्, पर्याप्तं सहकारिभिः " ॥ १ ॥ अनेकाधीनस्वभावतया कार्यमेव तानपेक्षत इति चेत् । न । तस्यास्वतन्त्रत्वात्, स्वातन्त्र्ये वा कार्यत्वव्याघातात्, तद्रूपनरशाकल्येऽपि स्वातन्त्र्यादेव न भवेदिति । एवं च यत्क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारि न भवति, तदसत्, यथा गगनेन्दीवरं, तथा चाक्षणिकाभिमतो भाव इति व्यापकानुपलब्धिरुत्तिष्ठते । तथा च-क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकयोर्व्यावृत्तेरक्षणिकाद् व्यावर्त्तमानार्थक्रिया क्षणिके वि-

श्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः ॥ (उत्तरम्) अत्राचक्ष्महे-ननु क्षणभिदेलिमभावाभिधायिभिक्षुणा कारणग्राहिणा, कार्यग्राहिणा, तद्द्वयग्राहिणो वा प्रत्यक्षादर्थक्रियाकारित्वप्रतीतिः प्रोच्येत, यतस्तच्च शब्दादौ धर्मिणि प्रत्यक्षप्रमाणप्रतीतमित्युक्तं युक्तं स्यात् । न तावत्पौरस्त्यात्, तस्य कारणमात्रमन्त्रणपरायणत्वेन कार्यकिंवदन्तीकुण्ठत्वात् । नापि द्वितीयात्, तस्य कार्यमात्रपरिच्छेदविदग्धत्वेन कारणावधारणवन्ध्यत्वात् । तदुभयावभासे चेदमस्य कारणं कार्यं चेत्यर्थक्रियाकारित्वावगमायोत्पादात् । वस्तुस्वरूपमेव कारणत्वं, कार्यत्वं चेति तदन्यतरपरिच्छेदेऽपि तद्बुद्धिसिद्धिरिति चेत्, एवं तर्हि नालिकेरद्वीपवासिनोऽपि वह्निदर्शनादेव तत्र धूमजनकत्वनिश्चयस्य, धूमदर्शनादेव वह्निजन्यत्वनिश्चयस्य च प्रसङ्गः । नापि तृतीयात्, कार्यकारणोभयग्राहिणः प्रत्यक्षस्यासंभवात्, तस्य क्षणमात्रजीवित्वात्, अन्यथाऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात् । तदुभयसामर्थ्यसमुद्भूतविकल्पप्रसादात् तदवसाय इति चेत्, तर्हि कथं प्रत्यक्षेण तत्प्रतीतिः । प्रत्यक्षव्यापारपरामर्शित्वाद्विकल्पस्य तद्द्वारेण प्रत्यक्षमेव तद्ग्राहकमिति चेत् । ननु न कार्यकारणग्राहिणोरन्यतरेणापि प्रत्यक्षेण प्राक्कार्यकारणभावो भासयामासे, तत्कथं विकल्पेन तद्व्यापारः परामृश्येत ?, इति न क्षणिकवादिनः कापि अर्थक्रियाप्रतीतिरस्तीति वाद्यसिद्धः सत्त्वम् । संदिग्धानैकान्तिकं च, क्षणिकाऽक्षणिके क्षणिकैकान्तविपक्षे क्रमाक्रमव्यापकानुपलम्भस्यासिद्धत्वेन तद्व्याप्तार्थक्रियायास्ततो व्यावृत्त्यनिर्णयात् । यतः-किञ्चित्कृत्वाऽन्यस्य करणं हि क्रमः । अयं च कलशस्य कथञ्चिदेकरूपस्यैव क्रमवत् सहकारिकारणकलापाढौकनवशेन क्रमेण घटचेटिकामस्तकोपरि पर्यटनात् तासां कलमं कुर्वतः सुप्रतीत एव । अत्र हि नवानत्यन्ततार्किकम्मन्योऽप्येतदेव वक्तुं शक्नोति, यस्मादक्षेपक्रियाधर्मणः समर्थस्वभावादेकं कार्यमुदपादि, स एव चेत्पूर्वमप्यस्ति, तदा तत्कालवत्तदैव तद्विदधानः कथं वार्यताम् ? । "कार्याणि हि विलम्बन्ते, कारणासन्निधानतः । समर्थहेतुसद्भावे, क्षेपस्तेषां तु किं कृतः ?" ॥१॥ इति । नचैतदवदातम् । एकान्तेनाक्षेपक्रियाधर्मत्वानभ्युपगमात् द्रव्यरूपशक्त्यपेक्षया हि तत्समर्थमभिधीयते, पर्यायशक्त्यपेक्षया त्वसमर्थमिति । यदेव हि कुशूलमूलावलम्बि बीजद्रव्यम्, तदेवावनिवनपवनाऽऽतपसमर्पितातिशयविशेषस्वरूपपर्यायशक्तिसमन्वितमङ्कुरं करोति । नन्वसौ पर्यायशक्तिः कुशूलमूलावस्थानावस्थायामविद्यमाना, क्षेत्रक्षितिक्षेपक्षणे तु सम्पद्यमाना बीजद्रव्यादिभिन्ना वा स्यात्, अभिन्ना वा, भिन्नाभिन्ना वा ? । यदा भिन्ना, तदा किमनया काणनेत्राञ्जनरेखाप्रख्यया ? । विभिन्नाः सन्निधिभाजः संवेदनकोटीमुपागताः सहकारिण एवासताम् । अथ सहकारिणः कमपि बीजस्यातिशेषविशेषमपोषयन्तः कथं सहकारितामपि प्राप्नुयुः ?, इति चेत्, तर्हि अतिशयोऽप्यतिशयान्तरमनारचयन् कथं तत्तां प्राप्नुयात् ? । अथायमारचयति तदन्तरं, तर्हि समुपस्थितमनवस्थादौस्थ्यम् । अथाभिन्नाभावात् पर्यायशक्तिः, तर्हि तत्करणे स एव कृत इति कथं न क्षणिकत्वम् ? । भिन्नाभिन्नपर्यायशक्तिपक्षोऽप्येवं क्षणिकत्वमनपघ्नन् न कुशलीति । अत्र तृतीयः, चरम एव पक्षः कक्षीक्रियते । नचात्र कलङ्कः कश्चिद्, द्रव्यांशद्वारेणाक्षणिके वस्तुनि पर्यायांशद्वारेण क्षणिकत्वोपगमात्, क्षणिकैकान्तस्यैव कुट्टयितुमुपक्रान्तत्वात् । क्षणिकपर्यायेभ्योऽव्यतिरेकात् क्षणिकमेव द्रव्यं प्राप्नोतीति चेत् । न । व्यतिरेकस्यापि सम्भवात् । न च व्यतिरेकाऽव्यतिरेकावेकस्य

विरुध्येते । न हि नञः प्रयोगाप्रयोगमात्रेण विरोधगतिः, अतिप्रसङ्गात् ।

"दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्" ॥ १ ॥

इत्यादिष्वपि तत्प्राप्तेः। न च स्थिरभावस्यापि येनैव रूपेण व्यतिरेकः, तेनैवाव्यतिरेकं व्याकुर्महे । रूप्यमेतत्, एते च पर्याया इतिरूपेण हि व्यतिरेकः, वस्त्वेतदितिरूपेण त्वव्यतिरेकः । एकमेव च विज्ञानक्षणं सविकल्पाविकल्पकं, भ्रान्ताभ्रान्तं, कार्यं कारणं चायं स्वयमेव स्वीकरोति, भेदाभेदे तु विरोधप्रतिरोधमभिदधातीति महासाहसिकः, इति क्षणिकाक्षणिकेऽपि क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियायाः संभवात् सिद्धं संदिग्धानैकान्तिकं सत्त्वम् । क्षणिकैकान्ते ताभ्यामर्थक्रियाया अनुपपत्तेर्विरुद्धं वा । तथाहि-क्रमस्तावत् द्वेधा, देशक्रमः, कालक्रमश्च । तत्र देशक्रमो यथा-तरलतरतरङ्गपरम्परोत्तरणरमणीयश्रेणीभूतश्वेतच्छदमिथुनानाम् । कालक्रमस्त्वेकस्मिन्कलशे क्रमेण मधुमधूकबन्धूकशम्बूकादीनां धारणक्रियां कुर्वाणे । क्षणिकैकान्ते तु द्वयोरप्येतयोरभाव एव । येन हि वस्तुना क्वचिद्देशे, काले वा किञ्चित्कार्यमर्जयामासे, तत्रैव, तदानीमेव च निरन्वयमनश्यत्, ततो देशान्तरकालान्तरानुसरणव्यसनशालिनः कस्याप्येकस्यासंभवात् क नाम क्षणिकैकान्ते क्रमोऽस्तु ?। नाप्यत्र यौगपद्यमनवद्यम् । यतः क्षणिकानंशस्वरूपं रूपं युगपदेव स्वकार्याणि कार्याणि कुर्वाणं येनैव स्वभावेन स्वोपादेयं रूपमुत्पादयति तेनैव ज्ञानक्षणमपि, यद्वा-येनैव ज्ञानक्षणं तेनैव रूपक्षणमपि, स्वभावान्तरेण वा ?। प्राचिपक्षे, ज्ञानस्य रूपस्वरूपत्वापत्तिः । रूपोत्पादकैकस्वभावाभिनिर्वर्त्यत्वात्, रूपस्वरूपवत् । द्वितीये, रूपस्य ज्ञानरूपतापत्तिः, ज्ञानोत्पादनैकस्वभावसंपाद्यत्वात्, ज्ञानस्वरूपवत् । तृतीये रूपक्षणस्य क्षणिकानंशस्वरूपस्यापत्तिः, स्वभावभेदस्य भेदकस्य सद्भावात् । अथानंशैकस्वरूपमपि रूपं सामग्रीभेदाद्भिन्नकार्यकारि भविष्यति को दोष इति चेत्, तर्हि नित्यैकरूपोऽपि पदार्थस्तत्तत्सामग्रीभेदात्तत्तत्कार्यकर्त्ता भविष्यतीति कथं क्षणिकैकान्तसिद्धिः स्यात् ?। ततो न क्षणिकैकान्ते क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासंभवतीति सिद्धं विरुद्धं सत्त्वमिति ॥ यदप्याचक्षते भिक्षवः क्षणक्षयैकान्तप्रसाधनाय प्रमाणम्-ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः ते तद्भावनियताः, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्यजनने, विनाशं प्रत्यनपेक्षाश्च भावा इति । तत्र विनाशं प्रत्यनपेक्षत्वमसिद्धं तावद्गन्धमेव नोच्छ्वसितुमपि शक्नोतीति कथं वस्तूनां विनाशनैयत्यसिद्धौ सावधानतां दध्यात् ?। तथाहि-तरस्विपुरुषप्रेरितप्रचण्डमुद्गरसम्पर्कात् कुम्भादयो ध्वंसमानाः समीक्ष्यन्ते । न त्वेतत्साधनसिद्धिवद्धकक्षेष्वस्मासु सत्सु कथमसिद्धताऽभिधातुं शक्या ?। तथाहि-वेगवन्मुद्गरादिर्नाशहेतुर्नश्वरं वा भावं नाशयति, अनश्वरं वा । तत्रानश्वरस्य नाशहेतुशतोपनिपातेऽपि नाशानुपपत्तिः, स्वभावस्य गीर्वाणप्रभुणाऽप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । नश्वरस्य च नाशे तद्धेतुना वैयर्थ्यम् । न हि स्वहेतुभ्य एवावाप्तस्वभावे भावे भावान्तरव्यापारः फलवान्, तदनुपरतिप्रसक्तेः । उक्तं च-"भावो हि नश्वरात्मा चेत्, कृतं प्रलयहेतुभिः । अथाप्यनश्वरात्माऽसौ, कृतं प्रलयहेतुभिः" ॥१॥ अपि च भावात् पृथग्भूतो नाशो नाशहेतुजन्यः स्यात्, अपृथग्भूतो वा ?। यद्यपृथग्भूतस्तदा भाव एव तद्धेतुभिः कृतः स्यात्, तस्य च स्वहेतोरेवोत्पत्तेः कृतस्य करणायोगात् तदेव तद्धेतुवैयर्थ्यम् । अथ पृथग्भूतोऽसौ, तदा भावसमकालभावी, तदुत्तरकालभावी वा स्यात् ?। तत्र समकालभावित्वे निर्भरप्रतिबन्धबन्धुरबान्धवयोरिव भावाभावयोः समकालमेवोपलम्भो भवेत् अविरोधात् । तदुत्तरकालभावित्वे तु घटादेः किमायातं ?, येनासौ स्वोपलम्भं स्वार्थक्रियां च न कुर्यात् । न हि तन्त्वादेः समुत्पन्ने पटे घटः स्वोपलम्भं स्वार्थक्रियां च कुर्वन् केनचित्प्रतिषेद्धुं शक्यः । ननु पटस्याविरोधित्वान्न तदुत्पत्तौ तदभावः, अभावस्य तु तद्विपर्ययादसौ स्यात् । ननु किमिदमस्य विरोधित्वं नाम ? । नाशकत्वं, नाशस्वरूपत्वं वा । नाशकत्वं चेत्, तर्हि मुद्गरादिवन्नाशोत्पादद्वारेणानेन घटादिरुन्मूलनीयः; तथा च तत्रापि नाशेऽयमेव पर्यनुयोग इत्यनवस्था। नाशस्वरूपत्वं चेत्। नन्वेवमर्थान्तरत्वाविशेषात् कथं कूटस्यैवासौ स्यात् ?, अन्यस्यापि कस्मान्नोच्यते ?। तत्संबन्धित्वेन करणादिति चेत्, कः संबन्धः ?। कार्यकारणभावः, संयोगः, विशेषणीभावः, अविष्वग्भावो वा ?। न प्राच्यः पक्षः, मुद्गरादिकार्यत्वेन तदभ्युपगमात्। न द्वितीयः, तस्याद्रव्यत्वात्, कुटादिसमकालतापत्तेश्च। न तृतीयः, भूतलादिविशेषणतया तत्स्वीकारात् । तुरीये त्वविष्वग्भावः सर्वथा भेदः, कथञ्चिद् भेदो वा भवेत् । नाद्यः पक्षः, पृथग्भूतत्वेनास्य कक्षीकारात् । न द्वितीयः, विरोधावरोधात्। इति नाशहेतोरयोगतः सिद्धं वस्तूनां तं प्रत्यनपेक्षत्वमिति । तदेतदेतस्य समस्तमुत्पादेऽपि समानं पश्यतः प्रध्वंस एव पर्यनुयुञ्जानस्य तुलैकलोचनतामाविष्करोति । तथाहि-उत्पादहेतुरपि सत्स्वभावस्य, असत्स्वभावस्य वा भावस्योत्पादकः स्यात् । न सत्स्वभावस्य, तस्य कृतोपस्थायिताप्रसङ्गात् । नाप्यसत्स्वभावस्य, स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्तेः, अभ्युपगमविरोधाच्च । न ह्यसत्स्वभावजन्योत्पादकत्वमिष्यते त्वया । अथाऽनुत्पन्नस्यासत्त्वादुत्पन्नस्य सत्स्वभावत्वाद्व्यर्थो विकल्पयुगलोपन्यासपरिश्रम इति चेत् । नैवम् । नष्टेतराविकल्पापेक्षयाऽस्य नाशेऽपि तुल्यत्वात् । तथा च-"भावो भवत्स्वभावश्चेत्, कृतमुत्पादहेतुभिः । अथाभवत्स्वभावोऽसौ, कृतमुत्पादहेतुभिः" ॥१॥ तथाऽयमुत्पद्यमानाद् व्यतिरिक्तः, अव्यतिरिक्तो वा । तत्र जन्याव्यतिरिक्तोत्पादजनकत्वेन जन्यस्योत्पादः, जन्याद् व्यतिरिक्तत्वेनोत्पादस्य कस्यचिदयोगात् । न हि कथञ्चित् भिन्नमुत्पादमन्तरेण तदेवोत्पद्यत इत्यपि वक्तुं शक्यते, किं तु वस्त्विदमित्येव वक्तुं शक्यम् । न च तथा तदुत्पादः कथितः स्यात् । उत्पद्यमानाद् व्यतिरिक्तोत्पादजनकतायां न तस्योत्पादः, तद्वदन्यस्यापि वा कथमसौ न भवेत् ?। तस्यैव संबन्धिनस्तस्य करणादिति चेत्। तदप्यवद्यम् । उत्पादेनापि साकं कार्यकारणभावादेस्त्वन्मतेन संबन्धस्यासंभवात् । तस्मान्नेयमीदृग्विकल्पपरिकल्पजल्पाकता परिशीलनीया । इदं पुनरिहैदम्पर्यम् । यथा दण्डचक्रचीवरादिकारणकलापसहकृतात् मृत्स्नालक्षणोपादानकारणात् कुम्भ उत्पद्यते, तथा वेगवद्मुद्गरसहकृतात् तस्मादेव विनश्यत्यपि । न चैकान्तेन विनाशः कलशाद्भिन्न एव, मृद्लक्षणैकद्रव्यतादात्म्यात् । विरोधित्वं चाऽस्य विनाशरूपत्वमेव । न चैवं घटवत् पटस्यापि तदापत्तिः, मृद्द्रव्यतादात्म्येनैवावस्थानादुत्पादवत् । न च सर्वथा तादात्म्यं, तदन्यतरस्यासत्त्वापत्ते । न चैवमत्र विरोधावरोधः, चित्रैकज्ञानवदन्यथोत्पादेऽपि तदापत्ते । इत्यसिद्धं विनाशं प्रत्यनपेक्षत्वम-

र्थानाम् । अत. कथ क्षणभिदेलिमभावस्वभावसिद्धिः स्यात् ? । एवं च सिद्धं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्द्धतासामान्यस्वभाव समस्त वस्त्विति ॥ ५ ॥ अथ विशेषस्य प्रकारौ प्रकाशयन्ति–

विशेषोऽपि द्विरूपो, गुणः, पर्यायश्चेति ॥ ६ ॥

सर्वेषां विशेषणां वाचकोऽपि पर्यायशब्दो गुणशब्दस्य सहवर्तिविशेषवाचिनः सन्निधानेन क्रमवर्त्तिविशेषवाची गोवलीवर्दन्यायादत्र गृह्यते ॥ ६ ॥

तत्र गुण लक्षयन्ति–

गुणः सहभावी धर्मो यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति ॥ ७ ॥

सहभावित्वमत्र लक्षणम् । यथेत्यादिकमुदाहरणम् । विज्ञानव्यक्तिर्यत्किञ्चिज्ज्ञान तदानीं विद्यमानम् । विज्ञानशक्तिरुत्तरज्ञानपरिणामयोग्यता । आदिशब्दात् सुखपरिस्पन्दयौवनादयो गृह्यन्ते ।

पर्यायं प्ररूपयन्ति–

पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा तत्रैव सुखदुःखादिरिति ॥८॥

धर्म्म इत्यनुवर्त्तनीयम् । क्रमभावित्वमिह लक्षणम् । परिशिष्टं तु निदर्शनम् । तत्रेत्यात्मनि । आदिशब्देन हर्षविषादादीनामुपादानम् । अयमर्थः–ये सहभाविनः सुखज्ञानवीर्यपरिस्पन्दयौवनादयः, ते गुणाः, ये तु क्रमवृत्तयः सुखदुःखहर्षविषादादयः, ते पर्यायाः । नन्वेव त एव गुणास्त एव पर्याया इति कथ तेषां भेदः ?, इति चेत् । नैवम् । कालाभेदविभेदविवक्षया तद्भेदस्यानुचूयमानत्वात् । न चैवमेषां सर्वथा भेद इत्यपि मन्तव्यम्; कथञ्चिद्भेदस्याप्यविरोधात् । न खल्वेषां स्तम्भकुम्भादिवद्भेदः, नापि सरूपवद् भेदः, किं तु धर्म्यपेक्षयाऽभेदः, स्वरूपापेक्षया तु भेदः इति ॥ अथैतदाकर्ण्य यौगाः शालूककण्टकाक्रान्तमर्माण इवोत्प्लवन्ते–यदि धर्म्यपेक्षया धर्मिणो धर्मा अभिन्ना भवेयुस्तदा तद्वत्तस्यापि भेदापत्तेः प्रत्यभिज्ञाप्रतिपन्नैकत्वव्याहतिरिति । तदवितथम् । कथञ्चित्तद्भेदस्याभीष्टत्वात्, प्रत्यभिज्ञायाश्च कथञ्चिदेकत्वगोचरत्वेनावधानात्, नित्यैकान्तस्य प्रमाणभूमित्वात् । तथाहि–यद्यसौ नित्यैकस्वरूपः पदार्थो वर्तमानार्थक्रियाकरणकालवत् पूर्वापरकालयोरपि समर्थः स्यात्, तदा तदानीमपि तत्क्रियाकरणप्रसङ्गः । अथासमर्थः पूर्वं पश्चाच्चाऽयं स्यात्, तदा तदानीमिव वर्तमानकालेऽपि तत्करणं कथं स्यात् ? । अथ समर्थोऽप्ययमपेक्षणीयासंनिधेर्न करोति, तत्सन्निधौ तु करोतीति चेत् । ननु केयमपेक्षा नाम ?, किं तैरुपकृतः करोतीत्युपकारभेदः ?, किं वा तैः सह करोतीत्यन्वयव्यर्थवसायी स्वभावभेदः, अथ तैर्विना न करोतीति व्यतिरेकनिष्ठ स्वरूपं, यद्वा–सहकारिषु सत्सु करोति, तद्विरहे तु न करोतीति तदुभयावलम्बिवस्तुरूपम् । तत्र प्राच्यः प्रकारस्तावदसारः, अनवस्थाराक्षसीकटाक्षितत्वात् । तथाहि–उपकारेऽपि कर्तव्ये सहकार्यन्तरमपेक्षणीयम्, उपकरणीय च तेनापीत्युपकारपरम्परा समापततीत्यनवस्था । तथाऽमी उपकारमारभमाणा भावस्वभावभूतम्, अतत्स्वभाव वाऽऽरभेरन् । स्वभावभूतोपकारारम्भभेदे भावस्याप्युत्पत्तिरापतति । न ह्यनुत्पद्यमानस्योत्पद्यमानः स्वभावो भवति, विरुद्धधर्माध्यासात् । द्वितीयपक्षे तु धर्मिणः किमायातम् ? । न ह्यन्यस्मिन् जाते विनष्टे वाऽन्यस्य किञ्चिद्भवति, अतिप्रसङ्गात्, अथ तेनाऽपि तस्य किञ्चिदुपकारान्तरमारचनीयमित्येषाऽपरा अनवस्था । तैः सह करोतीत्यादिपक्षोऽपि नाक्षूण, स्वभावस्य तादवस्थ्यात् । न ह्यस्य सहकारिव्यावृत्तौ स्वभावव्यावृत्तिरिति तैर्विनाऽपि कुर्यात् । ननु यत एव सहकारिव्यावृत्तावस्य स्वभावो न व्यावर्तते, अत एव तैर्विनाऽपि न करोति । कुर्वाणो हि तैः सहैव करोतीति स्वभाव जह्यात् । स तर्हि स्वभावभेदः सहकारिसाहित्ये सति कार्यकरणनियतः सहकारिणो न जह्यात्, प्रत्युत पलायमानानपि गले पादिकयोपस्थापयेद्, अन्यथा स्वभावहानिप्रसङ्गात् । अत एव न तृतीयोऽपि । कर्तृस्वभावापरावृत्तेः । अथ तद्विरहाकर्तृस्वभावः, तर्हि कालान्तरेऽपि स्वहेतुवशादुपसर्पतोऽपि सहकारिणः पराणुद्य न कुर्यात्, तद्विरहाकर्तृशीलः खल्वयमिति । तुरीयभेदे विरुद्धधर्माध्यासः, यः खलु सहकारिसहितः, स कथ तद्विरहितः स्यात्, तथा च भावभेदो भवेत् । अथायं कालभेदेन सुपरिहर एव; अन्यदा हि सहकारिसाकल्यम्, अन्यदा च तद्वैकल्यमिति । तदसत् । धर्मिणोऽनतिरेकात् । कालभेदेऽपि ह्येक एव धर्मी स्वीचक्रे । तथा चास्य कथं तत्साकल्यवैकल्ये स्याताम् ?, सत्त्वे वा सिद्धो धर्मिभेदः । अथ सहकारिसाकल्यं, तद्वैकल्य च धर्मः । न च धर्मभेदेऽपि धर्मिणः किञ्चित्, ततो भिन्नत्वात्तेषामिति चेत् । अस्तु तावदेकान्तभिन्नधर्मधर्मिवादापवाद एव पृष्ठः परीहार । तत्त्वेऽपि न साकल्यमेव कार्यमर्जयति, किं तु सोऽपि पदार्थः । तथा च तस्य भावस्य यादृशश्चरमक्षणेऽक्षेपक्रियाधर्मस्वभावः, तादृश एव चेत्प्रथमक्षणेऽपि, तदा तदैवासौ प्रसह्य कुर्वाणो गीर्वाणशापेनापि नापहस्तयितुं शक्यः । यथा हि विरुद्धधर्माध्यासेन भेदप्रसङ्गपरिहाराय साकल्यवैकल्यलक्षणौ धर्मौ भिन्नस्वभावौ परिकल्पितौ तौ, तथा न सोऽप्यक्षेपक्रियाधर्मस्वभावो भावाद्भिन्न एवाभिधातुं शक्यः, भावस्याकर्तृत्वप्रसङ्गात् । ततः सिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः । एवं च यद्विरुद्धधर्माध्यस्त, तद्भिन्नं, यथा शीतोष्णे, विरुद्धधर्माध्यस्तश्च विवादास्पदीभूतो भाव इति न नित्यैकान्तसिद्धिः । एवं चोपस्थितमिदं नित्यानित्यात्मक वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति । तथाहि–सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते वा, विपद्यते वा; परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते, विपद्यते च । अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरंपरानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते, न वा ? । यदि भिद्यन्ते, कथमेक वस्तु त्र्यात्मकम् ? । न भिद्यन्ते चेत्, तथाऽपि कथमेक वस्तु त्र्यात्मकम् ? । तथा च–"यद्युत्पत्त्यादयो भिन्नाः, कथमेक त्रयात्मकम् ? । अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्ना, कथमेक त्रयात्मकम्" ? ॥१॥ इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । तथाहि–उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम् । असतः आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, द्रव्यरूपतयाऽनुवर्त्तन च खलूत्पादादीनां परस्परमसङ्कीर्णानि लक्षणानि सकललो–

कसाक्षिकाएयेव । न चाऽमी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि—उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्कूर्म्मरोमवत् । तथा—विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव; इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च कथं नैकत्र्यात्मकम् ? । किं च, अपरमप्यधीष्महि पञ्चाशति—

"प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते,
पुत्रः प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।
पूर्वाकारपरिक्षयस्तदपराकारोदयस्तद्द्वया-
धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात्" ॥ १ ॥

तथा च स्थितं नित्यानित्यानेकान्तः कान्त एवेति । एवं सदसदनेकान्तोऽपि । ननु तत्र विरोधः । कथमेकमेव कुम्भादि वस्तु सच्च,असच्च भवति ? । सत्त्वं ह्यसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, असत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण; अन्यथा तयोरविशेषः स्यात् । ततश्च तद्यदि सत्, कथमसत् ?, अथासत्, कथं सदिति ? । तदनवदातम् । यतो यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवासत्त्वं, येनैव चासत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेयेत, तदा स्याद्विरोधः । यदा तु स्वरूपेण घटादित्वेन,स्वद्रव्येण हिरण्मयादित्वेन,स्वक्षेत्रेण नागरादित्वेन, स्वकालत्वेन वासन्तिकादित्वेन सत्त्वं,पररूपादिना तु पटत्वतन्तुत्वग्राम्यत्वग्रैष्मिकत्वादिनाऽसत्त्वं, तदा क्व विरोधगन्धोऽपि ?। ये तु सौगताः परासत्त्वं नाभ्युपयन्ति,तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः। तथाहि–यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्, तथा सति स्वरूपादित्ववत् पररूपादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? । परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं, किं तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद् । अहो !नूतनः कोऽपि तर्कवितर्ककर्कशः समुल्लापः । न खलु यदेव सत्त्वं, तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति, विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात् । अथ पृथक् तन्नाभ्युपगम्यते, न च नाभ्युपगम्यत एवेति किमिदमिन्द्रजालम् ? । ततश्चास्यानक्षरमसत्त्वमेवोक्तं भवति । एवं च यथा स्वासत्त्वासत्त्वात्स्वसत्त्वं तस्य,तथा परासत्त्वासत्त्वात्परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा, विशेषाभावात् । अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः, प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियत एवोपजायते इति किं परासत्त्वेनेति चेत् ?। न किञ्चित् । केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियतोत्पत्तिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यते । पारमार्थिकस्वासत्त्वासत्त्वात्मकस्वसत्त्वेनैव परासत्त्वासत्त्वात्मकपरसत्त्वेनाप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । यौगास्तु प्रगल्भन्ते—सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेण पदार्थप्रतिनियमप्रसिद्धेः पर्याप्तं तेषामसत्त्वात्मककल्पना कदर्थनेनेति । तदसुन्दरम् । यतो यदा पटाद्यभावरूपो घटो न भवति, तदा घटः पटादिरेव स्यात् । यथा च-घटस्य घटाभावात् भिन्नत्वात् घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात् । घटाभावाद्भिन्नत्वादेव । किं च-अमीषां भावानां स्वतो भिन्नानामभिन्ना वा भिन्नाभावेन भेदः क्रियते ?। नाद्यः पक्षः, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामेषामुत्पत्तेः । नापि द्वितीयः,स्वयमभिन्नानामन्योऽन्याभावासंभवात् । भावाभावयोश्च भेदः स्वत एव वा स्यात्, अभावान्तरेण वा । प्राचि पक्षे,भावानामपि स्वरूपेणैवायमस्तु,किमपरेणाभावेन परिकल्पितेन ?। द्वितीये,पुनरनवस्थानापत्तिः, अभावान्तरेष्वप्यभावान्तराणां भेदकानामवश्यस्वीकरणीयत्वात् । कथञ्चिदभिन्ने तु भावादभावे न कश्चिदमूदृशकलङ्कावकाशः । वस्त्वेव हि तथा तथा; सदसदंशयोस्तथा परिणतिरेव हि घटः पटो वाऽभिधीयते, न केवलः सदंशः, ततः कथं घटादिः परात्मानं मिश्रयेत् ?। इति सूक्तः सदसदनेकान्तवादः । एवमपरेऽपि भेदाभेदानेकान्तादयः स्वयं चतुरैर्विवेचनीयाः। स्या० ५ परि० ।

(३) अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपन्नार्थसमर्थनमविमृश्यकारिताकारितं दर्शयन्नाह–

कृतप्रणाशाऽकृतकर्म्मभोग-
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छ-
न्नहो ! महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥

कृतप्रणाशदोषमकृतकर्मभोगदोषं भवभङ्गदोषं प्रमोक्षभङ्गदोषं स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् साक्षादित्यनुभवसिद्धान् उपेक्ष्यानादृत्य साक्षात्कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः सर्वभावानां क्षणभङ्गमुदयानन्तरविनाशरूपक्षणक्षयितामिच्छन् प्रतिपद्यमानस्ते तव परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः (सौगत इत्यर्थः) अहो ! महासाहसिकः । सहसाऽविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः । भाविनमनर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते । महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी । इति मुकुलितार्थः । विवृतार्थस्त्वयम्–बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति,न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेकम् । तन्मते येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृतं तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः । यस्य च फलोपभोगस्तेन तत्कर्म न कृतम् । इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य कृतप्रणाशः, स्वकृतस्य कर्मणः फलानुपभोगात् । उत्तरज्ञानक्षणस्य चाकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति । अत्र च कर्मशब्द उभयत्रापि योज्यः । तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः । बन्धानुलोम्याच्चेत्थमुपन्यासः । तथा भवभङ्गदोषः भव आर्जवीभावलक्षणः संसारस्तस्य भङ्गो विलोपः स एव दोषः क्षणिकवादे प्रसज्यते । परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः । परलोकिनः कस्यचिदभावात् । परलोको हि पूर्वजन्मकृतकर्म्मानुसारेण भवति । तच्च प्राचीनज्ञानक्षणानां निरन्वय नाशात्केन नामोपभुज्यतां जन्मान्तरे ?। यच्च मोक्षाकरगुप्तेन "यश्चित्त तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि"इति भवपरंपरासिद्धये प्रमाणमुक्तं,तद् व्यर्थम्; चित्तक्षणानां निरवशेषनाशिनां चित्तान्तरप्रतिसन्धानायोगात् । द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसन्धानमुभयानुगामिना केनचित् क्रियते । यश्चानयोः प्रतिसन्धाता स तेन नाभ्युपगम्यते । स ह्यात्माऽन्वयी । न च प्रतिसन्धत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः; कार्यहेतुप्रसङ्गात् । तेन वादिनाऽस्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात् । स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति । भिन्नकालभाविनोश्च प्रतिचित्तचित्तान्तरयोः कुतस्तादात्म्यम् ?, युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रतिसन्धायकत्वाभावापत्तिः । युगपद्भावित्वेऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामकं यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति ?, अस्तु वा प्रतिसन्धानस्य जननमर्थः । सोऽप्यनुपपन्नः,तुल्यकालत्वे हेतुफलभावस्याभावात् । भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वात्, उत्तरचित्तक्षणं कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम् ? इति । यत्किञ्चिदेतत् । तथा प्रमोक्षभङ्गदोषः । प्रकर्ष-

ऽपुनर्भावेन कर्मबन्धनान्मुक्तिः प्रमोक्षस्तस्यापि भङ्गः प्राप्नोति। तन्मते तावदात्मैव नास्ति, कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते? । ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते? । न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः । क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात्तेनैव सार्द्धं ध्वस्तम् । सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चित्। वास्तवत्वे तु आत्माऽभ्युपगमप्रसङ्गः । अपि च बौद्धानां निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्षः, तच्च न घटते; कारणाभावादेव तदनुपपत्तेः । भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते । स च स्थिरैकाश्रयाभावाद्विशेषानाधायकः प्रतिक्षणमपूर्ववदुपजायमानो निरन्वयविनाशी गगनलङ्घनाभ्यासवदनासादितप्रकर्षो न स्फुटाभिज्ञानजननाय प्रभवतीत्यनुपपत्तिरेव तस्य । सम्यगिवासनानां स्वाभाविकया सहकारिसन्निधाने स्वकार्यारम्भं प्रत्यप्रयोजकत्वादनुपपत्तेः । किं च-सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः; न च तन्मते ज्ञानं नाम पृथग् विद्यते, स्वसंवेदनैकाधिकरणत्वात्; न चित्तसन्तानेन मुक्तिः । यस्तु कश्चित्पृथक्भूतो मोक्षमर्थं प्रयतते? । यच हि मोक्षकरणे चित्तसन्तानोच्छेदरूपः । मोक्षस्तस्यैव घटते यो बद्धः । क्षणिकवादे तु यः क्षणो बद्धः, क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति मोक्षाभावः प्राप्नोति । तथा स्मृतिभङ्गदोषः । तथाहि-पूर्वबुद्ध्याऽनुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः सम्भवति, ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत् । न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते। अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत; स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः?, तस्याः स्मरणानुभवोभयसम्भवत्वात् । पदार्थान्तरप्रत्यभिज्ञानस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेणोत्पत्तेः । अथ स्यादयं दोषो यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते, किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव च स्मृतिः । भिन्नसन्तानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति; तेन न सन्तानान्तराणां स्मृतिर्भवति । न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात् । तदप्यनवदातम् । एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात् । न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं, क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात् । न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः । अथ-"यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा" ॥१॥ इति कार्पासे दृष्टान्तोऽस्तीति चेत्, तदसाधीयः, साधनदूषणयोरसम्भवात् । तथाहि-अन्वयाद्यसंभवान्न साधनम् । न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः, कार्पासे रक्ततावदित्यन्वयः संभवति । नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति । असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम् । न हि ततोऽन्यत्वादिस्यस्य हेतोः कार्पासे रक्ततावदित्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते । किं च-यद्यन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात् । अथ नाऽयं प्रसङ्ग एकसन्तानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्, तदप्ययुक्तम् । भेदाभेदपक्षाभ्यां तस्योपहतत्वात् । क्षणपरम्परातस्तस्याऽभेदे हि क्षणपरम्परैव सा । तथा च सन्तान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात् । भेदे त्वपारमार्थिकः, पारमार्थिको वाऽसौ स्यात्?, अपारमार्थिकत्वेऽस्य तदेव दूषणम्, अकिञ्चित्करत्वात् । पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात्, क्षणिको वा?। क्षणिकत्वे सन्तानिनिर्विशेष एवायमिति किमने-

न स्तेनजीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकारिणा। स्थिरत्वे-ऽऽत्मैव संज्ञाभेदतिरोहितः प्रतिपन्नः । इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम् । स्मृतेरभावे चानुमानस्यानुत्थानमित्युक्तं प्रागेव । अपि च-स्मृतेरभावे निहितप्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन् । "इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः। तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः" ॥१॥ इति वचनस्य च का गतिः?। एवमुत्पत्तिरुत्पादयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जर्जरयति, विनाशो नाशयति, इति चतुःक्षणिकं वस्तु प्रतिजानाना अपि प्रतिक्षेप्याः । क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात् । तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभिप्रैति तस्य महत्साहसम् ॥ १८ ॥

(४) अथ तथागताः क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितमाकर्ण्य प्रतिपादयिष्यन्ति, यत्पदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा एवेति । तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितयोर्वासनाक्षणपरम्परयोर्भेदाभेदानुभयपक्षैः पक्षत्रयेऽपि अघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वादमकामयमानानपि तानङ्गीकारयितुमाह-

> सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च,
> नाभेदभेदाऽनुभयैर्घटेते ।
> ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोत-
> न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥ १९ ॥

सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योऽन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना। वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः । सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा प्रदीपकलिकावन्नवनवोत्पद्यमाना परापरसदृशक्षणपरम्परा । एते द्वे अपि अभेदभेदानुभयैर्न घटेते । न तावदभेदेन तादात्म्येन ते घटेते । तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात्, क्षणपरम्परा वा; न द्वयम् । यद्धि यस्मादभिन्नं न तत्ततः पृथगुपलभ्यते । यथा घटात् घटस्वरूपम् । केवलायां वासनायाम् अभ्युपगम्यमानायां वासनीयाऽभावे च किं तया वासनीयमस्तु ? इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते । क्षणपरम्परामात्राङ्गीकरणे च प्राञ्च एव दोषाः । न च भेदेन ते युज्येते । सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यादक्षणिका वा?। क्षणिका चेत्तर्हि क्षणेभ्यस्तस्याः पृथक् कल्पनं व्यर्थम् । अक्षणिका चेदन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनाऽऽगमबाधः । तथा च-पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो व्यसनमात्रम् । अनुभयपक्षेणापि न घटते । स हि कदाचिदेवं ब्रूयात्-नाऽहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये, न च भेदं; किं त्वनुभयमिति तदप्यनुचितम्, भेदाभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात् । अन्यतरपक्षाभ्युपगमस्तत्र च प्रागुक्त एव दोषः । स्या० १९ श्लोक ।

(५) अयमेवाशयः सामुच्छेदिकनिह्नवादेः प्रतिपादित इहोपयोगित्वाद्योज्यते-

> नेउणमणुप्पवाए, अहिज्जओ वत्थुपासमित्तस्स ।
> एगसमयाइवोच्छे-यसुत्तओ नासपडिवत्ती ॥ २३६१ ॥
> उप्पायाणंतरओ, सव्वं चिय सव्वहा विणासि त्ति ।

गुरुवयणमेगनयमय-मेयं मिच्छ न सव्वमयं ॥ २३९२ ॥

अनुप्रवादपूर्वमध्यगतं नैपुण वस्त्वधीयानस्याश्वमित्रस्य पूर्वोक्तादेकसमयादिव्यवच्छेदसूत्रान्नाशप्रतिपत्तिरुत्पन्ना । कोऽर्थः ? इत्याह-" उत्पादान्तरमेव सर्वं वस्तु सर्वथा विनश्वररूपम्" इत्येवंभूतो बोध समुत्पन्नः। अत्र प्रतिविधानार्थं गुरुवचनम्-' ननु प्रतिसमयविनाशित्वं वस्तूनाम् ' इत्येतदेकस्यैव क्षणक्षयवादिन ऋजुसूत्रनयस्य मतं, न तु सर्वनयमतं, ततो मिथ्यात्वमेवेति ॥ २३६१ । २३६२ ॥

कुतः पुनरेतन्मिथ्यात्वम् ?, इत्याह-

न हि सव्वहा विणासो, ऽद्धापज्जायमेत्तनासम्मि ।

स-परपज्जायाणंत-धम्मणो वत्थुणो जुत्तो ॥२३९३॥

न हि सर्वथैव वस्तुनो विनाशो युक्तः। क सति ?, इत्याह-अद्धापर्यायमात्रनाशे । तत्रेहाद्धा नारकादीनामुत्पत्तिप्रथमादिसमय, स एव पर्यायमात्रं तस्य नाशोऽपगमस्तस्मिन्सति । कथंभूतस्य वस्तुन ?, इत्याह-स्वपरपर्यायानन्तधर्मकस्य । इदमुक्तं भवति-यस्मिन्नेव समये तन्नारकवस्तु प्रथमसमयनारकत्वेन समुच्छिद्यते,तस्मिन्नेव समये द्वितीयसमयनारकत्वेनोत्पद्यते. जीवद्रव्यतया त्ववतिष्ठते । अतो यदि नामाद्धापर्यायमात्रमुच्छिन्नं, तत सर्वस्यापि वस्तुन' समुच्छेदे किमायातम. अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुन' एकपर्यायमात्रोच्छेदे सर्वोच्छेदस्य दूरविरुद्धत्वाद् ? इति ॥ २३९३ ॥

अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति-

अह सुत्ताउ त्ति मई, सुत्ते ननु सासयं पि निद्दिट्ठं ।

वत्थु दव्वट्ठाए, असासयं पज्जयट्ठाए ॥ २३९४ ॥

अथ पूर्वोक्तालापकरूपात्सूत्रात्सूत्रप्रामाण्यात्प्रतिसमयं सर्वथा वस्तुच्छेद• प्रतिपाद्यत इति तव मति ; ननु यदि सूत्र तव प्रमाणं, तर्हि सूत्रे द्रव्यार्थतया शाश्वतमपि वस्त्वन्यत्रोक्तमेव,पर्यायार्थतयैव चाशाश्वतम् ।तथा च सूत्रम्-"नेरइयाणं भंते ! किं सासया, असासया ?। गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया।से केणऽट्ठेणं ?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया " इति ॥ २३९४ ॥

अपि च-

एत्थ वि न सव्वनासो, समयाऽऽविसेसणं जओऽभिहियं ।

इहरा न सव्वनासे, समयाइविसेसणं जुत्त ॥२३९५॥

को पढमसमयनारग-नासे बितिसमयनारगो नाम ।

न सुरो घओ अभावो,व होइ जइ सव्वहा नासो ? ।२३९६।

अत्रापि प्रथमसमयनारका व्यवच्छेदं यास्यन्ति' इति सूत्रे न सर्वनाश• सर्वात्मना नाशो गम्यते । कुत• ? इत्याह-यतो यस्मात्समयादिविशेषणमभिहित. ततो न सर्वथा नाशोऽत्र गम्यते, किं तु प्रथमसमयनारका व्यवच्छेत्स्यन्ति । कोऽर्थ• ? । प्रथमसमयनारकत्वेन विनङ्क्ष्यन्ति । एवं द्वितीयादिसमयनारका अपि द्वितीयादिसमयनारकत्वेनैव विनङ्क्ष्यन्ति । न तु सर्वथा,द्रव्यार्थतया शाश्वतत्वात् । इतरथा सर्वनाशे अभिप्रेते प्रथमसमयादिविशेषण न युक्त स्यादिति । कथमयुक्तम ?, इत्याह-" को पढमे " इत्यादि । प्रथमसमयोत्पन्नानां हि नारकाणा सर्वथा विनाशे को नाम द्वितीयतृतीयादिसमयनारक ? । अवस्थितस्यैव हि कस्यचित् प्रथमद्वितीयतृतीयादिसमयोत्पन्नविशेषणं युज्यते, यदि तु सर्वथा नाश', तर्हि प्रथमसमयोत्पन्ननारकस्य निरन्वयमाशेन नष्टत्वात् द्वितीयसमयोत्पन्नो नारक इति व्यपदेशु कथं युज्यते?, यन्नारकात्सर्वथा विलक्षणत्वादसौ सुरो घटोऽभावो वा नोच्यते ? । सुरादिव्यपदेशो च न द्वितीयादिसमयनारकाः । तस्मात्प्रथमद्वितीयतृतीयादिसमयोत्पन्ना इति विशेषणं कथञ्चिदवस्थितस्यैव नारकादेर्युज्यत इत्यस्मिन्नपि सूत्रे न नारकादे• सर्वोच्छेदः प्रतिपाद्यते । इति निर्मूल एव निजाशुभकर्मविपाकजनितस्तवैष व्यामोह इति ॥ २३९५-२३९६ ॥

अथ पराशङ्कापरिहारार्थमाह-

अह व समाणुप्पत्ती, समाणसंताणओ मई होज्जा ।

को सव्वहा विणासे, संताणो किं व सामन्नं ॥ २३९७ ॥

अथैवंभूता मति' परस्य भवेद्, यदुत-नारकादीनां प्रतिसमयमपरापरसमानक्षणोत्पत्तिर्भवति । ततस्तया समानक्षणोत्पत्त्या य समानक्षणसन्ततिरूपः सन्तानस्तस्मात्सन्तानात्सन्तानमाश्रित्य नारकादे• कथञ्चिद् ध्रौव्यमन्तरेणापि प्रथमद्वितीयादिसमयोत्पन्नविशेषणमुपपद्यत एव । अत्रोत्तरमाह-"को सव्वहा" इत्यादि । ननु सर्वथा विनाशे समुच्छेदेऽङ्गीक्रियमाणे कः कस्य सन्तान ,किं वा कस्य समानम् ?, इति निर्विकल्पनमेवेदमुच्यते । न हि निरन्वयविनाशेऽवस्थिताः केचनापि नारकादिक्षणाः सन्ति, यानाश्रित्येदमुच्यते-' अयमेषां सन्तानः, इदं वाऽस्य समानम् ' इति ॥ २३९७ ॥

किञ्च-

संताणिणो न भिन्नो, जइ संताणो न नाम संताणो ।

अह भिन्नो न क्खणिओ,खणिओ वा जइ न संताणो२३९८

यदि सन्तानिभ्यो न भिन्नः, किं त्वभिन्नः सन्तान', तर्हि न नामाऽसौ सन्तान , सन्तानिभ्योऽनर्थान्तरभूतत्वात्, तत्स्वरूपवत् । अथ सन्तानिभ्यो भिन्नः सन्तान', तर्हि क्षणिकोऽसौ नेष्टव्य', अवस्थितत्वाभ्युपगमात् । अथ क्षणिकोऽसाविष्यते,तर्हि नासौ सन्तान', सन्तानिवत् । ततस्' एव सन्तानाभावपक्षोक्ता दोषा इति । तदेव सर्वथोच्छेदेऽभ्युपगम्यमाने सन्तान उपपद्यत इति भावितम् ॥ २३९८ ॥

अथ यदुक्तम्-"किं व सामन्नमिति" (२३९७) तद्भावनार्थमाह-

पुव्वाणुगमे समया, हुज्ज न सा सव्वहा विणासम्मि ।

अह सा न सव्वनासे, तेण समं वा नणु खपुप्फं २३९९

यदि पूर्वक्षणस्योत्तरक्षणे केनाऽपि रूपेणानुगमोऽन्वयो भवेत्तदा तत्रानुगमे पूर्वोत्तरक्षणयो समता समानरूपता भवेत् । सर्वथा तु सर्वात्मना पूर्वक्षणस्य निरन्वयविनाशे न सा समता उत्तरक्षणस्य युज्यते । अथ सा समता तयोरभ्युपगम्यते, तर्हि तद्रूपस्य कथञ्चिदवस्थितत्वान्न पूर्वक्षणस्य सर्वथा विनाश• । अथ सर्वथा विनाशेऽपि तस्य समताऽभ्युपगम्यते,हन्त ! तर्हि तेन सर्वथाऽभावीभूतेन पूर्वक्षणेन सम तुल्यं युज्यते यदि, परं खपुष्पम्,सर्वथा भावरूपतया द्वयोरपि तुल्यत्वादिति ॥२३९९॥

किञ्च-

अव्वविणासे अन्नं, जइ सरिसं होइ होउ तेलुक्कं ।

तदसंबद्ध व मई, सो वि कओ सव्वनासम्मि ॥२४००॥

सर्वथा निरन्वयविनाशो घटात्पट इवोत्तरक्षणात्सर्वथाऽन्य एव पूर्वक्षणस्तस्मात्त्वान्य एवोत्तरक्षणः । ततः सर्वथाऽन्यस्य पूर्वक्षणस्य विनाशे तस्मात्सर्वथा अन्यदुत्तरक्षणरूपं यदि सदृशं भवतीत्यभ्युपेयते, तर्हि भवतु त्रैलोक्यमपि ततस्तत्सदृशम्,अनन्वयित्वे अन्यत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्। अथ तत् त्रैलोक्यं प्रस्तुतपूर्वक्षणेन सह देशादिव्यवहितत्वादसंबद्धमिति न तत्सदृशम, उत्तरक्षणस्तु तेन सह सबद्ध इति तत्सदृश इति परस्य मतिः स्यात्। ननु सोऽपि पूर्वोत्तरक्षणयोः सबन्धः पूर्वस्य सर्वथा विनाशे कुतः?-न कुतश्चिदित्यर्थः। तत्संबन्धाभ्युपगमेऽन्यसबन्धायोगेनान्वयाभ्युपगमप्रसङ्गादिति भावः ॥२४००॥

अपि च पर्यनुयुञ्ज्महे भवन्तम् । किम् ? इत्याह-

किह वा सव्वं खणियं, विष्णायं जइ मई सुयाउ त्ति ।
तदसंखसमयसुत्त-त्थगहणपरिणामओ जुत्तं ॥२४०१॥
न उ पइसमयविणासे, जेणिक्किक्कक्खरं चिय पयस्स ।
सखाइयसामइयं, संखिज्जाइं पयं ताइं ॥ २४०२ ॥
संखिज्जपयं वक्कं, तदत्थगहणपरिणामओ हुज्जा ।
सव्वक्खणभंगनाणं, तदजुत्तं समयनट्ठस्स ॥ २४०३ ॥

वा इत्यथवा, पर्यनुयुज्यते भवान् ननु 'सर्वं वस्तु क्षणिकम्' इत्येतत्कथं भवता विज्ञातमिति वक्तव्यम्?। श्रुतादिति चेत्। ननु तत् श्रुतादर्थविज्ञानमसख्येयसमयैर्निष्पन्नो यः सूत्रार्थग्रहणपरिणामस्तस्मादेव युक्तं, न तु प्रतिसमयविनाशे । इदमुक्त भवति-असंख्येयानेव समयान् यावच्चित्तस्यावस्थाने 'सर्वं क्षणिकम्' इति विज्ञानोपयोगो युज्यते, न तु प्रतिसमयोच्छेदे । अत्र कारणमाह-येन यस्मात्कारणात्पदस्य सावयवत्वात् तत्सबन्धयैकैकमप्यक्षरं संख्यातीतसामायिकमसख्याते. समयैर्निष्पद्यत इत्यर्थः । तानि चाक्षराणि सख्यातानि समुदितानि पद भवति । सख्यातैश्च पदैर्वाक्यमिष्यते, तदर्थग्रहणपरिणामाच्च वाक्यार्थग्रहणपरिणामादित्यर्थ , सर्वक्षणभङ्गज्ञान भवेत् । तच्चोत्पत्तिसमयानन्तरमेव नष्टस्य समुच्छिन्नरूपस्य मनसोऽयुक्तमेवेति ॥ २४०१ । २४०२ । २४०३ ॥

(६) अन्यदपि क्षणभङ्गवादे यन्नोपपद्यते तद्दर्शयति-

तित्ती समो किलामो, सारिक्ख-विवक्ख-पच्चयाईणि ।
अज्झयणं झाणं भावणा य का सव्वनासम्मि ?॥२४०४॥

तृप्तिर्धाणि., मार्गगमनादिप्रवृत्तस्य खेदः श्रम , क्लमो ग्लानि , सादृश्य साधर्म्य,विपक्षो वैधर्म्य,प्रत्यय. प्रत्यभिज्ञानादि., आदिशब्दात्स्वनिहितप्रत्यनुमार्गणस्मरणादिपरिग्रहः । अध्ययनं पुनः पुनर्ग्रन्थाभ्यासः, ध्यानमेकालम्बने मन स्थैर्य, भावना पौनः पुन्येनानित्यत्वादिप्रकारतो भवनैर्गुण्यपरिभावनरूपा। एतानि सर्वाण्यप्युत्पत्त्यनन्तरमेव वस्तुन सर्वनाशेऽङ्गीक्रियमाणे कथमुपपद्यन्ते ? इति ॥ २४०४ ॥

यथा च नोपपद्यन्ते तथा दर्शयन्नाह—

अममो पइगासं, भुत्ता अंते न सो वि का तित्ती ? ।
गंतादओ वि एवं, इय संववहारवोच्छित्ती ॥ २४०५ ॥

'ग्रसु-ग्लसु ' अदने । ग्रसन ग्रास. कवलप्रक्षेप.,ग्रस्यत इति वा ग्रासः कवलः । ततश्च प्रतिग्रास प्रतिकवल भोक्ता देवदत्तः क्षणिकत्वादन्यश्चान्यश्च भवति, भोजनक्रियायाश्चान्ते पर्यन्ते सोऽपि भोक्ता सर्वथा न भवति, भुजिक्रियाविशेषणस्याभावे तद्विशिष्टस्य देवदत्तस्यापि सर्वथोच्छेदात् । ततश्चैकस्मिन्नन्त्यकवलप्रक्षेपे का तृप्तिः,भोक्तुश्चाभावात्कस्याऽसौ तृप्तिः?। एवमुक्तानुसारेण गन्त्रादीनामपि श्रमाद्यभावः स्वबुद्ध्या भावनीय इति । एव समस्तलोकव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति ॥२४०५॥

अत्र परः प्राह-

जेणं चिय पइगासं,भिन्ना तित्ती अओ चिय विणासो ।
तित्तीए तित्तस्स य, एवं चिय सव्वसंसिध्दी ॥ २४०६ ॥

येनैव यत एव प्रतिग्रासमन्योऽन्यश्च भोक्ता भवति,अपराऽपरा च तृप्तिमात्रा भवति, अत एव तृप्तेः, तृप्तस्य च प्रतिक्षण विनाशोऽभ्युपगम्यते अस्माभि ,विशेषणभेदे विशेष्यस्याप्यवश्यं भेदात्, अन्यथा विशेषणभेदस्याप्ययोगात्। प्रतिक्षणविनाशित्वे तृप्त्याद्ययोगोऽभिहित एवेति चेत्। तदयुक्तम् । कुत.?, इत्याह-(एवं चिय सव्वसंसिद्धि त्ति) एवमेव प्रतिक्षणविनाशित्व एव सर्वस्यापि तृप्तिश्रमक्लमादेर्लोकव्यवहारस्य संसिद्धिः । इदमुक्त भवति-तृप्त्यादिवासनावासित. पूर्वपूर्वक्षणादुत्तरोत्तरक्षण समुत्पद्यते तावत्, यावत्पर्यन्ते उत्कर्षवन्तस्तृप्त्यादयो भवन्ति । एतच्च क्षणिकत्व एवोपपद्यते न नित्यत्वे । नित्यस्याप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन सर्वदैव तृप्त्यादिसद्भावात्, सर्वदैव तदभावाद्वेति ॥ २४०६ ॥

अत्रोत्तरमाह-

पुव्विल्लसव्वनासे, वुड्ढी तित्ती य किंनिमित्ता तो ?।
अह सा वि तेऽणुवत्तइ, सव्वविणासो कहं जुत्तो ?॥२४०७॥

(तो त्ति)यद्येव तत. पूर्वक्षणस्य सर्वथा विनाश उत्तरोत्तरक्षणेषु तृप्त्यादीनां या क्रमेण वृद्धिरुत्कर्षवती पर्यन्ते तृप्ति श्रमादिसंभूतिश्च, सा किंनिमित्ता किंकारणा ?, इति वक्तव्यम् ?। पूर्वपूर्वक्षणेनोत्तरोत्तरक्षणस्य या तृप्त्यादिवासना जन्यते तन्निमित्तेति चेत्।न। तस्यास्तदनर्थान्तरत्वे पूर्वपूर्वक्षणनाशे नाशात्। अथोत्तरोत्तरक्षणेषु साऽनुवर्तत एवेति ते तवाभिप्राय ,तर्हि पूर्वपूर्वक्षणस्य सर्वविनाश. कथ युक्तो वक्तुम, तदनर्थान्तरभूततृप्त्यादिवासनायाः समनुवर्त्तनात् ? इति ॥ २४०७ ॥

(७) सर्वस्य क्षणिकत्वे दूषणान्तरमप्याह-

दिक्खा व सव्वनासे, किमत्थमहवा मई विमोक्खत्थं ।
सो जइ नासो सव्व-स्स तो तओ किं व दिक्खाए?॥२४०८॥

दीक्षा वा क्षणानां सर्वनाशे किमर्थमिति वाच्यम्?-निरर्थिकेयमिति भावः । अथ मोक्षार्थं दीक्षेति परस्य मति., नन्वत्रापि वक्तव्यम्-स मोक्षो नाशरूपो वाऽभ्युपगम्यते,अनाशरूपो वा ?। तत्र (सो जइ नासो त्ति) स मोक्षो यदि नाशरूप इति पक्षः, (सव्वस्स तो तओ त्ति) ततस्तर्हि तकोऽसौ मोक्षः सर्वस्यापि वस्तुन स्वरसतः प्रयत्नमन्तरेणापि त्वदभिप्रायेण सिद्ध एव, किं दीक्षाप्रयत्नेन ? इति ॥ २४०८ ॥

अथानाशरूपो नित्यो मोक्षस्तत्राऽऽह-

अह निच्चो न क्खणियं,तो सव्वं अह मई ससंताणो ।
अहउ त्ति तओ दिक्खा,निस्संताणस्स मुक्खो त्ति॥२४०९॥

अथ नित्यो मोक्षः (तो त्ति) ततस्तर्हि 'सर्वं वस्तु क्षणिकम्' इत्येतन्न भवति,मोक्षेणैव व्यभिचारात्। अथ स्व आत्मीयो नि-

ज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-रूपात्मकस्कन्धस्य क्षणपरपरारूपः सन्तानो नाद्यापि हतः, निःसन्तानस्यैव च मोक्षः,अतो निःसन्तानार्थं दीक्षा विधीयत इति ॥ २४०९ ॥

अत्रोत्तरमाह-

भिन्नेणाभिन्नेण व, किं संताणेण सव्वनट्ठस्स ।
किं चाभावीभूयस्स स-परसंतानचिंताए ? ॥ २४१० ॥

सर्वनष्टस्य सर्वप्रकारैर्विनाशमापन्नस्य छिन्नेन, अच्छिन्नेन वा सन्तानेन किं प्रयोजनं, येन सन्तानहननार्थं दीक्षां गृह्णीयात् ?। किं च-सर्वथाऽभावीभूतस्य क्षणभङ्गुरतया सर्वथा विनष्टस्य किमनया चिन्तया-अयं स्वसन्तानः, अयं तु परसन्तानः, अयं तु न हतः, येनोच्यते-" स संताणो अहउ त्ति तओ दिक्खा " इति ॥ २४१० ॥

अथ क्षणिकत्वसाधकपराभिमतप्रमाणमुपन्यस्य दूषणमाह-

सव्वं पयं व खणियं, पज्जंते नासदरिसणाउ त्ति ।
णणु इत्तो चिय न खणिय-मंते नासोवलद्धीओ ॥२४११॥

सर्वं वस्तु क्षणिकं, पर्यन्ते नाशदर्शनात्, पयोवदिति। आह-ननु यदि वस्तूनां पर्यन्ते नाशो दृश्यते, तर्हि प्रतिक्षणविनाशित्वे किमायातं, येन सर्वं क्षणिकमुच्यते ? । सत्यं, किं त्वयमिह तदभिप्रायः-पर्यन्तेऽपि घटादीनां विनाशः तावन्निर्हेतुक एव भवति, मुद्गरादेर्विनाशहेतोरयोगात् । तथाहि-मुद्गरादिना किं घट एव क्रियते, कपालानि वा, तुच्छरूपोऽभावो वा ? इत्यादियुक्तितो विनाशस्य निर्हेतुकत्वं प्रागेव दर्शितम् । ततो निर्हेतुकोऽसौ भवन्नादित एव भवतु, अन्यथा पर्यन्तेऽपि तदभवनप्रसङ्गादिति पर्यन्ते नाशदर्शनाद्धेतोः क्षणिकत्वासिद्धिः । अत्र सूरिराह-नन्वेतस्मादेव पर्यन्ते नाशदर्शनलक्षणाद्धेतोरस्माभिरेतच्छक्यते वक्तुम् । किम् ?, इत्याह-न क्षणिकं,न प्रतिक्षणं वस्तु विनश्यतीत्यर्थः, पर्यन्त एव तन्नाशोपलब्धेः, घटादिवत् । न च युक्तिबाधितत्वाद्भ्रान्तेयमुपलब्धिरिति शक्यते वक्तुम्, सर्वेषां सर्वत्रेत्थमेव प्रवर्तनात्, युक्तीनामेवानया बाधनात्, शून्यवादियुक्तिवदिति ॥ २४११ ॥

यदि पुनरादित एव वस्तूनां विनाशः स्यात्, तदा किं भवेद् ?, इत्याह-

इहराइ चिय तओ, दीसेज्जंते व्व कीस व समाणो ।
सव्वविणासे नासो, दीसइ अंते न सोऽन्नत्थ? ॥२४१२॥

इतरथा यदि प्रतिक्षणं नाशो भवेत्तदा यथा पर्यन्ते सर्वेणाऽपि भवन्नसौ दृश्यते, तथा आदित एव आदिमध्येषु सर्वत्र तकोऽसौ नाशो दृश्येत । अथ पर्यन्तेऽसौ दृश्यते नादि-मध्येषु किं कुर्म्मः ?। तर्हि प्रष्टव्योऽसि । किम् ?, इत्याह-" कीस व " इत्यादि । किमिति चाऽसौ नाशो वस्त्वभावरूपतया सर्वत्र समानो निरवशेषस्वरूपोऽपि सन् सर्वविनाशे मुद्गरादिना विहिते दृश्यते उपलक्ष्यते अन्ते पर्यन्ते न पुनरन्यत्राऽऽदि-मध्येषु सर्वत्र भवताऽभ्युपगतोऽप्यसौ भवन्नुपलक्ष्यत इत्यत्र कारणं वाच्यम् ?, न पुनः पादप्रसारिका श्रेयस्करीति भावः ॥२४१२॥

अपि च-पर्यन्ते नाशदर्शनरूपस्य हेतोः सिद्धत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तं यावता जैनानां हेतुरप्ययमसिद्धः,पर्यन्तेऽपि घटादीनां सर्वथा नाशानभ्युपगमादिति दर्शयन्नाह—

अंते व सव्वनासो, पमिवन्नो केण जदुवलद्धीओ
कप्पेसि खणविणासं, णणु पज्जायंतरं तं पि ॥ २४१३ ॥

यदि वा, भोः क्षणभङ्गवादिन् ! अन्ते पर्यन्तेऽपि मुद्गरादिसंनिधाने घटादिवस्तुनः सर्वनाशः सर्वथा विनाशः केन प्रतिवादिना जैनेनाऽभ्युपगतो, यदुपलब्धेर्यद्दर्शनावष्टम्भेन त्वं क्षणभङ्गरूपं प्रतिक्षणविनाशं कल्पयसि घटादेः ?। यदि मुद्गरादिसंनिधाने सर्वविनाशस्तस्य जैनैर्नाभ्युपगम्यते,तर्हि तदवस्थायां घटो न दृश्यते, कपालान्येव च दृश्यन्त इत्येतत्किमिष्यते ? इत्याह-" णणु " इत्यादि । नन्वहो ! मृद्रूपतया अवस्थितस्यैव घटद्रव्यस्य भूतभविष्यदनन्तपर्यायापेक्षया तदपि पर्यायान्तरं, पर्यायविशेष एव कपालानि, न पुनस्तदानीं घटस्य सर्वथा विनाशः, मृद्रूपताया अप्यभावप्रसङ्गात्, तथा च कपालानाममृद्रूपतापत्तेरित्यसिद्धिः पर्यन्ते सर्वनाशस्येति ॥ २४१३ ॥

भवतु वा तत्सिद्धिः, तथाऽपि नातः सर्वव्यापिनी क्षणिकत्वसिद्धिरिति दर्शयन्नाह-

जेसिं व न पज्जंते, विणासदरिसणमिहंबराईणं ।
तन्निच्चभ्भुवगमओ, सव्वक्खणविणासिमयहाणी ॥२४१४॥

घटादीनां तावत्पर्यन्ते सर्वनाशदर्शनात्प्रसङ्गेनादित एव प्रतिक्षणनश्वरतां साधयति भवान्,ततो येषामम्बरादीनां व्योमकालदिगादीनां पर्यन्ते विनाशदर्शनं कदाचिदपि नास्ति,तेष्वप्रसङ्गसाधनात्प्रतिसमयनश्वरत्वं न सिध्यति । ततस्तेषां नित्यत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम् । तन्नित्यत्वाभ्युपगमे च सर्वं ' क्षणिकम् ' इति व्याप्तिपरं यन्मतं भवतस्तस्य हानिरघटमानतैव प्राप्नोतीति ॥२४१४॥

(८) भङ्ग्यन्तरेणापि स्थविरा अश्वमित्रं शिक्षयन्ति । कथम् ?, इत्याह-

पज्जायनयमयमिणं, जं सव्वं विगमसंभवसहावं ।
दव्वट्ठियस्स निच्चं, एगयरमयं च मिच्छत्तं ॥ २४१५ ॥

पर्यायवादिन एव नयस्येदं मतं यत् त्वं ब्रूषे-सर्वमेव त्रिभुवनान्तर्गतं वस्तु विगमसंभवस्वभावम्-प्रतिक्षणमुत्पद्यते, विनश्यति चेत्यर्थः । द्रव्यमेवार्थो यस्य न पर्यायः स द्रव्यार्थिकस्तस्य तु द्रव्यार्थिकनयस्य तदेव सर्वं वस्तु नित्यं मतम् । एवं च स्थिते यद्भवानेकतरस्यैव पर्यायनयस्य प्रतिक्षणविनश्वरत्वलक्षणं मतमभ्युपगच्छति तन्मिथ्यात्वमेवेति मुञ्चेदमिति भावः । ॥ २४१५ ॥

किमित्येतन्मिथ्यात्वम् ?, इत्याह-

जमणंतपज्जयमयं,वत्थुं भुवणं व चित्तपरिणामं ।
ठिइविभवभंगरूवं, निच्चानिच्चाइ तोऽभिमयं ॥२४१६॥

यद्यस्मादनेकान्ततः पर्यायमयं,नाप्येकान्तेन द्रव्यरूपं,किं त्वनन्तपर्यायं स्थित्युत्पादविनाशरूपत्वाद् भूभवनविमानद्वीपसमुद्रादिरूपतया त्रिभुवनमिव समस्तमपि वस्तु नित्याऽनित्यादिरूपतया विचित्रपरिणाममनेकस्वरूपं भगवतामभिमतम् । अतोऽस्यैकान्तविनश्वरलक्षणैकरूपाभ्युपगमो मिथ्यात्वमेवेति ।

अपि च-

सुहदुक्खबंधमोक्खा, उभयनयमयाणुवट्टिणो जुत्ता ।
एगयरपरिच्चाए, सव्ववहारवोच्छित्ती ॥२४१७॥

किमित्येकतरपरित्यागे सुखादिव्यवहाराभाव ?, इत्याशङ्क्य प्रमाणयन्नाह-

न सुहाइ पज्जयमए, नामाओ सव्वहा मयस्सेव ।
न य दव्वट्ठियपक्खे, निच्चत्तणओ नभस्सेव ॥२४१८॥

एकस्मिन्नेव पर्यायनयमतेऽङ्गीक्रियमाणे न सुखादि, जगतो घटत इति प्रतिज्ञा, सुखदुःखबन्धमोक्षादयो न घटन्त इत्यर्थः। उत्पत्त्यनन्तरं सर्वथा नाशादिति हेतुः मृतस्येवेति दृष्टान्तः । न च द्रव्यार्थिकनयपक्षे केवले समाश्रीयमाणे सुखादि घटते, एकान्तनित्यत्वेनाविचलितरूपत्वात् । नभस इवेति । तस्माद्द्रव्य-पर्यायोभयपक्ष एव सर्वमिदमुपपद्यत इत्ययमेव ग्राह्य, केवलैकनयपक्षस्तु दोषलक्षकलङ्कीकृतत्वात् त्याज्य एवेति । २४१८ ।

पुनरप्यश्वमित्रमनुकम्पमानाः स्थविरास्तच्छिक्षामाहुः-

जइ जिणमयं पमाणं, तो मा दव्वट्ठियं परिच्चयसु ।
सकस्स व होइ जओ, तन्नासे सव्वनासो त्ति ॥२४१६॥

पूर्वदर्शितसूत्रालापकभावार्थमजानन्नपि विप्रमितचित्ततया तत्प्रामाण्यं पूत्कुर्वाणः किल जिनवचनप्रामाण्यावलम्बिनमात्मानं मन्यते भवान् । तदपि हन्त ! सत्यमेव जिनमतं भवतः प्रमाणं, तत केवलपर्यायवादितया जिनमताभिमतमपि द्रव्यास्तिकनयं मा परित्याक्षीः, द्रव्यास्तित्वं मा प्रतिषेधयेत्यर्थः। यतो यस्माच्छाक्यस्य बौद्धस्येव तत्तन्नाशे द्रव्यस्य सर्वथा विनाशे स्वीक्रियमाणे 'सर्वनाशोऽस्ति'सर्वस्यापि तृप्तिश्रमादेर्बन्धमोक्षादेश्च व्यवहारस्य नाशो भवति, विलोपः प्राप्नोतीत्यर्थः। ॥ २४१९ ॥

इत्यादियुक्तिप्रबन्धतः प्रज्ञाप्यमानोऽप्यसौ यावन्न किञ्चित्प्रतिपद्यते, ततस्तत्र किं संजातम् ? इत्याह-

इय पण्णविओ वि जओ, न पवज्जइ सो कओ तओ वज्झो ।
विहरंतो रायगिहे, नाउं तो खंडरक्खेहिं ॥ २४२० ॥
गहिओ सीसेहिं समं, एएऽहिमर त्ति जंपमाणेहिं ।
संजयवेसच्छन्ना, सज्जं सव्वे समाणेह ॥ २४२१ ॥
अम्हे सावय ! जयओ, कत्तुप्पन्ना कहिं च पव्वइया ।
अमुगत्थ वेंति सड्ढा, ते वोच्छिन्ना तया चेव ॥२४२२॥
तुब्भे तव्वेसधरा, भणिए भयओ सकारणं च त्ति ।
पडिवन्ना गुरुमूलं, गंतूण तओ पमिक्कंता ॥ २४२३ ॥

उक्तार्था एव, नवरं (भणिए भयओ सकारणं च त्ति) तैः आरक्षकश्रावकैरेव पूर्वोक्ते भणिते सति भयतो भयात्सकारणं च सयुक्तिकं च समाकर्ण्यानुशास्तिरूपं तद्वचः प्रतिपन्नास्तेऽश्वमित्रप्रमुखा निह्नवसाधव इति ॥ २४२०--२४२१--२४२२--२४२३ ॥ (विस्तरस्तु प्रमाणग्रन्थेभ्यः सम्मत्यादिभ्योऽवसेयः) विशे० । आचा० । न० । अनु० । अने० । नयो० ।

खणेत्तु-खनित्वा-अव्य० । खनन कृत्वेत्यर्थे, "खणेत्तु वा कहेत्तु वा " आचा० ।

खण्ण-खन्य-त्रि० । खननीये, खनिविधायाम् , वाच० । कल्प० । केनचिद्दत्ते खाते, बृ० ३ उ० । (खण्णमिति) देशीपदम्, सर्वात्मना लूषिते, व्य० १ उ० ।

खण्णु-स्थाणु-पु० । " सेवादौ वा " ८ । २।६६। इत्यन्त्यद्वित्व वा । खणु,खण्णु, शिवे,शाखाशून्यवृक्षे च । वाच० । प्रा० २ पाद ।

खत्त-क्षत्र-पु० । न० । शस्त्रेणाभिहते करीषविशेषे,ओघ० । पिं० । क्षताद्र त्रायते । त्रै-क । ५ त । क्षत्रिये, वाच० । उत्त० । क्षत्रियजातौ, वर्णसङ्करोत्पन्ने च । उत्त० १२ अ० । मुखद्वारे, सधौ, उत्त० ४ अ० । राष्ट्रे, उदके, धने, देहे, तगरे च, न० । वाच० ।

खात-न० । उभयत्रापि समे गर्ते, प्रज्ञा० २ पद । ज्ञा० ।

खत्तखाणय-क्षत्रखानक-पु० । संधिकृच्चौरेषु, ये सधानवर्जितभित्ती काणयन्ति । ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

खत्तमेह-क्षत्रमेघ-पुं० । करीषसमानरसतोयोपेतमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

खत्तय-खातक-त्रि० । क्षेत्रस्य खानके, चौरे च । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । राहुविमानस्य तृतीये कृष्णपुद्गले, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । न० ।

खत्ता-क्षत्ता-पु० । स्त्री० । शूद्रपुरुषेण क्षत्रियस्त्रियां जाते, ऋकारान्तोऽयं शब्द । आचा० १ श्रु० ४२६ पत्र ।

खत्तिखकारपविभत्ति-ख इति खकारप्रविभक्ति-न० । खकाराकृतिनर्तकमारुह्याभिनयात्मके नाट्यविधौ, रा० ।

खत्तिय-क्षत्रिय-पु० । स्त्री० । क्षतात्त्रायते इति क्षत्रिय । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । क्षणनानि क्षतानि,तेभ्यस्त्रायते इति क्षत्रिय । उत्त० ३ अ० । भ० । सूत्र० । आरक्षके,नि० चू० ५ उ० । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः, "क्षत्रादियः"।६।१।६३। इति (हैम०) इयप्रत्ययः । रा० । सामान्यराजकुलीने,औ० । भ० । ज्ञा० । रा० । इक्ष्वाकुवंश्यादिके,सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । श्रीऋषभदेवसजातीये,कल्प० ५ क्षण । श्रीआदिनाथेन प्रजालोकतया स्थापिते,कल्प० २ क्षण । प्रधानप्रकृतौ, कल्प० ७ क्षण । आ० म० । (श्रीऋषभदेवेन कृतस्य उग्र-भोग-राजन्य-क्षत्रिय-चतुष्कसंग्रहस्य मध्ये उग्रादयस्त्रय आरक्षकादय आसन्, शेषाः क्षत्रिया इति ' उसभ ' शब्दे द्वि० भागे ११२४ पृष्ठे उक्तम्) राष्ट्रकूटादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । श्रेष्ठ्यादौ, " माहणा अदुव खत्तिया पुच्छंति " दश० ६ अ० । चक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रभृतिषु क्षत्रियेषु, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । सामान्यतो राजोपजीविनि, बृ० १ उ० । नृपात् अपरिणीतायां क्षत्रियजातिस्त्रियां गूढोत्पन्ने पुत्रे च । तस्य पत्नी,ङीष् वा आनुक् । क्षत्रियाणी क्षत्रियी, (आर्यक्षत्रियाभ्यां वा) इति स्वार्थे आनुक् ङीष् च । पत्न्यां तु ङीपेवेत्युक्त, जातौ तु योपधत्वान्न ङीष्, किंतु टाप्, क्षत्रिया । वाच० ।

खत्तियकुंडग्गाम-क्षत्रियकुण्डग्राम-पुं० । मगधदेशे ब्राह्मणकुण्डग्रामात्पश्चिमायां श्रीमहावीरजन्मग्रामे, कल्प० २ क्षण । " तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्छिमे णं एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णाम णयरे होत्था, वण्णओ तत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे जमाली णाम खत्तियकुमारे परिवसइ। " भ० ६ श० ३३ उ० ।

खत्तियकुंमपुर-क्षत्रियकुण्डपुर-न० । ज्ञातानां क्षत्रियाणां आवाससन्निवेशे वीरजन्मपुरे,तच्च ब्राह्मणकुण्डग्रामात् उत्तरस्याम् । " दाहिणमाहणकुमपुरसन्निवेसाओ उत्तरखत्तियकुमपुर-

सण्णिवेससि णायाण खत्तियाण सिद्धत्थस्स खत्तियस्स का सवगोत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए पच्छिमायां" यथोक्तं पूर्वम् । आचा० ३ चू० ।

खत्तियकुल–क्षत्रियकुल–न० । श्रीआदिदेवेन प्रजालोकतया स्थापितानां कुलेषु, कल्प० २ क्षण ।

खत्तियपरिव्वायग–क्षत्रियपरिव्राजक–पु० । क्षत्रियो भूत्वा परिव्राजकतां गते, " अट्ठ खत्तियपरिव्वायया होंति । तं जहा–सीलई सांसिहारे णगई भग्गई तियविदेहे राया रामे बलेति य । " औ० ।

खत्तियपव्वइय–क्षत्रियप्रव्रजित–पु० । चातुर्वर्ण्ये द्वितीयवर्णभूतेषु सत्सु दीक्षामाश्रितेषु, औ० ।

खत्तियविज्जा–क्षत्रियविद्या–क्षत्रियाणां धनुर्वेदादिकायां सगोत्रक्रमेण आयातायां च विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

खद्ध–खद्ध–त्रि० । बृहत्प्रमाणे, विशे० । प्रचुरे, खद्धशब्देन सैद्धान्तिकेन प्रचुरमभिधीयते । प्रव० २ द्वार । ओघ० । दशा० । आचा० । प्रभूते, बृ० ४ उ० । " खद्ध २ मायं २ सियं २ आहारेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । " स० ३३ सम० । " खद्ध २ त्ति चड्डे चड्डे लवणे" आव० ४ अ० । "खद्धं २ ति" शीघ्र २ द्विर्वचनमादरख्यापनार्थम् । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

खद्धपजणण–खद्धप्रजनन–न० । बृहत्प्रमाणे मेहने, (शेफे) स्था० ३ ठा० ४ उ० । ओघ० ।

खद्धलोह–खद्धलोभ–पु० । प्रभूते अन्नादौ लभ्यमाने लुब्धतायाम्, पञ्चा० १७ विव० ।

खद्धाडयण–खद्धाद्यदन–न० । प्रचुरादिजक्षणे, प्रव० । खद्धादने इत्यत्र पदे खद्धशब्देन बहु भण्यते, (अयणे त्ति) अदनमशनमित्यर्थः, तत खद्धं बहु आदिर्यस्य तत खद्धादि अदनं "चडुचड्डेहिं लवणेहिं" खादनमित्यर्थः । आदिशब्दाद् डाकादिपरिग्रहोऽत्र पवाह–" आइसहा राग होइ पुणो पसंसागं तं, " प्रव० २ द्वार । आचा० ।

खद्धादणीयगिह–खद्धादनीयगृह–न० । खद्धम् अदनीयं येषु गृहेषु तानि खद्धादनीयगृहाणि । ईश्वरगृहेषु, नि०चू० ११ उ० ।

खपुसा–खपुसा–स्त्री० । उपानद्भेदे, "खपुसा य खलुगमेत्तं" खलुको घुण्टकः, तन्मात्र यावदाच्छादयन्ती खपुसा । बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

खप्पर–कर्पर–पु० । कृप् अरन् लत्वाभावः । "कुब्जकर्परकीलके क खोऽपुष्पे" । ८ । १ । १८१ । इति कस्य ख. । प्रा० १ पाद । कपाले, घटावयवे, शीर्षोऽर्द्धास्थनि, शस्त्रभेदे, कटाहे च । उदुम्बरे वृक्षे, वाच० । आव० ।

खर्पर–पृषोदरादित्वात्कस्य खत्वम् । तस्करे, भिक्षापात्रे, भिक्षभृन्मयखण्डे, तुच्छाञ्जने, वाच० ।

खव्व–खर्व–(खरव) पु० । 'खर्व' गर्वे, अच् । कुबेरनिधिविशेषे, कुब्जकवृक्षे, अन्त्यस्थमध्य । 'खर्व' गतौ, अच् । वर्ग्यमध्यह्रस्वे, वामने, त्रि० । गर्वसमूहपूरिततनौ, सख्याभेदे, वाच० । अनुन्नते, स्था० ४ ठा० १ उ० । दशगुणितेऽब्जे, कल्प० ७ क्षण ।

खब्बड–ख (क) र्व (र्ब) ट–न० । क्षुल्लकप्राकारवेष्टिते, व्य० १ उ० । जी० । ज्यो० । पर्वतेनावृतः परिवृते वा । सूत्र० २ श्रु० २ उ० । कुनगरे, नि० चू० १२ उ० । बृ० । ग० ।

खम–क्षम–त्रि० । क्षमते इति क्षमः । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । हढे. बृ० ३ उ० । समर्थे, अष्ट० ६ अष्ट० । तारणसमर्थे, ध० ३ अधि० । सङ्गते, दशा० १० अ० । औ० । युक्ते, पा० । स्था० । आचा० । योग्ये, आव० ४ अ० "न वंजयारिस्स खमो निवासो" उत्त० ३२ अ० । कुशले, विशे० । उचिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । क्षमत्वे, सङ्गतत्वे, "खमाए भविस्सइ, " भ० ६ श० ३३ उ० । स्था० ।

खमग–क्षपक–पुं० । विकृष्टतपस्विनि, जीवा० १२ अधि० "भिक्खु त्ति वा जमि त्ति वा खमग त्ति वा, " नि० चू० २० उ० ।

खमण–क्षपण–न० । अभक्तार्थे, नि० चू० २० उ० । व्य० । उपवासे, बृ० १ उ० ।

क्षमण–पु० । क्षमते इति क्षमणः । क्षान्ते, अनु० ।

खमणोवसंपया–क्षमणोपसंपत्–स्त्री० । चारित्रनिमित्तं गच्छान्तरे क्षपणार्थमुपसपत्तौ, (अस्याः स्वरूपम् 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भा० ए८५ पृष्ठे उक्तम्) नवरमिह स च क्षपको द्विधा–इत्वरो, यावत्काथिकश्च । यावत्काथिक उत्तरकालेऽनशनकर्त्ता । इत्वरस्तु द्विविधः–विकृष्टतपकः, अविकृष्टक्षपकश्च । पञ्चा० १२ विव० । नि० चू० । आ० चू० । व्य० । आ० म० ।

खमया–क्षमता–स्त्री० । क्षाम्यतीति क्षमः, तद्भावः क्षमता । अभिग्रहे, पञ्चा० १६ विव० ।

खमयाभिग्गह–क्षमताभिग्रह–पुं० । क्षान्तिमार्दवार्जवादौ नियमे, प० सं० ५ द्वार ।

खमा–क्षमा–स्त्री० । 'क्षमूष्' सहने, अच् । आव० ३ अ० । "क्षमायां कौ" । ८ । २ । १८ । इत्यनेन पृथिव्यां वाच्यायां छः, अन्यत्र तु खः । प्रा० २ पाद । आ० चू० । मर्षणे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । क्रोधोपशमे, अष्ट० २९ अष्ट० । संथा० । कल्प० । आव० । क्रोधाभावेन तितिक्षायाम्, द्वा० १ श्रु० १ अ० । सत्येतरदोषश्रवणेन कार्यतत्त्वमविचार्यान्तर्बहिश्च कोपोदयात् विक्रियामापद्यमानस्यात्मनो निरोधने, यो० वि० । " तत्थ खमा अक्कोसणतालणादी अहियासे तस्स कम्मक्खओ भवति, अणहियासे न तस्स कम्मक्खओ भवति,तम्हा कोधोदयनिरोहो कातव्वो । उदयप्पत्तस्स वाविफलीकरण एसा खम त्ति वा" । आव० १ अ० । खदिरे, वाच० ।

खमाधीसर–क्षमाधीश्वर–पु० । विजयरत्नसूरिपट्टारूढविजयक्षमासूरि इति ख्याते तपागच्छीये आचार्ये,

" तत्पट्टोदयशैलसन्नतरविर्मिथ्यातमःशासने,
भव्याम्भोरुहजासने सुविपुलं ज्ञानाम्बरार वहन् ।
कुग्राहग्रहतारतारकामिलद्दोषाविलं पुष्कर,
शोभावद् विदधद् बभूव विजयाच्च्चमत्क्षमाधीश्वरः " ॥१२॥

द्रव्या० १५ अ० ।

खमावणया–क्षमापनता–स्त्री० । परस्यासतोषवतः क्षमोत्पादने, भ० १७ श० ३ उ० ।

खमावणा–क्षमापना–स्त्री० । अपराधक्षामणे, उत्त० ।

तत्फलम्–

खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । खमावण–

याए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावं उप्पाएइ मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥ १७ ॥

हे भदन्त ! क्षामणया दुष्कृतानन्तर क्षन्तव्यमिद मम अपराध पुनर्न करिष्यामि एतादृशम् इत्यादिरूपया जीव किं जनयति ? । गुरुराह—हे शिष्य ! क्षामणया गुरोरग्रे स्वदुष्कृतनिन्दया प्रह्लादनभावं चित्तप्रसत्तिरूप जनयति । प्रह्लादनभावमुपगतो जीवः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु प्राणाश्च भूताश्च जीवाश्च सत्त्वाश्च प्राणभूतजीवसत्त्वा:, सर्वे च ते प्राणभूतजीवसत्त्वाश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वास्तेषु मैत्रीभावमुत्पादयति । मैत्रीभावं गतस्तु जीवो भावविशोधिं कृत्वा रागद्वेषनिवारण विधाय इहलोकादिसप्तभयानि निवार्य निर्भयो भवति । उत्त० २९ अ० ।

खमाविय–क्षामित–त्रि० । " युगाधी क्षमायकर्मसु " । ८ । ३ । १५२ । इति णे स्थाने पुक् आवि इत्यादेश. । लुकि जाते वृद्ध्यभाव । क्षमां कारिते, प्रा० ४ पाद ।

खमासमण–क्षमाश्रमण–पुं० । ' क्षमूष् ' सहने इत्यस्यार्थतावाहकि,प्रकृत्त्वस्य वा क्षमा,सहनमित्यर्थ. । श्राम्यति संसारविषये खिन्नो भवति, तपस्यतीति वा नन्द्यादित्वात्कर्तर्यने श्रमण. । क्षमाप्रधान. श्रमणः क्षमाश्रमण । ध० २ साधि० । आव० । आ० चू० । क्षमादिगुणप्रधानमहातपस्विनि, पा० । (" इच्छामि खमासमणो वंदिउं " इत्यादि ' किइकम्म ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५२३ पृष्ठे व्याख्यातम्)देवान् वन्दित्वा भगवनित्यादि चत्वारि क्षमाश्रमणानि क्रियासत्कान्यन्यथा वा ?, तथा पट्टिकप्रतोः क्षमाश्रमण पृथक् दातव्यं, न वेति प्रश्ने,उत्तरम्–भगवन्नित्यादि चत्वारि क्षमाश्रमणानि क्रियासत्कानि सन्ति । तत्र सर्वेऽपि तीर्थकृतो वन्दिता. । अथ ये विशेषतो गुरून् तथा पट्टिकप्रभृ वन्दते तदौचित्यसत्यापनार्थमिति । १४० प्र० सेन० ४ उल्ला० ।

खमिय–क्षामित–पुं० । क्षामिते,ज्येष्ठोऽपि शैक्ष क्षामयति । कल्प० ९ क्षण ।

खम्म–घर्म्म–पु० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " । ८ । ४ । ३२५ । इति घस्य ग । आतपे, प्रा० ४ पाद ।

खम्मंत–खन्यमान–त्रि० । " हन्खनोऽन्त्यस्य " ८ । ४ । २४४ । इति अन्त्यस्य द्विरुक्तो म । विदार्यमाणे, प्रा० ४ पाद ।

खय–क्षत–त्रि० । क्षतियुक्ते, भावे क्तः विदारणे,न० । घर्षणे, अवहककपूयादौ व्रणे, वाच० ।

खय–पु० । घर्मे,उत्त० ७ अ० । विनाशे,आतु० । सूत्र० । सर्वविनाशे, भ० ११ श० ११ उ० । अवसाये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । राजयक्ष्मरोगे, स च क्षय सन्निपातजश्चतुर्भ्य. कारणेभ्यो भवतीति । उक्तं च–" त्रिदोषे जायते यक्ष्मा, गदो हेतुचतुष्टयात् । वेगरोधात् क्षयाच्चैव, कामाश्च विषमाशनात् ॥ " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । लावकादिपिशिताशिन किल क्षयव्याधेरुपशम । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । कर्मण उदयावस्थात्यन्ताभावे, कर्म० ५ कर्म० । स्था० । सूत्र० । प्रश्न० । पूर्णीकरणे, कल्प० १ क्षण । स्था० ।

खयनाणि–क्षयज्ञानिन्–पु० । क्षयेण ज्ञानी क्षयज्ञानी । केवलिनि, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

खयायार–क्षताचार–पु० । स्त्री० । आवश्यकादिषु अनुद्यमेऽवसन्ने, " ओसन्ने खयायारे " व्य० ३ उ० । क्षताचारस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा तादृश्या उपस्थापनादि न कल्पते—

नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा णिग्गंथी अन्नगणाओ आगइय खयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता पायच्छित्तं अपभित्रजावेत्ता उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरयं दिसं वा अणुदिसं ओदिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ ए ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा निर्ग्रन्थी क्षताचारां शबलाचारां भिन्नाचारां संक्लिष्टाचारां,क्षतादीनां शब्दानामर्थ. प्राग्वत् । तस्य स्थानस्य अनालोचयित्वा यस्मिन् सेवते सा क्षताचारा भवेत् तत्स्थानमनालोच्य तस्मात्स्थानादपरिकाम्य तथा तस्य स्थानस्य विषये प्रायश्चित्तमप्रतिपाद्य उपस्थापयितु वा सभोक्तु वा सवस्तु वा तस्याम् इत्वरां दिशमनुदिशं वा उद्देष्टुमनुज्ञापयितुं वाऽपि तस्याः स्वयं धारयितु कल्पते इत्येष सूत्राक्षरार्थ. । व्य० अ० ।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः । तत्र परप्रश्नावकाशमाह—

जा होइ परिभवंती–ह निग्गया सीयइ कह स त्ति ।
संवासमाइएहिं, सवलिज्जइ उज्जमंता वि ॥

या प्रमादिगणं परिभवन्ती धर्मश्रद्धया गृहवासादिह निर्गता, सा कथ सीदति, येन सा क्षताचारादिजाता । अत्र सूरिराह–सवासादिभिः सा उद्यच्छन्त्यपि उद्यम कुर्वत्यपि शबलीक्रियते । इयमत्र भावना–सा एकाकित्वेन विहरन्ती गृहस्थाभिः सम वसन्ती स्वशक्त्यनुसारेणोद्यमं कुर्वत्यपि छलनां प्राप्नोति । आदिशब्दात् गोचरचर्यायां विचारभूमौ वा यतः सत्येकाकिनी छलनामाप्नुयादिति ।

अथैकाकिनी सा कथं जातेत्यत आह—

अद्धाण निग्गयादी, कप्पट्ठिं संचरंति जा बितिया ।
आगमणदेसभंगे, चउत्थि पुण मग्गए सिक्खं ॥

अध्वनि अवमौदर्येणाऽशिवेन वा निर्गता अध्वनिर्गता,आदिशब्दात् राजद्विष्टेन वा,सार्थेन वा, स्तेनैरभिहते निर्गतेति परिगृह्यते. एषा प्रथमा । द्वितीया ' कप्पट्ठिं ' दुहितर ससरन्ती एकाकिनी जाता । तृतीया परचक्रागमनेन देशभङ्गे एकाकिनी । चतुर्थी शिक्षां मृगयमाणा एकाकिनी जाता ।

तत्र "अध्वनिर्गतादीनाम्" व्याख्यानार्थमाह–

गोउम्मुगमादीया, नाया पुव्वमुदाहडा ।
ओमेऽसिवे रायदुट्ठे, सत्थे वा तेणऽभिद्दुते ॥

अवमौदर्ये सयत्यो न सस्तरन्ति । तत्र गोज्ञात पूर्वमुदाहृतम्, यथा–अल्प गोग्राहण न हन्ति, तत एतत् ज्ञातमवधार्य या यत्र सस्तरति सा तत्र गच्छति । अशिवे समुपस्थिते उल्मूकज्ञानमुदाहृत पूर्वं कल्पाध्ययने । यथा–उल्मूकानि बहूनि मिलितानि ज्वलन्ति एक, द्वे वा न ज्वलत. । एवमशिवमपि बहुषु गाढमुपतिष्ठति नैकस्मिन् द्वयोर्वा । ततो वृन्दघाते एकाकिनी जाता । एताभ्यां प्रकाराभ्यामध्वान प्राप्ता । तथा–राजद्विष्टेन पूर्वभणितैनैकाकिनी जायते । सार्थे वा स्तेनैरभिद्रुते एकाकिनी जायते । त-

ततः सा आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीविरहिता निर्धर्मीभूता पार्श्वस्थादिविहारं विहृत्य पुनरपि संवेगमापन्ना कञ्चिदाचार्यमुपाध्यायं गणावच्छेदकं वा द्रष्टुमुपस्थिता विज्ञपयति-यथाऽहं पार्श्वस्थादिविहारात्प्रतिक्रमामि, ततो मम संग्रहं कुरुत, यावदाचार्यमुपाध्यायं चाऽऽत्मीयं पश्यामि। एवमन्यगणादागतां तस्मात्स्थानादप्रतिक्राम्य न कल्पते उपस्थापयितुं, नापि पद्धिभेन संभोगेन यथासन्नमार्यिकाणां संयतानां च संभोक्तुं, नापि यावदात्मीयमाचार्यादिकं न गच्छति तावदित्वरं आचार्यः, एषा दिगित्युच्यते। इत्वरं उपाध्यायप्रवर्त्तिनी वा दीयते,एषा अनुदिक्। गतमध्वानं प्रतिपन्नादिति।

अधुना " कप्पट्ठिं संभरति जा वितिया " इति व्याख्यानार्थमाह—

अन्नत्थ दिक्खिया थेरी, तीसे धूया य अन्नहिं ।
वारिज्जंती य सा एज्जा, धूयानेहेण तं गणं ॥

अन्यत्र गच्छे स्थविरा माता दीक्षिता। अन्यत्र गच्छान्तरे (तीसे) तस्या दुहिता। ततः सा माता दुहितुः स्नेहेनाऽऽत्मीयानाचार्योपाध्यायान्पृच्छति-व्रजामि तां दुहितरं द्रष्टुम्। सा वार्यमाणाऽप्याचार्योपाध्यायैर्निर्गता,एवमेकाकिनी सा जाता। एकाकितया निर्द्धर्मीभूता यत्र सा दुहिता दीक्षिताऽस्ति तं गणमागता, दृष्टा दुहिता,संवेगमापन्ना, शेषं प्राग्वत्।

इदानीम् "आगमणदेसभंगे" इत्यादिव्याख्यानार्थमाह—

परचक्केण रट्ठम्मि, विद्दुते वोहिकाइणा ।
जहा सिग्घे पणट्ठासु, एय एगाऽसहायिका ॥

परचक्रेण बोधिकादिना विद्रुते अभिद्रुते राष्ट्रे तथा शीघ्रमार्यिकाः प्रनष्टाः,यथा तासु प्रनष्टासु मध्ये सा एका असहायिका जाता, एकाकितया धर्म्मरहिता बभूव। ततो गणान्तरं दृष्ट्वा पुनः संवेगमापन्ना, शेषमध्वानं प्रतिपन्ना इव वाच्यम्।

अधुना " चतुर्थी पुनर्मृगयते शिक्षामिति " व्याख्यानार्थमाह—

सोऊण काइ धम्मं, उवसंता परिणया य पव्वज्जं ।
निक्खंत मंदपुन्ना, सो चेव जहिं तु आरंभो ॥

श्रुत्वा काचन संविग्नानां पार्श्वे धर्मं उपशान्ता प्रव्रज्यां प्रति परिणता च, सा च निष्क्रान्ता पार्श्वस्थादीनां समीपे, ततः सा अचिन्तयत्-यस्मादारम्भात्संयमरूपात् भीताऽहं मन्दपुण्या स एव मे समापतित आरम्भो यस्मादत्राहं प्रव्रजिता वर्त्ते इति।

एतदेवाह-

आभीरिं पण्णवित्ताण, गया ते आययट्ठिया ।
अह तत्थेतरे पत्ता, निक्खमंति तमुज्जयं ॥

आयतो मोक्षस्तत्र स्थिता आयतस्थिता उद्यतविहारिणः संविग्ना इत्यर्थः। ते आभीरीं काञ्चन प्रज्ञाप्यान्यत्र विहारक्रमेण गता, अथानन्तरं तं ग्रामं इतरे पार्श्वस्थादयः प्राप्तास्ते तामुद्यतां निष्क्रामयन्ति, सा चापूर्वप्रकारेणासंयमाद्भीता तत्र समाधिं न लभते।

दट्ठुं वा सोउं वा, मग्गती तु पभिच्छिया विहिणा ।
संविग्गसिक्ख मग्गइ, पवित्तिणिमा । उवज्झ ॥

ततः सा मूलधर्म्मग्राहकानाचार्यान् मृगयन्ती द्रष्टुं श्रोतुं वा स्नानादिसमवसरणादौ समागतान् संविग्नाशिक्षां ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां च मार्गयति। अन्यां च प्रवर्त्तिनीमन्यमाचार्यमन्यं चोपाध्यायं सा चैव मार्गयन्ती विधिना तैः प्रतीच्छिन्ना स्वीकृता कर्त्तव्या तत्र यत्र ते दृष्टाः श्रुता वा मूलधर्म्मग्राहका यथावत् तैर्विधिना प्रतीच्छनीया।

तदेतद्भिधित्सुराह-

एहाणाइएसु मिलिया, पव्वावेंति भणंति तेहिं से ।
होह व उज्जुयचरणा, इमं व वइणिं वयं नेमो ॥

स्नानादिसमवसरणं गतया तया ते मूलधर्मग्राहका आचार्या दृष्टा प्रवेयुः, श्रुता वा, यथा अमुकग्रामनगरादौ वर्त्तन्ते, ततः स्नानादिसमवसरणे, अन्यत्र वा गत्वा तेषां मिलित्वा शिक्षां प्रवर्त्तिन्यादिकं च याचते, ततो विधिना तस्याः प्रतीच्छनं कुर्वन्ति। तमेव विधिमाह-ते मूलधर्मग्राहका आचार्यास्तस्याः प्रव्राजयतः प्रव्राजकान् आचार्यान् भणन्ति-यूयं वा भवत उद्यतचरणा, अथवा इमां व्रतिनीं नयाम।

भणाति पवत्तिणी ते-सिमसति विसज्जेह वतिणिमेतं ति ।
विसज्जिए नयंती, अविसज्जंतीए मासलहुं ॥

तेषां प्रव्राजकानामाचार्योपाध्यायानामसति अभावे, प्रवर्तिनी भण्यते। यथा-एतां व्रतिनीं विसर्जय। एवं भणिते यदि विसर्जयति ततो विसर्जिते विसर्जने कृते नयन्ति, अथैव भणिताऽपि सती सा प्रवर्त्तिनी न विसर्जयति, तर्हि तस्या अविसर्जयन्त्याः प्रायश्चित्तं मासलघु। अत्राय विधिः-प्रथमतः सा प्रवर्तिनी संयत्या भण्यते। यथा-विसर्जयेमां साध्वीमिति,एवमुक्ता यदि न विसर्जयति ततो मासलघु।

वसभे य उवज्झाए, आयरिए कुलेण वावि थेरेण ।
गणथेरेण गणेण व, संघत्थेरेण संघेणं ॥
भणिया न विसज्जंती, लहुगादी सोहि जाव मूलं तु ।
तीए हरिऊण ततो, अण्णो से दिज्जते उ गणे ॥

यदा संयत्या भणितेऽपि सा प्रवर्त्तिनी न विसर्जयति तदा वृषभो गीतार्थः कोऽपि साधुर्गत्वा तामापृच्छति। तत्रापि यदि न विसर्जयति तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। ततो य साधुरुपाध्यायस्थानं प्राप्तस्तेन सा आपृच्छ्यते, तत्राप्यविसर्जने चतुर्गुरु। ततो य साधुराचार्यस्थानं प्राप्तः स तामापृच्छति, यदि न विसर्जयति तर्हि तस्याः प्रायश्चित्तं षट् लघु। ततः कुलेन कुलस्थविरेण सा भणनीया, तत्राविसर्जने षट् गुरु। ततो गणेन गणस्थविरेण वा सा प्रज्ञापनीया। तथाप्यमुत्कलने प्रायश्चित्तं छेदः, तदनन्तरं संघेन संघस्थविरेण वा सा भणनीया। तथाऽपि चेन्न विसर्जयति तर्हि प्रायश्चित्तं तस्या मूलम्। अन्यच्च यदि सा संघमपक्रामति ततस्तस्याः सकाशात् हृत्वा (से) तस्या अन्यो गणो दीयते, अन्यस्याः प्रवर्तिन्याः सा समर्प्यत इत्यर्थः।

एमेव उवज्झाए, अविसज्जंते हवंति लहुगा उ ।
भयंते गुरुगादी, वसभादी जाव नवमं तु ।
एमेव य आयरिए, अविसज्जंते हवंति गुरुगा उ ।
वसभाइए हि भणिए, छल्लहुगाई उ जा चरमो ॥

संयत्या भणितया स्वयं प्रवर्त्तिन्यास्तस्यामविसर्जनायां यदि तस्यामुपाध्यायो न तां भणति-यथा विसर्जयैनां साध्वीमिति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। उपाध्यायातिक्रमणे यथाचार्यो न भणति-यथेमां विसर्जयेति, तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। एवं तावत्प्रवर्त्तिन्यामविसर्जयन्त्यामुक्तम् । इदानीमाचार्यस्योपाध्यायस्य वा अविसर्जयत प्रतिपाद्यते-एवमेव अनेनैव प्रकारेणोपाध्यायेऽप्यविसर्जयति प्रथमतो भवन्ति चत्वारो लघुकाः। ततो वृषभादिक्रमेण प्रायश्चित्तं वर्द्धमान तावद् द्रष्टव्यं यावत्पर्यन्ते नवममनवस्थाप्यलक्षणं प्रायश्चित्तम्। आचार्ये प्रथमतो भण्यते गुरुकाश्चत्वारः, ततस्तदधिक वृषभादिक्रमेण प्रवर्द्धमानं तावद्वसेयं यावत्पर्यन्ते चरमं पाराञ्चितम्, इति॥ इयमक्षरयोजना॥ भावार्थस्त्वयम्-संयत्या प्रेषणे प्रवर्त्तिन्याः विसर्जितायामविसर्जितायां वा यद्युपाध्यायो न विसर्जयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। ततोऽन्येन साधुना गीतार्थेन स उपाध्यायो भण्यते, तथाऽप्यमुत्कलने चतुर्गुरु। ततो वः साधुरुपाध्यायस्थानं प्राप्तः स प्रज्ञाप्यते, तथाऽप्यविसर्जने षड् लघु। तदनन्तरमाचार्यस्थानं प्राप्तः साधुः प्रेष्यते तेनाप्यविसर्जने षण्मुरु। ततः कुलेन, कुलस्थविरेण वा प्रावनीयः,तथाऽप्यविसर्जने छेदः। गणेन,गणस्थविरेण वा भणनेऽप्यविसर्जने मूलम्। सङ्घेन,स्थविरेण वा प्रज्ञापनायामप्यमुत्कलने अनवस्थाप्यम्। तथा संयत्या भणने प्रवर्त्तिन्या विसर्जितायां वा यद्याचार्यो न विसर्जयति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्। तदनन्तरं तस्य समीपे वृषभः प्रेष्यते, तथाऽप्यमुत्कलने षड् लघु। ततः उपाध्यायस्थानं प्राप्तेन साधुना भणनेऽप्यविसर्जने षण् गुरु। तदनन्तरमाचार्यस्थानं प्राप्तः साधुः प्रेषणीयस्तथाऽप्यमुत्कलने छेदः। कुलेन, कुलस्थविरेण वा भणिते ऽप्यविसर्जने मूलम् । गणेन, गणस्थविरेण वा अनवस्थाप्यम् । सङ्घेन, सङ्घस्थविरेण वा पाराञ्चितम्। सङ्घातिक्रमे तस्या गणादपहरणं सङ्घेन।

तथा चाह-

सयहत्थमुंभिगं ग-च्छवासिणिं यंधना विमग्गंती ।
अण्णस्स देइ संघो, णाणचरणरक्खणा जत्थ ॥

पार्श्वस्थादिभिः स्वकहस्तमुण्डितां गच्छवासिनीं,पार्श्वस्थादिगच्छवासिनीं वा याश्चन्द्रा उद्यतविहारिणो ये संसारान्निस्तारयन्ति, तान्विमार्गयन्तीं अन्वेषयन्तीं, अन्यस्याचार्यस्योपाध्यायस्यान्यस्याश्च प्रवर्त्तिन्याः सङ्घो ददाति, यत्र तस्या ज्ञानचरणरक्षणा भवति।

किं ? इत्येवम्। अत आह-

नाण-चरणस्स पव्व-ज्जकारण नाणचरणतो सिद्धी ।
जेहिं नाणचरणवुड्ढी, अज्जाणं तहिं वुत्तं ॥

प्रव्रज्याकारणं ज्ञानस्य, चरणस्य च, ज्ञानचरणनिमित्तं प्रव्रज्या प्रतिपद्यते इति भावः। यतो ज्ञानचरणवृद्धिस्तत्रार्याणामार्यिकाणां स्थानमवस्थानमुक्तं तीर्थकरगणधरैः पार्श्वस्थादीनां सकाशे ज्ञानचरणे न, ततस्तेभ्यस्तामपहृत्य सङ्घोऽन्यस्य ददाति।

मुत्तूण इत्थ चरिमं, इत्तरितो होइ अ दिसाबंधो ।
ओमच्छदिक्खियाए, आवकहाए दिसाबंधो ॥

अत्र एतासु चतसृषु मध्ये,चरमां चतुर्थी "पुण मग्गए सिक्खं" इत्येवरूपां मुक्त्वा शेषाणां तिसृणामभ्यनिर्गतादिकादीनां दिग्बन्ध इत्वरो भवति। चरमयोः पुनरवसन्नदीक्षिताया यावत्कथिको दिग्बन्धः॥ व्य० ६ उ०।

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीए वा अण्णगणातो आगतं खयायारं सबलायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमावेत्ता पायच्छित्तं पडिवज्जित्ता उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इ तिरियादिसि वा अणुदिसि वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ति बेमि ॥ १० ॥ व्य० अ० ६ उ०।

एसेव गमो नियमा, निग्गंथाणं पि होइ नायव्वो ।
नवरं पुण नाणत्तं, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

एष एवानन्तरोदितो गमः प्रकारो निर्ग्रन्थानामप्यन्यगणादागच्छतां भवति। नियमाद् ज्ञातव्यः, नवरं पुनः प्रायश्चित्ते नानात्वम्, अनवस्थाप्यं, पाराञ्चितं च। इयमत्र भावना-येन प्रव्राजितः स क्षुल्लको, भिक्षुर्वा, स चेत् संयते प्रेषिते न मुत्कलयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। ततो वृषभादिक्रमेण प्रायश्चित्तं पूर्वप्रकारेण वर्द्धमानं तावत् द्रष्टव्यं यावत्सङ्घेन, सङ्घस्थविरेण वा भणनेऽप्यमुत्कलने अनवस्थाप्यम्। तथा तस्य साधुना भणनेऽप्यमुत्कलने यद्युपाध्यायस्तं प्रव्राजकं न भणति-यथा विसर्जयैनमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। आचार्यस्याभणने चतुर्गुरु। तथा उपाध्यायः साधुप्रेषणे यदि न मुत्कलयति तदा चतुर्लघु। ततो वृषभादिक्रमेण पूर्ववत् वर्द्धमानं प्रायश्चित्तं तावत् द्रष्टव्यं, यावत्सङ्घातिक्रमेऽनवस्थाप्यम्। आचार्यस्य तु चतुर्गुरुकादारभ्य तावद्वक्तव्यं यावत्सङ्घातिक्रमे पाराञ्चितम्, अत्रापि निर्ग्रन्थ्या इव चत्वारो भेदाः।

तथा चाह-

अब्भाण निग्गयादी, कप्पट्ठग संभरंत तो विइतो ।
आगमणदेसभंगे, चउत्थओ मग्गए सिक्खं ॥

प्रथमोऽभ्यनिर्गतादिको, द्वितीयः कल्पस्थकं बालकं संस्मरन्। तृतीयः-परचक्रागमनेन देशभङ्गे, चतुर्थः-पार्श्वस्थादिदीक्षितः शिक्षां मार्गयति। अमीषां च व्याख्यानं सविस्तरं प्राग्वन्निरवशेषं द्रष्टव्यम्। अत्रापि चरमं मुक्त्वा शेषाणां त्रयाणामित्वरो दिग्बन्धः, चतुर्थस्य तु यावत्कथिकः। व्य० ६ उ०।

सूत्रम्-जे निग्गंथा य णिग्गंथीउ य संभोइया सिया णो कप्पति निग्गंथीणं निग्गंथे अणापुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खयायारं सबलायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तं तस्स ठाणस्स अणालोयावित्ता अपडिक्कमावेत्ता० जाव पायच्छित्तं अप्पडिवण्णं पुच्छित्तए वा वाइत्तए वा उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ १ ॥ व्य० अ० ७ उ०।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह-

णिग्गंथीणऽहिगारे, ओसन्नत्ते य समणुवत्तंते ।
सत्तमए आरंभो, नवरं पुण दो वि निग्गंथी ॥१॥

निग्रन्थीनामधिकारे अवसन्नत्वे षष्ठोद्देशके चरमसूत्रद्वया-दनुवर्त्तमाने, सप्तमे उद्देशके सूत्रद्वयस्यारम्भो भवति । तत्र यथा षष्ठोद्देशके चरमसूत्रद्वये एकस्मिन् सूत्रे निर्ग्रन्थी।द्विती-यसूत्रे निर्ग्रन्थ एवमिहापि न । यत आह-नवर सूत्रद्वयेऽपि द्वे अपि निर्ग्रन्थ्यौ, एवमनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—ये निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च सांभोगिकाः स्युस्तेषां मध्ये निर्ग्रन्थीनां न कल्पते निर्ग्रन्थाननापृच्छयान्यस्मात् गणादागतां, क्षताचारां सक्लिष्टाचाराममीषां शब्दानामर्थः प्राग्वत् । यस्मिन् स्थाने सी-दति स तस्य स्थानस्य अनालोच्य अप्रतिक्रम्य प्रायश्चित्तमप्र-तिपाद्य प्रष्टु वा वाचयितु वा उपस्थापयितुं वा षण्णां सभोगा-नामन्यतमेन सभोगेन संभोक्तुं वा तस्याम् इत्वरां दिशमाचार्य-लक्षणामनुदिश वा उपाध्यायप्रवर्त्तिनीलक्षणामुपदेष्टुं वा अनु-ज्ञातु, नापि तस्याः स्वय धारयितुमित्येष प्रथमसूत्राक्षरार्थः ।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः-

सुत्तं धम्मकहनिमि-त्तमादि घेत्तूण निग्गया गच्छा ।
पव्वावणचेइयाणं, पूयं काऊण आगमणं ॥१॥

कस्याप्याचार्यस्य शिष्या, सा,सूत्रम्,उपलक्षणमेतदर्थं च गृही-त्वा, तथा धर्मकथा. पठित्वा, निमित्त चातीतानागतादिक गृ-हीत्वा, आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रचूर्णयोगांश्च ज्ञात्वा गच्छान्निर्गता। ततः सनिमित्तादिबलेन धर्मकथया च इभ्यादीनामीप्सिता जाता। ततः सस्तवेनानावृत्य चैत्यायतनप्रज्ञापनाश्चैत्यायतन कारितवती, विपुलं तत्र सत्कारसमुदयमनुभवति। अन्यदा सा महत्तरिका तस्याः संबोधनार्थं विहारप्रत्ययं वा चैत्यम-हमुद्दिश्य वा तत्र समागता, सा तस्याः शिष्या परितुष्टा, तत इ-भ्यगृहेषु विविधान्यशनादीनि वस्त्राणि च महार्हाणि तस्या मह-त्तराया महत्तरिकया साऽनुशिष्टा—किमद्याप्यार्ये ! पार्श्वस्थेन तिष्ठसि, कुरु सयमे समुद्योगं,स्वय वा सा उद्यतकामा, एव त-स्यामुपस्थितायां यदि चैत्यानामन्यः शुश्रूषकोऽस्ति ततस्त-स्मात्स्थानात्प्रतिक्राम्यते । अथ नास्ति चैत्यानामन्यः शुश्रूषक-स्ततो यदि तस्मात्स्थानात् प्रतिक्राम्यनां महत्तरिका नयति, तदा चैत्यभक्तिनिमित्त तस्याः प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकम् ॥२॥

एव पूजां महत्तरिकायाः कृत्वा महत्तरिकया सह गुरुसन्नि-धावागमनम्, एतदेवाभिधित्सुराह-

धम्मकहनिमित्तेहि य, विज्जामंतेहि य चुण्णजोगेहिं ।
इत्यादि जोसिया णं, संथवदाणे जिणाययण ॥३॥

धर्मकथाभिर्निमित्तैर्विद्यामन्त्रैश्चूर्णयोगैश्च इत्यादि जोषित्वा प्रीणयित्वा सस्तवदाने परिचयकरणे तथाविधप्रज्ञापनया जिनायतनं कारितवती ॥३॥

संबोहणट्ठयाए,विहारवित्ती व जिणवरमहे वा ।
महयरिया तत्थ गया, निज्जरणं भत्तवत्थाणं ॥४॥

तस्याः सबोधनार्थं विहारवृत्त्या वा जिनवरमहे वा तस्या म-हत्तरिका तत्र गता तत्र इभ्यगृहेषु तस्या विविधस्य भक्त-स्य महार्हाणां वस्त्राणां निर्जरण दान तया कारितम् ॥४॥

अणुसट्ठ उज्जमंती, व विज्जए चेइयाण सारवए ।
परिवज्जंति अविज्जं-तए उ गुरुगा अभत्तीए ॥५॥

ततः सा महत्तरिकया सयमोद्योगकरणे समनुशिष्टा,स्वय वा उद्यच्छन्ती वर्तते। तत्र विद्यमाने चैत्यानां सारापके साराकारके तां नेतु प्रतिपद्यन्ते । अविद्यमाने तु चैत्यसाराकारके तस्या न-यने अभक्तिनिमित्तश्चत्वारो गुरुकास्तासां महत्तरिकाणां प्रा-यश्चित्तम् ॥५॥

आगमणं सक्कारं, हिंमंति तहिं विरूवरूवेहिं ।
छात्तेण सन्नियट्टा, हिंमंती तो तहिं दिट्ठा ॥६॥

एव सत्कारं समान च प्रतिगृह्य गुरुसमीपे आगमन, ततो लाभेन वस्त्रलाभेनोपेताः सन्निवृत्ता विरूपरूपैरन्यदेशसत्कैस्तै-र्वस्त्रैः प्रावृतास्तत्र भिक्षां हिण्डन्ते चैत्यवन्दनाय वा व्रजन्ति, तत्र हिण्डमाना वृषभैर्दृष्टा ॥६॥

एतदेव स्पष्टं भावयति—

सक्कारिया य आया, हिंमंति तहिं विरूवरूवेहिं ।
वत्थेहिं पाउया ते, दिट्ठा य तहिं तु वसभेहिं ॥७॥

सत्कारिताश्च महत्तराः प्रवृत्तकार्या यत्र गुरवास्तिष्ठन्ति तत्रा-यातास्तत्र च विरूपरूपैर्नानाप्रकारैर्महार्हैर्वस्त्रैः प्रावृता हिण्ड-न्ति, ताश्च तत्र हिण्डमाना वृषभैर्दृष्टाः ॥ ७ ॥

भिक्खा ओसरणम्मि व, अपुव्ववत्थाउ ताउ दट्ठूणं ।
गुरुकहणा तासि पुच्छा, अम्हे दिन्ना न वा दिन्ना ॥८॥

भिक्षायामवसरणे वा अपूर्ववस्त्रास्ता दृष्ट्वा वृषभा गुरुकथन कृतवन्तो,वृषभैर्गुरोर्निवेदितम् । तत आचार्येण वृषभा भणिताः-पृच्छत ता आर्यिकाः, कुतो युष्माकं तानि वस्त्राणि ? । ततो वृष-भैस्तासां समीप गत्वा पृच्छा कर्त्तव्या-यथा आर्याः ! नास्मा-भिरेतानि वस्त्राणि दत्तानि, नापि केनचिद्दीयमानानि अस्मा-भिर्दृष्टानि ॥ ८ ॥

न निवेदियं च वसभे, आयरिए दिट्ठ एत्थ किं जायं ।
तुम्हे अम्ह निवेयह, किं तुज्झऽहियं नवर दोण्हि ॥९॥

लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, गणं च हाओ विगिंचेज्जा ॥१०॥

अत्र द्वयोर्गाथयोर्यथासख्येन पदघटना । सा चैवम्-संयताभि-र्यत्किमपि वस्त्रादिक लभ्यते तत्सर्वं गुरवे निवेदनीयम्, अनि-वेदिते प्रायश्चित्त लघुको मासः । (वसभे इति वृषभे पृच्छ-के वृषभेण पृच्छायां कृतायां यदि न निवेदयन्ति तदा चत्वारो लघुकाः । आचार्येऽपि पृच्छके यदि न कथयन्ति तदा चत्वारो गुरुकाः । यदि पुनराचार्यैरधिक्षिप्ता-यथा किं युष्माभिर्न निवेदि-तानि, तदा यच्छावृता तदा चतुर्लघुकम् । अथानावृता सत्यो न कथयन्ति तदा चतुर्गुरुकम् । अथ ता ब्रुवते-यद् भणन्ति तद् इह स्यात् तदा षण्मासा लघवः। अथाभिदधाति-किमत्र जातं यदि न निवेदितम् तदा षण्मासा गुरवः प्रायश्चित्तम् । अथवा भाष-न्ते-यूय किमस्माकं निवेदयत,अत्र प्रायश्चित्त छेदः । किं युष्मा-कमस्मदधिकं नवरमावां परस्पर द्वे भ्रातृभाएमे, एवं तासां प्रवर्तिनीनां प्रायश्चित्तं मूलम् । तस्याश्च प्रवर्त्तिन्या गणो हृत्वा अ-न्यस्या दीयते। अथ साऽपि नेच्छति ततोऽन्यस्या दातव्यः। अथ साऽपि नेच्छति तदान्यस्या दीयते ॥ ९ ॥ १० ॥

एतदेवाह—

अण्णस्सा देंति गण, अह नेच्छति तो विगिंचते तं पि ।
पुणरवि दिंतन्नस्सा, एव तु कमेण सव्वासिं ॥११॥

अन्यस्या गणमाचार्या ददति गण हृत्वा त पूर्वां प्रवर्तिनी

विगिञ्चयेत् परित्यजेत्। पुनरन्यस्या गणं ददाति। एवं क्रमेण स-सामपि पूर्वस्याः पूर्वस्या अनिच्छायां गणो दातव्यः । सर्वासा-मनिच्छायां सर्वासां परित्यागः ॥ ११ ॥

अथ कस्मात् ता गणं दीयमानं नेच्छन्ति, तत आह-

पवत्तिणिममत्तेण, गीयत्थातो गणं जई ।
धारइत्ता ण इच्छंति, सव्वासिं पि विगिंचणा ॥ १२ ॥

यदि गीतार्था अपि गणं धारयितुं प्रवर्तिनीममत्वेन नेच्छन्ति तदा सर्वासां विगिञ्चना परित्यागः ॥ १२ ॥

चोयग गुरुको दंडो, पक्खेवग चरियसिरूपुत्तीहिं ।
विसयहरणट्ठया ते-णियं च एयं न नाहिंति ॥१३॥

चोदकः प्राह-प्रवर्तिन्याः तुच्छे अपराधे गुरुको दण्डो दत्तः ?। आचार्यः प्राह-अपराधोऽपि तासां गरीयान्, यत् व्याहृताः स-त्यो निष्ठुरं प्राधन्ते। अन्यच्च-ता एवमशिक्ष्यमाणा अनापृच्छ्योपधि गृह्णन्त्यः चरिकासिरूपुत्रीणां प्रक्षेपमुपचारं विषयनिमित्त-हरणार्थतया न ज्ञास्यन्ति, नापि कयाचित्सिरूपुत्रिकया स्तै-न्यकरणाय प्रव्रजितया एतत् उत्कृष्टवस्त्रादिकं स्तेनितं न ज्ञास्य-न्ति, तस्मादेतच्छिक्षापननिमित्तमेष गुरुको दण्डः ॥१३॥

एतदेव सप्रपञ्चमाह-

अवराहो गुरु तासिं, सच्छंदेणोवहिं तु जा घेत्तुं ।
न कहंती भिक्खा वा, जं निट्ठुरमुत्तरं बेंति ॥१४॥

अपराधोऽपि तासां संयतीनां गुरुरेव। यतः स्वच्छन्दास्ता उप-धिं गृहीत्वा न कथयन्ति। भिक्षा वा ज्ञाता वा सत्यो यन्निष्ठुरमु-त्तरं ब्रुवते । अन्यच्च अनापृच्छ्य गृह्णत्यो विषयहरणार्थतया चरिकासिरूपुत्रीभिः प्रक्षेपकं न ज्ञास्यन्ति ॥१४॥

एतदेव भावयति-

अवियत्ता निक्खंता, निरोह लावन्नलंकियं दिस्सा ।
विरहालंभे चरिया, आराहणा दिक्खलक्खेण ॥१५॥

काऽपि महेला कुटुम्बिनोऽवियत्ता अप्रीतिमती अहमिति प्रव्र-जिता, नवरं संयतीत्वे निरोधेन कुतोऽपि कर्मकरणादीनामर्थाय निर्गमनम्, तत शरीरस्य लावण्यमुद्भूतं यात, तां लावण्यालङ्कृतां भिक्षामटन्तीं स भर्ता दृष्ट्वा लोभं गतः, सा चात्मतृतीया भिक्षा-मटतीति विरहो न विद्यते यत्र तामालपयति, ततः स चरिकां दानसंमानाभ्यामाराधयति । ततश्चरिका ब्रूते-सन्दिश यन्मया कर्तव्यम्। स प्राह-एतां सतीं तथा कुरुत यथा प्रतिभज्यते, ततः सा दीक्षालक्ष्येण दीक्षाव्याजेनाहं प्रव्रजिष्यामीत्येवरूपेण तां सं-यतीमुपागता ॥१५॥

अहवा अन्नो कोई, रूवगुणुम्माइतो सुविहियाए ।
चरिगाए पक्खेवं, करेज्ज छिद्दं अविंदंतो ॥१६॥

अथ वा कोऽप्यन्योऽविरतः सुविहितायाः संयत्या रूपगुणेनो-न्मादित उन्माद प्राहित , छिद्रमविन्दन् अलभमानश्चरिकया दानसमानाभ्यामाराधितया प्रक्षेपमुपचारं कुर्यात् ॥ १६ ॥

सिद्धा वि कावि एवं, अहवा उक्कोसणंतगा जिन्ना ।
होहं वीसंभेउ य, गहियागहिए य लिंगम्मि ॥१७॥

अथ वा चरिकाया अभावे चारिकया प्रयोजनासिद्धौ, काऽपि सिद्धाऽपि सिरूपुत्रिकाऽपि एवं दानसमानाभ्यां गृहीत्वा प्रयु-ज्येत, ततोऽनापृच्छया ग्रहणे जानन्त्यस्तास्तमप्युपचारं गृह्णी-युः, तथा च सति महान् दोषः । अथ वा सा सिरूपुत्रिका ता-सां संयतीनामुत्कृष्टान्यनन्तकानि वस्त्राणि दृष्ट्वा जिन्ना वस्त्रग्र-हणलोभेन वित्तभक्तिमुपागता-प्रव्रजिष्याम्यहं प्रव्रजितेति विश्र-म्य गृहीते अगृहीते च लिङ्गे उत्कृष्टवस्त्राणां स्तैन्यं कुर्यात् ।१७।

पर आह-

वीसज्जिय नासिहिती, दिट्ठंतो तत्थ घंटलोहेण ।
तम्हा पवत्तिणीए, सारण जयणाएँ कायव्वा ॥१८॥

चोदकः प्राह-नन्वेव विसर्जितास्ता नङ्क्ष्यन्ति, तस्मान्मा क्रि-यतामीदृशो गुरुको दण्डः । आचार्यः प्राह-दृष्टान्तस्तत्र घण्टा-लोहेन। किमुक्तं भवति-यस्मिन्नेव दिने यत्र लोहे घण्टा कृता तल्लोहं तस्मिन्नेव दिने विनष्टम्। एवं यत्र दिवसे ताः स्वच्छन्द-तो वस्त्राणि गृह्णन्ति तत्यस्तस्मिन्नेव दिने ता विनष्टाः, यत एते दो-षास्तस्मात् प्रवर्त्तिन्या सारणा यतनया कर्त्तव्या ॥१८॥

तामेवाह-

धम्मं जई काउ समुट्ठियासि, अप्पेव दुग्गं तु कुमंसएहिं ।
तदाणि वच्चामों गुरूण पासं, भव्वं अभव्वं च वदंति ते उ ॥१९॥

सा परिव्राजिका, सिद्धपुत्रिका वा यदि संयतानामुत्तिष्ठति, ततः सा प्रवर्तिन्या वक्तव्या, यदि धर्मं कर्तुं समुत्थिताऽसि त-र्हि संप्रति व्रजामो गुरूणां पार्श्वे यतो भव्यमभव्यं वा ते वि-दन्ति वयं तु किं जानीमः ।

गुरवः कथं जानन्तीति चेत् आह-

जो जेण अभिप्पाए-ण एति तं भो गुरू वियाणंति ।
पारगमपारग त्ति य, लक्खणतो दिस्स जाणंति ॥२०॥

यो येनाभिप्रायेण समागच्छति तत् भोः ! गुरवो विजानन्ति । तथा प्रव्रज्याग्रहीतुकामं दृष्ट्वा लक्षणत एतत् जानन्ति, यथा-एष प्रव्रज्यायाः पारगो भविष्यत्येषोऽपारग इति ॥ २० ॥

तथा-

पत्ता पोरिसिमादी, छाया मुत्ताय वत्थु साहंति ।
चोदेति पुव्वदोसे, रक्खंती नाउ से भावं ॥ २१ ॥

प्राप्ता पौरुष्यादिकं प्रथमपौरुष्यादिकं गुरवे निवेदनीया । तथा (ज्ञाता) बुभुक्षिता, उद्धाता परिश्रान्ता, तथा उषिता, एतदपि संयत्यो गुरूणां कथयन्ति । गुरुश्च पूर्वदोषान् चोदयति । तथा (से) तस्या दीक्षितायाः भावमभिप्रायं द्रष्टुं ज्ञात्वा गुरवो रक्षयन्ति ॥२१॥

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः प्राप्तपौरुष्यादिकमिति विवृणोति—

जा जीएँ होति पत्ता, नयंति ता तीएँ उ गुरुसमीवे ।
छाउव्वायनिमित्तं, वितिया तइयाएँ चरमाए ॥२२॥

यस्यां पौरुष्यां संयतीनां पार्श्वे प्राप्ता भवति, तस्यां पौरुष्यां सं-यत्यो गुरुसमीपं नयन्ति। अथ सा ज्ञाता, उद्धाता वा, तर्हि तन्नि-मित्तं तेन कारणेन तस्यां तु द्वितीयस्यां, तृतीयस्यां, चरमायां वा गुरुसमीपं नीयते, नीत्वा च ज्ञातादिकं सर्वं कथ्यते । एतेन ज्ञातोद्धातेति व्याख्यातम् ॥२२॥

साम्प्रतम् " उषिता " इति भावयति-

चरमाएँ जाव दिज्जइ, भत्तं विस्सामयति ण जाव।

ता होइ निसा दूरं, च अंतरं तेण वुच्छमिम ॥२३॥

चरमायां पौरुष्यां समागता, सा च ज्ञाता, ततो यावत् तस्यां चरमायां पौरुष्यां भक्तं दीयते, भक्तानन्तरं च संयत्यस्तां विश्रामयन्ति, तावन्निशा भवति दूरं वा गुरूणामुपाश्रयात्तेन सा तत्रैव संयतीनामुपाश्रये उषिता, प्रभाते च गुरुसमीपे नेष्यते ॥ २३ ॥

नाहिंति समं ते ऊ, काउं नासेज्ज अप्पसंकाए ।

जा लु न नासेज्ज तहिं, तं तु गयं वेंति आयरिया ॥२४॥

प्रभाते हि गुरुसमीपे नेष्यते, ते तु गुरवो मां ज्ञास्यन्ति, इति विचिन्त्य काचिदात्मशङ्कया नश्येत् । या तु न नश्यति, तां तत्र गुरूपाश्रये गतामाचार्याणां संयत्यः कथयन्ति, यथैषाऽस्माकमुपाश्रयेऽनेन कारणेनोषिता । एतेन " वुच्छ साइतीति " व्याख्यातम् ॥२४॥

एवं कथिते आचार्यास्तां ब्रुवते । किम् ?, इति आह-

नहु कप्पइ दूती वा, चोरी वा अम्ह काउ इति वुत्ते ।

गुरुणा नायामि अहं, पव्वज्ज नाहं ति वा बूया ॥२५॥

(नहु) नैव कल्पते दूती चौरी वाऽस्माकं काचित्तु दीक्षयितुम् इति गुरुणोक्ते—ज्ञाताऽहमिति विचिन्त्य व्रजेत् , यदि वा ब्रूयान्नाहं तादृशीति । एतेन पूर्वदोषान् चोदयतीति व्याख्यातम् ॥२५॥

संप्रति " रक्खति भाउ से भावमिति " व्याख्येयम् । तत्र कथं तस्या भावं लक्षयन्ति ?, इत्यत आह-

अतिसयरहिया थेरा, भावं इत्थीण नाउ दुण्णेयं ।

वेंति इमं जयणाए, रक्खह से लक्खऽभिप्पायं ॥२६॥

अतिशयरहिता अपि स्थविराः स्त्रीणां दुर्विज्ञेयं भावमिङ्गिताकारकुशलतया ज्ञात्वा वदन्ति-एतामुत्पथपरां यत्नेन रक्षत, लक्षयत च (से) तस्या अभिप्रायम् ।

कथं लक्षयन्ति ?, इत्यत आह-

उच्चार भिक्खे अदुवा विहारे,

थेरीहि जुत्तं गणिणीउ पेसे ।

थेरीण असती तु अतन्नयाहिं,

गावंति एमेव उवस्सयम्मि ॥२७॥

यदा सा ब्रूते-नाहं तादृशीति,तदा तस्या उपरि स्थितेन लिङ्गमात्रं समर्पितम्, तत उच्चारभूम्यां भिक्षायामथवा विहारे गणिनी प्रवर्तिनी, तां स्थविराभिर्युक्तां प्रेषयेत्, स्थविराणामभावे अतन्मयाभिस्तस्याः सकाशात् या याः क्षुल्लकतरास्तरुण्यस्ताभिः सममुच्चारभूम्यादिषु प्रेषयति; एवमेव प्रथमतः स्थविराभिः ,तासामभावे असदृशवयोभिरित्यर्थः , उपाश्रये स्थापयति ॥२७॥

कइयविया उ पविट्ठा, अत्थति छिद्दं निरिक्खंती ।

विरहालंभे अहवा, भणइ इणमो तहिं सा उ ॥२८॥

कैतविका कैतववती प्रविष्टा सती सा तत्र छिद्रं निरीक्षमाणा तिष्ठति । अथवा विरहालाभे तत्र सा इदं भणति ॥२८॥

किं तद्भणति ? इत्यत आह-

अविहामाऽहं अव्वो !, मा संपस्सेज्ज नीयवग्गो वा ।

तं दाणि चेइयाइं, वंदह रक्खामऽहं वसहिं ॥२९॥

पाक्षिकादिषु आर्यिकाश्चैत्यवन्दनार्थं प्रस्थिता अवलोक्य सा शैक्षी ब्रूते-'अव्वो' इति संबोधने, अहमविघाटा अविकटा वर्त्ते, यदि वा मा मां प्रव्रजितां निजवर्गः पश्येत्, ततः स प्रव्रज्यात् त्याजयेत्, तस्मादिदानीं यूयं चैत्यानि वन्दध्वमहं वसतिं रक्षामि, एवमुक्ते एकया तरुण्या सह प्रतिश्रयपालिका स्थापिता, ततो गतास्वार्यिकासु सा शैक्षा तरुणीमार्यिकां ब्रूते ॥२९॥

उव्वण्णो सो धणियं, तुज्झ धवो जो तयासि निव्वएहो ।

वभिचारिं उव्वण्णो, इति नाते विगिंचणा तीसे ॥३०॥

तव धवो भर्त्ता यस्तदा निस्पृह आसीत्, स इदानीं 'धणियं' अत्यर्थं तव विषये 'उव्वण्ण' उत्कण्ठितः । अथवा-अन्यः कोऽपि व्यभिचारी पारदारिकः संयतीं प्रार्थयामास,तां प्रव्रज्याव्याजेन व्यापारितवान् । तत एवं विरहं ज्ञात्वा ब्रूयात्-को वा तरुणो रूपादिगुणोपेतस्तवानुगोऽनुरूपो वर्त्तते,स तव समागममिच्छति । एवं तस्या भावे ज्ञाते विगिञ्चना परित्यागः कर्त्तव्यः ॥३०॥

अथ वा काचित् सिद्धपुत्रिका वा,अन्या वा,संयतीनां वस्त्राद्यपहर्तुकामा निष्क्रमणव्याजेन प्रविष्टा चैत्यवन्दनार्थं गतास्वार्यिकासु तरुणीक्षुल्लिकाः प्रतीदं ब्रूते-

पारावयादियाइं, दिट्ठा णं नामि वत्थगाणि मए ।

तुब्भं नत्थिहि तिरिडे, वुत्ता खुड्डीउ दंसति ॥३१॥

पारापतादिकानि, आदिशब्दात् पुण्डवर्द्धनकादिपरिग्रहः, न मयाऽनन्तकानि वस्त्राणि दृष्टानि । णमिति वाक्यालङ्कारे, तव किं युष्माकं महत्तरिकायाः पार्श्वे तानि न सन्ति, एवमुक्तास्ताः क्षुल्लकाः तुच्छतयाऽस्माकं महत्तरिकायाः परिभवो भूयादिति कृत्वा दर्शयन्ति ॥३१॥

कानि कानि ?,इत्यत आह-

कोट्टंब तामलित्तिग, सिंधवए कासिए जुंगिए चेव ।

बहुदेसिए य अन्ने, पेच्छसु अम्हं खमज्जाणं ॥३२॥

कोट्टम्बानि गौडदेशोद्भवानि, तामलिप्तिकानि सैन्धवानि, अन्यानि च बहुदेशिकानि कृत्स्नानि परिपूर्णानि जुङ्गितानि खण्डीकृतानि अस्माकं क्षमार्याणां क्षमाप्रधानानामार्याणां प्रवर्त्तिन्या इत्यर्थः , प्रेक्षस्व वस्त्राणीति ॥३२॥

उपसंहारमाह-

सच्छंदं गेण्हमाणी, होंति दोसा जतो उ इच्चाती ।

इइ पुच्छिउं पडिच्छा, न तासि सच्छंदया सेयं ॥३३॥

स्वच्छन्दत उपधिं शिक्षां वा गृह्णतीनां संयतीनां यत इत्यादय एवमादयो दोषा भवन्ति, इत्यस्मात्कारणात् गुरूनापृच्छ्य उपधेः शिष्याया वा प्रतीच्छा ग्रहणं, न तु स्वच्छन्दता तासां श्रेयसी ॥ ३३ ॥ व्य० ७ उ० ।

जे णिग्गंथा णिग्गंथीओ य संभोइया सिया कप्पति णिग्गंथीणं णिग्गंथे आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमित्ता० जाव उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ २ ॥ जे निग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया कप्पति निग्गंथाणं निग्गंथीओ य आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खयायारं० जाव तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमि-

णा० जाव उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तं च णिग्गथीओ णो इच्छेज्जा, सेहिमेव णियं ठाणं ॥ ३ ॥ व्य० अ० ७ उ०।

अस्य सूत्रस्य सबन्धमाह–

अत्थेण गंथतो वा, संबंधो सव्वहा अपडिसिद्धो ।
सुत्तं अत्थमवेक्खति, अत्थो वि न सुत्तमतियाति ।३४।

अर्थतो ग्रन्थतश्च संबन्धोऽप्रतिषिद्धः सर्वथा यत सूत्रमर्थमपेक्षते । अर्थेऽपि च निर्ग्रन्थीनामधिकारे सूत्रमिदं प्रवृत्तमत सूत्रतोऽर्थतश्च सबन्धोऽस्तीति न किंचिदनुपपन्नम् ॥३४॥

नदिसोयसरिसओ वा, अहिगारो एस होई दट्ठव्वो ।
छट्ठाणतरसुत्ता, समणीणमय तु जा जोगो ॥३५॥

अथ वा षष्ठोद्देशके चरमानन्तरसूत्रद्वयादारभ्य एषोऽधिकारो नदीस्रोतःसदृशो द्रष्टव्योऽयं तु योगस्तावद्यावत् श्रमणीनामधिकारः ॥ ३५ ॥ अनेन सबन्धेनायातस्य व्याख्या । कल्पते निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थीरापृच्छ्य अनापृच्छ्य वा निर्ग्रन्थीमन्यगणादागतां क्षताचारां शबलिताचारचरित्रं तस्मात्स्थानात् आलोच्य प्रतिक्राम्य प्रायश्चित्तं प्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचयितुं वा उपस्थापयितुं वा सभोक्तुं वा संवस्तुं वा तस्या इत्वरां दिशमाचार्यैकरूपमनुदिशमुपाध्यायलक्षणां च उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ता च निर्ग्रन्थ्यः सांभोगिक्यो वा नेच्छेयुस्तर्हि (सेहिमेव नियं ठाणं) निजमात्मीयं स्थानं प्रतिगमयतामपि तां परित्यजतामपीति भावः। निर्दोषस्त्वा प्रति सिद्धिरेव न कश्चनापि दोष इति सूत्र संक्षेपार्थः । (२-३)

सम्प्रति भाष्यविस्तरः–

संविग्गाणुवसंती, आभीरी दिक्खिया य इतरेहिं ।
तस्साऽऽरंभं दट्ठुं, विपरिणमति–तरे व दिट्ठा उ ॥३६॥

काचित् आभीरी संविग्नाना समीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्ता । ते च संविग्ना अन्यत्र विहृता । इतरे असंविग्नाः समागताः । तैः सा आभीरी दीक्षिता । तेषां च असंविग्नानामारम्भं रन्धनादिकं दृष्ट्वा सा विपरिणमति । विपरिणामे च तस्या अभिप्रायो जातस्तेषामेव संविग्नानां समीपमुपगच्छामि । एवं चिन्तयन्त्या यथा ते इतरे संविग्ना. स्नानादिसमवसरणे दृष्टा. श्रुता वा । यथा अमुकस्थाने तिष्ठन्ति ॥३६॥

तह चेव अब्भुवगया, जह छट्ठुदेसे वण्णिया पुव्वं ।
अविभज्जंताणं पि य, दंमो तह चेव पुव्वुत्तो ॥३७॥

सा तत्र गता यत्र ते संविग्ना गत्वा श्रुत्वा च ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षामन्यमाचार्यमन्यमुपाध्यायमन्यां च प्रवर्तिनीं यावते एवमुक्ते यथैव षष्ठोद्देशे–चतुर्थी "मग्गए सिक्खं" मित्यर्थ. पूर्वं वर्णिता, तथैव एवामविसंविग्नैरभ्युपगता । यथा विसर्जयतां प्रवर्तिन्युपाध्यायाचार्याणां पूर्वं च दु प्रायश्चित्तदण्डस्तथैवात्रापि द्रष्टव्य ॥३७॥

तं पुण संविग्गमणं, तस्साऽऽणीयं तु जइ न इच्छेज्जा ।
नियगा तो संजईउ, ममकाराईहिं कज्जेहिं ॥ ३८ ॥

तां पुन संविग्नमानसां तत्रानीतां यदि निजका संयत्यो ममकारादिभि कार्यैर्नेच्छेयु ॥३८॥

तान्येव 'ममकारादीनि' कारणान्याह–

पासत्थममत्तेणं, पगती निस्सा अचक्खुकंता य ।
गुरुगणतत्थीयस्स व, नेच्छंती पासिसिप्फीतो ॥ ३९ ॥
ओमाए नो काहिति, सिंखलबद्धा व ततो सव्वातो ।
मा होहिइ सागरिय, सीयति व उज्जुय नेच्छे ॥४०॥

यस्या सा शिष्या तया सह तासां मैत्री ततो मा ते पार्श्वस्थाः अस्माकमुपरि मन्यु कार्षीरिति, पार्श्वस्थममत्वेन नेच्छन्ति । अथ वा सा कर्मानुभावत प्रकृत्या प्राय. सर्वजनस्यापि द्वेष्या। यदि वा पूर्वभवानुभावत एकस्या प्रवर्तिन्या अचक्षुकान्ता । अथ वा सा प्रवर्तिनी आत्मीयस्याचार्यस्य विषये केनाऽपि कारणेन कुपिता वर्तते, यदि वा गणस्य गच्छस्योपरि, एतच्चाचार्यो न जानाति । यद्वा तस्या संयत्या यो निजवर्गस्तस्य विषये प्रवर्तिन्या. प्रतिसिद्धिः प्रतिस्पर्द्धता विद्यते ॥३९॥ अथ वा ताः सर्वा अपि संयत्य शृङ्खलाबद्धा. परस्पर स्वजना ततो नोऽस्माकमपमानमेषा करिष्यति । तस्मान्मा सागारिकं भवतु । यदि वा ता. सीदन्ति तच्चाऽऽचार्यो न जानन्ति । सा च धर्मश्रद्धया पार्श्वस्थाविग्रहायान्यत्र समागता साऽस्माक सागारिकीतिकारणैस्तामुद्यतामपि नेच्छन्ति ॥ ४० ॥

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह–

भणिय वसभाभिसेए, आयरिय कुले गणेण संघेण ।
लहुगादि जाव मूलं, अण्णेसि गणो य दायव्वो ॥४१॥
एव पुव्वगमेणं, विगिंचणं जाव होइ सव्वासिं ।
देवगण माणुसीणं, अमणुस्स चउण्हमेगयर ॥४२॥

वृषभैरानीतां यदि पूर्वकारणैस्ता नेच्छन्ति तदा गण प्रायश्चित्त चतुर्लघु । अभिषेक उपाध्यायस्तेन ताः संयत्यो भणनाय प्रतीच्छते मा संयतीति तथापि चेन्नेच्छति चतुर्गुरु । एवमाचार्येणापि भणनेऽनिच्छायां षड् लघु । कुलेन षड् गुरु, गणेन छेद । सङ्घेन मूलम् । तथाचाह–लघुकादि चतुर्लघ्वादि प्रायश्चित्तं क्रमेण तावत् द्रष्टव्य यावन्मूलं सङ्घभणनेऽप्यनिच्छायां प्रवर्तिन्या गणोऽपह्रियते अन्यस्या गणो दातव्य । अथ सा प्रवर्तिनी ममत्वेन गण नेच्छति तर्ह्यन्यस्या दीयते ॥ ४१ ॥ एवं पूर्वगमेन (विगिंचण) परित्यजन, तावत् द्रष्टव्यम् यावत् सर्वासामपि भवति । ततो यस्तस्याचार्यस्य द्वितीयो गच्छ तत्र नीयते । तत्राऽपि यदि तथैव ता नेच्छन्ति । ततोऽन्यगच्छसत्काः साम्भोगिक्य. संयत्यस्तासां दीयते । ता अपि यदि नेच्छेयुस्तर्हि अन्यसाम्भोगिकाना दीयते । तथा चाह—अन्यासा मनोज्ञानाममनोज्ञानां च सर्वसंख्यया चतसृणामेकतर स्थानं ददाति । तत्र प्रथम स्थानमात्मीया संयत्य. द्वितीय गच्छवर्तिन्य । तृतीयमन्या. साम्भोगिक्य. । चतुर्थममनोज्ञा । अथ वा अन्यथा चतुर्णामेकतरमिति व्याख्यायते ॥ ४२ ॥

समणुण्णमणुण्णाणं, संजय तह संजतीण चउरो य ।
पासत्थममत्तादि व, अप्पाणादि व जे चउरो ॥४३॥

समनोज्ञाना संयतानां समुदाय एक स्थानम् । समनोज्ञानां संयतीनां चतुर्थम् । एवमेतानि चत्वारि स्थानानि । एतेषामेकतरं समनोज्ञसंयतीनामात्मतृतीयानाम्, द्वितीयं गच्छवर्त्तिनीनामन्यगच्छवर्तिनीनां वा स्थानं दीयते । तदभावे अमनोज्ञसंयतीनामपि । अथ वा–पार्श्वस्थममत्व, प्रकृत्या सर्वजनद्वेष्या प्रवर्तिन्या

वा,अथवा लुब्धकान्तो,गुर्वादिप्रतिस्पर्द्धता,वा प्रवर्त्तिन्या एतानि यो-नि चत्वारि कारणानि एतेषामेकतरत्कारणमधिकृत्यान्यसांभोगिकीनामसांभोगिकीना च दीयते । अथ वा अध्वनिर्गतादिका, दुहितर वा स्मरन्ती, परचक्रागमनेन देशभङ्गे वा, शिक्षां वा मृगयमाणा । एता याः चतस्रस्तासामेकतरामन्यसाम्भोगिकीनां दातव्या ॥४४॥

यद्यन्यसाम्भोगिक्योऽपि नेच्छन्ति तदा किं कर्त्तव्यम् ? इति आह-

'सेहि त्ति नियं ठाणं,' एवं सुत्तंमि जं तु भणियमिणं ।
एवं कयप्पयत्ता, ताहे य ताउ ते सुद्धा ॥४५॥

एवमसाम्भोगिकीनामप्यनिच्छायां यत्सूत्रे भणित (सेहिमेव निय ठाणमिति) तत्कर्तव्यमस्यायमर्थ एव कृतप्रयत्ना अपि यदा सयत्यो नेच्छन्ति तदा ते तां मुञ्चन्तोऽपि शुद्धा ॥४५॥ व्य० ६उ०।

खर-क्षर-न० । क्षरति स्यन्दते मुञ्चति वा अच् । जले,मेघे, पुं० चले, त्रि० । देहे, वाच० । आ० म० ।

खर-पुं० । ख मुखबिलमतिशयेनास्ति अस्य खरः । गर्द्दभे,वाच० । व्य० । जी० । औ० । विष्ठाभक्षकगर्द्दभे, तं० । अश्वतरे, राक्षसभेदे, कण्टकवृते, अजयकाके, अजयपालकङ्कविहगे, कुररपक्षिणि, घर्मे, वाच० । दासे, बृ० २ उ० । स्तब्धतादिकारणे दृषदादिगते चतुर्थे स्पर्शे, कर्म० १ कर्म० । निष्ठुरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । कठिने, आव० ५ अ० । परुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । खरस्थानरूपे गेयदोषे, " केसी गायइ खरं च रुक्ख च " स्था० ७ ठा० ।

खरंट-खरण्ट-न० । खरण्टयति लेपवन्तं करोतीति यत् तत् खरण्टम् । अशुच्यादौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरंटण-खरण्टन-न० । निर्भर्त्सने, व्य० १ उ० । प्रवचनोपदेशपूर्वक परुषभणने, ओघ० ।

खरंटसमाण-खरण्टसमान-पुं० । अशुच्यादितुल्ये श्रमणोपासके,यो हि कुबोधापनयनप्रवृत्त ससर्गमात्रादेव दूषणवन्तं करोति । कुबोधकुशीलता दु.प्रसिद्धिजनकत्वेनोत्सूत्रप्ररूपकोऽयमित्यसद्दूषणोद्भावकत्वेन चेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरकंट-खरकण्ट-न० । खरा निरन्तरा निष्ठुरा वा कण्टका यस्मिंस्तत्खरकण्टम् । बब्बूलादिडाले, ' खरणमिति ' लोके यदुच्यते । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

खरकंटसमाण-खरकण्टसमान-पुं० । खरकण्टं खरणं तत्र विलग्नं चीवर न केवलमविनाशित न मुञ्चति अपि तु तद्विमोचकपुरुषादिहस्तादिषु कण्टकैर्विध्यति तत्समान । श्रमणोपासकभेदे, यो हि प्रज्ञाप्यमानो न केवल साग्रहात्र जहाति । अपि तु प्रज्ञापक दुर्वचनकण्टकैर्विध्यति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

खरकम्म-खरकाण्ड-न० । खरं कठिन काण्डम् । रत्नप्रभायाः प्रथमे काण्डे, जी० ।

तच्च षोडशविधम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे कतिविधे पण्णत्ते? । गोयमा ! सोलसविधे पण्णत्ते तं जहा-रयणकंडे,वइरे, वेरुलिए, लोहितक्खे, मसारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोइंधिए, जोतिरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयते, जातरूवे, अंके, फलिहे, रिट्ठे कंडे । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे कतिविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते । एवं० जाव रिट्ठे कंडे ॥

"इमीसे णं भंते ! " इत्यादि । अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! षोडशविध षोडशविभागं प्रज्ञप्तं तद्यथा-'रयणे' इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् रत्नकाण्डम तच्च प्रथम, द्वितीय वज्रकाण्ड, तृतीयं वैडूर्यकाण्डं, चतुर्थं लोहिताक्षकाण्ड, पञ्चम मसारगल्लकाण्डं, षष्ठं हंसगर्भकाण्डं,सप्तम पुलककाण्डम्,अष्टमं सौगन्धिककाण्डं, नवम ज्योतीरसकाण्डं, दशममञ्जनककाण्डम्, एकादशम अञ्जनपुलककाण्डं, द्वादशं रजतकाण्ड, त्रयोदश जातरूपकाण्डं, चतुर्दशम अङ्ककाण्डं, पञ्चदश स्फटिककाण्डं, षोडशं रिष्टकाण्ड, तत्र रत्नानि कर्केतनादीनि तत्प्रधानं काण्डं रत्नकाण्डं वज्ररत्नप्रधान काण्डं वज्रकाण्डम् एव शेषाण्यपि एकैक च काण्डं योजनसहस्रबाहुल्यम् । जी० ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! सोलसजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

" इमीसे णं भंते ! " इत्यादि । अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः संबन्धि यद् प्रथमं खरं खराभिधान काण्डं तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तं भगवानाह-गौतम ! षोडशयोजनसहस्राणि ॥ जी० ।

रत्नादिकाण्डबाहुल्यम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! एक्कजोयणसहस्सबाहल्लेणं पण्णत्ते । एवं० जावरिट्ठे ।

" इमीसे णं भंते ! " इत्यादि । अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नं रत्नाभिधानं काण्डम तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तं भगवानाह-गौतम ! एकं योजनसहस्रम् । शेषाण्यपि काण्डानि वक्तव्यानि यावत् रिष्टं रिष्टाभिधान काण्डम् । जी० ३ प्रति० । स० ।

(अत्र नरकावासा भुवनपतीनां भुवनानि च स्वस्थाने ज्ञेयानि)

खरकम्म-खरकर्मन्-न० । खरं कठोरं कर्म कोट्टपालमगुप्तपालनादिरूपे कर्मोपादानहेतौ भोगोपभोगव्रतस्यातिचारे, ध० २ अधि० ।

खरकंमिय-खरकर्मिक-त्रि० । आरक्षकपरिकरे यथासंभवं गृहीतागुप्ते, बृ० १ उ० । क्रूरकर्मणि, सा च " गोखरकम्मिओ अहाजइ- यो वा " आ० म० द्वि० ।

खरकर-खरकर-पुं० । खरास्तीव्रा. करा यस्य । सूर्ये, वाच० । अश्वणपाषाणभृतचर्मकोशकविशेषे, स्फुटितवंशे च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरचावकर-खरचापकर-त्रि० । निष्ठुरकोदण्डहस्ते धानुष्के, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरण-खरण-न० । बब्बूलादिडाले, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरतर-खरतर-पुं० । वैक्रमसंवत् १०८० श्रीपत्तने वादिनो जित्वा खरतरेत्याख्यं बिरुदं प्राप्तेन जिनेश्वरसूरिणा प्रवर्तिते गच्छे, आत्मप्रबोध १४१ " आसीत् तत्पादपङ्कजैकमधुकृत् श्रीवर्द्धमानाभिधः, सूरिस्तस्य जिनेश्वराख्यगणभृज्जातो विनेयोत्तमः । यः प्राप्त शिवसिद्धिपङ्क्ति (संव० १०८०) शरदि श्रीपत्तने वादिनो, जित्वा सद्बिरुदं कृती खरतरेत्याख्यां नृपादेर्मुखात् " अष्ट० ३२ अष्ट० ।

खरतिक्खनखकंडूइयविकयतणु-खरतीक्ष्णनखकण्डूयितविकृततनु-त्रि० । खरतीक्ष्णनखानां कण्डूयितेन विकृता कृतव्रणा तनुः शरीरं येषां ते । खर्ज्वादिविह्वलशरीरेषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

खरपम्ह-खरपक्ष्मन्-न० । खराणि पक्ष्माणि दशा यस्य तत् खरपक्ष्म । तीक्ष्णखरदशाके रजोहरणे, नि० चू० ५ उ० ।

खरफरुस-खरपरुष-त्रि० । खरमतिशयेन परुषं खरपरुषम् । जी० ३ प्रति० । अतिकर्कशे, प्रश्न० । अतिकठोरे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार । " खरफरुसज्झामवण्णा " खरपरुषास्पर्शतोऽतीवकठोरा ध्यामवर्णा अनुज्ज्वलवर्णा ततः कर्मधारयः । भ०७ श०६ उ० । " खरफरुसधूलिमइला " खरपरुषा अत्यन्तकठोरा धूल्या च मलिना ये वातास्ते तथा । भ० ७ श० ६ उ० ।

खरफरुसवयण-खरपरुषवचन-न० । अतिकर्कशभणिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरफासणाम-खरस्पर्शनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं खरं कर्कशं पाषाणादिवद्भवति । कर्म० १ कर्म० ।

खरबादरपुढविकाइय-खरबादरपृथिवीकायिक-पुं० । खरा नाम पृथिवीसंघातविशेषं काठिन्यविशेषं वापन्ना तदात्मका जीवा अपि खरा. ते च ते बादरपृथिवीकायिकाः अथवा खरा च सा बादरपृथ्वी सा कायः शरीरं येषां ते खरबादरपृथिवीकायास्त एव स्वार्थे कप्रत्यय. । बादरपृथिवीकायभेदेषु, प्रज्ञा० १ पाद (एतद्भेदा. 'पुढवीकाइय' शब्दे)

खरमज्झ-खरमध्य-त्रि० । कठिनान्तःकरणे, यो हि कठोरवचनजननमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते । बृ० ६ उ० ।

खरमुह-खरमुख-पुं० । अनार्यक्षेत्रविशेषे, तद्वासिनि जने च । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । सूत्र० ।

खरमुही-खरमुखी-स्त्री० । तोमहिकायां काहलायाम्, आचा० २ श्रु० २ चू० । ज्ञा० । जं० । रा० । प्रव० । आ० म० । जी० । भ० । नि० चू० । कल्प० । औ० । नपुंसकदास्यां च । व्य०६ उ० ।

खरय-खरक-त्रि० । दुष्पक्वत्वात् परिस्राविणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । खरके,चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णतो राहोश्चतुर्थे कृष्णपुद्गले, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० । तद्भेदराहौ, भ० १२ श० ६ उ० । दासे,बृ० ३ उ० । मध्यमग्रामवास्तव्यसिद्धार्थवणिङ्मित्रे स्वनामख्याते वैद्ये, आ० म० द्वि० । येन महावीरस्वामिनः कर्णयो. कष्टशलाका निर्हारिता । आ० चू० १ अ० ।

खरयर-खरतर-' खरतर ' शब्दार्थे ।

खरवाय-खरवात-पुं० । मन्दरस्यापि चालनासमर्थे, तीव्रवायौ, आ० म० द्वि० ।

खरसद्द-खरशब्द-पुं० । खरः उग्रः शब्दोऽस्य । कुररखगे,गर्दभशब्दे, वाच० । व्य० ७ उ० ।

खरस्सर-खरस्वर-पुं० । चतुर्दशे परमाऽधार्मिके, यो वज्रकण्टकाकुलशाल्मलिवृक्षमारोप्य नारकं खरस्वरं कुर्वन्तं कुर्वन्नाऽऽकर्षत्यसौ खरस्वर. । भ० ३ श० ६ उ० । प्रव० । स० । आ० चू० ॥

> कप्पेंति करकरएहिं,तत्थिंति परोप्परं प्र(?) परहिं ति ।
> सिंबलितमारुहंतो, खरस्सरा तत्थ णेरइए ॥ ८३ ॥

"कप्पेंति" इत्यादि खरस्वराख्यास्तु परमाधार्मिका नरकानेवं कदर्थयन्ति । तद्यथा-क्रकचपातैर्मध्यं मध्येन स्तम्भमिव तान् पातानुसारेण कल्पयन्ति पाटयन्ति । तथा परशुभिश्च तानेव नारकान् परस्परमन्योन्य तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति । तथा शाल्मलीं वज्रमयतीक्ष्णकण्टकाकुलां खरस्वरैरारटन्तो नारकानारोहयन्ति पुनराकृष्टानाकर्षयन्तीति ॥ ८३ ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

खरा-खरा-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

खरामरिस-खरामर्श (र्ष)-पुं० । कर्कशस्पर्शे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार ।

खरावट्ट-खरावर्त्त-पुं० । खरो निष्ठुरोऽतिवेगतया पातक. छेदको वा आवर्त्तनमावर्त. समुद्रादेश्चक्रविशेषाणां च निष्ठुरे आवर्ते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

खरिंसुक-खरिंशुक-पुं० । कन्दभेदे, ध० २ अधि० ।

खरिया-खरिका-स्त्री० । चूर्णाकृतिकस्तूरीभेदे, वाच० । दास्याम्, । बृ० ३ उ० । द्रष्टृकरिकाया कर्मकर्यां च । ओघ० ।

खरुट्ठी-खरोष्ठी-स्त्री० । ब्राह्म्या. लिपेश्चतुर्थे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

खल-खल-पुं० । न० । खल-अच् अर्द्धर्चादि० । धान्यमेलनपवनादि स्थण्डिले, जं० २० वक्ष० । ज्ञा० । व्य० । धान्यतुषपृथक्करणस्थाने, कल्प० ६ क्षण । स्खलनकृति, प्रति० । कुथितादिविशिष्टेऽल्पधान्यादौ, सूत्र०२ श्रु०२ अ० । धूलिराशौ, तिलादिकल्के, ' सरिसवखलो ' अत्र " खघथधभाम् " । ८ । १ । १८७ । इति हत्वं न प्रायोग्रहणात् । प्रा० १ पाद । ' खल ' इत्यत्र तु आदिभूतत्वान्न खस्य ह. । नीचे, अधमे, दुर्जने, त्रि० । खे लीयते लि-ड-सूर्ये, ख तद्वर्ण लाति ला-क-तमालवृक्षे, पुं० । प्रस्तरमये औषधमर्दनपात्रे, वाच० ।

खलइ-खलति-पुं० । स्खलन्ति केशा यस्मात्, भीमा० अपादाने, पृषो० । इन्द्रलुप्तरोगे, तद्वति, त्रि० । खल्वाटे, वाच० नदीमुत्तरन् खलतिना शिरसा । स्था० ७ ठा० ।

खलंत-स्खलत्-त्रि० । निपतति, " खलंतविब्भलगई " स्खलन्ती विह्वला चार्द्धवितर्दा गतिर्येषां ते । भ० ७ श० ६ उ० ।

खलखिल-खलखिल-त्रि० । निर्जीवे, व्य० १ उ० ।

खलगय-खलगत-त्रि० । धान्यमलनस्थानाश्रिते, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

खलजनपीला-खलजनपीडा-स्त्री० । दुर्जनकृत खेदोत्पादने, न० ।
" इक्को उ ण इह दोसो, ज जाइ खलजणस्स पीलं ति । तह वि पयट्टो इत्थ, दट्ठु सुयनाणमहत्तोसं " नयो० ।

खलण-स्खलन-न० । पुद्गलप्रतिघाते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । निपतने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

खलणा-स्खलना-स्त्री०। खरण्टनायाम्, तं० " खलना य उवघाओ सबलिकरण च एगट्ठा " ओघ०। सूत्र०।

खलदाण-खलदान-न०। कुथितादिविशिष्टस्य अल्पधान्यादेर्वा दाने, सूत्र०। कुपितस्य दाने, सूत्र०। २ श्रु० २ अ०।

खलपू-खलपू-त्रि०। खलं भूमिं पुनाति। पु०। क्विप् स्थानशोधनकारिणि, वाच०। सबोधने, " ईदूतोर्ह्रस्वः " ८। ३। ४२। इति प्राकृते ह्रस्वः हे खलपु ! प्रा० ३ पाद।

खलिअचरण-स्खलितचरण-त्रि०। स्खलितचारित्रे,व्य०४उ०।

खलिअपरिसुद्धि-स्खलितपरिशुद्धि-स्त्री०। अविचाराणामालोचनया शुद्धौ, ध० र०।

सम्प्रति स्खलितपरिशुद्धिरिति चतुर्थं श्रद्धालक्षणमाह-

अइयारमलकलंकं, पमायमाईहिँ कह वि चरणस्स।

जणियं पि वियडणाए,सोहंति मुणी विमलसद्धा।१०४।

अतिचरणमतिचारो मूलोत्तरगुणमर्यादातिक्रमः स एव डिण्डीरपिण्डपाण्डुरगुणगणमालिन्यहेतुत्वान्मल तच्चरण शशधरस्य कलङ्क इव त प्रमादादिभिः प्रमाददर्पकल्पैराकुट्टिकायाश्चारित्रिण प्रायेणासंभवात् कथमपि कण्टकाकुलमार्गे यत्नेनापि गच्छत कण्टकभङ्गवच्चरणस्य चारित्रस्य जनितमुत्पादितम्। आकुट्टिकादीनां पुन स्वरूपमिदम्।

" आउट्टिया उ तिव्वा, दप्पो पुण होइ वग्गणाईओ।
विगहाइओ पमाओ, कप्पो पुण कारणे करण " ॥

उपलक्षणं चैतद्दशविधायाः प्रतिसेवाया सा चेयम्-

" १ दप्प २ प्पमायणाभोग, ३ आउरे ४ आवईसु य ५।
संकिए ६ सहसागारे, ७ भए ८ पओसेय ९ वीमंसा" ॥१०॥

अपिशब्द सभावने सभाव्यत एतच्चारित्रिणो विकटनयाऽऽलोचनया शोधयन्त्यपनयन्ति मुनयो यतयो विमलश्रद्धा निष्कलङ्कधर्माभिलाषा शिवभद्रमुनिवत्॥ १०४॥ ध० र०।

खलिण-खलीन-न०। कविके, (लगाम)। ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। आ० म०। कायोत्सर्गदोषभेदे, " ठायइ खलिणं व जहा रयहरणमग्गओ काउ" खलिनमिव कविकमिव रजोहरणमग्रतः कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति खलीनदोष वाऽत्र समुच्चये अन्ये खलिनार्तवा जीवादूर्ध्वाध शिर कम्पन खलीनदोषमाहु। प्रव०५ द्वार। आ० चू०। आव०।

खलिय-स्खलित-त्रि०। उपलशकलाद्याकुलभूभागे,लाङ्गलमिव यत्तत्स्खलितम्। अनु०। कार्यमकृत्वा प्रपतिते, नि० ३ वर्ग। निपतिते,आव० ३ अ०। " खलिओ नेहो " प्रा० २ पाद। (स्खलितप्रायश्चित्त ' सुत्त ' शब्दे)

खलीण-खलीन-न०। 'खलिण' शब्दार्थे,

खलु-खलु-अव्य०। अवधारणे, आ० म० द्वि०। पं० सू०। नि० चू०। नि०। आ०। विशे०। दशा०। सूत्र०। पञ्चा०। स०। एवकारार्थे, दर्श०। उत्त०। सूत्र०। निश्चये, आ० चू० १ अ०। स्था०। रा०। तं०। उत्त०। पुन शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। उत्त०। विशेषणे, दश० ४ अ०। नि०चू०। नि०। सूत्र०। विपा०। वाक्यालङ्कारे,आचा० १श्रु० २ अ० ५ उ०। ज्ञा०। विपा०। कर्म०। प्रज्ञा०। ज०। स्था०। दशा०। स०। जी०। सूत्र०। उत्त०। पञ्चा०। पादपूरणे, नि० चू० १० उ०। आ०। वीप्सायाम्, निषेधे, वाच०।

खलुंक-खलुङ्क-पुं०। अविनीते गलौ, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

(निर्युक्तिरस्य) अस्य निक्षेपः-

निक्खेवो खलुंकम्मि, चउव्विहो दुविहो उ दव्वम्मि।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥२२॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य गल्लमाईसु।
पडिलोमो सव्वत्थे, स भावओ होइ खलुंको ॥२३॥

गाथाद्वय व्याख्यातप्रायमेव। नवर बलीवर्दादिषु इत्यादिशब्देनाश्वादिपरिग्रहो निर्धारणे चेयं सप्तमी, ततो बलीवर्दादिषु यो गल्यादिरिति गम्यते, स द्रव्यतः खलुक इति। प्रतिलोमः प्रतिकूलसर्वार्थेषु पाठान्तरत सर्वस्थानेषु। ज्ञानादिषु भावतो भवति खलुक इति गाथाद्वयार्थः॥ २२-२३॥

तद्व्यतिरिक्तद्रव्यखलुकस्वरूपमाह-

अवदाली उत्तसओ, जुत्तजुगं भंज तोत्तभंजो य।
उप्पहविप्पहगामी, एएँ खलुका भवे गोणा ॥२४॥
जं किर दव्वं खुज्जं, कक्कसगुरुग तहा दुरोनामं।
तं दव्वेसु खलुंक, वंककुडिल चेडमाइन्ने ॥२५॥
सुचिरं पि वंकुडाइं, होहिंति अणुज्जुइज्जमाणाइं।
करमद्दिदारुगाइं, गयंकुसाइं व विंटाइं ॥२६॥

(अवदालि त्ति) अवदारयति शकटं, स्वस्वामिन वा विनाशयत्येवंशीलोऽवदारी उत्त्रासको यो यत किंचनावलोक्य उत्त्रस्यति (जोत्तजुग भंज त्ति) योक्त्र तथाविधसयमन युग प्रतीतमेव, स भनक्ति तोत्रभञ्जश्च उभयत्र "कर्मण्यण्" ।३।२।१। इति(पाणि०)अण् उत्पथविपथगामी उत्पथ उन्मार्गो विपथो विरूपमार्गस्ताभ्यां गमनशील एतेऽवदार्यादय खलुका भवन्ति। भवेयुर्गोणा बलीवर्दा उपलक्षणत्वादश्वादयश्च॥२४॥ अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह-यदिति सामान्यनिर्देशे किलेति परोक्षाप्तवादसूचक, द्रव्य दार्वादि कुब्जमिव कुब्ज मध्यस्थूलतया कर्कशं च तत् कठिनतया गुरुक चातिनिचितपुद्गलतया कर्कशगुरुकम्। तथा तदेव तु खेनावनमयितु शक्यत इति दुरवनाम करीरकाष्ठवत् तद् द्रव्येषु खलुक वक्रमनृजुत्वात् कुटिल विशिष्ट कौटिल्ययोगात् (वेढमाइद्ध ति)मकारोऽलाक्षणिकः। ततश्च वेष्टै ग्रन्थिभिराविद्ध व्याप्त चेष्टाविद्धम्,एषां विशेषणसमास ॥२५॥ इहैव दृष्टान्तमाह-सुचिरमपि प्रभूतकालमपि(वंकुडाइ ति) वक्राण्यवधारणफलत्वाच्च वाक्यस्य वक्राण्येव भविष्यन्ति। न कदाचित्। ऋजुभावमनुभविष्यन्ति। (अणुज्जुइज्जमाणाइं ति) एक स्वरूपतोऽनृजून्यपर च तेषां क्वचित् कार्येऽनुपयोगात् केनचिद् ऋजूक्रियमाणानि। कान्येवविधान्यत्याह-करमर्दी गुल्मभेदस्तद्दारुकानि। तथा-(गयंकुसाइ व विंटाइ त्ति) चस्य गम्यमानत्वाद् गजाङ्कुशानीव वक्रतया वृन्तानि च फलबन्धनानि प्रक्रमात् करमर्द्या एवोक्तरूपाण्यनेकधा द्रव्यखलुकाभिधान च काकाऽनेकविधकुशिष्यदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमिति गाथात्रयार्थ ॥२७॥

सम्प्रति यदुक्त (२३ गाथायाम्) प्रतिलोमः सर्वार्थेषु भावतो भवति। तदभिव्यक्तीकर्तुमाह-

दंसमसगसमाणा, जलूगविच्छुगसमा य जे होंति।
ते किर होंति खलुंका, तिक्खमिऊ चंममद्दविया ॥

जे किर गुरुपडिणीया, सबला असमाहिकारगा पावा ।
कलहकरणस्सभावा, जिणवयणे ते किर खलुंका ॥२८॥
पिसुणा परोवयावी, भिन्नरहस्सा परं परिभवंति ।
निव्वेयणिज्जा सढा, जिणवयणे ते किर खलुंका ॥२९॥

(दंसमसगसमाण त्ति) दंशमशकैः समानास्तुल्या दंशमशकसमानास्ते हि आत्मानमपि तुदन्तीति, तथा जलौकावृश्चिकसमानाश्च प्रत्यापादिदुष्टा ये भवन्ति दोषभाषिताः समस्तुतपुत्र्यादिनोद्देशकतया न वर्तन्ते । (जलुगाविच्छुगसमा य त्ति) यथा वृश्चिको दुष्टो विषमि कण्टकेनैवं ये शिष्यमाणा गुरुं वचनकण्टकैर्विध्यन्ति ते वयमिवा किल भवन्ति खलुंका भावत इति गम्यते । गौरवा शय्यादिषु , मृदवो अलसतया कार्यकरणे प्रचण्डा , चपला कोपनतया, मार्दवेन वर्तन्ते अंकुशेन तदभ्यासेऽपि गुरुभिर्भिन्ना न सम्यगनुष्ठानं प्रति प्रवर्तन्ते विनयलसा एव सर्वत्र गच्छे ॥२७॥ ये च ये किल गुरुप्रत्यनीका आचार्यादिप्रतिकूलाः कुलवालकवत्, सबलाः सबलत्वादिदोषेण, असमाधिकारकाः गुर्वादीनाम् असमाधानजनकाः, अत एव पापाः अधिकरणकारकाः , कलहकरणस्वभावा स्वदनुष्ठानं प्रति प्रेरिताः गुर्वादिषु परिक्षुभ्यन्ते । जिनवचने सर्वज्ञशासने ते किल खलुंका उच्यन्त इति शेषः ॥२८॥ तथा पिशुना सूचका , अत एव (परोवयावीति) परोपतापिनः, भिन्नरहस्या विभिन्नजनपरिभिन्नरहस्यभेदिनः , तथा परमन्यं परिभवन्ति येन केनचित्प्रकारेणाभिभवन्ति । (निव्वेयणिज्ज त्ति) निर्वेदनीया निर्वेदं प्राप्ता प्रायमाप्तिहतेन । पाठान्तरतो निर्गता ममत्वाद्युपदेशाद्वाच्यात्मपदात् ये ते निर्वचनीयाः, न समुदाये, निर्गतानि, शठाः मायाविनः , पठ्यते च-" निद्धम्मिसव्वाऽस्सु " सुगमत्वेन जिनवचने सर्वज्ञशासने भणिता ये इति शेषः । ते प्रागभिहितस्वरूपाः किल खलुंका इति गाथाद्वयार्थः ॥२९॥

तत किमित्याह-

तम्हा खलुंकभावं-पयहित्ता पंडिएण पुरिसेण ।
कायव्वा होइ मई, उज्जुगसहावम्मि भावेणं ॥ ३० ॥

तस्मात् एवं दोषवत्त्वात् खलुंकभावं त्यक्त्वा, पण्डितेन बुद्धिमता पुरुषेणोपलक्षणत्वात् स्त्र्यादिना च कर्त्तव्या भवति । मतिर्बुद्धिः क्व ऋजुस्वभावे आर्जवे भावे परमार्थे न तु बहिर्वृत्त्यैवेति गाथार्थः ॥ ३० ॥ उत्त० २६ अ० ।

खलुंकदृष्टान्तेन विनीतशिष्यप्ररूपणा-

थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए ।
आइन्ने गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए ॥ १ ॥

गार्ग्यो नाम गणधरो मुनिः स्थविर आसीत् । गणस्य गच्छस्य धारकत्वाद्गणधरः, धर्मे स्थिरीकरणत्वात् स्थविरः, गर्गगोत्रोत्पन्नत्वात् गार्ग्यो, मनुते सर्वसावद्यविरमणस्य प्रतिज्ञां कुरुते इति मुनिः । कीदृशो गार्ग्यः-विशारदः सर्वशास्त्रनिपुणः । पुनः कीदृशः सः-आकीर्णः आचार्यगुणैर्व्याप्तः । पुनः कीदृशः सः-गणिभावे आचार्यत्वे स्थितः । पुनः स गार्ग्यो गणधरः समाधिं धत्ते । कुशिष्यैः त्रोटितं ज्ञानदर्शनचारित्राणां समाधिं प्रतिसंधयतीत्यर्थः ।

वहणे वहमाणस्स, कंतारं अइवत्तई ।

जोए वहमाणस्स, संसारं अइवत्तई ॥ २ ॥

यथा यथा वहने शकटादौ विनीततुरगवृषभादीन् (वहमाणस्स इति) उह्यमानस्य सारथ्यादेः (कंतारम्) अरण्यमतिवर्त्तते सम्पूर्णं जयति । तथा योगे संयमव्यापारेषु शिष्यान् वाहयतः आचार्यस्य संसारः अतिवर्तते शिष्याणां विनीतत्वं दृष्ट्वा स्वयं समाधिमान् जायते । शिष्यास्तु विनीतत्वेन स्वयं संसारमुल्लङ्घयन्ते एव, एवं उभयोर्विनीतशिष्यसदाचार्ययोर्योगः सम्यक् संसारच्छेदकर इति भावः ॥ २ ॥

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सई ।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ य से भज्जई ॥ ३ ॥

यस्तु सारथिः, खलुंकान् गलियवृषभान् योजयति रथे स्थापयति । स सारथिः (विहम्माणो इति) विशेषेण तान् खलुंकान् घ्नन् प्राजनकेन ताडयन् संक्लिश्यते संक्लेशं प्राप्नोति । अत एव असमाधिम् असाता वेदयते प्राप्नोति स पुनस्तस्य खलुकवृषभयोजयितुः, पुनरस्य तोत्रकः प्राजनको भज्यते खलुकानामतिकुट्टनात् प्राजनको भज्यते इति भावः ॥ ३ ॥

एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विंधइ अभिक्खणं ।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥ ४ ॥

पुनः खलुकवृषभस्वामी रथारोहको रुष्टः सन् तं खलुकं पुच्छे दशतीति एकम् । स एव । एकं गलिवृषभम् अभीक्ष्णं वारं २ विध्यति प्राजनकस्य आरया व्यथयति । एको गलिवृषभः समिलां युगकीलिकां भनक्ति । एकः पुनर्गलिवृषभः उत्पथमार्गे प्रस्थितो भवति ॥ ४ ॥

एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई ।
उक्कुद्दइ उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥ ५ ॥

एको गलिस्ताडितः सन् पार्श्वेन वामदक्षिणभागेन पतति । अन्यः कश्चिद्भूमौ निविशते नीचैस्तिष्ठति । एकः कश्चिन्निपद्यते स्वपिति प्रलम्बो भूत्वा शेते । एक उत्कूर्दति उच्छलति दर्दुरवत् चतुष्कालो भवति । अन्यः शठो भवति धूर्तत्वमाचरति । अन्यः कश्चिद् गलिर्बलीवर्दो बालगवीं लघिष्ठां धेनुं दृष्ट्वा तामनुव्रजति ॥ ५ ॥

माई मुद्धेण पडइ, कुद्धे गच्छइ पडिपहं ।
मयलक्खेण चिट्ठइ, वेगेण य पहावई ॥ ६ ॥

एको मायी मायावान् भूत्वा मस्तकं भूमौ निक्षिप्य पतति । एकः कश्चित् क्रुद्धः सन् प्रतिपथं प्रतिकूलः पन्थाः प्रतिपथस्तं प्रतिपथम् अग्रेतनमार्गं त्यक्त्वा पश्चान्मार्गं गच्छति । एकः कश्चित् मृतलक्ष्येण तिष्ठति मृतस्य लक्षणं कृत्वा तिष्ठति निश्चेष्टो भूत्वा पततीत्यर्थः । यदा च पुनः कथञ्चित् सज्जीकृत्य उत्थापितस्तदा वेगेन प्रधावति, अनया रीत्या धावति यथा पश्चात्स्वामी ग्रहीतुं न शक्नोति ॥ ६ ॥

छिन्नाले छिंदई सेल्लिं, दुद्दन्ते भंजई जुगं ।
से वि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जुहित्ता पलायई ॥ ७ ॥

एकश्छिन्नालो दुष्टजातीयः कश्चित् (सेल्लि इति) रश्मिं बन्धनरज्जुं छिनत्ति बलात् त्रोटयति । अन्यो दुर्दान्तो दमितुमशक्यो युगं जूसरं भनक्ति । (से वि य इति) स च दुष्टो बलीवर्दः सुतराम् अतिशयेन फूत्कृत्य अत्यन्तफूत्कारं कृत्वा सत्प्राबल्येन (उज्जुहि-

सा इति) स्वस्वामिन शकटम् उन्मार्गे ज्ञात्वा कुत्रचिद्विषमप्रदेशे भङ्क्त्वा स्वय पलायते ॥ ७ ॥

खलुका जारिसा जोज्जा, दुस्सीमा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जंती धिइदुब्बला ॥ ८ ॥

गार्ग्यनामा आचार्य एव वदति -भो मुनयो ! यथा लोके खलुका अत्र उक्तलक्षणा गलिवृषभा' योज्या' रथस्याग्रे धुरि यो तकृता सन्तो यादृशा भवन्ति । रथारोहकस्य असमाधिकक्लेशकरा भवन्ति । 'हु' इति निश्चयेन,आचार्यस्यापि दुःशिष्या दुष्टाः शिष्या विनयरहिताः कुशिष्यास्तादृशा भवन्ति । धर्मयाने मुक्तिनगरप्रापकत्वेन सयमरथे योजिता व्यापारिता भज्यन्ते सयमक्रियानुष्ठानात् स्खलन्ते । सम्यग् न प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः । कीदृशास्ते धृतिदुर्बला निर्बलचित्ता धर्मे दुःस्थिरा इत्यर्थः ।८।

इड्ढिगारवए एगे, एगेत्थ रसगारवे ।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥ ९ ॥
भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए ।
एग च अणुसासम्मी, हेउहिं कारणेहि य ॥ १० ॥

एकः कश्चित् ऋद्धिगौरविकः ऋद्ध्या गौरवमस्यास्तीति ऋद्धिगौरविको मम श्राद्धा आढ्या , मम श्राद्धाः वश्या , मम उपकरण वस्त्रपात्रादिमसमीचीनम् इत्यादि आत्मान बहुमानरूप मनुते स ऋद्धिगौरविक उच्यते एतादृशो गुर्वादेशे न प्रवर्त्तते । एक कश्चित् पुनरत्र रसगौरविक आहारादिषु रसलोलुप एतादृशो हि ग्लानाद्याहारदानतपसे न प्रवर्त्तते । एकः कश्चित् कुशिष्य॰ सातागौरविको भवति साताया गौरवे भवः सातागौरविक एतादृशो हि विहार कर्तुं न शक्नोति । एकः कश्चित् कुशिष्यः सुचिरक्रोधन चिर क्रोधकरणशील॰ एतादृशो हि तप क्रियानुष्ठानकरणे योग्यो न भवति ॥ ६ ॥ एकः कश्चित् भिक्षालसिक॰ भिक्षायामालस्ययुक्त एतादृशो हि गोचरीपरीषहसहनयोग्यो न भवति । एकः कश्चिदपमानभीरुर्भवति अपमानात् भीरु अपमानभीरु एतादृशो हि कस्यचिद् गृहे न प्रविशति । एक कश्चित् स्तब्धोऽहङ्कारी भवति एतादृशो निजकुग्रहात् विनय कर्तुं न शक्नोति । च पुन एक कुशिष्य प्रतिशिक्षादाने आचार्यः एव विचारयति-हेतुभि कारणै॰ अहमेन कुशिष्यमनुशास्मि कथम् । इति अध्याहार कथ शिक्षयिष्यामि आचार्य इति चिन्तापरो भवति इति भाव ॥ १० ॥ युग्मम् ।

सो वि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई ।
आयरियाणं तं वयणं, पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥ ११ ॥

सोऽपि कुशिष्य आचार्येण शिक्षित सन् अन्तरभाषावान् पुनर्दोषमेव अपराधमेव प्रकरोति आचार्यस्य शिक्षायां दोषमेव प्रकाशयति अपगुणग्राही भवतीत्यर्थ । पुन स कुशिष्य॰ आचार्याणां यद्वचन तद्वचन वार वार प्रतिकूलयति सम्मुख जल्पति । यदा आचार्या किञ्चित् शिक्षावचन वदन्ति तदा अभीक्ष्ण मुहुरेव वदति-किं मा यूय वदत यूयमेव किं न कुरुत इत्यर्थ ॥ ११ ॥

न सा मम वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई ।
निग्गया होहि सा मन्ने, साहु अन्नोत्थ वच्चओ ॥१२॥

तदा आचार्य किञ्चित् कुशिष्य प्रति वदति-भो ! शिष्य ! अमुकस्य गृहस्थस्य गृहात् मह्यमाहाराद्यानीय देहि । तदा स कुशिष्यो वदति-सा श्राद्धी (मम इति) मां न विजानीते मां न उपलक्षयति सा श्राद्धी मह्यमाहारादिक न दास्यति । अथवा स गुरुं प्रति एव वदति-हे गुरो ! अहमेव मन्ये सा श्राद्धी निर्गता भविष्यति स्वगृहादपरत्र इदानीं गता भविष्यति । अथवा-अन्यः साधु॰ अस्मिन् कार्ये व्रजतु, अहं न व्रजामि इत्यर्थः ॥ १२ ॥

पेसिया पलिउंचिंति, ते पलियन्ति समंतओ ।
रायवेट्ठिं व मन्नंता, करिंति भिउडिं मुहे ॥ १३ ॥

पुनस्ते कुशिष्या आचार्येण कुत्रचित् गृहस्थगृहे आहाराद्यर्थे गृहस्थस्य आकारणाय वा प्रेषिता॰ सन्तः (पलिउंचिंति) अपह्नुवन्ति । वय भवद्भिः कुत्र मुक्ता अस्माक न स्मरसि । अथ वा मिष्टाहारादिक गोपयन्ति । अथवा उक्त कार्यं न निष्पादयन्ति । अनुत्पादितमपि उत्पादितमिति वदन्ति । उत्पादित च अनुत्पादितं वदन्ति । अथवा यत्र भवद्भिर्वय प्रेषिता॰ स गृही न कश्चित् दृष्टः इति पृष्टा॰ सन्तः अपलपन्ति । पुनस्ते कुशिष्या॰ समन्ततः सर्वासु दिक्षु परियन्ति पर्यटन्ति । गुरुपार्श्वे कदाचिन्न आयान्ति न उपविशन्ति कदाचिद्वय गुरूणां पार्श्वे स्थास्यामस्तदाऽस्माक किञ्चित्कार्यं कथयिष्यन्ति इति मत्वा अन्यत्र भ्रमन्तिइति भाव । कदाचित्कस्मिन् कार्ये गुरुभिः प्रेषितास्तदा राजवेष्टिम् इव मन्यमानास्तत्कार्यं कुर्वन्ति, नृपस्य वेष्टि (राजभृतिः) पतिता इति जानतो मुखे भृकुटीं भ्रूभङ्गरचनां कुर्वन्ति । अन्यामपि ईर्ष्यासूचिकां चेष्टा कुर्वन्तीति भावः ॥१३॥

वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया ।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं ॥ १४ ॥

पुनस्ते कुशिष्या॰ गुरुभिर्वाचिता॰ सूत्रं ग्राहिता॰ शास्त्राभ्यासं कारयित्वा पण्डिता' कृता , पुन' सगृहीता' सम्यक् स्वनिश्रायां रक्षिता', पुनर्भक्तपानै पोषिता॰ पुष्टिं नीताः, चकारात् दीक्षिता' स्वयमेव उपस्थापिताः, पश्चात् ते कार्ये सते दिशो दिशि प्रक्रमन्ति यथेच्छ विहरन्ति,ते कुशिष्या' के ? यथा-जातपक्षा॰ हंसा' यथा जाता पक्षास्तनूरुहाणि येषा ते जातपक्षाः हंसा इव यथा उत्पन्नपक्षा हसाः स्वजननीं जनक च त्यक्त्वा दशसु दिक्षु व्रजन्ति । तथा ते कुशिष्या॰ अपि इति भावः ॥१४॥

अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समं गओ ।
किं ? मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१५॥

अथाऽनन्तर सारथिर्गर्गाचार्यो धर्मयानस्य प्रेरक चेतसि चिन्तयति । खलुकैर्गलिवृषभसदृशै कुशिष्यै सम गतः सहितः किंचिन्तयति?-पभिर्दुष्टशिष्यै प्रेरितै॰ सद्भि' (किं मज्झ इति) किम् ऐहिकामुष्मिकफल वा मम प्रयोजन सिद्ध्यति । दुष्टशिष्यैः प्रेरितै॰ केवल मे मम आत्मा एव अवसीदति । तेषा प्रेरणात् स्वकृत्यहानिरेव भविष्यति नान्यत्किमपि फल तत् एतेषां कुशिष्याणां त्यागेन मया उद्यतविहारिणा एव भाव्यमिति चिन्तयति ॥ १५ ॥

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा ।
गलिगद्दहे चइत्ता णं, दढ परिगिण्हई तवं ॥ १६ ॥

पुनः स आचार्यश्चिन्तयति—यादृशाः मम शिष्या सन्ति तादृशा गलिगर्दभा भवन्ति । अत्र गलिगर्दभदृष्टान्तेन शिष्याणामत्यन्तनिन्दा सूचिता । तत गर्गाचार्यो गलिगर्दभसदृशान्

कुशिष्यान् त्यक्त्वा दृढं यया स्यात्तथा तपो बाह्यमाभ्यन्तरं च प्रगृह्णाति प्रकर्षेणाङ्गीकरोति । तुशब्दः पादपूरणे यदा एतान् कुशिष्यान् अहं न त्यक्ष्यामि तदा मदीय काल. क्लेशेन एव प्रयास्यतीति आचार्यो विचारयति ॥ १६ ॥

मिउमद्दवसंपन्ने, गम्भीरे सुसमाहिए ।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणो त्ति बेमि ॥१७॥

स गार्ग्य आचार्यस्तदा ईदृश. सन् महीं पृथिवीं ग्रामानुग्रामं विहरति, कीदृश स.? मृदुर्बहिर्वृत्त्या विनयवान्, पुन' कीदृश ?। मार्दवसंपन्न. अन्त.करणेऽपि कोमलतायुक्तः, पुन. कीदृशः ?। गम्भीर. अलब्धमध्यः । पुन कीदृश.? सुसमाहितः सुतरामतिशयेन समाधिसहित । पुन. कीदृशः ?। शीलभूतेन आत्मना उपलक्षित , शील चारित्र भूतः प्राप्तो य. स शीलभूत. तेन शीलभूतेन शीलयुक्तेनाऽऽत्मना सहित. यतो हि खलुंकत्व कुशिष्यत्व तत्तु अविनीतत्व तच्च स्वस्य गुरोश्च दोषहेतुरस्ति। अतः अविनीतत्व त्यक्त्वा विनीतत्वमङ्गीकर्तव्यमिति भावः ॥ १७ ॥ इति अहं ब्रवीमि इति श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिन प्राह ।

खलुंकिज्ज-खलुकीय-न० । सप्तविंशे उत्तराध्ययने, स० २६ सम० । (निर्युक्तिरनुपदमेव ' खलुंक ' शब्दे उक्ता)

खलुखित्त-खलुक्षेत्र-न० । यत्र किमपि प्रायोग्यं लभ्यते-तस्मिन्, व्य० ७ उ० ।

खलुय-खलुक-पु० । पादमणिबन्धे, । विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

खल्लग-खल्लक-पु० । पादत्राणे चर्मणि, तानि च विचर्चिकावातेन स्फुटितपादै. धार्याणि । ध० ३ अधि० ।

खल्लाम-खल्वाट-पु० । खल क्विप् त वटते वेष्टयते । अण् उप० स० वाच० । " ईस्त्यानखल्वाटे " ८ । १ । ७४ इति आत ईत्वम् । प्रा० १ पाद । आर्षे तु क्वचिदात्वम । न० । इन्द्रलुप्तरोगे, तद्रोगवति, त्रि० । वाच० । " सो य खल्लामो तस्स उण्हे तडज्जइ " आ० म० द्वि० । "एक्को खल्लाडो तवोलियवाणियओ परिणिविक्केति" । नि० चू २० उ० । "तसुदइवेणविमुमिअउंजसु खल्लिहडउ सीसु" इत्यपभ्रंश. । प्रा० ४ पाद ।

खल्ली-खल्ली-स्त्री० । खलति रोगवत्यां शिरस्तटयाम, खल्वाटस्तत: तस्योपरिष्टादुष्णेन दह्यते खल्ली । विशे० । आ० चू० ।

खल्लीम-खल्वाट-पु० । खल्लाडशब्दार्थे,

खल्लूड-खल्लूट-पु० । कन्दभेदे, प्रव० ४ द्वार । ध० । प्रज्ञा० ।

खवइत्ता-क्षपयित्वा-अव्य० । अतिवाह्येत्यर्थे, " तिन्नि कम्मसे अणुपुव्वेण खवइत्ता " भ० १५ श० १ उ० ।

खवग-क्षपक-पु० । पापं क्षपयति, द्वा० २७ द्वा० । प्रवचनप्रभावके, दश०२ अ० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, कल्प० ३ क्षण । क्षपकश्रेण्यन्तर्गते अपूर्वकरणादिक्षीणमोहपर्यन्ते, पञ्चा०५ विव० । क्षपका. क्षपकश्रेण्यन्तर्गता' अपूर्वकरणानि वृत्तिबादरसूक्ष्मसपराया' । पञ्चा०५ विव० । क्षपकश्रेण्यारूढो निवृत्तिबादरसूक्ष्मसपरायश्च निगद्यते-कर्म०५ कर्म० क्षपकश्रेणौ, कल्प० ८ क्षण। तस्य तिर्यगानुपूर्वीनामक्षपणप्रतिपादनेनोक्तार्थत्वात् । आव० । तत्क्षपयति । सर्वमिदमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणेति । आव० १ अ० ।

खवगसेढि-क्षपकश्रेणि-स्त्री० । क्षपणक्रमे, भ० ९ श० ३१ उ०

सा चेत्थम्-

अण-मिच्छ-मीस-संमं, अट्ठ नपुंसि त्थिवये छक्कं च ।
पुममेयं च खवेई, कोहाईए य संजलणे ॥१३१३॥

इह-('उपशमश्रेणिन्यायेन' आव०१ अ०) क्षपकश्रेणि-(प्रस्थापकः सोऽवश्य मनुष्यो वर्षाष्टकाच्चोपरि वर्त्तमान. । आ० म० प्र०)-अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयतानामन्यतम उत्तमसंहनन. प्रशस्तध्यानोपगतमानस प्रतिपद्यते, यदुक्त क्षपकश्रेणिप्रक्रमे-(एकस्मिन्नप्यन्तर्मुहूर्त्ते लघुतराणामसख्येयानामन्तर्मुहूर्तानां भावात । आ०म० प्र० ।) विशेषावश्यके-"पडिवत्तीए अविरय-देसपमत्तापमत्तविरयाणं । अन्नयरो पडिवज्जइ,सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥१३१४॥" तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि एतां प्रतिपद्यते। शेषास्तु अविरतादयो धर्मध्यानोपगता एवेति।

क्षपणाक्रमश्चायम्-

प्रथममन्तर्मुहूर्तेनानन्तानुबन्धिनः क्रोधादीन् चतुरो युगपत क्षपयति । तदनन्तभाग तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तेन स मिथ्यात्व क्षपयति । तस्याप्यनन्तभाग सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तदपि सविशेष क्षपयति। आह-किं पुनः कारण सविशेष क्षपयति? इति। उच्यते-यथा खलु अतिसभृतो दावानल. अर्द्धदग्धेन्धन एव इन्धनान्तरमासाद्य उभयमपि दहति । एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् प्राक्तने कर्मण्यल्पशेषित एवापर क्षपयितुमारभते,एव सम्यग्मिथ्यात्वस्यावशेष सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य तेन सम्यक्त्वं निरवशेषमेव क्षपयति। तदाह चूर्णिकृत्- "जसेस तं समत्ते छुभित्ता निरवसेसं खवेइ त्ति" एतच्च बद्धायुष्कापेक्ष समाख्यते। आवश्यकादौ तमेवाधिकृत्य सम्यक्त्वनिरवशेषक्षपणस्योक्तत्वात, इह च यदि बद्धायु. प्रतिपद्यते अनन्तानुबन्धिक्षये च (मरणसभवतो, आ० म० प्र० । आव० ।) व्युपरमति । ततो मिथ्यादर्शनोदयतस्तान् पुनरप्यनुचिनोति मिथ्यात्वे तद्बीजसभवात् क्षीणमिथ्यात्वस्तु नोपचिनोति । मूलाभावात्। तदवस्थश्च मृतोऽवश्यमेव त्रिदशेषूपपद्यते,क्षीणदर्शनसप्तकोऽप्रतिपतितपरिणामो म्रियमाण. सुरगतावेवोपपद्यते। प्रतिपतितपरिणामस्तु नानामतित्वात सर्वगतिभाग्भवति। तथा चोक्त (विशेषावश्यके)-

" बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥ १३१६ ॥
तम्मि मओ जाइ दिवं,तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामईगइओ " ॥ १३१७ ॥

स च यदि बद्धायु प्रतिपद्यते-(स च सम्यग्दर्शनमशेषमेव क्षपयति। आव० १ अ० ।) ततो नियमाद्दर्शनसप्तके क्षीणे सति उपरमति। अबद्धायुष्क. पुनरनुपरत एव समस्तां श्रेणिं समापयति । स च स्वल्पसम्यग्दर्शनावशेष एवाऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टक क्षपयितु युगपदारभते । एतेषां च अर्द्धक्षपितेषु,आ०म० प्र० ।)सख्येयतम भाग क्षपयन्नेता षोडश(सप्तदश आव० १ अ०) कर्म प्रकृती क्षपयति । तद्यथा-नैरयिकगतिनाम, तिर्यग्गतिनाम, एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, नरकानुपूर्वीनाम तिर्यगानुपूर्वीनामेति, अप्रशस्तविहायोगतिनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम, निद्रानिद्रां, प्रचलाप्रचलां, स्त्यानर्द्धिनामेति । अधिकम्-आतपनाम, उद्योतनाम, ततोऽष्टानां कषायाणामविशेष क्षपयति । ततो नपुसकवेद, तत. स्त्रीवेद, ततो हास्यादिषट्क , ततः पुरुषवेद त्रिधा कृत्वा खण्डद्वय युगपत क्षपयति, तृतीय तु खण्ड सज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति पुरुषे प्रतिपत्तर्यय क्रम. । स्त्रीनपुसकयो' प्रतिपत्त्रो-

रुपशमश्रेणिन्यायो वक्तव्यः । क्रोधादींश्च संज्वलनान् प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तेनानेनैव खण्डत्रयरचनान्यायेन क्षपयति। श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव द्रष्टव्यः। केवलं बृहत्तरमत्रान्तर्मुहूर्तम्। अन्तर्मुहूर्तानामसंख्येयभेदात् लोभचरमखण्डं तु सख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथग् पृथक् कालभेदेन क्षपयति । चरमसंख्येयखण्डं पुनरसख्येयानि खण्डानि करोति। तान्यपि समये समये एकैकं क्षपयति। इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादरसंपरायः (उच्यते-आव०)तत ऊर्द्धमनिवृत्तिबादरसंपरायो,यावत् संज्वलनलोभस्य द्विचरम सख्येयखण्डं चरमसख्येयं खण्डस्य पुनरसख्येयानि खण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसंपराय उच्यते। तत ऊर्द्ध क्षीणमोहछद्मस्थवीतरागो यथाख्यातचारित्री भवति। ततो यथा कश्चिन्महापुरुषो बाहुभ्यामपारां गम्भीरां महानदीं तीर्त्वा तीरमासाद्य क्षणमेकम् (अनाभोगनिवर्त्तितेन करणेन आ० म० प्र०) विश्राममादत्ते एवमयमपि दुस्तरं मोहसागरं तीर्त्वा संजातपरिश्रमो विश्राम्यतीति । ततश्छद्मस्थवीतरागसंबन्धिनि समयद्वयेऽविशेष्यमाणे (यदाह—चूर्णिकृत्— " पढमे निद्दं पयल " ॥ ४६ ॥ आव० १ अ०) ततः प्रथमे समये निद्रां १, प्रचलां २, देवगतिं ३, देवानुपूर्वी ४, वैक्रियशरीरनामकर्म ५, वज्रऋषभनाराचसंहनन मुक्त्वा शेषाणि संहननानि षण्णां संस्थानानां मध्ये यस्मिन् व्यवस्थितस्तदेकं मुक्त्वा शेषाणि संस्थानानि १५ । आहारकशरीरनाम १६ । यदि तीर्थंकरः प्रतिपत्ता ततस्तीर्थंकरनामकर्मापीति १ वाच्यं १७ एवं सप्तदश प्रकृती क्षपयति। ततो द्वितीयसमये पञ्चप्रकारं ज्ञानवरणम् । चतुर्विधं दर्शनावरणम् । पञ्चविधमन्तरायं च (युगपत् आ० म० प्र०) क्षपयित्वा विमलकेवलश्रियमवाप्नोतीति। वृ० १ उ० । आ० म० प्र० । आ० चू० । भ० । कर्म० । स्थापना चेयम्-

अधोभागाद् वाचनक्रमेणाऽयमुपशमश्रेणिक्रमः ।

०	संज्वलनलोभम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभौ	२
०	संज्वलमायाम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमये	२
०	संज्वलनमानम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणौ मानौ	२
०	सज्वलक्रोधम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ	२
०	स्त्रीवेदम्	१
००० ०००	कषायषट्कम्	१
०	पुरुषवेदम्	१
०	नपुंसकवेदम्	१
०००	मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वम्	३
०० ००	क्रोध-मान-माया-लोभाः-	४

स्त्रीनपुंसकयोर्मध्ये-यदि स्त्री प्रारम्भिका तदा उपशमश्रेणिन्यायेनायं क्षपकश्रेणिक्रमः ।

अथ नपुंसकः प्रारम्भकः तदा-प्रथमं क्रोध-मान-माया-लोभान्-ततः स्त्रीवेदम्-ततः पुरुषवेदम्-ततः षट्कादि-संज्वलनान्तम् । क्षपयति उपशमश्रेणिन्यायचक्रोद्धारः ' उवसमसेढि ' शब्दे द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठे १९ पङ्क्तौ गतो द्रष्टव्यः ।

अधोभागाद्वाचनक्रमेणाय क्षपकश्रेणिक्रमः—

०	पुरुषवेदम्	१
००००००	हास्यादिषट्कम्	६
०	स्त्रीवेदम्	१
०	नपुसकवेदम्	१
०	उद्योतनाम	१
०	आतपनाम	१
०	स्त्यानर्द्धिनाम	१
०	प्रचलाप्रचलां	१
०	निद्रानिद्रां	१
०	साधारणनाम	१
०	अपर्याप्तनाम	१
०	सूक्ष्मनाम	१
०	स्थावरनाम	१
०	अप्रशस्तविहायोगतिनाम	१
० ०	तिर्यगानुपूर्वी नरकानुपूर्वी	१ १
० ० ० ०	चतुरिन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम एकेन्द्रियजातिनाम	१ १ १ १
० ०	तिर्यग्गतिनाम नैरयिकगतिनाम	१ १
०००००००० ०	कषायाष्टकम् सम्यक्त्वम्	८ १
०	मिश्रम्	१
०	मिथ्यात्वम्	१
००००	क्रोध-मान-माया-लोभाः	४

पुरुषप्रतिपत्तर्यय क्षपकश्रेणिक्रमः ।

तथा चाह निर्युक्तिकृत्—

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वतो सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ १२४१ ॥

सम्-एकीभावेन भिन्नं संभिन्न-यथा बहिस्तथा मध्येऽपीत्यर्थः । अथ वा, द्रव्य क्षेत्रकालभावलक्षणं सर्वमपि ज्ञेयं विषयत्वेन दर्शनीयम् । तत्र संभिन्नमिति द्रव्यं विशेष्यं सूचितं, कालभा-

यौ तद्विशेषकौ। कालभावौ हि द्रव्यस्य पर्यायौ। ततस्ताभ्यां समन्ताद्भिन्नं द्रव्यमिति, सभिन्नग्रहणेन त्रितयमपि सूचितम्। तत् पश्यन् उपलभमानो लोक धर्म्माद्याधारभूतं क्षेत्रम्, अलोक च तद्विपरीत क्षेत्रम् अनेन क्षेत्र प्रतिपादितम्। एतावदेव चतुर्विध ज्ञेयम्। नान्यदिति। किमेकया दिशा पश्यन् नेत्याह-सर्वतः सर्वासु दिक्षु तास्वपि किं कियदपि द्रव्यादि उत नेत्याह-सर्वं निरवशेषम्। अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—तन्नास्ति किमपि ज्ञेय भूतमतीतम्, भवतीति भव्यं वर्त्तमानम्, भविष्यच्च यन्न पश्यति केवलीति। आ० म० प्र०। कर्म०।

पढमकसायचउक्कं, एत्तो मिच्छत्तमीससंमत्तं।
अविरयदेसे विरए, पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥ ६६ ॥

इह यः क्षपकश्रेणिमारभते सोऽवश्य मनुष्यो वर्षाष्टकाच्चोपरि वर्त्तमान', स च प्रथमत प्रथमकषायचतुष्कमनन्तानुबन्धिसंज्ञ विसंयोजयति। तद्विसयोजना च प्रागेवोक्ता। तत इत. प्रथमकषायचतुष्कक्षयादनन्तर मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वानि क्षपयति। सूत्रे चैकवचन समाहारविवक्षणात्। समाहारविवक्षा चामीषां त्रयाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ज्ञापनार्था। मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथा प्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते। करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि। नवरम् अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिक, गुणसक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति। उद्बलनासक्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा—प्रथमस्थितिखण्ड बृहत्तरमुद्बलयति, ततो द्वितीय, विशेषहीनं, ततोऽपि तृतीय विशेषहीनम्, एव तावद्वाच्य यावदपूर्वकरणचरमसमय.। अपूर्वकरणे प्रथमसमये च यत् स्थितिकर्म्मासीत्तत्तस्यैव चरमसमये सख्येयगुणहीन जातम्। ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति। तत्रापि स्थितिघातादीन् सर्वानपि तथैव करोति। अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमनानि धत्ते, निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते। दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्मानिवृत्तिकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमानम्। घात्यमान स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमान भवति। तत. स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमान भवति। ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्। ततोऽपि तावन्मात्रेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्। ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानम्। ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमासख्येयभागप्रमाण भवति। ततस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैक सख्येयभाग मुक्त्वा शेष सर्वमपि घातयति। ततस्तस्यापि प्राग्मुक्तस्य सख्येयभागस्यैक सख्येयतम भाग मुक्त्वा शेष सर्वं विनाशयति। एव स्थितिघाता' सहस्रशो व्रजन्ति। तदनन्तर च मिथ्यात्वस्यासख्येयान् भागान् खण्डयति। सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु सख्येयान्। तत एव स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्यात्वस्य दलिकमावलिकामात्र सजातम्। सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु पल्योपमासख्येयभागमात्रम्। अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयो प्रक्षिपति। सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे। सम्यक्त्वसत्कानि तु अधस्तात् स्वस्थाने इति। तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्र स्तिवुकसक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति। तदनन्तर सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरसख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्याप्यसख्येयान् भागान् खण्डयति, एकं मुञ्चति। एव कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमावलिकामात्र जातम्। तदानीं सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्मवर्षाष्टकप्रमाण भवति। तस्मिन्नेव च काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते। तत ऊर्द्ध्वं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमुत्किरति। तद्दलिकं तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति। केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम्। ततो द्वितीयसमये असख्येयगुणम्। ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम्। एव तावद्वक्तव्य यावद् गुणश्रेणीशिर.। तत ऊर्ध्वं तु विशेषहीन यावच्चरमा स्थिति.। एवमान्तर्मुहूर्तिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति, निक्षिपति च, तानि च तावत् यावत् द्विचरम स्थितिखण्डम्। द्विचरमात्तु स्थितिखण्डाच्चरमखण्डमसख्येयगुणम्। चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते। अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्त्तमान' कश्चित्कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते। लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सप्रति त्वन्यतमायां गच्छति। तदेव प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते। उक्त च-"पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु" इह यदि बद्धायु क्षपकश्रेणिमारभते, अनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तर मरणसम्भवतो व्युपरमते। ततः कदाचित् मिथ्यात्वोदयाद्भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात्। क्षीणमिथ्यात्वदर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात्। क्षीणसप्तकस्तु प्रतिपतितपरिणामोऽवश्य त्रिदशेषूत्पद्यते। प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसभवाद्यथा परिणाममन्यतमायां गतावुत्पद्यते। उक्त च (विशेषावश्यके)-

"बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा ॥
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणेज्ज भूयो न खीणम्मि ॥ १३१६ ॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥ १३१७ ॥"

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं काल न करोति, तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह-(विशेषावश्यककार)-"बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ। इयरोऽणुवरओच्चिय, सयल सेढिं समाणेइ" ॥१३२५॥ अथोच्यते-क्षीणसप्तको गत्यन्तर सक्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति? उच्यते-तृतीये चतुर्थे वा भवे, तथाहि-यदि देवगतिं नरकगतिं वा सक्रामति ततो देवभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति। अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा समुत्पद्यते, तर्हि सोऽवश्यमसख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति, न सख्येयवर्षायुष्केषु। ततस्तद्भवानन्तर देवभवे, तस्माच्च देवभवाच्च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्ष यातीति चतुर्थे भवे मोक्षगमनम्। उक्तं च पञ्चसग्रहे-"तइयचतुत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झति दसणे खीणे। ज देवनिरयसखाउ चरिमदेहेसु ते होंति ॥१॥" एतानि च सप्त कर्माणि क्षपयति, अविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरति प्रमत्त अप्रमत्तो वा। तत एतेषु चतुर्ष्वपि सप्तकक्षय प्राप्यते। तथा चाह सूत्रकृत् (अविरत इत्यादि) अविरते देशे देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषायचतुष्कादीनि सप्त कर्माणि क्षीयन्ते क्षयमुपयान्ति, यदि पुनरबद्धायु क्षपक-

श्रेणिमारभते, ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । यत आह-भाष्यकृत्- "इयरो अणुवरओच्चिय, सयलं सेढिं समाणेई" चारित्रमोहनीय च क्षपयितुं यतमानो यथा प्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा-यथा प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण च । एतेषां च स्वरूपं पूर्ववदेवावगन्तव्यम नवरमिह यथा प्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम, अपूर्वकरणमपूर्वगुणस्थानके । अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके । तत्रापूर्वकरणेस्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं तथा क्षपयति स्म, यथा अनिवृत्तिकरणाद्धायाः प्रथमसमये तत्पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिक जातम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिकनरकगतितिर्यग्गतिनरकानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपाणां षोडश प्रकृतीनामुद्वलनासंक्रमेणोद्वल्यमानानां पल्योपमासख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता । ततो बध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसक्रमेण प्रतिसमय प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषतः क्षीणानि भवन्ति । इहाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टक पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं, परं तन्नाद्यापि क्षीण, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशक क्षपितम । ततः पश्चात्तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण क्षपयति । तथा चाह-

" अनियट्टिबायर थी-णगिद्धितिगनिरयतिरियनामा उ ।
सखेज्ज इमे सेसे, तप्पाउग्गा य खीयंति ।
एत्तो हणइ कसाय-ट्ठग पि पच्छा नपुसगं इत्थीं ।
तो नो कसायछक्कं छुभइ सजलणकोहम्मि " ॥ २ ॥

अनिवृत्तिबादरगुणस्थानके सख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिकं निरयगतितिर्यग्गतिनाम्नी तत्प्रायोग्याश्च निरयगतितिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिनिरयानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपाः सर्वसख्यया षोडश प्रकृतयः क्षीयन्ते । तत इतः प्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तर निःशेषतः कषायाष्टकं हन्ति । अन्ये पुनराहुः- षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणि । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां सज्वलनानामन्तरकरण करोति । तच्च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते । तच्चान्तर्मुहूर्त्तमात्रेण पल्योपमासख्येयभागमात्र जातम् । ततः प्रभृति बध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसक्रमेण दलिक प्रक्षिपति । तच्चैव प्रक्षिप्यमाणमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निःशेष क्षीणम्, अधस्तनदलिकञ्च यदि नपुसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढः ततोऽनुभवन् क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्र, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसक्रमेण सक्रमयति । तदेव क्षपितो नपुंसकवेदः । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षिप्यते । तत षट् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते । ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगत दलिक न पुरुषवेदे सक्रमयति, किंतु सज्वलनक्रोधे । तथा चाह सूत्रकृत्-" पच्छा नपुसग इत्थीं नोकषायछक्क छुभइ संजलणकोहम्मि " कषायाष्टकक्षयानन्तर पश्चात् (नपुसगं) नपुसकवेद क्षपयति । ततः (इत्थीं) स्त्रीवेदम । ततः षट् नोकषायान् क्षपयन् । तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं सज्वलनक्रोधे (छुभइ ति) क्षिपति, न पुरुषवेदे । एतेऽपि च षट् नोकषायाः संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निःशेषाः क्षीणाः । तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्धादयोदीरणाव्यवच्छेदः समयोनावलिकाद्विकबद्ध मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जातः । एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा प्रथमं स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत क्षपयति । स्त्रीवेदनपुंसकवेदक्षयसमकालमेव पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते । तदनन्तर चावेदकः सन् पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते तदा प्रथमतो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेद, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽवेदकः पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति । संप्रति पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयते-क्रोध वेदयमानस्य सतस्तस्याः क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा-अश्वकर्णकरणाद्धा, किट्टिकरणाद्धा, किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राऽश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्द्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणादुपरितनस्थितौ करोति । अस्यां च अश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः पुरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसक्रमेण सक्रमयन् चरमसमये सर्वसक्रमेण सक्रमयति । तदेव क्षीणः पुरुषवेदः । अश्वकर्णकरणाद्धायां च समाप्तायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च प्रविष्टः सन् चतुर्णामपि सज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टीः करोति । ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ता अपि स्थूरजातभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते । एकैकस्य च कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा-प्रथमा, द्वितीया, तृतीया च । एव क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधे क्षपिते सति त्रयाणां पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति । मायया चेत्प्रतिपद्यते तर्हि क्रोधमानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयोः सतोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति । यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिक करोति । एष किट्टीकरणविधिः । किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतम आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्र शेषः । ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्र शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत्समयाधिकावलिकामात्र शेषः । तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगत दलिक गुणसक्रमेणापि प्रतिसमयमसख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति । तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये सज्वलनक्रोधस्य बन्धोदयोदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्ध मुक्त्वाऽन्यन्नास्ति, सर्वस्यापि माने प्रक्षिप्तत्वात । ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तम । क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सबान्ध दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसक्रमेण संक्र-

मयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेण संक्रमयति । मानस्याऽपि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृत वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेष जातम् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेष. । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये मानस्य बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य मायायां प्रक्षिप्तत्वात् । ततो मायाया' प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तम् । मानस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सबन्धिदलिक समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण मायायां प्रक्षिपति । मायाया अपि च प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतं प्रथमस्थितीकृत वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेप जातम् । ततोऽनन्तरसमये मायायाः द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावद् समयाधिकावलिकामात्रं शेष. । तास्मिन्नेवसमये मामायाः बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेद , सत्कर्मापि च तस्या. समयोनावलिकाद्विकबद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसंक्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्त्तम् । सज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्याः सबन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण लोभे सर्वं संक्रमयति । लोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमान समयाधिकावलिकामात्र शेप जातम् । ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च । तां च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिक गृहीत्वा सूक्ष्म किट्टी करोति,तावद् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितिकृतस्य समयाधिकावलिकामात्र शेष । तस्मिन्नेव च समये सज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो बादरकषायोदयोदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानकव्यवच्छेदश्च युगपज्जायते । ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तदानीमसौ सूक्ष्मसपराय उच्यते । पूर्वोक्ताश्चावलिकास्तृतीयकिट्टिगताः शेषीभूता सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । प्रथमद्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्व द्वितीयतृतीयकिट्ट्यन्तर्गता वेद्यन्ते । सूक्ष्मसपरायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमान' सूक्ष्मकिट्टिदलिक समयोनावलिकाद्विकबद्ध च प्रतिसमय स्थितिघातादिभिस्तावत् क्षपयति यावत्सूक्ष्मसपरायाद्धाया सख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते । ततस्तस्मिन् सख्येयभागे संज्वलनलोभ सर्वापवर्त्तनयाऽपवर्त्य सूक्ष्मसपरायाद्धासम करोति । सा च सूक्ष्मसपरायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा । ततः प्रभृति च स्थितिघातादयो निवृत्ता' शेषकर्मणां तु प्रवर्तन्त एव । तां च लोभस्यापवर्त्तितां स्थितिमुदयोदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता । तत उदयेनैव केवलेन तां वेदयते यावच्चरमसमयः । तस्मिंश्चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां षोडश कर्मणां बन्धव्यवच्छेदः मोहनीयस्योदयसत्ताव्यवच्छेदश्च ॥ ६६ ॥

अमुमेवार्थं संकलय्य सूत्रकृत्प्रतिपादयति-

पुरिसं कोहे कोहं, माणे माणं च बुहइ मायाए ।
मायं च वुहइ लोहे, लोहं सुहुमं पि तो हणई ॥६७॥

पुरुषं पुरुषवेदं बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसंक्रमेण क्रोधे संज्वलनक्रोधे (छुहइ त्ति) संक्रमयति । क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने त क्रोधं माने सज्वलनमाने संक्रमयति । संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने त सज्वलनमान गुणसंक्रमेण मायायां संज्वलनमायायां प्रक्षिपति । संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तां सज्वलनमायां लोभे संज्वलनलोभे गुणसंक्रमेण संक्रमयति । सज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने त सज्वलनलोभ सूक्ष्ममपि, अपिशब्दाल्लेपमपि हन्ति स्थितिघातादिभिर्विनाशयति । लोभे च साकल्येन विनाशिते सत्यनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते । तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्ज्जानां शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकः सख्येयो भागोऽवतिष्ठते । तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकनिद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्म्मणां स्थितिसत्कर्म्म सर्वापवर्त्तनयाऽपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासम करोति । केवलं हि निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनं, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम् । सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, तत. प्रभृति च तेषां स्थितिघातादय. स्थिता', शेषाणां तु भवन्त्येव । तानि च षोडशकर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदयोदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्र शेष. । ततोऽनन्तरसमये उदीरणा निवृत्ता, तत आवलिकामात्रं कालं यावदुदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विक स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणं चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः।तथा चाह सूत्रकृत्-" खीणकसायदुचरिमे, निद्दापयला य हणइ छउमत्थो । आवरणमंतराए, छउमत्थे चरिमसमयम्मि ॥१॥ ' व्याख्यातार्थां । ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति । स च लोकमलोकं वा सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति । न हि तदस्ति भूत भवद्भविष्य द्वा यद् भगवान् न पश्यति उक्तं च-विशेषावश्यके-" संभिन्न पासंतो, लोगमलोग च सव्वओ सव्वं । त नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्व भविस्स च ।१३४२। " इत्थम्भूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटिं विहृत्य कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घात करोति । यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशात् अधिकतर भवति । अन्यस्तु न करोत्येव । तथा चोक्त प्रज्ञापनायम्-" सव्वो वि णं भंते ! केवलिसमुग्घाय गच्छति ?। गोयमा ! नो इणठे समठे समट्ठ, जस्साऽऽउपण तुल्लाइ बंधणेहिं ठिईए य भवोवग्गहकम्माइ स न समुग्घाय गच्छइ "अगतूण समुग्घाय-मणता केवली जिणा जरमरणविप्पमुका, सिद्धिं वरगइ गया ।१।" अत्र (बंधणेहिं ति) बध्यन्ते इति बन्धनाः कर्मपरमाणव ।कृत् "बहुलम्" ।५।१।३।

इति (हैम) वचनात् कर्मण्यनट् प्रत्ययः ।तैः। शेषं सुगमम्। गत्वाऽगत्वा च समुद्घातं भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुर्योगनिरोधायोपक्रमत एव। तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम्। ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्। ततस्तेनैव सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्ममनोयोगं, ततः सूक्ष्मवाग्योगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिध्यानमारोहति। तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तस्मिंश्च ध्याने वर्तमानः स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिकर्माणि तावदपवर्तयति यावत्सयोग्यवस्थाचरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। नवरं येषां कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषां स्थितिं स्वरूपं प्रतीत्य समयोनां विधत्ते। कर्मत्वमात्ररूपतां त्वाश्रित्यायोग्यवस्थासमानामेव स्थितिं करोति। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमये अन्यतरद्वेदनीयमौदारिकतैजसकार्मणशरीरसवर्के बन्धनसङ्घातनसंस्थानषट्कप्रथमसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गवर्णादिचतुष्टया गुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासशुभाशुभविहायोगतिप्रत्येकस्थिराऽस्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वर-निर्माणनाम्नामुदयोदीरणाव्यवच्छेदः। ततोऽनन्तरसमये अयोगिकेवली भवति। अयोगिकेवली च भवस्थो जघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्त्तं कालं भवति। स च तस्यामवस्थायां वर्त्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपातिध्यानमारोहति। एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति। यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद्याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः ॥ ६७ ॥

देवगइसहगयाउ, दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि खीयंति।
सविवागेयरनामा, नीया गोयं पि तत्थेव ॥ ६८ ॥

देवगत्या सह गताः स्थिताः देवगतिसहगताः देवगत्या सह एकान्तेनेह बन्धो यासां ता देवगतिसहगता इत्यर्थः। कास्ता इति चेत् ?। उच्यते-वैक्रियाहारकशरीरे, वैक्रियाहारकबन्धने, वैक्रियाहारकसङ्घाते, वैक्रियहारकाङ्गोपाङ्गे, देवगतिर्देवानुपूर्वी च एता देवगतिसहगताः। द्विचरमसमयभवसिद्धिके इति। द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरमसमयभवसिद्धिके क्षीयन्ते क्षयमुपगच्छन्ति। तथा तत्रैव द्विचरमसमयभवसिद्धिके सविपाकेतरनामानि विपाक उदय, सह विपाकेन यानि वर्त्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, अनुदयवत्यो नाम प्रकृतय इत्यर्थः। ताश्चेमाः-औदारिकतैजसकार्मणशरीरम्, औदारिकतैजसकार्मणबन्धनसङ्घातानि, संस्थानषट्कम्, संहननषट्कम्, औदारिकाङ्गोपाङ्ग, वर्णगन्धरसस्पर्शा, मनुजानुपूर्वी, पराघातम्, उपघातम्, अगुरु, लघु, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगती, प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वासनाम, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, सुस्वरदुःस्वरे, दुर्भगम्, अनादेयम् यशः कीर्त्तिनिर्माणमिति, तथा नीचैर्गोत्रम्, अपिशब्दादन्यतरदनुदितं वेदनीयं सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशत् प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति ॥ ६८ ॥

अन्नयरवेयणिज्जं, मणुयाउयउच्चगोयनवनामा।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोसो जहन्नइक्कारं ॥ ६९ ॥

अन्यतरद्वेदनीयं सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणादितरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्र नव नामानि नव नामप्रकृती, सर्वसङ्ख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते। अयोगिजिनोऽयोगिकेवली जघन्येन एकादश, ताश्च ता एव द्वादश, तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्याः ॥ ६९ ॥

नवनाम इत्युक्त ततस्ता एव नवनामप्रकृतीर्दर्शयति-

मणुयगइजाइतस-बायरं च पज्जत्तसुभगमाइज्ज।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥७०॥ गतार्था।

अत्रैव मतान्तरं दर्शयति-

तच्चाणुपुव्वीसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि।
संतं सगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ७१ ॥

तृतीयानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्यो भवसिद्धिकस्य तद्भवमोक्षगामिनः (संतं सगंति) सत्कर्म उत्कृष्ट भवति। जघन्य पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदशातीर्थकरनामसहिता वेदितव्याः ॥ ७१ ॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इति। आह-

मणुयगइसहगया उ, भवखित्तविवागजीवविवागि त्ति।
वेयणियन्नयरुच्चं, व चरिमभवियस्स खीयम्मि ॥ ७२ ॥

मनुजगत्या सह गताः स्थिताः मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थः। किं विशिष्टास्ता इत्याह-(भवखित्तविवागजीवविवागि त्ति) भवविपाकाः क्षेत्रविपाका जीवविपाकाश्च। तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाकाः। तथाऽन्यतरद्वेदनीयमुच्चैर्गोत्र च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदश प्रकृतयो भविकस्य भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये। ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्ट सत्कर्म त्रयोदशप्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति। अन्ये पुनराहुः-मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः उदयाभावात्। उदयवतीनां हि स्तिबुकसंक्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिक दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः। आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदय, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भवः, तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति। एतदेव मतमधिकृत्य प्राक् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः। चरमसमये तूत्कर्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति। ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं लोकान्ते गच्छति। स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति। उक्तं चावश्यकचूर्णौ-" जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढ उज्जुग गच्छइ नवक बीय च समय न फुसइ त्ति" ॥ इत्थ तत्र गताः सन्तः सिद्धाः नेके भगवन्तः कर्मक्षयं कृत्वा तत्र गताः सन्तः सिद्धि-सुखं शाश्वत कालमनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते। कर्म० ६ कर्म०। प० स०। आचा०।

खवण-क्षपण-न० । प्रकृत्यन्तरसङ्क्रमितस्य कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्झरणे, विशे० । अप्रत्याख्यानादिप्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यभावापादने, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० ।

कर्मांशक्षपणकालो देवानाम्-

अत्थि णं भंते ! देवा अणंते कम्मंसे जहस्सेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससएहिं खवयंति ? हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्सेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति ? हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्सेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति ? हंता अत्थि । कयरे भंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्सेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा० जाव पंचहिं वाससएहिं खवयंति । कयरे णं भंते ! देवा० जाव पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । कयरे णं भंते ! देवा० जाव पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति ? । गोयमा ! वाणमंतरा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससएणं खवयंति । असुरिंदवज्जियाणं भवणवासी देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससएहिं खवयंति । असुरकुमारा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससएहिं खवयंति । गहगणणक्खत्ततारारूवा जोइसिया देवा अणंते कम्मंसे चउवास० जाव खवयंति । चंदिमसूरिया जोइसिंदा जोइसरायाणो अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससएहिं खवयंति । सोहम्मीसाणगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससहस्सेणं० जाव खवयंति । सणंकुमारमाहिंदगा देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । एवं एएणं अभिलावेणं बंभलोगंतगा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । महासुक्कसहस्सारगा देवा अणंते कम्मंसे चउहिं वाससहस्सेहिं खवयंति। आणयपाणयआरणअच्चुयगा देवा अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससयसहस्सेणं खवयंति । मज्झिमगेवेज्जगा देवा दोहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । उवरिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । विजयवेजयंतजयंतअपराजियगा देवा अणंते कम्मंसे चउहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । सव्वट्ठसिद्धगा देवा अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । एएणं गोयमा ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्सेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससएहिं खवयंति । एएण गोयमा ! ते देवा० जाव पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । एएण गोयमा ! ते देवा० जाव पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति, सेवं भंते ! भंते त्ति । भ० १८ श० ७ उ० ।

संस्तारस्थितसाधुः कर्मलघु क्षपयति-

जो संखेज्जभवट्ठिइं, सव्वं पि खवेइ सो तहिं कम्मं ।
अणुसमयं साहुपयं, साहू वुत्तो तहिं समए ॥ ४६ ॥

यः साधुः (संखिज्जभवट्ठिइ त्ति) संख्याता संख्यायुर्लक्षणा भवे एकस्मिन् भवे एकजन्मस्थितिकः असंख्यातवर्षायुषो हि चारित्रप्रतीतिरपि न भवतीति संख्यातवर्षस्थितिकत्वमुक्तम् (सव्वं पि खवेइ सो तहिं कम्मं ति) सर्वमपि क्षपयति निर्जरयति स साधुस्तत्र तस्मिन्संस्तारके व्यवस्थितः प्रथमसंहननवत्प्रकृष्टाराधनं क्षपयति अष्टप्रकारमपि कर्म्म । अथ प्रतिसमय स साधु साधुपदं प्रतिपन्नः सन् तस्मिन्नेव भवे प्रायः कर्म्म क्षपयति । अनुसमयं तस्मिन्नुपर्यन्ताराधनासमयैर्युक्तो विशेषेणोक्तः तस्यामवस्थायां विशेषतः क्षपणात् लाभप्रश्नस्य गुरुणा निर्वचनं दत्तम् ॥ ४६ ॥ संथा० ॥ 'जं अन्नाणी कम्म खवेइ' इत्यादि ज्ञानमये उपवासे, । "चउत्थ छट्ठ अट्ठम दसम दुवालसम अद्धमासखमण मासदुमासतिमासचउमासपंचमासछम्मासा सव्व पि इत्तर आवकहिय वा " ॥ नि० चू० १ उ० । (ये ये क्षपणा शोध्या तान् एकत्रीकृत्य गाथाद्वयेन ' उग्गम ' शब्दे द्वि० भागे ६९६ पृष्ठे)

कालद्धाणाईए, निव्विगइ खमणमेव परिभोगे (४ए) ॥

विकथादिप्रमादेन विस्मृत्य भक्तादौ कालाध्वातीतस्य परिभोगे कृते सति (निव्विगइ खमणमेवे त्ति) एवशब्द पुनरर्थे स च परिभोगशब्दादग्रे प्रोच्यते। ततश्च कालाध्वानीतस्य परिभोगे पुनः क्षपणम् ॥ जीत० ॥

(जीएओगासणयं,) सेसगमाया तु खमणं तु (॥५६॥)

पूर्वोक्तमायातोऽन्याः यथा—

" सिया एगयओ लद्धु, विविह पाणभोयण ।
भद्दग भद्दग भुच्चा, विवन्न विरसमाहरे ॥ १ ॥ "
जाण तु ता इमे समणा, आययट्ठी (मोक्षार्थी) अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवए पंत लूहवित्ती सुतोसओ ॥ २ ॥ "

इत्यादिकासु यशोऽर्थं कृतासु मायासु पुनः क्षपणम् । जीत० । त्रैकालिकचैत्यवन्दनस्यैकवारमकरणे क्षपणम् । महा० ७ अ० । क्षपयति कर्म्माणि इति क्षपणः पु० क्षपकर्पौ, पिं० । "खवेति जं च आण " क्षपयति यद्यस्मात् ऋण कर्म तस्मात् क्षपणः । दश० ७ अ० । क्षुते, आ० म० प्र० ।

खवणा-क्षपणा-स्त्री० । क्षपणमपचयो निर्जरा पापकर्मक्षपणहेतुत्वात् क्षपणा । भावाध्ययने सामायिकादिश्रुतविशेषे, अनु० । आ० म० । अस्या ' झवणा ' इत्यपि रूप भवति ।

अस्य निक्षेप ।

से किं तं ? झवणा । झवणा चउव्विहा पन्नत्ता । तं जहा-नामज्झवणा, ठवणज्झवणा, दव्वज्झवणा, भावज्झवणा, नामठवणज्झवणा उ पुव्व भणिआओ । से किं तं दव्वज्झवणा । दव्वज्झवणा दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-आगमओ अ, नोआगमओ अ । से किं त आगमओ, दव्वज्झवणा ? २ जस्स णं झवणे त्ति पदं सिक्खिअं ठिअं जिअं मिअं परिजिअं० जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्झवणा । से किं तं नोआगमओ दव्वज्झवणा ? । नो आगम-

ओ दव्वज्झवणा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-जाणगसरीरदव्वज्झवणा, भविअसरीरदव्वज्झवणा, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा। से किं तं जाणगसरीरदव्वज्झवणा?। पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं सेसं जहा दव्वज्झयणे० जाव सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्झवणा। से किं तं भविअसरीरदव्वज्झवणा?। भविअसरीरदव्वज्झवणाए जे जीवे जोणी जम्मण णिक्खते सेसं जहा दव्वज्झयणे० जाव सेत्तं भविअसरीरदव्वज्झवणा। से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्तादव्वज्झवणा? २ जहा जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए तहा भाणियव्वा० जाव सेत्तं मीसिआ। सेत्तं लोगुत्तरिआ। सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा। सेत्तं नोआगमओ दव्वज्झवणा। सेत्तं दव्वज्झवणा। से किं तं भावज्झवणा?। भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-आगमओ अ, णोआगमओ अ। से किं तं आगमओ भावज्झवणा?। भावज्झवणा जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमओ भावज्झवणा। से किं तं णोआगमओ भावज्झवणा?। णोआगमओ भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-पसत्था य, अपसत्था य। से किं तं पसत्था? पसत्था तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-णाणज्झवणा, दंसणज्झवणा, चरित्तज्झवणा। सेत्तं पसत्था। से किं तं अपसत्था?। अपसत्था चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-कोहज्झवणा,माणज्झवणा,मायज्झवणा,लोभज्झवणा। सेत्तं अपसत्था। सेत्तं नोआगमओ भावज्झवणा। सेत्तं भावज्झवणा। सेत्तं नोआगमओ भावज्झवणा। सेत्तं ओहनिप्फन्ने ॥ अनु० ॥

क्षपणा द्विधा। द्रव्यतो,भावतश्च। द्रव्यतः सकषायस्यैहिकापायभीरोः भावतः संवेगमापन्नस्य सम्यग्दृष्टेरिति ॥ आव० ३ अ०। दश०।

खवल्लमच्छ-खवल्लमत्स्य-पुं०। मत्स्यभेदे,। विपा० १ श्रु० ८ अ०। जी०।

खवा-क्षपा-स्त्री०। रात्रौ, हरिद्रायां च। वाच०। वृ०।

खवाजल-क्षपाजल-न०। अवश्याये, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

खस-ख (श) स-पुं०। अनार्यक्षेत्रभेदे, म्लेच्छजातौ च। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। प्रव०। प्रश्न०। सू० प्र०। मुरानामगन्धद्रव्ये, वाच०। (खस) इति ख्याते वृक्षे, वाच०।

खसखस-खसखस-पुं०। खसप्रकारः द्वित्व पृषो०। खसतिले (पोस्ता) वृक्षभेदे, धान्यभेदे, वाच०। ध०।

खसदुम-खशद्रुम-पुं०। चित्रितशृगाले, बृ० १ उ०। (तत्कथा 'कप्प' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २२२ पृष्ठे उक्ता)

खसिअ-खचित-न०। "खचितपिशाचयोश्चः स-ल्लौ वा" ।८।१।१९३। इति चस्य सः। मण्डिते, प्रा० १ पाद।

खसित-त्रि०। आर्षत्वात्कस्य खः। कासरोगे, प्रा० १ पाद।

खह-खह-न०। खनने भुवो हाने च त्यागे यद्भवति तत् खहमिति निर्युक्तिवशात्। आकाशे, भ० २० श० २ उ०।

खहचर-खचर-पुं० खे आकाशे चरन्तीति खचराः प्राकृतत्वात् दीर्घत्वाच्च खहचरा इति सूत्रे पाठः। प्रज्ञा० १ पद।

तद्भेदाः खचरप्रतिपादनार्थमाह-"से किं तमित्यादि" अथ केते सम्मूर्च्छिमखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः? सूरिराह-संमूर्च्छिमखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-" भेदो जहा पण्णवणाए" इति भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः सचैव "चम्मपक्खी लोमपक्खी समुग्गपक्खी विततपक्खी" (चरमपक्ष्यादीनां भेदाः स्वस्वशब्दे) (अवगाहनादिरस्य अवगाहनादि शब्देषु) वैताढ्यवासिनि विद्याधरे,जं० २ वक्ष०। ('आहार' शब्दे द्वि० भागे ४१७ पृष्ठे एषामाहारः)

खहयरमंस-खचरमांस-पुं०। लावकचटकादीनां खेचराणां सम्बन्धिनि मांसे, प्रव० ४ द्वार।

खहयरी-खचरी-स्त्री०। खचरस्त्रियाम्, स्था० ३ ठा० १ उ०।

खाअ-खात-न०। खन-भावे क्तः "द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः" ८।२।९०। इति द्वित्वाभावाश्च प्रवर्त्तते। प्रा० २ पाद। खनने, खादित-त्रि०। खाद-क्त। "खादधावोर्लुक्" ।८।४।२२८। इत्यन्त्यस्य लुक्। भक्षिते, प्रा० ४ पाद।

खाइ-ख्याति-स्त्री०। ख्या क्तिन् प्रशंसायाम्, कथने, वाच०। गुणवन्तो विशिष्टाः साधवः इत्यादिप्रवादरूपायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ०। यशःपराक्रमकृतायां प्रसिद्धौ, स्था० ३ ठा० ४ उ०। ज्ञाने चतस्रः ख्यातयः। अख्यातिः, अन्यथाख्यातिः, आत्मख्यातिः, असतत्ख्यातिश्च। तत्राख्यातिर्नाम विवेकाख्यातिः, अन्यथाख्यातिर्विपरीतख्यातिः। वाच०।

ख्यातयो लिख्यन्ते-तत्र प्रभाकरमतानुसारिणो विवेकाख्यातिं मन्यन्ते विपर्ययस्तज्ञाने। तथाहि-इद रजतमिति ज्ञाने अन्योऽन्यविभिन्नं ज्ञानद्वयं प्रत्यक्षस्मरणरूपं विभिन्नकारणप्रभवत्वात् विभिन्नविषयत्वाच्च सिध्यत्येव। इन्द्रियं हीदमंशोद्योतिनः प्रत्यक्षस्य कारणं संस्कारश्च स्मरणस्येति सिद्धमत्र भिन्नकारणप्रभवत्वं, ययोश्च भिन्नकारणप्रभवत्वं तयोरन्योऽन्य भेदो यथा प्रत्यक्षानुमानयोः विभिन्नकारणप्रभवत्वं चात्र विभिन्नविषयत्व चात्र सुप्रसिद्धम्। इदमिति ज्ञानस्य पुरोवर्तिशुक्तिशकलालम्बनत्वात्। रजतमिति ज्ञानस्य च व्यवहितरजतविषयत्वात्। यत्र विभिन्नविषयत्व तत्रान्योऽन्य भेदो यथा रूपरसाऽऽदिज्ञाने अस्ति चात्र विभिन्नविषयत्वमिति इत्थ प्रत्यक्षात्स्मृतिर्विभिन्नापि प्रसृष्टेति न विवेकेन प्रतिभासत इत्यविवेकख्यातिः। न त्वेकमेवेद ज्ञानम्। तथात्वेन तदुत्पत्तौ कारणाभावात्। तत्र हि कारणमिन्द्रियमन्यद्वा ? न तावदन्यदुपरतेन्द्रियत्। तत्र हि कारणमिन्द्रियमन्यद्वा ? न तावदन्यदुपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापीन्द्रियं। तद्धि रजतसदृशे शुक्तिशकले सम्प्रयुक्तसत्तत्र निर्विकल्पकमुपजनयेत् सविकल्पकमपि तत्रैव, न रजते, तस्येन्द्रियेणासंबन्धात् अवर्त्तमानत्वाच्च। नचासदद्धमवर्त्तमान चेन्द्रियग्राह्यम्। सबद्धं वर्त्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना इत्यभिधानात्। अन्यथा विप्रकृष्टाशेषार्थानामपि ग्राह्यत्वप्रसक्तोऽनुपाये सिद्धमशेषस्याशेषज्ञत्वं स्यात्। न च दोषाणामयं महिमेत्यभिधातव्यम् यतः कोऽयं तन्माहिमा नाम इन्द्रियशक्तेः प्रतिबन्धः, प्रध्वंसो वा, विपरीतज्ञानाविर्भा-

वो वा । तत्राद्यविकल्पद्वयमयुक्तम् । कार्यानुत्पादप्रसङ्गात् । न हि मणिमन्त्रादिना दहनशक्तेः प्रतिबन्धे प्रध्वंसे वा स्फोटादिकार्योत्पत्तिर्दृष्टा । तृतीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः न खलु दुष्टावयवाः विपरीत कार्यमाविर्भावयन्तः प्रतीयन्ते । अतो ज्ञानद्वयमेतदिदमिति हि प्रत्यक्षं पुरो व्यवस्थितार्थग्राहि, रजतमिति चानुभूतरजतस्मरणमिति, रजताकारा हि प्रतीती रजतविषयैव, न शुक्तिविषया, अन्याकाराया प्रतीतेरन्यविषयत्वायोगात्, तद्योगे वा, सर्वज्ञानं सर्वविषय स्यादिति, सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तिः । प्रयोगे यद् यदाकारं ज्ञान तत्तद्विषयमेव । यथा घटाकारं घटविषयमेव, रजताकारं चेदमिति । यदि वाऽन्याकारापि प्रतीतिरन्यविषया स्यात्तदा स्वार्थव्यभिचारतः सर्वत्राप्यनाश्वासः स्यात् ततो रजताकारं रजतविषयमेव ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । न च रजतमप्रतसन्निहितमतोऽतीतमेव तत्तदा स्मर्यते इति, न तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंप्रयोगजत्वाभावात् । ननु यद्यतीतं रजत स्मर्यते तदाऽतीतस्यातीततयैव प्रतिभासः स्यात्, न तु वर्त्तमानरजततुल्यतयेत्यपेशलम् । प्रतीतस्यापि रजतस्य दोषतोऽतीतत्वेनाप्रतिभासनात् । वर्त्तमानस्य च शुक्तिलक्षणार्थस्य ग्राहक ज्ञान शुक्तिकेयमिति तद्ग्रहणमर्थ स्वरूपेण प्रतिपत्तुमसमर्थं शुक्तिस्वलक्षणविशेषणस्य रजतात् शुक्तेर्भेदकस्याग्रहणात् साधारणात्ममात्रो रजतान्वयिना स्थित वस्तुप्रतिपद्यमान रजतस्मृतिज्ञानस्य स्मरामीत्याकारशून्यस्य कारणतां प्रतिपद्यते । स्मरामीत्याकारशून्यत्वमेव चास्याः प्रमोष इति । न च स्मृतिप्रमोषाऽभ्युपगमे रजतज्ञानस्य सत्यत्वाद्युत्तरज्ञानेन बाध्यतानुपपत्तिरित्यभिधातव्यम् । शुक्तिकेयमिति भेदबुद्धौ भेदानध्यवसायानिवारणेन पूर्वप्रत्ययप्रसञ्जितरजतोचितप्रवृत्त्यादिव्यवहारनिवारणतस्तस्या उपपत्तेः । ये तु स्मृतिप्रमोषमनिच्छन्तस्तत्र विपरीतख्यातिं प्रतिपद्यन्ते तेषां बाह्यार्थसिद्धिर्न प्राप्नोति । तद्दृष्टान्तेनाशेषप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रसङ्गात् । यथैव हि-रजतप्रत्ययो रजताभावेऽपि रजतमवभासयति तथा-सर्वे बाह्यार्थप्रत्ययास्तदभावेऽपि तदवभासिनः इत्यद्वैतवादिमतसिद्धिः स्यात् । तामनिच्छता स्मृतिप्रमोष एवाऽभ्युपगन्तव्यः इति विवेकाख्यातिः ॥१॥ अपरे अख्यातिं मन्यन्ते-तथाहीदं रजतमिति ज्ञाने रजत तत्त्वाविषयभूता तावन्नास्ति अभ्रान्तत्वानुपङ्गात् । रजताऽभावोऽपि न तदालम्बनं तद्विषयपरत्वेनास्य प्रवृत्तेः अत एव शुक्तिशकलमपि न तदालम्बनं रजताकारेण शुक्तिशकलमित्यप्ययुक्तम् । अन्यस्यान्याकारेण ग्रहणाप्रवृत्तेः । न खलु घटाकारेण पटस्य ग्रहण प्रतीतम् । अतो न किञ्चिदत्र ज्ञाने ख्यातीति, सिद्धा अख्यातिः ॥२॥ अपरे तु असत्ख्यातिं मन्यन्ते ॥ तथाहि-इद प्रतिभासमानं वस्तुस्वरूप ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा स्यात् न तावज्ज्ञानधर्मोऽनहङ्कारास्पदत्वात् । बहिरिदतया प्रतिभासमानत्वाच्च । नाप्यर्थधर्मः । तत्साध्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् । बाधकप्रत्ययेन तद्धर्मतयाऽस्य बाध्यमानत्वाच्च । असदेव तत्तत्र प्रतिभासते । इत्यसत्ख्यातिः ॥ ३ ॥ अन्ये तु प्रसिद्धार्थख्यातिं प्रतिपन्नाः तथा हि-प्रतीतिसिद्ध एवार्थो विपर्ययज्ञाने प्रतिभाति । न चास्य विचार्यमाणस्यासत्त्व वाच्य, प्रतीतिव्यतिरेकेणापरस्य विचारस्यैवासम्भवात्, प्रतीतिबाधितत्वाच्च । न च तत्प्रसिद्धेऽर्थे विचारो युक्तः । करतलगतामलकादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम् । स च प्रतिभासोऽन्यत्राऽप्यविशिष्टः । अथ मरीचिकाचक्रादौ जलार्थस्य प्रतिभा, तस्य तद्देशोपसर्पणे सत्युत्तरकाले प्रतिभासाभावादसत्त्वम् । तदयुक्तम् । यतो यद्यप्युत्तरकाले सोऽर्थो न प्रतिभाति, तथापि यदा प्रतिभाति, तदा तावदस्त्येव । अन्यथा विद्युदादेरपि स्वप्रतिभासकाले सत्त्वसिद्धिर्न स्यात्तस्मात्प्रसिद्धार्थख्यातिरेवेयमिति ॥ ४ ॥ अन्ये त्वात्मख्यातिं मन्यन्ते । तथाहि-शुक्तिकायामिद रजतमिति रजतं प्रतिभासते, तस्य च बाह्यस्य बाधकप्रत्ययात्प्रतिभासो नोपपद्यते । न खलु यथैव प्रतिभासते तथैवार्थ इत्यभ्युपगन्तु युक्तम् । भ्रान्तत्वाभावप्रसङ्गात् । अतो ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्यावासनासामर्थ्याद्बहिरिव प्रतिभासत इत्यात्मख्यातिः ॥५॥ केचिदनिर्वचनीयख्यातिं मन्यन्ते । तथाहि-शुक्तिकायां रजताकारः सन्, असन्, उभयरूपो वा ? । न तावत् सन्, उत्तरकाले बाधकानुत्पत्तिप्रसक्तस्तर्हि तदभ्रान्तत्वप्रसक्तेः । नाप्यसन्-आकाशकुशेशयवत् प्रतिभासाभावप्रसङ्गात् । नाप्युभयरूपः, उभयदोषानुषङ्गात् । सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च । तस्मादयं बुद्धिदर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनोभयधर्मेण वा निर्वक्तुं न शक्यत, इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः ।६। इति ख्यातिग्रन्थपाठः । अत्र विवेकाख्यातिवादी वदति-विवादास्पदमिदं रजतमिति प्रत्ययो, न वैपरीत्येन स्वीकर्त्तव्यः, तथा विचार्यमाणस्य तस्यानुपपद्यमानत्वाद्, यद्यथा विचार्यमाण नोपपद्यते, न तत्तथा स्वीकर्त्तव्यम्, यथा-स्तम्भः कुम्भरूपतयेति । न चेद साधनम् सिद्धिमधारयत्, तथाहि-किमिद प्रत्ययस्य वैपरीत्य स्याद् ?-अर्थक्रियाकारिपदार्थाप्रत्यायकत्वम्, अन्यथा प्रथन वा ? । आद्ये भेदे, विवादास्पदप्रत्ययप्रत्यायिते पदार्थे किमर्थक्रियामात्रमपि नास्ति, तद्विशेषसाध्या वा सा न विद्यते ?। नाद्यः पक्षः, शुक्तिसाध्यायास्तस्या भावात् । द्वितीये तु, ज्ञानकाले सा नास्ति, कालान्तरेऽपि वा ?। ज्ञानकाले तावत्तध्यकलधौतबोधेऽपि क्वापि सा नास्त्येव । कालान्तरे तु प्रचुरतरसमीरसमीरणाशून्यपायिपयोबुद्बुदबोधेऽपि सा न विद्यत एव । तत्रार्थक्रियेत्यादिपक्षः क्षेमकारः । तत्पुरस्सरपक्षे तु, तथाविधवैपरीत्यं तस्य स्वेनैव, पूर्वज्ञानेन, उत्तरज्ञानेन वा अवसीयेत ?। न स्वेनैव, तेन स्वस्य वैपरीत्यावसाये प्रमातुः प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात् । अथ पूर्वज्ञानेन, किं स्वकालस्थेन, तत्कालस्थेन वा ? । नाद्येन, तत्काले वैपरीत्यास्पदसंवेदनस्यासत्त्वात् । नाऽपि द्वितीयेन, ज्ञानयोर्यौगपद्यासम्भवात् । अथोत्तरज्ञानेन, तत्किं विजातीय, सजातीय वा स्यात् ?। विजातीयमप्येकसन्तान, भिन्नसन्तान वा ?। भेदद्वयेऽपि घटज्ञान पटज्ञानस्य वैपरीत्याऽवसायि भवेत् । सजातीयमप्येकविषय, भिन्नविषय वा ? । एकविषयमप्येकसन्तान, भिन्नसन्तान वा ? । द्वयमपीदं स्याद्दत्तहस्तावलम्ब कथ वैपरीत्यावबोधधुराधौरेयतां दधीत ? । भिन्नविषयमप्येकसन्तान, भिन्नसन्तान वा ?। उभयत्राऽपि पटज्ञान पटान्तरज्ञानस्य तथा भवेत् । अथ न सर्वमेवोत्तरज्ञानं प्राक्तनस्यान्यथात्वावबोधबद्धकक्षं, किं तु यदेव बाधकत्वेनोल्लसति । ननु किमिद तस्य तद्बाधकत्वं ?-तदन्यत्व, तदुपमर्दकत्व, तस्य स्वविषये प्रवर्तमानस्य प्रतिहन्तृत्व, प्रवृत्तस्यापि फलोत्पादप्रतिबन्धकत्व वा ?। प्राचि पक्षे, मिथ्याज्ञानमपि तस्य बाधक स्याद् अन्यत्वस्योभयत्राविशेषात् । द्वितीये घटज्ञान पटज्ञानस्य बाधक स्यात्, तस्यापि तदुपमर्देनोत्पादात् । तृतीये, न प्रवृत्तिः तस्य तेन प्रतिहर्त्तुं शक्या, यत्र क्वचन गोचरे प्रागेव प्रवृत्तत्वात् । तुरीयेऽपि, न फलोत्पत्तिस्तस्य तेन प्रतिबद्धुं पार्यते, उपादानादिसंविदोऽपि प्रथममेव समुत्पन्नत्वात् । किंच-विपरीतप्रत्यये रजतम्, असत् चकास्ति, सद् वा ?। असच्चेत् । असत्ख्यातिरेवेय स्यात् । सच्चेत् । तत्रैव, अन्यत्र वा ?। यदि

तत्रैव, तदा तथ्यपदार्थख्यातिरेवेय भवेत् । अन्यत्र तु सतः कथं तत्र प्रतीतिः ?, पुरस्सरगोचर एव चक्षुरादेर्व्यापारात् । दोषमाहात्म्यादिति चेत् । न, दोषाणामिन्द्रियसामर्थ्यकदर्थनमात्रचरितार्थत्वेन विपरीतकार्योत्पत्तिं प्रत्यकिञ्चित्करत्वात् । ततस्तथा विचार्यमाणस्य तस्यानुपपद्यमानत्वमसिध्यदेव । 'नापि व्यभिचारि, विपक्षादत्यन्त व्यावृत्तेः, अत एव न विरुद्धमपि । ततः सत्यमेवैतत् संवेदनद्वयम्-इदमिति प्रत्यक्ष, रजतमिति तु स्मरण, करणोद्भवद्दोषवशाच्छुक्तिरजतयोः प्रत्यक्षस्मरणयोश्च भेदाप्रतिभासाद्भेदाख्यातिरियमुच्यत इति । अत्राऽभिदध्महे-ये तावत्साधनासिद्धिविध्वंसनाय व्यधायिषत विकल्पाः, तत्र शुक्त्यादिरूपतयाऽन्यथास्थितार्थस्यान्यथा रजताद्यर्थप्रकारेण यत्प्रथन तत्स्वरूपं वैपरीत्यं नेद रजतमित्येवं तदुपमर्दतः पश्चाद्विजृम्भमाणेन बाधकेनावधार्यते इति भ्रम । तथा चान्यथा प्रथनोत्तरज्ञानतदुपमर्दकत्वविकल्पाभ्यां शेष तु विकल्पनिकुरम्बं तुण्डताण्डवामम्बरविडम्बनामात्रफलमेव । अथ विजातीय सजातीय वा तदित्यादिप्रकारेषु किमुत्तरं ते स्यात् ? । ननु वितीर्णमेव । अस्तु यत्किञ्चित्, तदुपमर्देन चेदुत्पद्यते, तदा तदखिलं बाधकं सत्तस्य तथात्वमाविष्करोतीति । उपमर्दश्च न प्रध्वंसः, यतः पटज्ञानप्रध्वंसेनोत्पद्यमानस्य घटज्ञानस्य बाधकत्व स्यात्, किं तु तत्प्रतिभातवस्त्वऽसत्त्वख्यापनम्-यन्मदीयवेदने रजतमिति प्रत्यभात्, तद्रजत न भवत्येवेति । अपि च, भेदाख्यातावपि प्रत्यक्षस्मरणयोर्भेदाख्यानं किं स्वेनैव वेद्यते ? इत्यादिसकलविकल्पपेटकमाटीकत एव, इति स्ववधाय कृतोत्थापनमेतद्भवतः । अथ प्रकृतज्ञाने रजतप्रतिभाने कथं तेन शुक्तिकाऽपेद्यते ? । तत्र, संवृतस्वाकारायाः समुपात्तरजताकारायाः शुक्तिकाया एवात्र प्रतिभानात् । वस्तुस्थित्या हि शुक्तिरेव सा, त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावात्तु संवृतस्वाकारा, चाकचिक्यादिसाधारणधर्मदर्शनोपजनितरूप्यस्मरणाऽऽरोपितरजताकारत्वाच्च समुपात्तरजताकारा, इत्यभिधीयते । यत्खलु यत्र कर्म्मतया चकास्ति तत्तत्रालम्बनम्, एतच्च शृङ्गग्राहिकया निर्दिश्यमानायां शुक्तौ समस्त्येव । सैव हि दोषवशात्तथा प्रतिभाति । दृष्ट च दोषवशाद्विपरीतकार्योत्पादकत्व, यथा क्षिप्रमन्दाक्षलक्ष्मीकाया. कुलपदमलाक्ष्यास्तत्तद्विरुद्धवीक्षणभाषणादि । त्वयाऽपि चैतदङ्गीकृतमेव, प्रकृतरजतस्मरणस्यानुभूतरजतदेशानुसारिप्रवृत्तिजनकत्वौत्सर्गिककार्यपरिहारेण पुरोदेश एव प्रवृत्तिजनकत्वस्वीकारात् । भेदाऽग्रहणं सहकारिणमपेक्ष्य प्रकृतरजतेस्मरणस्य तदविरुद्धमिति चेत् । दोषान् सहकारिणोऽपेक्ष्य हृषीकस्यापि तत्तथास्तु । किंच, प्रत्यभिज्ञानेन रजतसंवित्तेः शुक्तिगोचरत्वमवस्थाप्यते-यदेव मम रजतत्वेन पूर्वमचकात् तदेवेद शुक्तिशकलम्, इत्येव तस्योत्पादात् । अनुमानेन च विवादपद रजतज्ञान शुक्तिगोचरं, तत्रैव प्रवर्त्तकत्वात्, यदेव तत्रैव यथा सत्यरजतज्ञानं रजतगोचरम्, इति विचारेण वैपरीत्यस्योपपत्तेरसिद्धिर्दुर्गन्धमेव त्वत्साधनमिति स्थितम् । यच्चोक्तम्-शुक्तिरजतयोः प्रत्यक्षस्मरणयोश्च भेदाप्रतिभासादिति, तत्र भेदाप्रतिभासस्तुच्छ कश्चिदुच्येत, अभेदप्रतिभासो वा ? । नाद्य., प्राभाकरैरभावानभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः, विपरीतख्यातिप्रसक्तेः, भिन्नयोरभेदेन प्रतिभासात् । अथ भेदो व्यावर्त्तकधर्मयोग., तस्य चाप्रतिभास. । साधारणधर्म्मप्रतिभास इति चेत् । न, शुक्तिज्ञाने सत्येऽपि तस्य भावाद् दीप्रतादेस्तत्राऽपि प्रतिभासात् । अथ न तत्र तस्यैव प्रतिभासः, त्रिकोणतादिव्यावर्त्तकधर्म्माणामपि प्रतिभासादिति चेत् । तर्हि सावधारणः साधारणधर्मप्रतिभासः प्रकृतरजतबोधेऽपि नास्त्येव, रजतगतस्य रजतत्वस्येव शुक्तिगतस्य त्वनियतदेशकालस्मर्यमाणरजतासन्निधिनियतदेशकालत्वस्य व्यावर्तकधर्मस्य प्रतिभानादिति । ग्रहणस्मरणसंवित्ती अपि स्वसंविदिते प्राभाकराणाम् । ते च यदि स्वरूपेण प्रतिभात, तदा न रजतार्थिनस्तया प्रवृत्तिः स्याद् । अथ ग्रहणं स्मरणरूपतया प्रतिभाति, तदा विपरीतख्यातिरस्पष्टतया प्रतिभानम्, अनुभूतरजतदेशं प्रवृत्तिश्च स्यात् । अथ स्मरण ग्रहणरूपतया, तदाऽपि विपरीतख्यातिरेव । प्रभुतं चात्र वक्तव्यं, तच्चोक्तमेव बृहद्वृत्तौ वितत्य श्रीपूज्यैः ॥ १० ॥ रत्ना० १ परि० । (विस्तरस्तु सम्मतितर्कादवसेय)

खाइं-अव्य० । " घइमादयोऽनर्थकाः " ८ । ४ । ४२४ । इति अपभ्रंशे ' खाइमिति ' निपातः । प्रा० ४ पाद । पुनरर्थे, "किं खाइ णं भंते" भ० ५ श० ४ उ० । देशभाषया वाक्यालङ्कारे, अ० ।

खाइम-खादिम-न० । 'खाद' भक्षणे । खादन खादो भावे घञ् । खादेन निर्वृत्त खादिमम् "तेन निर्वृत्तम्" ४ । २ । ६८ । (पाणि०) अस्याधिकारे इमप्रत्ययः । प्रव० ४ द्वार । स्था० । खमित्याकाश तच्च मुखविवरमेव तस्मिन् मातीति खादिमम् । पृषोदरादित्वात्सिद्धिः । प्रव० ४ द्वार । आव० । आ० चू० । खाद प्रयोजनमस्येति खादिमं स्था० ४ ठा० २ उ० । खाद्यत इति खादिमम् । दश० १ अ० । आव० । भक्तौषधखर्जूरफलादिके आहारभेदे, प्रव० ।

सम्प्रति खादिममाह—

भत्तोसं दंताई, खज्जूरगनालिकेरदक्खाई ।
कक्कडिअंबगफणसाइ, बहुविह-खाइमं नेयं ॥ १३ ॥

भक्तं च तद्भोजनमोष च दाह्य भक्तौष रूढित परिभ्रष्टचणकगोधूमादि, दन्त्यादि दन्तेभ्यो हित दन्त्य गुडादि, आदिशब्दाभ्यारुकूलिकाखण्डेक्षुशर्करादिपरिग्रहः । यद्वा दन्तादि देशविशेषप्रसिद्ध गुडसंस्कृतदन्तपवनादिः । तथा खर्ज्जूरकनालिकेरद्राक्षादि आदिशब्दादक्षोटदाडिमादिपरिग्रह. । तथा कर्कटिकाम्रपनसादि आदिशब्दात्कदल्यादिफलपटलपरिग्रहः बहुविध खादिम ज्ञेयम् । प्रव० ४ द्वार । ध० प० । स० । दर्श० । प्रव० ।

भत्तोसं दंताई, टोप्परखारिकदक्खज्जूरं ।
अंबगफणसं चव्वी, चारुलिया पत्तणागं च ॥४७॥
भट्ठं धन्नं सव्वं, वदामअक्खोडउम्बुगरुलिया ।
फलपक्कं सव्वं, बहुविहं खाइमं नेयं ॥४८॥ ल० प्र० उत्त० ।

खाइय-खाजिक-पु० । खे ऊर्ध्वदेशे आज क्षेप तत्र साधु ठञ् लाजेषु, तस्य खाजिकस्य भर्जनपात्रात् ऊर्ध्वदेशे स्फोटनेन तथात्वम् । वाच० । 'खइय' शब्दार्थे,

खाइया-खातिका-स्त्री० । उपरिविस्तीर्णाध सकटखातरूपे, भ० ५ श० ७ उ० । खातवलये, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

खाओदग-खातोदक-त्रि० । कृतप्रणालिरूपजलमार्गे गृहादौ, कल्प० ६ क्षण ।

खाओवसमिअ-क्षायोपशमिक-'खओवसमिअ' शब्दार्थे

खाओसिय-खातोत्सृत-न० । भूमिगृहस्योपरिप्रासादे वास्तुभेदे, आव० ६ अ० । नि० चू० ।

खाडखड-खाडखड-पुं०। पद्मप्रभायां षष्ठे प्रपक्रान्ते महानरके, स्था० ६ ठा०।

खामहिला-खामहिला-स्त्री०। शुक्लकृष्णपटाकाररोमाङ्कितशरीरायां शून्यदेशकुलादिवासिन्यां (टाली) (टीली) (गिलहरी इतिलोके प्रसिद्धायां) चतुष्पादविशेषजातौ, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। नं०।

खाण-ख्यान-न०। कथने, स्था० ४ ठा० १ उ०।

खाणि-खानि-स्त्री०। स्वर्णायुत्पत्तिस्थाने, आकरे, वा ङीप् तत्रार्थे, वाच०। स्था०।

खाणु-स्थाणु पुं०। स्था-नु-पृषोदरादित्वात् णत्व "स्थाणावहरे" ८।२।७ इति स्थाणौ संयुक्तस्य खो भवति हर श्चेत् वाच्यो न भवति। प्रा०२ पाद। ऊर्ध्वकाष्ठे। ज०२ वक्ष०। दश०। स्थूलकीलकेषु, ये छिन्नावशिष्टवनस्पतीनां शुष्का अवयवाः (ठूंठा) इति लोके प्रसिद्धाः। ज० १ वक्ष०। "खाणु व्व उद्धकाये" स्थाणुरिवोर्ध्वकाय। कायोत्सर्गकाले, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार।

खाणुबहुल-स्थाणुबहुल-त्रि०। स्थाणवो बहुला यत्र तत् तथा स्थाणुप्रचुरे, स्थाणुभिर्व्याप्ते, ज० १ वक्ष०।

खाणुसमाण-स्थाणुसमान-पुं०। स्थाणुतुल्ये श्रमणोपासके, यो हि कुतोऽपि कदाग्रहात न गीतार्थप्रज्ञापनया नाम्यते सोऽनमनस्वभावो बोधकेनाऽप्रज्ञापनीयः स्थाणुसमान इति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

खात-खात-न०। उपरि विस्तीर्णेऽध सङ्कुचिते, रा०। ज्ञा०। अध उपरि च समे, स०। जी०। कूपादौ, सूत्र०। भूमिगृहादौ वास्तुभेदे, नि० चू० १ उ०। आ० चू०।

ख्यात-त्रि०। प्रसिद्धे, ध० १ अधि०।

खामण-क्षामण-न०। पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकक्षामणकानि तत्तपांसि च कियद्दिनानि यावत्कृतानि शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने-उत्तरम्। तत्क्षामणकानि च यथाक्रम द्वितीया, पञ्चमी, दशमीं वा। यावत्कृतानि परम्परया शुद्ध्यन्तीति। किं च पाक्षिकादयोऽगाणि तद्दिनसंबन्धा यथाक्रमं तत्तपांसि च प्रापणीयानि इति श्रद्धेयम्। ४४ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

खामणगपडिक्कमण-क्षामणकप्रतिक्रमण-न०। दन्तधावन कल्पवर्ग च विधाय क्षामणकप्रतिक्रमणादि कर्तुं शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने-उत्तरम् कारणे वेलामध्ये क्षामणकप्रतिक्रमणादि कर्तुं शुद्ध्यतीति। ३६२ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

खामणा-क्षामणा-स्त्री०। कृतापराधस्येनान्यस्य क्षमोत्पादने, सा च द्वेधा द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतः सकलुषाशयस्यैहिकापायभीरोः। भावतः संवेगापन्नस्य सम्यग्दृष्टेः। आव०३ अ०।

खमावेमि अहं सव्वे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केण वि॥ ६१॥
खमामिऽहं पि सव्वेसिं, सव्वभावेण सव्वहा।
भवभवेसु वि जंतूण, वाया मणसा य कम्मुणा॥ ६२॥
एवं घोसेत्तु वंदिज्जा, चेइय साहू विही जओ।
गुरुसाऽवि विही पुव्व, खामणमरिसामणं करे॥ ६३॥
खमावेंतु गुरुं सम्मं, नाणमहिमसंसित्ति।
काऊणं वंदिऊणं च, विहिपुव्वेण पुणो वि य॥६४॥ महा०१अ०।

क्षमयामि सर्वजीवाननन्तभवेष्वप्यज्ञानमोहाभ्यामावृतेन मया तेषां पीडा कृता यान्यामज्ञानमोहाभ्यामावृतेन मया पीडा कृता तयोरपगमान्मर्षयामि। सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे दुश्चेष्टितम्। अत्र हेतुमाह-मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्। कोऽर्थः मोक्षलाभहेतुनिस्तान् सर्वान् स्वशक्त्या न लम्भयामि न च केषांचिद्विघ्नकृतामपि विघाते यतेऽहमिति. वैरं हि भूरिभवपरम्पराऽनुयायिकममरुत्त्वाद्धीनामिवेति ॥६१॥ ध०२ अधि०। (अधिकरणे उत्पन्ने क्षामणा 'अधिगरण' शब्दे प्र० भागे ५०५ पृष्ठे उक्ता) (क्षामणा कृत्वा जिनकल्पादि प्रतिपद्यते इति जिनकल्पिकादिशब्देषु) केवलस्थापनाचार्यनिकटे प्रतिक्रमण कुर्वन्तः श्राद्धास्यः क्षामणावसरे कतिवार क्षामयन्तीति प्रश्ने-उत्तरम् केवलस्थापनाचार्याग्रे प्रतिक्रमणे श्राद्धा एकां क्षामणां कुर्वन्तीति। ३६° प्र० सेन ३ उल्ला०।

खामिय-क्षामित-त्रि०। क्षम-णिच्-क्त-प्राकृते णिलोपः "अदेल्लुक्यादेरत आ"। ८।३।१५३। इति आदेरकारस्याऽऽकारः। प्रा०३ पाद। अपगमितरोषे, रोसावगमे खमा त च खामिय प्रणति। नि० चू० ४ उ०।

खाय-खाद-पुं०। खादने भक्षणे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

खायणिग्गमण-खातनिर्गमन-न०। सञ्जिनखातेगृहे, कल्प० ए क्षण।

खायदेसायारपवालण-ख्यातदेशाचारप्रपालन-न०। ख्यातस्य प्रसिद्धस्य तथाविधापरशिष्टसमततया दूरूढिमागतस्य देशाचारस्य सकलस्य प्रपालनमनुवर्त्तनम्। देशाचाराऽनुवर्त्तनरूपे गृहिधर्मे, तदाचाराऽतिलङ्घने तद्देशवासिजनतया सह विरोधसंभवेनाऽकल्याणलाभः स्यादिति। पठन्ति चात्र लौकिकाः। "यद्यपि सकलां योगी, छिद्रां पश्यति मेदिनीम्। तथापि लौकिकाचारं, मनसापि न लङ्घयेदिति" ध० १ अधि०।

खायमाण-खादत्-त्रि०। भक्षयति, जी० ३ प्रति०।

खार-क्षार-पुं०। क्षरण क्षारः। सचलने,स्था०८ठा०। करीषादिप्रभवे, दशा० ४ अ०। सद्यो भस्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। मृत्पटीवर्णिकादौ, ध० २ अधि०। यवतिलक्षारादौ, पिं०। प्रश्न०। धम्मुल्लादिके, नि० चू० १ उ०। भर्जिकादौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। लवणे, वृ० ४ उ०। "खारस्स लोणस्स अणासयण" क्षारस्य पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्याऽनशनेनाऽपरिभोगेन मोक्षो नास्ति। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। भक्तादौ, शस्त्रभेदे, वाच०।

खार-पुं०। समयकागमाधिक्येन ऋच्छति,ऋ अण् उपसखारो परिमाणे, वाच०। भुजपरिसर्पभेदे, च प्रज्ञा० १ पद।

खारकरीर-क्षारकरीर-न०। वस्तुविशेषे, क्षारकरीरादिकमातपे दत्त्वा पश्चात्तैलादिदाने सन्धानक भवति न वेति। प्रश्ने-उत्तरम् क्षारकरीरादिक दिनत्रयमातपे दत्त्वा पश्चात्तैलादिदापनेन सन्धानक जायते इत्थं श्रीपरमगुरुपार्श्वे श्रुत नास्ति एवंविधान्यक्षराण्यपि दृष्टानि न सन्ति प्रत्युत क्षारकरीरादिकमध्यस्थित पानीयं दिनत्रयोपरि यदि न शुष्यति तदा सन्धानक जायत इति। ११° प्र० सेन० ३ उल्ला०।

खारखत्त–क्षारक्षत–त्रि० । लवणशस्त्राभिहते, ओघ० ।

खारगालण–क्षारगालन–न० । सर्जिकादेर्गालनके गृहस्थोपकरणेषु,खलणं च खारगालणं च । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

खारताउसी-क्षारत्रपुषी-स्त्री० । क्षारशब्दः कटुकवाची तथागमेऽनेकधा प्रसिद्धेस्ततः कटुकायां त्रपुष्याम, प्रज्ञा० १० पद ।

खारतंत–क्षारतन्त्र–न० । क्षरण क्षारः शुक्रस्य तद्विषय तन्त्रं यत् तत्तथा । वाजीकरणतन्त्रे,तद्धि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपजननिमित्त प्रहर्षजननार्थं च कृतम् । सप्तम आयुर्वेद० । स्था० ८ ठा० ।

खारतिल्ल–क्षारतैल–न० । करणशूलनिवारके, निर्लोमतासाधने च क्षारपक्वतैले, वाच० । " लवक्खारसखारतिल्लकलकलतओ " प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

खारपडिद्धियंग–क्षारप्रदिग्धाङ्ग–त्रि० । क्षारेण प्रदिग्धाङ्गेषु "पज्झोइया खारपडिद्धियंगा " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

खारमेह–क्षारमेघ–पुं० । सर्जादिक्षारसमानरसजलोपेतमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

खारवत्तिय–क्षारपात्रित–त्रि० । क्षारपात्रकृता क्षारपात्रिता क्षारपात्रनोजिते, क्षारपात्रस्याधारतां नीते, औ० ।

क्षारवर्तित–त्रि० । क्षारेण क्षारे वा तीक्ष्णकतरुनिर्मितमहाक्षारे वर्त्तिनो वृत्तिं कारित० । क्षारादिभे,औ० । शस्त्रेण छित्वा लवणक्षारादिभिः सिच्यमाने दण्डविशेष प्राप्नुवति, दशा० ६ अ० ।

खारवावी–क्षारवापी–स्त्री० । क्षारद्रव्यभृतवाप्याम, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

खारसाविया–स्त्री० । ब्राह्मीलिपिभेदे, अस्याः सम्यग् अवबोधो नास्ति स० १८ सम० ।

खारसिंचण–क्षारसिञ्चन–न० । क्षारोदकसेचने, पारदारिकाः वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि प्राप्यन्ते । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

खारायण–क्षारायण–पुं० । माण्डवगोत्रान्तर्गतक्षारपुरुषापत्येषु, स्था० ७ ठा० ।

खारिखारी–खारिखारी–स्त्री० । एकत्र समुदितेषु षोडशद्रोणेषु ज्यो० १ पाहु० । रत्ना० ।

खारिय–क्षारित–त्रि० । क्षर-णिच्-क्त । अभिशस्ते, प्राप्तदोषे, भावित, " लवणखरिण्टते शासनकादिके " व्य० ६ उ० ।

खारुगणिय–क्षारुगणिक -पुं० । म्लेच्छदेशभेदे, अनार्ये, तज्जे मनुष्ये च । भ० १२ श० २ उ० ।

खारोदय–क्षारोदक–न० । ईषल्लवणपरिणामे जले, । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । अम्लोदके,अन्त क्षारजले च । कूपादौ,त्रि० । पिं० ।

खारोदा–क्षारोदा–स्त्री० । क्षीरोदापरनामिकायां सुपक्ष्मविजये महानद्याम, । स्था० २ ठा० ३ उ० । ज० ।

खाल–क्षाल–न० । नगरादेर्निर्कमने स्था० २ ठा० ३ उ० ।

खावणा–क्षापणा–स्त्री० । प्रकथने, विशे० ।

खावियंत–खाद्यमान–त्रि० । भक्ष्यमाणे, "काकणिमंसाइ खावियंत" विपा० १० श्रु० २ अ० ।

खास–कास–पुं० । आर्षत्वात्कस्य खः । प्रा० १ पाद । कासिकायाम् , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । द्वितीये रोगातङ्के, " सोलस रोगाइंका, पाउब्भूया तं जहा–सासे १ कासे २ जरे ३ इत्यादि । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

खासिय–कासित–न० । कासने, (खाँसना) इति लोकप्रसिद्धे, ल० । आ० म० । आव० । " खासिएणं छीएण " आ० चू० ४ अ० । अनक्षरश्रुतभेदे, । न० । विशे० । अनार्यदेशभेदे, तत्र जाते मनुष्येऽपि । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० । प्रव० ।

खिइ–क्षिति–स्त्री० । घर्मोद्यासु ईषत् प्राग्भारावसानासु अष्टसु भूमिषु, आव० ४ अ० । दर्श० ।

खिइपइट्ठिअ–क्षितिप्रतिष्ठित–त्रि० । भूम्यां प्रतिष्ठायुक्ते नगरादौ,आ० म० द्वि० । "क्षितिप्रतिष्ठचणक,पुरर्षभपुराभिधम् । कुशाग्रपुरसंज्ञं च,क्रमाद्राजगृहाह्वयम् ॥१४॥ " इति राजगृहनगरमेव पूर्वं क्षितिप्रतिष्ठित नामाऽऽसीत् । ती० १० कल्प । आव० । आ०चू० ।

खिंखिणिया–किङ्किणिका–स्त्री० । क्षुद्रघण्टिकायाम्, औ० ।

खिंखिणिसर किङ्किणिस्वर-पुं० । क्षुद्रघण्टिकाध्वनौ,स्था०६ठा० ।

खिंखिणी–किङ्किणी–स्त्री० । क्षुद्रघण्टिकायाम, स्था० १० ठा० । जं० । रा० । औ० । प्रश्न० ।

खिंखिणीजाल–किङ्किणीजाल–न० । क्षुद्रघण्टिकासमूहे, जी० ५ प्रति० । रा० ।

खिंसण–खिंसन–न० । निन्दावचने. प्रश्न० ५ सम्व० द्वार । प्रव० । स० । अत्यन्तनिन्दायाम, औ० । लोकसमक्षमेव जात्याद्युद्घाटने, न० । ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । स्था० । अन्त० । परस्याग्रतः तद्दोषकीर्तने, न० । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । धिङ् मुण्डमेत्यादिवाक्यरूपे गर्हणे, रा० ।

आचार्यखिंसनम्–

वितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वा वएज्ज खिंसंतो ।
उवलंभं वा य तधा, सीतते वा वदेज्जाहि ॥ २२ ॥

अणप्पज्झो वा साहू भणेज्ज । अणप्पज्झो वा भदतो भणेज्ज । अप्पज्झो वा भणेज्ज । खिंसणपर भदत, सो आयरिओ बहुस्सुओ जातीहीणो सीसपडिच्छए अभिक्ख जातिमादीहिं खिंसति । सो सुत्तत्थे उवजीवित ण सक्कति । ताहे तस्स जातिसारेण एए खिंस उवालभं वा करेज्ज । जो आयरिओ जाइहीणो, अह ण जाणामि त्ति ।

अधा साहू जातिमादिएहिं खिंसंति । तस्स अधावदेसेण इमा खिंसा–

जातिकुलस्स सरिसयं, करेहि ण हु कोद्दवो भवे साली ।
आसलालितं वराओ, वाएति ण गद्दभो काउं ॥ २३ ॥

तुज्झ वि ज कुल जाती वा त अम्हेहिं परिणाय, तो अप्पणो चेव जातिकुल सरिस करेहि । मा कोद्दवसमाणो होउं अप्पाणं सालिसरिसं मण्णतु । ण वा गद्दभेहिं होउ । जतो अस्सललियं काउं सक्कति ॥ २३ ॥

विरूवरूवेण खिंसमाणो इम भणाति–

रूवस्सेव सरिसयं, करे हि ण हु कोद्दवो भवे साली ।

अस्सन्नलितं वराओ, वाएति ण गहओ काउं ।२४। कग।
वायगो, गणी, आयरिओ वा जेण कओ तस्स इमा खिंसा-

अह वायगो त्ति भण्णति, एस किर गणी अयं व आयरिओ ।
सो वि मणे एरिसओ, जेण कओ एस आयरिओ ॥२५॥

इमो उवालंभो खिंसंते सीतते वा-

जातिकुलस्स सरिसयं, करेहि मा अप्पवेरिओ होहि ।
होज्ज हु परिवाओ वि, गिहि पक्खे साहुपक्खे य ॥२६॥

परिवयण परिवादो अयसो गुणोकित्तण वा इत्यर्थः ।

अह वा इमो उवालंभो-

जुत्तं णाम तुमे वाय-एण गणिणा व परिमकातुं ।
आयरिएण व होउ, काऊणं किं व काहामो ॥ २७ ॥

(जुत्तमिति) युज्यते योग्य वा नामशब्दः पादपूरणे इदमेति निर्देशवाचको वा । आयरियस्स वा होउं किं परिमं काऊण जुज्जति अह तुमे चेव । मज्झाय एक्क । तो वयं किं काहामो ।

सीदते वा इमो उवालंभो—

अह वा ण पज्ज जुत्तं, जदंत एयारिसाणि वोत्तुं जो ।
गुरुजत्ति वोढिचमणा, भणामि लज्जं पयहिऊण ।२८। कग

किञ्चान्यत्-

वरतरं मरासि जणितो, नया वि अग्गेण पच्चुवालद्धो ।
इमे मम वेणुप्पं, जणेज्ज अप्पणो पगासेंतो ॥ २९ ॥

अह पच्चत्ते दोसा पच्छायण करेंतो भणामि। अप्पा पुण दोस-विसण करेंतो बहुजणमज्झे भणेज्ज तेण वरतर मरसि भणितो सतो जातेति कसेज्ज तो ।

इम भण्णति-

तुम्हे मम आयरिया, हितोवएसि त्ति तेण सीसो हं ।
एव वियाणमाणा, ण हु जुज्जह खिंसितुं भतो ॥ ३० ॥

जेण मे हितोपदेस देह। तेण तुम्हे मम आयरिया हिओवद-सणो त्ति काउ । अह वि सीसत्तण ते पडिवण्णो । किं च जो जेण जम्मि ठाणम्मि ठावितो दसणे चरणे च । सो त तओ गुरु-तम्मि चेव काउ ना यणेरिसो एय वियाणमाणा तुज्झे किं कसह ।

एमेव सेसएसु वि, तस्सेव हितट्ठयाव्वागाढं ।
रागं कुसुंभओ सु य, इण विहु अ विकोइओ संजो ।३१।

एत पायसो खिसत सीदते भणित (सेसेसु वि) अणप्पज्झादि-एसु। तस्सेव गुरुस्स हियट्ठताए आगाढ अहवा एय आगाढं वयण च भद्दते भणियं सेसेसु वि उवज्झायादिएसु हियट्ठ ताव-दे आगाढ ॥ चोदगा5ऽऽह—आणतेहिं गुरू कह आगाढ भणति। उच्यते-कुसुभो य वि को वि राग जहा ण मुचति तहा गुरुवि एगंते जाव कुडोयदेसेण ण विकोवितो ताव अणायारसेवण ण मुचति ।

किञ्चान्यत्-

वन्तुं वि जाणिऊणं, एवं खिंसे उवालंभेज्ज वा ।
खिंसा तु णिप्पवासा, सपिवासा होउवालंभो ॥ ३२ ॥

आयरिय उवज्झायादीया खरमओ य सज्झायारोयमादि-इड्ढिम वा एते वत्थु जाणिऊण खिंसा उवालंभो वा पयुंजिय-व्वो । णिट्ठुर णिण्हेहवयणं खिंसाउय । सणेहवयण उवालभो ।

खिंसा खलु ओमंमी, खरमज्झे वा वि सीयमाणंमि ।
गाइणिओवालंभो, पुव्वं गुरु माहिह्लिमाणीए ॥३३॥

ओमे, खरमज्झे वा खिंसा पउंजते। रातिणिओ, आयरिओ, जेट्ठो वा पुव्वं गुरू आसी सो य कम्मभारिय वायपासत्थीहूतो तो ड णिक्खंते वायारायादि महिड्ढिय वि जो माणीए तेसु उवा-लंभो पयुजति। नि०चू० १० उ०। आव० । अवज्ञानायाम्, आव० । ४ अ० । ('आगाढ' शब्दे द्वि० भागे १० पृष्ठे उत्सर्गसूत्रमुक्त-म अत्र तु अपवादसूत्रम्)

खिंसणा-खिंसना-स्त्री० । लोकसमक्षं कुत्सने, ओ० ।

खिंसा-खिंसा-स्त्री० । लोकसमक्षं निन्दायाम्, आव० २ अ० । अवघट्टनायाम्, व्य०१ उ० । शासननिन्दायाम्, पञ्चा०१७ विव० । "खिंसिज्ज" खिंस्यते निन्द्यते । बृ० १ उ० ।

खिंसिज्जमाण-खिंस्यमान-त्रि० । परोक्षकुत्सनेन निन्द्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आव० ।

खिंसिय-खिंसित-त्रि० । जन्मकर्माद्युद्घाटनतो निन्दिते, स्था० ६ ठा० । प्रव० ।

खिंसियवयण-खिंसितवचन-न० । जन्मकर्माद्युद्घाटनतो निन्दा-वचने, स्था० ६ ठा० ।

तच्च न वाच्यम्-

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे ।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ २९ ॥

अतिंतिणो भवेत् अतिन्तिणो नामालाभेऽपि नेषद् यत्किंच-नभाषी । तथा अचपलो भवेत् सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः । तथा अल्प-भाषी कारणे परिमितवक्ता । तथा मिताशनो मितभोक्ता भवे-दित्येवंभूतो भवेत् । तथा उदरे दान्तो येन वा तेन वा वृत्ति-शीलः । तथा स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् । देयं दातारं वा न हीलयेत् इति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ दश० ८ अ० ।

अथ खिंसितवचनमाह-

गाहियं च जहाघोसं, तहियं परिपिंडियाण संलावो ।
अमुएणं सुत्तत्थो, सो वि य उवजीवितुं दुक्खो ॥

एकेन साधुना यथाघोषं यथा गुरुभिरभिलापा भणिता तथा श्रुतं गृहीतं मयैव गृहीतः सूत्रार्थः । प्रतीच्छकादीन् वाचयति । यदा च प्रतीच्छक उपतिष्ठते तदा तस्य जातिकुलादीनि पृष्ट्वा पश्चा-त्तैरेव खिंसां करोति । इतश्चान्यत्र साधूनां परिपिण्डितानां स्वा-ध्यायमण्डल्या उत्थितानां संलापो वर्त्तते । कुत्र सूत्रार्थौ प-रिशुद्धौ प्राप्येते । तत्रैकस्तं यथा घोषश्रुतग्राहकं साधुं व्यपदि-शति । तथाऽमुकेन सूत्रार्थौ शुद्धौ गृहीतौ परं स उपजीवितुं (दुक्खो) दुष्करः ।

कथम् ? इति । आह-

जह को वि अमयरुक्खो, विसकंटगवल्लिवेढितो संतो ।
ण वइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिंसमाणो उ ॥

यथा कोऽप्यमृतवृक्षो विषकण्टकवल्लीभिर्वेष्टितः सन् आली-तुमाश्रयितुं न शक्यते । एवमसावपि साधुः प्रतीच्छकान् खिं-सन् न श्रयितुं शक्यः ।

तथाहि—

ते खिंसणा परद्धा, जातीकुलदेसकंमपुच्छाहिं ।
आसाऽऽगता णिरासा, वच्चंति विरागसंजुत्ता ॥

यस्तस्योपसंपद् यतिनं पूर्वमेव पृच्छति–का तव जातिः?,किं नामिका माता?, को वा पिता?, कस्मिन् वा देशे संजातः?, किंच कृष्यादिक कर्म पूर्वं कृतवान्?, एव पृष्ट्वा पश्चात् तान् एवतो हीनाधिकाक्षराद्युच्चारणादेः कुतोऽपि कारणात् कुपितस्तैरेव जात्यादिभिः खिंसति । ततस्ते प्रतीच्छका जातिकुलदेशकर्मपृच्छाभिः पूर्वं पृष्टा. ततः खिंसनया प्रारब्धास्त्याजिताः सन्तः सूत्रार्थौ ग्रहीष्याम इत्याशया आगता निराशाः क्षीणमनोरथा विरागसयुक्ताः " चिरंसि कसेरुमई, अणुभूयासि कसेरुमई?। पीतं ते पाणियं, वरित्तु हता मनदंसणयं " इति भणित्वा स्वगच्छं व्रजन्ति ।

सुत्तत्थाणं गहणं, अहगं काहं ततो परीनियतो ॥
जातिकुलदेसकम्मं, पुच्छंति खल्लारुधन्नागं ॥

एवं तदीयवृत्तान्तमाकर्ण्य कोऽपि साधुर्भणति–अहं तस्य सकाशे गत्वा सूत्रार्थयोर्ग्रहण करिष्ये,नं वाचार्यं खिंसनादोषान्निवर्त्तयिष्यामि । एवमुक्तो येषामाचार्याणां स शिष्यस्तेषामन्तिके गत्वा पृच्छति–योऽसौ युष्माकं शिष्यः स कुत्र युष्माभिः प्राप्त ?। आचार्याः प्राहुः–वैदसनामकस्य नगरस्यासन्ने गोचरग्रामे । ततोऽसौ साधुस्तत प्रतिनिवृत्तो गोचरग्राम गत्वा पृच्छति— अमुकनामा युष्मदीये ग्रामे पूर्वं किम् आसीत्?,ग्रामेयकैरुक्तम्। आसीत् । ततः का तस्य माता ?। को वा पिता ?। किं वा कर्म?, तैरुक्तम (खल्लाडधन्नाग ति) नापितस्य धन्निका नाम दासी सा खल्वाटकौलिकेन समम्रुषितवती । तस्याः सबन्धी पुत्रोऽसौ एव श्रुत्वा तस्य साधोः सकाशं गत्वा भणति—अहं तवोपसंपद प्रतिपद्ये । ततस्तेन प्रतीच्छ्य पृष्टः । कुत्र त्व जात., का वा ते मातेत्यादि । एव पृष्टोऽसौ न किमपि ब्रवीति । तत इतर श्चिन्तयति–जानाम्येषोऽपि हीनजातीयः ।

ततो निर्बन्धे कृते स साधुः प्राह–

ठाणम्मि पुच्छियम्मि, हणुदाणिं कहेमि ओहिता सुणध ।
सोहस्सग्धे कस्स व, इमाइँ तिक्खाइँ दुक्खाइं ॥

स्थाने भवद्भिः पृष्टे सति (हणुदाणिं ति) तत इदानीं कथयामि अवहिताः शृणुत यूयं कस्यान्यस्येमानि ईदृशानि तीक्ष्णानि दुःखानि कथयिष्यामि ।

वइदिसगोचरगामे, खल्वाडगधुत्तकोलिओ थेरो ।
नावियधन्नियदासी, तेसिम्मि सुतो कुलह गुज्झं ॥

वैदिसनगरासन्ने गोचरग्रामे धूर्त्तः कोलिक कश्चित् खल्वाटस्थविरः, तस्य नापितदासी धन्निका नाम भार्या, तयोः सुतोऽस्म्यहम् एतत् गुह्य कुरुत मा कस्यापि प्रकाशयतेत्यर्थः ।

जेट्ठो मइ भाया ग–ज्जत्थे किर ममम्मि पव्वइतो ।
तमहं लद्धसुतीओ, अणुपव्वइतो ऽणुरागेणं ॥

मम ज्येष्ठो भ्राता गर्जत्थे किल मयि प्रव्रजित इति मया श्रुतम् । ततोऽहमेव लब्धश्रुतिको भ्रातुरनुरागेण तमनु तस्य पश्चात्प्रव्रजितः ।

एवं श्रुत्वा स खिंसनकारी साधुः किं कृतवान्? इति । आह–

आगारविसंवइयं, तं नाउं सेसचिंधसंविदियं ।
णिउणो वा पच्छ्रुसितो, आउंटण दाणमुज्जयस्स ॥

न मदीयस्य भ्रातुरेवंविध आकारो भवतीत्याकारविसंवतितं तं ज्ञात्वा शेषैश्च जात्यादिभिश्चिह्नैः संविदितं ज्ञात्वा चिन्तयति अहो अमुना निपुणं पापेन छलितोऽहं यदेवमन्यव्यपदेशेन मम जात्यादिकं प्रकटितम्,तत आवर्त्तन मिथ्यादुष्कृतंदानपूर्वम्, ततो दोषादुपरमण,ततस्तस्मै सूत्रार्थरूपस्योभयस्य नदानमिति गतं खिंसितवचनम् बृ० ६ उ० । (अत्र शोधिश्चतुर्गुरुकादिका निष्पमासान्ता इत्यादि ' अवयण ' शब्दे प्र० भागे ७१६ पृष्ठे प्रापितम्)

खिज्जणिया–खेदनिका–स्त्री० । " खिदां जूरः " ८ । ४ । १३४॥ इति खिदेरन्त्यस्य द्विरुक्तो जः । प्रा० ४ पाद । खेदक्रियायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

खिण्ण–खिन्न–त्रि० । दैन्ययुक्ते, निर्विण्णे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अलसे, खेदयुक्ते च । वाच० । अवगाहनी कच्छपादिजलचरे, जी० ३ प्रति० ।

खितिपइट्ठिय–क्षितिप्रतिष्ठित–त्रि० । 'खिइपइट्ठिअ' शब्दार्थे ।

खित्त–क्षिप्त–त्रि० । न्यस्ते,कर्म० ३ कर्म० । रागभयापमानैर्नष्टचित्तादौ,स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रेरिते, विकीर्णे, अवज्ञाने,वाच० ।

क्षेत्र–न० । कृषिकर्मादिविषयभूतायाम्, अनु० । धान्यवपनभूमौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । ('खेत्त' शब्दे सर्वेऽर्था ज्ञेयाः)

खित्तचित्त–क्षिप्तचित्त–त्रि० । क्षिप्त नष्ट रागभयापमानैश्चित्तं यस्य सः । स्था० ५ ठा० २ उ० । चित्तभ्रमिणि, ध० ३ अधि० । यस्य पुत्रशोकादिना (स्था० ५ ठा० १ उ०) रुक्मिणाद्यपहारेण वा चित्तभ्रमो जात. । ओघ० ।

क्षिप्तचित्तस्य वैयावृत्त्य–

सूत्रम्–खित्तचित्ते भिक्खू गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणाऽवच्छेइयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं० जाव रोगायंकाओ विप्पमुक्के तओ पच्छा तस्स अहालहुयस्सए नामं ववहारे पट्ठवेसिया ॥ १० ॥
व्य० अ० १ उ० ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ? उच्यते–

घोरम्मि तवे दिण्णे, भएण सहसा भवेज्ज खित्तो उ ।
गेलन्नं वा पगयं, अगिलाएँ करणं व संबन्धो ॥

घोरे रौद्रे परिहारादिरूपे तपसि दत्ते भयेन सहसा भवेत क्षिप्त क्षिप्तचित्तः अपहृतचित्त इत्यर्थः । अथ वा ग्लान्यं प्रकृत क्षिप्तचित्तोऽपि च ग्लानकल्पः तस्यापि (अगिलया) अग्लान्या यथोक्तस्वरूपया कर्त्तव्यमिति ।

संप्रति क्षिप्तचित्तप्ररूपणार्थमाह–

लोइय लोउत्तरिओ, दुविहो खित्तो समासतो होइ ।
कह पुण हवेज्ज खित्तो, इमेहिँ सुण कारणेहिँ तु ॥

समासतः संक्षेपतो द्विविधो द्विप्रकार. क्षिप्तो भवति । तद्यथा–लौकिको, लोकोत्तरिकश्च । तत्र लोके भवो लौकिक । अ-

ध्यात्मादित्वाद् इकण्। एवं लोकोत्तरे भयो लौकोत्तरिकः। अथ कथं केन प्रकारेण पुनः क्षिप्तः क्षिप्तचित्तो भवेत् ?। सूरिराह-शृणु वक्ष्यमाणैः कारणैर्भवति।

तान्येव कारणान्याह-

रागेण वा भएण व, अह वा अवमाणितो नरिंदेण ।
एएहिँ खित्तचित्तो, वणियाइपरूवणा लोए ॥

रागेण,यदि वा भयेन। अथ वा नरेन्द्रेण प्रजापतिना । उपलक्षणमेतत्-सामान्येन वा प्रभुणा अपमानितोऽपमानं ग्राहितः । एतैः खलु कारणैः क्षिप्तचित्तो भवति । ते च लोके उदाहरणत्वेन प्रज्ञापिता वणिगादयः । तत्र रागे क्षिप्तचित्तो यथा-वणिग्जाया । तथाहि-काचिद्वणिग्जाया। भर्तारं मृतं श्रुत्वा क्षिप्तचित्ता जाता।

भयेनापमानेन च क्षिप्तचित्तत्वे उदाहरणान्याह-

भयतो सोमिलबडुओ, सहसोत्थरितो व संजुयादीसु ।
धणहरणेण व पहुणा, विमाणितो लोइया खित्ते ॥

भयतो भयेन क्षिप्तचित्तः ।यथा-गजसुकुमालमारको जनार्दनभयेन। सोमिलनामा बटुको ब्राह्मणः । अथ वा संयुगादिषु संयुगं संग्रामस्तत्र, आदिशब्दात् परबलधाटीसमापतनादिपरिग्रहः तेषु । गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे। सहसा अतर्कितं समन्ततः परिगृहीतो भयेन क्षिप्तचित्तो भवति । स च प्रतीत एव । भयेनोदाहरणमुक्तम् । सम्प्रत्यपमानत आह-प्रभुणा वा नरेन्द्रेण धनहरणेन सर्वस्वापहरणतो विमानितोऽपमानितः क्षिप्तो भवति । एवमादिकानि लौकिकान्युदाहरणानि क्षिप्ते क्षिप्तचित्तविषयाणि ।

सम्प्रति लोकोत्तरिकाण्यभिधित्सुराह-

रागम्मि रायखुड्डो, जड्डादितिरिक्खचरियवायम्मि ।
रागेण जहा खित्तो, तमहं वुच्छं समासेणं ॥

रागे सप्तमी तृतीयार्थे, रागेण क्षिप्तचित्तो यथा राजक्षुल्लकः-राजक्षुल्लकः। जड्डादितिर्यग्वादे इति मध्यमपदलोपी समासः । उभयेन यथा जड्डादीन् हस्तिप्रभृतीन् तिरश्चो दृष्ट्वा। अपमानेन यथा-चरकेण सह वादे पराजितः । तत्र रागेण यः राजक्षुल्लकः क्षिप्तचित्तोऽभवत्तमहं तथा समासेन वक्ष्ये ।

यथाप्रतिज्ञातं करोति-

जियसत्तुनरवइस्सा, पव्वज्जा सिक्खणा विदेसम्मि ।
काऊण पोयणम्मी, तव्वाद निव्वुतो भयवं ॥
एक्को य तस्स भाया, रज्जसिरिं पयहिऊण पव्वइतो ।
भाउगअणुरागेणं, खित्तो जातो इमो उ विही ॥

जितशत्रुर्नाम नरपतिस्तस्य प्रव्रज्याऽभवत्, धर्मं तथाविधानां स्थविराणामन्तिके श्रुत्वा प्रव्रज्यां स प्रतिपन्नवानित्यर्थः । प्रव्रज्यानन्तरं च तस्य शिक्षा ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च प्रवृत्ता । कालान्तरे च पोतनपुरे विदेशरूपे परतीर्थिभिः सह वाद उपस्थितः । ततस्तैः सह शोभनो वादस्तान् जित्वा महतीं जिनशासने प्रभावनां कृत्वा स भगवान् निर्वृत्तो मुक्तिपदवीमधिरूढः । (एक्को य इत्यादि) एकश्च तस्य जितशत्रो राज्ञः प्रव्राजितस्यानुरागेण राज्यश्रियं प्रहाय परित्यज्य जितशत्रुप्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं कियता कालेन प्रव्राजितः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः । स च तं ज्येष्ठभ्रातरं विदेशे पोतनपुरे कालगतं श्रुत्वा भ्रात्रनुरागेणापहृतचित्तो जातः । तत्र चायं वक्ष्यमाणस्तत्प्रगुणीकरणाय विधिः ।

तमेवाह—

तेलोक्कदेवमहिया, तित्थयरा नीरया गया सिद्धिं ।
थेरा वि गया केई, चरणगुणपहावगा धीरा ॥

तस्य भ्रात्रादिमरणं श्रुत्वा क्षिप्तचित्तीभूतस्याऽऽश्वासनार्थमियं देशना कर्त्तव्या । यथा-मरणधर्मैवमानो जीवलोकः । तथाहि-ये तीर्थकरा भगवन्तस्त्रैलोक्यदेवैस्त्रिभुवननिवासिभिर्भवनपत्यादिभिर्देवैर्महितास्तेऽपि नीरजसो विगतसमस्तकर्मपरिमाणवः सन्तो गताः सिद्धिम् ।तथा-स्थविरा अपि केचिन्महीयांसो गौतमस्वामिप्रभृतयश्चरणप्रभावका धीरा महासत्त्वा देवदानवैरप्यक्षोभ्याः सिद्धिं गताः । तदेवं भगवतामपि तीर्थकृतां महतामपि महर्षीणामीदृशी गतिस्तत्र का कथा शेषजन्तूनां तस्मादेतादृशीं संसारस्थितिमनुचिन्त्य न शोकः कर्त्तव्य इति।

अपि च--

न हु होइ सोइयव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि ।
सो होइ सोइयव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे ॥

न 'हु' निश्चितं स शोचयितव्यो भवति, यश्चारित्रे दृढः सन् कालगतः । स खलु भवति शोचयितव्यो यः संयमे दुर्बलः सन् विहृतवान्।

स कस्माच्छोचयितव्य ? इत्यत आह-

जो जह व तह व लद्धं, भुंजइ आहारउवहिमाईयं ।
समणगुणमुक्कजोगी, संसारपवड्ढगो भणिओ ॥

यो नाम यथा वा तथा वा दोषदुष्टतया सदोषतया इत्यर्थः । लब्धमाहारोपध्यादिकं भुङ्क्ते उपभोगविषयीकरोति । श्रमणानां गुणाः मूलोत्तरगुणरूपाः श्रमणगुणास्तैर्मुक्ताः परित्यक्तास्तद्रहिता ये योगा मनोवाक्कायव्यापारास्ते श्रमणगुणमुक्तयोगास्ते यस्य सन्ति स श्रमणगुणमुक्तयोगी संसारप्रवर्द्धको भणितस्तीर्थकरगणधरैः । ततो यः संयमदुर्बलो विहृतवान् स शोच्य एव । भवदीयस्तु भ्राता यदि कालगतो दृढश्चारित्रे ततः स परलोकेऽपि सुगतिभागिति । न करणीयः शोकः।

सम्प्रति 'जड्डादितिरिक्ख' इत्यंशस्य व्याख्यानार्थमाह-

जड्डाई तेरिच्छे, सत्थं अगणी य मेहविज्जू य ।
ओमे पभिभीसणया, चरगं पुव्वं परूवेह ॥

जड्डो हस्ती आदिशब्दात् सिंहादिपरिग्रहः तान् । तिरश्चो दृष्ट्वा। किमुक्तं भवति—गजं वा मदोन्मत्तं, सिंहं वा गर्जन्तं, व्याघ्रं वा, तीक्ष्णखरनखरविकरालमुखं दृष्ट्वा कोऽपि भयतः क्षिप्तचित्तो भवति । कोऽपि पुनः शस्त्राणि खड्गादीन्यायुधानि दृष्ट्वा । इयमत्र भावना-केनापि परिहासेनोत्कीर्णं खड्गं वा कुन्तं वा छुरिकादिकं वा दृष्ट्वा कोऽपि हा मारयति मामेष इति सहसा क्षिप्तचित्त उपजायते । तथा अग्नौ प्रदीपनके लग्ने कोऽपि भयतः क्षिप्तो भवति । कोऽपि स्तनितं मेघगर्जितमाकर्ण्य। कोऽपि विद्युतं दृष्ट्वा । एवं क्षिप्तचित्ततां यातस्य (ओमे पभिभीसणया इति) अवमो लघुतरस्तेन प्रतिभीषणं हस्त्यादेः कर्त्तव्यं येन क्षिप्तचित्तताऽपगच्छति । यदि पुनश्चरकेण वादे पराजितः इति क्षिप्तचित्तो भवेत् ततश्चरक

पूर्वं प्ररूप्य तदनन्तरं तेन स्वमुखोच्चारितेन वचसा तस्य क्षिप्तचित्तता-तारयितव्या ।

संप्रत्यपमानतः क्षिप्तचित्ततां भावयति-

अवहीरितो व गणिणा, अहव ण मगणेण कम्मिइ पमाए य ।
वायंमि वि चरगाई, पराइतो तत्थिमा जयणा ॥

गणिना आचार्येण सोऽवधीरितः स्याद् अथ वा (णमिति) वाक्यालङ्कारे स्वगणेन स्वगच्छेन गणावच्छेदकादिना कस्मिंश्चित्प्रमादे वर्त्तमानः सन् गाढं शिक्षितो भवेत् । ततोऽपमानेन क्षिप्तचित्तो जायते । यदि वा चरकादिना परतीर्थिकेन वादे पराजित इत्यपमानतः क्षिप्तचित्तः स्यात् । तत्र तस्मिन् क्षिप्तचित्ते इय वक्ष्यमाणा यतना ।

तत्र प्रथमतो भयेन क्षिप्तचित्ते यतनामाह-

कण्णम्मि एस सीहो, गहितो अह धामितो य सो हत्थी ।
खुड्डगतरेण उ तुमे, ते वि य गमिया पुरा पाला ॥

इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पाला इत्युक्ते हस्तिपालाः, सिंहपाला द्रष्टव्याः । तेऽपि पुरा पूर्वं गमिताः प्रतिबोधिताः कर्तव्याः, यथाऽस्माकं क्षुल्लको युष्मदीयं सिंहं हस्तिनं वा दृष्ट्वा क्षोभमुपागतः, ततः स यथा क्षोभं मुञ्चति तथा कर्तव्यम् । एवं तेषु प्रतिबोधितेषु, स क्षिप्तचित्तीभूतस्तेषामन्तिके नीयते, नीत्वा च तेषां मध्ये यः क्षुल्लकादपि लघुतरः तेन सिंहः कर्णे धार्यते, हस्ती वा तेन धाट्यते । ततः स क्षिप्तचित्तः प्रोच्यते-त्वत्तोऽपि यः क्षुल्लकतरोऽतिशयेन लघुः तेन एष सिंहः कर्णे गृहीतः । अथ वा स हस्ती अनेन धाटितः । त्वं तु बिभेषि, किं त्वमेतस्मादपि भीरुर्जातः? ततो धाष्टर्यमवलम्ब्यतामिति ।

सत्थऽग्गि थंभेउं, पणोल्लणं तस्स एस सो हत्थी ।
थेरो चम्मविकड्ढण, अलायचक्कं च दोण्हं च ॥

यदि शस्त्रं, यदि वाऽग्निं दृष्ट्वा क्षिप्तोऽभवत्, ततः शस्त्रमग्निं च विद्यया स्तम्भित्वा तस्य पादाभ्यां प्रणोदनं कर्तव्यं, भणितव्यं च तं प्रति-एषोऽस्माभिरग्निः शस्त्रं च पादाभ्यां प्रणोद्यते, त्वं पुनरेताभ्यां बिभेषीति । यदि वा पानीयेनाऽऽर्द्रीकृत्य हस्तादिभिः सोऽग्निः स्पृश्यते, भण्यते-एतस्मादपि तव किं भयम्? । तथा यतो हस्तिनः तस्य भयमभूत् स हस्ती स्वयं पराङ्मुखो गच्छन् दर्श्यते, यथा-यतस्त्वं बिभेषि स हस्ती नश्यति नश्यन् वर्तते, ततः कथं त्वमेव भीरोरपि भीरुर्जातः । तथा यो गर्जितं श्रुत्वा भयमग्रहीत्, तं प्रत्युच्यते-स्थविरो नभसि शुष्कं चर्म विकर्षति आकर्षति, एवं चोक्त्वा शुष्कचर्मण आकर्षणशब्दः श्राव्यते, ततो भयं जरयति । तथा यद्यग्नेः स्तम्भनं न ज्ञायते, तदा द्वयोः अग्नौ च विद्युति च भयं प्रतिपन्नः सन् अलातचक्रं पुनरकस्मात्तस्य दर्श्यते, यावदुभयोरपि भयं जीर्णं भवति ।

सम्प्रति वादे पराजयापमानतः क्षिप्तचित्तीभूतस्य यतनामाह-

एएण जितोऽमि अहं, तं पुण सहसा न लक्खियं जणेण ।
धिक्कयकइयवलज्जा, खित्तो पउणो ततो खुड्डो ॥

इह येन चरकेण वादे पराजितः स च ज्ञाप्यते यथोक्तं प्राक् । ततः स आगत्य वदति-एतेनाहं वादे पराजितोऽस्मि । तत्पुनः स्व जनेन सहसा न लक्षितम् । ततो मे लोकतो जयप्रवादोऽभवत् । एवमुक्ते स चरको धिक्कृतो धिक्कारेण लज्जाप्यते लज्जां ग्राह्यते लज्जां च ग्राहितः सन् सोऽपसार्यते । ततः स क्षिप्तो भण्यते-किमपि त्वमपन्यायं गृहीतवान् वादे ? ननु स त्वया पराजितः । तथा च त्वत्समक्षमेवैष धिक्कारं ग्राहित इति, एवं यतनायां क्रियमाणायां यदि स क्षुल्लकः प्रगुणीभवति ततः सुन्दरम् ।

तह वि य अनिवट्टमाणे, संरक्खमरक्खणे य चउ गुरुगा ।
आणाइणो य दोसा, जं सेवति जं च पाविहिती ॥

तथाऽपि च एवं यतनायां क्रियमाणायामपि तिष्ठति अनिवर्त्तमाने क्षिप्तचित्तत्वे, संरक्षणं वक्ष्यमाणयतना कर्त्तव्या अरक्षणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका गुरुमासाः । तथा आज्ञादय आज्ञाऽनवस्था-मिथ्यात्व-विराधना दोषाः । तथा असंरक्ष्यमाणो यत्सेवते षड्जीवनिकायविराधनादिकं यच्च प्राप्तोऽत्यनर्थं तन्निमित्तं च प्रायश्चित्तम् ।

अथ किं सेवते ?, किं वा प्राप्स्यति ?, इति । तन्निरूपणार्थमाह-

छक्कायाण विराहण, झामणतेणा निवायणं चेव ।
अवडे विसमे य पडिए, तम्हा रक्खंति जयणाए ॥

षण्णां कायानां पृथिवीकायिकादीनां विराधना क्रियेत । ध्मापनं प्रदीपनकं तद्वा कुर्यात् । यदि वा स्तैन्यम् । अथ वा निपातनमात्मनः परस्य वा विधीयते, अवटे कूपे, अथ वाऽन्यत्र विषमे पतितो भवेत्, तदेवमसंरक्षणे इमे दोषास्तस्मात् रक्षन्ति यतनया वक्ष्यमाणया ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासुराह—

सस्सगिहादीणि डहे, तेणे अह सो सयं वाही ।
रज्जा मारणपिट्टण-मुज्जये तद्दोस जं च सेसाणं ॥

सस्यं धान्यं तद् गृह्णातीति तद्गृहं, तद्गृहं सस्यगृहं तदादीनि आदिशब्दात् शेषगृहापणादिपरिग्रहः दहेत् स क्षिप्तचित्ततया अग्निप्रदानेन भस्मसात्कुर्यात् एतेन ध्मापनमिति व्याख्यातम् । यदि वा स्तेनयेत् । अथ वा स स्वयं किमपि ह्रियेत एतेन स्तैन्यं व्याख्यातम् । मारण पिट्टनमुज्जयस्मिन्स्यात् किमुक्तं भवति-स क्षिप्तचित्तत्वेन परवश इव स्वयमात्मानं मारयेत् पिट्टयेत् यद्वा-परं मारयन् पिट्टयित्वा स परमारणेन पिट्येत वा इति (तद्दोसा जं च सेसाणमिति) तस्य क्षिप्तचित्तस्य दोषात् यच्च शेषाणां साधूनां मारणं पिट्टनं वा तथा हि स क्षिप्तचित्तः परान् यदा व्यापादयति तदा परे स्वरूपमजानानाः शेषसाधूनामपि घातप्रहारादिकं कुर्युस्तन्निमित्तं मारणे रुष्ट्य शेषाणि तु स्थानानि सुगमानीति व्याख्यानयति यदुक्तम्-तस्माद्रक्षन्ति यतनयेति ।

तत्र यतनामाह—

महिड्ढीए उट्ठनिवेसणा य, आहारविगिंचणा वि उस्सग्गो ।
रक्खंताण य फिडिए, अगवेसणे होंति चउ गुरुगा ॥

महर्द्धिको नाम ग्रामस्य नगरस्य वा रक्षाकारी तस्य कथनीयम्, यथा-(उट्ठनिवेसणा इति) मृदुबन्धैस्तथा संयमनीयो यथा स्वयमुत्थानं निवेशनं च कर्तुमीशो भवति तथा । यदि वातादिना धातुक्षोभोऽस्याभूदिति ज्ञायते तदाऽपथ्याहारपरिहारेण स्निग्धमधुरादिरूप आहारः प्रदातव्यः (विगिंचण त्ति) उच्चारादेस्तस्य परिष्ठापनं कर्त्तव्यम् । यदि पुनर्देवताकृत एष उपद्रव इति ज्ञायते तदा प्रासुकैषणा क्रिया यत्नेन कार्या । तथा (वि उस्सग्गो इति) किमयं वातादिना क्षोभः, उत देवताकृ-

उपद्रव इति परिज्ञानाय देवताराधनार्थं कायोत्सर्गः करणीयः। ततस्तया आकम्पितया कथिते सति तदनुरूपो यत्नो यथोक्तस्वरूपः करणीय. एवं रक्षतामपि यदि स कथञ्चित् स्फिटितः स्यात्,ततस्तस्य गवेषणं कर्त्तव्यम् । अन्यथाऽगवेषणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो महर्द्धिकद्वारं विवृणोति-

अम्हं एस पिमाओ, रक्खंताणं पि फिट्टिए कयाइ ।

सो परिरक्खेयव्वो, महिड्डिए चेव कहणा उ ॥

रक्षा अस्यास्तीति रक्षको, रक्षायां नियुक्तो राक्षिको वा प्रामस्य नगरस्य वा रक्षको कारणिके महर्द्धिके कथना कर्त्तव्या तस्मै कथयितव्यमिति भाव. । यथा अत्र तस्मिन्नुपाश्रये अस्माकं रक्षतामपि एष पिशाचो प्रथिलः कदाचिद्विस्फटति अपगच्छति । स 'त्वं' निश्चित्त परिरक्षितव्य. प्रतिपन्नवत्सलत्वात् । इति । व्याख्यात महर्द्धिकद्वारम् ।

अधुना 'उपनिवेश्मणाय' इति व्याख्यानयति—

मिउबंधेहिँ तहा णं, जमेंति जइ सो सयम्मि उट्ठेइ ।

अपवरग मत्थरहिते, वाहिं कुडमे असुणं च ॥

मृदुबन्धैस्तथा (णमिति) तं क्षिप्तचित्तं यमयन्ति यतन्ते । यथा स स्वयमुत्तिष्ठति, तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वान्निषिध्यते च. तथा स तस्मिन्नपवरके स्थाप्यते । यत्र न किमपि शस्त्रं भवति । अन्यथा स क्षिप्तचित्ततया युक्तमयुक्तं चाऽजानानः शस्त्रं दृष्ट्वा तेनात्मानं व्यापादयेत्, तस्य चाऽपवरकस्य द्वारं बहिः कुडण्डेन वा विशङ्कादिना यन्त्रते येन न निर्गत्याऽपगच्छति । तथा अशून्यं यथा भवति एवम्प्रकारेण प्रतिजागर्यते, । अन्यथा शून्यमात्मानमुपलभ्य बहुतरं क्षिप्तो विक्षिप्येत ॥

उन्वरयस्स य असती, पुन्वखया सती य संपए अगडो ।

तस्सोवरिं च चक्क, न फिमइ जह उप्फिमंतो वि ॥

अपवरकस्य असति अभावे, पूर्वखनितकूपे निर्जले स प्रक्षिप्यते, तस्याप्यभावे अवटो नयः खन्यते, खनित्वा तत्र स क्षिप्यते, प्रक्षिप्य च तस्यावटकस्योपरि चक्रं स्थाप्य स्थानाय दीयते, यथा स उत्स्फटन्नपि उत्प्लवमानोऽपि न स्फिटति न बहिर्गच्छति ।

साम्प्रतम 'आहारविगिंचणेत्यादि' व्याख्यानयति-

निध्दमहुरं च नत्तं, करीससेज्जा उ नो जहा वाऊ ।

दव्विय धातुक्खोभे, नाउं उस्सग्ग तो किरिया ॥

यदि वातादिना धातुक्षोभोऽस्य सजात इति ज्ञायते, तदा भक्तमपथ्यपरिहारेण स्निग्धं मधुरं च तस्मै दातव्यम्, शय्या च करीषमयी कर्त्तव्या, सा हि सोष्णा भवति, उष्णे च वातश्लेष्मापहार.। तथा किमयं दैविको दैवेन भूतादिना कृत उपद्रवः। धातुक्षोभज इति ज्ञाते देवताऽऽराधनाय उत्सर्गः क्रियते । तस्मिश्च क्रियमाणे यदा किञ्चित्तया देवतया कथित तदनुसारेण ततः क्रिया कर्त्तव्या यदि दैविक इति ।

संप्रति 'रक्खंताण पि फिटिए' इत्यादि व्याख्यानयति-

अगमे पलाय मग्गण, अन्नगणा वा वि जे ण सारक्खो ।

गुरुगा य जं च जुत्तो, तेसिं च निवेयणाकरणं ॥

'अगमे' इति सप्तमी पञ्चम्यर्थे,ततोऽयमर्थः-अवटात् कूपात् उपलक्षणमेतत्, अपवरकाद्व., यदि पलायते, कथमपि ततस्तस्य मार्गणमन्वेषणं कर्त्तव्यम् । तथा ये तत्रान्यत्र वा आसन्ने,दूरे वा अन्यगणा विद्यन्ते तेषां च निवेदनाकरणं,तेषामपि निवेदनं कर्त्तव्यमिति भावः । यथाऽस्मदीय एकः साधुः क्षिप्तचित्तो नष्टो वर्त्तते । ततस्तैरपि गवेषणीयः दृष्टे च स संग्रहणीयः । यदि पुनर्न गवेषयन्ति स्वगणवर्त्तिनोऽन्यगणवर्त्तिनो वा, तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासाः । यच्च करिष्यति षट्जीवनिकायविराधनादिकं तन्निमित्तं च तेषां प्रायश्चित्तमिति ॥

छम्मासे पमियरिउं, अणिच्छमाणेसु भुज्जतरगो वि ।

कुलगणसंघसमाए, पुव्वगमेणं निवेएज्जा ॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण तावत्स प्रतिचरणीयो यावत्षण्मासा भवन्ति । ततो यदि प्रगुणो जायते, तर्हि सुन्दरम् । अथ न प्रगुणीभूतस्ततो भूयस्तरकमपि तस्य प्रतिचरणं विधेयम् । अथ ते साधवः परिश्रान्ता भूयस्तरकं प्रतिचरणं नेच्छन्ति, ततस्तेप्वनिच्छत्सु कुलगणसङ्घसमवायं कृत्वा पूर्वगमेन कल्पोक्तप्रकारेण तस्मै निवेदनीयम्, निवेद्य च तदाज्ञया वर्त्तितव्यमिति ।

अथ स साधुः कदाचिद् राजादीनां स्वजनः स्यात्, तत इयं यतना विधेया-

रण्णो निवेइयम्मी, तेसिं वयणे गवेसणा हुंति ।

ओसहवेज्जा संबं-धुवस्सए तीसु वी जयणा ॥

यदि राज्ञोऽन्येषां वा स पुत्रादिको भवेत्, ततो राज्ञ', उपलक्षणमेतत् । अन्येषां वा स्वजनानां निवेदनं क्रियते । यथा-युष्मदीय एष पुत्रादिकः क्षिप्तचित्तो जात इति । एवं निवेदिते यदि राजादयो ब्रुवते मम पुत्रादीनां क्रिया स्वयमेव क्रियमाणा वर्त्तते । तत इहैव तमप्यानयतेति । ततः स तेषां वचनेन तत्र नीयते । नीतस्य तत्र गवेषणादि भवति । अयमत्र भावार्थ'-साधवोऽपि तत्र गत्वा औषधभेषजानि प्रयच्छन्ति प्रतिदिवसं च शरीरस्योदन्तं वहन्ति । यदि पुनः सम्बन्धिनः स्वजना वदेयुर्वयमौषधानि वैद्यं वा सम्प्रयच्छामः । परमस्माकमासन्ने प्रदेशे स्थित्वा यूयं प्रतिचरत, तत्र यदि शोभनो भावस्तदैव क्रियते । अथ गृहस्थीकरणाय तेषां भावः। तदा न तत्र नयनम् । किन्तु- स्वोपाश्रय एव ध्रियते । तत्र च त्रिष्वपि आहारोपधिशय्यासु यतना कर्त्तव्या । एष द्वारगाथा संक्षेपार्थ. ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो 'रण्णो निवेइयम्मी' इत्येतद् व्याख्यानयति-

पुत्तादीणं किरियं, सयमेव घरम्मि को वि कारेज्जा ॥

अणुजाणंते य तहिं, इमे व गंतुं पमियरंति ॥

यदि कोऽपि राजा, अन्यो वा तस्य क्षिप्तचित्तस्य साधोः स्वजनो गृहे स्वयमेव साधुनिवेदनात् प्राक् आत्मनैव पुत्रादीनां क्रिया चिकित्सां कारयति, तदा तस्मै निवेदिते युष्मदीयः क्षिप्तचित्तो जात इति कथिते यदि अनुजानीते यथा तमत्र समानयतेति, ततः स तत्र नीयते नीतं वसन्तमिमेऽपि गच्छवासिन. साधवो गत्वा प्रतिचरन्ति ।

ओसहवेज्जे देमो, पडिजगगह णं तहिं ठियं चेव ।

तेसिं च नाय भावं, न देंति मा णं गिही कुज्जा ॥

कदाचित्स्वजना ब्रूयु. । यथा-औषधानि वैद्यं च वयं दद्म. केवलमिह अस्मिन्नस्माकमासन्ने प्रदेशे स्थित एनमित्येव प्रतिजागृत, तत्र यदि तेषां भावो विरूपो गृहस्थीकरणात्मकस्ततस्ते-

षां तथारूप भावमिङ्गिताकारं कुशलो ज्ञात्वा न ददाति न प्रयच्छति । न तेषामासन्नप्रदेशे नयनीति भावः । कुतः? इति आह-मा एतं गृहस्थीकुर्युरिति हेतोः ।

सम्प्रति 'तीसु वि जयणा' इत्येतद्व्याख्यानयति—

आहारउवहिसेज्जा-उग्गमउप्पायणादिसु जयंता ।
वायादी खोजम्मि वि, जयंति पत्तेय मिस्सा वा ॥

आहारे उपधौ शय्यायां च विषये उद्गमोत्पादनादिषु, आदिशब्दादेषणादिदोषपरिग्रहः । यतन्ते प्रयत्नपरा भवन्ति । उद्गमोत्पादनादिदोषविशुद्धाहाराद्युत्पादनेन प्रतिचरन्तीति भावः । एषा यतना दैविके क्षिप्तचित्तत्वे द्रष्टव्या । एव वातादिना धातुक्षोभेऽपि प्रत्येकं साम्भोगिका मिश्रा वा असाम्भोगिकैः संमिश्रा वा पूर्वोक्तप्रकारेण यतन्ते ।

पुव्वं दिट्ठो उ विही, इह वि करेत्ताण होति तह चेव ।
तेगिच्छंमि कयम्मी, आदेसा तिन्नि सुद्धो वा ॥

यः पूर्वं कल्पाध्ययने ग्लानसूत्रे उद्दिष्टः प्रतिपादितो विधिः, स एव इहापि क्षिप्तचित्तसूत्रेऽपि वैयावृत्यं कुर्वता तथैव भवति ज्ञातव्यः । चैकित्स्ये च चिकित्सायाः कर्म्मणि च कृते प्रगुणीभूते च तस्मिन् त्रयः आदेशाः । एके ब्रुवते-गुरुको व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः । अपरे ब्रुवते-लघुक । अन्ये आचक्षते-लघुस्वकः । तत्र तृतीय आदेशः प्रमाणं, सूत्रोपदिष्टत्वात् । अथवा स शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक् ।

परवशतया रागद्वेषाभावेन प्रतिसेवनादेव विभावयिषुरिदमाह-

चउरो य हुंति भंगा, तेसिं वयणम्मि होंति पएणवणा ।
परिसाए मज्झम्मी, पट्ठवणा होइ पच्छित्ते ॥

इह चारित्रविषये वृद्धिहान्यादिगताश्चत्वारो भवन्ति भङ्गाः । ते चाग्रे वक्ष्यन्ते—येषां च भङ्गानां वचनेन, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, भवन्ति पर्षदो मध्ये प्रज्ञापना प्ररूपणा तदनन्तरं यदि भवति शुद्धिमात्रनिमित्तं प्रायश्चित्तं दातव्यम् । ततस्तस्य प्रायश्चित्तस्य लघुकस्वरूपस्य, गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्था, भवति प्रस्थापनाप्रदानमिति ।

सम्प्रति चतुरो भङ्गान् कथयन् प्रायश्चित्तदानाभावं भावयति-

वड्ढति हायति उभयं, अवट्ठिय च चरणं भवे चउहा ।
खइयं तहोवसमियं, मीस अह खायखित्तं च ॥

कस्यापि चारित्रं वर्द्धते, कस्यापि हीयते, कस्यापि वर्द्धते हीयते च, कस्याप्यवस्थितं वर्त्तते । एते चत्वारो भङ्गाश्चारित्रस्य । साम्प्रतममीषामेव चतुर्णां भङ्गानां यथासंख्येन विषयान्प्रदर्शयति- (खइयमित्यादि) क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्ने क्षायिकं चरणं वर्त्तते । उपशमश्रेणीतः प्रतिपतने औपशमिकं चरणहानिमुपगच्छति । क्षायोपशमिकं तत्रागद्वेषोत्कर्षापकर्षवशतः क्षीयते परिवर्द्धते च यथा क्षिप्त च 'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' क्षिप्तचित्तचारित्रं चावस्थितं क्ष्यातचारित्रे सर्वथा रागद्वेषोदयाभावात्, क्षिप्तचित्तचारित्रे परवशतया प्रवृत्तेः ततो रागद्वेषाभावात्तीव्रे तदेव यतः क्षिप्तचित्ते चारित्रमवस्थितमसौ प्रायश्चित्तभागिति । पर आह-ननु स क्षिप्तचित्त आश्रवद्वारेषु चिरकालं प्रवर्त्तित बहुविधं वाऽसमञ्जसं तेन प्रलपितं लोकलोकोत्तरविरुद्धं च । समाचरितम् ।

ततः कथमयमप्रायश्चित्तभाक् ? । अत्र सूरिराह-

कामं आसवदारे-सु वट्टितो पलवियं बहुविहं च ।
लोगविरुद्धा य पया, लोगोत्तरिया य आइम्मा ॥

काममित्यनुमतौ, अनुमतमेतत् । यथा स आश्रवद्वारेषु चिरकालं प्रवर्त्तितो बहुविधं च तेन प्रलपितं लोकविरुद्धानि लोकोत्तरिकाणि च, लोकोत्तरविरुद्धानि च पदानि आचीर्णानि प्रतिसेवितानि ।

न य बंधहेउविगल-त्तणेण कम्मस्स उवचओ होइ ।
लोगो वि एत्थ सक्खी, जह एस परव्वसो कासी ॥

तथाऽपि च नैव तस्य च क्षिप्तचित्तस्य बन्धहेतुविकलत्वेन बन्धहेतवो रागद्वेषास्तद्विकलत्वेन तद्रहितत्वेन कर्मण उपचयो भवति । कर्मोपचयस्य रागद्वेषाधीनत्वात् । तस्य च रागद्वेषविकलत्वात् । न च तद्रागद्वेषविकलत्वं वचनमात्रसिद्धम्, यतो लोकोऽप्यत्रास्मिन्विषये साक्षी, यथा एष सर्वं परवशोऽकार्षीदिति । ततो रागद्वेषाभावान्न कर्मोपचयः । तस्य तदनुगत्वात् ।

तथा चाह-

रागदोसाणुगया, जीवा कम्मस्स बंधगा हुंति ।
रागादिविसेसेण वि, बंधविसेसो वि अविगीतो ॥

रागद्वेषाभ्यामनुगताः सन्तो जीवाः कर्मणो बन्धका भवन्ति । ततो रागद्वेषतारतम्येन बन्धविशेषो बन्धतरतमभावोऽविगीतो विप्रतिपन्नः । ततः क्षिप्तचित्तस्य रागद्वेषाभावतः कर्मोपचयाभाव ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति-

कुणमाणी वि य चिट्ठा, परतंता णट्टिया बहुविहा उ ।
किरियाफलेण जुज्जइ, न जहा एमेव एयं पि ॥

यथा नर्त्तकी यन्त्रकाष्ठमयी परतन्त्रा परायत्ता परप्रयोगत इत्यर्थः । बहुविधा बहुप्रकारा अपि तुशब्दोऽपिशब्दार्थः । चेष्टाः कुर्वाणा क्रियाफलेन कर्म्मणा न युज्यते । एवमेव अनेनैव प्रकारेण अयमपि क्षिप्तचित्तोऽप्यनेका अपि विरुद्धाः क्रियाः कुर्वाणो न कर्म्मोपचयं प्राप्नोति ।

अत्र परस्परमताशङ्कमानमाह-

जइ इच्छसि सा सेरी, अचेयणा तेण से विओ नत्थि ।
जीवपरिग्गहिया पुण, बोंदी असमंजसं समया ॥

यदि त्वमेतदिच्छसि अनुमन्यते । यथा (सेरीति) देशीवचनमेतत् । यन्त्रमयी नर्त्तकी अचेतना तेन कारणेन [से] तस्याः कर्म्मोपचयो नास्ति । बोन्दिस्तनुः पुनर्जीवपरिगृहीता जीवेनाधिष्ठिता जीवपरिगृहीतत्वाच्चावश्य तद्विरुद्धचेष्टातः कर्मोपचयसम्भवस्ततो या 'सेरी' दृष्टान्तेन समता आपादिता, सा असमञ्जसमयुज्यमाना अचेतना,ऽचेतनत्वे दृष्टान्ते च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् ।

अत्राचार्य आह—

चेयणमचेयणं वा, परतंतत्तेण दो वि तुल्लाइं ।
न तया विसेसियं ए-त्थ किं वी जाणती सुण विसेसं ।

चेतनं वा स्याद्, अचेतनं वा चेतनत्वाऽचेतनत्वविशेषस्याप्रयोजकत्वात् । कथमप्रयोजकत्वम् ? । अत आह-परतन्त्रत्वेन प-

रायत्ततया यतो द्वे अपि तुल्ये ततो न किञ्चिद्वैलक्षण्यम्। पर आह-न त्वया अत्र कर्म्मोपचयचिन्तायां किञ्चिदपि मनागपि विशेषितं येन जीवपरिगृहीतत्वेऽप्येकत्र कर्मोपचयो भवत्येकत्र नेति। प्रतिपाद्यमाह-आचार्यो भणति भूते शृणु भण्यमानविशेषम्।

तमेवाह-

नणु सो चेव विसेसो, जं एगमचेयणं सचित्तेयं ।
जह चेयणे विसेसो, तह भणमु इमं निसामेह ॥

ननु स एव च यन्त्रनर्त्तकी स्वाभाविकनर्त्तकदृष्टान्ततस्ततो विशेष एवं शरीरं जीवपरिगृहीतमपि परायत्ततया चेष्टमानमचेतनमेकं स्वायत्ततया प्रवृत्तेः सचित्तं सचेतनमिति । पर आह-यद्येवं चेतने विशेषो निःसन्दिग्धप्रतिपत्तिविषयो भवति । तथा भणतः प्रतिपाद्यत । आचार्य आह-तत इदं वक्ष्यमाणं निशामय आकर्णय ।

तदेवाह—

जो पल्लितो परेणं, हेऊ वसदस्स होइ कायाणं ।
तत्थ न दोस इच्छसि, लोगेण समं तहा त च ॥

य परेण प्रेरितः स च कायादीनां पृथिव्यादीनां व्यसनस्य संघट्टनपरितापनादिरूपस्य हेतुः कारणं भवति । तत्र तस्मिन् परेण प्रेरिततया कायव्यसनहेतौ न त्वं दोषमिच्छसि । अनात्मवशतया प्रवृत्तेः। कथ पुनर्दोषं नेच्छसि ? इत्यत आह-लोकेन सम लोके तथादर्शन मित्यर्थं । तथाहि-लोको यो यथाऽनात्मवशतया प्रवर्त्तते त तत्र निर्दोषमभिमन्यते । ततो लोके तथादर्शनतस्तमपि कायव्यसनहेतुं निर्दोषमभिमन्यताम । यथा च त निर्दोषमिच्छसि । तथा तमपि च क्षिप्तचित्त निर्दोष पश्य तस्यापि परायत्ततया तथारूपासु चेष्टासु प्रवृत्तेः ।

एतदेव सविशेष भावयति-

पासंतो वि य काए, अपच्चलो अप्पगं वि धारेउं ।
जह पेल्लितो अदोसो, एमेवमिमं पि पासामो ॥

यथा परेण प्रेरित आत्मान विधारयितु संस्थापयितुमप्रत्यलोऽसमर्थ सन् पश्यन्नपि कायान् पृथिवीकायिकादीन् विराधयन् । अग्निकापुत्राचार्य इव, अदोषो निर्दोषः। एवमेव अनेनैव प्रकारेण परायत्ततया प्रवृत्तिलक्षणेन इममपि क्षिप्तचित्तमदोष पश्यामः ।

इह पूर्व प्रगुणीभूतस्य प्रायश्चित्तदानविषये अथ यादेशा गुरुकादय उक्तास्ततस्तानेव गुरुकादीन् प्ररूपयति-

गुरुगो गुरुगतरागो, अहागुरूगो य होइ ववहारो ।
लहुओ लहुयतरागो, अहालहूगो य होइ ववहारो ॥
लहुसो लहुसतरागो, अहालहूसो य होइ ववहारो ।
एएसिं पच्छित्त, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

व्यवहारस्त्रिविध । तद्यथा-गुरुक , गुरुतरक, यथागुरुकश्च । लघुकः, लघुतरक , यथालघुकश्च । लघुस्व , लघुस्वतरक , यथालघुस्वश्च । एतेषां व्यवहाराणां यथानुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या प्रायश्चित्त वक्ष्यामि । किमुक्त भवति ?-एतेषु व्यवहारेषु समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणमभिधास्ये ।

गुरुकादिव्यवहारप्रायश्चित्तमाह—

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो य होइ चउमासो ।
अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मास मासपरिमाणः, गुरुके व्यवहारे समापतिते एक मास प्रायश्चित्त दातव्यमिति भावः । एवं गुरुतरको भवति चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः षण्मास , षण्मासपरिमाण । एषा गुरुकपक्षे,गुरुके व्यवहारे त्रिविधेऽपि यथाक्रम प्रायश्चित्तप्रतिपत्ति ।

अथ लघुकादिव्यवहारप्रायश्चित्तमाह-

तीसा य पण्णवीसा य, वीसा पण्णरसेव य ।
दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

लघुको व्यवहारः त्रिंशद्दिवसपरिमाणः । एव लघुतरक पञ्चविंशतिदिनमान । यथालघुको विंशतिदिनमान । एषा लघुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रम प्रतिपत्ति । लघुस्वकः पञ्चदशदिवसप्रायश्चित्तपरिमाण । एव लघुस्वतरक दशदिवसमान । यथालघुस्वक पञ्चदिवसप्रायश्चित्तपरिमाण एषा लघुस्वकव्यवहारपक्षे प्रायश्चित्तप्रतिपत्ति ।

अथ क व्यवहार केन तपसा परिपूरयति ? इति प्रतिपादनार्थमाह-

गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होइ दसमं तु ।
अहगुरुगदुवालसमं, गुरुगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

गुरुक व्यवहार मासपरिमाणम, अष्टम कुर्वन् पूरयति गुरुकं व्यवहार मासपरिमाणमष्टमेन वहति । यथा-गुरुतरक चतुर्मासप्रमाण व्यवहार दशम कुर्वन् पूरयति दशमेनवहतीत्यर्थः । यथागुरुक कुर्वन् द्वादशो (भक्त) नेत्यर्थ । एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारपूरणविषये प्रतिपत्ति ।

छट्ठ च चउत्थं वा, आयंबिलएगठाणपुरिमड्ढं ।
निव्वीयं दायव्वं, अहलहुसम्मि सुद्धो वा ॥

लघुक व्यवहार त्रिंशद्दिनपरिमाण षष्ठ कुर्वन् पूरयति । लघुतरक पञ्चविंशतिदिवसपरिमाणव्यवहार चतुर्थं कुर्वन् । यथालघुकव्यवहार विंशतिदिनमानम् आचाम्ल कुर्वन् । एषा लघुकत्रिविधव्यवहारपूरणे तप प्रतिपत्ति । तथा-लघुस्वक व्यवहार पञ्चदशदिवसपरिमाणम, एकस्थानक कुर्वन् पूरयति । लघुस्वतरकव्यवहार दशदिवसपरिमाण पूर्वार्द्धकं कुर्वन । यथालघुस्वकव्यवहार पञ्चदिनपरिमाण निर्विकृतिक कुर्वन्पूरयति । तत एतेषु गुरुकादिषु व्यवहारेषु अनेनैव क्रमेण तपो दातव्यम् । यदि वा लघुस्वके व्यवहारे प्रस्थापयितव्ये सप्रतिपन्नव्यवहारतपःप्रायश्चित्तम एवमेवालोचनाप्रदानमात्रतः शुद्धः क्रियते । व्य० २ उ० ।

सूत्रम्-खित्तचित्त निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ।

अस्य सूत्रस्य सबन्धमाह-

उदुज्झंती व भया, सफासा रागतो व खिप्पेज्जा ॥
संबधविहिण्णा ते, वदंति सबधमेय तु ।

पानीयेनापोह्यमाना वा भयात् क्षिप्येत क्षिप्तचित्ता भवेदित्यर्थः। यद्वा सस्पर्शतो यो राग उत्पद्यते तस्माद्वा । तत्र साधौ अन्यत्र गते सति क्षिप्तचित्ता भवेत् । अथ क्षिप्तचित्तासूत्रमारभ्यते-एव सबन्धार्थे विधिज्ञा सूरयोऽत्र सूत्रे एन सबन्ध वदन्ति-

अनेन सवन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (खित्तचित्त ति) क्षिप्त नष्ट रागभयापमानैः चित्त यस्या सा क्षिप्तचित्ता तां निर्ग्रन्थीं निर्ग्रन्थो गृह्णाति वा अवलम्ब्यमानो वा नातिक्रामति आज्ञामिति सूत्रार्थः। बृ० ६ उ०। (क्षिप्तचित्ताया निर्ग्रन्थ्याः प्ररूपणा क्षिप्तचित्तस्य निर्ग्रन्थस्येव भावनीया नवरं पुरुषाभिलापे स्त्र्यभिलापः कर्त्तव्यः)

खिप्प-क्षिप्र-न०। शीघ्रे, उत्त० ४ अ०। विशे०। सूत्र०। रा०। मथा०। आ० म०। अचिरे, पो० ३ विव०। "खिप्पमेव गिण्हइ" क्षिप्रमेव गृह्णाति तूल्यादिस्पर्शं क्षयोपशमपटुत्वादचिरेणैवेति। स्था० ६ ठा०। "खिप्पामेव दुवालसजोयणाइ" जं० ३ वक्ष० १। क्रियाविशेषणत्वे क्लीवता। तद्वति, त्रि०। वाच०। "खिप्पं हवइ सुचोइए" क्षिप्रं भवति शीघ्रं कार्यकृद्भवति। उत्त० १ अ०।

खिप्पगइ-क्षिप्रगति-पुं०। दिक्कुमारेन्द्रयोः अमितगत्यमितवाहनयोः लोकपालयुगले, भ० ३ श० ८ उ०। स्था०।

खिप्पचारि-क्षिप्रचारिन्-त्रि०। शीघ्रसचरणशीले, विशे०।

खिर-क्षर-सिञ्चने, भ्वा० पर० अक० सेट्। "क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः" ८।४।१७३ इति खिरादेशः 'खिरइ' क्षरति। प्रा० ४ पाद।

खिलभूमि-खिलभूमि-स्त्री०। हलैरकृष्टायां भूमौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

खिल्ल-खिल्ल-पुं०। खील इति जनोक्तिप्रसिद्धे, तं०।

खिल्लहल-खिल्लहल-पुं०। स्वनाम्ना लोकप्रसिद्धे कन्दे, ध० २ अधि०। प्रव०।

खिव-क्षिप्-प्रेरणे, धा०। तुदा० उभ० सक०। "क्षिपेर्गलत्था-ऽड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः।" ८।४। १४३। इत्यादेशो वा। पक्षे 'खिवइ' क्षिपति। प्रा० ४ पाद।

खीण-क्षीण-त्रि०। क्षि-क्त "क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ"। ८।२। ३। इति क्षस्य खः। प्रा० २ पाद। अपगते, । अनु०। निर्जीर्णे, विशे०।

खीणअसुभणाम-क्षीणाशुभनामन्-पुं०। क्षीणमपगतं नरकगत्यशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्यादिकमशुभं नाम यस्य सः। अशुभनामविप्रमुक्ते, अनु०।

खीणकसाय-क्षीणकषाय-पुं०। क्षीणा अभावमापन्ना कषाया यस्य स क्षीणकषायः। क्षपकश्रेणिद्वारा प्रतिहतकषाये, प्रव० ७६ द्वार।

खीणकसायवीयरागछउमत्थ-क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ-पुं०। क्षीणा अभावमापन्ना कषाया यस्य स क्षीणकषायः। तथाऽन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्षपकश्रेणिद्वारोक्तयुक्त्या क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेशः संभवति। ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं, क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम्। यद्वा छद्मस्थस्य रागोऽपि वर्त्ततीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहणं वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थः स चोपशान्तकषायोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणं क्षीणकषायश्चासौ वीतरागछद्मस्थश्च। द्वादशे गुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, प्रव० २२४ द्वार। पञ्चा०। दर्श०। कर्म०।

खीणकसायवीयरागछउमत्थगुणट्ठाण-क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान-न०। द्वादशे गुणस्थाने, पञ्चा० १ द्वार। (इदं च यथा चाप्यते, तथा मूलत एव भावितं 'खवगसेढि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ७२८ पृष्ठे)

खीणकोह-क्षीणक्रोध-त्रि०। क्षीणक्रोधमोहनीयकर्मणि, औ०।

खीणप्पायासुभकम्म-क्षीणप्रायाऽशुभकर्मन्-पुं०। क्षीणप्रायाणि बाहुल्येन क्षीणानि अशुभकर्माणि चारित्रप्रतिबन्धकानि यस्य स तथा। क्षीणक्लिष्टकर्मणि, ध० ३ अधि०।

खीणभोगि-क्षीणभोगिन्-त्रि०। भोगो जीवस्य यत्रास्ति तद्भोगि शरीरं तत् क्षीणं तपोरोगादिभिर्यस्य स क्षीणभोगी। क्षीणतनौ दुर्बले, भ० २ श० ५ उ०।

खीणमोह-क्षीणमोह-पुं०। क्षीणो निःसत्ताकीभूतो मोहो यस्य स तथा। क्षयवीतरागे द्वादशगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, स० १४ सम०। सूक्ष्मसंपरायावस्थायां सञ्ज्वलनलोभमपि निःशेषं क्षपयित्वा सर्वथा मोहनीयकर्माभावं प्रतिपन्ने निर्ग्रन्थभेदे, प्रव० ६३ द्वार।

खीणमोहस्स णं अरहओ तओ कम्मंसा जुगवं खिज्जंति तं णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं अंतरायं ॥

क्षीणमोहस्य क्षीणमोहनीयकर्मणोऽर्हतो जिनस्य त्रयः कर्मांशाः कर्मप्रकृतय इति उक्तञ्च-"चरमे नाणावरणं, पंचविहं दंसणं चउविगप्पं। पंचविहमंतरायं, खवइत्ता केवली होइ" त्ति ॥ ३॥ स्था० ३ ठा० ४ उ०।

खीणराग-क्षीणराग-पुं०। वीतरागे, ग० १ अधि०।

खीणरागदोसमोह-क्षीणरागद्वेषमोह-पुं०। क्षीणा रागद्वेषमोहा यस्य सः। वीताविष्वक्प्रीत्यज्ञाने, पं० सू० ४ सू०।

खीणवित्ति-क्षीणवृत्ति-त्रि०। क्षीणा वृत्तिः परा जीविका यस्य सः। जीविकारहिते, अष्ट० ३० अष्ट०। क्षीणमले, "मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम्" द्वा० २० द्वा०।

खीर-क्षीर-न०। क्षि क्रन् दीर्घश्च। जले, सरलद्रव्ये, वाच०। स्तन्ये, बृ० १ उ०। पिं०। प्रज्ञा०। प्रश्न०। विशे०। उत्त०। सूत्र०। पञ्च क्षीराणि गोमहिष्यजोष्ट्रैलकसत्कभेदात् विकृतयः। ध० २ अधि०। आ० चू०। नि० चू०। आव०। पञ्चा०। प्रव०। स्था०। "एगतेण अपेयं, खीरं दुरजाइयं तहिं देसे। संसेइम तत्थ जिया, गंगुलया सण्णमुक्का" ॥ १५॥ सस० नि० क्षीरवरद्वीपस्य अधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति०॥

खीरइय-क्षीरकित-त्रि०। सजातक्षीरके, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

खीरकाउली-क्षीरकाकोली-स्त्री०। क्षीरविदारीनामके साधारणशरीरबादरवनस्पतौ, प्रज्ञा० १ पद। वाच०। आचा०।

खीरजल-क्षीरजल-पुं०। क्षीरसमुद्रे, द्वी०।

खीरण्ण-क्षीरान्न-न०। परमान्ने, अष्ट० २६ अष्ट०।

खीरदुम-क्षीरद्रुम-पुं०। वटोदुम्बरपिप्पलादौ, क्षीरप्रधाने वृक्षे, नि० चू० १ उ०। पिं०। आव०। 'दन्वे खीरदुमादि' न्यग्रोधादि। पञ्चा० १५ विव०।

खीरधाई-क्षीरधात्री-स्त्री० । स्तनदायिन्यां धात्र्याम, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० चू० । (धात्रीपिण्डे स्वरूपमस्या ज्ञेयम)

खीरपूरसमप्पह-क्षीरपूरसमप्रभ-त्रि०। दुग्धपूरसदृशवर्णे, उत्त० ३४ अ० ।

खीरप्पभ-क्षीरप्रभ-पु०। क्षीरवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति०।

खीरमहुसप्पियासव-क्षीरमधुसर्पिराश्रव-पु० । क्षीराश्रवादिसन्धिधारके, ।

खीरमहुसप्पिसाउव-माणवयणा तयाऽऽसवा हुंति ।४९६।

क्षीरं दुग्धं, मधु मधुरद्रव्यं, सर्पिर्घृतम्, एतत्स्वादूपमानवचना वैरस्यादित्तत् तदाश्रया क्षीरमधुसर्पिराश्रवा भवन्ति। इयमत्र भावना। पुण्ड्रेक्षुचारिणीनां गवां लक्षस्य क्षीरम् अर्धार्धक्रमेण दीयते यावत् एवमेकस्या पीतगोक्षीराया क्षीरं तत्किल चातुरिक्यमित्यागमे गीयते। तदुपयोपभुज्यमानमतीव मन शरीरप्रह्लादहेतुरुपजायते। तथा यद्वचनमाकर्ण्यमानं मन शरीरसुखोत्पादनाय प्रभवति, ते क्षीराश्रवा क्षीरमिव वचनम् आसमन्तात् श्रवन्तीति व्युत्पत्तेः। एवं मधु किमप्यतिशायि शर्करादि मधुरद्रव्यममृतमपि पुण्ड्रेक्षुचारिगोक्षीरं मन्दाग्निक्वथितमपि विशिष्टवर्णाद्युपेतं सर्पिर्यत् वचनमाश्रवन्तीति मध्वाश्रवा घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृताश्रवा । उपलक्षणमेतच्चामृताश्रविण इक्षुरसाश्रविण इत्यादयोऽप्यवसेयाः। अथ वा येषां पात्रे पतितं कदन्नमपि क्षीरमधुसर्पिरादिरसवीर्यविपाकं जायते क्रमेण क्षीराश्रविणो मध्वाश्रविण, सर्पिराश्रविण इत्यादि ॥ प्रव० २७० द्वार । ग० । विपा० ।

खीरमेह-क्षीरमेघ-पु०। भरतैरवतयोर्भूम्या वर्णगन्धरसस्पर्शजनके दुष्षमदुष्षमान्ते वृष्टिकारके द्वितीये महामेघे, ति० । जं०। ('सप्पिणी' शब्दे वर्णकोऽस्य)

खीरवती-क्षीरवती-स्त्री० । क्षीरं विद्यते यस्या, सा । भूम्नि, मतुप् प्रत्ययः । बहुक्षीरायाम, "दुग्धासे खीरवती गावी" बृ० ३ उ० ।

खीरवर-क्षीरवर-पुं०। चतुर्थे द्वीपे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अनु०।

वारुणोद णं समुद खीरवरे णाम दीवे वट्टे० जाव चिट्ठति सव्वं । संखेज्जगं विक्खंभे परिक्खेवो य० जाव अट्ठो बहूउ खुड्डावीउ० जाव सरपंतियासु खीरोदगपमिहत्थाउ पासादीयाउ तासु णं खुड्डियासु० जाव विलपंतियासु बहवे उप्पायपव्वयगा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा पंमरगपुप्फदंता इत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव परिवसंति । से तेणट्ठेणं० जावणिच्चे जोतिसं सव्वं संखेज्जं ॥

(वरुणोदं णमित्यादि) वरुणोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं क्षीरवरनामद्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्य तिष्ठति। एवं यैव वरुणवरद्वीपस्य वक्तव्यता सैवेहापि द्रष्टव्या यावज्जीवोपपातसूत्रम्। सम्प्रति नामान्वर्थमभिधित्सुराह—" से केणट्ठेणमित्यादि " अथ केनार्थेन भदन्त एवमुच्यते?। क्षीरवरो द्वीपः क्षीरवरो द्वीप, प्रभूतजनोक्तिसंग्रहार्थे वीप्सायां द्विर्वचनं भगवानाह-गौतम-क्षीरवरे द्वीपे तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र प्रदेशे बहवः (खुड्डा-वापीउ इत्यादि) वरुणवरद्वीपवत्तस्य वक्तव्य यावत् " वाणमन्तरा देवा देवी उपआसयन्ति सयन्ति० जाव विहरंति " नवरमत्र वाप्यादय क्षीरोदकपरिपूर्णा वक्तव्या पर्वतापर्वतकेषु आसनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टका सर्वरत्नमया वाच्या शेषं तथैव। पुण्डरीकपुष्पदन्तौ चात्र क्षीरवरे द्वीपे यथाक्रमं पूर्वार्धापरार्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थितिको परिवसतस्ततो यस्मात्तत्र वाप्यादिपूरक क्षीरतुल्य क्षीरोदकमम्भः तदधिपतिदेवाविति स द्वीप क्षीरवरः तथा चाह-(से तेणट्ठेणमित्यादि) उपसंहारवाक्यं चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत् ॥ जी० ३ प्रति० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

खीरसागर—क्षीरसागर—पु० । दुग्धसमुद्रे, कल्प० २ क्षण ।

खीरादिलद्धिजुत्त—क्षीरादिलब्धियुक्त—पु० । क्षीरादिकलब्धिसम्पन्ने आदिशब्दात् क्षीराश्रवादिलब्धिकुशले, व्य० १ उ० ।

खीरादिविग्घियतणु—क्षीरादिविग्घिततनु—त्रि० । प्रचुरदध्याद्युपचितशरीरे, बृ० ४ उ० ।

खीरामलय-क्षीरामलक-पु० । क्षीरामलकफले, क्षीरवन्मधुरे, आमलके, "फलपरिमाणं करेइ नन्नत्थ एगेणं खीरामलएणं" उपा० १ अ० ।

खीरासव-क्षीराश्रव-पु० । यद्वचनमाकर्ण्यमानं मन शरीरसुखोत्पादनाय प्रभवति स लब्धिविशेषसम्पन्न तस्मिन्, क्षीरमिव वचनमासमन्तात् श्रवतीति व्युत्पत्ते । प्रव० २७० द्वार० । आ० चू० । ग० ।

खीरासवलद्धि-क्षीराश्रवलब्धि-पु० । क्षीरमिवाश्रवति कथयन् यस्या लब्धे सा क्षीराश्रवा सा लब्धिर्यस्यासौ क्षीराश्रवलब्धि । क्षीराश्रवलब्धियुक्ते व्य० ३ उ० ।

खीरिज्जमाण-क्षीर्यमाण-त्रि० । दुह्यमाने, " खीरिणीओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए " आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

खीरोद-क्षीरोद-पु० । क्षीरमिवोदकं यस्य । सम्रा० । क्षीरवरद्वीपस्य परितः समुद्रभेदे, जी० ।

तत्र सूत्रम्—

खीरवरे णं दीवं खीरोदे णाम समुद्दे, वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते० जाव परिक्खिवित्ता णं चिट्ठति समचक्कवालसंठिते, नो विसमचक्कवालसंठिते, संखेज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभपरिक्खेवो तहेव सव्वं जाव अट्ठो । गोयमा ! खीरोयस्स णं समुद्दे उदगे से जहा णामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स महामारुपत्थग्गपव्व-णतणसरसपत्तकोमलग्गजंतुणतणगदोरुणवरुत्थुवारिणीणं लवंगपत्तपुप्फपल्लवकंकोलगसफलरुक्खा बहुगुच्छगुम्मकलिते लट्ठिमहुपउरपिप्पलीफलितवल्लिवरविवरचारिणीणं अप्पोदगपीतसइरसमउग्गिलाणिणिज्जायसुद्दे सीताणं सुपोसितसुधाताणं रोगपरिवज्जिताणं निरुवहतसरीराणं कालप्पसंठाणं वितियसमप्पसूताणं अंजणवरगवलवलयजलधरजव्वं जणरिट्ठभमरपरहुतसप्पभाणं गावीणं कुंडदोहणाणं बद्धत्थी पत्थुत्ताणं रूढाणं मधुमासकाले संगहिते होज्ज,

चातुरक्केव होज्ज, तासि खीरे मधुररसविवगत्थबहुदव्वमं- पयुत्ते पयत्तमंदग्गिसुकढिते । आउत्तहगुरुमच्छंडितोववेत- रस्रो । चाउरंतचक्कवट्टिस्स उवठविते आसादणिज्जे वी- सादणिज्जे धीणणिज्जे० जाव सव्विंदियगातपल्हायणि- ज्जे वरणेणं उववेते० जाव फासेणं जवे तारूवे सिया । नो तिणट्ठे समट्ठे । खीरोदस्स णं से उदए एत्तो इट्ठयराये चेव आसायेणं पण्णत्ते विमलप्पभाय इत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव परिवसंति । से तेणट्ठेणं संखेज्जा चंदा० जाव तारा ।

(खीरवरेणमित्यादि) क्षीरवरे णमिति पूर्ववत् द्वीपं क्षीरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः समन्तात् सपरिक्षिप्य तिष्ठति शेषा वक्तव्यता क्षीरवरद्वीपस्येव वक्तव्या याव ज्जीवोपपातसूत्रम् । सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह-(से केणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एव मुच्यते ? क्षीरोदः समुद्रः क्षीरोदसमुद्र इति भगवानाह-गौतम ! क्षीरोदस्य समुद्रस्योदक यथा राज्ञश्चक्रवर्तिनश्चातुरक्य चतु स्थानपरिणामपर्यन्तगोक्षीर चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तता च प्रागेव व्याख्याता । खण्डगुममत्स्यण्डिकोपनीत खण्डगुडमत्स्यण्डिकाभिरतिशयेन प्रापितरस प्रयत्नेन मन्दाग्निना क्वथितम् । अत्यग्निपरितापे वैरस्यापत्ते । अत एवाह-वर्णेनोपपेत गन्धेनोपपेत रसेनोपपेतम् स्पर्शेनोपपेतम् आस्वादनीयं विस्वादनीयं दीपनीय दर्पणीय मदनीयं बृंहणीयं सर्वेन्द्रियगात्रप्रल्हादनीयमिति पूर्ववत् । एवमुक्ते । गौतम आह-"भवे एयारूवे सिया" भवेत् क्षीरसमुद्रस्योदकमेतद्रूपम् । भगवानाह-गौतम ! नायमर्थः समर्थः । क्षीरोदस्य यस्मात्समुद्रस्योदकमितो यथोक्तरूपात् क्षीरादिष्टतरमेव यावन्मनआप्यायनतरमेवास्वादेन प्रज्ञप्तं विमल-विमलप्रभौ च यथाक्रम पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसत. तत. क्षीरमिवोदकं यस्य क्षीरवन्निर्मलस्वभावयोः सुरयोः सबन्धि उदकं यत्रेति वा क्षीरोद । तथा चाह-"से एएणट्ठेणमित्यादि" गतार्थम् । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । अनु० । चं० प्र० । स्था० । (चतुर्दशमहास्वप्नमध्यगतोऽस्य वर्णक.)

खीरोदगा-क्षीरोदका-स्त्री० । क्षीरमिव (मेव) उदकं यासां ताः । दुग्धजलासु वापीषु । जी० ३ प्रति० ।

खीरोदा-क्षीरोदा-स्त्री० । सुपक्ष्माविजये अन्तर्नद्याम्, जं० ४ वक्ष० । स्था० । "दो खीरोदाओ" स्था० ठा० ३ ठ० ।

खील-कील-पु० । "कुब्जकर्परकीले क. खोऽपुष्पे" । ८ । १ । १८१ । इति कस्य खः । प्रा० । शङ्कौ, प्रा० १ पाद ।

खीलगमग्ग-कीलकमार्ग-पुं० । मार्गभेदे, यत्र वालुकोत्कटे मरुकादिविषये कीलिकाभिज्ञानेन गम्यते । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

खीलसठिय-कीलसंस्थित-न० । कीलकाकृतिपात्रे, "ज ठविज्जा त णठाति त खीलसठियं" नि० चू० १ उ० ।

खीलिया-कीलिका-स्त्री० । ह्रस्वकीले, "खीलियाएओ गनिम्मातो गरुमो कतो" आ० म० द्वि० ।

खु-खु-अव्य० । "हु खु निश्चयवितर्कसंभावनविस्मये" ८।२। १९८ । इति । निश्चयादिषु, (खु) तत्र निश्चये त खु सिरीए रहस्सं । ऊहे एअ खु हसइ । सशये जलहरो खु धूमवडलो खु । संभावने-एयं खु हसइ । विस्मये-को खु एसो सहस्ससिरो । प्रा० २ पाद । अवधारणे, आव० ३ अ० । सूत्र० । दश० । दशा० । पञ्चा० । उत्त० । आचा० । निश्चये, तं० । ग० । वाक्यालङ्कारे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० । हेतुप्रदर्शने, उत्त० २ अ० ।

खुइ-क्षुति-स्त्री० । क्षवणं क्षुतिः । छीत्कारादौ शब्दविशेषे, "मम कत्थ वि छुइ वा खुइ वा पवित्तिं वा अलभमाणे" श्रुतिं वार्त्तामात्रं, क्षुतिं तस्यैव सम्बन्धिन शब्दं तच्चिह्नं वा । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । एषाऽप्यदृश्यमनुष्यादिगमिका भवतीति गृहीता । भ० ३ श० १ उ० ।

खुज्ज-कुब्ज-न० । "कुब्जकर्परकीले कः खोऽपुष्पे" ८ । १ । १८१ ॥ इत्यनेन कस्य ख । चतुर्थे संस्थाने, यत्र शिरो ग्रीव हस्तपादादिक च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतम् उदरादिमण्डल तत्तु कुब्जम् । जी० १ प्रति० । त० । कल्प० । "हिट्ठिल्लकायमडह । अधस्तनकायं मडहम्" । इहाधस्तनकायशब्देन पादपाणिशिरोग्रीवमुच्यते, तद्यत्र शरीरलक्षणोक्तप्रमाणव्यभिचारि यत्पुन. शेष तद्यथोक्तप्रमाण तत्कुब्जमिति । स्था० ६ ठा० । वक्रशरीरे, त्रि० वृ० १ उ० । वक्रे, ओघ० । एकपार्श्वहीने, प्रव० ११० द्वार । नि० चू० ।

खुज्जणाम-कुब्जनामन्-न० । संस्थाननामकर्मभेदे, यदुदयाज्जीवानां कुब्जसंस्थान भवति । कल्प० १ क्षण ।

खुज्जत्त-कुब्जत्व-न० । वामनलक्षणे संस्थाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

खुज्जा-कुब्जा-स्त्री० । वक्रजङ्घायां शातवाहनदास्याम्, भ० १२ श० २ उ० । (अस्या उदाहरणम् 'अणुओग' शब्दे प्र० भागे ३७५ पृष्ठे उक्तम्)

खुज्जिआ-कुब्जिका-स्त्री० । वक्रजङ्घायां दास्याम्, नि० १ वर्ग० । ज्ञा० । भ० ।

खुज्जि (ण्)-कुब्जिन्-त्रि० । कुब्जं पृष्ठादावस्यास्तीति कुब्जी । कुब्जे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

खुट्ट-तुम-धा० । द्विधाकरणे, भ्वा० पर० सेट् "तुमेः-तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुमोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्को-ल्लूराः" ॥८।४।११६॥ इति तुडेः खुट्टखुडावादेशौ भवतः । खुट्टइ, खुडइ, तोडति । प्रा० ४ पाद० ।

खुडिय-खंडित-त्रि० । "चण्डखण्डिते णा वा" ॥ ८ । १ । ५३ ॥ इति णकारेण सहितस्यादेरस्य उत्वम् । छिन्ने, खुडिओ, खण्डिओ । प्रा० १ पाद ।

खुडुक्क-शल्याय-नामधातु । शल्यस्येवाचरणे, "तक्ष्यादीनां छोल्लादय." ॥ ८ । ४ । ३९५ ॥ इति शल्यायस्य खुडुक्कादेशः "हियइ खुडुक्कइ गोरडी" गौरी स्त्री हृदये शल्यायते । प्रा० ढु० ४ पाद ।

खुड्ड-क्षुद्र-त्रि० । क्षुद्रकर्मकारिणि, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दशा० । लघुनि, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । नि० चू० । बाले, उत्त० १ अ० । नि० चू० । अधमे, क्रूरे, अल्पे, दरिद्रे च । वाच० ।

खुड्डग-क्षुद्र (क्ष) क-पु० । "गोणादयः" ॥ ८ । २ । १७४ ॥

इति लस्य ड । प्रा० २ पाद । महत्प्रतिपक्षे स्वल्पभावबाले, " खुड्डगो सिसू बालो त्ति वुत्त भवति " नि० चू० १ उ० ।

अत्र निक्षेप ।

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले पहाणपज्जावे ।
एएसि महंताणं, पमिवक्खे खुड्डया होंति ॥ १८४ ॥

नामादिमहतां प्रतिपक्षे क्षुल्लकानि भवन्ति । अभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति न्यायात् । यथार्थे क्षुल्लकलिङ्गवचनमिति । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्रव्यक्षुल्लक -परमाणु द्रव्य चासौ क्षुल्लकश्चेति । क्षेत्रक्षुल्लक -आकाशप्रदेश' । कालक्षुल्लक.-समय. । प्रधानक्षुल्लकं त्रिविधम्-सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रभेदात् । सचित्त त्रिविधम्-द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । द्विपदेषु क्षुल्लका प्रधानाश्चानुत्तरसुरा. । शरीरेषु क्षुल्लकमाहारकम् । चतुष्पदेषु प्रधान क्षुल्लक सिंह । अपदेषु जातीकुसुमानि । अचित्तेषु-पद्मम प्रधान क्षुल्लक च । मिश्रेषु-अनुत्तरसुरा एव शयनीयगता इति । दश० ३ अ० । प्रतिक्षुल्लकमामलकाद्बदर बदराच्चणक इत्यादि । भावक्षुल्लकम्-क्षायिको भाव । उक्त हि वृद्धै.-"सव्वत्थो वा जीवा खाइयभावे वट्टन्ति" सामायिकापेक्ष चैतदन्यथौपशमिक एव सर्वस्तोकतया भावक्षुल्लक भवतीति । उत्त० ६ अ० । लघौ साधौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । क्षुद्रकोदाहरणमौपपातिकत्तुल्ला , आ० क० । न० । आ० म० । (भिक्षार्थं गताना क्षुल्लकाना ' उवसग्ग ' शब्दे द्वि० भागे १०२० पृष्ठे कथा उक्ता) (अणाचारनिमद्दे ताद्दशक्षुल्लकस्य कथा)

क्षुल्लकविपरिणामसभवे यतनामाह-

उज्जलवेसे खुड्डे, करिंति उव्वट्टणाइचोक्खे य ।
न य मुन्च असहाए, चिंतिमणुन्ने य आहारे ॥

क्षुल्लकान् उज्ज्वलवेषान् पाण्डुरचोलपट्टधारिण. उद्वर्तनप्रक्षालनादिना च चोक्षान् शुचिशरीरान् कुर्वन्ति, न च, ते क्षुल्लका असहाया एकाकिनो मुच्यन्ते । वृषभाश्च,तेषा मनोज्ञान् स्निग्धमधुरानाहारानानीय ददति । उरभ्रदृष्टान्तेन च प्रज्ञापयन्ति ।

तमेवाह-

आतुरचिण्णाइँ एयाइँ, जाइं चरइ नंदिओ ।
सुक्कत्तणेहि जावेहिं, एय दीहाउलक्खण ॥

" जहा एगो उरणगो पाहुणनिमित्त पोसिज्जइ, सो य पीणियसरीरो हलद्दाइकयंगरागो कयकण्णचूलओ सुह सुहेण अभिरमइ, कुमारगा वि य त णाणाविहेहिं कीलाविसेसेहिं कीलाविंति, त च एव लालिज्जमाण दट्टूण वच्छगो माऊए नेहेण गोविय दोहणए य महाऽणुकपाए मुक्कमवि खीर न पिबइ । रोसेण ताए पुच्छिओ, वच्छ ' किं न धावासि ? तेण भणिय अम्मो ' एस नन्दियगो इट्ठेहिं० जाव सजोगासणेहिं अलंकारविसेसेहिं अलकारिओ पुत्त इव परिपालिज्जई, अह तु मदभग्गो सुक्काणि तणाणि कयाइ लभामि, ताणि वि पज्जत्तगाणि, एव पाणिय पि न य म कोई लावइ । ताए भण्णइ-पुत्त ! आवरचिंताई एयाइ जहा आउरो मरिउकामो ज मग्गइ पत्थ वा अपत्थ वा त दिज्जइ, एवमेसो वि नन्दियओ पोसिज्जइ, जया मारिज्जिहिइ तया पिच्छिहिसि । अन्नया सो वच्छगो त नन्दियग पाहुणएसु वहिज्जमाण दट्ठति सिओवि माउपच्छन्नानिलसइ । भए भणइ किं पुत्त ! सपमीओ सि नेहेण पहुय पि म न पियसि । तेण भण्णइ । कत्तो मे थण्णाभिलासो, णणु से वराओ नन्दियओ अज्ज पाहुणएहिं आगएहिं मम अग्गओ विनियजीहो विलोलनयणो विस्सर रसतो मारिओ भिच्छा ताए भण्णइ, नणु पुत्तया तया चेव ते कहिय आवरचिंताइ एयाइ ति । एत तेसिं विवागो अणुपत्तो त्ति " । अथाक्षरार्थः । आतुरश्चिकित्साया अविषयभूतो रोगी, तस्य यथा मर्तुकामस्य पथ्यमपथ्य वा दीयते, एवमयमपि नन्दिको यानि मनोज्ञाहारजातानि चरति तानि आतुरचीर्णानि, अतो वत्स ! शुष्कतृणैर्यापय स्वशरीर निर्वाहय यत एतद्दीर्घायुषो लक्षणम् एवमेतेऽप्यसविग्नक्षुल्लका यन्मनोज्ञाहारादिभिरुपलाल्यन्ते तद् नन्दिकपोषणवद्रष्टव्यम् । बृ० १ उ० । अङ्गुलीयकविशेषे, औ० । ज० ।

खुड्डगकुमार-क्षुल्लककुमार-पु० । पुण्डरीकभ्रातृकण्डरीकस्य भार्याया' यशोभद्राया पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० चू० । (' अलोभया ' शब्दे प्र० भागे ७८५ पृष्ठे कथाऽस्य)

खुड्डगगणि-क्षुल्लकगणिन-पु० । क्षुल्लके गणिनि, व्य०३ अ० । ('पव्वत्तिकुसल' शब्देऽस्य स्वरूपम्)

खुड्डगपयर-क्षुल्लकप्रतर-पु० । सर्वलघुप्रदेशप्रतरे, भ० १३ श० ४ उ० । अथ किमिद क्षुल्लकप्रतर इति ? । उच्यते-इह लोकाकाशप्रदेश उपरितनाधस्तनप्रदेशरहिततया विवक्षिता मण्डलाऽऽकारतया व्यवस्थिता' प्रतरमित्युच्यते । तत्र तिर्यग्लोकस्य ऊर्ध्वाऽधोऽपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ सर्वलघू क्षुल्लकप्रतरौ तयोर्मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमे भागे मेरुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकस्तत्र गोस्तनाकाराश्चत्वार उपरितना. प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तना' । एष एव च रुचक सर्वासां दिशां विदिशा वा प्रवर्तक' । एतदेव च सकलतिर्यग्लोकमध्य तौ च द्वौ सर्वलघू प्रतरावङ्गुलाऽसख्येयभागबाहल्याच्च लोकसवर्तितौ रज्जुप्रमाणौ । तत एतयोरुपर्यन्येऽन्ये प्रतरा । तिर्यग् अङ्गुलासख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानास्तावद् द्रष्टव्या यावदूर्द्धलोकमध्य तत्र पञ्चरज्जुप्रमाण' प्रतर । तत. उपर्यन्येऽन्ये प्रतरा तिर्यक् अङ्गुलासख्येयभागहान्या हीयमाना २ तावदेवाऽवसेया यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाण प्रतर' । इहोर्ध्वलोकमध्यवर्तिन सर्वोत्कृष्ट पञ्चरज्जुप्रमाण प्रतरमवधीकृत्यान्ये उपरितना अधस्तनाश्च क्रमेण हीयमाना सर्वेऽपि प्रतरा क्षुल्लकप्रतरा इति व्यवह्रियन्ते, यावल्लोकान्ते तिर्यग्लोके च रज्जुप्रमाण प्रतर इति । तथा तिर्यग्लोकमध्यवर्त्ति सर्वलघुक्षुल्लकप्रतरस्याधस्तिर्यगङ्गुलासख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमाना २ प्रतरास्तावद्द्रष्टव्या यावदधोलोकान्ते सर्वोत्कृष्ट सप्तरज्जुप्रमाण प्रतर । त च सप्तरज्जुप्रमाण प्रतरमपेक्ष्यान्ये उपरितना सर्वेऽपि क्रमेण हीयमाना क्षुल्लकप्रतरा अभिधीयन्ते, यावत्तिर्यग्लोकमध्यवर्त्ती सर्वलघु क्षुल्लक प्रतर । एषा क्षुल्लकप्रतरप्ररूपणा । तत्र तिर्यक्लोकमध्यवर्तिन सर्वलघो रज्जुप्रमाणात् क्षुल्लकप्रतरादारभ्य यावदधो नवयोजनशतानि तावदस्या रत्नप्रभाया पृथिव्यां ये प्रतरा. ते उपरितनक्षुल्लकप्रतरा भण्यन्ते । तेषामपि चाधस्ताद् ये प्रतरा यावदधोलौकिकग्रामेषु सर्वान्तिम. प्रतर' तेऽधस्तनक्षुल्लकप्रतरा. । न० ।

खुड्डजंतु-क्षुद्रजन्तु-पु० । क्षुद्रप्राणिनि, । व्य० ४ उ० ।

खुड्डपाण-क्षुद्रप्राण-पुं० । क्षुद्रा अधमा अनन्तरभवे सिद्ध्यभावात् प्राणा उच्छ्वासादिमन्तः क्षुद्रप्राणाः एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमेषु अल्पकायेषु वा सत्त्वेषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

चउव्विहा खुड्डपाणा पण्णत्ता तं जहा-बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

छव्विहा खुड्डा पाणा पण्णत्ता। तं जहा-बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया समुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया तेउकाइया वाउकाइया ।

(छव्विहेत्यादि) सुगमम् । परमिह क्षुद्रा अधमा यदाह-"अल्पमधम पणयस्त्रीं, क्रूर सरघां नटीं च षट् क्षुद्रान् ब्रुवत इति" अधमत्वं च विकलेन्द्रियतेजोवायूनामनन्तरभवे सिद्धिगमनाभावात् । यत उक्तम्-"मूढगपकप्पभवा, ओगेहरिया उवच्च सिज्झेज्जा । विगलालभेज्ज विरइं, न उ किं च लभेज्ज सुहुमतसा" ॥ १ ॥ सूक्ष्मत्रसास्तेजोवायव इति। तथा एतेषु देवानुत्पत्तेश्च । यत उक्तम्-" पुढवीआउवणस्सइ-गब्भे पज्जत्तसखजीवीसु । सग्गुच्चुयाणवासो, सेसा पडिसेहिया ठाणे " इति ॥ १ ॥ सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिरश्चां चाधमत्वं तेषु देवानुत्पत्तेः । तथा-पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्यमनस्कतया विवेकाभावेन निर्गुणत्वादिति वाचनान्तरे तु सिंहा व्याघ्रा वृका दीपिका ऋक्षा इति क्षुद्रा उक्ताः, क्रूरा इत्यर्थ । स्था० ६ ठा० ।

खुड्डपायालकलस-क्षुद्रपातालकलश-पुं० । लघुपातालकलशेषु,जी० ३ प्रति०। (ते च 'लवणसमुद्द' शब्दे व्याख्यास्यन्ते)

खुड्डमड्डु-देशी-बहुशो व्याख्याने, " खुड्डमड्डुत्ति वा बहुसोत्ति वा खुज्जोत्ति वा पुणोपुणो त्ति वा एगट्ठ " नि० चू० २० उ० ।

खुड्डमिग-क्षुद्रमृग-पुं० । क्लिष्टकर्मसत्त्वहरिणे,पञ्चा० ३ विव०। क्षुद्रा इत्यपशौ हरिणजात्यादौ, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

खुड्डमुह-क्षुद्रमुख-त्रि० । मधुरमुखे मधुरभाषिणि, वृ० १ उ० ।

खुड्डसत्त-क्षुद्रसत्त्व-पुं० । अधमप्राणिनि,अल्पाध्यवसानविशेषे च । पञ्चा० १४ विव० ।

खुड्डा-क्षुद्रा-स्त्री० । क्षुद् रक् । वेश्यायां, कण्टकायां, सरघायां मक्षिकायां, चाङ्गेर्यां, हिंस्रायां गवेधुकायाम्, वाच० । अज्ञातसरस्याम्, ज० १ वक्ष० । दर्याम्, दशा० ७ अ० ।

खुड्डागजुम्म-क्षुल्लकयुग्म-पुं० । महायुग्मापेक्षया अल्पेषु राशिविशेषेषु, भ० ।

कइ णं भंते! खुड्डागजुम्मा पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि खुड्डागजुम्मा पण्णत्ता । तं जहा-कडजुम्मे, तेओगे,दावरजुम्मे, कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ,चत्तारि खुड्डागजुम्मा पण्णत्ता । तं जहा-कडजुम्मे० जाव कलिओए ?। गोयमा ! जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, सेत्त खुड्डागकडजुम्मे । जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, सेत्त खुड्डागतेओगे । जेणं रासीचउक्कएण अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए सेत्त खुड्डागदावरजुम्मे । जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, सेत्तं खुड्डागकलिओगे से तेणट्ठेणं जाव कलिओगे ॥

(खुड्डागजुम्म त्ति) युग्मानि वक्ष्यमाणा राशिविशेषास्ते च महान्तोऽपि सन्त्यतः क्षुल्लकशब्देन विशेषिताः तत्र चत्वारोऽष्टौ द्वादशेत्यादिसंख्यावान् राशिः क्षुल्लककृतयुग्मोऽभिधीयते, एवं त्रिसप्तैकादशादिको राशिः क्षुल्लकत्र्योजः । द्विषट्प्रभृतिको राशि क्षुल्लकद्वापरः । एकपञ्चप्रभृतिकस्तु क्षुल्लककल्योज इति । भ० ३१ श० १ उ० । क्षुद्रकयुग्मविशेषणेन नैरयिकादीनामुपपातः ' उववाय ' शब्दे द्वि० भागे ९९३ पृष्ठे उक्तः)

खुड्डागणियंठ-क्षुद्रकनैर्ग्रन्थ्य-न० । उत्तराध्ययने षष्ठे, उत्त० । पूर्वस्मिन् अध्ययने अकामसकाममरणे उक्ते । तत्र सकाममरणं निर्ग्रन्थस्य भवति ततो निर्ग्रन्थस्य आचार षष्ठे अध्ययने कथ्यते । अथ पञ्चमषष्ठाध्ययनयोः सम्बन्धः ।

जावन्तिऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अनन्तगे ॥ १ ॥

यावन्तोऽविद्या पुरुषा ते सर्वेऽपि मूढाः, ससारे बहुशो वारं वारं लुप्यन्ते आधिव्याधिवियोगादिभिः पीड्यन्ते । न विद्यते विद्या सम्यक् ज्ञानं येषां ते अविद्या अत्र नञ् कुत्सार्थवाचकः ये कुत्सितज्ञानसहिता मिथ्यात्वोपहतचेतसो वर्त्तन्ते ते मूर्खाः ससारे दु खिनो भवन्ति। कीदृशे ससारे? अनन्तके अपारे। कीदृशास्ते? अविद्या दु खसम्भवा दुःखस्य सम्भवो येषु ते दुःखसम्भवाः दु खभाजनमित्यर्थः । यावन्त अविद्या इत्यत्र प्राकृतत्वात् अकारोऽदृश्य ॥ १ ॥ अत्र अविद्यापुरुषोदाहरण यथा-कश्चिद् द्रमकोऽभाग्यात् कापि किञ्चिद् प्राप्नुवन् पुरात्क्वचिदेकस्मिन् देवकुले रात्रावुषितः । तत्रैक पुरुष कामकुम्भप्रसादेन यथेष्टभोगान् भुञ्जान वीक्ष्य प्रकाम सेवितवान्। तुष्टेन तेनास्य भणितम्। भो! तुभ्य कामकुम्भं ददामि। उत कामकुम्भविधायिकां विद्यां ददामि? तेन विद्यासाधनपुरश्चरणादिभीरुणा विद्याभिमन्त्रित घटमेव मे देहीति भणितम्। विद्यापुरुषेण विद्याभिमन्त्रितो घट एव तस्मै दत्तः। सोऽपि तत्प्रसादात् सुखी जात । अन्यदा-पीतमद्योऽयं पुरुषस्तं कामकुम्भ मस्तके कृत्वा नृत्यन् पातितवान् । भग्न कामकुम्भः । ततो नाऽसौ किञ्चिदर्थमवाप्नोति । शोचति चैवम्-यदि मया तदा विद्या गृहीताऽभविष्यत् तदा उऽभिमन्त्र्य नव कामकुम्भमकारिष्य पूर्ववदेव सुखी अभविष्यम् एवं अविद्या नरा दुःखसम्भवा क्लिश्यन्ते ॥ १ ॥

समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाई पहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसिज्जा, मित्तिं भूएसु कप्पए ॥ २ ॥

तस्मादज्ञानिनां मिथ्यात्विनां ससारभ्रमणत्वात् पण्डितः तत्त्वज्ञ आत्मना स्वयमेव परोपदेश विनैव सत्यमेषयेत् सद्भ्यो हित सत्यम् अर्थात् सयममभिलषेत्। पुनः पण्डितः भूतेषु पृथिव्यादिषु षट्कायेषु मैत्रीं कल्पयेत्। किं कृत्वा? बहून् पाशजातिपथान् समीक्ष्य, पाशाः पारवश्यहेतव पुत्रकलत्रादिसंबन्धास्ते एव मोहहेतुतया एकेन्द्रियादिजातीनां पन्थान पाशजातिपथास्तान् पाशजातिपथान् दृष्ट्वा यदा हि पुत्रकलत्रादिषु मोह करोति तदा हि एकेन्द्रियत्व जीवो बध्नाति ॥ २ ॥

माया पिया एहुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालन्ते मम ताणाय, लुप्पतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥

पण्डित इति विचारयेदिति अध्याहार कर्त्तव्यः। इतीति किं? एते मम त्राणाय मम रक्षायै न अल समर्थाः। कथम्भूतस्य मम

स्वकर्मणा पीड्यमानस्य। एते के माता, पिता, स्नुषा पुत्रवधू, भ्राता सहोदर, भार्या पत्नी, पुत्राः पुत्रत्वेन मानिता, च पुन औरसाः स्वयमुत्पादिता एते सर्वेऽपि स्वकर्मसमुद्भूतदुःखात् रक्षणाय न समर्था भवन्तीत्यर्थः ॥३॥

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे ।
छिंदे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसथवं ॥ ४ ॥

शमितदर्शन शमित ध्वस्त दर्शन मिथ्यादर्शन येन स शमितदर्शन । अथवा सम्यक् प्रकारेण इत प्राप्त दर्शन सम्यक्त्व येन स समितदर्शन एतादृशः सयमी एतदर्थं पूर्वोक्तमर्थम अशरणादिकम (सपेहाए) स्वप्रेक्षाया स्वबुद्धा (पासे इति) पश्येत हृदि अवधारयेत् च पुन गेहिं) गृद्धिं रसलाम्पट्य च पुन स्नेह पुत्रकलत्रादिषु राग छिन्द्यात् । पुनः पूर्वसस्तवः पूर्वपरिचय एकत्र ग्रामादिवासस्त न स्मरेत् ॥ ४ ॥

गवास मणिकुंडलं, पसवो दासपोरुसं ।
सव्वमेयं चइत्ताणं, कामरूवी भविस्ससि ॥ ५ ॥

पुनरपि पण्डितः आत्मानमिति शिक्षयेत् । अथ वा गुरुः शिष्य प्रत्युपदिशति-हे आत्मन्! अथवा हे शिष्य ! एतत् सर्वं त्यक्त्वा कामरूपी स्वेच्छाचारी भविष्यसि । एतेषु ममत्व त्यजसि । तदा इह भवे तु वैक्रियलब्धिः अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशित्ववशित्वादिमान् भविष्यसि । परलोके च निरतीचारसयमपालनात् देवभवे वैक्रियादिलब्धिमान् त्व भविष्यसि । तत्किं ? तदाह-गवाश्च गावश्च अश्वाश्च गवाश्व पुनर्मणिकुण्डल मणयश्चन्द्रकान्ताद्या कुण्डलग्रहणेन अन्येषामप्यलङ्काराणां ग्रहण स्यात्, सर्वे मणय सर्वाण्यलङ्काराणि च इत्यर्थः। पशव अजैडकपद्मपत्याद्युत्पादकरोमधारककुक्कुरादयश्च, दासा गृहदासीन्यः समुत्पन्ना, दासाश्च पौरुषाश्च दासपौरुषम् एते सर्वेऽपि मरणान्न त्रायन्ते इत्यर्थः । तस्मात् पूर्वम् एतत् त्यक्त्वा सयम परिपालयेदित्यर्थः ।

थावरं जंगमं चेव, धणं धणं उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोअणे ॥ ६ ॥

पुनरेतत्सर्वं वस्तु कर्मभिः पच्यमानस्य जीवस्य दुःखान्मोचने अलं समर्थं न भवति । एतत्किम् ? स्थावर, गृहादिक । पुनर्जंगम च पुत्रमित्रभृत्यादि । पुनर्धन गवादि,धान्य व्रीह्यादि । पुनरुपस्कर गृहोपकरणम् ॥ ६॥

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियाऽऽयए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराउ उवरए ॥ ७ ॥

साधुः सर्वतः सर्वप्रकारेण सर्वमध्यात्म सुखदुःखादिक (दिस्स इति) दृष्ट्वा सर्वप्रकारेण सर्वं सुखदुःखादिकमात्मनि स्थित ज्ञात्वा सुखदुःखयोर्वेदकमात्मान ज्ञात्वा । इष्टसयोगादिहेतुभ्यः समुत्पन्न सुख सर्वस्यात्मन प्रियं स्यात्। इष्टवियोगादिहेतुभ्यः समुत्पन्न दुःखं सर्वस्यात्मनः अप्रिय ज्ञात्वा इत्यर्थः । च पुनः प्राणिनो जीवान् प्रियात्मनो दृष्ट्वा, प्रिय आत्मा येषां ते प्रियात्मानः "सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउ न मरिज्जिउं" इति दृष्ट्वा हृदि विचार्य प्राणिनो जीवस्य प्राणान् इन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासायुर्बलरूपान् न हन्यात् । भयात् वैरात् च उपरमेत निवर्तेत । अथ वा कथंभूतः साधुः भयात् वैराच्च उपरतो निवर्तितः इति साधुविशेषण कर्त्तव्यम् ॥ ७ ॥

आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि ।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजिज्ज भोयणं ॥ ८ ॥

साधुस्तृणमपि (नायइज्ज इति) न आददीत अदत्तं न गृह्णीत । किं कृत्वा आदान नरक दृष्ट्वा, आदीयते इत्यादान धनधान्यादिकपरिग्रह नरकं नरकहेतुत्वात् नरक ज्ञात्वा इत्यर्थः । पुनः साधु (पाए दिन्नं)पात्रे दत्त गृहस्थेन पात्रमध्ये प्रक्षिप्त भोजन शुद्धाहारम् (भुंजेज्ज इति) भुञ्जीत । कथम्भूतः सन् (अप्पणो दुगुंछी) आत्मनो जुगुप्सी सन् । आहारसमये आत्मनिन्दकः सन् अहो धिक् मम आत्मानमय ममात्मा देहो वा आहारं विना धर्मकरणे असमर्थ । किं करोमि धर्मनिर्वाहार्थमस्मै भाटक दीयते इति चिन्तयन् आहार कुर्यात् । न तु बलवीर्यपुष्ट्याद्यर्थमाहारो विधीयते इति चिन्तयेत् । अत्रादत्तपरिग्रहाश्रवद्वयनिरोधात् अन्येषामप्याश्रवाणां निरोधोऽप्युक्त एव ॥८॥

इह एगे उ मन्नति, अपचक्खायपावगं ।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ ९ ॥

इह अस्मिन् ससारे एके केचित् कापिलिकादयो ज्ञानवादिन इति मन्यन्ते । इतीति किं ? पापक हिंसादिकमप्रत्याख्याय पापमनालोच्यापि मनुष्य आचारिक स्वकीयमतोद्भवानुष्ठानसमूह विदित्वा ज्ञात्वा सर्वदुःखात् विमुच्यते । एतावता तत्वज्ञानात् मोक्षावाप्तिः इति वदन्ति । जैनानां तु ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष ज्ञानवादिनां तु ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गमिति ॥९॥

भणन्ता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायावीरियमेत्तेणं, समासासन्ति अप्पयं ॥ १० ॥

पुनस्ते एव ज्ञानवादिनो बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः वाचावीर्यमात्रेण केवल वाक्शूरत्वेन आत्मानं समाश्वासयन्ति । बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ, तयो प्रतिज्ञा अर्थं ज्ञानं येषां ते बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः, बन्धमोक्षज्ञा इत्यर्थः । "मन एव मनुष्याणां, कारण बन्धमोक्षयो । यत्रैवालिङ्गिता कान्ता, तत्रैवालिङ्गिता सुता " इत्यादि प्रतिज्ञां कुर्वाणा । ते किं कुर्वन्तः आत्मानम् आश्वासयन्ति भणन्तो ज्ञानमभ्यस्यन्तः, च पुनः अकुर्वन्तः क्रियामनाचरन्तः, प्रत्याख्यानतप पौषधव्रतादिकां क्रियां निन्दन्तः ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गतयाऽङ्गीकुर्वन्त इत्यर्थः ॥१०॥

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसन्ना पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ ११ ॥

पण्डितमानिन आत्मान पण्डित मन्यन्ते इति पण्डितम्मन्या ,ज्ञानाहङ्कारधारिण इति न जानन्तीत्यध्याहार । इतीति किं? चित्राः प्राकृतसस्कृताद्या षट् भाषाः। अथ वा अन्या अपि देशविशेषात् नानारूपा भाषा वा पापेभ्यो दुःखेभ्यो न त्रायन्ते न रक्षन्ति । तर्हि विद्यानां न्यायमीमांसादीनाम् अनुशासनमनुशिक्षण विद्यानुशासन कुतः त्रायते,?, न त्रायते इत्यर्थ । अथ वा-विद्यानां विचित्रमन्त्रात्मिकानां रोहिणीप्रज्ञप्तिकागौरीगान्धार्यादिपोडशविद्यादेव्यधिष्ठितानामनुशासनम् अनुशिक्षणम् आराधन कुतो नरकात्त्रायते ?। कीदृशास्ते ? बाला अतत्त्वज्ञाः । पुनः कीदृशास्ते ?- पापकर्मभिर्विषण्णाः, विविधमनेकप्रकार यथा स्यात्तथा सक्ता , पापपङ्केषु कलिता इत्यर्थः ॥ ११॥

जे केई सरीरे सत्ता, वन्ने रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥ १२ ॥

ये केचन ज्ञानवादिनः शरीरे शक्ताः सन्ति,शरीरे सुखान्वेषिणः सन्ति। तथा-पुनर्ये वर्णे शरीरस्य गौरादिके, च पुनस्तथा-रूपे सुन्दरनयननासादिके, चशब्दात् शब्दे रसे गन्धे स्पर्शे च। सर्वथा मनसा कायेन वाक्येन सक्ता सलग्ना. सन्ति। ते सर्वे दुःखसम्भवाः दुःखस्य सभवा दुःखभाजनं भवन्ति। मृगपतङ्गमीनमधुपमातङ्गवत्। इहलोके यथा मरणदुःखभाजः मृताः, तथा परलोकेऽप्यार्तध्यानेन दुःखिनः स्युरित्यर्थः ॥१२॥

आवन्ना दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए।
तम्हा सव्वदिसं पस्स, अप्पमत्तो परिव्वए ॥ १३ ॥

ते ज्ञानवादिनो विषयिणः अनन्तके अपारे ससारे दीर्घं मध्वानं दीर्घं मार्गमापन्नाः प्राप्ताः सन्ति। तस्मात्कारणात् सर्वा दिश भवभ्रमणरूपाम। अष्टादश भावदिशः दृष्ट्वा साधुरप्रमत्तः प्रमादरहितः सन् परिव्रजेत् विचरेत्। अष्टादश भावदिशश्च इमाः-

"पुढवि १ जल २ जलण ३ वाऊ ४-
मूला ५ खंध ६ गा ७ पोरबीया य ८।
बि ९ ति १० चउ ११ पंचिंदियतिरि-
१२ नारया १३ देवसघाया १४ ॥ १ ॥
संमुच्छिम १५ कम्मा १६ क-
म्मगा य १७ मणुया १८ तहंतरद्दीवा १८।
भावदिसा दिस्सइ ज, संसारी नियमेआहिं" ॥ २ ॥ इति।

संसारे प्रमादिनो जीवा इमासु अष्टादशभावदिशासु पुनः पुनर्भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥ १४ ॥

साधुः पूर्वकर्मक्षयार्थमिमं देह समुद्धरेत्, सम्यक् शुद्धाहारेण धारयेत्। पुनः कदापि च परीषहोपसर्गादिभिः पीडितोऽपि न कस्यापि साहाय्यमवकाङ्क्षेत् अभिलषेत्। अथवा-कदापि विषयादिभ्यो न स्पृहयेत्। किं कृत्वा ?-(बहिया) संसाराद्बहिस्तात् ससाराद्बहिर्भूतमूर्ध्वं लोकाग्रस्थानं मोक्षमादाय अभिलक्ष्य ॥ १४ ॥

विगिंच कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥ १५ ॥

कालकाङ्क्षी अवसरज्ञः साधुः कर्मणां हेतु कर्मणां कारण मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगादिकम् (विगिंच) विविच्य आत्मनः सकाशाद् पृथक्कृत्य परित्यजेत्संयममार्गे सञ्चरेत्। काल स्वक्रियानुष्ठानस्य अवसर काङ्क्षतीत्येवशील कालकांक्षी, पुनः स साधु पिण्डस्य आहारस्य तथा-पानस्य पानीयस्य मात्रां परिमाण लब्ध्वा भक्षयेत्, यावत्या मात्रया आत्मसंयमनिर्वाहः स्यात्, तावत्परिमाणम् आहार पानीय च गृहीत्वा, आहार पानीय च कुर्यादित्यर्थः। कथभूतमाहारम् ?- (कड) गृहस्थेन आत्मार्थं कृत, प्राकृतत्वात् विभक्तिव्यत्यय ॥ १५ ॥

संनिहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाएँ संजए।
पक्खी पत्त समादाय, निरविक्खो परिव्वए ॥ १६ ॥

च पुनः सयतः साधुर्लेपमात्रयापि सनिधिं न कुर्यात् लेपस्य मात्रा लेपमात्रा तया लेपमात्रया, स सम्यक्प्रकारेण निधीयते स्थाप्यते दुर्गतौ आत्मा येन स सन्निधि, घृतगुडादिसञ्चयस्तं न कुर्यात्. यावता पात्र लिप्यते तावन्मात्रमपि घृतादिक न सञ्चयेत्। भिक्षुराहारं कृत्वा (पत्तं) पात्रं समादाय गृहीत्वा निरपेक्षः सन् निःस्पृहः सन् परिव्रजेत्, साधुमार्गे प्रवर्तेत। क इव?, (पक्खी इव) यथा-पक्षी आहारं कृत्वा (पत्त) पत्र तनूरुहमात्रं गृहीत्वा उड्डीयते तथा साधुरपि कुक्षिसंबलो भवेत् ॥१६॥

एसणासमिओ लज्जू, गामे अनिअओचरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवायं गवेसए ॥ १७ ॥

एषणासमितो निर्दोषाहारग्राही ग्रामे नगरे वा,अनियतो नित्यवासरहितः सन् चरेत् सयममार्गे प्रवर्तेत। कीदृशः साधु ?-(लज्जू) लज्जालुः लज्जा सयमस्तेन सहितः। पुनः कीदृशः?-अप्रमत्त प्रमादरहितः। पुनः साधुः ?-(पमत्तेहिं इति) प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः पिण्डपात भिक्षां गवेषयेत् गृह्णीत। प्राकृतत्वात्पञ्चमीस्थाने तृतीया ॥ १७ ॥

एवं से उदाहु, अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे अरहा नायपुत्ते भयवं वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि ॥ १८ ॥

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह-हेजम्बु ! (से इति) स अर्हन् ज्ञातपुत्रो महावीर एवं (उदाहु) उदाहृतवान्। अह तवाग्रे इति ब्रवीमि। अर्हन् इन्द्रादिभिः पूज्यः ज्ञातः प्रसिद्धः सिद्धार्थक्षत्रियः तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः। कीदृशः महावीरः?-भगवान् अष्ट महाप्रातिहार्याद्यतिशयमाहात्म्ययुक्तः। पुनः कीदृशः?-विशाला त्रिशला तस्याः पुत्रो वैशालिकः। अथवा-विशालाः शिष्य-तीर्थ-यशःप्रभृतयो गुणा अस्येति वैशालिकः। पुनः कीदृशो महावीरः-(वियाहिए इति) व्याख्यातविशेषेण आख्याता द्वादशसु परिषत्सु समवसरणे धर्मोपदेश व्याख्याता, धर्मोपदेशक इत्यर्थः। पुनः कीदृशो महावीरः?-अनुत्तरज्ञानी सर्वोत्कृष्टज्ञानधारी। पुनः कीदृशः?-अनुत्तरदर्शी अनुत्तर सर्वोत्कृष्ट पश्यतीत्येवशीलोऽनुत्तरदर्शी। पुनः कीदृशः?-अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ज्ञान च दर्शन च ज्ञानदर्शने, अनुत्तरे च ते ज्ञानदर्शने च अनुत्तरज्ञानदर्शने, अनुत्तरज्ञानदर्शने धरतीति अनुत्तरज्ञानदर्शनधर, केवलवरज्ञानदर्शधारी इत्यर्थः। अत्र पूर्वम् अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शी इति विशेषणद्वयं मुक्त्वा पुनरनुत्तरज्ञानदर्शनधर इति विशेषणमुक्त, तेन केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकसमयान्तरेण युगपदुत्पत्तिः सूचिता, अनयो कथञ्चिद्भेदोऽभेदश्च सूचित, पुनरुक्तिदोषो न ज्ञेय। ॥ १८ ॥ इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थित्वाध्ययन सपूर्णम् अत्राध्ययने क्षुल्लकस्य साधोर्निर्ग्रन्थित्वमुक्तमित्यर्थः। उत्त० ६ अ०।

खुड्डागनिगंथसुत्त-क्षुल्लकनिर्ग्रन्थसूत्र-न०। क्षुल्लकनिर्ग्रन्थनामकसूत्रे षष्ठे उत्तराध्ययने, उत्त० ६ अ०।

खुड्डागभव-क्षुल्लकभव-पुं०। क्षुल्लक सर्वभवापेक्षया लघीयान् भवतीति क्षुल्लकभव। तस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहण च सर्वेषामप्यौदारिकशरीरिणां भवतीत्यवसेयम्,भगवत्यामेवमेवोक्तत्वात्, कर्मप्रकृत्यादिषु औदारिकशरीरिणां तिर्यङ्मनुष्याणामायुषो जघन्यस्थिति क्षुल्लकभवग्रहणरूपाया प्रतिपादनाच्च। यत्पुनरावश्यकटीकायां क्षुल्लकभवग्रहण वनस्पतिष्वेव प्राप्यते इत्युक्तं तन्मतान्तरमित्यवसीयते इति। साम्प्रतमेकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे आवलिकाद्वारेण कालमानं निरूपयितुकामो यावत्यः आवलिका प-

कस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे भवन्ति एतदेवाह-(आवलियाण दोसे येत्यादि) आवलिकानाम् "असंखिज्जाण समयाणं समुदयसमिई समागमेण सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ " इति । इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवत एकक्षुल्लकभवे एवंक्षुल्लकभवग्रहणे इति । कर्म० ५ कर्म० ।

खुड्डागभवग्गहण-क्षुल्लकभवग्रहण-न० । क्षुल्लं लघु स्तोकमित्येकार्थाः । क्षुल्लमेव क्षुल्लकम् एकायुष्कसंवेदनकालो भव तस्य ग्रहणं संबन्धन भवग्रहणं क्षुल्लकं च तद्भवग्रहणं च क्षुल्लकभवग्रहणम् । क्षुल्लकभवसम्बन्धने, जी० १ प्रति० । (अस्य विस्तारो ' भवग्गहण ' शब्दे)

खुड्डागसव्वओभद्दपडिमा-क्षुद्रकसर्वतोभद्रप्रतिमा-स्त्री० । महत्यपेक्षया क्षुद्रायां सर्वतोभद्रप्रतिमायाम्, अन्त० ।

तत्स्वरूप चेत्थम्—

खुड्डायं सव्वतोभद्दं उवसंपज्जित्ताणं विहरति तं चउत्थं करेति कचउत्थं करेतित्ता सव्वकामगुणेयं पारेति पारित्ता छट्ठं क० २ सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । चउत्थं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ । सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । चउत्थं क० २ । सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । चउत्थं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ । सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । एवं खलु एय खुड्डागसव्वतोभद्दस्स तवोकम्मस्स पढमं परिवाडी, तिहिं मासेहिं दसहिं दिवसेहिं अहासुत्तं जाव आराहेती । दोच्चा ते परिवाडी ते चउत्थं करेति करेतित्ता विगतवज्जं पारेति पारेतित्ता जहा रयणावलीए तहा एत्थ वि ॥

(खुड्डाय सव्वओभद्दपडिम) भिक्षु' प्रकाम महत्यपेक्षया सर्वत सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च भद्रा समसङ्ख्येति सर्वतो भद्रा तथाहि-एकादीनां पञ्चकानामङ्कानां सर्वतो भावात् पञ्चदश पञ्चदश सर्वत्र यस्या जायन्त इति स्थापनोपायगाथा " एगाई पचउन्ते य, ठविओ मज्जतु आइमणुपत्ति । सेसे कमेण ठविउ, जाण लहू सव्वओभद्द ॥ १ ॥ " इति तपोदिनानीह पञ्चसप्तति' । अन्त० ८ वर्ग ।

खुड्डागसीहनिक्कीलिय-क्षुद्रकसिंहनिष्क्रीडित-न० । महासिंहनिष्क्रीडितापेक्षया क्षुद्रकसिंहनिष्क्रीडितनामके तपसि, औ० । अन्त० । (तत्स्वरूप 'सीहनिक्कीलिय' शब्दे वक्ष्यते)

खुड्डिय-खण्डित-त्रि० । " चपमखण्डिते णा वा " । ८ । १ । ५३ । इति णकारेण सहितस्यादेरत उत्वम् । छिन्ने, खुड्डिओ-खण्डिओ । प्रा० १ पाद

खुड्डिया-क्षुद्रिका-स्त्री० । लघ्व्यामखातसरस्याम्, ज०१वक्ष० । जलाशयविशेषे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । लघुनि, स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे, " खुड्डियाओ खुड्डुवारियाओ " क्षुद्रिका लघ्व्यस्तथा क्षुद्रद्वारा । आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । ग०। सूत्र० " खुड्डिया चेव मोयपडिमा " स्था० २ ठा० ३ उ० । इय च क्ष्व्यत प्रश्रवणविषया द्रव्यतो ग्रामादेर्बहि', कालतः शरदि, निदाघे वा प्रतिपद्यते । भुक्त्वा चेत् प्रतिपद्यते चतुर्दशभक्तेन समाप्यते अभुक्त्वा तु षोडशभक्तेन भावतस्तु दिव्याद्युपसर्गसहनमिति । स्था० २ ठा० ३ उ० । औ० । (विस्तरस्तु ' मोयपडिमा ' शब्दे अभिधास्यते) " खुड्डियाविमाणपविभत्ति " अल्पग्रन्थार्था विमानप्रविभक्ति' कालिकश्रुतविशेष । पा० ।

खुडियाए णं विमाणपविभत्तीए पढमे वग्गे । सत्त तीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता ॥

क्षुद्रिकायां विमानप्रविभक्तौ कालिकश्रुतविशेषस्तत्र किल बहवो वर्गा अध्ययनसमुदायात्मका भवन्ति । तत्र प्रथमे वर्गे प्रत्यध्ययनमुद्देशस्य ये काला इति स० ३ सम० ।

खुण्ण-क्षुण्ण-त्रि० । मर्दिते, नि० चू० १ उ० । भग्ने, स्था० । अभ्यस्ते, विहते, चूर्णीकृते च । वाच० ।

खुत्थिय-क्षुभित-त्रि० । भूमीपतनात् प्रदेशान्तरेषु नमिते, भ० १ श० २ उ० ।

खुत्त-क्षुप्त-त्रि० । संसारसागरे बुडिते, " जम्ममरणे य ते खुत्ता " स्था० ।

खुद्द-क्षुद्र-त्रि० । अधमे, स्था० ६ ठा० । क्षुद्रजनाचरितत्वात् प्राणवधे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । क्षुद्रकर्मकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । नीचे, उत्त० ३१ अ० । " खुद्दो जणो नत्थि " क्षुद्रो जनो दुर्जनलोक । वृ० १ उ० । कृपणे, द्वा० १० द्वा० । क्षौद्र-न० । क्षौद्राभिर्भ्रमरीभि कृत' । मधुनि, वाच० ।

खुद्दकुट्ठ-क्षुद्रकुष्ठ-न० । एकादशकुष्ठादिषु एकादशकुष्ठभेदेषु, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि तद्यथा-स्थूलारुष्कमहाकुष्ठचर्मदलपरिसर्पविसर्पसिध्मविचर्चिकाकिटिभपामापशततारुकसञ्ज्ञानीति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

खुद्दमुह-क्षुद्रमुख-पु० । मधुमुखे, मधुरभाषिणि, वृ० १ उ० ।

खुद्दाय-क्षुद्रात्मन्-त्रि० । क्रूरस्वभावे, " खुद्दाए भासरसी " कल्प० ६ क्षण ।

खुद्दिमा-क्षुद्रिमा-स्त्री० । गान्धारग्रामस्य द्वितीयमूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

खुधिय-क्षुधित-त्रि० । बुभुक्षिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

खुप्प-मज्ज-धा० । स्नाने, तुदा० पर० अक० अनि० । वाच० ।
" मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पा " ८ । १ । १०१ इति मस्जे' खुप्पादेशः । ' खुप्पइ ' मज्जति । प्रा० ४ पाद ।
क्षुप-पु० । लतासमुदाये, प्रा० ४ पाद ।

खुप्पिउं-मङ्क्तुम्-अव्य० । खुचयितुमित्यर्थे, " पङ्कव्व खुप्पिउ जे " त० ।

खुब्भंत-क्षुभ्यत्-त्रि० । अधो निमज्जति, स्था० ७ ठा० ।

खुब्भण-क्षोभण-न० । बहुमोहने, ओघ० । सचलने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

खुभिय-क्षुभित-त्रि० । भीते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । क्षोभे, न० ।

मोच० । कलहे, सू० ३ उ० । आलोडिते,व्याकुले, वाच० । "समन्तआ खुभियचक्कवाल" क्षुभितानि चक्रवालानि जलमण्डलानि यत्र गमने तत्तथा भवत्येव निर्गच्छतीति सबन्धः । भ० ६ श० ३३ उ० ।

खुभियव्व–क्षुभितव्य–न० । क्षोभे कार्ये,प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार।

खुमा–क्षुमा–स्त्री० । अतस्याम, शणे, नीलिकायाम, वाच० । रोममुण्डनसाधने, उत्त० १७ अ० ।

खुर–क्षुर–पु० । नापितोपकरणे, अनु० । सूत्र० । तीक्ष्णे शरीरावयवकर्त्तने, सूत्र० १ श्रु०५ अ० १ उ० । ज्ञा० । क्षुरे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । 'खुरे चेव एगधारत्ति" यथा क्षुर एकधार एव साधुरुत्सर्गलक्षणैकधारः । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । कोकिलाक्षे, गोखुरे, महापिण्डीतके वाणे च । वाच० ।

खुर–पु० । शफे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । कोलदले, नखिनां गन्धद्रव्ये, खट्वापादे, वाच० ।

खुरदुगुत्ता–क्षुरद्विकोक्ता–स्त्री० । चर्मकीटतायाम, "एव खुरदुगुत्ताए" चर्मकीटत्वेन जायन्ते तथा हि–जीवतामेव गोमहिष्यादीना चर्मणोऽन्त प्राणिन समूर्च्छन्ते, । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

खुरधार–क्षुरधार–त्रि० । क्षुरस्येव धारा यस्यातिच्छेदकत्वात्सौ क्षुरधार । क्षुरवत्तीक्ष्णधारे, "असिं खुरधारं गहाय" उपा० २ अ० । क्षुरो ह्यतितीक्ष्णधारो भवति । अन्यथा केशानाममुण्डनात् । इति क्षुरेणोपमा खड्गधारायाः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

खुरनिबद्ध–क्षुरनिबद्ध–पु० । शफवत्स्यो रासभबलीवर्दयो ,पि०।

खुरपत्त–क्षुरपत्र–न० । क्षुर (क्षुर.) एव पत्र क्षुरपत्रम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । क्षुरे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० ।

खुरप्प–क्षुरप्र–पु० । प्रहरणविशेषे, दशा० ६ अ० । श्रोत्रेन्द्रियं क्षुरप्रसंस्थानसंस्थितम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । विशे० । सूत्र० । घासच्छेदनशस्त्रे, (खुरपी) लोके तत्तुल्याग्रफलके शरे, वाच० ।

खुरि–खुरिन्–पु० । स्त्री० । खुरोऽस्यास्तीति खुरी खुररूपावयवयुक्ते, आव० ३ अ० ।

खुल्ल–क्षुल्ल–त्रि० । लघौ,प्रज्ञा०१ पद । द्वीन्द्रियभेदे,जी०१ प्रति० ।

खुल्लक–क्षुल्लक–त्रि० । ह्रस्वे, अन्त०४ वर्ग । बाले,क्षुल्लकसम्बन्धश्चायम्–वसन्तपुरे देवप्रिय. श्रेष्ठी तस्य यौवने भार्या मृता पुत्रेणाष्टवार्षिकेण सह प्रव्रजित । ततश्च स क्षुल्लक परीषहैर्बाध्यमानो वक्ति–तात! न शक्नोमि उपानहौ विना प्रव्रजितुम् । मोहेन पिता ते अनुजानाति । पुनर्वक्ति–तात ! न शक्नोमि शीर्षे सोढुमातपम् । पिता शीर्षे छत्रमनुजानाति । पुनर्वक्ति–तात ! न शक्नोमि भिक्षाटन कर्तुम् । तत पिता आनीय दत्त । एव भूमौ न संस्तारयितु शक्नोमि । तत पिता फलकमर्पयति । एव लोचस्थाने क्षौरं कारयति । प्रक्षालयत्यङ्ग प्रासुकनीरेण । पुनर्वक्ति–तात ! न शक्नोमि ब्रह्मचर्य पालयितुम् । ततोऽयोग्योयमिति पित्रा निष्काशित मृत्वा महिषो जात । पिता चारित्रमाराध्य देवो जात । अवधिना सुत महिष पश्यति । स सार्थवाहरूप कृत्वा त महिष गुरुभारमवाहयत् । तात ! न शक्नोमि इत्यादि पूर्वभणित पुन कथयन् स्मारयति । तस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम् । गृहीतानशनो महिषो मृत्वा वैमानिकदेवो जातः । इति क्षुल्लककथा । ग० २ अधि० । (क्षुल्लकस्य धर्मपरित्तायां समस्यापादपूर्त्ति 'सम्मत्त' शब्दे ज्ञेया । गच्छक्षुल्लकस्य पिपासापरिषहसहन च 'पिवासा' शब्दे)

खुल्लगपायसमास–क्षुल्लकपादसमास–पु० । क्षिद्रिनां परीक्षणाय कृतायां सभायां क्षुल्लकेन कृते गाथापादसंक्षेपे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

खुव–क्षुप–पु० । ह्रस्वशाखामूले वृक्षे । ज्ञा०१ श्रु०१ अ० ।

खुव्वय–खुव्वक–न० । पलाशादिपत्रमये द्रोणिके, १ व्य०२ उ०।

खुहज्झाण–क्षुद्ध्यान–न० । क्षुधा क्षुत्परीषहोदयजन्यपीडाविशेष । तया यद्ध्यान क्षुद्ध्यान राजगृहपाशगतलोकसहगतद्रमकस्येव क्षुधार्त्तध्याने, आतु० ।

खुहपिवास–क्षुत्पिपास–न० । क्षुध पिपासा च क्षुत्पिपासम् । बुभुक्षा तृष्णयो । जी० ३ प्रति० ।

नैरयिकाणां क्षुत्पिपासे चिन्तयति–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पहाए णेरतिया केरिसयं खुहपिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । गोयमा ! एगमेगस्स णं रयणप्पभापुढविनेरतियस्स असब्भाव पत्थवणाए सव्वोदधी वा सव्वपोग्गले वा आसयंसि पक्खिवेज्जा । णो चेव णं से रयणप्पभाए पुढवीए नेरइए तित्ते वा सित्ता वितण्हे वा सित्ता परिसिया णं । गोयमा ! रयणप्पभाए जे णेरइया खुध पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । एवं जाव अहे सत्तमाए ॥

(रयणेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त ! कीदृशं क्षुध पिपासा प्रत्यनुभवन्त. प्रत्येक वेदयमाना विहरन्त्यवतिष्ठन्ते भगवानाह–गौतम ! (एगमेगस्स णमित्यादि) एकैकस्य रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकस्य असद्भावस्थापना असद्भावकल्पनया ये केचन पुद्गला उदधयश्चेति दोषा तान् आस्यके मुखे सर्वपुद्गलान् सर्वोदधीन् प्रक्षिपेत् तथाऽपि (नो चेव णमित्यादि) नैव स रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकस्तृप्तो वा वितृष्णो वा स्यात । लेशतोऽत्र प्रबलभस्मकव्याध्युपेत. पुरुषो दृष्टान्त (परिसिया णमित्यादि) ईदृशीं णमिति वाक्यालङ्कृतौ गौतम ! रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका क्षुध पिपासां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति । एव प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्य यावदध. सप्तमी । जी० ३ प्रति० । वाच० ।

देवानाम्—

सोधम्मीसाणे देवा केरिसयं खुहं पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । गोयमा ! णत्थि खुहं पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति० जाव अणुत्तरो ॥

(सोधम्मीत्यादि) सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवा. कीदृश क्षुत्पिपास क्षुध पिपासा च क्षुत्पिपास प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति–आसते ? । गौतम ! नास्त्येतत् यत्क्षुत्पिपास प्रत्यनुभवन्तो विहरन्तीति । एव यावदनुत्तरोपपातिका । जी० ४ प्रति० ।

खुहपिवासमहण–क्षुत्पिपासामथन–त्रि० । क्षुध पिपासा च तयोर्मथन क्षुत्पिपासामथन. क्षुत्तृड्नाशने प्रवराहारे, जी० ३ प्रति० ।

खुहा-क्षुध्-स्त्री० । " क्षुधो हा " ८ । १ । १७ । इत्यन्तस्य हाऽऽदेशः । प्रा० १ पाद । बुभुक्षायाम्,स्था० १० ठा० । त० । आव० । कल्प० । क्षुध इति कर्मण आख्यानम् ' भिनत्तीति ' गिक् । नि० चू० २० उ० । व्य० ।

खुहापरिसह-क्षुत्परिषह-पु० । क्षुदेवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुस्तया-संयमजीवनया आहारपरिपाकादिवाच्छानिवर्त्तनेन परीति सर्व-प्रकारं सह्यते इति क्षुत्परिषहः । उत्त० २ अ० । प्रथमपरीषहे, क्षुद्वेदनामुदितामशेषवेदनातिशायिनीं सम्यग्विषहमाणस्य ज-ठराग्निविदाहिनीमागमविहितेन भक्तेन शमयतोऽनेषणीयं च परिहरतः क्षुत्परीषहविजयो भवति अनेषणीयग्रहणे तु न वि-जितः स्यात् क्षुत्परीषहः । प्रव० ८ द्वार । आव० । " क्षुधार्त्तः शक्तिमान् साधु-रेषणां नातिलङ्घयेत् । अदीनोऽविह्वलो वि-द्वान्, यात्रामात्रोद्यतश्चरेत् " ॥१॥ ध० ३ अधि० । आ० म० ।

एतदेव सूत्रकृद् विवृण्वन्नाह-

दिगिंछापरिगए देहे, तवस्सी भिक्खु थामवं ।
ण छिंदे ण छिंदावए, न पए न पयावए ॥२॥ उत्त० ।

दिगिञ्छेकरूपा तथा परितापः सर्वाङ्गीणसन्तापो दिगिञ्छा परितापस्तेन छेदादिक्रियापेक्षा हेतौ तृतीया । पाठान्तरम्-दि-गिञ्छापरिगते बुभुक्षाव्याप्ते देहे शरीरे सति तपोऽस्यास्तीति अतिशायने विनि , तपस्वी । विकृष्टाष्टमादितपोऽनुष्ठानवान् । स च गृहस्थादिरपि स्यात् । अत आह-भिक्षुर्यतिः । सोऽपि की-दृशः ? स्थाम बलं तदस्य संयमविषयमस्तीति स्थामवान् । "भूम्नि प्रशंसायां वा मतुप्" अथ च किमिति ? । आह-न छि-न्द्यान्न द्विधा विदध्यात्, स्वयमिति गम्यते । न छेदयेदन्यैः फलादिकमिति शेषः । तथा-न पचेत् स्वयं, न चान्यैः पाचयेत्, उपलक्षणत्वाच्च नान्यं छिन्दन्तं वा पचन्तं वाऽनुमन्येत ततः एव च न स्वयं क्रीणीयात, नापि क्रापयेत्, न च परं क्रीणन्त-मनुमन्येत । छेदस्य हननोपलक्षणत्वात्क्षुत्प्रपीडितोऽपि न नव-कोटीशुद्धिबाधां विधत्ते इति गाथार्थः ॥२॥

किं च-

कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए ।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥ ३ ॥

काली काकजङ्घा, तस्याः पर्वाणि स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति, तत कालीपर्वाणीव पर्वाणि जानुकूर्परादी-नि यस्य तानि कालीपर्वाणि उष्ट्रमुखवत् मध्यपदलोपःसमासः । तथा-एवंविधैरङ्गैः शरीरावयवैः सम्यक् काशते तपःश्रिया दीप्यते इति कालीपर्वाङ्गसंकाशः । यद्वा-प्रकृते पूर्वापरनिपात-स्यातन्त्रत्वाद् ग्रामो दग्ध इत्यादिवत् अवयवधर्मेणाप्यवय-विनि व्यपदेशदर्शनाच्चाङ्गसन्धीनामपि कालीपर्वसदृशतायां काकीपर्वाणि सकाशानि सदृशान्यङ्गानि यस्य स तथा । स हि विकृष्टतपोऽनुष्ठानतोऽपचितपिशितशोणितः इत्यस्थिचर्मावशेषः एवंविध एव भवति अत एव-कृशः कृशशरीरः । धमनयः शि-रास्ताभिः सन्ततो व्याप्तो धमनिसन्ततः । एवंविधावस्थोऽपि मात्रा परिमाणरूपां जानातीति मात्राज्ञो, नातिलौल्यतोऽतिमा-त्रोपयोगी । कस्येति ? आह-अश्यत इत्यशनम् ओदनादि,पीयत इति पानं सौवीरादि,अनयोः समाहारेऽशनपानं तस्य तथा (अ-दीणमणसो त्ति) सूत्रत्वाददीनमना अदीनमानसो वा अनाकुल-चित्तश्चरेत् संयमाध्वनि यायात् । किमुक्तं भवति-अतिबाधितो-ऽपि क्षुधा नवकोटीशुद्धमप्याहारमवाप्य न लौल्यतोऽतिमात्रोप-योगी तदप्राप्तौ वा दैन्यवानित्येवं क्षुत्परिषह्यमाणा क्षुत्परिषहः सोढव्यो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ उत्त० ।

इदानीं निर्युक्तिकार एव "न छिंदे" इत्यादिसूत्रावय-वसूचितं कुमारकेत्यादिद्वारोपाक्षिप्तं च-क्षुत्परीषहोदाहरणमाह--

उज्जेणि हत्थिमित्तो, भोयडिपुरहत्थिभूइखुड्डो य ।
अडवीये वयणीसो, पातोवगओ य सोढव्वं ॥ उत्त०नि०१खण्ड

(उज्जेणि त्ति) उज्जयिनिर्हस्तिमित्रो भोगकटकपुरे हस्तिभूत-तक्षुल्लकश्चाटव्यां वेदनार्त्तः पादपोपगतश्च सोढव्यं देवसन्निधा नमिति गाथाक्षरार्थो वृद्धसंप्रदायादवसेयः । उत्त० । सचायम्-उज्जयिन्यां हस्तिमित्रो श्रेष्ठी वर्तते । तस्य हस्तिभूतनामबालको-ऽस्ति । अन्यदा हस्तिमित्रश्रेष्ठिनः प्रिया मृता तु स्वगर्भेवैराग्येन हस्तिमित्रश्रेष्ठी हस्तिभूतदारकेण समं प्रव्रजितः । अन्यदा दुर्भिक्षे साधुभिः समं विहरन्नसौ हस्तिमित्रसाधुर्भोजकटकनगरमा-र्गोऽटव्यां कण्टकेन विद्धपादोऽग्रे विहर्त्तुमक्षमोऽटव्यामेव स्थि-तः । तमक्षमं दृष्ट्वा साधुभिर्भणितं दारकेण त्वां मार्गे वहिष्यामो मा विषादं कुथाः । तेन भणितम्-मदायुः स्तोकमेवास्ति, अतोऽह-मत्रैव भक्तं प्रत्याख्यामि, यूयं यात,मदर्थमत्र स्थितस्यान्यस्य क-स्यापि साधोर्मा भूद्विनाशः । इत्युक्तवन्तं तं क्षमयित्वा भक्तपान-प्रत्याख्यानं कारयित्वा तत्रैवमुक्त्वा च अनिच्छन्तमपि क्षुल्लकं गृहीत्वा ते साधवश्चेलुः । क्षुल्लकोऽर्द्धमार्गात्तान्विप्रतार्य पितृमो-हात्तत्राऽऽयातः । तावत्तत्र गृहीतानशनः स मृतो देवोऽभूत् । क्षुल्लको मौग्ध्यात्तं मृतं न जानाति । सुतस्तस्य तत्कलेवरस्य पार्श्वे एव भ्रमति । क्षुधार्त्तोऽपि फलादिकं न गृह्णाति । स देवः क्षुल्लक-मोहेन निजदेहमधिष्ठाय अवदत् । वत्स ! गच्छ भिक्षायां क्षुल्लकेन भणितं कुत्र व्रजामि । तेन भणितम् एषु पर्वतनिकुञ्जेषु व्रज । तन्नि-वासिनो जना भिक्षां दास्यन्ति । ततः तथेति भणित्वा क्षुल्लकस्त-त्र गतः धर्मलाभमुच्चचार । स देवो नरनारीरूपं विधाय करं प्रसार्य दिव्यशक्त्या तस्मै भक्तपानादि ददौ । तावद् यावद् दुर्भिक्षे निवृत्ते भोजकटकनगरात् पश्चाद्वलिता साधवस्ते-नैव मार्गेण तत्राऽऽगताः । जीर्णं शवं दृष्ट्वा ज्ञातदिव्यप्रयोगास्तं क्षुल्लकं गृहीत्वा विजह्रुः । यथा ताभ्यां पितृपुत्राभ्यां क्षुत्परीषहः सोढः तथा साम्प्रतिकमुनिभिरपि सोढव्यः । उत्त० २ अ० । ('परिसह' शब्दे साधारणवक्तव्यता)

खुहापरिसहविजय-क्षुत्परिषहविजय-पु० । साधोर्निरवद्याहा-रगवेषिणः निरवद्यस्याहारस्यालाभे, ईषल्लाभे, वा अनपगतक्षु-द्वेदनस्याकालभिक्षाप्रतिनिवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहाणीं मनाग-प्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरीतचेतसः उदीरणप्रब-लक्षुद्वेदनस्यापि सतोऽनेषणीयपरिहारतोऽपरिदेवनेन क्षुद्वे-दना-सहने, पञ्चा० १ विव० ।

खुहापरीसह-क्षुत्परीषह-पु० । ' खुहापरिसह ' शब्दार्थे, ।

खुहियजल-क्षुभितजल-त्रि० । क्षोभयुक्तजले, लवणसमुद्रे, " खुहियजले " क्षुभितजलं वेलावशात् वेला च महापाताल-कलशगतवायुक्षोभात् । भ० ६ श० ८ उ० ।

खेज्जणा-खेदना-स्त्री० । खेदसमुचितायां वाचि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

खेम-खेट-न० । धूलिप्राकारपरिक्षिप्ते,नि० चू० १२ उ० । औ० । रा० । विपा० । ग० । कल्प० । जी० । नि० चू० । पांशुप्राका-

रनिबद्धे, । नं० । प्र० । उत्त० । ज्ञा० । स्था० । बृ० । आचा० । प्रश्न० । कुल्लकप्राकारावेष्टिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । व्य० । नद्यद्रिवेष्टिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । नगरविशेषे, विशे० । खे अटति अट् अच्। खिट् अच् वा। सूर्यादिग्रहे, सुनिन्दके, अधमे, अस्त्रभेदे, स च यष्टिरूप। चर्मणि, खिट् भावे करणे घञ्। मृगयायाम्, कर्त्तरि अच्। तृणे, न० धनवृद्धिजीविनि, कफे, वाच० ।

खेडअ-क्ष्वेटक-पुं० । " क्ष्वेटकादौ " । ८ । २ । ६ । इति संयुक्तस्य ख. । विषे, प्रा० २ पाद ।

स्फेटक-त्रि० । " क्ष्वेटकादौ " ८ । २ । ६ । इति स्फस्य खः । हिंसके, अनादरकारके च । प्रा० २ पाद ।

खेडग-खेटक-न० । फलके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खेडठाण-खेटस्थान-न० । धूलिप्राकारावृत्तनगरविशेषे, विशे० आ० म० प्र० ।

खेडिअ-स्फेटिक-पुं० । " क्ष्वेटकादौ " ८ । २ । ६ । संयुक्तस्य ख. । प्रा० २ पाद ।

खेड्ड-खेल-पुं० । "गोणादय. " । ८ । २ । १७४ । इत्यन्तस्य डः । क्रीडायाम, प्रा० २ पाद ।

खेड्डा-खेला-स्त्री०। खेला क्रीडा। शारिचतुरङ्गद्यूताद्यायामन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादानादिजनितायाम इन्द्रजालकगोलकखेलनाद्यायां वा क्रीडायाम्, ग० २ अधि० ।

खेत्त-क्षेत्र-न०। 'क्षि' निवासगत्योः इति क्षियन्ति निवसन्ति जीवा अजीवाश्च अत्र इति उणादिके त्रप्रत्यये क्षेत्रमिति। विशे०। 'क्षि' निवासगत्यो' अस्मादधिकरणे ष्ट्रन् सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अवगाहदानलक्षणे आकाशे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सम्म० । स० । आ० चू० । स्था० । " खित्त खलु आगास " इति वचनात् । आ० म० प्र० । नि० चू० । स्था० । पिण्ड० नि० । यत्रावगाढस्तत् क्षेत्रमुच्यते, यथा परमाणोरागमे यत्रैकस्मिन् प्रदेशे अवगाढस्तदेक प्रदेश क्षेत्रमभिहितम् । विशे० । विपा० ।

खेत्तं मयमागासं, सव्वदव्वावगाहणा लिंगं ।
तं दव्वं चेव निवा-समेत्तपज्जायओ खेत्तं ॥ २०८८ ॥
तं च महासेणवणो-वलक्खियं जत्थ निग्गयं पुव्वं ।
सामाइयमन्नेसु य, परंपरविणिग्गमो तस्स ॥ २०८९ ॥

' क्षि ' निवासगत्यो', क्षियन्ति-अवगाहन्ते निवसन्ति जीवादयोऽस्मिन्निति क्षेत्रम्। तच्चाकाश सर्वार्थवेदिनां मतम्। कथभूतम् ?-सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणां याऽवगाहनाऽवस्थानरूपा सैव लिङ्ग चिन्हमुपयोगो यस्य तत्सर्वद्रव्यावगाहनालिङ्गम् । तथापरपर्यायेषु द्रव्याणां गमनाद् द्रव्यमेव, केवल निवासमात्रपर्यायमाश्रित्य क्षेत्रमुच्यते। तच्चोपाधिभेदाद् बहुभेदम् । अत इह महासेनवनोपलक्षितमेव गृह्यते। विशे०। धर्मादीनां द्रव्याणां वृत्तिर्भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। ल०। आव०। क्षेत्र यथा सख्येयप्रदेशावगाहनोऽसौ स०। धान्यनिष्पत्तिस्थाने, कल्प० ६ क्षण। सस्योत्पत्तिभूमौ, पञ्चा० १ विव० ।

तच्च त्रिविधम्-

खेत्त सेउ केउं, सेउ ऽरहट्टाइ केउ वरिसेणं ।
भूमि घरवत्थु मेवं, केउं पासायगिहमाई ॥

क्षेत्र द्विधा-सेतुः केतु श्च, तत्र (सेउऽरहट्टाइ त्ति) अरहट्टादिना सिच्यमान यन्निष्पद्यते तत्सेतु । अत्रादिशब्दात्तडागादिपरिग्रह'। यत्पुनर्वर्षेण मेघवृष्ट्या निष्पद्यते तत् केतु । बृ० १ उ० । ध० । उत्त० । स्था० । आव० । आ० चू०। ग्रामादियोग्यस्थाने, ध० ३ अधि०। "खेत्ते काले जम्मे" इत्यादि (२०२५)। क्षेत्र जनपदग्रामनगरादि, यदुक्तम्-"मगहागोव्वरगामे" इत्यादि। विशे०। संयमनिर्वाहार्थ क्षेत्रगुणा अन्वेषणीयाः, जघन्ये क्षेत्रे चत्वारो गुणा। तच्च क्षेत्र त्रिविधम्-जघन्यम्, उत्कृष्ट, मध्यमं च। तत्र चतुर्गुणयुक्तं जघन्यम् ।

ते चामी-

सुलहा विहारभूमी, वियारभूमी य सुलहसज्झाओ ।
सुलहा भिक्खा य जहिं, जहन्नयं वासखेत्तं तु ॥ १ ॥

यत्र विहारभूमि' सुलभा, आसन्नो जिनप्रासाद इत्यर्थः । १ । यत्र स्थण्डिल शुद्ध, निर्जीवमनालोक च। २ । यत्र स्वाध्यायभूमि सुलभा, अस्वाध्यायादिरहिता ३। यत्र भिक्षा च सुलभा ४। तज्जघन्य वर्षायोग्य क्षेत्रम्। कल्प० १ क्षण ।

उत्कृष्ट त्रयोदशगुणोपेत तानेव गुणानाह-

चिक्खल्लपाण-थंडिल, वसही-गोरस-जणाउलो य वेज्जो य।
ओसह-निचया-ऽहिवती, पासंडा भिक्ख-सज्झाए ॥

यत्र (चिक्खल्ल) कर्दमो भूयान् भवति । प्राणाश्च द्वीन्द्रियादयो भूयांसो न समूर्च्छन्ति। यत्र भूयांसि स्थण्डिलानि, वसतयश्च द्वित्रादयो यत्र प्राप्यन्ते । गोरस च प्रभूत, प्रत्येकं भूयो जन समाकुल' कुलवर्ग., वैद्यश्च यत्र विद्यते । औषधानि च सुप्रतीतानि । यत्र धान्यमतिप्रभूतम्। यत्र अधिपतिः प्रजानामतीवसुरक्षको वर्तते। पाषण्डाश्च स्तोका विद्यन्ते। भिक्षा च सुलभा। स्वाध्यायश्च निर्व्याघातः। एतदुत्कृष्ट वर्षासु योग्य क्षेत्रम् ।

साम्प्रतमेतद्गुणाभावे वर्षासु वसतां प्रायश्चित्तमाह-

पाणा थंमिल्लवसही, अहिवतिपासंडभिक्खसज्झाए ।
लहुया सेसे लहुओ, केसिंची सव्वहिं लहुगा ॥

यदि यत्र प्राणा अतिबहवो, यदि वा न विद्यन्ते । स्थण्डिलानि, वसतयो वा द्वित्रादिका न विद्यन्ते। अधिपतिर्वा नास्ति। पाषण्डा वा बहव' । भिक्षा वा न सुप्रापा । स्वाध्यायो वा न निर्वहते । तत्र वर्षाकाल करोति । तदेतेषु दोषेषु प्रत्येक प्रायश्चित्त चत्वारो लघुकाः । शेषे (चिक्खल्लादिके) दोषे प्रत्येक लघुको मास' । केषांचिदाचार्याणां मतेन-पुन सर्वत्र सर्वेष्वपि दोषेषु प्रत्येक चत्वारो लघुका' ।

सप्रति (चिक्खल्ले) दोषानभिधित्सुराह-

नीसरण कुच्छणागा-रकंटगा सिज्ज आयभेदो य ।
संजमतो पाणादी, अगाहनिमज्जणादीया ॥

निस्सरण नाम फेल्हसणम्, कुत्सना अङ्गुल्यन्तराणां कोथकाराः कर्करका', कण्टका बब्बूलशूलादयः (सिज्ज त्ति) देशीपदमेतत् परिश्रम इत्यर्थ.। एष आत्मभेद', एते आत्मविराधनादयो दोषा इत्यर्थ.। संयमत' संयमे पुनरय दोष -प्राणा द्वीन्द्रियादयः आदिशब्दात् पृथिवीकायादिपरिग्रह ते विद्यन्ते तथा यदि सुखेनात्र गच्छामीति विचिन्त्य सोढके कर्दमे गच्छति तथा कचि-

ह्यगाधे निमज्जति । आदिशब्दात्पादजङ्घादिक्षोभिता: सकर्दमजलविप्रुष उत्थापयति । ताभिश्च प्राणादिविघात, सम्मुखं गच्छन् पुरुषादिखरण्टनं निजशरीरोपकरणखरण्टनं चेति परिग्रहः ।

धुवणे वि होंति दोसा, उप्पीलणादी य वा उसत्तं च ।
सेहादीणमवष्णा, अधोवणे चीरनासो वा ॥

कर्दमाकुले मार्गे गमनेन कर्दम उपकरणे लगति । तथा चोपकरणस्य धावनेऽपि आस्तामधावने इत्यपिशब्दार्थः । दोषाः के ते ? इति । आह-उत्पीडनादय उत्पीडन प्राणादीनां प्लावनमादिशब्दात् शरीरायासस्वाध्यायविघातादिपरिग्रहः । अपि च-वस्त्राणि शरीरं च प्रक्षालयतो वा कुशिकत्वमुपजायते । शरीरे, उपकरणे च कुशीकरणात् । अथ न प्रक्षालयति नहिं धावने शैक्षकादीनामवज्ञासम्भवः, चीरनाशश्च कर्दमेन शटनात् वाशब्दः समुच्चये ।

सम्प्रति प्राणसंभवे दोषानाह-

भुइंगविच्छुगादिसु, दो दोसा संजमे य सेसेसु ।
नियमा दोसु दुगुंछिय, अथंडिल-निसग्ग-धरणे य ॥

'भुइगा' नाम पिपीलिका, पिपीलिकावृश्चिकादिषु शेषेषु च प्राणेषु बाहुल्येन सम्भवत्सु द्वौ दोषौ । तद्यथा-संयमे चशब्दादात्मनि च, आत्मविराधना संयमविराधना चेत्यर्थः । तत्र वृश्चिकादिभिर्दंशादात्मविराधना, कीटकादिसत्त्वव्याघाताच्च संयमविराधना । स्थण्डिलाभावे दोषानाह-(नियमेत्यादि) स्थण्डिलाऽभावे अस्थण्डिले, जुगुप्सिते वा स्थण्डिले, निसर्गे पुरीषप्रस्रवणोत्सर्गे नियमात् दोषाः संयमविराधनादयः, तत्रास्थण्डिले हरितकायादिव्यापादनात् संयमविराधना, पादाविलहसनादात्मविराधना, जुगुप्सिते स्थण्डिले प्रवचनविराधना, अथैतद्दोषभयान्न व्युत्सृजति । किंतु-धारयति । तत आह-धारणे दोषा आत्मविघातादय । तथा च-पुरीषादिधारणे जीवितनाशादि "मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहे य जीविय चयति" इत्यादिवचनात् । ग्लानत्वे चिकित्साकरणतः संयमव्याघातः ॥

यत्र संकटा वसतिर्यत्र च द्वित्रादयो वसतयो न लभ्यन्ते तत्र (वासे) दोषानाह-

वसहीएँ संकडाए, विरल्ल अविरल्लणे भवे दोसा ।
वाघातेण व अएणा, स तीएँ दोसा ओवच्चंते ॥

वसतौ सङ्कटायां सत्याम् उपधे (विरल्ले त्ति) विस्तारणे वा दोषा भवन्ति । के ते इति चेत् ? । उच्यते-यदि उपधिस्तीमितो विस्तार्यते, ततः सङ्कटत्वादन्यमप्यतीमितमुपधिं तीमयति । अथ न विस्तार्यते तर्हि स कोथमुपयाति, तत्संसर्गतः शरीरस्य च मान्द्यमुपजायते । एकस्याश्च वसतेः कथमपि व्याघाते अन्यस्याश्च अभावे ग्रामान्तरं व्रजनीयम् । तत्र च व्रजति संयमात्मप्रवचनविराधना । तथाहि-मार्गे जलहरितकायादिव्यापादनात्संयमविराधना । अगाधे सलिले प्रविशन आत्मविराधना । वसत्यलाभतो वर्षाकालेऽपि वर्षप्रपातेनाऽवरुध्यमानात् पथि गच्छतस्तान् दृष्ट्वा लोकः प्रवचनं कुत्सयते ईदृशा एवैते वर्षास्वपि नाश्रमं क्वचिदपि लभन्ते इति प्रवचनविराधना ।

गोरसाऽभावे दोषानाह-

अतरंत-बाल-वुड्ढा, अभाविता चेव गोरसस्स ऽसती ।
ज पावहिंत्ति दोस, आहारमएसु पाणेसु ॥

अतरन्तो नाम असहाः (असमर्थाः) तथा-बालाः, वृद्धाश्च तथा-ये अभाविता येषां गोरसव्यतिरेकेण नान्यत्किमपि प्रतिभासते । ते गोरसस्य असति अभावे आहारमयेषु प्राणेषु सत्सु यत् आगाढाऽनागाढपरितापनादिकं दोषं प्राप्स्यन्ति । तन्निमित्तं सर्वमपि प्रायश्चित्तमाचार्यो लप्स्यते तस्माद्यत्र तदभावस्तत्र न वस्तव्यम् ।

अत्र पर आह-

णणु भणितो रसचाओ, पणीयरसभोयणे य दोसा उ ।
किं गोरसेण ? भंते !, भण्णइ सुण चोयग ! इमं तु ॥

ननु सूत्रे रसानां क्षीरादीनां त्यागो भणितः । "अनशनम्, ऊनोदरतावृत्तिः, संक्षेपण, रसत्यागः" इत्यादि बाह्यतपोव्यावर्णनात् प्रणीतरसभोजने दोषाः कामोद्रेकादयः शरीरोपचयादिभावात् । ततः किं भदन्त ! गोरसेन कर्त्तव्यम् ? । सूरिराह-भण्यते । शृणु चोदक ! इदं वक्ष्यमाणम् ।

तदेवाह-

कामं तु रसच्चागो, चतुत्थमंगतु बाहिरतवस्स ।
सो पुण सहू (हा) ण जुज्जति, असहु(हा)ण य सज्ज वावत्ती ॥

कामं तपस्तत्त्वमेतत् रसत्यागश्चतुर्थमङ्गं वा चतुर्थो भेदो बाह्यतपसः । षड्भेदात्मकस्य केवलं पुनःशब्दः केवलार्थः । स रसत्यागः सहानां युज्यते सङ्गच्छते । असहानामसमर्थानां रसाभावे सद्यस्तत्कालं व्यापत्तिः मृत्युः ।

अन्यच्च-

अगिलाएँ तवोकम्मं, परकमे भंजतोत्ति इति वुत्तं ।
तम्हा उत्तरसव्वा, न नियमतो होति सव्वस्स ॥

संयतः तपःकर्म्म प्रति, अग्लान्या पराक्रमेत इत्युक्तं भगवता । तस्मात् न नियमतः सर्वस्य रसत्यागो भवति ।

जस्स उ सरीरजवणा, रुते पणीयं न होइ साहुस्स ।
सो वि य हु मिच्छपिंमं, भुंजउ अहवा जह समाही ॥

यस्य साधोः शरीरयापना न प्रणीतं प्रणीतरसमृते भवति । सोऽपि च अभ्युनाम पूर्वोक्ता असहा इत्यपिशब्दार्थः । 'हु' निश्चितं भिक्षापिण्डं घृतादिना मिश्रितं गलितपिण्डं भुञ्जीत । अथवा-यथासमाधि क्षीरादि भुङ्क्ते केवलं मा गृद्धिर्भूयादिति सपृष्टपानकादिना मीलयित्वा क्षीरमापिबेत् ।

सम्प्रति " जनाऽऽकुल " पदव्याख्यानार्थमाह-

चउ भंगो अजणाउल-कुलाउले चेव ततिय भंगो उ ।
भोइयमादि जणाउल, कुलाउल-मडंबमादीसु ॥

जनाऽऽकुलकुलाऽऽकुलयोश्चतुर्भङ्गिका । जनाऽऽकुलमपि कुलाऽऽकुलमपीति प्रथमो भङ्गः । जनाऽऽकुलं, न कुलाऽऽकुलमपि द्वितीयः । न जनाऽऽकुलं कुलाऽऽकुलमिति तृतीयः । न जनाऽऽकुलं नाऽपि कुलाऽऽकुलमिति चतुर्थः । प्रथमभङ्गे बहूनि मानुषाणि, बहूनि च कुलानि । द्वितीयभङ्गे-कुलानि स्तोकानि, जनास्त्वतिबहवः, कुले कुले भोजकादिजनानां सहस्रसङ्ख्याभावात् । तृतीयभङ्गे-बहूनि कुलानि, जनाः स्तोकाः, गृहे गृहे एकस्य द्वयोर्वा मानुषयोर्भावात् । चतुर्थभङ्गे-न बहूनि कुलानि, नापि बहवो जनाः, कतिपयकुलानां प्रतिकुलं च स्तोकमानुषाणां भावात् । अत्र यौ भङ्गौ ग्राह्यौ तावाह-अजनाऽऽकुलेत्यादिना, न जनाऽऽकुलं, कुलाऽऽकुलमिति तृतीयो ग्राह्यः । एतदनुज्ञानात् प्रथमः सुतरामनुज्ञातो द्रष्टव्यः,

तस्योभयगुणोपेतत्वात् । आह च चूर्णिकृत्—" जइ ताव तइओ भगो अणुण्णाओ, प्रागेव पढमो भगो अणुण्णाओ " इति । शेषौ तु द्वौ भङ्गौ ज्ञाताऽनुज्ञातौ कुलानामल्पत्वात् । सम्प्रति जनाऽऽकुलवतां कुलाऽऽकुलानां च व्याख्यानयति- (भोइय) इत्यादि प्रथमभङ्गे च जनाऽऽकुल भोजिकादिभिरतिप्रभूतैर्जनैराकीर्णत्वात् । कुलाऽऽकुल मडम्बादिषु स्थानेषु । तथाहि- मडम्बे अष्टादश कुलसहस्राणि, आदिशब्दात् पत्तनादिपरिग्रहः व्याख्यात जनाऽऽकुलद्वारम् ।

अधुना वैद्यद्वारमौषधद्वारं च युगपदाह-

वेज्जस्स ओसहस्स च, असतीए गिलाणो उ जं पावे ।
वेज्जसगासं नेंतो, आणेंतो चेव जे दोसा ॥

यदि नाम कोऽपि ग्लानो जायते तदा, वैद्यस्य औषधस्य च असति अभावे यत् ग्लानोऽनागाढाऽऽगाढपरितापनादि प्राप्नोति, तन्निमित्त सर्वं प्रायश्चित्तमाचार्यः प्राप्नोति । अन्यच्च-तादृशक्षेत्रेऽवतिष्ठमानो वैद्योऽत्र नास्तीति ग्लानेऽन्यस्मिन् ग्रामे वैद्यस्य सकाशं नीयमाने आनीयमाने वा दोषा अनागाढमागाढं वा परितापन, स्तेनैरुपकरणापहरण व्याघ्रादिश्वापदैर्भक्षणमित्यादि तद्धेतुकमपि प्राप्नोति । एवमौषधस्याऽप्यानयनाय साधुषु ग्रामान्तरे प्रेष्यमाणेषु दोषा वाच्याः ॥

अधुना निचयद्वारमधिपतिद्वारं चाह-

नेचइया पुण धन्न, दलंति असारअचिताईसु ।
अहिवम्मि होइ रक्खा, निरंकुसेसुं बहू दोसा ॥

निचयेन सञ्चयेन अर्थात् धन्यानां ये व्यवहरन्ति ते नैचयिका । ते?, असारा दरिद्रा , अर्चिता· पूज्या राज्यमान्या· पितृपितृव्यादयो वा आदिशब्दादनर्चितादिपरिग्रह· तेषु, क्रयेणाऽन्यथा वा धान्य ददति । तत· सर्वत्र भिक्षा सुलभोपजायते । तथा अधिपेऽधिपतौ विद्यमाने रक्षा भवति । निरङ्कुशेषु लोकेषु मध्ये पुनर्वसतो बहवो दोषा उपकरणापहारापमानादिलक्षणा· ।

पाषण्डद्वारमाह—

पासंडभाविएसुं, लब्भंति ओमाणमतिबहूसुं ।
अवि य विसेसुवलद्धी, हवंति कज्जेसु य सहाया ॥

यदि स्तोका पाषण्डास्ततोऽशनादीनि वस्त्राणि भेषजानि तदाऽतिसुलभानि भवन्ति । अतिबहुषु पुन· पाषण्डेषु सत्सु पाषण्डभावितेभ्यो जनेभ्यो गाथायां सप्तमी पञ्चम्यर्थे अपमान लभन्ते । अपीति सभावने,च पुनरर्थे सभाव्यते पुनरपि विशेषोपलब्धिरन्यपात्रेभ्योऽतिशयोपलब्धिर्यथा यदन्यत् पाषण्डिनां कल्पते । तत्साधूना न कल्पते । तत एवं लोको भावित· सन् साधूनां कल्पिक ददाति । तथा कार्येषु च बहुप्रकारेषु गृहनादिताऽऽदिलक्षणेषु वयमपि पाषण्डा, एतेऽपि च पाषण्डा धर्मस्थिता इति कृत्वा सहाया भवन्ति ।

सम्प्रति भिक्षाद्वारमाह—

नाणतवाण विसिट्ठा, गच्छस्स य संपया सुलभभिक्खे ।
न य एसणाएँ घातो, नेव ठवणाए भगो उ ॥

सुलभा भिक्षा यत्र तस्मिन् सुलभभिक्षे ग्रामादौ वसतां ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य, तपसश्चानशनादेर्विशिष्टा वृद्धिर्भवत्याहारोपष्टम्भन , स्वाध्यायस्य तपसश्च कर्तुं शक्यत्वात् । तथा गच्छस्य सपत् स्फीता अतिविशिष्टा भवति । शिष्याणां प्रातीच्छिकाना च अनेकेषामागमात् । न च एषणाया घात· प्रेरणा, नापि स्थापनाया मासकल्पवर्षाकल्परूपायाः । अथवा-स्थापनाकुलानां भङ्गः प्रेरणा ।

स्वाध्यायद्वारमाह—

वायंतस्स उ पणगं, पणगं पमिच्छतो भवे सुत्तं ।
एगग्गं बहुमाणो, कित्ती य गुणा य सज्झाए ॥

यत्र स्वाध्यायश्रुतु कालं निर्वहति । तत्र वर्षावासः कर्तव्य· । यत स्वाध्याये ऽमी गुणा·-सूत्रमाचारादिक सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतश्च वाचयतः । पञ्चक वक्ष्यमाण सग्रहादिकं भवति । यथा च-वाचयत पञ्चक, तथा प्रतीच्छत· श्रोतुरपि पञ्चक तस्यापि सग्रहादिनिमित्त श्रुतश्रवणाय प्रवृत्ते· । तथा वाचयतः प्रतीच्छतश्चैकाग्र्य श्रुतैकपरतोपजायते । सा च विस्रोतसिकाऽवारिता भवति । तथा बहुमान भक्ति· श्रुतस्य तीर्थकरस्य च कृतं भवति । कीर्त्तिश्च अवदाता सकलधरामण्डलव्यापिनी । यथा-भगवत· आर्यवैरस्येति । व्य० ४ उ० ।

क्षेत्रगुणसख्यामाह -

चउगुणोववेयं तु, खेत्तं होइ जहन्नगं ।
तेरसगुणमुक्कोसं, दोण्हं मज्झम्मि मज्झिमगं ॥

चतुर्भिर्गुणैर्वक्ष्यमाणैरुपेत भवति क्षेत्रं जघन्यम् । त्रयोदशगुणमुत्कृष्टम् । द्वयोर्जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमकम् ।

तत्र जघन्य चतुर्गुणोपेतमाह-

महती विहारभूमी, वियारभूमी य सुलभवित्ती य ।
सुलभा वसही य जहिं, जहन्नगं वासखेत्त तु ॥

यत्र महती विहारभूमिः भिक्षापरिभ्रमणभूमि· । महती च विचारभूमि । तथा-यत्र वृत्तिर्भिक्षा सुलभा । वसतिश्च सुलभा । तत् जघन्य वर्षक्षेत्रम् ॥ व्य० १० उ० । पूर्वोक्तचतुर्गुणादधिकं पञ्चादिगुण त्रयोदशगुणाच्च न्यून द्वादशगुणपर्यन्त मध्यमं क्षेत्रम् । एव च उत्कृष्टे क्षेत्रे, तदप्राप्तौ मध्यमे, तस्यापि अप्राप्तौ जघन्ये । कल्प० १ क्षण० ।

अथ क्षेत्रस्याभवनव्यवहारः । तत्र क्षेत्रे तावदाभवन प्राह-

वासासु निग्गयाण, अट्ठसु मासेसु मग्गणा खेत्ते ।
आयरिय कहण सेहेण, नयणे गुरुगा य सचित्ते ॥

अष्टसु ऋतुबद्धेषु मासेषु विहरतां वर्षासु विषये क्षेत्रे मार्गणा भवति क्षेत्रमार्गणा । यच्च निर्गताना साधूना क्षेत्र प्रत्युपेक्ष्य प्रत्यागतानामाचार्यस्य पुरत क्षेत्रगुणकथन तच्च गच्छान्तरादागतप्राघूर्णकसाधुभिराकर्ण्य निजाऽऽचार्यसमीप गत्वा तस्य कथनम् । तत्र नयने प्रायश्चित्त तत्र गतैः सचित्ते गृह्यमाणे चत्वारो गुरुका· ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवृणोति—

उउबद्धे विहरंता, वासाजोग्गं तु पेहए खेत्तं ।
वत्थव्वा य गता वा, उवेच्च खित्ता नियत्ता वा ॥

ऋतुबद्धे काले विहरन्त आचार्यप्रायोग्य क्षेत्र प्रत्युपेक्षन्ते । वास्तव्या वा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायोपेत्य गता । यदि वा-तस्मात् क्षेत्रान्निवृत्ता· केचित् स्वगच्छसाधव समागताः ।

आलोयंते सोउं, साहेंते ते उ अप्पणो गुरुणो ।
कहणम्मि होइ मासो, गयाण तेसिं न तं खेत्तं ॥

ते वास्तव्या गता· क्षेत्र प्रत्युपेक्ष्य समागताः। ततो वा क्षेत्राद्

निवृत्ता आचार्याणां पुरतः आलोचयन्ति क्षेत्रस्य गुणान् कथयन्ति। तत्र चान्येऽन्यस्मात्प्राघूर्णका समागतास्ते च तान् तथा आलोचयत श्रुत्वा गत्वा आत्मानो गुरोराचार्यस्य (सातते) कथयन्ति। ततो ध्रुव ते यावत्तत्र तिष्ठन्ति, तावद्वय गच्छाम, एव कथने तेषां प्रायश्चित्त लघुको मासः। नच गतानां तेषा तत् क्षेत्रमाभवति।

सामच्छण निज्जविए, पयभेदे चेव पंथ पत्ते य।

पणवीसादी गुरुगा, गणिणो गाहेण वेज्जस्स ॥

तत् श्रुत्वा यद्याचार्या (सामच्छण ति) संप्रधारयन्ति तत् क्षेत्र गच्छाम इति, तदा तेषां प्रायश्चित्त पञ्चविंशतिदिनानि। निर्यापित नाम अवश्य गन्तव्यमिति निर्णयन तत्र लघुको मासः। पदभेदे क्रियमाणे गुरुको मासः। पथि व्रजतां चतुर्लघुकम्। क्षेत्र प्राप्ताना चतुर्गुरुकम्। एतत् प्रायश्चित्त गणिन आचार्यस्य, यस्य वाऽऽग्रहेण ते आचार्या व्रजन्ति। तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तम्। न च तत् क्षेत्र तेषाम् आभवति। तत्र गत्वा यदि सचित्तमाददाति तदा प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुकाः। आदेशान्तरेण अनवस्थाप्यम्, अचित्ते उपधिनिष्पन्न,तस्मादविधिरेष न कर्त्तव्यः।

तथा चाह-

एसा अ विही जणिया, तम्हा एवं न तत्थ गंतव्वं।

गंतव्वविहीए पमि-लेहे क्रणं य तं खेत्त ॥

यस्माद्दोषोऽनन्तरोदितो विधिर्गाथायां स्त्रीत्व प्राकृतत्वादेव तत्र न गन्तव्यम्।

खेत्तपमिलेहणविही, पढमुद्देसम्मि वणिया कप्पे।

सच्चेव इहोद्देसे, खेत्तविहाणम्मि नाणत्तं ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाविधिः कल्पे कल्पाध्ययने प्रथमोद्देशे वर्णितः। स एवेह अस्मिन्नपि व्यवहारस्य दशमे उद्देशके द्रष्टव्यः। नवरमत्र क्षेत्रभेदकथने नानात्व इहाधिक क्षेत्रभेदकथनमित्यर्थः।

तदेव करोति-

खेत्तपडिलेहणविही, खेत्तगुणा चेव वणिया एए।

पेहेयव्वं खेत्त, वासाजोग्गं तु ज काल ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षणविधि, क्षेत्रगुणाश्च एते अनन्तरोदिता वर्णिता। तत्र कस्मिन्काले वर्षायोग्य क्षेत्र प्रत्युपेक्षितव्यमनुज्ञापयितव्यम्।

अत आह-

खेत्ताण अणुण्णवणा, जेट्ठा मूलस्स सुद्धपामिवए।

अहिगरणोमाणो मा, मणसंतावो तहा होति ॥

ज्येष्ठा,मूलस्य मासस्य शुद्धप्रतिपदि शुक्लपक्षे प्रतिपदि। क्षेत्राणामनुज्ञापना भवति। किं कारणम्? अत आह-"अहिगरणो" इत्यादि। अन्येऽपि तत्राज्ञानतस्तिष्ठेयुस्तावद्धिधिकरण भवेत्। तथा-स्वपक्षेभ्योऽपमान ब्रूयात्। तथा च सति-महान्मन संताप प्रेरिता वय परिभूता स इति। अथवा-कलह प्रवृत्त वा अयुक्तवचनैर्मन-सताप स्यात्। तस्मात ज्येष्ठामूलशुद्धप्रतिपदि कर्त्तव्या तथा ज्ञापना।

एतदेवाह-

एएहिँ कारणेहिं, अणागय चेव होइ ऽणुण्णवणा।

निग्गम-पवेसणम्मि य, पेहताणं विहिं वुच्छं ॥

एतैरनन्तरोदितैः कारणैरनागतमेव भवति क्षेत्रस्यानुज्ञापना। सम्प्रति तेषां क्षेत्र प्रेक्ष्यमाणाना निर्गमे प्रवेशे च विधिं वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव करोति-

केई पुव्वं पच्छा, निग्गया पुव्वमइगया खेत्तं।

सम सीमं पत्ताए य, तत्थ इमा मग्गणा होइ ॥

केचित् क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय पूर्व निर्गताः, केचित्पश्चान्निर्गता, तथा प्रवेशे पूर्वमतिगता प्राप्ता क्षेत्र, केचित्तत्र। समकाल सीमानं प्राप्तानामिय वक्ष्यमाणा मार्गणा भवति—अनया गाथया पादत्रयेऽत्र समक किल चतुर्भङ्गी सूचिता।

ततस्तामेव दर्शयति—

पुव्वं विणिग्गतो पुव्वं, पत्तो य पुव्व निग्गतो।

पुव्वं तु अतिगतो दो, ति पच्छा खेत्तमागओ ॥

जातावेकवचनम्, अतो बहुवचन द्रष्टव्यम्। पूर्वं निर्गता पूर्वमेव समक प्राप्ता। १। पूर्वनिर्गता पश्चादेकतरे प्राप्ता। २। पश्चाद् विनिर्गता पूर्व प्राप्ताः। ३। इतरे पश्चाद्विनिर्गताः पश्चादेव च तत् क्षेत्रमागताः। ४।

पढमगभंगे इणमो, ह मग्गणो पुव्वऽणुण्णवेजऽओ।

तो तेसि होइ खेत्त, अह पुण अच्छंति दप्पेण ॥

तत्र भङ्गचतुष्टयमध्ये, प्रथमके भङ्गे इय मार्गणा भवति-यदि पूर्वमेव समक निर्गते, पूर्वमेव च समक तत् क्षेत्र प्राप्ते, पूर्वमेव च समकमनुज्ञापयन्ति। तदा तेषां भवति साधारण क्षेत्रम्। अथ पुनः समक प्राप्ता अपि एकतरे दर्पेण तिष्ठन्ति। दर्पो नाम निष्कारण, तदा ये पूर्वमनुज्ञापित तेषां तत् क्षेत्रम्। नेतरेषाम्।

एतदेव स्पष्टतरमाचष्टे-

खेत्तमतिगया मो त्ति, वासत्ता जइ अच्छहो।

पच्छा गयऽणुण्णवए, तेसिं खेत्त विपाहियं ॥

क्षेत्रमतिगता प्राप्ता स्म इति यदि विश्वस्ता आसीरन् न क्षेत्रानुज्ञापनाय प्रयतन्ते। तदा आसनां पूर्व प्राप्ताः किं, पश्चात्प्राप्ता अपि ये तेभ्य पूर्वमनुज्ञापयन्ति क्षेत्र तेषाम्। तत् क्षेत्रं पूर्व समक प्राप्तानामविसमक पूर्व वा न तु ज्ञापनमभूत्तदा कारणस्थितशतेष्वमाभवति। तत् क्षेत्रमन्यस्य पूर्वप्राप्तस्य पूर्वानुज्ञापकस्य वा?। तथा क्षपको निष्कारणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय न पूर्व वर्तयितव्यो निषेधात्तेन कारणेन तस्य क्षपकस्य यत् क्षेत्रं तेन क्षपकेण यदनुज्ञापित क्षेत्रमित्यर्थः। तच्चैर्न लभ्यते। किं वा ये पश्चादप्यागतैरनुज्ञापित तेषा तत् क्षेत्रम्। अथ कारणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय क्षपक प्रवर्त्तितस्तदा तेनानुज्ञापित न लभन्ते क्षेत्रम्। तथा-क्षपकस्य पारणके व्याकुला इति नाऽनुज्ञापयन्ति। तदा न ते तत् क्षेत्रम्। किं तु-यैरनुज्ञापित तेषामिति। तदेव गत प्रथमो भङ्ग।

सम्प्रति द्वितीय तृतीय च भङ्गमधिकृत्य वित्रकुरिदमाह-

पुव्वविणिग्गय पच्छा, पविट्ठ पच्छा य निग्गया पुव्वं।

पविट्ठ कयरेसि खेत्तं, तत्थ इमा मग्गणा होई ॥

पूर्वं विनिर्गता पश्चादन्यापेक्षया क्षेत्रे प्रविष्टाः। अत्र परे-पश्चाद्विनिर्गतापेक्षया पूर्वं प्रविष्टाः कतरेषा क्षेत्र भवति?। तत्रेयं भवति मार्गणा।

तामेवाह-

गेलन्नादिहिँ कज्जे-हिं पच्छा (इं) ताए होति खेत्तं तु।

निक्कारणविस्सामा, पच्छा ते ताउ न लभन्ति ।

पूर्वं विनिर्गता: सन्तो यदि ग्लानादिभिः कारणैः पश्चादागच्छन्ति तदा तेषां पश्चादनियमनमागच्छतां भवति क्षेत्रम् । अथ निष्कारणं यत्र तत्र वा स्थितास्तेन पश्चात् गतास्तदा ते पश्चादागच्छन्तो न लभन्ते क्षेत्रम्, गतो द्वितीयो भङ्गः ।

तृतीयमधिकृत्याह—

पच्छा विणिग्गओ वि हु, दूराऽऽसन्ना समा व अद्धाणं ।
सिग्घगई उ सभावा, पुव्वं पत्तो लभति खेत्तं ॥

गाथायामेकवचनं स्पर्द्धकस्वाम्यपेक्षया पश्चाद्विनिर्गतोऽपि 'हु' निश्चितं दूरात् आसन्नात् समाद्वा अध्वनः स्वभावात् शीघ्रगतिरिति कृत्वा पूर्वं प्राप्तस्तदा स लभते क्षेत्रम् ।

अह पुण असुब्भभावो, गतिभेद काउ वच्चती पुरतो ।
मा एए गच्छति य, पुरओगी ताहे न लभंति ॥

अथ पुनर्मा एते, अन्ये, पुरतो न गच्छन्तीति, यास्यन्तीति । एवमशुद्धभावो गतिभेदं कृत्वा पुरतो याति । तदा स पुरोगाम्यपि न लभते क्षेत्रम् । भावस्याऽशुद्धत्वात् ।

समयं पि पत्थियाण, सब्भावसिग्घगतिणो भवे खेत्तं ।
एमेव य आसन्ने, दूरद्धाणी य जो एति ॥

समकमपि विवक्षितानां प्रस्थितानां मध्ये यः स्वभावशीघ्रगतिः सन् पुरतो याति तस्य तत् क्षेत्रम् । एवमासन्ने आसन्नाऽध्वनीनो दूराऽध्वनीनो वा यः पुरतः समागच्छति, अनुज्ञापयति च स लभते क्षेत्रम् ।

अहवाऽऽसमऽद्धं पत्ता, समयं चेव अणुन्नावितो दोहिं ।
साहारणं तु तेसिं, दोएह वि वग्गाण तं होइ ॥

अथवा-आसन्नात् दूरात् वा समध्वा अध्वनः समकमेव तत् क्षेत्रं प्राप्ताः, समकमेव द्वाभ्यामपि वर्गाभ्यां तत् क्षेत्रमनुज्ञापितं तदा तयोर्द्वयोरपि वर्गयोः साधारणं तत् क्षेत्रम् । गतस्तृतीयो भङ्गः। चतुर्थे तु भङ्गे-यदि पूर्वप्रविष्टे सह समनुज्ञापितं तदा साधारणम् । अथ पश्चात्प्राप्तैरपि पूर्वमनुज्ञापितं तदा तेषामिति । तदेवमुक्ता चतुर्भङ्गिका ।

सम्प्रति " समसीमं पत्ताण " इत्येतद्व्याख्यानमाह-

अहवा समयं दोण्हि वि, सीमं पत्ता उ तत्थ जे पुव्वं ।
अणुजाणा वो तेसिं, न जे उ दप्पेण अच्छंति ॥

(अथ वेति) प्रागुक्तापेक्षया प्रकारान्तरे द्वावपि वर्गौ समकं सीमानं प्राप्तौ तत्र ये पूर्वमनुज्ञापयन्ति तेषां तत् क्षेत्रं, न ये दर्पेण निष्कारणमेव तिष्ठन्ति तेषामिति । सीमाग्रहणं द्वारगाथायामुद्यानादीनामुपलक्षणम् ।

तेन तद्विषयामपि मार्गणामाह-

उज्जाण-गामदारे, वसहिं पत्ताण मग्गणा एवं ।
समयमणुन्ने साहर-णं, तु न लभंति जे पच्छा ॥

उद्यानं ग्रामद्वारं ग्रामग्रहणं नगरादीनामुपलक्षणम् । तथा वसतिं समकं प्राप्तानामेवमुक्तप्रकारेण मार्गणा कर्त्तव्या । तामेव दर्शयति-यदि समकमनुज्ञापयन्ति, ततः साधारणं, ये पुनः पश्चादनुज्ञापयन्ति ते न लभन्ते ।

ते पुण दोणी वग्गा, गणि-आयरियाण होज्ज दोएहं तु ।
गणिण व होज्ज दोएहं, आयरियाणं व दोएहं तु ॥

तौ पुनर्द्वौ वर्गौ द्वयोर्गण्याचार्ययोर्भवेताम् । गणी नामात्र वृषभः । एको वर्गो वृषभस्य, अपर आचार्यस्य । अथवा-द्वयोर्गणिनोः यदि वा द्वयोराचार्ययोर्द्वौ वर्गाविति ।

तत्रेय मार्गणा-

अच्छंति मंथरे सव्वे, गणी नीति असंथरे ।
जत्थ तुल्ला भवे दो उन्नी, तत्थिमा होति मग्गणा ॥

यदि तत्र क्षेत्रे सस्तरणं तदा सर्वेऽपि तिष्ठन्ति । अथ सर्वेषामसस्तरणं तदा असस्तरेण गणी वृषभो निर्गच्छति । आचार्यस्तिष्ठति । अथ द्वावपि वर्गौ तुल्यौ द्वावपि गणिनौ द्वावप्याचार्यौ वा तदा तत्रेय भवति मार्गणा ।

तामेवाह—

निप्फन्नतरुणसेहे, जुंगियपायच्छिन्नामकरकएणा ।
एमेव संयतीणं, नवर वुड्ढा उ नाणत्त ॥

एकस्य निष्पन्न परिवारः, एकस्याऽनिष्पन्नः। यस्य निष्पन्नः स गच्छतु । इतरस्तिष्ठतु। अथ द्वयोरपि परिवारो निष्पन्नः केवलमेकस्य तरुणः,एकस्य वृद्धः।वृद्धास्तिष्ठन्तु।इतरे गच्छन्तु। अथ द्वयोरपि तरुणा वृद्धा वा। नवरमेकस्य शैक्षा अपरस्य चिरप्रव्रजितास्ते गच्छन्तु। इतरे तिष्ठन्तु। अथ द्वयोरपि शैक्षाः चिरप्रव्रजिता वा केवलमेकस्य जुङ्गितपादाच्छिन्नासाकरकर्णाः, अपरस्याऽजुङ्गितास्तत्र जुङ्गितास्तिष्ठन्तु। इतरे गच्छन्तु। अथ द्वयोरपि जुङ्गितास्तत्र ये पादजुङ्गिता ते तिष्ठन्तु, इतरे गच्छन्तु । सम्प्रति प्रवर्त्तिन्या सयतीनां अभिषेकयोश्च मार्गणा कर्त्तव्या । ततस्तामाह-(एमेव) अनेनैव प्रकारेण सयतीना मार्गणा कर्त्तव्या। नवरं वृद्धास्तु नानात्वम् ।तच्चेदम्-तरुणवृद्धानां तरुणयस्तिष्ठन्ति, वृद्धा गच्छन्ति । शेषं तथैव ।

सम्प्रति सयतानां संयतीनां च समुदायेन मार्गणां करोति-

समणाण संजतीण य, समणी अच्छंति नेति समणा उ ।
संजोगे वि य बहुसो, अप्पाबहुयं असंथरणे ॥

श्रमणानां, सयतीनां च एकस्थानेऽवस्थितानामसस्तरणे श्रमण्यस्तिष्ठन्ति। निर्गच्छन्ति श्रमणाः। सयोगेषु च बहुशः प्रवर्त्तमानेष्वसस्तरणे अल्पबहु परिभाव्य वक्तव्यम्।अथैवम्-यत्र सयता जुङ्गिताः श्रमण्यो वृद्धाः, तत्र जुङ्गितास्तिष्ठन्ति । वृद्धाः श्रमण्यो निर्गच्छन्ति । एवं गुरुलाघवं परिभाव्य स्वबुद्ध्या भावनीयम् ।

सम्प्रति क्षेत्रिकाऽक्षेत्रिकाणां सस्तरणाऽसस्तरणयोर्मार्गणां करोति-

एमेव जत्तसंसट्ठा, तस्साऽलंभम्मि अप्पज्झू निंति ।
जुंगियमादीएसु य, वयति खेत्तीण ते तेसिं ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण क्षेत्रिकाऽक्षेत्रिकाणामपि सस्तरणे,असस्तरणे च भावनीयम् । तच्चैवम्-यदि सस्तरणं तदा क्षेत्रिका अपि नवरमक्षेत्रिका भक्तसंतुष्टास्तिष्ठन्तु। सचित्तमुपधिं च न लभन्ते। तस्मात्(तस्साऽलंभम्मि त्ति)तस्य भक्तस्य अलाभे असस्तरणे इत्यर्थः । अप्रभवोऽक्षेत्रिका निर्गच्छन्ति । अथ क्षेत्रिका जुङ्गिता, आदिशब्दाद् अजुङ्गिता वा । तदा तेष्वक्षेत्रेषु जुङ्गितादिक्षेत्रिणो व्रजन्ति। अजुङ्गितादयस्तिष्ठन्तु। येषां च संबन्धिनस्ते जुङ्गितादयस्तिष्ठन्तु येषा चासंबन्धिनस्ते जुङ्गिता वृद्धा वा न तेषां तत् क्षेत्रम् आभवति । उपलक्षणमेतत् तेनादेशिना क्षुल्लकादीनां च न आभवति क्षेत्रम्। । ।

पत्ताए अणुन्नवणा, मारूविय-सिद्धपुत्त-सन्नीया ।
भोइय-महयर-णाविय-निवेयण दु-गाउयाइं वा ॥
तग्गाम सन्नि असती, पडिवसभे पल्लिए व गतूणं ।
अम्हं रुइयं खेत्तं, नाऽयं खु करेह अन्नेसिं ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणां यत्र वर्षारात्रः कर्त्तव्यस्तत् क्षेत्रं प्राप्तानामनुज्ञापना भवत्यमीषां कर्त्तव्या । तानेवाह-सारूपिकाः सिद्धपुत्रौ प्रागभिहितौ । सज्ञिनो गृहीताऽणुव्रतदर्शनश्रावकाः । भोजिको ग्रामस्वामी । महत्तरा ग्रामप्रधानाः पुरुषाः नापिता नखशोधका वारिका इत्यर्थः । एतेषामनुज्ञापना कर्त्तव्या । यथा-वयमत्र वर्षारात्रं कर्तुकामास्ततोऽन्ये क्वचित्साधव आगच्छेयुस्तदा तेषामेतत् यूयं कथयतेति (दुगाउयाइं वेत्यादि) तत्र ग्रामे सञ्ज्ञी श्रावको न विद्यते । तदा द्वे गव्यूती गत्वा प्रतिवृषभे अन्तरपल्ल्यां वा गत्वा । यदि श्रावकोऽस्ति ततस्तस्य निवेदना कर्त्तव्या यथाऽस्माकमिदं रुचितं क्षेत्रमेतत् ज्ञातव्यम् । नाऽन्येषां कुरुध्वेति ।

जयणाए समणाणं, अणुण्णए वि ता वसंति खेत्तवहिं ।
वासावासट्ठाणं, आसाढे सुद्धदसमीए ॥

यतनया सारूपिकादिकं सन्तमनुज्ञाप्य क्षेत्रस्य बहिर्वसन्ति । वर्षावासस्थानं पुनराषाढशुद्धदशम्याम् ।

सम्प्रति " जयणाए" इत्यस्य व्याख्यानमाह-

सारूवियादिजयणा, अन्नेसिं वा वि साहए ।
बाहिं वा वि, ठिता वा सापायोग्गं ता वि गेण्हए ॥

सारूपिकादीनामन्येषां वा यत्साधयति यथा यतना । इय च प्रागेवोक्ता । अथवा-पूर्वगाथाप्रथमार्द्धस्यैव व्याख्या-सन्तं सारूपिकादिकमनुज्ञाप्य क्षेत्रस्य बहिर्यतनया वसन्ति । तत्र तामेव यतनामाह-बहिर्वाऽपि स्थितास्तत्र वर्षाप्रायोग्यमुपधिं गृह्णन्ति । उत्पादयन्ति । तं चैव सङ्घाटका सर्वासु दिक्षु प्रत्यासन्नं प्रेषन्त । एकैकश्च सङ्घाट आत्मनः परिपूर्णमुपधिमुत्पादयति । एकस्य च जनस्याधिकस्येति ।

एतदेवाह-

दोण्हं जतो एगस्सा, निप्पज्जइ तत्तियं वहिट्ठा उ ।
दुगुणस्साणुन्नासवहिं, संथरे पल्लिं च वज्जति ॥

द्वयोरुपधिर्यस्मादेकस्मादन्यस्य निष्पद्यते । उपधिरात्मनश्च सङ्घाटस्य तदपेक्षया द्विगुणस्तावन्मात्रमुपधिं वर्षायोग्यं सर्वासु दिक्षु बहिः स्थिताउत्पादयन्ति । यदि पुनः सस्तरन्ति तदा बहिः प्रति वृषभग्रामान् अन्तरपल्लीं च वर्जयन्ति । न तत्र गच्छन्ति ।

उच्चारमत्तगाई, छाराऽऽई चेव वासपाउग्गं ।
संथारफलगसेज्जा, तत्थ वि ये चेव ऽणुन्नवणे ॥

तथा तत्र बहिः स्थिता एव उच्चारमात्रकादि आदिशब्दात्प्रश्रवणक्ष्वेलमात्रकपरिग्रहः । तथा क्षारादि आदिशब्दात् डगलादिपरिग्रहः । वर्षाप्रायोग्यं तथा सस्तरकफलकशय्या अनुज्ञापयन्ति । अथ कस्मात्सर्वेषां सारूपिकादीनामनुज्ञापना क्रियते । उच्यते-एकस्य कथिते कदाचित्सोऽसद्भूतः स्यात् ततोऽनुज्ञापितमेव जायते । सर्वेषां पुनः कथिते यदि केचिदसद्भूतीभवन्ति तदा ये शेषाः सन्तस्ते अन्येषां साधूनामागतानां

कथयन्ति । चैवं वहिस्तिष्ठन्ति । प्रतिवृषभे अन्तरपल्ल्यां च तत्र ये न भोक्ष्यन्ते ।

तथा चाह-

पुण्णो य तेसिं तहि मासकप्पो,
अण्णं व दूरे खलु वासजोग्गं ।
ठायंति तो अंतरपल्लियाए,
जं एस्स कालेन य भुञ्जिहत्ती ॥

पूर्णः खलु तेषां तत्र वर्षाप्रायोग्यतया सभाविते क्षेत्रे । अथवा-आषाढशुद्धदशमी अद्यापि दूरे । अन्यच्च-वर्षाकालयोग्यं क्षेत्रं दूरे ततः आषाढशुद्धदशमीप्रतीक्षणार्थं यामेष्यत्कालेन भोक्ष्यन्ते तस्यामनन्तरपल्ल्यामुपलक्षणमेतत् प्रतिवृषभे वा ग्रामे तिष्ठन्ति ।

अत्र आषाढशुद्धदशम्यां वर्षायोग्ये क्षेत्रे समागच्छन्ति-

संविग्गवहुलकाले, एसा मेरा पुरा य आसी य ।
इयरवहुले उ संपइ, पविसंति अणागयं चेव ॥

एषा मर्यादा पुनरसंविग्नबहुले काले आसीत् । संप्रति इतरबहुले पार्श्वस्थादिबहुले अनागतमेव प्रविशन्ति ।

किं कारणम् ? अत आह-

पेहिए न हु अन्नेहिं, पविसंता य पडिया ।
इयरे कालमासज्ज, पल्लेज्जा परिवज्जिया ॥

अन्यैः प्रेक्षिते क्षेत्रे ननु नैवायतार्थिनो मोक्षार्थिनः प्रविशन्ति । इतरे तु पार्श्वस्थादयः कालमासाद्य परिवर्जिताः पूर्वप्रत्युपेक्षितक्षेत्रानपि प्रेरयेयुस्ततोऽनागतमेव प्रविशन्ति ।

तदर्थे कल्पितमुदाहरणमाह-

एएणं तगराहारे, वएहि कुसुमस्सुयं सुयतेहिं ।
उज्जाणपरिवत्तीहिं, वब्बूलाहि वयंतिहिं ॥

तगराहारे आम्रकास्तैराम्रोद्यानप्रतिपन्नैर्बब्बूलैर्वृत्तिकरणायावस्थाप्यमानैर्गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् वयमाच्छादिता इति हेतोः कुसुमाश्रुभिर्मुच्यमानैरुदितम् । इयमत्र भावना-तगराहारे पूर्वं बहवः आम्रकाः आसीरन्, स्तोका वा बब्बूलास्ततो लोकेन बब्बूलान् छित्वा तैराम्रोद्यानस्य वृत्तिः कृताऽत्र बब्बूलफलपतनतो बब्बूलाः जातास्ते परिवर्द्धमानैः शाखिं सस्यमेव तृणे आम्रा विनाशिता । तत उत्प्रेक्षितमाम्रोद्यानप्रतिपन्नैर्बब्बूलैर्वृत्तिकरणाय स्थाप्यमानैः । वयमाच्छादिता नूनमेतैरिति कुसुमाऽश्रुमोक्षणेनाऽऽम्रैरुदितमिति ।

अत्रोपनयमाह—

एवं पासत्थमादीओ, कालेण परिवड्डिया ।
पेल्लेज्जा माइठाणेहिं, सोच्चादी ते इमे पुण ॥

एवमाम्रस्थानीयान् साधून् बब्बूलस्थानीयाः पार्श्वस्थादयः कालेन परिवर्द्धिताः असयतो मातृस्थानैः प्रेरयन्ति । किं विशिष्टास्ते पार्श्वस्थादयः ? इति आह-श्रुत्वादयस्ते पुनरित्थमेव वक्ष्यमाणाः ।

तानेवाऽऽह—

सोच्चाऽऽउट्टी अणापुच्छा, मायापुच्छा जहट्ठिते ।
अजयट्ठिए जमंते, ततिए समणुण्णया दोण्हं ॥

एके-श्रुत्वा उपेत्य, समागताः । अपरे-अनापृच्छ्य, समायुः । अथवा-मायापृच्छ्य । एते द्वयेऽप्ययतस्थिताः । तृतीया यतस्थिताः । तत्राऽऽद्यानां द्वयानां भरममानानां कलहयतां गाथायां सप्तमी

षष्ठ्यर्थे, बहुवचने एकवचनं प्राकृतत्वात् न किंचिदाभाव्यम् । तृतीये यतस्थिते समानाज्ञता । साधारणं क्षेत्रम् । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः " सोच्चा उट्ठीति " पदं व्याख्यानयति-

गुरुणो सुंदरं खेत्तं, साहणं सोच्च पाहुणो ।
नएज्ज अप्पणो गच्छं, एस आउट्टिया वितो ॥

गुरोराचार्यस्यात्मीयस्य क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य, समागतैः सुन्दरं क्षेत्रमिति कथ्यमानं श्रुत्वा, प्राघूर्णकः आत्मनो गच्छं तत्र नयति । एष 'श्रुत्वा उपेत्य स्थित' उच्यते ।

सांप्रतमनापृच्छां मायापृच्छां च दर्शयति-

पेहितमपेहितं वा, ठायइ अएणो अपुच्छिया खेत्तं ।
गोवालवच्छवाले, पुच्छइ अएणो उ दुप्पुच्छी ॥

प्रेक्षितमिदं क्षेत्रम् । अन्यैः । अप्रेक्षितं च इति । अन्योऽनापृच्छ्य तिष्ठति । अन्यः पुनः दुःपृच्छी यो न किमपि जानते । तान् गोपालवत्सपालान् पृच्छति । अन्यैरिदं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं किं वा न ? इति ।

अविहिट्ठिया उ दो वे, ते तात्तिओ पुच्छियं विहीएँ ठितो ।
सारूवियमादि काउं, वेंतखेहिं न पेहियं ॥
तं तु वीसरियं तेसिं पउत्था वा वि ते जवे ।
खेत्तिओ य तहिं पत्तो, तत्थिमा होइ मग्गणा ॥

तावनन्तरोदितौ द्वावपि । श्रुत्वोपेत्य स्थितौ अनापृच्छया मायापृच्छयाऽवस्थितं इत्येव लक्षणविधिस्थितौ । तृतीयः पुनः सारूपिकमादिं कृत्वा सूत्रोक्तेन विधिना पृष्ट्वा स्थितः यतस्तेषां सारूपिकादीनां यत्पूर्वैरनुज्ञापितम् । तत् विस्मृतम् । अथ वा-ये अनुज्ञापितास्ते प्रोषिता अभवन् । अन्ये च-स्वरूपं न जानते । ततस्ते कुर्वते । अन्यैर्न प्रेक्षितमिदं क्षेत्रमिति येन पूर्वं सङ्घाटकप्रेषणेन क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं स क्षैत्रिकस्तत्र प्राप्तस्तत्रेयं वक्ष्यमाणा भवति मार्गणा ।

तामेवाह-

आउट्टियावितो जे उ, तस्स नामं पि नेच्छिमो ।
अणापुच्छिय-दुप्पुच्छी, जंपते खेत्तकारणा ॥

तत्र य उपेत्य स्थितस्य नामाऽपि नेच्छामः सर्वथा सर्वज्ञाऽऽज्ञाप्रतिकूलतया दुर्गृहीतनामधेयत्वात् । यस्त्वनापृच्छी दुःपृच्छी वा तौ द्वावपि क्षेत्रकारणेन भण्डाते कलहं कुरुत ।

अहवा दो वि जंपते, जयणापट्ठिएण ते ।
खेत्तिओ दो वि जेऊण, भत्तं देइ न उग्गहं ॥

अथवा-द्वावपि तौ यतनाप्रस्थितेन सह भण्डाते । ततः अवहारे जाते क्षैत्रिकः सूत्रोक्तेन विधिना तौ जित्वा तयोर्भक्तं ददाति । अनुजानाति तत्रावग्रहं सचित्तमुपधिं वा नानुजानातीति भावः ।

तइयाए सयं सोचा, सड्ढादीए व पुच्छियं ।
होइ साहारणं खेत्तं, दिट्ठंतो खमएण उ ॥

तृतीयानां यतनां स्थितानां तद्वचनतः क्षैत्रिकः स्वयं श्रुत्वा, श्राद्धादीन्वा पृष्ट्वा,ज्ञातं स्वरूपम्, यथा पृष्ट्वा विधिनैते स्थिताः । इयमत्र भावना- क्षैत्रिकेण यतनास्थिता अपि पृष्टाः । किं भवन्तोऽत्र स्थिताः ? । तेऽवादिषुः -वयमत्र पृष्ट्वा स्थिताः । परं न केनापि कथितं यथाऽन्यैरनुज्ञापितमिदं क्षेत्रमिति । ततस्तेन क्षैत्रिकेण श्राद्धादयः पृष्टाः । तेऽप्यूचुः -यत् पुनर्युष्माभिरनुज्ञापितं तदस्माकं विस्मृतम् । यदि वा-वयं प्रोषिता अभूमयथैः तैरनुज्ञापितास्तैरप्यस्माकं कथितं तथैतैर्वयमनुज्ञापिता इति एवं तेषां यथास्थिते स्वरूपे ज्ञाते साधारणमुभयेषां भवति क्षेत्रम् । विधिना पृच्छातो यतनास्थितानामपि शुद्धत्वात् । अत्र दृष्टान्तः क्षपकेण पिण्डनिर्युक्तिप्रसिद्धेन । यथा स क्षपको विधिना शुद्धं गवेषयन् आधाकर्मण्यपि शुद्धः । तथा इमे यतना स्थिता अपि शुद्धाः ।

एतदेवाह-

सुद्धं गवेसमाणो, पायसमखमतो जहा भवे सुद्धो ।
तह पुच्छिऊय ठायंता, सुद्धा उ भवे असढभावा ॥

यथा पायसस्य क्षीरान्नस्य प्रतिग्राहकः शुद्धं गवेषयेत् । आधाकर्मण्यपि पयासि गृह्यमाणो शुद्धः तथा विधिना पृष्टाः तिष्ठन्तोऽशठभावाः शुद्धा भवन्ति ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह-

आतिसंथरणे तेसिं, उवसपन्ना उ खेत्ततो इयरे ।
अविहिट्ठिया उ दो वी, अहव इमा मग्गणा अन्ना ॥

अतिसंस्तरणातिक्रमेण तेषां क्षैत्रिकाणामितरे यतनास्थायिनः क्षेत्रत उपसपन्ना द्वौ पुनः प्रागुक्तावविधिस्थितौ तेषाम् । अथ वा इयमन्या मार्गणा ।

तामेवाह-

पेहेऊणं खेत्तं, एहाणादिगं तु ओसरणं ।
पुच्छंताण कहेंती, अमुगत्थ वयं तु गच्छामो ॥

केचित्साधवो वर्षाप्रायोग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्याऽनुज्ञाप्य चेदं चिन्तयन्ति । यथा-अत्र प्रत्यासन्नेषु स्थानेषु समन्ततो बहवो गच्छाः क्षेत्राणि च वर्षाप्रायोग्याणि । तत्र प्रचुराणि । न सन्ति समासन्नश्च वर्षाकालः ततो मा केचिदज्ञानतोऽत्र तिष्ठेयुरिति स्नानादिसमवसरणं सर्वेऽपि मिलिता भविष्यन्तीति, तत्र गत्वा सर्वेषां विदितं कुर्मः । एवं चिन्तयित्वा तदनन्तरं स्नानादिसमवसरणं गत्वा । तेषां पृच्छतां कथयन्ति । अमुकत्र वयं वर्षाकरणाय गच्छाम इति ।

घोसणं सोच्च स त्रि-स्त पिच्छणा पुव्वमतिगए पुच्छा ।
पुव्वठिते परिणते, पच्छ भणते न से इच्छा ॥

प्रागुक्तां घोषणां श्रुत्वा कोऽपि धर्मकथालब्धिसंपन्नः 'धर्मश्रद्धिकास्तत्र श्रावका भूयांसः तिष्ठन्तीति, परिभाव्य निर्मर्यादस्तत्र पूर्वतरं गतो गत्वा च सज्ञिनं सज्ञिवर्गस्य प्रेक्षणासस्तवधर्मकथादिभिरात्मीकरणम् । ततः पश्चादागताः क्षैत्रिकास्तैः स पृष्टो युष्माकमग्रे कथितं ततः कस्मादिह त्वमागतः ? स तूष्णीकः आसीत् । ततः क्षैत्रिकैरुक्तं गच्छत यूयं संप्रत्यपि श्रावकवर्गश्च तस्मिन्पूर्वस्थिते परिणत आसीत् । ततः पश्चाद् भूते मा निर्गच्छन्तु, वयं द्वयोरपि वर्तिष्यामहे । अत्र यतः क्षैत्रिकाणामाभवति (से) तस्य न निर्मर्यादा तस्य वा इच्छा भवति ।

साम्प्रतमिमामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतो घोषणां समर्थयति—

बाहुल्ला संजयाण तो, उवग्गेया वि पाउसो ।
ठियामो अमुगे खेत्त, घोसण ऽम्मोऽम्मसाहणं ॥

संयतानां समततः प्रत्यासन्नेषु बाहुल्यात् उपाश्रयाऽतिप्रत्यासन्नश्च प्रावृट्काले अपिशब्दादन्यानि च वर्षाप्रायोग्याणि क्षेत्राणि प्रचुराणि न सन्ति ततो मा अन्ये प्रविशन्त्विति, स्नानादिसमव-

सरणे घोषादिकमन्योऽन्यकथनं कृतवन्तो वयं त्वमुकक्षेत्रे स्थिताः स्म इति।

घोषणस्यैव प्रकारान्तरमाह–

विज्जिजंते व ते पत्ता, एहाणादीसु समागमो।
पहुप्पचे य नो कालो, सड्ढो घोसणयं ततो ॥

साधूनां स्नानादिषु समागमो यो यत आगतः स तत्र प्रस्थितस्ते च विवक्षिता क्षेत्रमनुज्ञाप्य, तत्र प्राप्तास्तत्र यद्येकैकगच्छस्य समीपे गत्वा क्रमेण कथ्यते। तदा कालो न प्राप्यते। बहुत्वस्य भवनात्। ततो ये संयममवाप्य चैत्याद्वा सम्प्रस्थितास्तान् आसन्नान् कृत्वा मेलापके मेलयित्वा महता शब्द घोषणकं कुर्वते। यथा शृणुत साधव। अस्माभिरमुक क्षेत्र वर्षानिमित्तमनुज्ञापितामिति।

" सोच्चा सन्निस्से " त्यादिव्याख्यानार्थमाह–

दाणादीसड्ढकलियं, सोऊणं तत्थ कोइ गच्छेज्जा।
रमणिज्जं खेत्त त्ति य, धम्मकहालद्धिसंपन्नो ॥

तद्घोषण श्रुत्वा कोऽपि धर्मकथालब्धिसपन्नो दानादिप्रधानश्राद्धकलितं तत्र रमणीय क्षेत्रमिति कृत्वा तत्र गच्छेत्।

संथवकहाहि आउ–ट्टिऊण अत्तीकरेहि ते सड्ढे।
ते वि य तेसु परिणया, इयरे वि ताहिं अणुप्पत्ती ॥

सस्तवेन धर्मकथाभिश्च तान् श्राद्धान् आवर्त्य आवर्ज्य आत्मीकरोति। तेऽपि च श्राद्धास्तेषु परिणता इतरेऽपि च क्षेत्रिकास्तत्राऽनु पश्चात्प्राप्ता।

नीह त्ति तेण भणिते, सड्ढे पुच्छंति ते वि य भणंति।
अच्छह भंते! दोएह वि, न तेसि इच्छाएँ सचित्तं ॥

तैः क्षेत्रिकैर्निर्गच्छतेति भणिते, ते पूर्वगता. श्राद्धान् पृच्छन्ति। यामो वयम्। निष्काश्यमानास्तिष्ठामः। तेऽपि च श्राद्धाः क्षेत्रिकान् समागत्य भणन्ति–आस्ध्वं भदन्ता.! यूय द्वयेऽपि यतो द्वयोरपि वय वर्तिष्यामहे। तत्र तेषां पूर्वगतानामिच्छया सचित्तमुपसम्पन्नकमेतदुपधिश्च न भवति। किं तु क्षेत्रिकाणामेवेति।

असंथरे अनिंतणे, कुलगणसंघे य होइ ववहारो।
केवइय पुण खेत्तं, होइ पमाणेण बोधव्व ॥

असस्तरे अन्यत्र असस्तरणे पुनरनिर्गच्छन्त कुले गणे सड्घे च भवति। प्रमाणेन वोद्धव्यम्।

तत्राऽऽह–

एत्थ सकोसमकोसं, मूलानिबद्धं गाममणुयंताणं।
सचित्ते अचित्ते, मीसे य विदिन्नकालम्मि ॥

अत्र क्षेत्रमार्गणायां यत् क्षेत्र मासयोग्य,वर्षाप्रायोग्य वा। तत् सक्रोशम्,अक्रोश च। तत्र यत् सक्रोशम्–तत्पूर्वासु दिक्षु प्रत्येक सगव्यूतमूर्ध्वमधश्चाऽर्द्धक्रोशम् अर्द्धयोजनेन च समन्ततो यस्य ग्रामा. सन्ति। अक्रोश नाम–यस्य मूलनिबन्धात्परत. पर्णां दिशामन्यतरस्यामेकस्या द्वयोस्तिसृषु वा दिक्षु अटवीजलश्वापदास्तेन पर्वतनदीव्याघातेन गमन भिक्षाचर्या च न सभवति तत् सूत्रनिबद्धमात्रमक्रोशम्। त ग्राममनुसरतां किमुक्त भवति–तस्मिन् सक्रोशे अक्रोशे वा क्षेत्रे स्थितानामृतुबद्धे काले निष्कारणमेकैका मासकल्पा त्रिनीर्णोऽनुज्ञातः, कारणेन पुनर्भूयानपि कालो शेषांस्तु निष्कारण चत्वारो मासा कालो वितीर्णः। कारणे न पुनरपि प्रभूतोऽपि एव वितीर्णे काले सचित्ते अचित्ते मिश्रे च

विग्रहो भवति। नाऽवितीर्णे काले तेषामसस्तरणे अनिर्गच्छतां तत्साधारण भवति क्षेत्रम्।

तत्र चाऽऽयं क्षेत्रव्यवहारः–

अच्छिहु वसहगामा, कुदेसनगरोवमा सुहविहारा।
बहुगच्छवग्गहकरा, सीमाछेएण वसियव्वं ॥

विवक्षितस्य स्थानस्य समन्ततः सन्ति वृषभग्रामाः। किंविशिष्टा? इति आह–कुदेशे नगरोपमा बहुगच्छोपग्रहकारिणस्तेषु सीमाच्छेदेन वस्तव्यम्। तत्र वृषभक्षेत्रं द्विविधम्। ऋतुबद्धे वर्षाकाले वा। एकैक त्रिविधम्। तद्यथा—जघन्यं, मध्यम, उत्कृष्ट च।

तत्र ऋतुबद्धे जघन्यमाह–

जहियं व तिन्नि गच्छा, पन्नरसुभया जणा परिवसंति।
एय वसभा खेत्तं, तव्विवरीयं भवे इयरं ॥

उभौ जनौ। आचार्यो, गणाऽवच्छेदकश्च। तत्राऽऽचार्य आत्मद्वितीयः, गणाऽवच्छेदी आत्मतृतीयः। सर्वसङ्ख्यया पञ्च परिवसन्ति। एतत् जघन्यम्, ऋतुबद्धे काले वृषभक्षेत्रम्। तद्विपरीत यत्र तादृशाः पञ्च जना न सस्तरन्ति तत् भवति इतरत्, न वृषभक्षेत्रम्। यत्र द्वात्रिंशत् साधुसहस्राणि सस्तरन्ति। यथा–ऋषभस्वामिकाले ऋषभसेनगणधरस्य। जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमं वर्षाकाले यत्राऽऽचार्य. आत्मतृतीय.। गणाऽऽवच्छेदी त्वात्मचतुर्थ.। सर्वसंख्यया सप्त। एवप्रमाणा यत्र त्रयो गच्छा. सस्तरन्ति। एतत् जघन्य वर्षाकालप्रायोग्य वृषभक्षेत्रम्। उत्कृष्ट, मध्यम च। यथा–ऋतुबद्धे काले ईदृशेषु बहुगच्छोपग्रहकरेषु वृषभग्रामेषु सत्सु। यदि वा-एतेष्वेव साधारणेषु क्षेत्रेषु न परस्पर भण्डन कर्तव्यम्। सचित्ताऽऽदिनिमित्त किंतु–सीमाच्छेदेन वस्तव्यम्।

तमेव सीमाच्छेदमाह–

तुज्झं तो मम बाहिं, तुज्झ सचित्तं ममेतरं वा वि।
आगंतुग-वत्थव्वा, थी-पुरिस-कुलेसु व विरेगो ॥

परस्पर वर्गेऽन्तर्गो व्यवहार एव कर्तव्यः। मूलग्रामस्याऽन्तर्मध्ये यत् सचित्ताऽऽदि,तत् युष्माकम्। अस्माक तु बहिः प्रतिवृषभाऽऽदिषु। अथ वा–युष्माकमितरत्,अचित्तम्। यदि वा–युष्माकमागन्तुका.,अस्माक वास्तव्याः। युष्माक स्त्रिय., अस्माक पुरुषा। यदि वा एतेषु कुलेषु यो लाभः स युष्माकम्। एतेषु तु कुलेष्वस्माकमिति।

एवं सीमच्छेदं, करेति साहारणम्मि खेत्तम्मि।
पुव्वं ठितेसु जे पुण, पच्छा एज्जाहि अस्से उ ॥

अन्ये तु एवमुक्तेन प्रकारेण साधारणे क्षेत्रे सीमाच्छेद कुर्वन्ति। ये पुनरन्ये तत्र पूर्वस्थितेष्वन्येषां क्षेत्राणां न समागच्छन्ति।

खेत्ते उवसंपन्ना, ते सव्वे नियमाउ बोद्धव्वा।
आभव्व तत्था तेसिं, सचित्ताऽऽदीए किं भवइ ॥

ते सर्वे नियमेन क्षेत्रत उपसपन्ना ज्ञातव्या। अथ–तत्र क्षेत्रे तेषां तथास्थितानां सचित्तादीना मध्ये किमाभाव्य भवति?। किं वा नेति?।

तत्राऽऽह–

नाल पुर पच्छ संथुय, मित्ताइ व वंसया सचित्ते य।
आहारमेत्तगतिगं, संथरग–वसहि–अचित्ते ॥

उग्गहम्मि परे एयं, लभते उ अखेत्तितो ।
वत्थगादी वि दिन्नं तु, कारणम्मिव सो लभे ॥

मातृबन्धा॰ पूर्वं संस्तुता॰, पश्चात्संस्तुतानि मित्राणि,वयस्याश्च । एतत्सचित्ते परे परकीये अवग्रहे अक्षेत्रिको लभते । अचित्ते आहारम् अशनाऽऽदिकम्,प्रस्रवणमात्रक,श्लेष्ममात्रकं च संस्तारक परिशाटिरूपमपरिशाटिरूपं वा वसतिं च वस्त्राऽऽदिक पुनर्दत्त लभते।कारणे अतिस्तरणाऽऽदिलक्षणे पुनरदत्तमपि लभते । तदेवं गतं क्षेत्रद्वारम् । व्य॰ १० उ॰ ।

एकक्षेत्रे उपसंपद्यमानानां कस्य क्षेत्रमाभवति सम्प्रति " साहरणपसंगे " इत्यादि व्याख्यानयति-

दोमादि ठिया साहर-णम्मि सुतत्थकारणा एके ।
जति तं उवसंपज्जे, पुव्वठिया वी य सेकंतं ॥

द्व्यादयो द्विप्रभृतयो गच्छा॰ समासकल्पा॰ । समकमेकस्मिन् क्षेत्रे स्थितास्तेषां तत् क्षेत्रम् आभाव्यतया साधारणम् । तस्मिन् साधारणे क्षेत्रे स्थिताः सन्तो यदि तमेके गच्छमन्ये सूत्रार्थ कारणादुपसंपद्यन्ते । अथवा-ये पूर्वं समासकल्पतया स्थितास्तेषाम् आभवति तत् क्षेत्रम् । न पश्चादागतानां समासकल्पानामपि । परं ते पूर्वस्थिता अपि यदि पश्चादागत गच्छं सूत्रार्थकारणादुपसंपद्यन्ते ! तर्हि-यस्य समीपमुपसंपद्यन्ते तस्य तत्क्षेत्र सङ्क्रान्तं तस्य तदाभवति । नान्येषामिति भावः । ते हि तस्य प्रतीच्छकीभूतास्तेन तेषां क्षेत्रमितरस्य संक्रामतीति । अथ नोपसंपद्यन्ते । किं तु सूत्रमर्थं वा पृच्छन्ति ।

तत्राऽऽह-

पुच्छाहिं तीहिं दिवसं, सत्तहिँ पुच्छाहिँ मासियं हरति ।
अक्खेत्तुवस्सए पु-च्छमाणे दूराऽऽवलियमासो ॥

तिसृभिः पृच्छाभिः कृताभिः पृच्छ्यमानः परिपूर्णं दिवसं यावत् तत्क्षेत्रगत सचित्तादि हरति गृह्णाति । त्रिपृच्छादानतस्तस्य क्षेत्रस्यैकं दिवसं यावत्तदाभवनात् । सप्तभि॰ पृच्छाभिर्मासिकं हरति । किमुक्त भवति-सप्तपृच्छासु कृतासु पृच्छ्यमानः परिपूर्णमासं यावत्तत्क्षेत्रगत सचित्तादि लभते मासं यावत्तस्य क्षेत्रस्य तदाभवनादिति । (अक्खेत्तुवस्सए इति) अक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये विशेषा मार्गणा कर्त्तव्या । सा चाऽऽग्रे करिष्यते । तथा-यदि पृच्छ्यमान आत्मीयमुपाश्रयं दूरम्, उपलक्षणमेतत् आसन्न वा । आवलिकाप्रविष्टम् उपलक्षणमेतत् मण्डलिकाप्रविष्ट वा, पुष्पाऽऽवकीर्णं वा कथयति । तदा तस्मिन् प्रायश्चित्तं मासो लघुक॰,त च पृच्छन्तं लभन्ते । एष संक्षेपार्थो व्यासार्थोऽग्रे कथयिष्यते । अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्त्तव्येत्युक्तम् ।

तत्र तावदक्षेत्रमाह-

एहाण ऽणुजाणं अण्हाण, सीसए कुलगणे चउके य ।
गामादिवाणमंतर-हेय उज्जाणमादीसुं ।
इंदकीलमणोग्गाहो, जत्थ राया जेहिं व पंच इमे ।
अमच्चपुरोहियसेट्ठी-सेणावतिसत्थवाहा य ॥

स्नानमर्हत्प्रतिमानां तन्निमित्तमेकत्र मिलितानामनुयान रथयात्रा तन्निमित्तं मिलितानाम् । अथवा-कर्दमर्षक यत पर समुदायेन सार्थेन सह गन्तव्य सम्यग् मार्गवहनात् । तत्र मिलितानां (कुल त्ति) कुलसमवायमिलितानाम् (गण त्ति)गणसमवायमिलितानां चतुष्क सङ्घ तत्समवायमिलितानाम् (गामाद) इत्यादि । ग्राममहे वा,आदिशब्दान्नगराऽऽदिमहे वा,व्यानमहे वा, आदिशब्दात्तमागाऽऽदिमहेषु वा । इन्द्रकीलकमहे वा यत्र च सकलजनमनोग्राह्यो राजा यत्र वा इमे अमात्यपुरोहितश्रेष्ठिसेनापतिसार्थवाहाः पञ्च गता वर्त्तन्ते। तत्र कथमपि गताः समक स्थिताः तर्हि साधारणा वसतिः। अथ विषम स्थितास्तर्हिं ये पूर्वं स्थितास्तेषां वसति॰आभवति । नेतरेषां पश्चादागतानाम् । तस्यां च वसतौ यः शिष्यतया उपतिष्ठति तं वसतिस्वामिनो लभन्ते नेतरे ।

" पुच्छमाणे दूराऽऽवलियमासो " इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह—

पुप्फाऽवकिण्णमण्ड-लियाऽऽवलिय उवस्सया भवे तिविहा ।
जो अब्भासे तस्स उ, दूरे कहंतो न लभे मासो ॥

क्वचित् ग्रामे नगरे वा साधव॰ पृथक् उपाश्रये स्थिता । ते चोपाश्रयास्त्रिविधा भवेयु । तद्यथा-पुष्पाऽवकीर्णकाः,माण्डलिकावद्धा , आवलिकास्थिता वा । स्थापना

०००००	००००	
००००००	० ०	००००
०००००	००००	

एतेषामुपाश्रयाणां मध्ये कुतश्चिदेकतरस्मादुपाश्रयाद्विचाराऽऽदिनिमित्त कोऽपि विनिर्गतस्त दृष्ट्वा कोऽपि प्रविव्रजिषु॰ पृच्छेत् । यथा-कुत्र साधूनां वसतिरिति । स ब्रूते-किं कारण त्वं पृच्छसि ?। शिष्यः प्राह-प्रव्रजिष्यामीति । तत्र यदि स एव पृष्टः सन् (दूरे कहंतो न लभे मासो इति) आत्मीयमुपाश्रय दूरम्, आसन्न वा कथयति । तर्हि तस्य प्रायश्चित्त लघुको मासः । न च त शिष्यं लभते । कस्य पुनः स आभवतीति चेत् ? । तत आह-योऽभ्यासे तस्य किमुक्तं भवति-तस्मादवकाशात् यस्य प्रत्यासन्नतर उपाश्रयस्तस्य आभवति ।

किह पुण साहेयव्वा, उद्दिसियव्वा जहक्कमं सव्वे ।
अह पुच्छइ संविग्गे, तत्थ व सव्वे व अप्पा वा ॥

कथं पुन॰ कथयितव्या उपाश्रयाः ?। सूरिराह-उद्देष्टव्या॰ यथाक्रमं सर्वे । यथा-अमुकस्याऽमुकप्रदेशे । एवं कथिते यत्र व्रजति तस्य स आभवति । अथ पृच्छति संविग्नान् बहुश्रुततरान् तपस्वितरांश्चेत्यर्थः। तत्र यथाभावमाख्यातव्यम् । वितथाऽऽख्याने मासलघुः। न च स त लभते । किं-तु ये तपस्वितरा बहुश्रुततराश्च तेषां स आभवति । अथ सर्वे श्रद्धा वा संविग्नास्ततस्तथैवाऽऽख्याते यत्र स व्रजति तस्य स आभवति । न शेषस्येति ।

एतदेव सविशेषमाह-

मुत्तूण असंविग्गे, जे जहियं ते य साहती सव्वे ।
सिट्ठम्मि जेसि पासं, गच्छति तेसिं न अन्नेसिं ॥

इह ये पार्श्वस्थाऽऽदयोऽसंविग्नास्ते यदि पृच्छ्यन्ते तदा ते न कथनीयास्तेन मुक्त्वा शेषेषु पृष्टेषु ये यत्र विद्यन्ते तान् तत्र सर्वान् कथयति । शिष्टे च कथिते सति, येषां पार्श्वं गच्छति तेषामाभवति । नाऽन्येषाम् ।

नीयल्लगाण व भया, हिरिवात्ति असजमाऽहिगारे वा ।
एमेव देसरज्जे, गामेसु व पुव्वकहणं तु ॥

इह कोऽपि तस्मिन् ग्रामे नगरे देशे राज्ये वा न प्रव्रजति । किं-

कारणमिति चेत्? उच्यते-निजकानां स्वज्ञातीयानां भयात्। मा निजका उत्प्रव्राजयेयुः प्रव्रजन्तं वा मा रुन्ध्युरिति। यदि वा-तेषां निजकानां समक्षं लज्जते। ततो हीनो वा। अथवा-असंयमाऽधिकारः असंयमाधिकरणं नद् ग्रामादि अप्कायादिप्रचुरत्वात्। ततोऽन्यत् ग्रामादिकं गन्तुमनास्तथैव विचारादिगतं पृच्छेत्। यथा-कस्मिन् ग्रामे नगरे देशे राज्ये वा साधवः?। एवमन्यस्मिन् राज्ये ग्रामेषु वा पृच्छायामेव पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण यथाभाव कथनं कर्त्तव्यम्। किमुक्तं भवति-यथा-त्रिविधेषूपाश्रयेषु आसन्नदूरतःपरिवद्धश्रुतानां पृच्छायां व्याकरणमनाभाव्य,आभाव्य च वर्णितम् तथाऽत्राऽपि द्रष्टव्यम्। तद्यथा-यत् यथा कथनीयं वितथाऽऽख्याते तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु। तत्र च गतस्तेषां समीपमुपगच्छति। स तेषामाभवति। नान्येषामिति।

अहवा वि अन्नदेसं, संपट्ठियगं तगं मुणेऊण ।
मायानियमिपहाणो, विप्परिणामो इमेहिं तु ॥

अथवेति प्रकारान्तरे तत्र प्रकारान्तरं विपरिणामविषयं वक्ष्यमाणरीत्या द्रष्टव्यम्। विचाराऽऽदिविनिर्गतं साधुं दृष्ट्वा कोऽपि परेण आदरेण वन्दते। तं च तथा वन्दमानं पृच्छति। कुतस्त्वं? कुत्र वा सम्प्रस्थित इति?। स प्राऽऽह-अमुकं देशं सम्प्रस्थितः तत्र गत्वा प्रव्रजिष्यामि। तत एनमन्यदेशं सम्प्रस्थितं तं ज्ञात्वा। मायी परवञ्चनाऽऽभिप्रायी निकृतिराकारवचनाऽऽच्छादनं यथाकूटाऽऽख्यातृत्वेन नद्दयते मायानिकृती प्रधाने यस्य स तथा। एभिर्वक्ष्यमाणैश्चैत्याऽऽदिभिर्विपरिणामयति।

तान्येव विपरिणामस्थानानि चैत्याऽऽदीनि दर्शयति-

चेइय साहू वसही, वेज्जा व न संति तम्मि देसम्मि।
पमिणीय-सासि-साणो, वियारखेत्ता अहिगमग्गो ॥

यत्र त्वया गन्तव्यं तस्मिन् देशे चैत्यानि,यदि वा-साधवः,अथवा-वसतयः, यद्वा-वैद्या न सन्ति। तथा-बहवस्तत्र प्रत्यनीकाः। न च दानाऽऽदिप्रधानानि श्राद्धकुलानि। श्वानः प्रचुराः,न च तत्र विचारभूमिः, सर्वत्र पानीयाऽऽकुलत्वात्। नाऽपि तत्र विहारयोग्यानि क्षेत्राणि। अधिकश्च भूयान् मार्गः पन्थाः एतैः प्रकारैर्विपरिणामयति।

तत्र प्रथमतश्चैत्यमधिकृत्याह-

वंदण पुच्छा कहणं, अमुगं देस वयामि पव्वइउं ।
नत्थि तहिं चेइयाइ, दंसणसोही जतो होइ ॥

परया भक्त्या विचाराऽऽदिनिर्गतस्य साधोर्वन्दनम्। ततः पृच्छा कुत्र गन्तव्यम्?। तदनन्तरं तस्य कथनम्-अमुकं देशं व्रजामि प्रव्रजितुमिति। एवमुक्ते स प्राऽऽह-न सन्ति तत्र चैत्यानि यतो येभ्यो दर्शने शोधिः सम्यग्दर्शने निर्मलता भवति।

कथं तेभ्यो दर्शनशोधिः? इति। अत आह-

पूयं तु दट्ठुं जगबंधवाणं,
साहू विचित्ता समुवेंति तत्थ ।
ऽभंगं च दट्ठुं उवासगाणं,
सेहस्स वी थीरइ धम्मसद्धा ॥

जगद्बान्धवानां पूजा दृष्ट्वा तत्र तेषु चैत्येषु साधवो विचित्रा भव्या भव्यतरा समुपयन्ति मूर्तिं दृष्ट्वा देशनां वा समाकर्ण्य तथा उपासकानां श्रावकाणां स्नानविलेपनाऽऽदिषु अभ्यङ्गं च दृष्ट्वा आस्तामन्येषां शुभपरिणामोल्लासः शैक्षस्याऽपि धर्मश्रद्धा स्थिरति स्थिरीभवतीत्यर्थः।

चैत्यानि तु तत्र न विद्यन्ते। ततः किं तत्र गत्वा त्वया कार्यम्? इति द्वारमाह-

न संति साहू तहियं विचित्ता,
ओसन्नकिण्णो खलु सो उ देसे ।
संसग्गिहज्जम्मि इमम्मि लोए,
सा भावणा तुज्झ वि मा हु वेज्जा ॥

न सन्ति तत्र साधवो विविक्ता एकान्तसंविग्ना। किं तु-अवसन्नकीर्णोऽवसन्नव्याप्तः खलु स कुदेशः। अथ च लोकः संसर्गिहार्यः संसर्गात् ह्रियते संसर्ग्यनुयायी भवति। तथाऽवसन्नव्याप्ततः संसर्गिहार्येऽस्मिन् लोके वर्तमानस्य तवाऽपि सा अवसन्नभावना मा भूदिति तत्र न गन्तव्यम्।

शय्याद्वारमाह-

सेज्जा न संती अहवेसणिज्जा,
इत्थीपसुंपंडगमादिकेण्णा ।
आउच्छमादीसु य तासु निच्चं,
ठायंतयाणं चरणं न सुज्झे ॥

तत्र शय्या न सन्ति। अथवा-एषणीया न विद्यन्ते। यदि-परमात्मकृताः स्युः। यदि वा-स्त्रीपशुपण्डकाऽऽद्याकीर्णाः सचित्ताप्सु चाऽऽत्मोत्थाऽऽदिषु आत्मकृताऽऽदिषु नित्यं सर्वकालं तिष्ठतां चरणं न शुद्ध्यति चारित्रशुद्धिर्न जायते।

वैद्याऽऽदिद्वारचतुष्टयमाह-

वेज्जा तहिं नत्थि तहोसहाइं,
लोगो य पाएण सपच्चणीओ ॥
दाणाइ सड्ढी य तहिं न संति,
सोणेहिं किण्णो सहलूसएहिं ॥

तत्र वैद्या, तथा औषधानि च न सन्ति। लोकश्च प्रायेण तत्र सप्रत्यनीकः। दानादिप्रधानाश्च श्राद्धिनः श्रावकास्तत्र न सन्ति। तथा श्वभिः सहलूषकैश्चौरैः कीर्णो व्याप्तः।

विहारक्षेत्रद्वारमाह-

अणूवदेसम्मि वियारभूमी,
विहारखेत्ताणि य तत्थ णत्थी ।
साहूसु आसण्णठिएसु तुज्झं,
को दूरमग्गेण मरुप्फरो ते ॥

यत्र त्वया गन्तव्यं तस्मिन् अनूपदेशे जलमयदेशे विचारभूमिर्नास्ति। नाऽपि तत्र सन्ति विहारयोग्यानि क्षेत्राणि। अन्यच्च-साधुष्वासन्नस्थितेषु तव को दूरमार्गेण (मरुप्फरो) गमनोत्साहः तदेवमृतुबद्धकालविषयं सूत्रं भावितम्।

अधुना वर्षावासविषयं भावयन्ति-

वासासु अमणुण्णा, असमत्ता जे वि या भवे वीसुं ।
तेसिं न होइ खेत्त, अह पुण समणुण्णय करेंति ॥
तो तेसि होंति खेत्त, को उ पभू सिं जो उ रायणिओ ।
लाभो पुण जो तस्या, सो सव्वेसिं तु सामण्णो ॥

वर्षासु वर्षाकाले ये अमनोज्ञा परस्परोपसंपद्धिकास्ता असमा-

सा असमासकल्पा विष्वक् पृथक् स्थिता भवेयुस्तेषां न भवति क्षेत्रम्। आभाव्यमसमासकल्पत्वात्। अथ पुनः-सुखदुःखादिनिमित्त समनोज्ञतां परस्परोपसपद् कुर्वन्ति। ततो भवति तेषामाभाव्य क्षेत्रम्। परस्परोपसपदा समासकल्पीभूतत्वात्। अथ तेषां कः प्रभुः?। उच्यते-यो रात्निको रत्नाधिको यस्य पर्यायाधिकतया वन्दनादीनि क्रियन्ते (सि) तेषां प्रभुर्लाभः पुनर्यस्तत्र भवति स सर्वेषां सामान्य साधारणः सर्वेषामप्याचार्यत्वादुपाध्यायत्वाद्वा।

अहव जइ वीसु वीसु, ठिया उ समत्तकप्पिया हुज्जा ।
अन्नो समत्तकप्पी, एज्जाही तस्स तं खेत्तं ॥

अथवा-असमासकल्पिका यदि विष्वक्विष्वक्स्थिता भवेयुरन्यः समासकल्पः समासकल्पोपेतः पश्चादागच्छेत् तस्य तत आभवति क्षेत्रम्। नेतरेषां पूर्वस्थितानामपि असमासकल्पत्वात्।

अहवा दोण्णि व तिण्णि व, समगं पत्ता समत्तकप्पीओ ।
सव्वेसिं वी तेसिं, तं खेत्तं होइ साहरणं ॥

अथवा-द्वौ वा, त्रयो वा, गच्छाः समासकल्पिता पृथक् पृथक् कल्पोपेताः समकं प्राप्तास्ततस्तेषां सर्वेषामपि तत्क्षेत्रम्। आभाव्यतया साधारणं भवति।

अपुण्णकप्पो व दुवे तओ वा,
ज कालकुज्जा समणुण्णयं तु ।
तक्कालपत्तो य समत्तकप्पो,
साहारणं त पि हु तेसि खेत्तं ॥

अपूर्णकल्पा असमासकल्पा द्वौ त्रयो वा गच्छाः स्थिता न च परस्परमुपसम्पत् गृहीता पश्चात् सूत्रार्थाऽऽदिनिमित्तमुपसपद् गृहीतुमारब्धाः। ते च यत्काल यस्मिन्काले समनोज्ञता परस्परमुपसम्पदं कुर्युः कुर्वन्ति। तत्कालप्राप्तस्तस्मिन्काले प्राप्तोऽन्यः समासकल्पस्तेषामपि तत क्षेत्रम् भवति साधारणम्। परस्परोपसपद्ग्रहणवेलायामेव समासकल्पस्याऽपि प्राप्तत्वात्।

संप्रति परस्परोपसम्पन्नानां साधारणाऽवग्रहाऽवस्थितानां सूत्रमर्थं वाऽधिकृत्य य आभवनविशेषस्तमभिधित्सुराह-

साहारणट्ठियाणं, जो भासति तस्स तं व हरावि खेत्तं ।
वारगतं दिवस पोरिसि, मुहुत्त भासे उ जे ताहे ॥

साधारणस्थितानां साधारणाऽवग्रहाऽवस्थितानां मध्ये यः सूत्रमर्थं वा भाषते। तस्य तद्भवति क्षेत्रम्। न शेषाणाम्। अथ ते वारवारेण भाषन्ते। तत आह-यो यदा वारकेण। दिनं, पौरुषीं मुहूर्त्तं वा भाषते। तस्य तावन्तं कालमाभाव्यम्। न शेषकालम्। इयमत्र भावना-यो (यति) दिवसा भाषते तस्य (तति) दिवसानाभाव्यम्। अथवा-प्रतिदिवस यो (यति) पौरुषीर्भाषते तस्य (तति) पौरुषीरवग्रहः। यदि वा-यो (यति) मुहूर्त्तान् भाषते तस्य तावत्कालमवग्रह । न शेषकालमपीति।

आवलिया मंडलिया, घोडगकंडूइए व भासेज्जा ।
सुत्त भासतिमा-सा इयादि जा अट्ठसीतिं तु ॥

इह सूत्रस्यार्थस्य वा भाषणे त्रय प्रकारा। तद्यथा-आवलिकया मण्डल्या घोटककण्डूयितेन च तथा विच्छिन्ना एकान्ते भवति मण्डली सा आवलिकाया। पुनः स्वस्थान एव सा मण्डली घोटककण्डूयित नाम यद्वार वार परस्पर प्रच्छन्न तत्तयो परस्पर कण्डूयितमिव घोटककण्डूयित तत्र सूत्रमर्थं वा भाषते। आवलिकया मण्डलिकया घोटककण्डूयितेन वा तत्र सूत्र भाषते। सामायिकाऽऽदि तावत् यावत् दृष्टिवादगतान्यष्टाऽशीतिसूत्राणि। पूर्वेषु तु विशेषो वक्तव्य इति तदनुपादानम्। सम्प्रति यथोक्तप्रमाण आवश्यकप्रतिप्रच्छकस्य समीपे दशवैकालिकमधीते दशवैकालिकवाचनाऽऽचार्यस्य भवति क्षेत्रम्। तथा एकस्य पार्श्वे दशवैकालिकमधीते दशवैकालिकवाचनाचार्य । पुनर्दशवैकालिकप्रतिप्रच्छकस्य पार्श्वे उत्तराध्ययनान्यधीते उत्तराध्ययनवाचनाऽऽचार्यस्य आभाव्य क्षेत्रम्। एव यथोत्तर तावद्भावनीयं यावदष्टाऽशीतिसूत्राणि।

सुत्ते जहुत्तरं खलु, बलिया जा होति दिट्ठि वातो त्ति।
अत्थे वि होइ एव, छेअसुअस्स नवरिमुत्तुं ॥

यथा-सूत्रे यथोत्तरं बलिष्ठता एवमर्थेऽपि भावनीया। तद्यथा-एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकार्थवाचनाचार्य । पुनरावश्यकार्थे-प्रतिप्रच्छकस्य समीपे दशवैकालिकार्थवाचनाऽऽचार्यस्य आभवति क्षेत्रम्। एव तावद्वाच्य यावदष्टाशीतिसूत्रार्थमुक्त्वा अथाऽऽचार्याणामुपरि छेदसूत्राऽर्थाऽऽचार्यो वक्तव्य । तद्यथा-एकस्य पार्श्वे दृष्टिवादगतानामष्टाशीतेः सूत्राणामर्थमधीते, अष्टाशीतिसूत्रार्थ-वाचनाचार्यः। पुनरष्टाशीतिसूत्रार्थप्रतिप्रच्छकस्य समीपे छेदसूत्रार्थमधीते, छेदसूत्रार्थवाचनाचार्यस्य आभाव्य तत् क्षेत्रम्।

एमेव मीसगम्मि वि, सुत्तातो बलवगो पगासो उ ।
पुव्वगयं खलु बलियं, हेट्ठिल्लत्था किमु सुयातो ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण मिश्रकेऽपि सूत्राऽर्थरूपोभयस्मिन्नपि वक्तव्य सर्वत्र सूत्रात् बलवान् प्रकाशोऽर्थस्य प्रकाशकः तद्यथा-एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकसूत्रमधीते। तस्य समीपे पुनः सूत्रवाचनाचार्य आवश्यकस्यार्थमधीते। आवश्यकार्थवाचनाचार्यस्य आभवति तत् क्षेत्रम्। एवं तावद्भावनीय यावदष्टाशीतिसूत्रार्थं वाचनाऽऽचार्यः सर्वत्राऽधस्तनात्सूत्रादर्थाद्वा पूर्वगत बलीयः तथा चाह-(पुव्वगयमित्यादि) यदि पूर्वगत सूत्र खलु अधस्तनादर्थाद्भवति बलीयः किमङ्ग! सूत्रात सुतरामधस्तनात् सूत्राद्बलीय इत्यर्थ । तद्यथा-एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकस्य सूत्रमर्थं तदुभय वाऽधीते। तस्य समीपे पुनरावश्यकसूत्रार्थतदुभयवाचनाचार्य पूर्वगत सूत्रमधीते। आवश्यकसूत्रादिप्रतीच्छकस्य आभवति। एवं तावद्वाच्य यावदष्टाशीति सूत्राणि पूर्वगतसूत्राच्च पूर्वगताऽर्थो बलीयान्। तत एकस्य पार्श्वे पूर्वगतसूत्रमधीते तस्य समीपे पूर्वगतसूत्रवाचनाचार्यः पूर्वगतमर्थं पूर्वगतसूत्रमर्थं पूर्वगतसूत्रप्रतीच्छकस्य आभवति।

अथ किं कारण शेषात्सूत्रादर्थाच्च पूर्वगतं सूत्रं बलीय ? तत आह-

परिकम्मेहि य अत्था, सुत्तेहि य जेहि सूइया तेसिं ।
होइ विभासा उवरिं, पुव्वगय तेण बलिय तु ॥

दृष्टिवादः पञ्चमस्थान। तद्यथा-परिकर्माणि सूत्राणि पूर्वगतमनुयोगश्चूलिकाश्च। तत्र ये परिकर्मभिः सिद्धश्रेणिकाप्रभृतिभि सूत्रैश्चाष्टाशीतिसङ्ख्यैरर्था सूचितास्तेषां सर्वेषामन्येषां च उपरि पूर्वेषु विभाषा भवति। अनेकप्रकारात तत्र भाष्यन्ते इत्यर्थः तेन कारणेन पूर्वगत सूत्र बलिकम्।

सम्प्रति येन कारणेन सूत्रार्थो बलियान् तदभिधित्सुराह-

तित्थगरत्था (द्धा) ण खलु, अत्थो सुत्तं तु गणहरत्था(द्धा)णं।

अत्थेण य वज्जिज्जइ, सुत्तं तम्हा उ सो बलवं ।

अर्थे खलु तीर्थकरस्थानं तस्य तेनाऽभिहितत्वात् । सूत्रं तु गणधरस्थानं तस्य तैर्दृब्धत्वात् । अर्थेन च यस्मात्सूत्रं व्यज्यते प्रकटीक्रियते तस्मात्सोऽर्थः सूत्राद् बलवान् ।

अथ कस्मात् ? शेषाऽर्थच्छेदश्रुताऽर्थो बलीयानित्यत आह-

जम्हा उ होइ सोही, छेयसुयत्थेण खलियचरणस्स ।
तम्हा छेयसुयत्थो, बलवं मोत्तूण पुव्वगयं ॥

यस्मात् स्खलितचरणस्य स्खलितचारित्रस्य छेदश्रुताऽर्थेन शोधिर्भवति । तस्मात्पूर्वगतमर्थं मुक्त्वा शेषात्सर्वस्मादप्यर्थात् छेदश्रुताऽर्थो बलवान् तदेवमावलिकामधिकृत्योक्तम् ।

अधुना मण्डलीमधिकृत्याह-

एमेव मंडलीए, पुव्वाहिय नट्ठधम्मकहियादी ।
अहवा पइण्णगसुए, अहिज्जमाणे बहुस्सुए वि ॥

यथा अधस्तादावलिकायामुक्तम् एवमेव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यम् । सा मण्डली क भवति ? इति चेत् । उच्यते-पूर्वाधीते नष्टे उज्ज्वाल्यमाने धर्मकथायां धर्मकथादाशास्त्रेषु, वादे वादशास्त्रेषु उज्ज्वाल्यमानेष्वधीयमानेषु वा । अथवा-प्रकीर्णकश्रुते अधीयमाने बहुश्रुतेऽपि बहुश्रुतविषयेऽपि मण्डली भवति । तत्राप्यावलिकायामिव । ननु कथमावलिकायामिव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यमिति चेत् ? उच्यते-एक एकस्य पार्श्वे पूर्वाधीतं नष्टमावश्यकमुज्ज्वालयति । आवश्यकवाचनाचार्यः पुनस्तस्य समीपे दशवैकालिकं दशवैकालिकवाचनाचार्यस्याभवति इत्यादि सर्वं तथैव । तथा-एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकं नष्टमुज्ज्वालयति एषोऽप्यावश्यकवाचनाचार्योऽन्यस्य समीपे दशवैकालिकं, दशवैकालिकवाचनाचार्योऽप्यपरस्य समीपे उत्तराध्ययनानि, उत्तराध्ययनवाचनाचार्योऽप्यन्यस्य समीपे आचाराङ्गम् । एवं यावत् विपाकश्रुतवाचनाचार्यः पूर्वाधीतं नष्टमन्यस्य पार्श्वे दृष्टिवादमुज्ज्वालयति । दृष्टिवादवाचनाचार्यस्य आभवति । न शेषाणामाभवतस्तोत्तमसङ्क्रान्त्यामिमेऽग्रन्थानादेसद्यावलिकायामपि द्रष्टव्यम् । तथा-यस्य पार्श्वे धर्मकथाशास्त्राणि वोज्ज्वालयत्यधीयते वा तस्यैतस्य आभवति । न पाठ्यमानस्य । तथा बहुश्रुततरोऽपि यदा यस्य समीपे प्रकीर्णकश्रुतमधीयते तदा तस्य प्रकीर्णकश्रुतवाचनाचार्यस्य आभवति । न बहुश्रुततरस्य । किं बहुना यो योऽन्यस्य समीपे पठत्युज्ज्वालयति वा तस्य भक्तमाभाव्यमितरो वाचनाऽऽचार्यो हरतीति ।

अथाऽऽवलिकाया मण्डल्याश्च कः प्रतिविशेषः ? इति अत आह-

भिण्णाभिण्णविसेसो, आवलियाए उ अंतए जाति ।
मंडलिए सट्ठाणं, सच्चित्तादीसु संकमति ॥

आवलिका-मण्डल्योः परस्परं भिन्नाऽभिन्नरूपो विशेषः । आवलिका भिन्ना विविक्त एकान्तो भवति । माण्डलिका त्वाच्छन्ना । "आवलिया तत्थ भिन्ना, मण्डलिया होइ अभिन्ना उ" इति वचनात् । एतदेव सुव्यक्तमाह-आवलिकायामुपाध्यायकोऽन्तर्मध्ये विविक्ते प्रदेशे तिष्ठति । मण्डल्यां पुनः स्वस्थानमाभवनं च पाठयितरि सङ्क्रामति सचित्ताऽऽदिषु तत्क्षेत्रगतसचित्ताऽऽदिविषयम् ।

अधुना घोटककण्डूयितमधिकृत्याऽऽह-

दोण्हं तु संजयाणं, घोडककंडूय करेंताण ।
जो जाहे जं पुच्छइ, सो ताहे पडिच्छतो तस्स ॥

द्वयोः संयतयोर्घोटककण्डूयितमिव (घोटककंडूय्यं) परस्परं प्रच्छनमित्यर्थः । न कुर्वतां यो यदा यं पृच्छति स तदा तस्य प्रतीच्छकः । इतरः प्रतीच्छ्यः तावत्तस्य आभवति । न शेषकालमिति ।

उपसंहारमाह-

एवं ता असमत्ते, कप्पे भणितो विही उ जो एस ।
एत्तो समत्तकप्पे, वुच्छामि विहिं समासेणं ॥

एवं तावत् असमाप्ते कल्पे यो विधिर्भवति । स एष भणितः । अत ऊर्ध्वं समासेन समाप्तकल्पे विधिं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

गणिआयरियाणंतो, खेत्तम्मि ठियाण दोसु गामेसु ।
वासासु होति खेत्तं, निस्संचारेण बाहिरतो ।

गणोऽस्याऽस्तीति गणी गणाऽवच्छेदकः । आचार्यः प्रतीतः । तयोर्ग्रामयोः पृथक् पृथक् स्थितयोर्वर्षासु आभवति क्षेत्रम् । ग्रामद्वयसङ्क्रमणम् । अन्तः क्षेत्रं स्थितयोः क्षेत्रमध्यव्यवस्थितयोर्न पुनः परस्परं गमनाऽऽगमनतः । कुतः ? इति । आह-बहिर्निःसंचारेण स्वस्वग्रामाद्बहिः पानीयहरिताऽऽद्याकुलतया संचारो भवतः ।

वासासु समत्ताणं, उग्गहो एगदुगाणपिंडियाणं पि ।
साहारण तु सेहं, वोच्छं दुविहं च पच्छ कमं ॥

वर्षासु बहूनामाचार्याणां परस्परोपसंपदा समाप्तकल्पानां वर्षासु समाप्तजनाः समाप्तकल्पाः । असमाप्तकल्पा जना असमाप्तकल्पाः (एगदुगपिंडियाण पि) असमाप्त्याऽप्येककाः सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिताः । अथवा-द्विकेन वर्गद्वयेन एक एकाकी, एकः षड्वर्गो । यदि वा-एको द्विवर्गः, एकः पञ्चवर्ग इत्यादिरूपेण पिण्डिता द्विकापिण्डितास्तेषामेकाद्विकापिण्डितानाम् अपिशब्दात्त्रिकचतुष्कादिपिण्डितानां चावग्रह आभवति । न शेषाणामसमाप्तकल्पस्थितानाम् । तथा साधारणं शैक्षं वक्ष्ये साधारणः शैक्षो यस्य भवति । तस्य तं वक्ष्ये । तथा द्विविधं च-गृहस्थसारूपिकभेदतो द्विप्रकारं च । पश्चात्कृतमुपरितनावच्छेदकपृथक्त्वं सूत्रे वक्ष्यामि । व्य० ४ उ० । (क्षेत्रे प्राप्तस्य शिष्यस्य आभवनव्यवहारः 'सीस' शब्दे) (समकं क्षेत्रप्राप्तानामाभवनम् ' उवसंपया ' शब्दे द्वि० भागे १००१ पृष्ठे उक्तम्) (संयतनिर्ग्रन्थपरिहारविशुद्ध्यादीनां स्वस्वस्थाने क्षेत्रतो मार्गणाऽवसेया) (अवधिक्षेत्रम् ' ओहि ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १५१ पृष्ठे उक्तम्) " एताओ य कालातो खेत्तो सुहुमतराग भवति । कहं जेण अंगुलपमाणमेत्ते आगासे जावतिया आगासपएसा ते बुद्धीए समए समए एगमेगं आगासपदेसं गहाय-अवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं ओसप्पिणीहिं अवहिता भवति अतो कालातो खेत्तं सुहुमतरागं भवति " आ० चू० १ अ० । (वर्षक्षेत्रस्थापना 'पज्जुसणा' शब्दे) (सामायिकक्षेत्रद्वारम् ' सामाइय ' शब्दे) " जम्बुद्दीवे दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता । तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए, हेरण्णवए, हरिवस्से, रम्मगवस्से, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा " ॥ देहे, अन्तःकरणे, कलत्रे, सिद्धस्थाने क्षेत्राकारे, त्रिकोणचतुष्कोणादिकपदार्थे, वाच० । ('खेत्तारिय' शब्दे आर्यक्षेत्राणि)

खेत्तओ-क्षेत्रतस्-अव्य० । क्षेत्रमाश्रित्येत्यर्थे । तत्र क्षेत्रं द्रव्याऽऽधारमाकाशमात्रं वा । भ० ७ श० ६ उ० ।

खेत्तकप्प-क्षेत्रकल्प-पुं० । देशविशेषाऽऽचारे, बृ० ६ उ० । क्षेत्रकल्पाकल्पत्वे । पं० भा० ।

समासतः क्षेत्रकल्पप्रतिपादनायाह-

एतो समासतो हं, वोच्छामि खेत्तकप्पं तु ।
जं देवलोगसरिसं, खेत्तं निप्पव्ववातियं जं च ॥ १ ॥
एसो तु खेत्तकप्पो, देसा खलु अद्धछब्बीसं । पं० भा०
जत्थ य गुणा इमे तू, खेमाईया मुणेयव्वा ।
खेमो सिवो सुभिक्खो, अप्पप्पाणो उवस्सयमणुन्नो ॥९॥
एसो तु खेत्तकप्पो, गामनगरपट्टणाइत्रो ।

(खेमो सिवादि) खेमो-डमरविरहिओ। सिवो-रोगविरहिओ। सुभिक्खो-पउरन्नपाणो । अप्पपाणो पि-चीलियाविरहिओ। उवस्सयमणुन्नो-इत्थिनपुंसकाइविरहिओ। समासेज्ज कयपवर-विवज्जिओ, गामणगराकराणि यहाणि मासामासपाउग्गाणि खेत्ताणि ॥ ६ ॥

व्यासतो गाथाभिरेव तद्विवर्णमाह-

खेमो डमरविरहितो, रोगाइविरहितो य सिवो होति ।१०।
पउरन्न-पाणदोसा, होति सुभिक्खो मुणेयव्वो ।
जक्खूगासंखण मुइंग-पिसुगमसगादिविरहितो जो तु ॥११॥
सो होति अप्पपाणो, अप्पअभावम्मि थोवे य ।
समभूमिरेणुवज्जिय,परितुक्खमोवस्सया मणुन्नाओ ॥१२॥
गामणगरा वि य बहू, पाउग्गा मासकप्पस्स ।
सज्जणजणो य भद्दो, जहियं च मणुन्नसाहुजोणीओ ।१३।
तारिसए खेत्तम्मी, समणुन्नाओ विहारो तु ।
खेमो य सिवो य तहा, खेमसुभिक्खो य एव संजोगा ।१४।
णेयव्वा छसु पदेसुं, सत्तसु वा आणुपुव्वीए ।
अहवोदयडग्गिसावग-तक्करवालजयवज्जिओ रंमो ॥१५॥
.... |
....॥१६॥

णिरविक्खा वि य जहियं, समणगुणविदूय जत्थ जणो ।

(उदय त्ति) उदएण य पेलिज्जति न बुज्झंतीर्थः । अग्गिणा न डज्झति, घणकधारुहम्मियगओ कोट्टिमतालाओ य । अहाकडाओ वसहीओ सरीरोवहितेण सावगतक्कर-परचक्कविरहिएसु देसेसु साहुविहारो अणुण्णाओ । तत्थ य साहूण कालपरिभोगी जणो सुत्तत्थपोरिसीं काउ तइयाए पोरिसीए भिक्खवेलाए ॥१५॥ (गाहा) पुढवीपइ य सूरो विसेसो जाणइ साहूण जहा एए अहिरन्नसोवन्नियमंगलभूया सव्व-संगवज्जिया समणगुणा य जणो जाणइ आहाराइ ॥ १६ ॥

एताणि चेवमाई-याणि आरीय खेत्तसहिआणि ॥१७॥
पुव्वभणियाणि जाणि उ, ताइं खलु सत्त य हवंति ।
णाणस्स दंसणस्स य, जत्थ य नत्थी य उवघातो ॥१७॥
एसो तु खेत्तकप्पो, जहिय च अणायणा नत्थि ।
उदगज्जयतुण्णादी, जह कुकणसिंधुतामलितादी ॥१८॥

(नाणस्स) नाणदंसणचरित्ताईणि जत्थ विही तवणियमसंजमजोगाण य परिवुड्ढी अणायतणाणि य जत्थ लोइया । इत्थिपुरुसनपुंसका वा, वाउरिया वा वाहलोद्धियचरगसक्काइया विघक्खभूया नत्थि लोउत्तर च अणायतणा पासत्थोसन्नकुसीलाइलिंगभेसपडिच्छन्ना नत्थि एरिसे खेत्ते विहरियव्व को इ पुण आलयणाइं काऊण ण विहरइ तत्थ ॥ १८ ॥ १९ ॥

णत्थि जहं अग्गिभयं, निरग्गिताहंमि य गिहा वा ।
जहियं च सावयभयं, सीहादीणं ण विज्जए देसे ॥२०॥
जहियं च णत्थि चोरा-टेरुवहे पंथि मोसादी ।
वालाउ सप्पगोणस्स,मादीद्दाणोहिगभयं च णत्थि जहिं २१
मणसो समाहिकारो, सो रंमो होति णायव्वो ।
सूरो अणअगम्मो, जत्थ णरिंदो तहिं सुहविहारं ॥२२॥
साहुगुणे य वियाण-ति कुणति य साहूण जो रक्खं ।
अहिरन्नसुवन्ने ते, छज्जिवनिकायसजमे णिरता ॥२३॥
जाणति जणो य एवं, जत्थ तु साहूण गुणनिमइं।
सज्झाओ जहिं सुज्झति,कुदिट्ठिगिओ णयविओ होति २४
एसण इत्थी सोही, य जत्थ तहियं निवासो तु ।
जहियं च अणायतना, ण संति केपुण अणायतणा ॥२५॥
भणिय साहम्मि भिन्न-चित्ता मूलुत्तरद्देसपडिसेवी ।
एतेहिं जो टेसो, आइन्नो तहय अन्नतित्थीहिं ॥२६॥
सत्थंथवाहगामा, पुव्विल्लदेसा अणायतणा ।
एतारिसम्मि खेत्ते, अप्पडिबद्धेण विहरियव्वं तु ॥२७॥
आलंबणा विकितुं, तु इमातिकातुं ण विहरंति ।
वसही संथारो भ-त्तपाणवत्थे पडिग्गहे सेहा ॥२८॥
सड्ढा य पुव्वसंथुय, असहहं ते य पडिबंधो ।

(वसहि) सथारवसहि सीयकाले निवाया, उण्हकाले सीयला, वासासु सीयविवज्जिया, अणोवरिसा सथारगा च । मणुन्न-माइ पाणय च सीयल वत्थाइतामसित्तक सिंधवाइ लब्भंति पडिग्गहा इत्थ पारपरया लब्भति । सेहा उ उप्पज्जंति सड्ढा य दुद्धदहियमाइ देंति । पुव्वपच्छासथुएसु नेहाणुरायपडिबंधेण वा असद्दहतस्स वा मासकप्प पडिबधो होइ। किं मासकप्पेण बहुतरीरियासु विराहणा नारगाईण च परिहाणी, को इ तित्थवोच्छेयो य यो इ ज च भणध णितियवासे सवासाइदोसा अतोमास सवसमाणस्स तो बधसंवासाइ दोसा होहिंति । एव निइपावसे दोसे असद्दहंतस्स आइ ॥२८॥

फासुया एसरिज्जायं, णिवातापरितुक्खमा ॥२९॥
एरिसा साहुयाणुग, वसही दुल्लभं न हि ।
एमेव य संथारा, सुलभा जोग्गा य साहूणं ॥३०॥
भत्तं सुलभमणुन्नं च, परिसंणत्थि अन्नहि ।
वत्था पडिग्गहा वि य,सुलभा सहाये एत्थ खेत्तम्मि ॥३१॥
अन्नत्थ दुल्लभा तु, तेण तु एत्थं बहुगुणं तु ।
सड्ढा आहारादी, देंति जोग्गणिसंथुता चेव ॥३२॥
पुर पच्छ दहभद्दा, य अन्नहिं णत्थि एरिसगा ।
उडुबद्धे मासकप्पे-ण विहारो तं ण सदह इमेहिं ॥३३॥
संजम आयविराहण, वच्चंते गामणुग्गामं ।
णाणादीण य हाणी, जोग्गं खेत्त तु मग्गमाणेणं ॥३४॥

खेत्ताओ वि य खेत्त, संकममाणे भुवमसायो ।
जे णीयत्ते दोसा, मासंते परिवसेण ते चेव ॥३५॥
एव मासविहारे, मन्नंतो बहुविहे य दोसे य ।
णो सद्दहाति विहारं, ण तु विहरति तस्स आणादी ॥३६॥
मासोवरिं च लहुओ, णीया वासे य जे दोसा ।
ते सो पावति सव्वं, एते सालंवणेहिँ अत्थंतो ॥३७॥
किं एगंतेणेवं, ण विसेसो जनती मुणसु ।
णिक्कारणम्मि एवं, पडिबंधे कारणम्मि णिद्दोसा ॥३८॥
ते चेव अजयणाए, पुणो व सो पावती दोसो ।
काणि पुण कारणाणि, जेहिँ चिट्ठिज्ज एक्कठाणम्मि ।३९।
भणति पुव्वुद्दिट्ठा, जे खेमसिवादिया दारा ।
तेसिंचिय पडिवक्खा,अक्खेमे असिव तह य दुभिक्खं।४०।
बहुपाणवस्सओ वा, अमणुओ जो तु दयमादी ।
एतेहिँ एगट्ठा-णम्मि अ उ अत्थमाणाओ ॥४१॥
जदि जयण ण कुव्वती, तेच्चिय नीयादिया दोसा ।
का पुण जयणा तहियं,जनति तहिँ कारणेहिँ तुट्ठितस्स ॥
अवउवस्सयनिक्खा-दिया तु जयणा मुणेयव्वा ।
अक्खेममादिएसु वि, अक्खेत्तेसु तु कारणवसेणं ॥४३॥
चिट्ठंताण तहिय, इमा तु जयणा मुणेयव्वा ।
अक्खेमें विसति पुरं, सत्थं वा वि आमयंतीओ ॥४४॥
अक्खेमं व ऽन्नत्था, तहिँ खेमं तो ण णिग्गच्छे ।
जदि आसिव तु पहिच्छा, ताहे अच्छंति ते तहिँ चेव ॥४५॥
दुभिक्खे व ण णीति, अहवा सव्वत्थ दुब्भिक्खं ।
दुब्भिक्खजयण तहियं,अच्छते वा वि जयण तह चेव।४६।
बहुपाणे आउत्ता, पचक्मते तु जयणा उ ।
उवस्सए आउत्ता, कुडुमुहचूर्ती नवाविलक्खंति ॥४७॥
अभ्भाए वसहीए, ठंति य मज्जंति य आजिक्खं ।
जा जत्थ जयण जुज्जति,अमणुन्ने उवस्सयम्मि तं कुव्वे४८
कयवरसोहणमादी, दुग्गधे गधपक्किरंती ।
उदगजए पलगामे, थले व वसहीं तहिँ तु गेएहंति ॥४९॥
अग्गिजए मालवच्छे, ट्ठमिततलगम्मि व वसंति ।
रोगबहुले य वत्थाणि, वज्जए चोराकिएहेण तु विहारे ।५०।
सत्थेण वा वि गच्छे, वायं ति व जत्थ णिरवायं ।
जाहियं सावयदोच्चा, तहियं एगाणितो ण गच्छेज्जा ।५१।
गेएह वसहिं च गुत्तं, गामस्स तु मज्झयारम्मि।
विज्जामंतादीहिँ, वाले णीणंतिए तो ण विगच्छे ॥५२॥
राया व पन्नवेती, साहुगुणमजाणमाणं तु ।
जत्थ जणो न विजाणति,साहुगुणे तहि कहिंति साहुगुणे॥
परिजोगे अकालम्मी, रत्तिं कुव्वति सज्झायं ।
दूरेण कुतित्थीए, वज्जेंति एस एं व पव्वत्तए ॥५४॥

कुलटा ऽत्थीचारिया-दिया य वज्जेंति चरणट्ठा ।
वज्जेज्ज अणायतणा, णाणादीण जत्थ उवघातो ॥५५॥
एवं जहसंजवंतु, करेज्ज जयणं णिवसमाणो ।
एसो तु खेत्तकप्पो, उवसग्गऽवायसंजुत्तो ।५६। पं०भा०।

(निक्कारणम्मि गाहा—३८—) निक्कारणम्मि दोसा निक्कारणे पपसिं चेव वितियपय ॥ कारणं जत्थ वहिं विहरंताण अक्खेमं । तत्थ अत्थेज्ज वि तत्थ य अक्खेमे जयणा णगर पविसइ । सत्थकुय वा आसयति ॥ अहवा-जत्थ अन्हे अच्छति तत्थ खेम तेण न विहरइ । असिव वा अन्नत्थ वट्टमाणे तत्थ सिव ताहे अच्छंति । अन्नत्थ वा दुब्भिक्ख ताहे अच्छंति । दुब्भिक्ख वा पणगपरिहाणाइ जयणा बहुपाण उवस्सए जमसुहाइसु जयति कीडियासचारएसु कुथुमाइएहरे वा अभिक्खं वा मज्जणाइ जयणा छप्पइयपयरे अन्हो परिभोगे अन्नासु वा वसहीसु अविज्जमाणीसु य मणुण्णे उवस्सए गधे करेंति । सुपमज्जिय च करेंति । उदयभएण थलाणि दहति । उग्घे वसहिं गिएहंति । अग्गिभएण घणकवाडाइसु हम्मियतलेसु वा वसति । रोगे असिवाइ भ वत्थाणि परिहरंति । लोणतेहाइ सावयभए एगाणियाणि संचरति । गाममज्झे वसहिं गेएहति । सप्पेम ते हि नीणेंति । तेण तक्करजएण सत्थेण सचरति । अकालपरिभोगिसु रत्तिं सज्झायं करेंति । अन्ने धम्म कहिंति । सज्झाय च गाहेंति । अहवा-वसहीए वि एकम्मि वसतस्स मासाइय वा वासाइ वा अन्नदेसे वा वसहीओ इत्थिनपुंसएसु दोसा फुलाउ सीयकाले वा मंदोवकरणाए निवाया,उएहकाले वा सीयलप्पवाया,वासासु वा निगालनिच्चिक्खिल्ला घडकवामदढकुडुपिलवज्जियासु । अन्नेसु य सेसेसु पयग्गुणसमाउत्ता वसही नत्थि । सथारगा चम्मरुक्खाइ अहाकुमयामं कुणाइ । दोसवज्जिया ते य तेसु खेत्तेसु नत्थि भत्त पाण वा सबालवुड्ढाउलगच्छे पाउग्ग मणुन्नं सपक्खपरपक्खोमाणविवज्जिय उग्गमाइसुद्ध पाणगं च सीयल असलत्त पउर तत्थ लब्भइ । अन्नेसु य खेत्तेसु तारिसय नत्थि । वत्थाय वासत्ताणाइ अहाकडया गुरुमाइया उग्गाणि तत्थ लब्भंति । पडिग्गहाय(अलथिर) भिक्खुवधारणीया अहाकरुया तत्थ लब्भति । सेहाइ जाइकुलरूवसपन्नाइ तत्थ गामे नगरे मेहाविणो तित्थ वोच्छित्तिकरा । सकुाय तत्थ गामे नगरे देसे वा सेणान्नइइब्भसेट्ठिसत्थवाहाइ सगू विवज्जिया वरगतित्थु उविज्जाईहिं विप्परिणामिज्जति । पुव्वपच्छसथुया वा तम्मि अच्छमाणे सम्मद्दसण गेएहति । पव्वयति वा । एयनिमित्त अच्छमाणो निद्दोसो निक्कारणे पच्छित्त अच्छमाणस्स । जइ पुण कारणं अच्छमाणो अजयणाए अच्छइ तत्थ दोसो । का पुण जयणा ?। जइ सपरिक्खेवो सवाहिरिया तत्थ जइ अतो मासकप्पो वा वासावासो वा कुओ वाहिरिगा य अपरिभूता तत्थ वाहिरियाए अन्नवसहिं गेएहति । अन्नेत्तणसंथारगा डगलयकुडसुहउच्चारपासवणमत्ताइ वाहि चेव भिक्खायरिया वाहिं चेव उच्चारपासवणभूमी । अहवा-वाहिरिया वि य विसत्तुत्ता वसही वा नत्थि पाउग्गा इत्थिनपुसगपसुविरहिया घणकुडकवाडा ताहे तम्मि चेव वसही पत्तणसथारगकुसुमुहउच्चारमत्तयाइ अन्ने गिएहति । असइसे चेव परिभुजंति । वाहिं वा अपरिभूते वाहिं भिक्खायरिय हिंडति । पुव्विं पच्छा सथवाइ परिहरता उग्गममाइसु जयति । पं० चू० ।

। ..... . ।

आदी उक्कानियत्ती,तु वन्निना जम्मि जम्मि खेत्तम्मि ।१।

एतेसि सम्निकासे, साळंबो मुणी व से खेत्ते ॥
छब्विहकप्पो आदी,तहि जारिसगाणि सेविया खेत्ता ।२।
अक्खेमअसिवमादी–णि कप्पती तारिसे वासे ॥
खेमादि अन्नऽन्नंतो, परिकुट्ठेहिं पि वसति जयणाए ।३।
दुयगादी संजोगा, वक्खाण सन्निकासस्स ॥
अक्खेमे असिवम्मि य,असिवं वज्जे वसेज्ज अक्खेमे।४।
तहियं उवहिविणासो, असिवे पुण जीवणासो तु ॥
एव ओमादीसुं, संजोगा तिगचउग्गमादीया ।५।
वसियव्वं जेसु जहा, तमहं वोच्छं समासेणं ॥
कम्मिजोगिसण्णिकासे, बहुतरगं जत्थ अवगाहं ।६।
जाणे थोवंतरियं, च हाणिं तच्च एयरे दुविहकाले ॥
एतेसामन्नतरे, आलवणविरहिओ वसे खेत्ते ।७।
कालदुया अवराहे, संवड्डिय मो वराहाण ॥
संवड्डितावराहे, तवोवछेदो तहेव मूलं वा ।८।
आयारपकप्पे जं–पमाणणेमाण चरिमम्मि ॥
एसो तु खेत्तकप्पो ··· ··· ·· ।९।

(आई ठकानियत्ती) आई खेत्तकप्पो छविहकप्पे वण्णिओ । खेत्तकप्पविही–खेमो सिवाइ जइ पुण एगो अक्खेमो, एगो असिवो होज्जा । अक्खेमो नाम जत्थ उवहिविणासो, उच्यते-क्खेमे उवहि विणासो अत्थिज्जइ । असिवे उ सव्वनासो चेव, अह अक्खेमो य दुभिक्खं च दुब्भिक्खे य णगरपरिहाणी । जयणाए गुरुलाघवं वा नाऊण एव एक्कगसंजोएण जावइया संजोगा उट्ठेति तावइएसु अप्पाबहुयं नाऊण जत्थ अप्पदोसं तत्थ वासयव्वं सालंबो नाणदरिसणाइ (आलवण गाहा)कडजोगी वि ह कडजोगी वि सन्निगास, सन्निगासो नाम अब्भासो वा अववादो वा नाऊण अप्पदोसतरे अच्छेज्जा जत्थ गुणा बहुतरा नाणाऽऽअप्पतरिया य हाणी दुविहा तत्थ काले वि उडुबद्धे वासासु य वसमाणो सुद्धो एए सामन्नतरे खेत्ते आलवणविरहिओ पडिकुट्ठे खेत्ते वसइ तस्स संवड्डितावराहे तवोवछेदो वा। एस खेत्तकप्पो ॥ प० चू० । गणिविद्याप्रकीर्णकेन च क्षेत्राणि कथितानि तानि कानीति प्रश्ने-सप्त क्षेत्राणि चैत्यादीनि प्रसिद्धानि । प्रतीष्ठातीर्थयात्रालक्षणक्षेत्रद्वयप्रक्षेपेण च न व क्षेत्राणि भवन्ति इति । ११७ प्र० सेन० ४ उल्ल० ।

खेत्तक्खा–क्षेत्राख्या–स्त्री० । एकत्र पट्टादौ चतुर्विंशतिप्रतिमासु, ध० २ अधि० ।

खेत्तगय–क्षेत्रगत–त्रि० । कर्षणभूमिसंश्रिते, प्रश्न० ३ संव० द्वार।

खेत्तट्ठाणाउय–क्षेत्रस्थानाऽऽयुष्–न० । क्षेत्रस्याऽऽकाशस्य स्थान भेद. पुद्गलाऽवगाहकृत. तस्याऽऽयुः स्थितिः । अथवा क्षेत्रे एकप्रदेशाऽऽदौ स्थान यत्पुद्गलानामवस्थानं तद्रूपमायु क्षेत्रस्थानाऽऽयु पुद्गलानामाकाशावगाहस्थितौ, भ० ५ श० ७ उ० ।

खेत्तनाण–क्षेत्रज्ञान–न० । किमिद मायाबहुलम् ? अन्यथा वा तथा साधुभिरभावित भावित वा नगराऽऽदीति विमर्षणरूपे प्रयोगमतिसंपद्भेदे, उत्त० १ अ० । स्था० ।

खेत्तपइट्ठा–क्षेत्रप्रतिष्ठा–स्त्री० । क्षेत्रेषु जिनानां प्रतिष्ठायाम, पो० ७ विवि० । जीवा० । ('पइट्ठा' शब्दे विलोकनीया)

खेत्तपमाण–क्षेत्रप्रमाण–न० । क्षेत्रविषयप्रमाणभेदे, अनु० ।

अथ क्षेत्रप्रमाणमभिधित्सुराह–

से किं तं खेत्तपमाणे ?। खेत्तपमाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–पएसणिप्पण्णे अ विभागनिप्पण्णे अ । से किं त पएसनिप्पन्ने ?–पएसनिप्पन्ने एगपएसोगाढे,दुपएसोगाढे,तिपएसोगाढे, संखिज्जपएसोगाढे, असंखिज्जपएसोगाढे । सेत्तं पएसणिप्पन्ने । से किं त विभागनिप्पन्ने ?–विभागनिप्पन्ने–"अंगुलविहत्थीरयणी, कुत्थी धणुगाउअं च बोधव्वं । जोयणसेढीपयरं, लोगमलोगे वि अ तहेव " ॥ १ ॥

(से किं त खेत्तप्पमाणे ? इत्यादि) इदमपि द्विविध, प्रदेशा इह क्षेत्रस्य निर्विभागास्तैर्निष्पन्नं प्रदेशनिष्पन्नम, विभागः पूर्वोक्तस्वरूपस्तेन निष्पन्न विभागनिष्पन्नम (से किं त पएसनिष्पन्ने) तत्रैकप्रदेशावगाढाद्यसंख्येयप्रदेशाऽवगाढपर्यन्त प्रदेशनिष्पन्नम । एकप्रदेशाऽऽद्यवगाढतया एकाऽऽदिभि क्षेत्रप्रदेशैर्निष्पन्नत्वादत्राऽपि प्रदेशनिष्पन्नता भावनीया । प्रमाणता त्वेकप्रदेशाऽवगाहित्वादिना स्वस्वरूपेणैव प्रमीयमानत्वादिति विभागनिष्पन्न त्वङ्गुलाऽऽदि । तदेवाऽऽह–(अगुलविहत्थिगाहा) अगुलादिस्वरूपं च स्वत एव शास्त्रकारो वक्ष्यति । अनु० ।

खेत्तपलिओवम–क्षेत्रपल्योपम–न० । क्षेत्रमाकाशं तदुद्धारप्रधान पल्योपम क्षेत्रपल्योपमम् । आकाशोद्धारकालविशेषे,अनु० । कर्म० । ('पलिओवम' शब्दे स्वरूपतो ज्ञेयम)

खेत्तपाल–क्षेत्रपाल–त्रि० । क्षेत्रं पालयति । पाल अण् । क्षेत्ररक्षके व्यन्तरविशेषे, भैरवे, पु० । वाच० । मथुरायां क्षेत्रपालसारमेयवाहनः तीर्थस्य रक्षां करोति । ती० ९ कल्प । टिंपुर्यं क्षेत्रपालभुजपङ्कभास्वरलक्ष्मस्य विघ्नौघमपोहति, । ती० ४४ कल्प ।

खेत्तपोग्गलपरियट्ट–क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्त–पुं० । क्षेत्रविषये पुद्गलपरावर्त्ते, कल्प० ७ क्षण । (अस्य स्वरूपं 'पुग्गलपरावट्ट' शब्दे ज्ञेयम्)

खेत्तय–क्षेत्रज–पु० । क्षेत्र भार्या तस्यां जातः क्षेत्रज । स्वधर्मेण नियुक्तायां पत्न्यां पुरुषाऽन्तरेण जनिते पुत्रभेदे, यथा पाण्डोः पाण्डवाः, लोकरूढ्या तद्भार्याकुक्ष्या एव तेषां पुत्रत्वात न तु पाण्डोरादित्यादिभिर्जनितत्वादिति । स्था० १० ठा० ।

खेत्तरोग–क्षेत्ररोग–पु० । रोगाऽन्तराऽऽधारभूते कुष्ठाऽऽदिरोगे, स्था० १० ठा० ।

खेत्तलोय–क्षेत्रलोक–पु० । क्षेत्रमेव लोक. क्षेत्रलोक. लोकभेदे, आ० म० द्वि० । (लोकशब्दे व्याख्यास्यते)

खेत्तवत्थुपमाणाइक्कम्म–क्षेत्रव (वा) स्तुप्रमाणाऽतिक्रम–पु० । क्षेत्रमेव वस्तु क्षेत्रवस्तु ग्रन्थान्तरे तु क्षेत्र च वास्तुगृहमिति व्याख्यायते । उत्त० १ अ० । तयो. क्षेत्रवास्तुनो प्रमाणस्य योजनेन क्षेत्रान्तरादिमीलनेनाऽतिक्रमोऽतिचार । ध० २० । क्षेत्रवस्तुनः प्रत्याख्यानकाले गृहीतप्रमाणोल्लङ्घने, एकक्षेत्रादिपरिमाणकर्तृ-मदन्यक्षेत्रस्य वृत्तिप्रवृत्तिसीमाऽपनयनेन पूर्वक्षेत्रे योजनात्प्रमाणातिक्रमे च । एष च इच्छापरिमाणस्य द्वितीयोऽतिचार । उ० १ अ० । आव० ।

खेत्तवासि-क्षेत्रवर्षिन्-पुं० । धान्याद्युत्पत्तिस्थाने वर्षणशीले मेघे, तद्वत्पात्रे दानश्रुतादीनां निक्षेपके पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

खेत्तविवागा-क्षेत्रविपाका-स्त्री० । क्षेत्रमाकाशं तत्रैव विपाक उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० पञ्चा० । (ताश्च ' कम्म ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २५८ पृष्ठे उक्ताः)

खेत्तवुड्ढि-क्षेत्रवृद्धि-स्त्री० । दिग्व्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, आव० ६ अ० । क्षेत्रस्य पूर्वाऽऽदिदेशस्य दिग्व्रतविषयस्य ह्रस्वस्य यतो वृद्धिर्वर्धनं पश्चिमाऽऽदिक्षेत्रान्तरपरिमाणप्रक्षेपेण दीर्घीकरणं क्षेत्रवृद्धिः । यथा किल केनाऽपि पूर्वाऽपरदिशोः प्रत्येकं योजनशतं गमनपरिमाणं कृतम् । स चोत्पन्नप्रयोजन एकस्यां दिशि नवतियोजनानि व्यवस्थाप्याऽन्यस्यां तु दशोत्तरं योजनशतं करोति । उभाभ्यामपि प्रकाराभ्यां योजनशतद्वयरूपस्य परिमाणस्याऽव्याहतत्वादित्येवमेकत्र क्षेत्रं वर्धयतो व्रतसापेक्षत्वादतिचारः चतुर्थः ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

खेत्ताइक्कंत-क्षेत्राऽतिक्रान्त-न० । क्षेत्रं सूर्यसम्बन्धितापक्षेत्रं दिनमित्यर्थः । तदतिक्रान्तं येन तत् क्षेत्राऽतिक्रान्तम् । तस्मिन्, "जे णं निग्गंथे णिग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! खेत्ताइक्कंते पाणभोयणे " भ० ७ श० १ उ० ।

खेत्ताभिग्गह-क्षेत्राऽभिग्रह-पुं० । स्वग्रामपरग्रामादिविषये क्षेत्राश्रितभिक्षाऽभिग्रहे, औ० । ग० ।

खेत्तारिय-क्षेत्राऽऽर्य-पुं० । आर्यक्षेत्रजाते मनुष्ये, प्रज्ञा० १ पद ।
[आर्यक्षेत्राणि 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३३५ पृष्ठे उक्तानि]
[अनार्यक्षेत्राणि 'अणारिय' शब्दे प्र० भागे ३११ पृष्ठे द्रष्टव्यानि]

खेत्तावइ-क्षेत्रापत्-स्त्री० । प्रत्यासन्नग्रामनगरादिरहितात्पक्षेत्रे, जी० १ प्रति० ।

खेत्तोववायगइ-क्षेत्रोपपातगति-स्त्री० । उपपातगतिभेदे, प्रज्ञा० १६ पद । ('गइप्पवाय' शब्दे वक्ष्यते)

खेम-क्षेम-पुं० । क्षि-मन् पुं० न० । चोरनामगन्धद्रव्ये, वाच० । शिवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । उत्त० । व्याधिरहिततया शिवे, उत्त० २३ अ० । उपद्रवाऽभावे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । रा० । निरुपद्रवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्वचक्रपरचक्राद्युपद्रवाऽभावे, बृ० १ उ० । राजविप्लवशून्ये, दश० ७ अ० । जी० । तत्तदुपद्रवाद्यभावापादने, रा० । शान्तौ, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । लब्धस्य परिपालने, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । ग्रासग्लानादिरक्षणे, कल्प० १ क्षण । अशिवाभावात् देहसौख्ये, उत्त० ३ अ० । ज्ञा० । औ० । मुक्तौ, न० । हैम० । पाटलीपुत्रनगरराजजितशत्रोरमात्ये आ० चू० १ अ० । आव० । "दो खेमाओ" स्था० २ ठा० ४ उ० ।

खेमंकर-क्षेमङ्कर-पुं० । क्षेमं करोति " क्षेमप्रियमद्रेऽण् च " ३ । २ । ४४ । इति (पाणि०) खच् मुम् च । वाच० । अनुपद्रवकारिणि रक्षके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । स्था० । ज्ञा० । औ० । अष्टाशीतमे महाग्रहे, कल्प० ६ क्षण । च० प्र० । एकोनसप्ततिमे महाग्रहे "दो खेमंकरा" स्था० २ ठा० ४ उ० । भारते वर्षेऽवसर्पिण्यां जाते पञ्चमे (जं० २ वक्ष०) ऐरवते वर्षे भविष्यति उत्सर्पिण्यां चतुर्थे (स०) भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति तृतीये च कुलकरे, स्था० १० ठा० । वसन्तपुरस्थनिलयश्रेष्ठिपुत्रे, पिं० । ('पराघत्तिय' शब्दे तस्य कथा)

खेमंधर-क्षेमन्धर-पुं० क्षेमं धारयत्यन्यकृतमिति यः स तथा । स्था० ६ ठा० । अनुपद्रवताधारके राज्ञि, ज्ञा० १ श्रु० १ उ० । औ० । भारते वर्षेऽवसर्पिण्यां जाते षष्ठे (जं० २ वक्ष०) उत्सर्पिण्यां भाविष्यति चतुर्थे, (स्था० १० ठा० ।) ऐरवते वर्षे उत्सर्पिण्यां भाविष्यति पञ्चमे च कुलकरे, स० ।

खेमकित्ति-क्षेमकीर्त्ति-पुं० । श्रीविजयेन्दुसूरीणां शिष्ये, येन कल्पवृत्तिपूर्तिः कृता ।

"तार्त्तीयीकस्तेषां, विनेयपरमाणुरनणुशास्त्रेऽस्मिन् ।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरि-र्विनिर्ममे विवृतिकल्पमिति ॥ २२ ॥
श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनाग्निगुणेन्दुपरिमिते (१३३२) वर्षे ।
ज्येष्ठश्वेतदशम्यां, समर्थितैषा च हस्ताऽर्के ॥ २३ ॥
प्रथमादर्शे लिखिता, नयप्रभप्रभृतियतिभिरेषा ।
गुरुग्रन्थेगुरुभक्ति-भरोद्वहनादिवाऽऽनतशिरोभिः ॥ २४ ॥
सूत्रादर्शेषु यतो, भूयस्यो वाचना विलोक्यन्ते ।
विषमाश्च भाष्यगाथाः, प्रायः स्वल्पाश्च चूर्णिगिरः ॥ २५ ॥
सूत्रे वा भाष्ये वा, यन्मतिमोहान्मयाऽन्यथा किमपि ।
लिखितं वा विवृतं वा, तन्मिथ्या दुष्कृतं भूयात् ॥ बृ० ६ उ० ।

खेमत-क्षेमत-पुं० । काकन्दिनगरीवासिनि स्वनामख्याते गृहपतौ, यो हि महावीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायोऽनशनेन केवलमुत्पाद्य विपुले पर्वते सिद्ध इति । अन्त० ६ वर्ग ५ अ० ।

खेमदेव-क्षेमदेव-पुं० । कौशाम्ब्यां जाते स्वनामख्याते वणिजे, यस्तृतीयभवे ब्रह्मसेनो नाम वणिग् जातः ध० २ अधि० । ('बम्भसेण ' शब्देऽस्य कथा)

खेमपुरा-क्षेमपुरा-स्त्री० । पुरीभेदे, ' दो खेमपुराओ ' । स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

खेमपुरी-क्षेमपुरी-स्त्री० । पुरीभेदे, या पूर्वं धन्यानामासीत् । दर्श० । (अस्या कथा नैवेद्यपूजायाम्)

खेमराय-क्षेमराज-पुं० । विक्रमवत्सराणामष्टमशतके अणहिलपट्टननगरराज्यं कृतवति चापोत्कटवंश्ये नृपे, ती० २६ कल्प० ।

खेमरूव-क्षेमरूप-त्रि० । आकारेण निरुपद्रवे, स्था० ४ ठा० २ उ० । सूत्र० ।

खेमलज्जिया-क्षेमलिज्ञिया-स्त्री० । वेशपाटिकगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

खेमलिज्जिया-क्षेमिलिया-स्त्री० । ' खेमलज्जिया ' शब्दार्थे,

खेय-खेद-पुं० । खेदयति मन्दीकरोति कर्म अनेनेति खेदः । संयमे, उत्त० १५ अ० । स्वपरसमयतत्त्वाधिगमे, आव० ४ अ० । जन्तुदु खे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । परिश्रमे, अभ्यासे, ध० २ अधि० । आचा० । श्रमे, आ० म० द्वि० । विशे० । क्लेशे, स्था० ७ ठा० । दैन्ये, 'दैन्ये' इतिवचनात्, औ० । शोके, रोगे, वाच० । प्रवृत्तिजे क्लमे, द्वा० १७ द्वा० । क्रियास्वप्रवृत्तिहेतौ श्रान्ततायाम्, षो० १४ विव० ।

खेय-त्रि० । खन-कर्मणि यत् टेरेत् । खननीये, परिखायाम्, न० । तोयप्रवर्तनाज्जाते सेतौ, वाच० ।

खेयएण-खेदज्ञ-त्रि० । खेदोऽभ्यासस्तेन जानातीति खेदज्ञः । खेदः श्रमः संसारपर्यटनजनितस्तं जानातीति । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । निपुणे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० । आव० । जन्तुदु खपरिच्छेत्तरि, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

खेदं संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात् सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । गीतार्थे, ओघ० । " खेयन्नो " खेदः सम्यक् प्रायश्चित्तविधेः परिश्रमोऽभ्यासः इत्यर्थस्तं जानातीति खेदज्ञः । तथाविधे आलोचनार्हे गुरौ, ध० २ अधि० ।

क्षेत्रज्ञ–त्रि० । ससकविरुद्धद्रव्यपरिहार्यकुलादिक्षेत्रस्वरूपपरिच्छेदके, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । " खेयन्ने से कुसले महेसी " यदि वा क्षेत्रज्ञो यथाऽवस्थिताऽऽत्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति । अथवा क्षेत्रमाकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

खेयाणुगय–खेदानुगत–त्रि० । खेदः संयमस्तेनानुगतः खेदानुगतः । सप्तदशविधसंयमरते, उत्त० १५ अ० ।

खेरि–खेरि–स्त्री० । परिशाटौ, " धण्णखेरिं वा " धान्यस्य खेरिं परिशाटिं दृष्ट्वा पृच्छति । बृ० २ उ० ।

खेल–खेल–न० । कण्ठमुखश्लेष्मणि, भ० २ श० १ उ० । तं० । आ० म० । प्रध० । स्था० । आव० । विशे० । कफसंघाते, ज० २ वक्ष० । निष्ठीवने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । उत्त० । ध० । प्रश्न० । त० । नि० चू० ।

खेलग–खेलक–पुं० । राक्षस्तोत्रपाठके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

खेलण–खेलन–न० । खेल ल्युट् । क्रीडायाम्, आधारे ल्युट् । शारिफलके, करणे ल्युट् वाच० । क्रीडासाधने, आ० क० ।

खेलपमिय–खेलपतित–त्रि० । श्लेष्मपतिते, " खेलपमियमप्पाण न तरइ मच्छिआ जहा विमोहे " ग० २ अधि० ।

खेलमल्लग–खेलमल्लक–न० । श्लेष्मपरिष्ठापनभाजने, आ० म० प्र० । खेलमल्लकाद् दीक्षां गृहीत्वा स्वयमेव लोचः कृतः विशे० ।

खेलसंचाल–खेलसंचाल–पुं० । श्लेष्मसंचारे, ध० २ अधि० । ज्ञा० ।

खेलासव–खेलाऽऽश्रव–त्रि० । खेलं निष्ठीवनं तदाश्रवति स्रवतीति खेलाश्रवम् । श्लेष्मकरके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

खेल्लोसहि–खेलौषधि–पुं० । खेलः श्लेष्मा औषधिर्यस्य स तथा । आ० म० प्र० । ग० । तृतीयलब्धियुक्ते, पा० । यत्प्रभावतः श्लेष्मा सर्वरोगापहारकः सुरभिश्च भवति । प्रव० २७० द्वार० । आ० चू० ।

खेल्ल–खेल–न० । ' खेल ' शब्दार्थे, ।

खेल्लावणधाइ–खेलापनधात्री–स्त्री० । क्रीडनधात्र्याम्, आचा० ।

खेल्लुड–खेल्लुड–पुं० । अनन्तकायेऽभेदे लोककृमिगम्ये, भ० ७ श० ३ उ० ।

खेव–क्षेप–पुं० । क्षिप घञ् । निन्दायाम्, प्रेरणे, क्षेपने, हेलायाम्, लङ्घने, करणे घञ् । गर्वे, विलम्बे, कर्मणि घञ् गुच्छे, वाच० । " क्षेपोऽन्तरान्तरान्यत्र, चित्तन्यासोऽफलावहः " (१७) अन्तरान्तरा योगकरणकालस्यैवान्यत्राधिकृतान्यकर्मणि चित्तन्यासः क्षेप । द्वा० १८ द्वा० । इत्युक्तलक्षणायां क्षिप्तचित्ततायाम्, षो० १४ विव० ।

खेवण–क्षेपण–न० । प्रेरणे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० (नौकायाः क्षेपणं नौकाशब्दे) अपवादे, लङ्घने, मारणे, विक्षेपे, यापने च । वाच० ।

खोखुब्भमाण–चोक्षुभ्यमाण–त्रि० । भृशं क्षुभ्यमाणे, औ० । अभिक्षुभ्यति, भयभ्रान्ते, कल्प० ३ क्षण । प्रश्न० । व्याकुलीक्रियमाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खोड–क्षोट–पुं० । हस्तोपरिप्रस्फोटने, उत्त० १२ अ० ।

क्षोभ–घञ् । आलाने, गजबन्धन्याम्, वा । खोटराजकुलदातव्यहिरण्यादिद्रव्ये, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

खोभ–त्रि० । क्षोभ गतिप्रतिघाते । अच् । काष्ठे, वाच० । काष्ठमयप्राकारे, बृ० १ उ० ।

खोडय–क्षोटक–पुं० । " क्ष्वेटकादौ " । ८ । २ । ६ इत्यनेन क्षोः स्थाने खः । अङ्गुलीनखाग्रेण चर्मखण्डमनिष्पीडने, प्रा० २ पाद ।

स्फोटक–पुं० । पूर्वसूत्रेण स्फोः अत्र खो । भवेद्, वाच० ।

खोडभंग–खोटभङ्ग–पुं० । खोट नाम यत् राजकुले हिरण्याऽऽदि द्रव्य दातव्यम् । तस्य भङ्ग । खोटभञ्जने " खोडभंगो त्ति वा अखोडभंगो त्ति वा उक्कोडभंगो त्ति वा एगट्ठ " व्य० १ उ० । नि० चू० ।

खोडिय–खोटिक–पुं० । रैवतगिरेः क्षेत्रपाले, ती० ५ कल्प० ।

खोद–क्षोद–पुं० । इक्षुरसे, रा० । मधुनि, भ० ७ श० ६ उ० । चूर्णने, पेषणे, (नायं क्षोदक्षम.) आ० म० द्वि० । कर्मणि घञ् रजसि, वाच० ।

खोदरस–क्षोदरस–पुं० । क्षोदोदसमुद्रे, द्वी० ।

खोदवर–खोदवर–पुं० । जम्बूद्वीपापेक्षया सप्तमे द्वीपे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अ० प्र० । सू० प्र० ।

घतोदे णं समुद्दं खोदवरे णामं दीवे वट्टवलयागारे० जाव चिट्ठंति । तहेव जाव० अट्ठो खोदवरेणं दीवे तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं खुड्डवावीओ० जाव खोदोदगपडहत्थाओ उप्पातपव्वतगा सव्ववेरुलिया मया० जाव परिवसंति । से तेणट्ठेणं सव्वं जोइसं तहेव० जाव तारा ॥

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते । क्षोदवरो द्वीपः । भगवानाह–गौतम ! क्षोदवरे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य २ देशस्य तत्र २ प्रदेशे बहवः (खुड्डवावीओ) इत्यादि पूर्ववत् तावद्वक्तव्य–" यावत वाणमंतरा देवा देवीओ आसयंति सयंति० जाव विहरंति " नवरं वाप्यादयः क्षोदोदकवरपरिपूर्णा इति वक्तव्यम् । तथा पर्वतकाः पर्वतेष्वासनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टकाः सर्वात्मना वैडूर्यमयाः प्रज्ञप्ताः । सुप्रभमहाप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्धापरार्धाधिपती द्वौ देवावत्र क्षोदवरे द्वीपे महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः । तत्र क्षोदोदकवाप्यादियोगात् क्षोदवरः स द्वीपः । अत एवाह–(से एएणट्ठेणमित्यादि) चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत् (खोदवरेणं दीवमित्यादि) क्षोदवरं णमिति पूर्ववत् । द्वीप क्षोदोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति । चक्रवालविष्कम्भादिवक्तव्यता पूर्ववत् यावज्जीवोपपातसूत्रम् । जी० ३ प्रति० ।

खोदोदय–क्षोदोदक–पुं० । क्षोद इक्षुरस इवोदकं यस्य स तथा सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । लवणसमुद्रापेक्षया सप्तमे समुद्रे, स्था० ७ ठा० ।

खोद्दवरं णं दीवं खोदोदे नाम समुद्दे वट्टे वलया० जाव संखेज्जाइं जोयणसतपरिक्खेवेणं० जाव अट्ठे, गोयमा ! खोओदस्स णं समुद्दस्स उदये जहा से आसलमामलपसत्थे वीसंतनिद्धसुकुमालभूमिभागेसु छिन्नेसु कट्ठलट्ठाविसट्ठनिरूढयवीयवाविवेसु कासगपत्तयनिउणपरिकम्मअणुपालियसुवुड्ढिवुड्ढाण सुजाताणं लवणतणदोसवज्जिताणं णयायपरिवद्दियाणं निम्मातसुन्दराणं परिणयमउपीणपोरंगुरसुजातमधुररसपुप्फविरियाणं उवद्दवविवज्जिताणं सीयपरिफासियाणं अभिणवअग्गाणं अनिलत्ताणं तिभागणिच्छोडियवरूगाणं अवणीतमूलाण गंठपरिसोहिताणं कुसलनरकप्पियाणं उच्छुवाणं जाव पंडुयाणं चवलगणरमंतजुत्तपरिगालितमेत्ताणं खोयरसे होज्ज वत्थवपरिपूये चाउजातगसुवासिते अहियपसत्थलहुगोवखेणं उववेतो तहेव जवेयारूवे सिया, नो तिणट्ठे समट्ठे खोयरस्स णं समुद्दस्स उदये एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव आसाएणं पण्णत्ते पुण्णभद्दमाणिभद्दा इत्थ दुवे देवा० जाव परिवसन्ति । सेसं तहेव जोतिसं संखेज्जं चंदाई ॥

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते क्षोदोदः समुद्रः क्षोदोदसमुद्र इति । भगवानाह-गौतम ! क्षोदोदस्य समुद्रस्य उदकं स यथा नाम इक्षूणां जात्यानाम् । जात्यत्वमेवाह-वरपुण्ड्रकाणां विशिष्टाना पुण्ड्रदेशोद्भवानां हरितानां शारूपमानां भेरुण्डेक्षूणां वा भेरुण्डदेशोद्भवानां वा इक्षूणां (कासपोराणं ति) इक्षुपर्वणाम् उपरितनपत्रसमूहापेक्षया हरितालवत् पिञ्जराणां अपनीतमूलानामपनीतमूलत्रिभागानां त्रिभागनिर्घाटितपाटानामूर्ध्वभागादपि त्रिभागहीनानामिति भावः , मध्यत्रिभागावशेषाणामिति समुदायार्थः । (गंठिपरिसोहियाण ति) ग्रन्थिः पर्वग्रन्थिः शोधितोऽपनीतो येभ्यस्ते तथा, तेषां मूलत्रिभाग उपरितनत्रिभागे पर्वग्रन्थौ च नातिमधुरो रस इति तद्वर्जनं क्षोदरसो भवेत् वस्त्रपरिपूत वस्त्रगालनपरिपूतश्च चतुर्जातकेन सुष्ठु अतिशयेन वासितश्चतुर्जातक त्वगेलाकेसराख्यगन्धद्रव्यमरिचात्मकम् । " त्वगेलाकेसरैस्तुल्य, त्रिसुगन्ध त्रिजातकम् । मरिचेन समायुक्तं, चतुर्जातकमुच्यते ॥ १ ॥ अधिकमातिशयेन पथ्यं न रोगहेतुः लघु· परिणामलघुर्वर्णेन सामर्थ्यादतिशायिना उपपेतः । एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेत· आस्वादनीयो विस्वादनीयो दर्पणीयो मदनीयो बृंहणीयः सर्वेन्द्रियो गात्रप्रल्हादनीयः । एवमुक्ते गौतम आह-(भवेयारूवे) भवेद् भगवन् ! क्षोदोदकसमुद्रस्योदकमेवद्रूपम । भगवानाह-नायमर्थः समर्थः, क्षोदोदकस्य यस्मात्समुद्रस्य उदकमस्मात् यथोक्तरूपात् क्षारोदरसात् इष्टतरमेव यावन्मन आपतरमेव आस्वादेन प्रज्ञप्तम । इह प्रचिरसपुस्तके अन्यथाऽपि पाठो दृश्यते, सोऽप्येतदनुसारेण व्याख्येयो बहुषु पुस्तकेषु न दृष्ट इति न लिखित· । पूर्णपूर्णप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती अत्र क्षोदोदे समुद्रे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः। ततः क्षोद इव क्षोदरस इव उदकं यस्य स क्षोदोदः । तथा चाह-(से एएणट्ठेणमित्यादि) गतार्थम । चन्द्रादिसंख्यासूत्र प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । चं० प्र० । प्रज्ञा० । इक्षुरसवद् मिष्टोदकासु वापीषु, जी० ३ प्रति० । जं० । रा० । इक्षुसमुद्रसत्केक्षुरसोदके, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

खोदाहार–क्षौद्राहार–त्रि० । मधुभोजिनि, भ० ७ श० ६ उ० ।

खोभ-क्षोभ-पुं० । संभ्रमे, आव० ५ अ० । आ० म० ।

खोभित्तए–क्षोभयितुम्–अव्य० । एतद् (विवक्षित) विषयं क्षोभ कर्तुमित्यर्थः । उपा० २ अ० । सशयिनो विपरिणामयितुमित्यर्थे च, उपा० २ अ० । रा० ।

खोभिय–क्षोभित–त्रि० । स्वस्थानाचालिते, रा० । जं० ।

खोभेत–क्षोभयत्–त्रि० । ईषद् भूमिमुत्कीर्य्य तत्र प्रवेशयति । ज्ञा० १ श्रु० ३ क० । सीव्यति च । नि० चू० १७ उ० ।

खोम–क्षौम–न० । कार्पासिकेऽतसीमये वा वस्त्रे, भ० ११ श० ११ उ० । अं० । रा० । ज्ञा० । जी० । स्था० ।

खोमगपसिण–क्षौमकप्रश्न–न० । प्रश्नविद्याभेदे, यया क्षौमके (वस्त्रे) देवतावतारः क्रियते । पूर्व प्रश्नव्याकरणानां षष्ठमासीदिदानीं तु नोपलभ्यते । स्था० १० ठा० ।

खोमजुयल–क्षौमयुगल–न० । कार्पासिकवस्त्रयुगले, उपा० १ अ० ।

खोमिय–क्षौमिक–न० । अतसीमये-(कल्प० २ क्षण)-कार्पासिके वा वस्त्रे, नि० चू० ५ अ० । सू० प्र० । आचा० स्था० ।

खोय–क्षोद–पुं० ' खोद ' शब्दार्थे ।

खोयाहार–क्षोदाहार–पु० । भूक्षोदेनाहारो येषां ते भूमिं विदार्य्य भत्स्याद्याहारकेषु, दु षमदुःषमामनुष्येषु, भ० १७ श० ६ उ० ।

खोरय–खोरक–न० । वृत्ताकारे भाजनविशेषे, व्य० १ उ० । रूप्यमये महाप्रमाणभाजने, " तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणग सयसहस्सं । जइ सुयपुव्व दिज्जउ, अह ण सुय खोरयं देहि " न० । दश० । व्य० । आ० चू० । आ० म० । ('वेणइया ' शब्दे कथा)

खोल–खोल–न० । मद्याध कर्दमे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । मद्यकिट्टविशेषे, बृ० १ उ० । तत्र मद्येन विकृति । प० व० २ द्वार । गोरसभाविते वस्त्रोपेते, बृ० १ उ० । राजपुरुषे, पिं० ।

खोल्ल–खोल–न० । कन्थायाम्, खोल्ल कोत्थरम, नि० चू० । १५ उ० । कोटरवृक्षे, बृ० ।

॥ इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे खकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

गकार

गअ–गज–पुं० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ८।१।१७७ । इति जलुक्, हस्तिनि, प्रा० १ पाद ।

गत–पुं० । क ग-च-ज० ८।१ । १७७ । इत्यादिना तलुक् प्रा० १ पाद । याते, अह आसगओ राया " उत्त० १८ अ० ।

गआ–गदा–स्त्री० । "क-ग-च-ज-त-द० " ८।१। १७७ । इत्यादिना दलुक् 'गआ' दण्डकीलितलौहादिमयगोलकलक्षणेऽस्त्रभेदे, प्रा० १ पाद ।

गइ–गति–स्त्री० । गम भावादौ यथायथ क्तिन् । गमने, औ० । सूत्र० । स्था० । दर्श० । चलने,मण्रू०। गति' प्रवृत्ति क्रम इति यावत् विशे० । पादविहरणादिक्रियायाम्, दर्श० ।

देवगतिः–

उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंमाए जयणाए उद्धूआए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए ॥

(उक्किट्ठाए त्ति) उत्कृष्टया अन्येषां गतिभ्यो मनोहरया (तुरियाए त्ति) त्वरितया, चित्तौत्सुक्यवत्या (चवलाए त्ति) कायचापल्यवत्या (चडाए त्ति) चण्डया तीव्रया (जयणाए त्ति) शेषगतिजयनशीलया (उद्धूआए त्ति) उद्धूतया प्रचण्डपवनोद्धूतधूमादेरिव (सिग्घाए त्ति) शीघ्रया 'छेयाए' त्ति कुत्रचित्पाठ तत्र छेकया विघ्नपरिहारदक्षया(दिव्वाए त्ति) देवयोग्यया ईदृश्या (देवगईए त्ति) देवगत्या । कल्प० २ क्षण । भ० । सञ्चरणे, ज० ३ वक्ष० । (ज्योतिष्काणां गति. 'जोइसिय ' शब्दे वक्ष्यते) अण्वादीनां गमनपरिणामे, विशे० । उत्पत्तिस्थानगमने, स्था० ६ ठा० । प्रज्ञापकस्थानापेक्षया मृत्वान्यत्र गमने; (सा चतसृषु दिक्ष्विति 'दिसा ' शब्दे वक्ष्यते)मरणानन्तर मनुजत्वादे. सकाशात नारकत्वादौ जीवस्य गमने, " एगा गती " सा चैकस्यैकैव ऋज्वादिका नरकगत्यादिकपुद्गलस्य वा स्थितिवैलक्षण्यमात्रतया चैकतयैकस्वरूपा सर्वजीवपुद्गलानामिति । स्था० १ ठा० १ उ० । " एगस्स जतो गतिरागती य " एकस्याऽसहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य गतिर्गमन परलोके भवति । तथा आगतिरागमन भवान्तरादुपजायते , कर्मसहायस्यैवेति । उक्त च–" एक प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम । जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम ॥ १ ॥ " इत्यादि । तदेव ससारे परमार्थतो न कश्चित्सहायो धर्ममेक विहायैतद्विगणय्य मुनीनामय मौन सयमस्तेन तत्प्रधान वा ब्रूयादिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । गतिर्द्विधा, स्पृशद्गति , अस्पृशद्गतिश्च , उपरिष्टाद् व्याख्यास्यते । आ० म० द्वि० । "गई दुविहा" (१२३ गाथाङ्क) गतिर्वा द्विविधेति । तत्र गमन गच्छति वा अनयेति गतिः । द्वे विधे यस्याः सेय द्विविधा, द्वैविध्यं वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थ. । तथा चेदमेव द्वैविध्यमुपदर्शयन्नाह–द्विविधा गति , कन्दुकगतिरिलिकागतिश्च । पं० सं० (अनयोः स्वरूप स्वस्वस्थाने वक्ष्य) गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः । कर्म० ६ कर्म० । प्रज्ञा० । गम्यते प्राप्यते स्वकर्मरजसा समाकृष्टैर्जन्तुभिरिति गतिः । प्रव० १५ द्वार । गतिः नामकर्मोदयान्नारकत्वतिर्यक्त्वमनुजत्वलक्षणपर्यायपरिणतौ, कर्म० ४ कर्म० । प० स० । सा चतुर्धा नारकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्च । तद्विपाकवेद्याया कर्मप्रकृतौ च । साऽपि चतुर्धा । प० स० ३ द्वार । अत्राह–ननु सर्वेऽपि पर्याया जीवेन गम्यन्ते प्राप्यन्ते इति सर्वेषामपि तेषां गतित्वप्रसङ्गस्तथा च गमातिशब्दस्यैवमेव व्युत्पत्तिर्दर्शितेति ? नैवम । यतो विशेषेण व्युत्पादिता अपि शब्दा रूढितो गोशब्दवत्प्रतिनियतमेवार्थं विषयीकुर्वन्तीत्यदोष. । कर्म० १ कर्म० । आचा० । स० । विशे० । उत्त० । दर्श० । भ० । प्रव० ।

पञ्चधा–

पंच गईओ पण्णत्ताओ । तं जहा–निरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई, सिद्धिगई ॥

गमनं गतिर्गम्यत इति वा गतिः क्षेत्रविशेषो गम्यते वा अनया कर्मपुद्गलसहत्येति गतिर्नामकर्मोत्तरप्रकृतिरूपा तत्कृता वा जीवावस्थिति. । तत्र निरये नरके १ गतिर्निरयश्चासौ गतिश्चेति वा २ निरयप्रापिका वा गतिः ३ निरयगति. । एव तिर्यक्षु १ तिरश्चां २ तिर्यक्त्वप्रसाधिका वा गति. ३ तिर्यग्गतिः । एव मनुष्यदेवगती सिद्धौ गतिः सिद्धिश्चासौ गतिश्चेति वा सिद्धिगतिरिह नामप्रकृतिर्नास्तीति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रव० ।

अष्टधा वा–

अट्ठ गईओ पण्णत्ताओ । तं जहा–निरयगई,तिरियगई,० जाव सिद्धिगई, गुरुगई पणोल्लणगई, पब्भारगई ॥ स्था० ॥

(अट्ठगईओ इत्यादि) सुगमम । नवरम् गुरुगइ त्ति भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य गौरवेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनस्वभावेन या परमाण्वादीनां स्वभावतो गति. सा गुरुगतिरिति । या तु परप्रेरणात्सा प्रणोदनगतिर्बाणादीनामिव । या तु द्रव्यान्तराक्रान्तस्य सा प्राग्भारगतिर्यथा नावादेरधोगतिरिति । स्था० ८ ठा० ।

यद्वा दशधा–

दसविहा गई पण्णत्ता । तं जहा–निरयगई,निरयविग्गहगई, तिरियगई, तिरियविग्गहगई, एवं० जाव सिद्धगई, सिद्धविग्गहगई, ॥

(विशेष. निरयगत्यादिशब्देषु) (एकेन्द्रियादयो जीवा मृत्वा क गच्छन्ति इत्यत्र ' उववाय ' शब्दे द्वि० भा० ११६ पृष्ठे गतीनामुपपातविरहश्च तत्रैव ९१५ पृष्ठे च) सर्वं सूत्रकदम्बकमवतारणीयम । प्रज्ञा० । नवरमिद–प्रव० १६१ द्वार । (गतिषु जीवस्थानगणस्थानचिन्तामार्गणा 'ठाण ' शब्दे करिष्यते) नारकादीनां शीघ्रा गति.–

णेरइयाणं भंते ! कहं सीहा गई कहं सीहागइविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे तरुणे बलवं

जुगवं० जाव णिउणसिप्पोवगए आउंटिअं बाहं पसारेज्जा, पसारिय बाहं आउंटेज्जा, विकिसं वा मुट्ठिं साहरेज्जा, साहरिय वा मुट्ठिं विक्खिरेज्जा, उम्मिसियं वा अच्छि णिम्मिसेज्जा, णिम्मिसियं वा अच्छि उम्मिसेज्जा, भवे एआरूवे णो इणट्ठे समट्ठे णेरइयाणं एगसमएण वा दुसमएण वा तिसमएण वा विग्गहेणं उववज्जंति णेरइयाण तहा सीहा गई तहा सीहे गइविसइए पन्नत्ते एवं० जाव वेमाणियाण। णवरं एगिंदियाणं चउसमइए विग्गहे भाणियव्वे सेसं तं चेव।

" णेरइयाण " इत्यादि (कहं सीहा गइ त्ति) कथं केन प्रकारेण कीदृशीत्यर्थः। शीघ्रा गतिर्नारकाणामुत्पद्यमानानां शीघ्रा गतिर्भवतीति प्रतीतम्। यादृशेन च शीघ्रत्वेन शीघ्राऽसाविति च न प्रतीतमित्यत प्रश्न कृत. (कह सीहे गइविसए त्ति) कथमिति कीदृशः (सीहे त्ति) शीघ्रगतिहेतुत्वाच्छीघ्र गतिविषयो गतिगोचरस्तद्धेतुत्वात्काल इत्यर्थः। कीदृशी शीघ्रा गति कीदृशश्च तत्काल इति तात्पर्यम् (तरुणे त्ति) प्रवर्द्धमानवया स च दुर्बलोऽपि स्यादत आह-(बलव त्ति) शरीरप्राणवान्, बल च कालविशेषाद्विशिष्ट भवतीत्यत आह-(जुगव त्ति) युग सुषमदु षमादि. कालविशेषस्तत्प्रशस्तविशिष्टबलहेतुभूत तस्यास्त्यसौ युगवान् यावत्करणादिद दृश्यम्। (जुवाणे) वय. प्राप्त. (अप्पायङ्के) अल्पशब्दस्याभावार्थत्वादातङ्को नीरोगः (थिरग्गहत्थे) स्थिराग्रहस्त. सुलेखकवत् (दढपाणिपायपासपिट्ठतरोरुपरिणए) दढ पाणिपाद यस्य पार्श्वौ पृष्ठ्यन्तरे च ऊरू च परिणते परिनिष्ठिततां गते यस्य स तथा उत्तमसहनन इत्यर्थ। (तलजमलजुयलपरिघनिभबाहू) तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं समश्रेणिक यद्युगलद्वय परिघश्चार्गला तन्निभौ तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वादिना बाहू यस्य स तथा (चम्मेट्ठदुहणमुट्ठियसमाहयनिचियगायकाए) चर्मेष्टया द्रुघणेन मुष्टिकेन च समाहतानि अभ्यासप्रवृत्तस्य निचितानि गात्राणि यत्र स तथाविध. कायो यस्य स तथा। चर्मेष्टादयश्च लोकप्रतीता. (" ओरसबलसमणागए ") आन्तरबलयुक्त (लघणपवणजइणवायामसमत्थे) जवनशब्द शीघ्रवचन. (छेए) प्रयोगज्ञ (दक्खे) शीघ्रकारी। (पत्तट्ठे) अधिकृतकर्मणि निष्ठा गत. (कुसले) आलोचितकारी (मेहावी) सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञ [निउणेत्ति] उपायारम्भक एवंविधस्य हि पुरुषस्य शीघ्र गत्यादिक भवतीत्यतो बहुविशेषणोपादानमिति। (आउंटियं ति) सकोचितम् (विकिण्ण ति) विकिर्णं प्रसारितम्। [साहरेज्जत्ति] सहरेत्। सकोचयेत् [विक्खिरेज्ज त्ति] विकिरेत् प्रसारयेत् (उम्मिसिय ति) उन्मिषित उन्मीलितम्।। निमिसेज्जत्ति) निर्मीलयेत् (भवे एआरूवे त्ति) काका ध्येय, काकुपाठे चायमर्थ.। स्याद्भूत एव मन्यसे त्वं गौतम! भवेत् तद्रूप भवेत्स स्वभाव. शीघ्रताया नारकगतेस्तद्विषयस्य च यदुक्तविशेषणपुरुषबाहुप्रसारणादेरिति। एव गौतममताशङ्क्य भगवानाह-नायमर्थ। अथ कस्मादेवम्? इत्याह-(णेरइयाण इत्यादि) अयमभिप्राय -नारकाणा गतिरेकद्वित्रिसमया बाहुप्रसारणादिका असङ्ख्येयसमयेति। कथ तादृशी गतिर्भवति नारकाणामिति तत्र च (एगसमएण व त्ति) एकेन समयेन उपपद्यन्त इति योग। ते च ऋजुगतावेव, वाशब्द विकल्पे। इह च विग्रहशब्दो न सम्बन्धितस्तस्यैकसामायिकस्याऽभावात्। (दुसमयेण व त्ति) द्वौ समयौ यत्र स द्विसमयः तेन विग्रहेणेति योगः। एवं त्रिसमयेन वा विग्रहेण वक्रेण, तत्र द्विसमयो विग्रह,एवं यदा भरतस्य पूर्वस्या दिशो नरके पश्चिमायामुत्पद्यते तदैकेन समयेनाधो याति द्वितीयेन तु तिर्यगुत्पत्तिस्थानमिति। त्रिसमयविग्रहस्त्वेवम् यदा भरतस्य पूर्वदक्षिणाया दिशो नरकेऽपरोत्तरायां दिशि गत्वोत्पद्यते तदा एकेनाधः समश्रेण्या याति, द्वितीयेन च तिर्यक्पश्चिमायां, तृतीयेन तु तिर्यगेव वायव्यां दिश्युत्पत्तिस्थानमिति। तदनेन गतिकाल उक्त.। एतदभिधानाच्च शीघ्रा गतिर्यादृशी तदुक्तमिति। अथ निगमयन्नाह-('णेरइयाण' इत्यादि) (तहा सीहा गइ त्ति) यथोत्कृष्टत. समयत्रये भवति। (तहा सीहे गइविसए त्ति) तथैव (एगिंदियाण चउसमइए विग्गहे त्ति) उत्कर्षेणचतु समय एकेन्द्रियाणां विग्रहो वक्रगतिर्भवति। कथम्? उच्यते-त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिश यात्येकेन जीवानामनुश्रेणिगमनात्। द्वितीयेन तु लोकमध्ये प्रविशति। तृतीयेनोर्ध्वं याति। चतुर्थेन तु त्रसनाडीतो निर्गत्य दिग्व्यवस्थितमुत्पादस्थान प्राप्नोतीति। एतच्च बाहुल्यमङ्गीकृत्योच्यते,अन्यथा पञ्चसमयोऽपि विग्रहो भवेदेकेन्द्रियाणाम्। तथाहि-त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिश यात्येकेन, द्वितीयेन लोकमध्ये, तृतीयेनोर्ध्वलोके, चतुर्थेन ततस्तिर्यक्पूर्वादिदिशो निर्गच्छति। ततः पञ्चमेन विदिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थान यातीति। उक्त च-" विदिसा उ दिसिं पढमे, बीए पइसरइ नाडि मज्झम्मि। उड्ढं तइए तुरिए, दिसीइ विदिसिं तु पचमए " ॥ १ ॥ इति। (सेस त चेव त्ति) "पुढविकाइयाणं भंते! कह सीहा गई " इत्यादि सर्वं यथा नारकाणा तथा वाच्यमित्यर्थः। भ० १४ श० १ उ०। (निर्ग्रन्थाना गतिः ' णियंठ ' शब्दे) (सामायिकादिसयतानाञ्च ' सजय ' शब्दे) (सामाइयशब्दे च सामायिकवताम्) (गतिमाश्रित्याल्पबहुत्वादि ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्र० भागे० ६३० पृष्ठे विचिन्तितम्) (अथ के कतिगतिका कत्यागतिका इति ' आगइ ' शब्दे द्वि० भागे ४६ पृष्ठे विचिन्तितम्) भवान्तरस्थितौ, कल्प० ६ क्षण। गम्यते सौख्याय दुःस्थैराश्रीयते इति गतिः। कल्प० २ क्षण। दुःस्थितैः सुखार्थमभिगम्यमाने शरणे, औ०। सिद्धैर्गम्यते इति गतिः कर्मसाधन'। दश० १ अ०। सिद्धौ तस्या' सिद्धैर्गम्यमानत्वात् भ० १ श० १ उ०। विशे०। स्था०। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। अवबोधे,विशे०। प्रमाणे, आधारे क्तिन्। शरणे, पथिस्थाने च। गम्यते कर्मणि क्तिन् स्वरूपे, विषये, करणे क्तिन् अभ्युपाये, नामीवक्ते, पाणिन्युक्तेषु प्रादिषु शब्दविशेषेषु, "उपसर्गा क्रियायोगे" १।४।५६। " गतिश्च " १।४।६०। वाच०।

सम्प्रति किं सर्वा अपि प्रकृतय. सर्वासु गतिषु प्राप्यन्ते किं वा न? इतिसशये सति तदपनोदार्थमाह-

तित्थगरदेवनिरियाउगं च तिसु तिसु गईसु बोधव्वं।
अवसेसा पयडीओ हवंति, सव्वासु वि गईसु ॥६४॥

तीर्थकरनामदेवायुर्नरकायुश्च प्रत्येक तिसृषु तिसृषु गतिषु बोद्धव्यम्। तथाहि-तीर्थकरनाम नरकदेवमनुष्यगतिरूपासु तिसृषु गतिषु सत्प्राप्यते,न तिर्यग्गतावपि तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यक्षुत्पादाभावात्। तत्र गतस्य च तीर्थकरनामबन्धाभ्यासभावात् था भवस्वाभाव्यात्। तथा तिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु च देवायुर्

नरकगतौ, नैरयिकाणां देवायुर्बन्धाऽभवात् । तिर्यग्मनुष्य-नरकगतिषु च नरकायु, न देवगतौ देवानां नरकायुर्बन्धा-भावात् । शेषाः प्रकृतय सर्वास्वपि गतिषु सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ॥ ६४ ॥ कर्म० ६ कर्म० ।

गइंद-गजेन्द्र-पुं० । गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः । शेषगजेभ्योऽधिके, " धीरो गइंदमयगलसललियगयविक्कमो भयवं " गजेन्द्रमदकलसललितगतविक्रमः । अत्रापि मदकलशब्दस्य विशेषणभूतस्य विशेष्यात्परनिपातः प्राकृतत्वात्, मदकलो मदमभिगृह्णानस्तरुणो, गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः शेषगजेभ्यो गुणैरधिकत्वात्, मदकलश्चासौ गजेन्द्रश्च मदकलगजेन्द्रः तस्येव सललितो मनोज्ञलीलया सहितो गतरूपो गमनरूपो विक्रमो यस्य स तथा । चं० प्र० १ पाहु० ।

गइंदपय-गजेन्द्रपद-न० । गिरिमालपर्वताग्रिरस्थे जलतीर्थे, ती० ३ कल्प० । (दशार्णकूटपर्वते तस्य गजेन्द्रपदता ' आणिस्सिओवहाण ' शब्दे ३३७ पृष्ठे)

गइकल्लाण-गतिकल्याण-पुं० । गतिर्देवगतिलक्षणा, कल्याणं येषां ते गतिकल्याणाः । स० । स्था० । देवलोकरूपया शोभनगत्या वा कल्याणेषु, सूत्र० । २ श्रु० २ अ० । गतौ, आगामिन्यां मनुष्यगतौ, कल्याणं मोक्षप्राप्तिलक्षणं येषां ते । अनन्तरागामिनि भवे मोक्ष्यमाणेषु, " अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाण ठिइकल्लाणाण " कल्प० ६ क्षण ।

गइकाय-गतिकाय-पुं० । चतसृष्वपि गतिषु नारकादीनां देहाभिन्नत्वेन शरीरसमुच्छ्रये, आव० ५ अ० । निरयगत्यादिषु, प्रत्येकं प्रत्येकं समापद्यमाने काये, आ० चू० ४ अ० । (गतिसमापन्नस्य कायः ' काय ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४४५ पृष्ठे उपपादि)

गइचंचल-गतिचञ्चल-त्रि० । चञ्चलशब्दवक्ष्यमाणार्थके चञ्चलभेदे, बृ० १ उ० ।

गइचवल-गतिचपल-त्रि० । गतिश्चपला स्वरूपत एव यस्य तत्प्रतिचपलम् । चञ्चले, औ० ।

गइणाम-गतिनामन्-न० । गतिर्नारकादिपर्यायपरिणति, तद्विपाका कर्मप्रकृतिरपि गति· सैव नाम गतिनाम । कर्म० १ कर्म० । नामकर्मभेदे, यदुदयात् नारकादित्वेन जीवो व्यपदिश्यते । स० ४२ सम० । प्रव० । आ० । पं० स० ।

गइनामनिहत्ताउ-गतिनामनिधत्तायुष्-न० । गतिर्नारकगत्यादि तल्लक्षणं नामकर्म तेन सह निधत्त निषिक्तमायुर्गतिनामनिधत्तायु । आयुर्बन्धभेदे । स० । भ० । प्रज्ञा० ।

गइपरिणाम-गतिपरिणाम-पुं० । गतिर्देवादिका तां नियतां येन स्वभावेनायुर्जीवं प्रापयति स आयुषो गतिपरिणाम । आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । देशान्तरप्राप्तिलक्षणे जीवपरिणामे, सूत्र० १ श्रु० १३१ उ० ।

अधुना द्विविधं गतिपरिणाममाह-

गतिपरिणामे णं जंते ! कतिविहे पणत्ते ? गोयमा ! दुविहे पएणत्ते, तं जहा-फुसमाणगतिपरिणामे य, अफुसमाणगतिपरिणामे य ।

(गतिपरिणामे णं भंते ! इत्यादि) द्विविधो गतिपरिणामः तद्यथा-स्पृशद्गतिपरिणामः, अस्पृशद्गतिपरिणामश्च । तत्र वस्त्वन्तरं स्पृशतो यो गतिपरिणाम स स्पृशद्गतिपरिणाम·, यथा-ठिक्करिकाया जलस्योपरि यत्नेन तिर्यक् प्रक्षिप्तायाः, सा हि तथा प्रक्षिप्ता सती अपान्तराले जल स्पृशन्ती स्पृशन्ती गच्छति बालजनप्रसिद्धमेतत् । तथाऽस्पृशतो गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामो यद्वस्तु न केनापि सहाऽपान्तराले संस्पर्शनमनुभवति तस्याऽस्पृशद्गतिपरिणाम इतिभावः । अन्ये तु व्याचक्षते-स्पृशद्गतिपरिणामो नाम येन प्रयत्नविशेषात् क्षेत्रप्रदेशान् स्पृशन् गच्छति । अस्पृशद्गतिपरिणामो येन क्षेत्रप्रदेशान् स्पृशन्नेव गच्छति । तन्न बुध्यामहे, नभः सर्वव्यापितया तत्प्रदेशसंस्पर्शाव्यतिरेकेण गतेरसम्भवात् । बहुश्रुतेभ्यो वा परिभावनीयम् ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह-

अहवा दीहगतिपरिणामे य हस्सगतिपरिणामे य इति ।

अथवेति प्रकारे अन्यथा वा गतिपरिणामो द्विविधः । तद्यथा-दीर्घगतिपरिणामः, ह्रस्वगतिपरिणामश्च । तत्र विप्रकृष्टदेशान्तरप्राप्तपरिणामो दीर्घगतिपरिणामः । तद्विपरीतो ह्रस्वगतिपरिणाम । प्रज्ञा० १३ पद । गतिर्नैरयिकत्वादिपर्यायपरिणति·, गतिरेव परिणामो गतिपरिणाम· , जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा० १२ पद । स चतुर्धा " गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पणत्ते, तं जहा-नेरइयगतिपरिणामे, तिरियगतिपरिणामे, मणुयगतिपरिणामे, देवगतिपरिणामे । " प्रज्ञा० १२ पद ।

गइपरियाय-गतिपर्याय-पुं० । चलने, स्था० । (सा च त्रिभिः चमूभिर्वा द्विभिः प्रवर्त्ततेऽस्था०६ठा०।इति "दिसा" शब्दे) मृत्वा वा गत्यन्तरे गमनलक्षणो यद्वा वैक्रियलब्धिमान् गर्भान्निर्गत्य प्रदेशतो बहिः सङ्क्रामयति स वा गतिपर्याय· । स्था० २ ठा० ३ उ० । (गतिपर्यायश्च द्वयोरेव गर्भस्थयो· मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च)

गइपुव्विदुग-गतिपूर्वीद्विक-न० । इह पूर्वीशब्देनाऽऽनुपूर्वी प्रायते । आनुशब्दलोपः "ते लुग्वा" सिद्ध०३।२।१०८। इतिसूत्रेण, यथा देवदत्त देवः दत्त इति । ततो नरकादिगतिनरकाद्यानुपूर्वी स्वरूपे नरकादिद्विके, कर्म० १ कर्म० ।

गइपुव्वितिग-गतिपूर्वीत्रिक-न० । नरकाद्यायु·समन्विते नरकादित्रिके, कर्म० १ कर्म० ।

गइप्पवाय-गतिप्रपात-पुं० । गमनं गति· प्राप्तिरित्यर्थः । प्राप्तिश्च देशान्तरविषया पर्यायान्तरविषया च, उभयत्रापि गतिशब्दप्रयोगदर्शनात् । तथाहि-क गतो देवदत्तः ? पत्तन गत; तथा वचनमात्रेणाप्यसौ गत कोपमिति लोकान्तरेऽप्युभयथा प्रयोग· । परमाणुरेकसमयेन एकस्माल्लोकान्तादपर लोकान्त गच्छति । तथा तानि तान्यध्यवसायान्तराणि गच्छतीति । गतेः प्रपातो गतिप्रपातः । प्रज्ञा० १६ पद । गतिशब्दप्रवृत्तिरूपनियततायाम्, प्रज्ञा० १६ पद ।

गतिप्रपातभेदाः-

कतिविहेणं जंते ! गइप्पवाए पणत्ते ? गोयमा ! पंचविहे गइप्पवाए पणत्ते । तं जहा-पओगगति ततगति बन्धन-

च्छेदनगती उववायगती विहायगती । से किं तं पओगगती ? पओगगती पन्नरसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमणप्पओगगती, एवं जहा पओगो भणिओ तहा एसा वि भाणियव्वा० जाव कम्मगसरीरकायप्पओगगती । जीवा-णं भंते ! कइविहा पओगगती पण्णत्ता ? गोयमा ! पन्नरसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमणप्पओगगती० जाव कम्मासरीरकायप्पओगगती । नेरइयाणं भंते ! कतिविहा पओगगती पण्णत्ता ? गोयमा ! एक्कारसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमणप्पओगगती, एवं उववज्जिऊण जस्स जतिविहा तस्स ततिविहा भाणियव्वा० जाव वेमाणियाण । जीवाणं भंते ! किं सच्चमणप्पओगगती० जाव कम्मगसरीरकायप्पओगगती ? गोयमा ! जीवा सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगगती वि एवं ते चेव पुव्ववन्नियं भाणियव्वं भंगा, तहेव० जाव वेमाणियाणं । सेत्तं पओगगती । से किं तं ततगती ? ततगती जेणं जं गामं वा० जाव सन्निवेसं वा संपट्ठिए असंपत्ते अंतरापहे वट्टइ । सेत्तं ततगती । से किं तं बंधणछेदनगती ? बंधणछेदनगती जीवो वा सरीराओ सरीरं वा जीवाओ । सेत्तं बंधणछेदनगती । से किं तं उववायगती ? उववायगती तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-खित्तोववायगती भवोववायगती नोभवोववायगती । से किं तं खित्तोववायगती ? खित्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइयखेत्तोववायगती तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती मणुस्सखेत्तोववायगती देवखेत्तोववायगती सिद्धखेत्तोववायगती । से किं तं नेरइयखेत्तोववायगती ? णेरइयखेत्तोववायगती सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा-रयणप्पभापुढवीनेरइयखेत्तोववायगती० जाव अहेसत्तमपुढवीनेरइयखेत्तोववायगती । सेत्तं नेरइयखेत्तोववायगती । से किं तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती ? तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती । सेत्तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती । से किं तं मणुस्सखेत्तोववायगती ? मणुस्सखेत्तोववायगती दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिममणुस्सखेत्तोववायगती गब्भवक्कंतियमणुस्सखेत्तोववायगती । सेत्तं मणुस्सखेत्तोववायगती । से किं तं देवखेत्तोववायगती ? देवखेत्तोववायगती चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-भवणवई० जाव वेमाणियखेत्तोववायगती । सेत्तं देवखेत्तोववायगती । से किं तं सिद्धखेत्तोववायगती ? सिद्धखेत्तोववायगती अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवयवासस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंतसिहरिवा-

सहरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे हेमवयएरण्णवयवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे सद्दावइवियडावइवट्टवेयड्ढसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे महाहिमवंतरुप्पिवासहरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे हरिवासरम्मगवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे गंधावइमालवंतपरियायवट्टवेयड्ढसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे णिसहनीलवंतवासहरसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहावरविदेहसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरुसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । लवणसमुद्दस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । धायइखंडे दीवे पुरिमद्धपच्छिमद्धमंदरस्स पव्वयस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । कालोयसमुद्दे सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । पुक्खरवरदीवड्ढे पुरिमद्धभरहेरवयवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । एवं० जाव पुक्खरवरदीवड्ढे पच्छिमद्धपुरिमद्धमंदरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । सेत्तं सिद्धखेत्तोववायगई । सेत्तं खेत्तोववायगई । से किं तं भवोववायगई ? भवोववायगई चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइय० जाव देवभवोववायगती । से किं तं नेरइयभवोववायगई ? णेरइयभवोववायगती सत्तविहा पण्णत्ता । एवं सिद्धवज्जो भेदो भाणियव्वो जो चेव खेत्तोववायगतीए सो चेव भवोववायगतीए । सेत्तं भवोववायगती । से किं तं नोभवोववायगती ? । नोभवोववायगई दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पुग्गलनोभवोववायगती य सिद्धनोभवोववायगती य । से किं तं पुग्गलनोभवोववायगती ? पुग्गलनोभवोववायगती जन्नं परमाणुपोग्गले लोगस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ । पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ । दाहिणिल्लाओ वा चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति । एवं उत्तरिल्लाओ दाहिणिल्लं० जाव हेट्ठिल्लाओ उवरिल्लं । सेत्तं पोग्गलनोभवोववायगती । से किं तं सिद्धनोभवोववायगती ? सिद्धनोभवोववायगती दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-अणंतरसिद्धनोभवोववायगती परंपरसिद्धनोभवोववायगती य । से किं तं अणंतरसिद्धनोभवोववायगती ? अ-

णंतरसिद्धनोभवोववायगई पन्नरसविहा पएणत्ता, तं जहा-तित्थसिद्धअणंतरनोभवोववायगती य० जाव अणेगसिद्धनोभवोववायगती । से किं तं परंपरसिद्धनोभवोववायगती ? परंपरसिद्धनोभवोववायगती अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-अपढमसमयसिद्धनोभवोववायगती, दुसमयसिद्धनोभवोववातगती० जाव अणंतसमयसिद्धनोभवोवायगती । सेत्त नोभवोववायगती । सेत्त उववायगती । से किं तं विहायगती ? विहायगती सत्तरसविहा पण्णत्ता । तं जहा-फूसमाणगती अफूसमाणगती उवसंपज्जमाणगती अणुवसंपज्जमाणगती पोग्गलगती मंडूयगती नावागती नयगती छायागती छायाणुवातगती लेस्सागती लेस्साणुवातगती उद्दिस्सयपविभत्तगती चउपुरिसपविभत्तगती वंकगती पंकगती बंधणविमोयणगती । से किं त फूसमाण गती ? फूसमाणगती जण्णं परमाणुपोग्गले दुपदेसिए० जाव अणंतपदेसियाणं खंधाणं अन्नमन्नं फुसित्ताण गती पवत्तइ । सेत्त फूसमाणगती । से किं तं अफूसमाणगती ? अफूसमाणगती जन्नं एतेसिं चेव अफुसित्ताण गती पवत्तइ। सेत्तं अफूसमाणगती । से किं तं उवसंपज्जमाणगती ? उवसंपज्जमाणगती जण्णं ज रायं वा जुवरायं वा ईसरं वा तलवरं वा माडंबियं वा कोडुंबियं वा इब्भं वा सेट्ठिं वा सेणावइं वा सत्थवाहं वा उवसंपज्जित्ताणं गच्छति । सेत्तं उवसंपज्जमाणगती । से किं तं अणुवसंपज्जमाणगती ? अणुवसंपज्जमाणगती जन्नं एतेसिं चेव अन्नमन्नं अणुवसंपज्जित्ताणं गच्छति । सेत्त अणुवसंपज्जमाणगती । से किं तं पोग्गलगती ? पोग्गलगती जन्नं परमाणुपोग्गलाणं० जाव अणंतपदेसियाणं खंधाण गती पवत्तइ । सेत्तं पोग्गलगती । से किं तं मंडूयगती ? मंडूयगती जन्नं मंडूए उप्पडित्ता उप्पडित्ता गच्छति। सेत्त मंडूयगती । से किं तं णावागती ? णावागती जन्नं णावा पुव्ववेतालीओ दाहिणवेतालिं जलपहेणं गच्छति, दाहिणवेतालिं वा अवरवेतालिं जलपहेण गच्छति । सेत्त णावागती । से किं त नयगती ? नयगती जन्नं नेगमसंगहववहारउज्जुसुयसद्दसमभिरूढएवंभूताणं णयाण जा गती, अहवा सव्वणया वि ज इच्छन्ति। सेत्त नयगती । से किं त छायागती ? छायागती जेणं हयच्छायं वा गयच्छायं वा नरच्छायं वा किन्नरच्छायं वा महोरगच्छायं वा गंधव्वच्छायं वा रहच्छायं वा छत्तच्छायं वा उवसंपज्जित्ताण गच्छति । सेत्तं छायागती । से किं त छायाणुवायगती ? छायाणुवायगती जं णं पुरिसच्छाया अणुगच्छति, नो पुरिसे छायं अणुगच्छति । सेत्त छायाणुवायगती । से किं तं लेस्सागती ? लेस्सागती जन्नं कण्हलेस्सा नीललेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति । एवं नी... काउलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव० फासत्ताए परिणमति। काउलेस्सा वि तेउलेस्सं, तेउलेस्सा वि पम्हलेस्सं, ...स्सा वि सुक्कलेस्सं, पप्प तारूवत्ताए० जाव परिणमति सेत्तं लेस्सागती । से किं तं लेस्साणुवायगती ? लेस्साणुवायगती जं लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ । त जहा-कण्हलेस्सेसु वा० जाव सुक्किल्लेस्सेसु वा । सेत्त लेस्साणुवायगती । से किं तं उद्दिस्सपविभत्तगती ? उद्दिस्सपविभत्तगती जेणं आयरियं वा उवज्झायं वा थेरं वा पवत्तिं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेदं वा उद्दिसिय उद्दिसिय गच्छति । सेत्तं उद्दिस्सपविभत्तगती । से किं तं चउपुरिसपविभत्तगती ? चउपुरिसपविभत्तगती से जहा नामए चत्तारि पुरिसा समगं पज्जवट्ठिया, समगं पट्ठित्ता विसमं पट्ठित्ता समगं पज्जवट्ठिया विसमं पज्जवट्ठित्ता विसमं पज्जवट्ठिया । सेत्त चउपुरिसपविभत्तगती । से किं त वंकगती ? वंकगती चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-घट्टणता थंभणता लेसणता पवडणया । सेत्तं वंकगती । से किं तं पंकगती ? पंकगती से जहा नामए केइ पुरिसे सेऽसि वा पंकंसि वा उदयंसि वा कायं उव्विहित्ता गच्छति । सेत्तं पंकगती । से किं तं बंधणविमोयणगती ? बंधणविमोयणगती जन्नं अंबाण वा अंबाडगाण वा माउलिंगाण वा बिल्लाण वा कविट्ठाण वा भव्वाण वा फणसाण वा दालिमाण वा पारेवताण वा अक्खोडाण वा चाराण वा तहुयाण वा पक्काण परियागयाण बंधणाओ विप्पमुक्काण वा णिव्वाघाएणं अहेवीसाए गती पवत्तई । सेत्त बंधणविमोयणगती ।

सुगममापदपरिसमाप्ते, नवरं (जम्बूद्दीवे दीवे भरहेरवयवासस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगइ त्ति) जम्बूद्वीपे द्वीपे यद्भरतवर्षमैरवतवर्षं च तयोरुपरि सिद्धक्षेत्रोपपातगतिर्भवति । कथमित्याह-सपक्षं सप्रतिदिक्, तत्र सह पक्षाः पार्श्वाः पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपा यस्मिन् सिद्धक्षेत्रोपपातगतिभवने तत् सपक्षं, सह प्रतिदिशो विदिश आग्नेय्यादयो यस्मिन् तत्सप्रतिदिक्, क्रियाविशेषणमेतत् । एषोऽत्र भावार्थः-जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरावतवर्षयोरुपरि सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च सर्वत्र सिद्धक्षेत्रोपपातगतिर्भवतीति । एवं शेषभूतेष्वपि भावनीयम् । उपसम्पद्यमानगतिसूत्रे-(जण्णं ज रायं वा) इत्यादि । राजा पृथिवीपति, युवराजा राज्यचिन्ताकारी राजप्रतिशरीरं, ईश्वरः अणिमाद्यैश्वर्ययुक्तः, तलवरः परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषितो राजस्थानीयः, माडम्बिकः छिन्नमडम्बाधिपः, कौटुम्बिकः कतिपयकुटुम्बस्वामी, इभमर्हतीति इभ्यो धनवान्, श्रेष्ठी श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टभूषितोत्तमाङ्गः, सेनापतिर्नृपतिनिरूपितचतुरङ्गसैन्यनायकः, सार्थवाहः सार्थनायकः, नौग-

तिसूत्रेषु (जन्न नावा पुव्ववेतालि) इत्यादि । वेतालिशब्दो देशीवचनत्वाद्वेतालातटवाची । प्रज्ञा० १६ पद । गतेर्वा प्रवृत्तेः क्रियायाः प्रपातः प्रपतन सम्भवः प्रयोगादिष्वर्थेषु वर्त्तन गतिप्रपातस्तत्प्रपातकमध्ययन गतिप्रपातम् । भ० ८ श० ७ उ० । गतिप्रपातप्रतिपादकेऽन्ययूथिकान्प्रति स्थविरैः कथिते अध्ययने, भ० " तएए ते थेरा भगवतो अण्णउत्थिए एव पडिहणन्ति, एव पडिहणेत्ता गइप्पवायनाम अज्झयणं पण्णवइंसु । कइविहे णं भंते ! गइप्पवाए पण्णत्ते ? गोयमा ! पचविहे गइप्पवाए पण्णत्ते । त जहा-पओगगई तवगई बधणच्छेयणगई उववायगई विहायगई पत्तो आरब्भ पओगपद निरवसेस भाणियव्व० जाव सेत्तं विहायगई सेव भते ! भते ! त्ति " ॥ भ० ८ श० ७ उ० ।

गतिप्रवाद-न० । गतिः प्रोद्यते प्ररूप्यते यत्र तद्गति-प्रवादम । भ० ८ श० ७ उ० ।

गइबन्धनपरिणाम-गतिबन्धनपरिणाम-पु० । येनायुःस्वभावेन प्रतिनियतगतिकर्मबन्धो भवति, यथा नारकायु स्वभावेन मनुष्यतिर्यग्गतिनामकर्म बध्नाति; नदेव नारकगतिनामकर्मेति स गतिबन्धनपरिणाम । आयु परिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ।

गइय-गदित-त्रि० । प्रतिपादिते, प्रति० ।

गइरइय-गतिरतिक-त्रि० । गतौ रतिरासक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः समयक्षेत्रवर्तिषु अनुपरतगतिकेषु देवेषु । स्था० २ ठा० २ उ० ।

गइरागइलक्खण-गतिरागतिलक्षण-न० । लक्षणभेदे, विशे० । तत्स्वरूप च विशे० ।

अथ "गइरागइ त्ति" गत्यागतिलक्षणस्वरूप प्रतिपिपादयिषुराह-

अवरोप्परं पयाण, विसेसण-विसेसणिज्जया जत्थ ।
गच्चागई य दोएहं, गच्चागइलक्खणं त तु ॥ २१५६ ॥

परस्परं द्वयोर्द्वयो पदयोर्यत्र विशेषणविशेष्यतया आनुकूल्येन गमन गति । 'यथा जीवो भदन्त ! देव ' इति, जीवमनूद्य देवत्व पृच्छयते । अत्र जीवपदाद् देवपदे आनुकूल्येन यथास्थित्या गति । तथा प्रत्यावृत्त्या प्रातिकूल्येनागमनमागतिर्यथा 'देवो जीव' इत्यत्र देवमनूद्य जीवत्व पृच्छयत इतीह प्रत्यावृत्त्या देवपदाज्जीवपदे आगति । गतिश्चागतिश्च गत्यागती ताभ्यां ते वा लक्षण तदेतद् गत्यागतिलक्षणम् । एतच्च चतुर्धा, तद्यथा-पूर्वपदव्याहतम्, उत्तरपदव्याहतम्, उभयपदव्याहतम् उभयपदाव्याहत चेति । तत्र पूर्वपद व्याहत व्यभिचारि यत्र तत्पूर्वपदव्याहत लक्षण पूर्वपदव्यभिचारीत्यर्थ । एवमन्यत्रापि यथायोग समास. ।

एतानेव चतुरो भङ्गान् सोदाहरणानाह भाष्यकार.-

पुव्वावरोभएसु, वाहयमन्नाहय च तं तत्थ ।
जीवो देवो देवो, जीवो त्ति विगप्पनियमोऽयं ॥२१५७॥

इह पूर्वपदव्याहतम् अपरपदव्याहतमुभयपदव्याहतमुभयपदाव्याहत चेति चतुर्धा तद् गत्यागतिलक्षणमुक्तम् । तत्र 'जीवे भते ! देवे देवे जीवे गोयमा ! जीवे सिय देवे सिय नो देवे देवे पुण नियमा जीवे' इति भुवनगुरुवचनाज्जीवो देव इति विशेषणविशेष्यभूते पदद्वये जीव इति पूर्वपद देवत्व व्यभिचरत्यपि । जीवस्य देवस्यादेवस्य च नारकादेर्दर्शनात् । 'देव किं जीव ?' इति प्रत्यावृत्तौ देवो जीवत्व न व्यभिचरत्येव, देवस्य नियमेन जीवत्वात्तस्मात्पूर्वपदव्याहतो विकल्पनियमोऽय भङ्ग । विकल्पो व्याहतिर्भजना व्यभिचार इत्यर्थः । नियमो निश्चयोऽव्यभिचार इत्यर्थ. । ततश्च पूर्वपदविकल्पोपलक्षित उत्तरपदनियमो यत्रासौ विकल्पनियम' प्रथमो भङ्ग इति ।

शेषं भङ्गत्रय सोदाहरणं यथा-

जीवइ जीवो जीवो, जीवइ नियमो भञ्रो विगप्पो य ।
देवो भव्वो भव्वो, देवो त्ति विगप्पमो दो वि ॥२१५८॥
जीवो जीवो जीवो, जीवो त्ति दुगे वि गम्मए नियमो ।
जीवो जहोवओगो, तहोवओगो य जीवो त्ति ॥२१५९॥

व्याख्या-(जीवइ जीवो जीवो जीवइ त्ति) इत्यनेन द्वितीयभङ्गप्रतिपादकं भगवतीसूत्र सूचितम् । तच्चेदम्-"जीवइ भते ! जीवे जीवे जीवइ गोयमा ! जीवइ ताव नियमा जीवे जीवे पुण सिय जीवइ सिय नो जीवइ" इति । इह 'जीवइ' शब्देन दशविधप्राणलक्षण जीवन जीवितव्यमुच्यते । तत्र जीवन तावन्नियमाज्जीवे, अजीवे तस्य सर्वथाऽसम्भवात् । जीव. पुन स्याज्जीवति स्यान्न जीवति, सिद्धजीवस्य जीवनाभावादत इहोत्तरपद व्याहत व्यभिचारात् । पूर्वपद त्वव्याहत, जीवनस्य जीवमन्तरेणाभावादत एवाह-(नियमो भञ्रो विगप्पो य त्ति) पूर्वपदेऽव्यभिचारान्नियमो मतः उत्तरपदे तु विकल्पो भजना व्याहतिर्व्यभिचार इत्यर्थ. । ततश्च नियमेनोपलक्षितो विकल्पो यत्रासौ नियमविकल्पनामकोऽयमुत्तरपदव्याहतो द्वितीयो भङ्ग' । (देवो भव्वो भव्वो देवो त्ति) अनेनापि तृतीयभङ्गप्रतिपादक प्रज्ञप्तिसूत्र सूचितम् । तद्यथा-"देवे ण भते ! भवसिद्धिए भवसिद्धिए ? देवे गोयमा ! देवे सिय भवसिद्धिए सिय अभवसिद्धिए भवसिद्धिए वि सिय देवे सिय नो देवे त्ति " अत्र पूर्वपदवर्ती देवो भव्यत्व व्यभिचरति अभव्यस्यापि तस्य सम्भवात्, उत्तरपदवर्त्यपि भव्यो देवत्वं व्यभिचरत्यदेवस्यापि तस्य नरकादौ सम्भवादत उभयपदव्याहतमिदमत एवाह-(विगप्पमो दो वि त्ति) इह प्राकृतशैल्या द्वयोरपि पदयोर्विकल्पो व्यभिचार इत्यर्थ. । ततश्च विकल्पयुक्तो विकल्पो यत्रासौ विकल्पविकल्पनामकोऽयमुभयपदव्याहतस्तृतीयो भङ्ग इति । (जीवो जीवो जीवो जीवो त्ति) इहापि व्याख्या प्रज्ञप्तिसूत्रमेतद्द्रष्टव्य, तद्यथा-"जीवे भते ! जीवे जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे त्ति" इहैकस्य जीवशब्दस्योपयोगो वाच्यस्ततश्चोपयोगो नियमाज्जीव, जीवोऽपि नियमादुपयोगोऽत उभयपदव्याहतमिदमत एवाह-" दुगे वि गम्मए नियमो " इत्यादि । पदद्वयेऽप्यत्र नियमो गम्यते । ततश्च नियमान्वितो नियमो यत्रासौ नियमनियमाभिधान उभयपदाऽव्याहतश्चतुर्थो भङ्ग इति ।

अथ लोकेऽपि चतुर्विधमिद गत्यागतिलक्षण प्रसिद्धमिति दर्शयन्नाह-

रूवी घडो त्ति चूओ, दुमो त्ति नीलुप्पलं च लोयम्मि ।
जीवो सचेयणो त्ति य, विगप्पनियमाइओ सिद्धा ॥२१६०॥

पूर्वपदव्याहत यथा-'रूपी घट' इति । अत्र रूपिणो घटस्य पटादेश्च भावात्पूर्वपदव्याहति, उत्तरपद तु न व्याहत; घटस्य रूपिण एव भावादिति विकल्पनियम प्रथमो भङ्ग । उत्तरपदव्याहत 'चूतो द्रुम ' इति । इह चूतो द्रुम एव भवतीति न व्याहति, द्रुमस्तु चूतोऽचूतश्च स्यादित्युत्तरपदव्याहतिरिति नियमविकल्पो द्वितीयो भङ्ग । उभयपदव्याहत यथा-नीलोत्पलमिति । नीलमुत्पलं मरकतादि च भवति, उत्पलमपि नील शु-

कलादिरूपं च भवतीत्युभयपदव्यभिचाराद् विकल्पविकल्पस्तृतीयो भङ्गः। उभयपदाव्याहत यथा-' जीवः सचेतनः ' इति। जीवः सचेतन एव भवति चेतनापि जीवस्यैवेत्युभयपदाव्यभिचाराद् नियमनियमश्चतुर्थो भङ्ग इति। इत्येवं विकल्पनियमादयश्चत्वारो भङ्गा लोकेऽपि सिद्धा इति। तदेवमभिहित गत्यागतिलक्षणम्। विशे०। आ० म० द्वि०।

गइविसय-गतिविषय-पुं०। गतिगोचरविषये क्षेत्रे,। प्रति०। "असुरकुमाराणं देवाण कहे गइविसये सिग्घे" इह यद्यपि गतिगोचरभूत क्षेत्र गतिविषयशब्देनोच्यते तथापि गतिरेव गृह्यते शीघ्रादिविशेषणानां क्षेत्रे युज्यमानत्वादिति। भ० ३ श० २ उ०।

गइसमावन्न-गतिसमापन्न-पुं०। गतिर्गमन तां समापन्ना प्राप्ताः स्तद्वन्तो गतिसमापन्ना' गतिमत्सु पृथ्वीकायिकादिषु। स्था०। दुविहा दव्वा पण्णत्ता त जहा-गइसमावन्नगा चेव अगइसमावन्नगा चेव॥
गतिर्गमन तां समापन्ना' प्राप्तास्तद्वन्तो गतिसमापन्ना'। ये हि पृथ्वीकायिकाद्यायुष्कोदयात् पृथिवीकायिकादिव्यपदेशवन्तो विग्रहगत्या उत्पत्तिस्थान व्रजन्ति, अगतिसमापन्नास्तु स्थितिमन्त.। स्था०। २ ठा० १ उ०। सू० प्र०।

गइसमावन्नग-गतिसमापन्नक-पुं०। गतिर्गमन समिति सतनमापन्नका' प्राप्ता' गतिसमापन्नका' अनुपरतगतिकेषु देवेषु, स्था० २ ठा० २ उ०। (' अगइसमावण्ण ' शब्दे प्र० भागे १४३ पृष्ठे वरूक उक्त.)

गउअ-पुं०-गो-पुं०। गच्छत्यनेन गमः करणे गो। "गव्यउआअः" ८। १। १५८। गोशब्दे ओतः अउआअ इत्यादेशौ भवतः। गउओ गउआ गाओ प्रा० १ पाद। स्वनामख्याते पशुभेदे, वृषभस्य यानसाधनत्वात्। वाच०।

गउआ-गो-स्त्री०। स्त्रियां "स्वस्रादेर्डा" ८। ३। ३५। इति डा प्रत्यय "गउआ" प्रा० ३ पाद।

गउड-गौड-पुं०। "डो ल" ८। १। २०२। इत्यस्य क्वाचित्कत्वान्न डस्य ल'। प्रा० १ पाद। देशभेदे, तद्देशस्थे जने, ब० व० ब्राह्मणभेदे, गुडविकारे मदिराभेदे, स्त्री०। वाच०।

गउरि-गौरी-स्त्री०। "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ८। ४। ३२९। इति प्रायिके स्वरादेशे। गउरि गोरि प्रा० ४ पाद। गौरवर्णायां स्त्रियाम्, "कपोलभित्तीरिव लोध्रगौरी." वाच०।

गंग-गङ्ग-पुं०। द्वैक्रियनिह्नवाना धर्म्माचार्य्ये (तद्वक्तव्यता च 'दोकिरिय' शब्दे) आ० म० द्वि०। विशे०। स्था०। उत्त०। नि०।

गंगदत्त-गङ्गदत्त-पुं०। पूर्वभवे नवमे वासुदेवे, (स च गङ्गदत्तनामा मल्ल पितृभ्यां त्यक्त चारित्र गृहीत्वा क्रमेण वासुदेवो जात इति 'वसण' शब्दे कथा) आ० क०। आ० म० द्वि०। आ० चू०। स०। ति०। षष्ठबलदेववासुदेवयो. पूर्वभविके धर्माचार्य्ये, स०। हस्तिनापुरजाते मुनिसुव्रतशिष्ये श्रेष्ठिनि, स च प्रव्रज्य काल कृत्वा सम्यग्दृष्टिदेवो जात इति। भ०।

तेणं कालेणं तेण समएण उल्लुयातीरे णामं णयरे होत्था वण्णओ एगजंबुए चेइए, वण्णओ। तेण कालेणं तेण समएण सामी समोसढे० जाव पज्जुवासइ। तेण कालेणं तेण समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी एवं जहेव बितिए उद्देसए तहेव दिव्वेणं जाणविमाणेणं आगओ जाव जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-देवे णं भंते! महिड्डिए० जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू आगमित्तए? णो इणट्ठे समट्ठे। देवे णं भंते! महिड्डिए० जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू आगमित्तए? हंता पभू १। देवे णं भंते! महिड्डिए एवं एएणं अभिलावेणं गमित्तए २, एवं भासित्तए वा वियागरित्तए वा ३, उम्मिसावेत्तए वा निम्मिसावेत्तए वा ४, आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा ५, ठाणं वा सेज्ज वा णिसीहियं वा वेत्तित्तए वा ६, एव विउव्वित्तए वा ७, एव परियाएत्तए वा० ८, जाव हंता पभू इमाइ अट्ठउक्खित्तपसिणवागरणाइ पुच्छइ संभंति य वंदणएण वंदेइ। वंदेइत्ता तमेव दिव्व जाणविमाण दुरूहइ, दुरूहइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। भंते! त्ति भगवं!, गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमसइ। वंदित्ता णमसित्ता एवं वयासी-अण्णदा णं भंते! सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं वंदइ णमंसइ० जाव पज्जुवासइ। किण्णं भंते! सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं अट्ठ उक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ, पुच्छइत्ता संभंतिय वंदइ, वंदइत्ता० जाव पडिगए। गोयमादि!, समणे भगवं महावीरे भगव गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्के कप्पे महासामाणियविमाणे दो देवा महिड्डिया० जाव महेसक्खा एगविमाणंसि देवत्ताए उववण्णा। तं जहा-मायीमिच्छद्दिट्ठी उववण्णए य, अमायी सम्मद्दिट्ठी उववण्णए य। तए णं से मायीमिच्छद्दिट्ठीउववण्णए देवे तं अमायीसम्मद्दिट्ठीउववण्णयं देव एव वयासी-परिणममाणा पोग्गला, णो परिणया; अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' णो परिणया, अपरिणया। तए णं से अमायीसम्मद्दिट्ठीउववण्णए देवे तं मायीमिच्छद्दिट्ठीउववण्णग देवं एवं वयासी-परिणममाणा पोग्गला परिणया, णो अपरिणया, 'परिणमतीति पोग्गला' परिणया, णो अपरिणया। त मायीमिच्छद्दिट्ठीउववण्णग देव एवं पडिहणइ। एव पडिहणइत्ता ओहिं पउंजइ, ओहिं पउंजइत्ता मम ओहिणा आभोएइ। आभोएइत्ता अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था। एव खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जेणेव उल्लुयातीरे णयरे जेणेव एगजंबुए चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ, तं सेय

खलु समणं भगव महावीरं वंदित्ता० जाव पज्जवासित्ता इमं एयारूव वागरण पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ। संपेहेइत्ता चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं परियारो जहा सूरियाभस्स० जाव णिग्घोसणादितरवेण जेणेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जेणेव उल्लुयातीरे णयरे जेणेव एगजंबूए चेइए जेणेव ममं अंतिए तेणेव पहारेत्थगमणाए । तएण से सक्के देविंदे देवराया तस्स देवस्स तं दिव्वं देविहिं दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वतेयलेस्सं असहमाणे अट्ठउक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ, पुच्छइत्ता संभंतिय० जाव पडिगए, जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठे परिकहेइ, तावं च णं से देवे तं देस हव्वमागए । तएणं से देवे समण भगव महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ णमंसइ, वंदइत्ता णमंसइत्ता एव वयासी–एवं खलु भंते ! महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे एगे मायी उववण्णए देव ममं एव वयासी–परिणममाणा पोग्गला, णो परिणया; अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' णो परिणया, अपरिणया । तएणं अहं तं मायीमिच्छद्दिट्ठीउववण्णगं देवं एव वयासी–परिणममाणा पोग्गला परिणया, णो अपरिणया, 'परिणमन्तीति' पोग्गला परिणया, णो अपरिणया। से कहमेयं भंते ! एव गंगदत्तादि ! समणे भगवं महावीरे गंगदत्तं देव एव वयासी–अह पि णं गंगदत्ता ! एवमाइक्खामि ४, परिणममाणा पोग्गला० जाव णो अपरिणया, सच्चमेसे अट्ठे । तए ण से गंगदत्ते देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिय एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ समण भगव महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चा सन्ने० जाव पज्जुवासइ । तए णं से गंगदत्ते देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता समणं भगव महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–अहं णं भंते ! गंगदत्ते देवे किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए एवं जहा सूरियाभो० जाव बत्तीसविह उवदंसेइ । उवदंसेइत्ता० जाव तामेव दिसिं पडिगए ? भंते ! त्ति भगव गोयमे समणं भगवं० जाव एव वयासी–गंगदत्तस्स णं भंते! देवस्स सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती० जाव अणुप्पविट्ठा ? गोयमा ! सरीरं गया सरीर अणुप्पविट्ठा कूडागारसालादिट्ठंतो० जाव सरीर अणुप्पविट्ठा। अहो ण भंते ! गंगदत्ते देवे महिड्ढिए० जाव महेसक्खे गंगदत्तेणं भंते ! देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती किण्णा लद्धा० जाव जेण गंगदत्तेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमण्णागया ? । गोयमादि ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयम एवं वयासी–एव खलु गोयमा ! तेण कालेणं तेणं समएण इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणापुरे णामं णयरे होत्था वण्णओ, सहसंबवणे उज्जाणे वण्णओ। तत्थ ण हत्थिणापुरे णयरे गंगदत्ते णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे जाव अपरिभूए। तेण कालेण तेण समएणं मुणिसुव्वए अरहा आदिगरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएण चक्केण० जाव पकड्ढिज्जमाणेणं पकड्ढिज्जमाणेणं सीसगणसंपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगाम० जाव जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे० जाव विहरइ । परिसा णिग्गया० जाव पज्जुवासइ । तएण से गंगदत्ते गाहावई ईमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव कयबलिसरीरे साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता पादविहारचारेणं हत्थिणाउर णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे जेणेव मुणिसुव्वए अरहा तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता मुणिसुव्वयं अरहं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं० जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ। तए णं मुणिसुव्वए अरहा गंगदत्तस्स गाहावइस्स तीसे य महति० जाव परिसा पडिगया, तए ण से गंगदत्ते गाहावई मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतिय धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता एव वयासी–सद्दहामि ण भंते ! णिग्गंथ पावयण जाव से जहेयं तुब्भे वदह । जं णवर देवाणुप्पिया ! जेट्ठपुत्त कुडुंबे ठावेमि । तए ण अहं देवाणुप्पियाण अंतिय मुंडे० जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध। तए णं से गंगदत्ते गाहावई मुणिसुव्वएणं अरहा एव वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे मुणिसुव्वय अरहं वंदइ णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियाओ सहसंबवणाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणापुरे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता विपुलं असणं पाण० जाव उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइणियग० जाव आमंतेइ। आमंतेइत्ता तओ पच्छा ण्हाए जहा पूरणे० जाव जेट्ठपुत्त कुडुंबे ठावेइ। तं मित्तणाइ० जाव जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ। आपुच्छइत्ता पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूहइ । दुरूहइत्ता मित्तणाइणियग० जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेण य समणुगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव० णादितरवेणं हत्थिणापुर णयर मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता छत्ताइच्छत्ते तित्थगरादि पासइ। एव जहा–उदायणे० जाव सयमेव आभरणं उम्मुयइ। उम्मुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ। करेइत्ता जेणेव मुणिसुव्वए अरहा एव जहा उदायणे

तहेव पव्वइए,तहेव एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ०जाव मासियाए संलेहणाए सर्ठि भत्ताइं अणसणाए० जाव छेदेइ। छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे, कालं किच्चा महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि०जाव गंगदत्तदेवत्ताए उववन्ने ।तए णं से गंगदत्ते देवे अहुणोववन्नमेत्तए समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ । तं जहा-आहारपज्जत्तीए० जाव भासमणपज्जत्तीए । एवं खलु गोयमा! गंगदत्तेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमन्नागया।गंगदत्तस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? गोयमा! सत्तसागरोवमाइं ठिई पएणत्ता। गंगदत्ते णं भंते! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ० जाव अंतं काहिति ॥ सेवं भंते ! भंते त्ति।

(तेणं) इत्यादि। इह सर्वोऽपि संसारी बाह्यान् पुद्गलाननुपादाय न काञ्चित् क्रिया करोतीति सिद्धमेव,किन्तु देवः किल महर्द्धिको,महर्द्धिकत्वादेव च गमनादिक्रियां मा कदाचित्कारिष्यति इति सम्भावनया शक्र' प्रश्न चकार-(देवे णं भंते!) इत्यादि। (भासित्तए वा वागरित्तए व त्ति) भाषितु वक्तुं व्याकर्तुमुत्तर दातुमित्यनयोर्विशेष.। प्रश्नश्चाय तृतीय, उन्मेषादिश्चतुर्थ ,आकुण्टनादि. पञ्चमः, स्थानादि' षष्ठ , विकुर्वयितुमिति सप्तम., परिचारयितुमित्यष्टमः। (उक्खित्तपसिणवागरणाइ ति) उत्क्षिप्तानीवोत्क्षिप्तानि अविस्तारितस्वरूपाणि, प्रच्छनीयत्वात्प्रश्ना , व्याक्रियमाणत्वाच्च व्याकरणानि यानि तानि तथा।(सम्भंतियवंदणएण ति) सम्भ्रान्ति सम्भ्रम औत्सुक्य तया निर्वृत्तं सांभ्रान्तिकं यद्वन्दन तत्तथा तेन। (परिणममाणा पोग्गला णो परिणय त्ति) वर्तमानातीतकालयोर्विरोधादेत एवाह-(अपरिणय त्ति) इहैवोपपत्तिमाह-परिणमन्तीति कृत्वा नो परिणतास्ते व्यपदिश्यन्त इति मिथ्यादृष्टिवचनम्। सम्यग्दृष्टि. पुनराह-(परिणममाणा पोग्गला परिणया नो अपरिणय त्ति) कुत इत्याह-परिणमन्तीति कृत्वा पुद्गला परिणता नोऽपरिणता', परिणमन्तीति हि यदुच्यते तत्परिणामसद्भावे, अन्यथाचान्यथाऽतिप्रसङ्गात्। परिणामसद्भावे तु परिणमन्तीति व्यपदेशे परिणतत्वमवश्य भावि। यदि हि परिणामे सत्यपि परिणतत्व न स्यात्तदा सर्वदा तदभावप्रसङ्ग इति। (परिवारो जहा सूरियाभस्स त्ति) अनेनेद सूचितम्-"तिर्हि परिसार्हि सत्तर्हि अणिएर्हि सत्तर्हि अणियाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं महासामाणविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं सर्द्धि संपरिवुडे" इत्यादि। (दिव्व तेयलेस्स असहमाणे त्ति) इह किल शक्र पूर्वभवे कार्तिकाभिधानोऽभिनवश्रेष्ठी बभूव। गङ्गदत्तस्तु जीर्णश्रेष्ठीति। तयोश्च प्रायो मत्सरो भवतीत्यसावसहनकारण सम्भाव्यत इति। एव (जहा सूरियाभो त्ति) अनेनेद सूचित "सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी परित्तससारिए अणतससारिए सुलहबोहिए दुल्लहबोहिए आराहए विराहए चरिमे अचरिमे इत्यादि" इति। भ० १६ श० ५ उ०। ती०। नि०। विजयपुरस्थे मगधाया भर्तरि, गृहपतौ च। ध० र०। सागरदत्तस्य भार्याया उदुम्बरदत्तस्य मातरि, स्त्री०। विपा० ७ अ०।

गंगप्पवायद्दह-गङ्गाप्रपातह्रद-पुं०। हिमवद्वर्षधरपर्वतोपरिवर्तिपद्मह्रदस्य पूर्वतोरणेन निर्गत्य क्रमेण यत्र प्रपतति तस्मिन् ह्रदविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ०। ('गंगा' शब्देऽस्य स्वरूप दर्शयिष्यामि)" दो गंगप्पवायद्दहा " स्था० २ ठा० ३ उ०।

गंगा-गङ्गा-स्त्री०। पद्मह्रदान्निर्गतायां लवणसमुद्रे सङ्गतायां महानद्याम्। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अथ गङ्गामहानदीस्वरूपमाह-

तस्स ण पउमद्दहस्स पुरच्छिमिल्लेणं तोरणेणं गंगा महाणई पवूढा समाणी पुरच्छाभिमुही पंचजोअणसयाइं पव्वएणं गंता। गंगावत्तणकूडे आवत्ता समाणी पंचतेवीसं जोअणसए तिण्णिअ एगूणवीसइभाए जोअणस्स दाहिणाभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवत्तिएणं मुत्तावलिहारसंठिएणं साइरेग जोअणसएणं पवाएणं पवडइ। गंगामहाणई जओ पवडइ इत्थ णं महं एगा जिब्भिआ पएणत्ता।सा णं जिब्भिआ अद्धजोअणं आयामेणं छसकोसाइ जोअणाइ विक्खम्भेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं मगरमुहविउट्टसंठाणसंठिआ सव्ववइरामई अच्छा सएहा। गंगा महाणई जत्थ पवडइ एत्थ णं महं एगे गंगप्पवायकुंडे णामं कुंडे पएणत्ते सट्ठिजोअणाइं आयामविक्खम्भेणं णउअं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे सएहे रययामयकूले समतीरे वइरामयपासाणे वइरतले सुवएणसुब्भरययामयवालुआए वेरुलिअमणिफालिअपडलपच्चोअडे सुहोआरसुहोत्तारे णाणामणितित्थसुबद्धे वट्टे आणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीअलजले संछएणपत्तभिसमुणाले बहुउप्पलकुमुअणलिणसुभगसोगंधिअपोंडरीअमहापोंडरीअसयपत्तसहस्सपत्तसयसहस्सपत्तए फुल्लकेसरोवचिए छप्पयपरिभुज्जमाणकमले अच्छविमलपत्थसलिलपुएणपडिहत्थभमंतमच्छकच्छभअणेगसउणगणमिहुणपविअरिए सद्दुन्नइअमहुरसरणाइए पासाइए ४। से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वेइआ वणसंडगाण पमाणं वएणओ अ भाणिअव्वो। तस्स णं गंगप्पवायकुंडस्स तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवगा पएणत्ता । तं जहा-पुरच्छिमेणं दाहिणेणं पच्चच्छिमेणं तेसिणं तिसोवाणपडिरूवगाणं। अयमेआरूवे वएणावासे पएणत्ते। तं जहा-वइरामया णेम्मा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलिआमया खम्भा सुवएणरूप्पमया फलया लोहिक्खमईओ सूईओ वइरामया संधा णाणामणिमया आलंबणा बाहाओ। तेसिणं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पएणत्ता । ते णं तोरणा णाणामणिमया णाणामणिमएसु खम्भेसु उवणिविट्ठसंणिविट्ठा विविहमुत्तंतरोव-

इआ विविहतारारूवोवचिआ ईहामिअउसहतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेइअपरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्ता विवअच्चीसहस्समालणिआ रूवगसहस्सकलिआ भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोअणलेसा सुहफासा सस्सिरीअरूवा घंटावलिचलिअमहुरमणहरसरा पासादीआ ४ । तेसिणं तोरणाणं उवरिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता । तं सोत्थियसिरिवच्छ० जाव पडिरूवा । तेसिणं तोरणाण उवरिं बहवे किण्हचामरज्झया० जाव सुक्किलचामरज्झया अच्छा सण्हा रूप्पपट्टा वइरामयदंडा जलयामलगंधिआ सुरम्मा पासाईआ ४ । तेसिणं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्ताइच्छत्ता पडागाइपडागा घंटाजुअला चामरजुआला उप्पलहत्थगा पउमहत्थगा० जाव सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा । तस्स णं गंगाप्पवायकुंडस्स बहुमज्झदेसभाए । एत्थ ण महं एगे गंगादीवे णाम दीवे पण्णत्ते अट्ठजोअणाइ आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं दोकोसऊसिए जलंताओ सव्ववइरामए अच्छे सण्हे । से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेण सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ भाणिअव्वो । गंगादीवस्स ण दीवस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं गंगाए देवीए एगे भवणे पण्णत्ते । कोसं आयमेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणगकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे० जाव मज्झदेसभाए मणिपेढिआए सयणिज्जे से केणट्ठेणं० जाव सासए णामधेज्जे पण्णत्ते । तस्स ण गंगप्पवायकुंडस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेण गंगामहाणई पवूढा समाणी उत्तरड्ढभरहवासए जेमाणी जेमाणी सत्तहिं सलिलासहस्सेहिं आउरेमाणी आउरेमाणी अहे खंडप्पवायगुहाए वेअड्ढपव्वयं दालइत्ता दाहिणड्ढभरहवासए जेमाणी जेमाणी दाहिणड्ढभरहवासस्स बहुमज्झदेसभागं गंता पुरच्छाभिमुही आवत्ता समाणी चोद्दसहिं सलिलासहस्सेहिं समग्गा अहे जगइं दालइत्ता पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं समुप्पेइ गंगा णाम महाणई पवहे छस्स कोसाइं जोअणाइं विक्खंभेण अद्धकोसं उव्वेहेणं, तयणंतर च ण मायाए मायाए परिवद्धमाणी परिवद्धमाणी मुहे वा सट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअण च विक्खंभेणं सकोसं जोअणं उव्वेहेण उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं वणसंडेहिं संपरिक्खित्ता वेइया वणसंडवण्णओ भाणियव्वो ।

(तस्स ण) इत्यादि । तस्य पद्मह्रदस्य पौरस्त्येन तोरणेन गङ्गानाम्नी महानदी स्वपरिवारभूतचतुर्दशसहस्रनदीसपदुपेतत्वेन स्वतन्त्रतया समुद्रगामित्वेन च प्रकृष्टा नदी,एवं सिन्ध्वादिष्वपि ज्ञेयम् । प्रव्यूढा निर्गता सती पूर्वाभिमुखी पञ्चयोजनशतानि पर्वतेन पर्वतोपरीत्यर्थः। अथवा णं इति प्राग्वत्,पर्वते गत्वा गङ्गावर्तननाम्नि कूटे,अत्र सामीप्ये सप्तमी । 'वटे गावः सुशरते' इत्यादिवत् । गङ्गावर्त्तनकूटस्याधस्तादावृत्ता सती प्रत्यावृत्त्येत्यर्थः । पञ्चयोजनशतानि त्रयोविंशत्यधिकानि त्रींश्चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य दक्षिणाभिमुखी पर्वतेन गत्वा महान् यो घटस्तन्मुखादिव प्रवृत्तिर्निर्गमो यस्य स तथा तेन । अयमर्थः-यथा घटमुखाज्जलौघो निर्यन् 'खुभिखुभीति'' शब्दायमानो बलीयांश्च निर्याति तथाऽयमपीति । मुक्तावलीनां मुक्तासरीणां यो हारस्तत्संस्थितेन तत्संस्थानेनेत्यर्थः, सातिरेक योजनशत क्षुद्रहिमवच्छिखरतलादारभ्य दशयोजनोद्वेधप्रपातकुण्डं यावद्धारापातो मान यस्येति सातिरेकयोजनशतिकस्तेन । तथा प्रपातेन प्रपतज्जलौधेन, अत्र करणे तृतीया,प्रपतति प्रपातकुण्डम प्राप्नोतीत्यर्थः । प्रदक्षिणाभिमुखगमनपञ्चयोजनशतादिसङ्ख्यात्वे च हिमवद्गिरिव्यासात् योजन १०५२ कला १२ रूपात् गङ्गाप्रवाहव्यासे योजन ६ क्रोश १ प्रमिते शोधिते,शेष १०४६ क्रोशे तु पादोन कलापञ्चकं,तत्कलाद्वादशकात् शोध्य,तत शेषा सप्त सपादाः कला । गङ्गाप्रवाह पर्वतस्य मध्यभागेन पद्मह्रदाद्धिनिर्याति,तेनास्या दक्षिणाभिमुखगङ्गाप्रवाहो न गिरिव्यासार्द्धस्य, गन्तव्यत्वेन गङ्गाव्यासो न गिरिव्यासः योजन १०४६ कलासपादसप्त ७ रूपोऽर्द्धीक्रियते । जात यथोक्त योजन ५२३ कला ३ । यद्यप्यत्र कलात्रिक किंचित् समधिकार्द्धयुक्तमायाति तथाप्यल्पत्वान्न विवक्षितमिति । अथ जिह्विकाया अवसरः (गङ्गा महाणई जओ पवडइ इत्थ ण) इत्यादि । गङ्गा महानदी यत स्थानात् प्रपतति, अत्रान्तरे महती एका जिह्विका प्रणालापरपर्याया प्रज्ञप्ता । (सा ण) इत्यादि । सा जिह्विका अर्द्धयोजनमायामेन षट्सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेन गङ्गामूलव्यासस्य मातव्यत्वात् अर्द्धक्रोश बाहल्येन पिण्डेन विवृत प्रसारित यन्मकरमुख जलचरविशेषमुख तत्संस्थानसंस्थिता, विशेषणस्य परनिपात प्राग्वत् । सर्वात्मना वज्रमया इत्यादिकत्वम् । अथ प्रपातकुण्डस्वरूपमाह-(गंगा महाणई) इत्यादि । गङ्गा महानदी यत्र प्रपतति,अत्रान्तरे महदेक गंगाप्रपातकुण्ड नाम यथार्थनामक प्रज्ञप्त कुण्ड षष्टियोजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम् । अत्र करणविभावनायां सूत्रे "पणास जोअणवित्थारो ५० उव्विरं सट्ठा ६०" इति विशेषोऽस्ति । श्रीउमास्वातिवाचककृतजम्बूद्वीपसमाससूत्रादावपि तथैव । इत्थ च कुण्डस्य यथार्थनामतोपपत्तिरपि भवति । एवमन्येष्वपि यथायोग ज्ञेयमिति । तथा नवतिं नवत्यधिक योजनशत किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादा स्वोपज्ञक्षेत्रविचारसूत्रे "आयामो विक्खभो, सट्ठिं कुण्डस्स जोअण हुति । नउअसय किंचूण, परिही दसजोअणोगाहो" ॥१॥ इत्यूचु । तद्वृत्तावपि श्रीमलयगिरिपादास्तथैव करणरीत्यापि तथैवागच्छन्ति,तेन प्रस्तुतसूत्र गम्भीरार्थं बहुश्रुतैर्विचार्यं,नाऽस्मादृशां मन्दमेधसां मतिप्रवेश इति । यद्वा प्रस्तुतसूत्र पद्मवरवेदिकासहितकुण्डपरिधिविवक्षया प्रवृत्तमिति सभाव्यते,तेन न दोषस्तत्त्व तु केवलिगम्यमिति । दशयोजनान्युद्वेधेन उच्चत्वेन अच्छस्फाटिकवच्चादीर्निर्मलप्रदेश श्लक्ष्णश्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहि प्रदेश रजतमय रूप्यमय कूलं यस्य तत्तथा । सम न गर्तासद्भावतो विषमं तीरवर्तिजलापूरित स्थान यस्मिन् तत्तथा । वज्रमया पाषाणा भित्तिबन्धनाय यस्य तत् । तथा वज्रमय तलं यस्य तत्तथा । सुवर्ण पीतहेम,शुक्लरूप्यविशेषः

रजतं प्रतीत, तन्मयी वालुका यस्मिन् तत्तथा । वैमूर्यमणिमयानि स्फटिकरत्नसंबन्धिपटलमयानि प्रत्यवतटानि तटसमीपवर्त्यभ्युन्नतप्रदेशा यस्य तत् तथा। सुखेनावतारो जलमध्ये प्रवेशनं यस्मिन् तत्तथा । सुखेनोत्तारो जलमध्याद् बहिर्विनिर्गमनं यस्मिन् तत्तथा । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमास· । तथा नानामणिभिः सुबद्ध तीर्थं यत्र तत्तथा । अत्र बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातो, प्रायोदिदर्शनात, प्राकृतशैलीवशाद्वा । तेथा वृत्तं वर्तुलम् आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरभावरूपेण सुष्ठु अतिशयेन यो जातो वप्र· केदाराजलस्थान तत्र गम्भीरमलब्धस्ताघ जल यस्मिन् तत् तथा । सञ्छन्नानि जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यस्मिन् तत्तथा। अत्र बिसमृणालसाहचर्यात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि। बिसानि कन्दा·,मृणालानि पद्मनालानि। बहूनामुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रशतसहस्रपत्राणां प्रफुल्लानां विकस्वराणां कैर· किञ्जल्कैरुपशोभित भृत,विशेषणस्य व्यस्ततया निपात·,प्राकृतत्वात् । षट्पदैर्भ्रमरै· परिभुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदादीनि यस्मिन् तत्तथा । अच्छेन स्वरूपतः स्फटिकवत् शुद्धेन विमलेनागन्तुकमलरहितेन पथ्येनारोग्यकारणेन सलिलेन पूर्णम् । तथा(पडिहत्था)अतिप्रभूता,देशीशब्दोऽय,भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र तत्तथा। अनेकशकुनिमिथुनकानां प्रविचरितमितस्ततो गमनं यत्र तत्तथा । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमास·। तथा शब्दोन्नतिकं उन्नतशब्दक, सारसादिजलचररुतापेक्षया,मधुरस्वर च हसभ्रमरादिकूजितापेक्षया,एवविधं नादित पालित यत्र तत्तथा । अत्र च यत् कानिचिद्विशेषणानि प्रस्तुतसूत्रदृश्यमानादर्शापेक्षया व्यस्ततया लिखितानि सन्ति तज्जीवाभिगमवाप्यादिवर्णकसूत्रस्य बहुसमानगमनकतया तदनुसारेणेति बोध्यम् , एवमन्यत्रापि । (पासाईए त्ति) अनेन " पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे " इति पदचतुष्टय ग्राह्य,तच्च प्राग्वत्। अथात्र पद्मवरवेदिकादिवर्णनायाह-(से ण) इत्यादि व्यक्तम्। अत्र सुखावतारोत्तारौ कथं भवत·? इत्याह-(तस्स ण) इत्यादि । तस्य गङ्गाप्रतापकुण्डस्य त्रिदिशि दिक्त्रये वक्ष्यमाणलक्षणे त्रीणि सोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि,एतद्व्याख्या प्राग्वत्,शेष व्यक्तम्। (तेसिणं)इत्यादि। व्यक्त,जगतीवर्णकतुल्यत्वात्। नवरम्-(आलंबणा) अवतारोत्तारयोरालम्बनहेतुभूता· अवलम्बनबाहावयवा·,अवलम्बनबाहा नाम द्वयो पार्श्वयोरवलम्बनाश्रयभूता भित्तय । (तेसिण)इत्यादि । तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरत प्रत्येक प्रत्येक तोरणानि प्रज्ञप्तानि । तानि तोरणानि नानामणिमयानि नानामणिमयेषु स्तम्भेषु उपनिविष्टानि सामीप्येन स्थितानि तानि च कदाचिच्चलानि स्थानभ्रष्टानीत्यर्थं । अथवा पदप्रतीतानि भवेयुरिति सन्निविष्टानि सम्यग् निश्चलतया अपदपरिहारेण च निविष्टानि,ततो विशेषणसमास·। विविधा नाना विच्छित्तिकलितामुक्ताफलानि, अन्तराशब्दोऽगृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद्वीप्सां गमयति । (अतरातरोवइआ) आरोपिता यत्र तानि । तथा विविधैस्तारारूपैस्तारिकारूपैरुपचितानि,तोरणेषु हि शोभार्थं तारिकाणि बध्यन्ते इति प्रतीत लोकेऽपि। ईहामृगा वृका ,ऋषभा वृषभा·,व्याला भुजङ्गा ,रुरवो मृगविशेषाः, शरभा अष्टापदा , चमराः आटव्या गाव ,वनलता अशोकादिलताः प्रतीता , पद्मलता· पद्मिन्य , शेष प्रतीतम् ; एतासां भक्तयो विच्छित्तयो याभिस्ताभिश्चित्राणि। स्तम्भोद्गतया स्तम्भोपरिवर्तिन्या वज्रवेदिकया परिगतानि परिकरितानि सन्ति यानि अभिरामाणि अभिरमणीयानि तानि तथा । विद्याधरयोर्विशिष्टशक्तिमत्पुरुषविशेषयोर्यमल समश्रेणिकं युगल द्वन्द्वं तेनेव यन्त्रेण सचरिष्णुपुरुषप्रतिमाद्वयरूपेण युक्तानि, आर्षत्वाच्चैवविधः समास । अथवा प्राकृतत्वेन तृतीयालोपात् । विद्याधरयमलयुगलेन वेति, शेष पूर्ववत्। अर्चिषां मणिरत्नप्रभाणां सहस्रैर्मालनीयानि परिवारणीयानि रूपकसहस्रकलितानीति स्पष्टम।भृशमत्यर्थं मानं प्रमाण येषां तानि तथा।(भिभिसमाण त्ति) " भासेर्भिसः " ८ । ४ । २०३ । इत्यनेन भिसादेशे प्रकृष्टार्थप्रत्यये रूपसिद्धिः । अत्यर्थं देदीप्यमानानि लोकने सति चक्षुषो लेश· श्लेषो यत्र तानि, त्रिपदो बहुव्रीहि·। पदविपर्यास· प्राकृतत्वात,शेष सुबोधम् । नवर घण्टावलेर्वातवशेन चलिताया मधुरो मनोहरश्च स्वरो येषु तानि तथा। (तेसिण) इत्यादि । अस्य व्याख्या प्राग्वत् । (तेसिणं) इत्यादि । तेषां तोरणानामुपरि बहवः कृष्णचामरध्वजाः, एवं नीलचामरध्वजादयोऽपि वाच्या·, ते च सर्वेऽपि कथभूता·? इत्याह-अच्छा आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलाः, श्लक्ष्णा· श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापिताः, रूप्यमया वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पादा येषां ते तथा । वज्रमयो दण्डो रूप्यपट्टमध्यवर्त्ती येषा ते तथा । जलजानामिव जलजकुसुमानां पद्मादीनामिवाऽमलो, न तु कुद्रव्यगन्धसम्भिमो यो गन्ध· स विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिका· । " अतोऽनेकस्वरात् " ७ । २ । ६ । इति (हैम०) इकप्रत्यय· । अत एव सुरम्याः (पासाईआ) इत्यादि प्राग्वत । (तेसिण) इत्यादि। अस्य व्याख्या प्राग्वत् । अथ गङ्गाद्वीपवक्तव्यतामाह-(तस्स गगप्पवाय) इत्यादि। तस्य गङ्गाप्रपातकुण्डस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेको गङ्गादेव्या वासभूतो द्वीपो 'गङ्गाद्वीप' इति नाम्ना द्वीप प्रज्ञप्त , मध्यलोपिसमासात् साधुः। अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भेण सातिरेकाणि पञ्चविंशतिं योजनानि परिक्षेपेण द्वौ क्रोशौ यावदुच्छ्रितो जल तावत जलपर्यन्तात सर्वतोवर्तिजलस्य जलेनावृतस्य क्षेत्रस्य द्वीपव्यवहारात। शेष व्यक्तम्। (से ण) इत्यादि । स गङ्गाद्वीप एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन सर्वत समन्तात् संपरिक्षिप्त , वर्णकश्च भणितव्यो जगतीपद्मवरवेदिकावदिति । अथ तत्र यद्यदस्ति तदाह-(गगादीवस्स ण) इत्यादि । गङ्गाद्वीपस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभाग प्रज्ञप्तः । तस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे गङ्गाया देव्या महदेक भवनं प्रज्ञप्तम। आयामादिविभागादिकं शय्यावर्णकपर्यन्त सूत्र सव्याख्यान श्रीभवनानुसारेण ज्ञेयम् । अथ तामन्वर्थं पृच्छति (से केणट्ठेण) इत्यादि । व्यक्तम् । अथ गङ्गा यथा समुपसर्पति तथाह-(तस्स ण) इत्यादि।तस्य गङ्गाप्रपातकुण्डस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन प्रव्यूढा निर्गता सती गङ्गा महानदी उत्तरार्द्धभरतवर्षं इयूती इयूती गच्छन्ती गच्छन्ती सप्तभि· सलिलानां नदीनां सहस्रैरापूर्यमाणा आपूर्यमाणा भ्रियमाणा भ्रियमाणा अध· खण्डप्रपातगुहाया वैताढ्यपर्वत दारयित्वा भित्त्वा दक्षिणार्द्धभरत वर्षं इयूती इयूती दक्षिणार्द्धभरतवर्षस्य बहुमध्यदेशभाग गत्वा पूर्वाभिमुखा आवृत्ता सती चतुर्दशभि सलिलासहस्रै· समग्रा सम्पूर्णा आपूर्यमाणा इत्यर्थ· । अधोभागे जगतीं जम्बूद्वीपप्राकारं दारयित्वा पूर्वेण लवणसमुद्र समुपसर्पति अवतरतीत्यर्थ । अथास्या एव प्रवाहमुखयो पृथुत्वोद्वेधौ दर्शयति (गगा ण) इत्यादि । गगा महानदी प्रवहे यत· स्थानात् उह्लादु प्रवर्त्तते स प्रवाहः। पद्मद्रहतोरणान्निर्गम इत्यर्थः । तत्र षट् सक्रोशानि योजनानि

विष्कम्भेण तथा क्रोशार्द्धमुद्वेधेन महानदीनां सर्वत्रोद्वेधस्य व्यासपञ्चाशत्तमभागरूपत्वात् , अस्तीति शेषः । तदनन्तरमिति पद्मद्रहतोरणीयव्यासादनन्तरम्,एतेन यावत्क्षेत्रं स व्यासोऽनुवृत्तस्तावत् क्षेत्रादनन्तरं गङ्गाप्रपातकुण्डनिर्गमादनन्तरमित्यर्थः । एतेन च योऽन्यत्र प्रवहशब्दे मकरमुखप्रणालनिर्गमः प्रपातकुण्डनिर्गमो वाऽभिहितः स नेति श्रीअभयदेवसूरिपादैः समवायाङ्गवृत्तौ,श्रीमलयगिरिपादैश्च बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तौ पद्मद्रहतोरणनिर्गमपरत्वेनैव व्याख्यानात् । एवमुद्वेधेऽपि ज्ञेयम् । मात्रया मात्रया क्रमेण क्रमेण प्रतियोजनं समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोर्धनुर्दशकवृद्ध्या प्रतिपार्श्वं धनुः पञ्चकवृद्ध्येत्यर्थः । परिवर्धमाना परिवर्धमाना मुखे समुद्रप्रवेशे द्वाषष्टिं योजनानि अर्धयोजनं च विष्कम्भेण प्रवहनात्मुखमानस्य दशगुणत्वात् सक्रोशयोजनमुद्वेधेन सार्धद्वाषष्टियोजनप्रमाणमुखव्यासस्य, पञ्चाशत्तमभागे एतावत एव लाभात् । उभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां संपरिक्षिप्ता गङ्गेत्यर्थः । प्रतियोजनं धनुर्दशकवृद्धिस्त्वेवम्-मुखव्यासात् प्रवहव्यासेऽपनीतेऽवशिष्टे धनूरूपे कृते सूत्रिकायामेन नदीदैर्घ्यप्रमितप्रदेशगतयोजनसंख्यया गुण्यते यावत् स्यात्तावत्युभयपार्श्वयोर्वृद्धिर्ज्ञातव्या । तथाहि-गङ्गाया प्रवहे व्यासः योजन ६ क्रोशमुखे तु योजन ६२ क्रोश २।तत्र मुखव्यासात् प्रवहव्यासेऽपनीते जातं योजन ५६ क्रोश १, योजनानां च क्रोशकरणाय चतुर्भिर्गुणने उपरितनैकक्रोशप्रक्षेपे च जाताः २२५ । क्रोशे च धनुषां सहस्रद्वयमिति सहस्रद्वयेन गुण्यन्ते,जातानि धनूंषि ४५०००० । ततः पञ्चचत्वारिंशता सहस्रैर्भज्यन्ते, लब्धानि १० धनूंषि । एकेन गुण्यन्ते,जातानि १० । 'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति न्यायात् । एतावती च समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोः प्रवहादेकस्मिन् योजने गते जलवृद्धिः । अथ मूलाद् योजनद्वयान्ते यदा वृद्धिर्ज्ञातुमिष्यते तदा दश धनूंषि द्विकेन गुण्यन्ते, जातानि २० । एतावती प्रवहादुभयपार्श्वयोर्योजनद्विकान्ते वृद्धिः स्यात् । अन्यापार्श्वे १०, एतावत्येकपार्श्वे वृद्धिः । एवं सर्वत्र भाव्यम् । जं० ४ वक्ष० ।

गंगासिंधूओ णं महाणदीओ पणवीसं गाउयाणि पोहत्तेणं घडमुहपवित्तिएणं मुत्तावलिहारसंठिएणं पवातेणं पडन्ति ।

(गंगा) इत्यादि । पञ्चविंशतिगव्यूतानि पृथुत्वेन च प्रपातस्तेनेति शेषः । (दुहओ त्ति) उभयोर्दिशोः पूर्वतो गङ्गा,पश्चिमतः सिन्धुरित्यर्थः । पद्मद्रहाद् विनिर्गते पञ्च पञ्च योजनशतानि पर्वतोपरि गत्वा दक्षिणाभिमुखे प्रवृत्ते (घडमुहपवित्तिएणं ति) घटमुखादिव पञ्चविंशतिक्रोशे पृथुलजिह्विकात् मकरमुखप्रणालात् प्रवृत्तेन मुक्तावली नाम मुक्तावलीनां यो हारस्तत्संस्थितेन प्रपतज्जलसमन्तानेन योजनशतोच्छ्रितस्य हिमवतोऽधोवर्तिनोः स्वकीययोः प्रपातकुण्डयोः प्रपतत । स० २५ सम० ।

गंगासिंधूओ णं महाणदीओ पवाहे सातिरेगेणं चउवीसं कोसे वित्थारेणं पण्णत्ता ॥ स० २४ सम० ।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स दाहिणेणं गंगामहाणदिं पंच महाणदीओ समप्पेंति । तं जहा–जउणा, सरऊ, आदी, कोसी, मही । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

गङ्गाऽवतारः–

अन्यदा जह्नुकुमारेण कथञ्चित्सगरः सन्तोषितः । स उवाच–

जह्नुकुमार! यत्तव रोचते तन्मार्गय । जह्नुरुवाच-तात ! ममास्त्ययमभिलाषः यत्तातानुज्ञातोऽहं चतुर्दशरत्नसहितोऽखिलभ्रातृपरिवृतः पृथ्वीं परिभ्रमामि । सगरचक्रिणा तत् प्रतिपन्नम् । प्रशस्तमुहूर्ते सगरचक्रिणः समीपात् स निर्गतः ससैन्यवाहनः । अनेकजनपदेषु भ्रमन् प्राप्तोऽष्टापदपर्वते । सैन्यमधस्तान्निवेश्य स्वयमष्टापदपर्वतमारूढः । दृष्टवांस्तत्र भरतनरेन्द्रकारितं मणिकनकमयं चतुर्विंशतिजिनप्रतिमाधिष्ठितं स्तूपशतसङ्कुलं जिनायतनम् । तत्र जिनप्रतिमा अभिवन्द्य जह्नुकुमारेण मन्त्रिणः पृष्टम्-केन पुण्यवता इदमतीव रमणीयं जिनभवनं कारितम्? मन्त्रिणा कथितम्-भवत्पूर्वजेन श्रीभरतचक्रिणेति श्रुत्वा जह्नुकुमारोऽवदत्-अन्यः कश्चिदष्टापदसदृशः पर्वतोऽस्ति यत्रेदृशमन्यच्चैत्यं कारयाम ?। चतसृषु दिक्षु पुरुषास्तद्गवेषणाय प्रेषितास्ते सर्वत्र परिभ्रम्य समायाता ऊचुः-स्वामिन् ! ईदृशः पर्वतः क्वापि नास्ति । जह्नुना भणितम्-यद्येवं वयं कुर्मो एतस्यैव रक्षां,यतोऽत्र क्षेत्रे कालक्रमेण लुब्धाः सर्वे नरा भविष्यन्ति,अभिनवकारणात् । पूर्वकृतपरिपालनं श्रेयः , ततो दण्डरत्नं गृहीत्वा समन्ततोऽष्टापदपार्श्वेषु जह्नुप्रमुखाः सर्वेऽपि कुमाराः खातुं लग्नाः । तच्च दण्डरत्नं योजनसहस्रं भित्त्वा प्राप्तं नागभवनेषु । तेन तानि (योजनानि) भिन्नानि दृष्ट्वा नागकुमाराः शरणं गवेषयन्तो गता नागराजज्वलनप्रभसमीपे । कथितः स्वभवनविदारणवृत्तान्तः । सोऽपि सम्भ्रान्त उत्थितोऽवधिना ज्ञात्वा क्रोधोद्धुरः समागतः सगरसुतसमीपम् । भणितं चानेन भो भो ! किं भवद्भिर्दण्डरत्नेन पृथ्वीं विदार्य अस्मद्भवनोपद्रवः कृतः ?। अविचार्य भवद्भिरेतत्कृतम् । यत उक्तम्–"अप्पवहाए नूणं,होइ बलं उत्तणाण भुवणम्मि । नियपक्खुत्तलेण चिय,पडइ पयंगो पईवम्मि"॥१॥ ततो नागराजोपशमननिमित्तं जह्नुना भणितम्–भो नागराज ! कुरु प्रसादम्,उपसंहर क्रोधसम्भरं,क्षमस्वास्मदपराधमेकं,न ह्यस्माभिर्भवनानामुपद्रवनिमित्तमेतत्कृतम्, किन्तु अष्टापदचैत्यरक्षार्थमेषा परिखा कृता,न पुनरेवं करिष्यामः । तत उपशान्तकोपो ज्वलनप्रभः स्वस्थानं गतः । जह्नुकुमारेण भ्रातॄणां पुर एवं भणितम्–एषा परिखा दुर्लङ्घ्यापि जलविरहिता न शोभते,ततः इमां नीरेण पूरयाम । दण्डरत्नेन गङ्गां भित्त्वा जह्नुना जलमानीतं, भृता परिखा । तज्जलं नागभवनेषु प्राप्तम् । जलप्रवाहसन्त्रस्तं नागनागिनीप्रकरमितस्ततः प्रणश्यन्तं प्रेक्ष्य प्रदत्तावधिज्ञानोपयोगः कोपानलज्वालामालाकुलो ज्वलनप्रभ एवमचिन्तयत्–अहो ! एतेषां जह्नुकुमारादीनां महापापानां मया एकवारमपराधः क्षान्तः । पुनरधिकतरमुपद्रवं कृतम् । ततो दर्शयाम्येषामविनयफलम् । इति ध्यात्वा ज्वलनप्रभेण तद्वधार्थं नयनविषा महाफणिनः प्रेषितास्ते परिखाजलान्तर्निर्गत्य नयनैस्ते कुमाराः प्रलोकिता भस्मराशीभूताः सर्वेऽपि सगरसुताः । तथाभूतांस्तान् वीक्ष्य सैन्ये हाहारवो जातः । मन्त्रिणा उक्तम्–एते तु तीर्थरक्षां कुर्वन्तोऽवश्यभावितया इमामवस्थां प्राप्ताः सकृतार्था एव भविष्यन्तीति किं शोच्यन्ते?। अतस्त्वरितमितः प्रयाणं क्रियते । गम्यते महाराजचक्रिसमीपम् । सर्वसैन्येन मन्त्रिवचनमङ्गीकृतम् । ततस्त्वरितप्रयाणकरणेन क्रमात् प्राप्तं स्वपुरसमीपे । ततः सामन्तामात्यादिभिरेवं विचारितम्-समस्तपुत्रवधोदन्तः कथं चक्रिणो वक्तुं पार्यते?। ते सर्वे दग्धा वयं चाऽक्षताङ्गाः समायाता एतदपि प्रकामं त्रपाकरं, ततः सर्वेऽपि वयं प्रविशामोऽग्नौ । एवं विचारयतां तेषां पुरः समायात एको द्विजः । तेनेदमुक्तम्–"भो वीराः ! किमेवमाकुलीभूताः ?, मुञ्चत विषादं, यतः संसारे न किञ्चित्सुखं दुःखमत्यन्तमद्भुतम्

स्ति । भणितं च-"कालम्मि अणाईए, जीवाणं विविहकम्मवसगाण । तं नत्थि संविहाणं, जं संसारे न संभवइ"॥१॥ अहं सगरचक्रिणः पुत्रवधव्यतिकरं कथयिष्यामि । सामन्तादिभिस्तद्वच प्रतिपन्नम्। ततः स द्विजो मृतं बालकं करे कृत्वा 'दष्टोऽसि' इति वदन् सगरचक्रिगृहद्वारे गतः। चक्रिणा तस्य विलापशब्दः श्रुतः। चक्रिणा स द्विज आकारितः। केन दष्टोऽसि? इति चक्रिणा पृष्टः,स प्राह-देव! एक एव मे सुतः सर्पेण दष्टो मृतः, एतद् खेनाहं विलपामीति । करुणासागर! त्वमेनं जीवय। अस्मिन्नवसरे तत्र मन्त्रिसामन्ताः प्राप्ताः,प्राप्ताः, चक्रिणं प्रणम्य उपविष्टाः। तदानीं चक्रिणा राजवैद्यमाकार्य उक्तम्-एनं निर्विषं कुरु। वैद्येन तु चक्रिसुतमारणं श्रुतवता उक्तम् राजन्! यस्मिन् कुले कोऽपि न मृतः तत्कुलाद्भस्म यद्यानयसि तदैनमहं जीवयामि। द्विजेन गृहे गृहे प्रश्नपूर्वकं भस्म मार्गितं, गृहमनुष्याः स्वमातृपितृभ्रातृदुहितृप्रमुखकुटुम्बमरणान्याचख्युः। द्विजश्चक्रिसमीपे समागत्य उवाच-नास्ति वैद्योपदिष्टलाक्षणभस्मोपलब्धिः, सर्वगृहे कुटुम्बमनुष्यमरणसद्भावात् । यद्येवं ततः किं स्वपुत्रं शोचसि? सर्वसाधारणमिदं मरणम् । उक्तं च-" किं अत्थि कोइ भुवणे, जस्स जायाइ नेव पायाइ । नियकम्मपरिणईए, जम्मणमरणाइं संसारे"॥१॥ ततो ब्राह्मण! मा रुद, शोकं मुञ्च, आत्महितं कार्यं चिन्तय यावत् त्वमपि एवं मृत्युसिंहेन न कवलीक्रियसे । विप्रेण भणितम्-देव! अहमपि जानाम्येवं, परं पुत्रमन्तरेण सम्प्रति मे कुलक्षयः। तेनाऽहमतीव दुःखितः। त्वं तु दुःखिताऽनाथवत्सलोऽप्रतिहतप्रतापश्चासि,ततो मे देहि पुत्रजीवितदानेन मनुष्यभिक्षाम्। चक्रिणा भणितम्-भद्र! इदमशक्यप्रतीकारम्। उक्तञ्च-" सीयन्ति सव्वसत्थाइं, एत्थ न कमन्तिमन्ति तताइं । अदिट्ठपहरणम्मी, विहिम्मि किं पोरसं कुणइ "॥१॥ ततः परित्यज्य शोकं कुरु परलोकहितम्। मूर्ख एव हृते नष्टे मृते करोति शोकम्। विप्रेण भणितम्-महाराज! सत्यमेतत्;न कार्योऽत्र जनकेन शोकः। ततस्त्वमपि मा कुर्याः शोकम्, असम्भावनीयमत्र शोककारणं जातम्। संभ्रान्तेन चक्रिणा पृष्टम्-भो विप्र!कीदृशं मम शोककारणं जातम्?। विप्रेण भणितम्-देव!तव षष्टिसहस्राः पुत्राः कालं गताः। इदं श्रुत्वा चक्री वज्रप्रहाराहत इव नष्टचेतनः सिंहासनान्निपतितो मूर्च्छितः सेवकैरुपचरितश्च। मूर्च्छाऽवसाने च शोकातुरमना मुक्तकण्ठेन रुरोद। एवं विलापांश्चकार-हा पुत्राः!हा हृदयदयिताः!हा बन्धुवल्लभाः!हा गुणरत्नाकराः!हा विनीताः!हा सकलगुणनिधयः!कथं मामनाथं मुक्त्वा यूयं गताः? युष्मद्विरहार्तस्य मम दारुणं दैवतं हा निर्दय पापविधे! एकपदे चैव सर्वान् बालकान् संहरतस्तव किं पूर्णं जातं?। हा निष्ठुरहृदय ! त्वमसह्यसुतमरणदुःखसन्तप्तं किं न शतखण्डं व्रजसि?। एवं विलपश्चक्री तेन विप्रेण भणितः-महाराज! त्वं मम भवप्रत्येयम् उपदिष्टवान्,स्वयं च कथं शोकं गच्छसि? इति। उक्तञ्च-" परवसणम्मि सुदेहो, ससारासायर कहइ लोओ। णियबन्धुजणविणासे,सव्वस्स वि चलइ धीरत्तं"॥१॥ एकपुत्रस्यापि मरणं दुःसहं, किं पुनः षष्टिसहस्रपुत्राणां?,तथापि सत्पुरुषा व्यसनं सहन्ति,पृथिव्येव वज्रनिपातं सहति नापर इति। अवसरस्य सुधीरत्वमस्मत्र विलपितेन । यत उक्तम्-" सोयं ताणं पि नो ताणं, कम्मबन्धो उ केवलो । तो पंडिया न सीयन्ति, जाणता भवरूवयं "॥१॥ एवमादिवचनान्यर्मैर्विप्रेण स्वस्थीकृतो राजा । भणिताश्च तेनैव सामन्तमन्त्रिणः -वदन्तु यथावृत्तं षष्टिसहस्रपुत्रमरणव्यतिकरम्। तैरुक्तः सकलोऽपि तद्व्यतिकरः। प्रधानपुरुषैः सर्वैरपि राजा धीरतां नीतः कृतवान्। अत्रान्तरेऽष्टापदासन्नवासिनो जनाः चक्रिणे एवं कथयन्ति यथा-देव! योऽयं गङ्गाप्रवाह आनीतः स आसन्नग्रामनगराण्युपद्रवान् प्रसरतीति तं प्रवाहं निवारयतु। देव! अन्यस्य कस्यापि तन्निवारणशक्तिर्नास्तीति। चक्रिणा स्वपौत्रो भगीरथिर्भणितः-वत्स! राजामनुज्ञाप्य दण्डरत्नेन गङ्गाप्रवाहं नय समुद्रम्। ततोऽष्टापदसमीपं गतः। अष्टमभक्तेन नागराज आराधितः भणति-किं ते सम्पादयामि?,प्रणामपूर्वं भगीरथिना भणितम् प्रसादेनामुं गङ्गाप्रवाहम् उदधिं नयामि। महानुपद्रवोऽस्तीति। नागराजेन भणितम्-'विगतभयस्त्वं कुरुष्व समीहितं,निवारयिष्याम्यहं भरतनिवासिनो नागान्' इति भणित्वा नागराजः स्वस्थानं गतः। भगीरथिनापि कृता नागानां बलिकुसुमादिभिः पूजा। ततः प्रभृति लोको नागबलिं करोति। भगीरथिर्दण्डेन गङ्गाप्रवाहमाकर्षन् भञ्जन् बहून् स्थलशैलप्रकारान्, प्राप पूर्वसमुद्रं तत्रावतारिता गङ्गा। तत्र नागानां बलिपूजा विहिता। यत्र गङ्गा सागरे प्रवाहिता तत्र 'गङ्गासागरं' तीर्थं जातम्। गङ्गा जह्नुना नीतेति 'जाह्नवी' भगीरथिनीतेति 'भागीरथी'। भगीरथिस्तदा मिलितैर्नागैः पूजितो गतोऽयोध्यां,पूजितश्चक्रिणा तुष्टेन स्थापितः स्वराज्ये। उत्त० १८ अ०। आ० म०। गङ्गासंख्या-एका भारते,अष्ट मन्दरस्य पूर्वे शीताया महानद्या उत्तरे,अष्ट च मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे,इत्येवं सप्तदश। स्था० ८ ठा०। तदधिष्ठातृदेव्यां च। " ततो भरहो गंगाओ य वेइ,पच्छा सेणावती उत्तरिल्लं गंगानिक्खुडमो य वेइ। भरहो गंगाए सद्धिं वाससहस्सं भोगे भुंजइ" आ० म०प्र०। गोशालकमतेन कालप्रमाणभेदे।('गोसालय' शब्दे व्याख्या) भ०। जी०॥ "गंगापुलिनवालुकीया अवदालो विदलन" पादादिन्यासेऽधोगमनमिति भावस्तेन (सालिस) इति सदृशकं गङ्गापुलिनवालुकावदालसदृशम्। जी० ३ प्रति०। भ०।

गंगाकुंड-गङ्गाकुण्ड-न०। गङ्गाप्रपातह्रदे, जं० ४ वक्ष०। तानि च सप्तदश गङ्गाकुण्डवद्भावनीयानि। नवरं गङ्गाकुण्डानि नीलवर्द्धपश्चरपर्वतदक्षिणनितम्बस्थितानि षष्टियोजनायामविष्कम्भाणि मध्यवर्त्तिगङ्गादेवीभवनद्वीपानि त्रिदिक्सतोरणद्वाराणि येभ्यः। प्रत्येकं दक्षिणतोरणेन गङ्गा विनिर्गत्य विजयानि विभजन्त्यो भरतगङ्गावच्छीतामनुप्रविशन्तीति। स्था० ८ ठा०। (एतच्च सूत्रतः 'कच्छ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८५ पृष्ठे दर्शितम्)

गंगाकूड-गङ्गाकूट-न०। क्षुल्लहिमवतः पञ्चमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०। ('कूम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे तत्स्वरूपं दर्शितम्)

गंगाण्हाण-गङ्गास्नान-न०। जाह्नवीमज्जने, "अत्सु महारिसि एउ, भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु। मायइ चलण नवताहं, दिविदिवि गंगाण्हाणु" प्रा० ४ पादे।

गंगादीव-गङ्गाद्वीप-पुं०। गङ्गाप्रपातमध्यस्थे गङ्गादेवीभवनशोभिते द्वीपे। स्था०२ ठा०३ उ०। (तद्वर्णको 'गंगा' शब्दे उक्तः) "गंगासिंधुरत्तारत्तवईदेवीणं दीवा अट्ठट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता" स्था० ८ ठा०।

गङ्गावत्त-गंगावर्त्त-पुं०। आवर्त्तविशेषे, कल्प० ३ क्षण।

जी०।"गंगावत्तगपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहियअकोसायतपउमगंभीरवियडनाभा"गंगावर्त्तक इव प्रदक्षिणावर्ततरङ्गैरिव तरङ्गैस्तिसृभिर्वलिभिर्भङ्गुरा तरङ्गभङ्गुराः । रविकिरणैः सूर्यकिरणैस्तरुणमभिनवं तत्प्रथमतया तत्कालमित्यर्थः, यद्बोधितं उन्निद्रीकृतम्, अत एवाकोशायत इत्याकोशायमानं विकचीभवदित्यर्थः, पद्म तद्वद्गम्भीरा च विकटा च नाभिर्येषां ते गङ्गावर्तकप्रदक्षिणावर्ततरङ्गभङ्गुररविकिरणतरुणबोधिताकोशायमानपद्मगम्भीरविकटनाभाः । जी० ३ प्रति० । औ० ।

गंगासय-गङ्गाशत-न० । गोशालकमतेन महाकल्पान्तर्गतकालपरिमाणभेदे । भ० १५ श० १ उ० । ('गोसालय' शब्दे वक्तव्यता)

गंगासागर-गङ्गासागर-पुं० । यत्र गङ्गा सागरे प्रवहिता तस्मिन् तीर्थविशेषे, उत्त० १८ अ० ।

गंगेय-गाङ्गेय-पुं० । भीष्मपितामहे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आर्यमहागिरिशिष्यधनगुप्तशिष्ये, द्वैक्रियनिह्नवानां धर्माचार्ये, आ० चू० १ अ० । स्वनामख्याते पार्श्वापत्येऽनगारे,

तद्वक्तव्यता चैवम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णामं णयरे होत्था वण्णओ दूइपलासे चेइए सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा गंगेयं णामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी । भ० ९ श० ३२ उ० ।

(स्वतोऽस्वतो वा नैरयिकादय उत्पद्यन्ते इत्याद्युत्पादोद्वर्तनाविषयाणि प्रश्नोत्तरसूत्राणि "उववाय" शब्दे द्वि० भागे ९६५ पृष्ठे उक्तानि)

(प्रवेशनकवक्तव्यता च ' पवेसणय ' शब्दे वक्ष्यते)

तप्पभिइं च णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणइ सव्वण्णू सव्वदरिसी. तएणं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ वंदेइ णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइय एवं जहा कालासवेसियपुत्ते अणगारे तहेव भाणियव्वं० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥

(तप्पभिइं च त्ति) यस्मिन् समयेऽनन्तरोक्तं वस्तु भगवता प्रतिपादितं स एव समयः प्रभृतिरादिर्यस्य प्रत्यभिज्ञानस्य तत्तथा। चशब्दः पुनरर्थे समुच्चये वा । (से त्ति) असौ (पच्चभिजाणइ त्ति) प्रत्यभिजानाति स्म । किं कृत्वा ? इत्याह-सर्वज्ञं सर्वदर्शिनं जानप्रत्ययत्वादिति । भ० ९ श० ३२ उ० ।

गंगेयभंग-गाङ्गेयभङ्ग-पुं० । गाङ्गेयभङ्गानां गतिचतुष्टयमाश्रित्य सर्वाग्रमस्याऽनया रीत्या, तेषामयं सप्ततमो भेद इति च प्रसाद्यमिति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्-नरकगतौ सर्वप्रवेशनकेष्वसंयोगिकान् सप्त सप्त भङ्गान् रत्नप्रभादिगतद्विकादिसंयोगसत्कभङ्गैर्द्विप्रवेशनरकादिगतद्विकादिसंयोगाश्च गणयित्वा यथा जीतभङ्गानेकीकृत्य भङ्गसर्वाग्रमानयेत् प्रति प्रवेशनकं भिन्नं भिन्नं सर्वाग्रमायान्ति । प्रवेशनकभङ्गसंबन्धस्तु न संभवतीति संभाव्यते । एवं गतित्रयमाश्रित्यापि यथासंभवं ज्ञेयम् । किञ्चैतद्विषये भगवतीसूत्रवृत्तौ करणं दर्शितं नास्ति तेन सप्ततमो भागो व्यक्त्या न लिखितुं शक्यत इति । ७७ प्र० सेन० १ उल्ला० ।

गंज-गञ्ज-पुं० । गजि-घञ्-अवज्ञायाम्, आधारे घञ् गोष्ठागारे, भाण्डागारे, खनौ, पामरगृहे, हट्टस्थाने, मद्यभाण्डे, मदिरागृहे, स्त्री० टाप्० वाच० । भोज्यविशेषे च, प्रश्न० ५ सम्व० द्वार ।

गंजसाला-गञ्जशाला-स्त्री० । घृण-धनादिस्थाने, " जत्थं धणं दिज्जति सा गजसाला " नि० चू० ६ उ० ।

गंठ-ग्रन्थ-धा० सन्दर्भे, वा चु० पक्षे क्र्या० प० सक० सेट् । वाच० । ग्रन्थो गंठः । ८ । ४ । १२० । इति ग्रन्थो गठादेशः । 'गठेइ' ग्रन्थयति० । प्रा० ४ पाद ।

ग्रन्थ-पुं० । "ग्रन्थो गठ" इति गठ । मिथ्यात्वादौ आन्तरे बाह्ये च । धनादौ तस्य धर्मोपकरणवर्जनात्तथात्वम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । आचा० ।

गंठि-ग्रन्थि-पुं० । 'ग्रन्थ सन्दर्भे' इति । कार्षापणादिपोट्टलिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । पर्वणि, भङ्गस्थाने च, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रव० । प्रज्ञा० । ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः । जीवेन कर्म निर्जरयताऽनतिक्रान्तपूर्वकर्मस्थितिविशेषे, पञ्चा० ।

घसणघोलणजोगा, जीवेण जया इमेऊ कम्मठिती ।
खविया सव्वा सागरकोडीकोडीए मोत्तूण ॥ १ ॥
तीयविपयेचमेत्त, खविय पत्थतरंमि जीवस्स ।
हवति हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा वेंति ॥ २ ॥
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ ३ ॥
ता इति तावद् ग्रन्थिभेदप्रदेशं यावदित्यर्थः । पञ्चा० ३ विव० ।

ग्रन्थिः किमुच्यते ? इत्याह-

गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ ११९९ ॥

ग्रन्थिरिति भण्यते, कः ? इत्याह-घनोऽतिनिबिडो रागद्वेषोदयपरिणामः । कस्य? जीवस्य, कथंभूतः ? कर्मजनितः कर्मविशेषप्रत्ययः । अयं च दुर्भेदो दुर्मोचो दुःक्षपणीयो भवति। क इव ? वल्कादेर्दारुविशेषस्य संबन्धी, कर्कशघनगूढरूढग्रन्थिरिव। कर्कशोऽतिपरुषः, घनः सर्वतो निबिडः, स चार्द्रोऽपि स्यादित्याह रूढः शुष्कः, गूढः कथमप्युद्वेष्टयितुमशक्योऽतिप्रचयमापन्नः, यथैवंभूतो द्रव्यग्रन्थिर्दुर्भेदो भवत्येवं रागद्वेषोदयपरिणामोऽप्यसौ दुर्भेदो भवत्यतो ग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्व्यपदिश्यत इति । विशे० ।

गंठिभेय-ग्रन्थिभेद-पुं० । अतितीव्ररागद्वेषपरिणामविदारणे, द्वा० १५ द्वा० । इह गम्भीराऽपारसंसारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्त्ताननन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेन नानाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तिकरणेन 'करणं परिणामोऽत्रेति' वचनादध्यवसायविशेषरूपेणायुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमास-

ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति । अत्र चान्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामरूपः कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलवक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति । तदुक्तम्-

“ तीए वि थोवमित्ते, खविए इत्थंतरंमि जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एव जिणा विंति ॥ १ ॥
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥२॥ इति ।

इमं च ग्रन्थिं यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वा अनन्तशः समागच्छन्ति । उक्तं च आवश्यकटीकायाम्-अभव्यस्यापि कस्यचिद्यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति । एतदनन्तरं कश्चिदेव महात्मा समासन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसामर्थ्याऽन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति । अत्र यथाप्रवृत्तिकरणाऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणानामयं क्रमः-

‘ जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ” ॥ १ ॥

(गंठिं समइच्छओ त्ति) ग्रन्थिं समतिक्रामतो भिन्दानस्येति । (सम्मत्तपुरक्खडे त्ति) सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन्नासन्नसम्यक्त्वे जीवे अनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः । एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः स्थितिद्वयं भवति । अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा । तस्मादेवान्तरकरणादुपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः स्थापना । तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव । अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाभावात् । यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति । तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः । यदाहुः श्रीपूज्यपादाः-“ ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ” ॥१॥ इति व्यावर्णितं ग्रन्थिभेदसंभवमौपशमिकसम्यक्त्वम् । कर्म० ४ कर्म० । ततः किमित्याह—

भिन्नम्मि तम्मि लाभो, सम्मत्ताईण मोक्खहेऊणं ।
सो य दुलभो परिस्सम-चित्तविघायाइविग्घेहिं ॥ ११९६ ॥

तस्मिन् ग्रन्थौ भिन्ने क्षपयित्वा समतिक्रान्ते मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादीनां लाभो भवति । स च ग्रन्थिभेदो मनोविघातपरिश्रमादिविघ्नैरतिदुर्लभो अतिशयेन दुष्करः, तस्य हि जीवस्य ग्रन्थिभेदं चिकीर्षोर्विद्यासाधकस्येव बिभीषिकादिभ्यो मनोविघातो मनःक्षोभो भवति, प्रचुरदुर्जयकर्मशत्रुसंघातजयाच्च महासमरगतसुभटस्येव परिश्रमश्चातिशयेन संजायत इति ।

एतदेवाह-

सो तत्थ परिस्सम्मइ, घोरमहासमरनिग्गयाइ व्व ।
विज्जा य सिद्धिकाले, जह बहुविग्घा तहा सो वि ॥ ११९७ ॥

स जीवस्तत्र ग्रन्थिभेदे प्रवृत्तो घोरमहासमरशिरसि दुर्जयापाकृताऽनेकशत्रुगणसुभट इव, आदिशब्दाद् महासमुद्रावितारकवत् परिश्राम्यति । यथा च सिद्धिकाले विद्या बहुविघ्ना संपद्यते साधकस्योपसर्गैर्मनःक्षोभं जनयति, तथा सोऽपि ग्रन्थिभेद इति ।

अथ परः प्राह-

कम्मट्ठिई सुदीहा, खविया जइ निग्गुणेण सेसं पि ।
स खवेउ निग्गुणो च्चिय, किं पुणो दंसणाईहिं ॥ ११९८ ॥

यदि ग्रन्थिभेदात् पूर्वं सम्यक्त्वादिगुणविकलेनैवानेन जन्तुना सुदीर्घा द्राघीयसी कर्मस्थितिः क्षपिता, तर्हि शेषमपि कर्मांशं सम्यक्त्वादिगुणशून्य एव क्षपयतु, ततो मोक्षमप्येवमेवासादयतु; किं पुनः सम्यग्दर्शनादिगुणैस्तद्धेतुभिर्विकल्पितैः ? इति ।

अत्रोत्तरमाह-

पाएण पुव्वसेवा, परिमउई साहणम्मि गुरुतरिया ।
होइ महाविज्जाए, किरिया पाय सविग्घा य ॥ ११९९ ॥
तह कम्मट्ठिइखवणे, परिमउई मोक्खसाहणे गुरुई ।
इह दंसणाइकिरिया, दुलहा पायं सविग्घा य ॥ १२०० ॥

महाविद्यासाधनवदेतद् द्रष्टव्यम् । यथा महाविद्यायाः सिद्धिविषयायाः प्रायः पूर्वसेवा नातिगुर्वी, किन्तु परिमृद्वी भवति, तत्साधनकाले तु या क्रिया सा गुरुतरा अतिगरीयसी भवति, सविघ्ना च प्रायः संजायते ॥ विशे० ॥ ग्रन्थिभेदेनात्यन्तसंक्लेश इति । इह ग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्दृढो रागद्वेषपरिणामः, तस्य ग्रन्थेर्भेदे अपूर्वकरणवज्रसूच्या विदारणे सति लब्धशुद्धतत्त्वश्रद्धानसामर्थ्यान्नात्यन्तं न प्राणिघातिनिर्बन्धनया संक्लेशो रागद्वेषपरिणामः प्रवर्त्तते । नहि लब्धवेधपरिणामो मणिः कथञ्चिन्मलापूरितरन्ध्रोऽपि प्रागवस्थां प्रतिपद्यत इति । एतदपि कुतः ? इत्याह-न भूयस्तद्बन्धनमिति । यतो न भूयः पुनरपि तस्य ग्रन्थेर्बन्धनं निष्पादनं भेदे सति संपद्यत इति । किमुक्तं भवति ? यावती ग्रन्थिभेदकाले सर्वकर्मणामायुर्वर्जानां स्थितिरन्तःसागरोपमकोटाकोटिलक्षणाऽवशिष्यते तावत्प्रमाणमेवासौ सम्यगुपलब्धसम्यग्दर्शनो जीवः कथञ्चित् सम्यक्त्वापगमात्तीव्रायामपि तथाविधसंक्लेशप्राप्तौ बध्नाति, न पुनस्तद् बन्धेनातिक्रामतीति ॥ ध० १ अधि० । ग्रन्थिच्छेदे, द्वा० । अथ ग्रन्थिभेदस्वरूपम्-तत्र पञ्चेन्द्रियत्वसंज्ञित्वपर्याप्तत्वरूपाभिस्तिसृभिः लब्धिभिर्युक्तः । अथवा उपशमलब्धिः उपदेशश्रवणलब्धिः करणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगलब्धिस्त्रिकयुक्तः । करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्तकालं यावत् प्रतिसमयमनन्तगुणप्रवृद्ध्या विशुद्ध्या विशुध्यमानोऽवदायमानचित्तसन्ततिः । ग्रन्थिकसत्त्वानामभव्यसिद्धिकानां या विशोधिस्तामतिक्रम्य वर्तमानः । ततोऽनन्तगुणविशुद्धः । अन्यतरस्मिन् मतिश्रुतविभङ्गान्यतमस्मिन् साकारोपयोगे चान्यतमस्मिन् वर्तमानस्तिसृणां विशुद्धानां लेश्यानामन्यतमस्यां लेश्यायां वर्तमानः, जघन्यतस्तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायाम् । तथाऽऽयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्थितिमन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां कृत्वा अशुभानां क-

र्मणामनुभागचतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति । शुभानां च कर्मणां द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकं करोति । तथा ध्रुवप्रकृतिसप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्याः बध्नन् परावर्तमानाः स्वस्वभावप्रायोग्याः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति । ता अप्यायुर्वर्जाः, अतिविशुद्धपरिणामो हि बन्धमारभते । यदुत तिर्यङ् मनुष्यो वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् देवगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्बध्नाति । देवो नैरयिको वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् मनुजगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्बध्नाति । सप्तमनरकनारकः तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं बध्नाति, भवप्रायोग्यात् । बध्यमानास्थितिमन्तःसागरकोटाकोटिं बध्नाति, नाधिकां, योगवशात् । प्रदेशाग्रमुत्कृष्टजघन्यमध्यगं च बध्नाति । स्थितिबन्धे पूर्णे सत्यन्यस्थितिबन्धं प्राक्तनस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं करोति । ततः अन्यं पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं करोति । अतोऽन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वापेक्षया पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनं करोति । अशुभानां च प्रकृतीनां बध्यमानानामनुभागं द्विस्थानकं बध्नाति । तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणहीनं, शुभानां च चतुःस्थानकं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धं कुर्वन् करणं यथाप्रवृत्तं करोति, अपूर्वकरणं ततः अनिवृत्तिकरणमिति । करणं परिणामविशेषः । एतानि च त्रीण्यपि करणानि प्रत्येकमान्तर्मुहूर्तिकानि । ततः उपशान्ताद्धां लभते, सापि चाऽऽन्तर्मुहूर्तिकी यथाप्रवृत्तकरणं च । "अणुसमयं वड्ढंतो, अज्झवसाणाणणंतगुणणाए । परिणामट्ठाणाणं, दोसु वि लोगा असंखेज्जा" ॥ १ ॥ इति कर्मप्रकृतौ । प्रतिसमयमध्यवसानानामनन्तगुणतया विशुद्ध्या वर्धमानानां करणसमाप्तिं यावत् वर्धते । ते कियन्ति अध्यवसानानि भवन्ति । द्वयोरपि यथाप्रवृत्तापूर्वकरणयोः परिणामस्थानानामनुसमयं लोकाऽसंख्येया भवन्ति । यथाप्रवृत्तकरणे अपूर्वकरणे च प्रतिसमयेऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि-यथाप्रवृत्तकरणे प्रथमसमये विशोधिस्थानानि नानाजीवापेक्षया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, द्वितीयसमये विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं यावच्चरमसमयः । एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम् । अमूनि चाध्यवसायस्थानानि यथाप्रवृत्ताऽपूर्वकरणयोः सवयीनि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमावरणन्ति । तयोरुपरि चाऽनिवृत्तिकरणाध्यवसायानि मुक्तावलीसंस्थानि उपर्युपरि अमूनि अनुचिन्त्यमानानि प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्तमानान्यवगन्तव्यानि तिर्यक्पदस्थानपतितानि । इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते । तत्रैकः सर्वजघन्यया श्रेण्या प्रतिपन्नः, अपरः सर्वोत्कृष्टया विशोध्या । प्रथमजीवस्य प्रथमसमये मन्दा, द्वितीयसमये अनन्तगुणा, तृतीयेऽनन्तगुणा, एवं यावत् यथाप्रवृत्तकरणस्याऽसंख्येयभागो गतो भवति । ततः प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्य उत्कृष्टं विशोधिस्थानमनन्तगुणं वक्तव्यम् । ततोऽपि द्वितीये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, तत उपरि जघन्यविशोधिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्च एकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणं द्वयोर्जीवयोस्तावज्ज्ञेयं यावच्चरमसमये जघन्या विशोधिः । तत आचरमात् चरममभिव्याप्य यानि अमुक्तानि शेषाणि उत्कृष्टानि स्थानानि तानि क्रमेण निरन्तरमनन्तगुणानि वक्तव्यानि । तदेव समाप्तं यथाप्रवृत्तकरणम् । अस्य च यथाप्रवृत्तकरणस्य पूर्वप्रवृत्तं द्वितीयं नाम शेषकरणाभ्यां पूर्वं प्रथमं प्रवृत्त-

पूर्वप्रवृत्तमिति । अस्मिंश्च यथाप्रवृत्तकरणे स्थितिघातरसघातौ गुणश्रेणिर्वा न प्रवर्तन्ते, केवलमुक्तरूपा विशोधिरेवानन्तगुणा । यानि वा प्रशस्तानि कर्माण्यत्र स्थितौ बध्नाति तेषामनुभागं द्विस्थानकं बध्नाति । यानि च शुभानि येषां चतुःस्थानकं स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं पल्योपमसंख्येयभागन्यूनं च बध्नाति । सम्प्रत्यपूर्वकरणमभिधीयते-"बीयस्स बीयसमये, सट्ठाणमथिअणतरुक्कस्सा" इत्यादि वचनात् । द्वितीयस्याऽपूर्वकरणस्य यो द्वितीयः समयः तत्र जघन्यमपि विशोधिस्थानाद् अनन्तगुणं वक्तव्यम् । एतदुक्तं भवति, नेह यथाप्रवृत्तकरणवत् प्रथमतो निरन्तरं विशोधिस्थानमनन्तगुणं वक्तव्यं, किन्तु प्रथमसमये प्रथमतो जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सापि च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयवत् तावद् उत्कृष्टाद् विशोधिस्थानात् अनन्तगुणा । ततः प्रथमसमये एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रतिसमये तावद् वाच्यं यावच्चरमसमये उत्कृष्टा विशोधिः । अपूर्वाणि करणानि स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिस्थितिबन्धादीनि वर्तनानि यस्मिन् तत् अपूर्वकरणम् । तथाहि-अपूर्वकरणे प्रविशन् प्रथमसमयमेव स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिस्थितिबन्धं चान्यं युगपदारभते । तत्र स्थितिघातः स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागादुत्कर्षतः उदधिपृथक्त्वप्रमाणं, जघन्येन पुनः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिकण्डकमुत्किरति । उत्कीर्य च या स्थितिः अधो न खण्डयिष्यति तत्र तद्दलिकं प्रक्षिपति अन्तर्मुहूर्तेन कालेन, ततः स्थितिकण्डकमुत्कीर्यते । एवं द्वितीयम्, एवं तृतीयम्, एवं प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति । तथा च सति यद् अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये सत्कर्माऽऽसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् । रसघाते तु अशुभानां प्रकृतीनां यद् अनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननन्तानुभागभागान् अन्तर्मुहूर्तेन विनाशयति । ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमं भागं शेषाद् विनाशयति । एवमनेकानि अनुभागखण्डसहस्राणि एकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति । तेषां च स्थितिकण्डकानां सहस्रे द्वितीयमपूर्वकरणं परिसमाप्यते । स्थितिबन्धाद्धा तु अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये अन्य एव अपूर्वपल्योपमसङ्ख्येयभागहीनस्थितिबन्ध आरभ्यते । जीर्णस्थितिघातस्थितिबन्धौ तु युगपदेवारभ्येते, युगपदेव निष्ठां यातः । गुणश्रेणिस्तु "गुणसेढी निक्खेवो, समये असंखगुणणाए । अद्धादुगाइरित्तो, सेसे सेसे य निक्खेवो" ॥ २ ॥ भाविनाश्च घातितस्थितिखण्डमध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयात् प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया निक्षिपति । प्रथमसमये स्तोकं, द्वितीयसमये असङ्ख्येयगुणं, तृतीयसमये असंख्येयगुणम्, एवं यावच्चरमसमयः । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः, एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि । इत्यनेन प्रथमसमये स्तोकं, द्वितीयसमये असङ्ख्येयगुणं, तृतीयसमये असंख्येयगुणश्रेणिदलिकनिक्षेपो भवति । इति अपूर्वकरणस्वरूपम् । अनिवृत्तिकरणे एतदुक्तं भवति, अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामपि समाना एकरूपा विशोधिः । द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते, ये च वृत्ता, ये च वर्तिष्यन्ते, तेषामपि समा विशोधिः । एवं सर्वेष्वपि समयेषु । नवरं पूर्वतः उपरितनेऽनन्तगुणाऽधिका विशोधिः चरमसमयं यावदस्मिन् करणे प्रविष्टानां तु-

स्त्रकालानामसुमतां परस्परमध्यवसानानां या निवृत्तिर्व्यावृत्तिः सा न विद्यते। इत्यनिवृत्तिकरणम्। अनिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्ति अध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् अनन्तगुणवृद्धानि भवन्ति। अनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च भागे सङ्ख्येयतमे शेषे तिष्ठति। अन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति। अन्तरकरणकालश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः। अन्तरकरणे च क्रियमाणे गुणश्रेणेः सङ्ख्येयतमं भागमुत्किरति। उत्कीर्यमाणं च दलिकं प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। एवमुदीरणा आगालबलेन मिथ्यात्वोदयं निवार्य उपशमिकं सम्यक्त्वं लभते। उक्तं च-"मिच्छत्तुदये खीणे,लहइ सम्मत्तमोवसमीय सो। लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियं अलद्धपुव्वं जं" ॥१॥ मिथ्यात्वस्योदये क्षीणे सति स जीव उक्तेन प्रकारेण उपशमिकं सम्यक्त्वं लभते। यस्य सम्यक्त्वस्य लाभेन यदात्महितमलब्धपूर्वमर्हदादितत्त्वप्रतिपत्त्यादि तल्लभ्यते। तथाहि-सम्यक्त्वलाभे सति जात्यन्धस्य पुनश्चक्षुर्लाभे सति,एव जन्तोर्यथावस्थितवस्तुतत्त्वावलोको भवति। महाव्याध्यभिभूतस्य व्याध्यपगमे इव महांश्च प्रमोदः। अत्राऽनिवृत्तिकरणे क्रियमाणे यदि पुञ्जत्रयं करोति तदा प्रथमं क्षयोपशमसम्यक्त्वं लभते। अकृतत्रिपुञ्जः प्रथममुपशमसम्यक्त्वं लभते इति सिद्धान्ताशयः। कर्मग्रन्थमते तु प्रथममुपशममेव लभते। अयं च त्रिपुञ्जीकरणं उपशमे करोति इति ग्रन्थिभिज्ज्ञानं तत्त्वोपयोगलक्षणं तस्य अन्यविकल्पैः। किम् ? ॥ ६ ॥ अष्ट० ५ अष्ट०। (अत्र विशेषः 'सम्मदंसण' शब्दे वीक्ष्यः)

गंठिभेयकाल-ग्रन्थिभेदकाल-पुं०। यस्मिन् कालेऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणाभ्यां ग्रन्थिर्भिन्नो भवति तस्मिन्, ध० १ अधि०।

गंठिभेयग-ग्रन्थिभेदक-पुं०। न्यासान्यथाकारिणि,ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। चौरविशेषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदके, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

गंठिम-ग्रन्थिम-न०। ग्रन्थनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमम्। भावादिमप्रत्ययः। रा०। जी०। सूत्रसन्दर्भे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्रग्रथिते माल्यादौ, भ० ९ श० ३३ उ०। ज्ञा०। नि० चू०। दश०। कौशलातिशयाद् ग्रन्थिसमुदायनिष्पादिते रूपके, अनु०। ग०। ग्रथितपुष्पादिनिर्वर्त्तितस्वस्तिकादौ, आचा० २ श्रु० १२ अ०। गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

गंठिय-ग्रन्थित-त्रि०। सूत्रीकृते, विशे०। ज०।

ग्रन्थिक-पुं०। कर्मात्मको ग्रन्थो विद्यते येषां ते ग्रन्थिकाः। कर्मग्रन्थोऽपि तेषु प्राणिषु ग्रन्थिकसत्त्वेषु ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्थेषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। वाच०।

गंठिल्ल-ग्रन्थिमत्-त्रि०। ग्रन्थियुक्ते, भ० १ श० १० उ०।

गंठिसहियपच्चक्खाण-ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यान-न०। ग्रन्थिभेदरूपे प्रत्याख्याने। तत्स्वरूपम्-ग्रन्थिसहितं च नित्यमप्रमत्ततानिमित्ततया महाफलम्। उक्तं च-

"जे निच्चमप्पमत्ता, गंठिं बंधन्ति गंठिसहिअस्स।
सग्गापवग्गसुक्खं, तेहिं निबद्धं सगंठम्मि ॥ १ ॥
भणिऊण नमुक्कारं, निच्चं विस्सरणवज्जिआ धन्ना।
छोडन्ति गंठिसहियं, गंठिं सह कम्मगंठीहिं ॥ २ ॥
इइ कुणई अब्भासं, अब्भासं सिवपुरस्स जइ महसि।
अणसणसरिसं पुण्णं, वयंति एयस्स समयण्णू ॥ ३ ॥

रात्रिचतुर्विधाहारपरिहारस्थानोपवेशनपूर्वकताम्बूलादिव्यापारणमुखशुद्धिकरणादिविधिना ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यानपालने एकवारभोजिनः प्रतिमासमेकोनत्रिंशद्, द्विवारभोजिनस्त्वष्टाविंशतिर्निर्जला उपवासाः स्युरिति वृद्धाः। भोजनताम्बूलजलव्यापारणादौ हि प्रत्यहं घटीद्वयं २ संभवे मासे एकोनत्रिंशद्, घटीचतुष्टयं ४ संभवे त्वष्टाविंशतिः। यदुक्तं पद्मचरित्रे-

"भुंजइ अणंतरेणं, दुन्निउ वेलाउ जो निओगेण।
सो पावइ उववासं, अट्ठावीसं तु मासेण ॥ १ ॥
इक्कं पि अह मुहुत्तं, परिवज्जइ जो चउव्विहाहारं।
मासेण तस्स जायइ, उववासफलं तु परलोए ॥ २ ॥
दसवरिससहस्साउ, भुंजइ जो अन्नदेवयाभत्तो।
पलिओवमकोडी पुण, होइ ठिई जिणवरमयेण ॥ ३ ॥
एवं मुहुत्तवुड्डी, उववासे अट्ठअट्ठमाईण।
जो कुणइ जहाथामं, तस्स फलं तारिसं भणिअं ॥ ४ ॥

एवं युक्त्या ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यानफलमप्यनन्तरोदितं भाव्यम्। ध० २ अधि०।

गंड-गण्ड-पुं०। न०। 'गमि' वदनैकदेशे, अच्। कपोले,जी० ३ प्रति०। ज्ञा०। ज०। प्रज्ञा०। हस्तिकपोले, गण्डके, पुं०। स्त्री०। प्रव० २१ द्वार। वीष्यङ्गे, पिटके, चिह्ने, वीरे हयभूषणे, बुद्बुदे च। वाच०। गच्छतीति गण्डम्। गण्डमालायाम्, 'जं च अन्नं सुणादग तं गण्डं" नि०चू० ३ उ०। रुधिरप्रकोपोद्भूतस्फोटके, उत्त० १० अ०। आचा०। अपद्रव्ये, उदकफेने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। गण्डसाधर्म्यात् कुचे, उत्त० ८ अ०। वने, दाण्डपाशिके, लघुमृगे, नापिते च। दे० ना० २ वर्ग।

गंडइया-गण्डकिका-स्त्री०। वैशालीवणिग्ग्रामयोरन्तराले वहति नदीभेदे, यामुत्तरन् वीरस्वामी नाविकैर्मौल्यं याचितः। आ० म० द्वि०। आ० चू०।

गंडग-गण्डक-पुं०। एकशृङ्गे पशुभेदे, ग्रन्थौ, वाच०। नापिते, यो हि ग्रामे उद्घोषयति। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। चतुर्वेदसमवायसमयज्ञापनाय ब्राह्मणैः स्थाप्यमाने पुरुषे, व्य० ७ उ०। ओघ०।

गंडयल-गण्डतल-न०। कपोलतटे, " अंगदकुमलमट्ठगंडतल " उत्त० २ अ०। स्था०।

गंडमाणिया-गण्डमाणिका-स्त्री०। गण्डयुक्ता माणिका गण्डमाणिका। देशविशेषप्रसिद्धे धान्यमानभेदे, रा०।

गंडलेहा-गंडरे (ले) खा-स्त्री०। कपोलपाल्याम्, जं० ३ वक्ष०। कपोलविरचितमृगमदादिरेखायाम्, नि० १ वर्ग०। रा०। ज्ञा०।

गंडवच्छा-गण्डवक्षस्-स्त्री०। गण्ड इव चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिराद्यनासम्भवाच्च तदुपमितत्वाद्गण्डे कुचावुक्तौ, ते च वक्षांसि यासां तास्तथा। मांसपिण्डोपमस्तनयुक्तोरस्कासु स्त्रीषु, " नो रक्खसीसु गिज्झिज्जा, गंडवच्छासु णेगचित्तासु " उत्त० ८ अ०।

गंडवाणिया-गण्डपाणिका-स्त्री०। वंशमयभाजनविशेषे, भ० ७ श० ९ उ०।

गंडि-गण्डिन्-पुं०। गच्छति प्रेरितः प्रतिपथादिना मीयते च कूर्दमानो विहायोगमनेनेति गण्डिः। गण्डपद्मे, उत्त० १ अ०।

गंमि [ण्] गणिमत्-त्रि० । चतुर्था गएरू, तदस्यास्तीति गएडी । गएममालावति, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०। नि० चू०। उच्छूनगुल्फपादे, " गंडीगमीति वा णेवए " आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

गंमिया-गणिमका-स्त्री० । सुवर्णकारादीनामधिकारिण्याम, स्था०४ ठा० ४ उ०। दश०। खण्डे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आचा०। इक्ष्वादीना पूर्वापरपरिच्छिन्ने मध्यभागे । गण्डिकेव गणिमका। एकार्थाधिकारायां ग्रन्थपद्धतौ, नं० ।

गंमियाणुओग-गणिमकानुयोग-पुं० । इहैकवक्तव्यतार्थाधिकाराऽनुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते। तासामनुयोगोऽर्थकथनविधिर्गण्डिकाऽनुयोग., स० । भरतनरपतिवंशजातानां निर्वाणगमनानुत्तरविमानवक्तव्यताऽऽख्यानग्रन्थे, स्था०१०ठा०।

से किं तं गंमियाणुओगे ?, गंमियाणुओगे-कुलगरगमियाउ, तित्थयरगंमियाउ चक्कवट्टीगमियाउ दसारगमियाउ वलदेवगमियाउ वासुदेवगंमियाउ गणधरगमियाउ भद्दवाहुगंडियाउ तवोकम्मगंमियाउ हरिवंसगमियाउ उसप्पणिगमियाउ अवसप्पिणिगंडियाउ चित्तंतरगमियाउ अमरनरतिरियनिरइगइगमणविविहपरियट्टणाणुओगेसु एवमाइयाउ गमियाउ आघविज्जति पणविज्जति । सेत्तं गमियाणुओगे । सेत्त अणुओगे ॥

(से किं तमित्यादि) अथ कोऽयं गण्डिकानुयोग ?, सूरिराह-गण्डिकानुयोगेन, अथवा गण्डिकानुयोगे सप्तमी, 'ण' इति वाक्यालङ्कारे, कुलकरगणिमका. । इह सर्वत्राप्यन्तरालवर्त्तिन्यो वह्वय प्रतिनियतैकार्थाधिकाररूपा गणिमका कुलकरगणिमका' । ततो वहुवचन, कुलकराणां गण्डिका कुलकरगणिमका , यासु कुलकराणा विमलवाहनादीनां पूर्वभवजन्मनामादीनि सप्रपञ्चमुपवर्ण्यन्ते । एवं तीर्थकरगण्डिकादिष्वभिधानवशतो भावनीय यावत् (चित्तंतरगमियाउ त्ति) चित्रा अनेकार्था अन्तरे ऋषभाऽजिततीर्थकरापान्तराले गण्डिकाश्चित्रान्तरगणिमका । एतदुक्त भवति, ऋषभाजिनतीर्थकरान्तरे ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिका गण्डिकाः चित्रान्तरगण्डिका.। तासा च प्ररूपणा पूर्वाचार्यैरेवमकारि-इह सुवुद्धिनामा सगरचक्रवर्त्तिनो महाऽमात्योऽष्टापदपर्वते सगरचक्रवर्तिसुतेभ्य आदित्ययशःप्रभृतीना भगवदृषभवंशजानां नरपतीनामेव सङ्ख्यामाख्यातुमुपक्रमते स्म । आह च-"आइच्चजसाईणं, उसभस्स परंपर नरवईणं। सगरसुयाण सुवुद्धी, इणमो सख परिकहेइ" ॥१॥ आदित्ययश प्रभृतयो भगवन्नाभेयवंशजा त्रिखण्डभरतार्द्धमनुपाल्य पर्यन्ते पारमेश्वरीं दीक्षामतिगृह्य तत्प्रभावत सकलकर्मक्षय कृत्वा चतुर्दशलक्षा निरन्तर सिद्धिमगमन्। तत एक. सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निरन्तर निर्वाणे। ततोऽपि एक सर्वार्थसिद्धमहाविमाने। एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरित' सर्वार्थसिद्धौ एकैकस्तावद्वक्तव्य , यावत्तेऽप्येकैकका असङ्ख्येया भवन्ति । ततो भूय चतुर्दशलक्षा नरपतीनां निरन्तर निर्वाणे, ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे। तत पुनरपि चतुर्दशलक्षा निरन्तर निर्वाणे, ततो भूयोऽपि द्वौ सर्वार्थसिद्धे। एव चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितौ द्वौ द्वौ सर्वार्थसिद्धे तावद्वक्तव्यौ यावत्तेऽपि द्विकाद्विकसङ्ख्या असङ्ख्येया भवन्ति। एव त्रिकात्रिकसङ्ख्यादयोऽपि प्रत्येकमसङ्ख्येयास्तावद् वक्तव्या यावन्निरन्तरं चतुर्दशलक्षा निर्वाणे। तत. पञ्चाशत्सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निर्वाणे । ततः पुनरपि पञ्चाशत् सर्वार्थसिद्धे । एव पञ्चाशत्पञ्चाशत्सङ्ख्याका अपि चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितास्तावद्वक्तव्या यावत्तेऽपि असङ्ख्येया भवन्ति । उक्तं च-

"चउदस लक्खा निवई, सिद्धा एक्को य होइ सव्वट्ठे ।
एवेक्केकट्ठाणे, पुरिसजुगा होन्तऽसखेज्जा ॥ १ ॥
पुणरवि चोद्दसलक्खा, सिद्धा निवईण दो वि सव्वट्ठे ।
दुगट्ठाणे वि असंखा, पुरिसजुगा होन्ति नायव्वा ॥ २ ॥
जाव य लक्खा चोद्दस, सिद्धा पन्नास होन्ति सव्वट्ठे ।
पन्नासट्ठाणे वि उ, पुरिसजुगा होन्तऽसखेज्जा ॥ ३ ॥
एगुत्तराउ ट्ठाणा, सव्वट्ठे चेव जाव पन्नासा ।
एक्केक्कंतरट्ठाणे, पुरिसजुगा होंतऽसखेज्जा ॥ ४ ॥

स्थापना-

१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सिद्धि
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सर्वा०

ततोऽनन्तर चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरन्तर सर्वार्थसिद्धे, एक सिद्धौ । भूयश्चतुर्दश लक्षाः सर्वार्थसिद्धे, एक सिद्धौ । एव चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरित एकैक. सिद्धौ तावद्वक्तव्यो यावत्तेऽप्येकैकका असंख्येया भवन्ति । ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निरन्तर नरपतीनां सर्वार्थसिद्धे, ततो द्वौ निर्वाणे। तत. पुनरपि चतुर्दशलक्षाः सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि द्वौ निर्वाणे । एव चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितौ द्वौ निर्वाणे तावद्वक्तव्यौ यावत्तेऽपि द्विकद्विकसङ्ख्या असंख्येया भवन्ति । एव त्रिकत्रिकसंख्यादयोऽपि, यावत्पञ्चाशत्पञ्चाशत्संख्या. चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरिता सिद्धौ प्रत्येकमसंख्येया वक्तव्याः । उक्त च-विवरीय सव्वट्ठे, चोद्दसलक्खा उ निव्वुओ एगो । सव्वे वयपरिवाडी, पन्नासा जाव सिद्धीए ।

स्थापना चेयम्-

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सिद्धि
१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सर्वा०

तत पर द्वे लक्षे नरपतीना निरन्तर निर्वाणे, ततो द्वे लक्षे निरन्तर सर्वार्थसिद्धे । ततस्तिस्रो लक्षा निर्वाणे, ततः पुनरपि तिस्रो लक्षा सर्वार्थसिद्धे । ततश्चतस्रो लक्षा निर्वाणे, तत पुनरपि चतस्रो लक्षा. सर्वार्थसिद्धे । एव पञ्च पञ्च षट् षट् यावदुभयत्राप्यसंख्येया असङ्ख्येया लक्षा वक्तव्या. । आह च-

तेण परदुलक्खाई, दो दो ठाणा य समगवच्चन्ति ।
सिवगइसव्वट्ठेहिं, इणमो तेसिं विही होइ ॥ १ ॥
दो लक्खा सिद्धीए, दो लक्खा नरवईण सव्वट्ठे ।
एव तिलक्खचउपंच, जाव लक्खा असखेज्जा ॥ २ ॥

स्थापना चेयम्-

२	३	४	५	६	७	८	९	१०	मोक्षे गता
२	३	४	५	६	७	८	९	१०	सर्वार्थसिद्धिगता

तत. पर चतस्र चित्रान्तरितगण्डिकास्तद्यथा-प्रथमा एकादिका एकोत्तरा, द्वितीया एकादिका द्व्युत्तरा, तृतीया एकादिका त्र्युत्तरा, चतुर्थी त्र्यादिका द्व्यादिविषमोत्तरा । आह च-
" सिवगइसव्वट्ठेहिं, चित्तंतरगंडिया तओ चउरो ।

एगा एगोत्तरिया, एगाइबिउत्तरा बिइया ॥ १ ॥
एगाइतिउत्तरगा, तिगाइबिसमुत्तरा चउत्थीओ ।

तत्र प्रथमा भाव्यते-प्रथममेक. सिद्धौ,ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे । ततः त्रय· सिद्धौ, ततश्चत्वारः सिद्धार्थे । तत. पञ्च सिद्धो,तत. षट् सर्वार्थे । एवमेकोत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च ताव-द्वक्तव्य यावदुभयत्राऽप्यसङ्ख्येया भवन्ति । उक्त च-

"पढमाए सिद्धेक्को, दोणिओ सव्वट्ठसिद्धम्मि ।
तत्तो तिन्नि नरिन्दा, सिद्धा चत्तारि होन्ति सव्वट्ठे ॥१॥
इय जाव असंखेज्जा, सिवगतिसव्वट्ठसिद्धेहिं " ॥

१ स्थापना चेयम्-

१	३	५	७	६	११	१३	१५	१७	१६	मोक्षे
२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०	सर्वा०

सम्प्रति द्वितीया भाव्यते-तत ऊर्ध्वमेक सिद्धौ,त्रय. सर्वार्थे । तत पञ्च सिद्धौ, सप्त सर्वार्थे। ततो नव सिद्धौ, एकादश सर्वार्थे। ततस्त्रयोदश सिद्धौ,पञ्चदश सर्वार्थे । एव द्व्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थ च तावद्वक्तव्य यावदुभयत्राप्यसङ्ख्येया भवन्ति। उक्त च-"ताहे बिउत्तराए, सिद्धेक्को तिण्णि होति सव्वट्ठे। एव पच उ सत्त य, जाव असखेज्जा दो वि त्ति " ॥ १ ॥

२ स्थापना चेयम्-

१	५	६	१३	१७	२१	२५	मोक्षे
३	७	११	१५	१६	२३	२७	सर्वार्थे सिद्धौ

सम्प्रति तृतीया भाव्यते-तत प्रथमेक सिद्धौ, चत्वार सर्वार्थे। तत· सप्त सिद्धौ,दश सर्वार्थे। ततस्त्रयोदश सिद्धौ,षोडश सर्वार्थे । एव त्र्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च क्रमेण ताव-द्वक्तव्य यावदुभयत्रापि असङ्ख्येया गता भवन्ति । उक्त च-"एगचउसत्तदसग, जाव असखेज्जा होन्ति ते दो वि । सिवगतिसव्वट्ठेहिं, तिउत्तराए उ नायव्वा ॥ १ ॥

३ स्थापना चेयम्-

१	७	१३	१६	२५	३१	३७	४३	४६	५५	मो०
४	१०	१६	२२	२८	३४	४०	४६	५२	५८	सर्वा०

सम्प्रति चतुर्थी भाव्यते । सा च विचित्रा, ततस्तस्याः परिज्ञानार्थमयमुपाय· पूर्वाचार्यैर्दर्शित —इह एकोनत्रिंशत्सं-ख्यास्त्रिका ऊर्ध्वाधः परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते । तत्र प्रथमे त्रिके न किञ्चिदपि प्रक्षिप्यते । द्वितीये द्वौ प्रक्षिप्येते । तृतीये पञ्च, चतुर्थे नव, पञ्चमे त्रयोदश, षष्ठे सप्तदश, सप्तमे द्वाविंशति , अष्टमे षट्, नवमेऽष्टौ, दशमे द्वादश,एकादशे चतुर्दश, द्वादशेऽष्टाविंशति , त्रयोदशे षड्विंशति ,चतुर्दशे पञ्च-विंशति·, पञ्चदशे एकादश,षोडशे त्रयोविंशति , सप्तदशे सप्तचत्वारिंशत, अष्टादशे सप्तति ,एकोनविंशे सप्तसप्तति ,विंशे एक , एकविंशे द्वौ,द्वाविंशे सप्ताशीति·,त्रयोविंशे एकसप्तति , चतुर्विंशे द्विषष्टि , पञ्चविंशे एकोनसप्तति ,षड्विंशे चतुर्विंशति ,सप्तविंशे षट्चत्वारिंशत्, अष्टाविंशे शतम, एकोनत्रिंशे षड्विंशति· ।

उक्तञ्च-

" ताहे नियमाइविसमु-त्तराए अउणतीसं तु तियगट्ठा ।
वेत्त पढमे नत्थि, उक्खेवो सेसेसु इमो उवे क्खेवो ॥ १ ॥
दुगपणग नव तेरस, सत्तरस दुवीस छ य अट्ठेव ।
बारस चोद्दस तह, अट्ठवीस छव्वीस पणवीसा ॥ २ ॥
एक्कारस तेवीसा, सीयाला सयरिं सत्तहत्तरिया ।
इगदुगसत्तासीती, एगत्तरिमेव बावट्ठी ॥ ३ ॥
अउणुत्तरिचउवीसा, छायालसय तहेव छव्वीसा ।
एए रासिक्खेवा, तिगमाइ ता जहा कमसो " ॥ ४ ॥

एतेषु च राशिषु प्रक्षिप्तेषु यद्भवति तावन्तस्तावन्त· क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे चेत्येवंरूपेण वेदितव्या·। तद्यथा-त्रय सिद्धौ, पञ्च सर्वार्थे। तत सिद्धावष्टौ,द्वादश सर्वार्थे। तत. षोडश सिद्धौ,सर्वार्थे विंशतिः। तत. पञ्चविंशति सिद्धौ, नव सर्वार्थे। तत एकादश सिद्धौ, पञ्चदश सर्वार्थे। तत. सप्तदश सिद्धौ,एकविंशत् सर्वार्थे। तत एकोनत्रिंशत्सिद्धौ,अष्टाविंशति सर्वार्थे। ततश्चतुर्दश सिद्धौ,षड्विंशति सर्वार्थे। तत पञ्चाशत् सिद्धौ,द्विसप्तति सर्वार्थे। ततोऽशीतिः सिद्धौ, चत्वार सर्वार्थे । तत· पञ्च सिद्धौ, नवति· सर्वार्थे। ततश्चतु सप्ततिर्मुक्तौ,पञ्चषष्टि सर्वार्थे। ततो द्विसप्ततिः सिद्धौ, सप्तविंशति· सर्वार्थे। एकोनपञ्चाशन्मुक्तौ, त्र्युत्तर शत सर्वार्थे। तत एकोनत्रिंशत् सिद्धौ। उक्तञ्च-"सिवगइसव्वट्ठेहिं, दो दो ठाणा विसमुत्तरा नेया । जावेगत्तट्ठाणे, गुणतीस पुण छव्वीसाए " ॥ १ ॥ अत्र " जावेत्यादि " यावदेकोनत्रिंश-त्तमे स्थाने त्रिकरूपे षड्विंशतौ प्रक्षिप्तायामेकोनत्रिंशद् भवति ।

४ स्थापना—

३	८	१६	२४	११	१७	२६	१४	५३	६०	५	७५	६२	४६	२६	मो०
४	१२	२०	६	१५	३१	२८	२६	७२	४	६०	६४	२७	१०३	०	स०

एवं व्यादिविषमोत्तरा गण्डिका असङ्ख्येयास्तावद्वक्तव्या याव-दजितस्वामिपिता जितशत्रु समुत्पन्न । नवर पाश्चात्यायां गण्डिकायां यदन्त्यमङ्कस्थानं तदुत्तरस्यामुत्तरस्यामादिम द्रष्टव्यम । तथा प्रथमायां गण्डिकायामादिममङ्कस्थान सिद्धो, द्वितीयस्यां सर्वार्थसिद्धे, तृतीयस्यां सिद्धो, चतुर्थ्यां सर्वार्थे । एवमसङ्ख्येयास्वपि गण्डिकास्वादिमान्यङ्कस्थानानि क्रमेणैकान्तरितानि शिवगतौ सर्वार्थे च वेदितव्यानि। एतदेव दिङ्मात्रप्र-दर्शनतो भाव्यते-तत्र प्रथमायां गण्डिकायामन्त्यमङ्कस्थानमे-कोनत्रिंशत्,तत एकोनत्रिंशद्धारान् सा एकोनत्रिंशदूर्ध्वाध क्रमे-ण स्थाप्यते । तत्र प्रथमेऽङ्के नास्ति प्रक्षेप । द्वितीयादिषु चाङ्केषु "दुगपणनवग तेरस"इत्यादय क्रमेण प्रक्षेपणीया राशय प्रक्षिप्य-न्ते । तेषु च प्रक्षिप्तेषु सत्सु यद्यत्क्रमेण भवति तावन्तस्तावन्त· क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे एवं वेदितव्या·। तद्यथा-एकोनत्रिंशत्स-र्वार्थे, सिद्धावेकत्रिंशत । ततश्चतुस्त्रिंशत सर्वार्थे, सिद्धाव-ष्टात्रिंशत । ततो द्विचत्वारिंशत्सर्वार्थे, षट्चत्वारिंशत सिद्धौ । तत एकपञ्चाशत्सर्वार्थे, पञ्चत्रिंशत सिद्धौ । सप्तत्रिंशत्सर्वार्थे, सिद्धावेकचत्वारिंशत । त्रिचत्वारिंशत्सर्वार्थे, सप्तपञ्चाशत् सिद्धौ । तत· पञ्चपञ्चाशत्सर्वार्थे, चतु·पञ्चाशत्सिद्धौ । च-त्वारिंशत्सर्वार्थे, द्विचत्वारिंशत् सिद्धौ। सर्वार्थे षट्सप्तति , सिद्धौ नवनवति· । षडुत्तर शत सर्वार्थे,त्रिंशत सिद्धौ । एक-त्रिंशत सर्वार्थे,सिद्धौ षोडशाधिक शतम ।शत सर्वार्थे,सिद्धावे-कनवति· । सर्वार्थेऽष्टानवति , त्रिपञ्चाशत् सिद्धौ। पञ्चसप्तति सर्वार्थे,सिद्धावेकोनत्रिंश शतम। ततः पञ्चपञ्चाशत् सर्वार्थे।

स्थापना-

२६	३४	४२	५१	३७	४३	५५	४०	७६	१०६	३१	१००	६८	७५	५५	म०
३१	३८	४६	३५	४१	४७	५४	४२	६६	३०	११६	६६	७३	१२६	०	सि

एषा द्वितीया गण्डिका । अस्या च गण्डिकायामन्त्यमङ्कस्थान पञ्चपञ्चाशत । ततस्तृतीयस्यां गण्डिकायामिदमेवादिममङ्क-

स्थानम् । ततः पञ्चाशत् एकोनत्रिंशद्वारान् स्थाप्यते । ततः प्रथमेऽङ्के नास्ति प्रक्षेपो, द्वितीयादिषु चाङ्केषु क्रमेण द्विकपञ्चनवकत्रयोदशादयः पूर्वोक्तराशय क्रमेण प्रक्षेपणीया प्रक्षिप्यन्ते । इह चादिममङ्कस्थान सिद्धौ, ततस्तेषु प्रक्षेपणीयेषु राशिषु प्रक्षिप्तेषु सत्सु यद्युत्क्रमेण भवनि तावन्तस्तावन्तः प्रथमादङ्कादारभ्य सिद्धौ सर्वार्थे इत्येव क्रमेण वेदितव्याः । एवमन्यास्वपि गण्डिकास्वुक्तप्रकारेण भावनीयम् । उक्त च–

"विसमुत्तरा य पढमा, एवमसखविसमुत्तरा नेया ।
सव्वत्थ वि अतिल्ल, अग्गाए आइम ठाणं ॥ १ ॥
अउणतीस वारा, ठावेउं नत्थि पढमपक्खेवो ।
सेसे अडवीसाए, सव्वत्थ दुगाइओ क्खेवो ॥ २ ॥
सिवगइपढमाईए, बीयाए तह य होइ सव्वट्ठे ।
इय एगतरियाइ, सिवगइसव्वट्ठठाणाइ ॥ ३ ॥
एवमसखेज्जाओ, चित्तनरगंडिया मुणेयव्वा ।
जाव जिअसत्तुराया, अजियजिणपिया समुप्पन्नो " ॥ ४ ॥

तथा अमरेत्यादिविविधेषु परिवर्तेषु भवभ्रमणेषु, जन्तूनामिति गम्यते । अमरनरतिर्यग्निरयगतिगमनमेवमादिका गण्डिका बहव आख्यायन्ते । (सेत्त गंडियाणुओगे) सोऽय गण्डिकानुयोग. । न० । स० ।

गंमी–गण्डी–स्त्री० । सुवर्णकारादीनामधिकरण्यां गण्डिकायाम, स्था० ४ ठा०४ उ० । कमलमध्यस्थकर्णिकायाम्, उत्त० ३६अ० ।

गंमीतिंदुग–गण्डीतिन्दुक–पु० । वाराणस्यां तिन्दुकोद्याने स्वनामख्याते यक्षे, ती० ३८ कल्प ।

गंमीपय–गण्डीपद्–पु० । गण्डी च सुवर्णकाराधिकरणिस्थानमिव पद येषां ते गण्डीपदा । हस्त्यादिषु चतुष्पदेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । जीवा० । भ० । सूत्र० ।

गंमीपोत्थय–गण्डीपुस्तक–न० । पुस्तकभेदे, "बाहल्लपुहुत्तेहिं गमीपोत्थओ तुल्लगो दीहो " बृ० ३ उ० । बाहल्य पिण्ड., पृथुत्वम् विस्तारस्ताभ्यां तुल्य समानश्चतुरस्रो दीर्घश्च गण्डीपुस्तको ज्ञातव्य , स्था० ४ ठा० २ उ० । नि० चू० । प्रव० । आव० । ध० । दश० । जीत० ।

गंमीरी–इक्षुखण्डे, दे० ना० २ वर्ग ।

गंमीव–धनुषि,दे०ना०२ वर्ग । अर्जुनस्यधनुषि, धनुर्मात्रे, वाच० ।

गंडूपय–गण्डूपद–पु० । स्त्री० । गण्डू ग्रन्थयस्तद्युतानि पदानि यस्य । किञ्चुलुके, वाच० । अहिवृश्चिककर्कटकादौ च,आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

गंमूस–गण्डूष–पु० । गडि कषन् । मुखपूरणे, मुखान्तर्जलादौ च । वाच० । गण्डूषोऽपि अभावे दन्तकाष्ठस्य मुखशुद्धविधि पुन कार्य्यो, द्वादशगण्डूषैर्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदेति विधिना कार्य्य । ध० २ अधि० । सूत्र० ।

गंमोपहान–गण्डोपधान–न० । गल्लमसूरिकायाम्, बृ० ३ उ० ।

गतव्व–गन्तव्य–त्रि० । यानङ्गे "तम्हा ण उ वीसमो गन्तव्वो" सूत्र० ३ श्रु० ४ अ० १ उ० । गतव्वमवसस्स मे, उत्त० १२ अ० ।

गंता–गत्वा–अव्य० । गम्–क्त्वाप्रत्यय. । 'प्राप्य' इत्यर्थे, स्था० ३ ठा० ७ उ० ।

गंतिय–गन्तृक–न० । तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

गंतुं–गत्वा–अव्य० । गमन कृत्वेत्यर्थे, " गंतु ताय ! पुणो गच्छे " तात पुत्र ! गत्वा गृहम । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

गंतुकाम–गन्तुकाम–त्रि० । गन्तुमनस्के, गन्तुकामो नाम सोऽभिधीयते य सदैव गन्तुमना व्यवतिष्ठते, वक्ति च कोऽस्य गुरो सनिधानेऽवतिष्ठते ?, समर्थ्यतामेतत् श्रुतस्कन्धादि,ततो यास्यामीति । तदेवभूत शिष्यो न योग्य श्रवणस्य । आ०म०प्र० ।

गंतुपच्चागइया–गत्वाप्रत्यागतिका–स्त्री० । गत्वा प्रत्यागत यस्यामिति । गोचरभूमिभेदे, उपाश्रयान्निर्गतः सन् एकस्यां गृहपङ्क्तौ भिक्षमाण. क्षेत्रपर्यन्त गत्वा प्रत्यागच्छन् पुनर्द्वितीयायां गृहपङ्क्तौ यस्यां भिक्षते । स्था० ६ ठा० । पञ्चा० । प० व० । ध० । ग० । बृ० ।

गंतूण–गत्वा–अव्य० । गम्–क्त्वा "क्त्वस्तून " । ८ । ४ । ३१२ । इति पैशाच्या क्त्वाप्रत्ययस्य तूनादेश । प्राकृते तु तूणादेशः । यात्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । "गतूण जणस्स" गत्वा जनस्य सायात्रिकलोकस्य । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "कत्थ गतूण सिज्झइ" क्व गत्वा सिज्झइ त्ति । औ० ।

गंथ–ग्रन्थ–पु० । ग्रथ्यतेऽनेन अस्मादस्मिन्निति वा अर्थ इति ग्रन्थ । ग्रन्थ्यते इति वा ग्रन्थ. । श्रुते शास्त्रे. आ० म० प्र० । शब्दसदर्भे, आ० म० प्र० । रा० । "गथिज्जइ तेण तओ, तम्मि व तो त मय गथो" (१३८३) ग्रथ्यतेऽनेनास्मादस्मिन्वाऽर्थ इति तदेव ग्रन्थ उच्यते । अथवा तदेव ग्रथ्यते विरच्यते इति ग्रन्थ. । विशे० ।

ग्रन्थनिक्षेप–

सचित्ताई गंथो, दव्वे भावे इमं चेव ।

ग्रन्थद्वारमाह–द्रव्यतो नोआगमतो व्यतिरिक्तो ग्रन्थस्त्रिविधः। सचित्तादि, सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च । एष त्रिविधोऽप्युपरि प्रथमसूत्रे । वक्ष्यते भावे ग्रन्थ., इदमेव कल्पाध्ययनम् ॥ बृ० १ उ० । अनु० । आ० चू० । स्था० । विशे० । आचा० । ग्रथ्यते बध्यते कषायवशगेनात्मनेति ग्रन्थ । अथवा ग्रथ्नाति बध्नाति आत्मान कर्मणेति ग्रन्थ । उत्त० ६ अ० । बन्धहेतौ हिरण्यादौ, मिथ्यात्वादौ च, स्था० २ ठा० १ उ० । सूत्र० । परिग्रहे, विशे० । स्था० । सूत्र० ।

अथ ग्रन्थपद, तस्य च नामादिभेदाच्चतुर्द्धा निक्षेपः । तत्र नामस्थापने गतार्थे । द्रव्यग्रन्थस्त्रिधा, सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात् । सचित्तश्चम्पकमालेत्यादि । अचित्त एकावलिहारादिकः । मिश्र शुष्कपत्रमिश्रिता प्रशस्तमाला । भावग्रन्थस्तु स उच्यते येन क्लेशवस्त्वादिना क्रोधादिना वाऽमी जन्तव कर्मणा सहात्मान ग्रन्थयन्ति । त च भाष्यकार एव सविस्तर व्याख्यानयति–

सो वि य गंथो दुविहो, बज्झो अब्भिंतरो अ बोधव्वो।
अंतो अ चोद्दसविहो, दसहा पुण बाहिरो गंथो ॥ १ ॥

सोऽपि च भावग्रन्थो द्विविधस्तद्यथा–बाह्योऽभ्यन्तरश्च बोद्धव्य. । तत्राभ्यन्तरो ग्रन्थश्चतुर्दशविधो वक्ष्यमाण , बाह्य. पुनर्ग्रन्थो दशधा दशप्रकारो वक्ष्यमाण एव ।

यदि नामैव द्विविधो ग्रन्थस्ततो निर्ग्रन्थ इति किमुक्त भवति ?, इत्याह–

सबाहिरन्तरगो सगंथो त्ति, तेण निग्गंथ अहव निक्खेवो ।

करिसे अत्रचियगथो, पतणुगथो च निगथो ॥

सहिरण्यक इत्येकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायाद् हिरण्यसुवर्णादिबाह्यग्रन्थसहित उपलक्षणत्वादान्तरग्रन्थ उच्यते। नास्ति न विद्यते यस्य तथाविधो द्विविधोऽपि ग्रन्थः स निर्ग्रन्थः। अथवा निर्ग्रन्थ इत्यत्र यो निर्शब्दः सोऽपकर्षेऽपचये वर्तते, ततश्चापचितः प्रतनुकृतो ग्रन्थो बाह्य आभ्यन्तरश्च येन स निर्ग्रन्थ उच्यते ॥

अथ यदुक्तं बाह्यो ग्रन्थो दशधेति तद्विवरीपुराह-

खेत्तं१ वत्थुं२ धण ३ धन्न४-संचओ ५ मित्तणाइसंजोगो ६ ।
जाण७सयणासणाणि य८,दासीदासं च९कुवियं च १० ॥

क्षेत्रं धान्यनिष्पत्तिस्थानम् १, वस्तु भूमिगृहादि २, धनं सुवर्णादि ३,धान्यं बीजजातिः ४, संचयस्तृणकाष्ठादिसंग्रहः ५। मित्राणि सुहृदया, ज्ञातयः स्वजनाः, संयोगः श्वशुरकुलसंबन्ध इति त्रिभिरप्येक एव ग्रन्थः ६। यानानि वाहनानि ७, शयनासनानि च पल्यङ्कपीठकादीनि ८,दासश्च दासाश्च दासीदासं ९, कुप्यं चोपस्कररूपं १०, इत्येष दशविधो ग्रन्थः ॥ बृ० १ उ० ॥

सम्प्रति चतुर्दशविधमभ्यन्तरग्रन्थमाह-

कोहे १ माणे २ माया ३ ,
लोभे ४ पेज्जं ५ तहेव दोसो अ ६ ।
मिच्छत्तं ७ चेव ८ अरई ९,
रई १० हास ११ सोगो १२ भय १३ दुगुंछा १४ ॥

क्रोधो मानो माया लोभश्चेति चत्वारः प्रतीता ४। प्रेमशब्देनाभिष्वङ्गलक्षणो रागोऽभिधीयते ५। दोषशब्देन तु अप्रीतिलक्षणो द्वेषः ६। मिथ्यात्वमर्हत्प्रणीततत्त्वविपरीतावबोधरूपम्, तच्च द्विविधं वा, त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयभेदं वा, अपरिमितभेदं वा। तत्राऽनाभिग्रहिकं आभिग्रहिकं चेति द्विविधम्, अनाभिग्रहिकं पृथिव्यादीनाम् ।

आभिग्रहिकं तु षड्विधम्-

नत्थि न निच्चो न कुणइ, कयं न वेएइ नत्थि निव्वाणं ।
नत्थि य मोक्खो वाओ, छव्विहमिच्छत्तनिगाहिय ॥

षष्ट्यधिकशतत्रयविधं पुनरिदम्-

असियसय किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अन्नाणी सत्तट्ठी, वेणइयाण च बत्तीसा ॥

अपरिमितभेदं तु-

जावइया नयवाया, तावइया चेव होंति परसमया ।
जावइया परसमया, तावइया चेव मिच्छत्ता ॥

एवमनेकविकल्पमपि सामान्यतो मिथ्यात्वशब्देन गृह्यते,इति सप्तमो भेदः ७। वेदस्त्रिविधः, पुस्त्रीनपुंसकभेदात्। तत्र यत् स्त्रियाः पित्तोदये मधुराभिलाष इव पुरुषाभिलाषो जायते स स्त्रीवेदः । यत्पुनः पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियामभिलाषो भवति स पुंवेदः। यस्तु पण्डकस्य पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवद्द्वयोरपि स्त्रीपुंसयोरभिलाषः समुदेति स नपुंसकवेदः । इति त्रयोऽप्येक एव भेदः ८। तथा यद्मनोज्ञेषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगः सा अरतिः ९। यत्पुनस्तेष्वेव मनोज्ञेषु असंयमे वा रमणं सा रतिः १०। यत्तु सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यम् ११। प्रियविप्रयोगादिविह्वलचेतोवृत्तिराक्रन्दनादिका यत् करोति स शोकः १२। सनिमित्तमनिमित्तं वा यद्बिभेति तद्भयम् १३। यत्पुनरस्नानकल्पपावनमयमली-भोजनादिकमपरं मृतकलेवरविष्ठादिकं जुगुप्सते सा जुगुप्सा ॥ १४ ॥ एष चतुर्दशविधोऽप्याभ्यन्तरग्रन्थ उच्यते। बृ० १ उ० । उत्त० । "गथेहिं विचित्तेहिं, आउकालस्स पारए " (११) । ग्रन्थैः सबाह्याभ्यन्तरैः शरीररागादिभिर्विविक्तैस्त्यक्तैः सद्भिर्ग्रन्थैर्योऽज्ञानकृष्टमविष्टे। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । ग्रन्थत्वं हि कर्मबन्धहेतुत्वेन व्याप्तम्, ग्रथ्नाति संबध्नाति जीवं कर्ममलानिति ग्रन्थ इति व्युत्पत्तेः। आ० म० द्वि०। यत्र वस्तु-देहा-ऽऽहार-कनकादौ मूर्छा संपद्यते तन्निश्चयतः परमार्थतो ग्रन्थः। (वस्त्रपरिभोगेऽपरैः सह 'कप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३१ पृष्ठे विचारितम्) "सव्वं गथं कलहं च विप्पजहे भिक्खू" भिक्षुः साधुः तथाविधं पूर्वोक्तं कर्मबन्धहेतुं सर्वग्रन्थं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं परिग्रहं विशेषेण परिजह्यात् परित्यजेत्। उत्त० ८ अ० । " गथं परिण्णाय इहज्ज धीरे " ग्रन्थं बाह्यान्तभेदभिन्नं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय इहाद्यैव कालानतिपातेन धीरः सन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । शालकादिसंबन्धेषु, तन्नार्यादुहित्रादिषु, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । चतुर्दशे सूत्रकृताङ्गस्याऽध्ययने, स० २३ सम० । सूत्र० । आ० चू० । प्रश्न० । ('विणय' शब्दे समस्तमध्ययनं वक्ष्यते)

गंथदिट्ठ-ग्रन्थदृष्ट-त्रि०। प्रतिष्ठाकल्पादौ ग्रन्थे दृष्टे,ध० २अधि०।

गंथातीत-ग्रन्थातीत-पुं० । निर्ग्रन्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

गंथिम-ग्रन्थिम-न० । 'गंठिम' शब्दार्थे ।

गंदीणी-चक्षुःस्थगनक्रीडायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गंध-गन्ध-पुं० । 'गन्ध' अर्दने । गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्धः। कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । विशे० । जी० । आ० म० । उत्त० । अनु० । गन्धो घ्राणग्राह्ये पृथिवीवृत्तौ, सम्म० ३ काण्ड । वाच० । दुर्गन्धसुगन्धात्मके गुणे,उत्त० २८ अ० । जी० । ओ० । गन्धो द्वेधा, सुरभिश्च दुरभिश्च, तत्र सौमुख्यकृत्सुरभिः, वैमुख्यकृद् दुरभिः । साधारणपरिणामोऽप्यस्ति दुर्ग्रह इति संसर्गजत्वादेव नोक्तः। (स्था०) "एगे गधे" आघ्रायते सिंघ्यते इति गन्धो घ्राणविषयः। स्था० १ ठा० १ उ० । विशे० । आ० म० । प्रज्ञा० । प्रव० । " दुविहा गंधा पण्णत्ता । तं जहा-अत्ता चेव अणत्ता चेव, मणामा चेव अमणामा चेव"। स्था०२ठा० ३ उ०। प्राणातिपातादीनां वर्णगन्धादयो 'वण्ण' आदिशब्दे वक्ष्यन्ते। (सौधर्मेशानयोर्गन्धोऽन्यत्र)। गन्धेष्विति, गुणगुणिनोरभेदाद् मतुब्लोपाद्वा गन्धवस्तु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । कोष्ठपुटपाकादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आ० म० । दशा० । ज० । नि० चू० । पटवासादिरूपे, व्य० २ उ० । कर्पूरसम्बन्धिनि, प्रज्ञा० २३ पद । चूर्णविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० ।

सुरभिगन्धवर्णकः। तत्र सुरभिगन्धस्वरूपप्रतिपादयन्नाह-

तेसिं णं भंते ! तणाण य मणीण य केरिसये गंधे पण्णत्ते ? । से जहा नामए कोट्ठपुडाण वा पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपुडाण वा एलापुडाण वा हिरिमेरपुडाण वा चंद-

णपुमाण वा कुंकुमपुमाण वा उसीरपुमाण वा चंवयपुमाण वा मरुगपुमाण वा दमणगपुमाण वा जातिपुमाण वा जूहियपुमाण वा मल्लियपुमाण वा ण्हाणमल्लियपुमाण वा वासतियपुमाण वा केतियपुमाण वा कप्पूरपुमाण वा पामलिपुमाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा निब्भिज्जमाणाण वा कोट्टिज्जमाणाण वा उविज्जमाणाण वा उक्खिरिज्जमाणाण वा विकरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा भंमाड वा भंमं साहरिज्जमाणाणं उराला मणुण्णा घाणमणोनिव्वुत्तिकरा सव्वतो समंता गधा अभिणिस्सवति। भवे एयारूवे सिया नो तिणट्ठे समट्ठे तेसिं णं तणाणं मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव गंधणं पण्णत्ते ॥

सम्प्रति गन्धस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह-(तेसिं ण मणीणं तणाण येत्यादि) तेषां मणीना तृणानां च कीदृशो गन्धः प्रज्ञप्त ?। भगवानाह-(से जहा नामए इत्यादि) प्राकृतत्वात् 'से' इति बहुवचनार्थ'। ते यथा नाम गन्धाः अभिनिःस्रवन्तीति सबन्ध। कोष्ट गन्धद्रव्य, तस्य पुटाः कोष्टपुटा , तेषां 'वा' शब्दः सर्वत्रापि समुच्चये,इह एकस्य पुटस्य न तादृशो गन्ध आयाति, द्रव्यस्वल्पत्वात्,ततो बहुवचनम्। तगरमपि गन्धद्रव्यम्, एलाः प्रतीता । चोयक गन्धद्रव्यम् । चम्पकदमनककुङ्कुमचन्दनोशीरमरुकजातियूथिकामल्लिकास्नानमल्लिकाकेतकीपाटलीनवमालिकावासकर्पूराणि प्रतीतानि । नवरमुशीर वीरणमूल, स्नानमल्लिका स्नानयोग्या मल्लिकाविशेषः। एतेषामनुकूलवाते आघ्रायकविवक्षितपुरुषाणामनुकूलवाते वाति,उद्भिद्यमानानामुद्धाट्यमानानां, वाशब्दः सर्वत्रापि समुच्चये, निर्भिद्यमानाना नितरामतिशयेन भिद्यमानानाम्। (कोट्टिज्जमाणाण वा इति)इह पुटैः परिमितानि यानि कोष्टादिगन्धद्रव्याणि तान्यपि परिमेये परिमाणोपचारात् कोष्टपुटादीनीत्युच्यन्ते, तेषा कुट्यमानानां उदूखले कुट्यमानानाम्। (उविज्जमाणाण वा इति) श्लक्ष्णखण्डीक्रियमाणानाम, एतच्च विशेषणद्वय कोष्टादिद्रव्याणामवसेयम् । तेषामेव प्रायः कुट्टतः श्लक्ष्णखण्डीकरणसंभवात्, न तु यूथिकानाम् । (उक्खिरिज्जमाणाण वा इति) क्षुरिकादिभिः कोष्टादिपुटानां कोष्टादिद्रव्याणां वा उत्कीर्यमाणानाम्। (विकरिज्जमाणाण वा इति) विकीर्यमाणानामितस्ततो विकीर्यमाणानाम।(परिभुज्जमाणाण वा) परिभोगाय उपभुज्यमानानाम् । क्वचित् पाठे "परिभाइज्जमाणाण वा " इति । तत्र पारिभाज्यमानाना पार्श्ववर्तिभ्यो मनाग् मनाग् दीयमानानाम। (भडाउ भंम साहरिज्जमाणाण वा इति) भाण्डात् स्थानाद् एकस्माद् अन्यद् भाण्ड भाजनान्तर संह्रियमाणानाम् । उदाराः स्फारास्ते वा मनोज्ञा अपि स्युरत आह-मनोज्ञा मनोऽनुकूलास्तच्च मनोज्ञत्व कुत इत्याह-मनोहरा मनो हरन्ति आत्मवश नयन्तीति मनोहरा यतस्ततो मनोज्ञाः । तदपि मनोहरत्व कुत इत्याह-घ्राणमनोनिर्वृत्तिकरा एवभूताः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन गन्धा अभिनिःस्रवन्ति, जिघ्रनामभिमुख निस्सरन्ति । एवमुक्ते शिष्यः पृच्छति-(भवे एयारूवे) इत्यादि प्राग्वत् । जी० ३ प्रति०।

दुरभिगन्धवर्णक -

घाणिंदिएण अग्घाइय गधाणी अमणुण्णपावकाइं, किं ते? अहिमम अासमरूहत्थिमरूगोमरूविगमुणगसियालमणुयमज्जारसीहदीवियमयकुहियविणट्ठकिमिणबहुदुरभिगंधे--सु अन्नेसु य एवमाइएसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रुसियव्वं ।

अहिमृतादीन्येकादश प्रतीतानि। नवर वृक ईहामृगः, द्वीपी चित्रकः,एषा चाहिमृतकादीनां द्वन्द्वः। द्वितीयाबहुवचन द्रष्टव्यम्। तत आघ्रायेति क्रिया योजनीया । ततस्तेष्विति योगात्तेषु किं विधेष्वित्याह-मृतानि जीवविमुक्तानि, कुथितानि कोथमुपगतानि, विनष्टानि पूर्वाकारविनाशेन (किमिण त्ति) कृमिमन्ति, बहुदुरभिगन्धानि चात्यन्तामनोज्ञगन्धानि यानि तानि तथा । तेषु अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु अमनोज्ञपापकेषु -- श्रमणेन रोषितव्यमिति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। ज्ञा० । आचा० ।

सचित्तगन्धग्रहणे दोषा -

जे भिक्खू सचित्तं पइट्टियं गंधं जिग्घइ, जिग्घंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् सचित्ते दव्वे जो गधो सो सचित्तपतिट्ठितो, सो य अइमुत्तगपुप्फातिय जो जिंघाति तस्स मासगुरु आणादिणो य दोसा ।

इदाणिं णिज्जुत्ती-

जो गंधो जीवजुए, दव्वंमि सो तु होति सच्चित्तो ।
संबद्धमसंबद्धा व, जिंघणा तस्स दुविधा तु ॥ ११७ ॥

जीवजुत्त दव्व सचेयणं, तम्मि जो गधो सो सच्चित्तपतिट्ठितो भण्णति । त पुणो दव्व पुप्फफलानि, तस्स जिंघणा दुविहा, नासाग्रे सबद्धा वा, नासाग्रेऽसस्पृष्टा, असस्पृष्टा दूरे कृत्वा जिघ्रतीत्यर्थः।

जिग्घतस्स इमे दोसा-

जो तं संबद्धं वा, अधवाऽसबद्ध जिंघते भिक्खू ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ११८ ॥

जो साहू त गध णासाए सबद्ध वा असबद्ध वा जिग्घति सो आणाभगे अणवत्थाए य वट्टति, अन्नेसिं च मिच्छत्त जणयति, आयसजमविराहणाए य वट्टति ।

इमा सजमविराहणा-

णासामुहणिस्सासा, पुप्फजीववधो तदस्सिताणं च ।
आयाए विसपुप्फ, तन्भावियमचदिट्ठंतो ॥ ११९ ॥

णीससतस्स णासामुहेसु जो वायू तेण पुप्फजीवस्स सघट्टणादी भवति । (तदस्सियाण ति) तम्मि पुप्फे ये आश्रिता अलिकादय तेषां च सघट्टणादि सभवति । इमा आयविराहणा, आयाए पच्छद्ध आयविराहणाकयाइ विसपुप्फ भवति तेण मरति। (तब्भाविय ति) तेण विसेण भावित तद्भावित प्रत्यनीकादिना अमच्चो वा णक्को तदुवक्खक्खित्तो दिट्ठतो जहा तेण वा णक्केण जोगविसभाविता गधा कता सुबुद्धिमन्त्रिवहाय इदमावश्यके गतार्थम् ।

इदाणिं अववातो-

वितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वा पयागगदीसु ।

बाधा हवेज्ज कोयी, विज्जुविद्देसा ततो कप्पे ॥ १२० ॥

अणपज्जो जिंघेज्जा, अणपज्जो अजाणमाणो जिंघति अप्प-ज्जो वा जाणमाणो पयागरादिसु त्ति रातो जग्गियव्व । तत्थ किंचि परिस पुप्फफलं जेण जिंघिएण णिद्दाणए त्ति । आदिस-द्दातो निद्दालाभे वा निमित्त जिंघति । वाहीघाकोतिजिं-घिएण उवसमाति तं विज्जुवदेसा जिंघति ।

इमेण विहिणा-

अचित्तमसंवद्धं, पुव्वं जिंघे ततो य संवद्धं ।

अचित्तमसंवद्धं, सचित्त चेव संवद्धं ॥ १२१ ॥

अचित्ते दव्वे गध असवद्ध नासिकाग्रे (पुव्व ति) पढम जिं-घति । ततो त चेव अचित्त सवद्ध । ततो सचित्त सवद्ध जिंघ-ति ॥ नि० चू० १ उ० ।

जे भिक्खू अचित्तपतिट्ठियं गंधं जिंघति, जिंघंतं वा साइज्जइ ॥ ए ॥

जे भिक्खू अचित्तं गंधं जिंघतीत्यादि णिज्जीवे चदणादिकट्ठे गधं जिंघति मासलहु ॥

जो गंधो जीवदट्ठे, दव्वमीसो य होति अचित्तो ।

संवद्धासंवद्धा य, सिंघणा तस्स णातव्वा ॥ ३४ ॥

सो तं सवद्धा वा वितीयपदसचित्तमसंवद्धम् । पता उ जिंघा पढमुद्देसो ॥ नि० चू० २ उ० ।

अह भंते ! कोट्ठपुडाण वा केतईपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा० जाव ठाणाओठाणं संकामिज्जमाणाणं किं कोट्ठे वाइ० जाव केतई वाति ? । गोयमा ! णो कोट्ठे वाति० जाव णो केतईवाइ, घाणसहगया पोग्गला वाइ ॥

(अहेत्यादि) (कोट्ठपुडाण व त्ति) कोष्ठे यः पच्यते वासमुदायः स कोष्ठ एव,तस्य पुटा पुटिका कोष्ठपुटास्तेषां, यावत्करणादिद दृश्यम-"पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपु-डाण वेत्यादि" तत्र पत्राणि तमालपत्राणि । (चोय त्ति) त्वक्, तगर च गन्धद्रव्यविशेष । (अणुवायसि त्ति) अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातोऽतस्तत्र, यस्माद्देशाद् वायुरागच्छति तत्रेत्यर्थः । (उब्भिज्जमाणाण व त्ति) प्राबल्येनोर्ध्वं वा दार्य-माणानाम । इह यावत्करणादिद दृश्यम-"निब्भिज्जमाणाण वा" प्राबल्याभावेनाधो वा दार्यमाणानाम । "उक्करिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाणाण वा" इत्यादि । प्रतीतार्थाश्चैते शब्दा । (किं कोट्ठे वा इति) कोष्ठो वाससमुदयो, (वाति) दूरादागच्छत्यागत्य घ्राणग्राह्यो भवतीति भाव । (घाणसहगय त्ति)घ्रायत इति घ्राणो गन्धो,गन्धोपलम्भक्रिया वा, तेन सह गता प्रवृत्ता ये पुद्गलास्ते घ्राणसहगता,,गन्धगुणोपेता इत्यर्थ ।इति । भ० १६ श० ६ उ० । गन्धस्य घ्राणेन्द्रियग्राह्यस्याऽऽलकिः "इंदिय" शब्दे द्वि० भागे ५५६ पृष्ठे उक्ता ।

गंधंग-गन्धाङ्ग-न० । वालकप्रियङ्गुपत्रकदमनकत्वक्कदनोशीर-देवदार्वादिषु गन्धकारणेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कई णं भंते ! गंधंगा पन्नत्ता ?,कई णं भंते ! गंधसया य ? । गोयमा ! सत्त गंधंगा, सत्तगधसया पन्नत्ता ।

(कई णमित्यादि) कति भदन्त ! गन्धाङ्गानि, क्वचित् गन्धा इति पाठः, तत्र पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् 'गन्धाङ्ग' इति गन्धाङ्गानीति दृश्य, प्रज्ञप्तानि? । तथा कति गन्धाङ्गशतानि प्रज्ञ-प्तानि? । भगवानाह-गौतम ! सप्त गन्धाङ्गानि सप्त गन्धाङ्गशता-नि प्रज्ञप्तानि । इह सप्त गन्धाङ्गानि परिस्थूलजातिभेदादमूनि-तद्यथा, मूलं त्वक् काष्ठं निर्यासः पत्र पुष्प फल च । तत्र मूल मुस्तावालकोशीरादि, त्वक् सुवर्णवल्लीत्वचाप्रभृति, काष्ठ चन्दनागरुप्रभृति, निर्यासः कर्पूरादि, पत्रं जातिपत्रतमालपत्रादि, पुष्प प्रियङ्गुनागरपुष्पादि, फलं जातिफलककङ्कोलैलालवङ्गप्र-भृति, एते च वर्णमधिकृत्य प्रत्येक कृष्णादिभेदात् पञ्च पञ्च भेदा इति वर्णपञ्चकेन गुण्यन्ते, जाता पञ्चत्रिंशत् । गन्धचि-न्तायामेते सुरभिगन्धयः एवैत्येकेन गुणिताः, पञ्चत्रिंशद् जाता । पञ्चत्रिंशदेव एकेन गुणिता, तदेव भवतीति न्यायात् तत्राप्येकैकस्मिन् वर्णभेदे रसपञ्चक रूप्यभेदेन विविक्त प्राप्यते, इति सा पञ्चत्रिंशद् रसपञ्चकेन गुण्यते, जातं पञ्च-सप्ततं शतम् । स्पर्शाश्च यद्यप्यष्टौ भवन्ति तथापि गन्धाङ्गेषु यथोक्तरूपेषु प्रशस्या व्यवहारतश्चत्वार एव मृदुलघुशीतोष्ण-रूपास्तत पञ्चसप्तत शतम् । स्पर्शचतुष्टयेन गुण्यते, जातानि सप्तशतानि । उक्त च-मूलतयकट्ठनिज्जास-पत्तपुप्फफलमो य गंधंगा । वण्णादुत्तरभेया, गधगसया मुणेयव्वा " ॥ १ ॥

अस्या व्याख्यानरूपं गाथाद्वयम्-

" मुच्छा सुवण्णवल्ली, अगरुवालो तमालपत्त च ।

तह य पियगू (जाईफल च) जाईए गधगा गुणणाए ।

सत्तसया पवाहिं, वण्णेहिं सुरभिगंधेण ।

रसपणगेणं तह फा-सेहिं यवडाहिं भेसेहिं " ॥

"अत्र (जाईए गधंगा इति) जात्यजात्यभेदेनामूनि गन्धाङ्गानि । शेष भावितम । (कई णमित्यादि) कति भदन्त ! पुष्पजातिकुल-कोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-गौतम ! षोमश पुष्पजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-चत्वारि जलजानां पद्मानां जातिभेदेन, तथा चत्वारि स्थलजानां कोरिण्टकादीनां जातिभेदेन,चत्वारि महागुल्मिका-दीनां जात्यादीनां, चत्वारि महावृक्षाणां मधुकादीनामिति । जी० ३ प्रति० ।

गंधकासाइया-गन्धकाषायिका-स्त्री० । गन्धप्रधानेन कषायेण रक्ता शाटिका गन्धकाषायिका । उपा० १ अ० । गन्धप्रधाना-यां कषायरक्तायां शाटिकायाम, भ०१ श० ३३ उ० । कल्प० ।

गंधघाणि-गन्धघ्राणि-स्त्री० । घ्राणेन्द्रियस्य पूर्णवृत्तिकरे ग-न्धद्रव्ये, यावद्भिर्गन्धपुद्गलैर्गन्धविषये घ्राणितृप्तजायते तावती-र्गन्धपुद्गलसहतिरुपचाराद् गन्धघ्राणिरित्युच्यते । रा० । जी० ।

गंधट्ठय-गन्धाष्टक-न० । गन्धद्रव्यकोदे, " गन्धद्रव्येण द्रव्याद्दि-त्ता " स्था० ३ ठा० १ उ० ।

गंधड्ढ-गन्धाढ्य-त्रि० । सद्गन्धगुणसमृद्धे, पञ्चा० ३ विव० । कर्पूरकस्तूरिकादिगन्धैः पूर्णे, वाच० ।

गंधणाम-गन्धनामन्-न० । गन्ध्यत आघ्रायत इति गन्धस्तद्धे-तुत्वान्नामकर्म्म गन्धनाम । कर्म्म० १ कर्म्म० । नामकर्म्मभेदे, ।

अथ गन्धनाम द्विधाऽऽह-

सुरहिदुरही रसा पण, तित्तकमुकसायअंबिला महुरा ।

फासा गुरुलहुमिउखर-सीउएहसिणिद्धरुक्खहा ॥४०॥

इह गन्धशब्दः प्रक्रमात्कस्यते । ततः सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च द्वेधा गन्धः । तत्र सौमुख्यकृत्सुरभिगन्धः, यदुदयाज्जन्तुशरीरं कर्पूरादिवत् सुरभिगन्धं भवति, तत्सुरभिगन्धनाम । वैमुख्यकृद् दुरभिगन्धः, यदुदयाज्जन्तुशरीरं लशुनादिवत् दुरभिगन्धं भवति तद् दुरभिगन्धनाम । अत्राप्युभयसंयोगजा पृथग् नोक्ता, एतत्संसर्गजत्वादेव भेदाऽविवक्षणात् । उक्तं द्विधा गन्धनाम ॥ कर्म० १ कर्म० । स० । आ० । पं० सं० । गन्धरूपे अर्थे, से किं तं गंधनामे ?, गंधनामे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुरभिगंधनामे दुरभिगंधनामे । सेत्तं गंधनामे । अनु० ।

गंधदव्व-गन्धद्रव्य-न० । गन्धप्रधाने श्रीखण्डादौ, उत्त० १ अ० । आ० म० । नागकेसरे, वाच० ।

गंधदेवी-गन्धदेवी-स्त्री० । सौधर्मे कल्पे देवीभेदे, सा च पूर्वभवे पार्श्वस्वाम्यन्तिके प्रव्रज्य कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे गन्धविमाने देवीत्वेनोपपन्नेति । नि० ४ वर्ग ।

गंधपरिणय-गन्धपरिणत-त्रि० । गन्धतः परिणतः। गन्धभाजि, प्रज्ञा० १ पद ।

गंधपरिणाम-गन्धपरिणाम-पुं० । अजीवपरिणामभेदे, " गंधपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुब्भिगंधपरिणामे दुब्भिगंधपरिणामे य " ॥ प्रज्ञा० १३ पद ।

गंधपिसाअ-देशी-गान्धिके, दे० ना० २ वर्ग ।

गंधप्पिय-गन्धप्रिय-पुं० । पद्मखण्डनगरराजज्येष्ठपुत्रे ग० २ अधि० । आ० म० । आचा० । (स चाऽपरमात्रा गन्धेन मारित इति 'घाणेंदिय' शब्दे द्रष्टव्यम्)

गंधमंत-गन्धवत्-त्रि० । प्रशंसायामतिशायने वा मतुप् । प्रशस्तगन्धयुक्ते, अतिशयितगन्धयुक्ते च । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० । सूत्र० ।

गंधमायण-गन्धमादन-पुं० । गजदन्तकगिरिविशेषे, प्रश्न० २ सव० द्वार ।

गन्धमादनवक्षस्कारगिरिप्रश्नमाह-

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे गंधमायणे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं, मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं, गंधिलावइस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं,उत्तरकुराए पच्चच्छिमेणं; एत्थ णं महाविदेहे वासे गंधमायणे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे तीसं जोअणसहस्साइं दुण्णि अ णउत्तरे जोअणसए छच्च य एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं णीलवंतवासहरपव्वयं । तेणं चत्तारि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं,चत्तारी गाउअसयाइं उव्वेहेणं, पंचजोअणसयाइं विक्खंभेणं, तयाणंतरं च णं मायाए मायाए उस्सेहुव्वेहपरिवुड्ढमाणे परिवुड्ढमाणे विक्खंभपरिहाणीए परिहायमाणे परिहायमाणे मंदरपव्वयंतेणं पंचजोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंचगाउअसयाइं उव्वेहेणं, अंगुलस्स असंखिज्जइभागं विक्खंभेणं पण्णत्ते । गयदंतसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे । उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंडेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते गंधमायणस्स णं वक्खारपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे० जाव आसयं सिसयं ति ॥

(कहि णमित्यादि) भदन्त ! महाविदेहे वर्षे गन्धमादनो नाम वक्षसि मध्ये गोप्य क्षेत्रं द्वौ सचूय कुर्वन्तीति वक्षस्काराः,नजातीयोऽयमिति वक्षस्कारपर्वतो गजदन्ताऽपरपर्यायः प्रज्ञप्तः ?। गौतम ! नीलवन्नाम्नो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणभागेन, मन्दरपर्वतस्य मेरोरुत्तरपश्चिमायां च, अन्तरालवर्तिना दिग्विभागेन वायव्यकोणेनेत्यर्थः । गन्धिलावत्याः शीतोदोत्तरकूलवर्तिनोऽष्टमविजयस्य पूर्वेण, उत्तरकुरूणां सर्वोत्कृष्टभोगभूमिक्षेत्रस्य पश्चिमेन, अत्रान्तरे महाविदेहे वर्षे गन्धमादनो नाम वक्षस्कारपर्वतः प्रज्ञप्तः । उत्तरदक्षिणयोरायतप्राचीनप्रतीचीनयोः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोर्विस्तीर्णः त्रिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च नवोत्तरे योजनशते षट् एकोनविंशतिभागान् योजनस्यायामेन । अत्र यद्यपि वर्षधराद्रिसमस्वन्धमूलानां वक्षस्कारगिरीणां साधिकैकाऽष्टशतद्विचत्वारिंशद्योजनप्रमाणकुरुक्षेत्रान्तर्वर्तिनामेतावानायामो न सम्पद्यते, तथाऽप्येषां चक्राभावपरिणतत्वेन बहुतरक्षेत्राऽवगाहित्वात् संभवतीति । नीलवद्वर्षधरसमीपे चत्वारि योजनशतानि ऊर्ध्वोच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन, पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण, तदनन्तरं मात्रया मात्रया क्रमेण क्रमेणोत्सेधोद्वेधयोरुच्चत्वोच्चत्वपरिवृद्ध्या परिवर्धमानः परिवर्धमानो विष्कम्भपरिहीयमाणः परिहीयमाणो मन्दरपर्वतस्य मेरोरन्ते समीपे पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, पञ्चगव्यूतिशतान्युद्वेधेन, अङ्गुलस्यासंख्यभागविष्कम्भेण प्रज्ञप्तः । गजदन्तस्य यत् संस्थानं प्रारम्भे नीचत्वमन्ते उच्चत्वमित्येव, तेन संस्थित सर्वात्मना रत्नमयः । श्रीउमास्वातिवाचककृतजम्बूद्वीपसमासप्रकरणे तु कनकमय इति, शेषं प्राग्वत् । अथास्य भूमिसौभाग्यमावेदयति-(गंधमायणस्स इत्यादि)गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र यावत्पदग्राह्यं तेनाद्यात्रिशिखरतलवर्णकगतं सर्वं बोध्यम् । जं०४ वक्ष० । (कूटान्यस्य ' कूड ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२५ पृष्ठे उक्तानि)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गंधमायणे वक्खारपव्वए गंधमायणे वक्खारपव्वए?। गोयमा ! गंधमायणस्स णं वक्खारपव्वयस्स गंधे से जहा णामए कोट्ठपुडाण वा० जाव पिसिज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा० जाव उराला मणुण्णा० जाव गंधा अभिणिस्सवंति । भवे एआरूवे ?,णो इणट्ठे समट्ठे, गंधमायणस्स णं इत्तो इट्ठतराए चेव० जाव गंधे पण्णत्ते, से एएणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ गंधमायणवक्खारपव्वए गंधमायणवक्खारपव्वए । गंधमायणे अ इत्थ देवे महिड्ढीए परिवसइ, अदुत्तरं च णं सासए णामधिज्जे ॥

सम्प्रति नामार्थं पिपृच्छिषुराह—(से केणट्ठेणमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य गन्धः स यथा नाम कोष्ठपुटानां यावत् पदात् तगरपुटादीनां

सग्रह । पिष्यमाणानां वा सचूर्ण्यमानानां, उत्कीर्यमाणानां वा, विकीर्यमाणानां वा, परिभुज्यमानानां वा, यावत् पदाद् भाण्डाद् भाण्डान्तर वा संह्रियमाणानामिति । उदारा मनोज्ञा., यावत्पदाद् गन्धा इति कर्तृपदम् , अभिनि स्रवन्ति । एवमुक्ते शिष्य पृच्छति-भवेत् तमूनो गन्ध इति ? भगवानाह-नायम र्थे समर्थ । गन्धमादनस्य इतो मवकुक्तात्कथादिष्टतरक एव । यावत् करणात् कान्ततरक एवेत्यादि एतग्रहो निगमनवाक्ये,ते नार्थेन गौतम ! एवमुच्यते-गन्धेन स्वय माद्यतीव मदयति वा तन्निवासिदेवदेवीना मनांसीति गन्धमादनः । "बहुलम्" ।५। १ । २ । इति वचनात् कर्त्तर्यनट् कृत्प्रत्यय. " घञ्युपसर्गस्य बहुलम् । ३ । २ । ८६ । इत्यत्र बहुलाधिकाराद्दतिशायनादिव- द् मकाराकारस्य दीर्घत्वमिति । गन्धमादननामा चात्र देवो महर्द्धिक परिवसति, तेन तद्योगादितिनाम । अन्यत् सर्वं प्राग्वत् । जं० ४ वक्ख० । ' दो गधमायणा ' स्था० २ ठा० ३ उ० । स० ।

गंधमायणकूड-गन्धमादनकूट-न० । गन्धमादनस्य तृतीये कूटे, जं० ४ वक्ख० ।

गंधन्नया-देशी-नासायाम् दे० ना० २ वर्ग ।

गंधवई-गन्धवती-स्त्री० । भूतानन्दावासस्थाने, " धरणस्स नागरन्नो, सुहवतिपरियाए दक्खिणे पासे । गन्धवईपरियाओ, भूयाणदस्स उत्तरओ " ॥२१६॥ द्वी० ।

गंधवट्टय-गन्धवर्त्तक-न० । गन्धयुक्तोद्वर्त्तनचूर्णे, यद्धि, " गन्धद्रव्याणामुपलकोष्ठादीनां यद्वर्तिचूर्णं गोधूमचूर्णं वा गन्धयुक्तं तत् " । उपा० १ अ० ।

गंधवट्टि-गन्धवर्त्ति-स्त्री० । गन्धद्रव्याणां गन्धयुक्तशास्त्रोद्देशेन निर्वर्तितगुटिकायाम्, स० । कस्तूरिकागुटिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गंधवट्टिभूय-गंधवर्त्तिभूत-त्रि० । गन्धवर्तिभूत सौरभ्याऽतिशयात् । गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पे, रा० । जी० । प्रज्ञा० । औ० । स० । भ० । ज्ञा० । कल्प० ।

गंधवर-गन्धवर-पुं० । न० । प्रधानचूर्णे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गन्धप्रधाने चूर्णे, पञ्चा० ४ विव० ।

गंधवाइकूड-गन्धपातिकूट-न० । अष्टमे शिखरिवर्षधरपर्वतस्य कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधवाय-गन्धवाद-पुं० । द्वासप्ततिकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गंधवास-गन्धवर्ष-पुं० । गन्धद्रव्यवृष्टौ, " एग मह अमयवास च गधवास " आचा० ३ चू० ।

गंधविहि-गन्धविधि-पुं० । कोष्ठपुटपाकादीनां गन्धानां प्रकारे, बृ० १ उ० ।

गंधव्व-गन्धर्व-पुं० । देवगायने, उत्त० १ अ० । व्यन्तराऽष्टमभेदे, औ० । स्था० । भ० । उत्त० । सूत्र० । स० । गन्धर्वा द्वादशविधास्तद्यथा-हाहा १ हूहू २ तुम्बुरव. ३ नारदा. ४ ऋषिवादिका ५ भूतवादिका ६ कादम्बा ७ महाकादम्बा ८ रैवता ९ विश्वावसवः १० गीतरतय. ११ गीतयशस १२ । प्रज्ञा० १ पद । ('इन्द' आदिशब्देष्वेषामिन्द्रादय) मनुष्यगायने राज्ञां भेदे, जं० ३ वक्ख० । एकविंशतितमे अहोरात्रमुहूर्त्ते, ज्यो० २ पाहु० । चं० प्र० । कल्प० । स० । कुन्थुयक्षे, श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्ष श्यामवर्णः सिंहवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गाऽङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वयश्च । प्रव० २६ द्वार० । मृगभेदे कस्तूरीमृगे, घोटके, अन्तराभवसत्त्वे च । वाच० ।

गान्धर्व-न० । गन्धर्वै कृत गान्धर्वम् । नाट्यादिके, रागगीत्यादिकं गीत, षड्स्वरनाम्नाऽवधानात्मक गान्धर्वमिति भरतादिशास्त्रवचनात् । जं० १ वक्ख० । आव० । नृत्तयुक्तगीते, विपा० १ श्रु० २ अ० । कल्प० । ध० । "गधव्वेण विवाहेण,सयमेव विवाहिया " आ० म० प्र० । स्था० ।

गंधव्वकंठ गन्धर्वकण्ठ-न० । गन्धर्वकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा० ।

गंधव्वगण-गन्धर्वगण-पुं० । गन्धर्वसमुदाये, जी० ३ प्रति० ।

गंधव्वघरग-गन्धर्वगृहक-न० । गीतनृत्याभ्यासयोग्येषु गृहकेषु, जं० १ वक्ख० । रा० । जी० ।

गधव्वणागदत्त-गान्धर्वनागदत्त-पुं० । गान्धर्वप्रिये नागदत्तकुमारे, आव० ४ अ० । ("पडिक्कमण" शब्देऽस्य कथा द्रष्टव्या)

गंधव्वणिकाय-गन्धर्वनिकाय-पुं० । गन्धर्वाणां व्यन्तराष्टमभेदभूताना निकायो वर्गो येषां ते गन्धर्वनिकाया. । गन्धर्वेषु, औ० ।

गंधव्वनगर-गन्धर्वनगर-न० । सुरसद्मप्रासादोपशोभितनगराऽऽकारतया दृश्यमानेऽर्थे, अनु० । गन्धर्वनगर नाम चक्रवर्त्यादिनगरस्योत्पातसूचनाय सन्ध्यासमये तस्य नगरस्योपरि द्वितीय नगर प्राकाराट्टालादिसंस्थितं दृश्यते । प्रव० १६८ द्वार० । व्य० ।

" कपिलं सस्यघाताय, माञ्जिष्ठ हरणं गवाम् ।
अव्यक्तवर्णं कुरुते, बलक्षोभं न संशय ॥ १ ॥
गन्धर्वनगर स्निग्ध, सप्राकारं सतोरणम् ।
सौम्या दिश समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयकरम् ॥ २ ॥
स्था० ८ ठा० ॥

गंधव्वमंडलप्पविभत्ति-गन्धर्वमण्डलप्रविभक्ति-न० । गन्धर्वमण्डलाऽऽकृत्यभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा० ।

गधव्वसघाम-गन्धर्वसङ्घाट-पुं० । गन्धर्वयुग्मे, जं० १ वक्ख० ।

गंधव्वसाला-गन्धर्वशाला-स्त्री० । गानशालायाम, व्य० १० उ० ।

गंधव्वाणीय-गन्धर्वानीक-न० । गायनसमूहे, स्था ७ ठा० । नाट्यानीके, रा० ।

गंधव्विय-गान्धर्विक-त्रि० । गन्धर्वे कुशल , ठक् । सङ्गीतकुशले, वाच० । प्रत्युत्पन्नविनाशिज्ञाततया गान्धर्विकाऽऽख्यान तत्रैव । स्था० ४ ठा० ३ उ० । दश० ।

गंधसमिद्ध-गन्धसमृद्ध-न० । गन्धिलावतीविजये गन्धारजनपदप्रधाननगरे, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

गंधसालि-गन्धशालि-पुं० । गन्धप्रधान शालि. । आमोदवति धान्यभेदे, वासमतीप्रसिद्धे सुगन्धके शालौ, वाच० । " तेहिं गन्धसालिं अवहरइ " आ० म० द्वि० ।

गंधहत्थि [ण]-गन्धहस्तिन्-पुं० । मदगलद्धस्तिनि, " तहेव पवित्थरितो सेयणतो गधहत्थी " । आ० म० द्वि० । स्व-

नामख्याते आचार्यभेदे, आह च गन्धहस्ती-निद्रादय समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपपाते वर्त्तन्ते । कर्म्म० ६ कर्म० । स महानाचार्य, आचाराङ्गादिषु पूर्वं तस्य वृत्तय आसन्, तत शीलाङ्काचार्येण वृत्ति कृता । तथा च आचाराङ्गव्याख्योपक्रमे शीलाङ्काचार्य एव-" शस्त्रपरिज्ञाविवरण-मतिगहन च गन्धहस्तिकृतम् । तस्मात् सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् " ॥१॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गधहारग-गन्धहारक-पु० । म्लेच्छजातीयभेदे, तेषा देशे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० ।

गंधार-गान्धार-पु० । " वायु समुत्थितो नाभे', कण्ठशीर्षसमाहत । नानागन्धावह. पुण्यो, गान्धारस्तेन हेतुना ॥१॥" इति । तृतीये स्वरे, स्था० ७ ठा० । अनु० । अपरविदेहे गन्धिलावतीगन्धमादनवक्षस्कारगिरिवरासन्नवैताढ्यपर्वते, स्वनामख्याते जनपदे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । ' खन्धार ' इतिख्याते भरतक्षेत्रीये जनपदभेदे, " इतो य गधारविसए सुपुरिसपुर नयर, तत्थ नग्गई राया " आचू० ४ अ० । आव० । उत्त० । वैताढ्ये पर्वते दक्षिणविद्याधरश्रेण्यां स्वनामख्याते निकाये, कल्प० ७ क्षण । श्रीवीरप्रतिमार्चनाऽऽगते नीरोगीभूते स्वनामख्याते श्रावके, कल्प० ६ क्षण । आ० म० । सथा० ।

गंधारराय-गन्धारराज-पु० । गन्धारजनपदराजे नग्नजिति, जो चूअरुक्ख तु मणाभिराम, सो मजरीपल्लवपुप्फचित्त । रिद्धि अरिद्धि समुपेहियाण, गधाररायावि समिक्ख धम्म ॥ १८ ॥ आव० ४ अ० । नि० चू० । आ० क० ।

गंधारी-गान्धारी-स्त्री० । सा चाऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा सिद्धा, इत्यन्तकृद्दशासु पञ्चमे वर्गे तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ५ वर्ग । गन्धारदेशोत्पन्नायां कृष्णाग्रमहिष्याम्, अन्त० ५ वर्ग । स्था० । आ० क० । श्रीनेमिजिनस्य शासनदेव्याम्, श्रीनेमिजिनस्य गान्धारी देवी श्वेतवर्णा हसवाहना चतुर्भुजा वरदखड्गयुतदक्षिणकरद्वया बीजपूरककुन्तकलितवामकरद्वया च । प्रव० २७ द्वार । महाविद्याभेदे, आ० चू० । कल्प० ।

गधावइ-गन्धापातिन्-पु० । हरिवर्षे वृत्तवैताढ्यपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । " गधावइवासी अरुणा देवी " स्था० २ ठा० ३ उ० । (रम्यग्वर्षेऽस्य वृत्तवैताढ्यपर्वते 'रम्मग' शब्दे व्याख्या)

गधावइवासि [ए]-गन्धावतीवासिन्-पु० । गन्धावतीवासिनि देवे, ' दो गधावइवासी अरुणादेवा ' स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधियसाला-गन्धिकशाला-स्त्री० । गन्धप्रधानशालायाम् , गन्धिकशाला शौण्डिकशाला अन्याऽपि च एवमादिका गन्धप्रधाना सा गन्धिकशालेत्युच्यते । व्य० ६ उ० ।

गंधिल्ल-गन्धिल्ल-पु० । मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदया उत्तरे चक्रवर्तिविजयक्षेत्रयुगले, " दो गधिल्ला " स्था० २ ठा० ३ उ० । " गंधिले विजये अवज्झा रायहाणी देवे वक्खारपव्वए " । गन्धिले विजयेऽवध्या राजधानी देवो वक्षस्कार. । ज० ४ वक्ष० ।

गंधिलावई-गन्धिलावती-स्त्री० । मन्दरस्य पश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरेऽष्टानामन्तिमे चक्रवर्तिविजये, स्था० ८ ठा० । " गन्धिलावईविजए अवज्झा रायहाणी " गन्धिलावतीविजयेऽयोध्या राजधानी । ज० ४ वक्ष । ' दो गधिलावई ' । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गधिलावईकूड-गन्धिलावतीकूट-पु० । गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, ज० ४ वक्ष० । स्था० । गन्धिलावतीदीर्घवैताढ्यपर्वतस्याऽष्टमे कूटे च । स्था० ६ ठा० ।

गंधोदय-गन्धोदक-न० । श्रीखण्डादिरसमिश्रे जले, औ० । कल्प० । ज्ञा० । सुगन्धवारिणि, कल्प० ३ क्षण ।

गंधोदगदाण-गन्धोदकदान-न० । सुरभिजलवर्षणे, पञ्चा० २ विव० ।

गंधोदगदाणाइ-गन्धोदकदानादि-त्रि० । सद्गन्धरूप्योन्मिश्रजलप्रभृतौ, पञ्चा० ८ विव० ।

गंधोदगपुप्फवुट्ठि-गन्धोदकपुष्पवृष्टि-स्त्री० । तीर्थकरदानसमये जायमाने चतुर्थे दिव्ये, कल्प० ७ क्षण० ।

गंप्पि-गत्वा-अव्य० । गम-क्त्वा । " एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः " । ८ । ४ । ४४० । इति अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पिरादेश' । ततो " गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग्वा " । ८ । ४ । ४४२ । इति एप्पिप्रत्ययस्यैकारस्य लोप । गमन कृत्वेत्यर्थे, " गप्पिणु वाणारसिहिं, नर अह उज्जेणिहि गप्पि । मुआ परावहिं परम-पउ दिव्व तरिहं म जम्पि " ॥ प्रा० ४ पाद ।

गंप्पिणु-गत्वा-अव्य० । ' गप्पि ' शब्दार्थे, ।

गंभीर-गम्भीर-न० । अलब्धस्ताघे, जी० ३ प्रति० । औ० । गम्भीर नाम भग्नत्वादिदोषवर्जित शेषजनेन च प्रायेणाऽलक्षणीयमध्यमभाग स्थान, गम्भीरमस्ताघमितिवचनात् । व्य० १ उ० । ज्ञा० । रोषतोषाद्यवस्थायामप्यलब्धमध्ये, ध० ३ अधि० । रा० । जितेन्द्रिये, दर्श० । रा० । अतुच्छस्वभावे, प्रव० ६४-द्वार । ग० । व्य० । स्था० । सूक्ष्मार्थविषयभावाभिधायिनि, षो० ६ विव० । दैन्यादिवस्वेऽपि कारणवशात् सवृताऽऽकारतया महति, स्था० ४ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । रा० । प्रति० । गम्भीरो नाम सयतीनां पुरुषाद्याचरण दृष्ट्वाऽपि विपरिणाम न याति । बृ० १ उ० । अलक्ष्यमाणहर्षदैन्यादिभावे, पञ्चा० ११ विव० । अदर्शितरोषतोषशोकादिविकारे, स० । विपुलचित्ते, प० व० १ द्वार । खेदसहे, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । अप्रकाशे, दश० ५ अ० १ उ० । मेघशब्दवद् अतुच्छे स्वरे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । गम्भीरो नाम यत प्रतिशब्द उत्तिष्ठते । बृ० १ उ० । एकत्रिंशत्तमे ऋषभदेवनन्दने, कल्प० ७ क्षण । जम्बीरे, पद्मे च । वाच० ।

गंभीरतर-गम्भीरतर-त्रि० । गन्तुमत्यन्तमलब्धमध्ये, जीवा० १ अधि० । गम्भीरतरो मधुर शब्दो यस्या सा तथा । आ० म० प्र० ।

गंभीरदरिसणिज्ज-गम्भीरदर्शनीय-त्रि० । अलक्ष्यमाणाऽन्तर्वृत्तित्वेन दृश्यमानेषु, स० ।

गंभीरदेसणा-गम्भीरदेशना-स्त्री० । सूक्ष्मदेशनायाम्, परिणते गम्भीरायाः पूर्वदेशनापेक्षयाऽत्यन्तसूक्ष्माया आत्मास्तित्व तद्बन्धमोक्षादिकाया देशनाया योगो व्यापार. कार्य । इदमुक्त भवति-य. पूर्वं साधारणगुणप्रशसादिर्नेकधोपदेशः प्रोक्त आस्ते स यदा तदाचारककर्म्मह्रासातिशयाद्गाढीभावलक्षण परिणाममुपगतो भवति, तदा जीर्णे भोजनमिव गम्भीरदेशनामसौ देशनार्हेऽवतार्यत इति । ध० १ अधि० ।

गंभीरपयत्थभणियमग्ग-गम्भीरपदार्थभणितमार्ग-पु० । बन्धमोक्षस्वनस्तलक्षणे वचनपथे, प० व० ४ द्वार ।

गंभीरपयत्थविरइय–गम्भीरपदार्थविरचित–त्रि०। गम्भीरैर्–तुच्छैः पदार्थानां शब्दानामर्थैरभिधेयैर्विरचितानि दृब्धानि गम्भीरपदार्थविरचितानि। महार्थेषु, "सारा पुण थुइ थोत्ता, गंभीरपयत्थविरइया जे उ," पञ्चा० ७ विव०।

गंभीरपोयपट्टण–गम्भीरपोतपट्टन–न०। समुद्रतटस्थे पोताव-लगनस्थाने ग्रामे, "जेणेव गम्भीरपोयपट्टणे तेणेव उवाग-च्छति" ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

गंभीरमज्झ–गम्भीरमध्य–त्रि०। गम्भीरं मध्यं यस्य स गम्भी-रमध्यः। अप्राप्तमध्ये भवार्णवे, अष्ट० ११ अष्ट०।

गंभीरमालिणी–गम्भीरमालिनी–स्त्री०। गम्भीरं जलं मज्जने धारयतीति गम्भीरमालिनी। महाविदेहे सुवल्गुविजयेऽन्त-र्नदीभेदे, जं० ४ वक्ष०। स्था०। 'दो गम्भीरमालिणीउ' स्था० २ ठा० ३ उ०।

गंभीररोमहरिस–गम्भीररोमहर्ष–त्रि०। गम्भीरोऽतीवोत्कटो रोमोद्धर्षो भयवशाद् येभ्यस्ते गम्भीररोमहर्षाः। दृष्टिभयान-केषु, यद्दर्शनमात्रे जन्तूनां भयसम्पादनेन मात्रागंलरोमहर्ष-मुत्पादयन्तीति। जी० ३ प्रति०।

गंभीरलोमहरिसजणण–गम्भीररोमहर्षजनन–त्रि०। गम्भी-रश्चासौ भीषणत्वाद्रोमहर्षजननश्चेति गम्भीररोमहर्षजननः। भीषणे रोमहर्षजनने, भ० ६ श० ५ उ०।

गंभीरविजय–गम्भीरविजय–पु०। गम्भीरमप्रकाश विजय आश्रय। अप्रकाशाश्रये, "गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिले-हणा" (५६) दश० ६ अ०।

गंभीरसद्दत्त–गम्भीरशब्दत्व–न०। मेघस्येव शब्दनत्वे चतु-र्थे सत्यवचनाऽतिशये, औ०।

गंभीरा–गम्भीरा–स्त्री०। ग्लानसाधु प्रति जागरणयोग्यायां सा-ध्व्याम्, "काउ न उत्तणेइ" गम्भीरा या वैयावृत्यं कृत्वा न उत्तणेइ, गर्वबुद्ध्या न प्रकाशयति सा। व्य० ५ उ०। चतुरिन्द्रि-यभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

गंभीराहरण–गम्भीरोदाहरण–न०। महापुरुषगतेऽतुच्छज्ञाने, पञ्चा० ६ विव०।

गंभीरिम–गाम्भीर्य–न०। परैरलब्धमध्यो गम्भीरस्तद्भावो गा-म्भीर्यम्। षो० ४ विव०। अल्पशेमुष्याऽज्ञातमध्यत्वे, जीवा० ३ अधि०।

गगण–गगन–न०। अम्बरे, चं० प्र० १८ पाहु०। आकाशे, उत्त० २६ अ०। रा०। "गगणमिव निरालवो" स्था० ९ ठा०।

गगणतल–गगनतल–न०। अम्बरतले, रा०। चं० प्र०। जं०। कल्प०। स०। "गगणतलविमलविपुलगमणगइचवलचलियम-णपवणजइणसिग्घवेगा" गगनतले विमले विपुले च यद्ग-मनं तस्य सम्बन्धी शीघ्रवेग इति सम्बन्धः। गतिश्चपला स्व-रूपत एव यस्य तद्गतिचपलं, तच्च तच्चलितं च गन्तु प्र-वृत्तं तद्विधं यन्मनः पवनश्च तयोर्जयनशीलोऽत एव शीघ्रो वेगो येषां ते तथा। औ०। आकाशतले, भ० ६ श० ३३ उ०। कल्प०। गगनतलमम्बरमनुलिखन्ति अभिलङ्घयन्ति शिखरा-णि येषां ते गगनतलानुलिखच्छिखराः। जी० ३ प्रति०। रा०। स०। सू० प्र०।

गगणवल्लह–गगनवल्लभ–न०। वैताढ्ये नगे उत्तरश्रेण्यां न-मिविनमिभ्यां निवासिते नगरभेदे, कल्प० ७ क्षण०।

गग्ग–गर्ग–पु०। गौतमगोत्रविशेषभूतपुरुषे, स्था० ७ ठा०। स च भरद्वाजगोत्र इति स्मृति। तस्य गोत्रापत्य गर्ग-यत्-गा-र्ग्य'। तद्गोत्रापत्ये, पु०। स्त्री०। वाच०। स्वनामख्याते मुनौ, "थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसी" गार्ग्यो नाम गर्गगोत्रो-त्पन्नत्वाद् गार्ग्यः। उत्त० २६ अ०। (तस्य कुशिष्यत्याग 'खलुंक' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७२५ पृष्ठे द्रष्टव्यः)
प्रश्न.–गर्गाचार्यत्यक्तपञ्चशतसाधूनां साधुत्व सम्भाव्यते नवा? स्वेच्छाचारित्वात्। उत्तरम्–गर्गाचार्यत्यक्तशिष्याणां व्यव-हारतः साधुत्वेऽपि परमार्थतः साधुत्वाऽभाव एव समा-भ्यते। ही० २ प्रका०। पाशककेवलिकर्मविपाकनाम्नोर्ग्र-न्थयोः कर्त्तरि स्वनामख्याते आचार्ये, स च विक्रमभवत् ६६२ वर्षे आसीत। जै० इ०। यून्यपत्ये फक्-गार्ग्यायण। यूनि तद्गोत्रापत्ये, पु०। स्त्री०। बहुषु यञो लुग अस्त्रियाम्। कुणिरोगाक्रान्ते मुनिभेदे, वाच०।

गग्गर–गद्गद–न०। "सख्यागद्गदे रः"। ८। १। २१९॥ इति दस्य रः। "गग्गर" प्रा० १ पाद॥
गर्गर–पु०। स्त्री०। गर्गेति शब्दं गाति। गा-क। गृ-वा गरन्। तरुणपशौ, दधिमन्थनभाण्डे च। वाच०।

गग्गरी–गर्गरी–स्त्री०। गर्गर–अल्पार्थे ङीप। स्वल्पघटे, वाच०। यावता वृष्टेनाकाशबिन्दुभिर्महती गर्गरी भ्रियते। विशे०। अनु०।

गच्छ–गच्छ–पु०। समुदाये, आ०म०प्र०। अनु०। एकाचार्यपरि-वारे, औ०। जीवा०। एकाचार्यप्रणेयसाधुसमुदाये, पञ्चा० १८ विव०। ध०। गच्छमानम्–तिगमाइया गच्छा, सहस्सबत्तीसई उ-सभेण। त्रिकादयस्त्रिचतु प्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः। किमुक्तं भवति?, एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भव-न्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्तस्य च त्रयाणामधस्ता-दभावादिति। तत ऊर्ध्वं ये चतुः पञ्चप्रभृतिपुरुषसंख्याका गच्छा-स्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद्यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति। किं पुनस्तद्?, इति चेदत आह–(सहस्स बत्तीस-ई उसभेण त्ति) द्वात्रिंशत्सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं सा-धूनां परिमाणं, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति। बृ० १ उ०। व्य०।

अथ गच्छाचारोक्तगच्छविधिरभिधीयते–

नमिऊण महावीरं, तिअसिंदनमंसिअं महाभागं।
गच्छायारं किंची, उद्धरिमो सुयसमुद्दाओ ॥१॥ ग०।

इह हि साधुना इहपरलोकहितार्थं सदाचारगच्छसंवासो विधेयोऽसदाचारगच्छसंवासश्च परिहार्यः, क्रमेण परमशु-भाशुभफलत्वात्। तत्रापि अपरिकर्मितप्रदेशे चित्रकरणमिव, अपरिवर्जितापथ्यं तथौ-षधकरणमिव, अव्याकरणाध्ययनमन्यशास्त्राऽध्ययनमिव, अप-सच्छिद्रप्रवहणेन समुद्रतरणमिव, सधूलीके लिम्पनमिव, अनम्भः सङ्-रिघट्टपीठे भित्तिचयनमिव, अलोचनं मुखमण्डनमिव अन्तर्गूढं च अप-कमलरोपणमिव, सदाचारगच्छसंवसनमित्युन्मार्ग-स्थितकोन्मार्गगामिगच्छसङ्ग

गामिगच्छसङ्गतिं परित्यज्यैव सन्मार्गगामिनि गच्छे संवसनीयमितिज्ञापनार्थं प्रथममुन्मार्गगामिगच्छसंवासे परमाऽपायफलं दर्शयति-

अत्थेगे गोयमा ! पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए ।
गच्छम्मि संवसित्ता णं, भमई भवपरंपरं ॥ २ ॥

हे गौतम ! सन्त्येके केचन प्राणिनः सत्त्वा ये उन्मार्गप्रतिष्ठिते उन्मार्गगामिनि गच्छे संवस्य संवासं कृत्वा, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, भवपरम्परां संसारपरिपाटीं भ्रमन्ति । अत्र वचनत्रयस्यो दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । एवमग्रेऽपि तत्र तत्र वचनादिव्यत्ययह्रस्वत्वदीर्घत्वविभक्तिलोपादि प्राकृतत्वादिनिबन्धनमनुक्तमपि स्वयमभ्यूह्यम् । असत्सङ्गो हि सतोऽपि शीलस्य विलये न पातहेतुरेव । उच्यते चान्यत्रापि-"यदि सत्सङ्गनिरतो,भविष्यसि भविष्यसि । अथाऽसज्जनगोष्ठीषु,पतिष्यसि पतिष्यसि" ॥१॥ इह च "अत्थेगे गोयमा ! पाणी" इत्यादि सगौतमामन्त्रणश्रीमन्महावीरनिर्वचनवाक्योपलम्भाद् हे भदन्त ! किं सन्ति केचन प्राणिनः, ये उन्मार्गगामिनि गच्छे संवस्य भवपरम्परां भ्रमन्तीत्यादिरूपं यथासम्भवि सनगवदामन्त्रणश्रीगौतमप्रश्नवाक्यमनुक्तमपि ज्ञेयम्, प्रश्नमन्तरेण निर्वचनस्य प्रायोऽसम्भवात् । एवमुत्तरत्रापि तत्र तत्र प्रश्नवाक्यं यथासम्भवि स्वयमेव वाच्यमिति । (ग०)

सदाचारलक्षणो गच्छः ।

अथ गाथात्रयेण सदाचारगच्छसंवासगुणानाह-

जामद्ध-जाम-दिण पक्खं, मासं संवच्छरं पि वा ।
सम्मग्गपट्ठिए गच्छे, संवसमाणस्स गोयमा ! ॥ ३ ॥
लीलाअलसमाणस्स, निरुच्छाहस्स वीमणं ।
पिक्खविक्खइ अन्नेसिं, महाणुभागाण साहुणं ॥ ४ ॥
उज्जमं सव्वथामेसु, घोरवीरतवाइयं ।
लज्जं संकं अइक्कम्म, तस्स विरियं समुच्छले ॥ ५ ॥

यामार्द्धं चतुर्घटिकं, यामं प्रहरं, दिनमहोरात्रम्; अत्र पदत्रयेऽपि विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । समाहारद्वन्द्वो वा चतुर्णां पदानाम् । पक्षं पञ्चदशदिनात्मकं, मासं पक्षद्वयात्मकं, संवत्सरं द्वादशमासात्मकम्, अपिशब्दाद्वर्षद्वयादिकं यावत् । वाशब्दो विकल्पार्थः । सन्मार्गप्रस्थिते आप्तोक्तमार्गप्रवृत्ते, गच्छे गणे संवसतो निवासं कुर्वाणस्य, जन्तोरिति शेषः, हे गौतम ! कथंभूतस्य ?, लीलया अलसायमानस्य, अनलसोऽलसो भवतीति अलसायते; अलसायते इति अलसायमानः, तस्य । अत्र "डाच् लोहितादिनाम्यः पित्" ।३।४।३०। इति (हैम०) सूत्रेण लोहितादेराकृतिगणत्वात् च्व्यर्थे क्यङ्ष् प्रत्ययः । निरुत्साहस्य निरुद्यमस्य (वीमणं ति) पञ्चम्यर्थे द्वितीया, विमनस्कस्य शून्यचित्तस्य, (पिक्खविक्खइत्ति) पश्यतः, अन्येषां महानुभागानां महाप्रभावाणां साधूनाम्, उद्यममनालस्यं, सर्वस्थामसु सर्वक्रियासु, कथंभूतमुद्यमम् ?, (घोरवीरतवाइअं ति) घोरं दारुणम्, अल्पसत्त्वैः दुरनुचरत्वात् । (वीरं त्ति) वीरे भवं वैरं, वीरैः साध्यमानत्वात्, एवंविधं तपः आदिर्यत्र तम् । आदिशब्दाद्वैयावृत्त्यादिकम् । लज्जा व्रीडा, शङ्कां जिनोक्ते संशयरूपाम्, अतिक्रम्य परित्यज्य, स्थितस्येति शेषः । तस्य सुखशीलत्वादिदोषयुक्तस्यापि, वीर्यं प्रधानधर्मानुष्ठानकरणोत्साहरूपं, समुच्छलेत् प्रादुर्भवेत् । सोऽपि जिनोक्तमार्गक्रियां कुर्यादित्यर्थः, पश्चाद्गोकशैलकाचार्यवदिति । त्रीण्यपि विषमाक्षराणीति गाथाच्छन्दांसि । ग० १ अधि० ।

गच्छस्याऽगच्छत्वं यथा स्यात्तथाऽऽह-

पज्जलंति जत्थ धगधग-धगस्स गुरुणा वि चोइए सीसा ।
रागद्दोसेण विअणु-सएण तं गोयम ! न गच्छं ॥ ५० ॥

प्रज्वलन्ति अग्निवद् यत्र गच्छे (धगधगधगस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयं धगधगिति, धगधगायमानं यथा स्यात्तथेत्यर्थः । प्राकृतत्वाच्चैवं प्रयोगः । गुरुणाऽऽचार्येण, अपिशब्दादुपाध्यायादिनाऽपि (चोइए त्ति) प्रमादस्थानयुक्तमेतदित्यादिना प्रकारेण नोदिते सति । के ?, शिष्या अन्तेवासिनः, केन प्रज्वलन्ति ?, रागद्वेषेण, अत्र समाहारद्वन्द्वादेकवचनम् । तथाऽनुशयेनापि 'हा ! कथं निरन्तरातितु सहस्व खसन्तापव्याकुलीकृतान्तःकरणा अमुयोररीकृता मया' इत्यादिपश्चात्तापकरणेन चेत्यर्थः । अपिशब्दः चशब्दार्थे । यद्वा रागद्वेषेण, किंभूतेन ?, (विअणुसएण त्ति) विगतोऽनुशयः पश्चात्तापो यत्र तद् व्यनुशयं, तेन, पश्चात्तापरहितेनेत्यर्थः । हे गौतम ! स गच्छो न भवतीति । ग० २ अधि० ।

उम्मग्गपट्ठियं गच्छं, जे वासे लिंगजीवा णं ॥
से णं निग्गिग्घमकिलिट्ठं, सामन्नं संजमं तवं ।
ण लभेज्जा ते सिया भावे, मोक्खे दूरयरतिए ॥ (महा०)

(अत्थेगे गोयमेत्यादिगाथास्तु गच्छाचारपाठेन गतार्थाः)

वीरिएणं तु जीवस्स, समुच्छलिएण गोयमा ! ॥
जम्मंतरकए पावे, पाणी मुहुत्तेण निद्दहे ।
तम्हा निउणं निहालेउं, गच्छं सम्मग्गपट्ठियं ॥
निवसेज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी ।

से भयवं ! कयरेणं से गच्छे जेण वासेज्जा ?। एवं तु गच्छस्स पुच्छा० जाव णं वयासी । गोयमा ! जत्थ णं समसत्तुमित्तपक्खे अच्चंतसुनिम्मलविसुद्धतकरणे आसायणाभीरू सपरोवयारमब्भुज्जए अच्चंतं छज्जीवनिकायवच्छले सव्वालंबणविप्पमुक्के अच्चंतमप्पमादी सविसेसबितियसमयसब्भावे रोद्दट्टज्झाणविप्पमुक्के सव्वत्थ अणिगूहियबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमे एगंतेण संजई कप्पपरिभोगविरए एगंतेणं धम्मंतरायभीरू एगंतेणं तत्तरुई एगंतेण इत्थिकहा भत्तकहा तेणकहा रायकहा जणवयकहा परिभट्ठायारकहा एवं तिन्नि तिय अट्ठारस बत्तीसं विचित्तसप्पभेयसव्वविगहाविप्पमुक्के एगंतेण जहासत्तीए अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं आराहगे सयलमहन्निसाणुसमयमगिलाए जहोवइयमग्गपरूवए बहुगुणकलिए मग्गट्ठिए अक्खलियसीलंगमहासत्ते महाणुभागे नाणदंसणचरणगुणोववेए गणी । महा० ५ अ० ।

गच्छे वसतां बह्वी निर्जरा स्यादित्याह-

गच्छो महाणुभावो, तत्थ वसं[illegible]
सारणवारणचोयण-माईहिं [illegible]

गच्छः सुविहितमुनिवृन्दरूपः,

महानुभावः। (तत्थ त्ति) तत्र गच्छे,वसतां वासं कुर्वतां,निर्जरा कर्मक्षयरूपा, भवतीति शेषः। किं भूता ?,विपुला महती। कुतः?,इत्याह–यतस्तत्र वसतां सारणावारणाचोदनादिभिः, मोऽलाक्षणिक ,न दोषप्रतिपत्तिर्न दोषावाप्तिर्भवति। तत्र विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये प्रवतेद् न छन्नमिति सारणा, अकर्तव्यानां निषेधो वारणा, संयमयोगेषु स्खलितस्याऽयुक्तमेतद्भवादृशां विधातुमित्यादिखरमधुरवचनैः प्रेरणं चोदना । आदिशब्दात्तथैव पुनः पुनः प्रेरणरूपा प्रतिचोदनेति । ग० २ अधि० ।

अथ शिष्यस्वरूपप्रतिपादनद्वारेण गच्छस्वरूपमेव प्रतिपादयन्नाह–

गुरुणो कज्जमकज्जं, खरकक्कसदुट्ठनिठ्ठुरगिराए ।
भणिए तह त्ति सीसा, भणंति तं गोयमा ! गच्छं ॥५६॥

गुरुणाऽऽचार्येण कार्ये चाकार्ये च कार्याकार्ये, तस्मिन्, मकारोऽलाक्षणिक । खरकर्कशदुष्टनिष्ठुरगिरा अत्यन्तनिष्ठुरतरया वाण्या भणिते प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं कथिते सति (तह त्ति) तथेति यद्यथा यूयं वदथ तत्तथैवेति यत्र गच्छे शिष्या विनेया भणन्ति, प्रतिपाद्यन्ते इत्यर्थः, तं गच्छं हे गौतम ! घण्टालालान्यायेन भणन्तीति क्रियाया अत्रापि संबन्धात्, भणन्ति प्रतिपादयन्ति, तीर्थकरगणधरादय इति शेषः । ग० २ अधि० ।

आर्यिकाभिः सह न संवदन्ति–

जत्थ य अज्जाहि समं, थेरा वि न उल्लवंति गयदसणा।
न य झायंति त्थीणं, अंगोवंगाइ तं गच्छं ॥ ६२ ॥

यत्र च गच्छे आर्याभिः साध्वीभिः समं सार्धं स्थविरा अपि साधवः, किं पुनस्तरुणाः, 'न उल्लवंति' नाऽऽलापादि कुर्वन्ति । किंभूताः?,गता नष्टा दशना दन्ता येषां ते गतदशनाः,न च ध्यायन्ति स्त्रीणां नारीणामङ्गोपाङ्गानि । तत्राऽङ्गान्यष्टौ–बाहुद्वयम, ऊरुद्वयं, पृष्टिः, शिरः, हृदयम, उदरं च । उपाङ्गानि–कर्ण-नेत्र-नासिकादीनि । तं गच्छं वदन्तीति शेषः। ग० २ अधि० । (व्याख्या ६३ गाथा च 'अज्जासंसग्गी' शब्दे प्र० भा० २२४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

षड्कायवतनावान् गच्छः ।

अथ पृथिव्यादिषड्जीवयतनामाश्रित्य प्रस्तुतमेवाह–

पुढविदगअगणिमारुअ–वाउवणस्सइतसाण विविहाणं ।
मरणंते वि न पीडा, कीरइ मणसा तयं गच्छं ॥ ७१ ॥

पृथिवी च पृथिवी च पृथिवीकायः, उदकं च उदकं च, अग्निश्च वह्निश्च, मारुतश्च वायुश्च, म्रियन्ते क्षुद्रजन्तवोऽनेनेति मरुत्, मरुदेव मारुतः, स चासौ वायुश्च मारुतवायुः, अतिचञ्चलत्वेन क्षुद्रसत्त्वोपद्रवकारी समीरणः, वनस्पतिश्च प्रत्येकसाधारणरूपः, त्रसाश्च द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियरूपास्ते तथा. तेषां विविधानामनेकप्रकाराणां, पीडा बाधा, मरणान्तेऽपि यत्र गच्छे मनसा, चपलत्वात्तद्वचनकायाभ्यां च न क्रियते मुनिभिः, हे गौतम ! स गच्छः स्यादिति । गाथाच्छन्दः । क्वचिद् 'वाउ त्ति' पदं न दृश्यते, तत्र व्याख्यानं सुकरमेव, छन्दस्तूपगीतिः । तल्लक्षणं चेदम्–"आर्या द्वितीयकेऽर्द्धे, यद् गदितं लक्षणं तत्स्यात् ॥ यद्युभयोरपि दलयो–रुपगीतिं तां मुनिर्ब्रूते " ॥१॥ इति ॥

खज्जूरिपत्तमुंजेणं, जो पमज्जे उवस्सयं ।
नो दया तस्स जीवेसु, सम्मं जाणाहि गोयमा ! ॥७३॥

(खज्जूरिपत्तमुंजेण त्ति) खर्जूरीपत्रमयप्रमार्जन्या बहुकर्या वा यः साधुरुपाश्रयं वसतिं प्रमार्जयति तस्य जीवेषु दया घृणा नास्ति, हे गौतम ! त्वं सम्यग् ... अनुष्टुप् छन्दः ।

जत्थ य बाहिरपाणिअ–बिंदूमित्तं पि गिम्हमाईसु ।
तिण्हासोसियपाणा, मरणे वि मुणी न गिण्हंति ॥७७

(अस्या व्याख्या 'आउकाय' शब्दे द्वि० भागे २४ द्रष्टव्या) ग० २ अधि० ।

अथ स्त्रीकरस्पर्शादिकमिदमवसेयमित्यधिकृत्य प्रस्तुतमेवोद्भावयति–

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।
दिट्ठीविस–दित्तग्गी–वीसं व विवज्जए गच्छे ॥ ८३ ॥

यत्र गणे स्त्रीकरस्य स्पर्शः,अथवा स्त्रियाः करेण स्पर्शः स्त्रीकरस्पर्शस्तम्, उपलक्षणत्वात् स्त्रीपादादिस्पर्शो च. कथंभूतम् ?, (अंतरियं) अपिशब्दस्येहाऽपि संबन्धाद् अन्तरितमपि वस्त्रादिना जातान्तरमपि किं पुनरनन्तरितम्, कारणेऽपि कष्टकरोगोन्मत्तत्वादिके उत्पन्ने संजाते सति, किं पुनरकारणे, दृष्टिविषश्च सर्पविशेषः, दीप्ताग्निश्च ज्वलितवह्निः, विषं च हालाहलादीनि, समाहारद्वन्द्वः,तदिव वर्जयेत्, उत्सर्गमार्गेण दूरतः त्यजेन्मुनिसमुदायः (गच्छे त्ति) स गच्छः स्यादिति शेषः ॥ ८३ ॥

बालाए बुड्ढाए, नत्तूअ दुहिआए अहव भइणीए ।
न य कीरइ तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥८४॥

इहापवर्गस्य सर्वत्र संबन्धाद् बालाया अपि अप्राप्तयौवनाया अपि, किं पुनः प्राप्तयौवनायाः, वृद्धाया अपि अतिक्रान्तयौवनाया अपि, किं पुनरनतिक्रान्तयौवनायाः; एवंविधायाः कस्याः ?, इत्याह–नप्तृका पौत्री, तस्या अपि, दुहिता पुत्री, तस्या अपि, अथवा भगिनी स्वसा, तस्या अपि, बालवृद्धोपलक्षणत्वादस्य दौहित्री–भ्रातृजा–जामेयी–पितृष्वसृ–मातृष्वसृ–जननी–मातामही–पितामहीग्रहः । कोऽर्थः ?, नप्तृकादीनामेकादशानां नालबद्धानामपि स्त्रीणां, किं पुनरनालबद्धानां तनुस्पर्शः, उपलक्षणत्वात् सविश्रासशब्दश्रवणादि च यत्र गच्छे न च नैव क्रियते हे गौतम ! स गच्छो भणित इति। इह हि संबन्धिन्या अपि स्त्रिया अङ्गस्पर्शादिवर्जनं, स्त्रीस्पर्शस्योत्कटमोहोदयहेतुत्वात् । ग० २ अधि० ।

क्रयविक्रयकारी गच्छो न भवति–

जत्थ य मुणिणो कयवि–क्कयाइँ कुव्वंति संजमब्भट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर !, विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥१०३॥

यत्र गणे मुनयो द्रव्यसाधवः क्रयं मूल्येन वस्त्रपात्रौषधशिष्यादिग्रहणं, विक्रयं च मूल्येनान्येषां वस्त्रपात्रादिकार्पणं कुर्वन्ति । चशब्दादन्यैः कारयन्ति, अनुमोदयन्ति वा, किंभूता मुनयः ?, संयमभ्रष्टा दूरीकृतचारित्रगुणाः, गुणसागरेति गौतमामन्त्रणम्, तं गच्छं विषमिव हालाहलमिव दूरतः परिहरेत् सन्मुनिः । अत्र विषस्योपमा देशसाम्येन, यतो विषादेकं मरणं भवति, संयमभ्रष्टगच्छात्त्वनन्तानि जन्ममरणानि भवन्तीति । ग० २ अधि० ।

सुगच्छे वसेत् ।

एवं शुभाऽशुभगच्छस्वरूपेऽवगते सति मुनिः किं कुर्यात् ?, इत्याह-

तम्हा सम्मं निहालेउ, गच्छं सम्मग्गपट्ठिअं ।
वसिज्जा पक्ख मासं वा, जावज्जीवं तु गोयमा ! ॥१०५॥

यस्मात् सद्गच्छः संसारोच्छेदकारी, असद्गच्छश्च संसारवर्द्धकः, तस्मात् सम्यग् निभाल्य सम्यग् विलोक्य, गच्छं गणं सन्मार्गप्रस्थितं, तत्र पक्षं वा मासं वा, उपलक्षणत्वाद् मासद्वयादिकं वा, यावज्जीवम्, वा तुरपि विकल्पार्थे एव, वसेन्मुनिः, हे गौतम ! इति । ग० ३ अधि० । (वसतिरक्षणमधिकृत्यैकाकिन्या क्षुल्लिकादिकया व्रतिन्योपाश्रयरक्षणे दोषो, रात्रौ वसतेर्बहिर्गमने निर्मर्यादत्वादि च भागेऽस्मिन्नेव ३२ पृष्ठे 'एगाह' शब्दे गच्छान्तरपाठे द्रष्टव्यम्) (आर्यया गृहिसमक्षं दुष्टभाषणे दोषस्तु 'अज्जा' शब्दे प्र० भागे २२० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

गच्छमर्यादा-

से भयवं ! केवइयं कालं० जाव गच्छस्स णं मेरा पन्नविया ?, केवइयं कालं० जाव णं गच्छस्स मेरा णाइक्कमेयव्वा ?। गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे दुप्पसहे अणगारे ताव णं गच्छमेरा पन्नविया, जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे दुप्पसहे अणगारे ताव णं गच्छमेरा नाइक्कमेयव्वा । महा० ॥

जत्थ य गोयम ! पंच-एह कह वि सूणाण एक्कमवि होज्जा ।
तं गच्छं तिविहेणं, वोसिरिय वइज्ज अन्नत्थं ॥
सूणारंभपवित्तं, गच्छं वेसुज्जलं व ण वसेज्जा ।
जं चारित्तगुणेहिं,तु उज्जलं तं निवासेज्जा ।महा०५अ० ।

गच्छे आचार्यादीनामभावे न वसेत् । यत्र गच्छे पञ्चानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवर्तिस्थविररूपाणामसद्भावो,यदि वा यत्र पञ्चानामन्यतमोऽप्येको न विद्यते तत्र न वस्तव्यम्,अनेकदोषसम्भवात्, तानेव दोषानाह-

एवं असुभगिलाणे, परिण्णकुलकज्जमादियग्गो उ ।
अण्णस्स ससल्लस्सा, जीवियघाते चरणघातो ॥

एवममुकेन प्रकारेण पञ्चादिहीने गच्छे, एकोऽशुभकार्ये मृतकस्थापनादौ, अपरो ग्लानप्रयोजनेषु, अन्यः परिज्ञायां कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य देशनादौ, अपरः कुलकार्यादौ व्यग्र इति, अन्यस्य पञ्चमस्याप्यन्त्यावस्थाप्राप्तस्य आलोचनाया असम्भवेन सशल्यस्य सतो जीवनाशे चरणव्याघातश्चरणभ्रंशः, चरणभ्रंशे च शुभगतिविनाशः ।

अत्र पर आह-

एवं होइ विरोहो, आलोयणपरिणतो उ सुद्धो उ ।
एगतेण पमाणं, परिणामो वी न खलु अम्हं ॥

नन्वेवं सति परस्परविरोधः ।तथाहि-भवद्भिरिदानीमेवमुच्यते-सशल्यस्य सतो जीवितनाशे चरणभ्रंशः, प्राक्त्वेवमुक्तम्-अदत्तालोचनेऽप्यालोचनापरिणामपरिणतः शुद्ध इति, ततो भवति परस्परविरोधः । अत्र सूरिराह-(एगतेणेत्यादि) न खल्वस्माकं स्वशक्तिनिगूहनेन यथाशक्तिप्रवृत्तिविरहितः केवलपरिणाम एकान्तेन प्रमाणं, तस्य परिणामाऽऽभासत्वात्; किन्तु सूत्रं प्रमाणीकुर्वतो यथाशक्तिप्रवृत्तिसमन्वितः, न चैकाद्यभावे गच्छे वसन् सूत्रमनुवर्तते, ततस्तस्य तात्त्विकपरिणाम एव नेति सशल्यस्य जीवितनाशे चरणनाशः ।

पुनरपि वक्तव्यान्तरं विवक्षुः प्रश्नमुत्थापयति-

चोयग किं वा कारण, पंचएहऽसती तहिं न वसियव्वं ।
दिट्ठंतो वाणियए, पिंडियअत्थे वसिउकामे ॥

चोदक आह-यत्र पञ्चानां परिपूर्णानामसद्भावस्तत्र न वस्तव्यमित्यत्र किं वा कारणम् ? को नाम दोषः ?। सूरिराह-अत्र अर्थकृतार्थे वणिजा पिण्डितार्थेन वस्तुकामेन दृष्टान्त उपमा, गाथायां सप्तमी तृतीयाऽर्थे। इयमत्र भावना-कोऽपि वणिक्, तेन प्रभूतोऽर्थः पिण्डितः, ततः सोऽचिन्तयत्-कुत्र मया वस्तव्यम् ?, यत्रैनमर्थं परिभुञ्जेऽहमिति ।

ततस्तेन परिचिन्त्येदं निश्चिक्ये-

तत्थ न कप्पइ वासो, आहारो जत्थ नत्थि पंच इमे ।
राया वेज्जो धणिमं, नेवइया रूवजक्खा य ॥

तत्र न कल्पते वासो यत्रेमे वक्ष्यमाणाः पञ्च नाधाराः । के ते ?, इत्याह-राजा नृपतिः, वैद्यो भिषग्, अन्ये च धनवन्तो, नैतिकिका नीतिकारिणो, रूपयक्षा धर्मपाठकाः ।

कस्मादिति चेदत आह-

दविणस्स जीवियस्स व, वाघातो होज्ज जत्थ नत्थे ते ।
वाघाए चेगतर-स्स दव्वसंघाडणा अफला ॥

यत्र न सन्त्येते राजादयः परिपूर्णाः पञ्च, नियमतो द्रविणस्य धनस्य,जीवितस्य वा व्याघातो भवेत् । वैद्येन विना जीवितस्य, राजादिभिर्विना धनस्य, व्याघाते चैकस्य धनस्य जीवितस्य वा द्रव्यसंघाटना द्रव्योपार्जना विफला, परिभोगस्यासम्भवात् ।

अथवा-

रण्णा जुवरण्णा वा, महत्तरय अमच्च तह कुमारेहिं ।
एएहिं परिग्गहियं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं ॥

राज्ञा युवराजेन महत्तरकेणामात्येन तथा कुमारैः, एतैः पञ्चभिः परिगृहीतं राज्यं गुणविशालं भवति, गुणविशालत्वाच्च तद्वसेत् । व्य० १ उ० । (राजादीनां लक्षणानि स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यानि)

गच्छो जिनकल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकौ ।

अथ शिष्यः प्रश्नयति-

गच्छे जिणकप्पम्मि वि, दोण्ह वि कयरो भवे महिड्ढीओ ?।
निप्फायगनिप्फन्ना, दोन्नि वि होंती महिड्ढीया ॥

गच्छजिनकल्पयोर्मध्ये कतरो महर्द्धिकः प्रधानतरो भवेत् ?। गुरुराह-निष्पादकनिष्पन्नाविति कृत्वा द्वावपि महर्द्धिकौ भवतः । तत्र गच्छः सूत्रार्थग्रहणादिना जिनकल्पिकस्य निष्पादकः, अतोऽसौ महर्द्धिकः, जिनकल्पिकस्तु निष्पन्नो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु परिनिष्ठित इत्यसौ महर्द्धिकः ।

इदमेव भावयति-

दंसणनाणचरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्ढी ।

एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणां यस्माद्गच्छे परिवृद्धिर्भवति, एतेन कारणेन गच्छो महर्द्धिको भवति ।

पुरतो व मग्गतो वा, जम्हा कत्तो वि नत्थि पडिबंधो ।
एएण कारणेणं, जिणकप्पीओ महिड्ढीओ ॥

पुरतो वा विहरिष्यमाणक्षेत्रे, मार्गतो वा पृष्ठत पूर्वविहृतक्षेत्रे यस्मात्कुतोऽपि द्रव्यत कालतो भावतो वा प्रतिबन्धस्तस्य भगवतो न विद्यते एतेन कारणेन जिनकल्पिको महर्द्धिकः ।

अथ द्वयोरपि महर्द्धिकत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति–

दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव ।
सीसो चिय सिक्खंतो, आयरिओ होइ नवत्तो ॥

दीपादन्यो द्वितीयो दीपो दीप्यते,स च मूलो दीपस्तथैव दीप्यते,एव जिनकल्पिकदीपोऽपि गच्छदीपादेव प्रादुर्भवति,स च गच्छदीपस्तथैव ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वय प्रदीप्यते। यद्वा–यथा शिष्य एव शिष्यमाण सन् क्रमेणाचार्यो भवति,नान्यतो नान्येन प्रकारेण, एव स्थविरकल्पिक एव तप प्रभृतिभिर्भावनाभिरात्मान भावयन् क्रमेण जिनकल्पिको भवति, नान्यथा । अतो द्वावपि महर्द्धिकौ ।

अस्यैवार्थस्य समर्थनायाऽपर दृष्टान्तत्रय दर्शयितुं निर्युक्तिगाथामाह–

दिट्ठंत गुहासीहे, दोन्नि य महिला पया य अपया य ।
गावीण दोन्नि वग्गा, सावेक्खो चेव निरवेक्खो ॥

दृष्टान्तोऽत्र गुहासिंहविषयः प्रथम । द्वितीयो द्वे महिले, एका प्रजा अपत्यवती, द्वितीया अप्रजा अपत्यविकला । तृतीयो गवां द्वौ वर्गौ, एक सापेक्षोऽपरो निरपेक्ष इति ।

तत्र गुहासिंहदृष्टान्त भावयति—

सीहं पालेइ गुहा, अविहाड तेण सा महिड्ढीया ।
तस्स पुण जोव्वणम्मी, पओअणं किं गिरिगुहाए ? ॥

"अविहाड" इति देशीभाषया बालक सिंह गुहा पालयति वनमहिषव्याघ्रादिभ्यो रक्षति, तन्निर्गतस्य तेभ्य प्रत्यपायसम्भवात् । तेन कारणेन गुहा महर्द्धिका । यदा तु सिंहो यौवनं प्राप्तो भवति तदा तस्य किं प्रयोजन गिरिगुहया ?, न किञ्चिदित्यर्थ । स्वयमेव वनमहिषाद्युपद्रवादात्मान पालयितु प्रत्यलीभूतत्वादित्थ सिंहो महर्द्धिक ।

अथाऽर्थोपनयमाह–

दव्वाइइमाईसुं, कुसीलसंसग्गिअन्नतित्थीहिं ।
रक्खइ गणी पुरोगो, गच्छो अ वि कोविअं धम्मे ॥

गणी आचार्य , स पुरोग पुर सरो नायको यस्य स तथाविधो गच्छो गुहास्थानीय । सिंहशावकस्थानीयसाधुधर्मे श्रुतचारित्रात्मकोविदमप्राप्य प्रवुद्ध द्रव्यापदि, आदिशब्दात् क्षेत्रकालभावापत्सु,तथा कुशीला पार्श्वस्थादयस्तैरन्यतीर्थिकैर्वा सार्द्ध य ससर्गस्तत्र च रक्षति । विश्रोतसिकाप्रमादमिथ्यात्वाद्युपद्रवान् पातयति, अतो गच्छो महर्द्धिक । यदा त्वसौ द्विविधेऽपि धर्मे व्युत्पन्नमति कृतपरिकर्मा जिनकल्प प्रतिपन्नस्तदा स्वयमेवाऽऽत्मान द्रव्यापदादिष्वपि विश्रोतसिकादिविरहित सम्यक् परिपालयति, अतो जिनकल्पिको महर्द्धिक ।

अथ महेलाद्वयदृष्टान्तमाह–

आणाऽऽसरियसुहं, एगा अणुभवति जइ वि बहुपुत्ती ।
देहस्स य संठप्पं, भोगसुहं चेव कालम्मि ॥
परवावारविमुक्का, सरीरसक्कारतप्परा निच्चं ।
मंडणए वक्खित्ता, भत्तं पि न चेयई अपया ॥

द्वयोर्महेलयोर्मध्ये एका सप्रसवा यद्यपि बहुतरापत्यस्तनपानादिबहुव्यापारव्यापृता तथापि सा गृहस्वामिनीत्वादाज्ञैश्वर्यसुखमनुभवति, काले च प्रस्तावे देहस्य सस्थाप्य सस्थापनां भोगसुखमपि च प्राप्नोति । या चाऽप्रजा अप्रसवा सा परव्यापारविमुक्ता अपत्यादिचिन्तावर्जिता नित्यं सदा शरीरस्य संस्कारसुखभावनादौ तत्परा मण्डनके विलेपनाभरणादौ व्याक्षिप्ता सती भक्तमपि भोजनमपि न चेतयति न सस्मरति ।

अथोपनयमाह–

वेयावच्चे चोयण–वारणवावारणासु य बहूसु ।
एमादी वक्खेवो, सयय झाणे न गच्छम्मि ॥

यथा सप्रसवाया स्त्रियो बहुव्यापारव्यग्रता भवति तथा गच्छेऽपि, यथाऽऽचार्योपाध्यायादिवैयावृत्त्यम् । यावच्चक्रवालसामाचारीं हापयतो नोदनां चाकृत्य प्रतिसेवना कुर्वतो, वारणीयाश्च बहवो, वस्त्रपात्राद्युत्पादनविषया व्यापारणा , तदेवमादिषु यो व्याक्षेपो व्याकुलत्व तस्मात्तेर्गच्छे सतत निरन्तर ध्यानमेकाग्रशुभाऽध्यवसायात्मकमात्मनो मण्डनकल्पं न भवति । जिनकल्पिकस्य तु वैयावृत्त्यादिव्याक्षेपराहितस्य निरपत्यस्त्रिया आत्मनो मण्डनमिव निन्तरमेव तथा तदुपजायते, यथा भोक्तुमपि स्पृहा न भवति ।

अथ गोवर्गद्वयदृष्टान्तमाह–

सद्दूलपाइयाओ, नस्सतीओ वि णेव धेणूओ ।
मोत्तूण वच्छगाइं, हवन्ति सपरक्कमाओ वि ।
न वि वच्छएसु सज्ज–ति वाहिओ नेव वच्छमाऊसु ।
सबलमगूहंतीओ, नस्सति भएण वग्घस्स ॥

धेनवोऽभिनवप्रसूता गाव , ता शार्दूलेन व्याघ्रेण पातितात्रासिता सत्यो नश्यन्त्योऽपि वर्णकानि वत्सरूपाणि मुक्त्वा सपराक्रमा अपि समर्था अपि नैव प्रधावन्ति न शीघ्र पलायन्ते, अपत्यसापेक्षत्वात् । यास्तु 'वाहिओ' वष्कयण्य , ता नापि वत्सकेषु सज्जयन्ति ममत्व कुर्वन्ति, नापि वत्समातृषु धेनुषु, किन्तु स्वबलमगूहमाना व्याघ्रस्य भयेन नश्यन्ति, निरपेक्षत्वात् । एष दृष्टान्त ।

अथार्थोपनयमाह–

आयसरीरे आयरि–यबालवुड्ढेसु अवि य सावेक्खा ।
कुलगणसंघेसु तहा, चेइयकज्जाइएसुं च ॥

यथा धेनवस्तथ गच्छवासिनोऽप्यात्मशरीरे आचार्यबालवृद्धेष्वपि च कुलगणसङ्घकार्येषु चैत्यादिकार्येषु च सापेक्षा , अत संसारव्याघ्रभयेन नश्यन्तोऽपि सहननादिसंयोपेता अपि न शीघ्र पलायन्ते । जिनकल्पिकास्तु भगवन्त आत्मशरीरादिनिरपेक्षा अधेनुगाव इव स्वबलवीर्यमगूहमाना ससारव्याघ्रभयाच्छीघ्रं पलायन्ते ।

यद्येव तर्हि जिनकल्पो महर्द्धिकतर इत्यापन्नम्,नैवम्, यत आह-

रयणायर इव गच्छो, निष्फादओ नाणदंसणचरित्ते ।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ ॥

रत्नाकर इव जिनकल्पिकादिरत्नानामुत्पत्तिस्थानं यतो गच्छो वर्त्तते, निष्पादकश्च ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, तेन कारणेन गच्छो महर्द्धिकः ।

इदमेव भावयति-

रयणेसु बहुविहेसुं, नीणिज्जंतेसु नेव नीरयणो ।
अतरो तीरइ काउं, उप्पत्ती सो य रयणाणं ॥
इय रयणसरिच्छेसु, विणिग्गएसुं पि नेव नीरयणो ।
जायइ गच्छो कुणइ य, रयणब्भूते बहू अन्ने ॥

न तरीतुं शक्यते इति अतरो रत्नाकरः,स यथा बहुविधेषु रत्नेषु निष्काश्यमानेष्वपि नैव नीरत्नो रत्नविरहितः कर्त्तुं शक्यते । कुतः?,इत्याह-यत उत्पत्तिराकरोऽसौ रत्नानाम्।'इय' एवं गच्छरत्नाकरोऽपि रत्नसदृशेषु जिनकल्पिकादिषु विनिर्गतेष्वपि नैव नीरत्नो जायते, आचार्यादिरत्नानां सर्वदैव तत्र सद्भावात् । करोति च पश्चादपि बहूनन्यान् साधून् रत्नभूतानिति गच्छो जिनकल्पिकश्च उभावपि महर्द्धिकौ । वृ० १ उ० ।

प्रश्न --तन्मध्यस्थ (क्षपणकादिदृशमध्यस्थः) कश्चित्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपःप्रभृति शुभं कुर्वतां महत्स्थानां सान्निध्यम्, तदन्यस्तु वैपरीत्यं करोति, तयोः साम्यं न वेति ? ॥ ७ ॥

उत्तरम्-यथा प्रासादादिनिष्पादनविधाने शुभमेव फलं, तद्विपरीतविधाने त्वशुभमेव, एवं ज्ञानादिशुभं समाचरतां सत्स्थानां सान्निध्याऽसान्निध्ययोरपि (शुभाऽशुभफले) ॥ ७ ॥

प्रश्न -वर्णादिभिर्भेदे जात्या शूनामिव दशानां परस्परमतभेदेऽपि आज्ञाविराधकत्वेन साम्यम्, किं वा विशेष इति ? ॥ ८ ॥

उत्तरम्-दशानां वर्णादिविचित्रत्वे साम्यप्रतिपादकं वचस्तु नात्मीयं, किन्तु परकीयमेव ॥ ८ ॥

प्रश्न-चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतामेषां तपागणसम्बन्धी शक्तिमान् श्राद्धः सान्निध्यं माध्यस्थ्यं विकारं वा भजते तदा लाभो न वेति ? ॥ ९ ॥

उत्तरम्-चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतां तेषां श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टचैत्यादिधर्मकार्ये सान्निध्यकरणमायाति सुन्दरम्, तदितरकार्ये तु माध्यस्थ्यमेव, न तु क्वापि वैपरीत्यकरणेन विरोधोत्पादनं श्रेयसे ॥ ९ ॥

प्रश्न -नवानां लुम्पाकव्यतिरिक्तानां प्रतिमापूजा-स्तुती अशुचिविलेपनगालीप्रदानरूपे ?, अथवा-पूजास्तुतिरूपे ? इति ॥ १० ॥

उत्तरम्-नवानां पूजास्तुती अशुचिविलेपनगालीप्रदानरूपे इत्यादिवचनं तु सतामुच्चारार्हमेव न भवतीति किं प्रतिवचनेन ? ॥ १० ॥

प्रश्नः-केषाञ्चित्सद्भक्तिं च कुर्वतां भूतार्त्तमयपवत् साम्यम्, उत भक्तिजनितशुभप्रकृतिफलोदयो वा जन्मान्तरे ? ॥ ११ ॥

उत्तरम्-सद्भक्तिमभक्तिं च कुर्वतां भूतार्त्तमयपवत् साम्यमित्यादिवाक्यं पूर्ववदेव प्रत्युत्तरितं बोध्यम् ॥ ११ ॥

प्रश्न -एतेषां नमस्कारपाठ-बन्दिमोचन-ब्रह्मपालनादिकं किञ्चित् केषाञ्चिन्मार्गानुयायि, किं वा सर्वेषां शौनिक-लुब्धक-धीवराध्यवसायवत्पापहेतुः ? ॥ १२ ॥

उत्तरम्-एतेषां नमस्कारपाठ-बन्दिमोचन-ब्रह्मपालनादिकं किञ्चित्केषाञ्चिन्मार्गानुयायि किं वा सर्वेषां शौनिक-लुब्धक-धीवराध्यवसायवत्पापहेतुरिति वचः सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचसा ? ॥ १२ ॥

प्रश्न —परपाक्षिकसंपादितस्तोत्रादिकं मातङ्ग-तुरुष्कादिसंपादितरसवतीवदनास्वाद्यमेव, कश्चिद्विशेषो वा ? ॥ १३ ॥

उत्तरम्-परपाक्षिकसंपादितस्तोत्रादीनां मातङ्ग-तुरुष्कादिसंपादितरसवन्नुपमानं सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचनेन ? ॥ १३ ॥

प्रश्न-तपागणसम्बन्धिश्राद्धः स्वकीय-स्वकीयेतरचैत्येषु वन्दनादिकं मुञ्चति, तत्र स्वकीयचैत्ये लाभहेतुरन्यत्र पापहेतुः, किं वोभयत्र साम्यम् ? ॥ १४ ॥

उत्तरम्-तपापक्षीयः श्राद्धः स्वकीयेषु परकीयेषु वा चैत्येषु वन्दनादि मुञ्चति, तत्र स्वकीयेषु यथा लाभस्तथा श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टेषु परकीयेष्वपि लाभ एव ज्ञातोऽस्ति न तु पापम् ॥ १४ ॥

प्रश्न -द्वितीयादिपञ्चपर्वी श्राद्धविध्यादिस्वीयग्रन्थातिरिक्तग्रन्थे क्वास्ति ? ॥ १५ ॥

उत्तरम्-द्वितीयादिपञ्चपर्व्या उपादेयत्वं संविग्नगीतार्थाऽऽचीर्णतया संभाव्यते, अक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र दृष्टानि न सन्ति ॥ १५ ॥

गच्छंतग्गामि--गामिन्--त्रि० । गमनशीले, प्रा० ४ पाद ।

गच्छंत-गच्छत्-त्रि० । पथि वहति, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

गच्छगय-गच्छगत-त्रि० । गच्छमध्यवर्तिनि, ग० १ अधि० ।

गच्छणिग्गय-गच्छनिर्गत-त्रि० । अशिवेत्यादिभिः कारणैरेकाकीभूते, ग० १ अधि० । परित्यक्तगच्छे, ओघ० ।

गच्छपडिबद्ध-गच्छप्रतिबद्ध-त्रि० । गच्छवशवर्तिनि अयथेष्टचेष्टया धर्मचारिणि, दर्श० । गच्छपरिपालनप्रवृत्ते, व्य०४ उ० ।

गच्छमाण-गच्छत्-त्रि० । स्वभावचारेण चरति,भ०१२श०६उ०।

गच्छवर-गच्छवर-पुं० । सकलगच्छप्रतिबद्धे, ग० ३ अधि० ।

गच्छवास-गच्छवास-पुं० । गच्छो गुरुपरिवारस्तस्मिन् वासो वसनम् । गुरुकुलवासे, (तत्रैव विषयं दर्शयिष्याम.) गच्छवासे हि केषाञ्चित्स्वतोऽधिकानां विनयकरणं भवति, अन्येषां च शैक्षकादीनां विनयस्य कारणं भवति, तथा विध्यादिकमुल्लङ्घ्य प्रवर्तमानेषु केषुचित्सारणं क्रियते, तथाविधे च स्वस्मिन् केचित्कुर्वन्ति, एवं द्विरूपं वारणादि द्रष्टव्यम् । एवं च परम्पराऽपेक्षया विनयादियोगे प्रवर्तमानस्य गच्छवासिनोऽवश्यं मुक्तिसाधकत्वमिति गच्छवासोऽपि मुख्यो धर्मः । यतः पञ्चवस्तुके-

" गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण णिज्जरा विउला ।
विणयाओ तह सारण-माईहिं ण दोसपडिवत्ती ॥ १ ॥
अन्नोन्नावेक्खाए, जोगम्मि तहिं तहिं पयट्टंतो ।
णियमेण गच्छवासी, असंगपदसाहगो णेओ" ॥ २ ॥ इति ।

गच्छे सारणादिगुणयोगादेव तं त्यक्त्वा स्वेच्छया विचरतां ज्ञानादिहानिरुक्ता । तथा चौघनिर्युक्तिः-

" जह सागरम्मि मीणा, संखोहं

णिति तओ सुहकामी, णिग्गयमित्ता विणस्सति ॥ १ ॥
एवं गच्छसमुद्दे, सारणमाईहि चोइआ संता ।
णिति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्सति ॥२॥"
सारणादिवियुक्तस्तु गच्छस्त्याज्य एव, परमार्थतोऽगच्छवासत्वात् । धर्म० ३ अधि० । ओघ० । पञ्चा० ।

गच्छे पुण वसंतस्स इमे गुणा-

भत्तो वासो रती धम्मे, अणायतणवज्जणं ।
णिग्गहो य कसायाण, एयं धीराण सासणं ॥ ३६१ ॥

'भत्तो वासो त्ति' । अस्य व्याख्या—

आयरियादीण भया, पच्छित्तभया ण सेवंति अकज्जं ।
वेयावच्चऽज्झयणे-सु सज्जते तदुपयोगेणं ॥ ३६२ ॥

पुव्वद्धं कंठं । 'रती धम्मे' अस्य व्याख्या वेयावच्चपच्छद्धं; आयरियादीण वेयावच्चं करेति,'अज्झयण त्ति' सज्झायं करेति । 'तदुवओगेण' सुत्तत्थोवओगेण वेयावच्चज्झयणेसु रज्जति रतिं करेइ त्ति वुत्तं भवति । अहवा तदुवओगो अप्पणा आयरियादीहिं य भण्णमाणो वेयावच्चज्झयणादिसु रज्जति ।

'अणायतणवज्जण त्ति' अस्य व्याख्या-

एगो इत्थीगम्मो, तेणादिभया य अक्खियतगारे ।
कोहादी व उदिण्णे, परिणिव्वावेन्ति से अण्णे ॥ ३६३ ॥

पुव्वद्धं कंठं । "कसायणिग्गहो" अस्य व्याख्या कोहादीपच्छद्धं, गच्छवासे वसंतस्स अण्णे य आयरियादी परिणिव्वावेंति सकसाए गच्छवासे वसतेण एयं वीरसासणं, वीरसासणे वा जं भणियं तं आराहियं भवति ।

इमे य अण्णे गच्छवासे वसंतस्स गुणा-

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य ।
धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ ३६४ ॥

कंठा । जम्हा गच्छवासे वसंतस्स एवमादी गुणा तम्हा णिक्कारणे संविग्गे अवि अण्णगणसंकमो ण कायव्वो । नि०चू० १६ उ० ।

गच्छवासि (ण्) - गच्छवासिन्-त्रि० । गच्छप्रतिबद्धेषु साधुषु, बृ० १ उ० । (तेषां प्रव्रज्यादिद्वारैर्मासकल्पप्ररूपणा 'थविरकप्प' शब्दे वक्ष्यते)

गच्छविहार-गच्छविहार-पुं० । गच्छसामाचार्य्याम्, व्य० १ उ० ।

गच्छसइया-गच्छशतिका-स्त्री० । शतसङ्ख्यपुरुषपरिमाणेषु गच्छेषु, बृ० १ उ० ।

गच्छसारणा-गच्छसारणा-स्त्री० । गच्छपरिपालने, बृ० ।
अगीतार्थस्तदयोग्य । (प्रलम्बग्रहणे प्रायश्चित्तमुपदर्शयन्नाह)
अथ 'कस्स अगीयत्थेति' पद व्याचिख्यासुराह-

कस्सेयं पच्छित्तं ?, गणिणो गच्छं असारवेंतस्स ।
अहवा वि अगीयत्थ-स्स भिक्खुणो विसयलोलस्स ॥

शिष्य प्रश्नयति-यदेतदन्यत्र ग्रहणादावनेकधा प्रायश्चित्तमुक्तं तत्कस्य भवति ? । सूरिराह-गणिन आचार्यस्य गच्छमसारयत. सत , असारणा नाम अगवेषणा-क' कुत्र गतः ?, को वा मामापृच्छ्य गत ?,को वाऽनापृच्छ्य?, यद्वा-प्रलम्ब गृहीत्वा आगत्याऽऽलोचिते अन्येन वा निवेदिते यत्प्रायश्चित्त न ददाति, दत्वा वा न कारयति,न वा नोदनादिना खरण्टयति, एषा सर्वाप्यसारणाऽभिधीयते ।

आह-किं कारणमाचार्यस्य षट्कायानविराधयतोऽपि प्रायश्चित्तम् ?, उच्यते-स्वसाधूनुत्पथे प्रवर्त्तमानानसारयन्नसौ गच्छस्य विराधनायां वर्त्तते । तथा चोक्तमिदमेव सहेतुकं बृहद्भाष्ये—

" किं कारण तु गणिणो, असारवेंतस्स होइ पच्छित्तं ? ।
चिट्ठति यो ण गणहरो, विराहणाए सगच्छस्स ॥
भण्णति खलु स जह गणी, विराहओ होति गच्छस्स ।
जह सरणमुवगयाण, जीवियववरोवण नरो कुणति ।
एव सारणियाण, आयरिओ असारओ गच्छे ।
किह सरणमुवगया पुण, पक्खे पक्खम्मि जं उवट्ठति ।
इच्छामि खमासमणो, कतकितिकम्मे उ ज भन्दे " ॥
अत आचार्यस्य सर्वमेतत् प्रायश्चित्तम् ।

अथवा यो भिक्षुरगीतार्थ , अपिशब्दाद् गीतार्थोऽपि, विषयलोलः सुस्वादुरसास्वादलम्पटो भूत्वा प्रलम्बानि गृह्णाति तस्यैव प्रायश्चित्तम् ।

अत्र चाचार्यविषया अष्टौ भङ्गाः—अगीतार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयलोलश्च । अगीतार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयनिःस्पृहश्च, इत्यादि । अत्र चान्तिमो भङ्ग. शुद्धः, शेषा' सप्त परित्यक्तव्याः ।

देसो व सोवसग्गो, वसणी व जहा अजाणगनरिंदो ।
रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो ॥

भङ्गसप्तकवर्ती आचार्यो देश इव सोपसर्गो,व्यसनी वा,यथा अज्ञायकनरेन्द्रो परित्यज्यते तथा परित्याज्यः । यथा च राज्ञा अचिन्त्यमान राज्य विलुप्तसारं भवति, तथा गच्छोऽप्याचार्येणासार्यमाणो निस्सारो भवतीति परिहरणीय इति सग्रह गाथाऽक्षरार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतो "देसो व सोवसग्गो" इति पद व्याचष्टे-

ऊणोदरिया य जहिं, असिवं च न तत्थ होइ गंतव्वं ।
तत्थ भवे न हि वासो, एमेव गणी असारणिओ ॥

यत्र देशे अवमौदरिका, अशिव च, उपलक्षणत्वादपरोऽप्युपद्रवो भवति, तत्र गन्तव्यं न भवति । अथ यत्र देशे वसतामेवमौदर्य्यादिकमुत्पन्न तत्र उत्पन्ने सति न वस्तव्यम् । एवमेव गणी आचार्यो असारणिको गच्छसारणाविकलो नाऽनुगन्तव्य. ।

अथ "वसणी व जहा अजाणगनरिंदो त्ति" व्याख्याति-

सत्तण्हं वसणाणं, अन्नयरजुतो न जाणई रज्जं ।
अंतेउरे व अत्थइ, कज्जाइं सयं न सीलेइ ॥

यथा सप्ताना व्यसनानामन्यतरेण व्यसनेन युतो राजा राज्यं पालयितु न जानाति । यो वा शेषव्यसनैरनभिभूतोऽपि विषयलोलुपतया नित्यमन्त पुरे आस्ते, सोऽपि कार्याणि व्यवहारादीनि स्वयमात्मना न शीलयति, भावलोक इत्युक्त भवति । ततश्च यथेच्छमुक्ता खलाः प्रजा सजायन्ते । एवमाचार्योऽप्यगीतार्थो गीतार्थो वा सातगौरवादिव्यसनोपहततया यदि स्व-

गच्छं न सारयति तदा गच्छः सर्वोऽपि निरङ्कुशः सञ्जायते। यत एवमतो असारणिक आचार्यो दूरं दूरेण परिहर्त्तव्यः ॥ वृ० १ उ०। (व्यसनसप्तक 'वसण' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अथ प्रकारान्तरेण भङ्गानाह-

अहवा वि अगीयत्थो, गच्छं न सारेइ इत्थ चउभंगो।
विइए अगीयदोसो, तइअ न सारे-तरो सुद्धो ॥

अथवा अगीतार्थो गच्छं न सारयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी। गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्। सा चेयम्-अगीतार्थो न गच्छं न सारयति १। अगीतार्थो गच्छं न सारयति २। गीतार्थो गच्छं न सारयति ३। गीतार्थो गच्छं सारयति ४। अत्र प्रथमस्य द्वौ दोषौ, अगीतार्थत्वदोषः, असारणादोषश्च। द्वितीयस्य पुनरेक एव गीतार्थत्वदोषः। तृतीयस्तु यन्न सारयति स एकस्तस्यासारणादोषः। इतरश्चतुर्थो भङ्गः शुद्धः।

आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां भावनामाह-

देसो व सोवसग्गो, पढमो तइओ तु होइ वसणी व।
बिइओ अजाणतुल्लो, सारो दुविहो दुहेक्केको ॥

प्रथमः प्रथमभङ्गवर्ती आचार्यः सोपसर्गदेश इव परित्यक्तव्यः तृतीयो गीतार्थोऽप्यसारणिकत्वाद्व्यसनीव राजा परित्यक्तव्यः। द्वितीयः सारणिकोऽप्यगीतार्थत्वादज्ञनरेन्द्रतुल्य इति कृत्वा परिहार्य इति चूर्ण्यभिप्रायः। अथ निशीथचूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यायते-प्रथमः सोपसर्गदेश इव परिहार्य इति। द्वितीयः पुनरगीतार्थः परं सारणिकः, स च व्यसनीव ज्ञातव्यः। किमुक्तं भवति ? सोऽगीतार्थः सन् यत्किमपि स्वशिष्यान् नोदयति सा नोदना तस्य व्यसनमिव द्रष्टव्या। अतो व्यसनाभिभूतभूपतिवदसौ परिहार्यः। तृतीयः पुनरसारणिकत्वाद्गीतार्थोऽप्यज्ञनृपतुल्य इति कृत्वा परित्याज्यः। अस्मिंश्च व्याख्याने " देसो व सोवसग्गो, पढमो बिइओ व होइ वसणी व। तइओ अजाणतुल्लो, त्ति" पाठो द्रष्टव्यः। पुस्तकेष्वपि बहुष्वयमेव दृश्यत इति। यदुक्तम्-" रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो त्ति " तदेतद्भावयति-" सारो दुविहो दुहेक्केको " सारो द्विविधः-लौकिको लोकोत्तरिकश्च। पुनरेकैको द्विधा, बाह्य आभ्यन्तरश्च।

एतदेव व्याचष्टे-

गोमंमलधन्नाई, वज्झो कणगाई अंत लोगम्मि।
लोगुत्तरिओ सारो, अंतो बहि नाण-वत्थाई ॥

गोशब्देन गावो बलीवर्दाश्चोच्यन्ते, उपलक्षणत्वाद् हस्त्यश्वादीनामपि परिग्रहः। मण्डलमिति देशखण्डम्; यथा षण्णवतिमण्डलानि सुराष्ट्रदेशे। अथवा गोमण्डलं नाम गोवर्गः, उपलक्षणत्वान्महिष्यादिवर्गोऽपि। धान्यानि शालिप्रभृतीनि। आदिशब्दाद् वास्तुकुप्यादिपरिग्रहः। एष लौकिको बाह्यसारः। कनकं सुवर्णम्। आदिग्रहणेन रूप्यरत्नादीनि, एष अन्तरित्याभ्यन्तरः सारो लोके लोकविषये मन्तव्यः। एतेन द्विप्रकारेणापि सारेण राज्यं पार्थिवेनाऽचिन्त्यमानं निस्सारम्। लोकोत्तरिकः सारो द्विधा, अन्तर्बहिश्च। तत्रान्तः सारो ज्ञानम्, आदिशब्दाद्दर्शनचारित्रे च। बहिः सारो वस्त्रादिकः। आदिग्रहणेन शय्यापात्रादीनि गृह्यन्ते। अनेन च द्विविधेनापि लौकोत्तरिकसारेणाचार्येणासार्यमाणो गच्छो निस्सारो भवतीति प्रकृतम्, तस्माद्गणिनो गच्छमसारयत एतत्प्रायश्चित्तम्। अथवा यो भिक्षुरगीतार्थो गुरूणामनुपदेशेन प्रलम्बानि गृह्णाति तस्य सर्वमेतत्प्रायश्चित्तम्।

गीतार्थोऽपि यदि देशमन्तरेण चाऽगीतार्थस्य स्वयमेव कार्येषु प्रवर्त्तमानः, तस्याय दोषो भवति-

सुहमाहरां पि कज्जं, करणविहूणमणुवायसंजुत्तं।
अन्नायदेसकाले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स ॥

सुखेन साध्यं साधनं यस्य तत् सुखसाधकम् " शेषाद्वा " ७।३।१७५। इति कच्प्रत्ययः, सुखसाध्यमित्यर्थः। तदपि कार्यं, करणमारम्भस्तद्विहीनं, तथा यस्य कार्यस्य यः साधनोपायस्तद्विपरीतेनानुपायेन संयुक्तम्। (अन्नाय त्ति) यत्तस्य कार्यमज्ञात तत्तेनारभ्यमाणम् अदेशकाले चाऽनवसरे विधीयमानं शैक्षस्याज्ञस्य विपत्तिमुपयाति, विपत्तिशब्देन कार्यस्यासिद्धिरत्राभिधीयते। तदुक्तम्-" संपत्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता। संपत्तिः सिद्धिरर्थेषु, विपत्तिश्च विपर्ययः "॥ १॥ ततो न निष्पद्यत इत्युक्तं भवति।

तत्रैव निदर्शनमाह-

नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठितो रुक्खो।
दुच्छेज्जो वड्ढंतो, सोच्चिय वत्थुस्स भेदाय ॥
जो य अणुवायछिन्नो, तस्स इ मूलाई वत्थुभेदाय।
अहिनव उवायछिन्नो, वत्थुस्स न होइ भेदाय ॥

प्रासादे वटपिप्पलादिवृक्षोऽभिनवोत्थितोऽधुनोक्तः नखेनापि, हुर्निश्चितं, छिद्यते छेत्तुं शक्यते, इत्यनेन कार्यस्य सुखसाध्यतोक्ता। स एव वृक्षो वर्द्धमानः शाखाप्रशाखाभिः प्रसरन् दुश्छेद्यो भवति, कुठारेणापि छेत्तुं न शक्यत इति भावः। अपरं च वास्तुनः प्रासादस्य भेदाय जायते। यश्चानुपायेन मूलोद्धारणलक्षणोपायमन्तरेण छिन्नः तस्यापि मूलान्यनुद्धृतानि वास्तुभेदाय जायन्ते। एतेन चाऽनारम्भे, अदेशकालारम्भे, अनुपायारम्भे च सुखसाध्यस्यापि कार्यस्य विपत्तिः, क्लेशसाध्यता चोक्ता। अथ देशकाले उपायेन विधीयमानस्य यथा निष्पत्तिर्भवति तथा निदर्शयति-" अहिनव " इत्यादि उत्तरार्द्धम्। यस्तु वृक्षोऽभिनव उद्गतमात्र उपायेन प्रयत्नपूर्वकं छिन्नः, मूलान्यपि तस्योद्धृत्य करीषाग्निना दग्धानि, स वास्तुनो भेदाय न भवति। एष दृष्टान्तः।

अयमस्यैवोपनयः-

पडिसिद्ध त्ति तिगिच्छा, जो उ न करेइ अभिनवे रोगे।
किरियं सो उ न मुचइ, पच्छा जत्तेण वि करेंतो ॥
सहसुप्पइअम्मि जरे, अट्ठम काऊण जो वि पारेइ।
सीयलअवदवाणी, न हु पउणइ सो वि अणुवाया ॥

यस्य साधोर्ज्वरादिको रोग उत्पन्नः स यदि, " तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खत्तगवेसए। एवं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारवे"॥१॥ इति सूत्रमनुश्रित्य प्रतिषिद्धा चिकित्सेति कृत्वा अभिनवे रोगे क्रियां चिकित्सां न कारयति, स पश्चात्तस्मिन् रोगे प्रवृद्धिं गते सति यत्नेनापि महताऽप्यादरेण क्रियां कुर्वाणो न मुच्यते रोगात्। यदि पुनरधुनोत्थित एव रोगे क्रियामकारयिष्यत् ततो नीरुगभविष्यत्। यो वा अनुपायेन क्रियां करोति सोऽपि न प्रगुणीभवति, यथा सहसोत्पन्ने

ज्वरेऽन्यस्मिन् वा अजीर्णप्रभवे रोगे सह समुत्पन्नं रोगम् "अट्ठमेण निवारए" इति वचनादष्टमं कृत्वा योऽपि न केवलं क्रियाया अकारक,इत्यपिशब्दार्थः। (सीयलअवदवाणि त्ति) शीतलकूरामरूव्यादीनि पारयति, मा पेया कारणीया भवति-तिकृत्वा सोऽपि न प्रगुणीभवति, अनुपायाद् उपायाऽभावात्। प्रत्युत तेन शीतलकूरादिना सरोगस्तस्य गाढतरं प्रकुप्यति। यदि पुनस्तेन पेयादिनाऽपारयिष्यत् ततः पटुरभविष्यत्। य-श्चानेषणीयपारणकसमुत्थ पाप तत्पश्चात्प्रायश्चित्तेनाऽशोधयिष्यत् इत्युपायानुपायरूपमगीतार्थो न जानाति, ततश्चाज्ञातमदेशकाले वा कार्यं कुर्वतस्तस्य शैक्षस्य विपत्तिमुपयातीति प्रकृतम्।

अत्रैव तात्पर्यमाह-

संपत्ती य विपत्ती, य होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प।
अणुवायतो विपत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥

सपत्तिश्च विपत्तिश्च कार्येषु कारकं कर्तारं प्राप्य भवति, यद्यज्ञ कर्ता ततस्तेनादेशकाले अनुपायत आरब्धस्य कार्यस्य विपत्तिर्भवति। अथासौ ज्ञस्ततस्तेन कालोपायाभ्यां देशकाले उपायेन चारब्धस्य कार्यस्य सपत्तिः सिद्धिर्भवति।

उपसहरन्नाह-

इय दोसाउ अगीय-त्थि उ गीयम्मि कालहीणकारिम्मि।
गीयत्थस्स गुणा पुण, होंति इमे कालकारिस्स ॥

'इय' एवमगीतार्थे कार्यकर्त्तरि दोषा भवन्ति। गीतार्थेऽपि कालहीनकारिणि हीने वाऽधिके वा काले कार्यकारिणि एत एव दोषाः। य पुन गीतार्थ उपायेनाऽतिरिक्ते काले कार्यं करोति, तस्य गीतार्थस्य कालकारिण इमे गुणा भवन्ति।

तानेवाह—

आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्त ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं, फल च विधिवं वियाणाई ॥

'आय' लाभ 'कारण' आलम्बन गाढमागाढ ग्लानत्व च, वस्तु द्रव्य,दलिकमित्यनर्थान्तरम्, युक्त योग्यं,सशक्तिकं समर्थं,यतना त्रि परिभ्रमणादिलक्षणाम्; एतदायादिक सर्वमपि सप्रतिपक्ष गीतार्थो विजानाति। आयस्य प्रतिपक्षोऽनाय',कारणस्याकारणम, अगाढस्यानागाढ,वस्तुनोऽवस्तु, युक्तस्यायुक्त, सशक्तिकस्याशक्तिको, यतनाया अयतनेति यथाक्रम प्रतिपक्षाः। तथा फल चैहिकादिक विधिमान् गीतार्थो विजानातीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथ प्रतिपद विस्तरार्थमाह—

सुंकादीपरिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ ॥

शुल्क राजदेय द्रव्यम, आदिशब्दाद्भावकर्मकरवृत्त्यादिपरिग्रहः। यथा शुल्कादिभिर्द्रव्योपक्षयहेतुभि' परिशुद्धो निर्वर्तितो यदि कोऽपि लाभ उत्तिष्ठते, तत एव शुल्कादिपरिशुद्धे लाभे सति वाणिजो देशान्तर गत्वा वाणिज्यचेष्टां करोति आरभते। अथ लाभमुत्तिष्ठमान न पश्यति ततो नारभते। एवमेव च गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकमायं लाभ दृष्ट्वा प्रलम्बाद्यकल्पां प्रतिसेवां समाचरति, नान्यथा।

इदमेव स्पष्टयन्नाह-

असिवाऽऽसु सुंकत्था-णिएसु किंचि खलियस्स तो पच्छा।
वायणवेयावच्चे, लाभे तवसंजमऽज्झयणे ॥

स हि गीतार्थः प्रलम्बादिकं प्रतिसेवमान एवं चिन्तयति-अशिवादिषु शुल्कस्थानीयेषु अकल्पप्रतिसेवया कश्चोऽपि सयमस्थानेभ्यः स्खलितस्यापि मम तत' पश्चादशिवादिषु व्यतीतेषु वाचनां ददत आचार्यादीनां वैयावृत्त्ये तप-सयमाध्ययनेषु उद्यमं कुर्वाणस्य भूयानायो लाभो भविष्यति। अकल्प्य प्रति सेवाजनितं चातीचारं प्रायश्चित्तेन शोधयिष्यामीति बहुतर लाभमल्पतर व्यय परिज्ञाय गीतार्थः समाचरति। अगीतार्थः पुनरेव तदाप्यायव्ययरूप न जानातीति। गतमायद्वारम्।

अथ कारणगाढद्वारद्वयमाह—

नाणाइतिगस्सट्ठा, कारण निक्कारणं तु तव्वज्जं।
अहिमक्कविसविसूइय-सज्जक्खयसूलमागाढं ॥

गीतार्थ' कारजे एव प्रतिसेवते,नाकारणे। आह-किमिदं कारणं? किं वा अकारणमिति?। आह-ज्ञानादित्रयस्य ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्याऽर्थाय यत्प्रतिसेवते तत्कारण, तद्वर्जं सेवमानस्य निष्कारणमुच्यते। तथाऽगीतार्थो यद्देशमागाढे प्रतिसेव्य तादृशमागाढ एव, यादृश पुनरनागाढे तादृशमनागाढ एव प्रतिसेवते। अथ किमिदमागाढम्? किं वाऽनागाढम्?। उच्यते-अहिना सर्पेण दष्टः कश्चित्साधु,विषं वा केनचिदर्कादिमिश्र दत्त,विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्य' क्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम्, एतद्विपरीत तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकमनागाढम्।

अथ वस्तुयुक्तद्वारे व्याचष्टे-

आयरियाई वत्थुं, तेसिं चिय जुत्त होइ ज जोग्गं।
गीय परिणामगा वा, वत्थुं इयरे पुण अवत्थुं ॥

आचार्यादिः प्रधानपुरुषो, यद्वा गीतार्थः सामान्यतो वस्तु भण्यते,परिणामका वा साधवो वस्तु,एतादृशमात्मान पर वा वस्तुभूत ज्ञात्वा प्रतिसेवते, प्रतिसेवाऽऽप्यते वा। इतरे प्रतिपक्षभूताः पुनरनाचार्यादिरगीतार्थो वा अपरिणामका अतिपरिणामका वा सर्वेऽप्यवस्तु भण्यन्ते, एतेषामेवाऽऽचार्यादीनां यद्योग्य भक्तपानौषधादिकं तद् युक्त, तद्विपरीत पुनरयुक्तम्। एतत् युक्तायुक्तस्वरूप गीतार्थो जानाति, नेतर इति।

अथ सशक्तिकयतनाद्वारद्वयमाह-

धिई सरीरो सत्ती, आयपरगता उ त न हावेति।
जयणा खलु तिपरिरया, अलम्भे पच्छा पणगहाणी ॥

शक्तिर्द्वेधा, धृति-सहननभेदात्। तत्र धृतिरूपां, शारीरां च संहननरूपामात्मगतां परगतां च शक्तिं ज्ञात्वाऽऽचार्योऽन्यो वा गीतार्थस्तां न हापयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी सूचिता। सा चेयम्-आत्मगता शक्तिर्विद्यते न परगता १,परगता नाऽऽत्मगता २, आत्मगताऽपि परगताऽपि ३, नाऽऽत्मगता न परगता ४। तत्र प्रथमभङ्गे आचार्य आत्मन शक्तिं न हापयति, परस्य पुनरशक्तिकत्वाद्यथायोग प्रतिसेवनामनुजानीते। द्वितीयभङ्गे ऽशक्तत्वादात्मना प्रतिसेवते, परस्य तु समर्थत्वान्नाऽनुजानाति। तृतीयभङ्गे उभयोरपि शक्तिसद्भावादात्मनाऽपि न प्रतिसेवते, परस्यापि

न वितरति । चतुर्थभङ्गे पुनरुभयोरप्यशक्तत्वादात्मनाऽपि प्रतिसेवते, परेणापि प्रतिसेवापयति । तथा यतना खलु त्रिपरिरया द्रष्टव्या । 'रीङ्' गतौ, परि समन्तात् रयण परिरयः, परिभ्रमणमित्यर्थः । त्रयः परिरया यस्यां सा त्रिपरिरया । किमुक्तं भवति ?-एषणीयाहारान्वेषणार्थं स्वग्रामादौ तिस्रो वारा सर्वतः पर्यट्य यद्येषणीय न लभते ततः पश्चादलाभे अप्राप्तौ पञ्चकपरिहाण्या यतते ।

अथ फलद्वारम्-गीतार्थः प्रथममेव कार्यं प्रारभमाणः परिभावयति । एवमनुतिष्ठतो ममाऽन्यस्य वा फलं भविष्यति, न वा । तत्तु फलं द्विविधम् । तदेवाह-

इह परलोगे य फलं, इह आहाराइ इक्कमेकस्स ।
सिद्धी सग्ग सुकुलता, फलं तु परलोऽयं एयं ॥

इहलोकफलं, परलोकफलं चेति फलं द्विधा । तत्रेहलोकफलमाहारादि, आदिशब्दाद्वस्त्रपात्रादि । तथा सिद्धिगमन, स्वर्गगमन, सुकुलोत्पत्तिश्च, एतत्पारलौकिकं फलम् । एतद् द्वयमप्येकैकस्याऽऽत्मनः परस्य च परस्परोपकारेण यथा भवति तथा गीतार्थः समाचरति । यच्च गीतार्थोऽरक्तद्विष्टः प्रतिसेवते, तत्र नियमादप्रायश्चित्ती भवति ।

आह-केन पुनः कारणेन प्रायश्चित्ती ? । उच्यते-

खेत्तोऽय कालोऽयं, करणमिणं साहओ उवाओऽयं ।
कत्त त्ति य जोगि त्ति य, इय कडजोगी वियाणाहि ॥

यो न रागे न द्वेषे किन्तु तुलादण्डवद् द्वयोरपि मध्ये प्रवर्तते स ओजा भण्यते । क्षेत्रेऽध्वादौ ओजाः क्षेत्रौजाः । काले अवमौदर्यादौ ओजाः कालौजाः, क्षेत्रे काले च प्रतिसेवमानो न रागद्वेषाभ्यां दुष्यते इत्यर्थः । कथम् ?, इत्याह-यतः स गीतार्थः करणमिद सम्यक् क्रियेयम्, एवं क्रियमाणे महती कर्मनिर्जरा भवतीति विमृशति । तथा ज्ञानदर्शनचारित्राणि साधनीयानि, तेषां च साधकोऽयमुपायो यदसस्तरणे यतनया प्रलम्बसेवनम् । यथा कृतयोगी गीतार्थः स कर्तेति च योगीति भण्यते । 'इय' एव विजानीहि, इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

ओयब्भूतो खित्ते, काले भावे य जं समायरइ ।
कत्ता उ सो अकोप्पो, जोगी व जहा महावेज्जो ॥

य ओजोभूतो रागद्वेषविरहितो गीतार्थः क्षेत्रेऽध्वादौ, काले दुर्भिक्षादौ, भावे च ग्लानत्वादौ, प्रलम्बादिप्रतिसेवारूपं यत्किमपि समाचरति, न सम्यक् क्रियेयं साधकोऽयमुपाय इत्यालोच्यकारी कर्ता, अकोप्योऽकोपनीयः, अदूषणीय इत्युक्तं भवति । क इवेत्याह-योगीव यथा महावैद्य इति । यथेतिदृष्टान्तोपन्यासे, स योगी धन्वन्तरिः, तेन च विभङ्गज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसमवं दृष्ट्वा अष्टाङ्गायुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे, तच्च यथाऽऽम्नायं येनाधीतं स महावैद्य उच्यते । स चायुर्वेदप्रामाण्येन क्रियां कुर्वाणो योगीव धन्वन्तरिरिव न दूषणभाग् भवति । यथोक्तक्रियाकारिणश्च तस्य तच्चिकित्साकर्म सिध्यति । एवमत्रापि योगी तीर्थकरस्तदुपदेशानुसारेणोत्सर्गाऽपवादाभ्यां यथोक्तां क्रियां कुर्वन् गीतार्थोऽपि न वाच्यतामर्हति ।

अथ "कत्त त्ति य जोगि त्ति य" पदद्वयमेव प्रकारान्तरेण व्याख्याति-

अहवण कत्ता सत्था, न तेण कोविज्जती कए किंचि ।
कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो ॥

'अहवण त्ति' अखण्डमव्ययम् अथवाऽर्थे, कर्ता शास्ता तीर्थकर उच्यते, यथा तेन तीर्थकरेण कृते कार्ये किञ्चिदपि न कोप्यते, एवममावपि गीतार्थो विधिना क्रिया कुर्वन् कर्ता इव तीर्थकर इवाऽकोपनीयत्वात्कर्त्ता द्रष्टव्यः । एवं योग्यपि ज्ञातव्य । किमुक्तं भवति ?, यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गापवादयलवेत्ता अपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगीवज्ज्ञातव्यः ।

एवमाचार्योक्ते शिष्य प्राह-

किं गीयत्थो केवलि, चउव्विहे जाणणे य गहणे य ।
तुल्ले रागद्दोसे, अणतकायस्स वज्जणया ॥

किं गीतार्थः केवली येन तीर्थकृत इव तस्य वचनं करणं वा कोपनीयम् । सूरिराह-ओमिति ब्रूमः । तथाहि-द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधं ज्ञानं, तद्यथा केवलिनस्तथा गीतार्थस्यापि, तथा यत्प्रलम्बानामेकानेकग्रहणविषयं विषमप्रायश्चित्तप्रदानं, यश्च तत्र तुल्येऽपि जीवत्वे रागद्वेषाभावो, या वाऽनन्तकायस्य वर्जना, एतानि यथा केवली प्ररूपयति तथा गीतार्थोऽपीति द्वारगाथासमासार्थः ।

विस्तरार्थं प्रतिपदं बिभणिषुराह-

सव्वं जेयं चउहा, त वेइ जिणो जहा तहा गीतो ।
चित्तमचित्त मीसं, परित्तऽणंत च लक्खणतो ॥

सर्वमपि जगत्त्रयगतं ज्ञेयं चतुर्धा । तद्यथा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । तच्चतुर्विधमपि यथा जिनः केवली ब्रूते तथा गीतार्थोऽपि । यद्वा-(त वेइ त्ति) तच्चतुर्विधं ज्ञेयं यथा जिनो वेत्ति जानाति तथा गीतार्थोऽपि श्रुतज्ञानी जानात्येव । तथाहि-यथा केवली सचित्तमचित्तं मिश्रं परीत्तमनन्तं च लक्षणतो जानाति प्रज्ञापयति वा, तथा श्रुतधरोऽपि श्रुतानुसारेणैव सचित्तलक्षणेन सचित्तम् । एवमचित्तमिश्रपरीत्ताऽनन्तान्यपि स्वस्वलक्षणाविपरीत्येन जानाति, प्ररूपयति चेति केवलीव द्रष्टव्य ।

आह-केवली समस्तवस्तुस्तोमवेदी, श्रुतकेवली पुनः केवलज्ञानानन्ततमभागमात्रज्ञानवान्, ततः कथमिव केवली तुल्यो भवितुमर्हति ?, इत्याह-

कामं खलु सव्वण्णू, नाणेणऽहिओ दुवालसंगीतो ।
पन्नत्ताइ उ तुल्लो, केवलनाणं जओ मूयं ॥

काममनुमतं खल्वस्माकं सर्वज्ञः केवली द्वादशाङ्गिनः श्रुतकेवलिनः सकाशात् ज्ञानेनाऽधिकः, परं प्रज्ञप्त्या प्रज्ञापनया श्रुतकेवलिनः केवली तुल्यः । कुतः ?, इत्याह-यतः केवलज्ञानं मूकम् अमुखम् । किमुक्तं भवति ?-यावतः पदार्थान् श्रुतकेवली भाषते तावत एव केवल्यपि । ये तु श्रुतज्ञानस्याऽविषयभूता भावा केवलिनाऽवगम्यन्ते तेषामप्रज्ञापनीयतया केवलिनाऽपि वक्तुमशक्यत्वात् । (बृ०) (इतोऽग्रे 'णाण' शब्दे मतिश्रुतभेदप्रस्तावादवगन्तव्य) श्रुते द्वादशाङ्गात्मके सूत्ररचनया निबद्धोऽनन्तस्यानन्तभेदभिन्नत्वादित्यभिप्राय ।

आह-कथमेतत्प्रतीयते, यथा प्रज्ञापनायामनन्तभागः श्रुते निबद्धः ? । उच्यते-

जं चउदसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।

तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं ॥

यद् यस्माच्चतुर्दशपूर्वधरा षट्स्थानगता अनन्तभागादिस्थानवर्तिनः परस्परं भवन्ति। कथमिति चेत्, उच्यते-इह चतुर्दशपूर्वी चतुर्दशपूर्विणः किं तुल्यः, किं वा हीनः?, किं वाऽभ्यधिकश्चिन्तायां निर्वचनम्-तुल्यो वा, हीनो वा, अभ्यधिको वा?। यदि तुल्यस्तर्हि नास्ति विशेषः अथ हीनस्ततो यदपेक्षया हीनस्तमुद्दिश्यानन्तभागहीनो वा, असङ्ख्येयभागहीनो वा, संख्येयभागहीनो वा, सङ्ख्येयगुणहीनो वा, असङ्ख्येयगुणहीनो वा, अनन्तगुणहीनो वा?। अथाभ्यधिकस्ततो यदपेक्षयाऽभ्यधिकस्तं प्रतीत्याऽनन्तभागाभ्यधिको वा, असङ्ख्येयभागाभ्यधिको वा, संख्येयभागाभ्यधिको वा, सङ्ख्येयगुणाभ्यधिको वा, असङ्ख्येयगुणाभ्यधिको वा, अनन्तगुणाभ्यधिको वा?। असहमाने सर्वेषामप्यक्षरलाभे षट्स्थानपतितत्वमेव कथं जाघटीति?। उच्यते-एकस्मात् सूत्रादनन्ताऽसंख्येयसङ्ख्येयगम्यार्थगोचरा ये मतिविशेषाः श्रुतज्ञानाभ्यन्तरवर्तिनस्तैः षट्स्थानपतितत्वं न विरुध्यते। तदुक्तम्-"अक्खरलंभेण समा, ऊणऽहिआ हुंति मइविसेसेहिं। ते पुण मइविसेसे, सुयनाणऽब्भंतरे जाण ॥" एवंविधं च षट्स्थानपतितत्वं प्रज्ञापनीयानामनन्ततमभागमात्र एव श्रुतनिबद्धे घटमानकं भवति। यदिह सर्व एव प्रज्ञापनीया भावाः श्रुते निबद्धा भवेयुस्तर्हि चतुर्दशपूर्विणोऽपि परस्परं तुल्या एव भवेयुर्न षट्स्थानपतिता इति। अत एवाह-तेन कारणेन यत्किमपि श्रुतं चतुर्दशपूर्वरूपं तत् प्रज्ञापनीयानामनन्ततमो भागो वर्तते इति।

अथ यदुक्तं प्रज्ञापनायां द्वावपि तुल्यौ, तद्भावनामाह--

केवलविन्नेयऽत्थे, सुयनाणेण जिणो पगासेइ ।
सुयनाणकेवली वि हु, तेणेवऽत्थे पगासेइ ॥

केवलेन विज्ञेया ये अर्थास्तान् यावत् श्रुतज्ञानेन जिनः केवली प्रकाशयति। इह च केवलिनः सबन्धी वाग्योग एव, श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात्, कारणे कार्योपचारात् श्रुतज्ञानमुच्यते, न पुनस्तस्य भगवतः किमप्यपरं केवलज्ञानव्यतिरिक्तं श्रुतज्ञानं विद्यते। "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात्। श्रुतज्ञानकेवल्यपि तानेव भावतस्तेनैव श्रुतज्ञानेनार्थान् जीवादीन् प्रकाशयति। अतः श्रुतकेवलिकेवलिनौ द्वावपि प्रज्ञापनया तुल्याविति स्थितम्। तदेवं यथा केवली द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्वस्तु जानाति तथा गीतार्थोऽपि जानीते। बृ० १ उ०। नि० चू०।

गच्छसारणायोग्यो गुरुः, तथाभूतेन गुरुणा स्वाध्यायः कार्यः-

से भयवं! केरिसगुणजुत्तस्स णं गुरुणो गच्छनिक्खेवं कायव्वं?। गोयमा! जे णं सुव्वए, जे णं सुसीले, जे णं दढचारित्ते, जे णं अणिंदियंगे, जे णं अरहे, जे णं गयरागे, जे णं गयदोसे, जे णं निज्जियमोहमिच्छत्तमलकलंके, जे णं उवसंते, जे णं सुविण्णायजगट्ठिती, जे णं सुमहावेरग्गमग्गमल्लीणे, जे णं इत्थिकहापमिणीए, जे णं भत्तकहापमिणीए, जे णं तेणगकहापमिणीए, जे णं रायकहापमिणीए, जे णं जणवयकहापमिणीए, जे णं अच्चंतमणुकंपसीले, जे णं परलोगपच्चवायभीरू, जे णं कुसीलपमिणीए, जे णं विन्नायसमयसब्भावे, जे णं गहियसमयपेयाले, जे णं अहन्निसाणुसमयट्ठिए अहिंसालक्खणे दसविहे समणधम्मे, जे णं उज्जते अहन्निसाणुसमयं दुवालसविहे तवोकम्मे, जे णं सुउवउत्ते सययं च समिईसु, जे णं सुगुत्ते सयय तिसु गुत्तीसु, जे णं आराहगे ससत्तीए अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं, जे णं अविराहगे, एगंतेणं ससत्तीए सत्तरसविहस्स णं संजमस्स उस्सग्गरुई, जे णं तत्तरुई, जे णं समसत्तुमित्तपक्खो, जे णं सत्तभयट्ठाणविप्पमुक्के, जे णं अट्ठमयट्ठाणविप्पजढे, जे णं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं विराहणाभीरू, जे णं बहुसुए, जे णं आयरियकुलुप्पन्ने, जे णं अदीणे, जे णं अकिविणे, जे णं अणालसिए, जे णं संजइवग्गस्स पडिपक्खे, जे णं सययं धम्मोवएसदायगे, जे णं सययं ओहसामायारीपरूवगे, जे णं मेरावट्टिए, जे णं असामायारीभीरू, जे णं आलोयणारिहपायच्छित्तदाणपयच्छणक्खमे, जे णं वंदणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं पडिक्कमणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं उद्देसमंडलिविन्नाणजाणगे, जे णं झाणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं वक्खाणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं आलोयणामंडलिविराहणजाणगे, जे णं समुद्देसमंडलिविराहणजाणगे, जे णं पव्वज्जाविराहणजाणगे, जे णं उवट्ठावणाविराहणजाणगे, जे णं उद्देससमुद्देसाणुविराहणजाणगे, जे णं दव्वखेत्तकालभावंतरायवियाणगे, जे णं दव्वखेत्तकालभावालंबणाविप्पमुक्के, जे णं सबालवुड्ढगिलाणसेहसिक्खगसाहम्मिगहज्जावट्ठावणकुसले, जे णं परूवगे नाणदंसणचारित्ततवोगुणाणं, जे णं चरणधरए पभावगे नाणदंसणचारित्ततवोगुणाणं, जे णं दढसंमत्ते, जे णं सययं अपरिसाई, जे णं धीइमा, जे णं गंभीरे, जे णं सुसोमलेसे, जे णं दिणयरमिव अणभिभवणीए तवतेएणं, जे णं सरीरोवरमे वि छक्कायसमारंभविवज्जी, जे णं तवसीलदाणभावणामयचउव्विहधम्मंतरायभीरू, जे णं सव्वासायणाभीरू, जे णं इड्ढिरससायागारवरोद्दट्टज्झाणविप्पमुक्के, जे णं सव्वावस्सगमुज्जुत्ते, जे णं सविसेसलद्धिजुत्ते, जे णं आवमियपिल्लियामंतिओ वीणायरेज्जा अयज्जं, जे णं नो बहुनिद्दे, जे णं नो बहुभोई, जे णं सव्वावस्सगसज्झायज्झाणपडिमाभिग्गहे घोरपरीसहोवसग्गे सुजियपरीसहे, जे णं सुपत्तसंगहसीले, जे णं अपत्तपरिट्ठवणाविहिन्नू, जे णं अणड्ढबोंदी, जे णं परसमयससमयवियाणगे, जे णं कोहमाणमायालोभममकारदितिहासखेडकंदप्पणाहवायविप्पमुक्के धम्मकहासंसारवासविसयाभिलासादीणं वेरग्गुप्पायगे पडिबोहगे भव्वसत्ताणं, से णं गच्छनिक्खेवणाजोग्गे, से णं गणी, से णं गणहरे, से णं तित्थे, से णं तित्थयरे, से णं अरहा, से णं केवली, से णं जिणे, से णं तित्थुब्भासगे, से णं वंदे, से णं पुज्जे, से णं नमंसणिज्जे, से णं दट्ठव्वे, से णं परमपवित्ते, से णं परमकल्लाणे, से णं परममंगले, से णं सिद्धी, से णं मुत्ती, से णं सिवे, से णं मोक्खे, से णं ताया, से णं संमग्गे, से णं म-

ती,से णं रत्ने,से णं सिध्दे,से णं मुत्ते,से णं पारगए, से णं देवे, से णं देवदेवे, एयस्स गोयमा ! गणणिक्खेवं कुज्जा, एयस्स णं गणनिक्खेवं कारवेज्जा, एयस्स णं गच्छनिक्खवणं समणुजाणेज्जा । अन्नहा णं गोयमा ! आणाभंगे । महा० ५ अ० ।

पार्श्वस्थदीक्षितात्साधोर्गणश्चलतीति कुत्रोक्तमस्ति ?। यत्र संविग्न आचार्यादिः संविग्नगीतार्थाद्यभावे संविग्नभक्तपार्श्वस्थादिपार्श्वे यदा प्रायश्चित्तमङ्गीकरोति तदा पुनर्व्रतारोपरूपं प्रायश्चित्तं कश्चित्प्रतिपद्यते, एवं ग्रन्थोक्तानुसारेण समाधानमवसेयम्। इति श्रीहीरविजयसूरिं प्रति पण्डितकेवलर्षिगणिकृतः प्रश्नः । ही० ३ प्रका० ।

गच्छाणुकंपणट्ठ–गच्छानुकम्पनार्थ–पुं० । सबालवृद्धस्य गच्छस्यानुकम्पनहेतौ, नि० चू० १ उ० । पं० भा० । पं० चू० ।

गच्छायार–गच्छाचार–पुं० । गच्छस्य सुविहितमुनिसमुदायस्याचारः । शिष्टजनसमाचरितक्रियाकलापप्रकीर्णकविशेषाभिधेये, तादृशे प्रकीर्णके च । ग० ।

"वद्वोधो विदधेऽब्जाना–मिव भव्यशरीरिणाम् ।
गवां विलासैर्येनासौ, जीयाद्वीररविश्चिरम् ॥ १ ॥
पदपद्मं स्वगुरूणां, सदा सदाचारचरणचुम्बूनाम् ।
नत्वा विदधे विवृतिं, गच्छाचाराख्यसूत्रस्य" ॥ २ ॥

इह तावच्छास्त्रादौ मङ्गलसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्यभिधातव्यानि। तत्र विघ्नविनायकोपशान्तये शिष्यजनप्रवर्त्तनाय शिष्टसमयपरिपालनार्थं चेष्टदेवतानमस्काररूपं भावमङ्गलमुपादेयम् । तथा श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थं शिष्टसमयपरिपालनार्थं च सम्बन्धादित्रयं वाच्यम् । तथाहि–इह श्रेयोभूते वस्तुनि प्रवर्त्तमानानां प्रायो विघ्नः सम्भवति, श्रेयोभूतत्वादेव; श्रेयोभूतं चेदम्, स्वर्गापवर्गहेतुत्वात् । विघ्नोपहतशक्तेश्च शास्त्रकर्तुश्चिकीर्षितशास्त्रासमाप्त्याऽभिप्रेतपुरुषार्थस्याऽनिष्पत्तिर्मा भूदिति विघ्नविनायकोपशमनाय मङ्गलमुपादेयम् । आह च–" बहुविग्घाइ सेयाइ, तेण कयमंगलोवयारेहिं । सत्थे पयट्टियव्वं, विज्जाए महानिहीए व्व ॥ " ननु मानसादिनमस्कारतपश्चरणादिना मङ्गलान्तरेणैव विघ्नोपघातसद्भावादिष्टसिद्धिर्भविष्यतीति किमनेन ग्रन्थगौरवकारिणा वाचनिकनमस्कारेणेति ?। सत्यम्, किन्तु श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिदं भविष्यति । तथाहि–यद्यप्युक्तन्यायेन कर्तुरविघ्नेष्टसिद्धिः स्यात्तथापि प्रमादवतः शिष्यस्येष्टदेवतानमस्काररूपमङ्गलं विना प्रक्रान्तग्रन्थाध्ययनश्रवणादिषु प्रवर्तमानस्य विघ्नसम्भवादप्रवृत्तिः स्यात् । मङ्गलवाक्योपन्यासे तु मङ्गलवचनाभिधानपूर्वकं प्रवर्तमानस्य मङ्गलवचनादिष्टदेवताविषयबहुमानाद्व्यपोहितविघ्नत्वेन शास्त्रे प्रवृत्तिरप्रतिहततरा स्यात्। तथा देवताविशेषनमस्कारोपादाने सति देवताविशेषगदितागमानुसारीदं शास्त्रमत उपादेयमित्येवंविधबुद्धिनिबन्धनत्वेन शिष्यप्रवृत्त्यर्थमिदं भवतीति । आह च–" मंगलपुव्वपवत्तो, पमत्तसीसो वि पारमिह जाइ । सत्थे विसासणाओ,गोरवादिह पयट्टेज्जा " ॥ १॥ ननु मङ्गलविकलानामपि बहूनां शास्त्राणां दृश्यते संसिद्धिः, श्रोतृजनप्रवृत्तिश्चेति, ततः किमनेनानैकान्तिकेन शास्त्रगौरवकारिणा च मङ्गलेनाभिहितेन ?। सत्यम्, किं तु शिष्टसमयपरिपालनार्थमिदं भविष्यति तथाहि–शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि, प्रवर्तमाना इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रायः प्रवर्तन्ते। शिष्टश्चायमप्याचार्य इति शिष्टसमाचारः परिपालितो भवत्विति मङ्गलमभिधेयम्। आह च–"शिष्टाः शिष्टत्वमायान्ति, शिष्टमार्गानुपालनात् । तल्लङ्घनादशिष्टत्वं, तेषां समनुपद्यते " ॥ १ ॥ तथा सम्बन्धादीनि श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थमभिधेयानि । तथाहि–यदसंबद्धं तत्र न प्रवर्तन्ते प्रेक्षावन्तो दशदाडिमादिवाक्ये इव, एवं निरभिधेयेऽपि काकदन्तपरीक्षायामिव, एवं निष्प्रयोजनेऽपि कण्टकशाखामर्दन इवेति । अतः संबन्धादिप्रतिपादनं श्रोतृणां शास्त्रे प्रवृत्त्यङ्गम्। अथासर्वज्ञाऽवीतरागवचनानां व्यभिचारित्वसंभवेन सम्बन्धादिसद्भावनिश्चयाभावात् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरेव न भविष्यति। या पुनः संशयात्प्रवृत्तिस्तां संबन्धादिवचनं विनैव भवन्तीं को निवारयितुं पारयतीति न श्रोतृप्रवृत्त्यङ्गं संबन्धादिवचनम्। सत्यं, किं तु शिष्टसमयपरिपालनार्थं भविष्यति, शास्त्रकारा ह्येवं प्रवर्तमानाः प्रायः प्रेक्ष्यन्ते इति ।

ग्रन्थकृद् गच्छाचाराऽभिधप्रकीर्णकं चिकीर्षुर्मङ्गल-संबन्धाभिधेय-प्रयोजनाभिधायिकामिमां गाथामाह–

नमिऊण महावीरं, तिअसिंदनमंसिअं महाभाग ।
गच्छायारं किंची, उद्धरिमो सुयसमुद्दाओ ॥ १॥

नत्वा प्रणम्य, कमित्याह–महावीरं, विशेषेण ईरयति क्षिपति कर्माणीति वीरः । " विदारयति कर्माणि, तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च,तस्माद्वीर इति स्मृतः "।१। इति लक्षणाभिरुक्ताद्वा वीरः,महांश्चासौ इतरवीरापेक्षया वीरश्च महावीरः,तम्। जन्ममहोत्सवसमये तनुशरीरोऽयं कथं जलप्राग्भारं सोढा?,इति शक्रशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय भगवता वामचरणाङ्गुष्ठनिपीडितसुमेरुशिखरप्रकम्पमानमहीतलोल्लसितसागरपानीयनिर्भरशङ्कितब्रह्माण्डभाण्डोदरदर्शनप्रयुक्तावधिज्ञानज्ञातप्रभावातिशयविस्मितेन वासवेनोपनिना व्यवस्थापितेश्वरविभवनामकं चरमतीर्थाधिपतिं, शेषजिनत्यागेन च महावीरग्रहणं प्रवर्तमानतीर्थाधिपत्वेन परमोपकारित्वात्। किंभूतम् ?,त्रिदशेन्द्रनमस्थितं,त्रिदशाः सुमनसस्तेषामिन्द्राश्चिदशेन्द्रास्तैर्नमस्यितस्तम् । तथा महाभागं, महान् भागः " भागः रूपाऽर्द्धक-भाग्यदेशयो " इति हैम वचनाद्भाग्यं परमैश्वर्यादिप्राप्तिहेतुः तीर्थकृन्नामकर्मोदयरूपं यस्यासौ महाभागस्तम् । ततः किमित्याह–गच्छस्य सुविहितमुनिसमुदायस्याचारः शिष्टजनसमाचरितः क्रियाकलापो गच्छाचारस्तमुद्धरामः प्रकीर्णकरूपत्वेन पृथक्कुर्मो, वयमिति शेषः । अनेन चास्याभिधेयमुक्तम् । ननु भद्रबाहुस्वाम्यादिभिरेव गच्छाचारस्योद्धृतत्वात् किं तु तदुद्धरणेनेत्याशङ्क्याह–किञ्चित् संक्षिप्तमेव, पूर्वाचार्यैर्हि प्रपञ्चतः स उद्धृतो, वयं तु मन्दमतिसत्त्वानुग्रहार्थं सङ्क्षेपेण तमुद्धराम इत्यर्थः । अनेन च प्रकीर्णककरणविषयायाः स्वप्रवृत्तेः प्रयोजनमुक्तम्। यतः "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते " । तथा संक्षिप्तप्रकीर्णकस्य सुखाध्येयत्वादिना विस्तरवद्ग्रन्थत्यागेन श्रोतारोऽत्र प्रवर्त्तिना भवन्ति, ननु श्रोतृजनप्रवर्त्तकविशेषणकदम्बकोऽयमपीदं प्रकीर्णकमसर्वज्ञेनावीतरागेण च भवतोद्ध्रियमाणमविसंवादायिना न प्रवृत्तिविषयो भविष्यत्यसर्वज्ञवचने विसंवादाशङ्काऽनिवृत्तेरित्याशङ्कमान आह श्रुतसमुद्रात्, श्रुतं कल्पव्यवहारादिरूपं तदेव गम्भीरत्वादिगुणैः समुद्रः श्रुतसमुद्रस्तस्मात्। यदि हि स्वरचितादेर्मयोद्ध्रियेत तदा व्यभिचारशङ्कया नेदं प्रवृत्तिनि–

पयः स्यात् । तदेवमस्या गाथाया पूर्वार्द्धेन मङ्गलमभिहितम् । उत्तरार्द्धेन तु सविशेषणमभिधेयं मुख्यवृत्त्याऽभिहित, तदभिधाने च गौणवृत्त्या प्रयोजन,सवन्धश्चोक्त'। तथाहि-अस्य द्विविधं प्रयोजनम्-अनन्तर,परम्पर च । पुनरेकैक कर्तृश्रोत्रपेक्षया द्विधा, तत्र कर्तुरनन्तरप्रयोजनं सङ्क्षेपतो विनेयानां गच्छाचाराधिगमकरण, परम्पर तूपकारद्वारेण कर्मक्षयाश्निर्वाणम । श्रोतृणां पुनरनन्तर प्रकीर्णकस्य सङ्क्षिप्तत्वादल्पायासेन गच्छाचाराधिगम , परम्पर निर्वाणमेवेति । इदं च प्रयोजनमभिधेयाभिधानेन सामर्थ्यादभिहितम् । न हि पुरुषार्थाऽनुपयोगिवस्तुनोऽभिधानाय सन्त- प्रवर्त्तन्ते,तत्त्वहानिप्रसङ्गात् । तथाऽस्य प्रकीर्णकस्येद प्रयोजनमिति दर्शयता दर्शित एवास्योपायभावलक्षण- सवन्धस्तर्कानुसारिण- प्रति । तथाहीद प्रकीर्णकमुपायो वर्त्तते,उपायान्तरेण विवक्षिताधिगमकरणादीनामसिद्धे , अत एवेदमेवाधिगमादिकरणमस्योपेयमिति।आह च-"सवन्ध- प्रोक्त एव स्यादेतस्यैतत्प्रयोजनम् । इत्युक्ते तेन नो वाच्यो, भेदेनासौ प्रयोजनात्"॥ १ ॥ इति । तथा श्रुतमनुद्धादित्यनेन श्रद्धानुसारिण- प्रति गुरुपर्वक्रमलक्षणोऽपि सवन्धोऽभिहित-। तथाहि-प्रथमतो भगवता परमार्हत्यमहिम्ना विराजमानेन वर्द्धमानस्वामिना गच्छाचारः प्रतिपादित , तत- सुधर्मस्वामिना द्वादशस्कन्धे सूत्रतया निवद्ध , ततोऽप्यार्यभद्रबाहुस्वाम्यादिभि कल्पादिषु समुद्धृत-, तेभ्योऽपि मन्दमेधसामवबोधाय संक्षेप्याऽस्मिन् प्रकीर्णके समुद्ध्रियते । अत एव परम्परया सर्वज्ञमूलमिद प्रकीर्णकमित्यवश्यमवदातधियामुपादेयमिति गाथार्थ (ग०) नन्विद प्रकीर्णक केन विरचितमिति ? उच्यते-"महानिसीहकप्पाओ, ववहाराओ तहेव य । साहुसाहुणिअट्ठाए, गच्छायार समुद्धिअं "॥ १ ॥ इतीहैव वक्ष्यमाणवचनादेवेदमवसीयते—यदुतेद प्रकीर्णक श्रीभद्रबाहुस्वामिपादविरचितग्रन्थादिभ्य उद्धृतत्वेन तदर्वाग्भाविना पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारकेण केनाप्याचार्येण विरचितमिति प्रायो ज्योतिष्करण्डकप्रकीर्णक वालभ्यवाचनानुगतेन पूर्वगतसूत्रार्थधारिणा केनाप्याचार्येण विरचितम् । उक्त च श्रीमलयगिरिसूर्यादेस्तत्प्रथमगाथावृत्तौ-अयमत्र पूर्वाचार्योपदर्शित उपोद्घात-कोऽपि शिष्योऽल्पश्रुत- कश्चिदाचार्यं पूर्वगते सूत्रार्थधारक चाऽनभ्य श्रुतसागरपारगत शिरसा प्रणम्य विज्ञपयति स्म । यथा-भगवन् ! इच्छामि युष्माक श्रुतनिधीनामन्ते यथावस्थित कालविभाग ज्ञातुमिति । तत एवमुक्ते सति आचार्य आह-शृणु वत्स ! तावदित्यादि । तथा तद्वितीयप्राभृतवृत्तावपि सख्यास्थानके सदृशत्वमाश्रित्योक्तम् । यथा-इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूना पठनगुणनादिक सर्वमप्यनेशत् । ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयो सघयोर्मेलापकोऽभवत् । तद्यथा-एको वलभ्यामेको मथुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसघटने परस्परवाचनाभेदो जात । विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयो- स्मृत्वा सघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्ति । तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमान माथुरवाचनाऽनुगत ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्य ,तत इहेद सख्यास्थानप्रतिपादन वालभ्यवाचनाऽनुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसख्यास्थानै सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति । यथा वा नन्द्यध्ययन देववाचकेन, उक्त च श्रीमलयगिरिसूरिपादैरेव तद्वृत्तौ । यथा-तदेवमभीष्टदेवतास्तवादिसपादितसकलसौविहित्यो भगवान् दूषगणिपादोपसेवी पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा सप्रत्यधिकृताऽध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति-" नाण पचविह पण्णत्त " इत्यादीति । ननु यथैव तर्ह्यत्र गौतमप्रश्ने श्रीमन्महावीरनिर्वचनरूप सूत्रमतो भगवान् गच्छाचारप्रकीर्णककर्ताऽपीत्थमेव सूत्रं रचयति स्मेति'। ग० १ अधि० ।

श्रीगच्छाचारप्रकीर्णकटीकातः—

" प्राय' स्वकीयोदितमप्यताद्दश,
सर्वाङ्गभाजां जगतीह रोचते ।
इय मदुक्तिस्तु ममैव नो तथा,
कथं परेषां रुचये भविष्यति ? ॥ १ ॥
न चाभूद्वृद्धोक्तवृत्ति-रस्यादर्शास्तु भूरिशः ।
तथाऽप्यस्ति गुरूपास्तिः, समस्तस्वस्तिदाऽत्मनः ॥ २ ॥
यदत्र मतिवैगुण्यात्, ग्रन्थानभ्यासतस्तथा ।
भ्रमाद्वा विवृत सर्वा-गमेनापि विरोधभाक् ॥ ३ ॥
विमर्षत्याद्विविरुद्ध च, मिथ्यादुष्कृतमस्तु तत् ।
शोधयन्तु च तत्त्वज्ञा , कृत्वा तत्र घृणा मयि ॥ ४ ॥ (युग्मम्)
विचारोपनिषद्भेद-समुच्चयाचिकीर्षया ।
गच्छाचाराभिधग्रन्थ-वृत्ति निर्मितवानहम " ॥ ५ ॥ (ग०)
" तेषां श्रीसुगुरूणां, प्रसादमासाद्य सश्रुतानन्द ।
वेदाग्निरसेन्दु १६३४ मिते, विक्रमनृपालतो वर्षे ॥७३॥
शिष्यो भूरिगुणानां, युगोत्तमानन्दविमलसूरीणाम् ।
निर्मितवान् वृत्तिमिमा-मुपकारकृते विजयविमल' ॥ ७४ ॥
कोविदविद्याविमला, विवेकविमलाभिधाश्च विद्वांस' ।
आनन्दविजयगणयो, विचिन्तयन्तो गुरौ भक्तिम ॥७५॥
शोधनलिखनादिविधा-वस्या वृत्तेर्व्यधु- समुद्योगम ।
स्युर्वांदमादरपराः, उतेह कृत्ये कृतज्ञा वा ॥७६॥ ग०४अधि०।

गच्छिय-गच्छिदूण-गत्वा-अव्य० । "क्त-गमो डत्तुअः" । ८ । ४ । २७२ । इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे " क्त्व इय-दूणौ " ८ । ४ । २७१ । शौरसेन्यां क्त्वाप्रत्ययस्य इय दूण इत्यादेशौ भवत- । गमन कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

गच्छिल्ल-गच्छवत्-त्रि० । गच्छवासिनि, बृ० १ उ० ।

गच्छुवज्झाय-गच्छोपाध्याय-पु० । गच्छनायके, व्य० २ उ० ।

गज्ज-गर्ज-धा० । ऊर्जाहेतुकशब्दे, भ्वा० प० अक० सेट् । "गर्जेर्बुक- " । ८ । ४ । ९८ । इत्यस्य पाक्षिकत्वात् ' गज्जइ ' गर्जति, प्रा० ४ पाद ।

गद्य-न० । ब्रह्मचर्याध्ययनवत्, (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०) शस्त्रपरिज्ञाध्ययनवद् वाऽछन्दोनिबद्धे (स्था० ४ ठा० ४ उ०) प्रथमेऽष्टविधगेयभेदे, यत्र स्वरसचारेण गद्य गीयते । ज० १ वक्ष० । जी० । प० भा० ।

गद्यलक्षणमाह-

महुर हेउनिजुत्तं, गहियमपायं विरामसंजुत्तं ।
अपरिमियं चऽवसाणे, कव्वं गज्जं ति नायव्वं ॥ ७७ ॥

मधुरं सूत्रार्थोभयैः श्राव्यम्, हेतुनियुक्त सोपपत्तिकम, ग्रथित बद्धमानुपूर्व्या, अपाद विशिष्टच्छन्दोरचनाऽयोगात्पादवर्जितम, विरामोऽवसान तत्सयुक्तमर्थतो न तु पाठत इत्येके । यथा-"जिणचरपादारविंदसदाणिउरणिम्मलुस्सहस्स" एवमादि ' अस-

माणिउ न चिट्ठइ त्ति ' यतिविशेषसयुक्तमन्ये, अपरिमित चावसाने बृहद्भवतीत्येके । अन्ये तु अपरिमितमेव भवति, बृहदित्यर्थ , अवसाने मृदु च पठ्यत इति शेष । काव्य गद्यम, इति एवंप्रकार, ज्ञातव्यमिति गाथाऽर्थ ॥ ७७॥ दश० २ अ० ।

गज्जंत—गर्जत्—त्रि० । घनध्वनिं मुञ्चति, उत्त० २ अ० ।

गज्जणग—गर्जनक—न० । पुरभेदे, यत्र मासकल्पविहारे स्थितैर्विजयसेनसूरिभिरङ्गारदाहक परीक्षित । पञ्चा० ६ विव० । 'गजनी' (अफगानिस्तान) इति ख्याते म्लेच्छराजनगरे, यदधीश्वरेण हम्मीरनाम्ना म्लेच्छराजेन वल्लभीपुरेश्वर शिलादित्यो मारित । ती० १७ कल्प ।

गज्जणसद्द—देशी-मृगवारणध्वनौ, दे० ना० २ वर्ग ।

गज्जन्न—गर्जन्न—पु० । अपरोत्तरस्या शुद्धविदिग्वाते, आ० म० द्वि० ।

गज्जरग—गर्जरक—न० । ' गाजर ' इति प्रसिद्धे कन्दभेदे, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

गज्जल—गर्जल—न० । गर्जितसमानशब्द कुर्वति वस्त्रविशेषे, नि० चू० ७ उ० । आचा० ।

गज्जह—गर्जन्न—पु० । 'गज्जभ' शब्दोक्तार्थे,आ० म० द्वि० ।

गज्जाण—गद्याण—पु० । वल्लषोडशके, " गुञ्जात्रयेण वल्ल स्याद्, गद्याण ते च षोडश " । कल्प० १ क्षण ।

गज्जिता—गर्जिता—त्रि० । गर्जितकृति, स्था० ४ ठा० ।

गज्जिय—गर्जित—न० । मेघध्वनौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । प्रव० । ज्ञा० । स्था० । जी० ।

गज्जियसद्द—गर्जितशब्द—पु० । गर्जितशब्दो जलसमुत्थो, वायुसमुत्थो वाऽन्यद्वा किमपीति प्रश्ने, उत्तरम्-स्थानाङ्गवृत्तौ स्थाने स्थाने स्तनितानि शब्दानां व्याख्याने मेघगर्जितमित्यर्थकरणान्मेघस्य च जलमयत्वाद् गर्जितशब्दो जलसमुद्भव सम्भाव्यते । वायुसमुत्थ शब्दो गर्जितमित्यक्षराणि तु शास्त्रे नोपलभ्यन्त इति । ५ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

गज्झवक्क—ग्राह्यवाक्य—त्रि० । नायके, आचा०१ श्रु० ७ अ०१ उ० ।

गट्टण—गट्टन—पु० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नाट्याऽनीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ।

गत्थिय—ग्रथित—न० । शास्त्रेषूपनिबद्धे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

गमुअ—गत्वा—अव्य०। "कृगमो डडुअ "।८।४।२७२। इति क्त्वाप्रत्ययस्य डडुआदेश । गमन कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

गमुल—गमुल—न०। तन्दुलधावनादौ पानीये,ध०२अधि०। स्था०।

गड्ड—गर्त्त—पु० । "गर्ते ड " । ८ । २ । ३५ । गर्तशब्दे सयुक्तस्य ड' । प्रा० २ पाद । श्वभ्रे, भ० ७ श० ६ उ० । निम्ने भूभागे, अधोलोकग्रामादौ च । भ० ६ श० ३१ उ० ।

गड्डरिया—गड्डरिका—स्त्री० पूतनायाम्, ' भेंम ' इतिख्याते चतुष्पदजीवे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

गड्डरियापवाह—गड्डरिकाप्रवाह—पु० । ६ त०। एडकानामेकस्या अनुमार्गेण सर्वासा सञ्चरणे, ध० र० ।

अधुना गड्डरिकाप्रवाह इति नवम भेदमाह—

गड्डरिगपवाहेण, गयाणुगइय जणं वियाणंतो ।
परिहरइ लोगसन्न, सुपरिक्खियकारओ धीरो ॥६८॥

गड्डरिका एडका, तासां प्रवाह सञ्चरणम् । एकस्या अनुमार्गेण सर्वासा गमन गड्डरिकाप्रवाह । द्वारगाथायामादिशब्द कोटिकामक्कोटकादिप्रवाहसमूहार्थ , तेन कृत्वा गतानुगतिकमविचारितकारिण,जन लोक विजानन्नवबुध्यमान परिहरति,लोकसंज्ञामविचारितरमणीयां लोकहेरिं,कुरुचन्द्रनरेन्द्रवत् । कथभूत सन्नित्याह-सुपरीक्षितकारक सुपर्यालोचितविधायी, धीरो मतिमानिति । ध० र०। (कुरुचन्द्रनरेन्द्रकथा तु 'कुरुचद' शब्देऽत्रैव भागे ५६० पृष्ठे द्रष्टव्या)

गड्डह—गर्दभ—पु० । 'गर्दभे वा " । ८ । २ । ३७ । गर्दभे र्दस्य डो वा भवति, इति दस्य ड । प्रा० २ पाद । खरे, " गड्डहे व्व गव मज्झे, विस्सर नयई नय " स० ३० सम० ।

गड्डा—गर्त्ता—स्त्री० । महत्यां खड्डायाम, जी० ३ प्रति० । आचा० । ज० ।

गढ—घट—धा० । चेष्टायाम, भ्वा० आत्म० अक० सेट् । घटेर्गढ." ८ । ४ । ११२ । घटेर्गढ इत्यादेशो वा भवति इति गढादेश । 'गढइ,' घटते । प्रा० ४ पाद ।

गढित्तए—ग्रथयितुम्—अव्य० । दृढबन्धनबन्धीकर्तुमित्यर्थे, जी० ४ प्रति० ।

गढिय—गृद्ध—त्रि० । अध्युपपन्ने, आचा०२ श्रु०२अ०२उ०। दशा० । अवबद्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । प्रश्न०। ग्रथित इव ग्रथित । आहारविषयस्नेहरज्जुभि सदर्भिते,भ० १४ श० ७ उ०। ज्ञा० । विपा० । सूत्र० । पद्यात्मबन्धेन वा श्लोकबन्धेन वा बद्धे, वृ० ३ उ० । शास्त्रेषूपनिबद्धे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

गढियगिद्ध—ग्रथितगृद्ध—त्रि० । अत्यन्त गृद्धिमति , प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

गण—गण—पु० । मल्लादीना समूहे, उत्त० १५ अ० । स्था० । आ० चू० । एकवाचनाऽऽचारक्रियास्थानां (आ० म० प्र० । स्था० । कल्प०) परस्परसापेक्षाणामनेककुलाना साधूनां समुदाये, प० व० १ द्वार । स्था० । प्रति० । च० प्र० । ज० । गच्छे, न० । प्रव० । व्य० । आ० चू० । प्रश्न० । ग० ।

सम्प्रति गणस्य निक्षेपमभिधित्सुराह—

नामादिगणो चउहा, दव्वगणो खलु पुणो भवे तिविहो ।
लोइय कुप्पवयणिओ, लोउत्तरिय य बोधव्वो ।

नामादिरूपो गणश्चतुर्धा चतुष्प्रकार । तद्यथा-नामगण , स्थापनागणो,द्रव्यगणो,भावगणश्च। तत्र यस्य गण इति नाम स नामगण । गणस्य स्थापनाऽक्षवराटकादिषु स्थापनागण । द्रव्यगणो द्विधा -आगमतो,नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो गणशब्दार्थज्ञाता, तत्र चानुपयुक्त । नोआगमतस्त्रिधा-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तभेदात् । तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत्, तद्व्यतिरिक्तस्त्रिधा । तद्यथा-लौकिक कुप्रावचनिको, लौकोत्तरिकश्च ।

एतेषा त्रयाणामपि प्रतिपादनार्थमाह—

सच्चित्तादिसमूहो, लोगम्मि गणो उ मल्लपूरादी ।
कुप्पावयणम्मी ओ-उत्तरओमन्नगीयाए ॥

सचित्तादिसमूह -सचित्तसमूह· अचित्तसमूहो, मिश्रसमूहश्च द्रव्यगणः। तत्र सचित्तसमूहो यथा-मल्लगणः, तथा पुरे भव· पौरस्तस्य गण । अचित्तसमूहो यथा-वसुगण·। मिश्रसमूहो यथा-सुवर्णालङ्कारभूषितो मल्लगण·,पौरगणो वा। कुप्रावचने द्रव्यगणो यथा चरकादिगणः। चरक परिव्राजक·, आदिशब्दात्यां दुरङ्गादिपरिग्रह· । लौकोत्तरिको द्रव्यगण·-अवसन्नागीतार्थाना समूह । किमुक्त भवति?-पार्श्वस्थादिगणैर्यदि वा प्रवचनविडम्बककुमतप्ररूपकगणोऽथवाऽगीतार्थगणो लौकोत्तरिको द्रव्यगण इति । भावगणो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो नोआगमतः।

आह-

छउमत्थउज्जुयाणं, गीयपुरोगामिणं अगीयाण ।
एसो खलु भावगणो, नाणादितिगं व जत्थऽत्थि ॥

गीतार्थानामुद्युक्तानां शक्त्यनुपगूहनेन सयमे प्रवर्तमानानाम्, अथवा अगीतानामपि, अपिशब्दो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्य', गीतपुरोगामिनां तथा मिश्रितानां समूहो भावगण । एप अनन्तरोक्तो भावगणो नोआगमतो भावगण' । अथवा किं बहुनोक्तेन ?, यत्र ज्ञानादित्रिकमस्ति स नोआगमतो भावगण ।

भावगणेणऽहिगारो, सो उ अपव्वाविए न संभवति ।
इच्छातियगहणं पुण, नियमणहेउं तओ कुणइ ॥

भावगणेन नोआगमतो भावगणेनाधिकार प्रयोजनम्, स च भावगणो यथोक्तरूप स्वयमप्रव्राजिते नास्ति तस्मात्स्वय साधव' प्रव्राजनीयास्ते परिवारतया कर्त्तव्या । अथवा प्रमादत्याचार्ये य परिवार सको निर्युक्तिकारद्वारगाथायामिच्छात्रिकग्रहण नियमहेतु करोतीति । व्य॰३ उ०। (तीर्थकृनां गणसख्या 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) मल्लादिगणवद्रूण । स्कन्दे, अनु०।विशे०। परिवारे, आ० म० प्र०। चोरनामगन्धद्रव्ये, गणेशे, स्वपथे, वाच०। पार्श्वस्थादिदीक्षितसाधोर्गणो भवति, न वेति प्रश्न । उत्तरम्--पार्श्वस्थादिदीक्षितमुनेर्गणो भवति । यदुक्त महानिशीथतृतीयाध्ययनप्रान्तप्रस्तावे-" सत्तछगुरुपरपरकुसीले दुगधितिगुरुपरपरकुसीले " इत्यस्यार्थोऽत्र विकल्पद्वयभणनादेवमवसीयते--यदेकद्वित्रिगुरुपरम्परां यावत्कुशीलत्वेऽपि तत्र साधुसामाचारी सर्वथोच्छिन्ना न भवति। तेन यदि कश्चित्क्रियोद्धार करोति तदाऽन्यसांभोगिकादिभ्यश्चारित्रोपसपद गृहीत्वैव क्रियोद्धार करोति,नान्यथेति।किञ्च-कश्चिन्निह्नवपार्श्वे प्रव्राजितस्तान् विहाय साधुसमीपे आगतस्तस्य तदेव प्रायश्चित्त यदसौ सम्यग् मार्ग प्रतिपद्यते, स एव च तस्य व्रतपर्यायो, न भूय उपस्थापना कर्तव्येति बृहत्कल्पतृतीयखण्डेऽपीति । २ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

गणओ-गणतस्-अव्य०। गणश इत्यर्थे, गणशो बहुशोऽनेकश इति यावत्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

गणंत-गणयत्-त्रि०। पर्यालोचयति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। " भावओ गणतेण " भावत· परमार्थतो गणयताऽऽत्मनोऽव्यिच्छत्ता सता । पञ्चा० ४ विव०।

गणग-गणक-पु०। ज्योतिषिके, औ०। कल्प०। भ०। गणितज्ञे, भाण्डागारिके इति वृद्धा। ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। 'चर्मकारस्य द्वौ पुत्रौ, गणको वाद्यपूरक' तास्मिन् सकीर्णजातौ च । वाच०।

गणट्ठकर-गणार्थकर-त्रि०। गणस्य साधुसमुदायस्यार्थान् प्रयोजनानि करोतीति गणार्थकरः। गच्छस्य आहारादिनिरुपष्टम्भके, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

गणण-गणन-न०। परिसङ्ख्याने, स्था० १ ठा० १ उ०।

गणणग्ग-गणनाग्र-न०। गणनायाः परस्तात्प्रवर्त्तने, नि० चू० १ उ०। आचा०। (विस्तरस्तु 'अग्ग' शब्दे प्रथमभागे १६४ पृष्ठे द्रष्टव्य)

गणणट्ठाण-गणनस्थान-न०। गणने संख्यायां स्थाने, व्य० १ उ०।

गणणा-गणना-स्त्री०। गणनाविषये एकद्व्यादिशीर्षप्रहेलिकापर्यन्ते स्थानभेदे, स्था० १ ठा० १ उ०। आचा०। सख्याने, स्था० ५ ठा० ३ उ०। सख्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

गणणाइया-देशी-चतुरग्राम, दे० ना० २ वर्ग।

गणणाणतय-गणनानन्तक-न०। सख्यामानव्यपेक्षे अनन्तके, स्था० १ ठा० १ उ०। (' अणतग ' शब्दे प्र० भागे २६० पृष्ठे व्याख्योक्ता)

गणणातिकंत-गणनातिक्रान्त-त्रि०। असख्येये, " गणणमतिक्कतं त्ति वा असखेज त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ०।

गणणायग-गणनायक-पु०। प्रकृतिमहत्तरे, रा०। ज०। औ०। ज्ञा०। स्था०। अनु०।

गणणाम-गणनामन्-न०। मल्लविशेषाभिधायके शब्दे, अनु०।

से किं त गणनामे ? गणनामे मल्ले मल्लदिन्ने मल्लधम्मे मल्लसम्मे मल्लदेवे मल्लदासे मल्लसेणे मल्लरक्खिए। सेत्तं गणनामे।

" से किं त गणनामे " इत्यादि । इह मल्लादयो गणास्तत्र यस्मिन्नाम्नि वर्तते तस्य तन्नाम गणस्थापनानामोच्यते ' मल्ले मल्लदिन्ने ' इत्यादि । अनु०।

गणणासंखा-गणनासङ्ख्या-स्त्री०। एकादिकायां सख्यायाम्, अनु०।

से किं त गणणासंखा ? गणणासंखा एगो गणणं न उवेइ दुप्पभिइसंखातं संखेज्जए असखेज्जए अणंतए ।

"से किं त गणणासखा" इत्यादि । एतावन्त एते इति सख्यान तं गणनासख्या। तत्र (एगो गणण न उवेइ) एकस्तावद्गणनं सख्यां नोपैति, यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादिवस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्राय प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसख्याविषयत्वेन। अथवा आदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एक वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयत्यतोऽसव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनासख्यामवतरति, तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनासख्या। सा च सख्येयकादिभेदभिन्ना। तद्यथा-सख्येयकमसख्येयकमनन्तकम् । अनु०।

गणणिक्खेव-गणनिक्षेप-पु०। यो यत्रोपाध्यायादिस्थाने स्थितस्तेन इत्वर तत्पदमात्मसमस्याऽन्यस्य साधोर्निक्षेपे, ध० ३ अधि०। ('उद्देसणा' शब्दे द्वितीयभागे ८८६ पृष्ठे गणावच्छेदकस्य निक्षेप उक्त·। स च जिनकल्पिकस्य ' जिणकप्पिय ' शब्दे द्रष्टव्य)

गणतत्ति-गणतप्ति-स्त्री०। गणचिन्तायाम्, प्रति०।

गणथेर-गणस्थविर-पु०। लौकिकस्य लौकोत्तरिकस्य च व्यवस्थाकारिणि, तद्भङ्गकुश्च निग्राहके स्थविरभेदे, स्था० १० ठा०। "सो होति गणथेरो गणथेरगुणेहिं उववेतो" प० भा०। "गणथेरेण कय गणो न वोक्कामइ" प० चू०।

गणधम्म-गणधर्म-पु०। मल्लादिगणव्यवस्थायाम, यथा सम्पादपातेन विषमग्रह इत्यादि। दश० १ अ०। जैनाना वा कुलसमुदायो गणः कोटिकादिस्तद्धर्मः, तत्सामाचारी। गणसामाचार्याम्,स्था० १० ठा०।गण समुदायो,निजज्ञातिरिति यावत्। तस्य धर्म। स्वस्वप्रवर्तिते विवाहादिके व्यवहारे, ज० २ वक्ष०।

गणधर-गणधर-पु०। अनुत्तरज्ञानदर्शनादिधर्मगण धरतीति गणधरः। अनुत्तरज्ञानदर्शनादिधर्मगणधरे, "सेज्जंभव गणहर, जिणपडिमाइसणेण पडिबुद्ध।" आ० म० प्र०। प० चू०। सूत्रकर्तरि, आ० म० प्र०। तीर्थकृच्छिष्ये, कल्प० ६ क्षण। गणनायके, कल्प० ७ क्षण। गौतमस्वाम्यादौ, विशे०। स्था०।

वन्दनमुखेन गणधरस्वरूपम्-

एक्कारस वि गणहरे,पवायए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणहरवंसं, वायगवंसं पवयणं च॥ १०६२॥

अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणाना गण धारयन्तीति गणधरास्तानेकादशाऽपि गौतमादीन् वन्दे। कथम्भूतान् ?, इत्याह-प्रकर्षेण प्रधाना आदौ वा वाचका प्रवाचका प्रवचनस्यागमस्य। एव तावद् मूलगणधरवन्दन कृतम्। तथा सर्व निरवशेषम्, गणधरा जम्बूप्रभवशय्यम्भवादयः शेषा आचार्या ,तेपा परम्परया प्रवाहो वंशस्तम्। तथा वाचका उपाध्यायास्तेषां वंशस्तम्। तथा प्रवचन आगम वन्दे इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ १०६२॥

अथ भाष्यम्-

पुज्जा जहत्थवत्ता, सुयवत्तारो तहा गणहरा वि।
पुज्जा पवायगा पव-यणस्स ते वारसगस्स॥ १०६३॥
जह वा रायाणत्तं, गयनिउत्तपणओ सुहं लहइ।
तह जिणवरिंदविहिय, गणहरपणओ सुहं लहइ १०६४
जह मूलसुयप्पभवा, पुज्जा जिणगणहरा तहा जेहिं।
तदुभयमाणीयमिदं, तेसिं वंसो किह न पुज्जो ?।१०६५।
जिणगणहरगयस्स वि, सुयस्स को गहणधरणदाणाइ।
कुणमाणो जइ गणहर-वायगवंसो न होज्जाहि?१०६६॥
सीसहिया वत्तारो, गणाहिवा गणहरा तयत्थस्स।
सुत्तस्सोवज्झाया, वंसो तेसिं परंपरओ॥ १०६७॥
पगय पहाणवयणं, पवयणं वारसंगमिह तस्स।
जइ वत्तारो पुज्जा, तं पि विसेसेण तो पुज्जं॥ १०६८॥

यद्यपि सुगमार्था, नवरं यथार्थस्य वक्ता तीर्थकर पूज्य, तथा गणधरा अपि गौतमादय पूज्याः, यतस्तेऽपि प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य सूत्रत प्रवाचका एव इति तेषामपि नमस्कार कृतः। अथवा यथा राज्ञा पृथ्वीपतिना आज्ञात तदाज्ञापितमर्थादिक राजनियुक्तानाममात्यादीना प्रणत सुखेनैव लभते, तथा प्रणतिप्रसन्नैर्जिनवरेन्द्रैर्विहित विस्तीर्ण मङ्गलादिक गणधरप्रणत सुखेनैव लभत इति तेषामपि नमस्कार। अथ सामान्येन शेषाचार्योपाध्यायनमस्कृतौ हेतुमाह-(जहेत्यादि) यथा मूलश्रुतस्य द्वादशाङ्गीसम्बन्धिनोऽर्थस्य सूत्रस्य च प्रभवा हेतवो यथासख्य जिना गणधराश्च पूज्या, तथा यैरिदं तयोर्द्वादशाङ्गीसम्बन्धिसूत्रार्थयोरुभयमियतीं कालकक्षां यावदानीत, तेषां शेषाचार्यरूपगणधरोपाध्यायानां वंश कथं न पूज्यः ?, अपि तु पूज्य एवेति। किञ्च "जिणेत्यादि" अथ विशेषतो गणधराणाम्, उपाध्यायानां च नमस्कृतौ हेतुमाह-(सीसेत्यादि) यथा गणाधिपा गौतमादय, गणधरास्तु जम्बूस्वाम्यादयः शेषाचार्या, तदर्थस्य द्वादशाङ्गार्थस्य वक्तारो व्याख्यातार सन्तः शिष्यवर्गस्य हिता, तद्धितत्वाच्च नमस्क्रियन्ते, तथा तत्सूत्रस्य वक्तारः पाठयितार सन्त उपाध्याया अपि शिष्यहिता एव। वंशश्च तेषामेवोपाध्यायानां परम्परकः पारम्पर्येणावस्थित' समूह, अत' शिष्यहितत्वात्सोऽपि नमस्क्रियते। शेष सुबोधमिति। विशे०। आ० म०। आ० चू०।

अथ कस्य तीर्थकृत कियन्तो गणधरा इति दर्श्यते-

"पढ नवसु वि खेत्ते-सु पुरिमपच्छिममज्झिमजिणाण च।
बोच्छं गणहरसखं, जिणाण नाम च पढमस्स॥ ४७॥
उसमजिणे चुलसीती, गणहर उसभसेण आदी य।
अजियजिणिंदे नउमि-तु सीहसेणो भवे आदी॥ ४८॥
चारुय संभवजिणे, पंचाणउती य गणहरा तस्स।
पढमो य वज्जनाभो, अभिनदण तियधिकसय तु ४६॥
सोलसय सुमइ सभो-चमराविय पढमगणहरो तस्स।
सुज्जो सुप्पभजिणो, सयमेकोऽरगणहराण। ५०॥
होइ सुपासवियज्जो, पंचाणउतीय गणहरा भवे तस्स।
नदो य सीयलजिणे, एकासीतिं मुणेयव्वा॥ ५१॥
सिज्जंसे उसत्तरी, पढमो सिस्सो य गोच्छुभो होइ।
छावट्ठी य सुभूमो, बोधव्वा वासुपुज्जस्स ५२॥
विमलजिणे छप्पन्ना, गणहरपढमो य मंदरो होइ।
पण्णासाऽणतजिणे, पढमो सिस्सो जसो नाम॥ ५३॥
धम्मस्स होइऽरिट्ठो, तेयालीसं च गणहरा तस्स।
चक्की उच्छेय पढमो, छत्तालीसा य सतिजिणे॥ ५४॥
कुंथुस्स भवे सयो, सत्त तीसं च गणहरा तस्स।
कुंभो य अरजिणिंदे, तेत्तीसं च गणहरा तस्स॥ ५५॥
भिसभिगो मल्लिजिणे, अट्ठावीसं च गणहरा होंति।
मुणिसुव्वयस्स मल्ला, अट्ठारस गणहरा तस्स॥ ५६॥
सुभो नमिजिणवसभे, एक्कारस गणहरा चरिमदेहा।
नेमिस्स वि अट्ठारस, गणहर पढमो वरदत्तो॥ ५७॥
पासस्स अज्जदिण्णो, पढमो अट्ठेव गणहरा भणिया।
जिणवीरे एक्कारस, पढमो से इंदभूई उ॥ ५८॥
गणहरसखा भणिया, ज नामो पढमगणहरो तस्स"। ति०।

भगवत आदितीर्थकरस्य चतुरशीतिर्गणधरा, अजितस्वामिन पञ्चनवति, सम्भवनाथस्य द्व्युत्तर शतम्, अभिनन्दनस्य षोडशोत्तर शत, सुमतिनाथस्य परिपूर्ण शत, पद्मप्रभस्य सप्ताधिक शत, सुपार्श्वस्य पञ्चनवति, चन्द्रप्रभस्य त्रिनवति, सुविधिस्वामिनोऽष्टाशीति, शीतलस्य एकाशीति, श्रेयांसस्य षट्सप्तति, वासुपूज्यस्य षट्षष्टि, विमलस्य सप्तपञ्चाशत्, अनन्तजिनस्य पञ्चाशत्, धर्मस्य त्रिचत्वारिंशत्, शान्तिनाथस्य षट्त्रिंशत्, कुन्थुनाथस्य पञ्चत्रिंशत्, अरजिनस्य त्रयस्त्रिंशत्, मल्लिस्वामिनो अष्टाविंशति, मुनिसुव्रतस्य अष्टादश, नमिनाथस्य सप्तदश, अरिष्टनेमेरेकादश, पार्श्वनाथस्य दश, वर्द्धमानस्वामिनश्च एकादशैवेति। एतदू ऋषभादीनां चतुर्विंश-

तेस्तीर्थकृतां यथाक्रमं गणधराणां मूलसूत्रकर्तृणां प्रमाणम् । प्रव० १५ द्वार । आ० म० । ('तित्थयर' शब्देऽपि वक्ष्यते)

पासस्स णं अरिहा पुरिसादाणीअस्स अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा होत्था । तं जहा-" सुभे य सुभघोसे य, वसिट्ठे बंभयारिय । सोमे सिरीधरे चेव,वीरभद्दे जसेइ य" ।१।

पार्श्वस्यार्हतस्त्रयोविंशतितमतीर्थकरस्य (पुरिसादाणीअस्स त्ति) पुरुषाणां मध्ये आदानीय आदेयः पुरुषादानीय , तस्याष्टौ गणाः समानवाचनाक्रियाः साधुसमुदायाः, अष्टौ गणधरास्तन्नायकाः सूरयः । इदं चैतत्प्रमाणं स्थानाङ्गे, पर्युषणाकल्पे च श्रूयते । केवलमावश्यकेऽन्यथा । तत्र ह्युक्तम्-" दसनवग गणाण माण जिणिंदाण" ति । कोऽर्थः?, पार्श्वस्य दश गणा ,गणधराश्च । तदिह द्वयोरल्पायुष्कत्वादिना कारणेनाविवक्षाऽनुमन्तव्येति । स० ८ सम० ।

वीरस्य-

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स एक्कारस गणा एक्कारस गणहरा होत्था । तं जहा-इंदभूई अग्गिभूई वाउभूई विअत्ते सोहम्मे मंडिए मोरपुत्ते अकंपिए अयलभाए मेअज्जे पभासे । स० ११ सम० । कल्प० ।

अथैषां सर्वेषां वक्तव्यता-

उप्पन्नम्मि अणंते, नट्ठम्मि य छाउमत्थिए नाणे ।

राईए संपत्तो, महसेणवणम्मि उज्जाणे ॥

उत्पन्ने प्रादुर्भूते अनन्तज्ञेयविषये केवलज्ञाने, नष्टे च छाद्मस्थिके मत्यादिरूपे ज्ञाने, देशज्ञानव्यवच्छेदेन केवलज्ञानसद्भावात् । भावितं चैतत् प्रथमपीठिकायाम् । रात्रौ सम्प्राप्तो महसेनवने उद्याने, किमिति चेत्?, उच्यते-भगवतो ज्ञानरत्नोत्पत्तिसमनन्तरमेव देवाश्चतुर्विधा अभ्यागता आसन् अत्यद्भुता च प्रहर्षवन्तो ज्ञानोत्पादमहिमां चक्रुः । तत्र भगवानवबुध्यते, नात्र कश्चित् प्रव्रज्याप्रतिपत्ता विद्यते । तत एतद्विज्ञाय न विशिष्टधर्मकथनाय प्रवृत्तवान्, केवलं कल्प एष यत्र ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र जघन्यतोऽपि मुहूर्त्तमात्रमवस्थातव्यम्, देवकृता च पूजा प्रतीच्छनीया, धर्मदेशना च कर्त्तव्येति सङ्क्षेपतो धर्मदेशनां कृत्वा द्वादशसु योजनेषु मध्यमा नाम नगरी, तत्र सोमिलार्यो नाम ब्राह्मणः, स यज्ञं यष्टुमुद्यतः, तत्र चैकादशोपाध्यायाः समागताः, ते च चरमशरीरा भवान्तरोपार्जितगणधरनामकर्माणश्च, तान् विज्ञायासंख्येयाभिर्देवकोटिभिः परिवृतो देवोद्योतेन दिवस इवाशेषं पन्थानमुद्द्योतयन् देवपरिकल्पितेषु सहस्रपत्रेषु नवनीतस्पर्शेषु पद्मेषु चरणन्यासं विदधानो मध्यमनगर्या महसेनवनोद्यानं सम्प्राप्तः ।

अमरनररायमहितो, पत्तो वरधम्मचक्कवट्टित्तं ।

बीयम्मि समोसरणे, पावाए मज्झिमाए उ ॥

अमरा देवाः ,नरा मनुष्याः , तेषां राजानः तैर्महितः पूजितः ,प्राप्तो धर्मवरचक्रवर्त्तित्वं धर्मवरप्रभुत्वम् । द्वितीये पुनः समवसरणे, अपिशब्दः पुनरर्थे, पापाया मध्यमायां प्राप्त इत्यनुवर्त्तते, ज्ञानोत्पत्तिस्थानकृतपूजापेक्षया चास्याभ्यधिकता ॥

तत्थ किर सोमिलज्जो, त्ति माहणो तस्स दिक्खकालम्मि।

पउरा जणजाणवया, समागया जन्नवाडम्मी ॥

तत्र पापायां मध्यमायां, किलशब्दः पूर्ववत् सोमिलार्य इति ब्राह्मणः,तस्य दीक्षाकाले योगकाले पौरा विशिष्टनगरनिवासिलोकाः , जनाः सामान्यलोकाः , जानपदा नानाजनपदभवा लोकाः समागता यज्ञपाटे । अत्रान्तरे-

एगंते य विवित्ते, उत्तरपासम्मि जन्नवाडस्स ।

तो देवदाणविंदा, करेंति महिमं जिणिंदस्स ॥

एकान्ते विविक्ते यज्ञपाटस्योत्तरपार्श्वे ततो देवदानवेन्द्रा जिनेन्द्रस्य महिमां कुर्वन्ति । पाठान्तरं वा "कासी महिमं जिणिंदस्स " कृतवन्त इत्यर्थः ।

अमुमेवार्थं सविशेषं भाष्यकार आह-

भवणवई वाणमंतर, जोइसवासी विमाणवासी य ।

सव्विड्डीएँ सपरिसा, कासी नाणुप्पयामहिमं ॥

भवनपतिव्यन्तरज्योतिर्वासिनो विमानवासिनश्च सपर्षदः सर्वर्द्ध्या ज्ञानोत्पत्तिमहिमामकार्षुः कृतवन्तः ॥ आ० म० द्वि० । तत्र भगवति समवसरणे निष्पन्ने सति अत्रान्तरे देवकृतजयशब्दसमिश्रदिव्यदुन्दुभिशब्दाकर्णनोत्फुल्लनयनगगनावलोकनोपलब्धस्वर्गवधूसमेतसुरवृन्दानां यज्ञपाटकसमन्त्यागतजनानां परितोषोऽभवत्-अहो! स्विष्टं यद्भिमहवन्तः स्वयमागता देवा इति । तथा चाह-

तं दिव्वदेवघोसं, सोऊणं माणुसा तहिं तुट्ठा ।

अहो! जण्णिएण इट्टं, देवा किर आगया इहइं ॥

तं दिव्यदेवघोषं श्रुत्वा मनुष्यास्तत्र यज्ञपाटके तुष्टाः, अहो विस्मये, यज्ञेन जयति लोकानिति याज्ञिकः,तेन इष्टं यतो देवाः किल आगता अत्रेति । किलशब्दोऽसंशये एव, तेषामप्यागमनात् तत्र यज्ञपाटके वेदाऽर्थविद एकादशापि गणधरा ऋत्विजः समन्वागताः । तथा चाह-

एक्कारस वि गणहरा, सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा ।

पावाएँ मज्झिमाए, समोसढा जन्नवाडम्मी ॥

एकादशापि गणधराः समवसृता यज्ञपाटे इति योगः । किंभूताः?, इत्याह-सर्वे निरवशेषा उन्नताः प्रधानजातित्वात् विशालाः पितामहपितृपितृव्याद्यनेकजनसमाकुलाः । कुलान्येव वंशा अन्वया येषां ते तथाविधाः, पापाया मध्यमायां समवसृता एकीभूता यज्ञपाटे ।

आह-किमाख्या किंनामानो वा ते गणधरा इति?, उच्यते-

पढमेऽत्थ इंदभूई, बीए पुण होइ अग्गिभूइ त्ति ।

तइए य वाउभूई,ततो वियत्ते सुहम्मे य ॥

मंडियमोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य ।

मेयज्जे य पभासे, गणधरा होंति वीरस्स ॥

प्रथमोऽत्र गणधरमध्ये इन्द्रभूतिर्द्वितीयः पुनर्भवति अग्निभूतिस्तृतीयो वायुभूतिः , चतुर्थो व्यक्तः, पञ्चमः सुधर्मा स्वामी, षष्ठो मण्डिकपुत्रः, सप्तमो मौर्यपुत्रः, पुत्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, अष्टमोऽकम्पिकः, नवमोऽचलभ्राता, दशमो मेतार्यः, एकादशः प्रभासः । एते गणधरा भवन्ति वीरस्य ॥

जं कारणनिक्खमणं, वोच्छं एएसि आणुपुव्वीए ।

तित्थं च सुहम्माओ, निरपच्चा गणहरा सेसा ॥

यत्कारणं यन्निमित्तं निष्क्रमणं, यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् तद्, एतेषां गणधराणामानुपूर्व्या परिपाट्या वक्ष्ये, तथा तीर्थं सुधर्म्मात् पञ्चमाद् गणधराद् जातं, यतो निरपत्या' शिष्यरहिताः शेषा इन्द्रभूत्यादयो गणधरा- ।

तत्र जीवादिसंशयापनोदनिमित्तं गणधरनिष्क्रमणमिति-कृत्वा, यो यस्य संशयस्तदुपदर्शनार्थमाह-

जीवे कम्मे तज्जी-व भूय तारिसय बंध मुक्खे य।
देवा नेरइया वा, पुन्ने परलोय निव्वाणे ॥

आद्यस्य गणभृतो जीवे संशय-किमस्ति ?,नास्तीति। द्वितीयस्य कर्मणि- यथा-ज्ञानावरणादिलक्षणं कर्मास्ति ?,किं वा नास्तीति । तृतीयस्य (तज्जीवेति) किं तदेव शरीरं, स एव जीव-?,किं वाऽन्य इति,न पुनर्जीवसत्तायां तस्य संशय-। चतुर्थस्य भूतेषु संशय-–किं पृथिव्यादीनि भूतानि सन्ति?, किं वा नेति । पञ्चमस्य (तारिसय त्ति) किं यो यादृश इह भवे सोऽन्यस्मिन्नपि तावत्तादृश एव ?, उतान्यथाऽपीति संशय- । षष्ठस्य बन्धो मोक्षश्च तस्मिन् संशयः । यथा-बन्धमोक्षौ स्त', किं वा नेति?। आह-कर्मसंशयादस्य को विशेष- ?। उच्यते-स कर्मसत्तागोचर, अयं तु तदस्तित्वे सत्यपि जीवकर्मसंयोगविभागगोचर इति। सप्तमस्य किं देवा- सन्ति?, किं वा न सन्तीति संशय। अष्टमस्य नारका संशयगोचरा-–किं ते सन्ति,?न सन्तीति ?। नवमस्य पुण्यसंशय-–कर्मणि सत्यपि किं पुण्यमेव प्रकर्षप्राप्तं प्रकृष्टसुखहेतुस्तदेव चाऽपचीयमानमत्यन्तस्वल्पावस्थ दुःखस्य,उत तदतिरिक्त पापमस्ति?, आहोस्विदेकमेवोभयरूपम, उत स्वतन्त्रमुभयमिति । दशमस्य परलोके संशय-,सत्यप्यात्मनि परलोको भवान्तरलक्षणः किमस्ति ?,किं वा नास्तीति ?। एकादशस्य निर्वाणे संशय –निर्वाणं किमस्ति, किं वा नेति ?। आह-बन्धमोक्षसंशयादस्य को विशेष- ?। उच्यते-स हि उभयगोचरः, अयं तु केवलविभागविषय एव। तथा किं संसाराभावमात्र एव मोक्ष ?, किं वा अन्य ?, इत्यादि।

साम्प्रतं गणधरपरिवारप्रदर्शनार्थमाह-

पंचण्ह पंचसया, अद्धुट्ठसया य होंति दोण्ह गणा ॥
दोण्हं तु जुयलगाणं, तिसयो तिसयो हवइ गच्छो ॥

पञ्चानामाद्याना गणधराणां प्रत्येकं प्रत्येकं परिवार पञ्चशतानि, तथा अर्द्धं चतुर्थस्य येषु तानि अर्द्धचतुर्थानि अर्द्धचतुर्थानि शतानि मान ययोस्तौ अर्द्धचतुर्थशतौ भवतो द्वयो प्रत्येकं गणौ। इह गण' समुदाय एवोच्यते, न पुनराऽऽगमिक । तथा द्वयोर्गणधरयुगलकयो प्रत्येकं त्रिशतस्त्रिशतो गच्छ-। किमुक्तं भवति ?– उपरितनानां चतुर्णां गणभृता प्रत्येकं त्रिशतमान परिवारः । आ० म० द्वि० । आव० । कल्प० । (गणधरसंशयाऽपनयनवक्तव्यता तत्तत्संशयविषयवाचकशब्देषु द्रष्टव्या)

क्षेत्रादिद्वाराणि-

साम्प्रतमेतेषामेव वक्तव्यताऽशेषप्रतिपादनार्थं द्वारगाथामाह-

खेत्ते काले जम्मे, गोत्तमगारछउमत्थपरियाए ।
केवलि य आउ आगम, परिनिव्वाणे तवे चेव ॥२०२५॥

अत्र एकारान्ता शब्दा' प्राकृतत्वात् प्रथमाद्वितीयान्ता द्रष्टव्या । ततोऽयमर्थ –गणधरानधिकृत्य क्षेत्र जनपदग्रामनगरादि वक्तव्य, जन्मभूमिर्वाच्येत्यर्थः। तथा कालो नक्षत्रचन्द्रयोगोपलक्षित्तो वाच्यः । तथा जन्म वक्तव्य, जन्म च मातापित्रायत्तमित्यतो मातापितरौ वाच्यौ। तथा गोत्र यद् यस्य तद्वाच्यम् । "अगारछउमत्थपरियाए" इति। पर्यायशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अगारपर्यायो गृहस्थपर्यायो वाच्यः, तथा छद्मस्थपर्यायश्चेति । तथा केवलिपर्यायो वाच्य', आयु सर्वायुष्कं वाच्यं,तथा आगमो वाच्य –कस्य क आगम आसीदिति। तथा परिनिर्वाण वाच्यम, कस्य भगवति जीवति परिनिर्वाणमासीत, कस्य वा भगवति परिनिर्वृते इति । तथा तपो वक्तव्यम–यथा किं केनापवर्गं गच्छता तप आचरितमिति । चशब्दात्संहननादि च वक्तव्यमिति गाथासमुदायार्थ- ।

इदानीमवयवार्थ- प्रतिपाद्यते, तत्राद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सया आह-

मगहा गोब्बरगामे, जाया तिन्नेव गोयमसगोत्ता ।
कोल्लागसन्निवेसे, जाओ वियत्तो सुहम्मो य ॥६६॥

मगधेषु जनपदेषु गोर्बरग्रामे जातास्त्रय एवाद्या गणधरा' । कथमेते त्रयोऽपीत्यत आह- गौतमसगोत्रा-, समानं गोत्र येषां 'सगोत्रा', गौतमेन गोत्रेण सगोत्रा गौतमसगोत्रा , गौतमाभिधगोत्रयुक्ता इत्यर्थ' । तथा कोल्लाकसन्निवेशे जातो व्यक्तः सुधर्मस्तु ।

मोरीयसन्निवेसे, दो भायरो मंडिमोरिया जाया ।
अयलो य कोसलाए, मिहिलाए अकंपितो जातो ॥६७॥

मौर्यसन्निवेशे द्वौ भ्रातरौ मण्डिकमौर्यौ जातौ, अचलश्च कोशलायां, मिथिलायामकम्पितो जात इति ।

तुंगीयसन्निवेसे, मेयज्जो वच्छभूमिए जातो ।
भयवं पि य प्पभासे, रायगिहे गणहरो जाओ ॥६८॥

तुङ्गिकसन्निवेशे वत्सभूमौ, कौशाम्बीविषये इत्यर्थ , मेतार्यो जात । भगवानपि च प्रभासे राजगृहे गणधरो जात ।

सम्प्रति कालद्वाराऽवयवार्थप्रतिपाद्यः। कालश्च नक्षत्रचन्द्रयोगोपलक्षित इति यद् यस्य गणभृतो नक्षत्र तदभिधित्सुराह–

जेट्ठा कत्तिय साई, सवणो हत्थुत्तरा महाओ य ।
रोहिणि उत्तरसाढा,मिगसिर तह अस्सिणी पुस्सो ॥६९॥

इन्द्रभूतेर्जन्मनक्षत्र ज्येष्ठा, अग्निभूते कृत्तिका, वायुभूतेः स्वाति', व्यक्तस्य श्रवण, सुधर्मस्य हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा , उत्तरफल्गुन्य इत्यर्थ । मण्डिकस्य मघा, मौर्यस्य रोहिणी, अकम्पितस्य उत्तराषाढा , अचलभ्रातुर्मृगशिरा-, मेतार्यस्य अश्विनी, प्रभासस्य पुष्य ।

अधुना जन्मद्वार प्रतिपाद्य, जन्म च मातापित्रायत्तमिति गणभृतां मातापितरावेव प्रतिपादयति–

वसुभूई धणमित्ते, धम्मिल्ल धणदेव मोरिए चेव ।
देवे य वसू दत्ते, बले य पियरो गणहराणं ॥ ७० ॥

आद्यानां त्रयाणा गणभृतां पिता वसुभूति , व्यक्तस्य धनमित्र , सुधर्मस्य धम्मिल , मण्डिकस्य धनदेव , मौर्यस्य मौर्य', अकम्पितस्य देव , अचलभ्रातुर्वसु , मेतार्यस्य दत्त , प्रभासस्य बल , एव पितरो गणधराणा भवन्ति।

पुढवि वारुणि भद्दिला, य विजयदेवा तहा जयंती य ।

नंदा य वरुणदेवा, अइभद्दा मायरो चेव ॥ ७१ ॥

आद्यानां त्रयाणां गणभृतां माता पृथिवी, व्यक्तस्य वारुणी, सुधर्मस्य भद्दिला, मण्डिकमौर्यपुत्राणां विजयदेवा पितृभेदेन, धनदेवे हि पञ्चत्वमुपगते मण्डिकपुत्रसहिता मौर्येण धृता, ततो मौर्यो जातः अविरोधश्च तस्मिन् देशे इत्यदूषणम् । जयन्तीनामा अकम्पितस्य, नन्दा अचलभ्रातु, वरुणदेवा मेतार्यस्य, अतिभद्रा प्रभासस्य ।

संप्रति गोत्रद्वाराभिधानार्थमाह–

तिन्नि य गोयमगोत्ता, भारद्दाअऽग्गिवेसवासिट्ठा ।
कासवगोयमहारिय, कोडिन्न दुगं च गोत्ताई ॥ ७२ ॥

अथ आद्या गणभृतो गौतमगोत्रा, भारद्वाजो व्यक्त, अग्निवैश्यायनः सुधर्म०, वासिष्ठो मण्डिक०, काश्यपो मौर्यक०, गौतमोऽकम्पित०, हारीतो अचलभ्राता, कौण्डिन्यो मेतार्य० प्रभासश्च ।

अधुना अगारपर्यायद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

पन्ना छायालीसा, बायाला होंति पन्नपन्ना य ।
पणसट्ठी बावन्ना, अमयालीसा य छायाला ॥ ७३ ॥
छत्तीसा सोलसगं, आगारवासो भवे गणहराणं ।
छउमत्थपरीयागं, अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ ७४ ॥

इन्द्रभूतेरगारपर्यायः पञ्चाशद्वर्षाणि, अग्निभूते० षट्चत्वारिंशत्, वायुभूतेर्द्वाचत्वारिंशत्, व्यक्तस्य पञ्चाशत्, सुधर्मण० पञ्चाशत्, मण्डिकस्य पञ्चषष्टि, मौर्यस्य द्विपञ्चाशत्, अकम्पितस्याऽष्टाचत्वारिंशत्, अचलभ्रातु षट्चत्वारिंशत्, मेतार्यस्य षट्त्रिंशत्, प्रभासस्य षोडश ॥ अत ऊर्द्धं छद्मस्थपर्यायं यथाक्रम कीर्तयिष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेवाह–

तीसा बारस दसग,बारस बायाल चोद्दसदुगं च ।
नवगं बारस दस अ–ट्ठगं च छउमत्थपरियाओ ॥७५॥

इन्द्रभूतेश्छद्मस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि, अग्निभूतेर्द्वादश, वायुभूतेर्वर्षदशक, व्यक्तस्य द्वादश, सुधर्मणो द्वाचत्वारिंशत्, मण्डिकस्य चतुर्दश, अकम्पितस्य वर्षनवक, अचलभ्रातुर्द्वादश वर्षाणि, मेतार्यस्य दश, प्रभासस्य वर्षाष्टकम्, एषामेव यथाक्रमं छद्मस्थपर्याय. ।

केवलिपर्यायपरिज्ञानोपायमाह–

छउमत्थपरीयागं, अगारवास च वुक्कसित्ताणं ।
सव्वाउयस्स सेसं, जिणपरियाग वियाणाहि ॥ ७६ ॥

छद्मस्थपर्यायमगारवास च व्यवकलय्य यत् सर्वायुष्कस्य शेष तच्च जिनपर्याय विजानीहि ।

स चाय जिनपर्यायः–

बारस सोलस अट्ठा–रसेव अट्ठारसेव अट्ठेव ।
सोलस सोलस तह ए–गवीस चोद्दस सोलस य ॥७७॥

इन्द्रभूते केवलिपर्यायो द्वादशवर्षाणि, अग्निभूतेः षोडश, वायुभूतेरष्टादश, व्यक्तस्याष्टादश, सुधर्मणोऽष्टौ, मण्डिकस्य षोडश, मौर्यपुत्रस्य षोडश, अकम्पितस्य एकविंशति, अचलभ्रातुश्चतुर्दश, मेतार्यस्य षोडश, प्रभासस्य षोडश।

सम्प्रति सर्वायुष्कमाह–

बाणउई चउहत्तरि, सत्तरि तत्तो भवे असीई अ ।
एग च सयं तत्तो, पणनउई चेव तेसीई ॥ ७८ ॥
अट्ठत्तरिं च वासा, तत्तो बावत्तरिं च वासाइं ।
बावट्ठी चत्ता खलु, सव्वगणहराउयं एयं ॥ ७९ ॥

इन्द्रभूते सर्वायुर्द्विनवतिवर्षाणि, अग्निभूतेश्चतु.सप्ततिः, वायुभूते सप्तति०, व्यक्तस्य अशीति०, सुधर्मस्य एकं वर्षशत, मण्डिकस्य पञ्चनवतिवर्षाणि, मौर्यपुत्रस्याशीति. । अकम्पितस्याष्टसप्तति, अचलभ्रातुर्द्वासप्तति, मेतार्यस्य द्वाषष्टि, प्रभासस्य चत्वारिंशत् । एव क्रमेण गणधराणां सर्वायुष्कमिति । आ० म० द्वि० । आव० ।

थेरे णं इंदभूती बाणउइवासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे ॥

स्थविर इन्द्रभूतिर्महावीरस्य प्रथमगणनायक । स च गृहस्थपर्याय पञ्चाशत वर्षाणि, त्रिंशत छद्मस्थपर्याय, द्वादश च केवलित्व पालयित्वा सिद्ध इति सर्वाणि द्विनवतिरिति । स० ९२ सम० ।

थेरे णं अग्गिभूई गणहरे चोवत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव प्पहीणे ॥

तत्राऽग्निभूतिरिति महावीरस्य द्वितीयो गणधर० गणनायक, तस्येह चतु.सप्ततिवर्षाण्यायु. । अत्र चाय विभाग०-षट्चत्वारिंशद्वर्षाणि गृहस्थपर्याय०, द्वादश छद्मस्थपर्यायः, षोडश केवलिपर्याय इति । स० ७४ सम० ।

थेरे णं अकंपिए अट्ठहत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव प्पहीणे ॥

अकम्पितः स्थविरो महावीरस्याऽष्टमो गणधर, तस्य चाष्टसप्ततिवर्षाणि सर्वायुः । कथम् ?, गृहस्थपर्याये अष्टचत्वारिंशत्, छद्मस्थपर्याये नव, केवलिपर्याये चैकविंशतिरिति । स० ७८ सम० ।

आगमद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

सव्वे य माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विऊ ।
सव्वे दुवालसंगी य, सव्वे चोद्दसपुव्विणो ॥ ७९ ॥

सर्वे ब्राह्मणा जात्या. प्रशस्तजातिकुलोत्पन्ना० । तथा सर्वे अध्यापका उपाध्याया०,विदन्तीति विदो विद्वांस०,चतुर्दशविद्यास्थानपारगमनात् । तानि चतुर्दशविद्यास्थानान्यमूनि–"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तर. । धर्मशास्त्र पुराण च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश" ॥१॥ तत्राऽङ्गानि षट् । तद्यथा–शिक्षा,कल्पो, व्याकरण, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिष चेति । एतेन गृहस्थागम उक्त० । लोकोत्तरागमप्रतिपादनार्थमाह–सर्वे द्वादशाङ्गिनः, तत्र स्वल्पेऽपि द्वादशाङ्गाध्ययने द्वादशाङ्गिनोऽभिधीयन्ते । ततः सम्पूर्णद्वादशाङ्गज्ञापनार्थमाह–सर्वे चतुर्दशपूर्विणः ।

परिनिर्वाणद्वारमाह–

परिनिव्वुया गणहरा, जीवंते नायए नव जणाओ ।
इंदभूई सुहम्मो य, रायगिहे निव्वुए वीरे ॥८०॥

जीवति ज्ञातके ज्ञातकुलोत्पन्ने,वीरे भगवति, नव जनाः, इन्द्रभू-

ति', सुधर्मेश्च स्वामिनि वीरे निर्वृते परिनिर्वृत । तत्रापि प्रथम मिन्द्रभूति', पश्चात् सुधर्मस्वामी । यश्च यश्च काल करोति स सुधर्मस्वामिनो गण ददाति, तेषां तथाविधसन्तानप्रवृत्तिहेतुभूताचार्यासंभवात् । सुधर्मस्वामी तु काल कुर्वन्निजशिष्याय जम्बूस्वामिने गण समर्पितवान् ।

अधुना तपोद्वारमाह-

मासं पाओवगया, सव्वे वि य सव्वलद्धिसपन्ना ।
वज्जरिसहसंघयणा, समचउरसा य संठाणे ॥

सर्वे एव गणधरा मास यावत् पादपोपगमनगता । द्वारगाथोपन्यस्तचशब्दार्थमाह-सर्वेऽपि सर्वलब्धिसपन्ना , आमर्षौषध्याद्यशेषलब्धिसंपन्ना'. तथा वज्रर्षभसहनना समचतुरस्राश्च सहनना । समचतुरस्राश्च सन्धाने सस्थानविषये। आ० म० द्वि० । विशे० । एव चतुश्चत्वारिंशच्छतानि द्विजा. प्रव्रजिता. । तत्र मुख्याना त्रिपदीग्रहणपूर्वकमेकादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरचना गणधरपदप्रतिष्ठा च । तत्र द्वादशाङ्गीरचनाऽनन्तर भगवांस्तेषां तदनुज्ञा करोति,शक्रश्च दिव्य वज्रमयस्थाल दिव्यचूर्णाना भृत्वा त्रिभुवनस्वामिन सन्निहितो भवति । तत. स्वामी रत्नमयसिंहासनादुत्थाय सपूर्णो चूर्णमुष्टिं गृह्णाति, ततो गौतमप्रमुखा एकादशापि गणधरा ईषदवनता अनुक्रमेण तिष्ठन्ति। देवास्तूर्यध्वनिगीतादिनिरोध विधाय तृष्णीका' शृण्वन्ति। ततो भगवान् पूर्वं भणति-" गौतमस्य द्रव्यगुणपर्यायैस्तीर्थमनुजानामीति," चूर्णांश्च तन्मस्तके क्षिपति । ततो देवा अपि चूर्णपुष्पगन्धवृष्टिं तदुपरि कुर्वन्ति,गण च भगवान् सुधर्मस्वामिन धुरि व्यवस्थाप्यानुजानाति। इति ॥१२१॥ कल्प०८ क्षण। ती० । "अथ सासइ अरहा, सुत्त गथनि गणहरा णिउण" (१११६) इति । (गणधारिणां सूत्रकरण 'सुय' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यास्यते) विशे० । सूत्र० । अत्यन्तानुपमगोचरश्रद्धास्थैर्यवतोऽनुष्ठानात्तीर्थकृत्व, मध्यमश्रद्धामवन्ताङ्गणधरत्वम् । यो० बिं० । गणस्य गच्छस्य धारणाद्गणधर । उत्त० १६ अ०। गणनायके आचार्ये, स्था० ८ ठा० । संथा० । गणधरश्च यैर्गुणैर्युक्तस्य नरस्य गणधरणार्हत्व भवति तद्युक्त एवेति । स्था० ८ ठा० । यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेशात्साधुगण गृहीत्वा पृथग् विहरति स गणधर । आचा० २ श्रु० १ अ०१० उ० । " चिन्तयत्येवमेवैतत, स्वजनादिगत तु य । तथाऽनुष्ठानत सोऽपि,धीमान् गणधरो भवेत्" ॥ १ ॥ द्वा० १४ द्वा० । प० स० । (अथ कीदृश' कथ वा आचार्यपदे स्थाप्यते इति ' आयरिय ' शब्दे द्वि० भागे ३०३ पृष्ठे उक्तम्)

नवरमिह भिक्षोर्गणधारणसूत्रम्-

भिक्खू य इच्छेज्जा गण धारित्तए नो कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता गण धारित्तए । कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए थविरा य से वियरेज्जा । एवं से कप्पइ गणं धारित्तए थेरा य से णो वियरेज्जा । एव से णो कप्पइ गण धारित्तए, जण्णं थेरेहिं अविदिन्नं गणं धारेति से संतराए छेए वा परिहारे वा जे ते साहम्मिया उट्ठाए विहरति । णत्थि णं तेसिं केइ छेदे वा परिहारे वा ॥ २ ॥

अथास्य सूत्रस्य क' सबन्ध. ?, तत आह-

दुहतो वि पलिच्छन्ने, अप्पडिसेहो चउतिप्पसंगाओ ।
धारेज्ज अणापुच्छा, गणमेसो सुत्तसबधो ॥

द्विधातोऽपि द्रव्यतो भावतश्च, परिच्छन्ने परिच्छदोपेत आचार्यत्वमपि च द्विधात परिच्छन्ने गणधारणस्य न प्रतिषेध इति कृत्वा किमनुज्ञया स्थविराणां कार्यमिति बुद्ध्या माऽतिप्रसंगत स्थविराणामनापृच्छ्या गण धारयेदतस्तत्प्रतिषेधार्थमिद सूत्रमारभ्यते। एषोऽधिकृतसूत्रस्य सबन्ध' । अनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-भिक्षुरिच्छेद् गण धारयितुम् । तत्र (से) तस्य न कल्पते स्थविरान् गच्छगतान् पुरुषान् अनापृच्छ्य गण धारयितुम् । कल्पते (से) तस्य स्थविरान् आपृच्छ्य गण धारयितुम्, स्थविराश्च (से) तस्य वितरेयुरनुजानीयुर्गणधारणम्, पूर्वोक्तै कारणैरर्हत्वात्,तत एव भनि (से) तस्य कल्पते गण धारयितुम् । स्थविराश्च (से) तस्य न वितरेयु , गणधारणानर्हत्वात्, एव सति न कल्पते गण धारयितुम् । य पुन स्थविरैरवितीर्णमननुज्ञात. गण धारयेत् तत. (से) तस्य कृतादनन्तरादपयात्प्रायश्चित्त छेदो वा परिहारो वा, वाशब्दादन्यद्वा तप. । एष सूत्रार्थ. ।

साम्प्रतं भाष्यकृदाह-

कालं देसदरिसणं, आगतऽपट्ठाविए उवरया थेरा ।
असिवादिकारणेहिं, न ठाविता साहगससऽसती ॥
सो कालगतम्मी उव-गतो विदेसं व तत्थ व अपुच्छा ।
थेरे धारेय गण, जावनिसिट्ठं अणुग्घाया ॥

देशदर्शननिमित्त गतेन ये प्रव्राजितास्तान् यदि आत्मनो यावत्काथिकान् शिष्यतया बध्नाति, ततस्तस्य प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकम । तथा देशदर्शन कृत्वा तस्मिन्नागते अप्रस्थापिते च तस्मिन्नाचार्यपदे स्थविरा यस्याचार्या उपरता. कालगता., यदि वा स प्रत्यागतोऽप्यशिवादिभिः कारणै , यद्वा साधकस्य (असति चि) अभावेनाचार्यपदेऽस्थापितोऽत्रान्तरे चाचार्य ततस्मिन् कालगते, यदि वा गतो विदेश तत्रैव विदेशे गण धारयितुमिच्छेत, एतेषु सर्वेष्वपि कारणेषु समुत्पन्नेषु यदि स्थविरान् गच्छमहत्तोऽपृष्ट्वा, यद्यपि तस्याचार्येण भावतो गणो निसृष्टोऽनुज्ञातस्तथापि स्थविरा आपृच्छनीया । तत आह-भावनिसृष्टमपि गण धारयति तर्हि तस्य स्थविरानापृच्छाप्रत्यय प्रायश्चित्तम् । अनुद्धाता गुरुकाश्चत्वारो मासा. । उपलक्षणमेतद् आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपाश्च तस्य दोषाः।

सयमेव दिसाबंधं, अणणुण्णाते करे अणापुच्छा ।
थेरेहिं पडिसिद्धो, सुच्चा लग्गा उवेहेता ॥

यो नाम स्वयमेव आत्मच्छन्दसा को मम निजमाचार्य मुक्त्वाऽन्य आपृच्छनीय समस्ति?,इत्यध्यवसायत पूर्वाचार्येणाननुज्ञात आचार्यपदे तस्यास्थापनात् । स्थविरान् गच्छमहत्तररूपान् अनापृच्छ्य दिग्बन्धं करोति, स्थविरै' प्रतिषेधनीयः यथा निवर्त्तते-' आर्य ! तव तीर्थकराणामाज्ञा लोपयितु न युक्तम ' । एव प्रतिचोदितोऽपि यदि न प्रतिनिवर्त्तते तर्हि स्थविराः शुद्धाः, स तु चतुर्गुरुके प्रायश्चित्ते लग्न । अथ स्थविरा उपेक्षन्ते तर्हि ते उपेक्षाप्रत्यय चतुर्गुरुके लग्ना., यत एवमुपेक्षायामनापृच्छायां च

तीर्थकराभिहितं प्रायश्चित्तमाङ्गादयश्च दोषास्तस्मात् स्थविरैरुपेक्षा न कर्त्तव्या, तेन च स्थविरा आपृच्छनीयाः ।

सगणे थेराणऽसती, तिगथेरे वा तिगं तुवट्ठाति ।
से वा सति इत्तरियं, धारेइ न मेल्लितो जाव ॥

अथ स्वगच्छे स्थविरा न सन्ति तर्हि गणे स्वकीये गच्छे स्थविराणामसति अभावे, ये त्रिककुलगणसंघरूपे स्थविरास्तान् त्रिकस्थविरान्, त्रिक वा समस्त कुल वा गण वा सङ्घ वा इत्यर्थ, उपातिष्ठेत। यथा-यूयमनुजानीत मह्य दिशमिति। अथ अशिवादिभि कारणैर्न पश्येत्कुलस्थविरादीनामसत्यभावे इत्वरिका दिश गणस्य धारयति, यावत्कुलादिभि सह गणो न मिलितो भवति ।

जे उ अहाकप्पेणं, च अणुम्मायम्मि तत्थ साहम्मी ।
विहरंति य वद्धाए, न तेसि छेओ न परिहारो ॥

ये तु साधर्मिका. स्वगच्छवर्त्तिन. परगच्छवर्तिनो वा यथाकल्पेन श्रुतोपदेशेन तेषा सूत्रार्थ तत्रोपस्थापनाविषये तदर्थाय सूत्राणामर्थाय, आसेवनाशिक्षायै चेत्यर्थ, अनुज्ञाते गणधरेण तत्र गच्छे विहरन्ति, ऋतुबद्धे काले मासकल्पे न वर्षासु वर्षाकल्पे न तेषां तत्प्रत्ययो यदेषोऽनुज्ञातो गणं धारयतीति तन्निमित्तमित्यर्थ । प्रायश्चित्तच्छेदो न परिहार उपलक्षणमेतन्नान्यद्वा तप. श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्रार्थ तपोपस्थानात्। विषयलोलता हि तस्या समीपमुपतिष्ठमानाना दोष ,न सूत्रार्थमिति । (अस्य विशेषविस्तरस्तु 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३३५ पृष्ठे दृष्टव्य.) व्य० ३ उ० । इदानीन्तनानामपि योग्याना गणधरपद युज्यते। अपवादपदमपुष्टमवलम्ब्य नैवेदयुगीनसाधूनामपि युज्यते कालोचितानुपूर्वीमपहाय गणधरपदारोपणम्। मा प्रापन्महापुरुषगौतमादीनामाशातनाप्रसङ्ग । तेषामाशातना स्वल्पीयस्यपि प्रकृष्टदुरन्तसंसारोपनिपातकारिणी । यत उक्तम्-"बूढो गणहरसद्दो,गोयममाईहिं धीरपुरिसेहिं। जो त ठवइ अपत्ते, जाणतो सो महापावो " ॥ १ ॥ तत एतत्परिभाव्य ससारभीरुणा कथञ्चिद्विनयादिना समर्जितेनापि स्वशिष्ये गुणवति कालोचितवय पर्यायानुपूर्वीसपन्ने गणधरपदाध्यारोप कर्त्तव्यो न यत्र कुत्रचिदिति स्थितम्। नं०। अन्यथा प्रायश्चित्तम् ॥

तत शिष्य प्रश्नयति-कीदृशस्य गच्छो दीयते ?। अयोग्यस्य वा गच्छ प्रयच्छन्नयोग्यो वा गच्छ धारयन् कीदृश प्रायश्चित्त प्राप्नोति ?। उच्यते-

अवहुस्सुएँ ऽगीयत्थे, निस्सिरए वा वि धारए व गणं ।
तद्देवसिय तस्सा, मासा चत्तारि भारीया ॥

अवहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पाध्ययन नाधीतम्,अधीतं वा परं विस्मारितम्, अगीतार्थो येन छेदश्रुतार्थो न गृहीतो, गृहीतो वा पर विस्मारित ,तस्मिन् बहुश्रुतेऽगीतार्थे यो गण गच्छ निसृजति निक्षिपति,तस्य चत्वारो भारिका मासाः। यो वा अबहुश्रुतोऽगीतार्थो वा गणं निसृष्ट धारयति तस्यापि चत्वारो मासा गुरुका। एतच्च दिवसनिष्पन्न प्रायश्चित्तम्। द्वितीयादिषु तु दिवसेषु यत्प्रायश्चित्तमापद्यते तदुपरिष्टाद्वक्ष्यते ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति-

अवहुस्सुअस्स देइ य, जो वा अवहुस्सुओ गणं धरए ।
भंगतिगम्मि वि गुरुगा, चरिमे भंगे अणुन्नाओ ॥

अबहुश्रुतस्य गीतार्थस्य गणं ददति चत्वारो गुरव । अस्य च प्रमादादिना निशीथसूत्र विस्मृतमर्थं पुन. स्मरतीत्यबहुश्रुतस्य गीतार्थत्वम् । यद्वा-आज्ञाधारणादिमात्रव्यवहारेण बहुश्रुतस्यापि गीतार्थत्वमिति । बहुश्रुतस्यागीतार्थस्य ददति चत्वारो गुरवः। अनेन चाचारप्रकल्पाध्ययन सूत्रतोऽधीत,न पुनरर्थत श्रुत्वा सम्यगधिगतमिति बहुश्रुतस्यागीतार्थत्वम्। बहुश्रुतस्य गीतार्थस्य ददतीत्यत्र चतुर्थे भङ्गे शुद्ध । यो वा अबहुश्रुतो गण धारयतीत्यत्रापि चतुर्भङ्गी, तत्रापि बहुश्रुतोऽगीतार्थश्च सन् निसृष्ट गण धारयति, अबहुश्रुतो गीतार्थो धारयति, बहुश्रुतोऽगीतार्थो धारयति । त्रिष्वपि चतुर्गुरुका, बहुश्रुतो गीतार्थो धारयतीत्यत्र शुद्धः । अत एवाह-भङ्गत्रिकेऽपि त्रिष्वप्याद्यभङ्गेषु गणदायकधारकयोरुभयोरपि गुरुकाश्चतुर्गुरव । चरमे चतुर्थ भङ्गे शुद्धत्वाद्दायको धारको वाऽनुज्ञातो न तत्र कश्चिद्दोष ॥ बृ० १ उ० । आर्यिकाप्रतिजागरके साधुविशेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । "पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गे वज्जओ य तेयस्सी । संगहुवग्गहकुसले,सुत्तत्थविऊ गणाहिवई " ॥ १ ॥ बृ० १ उ० । नि० चू० । प० व० । तीर्थकरगणभृतां मिथो भिन्नवाचनत्वेऽपि सांभोगिकत्व भवति, न वा?, तथा सामाचार्यादिकृतो भेदो भवति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-गणभृतां परस्पर वाचनाभेदेन सामाचार्या अपि कियान् भेद. संभाव्यते। तद्भेदे च कथञ्चिदसांभोगिकत्वमपि सम्भाव्यत इति ।८१ प्र०। सेन०२ उल्ला०। गणधरो ज्येष्ठोऽन्यो वा तीर्थस्थापनादिने एव तीर्थकरस्य व्याख्यानानन्तर व्याख्यान करोति, उत सर्वदा भगवद्व्याख्यानाऽनन्तरं मुहूर्त्तमेकं व्याख्यान करोतीति प्रश्ने;उत्तरम्-ज्येष्ठोऽन्यो वा गणधरः सर्वदा द्वितीयपौरुष्यां व्याख्यान करोतीत्यक्षराण्यावश्यकवृत्त्यादौ सन्ति, न तु तीर्थस्थापनादिने एव मुहूर्त्तमेकं करोतीति । १७५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा " संखाईए उ भवे, साहइ ज वा परो उ पुच्छिज्जा । नयणं अणाइसेसी, वियाणजइ एस छउमत्थो " ॥१॥ इयं गाथा गणधरानाश्रित्योक्ता,सामान्यतश्चतुर्दशपूर्विणो वेति?, तथा तत्रावधिज्ञानी सङ्ख्येयानसङ्ख्येयांश्च भवान् पश्यति १,एव मनःपर्यायज्ञान्यपि २, केवलज्ञानी तु नियमतोऽनन्तान् ३, जातिस्मरणं तु नियमतः सङ्ख्येयानित्याचाराङ्गवृत्तौ प्रोक्तमस्ति। अथ चतुर्दशपूर्वी कति भवान् जानातीति, चतुर्दशपूर्वविदोऽसङ्ख्यातान् भवान् जानन्तीति प्रघोष. सत्योऽसत्यो वेति प्रश्न.।उत्तरम्-'संखाइए उ भवे' इय गाथा गणधरानाश्रित्यैवावश्यके प्रोक्ताऽस्तीति तथैतदनुसारेणान्येऽपि सपूर्णचतुर्दशपूर्वविदः सङ्ख्यातीतान् भवान् जानन्तीति प्रघोषोऽपि सत्यस्सभात्व्य इति । ६ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

गणधरगंभिया–गणधरगरिमका–स्त्री० । यत्र गणधराणां पूर्वजन्माभिधीयते तादृश्या वाक्यपद्धतौ, स० ।

गणधरपाउग्ग–गणधरप्रायोग्य–पु० । गणधरपदस्य प्रायोग्ये, व्य० २ उ० ।

गणधरलद्धि–गणधरलब्धि–स्त्री० । त्रयोदश्यां लब्धौ, यद्युक्तो गणधरो भवति । पा० । प्रव० ।

गणधरवंस–गणधरवंश-पु० । गणधरस्य तत्प्रवाहस्य प्रतिपादकत्वाद्गणधरवंश । समवायाङ्गे, स० ।

गणधारि(ण्)–गणधारिन्–पुं० । गणधरे, आ० म० द्वि० । (समवसरणे गणधारी व्याख्यानयति इति 'समोसरण' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यास्यते) "जगदेकतिलकभूताः, जयन्ति गणधारिण सर्वे।" च० प्र० १ पाहु० ।

गणभत्त–गणभक्त–न० । समवायभोजने, नि० चू० ८ उ० ।

गणराय–गणराज–पु० । समुत्पन्ने प्रयोजने ये गणं कुर्वन्ति ते गणप्रधाना राजानो गणराजाः । सामन्ते, भ० ७ श० ६ उ० । आचा० । " ततो भगवं वेसालिं नगरिं संपत्तं, तत्थ सखो नाम गणराया " आ० म० द्वि० । सेनापतौ च । आव० ३ अ० । "जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं नव मल्लई नव लेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो "कल्प० ६ क्षण ।

गणवइ–गणपति–पुं० । उज्जयन्तशैलशिखरे विष्फसल्लनगरे भग्नरसकुण्डस्योपरि वर्द्धमानगणपतिमूर्तौ, ती० ४ कल्प ।

गणवइदेव–गणपतिदेव–पु० । काकन्दीयराजभेदे, ती० ५० कल्प ।

गणविउस्सग–गणव्युत्सर्ग–पु० । गणत्यागरूपे द्रव्यव्युत्सर्गभेदे, औ० ।

गणवेयावच्च–गणवैयावृत्त्य–पु० । कुलसमुदायस्य सेवालक्षणे नवमे वैयावृत्त्यभेदे, औ० ।

गणसंकम–गणसंक्रम–पु० । वसुराजगणादवसुराजगण संक्रमति, नि० चू० ।

सूत्रम्–

> जे भिक्खू वुसराइयाओ गणाओ अवुसराइयं गणं
> संकमइ, गणं संकमंतं वा साइज्जइ ॥१५॥
> वुसिरातियागणातो, जे भिक्खू संकमे अवुसिरातिं ।
> पढमबितियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥३५८॥

(वुसि त्ति) तो वुसिरातिए चउभंगो कायव्वो, चउत्थभंगो अवत्थु, ततियभंगे किं पडिसेहो ?, आचार्य आह–तत्थ ण पडिसेहो, कारणे पुण पढमभंगे उवसंपदं करेति, सा य उवसंपया कालं पडुच्च तिविहा । इमा गाहा–

> छम्मासे उवसंपद, जहण्णु बारससमा उ मज्झिमिया ।
> आवकहा उक्कोसो, पडिच्छ सीसे तु जा जीवं ॥३५९॥

उवसंपदा तिविहा–जहण्णा, मज्झिमा, उक्कोसा । जहण्णा छम्मासे, मज्झिमा बारसवरिसे, उक्कोसा जावज्जीवं, एवं पडिच्छगस्स सिस्से एगविहा चेव, जावज्जीव आयरिओ ण मोत्तव्वो ।

> छम्मासेऽपूरेत्ता, गुरुगा बारससमासु चउलहुगा ।
> तेण परमासियत्तं, भणितं पुण आरते कज्जे ॥ ३६० ॥

जेणं पडिच्छगेणं छम्मासिता उवसंपया कता, सो जति छम्मासे अपूरेत्ता जाति तस्स चउगुरुगा, जेण बारसवरिसा कता ते अपूरेत्ता जाइ चउलहुं, जेण जावज्जीव उवसंपदा कता तस्स मासलहुं, छम्मासाण परेण णिक्कारणे गच्छतस्स मासलहुं, जेण बारससमा उवसंपदा कता तस्स वि छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुआ चेव, बारसमासातो परेण मासलहु चेव, जेण जावज्जीव संपया कया तस्स छम्मासे अपूरेंतस्स चउ गुरुगा चेव, तस्सेव बारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा । एस सोही गच्छतो णितस्स भणिता । नि० चू० ६ उ० । ('अणुसराइय' शब्दे प्र० भागे ८१३ पृष्ठे 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भागे च विस्तरो द्रष्टव्यः)

गणसंगहकर–गणसंग्रहकर–पु० । गणस्याहारादिना ज्ञानादिना च संग्रहकारके, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

गणसंग्रहकृदाचार्य उपाध्यायो वा कतिभिर्भवैः सिध्यति ?–

> आयरियउवज्झाए णं भंते ! सविसयंसि गणं अगिलाए संगिण्हमाणे अगिलाए उवगिण्हमाणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ० जाव अंतं करेइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झइ, अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ, तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ ।

(आयरियउवज्झाए णं ति) आचार्येण सहोपाध्याय आचार्योपाध्याय । (सविसयंसि त्ति) स्वविषये अर्थदानसूत्रदानलक्षणे (गणं ति) शिष्यवर्गम् (अगिलाए त्ति) अखेदेन संगृह्णन् स्वीकुर्वन्, उपगृह्णन् उपष्टम्भयन्, द्वितीयस्तृतीयश्च भवो मनुष्यभवो देवभवान्तरितो दृश्य चारित्रवतोऽनन्तरो देवभवो भवति । न च तत्र सिद्धिरस्तीति परानुग्रहस्यानन्तरं फलमुक्तम् । भ० ५ श० ६ उ० ।

गणसंठिति–गणसंस्थिति–स्त्री० । गणस्य मर्यादायाम्, यथा अशिष्येऽयोग्यशिष्ये महाकल्पश्रुतं न दातव्यम् । व्य० १ उ० ।

गणसम (म्म) य–गणसंमत–पु० । महत्तरादौ प्रवचनप्रभावके, व्य० १ उ० ।

गणसम–देशी–गोष्ठीरते, दे० ना० २ वर्ग ।

गणसामायारी–गणसामाचारी–स्त्री० । गणसामाचारी गणं विषीदन्तं चोदयति । कथम् ?, इत्याह–

> पडिलेहणपप्फोडण, बालगिलाणाइवेयवच्चेया ।
> सीदंतं गाहेई, सयं च उज्जुत्त एएसु ॥

प्रत्युपेक्षणं चक्षुषा निरीक्षणं, प्रस्फोटनमाखोटादिकम्, एतयोर्बालग्लानादिवैयावृत्त्ये च सीदन्तं प्रत्युपेक्षणादि ग्राहयति–कारयति, स्वयं च एतेषु स्थानेषु सततमुद्युक्तः । उक्ता गणसामाचारी । व्य० १० उ० । प्रत्युपेक्षणा बालवृद्धादिवैयावृत्त्यादिकार्येषु स्वयमुद्यतोऽभ्रान्त्या गणं प्रेरयति गणसामाचारी । आचारविनयभेदे, प्रव० ६४ द्वार ।

गणसोभाकर–गणशोभाकर–पु० । गणस्यानवद्यसाधुसामाचारीप्रवर्तनेन वादिधर्मकर्मनैमित्तिकविद्यासिद्धत्वादिना वा शोभाकरणशीले पुरुषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

गणसोभायर–गणशोभाकर–पु० । 'गणसोभाकर' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

गणसोभि (ण्)–गणशोभिन्–पु० । गणं वादप्रदानतः शोभयतीत्येवंशीलो गणशोभी । गणशोभाकरे पुरुषजाते, व्य० १० उ० ।

गणहर–गणधर–पुं० । 'गणधर' शब्दार्थे, आ० म० प्र० ।

गणहरगमिया–गणधरगामिका–स्त्री० । 'गणधरगमिया' शब्दार्थे, स० ।

गणहरपाउग्ग-गणधरप्रायोग्य-त्रि०।'गणधरपाउग्ग' शब्दार्थे, व्य० २ उ०।

गणहरलद्धि-गणधरलब्धि-स्त्री०। 'गणधरलद्धि' शब्दार्थे, पा०। प्रव०।

गणहरवंस-गणधरवंश-पुं०। 'गणधरवंस' शब्दार्थे, स०।

गणहारिण्-गणधारिन्-पुं०। 'गणधारि' शब्दार्थे,आ०म०द्वि०।

गणाजीव-गणाजीव-पुं०। मल्लादिगणीयमात्मानं सूत्रादिनोपदर्श्य भक्तादिग्राहके आजीवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

गणाधिव-गणाधिप-पुं०। गौतमादिषु प्रधानगणधरेषु,विशे०।

गणाभिओग-गणाभियोग-पुं०। गणः स्वजनादिसमुदायस्तस्याभियोगो गणाभियोगः। ध० २ अधि०। गणपरवशतायाम्, उपा० १ अ०।

गणावक्कमण-गणापक्रमण-न०। गणाद्गच्छादपक्रमणं निर्गमो गणापक्रमणम्। गच्छान्निर्गमे, स्था०।

सत्तविहे गणावक्कमणे पण्णत्ते। तं जहा-सव्वधम्मा रोएमि, एगइया रोएमि,एगइया नो रोएमि,सव्वधम्मा वितिगिच्छामि एगइया वितिगिच्छामि, एगइया नो वितिगिच्छामि,सव्वधम्मा जुहुणामि, एगइया जुहुणामि, एगइया नो जुहुणामि, इच्छामि णं भंते ! एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

सप्तविधं सप्तकारं प्रयोजनभेदेन भेदाद्गणाद्गच्छादपक्रमणं निर्गमो गणापक्रमणं प्रज्ञप्तं तीर्थङ्करादिभिः। तद्यथा-सर्वान् धर्मान् निर्जराहेतून् श्रुतभेदान् सूत्रार्थोभयविषयान् अपूर्वग्रहणविस्मृतसन्धानपूर्वाधीतपरावर्त्तनरूपान् चारित्रभेदांश्च क्षपणवैयावृत्त्यरूपान् रोचयामि रुचिविषयीकरोमि चिकीर्षामि। ते चामुत्र परगणे सम्पद्यन्ते, नेह स्वगणे,बहुश्रुतादिसामग्र्यभावात्। अतस्तदर्थं स्वगणादपक्रमामि भदन्त ! इत्येवं गुरुपृच्छाद्वारेणैकं गणापक्रमणमुक्तम्। अथ सर्वधर्मान् रोचयामीत्युक्ते कथं पृच्छार्थोऽवगम्यत इत्युच्यते-"इच्छामि णं भंते ! एगल्लविहारपडिमं" इत्यादि पृच्छावचनसाधर्म्यादिति। रुचिस्तु करणेच्छार्थता "पत्तियामि रोएमि" इत्यत्र व्याख्यातैवेति। क्वचित्तु "सव्वधम्म जाणामि एवमेगे अवक्कमे" इत्येवं पाठः, तत्र ज्ञानी अहमिति किं गणेनेति मदादपक्रामति। तथा (एगइय त्ति) एककान् काँश्चन श्रुतधर्मान् चारित्रधर्मान् वा रोचयामि चिकीर्षामि, एककाँश्च श्रुतधर्मान् चारित्रधर्मान् वा नो रोचयामि न चिकीर्षामि, इत्यनभिप्रेतधर्माणां स्वगणे करणसामर्थ्याभावादपक्रमामि भदन्त ! इति द्वितीयम् २। तथा सर्वधर्मानुक्तलक्षणान् विचिकित्सामि संशयविषयीकरोमि,इत्यतः संशयापनोदार्थं स्वगणादपक्रमामीति तृतीयम् ३। एवमेककान्विचिकित्सामि,एककान् नो विचिकित्सामीति चतुर्थम् ४। तथा(जुहुणामि त्ति)जुहोमि अन्येभ्यो ददामि, न च स्वगणे पात्रमस्त्यतोऽपक्रमामीति पञ्चमम् ५। एवं षष्ठमपि ६। 'तथा इच्छामि णं भदन्त' धर्माचार्यं एकाकिनो गच्छनिर्गतत्याज्जिनकल्पिकादितया यो विहारो विचरणं तस्य या प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञा,सा एकाकिविहारप्रतिमा,तामुपसम्पद्याङ्गीकृत्य विहर्तुमिति सप्तममिति ७। अथवा सर्वधर्मान् रोचयामि श्रद्दधेऽहमिति तेषां स्थिरीकरणार्थमुपक्रमामि, तथा एककान् रोचयामि श्रद्दधे,एककांश्च नो रोचयामीत्यश्रद्धितानां अद्धानार्थमपक्रमामीत्यनेन पदद्वयेन सर्वविषयाय, देशविषयाय च सम्यग्दर्शनाय गणापक्रमणमुक्तम्। एवं सर्वदेशविषयसंशयनिनोदसूचकेन "सव्वधम्मा वितिगिच्छामि" इत्यादिपदद्वयेन ज्ञानार्थमपक्रमणमुक्तम्। तथा सर्वधर्मान् जुहोमीति जुहोतेरदनार्थत्वाद्धत्तणार्थस्य च सेवावृत्तिदर्शनादाचराम्यनुतिष्ठामीति यावत्,तथा एककान् नो सेवामीति सर्वेषामासेव्यमानानां विशेषार्थमनासेवितानां च क्षपणवैयावृत्त्यादीनां चारित्रधर्माणामासेवार्थमपक्रमामीत्यनेन पदद्वयेन तथैव चारित्रार्थमपक्रमणमुक्तमिति। उक्तञ्च-"नाणट्ठ दंसणट्ठा, चरणट्ठा एवमाइसंकमणं। संभोगट्ठा व पुणो, आयरियट्ठा व णायव्व" ॥१॥ इति। तत्र ज्ञानार्थं "सुत्तस्स य, अत्थस्स व उभयस्स व कारणा उ संकमणं। वीसज्जियस्स गमणं, भीओ य नियत्तए कोए" ॥१॥ त्ति। दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं यथा "चरित्तट्ठ देसे दुविहा"देशे द्विविधा दोषा इत्यर्थः। "एसणदोसा य इत्थिदोसा य" ततो गणापक्रमणं भवति "गच्छम्मि य सीयते, आयसमुत्थेहिं दोसेहिं"॥१॥ ति। संभोगार्थं नाम यत्रोपसम्पन्नस्ततोऽपि विसंभोगकारणे सदलक्षणे सत्यपक्रामतीति आचार्यार्थे नामाचार्यस्य महाकल्पश्रुतादि श्रुतं नास्त्यतस्तदध्यापनाय शिष्यस्य गणान्तरसंक्रमो भवतीति। इह च स्वगुरुं पृष्ट्वैव विसर्जितेनाऽपक्रमितव्यमिति सर्वत्र पृच्छार्थो व्याख्येयः। उक्तकारणवशात्तु पक्षादिकालात्परतोऽविसर्जितोऽपि गच्छादिति निष्कारणगणापक्रमणं त्वविधेय,यतः "आयरियाईए भया, पच्छित्तं भया न सेवइ अकिच्चं। वेयावच्चऽज्झयणे,सुसज्जए तदुभए गणं" ॥१॥ सूत्रार्थोपयोगेनेत्यर्थः। तथा "एगो इत्थीगम्मो, तेणादिभया य अद्वियगारे" (गृहस्थात्) "काहादी व उदिण्णे, परिनिव्वावति से अणे त्ति" ॥ १ ॥ स्था० ७ ठा०।

पंचहिं ठाणेहिं आयरियउवज्झायस्स गणावक्कमणे पण्णत्ते। तं जहा-आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि अहारायणियाए किइकम्मं वेणइयं नो सम्मं पउंजित्ता भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि जे सुयपज्जवजाए धारिंति ते काले णो सम्ममणुपवादेत्ता भवइ। आयरियउवज्झाए गणंसि सगणियाए वा परगणियाए वा निग्गंथीए वहिल्लेसे भवइ; मित्ते णाइगणे वा से गणाओ अवक्कमेज्जा तेसिं संगहोवग्गहट्ठयाए गणावक्कमणे पण्णत्ते ॥

आचार्योपाध्यायस्य आचार्योपाध्याययोर्वा गणाद् गच्छाद् अपक्रमणं विनिर्गमो गणापक्रमणम्। आचार्योपाध्यायो गणे गच्छविषये आज्ञां वा योगेषु प्रवर्त्तनलक्षणां धारणां वा निषेधेषु निवर्त्तनलक्षणां नो नैव सम्यग्यथौचित्यं प्रयोक्ता तयोः प्रवर्त्तनशीलो भवति। इदमुक्तं भवति-दुर्विनीतत्वाद्गणस्य तं प्रयोक्तुमशक्नुवन् गणादपक्रामति कालिकाचार्यवदित्येकम्। तथा गणविषये यथारत्नाधिकतया यथाज्येष्ठं कृतिकर्म, तथा वैनयिकं विनयं नो नैव सम्यक् प्रयोक्ता भवत्याऽचार्यसम्पदा, साभिमानत्वात्। यतः आचार्येणापि प्रतिक्रमणक्षामणादिषूचितानामुचितविनयः कर्त्तव्य एवेति द्वितीयम्। तथा असौ यानि श्रुतपर्यवजातानि यान् श्रुतपर्यायप्रकारान् उद्देशकाध्ययनादीन् धारयति, हृद्यविस्मरणतस्तानि काले यथावसरं नो सम्यगनुप्रवाचयिता तेषां पाठयिता भवति। 'गणे त्ति' इह सप्तम्ये,तेन गणे गणविषये,गणमित्यर्थः। तस्या-

विनीततयाऽस्यस्य वा सुखत्वप्रमत्तत्वाद् मन्दप्रमत्त्वाद्वेति गणादपक्रामतीति तृतीयम्। तथाऽसौ गणे वर्तमान (सगणियाए त्ति) स्वगणसंबन्धिन्यां (परगणियाए त्ति) परगणसत्कायां निर्ग्रन्थ्यां तथाविधाशुभकर्मवशवर्त्तितया सकलकल्याणाश्रयसंयमसौधमध्याद् बहिर्लेश्यान्तःकरण यस्यासौ बहिर्लेश्य आसक्तो भवतीत्यर्थः। एव गणादपक्रामतीति न चेदमधिकगुणत्वेनास्याऽसम्भाव्यम्। यत पठ्यते-" कम्माइ णूणिघणचिक्कणाइ गरुयाइ वज्जसाराइ । नाणड्ढिय पि पुरिस, पथाओ उप्पह नेंति " ॥ १ ॥ इति चतुर्थम्। तथा मित्रज्ञातिगणो वा सुहृत् स्वजनवर्गो वा (से) तस्याचार्यादे कुतोऽपि कारणाद्गणादपक्रामेदतस्तेषां सुहृत्स्वजनानां सग्रहाद्यर्थं गणादपक्रमण प्रज्ञप्तम्। तत्र सग्रहस्तेषां स्वीकारे उपग्रहो वस्त्रादिभिरुपष्टम्भ इति पञ्चमम्। स्था० ५ ठा० २ उ०। (गणादपक्रम्य किञ्चिदकृत्य कृत्वा पुन स्वगणमुपसम्पद्येत तत्र विधि 'उवसपया' शब्दे द्वि० भागे १००८ पृष्ठे द्रष्टव्य)

गणावच्छेइय-गणावच्छेदक-त्रि०। गणस्यावच्छेदो विभागोंऽशोऽस्यास्तीति। स्था० ३ ठा० ४ उ०। गणकार्यचिन्तके, आचा० २ श्रु०१ अ०१० उ०। यो हि न गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्त विहरति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अधुना गीतार्थस्य स्वरूपमाह-

उद्धावणा पहावण-खेत्तोवहिमग्गणासु अविसादी ।
सुत्तत्थतदुभयविऊ, गीयत्थाए वि साहु ति ॥

उत्प्राबल्येन धावनमुद्धावन, प्राकृतत्वाच्च स्त्रीत्वनिर्देश, किमुक्त भवति?-तथाविधे गच्छप्रयोजने समुत्पन्ने आचार्येण सदिष्टोऽसदिष्टो वा आचार्य विज्ञप्य यथैतत्कार्यमह करिष्यामीति। तस्य कार्यस्यात्मानुग्रहबुद्ध्या करण उद्धावनम्, शीघ्र तस्य कार्यस्य निष्पादन प्रधावनम्, क्षेत्रमार्गणा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणा,उपधिरुत्पादनम्, एतासु येऽविषादिनो विषाद न गच्छन्ति,तथा सूत्रार्थतदुभयविद, अन्यथा हेयोपादेयपरिज्ञानायोगात्, ते एतादृशा एवविधा गीतार्थाः, गणावच्छेदिन इत्यर्थः। व्य० १ उ०। आव०। ध०।

अथ गणावच्छेदकयोग्यगुणानाह—

प्रभावनोद्भावनयोः, क्षेत्रोपध्येषणासु च ।
अविषादी गणावच्छे-दकः सूत्रार्थविन्मतः ॥ ७४ ॥

प्रभावना जिनशासनस्योत्सर्पणाकरणम्, उद्भावना उत्प्राबल्येन धावना, गच्छोपग्रहार्थं दूरक्षेत्रादौ गमनामित्यर्थ। तयोश्च पुन. क्षेत्र ग्रामादियोग्यस्थानम्, उपधि कल्पादि, तयोरेषणा मार्गणा, गवेषणेति यावत्। आसु अविषादी खेदरहित। तथा सूत्रार्थवित् उचितसूत्रार्थज्ञाता, ईदृशो गणावच्छेदकस्तत्सज्ञो मतः प्रज्ञप्तो जिनैरिति शेष, न पुनर्गुणरहित इति भाव। ध० ३ अधि० (कियत्पर्यायस्य गणावच्छेदकत्व कल्पत इति 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३३१ पृष्ठ उक्तम्)

गणावच्छेदय-गणावच्छेदक-पुं०। 'गणावच्छेइय' शब्दार्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

गणि-गणिन्-त्रि०। गण साधुसमुदायो यस्यास्ति स्वस्वामिसम्बन्धेनासौ गणी। स्था० ३ ठा० ३ उ०। च० प्र०। गण साधुसमुदायो भूयानतिशयवान् वा गणानां साधूनां वा यस्यास्ति स गणी। स्था०८ ठा०। गुणगणो वाऽस्यास्तीति। न०। प्रव०। आचा०। गणाचार्ये, उत्त० ३ अ०। अनु०। स०। गच्छाधिपतौ, व्य० १ उ०। आचा०। सूत्र०। अस्य पार्श्वे आचार्या सूत्राद्यमभ्यस्यन्ति। कल्प० ६ क्षण।

एकं पि जो दुहत्त, सत्तं पमिवोहिउं ठवे मग्गे।
ससुरासुरम्मि वि जगे, तेण इहं घोसियं अमाघोसं ॥
हूए अत्थि भविस्सं, ति केइ जगवंदणीयकमजुयले।
जेसिं परिहियकरणे-क्कवद्धलक्खाणवोलिहीकालं॥
हूएँ अणागएँ काले, ण केइ इह होंति गोयमा ! सूरी।
णामग्गहणेण वि जे-सिं होज्ज नियमेण पच्छित्तं ॥
एयं गच्छववत्थं, दुप्पसहाणंतरं तु जो खंमे।
तं गोयम ! जाण गणिं, निच्छयओऽणंतसंसारी ॥
जसयलजीवजगमं-गलेक्ककल्लाणपरमकल्लाणं।
सिद्धिपए वोच्छिन्ने, पच्छित्तं होइ तं गणिणो ॥
तम्हा गणिणं समस-त्तुमित्तपक्खेण परहियरएण।
कल्लाणकंखुणा अ-प्पणो वि आणा ण लंघेया॥
एव मेरा ण लंघेयव्व त्ति ॥
एयं गच्छववत्थं लंघित्तु नगारवेहि पमिवद्धे।
संखाईए गणिणो, अज्ज वि बोहिं न पावंति ॥
ण लभंति हि य अन्ने, अणंतहुत्तो वि परिजमंतित्तयं।
चउगइभवसंसारे, चेट्ठिज्ज चिरं सुदुक्खत्ते ॥ महा० ५ अ०।

"सुत्तत्थे निम्माओ, पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो।
जाईकुलसपन्नो, गंभीरो लद्धिमंतो य ॥ १ ॥
सगहुवग्गहनिरओ, कयकरणो पवयणाणुरागी य।
एवविहो य भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं " ॥ २ ॥
स्था० ६ ठा०।

गणी आवश्यके प्रमाद्येत तदा प्रायश्चित्तम्-

से भयवं जे णं गणी किंचि आवस्सगं पमाएज्जा ?। गोयमा ! जे णं गणी अकारणिगे किंचि खणमेगमवि पमाए, से णं आवस्सगं उवइसेज्जा जओ णं तु सुमहाकारणिगे वि सते गणी खणमेगमवी ण किंचि णिययावस्सगं पमाए से णं वदे पूए दट्ठव्वे जाव णं सिद्धे बुद्धे पारगए खीणट्ठकम्ममले नीरए उवइसेज्जा; सेसं तु महयाए वधेणं मत्थाणे चेव जाणिहिइ। एव पच्छित्ते विहिं सो उ णाणुट्ठती अदीणमणो ज जह य जहायामं जे से आराहगे भणिए ॥ महा० ७ अ०। गणावच्छेदके, व्य० ४ उ०।

गणिगुणसलद्धिय-गणिगुणस्वलब्धिक-पुं०। गणिनो गुणा यस्य स्वा च स्वकीया च लब्धिर्यस्य स गणिगुणस्वलब्धिक । प्रव्राजितुमुपग्रहीतु च शक्ते, पञ्चा० १८ विव०।

गणिड्ढि-गणर्द्धि-स्त्री०। ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसम्पदि, स्था०।

गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता। त जहा-णाणिड्ढी दंसणिड्ढी चरित्तिड्ढी। अहवा गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता। त जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया॥

ज्ञानर्द्धिर्विशिष्टश्रुतसम्पद्, दर्शनार्द्धिः प्रवचने निश्शङ्कितादित्वं, प्रवचनप्रभावकशास्त्रसम्पद्वा। चारित्रर्द्धिर्निरतिचारता-सचित्ता शिष्यादिका, अचित्ता वस्त्रादिका, मिश्रा तथैवेति। इह च विकुर्वणादिकर्द्धयोऽन्येषामपि भवन्ति, केवलं देवादीनां विशेषवत्यस्ता इति तेषामेवोक्ता इति। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

गणिणी-गणिनी-स्त्री०। प्रवर्त्तिन्याम, व्य० ७ उ०।

गणिपिडग-गणिपिटक-न०। गणो गच्छो गुणगणो वाऽस्याऽस्तीति गणी आचार्यः, तस्य पिटकमिव पिटकम्, सर्वस्वमित्यर्थः, गणिपिटकम्। अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनोऽस्ति। तथा चोक्तम्-"आयारम्मि अहीए, जं नाओ होइ समणधम्मो उ। तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढमं गणट्ठाणं" ॥ १ ॥ ततश्च गणिनां पिटकं गणिपिटकं, परिच्छेदसमूह इत्यर्थः। नं०। स०। स्था०।

गणिपिटकभेदाः-

कइविहे णं भंते! गणिपिडए णं पण्णत्ते?। गोयमा! दुवालसंगे गणिपिडए पण्णत्ते। तं जहा-आयारो० जाव दिट्ठिवाओ। से किं तं आयारो?। आयारे णं समणाणं णिग्गंथाणं आयारगोयरा। एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा णंदीए जाव "सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ। तइओ य णिरवसेसो, एसविहो होइ अणुओगो" ॥ १ ॥

(एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा नंदीए त्ति) एवमिति पूर्वप्रदर्शितप्रकारवता सूत्रेणाऽऽचाराद्यङ्गप्ररूपणा भणितव्या, यथा नन्द्याम्, सा च तत एवावधार्या। अथ कियद्दूरमियमङ्गप्ररूपणा नन्द्युक्ता वक्तव्येत्याह-(जाव सुत्तत्थो गाहा) सूत्रार्थमात्रप्रतिपादनपरः सूत्रार्थोऽनुयोग इति गम्यते, खलुशब्दस्त्वेवकारार्थः, स चावधारण इति। एतदुक्तं भवति-गुरुणा सूत्रार्थमात्राभिधानलक्षणः प्रथमोऽनुयोगः कार्यः। मा भूत् प्राथमिकविनेयानामतिमोह इति द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रः कार्य इत्येवंभूतो भणितो जिनादिभिः। तृतीयश्च तृतीयः पुनरनुयोगो निरवशेषो, निरवशेषस्य प्रसक्तानुप्रसक्तस्यार्थस्य कथनात्। एषोऽनन्तरोक्तः प्रकारत्रयलक्षणो भवति, इयाद्विधिर्विधानमनुयोगे सूत्रस्यार्थेनानुरूपतया योजनलक्षणे विषयभूते इति गाथार्थः। भ० २५ श०३ उ०। उत्त०। सूत्र०। गणिनामर्थपरिच्छेदानां पिटकमेव पिटकं स्थानं गणिपिटकम्, अथवा पिटकमिव वा लञ्जुकवाणिजकसर्वस्वाधारभाजनविशेष इव यत्तत्पिटकं गणिपिटकम्। औ०। कल्प०। अनु०। गणिनः सर्वार्थसारभूते प्रवचने, पा०। पिटकमिव पिटकं गणिपिटकं रत्नसर्वस्वाधारकल्पं भवति। स० १ सम०।

गणिपिडगधारग-गणिपिटकधारक-त्रि०। समस्तद्वादशाङ्गीधारके, कल्प० ८ क्षण।

गणिभद्द-गणिभद्र-पुं०। आर्यसंभूतेः षष्ठे शिष्ये, कल्प० ८ क्षण।

गणिम-गणिम-न०। नालिकेरपूगीफलादिके, यद्गणितं सद्व्यवहारे प्रविशति। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। स्था०। आ० चू०। "गणिमं ज दुगाइयाए गणणाए गणिज्जति" तच्च हरीतक्यादि। नि० चू० १ उ०।

से किं तं गणिमे?। गणिमे जण्णं गणिज्जइ। तं जहा-एगो दस सयं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडी, एएणं गणिमप्पमाणेणं किं पओअणं, एएणं गणिमप्पमाणेणं भितगभितिभत्तवेअणआयव्वयसंसिआणं दव्वाणं गणियप्पमाण निव्वित्तिलक्खणं भवइ। सेत्तं गणिमे ॥

"से किं तं गणिमे" इत्यादि। गण्यते संख्यायते वस्त्वनेनेति गणिमम्, एकादि। अथवा गण्यते संख्यायते यत्तद्गणिमम्, रूपकादि। तत्र कर्मसाधनपक्षमङ्गीकृत्याह-(जण्णमित्यादि) गण्यते यत्तद्गणिमम्। कथं गण्यते?, इत्याह-(एगो इत्यादि) एतेन गणिमप्रमाणेन किं प्रयोजनमित्यादि गतार्थमेव। नवरं भृतकः कर्मकरो, भृतिः पदात्यादीनां वृत्तिः, भक्तं भोजनं, वेतनकं कुविन्दादिना व्यूतवस्त्रव्यतिकरेऽर्थप्रदानम्। एतेषु विषये आयव्ययसंश्रितानां प्रतिबद्धानां रूपकादिद्रव्याणां गणिमप्रमाणेन निर्वृत्तिलक्षणमियत्ताऽवगमरूपं भवति तदेतद्गणिममिति। अनु०। उत्त०। गणिमं यदेकादिसंख्यया परिच्छिद्यते, तच्च ऋषभे राज्यमनुशासति प्रवृत्तम्। आ० म० प्र०।

गणिय-गणिक-त्रि०। गणितज्ञे, रा०। "गणिअं जाणइ गणिओ" अनु०।

गणित-न०। गण्यते इति गणितम्। ओघ०। कीटिकासंकलनादिके, स्था० १० ठा०। भण्यते च वज्रान्त गणितमिति। न०। सङ्ख्याने, स्था० ६ ठा०। न०। कल्प०। विशे०। ज्ञा०। संकलिताद्यनेकभेदे पाटीप्रसिद्धे सङ्ख्याने, जं० २ वक्ष०। कलाभेदे, स० ७२ सम०। एकद्वित्र्यादिसंख्याने, तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते। आ० म० प्र०। आ० चू०। बीजगणितादौ, आचा० २ चू०।

दशप्रकारं तु गणितमिदम्-

परिकम्मुरज्जुरासी, ववहारे तह कलासवण्णे य।
पुग्गलजावंतावे, घणे य घणवग्गवग्गे य।

एषां संस्थानानां मध्ये समचतुरस्रं संस्थानं प्रवरत्वात् पौण्डरीकमित्येवमेते द्वे अपि पौण्डरीके, शेषाणि तु परिकर्मादीनि गणितानि, न्यग्रोधपरिमण्डलादीनि च संस्थानानि, इतराणि कण्डरीकान्यप्रवराणि भवन्तीति यावत्। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। यथा पञ्च महार्णवा इति संख्याने, स्था० ५ ठा० ३ उ०। नि० चू०। वेसवाडियगणस्य प्रथमे कुले, कल्प० ८ क्षण।

गणियपकिरिया-गणितप्रक्रिया-स्त्री०। गणितपरिज्ञानोपाये, सूत्र०। तद्यथा-"एकाद्या गच्छपर्यन्ताः, परस्परसमाहताः। राशयस्तद्धि विज्ञेयं, विकल्पगणिते फलम्" ॥ १ ॥ प्रस्तारानयनोपायस्त्वयम्-तत्र "गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत्। आदावन्ते च तत् स्थाप्य, विकल्पगणिते क्रमात्" ॥ १ ॥ अथ श्लोकः शिष्यहितार्थं विव्रियते-तत्र सुखावगमार्थं षट् पदानि समाश्रित्य तावत् श्लोकार्थो योज्यते। तत्रैव षट् पदानि स्थाप्यानि-१२३४५६

१२३४५६	२१३४५६	१३२४५६	३१२४५६	२३१४५६	३२१४५६	१२४३५६

एतेषु परस्परताडनेन सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि गणितमुच्यते, तस्मिन् गणितेऽन्त्योऽत्र षट्कः, तेन भागे हृते विंशत्युत्तर शतं लभ्यते, तच्च षण्णां पङ्क्तीनामन्त्यपङ्क्तौ षट्कानां न्यस्यते, तदधः पञ्चकानां विंशत्युत्तरमेव शतम । एवमधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैकानां प्रत्येक विंशत्युत्तरशतं न्यस्यमेवमन्त्यपङ्क्तौ सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियाया आदिरुच्यते, तथा यत्तद्विंशत्युत्तर शत लब्धं तस्य च पुनः शेषेण पञ्चकेन भागेनापहृते लब्धा चतुर्विंशतिस्तावन्तस्तावन्तश्च पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैका प्रत्येक पञ्चमपङ्क्तौ न्यस्या यावद्विंशत्युत्तर शतमिति । तदधोऽग्रतो न्यस्तमङ्क मुक्त्वा येऽन्ये तेषां यो यो महत्सङ्ख्यः स सोऽधस्ताच्चतुर्विंशतिसङ्ख्य एव तावद् न्यस्यो यावत्सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि पञ्चमपङ्क्तावपि पूर्णानि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियेत्याभिधीयते । एवमनया प्रक्रियया चतुर्विंशते शेषचतुष्ककेण भागे हृते षट् लभ्यन्ते, तावन्तश्चतु.पङ्क्तौ चतुष्कका. स्थाप्याः, तदध. षट् त्रिकाः पुनर्द्विका., भूय एकका., पुन. पूर्वन्यायेन पङ्क्ति पूरणीया, पुन. षट्कस्य शेषत्रिकेण भागे हृते द्वौ लभ्येते, तावन्मात्रौ त्रिकौ तृतीयपङ्क्तौ शेष पूर्ववत । शेषपङ्क्तिद्वये शेषमङ्कद्वय क्रमोत्क्रमाभ्यां व्यवस्थाप्यमिति ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गणियलिवि–गणितलिपि–स्त्री० । ब्राह्म्या लिपेर्विधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

गणियसुहुम–गणितसूक्ष्म–न० । गणित कोटिकासङ्कलनादि, तदेव सूक्ष्म सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वात । सूक्ष्मभेदे, स्था० १० ठा० ।

गणिया–गणिका–स्त्री० । विलासिन्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० ।

अहीण० जाव सुरूवा बावत्तरिकलापंडिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया एकूणतीसे वि सेसे रममाणी एकवीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारसदेसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसा गीयरइगंधव्वणट्टकुसला संगयगयभणियविहियविलाससललियसलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणा जहणवयणकरचरणलावण्णविलासकलिया ऊसियझया सहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरवालवीयणिकया कण्णीरहप्पयाया होत्था बहूण गणियासहस्साणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणी पालेमाणी विहरइ ॥

(अहीण त्ति) अहीना पूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरेत्यर्थ. । यावत्करणात्–" लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी"इत्यादि दृष्टव्यम । तत्र लक्षणानि स्वस्तिकलक्षणादीनि, व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि, गुणा सौभाग्यादय , मान जलद्रोणमानता, उन्मानमर्धभारप्रमाणता, प्रमाणताऽष्टोत्तरशताङ्गुलोच्छ्रयतेति (बावत्तरिकलापंडिय त्ति), लेखाद्याः शकुनरुतपर्यन्ता गणितप्रधाना. कला प्राय पुरुषाणामेवाभ्यासयोग्या., स्त्रीणां तु विज्ञेया एव प्राय इति । (चउसट्ठिगणियागुणोववेया) गीतनृत्यादीनि विशेषत. पण्यस्त्रीजनोचितानि चतु षष्टिविज्ञानानि ते गणिकागुणा. । अथवा वात्स्यायनोक्तानि आलिङ्गनादीन्यष्टौ वस्तूनि, तानि च प्रत्येकमष्टभेदत्वाच्चतुःषष्टिर्भवन्तीति । चतु.षष्ट्या गणिकागुणैरुपेता या सा, तथा एकोनत्रिंशद्विशेषा एकविंशती रतिगुणा., द्वात्रिंशच्च पुरुषोपचारा. कामशास्त्रप्रसिद्धा । (नवगसुत्तपडिबोहिय त्ति) द्वे श्रोत्रे, द्वे चक्षुषी, द्वे घ्राणे, एका जिह्वा, एका त्वक्, एक च मन इत्येतानि नवाङ्गानि सुप्तानि इव सुप्तानि यौवनेन प्रतिबोधितानि स्वार्थग्रहणपटुतां प्रापितानि यस्या. सा तथा "अट्ठारसदेसीभासाविसारय त्ति" रूढिगम्यम् । (सिंगारागारचारुवेस त्ति) शृङ्गारस्य रसविशेषस्यागारमिव चारुवेषो यस्याः सा तथा (गीयरइगंधव्वनट्टकुसल त्ति) गीतरतिश्चासौ गन्धर्वनाट्यकुशला चेति समासः । गन्धर्वं नृत्तयुक्तगीत, नाट्य तु नृत्तमेवेति (संगयगयभणियविहियविलाससललियसलावनिउणजुत्तोवयारकुसल त्ति) दृश्यम, सङ्गतानि गतादीनि यस्याः सा तथा, सललिता. सुप्रसन्नतोपेता ये सलापास्तेषु निपुणा या सा तथा, युक्ता. सङ्गता ये उपचारा व्यवहारास्तेषु कुशला या सा तथा, तत. पदत्रयस्य कर्मधारय. । (सुंदरथण त्ति) एतेनेद दृश्यम्–"सुंदरथणजघणवयणकरचरणणयणलावण्णविलासकलिय त्ति " व्यक्तम, नवरं जघन पूर्वं कटीभागस्य, लावण्यमाकारस्य स्पृहणीयता, विलास. स्त्रीणां चेष्टाविशेष. (ऊसियज्झय त्ति) ऊर्ध्वीकृतजयपताका "सहस्सलाभे त्ति" व्यक्तम् (विदिन्नछत्तचामरवालवीयणिय त्ति) वितीर्णं राज्ञा प्रसादतो दत्त छत्रचामररूपा वालव्यजनिका यस्यै सा तथा, (कण्णीरहप्पयाया वि होत्थ त्ति) कर्णीरथ प्रवहण तेन प्रयात गमन यस्या. सा तथा, वाऽपीति समुच्चये (होत्थ त्ति) अभवदिति । (आहेवच्च त्ति) आधिपत्य आधिपतिकर्म्म । इह यावत्करणादिद दृश्यम्–(पोरेवच्च) पुरोवर्त्तित्वम्, अग्रेसरत्वमित्यर्थ. । (भट्टित्त) भर्तृत्व, पोषकत्व, (सामित्त) स्वस्वामिसबन्धमात्रम्, (महत्तरगत्त) शेषवेश्याजनापेक्षया महत्तरत्वम, (आणाईसरसेणावच्च) आज्ञेश्वर आज्ञाप्रधानो य. सेनापति. सैन्यनायकस्तस्य भाव. कर्म्म वा आज्ञेश्वरसेनापत्यमिव आज्ञेश्वरसेनापत्यम, (कारेमाणी) कारयन्ती परै., (पालेमाणी) पालयन्ती स्वयमिति । विपा० २ अ० । "गणियायारकरेणुकोत्थहत्थीण" (गणियायार त्ति) गणिकाकाराः सकामाया करेणवस्तासां (कोत्थ त्ति) उदरदेशस्तत्र हस्तो यस्य कामक्रीडापरायणत्वात्स तथा, इह चेत्समासान्तो दृष्टव्य. । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गणियागुण–गणिकागुण–पुं० । आलिङ्गनादिके विलासिनीगुणे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

गणियाणुओग–गणितानुयोग–पुं० । सूर्यप्रज्ञप्त्यादौ अनुयोगभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गणियावर–गणिकावर–न० । विलासिनीप्रधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उ० । विपा० । "गणियावरनाडइज्जकलिय" गणिकावरैर्वेश्याप्रधानैर्नाटकीयैर्नाटकसम्बन्धिभिर्नाभिर्मात्रै. कलिता या सा तथा ताम । भ० ११ श० ११ उ० ।

गणिविज्जा–गणिविद्या–स्त्री० । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० । सबालवृद्धो गच्छो गण., सोऽस्यास्तीति गणी आचार्य., तस्य

विद्या ज्ञानं गणिविद्या, सा चेह ज्योतिष्कनिमित्तादिपरिज्ञानरूपा वेदितव्या, ज्योतिष्कनिमित्तादिकं हि सम्यक् परिज्ञाय प्रव्राजनसामायिकारोपणोपस्थापनश्रुतोद्देशानुज्ञागणारोपणदिशानुज्ञाविहारक्रमादिषु प्रयोजनेषूपस्थितेषु प्रशस्ते तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रयोगे यद्यत्र कर्त्तव्यं भवति तत्तत्र सूरिणा कर्त्तव्यं, तथा चेन्न करोति तर्हि महान् दोषः । उक्तं च-" जोइसनिमित्तनाणं, गणिणो पव्वावणाइकज्जेसु । उवजुज्जइ तिहिकरणा-इ जाणणऽन्नहा दोसो" ॥१॥ ततो यानि सामायिकादीनि प्रयोजनानि यत्र तिथिकरणादौ कर्त्तव्यानि भवन्ति तानि तत्र यस्यां ग्रन्थपद्धतौ व्यावर्ण्यन्ते सा गणिविद्या । नं० । पा० ।

गणिव्वय-गणिव्रक-पुं० । स्वनामख्याते कस्यचिद् धर्मभ्रातरि, " सीसो सज्झिल्लओ वा, गणिव्वओ वा न सायइ " (७०१ गाथा) प० व० ३ द्वार ।

गणिसंपया-गणिसम्पद्-स्त्री० । गणानां साधूनां वा गणसमुदायो भूयानतिशयवान् वा यस्यास्तीति गणी आचार्य्यस्तस्य सम्पत् समृद्धिर्भावरूपा गणिसंपत् । प्रव० ६४ द्वार । आचारश्रुतशरीरवचनादिकायामाचार्य्यगुणर्द्धौ, स्था० ।

अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता । तं जहा-आयारसंपया सुयसंपया सरीरसंपया वयणसंपया वायणासंपया मइसंपया पयोगसंपया संगहपरिण्णा णाम अट्ठमा ॥

गण. समुदायो भूयानतिशयवान् वा गणानां साधूनां वा यस्यास्ति स गणी आचार्यस्तस्य सम्पत् समृद्धिर्भावरूपी गणिसम्पत्, तत्राचरणमाचारोऽनुष्ठान स एव संपद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत् सम्पत्ति प्राप्तिराचारसम्पत् । सा च चतुर्द्धा, संयमध्रुवयोगयुक्तता चरणे नित्य समाध्युपयुक्ततेत्यर्थः । असम्प्रग्रह आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपग्रहवर्जनमिति भाव. २ । अनियतवृत्तिरनियतविहार इत्यर्थ. ३ । वृद्धशीलता वपुर्मनसोर्निर्विकारतेति यावत् ४ । एव श्रुतसम्पत्, साऽपि चतुर्द्धा । तद्यथा-बहुश्रुतता युगप्रधानागमतेत्यर्थः १ परिचितसूत्रता २, विचित्रसूत्रता स्वसमयादिभेदात् ३, घोषविशुद्धिकरता च उदात्तादिविज्ञानादिति । शरीरसम्पच्चतुर्द्धा, आरोहपरिणाहयुक्तता उचितदैर्ध्यविस्तारता इत्यर्थ , अनवत्राप्यता, अलज्जनीयाङ्गतेत्यर्थः २, परिपूर्णेन्द्रियता ३, स्थिरसंहननता चेति ४, वचनसम्पच्चतुर्द्धा । तद्यथा-आदेयवचनता १, मधुरवचनता २, अनिश्रितवचनता, मध्यस्थवचनतेत्यर्थ ३, असंदिग्धवचनता चेति ४ । वाचनासंपच्चतुर्द्धा । तद्यथा-विदित्वोद्देशन विदित्वा समुद्देशन पारिणामिकादिकं शिष्यं ज्ञात्वेत्यर्थ. २, परिनिर्वाप्य वाचना पूर्वदत्तालापकानाधिगमय्य शिष्यं पुन' सूत्रदानामित्यर्थ. ३, अर्थनिर्यापणा-अर्थस्य पूर्वापरसाङ्गत्येन गमनिकेत्यर्थ ४ । मतिसंपच्चतुर्द्धा-अवग्रहेहापायधारणाभेदादिति ४ । प्रयोगसम्पच्चतुर्द्धा, इह च प्रयोगो वादविषयस्तत्रात्मपरिज्ञान वादादिसामर्थ्यविषये पुरुषपरिज्ञानं, किंनयोऽय वाद्यादि २, क्षेत्रपरिज्ञान ३, वस्तुपरिज्ञानम्, वस्त्विह वादकाले राजामात्यादि ४ । संग्रहः स्वीकरण, तत्र परिज्ञा ज्ञान नामाभिधानमष्टमी सम्पत् । सा च चतुर्विधा । तद्यथा-बालादियोग्यक्षेत्रविषया १, पीठफलकादिविषया २, यथासमय स्वाध्यायभिक्षादिविषया ३, यथोचितविनयविषया चेति ४ । स्था० ८ ठा० । प्रश्न० । दर्श० । ध० र० ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविधा गणिसंपदा पण्णत्ता, कयरा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठ गणिसंपदा पण्णत्ता ? । इमा खलु थेरेहिं भगवंतेहि अट्ठविहा गणिसंपदा पण्णत्ता । तं जहा-आयारसंपदा १ सुतसंपदा २ सरीरसंपदा ३ वयणसंपदा ४ वायणासंपदा ५ मतिसंपदा ६ संयोगसंपदा ७ संगहपरिण्णा णामं अट्ठमा । से किं तं आयारसंपदा ? । आयारसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-संजमधुवजोगजुत्ते यावि भवति १ असंगहियप्पा २ अणियतावित्ती ३ वुड्ढसीले यावि भवति ४ । सेत्तं आयारसंपदा । से किं तं सुतसंपदा ?, सुतसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-बहुसुते यावि भवति १, परिचित सुते यावि भवति २ विचित्तसुते यावि भवति ३, घोसविसुद्धिकारए यावि भवति ४ । सेत्तं सुतसंपदा । से किं तं सरीरसंपदा ? । सरीरसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवइ १, अणोतप्पसरीरे २, थिरसंघयणे ३, बहुपडिपुण्णिदिए यावि भवति ४ । सेत्तं सरीरसंपदा । से किं तं वयणसंपदा ? । वयणसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । त जहा-आदिज्जवयणे यावि भवति १, महुरवयणे यावि भवति २, अणिस्सियवयणे यावि भवति ३, फुडवयणे यावि भवइ ४ । सेत्तं वयणसंपदा । से किं तं वायणासंपदा ? । वायणासंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-विइयं उद्दिसति विइयं वाएति परिणिव्वावियं वाएइ अत्थणिज्जवए यावि भवति । सेत्तं वायणासंपदा । से किं तं मतिसंपदा ? । मतिसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-उग्गहमतिसंपदा १, ईहामती० २, अवायमती ३, धारणामती । से किं तं उग्गहमती ? । उग्गहमती छव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-खिप्पं उगिण्हति, बहुं उगिण्हति, बहुविहं उगिण्हति, धुवं उगिण्हति, अणिस्सियं उगिण्हति, असंदिद्धं उगिण्हति । सेत्तं उग्गहमती । एवं ईहामती वि । एवं अवायमती । से किं तं धारणामती ? । धारणामती छव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-बहु धरेति, बहुविधं धरेति, पोराणं धरेति, दुद्धरं धरेति, अणिस्सियं धरेति, असंदिद्धं धरेति । सेत्तं धारणामती । सेत्तं मतिसंपदा । से किं तं पओगसंपदा ? । पओगसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता । त जहा-आतविदाय वायं पउंजित्ता भवति, परिसंविदाय वादं पउंजित्ता भवति । सेत्तं विदाय वादं पउंजित्ता भवति, वत्थुं विदाय वायं पउंजित्ता भवति । सेत्तं पओगमतिसंपदा । से किं त संगहपरिण्णा नाम संपदा ? । संगहपरिण्णा नाम संपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-बहुजणपाउग्गताए वासावासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवति, बहुजणपाउग्गताए पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारयं उगिण्हित्ता भवति, काले णं

कालं समाणइत्ता भवति, अहागुरुसंपूइत्ता भवति । सेत्तं भगहपरिणा ।

"सुयं मे आउसतेणं" इत्यादिव्याख्या प्राग्वत्। अष्टौ विधाः प्रकारा यासां ता अष्टविधाः । (गणिसंपद त्ति) गणोऽस्यास्तीति गणिराचार्यस्तस्य संपद इव संपदो गणिसंपद प्रज्ञप्ता· प्ररूपिता·। तद्यथा-आचारसम्पत् १, श्रुतसंपत् २, शरीरसम्पत् ३, वचनसम्पत् ४, वाचनासम्पत् ५,मतिसम्पत् ६,संयोगसंपत्७, संग्रहपरिज्ञा नाम सम्पत् ८। अत्र च प्रत्येकमष्टौ प्रकारा गणिसंपदो वर्णयिष्यति, तदेवमुपन्यस्ता· प्रकाराः। साम्प्रत तद्गत सूत्र वक्तव्य, तत्र प्रथम संपद्गतमिदमादिसूत्रम्-(से किं त गणिसंपया इति)अथास्य सूत्रस्य क प्रस्ताव·?,उच्यते-प्रश्नसूत्रमिदम्, एतच्चादावुपन्यस्तमिद ज्ञापयति-पृच्छतो मध्यस्थस्य बुद्धिमतोऽर्थिनो भगवदर्हदुपदिष्टतत्त्वप्ररूपणा कार्या,न शेषस्य। तथा चोक्तम्-"मध्यस्थो बुद्धिमान्न्यायी,श्रोता पात्रमिति स्मृत " इति । पात्र योग्योऽधिकारी चोच्यते । सर्वजगज्जन्तुनिवहहितायाऽभ्युत्थिता आचार्यास्तद्गुणविशेषणविशिष्टस्यैवाल्पाऽक्रमसंदिग्ध पारावारस्येवाऽतितरां गूढाशय भवाम्भोध्युत्तारणप्रवरपोतसमानमहार्थरूप श्रीजिनागम संप्रदर्शयन्ति। स एव सम्यग् रक्षति, तद्विपरीतस्तु नाशयति। यत उक्त च-'आमे घडे इत्यादि' ततोऽयोग्यस्यागमार्थो न देयोऽनुपधानादनुष्ठानस्य च । यत उक्त स्थानाङ्गे—" चत्तारि अवायणिज्जा पन्नत्ता । तं जहा-अविणीए,विगइपडिबद्धे,अविओसियपाहुडो,माया"तत्र "विगइपडिबद्धे" इत्यस्यार्थ उपधानकारी इति, न तु उपधानमिति। कोऽर्थ·?। उच्यते-उपधीयते श्रुतमनेनाऽऽचाम्लादितपोविशेषरूपेण च, योगविधिनेति यावत्। उपधीयते तदुपधान, ततश्च य एवंविधानुष्ठानयुक्तो भवति तस्यैवार्थसूत्रभेदाच्छ्रुत देयमिति ज्ञापित भवति, इति कृत प्रसङ्गेन । प्रकृतमनुसरामः-तत्र 'से' शब्दो मगधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तत्रशब्दार्थे, अथशब्दार्थे वा द्रष्टव्य·। स च वाक्योपन्यासार्थ । किमिति परिप्रश्ने (त ति) तावदिति द्रष्टव्यम् । तच्च क्रमोद्द्योतने। तत एष समुदायार्थ -तिष्ठन्तु श्रुतसंपदादीनि प्रष्टव्यानि तावद्, आचारसम्पदानन्तर च तेषामुपन्यस्तत्वात्। तत्रैतावदेव तावत्त पृच्छामि-किमाचारसंपदिति ?। अथवा प्राकृतशैल्या अभिधेयवद् लिङ्गवचनानि योजनीयानीति न्यायादेव द्रष्टव्यम्,तत्र का तावदाचारसंपदिति ?। एव सामान्येन केनचित्प्रश्ने कृते सति भगवान् गुरु· शिष्यवचनानुरोधेनानुवाद्यै किञ्चिच्छिष्योक्त प्रत्युच्चार्य आह-' चउव्विहा पन्नत्ता ' इति। अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रेणैतदाचष्टे, न सर्वमेव सूत्र गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूप किन्तु किञ्चित्तथा, किञ्चिदन्यथापि, बाहुल्येन तु तथारूपम्। यत उक्तम्- 'अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा णिउण। सासणस्स हियट्ठाए, तत्तो सुत्त पवत्तइ " ॥१॥ इत्यादि। तत्राचारसंपच्चतुर्धा प्रज्ञप्ता प्ररूपिता,यदा तीर्थकरा एव निर्वक्तारस्तदा अयमर्थो अवसेयोऽन्यैरपि तीर्थकरैर्यदा पुनरन्य· कश्चिदाचार्यस्तन्मतानुसारी तदा तीर्थकरगणधरैरिति। चातुर्विध्यमेवोपदर्शयति-(त जहा) तद्यथेति वक्ष्यमाणभेदकथनप्रकाशनार्थम्। ननु पूर्वमेव 'कयरा खलु अट्ठविहा गणिसंपदा' इत्यनेन स्पष्टमेवेति किमर्थ पुन· "से किं त " इत्यादिना पृच्छति, पुनरुक्तत्वात् । उच्यते-सामान्यत· संपद्विषयः पूर्वप्रश्न·, द्वितीयस्तु तद्विषयभेदान्तरज्ञापनविषय इति समुच्चयविशेषविवक्षायां न विरोध इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रस्तुतमुपस्तूयते-यः संयमध्रुवयोगयुक्तश्चापि भवति १ असंप्रतिगृहीतात्मा २ अनियतवृत्ति ३ वृद्धशीलश्चापि भवति । तत्राचारो नाम प्रथममङ्ग, तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्मो ज्ञातो भवति, तस्मादाचाराङ्ग यो भणति सूत्रतोऽर्थेन सपयुक्तो भवति य· स आचारसंपत् । (संजमेत्यादि) संयमो नाम चरण, तस्य ये ध्रुवा अवश्य कर्तव्यत्वाद् योगाः प्रतिलेखनास्वाध्यायादय तैर्युक्तो भवति। अथवा संयमः सप्तदशप्रकार· पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिक , तस्मिन् ध्रुवो नित्यो योगो व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्त·। अथवा संयमे ध्रुवो नित्यो योगो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः। चशब्दाद् ज्ञानादिष्वपि नित्योपयोग·। अपिशब्दग्रहणात् असंयमेऽपि योजयति इत्येका १। असंप्रगृहीत· अनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसंप्रगृहीतात्मा, निरभिमान इत्यर्थ । यथा अहमाचार्यो बहुश्रुतस्तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यादिमान् वा इत्यादि मदरहित २। अनियता अनिश्चिता वृत्तिर्व्यवहरण विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिर्यथा ' गामे एगराइं नगरे पचराइ ' इत्यादिका। अथवा निकेत नाम गृह, तत्र वृत्तिर्वर्तन यस्य स निकेतवृत्ति·, न निकेतवृत्तिरनिकेतवृत्ति· । अथवा चतुर्थादितपोविशेषैरेषणासमितियोगेन च निकेतवृत्ति· परिचितगृहेष्वगन्ता इति ३। वृद्धशीलो निभृतशील·, अचञ्चलशील इति यावत्। अर्थग्रहणात् वृद्धेषु ग्लानादिषु सम्यग्वैयावृत्त्यादिकरणकारापणयोरुद्युक्तो भवति,एवंविध·। अथवा वृद्धशीलता नाम द्रु स्थितमनसि च निभृतस्वभावता,निर्विकारतेति यावत् ४। (सेत्तमित्यादि)सैषा आचारसंपत् चतुर्विधा । एवंविधाचारविशिष्टस्य श्रुत भवति, दीयमान च यथोक्त गृह्णाति,सा श्रुतसंपत्। तां विपृच्छिषुरिदमाह-(से किं तमित्यादि) अथ का सा श्रुतसंपत् ?, सूरिराह-श्रुतसंपत् चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-बहुश्रुतश्चापि भवति १, परिचितसूत्र २, विचित्रसूत्र ३, घोषविशुद्धिकारक· ४। तत्र बहुश्रुतो-युगे युगे प्रधान श्रुतेन,एतावता यस्मिन् काले यावानागमो भवति तस्मिन् काले तावन्त संपूर्ण हेत्वर्थयुक्त्यादिभिर्जानाति, युगप्रधानागम इति भाव । चशब्दाद् बहुचारित्र । अपिशब्दाद् बहुपर्याय , स चैव जघन्यत पञ्चवार्षिक , उत्कर्षत एकोनविंशतिवर्षपर्याय·१। परिचितसूत्र -उत्क्रमक्रमवाचनादिभिः स्थिरसूत्रोऽस्खलितागम· २। विचित्र -स्वपरसमयादिपर्यायैर्जानाति, अथवाऽर्थेन विचित्र बह्वर्थविचारणायुक्त जानाति। अथवा उत्सर्गापवादौ सामान्यविशेषैर्वा विचित्र जानाति स विचित्रसूत्र ३। घोषविशुद्धिकारक -घोषा उदात्तादय·, तेषां शुद्धिर्घोषशुद्धि , विशेषेण शुद्धिर्विशुद्धिस्तां करोतीति घोषविशुद्धिकारक । यत स्वय घोषविशुद्धिमान् अन्यानपि तथैव स्वरशुद्धिकार । घोषा उदात्तादय , तेषां शुद्धिर्घोषशुद्धि· ४। (सेत्त) पूर्ववत्। सांप्रत शरीरबलवद् एव श्रुत चतुर्विध भवति, अतः शारीर संपदमेव विपृच्छिषुरिदमाह—(से किं तमित्यादि) प्रश्नसूत्र व्यक्तम्। सूरिराह-शरीरसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-आरोहपरिणाहसंपूर्णश्चापि भवति १, एवमनवत्राप्यशरीर २, स्थिरसंहनन ३, बहुप्रतिपूर्णेन्द्रिय ४। इह च आरोहो दैर्घ्य, परिणाहो विस्तार ,नाभ्यां संपूर्ण । चापिशब्दावन्याङ्गसुन्दरत्वख्यापकाविति। येन उच्यते लौकिकैरपि-'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'। अनवत्राप्यम्-नावत्राप्यम् लज्जन यस्य सोऽयमनवत्राप्य·।

अथवा अपत्रापयितुं लज्जयितुमर्हः शक्यो वाऽवत्राप्यो लज्जनीयः, न तथाऽनवत्राप्यः यतो हीनशरीरस्तु लज्जोत्पादको भवति २। स्थिरसंहननो बलवत्तरशरीरः, एवंविधश्च तपःप्रभृतिषु शक्तिमान् भवति ३। बहुपरिपूर्णानीन्द्रियाणि यस्य स बहुपरिपूर्णेन्द्रियोऽनुपहतचक्षुरादिकरणः, एवंविधश्च सर्वार्थसाधनपरो भवति ४। सेत्तमित्यादि पूर्ववत्। शरीरश्रुतसम्पद्युक्तस्यैव प्रायो वचनसंपद् भवति अतस्तां पिपृच्छिषुरिदमाह-(से किं तं) इत्यादि व्यक्तम्। सूरिराह- वचनसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-आदेयवचनश्चापि भवति १, एवं मधुरवचनः २, अनिश्रितवचनः ३, असन्दिग्धवचनः ४। तत्रादेयवचनः सकलजनग्राह्यवाक्यः, श्रोतारः श्रुत्वा यद्वाक्यं प्रमाणं कुर्वन्ति। चाऽपिशब्दावादेशान्तरदानेऽपि न कोऽपि तद्वाक्यमन्यथा करोतीति द्योतकः १, मधुरं रसवदर्थतो विशिष्टार्थवत्तया अर्थावगाढत्वेन शब्देन आव्यपरुषत्वमौस्वर्यगाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादमुपजनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा २। अनिश्रितवचनो रागादिना वाक्यकालुष्यवर्जितः ३। असन्दिग्धवचनः परिस्फुटवाक्यः, यद् ब्रूते तत्सर्वैरपि संदेहरहितं बुध्यते। एवंविधस्य वाक्यश्रवणान्न संशयेदिति ४। सेत्तमित्यादि प्राग्वत्। अधुना एवंविध एव शिष्याणां वाचनां दातुं समर्थो भवतीति वाचनासंपदं प्ररूपयितुमाह-(से किं तं) इत्यादि कण्ठ्यम्। गुरुराह-(वायणेत्यादि) वाचनासंपच्चतुर्धा प्रज्ञप्ता। विदित्वोद्दिशति १, विदित्वा समुद्दिशति २, परिनिर्वाप्य वाचयति ३, अर्थनिर्यापकश्चापि भवति ४। तत्र विदित्वोद्दिशति यथा योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वैवमुद्दिशति, समुद्दिशति वा यथायोगसामाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति वदतीति, अन्यथा अपरिणामिकादावपक्वघटनिहितजलोदाहरणेन दोषसम्भवात्। अथवा आमभाजने वा निक्षिप्तं क्षीरं विनश्यति, एवमयोग्ये दत्तं सूत्रं विनश्यतीति २। (परीनि) सर्वप्रकारं नि वाॅपयतो निरो निःसन्दिग्धादिभृशार्थदर्शनाद् भृशं गमयते पूर्वदत्तालापकादिसर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयतः शिष्यस्य सूत्रगताऽशेषविशेषग्रहणकालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचयति सूत्रं प्रददाति ३। अर्थं सूत्राऽभिधेयं वस्तु, तस्य निरिति भृशं यापना निर्वाहणा, पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमयति निर्यापयति इति निर्यापकः। चाऽपिशब्दौ विचारादिद्योतकौ ४। सेत्तमित्यादि सुगमम्। सांप्रतं जात्यमेवोपदिष्ट उत्पन्नप्रतिभो भवति। जातिग्रहणाद् विशिष्टजातिमत एव विशिष्टबुद्धिसम्भव इति दर्शितं भवति, अन्यथा हि परतीर्थिकैराक्षिप्तस्तत्प्रत्युत्तराऽसमर्थश्चेत्तदा तादृशं तं दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं गच्छेयुरभिनवश्रद्धालवोऽपि चेतिमतिसंपदं प्ररूपयितुमिदमाह-(से किं तं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्। भगवानाह-मतिसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-अवग्रहमतिसंपदेव १। ईहा २ अपायः ३ धारणा ४। तत्र सामान्यार्थस्य अशेषविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यरूपादेरवग्रहणमवग्रहः, सा चासौ मतिसंपच्चावग्रहमतिसंपत्, एवमन्या अपि १। नवरं ईहा तदर्थविशेषालोचनम् २। प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चयोऽपायः ३, अवगतार्थस्याऽविच्युतिस्मृतिवासना धारणा ४। सांप्रतमवग्रहमतिसंपद्भेदान् जिज्ञासुरिदं प्रश्नयति-(से किं तं) इत्यादि व्यक्तम्। सूरिराह-षड्विधा षट्प्रकारा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-क्षिप्रमवगृह्णाति १, बहुकमवगृह्णाति २, बहुविधमवगृह्णाति ३, ध्रुवमवगृह्णाति ४, अनिश्रितमवगृह्णाति ५, असन्दिग्धमवगृह्णाति ६। तत्र क्षिप्रमतिशीघ्रमुच्चारितमात्रमवपृच्छद्भिः शिष्यैरवगृह्णाति। अथवा परवादिभिः पृच्छद्भिरेवोच्चारितमात्रमवगृह्णाति, यथा प्रतिज्ञानामनिग्रहस्थानादिदोषा न सम्भवन्ति उक्ताऽननुवादेन च वादे पराजितत्वं भवति १, बह्विति एकवारमुक्तानि पञ्च षट् ग्रन्थशतानि धारयति २, बहुविधमिति लिखति, धारयति, मनसि संख्यां गणयति, स्वमुखेनाऽन्यदाऽऽख्यानमभ्यन्तराले कथयति, अनेकैश्चोच्चारितमवगृह्णाति, एवं च यथा लोकोक्त्या अष्टावधानिनो दशावधानिनश्चोच्यन्ते तथा करोतीति ३। ध्रुवमिति न कदापि विस्मारयति सकृत्पठितमपि यथाश्रुतमवगृह्णाति, एवं च प्रज्ञावान् लोके प्रशस्यते, प्रत्युत्तरादिविधाने च समर्थो भवतीति ४। अनिश्रितं नाम पुस्तकादिनिरपेक्षमेव पठति, अवगृह्णाति च। अथवा एकवारं श्रुतं पुनर्यदा कश्चिदनूद्य वदति तदैव वक्तुं समर्थो भवति नान्यथैवंविधाने भवति किं तु स्मारणनिरपेक्ष एव भवतीति ५। असन्दिग्धं नाम सन्देहवर्जितमवगृह्णाति, न तु यत्र तत्र साशङ्क एवंविधश्च स्वयं निःसंदेहत्वात् अन्यानपि निःसन्देहतया प्रज्ञापयिता भवति इति एवमित्थमीहामतिसंपद् क्षिप्रमवगृह्णातीत्यादिषट्प्रकारा ज्ञेया २। एवमित्यमुनैव क्रमेण षट्प्रकारा अपायमतिसंपद् अपि वर्णनीया ३। अधुना धारणामतिसंपदं जिज्ञासुः परिपृच्छति-(से किं तं) इत्यादि सुकरं प्रश्नसूत्रम्। गुरुराह-(धारणेत्यादि) व्यक्तम्। तद्यथा-बहु धारयति १, बहुविधं धारयति २, पुराणं धारयति ३, दुर्द्धरं धारयति ४, अनिश्रितं धारयति ५, असन्दिग्धं धारयति ६, इति षडपि पदानि व्यक्तानि। नवरं (पोराण ति) पुराणं जीर्णं, प्रभूतकालपठितं तदपि यथाश्रुतं धारयति यदा पृच्छति तदा धारणासमर्थत्वात् सर्वं वदति (दुद्धर ति) दुर्द्धरं दुःखेन धर्तुं शक्यं नयगमभङ्गगुपिलं धारयति। सेत्तमित्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तमिति। इदानीं मतिसंपत्समन्वित एव प्रयोगसंपद्योग्यो भवति इति प्रयोगमतिसंपदं जिज्ञासुरिदं पृच्छति-(से किं त) इत्यादि प्रश्नसूत्रं कण्ठ्यम्। गुरुराह-प्रयोगमतिसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-आत्मानं विदाय वादप्रयोक्ता भवति २, क्षेत्रं विदाय वादप्रयोक्ता भवति ३, वस्तु विदाय वादप्रयोक्ता भवति ४। तत्र आत्मानं वादादिव्यापारकाले किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति न वेति (विदाय त्ति) विद् ज्ञाने जानीते, ततो (वाद इति) धर्मं कथयितुं वादं वा कर्तुं प्रयोक्ता इति आत्मानं वादं प्रयोजयिता भवति १। एवं पर्षदं यथा किमियं पर्षत् सौगता, सांख्या, अन्या वा, तथा प्रतिज्ञादिवती, तदितरा वेति। अथवा "जाणिया अजाणिया दुब्बियड्ढा वा" काचित् (पुरिस वेत्ति) तत्र पुरुष एवैतादृशो वाच्यः २। (खेत्त विदायेति) किमिदं क्षेत्रं बहुलमृजु परिणतं वा तथा साधुभिरभावितं भावितं नगरादीति ज्ञात्वा वादप्रयोक्ता भवति, अन्यथा हि तत्स्वरूपाऽपरिज्ञाने सहसा वादकरणे प्रसङ्गात् ३। 'वस्तु विदायेति' किमिदं राजामात्यादि राजप्रसङ्गात्... सभासदि विवादवस्तु दारुणं वा भद्रकमभद्रकं वेति परवादिप्रभृति बह्वागममल्पागमं वा। अथवा वस्तुशब्दाडुपलक्षिता द्रव्य १ क्षेत्र २ काल ३ भावा वादय ४, तान् विदाय वाद इति उपलक्षणत्वात् सामाचारीप्रभृतिप्रयोक्ता भवति। तत्र द्रव्यम् इदमनुष्ठानादि कर्तुं स किं बालग्लानादिकं निर्वाहयितुं वा समर्थो भविष्यति, नवेति क्षेत्रमिदं किं मासकल्पचतुर्मासकल्पादिकरणयो-

ग्य भवति, न वेति काल विदाय किमय कालस्तथाविधोऽग्नप-करणाय युक्तो भवति, न वेति। अथवा इदमिदानीं कर्त्तव्यमित्येव वस्तु वालग्लानदुर्बलक्षपकाचार्योपाध्यायराजर्षिवृषभगीनार्थादि विदाय तथाविधाऽऽदेशदानाहारोपधिशय्यादि यथोचितप्रयोक्ता भवति, एवंविधज्ञानयुक्तो यथोचितकार्येषु प्रवर्तमानो न गणस्य द्वेष्यो भवतीति ४। 'सेत्त' इत्यादि पूर्ववत्। अधुना प्रयोगमतिसंपत्समन्वितस्यैव संग्रहपरिज्ञाकौशलय भवति, अतस्तान्येव प्रश्नयितुमाह-(से किं त) इत्यादि व्याख्यातार्थम्। सूरिराह-संग्रहपरिज्ञा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-बहुजनप्रायोग्यतया वर्षावासेषु क्षेत्र प्रतिलेखयिता भवति १। बहुजनप्रायोग्यतया प्रातिहारदार्वादेरवगृहीता भवति २। काले कालं समानयिता भवति ३। यथागुरु सपूजयिता भवति ४। तत्र बहवो जना बहुजना प्रस्तावात् साधव , अथवा बहुसख्याको जनो जाताविकवचनम्, तत्रापि स एवार्थ ,तस्य प्रायोग्य योग्यमिति, तस्य भावो बहुजनप्रायोग्यता, तया करणभूतयेति। (वासावासासु त्ति) वर्षासु वर्षासु वर्षाकाले वर्षा वृष्टिर्वर्षा वर्षासु वा आवासोऽवस्थान वर्षावासस्तस्मिन्, स्त्रीत्व प्राकृतत्वात्। क्षेत्र बालवृद्धदुर्बलग्लानक्षपकाचार्यादीना तथायोगवाहिनामितरेषां वाऽऽहारादिगुणोपेत बृहत्कल्पानुसारतो ज्ञेयम्, तत्प्रतिलेखयिता शेषकाले गवेषयिता भवति, तदप्रतिलेखने स्थितानां पीठाहारादिसकीर्णतादिदोषप्रसङ्गात्। ननु वर्षाग्रहणमिति किमर्थम् ?, शेषकालेऽपि तत्प्रतिलिख्यते एवेति चेत्। उच्यते-अन्यस्मिन् काले अन्यत्रापि गम्यते, पर वर्षासु न तथेति तद्ग्रहणम् १। तथा बहुजनप्रायोग्यतया (पडिहारिए त्ति) प्रतिहार प्रत्यर्पण प्रयोजनमस्येति प्रातिहारिक पीठमासन पट्टकादिफलकमवष्टम्भनफलक कोष्ठविशेषः, शयन वा, यत्र प्रसारितपादैः सुप्यते सस्तारको लघुतरशयनमेव, एतेषामवगृहीता भवति। इदमपि वर्षावासे एव, यतश्चतुर्मासकमध्ये एव वृद्धसामाचारी दृश्यते, न्यूनोदरतादितप करण पर्युषणाकल्पकर्षण विकृते परित्यागो विशेषकारणमन्तरा पीठफलकादिसस्तारकादानम् उच्चारादिमात्रकसग्रहण लोचकरण शैक्षप्रव्राजन प्राग्गृहीतभस्मडगलादिपरित्यजनमेतेषां तु ग्रहण द्विगुणवर्षोपग्रहोपकरण धरणमित्यादि अग्रे "कल्पाध्ययने" स्वयमेव वक्ष्यते सूत्रकार ,इति कृत प्रसङ्गेनेति २। काले यथोचितप्रस्तावे एव स्वाध्यायोपधिसमुत्पादनप्रत्युपेक्षणाध्यापनशिक्षादिकरणात्मकम्, अनुष्ठान, स मानयिता स्वस्थान आदरकरणेन प्रतिपत्तिकर्त्ता भवति ३। तथा गुरुमिति येन गुरुणा प्रव्राजितो यस्य पार्श्वे वा पठित त गुरु सपूजयिता इति स्वयमाचार्यत्वे प्राप्तेऽपि मा एतेषां विनयहानिर्भवत्विति कृत्वा अभ्युत्थानवन्दनकाहारोपधिपथिविश्रामणचरणसंवाहनाशुश्रूषादिभिर्विनयहेतुभि सम्यग् यथा भवति तथा पूजयिता भवति, न पुन प्राप्तप्रतिष्ठस्तथा भवतीति ४। सेत्तमित्यादि निगमनवाक्य व्यक्तार्थम्। दशा०४ अ०। गणिसपद् यत्राभिधीयते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति। आचारदशानां चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा०।

गणेत्तिया-गणेत्रिका-स्त्री० । रुद्राक्षकृते कलापिकाभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। औ०। भ०।

गणेस-गणेश-पुं०। द्विपास्ये लम्बोदरदेवे, वाच०। गणधरे च। जीत०। " निष्प्रत्यूह प्रणिदधे, भवानीतनयानहम्। सर्वानपि गणाध्यक्षा-नक्षामोदरसङ्गतान्" ॥१॥ इत्यत्र भवानीनयानुमासुतान् समारे आनीतशास्त्रान् वा गणाध्यक्षान् गणपतिदेवान् गणधरांश्च अक्षामोदरसङ्गतान् लम्बोदरान् आत्मानन्दरस प्राप्तान् वेति श्लिष्टार्थप्रतीते । जीत०।

गतकिलेस-गतक्लेश-त्रि० । गतसमस्तरागादिक्लेशे, च० प्र० १ पाहु० ।

गति-गति-स्त्री०। चूलिकापैशाचिके गस्य क प्राप्तः " नादियुज्योरन्येषाम्"। ८। ४। ३२७। इति न भवति। प्रा० ४ पाद। गमने, प्रश्न० ४ सव० द्वार। नामकर्मोदयसपाद्ये जीवपर्याये, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

गत्त-गर्त्त-पुं०। श्वभ्रे, भ० १४ श० १ उ०। ईषायाम्, पङ्के च। दे० ना० २ वर्ग।

गात्र-न०। अङ्गे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। शरीरे, उत्त० १६ अ०। जीवा०। औ०। 'गत्ततालुक्खए इव'। प्रज्ञा० १७ पद।

गत्तिगकारपविभत्ति-गतिगकारप्रविभक्ति-न०। गकाराकृत्यभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा०।

गद्दतोय-गर्दतोय-पुं० । अभ्यन्तरपश्चिमायाः कृष्णराजेरग्रे चन्द्राभे लोकान्तिकविमाने परिवसति लोकान्तिकदेवभेदे, स्था० ८ ठा०। प्रव०। आ० म०। ज्ञा०। "गद्दतोयतुसियाण देवाण सत्त देवा सत्त देवसहस्सा पण्णत्ता"। स्था०७ ठा०। "गद्दतोयतुसियाण देवाण सत्तहत्तरिं देवसहस्सपरिवारए पण्णत्ते" तत्र गर्दतोयानां तुषितानां च देवानामुभयपरिवारसंख्यामीलनेन समसप्ततिदेवसहस्राणि परिवार प्रज्ञप्तानीति। स०७७ सम०।

गद्दभ-गर्दभ-पुं०। स्त्री०। रासभे, ' गधा ' इतिख्याते, स्त्रियां जातित्वात् ङीप्। आ० क०। युवराजसचिवदीर्घपृष्ठपुत्रे, बृ० १ उ०। ('जुवराज ' शब्दे वक्ष्यते)

गद्दभय-गर्दभक-पुं० । ' गदहा ' इतिख्याते प्राणिनि, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०। आ० म०। उत्पलनामके गन्धद्रव्ये, श्वेतकुमुदे, विडङ्गे च। न०। वाच०।

गद्दभाल-गर्दभाल-पुं० । वक्ष्यमाण " गद्दभालि " शब्दार्थे, भ० २ श० २ उ०।

गद्दभालि-गर्दभालि-पुं०। स्वनामख्याते परिव्राजके, यच्छिष्यः स्कन्दक आसीत्। भ० २ श० २ उ०। स्वनामख्यातेऽनगारप्रवरे, यदन्तिके काम्पिल्येश्वर सजयो नामाऽनगार प्रवव्राज। ती० २५ कल्प। उत्त०।

गद्दभिल्ल-गर्दभिल्ल-पुं०। स्वनामख्याते उज्जयिनीनृपे, यो हि साध्वीव्रतभञ्जकत्वेन कालकाचार्येणोन्मूलित । नि० चू० १० उ०। पञ्चा०। ती०। (गर्दभिल्लकथा तु " अधिगरण " शब्दे प्र० भागे ४८२ पृष्ठे कालकाचार्यप्रस्तावे निरूपिता)

गद्दभी-गर्दभी-स्त्री० । गर्द-अभच्। गौरा-ङीष्। अग्निप्रकृतिके कीटभेदे, स्वार्थे क। गर्दभिका। रोगे, सज्ञायां कन्। अपराजितायाम्, श्वेतकण्टकार्याम्, कटभ्यां च । गर्दभजातिस्त्रियाम्, वाच०। गर्दभीरूपधारिण्या गर्दभिल्लराजरत्तिकायां विद्यायाम्, नि० चू० १० उ०।

गद्दह-गर्दभ-पुं०। ' गद्दभ ' शब्दार्थे, आ० क०।

गद्दही-गर्दभी-स्त्री० । 'गद्दभी' शब्दार्थे, नि० चू० १० उ० ।

गद्ध-गार्ध्य-न० । तात्पर्ये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

गद्धपिट्ठ-गृद्धस्पृष्ट-न० । मरणभेदे, गृध्रादिभक्षणं गृध्रम् । उत्त० १ अ० । गृध्राः प्रतीताः ते आदिर्येषां शकुनिका-शिवादीनां, तैर्भक्षणं गम्यमानत्वादात्मनस्तदनिवारणादिना तद्भक्ष्यकरि-करभादिशरीरानुप्रवेशेन च गृध्रादिभक्षणम् । तत्किमुच्यते इत्याह-(गद्धपिट्ठ त्ति) गृद्धैः स्पृष्ट स्पर्शनं यस्मिंस्तद् गृद्धस्पृष्टं, यदि वा गृध्राणां भक्ष्य स्पृष्टमुपलक्षणत्वाकुदरादि च मर्तुर्यस्मिंस्तद् गृद्धस्पृष्टम्, स ह्यलक्तकपूरिकापुटप्रदानेनाप्यात्मान गृध्रादिभिः स्पृष्टादि भक्षयतीति । उत्त० ५ अ० । गृद्धस्पृष्टाभिधानमनाथपातितगोकलेवरादिवदध्वनि निपतनरूपम् । स० ।

गन-गण-पु० "णो नः" । ८ । ४ । ३०६ । इति पैशाच्यां णस्य नः । समुदाये, प्रा० ४ पाद ।

गब्भ-गर्भ-पुं० । जननीकुक्षौ, तं० । " गब्भं वक्कते " गर्भे कुक्षौ व्युत्क्रान्त उत्पन्नः । स्था० ५ ठा० १ उ० । गर्भाशये, स्था० २ ठा० ३ उ० । सजीवपुद्गलपिण्डके, भ० ५ श० ४ उ० । उदरसत्त्वे, स्था० १० ठा० । प्राणिनां जन्मविशेषे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अथ गर्भाधिकारः-

सुणह गणिए दस दसा, वाससयाउस्स जह विभज्जंति ।
संकलिए वोगसिए, जं चाउं सेसयं होइ ॥ २ ॥
जत्तियमेत्ते दिवसे, जत्तियराईसु होइ उस्सासे ।
गब्भम्मि वसइ जीवो, आहारविहिं च वुच्छामि ॥ ३ ॥

(सुणह० । जत्तिय०) अत्र पदानां सबन्धोऽयम्-वर्षशतायुषो जन्तोर्यथा दश दशा अवस्था विभज्यन्तीति पृथग् भवन्ति तथा यूयं शृणुत,क्व सति? गणिते-एकद्व्यादिक्रियमाणे सति, तथा दश दशाः सकलिते एकत्र मीलिते, तथा व्युत्कर्षिते निष्काशिते सति 'वाससय परमाउ इतो पन्नासं हरइ' इत्यादिना यच्चायुःशेषक भवति तदपि यूय शृणुत ।२। यावन्मात्रान् दिवसान् यावद्रात्रीः यावन्मुहूर्तान् यावदुच्छ्वासान् जीवो गर्भे वसति तान् वक्ष्ये, गर्भादिके आहारविधिं, चशब्दाच्छरीररोमादिस्वरूप च वक्ष्ये भणिष्यामीति ॥३॥

तत्र गर्भे अहोरात्राणां प्रमाणमाह-

दुन्नि अहोरत्तसए, संपुण्णे सत्तसत्तरिं चेव ।
गब्भम्मि वसइ जीवो, अद्धमहोरत्तमएणं च ॥ ४ ॥
एए उ अहोरत्ता, नियमा जीवस्स गब्भवासम्मि ।
हीणाहियाउ इत्तो, उवघायवसेण जायंति ॥ ५ ॥

'दुन्नि' द्वे अहोरात्रशते २०० संपूर्णे सप्तसप्तत्यधिके ७७ अन्यदर्धमहोरात्रं च जीवो गर्भे वसति तिष्ठति, एतावता नवमासान् सार्द्धसप्तदिनान् जीवो गर्भे तिष्ठतीत्यर्थः ॥४॥ (एए उ) एते उक्तरूपा अहोरात्रा निश्चयेन जीवस्य गर्भवासे भवन्ति । (इत्तो त्ति) अस्मादुक्तादहोरात्रप्रमाणात् उपघातवशेन वातपित्तादिदोषेण हीनाधिका अपि (जायंति त्ति) धातूनामनेकार्थत्वाद् भवन्तीत्यर्थः । तुशब्दोऽप्यर्थे, स च योजित इति ॥ ५ ॥

अथ गर्भे मुहूर्तानां प्रमाणमाह-

अट्ठ सहस्सा तिन्नि उ, सया मुहुत्ताण पन्नवीसा य ।
गब्भगओ वसइ जिओ, नियमा हीणाहिया इत्तो ॥६॥

(अट्ठस०) अष्टौ सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि मुहूर्तानि ८३२५ निश्चयेन जीवो गर्भे वसति । तानि च कथं भवन्ति ?-उक्तलक्षणाः सप्तसप्तत्यधिकद्विशताहोरात्राः २७७ त्रिंशता गुणिता ८३१० एतावन्तो भवन्ति, अर्द्धाहोरात्रस्य च पञ्चदश मुहूर्तानि क्षिप्यन्ते, जातानि ८३२५ इति । इत उक्तरूपात् ८३२५ वातदोषादिविकारेण हीनाधिकान्यपि मुहूर्तानि वसति गर्भे जीव इति ॥ ६ ॥

अथ गाथाद्वयेन गर्भे निःश्वासोच्छ्वासप्रमाणमाह-

तिन्नेव य कोडीओ, चउदससय हवंति सयसहस्साइं ।
दस चेव सहस्साइं, दुन्नि सया पएणवीसा य ॥ ७ ॥
उस्सासा निस्सासा, इत्तियमित्ता हवंति संकलिया ।
जीवस्स गब्भवासे नियमा, हीणाहिया इत्तो ॥ ८ ॥

(तिन्नेव य उस्सासा) तिस्रः कोटयः चतुर्दश शतसहस्राणि,चतुर्दश लक्षाणीत्यर्थः,दश सहस्राणि,द्वे शते,पञ्चविंशत्यधिक इति ३१४१०२२५ । (इत्तियमित्त त्ति) एतावन्मात्राः सङ्कलिता एकीकृता जीवस्य गर्भवासे निश्चयेन निःश्वासोच्छ्वासा भवन्ति । कथमेकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ३७७३ निःश्वासोच्छ्वासा भवन्ति, एतैश्च यदैतानि ८३२५ उक्तरूपाणि मुहूर्तानि गुण्यन्ते तदा यथोक्तम् ३१४१०२२५ एतद्भवतीति । इत उक्तरूपाद् दोषादिकारणेन हीनाधिका निःश्वासोच्छ्वासा भवन्तीति ॥ ८ ॥

अथाहाराधिकारे किञ्चिद् गर्भादिस्वरूपमाह-

(आउसो !) इत्थीएँ नाभिहिट्ठा, सिरादुगं पुप्फनालियागारं ।
तस्स य हिट्ठा जोणी, अहोमुहा संठिया कोसा ॥९॥

(आउसो इत्थी०) हे आयुष्मन्! हे गौतम ! स्त्रिया नार्या नाभेरधोभागे पुष्पनालिकाकार सुमनोवृन्तसदृश शिराद्विकं धमनियुग्म वर्तते, च पुनस्तस्य शिराद्विकस्याधो योनिः स्मरकूपिका सस्थिताऽस्ति । किंभूता ?, अधोमुखा । पुनः किंभूता ?, (कोस त्ति) कोशा, खड्गपिधानकाऽऽकारेत्यर्थः ॥९॥

तस्स य हिट्ठा चूय-स्स मंजरी तारिसा उ मंसस्स ।
ते रिउकाले फुडिया, सोणियलवया विमोयंति ॥ १० ॥

(तस्स य) तस्याश्च योनेरधोऽधोभागे चूतस्याऽऽम्रस्य याद्दृश्यो मञ्जर्यो वल्लर्यो भवन्ति तादृश्यो मांसस्य पललस्य मञ्जर्यो भवन्ति,ता मञ्जर्यो मासान्ते स्त्रीणां यदजस्रमस्र दिनत्रय भवति तद्दतुकाल स्त्रीधर्मप्रस्ताव', तस्मिन् स्फुटिताः प्रफुल्लाः सत्यः शोणिततलवकान् रुधिरबिन्दून् विमुञ्चन्ति भवन्ति ॥१०॥ तं० । " सप्ताह कलल विन्द्यात्, ततः सप्ताहमर्बुदम् । अर्बुदाज्जायते पेसी, पेसीतोऽपि घन भवेत् ।" ॥ १ ॥ वाच० ।

कोसायारिं जोणिं, संपत्ता सुक्कमीसिया जइया ।
तइया जीवुववाए, जुग्गा भणिया जिणिंदेहिं ॥११॥

(कोसा) ते रुधिरबिन्दवः कोशाकारां योनिं सम्प्राप्ताः सन्तः शुक्रमिश्रिताः ऋतुदिनत्रयान्ते पुरुषसयोगेनाऽसयोगेन

वा पुरुषवीर्येण यदा मिलिता (नइय त्ति) तदा जीवोत्पादे गर्भसम्भूतिलक्षणे योग्या भणिता' कथिता जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैरिति ।११।

ननु कथं पुरुषासंयोगे पुरुषसम्भव इति ?। यदुक्तं स्थानाङ्गे–"पचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं असंवसमाणी वि गब्भं धरेज्जा। तं जह-इत्थी दुवियडा दुन्निसन्ना सुक्कपोग्गले अधिट्ठिज्जा १, सुक्कपोग्गलसंसट्ठे वा से वत्थे अतो जोणिए अणुपवेसेज्जा २, सयं वा से ३, परो वा से सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा ४, सीओदगवियडेण वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा ५, इच्चेतेहिं पचहिं ठाणेहिं जाव धरेज्जा"(स्था०५ ठा०२उ०)

परिधानवर्जितेत्यर्थ । दुर्निषण्णात् पुरुषशुक्रपुद्गलान् कथञ्चित्पुरुषनिसृष्टानासनस्थानधितिष्ठेद् योन्याकर्षणेन सगृह्णीयात् १, तथा शुक्रपुद्गलसंसृष्टं 'से' तस्या. स्त्रिया वस्त्रमन्तर्मध्ये योनावनुप्रविशेद्, इह च वस्त्रमित्युपलक्षणं तथाविधमन्यदपि अनुप्रविशेदिति २, स्वयमिति पुत्रार्थिनीत्वाच्छीलरक्षकत्वाच्च [से ति] सा शुक्रपुद्गलान् योनावनुप्रवेशयेत् ३, (परो वे त्ति) श्वश्रूप्रभृतिक पुत्रार्थमेव (से) तस्या योनाविति ४, शीतोदकलक्षण यद्विकट पल्वलादिगतमित्यर्थ' , तेन वा [से] तस्या आचामत्या. पूर्वपतिता उदकमध्यवर्तिन. शुक्रपुद्गला अनुप्रविशेयुरिति ।

अथाध्वस्तयोनिकालमान जीवसख्यापरिमाणं चाह–

वारस चेव मुहुत्ता, उवरिं विद्धंस गच्छई सा उ ।
जीवाणं परिसंखा, लक्खपहुत्तं च उक्कोसं ॥१२॥

(वारस०) सा पुरुषवीर्यसयुक्ता योनिर्द्वादशैव मुहूर्तान् यावदध्वस्ता भवति । तथा [उवरिं ति] द्वादशमुहूर्तानन्तरं सा योनिर्विध्वस गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थ । अयमाशय –ऋत्वन्ते स्त्रीणां नरोपभोगेन द्वादशमुहूर्तमध्य एव गर्भभाव., तदनन्तर वीर्यविनाशत्वाद् गर्भाभाव इति । तथा मनुष्यगर्भे जीवानां गर्भजन्तूना परिसख्या, सख्या–मान, लक्षपृथक्त्वमुत्कृष्टतो भवति । सिद्धान्तभाषया द्विप्रभृतिरानवभ्यः सख्या कथ्यत इति ॥१२॥

अथ कियद्भ्यो वर्षेभ्य पुनरूर्ध्वं गर्भं स्त्रियो न धारयन्ति, पुमाँश्चावीर्यो भवति इति प्रसङ्गतो निरूपयितुमाह–

पणपन्ना य परेणं, जोणि पमिलायए महिलियाणं ।
पणसत्तरीइ परश्रो, पाएण पुमं भवे वीश्रो ॥ १३ ॥

(पणप०) महिलाना स्त्रीणा प्राय. प्रवाहेण (पणपन्ना य त्ति) पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्य. (परेण त्ति) ऊर्ध्वं योनि प्रम्लायति, गर्भधारणाऽसमर्था भवतीत्यर्थ. । भावार्थोऽय. निशीथोक्तो यथा–" इत्थीए जाव पणपन्नवासा न पूरेंति ताव अमिलाया जोणी " आर्तव स्याद्, गर्भं च गृह्णातीत्यर्थ । " पणपन्नवासाए पुण कस्स वि अत्तव भवति, न पुण गब्भ गेएहइ, पणपन्नाए परश्रो न अत्तव नो गब्भ गेएहइ त्ति"। तथा चोक्त स्थानाङ्गटीकायाम्–

" मासि मासि रज स्त्रीणा–मजस्र स्रवति त्र्यहम् ।
वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वं, याति पञ्चाशत' क्षयम ॥ १ ॥
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री, पूर्णविंशेन सङ्गता ।
शुद्धे गर्भाशये १ मार्गे २, रक्ते ३ शुक्रे ४ ऽनिले ५ हृदि ६ ॥२॥
वीर्यवन्त सुत सूते, ततो न्यूनाद् द्वयोः पुन ।
रोगयल्पायुरधन्यो वा, गर्भो भवति नैव वा" ॥ ३ ॥ इति ।

शुद्धे निर्दोषे गर्भाशयादिषट्के इत्यर्थ । तथा च–

"ऋतुस्तु द्वादश निशा', पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः ।
एकादशी च, युग्मासु, स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका ॥ ४ ॥
पद्म संकोचमायाति, दिनेऽतीते यथा तथा ।
ऋतावतीते योनि. सा, शुक्र नैव प्रतीच्छति ॥ ५ ॥
मासेनोपचितं रक्त, धमनीभ्यामृतौ पुन ।
ईषत्कृष्ण विगन्ध च,वायुर्योनिमुखान्नुदेत '६।(स्था०५ठा०२उ०)

तथा चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्त बीजम् १, अविध्वस्ता योनि' विध्वस्त बीजम् २, विध्वस्ता योनिरविध्वस्त बीजम् ३, विध्वस्ता योनिर्विध्वस्तं बीजम् ४, चतुर्षु भङ्गेषु आद्यभङ्गे एव उत्पत्तेरवकाशो न शेषेषु त्रिष्विति । तत्र पञ्चपञ्चाशिका नारी विध्वस्तयोनिः । सप्तसप्ततिक' पुमानिति द्वादशमुहूर्तान् यावद् बीजमविध्वस्त स्यात्,तत ऊर्ध्वं विध्वस्तमिति द्वितीयाङ्गवृत्ताविति । तथा पुमान् पुरुषः प्राय. पञ्चसप्ततिवर्षेभ्य. परत ऊर्ध्वमबीजो भवेत, गर्भाधानयोग्यबीजविवर्जित इत्यर्थः ।

कियत्प्रमाणायुषामेतन्मान द्रष्टव्यम् ?, इत्याह–

वाससयाउयमेयं, परेण जा होइ पुव्वकोडीश्रो ।
तस्सऽद्धे अमिलाया, सव्वाउयवीसभागो य ॥ १४ ॥

वर्षशतायुषामिदयुगीनानामेतद् गर्भधारणादिकालमानमुक्तम् । परेण तर्हि का वार्ता ?, इत्याह-(परेण त्ति) वर्षशतात्परतो वर्षद्वयं त्रय चतुष्टयं चेत्यादि यावन्महाविदेहमनुष्याणा या पूर्वकोटि. सर्वायुषि स्याद तस्य सर्वायुषोऽर्द्धे तदर्द्धं यावदम्लाना गर्भधारणयोग्या स्त्रीणां योनिर्द्रष्टव्या। ततोऽपि परत. सकृत्प्रसवधर्माणोऽम्लानयोनयोऽवस्थितयौवनत्वात् पुसां मन सर्वस्यापि पूर्वकोटिपर्यन्तस्यायुषोऽन्त्यो विंशतितमो भागो बीज इति ॥ १४ ॥ तं० । प्रव० ।

अथ कियन्तः पुनर्जीवा एकस्याः स्त्रियो गर्भे एकहेलयैवोत्पद्यन्ते, कियतां च पितॄणामेकः पुत्रो भवति ?, इत्याह–

रत्तुक्कडाश्रो इत्थी, लक्खपुहत्तं च वारस मुहुत्ता ।
पिश्रसंखसयपुहत्तं, वारसवासा उ गब्भस्स ॥ १५ ॥

अत्रान्यत्राप्यार्षत्वाद्विभक्तीनां वैचित्र्य ज्ञातव्यमिति । मासान्ते त्रीणि दिनानि यावत्स्त्रीणां यन्निरन्तरमस्र स्रवति तदत्र रक्तमुच्यते, तेन रक्तेन रुधिरेण उत्कटाया. पुरुषवीर्ययुक्तयोन्या एकस्या स्त्रिया गर्भे जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टतस्तु (लक्खपुहुत्त ति) लक्षपृथक्त्व नवलक्षगर्भजजीवा उत्पद्यन्ते इत्यर्थ. । निष्पत्ति च प्राय एको द्वौ वा गच्छत , शेषास्त्वल्पजीवित्वात्तत्रैव म्रियन्ते। एको द्वौ वा इत्युक्त व्यवहारापेक्षया, निश्चयापेक्षया तु ततोऽधिक न्यून वा भवतीति द्रष्टव्यमिति । चशब्दात् स्त्रिया. ससक्तायां योनौ द्वीन्द्रिया जीवा जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टतो नवलक्षप्रमाणा उत्पद्यन्ते। तत्राय - शलाकान्यायेन पुरुषसयोगे तेषां जीवानां विनाशो भवति। स्त्रीपुरुषमैथुने मिथ्यादृष्टय. अन्तर्मुहूर्तायुष' अपर्याप्तावस्थाकालकारिण अष्टौ प्राणधारकाः नारकदेवयुगलान्निवायुर्वर्जितशेषजीवस्थानागमनस्वभावा मुहूर्तपृथक्त्वकायस्थितिकाः असंख्येया' संमूर्च्छिममनुष्या उत्पद्यन्ते चेति । तथा (वारसमुहुत्त त्ति) पुरुषवीर्यस्य कालमानं द्वादश मुहूर्तानि,एतावत्कालमेव शुक्रशोणितेऽविध्वस्तयोनिके भवत इति । (पिअ त्ति) पि-

तृणां सख्या पितृसख्या, तस्याः शतपृथक्त्व भवति । अयमाशयः-उत्कृष्टतो नवानां पितृशतानामेकः पुत्रो जायते, एतदुक्त भवति-कस्याश्चिद् दृढसहननायाः कामातुरायाश्च योषितो यदा द्वादशमुहूर्तमध्ये उत्कर्षतो नवभि· पुरुषशतैः सह सगमो भवति तदा तद्वीजे य· पुत्रो भवति स नवानां पितृशतानां पुत्रो भवति । उपलक्षणत्वात्तिरश्चां च बीजं द्वादशमुहूर्तान् यावद्योनिभूत भवति, ततश्च गवादीनां शतपृथक्त्वस्यापि बीज गवादियोनिप्रविष्ट बीजमेव । तत्र च बीजसमुदाये एको जीव उत्पद्यमानस्तेषा बीजस्वामिनामुत्कर्षत. पुत्रो भवति । मत्स्यादीनामेकसयोगेऽपि शतसहस्रपृथक्त्व गर्भे उत्पद्यते, निष्पद्यते चैकस्मिन्नपि गर्भे लक्षपृथक्त्वं पुत्राणां स्यादिति । ननु देवानां शुक्रपुद्गला· किं सन्ति, उत न ?। उच्यते-सन्त्येव परं ते वैक्रियशरीरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतवः तं० । (इति 'पुत्त' शब्दे स्पष्टयिष्यामि)

अथ कियन्त कालं भवस्थित्या जीवो गर्भे वसति ?, इत्याह-(वारस०) गर्भस्य स्थितिर्द्वादशवर्षमुहूर्त्तप्रमाणा भवति । एतदुक्त भवति-कोऽपि पापकारी वातपित्तादिदूषिते देवादिस्तम्भिते वा गर्भे द्वादश सवत्सराणि निरन्तर तिष्ठति उत्कृष्टत., जघन्यस्त्वन्तर्मुहूर्तमेव तिष्ठति, भवस्थित्या गर्भोऽधिकारात् । " उदगगब्भेण भंते ! कालओ केव चिरं होइ ?, गोयमा ! जहण्णेणं इक्क समय, उक्कोसेण छम्मासा " उदकगर्भे कालान्तरे वृष्टिहेतु. पुद्गलपरिणाम, तस्य समयानन्तर षण्मासानन्तर वर्षणात् । अथ च मार्गशीर्षादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्यारागादिलिङ्गो भवतीति । तुशब्दान्मनुष्यतिरश्चां कायस्थितिश्चतुर्विंशतिवर्षाण्युत्कृष्टवर्षप्रमाणाऽवगन्तव्या, यथा कोऽपि स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि जीवित्वा तदन्ते च मृत्वा तथाविधकर्मवशात् तत्रैव गर्भस्थिते कलेवरे समुत्पद्य पुनर्द्वादश वर्षाणि जीवतीत्येव चतुर्विंशतिवर्षाण्युत्कर्षतो गर्भे जन्तुरवतिष्ठते । केचिदाहु -द्वादशवर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यजीवस्तच्छरीर उत्पद्यते तावत्स्थितिरिति ॥ १५ ॥

अथ कुक्षौ पुरुषादय. कुत्र परिवसन्तीत्याह-

दाहिणकुच्छी पुरिस-स्स होइ वामाएँ इत्थियाओ य ।
उभयतर नपुंसे, तिरिए अट्ठेव वरिसाइं ॥ १६ ॥

(दाहिण०) पुरुषस्य दक्षिणकुक्षि स्यात्, दक्षिणकुक्षौ वसन् जीव· पुरुष स्यादितिभाव. १ । स्त्रिया वामकुक्षिः स्यात्, वामकुक्षौ वसन् जीव. स्त्री भवतीति भाव २ । नपुसके उभयान्तर स्यात्, कुक्षिमध्यभागे वसन् जीवो नपुसको जायते इति भाव· ३ ॥

स्त्रीपुरुषनपुसकलक्षणानि यथा-

" योनेर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धचञ्चलता स्तने ।
पुस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥ १ ॥
मेहने खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रुधृष्टता ।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥ २ ॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादि-भावाभावसमन्वितम् ।
नपुसक बुधा. प्राहु-र्मोहानलसुदीपितम् " ॥ ३ ॥

अथ तिरश्चां गर्भे भवस्थितिमाह-(तिरिए०) तिरश्चां गर्भे भवस्थितिरुत्कृष्टतोऽष्टौ वर्षाणि, तत. पर विपत्ति·, प्रसवो वेति । जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमाना भवस्थितिरिति ॥१६॥ तं० ।

जीवः किं सेन्द्रिय· सशरीरो व्युत्क्रामति ?-

जीवेणं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमइ, अणिंदिए वक्कमइ ?। गोयमा ! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमइ, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ, से तेणट्ठेण । जीवे णं भंते ! गब्भ वक्कममाणे किं सरीरी वक्कमइ, असरीरी वक्कमइ ?। गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ, सिय असरीरी वक्कमइ । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! ओरालियवेउव्वियआहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ, तेयाकम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! । जीवे णं भंते ! गब्भ वक्कममाणे तप्पढमयाए कमाहारमाहारेइ ? । गोयमा ! माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसिट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेइ । भ० १ श० ७ उ० ।

अथ जीवो गर्भे व्युत्पद्यमान· किमाहारमाहारयति, ततश्च किं स्वरूपो भवति ?, इत्याह-

इमो खलु जीवो अम्मापिउसंजोगे माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहार आहारित्ता गब्भत्ताए वक्कमइ ।

सत्ताहं कललं होइ, सत्ताहं होइ अब्बुयं ।
अब्बुया जायए पेसी, पेसीओ य घणं भवे ॥ १७ ॥

" इमो खलु त्ति " यावत् " वक्कमइ त्ति " सुत्कलम् । अय जीवः खलु निश्चित (दाहिणकुच्छीए) पित्रो. सजोगे (माउओय त्ति) मातुरोजो जनन्या आर्तव, शोणितमित्यर्थः (पिउसुक्कं ति) पितु· शुक्रम्, इह यदिति शेष. (तं ति) तदाहार तस्य गर्भव्युत्क्रमणस्य (पढमयाए) तत्प्रथमतया (आहारित्त त्ति) तैजसकार्मणशरीराभ्यां भुक्त्वा गर्भतया गर्भत्वेन (वक्कमइ त्ति) व्युत्क्रामति, उत्पद्यते इत्यर्थः । किंभूतमाहारम् ?, तदुभयसंस्पृष्ट कलुष मलिनम् (किब्बिस ति) कर्बुरमिति । तत· केन क्रमेण शरीर निष्पद्यते ?, इत्याह-सत्ताहमित्यादि यावद्भवे त्ति पद्यम् । सप्ताऽहोरात्राणि यावत् शुक्रशोणितसमुदायमात्र कललं भवति १। तत· सप्ताहोरात्राणि अर्बुदो भवति, तत एव शुक्रशोणिते किञ्चित् स्त्यानीभूतत्व प्रतिपद्यते इति २। ततोऽपि चार्बुदात्पेसी मांसखण्डरूपा भवति ३। ततश्चानन्तर सा घन समचतुरस्र मांसखण्ड भवति ४ ॥१७॥

तो पढमे मासे करिसूणं पलं जायइ १। बीए मासे पेसी सजायए घणा २ । तइए मासे माउए डोहलं जणइ ३ । चउत्थे मासे माऊए अंगाइं पीणेइ ४। पंचमे मासे पंच पिंडियाओ पाणिं २ पायं २ सिरं ५ चेव निव्वत्तइ ५। छट्ठे मासे पित्तसोणियं उवचिणेइ ६ । सत्तमे मासे सत्तसिरासयाइं ७०० पंचपेसीसयाइ ५०० नवधमणीओ ९ नवनउइं च रोमकूवसयसहस्साइं निवत्तेइ ९९००००००, विणा केसमंसुणा, सह केसमंसुणा अद्धुट्ठाओ रोमकूवकोडीओ निव्वत्तेइ ३५००००००० । ७ । अट्ठमे मासे वित्तीकप्पो हवइ । ८ ।

(तो पढमे०) तत इह च तच्छुक्रशोणितमुत्तरोत्तरपरिणाममासादयत् प्रथमे मासे कर्षोन पलं जायते । "पञ्चगुञ्जाभिर्मांष, षोडशभिर्माषैः कर्ष,चतुर्भिः कर्षैः पलम्" इति वचनात् । त्रयः कर्षाः स्युरितिभावः १, द्वितीये तु मासे पेसी घनस्वरूपा भवति, समचतुरस्रं मांसखण्डं जायत इत्यर्थः २, तृतीये मासे तु मातुर्दोहदं जनयतीत्यर्थः ३, चतुर्थे मासे मातुरङ्गानि प्रीणयति, पुष्टानि करोतीत्यर्थः ४, जीवः पञ्चमे मासे पाणिद्वय-पादद्वय-मस्तकरूपाः पञ्च पिण्डिकाः पञ्चाङ्कुरान् निर्वर्तयति, निष्पादयतीत्यर्थः ५, षष्ठे मासे पीयते जलमनेनेति पित्तं, पित्तं च शोणितं तद् उपचिनोति, पुष्टं करोतीत्यर्थः ६, सप्तमे मासे सप्त शिराशतानि ७०० पञ्च पेशीशतानि ५०० नव धमन्यो नवनाड्यो नवनवतिरोमकूपशतसहस्राणि निर्वर्तयति । रोम्णां तनूरुहाणां कूपा इव कूपा रोमकूपाः, रोमरन्ध्राणीत्यर्थः, तेषां नवनवतिर्लक्षा इति केशश्मश्रूणि विना, तत्र केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चकेशाः ९९०००००, केशश्मश्रुभिः सह (अद्धुट्ठाउ त्ति) सार्द्धास्तिस्रो रोमकूपकोटीः निर्वर्तयतीति ३५०००००० ॥७॥ अष्टमे मासे तु शरीरमाश्रित्य (वित्तीकप्पो त्ति) निष्पन्नप्रायो जीवो भवतीति ॥८॥

अत्राधिकारे इन्द्रभूतिः जनोपकाराय त्रैशलेयं सर्वज्ञं सर्वभूतदयैकरसं प्रश्नयति-

जीवस्स णं भंते ! गब्भगयस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा सुक्के इ वा सोणिए इ वा ?। नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा०जाव सोणिए इ वा ?। गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जं आहारमाहारेइ तं चिणाइ सोइंदियत्ताए १ चक्खिंदियत्ताए २ घाणिंदियत्ताए ३ जिब्भिंदियत्ताए ४ फासिंदियत्ताए ५ अट्ठिअट्ठिमिंजकेसमंसुरोमनहत्ताए ६ से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा० जाव सोणिए इ वा ॥

(जीवस्स णं भंते ! इत्यादि) हे भदन्त ! जीवस्य जन्तोः 'ण' वाक्यालङ्कारे, गर्भगतस्य गर्भत्वं प्राप्तस्य (समाणस्स त्ति) सतः, अस्ति विद्यते, वर्तते इत्यर्थः । उच्चारो विष्ठा, 'इ' इति रूपप्रदर्शने, अलङ्कारे, पूरणे वा, वेति विकल्पार्थे । प्रस्रवणं मूत्रम्, खेलो निष्ठीवनं, (सिंघाणे त्ति)नासिकाश्लेष्मा, (वंते) वमनं, पित्तं मायुः, शुक्रं वीर्यं, शोणितं रुधिरं "सुक्के इ वा सोणिए इ वा" इति पदद्वयं भगवत्यादिसूत्रे न दृश्यते,आगमज्ञैर्विचार्यमिति । (नो इणट्ठे०) नो नैव (इणट्ठे त्ति) अयमनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षोऽर्थो भावः समर्थो बलवान्, वक्ष्यमाणदूषणमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वात् । गौतमस्वामी प्राह-(से केणट्ठेणं ति) अथ केन कारणेनेत्यर्थः । हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते-जीवस्य गर्भगतस्य सतो नास्ति उच्चारो यावच्छोणितमिति ?। भगवान् प्राह-हे गौतम ! जीवः 'ण' वाक्यालङ्कारे,गर्भगतः सन् यदाहारमाहारयति तदाहारं श्रोत्रेन्द्रियतया १ चक्षुरिन्द्रियतया २ घ्राणेन्द्रियतया ३ जिह्वेन्द्रियतया ४ स्पर्शनेन्द्रियतया ५ चिनोति,पुष्टीभावं नयतीत्यर्थः । इन्द्रियाणि द्वैधानि-पुद्गलरूपाणि द्रव्येन्द्रियाणि १, लब्ध्युपयोगरूपाणि तु भावेन्द्रियाणि २ । पुनर्निर्वृत्त्युपकरणलक्षणभेदाद् द्वैधानि द्रव्येन्द्रियाणि । तत्र निर्वृत्तिर्द्विधा-अन्तो बहिश्च २, तत्रान्तः श्रोत्रेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये नेत्रगोचरातीता केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या शब्दग्रहणोपकारे वर्तते १ । चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति,या रूपग्रहणोपकारे वर्तते २ । घ्राणेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या गन्धग्रहणोपकारे वर्तते ३ । रसनेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये जिनगम्या क्षुरप्रहरणाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या रसग्रहणोपकारे वर्तते ४ । स्पर्शनेन्द्रियस्यान्तः केवलिदृष्टा देहाकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या स्पर्शग्रहणोपकारे वर्तते ५ । बहिर्निर्वृत्तिस्तु या सर्वेषामपि श्रोत्रादीनां कर्णशष्कुलिकादिका दृश्यते, सैव मन्तव्या । उपकरणेन्द्रियं तु तेषामेव कदम्बगोलकाकारादीनां खड्गस्य छेदनशक्तिरिव ज्वलनस्य दहनशक्तिरिव वा या स्वकीयस्वकीयविषयग्रहणशक्तिस्तत्स्वरूपं द्रष्टव्यम् २ । तथा ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् जीवस्य शब्दादिग्रहणशक्तिरूपं लब्धिभावेन्द्रियम् १। यत्तु शब्दादीनामेव ग्रहणपरिणामलक्षणं तदुपयोगभावेन्द्रियमिति २। तत्र यानि द्रव्येन्द्रियाणि तानि जीवानां पर्याप्तौ सत्यां भवन्ति, यानि च भावेन्द्रियाणि तानि संसारिणां सर्वावस्थाभावीनीति। तथा नयनस्य विषयोऽप्रकाशकवस्तुपर्वताद्याश्रित्यात्माङ्गुलेन सातिरेकं योजनलक्षं स्यात्। प्रकाशके त्वादित्यचन्द्राद्यधिकमपि विषयपरिमाणं स्यात्। नात्र विषये नियमः कोऽपि निर्दिष्टोऽस्ति सिद्धान्ते,यतः पुष्करवरद्वीपार्द्धमानुषोत्तरपर्वतसमीपे कर्कसङ्क्रान्तौ मनुष्याः प्रमाणाङ्गुलजैः सातिरेकैरेकविंशतियोजनलक्षैर्व्यवस्थितं रविं पश्यन्तः प्रोच्यन्ते शास्त्रान्तरे इति। जघन्यतस्त्वत्यासन्नरजोमलादेरग्रहणादङ्गुलसङ्ख्येयभागात्परतः स्थितं वस्तु चक्षुषो विषयः १। श्रोत्रस्य द्वादश योजनान्युत्कृष्टो विषयो मेघगर्जितादौ २। घ्राणरसनस्पर्शनानां तूत्कृष्टं नव योजनानि, जघन्यतस्तु चतुर्णामप्यङ्गुलमसङ्ख्येयभागादागतं गन्धादिकं विषयः। मनसस्तु केवलज्ञानस्येव समस्तमूर्ताऽमूर्तवस्तुविषयत्वेन क्षेत्रतो नास्ति विषयपरिमाणं,मनसोऽप्राप्यकारित्वादिति। विषयपरिमाणं चात्रेन्द्रियविचारे आत्माङ्गुलेनैव ज्ञेयमिति। तथा [अट्ठिअट्ठिमिंज] अस्थ्यस्थिमिञ्जकेशश्मश्रुरोमनखतया चिनोतीति । तत्रास्थि हड्डम्, अस्थिमिञ्जा अस्थिमध्यावयवः, केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चकेशाः,रोमाणि कक्षादिकेशा इति। 'से'अथानेनार्थेन अनेन कारणेन हे गौतम ! हे इन्द्रभूते ! एवं पूर्वोक्तं प्रोच्यते प्रकर्षेण प्रतिपाद्यते, जीवस्य गर्भगतस्य सतो नास्ति उच्चारो यावच्छोणितमिति ।

पुनर्गौतमो ज्ञातनन्दनं प्रश्नयति-

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे सव्वओ आहारेइ, सव्वओ परिणामेइ, सव्वओ ऊससेइ, सव्वओ नीससेइ, अभिक्खणं २ आहारेइ, अभिक्खणं २ परिणामेइ, अभिक्खणं २ ऊससेइ, अभिक्खणं २ नीससेइ, आहच्च आहारेइ, आहच्च परिणामेइ, आहच्च ऊससेइ, आहच्च नीससेइ, माउजीवरसहरणी पुत्तजीवरसहरणी, माउजीवपडिबद्धा

पुत्तजीवफुडा तम्हा आहारेइ तम्हा परिणामेइ अवरा वि य णं पुत्तजीवपडिबद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाइ, तम्हा उवचिणाइ. से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे नो पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए । जीवे णं गब्भगए समाणे किमाहारं आहारेइ ?। गोयमा ! जं से माया नाणाविहाओ रसविगईओ तित्तकडुयकसायंबिलमहुराइं दव्वाइं आहारेइ । तओ एगदेसेणं ओयमाहारेइ । "तस्स फलबिंटसरिसा, उप्पलनालोवमा हवइ नाभी ॥ रसहरणी जणणीए,सयाऽऽइ नाभीएँ पडिबद्धा" ॥१॥ नाभीए तीए गब्भो ओयं आईयइ अण्हयंतीए ओयाए तीए गब्भो विवड्ढेइ० जाव जाउ त्ति ।

(जीवे णं)हे भदन्त ! हे भवान्त ! हे दयैकरस ! कृतवाग्वृष्ट्याऽऽर्द्रीयितभव्यहृदयवसुन्धर ! जीवो गर्भगत. सन् प्रभु. समर्थ. मुखेन वक्त्रेण कवलैरेव कावलिकम् आहारमशनादिकम्(आहारित्तए त्ति)आहर्तुमदन कर्तुमिति?। आह जगदीश्वरः-हे गौतम! नाऽयमर्थ. समर्थ । श्रीगौतम. प्राह-(से) अथ केनार्थेन एव प्रोच्यते?। विश्वैकवत्सलो वीरः प्राह-हे गौतम ! जीवो गर्भगत. सन् (सव्वउ त्ति) सर्वात्मना सर्वप्रकारेण आहारयति, आहारतया गृह्णातीत्यर्थ । सर्वत. सर्वात्मना परिणामयति,शरीरादितया गृह्णातीत्यर्थ. । सर्वत सर्वात्मना उच्छ्वसिति,सर्वप्रकारेण ऊर्ध्वश्वास गृह्णातीत्यर्थ । सर्वत. सर्वात्मना नि श्वसिति, श्वासमोक्षण करोतीत्यर्थ. । अभीक्ष्ण पुन.पुनराहारयति, अभीक्ष्ण परिणामयति, अभीक्ष्णमुच्छ्वसिति,अभीक्ष्ण नि श्वसिति । (आहच्च त्ति)कदाचिदाहारयति कदाचिन्नाहारयति, तथास्वभावत्वात् । कदाचित् परिणामयति,कदाचिन्न परिणामयति. कदाचिदुच्छ्वसिति, कदाचिन्नोच्छ्वसिति, कदाचिन्नि श्वसिति, कदाचिन्न नि श्वसिति । अथ कथ सर्वत आहारयतीत्याह-(माउजीव०) रसो ह्रियते आदीयते यया सा रसहरणी. नाभिनालमित्यर्थः । मातृजीवस्य रसहरणी मातृजीवरसहरणी । किमित्याह—पुत्रजीवरसहरणी पुत्रस्य रसोपादाने कारणत्वात् । कथमेवमित्याह-मातृजीवप्रतिबद्धा सती सा यत (पुत्तजीवफुडा त्ति) पुत्रजीव स्पृष्टवती । इह च प्रतिबद्धता गाढसबन्धः, तदशत्वात् । स्पृष्टता च सबन्धमात्र, नदशत्वात् । अथवा मातृजीवरसहरणी १ पुत्रजीवरसहरणी २ चेति द्वे नाड्यौ स्त , तयोश्चाद्या मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टेति । (तम्ह त्ति) यस्मादेव तस्मान्मातृजीवप्रतिबद्धया रसहरण्या पुत्रजीवस्पर्शनात् आहारयति, तस्मात्परिणामयति । (अवरा वि य त्ति) पुत्रजीवरसहरण्यपि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा सती मातृजीव स्पृष्टवती यस्मादेव तस्माच्चिनोति शरीरम् । उक्त च तन्त्रान्तरे-"पुत्रस्य नाभौ मातुश्च,हृदि नाडी निबध्यते । ययाऽसौ पुष्टिमाप्नोति,केदार इव कुल्यया"॥१॥ इति । (से) अथानेनार्थेन हे गौतम ! एवं प्रोच्यते-जीवो गर्भगत. सन् न प्रभु समर्थ. मुखेन कावलिकमाहारमाहर्तुमिति । पुनर्गौतमो वीर प्रश्नयति-जीवो गर्भगत सन् किमाहारमाहारयति ?। गौतम ! [ज मे त्ति माया] से तस्य गर्भसत्त्वस्य माता गर्भधारिणी (नाणा) नानाविधा विविधप्रकारा रसरूपा। रसप्रधाना विकृतीर्दुग्धाद्या रसविकारास्ता आहारयति । तथा यानि तिक्तकटुकषायाम्लमधुराणि द्रव्याणि चाहारयति । तत्र तिक्तानि निम्बचर्भटादीनि १, कटुकानि आर्द्रकतीमनादीनि २, कषायाणि वल्लादीनि ३, अम्लानि आरनालकादीनि ४, मधुराणि क्षीरदध्यादीनि ५, [तओ एगदेसेण ति] तासां रसविकृत्यादीनामेकदेशस्तेन सह [ओय ति] ओजस शुक्रशोणितसमुदायरूपमाहारयति । यद्वा-त्वगेकदेशेन मातुराहारमोजसा मिश्रेण लोमभिर्वेति शेषमाहारयति । कथमित्याह-"तस्स फले इत्यादि यावज्जाउ त्ति" तस्य गर्भस्थजीवस्य [जणणीए त्ति] जनन्या मातुः नाभिरसहरणी नाभिनालमस्ति । किंभूता ?, फलवृन्तसदृशी, उत्पलनालोपमा च । पुनः किंभूता ?, [पडिबद्धा] गाढलग्ना, क-नाभौ, कथ ?, सदा 'आइ' वाक्यालङ्कारे । [तीए त्ति] तया (नाभीए त्ति)जननीनाभिप्रतिबद्धया रसहरण्या[गब्भो ओयं ति] गर्भ उदरस्थजन्तु', ओजस मातुराहारमिश्र शुक्रशोणितरूपम [आईयइ त्ति] आददाति गृह्णातीति । [अण्हयंतीए ओयाए तीए त्ति] तस्यां तया वा ओजनं कुर्वत्यां सत्यां भोजन कुर्वत्या वा ओजसा मातुराहारमिश्रेण शुक्रशोणितरूपेण गर्भो विवर्धते वृद्धिं याति यावज्जात इति । "भुजो भुञ्ज-जिम-जेम-कम्माऽण्ह-समाण-चमढ-चड्डा." । ८ । ४ । ११० । इति प्राकृतसूत्रेण भुजधातो. ' अण्ह ' इत्यादेशः ।

पुनर्गौतमो वीरदेव प्रश्नयति-

कइ णं भंते ! माउअंगा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तओ माउअंगा पण्णत्ता । तं जहा—मंसे सोणिए मत्थुलिंगे । कइ णं भंते ! पिउअंगा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तओ पिउअंगा पण्णत्ता । तं जहा—अट्ठिअट्ठिमिंजाकेसमंसुरोमनहा ।

(कइ णं भंते !) हे भदन्त ! णमिति वाक्यालङ्कारे, कति मातुरङ्गानि आर्तवबहुलानीत्यर्थः,प्रज्ञप्तानि ?। जगदीश्वरो जगत्त्राता जगद्भावविज्ञाता वीर आह–हे गणधरगौतम ! त्रीणि मातुरङ्गानि प्रज्ञप्तानि मयाऽन्यैश्च जगदीश्वरैः । तद्यथा-मांस पललम् १ शोणित रुधिरम् २ (मत्थुलिंगेति) मस्तक भेजकम् । अन्ये त्वाहुर्मेद फिप्फिसादि मस्तुलिङ्गमिति । त० । भ० ।

गर्भादपि किं केचिज्जीवा नरक देवलोक वा गच्छन्ति ?, इति गौतमो वीर प्रश्नयति-

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे नरएसु उववज्जिज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जिज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जिज्जा,अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा?। गोयमा ! जे णं जीवे णं गब्भगए समाणे सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वेउव्वियलद्धिपत्ते पराणीयं आगयं सुच्चा निसम्म पएसे निच्छुहइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता चउरंगिणिसिन्नं सन्नाहेइ,सन्नाहइत्ता पराणीएण सद्धिं संगामं संगामेइ,से णं जीवे अत्थकामए १ रज्जकामए २ भोगकामए ३कामकामए ४, अत्थकंखिए १ रज्जकंखिए २ भोगकंखिए ३ कामकंखिए ४, अत्थपिवासिए १ भोगपिवासिए २ रज्जपिवासिए ३ कामपिवासिए ४,तच्चित्ते १ तम्मणे २ तल्लेसे

३, तदज्झवसिए ४ तत्तिव्वज्झवसाणे ५ तदट्ठोवउत्ते ६ तदप्पियकरणे ७ तब्भावणाभाविए ८। एयंसि च णं अंतरंसि कालं करिज्जा नेरइएसु उववज्जिज्जा । से एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे णेरइए अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ॥

(जीवे णं गब्भ०) हे भदन्त ! जीवो गर्भगतः सन्, मृत्वेतिशेषः । नरकेषूत्पद्यते ?। हे गौतम ! अस्ति विद्यते (एगइ त्ति) एककः कश्चित् स गर्भः राजादिगर्भरूप उत्पद्यते, अस्ति अयं पक्षः–यदुत एककः कश्चिन्नोत्पद्यते, हे गौतम ! अस्ति विद्यते (एगइए त्ति) एककः कश्चित् । (से) अथ केनार्थेन हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते–जीवो गर्भगतः सन् नरकेषु अस्त्येकक उत्पद्यते,अस्त्येकको नोत्पद्यते ?। हे गौतम ! (जे णं त्ति) यो जीवः णमितिवाक्याऽलङ्कारे, गर्भगतः सन्, आहारादिका संज्ञा विद्यते यस्य स संज्ञी पञ्च इन्द्रियाणि श्रवण १ घ्राण २ रसन ३ चक्षु ४ स्पर्शन ५ लक्षणानि विद्यन्ते यस्य स पञ्चेन्द्रियः,सर्वाभिराहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनोलक्षणाभिः षड्भिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो,मासद्वयोपरिवर्तीत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् । यतो मासद्वयमध्यवर्ती मनुष्यो गर्भस्थो नरके देवलोकेऽपि न यातीत्युक्तं भगवत्याम् इति । पूर्वभविकवीर्यलब्ध्या पूर्वभविकविभङ्गज्ञानलब्ध्या पूर्वभविकवैक्रियलब्ध्या वैक्रियलब्धिं प्राप्तः सन्, यद्वा–वीर्यलब्धिकः विभङ्गज्ञानलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः,वैक्रियलब्धिं प्राप्तः सन् परानीकं शत्रुसैन्यम् आगतं प्राप्तं (सुच्चे त्ति) श्रुत्वा (निसम्म त्ति) निशम्य–मनसा अवधार्य (पएसे निच्छुभइ त्ति) स्वप्रदेशान् अनन्तानन्तकर्मस्कन्धानुविद्धान् गर्भवासाद्बहिः क्षिपति निष्काशयति,निष्काश्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां शरीरप्रमाणम्, आयामतः संख्येययोजनप्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं निसृजति, वैक्रियसमुद्घातेन (समोहणइ त्ति) समवहन्ति समवहतो भवति । तथाविधपुद्गलग्रहणार्थं समवहत्य चत्वारि गजाश्वरथपदातिलक्षणानि अङ्गानि विद्यन्ते यस्याः यस्यां वा सा चतुरङ्गिणी (सिन्न ति) सेना, कटकमित्यर्थः । (सन्नाहेइ त्ति) सज्जां करोतीत्यर्थः। सज्जां कृत्वा परानीकेन सार्द्धं संग्रामं संग्रामयति, युद्धं करोत्यर्थः। (से णं जीवे त्ति) णमितिवाक्यालङ्कारे, स युद्धकर्ता जीवः (अत्थकामए त्ति) अर्थे द्रव्ये कामो वाञ्छामात्रं यस्यासावर्थकामः १, एवमन्यान्यपि विशेषणानि । नवरं राज्यं नृपत्वं २, भोगा गन्धरसस्पर्शाः ३, कामौ शब्दरूपे ४। (अत्थकंखिए त्ति) काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः, अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा संजाता अस्येति अर्थकाङ्क्षितः, एवमन्यानि १ राज्यकाङ्क्षितः २ भोगकाङ्क्षितः ३ कामकाङ्क्षितः ४ । (अत्थपिवासिए त्ति) पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽप्यर्थे अतृप्तिः, अर्थेऽर्थस्य वा पिपासा संजाताऽस्येति अर्थपिपासितः, एवमन्यानि १ । राज्यपिपासितः २ भोगपिपासितः ३ कामपिपासितः ४ । (तच्चित्ते त्ति) तथाऽर्थराज्यभोगकामे चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्यासौ तच्चित्तः १ ।(तम्मणे त्ति) तत्रैवार्थादौ मनो विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः २ (तल्लेस्से त्ति) तत्रैवार्थादौ लेश्या आत्मपरिणामविशेषो यस्यासौ तल्लेश्यः ३,(तदज्झवसिए त्ति) इहाध्यवसायोऽध्यवसितं ४ (तत्तिव्वज्झवसाणे त्ति) तस्मिन्नेवार्थादौ तीव्रमारम्भकालादारभ्य प्रकर्षयायि अध्यवसानं प्रयत्नविशेषणलक्षणं यस्य स तत्तीव्राध्यवसानः ५। (तदट्ठोवउत्ते त्ति) तदर्थमर्थादिनिमित्तम् उपयुक्तोऽवहितस्तदर्थोपयुक्तः ५ ।(तदप्पियकरणे त्ति) तस्मिन्नेवार्थादौ अर्पितानि आहितानि इन्द्रियाणि कृतकारितानुमतिरूपाणि वा येन स तदर्पितकरणः ७। (तब्भावणाभाविए त्ति) असकृदनादौ संसारे तद्भावनया त्यक्त्वा अर्थादिसंस्कारेण भावितो यः स तद्भावनाभावितः ८। (एयंसि त्ति) एतस्मिन्, णमितिवाक्यालङ्कारे। चेद्यदि (अंतरंसि त्ति) संग्रामकरणावसरे कालं मरणं कुर्यात्तदा नरकेषु गाढदुःखाकुलेषु उत्पद्यते, नरभवं त्यक्त्वा महारम्भी मिथ्यादृष्टिर्नरके यातीत्यर्थः । ' से ' अथैतेनार्थेनैव प्रोच्यते हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् नरकेषु एककः कश्चिदुत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते इति ।

पुनर्गौतमो वीरं प्रश्नयतीत्याह–

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जिज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ?। गोयमा ! जे णं जीवे गब्भगए समाणे सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वेउव्विए य लद्धीए ओहिनाणलद्धीए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सुच्चा निसम्म तओ से भवइ तिव्वसंवेगसंजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरायरत्ते से णं जीवे धम्मकामए १ पुण्णकामए २ सग्गकामए ३ मुक्खकामए ४, धम्मकंखिए १ पुण्णकंखिए २ सग्गकंखिए ३ मुक्खकंखिए ४, धम्मपिवासिए १ पुण्णपिवासिए २ सग्गपिवासिए ३ मुक्खपिवासिए ४, तच्चित्ते १ तम्मणे २ तल्लेस्से ३ तदज्झवसिए ४, तत्तिव्वज्झवसाणे ५ तदप्पियकरणे ६ तयट्ठोवउत्ते ७ तब्भावणाभाविए ८। एयंसि णं अंतरं कालं करिज्जा देवलोएसु उववज्जिज्जा । से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ॥

(जीवे णं) जीवो हे भदन्त ! गर्भगतः सन् देवलोकेषु उत्पद्यते ?। हे गौतम ! अस्ति एककः कश्चिदुत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते । 'से' अथ केनार्थेन हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते–कश्चिदुत्पद्यते ?। हे गौतम ! यो जीवो गर्भगतः सन् संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः मासद्वयोपरिवर्तीत्यवधार्यं, मासद्वयमध्यवर्ती तु स्वर्गं न यातीति पूर्वभविकवैक्रियलब्धिकः पूर्वभविकावधिज्ञानलब्धिकः,तथारूपस्य तथाविधस्य,उचितस्येत्यर्थः । श्रमणस्य साधोः, वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रतिश्रमणमाह, न वचनयोस्तुल्यत्वप्रकाशनार्थं । (माहणस्स त्ति) मा हन मा हन इत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वाद्यः स माहनः,यद्वा–ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावाद् ब्राह्मणो देशविरतः,तस्य वा, यद्वा–श्रमणः साधुस्तस्य माहनः परमगीतार्थः,तस्य वा (अंतिए त्ति) समीपे एकमप्यास्तामनेकम् आर्यम् आराद् यातं पापकर्मभ्य इत्यार्यं,अत एव धार्मिकमिति।सुवचन

कर्णयं निशम्य मनसा अवधार्य (तउ त्ति) तदनन्तरमेव स गर्भस्थजन्तुः भवति जायते।(तिव्वसं०) तीव्रसंवेगेन भृशं दुःखलक्षाकुलभवभयेन संजाता सम्यग्गुणमा श्रद्धा श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तीव्रसंवेगसंजातश्रद्धः । (तिव्वध०) तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्मबहुमानस्तेन रक्त इव रञ्जित इव यः स तीव्रधर्मानुरागरक्तः, स गर्भस्थवैराग्यवान् जीवः, ण वाक्यालंकारे। (धम्मकामए त्ति) धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणे कामो वाञ्छामात्रं यस्य स धर्मकामकः १। पुण्ये तत्फलभूते शुभकर्मणि कामो यस्य स पुण्यकामकः । स्थानाङ्गे तु-अन्नपानवस्त्रालयशयनासनमनोवचनकायलक्षणं नवविधं पुण्यं प्रतिपादितं जगदीश्वरेण भगवतेति २। स्वर्गे देवलोके कामो यस्य स स्वर्गकामकः ३। मोक्षे शिवे अनन्तानन्तसुखमये कामो यस्य स मोक्षकामकः ४। एवमग्रेऽपि,नवरं काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः। धर्मे काङ्क्षा संजाताऽस्येति धर्मकाङ्क्षितः१,पुण्यकाङ्क्षितः२,स्वर्गकाङ्क्षितः३, मोक्षकाङ्क्षितः४,पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽपि धर्मेऽतृप्तिः,धर्मपिपासा संजाताऽस्येति धर्मपिपासितः १, पुण्यपिपासितः २, स्वर्गपिपासितः३,मोक्षपिपासितः४।'तच्चित्ते' इत्यादि सप्त विशेषणानि धर्मपुण्यस्वर्गमोक्षे शुभानि वाच्यानि। तच्चित्तः१ तन्मनाः २ तल्लेश्यः ३,तदध्यवसितः ४,तत्तीव्राध्यवसायः ५,तदर्थोपयुक्तः६,तदर्पितकरणः ७, तद्भावनाभावितः ८। (एयंसि णं ति) एतस्मिन् अन्तरे धर्मध्यानावसरे कालं मरणं (करिज्ज त्ति) कुर्याच्च तदा देवलोकेषु उत्पद्यते । (से) अथ तेनार्थेन हे गौतम ! एवमस्माभिः प्रोच्यते अस्ति एककः कश्चित् स्वर्गे उत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते इति । त० । भ० ।

गर्भाधिकारे पुनर्गौतमस्वामी वीरं प्रश्नयति—

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लए वा अंबखुज्जए वा, अच्छिज्ज वा, चिट्ठिज्ज वा, निसिइज्ज वा, तुयट्टिज्ज वा, आसइज्ज वा, सइज्ज वा, माउए सुयमाणीए सुयइ,जागरमाणीए जागरइ, सुहीयाए सुहीओ भवइ, दुहियाए दुक्खिओ भवइ ? । हंता गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे उत्ताणए वा० जाव दुक्खिओ भवइ ।

"थिरजायं पि हु रक्खइ,सम्मं सा रक्खइ तओ जणणी।
संवाहई तुयट्टइ, रक्खइ अप्पं च गब्भं च ॥१॥
अणुसुयइ सुयंतीए, जागरमाणीए जागरइ गब्भो ।
सुहियाइ होइ सुहिओ, दुहियाए दुक्खिओ होइ ॥ २ ॥
उच्चारे पासवणे, खेलं संघाणओ वि से नऽत्थि ।
अट्ठीयमिंजनहके-समंसुरोमेसु परिणामो ॥३॥
एवं बुंदिमइगओ, गब्भे संवसइ दुक्खिओ जीवो ।
परमतमसंऽधकारे, अमिज्झभरिए पएसं ति" ॥ ४ ॥

आउसो ! तओ नवमे मासे तीए वा पडुप्पन्ने वा अणागए वा चउण्हं माया अन्नयरं पयायइ । तं जहा-इत्थिं वा इत्थीरूवेणं १, पुरिसं वा पुरिसरूवेण २, नपुंसगं वा नपुंसगरूवेण ३ , बिंबं वा बिंबरूवेणं ४ । अप्पं सुक्कं बहुअं ओयं इत्थी तत्थ जायइ १, अप्पं ओयं बहुं सुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ २, दुण्हं पि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे नपुंसओ ३, इत्थीओ य समाओगे बिंबं तत्थ जायइ ॥

(जीवे णं भंते !) जीवो हे भदन्त ! गर्भगतः सन् [उत्ताणए वेति] उत्तानको वा सुप्तोऽनुमुखो वेत्यर्थः । [पासिल्लए वेति] पार्श्वशायी वा (अम्बरकुब्जए वेति) आम्रफलवत् कुब्ज इति (अच्छिज्ज त्ति) आसीनः सामान्यतः । एतदेव विशेषत उच्यते-(चिट्ठिज्ज वेति) ऊर्ध्वस्थानेन (निसीइज्ज वेति) निषदनस्थानेन (तुयट्टिज्ज वेति) शयीत निद्रयेति [आसइज्ज वेति] आश्रयति गर्भमध्यप्रदेशं [सइज्ज वेति] शेते निद्रां विना मात्रा मातरि वा [सुयमाणीए त्ति] शयनं कुर्वन्त्या कुर्वन्त्यां वा (सुयइ त्ति) स्वपिति निद्रां करोतीत्यर्थः, (जागरमाणीए त्ति) जागरणं कुर्वन्त्या कुर्वन्त्यां वा, जागर्ति निद्रानाशं कुरुते इत्यर्थः । सुखितया सुखितो भवति, दुःखितया दुःखितो भवति (हंता ! गोयम त्ति) हन्त इति कोमलामन्त्रणार्थः। दीर्घत्वं च मागधदेशीप्रजन्मुमयत्रापि। (जीवे णं गब्भगए समाणे इत्यादि) प्रत्युच्चारणं तु स्वानुमतत्वप्रदर्शनार्थम्। वृद्धाः पुनराहुः-'हंता गोयमा !' इत्यत्र हन्त इति एवमेतदिति अभ्युपगमवचनं यदनुमतं तत्प्रदर्शनार्थम् । 'जीवे णं गब्भगए' इत्यादि प्रत्युच्चारितमिति। हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् उत्तानको वा यावद् दुःखितो भवति इति। अथ पूर्वोक्तं पद्येन गाथाचतुष्टयेन दर्शयति इत्याह-[थिरजाय०] स्थिरेण निर्विघ्नेन जातं उत्पन्नो गर्भस्थिरजातस्तं [रक्खइ त्ति] रक्षति सामान्येन पालयति । ततः सा जननी तं सम्यग् यत्नादिकरणेन रक्षति । [संवाहइ त्ति] संवहति गमनाऽऽगमनादिप्रकारेण [तुयट्टइ त्ति] त्वग्वर्तयति, रक्षति आहारादिना पालयति आत्मानं, गर्भं च इति । [अणु०] अनुस्वापिति शेते । [सुयंतीए त्ति] स्वपत्यां सत्यां स्वपत्या सत्या वा जाग्रत्यां जाग्रत्या वा जागर्ति, गर्भे उदरस्थजन्तुः । जनन्याः सुखितया सुखितो भवति, दुःखितया दुःखितो भवति २। उच्चारो विष्ठा, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं, सिंघाणं नासिकाश्लेष्मापि [से] तस्य गर्भसत्त्वस्य गर्भस्थस्य नास्तीति जननीजठरस्थो जीव आहारत्वेन तु यद् गृह्णाति तदस्थ्यस्थिमिञ्जनखकेशश्मश्रुरोमेषु पूर्वव्याख्यातेषु [परिणामो त्ति] परिणमतीत्यर्थः ३ [एवं] एवमुक्तप्रकारेण [बुंदिम त्ति] शरीरमतिगतः प्राप्तः सन् गर्भे जननीकुक्षौ संवसति संतिष्ठते चारकगृहे चौरवत्। [दुक्खिओ जीवो त्ति] अग्निवर्णाभिः सूचीभिः भिद्यमानस्य जन्तोः यादृशं दुःखं जायते ततोऽष्टगुणं यद् दुःखं भवति तेन सदृशेन दुःखेन दुःखितो भवति जीवो गर्भे, किंभूते गर्भे ?, तमसा अन्धकारो यत्र तत् तमसन्धकारं, परमं च तत्तमसन्धकारं, महान्धकारमित्यर्थः। तस्मिन् अमेध्यभृते विष्ठापूर्णे प्रदेशे जीववसनस्थानके ४ इति, [आउसो ! तओ इत्यादि] हे आयुष्मन् ! हे इन्द्रभूते ! ततोऽष्टममासानन्तरं नवमे मासे अतीते वा अतिक्रान्ते वा प्रत्युत्पन्ने वा वर्तमाने वा अनागते वा अप्राप्ते चतुर्णां स्त्र्यादिरूपाणां वक्ष्यमाणानां माता जननी अन्यतरं चतुर्णां मध्ये एकतरं [पयायइ त्ति] प्रसूते,प्रसवं करोतीत्यर्थः। (तं जहा त्ति) तत्पूर्वोक्तं यथा स्त्रियं वा स्त्रीरूपेण स्त्र्याकारेण प्रसूते १, पुरुषं वा पुरुषरूपेण पुरुषाकारेण० २,नपुंसकं वा नपुंसकरूपेण नपुंसकाकारेण० ३,बिम्बं वा बिम्बरूपेण बिम्बाकारेण० ४ बिम्बमिति गर्भप्रतिबि-

स्व गर्भाकृतिरार्तवपरिणामो, न तु गर्भ एव । एते कथं जायन्ते इति आह-(अप्प०) अल्पशुक्रम [बहुय ति] बहुकं प्रभूतं [ओय ति] ऋतुरार्तवं, स्त्री तत्र गर्भाशये जायते उत्पद्यते १,अल्पमार्तवं बहुशुक्रं, पुरुषस्तत्र जायते २, द्वयोरपि रक्तशुक्रयोः रुधिरवीर्ययोः तुल्यभावे समत्वे सति नपुंसको जायते ३. (इत्थि त्ति) स्त्रिया नार्या. [ओय त्ति] ओजमा (समाओगे त्ति) समायोगो वातवशेन तत्स्थिरीभवनलक्षण स्त्र्योजःसमायोगस्तस्मिन् सति, विम्ब तत्र गर्भाशये प्रजायते ४ । तं० ।

कथं स्वपितिः-

अह णं पसवणकालसमयंसि सीसेण वा पाएहिं वा आगच्छइ, सममागच्छइ, तिरियमागच्छइ, विणिघायमावज्जइ ।

"कोइ पुण पावकारी, बारस संवच्छराइ उक्कोसं ।

अत्थइ उ गब्भवासे, असुइप्पभवे असुइयम्मि" ॥१॥

(अह णं इत्यादि) अथानन्तरं 'ण' वाक्यालङ्कारे, प्रसवकालसमये जन्मकालावसरे शीर्षेण वा मस्तकेन वा पादाभ्यां चरणाभ्यां वा आगच्छति,समागच्छति इति सममविषममागच्छति । " सम्म आगच्छइ त्ति " पाठे सम्यग् अनुपघातहेतुत्वादागच्छति, मातुरुदराद् योन्या निष्क्रामति (तिरियमागच्छइ त्ति) तिरश्चीनो भूत्वा जठरान्निर्गन्तु प्रवर्तते यदि तदा विनिघातं मरणमापद्यते,निर्गमाभावादिति। (कोइ पुण०) कोऽपि पुनः पापकारी ग्रामघातगर्भजठरविदारणजिनमुनिमहाशातनाविधायी,वातपित्तादिदूषितो, देवादिस्तम्भितो वेति शेषः। द्वादश संवत्सराणि उत्कृष्टतः (अत्थइ त्ति) तिष्ठति । तुशब्दाद् गर्भोक्त प्रबल दुःख सहमानोऽवतिष्ठते गर्भवासे गर्भगृहे, किंभूते ?, अशुचिप्रभवे अशुचिके अशुच्यात्मके इति । तं० । स्था० ।

गर्भान्निर्गतस्य च यत्स्यात्तदाह-

वण्णवज्झाणि य से कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं णिहित्ताइ कडाइं पट्ठवियाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं उदिण्णाइं णो उवसंताइं भवंति, तओ भवइ दुरूवे दुव्वण्णे दुग्गंधे दुरसे दुप्फासे अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे अणिट्ठस्सरे अकंतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे अमणुण्णस्सरे अमणामस्सरे अणाएज्जवयण पच्चायाए वि भवइ,वण्णवज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइ पसत्थं नेयव्वं०जाव आदेज्जवयण पच्चायाए वि भवइ सेवं भंते भंते ।

(वण्णवज्झाणि य त्ति) वर्णः श्लाघा, वध्यो हन्तव्यो येषां तानि वर्णवध्यानि, अथवा वर्णाद्बाह्यानि वर्णबाह्यानि, अशुभानीत्यर्थः । चशब्दो वाक्यान्तरत्वद्योतनार्थः । (से त्ति) तस्य गर्भनिर्गतस्य (बद्धाइ ति) सामान्यतो बद्धानि (पुट्ठाइ ति) पोषितानि गाढतरबन्धतो निधत्तानि उद्वर्तनाऽपवर्तनकरणवर्जशेषकरणयोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । अथवा बद्धानि, कथं,यतः पूर्वं स्पृष्टानीति (कडाइ ति) निकाचितानि, सर्वकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । (पट्ठवियाइ ति) मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसादिनामकर्मादिना सहोदयत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । (अभिनिविट्ठाइ ति) तीव्रानुभावतया निविष्टानि (अभिसमण्णागयाइ ति) उदयाभिमुखीभूतानि, ततश्च (उदिण्णाइ ति) उदीर्णानि स्वतः उदीरणाकरणेन वोदितानि । व्यतिरेकमाह-(णो उवसंताइ ति) अनिष्टादीनि व्याख्यातान्येवैकार्थानि वा (हीणस्सरे त्ति) अल्पस्वरः (दीणस्सरे त्ति) दीनस्येव दुःस्थितस्येव स्वरो यस्य स दीनस्वरः (अणादेयवयणपच्चायाए वि त्ति) इहैवमक्षरघटना प्रत्याजातश्चापि समुत्पन्नोऽपि चाऽनादेयवचनो भवति । भ० १ श० ७ उ० ।

ननु नवमासमात्रान्तरितमपि प्राक्तन भवं सामान्यजीवः किं न स्मरतीत्याह-

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो ।

तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइं न अप्पणो ॥ २ ॥

वीसरसरं रसंतो, सो जोणिमुहाउ निप्फिडइ जीवो ।

माऊए अप्पणो वि य, वेयणमउलं जणेमाणो ॥ ३ ॥

जायमानस्य गर्भान्निःसरमाणस्य उत्पद्यमानस्य वा दुःखं भवति, वा अथवा पुनर्म्रियमाणस्य पञ्चत्वं कुर्वाणस्य च दुःखं भवति, तेन दारुणदुःखेन संमूढो महामोहभावं प्राप्तः जातिप्राक्तनभवमात्मीयं स्वकीयं मूढात्मा प्राणी न स्मरति-कोऽहं पूर्वभवे देवादिकोऽभवमिति न जानातीति ॥२॥ (वीसरत्ति) परमकरुणामय (सर ति) स्वरं ध्वनिं (रसंतो त्ति) भृशं कुर्वन् स गर्भस्थो जीवो योनिमुखात् [निप्फिडइ त्ति] निष्क्रामति मातुरात्मनोऽपि च वेदनामतुलां जनयन् उत्पादयन् ॥ ३ ॥ तं० । महा० ।

गब्भघरयम्मि जीवो, कुंभीपागम्मि नरयसंकासे ।

वुत्थो अमिज्झमज्झे, असुइप्पभवे असुइयम्मि ॥ ४ ॥

पित्तस्स य सिंभस्स य, सुक्कस्स य सोणियस्स वि य मज्झे ।

मुत्तस्स पुरीसस्स य, जायइ जह वच्चकिमिउ व्व ॥ ५ ॥

[गब्भघ०] गर्भगृहे जीवः कुम्भीपाके कोष्ठिकाकृतितप्तलोहभाजनसदृशे नरकसदृशे नारकोत्पत्तिस्थानतुल्ये [वुत्थो त्ति] उपस्थितः स्थितः, अमेध्यं गूथं मध्ये यस्य गर्भस्य स अमेध्यमध्यः, तस्मिन् अशुचिप्रभवे जम्बालाद्युद्भवे अशुचिके अपवित्रस्वरूपे ॥ ४ ॥ [पित्त०] पित्तस्य 'सिम्भस्य' श्लेष्मणः शुक्रस्य शोणितस्य मूत्रस्य पुरीषस्य विष्ठाया मध्ये मध्यभागे जायते उत्पद्यते । क इव ? [वच्चकिमिउ व्व त्ति] वर्चस्कक्रमिकवत् विष्ठानिलड्डुकवत् । यथा कृमिर्द्वीन्द्रियजन्तुविशेषः उदरमध्यस्थविष्ठायामुत्पद्यते तथा जीवोऽपीति ॥ ५ ॥ तं० । स्था० ।

शौचादि गर्भगतस्य-

तं दाणि सोयकरणं, केरिसयं होइ तस्स जीवस्स ? ।

सुक्करुहिरागराओ, जस्सुप्पत्ती सरीरस्स ॥ ६ ॥

एयारिसे सरीरे, कलमलभरिए अमिज्झसंभूए ।

निययं वि गणिज्जंतं, सोयमयं केरिसं तस्स ? ॥ ७ ॥

(तं दा०)तत् (दाणि त्ति) इदानीं सांप्रतं शौचकरणं शरीरसंस्कारकरणं कीदृशं भवति तस्य गर्भनिर्गतस्य जीवस्य ? यस्य मनुष्यशरीरस्योत्पत्तिः प्रादुर्भावः शुक्ररुधिराकरात् वीर्यखनेः वर्तते इति ॥ ६ ॥ [एया०] एतादृशे शरीरे कलमलभृते उदरादिजलावटकर्मादिपूर्णे, अमेध्यसंभूते विष्ठासंभवे 'नियय विगणिज्जंत' इति पदद्वये 'सप्तम्या द्वितीया'

। ८ । ३ । १३७ । इति सप्तम्यर्थे द्वितीया । निजके आत्मीये [विगयिज्जतं इति] आत्मपरेषां जुगुप्सायोग्ये शौचमदं पवित्रत्वाङ्गीकारलक्षण यथा मयाऽस्य स्नानचन्दनादिना पवित्रत्वं विधेयमिति । यद्वा-शौचेन वस्त्रचन्दनाभरणादिना मदो गर्वो यत्र सनत्कुमारचक्रीवत् तच्छौचमद, यथा कीदृश मम शरीर शोभतेऽलङ्कारादिनेति । यदि वा-एवविधे शरीरे कुत्रापि रोगादिना विनष्टे शोकमद शोकाङ्गीकारकरणं, यथा-हा ! मम सुन्दर शरीर स्फोटकादिना विनष्टमिति कीदृश तस्य जीवस्येति ॥ ७ ॥ त० । (पञ्चप्रकारै' स्त्री गर्भ धरति न धरति च तत्र पुरुषाऽसयोगेऽपि गर्भसभव इति तु स्थानाङ्गे प्रोक्तमस्ति, तच्चास्मिन्नेव शब्दे ८३१ पृष्ठे तन्दुलवयालीय ११ गाथा-टीकायां समुद्धृतमिति न पुनरुच्यते)

अथ पुरुषसगताऽपि स्त्री कथ गर्भ न धरति ?-

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । त जहा-अप्पत्तजोव्वणा, अइक्कंतजोव्वणा, जाइवंझा, गेलन्नपुट्ठा, दोमणंसिया, इच्चेएहिं पचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । तं जहा-निच्चोउआ अणोउया वावन्नसोया वाविद्धसोया अणंगपडिसेविणी, इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणा वि गब्भं नो धरेज्जा । पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । तं जहा-उदुंसि णो णिगामपडिसेविणी वा वि भवइ, समागया वा से सुक्कपोग्गले पडिविद्धंसंति, उदिन्ने वा से पित्तसोणिए पुरा वा देवकम्मुणा पुत्तफले वा नो निविट्ठे भवइ, इच्चेएहिं० जाव नो धरेज्जा ॥

अप्राप्तयौवना प्राय आवर्षद्वादशकादार्तवाभावात् , तथाऽतिक्रान्तयौवना वर्षाणां पञ्चपञ्चाशत' पञ्चाशतो वा परत आर्तवाऽभावादेव (यतोऽवाचि-'मासि मासीत्यादिगाथात्रयम्'। तत्र तन्दुलवयालीय १३ गाथाटीकायां ८३१ पृष्ठेऽत्र भागे व्याख्यपि, नत एवावधार्यम्) तथा जातेर्जन्मत आरभ्य वन्ध्या निर्बीजा जातिवन्ध्या। तथा ग्लान्येन ग्लानत्वेन स्पृष्टा ग्लान्यस्पृष्टा रोगार्दिता। तथा दौर्मनस्य शोकाद्यस्ति यस्या सा दौर्मनसिका, तद्वा जातमस्या इति दौर्मनस्यितेति । "इच्चेएहिं इत्यादि" निगमनम्। नित्य सदा, न त्वहमेव, ऋतू रक्तप्रवृत्तिलक्षणो यस्याः सा नित्यर्तुका । तथा न विद्यते ऋतू रक्तरूप. शास्त्रप्रसिद्धो वा यस्या' सा अनृतुका, (कियत्यः खलु ऋतुनिशा', कस्यां कन्या, कस्यां च पुत्र' समुत्पद्यते, इत्यादि विषये " ऋतुस्तु द्वादश निशाः" इत्येतद् गाथात्रय ८३१ पृष्ठेऽत्रैव शब्दे प्रोक्तम्) तथा व्यापन्न विनष्ट रोगत' स्रोतो गर्भाशयच्छिद्रलक्षण यस्याः सा व्यापन्नस्रोता । तथा व्याविद्ध व्याविद्धं वा वातादिव्याप्तं विद्यमानमप्युपहतशक्तिक स्रोत उक्तरूप यस्या. सा व्याविद्धस्रोता, व्याविद्धस्रोता वा । तथा मैथुने प्रधानमङ्ग मेहन भगश्च तत्प्रतिषेधोऽनङ्गम्, तेनानङ्गेनाहार्यलिङ्गादिना अनङ्गे वा मुखादौ प्रतिषेधा अस्ति यस्या., अनङ्ग वा काममपरापरपुरुषसपर्कतोऽतिशयेन प्रतिषेवत इत्येवशीला अनङ्गप्रतिषेविणी, तथाविधवेश्यावदिति । ऋतौ ऋतुकाले नो नैव निकाममत्यर्थ बीजपातं यावत् पुरुष प्रतिषेवते इत्येवंशीला निकामप्रतिषेविणी , वापीति उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये। समागता वा (से) तस्यास्ते प्रतिविध्वसन्ते योनिदोषादुपहतशक्तयो भवन्ति, मेहनविस्रोतसा वा योनेर्बहि' पतन्तो विध्वसन्ते इति । उदीर्ण चोत्कट तस्या पित्तप्रधानं शोणित स्यात्-बीजामिति, पुरा वा पूर्वं वा गर्भावसराद् देवकर्मणा देवक्रियया देवताऽनुभावेन, शक्त्युपघात. स्यादितिशेष । अथवा देवश्च कार्मण च तथाविधद्रव्यसंयोगो देवकार्मण, तस्मादिति, पुत्रलक्षणं फल पुत्रफल, पुत्रो वा फलं यस्य कर्मणस्तत्पुत्रफल, तद्वा नो निविष्ट भवति, अलब्धमनुपात्त स्यादित्यर्थ' । " योवं वहु निवेस" इत्यादौ निर्वेशशब्दस्य लाभार्थस्य दर्शनात्। अथवा पुत्रं फल यस्य तत्पुत्रफल दानं तज्जन्मान्तरे अनिर्विष्टमदत्तं भवति, निर्विष्टस्य दत्तार्थत्वाद् । यथा 'नाऽनिविट्ठ लब्भइ' त्ति। स्था० ५ ठा० २ उ० ।

गर्भपतनकारणानि-

" पसुपक्खिमाणुसाण, बाले जो वि हु विओजए पावो ।
सो अणवच्चो जायइ, अह जायइ तो विवज्जिज्जा ॥ १३ ॥
तत्पङ्कना मया किं, त्यक्ता वा त्याजिता अधमबुद्ध्या ? ।
लघुवत्सानां मात्रा, सम वियोगः कृत किं वा ? ॥ १४ ॥
तेषां दुग्धापायोऽ-कारि मया कारितोऽथवा लोकैः ।
किं वा सबालकोन्दुर-बिलानि परिपूरितानि जलै. ॥ १५ ॥
किं वा साण्डशिशून्यपि, जगतीरूहानि प्रपातितानि भुवि ।
पिकशुककुर्कुटकादे-र्बालवियोगोऽथवा विहितः ॥ १६ ॥
किं वा बालकहत्याऽ-कारि सपत्नीसुताद्युपरि दुष्टम् ।
चिन्तितमचिन्त्यमपि वा, कृतानि किं कार्मणादीनि ? ॥ १७ ॥
किं वा गर्भस्तम्भन-शातनपातनमुख मया चक्रे ।
तन्मन्त्रभेषजान्यपि, किं वा मयका प्रयुक्तानि ? ॥ १८ ॥
अथवा भवान्तरे किं, मया कृत शीलखण्डन बहुशः ? ।
यदिद दु खं तस्मा-द्विना न संभवति जीवानाम् ॥ १९ ॥

यत'-

कुरंडरूडत्तणदुब्भगाई, वझत्तनिंदूविसकन्नगाई ।
लहंति जम्मतरभग्गसीला, नारूण कुज्जा दढसीलभावं"॥० कल्प० ४ क्षण ।

गर्भपोषणविधिः-

तए णं सा तिसला खत्तियाणी ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया तं गब्भं नाइसीएहिं नाइउण्हेहिं नाइतित्तेहिं नाइकडुएहिं नाइकसाइएहिं नाइअंबिलेहिं नाइमहुरेहिं नाइनिद्धेहिं नाइलुक्खेहिं नाइउल्लेहिं नाइसुक्केहिं सव्वत्तुभयमाणसुहेहिं भोयणच्छायणगंधमल्लेहिं ववगयरोगसोगमोहभयपरिस्समा, जं तस्स गब्भस्स हियं मियं पत्थं गब्भपोसणं तं देसे अ काले अ आहारमाहारेमाणी विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं पइरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए पसत्थदोहला सपुन्नदोहला सम्माणियदोहला अविमाणियदोहला वुच्छिन्नदोहला ववणीयदोहला सुहं सुहेणं आसइ, सयइ, चिट्ठइ, निसीअइ,तुयट्टइ,विहरइ, सुहं सुहेणं तं गब्भं परिवहइ ॥

'तए ण सा' इत्यादित 'परिवहे' इति यावत् । तत्र तत सा त्रिशला क्षत्रियाणी (राहाया कयबलिकम्मा) स्नाता, कृत बलिकर्म पूजा यया (कयकोउयमंगलपायच्छित्ता) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि यया सा, तथा सर्वालङ्कारैर्भूषिता सती, तं गर्भं नातिशीतैर्नात्युष्णैः नातितिक्तैर्नातिकटुकैः नातिकषायैर्नात्यम्लैर्नातिमधुरैः नातिस्निग्धैर्नातिरूक्षैः (नाइउल्लेहिं ति) नात्यार्द्रैः, नातिशुष्कैः, सर्वर्तुषु ऋतौ ऋतौ भज्यमाना सेव्यमाना य सुखहेतवो गुणकारिणः, तैः । तदुक्तम्–
"वर्षासु लवणममृत,शरदि जल गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, घृत वसन्ते गुरुश्चान्ते" ॥१॥ एवंविधैर्भोजनाच्छादनगन्धमाल्यैः, तत्र भोजन प्रतीतम्, आच्छादन वस्त्र, गन्धः पटवासादय, माल्यानि पुष्पमाला, तैर्गर्भं पोषयतीति शेष । तत्र नातिशीतत्वादय एव आहारादयो गर्भस्य हिता, न तु अतिशीतत्वादय, ते हि केचिद्वातिका, केचित् पैत्तिका, केचित् श्लेष्मकराश्च, ते च अहिता । यदुक्त वाग्भट्टे–
"वातलैश्च भवेद् गर्भः, कुब्जान्धजडवामनः ।
पित्तलैः स्खलतिः पिङ्गः, श्वित्री पाण्डुः कफात्मभिः" ॥ १ ॥

तथा–

"अनिलवण नेत्रहर-मतिशीत मारुत प्रकोपयति ।
अत्युष्ण हरति बल, अतिकाम जीवित हरति" ॥ १ ॥

अन्यच्च– मैथुन-यान-वाहन-मार्गगमन-प्रस्खलन-प्रपातन-प्रपीडन प्रधावना-ऽभिघात-विषमशयन-विषमासनो-पवास-वेगविघाता-ऽतिरूक्षा-ऽतितिक्ता-ऽतिकटुका-ऽतिभोजना-ऽतिरोगा-ऽतिशोका-ऽतिक्षार-सेवा-ऽतीसार-वमन-विरेचन-प्रेङ्खोलना-ऽजीर्णप्रभृतिभिर्गर्भो बन्धनान्मुच्यते, ततो नातिशीतत्वाद्यैराहाराद्यैस्त गर्भं सा पोषयतीति युक्तम् । अथ सा त्रिशला कथंभूता ?, (ववगयरोगसोगमोहभयपरिस्समा त्ति) रोगा ज्वराद्या, शोक इष्टवियोगादिजनित, मोहो मूर्च्छा, भय भीतिः, परिश्रमो व्यायामः, एते व्यपगता यस्या सा तथा, रोगादिरहिता इतिभाव । यत एते गर्भस्य अहितकारिणस्तदुक्त सुश्रुते–
"दिवा स्वपत्या स्त्रिया स्वापशीलो गर्भ, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टि, स्नानानुलेपनाद् दुःशील, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चल, हसनात् श्यामदन्तौष्ठतालुजिह्व, अतिकथनाच्च प्रलापी, अतिशब्दश्रवणाद् बधिरः, अवलेखनात् स्खलतिः, व्यजनक्षेपणादिमारुतायाससेवनादुन्मत्तः स्यात्" ।

तथा च कुलवृद्धा स्त्रियस्त्रिशलां शिक्षयन्ति–

"मन्द सचर मन्दमेव निगद व्यामुञ्च कोपक्रम,
पथ्य भुङ्क्ष्व बधान नीविमनघां मा माऽट्टहास कृथा ।
आकाशे भव मा सुशेष्व शयने नीचैर्बहिर्गच्छ मा,
देवी गर्भभरालसा निजसखीवर्गेण सा शिक्ष्यते" ॥ १ ॥

अथ सा त्रिशला पुनः किंकुर्वती ?, [जं तस्स गब्भस्सेत्यादि] यत्तस्य गर्भस्य हित तदपि मित न तु न्यूनम्, अधिक वा, पथ्य आरोग्यकारणम्, अत एव गर्भपोषक, तदपि देशे उचितस्थाने न तु आकाशादौ, तदपि काले भोजनसमये न तु अकाले आहारम् आहारयन्ती, [विविक्तमउएहिं सयणासणेहिं ति] विविक्तानि दोषरहितानि मृदुकानि कोमलानि यानि शयनासनानि, तैः, तथा [पइरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए त्ति] प्रतिरिक्ता अन्यजनापेक्षया निर्जना अत एव सुखा सुखकारिणी तथा, मनोऽनुकूलया मन प्रमोददायिन्या एवंविधया विहारभूम्या चङ्क्रमणासनादिभूम्या कृत्वा । अथ सा त्रिशला किंविशिष्टा सती तं गर्भं परिवहति ?, प्रशस्ता दोहदा गर्भप्रभावोद्भूता मनोरथा यस्या सा तथा । ते चैवम्–

"जानात्यमारिपटह पटु घोषयामि,
दान ददामि सुगुरून् परिपूजयामि ।
तीर्थेश्वरार्चनमह रचयामि सङ्घे,
वात्सल्यमुत्सवभृत बहुधा करोमि ॥ १ ॥
सिंहासने समुपविश्य धृतातपत्रा,
सवीज्यमानसविधा सितचामराभ्याम् ।
आज्ञेश्वरत्वमुदिताऽनुभवामि सम्यग्,
भूपालमौलिमणिलालितपादपीठा ॥ २ ॥
आरुह्य कुञ्जरशिरः प्रचलत्पताका,
वादित्रनादपरिपूरितदिग्विभागा ।
लोकैः स्तुता जयजयेति रवैः प्रमोदा–
दुद्यानकेलिमनघां कलयामि जाने" ॥ ३ ॥ इत्यादि ।

पुन सा किंविशिष्टा ?, सपूर्णदोहदा सिद्धार्थराजेन सर्वमनोरथपूरणात्, अत एव समानितदोहदा पूर्णीकृत्य तेषां निर्वर्तितत्वात्, तत एव अविमानितदोहदा, कस्यापि दोहदस्य अवगणनाऽभावात् । पुनः किंविशिष्टा ?, व्युच्छिन्नदोहदा पूर्णवाञ्छितत्वात्, अत एव व्यपनीतदोहदा, सर्वथा असद्दोहदा (सुह सुहेण त्ति) सुख सुखेन गर्भानाबाधया (आसइ त्ति) आश्रयति आश्रयणीय स्तम्भादिकमवलम्बते (सयइ त्ति) शेते निद्रा करोति (चिट्ठइ त्ति) ऊर्ध्वं तिष्ठति (निसीयइ त्ति) निषीदति आसने उपविशति [तुयट्टइ त्ति] त्वग् वर्तयति निद्रां विना शय्यायां शेते इत्यर्थः । [विहरइ त्ति] विहरति कुट्टिमतले विचरति, अनेन प्रकारेण च सुख सुखेन त गर्भं परिवहतीति ॥९५॥ कल्प०४ क्षण । तं० ।
"गर्भे वातप्रकोपेण, दौर्हृदे चावमानिते । भवेत्कुब्जः कुणिः पङ्गु, मूको मिन्मिन एव वा" ॥१॥ आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ० । ('कायट्ठिइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४६१ पृष्ठे उदकगर्भादीनां कायस्थितिर्निरूपिता) कुक्षौ, नाटकसन्धिभेदे, पनसकण्टके, अपवरके, "भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां, यावदाप्लवते जलम् । तावद् गर्भं विजानीयात्" उक्ते भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां गङ्गाजलप्लावनस्थाने, अन्ने, अग्नौ, पुत्रे च । वाच० ।

गब्भकरा–गर्भकरी–स्त्री० । गर्भाधानविधायिन्यां विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गब्भगरा–गर्भकरी–'गब्भकरा' शब्दार्थार्थे, सूत्र०२ श्रु०२ अ० ।

गब्भघरक–गर्भगृहक–न० । गर्भगृहाकारे, रा० । ज० जी० । मोहनगृहस्य रतिगृहस्य मोहजनकगृहस्य वाऽन्तर्भवने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गब्भघरग–गर्भगृहक–'गब्भघरक' शब्दार्थार्थे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ० ।

गब्भट्ठिइ–गर्भस्थिति–स्त्री० । गर्भस्थितिविचारे 'दुचउछक्के' गाथाधिकारे सप्तमजिनस्याष्ट मासा एकोनविंशतिदिनानि च, तत्कथं घटते ?, 'दुचउछ' गाथायां पष्णां जिनानामष्टमासादि कथितमस्त्येव तु सप्त ज्ञायत इति प्रश्ने, उत्तरम्–'दुचउछ' गा-

थायाः सप्तमस्थाने शेषजिनग्रहणं कृतमस्ति, तेन 'मासा अट्ठ नव' इत्यत्र षण्मामष्टौ मासाः, शेषजिनानां च नव मासा उक्ताः सन्ति, तेन सप्तमजिनस्य नव मासा एकोनविंशतिदिनानि गर्भस्थितिरितिबोध्यम् ११४ प्र०। सेनप्र०२ उल्ला०।(तित्थयर शब्दे विस्तरोऽस्य द्रष्टव्यः)मत्स्यकच्छपवृषभमहिषशुकसारसादिजलचरस्थलचरखचरतिरश्चामायुषो गर्भे स्थितिश्च कियती परमितिरिति प्रश्ने, उत्तरम्-जलचरस्थलचरखचरतिरश्चामायुर्मान 'गब्भनुअजलयरोभय' इत्यासग्रहणीगाथातो "मणुआऊ समगयाई हयाइ चउरसजाउअट्ठंस ॥ गोमहिसुट्ठखराई, पणस साणाइदस मस" ॥१॥ इति "वीरं जय सेहरपय, इति क्षेत्रविचारगाथातश्चावसेयम् । तेषां गर्भस्थितिमानं तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतश्चाष्टौ वर्षाणीति भगवत्यादौ प्रतिपादितमस्तीति । ४१० प्र० सेनप्र० ३ उल्ला० ।

गब्भत्थ-गर्भस्थ-पु० । मनुष्ये, तिर्यग्योनिके च गर्भव्युत्क्रान्तिके, स्था० २ ठा० २ उ० ।

दोएहं गब्भत्थाणं आहारे पन्नत्ते । तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव । 'दोएहं गब्भत्थाणं वुड्ढी पन्नत्ता । तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव । एवं निवुड्ढी विगुव्वणा गइपरियाए समुग्घाए कालसंयोगे आयाइ मरणे ।

द्वयोरेव गर्भस्थयोराहारोऽन्येषां गर्भस्यैवाभावादिति, वृद्धिः शरीरोपचयः निर्वृद्धिस्तद्धानिर्वातपित्तादिभिः, नि शब्दस्याभावार्थत्वात्, निरुदरा कन्येत्यादिवत् । वैक्रियलब्धिमतां विकुर्वणा । गतिपर्यायश्चलनं, मृत्वा वा गत्यन्तरे गमनलक्षणो यश्च वैक्रियलब्धिमान् गर्भान्निर्गत्य प्रदेशतो बहिः संग्रामयति स वा गतिपर्यायः। उक्तञ्च भगवत्याम्-"जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं । गोयमा ! से णं सन्निपंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धिए वेउव्वियलद्धिए पराणीयमागयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, निच्छुभइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहएइ, चाउरंगिणिं सिन्नं विउव्वइ, विउव्वइत्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएण सद्धिं संगामं संगामेइ " इत्यादि समुद्घातो मारणान्तिकादिः । कालसंयोगः कालकृतावस्था, आयातिर्गर्भान्निष्क्रमः । मरणं प्राणत्यागः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गर्भार्थ-पु० । हृदयगतार्थे भावार्थे, षो० १६ विव० ।

गब्भदंसि(ण्)-गर्भदर्शिन्-त्रि०। गर्भद्रष्टरि गर्भवासिनि, आचा० ।

जे मोहदंसी से गब्भदंसी, (जे गब्भदंसी से जम्मदंसी)।

यो हि मोहरूपनो वेत्त्यर्थपरित्यागरूपत्वात् ज्ञानस्य परिहरति चेति, यदि वा यो मोहं पश्यत्याचरति स गर्भमपि पश्यति, गर्भे वसतीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

गब्भपोसण-गर्भपोषण-न० । गर्भपोषके, प्र० ११ श० ११ उ० ।

गब्भमास-गर्भमास-पु० । कार्तिकादौ यावद् माघमासे, यत्र उदकगर्भा भवन्ति । व्य० ७ उ० । गर्भस्य तदारम्भस्य मासस्तत्सहितो मासः । गर्भारम्भमासे, गर्भसहिते मासे च । वाच० ।

गब्भर-गह्वर-त्रि० । गहने, आव० ४ अ० । दम्भे, वने, निकुञ्जे, पु० । रोदने, विषमस्थाने, अनेकार्थसङ्कुले च । न० । गुहायाम्, न० स्त्री० । वाच० ।

गब्भय-गर्भज-त्रि० । स्त्रीगर्भोत्पन्ने गर्भव्युत्क्रान्तिके, अनु० ।

गब्भवकंति-गर्भव्युत्क्रान्ति-स्त्री० । गर्भाशये उत्पत्तौ, स्था० ।

दोएहं गब्भवक्कंती पन्नत्ता । तं जहा—मणुस्साणं चेव, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव ।

तेषां गर्भे गर्भाशये व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्गर्भव्युत्क्रान्ति', मनोरपत्यानि मनुष्यास्तेषां, तिरोऽञ्चन्ति गच्छन्तीति तिर्यञ्चस्तेषां सम्बन्धिनी योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते तिर्यग्योनिकाः ते चैकेन्द्रियादयोऽपि भवन्ति इति विशिष्यन्ते, पञ्चेन्द्रियाश्च तिर्यग्योनिकाश्चेति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्तेषाम् । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गब्भवकंतिय-गर्भव्युत्क्रान्तिक-पु० । गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां, व्युत्क्रान्तिशब्दोऽत्रोत्पत्तिवाची, तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्धेः । यदि वा गर्भाद् गर्भावासाद् व्युत्क्रान्तिर्निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः । 'शेषाद्वा' ७।३।१७५। इति कच् समासान्तः । प्रज्ञा० १ पद । न० । जी० । गर्भजे मनुष्ये, तिरश्चि च । अनु० । स्था० । गर्भव्युत्क्रान्तिकमानुष्यास्त्रिधा-कर्मभूमिजा अकर्मभूमिजा अन्तर्द्वीपजाश्चेति । स० । प्रज्ञा० ।

गब्भवासवसहि-गर्भवासवसति-स्त्री० । गर्भाश्रयनिवासे, औ० ।

गब्भसाहरण-गर्भसंहरण-न० । गर्भस्य उदरसत्त्वस्य संहरणमुदरान्तरसंक्रामणं गर्भसंहरणम् । भगवतो महावीरस्य पुरन्दरादिष्टेन हरिनैगमेषिदेवेन देवानन्दाभिधानब्राह्मण्युदरात् त्रिशलाभिधानाया राजपत्न्या उदरान्तरे संक्रामणे, स्था० १० ठा० ('वीर' शब्दे चैतत्स्पष्टीभविष्यति) गर्भान्तरसंक्रमणमात्रे च । भ० ।

अत्र प्रश्नोत्तरे-

हरी णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कदूए इत्थीगब्भं साहरमाणे किं गब्भाओ गब्भं साहरइ, १ गब्भाओ जोणिं साहरइ २, जोणीओ गब्भं साहरइ ३, जोणीओ जोणिं साहरइ ४?। गोयमा ! नो गब्भाओ गब्भं साहरइ १, नो गब्भाओ जोणिं साहरइ २, नो जोणीओ जोणिं परामुसिय परामुसिय अव्वाबाहेणं अव्वाबाहं जोणीओ गब्भं साहरइ। पभू! णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कस्स णं दूए इत्थीए गब्भं नहसिरंसि वा रोमकूवंसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा ?। हंता। पभू! नो चेव णं तस्स गब्भस्स किंचि आवाहं वा विवाहं वा उप्पाएज्जा छविच्छेदं पुण करेज्जा ए सुहुमं च णं साहरिज्ज वा नीहरिज्ज वा ॥

इह च यद्यपि महावीरसविधानाभिधायकं पदं न दृश्यते, तथापि हरिनैगमेषीति वचनात् तदेवानुमीयते, हरिनैगमेषिणा भगवतो गर्भान्तरे नयनात् । यदि पुनः सामान्यतो गर्भहरणविवक्षाऽभविष्यत्तदा 'देवे णं भंते!' इत्यवक्ष्यदिति । तत्र हरि-

रिन्द्र., तत्सम्बन्धित्वाद् हरिनैगमेषीति नाम। (सक्कदूय त्ति) शक्रदूत., शक्रादेशकारी पदात्यनीकाधिपतिः, येन शक्रादेशाद्भगवान्महावीरो देवानन्दागर्भात् त्रिशलागर्भे संहृत इति। (इत्थीगब्भ त्ति) स्त्रिया सम्बन्धी गर्भः सजीवपुद्गलपिण्डक स्त्रीगर्भस्तं (साहरमाणे त्ति) अन्यत्र नयन्। इह चतुर्भङ्गिका-तत्र गर्भाद् गर्भाशयादवधेर्गर्भ गर्भाशयान्तरं संहरति प्रवेशयति, गर्भं सजीवपुद्गलपिण्डलक्षणमिति प्रकृतमित्येका १। तथा गर्भादवधेर्योनिं गर्भनिर्गमद्वारं संहरति, योन्योदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः २। तथा योनितो योनिद्वारेण गर्भं संहरति, गर्भाशयं प्रवेशयतीत्यर्थः ३। तथा योनितो योनेः सकाशाद् योनिं संहरति नयति, योन्योदरान्निष्काश्य योनिद्वारेणैवोदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः ४। एतेषु शेषनिषेधेन तृतीयमनुजानन्नाह-(परामुसियत्यादि) परामृश्य परामृश्य तथाविधकरणव्यापारेण सम्पृश्य संस्पृश्य स्त्रीगर्भमव्याबाधमव्याबाधेन सुखं सुखेनेत्यर्थः, योनितो योनिद्वारेण निष्काश्य गर्भं गर्भाशयं संहरति। गर्भमिति प्रकृतं, यच्चेह योनितो निर्गमनं स्त्रीगर्भस्योक्तं तल्लोकव्यवहारानुवर्तनात्। तथाहि-निष्पन्नोऽनिष्पन्नो वा गर्भः स्वभावाद् योन्यैव निर्गच्छतीति। अथ च तस्य गर्भस्य संहरणे आबाधा स्यात्। अथ तत्सामर्थ्यं दर्शयन्नाह-'पभू ण' इत्यादि। (नहसिरंसि त्ति) नखाग्रे (साहरित्तए त्ति) संहर्तुं प्रवेशयितुं (नीहरित्तए त्ति) निर्भेदपरिणामेन नखाशिरसो रोमकूपाद्वा निहर्तुं निष्काशयितुं (आबाह त्ति) ईषद्बाधां (विबाह त्ति) विशिष्टबाधां (छविच्छेद त्ति) शरीरच्छेदं पुनः कुर्यात्, गर्भस्य हि छविच्छेदमकृत्वा नखाग्रादौ प्रवेशयितुमशक्यत्वात्। (एसु हुमं च णं ति) इति सूक्ष्ममिति येन लघिष्ठमिति। भ० ५ श० ४ उ०।

गब्भाइदिण-गर्भादिदिन-न०। गर्भनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसेषु, पञ्चा० ६ विव०।

गब्भिज्ज-गार्भेय-त्रि०। गर्भे भवा गार्भेया। नौगर्भे उत्पन्नाप-ध्वर्मकारिषु, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

गब्भिण-गर्भित-त्रि०। "गर्भितातिमुक्तके ण"। ८। १। २०८। इति तस्य णः। जातगर्भे, प्रा० १ पाद।

गब्भिय-गर्भित-त्रि०। अनिर्गतशीर्षके, दश० ७ अ०। जातगर्भे, रोमन्थिते, वृक्षादौ, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। आचा०।

गभेज्ज-गार्भेय-त्रि०। 'गब्भिज्ज' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

गम-गम-पुं०। वस्तुन्यवच्छेदे, अनु०। सूत्र०। बोधे, विशे०। अभिधानाभिधेयवशतोऽर्थपरिच्छेदे, न०। स्था०। स०। व्याख्याने, विशे०। गणितादिविशेषे, विशे०। आ० म०। सदृशपाठे, विशे०। आ० म०। चतुर्विंशतिदण्डकादौ, आव० ५ अ०। वाचनाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। पथिनि, स्था० ७ ठा०। जिगीषोर्यात्रायाम, द्यूतभेदे, वाच०। गमने च। आचा०।

गमग-गमक-त्रि०। गमयति गम्-णिच् ण्वुल्। गमयितरि, बोधके, वाच०। प्रापके, विशे०।

गमण-गमन-न०। गम् ल्युट्। गतौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आचा०। भ्रान्तियत्नादिष्टैः प्रयोगविभागकरणे नैयायिकसम्मततर्कभेदे, सम्म० २ काण्ड। हंसगत्या चङ्क्रमणे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। अयतोऽन्यत्र (दश० ४ अ०) परिभ्रमणे, स०। ('विहार' शब्दे गमनविधिं साधूनां वक्ष्यामि) गमननक्षत्राणि-"पुस्सो हत्थो अणुराह मिगसिर वे-इहि य हत्थो तहेव चित्ता य। अणुराह जिट्ठ मूला, नव नक्खत्ता गमणसिद्धा" ॥११॥ द० प० ८ प०। "गतं न गम्यते तावद्गतं नैव गम्यते। गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यमानं तु गम्यते" ॥१॥ विशे०। सूत्र०। स्वाध्यायादिनिमित्तं वसतेर्निष्क्रमणे, "गमणागमणे पाणक्कमणे बीयक्कमणे" आव० ४ अ०। जिगीषोः प्रयाणे, वाच०। ध०। व्याख्याने, विशे०। वेदने, न०। आ० म०। प्राप्तौ च। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

गमणगुण-गमनगुण-पुं०। गमनं गतिः, तद्गुणो गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां सहकारिकारणभावतः कार्यमस्यानां जलमेव यस्यासौ गमनगुणः। गमने वा गुण उपकारो जीवादीनां यस्मादसौ गमनगुण इति। स्था० ८ ठा०। मत्स्यानां जलमिव जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भहेतौ गुणतः पुद्गलास्तिकाये, भ० २ श० १० उ०।

गमणमंडल-गमनमण्डल-न०। सूर्यस्य गमनयोग्ये मण्डले, ज्यो० ४ पाहु०।

गमणया-गमनता-स्त्री०। स्वार्थिकस्तुमर्थे ताप्रत्ययः। "गमणे लोगंतगमणयाए" गमनतायै, गमनाय, गन्तुमित्यर्थः। गमनतायै गन्तुमिति छान्दसत्वेन तुमर्थे युट् प्रत्ययः। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

गमणमज्ज-गमनमज्ज-त्रि०। गमनप्रवणे, रा०।

गमणागमण-गमनागमन-न०। प्रज्ञापकप्रतीत्याऽन्यस्थानाद् गमनमागमनं गन्तुः प्रत्यागतस्य, गमनं चागमनं च गमनागमनम्। नि० चू० ११ उ०। हस्तशताद् बहिर्गमनादौ, जीत०। "गमणागमणाए पडिक्कमइ त्ति" ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतीत्यर्थः। भ० १२ श० १ उ०।

गमणागमणविहार-गमनागमनविहार-न०। गमनं च प्रत्याख्यानमालयान्निर्गमः, आगमनं च प्रत्यावृत्तिर्विहारश्च ग्रामान्तर्गमनं स्वाध्यायादिनिमित्तं वसत्यन्तर्गमः। समाहारद्वन्द्वः। गमनादित्रिके ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणविषये, पञ्चा० १७ विव०।

गमणिया-गमनिका-स्त्री०। संक्षिप्तव्याख्याने, स्था० १० ठा०।

गमणी-गमनी-स्त्री०। गमनप्रकर्षसाधिकायां विद्याधरविद्यायाम, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

गमय-गमक-पुं०। 'गमग' शब्दार्थार्थे, विशे०।

गमिय-गमिक-न०। गम-अस्त्यर्थे ठक्प्रत्ययः। भङ्गयुक्ते, श्रुतविशेषे, आ० चू० १ अ०।

भंग-गणियाइ गमियं, जं सरिसगमं च कारणवसेण।
गाहाइ अगमियं खलु, कालियसुय दिट्ठिवाए वा ॥५४९॥

गमाः भङ्गकाः गणितादिविशेषाश्च तद्बहुलं तत्संकुलं गमिकम्। अथवा-गमाः सदृशपाठास्ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद्गमिकं, तच्चैवंविधं प्रायो दृष्टिवादे इत्येवपर्यन्ते। दृष्टिवादपदमत्र सम्बध्यते। यत्र प्रायो गाथाश्लोकवेष्टकाद्यसदृशपाठात्मकं तदगमिकम्। तच्चैवंविधं प्रायः कालिकश्रुतमिति गाथार्थः ॥ ५४९ ॥ विशे०। आ० म०। वृ०।

गमित-त्रि०। प्रदर्शिते, उपनीते, अर्पिते, आ० चू० १ अ०।

गमेप्पिणु-गत्वा-अव्य०। अपभ्रंशे यात्वेत्यर्थे, "गमेरेप्पिण्वेप्प्योरे-

सुंन्वा"॥ ८ । ४ । ४४२॥ अपभ्रंशे गमेर्धातो. परयोरेप्पिणु-एप्पि इत्यादेशयोरेकारस्य लुग् वा भवति । इति लोपाभावपक्षे "गग गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिवतित्थ गमेप्पि ।" प्रा० ४ पाद ।

गमेस-गवेष-धा० । अन्वेषणे, अद्-चुरा० आत्म० सेट्। "गवेषेर्दुदुल्ल-ढंढोल-गमेस-घत्ता ।८।४।१८९। इति गवेषेर्गमेसाऽऽदेशः। "गमेसइ-गवेषयते" प्रा० ४ पाद ।

गम्मधम्म-गम्यधर्म-पु० । लौकिकधर्मभेदे,स च यथा दक्षिणापथे मातुलकन्या गम्या, उत्तरापथे पुनरगम्या । दश० १ अ० । ग्राम्यधर्म-पु० । ग्राम्यस्य प्राकृतस्य हालिकादेर्धर्म. । व्यवाये, मैथुने, वाच० ।

गम्ममाण-गम्यमान-त्रि० । गम्-कर्मणि यक्, शानच्। "गमादीनां द्वित्वम्" । ८। ४ २४९ । इति कर्मणि अन्त्यस्य द्वित्वम् । प्राप्यमाणे, प्रा० ४ पाद ।

गम्मागम्मविभाग-गम्यागम्यविभाग-पुं० । गम्यागम्ये लोकमतीते। तयोर्विभागः आसेवनपरिहाररूपः । विषयानियमने, "गम्यागम्यविभाग,त्यक्त्वा सर्वत्र वर्तते जन्तुः" । षो०४विव०।

गय-गज-पु० । स्त्री० । गजभेदे, अद् । हस्तिनि, तं० । दश० । पिं० । प्रव० । औ० । "गेसाय सत्तम गओ" । अनु० । गजसुकुमाले, अन्त० ३ वर्ग ।

गत-त्रि० । व्यवस्थिते, स्था० १० ठा० औ०। स्थिते, मनोगत मनसि स्थितमिति । उत्त० १ अ० । ज्ञा० । आ० म० । प्राप्ते, उत्त० १६ अ० । सूत्र० । आतु० । प्रवृत्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रविष्ट, स्था० ४ ठा० १ उ० । अतीते, समासे, पतिते, वाच० । भावे क्त । गमने, आचा० १ श्रु० ३ अ० । च० प्र० । रा० । सविलाससङ्क्रमणे, चं० प्र० २० पाहु० । जी० ।

गद-पु० । अद् । रोगे, मेघध्वनौ, कुष्ठे, विषभेदे, न० । वाच० ।

गयंक-गजाङ्क-पु० । दिक्कुमारेषु, औ० ।

गयकण्ण-गजकर्ण-पु० । आभाषिकद्वीपस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च । जी० ३ प्रति० । प्रव० । उत्त० । स्था० । न० । कर्म० । प्रज्ञा० । ('अन्तरदीव' शब्दे प्र० भा० ८९ पृष्ठे प्रदर्शित चैतत्) अनार्यक्षेत्रभेदे, तज्ज मनुष्ये च । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रव० ।

गयकरेणु-गजकरेणु-गजकलभिकायाम्, तं० ।

गयकलभ-गजकलभ-पु० । हस्तिशावके , रा० ।

गयगय-गजगत-त्रि० हस्त्यारूढे, औ० ।

गयग्गपय-गजाग्रपद-न० । स्वाभिधेयतां प्राप्ते दशार्णकूटे, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

"गजाग्रपदतोत्पत्ति , शैलस्यैवमभून्मुने ।
गर्वं दशार्णभद्रस्य, हर्तुं शक्र समागम ॥ १८॥
गजेन्द्रारूढ एवाथ, त्रि प्रादक्षिणयत्प्रभुम ।
ततो दशार्णकूटाख्ये, तत्पदान्युत्थितान्यगे ॥ १९ ॥
देवानुभावाद् ख्यातोऽथ, गजेन्द्रपद इत्यसौ ।
तस्मिन्नद्रामुनिर्भक्त, प्रत्याख्याय दिवं ययौ" ॥२०॥ आ० क०।
आ० चू० । आव० । आ० म० ।

गयचरणमलण-गजचरणमलन-न० । हस्तिपादैः पीडयित्वा प्राणनाशने, स० । "अण्णे य गयचलणमलणखिम्माहिया कीरंति" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गयजूहियट्ठाण-गजजूथिकस्थान-न० । गजजूथं यत्र तिष्ठति तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० ११ उ० ।

गयजोव्वण-गतयौवन-त्रि० । अतिक्रान्तद्वितीयवयसि, वृद्धप्राय इत्यर्थः । पं० व० १ द्वार ।

गयणगइ-गगनगति-पुं० । बहूत्सवनगरपतिगगनमण्डलनृपपुत्रे, दर्श० ।

गयणमण्डल-गगनमण्डल-पुं० । स्वनामख्याते बहूत्सवनगरराजे, दर्श० ।

गयदंत-गजदन्त-पु० । करिदन्ते, रा० । ज्येष्ठाया गजदन्तसस्थानम् । ज० १ वक्ष० ।

गयदंतसमाण-गजदन्तसमान-त्रि० । गजदन्ताकारे, रा० ।

गयपंति-गजपङ्क्ति-स्त्री० । क्रमव्यवस्थितहस्तिसमूहे, भ०११ श० ६ उ० ।

गयपतिया-गतपतिका-स्त्री० । विधवायाम्, औ० ।

गयपुर-गजपुर-न० । कुरुदेशप्रधाननगरे हास्तिनापुरे,प्रज्ञा०१पद। प्रव० । आव० । कुरुजनपदप्रधाने नगरे, यत्र बाहुबलिपुत्रसोमप्रभसुत श्रेयानासीत् । आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । "गयपुर य कुरु" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

"आकरः सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः ।
समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सज्जन. ॥ १ ॥
पुर गजपुर तत्र, करञ्जमदोर्मिभिः ।
तदैव नर्मदा जज्ञे, नून या दृश्यतेऽधुना ॥ २ ॥
तत्र बाहुबलेः पुत्र., सौम्यः सोमप्रभो नृपः ।
चित्रं पद्माहितानन्दः, शूरस्तीव्र प्रतापवान् ॥ ३ ॥
श्रेयांसस्तनयस्तस्य, यौवराज्यपदाऽऽस्पदम् ।
कौरुत्यघापि विश्वश्री-कोडान्तर्येधशः शिशु " ॥ ४ ॥
आ० क० । ('हत्थिणाउर' शब्दे तत्कल्पो वक्ष्यते)

गयमाइ-गजादि-त्रि० । हस्तिप्रभृतौ, उत्त० ३६ अ० ।

गयमारिणी-गजमारिणी-स्त्री० । गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

गयमुह-गजमुख-पुं० । शष्कुलीकर्णस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, उत्त० ३६ अ० । ('अंतरदीव' शब्दे प्र० भागे ८९ पृष्ठे निरूपित') अनार्यदेशभेदे, तद्वासिनि मनुष्ये च । प्रव० १४८ द्वार ।

गयलक्खण-गजलक्षण-न० । हस्तिलक्षणपरिज्ञानात्मिकायां पञ्चत्रिंशत्कलायाम्, ज० २ वक्ष० । सूत्र० । ज्ञा० । कल्प० । स० ।

गयवर-गजवर-पु० । गजेन्द्रे, "गयवरकरसरिसपीवरोरु" कल्प० २ क्षण ।

गयवरपत्थंत-गजवरमार्यमान-त्रि० । मत्तगजान् प्रार्थयमाने, हन्तुमारोढु वाऽभिलषमाणे, तत्र शक्ते, तत्क्रीडे वा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गयविक्कम-गजविक्रम-पुं० । मत्तगजक्रीडायाम्, पूर्णोपादानः गजविक्रम स्थानम् । ज० १ वक्ष० ।

गयवीही–गजवीथी–स्त्री० । गजसंज्ञके त्रिभिर्नक्षत्रैरुपलक्षिते शुक्रादिमहाग्रहचारक्षेत्रभागे, स्था० ए ठा० ।

गयसंघाड–गजसङ्घाट–पुं० । हस्तियुग्मे, ज० १ वक्ष० ।

गयससण–गजश्वसन–पुं० । हस्तिशुण्डादण्डे, "गयससणसुजायसन्निभोरू" गजश्वसनस्य हस्तिनासिकाया सुजातस्य सुनिष्पन्नस्य सन्निभे सदृशे ऊरू जङ्घे यस्य स तथा । "समुग्गणिमग्गगूढजाणू" समुद्ग समुद्गकाख्यभाजनविशेषस्य, तत्पिधानस्य च सन्धि, तद्वन्निमग्नगूढे अत्यन्तनिगूढे मांसलत्वादनुन्नते जानुनी अष्ठीवती यस्य स तथा । औ० ।

गयमाल–गजशाल–न० । हस्तिशालायाम, नि० चू० ८ उ० ।

गयसिरीय–गतश्रीक–त्रि० । निःशोभे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

गयसीहवाइ(ण्)–गजसिंहवादिन्–पुं० । इन्द्रभूतिना सह वीरप्रभोरान्तिके गते वादिनि, कल्प० ६ क्षण ।

गयसुकुमाल–गजसुकुमार–पुं० । विष्णोर्लघुभ्रातरि, स हि भगवतोऽरिष्टनेमिजिननाथस्यान्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपद्य श्मशाने कृतकायोत्सर्गस्तत्क्षणमहातपा शिरोनिहितजाज्वल्यमानाङ्गारजनितात्यन्तवेदनोऽल्पेनैव पर्यायेण सिद्धिमासवानिति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्–

भति उक्खेवो अट्ठमस्स २ एव खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवतीए णयरीए जहा पढमे० जाव अरहा अरिट्ठनेमी समोसढे । तेणं कालेण तेण समएण अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी छ अणगारे भायरो सहोदरा होत्था, सरिसया सरितया सरिवया नीलुप्पलगवलगुलियअयसीकुसुमप्पगासा सिरिवच्छंकियवच्छा कुसुमकुण्डलभद्दलया नलकूवरसमाणा, तते ण से छ अणगारा जं चेव दिवस मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारिया पव्वइया त चेव दिवसं अरहं अरिट्ठनेमिं वदति, नमंसंति, नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामो णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाना जावजीवाए छट्ठ छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेण संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरित्तए । अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडि० । तते ण ते छ अणगारा अरहा अरिट्ठनेमिणा अब्भणुण्णाता समाणा जावजीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं० जाव विहरति, तते णं ते छ अणगारा अन्नया कयाती छट्ठक्खमणस्स पारणयंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेंति । जहा गोयमो० जाव इच्छामो णं छट्ठक्खमणस्स पारणए तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा तहिं संघाडएहिं बारवतीए णयरीए० जाव अडत्तए अहासुह, तते ण ते छ अणगारा अरहतो अरिट्ठनेमिणा अब्भणुण्णाया समाणा अरहं अरिट्ठनेमिं वदति, नमसति, अरहतो अरिट्ठनेमिस्स अंतियाओ सहस्सववणाओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता तिहिं संघाडएहिं अतुरिता० जाव अडति, तत्थ णं एगे संघाडए बारवतीए णयरीए उच्चनीचमज्झिमाइ कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वसुदेवस्स रण्णो देवतीए देवीए गिहिं अणुपविट्ठे, तते ण सा देवी एते अणगारे एज्जमाणे पासति, पासित्ता हट्ठ० जाव हियया आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता सत्तऽट्ठपयाति तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेतित्ता वंदति, णमसति, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सीहकेसराण मोयगाण थालं भरेति, थालं भरेतित्ता ते अणगारे पडिलाभेति, पडिलाभेतित्ता वदति, णमसति, वंदित्ता णमंसित्ता पडिविसज्जेति, तदा णंतर च णं दोच्चे संघाडए बारवतीए णयरीए उच्च० जाव विसज्जेति, विसज्जेतित्ता तदा णतर च णं तच्चे संघाडए बारवतीए णयरीए उच्चनीच० एव वयासी–किं ण देवाणुप्पिया ! कण्हस्स वासुदेवस्स इमीसे बारवतीए णयरीए णव जोयण० जाव पच्चक्खदेवलोयभूया य समणा निग्गंथा उच्चनीच० जाव अडमाणा भत्तपाण णो लभति, तेण ताइं चेव कुलाइ भत्तपाणाए भुओ २ अणुप्पविसति, तते णं ते अणगारे देवतिं देविं एव वयासी–णो खलु देवा० ! कण्हस्स वासुदेवस्स इमीसे बारवतीए णयरीए० जाव देवलोयभूयाण समणा णिग्गथा उच्चनीच० जाव अडमाणा भत्तपाणं णो लभंति, णो चेव णं ताइ चेव कुलाइं दोच्चं पि तच्च पि भत्तपाणाए अणुप्पविसति । एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्ह भद्दलपुरे णगरे णागस्स गाहावतिस्स पुत्ता सुलसाए भारियाए अत्तयाए छ भायरो सहोदरा सरिसया० जाव नलकूवरसमाणा अरहो अरिट्ठनेमिस्स अंतिए धम्म सोच्चा संसारभउव्विग्गा भीया जम्मणमरणाण मुण्डा० जाव पव्वइया, तते णं अम्हे ज चेव दिवस पव्वतिता त चेव दिवस अरहं अरिट्ठनेमिं वंदामो, णमंसामो, इम एतारूवं अभिग्गहओ गेण्हामो, इच्छामो, तुब्भे अब्भणुण्णाया समाणा० जाव अहासुह, तते ण अम्हे अरहा अरिट्ठनेमिस्स अब्भणुण्णाया समाणा जावजीवए छट्ठं छट्ठेण० जाव विहरामो, तं अम्हे अज्ज छट्ठक्खमणपारणयसि पढमाए पोरिसीए स० जाव अडमाणे तव गेह अणुप्पविट्ठा, ते णो खलु देवाणुप्पिया ! तच्चेव ण अम्हे अम्हेण अन्ने एवं निंदेति, एवं वदति, वदतित्ता जामेव दिस पाउब्भूया तामेव दिस पडिगया, तते णं से देवतीए देवीए अयमेयारूवे अज्झत्थीए समुप्पण्णे, एव खलु अह पालासपुरे णगरे अतिमुत्तेणं कुमारसमणेण बालत्तणे वागरिया अम्ह देवाणुप्पिया ! अट्ठपुत्ते पयाइस्स सिरीसए० जाव णलकुवरसमाणे णो चेव णं भारहे वासे अण्णाउ अ मयाओ तारिसए पुत्तेयाइ पोस्सति, तं णं मिच्छा इमेणं पच्चक्खमेव दिस्सती भारहे वासे अण्णाउत्तिअं मयाओ खलु सरिसए०

जाव पुत्ते पयायाओ, त गच्छामि णं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदामि, णमंसामि, इमं च णं एयारूवं वागरेणं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं सपेहेति, सपेहेतित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-लहुकरणजाणपवरं० जाव उवट्ठवेति, जहा देवाणदाए० जाव पज्जुवासति, त अरहा अरिट्ठनेमी देवइं देविं एव वयासी-से णूणं तव देवई इमे छ अणगारे पासंति, अयं अज्झत्थिए ४। एवं खलु अहं पालासपुरे णयरे अतिमुत्तेणं तं चेव० जाव णिग्गच्छित्ता जेणेव ममे अंतिए तेणेव हव्वमागया, से णूण देवई अत्थे समत्थे। हंता अत्थि। एव खलु देवाणुप्पिए! तेणं कालेणं तेणं समएण भद्दलपुरे णगरे णागे णामं माहावती परिवसइ, अड्डे तस्स णं णागस्स गाहावती सुलसा णामं भारिया होत्था। तं सा सुलसा गाहावती बालत्तेण चेव निमित्तिएणं वागरिया, एस णं दारियाणि दुत्तविस्सति, तते णं सा सुलसा बालप्पत्तिति चेव हरिणेगमेसिं देवभत्ती यावि होत्या, हरिणेगमेसिस्स देवस्स पणाम करेति, करेतित्ता कल्लाकल्लिं ण्हाया०जाव पायच्छित्ता उल्लगपडसाडया महरिह पुप्फच्चणं करेति, जाणुपायपडिया पणाम करेति, करेतित्ता ततो पच्छा आहारं ति वा णीहारं ति वा करेइ, करेतित्ता तेणं तीसे सुलसाए गाहावइणीए भत्तिबहुमाणसुस्सूसाए हरिणेगमेसी देवे आराहिए यावि होत्था। तते णं से हरिणेगमेसी देवे सुलसाए गाहावतिणीए अणुकंपणट्ठाए सुलसं गाहावइणी तुमं च णं दोण्णि वि सममेव सगब्भयाओ करेति, तते ण तुब्भे दो वि सममेव गब्भे गिण्हेह, गिण्हेहत्ता सममेव गब्भे परिवहह, सममेव दारए पयाया, तते णं सा सुलसा गाहावइणी विणिहायमावण्णे दारए पयावेति, तते ण से हरिणेगमेसी देवे सुलसाए गाहावइणीए अणुकंपणट्ठाए विणिहायमाणे दारए करयलसंपुड गेण्हइ, गेण्हइत्ता तव अंतियं साहरए, साहरएत्ता त समयं च णं तुम पि णवण्हं मासाणं सुकुमालदारए पसवसि, जे वि अ णं देवाणुप्पियाए! तव पुत्ता ते वि य तव अंतियातो करयलपुडेणं गेण्हति, गेण्हइत्ता सुलसाए गाहावइणीए अंतिए साहरइ, तव चेव णं देवतीए ते पुत्ता नो सुलसाए गाहावइणीए पुत्ता, तते णं सा देवई देवी अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया अरह अरिट्ठनेमिं वंदति, नमसति, नमंसइत्ता जेणेव ते छ अणगारा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता ते छप्पि य अणगाराणं वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता आगयपण्हेया पप्फुल्ललोयणा कंचुयपडिक्खित्तिया दरितवलियबाहा धाराहतकलंबपुप्फग पि व समुसियरोमकूवा ते छप्पि य अणगारा अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणा, पेहमाणित्ता सुचिरं निरिक्खति, निरिक्खइत्ता वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमिस्स तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेतित्ता वंदति, णमसति. तमेव धम्मियजाणपवरं ओरुहति, ओरुहतित्ता जेणेव बारवती णगरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता बारवतिं णयरिं अणुप्पविसति, अणुप्पविसतित्ता जेणेव सए गिहे जेणेव बा हरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागता, धम्मियाओ जाणपवराओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहतित्ता जेणेव सए वासघरए जेणेव सयणिज्जे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सयसि सयणिज्जंसि नीसियति, तीसे णं तते देवतीए देवीए अयं अज्झत्थिते ४ समुप्पण्णे एवं खलु अहं सरिसए० जाव णलकूवरसमाणे सत्तपुत्ते पयाया, नो चेव णं मए एगस्स वि बालत्तणए समुब्भूए, एम वि य णं कण्हे वासुदेवे छण्हं २ मासाण मम अतीयं पायं वंदति, हव्वमागच्छति, ते धण्णाओ णं ताओ अम्मा० ४ जीसे मण्णे णियगकुच्छिसंभूयाइ थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावयाइ मम्मयणजंपियाइ थणमूलकक्खदेसभाग अभिसरमाणाइ मुद्धं याति, पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हतीओ णं उच्छंगनिवेसियाइं दंति, समुल्लावते सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभाणिते, अह णं अधण्णा अपुण्णा अकयपुण्णा एत्तो एकतरमवि न य ता उवहय० जाव झियायति, इमं च णं कण्हे वासुदेवे ण्हाते०जाव विभूसिते देवतीए देवीए पायं वंदति, हव्वमागच्छति, तते णं से कण्हे वासुदेवे देवतिं देविं पासति, उवहत०जाव पासित्ता देवतीए देवीए पायग्गहण करेंति, करेंतित्ता देवतिं देविं एवं वयासी-अण्णया णं अम्मो! तुम्हे ममं पासित्ता हट्ठ०जाव भवह, किं णं अम्मो! अज्ज तुम्हे ओहय०जाव झियायह?। तते णं सा देवती देवी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु अहं पुत्ता! सरिसए०जाव नलकूवरसमाणा सत्तपुत्ते पयाया, नो चेव णं मए एगमवि बालत्तणे अणुभूते, तुमं पि य णं पुत्ता ममं छण्ह २ मासाणं अंतिए पायं वंदए, हव्वमागच्छसि, त धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ०जाव झियामि, त से कण्हे वासुदेवे देवतिं देविं एवं वयासी-मा णं तुब्भे अम्मो! ओहय०जाव झियायह, अह णं तहा वत्तिस्सामि जहा णं मम सहोदर-कणीयसे भाउए भविस्सति त्ति कट्टु देवतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं वग्गूहिं समासासेति, समासासित्ता तओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता जहा अभओ। णवरं हरिणेगमेसियस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हति०जाव अंजलिं कट्टु एव वयासी-इच्छामि ण देवाणुप्पिया! सहोदरं कणीयसं भाउयं विदिन्नं, तते ण हरिणेगमेसी वासु-

देव कराह एव वयासी-होहिति णं देवाणु०तव देवलोयचुए सहोदरए कणीयसे भाउए से णं उम्मुक्क०जाव अणुपत्तो अरहो अरिट्ठनेमिस्स अंतिय मुंडे० जाव पव्वइस्सति, कराहं वासुदेव दोच्च पि तच्च पि एव वयासी-जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए, तते ण से कराहे वासुदेवे पोसहसालातो पडिनिग्गता जेणेव देवती देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता देवतीए देवीए पायग्गहणं करेति, करेतित्ता एव वयासी-होहिति ण अम्मो ! मम सहोदरे कणीयसे भाउ त्ति कट्टु देवतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं०जाव आसासेति,आसासेतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगते ॥

(जइ उक्खेवो त्ति) " जइ ण भंते ! अंतगडदसाणं तच्चस्स वग्गस्स सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते" (अट्ठमस्स त्ति) "अट्ठमस्स ण भंते ! के अट्ठे पन्नत्ते । अट्ठमस्स ण अयमट्ठे पन्नत्ते" इत्युपक्षेप । तत 'एव खलु' इत्यादिनिर्वचनम् (सरिसय त्ति)सदृशा. समाना [सरित्तय त्ति] सदृग्त्वच॰ । [सरिव्वय त्ति] सदृग्वयस , नीलोत्पलगवलगुलिकाऽतसीकुसुमप्रकाशा , गवल माहिष शृङ्गम्, अतसी धान्यविशेष., श्रीवत्साङ्कितवक्षस (कुसुमकुडलय त्ति) कुसुमकुन्डल इत्पूरकपुष्पसमानाकृतिकर्णाभरण, तेन भद्रका शोभना ये ते तथा , बालावस्थाश्रय विशेषण न पुनरनगारावस्थाश्रयमिदमित्येके । अन्ये पुनराहु -दर्भकुसुमवद्भद्रा॰ सुकुमाकारा इत्यर्थ. । तत्त्व तु बहुश्रुतगम्यम् । नलकूबरसमाना वैश्रवणपुत्रतुल्या , इद च लोकरूढ्या व्याख्यात,यतो देवाना पुत्रा न सन्ति । (ज चेव दिवस) यत्रैव दिवसे मुण्डो भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजिता. (त चेव दिवस ति) तत्रैव दिवसे (कुलाइं ति) गृहाणि (भुज्जो २ ति) भूयो भूय , पुन.पुनरित्यर्थ (लघुकरणेत्ति) लघुकरणेत्यादिवर्णकयुक्त यानप्रवरमुपस्थापयन्ति । (जहा देवाणदाए त्ति)नगवत्याभिहिना यथा देवानन्दा भगवन्महावीरप्रथममाना गता तथेयमपि भणनीया (निंदु त्ति) मृतप्रसविनी,ते यत्र पइप्यनगारा तत्रोपागच्छति,ताश्च सा वन्दत .(आगयपराहय त्ति) आगतप्रस्नवा पुत्रस्नेहेन स्तनागतस्तन्या (पप्फुल्ललोयण त्ति) प्रफुल्ले आनन्दजलेन लोचने यस्या सा तथा (कचुकपरिक्खित्तय त्ति) परिक्षिप्तो विक्षिप्तो,विस्तारित इत्यर्थ । कञ्चुको वारवाण. हर्षातिरेकस्थूलीभूतशरीरतया यथा सा तथा । (दरियवलयबाहि त्ति)दीर्घ त्वयो हर्षरोमाञ्चस्थूलत्वात् स्फुटितकटकौ बाहू भुजौ यस्या सा प्राकृतत्वेन ' दरियवलयबाहा"(धाराहयकलंबपुप्फग पि व समुसरियरोमकूवा)धाराभिर्मेघजलधाराभिराहतम यत् कदम्बपुष्प तदिव समुच्छ्रितानि रोमाणि कूपकेषु यस्या सा तथा (अयमब्भत्थिए त्ति) इहैव इयम (अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिते पत्थिते मणोगए सकप्पे समुप्पज्जित्था) तत्रायमेतद्रूप आत्मार्थिन चिन्तित. स्मरणरूप प्रार्थितोऽभिलाषरूपी मनोगतो मनोविकाररूप सकल्पो विकल्प समुत्पन्न । "धन्नाओ ण ताओ" इत्यादि । धन्या धनमर्हन्ति लप्स्यन्ते वा यास्ता धन्या ता इति यासामित्यपेक्षया अम्बा. स्त्रिय. पुण्या पवित्रा कृतपुण्या कृतसुकृता कृतार्था कृतप्रयोजना कृतलक्षणा. सफलीकृतलक्षणा (जासिं ति) यासां मन्ये इतिवितर्कार्थो निपात., निजकुक्षिसंभूतानि डिम्भरूपाणीत्यर्थ.। स्तनदुग्धे लुब्धानि यानि तानि तथा,मधुरा॰ समुल्लापा येषां तानि तथा, मम्मनमव्यक्तमीषत् स्खलित प्रजल्पित येषां तानि तथा, स्तनमूलात् कक्षादेशभागमभिसरन्ति, मुग्धकान्यव्यक्तावज्ञानानि भवन्तीति गम्यते । पुनश्च कोमलकमलोपमाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा उत्सङ्गनिवेशितानि सन्ति ददति समुल्लापकान् सुमधुरान् पुन. पुन मञ्जुलप्रभणितान् मञ्जुल मधुर प्रभणिते भणितानि येषु ते तथा तान् , इह सुमधुरानित्यभिधाय यन्मञ्जुलप्रभणितानीत्युक्त तत् पुनरुक्तमपि न दुष्ट,सम्भ्रमभणितत्वादस्येति । (पत्तो त्ति) विभक्तिपरिणामादेतासकविशेषणवती डिम्भाना मध्यात् एकतरमपि अन्यतरविशेषणमपि डिम्भ न प्राप्ता इत्युपहतमन.सङ्कल्पा भूमिगतदृष्टिका करतलपर्यस्तितमुखी ध्यायति (तहा वत्तिस्सामि त्ति) वर्तिष्ये (कणियसे त्ति) कनीयान् कनिष्ठो, लघुरित्यर्थ. । (जहा अभओ त्ति) यथा प्रथमे ज्ञाते अभयकुमारोऽष्टम कृतवानेवमयमपीति, नवर केवलमथ विशेष.—अथ हरिणेगमेषिण आराधनाय अष्टम कृतवान्, स तु पूर्वसम्मातिकस्य देवस्येति । (वितिण्ण त्ति) विस्तीर्ण दत्त, युष्माभिरिति गम्यते । अन्त० ३ वर्ग ।

तं सा देवई देवी अन्नया कयाइं तंसि तारिसगंसि० जाव सीहं, सुमिणे पासित्ता ण पडिबुद्धा० जाव हट्ठतुट्ठहियया गब्भं परिवहति । तते णं सा देवती देवी णवण्हं मासाणं० जाव सुमणरत्तबंधुजीवियलक्खारससरसपारिजातकतरुणदिवाकरसमप्पभं सव्वणयणकंत सुकुमालं० जाव सरूवं गयतालुयसमाणं दारय पयाया, जमणं जहा मेहकुमारे० जाव, जम्हाणं अम्हं इमे दारए गयतालुयसमाणे त होऊणं अम्हं एयस्स दारगस्स नामधेज्जे गयसुकुमाले,तते णं ते सदारगस्स अम्मापिअरो नामं कय गयसुकुमालो त्ति,सेसं जहा मेहे० जाव अलं भोगसमत्थे जाते यावि होत्था । तते ण वारवतीए णयरीए सोमिले नाम माहणे परिवसति,अड्ढे रिउव्वेय०जाव सुपरिनिट्ठिते यावि होत्था, तस्स सोमिलस्स माहणस्स सोमसिरी णाम माहणी होत्था,सुकुमाल०तस्स णं सोमिलस्स धूया सोमसिरीए माहणीए अत्तया सोमा नाम दारिया होत्था,सुकुमाल० जाव सुरूवा,रूवेण य जोव्वणेण य०जाव लावन्नेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरे यावि होत्था,तते ण सा सोमा दारिया अन्नया कयाइ एहाया० जाव विभूसिया बहुहिं खुज्जाहिं० जाव पक्खित्ता सयाओ गिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता रायमग्गंसि कणगए उसएण कीलमाणी २ चिट्ठति, तेणं कालेण अरहा अरिट्ठनेमी समोसढे,परिसा निग्गया, तते णं से कराहे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एहाए० जा

विभूसिते गयसुकुमालेणं कुमारेणं सद्धिं हत्थिकंधवरगते सकोरंटमल्लदामेण छत्तेण धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं वारवतीए एयरीए मज्झं मज्झेणं अरहो अरिट्ठनेमिस्स पायवंदए, निगच्छमाणे सोमं दारियं पासति. पासतित्ता सोमाए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावएणेण य० जाव विम्हिए, तए णं कएहे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिया ! सोमिल माहणं जाचित्ता सोमदारिया गिएहह, तं कएणंऽतेउरंसि पक्खिवह, तते णं से एसा गयसुकुमालस्स कुमारस्स भारिया भविस्सति,ते कोडुंबिय०जाव पक्खिवति, तए णं से कएहे वासुदेवे वारवतीए नयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छतित्ता जेणेव सहसंबवणे० जाव पज्जुवासति, तते णं अरहा अरिट्ठनेमी कएहस्स वासुदेवस्स गयसुकुमालस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकहा कहेइ पमिगते, तते णं से गयसुकुमाले अरहा अरिट्ठनेमिस्स अतियं धम्मं सोचा० जाव णवर देवाणुप्पिया ! अम्मापियर आपुच्छति जहा मेहो महोलियावत्थं ०जाव वड्डियकुलं, तते णं से कएहे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव गयसुकुमाले कुमारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता गयसुकुमालं आलिंगति, उच्छंगं निवेसति,उच्छंगं निवेसतित्ता एवं वयासी-तुम्हे णं मम सहोदरे कणीयसे भाया तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं अरहओ मुंडे० जाव पव्वयाहि, अहे णं तुमे वारवतीए एयरीए महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचिस्सामि, तते णं से गयसुकुमालेणं कएहेणं वासुदेवेण एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठति, तं से गयसुकुमाले कएहे वासुदेवे अम्मापियरो य दोचं तच्चं पि एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए ! माणुसयाकामा खेलासवा पीतासवा० ०जाव विप्पजहियव्वा भविस्सति, त इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुज्झेहिं अब्भणुणाए समाणे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए० जाव पव्वइत्तए, तते णं ते गयसुकुमाले कएहे वासुदेवस्स अम्मापिअरो य जाहे नो सचाएति, बहुयाहिं अणुलोमाहिं० जाव आघवित्तए वा पणवित्तए वा सन्नवित्तए वा ताहे अकामाइं चेव एवं वयासी-तं इच्छामो ए जाया ! एगदिवसमवि रज्जसिरिं पासित्ता ते निक्खमणं जहा महाबलस्स० जाव तमाणाते तहा० जाव संजमति। तते णं से गयसुकुमाले कुमारे अणगारे जाते इरियासमिइए० जाव गुत्तबंभचारी, तते णं से गयसुकुमाले जं चेव दिवसं पव्वतिए तस्सेव दिवसस्स पच्चावरएहं कालसमयंसि जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं वंदति, एमंसति, इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुणाते समाणे महाकालंसि सुसाणंसि एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता ण विहरति, ते अहासुहं देवाणुप्पिए ! तते णं गय०अणगारे अरहा अरिट्ठनेमिस्स अब्भणुणाया समाणे अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता अरहतो अरिट्ठनेमिस्स अंतियाओ सहसंबवणाओ उज्जाणातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव महाकाले सुसाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता थंडिल्लं पडिलेहेति, उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेति, इसिं पब्भारगतेणं० जाव दो वि पाए साहट्टु एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति, इम च णं सोमिले माहणे सामिधेयस्स अट्ठाए वारवतीओ नगरीओ बहिया पुव्वं निग्गते सामिहाओ य दब्भे य कुसे य पत्तामोमं च गेएहति, गेएहतित्ता तओ पडिनियत्तइ, पडिनियत्तइत्ता महाकालस्स सुसाणस्स अदूरसामते ए वीयीवयमाणे २ संझाकालसमयंसि पविरलमणुस्सम्मि गयसुकुमालं अणगारं पासति, पासतित्ता तं वयरं सरति,सरतित्ता आसुराते एवं वयासी-एस णं सो गयसुकुमाले कुमारे ! अपत्थिए०जाव परिवज्जिते जेण ममं धूअं सोमसिरीए भारियाए अत्तए सोमं दारियं अदिट्ठदोसपतितं कालावत्तिणिं विप्पजहित्ता मुंडे० जाव पव्वाए तं सयं खलु ममं गयसुकुमालस्स कुमारस्स वरणिज्जा तणं करेतते एवं संपेहाति,सपेहतित्ता दिसापडिलेहणं करेति, करेतित्ता सरसं मट्टियं गिएहति, जेणेव गयसुकुमाले अणगारे तेणेव उवागच्छति, गयसुकुमालस्स अणगारस्स मत्थए मट्टियापालिं बहति, बहतित्ता जिलंती नो चिय गाओ फुल्लियकिंसुयसमाणे खयरंगारे कभल्लेण गेएहति, गेएहतित्ता गयसुकुमालस्स अणगारस्स मत्थए पक्खिवति,पक्खिवतित्ता भीते ४ ततो खिप्पमेव अवक्कमति,अवक्कमतित्ता जामेव दिस पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगए. तते णं से गयसुकुमालस्स अणगारस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला०जाव दुरहियासा तं से गये अणगारे सोमिलस्स माहणस्स मणमा वि अप्पदुस्समाणे तं उज्जल० जाव दुरुअहियासेति, तते ए से गयसुकुमाले अणगारे तं उज्जलं०जाव अहियासेति, सुभेणं परिणामेणं पसत्थअज्झवसाणेण तयावरणिज्जाणं कम्माणं कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं अणुप्पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे०जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, तओ पच्छा सिद्धे०जाव सव्वदुक्खपहीणे तत्थ णं अहासन्निहिं तेहिं देवेहिं सम्मं आराहित त्ति कट्टु दिव्वे सुरभिगंधोदए वुट्ठे दसद्धवणे कुसुमे निवाभिते चेलुक्खे वेकते दिव्वे गीयं गंधव्वनिनाए यावि होत्था। तते णं से कएहे वासुदेवे कल्लं पाउप्पभायाए० जाव जलते एहाए० जाव विभूसिते ह-

कमनीयोऽभिलषणीय इत्यर्थः। सर्वनयनकान्तस्त (सुकुमाल त्ति) 'सुकुमालपाणिपायमित्यादि' वर्णको दृश्य यावत् सुरूपमिति। (गयतालुयसमान) कोमलत्वरक्तत्वाभ्यां (रिउव्वेय इत्यादि) ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदा-थर्वणवेदाना साङ्गोपाङ्गाना सा-रको धारक., पारग इत्यादिवर्णको यावत्करणाद् दृश्य.। "व-ड्डुर्हि "इत्यत्र वर्द्धीभिः कुब्जिकाभि., यावत्करणावद् वामान-काभिः चेटिकाभिः परिक्षिप्ता इत्यादिवर्णको दृश्य.। (जहा मेहो महोलियावच्छ त्ति) यथा प्रथमे ज्ञाते मेघकुमारो मातां पिध-यत्युरस्येवमयमपि, केवल तत्र मात्रा तं प्रतीदमुक्तम्, एतास्तव भार्या. सदृग्वयस्य. सदृशराजकुलेभ्य. तावदेताभिः सार्द्धं विषयसुखमित्यादि तदिह न वक्तव्यम, अपरिणीतत्वात् । त-स्य कियद् वक्तव्य हि (जाव वड्डियकुल त्ति) त्व जातो ऽस्माकमिष्ट. पुत्रो नेच्छामस्त्वया वियोग सोढु, ततोऽनुलान् भुङ्क्ष्व भोगान् यावद्वय जीवाम इत्यत आरभ्य याव-दस्मासु दिव गतेसु परिणतवयाः वर्द्धिते कुलवशे त कुकार्ये निरपेक्ष. सन् प्रव्राजिष्यतीति (अलासत्ता) इह यावत्कर-णात् ' सुक्कासवा सोणियासवा ' यावत् अवश्य विप्रहातव्यः। (आघविचए त्ति) आख्यातु, ज्ञापितुमित्यर्थ । (निक्खमण जहा महाबलस्स त्ति) यथा भगवत्यां महाबलस्य निष्क्रमण रा-ज्याभिषेकशिविकारोहणादिपूर्वकमुक्तमेवमस्यापि वाच्यम। कि-मित्याह-[जाव तमाणाए तहा जाव सजमइ त्ति] तस्य प्रव्र-जितस्य किल भगवान् उपदिशति स्म-"एव देवाणुप्पिया! चि-ट्ठियव्व निसीयव्व कुयट्टियव्व भुजियव्वं भासियव्व एव उट्ठाए उट्ठाए पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं सजमेण सजमियव्व अस्सि च ण अट्ठे नो पमायेयव्व, तए ण से गयसुयमाले अणगारे भगवत अरहतअरिट्ठनेमिस्स अतिए इम एयारूव धम्मिय उ-वएस सम्म पडिच्छए,पडिच्छमाणाए तह गच्छइ,तह चिट्ठइ, तह निसीयइ,तह कयट्टइ, तह भुजइ,तह भासइ, तह उट्ठाए पाणेहिं ४सजमेण सजमइ त्ति ज चेव दिवस पव्वइए" इत्यादि गजसुकु-मारमुने. प्रतिमाप्रतिपत्तिरभिधीयते, तत्सर्वज्ञेनाऽरिष्टनेमिना उपदिष्टत्वादविरुद्धम, इतरथा प्रतिमाप्रतिपत्तावय न्यायो यथा-" पडिवज्जइ एयाओ सघयणधिइजुओ महासुत्तो पडि-माओ भाविय$$प्पासम गुरुणा अणुन्नाओ गच्छे विय निम्माओ ५ जा पुव्वा दसभवे असपुण्णो नवमस्स तइ वत्थु होइ जहसो सुया-भिगमो त्ति" (ईसिं पब्भारगतेण ति) ईषद् वनसेन, यावत्तिक-रणात् एतत् द्रष्टव्यम्-"वग्घारियपाणी" प्रलम्बभुज इत्यर्थ । "अणिमिसणयणे सुक्खपोग्गलनिवद्धदिट्ठी" (मामिधेयस्स ति) समित (समिहाओ त्ति) इन्धनभूता. काष्ठिका. (दब्भे त्ति) समूलान् दर्भान् (कुसेति) दर्भाग्राणीति (पत्तामोडयं च त्ति) शाखशाखाशिखामोटितपत्राणि, देवताऽर्चनार्थानीत्यर्थ। (अ-दिट्ठदोसपइयं ति) दृष्टो दोष चौर्यादि. यस्या. सा तथा सा चासौ पतिता च जात्यादेर्बहिष्कृता इति दृष्टदोषपतिता,न तथे-त्यदृष्टदोषपतिता। अथ वा न दृष्टदोषे पतत्यदृष्टदोषपतिता (काल-वत्तिणि त्ति) काले भोगकाले यौवने वर्तत इति कालवर्तिनी (विप्पजहित्ता) विप्रहाय (फुल्लियकिंसुयसमाणेति) विकसित-पलाशकुसुमसमानान्, रक्तानित्यर्थ ।खादिरङ्गारान् खादिरदा-रुविकारभूतानङ्गारान्, (कभल्लेण त्ति) ' कप्पउज्जला ' इत्यत्र यावत्करणात् वहव एकार्था , विपुलास्तीव्रा, चण्डा प्रगाढा। ' कढो कर्कशा इत्येव लक्षणा द्रष्टव्या। (अप्पदुस्समाणे त्ति) अप्रद्विषत्, प्रद्वेषमगच्छन्नित्यर्थ. । (कम्मरयविकिरणकर) कर्मरजोवियोजकम् (अपुव्वकरणं ति) अष्टमगुणस्थान-कम [अणते] इह यावत्करणादिद दृश्यम्-" अणुत्तरे नि-व्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे त्ति " सिद्धे इह यावत् करणात् "बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुए त्ति" दृश्यम। [गीत गन्धर्वनि-नाए त्ति] गीत सामान्य,गन्धर्वं तु मृदङ्गादिनादसमिश्रमिति । [जडचरुगपहगरवदपरिक्खित्ते] भटानां ये चटकरप्रकरा विस्तारवत्समूहास्तेषां यद्वृन्दं तेन परिक्षिप्त [पहा रथगमणा-ए त्ति] गमनाय सम्प्रधारितवानित्यर्थ। (जुण्ण) इह यावत् क-रणात् (जराजज्जरियदेह आउरं झुसिय) बुभुक्षितमित्यर्थ । ' पिवासिय दुव्वल ति ' द्रष्टव्यमिति। (महइमहालयाउ त्ति) महत् महत इष्टिकाराशे. सकाशात् (वहुकम्मनिज्जरत्थ सा-हिज्जे दिन्ने ति) प्रतीतम [ठितिभेएण ति] आयु क्षयेण भया-दध्यवसानोपक्रमेणेत्यर्थ । [तन्नायमेय अरहया ति] तदेव ज्ञा-त सामान्येन, एतद् गजसुकुमारमरणमर्हता जिनेन (सुयमेय ति) स्मृत पूर्वकाले ज्ञात सन् कथनावसरे स्मृत भविष्यति, विज्ञात विशेषत. सोमिलेनैवमभिप्रायेण कृतमेतदित्येवमिति शिष्ट कृष्णवासुदेवाय प्रतिपादित भविष्यतीति [सियपक्खि सपडिदिस ति] सितपक्ष समानपार्श्व सममेवैतरपार्श्वतया सप्रतिदिक् समानप्रतिदिक्तया अन्यार्थमभिमुख इत्यर्थ । अभिमुखागमने हि परस्पर समावेव दक्षिणवामपार्श्वौ भवत। एत्र विदिशावर्तीति।' एव खलु जबू! समणेण० जाव भगवया सपत्तेण अट्ठमस्स अगस्स अतगडदसाण तच्चस्स वग्गस्स अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ति बेमीति " निगम-मनम। अन्त० ४ वर्ग। सथा०। आ०म०। आ०चू०। आ०क०।

गया-गदा-स्त्री० । धातुपाषाणमयगोलकाग्रके लकुटविशेषे, स० । प्रश्न० । प्रहरणविशेषे, रा० । ज्ञा० । वासुदेवादीनां कौमोदकी नाम गदा । प्रव० २१२ द्वार। पाटलवृक्षे, वाच०।

गया-स्त्री० । गयो गयाऽसुरो गयनृपो वा कारणत्वेनास्त्य-स्या अच् । पिण्डदानमुख्यतीर्थे, वाच०।

गयाणीय-गजानीक-न०। कुञ्जरकटके, उत्त० १८ अ०।

गयाणुगामि (ण्)-गतानुगामिन्-त्रि०। गतमनुगच्छति, दर्श०।

गयाइओसरण-गजाद्यपसरण-न०। प्रयत्नविशेषलक्षणे ग-जाश्वशिविकाप्रभृतिभ्यो देवावग्रहगमनप्रवणेभ्योऽवतरणे, पञ्चा० १२ विव०।

गयारोहणसिक्खा-गजारोहणशिक्षा-स्त्री०। हस्त्यारोहणा-भ्यासलक्षणे कलाभेदे, स०।

गयावाय-गतापाय-त्रि०। अपायरहिते,निरपाये,पो० ११ विव०।

गयाहर-गदाधर-पु० । कौमोदक्या गदाया धारके वासुदेवे, उत्त० ११ अ०।

गर-गर-पु०। गरयत्याहार स्तम्भयति कार्मणं वा गर। ओघ०। कुद्रव्यसयोगजे विषविशेषे, पो० वि० । " अणेगाण दव्वाण कुद्रव्यसयोगजे " ...

दिव्यभोगाऽभिलाषेण, गरः कालान्तरे क्षयात् ॥ १५ ॥

दिव्यभोगस्याभिलाष. ऐहिकभोगानिरपेक्षस्य सत. स्वर्गसु-

स्वयाञ्छालक्षण, तेनानुष्ठान गर उच्यते, कालान्तरे भवान्तर-लक्षणे कथञ्चिद्योगात् पुण्यनाशेनाऽनर्थसंपादनात्। गरो हि कुद्रव्यसंयोगजो विषविशेषः, तस्य च कालान्तरे विषमविकार प्रादुर्भवतीति उभयापेक्षाजनितमतिरिच्यते नोभयापेक्षायामप्यधिकस्य फलवत्त्वादिति सत्ताश्रयाम । द्वा० १२ द्वा० । यो० विं० । वधादिकरणानामन्यतमे, जं० ७ वक्ष० । उत्त० । विशे० । आ० म० । आ० चू० । सूत्र० । रोगे, दूष्ये, निगरणे च । वाच० ।

गरलिगावद्ध-गरलिकावद्ध-त्रि० । निक्षिप्ते, नि० चू० १ उ० ।

गरहंत-गर्हमाण-त्रि० । निन्दति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

गरहणया-गर्हणा-स्त्री० । परसमक्षमात्मदोषोद्भावने, भ० १७ श० ३ उ० । अपरलोकानां पुरतः स्वदोषप्रकाशने, उत्त० ।

गरहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । गरहणयाए अपुरेकार जणयइ, अपुरेकारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ, पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ ॥ ७ ॥ सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥ ८ ॥ चउव्वीसत्थएण भंते ! जीवे किं जणयइ ? । चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥ ९ ॥ वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वंदणएणं नीयागोयं कम्म खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥ १० ॥ पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ, पिहियच्छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥ ११ ॥ काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नपायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरो व्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ ॥ १२ ॥ पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीयलभूए विहरइ ॥ १३ ॥

कश्चिदात्मनोऽत्यन्तदुष्टतां परिभावयन् न निन्दामात्रेण निष्ठेत किन्तु गर्हामपि कुर्यादिति तामाह-(गरिहणयाए त्ति) गर्हणेन परसमक्षमात्मनो दोषोद्भावनेन (अपुरेकार त्ति) पुरस्करणं पुरस्कार, गुणवानयमिति गौरवारोप, न तथाऽपुरस्कारोऽवज्ञाऽऽस्पदत्वं, न जनयति, आत्मन इति गम्यते । तथा चापुरस्कार गत प्राप्तोऽपुरस्कारगतः सर्वत्रावज्ञाऽऽस्पदीभूतो जीव कदाचित् कदध्यवसायोत्पत्तावपि तद्भीतितः अप्रशस्तेभ्य कर्मबन्धहेतुभ्यो योगेभ्यो निवर्त्तते, न तान् प्रतिपद्यते, प्रशस्तयोगांस्तु प्रतिपद्यते इति गम्यते । (पसत्थजोगे पडिवन्ने य त्ति) प्रतिपन्नप्रशस्तयोगोऽनगारोऽनन्तविषयतयाऽनन्ते ज्ञा-

नदर्शने हेतु शील येषां तेऽनन्तघातिनस्तान् पर्यवान् प्रस्तावाद् ज्ञानावरणादिकर्मण, तद्घातित्वलक्षणान् परिणतिविशेषान् क्षपयति क्षयं नयति, पर्यवाभिधानं च तद्रूपतयैव द्रव्यस्य विनाश इति ख्यापनार्थम् । उपलक्षणं चैतत् मुक्तिप्राप्ते, तदर्थत्वात् सर्वप्रयासस्य, एवमन्यत्राऽपि सर्वत्र मुक्तिप्राप्तिरेव फलत्वेन द्रष्टव्या ॥ ७ ॥ आलोचनादीनि सामायिकवत एव तत्त्वतो भवन्तीति उच्यते-सामायिकेनोक्तरूपेण सहावद्येन वर्त्तत इति सावद्याः कर्मबन्धहेतवो योगा व्यापाराः, तेभ्यो विरतिरुपरमः सावद्ययोगविरतिः, ता जनयति, तद्विरत्या सहितस्यैव सामायिकसम्भवात् । न चैव तुल्यकालत्वेनानयो कार्यकारणभावासम्भव इति वाच्यम्, क्वचित् तुल्यकालेऽपि वृक्षच्छायाऽऽदिवत् कार्यकारणभावदर्शनात् एव सर्वत्र भावनीयम् ॥ ८ ॥ सामायिकं च प्रतिपत्तुकामेन तत्प्रणेतारः स्तोतव्या । ते च तत्त्वतस्तीर्थकृत एवेति तत्स्तवमाह-चतुर्विंशतिस्तवेनैतदवसर्पिणीप्रभवतीर्थकृदुत्कीर्त्तनात्मकेन दर्शन सम्यक्त्व, तस्य विशुद्धिस्तदुपघातिकर्मापगमतो निर्मलीभवनं दर्शनविशुद्धिस्तां जनयति ॥ ९ ॥ स्तुत्वाऽपि तीर्थकरान् गुरुवन्दनपूर्विकैव तत्प्रतिपत्तिरिति तदाह-वन्दनकेनाऽऽचार्याद्युचितप्रतिपत्तिरूपेण नीचैर्गोत्रमधमकुलोत्पत्तिनिबन्धनं कर्म क्षपयति । उच्चैर्गोत्र तद्विपरीतरूपं निबध्नाति । सौभाग्य च सर्वजनस्पृहणीयतारूपमप्रतिहत सर्वत्राऽप्रतिस्खलितमत एवाऽऽज्ञा यथोचितवचनप्रतिरूपा फलं प्रयोजनमस्येत्याज्ञाफलं निर्वर्त्तयति । तद्वतो हि प्राय आदेयकर्मणोऽप्युदयसम्भवादादेयवाक्यताऽपि सम्भवति । दाक्षिण्यभावं चानुकूलभावं च जनयति, लोकस्येति गम्यते । तन्माहात्म्यतोऽपि सर्वं सर्वोऽप्यस्यानुकूल एव भवति ॥ १० ॥ एतद् गुणस्थितेनापि मध्यमतीर्थकृता तीर्थेऽस्खलितमतयेव पूर्वपश्चिमयोस्तु तदभावेऽपि प्रतिक्रमितव्यमिति । प्रतिक्रमणमाह-प्रतिक्रमणेनाऽपराधेभ्य प्रतीपनिवर्त्तनात्मकेन व्रतानां प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनां छिद्राण्यतीचाररूपाणि विवराणि व्रतच्छिद्राणि पिदधाति स्थगयति अपनयतीति यावत् ।

भवतीति भावार्थः। स च ध्यान धर्माद्युपगतः प्राप्तो धर्मध्यानोपगत ,पाठान्तरत.प्रशस्तध्यानध्यायी सुख सुखेन सुखपरम्परावाप्त्या विहरति इहपरलोकयोरवतिष्ठते, इहैव जीवन्मुक्तावास्तेरिति भावः॥ १२॥ एवमप्यगृह्यमाने प्रत्याख्यान विधेयमिति तदाह—(पच्चक्खाणेण ति । ॥१३॥ उत्त० २ अ०।

गरहणिज्ज-गर्हणीय-त्रि०। निन्दनीये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

गरहितए-गर्हितुम्-अव्य०। गुरुसमक्षमतीचारान् जुगुप्सितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

गरहित्ता-गर्हित्वा-अव्य०। समक्ष निन्दित्वेत्यर्थे,आचा०३ चू०।

गरहिय-गर्हित-त्रि०। निन्दिते, दशा० ६ अ०। सूत्र०। कुत्साऽऽस्पदे, प० सू० १ सूत्र। निन्द्ये गालीप्रदाने पञ्चा० ६ विव०। जुगुप्सिते मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगे कर्मबन्धहेतौ,सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। लोकलोकोत्तरयोरनादरणीयतया निन्दनीये मद्यमांससेवनपरगामाऽभिगमनादिपापस्थाने, ध० १ अधि०। अवद्ये, आ० चू० १ अ०।

गरहियकुल-गर्ह्यकुल-न०। दास्यादिकुले, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

गरहियमिच्छायार-गर्हितमिथ्याचार-त्रि०। गर्हिता निन्दिता मिथ्याचारा असोक्षमार्गसमाचारा मिथ्यात्वाविरतिकषायदुष्टयोगलक्षणा अतीतकालाभेविता ये ते तथा। आसेवितमिथ्यात्वादिदुष्टयोगे पञ्चा० २ विव०।

गरहियव्व-गर्हितव्य-त्रि०। परसमक्ष निन्दितव्ये, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार।

गरिमा-पु० स्त्री०-गरिमन्-पु०। गुरुत्वप्राप्तौ, द्वा० २६ द्वा०। गुरोर्भाव इमनिच्, गरादेश। 'वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" । ८। १। ३५। 'एसा गरिमा' 'एस गरिमा' प्रा० १ पाद। वज्रवद्गुरुत्वप्राप्तौ योगे सिद्धिभेदे, द्वा० २६ द्वा०। सूत्र०। गुरुत्वगुणे च। वाच०।

गरिहा-गर्हा-स्त्री०। 'गर्ह' 'गलह' कुत्सायाम्। 'गुरोश्च हलः' ३।३।१०३। (पाणि०)इत्यकार। टाप्। आव०४ अ०। "ईश्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्टयास्वित्' ८।२।१०४.इत्यन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकार। प्रा० २ पाद। प्राकाश्ये, आ० चू० ४ अ०। परसमक्ष दोषोद्घाटने, आतु०। आ०चू०। दश०। गुरुसमक्षमात्मनो निन्दायाम्,स्था०४ ठा०२ उ०। पा०। आ०म०। प्रति०। "सचरित्तपच्छयावो णिंदा गरिहा गुरुसमक्ख" पा०। स्था०। ज्ञा०। सा च नामादिभेदात् षोढा भवति। तथा चाह-"नाम ठवणा दविए खित्ते काले य भावे य। एसो खलु गरिहाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ" ॥ तत्र नामस्थापने श्रुण्णे द्रव्यगर्हा तापसादीना स्वगुर्वालोचनाद्यनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य वा निह्नवस्येत्यादि भावार्थो वक्तव्यो यावत् प्रशस्तयेहाधिकार.। आव० ४ अ०। पा०। सूत्र०।

द्रव्यगर्हायां पतिमारिकादृष्टान्त -

"एकत्राऽध्यापको विप्र-स्तस्यासीत् तरुणी प्रिया।
कन्ये भर्त्रा बलिं देहि, काकेभ्य' साऽप्यवोचत्॥ १॥
बिभेम्यहमिति च्छात्राः, उपाध्यायनिदेशतः।
रक्षन्ति वारकेणैतां, तत्रैकोऽचिन्तयत्प्रधीः ॥ २॥
न मुग्धा किं त्वसत्येषा, स तच्चरितमीक्षते।
नर्मदाऽपरकूले च, गोपेन सममस्ति सा॥ ३॥
नर्मदां निशि कुम्भेनो-त्तरन्ती चास्ति साऽन्यदा।
सन्त्युत्तरन्तश्चोराश्च, तेष्वेको जलजन्तुना॥ ४॥
आत्तो रटॅस्तया प्रोचे, पिधेह्यस्याक्षि मुच्यसे।
मुक्तस्तथाकृतेऽथोचे, कुतीर्थेऽवततार किम्?॥ ५॥
स तच्छ्रुत्वा निवृत्तोऽथ, द्वितीयेऽहनि खण्डिकः।
बलिं ददानां रक्षॅस्तां, मन्दस्वरमवोचत्॥ ६॥
दिवा बिभेषि काकेभ्यो, रात्रौ तरसि नर्मदाम्।
कुतीर्थानि च जानासि, जलजन्त्वक्षिरोधनम्॥ ७॥
साऽवदत् किं करोम्यत्र, यन्नेच्छन्ति भवादृशाः।
उपाचचार त साऽथ, स ऊचेऽध्यापकात् भये॥ ८॥
सा दध्यौ मारयाम्येन, भर्ताऽसौ स्याद् यथा मम।
विनाश्य पिटके क्षिप्त्वा गताऽटव्या तमुज्झितुम्॥ ९॥
व्यन्तर्याऽस्तम्भि पिटक, मूर्ध्ना साऽथ वनेऽभ्रमत्।
गलत्युपरि मांस त-द्वाध्यमानाऽथ सा क्षुधा॥ १०॥
उद्विग्ना स्वचरित्रेण, गर्हते स्वं गृहे गृहे।
व्रत साऽथाग्रहीदेव, कार्या दुष्कृतगर्हणा"॥११॥ आ० क०।

द्रव्यनिन्दायां चित्रकसुता उदाहरणम्-" सा जहा रएणा परिणीया अप्पाणं निदियाइया तहा कहेयव्वा, हेट्ठा कहाणग कहिय ति पुणो न भन्नइ॥"

भावनिन्दायां सुबहून्युदाहरणानि योगसंग्रहे वक्ष्यन्ते। लक्षण पुनरिदम्-

" हा दुट्ठु कय हा दु-ट्ठु कारिय अणुमय ह त्ति।
अतो अतो डज्झइ, पच्छातावेण वेवतो॥
गरिहा वि तहा जाई-यमेव नवर परप्पगासणया।
दव्वम्मि य मरुयाण, भावेसु बहू उदाहरणा"॥

गर्हाऽपि तथाजातीयैव निन्दाजातीयैव, नवरमेतावान् विशेषः, प्रकाशनया गर्हा भवति। किमुक्त भवति ?-या गुरौ प्रत्यक्ष जुगुप्सा सा गर्हेतिवचनात्। साऽपि नामादिभेदाच्चतुर्विधा। तत्र नामस्थापने अनादृत्याह-द्रव्ये द्रव्यगर्हायां मरुकोदाहरणम्। तच्चेदम्-"आणंदपुरे मरुओ एहुसाए सम सवास काऊण उवज्झायस्स कहेइ। जहा-सुमिणए एहुसाए सम वास गतो मि त्ति।" भावगर्हायां साधुरुदाहरणम्। "गतूण गुरुसमीवं, काऊण य अजलिं विणयमूलं। अहमप्पणा तह परे, जाणावि य एस गरिहाओ"॥ १॥ आ० म० द्वि०। पा०। विशे०।

द्वे गर्हे—

दुविहा गरिहा पण्णत्ता। तं जहा-मणसा वेगे गरिहइ, वयसा वेगे गरिहइ। अहवा गरिहा दुविहा पण्णत्ता। त जहा-दीहं एगे अद्ध, हस्स एगे अद्धं॥

विधान विधा, द्वे विधे भेदौ यस्याः सा द्विविधा, गर्हण गर्हा, दुश्चरित प्रति कुत्सा। सा च स्वपरविषयत्वेन द्विविधा। साऽपि मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्ता, सम्यग्दृष्टेश्च द्रव्यगर्हा, अप्रधानगर्हेत्यर्थः। द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थत्वात्। उक्त च-"अप्पाहन्ने वि इह,कत्थइ दिट्ठो दु दव्वसद्दो त्ति। अंगारमद्दओ जह-दव्वायरिओ सया भ-

व्वो त्ति "॥ सम्यग्दृष्टेस्तत्प्रयुक्तस्य भावगर्हेति चतुर्था, गर्हणीयभेदात्। षट्प्रकारा वा,सा चेह करणापेक्षया द्विविधोक्ता। तथा चाह-(मणसा वेगे गरिहइ त्ति) मनसा चेतसा, वाशब्दो विकल्पार्थोऽवधारणार्थो वा । ततो मनसैव, न वाचेत्यर्थः । कायोत्सर्गस्थो दुर्मुखसुमुखाभिधानपुरुषद्वयनिन्दितोऽनभिप्रुतस्तद्वचनोपलब्धसामन्तपरिभूतस्वतनयराजवार्तो मनसा समारब्धपुत्रपरिजनकारिसामन्तसंग्रामो वैकल्पिकप्रहरणक्षये स्वतीर्थकग्रहणार्थव्यापारितहस्तस्पृष्टलुञ्चितमस्तकस्ततः समुपजातपश्चात्तापानलज्वालाकलापदन्दह्यमानसकलकर्मेन्धनो राजर्षिः प्रसन्नचन्द्र इव एकः कोऽपि साध्वादिर्गर्हते जुगुप्सते, गर्हामिति गम्यते । तथा वचसा वा वाचा,अथवा वचसैव न मनसा,भावतो दुश्चरितादिरक्तत्वाज्जनरञ्जनार्थं गर्हाप्रवृत्ताङ्गारमर्दकादिप्रायसाधुवत् एकोऽन्यो गर्हते इति। (अथवा मणसा वेगे गरिहइ त्ति)इह अपि च सम्भावने, तेन सम्भाव्यते अयमर्थोऽपि-मनस्येको गर्हते, अन्यो वचसेति । अथवा मनसाऽपि न केवलं वचसा एको गर्हते, तथा वचसाऽपि न केवलं मनसा एक इति, स एव गर्हते, उभयथाऽप्येक एव गर्हत इति भावः । अन्यथा गर्हाद्वैविध्यमाह-(अहवेत्यादि) अथवेति पूर्वोक्तद्वैविध्यप्रकारापेक्षया द्विविधा गर्हा प्रज्ञप्तेति। प्रागिव अपि सम्भावने। तेन अपि दीर्घां बृहतीं अद्धां कालं यावदेकः कोऽपि गर्हते गर्हणीयम्, आजन्मापीत्यर्थः । अन्यथा वा दीर्घत्वं विवक्षया भावनीयम्,आपेक्षिकत्वात् दीर्घह्रस्वयोरिति । एवमपि ह्रस्वामल्पां यावदेकोऽन्य इति। अथ वा दीर्घामेव यावद्, ह्रस्वामेव यावदिति व्याख्येयम्, अपेरवधारणत्वादिति । एक एव वा द्विधा कालभेदेन गर्हते, भावभेदादिति । स्था० २ ठा०१ उ० ।

तिस्रो गर्हाः—

तिविहा गरिहा पन्नत्ता। तं जहा-मणसा वेगे गरहइ, वयसा वेगे गरहइ,कायसा वेगे गरहइ,पावाणं कम्माणं अकरणयाए । अहवा गरहा तिविहा पन्नत्ता । तं जहा-दीहं वेगे अद्धं गरहइ,रहस्सं वेगे अद्धं गरहइ, कायं वेगे पडिसाहरइ पावाणं कम्माणं अकरणयाए ॥

(दीहं वेगे अद्धं ति) दीर्घं कालं यावदित्यर्थः । तथा कायमप्येकः प्रतिसंहरति निरुणद्धि,कया ?-पापानां कर्मणामकरणतया हेतुभूतया, तदकरणेन तदकरणतायै वा तेभ्यो गर्हते, कायं वा प्रतिसंहरति तेभ्योऽकरणतायै । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

ज्ञानदर्शनचारित्रगर्हा । अथ त्रिविधां गर्हां व्याचिख्यासुस्तत्स्वरूपं तावदाह-

सीसो कंपण गरिहा, हत्थ विलंबिय अहो य हक्कारो ।
वेला कण्णा य दिसा, अन्नत्तु णाम ण घेत्तव्वं ॥

गर्हा नाम शैक्षेण पृष्टः सन् शीर्षाऽऽकम्पनं करोति, हस्तौ वा धुनीते,विलम्बितानि वा करोति, हस्तावोष्ठौ वा विलम्बयतीत्यर्थः । यद्वा-ब्रवीति-अहो प्रव्रज्या,हाकारं वा करोति-हा हा कष्टं यदेव नष्टो लोकः (वेल त्ति) नामापि तस्य न वर्तते अस्यां वेलायां ग्रहीतुमिति, कर्णौ वा तदीयनामग्रहणे स्थगयति, यस्यां वा दिशि स तिष्ठति तस्यां न स्थातव्यमिति ब्रवीति । उपलक्षणत्वादक्षिणी वा निमीलयति । यद्वा-नामापि तस्य निरत्रपैर्न ग्रहीतव्यम्। अतः आस्तामेतद्विषयं पृच्छादिकमिति ।

णाणे दंसणचरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव ।
अह होति तिहा गरिहा, कायो वाया मणो वा वि ॥

ज्ञाने दर्शने चारित्रे चेति त्रिविधा गर्हा भवति । तत्र ज्ञानगर्हा नाम-ननु पठितेनैव किं तदीयेन ज्ञानेन। दर्शनगर्हा तु मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकप्रायोऽसौ । चारित्रगर्हा-सातिचारं चारित्रोऽचारित्रो वाऽसौ। अथवा-सूत्रे अर्थे तदुभये चेति त्रिविधा गर्हा। तत्र सूत्रं तस्य शङ्कितस्खलितमर्थं पुनरवबुध्यते १। यद्वा-अर्थं नावबुध्यते सूत्रं पुनरागच्छति २। उभयमपि वा तस्याविशुद्धं न जानाति वा किमपीति ३। अथ वा कायवाग्मनोभेदात् त्रिधा गर्हा । तत्र कायगर्हा-तेषामाचार्याणां शरीरं हुण्डादिसंस्थानं, विरूपं वा । वाग्गर्हा-मन्मनं काहलं वा ते जल्पन्ति । मनोगर्हा-न तेषां तथाविधमूहापोहपाटवं तथा ग्रहणसामर्थ्यमिति । अथवा त्रिविधा गर्हा भवति ।

प्रकारान्तरेण गर्हामेवाह-

पव्वयासि आम कस्स, त्ति सकासे चामुगस्स निद्दिट्ठो ।
आयपराधिगससी, उवहणति परं इमेहिं तु ॥

कोऽपि शैक्षकेणापि साधुना पृष्टः-प्रव्रजासि त्वम् । स प्राह-आमम् । कस्य सकाशे इति पृष्टः सन् भूयोऽप्याह-अमुकस्य समीपे । एवं निर्दिष्टे उक्ते स साधुरात्मानं परस्मादधिकं शंसितुमारब्धस्तु शीलमस्य स्यात्मपराधिकशंसी परमेभिः वचनैरुपहन्ति ।

तत्यथा—

अबहुस्सुताऽविसुद्धं, अहछंदा तेसु वाधिसंसग्गि ।
ओसन्ना संसग्गी, व तेसु एक्केक्कए दुन्नि ॥

अह बहुश्रुतः, सोऽबहुश्रुतः । अह विशुद्धपाठकः, स पुनरविशुद्धपाठी । यद्वा-यथाच्छन्दास्ते आचार्यास्तैर्वा यथाच्छन्दैः सह ते गाढतरं संसर्गिणः,गाथाया तृतीयार्थे सप्तमी। अवसन्ना वा ते, सार्धं संसर्गिणो वा, एवं पार्श्वस्थादावप्येकैकस्मिन् भेदे द्वौ द्वौ दोषावेवमेव वक्तव्यौ ।

अथ कायवाङ्मनोगर्हामेव प्रकारान्तरेणाह-

सीसोकंपण हत्थे, कण्ण दिसा अच्छि काइगी गरिहा ।
वेला अहो य ह त्ति य, णामं ति य वायगी गरिहा ॥

शीर्षकम्पनं,हस्तविलम्बनं, कर्णमोटनम्,अन्यस्यां दिशि स्थानम्, अक्षिनिमीलनम् अनिमिषलोचनस्य वीक्षणमवस्थानम्, एषा सर्वाऽपि कायिकी गर्हा। यत्तु यस्यां वेलायां नाम न ग्रहीतव्यम् अहो कष्टं हाहाकारकरणं नाम च तस्य कदापि न ग्रहीतव्यमित्यादिभाषणम्, सा वाचिकी गर्हा ।

अह माणसिगी गरिहा, सूइज्जति णेत्तवत्तरागेहिं ।
धीरत्तणेण य पुणो, अभिणंदइ णावि तं वयणं ॥

अथानन्तरं मानसिकी गर्हा-मनसि तमाचार्यं जुगुप्सते । कथमेतत् ज्ञायते ?, इत्याह-नेत्रवक्त्रयोः सम्बन्धिनो ये रागा मुकुलनविच्छायीभवनादयो विकारास्तैः सूच्यते मानसिकी गर्हा इति, भणिते साधिकं कृत्यमेतद्व्याख्यानामित्यादिवचोभिर्न तदीयं वचनमभिनन्दते, धीरतया वा तूष्णीकमास्ते, एवमन्यतरस्मिन् गर्हाप्रकारे कृते तस्य शङ्का भवति-अवश्यमकार्यकारी स आचार्यादिः सम्भाव्यते, न चामी साधवोऽलीकं भाषन्ते, अहमपि तत्र गतः आत्मानं नाशयिष्यामीति ।

एताणि य अण्णाणि य, विप्परिणामणपदाणि सेहस्स ।
उवहिणिमित्तं पयहाणा, कुव्वंति अणिज्जुया केई ॥

एतानि चाऽनन्तरोक्तानि अन्यानि च द्रव्यक्षेत्रकालभावा शैक्षस्य विपरिणामनपदानि भवन्ति । तत्र द्रव्यतो-मनोज्ञाहारादि ददाति । क्षेत्रतः-प्रवातनिवाते मनोऽनुकूले प्रदेशे त स्थापयति । कालतो-वेलायामेव भोजयति । भावतः-तस्याकर्षणार्थं स्निग्धमधुरमुपदेशं ददाति । एवं केचिदनृजुकाः शठा उपधि परवञ्चनाऽभिप्रायो, निकृति कैतवार्थं प्रयुक्तवचनाकाराच्छादनं, ते प्रधाने येषां ते तथाविधा विपरिणामनपदानि कुर्वन्ति ।

उपसंहरन्नाह-

एएमामरणयरं, कप्प जो अतिचरे अ लोभेण ।
थेरे कुलगणसंघे, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

एतेषामव्याहतविहारकल्पप्रतिपादितानां कल्पानामन्यतरकल्पं विधाय आचार्यादिलोभदोषतोऽतिचरेत् अतिक्रामेत्, तं सम्यग् ज्ञात्वा कुलगणस्थविरं कुलादिसमवायेन वा तस्य पार्श्वात् तं शैक्षमाकृष्य चत्वारो मासा गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तं दातव्यम् । अथ स्थविरैः समवायेन वा भणितोऽपि तं शैक्षं न समर्पयति तत कुलगणसंघबाह्यः क्रियते । बृ० ३ उ० । नि०चू० । (गर्हासंयमोऽगर्हासंयम इति 'कालासवेसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४६७पृष्ठे उक्तः) । शल्योद्धरणे, "निंदा गरह विउट्टा, सल्लुद्धरणं च एगट्ठा" । ओघ० । मृषावादभेदे, गर्हा तु त्रिधा । एका सावद्यव्यापारप्रवर्तिनी । यथा-क्षेत्रं कृषेत्यादि । द्वितीया अप्रियाकाणं काणं वदतः । तृतीया आक्रोशरूपा । यथा-अरे बान्धकिनेय ! इत्यादि । धर्म० २ अधि० । दश० ।

गरुअ-गुरुक-पुं० । " गुरौ के वा " । ८ । १ । १०९ । गुरौ स्वार्थे के सति आदेरुतोऽद् वा भवति । 'गरुओ । गुरुओ' प्रा० १ पाद । अधःपतनहेतावयोगोलकादिगते स्पर्शे, अनु० । वज्रादिवद् गुरुकस्पर्शपरिणते, प्रज्ञा० १ पद । गरीयसि, पञ्चा० ६ विव० । महाशिलादिके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "गुरुयं भणति" गुरुकं बादरं स्वस्य जिह्वाछेदनाद्यर्थकम् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ('अगरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५८ पृष्ठेऽस्य दण्डकः)

गरुअणिवइय-गुरुकनिपतित-न० । विद्युदादिगुरुकद्रव्यनिपातजनितध्वनौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गरुअत्त-गुरुकत्व-न० । अधस्तात्क्रमणहेतुभूते अशुभकर्मोपचये, भ० । " कह णं भंते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ? । गोयमा ! पाणाइवाएणं मुसावाएणं अदिण्ण-मेहुण-परीसह-कोह-माण-माया-लोह-पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-रति-अरति-परपरिवाय-माया-मोस-मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति" भ०१ श० ६ उ० । आ० म० । (कथं गुरुकत्वं कथं वा लघुकत्वं जीवा गच्छन्तीति 'कम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २४४ पृष्ठे उक्तम्)

गरुआअ-गुरुकाय-धा० । अगुरुर्गुरुर्भवति, गुरु-क्यङ् । अगुरोर्गुरोरिवाचरणे, "क्यङो यलुक्" । ८ । ३ । १३८ । क्यङन्तस्य यलोप । ' गरुआइ । गरुआअइ ' । प्रा० ३ पाद ।

गरुई-गुर्वी-स्त्री० । 'उतो मुकुलादिष्वत्' । ८ । १ । १०७ । इत्यादेरुतोऽत्वम् । प्रा० १ पाद । ज्येष्ठायाम्, पञ्चा० ६ विव० । 'जा जम्स वा गरुगीयते, जा तत्थी जस्स साहुस्स । मातादिया-दिया भव्वा सा गरुगी भण्णति । नि० चू० १ उ० ।

गरुय-गुरुक-पुं० । ' गरुअ ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

गरुयणिवइय-गुरुकनिपतित-न० । ' गरुअणिवइय ' शब्दार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गरुयत्त-गुरुकत्व-न० । 'गरुअत्त' शब्दार्थे, भ० १ श० ६ उ० ।

गरुवी-गुर्वी-स्त्री० । " तन्वीतुल्येषु " ८ । २ । ११३ । इति अन्त्यव्यञ्जनस्योकार । प्रा० २ पाद । गुरुत्वविशिष्टायां, गर्भवत्याम्, वाच० ।

गरुल-गरुड-पुं० । "डो लः" । ८।१।२०२। इति डस्य लः । प्रा० १ पाद । वेणुदेवापरनामके गरुत्मति पक्षिराजे, "पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । पञ्चकूटशाल्मलीषु, पञ्च गरुडाः वेणुदेवा । स्था० १० ठा० । मानुषोत्तरपर्वतस्य "दक्खिणपुव्वेणं रयणकूडा गरुलस्स वेणुदेवस्स " द्वी० । गरुडलाञ्छनत्वात् सुपर्णकुमारे भवनपतिविशेषे, स० ४२ सम० । औ० । त० । भ० । कल्प० । जं० । प्रश्न० । रा० । ज्ञा० । " गरुलायत-उज्जुतुंगनासा " । गरुडस्येवायता दीर्घा ऋज्वी अकुटिला तुङ्गा उन्नता नासा नासिका येषां ते गरुडायतर्जुतुङ्गनासाः । प्रज्ञा० २ पद । जी० । स्था० । 'महापउमरुक्खस्स' अधिष्ठातृदेवे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गरुलकेउ-गरुडकेतु-पुं० । गरुडध्वजे वासुदेवे, स० ।

गरुलगोविंदवाइ(ण्)-गरुडगोविन्दवादिन्-पुं० । इन्द्रभूतिना समं वीरान्तिकं गते वादिभेदे, कल्प० ६ क्षण ।

गरुलज्झय-गरुडध्वज-पुं० । गरुडाख्यरूपचिह्नोपेते ध्वजे, " अट्ठसयं गरुलज्झयाणं " रा० । वासुदेवे, आ० म० प्र० । सुपर्णकुमारे देवे, स० ।

गरुलव्यूह-गरुडव्यूह-न० । गरुडाकृतिसैन्यरचनायाम्, ज्ञ० २ वक्ष० । प्रश्न० ।

गरुलावास-गरुडावास-पुं० । देवकुरुषु गरुडजातीयस्य वेणुदेवाऽभिधानस्याऽऽवासे, स० ८ सम० ।

गरुलासण-गरुडासन-न० । आसनभेदे, जी० ३ प्रति० । जं० । येषामासनानामधो गरुडा व्यवस्थिताः । रा० ।

गरुलोववाय-गरुडोपपात-पुं० । अङ्गबाह्यश्रुतविशेषे, पा० । यत्परावर्तकस्य साधोर्गरुडो देव उपतिष्ठते । स्था० १० ठा० । व्य० ।

गल-गल-पुं० । कण्ठे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । सर्जरसे, वाद्यभेदे, वाच० । बडिशे, न० । ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । विपा० । प्र० । दश० । " गलकालकलोहदंडउरउदरवत्थिपट्ठीपरिपीलिया " तथा गलं इव बडिशामिव घातकत्वेन यः स गल, स चासौ कालकलोहदण्डश्च कालायसयष्टिः, तेन उरसि वक्षसि उदरे च जठरे वस्तौ च गुह्यदेशे पृष्ठौ च पृष्ठे परिपीडिता ये ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । " गलगवलावलणमारणाणि " गलस्य कण्ठस्य गवलस्य शृङ्गस्या-वलनं च मोटनम् । अथवा-गलस्य बलादावलनं मारणं चेति तानि च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । नाशे, विघ्ने च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विशे० । आ० म० ।

संप्रति गवेषणाया नामादीन् भेदानाह-

नामं ठवणा दविए, भावम्मि गवेसणा मुणेयव्वा।
दव्वम्मि कुरग गया, उग्गम उप्पायणा भावे ॥ ७९ ॥

(नामं ति) नामगवेषणा, स्थापनागवेषणा, एते च एषणे सप्रपञ्चं स्वयमेव भावनीये। द्रव्ये द्रव्यविषया,भावे भावविषया च। तत्र द्रव्यविषया आगम-नोआगमभेदात् द्विधा। तत्रागमतो गवेषणा शब्दार्थज्ञाता,"तत्र चानुपयुक्त अनुपयोगो द्रव्यम्" इति वचनात्। नोआगमतस्त्रिधा- ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीररूपे द्रव्यगवेषणे एषणे इव भावनीये। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तगवेषणा सचित्तादिद्रव्यविषया। तत्र कुरङ्गगजा उदाहरणम्। तथा चाह- (दव्वम्मि कुरगगया) द्रव्ये-- द्रव्यविषयायां गवेषणायां कुरङ्गा मृगा, गजा हस्तिनो दृष्टान्ताः। भावे भावविषया गवेषणा। (उग्गमउप्पायण त्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् उद्गमोत्पादनादोषविमुक्ताऽऽहारविषया।

यदुक्त-'दव्वम्मि कुरंगगया' इति तत्र कुरङ्गदृष्टान्त गाथाद्विकेनाऽभिधित्सुराह—

जियसत्तु-देवि-चित्तस-भपविसणं कणगपिट्ठ-पासणया।
डोहल दुब्बल पुच्छा, कहणं आणा य पुरिसाणं ॥८०॥
सीवन्निसरिसमोयग-करणं सीवन्निरुक्खहेट्ठेसु।
आगमणं कुरगाणं, पसत्थ अपसत्थ उवमाओ ॥८१॥

सुगम, नवरं भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरं, तत्र राजा जितशत्रुः, तस्य भार्या पट्टमहाराज्ञी नाम्ना सुदर्शना, तस्याः कदाचिदापन्नसत्त्वायाः राज्ञा सह चित्रसभायां प्रविष्टायाश्चित्रलिखितान् कनकपृष्ठान् मृगानवलोक्य तन्मांसभक्षणे दोहदमजायत। दोहदे चासंपद्यमाने तस्याः खेदवशात् शरीरस्य दौर्बल्यमभवत्। तच्च दृष्ट्वा नृपतिः सखेदं तां पृष्टवान्। यथा-हा प्रिये! किमतीव शरीरे तव दौर्बल्यमजायत? ततः सा दोहदमचकथत्। ततो राजा सत्वरं कनकपृष्ठकुरङ्गानयनाय पुरुषान् प्रेषितवान्। तेऽपि च पुरुषाः स्वचेतसि चिन्तयामासुः-इह यस्य यत् वल्लभं स तत्रासक्तस्सन् प्रमादभावं भजमानः सुखेनैव बध्यते, कनकपृष्ठाना च कुरङ्गाणामिष्टानि श्रीपर्णीफलानि, तानि च संप्रति न विद्यन्ते, ततस्तत्सदृशान् मोदकान् कृत्वा श्रीपर्णीवृक्षतलेषु च सर्वतः पुञ्जकपुञ्जकाकारेण क्षिप्त्वा तेषां समीपे पाशान् स्थापयामः, इति तथैव कृतम्। ते च कनकपृष्ठा रुरवो निजेन यूथाधिपतिना सह स्वेच्छया परिभ्रमन्तस्तत्रागताः। यूथाधिपतिश्च श्रीपर्णीफलाकारान् पुञ्जकपुञ्जकाकारेण स्थितान् मोदकानवलोक्य मृगानुक्तवान्। यथा-भो रुरव ! युष्माकं बन्धनार्थमिदं केनापि धूर्तेन कृतं कूटं वर्तते, यतो न संप्रति श्रीपर्णीफलानि भवन्ति, न च सम्भवन्त्यपि पुञ्जकाकारेण घटन्ते। अथ मन्येथास्तथाविधपरिभ्रमद्वातमपर्कात पुञ्जकपुञ्जकाकारेण घटन्ते, तदयुक्तम्, ननु पुराऽपि वाता वान्ति स्म, न तु तथा कदाचनाप्येवं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण भवन्ति स्म।

तथा चैतदेव निर्युक्तिकार पठति-

विइयमेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीयइ।
पुरा वि वाया वायंता, न उणं पुंजकपुंजका ॥

विदित प्रतीतमेतत् कुरङ्गाणां यदा यस्मात् श्रीपर्णी सीदति, आतूनामनेकार्थत्वात् न फलति, तस्मान्नेदानीं फलानि सम्भवन्ति, सम्भवन्तु वा तथापि कथं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण स्थितानि? वातवशादु,ननु पुराऽपि वाता वान्ति स्म,न पुनरेवं पुञ्जकपुञ्जकाः फलानामभवन्। तस्मात् कूटमिदमस्माकं बन्धनाय कृतं वर्तते, इति मा यूयमेतेषामुपकण्ठमगमत। एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते दीर्घजीविनो वनेषु स्वेच्छाविहारसुखभागिनश्चाऽजायन्त, यैस्त्वाहारलम्पटतया तद्वचनं न प्रतिपन्नं,ते पाशबन्धादिदुःखभागिनोऽभवन्। इह यद् यूथाधिपतेः श्रीपर्णीफलसदृशमोदकद्रव्यसदोषत्वनिर्दोषत्वपर्यालोचनं सा द्रव्यगवेषणा। इह निर्युक्तिकारेण "पसत्थअपसत्थउवमाओ" इति प्रतिपादयता दार्ष्टान्तिकोऽप्यर्थः सूचितो द्रष्टव्यः। स चायम्-यूथाधिपतिस्थानीया आचार्याः, मृगयूथस्थानीयाश्च साधवः,तत्र ये गुरुनियोगत आधाकर्मादिदोषदुष्टाहारपरिहारिणस्ते प्रशस्तकुरङ्गोपमा द्रष्टव्याः, ये त्वाहारलाम्पट्यतो गुर्वाज्ञामपाकृत्याऽऽधाकर्मादिपरिभोगिनो बभूवुः, ते अप्रशस्तकुरङ्गसदृशा वेदितव्याः। अत्रार्थे च कथानकमिदम्-हस्तो नाम सन्निवेशः, तत्र यथागम विहरन्तः समिता नाम सूरयः समाययुः। तत्र च जिनदत्तो नाम श्रावक आसीत्। स च जिनवचनात्साधुभक्तिपरीतचेता दानशौण्डः कदाचित्साधुनिमित्तं भक्तमाधाकर्म कारितवान्। सूरयश्च सर्वमपि तं वृत्तान्तं कथञ्चित्परिज्ञातवन्तः। ततस्तैः साधवस्तत्र प्रविशन्तो निवारिताः। यथा-भो साधवः! तत्र साधुनिमित्तं आहारः कृतो वर्तते इति मा तत्र यूयं गच्छत। एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं, ते आधाकर्मपरिभोगजनितपापकर्मणा न बद्धा गुर्वाज्ञा च परिपालिता, तत शुद्धशुद्धतरश्रमणवृत्तिभावतो मुक्तिसुखभागिनोऽभवन्। ये त्वाऽऽहारलाम्पट्यतः भावितं दायमनवगणय्याऽऽधाकर्मणि भक्षा इव वणिग्जननिवेशिते मांसे प्रवृत्तास्ते कुगतिहेत्वाधाकर्मपरिभोगतो गुर्वाज्ञाभङ्गतश्च दीर्घतरसंसारभागिनो जाताः।

सांप्रतं गजदृष्टान्तमाह—

हत्थिग्गहणं गिम्हे, अरहट्टेहि भरणं च सरसीणं।
अच्चुदएण नलवणा, आरूढा गयकुलाऽऽगमणं ॥

हस्तिग्रहणं मया कार्यमित्येवं राज्ञश्चिन्ता, ततस्तद्ग्रहणाय ग्रीष्मकालेऽपि पुरुषप्रेषणा, तैश्च सरसीनामरघट्टैर्भरणं कृतं, ततोऽभ्युदकेन नलवनान्यतिशयेन प्ररूढानि, गजकुलस्यागमनमिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-आनन्दं नाम पुरं, तत्र रिपुमर्दनो नाम राजा, तस्य भार्या धारिणी, तस्य च पुरस्य प्रत्यासन्नं गजकुलशतसहस्रसकुलं विन्ध्यमरण्यम्, ततो राजा कदाचित् गजबलं महाबलमित्यवश्यं मया गजा ग्रहीतव्या इति परिभाव्य गजग्रहणाय सत्वरं पुरुषान् प्रेषयामास। ते च पुरुषाश्चिन्तितवन्तो यथा-गजानां नलचारिरत्नक्रीडा, सा च संप्रति ग्रीष्मकाले न सम्भवति, किं तु वर्षासु। तत इदानीमरघट्टैः सरसीर्विभृमो, येन नलवनान्यतिप्ररूढानि भवन्ति। तथैव कृतम्। नलवनप्रत्यासन्नाश्च सर्वतः पाशा मण्डिताः। इतश्च परिभ्रमन्तो यूथाधिपतिसहिता हस्तिन समाजग्मुः, यूथाधिपतिश्च तानि वधिपतिसहिता हस्तिन समाजग्मुः, यूथाधिपतिश्च तानि वनानि परिभाव्य गजान् प्रति उवाच-भो! स्तम्बेरमाः! नाऽमूनि न-

लवनानि स्वाभाविकानि, किं त्वस्माकं बन्धनाय केनापि धूर्तेन कृतानि कूटानि, यत एव नलवनान्यतिप्ररूढानि सरस्यो वाऽतोवजलसभृता वर्षासु सञ्जवन्ति,नेदानीं ग्रीष्मकाले 'अथ बुवीरन्-प्रत्यासन्नविन्ध्यपर्वतनिर्झरणप्रवाहत एवं सरस्यो भृता नलवनानि चातिप्ररूढानि, नतो नामूनि कूटानि । तदयुक्तम् । अन्यदाऽपि हि खलु निर्झरणान्यासीरन्, नचैव कदाचनाप्यतिजलभृता. सरस्योऽभूवन् ।

तथा च तदर्थसग्राहिकामेव निर्युक्तिकारो गाथा पठति-

विइयमेय गयकुलाए, जयारोहंति नलवणा ।
अन्नया वि ज्झरति दहा, न पण एवं बहूदगा ॥

विदिनमेनत् गजकुलानां यदारोहन्ति अतिशयेन प्ररूढानि जवन्ति नलवनानि तस्मान्नामूनि स्वाभाविकानि। अथ निर्झरणवशादेव प्ररूढानि । तत आह-अन्यदाऽपि ह्रदा क्षरन्ति, न त्वेव कदाचनापि बहूदका सरस्योऽभवन्, तस्माद् धूर्तेन केनाप्यमूनि कृतानि कूटानीति मा ऽत्र यूय यासिष्ट । एवमुक्ते यैस्तद्वच प्रतिपन्न ते दीर्घकाल वने स्वेच्छाविहारसुखभागिनो जाता ,यैस्तु न कृत ते बन्धवधमुक्तादिदु खभागिन । इहापि गजयूथाधिपतेर्नलवनसदोषनिर्दोषरूपतया परिभाविता द्रव्यगवेषणा, दार्ष्टान्तिकयोजना तु पूर्ववत् स्वयमेव भावनीया । तदेवमुक्ता द्रव्यगवेषणा । साम्प्रत भावगवेषणा कर्तव्या, सा चोद्गमोत्पादनाद्युद्धाऽऽहारविषया। पिं० । एवणागवेषणाशब्दावेकार्थौ। पञ्चा० १३ विव० । ओघ० । प० चू० । व्यतिरेकधर्मालोचने, औ० ।

गव्व-गर्व-पु० । अनुशये, अनु० । माने, प्रव० २१६ द्वार । शौण्डीर्ये, ज० १५ श० १ उ० । आचा० । तदात्मके गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

गव्विय-गर्वित-त्रि० । अभिमानिनि, कल्प० ३ क्षण ।

अथगर्वितमाह-

पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जइ आजरण, पलियत्तियकन्नहत्थस्स ॥

इह य. श्रुतमधीयान तदवलेपादेव च दुर्विनीतो भवन्नुपलभ्यते, तादृशे पुरुषे विनयविधानं कर्म विनयनोपाय आचारादिश्रुतजात, किञ्चिदपि स्तोकमपि नाऽऽचक्षीन, यतो नापि नैव दीयते आभरण कुण्डलकङ्कणादिक परिकर्तितकर्णहस्तस्य पुरुषस्य । एव श्रुताजरणमपि विनयविकलाङ्गस्य जिनवचनवेदिना न दातव्यम् ।

अथाऽस्यैव सविशेषमपात्रताख्यापनार्थमाह-

मद्दवकरण नाण, तेणेव उ जे मदं समुवहति ।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं ॥

मार्दव माननिग्रहस्तत्करण तत्कारक ज्ञान तेनैव ज्ञानेन ये दुर्विदग्धा मदमहङ्कार समुद्वहन्ति। कथम्भूता ऊनकभाजनसदृशा असम्पूर्णमृद्घटादिभाजनतुल्या , यथा किल तत् जरञ्जरायते तथैतेऽपि दुरधीतविद्यास्रवतया निजपाण्डित्यगर्वाध्माता यदपि तदपि लपन्तस्तिष्ठन्ति। तेषामगदोऽपि विषापहारमन्त्रौषध विषायते विषरूपतया परिणमते। गत गर्वितद्वारम्। बृ० १ उ० ।

गव्विर-गर्ववत्-त्रि० । "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्ते-त्तेर-मणा मतो "। ८ । २ । १५९ । इति मतो. स्थाने इरादेश । गर्वयुक्ते, प्रा० २ पाद ।

गस-ग्रस-धा० । अदने, "ग्रसेर्घिस." । ८। ४ ।२०४। ग्रसेर्घिस इत्यादेशो वा भवति । ' घिसइ, गसइ' ग्रसति । प्रा० १ पाद ।

गह-ग्रह-पु० । ग्रह अच् । अनुग्रहे, निर्बन्धे, आदाने, ग्रहणे, स्वीकारे, अने० । रणोद्यमे, मलबन्धे, वाच० । गीतस्य उत्क्षेपारम्भरसविशेषे, दश० २ अ० । गार्ध्ये, तात्पर्ये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । " गहाणुमेओ सरीरमिति " स्था० १ ठा० १ उ० । कर्मणो बन्धे, दश० ४ अ० । ज्योतिष्कभेदे राह्वादौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स्था० । (ग्रहाणा सर्वोऽप्यधिकारो 'जोइसिय' शब्दे)(अङ्गारकादयो जावा केवन्ता अष्टाशीत्यन्ता महाग्रहा स्वस्थाने)

गहकल्लोल-राहौ, दे० ना० २ वर्ग ।

गहगज्जिय-ग्रहगर्जित-न० । ग्रहसचारणादौ गर्जितानि स्तनितानि ग्रहगर्जितानि । भ० ३ श० ६ उ० । ग्रहचारहेतुकेषु गर्जितेषु, जी० ३ प्रति० ।

गहगण-ग्रहगण-त्रि० । ग्रहसमूहे, " गहगयदिप्पतारिक्खतारागणाण मज्झे " कल्प० ३ क्षण ।

गहगणोरुणायग-ग्रहगणोरुनायक-पु० । ग्रहगणस्य ग्रहसमूहस्योरु महान् नायको य. स तथा । सूर्ये, कल्प० ३ क्षण ।

गहचरिय-ग्रहचरित-न० । ज्योतिष्के ज्योति शास्त्रे, व्य० ४ उ० । तत्परिज्ञाने, स० ७३ सम० ।

गहजुद्ध-ग्रहयुद्ध-न० । अन्यस्य ग्रहस्य मध्येनैकस्य गमने, जी० ३ प्रति० । ग्रहयोरेकनक्षत्रे दक्षिणोत्तरेण समश्रेणितयाऽवस्थाने, भ० ३ श०६ उ०१

गहण-गहन-न० । गह-ल्युट् "कृच्छ्रगहनयो कष " । ७ । २ । २२ । इति (पाणि०) सूत्रनिर्देशात्, पृषो० वा ह्रस्व' । 'गह' गहने, ल्युट् वा । निर्जलप्रदेशे, अरण्यक्षेत्रे, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० । धवादिवृक्षैः कटिलस्थानीये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अतिशयेन गुपिले, न० । आव० । स्था० । व्य० । वृक्षगह्वरे, विपा० । प्रश्न० । ओघ० । वननिकुञ्जे, दश० ८ अ० । वृक्षवल्लीलताविनानवीरुत्समुदाये, ज्ञ० १ श्रु० ६ उ० । सूत्र० । गहनमिव गहनम् । परव्यामोहनाय वचनजाले, भ० १७ श० ५ उ० । तदात्मके गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० । गहनमिव गहन दुर्लक्ष्यान्तस्तन्त्रत्वात् विंशतितमे गौणालोके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

ग्रहण-न० । पु० । गृह्यतेऽवगम्यते शब्दादिरर्थोऽनेनेति ग्रहणम् । दर्शने, स्था० २ ठा० १ उ० । गृह्यते इति ग्रहणम् । कृत "बहुलम्" । ५ । १ । २ । इति (हैम० वचनात् कर्मण्यनट् । शब्दद्रव्यसमूहे, आ० म० प्र० । वाग्द्रव्यनिकुरम्बे, विशे० । गृह्यते अनेनेति ग्रहणम् । आक्षेपके,गृह्णाति इति ग्रहणम् । बहुलवचनात्कर्तरि ल्युट्। ग्राहके, गृह्यते इति ग्रहणम् । कर्मणि ल्युट्। गृहो, उत्त० ३२ अ० । " रूवस्स चक्खु गहण वयन्ति " विशिष्टेन हि रूपेण चक्षुराक्षिप्यते तद्वदन्यभिदधति तीर्थकृत , अनेन रूपचक्षुषोर्ग्राह्यग्राहकभाव उक्त. । तथा च-न ग्राहकत्व विना ग्राह्यत्वम्, नापि ग्राह्यत्व विना ग्राहकत्वम् । उत्त० ३ अ० । 'ग्रह भावे ल्युट् । आलोचने, विशे० । आत्मनो-

ऽवधारणे, उत्त० १ अ०। स्वीकरणे, पञ्चा० १० विव०। उपादाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। आ० म०। नि० चू०। पञ्चा०।

आदाणे गहणम्मि य, णिक्खेवो होंति दोन्नि वि चउक्को।

ग्रहणेऽपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो द्रष्टव्यः। भावार्थोऽप्यादानपदस्येव द्रष्टव्य., तत्पर्यायत्वादस्येति। एतच्च ग्रहण नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यनयाभिप्रायेणाऽऽदानपदेन सहाद्योच्यमान शक्रेन्द्रादिवदेकार्थमभिधायि भवेत्। शब्दसमभिरूढैवंभूतशब्दनयाभिप्रायेण नानार्थं भवेत्। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। शास्त्रार्थोपादाने, ध० १ अधि०। गुरुसमीपे इत्वर यावत्काल वा व्रतप्रतिपत्तिः। ध०२ अधि०। गुरुमूले श्रुतधर्मेत्यादिविधिना सम्यक्त्वव्रतोपादाने, ध० २ अधि०।

गिण्हइ गुरूण मूले, इत्तरमियरं व कालमह ताइं ॥

गृह्णाति प्रतिपद्यते, गुरूणामाचार्यादीनां मूले समीपे,आनन्दवत्। आह-स श्रावको देशविरतिपरिणामे सति व्रतानि प्रतिपद्यते, असति वा ?। किञ्चाऽतः ?। यद्याद्यः पक्षः-किं गुरुसमीपगमनेन?, साध्यस्य सिद्धत्वात्। प्रतिपद्यापि व्रतानि देशविरतिपरिणाम एव साध्य, स चास्य स्वत एव सिद्ध इति, गुरोरप्येव परिश्रमयोगान्तरायदोषपरिहार कृत स्यादिति। द्वितीयश्चेत्तर्हि द्वयोरपि मृषावादप्रसङ्गात्परिणामाभावे पालनस्याप्यसम्भवात्। तदेतत्सकल परोपन्यस्तमचारु। उभयथाऽपि गुणोपलब्धे। तथाहि-सत्यपि देशविरतिपरिणामे गुरुसमीपप्रतिपत्तौ तन्माहात्म्यान्मया सद्गुणस्य गुरोराज्ञाऽऽराधनीयेति। प्रतिज्ञाविशेषाद् व्रतेषु दृढता जायते, जिनाज्ञा चाराधिता भवतीति। उक्त च-

"गुरुसक्खिओ हु धम्मो, संपुन्नविही कयाहि य विसेसा।,
तित्थयराण आणा, साहुसमीपम्मि वोसिरणो" ॥

गुरुदेशनाश्रवणोद्भूतकुशलतराध्यवसायात्कर्मणामधिकतरक्षयोपशम स्यात्तस्माच्चाल्प व्रत प्रतिपित्सोरपि बहुतमव्रतप्रतिपत्तिरुपजायते इत्यादयोऽनेके गुणा गुरोरन्तिके व्रतानि गृह्णत सम्भवन्ति, तथाऽसत्यपि विरतिभावो गुरूपदेशश्रवणानिश्चयसारपालनातो वाऽवश्यभावी सरलहृदयस्येति,द्वयोरपि गुरुशिष्ययोर्मृषावादाभाव एव गुणलाभात्। शठाय पुनर्न देयान्येव गुरुणा व्रतानि, छद्मस्थतया पुनरलक्षितशाठ्यस्य शठस्यापि दाने गुरो शुद्धपरिणामत्वाददोष एव। न चैतत् स्वमनीषिकयोच्यते। यदुक्त श्रावकप्रज्ञप्तौ-

"सतम्मि विपरिणामे, गुरुमूलपवज्जणम्मि एस गुणो।
दढया आणाकरणं, कम्मखओवसमवुड्ढी य ॥१॥
इह अहिए फलभावे, न होइ उभयपलिमथदोसो वि।
तय भावम्मि वि दुण्ह वि, न मुसावाओ वि गुणभावा ॥२॥
तग्गहणओ च्चिय तओ, जायइ कालेण असढभावस्स।
इयरस्स न देय चिय, सुद्धो छलिओ वि जइ असढो" ॥३॥

कृत विस्तरेण। कथ गृह्णातीत्याह—इत्वर चतुर्मासादिप्रमितमितरद् वा यावत्कथिक वा काल यावदर्थपरिज्ञानानन्तर, तानीति प्रस्तुतव्रतानीति। ध० र०। एकेन्द्रियादीनामुपादानम्। आव० ४ अ०। (गृहीतानां च परिष्ठापन 'परिट्ठावणा' शब्दे, गृहीतस्य पुन परिष्ठापनं तु 'परिट्ठावणिया' शब्दे)

अन्यानि ग्रहणानि-

तिविहं च होइ गहणं, सच्चित्ताचित्त मीसगं चेव।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

त्रिविध च भवति ग्रहणम्। तद्यथा-सचित्तग्रहणम्,अचित्तग्रहण, मिश्रग्रहण च। एतेषां त्रयाणामपि नानात्व यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि।

तत्र सचित्तग्रहण तावदाह-

सच्चित्तं पुण दुविहं, पुरिसाणं चेव तह य इत्थीणं।
एक्केक्क पि य इत्तो, पचविहं होइ नायव्वं ॥

सचित्तग्रहण पुनर्द्विविधम्, तद्यथा-पुरुषाणां वाऽऽचार्यादीनां, स्त्रीणां प्रवर्तिनीप्रभृतीनाम्, एकैकमपि इतो मूलभेदापेक्षया पञ्चविध वक्ष्यमाणनीत्या पञ्चप्रकार भवति ज्ञातव्यम्।

कुत. पुन. तेषां पुरुषाणां स्त्रीणां वा ग्रहण क्रियते इत्याह-

उदगागणितेणोमे, अद्धाण गिलाण सावय पदुट्ठे।
तित्थाणुसज्जणाए, अइसेसगमुद्धरे विहिणा ॥

उदकवाहकेनाचार्यादयो नेतुमारब्धा (अगणि त्ति) महानगरप्रदीपनके वा दाहनेन समुपस्थित. (तेण त्ति) शरीरस्तेना आचार्यादीन् व्यापादयितुमिच्छन्ति, अवम दुर्भिक्ष, तत्र भक्तपानलाभाभावात्प्राणसंशयस्तेषामुपस्थे, अध्वानमच्छिन्नापातं महदरण्य,त प्रपन्नानामपान्तराले बुभुक्षापरिश्रमादिभिरग्रतो गन्तुमशक्नुवतां जीवित संशयतुलामाधिरूढम्, (गिलाण त्ति) शूलविषविशूचिकादिकमागाढग्लानत्वमुपपादितम्। श्वापदाः सिंहव्याघ्रादय, तैरुपद्रोतुमारब्ध, प्रद्विष्ट. प्रद्वेषमापन्नो राजा साधूना प्राणापहार कर्तुमभिलषति। एतेषु आगाढकारणेषु तीर्थानुपज्जनाय तीर्थस्याव्यवच्छेदेनानुवर्तनाय योऽतिशायी विशिष्टपात्रभूत. प्रवचनाधार. पुरुषस्त विधिना वक्ष्यमाणनीत्या समुद्धरेत्।

अथ यदुक्तमेकैक पञ्चविध ग्रहण भवति, तत्र पुरुषविषय तावदाह-

आयरिए अभिसेगे, भिक्खू खुड्डे तहेव थेरे य।
गहणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि ॥

आचार्यो गच्छाधिपति, अभिषेक. सूत्रार्थतदुभयोपेत आचार्यपदस्थापनार्ह, भिक्षु प्रतीत., क्षुल्लको बाल., स्थविरो वृद्ध, एतेषां पञ्चानामपि ग्रहणमनन्तरमेव वक्ष्यमाण संयोगमसंयोगतो गमा. प्रकारा यस्य तत्तथा वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

सव्वे वि तारणिज्जा, सदेहाओ परक्कमे सते।
एक्कक्क अवणिज्जा, जाव गुरू तत्थिमो भेदो ॥

पराक्रमे शक्तौ सत्यां सर्वेऽप्याचार्यादयस्तादृशात् स्वदेहान्नद्याद्युदकनिमज्जनलक्षणात्तारणीया, एकैकोऽपि यावद् गुरुरपनेतव्य, किन्तु तत्राय भेदो भवति।

तरुणो निप्फन्न परिवारे, सलद्धिए जो वि होंति अब्भासे।
अभिसेगम्मि य चउरो, सेसाण पंच चेव गमा ॥

इह द्वावाचार्यौ, एकस्तरुणोऽपर स्थविरो,यद्यस्ति शक्तिस्ततो द्वावपि तारणीयौ, अथ नास्ति, ततस्तरुणो निस्तारणीय। अथ द्वावपि तरुणौ, ततो यस्तयोर्निष्पन्न सम्यक्सूत्रार्थकुशल स तारयितव्य.। अथ द्वावपि निष्पन्नावनिष्पन्नौ वा, ततो य. सपरिवार स तारणीय.। अथ द्वावपि सपरिवारावपरिवारौ वा, ततो यस्तत्र सलब्धिको लब्धिसंपन्नस्त तारयेत्। अथ

ञ्चापि सत्सचिकावलम्बकौ वा, ततो योऽभ्यासे अस्ति स्थितः स निस्तारणीयः । अत्रार्थे विशेषसंप्रदायः - द्वयोरभ्यासे स्थितयोर्यस्तरीतुमशक्तः स तारणीयः । एवमेते आचार्यस्य पञ्च गमा अभिहिताः, अभिषेकस्तु नियमात्तत्पदो भवति, अन्यथा तस्य तत्र आचार्यपदस्थापनयोग्यत्वानुपपत्तेः । ततस्तस्मिन्नभिषेके निष्पन्नानिष्पन्नगमाभावात् शेषाश्चत्वारो गमा एवमेव वक्तव्याः । शेषाणां भिक्षुक्षुल्लकस्थविराणां पञ्चापि गमा भवन्ति, ते चाचार्यवद्वक्तव्याः । न च बालस्य निष्पन्नता श्रीवज्रस्वामिन इव भावनीया, तरुणता तु प्रथमवयसि वर्तमानस्य, शेषस्य तु वृद्धता मन्तव्या । एषामपि च भिक्षुप्रभृतीनां परिवारो गुरुभ्रातृमातापितृभ्रातृभगिनीप्रभृतिप्रव्रजितस्वजनवर्गो वा द्रष्टव्य ।

अथ स्त्रीविषयं पञ्चविधग्रहणमुपदर्शयति-

पवित्तिणिऽभिसेगपत्ता, थेरी तह भिक्खुणी य खुड्डी य ।
गहण तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि ॥

प्रवर्तिनी सकलसाध्वीना नायिका, अभिषेकं प्राप्ता प्रवर्तिनीपदयोग्या, स्थविरा वृद्धा, भिक्षुणी प्रतीता, क्षुल्लिका बाला। एतासां पञ्चानामपि ग्रहणमिदमनन्तरमेव संयोगगमस्तं संयोगतोऽनेकप्रकारं वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेवाह-

सव्वा वि तारणिज्जा, संदेहाओ परूवे मंते ।
एक्केक्कं अवणिज्जा, जा गणिणी तत्थिमो भेदो ॥
तरुणी निप्फन्नपरिवारा, सलद्धि रा जा य होइ अब्भासे ।
अभिसेगाए चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥

इदं गाथाद्वयं साधुगतगाथाद्वयमिव व्याख्येयम् ।

परः प्रेरयन्नाह-

बाला य वुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा ।
सव्वाणुकंपाएँ समुज्जएहिं, विपज्जओऽयं कहमीहितो भे ॥

बालाश्च वृद्धाश्च अजङ्गमाश्चेति लोकेऽपि तावदेते अनुकम्पनीया इष्यन्ते, अतः सर्वेषामपि निर्विशेषमनुकम्पायां समुद्यतैः कथमयं 'भे' भवद्भिर्विपर्ययो वैपरीत्यमीहितमङ्गीकृतं यदेव बालस्थविरौ परित्यज्य आचार्यादीन्निस्तारयन्ति, वृद्धं वाऽजङ्गममाचार्यं विमुच्य तरुणस्तार्यते ।

पर एव प्रत्युत्तरमाशङ्कां परिहरन्नाह-

जइ बुद्धी चिरजीवी, तरुणो थेरो य अप्पसेसाऊ ।
सोवक्कमम्मि देहे, एयं पि न जुज्जए वोत्तुं ॥

यदीत्यभ्युपगमार्थे, अथैवं भवतां बुद्धिः स्यात्-चिरजीवी प्रभूतवर्षजीवितस्तरुणः, स्थविरः पुनरल्पशेषायुः स्तोकशेषायुष्कः, अतः स्थविरं विमुच्य तरुणं तारयामः । एतदप्यसमीचीनम् । कुत इत्याह—सोपक्रमे अध्यवसानानिमित्तादिभिर्भिन्नायुष्कापक्रमकारणैः सप्रत्यपाये देहे सति एतदपि चिरजीवितादिकं वक्तुं न युज्यते ।

अवि य हु असहू थेरो, पयरत्तियरो कदाइ संदेहं ।
ओरालमिदं वलवं, जं घेप्पइ मुच्चई अवलो ॥

अपिचेत्यभ्युच्चये, दुर्भिक्षे, स्थविरो वृद्धत्वादेवासहिष्णुर्न तरीतुं शक्नोति, इतरस्तु तरुणः समर्थतया कदाचित् स्वयमेव सदेहमुदकवाहकहरणरूपं प्राणसदेहकारणं प्रतरेत् । अतोऽत्र उदारं स्थूरमिदं भवदीयं वचनं यद्बलवांस्तरुणो गृह्यते, अवलस्तु स्थविरो मुच्यते ।

इत्थं परेणोक्ते सूरिराह-

आय परे उवगिण्हइ, तरुणो थेरो य तत्थ भयणिज्जो ।
अणुवक्कमे वि थोवो, चिट्ठइ कालो उ थेरस्स ॥

तरुण आचार्यादिरपूर्वसूत्रार्थग्रहणतः कर्मकरणादिना, वस्त्रपात्रादिसंपादसूत्रार्थप्रदानादिना चाऽऽत्मानं परञ्चोपगृह्णाति, स्थविरस्तु तत्राऽऽत्मपरोपग्रहकरणे भजनीयः कदाचित् कर्तुं समर्थः, कदाचिन्न नेति भावः । तथा अनुपक्रमेऽपि आयुष उपक्रममन्तरेणापि स्थविरस्य स्तोक एव कालोऽवशेषस्तिष्ठति, तरुणस्य तु सोपक्रमायुषोऽपि स्तोको वा भवेद्, द्राघीयान् वा, ततो "सोवक्कमम्मि देहे" इत्यादि यदुक्तं तत्किं वदेत् ? ।

अथ यदुक्तं बालवृद्धादयो लोकेऽप्यनुकम्पनीया इति तत्परिहाराय लौकिकमेव दृष्टान्तमाह-

दुग्गामे खीरवती, गावी पुस्सइ कुडुंबभरणट्ठा ।
मोत्तु फलद न रुक्खं, को मंदफला सचिइ पोसे ॥

दुर्ग्रामे दुर्भिक्षे तत्र यथा क्षीरवती, भूम्नि मतुप्प्रत्ययविधानात् बहुक्षीरा, गौः कुटुम्बभरणार्थं पोष्यते-चारिप्रदानादिना पुष्टिं नीयते, एवमस्माकमपि य आचार्यादिस्तरुणादिगुणोपेततया आत्मनः परेषां चोपग्रहं कर्तुं समर्थः स निस्तीर्यते, तस्य निस्तारणे हि बहूनां बालवृद्धादीनामपि तदाश्रितानामनुकम्पा कृता, अथ तं परित्यज्य क्षुल्लकस्थविरादिस्तस्य आपदः स्तार्यते, ततो बहवो बालादयस्तदाश्रिताः परित्यक्ता भवन्ति । अपि च-फलदानादिना पुष्टिदायिनं वृक्षं मुक्त्वा को नाम मन्दफलान् वा वृक्षान् पुष्णीयात्-सरणिसालबालसेचनादिना पुष्टिं प्रापयेत् ?, न कोपीत्यर्थः । उपनययोजना प्राग्वद् द्रष्टव्या । उक्तं सचित्तग्रहणम् ।

अथ मिश्रग्रहणमाह-

एमेव मीसए वी, नेयव्वं होइ आणुपुव्वीए ।
वोच्छेदे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

एवमेव मिश्रविषयमपि ग्रहणमानुपूर्व्या आचार्यप्रवर्तिन्यादिपरिपाट्या ज्ञातव्यं भवति । अथ यथोक्तक्रममुल्लङ्घ्य विपर्यासेन पुरुषाणां स्त्रीणां चाग्रहणं करोति ततश्चतुर्गुरुकाः । तत्रापि चाज्ञादयो दोषा भवन्ति ।

अथ मिश्रग्रहणं कीदृशं प्रतिपत्तव्यमित्युच्यते-

मीसगगहणं तत्थ उ, विनिवाओ जो सजंमत्ताणं ।
अहवा वि मीसयं खलु, उभओ पच्चक्खओ घोरो ॥

इह यः सभाण्डमात्राणां पात्रमात्रकाद्युपकरणसहितानां साध्वीनां वा विनिपातः उदकवाहके निमज्जनं तत्र तद्विषयं यद् ग्रहणं तन्मिश्रग्रहणमुच्यते । अथ वा यदुभयोरपि साधुसाध्वीलक्षणयोः पक्षयोः घोरो रौद्रो युगपदुदकवाहकेनापहरणलक्षणोऽत्यय प्रत्यपायस्ततो यद् ग्रहणं तन्मिश्रग्रहणमिति मन्तव्यम् ।

अथामुमेव द्वितीयव्याख्यानपक्षमङ्गीकृत्य तिर-
स्करणविधिमाह-

सव्वत्थ वि आयरियो, नित्थीरइ तओ पवित्तिणी होइ।
तो अभिसेगं पत्तो, सेसेसु तु इत्थिआ पढमं ॥

द्वयोरपि पक्षयोरुदकेन ह्रियमाणयोर्यद्यस्ति शक्तिस्ततो युगपन्निस्तारणं कार्यम् । अथ नास्ति युगपन्निस्तारणसामर्थ्यं ततः सर्वत्रापि प्रथममाचार्यो निस्तारणीय । आचार्यानन्तर प्रवर्तिनी तारयितव्या भवति, ततः प्रवर्तिन्या अनन्तरमभिषेकपद प्राप्तः, ततः शेषेषु तु भिक्षुप्रभृतिषु पदेषु प्रथमं स्त्री निस्तारयितव्या, तत· पुरुषः । तदा हि भिक्षुभिक्षुण्योर्मध्ये प्रथमं भिक्षुणी, ततो भिक्षुस्तारणीयः, क्षुल्लकक्षुल्लिकयोर्मध्ये प्रथम क्षुल्लिका, ततः क्षुल्लक । स्थविरयोः प्रथम स्थविरा, ततः स्थविर इति ।

अथ किमर्थं तेषु प्रथमं स्त्री निस्तार्यते-

अन्नस्स वि संदेहं, दट्ठुं कंपंति जा लयाओ व्व ।
अबलाओ पगइभया-लुगा तु रक्खा अतो इत्थी ॥

अन्यस्यापि पुरुषादे· सदेहमापद दृष्ट्वा स्त्रियः पवनसम्पर्कतो लता इव कम्पन्ते, याश्च अवलाः प्रकृत्या स्वभावेनैव च भयालुका भयबहुला अतस्ता· स्त्रियः प्रथम रक्षणीयाः ।

आह-साधुसाध्वीनां निस्तारणे किमेष एवाचार्यप्रवर्तिन्यादिके क्रम उतान्यथाऽप्यस्ति ?। उच्यते-
अस्तीति ब्रूम· । तथा चाह-

जं पुण संभावेमो, भाविणमहियमयुकवत्थूओ ।
तत्थुक्कमं पि कुणिमो, छेओदइए वणियभूया य ॥

पुनः क्षुल्लकादिकमपि अमुकादाचार्यादेः वस्तुनः सकाशात् प्रवचनप्रभावनादिभिर्गुणैरधिक सातिशय भाविन भविष्यन्तं संभावयाम· । तत्र वयमुत्क्रमपि यथोक्तक्रमोल्लङ्घनमपि कुर्महे, क्षुल्लकादिकमपि प्रथमं तारयाम इत्यर्थः । कथभूता इत्याह-छेदश्च व्ययः, औदयिकश्च लाभः, छेदौदयिकम्; तत्र वणिग्भूताः सन्तः । किमुक्त भवति ?-यथा वणिगुदेय प्रभूतलाभमल्पव्ययं वस्तु, तस्य ग्रहण करोति । एव वयमपि यत्र विशिष्टपात्रभूते वस्तुनि गृहीते प्रवचनप्रभावनातीर्थाव्यवच्छेदादिको भूयान लाभः समुज्जृम्भते, स्वल्पश्चेतरपरित्यागलक्षणो व्यय . तं क्षुल्लकादिकमपि गृह्णीम इति । एव तावदुदकविषय ग्रहणमभिहित, तथैव एतेष्वपि सचित्तमिश्रभेदात् तद् द्विविधमपि वक्तव्यम् ।

अथाचित्तग्रहणमभिधित्सुराह-

अचित्तस्स उ गहणं, अभिनवगहणं पुराणगहणं च ।
ओघउवहाएँ गहणं, तह य उवट्ठाविए गहणं ॥

अचित्त वस्त्रपात्रादिकमुपकरण, तस्य ग्रहण द्विधा-अभिनवग्रहण, पुराणग्रहण च । तत्राभिनव प्रथममेव यद् वस्त्रादेर्ग्रहण तदभिनवग्रहण, पुराणस्य प्रागुगृहीतस्य चोलपट्टकादेः कूर्परादिना ग्रहण द्विधा-ओघोपधिविषयम, उपस्थापनायां ग्रहोपस्थितौ तद्ग्रहणम् । तत्रोपस्थापनायां हस्तिदन्तोन्नताकारहस्तादिभिर्यद्रजोहरणादि गृह्यते तदुपस्थापनाग्रहणम । उपस्थापितस्य छेदोपस्थापनीयचारित्रं प्रापितस्य यदुपधेर्धारण, परिभोगो वा तदुपस्थापितग्रहणम ।

एतामेव गाथां व्याख्यानयति-

ओहे उवग्गहम्मि य, अभिनवगहणं तु होइ अचित्ते ।
इयरस्स वि होइ दुहा, गहणं तु पुराणउवहिस्स ॥

अचित्तस्य वस्त्रपात्रादेरभिनवग्रहण द्विधा-ओघोपाधिविषयम्, औपग्रहिकोपाधिविषयं च । इतरस्यापि पुराणोपाधिग्रहण द्विधा-उपस्थापनाग्रहणमुपस्थापितग्रहणं चेत्यर्थः ।

अथ वा अभिनवग्रहणमिदमनेकविधम्-

जायणनिमंतणुवस्सय-परियावन्नं परिट्ठविय नट्ठं ।
पम्हुट्ठ पडिय गहियं, अभिनवगहणं अणेगविहं ॥

याञ्चा अभिलषणं, निमन्त्रणा गृहस्थानामभ्यर्थना,तत्पुरस्सरं यद्वस्त्रादेर्ग्रहण, यच्चोपाश्रये पर्यापन्नस्य पथिकादिभिर्विस्मृत परित्यक्तस्य वस्त्रादेर्ग्रहणं, यच्च परिष्ठापितस्य भूयः कारण ग्रहणम, अथ नष्टं हारित, ' पम्हुट्ठं ' विस्मृतं,पतितं हस्तात् परिभ्रष्ट·गृहीतं प्रत्यनीकेन बलादाच्छिद्य स्वीकृतम,एतेषा पुनर्लब्धानां यद् ग्रहणमेवमादिकमनेकविधमभिनवग्रहणं मन्तव्यम ।

अथ याञ्चानिमन्त्रणाग्रहणयोर्विधिमतिदिशन्नाह-

जो चेव गमो हेट्ठा, उस्सग्गाईउ वत्थगहणे तु ।
दुविहोवहिम्मि सो चिय, कास त्ति य किं ति कीस त्ति ॥

य एव गमः प्रकारोऽधस्तात् पीठिकायां कायोत्सर्गादिके वस्त्रग्रहणविषयो वर्णित·, स एवाऽत्र द्विविधोपधेरौघिकौपग्रहिकलक्षणस्य सत्कमेतद्वस्त्रपात्रादिक पूर्वमासीद्, भविष्यति वा, कस्माद्वा प्रयच्छसीति पृच्छात्रयशुद्धो द्रष्टव्य·। उपाश्रयपर्यापन्नवस्त्रादिग्रहणविषयस्तु विधिरिहैवोद्देशके पुरस्तादभिधास्यते। परिष्ठापितादेस्तु यथा कारणतो भूयो ग्रहणं क्रियते तथा व्यवहाराध्ययने भणिष्यते । गतमभिनवग्रहणम । अथ पुराणग्रहणम । तच्च द्विधा-उपस्थापनाग्रहणम, उपस्थापितग्रहण च ।

तत्राऽऽद्यं तावदाह-

कोप्परपट्टगगहणं, वामकरानामियाएँ मुहपोत्तिं ।
रयहरण हत्थिदंतु-न्नएहिं हत्थेहुवट्ठवणं ॥

कूर्पराभ्यां चोलपट्टस्य ग्रहणं कृत्वा वामकरस्थया अनामिकया मुखपोतिकां गृहीत्वा राजोहरण हस्तिदन्तोन्नताभ्यां हस्ताभ्यामादाय उपस्थापन कर्तव्य शैक्षस्य व्रतस्थापनाविषये इत्यर्थः ।

अथोपस्थापितग्रहणमाह-

उवट्ठावियस्स गहणं, अहभावे चेव तह य परिभोगे ।
एक्केक्कं पायादी, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥

उपस्थापितस्य यदुपकरण तद् द्विधा-यथाभाव·, परिभोगश्च । अनेन च द्विविधेनापि ग्रहणेन एकैक पात्रादिकं आनुपूर्व्या परिपाट्या नेतव्यं ग्रहीतव्यम ।

इदमेव भावयति-

पडिग्गाहियं तु अत्थइ, पायाई एस होतऽहाभावो ।
सहव्व पाण भिक्खा-निल्लेवण पायपरिभोगो ॥

वस्त्रपात्रादिक प्रतिग्राहितं विवक्षितसाधुलक्षणेन स्वामिना

प्रयुक्तं सत् आस्ते तदिदानीं परिभुज्यते, एष यथाभावो भवति । तच्च परिग्रहो, धारणमित्यर्थः । परिभोगो नाम यत्पात्रादि यस्यां वेलायां परिभुज्यते तच्च सत् शोभनमाचार्यादिप्रायोग्यं यद् द्रव्यं यच्च पानकं भैक्षं वाऽऽत्मनो योग्यं तत्पात्रे गृह्यते, निर्लेपनं च आचमनं, तेन विधीयते । एष पात्रस्य परिभोगः । इह च पात्रशब्देन प्रतिगृहीतमात्रकं वा गृहीत तथा-

पाणिदयत्थं संथर, पमज्ज चिलिमिलि निसिज्ज कालगते ।
गेलन्न लज्ज असहू, छेयण सागारिए भोगो ॥

वर्षाकल्पादिके प्राणिदयार्थमप्कायादिजीवरक्षाया निमित्तं परिभोक्तव्यं कल्पत्रयं, शीतरक्षार्थं संस्तारकोत्तरपट्टकैः संस्तरणमास्तृतं तदर्थम्, रजोहरणं च प्रमार्जनार्थं गृह्यते, चिलिमिलिका द्वारिकादावुपयुज्यते रजोहरणस्य, निषद्याद्वयं निषदनार्थमादीयते । (कालगए त्ति) कालगतस्याऽऽच्छादनार्थमनन्तकादिकं गृह्यते, ग्लानस्य वा कस्यापि संजातम्-समावृतः सुखेनाऽऽस्तामिति कृत्वा तस्यापि चिलिमिलिका दीयते । (लज्ज त्ति) लज्जापनयनार्थं चोलपट्टकोऽपि परिभुज्यते (असहु त्ति) राजादिप्रव्रजिता असहिष्णवस्ते कल्पादिकं प्रावृणीयुः (छेयण त्ति) मत्स्याहारीणिकापिप्पलकादिना नखप्रलम्बादीनां छेदनं क्रियते (सागारिए त्ति) सैत्तस्य संज्ञातकानां सागारिकः, ततः कल्पादिकं प्रावार्य प्रच्छन्ने स्थाप्यते । एवमादिकः सर्वोऽपि यथायोगमौधिकस्यौपग्रहिकस्य चोपधेः परिभोगो मन्तव्यः । उक्तं पुराणग्रहणम् । तदुक्तौ च समर्पितमचित्तग्रहणम् ।

एवं क्षपकेण विविधे ग्रहणे प्ररूपिते सति इतरः प्राह-

उवरिं कहामि हिट्ठा, ण याणसि वयणं न होइ एवं तु ।
चउरो गुरुगा पुच्छा, नासेहिसि तुं जहा वेज्जो ॥

यदुपरि कथयितुं योग्यं तदधस्तात् पूर्वं कथयसि । इयमत्र भावना-यद्भवता प्रथममेवाऽऽचार्यादिविषयं पुराणसचित्तग्रहणमभिहितं तदशेषलक्षणाभिनवमचित्तग्रहणप्ररूपणादूर्ध्वं प्ररूपयितुं योग्यमासीत्, अभिनवपुराणपर्यायायो पूर्वपश्चात्कालभाविस्वेन भावात्, तस्य चाभिनवमचित्तग्रहणस्य भवता प्ररूपणैव न कृता, अत एव न जानासि ग्रहणस्वरूपं यथावद् वन्दित्वा विनयेन पृच्छ इत्येवमहङ्कारदूषितं वचनतयोक्तमेवमभिधीयमानं न भवति सतां पूजनीयमिति वाक्यशेषः । एवं कुर्वाणस्य भवतः चत्वारो गुरुकाः । क्षपकः पृच्छति-किमत्र मम दूषणमापतितं येनैवं प्रायश्चित्तं प्राप्नोमि ? इतर आह-त्वं पल्लवग्राहितया सम्यक् सिद्धान्ताऽभिप्रायमविज्ञाय जल्पसि । एवं च प्रज्ञापयन् स्वमात्मना नष्टोऽन्यानपि नाशयिष्यसि, यथा स प्रथमोद्देशकभणितो वैद्यः-

" पूर्वाह्ने वमनं दद्या-दपराह्ने विरेचनम् ।
वातिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यमाहुर्विशेषणम् " ॥ १ ॥

इतिश्लोकमात्रं गृहीत्वा चिकित्सां कुर्वन् विनष्टः, एवं भवानपीति चिरन्तनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव किञ्चिद् विवृणोति-

वयणं खलु नत्थि कत्थई, गवभरियं कुसलेहि पूजियं ।
अहवा न वि पक्खलसिसमो, पगई एस अजाणए जणे ॥

इतरः क्षेपकं कृते ईदृशं मां वन्दित्वा विनयेन पृच्छ इत्येवरूपं गर्वभरितमहङ्कारभारगुरुकं वचनं कुशलैर्विद्वद्भिर्न कुत्रापि पूजितमभिनम्, अतो नैव भवता वक्तुं युज्यते । अथवा नात्र वयं क्षमामो गर्वं कर्तुमर्हामः । कुत इत्याह-अज्ञे मूर्खे जने प्रकृतिरेषा, यत्तथाविधज्ञानविकलोऽप्येष औद्धत्यमुद्वहति ॥

क्षपकः प्राह-

मूलेण विणा हु केलिसे, तलु पवले य घणे य सोभइ ।
न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणि धरेइ कत्थइ ॥

मूलेन विना तरुर्हि, चशब्दावपिशब्दार्थौ,प्रचुरोऽपि प्रधानोऽपि,सहकारादिरपीत्यर्थः । घनोऽपि पत्रबहुलोऽपि, कीदृशः शोभते ?, न कीदृगपीति भावः । एवं विनयमूलविकलो धर्मोऽपि न शोभां बिभर्ति, तथा न च नैव मूले बुध्ने विभिन्नो घटो जलादीनि वस्तूनि क्वचिदपि धारयति । एवं धर्मघटोऽपि विनयमूलः संजातछिद्रो न किमपि ज्ञानादिजलं धारयितुमीष्टे, अतोऽहं विनयं कारयामीति प्रक्रमः ।

किं वा मए न नायं, दुविहे गहणम्मि जं जहिं कमती ।
नवइ अभिनवगहणं, सच्चित्तं ते न नायव्वं ॥

सचित्ताऽचित्तभेदात् द्विविधेऽपि ग्रहणे यद् यत्राभिनवं पुराणं वा क्रामति, तत् तत्र मया किं वा न ज्ञातं, येनैवं न जानासि ग्रहणस्वरूपमित्यादि अभिधीयते, इतरः प्रतिभूते भण्यते अनोत्तरम्-अभिनवं सचित्तग्रहणं त्वया न विज्ञातम् । तदिदम्-

अट्ठारस पुरिसेसुं, वीस इत्थीसु दस नपुंसेसु ।
पव्वावणा अणरिहा, अनलाए एत्तिया वुत्ता ॥
अडयालीसं एते, वज्जित्ता सेसगाण तिण्हं ति ।
अभिनवगहणं एय, सच्चित्तं ते न विन्नायं ॥

पुरुषेषु पुरुषविषया "बालवुड्ढे नपुंसे य" इत्यादिगाथाद्वयोक्ता अष्टादश भेदाः, स्त्रीषु त एव गुर्विणीबालवत्साभ्यां सहिता विंशतिभेदाः, नपुंसकेषु तु 'पंडए वाइए कीवे' इत्यादयो दश भेदाः प्रव्राजनाया अनर्हा अयोग्याः, अत एव एतावन्तो भेदा अनला इति निशीथाध्ययने उक्ता । अलौ भूषणपर्याप्तिवारणेषु इति धातुपाठादपर्याप्ताः, प्रव्रज्यापरिपालने असमर्था इत्यर्थः । एतान् सर्वसङ्ख्यया अष्टाचत्वारिंशद्भेदान् वर्जयित्वा, शेषाणां त्रयाणामपि पुरुषस्त्रीनपुंसकानां प्रव्राजनं कर्तुं कल्पते । एतदभिनवग्रहणं सचित्तं ते त्वया न विज्ञातम् । एवं तेनोक्ते सति क्षपकः सती नोदनेत्यभिधाय प्रवृत्तस्तथैव यथा रत्नाधिको वचःप्रदानं कर्तुमर्हति । बृ० ३ उ० । निस्तारणे, व्य० १ उ० ।

(राजद्विष्टे सीदतां निस्तारणं 'रायदुट्ठ' शब्दे)

निर्ग्रन्थीसमुद्धरणम्-

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ । तं जहा-निग्गंथिं च णं अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा ओहाएज्जा, तत्थ निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥

(गिण्हमाणे त्ति) बाह्वादावङ्गे गृह्णन् अवलम्बमानः पतन्तीं बाह्वादौ गृहीत्वा धारयन्, अथ वा " सव्वंगियं तु गहणं, करेण अवलवणं तु देसम्मि त्ति " नातिक्रामति स्वाचारमाज्ञां वा गीतार्थः,स्थविरो वा, निर्ग्रन्थिकां यथा कथञ्चित् पशुजातीयो हस्त्यादिः, पक्षिजातीयो गृध्रादिः (ओहाएज्ज त्ति) उ-

पहन्यात्, तत्रेति उपहनने गृह्णन्नातिक्रामति,कारणिकत्वात् । निष्कारणत्वे तु दोषा । यदाह-"मिच्छत्त उड्डाहो,विराहणा फासभावसंबंधो । पडिगमणाई दोसा, भुत्ताभुत्ते य नायव्वा" ॥१॥ स्था० ५ ठा० २ उ० ।

निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ । निग्गंथे निग्गंथिं सेयंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उकसमाणिं वा उवुज्झमाणिं वा गिण्हमाणे वा अलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ निग्गंथे निग्गंथिं नाव आरुज्झमाणिं वा० नाइक्कमइ ।

अस्य सूत्रत्रयस्य संबन्धमाह-

सो पुण दुग्गे लग्गे-ज्ज कंटओ लोयणम्मि वा अणुगं ।
इति दुग्गसुत्तजोगो, श्रहा जहं चेयरे दुविहे ॥

यः पूर्वसूत्रे पादे प्रविष्टः कण्टको, लोचने वाऽणुक प्रविष्टमुक्तं, स कण्टकस्तथाणुक दुर्गे गच्छन् प्रायो लगेत, अतो दुर्गसूत्रमारभ्यते, इत्येष दुर्गसूत्रस्य योगः संबन्धः। दुर्गे च स्थलं, ततः स्थलाज्जलं भवतीति कृत्वा दुर्गसूत्रानन्तरमितरस्मिन् द्विविधे पङ्कविषये नौविषये च सूत्रे आरभ्यते क्रियते। अनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-निग्रन्थो निर्ग्रन्थीं दुर्गे वा, विषमे वा, पर्वते वा (पक्खलमाणिं व त्ति) प्रकर्षेण स्खलनगत्या गच्छन्तीं भूमावसंप्राप्तां वा पतन्तीं पतितुकामामित्यर्थः । (पवडमाणिं व त्ति) प्रकर्षेण भूमौ सर्वैरपि गात्रैः पतन्तीं (गिण्हमाणे व त्ति) बाह्वादावङ्गे गिह्णन् वा (अवलम्बमाणे व त्ति) अवलम्बमानो बाह्वादौ गृहीत्वा धारयन्, अथ वा गृह्णन् सर्वाङ्गीण धारयन्नवलम्बमानो देशतः करेण गृह्णन् , साहयन्नित्यर्थः । नातिक्रामति स्वाचारमाज्ञां वा इति प्रथम सूत्रम् । द्वितीयसूत्रमप्येवमेव, नवरं पङ्को नाम पङ्के पनके वा सजले यत्र निमज्जते, यत्र वा पङ्क कर्दम ,यत्र वा पनको नाम आगन्तुकप्रतनदेतुभूतद्रवरूपकर्दम एव, तत्र वा, उदकं प्रतीतं, तत्र वा (उकसमाणिं व त्ति) अपकसन्तीं पङ्कपनकयोः परिहसन्तीं (उवुज्झमाणिं व त्ति) अपोह्यमानां वा उदकेन वा नीयमानां गृह्णन् अवलम्बमानो वा नातिक्रामति। तृतीयसूत्रे निर्ग्रन्थीनामेव नाम रुहन्तीं वा अवरोहन्तीं वा गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामतीति सूत्रत्रयार्थः ।

सम्प्रति भाष्यकारो विषमपदानि व्याचष्टे-

तिविहं च होति दुग्गं, रुक्खे सावय मणुस्सदुग्गं वा ।
णिक्कारणम्मि गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

त्रिविध च भवति दुर्गम् । तद्यथा-वृक्षदुर्गं, स्वापददुर्गं, मनुष्यदुर्गं च । यद्वृक्षैरतीव गहनतया दुर्गमम, यत्र वा पथि वृक्षः पतितस्तद्वृक्षदुर्गम् । यत्र व्याघ्रसिंहादीनां भयं तत् श्वापददुर्गम् । यत्र म्लेच्छबोधिकादीनां मनुष्याणां भय तन्मनुष्यदुर्गम् । एतेषु त्रिष्वपि दुर्गेषु यदि निष्कारणां निर्ग्रन्थीं गृह्णाति, अवलम्बते वा, चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः।

मिच्छत्ते सतिकरणं, विराहणा फासभावसंबंधो ।
पडिगमणादी दोसा, भुत्ताभुत्ते य णेयव्वा ॥

निर्ग्रन्थीं गृह्णन्तीं दृष्ट्वा कोऽपि मिथ्यात्वं गच्छेत् अहो! मायाविनोऽमी अन्यद्वदन्ति अन्यच्च कुर्वन्ति, स्मृतिकरण वा भुक्तभोगिनो भवति । अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलं,ततश्च सयमविराधना, स्पर्शतश्च भावसंबन्धो भवति । प्रतिगमनादयो दोषा भुक्तानामभुक्तानां वा साधुसाध्वीनां ज्ञातव्याः ।

अथ विषमपद व्याख्याति-

तिविहं च होति विसमं, भूमिं सावय मणुस्सविसमं वा ।
तंसि वि सो चेव गमो, णावोदग ते य जतणाए ॥

त्रिविधं च भवति विषमम्-भूमिविषमं, श्वापदविषमं, मनुष्यविषम च । भूमिविषम नाम गर्तपाषाणाद्याकुलो भूभागः। श्वापदमनुष्यविषमे तु श्वापदमनुष्यदुर्गवन्मन्तव्ये । अत्र भूमिविषमेणाधिकारः, पर्वतपद तु प्रतीतत्वात् न व्याख्यात, तस्मिन्नपि विषमे पर्वते वा निर्ग्रन्थीं गृह्णतश्चतुर्गुरुकप्रायश्चित्तादिरूपः स एव गमो भवति, यो दुर्गे भणितः। तथा नावुदके नौकादौ च वक्ष्यमाणस्वरूपे निर्ग्रन्थीं गृह्णतो निष्कारणे त एव दोषाः । (जयणाए त्ति) कारणे यतनया दुर्गादिषु गृह्णीयादवलम्बेत वा । यतना चाग्रतो वक्ष्यते ।

प्रस्खलनप्रपतनपदे व्याचष्टे-

भूमीए असंपत्तं, पत्तं वा हत्थजाणुगादीहिं ।
परिखलणं णायव्वं, पवडण भूमीए गत्तेहिं ॥

भूमावसंप्राप्तं हस्तजानुकादिभिः प्राप्त वा प्रस्खलन ज्ञातव्यम्, भूमौ प्राप्त सर्वगात्रैश्च यत्तत्पतनम् ।

अथवा वि दुग्ग विसमे, थद्धं भीतं व थेरो तु ।
सिचयतरेतरं वा, गिण्हंतो होति निद्दोसो ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतक ,उक्तास्तावन्निर्ग्रन्थीं गृह्णतो दोषाः, परं द्वितीय एव दुर्गे विषमे वा तां स्तब्धां भीतां वा गीतार्थः स्थविरः, सिचयेन वस्त्रेणान्तरितामितरां वा गृह्णन् निर्दोषो भवति । व्याख्यात प्रथमसूत्रम् ।

सम्प्रति द्वितीयसूत्र व्याख्याति-

पंको खलु चिक्खिल्लो, आगंतुपयणुओ दुओ पणओ ।
सो पुण सजलो सेओ, सीतिज्जति जत्थ दुविहे वी ॥

पङ्कः खलु 'चिक्खिल्लः' उच्यते,आगन्तुकप्रतनको द्रुतश्च पनको यत्र पुनर्द्विविधेऽपि पङ्के पनके वा ' सीइज्जति ' निमज्जते, स पुनः संजलः सेक उच्यते ।

पंकपणएसु नियमा, उगसण उवुज्झणं सिया सेए ।
थिमियम्मि णिमज्जण भा, सजले सेए सिया दो वि ॥

पङ्कपनकयोर्नियमादपकसन हसन भवति,सेके तु 'उवुज्झण' अपोहन पानीयेन हरणं स्यात, स्तिमिते तु तत्र निमज्जन भवेत्। सजले तु सेके द्वे अपोहननिमज्जने स्याताम् ।

अथ तृतीयं सूत्रं व्याख्याति-

ओयारण उत्तारण, अत्थरण च दुग्गहे य सतिकारो ।
छेदो व दुवेगयरे, अतिपेल्लण जाव मिच्छत्तं ॥

कारणे निर्ग्रन्थीनामवतारयन्नारोपयेत्,उत्तारयेद् च,यच्चास्तरणं च दुर्ग्रहे वा करोति, तदा स्मृतिकारो भुक्तभोगिनो भूयो भवन्ति, छेदो वा नखादिभिर्द्वयोरेकतरस्य भवेत् । अतिप्रेरणा

च, भावो मैथुनाभिलाष उत्पद्येत, मिथ्यात्वं वा तत् दृष्ट्वा कश्चिद्गच्छेत । एते नावुदके निर्ग्रन्थीं गृह्णतो दोषा उक्ताः ।

अथ नावुदके लेपोपरि वा तारयतो दोषानाह–

अंतो जले वि एवं, गुज्झगफास इच्छऽणिच्छते ।
मुच्चेज्ज व आपन्ना, जा होउ करेज्ज वा हावे ॥

अन्तर्जले अपि जलाऽभ्यन्तरेऽपि गच्छन्तीं गृह्णत एवमेव दोषा मन्तव्याः, तथा गुह्याङ्गस्पर्शे मोह उदियात् । उदिते च मोहे यदीच्छति, नेच्छति वा तत उभयथा दोषाः । यद्वा स उदीर्णमोहः तां जलमध्ये मुञ्चेत । आपन्ना यस्माद्भवेद्, करोतु वा हावान्मुखविकारानिति । कारणे तु नौवुदके लेपोपरि वा अवतारणम्, उत्तारणं वा कुर्वन् यतनया गृह्णीयादवलम्बेत ।

अथ ग्रहणालम्बनपदे व्याख्याति–

सव्वंगियं तु गहणं, करेंति अवलंबणेगदेसम्मि ।
जह सुत्तं तासु कयं, तहेव वतिणो वि वतिणीए ॥

ग्रहणं नाम सर्वाङ्गीणं कराभ्यां यद् गृह्यते, अवलम्बनं तु तदुच्यते–यदेकस्मिन् देशे बाह्वादौ ग्रहणं क्रियते । तदेव यथा तासु निर्ग्रन्थीषु सूत्रं सूत्रत्रयं कृतम् । किमुक्तं भवति?–यथा निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थ्याः कारणे ग्रहणमवलम्बनं वा कुर्वन्नाज्ञामतिक्रामतीति सूत्रत्रयेऽपि भणितं तथैवार्थत इदं द्रष्टव्यम्, व्रतिनोऽपि साधोरपि दुर्गादौ पङ्कादौ नावुदकादौ वा प्रपतन्त्या व्रतिन्याः कारणे ग्रहणमवलम्बनं वा कर्त्तव्यम् ।

कया पुनर्यतनयेत्यत आह–

जुगलं गिलाणगं वा, असंतुं अक्षेण वा वि अतरंतं ।
गोवालकंचुमादी, सरक्खणं णालवच्छादी ॥

युगलं नाम–बालो वृद्धश्च, तद्वा, अपरं ग्लानम्, अत एवासहिष्णु दुर्गादिषु गन्तुमशक्नुवन्तम्, अन्येन ग्लानत्ववर्जनकारणेन अतरन्तमशक्तं, गोपालकञ्चुकादिपरिधानपुरस्सरं, नालबद्धा, सयती, आदिग्रहणादनालबद्धाऽपि सरक्षति गृह्णाति, अवलम्बते वा इत्यर्थः । वृ० ६ उ० । नि० ।

निग्गंथे निग्गंथिं णावं आरुहमाणे वा ओरुहमाणे वा णाइक्कमइ । खेत्तइत्तं दित्तइत्तं जक्खाइट्ठं उम्मायपत्तं उवसग्गपत्तं साहिगरणं सपायच्छित्तं भत्तपाणपडियाइक्खित्तं अट्ठजायं निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ।

(नावमारुहमाणे त्ति) आरोहयन् (ओरुहमाणे त्ति) अवरोहयन्नुत्तारयन्नित्यर्थो नातिक्रामतीति । तथा क्षिप्तं नष्टं रागभयापमानैश्चित्तं यस्याः सा । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

(क्षिप्तचित्तादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) चन्द्रसूर्योपरागे, दश० ४ उ० । आ० चू० ।

ता कह ते राहुकम्मे आहिता ति वदेज्जा । तत्थ खलु इमाओ दोपडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु–ता अत्थि णं से राहुदेवे, जे णं चंदिमं सूरं च गेण्हति १ । एगे पुण एवमाहंसु–ता णत्थि णं से राहुदेवे, जे णं चंदं सूरं च गेण्हति । तत्थ जे ते एवमाहंसु ता अत्थि णं से राहुदेवे जे णं चंदं सूरं च गिण्हति, ते एवमाहंसु–ता राहू णं देवे चंदं सूरं च गेण्हमाणे बुद्धंतेणं गिण्हित्ता बुद्धंतेणं मुयति, बुद्धंतेणं गिण्हित्ता मुद्धंतेणं मुयइ, मुद्धंतेणं गिण्हित्ता बुद्धंतेणं मुयइ, मुद्धंतेणं गिण्हित्ता मुद्धंतेणं मुयति, वामभुयंतेणं गेण्हित्ता वामभुयंतेणं मुयति, वामभुयंतेणं गिण्हित्ता दाहिणभुयंतेणं मुयति, दाहिणभुयंतेणं गेण्हित्ता वामभुयंतेणं मुयति, दाहिणभुयंतेणं गेण्हित्ता दाहिणभुयंतेणं मुयति । तत्थ जे ते एवमाहंसु–ता णत्थि णं से राहुदेवे जे णं चंदं सूरं च गेण्हति ते णं एवमाहंसु–तत्थ णं खलु इमे पण्णरस कसिणा पोग्गला पण्णत्ता । तं जहा–सिंघाडए १ जडिलए २ खतए ३ खरए ४ अंजणे ५ खंजणे ६ सीयले ७ हिमसीयले ८ केलासे ९ अरुणाभे १० पणिज्जए ११ नभपूरए १२ कविलए १३ पिंगलए १४ राहुए १५ । ता जता णं एए पण्णरस कसिणा पोग्गला सया चंदस्स वा सूरस्स वा लेसाणुबंधचारिणो भवंति, तया णं माणुसलोगे मणुस्सा वयंति–एवं खलु राहू चंदं वा सूरं वा गेण्हति ।

कथं केन प्रकारेण भगवन्! त्वया राहुकर्म राहुक्रिया आख्याता इति वदेत् ? । एवमुक्ते भगवान् तद्विषये द्वे परतीर्थिकप्रतिपत्ती, ते उपदर्शयति–(तत्थेत्यादि) तत्र राहुकर्मविषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती प्रज्ञप्ते–“ तत्थेगेत्यादि ” तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः–‘ ता ’ इति पूर्ववत् । अस्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे । स राहुनामा देवो, यः चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति ॥१॥ अत्रोपसंहार (एगे पुण एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुस्ता इति पूर्ववत् । नास्ति स राहुनामा देवो यश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति । तदेवं प्रतिपत्तिद्वयमुपदर्श्य सम्प्रत्येतद्भावनार्थमाह–(तत्थेत्यादि) तत्र ये ते वादिन एवमाहुः–अस्ति स राहुनामा देवो यश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णातीति त एवमाहुः त एवं स्वमतभावनिकां कुर्वन्ति–(ता राहू णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् राहुर्देवश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णन् कदाचित् बुध्नान्तेन गृहीत्वा बुध्नान्तेनैव मुञ्चति; अधोभागेन गृहीत्वा अधोभागेनैव मुञ्चतीति भावः । कदाचित् बुध्नान्तेन गृहीत्वा मूर्द्धान्तेन मुञ्चति, अधोभागेन गृहीत्वा उपरिभागेन मुञ्चतीत्यर्थः । अथ वा–कदाचित् मूर्द्धान्तेन गृहीत्वा बुध्नान्तेन मुञ्चति । यदि वा–मूर्द्धान्तेन गृहीत्वा मूर्द्धान्तेनैव मुञ्चति । भावार्थः प्राग्वद्भावनीय । अथ वा–कदाचित् वामभुजान्तेन गृहीत्वा वामभुजान्तेन मुञ्चति । किमुक्तं भवति?–वामपार्श्वेन गृहीत्वा वामपार्श्वेनैव मुञ्चति । यदि वा–वामभुजान्तेन गृहीत्वा दक्षिणभुजान्तेन मुञ्चति । अथ वा–कदाचित् दक्षिणभुजान्तेन गृहीत्वा वामभुजान्तेन मुञ्चति, यद्वा–दक्षिणभुजान्तेन गृहीत्वा दक्षिणभुजान्तेन मुञ्चति इति । भावार्थः सुगमः । (तत्थ जे ते इत्यादि) तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहुः–यथा नास्ति स राहुदेवो यः चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति, ते एवमाहुः –“ तत्थ णं ’ इत्यादि । तत्र जगति णमिति वाक्यालङ्कारे, इमे वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चदश भेदाः कृत्स्नाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथेत्यादिना तानेव ...

क्येन प्रतिपत्तव्याः-" ता जता ण " इत्यादि । ततस्तदा ण-मिति वाक्यालङ्कारे, एते अनन्तरोदिताः पञ्चदश भेदाः कृत्स्नाः समस्ताः पुद्गला (सया इति) सदा सातत्येन इत्यर्थः । चन्द्रस्य वा सूर्यस्य वा लेश्यानुबन्धचारिणः चन्द्रसूर्यबिम्बगतप्रभानुचारिणो भवन्ति । तदा मनुष्यलोके मनुष्या वदन्ति यथा एव खलु राहुश्चन्द्र वा सूर्यं वा गृह्णातीति । च० प्र० २० पाहु० ।

रायगिहे० जाव एवं वयासी-बहुजणे णं भंते ! अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-एवं खलु राहू चंदं गेण्हइ एवं ख० २, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जण्णं से बहुजणे अन्नमन्नस्स० जाव मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु राहुदेवे महिड्ढीए० जाव महेसक्खे वरवत्थधरे वरमल्लधरे वरगंधधरे वराभरणधारी, राहुस्स णं देवस्स णव णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-सिंघाडए जडिलए खत्तए खरए दद्दुरे मगरे मच्छे कच्छभे कण्हसप्पे । राहुस्स णं देवस्स पंच विमाणा पण्णत्ता । तं जहा- कण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला । अत्थि कालए राहुविमाणे खंजणवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि नीलए राहुविमाणे लाउयवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि णं लोहिए राहुविमाणे मंजिट्ठवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि पीतए राहुविमाणे हालिद्दवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि सुक्किल्लए राहुविमाणे भासरासिवण्णाभे पण्णत्ते । जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं पुरच्छिमेणं आवरेत्ता णं पच्चच्छिमेणं वीईवयति, तदा णं पुरच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, पच्चच्छिमे णं राहू, जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं पच्चच्छिमेणं आवरेत्ता णं पुरच्छिमेणं वीईवयइ, तदा णं पच्चच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, पुरच्छिमेणं राहू। एवं जहा पुरच्छिमेणं पच्चच्छिमेण य दो आलावगा भणिया तहा दाहिणेण य उत्तरेण य दो आलावगा भाणियव्वा। एवं उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेण य दो आलावगा भाणियव्वा। एवं दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दो आलावगा भाणियव्वा । एवं चेव० जाव तदा णं उत्तरपच्चच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, दाहिणपुरच्छिमेणं राहू, जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं आवरमाणे २ चिट्ठइ, तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति एवं खलु राहू चंदं गेण्हइ । एवं जदा णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ चंदलेस्सं आवरेत्ता णं पासेणं वीईवयइ, तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति-एवं खलु चंदेणं राहुस्स कुच्छी भिन्ना । एवं जदा णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ चंदलेस्सं आवरेत्ता णं पच्चोसक्कइ, तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति-एवं खलु राहुस्स णं चंदे वंते, एवं जया णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ जाव परियारेमाणे वा चंदलेस्सं अहे सपक्खिं सपडिदिसिं आवरेत्ता णं चिट्ठइ, तया णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति-एवं खलु राहुणा चंदे घत्थे, एवं खलु राहुणा चंदे घत्थे ।

(मिच्छं ते एवमाहंसु त्ति) इह तद्वचनमिथ्यात्वम्, अप्रामाणिकत्वात्कुप्रवचनसंस्कारोपनीतत्वाच्च । ग्रहणं हि राहुचन्द्रयोर्विमानापेक्षं, न च विमानयोर्ग्रासकग्रसनीयसम्भवोऽस्ति, आश्रयमात्रत्वान्नरभावनानामिव । अथेदं गृहमनेन ग्रस्तमिति दृष्टस्तद्व्यवहारः, सत्यं, स खल्वाच्छाद्याच्छादकभावे सति, नान्यथा, आच्छादनभावेन च ग्रासविवक्षायामिहापि न विरोध इति । अथ यदत्र सम्यक् तद्दर्शयितुमाह-(अहं पुणेत्यादि) (खंजणवण्णाभे त्ति) खञ्जनं दीपमल्लिकामलस्तस्य यो वर्णस्तद्वदाभा यस्य तत्तथा (लाउयवण्णाभे त्ति) (लाउयं ति)तुम्बकं, तच्चेहापक्वावस्थं ग्राह्यमिति । (भासरासिवण्णाभे त्ति) भस्मराशिवर्णाभं, ततश्च किमित्याह-(जदा णमित्यादि) (आगच्छमाणे व त्ति) गत्वाऽतिचारेण ततः प्रतिनिवर्त्तमानः कृष्णवर्णादिना विमानेनेति शेषः । (गच्छमाणे व त्ति) स्वभावचारेण चरन्, एतेन च पदद्वयेन स्वाभाविकी गतिरुक्ता । (विउव्वमाणे व त्ति) विकुर्वणां कुर्वन् (परियारेमाणे व त्ति) परिचारयन् कामक्रीडां कुर्वन्, एतस्मिन् द्वयेऽतित्वरया प्रवर्त्तमानो विसंस्थुलचेष्टया स्वविमानमसमञ्जसं चलयति, एतच्च द्वयमस्वाभाविकविमानगतिग्रहणायोक्तमिति । (चंदलेस्सं पुरच्छिमेणं आवरेत्ता णं ति) स्वविमानेन चन्द्रविमानावरणे चन्द्रदीप्तेरावृतत्वाच्चन्द्रलेश्या पुरस्तादावृत्य (पच्चच्छिमे णं वीईवयइ त्ति) चन्द्रापेक्षया परेण याति इत्यर्थः । (पुरच्छिमेणं चंदे उवदंसेइ,पच्चच्छिमेणं राहू त्ति) राहुपेक्षया पूर्वस्यां दिशि चन्द्र आत्मानमुपदर्शयति, चन्द्रापेक्षया च पश्चिमायां राहुरात्मानमुपदर्शयतीत्यर्थः । एवंविधस्वभावतायां च राहोश्चन्द्रस्य यद्भवति तदाह-(जया णमित्यादि) "आवरेमाणे" इत्यत्र द्विवचनं तिष्ठतीति क्रियाविशेषणत्वात् । (चंदेण राहुस्स कुच्छी भिन्न त्ति)राहोरंशस्य मध्येन चन्द्रो गत इति वाच्ये चन्द्रेण राहोः कुक्षिर्भिन्ना इति व्यपदिशन्तीति । (पच्चोसक्कइ त्ति) प्रत्यवसर्पति व्यावर्त्तते [वंते त्ति] वान्तः परित्यक्तः (सपक्खिं सपडिदिसिं ति) सपक्षं समानदिक् यथा भवति, सप्रतिदिक् यथाभवतीत्येव चन्द्रलेश्यामावृत्यावष्टभ्य तिष्ठतीत्येव योगः । अत आवरणमात्रमेवेदं वैस्रसिकं चन्द्रस्य राहुणा ग्रसनम्, न तु कार्मणमिति ।

अथ राहोर्भेदमाह-

कतिविहे णं भंते ! राहू पण्णत्ते?। गोयमा ! दुविहे राहू पण्णत्ते । तं जहा-धुवराहू य,पव्वराहू य । तत्थ णं जे से धुवराहू,से णं बहुलस्स पक्खस्स पाडिवए पण्णरसतिभागे णं पण्णरसभाग चंदलेस्सं आवरेमाणे २ चिट्ठइ । तं जहा-पढमाए पढमं भागं, बितियाए बितियं भागं० जाव पण्णरसेसु पण्णरसमं भागं, चरमसमए चंदे रत्ते भवइ,अवसेसे समए चंदे

रत्ते वा विरत्ते वा भवइ । तामेव सुक्कपक्खस्स उवदंसे-माणे २ चिट्ठइ । तं जहा-पढमाए पढम भागं० जाव पन्नरसेसु पन्नरसमं भागं चरमसमए चंदे रत्ते भवइ, अवसेसे समए चंदे रत्ते वा विरत्ते वा भवइ । तत्थ णं जे से पव्वराहू से जहन्नेणं छण्हं मासाणं उक्को-सेणं बायालीसाए मासाणं चंदस्स, अडयालीसाए संवच्छराणं सूरस्स ॥

[कइविहे णमित्यादि] यश्चन्द्रस्य सदैव सन्निहितः सञ्चरति स ध्रुवराहुः । आह च—" किण्हं राहुविमाणं, निच्चं चंदेण होइ अविरहियं । चउरंगुलमप्पत्तं, हेठा चंद-स्स तं चरइ त्ति " ॥ १ ॥ यस्तु पर्वणि पौर्णमास्यमावस्ययो-श्चन्द्रादित्ययोरुपरागं करोति स पर्वराहुरिति ॥ [तत्थ णं जे-से धुवराहू इत्यादि] [पाडिवए त्ति] प्रतिपद आरभ्येति शेषः । पञ्चदशभागेन स्वकीयेन करणभूतेन पञ्चदशभागम [चंद-स्स लेस्सं ति] विभक्तिव्यत्ययाच्चन्द्रस्य लेश्यायाश्चन्द्रबिम्ब-सम्बन्धिनमित्यर्थं । आवृण्वन् २ प्रत्यह तिष्ठति ॥ [पढमाए त्ति] प्रथमतिथौ [पन्नरसेसु त्ति] पञ्चदशसु दिनेषु अमाव-स्यायामित्यर्थः । "पन्नरसम भाग आवरित्ता ण चिट्ठइत्ति" वा-क्यशेषः । एव च यद्भवति तदाह-[चरिमेत्यादि] चरमसमये प-ञ्चदशभागोपेतस्य कृष्णपक्षस्यान्तिमे काले कालविशेषे वा च-न्द्रो रक्तो भवति, राहुणोपरक्तो भवति, सर्वथाऽप्याच्छादित इत्यर्थः । अवशेषे समये प्रतिपदादिकाले चन्द्रो रक्तो वा, विरक्तो वा भवति; अंशेन राहुणोपरक्तोऽशान्तरेण चानुपरक्तः, आच्छादितानाच्छादित इत्यर्थ [तामेव त्ति] तमेव चन्द्रले-श्यापञ्चदशभाग शुक्लपक्षस्य, प्रतिपदादिष्विति गम्यते, उप-दर्शयन् २ पञ्चदशभागेन स्वयमपसरणतः प्रकटयंस्तिष्ठति । (चरिमसमये त्ति) पौर्णमास्या चन्द्रो विरक्तो भवति, सर्वथै-व शुक्लीभवतीत्यर्थः; सर्वथाऽनाच्छादितत्वादिति । इह चाय भावार्थ -षोडशभागीकृतस्य चन्द्रस्य षोडशो भागोऽवस्थित एवास्ते । ये चान्ये भागास्तत्र राहु प्रतिनित्यमेकैक भाग कृष्णपक्षे आवृणोति, शुक्ले तु विमुञ्चतीति । उक्तञ्च ज्योति-ष्करण्डके-" सोलसभागे काऊण, उडुवई हायएत्थ पन्नरस । तत्तियमेत्ते भागे, पुणो वि परिवड्ढई जोण्ह " ति ॥ १ ॥ इह तु षोडशभागकल्पना न कृता, व्यवहारिणा षोडशभागस्यावस्थि-तस्यानुपलक्षणादिति सभावयाम इति । ननु चन्द्रविमानस्य षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागन्यूनयोजनप्रमाणत्वात् राहुविमानस्य च ग्रहवि-मानत्वेनार्द्धयोजनप्रमाणत्वात्कथं पञ्चदशे दिने चन्द्रविमानस्य महत्त्वेनेतरस्य च लघुत्वेन सर्वावरणं स्यात्? इति । अत्रोच्यते-यदिदं ग्रहविमानानामर्द्धयोजनमिति प्रमाण तत्प्रायिकम्, ततश्च राहोर्ग्रहस्योक्ताधिकप्रमाणमपि विमान सम्भाव्यते । अन्ये पुन-राहु -लघीयसोऽपि राहुविमानस्य महता तमिस्ररश्मिजालेन तदाव्रियत इति । ननु कतिपयान् दिवसान् यावद् ध्रुवराहु-विमान वृत्तमुपलभ्यते· ग्रहण इव कतिपयाश्च न तथेति किमत्र कारणम् ? । अत्रोच्यते-येषु दिवसेषु अत्यर्थं तमसाऽ-भिभूयते शशी, तेषु तद्विमान वृत्तमाभाति, येषु पुनर्नाभिभू-यतेऽसौ विशुद्ध्यमानत्वात्तेषु न वृत्तमाभाति । तथाचोक्तं वि-शेषणवत्याम्—" वट्टच्छेओ कइवय—दिवसे धुवराहुणो वि-माणस्स । दीसइ पर न दीसइ, जह गहणे पव्वराहुस्स" ॥१॥ आचार्य आह-"अब्भत्थं न हि तमसा-ऽभिभूयते ज ससी वि-सुज्झंतो । तेण न वट्टच्छेओ, गहणे उ तमो तमोबहुलो त्ति" ॥१॥ (तत्थ णं जे से पव्वेत्यादि । बायालीसाए मासाण) सार्द्धस्य व-र्षत्रयोस्योपरि चन्द्रस्य लेश्यामावृत्य तिष्ठतीति गम्य, सूर्यस्या-प्येवमुत्कृष्टतयाऽष्टचत्वारिंशता सवत्सराणामिति । भ० १२ श०६ उ०। स०।भ०। "ससिणो वा रविणो वा,जइआ गहणं तु होइ एगस्स । तइआ त सव्वेसिं,ताण नेयं असुभलोए" ॥७८॥ म० । निर्जलस्थाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गहणकप्प-ग्रहणकल्प-पु० । सूत्रार्थोभयग्रहणप्रकारे, नि० चू०।

इदाणिं गहणकप्पो-

सुत्तऽत्थतदुभयाणं, भत्ती बहुमाण विणयमच्छेरं ।
उक्कुडुणिसेज्जअंजलि,गहितागहिताणि य पणामो । ३८८।

"सुत्त अत्थ उभय वा गेण्हते भत्ती बहुमाणो अब्भुट्ठाणाति,वि-णओ पउजियव्वो (अच्छेरं ति) आश्चर्यं मन्यते-अहो ! इमे-सु सुतत्थपदेसु परिसा अविकला भावा णज्जति । अह वा-आ-श्चर्यभूत विनयं करोति तिव्वभावसंपन्नो अत्थेसि पि संवेगं जणतो अत्थे णियमा साणिसिज्ज करेति, सुत्ते वि करेति । वाय-णायरियइच्छाए वा सुणेति । उक्कुडुअित्ता रयहरणणिसेज्जा-ए वा कयजली एव पुच्छमाणे वि सुत्त पुण कयकच्छभो पढति । जया पुण आलावय भणाति तदा कयजली कयप्पणामो य । किं च-अगं सुयखंधं अज्झयण उद्देसगा अच्छिहिकारा सुत्तवके य गुरुणो दिण्णे समत्ते वा (गहिए त्ति) अवधारिएण अवधारिते वा सिस्सेण पणामो कायव्वो"। नि० चू०१ग उ०।

गहणगुण-ग्रहणगुण-पु०। ग्रहणमौदारिकशरीरादितया ग्राह्य-ता वा वर्णादिमत्त्वात् परस्परसम्बन्धलक्षणं वा तद्गुणो धर्मो यस्य स तथा । गुणतः पुद्गलास्तिकाये, " गुणओ गहणगुणे " स्था० ५ ठा० ३ उ० । भ० ।

गहणजाय-ग्रहणजात-न० । श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यमाणे भाषाद्र-व्ये, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ०। ('जाय' शब्देऽस्य व्याख्या)

गहणदव्व-ग्रहणद्रव्य-न० । ग्रहणप्रायोग्यकर्मदलिके, क०प्र०।

गहणता-ग्रहणता-स्त्री० । शिक्षणे, स्था० ८ ठा० ।

गहणप्पगार-ग्रहणप्रकार-पु० । परिच्छेदे, "परिच्छेद त्ति वा गहणप्पगारे त्ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

गहणवग्गणा-ग्रहणवर्गणा-स्त्री० । ग्रहणप्रायोग्यायां वर्गणा-म, पं० स० ५ द्वार । ('वग्गणा' शब्देऽस्य व्याख्या)

गहणविदुग्ग-गहनविदुर्ग-पु० । पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षव-ल्लीसमुदाये, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। भ० । "एगो पव्वतो बहुएहिं पव्वतेहिं विदुग्ग " नि० चू० १ उ० । आचा० ।

गहणसिक्खा-ग्रहणशिक्षा-स्त्री०। "विशुद्धमुपधानेन, प्राप्तं का-लक्रमेण च । योग्याय गुरुणा सूत्र, सम्यग्देय महात्मना" ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे, ('सिक्खा' शब्देऽस्य व्याख्या) ध०३ अधि० ।

गहणी-ग्रहणी-स्त्री० । गुदाशये, त० । औ० । जी० । हठहृत-स्त्रियाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गहणेसणा-ग्रहणैषणा-स्त्री० । आहारग्रहणरूपे एषणाभेदे, नि० चू० १ उ० । पिं० । ओघ० । पञ्चा० । (द्वारैर्ग्रहणैषणा 'एसणा' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५३ पृष्ठे द्रष्टव्या)

गहणोग्गह-ग्रहणावग्रह-पुं० । अपरिग्रहस्य साधोः पिण्डवसतिवस्त्रपात्रग्रहणपरिणामे, आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

गहदंड-ग्रहदण्ड-पुं० । दण्डा इव दण्डास्तिर्यगायतः श्रेणयः, ग्रहाणां मङ्गलादीनां त्रिचतुरादीनां दण्डा ग्रहदण्डाः । भ० ३ श० ६ उ० । दण्डाकारव्यवस्थितेषु ग्रहेषु, जी० ३ प्रति० ।

गहन-ग्रहण-न० । धारणे, पैशाच्यां णस्य नः । " कथं तापसे वेसगहनं कत " । प्रा० ४ पाद ।

गहभिन्न-ग्रहभिन्न-न० । ग्रहविदारिते नक्षत्रे, विशे० । आ० म० । यन्मध्ये ग्रहो विभिद्य निर्गच्छति । जीत० । " गहभिन्न च वज्जये सत्त नक्खत्ते " द० प० । ग्रहभिन्ने शोणितोद्गारः । व्य० १ उ० । पं० व० ।

गहमुसल-ग्रहमुशल-न० । मुशलाकारव्यवस्थितेषु ग्रहेषु, जी० ३ प्रति० । ग्रहाणामूर्ध्वायतासु श्रेणिषु च । भ० ३ श० ७ उ० ।

गहर-देशी-गृध्रे, दे० ना० २ वर्ग ।

गहवइ-गृहपति-पुं० । गृहस्वामिनि, बृ० १ उ० ।

गहवई-देशी-ग्रामीणे, शशिनि च । दे० ना० २ वर्ग ।

गहसिंघाडग-ग्रहशृङ्गाटक-न० । ग्रहाणां शृङ्गाटकफलाकारेणाऽवस्थाने, भ० ३ श० ७ उ० । ग्रहयुग्मे च । जी० ३ प्रति० ।

गहसम-ग्रहसम-न० । प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गृहीतस्तत्सम गीयमान ग्रहसमम् । स्था० ७ ठा० । स्वरसाम्येन गाने, स्था० ७ ठा० ।

गहाय-गृहीत्वा-अव्य० । आदायेत्यर्थे, दशा० ७ अ० । रा० । सूत्र० ।

गहावसव्व-ग्रहाऽपसव्य-न० । ग्रहाणामपसव्यगमने,प्रतीपगमने, भ० ११ श० १ उ० ।

गहिअ-देशी-चकिते, दे० ना० २ वर्ग ।

गहिआ-देशी-काम्यमानायां स्त्रियाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गहिय-गृद्ध-त्रि० । अभ्युपपन्ने, " आयाणसोय गढिए बाले " आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

गृहीत-त्रि० । ग्रह क्त ईद् । " पानीयादिष्वित् " । ८ । १ । १०१ । इतीकारस्य ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । उपात्ते, आ०चू० १ अ० । आ० म० । अस्पर्शनत उपात्ते,भ० १३ श० ७ उ० । राजपुरुषैर्बद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । स्वीकृते, औ० । सूत्र० । भ० । ज्ञाते, वाच० । "चवयारियं ति वा अहीतं ति वा आगमियं ति वा गहित ति वा एगट्ठा " उत्त० २ अ० ।

गहियट्ठ-गृहीतार्थ-त्रि० । गृहीतः स्वीकृतोऽर्थो मोक्षमार्गरूपो येन स गृहीतार्थः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । पराभिप्रायग्रहणतः (ज्ञा० १ श्रु० १ अ०) अर्थावधारणाद (भ० ३ श० ५ उ० । दशा०) अवधारिततत्त्वे, दर्श० ।

गहियवक्क-गृहीतवाक्य-त्रि० । सर्वत्रास्खलिताऽऽज्ञे,ग० १ अधि० । आचा० । उपादेयवचने, प्रवचनकथनयोग्ये, तस्य हि स्वल्पमपि वचन महार्घमिव प्रतिभाति । प्रव० १ द्वार ।

गहिया-गृहीत्वा-अव्य० । उपादायेत्यर्थे, " गहिया हु अनयपञोवकूवालादिणो वहवे " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

गहियाउहप्पहरण-गृहीतायुधप्रहरण-त्रि० । गृहीतानि आयुधानि शस्त्राणि प्रहरणाय परेषां प्रहारकरणाय येन स तथा । अथ वाऽऽयुधान्युत्क्षेप्यशस्त्राणि खड्गादीनि, प्रहरणानि तु क्षेप्यशस्त्राणि नाराचादीनि, ततो गृहीतानि आयुधानि प्रहरणानि येन स तथा । सायुधप्रहरणे, भ० ७ श० ६ उ० ।

गहिर-गभीर-त्रि० । 'पानीयादिष्वित्' ८।१।१०१। इति ह्रस्व. । प्रा० १ पाद । अलब्धमध्ये, प्रज्ञा० २ पद । "गहिरहसियगीयणच्चणरई" गम्भीरेषु हसितनर्तनेषु रतिर्येषां ते । जी० ३ प्रति० ।

गहीरिय-गाम्भीर्य-न० । "स्याद् भव्यचैत्यचौर्य्यसमेषु याद्" ८ । २ । १०७ । इति संयुक्तस्य यात्पूर्वं इद् । अलब्धस्ताघत्वे, प्रा० २ पाद ।

गहेतुं-गृहीत्वा-अव्य० । उपादायेत्यर्थे, " भंजंति ण पुव्वमरीसरोस, समुग्गरे तेसुप्पले गहेतु " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

गा-गै-धा० । गते, "ध्यागोर्झागौ" ॥८। ४ । ६ ॥ इति गाऽऽदेश. । 'गाइ-गाअइ । गायति ' । प्रा० ४ पाद ।

गाइय-गीत-न० । कृते गाने, " सुठ्ठु गाइयं सुठ्ठु वाइयं सुठ्ठु नच्चियं" आव० ४ अ० ।

गाउच्छोलण-गात्रोत्क्षालन-न० । अङ्गधावने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

गाउय-गव्यूत-न० । द्विधनुःसहस्रप्रमाणे क्षेत्रे, प्रज्ञा० १ पद । " चउहत्थ पुण धनुह, दुन्नि सहस्साइ गाउय तेसिं" प्रव० २५४ द्वार । जी० । भ० । अनु० । स्था० । क्रोशद्वये च, ओघ० ।

गागर-गागर-पुं० । स्त्री० । परिधानविशेषे, ज० ३ वक्ष० । प्रश्न० । मत्स्यभेदे च । प्रज्ञा० १ पद ।

गागलि-गागलि-पुं० । पिठरस्य यशोमतीकुक्षिसम्भूते पुत्रे, यो हि पृष्ठचम्पायां प्रव्रजद्भ्यां शालमहाशालाभ्यां राज्ये स्थापितो गौतमान्तिके प्रव्रजितः केवली भूत्वा सिद्धः । उत्त० १० अ० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । ती० । (इति 'अज्जवइर' शब्दे प्र० भागे २१६ पृष्ठे उक्तम्)

गागेज्ज-देशी-मथिते, दे० ना० २ वर्ग ।

गागेज्जा-देशी-नवपरिणीते, दे० ना० २ वर्ग ।

गाढ-गाढ-न० । गाह-क्तः । अतिशये, दृढे च । वाच० । अहिविषसूचिकादिषु, ग० २ अधि० । अत्यर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ओघ० । सूत्र० । अत्यर्थमुपनीते,सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । निबिडे, न० । वाढे, भ० १ श० २ उ० । अप्रीतिकरणे, व्य० २ उ० । बहुसस्थितिके, उत्त० १९ अ० । अत्यन्ते, कल्प० २ क्षण ।

गाढगिलाण-गाढग्लान-त्रि० । सन्निपाताद्यभिभूततया तीव्रातुरे, पञ्चा० ८ विव० ।

गाढतिक्खग्गणह-गाढतीक्ष्णाग्रनख-त्रि० । गाढमत्यन्तं तीक्ष्णानि अग्राणि येषामेवंविधा नखा यस्य स तथा । अतितीक्ष्णनखे, कल्प० २ क्षण ।

गाढदुक्खा-गाढदुःखा-स्त्री० । गाढदुःखरूपायां वेदनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

गाढपेल्लण-गाढप्रेरण-न० । अत्यर्थप्रेरणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गाढरुट्ठ-गाढरुष्ट-त्रि० । अत्यर्थंक्रुद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गाढालंबणलग्ग-गाढालम्बनलग्न-त्रि० । एकालम्बने स्थिरतया व्यवस्थिते, आव० ५ अ० ।

गाढीकय-गाढीकृत-त्रि० । शणसूत्रगाढबद्धसूचाकलापवत् आत्मप्रदेशैः सह गाढबद्धे कर्मणि, भ० ६ श० १ उ० ।

गाढोवणीय-गाढोपनीत-त्रि० । गाढमत्यर्थमुपनीत ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणा यत्स्थानं तत् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । "गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दृढैर्निधत्तनिकाचिकावस्थैः कर्मभिर्ढौकिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

गाण-गान-न० । गीते, जी० ३ प्रति० । "गीयं वितत घण झुसिणं अप्पे चउव्विहं गायति" आ० चू० १ अ० ।

गाणंगणिय-गाणङ्गणिक-पुं० । गणाद्गणं षण्मासाभ्यन्तर एव सङ्क्रामतीति गाणङ्गणिक इत्यागमिकी परिभाषा । उत्त० १७ अ० । षण्मासाभ्यन्तर एव गणाद्गणान्तरं सङ्क्रामति, उत्त० १७ अ० ।

गाणङ्गणिकमत ऊर्द्धं वक्ष्ये, तमेवाह-

छम्मासे अपूरित्ता, गुरुगा बारससमासु चउलहुगा ।
तेण परं मासलहू, गाणंगणि कारणे भइतं ।

उपसंपन्नः साधुः कारणाभावे षण्मासानपूरयित्वा यद्येकस्माद्गणात्परं गणं सङ्क्रामति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः, षण्मास्याः परतो यावत् द्वादश समा वर्षाणि, ता अपूरयित्वा गच्छतश्चतुर्लघुकाः, ततः परं द्वादशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्द्धं निष्कारणं गणाद्गणं सङ्क्रामतो मासलघु, " गाणंगणि त्ति " भावप्रधानो निर्देशः, ततो गणं गणिकत्वं, कारणे ज्ञानदर्शनचारित्राणामन्यतरस्मिन् पुष्टालम्बने समुत्पन्ने भाज्यं सेवनीयम् । किमुक्तं भवति?-कारणे मध्ये द्वादशानां षण्मासं वा गणाद्गणं सङ्क्रामन्नपि न प्रायश्चित्तभाग् भवतीति । गतं गाणङ्गणिकद्वारम् । वृ० १ उ० । नि० चू० ।

गाम-ग्राम-पुं० । गम्यो गमनीयोऽष्टादशानां शास्त्रे प्रसिद्धानां कराणामिति व्युत्पत्त्या, ग्रसते वा बुद्ध्यादीन् गुणानिति व्युत्पत्त्या वा पृषोदरादित्वान्निरुक्तविधिना ग्रामः । वृ० १ उ० । रा० । व्य० । जी० । प्रश्न० । दशा० । नि० चू० । आचा० । अनु० । उत्त० । पा० । प्राचुर्येण ग्रामधर्मोपेतत्वात् करादिगम्यो वा ग्रामः । आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । करवति, कल्प० ४ क्षण । जनपदाध्यासिते, औ० । जननिवासलक्षणे, अष्ट० १८ अष्ट० । सन्निवेशविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । भ० । ज्ञा० । कण्टकवाटकावृते जनानां निवासे, उत्त० २ अ० । सूत्र० ।

ग्रामपदनिक्षेपमाह-

नामं ठवणा गामो, दव्वग्गामो अ भूतगामो य ।

आउज्जिंदियगामो, पिउगामो भावगामो य ॥

नामग्रामः, स्थापनाग्रामो, द्रव्यग्रामश्च, भूतग्रामश्च, आतोद्यग्रामः, इन्द्रियग्रामः, पितृग्रामो, भावग्रामश्चेति गाथासमुदयार्थः । अथावयवार्थमभिधित्सुर्नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यग्रामं व्याचष्टे-

जीवाजीवसमुदओ, गामो को वा नओ कहं इच्छे ।
आदिनयोऽणगविहो, तिविकप्पो अंतिम नओ उ ॥

जीवानां गोमहिषीमनुष्यादीनामजीवानां च गृहादीनां यः समुदयः स द्रव्यग्राम उच्यते । इह च सर्वज्ञोपज्ञप्रवचने प्रायः सर्वमपि सूत्रमर्थश्च नयैर्विचार्यते । यत उक्तम्-" नत्थि नएहिं विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि । आसज्ज उ सोयारं, नए नय विसारओ बूया " ॥१॥ अत एषोऽपि द्रव्यग्रामो नयैर्विचार्यते-को नाम नयः कं द्रव्यग्रामं कथमिच्छतीति?। तत्र नयाः सामान्यतः सप्त, नैगमसङ्ग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् । इह तु समभिरूढैवंभूतयोः शब्दप्राधान्याभ्युपगमपरतया शब्दनये एवान्तर्भावो विवक्ष्यते, ततश्चादिनयो नैगमः, सोऽविशुद्धविशुद्धविशुद्धतरादिभेदादनेकविधः, अन्तिमनयस्तु शब्दः, स त्रिविधः, शब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् ।

तत्रानेकविधनैगमानामन्यान्यप्यपि पदानि यानि वक्तव्यानि तानि नामग्राहं सङ्गृह्णन्नाह-

गावो तणाइ सीमा, आरामुदपाणचेरूवाणि ।
वाहीं य वाणमंतर, उग्गह तत्तो य आहिपती ॥

गावः १ तृणानि २ उपलक्षणत्वात्तृणाहारकादयः । सीमा ३ आरामम् ४ उदपानं कूपः ५ चेरूपाणि ६ वाहिरवृतिः ७ वाणमन्तरं देवकुलम् ८ अवग्रहः ९ ततश्चाधिपतिः १० इति निर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः । अथ भावार्थ उच्यते-प्रथमो नैगमः प्राह-यावन्तं भूभागं गावश्चरितुं व्रजन्ति तावान् सर्वोऽपि ग्राम इति व्यपदेशं लभते । ततो विशुद्धनैगमः प्रतिभणति-

गावो वयंति दूरं, पि जं तु तणकट्ठहारगादीया ।
सूरुट्ठिते गता एं-ति अत्थ सते ततो गामो ॥

परिस्थूरमपि परग्राममपि चरितुं व्रजन्ति, ततः किमेव सोऽप्येक एव ग्रामो भवतु?, अपि च एवं ब्रुवतो भवतो भूयसामपि परस्परमनिदवीयसां ग्रामाणामेकग्रामतैव प्रसज्जति, न चैतदुपपन्नं, तस्मान्नैतावान् ग्रामः, किं तु यत् यावन्मात्रं क्षेत्रं तृणाहारककाष्ठहारकादयः सूर्ये उत्थिते तृणाद्यर्थं गताः सन्तः सूर्ये अस्तमयति तृणादिभारकं बद्ध्वा पुनरायान्ति, एतावत् क्षेत्रं ग्रामः ॥

परसीमं पि वयंति हु, सुद्धतरो भणति जा ससीमा तु ।
उज्जाण अवत्ता वा, उक्कोल्लंता उ सुद्धयरो ॥

शुद्धतरो नैगमो भणति-यद्यपि गवा गोचरक्षेत्रादासन्नतरं भूभागं तृणकाष्ठाहारका व्रजन्ति, तथापि ते कदाचित्परसीमानमपि व्रजन्ति, तस्मान्नैतावान् ग्राम उपपद्यते । अहं ब्रवीमि-यावत् स्वा आत्मीया सीमा एतावान् ग्रामः । ततोऽपि विशुद्धतरः प्राह-नैवम् । अतिप्रचुरं क्षेत्रं ग्राम इति वोच्यः, किं तु यावत्तस्यैव ग्रामस्य सम्बन्धी कूपः तावद् ग्राम इति । ततोऽपि विशु-

नरो ब्रूते-उद्यानमारामस्तावद् ग्राम इति भएयते। विशुद्धतमः प्रतिनणति-एतदपि भूयस्तरं क्षेत्रं न ग्रामसंज्ञां लब्धुमर्हति, अह भणामि-यावदुदपान तस्यैव ग्रामस्य सबन्धी कूपः तावद्ग्राम इति । ततोऽपि विशुद्धतरो ब्रूत-इदमप्यतिप्रभूतं क्षेत्रम्, अतो यावत् क्षेत्र अव्यक्तानि चेटरूपाणि रममाणानि गच्छन्ति तावद् ग्राम' । ततोऽपि विशुद्धतरः प्रतिवक्ति-एतदप्यतिरिक्ततया न समीचीनमाभाति, ततो यावन्त भूभागमतिलघीयांसा बालका उत्क्षीरन्तो रिङ्गन्तः प्रयान्ति तावान् ग्राम इति ।

एव विसुद्धनिगम-स्स वइपरिक्खेवपरिवुडो गामो ।
ववहारस्स वि एवं, संग्रह जहिँ गामसमवाओ ॥

एवं विचित्राभिप्रायाणां पूर्वनैगमानां सर्वा अपि प्रतिपत्तोर्व्यपोह्य सर्वविशुद्धनैगमनयस्त्वयावान् वृतिपरिक्षेपपरिवृत्तो भूभागस्तावान् ग्राम उच्यते। अथ सग्रह व्यतिक्रम्य लाघवार्थमेव व्यवहारमतमतिदिशति-(ववहारस्स वि एवं ति) यथा नगमस्यानेके प्रतिपत्तिप्रकारा. प्ररूपितास्तथा व्यवहारस्याप्येवमेव प्ररूपणीयाः, तस्य व्यवहाराभ्युपगमपरायणत्वात्। बालगोपालादिना च लोकेन सर्वेषामप्यनन्तरोक्तभेदानां यथावसर ग्रामतया व्यवहरणीयत्वात । सग्रहस्तु सामान्यग्राहित्वाद्यत्र ग्रामस्य ग्रामवास्तव्यलोकस्य समवाय एकत्र मीलनं भवति तद् वाऽऽमन्तरदेवकुलादिक ग्राम इति ब्रूते ।

इदमेव प्रकारान्तरेणाऽऽह—

जं वा पढमं काउ, सेसगगामो निवसई स गामो ।
त देउल सभा वा, मज्झिमगोट्ठा पवा वा ॥

यद्वा प्रथम कृत्वा निवेश्य, शेष. सर्वोऽपि ग्रामो निविशते, स सग्रहनयाभिप्रायेण ग्राम' । तच्च देवकुल वा भवेत् , सभा वा, ग्राममध्यमवर्ती वा गोष्ठ , प्रपा वा ।

अथाव्यग्रहपद विवृण्वन् ऋजुसूत्रनयमतमाह-

उज्जुसुयस्स निओओ, पत्तयघर तु हाइ एकेक ।
उड्डेति वसति व वसे-ण जस्स वइस्स सो गामो ॥

ऋजुसूत्रस्य स्वकीयार्थग्राहकत्वात् परकीयत्वस्ततोऽप्यनभ्युपगमात् यस्य यत्प्रत्येकमात्मीयावग्रहरूपमेकैक गृह तत नियोग इति प्रतिपत्तव्यम्। नियोग इति ग्राम इति चैकोऽर्थ। आह च विशेषचूर्णिकृत्-"गामो त्ति वा निओओ त्ति वा एगट्ठं ततो अ आहिवइ" इति व्याख्यानयन् शब्दनयमतमाह-'उड्डेइ त्ति' इत्यादिशब्दस्य शब्दाख्यनयस्य कस्यापि वशेन ग्राम उत्तिष्ठते-उद्वसी भवति वा,वसति भूयोऽप्यधस्थान करोति,स ग्राममप्याधिपतिर्ग्राम इति शब्दमुद्बोढुमर्हति,ये तु तत्र तदनुवर्तिन. शेषास्ते अशेषा अप्युपसर्जनीभूतत्वान्न ग्रामसज्ञां लभन्त इति भाव. । चिन्तितं नयमार्गणया ग्रामरूपम्।

अथ ग्रामस्यैव नये सस्थानचिन्तां चिकीर्षुराह-

तस्सेव उ गामस्सा, को किं सठाणमिच्छती नओ उ ।
तत्थ इमे सठाणा, हवंति खलु मल्लगादीया ॥

तस्यैव ग्रामस्य सस्थान को नय. किमिच्छतीति चिन्त्यते, तत्र तावदिमानि मल्लकादीनि ग्रामस्य सस्थानानि भवन्ति ।

तान्येवाह-

उत्ताणग ओसंखिय, संपुडए खंडमल्लए तिविहे ।
भित्ती पडालि वलभी, अक्खाडग रुयग कासवए ॥

अस्ति ग्राम उत्तानकमल्लकाकारः, अस्ति ग्रामोऽवाङ्मुखमल्लकाकारः, एवं संपुटकमल्लकाकारः, खण्डमल्लकमपि त्रिविधं वाच्यम् । तद्यथा-उत्तानकखण्डमल्लकसंस्थित , अवाङ्मुखखण्डमल्लकसस्थितः,सपुटकखण्डमल्लकसस्थितश्च ।तथा भित्तीसस्थितः, पडालिकासस्थितः, वलभीसंस्थितः, अक्षपाटकसस्थित , रुचकसंस्थित ; काश्यपसस्थितश्चेति ।

अथैषामेव संस्थानानां यथाक्रम व्याख्यानमाह-

मज्झे गामस्सऽगडो, वुद्धिच्छेदा ततो उ रज्जूओ ।
निक्खम्म मलपादे, गिएहंतीओ वइ पत्ता ॥

इह यस्य ग्रामस्य मध्यभागे अगम' कूपस्तस्य बुद्ध्या पूर्वादिषु दिक्षु च्छेदः परिकल्प्यते,ततश्च कूपस्याधस्तनतलाद् बुद्धिच्छेदेन रज्जवो दिक्ष विदिक्षु च निष्काश्य गृहाणां मूलपादानुपरिकल्प्य गृहाल्यतिर्यक् तावद्विस्तार्यन्ते यावत्तद्ग्रामपर्यन्तवर्तिनीं वृतिं प्राप्ता भवन्ति, तत उपर्यभिमुखीभूय तावद्गत्वा बहुत्त्वेण ह-र्म्यतलानां सीमीभूतास्तत्र च पटहच्छेदनोपरताः, एव ईदृश-उत्तानमल्लकसस्थितो ग्राम उच्यते । ऊर्ध्वाननमुखस्य शरावस्यैवमेव वाच्यं,नवरं यस्य ग्रामस्य मध्ये देवकुल वृक्षो वाऽवस्तरस्तस्य देवकुलादे' शिखरात् रज्जवोऽवतार्य तिर्यग् तावन्नीयन्ते यावद्वृतिं प्राप्ता',ततो अधोमुखीभूय गृहाणां मूलपादा' न् गृहीत्वा पटहच्छेदेनोपरत', एषोऽवाङ्मुखमल्लकसस्थितो ग्राम । तथा यस्य मध्यभागे कूपस्तस्य चोपर्युच्चतरो वृक्षस्ततः कूपस्याधस्तलात् रज्जवो विनिर्गत्य मूलपादानधोऽधस्तावद् गता यावद् वृतिं प्राप्ता ग्रामस्य, तत ऊर्ध्वाभिमुखीभूय गत्वा हर्म्यतलानां समश्रेणीभूता वृक्ष शिखरादप्यवतीर्य रज्जवस्तथैव तिर्यग्वृतिं प्राप्नुवन्ति, ततोऽधोमुखीभूय कूपसंबन्धिनीनां रज्जूनामग्रभागः सम सघटन्ते ।

अथैकसपुटकमल्लकाकारो नाम ग्राम'-

जइ कूपाई पास-म्मि होंति तो खंडमल्लओ होई ।
पुव्वावररुक्खेहिं, गामो जेहिँ भवे भित्ती ॥

यदि कूपादीनि कापवृक्षतदुभयानि पार्श्वे एकस्या दिशि भवन्ति, ततः खण्डमल्लकाकारस्त्रिविधोऽपि ग्रामो यथाक्रम मन्तव्यः। तत्र यस्य ग्रामस्य बहिरेकस्या दिशि कूपस्तामेवैकां दिशं मुक्त्वा शेषासु सप्तसु दिक्षु रज्जवो निर्गत्य तिर्यग्वृतिं प्राप्योपरि हर्म्यतलान्यासाद्य पटहच्छेदेनापरमन्ते,एष उत्तानकखण्डमल्लकाकार. । अवाङ्मुखखण्डमल्लकाकारोऽप्येवमेव, नवरं यस्यैकस्यां दिशि देवकुलमुच्चैस्तरो वा वृक्ष । सपुटकखण्डमल्लकाकारस्तु यस्यैकस्या दिशि कूपस्तदुपरिष्टाच्च वृक्ष', शेष प्राग्वत् । 'पुव्वावर' इत्यादि। पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि समश्रेणिव्यवस्थितैर्वृक्षैर्भित्तिसस्थितो ग्रामो वा भवेत् ।

पासट्ठिए पमाली, वलभी चउकोणगेसु दीहा उ।
चउकोणेसु जइ दुमा, हवति अक्खामतो तम्हा ॥

पमालिकासंस्थितोऽप्येवमेव,नवरम् एकस्मिन् पार्श्वे वृक्षपङ्क्ति समश्रेणया व्यवस्थितम । तथा यस्य ग्रामस्य चतुर्ष्वपि कोणेषु ईषद्दीर्घा वृक्षा व्यवस्थिता स वलभीसस्थित । अथ वा यद् मध्ये पङ्क्तीनां युग्मान्यासस्थानम। तद्यथा-सम चतुरस्र भवति,एव यदि ग्रामस्यापि चतुर्षु कोणेषु द्रुमा भवन्ति ततोऽसौ चतुर्भिर्वा -र्भिर्वृक्षै समचतुरस्रतया

वट्टागारठिएहिं, रुयगो पुण वेढितो तरुवरेहिं ।
तेकोणो कासवओ, छुरघरग कासव विंती ॥

यद्यपि ग्राम स्वय न समस्तथापि यदि रुचकतया शैलवत् वृत्ताकारव्यवस्थितै वृत्तवेष्टितस्तदा रुचकसंस्थित । यस्तु ग्राम एव त्रिकोणतया निविष्ट , शृङ्गा वा त्रयो यस्य बहि ऽयस्र : स्थिता. एकतो द्वौ,अन्यतस्त्वेक इत्यर्थ । एष तत्त्वथाऽपि काश्यपसंस्थितः । काश्यप पुनर्नापितस्य सबन्धि क्षुरगृह ब्रुवते । तद्यथा ऽयस्र भवत्येवमयमपि ग्राम । इति भावितानि सर्वाण्यपि संस्थानानि।

अथ को नयः किं संस्थानमिच्छति ? इति भाव्यते-

पढमे सपडहच्छेद, आकासव सम्ग कोट्टिम तइओ ।
नाणिं अहिपतिं वा, सद्दनया तिन्नि इच्छति ॥

प्रथमोऽत्र नैगमनय सपटहच्छेदलक्षण संस्थान प्रतिपद्यते । संग्रहोऽप्येवमेव मन्यत इत्यत्रवान्तर्भाव्यते।व्यवहारस्तु भित्तिसंस्थानादारभ्य आकाश्यपसंस्थान मन्यते । तृतीय ऋजुसूत्र शकटानां तृण छिमयानां, कुट्टिमानां वा पाषाणादिबद्धभूमिकानां यत् संस्थान तन्मन्यते। त्रयस्तु शब्दनया ज्ञानिनमधिपतिं वा ग्रामसंस्थान स्वामित्वेनेच्छन्ति ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां व्यक्तीकुर्वन्नाह-

संगाहियपसंगहिओ, तिविहं खलु मन्नयं नियमा ।
भित्तादि जा कासवो, असगहो वेति सठाणं ॥

नैगमो द्विधा सांग्रहिको, असांग्रहिकश्च । सग्रहण सग्रहः, सामान्यमित्यर्थ । स प्रयोजनमस्येति साग्रहिक , सामान्यवाद्यभ्युपगमपर इत्यर्थ. । तद्विपरीताऽसांग्रहिक । तत्र य सांग्रहिक स नियमात्त्रिविधमुत्तानकाऽवाङ्मुखसंपुटकभेदभिन्न सपूर्ण वा खण्ड वा मल्लकम । तस्य यत्पटहच्छेदलक्षण संस्थान तन्मन्यते। असाग्रहिकस्तु भित्तिसंस्थानमादौ कृत्वा यावत्काश्यपसंस्थानमेतानि सर्वाण्यपि ग्रामे, प्रतिपद्यत इत्यर्थ । सग्रहव्यवहारौ तु सांग्रहिकयोरेव नैगमयोर्यथासंख्यमन्तर्भावनीयाविति न पृथक् प्रपञ्चेते ।

निम्मा-घरवइ-थुभिए, तइओ कुहणा वि जाव पावति ।
नाणिस्सा इपहुस्स व, ज संठाणं तु सद्दस्स ।

तृतीयसूत्रक्रमप्रामाण्येन ऋजुसूत्र । स (निम्म त्ति) मूलपादानां (घरवइ त्ति) गृहाणा, छतेर्वा, स्तूपिकानां च, उपलक्षणत्वात् कटकानां, कुट्टिमानां वा यत्संस्थान मालेषा, भूमिकादार्ढ्यसंपादनार्थमवकुट्यमाने कुघणा मुकरा कर्द्धमुत्क्षिप्यमाना यावदर्काशनल प्राप्नुवन्ति,तावन्मर्यादं।कृत्य यत्संस्थानमेतत्सर्वमपि प्रत्येक ऋजुसूत्रो मन्यते । तथा ज्ञानिनो ग्रामपदार्थज्ञस्य, ग्रामाधिपतेर्वा यत्संस्थान तदेव शब्दनयस्य ग्रामसंस्थानतयाऽभिमतमिति गत द्रव्यग्रामद्वारम ।

अथ भूतादिग्रामभेदान् भावयति-

चउदसविहो पुण भवे, भूतग्गामो तिहा उ आतोज्जा ।
सोतादिंदियगामो, तिविहा पुरिसा पिउग्गामो ॥

भूता. प्राणिनस्तेषां ग्राम समूहो भूतग्राम. स चतुर्दशविधः।

तथाचाह-

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया सबि ति-चऊ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता-भेएणं चउदस ग्गामा ॥

एकेन्द्रिया द्विविधा -सूक्ष्माः, बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिन सूक्ष्मा , बादरनामकर्मोदयवर्त्तिनो बादराः। द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, त्रिन्द्रिया -कुन्थुपिपीलिकादय , चतुरिन्द्रियाः-भ्रमरादय.। पञ्चेन्द्रिया द्विविधा -संज्ञिन ,असंज्ञिनश्च । संज्ञिनः-गर्भजतिर्यङ्मनुष्या , देवनारकाश्च ।असंज्ञिनः-संमूर्छिमास्तिर्यङ्मनुष्या.। एते च स्वयोग्यपर्याप्तिभिः पर्याप्ता वा स्युरऽपर्याप्ता वा । पर्याप्तिर्नाम शक्तिः। सा चाहारशरीरेन्द्रियप्राणातिपातभाषामन पर्याप्तिभेदात् षोढा । तत्र यथाशक्त्या करणभूतया भुक्तमाहार खलु रूपरसतया करोति सा आहारपर्याप्ति । यया तु रसीभूतमाहारं धातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः । यया धातुरूपया परिणमितादाहारादीन्द्रियप्रायोग्यद्रव्याण्युपादायैकद्वित्र्यादीन्द्रियरूपतया परिणमय्य स्पर्शादिविषयपरिज्ञानसमर्थो भवति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । यया पुनरुच्छ्वासभाषामन प्रायोग्यानि दलिकान्यादाय यथाक्रममुच्छ्वासरूपतया भाषात्वेन मनस्त्वेन वा परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा क्रमेण प्राणातिपातपर्याप्ति , भाषापर्याप्ति , मन.पर्याप्ति । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां चतस्रो, द्वीन्द्रियादीनां समूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्यान्तानां पञ्च संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च षट् भवन्ति । एव पूर्वोक्ता. सप्तापि भेदा. पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विधा भिद्यमानाश्चतुर्दशविधो भूतग्राम ॥ आतोद्यग्रामस्तु त्रिधा-षड्जग्रामो मध्यमग्रामो,गान्धारग्रामश्च एतेषां च स्वरूपमनुयोगद्वारशास्त्रादवसेयम् । इन्द्रियग्राम श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणा समुदाय ,स च पञ्चेन्द्रियाणां सम्पूर्ण ,चतुरादीन्द्रियेकेन्द्रियाणां यथाक्रममेकद्वित्रिचतु-सङ्ख्यैरिन्द्रियैर्न्यून इति ॥ पितृग्रामस्तु त्रिविधा पुरुषा । तद्यथा-तिर्यग्योनिकपुरुषा मनुष्यपुरुषा देवपुरुषाश्चेति ॥

तिरियामरनरइत्थी, माउग्गाम पि तिविहमिच्छति ।
नाणाइतिगं भावे, जओ व तेसिं समुप्पत्ती ॥

तिर्यग्योनिकस्त्रिय ,अमरा देवास्तेषां स्त्रियो, नरा मनुष्यास्तेषां च स्त्रिय इति मातृग्राममपि त्रिविधमिच्छन्ति पूर्वसूरय । आह किमव स्त्रीपुरुषाणा मातृपितृग्रामसंज्ञा विधीयते?। उच्यते-संज्ञासूत्रोपयोगार्थम् । तथा च आचारकल्पाध्ययने षष्ठोद्देशके सूत्रम्-" जे भिक्खू माउग्गामं मेहुणपडियाए विन्नवेइ " इत्यादि । तथा " जा भिक्खुणी पिउग्गाम विन्नवेइ " इत्यादि । भावग्रामतया ज्ञातव्या । के पुनस्ते ?। उच्यते-

तित्थगरा जिण चउदस, भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे ।
सारूविय-वय दंसण-पडिमाओ भावगामो उ ॥

तीर्थकरा अर्हन्त. सामान्यकेवलिन अवधिमन पर्ययजिना वा चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणश्च प्रतीता.। (भिन्ने त्ति) असंपूर्णदशपूर्वधारिण , संविग्ना उद्यतविहारिणः, असंविग्नास्तद्विपरीता., सारूपिका नाम श्वेतवास क्षुरमुण्डितशिरसो भिक्षाटनोपजीविन पश्चात्कृतविशेषा , (वय त्ति) प्रतिपन्नाणुव्रता. श्रावकाः, (दंसण त्ति) दर्शनश्रावका ,अविरतसम्यग्दृष्टय इत्यर्थ ।प्रतिमा अर्हद्बिम्बानि, एष सर्वोऽपि भावग्राम., एतेषां दर्शनादिना ज्ञानादिप्रसूतिसद्भावात्। अत्र पर प्राह-ननु युक्तं तीर्थकरादीनां ज्ञानादिरत्नत्रयसंपत्समन्वितानां भावग्रामत्व, ये पुनरसंविग्नादयस्तेषां कथमिव भावग्रामत्वमुपपद्यते ?, नैष दोष । तेषामपि यथावस्थितप्ररूपणाकारिणां पार्श्वतो यथोक्त धर्ममाकर्ण्य सम्यग्दर्शनादिलाभ उदयते, अतस्तेषामपि भावग्रामत्वमुपपद्यत एवेति कृतं प्रसङ्गेन ।

तीर्थकरा इति पदं विशेषतो भावयति-

चरणकरणसंपन्ना, परीसहपरायगा महाभागा ।
तित्थगरा भगवंतो, भावेण उ एस गामविही ॥

चरणकरणसम्पन्नाः परीषहपराजेतारो महाभागास्तीर्थकरा भगवन्तो दर्शनमात्रादेव भव्यानां सम्यग्दर्शनादिबोधिबीजप्रसूतिहेतवो भावग्रामतया प्रतिपत्तव्याः । एवं जिनादिष्वपि भावनीयम् । एष सर्वोऽपि भावग्रामविधिर्मन्तव्यः ।

प्रतिमा अधिकृत्य भावनामाह-

जा सम्मभावियाओ, पडिमा इयरा ण भावगमो ।
भावो जइ नत्थि तिहिं, ननु कारणकज्जओवयरो ॥

याः सम्यग्भाविताः सम्यग्दृष्टिपरिगृहीताः प्रतिमास्ताः भावग्राम उच्यते,नेतरा मिथ्यादृष्टिपरिगृहीताः। आह-सम्यग्भाविता अपि प्रतिमास्तावद् ज्ञानादिभावशून्यास्ततो यदि ज्ञानादिरूपो भावस्तत्र नास्ति,ततस्ताः कथं भावग्रामो भवितुमर्हन्ति ?। उच्यते-ता अपि दृष्ट्वा भव्यजीवस्याऽऽर्द्रककुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदीयमानमुपलभ्यते, ततः कारणे कार्योपचार इति कृत्वा ता अपि भावग्रामो भण्यते ।

अत्र परः प्राह—

एवं खु भावगामो, णिण्हवमाई वि जइ मयं तुब्भं ।
एमभवत्तं को णु हु, अविवरीतो वदिज्जाहि ॥

यथा सम्यग्भावितप्रतिमानां कारणे कार्योपचाराद्भावग्रामत्वं युष्माकं मतमभिप्रेतम्, एवमेव निह्नवादयोऽपि भावग्राम एव भवतां प्राप्नुवन्ति, तेषामपि दर्शनेन कस्यचित्सम्यग्दर्शनोत्पादात् । सूरिराह-एतदयुक्तमवाच्यवचनं, भवन्तमसमञ्जसप्रलापितं विना को नु अविपरीतः सम्यग्वस्तुतत्त्ववेदी वदेत् ?, अपि तु नैवेत्यभिप्रायः।

कुत इति ?, आह-

जइ वि हु सम्मुप्पाओ, पासइ दट्टूण निण्हए होज्जा।
मिच्छत्तहयमईया, तहा वि ते वज्जणिज्जाओ ॥

यद्यपि हि निह्नवानपि दृष्ट्वा कस्यचित् सम्यग्दर्शनोत्पादो भवेत्, तथाऽपि ते मिथ्यात्वमतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशः, तेन हता स्मृतिः सर्वज्ञवचनसंस्कारलक्षणा दुर्वातेन शस्यवद्येषां ते मिथ्यात्वहतस्मृतिकाः, पर्वविधाश्च बह्वीभिरसद्भावोद्भावनाभिरास्तां लोकचेतांसि विपरिणामयन्तः पूर्वलब्धमपि बीजमात्मनोऽपरेषां चोपघ्नन्तो दूरं दूरेण वर्जनीया इति यतश्चैवमतो नैते भावग्रामतया भवितुमर्हन्तीति प्रकृतम् ।

अथात्र कतरेण ग्रामेणाधिकार?, उच्यते-

आहारउवहिसयणा-सणोवभोगेसु जो उ पाउग्गो।
एवं वयंति गामं, जेणऽहिगारो इहं सुत्ते ॥

आहारोपधी प्रतीतौ, शयनं संस्तारकः, आसनं पीठादि, एतेषामुपभोगेषु यः प्रायोग्यः। किमुक्तं भवति ?-एतानि यत्र कल्पानि प्राप्यन्ते तमेतं ग्रामं वदन्ति प्ररूपयन्ति सूरयो नात्र सूत्रेऽधिकारः प्रकृतमिति व्याख्यातं ग्रामपदम् । बृ० १ उ० । एवं नगरादीनामपि निक्षेपपदानि व्याख्यातव्यानि । समूहे, आव० ४ अ० । औ० । जनसमूहे, अष्ट० ३ अष्ट० । दशाकुलसाहस्रिके, आ० १ श्रु० १ अ० । इन्द्रियगणे च । उत्त० ३ अ० । "यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि ॥ तथा स्वराणां सन्दोहो, ग्राम इत्याभिधीयते ॥ १ ॥" इत्युक्ते स्वरसङ्घभेदे, वाच० । "एयसि णं सत्तण्हं सराणं तयो गामा पण्णत्ता । तं जहा- सज्जगामे,मज्झिमगामे,गंधारगामे। सत्त स्सरा तओ गामा,मुच्छणा एगवीसती " । स्था० ७ ठा० । जनपदे च । वाच० ।

गामउम-देशी-ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामकूड-ग्रामकूट-पुं० । ग्राममहत्तरे, बृ० ३ उ० ।

गामणी-देशी-श्लेषेण ग्रामप्राकारे, दे० ना० २ वर्ग ।

गामंतिय-ग्रामान्तिक-पुं० । ग्रामादिकमुपजीवन्तो ग्रामस्यान्ते समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः । दशा० १ अ० । ग्रामोपजीविनि तीर्थकविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० ।

गामकंटक-ग्रामकण्टक-पुं० । ग्राम इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः । इन्द्रियवर्गप्रतिकूलशब्दादिषु, कण्टकत्वं चैषां दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गं प्रति विघ्नहेतुतया च । उत्त० ३ अ० । दश० । औ० । ज्ञा० । नीचजनरूक्षालापेषु च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ अ० ।

साधु कूरसत्त्वैरभिद्रुतः भयमाक्ष्यते, दुःसहत्वाद् ग्रामकण्टकानाम् । तानधिकृत्याह-

अप्पेगे पडिभासन्ति, पडिपंथियमागता ।
पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥ ९ ॥
अप्पेगे वइ जुंजति, नगिणा पिंमोलगाऽहमा ।
मुंडा कंडूविणट्ठगा, उज्जल्ला असमाहिता ॥ १० ॥
एवं विप्पमिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणगा ।
तमओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउमा ॥ ११ ॥

(अप्पेगे इत्यादि) अपिः संभावने । एके केचनाऽपुण्यधर्माणः अपुण्यकर्माणः प्रतिभाषन्ते ब्रुवते- प्रतिपन्थाः प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति प्रातिपन्थिकाः साधुविद्वेषिणः, तद्भावमागताः, कथञ्चित् प्रतिपथे वा दृष्टा अनार्या एतद् ब्रुवते-संभाव्यते एतदेवंविधानां तद्यथा प्रतीकारः पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवन्तमेके गताः प्राप्ताः स्वकृतकर्मफलभोगिनो य एते यतय एव जीवन्ति परगृहाण्यटन्तोऽन्तप्रान्तभोजिनो दत्तादाना लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति। ॥ ९ ॥ किञ्च—(अप्पे इत्यादि) अप्येके केचन कुसृतिप्रसृता अनार्या वाचं युञ्जन्ति भाषन्ते—तद्यथैते जिनकल्पिकादयो नग्नाः , तथा (पिंमोलग त्ति) परपिण्डप्रार्थकाः , अधमाः मलाविलत्वात् जुगुप्सिताः ,मुण्डाः लुञ्चितशिरसः,तथा कण्डूविनष्टाङ्गाः कृतक्षतैः रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा विकृतशरीराः अप्रतिकर्मशरीरतया वा कश्चिद्रोगसम्भवे सनत्कुमारवत् विनष्टाङ्गा , तथोज्जला शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः, तथा असमाहिता अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ॥१०॥ सांप्रतमेतद्भाषकाणां विपाकदर्शनायाऽऽह-(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्तरीत्या एके अपुण्यकर्माणो विप्रतिपन्नाः साधुमार्गद्वेषिणः आत्मना स्वयमज्ञाः । तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचनमकुर्वाणाः सन्तस्ते तमसोऽज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो यान्ति गच्छन्ति । यदि वा-अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति । यतो

मन्दा ज्ञानावरणीयेनाऽपरेणथा, तथा मोहेन मिथ्यादर्शनरूपेण प्रावृता आच्छादिताः सन्तः पित्प्रायाः साधुविद्वेषतया कुमार्गगा भवन्ति । तथा चोक्तम्-"एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्वद्भिरेव सह संवसति द्वितीयम् । एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध-स्तस्याऽपमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? " ॥१॥ ॥ ११ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

गामकंटकोपसग्ग-ग्रामकण्टकोपसर्ग-पुं० । इन्द्रियग्रामप्रतिकूलोपसर्गे, भ० ए श० ३३ उ० ।

गामकुमारि-ग्रामकुमारि-स्त्री० । ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामिय ग्रामकुमारिका । ग्रामबालक्रीडायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

गामगोह-देशी-ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामघायग-ग्रामघातक-पुं० । ग्राममारके कुपुरुषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गामट्ठाण-ग्रामस्थान-न० । उद्वसग्रामस्थाने, कल्प० ५ क्षण ।

गामणिद्धमण-ग्रामनिर्द्धमन-न० । ग्रामसम्बन्धिनि जलनिर्गमे 'खाल' इति लोके प्रसिद्धे, कल्प० ४ क्षण ।

गामणिमंतिय-ग्रामनिमन्त्रिक-पुं० । परतीर्थिकविशेषे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

गामण-गामन-न० । भूमौ सर्पणे, भ० ११ श० ११ उ० ।

गामणि-ग्रामणी-पुं० । स्त्री० । ग्रामसमूहं नयति प्रेरयति स्वस्वकार्येषु नी-क्विप्-णत्वम् । वाच० । "क्विप्" ॥८।२।४३॥ इति ह्रस्वत्व-ह्रस्वो वा । प्रा० ३ पाद । प्रधाने, ग्रामाध्यक्षे, नापिते, पुं० । ग्राम ग्रामधर्मं नयति भोगिके, ग्रामेण मैथुनव्यापारेण नयति कालम् । बहुजनभोग्यायां स्त्रियाम्, वेश्याया नीलिकाया च । स्त्री० । विष्णौ, वाच० । ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामणी-ग्रामणी-पुं० । स्त्री० । ' गामणि ' शब्दार्थे, प्रा० ३ पाद ।

गामणीसुअ-देशी-ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामधम्म-ग्रामधर्म-पुं० । ग्रामा इन्द्रियग्रामाः, तेषां धर्मः स्वभावः । इन्द्रियाणां यथास्वं विषयेषु प्रवर्तने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । विषयोपभोगगते व्यापारे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । ग्राम इन्द्रियग्रामो रूढेस्तद्धर्मः विषयाभिलाषे, स्था० १० ठा० । शब्दादिषु कामगुणेषु, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । मैथुने, "उत्तरमणुयाण आहिया गामधम्मा इइ मे अणुस्सुयं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आचा० । ग्रामा जनपदाश्रयास्तेषां तेषु वा धर्मः समाचारो व्यवस्थेति ग्रामधर्मः । लौकिकधर्मभेदे, स च प्रतिग्रामं भिन्न इति । स्था० १० ठा० । दश० ।

गामद्ध-ग्रामार्द्ध-पुं० । ग्रामे उत्तरापथानां ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति सञ्ज्ञा । आह चूर्णिकृत्-"गामद्धेसु त्ति देसणतीलुत्तरइंगामेसु त्ति भणियं होइ उत्तरावहाण, एमा भणिइ त्ति " बृ० १ उ० ।

गामपह-ग्रामपथ-पुं० । ग्राममार्गे, नि० चू० १२ उ० ।

गामपिंडोलग-ग्रामपिण्डोलक-पुं० । भिक्षयोदरभरणार्थे ग्राममाश्रिते तुन्दपरिमृजे, आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ० ।

गामवह-ग्रामवध-पुं० । ६ त० । ग्रामाघाते, नि० चू० ११ उ० ।

गाममारी-ग्राममारि-स्त्री० । ग्रामे युगपद् रोगविशेषादिना बहूनां कालधर्मप्राप्तौ, जं० ३ प्रति० ।

गामरक्खय-ग्रामरक्षक-पुं० । त्रिकचत्वरादिव्यवस्थितेषु ग्रामरक्षाकारिषु, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

गामरोग-ग्रामरोग-पुं० ग्रामव्यापिनि रोगे, जं० २ वक्ष० ।

गामसंठिय-ग्रामसंस्थित-न० । ग्रामालम्बनत्वाद् ग्रामाकारे विभङ्गज्ञाने, भ० ८ श० २ उ० ।

गामसंसारियग-ग्रामसंसारिक-न० । ग्रामे संसारणीये कथनीये, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

गामहण-देशी-ग्रामस्थाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामाग-ग्रामाक-पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र प्रतिमास्थितस्य वीरस्य विभेलको नाम यक्षः पूजां कृतवान् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

गामागर-ग्रामाकर-पुं० । ग्रामा करयन्तस्तेषु आकरा लोहाद्युत्पत्तिभूमयः । ग्रामस्थितलोहाद्युत्पत्तिभूमिषु, कल्प० ।

गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणा-सम-सबाह-सन्निवेसे ॥

(गामेत्यादि) ग्रामाः करवन्त, आकरा लोहाद्युत्पत्तिभूमयः, नगराणि करराहितानि, खेटानि धूलिप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि, मडम्बानि सर्वतोऽर्धयोजनात्परतोऽवस्थितग्रामाणि, द्रोणमुखानि यत्र जलस्थलपथावुभावपि भवतः, पत्तनानि जलस्थलमार्गयोरन्यतरेण मार्गेण युक्तानि, आश्रमास्तीर्थस्थानानि, तापसस्थानानि वा, संवाहाः समभूमौ कृषिं कृत्वा कृषीवला यत्र धान्यरक्षार्थं स्थापयन्ति, सन्निवेशाः सार्थकटकादीनां उत्तरणस्थानानि, एतेषां द्वन्द्वः, तेषु तथा । कल्प० ४ क्षण ।

गामाणुगाम-ग्रामानुग्राम-न० । एकस्माद् ग्रामादवधिभूतादुत्तरग्रामाणामनतिक्रमो ग्रामानुग्रामम् । ग्रामपरम्परायाम्, एकग्रामात्पृष्ठभाग्यावन्यो ग्रामोऽनुग्रामः । ग्रामश्च अनुग्रामश्च ग्रामानुग्रामम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । ग्रामादनन्तरे ग्रामे, ध० ३ अधि० । गच्छतोऽग्रेऽनुकूले ग्रामे च । नि० चू० ३ उ० । " गामाणुगामं दूइज्जमाणे " ग्रामानुग्रामं व्रजन् एकस्माद् ग्रामादनन्तरग्रामम्नुल्लङ्घयन्नित्यर्थः । रा० । आचा० । औ० । ज्ञा० । उत्त० । नि० । प्र० । नि० चू० । "गामाणुगामं रीयंतं अणगारं अकिंचणं " ॥ उत्त० २ अ० ।

गामायार-ग्रामाचार-पुं० । विषये, आ० म० प्र० । " गामायारा विसया " आ० म० प्र० ।

गामारण्णप्पयारणिरय-ग्रामारण्यप्रचारनिरत-त्रि० । ग्रामारण्ययोः प्रचारविषयनिरते, प्र० ७ श० ६ उ० ।

गामाहिवई-ग्रामाधिपति-पुं० । भोगिके, बृ० ४ उ० ।

गामिय-ग्रामिक-त्रि० । ग्रामधर्माश्रिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । ग्राममहत्तरे, नि० चू० २ उ० ।

गामिल्लय-ग्रामीण-त्रि० । ग्रामे भव । "भिल्लडल्लौ भवे" ॥ ८ । २ । १६३ ॥ इति नाम्नः पर इल्लप्रत्ययः । प्रा० २ पाद । ग्रामभवे मनुष्ये, " ते य गामिल्लए जाणइ " आ० म० प्र० ।

गामेयग-ग्रामेयक-त्रि० । ग्रामजाते, ग्रामेयकास्तिर्यञ्चो द्विधा-कुत्सिता जुगुप्सिताश्च । वृ० १ उ० । (ग्रामेयकोदाहरणम् 'अणुओग' शब्दे प्र० भागे २८६ पृष्ठे निरूपितम्)

गाय-गात्र-न० । शरीरे, उत्त० २ अ० । शरीरावयवे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ज्ञा० । औ० । " गायस्सुव्वट्टणाणि य " गात्रस्य कायस्योद्वर्त्तनमेवानाचरितानि उद्वर्त्तनानि पङ्कापनयनलक्षणानि । दश० ३ अ० ।

गायगंठिभेय-गात्रग्रन्थिभेद-पुं० । गात्रान्मनुष्यशरीरावयवविशेषात् कट्यादेः सकाशात् ग्रन्थिं कार्षापणादिपोट्टलिकां भिन्दन्त्याच्छिन्दन्तीति गात्रग्रन्थिभेदकाः । ग्रन्थिच्छेदकतस्करेषु, औ० । ज्ञा० । शरीरविनाशकारिषु च । रा० ।

गायदाह-गात्रदाह-पुं० । नीरोगीकरणार्थं पशूनां गात्रदग्धताकरणे, तत्स्थाने च । " जराइरोगमरताणं गोरूमाण रोगपसमणत्थं जत्थ गाओ डज्झंति त गायडाहं भण्णति " । नि० चू० ३ उ० ।

गायपच्छणण-गात्रप्रच्छादन-न० । शरीरस्य चौरणे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

गायब्भंग-गात्राभ्यङ्ग-पुं० । तैलादिना गात्रस्याभ्यञ्जने, दश० ३ अ० ।

गायब्भंगण-गात्राभ्यञ्जन-न० । सहस्रपाकतैलादिभिः गात्रस्याभ्यङ्गे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

गायरी-देशी-गर्गर्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गायलट्ठि-गात्रयष्टि-स्त्री० । तनुलतायाम्, सम्म० २ काण्ड ।

गार-गार-पुं० । पाषाणशृङ्किकायाम्, बृ० ४ उ० । कर्करके, व्य० ४ उ० ।

अगार-न० । प्राकृतेऽकारलोपः । गृहे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । "गारंमावसतेर्हि" अगारं गृहं तदाद्यकारलोपाद् गारमित्युच्यते । अगारमावसद्भिः सेवमानैः । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

गारइल्ल-गौरववत्-त्रि० । गौरवाणि ऋद्धिरससातलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स गौरववान् । गौरवान्विते, कर्म० १ कर्म० ।

गारत्थ-अगारस्थ-पुं० । गृहस्थे, नि० चू० १ उ० ।

गारत्थिय-अगारास्थित-पुं० । अगारं गेहं तत्रस्थयोऽगारस्थिताः गृहिषु, स्था० ६ ठा० । बृ० । मरुकादिभिक्षाचरे, नि० चू० २ उ० ।

गारत्थियवयण-अगारस्थितवचन-न० । अगारस्थिता गृहिणस्तेषां वचनम् । बृ० १ उ० । मामकभागिनेयेत्यादिभणने, स्था० ६ ठा० ।

अथागारस्थितवचनमाह-

अरे ! हरे ! बंभण ! पुत्ता !, अव्वो ! वप्पो ! त्ति जाय ! मामि ! त्ति ।
भट्टी ! य सामि ! जोगिय !, लहुओ लहुआ य गुरुआ य ॥

अरे ! इति वा हरे ! इति ब्राह्मण ! इति वा पुत्र ! इति वा यथामकवचनं ब्रूते तदा मासलघु । 'अव्वो ! वप्पो ! ' भ्रातः ! मामक !, उपलक्षणत्वादम्ब ! भागिनेय ! इत्यादीन्यपि यदि वक्ति तदा चतुर्लघु । अथ भट्टिन् ! स्वामिन् ! भोगिन् ! इत्यादीनि गौरवगर्भाणि वचांसि ब्रूते तदा चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः ।

संथवमादी दोसा, हवति धी मुम ! को व तुह बंधू ? ।
मिच्छत्तं दियवयणे, ओभावणता य सामि त्ति ॥

भ्रातृमामकादीनि वचनानि ब्रुवाणेन संस्तवः पूर्वसंस्तवादिरूपः कृतो भवति । ततश्च प्रतिबन्धादयो बहवो दोषा भवन्ति । अम्ब ! तात ! इत्यादिब्रुवतः श्रुत्वा लोकाश्चिन्तयेत्-अहो ! एतेषामपि मातापित्रादयः पूजनीया, अविरतिकाश्च मन्त्रयन्तो भूयस्तरा दोषाः । यद्वा-मद्गृहस्थस्तेनासद्भूतसंबन्धोद्घाटनेन रुष्टो ब्रूयात्-धिग् मुण्ड ! कस्तवात्र बन्धुः स्वजनोऽस्ति ? येनैवं प्रलपसि ? । उपलक्षणमिदम् अरे ! हरे ! इत्यादि ब्रुवतः परो ब्रूयात्-त्वं तावन्मां न जानीषे कोऽहमस्मि, ततः किमेवमरे इत्यादि भणसि ? । एवमसंखडादयो दोषाः । द्विजवचने च ब्राह्मण ! इत्येवमभिधाने मिथ्यात्वं भवति । स्वामिन् ! इत्याद्यभिधाने च प्रवचनस्यापभ्राजना भवति । गतमगारस्थितवचनम् । गृहस्थवचनं देशीभाषामाश्रित्य भणेत् । बृ० ६ उ० । (' अवयण ' शब्दे प्रथमभागे ७६६ पृष्ठे चतुर्गुरुका प्रायश्चित्तमुक्तम्)

अथार्यागृहस्थभाषाभाषणे दोषमाह-

जत्थ य गिहत्थभासा-हि भासए अज्जिआ सुरुट्ठा वि ।
तं गच्छं गुणसायर !, समणगुणविवज्जिअं जाण ॥ १११ ॥

यत्र च सुरुष्टाऽपि कथमपि कारणवशेन भृशं रोषं गताऽपि, किं पुनररुष्टा, आर्या गृहस्थभाषाभिः 'तव गृहं ज्वलतु ' ' तव शवं कर्षयामि ' ' तवाक्षिणी स्फुटिते ' ' तव पादौ कृत्तौ स्तः ' इत्यादि कठोरसावद्यरूपाभिर्भाषते, हे गुणसागर ! तं गच्छं श्रमणगुणविवर्जितं जानीहीति गाथाच्छन्दः । ग० ३ अधि० ।

गारत्थी-अगारस्त्री-स्त्री० । अविरतिकायाम्, बृ० ३ उ० ।

गारव-गौरव-न० । गुरोर्भावः कर्म्म वेति गौरवम् । 'आच्च गौरवे ' ॥ ८ । १ । १६३ । इत्यौत आत्वम् । प्रा० १ पाद । प्रतिबन्धे, अभिलाषे च । आ० चू० ४ अ० । तत्र द्रव्यभावभेदभिन्न गौरवं वज्रादेः भावगौरवमभिमानलोभाभ्यामात्मनोऽशुभभावगौरवं संसारचक्रवालपरिभ्रमणहेतुकर्मनिदानमिति भावार्थः । आव० ४ अ० ।

तओ गारवा पन्नत्ता । तं जहा-इड्ढिगारवे, रसगारवे, सातागारवे ।

तत्र ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूजालक्षणया, आचार्यत्वादिलक्षणया वाऽभिमानाद्विद्वारेण गौरवं ऋद्धिगौरवम्, ऋद्धिप्राप्त्यभिमानप्राप्तिप्रार्थनाद्वारेणाऽऽत्मनोऽशुभो भावो भावगौरवमित्यर्थः । एवमन्यत्रापि, नवरं रसो रसनेन्द्रियार्थो मधुरादिः, सातं सुखमिति । अथ वा-ऋद्ध्यादिषु गौरवमादर इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

ऋद्ध्यादिगौरवे च दृष्टान्तः-

" मथुरामागमन्मङ्गु-राचार्यः श्रुतपारगः ।
धर्मोपदेशवान् लब्ध्या, भविकप्रतिबोधकः ॥ १ ॥
समृद्धाः श्रावका भक्त्या, भोज्यानि सरसानि च ।
सुखेनावस्थितस्तत्र, तत्याभूत्सर्वकालिकी ॥ २ ॥

याओ " आ०म० द्वि० । " खीरिणियाओ गावीओ " आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

गास-ग्रास-पुं० । ग्रसु अदने । ग्रसनं ग्रासः । कवलप्रक्षेपे, ग्रस्यत इति च ग्रासः । कवले, विशे० ।

गासेसणा-ग्रासैषणा-स्त्री० । ' गासेसणाए सयमेव नियतिए पेहाए " ग्रासार्थं क्वचिद्रसादौ निपतति, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

गाह-गाध-पुं० । उद्वेधे, स्था० १० ठा० । स्ताघे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

ग्राह-पुं० । ग्राहो ग्रहणम् । गृहीतौ, नि० चू० १ उ० । आदाने, हस्तव्यापारे, वाच० । सर्पग्राहके गारुडिकादौ, सू० १ श्रु० । तन्तुकजीवे जलजन्तुभेदे, उत्त० ३६ अ० । प्रश्न० । तथा सूत्रम्- "से किं तं गाहा ? । गाहा पञ्चविहा पण्णत्ता । तं जहा-देली वडगा मद्गुया पुलगा सीमागारा । सेत्तं गाहा । " प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

गाहक-ग्राहक-पुं० । ग्रह एवुल् । श्येनपक्षिणि, विषवैद्ये च । ग्रहीतरि, त्रि० । ज्ञापके, लिङ्गेन्द्रियादौ, वाच० । आचार्ये, ग्राहयतीति व्युत्पत्तेः । शिष्ये च, गृह्णातीति व्युत्पत्तेः । व्य० ३ उ० । शिक्षयितरि गुरौ, उत्त० १ अ० । अर्थपरिच्छेदकारिणि, सू० १ श्रु० । कथयितरि, आ० म० द्वि० ।

गाहगसुद्ध-ग्राहकशुद्ध-न० । ग्राहकशुध्या शुद्धेऽशनादिदाने, यत्र ग्रहीता चारित्रगुणयुक्तः । विपा० २ श्रु० १ उ० ।

गाहगगिरा-ग्राहकगिर्-स्त्री० । ग्राहयतीति ग्राहिका, सा चासौ गीश्च ग्राहकगीः । आ० म० द्वि० । अर्थपरिच्छेदकारिण्यां भगवद्वाचि, सू० १ उ० । आ० क० ।

गाहण-ग्राहण-न० । ग्राहयतीति ग्राहणम् । ग्राह्यते शिष्य एतदिति बाहुलकात्कर्मण्यनट्, ग्राहणम् । आचारादिसूत्रे, व्य० ३ उ० । प्रतिपाद्यस्य विवक्षितार्थप्रतीतिजनके वचसि, प्रश्न० २ संव० द्वार । आदापने, पं० भा० ।

गाहण तवचरितस्सा, गहणं चिय गाहणा होति ।
किह पुण चरित्तगहणं, होज्जहि जन्नति इमेहिं तु ॥
वेरग्गेणं अहवा, मिच्छत्तो होइ समत्त ।
संमत्ताउ चारित्तं, अहवा होज्जा ऽमेहि गहणं तु ॥
सवणो णाणविणाणे, एमादी गाहण चरित्ते य ।
अहवा वी उवएसो, एगट्ठं होति गाहणा य त्ति ।
तह उवदिसति जहत्तं, चारित्त गेण्हती सो तु ॥
अविराहणम्मि य गुणो, दोसा य विराहणा चरित्तस्स ।
तह गाहिज्जति जहत्त, ओगाढो होति चारित्ते ॥
णाणे य चेव तह दं-सणे य जाति गहणेण संजूया ।
एयाति गाहंते, गाहणता वन्निता एसा ॥ पं० भा० ।

चरित्रप्रतिपत्तिः ग्राहणा इति । चारित्रं प्रतिपात्तिविशुद्धं, कथं वा चारित्रं भविष्यति ? । (वेरग्गेण) वैराग्यतया शुद्धिर्भवति । एवमित्यवधारणे । एता. प्रतिपत्तयः । प्रतिपात्तिरिति व्याकरणं, प्रकारो वा । पं० चू० । सूत्र० ।

गाहणाकुसल-ग्राहणाकुशल-पुं० । प्रतिपादनशक्तियुक्ते, ग० १ अधि० । न हि यद्वीनिर्युक्तिभिः शिष्यान् बोधयति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गाहा-गाथा-स्त्री० । गाथ अ-टाप् । संस्कृतेतरभाषानिबद्धायामार्यायाम्, ज० २ वक्ष० । तल्लक्षणञ्च-

"विषमाक्षरपादं वा, पादैरसमं दशधर्मवत् ।
तन्त्रेऽस्मिन्यदसिद्धं, गाथेति तत्पण्डितैर्ज्ञेयम् " ।

दशधर्मवदिति ।

"दश धर्मं न जानन्ति, धृतराष्ट्र ! निबोधत ॥
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ।
त्वरमाणश्च भीरुश्च, लुब्धः कामी च ते दश" ।

इति गृह्यते, उत्त० ३६ अ० । स्था० ।

" यच्छन्दो नोक्तमत्र, गाथेति तत्सूरिभिः प्रोक्तम् " इति च । ग० १ अधि० । म० ।

" लक्ष्मैतत्सप्त गणा, गोपेता भवति नेह विषमे जः ।
षष्ठोऽयं न लघुर्वा, प्रथमेऽर्द्धे नियतमार्यायाः ॥
षष्ठे द्वितीयलात्परके न्ले. मुखलाच्च स यतिपदनियमः ।
चरमेऽर्द्धे पञ्चमके, तस्मादिह भवति षष्ठो लः " ॥ २ ॥

आर्यैव संस्कृतेतरभाषासु गाथासंज्ञेति ॥

निक्षेपः-

णाम ठवणा गाहा, दव्वगाहा य भावगाहा य ।
पोत्थग-पत्तग-लिहिया, सो होइ दव्वगाहाओ ॥१३९॥

(णाम ठवणेत्यादि) तत्र गाथाया नामादिकश्चतुर्द्धा निक्षेपः । तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यगाथामाह-(सू० १ श्रु० १६ अ० ।) आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा । नोआगमतस्तु त्रिधा-ज्ञशरीरद्रव्यगाथा, भव्यशरीरद्रव्यगाथा, ताभ्यां विनिर्मुक्ता च । "सव्वत्थ गुरू विसमा, ते हया ताण छच्च एहजसया । गाहाए पच्छद्धे, भेओ छट्ठो त्ति इक्कलो" ॥१॥ इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यगाथा पत्रकपुस्तकादिन्यस्ता । तद्यथा-" जयति णवणलिणकुवलय-वियसियसयवत्तपत्तलदलच्छो । वीरो गयदमयगल-सुललियगयविक्कमो भगवं" ॥१॥ अथ चेयमेव गाथा सोमज्ञाध्ययनरूपा पत्रकपुस्तकन्यस्ता द्रव्यगाथेति ।

भावगाथामधिकृत्याऽऽह-

होंति पुण भावगाहा, सागारुवओगभावणिप्पन्ना ।
महुराभिहाणजुत्ता, तेण गाहा ति णं बिंति ॥ ४० ॥

(होंति पुणेत्यादि) भावगाथा पुनरियं भवति । तद्यथा-योऽसौ साकारोपयोगः क्षायोपशमिकभावनिष्पन्नो गाथां प्रति व्यवस्थितः सा भावगाथेत्युच्यते, समस्तस्याऽपि च श्रुतस्य क्षायोपशमिकभावे व्यवस्थितत्वात् । तत्र चानाकारोपयोगस्याऽसम्भवादेवमभिधीयते इति । पुनरपि तामेव विशिनष्टि-मधुराभिधानयुक्ता, अतिपेशलमभिधानमुच्चारणं यस्याः सा मधुराभिधानयुक्ता, गाथाछन्दसोपनिबद्धस्य प्राकृतस्य मधुरत्वादित्यभिप्रायः । गीयते पठ्यते मधुराक्षरप्रवृत्त्या, गायति वा तामिति गाथा, यत एवमतस्तेन कारणेन गाथामिति तां ब्रुवते, णमिति वाक्यालङ्कारे, एनां वा गाथामिति ।

गाहावइकुल-गृहपतिकुल-न० । गृहपतिर्गृहस्थस्तस्य कुलं गृहम् । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । नि० चू० । गृहिगृहे, भ० ८ श० ६ उ० ।

गाथापतिकुल-न० । गृहस्थगृहे, कल्प० ६ क्षण ।

गाहावइरयण-गृहपतिरत्न-न० । चक्रवर्तिनः कोष्ठागारनियुक्तानामुत्कृष्टे पुरुषे, स्था० ७ ठा० । गृहपतिश्चक्रवर्तिगृहसमुचितेतिकर्तव्यतापरः शाल्यादिसर्वधान्यानां समस्तचूताद्युत्कारादिफलानां सकलशाकविशेषाणां निष्पादकश्च । प्रव० २१२ द्वार ।

गाहावई-ग्राहावती-स्त्री० । मन्दरस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या उत्तरे (स्था०३ठा०४ उ०) सुकच्छविजयेऽन्तर्नद्याम्, जं० ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे गाहावईकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! सुकच्छस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं महाकच्छस्स विजयस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्लेणं ति, एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे गाहावइकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते । जहेव रोहिअंसाकुंडे तहेव जाव गाहावइदीवे भवणे, तस्स णं गाहावईकुंडस्स दाहिणिल्लेणं तोरणेणं गाहावई महाणई पवूढा समाणी सुकच्छमहाकच्छविजए दुहा विभयमाणी दुहा विभयमाणी अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा दाहिणेणं सीआमहाणइं समप्पेइ । गाहावई णं महाणई पवहे अ मुहे अ सव्वत्थ समा, पणवीसं जोअणसयं विक्खंभेणं अड्ढाइ जोअणसयाइं उव्वेहेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंडेहिं० जाव दुण्ह वि वण्णओ ॥

(कहि णं भंते ! इत्यादि) क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे ग्राहावत्या अन्तर्नद्याः कुण्डं प्रभवस्थानं ग्राहावतीकुण्डं नाम कुण्डं प्रज्ञप्तम् ? । गौतम ! सुकच्छस्य विजयस्य पूर्वस्यां महाकच्छस्य विजयस्य पश्चिमायां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्ये नितम्बे; अत्र सामीप्यके अधिकरणे सप्तमी; तेन नितम्बसमीपे इत्यर्थः । अत्र जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे ग्राहावतीकुण्डं नाम कुण्डं प्रज्ञप्तम् । यथैव रोहितांशाकुण्डं तथेदमपि विंशतियोजनायामविष्कम्भमित्यादि रीत्या ज्ञेयम् । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावद् ग्राहावतीद्वीपं भवनं चेति । उपलक्षणं चैतत् तेनार्थसूत्रमपि भावनीयम् । तथाहि-"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गाहावईदीवे ? । गोअमा ! गाहावईदीवे णं बहूइं उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं गाहावईदीवसमप्पभाइं समवण्णाइं" इत्यादि । अथास्माद् या नदी प्रवहति तामाह-(तस्स णमित्यादि) तस्य ग्राहावतीकुण्डस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन ग्राहवती महानदी प्रव्यूढा सती सुकच्छमहाकच्छविजयौ द्विधा विभजमाना विभजमाना अष्टाविंशत्या नदीसहस्रैः समग्रा सहिता दक्षिणेन भागेन मेरोर्दक्षिणादिशि शीता महानदीं समुपसर्पति । अथास्या विष्कम्भादिकमाह-(गाहावई णमित्यादि) ग्राहावतीमहानदीप्रवहे ग्राहावतीकुण्डनिर्गमे मुखे शीताप्रवेशे च सर्वत्र तुल्यप्रवहयोरन्यत्रापि स्थाने समासविस्तारौ द्वेधा । एतदेव दर्शयति-पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतं विष्कम्भेण, अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वे-

क्षेन सपादशतयोजनानां पञ्चाशद्भाग एतावत एव लाभात्, पृथुत्वं च प्राग्वत्। तथाहि-महाविदेहेषु कुरुमेरुभद्रशालवि-जयवक्षस्कारमुखवनव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्रान्तर्नद्यः। ताश्च पूर्वापरविस्तृतास्तुल्यविस्तारप्रमाणास्ततः एतत् करणावकाश। तत्र मेरुविष्कम्भपूर्वापरभद्रशालवनायामप्रमाण चतुःपञ्चाश-त्सहस्राणि, विजय १६ पृथुत्व पञ्चविंशतिसहस्राणि चतुःशता-नि षमुत्तराणि, वक्षस्कारपृथुत्व चत्वारि सहस्राणि, मुखवन-द्वय२पृथुत्व ५८४४, सर्वमीलने नवतिसहस्राणि द्वे शते पञ्चाश-दधिके, एतज्जम्बूद्वीपविष्कम्भलक्षणाच्छोध्यते। शोधिते च जात सप्त शतानि पञ्चाशदग्राणि। एतच्च दक्षिणे उत्तरे वा भागे अन्त-र्नद्यः षट् सन्तीति षड्भिर्विभज्यते, लब्धः प्रत्येकमन्तर्नदीना-मुक्तो विष्कम्भ इति। आयामस्तु विजयाऽऽयामप्रमाणः, विजयव-क्षस्कारान्तर्नदीमुखवनानां समाऽऽयामकत्वात्। ननु "जाव-इया सलिलाओ, माणुसलोगम्मि सव्वम्मि २६। पणयालीस सहस्सा, आयामो होइ सव्वसरिआण ॥१॥" इति वचनात् कथमिति सगच्छते ?। उच्यते-इदं वचनं भरतगङ्गादिसाधा-रण, तेन यथा तत्र नदीक्षेत्रस्याल्पत्वेनानुपपत्तावत्यर्थकोट्टाकक-रणमाश्रयणीयं, तथाऽत्रापि। अत्र श्रीमलयगिरिपादाः क्षेत्रस-मासवृत्तौ जम्बूद्वीपाधिकारे "एताश्च ग्राहावतीप्रमुखा नद्यः सर्वा अपि सर्वत्र कुण्डाद्विनिर्गमे शीता शीतोदया॰ प्रवेशे च तुल्यप्र-माणाविष्कम्भोद्वेधा॰" इत्युक्त्वा यत्पुनर्धातकीखण्डपुष्करार्धाधि-कारयोर्नदीनां द्वीपे २ द्विगुणविस्तार व्याख्यानयन्तः प्रोचुः-"यथा जम्बूद्वीपे रोहितांशा-रोहिता-सुवर्णकूला-रूप्यकूलानां ग्राहा-वत्यादीना च द्वादशानामन्तर्नदीनां सर्वाग्रेण षोडशानां नदी-नां प्रवहे विष्कम्भो द्वादश योजनानि सार्द्धानि, उद्वेध क्रोशमे-क, समुद्रप्रवेशे ग्राहावत्यादीनां च महानदीप्रवेशे विष्कम्भो यो-जन १२५, उद्वेधो योजन २ क्रोश २ इति। तत्र पूर्वापरविरोधो। यतस्तथैव तैरत्र लघुवृत्त्यभिप्रायेण प्रवहप्रवेशयोर्विशेषोऽभिहित इति कथनेन समाहितम्; एवमत्रापि लघुवृत्तिगतस्तत्राभिप्रायो-दर्शितो वर्त्तते। उभयत्रापि तत्त्व तु सर्वविदो विदन्ति। किं च-आसां सर्वत्र समविष्कम्भकत्वे आगमवद्युक्तिरप्यनुकूला। तथाहि-आसां विष्कम्भवैषम्ये उभयपार्श्ववर्त्तिनोर्विजययोरपि विष्कम्भवैषम्य स्यात्; इष्यते च समविष्कम्भकत्वमिति। शेषं व्यक्तमिति। ज॰ ४ वक्ष॰। "दो गाहावई" स्था॰ २ ठा॰ ३ उ॰।

गाहावईकुंड-ग्राहावतीकुण्ड-न॰। ग्राहावतीनिर्गमकुण्डे, ज॰ ४ वक्ष॰।

गाहासुत्तधर-गाथासूत्रधर-पु॰। निशीथकल्पव्यवहारयोर्यं पीठे ते एव गाथासूत्रे, तद्धरन्तीति। निशीथादिपीठिकायाः सूत्रतो धारके, नि॰ चू॰ २ उ॰।

गाहासोलसग-गाथाषोडशक-पुं॰। गाथाख्य षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथा। सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमे श्रुतस्कन्धे, सूत्र॰ १ श्रु॰ १ अ॰ १ उ॰।

सोलसयगाहा सोलसगा पण्णत्ता। तं जहा-समए, वेयालिए, उवसग्गपरिन्ना, इत्थीपरिन्ना, निरयविभत्ती, महावीरत्थुई, कुसीलपरिभासिए, वीरए, धम्मे, समाही, मग्गे, समोसरणे, आहातहिए, गथे, जमइए, गाहा। स॰ १६ सम॰।

सूत्रकृताङ्गस्य षोडशेऽध्ययने, तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति कृत्वा सूत्रार्थमधिकृत्याऽऽह-

सोलसमे अज्झयणे, अणगारगुणाण वण्णणा भणिया।
गाहासोलस णामं, अज्झयणमिणं उवदिसंति ॥ ४३ ॥

(सोलसमे इत्यादि) षोडशाध्ययनेऽनगाराः साधवस्तेषां गुणाः क्षान्त्यादयस्तेषामनगारगुणानां पञ्चदशस्वप्यध्ययनेष्व-भिहितानामिहाध्ययने पिण्डितार्थवचनेन यतो वर्णनाऽभिहिता-ऽतो गाथाषोडशाभिधानमध्ययनमिदं व्यपदिशन्ति प्रतिपादय-न्ति ॥ सूत्र॰ १ श्रु १ अ॰ १ उ॰। आ॰ चू॰।

गाहिय-ग्राहित-असंयमं प्रति वर्त्तिते, सूत्र॰ १ श्रु॰ २ अ॰ १ उ॰।

गाहिया-ग्राहिका-स्त्री॰। अक्लेशेनार्थबोधिकायां वाचिका-याम्, ओ॰।

गाहीकद-गाथीकृत-त्रि॰। पिण्डीकृते, "गाहीकया व अत्था, अहवा सामुद्दएण छंदेण" सूत्र॰ १ श्रु॰ १६ अ॰।

गंठि-गृष्टि-स्त्री॰। "इत्कृपादौ" ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम्। प्रा॰ १ पाद। "वक्रादावन्त" ॥८।१।२६॥ इति अनुस्वारागमः। सकृ-त्प्रसूताया गवि, प्रा॰ १ पाद।

गिज्झ-गृध्-धा॰। अभिकाङ्क्षायाम्, दिवा॰ पर॰ सक॰ सेट्॰। वाच॰। "युधबुधगृधक्रुधसिधमुहां ज्झः" ।८।४।२१७॥ इत्यन्त्यस्य ज्झः। 'गिज्झइ' गृध्यति। प्रा॰ ४ पाद। स॰। प्राप्तस्यासन्तोषेणाप्राप्तस्या-काङ्क्षावन्तो भवन्तीति। स्था॰ ५ ठा॰ १ उ॰। "कसि वा एगे गि-ज्झे" एकः कथं गृध्येत् तात्पर्यमासेवां वा विदितकर्म्मपरि-णामो विदध्यात् युज्येत गार्ध्यं यदि तत् स्थान प्राप्तपूर्वं नाभविष्य-च्चानेकशः प्राप्तितस्तल्लाभालाभयोर्नोत्कर्षोऽपकर्षौ विदध्यात्। आचा॰ १ श्रु॰ २ अ॰ ३ उ॰।

ग्राह्य-त्रि॰। हस्तादिना आदेये, स्था॰ ३ ठा॰ २ उ॰। दश॰।

गिज्झमाण-गृध्यत्-त्रि॰। गार्ध्यं विदधति, आचा॰ ३ चू॰। नि॰ चू॰।

गिड्डिया-गिड्डिका-स्त्री॰। कन्दुकक्षेपिण्यां वक्रयष्टिकायाम्, प्रव॰ ३८ द्वार।

गिण्हमाण-गृह्णत्-त्रि॰। बाह्वादावङ्के आददाने, वृ॰ ६ उ॰।

गिण्हियव्व-ग्रहीतव्य-त्रि॰। उपादेये, अनु॰। आ॰ म॰।

गिद्ध-गृद्ध-त्रि॰। 'गृधु' अभिकाङ्क्षायाम्। क्त, ग्रासाहारादौ आ-सक्ते, अतृप्तत्वेन तदाकाङ्क्षावति भ॰ १४ श॰ ७ उ॰। आव॰। स्था॰। ज्ञा॰। सूत्र॰। ग्रथित, अध्युपपन्ने, दशा॰ ६ अ॰। आचा॰। सूत्र॰। प्राक् शब्दादिविषयलवसमास्वादात् (आचा॰ १ श्रु॰ १ अ॰ ५ उ॰) लम्पटत्व गते, तं॰। विशे॰। ग॰। "विसएसु गिद्धा" विषयलोलुपाः। आ॰ चू॰ ३ अ॰। मूर्च्छिते, सूत्र॰ २ श्रु॰ ६ अ॰। उत्त॰। दत्तावधाने रमणीरागमोहिते, सूत्र॰ १ श्रु॰ ५ अ॰ १ उ॰। गृद्धिमति, प्रश्न॰ २ आश्र॰ द्वार। "कम्मि गि-द्धो तुमं" गृद्धस्त्व मूढो मूर्खः। तं॰।

गृध्र-पु॰। (गीध) पक्षिविशेषे, भ॰ ७ श॰ १ उ॰। प्रश्न॰।

गिद्धपिट्ठ-गृध्रस्पृष्ट-गृद्धस्पृष्ट-गृध्रपृष्ठ-न॰। गृध्रैः पक्षिविशेषैर्गृद्धैर्वा मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य विदारितस्य करिकरभरा-सभादिशरीरान्तर्गतत्वेन यन्मरणं तद् गृध्रस्पृष्टं वा गृद्धस्पृष्टं

वा। गृध्रैर्वा भक्षितपृष्ठस्य यत्तद् गृध्रपृष्ठम्। ज०२श०१ उ०। गृद्धस्पृष्ट गृद्धैः स्पर्शन कलेवराणां मध्ये निपत्य गृद्धैरात्मनो ज्ञक्षणमित्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु०१६ अ०। गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शन यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टम्। यदि वा-गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वाडुदरादि च, तद्भक्ष्य करिकरभादिशरीरानुप्रवेशेन महासत्त्वस्य मुमूर्षोर्यस्मिंस्तद् गृध्रपृष्ठमिति। मरणभेदे, स्था०२ठा०४उ०।

गिद्धाइभक्खण 'गि-द्धपिट्ठ' उव्वंधणाइ वेहासं।

एए दोन्नि वि मरणा, कारणजाए अणुन्नाया॥१०३०॥

गृध्रैः स्पृष्ट स्पर्शन यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टं, यदि वा गृध्राणां भक्ष्य पृष्ठमुपलक्षणत्वाडुदरादि च मर्तुर्यतः तद् गृध्रपृष्ठम्। स ह्यलकपूरिकापुटप्रदान यस्मिन् तद् गृद्धपृष्ठम्। यदि वा-गृध्राणां भक्ष्य पृष्ठमुपलक्षणत्वात् प्रथमतः प्रतिपादन—मनन्तमहासत्त्वनिचयतया कर्म्मनिर्जरां प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्। प्रव० १५७ द्वार। "गिद्धेहिं पुट्ठ, गृद्धैर्भक्षितव्यमित्यर्थः। त गोमाइकलेवरो अप्पाण पक्खिवित्ता गिद्धेहिं अप्पाण भक्खवेइ। अहवा-पेट्टोदरादिसु अलत्तपुडगे दाउ अप्पाण गिद्धेहि जक्खवेइ"। नि० चू० १२ उ०।

गिद्धपिट्ठट्ठाण-गृद्धपृष्ठस्थान-न०। गृद्धपृष्ठमरणस्थाने, यत्र मुमूर्षवो गृध्रादिभक्षणार्थं रुधिरादिलिप्तदेहा निपत्य तिष्ठन्ति। आचा० १ श्रु० २ चू०।

गिद्ध इव रिंखि-गृद्ध इव रिङ्खिन्-पुं०। भार्यावशगत्वेन गृद्ध इव रिङ्खणकर्तृत्वेन स्वनाम्ना ख्याते पुरुषविशेषे, पिं०। तथा कचित् ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्याऽऽदेशविधायी, अन्यदा च सा रसवत्यामासनमुपविष्टा वर्त्तते,सा च तेन भोजनमयाचि, तयोक्तम्-मम समीपे स्थालमादाय समागच्छ। सोऽपि यत्प्रियतमा समादिशति तन्मे प्रमाणमिति वदन् तस्या समीपे गतः। तया परिवेषित भोजन,तत उक्तम्-भोजनस्थाने गत्वा भुङ्क्ष्व। ततः स भोजनस्थान गत्वा भोक्तु प्रवृत्तः, ततः पुनरपि तेन तीमन याचितम्। सा च प्रत्युवाच-स्थालमादाय समागच्छ। ततः स गृद्ध इव उत्कोटिं रिङ्खन् स्थालेन गृह्णाति, ततो भुङ्क्ते, एव तक्रादिकमपि गृह्णाति। तत एतल्लोकेन ज्ञात्वा हासेन गृध्र इव रिङ्खतीति नाम कृतमेष गृध्र इव रिङ्खी। पिं०।

गिद्धि—गृद्धि—स्त्री०। गृधु-क्ति। "इत्कृपादौ" ८। १। १२८। गार्ध्ये, तात्पर्ये, आसेवायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०। विषयाभिकाङ्क्षायाम्, उत्त०६ अ०। स्था०। गार्ध्ये, ममत्वे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। स्था०। अविद्यमानपरिग्रहप्रतिबन्धे, ध० ३ अधि०। मूर्च्छा, गृद्धि, परीषह इत्येकार्थाः। विशे०।

गिम्भ—ग्रीष्म—पुं०। प्राकृते ष्मजागस्य म्ह। ततः "म्हो म्भो वा"। ८। ४। ४१२। इति अपभ्रंशे म्हजागस्य मकाराक्रान्तो भकारः। उष्णे, प्रा० ४ पाद।

गिम्ह—ग्रीष्म—पुं०। "पक्ष्म—श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः"। ८। २।७४। इति ष्मस्य म्हः। प्रा० २ पाद। वैशाखज्येष्ठात्मके, ज्ञा०१ श्रु० ९ अ०। ज्येष्ठाषाढात्मके वा। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। षड्ऋतुरूपे, च० १२ पाहु०। सू० प्र०। उष्णकाले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। घर्मर्तौ, संथा०। ज०।

गिम्हकाल-ग्रीष्मकाल-पुं०। उष्णकाले, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। सू० प्र०।

गिम्हकालप्पारंभ-ग्रीष्मकालप्रारम्भ-पुं०। उष्णकालप्रारम्भे चैत्रशुक्लपक्षे, व्य० ७ उ०।

गिम्हवासाल-ग्रीष्मवासर-पुं०। "सपोः संयोगे सोऽग्रीष्मे" ॥८। ४। २७॥ इति ग्रीष्मपर्युदासात् न सः। ग्रीष्मर्तुवासरेषु, प्रा० ४ पाद।

गिरा-गिर्-स्त्री०। "रो रा" ॥ ८। १। १६॥ इत्यन्त्यस्य रा। प्रा० १ पाद। वाचि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। कल्प०। ज्ञा०। "वक्क वयण च गिरा" दश० ७ अ०। "शक्रपूज्य गिरामीश, तीर्थेशं स्तुतिमानये" गीरामीश वाचस्पतिमिति नास्तिकमतप्रवर्त्तयितुर्बृहस्पतेः सूचा। तथा-गिरा वाचामीं लक्ष्मीं शोभां श्यति यस्त, परमार्थतः पदार्थप्रतिपादन हि वाचां शोभा, तां च तासामपोहमात्रगोचरतामाचक्षाणस्ताथागतस्तनूकरोत्येवेति विशेषणाऽऽकृत्या सुगतोपक्षेपः। रत्ना० १ परि०। आचार्योपाध्यायदत्तां गिर गृह्णाति। नि० चू० २० उ०।

गिरि-गिरि-पुं०। गृणन्ति शब्दायन्ते जननिवासभूतत्वेन (ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०) गोपाद्य-गिरि-चित्रकूट-प्रभृतिषु (ज० ७ श० ६ उ०) पर्वतेषु, विशे०। बालमूषिकायाम्, स्त्री०। वा ङीप्। नेत्ररोगे, गिरिणा काणः। गेन्दुके, पूज्ये, त्रि०। निगरणे, स्त्री०। "मथान्धकार गिरिगह्वरस्थम्"। "गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैः"। मेघे, वाच०।

गिरिकंदर-गिरिकन्दर-पुं०। गिरिगुहायाम्, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। व्य०। पर्वतगुहायाम्, कल्प० ४ क्षण।

गिरिकडय-गिरिकटक-पुं०। पर्वतनितम्बे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

गिरिकण्णिया-गिरिकर्णिका-स्त्री०। वल्लीविशेषे, ध०२ अधि०। प्रव०। प्रज्ञा०।

गिरिकुहर-गिरिकुहर-न०। पर्वतकुञ्जे, औ०।

गिरिगिह-गिरिगृह-न०। पर्वतोपरि गृहे, स्था०४ ठा०१ उ०। भ०। आचा०।

गिरिगुहा-गिरिगुहा-स्त्री०। कन्दरे, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार। नि० चू०।

गिरिजण्ण-गिरियज्ञ-पुं०। कोङ्कणदेशेषु सायाह्नकालभाविनि प्रकरणविशेषे, आह चूर्णिकृत्-गिरियज्ञ कोङ्कणादिषु भवति। विशेषचूर्णिकारः पुनराह-"गिरिजण्णो मत्तवालसखडी जवइ, सापालविसए वरिसारत्ते जवइ त्ति" बृ० १ उ०।

गिरिजत्ता-गिरियात्रा-स्त्री०। गिरिगमने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

गिरिणई-गिरिनदी-पर्वततटिन्याम्, त०।

गिरिणगर-गिरिनगर-न०। स्वनामख्याते नगरे, यत्राविधिनाऽग्निपूजको वणिगासीत्। विशे०। आ० चू०।

गिरिणाल-गिरिनाल-पुं०। उज्जयन्तशैले, ती० ३ कल्प। ('उज्जयत' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे कल्प उक्त)

गिरितडाग-गिरितटाक-पुं०। स्वनामख्याते सन्निवेशविशेषे, काम्पिल्यपुराच्चलन्ब्रह्मदत्तचक्री गतः। उत्त० १३ अ०।

गिरिपक्खंदण-गिरिप्रस्कन्दन-न० । दूरतो धावित्वा गिरेः प्रपतनेन मरणे, नि० चू० ११ उ० ।

गिरिपक्खंदोलिय-गिरिपक्षान्दोलित-पुं० । गिरिपक्षे पर्वत-' पार्श्वे छिन्नकण्टकगिरावाऽऽत्मानमान्दोलयन्ति ये ते तथा । मरणविशेषेण मुमूर्षुषु, औ० ।

गिरिपडण-गिरिपतन-न० । यत्रारूढैरध: प्रपतनस्थानं दृश्यते तस्मात्पर्वताद्भृगुपत्याऽध पतनेन मरणे, स्था० २ ठा० ४ उ० । नि० चू० । भ० ।

गिरिपडियक-गिरिपतितक-पुं० । गिरेः पर्वतात्पतिता , गिरिर्वा महापाषाण पतितो येषामुपरि ते तथा । गिरिपतनेन मरणधर्मकेषु, औ० ।

गिरिपडियग-गिरिपतितक-पुं० । 'गिरिपडियक ' शब्दार्थे,औ० ।

गिरिपब्भार-गिरिप्राग्भार-न० । पर्वतनितम्बे, स्था० ।

गिरिमट्टिया-गिरिमृत्स्ना-स्त्री० । भूधरमृत्तिकायाम्,अष्ट० ४ अष्ट० ।

गिरिमह-गिरिमह-पुं० । गिर्य्युत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

गिरिराय-गिरिराज-पुं० । सर्वेषामपि गिरीणामुच्चत्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराज । मेरौ, सू० प्र० ५ पाहु० । चं० प्र० ।

अथ मेरो समयप्रसिद्धानि षोडश नामानि प्रज्ञापयितुमाह-

मंदरस्स णं भंते ! पव्वयस्स कति णामधेज्जा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सोलस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-" मंदर १ मेरु २ मणोरम ३, सुदंसण ४ सयपभे य ५ गिरिराया ६ ॥ रयणोच्चए ७ सिलोच्चय ८,मज्झे लोगस्स ९ णाभी अ १० ॥१॥ अत्थे ११ य सूरियावत्ते १२, सूरियावरणे १३ त्ति य । उत्तमे १४ अ दिसादी अ १५,वडेंसेति १६ अ सोलस" ॥२॥

(मंदरस्स णमित्यादि) मन्दरस्य पर्वतस्य भगवन् कति नामधेयानि नामानि प्रज्ञप्तानि ? । गौतम ! षोडश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-" मन्दरे " इत्यादि गाथाद्वयम् । मन्दरदेवयोगात् मन्दर , एवं मेरुदेवयोगान्मेरुरिति । नन्वेवं मेरो स्वामिद्वयमापद्येतेति चेदुच्यते-एकस्यापि देवस्य नामद्वय सम्भवतीति न काऽप्याशङ्का, निर्णीतिस्तु बहुश्रुतगम्येति । तथा मनांसि देवानामप्यतिसुरूपतया रमयतीति मनोरमः । तथा सुष्ठु शोभन जाम्बूनदमयतया रत्नबहुलतया च मनोनिर्वृत्तिकर दर्शन यस्यासौ सुदर्शन , तथा रत्नबहुलतया स्वयमादित्यादेरिव प्रभा प्रकाशो यस्यासौ स्वयंप्रभ । चः समुच्चये, तथा सर्वेषामपि गिरीणामुच्चत्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराज इत्यादि पौरुष । जं० ४ वक्ष० । (विस्तरस्त्वस्य ' मंदर ' शब्दे)

गिरिवर-गिरिवर-पुं० । पर्वतैर्भिन्नशिलाभिर्दन्तुरपर्वतैर्वा दुर्गो विषम सामान्यजन्तूनां दुरारोहो गिरिवर । पर्वतप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रधानपर्वते, भ० ९ श० ३३ उ० । औ० । पर्वतराजे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गिरिविदारण-गिरिविदारण-पुं० । स्वनामख्याते कृष्णवासुदेवसदृशे यादवे,ती० २ कल्प । (स च मृत्वा रैवतगिरेः क्षेत्रपाल उपपन्न इति ' रेवय ' शब्दे वक्ष्यते)

गिरिविवरकुहर-गिरिविवरकुहर-न० । गिरीणां विवरकुहराणि । गुहासु, पर्वतान्तरेषु च । भ० ९ श० ३३ उ० । औ० ।

गिरिसरिउवल-गिरिसरिदुपल-पुं० । पर्वतनदीपाषाणे,विशे० ।

गिरिसेण-गिरिसेन-पुं० । चन्द्रोदरराजपुत्रे, ध० र० ।

गिला-ग्लानि-स्त्री० । ग्लानौ, " अगिलाए वेयावडियं " व्य० २ उ० । खेदे, स्था० ८ ठा० ।

गिलाण-ग्लान-त्रि० । ग्लायतीति ग्लानः । नि० चू० १ उ० । म्लेच्छे-न- । "ग्लात्" ।८।२।१०६। इति ग्लात्पूर्वं इत् । प्रा० २पाद । मन्दे, आव० ४ अ० । क्षीणहर्षे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । व्याध्यादिभिरशक्ते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । भ० । भिक्षाटनादि कर्तुमसमर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । रोगिणि साधौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । ज्वरादिरोगाक्रान्ते, प्रव० ६६ द्वार । व्य० । ज्वरविप्रमुक्ते, नि० चू० ।

(१) ग्लान प्रति गवेषणम्-

जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा ण गवेसइ, ण गवेसंत वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

ज त्ति णिद्देसे, भिक्खू पुव्ववण्णिओ, ' ग्लै ' हर्षक्षये । इमस्स रोगातंकेण वा सरीरखीण, सरीरक्खए य हरिसक्खओ भवति, त गिलाण अप्पसमीवाओ सोच्चा सय वा णातूण जो ण गवेसति तस्स चउगुरु । ज सो गिलाणो अगविट्ठो पाविहिति, परितावादि तण्णिप्फण्ण पच्छित्त पावति, तम्हा गवेसियव्वा ।

सग्गामे सउवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव ।
खेत्ततो अण्णगामे, खेत्तबहिं सगच्छपरगच्छे ॥
सोच्चा ण परमसीवे, सय व णाऊण जो गिलाणं तु ।
ण गवेसयती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥
असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, ण गवेसेज्जा वितियपद ॥

नि० चू० १० उ० ।

(२) अथ ग्लानद्वार विभावयिषुराह-

सग्गामे सउवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव ।
खेत्ततो अन्नगामे, खेत्तबहिं सगच्छपरगच्छे ॥
सोऊण ऊ गिलाण, उम्मग्गं गच्छपडिपहं वा वि ।
मग्गाओ अणुमग्गं, संकमई आणमाईणि ॥

स्वग्रामे स्वोपाश्रये तिष्ठता श्रुत, यथा-अमुकत्र ग्लान इति । स्वग्रामे वा परेषां साधूनामुपाश्रये कुतोऽपि प्रयोजनादायातेन, यद्वा-क्षेत्रान्त: क्षेत्राभ्यन्तरे अन्यग्रामे भिक्षाचर्यां गतेन, यदि वा-क्षेत्रबहिरन्यग्रामेष्वपि वा वर्त्तमानेन, एतेषु स्थानेषु स्वगच्छे वा परगच्छे वा ग्लान: श्रुतो भवेत्, श्रुत्वा च ग्लान व उन्मार्गमटवीगामिनं पन्थान प्रतिपथ वा येन पथा आयातस्तमेव पन्थान गच्छति मार्गाद्वा विवक्षितपथादन्य मार्ग संक्रामति स प्राप्नोति आज्ञादीनि दोषपदानि । आदिशब्दादनवस्थामिथ्यात्वविराधनापरिग्रह- । एवंकुशीलस्य च यस्यान्ते म्लानोऽप्रतिजागरितापनादिक प्राप्नोति तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम् ।

अत एवाह-

सोऊण ऊ गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।
जइ तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गुरुए स चउमासे ॥

श्रुत्वा ग्लानं पथि वा गच्छन् ग्रामं वा प्रविष्टो भिक्षां वा पर्यटन् यदिकिञ्चिदपि तत्क्षणादेव नागच्छति ततो लगति प्राप्नोति स चतुरो मासान् गुरुकान् ।

यत एवमत -

जह भमरमहुयरिगणा, निवतंती कुसुमियम्मि चूयवणे ।
इय होइ निवइअव्वं, गेलन्ने कइवयजढेण ॥

यथा भ्रमरमधुकरीगणा कुसुमिते मुकुलिते चूतवने सहकारवनखण्डे मकरन्दपानलोलुपतया निपतन्ति, इत्यमुनैव प्रकारेण भगवदाज्ञामनुवर्तमानेन कर्मनिर्जरालाभलिप्सया ग्लाने समुत्पन्ने कैतवजमेन मायाविप्रमुक्तेन त्वरितं निपतितव्यमागन्तव्यं भवति । एवं कुर्वता साधर्मिकत्वं वात्सल्यं कृतं भवति, आत्मा च निर्जराद्वारे नियोजितो भवति ।

(३) तस्य ग्लानत्वस्य प्रतिबद्धामिमां द्वारगाथामाह-

सुद्धे सड्ढी इच्छक्का-रे असत्त सुहिओ उमाण लुद्धे य ।
अणुवत्तणा गिलाणे, चालन संकामणा तत्तो ॥

प्रथमतः शुद्ध इति द्वारं वक्तव्यम् । ततः श्रद्धी श्रद्धावानिति द्वारम् । ततः इच्छाकारद्वारम् । तदनन्तरमशक्तद्वारम् । ततः सुखितद्वारम् । ततः तु अपमानद्वारम् । ततोऽपि लुब्धद्वारम् । ततोऽनुवर्तना ग्लानस्य, उपलक्षणत्वाद् वैद्यस्य च वक्तव्या, ततश्चालना, संक्रमणा च ग्लानस्याभिधातव्येति द्वारगाथासमुदायार्थः ।

(४) अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रचिकटयिषुः प्रथमतः शुद्धद्वारं भावयति-

सोऊण ऊ गिलाणं, जो उवयारेण आगतो सुद्धो ।
जो उ उवेहं कुज्जा, लग्गइ गुरुए सवित्थारे ॥

श्रुत्वा ग्लानं यः साधुर्गुरूपचारेण वक्ष्यमाणेन ग्लानसमीपमागतः, स शुद्धो, न प्रायश्चित्तभाक् । यस्तु उपेक्षां कुर्यात्, स लगति प्राप्नोति चतुरो गुरुकान् सविस्तरान् ग्लानारोपणासंयुक्तान् ।

उपचारपदं व्याचष्टे-

उवचरइ को णु ऽतिओ, अहवा उवचारमित्तगं एइ ।
उवचरइ व कज्जत्थी, पच्छित्तं वा विसोहेइ ॥

यत्र ग्लानो वर्तते तत्र गत्वा पृच्छति-(को णु ऽतिओ त्ति) द्वितीयार्थे प्रथमा । तुरिति प्रश्ने । युष्माकं मध्ये 'अतिग' ग्लानं क उपचरति?, कः प्रतिजागर्ति?। यद्वा-धातूनामनेकार्थत्वादुपचरति को नु युष्माकं मध्ये 'अतिओ' ग्लानो येनाहं तं प्रतिजागर्मि । अथ वा-उपचारमात्रं लोकोपचारमेव केवलमनुवर्तयितुं ग्लानसमीपमेति आगच्छति । यदि वा-कार्यार्थी सन्नुपचरति । किमुक्तं भवति?-कार्यं किमपि ज्ञानदर्शनादिकं तत्समीपाद्गृहीयमानः प्रतिजागर्ति, प्रायश्चित्तं वा मे भविष्यति यदि न गमिष्यामीति विचिन्त्याऽऽगत्य च प्रायश्चित्तं विशोधयति । एवं सर्वोऽप्युपचारो द्रष्टव्यः । बृ० १ उ० । श्रौ० ।

(५) तदकरणे प्रायश्चित्तम्-

जे भिक्खू गिलाणवेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स गिलाणपाउग्गेण दव्वजाएण अलब्भमाणे जो तं ण पडियाइक्खेइ, ण पडियाइक्खंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू गिला-

णवेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स सएण लाभेण असंथरमाणस्स जा तं ण पडितप्पइ, ण पडितप्पंतं वा साइज्जइ ॥४५॥

भिक्खू, गिलाणो य पुव्ववण्णिओ, जो साहू गिलाणस्स वेयावच्चकरणे अब्भुट्ठिते जाव गिलाणस्स ओसह पाउग्गं वा भत्तपाणं वा उप्पाएति, सरीरगकिरियकम्मं वा करेति, ताव वेलातिक्कमो, वेलातिक्कमे असतो णो पडियप्पति, एवं तस्स असंथरे अण्णो जो ण पडियप्पति भत्तपाणादिणा, तस्स चउ गुरुगा, परितावणादिणिप्फणं च, गिलाणो य सो परिचत्तो भवति, तम्हा तस्स पडितप्पियव्वं ।

(६) सीसो पुच्छति-गिलाणवेयावच्चे केरिसे साहू णिउज्जति ? । आचार्य आह-

खंतिखम मद्दवियं, असढमलोलं च लद्धिसंपण्णं ।
दक्खं सुभरमसुविरं, हिययग्गाहं अपरितंतं ॥४८७॥

कोहणिग्गहो खंती, अक्खममाणस्स वि जस्स खमाकरणे सामत्थमत्थि सो खंतीए खमो भवति । अहवा-खंतीक्षम, आधार इत्यर्थः । माणणिग्गहकारी मद्दविओ । मायाणिग्गहकारी असढो । इन्दियविसयणिग्गहकारी अलोलो, उक्कस्स वा दट्ठु वा जो एसण ण पेल्लेति सो वा अलोलो, अलुब्ध इत्यर्थः । लद्धिसंपण्णो जहा घयवत्थ पुस्समित्ता गिलाणाऽऽणत्तिय सिग्घं करेति । दक्खो अप्पेण अवप्पतेहिं वा जाचेति त्ति । सुभरो कुच्छसेह इत्यर्थः । असुविरो अणिद्दालू । गिलाणस्स जो चित्तमणुयत्तति, अपत्थं च ण करेति, सो हिययग्गाही, गिलाणस्स वा अणुप्पिओ जो, सुचिरं पि गिलाणस्स करेंतो जो ण भज्जति सो अपरितंतो ।

सुत्तत्थपडीबद्धं, णिज्जरपेही जियदियं दंतं ।
कोउहलविप्पमुक्कं, अणाणुकित्तिं सउच्छाहं ॥४८८॥

जो य सुत्तत्थेसु अपडिबद्धो, गृहीतसूत्रार्थ इत्यर्थः । णिज्जरापेही णो कयपडिकिच्चिए करेति, जिइंदितो जो इट्ठाणिट्ठेहिं विसएहिं रागदोसे ण जाति, सुकरदुक्करेसु महप्पकारणेसु य जो अविकारेण णर उव्वहति सो, जो इंदियणोइंदिसु वा दंतो ण हाति, कोउए सय विप्पमुक्को, काउं जो थिरत्तणेण णो विकत्थति-को अण्णो एवं काउं समत्थो त्ति ? । तुज्झ वा एरिसं तारिसं मए कयं ति, जो एवं ण कथयति सो अणाणुकित्ती । अणालस्सो सउच्छाहो । अहवा-अलब्भमाणो वि जो अविसण्णो मग्गति सो सउच्छाहो ।

आगाढमणागाढे, सद्दहगणिसेवगं च सट्ठाणे ।
आउरवेयावच्चे, एरिसयं तू निउंजिज्जा ॥४८०॥

आगाढे रोगायंके, अणागाढे वा, आगाढे खिप्पं करणं, अणागाढे कमकरणं जो करेति । अहवा-आगाढजोगिणो अणागाढजोगिणो वा जहा किरिया कायव्वा जा वा जयणा, एवं सव्वं जो जाणति सो य उस्सग्गाववाए सद्दहति, ते य जो सट्ठाणे णिसेवति, उस्सग्गे उस्सग्गं, अववाए अववायं, अहवा-सट्ठाणं आयरियाति, तेसिं जं जत्थ जोग्गं तं तस्स उप्पाएति, देति य, एरिसो गिलाणवेयावच्चे णिउज्जति ।

(७) विपरीतकरणे दोषमाह-

एयगुणविप्पहूणं, वेयावच्चम्मि जो उ ठावेज्जा ।
आयरिओ गिलाणस्सा, मो [illegible] ।

वर्णितगुणविपरीतं जो गि[illegible]
ओ आणादी दोसे पावति ।

एतेसि परूवणता, तप्पमिपक्खे य पेसवेंतस्स ।
पच्छित्तविन्नासणता, विराहणा चेव जा जस्स ॥४९२॥

एतेसिं खंतिमातियाण पयाणं यथार्थं प्ररूपणा कायव्वा । तप्पमिपक्खे अनियखमस्स कोहिणो, महाविअस्स माणणा, असढस्स माई एवमादियाण पच्छित्तविभासा कायव्वा, व्याख्या इत्यर्थः । भजोग्गे हि य वेयावच्चे णिउज्जतेहिं जा गिलाणस्स विराहणा सा य वत्तव्वा पमिपक्खदोसला ।

इमं पच्छित्त-

गव्विएँ कोहे विसए, दोसू लहुगा तु माइणो गुरुगो ।
लोभिंदियाण रागे, गुरुगा सेसेसु लहु जयणा ॥ ४९३ ॥

माणिस्स कोहिणो अजिइंदियस्स विसएसु दोसुकारिणो चउलहुगा पच्छित्त, मायाविणो मासगुरु, लोभिस्स अजिइंदियस्स य रागकारिणो चउगुरुगा, (सेसेसु त्ति) अलद्धिसपन्नो अदक्खो कुभरो सुचिरो हियपमिकूलो परितंतो सुत्तत्थापडिबुद्धो अणिज्जरपेही अइंतो कोतूहल्ली भप्पप्पसस । अणुच्छाही आगाढअणागाढेसु विवरीयकारी असद्दहणगो परट्ठाणणिसेवी, एतेसु लहुमासो भयण त्ति । एते सव्वे पदा मासलहू पच्छित्तेण भइयव्वा, योजयितव्या इत्यर्थः । अहवा-भणय त्ति आदेसतरेण वा चउलहुगा । अहवा-भयण त्ति अनराइकम्मोदएण अलद्धी भवति, सो य सुवक्खो, जइ पुण सलद्धी अप्पाणं असद्धिम ति दंसेति तो असमायारिणिप्फण मासलहुं, एव सेसेसु विउज्ज वत्तव्व ।

एवं ता पच्छित्तं, तोसिं जो पुण ठवेज्ज ते उ गणे ।
आयरिय गिलाणट्ठा, गुरुगा सेसाण तिविहं तु ॥४९४॥

एवं पच्छित्त पमिपक्खे जे कमाइया दोसा ता तेसिं भणिया, जो पुणो आयरियो एते गणे गिलाणादिवेयावच्चकरणे ठवेति, तस्स चउगुरुगा, सेसा जइ ठावेंति, तेसिं इम तिविध पच्छित्त-उवज्झातो जइ ठवेति, तो चउलहु, वसभस्स मासगुरु, भिक्खुस्स मासलहु । अहवा-उवज्झायस्स चउलहु, गीयत्थस्स भिक्खुस्स मासगुरु, अगीयत्थस्स मासलहु, एव वा तिविधं अखतिखमातिएसु कलमातिकरेतेसु गिलाणस्स गाढादिपरितावणादिया दोसा ।

इमे य भवति-

इहलोइयाण परलो-इयाण लद्धीण फेमितो होति ।
जइ आउगपरिहीणा, देवा बलवत्तमा चेव ॥४९५॥

इहलोइया आमोसहिखेलोसहिमादी, परलोइया सग्गमोक्खा तेसिं फेडितो भवति । जहा आउगे पहूयते बलवत्तमा देवा जाना, एव गिलाणो विसमाही असट्टज्झाणी अणारोहगो भवति, तिरिआवकुगतीसु अ गच्छति, ण वा इहलोए आमोसहिमादीओ लद्धीओ उप्पाएति । जम्हा एते दोसा वेयावच्चकरो ण ठवेयव्वो ? ।

एयगुणसमग्गस्स तु, असतीए ठवेज्ज अप्पदोसतरं ।
वेयालणा उ इत्थं, गुणदोसाण बहुविगप्पा ॥ ४९६ ॥

वक्खियगुणसमग्गाभावे अप्पदोसतर ठवेति, अदोसं पच्छित्ताऽणुलोमओ जाणेज्जा, दोसवियालणेण य बहू विकप्पा उप्पज्जति । जहा-कोहे माणो अत्थि, णत्थि वा । माणे पुण कोहो नियमा अत्थि, तम्हा कोहीओ माणी बहुदोसतरो, तम्हा कोहिं ठवेज्जा, णो माणिं । एवं सव्वपदेसु वियालणा कायव्वा ।

इयाणि सुत्तत्थो-

जे भिक्खु गिलाणस्सा, वेयावच्चेण वावडं भिक्खू ।
लोभेण लुप्पएणं, असथरंतं ण पमितप्पे ॥ ४९७ ॥

वावडो व्यापृतः आकुलिकः तस्य भिक्खुणो अण्णो भिक्खू जो ण पमितप्पति, तस्स चउगुरुं, परितावणादिणिप्फणं च ।

इमं च पावति-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, त पमितप्पे पयत्तेणं ॥ ४९८ ॥

तम्हा तस्स पडितप्पियव्व सपयत्तेण ।

कारणे ण पडितप्पेज्जा वि-

वितियपयपदं अणवट्ठो, परिहारतवं तहेव य वहेंति ।
असहिय लोभी वा, सव्वहा वा अलब्भंते ॥ ४९९ ॥

अणवट्ठतवं जो वहति साहू, सो ण पमितप्पेज्जा, मणवत्थो वा कारणे गिलाणवेयावच्चेण अब्भुट्ठितो, (गिलाण पाओगेत्यादि) भिक्खू गिलाणो य पूर्ववत् । अब्भुट्ठितो वैयावृत्यकरणोद्यत, पाउग्गं ओसहं भत्त पाणं वा, तम्मि अलब्भते जति सो वेयावच्चकरो अण्णेसिं साहूण ण कहेति, आयरियस्स वा, तो चउगुरुगं, परितावणातिणिप्फण्ण च ।

आहरपाउग्गम्मी, दव्वे अलब्भंतें वावमो तत्थ ।
जो भिक्खू णातिक्खति, सो पावति आणमादीणि ॥५००॥

वावमो व्यापृत नियुक्तः जति अण्णेसिं ण कहेति तो आणादिणो दोसा ।

(दव्वजाए त्ति) अस्य सूत्रस्य व्याख्या-

जायग्गहणे फासुं, रोगे वा जं तु पाउग्गं ।
तं पत्थ भोयणं वा, ओसहसंथारवत्यादी ॥ ५०१ ॥

कण्ठा ।

अलब्भमाणे अण्णेसिं साधूण कहिज्जंते इमे दोसा-

परितावमहादुक्खे, पुच्छापुच्छे य किच्छपाणे य ।
किच्छुस्सासे य तहा, समोहते चेव कालगते ॥ ५०२ ॥

परितावणा दुविधा अणागाढगाढापासे छप्पया गाहा । एते चेव गहिता एसु अट्ठसु पदेसु जहासख इम पच्छित्त-

चतुरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूल च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ ५०३ ॥

जम्हा एते दोसा-

तम्हा आलोएज्जा, संभोइएँ असति अण्णसंभोए ।
जइऊण व ओमसे, सव्वेव तलद्धिहाणिहरा ॥५०४॥

आलोयणं णाम अण्णेसिं आख्यान, तं च आख्यान समत्थे, तेससति अण्णगच्छे संभोतियाण, तेसमाति अण्णसभोतियाण, तेससति पणगपरिहाणीए जतितु जाहे मासलहु पत्तो ताहे सखी ण कहेति, ज एव ण करेति तो सव्वेव इहलोयपरलोइयलद्धिहाणी दोसो भवति । इहरेति, अनाख्यायतस्येत्यर्थः । एते कारण, जेण अण्णेसिं ण कहेज्जा वि वितियपदम ।

दो चेव अरणगामे, उदगादीहिं व सन्नमेगतरे ।
तस्स व अपत्थदव्वं, जायते वा अकालम्मि ॥५०५॥

ते दो वि चेव जणा एगो गिलाणो, एगो पडियरगो, सो पडियरगो अधाभावे कस्स कहेउ, अरणगामे वा अरणे साहुणो, कस्स कहेओ परिचरगो । उदगागणिहत्थिसीहबोहिगादी, एतेसिं सभममाणे एगतरे वट्टमाणे, अप्प परिभूतेसु, दिसो दिसिं फुडितेसु कस्स साहओ ज वा दव्व लब्भति त गिलाणस्स अपत्थत्तेण अण्णेसिं ण कहेति, गिलाणो वा अप्पत्थं दव्व मग्गति, तेण वा णो कहेति अण्णेसिं, अकाले वा जायते तेण ण साधयति, अहवा गरहियविगिच्छितो मग्गति, ते य अण्णे अपरिणया ताहे ण साधयति मा विपरिणामस्सति, एवमादिहिं कारणेहिं असाहेंतो सुद्धो ॥ नि० चू० १० उ० ।

इहान्यदपि-

असणं वा पाणं वा भेसज्जं वा गिलाणस्स अइन्नाणुच्चरिय परिभुंजे पारंचिय, गिलाणेणं अपडिजागारिएण भुंजे उवट्ठावणं, सव्वमविणयकतव्वं पारिविच्चा णं गिलाणकतव्व न करेज्जा. अवदे गिलाणकतव्व मा विन्नविऊण नियमकतव्व पमाएज्जा, अवदे गिलाणकप्प ण उत्तारेज्जा, अट्ठमं गिलाणेण सद्धिं एगसदेण गंतुं जमाइसे त न कुज्जा पारंचिए. नवरं जइ णं से गिलाणे सद्दवित्ते अहाणं सन्निवायाईहिं तुज्झा मियमाणं सेहाविज्जा, तओ जमेव गिलाणेण भाइउ, त न कायव्व, ण करेज्जा संघवज्झो । महा० ७ अ० ।

(८) अथ श्रद्धावानिति द्वारमाह-

सोऊण ऊ गिलाणं, तरमाणो आगओ दवदवस्स ।
संदिसह किं करेमी, कम्मि व अट्ठे निवज्जामि ? ॥
पडियरिहामि गिलाणं, गेलण्णे वावडाण वा काहं ।
तित्थाणुसज्जणा खलु, भत्ती य कया हवइ एव ॥

ग्लान प्रति जाग्रदह महतीं निर्जरामासादयिष्यामीत्येवंविधया धर्मश्रद्धया युक्त श्रद्धावानुच्यते । स च श्रुत्वा ग्लान त्वरमाणः श्रवणानन्तर शेषकार्याणि विहाय पन्थान प्रतिपन्न सन् 'दव दवस्स त्ति' द्रुतमागच्छन् झगिति ग्लानसमीपमागत ,ततो ग्लानप्रतिचारकानाचार्यान् वा गत्वा भणति-सदिशत भगवन्त ! किं करोम्यहम्? । कस्मिन् वा अर्थे ग्लानप्रयोजने युष्माभिरह नियोज्यः, अह तावदनेनाभिप्रायेणाऽऽयतो, यथा-प्रतिजागरिष्यामि ग्लान, ग्लानवैयावृत्त्ये वा व्यापृता ये साधवस्तेषा भक्तपानप्रदानविश्रामणादिना वैयावृत्य करिष्यामि । एव कुर्वता तीर्थस्यानुसज्जनाऽनुवर्त्तना कृता भवति, भक्तिश्च तीर्थकृता कृता भवति ; "जे गिलाण पडियरइ, से मम नाणेण दसणेण चरित्तेण पडिवज्जइ" इत्यादि भगवदाज्ञाराधनात् । अत्थ तेनोक्ते यदि स्वयमेव ग्लानवैयावृत्य कुर्वन्ति कर्तुं प्रभवन्ति, ततो ब्रुवते आचार्या - व्रजतु यथास्थान भवान्, वय ग्लानस्य सकलमपि वैयावृत्य कुर्वाणाः स्म इति ।

अथ ते न प्रभवन्ति यदि वा स चैवविधगुणोपेतो वर्त्तते-

संजोगदिट्ठपाठी, तेणुवलद्धा व दव्वसंजोगा ।
सत्थं व तेणऽधीयं, वेज्जो वा सो पुरा आसी ॥

सयोगा औषधद्रव्यमीलनप्रयोगास्तद्विषयो दृष्ट पाठश्चिकित्साशास्त्रावयवविशेषो येन स सयोगदृष्टपाठ. । आर्षत्वाद्गाथायामिन्प्रत्यय. । यदि वा-तेन द्रव्यसयोगा. कुतोऽपि सातिशयज्ञानविशेषादुपलब्धा , शास्त्र वा चरकसुश्रुतादिक सर्वमपि तेनाधीत, वैद्यो वा स पुरा पूर्वं गृहाश्रमे आसीत्, ततो न विसर्जनीय. ।

अत्थि य से जोगवाही, गेलन्नतिगिच्छणाएँ सो कुसलो ।
सीसे वावारेत्ता, तेगिच्छ तेण कायव्वं ॥

यदि तस्याऽऽगन्तुकस्य गच्छे योगवाहिन' सन्ति, स च स्वय ग्लानचिकित्सायां कुशलः, तत. शिष्यान् सूत्रार्थपौरुषीप्रदानादौ व्यापार्य स्वय तेन ग्लानस्य चैकित्स्य चिकित्साकर्म कर्त्तव्यम् । उपलक्षणमिदम्-तेन कुलगणसङ्घप्रयोजनेषु गुरुकार्यप्रेषणे वस्त्रपात्राद्युत्पादने वा यो यत्र योग्यस्त तत्र व्यापार्य सर्वप्रयत्नेन स्वयं ग्लानस्य चिकित्साकर्म कर्तव्यम् ।

(९) सूत्रार्थपौरुषीव्यापारणे विधिमाह—

दाऊणं वा गच्छइ, संसेण च वाएँ अन्नहिं वाए ।
तत्थऽन्नत्थ व काले, सोहिए समुद्दिसइ दिट्ठे ॥

सूत्रार्थपौरुष्यौ दत्त्वा ग्लानस्य समीप गच्छति, गत्वा च चिकित्सा करोति । अथ दूरे ग्लानस्य प्रतिश्रय , तत सूत्रपौरुषीं दत्त्वा अर्थपौरुषीं शिष्येण दापयति, अथ दवीयान् स प्रतिश्रयस्ततो द्वे अपि पौरुष्यौ शिष्येण दापयति, अथात्मीय. शिष्यो वाचनां दातुमशक्तस्ततो येषां वाचकानामाचार्याणां स ग्लानस्तैः सूत्रमर्थं वा स्वशिष्यान् वाचयति, अथ तेषामपि नास्ति वाचनाप्रदाने शक्तिस्ततो यदि ते अनागाढयोगवाहिनस्तदा तेषां योगो निक्षिप्यते । अथ गाढयोगवाहिनस्ततोऽय विधि -(तत्थऽन्नत्थ व इत्यादि) यत्र क्षेत्रे स ग्लानस्तत्र अन्यत्र वा क्षेत्रे स्थितास्ते अनागाढयोगवाहिन आचार्येण वक्तव्या । यथा-आर्या ! काल शोधयत । ततस्तैर्यथावत् कालग्रहण कृत्वा यावतो दिवसान् कालः शोधितस्तावतां दिवसानामुद्देशन कालान् सर्वानप्याचार्या ग्लाने हृष्टे प्रगुणीभूते सत्येकदिवसेनैवोद्दिशन्ति, यावन्ति पुनर्दिनानि कालग्रहणे प्रमाद कृतो गृह्यमाणो वा कालेन शुद्ध तेषामुद्देशेन काला न उद्दिश्यन्ते ।

(१०) तत्र क्षेत्रे संस्तरणाभावे अन्यत्र गच्छतां विधिमाह-

निग्गमणे चउभंगो, अद्धा सव्वे वि निंति दोन्ह वि ।
भिक्खवसहीएँ असती, तस्साऽणुमए ठविज्जा उ ॥

तत. क्षेत्रान्निर्गमने चतुर्भङ्गी भवति । गाथायां पुस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । वास्तव्या. सस्तरन्ति नागन्तुका , आगन्तुकाः सस्तरन्ति न वास्तव्या , न वास्तव्या नचागन्तुका. सस्तरन्ति, वास्तव्या अप्यागन्तुका अपि सस्तरन्ति । यत्र द्वयेऽपि सस्तरन्ति तत्र विधि. प्रागेवोक्त । यत्र तु न सस्तरन्ति तत्राय विधि -प्रथमभङ्गे आगन्तुकानां, द्वितीयभङ्गे वास्तव्यानामर्द्धं वा यावन्तो वा न सस्तरन्ति तावन्तो निर्गच्छन्ति, तृतीयभङ्गे द्वयोरपि वर्गयोरर्द्धा. सर्वे वा ग्लान सप्रतिचरकं मुक्त्वा निर्गच्छन्ति । एव भिक्षाया वसतेश्चाऽसत्यभावे निर्गमन द्रष्टव्यम् । ये च तस्य ग्लानस्य अनुमता अभिप्रेतास्तान् प्रतिचरकान् ग्लानस्य समीपे स्थापयेत्र गन्तव्यम् । श्रद्धावान् इति द्वारम् ॥

(११) अथेच्छाकारद्वारमाह-

अन्नणिव कोइ न इच्छइ, पच्चे थेरेहिँ हो उवालंभो ।

दिट्ठतो महिड्ढिए, सवित्थरारोवणं कुज्जा ॥

कोऽपि साधुर्वैयावृत्यकुशलः परम अन्येनाभाणितः-"आर्य! एहि इच्छाकारेण ग्लानस्य वैयावृत्त्यं कुरु" इत्युक्तः सन्नेच्छति वैयावृत्त्यं कर्तुं, स च श्रुत्वाऽपि ग्लानं न तस्य समीपं गच्छति। कुलगणसङ्घस्थविराश्च ये कारणभूताः पुरुषाः, कुत्र सामाचार्यः सीदन्ति, कुत्र चोत्सर्पन्तीति प्रतिचरणाय गच्छान्तरेषु परिपृच्छन्ति, ते तत्र प्राप्ताः, तैश्च स पृष्ट आचार्यैः, उत्सर्पन्ति ते ज्ञानदर्शनचारित्राणि, सन्ति वा केचिदत्रास्यासन्नपरिसरे साधवः, ग्लानो वा कुत्रापि भवता श्रुत इति ?। स प्राह-इत प्रत्यासन्ने एव ग्रामे सन्ति साधवः, तेषां चास्त्येको ग्लान इति । ततस्तैस्तस्योपालम्भः प्रदत्तः-यदि तेषां ग्लानो वर्त्तते ततस्त्वं तस्य प्रतिचरणाय किं न गतः ?।

स प्राह—

बहुसो पुच्छिज्जंता, इच्छाकारं न ते मम करिंति ।
पडिसुणणया दुक्खं, दुक्खं च सलाहिउं अप्पा ॥

बहुशो भूयो भूयः पृच्छमाना अपि ते साधवः कदाऽपि ममेच्छाकारं न कुर्वन्ति। अन्यच्च-अहमनभ्यर्थितस्तत्र गतस्तैश्च प्रतिसुपिट्टतोऽपि निषिद्धः, यथा-पूर्णं भवता वैयावृत्यकरणेनेति । एवं प्रतिश्रुतनया महन्मानस दुःखमुत्पद्यते, यादृशं चाऽहं ग्लानस्य वैयावृत्यं करोमि ईदृशमन्यः कोऽपि न वेत्ति ?, एवमात्मानं श्लाघयितुं दुःखं दुष्करं भवति, अतः कथमनभ्यर्थितस्तत्र गच्छामीति ?। ततः स्थविरैस्तस्य पुरतो महर्द्धिको राजा तस्य दृष्टान्तः कृतः । यथा-" एगो राया कत्तियपुण्णिमाए मरुयाण दाणं देइ, एगो मरुगो बारसविज्जाठाणपारगो भोइयाए भणिओ तुमं सव्वमरुगाहिवो, वच्च रायासमीवं, उत्तमं ते दाणं दाहिइ त्ति । सो मरुओ भणाइ-एग ताव रायकिब्बिसं गिण्हामि, बिइयं अणिमंतिओ गच्छामि । जइ से पितिपितामहस्स अणुग्गहेण पओयणं, तो मे आगंतु तत्थ नदिहि, इह ठियस्स वा मे दाहिइ। भोयाए भणिओ-तस्स अत्थि बहू मरुगा तुज्झ सरिच्छा अणुभागकारिणो, जइ अप्पणो तद्दविणेण कज्जं तो गच्छ । जहा सो मरुओ अब्भत्थणं मग्गतो इहलोइयाण कामभोगाण अणाभागी जाओ; एवं तुमं पि अब्भत्थणं मग्गतो निज्जरालाहस्स अणाभागी भविस्ससि ॥ " इत्थमुपालभ्य चतुर्गुरुकारोपणां सविस्तरां परितापनादिप्रायश्चित्तविस्तरयुक्तां तस्य प्रयच्छन्ति। गतमिच्छाकारद्वारम् ॥

(१२) अथाऽशक्तद्वारमाह-

किं काहामि वराओ, अहं खु ओमाणकारओ होहं ।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

कोऽपि साधुः कुलगणस्थविरैस्तथैव पृष्टः प्राह-क्षमाश्रमण! लोके यः सर्वथा अशक्तः पङ्गुप्रायः स वराक उच्यते । सोऽहं वराकस्तद्देशं गतः किं करिष्यामि ?, नवरमहं तत्र प्राप्तोऽवमानकारको भविष्यामि । एवं तत्र स्थविराणां पुरतो भणतस्तस्य चतुर्मासा गुरुवो भवन्ति ।

स च स्थविरैरित्थमभिधातव्यः-

उव्वत्त खेल संथा-र जग्गणो पेस भाणधारणया ।
तस्स पडिजग्गयाण य, पडिलेहेउं पि असत्तो ॥

आर्य ! ग्लानस्योद्वर्त्तनमपि कर्तुं न शक्नोषि, एवं खेलमल्लकस्य भस्मना भरणं, भस्मपरिष्ठापनं वा, संस्तारकस्य रचनं, जागरणं रात्रौ प्रहरकप्रदानं, पेषणमौषधीनां चूर्णनं, भाण्डधारणं सपानभोजनानां धारणं, तस्य ग्लानस्य प्रतिजागरकाणां च साधूनामुपधिमपि प्रत्युपेक्षितुमशक्तः ?, येनेदं ब्रवीषि-किं करिष्यामि वराकोऽहमिति ? ।

(१३) अथ सुखितद्वारमाह—

सुहिया मो त्ति य भणती, अत्थह वीमत्थया सुहं सव्वे ।
एवं तत्थ भणंते, पायच्छित्तं भवे तिविहं ॥

एकत्र क्षेत्रे मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्-अमुकत्र ग्लान इति। तत्र कोऽपि साधवो भणन्ति-ग्लानं प्रति जागरका व्रजामो वयम्। इतरः कोऽपि भणति-सुखितानस्मान् मा दुःखितान् कुरुत, यूयमपि सर्वे विश्वस्ता निरुद्विग्नाः सुखं सुखेन तिष्ठत। तत्र गत्वा मुधैव दुःखस्यात्मानं प्रयच्छाम । किं युष्माकमयं श्लोको न कर्णकोटरमुपागमत् ?। यथा " सर्वस्य कार्यकारी, स्वार्थविघाती परस्य हितकारी । सर्वस्य च विश्वासी, मूर्खोऽयं नाम विज्ञेयः ॥ १ ॥ " एवं तत्राप्रशस्यं भणतस्त्रिविधं प्रायश्चित्तं भवति । तद्यथा—यद्याचार्य एवं ब्रवीति ततश्चतुर्गुरु, उपाध्यायो ब्रवीति चतुर्लघु, भिक्षुर्ब्रवीति मासगुरु ।

(१४) अथापमानद्वारमाह-

भत्तादिसंकिलेसो, अवस्स अम्हे वि तत्थ न तरामो ।
काहिंति केत्तियाणं, ते तेणेव तेसु अइत्ता ॥
अम्हेहिं तहिं गएहिं, ओमाणं उग्गमाइणो दोसा ।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

तथैव ग्लानं श्रुत्वा केचिद् भणन्ति-व्रजामो ग्लानप्रतिजागरणार्थम्। अपरे ब्रुवते-तत्रान्येऽपि ग्लानं श्रुत्वा बहवः प्रतिचरकाः समायाता भविष्यन्ति, ततो महान् भक्तपानादिसंक्लेशो भविता, अवश्यमसन्दिग्धं वयमपि तत्र गता न तरामो न निर्वहामो ग्लानप्रतिचरणार्थमागतानां कियतां ते वास्तव्यविश्रामणादिप्राघूर्णककर्म करिष्यन्ति ?, यतस्ते तेनैव ग्लानेन तेषु कार्येषु अदत्ता आकुलीभूताः। तथा अस्माभिरपि तत्र गतैर्नियमादवमानम्, अवश्यमुद्गमदोषाश्चाधाकर्ममिश्रजातप्रभृतयः । आदिशब्दादेषणादोषाश्च भविष्यन्ति । एवं तत्र तेषां भणतां चत्वारो मासा गुरुका भवेयुः ।

(१५) अथ लुब्धद्वारमाह-

अम्हे सो निज्जरट्ठी, अत्थह तुब्भे वयं से काहामो ।
अत्थि य अभाविया णं, ते वि य णाहिंति काऊण ॥

मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्-यथाऽमुकत्र ग्रामे ग्लानः सञ्जातोऽस्ति । तच्च क्षेत्रं वसतिपानकगोरसादिभिः सर्वैरपि गुणैः रूपेतं, ततस्ते लोभाभिभूतचेतसश्चिन्तयन्ति-ग्लानमन्तरेण न शक्यते क्षेत्रमिदं प्रेरयितुम्। अथो गच्छामो वयमिति चिन्तयित्वा तत्र गत्वा भणन्ति-वयं निर्जरार्थिनो ग्लानवैयावृत्यकरणेन कर्मक्षयमभिलषमाणा इहायाताः स्मः, अतो यूयं तिष्ठत, वयं 'से' तस्य ग्लानस्य वैयावृत्यं करिष्यामः। सन्ति च अस्माकमभाविताः शैक्षाः, तेऽपि चास्मान् वैयावृत्यं कुर्वतो दृष्ट्वा ज्ञास्यन्ति ।

एवं गिलाणलक्खे-ण संठिया पाहुणा वि उक्कोसं ।
मग्गंता उप्पहंती, तेसिं चारोवणा चउहा ॥

एवं ग्लानस्यचन्धि यद्दृष्टं तमेव तेन तत्र सन्निधना सतः प्राघूर्णका इतिकृत्वा लोकाद्दुल्लभं स्निग्धमधुरद्रव्यं लभन्ते। अथ न स्वयं लोकः प्रयच्छति,ततो मार्गयन्त प्राघूर्णका वयमिति मिषेण च संभावयमानास्तान् क्षेत्र समदयन्ति। समदिते च क्षेत्रे ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते, ततस्तेषामिय चतुर्विधा आरोपणा कर्त्तव्या। तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च।

(१६) प्रायश्चित्तम्। तत्र द्रव्यतस्तावदाह-

फासुगमफासुगे वा, अचित्तचित्ते परित्तऽणंते य।
असिणेह सिणेहकए, अणहाराहार लहु गुरुगा॥

क्षेत्रोद्भेजनादोषेण ग्लानप्रायोग्यमलभमाना यदि प्राशुकमवभाषन्ते, परिवासयन्ति वा, ततश्चत्वारो लघुकाः, अप्राशुकमवभाषन्ते, परिवासयन्ति वा, ततश्चत्वारो गुरुकाः। इह च प्राशुकमेषणीयमप्राशुकमनेषणीयम्। आह च निशीथचूर्णिकृत-'इह फासुगं एसणिज्जं'। अचित्ते अवभाष्यमाणे, परिवास्यमाने वा चतुर्लघु, सचित्ते चतुर्गुरु, एवं परीते चतुर्लघु, अनन्तके चतुर्गुरु, अस्नेहे चतुर्लघु, सस्नेहे चतुर्गुरु, अनाहारे चतुर्लघु, आहारे चतुर्गुरु। उक्तं द्रव्यनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

अथ क्षेत्रनिष्पन्नमाह-

लुद्धस्सऽणंतरतो, चाउम्मासा हवंति उग्घाता।
बहिया य अणुग्घाया, दव्वालंभे पसज्जणया॥

उत्कृष्टद्रव्यलोभेन क्षेत्रमुद्भेजयतो लुब्धस्य क्षेत्रस्याभ्यन्तरतो ग्लानप्रायोग्ये अलभ्यमाने चत्वारो मासा उद्धाताः। क्षेत्रस्य बहिरलभ्यमाने एवं चत्वारो मासा अनुद्धाता गुरवः। अत्र च ग्लानप्रायोग्यस्य द्रव्यस्यालाभे प्रसज्जना प्रायश्चित्तस्य वृद्धिः प्राप्नोति।

कथमित्याह-

खेत्तबहि अद्धजोअण, वुड्ढी दुगुणेण जाव बत्तीसा।
चउगुरुगादी चरिमं, खित्ते ······ ॥

क्षेत्राद्बहिरर्द्धयोजनं गत्वा ततो यदि ग्लानप्रायोग्यं द्रव्यमानयति तदा चतुर्गुरवः। एवं योजनादानयति षड् लघवः। योजनद्वयादानयति षड् गुरवः। योजनचतुष्टयादानयति छेदः। योजनाष्टकादानयति तदा मूलम्। योजनषोडशकादानयति अनवस्थाप्यम्। द्वात्रिंशद्योजनानि गत्वा ग्लानप्रायोग्यमानयति पाराञ्चिकम्। अत एवाह-क्षेत्रबहिरर्द्धयोजनादारभ्य द्विगुणेन परिमाणेन क्षेत्रस्य वृद्धिस्तावत् कर्त्तव्या यावद् द्वात्रिंशद्योजनानि। वृद्धिश्च चतुर्गुरुकादिकं चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तम्। इत्थं क्षेत्रविषयं प्रायश्चित्तमुक्तम्॥ वृ० १ उ०।

(१७) सचित्ताऽचित्तचिकित्सा-

तिविहे तेगिच्छम्मी, उज्जुय वाउलणसाहणा चेव।
पन्नवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोएहिं॥

त्रिविधे त्रिप्रकारे आचार्योपाध्यायभिक्षुलक्षणे चिकित्स्ये चिकित्स्यमाने, गीतार्थे इति गम्यते। ऋजुकं स्फुटमेव, व्यापृतनसाधना व्यापृतक्रियाकथनम्। इयमत्र भावना-आचार्याणामुपाध्यायानां गीतार्थानां च भिक्षूणां चिकित्स्यमानानां यदि शुद्धं प्राशुकमेषणीयं न लभ्यते, तदा न तत्र विचारः। अथ प्राशुकमेषणीयं न लभ्यते, अथवा अवश्यं चिकित्सा कर्त्तव्या, तदा अशुद्धमप्यानीयते, तथाभूतं चानीय दीयमानं स्फुटमेव कथनीयम्-इदमेवंभूतमिति गीतार्थत्वेनापरिणामदोषस्य चासंभवात्। अगीतार्थस्य पुनर्भिक्षोः शुद्धालाभे चिकित्सामशुद्धेन कुर्वन्तो मुनिवृषभा यतनया कुर्वन्ति, न चाऽशुद्धं कथयन्ति। यदि पुनः कथयन्ति, अयतनया वा, तदा सोऽपरिणामित्वात् अनिच्छन् अनागाढादिपरितापनमनुभवति, तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमापतति मुनिवृषभाणाम्। यद्वा-अतिपरिणामतया सोऽनियमं कुर्यात् तस्मान्न कथनीयं, नाप्ययतना कर्त्तव्या। अथ कथमपि तेनागीतार्थेन भिक्षुणा ज्ञातं भवति। यथा-अकल्पिकमानीय मह्यं दीयते, तदा तस्मिन्नेच्छति अगीतार्थे भिक्षौ प्रज्ञापना क्रियते। यथा-ग्लानार्थं यदकल्पिकमपि यतनया सेव्यते, तत्र शुद्धो ग्लानो यतनया प्रवृत्तेरल्पीयान् दोषोऽशुद्धग्रहणात् सोऽपि पश्चात्प्रायश्चित्तेन शोधयिष्यते। एवंरूपा च प्रज्ञापना क्रियते तरुणे दीर्घायुषि। यस्तु वृद्धस्तरुणो वाऽनिरोगग्रस्तो चिकित्सनीय स भक्तप्रत्याख्यानं प्रति प्रोत्साह्यते। यदि पुनः प्रोत्साह्यमानोऽपि न प्रतिपद्यते, तदा भण्डीपोताभ्यां दृष्टान्तः कर्त्तव्यः।

सम्प्रति भण्डीपोतावेव दृष्टान्तावाह-

जा एगदेसे अदढा उ भंडी, सा लिप्पए सा उ करेइ कज्जं।
जा दुब्बला सठविया वि संती, न तं तु सीलंति विसन्नदारुं॥
जो एगदेसे अदढो उ पोतो, सो लिप्पते सो उ करेइ कज्जं।
जो दुब्बलो सो ठवितो वि संतो, न तं तु सीलंति विसन्नदारुं॥

वृत्तद्वयमपि कण्ठ्यम्।

एसेव गमो नियमा, समणीणं दुगविवज्जितो होइ।
आयरियादीण जहा, पवित्तिणिमादीणि वि तहेव॥

यो गमोऽनन्तरमूलसूत्रादारभ्य श्रमणानामभिहितः, एष एव गमो नियमात् संयतीनामपि वक्तव्यः। किमविशेषेण?, नेत्याह- द्विकवर्जितः-पाराञ्चितानवस्थाप्यलक्षणद्विकवर्जितो भवति वक्तव्यः, तदापत्तावपि तासां तयोर्दानाभावात्। उपलक्षणमेतत्-परिहारतपः तासां न भवति। यथा च आचार्यादीनां त्रिविधो भेद उक्तस्तथा प्रवर्तिन्यादीनामपि त्रिविधो भेदोऽवगन्तव्यः। तद्यथा-प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, भिक्षुकी च। तत्राचार्यस्थानीया प्रवर्तिनी, उपाध्यायस्थानीया गणावच्छेदिनी, भिक्षुस्थानीया भिक्षुकी च। तदेव मूलसूत्रादारभ्य यत् प्रकृतं तत् परिसमाप्तम्। व्य० १ उ०। नि० चू०॥

·· ··· काले इम होइ।

काले कालविषयमिदं वक्ष्यमाणं भवति।

तत्र तावत्प्रकारान्तरेण क्षेत्रनिष्पन्नमेवाह—

अंतो बहिं न लब्भइ, ठवणफासुग महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

क्षेत्रस्याभ्यन्तरे बहिर्वा ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते इतिकृत्वा प्रासुकस्य स्थापनं परिवासनं करोति चतुर्लघु, तेन परिवासितेन भक्तेन ग्लानो यदनागाढं परिताप्यते ततश्चतुर्गुरुकं, महतीं दुःखासिकामाप्नोति षड्लघु, मूर्च्छायां षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणे छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते मारणान्तिकसमुद्घातं कुर्वाणे ग्लाने अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम्।

अथ कालनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमाह-

पढमं राइ ठविते, गुरुगा बिइयादिसत्तहिं चरिमं।

परितावणाऽभावे, अप्पत्तियकूयणाईया ।

प्रथमां रात्रिं परिवासयतश्चतुर्गुरुकाः, द्वितीयां रात्रिमादौ कृत्वा सप्तमी रात्रिश्चिरमम। तद्यथा-द्वितीयां रजनीं परिवासयति षट् लघव ,तृतीयस्या षट् गुरव.,चतुर्थ्यां छेद., पञ्चम्यां मूल,षष्ठ्यामनवस्थाप्यम.सप्तम्यां पाराञ्चिकम। अथ भावनिष्पन्नमाह-' परितावणाइ " इत्यादि पश्चार्द्धम। परितापनादिभावनिष्पन्न मन्तव्यम । तथा स परितापित. सन्नप्रीतिक करोति चतुर्लघु, कूजन सशब्दाक्रन्दनम, आदिग्रहणादनाथोऽह, न किमप्यमी मह्यं प्रयच्छन्तीत्येवमुड्डाह कुर्यात ततश्चतुर्गुरुकम।

अथ परितापनादिपद व्याख्यानयति-

अंतो वहिं न लब्भइ,परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुग च ॥

क्षेत्रस्यान्तर्बहिर्वा न लभ्यते इतिकृत्वा ग्लानस्यानागाढा परितापना भवति चतुर्लघु, आगाढपरितापनायां चतुर्गुरु, दु.खादु खे षट्लघु, मूर्च्छामूर्च्छे षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणे छेद , कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते अनवस्थाप्य, कालगते पाराञ्चिकम। एव तावदाहारविषयमुक्तम ।

अथोपधिविषयमभिधीयते-

अतो वहिं न लब्भइ, संथारगमहयमुच्छकिच्छकालगए ।
चत्तारि छच्च लहु गरु, छेदो मूलं तह दुग च ॥

अतिवमढिते क्षेत्रे अन्तर्वा बहिर्वा संस्तारको न लभ्यते, ततो ग्लानस्यानागाढपरितापनादिषु चतुर्लघुकादिक तथैव प्रायश्चित्त द्रष्टव्यम।

अत्र परिष्ठापनापदं समुद्घातपदं च गाथायां साक्षान्नोक्तं
ततो मा भून्मुग्धविनेयवर्गस्य व्यामोह इतिकृत्वा
साक्षादभिधानार्थमिमां गाथामाह-

परितावमहादुक्खे, मुच्छामुच्छे य किच्छपाणगते ।
किच्छुस्सासे य तहा, समुघ ए चेव कालगते ॥

गतार्था। उक्तं लुब्धकद्वारम। वृ० १ उ०। नि० चू०।

(१८) अथानुवर्त्तनाद्वारमाह-

अणुयत्तणा गिलाणे, दव्वट्ठा खलु तहेव वेज्जट्ठा ।
असती इ अन्नओ वा, आणेउ दोहि वी कुज्जा ॥

ग्लानप्रायोग्य यत् भक्तपानादि द्रव्य, स एतदर्थ. प्रयोजन द्रव्यार्थस्तमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना कर्त्तव्या (तहेव वेज्जट्ठ त्ति) तथैव वैद्यस्यार्थमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना विधेया। यदि स्वग्रामे द्रव्यवैद्ययोरभावस्ततोऽन्यग्रामादपि द्रव्यवैद्यावानीय द्वाभ्यामप्यनुवर्त्तनां कुर्यात्।

अथैनामेव गाथां व्याचिख्यासुराह-

जाचंते उ अपत्थं, भणंति जायाम त न लब्भइ णे ।
विणियट्टणा अकाले, जा वेल न विंति उ न देमो ॥

ग्लानो यद्यपथ्य द्रव्य याचते तत साधवो भणन्ति-वय याचाम , परं किं कुर्महे भवतामभिप्रेतं भूयो भूय. पर्यटद्भिरपि न लभ्यते 'णे' अस्माभि , इत्थ भणद्भिर्ग्लानोऽनुवर्तितो भवति। यद्वा-ग्लानस्याग्रत पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रतिश्रयान्निर्गत्यापान्तरालपथादिनिवर्त्तनां प्रत्यागमन कुर्वन्ति, तस्य पुरतश्चेत्थं ब्रुवते-वयं गता अभूम परं न लब्धम्. अकाले वा गत्वा याचन्ते तेन न लभ्यते, अकाले च याचमान ग्लान ब्रुवते-यावद्वेला भवति तावत्प्रतीक्षस्व, ततो वयमानीय दास्याम इति। न पुनर्ब्रुवते-न दास्यामिति।

अथ क्षेत्रे ग्लानस्यानुवर्त्तनामाह-

तत्थेव अन्नगामे, वुच्छंतरऽसंथरत जयणाए ।
संथरणेसणमादि, च्छन्नं कमजोगि गीयत्थे ॥

प्रथमतस्तत्रैव ग्रामे प्रायोग्यमन्वेषणीयम् , तत्र यदि न लभ्यते तदा अन्यग्रामेऽपि, अथासावन्यग्रामो दूरतरस्ततो (वुच्छंतर त्ति) अन्तराले अपान्तरालग्रामे उषित्वा द्वितीये दिने आनयन्ति, अथैवमप्यसस्तरणं भवति, तत (संथरतजयणाए त्ति) अकारप्रश्लेषादसस्तरतो ग्लानस्यार्थाय यतनया पञ्चकपरिहाण्या गृह्णन्ति। अथ ग्लानार्थं व्यापृतानां परिचरकाणां सस्तरणं तत (एसणमाइ त्ति) एषणादोषेषु, आदिशब्दादुद्गमादिदोषेषु च, पञ्चकपरिहाण्या यतितव्यम। अथ प्रतिदिवस ग्लानप्रायोग्य न लभ्यते ततश्छन्नमप्रकट कृतयोगी, गीतार्थो वा तत् प्रायोग्य द्रव्य परिवासयन्ति। यथाकार्थितच्छेदश्रुतार्थः प्रत्युच्चारणासमर्थः कृतयोगी, यस्तु च्छेदश्रुतार्थं श्रुत्वा प्रत्युच्चारयितुमीश. स गीतार्थ उच्यते। एष द्वारगाथासमासार्थ.।

अथैनामेव विवरीषुराह-

पमिलेह पोरसीओ, नि अ काउं मग्गणा उ सग्गामे ।
खित्ततो तद्दिवस, असइ विणासे व तत्थ वसे ॥

अपिशब्द. सभावनायाम्, यदि सुलभ द्रव्यं ततः प्रत्युपेक्षणां, सूत्रार्थपौरुष्यौ च कृत्वा स्वग्रामे अनवभाषितस्य मार्गणा कर्त्तव्या, अथैवं न लभ्यतेऽनोऽर्थपौरुषीं हापयित्वा, यथैवमपि न लभ्यते, तत सूत्रपौरुषीं परिहाप्योत्पादनीयम। अथ तथापि न लभ्यते, दुर्लभ वा तत् द्रव्यं, तत प्रत्युपेक्षणां, द्वे अपि च पौरुष्यौ अकृत्वा स्वग्रामे अनवभाषित मार्गयन्ति, स्वग्रामे अनवभाषित न लभ्यते, तत क्षेत्रान्त सक्रोशयोजनक्षेत्राभ्यन्तरे परग्रामे पौरुषीद्वयमपि कृत्वा अनवभाषितमुत्पादयन्ति, अत्राप्यर्थपौरुष्यादिहापना तथैव द्रष्टव्या। अथ तत्राप्यनवभाषितं न लभ्यते, ततः स्वक्षेत्रस्वग्रामयोरवभाषितमुत्पाद्य तद्दिव समानयन्ति, अथ स्वक्षेत्रे तद्दिवसं न प्राप्यते, ततः परक्षेत्रादपि तद्दिवसमानेतव्यम्। अथ क्षेत्रबहिर्वर्त्तिनो यतो ग्रामादेरानीयते तत्र प्रत्यासन्न, किं तु दूरतरं, न तद्दिवस न प्राप्यते, ततः परक्षेत्रादपि तद्दिवसमानेतव्यम्। अथ क्षेत्रबहिर्वर्ति प्रत्यायातुं शक्यते, विनाशि वा तद् द्रव्य दुग्धादिकं, तत प्रत्यासन्नग्रामस्यासति, विनाशिनि वा द्रव्ये गृहीतव्ये अपराह्ने गत्वा तत्र रात्रौ वसेत्, उषित्वा च सूर्योदयवेलायां गृहीत्वा द्वितीये दिने तत्रानयन्ति। अथ दवीयतर तत् क्षेत्रम्, अविनाशि द्रव्यं च, ततोऽपान्तरालग्रामे रजन्यामुषिता सूर्योदये तत्र गत्वा तद् द्रव्य गृहीत्वा भूयः समागच्छन्ति।

एतदेवाह-

खित्तबहिया व आणे,भिसोहिकोसिं च तिभितो काढे ।
पइदिवसमलब्भंते, कम्मं समडाच्छिओ ठवए ॥

क्षेत्रबहिर्वा गत्वा प्रथममनवभाषित ततोऽवभाषित पूर्वं तत्क्षेत्रबहिर्वा गत्वा ... दिवसे अनन्तरोक्तया नीत्या यथायोगमानयेत्। एव विधिरेकस्मिन्

यविषयो भणित.। अथैषणीयेन नासौ ग्लान सस्तरति तत. सक्रोशयोजनक्षेत्रस्यान्तः स्वग्रामपरग्रामयोः पञ्चकपरिहाण्या तदप्राप्तौ क्षेत्रबहिरपि पञ्चकपरिहाण्या तद्दिवस ग्लानप्रायोग्य-मुत्पादयन्ति। एव यदा प्रायश्चित्तानुलोम्येन क्रीतकृताभ्यां ह्-ताद्रिकां विशोधिकोटिमतिक्रान्तो भवति. तदा (काढे त्ति) ग्लानप्रायोग्यमौषधादिकमन्येन स्वय वा यतनया क्वाथयेत्। एवं प्रतिदिवसमलभ्यमाने यदा आधाकर्मापि समतिक्रान्त., तदपि तद्दिवस न प्राप्यत इत्यर्थः। ततो विशुद्धमविशुद्धं वा ग्लानप्रायोग्य द्रव्यमुत्पाद्य स्थापयेत् परिवासयेत्, ये तु ग्ला-नस्य प्रतिचरकास्ते यदि ग्लानकार्यव्यापृता परक्षेत्र वा व्रज-न्त स्वार्थमहिण्डमाना न सस्तरन्ति,तत पणगादिदोषेषु पञ्चक-परिहाणियतनया गृह्णन्ति।

यत्तु ग्लानार्थं परिवास्यते तत् कीदृशे स्थाने स्थाप्यते इति ?। आह-

उव्वरगस्स उ असती,चिलिमिलि उत्तयं च जह व नो पासे।
तस्सऽसइ पुराणादिसु, ठविंति तद्दिवस पमिलेहा ॥

कृतयोगिना, गीतार्थेन वा तदन्यस्मिन् गृहापवरके स्थाप-नीयम्। अथ नास्ति पृथगपवरक.,ततो यस्तनायेव योऽपरिभो-ग्यकोणकस्तत्र चिलिमिलिकयाऽऽवृत्य उभय ग्लानागीतार्थल-क्षण यथा न पश्यति तथा स्थाप्यम्, यदि ग्लानस्तत्पश्यति तदा स यदा तदा तस्याभ्यवहार कुर्यात्। अगीतार्थस्य तु तत् दृष्ट्वा विपरिणामप्रत्ययादयो दोषा भवेयु.। (तस्सऽसइ त्ति) तस्यापरिभोग्यस्थानस्याभावे पुराण पश्चात्कृत. तस्य गृहे, आदिशब्दात् मातापितृसमानेषु स्थापयन्ति, तस्य च तद्दि-वस प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या।

तद्दिवस नाम प्रतिदिनम्। यदुक्त देश्याम्-" तद्दिवसं अणु-दिअहे इत्तिअए अणे उ दोहि वी कुञ्चा। " इत्यस्य व्या-ख्यानमाह-

फासुगमफासुगेण च, अचित्तेतर परित्तऽणंतेणं।
आहार तद्दिणेतर, सिणेह इयरेण वा करणं ॥

प्रासुकेन, अप्रासुकेन वा, अचित्तेन, इतरेण वा सचित्तेन, अनन्तेन च, आहारेण अनाहारेण वा तद्दैवसिकेन, इतरेण वा परिवासितेन, सस्नेहेन, इतरेण वा अस्नेहेन, ग्लानस्य चिकि-त्सायाः करणमनुज्ञानम्। गता ग्लानानुवर्त्तना। बृ० १ उ०। कल्प०। ओघ०। पं० चू०।

(१६) अथ वैद्यानुवर्त्तनामभिधित्सुः प्रस्तावनां रचयन्नाह-

विज्ज न चेव पुच्छह, जाणता विंति तस्स लवदिट्ठं।
पिलगाइएसु च तहा अजाणगा पुच्छए विज्जं ॥

ग्लानो ब्रूयात् यूय वैद्यं नैव पृच्छथ, आत्मच्छन्देनैव प्रति-चरण कुरुथ। ततो यदि ते साधवो जानन्त चिकित्सायां कुशलास्ततो ब्रुवन्ति-अस्माभिर्वैद्यः प्रागेव पृष्टस्तस्यैवायमुप-देश इति। यद्वा-प्रतिश्रयान्निर्गत्य कियन्तमपि भूभाग गत्वा मुहूर्त्तमात्र तत्र स्थित्वा समागत्य ब्रुवते अय वैद्येनोपदेशो दत्त इति। पिलग गण्डक, आदिग्रहणेन शीतलिका, दुष्टवातो वे-त्यादिपरिग्रह। एतेष्वपि यदि ज्ञास्तनः स्वयमेव कुर्वन्ति, अथाऽज्ञास्ततो ' विज्ज ' वैद्य पृच्छन्ति।

अत्र शिष्य पृच्छति-

किह उप्पन्नो गिलाणो, अट्ठम उण्होदगाइया सुद्धी।
किंचि वहु भागमद्धे, ओमे जुत्तं परिहरंते ॥

कथं केन हेतुना ग्लान उत्पन्न इति ?। सूरिराह-भूयांस खलु रोगातङ्का यद्वशाद् ग्लानत्वमुपजायते, "तच्छ्रुयत् त्रीणि शुष्य-न्ति, चक्षूरोगो ज्वरो व्रण " इति वचनात्। यदि ज्वरादिको वि-शेषेण साध्योऽन्यरोगनः ततो जघन्येनाप्यष्टम कारयितव्यः। यच्च यस्य रोगस्य पथ्य तत्तस्य कार्यम्। यथा-वातरोगिणो घृतादि-पान,पित्तरोगिण शर्करादियोजन,श्लेष्मरोगिणो नागरादिग्रह-णमिति। (उण्होदगाइया सुद्धि त्ति) उपवास कृतमसहिष्णु-र्यदि रोगेणाभुक्तः पारयति, तत एष क्रम.-उष्णोदक प्रक्षिप्य कूरसिक्थानि अमिलितानि,ईषन्मिलितानि वा सप्त दिनानि,एक वा दिनं दीयते, तत किञ्चित् उष्णोदकेन मधुरोल्लवण स्तोक प्रक्षिप्य तेन सहौदन द्वितीये द्वितीयसप्तके दिने वा दीयते, एवं तृतीये (वहु त्ति) बहुतर मधुरोल्लवण उष्णोदके प्रक्षिप्य दीय-ते। (भागे त्ति) चतुर्थे त्रिभागो मधुरोल्लवणस्य, द्वौ भागावुष्णो-दकस्य(अद्धे त्ति)पञ्चमे अर्द्ध मधुरोल्लवणस्य,अर्द्धमुष्णोदकस्य। षष्ठे (ओमे) त्रिभाग उष्णोदकस्य,द्वौ भागौ मधुरोल्लवणस्य, स-प्तमे सप्तके दिने वा युक्त किञ्चिन्मात्र उष्णोदक,शेष तु सर्वमपि मधुरोल्लवणमित्येव दीयते। तदनन्तर द्वितीयाद्वैरपि सहापथ्या-न्यवगाहिमादीनि परिहरन् समुद्दिशति यावत्पुरातनमाहारं परिणमयितु समर्थः सपन्नः, एवं उष्णोदकादिवृद्धिर्द्रष्टव्या। इह च सर्वोऽप्येक दिन बृहद्भाष्याभिप्रायेण, दिनसप्तक तु चूर्ण्यभिप्रायेणेति मन्तव्यम्।

अथ ' अट्ठम त्ति' पद व्याख्यानयन्नाह-

जाव न मुक्के ता अण-सणं तु मुक्के वि जा अभत्तट्ठो।
असहुस्स अट्ठ छट्ठ, नाऊण रुयं च जं जोग्ग ॥

यावदसौ ज्वरचक्षूरोग.दिना रोगेण न मुक्तस्तावदनशनमभ-क्तार्थलक्षण कर्त्तव्य, मुक्तेनाऽपि चैक दिवसमभक्तार्थो विधेय.। अथासावसहिष्णुस्ततोऽष्टम वा षष्ठ करोति, ज्ञात्वा रुज रोग-विशेष यदेव योग्य शोषणमशोषण वा तत्र कार्यम्, यदेव कुर्वाणेनासौ रोग उपशाम्यति ततः सुन्दरम्।

(१७) अथ नोपशाम्यति तत को विधिरिति ?, आह-

एवं पि कीरमाणे, विज्ज पुच्छे अठायमाणम्मि।
विज्जाण अट्ठग दो, अणिड्ढि इड्ढीअणिड्ढियरे ॥

एवमपि क्रियमाणे यदि रोगो न तिष्ठति नोपशाम्यति ततस्त-स्मिन्नतिष्ठति वैद्य पृच्छन्ति। अथ कियन्तो वैद्या भवन्तीति ?। आह-वैद्यानां एतच्चाष्टक मन्तव्य,तत्र द्वौ वैद्यौ नियमादनृद्धिकौ ऋद्धिरहितौ, इतरे षट् वैद्या ऋद्धिमन्तोऽनृद्धिमन्तो वा।

तदेव वैद्याष्टक दर्शयति-

संविग्गमसंविग्गे, दिट्ठत्थे लिंगि सावए सण्णी।
अस्सण्णि इड्ढि गइरा -गई य कुसलेण तेगिच्छं ॥

सविग्न उद्यतविहारी १ असविग्नस्तद्विपरीत २, लिङ्गविशेष-मात्र ३, श्रावक प्रतिपन्नाणुव्रतः ४, सञ्ज्ञी अविरतसम्यग्दृष्टिः ५, असञ्ज्ञी मिथ्यादृष्टि. ६। स च त्रिधा-अन्येन गृहीतमि-

ध्यादृष्टिः ७, अभिग्रहीतमिथ्यादृष्टि ८, परतीर्थिकश्चेति ९। (दिट्ठत्थे य त्ति) दृष्ट उपलब्धो अर्थो छेदश्रुताभिधेयरूपो येन स दृष्टार्थो, गीतार्थ इत्यर्थः। एतत्पदं सप्रतिपक्षमत्र सर्वत्र योजनीयम्। तद्यथा-यः संविग्नः स गीतार्थो वा स्यादगीतार्थो वा। एवमसंविग्नादिलिङ्ग्यश्रावकसाङ्गिष्वपि गीतार्थमगीतार्थत्वं च द्रष्टव्यम्, तथा चूर्णिकृता व्याख्यातत्वात्। अनभिगृहीतादयस्तु त्रयोऽपि नियमादगीतार्थाः। (इड्ढि त्ति) संविग्नासंविग्नौ नियमादनृद्धिकौ, शेषास्तु ऋद्धिमन्तो वा अनृद्धिमन्तो वा भवेयुः। सर्वेऽपि चैते प्रत्येकं द्विधा-कुशला अकुशलाश्च, गत्यागतिर्विचारणिका, सा चामीषां कर्त्तव्या। तद्यथा-प्रथमं संविग्नगीतार्थेन चिकित्साकर्म कारयितव्यम्, अथासौ न लभ्यते ततोऽसंविग्नगीतार्थेन, तदप्राप्तावसंविग्नागीतार्थेनाऽपि। एवं लिङ्गस्थादिष्वपि साङ्गिपर्यन्तेषु भावनीयम्, तेषां मप्राप्तौ पूर्वमनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिना, ततोऽभिगृहीतमिथ्यात्वेन, तदनन्तरं परतीर्थिकेनापि कारयितव्यम्। एते च पूर्वमनृद्धिमन्तो गवेषणीयाः, न ऋद्धिमन्तः, तदीयगृहेषु प्रवेशतया बहुदोषसद्भावात्। एवं ते च यदि चिकित्साकुशला भवन्ति तत इत्थं क्रमः प्रतिपत्तव्यः-संविग्नगीतार्थः सोऽकुशलो, यस्त्वसंविग्नगीतार्थः स कुशलः, ततः संविग्नगीतार्थं परित्यज्यासंविग्नगीतार्थेन कारणीयः। एवं बहून्यप्यपान्तराले परित्यज्य यः कुशलस्तेन चैकित्स्यं कारयितव्यम्। एषा गत्यागतिः प्रतिपत्तव्या। यद्वा-(इड्ढिगइरागइ त्ति) ऋद्धिमति गत्यागती कुर्वाणे महदधिकरणं भवति, अतोऽनृद्धिना कारयितव्यम्। नचैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम्। यत आह विशेषचूर्णिकृत्-" अह वा गइरागइ त्ति, इड्ढिमताए इतजंतामे अहिगरणदोसा, तम्हा अणिड्ढिणा कारेयव्व त्ति "॥

अमुमेवार्थमपराचार्यपरिपाट्या दर्शयति-

संविग्गेतर लिंगी, वइअवइअणागाढआगाढे।
परउत्थिय अट्ठमए, इड्ढी गइरागई कुसले॥

संविग्नः १, इतरश्चासंविग्नः २, लिङ्गी चेति त्रयोऽपि प्राग्वत् ३, व्रती प्रतिपन्नाणुव्रतः ४, अव्रती अविरतसम्यग्दृष्टिः ५, अनागाढोऽनभिगृहीतदर्शनविशेषः ६, आगाढोऽभिगृहीतमिथ्यादर्शनः ७, परयूथिकः शाक्यपरिव्राजकादिरष्टमः ८।

"इड्ढीगइरागई कुसले त्ति" व्याख्यानार्थमनन्तरोक्तक्रमविपर्यासे प्रायश्चित्तमाह—

वोच्चत्थे चउ लहुगा, अगियत्थे चउरो मासऽणुग्घाया।
चउरो य अणुग्घाया, एवमकुसलेण करणं तु॥

संविग्नं गीतार्थं मुक्त्वा असंविग्नगीतार्थेन कारयति, एवमादिविपर्यस्तकरणे चत्वारो लघवः; गीतार्थं मुक्त्वा अगीतार्थेन कारयति चत्वारो मासा अनुद्घाताः, कुशलं विहायाऽकुशलेन कारयति चत्वारोऽनुद्घाता मासाः। यत एवमतः कुशलेन चिकित्साकारणमनुज्ञातम्।

(२१) अथ वैद्यसमीपं गच्छतां विधिमभिधित्सुराह-

चोयगपुच्छागमणे, पमाणउवगरणसउणवावारे।
संगारो य गिहीणं, उवएसो चेव तुलणा य॥

प्रथमतो नोदकपृच्छा वक्तव्या, ततो गमनं वैद्यसकाशे साधूनां, ततस्तेषामेव प्रमाणं, तत उपकरणं, ततः शकुनाः, तदनन्तरं वैद्यस्य व्यापारः प्रशस्ताप्रशस्तरूपः, ततः संगारः संकेतो गृहिणा पश्चात्कृतादीनां यथा कर्त्तव्यः, ततो वैद्येनौषधादिविषय उपदेशः, यथा दीयते, ततस्तमुपदेशं श्रुत्वा यथा स्वयं तुलना कर्त्तव्या। तदेतत्सर्वमपि वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थं प्रतिपाद्यते, तत्र प्रथमं नोदकपृच्छाद्वारं शिष्यः पृच्छति-किं ग्लानो वैद्यसमीपं नीयताम् ?, अथ वैद्य एव ग्लानसकाशमानीयताम् ?। अत्र कश्चिदाचार्यदेशीयः प्रतिवचनमाह-

पाहुडिय त्ति य एगो, नेयव्वो गिलाण एव विज्जघरं।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

एकः कश्चिदाह-वैद्ये ग्लानान्तिकमानीयमाने प्राभृतिका वक्ष्यमाणलक्षणा भवति, अतो ग्लान एव वैद्यगृहं नेतव्यः। इत्थमाचार्यदेशीयेनोक्ते सूरिराह-एवं तत्र ग्लाननयनविषये भणतो भवतश्चत्वारो मासा गुरुका भवन्ति।

केयं पुनः प्राभृतिकेति ?, अत आह-

रहहत्थिजाणतुरए, अतुरगाईहि इत्ति कायवहो।
आमए मट्टिय उदए, कुरुकुय सघरे उ परजोगो॥

रथहस्तिनौ प्रतीतौ, यानं शिबिकादि, तुरगः प्रसिद्धः, अतुरङ्गा गन्त्री, एतैरादिशब्दादपरेण वा चिह्नेनायाति आगच्छति वैद्ये कायानां पृथिव्यादीनां वधो भवति। तथा समायातस्यासनदातव्यं, ग्लानस्य च शरीरे परामृष्टे व्रणादिपाटने वा कृते कुरुकुचाकारापणे मृत्तिकाया उदकस्य च वधो भवति, स्वगृहे तु परप्रयोगेण सर्वमपि भवति, न साधूनां किमप्यधिकरणं भवतीत्यर्थः।

एषा प्राभृतिका वैद्ये ग्लानसमीपमानीयमाने यतो भवति अतः किमिति ?, आह-

लिंगत्थमाइयाणं, छण्हं वेज्जाण गम्म उम्मूलं।
संविग्गमसंविग्गे, उवस्सग चेव आणेज्जा॥

लिङ्गस्थादीनां षण्णामपि वैद्यानां गृहं ग्लानं गृहीत्वा गम्यताम्, नैते उपाश्रयमानेतव्याः, अधिकरणदोषसंभवात्। संविग्नोऽसंविग्नश्च एतौ द्वावप्युपाश्रयमेवानयेत्, दोषाभावात्।

एवं परेणोक्ते सूरिराह-

वातातवपरितावण, मयपुच्छा सुण्ण किमु मरणकुडी।
स चेव य पाहुडिया, उवस्सए फासुया सा उ॥

ग्लानो वैद्यगृहं नीयमानो वातेनाऽऽतपेन च महतीं परितापनामनुभवति (मयपुच्छ त्ति) लोकस्तं तथा नीयमानं दृष्ट्वा पृच्छति-किमेष मृतो यदेवं नीयते ?, (सुण्णे त्ति) स ग्लानो नीयमानोऽपान्तराले अपद्राणः, ततो वैद्येन यावत् मुखमुद्घाटितं तावत् शून्यं जीवरहितं शवं तिष्ठतीति विज्ञाय ब्रूयात्-किं मदीयं गृहं श्मशानकुटी यदेनं मृतमानयत ?। ततः स वैद्यः शवस्य स्पृष्टोऽहमिति कृत्वा सचेलः स्नायात्, फलहकाद्यन्तरे वा छगणपानीयं दापयेत्, ततो न तु सैव प्राभृतिका समधिकतरा प्रभवेत्, उपाश्रये पुनः प्रासुकपानकादिना सा क्रियते तेनोभयका विराधना भवतीति। गतं नोदकपृच्छाद्वारम्।

(२२) अथ गमनद्वारमाह-

उग्गहधारणकुसले, दक्खे परिणामए य पियधम्मे।

कालन्नू देसन्नू, तस्साणुमए अ पेसिज्जा ॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशं ये झगित्येवावबुध्यन्ते,न चिरादपि विस्मा-रयन्ति,ते अवग्रहधारणाकुशलाः,तान्, तथा दक्षान् शीघ्रकारि-णः, परिणामकान्यथास्थानमपवादपदपरिणमनशीलान् प्रिय-धर्म्मणो धर्मश्रद्धालून्, कालज्ञान वैद्यान्तिके प्रविशतो यः कालः प्रस्तावस्तद्वेदिनो, देशज्ञान् यत्र प्रदेशे वैद्य उपविष्टस्त प्रशस्त-मप्रशस्तं वा ये जानते, तान्, तथा तस्य ग्लानस्य वैद्यस्य वा ये अनुमता अभिप्रेतास्तान् वैद्यसकाशं प्रेषयेत् ।

अत्रैव व्यतिरेकप्रायश्चित्तमाह-

एअगुणविप्पमुक्के, पेसिंतस्स चउरो अणुग्घाया ।
गीयत्थेहि य गमणं, गुरुगा य इमेहिँ ठाणेहिँ ॥

एते अवग्रहधारणाकुशलत्वादयो ये गुणास्तैर्विमुक्तान् प्रे-षयत आचार्यस्य चत्वारो अनुद्घाताः प्रायश्चित्तम् । गीतार्थैश्च तत्रागमनं कर्त्तव्यं, चतुर्गुरुकाश्च प्रायश्चित्तमेभिर्वक्ष्यमाणैर्म-न्तव्यम् ।

(२३) तान्येवाभिधित्सुः प्रमाणोपकरणद्वारद्वयमाह-

एक्कग दुगं चउक्कं, दंडो दूया तहेव नीहारी ।
किएहे नीले मइले, चोल रय निसज्ज मुहपत्ती ।

यद्येकः साधुर्वैद्यसमीपे प्रेष्यते ततः स वैद्यो यमदण्डोऽयमाग-त इति दुर्निमित्तं गृह्णीयात्, अथ द्वौ प्रेष्येते ततो यमदूताविवतौ मन्येत, अथ चत्वारः प्रेष्यन्ते,ततो नीहारिणः शवस्य स्कन्धदा-यिनो अमी इति मनुयात्,एतावतां च प्रेषणे चतुर्गुरुकम् । उपक-रणद्वारे यदि कृष्णं नीलं मलिनं वा, उपकरणं चेह चोलपट्टको रजोहरणं निषद्याद्वयोपेतं मुखवस्त्रिका, उपकरणत्वादौर्णिक-सौत्रिकौ च कल्पाविति मन्तव्यम्, ततः शुक्लं श्वेतं चोपकरणं गृहीतव्यम् ।

(२४) अथ शकुनद्वारमाह—

मइल कुचेले अब्भं-गीयल्ल एसाण खुज्ज वडभे य ।
कासायवत्थ उच्छू-लिया य कज्जं न साहिंति ॥
नंदी तूरं पुण्ण-स्स दंसणं संखपमहसद्दो य ।
भिंगारछत्तचामर, एमादीइं पसत्थाइं ॥

अनयोर्व्याख्या प्राग्वत् ।

आवडणमाइएसुं, चाउम्मासा हवंतऽणुग्घाया ॥
एवं ता वच्चंते, पत्ते य इमे भवे दोसा ॥

आपतनं द्वारादौ शिरसो घट्टनम्, आदिशब्दात्प्रपतनं,प्रस्खलनं वा सञ्जातम् । अपरेण वा वस्त्रादौ गृहीत्वा पश्चान्मुखमाकृष्टः, कुत्र वा व्रजसीत्यादि भणितः, गच्छ तमेव वा केनापि कृतम् । एवमादिषु अपशकुनेषु सञ्जातेषु यदि गच्छति तदा चत्वारो मासा अनुद्घाता भवन्ति, एवं तावद् व्रजतो मन्तव्यम् । अथ वैद्यगृहं प्राप्तस्ततः इमे दोषाः परिहर्त्तव्या भवन्ति ।

(२५) तानेव प्रतिपादयन् व्यापारद्वारमाह-

साडऽब्भंग उव्वट्टण, लोय छारुक्कुरुडे छिंदभिंदंतो ।
सुहआसणरोगविहिं, उवएसो वा वि आगमणं ॥

एकशाटकपरिधानो यदा वैद्यो भवति तदा प्रष्टव्यः, एवं तैलादिना अभ्यङ्गं, कल्कलोध्रादिनोद्वर्तनं, लोचकर्म वा कूर्चमुण्डनादि कारयेत्, क्षारस्य भस्मनः, उत्कुरुटकस्य क-चवरपुञ्जकस्य, उपलक्षणत्वाद् बुसादीनां वा समीपे स्थितः, स्फोटकादिना वा दूषितं कस्याप्यङ्गं छिन्दानो घटमलाबुकं वा भिन्दानः शिराया वा भेदं कुर्वाणो न प्रष्टव्यः । अथ ग्लान-स्यापि किञ्चित् छेत्तव्यं,भेत्तव्यम्,ततः छेदनभेदनयोरपि प्रष्टव्यः। अथासौ शुभासने उपविष्टो रोगविधिं वैद्यशास्त्रपुस्तकं प्रसन्नमु-खः प्रलोकयति,अथ वा रोगविधिः चिकित्सा, तां कस्यापि प्रयु-ञ्जान आस्ते, ततः प्रष्टव्यः । स च वैद्यः पृष्टः सन्नुपदेशं वा दद्यात्, ग्लानसमीपे वा आगमनं कुर्यात् ।

(२६) अथ सङ्गारश्च गृहिणामिति द्वारं व्याख्यानयति-

पच्छाकडे य सन्नी, दंसणहा भद्द दाणसड्ढे य ।
मिच्छद्दिट्ठी संब-न्धिए अ परतित्थिए चेव ॥

पश्चात्कृतश्चारित्रं परित्यज्य गृहवासं प्रतिपन्नः, सञ्ज्ञी गृहीता-णुव्रतः, दर्शनसंपन्नो अविरतसम्यग्दृष्टिः, तथा भद्रकः सम्य-क्त्वरहितः परं सर्वज्ञशासने, साधुषु च बहुमानवान्, दानश्राद्धो दानरुचिः, मिथ्यादृष्टिः शाक्यादिशासनस्थः, सबन्धी स्वजनः परतीर्थिकः सरजस्कपरिव्राजकादिः, एतेषां सङ्केतः क्रियते । य-था-वैद्यस्य पार्श्वं वयं गच्छामो भवद्भिस्तत्र संनिहितैर्भवितव्यम्। यदसौ ब्रूयात् तत् युष्माभिः सर्वमपि प्रतिपत्तव्यम् ।

ये वैद्यसमीपे प्रस्थापितास्ते वैद्यस्येदं कथयन्ति-

वाहिं नियाण विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च ।
आहार अग्गि धिइबल, समुइं च कहिंति जा जस्स ॥

व्याधिं ज्वरादिरोगं, निदानं रोगोत्थानकारणं, विकारं प्रव-र्द्धमानरोगविशेषं, देशं ग्लानत्वोत्पत्तिनिबन्धनप्रवातादिप्रदे-शं, कालं रोगोत्थानसमयं पूर्वाह्णादिकं, वयश्च तारुण्यादिकं, धातुं च वातादीनां धातूनामन्यतमो य उत्कटस्तम्, आहा-रमल्पभोजित्वादिलक्षणम्, अग्निबलं जाठरो वह्निरस्य मन्दः प्रबलो वा, इत्येवं धृतिबलं सात्विकः, कातरो वा इत्येवं, तथा (समुइं त्ति) प्रकृतिः, सा च या यस्य जन्मतः प्रभृति, तां च कथयन्ति ।

(२७) वैद्यस्य उपदेशद्वारम्-

कलमोदणो उ खीरं, ससक्करं तूलियाइया दव्वे ।
भूमिघरेऽट्टग खेत्ते, काले अमुगीइ वेलाए ॥
इच्छाणुलोम भावे, न य तस्स हिया जहिं भवे विसया ।
अहव ण दित्तादीसुं, पडिलोमा जा जहिं किरिया ॥

अनन्तरोक्तव्याधिनिदानादि श्रुत्वा वैद्यः स्वगृहस्थित एव द्र-व्यादिभेदाच्चतुर्विधमुपदेशं दद्यात् । तद्यथा-द्रव्यतः कलमशा-लेरोदनं, तथा क्षीरं च सशर्करमस्य दातव्यं, तथा तूलिकायां शाययितव्यः, आदिशब्दात् गोशीर्षचन्दनादिना विलेपनीय इ-त्यादि । क्षेत्रतो भूमिगृहे, पक्वेष्टकागृहे वाऽस्य स्थापनीयः,का-लतोऽमुकस्यां वेलायां प्रथमप्रहरादौ भोजनमस्य कारणीयः, भावतो यदस्य स्वकीयाया इच्छाया अनुलोममनुकूलं तदेव कर्त्तव्यं, नास्याऽऽज्ञा कोपनीया । तथा यत्र तस्य ग्लानस्य वि-षया अहिताः अनिष्टाः क्रन्दितविलपितादिरूपा गीतवादित्रगो-चरा वा शब्दादयो न भवन्ति, तत्र स्थापनीय इति शेषः। (अह व ण त्ति) अथ वा-दृप्तादिषु दृप्तचित्तप्रभृतिषु प्रतिलोमा क्रि-या कर्त्तव्या, तत्र दृप्तचित्तस्यापमानना, यथा-अपमानादिनाऽ-

पहृतश्चित्तस्य तस्य दर्पातिरेकज उन्माद शाम्यति, संमानमा यक्षाविष्टस्य तु यथायोगमपमानना वा विधेया, ज्वरादौ वा रोगविशेषणादिका क्रिया या यत्र विद्यते सा च तत्र विधयेति।

(२८) अथ तुलनाद्वारमाह-

अपमिहणंता सोउ, कयजोगाऽलाभितस्स किं देमो ।
जहविभवा तेगिच्छा, जा लभो ताव जूहंति ॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशमप्रतिघ्नन्तस्तद्वचनमविकुट्टयन्तः श्रुत्वा आत्मान तोलयन्ति-किमेतत् कलमशाल्यादि लप्स्यामहे, नवेति ?। यदि विज्ञायत-ध्रुव लप्स्यामहे ततो न किमपि भणन्ति। अथ न तस्य ध्रुवो लाभ, ततो भणन्ति-यथा युष्माभिरुपदेशा दत्तास्तथा वयं योग करिष्याम, पर यदि कृतेऽपि योगे न लभामहे, ततस्तस्य किं दद्म ?। अपि च-वैद्यकशास्त्रे यथाविभवा यथाऽनुरूपा,चिकित्सा भणिता,यस्य यादृशी विभूतिस्तस्य तदनुरूपैरौषधैः पथ्यैश्च चिकित्सा क्रियते इत्यर्थ । अतो यूयमपि जानीथ-यथाऽस्माक सर्वमपि याचित लभ्यते,नाऽयाचितम्; अतो यदा कलमशाल्यादि याच्यमानमपि न प्राप्यते, तदा किं दातव्यमिति ?, इत्येवं वैद्योपदेशमुपसर्पयन्तस्तावज्जूहन्ति आनयन्ति यावद्यस्य द्रव्यस्य कोद्रवकूरादेः क्षीरशर्करादेर्वा लाभो भवति ।

तुलनामेव प्रकारान्तरेणाह-

नियएहि ओसहेहिं, को इ भणेज्जा करेमहं किरियं ।
तस्सऽप्पणो य थामं, नाउं जावं च आणुमत्ता ॥

ग्लानस्य कोऽपि सज्ञातको वैद्यो भणेत्-निजकैरौषधैरहं ग्लानस्य करोमि क्रियां, प्रेषयत मदीये गृहे ग्लानमिति। ततो गुरुभि पृष्टेन ग्लानेन तस्यात्मनश्च स्थाम वीर्यं तोलनीयम् । किमेष वैद्य औषधानि पूरयितु समर्थो, न वा ?। अहमपि किं धृत्या बलवान् ?, आहोस्विदबलवान्। भावो नाम किमेष धर्महेतोश्चिकित्सां चिकीर्षुः स्वगृहे मामाकारयति, उताहो निष्क्रामणाभिप्रायेणेति। यद्यसौ गृहस्थ औषधपूरणे समर्थो, यदि च स्वयं धृत्या बलवान्, यदि च धर्महेतोः सञ्ज्ञातकस्तत्साऽऽत्कारयति, तत एव तस्यात्मनश्च वार्य भाव च ज्ञात्वा गुरूणामनुज्ञा गृहीत्वा तत्र गन्तव्यम्।

अथ वैद्यो ब्रूयात्-

जारिसयं गेलन्नं, जा य अवत्था उ वट्टए तस्स ।
अद्दट्ठूण न सक्का, वोत्तुं तं वच्चिमो तत्थ ॥

यादृश युष्माभिर्ग्लानत्वमाख्यात, या च तादृशी तस्यावस्था वर्त्तते, तदेतददृष्ट्वा न शक्यते किमप्यौषधादि वक्तु, उपदेष्टु च, ततस्तत्रैव ग्लानसमीपे व्रजाम इति ।

(२६) एव भणित्वा प्रतिश्रयमागतस्य यो विधिः कर्त्तव्यस्तमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

अब्भुट्ठाणे आसण, दंसण जहे चिती य आहारो ।
गिलाणस्स आहारे, नेयव्वो आणुपुव्वीए ॥

प्रथममभ्युत्थानविषयो विधिर्वक्तव्य., तत आसनविषय', ततो ग्लानस्य दर्शना यथा क्रियते, ततो (भद्दे त्ति) भद्रको वैद्यो यथा चिकित्सामेवमेव करोति, इतरस्य तु भृतिर्भञ्जनादिक, चिकित्साचेतनम, आहारश्च यथा दातव्यः, ग्लानस्य च तथा आहारे यतना कर्त्तव्या। एव सर्वोऽपि विधिरानुपूर्व्या प्ररूप्यमाणो ज्ञातव्यः। इति समुदायार्थः।

अवयवार्थं तु प्रतिद्वारमभिधित्सुराह-

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ।
मिच्छत्त राऽयाणं, तस्स कुलस्स व विराहणया ॥

अभ्युत्थाने गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयु', तथा मिथ्यात्व राजादयो व्रजेयु , आदिग्रहणेन राजामात्यादिपरिग्रहः। ते हि चारपुरुषादिमुखादाचार्यं वैद्यस्याभ्युत्थितं श्रुत्वा स्वयं वा दृष्ट्वा चिन्तयेयुः-"अमी श्रमणा अस्माकमभ्युत्थान न कुर्वन्ति अस्मद्भृत्यस्य तु नीचतरस्येत्थमभ्युत्तिष्ठन्ते, अहो ! दुर्दृष्टधर्माणोऽमी" इति प्रतिविद्विष्टा वा यस्तस्यैवाचार्यस्य,यदि वा कुलस्य, सङ्घस्य वा विराधना कुर्यु', तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम्।

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा ।
मिच्छत्त सो व अन्नो, गिलाणमादी विराहणया ॥

अथैतद्दोषभयादाचार्यो नोत्तिष्ठति,तथापि च गुरुका ,तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयु.,स च वैद्योऽन्यो वा दृष्ट्वा मिथ्यात्व गच्छेत्,यथा-अहो ! तपस्विनोऽपि गर्वमुद्वहन्ति,प्रद्विष्टो वा वैद्यो ग्लानस्य क्रियां न कुर्यात, अपप्रयोगे वा कुर्यात, एव ग्लानविराधनाम्,आदिशब्दादाचार्यादेर्वा राजवल्लभतया विराधनां कुर्यात्। यद्वा-युष्माकं देहे अमुको व्याधिर्वर्त्तते तच्चिकित्सार्थममुकमौषध दास्यत इति भणित्वा विरुद्धौषधप्रदानेनाचार्य विराधयेत।

यत एते दोषा अतोऽयं विधि कर्त्तव्य.-

गीयत्थे आणयणं, पुव्विं उट्ठित्तु होइ अभिलावो ।
गिलाणस्स दसणं धो-वणं च चुन्नादि गंधे य ॥

गीतार्थैर्वैद्यस्य प्रतिश्रये आनयनं कर्त्तव्य, यदि ते पञ्च जनास्ततः सघाटकप्रथमत एवागच्छति। अथ त्रयस्तत एकस्तन्मध्यात्प्रथममागच्छति, आगत्य च गुरूणां कथयति-वैद्य आगच्छतीति। ततो गुरवो द्वे आसने तत्र साधुभिः स्थापयन्ति। स्वय तु चङ्क्रमणलक्ष्येण पूर्वं वैद्यागमाभावात् प्रागेवोत्थायाऽन्यत्र स्थिता आसते, गीतार्थैश्चाभिवेदयितव्यम्-एष वैद्य इति। आचार्यैश्च पूर्वमनालपतोऽपि वैद्यस्याभिलाप कर्त्तव्यः पूर्वन्यस्तेन चासनेनोपनिमन्त्रणीय.। तत्र आचार्यो वैद्यश्च द्वावप्यासने उपविशत ,ततो ग्लानस्य दर्शना कार्या। कथमिति ?। आह—ग्लानस्य यदुपकरणे शरीरे वा अशुचिनोपलिप्तं तस्य धावन प्रक्षालनं कर्त्तव्य, चशब्दात खेला कायिकीसंज्ञामात्रकाण्येकान्ते स्थापनीयानि,भूमिकाय उपलेपन सम्मार्जन च विधेयम्। तथापि यदि दुर्गन्धो भवति ततः पटवासादिचूर्णादि तत्र विकीर्यते,आदिशब्दात् कर्पूरादिभि· सुगन्धिद्रव्यैः अशुभो गन्धोऽपनीयते, तत प्रावृतश्लक्ष्णवासा· शुचीभूतो ग्लानो वैद्यस्य दर्श्यते। यदि तस्य किञ्चिद्व्रणादिक पाटयितव्यं तदा तस्मिन्पाटिते सति उष्णोदकादिप्रासुक हस्ते दातव्यम्। अथोष्णोदकमसौ नेच्छति तत· पश्चात्कृतादयो मृत्तिकामुदकं वा प्रयच्छन्ति। गतमभ्युत्थानासनदर्शनाद्वारत्रयम्।

(३०) अथ भद्रकद्वारमाह-

चउपादा य तिगिच्छा, को भेसज्जाइ दाहिई तुब्भं ।
ताहियं च पुव्वपच्छा, भणति पच्छाकमा अम्हे ॥

वैद्यो ब्रूयात्-चिकित्सा चतुष्पादा भवति। चत्वार· पादाश्चतुर्थाशरूपा यस्यां सा चतुष्पादा। तद्यथा-आतुर', प्रतिचरको, वैद्यो, भेषजानि। अत' को नामास्य योग्यानि भेषजानि युष्माकं प्रदास्यति ?। ततस्तत्र दृष्टसङ्केततया पूर्वप्रासा· पश्चात्कृतादयो

भणन्ति-वयं दास्याम इति । एवं नापृच्छन्तो वैद्य क्रियां करोति न चाम्पयिकमपि स्पृशति ।

(३१) यत्तु प्रागुक्तमुद्दिश्य सूत्रिद्वारमादाय तदुत्तरं चाह-

कोई मज्जणगविहिं, सयणं आहार उवहि केवइए ।
गीयत्थेहि य जयणा, अजयण गुरुगाइ आणाई ॥

कश्चिद्वैद्यो ब्रूयात्-मज्जनं स्नानं तस्य विधिः प्रकारो मज्जनविधिः, तैलाभ्यङ्गनादिप्रक्रियापुरस्सरं स्नानमित्यर्थः । शयनं पल्यङ्कादि, आहारो भोजनम्, उपधिर्वस्त्रादिरूप (केवइए त्ति) कियान् । एतावन्मम को नाम दास्यतीति ? ततः पश्चात्कृतादिभिर्यतनया वक्तव्यम् । अयतनया प्रत्युत्तरयन्ति, प्रेषयन्ति वा, ततश्चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । एषा पुरातनी गाथा ।

इदमेवार्थं विभावयिषुराह-

एयस्स नाम दाहिइ, को मज्जणगाइ दाहिई मज्झं ।
ते चेव ण भणंती, जं इच्छसि अम्हे तं सव्वं ॥

एतस्य ग्लानस्य, साधोरिति गम्यते, यावत्कृतादि प्रयच्छन्ति, तत्सर्वं दास्यथ, मे तु पुनर्मज्जनकादि को दास्यति ? इत्युक्ते त एव पश्चात्कृतादयो (ण भणंति) तं वैद्यं भणन्ति यदिच्छसि तत्सर्वं वयं दास्याम इति ।

जं एत्थ अम्हे सव्वं, पडिसेहे गुरुग आणादी ।
एयंसि असंतए, पडिसेहे गुरुग आणादी ॥

ये वैद्ये पूर्वं पश्चात्कृतादयः सन्तो वैद्येन स्नानस्य युष्माकं कोऽपि दास्यतीति पृच्छन्ति, तदा पश्चात्कृतादयः सन्ति युक्ते भवति, तत्र साधुस्तान् निरुन्धन्ति तथाऽपि प्रतिषेधयन्ति, तस्य चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । अथ न सन्ति पश्चात्कृतादयस्तत एतेषां असद्भावे यो वैद्यं प्रतिषेधयति, न वयं भवतो मज्जनादि दास्याम इति, तस्यापि चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः ।

पश्चात्प्रतिषेधमानेषु यो व्याघातो भवति तदाह-

जुत्तं सयं न दाउं, अन्नि देंते वि ऊ निवारेंति ।
न करिज्ज तस्स किरियं, अवप्पओगं व से दिज्जा ॥

युक्तमेतेषां स्वयमदातुम्, अप्रतिग्रहत्वात्, यत्र पुनरन्यान् ददतो निवारयन्ति, तन्न युज्यते, एवं प्रद्विष्टः सन् तस्य ग्लानस्य क्रियां न कुर्यात्, अपप्रयोगं वा विरुद्धौषधप्रयोगं 'से' तस्य दद्यात् प्रयुञ्जीत, तस्मादन्यान् न निवारयेदिति ।

दाहामो त्ति य गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा ।
संका व सूयएहिं, हिरण्णे नट्ठे तेणए वा वि ॥

पश्चात्कृतादीनामभावे यदि साधवो भणन्ति-वयमपि युष्मभ्यं तत् सर्वमपि दास्याम इति, तदा चत्वारो गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः तथा कस्यापि हिरण्यादौ केनचित् हृतेऽन्यथा वा नष्टे सति शङ्का भवति-अहिरण्यसुवर्णा श्रमणा यद्दास्याम इति भणन्ति, तन्नूनमेतैरेव गृहीतमिति । यद्वा-सूचकैरारक्षकादिभिस्तत् श्रुत्वा राजकुले गत्वा सूच्यते । यथा—स्तेनका एते श्रमणा ये वैद्यस्य हिरण्यादिकं दातव्यतया प्रतिपद्यन्ते, ततो ग्रहणाकर्षणादयो दोषाः ।

पडिसेह अजयणाए, दोसा जयणा इमेहि ठाणेहिं ।
भिक्खण इड्डि विइयपद, रहिए जं नाहिहिसि जुत्तं ॥

पश्चात्कृतादीनामभावे यदयतनया प्रतिषेधयन्ति-न वयं भृतिं वा भक्तं वा दास्याम इति, ततश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । तस्मादेतना एभिः स्थानैः कर्तव्या (भिक्खण त्ति) भिक्षां कृत्वा वयं दास्यामः, (इड्डि त्ति) ऋद्धिमता वा निष्क्रामता यत् किमपि निक्षिप्तं तद् गृहीत्वा दास्यामः, द्वितीयपदे वा कस्मिंश्चित्कारणे जाते सति तदर्थं जातं गृहीतं तत इतो दास्यामहे (रहिए त्ति) पश्चात्कृतादिरहिते एवं भणति-(जं नाहिहिसि जुत्तं ति) यत् त्वं भणिष्यसि तद्यथाशक्ति करिष्यामो, यद्वा अस्माकं युक्तमुचितं तद्विधास्याम इति ।

अथासौ वैद्यो ब्रूयात्-

अरिहण्ण त्थ भगवं !, सक्खी ठावेह जे ममं देंति ।
घेत्तुं पि दुद्धकंखी, ण लब्भइ दुद्धं अधेणूतो ॥

भगवन् ! अहिरण्यका स्थ यूयमतः साक्षिणः स्थापयत, ये मम पश्चाद्दास्यन्ति । अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति-(घेत्तुं पि त्ति) ऐश्वर्यवतात्यादातिशयेनापि दुग्धकाङ्क्षी न लभते दुग्धमधेनोः सकाशात् ।

एवं वैद्येनोक्ते किं कर्तव्यमिति ?, आह-

पच्छाकडाइजयणा, दावणकज्जेण जा भणिय पुव्विं ।
सच्चाणिज्जाविहूणे, ते चिय इच्छंतगा सक्खी ॥

पश्चात्कृतादिविषया मज्जनकादिदापनकार्येण या पूर्वं यतना भणिता सैव इह मन्तव्या, नवरं ये पश्चात्कृतादयः श्रद्धया, विनयेन च विहीनास्ते एव इच्छन्तः सन्त इह साक्षिणः स्थाप्यन्ते । यथा-एवं निष्क्रामन् कृत्वा यथाशक्त्यमेतस्य दास्याम इति । अथ ते साक्षित्वमपि नेच्छन्ति ततो यः ऋद्धिमान् प्रव्रजितः स इदं ब्रूयात्-

पंचसयदाणगहणे, पलालखेलाण छड्डणं च जहा ।
सहस च सयसहस्सं, कोडी रज्जं व अमुग वा ॥
एव ता गिहिवासे, आसी व इयाणि किं भणिहामो ।
जं तुज्झ मह य जुत्तं, तं उग्गाढम्मि काहामो ॥

यथा पलालखेलयोश्छर्दनं विधीयते तथा दीनानाथादिभ्यो वयं रूपकाणां पञ्चशतानि हेलयैव दानं दत्तवन्तः, उपार्जनमपि कुर्वाणाः पञ्चशतानां ग्रहणमेवमेव कृतवन्तः, एवं सहस्रं, शतसहस्रं, कोटी राज्यम्, अमुकम् अनिर्दिष्टसंख्यास्थानं, लीलयैव वयं दत्तवन्तः, स्वीकृतवन्तो वा, तदस्माकं गृहवासे विभूतिरासीत्, इदानीं पुनरकिञ्चनाः श्रमणाः सन्तः किं भणिष्यामः, किं करिष्याम इति भावः, परं तथाऽपि ग्लाने उद्गाढे प्रगुणीभूते सति यत्तवास्माकं च युक्तमनुरूपं तत्करिष्याम इति । एवं तावत् स्वग्रामे वैद्यविषया यतना भणिता । अथ स्वग्रामे वैद्यो न प्राप्यते ततः परग्रामादप्यानेतव्यः ।

तत्र विधिमाह-

पाहिज्जे नाणत्तं, बाहिं तु भईए एस चेव गमो ।
पच्छाकडाइएसुं, असहीए रहिए उ जो भणिओ ॥

पाथेयं नाम कण्टकमर्दनवेतनं यत्तस्य भक्तादि दीयते तत्र नानात्वं विशेषः, वास्तव्यवैद्यस्य तु न संभवति, अस्य तु भवतीति भावः । तत्र च बहिर्ग्रामादागतस्य भृतौ मज्जनादौ वेतने एव एष

गमो द्रष्टव्य., पश्चात्कृतादिभिररहिते रहिते वा योऽनन्तरमेव भणितः।

अथात्रैवं यतनाविशेषमाह-

मज्जणगादिच्छंते, बाहिं अभिंतरं च अणुसट्ठी।
धम्मकहविज्जमंते, निमित्त तस्सट्ठ अन्नो वा ॥

मज्जनं स्नानम्, आदिशब्दादभ्यङ्गनोद्वर्त्तनादिक, बहिर्ग्रामे आगाच्छन्, अभ्यन्तरे प्राग् ग्लानसकाशे प्राप्ते यदीच्छति, ततः सर्वं तस्य पश्चात्कृतादय कुर्वते। तेषामभावेऽनुशिष्टि क्रियते। यथा-यतीनां न कल्पते गृहिण. स्नपनादि कर्त्तुं, भवतश्च मुधा कुर्वतो बहु फलं भवति। अथ तथाऽपि नोपरमति. ततो धर्मकथाः कर्त्तव्याः,तथाऽप्यप्रतिपद्यमाने विद्यामन्त्रनिमित्तानि तस्य वैद्यस्य आवर्जनार्थं प्रयुज्यन्ते, अन्यो वा तानि प्रयुज्य वशीक्रियते, ततस्तस्य वैद्यस्यासौ मज्जनादि कार्य्यते।

अथ धर्मकथापदं भावयति-

तह धम्म कहिंति जहा, होइ मंजउ सन्नि दाणसड्ढो व।
बहिया उ अणहायंते, करिंति खुड्डा इमं अंतो ॥

आक्षेपणीयप्रभृतिभिः तस्य तथा धर्मं कथयन्ति यथाऽसौ संयतो भवति, सञ्ज्ञी वा गृहीताणुव्रतो, अविरतसम्यग्दृष्टिर्वा, दानश्रद्धो मुधैव साधूनामारोग्यदानशीलो भवति । अथ धर्मकथालब्धिर्नास्ति ततो विद्यामन्त्रादय. प्रयुज्यन्ते, तेषामभावे तस्यामलका दीयन्ते,भण्यते चासौ-बहिर्गत्वा स्नानं कुरुत। अथ बहि. स्नातुं नेच्छति ततो बहिरस्नाति तस्मिन् क्षुल्लका इदं वक्ष्यमाणमन्त. प्रतिश्रयस्याभ्यन्तरे कुर्वन्ति ।

उसिणे संसट्ठे वा, भूमी फलगाइ भिक्ख वसुआइ ।
अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्जनिमित्ते य बहि अंतो ॥

उष्णोदकेन प्रतीतेन, संसृष्टेन गोरसरसभावितेन अपरेण वा प्राशुकेन, क्षुल्लकास्तं स्नपयन्ति, शयनमाश्रित्य भूमौ फलके, आदिशब्दात्पल्यङ्कादिषु वा स शाय्यते, भोजनं प्रतीत्य भैक्षं भिक्षा पर्यटनेन लभ्यमानीय तस्य दातव्यम्,(वसुआइ त्ति) वसुक मध्वकमय भाजनम्, आदिग्रहणात्कांस्यपात्रादिपरिग्रहः, एतेषु भोजनमसौ कारयितव्य ,हिरण्यादिक द्रविणजात याचमानस्य अन्तरिति वास्तव्यवैद्यस्य,बहिरित्यागन्तुकवैद्ययोर्द्वयस्याप्यनुशिष्टि , धर्मकथाविद्यानिमित्तानि, प्रयोक्तव्यानीति सग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव भावयन्नाह-

तेल्लुव्वट्टणण्हावण, खुड्डासति वसभ अन्नलिंगेणं ।
पट्टदुगादी भूमी, अणिच्छि जा तूलिपल्लंके ॥

क्षुल्लकास्त वैद्य तैलेनाभ्यङ्ग्य कल्केनोद्वर्त्योष्णोदकादिना प्राशुकेन एकान्ते स्नापयन्ति, अथ क्षुल्लका न सन्ति, स्नपयितुं वा न याचन्ते, ततो ये वृषभा गच्छस्य शुभाशुभकार्ये भारोद्वहनसमर्थास्तेऽन्यलिङ्गेन गृहस्थादिसंबन्धिना स्नानादिकं वैद्यस्य कुर्वन्ति, "पट्टदुगा" इत्यादि। स वैद्य. शयितुकाम. प्रथमतो भूमौ संस्तारपट्टमुत्तरपट्टकं च प्रस्तार्य शाय्यते। अथ माऽसौ पट्टद्वये स्वप्तुमिच्छति, तत और्णिकसौत्रिकौ कल्पौ प्रस्तार्येते, तथापि यदि नेच्छति, तत काष्ठफलके संस्तारोत्तरपट्टकावास्तीर्य शयनं कार्यते, तथाऽप्यनिच्छति उत्तरोत्तरं तावन्नेतव्यं यावत् तूलीपल्यङ्कावप्यानीय शाययितव्य इति।

अथ भैक्षपदं भावयति-

समुदाणिओदणो म-त्तओ व णिच्छंति वीसु तवणा वा।
एवं पि णिच्छमाणो, होइ अलंभे इमा जयणा ॥

समुदानं नामोच्चावचकुलेषु भिक्षाग्रहणं,तत्र लब्धः सामुदानिक', "अध्यात्मादिभ्य इकण्"।६।३।७६। इति (हैम०) इकण् प्रत्यय.। स चासावोदनश्च सामुदानिकौदन , स प्रथमतो वैद्यस्य दातव्य', अथासौ तं भोक्तुं नेच्छति, ततो मात्रक वर्त्तोपनीयं,तत्र प्रायोग्य तदर्थं गृहीतमिति भाव.। अथ तथाऽपि नेच्छति ततो (वीसुं त्ति) पृथगोदन, व्यञ्जनमपि पृथग् ग्राह्यम्,अथ शीतलमिति कृत्वा तन्नेच्छति, तदा (तवण त्ति) तदेव यतनया तापयितव्यम्, एवमप्यनिच्छति अलभ्यमाने वा इयं यतना भवति।

तामेवाह—

तिगसंवच्छर तिगदुग-एगमणेगे य जोणिघाए य।
संसट्ठमसंसट्ठे, फासुयमफासुए जयणा ॥

येषां शालिव्रीह्यादिप्रभृतीनां संवत्सरत्रयादूर्द्ध्वमागमे विध्वस्तयोनिकत्वमुक्तं तेषां ये त्रिवार्षिकास्तन्दुलास्ते (तिगदुगएग त्ति) प्रथमतस्त्रिच्छटिता गृहीतव्याः, तदभावे द्विच्छटिता , तेषामलाभे एकच्छटिता अपि। अथ त्रिवार्षिका न प्राप्यन्ते ततो द्विवार्षिकाः, तेषामलाभे एकवार्षिका अपि व्युत्क्रान्तयोनिका. सन्तस्त्रिद्व्येकच्छटिता' क्रमेण ग्राह्याः। तदलाभे (अणेगय त्ति) एषां धान्यानामनेकानि वर्षत्रयाद्बहुतराणि वर्षाणि स्थितिः प्रतिपादिता। यथा-तिलमुद्गमाषादीनां पञ्च वर्षाणि, अतसीकङ्गुकोद्रवप्रभृतीनां सप्त वर्षाणीत्यादि तेषामपि तन्दुला. पञ्चवार्षिका त्रिद्व्येकच्छटिता. क्रमेण ग्राह्या। अत्रापि वर्षपरिहाणिव्युत्क्रान्तयोनिकत्वं च तथैव द्रष्टव्यम् । इह च येषां यावती स्थितिरुक्ता ते तावतीं स्थितिं प्राप्ता' सन्तो नियमाद् व्युत्क्रान्तयोनिका.,ये त्वद्यापि न परिणतास्ते तु व्युत्क्रान्तयोनिका अव्युत्क्रान्तयोनिका वा भवेयु., इति (जोणिघाए त्ति) व्युत्क्रान्तयोनिकानामभावे अव्युत्क्रान्तयोनिका अपि, ये योनिघातेन गृहिभिः साध्वर्थमचित्तीकृतास्तेऽप्येवमेव गृह्यन्ते। तथा दध्यादिभाजनधावन संसृष्टपानकम्; उष्णोदकं, तन्दुलधावनादि वा असंसृष्टपानकम्, उभयमपि प्रथमं प्राशुकं, तदभावे अप्राशुकमपि यतनया यत् त्रसविरहितं तत्तदर्थं गृहीतव्यम्।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति—

वक्कंतजोणिखड्डा, दुएकड्डुरणे वि होइ एस गमो।
एमेव जोणिघाए, तिगाइ इतरेण रहिए वा ॥

त्रिवार्षिकादयो ये व्युत्क्रान्तयोनिकास्ते त्रिच्छटिता ग्राह्याः, तेषामभावे द्व्येकच्छटितानामप्येष एव गमो, यत्रेऽपि व्युत्क्रान्तयोनिका गृह्यन्ते। एवमेव च योनिघाते साध्वर्थं कृते (तिगाइ त्ति) त्रिद्व्येकच्छटिता गृहीतव्याः, तेषामभावे त्रिवार्षिकादयो यथाक्रमं कण्डयितव्या। अथ नास्ति कोऽपि कण्डयिता,ततः इतरेणान्यकलिङ्गेन रहिते वा सागारिकवर्जिते प्रदेशे स्वयं कण्डयति । यद्वा—(रहिए त्ति) पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थैः रहिते एषा यतना कर्त्तव्या।

ते च तन्दुला. कथमुपस्कर्त्तव्या इति ?, आह-

पुव्वाउत्ते अवचु-ल्ल चुल्लि सुक्खघणमसुसिर अविद्धे ।
पुव्वकय असइ दाणे, ठवणा लिंगे य कल्लाणे ॥

पूर्वं प्रथमं गृहिभि. काष्ठप्रक्षेपणादायुक्त. पूर्वायुक्तः, तस्मिन् पूर्वायुक्ते, पूर्वतप्ते अवचुल्लके प्रथम तन्दुलानुपस्करोति, तदभावे पूर्वतप्ताया चुल्ल्याम, अथ चुल्ल्यपि पूर्वतप्ता न प्राप्यते, तत ईदृशानि दारूणि प्रक्षिप्योपस्करोति, तद्यथा-शुष्काणि नार्द्राणि, घनानि घशवत्न रन्ध्रयुक्तानि, अशुषिराणि अस्फुटितानि, त्वचा रहितानि वा, अविद्धानि घुणैरकृतच्छिद्राणि, ईदृशानि दारूणि वक्ष्यमाणप्रमाणोपेतानि पूर्वकृतानि च ग्रहीतव्यानि । अथ पूर्वकृतानि न सन्ति तत. स्वयमपि तेषां प्रमाणोपेतत्व कर्त्तव्य,तथा याच्यमानस्य वैद्यस्य (दाणे त्ति) अर्थजातदान कर्त्तव्यम् । कथमिति?, अत आह-(ठवण त्ति) शैक्षेण प्रव्रजता यत्रिकुक्षादिषु द्रविणजात स्थापित तस्य दान कर्त्तव्यम । (लिंगि त्ति) स्वलिङ्गेन परलिङ्गेन गृहलिङ्गेन वा अर्थजातमुत्पादनीयम् । (कल्लाणे त्ति) प्रगुणीभूतस्य ग्लानस्य तत्प्रतिचरकाणां च पञ्चकल्याणक दातव्यम ।

अथ प्ररूप्यमाणदारूणां प्रमाणादिकमाह-

हत्थद्धमत्त दारुग, निच्छल्लिय अघुणिया अहाकडया ।
असई ३ सयकरणं, अघट्टणोवक्खडमहाऊ ॥

हस्तार्द्धं द्वादशाङ्गुलानि, तन्मात्राणि तावत्प्रमाणदैर्घ्योपेतानि, निच्छल्लिकानि छल्लीरहितानि, अघुणितानि घुणैरविद्धानि, दारूणि भवन्ति । ईदृशानि च यथाकृतानि गृहीतव्यानि, यथाकृतानामसत्यभावे स्वयकरण आत्मनैव हस्तार्धप्रमाणानि क्रियन्ते,तज्ञिश्चापनीयते इत्यर्थः । उपस्कृते च भक्ते उल्मुकानां घट्टना न कर्त्तव्या, किन्तु यथायुष्प्रमानुपाल्य स्वयमेव विध्मायते ।

अथ पानकयतनामाह-

कंजिएं चाउलउदए, उसिणे ससट्ठमेतरे चेव ।
एहाणपियणाइ पाणग, पादासइ वारॅ दद्दरए ॥

पानीय याचनो वैद्यस्य काञ्जिक दातव्य, यदि तन्नेच्छति तत (चाउलउदक) तन्दुलधावन. तदप्यनिच्छति उष्णोदक ससृष्ट प्रासुक वा (इतर त्ति) प्रासुकमनिच्छति अप्रासुकमपि, यावत्कर्पूरवासितम् । एव स्नानपानादिषु कार्येषु पानस्य दातव्य, तच्च प्रथमत. पात्रके स्थाप्यते । अथ नास्त्यतिरिक्त पात्रक, न चासौ तत्र स्थापयितु तं ददाति ततो वारके स्थापयित्वा दर्दरयति, मुखे घनेन चीवरेण बध्नाति, येन कीटिकादय सत्वा नाभिपतन्ति, भावित भैक्षपदम ।

अथ 'वट्टुकादि त्ति' पदं भावयति—

वट्टुके सरावकंसिय-तंबकरयए सुवन्नमणिसेले ।
भोत्तुं सए व धोवइ, अणिच्छि किमि खुड्डवसभा वा ॥

वट्टुक कमठक, तत्रासौ भोजनं कारयति । अथ तत्र नेच्छति ततः शरावे, तत्रानिच्छति कांस्यभाजने, तत्राप्यनिच्छति ताम्रभाजने, तत्राप्यनिच्छति रजतस्थाले सुवर्णस्थाले मणिशैलमये भाजने भोजयितव्य. । भुक्त्वा चाऽसौ स्वयमेव तद्भाजन धावति । अथ नेच्छति धावितु ततः 'किटी' स्थविरश्राविका सा प्रक्षालयति, तस्या अभावे क्षुल्लकाः, क्षुल्लकाणामभावे वृषभा ।

शिष्य पृच्छति-कथमसंयतस्य ससृष्टभाजन संयतः प्रक्षालयति?, किं निमित्तं वा वैद्यस्य मज्जनादिकमियत्परिकर्म क्रियते ?। उच्यते-

पूयाईणि वि मग्गइ, जह विज्जो आउरस्स जोगट्ठी ।
तह विज्जे पमिकम्म, करिंति वसभा वि मुक्खट्ठा ॥

यथा वैद्यो योगार्थी आतुरस्य रोगिण. पूय पक्करक्तं, तदादीनि, आदिशब्दात् शोणितप्रभृतीन्यप्यशुचिस्थानानि मार्जयति शोधयति, तथा वृषभा अपि मोक्षार्थं वैद्यस्य सर्वमपि प्रतिकर्म मज्जनादिक कुर्वन्ति ।

यस्तु न कुर्यात्तस्य प्रायश्चित्तमाह—

तेइच्छियस्स इच्छा-णुलोमगं जो न कुज्ज सइ लाभे ।
असंजमस्स भीतो, अलस पमादी च गुरुगा से ॥

चिकित्सया चरति जीवति वा चैकित्सिको वैद्य., तस्य या मज्जनादाविच्छा, तस्या अनुलोममनुकूल प्रतिकर्म, सति लाभे लाभसम्भवे (असंजमस्स भीओ त्ति) पञ्चम्यर्थे षष्ठी । असंयमाऽसंयतवैयावृत्यकरणलक्षणाद्भीतोऽलस. प्रमादी च यो न कुर्यात्, तस्य चत्वारो गुरुकाः ।

अथ ग्लानवैद्ययोर्वैयावृत्यकरणान्युपदर्शयति-

लोगविरुद्ध दुपरि च्चओ उ कयपडिकिई जिणाऽऽणा य ।
अतरतकारणा जे, तदट्ठ ते चेव विज्जम्मि ॥

ग्लानस्य यदि वैयावृत्य न क्रियते, ततो लोकविरुद्ध भवति । लोको ब्रूयात्-धिगमीषां धर्मं,यत्रैव मान्द्यसंभवेऽपि ईदृशमनाथत्वमिति । तथा परस्परमेकवचनप्रतिपन्या दिना य. कोऽपि लोकोत्तरक सबन्ध., स तु परित्यजो दु परिहर इति ग्लानस्य वैयावृत्य कार्यम । कृतप्रतिकृतिश्चैव भवति, ग्लानेन पूर्वं स्वस्थेन सता यदात्मनि उपकृतं तस्य प्रत्युपकार कृतो भवतीति भावः । जिनानां या आज्ञा-अग्लान्या ग्लानस्य वैयावृत्य कुर्यादित्यादिलक्षणा सा कृता भवति । एतानि अतरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यकरणानि, तदर्थं ग्लानार्थं यद्वैद्यस्य वैयावृत्यकरण, तत्राऽपि तान्येव लोकविरुद्धपरिहारादीनि कारणानि द्रष्टव्यानि ।

अथ ग्लानस्य मज्जनादिविधिमतिदिशन्नाह-

एमेव गिलाणम्मी, विगमो उ खलु होइ मज्जणाईओ ।
सविसेसो कायव्वो, लिंगविवेगेण परिहीणो ॥

एष एव ग्लानेऽपि मज्जनादिको गम प्रकारो भवति, यथा वैद्यविषय उक्त , नवर सविशेषो भक्तिबहुमानादिविशेषसहितो, लिङ्गविवेकेन परिहीण. सर्वोऽपि कर्त्तव्य. ।

अथ ग्लानवैद्ययोरनुवर्त्तनाया महार्थत्व दर्शयन्नाह-

को वोच्छइ गेलन्ने, दुविहं अणुअत्तणं निरवसेसं ।
जह जायइ सो निरुओ, तह कुज्जा एस संखेवो ॥

ग्लाने सति द्विविधा अनुवर्त्तना-ग्लानविषया,वैद्यविषया च । तां निरवशेषां सम्पूर्णां को नाम शेष वक्ष्यति?, बहुवक्तव्यत्वान्न कोऽपीत्यभिप्राय. । अतो यथाऽसौ ग्लानो निरुग् जायते तथा कुर्यादेष संक्षेपः समग्रः, उपदेशसर्वस्वमिति यावत् ।

अथ वैद्यस्य दानं दातव्य, तत्र विधिमाह-

आगंतु पउणे जायए, धम्मावणे तत्थ कइयदिट्ठंतो ।
पासादे कूवादी, वत्थुकुरुमे तहा ओही ॥

ग्लाने प्रगुणे जाते सति आगन्तुकवैद्यो यदा दक्षिणां याचते तदा भण्यते-धर्म्मापणो धर्म्मव्यवहरणहट्टोऽयमस्माकमतो यदत्र सम्भवति तदेव ग्रहीतव्यम् । क्रयिकदृष्टान्तश्च तत्रोच्यते-यथा केन चित् क्रयिकेण गान्धिकापणे रूपकान् निक्षिप्य भणितम्-ममैतै: किञ्चिद्भाण्डमजातं दद्याः, ततः सोऽन्यदा तत्रापणे मद्यं मार्गयितुं लग्नः। वणिजा प्रोक्तः-ममापणे गन्धपण्यमेव व्यवह्रियते,नास्ति मद्यम्,अतस्त्वं गन्धपण्यं गृहाणेति। एवमस्माकमपि धर्म्मापणाद् धर्मं गृह्णातु भवान्,नास्ति द्रविणजातमित्युक्ते यदि नोपरमति, ततः शैक्षेण प्रव्रजता यत्किञ्चिदादिषु परिष्ठापितं तदानीय दीयते, तस्याभावे यद्भूतस्यास्वामिकं क्वापि प्रासादे, कूपे वा, आदिशब्दाश्छिद्रमनादिषु वा निधानं, तथा शटितपतित यद्वास्तुगृहं तदुत्करसमिवेतिकृत्वा वास्तुकुरुटमुच्यते, तत्र वा यन्निधानं तदवधिज्ञानिन', उपलक्षणत्वाच्च पूर्विप्रभृतीनां वा पार्श्वे पृष्ट्वा, तत प्रासादादिस्थानादानीय वैद्यस्य दातव्यम् ।

वास्तव्यवैद्यस्य दानविधिमाह-

वत्थव्व पउणे जायए, धम्मादाणं पुणो अणिच्छंते ।
सव्वा वि होइ जयणा, रहिए पासायमाईया ॥

प्रगुणीभूते ग्लाने वास्तव्यवैद्यो यदि याचनं कुरुते ततस्तस्याऽपि धर्मं एवादानं द्रव्यं तदा दातव्य (पुणो अणिच्छन्ते त्ति) पुनः भूयो भूयः प्रज्ञाप्यमानोऽपि यदि धर्मादानं नेच्छति तदा पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थै रहिते सैव प्रासादादिका यतना कर्त्तव्या याऽनन्तरगाथायामभिहिता ।

द्वयोरप्यागन्तुकवास्तव्यवैद्ययोरुपधिं याचतोर्विधिमाह-

उवहिम्मि पडग साडग, संवरणं वा वि अत्थरणगं वा ।
दुगभेदादाहिंडण, ऽणुसट्ठि परलिंग हिंसाई॥

उपधौ उपकरणे पटशाटक परिधानं, संवरण प्रच्छदपट', आस्तरण सस्तरण,तूली वा,यद्येतानि मार्गयत', ततस्तथैव धर्म्मापणदृष्टान्त: क्रियते। अथ नोपरमति,ततो द्विकं साधुयुग तल्लक्षणो यो भेद: प्रकार, तेनादिशब्दाद्वृन्देन विहिरिडत्वा पटशाटकादिकमुत्पाद्य वैद्यस्य प्रयच्छन्ति, अथ नावाप्यते ततोऽनुशिष्टिर्दातव्या, तथाऽप्यनुपरतस्य परलिङ्गं कृत्वा हिंसादिप्रयोगेणोत्पाद्य प्रयच्छन्ति ।

द्वितीयपदे न दद्यादपि, यत आह-

बिइयपदे कालगए, देसुट्ठाणे व बोहिगाईसुं ।
असिवाई असई वा, ववहारऽपमाणअदसाई ॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते सति,यद्वा-बोधिका म्लेच्छास्तेषाम्,आदिशब्दात्परचक्रेभ्यो वा भयेन देशस्योत्थाने उद्वशीभवने, अशिवे वा, आदिग्रहणाद् दुर्भिक्षे राजद्विष्टे वा सजाते सति,असति वा सर्वथैव वस्त्राणामलाभे,व्यवहार: क्रियते,व्यवहारेण च निर्जितस्य तस्य न प्रयच्छन्ति,व्यवहारेण वा कार्यमाणैर्दाप्यमाने प्रमाणहीनानि अदशाकानि वस्त्राणि दर्शयन्ति, अस्माकमीदृशान्येव स्वाधीनानि, अन्यानि न सन्ति ।

अथ द्रविणजातं मार्गयति वैद्ये विधिमाह-

कवड्डगमादी तंबे, रुप्पे ते तह य केत केवडिए ।
हिंडण अणुसिट्ठादी, पूईयलिंगे विविहभेदो ॥

कपर्दादयो मार्गयित्वा तस्य दीयन्ते,ताम्रमयं वा नाणकं यद् व्यवह्रियते,तथा दक्षिणापथे काकिणीरूप रूप्यमयं,तन्मयं वा नाणकं भवति। यथा भिल्लमाले 'द्रम्म'पीतं नाम सुवर्णं,तन्मयं वा नाणकं भवति। यथा पूर्वदेशे दीनार' केवडिको नाम। यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतरानिधो नाणकविशेष:। एतेषामप्युत्पादनक कुर्वता सङ्घाटकेन वृन्देन वा हिण्डन तथैव कर्त्तव्यम्, अलब्धे अनुशिष्ट्यादीनि प्रयोक्तव्यानि । लिङ्गमितिपदं व्याख्यायते-पूजितमर्चितं यल्लिङ्ग तत्र विविधो भेदः कर्त्तव्यः। किमुक्तं भवति ?-तस्मिन् देशे यत त्रयाणां स्वलिङ्गगृहलिङ्गकुलिङ्गानां मध्यात् पूजितं,तेन लिङ्गेन द्रविणजातमुत्पादयन्ति वैद्य वा प्रज्ञापयन्ति ।

द्वितीयपदे द्रविणजातमपि न दद्यात्, कथमिति ?, आह-

बिइयपदे कालगए, देसुट्ठाणे व बोहियादीसु ।
असिवादी असई वा, ववहारऽहिरण्णगा समणा॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते, देशस्य वा बोधिकादिभयेनोत्थाने उद्वासने, अशिवादौ वा सजाते, असत्वाभावे वा सर्वथैवाऽलाभे अर्थजातं वैद्यस्य न दद्यात्, व्यवहारे च समुपस्थिते ब्रुवते-अहिरण्यका: श्रमणा भवन्तीति तावत् सर्वत्रापि सुप्रतीत, पर तथाप्येतेनारब्धैरस्माभिर्द्रविणजात गवेषयितुमारब्ध, ततो लोको अप्रीति-न वर्त्तते शासन यतिभ्यो हिरण्यादि दातुम् । यत उक्तम्-"गृहस्थस्याऽन्नदानेन, वानप्रस्थस्य गोरसात् ॥ यतीनां च हिरण्येन, दाता स्वर्गं न गच्छति" ॥ १ ॥ एवं व्यवहारो लभ्यते ।

अथ कल्याणकपदं व्याख्यानयति-

पउणम्मि य पच्छित्तं, दिज्जइ कल्लाणगं दुवण्हं पि ।
बूढे पायच्छित्ते, पाविसंती मंडलिं दो वि ॥

ग्लाने प्रगुणीभूते सति द्वयोरपि ग्लानप्रतिचरकवर्गयोः कल्याणकं प्रायश्चित्त दीयते,इहैवमविशेषेणोक्ते,ग्लानस्य पञ्चकल्याणक, प्रतिचरकाणां त्वेककल्याणक दातव्यम् । आदेशान्तरेण वा द्वयोरपि पञ्चकल्याणक मन्तव्य, ततो व्यूढे प्रायश्चित्ते द्वावपि ग्लानप्रतिचरकवर्गौ भोजनादिमण्डलीं प्रविशतः ।

अथोपसंहरन्नाह-

अणुयत्तणा उ एसा, दव्वे विज्जे य वण्णिया दुविहा ।
इत्तो चालणदारं, वुच्छं संकामणं चुजओ ॥

ग्लानप्रायोग्यद्रव्यविषया वैद्यविषया चैषा द्विविधाऽनुवर्तना वर्णिता ॥

(३२) इत ऊर्ध्वं चालनाद्वारं, सक्रामणाद्वारं च क्रमतो ग्लानवैद्यद्वयविषय वक्ष्ये-

विज्जस्स व दव्वस्स व, अट्ठा इच्छंते होइ उक्खेवो ।
पंथो य पुव्वदिट्ठो, आरक्खिउ पुव्वजणिओ य ॥

वैद्यस्य वा द्रव्यस्य वा औषधादिलक्षणस्य अभावात यदि ग्लान इच्छति ग्रामान्तरं गन्तुं तदा तस्योत्क्षेपप्रालना कर्तव्या, यदि रात्रौ भयं भवति तदा पन्थाः पूर्वमेव दृष्ट. कर्तव्य., आरक्षिकस्य पूर्वमेव वयं रात्रौ ग्लानं गृहीत्वा गमिष्यामो भवता चौरादिशङ्कया न गृहीतव्या इति भणिति. कर्त्तव्या इति।

अथास्या एव निर्युक्तिगाथायाः पूर्वार्द्धं भावयति-

चउपाया हि तिगिच्छा, इह विज्जा नत्थि न वि य दव्वाइं।
अमुगत्थ अत्थि दोन्नि वि, जइ इच्छसि तत्थ वच्चामो॥

क्वापि क्षेत्रे वैद्य औषधानि वा न सन्ति, ततो ग्लान प्रतिचरका ब्रवीरन्-चिकित्सा चतुष्पादा भवति, परमिह वैद्या न सन्ति, नापि च द्रव्याणि औषधादीनि अत्र सन्ति, अमुकत्र ग्रामे नगरे वा द्वे अपि विद्येते, अतो यदि त्वमिच्छसि ततस्तत्र व्रजाम इति ग्लानः प्रतिभाणितः॥

किं काहिइ मे विज्जो. भत्ताइअकारयं इहं मज्झं।
तुब्भे वि किलेसेमि य, अमुगत्थमहं हरह खिप्पं॥

आर्य! यदि नाम अत्र वैद्यो भवति तत. किं ममासौ करिष्यति, यतो भक्तादीनां न कारको ममेह विद्यते, तस्मिन्नकारके युष्मानपि मुधैव परिक्लेशयामि, ततो मामपुकत्र ग्रामे नगरे वा क्षिप्रमपहरन नयत, येन मे तत्र भक्तादिकारक स्यात, एव ब्रुवाणोऽसौ ग्रामान्तर प्रति चालयितव्य।

चालनायामेव कारणान्तरमाह-

साणुप्पगभिक्खट्ठा, खीणे दुद्धाइयाण वा अट्ठा।
अब्भिंतरेतरा पुण, गोरससिन्भुदयपित्तट्ठा॥

नागर ग्लान, सानुप्रगे प्रत्यूषवेलायां लभ्यते या भिक्षा सा सानुप्रगभिक्षा, तदर्थं ग्रामं नयन्ति. नगरे हि प्राय चत्सूरे भिक्षा लभ्यते, तावतीं च वेलां प्रतीक्षमानस्य ग्लानस्य कालातिक्रान्तभोजित्वेन जठराग्निमान्द्यमुपजायते। अतः सानुप्रगे सवारमेव भिक्षा यद् ग्रामे लभ्यते तदर्थं ग्लानो ग्राम नीयते। नगरे दुग्धादीनि दुर्लभद्रव्याणि क्षीणानि,अतस्तेषां समर्थाय आभ्यन्तरा नागरवास्तव्यसाधवो ग्लानम यत्र नयन्ति, इतरे पुनर्ग्रामीणग्लानप्रतिचरकाः ग्लानस्य गोरसेन,'सिन्भ' श्लेष्मा,तस्योदयो जात., पित्त चाऽऽक्षुभितमिति परिभाव्य तदुपशामकद्रव्याणामुत्पादनार्थं ग्लानं नगरं नयन्ति।

अथ वा नागरग्लानचालनायामिदं कारणम्-

परिहीण तं दव्वं, चमढिज्जतं तु अन्नमन्नेहिं।
कालाइक्कंते उय, वाहीपरिवड्ढिओ तस्स॥

अन्यान्यग्लानभक्तार्थकैः स्थापनाकुलेषु चमढमान सत्परिहीणं तद्द्रव्यं ग्लानप्रायोग्यम्, अथवा वैद्येन ग्लानस्योपदिष्टम्-सवारमेव भवता भोक्तव्य, तदानीं च नगरे न लभ्यते, इतस्तेन कालातिक्रान्ते भुञ्जानस्य व्याधि प्रभूततर परिवर्धितः।

एवमादीनि कारणानि विभाव्य ते परस्पर भणन्ति-

उक्खिविऊ गिलाणं, अन्नं गामं च तं तु नेहामो।
नेऊण अन्नगामं, सव्वपयत्तेण कायव्वं॥

उत्क्षिप्यतां ग्लानो, यदस्मन्यग्राम नेष्याम इत्येकवाक्यतया निश्चित्य सवारमेव निर्गन्तव्य, यत. प्रत्यूषसि शीतलाया वेलायां गीष्मकालेऽपि ग्लानो न परितप्यते। किञ्च-"प्रत्यूषसि दिवा मार्गो., परिहासहिताः स्त्रियः। सद्वीजं हि हितं क्षेत्रं, हितं सैन्यं सनायकम्" ॥१॥ ततो नीत्वा ग्लानमन्यं ग्रामं सर्वं प्रयत्नेन प्रतिचरणं कर्तव्यमिति। गतं चालनाद्वारम्।

(३३) अथ संक्रमणाद्वारमाह-

सो निज्जइ गिलाणो. अंतरसंमेलणाएँ संछोभो।
नेऊण अन्नगामं, सव्व पयत्तेण कायव्वं॥

एवमुत्क्षिप्य यं ग्रामं स नागरग्लानो नीयते, ततो ग्रामादन्यो ग्लानो नगरमानीयमानोऽस्ति, तेषामुभयेषामपि साधूनामन्तरा अपान्तराले समिलना, तत परस्पर वन्दनं कृत्वा निराबाधं पृष्ट्वा ग्लानयो. 'संछोभ' संक्रामणं कुर्वन्ति-नागरा ग्रामीणग्लान, ग्रामीणास्तु नागरग्लानमित्युक्त भवति। नीत्वा चान्यं ग्राम नगरं वा सर्वं प्रयत्नेन प्रतिचरणमुभयैरपि कर्तव्यम्।

किं पुनरभिधाय ते ग्लानसंक्रामणां कुर्वन्तीत्युच्यते-

जारिस दव्वे इच्छह, अम्हे मुत्तूण ता ण लब्भिहिह।
इयरे वि भणंतेवं, नियत्तिमो नेह अतरतो॥

नागरा ग्रामेयकान् ब्रुवते-यादृशानि तिक्तकटुकादीनि द्रव्याणि ग्लानार्थमिच्छथ, तानि तादृशानि अस्मान् मुक्त्वा विना न लप्स्यध्वे। इतरेऽपि ग्रामेयका नागरान् एव भणन्ति-यूयमस्माभिर्विना दुग्धादीनि न लप्स्यध्वे। ततस्ते द्वये अपि परस्परमभिदधति-वयमेव ततो निवर्तामहे, यूयममुमतरन्त ग्लानं नयत, वय युष्मदीय नयाम इति।
एव संक्रामणां कृत्वा तत्र च ग्रामे नगरे वा नीत्वा सर्वप्रयत्नेन प्रतिचारणा विधेया,न पुनर्निर्द्धर्मतयेत्थ चिन्तनीय,भणनीय वा-

देवा हु णे संपन्ना, जं मुक्का तस्स णं कयंतस्स।
सो हु अइतिक्खरोसो, अहिगं वावारणासीलो॥
तेणेव सीइया मो, एयस्स वि जीवियम्मि संदेहो।
पउणो वि न एसऽम्हं, तं वि करिज्जा न व करेज्जा॥

हुरवधारणे,नुत (णे) अस्माकं देवा. प्रसन्ना ,यद् मुक्ता वय तस्मात्कृतान्तात। गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी। इह कृतान्तशब्देन कृतं निष्पादित यद्यपि कार्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतान्त उच्यते। यद्वा-कृतान्तो यम', तत्तुल्यत्वादसावपि कृतान्त। अत एवाह-स हि अतितीक्ष्णरोष. पुनः पुना रोषणशीलो, दीर्घरोषी चेत्यर्थ। अधिकमत्यर्थं व्यापारणशीलः, कृताकृतेषु कार्येषु भूयो नियुङ्क्ते। यद्वा-तेनैव ग्लानेन सीदिताः खेद प्रापिता वयमतो अस्य कर्तुं न शक्नुमः। अथ वा-एतस्यापि जीवने संदेहः,ततः किं निरर्थकमात्मान परिक्लेशयाम.। प्रगुणीभूतोऽपि चैष नास्माक भविष्यति,तदप्यन्यदीयस्य कुर्याद् वा,न वा, अतो वयमपि न कुर्महे। एवमादीनि ब्रुवाणानां तेषां निर्धर्माणामाचार्येण शिक्षा दातव्या, न तूपेक्षा विधेया।

एत आह—

जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमाएणं।
आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा॥

यस्तु यः पुनराचार्यः केनापि प्रमादेन प्रमत्तः सन्नुपेक्षां कुर्यात, तस्यारोपणा निर्दिष्टा, कर्तव्याऽऽरोपणा पूर्व दर्शिता।

(३४) अथ [illegible]रोपणा—

[illegible]

चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥

यो ग्लानस्योपेक्षां करोति तस्य चत्वारो गुरुकाः, उपेक्षायां कृतायां यदप्रीतिक ग्लानस्य जायते ततोऽपि चत्वारो गुरवः, अनागाढपरितापे चतुर्लघु, आगाढपरितापे चतुर्गुरु, महादुःखे षड्लघु, मूर्च्छायां षड्गुरु, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूल, समवहते अनवस्थाप्य, कालगते पाराञ्चिकम् ।

उवेहोभासणपरिता-वणमहयमुच्छकिच्छकालगए ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेओ मूल तह दुगं च ॥

उपेक्षायां स ग्लानः स्वयमेव गत्वा गृहस्थानवभाषते चत्वारो लघवः, तस्य तत्र गच्छत शीतवातातपैः परिश्रमेण वाऽनागाढपरितापनादीनि जायन्ते ततः प्रायश्चित्तमनन्तरगाथोक्तनीत्या द्रष्टव्यम् ।

उवेहोजासणठवणा-परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

उपेक्षायां ग्लानो भक्तपानमौषधं वा अवभाषणेनोत्पाद्य स्थापयति, न शक्नोम्यहं दिने दिने पर्यटितुं, ततश्चत्वारो गुरवः, तेन परिवासितेन शीतलत्वादनागाढपरितापनादीन्युपजायन्ते । प्रायश्चित्तयोजना प्राग्वत् ।

उवेहोजासणकरणे, परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

उपेक्षायां यदि ग्लानोऽवभाष्य स्वयमेवौषधादिकं करोति, गृहस्थैर्वा कारयति, तदा चत्वारो गुरवः; स्वयं कुर्वतः चिकित्सायामनभिज्ञैर्गृहस्थैर्वा कारयतोऽनागाढपरितापादीनि भवन्ति । शेषं प्राग्वत् ।

वेहासए ओहाणे, सलिंग पडिसेवण निवारिंते ।
गुरुगा अनिवारिंते, चरिमं मूलं व ज जत्थ ॥

अप्रतिजागरतो ग्लानो यदि निर्वेदेन वैहायसं मरणमभ्युपगच्छति, ततस्तेषां अप्रतिजागरकाणां चरमं पाराञ्चिकम् । अथावधावनं करोति ततो मूलं, स्वलिङ्गे स्थितो यः पृथक्कृत्य प्रतिसेवनां करोति, ततश्चतुर्गुरुकाः । यदि तं तथा प्रतिसेवमानं निवारयति तदा चतुर्गुरुकाः, अथ न निवारयति ततो यद्यत्राप्रासुके अनेषणीये वा गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं तत्तत्र प्राप्नोति ।

अथ निर्धर्मा येषु स्थानेषु ग्लान त्यजेत्तान्याह-

संविग्गा गीयत्था, संविग्गा खलु तहेवऽगीयत्था ।
संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ते अगीयत्था ॥
संविग्ग संजईओ, गीयत्था खलु तहेवऽगीयत्था ।
संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ता असंविग्गा ॥

संयताश्चतुर्द्धा-संविग्ना गीतार्थाः १ संविग्ना अगीतार्थाः २ असंविग्ना गीतार्थाः ३ असंविग्ना अगीतार्थाश्चेति ४ । संयत्योऽपि चतुर्विधाः-संविग्ना गीतार्थाः १ संविग्ना अगीतार्थाः २ असंविग्ना गीतार्थाः ३ असंविग्ना अगीतार्थाः ४ ।

एतेष्वष्टसु स्थानेषु ग्लान परित्यजत प्रायश्चित्तमाह-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

प्रथमे स्थाने ग्लानं परित्यजति चत्वारो लघुकाः, द्वितीये चत्वारो गुरुकाः, तृतीये षण्मासा लघवः, चतुर्थे षण्मासा गुरवः, पञ्चमे छेदः, षष्ठे मूलम्, सप्तमे अनवस्थाप्यम् । अष्टमे पाराञ्चिकं भवति ।

यदि वा-

संविग्ग नीयवासी, कुसील ओसन्न तह य पासत्था ।
संसत्ता विंटाया, अहछंदा चेव अट्ठमगा ॥

संविग्नाः १ नित्यवासिनः २ कुशीलाः ३ अवसन्नाः ४ पार्श्वस्थाः ५ संसक्ताः ६ विटकाः ७ यथाच्छन्दाश्चैव अष्टमाः ८।

एतेषु परित्यजतो यथासङ्ख्यमिदं प्रायश्चित्तम्-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

चत्वारो लघुकाः १ चत्वारो गुरुकाः २ षण्मासा लघुकाः ३ षण्मासा गुरुकाः ४ छेदो ५ मूलं च ६, तथा अनवस्थाप्यश्च ७ पाराञ्चिकम् ८ ।

अथ वा-

संविग्गा सिज्जातर, सावग तह दंसणे अहाभद्दे ।
दाणे सड्ढी तह पर-तित्थिग परातित्थगा चेव ॥

संविग्नाः-प्रतीताः १। शय्यातरः-प्रतिश्रयदाता २। श्रावकः-प्रतीतास्तुव्रतः ३। दर्शनसंपन्नः-अविरतसम्यग्दृष्टिः ४। यथाभद्रकः-शासने बहुमानवान् ५ । दानश्राद्धिकः-दानरुचिः ६ । परतीर्थिकः-शाक्यादिपुरुषः ७ । परतीर्थिकादि-पाषण्डिनः ८ ।

एतेषु परित्यजतो यथाक्रममिदं प्रायश्चित्तम्-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

उक्ता गाथा ।

अथ क्षेत्रतः प्रायश्चित्तमाह-

उवस्सय निवेसण सा-ही गाममज्झे य गामदारे य ।
उज्जाणे सीमाए, सीममइक्कामइत्ता णं ॥
चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

क्षेत्रान्तरं संक्रामितुमुपाश्रये ग्लानं परित्यज्य यदि गच्छति तदा चत्वारो लघुकाः, उपाश्रयान्निष्काश्य निवेशनं यावदानीय परिहरति चत्वारो गुरुकाः, साहिकायां षण्मासा लघवः । ग्राममध्ये षण्मासा गुरवः । ग्रामद्वारे छेदः, उद्याने मूलम्, ग्रामसीमनि परिष्ठापयति अनवस्थाप्यम्, स्वग्रामसीमानमतिक्रम्य परित्यजतः पाराञ्चिकम् इति । यत एवमतो न परित्यजनीयः ।

कियन्तं पुनः कालमवश्यं प्रतिचरणीयः ?; उच्यते-

छम्मासे आयरिओ, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं ।
जाहे न संथरेज्जा, कुलस्स उ निवेदणं कुज्जा ॥

येन स ग्लानः प्रव्राजितो यस्य चोपसम्पदं प्रतिपन्नः स आचार्यः पौरुषीप्रमादमपि परिहृत्य प्रयत्नेन षण्मासान् ग्लानं परिवर्त्तयति प्रतिचरति । यदा षट्स्वपि मासेषु पूर्णेषु स ग्ला-

यो न संस्तरेत प्रगुणीभवेत। यद्वा-आचार्य एव स्वयमन्याभि-र्गणचिन्ताभिर्न संस्तरेत्, तत कुलस्य निवेदनं कुर्यात्, कुलस-मवाय कृत्वा तस्य समर्पयेदित्यर्थः।

ततः-

संवच्छराणि तिन्नि य, कुलं पि परियट्टई पयत्तेणं।
जाहे न संथरिज्जा, गणस्स उ निवेदणं कुज्जा॥

त्रीन् संवत्सरान् कुलमपि प्रायोग्यभक्तपानौषधादिभिः प्रयत्नेन परिवर्त्तयति,ततस्त्रिषु न यदा स संस्तरेत् तदा गणस्य निवेदनं कुर्यात्।

ततः—

संवच्छरं गणो वा, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं।
जाहे न संथरिज्जा, संघस्स निवेयणं कुज्जा॥

एकं संवत्सरं यावत् गणोऽपि ग्लानं महता प्रयत्नेन परिवर्त्तयति,ततो यदा न संस्तरेत तत सङ्घस्य निवेदनं कुर्यात्, ततः सङ्घो यावज्जीवं तं सर्वप्रयत्नेन परिवर्त्तयति।

गाथात्रयोक्तमर्थमेकगाथायां संगृह्य प्रतिपादयति-

छम्मासे आयरिओ, कुलं तु संवच्छराइँ तिन्नि भवे।
संवच्छरं गणो वी, जावज्जीवा य संघो उ॥

व्याख्यातार्था। एतच्च यो भक्तविवेकं कर्तुं न शक्नोति तमुद्दिश्य द्रष्टव्यम्। यस्तु भक्तविवेकं कर्त्तुं शक्नोति तेनाष्टादश मासान् यावत् प्रथमतश्चिकित्सा कारयितव्या, विरतिसहितस्य जीवितस्य पुनः संसारे दुरापत्वात्। ततः परं यदि न प्रगुणीभवति ततो भक्तविवेकः कर्त्तव्य इति। आगाढे कारणजाते सति वैयावृत्त्यं कुर्यादपि, परित्यजेद्वा ग्लानम्।

(३५) किं पुनस्तत्कारणजातमिति ?, उच्यते-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने।
एएहि कारणेहिं, अहवा वि कुले गणे संघे॥

अशिवे, अवमौदर्ये, राजद्विष्टे, भये वा शरीरस्तेनसमुत्थे, (गेलन्ने त्ति) सर्वो वा गच्छो ग्लानीभूतः कस्य कः प्रतिचरणं करोतु?। एतैः कारणैरथवा कुलस्य गणस्य सङ्घस्य वा समर्पिते ग्लाने स्वयं कुर्वन्नपि शुद्धः। परित्यजने त्विय यतना-अशिवे समुत्पन्ने देशान्तरं क्रामन् ग्लानमन्येषां प्रतिबन्धस्थितानां साधूनां समर्पयति। तेषामभावे शय्यातरादीनां समीपे, साधर्मिकस्थलीषु वा,देवकुलेषु वा निक्षिपति। एवमेवावमौदर्यभये च द्रष्टव्यम्। राजद्विष्टे यद्येकस्य गच्छस्य प्रद्वेषमापन्नो राजा ततोऽन्येषां साधूनां समर्पयति। अथ सर्वेषामपि प्रद्विष्टस्तत श्राव-कादिषु निक्षिप्य व्रजति।

उत्सर्गतः पुनरेतैरपि कारणैर्निक्षिपति। किं तु स्कन्धे स्वस्य वहन्तीति ? आह च—

एएहि कारणेहिं, तह वि वहंती न चेव छड्डिंति।
असहिट्ठा उ चयंती, उवगरणं नेव उ गिलाणं॥

एतैः कारणैर्यद्यपि ग्लानो निक्षिप्तुं कल्पते, तथापि वहन्ति, नैव परित्यजन्ति। अथासहिष्णवो वा वोढुमसमर्था ,तत उपकरणं परित्यजन्ति, नैव ग्लानम्।

अह वा वि सो भणेज्जा, छड्डेउ ममं तु गच्छहा तुब्भे।
होउ त्ति भणिएँ गुरुगा, इणमन्ना आवई बिइया॥

अथ वा स ग्लानो भणेत्-मां छर्दयित्वा यूयं गच्छत। एवमुक्ते यदि कोऽपि साधुर्भवत्वेवमिति भणति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः। इयं प्रकारान्तरेणान्या द्वितीया आपदुच्यते।

तामेवाह-

पच्चंतमिलिक्खेसुं, बोहियतेणेसु वा वि पडिएसु।
जणवयदेसविणासे, नगरविणासे य घोरम्मि॥
बंधुजणविप्पओगे, अमाएँऽपुत्ते वि वट्टमाणम्मि।
तह वि गिलाण सुविहिया, वच्चंति वहंतगा साहू॥

प्रत्यन्ताः प्रत्यन्तदेशवासिनो ये म्लेच्छास्तेषु,तथा बोधिकस्तेना नाम ये मानुषाणि हरन्ति, तेषु सत्सु, यो जनपदस्य, देशस्य वा तदेकदेशभूतस्य विनाशो विध्वंसस्तस्मिन्, तथा नगरविनाशे च, घोरे रौद्रे उपस्थिते, बन्धुजनानां स्वज्ञातिलोकानां मरणभयात्पलायमानानां यः परस्परं विप्रयोगस्तस्मिन्, कथंभूते-अमातापुत्रे स्वस्वजीवितरक्षणार्त्ताणकतया यत्र माता पुत्रं न स्मरति,पुत्रोऽपि मातरं न स्मरति,तस्मिन्नपि वर्तमाने,ये सुविहिताः शोभनविहितानुष्ठानास्ते, तथाऽपि ग्लानं वहन्तो व्रजन्ति, न पुनः परित्यजन्ति।

ततोऽसौ ग्लान आह-

तारेह ताव भंते !, अप्पाणं किं मएल्लयं वहह।
एगालंवणदोसे-ण मा हु सव्वे विणस्सिहिह॥

तारयत तावद्भदन्त! यूयमात्मानमस्मादपारादापत्पारावारात्, किं मा मृतमिव मृतम् अवश्यंभाविमृत्युसंभवतया शवप्रायं वहत, अपि वा मदीयमेव यदेकमालम्बनं तदेव बहूनां विनाशकारणतया दोषस्तेन मा यूयं सर्वे विनश्यथ।

एव च भणियमेत्ते, आयरिया नाणचरणसंपन्ना।
अचवल मणलिय हितयं, संताणकरिं वइमुदाही॥

एवं च ग्लाने भणितमात्रे सति आचार्या ज्ञानचरणसम्पन्नाः, संविग्नगीतार्था इति भावः। अचपलामत्वरितां, त्वराकारणस्य मरणभयस्याऽभावात्,अनलीका सत्यां,ज्ञातसारत्वात्, हिताम-नुकूलां,परिणामसुन्दरत्वात, सन्त्राणकरीम् आर्तजनपरित्राणकारिणीं, वाचं समुदाहृतवन्तः।

कथमिति ?, आह—

सव्वजगज्जीवहियं, साहुं न जहामो एस धम्मो णे।
जति य जहामो साहुं, जीवियमित्तेण किं अम्हं ?॥

सर्वस्मिन् जगति ये जीवास्त्रसस्थावरभेदभिन्नास्तेषामभयदायकतया हितं सर्वजगज्जीवहितं साधुं न जहामो न परित्यजामः, एषोऽस्माकं धर्मः सामाचारी,यदि च साधुं प्रजहामस्ततः किमस्माकं जीवितमात्रेण सदाचारजीवितविकलेन बहिः प्राणधारणमात्रेण, प्रयोजनं, न किञ्चिदित्यर्थः।

तं वयणं हियमधुरं, आसासकुरमणुन्नयं सयणो।
समणवरगंधहत्थी, बेइ गिलाणं परिवहंतो॥

तदेवंविधं वचनं हितं परिणामपथ्यं, मधुरं श्रोत्रमनसां प्रह्लादकं,तथा आश्वासः एवाङ्कुरः प्ररोहस्तस्य समुद्भव उत्पत्तिर्यस्मात् तदाश्वासाङ्कुरसमुद्भवं,ग्लानस्याश्वासप्ररोहबीजमिति भावः।

स्वजन इव स्वजन ,स आचार्य श्रमणवरगन्धहस्ती,यथा गजकलभानां यूथाधिपत्यपदमुद्वहमानो गिरिकन्दराद्विषमदुर्गेऽपि पतितो न परित्यागं करोति, एवमयमपि गणधरपदमनुपालयन् विषमदशायामपि श्रमणवरान्न परित्यजतीति श्रमणवरगन्धहस्तीत्युच्यते, स ग्लानं परिवहन् परिव्रतयन्नेवमनन्तरोक्तं ब्रवीति ।

तत इत्थं तदीयवचनं श्रुत्वा समीपवर्तिनामगारिणामित्थं स्थिरीकरणमुपजायते-

जइ संजमो जइ तवो, दढमित्तित्तं जहुत्तकारित्तं ।
जइ बंभ जइ सोयं, एएसु परं न अन्नेसु ॥

यदि संयमः पञ्चाश्रवविरमणादिरूपो, यदि तपोऽनशनादिरूप, दृढमैत्रीकत्व निश्चलसौहृद, यथोक्तकारित्वं भगवदाज्ञासाधकत्व, यदि ब्रह्म अष्टादशभेदभिन्नं ब्रह्मचर्यं, यदि शौचं निरुपलेपता-मद्भावसारता, एतानि यदि परमेतेष्वेव साधुषु प्राप्यन्ते, नान्येषु शाक्यादिपरतीर्थिकेषु, तेषामेवंविधस्य ग्लानप्रतिचरणविधेरभावात्। इत्थं तावद्विषमायामपि दशायां ग्लानो न परित्यक्तव्य इत्युक्तम् ।

अथात्यन्तिके भये तमपरित्यजतां यदि सर्वेषामपि विनाश उपढौकते, तत को विधिरिति ?, आह-

अच्चागाढे व सिया, निक्खित्तो जइ वि होज्ज जयणाए ।
तइ वि उ दोण्ह वि धम्मो, रिजुभावविचारिणा जेणं ॥

अत्यागाढे अत्यन्तम्लेच्छादिभये,वाशब्द. पालनायाम, सा च प्रागेव कृता, स्यात् कदाचित् यतनया निष्प्रत्यूहप्रायप्रदेशे यद्यप्यसौ ग्लानो निक्षिप्तो भवेत् तथापि द्वयोरपि ग्लानप्रतिचरकवर्गयोर्धर्मो मन्तव्य' । कुत इत्याह-येन कारणेन द्वावपि तौ ऋजुरकुटिलो मोक्षं प्रति प्रगुणो यो भाव. परिणामस्तत्र विचरितु शीलमनयोरिति ऋजुभावविचारिणौ ।

तनश्च-

पत्तो जसो य विउलो, मिच्छत्तविराहणा य परिहरिया।
साहम्मियवच्छल्लं, उवसंते तं वि मग्गंति ॥

तैराचार्यैः साधुभिश्च तादृशेऽपि भये सहसैव ग्लानमपरित्यजद्भिर्विपुल दिग्विदिक्प्रचारि यश. प्राप्त, तथा मिथ्यात्वं परित्यागसमुत्थमन्येषां तस्य वा मिथ्यादर्शनगमन, तत्परिहृतं, विराधना च ग्लानस्य सहायविरहितस्य संयमात्मविषया, सा च परिहृता,साधर्मिकवात्सल्य चाऽनुपालित भवति । यदा तदत्यागाढ भयमुपशान्त भवति तदा त ग्लान मार्गयन्ति, शोधयन्तीत्यर्थ 'गते ग्लानद्वारम। वृ० १ उ०। (निर्ग्रन्थ्या निर्ग्रन्थेन वा ग्लानेऽपि कश्चित्र परिष्वजनीय इति 'पलिस्सयण ' शब्दे वक्ष्यते । ग्लान्ये निर्ग्रन्थ्युपाश्रये निर्ग्रन्थस्य गमने चिकित्सा 'वसई' शब्दे वक्ष्यते । अवधावितस्याचार्यस्य चिकित्सा 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३१८ पृष्ठे उक्ता । ग्लानार्थेषु प्रश्नप्रहरण 'पलव' शब्दे वक्ष्यते)

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए (२०)

भिक्षणशीलो भिक्षुरपरिज्ञानस्यापरोऽपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्त्यादिकं कुर्यात् । कथं कुर्यादित्येतदेव विशिनष्टि-स्वतोऽप्यग्लानतया यथाशक्ति समाहित समाधिं प्राप्त इति । इदमुक्तं भवति-यथा यथाऽऽत्मन समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

(३६ ग्लानार्थमशना-

भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु-समाण वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा मणुण्णं भोयणजाय लभित्ता से भिक्खू गिलाइ से हंदह णं तस्साहरह. से य भिक्खू णो भुंजेज्जा, तुमं चेव णं भुंजेज्जासि, से एगतितो भोक्खामि त्तिकट्टु पलिउंचिय पलिउंचिय आलोएज्जा। त जहा-इमे पिंडे इमे लोए इमे तित्तए इमे कडुए इमे कसाए इमे अंबिले इमे महुरे णो खलु एत्तो किंचि गिलाणस्स सदति त्ति माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, तहेव त आलोएज्जा जहा वि तं गिलाणस्स सदति त तित्तिय तित्तए त्ति वा कडुय कडुयं कसायं कसायं अंबिलं अंबिलं महुरं महुरं । भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु-समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे व. मणुण्णं भोयणजातं लभित्ता से य भिक्खू गिलाइ से हंदह णं तस्साहरह से य भिक्खूणो भुंजेज्जा आहारेज्जासि णं, णो खलु इमे अंतराए आहरिस्सामि इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म माइट्ठाणं परिहरिय गिलाणस्सदिज्जा, आहरेज्जा वा ।

" भिक्खागा णामेगे " इत्यादि । भिक्षामटन्ति भिक्षाटाः, भिक्षणशीलाः साधव इत्यर्थः । नामशब्द सम्भावनायां, वक्ष्यमाणमेषा सम्भाव्यते । एके केचन एवमाहुः साधुसमीपमागत्य वक्ष्यमाणमुक्तवन्त -तत्र साधवः समाना वा सांभोगिका भवेयु., वाशब्दादसांभोगिका वा । तेऽपि वसन्तो वास्तव्या. अज्ञाता वा ग्रामादे समागता भवेयु । तेषु च कश्चित्साधुर्ग्लायति ग्लानमनुप्राप्त, तदर्थं तान् सांभोगिकादींस्ते भिक्षाटा मनोज्ञभोजनलाभे सत्येवमाहुरिति सम्बन्ध. । (स इति) एतन्मनोज्ञमाहारजातं " हंदह " गृहीत यूयम । ' णं ' इति वाक्यालङ्कारे । तस्य ग्लानस्याऽऽहरत. नयत, तस्मै प्रयच्छत इत्यर्थ । ग्लानश्चेन्न भुङ्क्ते ग्राहक एवाभिधीयते-त्वमेव भुङ्क्ष्वेति । स च भिक्षुर्भिक्षीर्हस्तात् ग्लानार्थं गृहीत्वाऽऽहारं तत्राद्युपपन्न. सन्नेक एवाहं भोक्ष्य इति कृत्वा तस्य ग्लानस्य (पलिउंचिय पलिउंचिय त्ति) मनोज्ञं २ गोपित्वा वातादिरोगमुद्दिश्य तस्यालोकयेत् दर्शयेद्,यथा अपथ्योऽयं पिण्डमिति बुद्धिरुत्पद्यते, तद्यथाऽसौ दौकितवानयं पिण्डो भवदर्थं साधुना दत्त', किं त्वयं (लोए त्ति) रूक्ष , तथा तिक्त , कटु , कषायोऽम्लो मधुरो वेत्यादिदोषदुष्टत्वान्नात किञ्चित् ग्लानस्य सदतीति.उपकारेण वर्त्तत इत्यर्थः। एव च मातृस्थान संस्पृशेत् नैतत् कुर्यादिति । यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति-तथाऽऽस्वादमेव ग्लानस्यालोकयेद्यथाऽवस्थितमिति । एतदुक्त भवति-मातृस्थानपरित्यागेन यथावस्थितमेव ब्रूयादिति। शेष सुगमम् । तथा "भिक्खातेत्यादि" भिक्षाटाः साधवो मनोज्ञमाहार लब्ध्वा समनोज्ञांश्च वास्तव्यान् प्राघूर्णकान् वा ग्लानमुद्दिश्यैवमूचु -एतन्मनोज्ञमाहारजातं गृहीत यूय, ग्लानाय नयत, स चेन् न भुङ्क्ते, ततोऽस्मत्समीपमेव ग्लानार्थमाहरेदानयेन् , स चैवमुक्तः सन्नेवं वदेद्यथा अप्रत्यूहमन्तरेणाऽऽहरिष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽहारमादाय ग्लानान्तिकं गत्वा प्राक्तनान् मकादिदोषानुद्भाव्य ग्लानायाऽदत्त्वा स्वत एव लौल्याद् भुक्त्वा ततस्तस्य साधोर्निवेदयति । तथा-

मम शूल वैयावृत्यकालपर्योप्त्यादिक्रमन्तरायिकमभूदतोऽह तत् ग्लानभक्तं गृहीत्वा नायातं इत्यादि मातृस्थानं संस्पृशेदेनद्दर्शयति, इत्येतानि पूर्वोक्तान्यायतनानि कर्मोपादानस्थानानि उपातिक्रम्य सम्यक् परिहृत्य मातृस्थानंपरिहारेण ग्लानाय वा दद्यात्, दातृसाधुसमीप वाऽऽहरेदिति। आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ०।

(निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च ग्लान्ये मिथो वैयावृत्य 'वेयावच्च' शब्द वक्ष्यते)

विषयसूची–

(१) ग्लान प्रति गवेषणम्।
(२) ग्लानद्वारे कुत्र कुत्र ग्लानान्वेषणं कर्तव्यमितिनिरूपणम्।
(३) ग्लानस्यप्रतिबद्धद्वारसंग्रहः।
(४) शुद्धद्वारे ग्लानसमीपगमनोपचारादयः।
(५) ग्लानस्योपचाराकरणे प्रायश्चित्तम्।
(६) ग्लानवैयावृत्ये कीदृशस्य साधोर्नियोजनम्।
(७) विपरीतकरणे दोषाः।
(८) अच्चाद्वारे ग्लानं प्रति निर्जरार्थिनः साधोर्झटिति गत्वा वैयावृत्यकरणयतना।
(९) सूत्रार्थपौरुषीव्यापारणे विधिः।
(१०) क्षेत्रे संस्तरणाभावेऽन्यत्र गच्छतां विधि।
(११) इच्छाकारद्वारे महर्द्धिकदृष्टान्तः।
(१२) अशक्तद्वारेऽशक्तब्रुवाण प्रति स्थविरोक्तिः।
(१३) सुखितद्वारे प्रमादेन ग्लानवैयावृत्याकरणे प्रायश्चित्तप्ररूपणम्।
(१४) अपमानद्वारेऽपमानमिषेण ग्लान प्रत्यगच्छतां प्रायश्चित्तम्।
(१५) लुब्धद्वारे वैयावृत्यमिषेण मनोज्ञभोजनाभिलाषुकगमने क्षेत्रोद्वेजनरूपदोषप्रदर्शनम्।
(१६) तत्र द्रव्यक्षेत्रातिक्रमधिकृत्य प्रायश्चित्तम्।
(१७) ग्लानस्य सचित्ताचित्तचिकित्सायां नटमीपोतदृष्टान्तः।
(१८) अनुवर्तनाद्वारे ग्लानवैद्ययोरनुवर्तनाविस्तरः।
(१९) वैद्यानुवर्तनायां प्रस्तावना, कथं ग्लानो भवतीतिप्रश्नश्च।
(२०) नोपशाम्यति रोगे विधिर्वैद्याष्टकप्रदर्शनं च।
(२१) वैद्यसमीप गच्छतां विधिः, प्राभृतिकाप्ररूपणं च।
(२२) गमनद्वारे कीदृशस्य पुरुषस्य वैद्यसमीप प्रेषण कर्तव्यमितिप्ररूपणम्।
(२३) ये न प्रेषणीयास्तेषां निरूपणम्।
(२४) शकुनद्वारे वैद्यसमीपे गच्छतः शकुनाशकुनविचारः।
(२५) वैद्यसमीप प्राप्तस्य शकुनाशकुनविचार।
(२६) सगारद्वारे वैद्यसमीप प्रस्थितस्य साधोर्येषां सान्निधिरावश्यकी तेषा निरूपणम्, वैद्यसमीपे यत्कथनीय तन्निरूपण च।
(२७) वैद्यस्य उपदेशद्वारे द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण ग्लानानुवर्तना।
(२८) वैद्योपदिष्टे साधुभिस्तुलना कर्तव्या।
(२९) प्रतिश्रयमागतस्य वैद्यस्य यो विधिः कर्तव्यस्तत्र द्वारसंग्रहः।
(३०) भद्रकद्वारे वैद्यग्लानयोरनुवर्तनायां विस्तरः।
(३१) भूतिद्वाराऽऽहारकार्ययोः स्वीयान्यदीयप्राभृतवैद्ये धर्मकथाऽऽदियतना।
(३२) चालनाद्वारे ग्लानचालनायां कारणानि।
(३३) संक्रामणाद्वारे नागरग्रामीणग्लानयोः संक्षोभ।
(३४) ग्लानस्योपेक्षाया त्यागे च प्रायश्चित्तं, कियन्तं कालं पुनः प्रतिचरणीयो ग्लान इत्यादिनिरूपणम्।
(३५) ये कारणैर्ग्लानस्य त्यागस्तेषां निरूपणम्।
(३६) ग्लानार्थमेषणावक्तव्यता।

गिलाणभत्त–ग्लानभक्त–न०। ग्लानस्य नीरोगतार्थं भिक्षुकदानाय यत् कृत भक्तं तद् ग्लानभक्तम्। भ० ५ श० ६ उ०। ग्लानः सन्नारोग्याय यद्ददाति तत्। औ०। ग्लानो रोगोपशान्तये यद्ददाति, ग्लानेभ्यो वा यद्दीयते। स्था०९ ठा०। ग्लानस्य रोगोपशमनार्थमारोग्यशालायां ग्लानस्य वा दीयमाने भक्ते, नि०चू०९उ०।

गिलाणवेयावच्च–ग्लानवैयावृत्य–न०। ग्लानस्य भक्तपानादिभिरुपष्टम्भे, औ०। "कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए"। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। ध०।

गिलाणि–ग्लानि–स्त्री०। क्लमे, विशे०। अबहुमाने, स्था० ५ ठा० १ उ०। सूत्र०।

गिलायमाण–ग्लायत्–त्रि०। 'ग्लै' हर्षक्षये, इति शतृ। शरीरक्षयेण हर्षक्षयमनुभवति, सू० ४ ज०। अशक्नुवति, अभिभूयमाने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। ग्लानिमुपपन्ने, व्य०२ उ०। (परिहारकल्पस्थितस्य ग्लानस्य 'परिहार' शब्दे प्रतिपत्तिः)

गिलासि (णि) ग्लासिन्–पुं०। भस्मके व्याधौ, स च वातपित्तोत्कटतया श्लेष्मन्यूनतया जायते। आचा० १ श्रु०६ अ०१ उ०।

गिलिय–गिलित–त्रि०। प्रक्लिते, भक्षिते च। वाच०। आव०।

गिल्लि–गिल्लि–स्त्री०। मानुषं गिलतीव गिल्लिः। हस्तिन उपरि कोल्लररूपेऽर्थे, अनु०। ज्ञा०। भ०। जी०। रा०। पुरुषद्वयोत्क्षिप्तायां कोल्लिकायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। पुरुषद्वयोत्क्षिप्तडोल्लिकायां वा। दशा० ६ अ०। ज०।

गिव्वाण–गीर्वाण–पुं०। इन्द्रयमकुबेरादिषु देवेषु, आ० म० प्र०।

गिह–गृह–न०। प्रासादे, ध० २ अधि०। गृहाणि प्रासादास्ते त्रिविधा खाता उच्छ्रता उभयरूपाश्च। दश० ६ अ०। सकुट्टिमगृहम्, अकुट्टिमा शाला। नि० चू० ११ उ०। आवसथे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। अगारे, सूत्र० १ श्रु०२ अ०। "गिहगहणेण वा सव्वं चेव घर घेप्पति"। नि०चू०३ उ०। "गेह त्ति वा गिह त्ति वा एगट्ठा"। नि०चू० ३ उ०। (कीदृग् गृह स्थापयेद्श्रावक इति 'धम्म' शब्दे वक्ष्यते) गृहस्थत्वे च, "गिहे दीवमपासता" गृहे गृहस्थे दीप भावदीपं श्रुतज्ञानमपश्यन्त इति वृत्तिः। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। भवनभेदे, जी० ३ प्रति०।

गिहंतर–गृहान्तर–न०। गृहस्य गृहयोर्वाऽन्तराले, दश०३ अ०।

गिहंतरणिसिज्जा–गृहान्तर्निषद्या–स्त्री०। गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्या चाऽऽसनम्। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। गृहस्य गृहयोर्वा अपान्तराले उपवेशने, दश० ३ अ०। 'गोयरग्गपविट्ठस्स, णिसिज्जा जस्स कप्पइ'। दश० ६ अ०।

गिहगमण–गृहगमन–न०। विजवेश्मगमने, पञ्चा० २ विव०।

गिहत्थ-गृहस्थ-पुं०। गृहमगारं तत्र तिष्ठतीति गृहस्थः । सूत्र०२ श्रु० १ अ० । अगारिणि, पञ्चा० ७ विव० । "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा" । द्वितीयाश्रमिणि, नि० चू० १ उ० । दश० । गृहीनामुमते, नि० चू० १ उ० । अप्रत्याख्यातसर्वसावद्यव्यापारे, दर्श० । गृहस्थभाव एव श्रेयान् । पं० व० १ द्वार । ध० । भवधावित्वा गृहस्थो भवेत् । व्य० १ उ० । (तत्र कर्तव्यम् 'ओहावण' शब्दे तृतीयभागे १३० पृष्ठे उक्तम्) गृहे गृहलिङ्गे तिष्ठतीति गृहस्थः । पश्चात्कृतभेदे, व्य० ४ उ० । "असिहो ससिहो य गिहत्थो, रयहरणायाउ होइ सारूवी" । व्य० ४ उ० । गृहस्थ पश्चात्कृतो द्विविधोऽशिखः सशिखश्च, तत्र यः केशान् धारयति ससशिखः । यस्तु मुण्डनेन तिष्ठति सोऽशिखो भवति, रजोहरणवर्जं. रजोहरणग्रहण दण्डकपात्रादीनामुपलक्षणम्, ततोऽयमर्थः-य. शिरसो मुण्डमात्रं कारयति, न च रजोहरणदण्डकपात्रादिकं धरते सोऽशिख इति । व्य० ४ उ० ।

गिहत्थणिक्खेवग-गृहस्थनिक्षेपक-पुं० । गृहस्थानिक्षिपति, यथा अमुकोऽत्र नियुज्यताम् । नि० चू० १२ उ० ।

गिहत्थभाव-गृहस्थभाव-पुं० । गृहस्थत्वे, पञ्चा० १० विव० ।

गिहत्थभासा-गृहस्थभाषा-स्त्री० । मर्मोद्घाटनशापप्रदानजकारमकारादिवचने; ग० ३ अधि० । गृहस्थानां भाषाः "मम्मा आई बाप भाई" इत्यादिकायां भाषायाम्, गृहस्थैः सह सावद्यभाषायां वा, "तं गच्छ गच्छवए, गिहत्थभासा उ नो जत्थ" ग० ३ अधि० ।

गिहत्थमुंड-गृहस्थमुण्ड-पुं० । क्षुरेण मुण्डे,व्य० ४ उ० ।

गिहसंसट्ठ-गृहसंसृष्ट-न० । गृहस्थस्य भक्तदायकस्य संबन्धि संसृष्ट विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्तं यत्करोटिकादिभाजनं तद् गृहस्थसंसृष्टम् । गृहिणोपलिप्ते भाजने, पञ्चा० ५ विव० । विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्ते भक्तदायकस्य सम्बन्धिकरोटिकादिभाजने, ध० २ अधि० । ततोऽन्यत्र विकृति. प्रत्याख्यायते विकृत्यादिसंसृष्टभाजनेन दीयमान भक्तमकल्प्यद्रव्यावयवमिश्रं भवति न तद्भुञ्जानस्यापि भङ्ग इति भाव. । पञ्चा० ५ विव० । गृहस्थैरोदनादिभिद्रव्यादिना स्वप्रयोजनाय संश्लेषिते, प्रव० ४ द्वार । आचा० । ध० ।

गिहत्थसार-गृहस्थसार-पुं० । गृहिणां सार इव सारः, सर्वस्यमीप्सितार्थसाधकत्वात् । भावयज्ञे, पञ्चा० ८ विव० ।

गिहदुवार-गृहद्वार-न० । गृहद्वारे, नि० चू० ३ उ० ।

गिहधूम-गृहधूम-पुं० । गृहस्थे धूमे, नि० चू० ।

जे भिक्खू गिहधूमं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसामावेइ, परिसाडंतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥

(जे भिक्खू घरधूममित्यादि) आणादि,मासगुरु च से पच्छित्तं। कम्हा घरधूमं स घेप्पति-

घरधूमोसहकज्जे, दद्दु किडिभे य कच्छु अगतादी ।
घरधूमम्मि णिबंधो, तज्जातिअसूयणट्ठाए ॥२७४॥

दद्दू प्रसिद्ध,किडिभ जघासु कालाभं रसियं वहति,कच्छू पामा, अगतादिएसु वा छुब्भति, घरधूमे सुत्तणिबंधो तज्जातियसूयणट्ठा कतो, तज्जातिगहणातो अणे वि रोगा सूतिता, तेसु जेसु सहातारिं अण्णउत्थियएण गेरहावेतस्स एतदेव पच्छित्तं,अविधे तज्जाइयसूयणं वा अण्णेसु वि रोगेसु किरिया कायव्वा ।

तं अण्णतित्थिएणं, अह वा गारत्थिएण सामावे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२७५॥
हत्थेण अपावेंतो, पीढादिफले जिए सकायं वा ।
भंडविराधण कणुए, अहि उंदुर पच्छकम्मे वा ॥२७६॥

पूर्ववत् गारत्थिअण्णउत्थिएसु इमे दोसा (हत्थेण गाहा) भूमिठितो हत्थेहिं अपावेंतो पीढगफल ठवेतु तत्थारोढुं गेरहति, तम्मि फले पि भमतो पिपीलियादिजिए विराहेज्जा, सकाए वा हत्थादि विराहेज्जा, भंडगाणि वा विराहेज्जा, अच्छीसु कणयं पडेज्जा, अहि उंदुरेण वा खज्जेज्जा, गारत्थअण्णउत्थियाए पच्छाकम्मं करेज्जा तम्हा ण तेहिं गेरहावे, अप्पणा घेवे ।

पुव्वपडिसामितसरा, गवेसणा पढमताएँ कातव्वा ।
पुव्वपरिसाडितामति, तो पच्छा अप्पणा सामे ॥२७७॥

जति पुव्वपरिसाडियं ण लब्भति तेण पच्छा अप्पणा साडेति, जयणाए, जहा पुव्वभणिया दोसा ण भवति ।

कारणे पुण तेहिं सामावेति-

वितियपदे होज्जऽसहू, अहवा वि सहू परो व ण लभेज्जा ।
अधवा वि लब्भमाणं, होज्जा दोसुब्भवो कोई ॥२७८॥

अप्पणा असहूवरे वा परे वा ण लब्भति, अगारी वा तत्थ पविट्ठं उवसग्गेति, अधो वा कोति हियणडादियाहिं दोसुब्भवो होज्ज, एवमादिकारण उवेक्खित ।

कप्पति ताहे गारत्थि-एण अध वा वि अण्णतित्थीणं ।
परिसामण काउं जे, धूमे जतणा य साहुस्स ॥२७९॥

(कप्पति ताहे गाहा) गारत्थिअण्णउत्थिएण घरधूम सामावेउ कप्पति ॥ नि० चू० १ उ० ।

गिहमेहि-गृहमेधिन्-पुं० । गृहस्थे, " या गतिः क्लेशदग्धानां, गृहेषु गृहमेधिनाम् । बिभ्रतां पुत्रदारांस्तु, तां गतिं व्रज पुत्रक ! " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

गिहलिंगसिद्ध-गृहलिङ्गसिद्ध-पुं० । मरुदेवीप्रभृतिषु गृहलिङ्गे विद्यमान एव सिद्धेषु, स० । प्रज्ञा० । नं० ।

गिहलिंगी-गृहलिङ्गिन्-पुं० । गृहमेव लिङ्गं येषां ते गृहलिङ्गिनः । राजामात्यप्रकृतिप्रभृतिषु, दर्श० ।

गिहवइ-गृहपति-पुं० । माण्डलिके राज्ञि,भ० १६ श० २ उ० ।

गिहवच्च-गृहवर्चस्-न० । गृहस्य समन्तत. स्थाने, " गिहवच्चं पेरता, परोहडं वा वि जत्थ वा वच्च " । नि०चू० ३ उ० । स० ।

गिहवच्छल-गृहवत्सल-त्रि० । तैस्तैराढुवचनैरात्मानं गृहस्थस्य रोचयति, सू० १ श्रु० ।

गिहवत्थ-गृहवस्त्र-न० । गृहस्थपरिहिते वस्त्रे,नि०चू०१२उ० । स० ।

जे भिक्खू गिहवत्थं परिहेइ, परिहंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥
गिहिवत्थं पाडिहारियं भुजंतस्स चउगुरुं, आणादिया य दोसा ।

गिहिमित्ते जो उ गमो, नियमा सो चेव होति गिहवत्थे।
नायव्वो तु मतिमया, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ ७१ ॥

कठा।

इमे विसेसदोसा-

कोट्टित छिण्णअछिण्णे, धवतिल्लिए अंकिते व अवियत्तं।
दुगाथ जूय ताव्वण, उप्फासण धोव धूवणता ॥ ७२ ॥

मूसगेण कुट्टितं पमाणातिरित्तं, छिण्णे दोसा, अछिण्णे स-
कज्जहाणी, घयतेल्लादिणा वा अंकिय, एमादि कारणेहिं अ-
वियत्तं भवति, साधूण अण्हाण परिमलेण वा दुग्गंध जुगु-
च्छंति, जूयति-उप्पया भवति, उद्दुंति वा, ताओ अगणिउण्हे वा
तावेति, संजतेहिं परिभुत्तं उप्फोसति, धावति वा, दुग्गंध
वा धूवेति। नि० चू० १२ उ०।

गिहवास-गृहवास-पुं०। गृहस्थभावे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

गिहवासं पासं पि व, मन्नंतो वसइ दुक्खिओ तम्मि।
चारित्तमोहणिज्जं, निज्जिणिउं उज्जमं कुणइ ॥ ६५ ॥

गृहवासं गृहस्थता पाशबन्धनविशेषमिव मन्यमानो भावयन् वस-
त्यवतिष्ठते दुःखितो दुःखवान् तस्मिन् गृहवासे, यथाहि किल पा-
शपतितो विहङ्गमो नोत्पतितुं शक्नोति, कष्टं च तत्रावस्थानं क-
लयति, एवं संसारभीरुरपि मातापित्रादिप्रतिबन्धेन दीक्षां गृ-
हीतुमपारयन् शिवकुमार इव भावश्रावको गृहवासे दुःखे-
नावतिष्ठते। अत एव चारित्रमोहनीयं चरणावारकं कर्म
निर्जेतुमपनेतुं प्रयत्नं करोति, तपःसंयमादाविति शेषः।

शिवकुमारकथा त्वेवम्-

"अत्थि विदेहे मेहे, इव सुवणे पुक्खलावईविजए।
बहुवीयसोयलोया, वरनयरी वीयसोग त्ति ॥ १ ॥
सयगमहुयरपउमो, पउमरहो नाम नरवई तत्थ।
वरसीलहत्थिसाला, वणमाला तस्स पाणपिया ॥ २ ॥
ताणं अईव इट्ठो, विसिट्ठचिट्ठो सया वि धम्मिट्ठो।
पुत्तो य सिवकुमारो, सिरीसमुकुमारकरचरणो ॥ ३ ॥
तत्थ य कामसमिद्धो, सत्थाहो मासखमणपारणए।
सागरचंदमुणिंदं, पडिलाहइ नाणतियकलियं ॥ ४ ॥
तस्स गिहे अह फारा, वसुहारा सुरगणेहिं परिमुक्का।
तं निसमिय वुत्तंतं, सिवकुमरो हरिसिओ हियए ॥ ५ ॥
गंतुं तं मुणिवसहं, वंदिय उवविसइ उचियठाणम्मि।
सो सागरचंदगुरू, एवं से कहइ धम्मकहं ॥ ६ ॥
इह सयलाउ पवित्ती, सुहेसिणो पाणिणो कुणंति सया।
तं च सिवम्मि तयं पुण, लब्भइ सुविसुद्धचरणेण ॥ ७ ॥
पावम्मि तयं सुद्धं, गिहवासठियस्स नेव संभवइ।
तो तव चइउं जुत्तं, घित्तुं अइनिम्मलं चरणं ॥ ८ ॥
इइ सोउं सिवो पुच्छइ, भयवं! किं पुव्वभवभवो नेहो?।
जं पिच्छंतस्स तुमं, बहुहं अहियाहिओ हरिसो ॥ ९ ॥
तो ओहिणा मुणेउं, भणइ मुणिंदो पुरा सुगामम्मि।
भरहम्मि रट्ठकूड-स्स नंदणा रेवईपभवा ॥ १० ॥
भवदत्ताभिहभवदे-वनामया भाउणो दुवे आसि।
काऊण वयं सुइरं, पत्ता सोहम्मकप्पम्मि ॥ ११ ॥
भवदत्तजिओ अहयं, भवदेवजिओ तुमेस संजाओ।
तो पुव्वभवसिणेहा, मह विसए एस तुह हरिसो ॥ १२ ॥
तो गिहवासविरत्तो, सिवो पयंपइ मुणिंद! तुह पासे।
पुच्छिय अम्मापिउणो, पव्वज्जं संपवज्जिस्सं ॥ १३ ॥
इय भणिय नमिय गुरुणो, सो गंतुं गिहम्मि पुच्छए पिउणो।
निविडपडिबंधबंधुर-हियया ते बिंति हे वच्छ! ॥ १४ ॥
जइ भत्तो अम्हाणं, जइ अम्हे पुच्छिउं गहेसि वयं।
दिक्खानिसेहवयणा, तो णे रसणा सया होही ॥ १५ ॥
इय अविसज्जंतेहिं, जणएहिं सिवो निसेहिउं सव्वं।
सावज्जं पडिवज्जइ, भावजइत्तं तहिं चेव ॥ १६ ॥
पिउचक्खेवनिमित्तं, कयमोणो भुंजए वि नेव इमो।
हक्कारिय दढधम्मो, इब्भसुओ तो निवेणुत्तो ॥ १७ ॥

पुत्त! सिवकुमारेणं पव्वज्जाभिलासिणा अम्हेहिं अविसज्जिए-
णं मोणं पडिवन्नं, सणयं भुत्तुं पि न इच्छइ, तं जहा जाणसि
तहा णं भोयावेहि, एवं करतेण अम्हं जीवियं दिन्नं ति भणि-
ऊण ठवेऊण पत्तसुविदिन्नभूमिभागो सिवं अत्तक्कियं उवसप्पिज्जसु
त्ति। तओ सो य पणओ-सामि! करिस्सं जं जुत्तं ति, उवगओ
सिवकुमारसमीवं, निस्सीहियं च काऊण इरियाइ पडिक्कंतो, बा-
रसावत्तं किइकम्मं काऊण पमज्जिऊण अणुजाणमित्ति आसी-
णो। सिवकुमारेण चिंतियं-एस इब्भपुत्तो अगारी साहुविणयं प-
उंजिऊण ठिओ, पुच्छामि ताव णं, तेण भणिओ, इब्भपुत्त! जो
मया गुरुणो सागरदत्तस्स समीवे साहूहिं विणओ पउंजमाणो
दिट्ठो सो तुमए पउत्तो, तो कहेहि कह न विरुज्झइ?। दढध-
म्मेण भणियं-कुमार! आरहए पवयणे विणओ समणाण सा-
वगाण च सामन्नो, जिणवयणं सच्चं ति जा दिट्ठी सा वि साहार-
णा, समणा पुण महव्वयधरा, अणुव्वइणो सावगा, जीवा-
जीवाहिगमपमुहपयत्थविहाणं आगमु त्ति, साहवो समत्तसुय-
सागरपारगा नवे दुवालसविहं केइ विसेसति त्ति।

ता कुमर! तुमं समत्ता-वत्थाविओ वरचारित्ती होसि धुवं।
पुच्छामि किं तु एयं, किं चत्तं भोयणं पि तए ॥ १८ ॥
देहो य पुग्गलमओ, जं आहारेण विरहिओ न भवे।
तदभावे न य चरणं, चरणाभावे कओ सिद्धी ॥ १९ ॥

किं च-

निरवज्जं आहारं, देहाहारं मुणी वि गिण्हंति।
ता कम्मनिज्जरट्ठा, तुमं पि तं कुमर! गिण्हेसु ॥ २० ॥
आहारो निरवज्जो, संपज्जइ किह णु मज्झ गिहवासे?।
तो वग्गभोयणं इब्भपुत्त! एवं सिवो आह ॥ २१ ॥
इब्भो भणेइ तं अ-ज्जपभिइ सुगुरू अहं च तुह सीसो।
संपाइस्सं सव्वं जं इच्छसि तमिह निरवज्जं ॥ २२ ॥
पभणइ सिवो सिवत्थी, जइ एवं तो करित्तु छट्ठतवं।
आयंबिलेण काहं, पारणयं असुहवारणयं ॥ २३ ॥
तो सम्मं दढधम्मो, अइदढधम्मस्स सिवकुमारस्स।
वेयावच्चं निरव-ज्जअसणमाईहिं पकरेइ ॥ २४ ॥
पासं पि व गिहवासं, बंधुजणं बंधणं व मन्नंतो।
काउं बारस वरिसे, हरिसेण सिवो उदग्गतवं ॥ २५ ॥
जाओ य विज्जुमालि, त्ति तेयभरभासुरो सुरो बंभे।
दससागरोवमाऊ, तो चविउं रायगिहनयरे ॥ २६ ॥
इब्भस्स रिसहदत्त-स्स धारणीपणइणीइ संजाओ।
पुत्तो जंबू जंबुद्दीवाहिवजणियहरिसभरो ॥ २७ ॥
नवनवइ कणयकोडी, चइय सुरूवाउ अट्ठ कन्नाओ।
अम्मापिउणो पभव-प्पमुहजणं बोहिउं बहुयं ॥ २८ ॥
सिरिवीरजिणिंदपया-रविंदभसलस्स सयलसुयनिहिणो
पासे सुहम्मगुरुणो, स महप्पा गिण्हए दिक्खं ॥ २९ ॥

होऊण जुगपहाणो, चिरकाल सासण पभावेउ ।
उप्पाडियवरनाणो, जंबू सामी सिवपत्तो ॥ ३० ॥
इति शिव इव गेहवासपाशे
य इह दधीत विरागलक्ष्मङ्ग !।
स हि यदि चरण लभेत नात्र
ध्रुवमसम तदवाप्नुयादमुत्र " ॥ ३१ ॥ ध० र० ॥

गिहावट्ट–गिहावर्त्त–पु० । गृहमेव आवर्त्तो गृहावर्त्तः । गृहाश्रमे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

गिहि–गृहिन्–पु० । गृहस्थे, पञ्चा० ४ विव० । प्रश्न० । " गिहिणो वेयावडियं " दश० ३ अ० । सूत्र० । (गृहियतिनोर्भेदोऽन्यत्र) यथाभद्रकं, नि० चू० २ उ० ॥

गिहिकज्जचिंतग–गृहिकार्यचिन्तक–त्रि० । अगारिकृत्यकरणतत्परे, ग० ३ अधि० ।

गिहिजोग–गृहियोग–न० । मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धे, आ० २७ आ० । दश० ।

गिहिणिसेज्जा–गृहिनिषद्या–स्त्री० । पर्यङ्कादौ गृहासने, नि० चू० ।

जे भिक्खू गिहिणिसेज्ज वाहेइ, वाहंत वा साइज्जइ ॥१६॥

गिहिणिसेज्जा पलियकादी, तत्थ णिसीदतस्स चतुलहु, आणादिया य दोसा ।

गोयरमागारय वा, जे भिक्खू निसेवए गिहिणिसेज्जं ।
आयारकहादोसा, अववायस्सावबातो य ॥ ७३ ॥

भिक्खायरियागतो, आगतो वा धम्म वत्तुकामा आयारकहा, तत्थ जे दोसा भणिया ते गिहिणिसेज्ज वाहेंतस्स इह वत्तव्वा, अस्थाने अपवादापवादश्च कृतो भवति ।

किञ्चान्यत्—

बंभस्स होतऽगुत्ती, अणोण्ण पियवहो जवे अह वा ।
चरगादीपमिवातो, गिहीण अचियत्तसंकादी ॥७४॥
खरए खरियासु एहा–णुव्वट्टण खुरे जवे संका ।
रत्तणे अगिणिकाए, दार वती सकणा हरिते ॥ ७५ ॥

गिहिणिसेज्जं वाहितस्स बम्भचेरअगुत्ती भवति, किमेसजानाणि वहो चिठति त्ति अचियत्त मेहुणासका भवति, चरगादिसु य एहेसु स सजतो सकिज्जति, खेत्ते वा खए अगणिणा वा दङ्खे दारेण वा हरिते वती वा छेत्तु हरिते साधू सकिज्जति, जम्हा एते दोसा तम्हा णो गिहिणिसेज्ज वाहेइ ।

इमेसिं पुण अणुष्णा–

उच्छुद्धसरीरे वा, दुब्बल तवसोसिओ व जो होज्जा ।
थेरे जुण्ण महल्ले, वीसंभणे वि स हतसंको ॥७६॥

वाउसत्त अकरेंतो मलपकियसरीरो जणति । रोगपीडिओ दुब्बलसरीरो, तवसोसियसरीरो वा जो थेर त्ति सट्ठिवरिसे विसेसेण जुण्णसरीरे, 'महल्ले ति' सव्वेसिं वुड्ढतरो सविग्गावसधारी विसभणे वि सो चव हतसको, अहवा तत्थ णिसण्णो संकिज्जति जो केणइ दोसेण सो हतसको ।

अहवा ओसहहेतु, सखे सयाइए व वासासु ।
वाघायम्मि उ तत्था, जयणाए कप्पती गातु ॥ ७७ ॥

(अहव त्ति) अथवा कारणप्रदर्शने, ओसधहेतु दातार घरे असहीए पडिच्छति, सखडीए वा वेल पडिक्खति भरियं भायण जाव मुचति ताव सघाडओ पडिक्खति, वासे वा पडते भवति, घुरादिउव्वहणेण वरेच्छाए वाघातो, जहा पुव्वुत्ता दोसा ण भवति, तहा जयणाए अत्थिओ कप्पति ।

एएहि कारणेहिं, अणुण्णवेऊण विरहिते देसे ।
अत्थतऽववातेणं, अववायावायता चेव ॥ ७८ ॥

वीयसुपमगादिविरहिते देसे गिहिवत्ति सामि अणुण्णवेउं अत्थतऽववाएण ब्भठिया । अववाए पुण अववाओ अववाओ भवति, तेण अववादेण णिसीदन्तीत्यर्थः । नि० चू० १२ उ० ।

गिहितिगिच्छा–गृहिचिकित्सा–स्त्री० । गृहस्थान्ययूथिके चिकित्सायाम्, नि० चू० ।

जे भिक्खू गिहितिगिच्छं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

इमे सुत्तफासे–

जे भिक्खू तेगिच्छं, कुज्जा गिहि अहव अण्णतित्थीणं ।
सुहमतिगिच्छा मासो, सेसतिगिच्छाए लहु आणा ॥७९॥
विरए वा अविरए वा, विरताविरते व तिविह तेगिच्छ ।
जं ज जुंजति जोगं, तट्ठाणयसंधणं कुणती ॥८०॥

तिगिच्छा णाम रोगप्रतीकार वमनविरेचनप्रभ्यङ्गपानादिभिः । त जो गिहीण अथवा अण्णतित्थियाण करेति, तस्स सुहुमतिगिच्छाए मासलहु, बायरए चउलहु, आणादिया य दोसा । सुहमतिगिच्छा णाम णाह वेज्जो अहापद देति, अप्पणो वा किरित कहेति, चतुष्पादं वा तिगिच्छं करेति, गिलाणो आविज्जतो णिज्जतो ज विराधेति तण्णिप्फण्णं पावति, किरियकरणे काले वा ज कदमूलादि वहेति, पच्छा जोयणकरणे वा, अध वा सो रोगविमुक्को किसिकरणादिकज्जं ज जोग करेति, स तेण तिगिच्छगा तम्मि जोगट्ठाणे सयितो भवति, अथवा स रोगी ज जोगकरी पुव्व आसि से रोगकाले अव्वावारो तम्मि अत्थति, रोगविमुक्को पुण तट्ठाणसंधाण करेति, व्याधाय सारमवस सामर्थ्याद्बहुसत्त्वोपरोधी भवति, इत्यतो चिकित्सा न करणीया ।

वितियपदे करेज्जा वा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए कप्पते कातुं ॥ ८१ ॥

गच्छे असिवादिकारणसमुप्पन्ने पणओयणा जयणाए करिता सुद्धा ।

इमा जयणा–

पासत्थमादियाणं, पुव्वं देसे ततो अविरइयं ।
सुहुमातितिज्जमंते, पुरिसेतिथि अचित्तसचिते ॥ ८२ ॥

जाहे पणगपरिहाणीए चतुलहु पत्तो ताहे पासत्थेसु पुव्व पुरिसेसु पच्छा इत्थियासु तओ णपुसेसु देस त्ति पच्छा दसविरतेसु एव चेव, ततो अविरते, अप्पबहुचिंताए वा अत्थो उवउज्ज वत्तव्वो । नि० चू० १२ उ० । ध० ।

गिहिधम्म–गृहिधर्म–पु० । गृहमस्यास्तीति गृही, तद्धर्मे । नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरूपे अगारिधर्मे, "सामान्यतो विशेषाच्च गृहि-

र्मोऽप्यद्य द्विधा ॥ " तत्र सामान्यतो नाम सर्वशिष्टजन- साधारणानुष्ठानरूप, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिप- त्तिरूप. (ध०)

तत्राद्य भेद दशभि श्लोकैर्दर्शयति-

तत्र सामान्यतो गृहि-धर्मो न्यायार्जितं धनम् ।
वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ॥ ५ ॥
शिष्टाचारप्रशंसारि-षड्वर्गत्यजन तथा ।
इन्द्रियाणां जय उप-प्लुतस्थानविवर्ज्जितः ॥ ६ ॥
सुप्रातिवेश्मिके स्थाने, नातिप्रकटगुप्तके ।
अनेकनिर्गमद्वारं. गृहस्य विनिवेशनम् ॥ ७ ॥
पापभीरुकता ख्यात-देशाचारप्रपालनम् ।
सर्वेष्वनपवादित्व, नृपादिषु विशेषतः ॥ ८ ॥
आयोचितव्ययो वेषो, विभवाद्यनुसारतः ।
मातापित्रर्चन सङ्गः, सदाचारैः कृतज्ञता ॥ ९ ॥
अजीर्णेऽभोजन काले, भुक्तिः सात्म्यादलौल्यतः ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धार्हा, गर्हितेष्वप्रवर्त्तनम् ॥ १० ॥
भर्त्तव्यभरण दीर्घ-दृष्टिर्धर्मश्रुतिर्दया ।
अष्टबुद्धिगुणैर्योगः, पक्षपातो गुणेषु च ॥ ११ ॥
सदाऽनभिनिवेशश्च, विशेषज्ञानमन्वहम् ।
यथार्हमतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥
अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्याऽपि साधनम् ।
अदेशाकालाऽऽचरण, बलाऽबलविचारणम् ॥ १३ ॥
यथार्हलोकयात्रा च, परोपकृतिपाटवम् ।
ह्रीः सौम्यता चेति जिनैः, प्रज्ञप्तो हितकारिभिः ॥ १४ ॥

दशभिः कुलकम्। तत्र तयो सामान्यविशेषरूपयोः गृहस्थधर्म- योर्वक्तुमुपक्रान्तयोर्मध्ये सामान्यतो गृहिधर्म्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकरणशीलैर्जिनैरर्हद्भि. प्रज्ञप्त. प्ररू- पित, इत्यनेन सबन्ध । (एषां व्याख्याऽन्यत्र) ध० १ अधि० ।

ननु तथापि धर्मसंग्रहिण्या निश्चयनयमतेन शैलेशीचर- मसमय एव धर्म उक्त, तत्पूर्वसमयेषु तु तत्साधनस्यैव सभव -" सो य भवक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो । सेसो पुण निच्छयओ, तस्सेव पसाहगो भणिओ ॥ १ ॥ " इति वचनात्। अत्र तु निश्चयतो धर्मानुष्ठानसभवश्चाप्रमत्तसयता- नामेवेति कथ न विरोध इतिचेत् ?। न।धर्मसंग्राहिण्यां धर्मस्यैवा- भिधित्सितत्वेन तत्र धर्मपदव्युत्पत्तिनिमित्तग्राहकैवभूतरूप- निश्चयनयस्य शैलेशीचरमसमय एव प्रवृत्तिसभवात् , अत्र तु धर्मानुष्ठानपदव्युत्पत्तिनिमित्तग्राहकैवभूतरूपनिश्चयनयस्या- ऽप्रमत्तसयत एव प्रवृत्तिसभवेन विरोधलेशस्याप्यनव- काशात् । ननैवं निरुपचरितो भावाभ्यासोऽप्रमत्तसयतस्यैव प्रमत्तसयतदेशविरताविरतसम्यग्दृशां त्वापेक्षिकत्वेनौपचारि- क एव प्राप्त इत्यपुनर्बन्धकस्यैवौपचारिक इति कथ युज्यत इति चेत् ?। यथा पर्यवनयव्युत्क्रान्तार्थग्राही द्रव्योपयोग परमाणा- वेवाऽविभ्रमविकल्पानिर्वचन , तथा निश्चयनयव्युत्क्रान्तार्थग्राही व्यवहारनयोऽप्यपुनर्बन्धक एव तथेत्यभिप्रायादिति गृहाण।

अत एव—
अपुनर्बन्धकस्यार्यं, व्यवहारेण तात्त्विकः ।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ ३६८ ॥

इत्युक्त योगबिन्दौ । यत्त्वत्रापुनर्बन्धकस्याप्युपलक्षणत्वात्स- म्यग्दृष्ट्यादीनामपि वृत्तौ ग्रहण कृतं तदपेक्षयैवेति तत्त्वम्। तद- यं परमार्थ.-निश्चयेनानुपचरित धर्मानुष्ठानमप्रमत्तसयतानामेव, प्रमत्तसयतादीनामपि त्वपेक्षया निश्चयव्यवहाराभ्याम्,अपुनर्ब- न्धकस्य तु व्यवहारेणैव, तेन सामान्यतो गृहिधर्मो व्यवहारे- णाऽपुनर्बन्धकापेक्षयैवाति स्थितिमिति ॥ १४ ॥

सम्प्रतेर सामान्यतो गृहिधर्ममभिधाय साम्प्रतं तत्फलं दर्शयन्नाह-

एतद्युतं सुगार्हस्थ्यं, यः करोति नरः सुधीः ।
लोकद्वयेऽप्यसौ भूरि-सुखमाप्नोत्यनिन्दितम् ॥ १५ ॥

एतेनानन्तरोदितेन सामान्यगृहिधर्मेण सयुत सहित सुगा- र्हस्थ्य शोभनगृहस्थभाव य कश्चित्पुण्यसंपन्न सुधी. प्रशस्त- बुद्धिर्नर. पुमान् करोति विदधाति, असौ सुगार्हस्थ्यकर्ता लो- कद्वयेऽपि इहलोकपरलोकरूपे, किं पुनरिहलोक एवेत्यपिशब्दार्थ , अनिन्दित शुभानुबन्धितयाऽगर्हणीय भूरि प्रचुर सुखं शर्म आप्नोति लभते। इति प्रतिपादितं सामान्यतो गृहिधर्मफलम्।

अथ एतद्गुणयुक्तस्य पुस महदष्टान्तमुत्तरोत्तरगुणवृ- द्धियोग्यतां दर्शयति-

तस्मिन् प्रायः प्ररोहन्ति, धर्मबीजानि गेहिनि ।
विधिनोप्तानि बीजानि, विशुद्धायां यथा भुवि ॥ १६ ॥

प्रायो बाहुल्येन धर्मबीजानि लोकोत्तरधर्मकारणानि ।
तानि चामूनि ' योगदृष्टिसमुच्चये ' प्रतिपादितानि-
" जिनेषु कुशल चित्तं, तन्नमस्कार एव च ।
प्रणामादि च संशुद्ध, योगबीजमनुत्तमम् ॥ १ ॥
उपादेयधियाऽत्यन्त, सञ्ज्ञाविष्कम्भणान्वितम् ।
फलाभिसन्धिरहित, संशुद्ध ह्येतदीदृशम् ॥ २ ॥
आचार्यादिष्वपि ह्येत-द्विशुद्ध भावयोगिषु ।
वैयावृत्य च विधिव-च्छुद्धाशयविशेषत ॥ ३ ॥
भवोद्वेगश्च सहजो, द्रव्याभिग्रहपालनम् ।
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य, विधिना लेखनादि च ॥ ४ ॥
लेखनापूजनाभ्यां च, श्रवण वाचनोद्ग्रह ।
प्रकाशनाऽथ स्वाध्याय-श्चेतना भावनेति च ॥ ५ ॥
दु खितेषु दयाऽत्यन्त-मद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्या सेवन चैव, सर्वत्रैवाऽविशेषत " ॥ ६ ॥

इति तस्मिन् पूर्वोक्तगुणभाजने गेहिनि गृहस्थे प्ररोहन्ति प्रकर्षेण स्वफलावन्ध्यकारणत्वेन प्ररोहन्ति धर्मचिन्तादिलक्षणा- ङ्कुरादिमन्ति जायन्ते। उक्तञ्च—
" वपन धर्मबीजस्य. सत्प्रशसादि तत्कृतम ।
तच्चिन्ताद्यङ्कुरादि स्यात्, फलसिद्धिस्तु निर्वृति ॥ १ ॥
चिन्तासच्छ्रुत्यनुष्ठान-देवमानुषसपद ।
क्रमेणाङ्कुरसत्काण्ड-नालपुष्पसमा मता " ॥ २ ॥

कीदृशानि सन्ति प्ररोहन्तीत्याह-विधिना देशनाऽर्हबालादिपु- रुषौचित्यलक्षणेन उप्तानि निक्षिप्तानि, अतिक्षिप्तेषु हितेषु कथमपि धर्मस्यानुदयात् । यत उपदेशपदे-" अकए बीजक्खेवे, जहा सुवासे वि न भवई सस्सी तह धम्मबीअविरहे न सुस्समाए

वि तस्सस्सं ॥ १ ॥" यथेति दृष्टान्तार्थः, बीजानि शाल्यादीनि विशुद्धायां अनुपहतायां भुवि पृथिव्यां विधिनोप्तानि सन्ति प्रायोग्रहणादकस्मादेव फलं तथा भव्यत्वे क्वचिन्मन्देऽप्याद्यायन्यथाभावेऽपि न विरोध इति॥१६॥ धर्म० १ अधि०। समस्ताविशेषगृहिधर्म०।ध० १ अधि०।पर्वकृत्ये,साम्प्रतं तेषामेव पर्वादिकृत्यानि व्यक्त्या निदर्शयन्नाह-"पव पर्वसु सर्वेषु,चतुर्मास्यां च हायने। अन्यस्यपि यथाशक्ति,स्वस्वसत्कर्मणां कृतिः॥५१॥" ध० २ अधि०। अथ जन्मादिकृत्यानि। यथा-" चेइअ १ पडिम २ पइट्ठा ३, सुआइपव्वावणा य ४ पयठवणा ५। पुत्थयलेहणवायण ६, पोसहसालाइ कारवणं ॥१॥ " धर्म० २ अधि०। श्राद्धविधौ तु गृहनिर्मापणादीन्यपि कर्माणि जन्मकृत्येषु न्यस्तानि, परं तानि सामान्यगृहिधर्माधिकारीयाणीति तत्रैव लिखितानि, व्रतादीन्यपि पूर्वं व्याख्यातत्वादत्र लिखितानि, प्रतिमानुष्ठानं च विशेषत उपयोगित्वात्स्वतन्त्रमेव सूले वक्ष्यते, इति नात्रोक्तमिति । धर्म० २ अधि० । गृहकृत्यकरणरूपे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण । गृहस्थधर्म एव श्रेयानित्यभिसन्धेर्वेदातिथिदानादिरूपगृहस्थधर्मानुगते, तदनुसारिणां च वचः-" गृहाश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति । तं पालयन्ति ये धीराः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिताः." ॥१॥ अनु० ।

गिहिभायण-गृहिभाजन-न० । गृहस्थसम्बन्धिस्थालतिलकादिकांस्यभाजनादिके, दश० ६ अ०। जीत० । व्य० ।

तत्र भोजनं निषिद्धम्-

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतोऽसणपाणाइं, आयारा परिभस्सई ॥ ५१ ॥

कंसेषु करोटकादिषु कांस्यपात्रेषु तिलकादिषु कुण्डमोदेषु हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु भुञ्जानोऽशनपानादि तदन्यदोषरहितमपि आचारात् श्रमणसंबन्धिनः परिभ्रश्यति अपैतीति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥

कथमिति ?, आह—

सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ ५२ ॥

अनन्तरोदितभाजनेषु श्रमणा भोक्ष्यन्त इत्येवं चैभिरिति शीतोदकेन धावनं कुर्वन्ति, तदा शीतोदकसमारम्भे सचेतनोदकेन भाजनधावनारम्भे, तथा मात्रकधावनोज्झने कुण्डमोदादिषु क्षालनजलत्यागे, यानि क्षिप्यन्ते हिंस्यन्ते भूतान्यप्कायादीनि सोऽत्र गृहिभाजनभोजने दृष्ट उपलब्धः केवलज्ञानभास्वता असंयमस्तस्य भोक्तुरिति सूत्रार्थः ॥ ५२ ॥

किञ्च-

पच्छाकम्मं पुरे कम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥ ५३ ॥

पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्तत्र कदाचित् भवेत् गृहिभाजनभोजने पश्चात्पुरःकर्मभावस्तु कयदित्येके । अन्ये तु भुञ्जन्तु तावत्साधवो वय पश्चात्क्षोदयाम इति पश्चात् कर्मव्यत्ययेन तु पुरःकर्म व्याचक्षते । एतच्च न कल्पते धर्मचारिणां, यत एवमत एतदर्थं पश्चात्कर्मादिपरिहारार्थं न भुञ्जन्ते निर्ग्रन्थाः क्वेति? आह-गृहिभाजने अनन्तरोदिते इति सूत्रार्थः। उक्तो गृहिभाजनदोषः तदभिधानाच्चतुर्दशस्थानविधिः । दश० ६ अ० ।

गिहिमत्त-गृहामत्र-न० । घटीकरकादिके, नि० चू० १२ उ०। गृहस्थभाजने दश० ३ अ०। कांस्यपात्र्यां सूत्र० १ श्रु० ९ अ० २० गा०।

अत्र प्रायश्चित्तम्-

जे भिक्खू गिहिमत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

गिहिमत्तो घटिकरगादि , तत्थ जो असणादि भुंजति, तस्स चउलहु ।

जे भिक्खू गिहिमत्ते, तसथावरजीवदेहाणि ।
भुज्जेज्जा असणादी, सो पावति आणमादीणि ॥ ६७ ॥

सो गिहमत्तो दुविधो-थावरजीवदेहनिप्पन्नो वा, तसजीवदेहनिप्पन्नो वा । सेसं कंठं ।

ते य इमे-

सव्वे वि लोहपादं, तेसिं केवलिय एकभोगे य ।
एते तसणिप्पन्ना, दारुगमत्तुवाइया इतरे ॥ ६८ ॥

सुवण्ण-रयत-तंब-कंसादीया सव्वे लोहपाया हत्थिदंतमया, महिसादिसिंगे वा कयं केवलियादि वा एकभोग, एत सव्वं तसणिप्फण्णं (इतर त्ति) थावरणिप्फण्ण त दारुयतंबघडियं भण्ण, मणिमयं वा,एतेहिं जो भुंजति,तेसु चउलहु,आणादिया इमे दोसा।

पुव्विं पच्छाकम्मे, उस्सुक्कणिमज्जणे य छक्काया ।
आणाणयणपवाहण, दरभुत्ते हरिए वोच्छेदो ॥ ६९ ॥

जे भद्दया गिही, ते पुव्वं चेव संजयट्ठा धोवेतु उवज्जा, पतो पच्छाकम्मं करेति, जाव संजयाण भोजणवेला वा भुजामो त्ति। उस्सुक्कणसुत्तेसु संजएसु भुंजीहामो त्ति, पुणो णिमज्जणा णिमज्जणोवहणायमणेसु छक्कायविराहणा आणिज्जंत णिज्जंतं वा भिज्जेज्जा, भवइत अप्प पवहावेज्जा, साधूण वा दरभुत्ते मग्गाति, तत्थ अद्देंतस्स अंतरायदोसा, देंतस्स सकज्जहाणी, साधूहिं वा आणीतं हीरेज्जा पच्छजातणफलएसु अवहडेसु विराधणा वुत्ता सा इह गेहमत्ते भाणियव्वा, सकज्जहाणी,एसु रुट्ठो भणेज्ज मा पुणो संजयाण देह त्ति वोच्छेदो,जम्हा एए दोसा तम्हा गिहिमत्ते ण भुंजियव्वं'॥ नि० चू० १२ उ० ।

गिहिय-गृहिक-पु० । गृहस्थीभूते, व्य० २ उ० ।

गिहिलिंग-गृहिलिङ्ग-न० । गृहस्थानां वेषे, सू० १ श्रु०।

गिहिवास-गृहिवास-पु०। अगारवासे, "गिहिवासे पोक्खे परिआए " । दश० १ चू०।

गिहिवासमज्झ-गृहिपाशमध्य-न० ।गृहिणां पाशकल्पानां पुत्रकलत्रादीनां मध्ये, "दुलहे खलु णोगी हीणधम्मे" दश०२ चू०।

गिहिसंकिलिट्ठ-गृहिसङ्क्लिष्ट-त्रि० । गृहिसबन्धिना द्विपदचतुष्पदधान्यादीनां तप्तिकरणप्रवृत्ते, प्रव० ६ द्वार ।

गिहुत्तम-गृहोत्तम-न०।गृहाणामुत्तमं गृहोत्तमम्।वरप्रासादे,स०।

गिहेलुय गृहेलुक पु० । उम्बरे, नि० चू० १३ उ० । आचा०। देहल्याम, वाच० ।

गीइ-गीति-स्त्री० । गै क्तिन्। गाने, आर्याछन्दोभेदे च , वाच० । "ततो गीतिमिमां अगौ " । आव० १ अ० ।

गीतिजुत्तिय-गीतियुक्तिज्ञ-त्रि० । गीतिमर्मज्ञे, "गधारे गीतिजुत्तिया वज्जविच्छिकलाहिय "। स्था० ७ ठा०।

गीतिया–गीतिका–स्त्री० । पूर्वार्द्धसदृशापरार्द्धलक्षणायामार्यायाम्, जं० २ वक्ष० ।"ताहे इमो गीतियं पगिया-सुट्ठु गाइय सुट्ठु वाइयं " । आव० ४ अ० । औ० । कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गीय–गीत–न० । गै भावे क्तः । गाने, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । जी० । उत्त० । ज्ञा० । कर्मणि क्तः । ध्रुवकादिच्छन्दोनिबद्धे, वृ० १ उ० । नाट्यवर्जिते, औ० । तातच्छलिते, जीत० । गेये, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । गीतं पदस्वरतालावधानात्मक गान्धर्वमिति भरतादिशास्त्रवचनात् । जं० । त० । त्रिविध गीतम्–तथा गीतकला, सा च निबन्धनमार्गश्छलिकमार्गभिन्नमार्गभेदात् त्रिधा । तत्र-" सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छना एकविंशतिः । ताना एकोनपञ्चाशत्, समाप्तं स्वरमण्डलम " ॥ १ ॥ इयञ्च विशाखिलशास्त्रादवसेयेति । स० ७२ सम० ।

स्वरप्रपूरणानन्तरम्–

सत्त स्सरा कओ वा, हवंति गीयस्स का हवइ जोणी ।
कइ समया ओसासा, कइ वा गीयस्स आगारा ? ॥१९॥
सत्त सरा नाभीओ, हवंति गीय च रुइयजोणी उ ।
पायसमा ऊसासा, तिन्नि य गीतस्स आगारा ॥ २० ॥
आईमउयारभंती, समुव्वहंता य मज्झयारम्मि ।
अवसाणे उज्जुत्ता, तिन्नि वि गीयस्स आगारा ॥ २१ ॥

इदानीं तु तद्विनिर्गतेभ्यो भरतविशाखिलादिशास्त्रेभ्यो विज्ञेया इति । "सत्त स्सरा कओ गाहा" इह चत्वार प्रश्नसूत्रा । कुत्त इति कस्मात् स्थानात् सप्त स्वरा उत्पद्यन्ते, का योनिरिति का जातिः, तथा कति समया येषु ते कतिसमया उच्छ्वासाः किंपरिमाणकाला इत्यर्थः । तथा आकारा' आकृतय , स्वरूपाणीत्यर्थ । उत्तरमाह-"सत्त सरा नाभीओ" इत्यादि गाथा स्पष्टा, नवरं रुदित योनि समानरूपतया जातिर्यस्य तदा रुदितयोनिकम्,(पायसमा उच्छ्वासा) यावद्भिः समयैर्वृत्तस्य पादः समाप्यते तावत्समया उच्छ्वासा गीतेर्भवन्तीत्यर्थः । आकारानाह-[आईगाहा] त्रयो गीतस्याकारा स्वरूपविशेषलक्षणा भवन्ति इति पर्यन्ते सम्बन्धः । किं कुर्वाणा इति? आह-(आरभ त्ति) आरभमाणाः गीतमिति गम्यते, कथंभूतमित्यादि [आइमउ त्ति] आदौ प्रथमतो मृदु कोमलम आदिमृदु, तथा समुद्वहन्तश्च कुर्वन्तश्च महता, गीतध्वनेरिति गम्यते । मध्याकारे मध्यभागे तथा अवसाने च क्षपयन्तो गीतध्वनिं मन्दीकुर्वन्ते इत्यर्थः । आदौ मृदु मध्ये तार पर्यन्ते मन्दं गीत कर्त्तव्यम्, अत एते मृदुतादयस्त्रयो गीतस्याकारा भवन्तीति तात्पर्यम् ।

किन्तु–

छद्दोसे अट्ठगुणे, तिन्नि अविंत्ताइ दोइ जणिईओ ।
जो नाही सो गाइहि, सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि ॥२२॥
भीअं दुअमुप्पित्यं, उत्तालं च कमसो मुणेअव्वं ।
कागस्सरमणुणासं, छद्दोसा होंति गेअस्स ॥२३॥

षड् दोषा वर्जनीया, तानाह–भीतमुत्त्रस्तमानस यद् गीयते इत्यको दोष १ द्रुत त्वरितम २ 'उप्पित्थ' श्वासयुक्तं, त्वरित च । पाठान्तरेण "रहस्स ति" ह्रस्वस्वर, लघुशब्दमित्यर्थः । उत्तालमुत्प्राबल्यार्थे, अतितालमवस्थानताल चेत्यर्थः । तालल्घु कंसिकादिशब्दविशेष ४ काकस्वरमश्लक्ष्णमश्राव्यस्वरम ५, अनुनास नासाकृतस्वरम् ६, एते षड् दोषा गीतस्य भवन्ति ।

अष्टौ गुणानाह–

पुण्णं रत्तं च अलं–किअं च वत्त च तहेवमविघुट्ठं ।
महुरं समं सुललिअं, अट्ठ गुणा होंति गेअस्स ॥२४॥
उरकंठसिरविसुद्धं, च गीयते मउअरिभिअपदबद्धं ।
समतालपच्चुक्खेवं, सत्तस्सरसीभरं गेअं ॥२५॥
अक्खरसमं पदसम, तालसमलयसमगहसमं वावि ।
नीससिओससिअसमं, सचारसमं सरा सत्त ॥२६॥

स्वरकलाभिः सर्वाभिरपि युक्त कुर्वतः पूर्णम १, गेयरागेण रक्तस्य भावितस्य रक्तम् २, अन्यान्यस्फुटशुभस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम ३, अक्षरस्वरस्फुटकरणाद्व्यक्तम् ४, विक्रोशनमिव यद्विस्वर न भवति तदविघुष्टम ५, मधुमत्तकोकिलारुतवत् मधुरस्वरम ६, तालवशस्वरादिसमत्वगत समम ७, स्वरघोलनाप्रकारेण शुद्धातिशयेन लसतीव यत् सुकुमाल तत सुललितम ८। एते अष्टौ गुणा गीतस्य भवन्ति, एतद्विरहितं तु विडम्बनमात्रमेव तदिति । किञ्चोपलक्षणत्वादन्येऽपि गीतगुणा भवन्ति, तानाह–चकारो गेयगुणान्तरसमुच्चयार्थ । उरःकण्ठशिरोविशुद्ध च । अयमर्थः–यदुरसि स्वरो विशालस्तदुरोविशुद्ध, कण्ठे यदि स्वरो वर्तितोऽतिस्फुटश्च तदा कण्ठविशुद्धम, शिरसि प्राप्तो यदि नाऽनुनासिकस्ततः शिरोविशुद्धम । अथ वा उर कण्ठशिरस्सु श्लेष्मणाऽव्याकुलेषु विशुद्धेषु प्रशस्तेषु यद्गीयते तदुर कण्ठशिरोविशुद्ध, गीयते, गेयमिति संबध्यते । किंविशिष्टमित्याह–मृदुक मृदुनाऽनिष्ठुरेण स्वरेण यद्गीयते तन्मृदुक, यत्राक्षरेषु घोलनया सचरन् स्वरो भवतीति घोलनाबहुल रिभित, गेयपदैर्बद्ध विशिष्टविरचनया रचितं पदं च द्वन्द्व , ततश्च पदत्रयस्य कर्मधारयः । (समतालपच्चुक्खेव त्ति) तालशब्देन हस्ततालसमुत्थः, उपचाराच्छब्दो विवक्षितः, मुरजकांसिकादिगीतोपकारकाऽऽतोद्यानां ध्वनिः प्रत्युत्क्षेपः, नर्त्तकीपदप्रक्षेपलक्षणो वा प्रत्युत्क्षेप, समौ गीतस्वरेण तालप्रत्युत्क्षेपौ यत्र तत्समतालप्रत्युत्क्षेपम् । (सत्तसरसीभर ति) अक्षरादिभिः सम यत्र तत्सप्तस्वरसीभर गीतमिति । ते चामि सप्त स्वरा -(अक्खरसम गाहा) यत्र दीर्घेऽक्षरे दीर्घो गीतस्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः, सानुनासिके तु सानुनासिकः तदक्षरसम, यद्गीतपदं यत्र स्वरे अनुपाति भवति तत्रैव गीते गीयते तत्पदसम, यत्परस्पराभिहतहस्ततालस्वरानुसारेण गीयते तत्तालसम, शृङ्गदारुदाद्यन्यतरवस्तुमयेनाङ्गुलीकोशकेन समाहततन्त्रीस्वरप्रकारो लय , तमनुसरता स्वरेण यद्गीयते तल्लयसम, प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गृहीतस्तत्समानस्वरेण गीयमान ग्रहसम, निःश्वसितोच्छ्वसितमानमनतिक्रमतो यद्गेय तन्निश्वसितोच्छ्वसितसम, वंशतन्त्र्यादिष्वेवाङ्गुलिसचारसम यद्गीयते तत्सचारसमम । एवमेते स्वराः सप्त भवन्ति । इदमुक्तं भवति–एकोऽपि गीतस्वरोऽक्षरपदादिभि सप्तभिः स्थानैः सह सामस्त्य प्रतिपद्यमानः सप्तधात्वमनुभवतीत्येते सप्त स्वरा अक्षरादिभिः समा दर्शिता भवन्तीति गीतचयः सूत्रबन्धः ।

सोऽष्टगुण एव कर्त्तव्य इत्याह–

निद्दोसं सारमंतं च, हेऊजुत्तमलंकियं ।

उवणीअं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ २५ ॥
सम अद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं च जं ।
तिन्नि वित्तपया होंति, चउत्थं नोवलब्भइ ॥ २६ ॥
सक्कया पायया चेव, भणिई होंति दोण्णि वा ।
सरमंडलम्मि गीयते, पसत्था इसिभासिया ॥ २७ ॥
केसी गायइ महुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च ।
केसी गायति चउरं, केसी अविलंबितं दुतं केसी ? ॥२८॥
गोरी गायति महुरं, सामा गायति खरं च रुक्खं च ।
काली गायति चउरं,काणा अविलंबितं दुतं अंधा ॥२९॥

(निद्दोसमित्यादि) तत्र 'अलियमुवघायजणयमित्यादि ' द्वात्रिं-शत् सूत्रदोषरहितं निर्दोषम् १,विशिष्टार्थयुक्तं सारमन्तं २,गीत-निबद्धार्थगमकहेतुयुक्ततया हेतुयुक्तम् ३,उपमाद्यलङ्कारयुक्तम-लङ्कृतम्४,उपसंहारोपनययुक्तमुपनीतम्५,अनिष्ठुराविरुद्धालज्जा-नीयार्थवाचकं सानुप्रासं वा सोपचारम्६,अनितवनविस्तररहि-तं संक्षिप्ताक्षरं मितं ७,मधुरं श्रव्यशब्दार्थं ८, गेयं भवतीति शे-षः । "तिण्णि य वित्ताइं ति (?)" यदुक्तं तत्राह-(सममित्यादि) यत्र वृत्ते चतुर्ष्वपि पादेषु संख्यया समान्यक्षराणि भवन्ति तत् समं, यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च पादयोरक्षरसंख्या-समत्वं तदर्धसमं, यत्तु सर्वत्र सर्वपादेष्वक्षरसंख्यावैषम्योपेतं तद्विषमं (ज ति) यस्माद्वृत्तं भवतीति शेषः। तस्मात् त्रय एव वृत्तप्रकारा भवन्ति, चतुर्थस्तु प्रकारो नोपलभ्यते, असत्त्वादित्य-र्थः।एवमन्यथाऽप्यविरोधेन व्याख्येयमिदमिति।"दुण्णि य भणिओ त्ति ' (?) यदुक्तं तत्राह-(सक्कयेत्यादि) भणितिर्भाषा,स्वरमण्डले षड्जादिस्वरसमूहे, शेषं कण्ठ्यम्। गीतविचारप्रस्तावादिदमपि पृच्छति-"केसी गायइ"इत्यादि प्रश्नगाथा सुगमं,नवरं (केसि त्ति) कीदृशी, स्त्री इत्यर्थः । (खरंति) खरस्थानं, रूक्षं प्रतीतं, चतुरं दक्षमविलम्बितं परिमन्थरं,द्रुतं शीघ्रमिति ।"विस्सरं पुण केरिसि त्ति' गाथाद्विकमिदम् (?) अत्र क्रमेणोत्तरमाह-(गोरी गायइ महु-रमित्यादि) अत्रापि "विस्सरं पुण पिंगला त्ति" गाथाद्विकमेव,(?) व्याख्या सुकरैव, नवरं पिङ्गला कपिला इत्यर्थः॥समस्तस्वरम-ण्डलसंक्षेपाभिधाने, अनु० । जं० । जी० । आ० म० । " अप्पे-गइया चउव्विहं गीयं गायंति-क्खित्तं पयत्तं मंदं रोइयावसाणं" आ० चू० १ अ० । रा० । गीयं विलवियं (इति वदति स्वयंबुद्धः) गीतं विलसितं (इति वदति महाबलः) आ० म० प्र० । तत्प-रिज्ञानात्मके कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । ध्वनिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शब्दिते, पो० १० विव० । कथिते, षो० १ विव० । प्रसिद्धे, संथा० । विज्ञातकृत्याऽकृत्यलक्षणार्थे, प्रव० १०२ द्वार । सूत्रार्थाबद्धिते, वृ० १ उ० । गीतार्थे, व्य० १ उ० ।

गीयजस-गीतयशस्-पुं० । गन्धर्वाणां द्वितीये इन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । औ० । प्रज्ञा० । (' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथम-भागे १७१ पृष्ठे अस्य अग्रमहिष्य उक्ता) । बले, गन्धर्वानी-काधिपतौ च । स्था० ७ ठा० ।

गीयत्थ-गीतार्थ-पुं० । गीतो विज्ञातकृत्याकृत्यलक्षणोऽर्थो येन स गीतार्थः । बहुश्रुते, प्रव० १०२ द्वार । अधिगतनिशीथादि-श्रुतसूत्रार्थे, ध० ३ अधि० । सूत्रार्थविदि, पञ्चा० १०विव०। द्वा० पं० व० । दर्श० ।नि० चू० । आव० । विशे० ।

अधुना गीतार्थस्य स्वरूपमाह-

उब्भावणापहावण-खेत्तोवहिमग्गणासु अविसादी ।
सुत्तत्थ तदुभयविऊ, गीयत्था एरिसा हुंति ॥

उत्प्राबल्येन धावनमुद्भावनं,प्राकृतत्वाच्च स्त्रीत्वनिर्देशः। किमुक्तं भवति ?-तथाविधे गच्छप्रयोजने समुत्पन्ने आचार्येण संदिष्टो असंदिष्टो वा आचार्यान् विज्ञप्य यथैतत्कार्यमहं करिष्यामीति तस्य कार्यस्यात्मानुग्रहबुद्ध्या करणं उद्धावनम्, शीघ्रं तस्य कार्यस्य निष्पादनं प्रधावनं, क्षेत्रमार्गणं क्षेत्रप्रत्युपेक्षणा, उ-पधिरुत्पादना, एतासु येऽविषादिनो विषादं न गच्छन्ति, तथा सूत्रार्थतदुभयविदः, अन्यथा हेयोपादेयपरिज्ञानायोगात् । ते ए तादृशा एवंविधाः, गीतार्थाः गणावच्छेदिन इत्यर्थः । व्य० १ उ० । " गीयत्थो य विहारो " । ग० १ अधि० ।

गीयं मुणितेगहं, विदियत्थं खलु वयंति गीयत्थं ।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थो वा सुयं गीतं ॥

गीतं मुणितमिति चैकार्थम्, ततश्च विदितो मुणितः परि-ज्ञातोऽर्थः छेदसूत्रस्य येन तं विदितार्थं खलु वदन्ति गीतार्थम्, यद्वा-गीतेन च अर्थेन च यो युक्तः स गीतार्थो भण्यते,गीतार्था-वस्य विद्येते इति अभ्रादित्वादप्रत्ययः। अथ गीतं किमुच्यते ?-अत आह-श्रुतं सूत्रं गीतमित्यभिधीयते ।

एतदेव भावयति-

गीएण होइ गीई, अत्थी अत्थेण होइ नायव्वो ।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थं तं विजाणाहि ॥

('विहार' शब्दे एतद् व्याख्यास्यते)ग० १ अधि० । पञ्चा० । वृ० । व्य० । ध० । प्रति० । पं०व० । प्रव० । पूर्वं चतुर्दशपूर्वी गीतार्थो-ऽभवत्, इदानीं प्रकल्पधारी भवति । व्य० ३ उ० ।

अथ गीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि सुखावहो भवतीत्याह-

गीअत्थस्स वयणेणं, विसं हालाहलं पिबे ।
अविकप्पो अ भक्खिज्जा, तक्खणे जं समुद्दवे ॥ ४४ ॥
परमत्थओ विसं नो तं, अमयरसायणं खु तं ।
निव्विकप्पणसंसारे, मओ वि अमयस्समो ॥ ४५ ॥

गीतार्थस्य वचनेनोपदेशेन तद्विषं गरलं , किंभूतं ?— हालाहलं स्थावरविषभेदरूपं , निर्विकल्पो निःशङ्कः सन् सुधीः पिबेत् , भक्षयेच्च,तत्र-द्रवरूपं पिबेत् , अद्रवं तु भक्षेत् । तत्किम् ?-यद्विषं तत्क्षणे भक्षणक्षणे एव समुद्द्रावयेत्, मार-येत् इत्यर्थः । विषभक्षणहेतुमाह-परमार्थतस्तद् गीतार्थोपदिष्टं विषं न स्यात् ' खु ' निश्चितं तद्विषम् अमृतरसायनममृतमेव रसायनं जराव्याधिजिदौषधम्, अमृतरसायनं, हितकारि-त्यर्थः । यद्विषं निर्विघ्नं करोति तद्विषं न मारयति । यतः स मु-तोऽपि मरणे प्राप्तोऽपि अमृतः, स जीवन्नेव भवतीत्यर्थः । गी-तार्थोपदेशेन विषभक्षणस्याप्यायतौ शाश्वतसुखहेतुत्वादिति प्रसङ्गाद्गीतार्थसंविग्नयोरत्र चतुर्भङ्गी-"संविग्गए नाम एगे नो गीअत्था १, नो संविग्गा नाम एगे गीयत्था २,संविग्गा नाम एगे गीयत्था वि ३,नो संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४। तत्थ न ताव पढमभंगिल्ला धम्मायरिया, जओ नाम किं तेण संविग्गेण जो गीयत्थत्तविरहिओ।

"जओ सुयं पढमं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावगं ? ॥ १ ॥
तहा-" जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे य आगमिओ ।

सो ससमयपरसमओ सिद्धंतविराहगो भणिओ ॥ १ ॥
उस्सग्गसुयं किंची, किंची अववाइयं भवे सुत्तं ।
तदुभयसुत्तं किंची, सुत्तस्स गमा मुणेयव्वा ॥ २ ॥
सावज्जणवज्जाणं, वयणाणं जो न जाणइ विसेसं ।
वुत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग ! पुण देसणं काउं ? ॥ ३ ॥

"जे भागमरहस्सविगला वि होऊण गच्छं परिवट्टंति तार्हि व-हुस्सुयाणुगीइ कुव्वंता वि न ते नवधकूवाओ जीवाणं उत्ता-रणाय खम । किं बहुणा-भम्मामि राइदुक्करकिरियारओ वि अगीयत्थो गुरू विसं व विसहरु व्व खलसंगु व्व कुलडासवधु व्व भीमसाणं व दुस्सहियपिसाउ व्व डज्झमाणमहारणं व प-रिहरियव्व त्ति । एस प्रथमभङ्गः ॥ १ ॥ तहा अन्ने गीयत्था नो संविग्गा, तत्थ वि किं नाम तेण सुएण अत्थेण वा णाएण न जम्हा संवेगो आयारो वा पयट्टइ, केवलं गलतालुसोसण-फलं । जओ-'जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सग्गईए'" ॥१॥

तहा—

"आउज्जनट्टकुसला, वि नट्टिया तं जणं न तोसेइ ।
जोगं अजुंजमाणी, निंदं खिसं च सा लहइ ॥ १ ॥
इय लिंगनाणसहिओ, काइयजोगं न जुंजई जो उ ।
न लहइ स मुक्खसुक्खं, लहइ य निंदं सपक्खाओ ॥ २ ॥
जाणंतो वि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ नईए ।
एसो वुड्डइ सोए, एवं नाणी चरणहीणो" ॥ ३ ॥

"जह साली महया परिस्समेण निप्फाइत्ता कुट्ठागारे छुभि-त्ता जइ तेहिं सालीहिं संजाएहिं उवभोगो न कीरइ, तो सालिसंगहो अफलो हवइ, अह तेहिं उवओगो कीरइ, तो सफलो भवइ, तो एव नाणेण नाऊण हेयमुवादेयं च वत्थुं हेय हिच्चा उवादेए पवट्टिज्जंति, अहवा इत्थ सविग्गपक्खवाई सुद्धपरूवगो वट्टइ, न य वदावेइ, इच्चाइगुणगणसंगओ भवइ, तओ आगामियत्ताए सुलभबोहियत्तेण आराहगो भवइ । एस द्वितीयो भङ्गः २ । जे ते संविग्गा गीयत्था, ते नाणस्स पयासपउत्तयाए चरणगुणप्पहाणयाए आराहगत्तेण धम्मायरिया गुरु भणइ-सोम ! सुणसु वट्टमाणे काले जं नाणं वट्टइ, तस्स सुत्तत्थेहिं सुत्तत्थाओ गहियट्ठा पत्तट्ठा विनिच्छियट्ठा गीयत्था दूसमत्थे वट्टाइंण मणुभावओ वीरियमगोविंता संविग्गा" ॥

जओ सुयं—

"को वा तहा समत्थो, जह तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं ।
जहसत्ती पुण कीरइ, दढप्पइन्ना हवइ एव ॥ १ ॥
कालोचियजयणाए, मच्छररहियाण उज्जमंताणं ।
जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जईण सया" ॥ २ ॥

जं पुण जयंताण वि पमायबहुलत्तयाए कह वि खलियं, न तेण चारित्तविराहणा । जओ-'कंटयपहि व्व छलणा, तुल्ला हुज्जा पमायठलणाओ । जयणाविओ वि मुणिणो, चारित्तं जं ण सा हणइ' ॥ १ ॥ तहा-अववायपयालंबणे विसुद्धचरणे चेव जहा काउ-स्सग्गो उस्सग्गओ उद्धट्ठाणेण कायव्वो, अववाएण अतरंतो उ निसन्नो करिज्जा, तह वि हु असहू निसन्नो उसन्नाहुवस्सए वा कारणे सहू वि य निसन्नो" इत्यादि श्राद्धप्रतिक्रमणचूर्णिगतमि-ति । एष तृतीयो भङ्गः ३ । ये तु न संविग्ना न गीतार्था ज्ञानक्रियो-भयविकला· केवलं लिङ्गमात्रोपजीविनो धर्मस्यानाराधकत्वे-न न ते धर्माचार्या इत्येष चतुर्थो भङ्गः ४ । अत्र तृतीयेनाधि-कार· ॥ इति अनुष्टुब्विषमाक्षरेति गाथाछन्दसी ॥ ४४ । ४५ ॥ ग० २ अधि० । महा० ।

गीतार्थसमाचरणं प्रमाणम्—

अवलंबिऊण कज्जं, जं किंचि समायरंति गीयत्था ।
थोवावराह बहुगुण, सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥ ७९ ॥

अवलम्ब्याऽऽश्रित्य कार्यं यत्किञ्चिदाचरन्ति सेवन्ते गीतार्था आगमविद·, स्तोकापराधं बहुगुणं मासकल्पाविहारवत् सर्वेषां जिनमतानुसारिणां तत्प्रमाणमेव, उत्सर्गापवादरूपत्वादागम-स्येति गाथार्थ· ।

ण य किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं ।
तित्थगराणं आणा, कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥ ८० ॥

नैव किञ्चिदनुज्ञातमेकान्तेन प्रतिषिद्धं वापि जिनवरेन्द्रैर्भगव-द्भि·, किन्तु तीर्थकराणामाज्ञा इयं यदुत कार्ये सत्येन भवितव्यं, न मातृस्थानतो यत्किञ्चिदवलम्बनीयमिति गाथार्थ· ॥८०॥

किमित्येतदेवमित्याह—

दोसा जेण निरुंभं-ति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं ।
सेसो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व ॥ ८१ ॥

दोषा रागादयो येन निरुध्यन्ते अनुष्ठानविशेषेण येन क्षीयन्ते पूर्वकर्माणि, शेषाणि ज्ञानावरणादीनि, एषोऽनुष्ठानविशेषो मोक्षोपाय । दृष्टान्तमाह-रोगावस्थासु शमनमिव औषधानुष्ठान-मिति । उक्तं च भिषग्वरशास्त्रे-"उत्पद्येत हि साऽवस्था, देशकाला-मयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत्" ॥१॥ इति गाथार्थ ॥८१॥ पं० व० २ द्वार । ध० र० । (गीतार्थः केवलितुल्य इति " गच्छसारणा " शब्देऽत्रैव भागे ८०६ पृष्ठे प्ररूपितम्) (गीतार्थस्यागीतार्थस्यैव प्रायश्चित्तं 'पच्छित्तदा-ण' व्याख्यावसरे) तदनुष्ठायिनि, दर्श० । पूर्वसूरौ, जी० १ प्रति० । संथा० । नगरस्थितवृद्धलघुगीतार्थै शाखापुरे शय्यातर-गृहं कृतं, तत्रस्थगीतार्थैस्तद्गृहे आहारादिकं ग्राह्यं, न वा ? । तथा-शाखापुरस्थगीतार्थैर्नगरमध्ये शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा तत्रस्थगीतार्थैस्तद्गृहे आहारादिकं ग्राह्यं, न वा ? । त-था-क्रोशत्रयावधि वृद्धगीतार्थै शय्यातरगृहं कृतं तत्पालनीयं न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-नगरस्थितगीतार्थैः शाखापुरे शय्या-तरगृहं कृतं भवति तदा तद्गृहे नगरस्थगीतार्थादिभिस्तत्र-स्थगीतार्थादिभिस्तत्रस्थसाधुभिश्चाहारादिकं न ग्राह्यं, तथा शाखापुरस्थगीतार्थैर्नगरमध्ये शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा तद्गृहे तत्रस्थसाधुभिः शाखापुरस्थसाधुभिश्चाहारादिकं न ग्राह्यं, परं परस्परं तद् गृहं ज्ञापनीयं, तथा—क्रोशत्रया-वधि वृद्धकृतशय्यातरगृहं मुख्यवृत्त्या सर्वैरपि साधुभि· पा-लितं युज्यते, परमधुना स विधि· सत्यापयितुं न शक्यते, त-थापि यदा ज्ञायते तदा सत्याप्यते इति परम्पराऽस्तीति । किं च-यत्रोषितास्तत· स्थानात् यस्यां वेलायां निर्गता द्वितीयदिने ता-वत्या वेलाया· परतोऽशय्यातरो भवतीत्यावश्यकटिप्पनके इति ज्ञेयम् । ५३ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

गीयत्थणिस्सिय-गीतार्थनिश्रित-त्रि० । गीतार्थसंयुक्ते बहुश्रु-तसमन्विते गीतार्थे, पञ्चा० ११ विव० । व्य० । प्रव० । षो०

गीयत्थपरिग्गह–गीतार्थपरिग्रह–पुं० । गीतार्थपरिगृहीते, व्य० ४ उ० ।

गीयमाण–गीतमान–न० । सङ्गीतशास्त्रपरिज्ञानात्मके कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गीयरइ–गीतरति–स्त्री० । गीतेन क्रीडायाम्, औ० । गन्धर्वानीकेन्द्रे, भ० ३श०८उ०। स्था० । (गीतरतेरग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ताः) । गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था०७ठा० । गीते रतिर्यस्य स । गीतप्रिये, जी० ३ प्रति० । गीतेन या रती रमणक्रीडा सा प्रिया येषां,गीतरतयो वा लोका येषां ते तथा । औ० । "गीयरई गंधव्वनट्टकुसला" गीतरतिश्चासौ गन्धर्वनाट्यकुशला चेति समासः । गन्धर्वं नृत्तयुक्तं गीतं, नाट्यं तु नृत्तमेवेति । विपा० १ श्रु० २ अ० । गीते रतिर्येषां ते गीतरतयः, गन्धर्वं नाट्यादि, तत्र हर्षितमनसो गन्धर्वहर्षितमनसः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तेषाम् । जी० ४ प्रति० ।

गीयवाइय–गीतवादित–न० । गेयवाद्ये, " उचियमिह गीयवाइय-मुचियाण वयाइ पमिहि ज रम्म " । पञ्चा० ६ विव० ।

गीयविहि–गीतविधि–पुं० । गीतं गानं तद्विधयः । कोकिलारुतानुकारित्वादिषु, काकस्वरानुविधायित्वादिषु च । उत्त०१ अ० ।

गीयसद्द–गीतशब्द–पुं० । पञ्चमरागादिहुङ्काररूपे गेये, उत्त० १६ अ० ।

गीयाणाकरण–गीताज्ञाकरण–न० । आगमज्ञवचनाऽऽसेवने, पञ्चा० ४ द्वार ।

गीवा–ग्रीवा–स्त्री० । कण्ठे, औ० । कन्धरायाम्, को० ।

गुंछ–गुच्छ–पुं० । 'वक्रादावन्तः' । ८ । १ । २६ । इत्यनुस्वारागमः । स्तवके, प्रा० १ पाद ।

गुंठ–देशी–चिन्दी, अधमे, इमश्रुणि च । दे० ना० २ वर्ग ।

गुंज–हस–धा० भ्वा० । हासे, " हसेर्गुञ्जः " । ८ । ४ । १९६ । इति हसेर्गुञ्जादेशः । 'गुञ्जइ,' 'हसइ,' हसति । प्रा० ४ पाद ।

गुंजइ–देशी–हास्यकर्तरि, दे० ना० २ वर्ग ।

गुंजंत–गुञ्जत्–त्रि० । शब्दविशेषं विदधाने, जं० १ वक्ष० । औ० । ज्ञा० । "गुजंतवंस कुहरोवगूढं" रा० ।

गुंजद्ध–गुञ्जार्द्ध–न० । गुञ्जाया अर्द्धं कृष्णभागादन्यभागलक्षणम् । गुञ्जाया रक्तभागे, कल्प० ३ क्षण ।

गुंजद्धराग–गुञ्जार्द्धराग–पुं० । गुञ्जाया हि अर्द्धमतिरक्तं भवति, अर्द्धमतिकृष्णं ततो गुञ्जार्द्धग्रहणम् । " गुंजद्धराग इति वा " । जी० ३ प्रति० । रा० ।

गुंजा–गुञ्जा–स्त्री० । गुञ्जने, रा० । " गुंजावंककुहरोवगूढं " । गुञ्जा गुञ्जा प्रधानानि यानि अवक्राणि शब्दमार्गाप्रतिकूलानि कुहराणि तेषूपगूढं गुञ्जाऽवक्रकुहरोपगूढम् । किमुक्तं भवति ?–तेषां देवकुमाराणां देवकुमारिकाणां च तस्मिन् प्रेक्षागृहमण्डपे गायतां गीतं तेषु प्रेक्षागृहमण्डपसत्केषु च कुहरेषु स्वानिरूपाणि प्रतिशब्दसहस्राण्युत्थापयद्वर्तते इति । रा० । भम्भायाम्,आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । घणेन्द्रियाख्ये, अनु० । रक्तकृष्णफलविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० । अनु० । धान्यमाषफलद्वयपरिच्छिन्ने, स्था० ८ ठा० । प्रतिमाने, स्था० ४ ठा० १ उ० । ज्यो० । "गुंजिका तु यवैस्त्रिभिः" त० । कलध्वनौ, चर्चायाम्, वाच० ।

गुंजालिया–गुञ्जालिका–स्त्री० । वक्रसारण्याम्, प्रश्न०५ संव० द्वार । ज० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । अनु० । "पुक्खरिणिओ वा मडलिसंठियाओ अणोन्नकवाडसजयाओ गुंजालिआ पभति" नि० चू० १२ उ० । गुञ्जालिका दीर्घा गम्भीराः कुटिलाः । आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० । वक्रनद्याम्, प्रज्ञा० ११ पद । रा० ।

गुंजावाय–गुञ्जावात–पुं० । गुञ्जा भम्भा तद्वद्गुञ्जन् यो वाति स गुञ्जावातः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । शब्दं कुर्वन् वाति । वायुकायभेदे, जी० १ प्रति० । भ० । प्रज्ञा० ।

गुंजिय–गुञ्जित–न० । गुञ्जावद्गुञ्जमाने महाध्वनौ, भाव० ४ अ० । नि० चू० । आ० चू० ।

गुंजेल्लिअ–देशी–पिण्डीकृते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुंजोल्ल–उद्–लस–धा० । उत्कर्षेण लसने उल्लसने, "उल्लसेरूसलोसुभ–णिल्लस–पुलआअ–गुंजोल्लारोआः । " ८।४।२०२। इति उल्लसेर्गुञ्जोल्लादेशः । 'गुञ्जोल्लइ' । ह्रस्वत्वे तु 'गुञ्जुल्लइ,' उल्लसति । प्रा० ४ पाद । दे० ना० ।

गुंठ–गुण्ठ–त्रि० । मायाविनि, व्य० ३ उ० । नि० चू० ।

गुंठसमाण–गुण्ठसमान–पुं० । दुर्व्यवहारिभेदे, व्य० ।

> मरहट्टलाडपुच्छा, केरिसया लाडगुंठ साहिंसु ।
> पावारगठिछुमणं, दसिया गणणे पुणो दाण ॥
> गुंठाहि एवमादी–हिं हरति मोहित्तु त तु ववहारं ।

एको लाटो गन्त्र्या किमपि नगरं व्रजति, अपान्तराले च पथि महाराष्ट्रको मिलितः, तेन लाटस्य पृच्छा कृता । कीदृशाः खलु लाटाः गुण्ठा मायाविनो भवन्ति ? । स प्राह–पश्चात्साधयिष्यामि । मार्गे च गच्छतां शीतवेलाऽऽगता, ततो नष्टे शीते महाराष्ट्रिकेण प्रावारो गन्त्र्यां क्षिप्त, तस्य च प्रावारस्य दशिका लाटेन गणिताः, ततो नगरप्राप्तौ महाराष्ट्रिकेण प्रावारो ग्रहीतुमारब्धः । लाटो ब्रूते–किं मदीयं प्रावारं गृह्णासि ? । एवं तयोः परस्परं विवादो जातः । महाराष्ट्रिकेण लाटो राजकुले कर्षितः । विवादे लाटोऽवादीत्–पृच्छत महाराष्ट्रकं, यदि तस्य प्रावारस्तर्हि कथय–कति दशा अस्य सन्ति ? । महाराष्ट्रिकेण न कथिता, तेन च कथिता लाटेन,इति महाराष्ट्रिको जित । ततो राजकुलादपसृत्य लाटेन महाराष्ट्रकमाकार्य प्रावारं च तस्मै दत्वा ब्रूते–वरमित्र ! यत्त्वया पृष्टम्–कीदृशा लाटा गुण्ठा भवन्तीति तदीदृशा लाटा गुण्ठा भवन्तीति । एवमादिभिर्गुण्ठाभिर्मायाजिर्यो मोहयित्वा तं प्रस्तुतं व्यवहारं हरति अपनयति स गुण्ठसमानः । व्य० ३ उ० ।

गुम्मिय–गुल्मित–त्रि० । प्राकृते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । व्याप्ते, " सउणी जह पंसुगुंडिया " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । प्रेरिते, "वम्मटिवम्मगुंडिता" । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "सचित्तरयसा गुंडिय गेण्हति । " नि० चू० १ उ० ।

गुग्गुलु–गुग्गुलु–पुं० । ' गुग्गुलुमारं गहाय मरुयत्थं आगओ ' । आव०४ अ० । "गुग्गुलुवयाकरीरयाम्लिवपञ्चगमसयणे" । ज्ञा०अ० ।

गुच्छ-गुच्छ (त्स)-पुं० । गु-धा० सप० क्विप् । गुत त्यति स्यति वा छो सो वा कः । वाच० । पल्लवसमूहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ज० । स्तवके, उत्त० । २ अ० । "निच्च थवइया निच्च गुच्छि-या" यद्यपि स्तवकगुच्छयोरविशेषो नामकोशेऽधीतस्तथापीह विशेषो भावनीयः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वृन्ताकीकार्पासीजपाआढकीतुलसीकुस्तुम्भरीपिप्पलीनीलयादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । जी० । प्रज्ञा० । प्र० । औ० । रा० । ज्ञा० । गुलुच्छपर्याये, हे० । सिंघारूगस्य गुच्छे, प्रज्ञा० ।

से किं तं गुच्छा ? । गुच्छा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-
"वइंगिणि सल्लइ पुण्डु-ई य तह कच्छुरी य जा सुमणा ।
रूवी आढइ णीली, तुलसी तह माउलिंगी य ॥ १ ॥
कुत्थुंभरि पिप्पलिया, अतसी वल्ली य कायमाईया ।
चुच्चपडोला कंदलिया, वाउोया वत्थुले वदरे ॥ २ ॥
पत्त उरसी य उरए, हवइ तह जवासए य बोधव्वे ।
णिग्गुंमि अक्क तूवरि, आढई चेव तलओमा ॥ ३ ॥
सण पाण कासमद्दग, अग्घामग साम सिंदुवारे य ।
करमद्द अद्द रूसग, करीर एरावण महत्थे ॥ ४ ॥
जाउल तमाल परिली, गयमारि णिकुच्चकारिया भेमी ।
जावइ केयइ तह ग-ज पामल्ला दासि अंकोल्ले" ॥ ५ ॥
जे यावण्णे तहप्पगारा । सेत्तं गुच्छा । प्रज्ञा० १ पद ।

गुच्छिय-गुच्छित-त्रि० । सजातगुच्छे, गुच्छश्च पत्रसमूहः । ज० १ वक्ष० । "निच्च गुच्छिया" । रा० ।

गुज्जर-गुर्जर-पुं० । देशभेदे, कल्प० ७ क्षण । अनु० ।

गुज्झ-गुह्य-त्रि० । "साध्वस-ध्य-ह्यां ज्झः" । ८ । २ । २६ । इति ह्यस्य ज्झः । प्रा० २ पाद । रहस्ये, अनु० । प्रश्न० । गुह्यमिव गुह्यम् । लज्जनीयव्यवहारगोपनीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । लिङ्गे, ध० २ अधि० । मृगीपदे, नि० चू० ४ उ० । गोपनीयत्वान्मैथुने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

गुज्झग-गुह्यक-पुं० । यक्षे, को० । "अपस्समाणो पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्झगे" । स० ३० सम । "केलासभवणा एए, गुज्झगा समुवट्ठिया" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

गुज्झणुचरिय-गुह्यानुचरित-न० । सुरसेविते, दश० ७ अ० ।

गुज्झदेस-गुह्यदेश-पुं० । लिङ्गे, "सुजायवरतुरगगुज्झदेसा" । प्रश्न०—द्वार ।

गुज्झभासण-गुह्यभाषण-न० । रहस्याभ्याख्याने, मृषावादातिचारे, ध० । गुह्य गूहनीय न सर्वस्मै यत्कथनीय राजादिकार्यसबद्ध, तस्यानधिकृतेनैवाकारेङ्गितादिभिर्ज्ञात्वाऽन्यस्मै प्रकाशन गुह्यभाषण,यथा-एतेहीदमिद च राजविरुद्धादिक मन्त्रयन्ते, अथ वा-गुह्यभाषण पैशुन्य, यथा द्वयोः प्रीतौ सत्यामेकस्याकारादिनोपलभ्याभिप्रायमितरस्य तथा कथयति यथा प्रीतिः प्रणश्यति । अस्याप्यतिचारत्वं रहस्याभ्याख्यानवद्व्यादिनैवेति तृतीयोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

गुज्झसाल-गुह्यशाल-न० । रहस्यशालावाम, नि०चू०८उ० ।

गुज्झहर-देशी-रहस्यभेदिनि, दे० ना० २ वर्ग ।

गुज्झाणुचरिय-गुह्यानुचरित-न० । यक्षविचरणे, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

गुज्झोकासिय-गुह्यावकाशिक-त्रि० । गुह्यभूता लज्जनीयत्वात् स्थगनीया अवकाशा देशाः, अवयवा इत्यर्थः । रहस्येषु, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

गुट्ठमज्झ-गोष्ठमध्य-न० गोकुलान्तरशब्दार्थे, आव० ४ अ० ।

गुंठ-देशी-अधमहये, उच्छलयति च । दे० ना० २ वर्ग ।

गुंठि-देशी-नीरङ्ग्याम, दे० ना० २ वर्ग ।

गुड-गुम-पुं० । इक्षुरसक्वाथे, ध० २ अधि० । द्रवगुडापिण्डगुडादौ, स्था० ४ ठा० १ उ० । गुडो द्विभेदो द्रवगुडपिण्डगुडभेदेन । प्रव० ४ द्वार । तनुत्राणविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गुडदालिअ-देशी-पिण्डीकृते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुडसत्थ-गुडशास्त्र-न० । पुरभेदे, यत्र आर्य्यखपुटैर्वट्टकरो यक्षः प्रतिबोधितः । आ० क० ('विज्जासिद्ध' शब्दे वट्टकरयक्षवक्तव्यता)

गुडिय-गुडित-त्रि० । गुडा महत्तनुत्राणविशेषः, सा सञ्जाता येषा ते गुडिताः । गुडेन सज्जितेषु, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

गुंड-देशी-मुस्तोद्भवलचकाख्यतृणे, दे० ना० २ वर्ग ।

गुण-पुं० न०-गुण-पुं० गु-भावे कर्त्तरि वा अच् । "गुणाद्याः क्लीबे वा" ॥८।१।३४॥ इति वा क्लीबत्वम् । "विहवेहिं गुणाइ मग्गंति" प्रा० १ पाद । धनुषो मौर्व्याम, वाच० । सूत्रे, विपा० १ श्रु० २ अ० । शुन्ने, अप्रधाने, हैम० । धर्मे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । विशे० । प्रशस्ततायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । यथाऽऽत्मनः जीवस्य स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषाशासीत्यादिज्ञानविशेषः । विशे० । ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा वा । उत्त० १६ अ० । आव० । आ० म० । क्षान्त्यादय । अनु० । स० । आचा० । न० । चारित्रविशेषाः "सत्तावीस अणगारगुणा" स० १ सम० । प्रश्न० । "इक्कतीस सिद्धाइगुणा" स० ३१ सम० । अष्ट० । गुणव्रतानि । स० । चारित्रवृद्धादयः पं० व० ३ द्वार । मूलोत्तरगुणाः । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ज० । "गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जाओ घओ व्व पच्चक्खो" । स्था० १ ठा० १ उ० । प्रश्न० । न० । अष्टादश शीलाङ्गसहस्राणि । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । गुणहानिश्च कुशीलससर्गात्सद्गुरूणामपर्युपासनात् प्रतिदिन प्रमादपदासेवनात् तथाविधचारित्रावरणकर्मोदयाच्च भवतीति । गुणवृद्धिस्त्वेतद्विपर्ययात् । ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । महर्द्धिप्राप्त्यादयः । स० । सौभाग्यादयः । भ० २ श० १ उ० । विपा० । मृदुत्वौदार्य्यादयः । नि० ३ वर्ग । विशिष्टर्द्धिप्राप्तिक्षान्त्यादयः । विशे० । "परोपकारैकरतिर्निरीहता, विनीतता सत्यमतुच्छचित्तता । विद्याविनोदोऽनुदिन न दीनता, गुणा इमे सत्त्ववतां भवन्ति ॥ १ ॥" ध० र० । "नोदन्वानर्थितामेति, न चाम्भोभिर्न पूर्य्यते । आत्मा तु पात्रतां नेयः, पात्रमायान्ति सम्पदः ॥ १ ॥" भ० । विभवसुखदयो वा । औ० । पुरुषस्य गुणा सौन्दर्य्यादयः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कान्तिलक्षणाः पुरुषगुणा । ज्ञा० १ श्रु०

१ अ० । शौर्यादिलक्षणा वा । आ० १ श्रु० १ अ० । व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिका । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

विषयसूची—

(१) सतां गुणानां नाशदीपनौ ।
(२) गुणस्य पञ्चदशधा निक्षेपः ।
(३) आवर्तरूपा गुणाः ।
(४) मूलस्थानरूपा गुणाः ।
(५) द्रव्यपर्यायार्थिकनयभेदेन गुणविचारः ।
(६) गुणलक्षणम् ।
(७) गुणपर्याययोर्भेदे विचारः ।
(८) द्रव्येण सह गुणपर्याययोर्भेदे विचारः ।
(९) व्यक्तिरूपयोर्गुणपर्याययोर्वर्णनम् ।
(१०) आर्हतसमतगुणाः ।
(११) विशेषगुणानामाख्यानम् ।
(१२) स्वमाना एव गुणाः ।

(१) सतां गुणानां नाशनदीपनौ—

चउहिं ठाणेहिं संते गुणे णासेज्जा । तं जहा—कोहेणं, पमिनिवेसेणं, अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताहिणिवेसेणं । चउहिं ठाणेहिं संते गुणे दीवेज्जा । तं जहा—अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कयपमिकइए इति वा ।

अनन्तरं क्रिया उक्तास्तद्वांश्च सदसद्भूतान् परगुणान्नाशयति, प्रकाशयति चेत्येतमर्थं सूत्रद्वयं, तच्च सुगमम्, नवरं सतो विद्यमानान् गुणान्नाशयेदपलपति । न मन्यते क्रोधेन रोषेण, तथा प्रतिनिवेशेनैष पूज्यते, अहं तु नेत्येवं परपूजाया असहनलक्षणेन, कृतमुपकारं परसंबन्धिनं न जानातीत्यकृतज्ञः, तद्भावस्तत्ता, तया, मिथ्यात्वाभिनिवेशेन बोधविपर्यासेनेति । उक्तं च-"रोसेण पमिनिवेसे-ण तह य अकयण्णुमिच्छभावेणं । संतगुणे नासित्ता,भासइ अगुणे असंते वा"॥१॥ इति । असतोऽविद्यमानान् (क्वचित्संतेति पाठः) तत्र च सतो विद्यमानान् गुणान् दीपयेत्, वदेदित्यर्थः । अभ्यासो हेवाको वर्णनीयाऽऽसन्नता वा प्रत्ययो निमित्तं यत्र दीपने तदभ्यासप्रत्ययं, दृश्यते अभ्यासान्निर्विषयाऽपि निष्फलाऽपि च प्रवृत्तिः, सन्निहितस्य च प्रायेण गुणानामेव ग्रहणमिति, तथा परच्छन्दस्य पराभिप्रायस्यानुवृत्तिरनुवर्तना यत्र तत्परच्छन्दानुवृत्तिकं दीपनमेव, तथा कार्यहेतोः, प्रयोजननिमित्तं चिकीर्षितकार्यं प्रत्यानुकूल्यकरणायेत्यर्थः । तथा कृते उपकृते प्रतिकृतं प्रत्युपकारः, तद्यस्यास्ति स कृतप्रतिकृतक इति वा, कृतप्रत्युपकर्त्तेति हेतोरित्यर्थः ॥ अथ वा-कृतप्रतिकृतये इति एकैकस्योपकृतं गुणा वोत्कीर्तिताः, स तस्यासतोऽपि गुणान् प्रत्युपकारार्थमुत्कीर्तयतीत्यर्थः । इती रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे, इह च गुणनाशनादि शरीरेण क्रियत इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । (आत्मनो गुणविकत्थनं दोषायेति ' जिणकप्पिय ' शब्दे वक्ष्यते) ॥ उपकारे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । गुणाः साधनमुपकारकमित्यनर्थान्तरम् । उत्त० १ अ० । "जो तु गुणो दोसकरो,ण सो गुणो दोस एव सो होति। अगुणो वी होति गुणो,जो सुदरिविच्छओ होति ॥७६६॥" नि०चू० १६ उ० । गुण्यतेऽभिधस्तेऽन्विष्यते द्रव्यमिति गुणः । शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिके, आचा० ।

(२) तत्र गुणस्य पञ्चदशधा निक्षेपः—

दव्वे खेत्ते काले, फल पज्जव गणण करण अब्भासे ।
गुणअगुणे याऽगुणगुणे,भवसीलगुणे य भावगुणो ॥७७॥
दव्वगुणो दव्वं चिय,गुणाण जं तम्मि संभवो होइ ॥
सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसम्मि य होइ दव्वम्मि ॥ ७८ ॥
संकोचिय वियसियत्तं, एसो जीवस्स होइ जीवगुणो ।
पूरेइ हंदि लोगं, बहुरूवसत्तणगुणेणं ॥ ७९ ॥
देवकुरु ससमसुसमा, सिद्धी निब्भया दुगाइया चेव ।
कला जोयणुज्जुवंके, जीवमजीवे य भावम्मि ॥ ८० ॥

दव्वे खेत्ते गाहा" नामगुणः, स्थापनागुणः, द्रव्यगुणः, क्षेत्रगुणः, कालगुणः,फलगुणः, पर्यवगुण ,गणनागुणः,करणगुणः,अभ्यासगुण ,गुणवगुणः,अगुणगुणः,भवगुण,,शीलगुण ,भावगुणश्चेति गाथासमासार्थः। तदेव सूत्रानुगमेन सूत्रे समुच्चरिते निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमेन तदवयवे निक्षिप्ते सत्युपोद्घातनिर्युक्तेरवसरः । सा च-'उद्देसे' इत्यादिना द्वारगाथाद्वयेनानुगन्तव्या॥७७॥साम्प्रतं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेरवसरः , तत्रापि सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यादिकमाह-(दव्वगुणो गाहा) तत्र द्रव्यगुणो नाम द्रव्यमेव, किमिति,गुणानां यतो गुणिनि तादात्म्येन संभवात्, ननु च द्रव्यगुणयोर्लक्षणविधानभेदाद्भेदः। तथाहि-द्रव्यलक्षणम्-"गुणपर्यायवद्द्रव्यं"विधानमपि-'धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलादिकमिति'।गुणलक्षणम्-'द्रव्याश्रयिणः सहवर्तिनो निर्गुणा गुणा इति'। विधानमपि-'ज्ञानेच्छाद्वेषरूपरसगन्धस्पर्शादयः स्वगतभेदभिन्ना इति'। नैष दोषो,यतः द्रव्ये सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदभिन्ने स गुणस्तादात्म्येन स्थित'। तत्राचित्तद्रव्यं द्विधा-अरूपि,रूपि च। तत्रारूपि द्रव्यं त्रिधा-धर्माऽधर्माऽऽकाशभेदभिन्नम्। तच्च गतिस्थित्यवगाहदानलक्षण, गुणोऽप्यस्यामूर्त्तत्वागुरुलघुपर्यायलक्षणः,तत्रामूर्तत्वं त्रयस्यापि स्वरूपं न भेदेन व्यवस्थितमगुरुलघुपर्यायोऽपि तत्पर्यायत्वादेव, मृदो मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलपर्यायवत्,रूपिद्रव्यमपि स्कन्धतद्देशप्रदेशपरमाणुभेद, तस्य च रूपादयो गुणा , अभेदेन व्यवस्थितभेदेनानुपलब्धेः सयोगविभागभावात् स्वात्मवत्,तथा सचित्तमप्युपयोगलक्षणलक्षितं जीवद्रव्यं,न च तस्माद्भिन्ना ज्ञानादयो गुणाः,तद्भेदे जीवस्याऽचेतनत्वप्रसंगात्। ततसम्बन्धाच्चेष्यतीति चेद्, अनुपासितगुरोरिदं वचः। यतो न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते, नहान्धः प्रदीपशतसंबन्धेऽपि रूपावलोकनायाऽलमित्यनयैव दिशा मिश्रद्रव्योपासकत्वसयोजना स्वबुद्ध्या कार्येति गाथार्थः । तदेव द्रव्यगुणयोरेकान्तेनैकत्वे प्रतिपादिते सत्याह शिष्यः-तत्किमिदानीमभेदोऽस्तु, न तदप्यस्ति, यतः सर्वथाऽभेदेऽभ्युपगम्यमाने वनस्पत्येकेनैवेन्द्रियेण गुणान्तरस्याप्युपलब्धेरपरेन्द्रियवैफल्यं स्यात्। तथाहि-चूतफलरूपादौ चक्षुराद्युपलभ्यमाने रूपाद्यात्मभूतत्वयत्रि द्रव्याव्यतिरिक्तत्वादेरप्युपलब्धिः स्याद्रूपादिस्वरूपवदेव ह्यभेदः स्यात्, यदि रूपादौ समुपलभ्यमानेऽप्यपि समुपलभ्येरन्। अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासाद्भिद्येरन्,घटपटवदिति,तदेवं भेदाभेदोत्पत्तिनिर्व्याकुलितमतिः शिष्यः पृच्छति-उभयथापि दोषापत्तिदर्शनात्कथं गृह्णीमः ?। आचार्य आह-अत एव भेदोऽस्तु तत्राभेदपक्षे, द्रव्यगुणभेदपक्षे तु भावो गुणः। इति। तथाहि-गुणगुणिनो पर्यायपर्यायिणोः सामान्यविशेषयोरवयवावयविनोर्भेदाऽभेदव्यवस्था नो नैवात्मभावसद्भावात्।

आह हि-

"दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णऽत्थि ।
उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं" ॥

"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः" ॥

इत्यादि स्वयूथ्यैर्बहु विजृम्भितमित्यलं विस्तरेण । एतदेव निर्युक्तिकारः समस्तद्रव्यप्रधाने जीवद्रव्ये गुणमभेदेन व्यवस्थितमाह-(सङ्कोचयगाहा) जीवो हि सयोगिवीर्यसद्द्रव्यतया प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां आधारवशात्प्रदीपवत् संकुचति, विकसति च, एष जीवस्यात्मभूतो गुणो, भेदं विनाऽपि तस्योपलब्धेः । तद्यथा-राहोः शिरः, शिलापुत्रस्य शरीरमिति। तद्भाव एव वा सप्तसमुद्घातवशात् संकुचति, विकसति च । सम्यग् समन्ततः उत्प्राबल्येन हननमितश्चेतश्चात्मप्रदेशानां प्रक्षेपणं समुद्घातः । स च कषाय-वेदना-मारणान्तिक-वैक्रिय-तैजसा-ऽऽहारक-केवलिसमुद्घात-भेदात्सप्तधा । तत्र कषायसमुद्घातोऽनन्तानुबन्धी क्रोधाद्युपहतचेतस आत्मप्रदेशानामितश्चेतश्च प्रक्षेपः, इत्येवं तीव्रतरवेदनोपहतस्याऽपि वेदनासमुद्घातः । मारणान्तिकसमुद्घातो हि मुमूर्षोरसुमत आदित्सितोत्पत्तिप्रदेशं आलोकान्ताद्वाऽऽत्मप्रदेशानां भूयो भूयः प्रक्षेपसंहाराविति । वैक्रियसमुद्घातो वैक्रियलब्धिमतो वैक्रियोत्पादनाय बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपः, तैजससमुद्घातस्तैजसशरीरनिमित्तं तेजोलेश्यालब्धिमतां तेजोलेश्याप्रक्षेपावसरे इति । आहारकसमुद्घातश्चतुर्दशपूर्वविदः आहारकलब्धिमतः क्वचित्सन्देहाऽपगमनाय तीर्थकरान्तिकगमनार्थमाहारकशरीरसमुत्पादार्थं बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपः । केवलिसमुद्घातं तु समस्तलोकव्यापितयाऽन्तर्नीतान्यसमुद्घातं निर्युक्तिकारः स्वत एवाचष्टे-पूरयति व्याप्नोति, 'हन्दी'त्युपप्रदर्शने, किं, लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमाकाशखण्डं, कुतो, बहुप्रदेशगुणत्वात् । तथा हि-उत्पन्नदिव्यज्ञान आयुषोऽल्पत्वमवधार्य वेदनीयस्य च प्राचुर्याद्दण्डादिक्रमेण लोकप्रमाणत्वादात्मप्रदेशानां लोकमापूरयति । तदुक्तम्-'दण्डकवाडे मथंतरे य' इति गाथार्थः । गतो द्रव्यगुणः । क्षेत्रादिकमाह-[देवकुरुगाहा] क्षेत्रगुणः देवकुर्वादि, कालगुणे सुषमसुषमादि, फलगुणे सिद्धिः, पर्यवगुणे निर्भजना, गणनागुणे द्विकादि, करणगुणे कलाकौशल्यम्, अभ्यासगुणे भोजनादि, गुणागुणे ऋजुता, अगुणगुणे वक्रता, भवगुणशीलगुणयोर्भावगुणार्थमुपादानेन जीवग्रहणेन गतार्थत्वाद्गाथायां पृथगनुपादानम् । भवगुणो जीवस्य नारकादिर्भवः, शीलगुणो जीव एव क्षान्त्याद्युपेतो, भवगुणे जीवाजीवयोरिति । एवं संयोज्यैकैको व्याख्यायते—तत्र देवकुरूत्तरकुरुहरिवर्षरम्यकहैमवतैरवतषट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाऽकर्मभूमीनामयं गुणो-यदुत तत्रत्यमनुजा देवकुमारोपमाः सदाऽवस्थितयौवना निरुपक्रमायुषो मनोज्ञशब्दादिविषयोपभोगिनः स्वभावमार्दवाऽऽर्जवप्रकृतिभद्रकगुणाः सन्तः देवलोकगतयश्च भवन्ति । कालगुणोऽपि भरतैरावतयोरवसर्पिण्युत्सर्पिण्योरेकान्तसुषमादिषु समासु स एव सदाऽवस्थितयौवनादिरिति, फलमेव गुणः फलगुणः, फलञ्च क्रियाया भवति, तस्याश्च क्रियायाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररहितायाः ऐहिकामुष्मिकार्थं प्रवृत्तयोरनात्यन्तिकोऽनैकान्तिको भवन् फलगुणोऽप्यगुण एव भवति, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रक्रिया त्वैकान्तिकात्यन्तिकानाबाधसुखाऽस्याः सिद्धिः फलगुणोऽवाप्यते। एतदुक्तं भवति-सम्यग्दर्शनादिकैव क्रिया सिद्धिफलगुणेन फलवती, अपरा तु सांसारिकसुखफलाभास एव फलाध्यारोपान्निष्फलेत्यर्थः । पर्यायगुणो नाम द्रव्यस्यावस्थाविशेषः । पर्यायः स एव गुणः पर्यायगुणः, गुणपर्याययोर्नयवादान्तरेणाभेदाभ्युपगमात्, स च निर्भजनारूपो, निश्चिता भजना निर्भजना, निश्चितो भाग इत्यर्थः । तथाहि-स्कन्धद्रव्यं देशप्रदेशेन भिद्यमानं परमाण्वन्तं भेदं ददाति, परमाणुरप्येकगुणकृष्णद्विगुणकृष्णादिना अनन्तशोऽपि भेद्यमानो भेदं ददातीति। गणनागुणो नाम द्विकादिकः, तेन च सुमहतोऽपि राशेर्गणनागुणेनेयत्ताऽवधार्यते। करणगुणो नाम कलाकौशलं, तथाहयुदकादौ करणपाटवार्थं गात्रोत्क्षेपादिका क्रिया कुर्वन्ति । अभ्यासगुणो नाम भोजनादिविषयः । तद्यथा-तदहर्जातबालकोऽपि भवान्तराभ्यासात् स्तनादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतरुदितश्च भवति । यदि वा अभ्यासवशात्सतमसेऽपि कवलादेर्मुखविवरे प्रक्षेपाद्याकुलितचेतसोऽपि च तुदं गात्रकण्डूयनमिति । गुणागुणो नाम-तत्र गुण एव कस्यचिदगुणत्वेन विपरिणमते । यथा-जीवोपेतस्य ऋजुत्वाख्यो गुणो मायाविनः प्रत्यगुणो भवति ।

उक्तं च-

"शाठ्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियाभाषिणि ।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे,
तत्को नाम गुणो भवेत् स विदुषां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः" ॥१॥

अगुणगुणो नामाऽगुण एव कस्यचित् गुणत्वेन विपरिणमते, स वक्रविषयो, यथा-गौर्गलिरसञ्जातकिणस्कन्धो गोगणस्य मध्ये सुखेनैवाऽऽस्ते । तथा च—

"गुणानामेव दौर्जन्या-द्धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असञ्जातकिणस्कन्धः, सुखं जीवति गौर्गलिः" ॥ १ ॥

भवगुणो नाम भवत्युत्पद्यते तेषु तेषु स्थानेष्विति नारकादिर्भवः, तत्र तस्य वा गुणो भवगुणः, स च जीवविषयः । तद्यथा-नारकास्तीव्रतरवेदनासहिष्णवस्तिलशश्छिन्नसन्धानिनोऽवधिमन्तश्च भवगुणादेव भवन्ति, तिर्यञ्चश्च सदसद्विवेकविकला अपि सन्तो गगनगमनलब्धिमन्तो गवादीनां च तृणादिकमप्यशनं शुभानुभावेनापद्यते, मनुजानां वा शेषकर्मक्षयो, देवानां च सर्वशुभानुभावो भवगुणादेवेति । शीलगुणो नामाऽपरैराक्रुश्यमानोऽपि शीलगुणादेव न क्रोधवशो भवति । अथवा-शब्दादिके शोभने अशोभने वा स्वभावादेव विदितवेद्यवन्माध्यस्थ्यमवलम्बते । भावगुणो नाम भावा औदयिकादयः, तेषां गुणो नाम भावगुणः, स च जीवाजीवविषयः, स च जीवविषयः औदयिकादिः षोढा । तत्रौदयिकः प्रशस्तश्च, तीर्थकराऽऽहारकशरीरादिः प्रशस्तः, अप्रशस्तस्तु शब्दादिविषयोपभोगहास्यरतीत्यादिः, औपशमिक उपशमश्रेण्यन्तर्गतायुष्कक्षयादनुत्तरविमानप्राप्तिलक्षणः, तथा सत्कर्मानुदयलक्षणश्चेति । क्षायिकभावगुणश्चतुर्धा । तद्यथा-क्षीणसप्तकस्य पुनर्मिथ्यात्वागमनं क्षीणमोहनीयस्यावश्यंभावि शेषघातिकर्मक्षयः क्षीणघातिकर्मणोऽनावरणज्ञानदर्शनाविर्भावोपगताशेषकर्मणोऽपुनर्भवस्तथाऽऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधपरमानन्दलक्षणसुखावाप्तिश्चेति क्षायोपशमिकदर्शनावाप्तिरिति पारिणामिको भव्यत्वादिरिति सान्निपातिकस्त्वौदयिकादिपञ्चभावसमकालनिष्पादितः । तद्यथा-मनुष्यगत्युदयादौदयिकः सपूर्णपञ्चेन्द्रियत्वावाप्तेः क्षायोपशमिकः, दर्शनसप्तकक्षयात् क्षायिकः, चारित्रमोहनीयोपशमादौपशमिकः, भव्यत्वात्पारिणामिक इति । उक्तो जीवभावगुणः । सांप्रतमजीव-

भावगुणः, स चौदयिकपारिणामिकयोरेव सभवति, नान्येषां, तत्रौदयिकस्तावत् उदये भव औदयिकः, स चाजीवाश्रयोऽनया विवक्षया यदुत काश्चित् प्रकृतय· पुद्गलविपाकिन्य एव भव— न्ति । काः पुनस्ता·?। उच्यन्ते-औदारिकादीनि शरीराणि पञ्चषट् सस्थानानि त्रीएयङ्गोपाङ्गानि षट्संहननानि वर्णपञ्चक गन्धद्वय पञ्च रसा अष्टौ स्पर्शा अगुरुलघु नाम उपघातो नाम पराघातो नाम उद्योतो नाम आतपो नाम निर्म्माणं नाम प्रत्येक नाम साधारण नाम,स्थिर नाम अस्थिर नाम शुभ नाम अशुभ नाम । एता· सर्वा अपि पुद्गलविपाकिन्य·, सत्यपि जीवसम्बन्धित्वे पुद्गलविपाकित्वादासामिति पारिणामिक·, जीवगुणस्तु द्वेधाऽनादिपारिणामिक·, सादिपारिणामिकश्चेति । तत्रानादिपारिणामिको धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहलक्षण , सादिपारिणामिकस्त्वभ्रेन्द्रधनुरादीनां परमाणूनां च वर्णादिगुणान्तरोत्पत्तिरिति गाथातात्पर्यार्थः । उक्ता गुणा· । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(३) आवर्तरूपा गुणाः—

जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे उड्ढं अहं तिरियं पाईण पासमाणे रूवाइं पासति सुणमाणे सद्दाइं सुणेति उड्ढ अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति सद्देसु आवि ।

यो गुणः स आवर्त·, आवर्तन्ते परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्तः ससार· । एकवचनोपन्यासात् पुरुषोऽत्र सबध्यते, यः शब्दादिगुणे वर्तते स आवर्ते वर्तते, यश्चावर्ते वर्तते स गुणे वर्तते इति । अथ य एते गुणा· ससारावर्तकारणभूता· शब्दादय· ते किं नियतदेशभाज· उत सर्वदिक्षु इत्यत आह—(उड्ढ अधमित्यादि) प्रज्ञापकदिगङ्गीकरणादूर्द्धदिग्व्यवस्थित रूपगुण पश्यति, प्रासादतलहर्म्यादिषु अधमित्यधस्तात गिरिशिखरप्रासादादिरूढोऽधोव्यवस्थितं रूपगुण पश्यति, अध·शब्दार्थे (अवामित्यय ?) वर्तते। गृहभित्त्यादिव्यवस्थित रूपगुण तिर्यक् पश्यति, तिर्यक्शब्देन चात्र दिशोऽनुदिशश्च परिगृह्यन्ते। ताश्चेमाः-प्राचीनमिति पूर्वादिक्,एतच्चोपलक्षणम्-अन्या अप्येतदाद्यास्तिर्यग्दिशो द्रष्टव्या इति। एतासु दिक्षु पश्यन् चक्षुर्ज्ञानपरिणतो रूपादिद्रव्याणि चक्षुर्ग्राह्यतया परिणतानि पश्यत्युपलभत इत्यर्थः । तथा-तासु च शृएवन् शृणोति शब्दानुपयुक्त श्रोत्रेण,नान्यथेति। अत्रोपलब्धिमात्र प्रतिपादित,न चोपलब्धिमात्रात्ससारप्रपातः, किंतु यदि मूर्च्छां रूपादिषु करोति ततोऽस्य बन्ध· इति दर्शयितुमाह-(उड्ढमित्यादि) पुनरूर्द्धादेर्मूर्च्छासम्बन्धनार्थमुपादानम, मूर्च्छन्नरूपेषु मूर्च्छति; रागपरिणाम यान् रज्यते रूपादिष्वित्यर्थ· । एव शब्देष्वपि मूर्च्छति, अपिशब्द· सम्भावनाया, समुच्चये वा, रूपशब्दविषयग्रहणाच्च शेषा अपि गन्धस्पर्शा गृहीता भवन्ति । एकग्रहणात्सजातीयानां ग्रहणात्,आद्यन्तग्रहणाद्वा तन्मध्यग्रहणमवसेयमिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

(४) मूलस्थानरूपा गुणा·–

जे गुणे से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे इति से गुणट्ठी महया परितावेणं वसे पमत्ते ।

'जे गुणे से मूलट्ठाणे' । आदिसूत्रसम्बन्धस्तु-"सुय मे आउसतेणं भगवया एवमक्खाय" किं तत् श्रुत भवता,यद्भगवता आयुष्मताऽख्यातमित्युच्यते ? । (जे गुणे से मूलट्ठाणे) य इति सर्वनामप्रथमान्त मागधदेशीवचनत्वादेकारान्त सामान्योद्देशार्थाभिधायीति । गुएयते भिद्यते विशिष्यतेऽनेन द्रव्यमिति गुण· । स चेह शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिक·, स इति सर्वनामप्रथमान्तमुद्दिष्टनिर्देशार्थाभिधायीति । मूलमिति निष्पन्न कारण प्रत्यय इति पर्याया·, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं मूलस्य स्थान मूलस्थानम् , " व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यानामिति " न्यायात् । य एव शब्दादिकः कामगुण· स एव ससारस्य नारकतिर्यग्नराऽमरसंस्थितिलक्षणस्य यन्मूलं कारण कषायास्तेषां स्थानमाश्रयो वर्तते, यस्मान्मनोज्ञेतरशब्दाद्युपलब्धौ कषायोदयस्ततोऽपि ससार इति । अथवा मूलमिति कारण,तच्चाष्टप्रकार कर्म्म, तस्य स्थानमाश्रयः कामगुण इति । अथवा-मूल मोहनीय तद्भेदो वा कामस्तस्य स्थान शब्दादिको विषयगुण· । अथ वा-मूल शब्दादिको विषयगुणस्तस्य स्थानमिष्टानिष्टविषयगुण इति । अथ वा-मूल मोहनीय तद्भेदो वा कामस्तस्य स्थान शब्दादिव्यवस्थितो गुणरूपः ससार एव आत्मा वा शब्दाद्युपयोगानन्यत्वाद् गुणः । अथ वा मूल ससारस्तस्य शब्दादय· स्थान, कषाया वा, गुणोऽपि शब्दादिक·, कषायपरिणतो वाऽऽत्मेति। यदि वा-मूल ससारस्य शब्दादिकषायपरिणतः सन्नात्मा,तस्य स्थान शब्दादिक,गुणोऽप्यसावेवेति । ततश्च सर्वथा य एव गुणः स एव मूलस्थान वर्तते । ननु च वर्तनक्रियायाः सूत्रेऽप्यनुपादानात् कथ प्रक्षेप इति?। उच्यते-यत्र हि काचिद्विशेषक्रिया नैवोपादायि, तत्र सामान्यक्रिया-अस्ति, भवति, विद्यते, वर्तत इत्यादिकामुपादाय वाक्य परिसमाप्यते। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति । अथ वा-मूलमित्याद्य प्रधान वा स्थानमिति कारणं, मूल च तत्कारण चेति विगृह्य कर्मधारय· । ततश्च य एव शब्दादिको गुणः स एव मूलस्थान संपाद्य, प्रधान वा कारणमिति; शेष पूर्ववदिति । साम्प्रतमनयोरेव गुणमूलस्थानयोर्नियम्यनियामकभावं दर्शयस्तद्द्वारेणानां विषयकषायादीनां बीजाङ्कुरन्यायेन परस्परत कार्यकारणभाव सूत्रेणैव, ततश्च दर्शयति-(जे मूलट्ठाणे से गुणे त्ति) यदेव ससारमूलानां वा कषायाणा स्थानमाश्रय· शब्दादिको गुणोऽप्यसावेव । अथवा-कषायमूलानां शब्दादीना यत स्थान कर्म ससारो वा तत् तत् स्वभावापत्तेर्गुणोऽप्यसावेवेति । अथवा-शब्दादिकषायपरिणाममूलस्य ससारस्य कर्मणो वा यत् स्थान मोहनीयं कर्म शब्दादिकषायपरिणतो वाऽऽत्मेति तद्गुणावासेर्गुणोऽप्यसावेव । यदि वा-ससारकषायमूलस्याऽऽत्मनो यत्स्थानं विषयाभिष्वङ्गोऽसावपि शब्दादिविषयत्वाद् गुणरूप वेति । अत्र च विषयोपादानेन विषयिणोऽप्याक्षेपाद सूचनार्थत्वाच्च सूत्रस्येत्येवमपि द्रष्टव्यम् । यो गुणेषु वा वर्तते स मूलस्थाने,मूलस्थानेषु वा वर्तते, यो मूलस्थानादौ वर्तते स एव गुणादौ वर्तत इति । य एव जन्तुः शब्दादिके प्राग्व्यावर्णितस्वरूपे वर्तते स एव संसारमूलकषायादिस्थानादौ वर्तते। एतदेव द्वितीयसूत्रापेक्षया व्यत्ययेन प्राग्वदायोज्यम, अनन्तगमपर्यायत्वात सूत्रस्येवमपि द्रष्टव्यम् । यो गुणस्स एव मूल,स एव च स्थान,यन्मूल तदेव गुण ,स्थानमपि तदेव,यत स्थान तदेव गुणो, मूलमपि तदेवेति, यो गुण शब्दादिकोऽसावेव ससारस्य कषायकारणत्वान्मूलं,स्थानमप्यसावेत्येवम,एवमन्येष्वपि विकल्पेषु योज्यम । विपर्यनिर्देशे च विपर्ययप्याक्षिप्त , यो गुणे वर्तते स मूले स्थाने चेत्येव सर्वत्र द्रष्टव्यम् । इह च सर्वज्ञप्रणीतत्वादनन्तार्थता सूत्रस्यावगन्तव्या । तथाहि-सूत्रमत्र कषायादिकमुप

न्यस्त, कषायाश्च क्रोधादयश्चत्वार, क्रोधोऽप्यनन्तानुबन्ध्यादिभेदन चतुर्धा-अनन्तानुबन्धिनोऽप्यसख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि बन्धाध्यवसायस्थानि, अनन्ताश्च तत्पर्यायाः, तेषां च प्रत्येक स्थानगुणनिरूपणमनन्तार्थता सूत्रस्य सपद्यते। सा च ग्रन्थेन सर्वायुषाऽप्यविषयत्वाच्चाऽशक्या दर्शयितुम् दिग्दर्शनं तु कृतमेवाऽनोऽनया दिशा कुशाग्रीयधीमुख्या गुणमूलस्थानानां परस्परत कार्यकारणभाव', सयोजना च कार्येति। तदेव य एव गुण. स एव मूलस्थान, यदेव मूलस्थान स एव गुण इत्युक्तम् । तत किमिति ?, अत आह—(इति से गुणट्ठी महया इत्यादि) इतिहेतोर्यस्माच्छब्दादिगुणपरीत आत्मा कषायमूलस्थाने संवर्त्तते, सर्वोऽपि च प्राणी गुणार्थी गुणप्रयोजनी गुणानुरागीत्यतस्तेषां गुणानामप्राप्तौ प्राप्तिनाशे वाऽऽकाङ्क्षाशोकाभ्यां स प्राणी महताऽपरिमितेन परि समन्ततो य. परितापस्तेन शारीरमानसस्वभावेन दु खेनाभिभूतः सन् पौन पुन्येन तेषु तेषु स्थानेषु वसेत्तिष्ठेदुत्पद्येत् । किंभूत सन्-प्रमत्त , प्रमादश्च रागद्वेषात्मको, द्वेषश्च प्रायो न रागमृते, रागोऽप्युत्पत्तेरारभ्यानादिभवाभ्यासात । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० सूत्र०। वैशेषिकसम्मतगुणा.-गुणाश्चतुर्विंशति. । तद्यथा-"रूपरसगन्धस्पर्श-सख्यापरिमाणानि पृथक्त्व सयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धि. सुखदु खे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च" इति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त-द्रवत्व गुरुत्व सस्कार. स्नेहो धर्माधर्मौ शब्दश्चेत्येव चतुर्विंशतिर्गुणा.। सस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात्त्रैविध्येऽपि सस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वाच्छौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान्नाधिक्यम् । स्या० । आ० म० । आव० । आ० चू० । द्रव्यगुणानां परस्परमभेद' । सम्म० ३ काण्ड । नित्यस्य चाकारणत्वान्न चतु सङ्ख्य परमाण्वात्मक नित्यद्रव्य सम्भवति (इत्यन्यत्र प्रत्यपादि) सम्म० ३ काण्ड।

[५] न सन्ति गुणा इति द्रव्यार्थिक -गुणा ह्यौपचारिकत्वाद्सन्त एव द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामनुपलम्भात । ततश्च न्यग्भूतगुणग्रामो जीव एव मुख्यवृत्त्या सामायिक न तु पर्याया इति द्रव्यार्थिकनयो मन्यते । आह-ननु रूपादयो गुणा यदि न सन्ति, तर्हि कथ लोकस्य द्रव्ये तत्प्रतिपत्ति ?। उच्यते-भ्रान्तैवेयम्, चित्रे निम्नोन्नतप्रतिपत्तिवदित्यस्य नयस्याऽभिप्राय. । स एव सामायिकादिगुण. पर्यायार्थिकनयस्य परमार्थतोऽस्ति, न तु जीवद्रव्य, यस्माज्जीवस्यैव गुणो जीवगुण इति, तत्पुरुषोऽय, स चोत्तरपदप्रधान. । यथा-तैलस्य धारा तैलधारेति, न चात्र धाराऽतिरिक्त किमपि तैलमस्ति । एव ज्ञानादिगुणातिरिक्त जीवद्रव्यमपि नास्तीति पर्यायार्थिकनयाऽभिप्राय. । इति निर्युक्तिकाराशय. ।

अत्र भाष्यम्-

इच्छइ जं दव्वनओ, दव्व तव्व मुवयारओ य गुणे ।
सामइयगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामइयं ॥२६४४॥
पज्जाओ चिय वत्थु, तत्थं दव्वं च तदुवयाराओ ।
पज्जवनयस्स जम्हा, सामइय तेण पज्जाओ ॥२६४५॥

यद्यस्माद्द्रव्यार्थिकनयस्तथ्य सत्य द्रव्यमेवेच्छति, गुणांस्तूपचारत एव मन्यते,न तु सत्यान्, ततस्तस्मात्सामायिकगुणविशिष्ट उपसर्जनीभूतसामायिकादिगुणो मुख्यतया जीव एव, तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य सामायिकमिति। यस्मात्पर्यायार्थिकनयस्य मतेन पर्याय एव तथ्यं निरुपचरित वस्तु, द्रव्य पुनस्तेष्वेव पूर्वापरीभूतपर्यायेषूपचारतो व्यवह्रियते, न तु परमार्थतस्तद्स्ति, तेषु पर्यायेषु उपचारस्तदुपचारस्तस्मादिति समासः। तेन तस्मात्कारणात्पर्याय एवाऽस्य मुख्यतया सामायिकम्, न तु जीवद्रव्यमिति ॥२६४५॥

इदमेव पर्यायार्थिकनयमत युक्तित समर्थयन्नाह-

पज्जायनयमयमिणं, पज्जायत्थतरं कओ दव्व ।
उवलंभव्ववहारा-भावाओ खरविसाणं व ॥२६४६॥
जह रूवाइविसिट्ठो, न घडो सव्वप्पमाणविरहाओ ।
तह नाणाइविसिट्ठो,को जीवो नामऽणक्खेओ ? ॥२६४७॥

पर्यायनयस्येदं मतम्-पर्यायेष्वेव पूर्वापरीभावत. सदैव सातत्येन प्रवृत्तेषु भ्रान्त्या द्रव्योपचार. क्रियते, न पुनः पर्यायेभ्योऽर्थान्तर भिन्न द्रव्यमस्ति । प्रयोग -नास्ति परकल्पित द्रव्य, पर्यायेभ्योऽर्थान्तरत्वात्,खरविषाणवदिति। अथ वा- नास्ति परपरिकल्पित द्रव्य, पर्यायेभ्यो भेदेनानुपलभ्यमानत्वात्,व्यवहारेऽनुपयुज्यमानत्वात् वा खरविषाणवदिति । यथा वा-रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो विशिष्टो भिन्नो घटो नास्ति,सर्वप्रमाणाविरहात्, सर्वप्रमाणै. ग्रहणाभावादित्यर्थ ,खरविषाणवदिति । तथा तेनैव प्रकारेणाऽनाख्येय. पर्यायविरहेण सर्वोपाख्यारहितो ज्ञानादिभ्यो विशिष्टो व्यतिरिक्त. को नाम जीव. ?, पूर्वोक्तेभ्य. एव हेतुभ्यस्तद्व्यतिरिक्तो नास्ति कश्चनाप्यसाविति भाव.॥२६४६॥२६४७॥

अथेदमेव पर्यायार्थिकमत निर्युक्तिकारोऽपि किञ्चित्समर्थयन्नाह-

उप्पज्जंति वियंति य, परीणामंति य गुणा न दव्वाइं।
दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइँ दव्वाइं ॥२६४८॥

उत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, तथा-अनेनोत्पादव्ययरूपेण परिणमन्ति गुणा.। चशब्द एवकारार्थ । तस्य चैव प्रयोग.-गुणा एवोत्पादव्ययरूपेण परिणमन्ति,न तु द्रव्याणि,अतस्त एव सन्ति,उत्पादव्ययपरिणामवत्त्वात्,पत्रनीलरक्तादिवत्, तद्व्यतिरिक्तस्तु गुणी नास्त्येव,उत्पादव्ययपरिणामरहितत्वाद्वन्ध्यासुतादिवदिति। किञ्च (दव्वप्पभवाय गुणा न त्ति) द्रव्यात्प्रभवो येषां ते द्रव्यप्रभवा गुणा न भवन्ति, चशब्दोऽप्यर्थे । तस्य चैव सवन्ध -नापि गुणेभ्य. प्रभवो येषां तानि गुणप्रभवानि द्रव्याणि भवन्ति, नकारस्योभयत्राऽपि सवन्धात् । ततश्च न कारणत्व नापि कार्यत्व द्रव्याणामतस्तेषामभाव. सत कार्यकारणरूपत्वादिति । अथ वा अन्यथा व्याख्यायते-द्रव्यप्रभवाश्च गुणा न भवन्ति, गुणप्रभवानि तु द्रव्याणि भवन्ति, पूर्वापरीभावेन प्रतीत्य समुत्पादसमुत्पन्नगुणसमुदाये द्रव्योपचारप्रवृत्ते. । तस्माद् गुण एव सामायिकमिति निर्युक्तिगाथार्थ ॥ २६४८ ॥ विशे० ।

(६) गुणलक्षणम्-

गुणः सहभावी धर्मो, यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति ॥ ७ ॥

सहभावित्वमत्र लक्षण, यथेत्यादिकमुदाहरण,विज्ञानव्यक्तिर्यत्किञ्चिद् ज्ञान तदानीं विद्यमान, विज्ञानशक्तिरुत्तरज्ञानपरिणामयोग्यता । आदिशब्दात् सुखपरिस्पन्दयौवनादयो गृह्यन्ते ॥७॥ रत्ना० ५ परि० ।

(७) गुणपर्याययोर्भेदे विचार'—ये सहभाविन 'सुखज्ञानवीर्यपरिस्पन्दयौवनादयस्ते गुणा , ये तु क्रमवृत्तय सुखदु खहर्षविषादादयस्ते पर्याया. । नन्वेवं त एव गुणास्त एव पर्याया इति कथ तेषां भेद इति चेत् ?, नैवम्, कालाभेदवि-

भेदविवक्षया तद्भेदस्यानुभूयमानत्वात् । नचैवमेषां सर्वथा भेद इत्यपि मन्तव्यम्, कथञ्चिदभेदस्याप्यविरोधात् । न ह्येषां स्तम्भकुम्भादिवद्भेदो, नापि स्वरूपवदभेदः, किन्तु धर्म्यपेक्षयाऽभेदः, स्वरूपापेक्षया तु भेद इति । रत्ना० ५ परि० । अनु० ।

सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधाः, त्रिलक्षणयुता इमे ॥ २ ॥

(सहभावीति) द्रव्यस्य सहभावी यावद्द्रव्यभावी यो धर्मः स गुण उच्यते । यथा जीवद्रव्यस्योपयोगाख्यो गुणः, पुद्गलस्य ग्रहणं गुणः, धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुत्वं गुणः, अधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्वं गुणः, कालस्य वर्तनाहेतुत्वं गुणः, यदैव द्रव्यमुत्पद्यते तदैव समवेतास्तेन द्रव्येण गुणा उत्पद्यन्ते, पौर्वापर्यभाव एव नास्ति, गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वात्, सव्येतरविषाणवत् इति । अनादिनिधनाना द्रव्यगुणानाम्, उत्पत्तिदर्शनं व्यवहारतः कृष्णादिघटवत् । अथ क्रमभावी अयावद्द्रव्यभावी पर्यायः । यथा-जीवस्य नरकादिपर्यायाः, पुद्गलस्य रूपरसस्पर्शादिपर्यायाः, धर्मस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, अधर्मस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, कालस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, आकाशस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ । एव द्रव्याणां संख्याकृतो भेदः, लक्षणादिकृतोऽभेदः । प्रदेशा विभागतः त्रिविधाः, उपचारेण नवविधाः, एकैकस्य त्रिकस्य त्रैविध्यात् । तथा त्रिलक्षणाः-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्ताः । इत्थं षमपि जैनप्रमाणप्राप्तानि द्रव्याणि, इति द्रव्यगुणपर्याया प्रत्येकं परस्परं भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधास्त्रिलक्षणयुताः सन्तीति व्याख्येयम् ॥ २ ॥

(८) अथ द्रव्येण सह गुणपर्याययोर्भेदं दर्शयन्नाह-

मुक्ताभ्यः श्वेततादिभ्यो, मुक्तादाम यथा पृथक् ।
गुणपर्याययोर्व्यक्ते-र्द्रव्यशक्तिस्तथाऽऽश्रिता ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वतादिकसामान्यं, पूर्वापरगुणोदयम् ।
पिण्डमास्थ्यादिकसंस्थाना -ऽनुगेका मृद्यथा स्थिता ॥४॥

(मुक्तेति) यथा मुक्ताभ्यः मौक्तिकानां श्वेतनादिभ्यश्च मौक्तिकमाला भिन्ना वर्तते, तथैव द्रव्यशक्तिर्गुणपर्यायव्यक्तिभ्यां भिन्नाऽस्ति । तथाऽत्र समाधिः-गुणपर्याययोर्व्यक्तेः सकाशात् पृथगपि द्रव्यशक्तिरेकप्रदेशसम्बन्धेनाभिन्ना अभिन्ना, अपृथक् इत्यर्थः । श्वेततादयो मौक्तिकानां गुणस्थानिन , मौक्तिकाः पर्यायस्थानिन । एतद् द्वय भिन्नमपि द्रव्यस्थाने मुक्तादाम्नि संगतमभिन्नं सन् मुक्तादामेति व्यवहारो जायते । इति दृष्टान्तयोजना । अथ च-घटादिद्रव्य प्रत्यक्षप्रमाणेन सामान्यविशेषरूपमनुभवन् सामान्योपयोगेन मृत्तिकादिसामान्यं भासते, विशेषोपयोगेन घटादिविशेष च भासते, तत्र यत्सामान्यभान तत् द्रव्यरूप, यश्च विशेष स गुणपर्यायरूपो ज्ञेय ॥३॥ अथ सामान्य द्विप्रकार दर्शयन्नाह-पूर्व प्रथमोऽपरोऽग्रेतनो यो गुणो विशेषस्तयोरुदय कारण पूर्वापरगुणोदयं पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकं द्रव्य, त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशः तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते । निदर्शनमुत्तानमेव । यथा-पिण्डो मृत्पिण्ड 'स्थास' कुसूल इत्यादयोऽनेके संस्थाना आकृतयः, तासु अनुगता पूर्वापरसाधारणपरिणामद्रव्यरूपा मृत्तिका तथाऽकारा स्थिता, एतदूर्ध्वतासामान्य कथ्यते । यदि च पिण्डकुसूलादिपर्यायेषु अनुगतमेक मृद् द्रव्य न कथ्यते तर्हि घटादिपर्यायेषु अनुगत घटादिद्रव्यमपि न कथ्यते । तथा च-सर्वं विशेषरूप भवति, क्षणिकवादिबौद्धमतमायाति । अथवा-सर्वद्रव्येषु एकमेव द्रव्यमागच्छति इति । ततः घटादिद्रव्ये । अथ च तदन्तर्वर्ति सामान्यमृदादिद्रव्ये चाऽनुभवानुसारेण परापरोर्ध्वतासामान्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । घटादिद्रव्याणि स्तोकपर्यायव्यापीनि, पुनर्मृदादिद्रव्याणि बहुपर्यायव्यापीनि सन्ति, इत्थ नरनारकादिद्रव्याणां विशेषो ज्ञातव्यः । एतत्सर्वमपि नैगमनयमतम् । तथा शुद्धसंग्रहनयमते तु सदद्वैतवादेन एकमेव द्रव्यमापद्येतेति विज्ञेयम् ॥४॥ द्रव्या० २ अध्या० । स० ।

(६) अथ च व्यक्ति रूपौ गुणपर्यायौ वर्णयन्नाह-

स्वस्वजात्या हि भूयस्यो, गुणपर्यायव्यक्तयः ।
शक्तिरूपो गुणः केषां-चिन्मते तन्मृषाऽऽगमे ॥१०॥

(स्वेति) स्वस्वजात्या सहभाविक्रमभाविविकल्पनाभिन्नजस्वभावेन वर्तमाना गुणपर्यायव्यक्तयो भूयस्यो बहुप्रकाराः सन्ति इति । अत्र कश्चिद्दिगम्बरानुसारी शक्तिरूपो गुण इति कथयन्नाह-यतो द्रव्यपर्यायकारण द्रव्यम् । गुणपर्यायकारण गुणः, द्रव्यपर्याययोर्द्रव्यस्यान्यथाभावः । यथा-नरनारकादयो, यथा वा-द्व्यणुकत्र्यणुकादयः । पुनर्गुणपर्याययोर्गुणस्यान्यथाभावो, यथा-मतिश्रुतादिविशेषः । अथ वा-नवस्थासिद्धादिविशेषः । एतौ द्रव्यगुणौ स्वस्वजात्या शाश्वतौ, पर्यायेण चाशाश्वतौ, इत्य स्वीकरन्ते । परमार्थतस्तु आगमयुक्त्या एतत्सर्वं मृषा असत्कल्पनमित्यवधार्यं, प्रमाणाभावात् ॥ १० ॥

अथ गुणपर्याययोरैक्य प्रदर्शयन्नाह-

पर्यायान्न गुणो भिन्नः, संमतिग्रन्थसंमतः ।
यस्य भेदो विवक्षातः, स कथं कथ्यते पृथक् ? ॥ ११ ॥

पर्यायात् गुणो भिन्नः पृथक् न, किं तु पर्याय एव गुण इत्यर्थः । कीदृशो गुणः ?-संमतिग्रन्थसमतः समतिग्रन्थे श्रीमत्सिद्धसेनैराचार्यैर्व्यक्तवाचा समुच्चारितः । तथा च तद्ग्रन्थ -

" परिगमण पज्जाओ, अणेगकरणं गुण त्ति तुल्लट्ठा ।
तह वि न गुण त्ति भण्णइ, पज्जवणयदेसणं जम्हा " ॥१०६॥

इति । तथा क्रमभावित्व पर्यायलक्षण, तथैवानेककरणमपि पर्यायस्य लक्षणान्तरमेवास्ति । द्रव्यं तु एकमेवास्ते, ज्ञानदर्शनादिभेदकार्यपि पर्याय एव, परं गुणो न कथ्यते । यस्मात् द्रव्यपर्याययोर्भगवतो देशना वर्त्तते, पर तु गुणपर्याययोर्देशना न विद्यते । अयं गाथार्थ ॥१०६॥ एव सति गुणः पर्यायाद्भिन्नो न, तर्हि द्रव्य १ गुणः २ पर्याय ३ श्चेति नामत्रय पृथक् कथ सङ्कलितम् ? इत्थ केचन व्याचक्षते । तानाह-यस्य गुणस्य विवक्षाकृतो भेद तस्य नामान्तरमपि स्यात् । विवक्षा हि नयस्य कल्पना, यथा-तैलस्य धारा, अत्र तैलात् धारा भिन्ना प्रदर्शिता, तथाऽपि भिन्ना नास्ति, तथैव सहभावी गुण , क्रमभावी पर्याय , इति भिन्नत्व विवक्षित, पर परमार्थदृशा भिन्नत्व नास्ति । तस्माद्यस्य भेद उपचरितो भवेत् स कथ भिन्नत्वेन व्यपदिश्यते ? । यथा उपचरितगुणे दृष्टान्तवचन गौर्दोग्धि इत्यत्र गौर्न दोग्धि तद्वत्, उपचरितगुणोऽपि शक्तित्व न धत्ते इति ॥११॥ द्रव्या० २ अध्या० । आ० म० ।

अथ ये च गुणः पर्यायाद्भिन्न इति प्रमाणयन्ति तान् दूषयन्नाह-

गुणो द्रव्यं तृतीयं चेत्, तृतीयोऽपि नयस्तदा ।

सिद्धान्ते द्रव्यपर्याया-र्थिकत्तेदान्नयद्वयम् ॥ १२ ॥

यदि गुणस्तृतीय. पदार्थो द्रव्यपर्यायात् भिन्नोऽन्य' पदार्थो भावो भवेत्, तर्हि तृतीयो नयोऽपि लभ्यते। सूत्रे तु द्रव्यार्थिकप-र्यायार्थिक इति नयद्वयमेव कथितम्। नयान्तर यदि अभविष्य-त्तदाऽवक्ष्यत्, अतो नयद्वयादपरो नय एव न।

उक्त च समतौ-

" दो ऊ णया भगवया, दव्वट्टियपज्जवट्टिया नियया।
जइ पुण गुणो वि हुतो, गुणट्ठियणयो वि जुज्जतो ॥ १०७ ॥
जं च पुण भगवया ते-सु तेसु सुत्तेसु गोयमाईण।
पज्जवसण्णाणियया, वागरिया तेण पज्जाया " ॥ १०८ ॥

रूपादीनां गुणसंज्ञा सूत्रे न भाषिता पर तु " वण्णप-ज्जवा गंधपज्जवा " इत्यादिपाठ. पर्यायशब्देन पठितः, तथाऽपि गुणो न कथ्यते। अन्यच्च-"एगगुणकालए " इत्यादि-स्थानेष्वपि गुणशब्दो यश्च दृश्यते सोऽपि गणितशास्त्रसिद्ध-पर्यायविशेष. सख्यावाचको ज्ञेय', पर तु गुणाऽनेकनयविषय-वाचको न। उक्त च समतिग्रन्थमध्ये-

"जपति अत्थिसमए, एगगुणो दसगुणो अणतगुणो।
रूवाईपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ ११० ॥
गुणसद्दमंतरेण वि, त तु पज्जवविसेससखाण।
सिज्झइ णवर सखा, ण सत्थधम्मो ण य गुणो त्ति ॥१११॥
अह दससु दसगुणम्मि य, एगम्मि दसत्तण सम चेव।
अहियम्मि गुणसद्दे, तहेव एयम्मि दट्ठव्व " ॥ ११२ ॥

एव गुण पर्यायात परमार्थदृशा भिन्नो नास्ति। तस्माद्रूपाभिध शक्तिरूपता कथ स्यादित्यभिप्राय ॥ १२ ॥

अथ केचन पर्यायस्य दल गुण इति वदन्तो गुण शक्तिरूपमेव मन्वानाश्च विवदन्ते, तान् दूषयन्नाह-

पर्यायस्य दलं यर्हि, गुणो द्रव्येण किं तदा।
गुणपर्याय एवेयं, गुणपरिणामकल्पना ॥ १३ ॥

यर्हि गुण पर्यायस्य दलम् उपादानकारण भवति, तदा द्रव्येण किमिति किं प्रयोजन?, द्रव्यप्रयोजन गुणेनैव सिद्धमित्यर्थाद्गुण-पर्यायावेव पदार्थौ उपदिश्यता तृतीयस्याऽसत्त्वात् इति नियम.। पुनरत्र कश्चित्कथयिष्यति—द्रव्यपर्यायगुणपर्याय-रूपे कार्ये भिन्ने स्त। तनश्च द्रव्यगुणरूपकारणे अपि भिन्ने स्तः। इति कल्पनया वादी असत्य'। कथम्-कार्ये कारणो-पचारात् कार्यमध्ये कारणशब्दप्रवेशो जायते। तथा-कारणभेदे कार्यभेद सिद्ध्यति,अथ च कार्यभेदसिद्धौ कारणभेदसिद्धिरित्य-न्योन्याश्रयनाम दूषणमुत्पद्यते। तस्मात् गुणपर्यायस्तु गुणप-रिणामस्यैव पटान्तरभेदकल्पनारूप', तत एव केवल स-भावना, पर तु परमार्थतो न हि। अथ च रूपादिनामत्रय-मपि भेदोपचारेणैव ज्ञेयम् ॥ १३ ॥ द्रव्या० २ अध्या०।

(१०) आर्हतसमतगुणा.-

श्रीनाभेयजिनं नत्वा, गुणदेष्टृगुरुं तथा।
गुणभेदानहं वक्ष्ये, क्रमप्राप्तान् यथामति ॥ १ ॥

(श्रीनाभेयजिनमिति) नाभेरपत्य नाभेय, श्रीयुतो नाभेय. श्रीनाभेय, स चासौ जिनश्च श्रीनाभेयजिनः, त श्रीनाभेयजिन श्रीऋषभजनाथ,नत्वा नमस्कृत्य, तथा तेनैव प्रकारेण, गुणदेष्टृगुरु गुणा वाणीगुणास्तानादिशतीति गुणदेष्टा, स चासौ गुरुश्च गुणदेष्टृगुरु,त नत्वा नमस्कृत्येति निर्विघ्नसमाप्तिकामाय मङ्गल-मिति। अह गुणभेदान्क्रमप्राप्तान् द्रव्यस्याथर्पणानन्तर प्रस्तुतान् यथामति यथास्यात्तथा पूर्वप्रणेतॄणां विस्ताराद्दुर्बोधत्वेन स्वम-तिविषयो यथा स्यात्तथा वक्ष्ये कीर्त्तयिष्यामि इति ॥ १ ॥

अथात्र गुणभेदान् समानतन्त्रप्रक्रियया प्रतिपादयन्नाह—

तत्रास्तित्वं परिज्ञेयं, सद्भूतत्वगुण पुनः।
वस्तुत्वं च तथा जाति-व्यक्तिरूपत्वमुच्यते ॥२॥

(तत्रेति) अस्तित्व तत्र इदं परिज्ञेय-सत्तातो यो गुणो प्रवर्तति, तस्मात्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः१,वस्तु-त्व च जातिव्यक्तिरूपत्वम्। जाति. सामान्यम्। यथा-घटे घटत्वम्। व्यक्तिर्विशेष.। यथा-घटः सौवर्ण., पाटलिपुत्रिको, वासन्तिक., कम्बुग्रीव इत्यादि। अत एव अवग्रहेण सर्वत्र सामान्यरूप भासते, अपायेन विशेषरूपस्याऽऽभासो जायते। पूर्णोपयोगेण सपूर्णव-स्तुग्रहो जायते। इत्थ वस्तुत्व द्वितीयो गुण ॥२॥

द्रव्यत्वं द्रव्यभावत्वं, पर्यायाधारतोऽन्वयः।
प्रमाणेन परिच्छेद्य,प्रमेय प्रणिगद्यते ॥ ३ ॥
अगुरुलघुता सूक्ष्मा, वाग्गोचरविवर्जिता।
प्रदेशत्वमविभागी, पुद्गलः स्वाश्रयावधि ॥ ४ ॥

अथ द्रव्यत्व जातिरूपम्। द्रवति तांस्तान्पर्यायान् गच्छ-तीति द्रव्य,तस्य भावस्तत्त्वम्। द्रव्यभावो हि पर्यायाधारताभि-व्यङ्ग्यो जातिविशेष। द्रव्यत्व जातिरूपत्वात् गुणो न भवति। ईदृक्नैयायिकादिवासनया आशङ्का न कर्त्तव्या, यत.-सह-भाविनो गुणा ,क्रमभुव. पर्यायाः,ईदृश्येव जैनशासने व्यवस्थाऽ-स्तीति। द्रव्यत्व चेद्गुण स्याद्रूपादिवदुत्कर्षापकर्षभागि स्या-दिति तु कुचोद्यम, एकत्वादिसख्यायाः परमतेऽपि व्यभिचारेण तथा व्याप्त्यभावादेव निरसनीयम् ३। प्रमाणेन प्रत्यक्षादिना परिच्छेद्य यद्रूप प्रमाणविषयत्व प्रमेयत्व तदित्युच्यते। तदपि क-थञ्चित् अनुगतसर्वसाधारण गुणोऽस्ति, परम्परासवन्धेन प्रमा-त्वज्ञानेनापि प्रमेयव्यवहारो जायते। तत' प्रमेयत्व गुणस्वरूपाद-नुगतमस्तीति ४।३। अगुरुलघुता अगुरुलघुर्नाम गुण.,सा कीदृशी?, सूक्ष्मा, आज्ञाग्राह्यत्वात्। यत.-"सूक्ष्म जिनोदित तत्त्व,हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्ध तु तद् ग्राह्य,नान्यथावादिनो जिना."॥१॥पुनः कीदृशी?. वाग्गोचरविवर्जिता वचनद्वारा वक्तुमशक्या। यत – 'अगुरुलघुपर्याया सूक्ष्मा अवाग्गोचरा इति। अगुरुलघुर्नाम्ना पञ्चमो गुण, अगुरुलघुत्वमिति ध्येयम्। अथ (प्रदेशत्वमविभा-गी,पुद्गल स्वाश्रयावधि इति) अविभागी पुद्गल इति यावत् क्षेत्रे तिष्ठतीति तावत् क्षेत्रव्यापित्व प्रदेशत्वगुणः। यस्य विभागो न जायते विभक्तव्यवहारता न स्यात, पुनर्यावत्क्षेत्रमास्थाय तिष्ठति स्थितौ,तावत्क्षेत्रावगाहित्व प्रदेशत्वम्। पुन. कीदृशम्?, स्वाश्रयावधि-स्वशब्देन आत्मा पुद्गलात्मक, तस्य य आधारः आश्रय., स एवावधिर्मर्यादा यस्य तत् स्वाश्रयावधि। एता-वता तदेवार्थत्व स्वेन यावत्क्षेत्रे स्थित तावति क्षेत्रे आश्रयाव-धित्वमप्यस्ति इति ज्ञेयमिति षष्ठो गुण. ॥ ४ ॥

चेतनत्वमनुभूति-रचेतनमजीवता।
रूपादियुक्तमूर्तत्व-ममूर्तत्व विपर्ययात् ॥ ५ ॥
सामान्येन समाख्याता, गुणा दश मनोचिताः।
परस्परपरीहारात्, प्रत्येकमष्ट चाऽष्ट च ॥ ६ ॥

अथ चेतनत्वमात्मनोऽनुभूतिरिति अनुभवरूपगुण' कथ्यते,योऽह

सुखदुःखादि चेतये-अहं सुखी अहं दुःखी, इति चेतनाव्यवहारः, ततो जातिवृद्धिभग्नक्षतसंरोहणादिजीवनधर्मा प्रवर्त्तीति चैतन्यं सप्तमो गुणः ७। एतस्माद्विपरीतमचैतन्यम् अजीवमात्रम् अजीवता, जडत्वाच्चेतनावैकल्यमिति अचेतनत्व गुणः ८ रूपादियुक्त मूर्त्तत्वं मूर्तता गुणः, रूपादिसन्निवेशाभिव्यङ्ग्यपुद्गलद्रव्यमात्रवृत्तित्वम् ९। अमूर्तत्व गुणो मूर्तत्वाभावसमन्वितत्वामिति १० इति दशैव। अत्राचेतनत्वामूर्त्तत्वयोश्चेतनत्वमूर्त्तत्वाभावरूपत्वान्न गुणत्वमिति नाशङ्कनीयम्; अचेतनामूर्त्तद्रव्यवृत्तिकार्यजनकतावच्छेदकत्वेन व्यवहारविशेषनियामकत्वेन च तयोरपि पृथक्गुणत्वात्, नञः पर्युदासार्थकत्वात्तत्र गर्भपदवाच्यतायाश्चानुष्णाशीतस्पर्श इत्यादौ व्यभिचारेण परेषामप्यभावत्वानियामकत्वाद्भावान्तरम्। अभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया इति नयाश्रयणेन दोषाभावाच्चेति ॥ ५ ॥ एते दश गुणाः सामान्यगुणाः समुच्चिताः सर्वेषां द्रव्याणां समुच्चयेन कथिताः। तत्र मूर्त्तत्वममूर्त्तत्व, चेतनत्वमचेतनत्वं चेति चत्वारो गुणाः परस्परपरिहारेण तिष्ठन्ति। तत एकैकस्मिन् द्रव्ये प्रत्येक प्रत्येकमष्टौ प्राप्यन्ते। तत्कथम्?, यत्र चेतनत्व तत्राचेतनत्व नास्ति, यत्र च मूर्तत्वं तत्र च अमूर्तत्वं नास्ति, एव द्वयोरपसरणात् शेषमष्टकमेव तिष्ठति, तेन प्रतिद्रव्यमष्टैव गुणाः सामान्याः सन्तीति ध्येयम् ॥ ६ ॥

(११) अथ विशेषगुणान् व्याख्यासुराह—

ज्ञानं दृष्टिः सुखं वीर्यं, स्पर्शगन्धौ रसेक्षणे।
गतिस्थित्यवगाहत्व-वर्त्तनाहेतुतापराः ॥ ७ ॥
चैतन्यादिचतुर्भिस्तु युक्ताः षोडशसंख्यया।
विशेषेण गुणास्तत्रा-ऽऽप्यात्मनः पुद्गलस्य षट् ॥ ८ ॥
अन्येषां चैव द्रव्याणां, त्रीणि त्रीणि पृथक् पृथक्।
स्वजात्या चेतनत्वाद्या-श्चत्वारोऽनुगता गुणाः ॥ ९ ॥
एत एव विशेषेण, गुणा अपि जिनेश्वरैः।
परजातेरपेक्षाया, ग्रहणेन परस्परम् ॥ १० ॥
विशेषेण गुणाः सन्ति, बहुस्वभावकाश्रयाः।
अर्थेन ते कथं गुण्याः,स्थूलव्यवहृतिस्त्वियम् ॥ ११ ॥
स्वभावगुणतो भिन्नाः धर्ममात्रविवक्षया।
स्वस्वरूपस्य मुख्यत्वं, गृहीत्वा समुदाहृताः ॥ १२ ॥

(ज्ञानमिति) ज्ञानगुणः, दृष्टिर्दर्शनगुणः, सुखमिति सुखगुणः, वीर्यमिति वीर्यगुणः, एते चत्वार आत्मनो विशेषगुणाः। पुनः स्पर्शगन्धौ स्पर्शगुण, गन्धगुणः, रसेक्षणे रसगुणः,ईक्षण वर्णगुणः, एते चत्वारः पुद्गलस्य विशेषगुणाः। शुद्धद्रव्ये अविकृतरूपा एते अविशिष्टास्तिष्ठन्ति, ततः एते गुणा कथिता, विकृतस्वरूपास्ते पर्यायेषु मिलन्ति, इत्येव विशेषोऽत्र विज्ञेयः। तथा पुन गत्यादयो गुणाः हेतुतापराः, एतावता गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, अवगाहहेतुता, वर्त्तनाहेतुता, एते चत्वारो गुणाः प्रत्येक धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायकालद्रव्याणां क्रमेण सन्ति, विशेषगुणाश्चत्वारः ॥ ७ ॥ अथ एतेषां द्वादशगुणानां चैतन्यादिचतुर्भिर्युक्ताश्चेतनत्वाऽचेतनत्वमूर्तत्वामूर्तत्वादिभिश्चतुर्भिः सहिताः सन्त षोडश गुणा भवन्ति। तेषु गुणेषु पुद्गलद्रव्यस्य वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-मूर्तत्वा-ऽचेतनत्वानि षट् सन्ति, आत्मद्रव्यस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्यामूर्तत्वचेतनत्वानि इति षट् गुणा भवन्ति। अथान्येषां द्रव्याणां समुदायेन त्रय एव गुणा भवन्ति, एको निजगुणाः, अचेतनत्वम्, अमूर्तमित्यादि विमृश्य धार्यम् ॥८॥ (अन्येषामिति) अन्येषां द्रव्याणां पृथक् पृथक् त्रयः त्रयः गुणाः। यथा-धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुता गुणः, अचेतनत्वं गुण, अमूर्तत्व गुणः। एव त्रयोऽधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादयः, आकाशास्तिकायस्य अवगाहहेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादयः, कालस्य वर्तनाहेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादय', इत्यादि ज्ञेयम्। अथ चेतनत्वाद्याश्चत्वारः सामान्यगुणाः, चेतनत्वाऽचेतनत्वमूर्तत्वाऽमूर्तत्वानि सामान्यगुणेषु अपि सन्ति, विशेषगुणेषु च सन्ति, तत्र किं कारण चेतनत्वाद्याश्चत्वारः सामान्यगुणा ?, स्वजात्यपेक्षया अनुगतव्यवहारकर्त्तारः सन्ति, तस्मात्सामान्यगुणा कथ्यन्ते ॥ ९ ॥ परजात्यपेक्षया चेतनत्वादयः अचेतनत्वादिकेभ्यः स्वाश्रयव्यावृत्तिकराः सन्ति, ततो विशेषगुणाः परापरसामान्यवत्सामान्यविशेषगुणत्वमेषामिति भावः। एत एव विशेषणेति स्पष्टम् ॥ १० ॥ (विशेषेणेति) ज्ञानदर्शनसुखवीर्या एते आत्मनो विशेषगुणाः, स्पर्शरसगन्धवर्णाः एते पुद्गलस्य विशेषगुणाः, इत्येतद्यत् कथित तदियं स्थूलव्यवहृतिः स्थूलव्यवहारः, यतश्च अष्टौ सिद्धगुणाः, एकत्रिंशत्सिद्धगुणाः, एकगुणाः कालकादयः, पुद्गला अनन्ता इत्यादि विचारणया विशेषगुणानामानन्त्योत्पत्तिः, सा च छद्मस्थज्ञानगोचरा नास्ति। अतोऽर्थेन ते कथ गुण्याः, तस्माद्धर्मास्तिकायादीनां गतिस्थित्यवगाहनावर्त्तनाहेतुत्वोपयोगग्रहणाख्याः षमेवास्तित्वादयः। सामान्यगुणास्तु विवक्षयाऽपरिमिता, इत्येव न्याय्यम्। एषां लक्षणवता लक्षणानि षडेवेति हि को न श्रद्दधाति ? ॥

" नाण च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एव जीवस्स लक्खणं ॥ १ ॥
सद्धंधकारउज्जोया, पभाया वा तहेव य।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाण तु लक्खण " ॥ २ ॥

इत्यादि तु स्वभावविभावलक्षणयोरन्योऽन्येनान्तरीयकत्वप्रतिपादनायेत्यादि पण्डितैर्विचारणीयम् ॥११॥ (स्वभावेति) स्वभावगुणतो निजत्वव्यवहारेण धर्ममात्रविवक्षया अनुवृत्तिव्यावृत्तिसम्बन्धेन च एते भिन्नाः पृथक् पृथक् सन्ति,न कोऽपि कश्चिद् मिश्रीभवति; परं तु स्वस्वरूपस्य निजनिजरूपस्य मुख्यत्व प्राधान्यं गृहीत्वा अनुवृत्तिसंबन्धमात्रमनुसृत्य समुदाहृताः ये स्वभावाः सन्ति त एव गुणीकृत्यदर्शिता। तत इदमत्र बोध्यम्-धर्मापेक्षया अत्र एते गुणात्मकाः पदार्थाः पृथक्स्वभावगुणतो भिन्ना उक्तास्तत्तु निजकीयनिजकीयरूपमुख्यतां गृहीत्वैव स्वभावगुणीकृत्य उपदिष्टा इत्यर्थः; तस्मादत्र गुणविभाग कथयित्वा अग्रे प्रतिपाद्यमानपद्ये स्वभावविभागयोः कथनमुदाहरिष्यतीति ध्येयम् ॥ १२ ॥

अस्तिस्वभाव एषोऽत्र, स्वरूपेणार्थरूपता ॥
स्वभावपरभावाभ्या-मस्तिनास्तित्वकीर्त्तनात् ॥ १३ ॥
न चेदित्थं तदा शून्यं, सर्वमेव भवेदिदम्।
परभावेन सत्त्वे तु, सर्वमेकमयं भवेत् ॥ १४ ॥

(अस्तिस्वभाव इति) अत्रेति गुणप्रस्तावनाया प्रथममस्तिस्वभावस्तु एष स्वरूपेण निजकीयरूपेण अर्थरूपता द्रव्ययाथात्म्य स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावैश्च भावरूपता एव ज्ञेया,कस्मात्?। (स्वभावपरभावाभ्यामस्तिनास्तित्वकीर्त्तनात्) यथा स्वभावेन अस्तित्व स्वभावोऽस्ति, तथैव परभावेन नास्तित्व स्वभावोऽप्यस्ति,ततोऽत्र अस्तिस्वभाव. कारणी वर्त्तते,कथ तत्?,अस्तिस्वभावो हि तत्र निजरूपेण भावरूपताऽस्ति,यथा परस्वभावेन नास्तिस्वभावानुभवन,तथा निजभावेन स्वभावानुभवनमपि जायते, अत एवमत्र कार्यरूपोऽस्तिस्वभाव इति ॥ १३॥ (न चेदिति) चेद्यदि अस्तिस्वभावो नाङ्गीक्रियते, परभावापेक्षया यथा नास्तित्व, तथा स्वभावापेक्षयाऽपि नास्तित्वावलम्बने सति सर्वं जगदिद प्रपञ्च्यमानव्यतिकरमपि शून्य भवेत्। तस्मात् स्वद्रव्याऽपेक्षया अस्तिस्वभाव सर्वथैवाङ्गीकरणीय , परभावेन परद्रव्याद्यपेक्षयाऽपि नास्तित्वस्वभावोऽप्यवश्यमङ्गीकर्त्तव्य इत्यर्थ। तथा च परभावेनापि सतामस्तिस्वभावमङ्गीकुर्वतां सर्वस्वरूपेण अस्तित्वे जायमाने च जगदेकरूप भवेत्, तत्तु सकलशास्त्रव्यवहारविरुद्धमस्ति, तस्मात्परापेक्षया नास्तिस्वभाव एव समस्ति [द्रव्या०] ।

(१२) स्वभावा एव गुणा –

अनुपचरिताः स्वीय–भावास्ते तु गुणाः खलु ।
एकद्रव्याश्रिता गुणाः, पर्याया उभयाश्रिताः ॥ १७ ॥
एव स्वभावोपगता गुणास्तु,
भेदेन सम्यक् कथिताश्च योग्याः ।
अर्हत्क्रमाम्भोजसमाश्रिताना,
भव्यात्मनां ज्ञानगुणार्थमत्र ॥ १८ ॥

(अनुपचरितेति) अत्र दिगम्बरप्रस्तावना वर्त्तते, कुत्रापि स्वसमयेऽपि उपस्कृता वर्त्तते,पर तु अत्र किमपि चिन्त्य वर्त्तते, तेन तद् दूषण निराचिकीर्षुराह–अनुपचरिता उपचारवर्जिता ये निजकीयस्वभावा ते गुणा.,गुणाना हि सहभावित्वादुपचारो न विद्यते। निष्कर्षस्त्वयम्–स्वभावो हि गुणपर्यायाभ्या भिन्नो न स्यात्, तस्मात् योऽनुपचरितो भाव स एव गुण इति, अथ यश्च उपचरित. सपर्याय कथ्यते। अत एव द्रव्याश्रिता गुणा , उभयाश्रिता. पर्याया। तथोक्तमुत्तराध्ययने गाथाद्वारा–"गुणाण मासओ दव्व, एगदव्वस्सिया गुणा। लक्खण पज्जवाण तु, उभओ अस्सिया भवे।६।" (उत्त० २८ अ०) इति ॥१७॥ यदि च–स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्तिस्वभाव , परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभाव., इत्यादिस्वभावोपगता गुणा स्वभावसहिता इत्युपगम्यते। तदोभयोरपि द्रव्यार्थिकविषयत्वात् सप्तभङ्ग्यामाद्यद्वितीययोर्भङ्गयो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाश्रयेण प्रक्रिया भज्येतेत्याद्यत्र बहु विचारणीयम्। एवमनया रीत्या स्वभावा स्वभावयुक्ता गुणाश्च भेदेन प्रकारकथनेन सम्यक् शास्त्रोक्तरीत्या कथिता. प्रकाशिता ,श्रीमद्वाचकमुख्ययशोविजयपाठकमतल्लिकारचितप्राकृतपाठदृष्ट्या लिखिता इत्यर्थ.। किमर्थमत्र कस्मै कार्याय कथिता ?,इति प्रयोजनपद,ज्ञानगुणार्थं, केषाम्? अर्हतां वीतरागाणा क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तत्र समाश्रिताना शरणीभूतानां भव्यात्मना भव्यलोकानां ज्ञानगुणार्थं मया कथिता इत्यर्थ ॥१८॥ द्रव्या०१३ अध्या०। विविधार्थसम्वादरूपे प्रामाण्यहेतौ, स०।गुण्यन्ते सख्यायन्ते इति गुणा. । पिण्डशुध्यादिषु,

विशे०। अशे, अनु०। गुण्यते सख्यायते इति गुण । अनु०। " गुणकारके त्ति गुण पक्खारस " पा०। (मूलगुणा उत्तरगुणाश्च लेशत कपिलेन चौरणामुपदेशे दीयमाने 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३६० पृष्ठे दर्शिता)

गुणओ–गुणतस्–अव्य०। कार्यत इत्यर्थे, भ० २ श १० उ०।

गुणकर–गुणकर–त्रि० । कर्मनिर्जरालक्षणोपकारकरणे, पञ्चा० ५ विव०।

गुणकरण–गुणकरण–न०। योजनाकरणे, आ० चू० १ अ०। गुणाना प्राप्तौ, आ० म० द्वि०।

गुणकार–गुणकार–त्रि०। अभ्यासराशौ, स० ८४ सम०।

गुणकारय-गुणकारक-त्रि० । येन गुणकेन गुण्यते तस्मिन्, विशे०। नि० चू०।

गुणगणोघ–गुणगणौघ–पु०। गुणनिकरप्रवाहे, षो० १५ विव०।

गुणगाहिय–गुणग्राहिक–त्रि०।गुण गृह्णाति, गुण–ग्रह–णिनि-कप्रत्यय ।गुणग्रहणशीले, पा०। गुणानुरक्ते च। ध० ३अधि०।

गुणचंद–गुणचन्द्र–पु०। साकेतेश्वरचन्द्रावतंसकराजस्य प्रियदर्शनाया जाते पुत्रे, आ० म० द्वि०। " मुणिचंदो राया गुणचंदो युवराया " आ० चू० १ अ०। स्वनामख्याते मुनौ, पिं०। अन्यो ऽपि गुणचन्द्रनामा गणी वैक्रमीये ११३६ वर्षे वज्रशाखाया चान्द्रकुले सुमतिवाचकस्य शिष्य आसीत्, तेन च मागध्या महावीरचरित्र रचितम्। जै० इ०। क्षतमुखपुरे चन्द्रिकामर्त्तरि श्रेष्ठिनि, सागरदत्तस्य श्रेष्ठिन. पुत्रे प्रियङ्गुलतिकापतौ, पिं०।

गुणजत्तिल्ल--गुणयत्नवत्-त्रि०। गुणेषु यतमाने, बृ० १ उ०।

गुणजोग-गुणयोग-पु०। क्षमादिगुणसम्बन्धे, प्रश्न १ सम्ब० द्वार।

गुणट्ठाण गुणस्थान-न०। गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति स्थानम्। गुणानामेव शुध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृत स्वरूपभेदे, प्रव०६० द्वार। कर्म०। परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पे, कर्म० ४ कर्म०। मिथ्यादृष्ट्यादिकेऽयोगिकेवलिपर्यवसाने जीवाना स्वरूपभेदे, आ० चू० ४ अ०। दर्श०। प० स०। कर्म०।

विषयसूची—

(१) गुणस्थाननिर्वचनम्।
(२) गुणस्थानानि चतुर्दश।
(३) गुणस्थानान्तरम्।
(४) कायस्थिति , कालमानम्।
(५) गुणस्थानाना जीवस्थानानि।
(६) तेष्वेव जीवस्थानेषु गुणस्थानप्रकटनम्।
(७) गुणस्थानकेषु बन्ध ।
(८) गुणस्थानकेषु बन्धहेतव.।
(९) उदीरणास्थानानि गुणस्थानेषु।
(१०) गुणस्थानकेषु भावा.।
(११) मार्गणास्थानेषु गुणस्थानानि।
(१२) गुणस्थानकेषु मार्गणास्थानानि।
(१३) उपयोगा.।

(१४) हीरविजयसूरिं प्रति विमलहर्षगणिकृतप्रश्न ।

(१) इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसंख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्ध्यपकर्षविशुद्धिप्रकर्षरूपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

(२) तानि चतुर्दश-

कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस गुणट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-मिच्छदिट्ठी । सासणसम्मदिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी अविरयसम्मदिट्ठी देसविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, नियट्टिअनियट्टिबायरे, सुहुमसंपराए, उवसंतमोहे वा, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अजोगीकेवली । स० १४ सम० ।

मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमु-वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥

(गुण त्ति) गुणस्थानानि, तत्र "सूचनात्सूत्रमिति" न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचाराद्वा इहैव गुणस्थानकनिर्देशो द्रष्टव्यः । तद्यथा-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् १ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् ४ देशविरतिगुणस्थानम् ५ प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ निवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम् ८ अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम् ९ सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम् ११ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम् १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानमिति १४ । तत्र गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा । गुणानां स्थानं गुणस्थानम् ॥२॥ कर्म० २ कर्म० । चतुर्दशगुणस्थानकेषु समारोहन् जन्तुः किं क्रमेण, एकादिव्यवधानेन वा चतुर्दशं गुणस्थानं स्पृशतीति ? प्रश्ने, उत्तरम्-चतुर्दशगुणस्थानकेषु समारोहन् जन्तुः किं क्रमेण, एकादिव्यवधानेन वा चतुर्दशगुणस्थानं स्पृशतीति यत्पृष्टं, तत्र अनादिमिथ्यादृष्टिस्तावच्चतुर्थं गुणस्थानकं याति, न तु द्वितीयतृतीये, तदनु यदि उपशमश्रेणिमारभते तदैकादशं यावत्क्रमेण याति । यदि च-क्षपकस्तदैकादशं विहाय चतुर्दशं यावत्क्रमेणेति विज्ञायते । विशेषस्तु विशेषावबोधकशास्त्रगम्य इति । इति गुणविजयगणिकृतप्रश्नस्योत्तरम् । ही० ३ प्रका० ।

(३) अन्तरम्-इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसंख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वमुक्तमुत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्ध्यपकर्षविशुद्धिप्रकर्षस्वरूपाः सन्तो गुणस्थानान्युच्यन्ते, अतस्तेषां गुणस्थानकानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह—

पलियासंखंसमुहू, सासण इयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छि वे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥ ८४ ॥

इह 'भामा सत्यभामेति' न्यायात्, पल्य० पल्योपमासंख्यांशोऽन्तर्मुहूर्तं च जघन्यमन्तरमिति योगः । केषामिति ?, आह-सास्वादनाश्चेतरगुणाश्च अवशिष्टगुणस्थानकानि सास्वादनेतरगुणास्तेषाम् । प्राकृतत्वादत्र विभक्तिलोपः । अन्तरं विवक्षितगुणस्थानावस्थितेः प्रच्युतानां पुनस्तत्प्राप्तेर्व्यवधानमन्तरालमिति यावत् । ह्रस्वं जघन्यम् । तत्र सास्वादनगुणस्थानकस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागः, इतरगुणस्थानकानां तु जघन्यमन्तर्मुहूर्तमित्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्-योऽनादिमिथ्यादृष्टिरुद्वलितसम्यक्त्वमिश्रपुञ्जो वा मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा सन्नन्तरकरणादिना प्रकारेणोपलब्धौपशमिकसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्ध्युदयात्सास्वादनभावमासाद्य मिथ्यात्वं गतः सन् यदि तदैव सास्वादनत्वं पुनर्लभते अन्तरकरणप्रकारेणैव, तदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागोर्ध्वं लभते, नार्वाक् । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-यतः सास्वादनान्मिथ्यात्वं गतस्य प्रथमसमये सम्यक्त्वमिश्रपुञ्जौ सत्तायामवश्यं तिष्ठत एव । न च तयोः सत्तायां वर्तमानयोः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, तदभावात्सास्वादनं दूरापास्तमेव । यदि पुञ्जद्वयसद्भावे औपशमिकसम्यक्त्वस्य न लाभस्तर्हि पल्योपमासंख्येयभागेऽप्यतिक्रान्ते कथं सास्वादनलाभः ? इति चेत्, उच्यते-इह सम्यक्त्वमिश्रपुञ्जौ मिथ्यात्वं गतः प्रतिसमयमुद्वर्तयते, न इत्थं प्रतिसमयं मिथ्यात्वे प्रक्षिपतीत्यर्थः । अनेन च क्रमेणैतावुद्वर्त्यमानौ पल्योपमासंख्येयभागेन सर्वथोद्वर्तितौ निःसत्ताकौ भवतः, इत्यमेव कर्मप्रकृत्यादिष्वभिहितत्वात् । ततः पल्योपमासंख्येयभागेन मिश्रसम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वर्तितयोस्तदन्ते कश्चिज्जन्तुः पुनरप्यौपशमिकसम्यक्त्वमासाद्य सास्वादनत्वं गच्छतीत्येवं सास्वादनस्य पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तरं भवतीति । नन्वेकदोपशमश्रेणेः प्रतिपतितः सास्वादनभावमनुभूय यदा पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेनैतामेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्य ततः प्रतिपतितः सास्वादनभावं लभते, तदा जघन्यतोऽल्पमेवान्तरं लभ्यते, तत्किमिति पल्योपमासंख्येयभागो जघन्यमन्तरमित्युक्तम् ? । सत्यम्-उपशमश्रेणेः प्रतिपतितो यः सास्वादनत्वं गच्छति, स केवलं मनुजगतिभावित्वेनाल्पत्वान्नेह विवक्षित इतीतरस्यैव प्रभूतस्य चतुर्गतिवर्तिनोऽन्तरालचिन्तेति । इतरगुणस्थानकेभ्यश्च मिथ्यादृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तोपशमश्रेणिगतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहलक्षणेभ्यः परिभ्रष्टः पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते तान्येव गुणस्थानकानि लभन्ते, इति तेषां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेवान्तरालं भवति । तथाहि-कश्चिज्जीव उपशमश्रेण्यारूढः सन्नुपशान्तत्वमपि संप्राप्य प्रतिपतितो मिथ्यादृष्टित्वं यावदवाप्नोति, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्तेन तान्येवोपशान्तगुणस्थानान्तानि यदाऽऽरोहति, तदा शेषाणां सास्वादनमिश्रगुणस्थानकवर्जितानां गुणस्थानकानां प्रत्येकं जघन्यत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं भवति; एकस्मिन्नपि भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणं समनुज्ञातमेव । उक्तं च-"एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमिज्जा" । तत्र सास्वादनं प्रति जघन्यान्तरस्योक्तत्वात्, श्रेणिप्रतिपतितस्य च मिश्रगमनाभावात्तयोर्वर्जनमुक्तं, श्रेणिगमनाभावे तु मिश्रस्य सास्वादनवर्जशेषगुणस्थानकानां च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानां परावृत्य परावृत्य गमनत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं प्राप्यते । क्षपकक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनां त्वन्तरचिन्ता नास्ति, तेषां प्रतिपातस्याभावादिति । उक्तं जघन्यमन्तरं सर्वगुणस्थानकानाम् । इदानीमुत्कृष्टमन्तरमाह-"गुरुमिच्छि वे छसट्ठी" इत्यादि । गुरु उत्कृष्टमन्तरम् । (मिच्छि त्ति) मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकस्य द्वे षट्षष्टी षट्षष्टिद्वयम् । अयमत्र भावार्थः-यः कश्चिज्जन्तुर्विशुद्धिवशान्मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्ततः सागरोपमषट्षष्टिप्रमाणमुत्कृष्टं सम्यक्त्वकालं प्रतिपाल्यान्तर्मुहूर्तमेकं सम्यग्मिथ्यात्वं गच्छति; ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपमषट्षष्टिं यावत्तदनुपाल्य तत ऊर्ध्वं

यो न सिद्ध्यति, सोऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति। तत इत्थं सागरोपमषट्पष्टिद्वयरूपं सामर्थ्यतो मिश्रान्तर्मुहूर्त्तनरभवाधिकमुत्कृष्टं मिथ्यात्वस्यान्तरायं भवतीति। (इयरगुण त्ति) इतरगुणस्थानकविषये। कोऽर्थः ?–मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकापेक्षयाऽन्यगुणस्थानकेषु सास्वादनादिषूपशान्तमोहान्तेषु गुरु अन्तरमुत्कृष्टोऽन्तरालकालो भवति। कियदित्याह,–(पुग्गलद्धन्त त्ति) सूचकत्वात्सूत्रस्य पुद्गलस्य पुद्गलपरावर्त्तस्यार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं, तस्यान्तर्मध्य पुद्गलपरावर्त्तार्द्धान्त. किञ्चिदून पुद्गलपरावर्त्तार्द्धमित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम्-सास्वादनादय उपशमश्रेणिगतापूर्वकरणाद्युपशान्तमोहान्ताश्च जीवा निजनिजगुणस्थानकावस्थितेर्यदा परिभ्रष्टास्तदोत्कृष्टन किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं यावदपारससारपारावारमध्यमध्यास्य पुनः तानि गुणस्थानकानि लभन्ते, नाऽर्वाक्, तत ऊर्द्ध्वं च सम्यक्त्वादिगुणान् सम्प्राप्याऽवश्य जीवाः सिध्यन्तीति। ततो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमानमेषामुत्कृष्टमन्तर भवति। क्षपकक्षीणमोहादीनां चान्तरमेव नास्ति,प्रतिपाताभावादिति। कर्म० ५ कर्म०। प० स०। (गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वम्–' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६३७ पृष्ठे उक्तम्) [गुणस्थानकेषु उदीरणा ' उदीरणा ' शब्दे द्वितीयभागे ६६५ पृष्ठे उक्ता]

(४) कायस्थितिः। सम्प्रत्येकस्मिन् जीवे गुणस्थानेषु विभागेन कालमानमाह–

होइ अणाइ अणंतो, अणाइ संतो य साइसंतो य।
देसूणपोग्गलद्ध, अंतमुहुत्त, चरिमिमिच्छो ॥३४॥

इह मिथ्यादृष्टिः कालतश्चिन्त्यमानस्त्रिधा प्राप्यते। तद्यथा–अनाद्यनन्त,अनादिसान्तः,सादिसान्तश्च। तत्राभव्यो भव्यो वा कश्चित्तथाविधोऽप्राप्तव्यपरमपदोऽनाद्यनन्तः, तस्याऽनादिकालादारभ्याऽऽगामिन सकलमपि काल यावन्मिथ्यात्वापगमसम्भवाभावात्, यस्तु भव्योऽनादिमिथ्यादृष्टिरवश्यमायत्या सम्यक्त्वमवाप्स्यति स मिथ्यादृष्टि कालमाश्रित्यानादिसान्तः,यस्तु तथाभव्यत्वपरिपाकवशादवाप्य सम्यक्त्व,ततः केनापि कारणेन पुनः सम्यक्त्वात्परिभ्रष्टो मिथ्यात्वमनुभवति,स भूय कालान्तरे नियमतः सम्यक्त्वमवाप्स्यति, तत स मिथ्यादृष्टि सादिसान्तः। तथाहि–सम्यक्त्वलाभानन्तर मिथ्यात्वमासादितमिति सादि', पुनरपि कालान्तरे नियमतो मिथ्यात्वमपगमिष्यतीति सान्त.। एष एव सादिसान्तो मिथ्यादृष्टिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं काल यावद्भवति, सम्यक्त्वप्रतिपातादनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन भूयोऽपि सम्यक्त्वप्राप्ते',उत्कर्षतो देशोन किञ्चिन् न्यून पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं प्रतिपतितसम्यग्दृष्टे, देशोनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमत सम्यक्त्वलाभसंभवात्, अत एव साद्यनन्तरूपो मिथ्यादृष्टिर्न भवति, सादितायां सत्यामुत्कर्षत. किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमतो मिथ्यात्वापगमसंभवात् ॥ प० स० २ द्वार।

तदेवमुक्तमेव जीवस्य मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकालमानम्। सम्प्रति सास्वादनमिश्रगुणस्थानकयोरौपशमिकसम्यक्त्वस्य, क्षायिकसम्यक्त्वस्य च कालमानमाह–

आवलियाणं छक्क, समयादारब्भ सासणो होइ।
मीसुवसम अंतमुहू, खाइयदिट्ठी अणतद्धा ॥ ४० ॥

एकस्मात्समयादारभ्य यावदावलिकानां षट्कं, तावत्सास्वादनो भवति। इयमत्र भावना–एकः सास्वादनो जीव. पूर्वं गुणस्थानकविचारनिर्दिष्टन्यायेन प्राप्तसास्वादनभाव. कश्चित्समयेकमवतिष्ठते, अन्यस्तु द्वौ समयौ, अपरस्तु त्रीन् समयान्। एवं यावत्कोऽपि षडावलिका',तत ऊर्द्ध्वमवश्य मिथ्यात्वमुपगच्छति. तत एवमेकस्य जीवस्य सास्वादनगुणस्थानककालो जघन्यतः समय' प्राप्यते, उत्कर्षत. षडावलिका, तथा मिश्रोपशमौ मिश्रगुणस्थानकौपशमिकसम्यक्त्वे जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम्। तथाहि–सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानक जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाण सुप्रसिद्धम्, " सम्मामिच्छद्दिट्ठी, अतो मुहुत्त इत्यादि " वचनप्रामाण्यात्, केवलं जघन्यपदे तदन्तर्मुहूर्त्तं लघु द्रष्टव्यम्, उत्कृष्टपदे तु तदेव बृहत्तरमिति, औपशमिकसम्यक्त्वमपि प्राथमिकमुपशमश्रेणिसंभव वा जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं, तत्र प्राथमिकमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण प्रतीतम्। तथाहि–यदि तदानीं देशविरत्यादिकमपि स्पृशति, तथापि तस्याऽन्तर्मुहूर्त्तमेव काल यावदवस्थान, तत. पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वभावात्, देशविरत्यादिप्रतिपत्त्यभावे तु कोऽपि सास्वादनभावं गच्छति, कोऽपि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वम्, उपसमश्रेणिसम्भवमप्यौपशमिक सम्यक्त्वमान्तर्मौहूर्त्तिकमुपशमश्रेणेरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात्। तथा क्षायिकदृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरनन्ताद्धा अनन्तकाल यावद्भवति, क्षायिक हि सम्यक्त्व प्रादुर्भूत न कदाचिदप्यपैति, जीवस्य तथास्वभावत्वात्। ततस्तत्सम्यक्त्ववान्सकलमपि पर्यवसित काल यावद्भवति ॥ ४० ॥

वेयग अविरयसम्मो, तेत्तीसयराइ साइरेगाइं।
अंतमुहुत्ताओ पुव्वकोडिदेसो उ देसूणा ॥ ४१ ॥

वेदकाऽविरतसम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकाऽविरतसम्यग्दृष्टिः जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तादारभ्य तावल्लभ्यन्ते यावदुत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि भवन्ति, कथ सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्वेदकाऽविरतसम्यग्दृष्टिर्लभ्यते ? इति चेत्। उच्यते-इह कश्चिदितः स्थानादुत्कृष्टस्थितिष्वनुत्तरविमानेषूत्पन्न, तत्र चाऽविरतसम्यग्दृष्टित्वेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिः,ततस्तस्मात्स्थानात् च्युत्वा अत्राप्यायातो यावदद्यापि सर्वविरत्यादिकं न प्रतिपद्यते, तावदविरत एवेत्येकस्य वेदकाविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यभववसद्ध इति कतिपयवर्षाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यन्ते। तथा (पुव्वकोडीदेसो उ देसूणा) देशसंयत पुन, तुर्वाक्यभेदे। उक्तं च–" तु स्याद्भेदेऽवधारणे।" जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, तत्रान्तर्मुहूर्त्तभावना इयम्–कोऽप्यविरतादिरन्तर्मुहूर्त्तमेक देशविरतिं प्रतिपद्य पुनरप्यविरतादित्वमेव प्रतिपद्यते। देशोनपूर्वकोटिभावना त्वेवम्–इह कश्चित् कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान्सातिरेकान् गमयति,जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्त्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशत' सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्। भगवद्वज्रस्वामिना व्यभिचार इति चेत्। तथाहि–भगवान्वज्रस्वामी षाण्मासिकोऽपि भावत प्रतिपन्नसर्वसावद्यविरति श्रूयते। तथा च सूत्रम्–" छम्मासियं छसु जयं, माऊण समन्नियं वंदे " इति सत्यमेतत्। किं त्वियं शैशवेऽपि भगवद्वज्रस्वामिनो भावतश्चरणप्रतिपत्तिराश्चर्यभूता कादाचित्कीति न तया व्यभिचार। अथ कथमवसीयते ?, येष

वज्रस्वामिनः शैशवेऽपि चरणप्रतिपत्तिः सा कादाचित्कीति । उच्यते-पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात् । तथा च-पञ्चवस्तुके प्रमत्स्याप्रतिपत्तिकालनियमविचाराऽधिकारे गाथा-

" तयहो परिहवखेत्तं, न चरणभावो वि पायमेएसिं ।
आहच्च भावकहगं, सुत्त पुण होइ नायव्वं " ॥

अस्या व्याख्या-तेषामष्टानां वर्षाणामधोवर्त्तमाना मनुष्याः परिभवक्षेत्रं भवन्ति, येन तेन वाऽपि शिशुत्वात्परिभूयन्ते, तथा चरणभावोऽपि चरणपरिणामोऽपि प्राय एतेषां वर्षाष्टकादधोवर्त्तमानानां न भवति । यत्पुनः सूत्रम्-" छम्मासिय छसु जयं, माऊण समन्नियं वंदे " इत्येवरूपं तत् (आहच्चभावकहगं) कादाचित्कभावकथकं, ततो वर्षाष्टकादधः परिभवक्षेत्रत्वाच्चरणपरिणामाभावाच्च न दीक्षन्ते इति ॥४१॥

सम्प्रति प्रमत्ताप्रमत्तसंयतगुणस्थानकयोरेकं जीवमाधिकृत्य कालमानमाह—

समयाउ अंतमुहू, पमत्तअपमत्तयं भयंति मुणी ।
देसूणपुव्वकोडिं, अन्नोन्नं चिट्ठहि भयंता ॥ ४२ ॥

समयादेकस्मादारभ्य मुनयः प्रमत्ततामप्रमत्ततां वा तावद्भजन्ति यावदुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, ततः परमवश्यं प्रमत्तस्याप्रमत्ततादिभावात्,अप्रमत्तस्य च प्रमत्तताऽऽदिभावात् । इयमत्र भावना-प्रमत्तमुनयोऽप्रमत्तमुनयो वा जघन्यत एकं समयं भवन्ति, तदनन्तरं मरणभावेनाविरतत्वभावात्, उत्कर्षतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तं, ततः परमवश्यं प्रमत्तभावो देशविरतत्वं वा, मरणं वा । अप्रमत्तस्याऽपि प्रमत्ताश्रेण्यादौ देशविरतत्वादिकं चेति । अथैतदेव कथमवसितमन्तर्मुहूर्त्तादूर्द्ध्वं प्रमत्तस्याप्रमत्तादिभावोऽप्रमत्तस्य वा प्रमत्तादिभावो, यावता देशविरतादिवत् प्रभूतमपि कालं कस्मादेतौ न भवतः ? । उच्यते—इह येषु संक्लेशस्थानेषु वर्त्तमानो मुनिः प्रमत्तो भवति, येषु च विशोधिस्थानेषु वर्त्तमानोऽप्रमत्तस्थानी संक्लेशस्थानानि,विशोधिस्थानानि च प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । मुनिश्च यथावस्थितमुनिभावे वर्त्तमानो यावदुपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा नारोहति, तावदवश्यं तथास्वाभाव्यात्संक्लेशस्थानेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा विशोधिस्थानेषु गच्छति, विशोधिस्थानेष्वप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः संक्लेशस्थानेषु गच्छति, एवं निरन्तरं प्रमत्ताप्रमत्तयोः परावृत्तीः करोति, ततः प्रमत्ताप्रमत्तभावावुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभेते, न परतः । तथा चोक्तं शतकबृहच्चूर्णौ-" इत्थ संकिलिस्सइ विसुज्झइ वा विरओ अंतमुहुत्त० जाव कालं न परओ, तेण संकिलिस्संतो संकिलेसट्ठाणेसु अंतमुहुत्त कालं० जाव पमत्तसंजओ होइ,विसुज्झंतो विसोहिट्ठाणेसु अंतमुहुत्त कालं० जाव अप्पमत्तसंजओ होइ इति " । अथ प्रमत्ताप्रमत्तभावपरावृत्तीः कियन्तं कालं यावन्निरन्तरं करोतीत्यत आह-(देसूणेत्यादि) देशोनां पूर्वकोटिं यावत् इमौ प्रमत्ताऽप्रमत्तभावावन्योऽन्यं परस्परं भजन्तौ तिष्ठतः , प्रमत्तभावोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमप्रमत्तभावं भजन् अप्रमत्तभावोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं प्रमत्तभावं भजन् निरन्तरं तावद्भवति यावद्देशोनां पूर्वकोटीमित्यर्थः । देशोनता च पूर्वकोट्या आद्यवर्षाष्टकापेक्षया द्रष्टव्या ॥ ४२ ॥

सम्प्रति शेषगुणस्थानकानामेकं जीवमधिकृत्य कालमानमाह-

समयाओ अंतमुहू, अपुव्वकरणाउ जाव उवसंतो ।
खीणाजोगीणंतो, देसस्सेव जोगिणो कालो ॥४३॥

अपूर्वकरणादारभ्य यावदुपशान्तः,किमुक्तं भवति ?-अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहाः प्रत्येकं समयादारभ्योत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवन्ति । तत्र समयमात्रभावना-कश्चिदुपशमश्रेण्यामपूर्वकरणत्वं समयमात्रमनुभूयाऽपरः कोऽपि अनिवृत्तिबादरसंपरायत्वं प्राप्य तत्समयमात्रमनुभूय, तदन्यः कोऽपि सूक्ष्मसंपरायत्वं संप्राप्य, तदपि समयमात्रमनुभूय, परः कोऽपि पुनरुपशान्तमोहत्वमवाप्य,तदपि समयमात्रमनुभूय,द्वितीये समयेऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते । तत्र चोत्पन्नानां प्रथमसमय एवाविरतत्वमित्यपूर्वकरणादीनां समयमात्रत्वम्, अन्तर्मुहूर्त्तभावना तु सुगमा, अपूर्वकरणादीनामन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमवश्यं गुणस्थानकान्तरसंक्रमान्मरणाद्वा, क्षपकश्रेण्यां त्वपूर्वकरणादीनां प्रत्येकमजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवसेयम् । क्षपकश्रेण्यामारूढस्याऽकृतसकलकर्मक्षयस्य मरणासम्भवात् । तथा (खीणाजोगीणंतो इति) क्षीणानां क्षीणकषायाणामयोगिनां भवस्थाऽयोगिकेवलिनामजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् । तथाहि-क्षीणकषायाणां न मरणमन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं च ज्ञानावरणादिघातिकर्मत्रयक्षयात्सयोगिकेवलिगुणस्थानके संक्रमः । भवस्थायोगिकेवलिनां तु ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रकालावस्थायितया, परतः सिद्धत्वप्राप्तेः, अतो द्वयानामप्यजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् । तथा (देसस्सेव जोगिणो कालो) देशस्येव देशविरतस्येव योगिनः सयोगिकेवलिनः कालो वेदितव्यो, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी इत्यर्थः, अत्राऽन्तर्मुहूर्त्तमन्तकृत्केवलिनो विज्ञेयम् । देशोना च पूर्वकोटिः सर्वोत्कृष्टा सप्तमासजातस्य वर्षाष्टकादूर्द्ध्वं चरणप्रतिपत्त्या शीघ्रमेवोत्पादितकेवलज्ञानस्य पूर्वकोट्यायुषो वेदितव्या । तदेवमुक्तं गुणस्थानकेषु विभागे कालमानम् । प० सं० २ द्वार । प्रव० ॥

(५) सम्प्रति गुणस्थानकान्याह—

सुरनारएसु चत्ता-रि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे ।
इगिविगलेसू जुयलं, सव्वाणि पणिंदिसु हवंति ॥ २८ ॥

सुरेषु नारकेषु च प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति । तान्येव देशविरतिसहितानि पञ्च गुणस्थानकानि तिर्यक्षु भवन्ति, चतुर्दशाऽपि मनुष्ये,तत्र मिथ्यात्वाद्ययोगित्वपर्यन्तसर्वभावसम्भवात् । तथा एकेन्द्रियेषु विकलेषु विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणं गुणस्थानकयुगलं भवति । सास्वादनत्वं लब्धिपर्याप्तानां करणापर्याप्तानां करणापर्याप्तावस्थायामवसेयं, तथा पञ्चेन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियद्वारे सर्वाणि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात् ॥ २७ ॥

सव्वेसु वि मिच्छो वा-उतेउसुहुमतिगं पमोत्तूण ।
सासायणो उ सम्मो, सन्निदुगे सेससन्निम्मि ॥ २९ ॥

सर्वेष्वपि त्रसेषु स्थावरेषु च मिथ्यादृष्टिलक्षणं गुणस्थानकमविशेषेणावसेयम्,तथाऽग्निवायुसूक्ष्मत्रिकं च सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तकसाधारणरूपं विमुच्य शेषेषु लब्धिपर्याप्तेषु करणैश्चाऽपर्याप्तेषु संज्ञिनि पर्याप्ते च सास्वादनं , सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं भवति, सुशब्दो लब्धिपर्याप्तेष्वित्यादिविशेषणसूचकः । तथा [सम्मो त्ति] अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं साञ्ज्ञिके पर्याप्तापर्याप्तलक्षणे,

शेषाणि पुनः सम्यग्मिथ्यादृष्टिदेशविरतादीन्येकादश गुणस्थानकानि सञ्ज्ञिनि पर्याप्ते द्रष्टव्यानि ॥ २९ ॥

जा बायर ता वेए-सु तिसु वि तह सव्वसंपराएसु।
लोभम्मि जाव सुहुमे, छल्लेसा जाव सम्मो त्ति ॥ ३० ॥

यावत् बादरोऽनिवृत्तिबादरसंपरायस्तावज्जीवाः सर्वेऽपि त्रिषु वेदेषु स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणेषु, तथा त्रिष्वपि च संपरायेषु क्रोधमानमायारूपेषु द्रष्टव्याः। किमुक्तं भवति ?-त्रिषु वेदेषु, त्रिषु च क्रोधमानमायारूपेषु संपरायेषु मिथ्यादृष्ट्यादीन्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति। एवमन्यत्रापि भावना द्रष्टव्या। तथा लोभे यावत् सूक्ष्मः सूक्ष्मसंपरायस्तावत्सर्वेऽपि जीवा मिथ्यादृष्टिप्रभृतयो वेदितव्याः, तथा यावत् (सम्मो त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिस्तावत् षडपि लेश्या भवन्ति ॥३०॥

अपुव्वाइसु सुक्का, नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाणं।
मीसो एगो चउरो, असंजया संजया सेसा ॥ ३१ ॥

अपूर्वादिषु अपूर्वकरणादिषु गुणस्थानकेषु [सुक्का त्ति] एका शुक्ललेश्या भवति, न शेषा लेश्याः। तथा-अयोगिनि अयोगिकेवलिगुणस्थानके साऽपि शुक्ललेश्या नास्ति, अलेश्यत्वादयोगिकेवलिनः, तथा शेषाणां देशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतानां तिस्रस्तेजःपद्मशुक्लरूपा लेश्या भवन्ति। सूत्रे तु 'तिन्नि त्ति' नपुंसकनिर्देशः प्राकृतलक्षणात्। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"लिङ्गं व्यभिचार्यपि"। इह च लेश्यात्रयं देशविरतादीनां देशविरत्यादिप्रतिपत्तिकाले द्रष्टव्यम्। अन्यथा षडपि लेश्याः। उक्तं च-सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकालेषु शुभलेश्यात्रयमेव, तदुत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपीति। तथा योगे मनोवाक्कायरूपेऽयोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि मतिश्रुतावधिज्ञानेष्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि, मनःपर्यायज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहान्तानि सप्त गुणस्थानकानि, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः सयोग्ययोगिकेवलिलक्षणं गुणस्थानकद्विकं, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणानि त्रीणि गुणस्थानकानि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणमोहान्तानि द्वादश गुणस्थानकानीति सुधिया भावनीयम्। तथा मिश्रो व्यामिश्रः संयमः प्रत्येको देशविरत इत्यर्थः, चत्वारो मिथ्यादृष्ट्यादयोऽसंयताः, शेषाश्च संयताः, तत्र प्रमत्ताऽप्रमत्तसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयमसम्भविनः, अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरौ सामायिकच्छेदोपस्थापनसंयमसम्भविनौ, सूक्ष्मसंपराये सूक्ष्मसंपरायसंयमः, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोग्ययोगिकेवलिनो यथाख्यातचारित्रिणः ॥ ३१ ॥

अभविएसु पढमं, सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु।
सन्नीसु बार केवलि, नो सन्नी नो असन्नी वि ॥ ३२ ॥

अभव्येषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिलक्षणं गुणस्थानकम्, इतरेषु च भव्येषु सर्वाणि मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यन्तानि चतुर्दशाऽपि गुणस्थानकानि भवन्ति। तथाऽसञ्ज्ञिषु सञ्ज्ञिवर्जितेषु द्वे मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे गुणस्थानके, तत्र सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं लब्धिपर्याप्तस्य करणापर्याप्तावस्थायां वेदितव्यम्। तथा सञ्ज्ञिनि सयोग्ययोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि द्वादश गुणस्थानकानि, ये तु सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानके ते तत्र न संभवतः, सयोग्ययोगिकेवलिनोः सञ्ज्ञित्वाऽयोगात्, तदयोगश्च मनोविज्ञानाभावात्। न चाप्येकान्तेन तयोरसञ्ज्ञित्वं द्रष्टव्यम्, द्रव्यमनोऽपेक्षया सञ्ज्ञित्वस्याऽपि व्यवहारात्। तथा चाह-केवलिनौ न सञ्ज्ञिनौ, मनोविज्ञानाभावात्, नाप्यसञ्ज्ञिनौ, द्रव्यमनःसम्बन्धापेक्षया सञ्ज्ञित्वव्यवहारात्। उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ-" मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेण सन्निणो वुच्चंति, मणोविन्नाणं पडुच्च, ते सन्निणो न हवंति त्ति " ॥ ३२ ॥

अपमत्तुवसम अजोगि, जाव सव्वे वि अविरयाईया।
वेयगउवसमखाइय-दिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥ ३३ ॥

इह यथासङ्ख्येन पदयोजना कर्तव्या। सा चैवम्-अविरतादयोऽप्रमत्तान्ता वेदकसम्यग्दृष्टयः, अविरतादय उपशान्तमोहान्ता औपशमिकदृष्टयः, अविरतादयोऽयोगिपर्यन्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः, क्रमशः क्रमेण यथासङ्ख्यरूपेणोक्तलक्षणेन मन्तव्याः। किमुक्तं भवति ?-वेदकसम्यक्त्वेऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादीन्यप्रमत्तपर्यन्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि, औपशमिकसम्यक्त्वे त्वविरतादीन्युपशान्तमोहपर्यन्तानि अष्टौ गुणस्थानकानि, क्षायिकसम्यक्त्वे अविरतादीनि अयोगिपर्यन्तानि एकादश गुणस्थानकानि, मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रेषु पुनः स्वं स्वमेव गुणस्थानम्। एतच्चानुक्तमपि सामर्थ्यादवसीयते इति नोक्तम् ॥३३॥

आहारगेसु तेरस, पंच अणाहारगेसु वि भवंति।
भणिया जोगुवयोगा-ण मग्गणा बंधगे भणिमो ॥३४॥

आहारकेष्वयोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि, अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिसयोग्ययोगिकेवलिलक्षणानि पञ्च गुणस्थानकानि, तत्र सयोगिकेवलिगुणस्थानकमनाहारके समुद्घातावस्थायां, शेषाणि सुप्रतीतानि ॥ प० सं० १ द्वार। प्रव०। कर्म०।

(६) अथ जीवस्थानेषु गुणस्थानानि प्रचिकटयिषुराह-

बायरअसन्निविगले, अपज्ज पढमबिय सन्निअपजत्ते।
अजयजुय सन्निपज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥

ततो बादराश्च बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणाः, असञ्ज्ञी च विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकलः, विकलाश्च विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः द्वन्द्वे बादरासञ्ज्ञिविकलं, तस्मिन् बादरासञ्ज्ञिविकले। किंविशिष्टे ?, (अपज्ज त्ति) अपर्याप्ते, कोऽर्थः ?, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु, तथाऽपर्याप्ते सञ्ज्ञिनि, तथा विकलेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु, किमिति ? आह-(पढमबिय त्ति) इह 'सव्वगुणा' इतिपदाद् गुणशब्दस्याकर्षणं, ततः प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, द्वितीयं सास्वादनगुणस्थानं भवति। अथ तेजोवायुवर्जनं किमर्थमिति चेत् ? उच्यते-तेजोवायूनां मध्ये सम्यक्त्वलेशवतामप्युत्पादाभावात्, सम्यक्त्वं चासादयतां सास्वादनभावाभ्युपगमात्। नन्वेकेन्द्रियाणामागमे सास्वादनभावो, नेष्यते उभयाभावः, "पुढवाइएसु समत्तलंभी" इति परममुनिप्रणीतवचनप्रामाण्यात्। अत एवागमे एकेन्द्रिया अज्ञानिन एवोक्ताः, द्वीन्द्रियादयश्च केचिदपर्याप्तावस्थायां सास्वादनभावाभ्युपगमात् ज्ञानिन उक्ताः, केचिच्च तदभावादज्ञानिनः, यदि पुनरेकेन्द्रियाणामपि सा . . दनभाव·

यादिवत् उभयथाऽप्युच्येरन्, न चोच्यन्ते यदुक्तम्-' एगिंदिया णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ?। गोयमा ! नो नाणी, नियमा अन्नाणी । तथा बेंदिया णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ?। गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि " इत्यादि । तत्कथमिहापर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणेषु सास्वादनगुणस्थानकभाव उक्तः ?। सत्यमेतत्, किं तु मा त्वरिष्ठाः, सर्वमेतदग्रे प्रतिविधास्याम इति । (सन्निअपज्जत्ते अजयजुय त्ति) संज्ञिन्यपर्याप्ते तदेव पूर्वोक्तं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणगुणस्थानकद्वयमयतयुतं भवति । यमनं यतः, विरतिरित्यर्थः । न विद्यते यतं यस्य सोऽयतः, अविरतसम्यग्दृष्टिरित्यर्थः । तेन युतं संयुक्तमयतयुतम् । इदमुक्तं भवति-संज्ञिन्यपर्याप्ते त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनाविरतिसम्यग्दृष्टिलक्षणानि गुणस्थानानि भवन्ति, न शेषाणि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनि, तेषां पर्याप्तावस्थायामेव भावात् । (सन्निपज्जे सव्वगुण त्ति) संज्ञिनि पर्याप्ते सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिपर्यन्तानि गुणस्थानकानि भवन्ति, संज्ञिनः सर्वपरिणामसंभवात् । अथ कथं संज्ञिनः सयोग्ययोगिरूपगुणस्थानकद्वयसंभवः ?, तद्भावे तस्यामनस्कतया संज्ञित्वायोगात् ?। न । तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमनःसंबन्धोऽस्ति, समनस्कश्चाविशेषेण संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते, ततो न तस्य भगवतः संज्ञिताव्याघातः । यदुक्तं सप्ततिकाचूर्णौ-"मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेण संन्निणो भन्नति, मणोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न भवंति त्ति" (मिच्छ सेसेसु त्ति) मिथ्यात्वं शेषेषु भणितावशिष्टेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु सप्तसु जीवस्थानेषु मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेव भवति, न सास्वादनमपि । यतः परभवादागच्छतामेव घण्टालालान्यायेन सम्यक्त्वलेशमास्वादयतामुत्पत्तिकाल एवापर्याप्तावस्थायां जन्तुना लभ्यते न पर्याप्तावस्थायाम्, अतः पर्याप्तसूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तदभावः । अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियेऽपि न सास्वादनसंभवः, सास्वादनस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात्, महासंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रियमध्ये उत्पादाभिधानात् इति ॥ ३ ॥ तदेवं निरूपितानि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकानि । कर्म० ४ कर्म० । [' परीसह ' शब्दे गुणस्थानकेषु परीषहाः] ।

(७) गुणस्थानकेषु बन्धप्रकृतयः । अथ यथैतेष्वेव गुणस्थानेषु भगवता बन्धमुदयमुदीरणां सत्तां चाश्रित्य कर्माणि क्षपितानि तथा विवक्षिषुः प्रथमं तावद्बन्धमाश्रित्य कः गुणस्थाने कियत्यः कर्मप्रकृतयो व्यवच्छिन्ना इत्येतद्बन्धलक्षणकथनपूर्वकं प्रतिविवक्षिषुराह-

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं ।
तित्थयराहारगदुग-वज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिरभिनवस्य नूतनस्य कर्मणो ज्ञानावरणादेर्ग्रहणमुपादानं बन्ध इत्युच्यते । ओघेन सामान्येन, नैकं किञ्चिद्गुणस्थानकमाश्रित्येत्यर्थः । (तत्थ त्ति) तत्र बन्धे विंशं शतं विंशत्युत्तरशतं कर्मप्रकृतीनां भवतीति शेषः । तथाहि-मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणम्, अवधिज्ञानावरणम्, मनःपर्यायज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणमिति पञ्चधा ज्ञानावरणम् । निद्रा निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धिः, चक्षुर्दर्शनावरणम्, अचक्षुर्दर्शनावरणम्, अवधिदर्शनावरणं, केवलदर्शनावरणमिति नवविधं दर्शनावरणम् । वेदनीयं द्विधा-सातवेदनीयमसातवेदनीयं च । मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम् । तद्यथा-मिथ्यात्वं, सम्यग्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वमिति दर्शनत्रिकम्, अनन्तानुबन्धी क्रोधो मानो माया लोभः, अप्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः, प्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः, संज्वलनः क्रोधो मानो माया लोभ इति षोडश कषायाः । स्त्रीपुंनपुंसकमिति वेदत्रयम् । हास्य रति अरतिः शोको भय जुगुप्सेति हास्यषट्कं मिलित, नव नोकषायाः । आयुश्चतुर्धा-नरकायुस्तिर्यगायुः मनुष्यायुः देवायुरिति । अथ नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधम् । तद्यथा-चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः, अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः, त्रसदशकम्, स्थावरदशकं चेति । तत्र पिण्डप्रकृतय इमाः -गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम संघातनाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति । आसां भेदाः प्रदर्श्यन्ते-नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिनामभेदाच्चतुर्धा गतिनाम । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामेति पञ्चधा जातिनाम । औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणशरीरनामेति पञ्चधा शरीरनामेति । औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमाहारकाङ्गोपाङ्गं नामेति त्रिधाङ्गोपाङ्गनाम । बन्धननाम पञ्चधा-औदारिकबन्धनादिशरीरवत् । एवं संघातनमपि । संहनननाम षड्भेदम्-वज्रऋषभनाराचम्, ऋषभनाराचं, नाराचम्, अर्द्धनाराचं, कीलिका, सेवार्त्तं चेति । संस्थाननाम षड्विधम्-समचतुरस्रं, न्यग्रोधपरिमण्डलं, सादिवामनं, कुब्जं, हुण्डं चेति । वर्णनाम पञ्चधा-कृष्णं नीलं लोहितं हारिद्रं शुक्लं चेति । गन्धनाम द्विधा-सुरभिगन्धनाम, दुरभिगन्धनामेति । रसनाम पञ्चधा-तिक्तं कटुकं कषायम् अम्लं मधुरं चेति । स्पर्शनामाष्टधा-कर्कशं मृदु लघु गुरु शीतम् उष्णं स्निग्धं रूक्षं च । आनुपूर्वी चतुर्धा-नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी देवानुपूर्वी चेति । विहायोगतिर्द्विधा-प्रशस्तविहायोगतिरप्रशस्तविहायोगतिरिति । आसां चतुर्दशपिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदाः अमी पूर्वोक्ताः पञ्चषष्टिः । प्रत्येकप्रकृतयस्त्विमाः-पराघातनाम, उपघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, अगुरुलघुनाम, तीर्थकरनाम, निर्माणनामेति । त्रसदशकमिदम्-त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, स्थिरनाम शुभनाम, सुभगनाम, सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशःकीर्त्तिनामेति । स्थावरदशकं पुनरिदम्-स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम, अस्थिरनाम, अशुभनाम, दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम, अयशःकीर्त्तिनामेति । पिण्डप्रकृत्युत्तरभेदाः पञ्चषष्टिः प्रत्येकप्रकृतयोऽष्टौ, त्रसदशकं, स्थावरदशकं च । सर्वमीलने त्रिनवतिः । गोत्रं द्विधा-उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं च । अन्तरायं पञ्चधा-दानान्तरायं, लाभान्तरायं, भोगान्तरायम्, उपभोगान्तरायम्, वीर्यान्तरायं चेति । एवं च कृत्वा ज्ञानावरणे कर्मप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहनीयेऽष्टाविंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि त्रिनवतिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च, सर्वपिण्डेऽष्टाचत्वारिंशं शतं भवति । तेन च सत्तायामधिकारः । उदयोदीरणयोः पुनरौदारिकादिबन्धनानां पञ्चानामौदारिकादिसंघातनानां च पञ्चानां यथास्वमौदारिकादिषु पञ्चसु शरीरेष्वन्तर्भावः । वर्णरसगन्धस्पर्शानां यथासंख्यं पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदानां तद्व्यक्तौ विंशतिमपनीय तेषामेव चतुर्णामभिन्नानां ग्रहणे षोडशकमिदम्, बन्धनसंघातनसहितमपचत्वारिंशच्छतादपनीयते । शेषेण द्वाविंशेन शतेनाऽधिकारः । बन्धे तु सम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वयोः

सक्रमेणैव निष्पाद्यमानत्वाद्बन्धो न सम्भवतीति तयोर्द्वाविंशतिशतादपनीतयोः शेषेण विंशत्युत्तरशतेनाधिकार इति प्रकृतिसमुत्कीर्तना कृता । प्रकृत्यर्थः स्वोपज्ञकर्मविपाकटीकायां विस्तरेण निरूपितस्तत एवावधार्य इत्यलम्प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुम -तत्र बन्धे सामान्येन विंशं शतं भवतीति प्रकृतम्, तदेव च विंशं शतं तीर्थकराहारकद्विकवर्जं तीर्थकराहारकद्विकरहितं सप्तदशोत्तरं शतं (मिच्छम्मि त्ति) भीमसेनो भीम इत्यादिवत्पदवाच्यस्यार्थस्य पदैकदेशेनाप्यभिधानदर्शनात् मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने इत्यर्थः । एवमुत्तरेष्वपि पदवाच्येषु पदैकदेशप्रयोगो द्रष्टव्यः ।[सतरसय ति] सप्तदशाधिकं शतं सप्तदशशतं बन्धे भवतीति । अयमत्राभिप्रायः-तीर्थकरनाम तावत्सम्यक्त्वगुणनिमित्तमेव बध्यते । आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं त्वप्रमत्तयतिसम्बन्धिना संयमेनैव । यदुक्तं श्रीशिवशर्मसूरिपादैः शतके-"सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारमिति"। मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने एतत्प्रकृतित्रयवर्जनं कृतं, शेषं पुनः सप्तदशशतं मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिर्बध्यत इति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तद्बन्धः इति । ३ ॥

नन्वेता मिथ्यादृष्टिप्रायोग्याः सप्तदशशतसंख्याः सर्वा अपि प्रकृतय उत्तरगुणस्थानेषु गच्छन्त्युत काश्चिदेवेत्याशङ्क्याह—

नरयतिग जाइथावर-चउ हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसय, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥४॥

नरकत्रिकम्-नरकगतिनरकानुपूर्वी नरकायुर्लक्षणम्, (जाइथावरचउ त्ति) चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् जातिचतुष्कं एकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिस्वरूपं, स्थावरचतुष्कं स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणं, हुण्डम् आतपं छेदपृष्ठं (नपु त्ति) नपुंसकवेदः (मिच्छ त्ति) मिथ्यात्वमित्येतासाम् (सोलंतो त्ति) षोडशानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने ' तत्र भाव उत्तरत्राभावः ' इत्येवंलक्षणोऽन्तो विनाशः क्षयो भेदो व्यवच्छेद उच्छेद इति पर्यायाः । इयमत्र भावना-एता हि षोडश प्रकृतयो मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव बन्धमायान्ति, मिथ्यात्वप्रत्ययत्वादेतासाम् । नोत्तरत्र सास्वादनादिषु, मिथ्यात्वाभावादेव । यत एताः प्रायो नारकैकेन्द्रियविकलेन्द्रिययोग्यत्वादत्यन्ताऽशुभत्वाच्च मिथ्यादृष्टिरेव बध्नातीति सप्तदशशतात्पूर्वोक्तादेतदपगमे शेषमेकोत्तरं प्रकृतिशतमेवाऽविरत्यादिहेतुभिः सास्वादने बन्धमायात्यत एवाह-(इगहियसयसासणि त्ति) एकाधिकशतं सास्वादने बध्यते । "इगहियसय" इत्यत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। एवमन्यत्रापि विभक्तिलोपः प्राकृतलक्षणवशादवसेयः। (तिरिथीणदुहगतिग ति) त्रिकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते। तिर्यक्त्रिकं-तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, तिर्यगायुर्लक्षणं, स्त्यानर्द्धित्रिकं-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिस्वरूपं, दुर्भगत्रिकं दुर्भगदुःस्वरानादेयस्वरूपमिति ॥ ४ ॥

अणमज्झाऽऽगिइसंघय-णचउनिउज्जोयकुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे, चउसयरि दुआउय अबंधा ॥ ५ ॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् (अण त्ति) अनन्तानुबन्धिचतुष्कमनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्यम्। मध्या मध्यमा आद्यन्तवर्जा आकृतयः संस्थानानि मध्याकृतयः,तासां चतुष्कं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं सादिसंस्थानं वामनसंस्थानं कुब्जसंस्थानमिति। तथा काकाक्षिगोलकन्यायान्मध्यशब्दस्यात्रापि योगः, ततो मध्यानि मध्यमानि प्रथमान्तिमवर्जानि संहननानि अस्थिनिचयात्मकानि, तेषां चतुष्कं संहननचतुष्कम्। ऋषभनाराचसंहननं नाराचसंहननम् अर्द्धनाराचसंहननं कीलिकासंहननमिति। [निउ त्ति] नीचैर्गोत्रम्, उद्योतम्। कुखगतिः कु कुत्सिताऽप्रशस्ता खगतिर्विहायोगतिः, अप्रशस्तविहायोगतिरित्यर्थः । [त्थि त्ति] स्त्रीवेदः, इत्येतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादनेऽन्तोऽत्र बध्यन्ते, नोत्तरत्रेत्यर्थः । यतोऽनन्तानुबन्धिप्रत्ययो ह्यासां बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीति । ततश्चैकाधिकशतात्पञ्चविंशत्यपगमे (मीसि त्ति) मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने षट्सप्ततिर्बन्धे भवति । ततोऽपि [दुआउयअबंध त्ति] द्वयोर्मनुष्यायुर्देवायुषोरबन्धो द्व्यायुरबन्धस्तस्मात् द्व्यायुरबन्धादितिहेतोश्चतुःसप्ततिर्भवति । इदमुक्तं भवति-इह नारकतिर्यगायुषी यथासंख्यं मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानयोर्व्यवच्छिन्ने, शेषं तु मनुष्यायुर्देवायुर्द्वयमवतिष्ठते, तदपि मिश्रो न बध्नाति, मिश्रस्य सर्वथा आयुर्बन्धप्रतिषेधात् । उक्तं च-"सम्मामिच्छद्दिट्ठी, आउयबंधं पि न करेइ त्ति "। ततः षट्सप्ततेरायुर्द्वयाऽपगमे चतुःसप्ततिर्भवतीति ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरि जिणा-उबंधि वइरनरतिगबियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥ ६ ॥ ॥

[सम्मि त्ति] अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने [सगसयरि त्ति] सप्तसप्ततिप्रकृतीनां बन्धो भवति। कथमिति चेत्? उच्यते पूर्वोक्तैव चतुःसप्ततिः [जिणाउबंधि त्ति] तीर्थकरनाममनुष्यायुर्देवायुर्द्वयबन्धे सति सप्तसप्ततिर्भवति । एतदुक्तं भवति-तीर्थकरनाम तावत्सम्यक्त्वप्रत्ययादेवात्र बन्धमायाति, ये च तिर्यङ्मनुष्या अविरतसम्यग्दृशस्ते देवायुर्बध्नन्ति,ये तु नारकदेवास्ते मनुष्यायुर्बध्नन्ति, ततोऽत्रैव प्रकृतित्रयी समधिका लभ्यते,सा च पूर्वोक्तायां चतुःसप्ततौ क्षिप्यते,जाता सप्तसप्ततिरिति । [वइर त्ति] वज्रर्षभनाराचसंहननम् [नरतिग त्ति] नरत्रिकम् नरगतिनरानुपूर्वीनरायुर्लक्षणं,[बियकसाय त्ति]द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः [उरलदुग त्ति]औदारिकद्विकमौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणमित्येतासां दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावन्तो भवति, एता अत्र बध्यन्ते, नोत्तरत्रेत्यर्थः । अयमत्राभिप्रायः-द्वितीयकषायास्तावदुदयाभावान्न बध्नाति देशविरतादिः । कषाया ह्यनन्तानुबन्धिवर्जा वेद्यमाना एव बध्यन्ते "जे वेएइ ते बंधइ" इति वचनात्। अनन्तानुबन्धिनस्तु चतुर्विंशतिसत्कर्मानन्तवियोजको मिथ्यात्वं गतो बन्धावलिकामात्रं कालमनुदितान् बध्नाति। यदाहुः सप्ततिकाटीकायां मोहनीयचतुर्विंशतिकावसरे श्रीमलयगिरिपादाः-" इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः ' एतावतैव स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय स उद्युक्तवान्, तथाविधसामग्र्यभावात् । ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति। ततो बन्धावलिका यावन्नाद्याप्यतिक्रामति तावत्तेषामुदयं विना बन्ध इति। नरत्रिकं पुनरेकान्तेन मनुष्यवेद्यम् । औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहननं च मनुष्यतिर्यगेकान्तवेद्यम् । देशविरतादिषु देवगतियोग्यमेव बध्नाति, नान्यत्तेनाऽऽसां दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेऽन्तः। ततः एतत्प्रकृतिदशकं पूर्वोक्तसप्तसप्ततेरपनीयते।

ततो [देसे सत्तट्ठि त्ति] देशे देशविरतगुणस्थाने सप्तषष्टिर्बध्यते, [तियकसायं तु त्ति] तृतीयकषायाणां प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां देशविरतेऽन्तस्तदुत्तरेषु तेषामुदयाभावात् अनुदितानां चाबन्धात् " जे वेयइ ते बंधइ " इतिवचनादिति भावः । एतच्च प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तसप्तषष्टेरपनीयते ॥ ६ ॥

तेवट्ठि पमत्ते सो-ग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥

(तेवट्ठि पमत्ति त्ति) त्रिषष्टिः प्रमत्ते बध्यते । शोक अरतिः, [अथिरदुग त्ति] अस्थिरद्विकमस्थिराशुभरूपम् [अजस त्ति] अयशःकीर्तिनाम, असातमित्येताः षट् प्रकृतयः प्रमत्ते (वुच्छिज्ज त्ति) प्राकृतत्वादादेशस्य, व्यवच्छिद्यन्ते क्षीयन्ते, बन्धमाश्रित्येति भावः । यद्वा-सप्त वा व्यवच्छिद्यन्ते । कथमिति ?, आह-(नेइ सुराउं जया निट्ठं ति) यदा कश्चित्प्रमत्तः सन् सुरायुर्बन्धमारभते, निष्ठां च नयति, सुरायुर्बन्धं समापयतीत्यर्थः । तदा पूर्वोक्ताः षट् सुरायुःसहिताः सप्त व्यवच्छिद्यन्ते इति ॥७॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउ बंधतु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, ज आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥

[गुणसट्ठि त्ति] एकोनषष्टिरप्रमत्ते, बध्यते इति शेषः । कथमिति ?, आह-सुरायुर्बध्नन् देवायुर्बन्धं कुर्वन्, यदि चेदिहाऽप्रमत्तगुणस्थाने आगच्छेत् । इयमत्र भावना-सुरायुर्बन्धं हि प्रमत्त एवारभते, नाऽप्रमत्तादिः, तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात्, परं सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित्सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यागच्छेत् । अत्र च सावशेषं सुरायुर्निष्ठां नयति । तत एकोनषष्टिरप्रमत्ते भवति, "देवाउयं च इक्कं नायव्वं अप्पमत्तम्मि त्ति" वचनात् । [अन्नह अट्ठावन्न त्ति] अन्यथा यदि सुरायुर्बन्धः प्रमत्तेनारब्धः प्रमत्तेनैव निष्ठां नीतस्ततोऽष्टपञ्चाशदप्रमत्ते भवतीति । ननु यदि पूर्वोक्तात्रिषष्टेः शोकाऽरत्यस्थिरद्विकाऽयशोऽसातलक्षणं प्रकृतिषट्कमपनीयते, तर्हि सा सप्तपञ्चाशद्भवति, अथ सुरायुःसहितं पूर्वोक्तप्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि षट्पञ्चाशत्, ततः कथमुक्तमेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वाऽप्रमत्ते इत्याशङ्क्याह-(ज आहारगदुगं बंधे त्ति) यद्यस्मात् कारणादाहारकद्विकं बन्धे भवतीति शेषः । अयमत्राशयः-अप्रमत्तयतिसंबन्धिना संयमविशेषेणाहारकद्विकं बध्यते, तच्चेह लभ्यते इति पूर्वापनीतमप्यत्र क्षिप्यते । ततः षट्पञ्चाशदाहारकद्विकक्षेपे अष्टापञ्चाशद्भवति, सप्तपञ्चाशत्पुनराहारकद्विकक्षेपे एकोनषष्टिरिति ॥ ८ ॥

अडवन्न अपुव्वाइ-म्मि निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुगपणिंदिसुखगइ, तसनवउरलविणुतणुवंगा ॥ ९ ॥
समचउरनिमिणजिणव-न्नअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

[अडवन्न अपुव्वाइम्मि त्ति] इह किलापूर्वकरणाद्धायाः सप्त भागाः क्रियन्ते । तत्रापूर्वस्याऽपूर्वकरणस्याऽऽदिमे प्रथमे सप्तभागेऽष्टापञ्चाशत् पूर्वोक्ता भवन्ति । तत्र चाद्ये सप्तभागे निद्राद्विकस्य निद्राप्रचलालक्षणस्याऽन्तो भवति, अत्र बध्यते, नोत्तरत्रापि, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावात्, उत्तरेष्वयमेव हेतुरनुसरणीयः, ततः परं षट्पञ्चाशद्भवति । कथमिति ?, आह-(पणभागे त्ति) पञ्चानां भागानां समाहारः पञ्चभागं, तस्मिन् पञ्चभागे, पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-अपूर्वकरणाद्धायाः सप्तसु भागेषु विभक्तेषु प्रथमे सप्तभागेऽष्टपञ्चाशत्, तत्र च व्यवच्छिन्नमिद्राप्रचलाद्वये सति षट्पञ्चाशत्, सा च द्वितीये सप्तभागे तृतीये सप्तभागे चतुर्थे सप्तभागे पञ्चमे सप्तभागे षष्ठे सप्तभागे भवतीत्यर्थः । अत्र च षष्ठे सप्तभागे आसां त्रिंशत्प्रकृतीनामन्तो भवतीत्याह-(सुरदुगेत्यादि) सुरद्विकं सुरगतिसुरानुपूर्वीरूपम् । (पणिंदि त्ति) पञ्चेन्द्रियजातिः, सुखगतिः प्रशस्तविहायोगतिः, (तसनव त्ति) त्रसनवकं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयलक्षणम् [उरलविणु त्ति] औदारिकशरीरं विना, औदारिकाङ्गोपाङ्गं च विनेत्यर्थः, (तणु त्ति) तनवः शरीराणि, [उवंग त्ति] उपाङ्गानि । इदमुक्तं भवति-वैक्रियशरीरमाहारकशरीरं तैजसशरीरं कार्मणशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमाहारकाङ्गोपाङ्गं चेति । (समचउर त्ति) समचतुरस्रसंस्थानं [निमिण त्ति] निर्माणं [जिण त्ति] जिननाम, तीर्थकरनामेत्यर्थः । [वन्नअगुरुलहुचउ त्ति] चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धाद्वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शरूपम्, अगुरुलघुचतुष्कम्-अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासलक्षणमित्येतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां [छलंसि त्ति] षष्ठोऽशो भागः षडंशः, "मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । यथा-तृतीयो भागस्त्रिभाग इति । अत्र मकारस्य लकारः "डो लः" । ८ । १ । २०२ । इति प्राकृतसूत्रेण । तस्मिन् षडंशे; ततः पूर्वोक्तषट्पञ्चाशत इमास्त्रिंशत्प्रकृतयोऽपनीयन्ते, शेषाः षड्विंशतिः प्रकृतयोऽपूर्वकरणस्य, [चरमि त्ति] चरमेऽन्तिमे सप्तमे सप्तभागे बन्धे, लभ्यन्ते इत्यर्थः । चरमे च सप्तभागे हास्यं च रतिश्च [कुच्छ त्ति] कुत्सा च जुगुप्सा भयं च हास्यरतिकुत्साभयानि, तेषां भेदो व्यवच्छेदो हास्यरतिकुत्साभयभेदो भवतीति । एताश्चतस्रः प्रकृतयः पूर्वोक्तषड्विंशतेरपनीयन्ते, शेषा द्वाविंशतिः, सा चानिवृत्तिबादरप्रथमभागे भवतीति ॥ ९ ॥ १० ॥

एतदेवाह-

अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलण चउण्हं, कमेण छेओ सतरसुहुमे ॥११॥

अनिवृत्तिभागपञ्चके, अनिवृत्तिबादराद्धायाः पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः । स पूर्वोक्तो द्वाविंशतिबन्धः एकैकहीनो वाच्यः, एकैकस्मिन् भागे एकैकस्याः प्रकृतेर्बन्धव्यवच्छेद इत्यर्थः । कथमिति ?, आह-[पुमसंजलण चउण्ह कमेण छेउ त्ति] क्रमेणानुपूर्व्या प्रथमे भागे पुंवेदस्य छेदः, तत एकविंशतेर्बन्धः, द्वितीये भागे संज्वलनक्रोधस्य छेदः, ततो विंशतेर्बन्धः, तृतीये भागे तु संज्वलनमानस्य छेदः, तत एकोनविंशतेर्बन्धः, चतुर्थे भागे संज्वलनमायायाः छेदः, ततोऽष्टादशानां बन्धः, पञ्चमभागे संज्वलनलोभस्य छेदः, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाऽभावः छेदहेतुः, संज्वलनलोभस्य तु बादरसंपरायप्रत्ययो बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीत्यतश्छेदः, ततः सूक्ष्मसंपराये सप्तदशप्रकृतीनां बन्धो भवतीत्यत आह-[सतरसुहुमि त्ति] स्पष्टम् ॥ ११ ॥

चउदंसणुच्च जसना-णविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायबन्ध छेओ, सजोगिबंध तु णंतो अ ॥ १२ ॥

(चउदंसण त्ति) चतुर्णां दर्शनानां समाहारश्चतुर्दर्शनं, चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनरूपम्, [उच्च त्ति] उच्चै-

गौत्रम् [जस त्ति] यश कीर्त्तिनाम, [नाणविग्घदसग त्ति] ज्ञानावरणपञ्चक विघ्नपञ्चकमन्तरायपञ्चकम्, उभयमीलने ज्ञानावि‌घ्नदशकमिति, एतासां षोडशप्रकृतीनां सूक्ष्मसंपराये बन्धस्योच्छेदो भवति, एतद्बन्धस्य साम्परायिकत्वादुत्तरेषु च साम्परायिकस्य कषायोदयलक्षणस्याभावादिति। [तिसु सायबंध त्ति] त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिगुणस्थानेषु सातबन्धः, मानस्य केवलयोगप्रत्ययस्य द्विसामयिकस्य तृतीयसमयेऽवस्थानाभावादिति भावः, न साम्परायिकस्य, तस्य कषायप्रत्ययत्वात्। आह च भाष्यसुधाम्भोनिधि -" उवसन्तखीणमोहा, केवलिणो एगविहबंधा ॥ ते पुण दुसमयठिइय-स्स बंधगा न उण संपरायस्स"।१। इति। [छेओ सजोगि त्ति] क्रमरुक्माणिन्यायात्सातबन्धशब्दस्येह सबन्ध, ततः सयोगिकेवलिगुणस्थाने सातबन्धस्य छेदो व्यवच्छेदः। इह सातबन्धोऽस्ति, योगसद्भावात्। नोत्तरत्रायोगिकेवलिगुणस्थाने, योगाभावात्। ततोऽबन्धका अयोगिकेवलिनः। उक्तं च-' सेलेसिं पडिवन्ना अबंधगा हुंति नायव्वा"[बंधतंतो य त्ति] बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च बन्धशब्दस्याग्रे षष्ठीलोप, प्राकृतत्वात्। तत इदमुक्तं भवति-यत्र हि गुणस्थाने यासां प्रकृतीनां बन्धहेतुव्यवच्छेदस्तत्र तासां बन्धस्यान्तः। यथा-मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने व्यवच्छिन्नबन्धानां षोडशानां प्रकृतीनां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवः, तेषु मिथ्यात्वं तत्रैव व्यवच्छिन्नं, ततश्च मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तासां बन्धस्यान्तः, तत उत्तरेषु कारणवैकल्येन बन्धाभावादितरासां बन्धस्यानन्तः। तत उत्तरेष्वपि तद्बन्धकारणसाकल्येन बन्धभावात्। इत्येवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु प्रकृतीनां स्वस्वबन्धहेतुव्यवच्छेदाऽव्यवच्छेदाभ्यां साकल्यवैकल्यवशाद्बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च भावनीय इति।१२। कर्म०२ कर्म०।

[८] गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः। अधुना बन्धस्य मूलहेतून् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

इग चउ पण तिगुणेसुं, चउतिदुइगपच्चओ बंधो (५२) ॥

[इग चउ पण तिगुणेसु इत्यादि] इहैवं पदघटना-एकस्मिन् मिथ्यादृष्टिलक्षणे गुणस्थानके चत्वारो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया हेतवो यस्य स चतुःप्रत्ययो बन्धो भवति। अयमर्थः-मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिः प्रत्ययैर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकवर्त्ती जन्तुर्ज्ञानावरणादि कर्म बध्नाति। तथा चतुर्षु गुणस्थानकेषु सास्वादनमिश्राविरतदेशविरतिलक्षणेषु त्रयो मिथ्यात्ववर्जिता अविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया यस्य स त्रिप्रत्ययो बन्धो भवतीति। अयमर्थः-सास्वादनादयश्चत्वारो मिथ्यात्वोदयाभावात्तद्वर्जैस्त्रिभिः प्रत्ययैः कर्म बध्नन्ति, देशविरतगुणस्थानके यद्यपि देशतः स्थूलप्राणातिपातविषया विरतिरस्ति, तथापि साऽल्पत्वान्नेह विवक्षिता, विरतिशब्देनेह सर्वविरतेरेव विवक्षितत्वादिति। तथा पञ्चसु गुणस्थानकेषु प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायलक्षणेषु द्वौ प्रत्ययौ कषाययोगाभिख्यौ यस्य स द्विप्रत्ययो बन्धो भवति। इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययद्वयस्यैतेष्वभावाच्छेषेण कषाययोगप्रत्ययद्वयेनाऽमी प्रमत्तादयः कर्म बध्नन्तीति। तथा त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु एक एव मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावात् योगलक्षणः प्रत्ययो यस्य स एकप्रत्ययो भवति। अयोगिकेवली भगवान् सर्वथाऽप्यबन्धक इति भाविता मूलबन्धहेतवो गुणस्थानकेषु ॥ ५२ ॥

साम्प्रत्येतानेव मूलबन्धहेतून् विनेयवर्गानुग्रहार्थमुत्तरप्रकृतीराश्रित्य चिन्तयन्नाह—

चउ मिच्छमिच्छअविरइ-पच्चइया सायसोलपणतीसा ।
जोगे विणु तिपच्चइया-हारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

प्रत्ययशब्दस्य प्रत्येकं सबन्धाच्चतुःप्रत्ययिका सातलक्षणा प्रकृतिः। मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः। मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः। योगं विना त्रिप्रत्ययिका मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रत्ययिकाऽऽहारकद्विकजिनवर्जाः शेषाः प्रकृतय इति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्-सातलक्षणा प्रकृतिश्चत्वारः प्रत्यया मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा यस्याः सा चतुःप्रत्ययिका "अतोऽनेकस्वरात्।" ७।२।६। इति (हैम०) इकप्रत्ययः मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिरपि प्रत्ययैः सातं बध्यत इत्यर्थः। तथाहि—सातं मिथ्यादृष्टौ बध्यत इति मिथ्यात्वप्रत्ययं शेषा अप्यविरत्यादयस्त्रयः प्रत्ययाः सन्ति, केवलं मिथ्यात्वस्यैवेह प्राधान्येन विवक्षितत्वात्, तेन तदन्तर्गतत्वेनैव विवक्षिताः, एवमुत्तरत्रापि। तदेव मिथ्यात्वाभावेऽप्यविरतिमत्सु सास्वादनादिषु बध्यत इति अविरतिप्रत्ययम्। तदेव कषाययोगवत्सु प्रमत्तादिषु सूक्ष्मसंपरायावसानेषु बध्यत इति कषायप्रत्ययम्। योगप्रत्ययस्तु पूर्ववत्तदन्तर्गतो विवक्ष्यते। तदेवोपशान्तादिषु केवलयोगवत्सु मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योगप्रत्ययम्। इत्येवं सातलक्षणा प्रकृतिश्चतुःप्रत्ययिका। तथा मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः। इह यासां कर्मस्तवे-" नरयतिग जाइथावर चउ हुंडा य व छेवट्ठ, नपु मिच्छ सोलंतो" इतिगाथावयवेन नारकत्रिकादिषोडशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्ट्यन्तः उक्तः, ता मिथ्यात्वप्रत्यया भवन्तीत्यर्थः। तद्भावे बध्यन्ते, तदभावे तूत्तरत्र सास्वादनादिषु न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवाऽऽसां प्रधानं कारणं, शेषप्रत्ययत्रयं तु गौणमिति। तथा-मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः, तथा हि-"सासणि तिरि थीण दुहग तिग। अण मज्झागिइ संघयण चउ निउज्जोय कुखगइत्थि" इति सूत्रावयवेन तिर्यक्त्रिकप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादने बन्धव्यवच्छेद उक्तः। तथा "वइरनरतियबियकसाया उरलदुगंतो" इति सूत्रावयवेन वज्रऋषभनाराचादीनां दशानां प्रकृतीनां देशविरते बन्धव्यवच्छेद उक्तः। एवं च पञ्चविंशतेर्दशानां च मीलने पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयो मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिका एताः, शेषप्रत्ययद्वयं तु गौणं, तद्भावेऽप्युत्तरत्र तद्बन्धाभावादिति भावः। भणितशेषा आहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः सर्वा अपि प्रकृतयो योगवर्जत्रिकप्रत्ययिका भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतेषु सकषायेषु च सर्वेषु सूक्ष्मसम्परायावसानेषु यथासंभवं बध्यन्त इति, मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणप्रत्ययत्रयनिबन्धना भवन्तीत्यर्थः। उपशान्तमोहादिषु केवलयोगवत्सु योगसद्भावेऽप्येतासां बन्धो नास्तीति योगप्रत्ययवर्जनमन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्कार्यकारणभावस्येति हृदयम्। आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकद्विकतीर्थकरनाम्नोस्तु प्रत्ययः, " समत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं " इति वचनात् संयमः सम्यक्त्वं चाभिहित इतीह तद्वर्जनमिति। उक्तं प्रासङ्गिकम्। कर्म० ४ कर्म०। प० सं०।

इदानीमुत्तरबन्धभेदान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह-

पणपन्न पन्नतियछहि-यचत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा।
सोलस दस नव नव स-त्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥

मिथ्यादृष्टौ पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवः। सासादने पञ्चाशद्बन्धहेतव । चतु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् त्र्यधिकचत्वारिंशदित्यर्थ'। बन्धहेतवो मिश्रगुणस्थानके, षडधिकचत्वारिंशद्बन्धहेतवोऽविरतगुणस्थानके, एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवो देशविरतगुणस्थानके, विंशतिशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् षड्विंशतिबन्धहेतव. प्रमत्तगुणस्थाने, चतुर्विंशतिबन्धहेतवोऽप्रमत्तगुणस्थानके, द्वाविंशतिबन्धहेतवोऽपूर्वकरणे, षोडश बन्धहेतवोऽनिवृत्तिबादरे, दशबन्धहेतव' सूक्ष्मसम्पराये, नव बन्धहेतव उपशान्तमोहे, नव बन्धहेतव' क्षीणमोहे, सप्त बन्धहेतव' सयोगिकेवलिगुणस्थाने, न तु नैवायोगिन्येकोऽपि बन्धहेतुरस्ति, बन्धाभावादेवेति ॥५४॥

अथाऽमूनेव बन्धहेतून् भावयन्नाह-

पणपन्न मिच्छि हारग-दुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा।
मिस्सदुगकम्मअण विणु, तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥

मिथ्यादृष्टावाहारकाहारकमिश्रलक्षणद्विकोना. पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, आहारकद्विकवर्जन तु "संयमवतां तद्द्वयो नान्यस्येति" वचनात् । सास्वादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, पूर्वोक्ताया. पञ्चपञ्चाशतो मिथ्यात्वपञ्चकेऽपनीते पञ्चाशद्बन्धहेतव. सास्वादने दृष्टव्या । मिश्रे त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। कथमिति ?, आह-मिश्रद्विकमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षण, (कम्म त्ति) कार्मणशरीरम (अण त्ति) अनन्तानुबन्धिनस्तैर्विना । इयमत्र भावना- "न सम्ममिच्छो कुणइ कालमिति" वचनात्सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावात् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विक कार्मण च न सम्भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चास्य निषिद्धत्वादनन्तानुबन्धिचतुष्टय च नास्ति, अत एतेषु सप्तसु पूर्वोक्ताया पञ्चाशतोऽपनीतेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो मिश्रे भवन्ति। अथानन्तर षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति ॥ ५५ ॥

सदुमिस्सकम्म अजए, अविरइकम्मुरलमीसबिकसाए।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्ते ॥५६॥

क इति ?, आह-अयते अविरते, कथमिति ?, आह-[सदुमिस्सकम्म त्ति] द्वयोर्मिश्रयोः समाहारो द्विमिश्र, द्विमिश्रं च कार्मण च द्विमिश्रकार्मण, सह द्विमिश्रकार्मणेन वर्त्तते या त्रिचत्वारिंशत्। इयमत्र भावना-अविरतसम्यग्दृष्टे. परलोकगमनसम्भवात्पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षण द्विक कार्मण च पूर्वोक्तायां त्रिचत्वारिंशति पुन प्रक्षिप्यते, ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति । तथा-देशे देशविरते एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। कथमिति ?, आह-अविरतिस्त्रसाऽसंयमरूपा कार्मणम्, औदारिकमिश्र, द्वितीयकषायानप्रत्याख्यानावरणान् मुक्त्वा शेषा एकोनचत्वारिंशदिति । अत्रायमाशय -विग्रहगत्यपर्याप्तकावस्थायां च देशविरतेरभावात्कार्मणौदारिकमिश्रद्वय न सम्भवति, त्रसाऽसंयमाद्विरतत्वात्त्रसाविरतिर्न जाघटीति। ननु त्रसासंयमात् सङ्कल्पजादेवासौ विरतो, न त्वारम्भजादपि, तत्कथमसौ त्रसाविरति सर्वाऽप्यपनीयते ?। सत्यम। किं तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिर्न विवक्षितेत्यदोष। एतच्च बृहच्छतकबृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति न स्वमनीषिकया परिभावनीया। तथाऽप्रत्याख्यानावरणोदयस्यास्य निषिद्धत्वादित्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्टय न घटां प्राञ्चति, तत एते सप्त पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्ते, तत एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतव शेषा देशविरते भवन्ति । तथा षड्विंशतिर्बन्धहेतव' प्रमत्ते भवन्ति। [साहारदु त्ति] सहाहारकद्विकेनाऽऽहारकाहारकमिश्रलक्षणेन वर्त्तते इति साहारकद्विका।

अविरइ इगार तिकसा-यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारे ॥५७॥

त्रसाविरतेर्देशविरतेऽपनयनाच्छेषा एकादशाऽविरतय इह गृह्यन्ते। तृतीया' कषायास्त्रिकषाया' प्रत्याख्यानावरणाः, तद्वर्जास्तद्विरहिता साहारकद्विका च सैवैकोनचत्वारिंशत्षड्विंशतिर्भवति । इदमत्र हृदयम्-प्रमत्तगुणस्थाने एकादशधाऽविरतिः प्रत्याख्यानावरणचतुष्टय च न सम्भवति, आहारकद्विक च सम्भवति, तत पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशतः पञ्चदशकेऽपनीते, द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते षड्विंशतिर्बन्धहेतव' प्रमत्ते भवन्तीति। तथा-अप्रमत्तस्य लब्ध्यनुपजीवनेनाहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणमिश्रद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते भवन्ति। अपूर्वे अपूर्वकरणे पुन सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियाहारकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवो भवन्तीति ॥ ५७ ॥

अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगिपुव्वुत्तसगजोगा ॥ ५८ ॥

एते च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवोऽछहासाहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषट्करहिता. षोडश बन्धहेतव [बायरि त्ति] अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके भवन्ति, हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वादिति भाव.। तथा त एव षोडश त्रिकशब्दस्य प्रत्येक संबन्धाद्वेदत्रिक स्त्रीपुनपुंसकलक्षण, सञ्ज्वलनत्रिक सञ्ज्वलनक्रोधमानमायारूप, तेन विना दश बन्धहेतव सूक्ष्मसम्पराये भवन्ति। वेदत्रयस्य सञ्ज्वलनक्रोधमानमायात्रिकस्य चाऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वात् । त एव दश अलोभा लोभरहिताः सन्तो नव बन्धहेतव क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च भवन्ति, मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा नव बन्धहेतव. उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यन्ते, न तु लोभः, तस्य सूक्ष्मसम्पराय एव व्यवच्छिन्नत्वात् । सयोगिकेवलिनि पूर्वोक्ता सप्त योगा । तथाहि-औदारिकमौदारिकमिश्र कार्मण प्रथमान्तिमौ मनोयोगौ, प्रथमान्तिमौ वाग्योगौ चेति । तत्रौदारिक सयोग्यवस्थायामौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ समुद्घाताऽवस्थायामेव वेदितव्यौ। "मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ॥१॥" इति; प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुरादिभिर्मनसा पृष्टस्य मनसैव देशनात्, प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनादिकाले। अयोगिकेवलिनि न कश्चिद्बन्धहेतुर्योगस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् । उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धहेतव ॥ ५८ ॥

सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव बन्ध निरूपयन्नाह-

अपमत्तंता सत्त-ट्ठ मीसअपुव्वबायरा सत्त।

बंधइ छसुहुमो ए-गमुवरिमावबंधगाऽजोगी ॥ ५९ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽप्रमत्तान्ता सप्ताष्टौ वा कर्माणि बध्नन्ति, आयुर्बन्धकालेऽष्टौ,शेषकाले तु सप्त। (मीसअपुव्वबायरा इति) मिश्रापूर्वकरणानिवृत्तिबादरा सप्तैव बध्नन्ति, तेषामायुर्बन्धाभावात्, तत्र मिश्रस्य तथास्वाभाव्यात्, इतरयो पुनरतिविशुद्धत्वात्,आयुबन्धस्य च घोलनापरिणामनिबन्धनत्वात्। (सुहुमु त्ति) सूक्ष्मसंपरायो मोहनीयायुर्वर्जानि षट् कर्माणि बध्नाति, मोहनीयबन्धस्य बादरकषायोदयनिमित्तत्वात्, तस्य च तदभावात्, आयुर्बन्धाभावस्त्वतिविशुद्धत्वादवसेयः। (एगमुवरिमि त्ति) एक सातवेदनीय कर्मोपरितनाः सूक्ष्मसंपरायादुपरिष्टाद्वर्त्तिन उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनो बध्नन्ति, न शेषकर्माणि, तद्बन्धहेतुत्वाभावात्। अबन्धक. सर्वकर्मप्रबन्धरहितोऽयोगी चरमगुणस्थानकवर्त्ती, सर्वबन्धहेत्वभावादिति, उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धस्थानयोजना ॥ ५९ ॥

साम्प्रत गुणस्थानकेष्वेवोदयसत्तास्थानयोजनां निरूपयन्नाह-

आसुहुमं संतुदए, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, सते उवसंति सत्तुदए ॥ ६० ॥

सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमभिव्याप्य सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्मप्रकृतयो भवन्ति । अयमर्थ -मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य सूक्ष्मसम्पराय यावत्सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्माणि प्राप्यन्ते, मोह विना मोहनीयं वर्जयित्वा सप्त कर्मप्रकृतयो भवन्ति, क्षीणे क्षीणमोहगुणस्थानके सत्तायामुदये च, मोहनीयस्य क्षीणत्वात्। (चउचरिमदुगे त्ति) चरमद्विके सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानद्वये सत्तायामुदये च चतस्रो घातिकर्मप्रकृतयो भवन्ति, घातिकर्मचतुष्टयस्य क्षीणत्वात्। [अट्ठ उ सते उवसति सत्तुदए त्ति]तुशब्दस्य व्यवहितसबन्धादुपशान्तमोहगुणस्थानके पुनरष्टावपि कर्मप्रकृतय सत्तायां प्राप्यन्ते, सप्तोदये मोहनीयोदयाभावादिति भाव । उक्ता सत्तोदयस्थानयोजना ॥ ६० ॥

(९) साम्प्रतमुदीरणास्थानानि गुणस्थानकेषु निरूपयितुमाह-

उइरंति पमत्तंता, सगऽट्ठ मीसऽट्ठ वेय आउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पच सुहुमो पणुवसंतो ॥ ६१ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतय प्रमत्तान्ता यावद्द्याप्यनुभूयमानभवायुरावलिकाशेष न भवति, तावत् सर्वेऽप्यमी निरन्तरमष्टावपि कर्माण्युदीरयन्ति। आवलिकाऽवशेषे पुनरनुभूयमाने भवायुषि सप्त, आवलिकाऽवशेषस्य कर्मण उदीरणाया अभावात्, तथास्वाभाव्यात् । (मीसऽट्ठ त्ति) सम्यग्मिथ्यादृष्टि पुनरष्टावेव कर्माण्युदीरयति, न तु कदाचनाऽपि सप्त, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानक वर्तमानस्य सत आयुष आवलिकावशेषत्वाभावात् । स ह्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव तद्भाव परित्यज्य सम्यक्त्व मिथ्यात्व वा नियमात्प्रतिपद्यत इति । अप्रमत्तादयस्त्रयोऽप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरलक्षणा वेद्यायुर्विना वेदनीयायुषी अन्तरेण षट् कर्माणि उदीरयन्ति, तेषामतिविशुद्धतया वेदनीयायुषोरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्। (छ पच सुहुमो त्ति) तत्र षट् अनन्तरोक्तानि तानि च तावदुदीरयन्ति, यावन्मोहनीयमावलिकाऽवशेष न भवति । आवलिकाऽवशेषे च मोहनीये तस्याप्युदीरणाया अभावात् । शेषाणि पञ्च कर्माण्युदीरयति सूक्ष्म । (पणुवसतु त्ति) उपशान्तमोह पञ्च कर्माण्युदीरयति, न वेदनीयायुर्मोहनीयकर्माणि, तत्र वेदनीयायुषो. कारण प्रागेवोक्त, मोहनीय तूदयाभावान्नोदीर्यते, " वेद्यमानमेवोदीर्यते " इतिवचनादिति ॥ ६१ ॥

पण दो खीण दु जोगी,
अणुदीरगऽजोगि थोव उवसंता । [६२]

क्षीणमोहोऽनन्तरोक्तानि पञ्च कर्माण्युदीरयति । तानि च तावदुदीरयति यावज्ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाण्यावलिकाप्रविष्टानि न भवन्ति, आवलिकाप्रविष्टेषु तेषु तेषामप्युदीरणाया अभावात् । द्वे एव नामगोत्रलक्षणे कर्मणी उदीरयति । (दु जोगि त्ति) द्वे कर्मणी नामगोत्राख्ये, योगा नाम मनोवाक्कायरूपा विद्यन्ते यस्य स योगी, सयोगिकेवल्युदीरयति, न शेषाणि । घातिकर्मचतुष्टय तु मूलत एव क्षीणमिति । न तस्योदीरणासम्भवः, वेदनीयायुषोस्तूदीरणा पूर्वोक्तकारणादेव न भवति । (अणुदीरगऽजोगि त्ति) अयोगिकेवली न कस्याऽपि कर्मण उदीरक., योगसव्यपेक्षत्वादुदीरणाया , तस्य च योगाभावादिति । उक्ता गुणस्थानकेषूदीरणास्थानयोजना ।

(१०) गुणस्थानेषु भावा । सम्प्रति जीवगुणभूतेषु गुणस्थानकेषु भावान् निरूपयिषुराह-

सम्माइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते ॥
चउ खीणापुव्वि तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥ ७० ॥

[सम्माइ त्ति] सम्यग्दृष्ट्यादिष्वऽविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिषु चतुर्षु चतु सख्येष्वविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेष्विति वक्ष्यमाणपदस्यात्रापि सबन्ध.कार्य [तिग चउ भाव त्ति] त्रयश्चत्वारो वा भावा , प्राप्यन्ते इति भाव । तत्र क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेष्विमे त्रयोऽपि भावा लभ्यन्ते। तद्यथा-यथासभवमौदयिकी गति , क्षायोपशमिकमिन्द्रियादिसम्यक्त्वादि पारिणामिक जीवत्वमिति। क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्च चत्वारो भावा लभ्यन्ते, त्रयस्तावत्पूर्वोक्ता एव, चतुर्थस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टे' क्षायिकसम्यक्त्वलक्षण , औपशमिकसम्यग्दृष्टे पुनरौपशमिकसम्यक्त्वभाव इति । [चउ पणुवसामगुवसते त्ति] चत्वार पञ्च वा भावा द्वयोरप्युपशमकोपशान्तयोर्भवन्ति। किमुक्त भवति?-अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकद्वयवर्त्ती जन्तुरुपशमक उच्यते, तस्य चत्वार पञ्च वा भावा भवन्ति । कथमिति चेत् ? उच्यते-त्रयस्तावत्पूर्ववदेव, चतुर्थस्तु क्षीणदर्शनत्रिकस्य श्रेणिमारोहत' क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणोऽन्यस्य पुनरौपशमिक स्वभाव इति । अमीषामेव चतुर्णा मध्येऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसपरायगुणस्थानकद्वयवर्तिनोऽप्यौपशमिकचारित्रस्य शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनादौपशमिकचारित्रप्रक्षेपे पञ्चम इति, उपशान्त उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती.तस्यापि चत्वार पञ्च वा भावा प्राप्यन्ते, ते चानन्तरोपशमकपदप्रदर्शिता एव [चउ खीणापुव्वि त्ति] चत्वारो भावा क्षीणापूर्वयो क्षीणमोहगुणस्थानकेऽपूर्वकरणगुणस्थानके चेत्यर्थ । तत्र क्षीणमोहे त्रय पूर्ववत्, चतुर्थ. क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रलक्षण , अपूर्वकरणे तु त्रय पूर्ववत्, चतुर्थ पुन क्षायिकसम्यक्त्वस्वभाव औपशमिकसम्यक्त्वस्वभावो वेति [तिन्नि सेसगुणट्ठाणग त्ति] त्रय त्रिसख्या भावा भवन्ति.केष्वित्याह-विभक्तिलोपाच्छेषगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवल्य-

योगिकेवलिलक्षणेषु । तत्र मिथ्यादृष्ट्यादीनां त्रयाणामौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वमित्येते त्रयो भावाः प्रतीता एव । सयोगिकेवलययोगिकेवलिनोः पुनरौदयिकी मनुजगतिः, क्षायिकं केवलज्ञानादि, पारिणामिकं जीवत्वमित्येवंरूपास्त्रय इति । आह-किममी त्रिप्रभृतयो भावा गुणस्थानकेषु चिन्त्यमानाः सर्वजीवाधारतया चिन्त्यन्ते ?, आहोस्विदेकजीवाधारतया ? इति, अत्र (एगजिए त्ति) एकजीवाधारतयैतयमावविभागो मन्तव्यो, नानाजीवापेक्षया तु सम्भवेन सर्वेऽपि भावा भवन्तीति ॥ अधुनैतेषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकं यस्य भावस्य सम्बन्धिनो यावन्त उत्तरभेदा यस्मिन् गुणस्थानके प्राप्यन्ते इत्येतत्सोपयोगित्वादस्माभिरभिधीयते। तद्यथा-क्षायोपशमिकभावभेदा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोरन्तरायकर्मक्षयोपशमजदानादिलब्धिपञ्चकाज्ञानत्रयचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणा दश भवन्ति, सम्यग्मिथ्यादृष्टौ दानादिलब्धिपञ्चकज्ञानत्रयदर्शनत्रयमिश्ररूपसम्यक्त्वलक्षणा द्वादश भेदा भवन्ति, अविरतसम्यग्दृष्टौ मिश्रत्यागेन सम्यक्त्वप्रक्षेपे त एव द्वादश, विरतौ च द्वादशसु मध्ये देशविरतिप्रक्षेपे त्रयोदश, प्रमत्ताऽप्रमत्तयोश्च देशविरतिविरहितेषु पूर्वप्रदर्शितेषु द्वादशस्वेव सर्वविरतिमनःपर्यायज्ञानप्रक्षेपे चतुर्दश, अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायेषु चतुर्दशस्वपि सम्यक्त्वापसारणे प्रत्येकं त्रयोदश, उपशान्तमोहक्षीणमोहयोः त्रयोदशभ्यश्चारित्रापसारणे द्वादश क्षायोपशमिकभावभेदाः प्राप्यन्ते ॥ अधुनौदयिकभावभेदा भाव्यन्ते-मिथ्यादृष्टावज्ञानासिद्धत्वादय एकविंशतिरपि भेदा भवन्ति,सास्वादने एकविंशतेर्मिथ्यात्वापसारणे विंशतिः, मिश्राविरतयोर्विंशतेरज्ञानापगमे एकोनविंशतिः, देशविरते च देवनारकगत्यभावे सप्तदश, प्रमत्ते च तिर्यग्गत्यसंयमाऽभावे पञ्चदश, अप्रमत्ते च पञ्चदशस्य आद्यलेश्यात्रिकाभावे द्वादश, अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरे च द्वादशस्वस्तेजःपद्मलेश्ययोरभावे दश, सूक्ष्मसम्परायेऽसञ्ज्वलनलोभमनुजगतिशुक्ललेश्याऽसिद्धत्वलक्षणाश्चत्वार औदयिका भावाः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिषु चतुर्ष्वपि सञ्ज्वलनलोभाभावे त्रय, अयोगिकेवलिनस्तु मनुजगत्यसिद्धत्वरूपमौदयिकभावभेदद्वयं प्राप्यते। औपशमिकभावभेदा उच्यन्ते-अविरतादारभ्योपशान्तं यावदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औपशमिकभावभेदः प्राप्यते, औपशमिकचारित्रलक्षणस्त्वनिवृत्तेरारभ्योपशान्तं यावत् प्राप्यते। क्षायिकभावभेदश्च क्षायिकसम्यक्त्वरूपोऽविरतादारभ्योपशान्तं यावत्प्राप्यते, क्षीणमोहे क्षायिकं सम्यक्त्वं चारित्रं च प्राप्यते, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु नवाऽपि क्षायिकभावा प्राप्यन्ते। पारिणामिकभावभेदा मिथ्यादृष्टौ त्रयोऽपि, सास्वादनादारभ्य च क्षीणमोहं यावदभव्यत्ववर्जौ द्वौ भवतः, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु जीवत्वमेवेति, भव्यत्वस्य च प्रत्यासन्नसिद्धावस्थायामभावादधुनाऽपि तदपगतप्रायत्वादिना केनचित्कारणेन शास्त्रान्तरेषु नोक्तमिति नास्माभिरप्यत्रोच्यते । यस्य भावस्य भेदा यस्मिन् गुणस्थानके यावन्त उक्तास्तेषां सम्भविभावभेदानामेकत्र मीलने सति तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदस्तस्मिन् गुणस्थानके भवति । यथा-मिथ्यादृष्टावौदयिकभावभेदा एकविंशतिः, क्षायोपशमिकभावभेदा दश, पारिणामिकभावभेदास्त्रयः, सर्वे भेदाश्चतुस्त्रिंशत् । एवं सास्वादनादिष्वपि सम्भविभावभेदमीलने तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदो वाच्यः।

एतदर्थसंग्राहिकाश्चैता गाथा यथा-

" पण अंतराय अन्ना-ण तिन्नि अचक्खुचक्खु दस एए ।
मिच्छे सासाणे य, हवंति मीसए अतराय पण ॥ १ ॥
नाणतिगदंसणतिगं, मीसग सम्म च बारस हवंति ।
एए च अविरयम्मि वि, नवरि तहिं दंसए सुद्ध ॥ २ ॥
देसे य देसविरई, तेरसमा तह पमत्त अपमत्ते ।
मणपज्जवपक्खेवा, चउदस अप्पुव्वकरण ज ॥ ३ ॥
वेयगसम्मेण विणा, तेरस जा सुहुमसंपराओ त्ति ।
ते च्चिय उवसमखीणे, चरित्तविरहेण बारस उ ॥ ४ ॥
खाओवसमिगभावा-ण कित्तणं गुणपए पडुच्च कया ।
उदइयभावे इण्हिं, ते चेव पडुच्च देसेमि ॥ ५ ॥
चउगइयाई इगवी-स मिच्छि साणेय हुंति वीसं च ।
मिच्छेण विणा मीसे, इगुणीसमनाणविरहेण ॥ ६ ॥
एमेव अविरयम्मी, सुरनारयगइ विओगओ देसे ।
सत्तरस हुंति ते च्चिय, तिरिगइ असंजमाभावा ॥ ७ ॥
पन्नरस पमत्तम्मी, अपमत्ते आइलेसतिगविरहे ।
ते च्चिय बारस सुक्के-गलेसओ दस अपुव्वम्मि ॥ ८ ॥
एव अनियट्टिम्मि वि, सुहुमे संजलणलोभमणुयगई ।
अतिमलेस असिद्ध-त्तभावओ जाण चउभावा ॥ ९ ॥
संजलणलोभविरहा, उवसंतखीणकेवलीण तिग ।
लेसाभावा जाणसु, अजोगिणो भावदुगमेव ॥ १० ॥
अविरयसम्मा उवस-तु जाव उवसमगभाइगा सम्मं ।
अनियट्टीओ उवसं-तु जाव उवसामियं चरण ॥ ११ ॥
खीणम्मि खइयसम्म, चरण च दुग पि जाण समकालं ।
नव नव खाइगभावा, जाण सजोगे अजोगे य ॥ १२ ॥
जीवत्तमभव्वत्त, भव्वत्त पि हु गुणेसु मिच्छम्मि ।
साणाई खीणते, दोन्नि अभव्वत्तवज्जाऊ ॥ १३ ॥
सजोगिम्मि अजोगिम्मि य, जीवत्तं चेव मिच्छमाईणं ।
सम्भावमीसणाओ भाव मुण सन्निवाय तु ॥ १४ ॥"

व्याख्यातप्राया एवैताः, नवरमेकादश्या गाथायां (उवसमगभाइगा सम्म त्ति) अनेनौपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वरूपमौपशमिकक्षायिकभावभेदद्वयं युगपल्लाघवार्थं निरूपितम् । ततश्चाविरतादारभ्योपशान्तमोहं यावत्कस्यचिदौपशमिकसम्यक्त्वरूपौपशमिकभावभेदः प्राप्यते, कस्यचित्पुनः क्षायिकसम्यक्त्वरूपः क्षायिकभावभेदश्चेति ॥ ७० ॥ कर्म० ४ कर्म० ।

(११) मार्गणास्थानकेषु गुणस्थानकानि । अथ यथा प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह-

पण तिरि चउ सुरनरए, नरसन्निपणिंदिभव्वतसि सव्वे ।
इग विगलभूदगवणे, दु दु एगं गइतसअभव्वे ॥ १९ ॥

पञ्च गुणस्थानकानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिलक्षणानि (तिरि त्ति) तिर्यग्गतौ भवन्ति। चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात्सुरे सुरगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानकानि, नरके नरकगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानानि भवन्ति, न देशविरतादीनि, तेषु भवस्वभावतो देशतोऽपि विरतेरभावादिति

नरे नरगतौ, सञ्ज्ञिनि विशिष्टमनोविज्ञानभाजि, पञ्चेन्द्रिये, भव्ये, त्रसे त्रसकाये च, सर्वाण्यपि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, एतेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनामयोगिकेवल्यवसानानां सर्वेषामानामपि सम्भवात् । (इग त्ति) एकेन्द्रियेषु सामान्यतः, (विगल त्ति) विकलेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु, भुवि पृथ्वीकाये, उदके अप्काये, वने वनस्पतिकाये (दु दु त्ति) द्वे द्वे आद्ये मिथ्यात्वसास्वादनलक्षणे भवतः । तत्र मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वेषु द्रष्टव्यं, सास्वादनं तु तेजोवायुवर्जे बादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियपृथिव्यम्बुवनस्पतिषु लब्ध्या पर्याप्तकेषु, करणेन त्वपर्याप्तकेषु, न सर्वेष्विति । तथा एकं मिथ्यात्वलक्षणं गुणस्थानकं भवति-केषु इति ?, आह-गत्या गमने, त्रसाः, न तु नामकर्मोदयात् गतित्रसास्तेषु सास्वादनभावोपगतस्य तेषु मध्ये उत्पादाभावात् अभव्येषु चेति ॥ १९ ॥

वेय तिकसाय नव दस, लोभे चउ अजय दु ति अन्नाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥

वेदे वेदत्रये, त्रयाणां कषायाणां समाहारस्त्रिकषायं क्रोधमानमायालक्षणं, तस्मिँस्त्रिकषाये [पढमि त्ति] प्रथमानीति पदं क्रमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यम्, ततो वेदे स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे कषायत्रये च प्रथमानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति, न शेषाणि, अनिवृत्तिबादरगुणस्थान एव वेदत्रिकस्य कषायत्रिकस्य चोपशान्तत्वेन क्षीणत्वेन वा शेषेषु गुणस्थानेषु तदसद्भावात् । लोभे लोभकषाये दश गुणस्थानानि, तत्र नव पूर्वोक्तानि, दशमं तु सूक्ष्मसंपरायलक्षणं, तत्र किट्टीकृतसूक्ष्मलोभकषायदलिकस्य वेद्यमानत्वात् । चत्वारि प्रथमानि अयते, विरतिहीन इत्यर्थः, कोऽर्थः ?-विरतिहीने मिथ्यात्वसास्वादनमिश्राविरतिसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्तीति । [दु ति अन्नाणतिगे त्ति] अज्ञानत्रिके मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे, प्रथमे द्वे गुणस्थानके मिथ्यादृष्टिसास्वादनरूपे भवतः, न मिश्रमपि । यतो यद्यपि मिश्रगुणस्थानके यथास्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति, तथापि न तान्यज्ञानान्येव सम्यग्ज्ञानलेशस्यापि मिश्रत्वात्, अत एव न मिश्रगुणस्थानकमभिधीयते । उक्तं च-" मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं, सम्यक्त्वाऽधिकस्य पुनः सम्यग् ज्ञानबाहुल्यमिति । " ज्ञानलेशसद्भावतो न मिश्रगुणस्थानकमज्ञानत्रिके लभ्यते इत्येके प्रतिपादयन्ति, तन्मतमधिकृत्यास्माभिरपि 'द्वे' इत्युक्तम् । अन्ये पुनराहुः-अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि, तद्यथा-मिथ्यात्वं, सास्वादनं, सम्यग्दृष्टिश्च । यद्यपि "मिस्सम्मी वामिस्सा" इति वचनात् ज्ञानव्यामिश्राण्यज्ञानानि प्राप्यन्ते, न शुद्धाज्ञानानि, तथापि तान्यज्ञानान्येव, शुद्धसम्यक्त्वमूलत्वेनात्र ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात् । अन्यथा हि-यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सास्वादनस्याऽपि ज्ञानाभ्युपगमः स्यात्, न चैतदस्ति, तस्याऽज्ञानित्वेनान्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात्, तस्मादज्ञानत्रिके प्रथमगुणस्थानकत्रयमवाप्यते इति " । तन्मतमाश्रित्याऽस्माभिरपि 'त्रिकम्' इत्युक्तं, तत्त्वं तु केवलिनो, विशिष्टश्रुतविदो वा विदन्तीति । द्वादश प्रथमानि गुणस्थानकानि । अचक्षुर्दर्शने चक्षुर्दर्शने च भवन्ति, यतो मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहपर्यन्तेषु गुणस्थानेष्वचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनसद्भावात् । यथाख्याते चारित्रे चरमाण्यन्तिमानि चत्वारि उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, एषु कषायाभावादिति ॥ २० ॥

मणनाणि सगजयाई, सामइयछेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलिदुगि दो चरमा-जयाइ नव मइसु ओहिदुगे ॥२१॥

मनोज्ञाने मनःपर्यवज्ञाने [सग त्ति] सप्तगुणस्थानकानि भवन्ति, कानीति ?, आह-यताऽऽदीनि, तत्र 'यमु' उपरमे, यमनं यतः, सम्यक्सावद्याद्युपरमणमित्यर्थः, यतः विद्यते यस्य स यतः प्रमत्तयतिः, यत आदौ येषां तानि यताऽऽदीनि प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानीति । सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यताऽऽदीनि गुणस्थानानि, प्रमत्ताऽप्रमत्तनिवृत्तिबादराणीत्यर्थः । द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताऽप्रमत्तरूपे, परिहारविशुद्धिकचारित्रे इत्यर्थः । नोत्तराणि, तस्मिन् चारित्रे वर्त्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात् । केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे द्वे गुणस्थाने भवतः, के इति ?, आह-चरमेऽन्तिमे सयोगिकेवलिगुणस्थानकाऽयोगिकेवलिगुणस्थानके इति (अजयाइ नव मइसु ओहिदुगे त्ति) अयतो विरतः स आदौ येषां तान्ययतादीन्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति । मतौ मतिज्ञाने, श्रुते श्रुतज्ञाने, अवधिद्विके अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनलक्षणे, न शेषाणि । तथाहि-न मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रेषु भवन्ति, तद्भावे ज्ञानत्वस्यैवाऽयोगात् । यत्तु अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टश्रुतविदो मिथ्यादृष्ट्यादीनां नेच्छन्ति, तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि तत्तेषां न भणितम् । अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते, यदाह रभसवशविनम्रसुरासुरनरकिन्नरविद्याधरपरिदृढमाणिक्यमुकुटकोटीविटङ्कनिघृष्टचरणारविन्दयुगलः श्रीसुधर्मस्वामी पञ्चमाङ्गे-"ओहिदंसणअणगारोवउत्ताणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ?, गोयमा ! नाणी वि । अन्नाणी वि, जइ नाणी ते अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी, जे तिनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी, जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी, जे अन्नाणी ते नियमा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी इति । " अत्र हि ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितं, स एव विभङ्गज्ञानी यदा सास्वादनभावे मिश्रभावे वा वर्तते तत्राऽपि तदानीमवधिदर्शनं प्राप्यत इति । यत्पुनः सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानकद्विकं, तत्र मतिज्ञानादि न सम्भवत्येव, तद्भवच्छेदेनैव केवलज्ञानस्य प्रादुर्भावात्, " नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे " इति वचनप्रामाण्यादिति ॥ २१ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइगे इक्कार मिच्छ तिगि देसे ।
सुहुमे य सगट्ठाणं, तेरस जोगे अहार सुक्काए ॥ २२ ॥

काकाक्षिकगोलकन्यायादिहायतादीनि इति पदं सर्वत्र योज्यते, ततोऽयतादीन्युपशान्तमोहान्तानि अष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति । अयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि वेदके क्षायोपशमिकापरपर्याये गुणस्थानकानि भवन्ति । क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानान्येकादश गुणस्थानकानि भवन्ति । तथा मिथ्यात्वत्रिके मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे. देशे देशविरते, सूक्ष्मे सूक्ष्मसम्पराये, च समुच्चये, स्वस्थानं निजस्थानम् । इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, सास्वादनमार्गणास्थाने सास्वादनं गुणस्थानं, मिश्रमार्गणास्थाने मिश्रं गुणस्थानं, देशसंयममा-

र्गणास्थाने देशविरतगुणस्थान, सूक्ष्मसम्परायसयममार्गणास्थाने सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । तथा-योगे मनोवाक्कायलक्षणे अयोगिकेवलिवर्जितानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु यथायोगं योगत्रयस्यापि सम्भवात् । तथा-आहारकेषु आद्यानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतमस्याहारस्य यथायोगं सम्भवात् । तथा (सुक्काए त्ति) शुक्ललेश्यायां प्रथमानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, न त्वयोगिकेवलिगुणस्थान, तस्य लेश्याऽतीतत्वादिति ॥ २२ ॥

अस्सन्निसु पढमदुग, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।
पढमंतिम दुग अजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

असंज्ञिषु संज्ञिव्यतिरिक्तेषु प्रथम मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणं गुणस्थानकद्वय भवति, तत्र मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वत्र द्रष्टव्यम, सास्वादन तु लब्धिपर्याप्तकाना करणापर्याप्तावस्थायामिति । प्रथमासु तिसृषु लेश्यासु मिथ्यात्वादीनि प्रमत्तान्तानि षट् गुणस्थानानि भवन्ति । 'चः' समुच्चये, कृष्णनीलकापोतलेश्यानां हि प्रत्येकमसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दसंक्लेशेषु तदध्यवसायस्थानेषु तथाविधसम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनामपि सद्भावो न विरुध्यते । उक्तं च-"सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले शुभलेश्यात्रयमेव भवति, उत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्या. परावर्तन्तेऽपीति" । श्रीमदाराध्यपादा अप्याहुः-"सम्मत्तसुय सव्वा-सु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्त । पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए" ॥१॥ श्रीभगवत्यामप्युक्तम्-"सामाइयसजए ण भंते! कइ लेसासु हुज्जा ?। गोयमा ! छसु लेसासु होज्जा,एव छेओवट्ठावणियसजए वीत्यादी"॥ तथा द्वयोस्तेजोलेश्यापद्मलेश्ययो. सप्त गुणस्थानानि भवन्ति, तत्र षट् पूर्वोक्तान्येव,सप्तम त्वप्रमत्तगुणस्थानकम, अप्रमत्तसयताध्यवसायस्थानापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादीनां प्रमत्तान्तानां तेजोलेश्यापद्मलेश्यातारतम्येन जघन्याऽत्यन्ताविशुद्धिके द्रष्टव्ये । तथा-अनाहारके पञ्चगुणस्थानानि भवन्ति । कानीति ?, आह-प्रथमान्तिमद्विकायतानीति । द्विकशब्दस्य प्रत्येक योगात् प्रथमद्विक मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणम, अन्तिमद्विक सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणम । अयत इति, अविरतसम्यग्दृष्टिश्चेति । तत्र मिथ्यात्वसास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणं गुणस्थानकत्रयमनाहारके विग्रहगतौ प्राप्यते, सयोगिकेवलिगुणस्थानकं त्वनाहारके समुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु द्रष्टव्यम । यदवादि-"चतुर्थतृतीयपञ्चमेष्वनाहारक इति" । अयोगिकेवल्यवस्थाया तु योगरहितत्वेनौदारिकादिशरीरपोषकपुद्गलग्रहणाभावादनाहारकत्वम, "औदारिकवैक्रियाहारकशरीरपोषकपुद्गलोपादानमाहार." इति प्रवचनोपनिषद्वेदिनः । एव मार्गणास्थानेषु गत्यादिषु (गुण त्ति) गुणस्थानकानि अभिहितानि ॥ २३ ॥

(१२) गुणस्थानकेषु मार्गणास्थानानि । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव योगान् व्याख्यानयन्नाह-

मिच्छदुग अजइ जोगा-हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरलं सविउ-व्व मीसि सविउव्व दुग देसे ॥४६॥

मिथ्यादृष्टिद्विक मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणम, तत्र अयते, अविरतसम्यग्दृष्टौ चेत्येवं गुणस्थानकत्रये सत्स्वपि इन्द्रियोऽपि लभ्यते, तस्य च यथोक्ताऽऽहारकद्विकेऽनाहारककाययोगाऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेनोना रहितास्त्रयोदश योगा संभवन्ति । यत्पुनराहारकद्विकं तच्चतुर्दशपूर्विण एव । यदभ्यधायि-"आहारदुग जायइ चउदसपुव्विस्सेत्ति" । न च मिथ्यादृष्टिसास्वादनायतानां चतुर्दशपूर्वाधिगमसंभव इति । तथाऽपूर्वपञ्चकेऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणे नव योगा भवन्ति । तद्यथा-चतुर्विधो मनोयोगः, चतुर्विधो वाग्योग., औदारिककाययोग इति, न शेषा., अत्यन्तविशुद्धतया तेषां वैक्रियाहारकद्विकारम्भासंभवात,तत्र स्थितानां च स्वभावत एव श्रेण्यारोहाभावात । औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायां कार्मणं त्वपान्तरालगतौ । यद्यप्यत्र अपि केवलिसमुद्घातावस्थायां ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानकपञ्चके न संभवत इति । तथा-त एव पूर्वोक्ता नव योगा. सवैक्रियाः सन्तो दश योगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति । तथाहि-चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियलक्षणा दश योगा मिश्रे भवन्ति, न शेषाः । तद्यथा-आहारकद्विकस्यासंभवः पूर्वाधिगमाभावादेव, कार्मणशरीरं त्वपान्तरालगतौ संभवति, अस्य च मरणासंभवेनापान्तरालगत्यसंभवस्ततस्तस्याप्यसंभवः । अत एवौदारिकवैक्रियमिश्रे अपि न संभवत', तयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वात । ननु मा भूद्देवनारकसंबन्धिवैक्रियमिश्रं, यत्पुनर्मनुष्यतिरश्चां सम्यग्मिथ्यादृशां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियकरणसम्भवेन तदारम्भकाले वैक्रियमिश्र भवति,तत्कस्मान्नाभ्युपगम्यते ?। उच्यते-तेषां वैक्रियकरणासंभवादन्यतो वा यत. कुतश्चित्कारणात्पूर्वाचार्यैर्नाभ्युपगम्यते,तत्र सम्यगवगच्छाम',तथाविधसम्प्रदायाभावात्, एतच्च प्रागेवोक्तमिति । तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगा. सवैक्रियद्विका वैक्रियवैक्रियमिश्रसहिता. सन्त एकादश देशे देशविरते भवन्ति, अम्बडस्येव वैक्रियलब्धिमतो देशविरतस्य वैक्रियारम्भसंभवादिति ॥ ४६ ॥

साहारदुग पमत्ते, ते वि उ वाहार मीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगंताइम-मणवयणसजोगि न अजोगी ॥४७॥

पूर्वोक्ता एवैकादश योगाश्चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियाद्विकलक्षणाः साहारकद्विका आहारकाहारकमिश्रसहिता' सन्तस्त्रयोदश योगा' प्रमत्ते भवन्ति, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगाभावस्तु पूर्वोक्तयुक्तेरेवावसेय इति । त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा वैक्रियमिश्राहारकमिश्र विना एकादश योगा अप्रमत्ते । यत्तु वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च, तत्र संभवति, तद्वैक्रियस्याहारकस्य च प्रारम्भकाले भवति, तदानीं च लब्ध्युपजीवनादिनौत्सुक्यभावतः प्रमादभाव' सम्भवतीति । तथौदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायां, कार्मणं त्वपान्तरालगतौ, यद्वा-द्वे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायां, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानके न संभवत इति । तथा-कार्मणमौदारिकद्विकमौदारिकौदारिकमिश्रलक्षणमन्त्यादिममनसी सत्याऽसत्यामृषरूपौ मनोयोगौ,अन्त्यादिमवचने सत्याऽसत्यामृषरूपौ वाग्योगो चेति सप्त योगा. सयोगिकेवलिनो भवन्ति,कार्मणौदारिकमिश्रे तु समुद्घातावस्थायामिति । न नैव पञ्चदशयोगमध्यादेकेनापि योगेन युक्तोऽयोगी अयोगिकेवली भवति, योगाभावनिबन्धनत्वादयोगित्वावस्थाया इति । उक्ता गुणस्थानकेषु योगाः ॥ ४७ ॥

[१३] अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह-

तिअनाण दुदंसाइम, दुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं ।

ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलिदुगंतदुगे ॥ ४८ ॥

आदिमद्विके मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे प्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वये इत्यर्थः । [तियनाण दुदंस त्ति] त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपं, दर्शनं दर्शो, द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शं चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोर्भवन्ति । त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् ज्ञानत्रिकं मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूपम्, दर्शनत्रिकं चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति,न शेषाः, सर्वविरत्यभावात् । ते पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके मिश्रा अज्ञानसहिता द्रष्टव्याः,तस्योभयदृष्टिपातित्वात्,केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यं, कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यं, समकक्षतायां तूभयांशसमतेति । अस्मिंश्च गुणस्थानके यदवधिदर्शनमुक्तं तत्सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्तं प्राक् । [समणा जयाइ त्ति] 'यम्' उपरमे, यमनं यतं, सर्वसावद्यविरतं, तद् विद्यते यस्य स यतः, "अभ्रादिभ्यः" ७ ।२। ४६ । इति (हैम०) अप्रत्ययः । प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती साधुः, यत आदिर्येषां गुणस्थानकानां तानि यतादीनि, प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्त गुणस्थानकानि, तेषु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगाः [समण त्ति] मनःपर्यायज्ञानसहिताः सप्त भवन्तीति,न शेषाः,मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात् । केवलद्विकं केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयरूपमन्तद्विके सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति, न शेषा दश ज्ञानदर्शनलक्षणाः, तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पत्तेः "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" इतिवचनात् । तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषूपयोगाः ॥ ४८ ॥

साम्प्रतं यदिह प्रकरणे सूत्राऽभिमतमपि कार्मग्रन्थिकाभिप्रायानुसरणतो नाधिकृतं तद्दर्शयन्नाह—

सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारए उरलमिस्सं ।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४९॥

सास्वादनभावे सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञानं भवति, नाऽज्ञानमिति, श्रुतमतमपि सिद्धान्तसम्मतमपि । तथाहि-"बेइंदिया णं भंते! किं नाणी,अन्नाणी? । गोयमा! नाणी वि,अन्नाणी वि, जे नाणी ते नियमा दुनाणी-आभिणिबोहियनाणी, सुयनाणी । जे अन्नाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी । तं जहा-मइअन्नाणी,सुयअन्नाणी" इत्यादिसूत्रे द्वीन्द्रियादीनां ज्ञानित्वमभिहितम्, तच्च सास्वादनापेक्षयैव, न शेषसम्यक्त्वापेक्षया, असंभवात् । उक्तं च प्रज्ञापनाटीकायाम्-" बेइंदियस्स दो नाणा कह लब्भंति ? । भण्णइ-सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति " । ततः सासादनभावेऽपि ज्ञानं सूत्रसंमतमेव । तच्चेत्थं सूत्रसंमतमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं,किं त्वज्ञानमेव, कर्मग्रन्थाभिप्रायस्यानुसरणात् । तदभिप्रायश्चायम्-सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्सम्यक्त्वस्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्य ज्ञानस्यापि मलीमसत्वादज्ञानरूपतेति । तथा-सूत्रे वैक्रिये आहारके चारभ्यमाणे तेन प्रारभ्यमाणेन सहौदारिकस्यापि मिश्रीभवनादौदारिकमिश्रमुक्तमिति । तथा चाह प्रज्ञापनाटीकाकारः-"यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसंपन्नो मनुष्यः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिकशरीरयोग एव वर्त्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिं न गच्छति तावद्वैक्रियेण मिश्रता,व्यपदेशश्च औदारिकस्य,प्रधानत्वात् । एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या । आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेशः" इति । परित्यागकाले वैक्रियस्याहारकस्य च यथाक्रमं वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनाटीकायाम्-'आहारकशरीरी भूत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति,तदाहारकस्य प्रधानत्वादौदारिकप्रदेशं प्रति व्यापाराभावाच्च परित्यजति, यावत्सर्वथैवाहारकं तावदौदारिकेण मिश्रतेति आहारकमिश्रशरीरकाययोगः " इति । तदेवम्-वैक्रियाहारकारम्भकाले औदारिकमिश्रं सूत्रेऽभिहितमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं, कार्मग्रन्थिकैर्गुणविशेषप्रत्ययसमुत्थलब्धिविशेषकारणतया प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रियस्याहारकस्य च प्राधान्यविवक्षणेन वैक्रियमिश्रस्याहारकमिश्रस्य चैवाभिधानात्, तदभिप्रायस्य चेहानुसरणात् । तथा नैकेन्द्रियेषु [सासाणो त्ति] भावप्रधानोऽयं निर्देशः,सास्वादनभावः सूत्रे मतः , अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिवैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत,न चोच्यते,किन्तु विशेषतः प्रतिषिध्यते । तथाहि-"एगिंदिया णं भंते! किं नाणी,अन्नाणी ? । गोयमा! नो नाणी,नियमा अन्नाणी" इति । स चेत्थं सासादनभावप्रतिषेधः सूत्रे मतोऽपि केनचित्कारणेन कार्मग्रन्थिकैर्नाभ्युपगम्यते, इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्रायस्यैवेह प्रायोऽनुसरणादिति [नेहाहिगयं सुयमयं पि] इत्येतद्विभक्तिपरिणामेन प्रतिपदं संबन्धनीयं, तथैव संबन्धितमिति ॥ ४९ ॥

अधुना गुणस्थानकेष्वेव लेश्या अभिधित्सुराह-

छसु सव्वा तेउतिगं, इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।
बंधस्स मिच्छ अविरइ,कसाय जोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

षट्सु मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राऽविरतदेशविरतप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेषु सर्वाः षडपि कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्या भवन्ति । (तेउतिग इगि त्ति) एकस्मिन्नप्रमत्तगुणस्थानके तेजस्त्रिकं तेजःपद्मशुक्ललेश्यात्रयं भवति, न पुनराद्यं लेश्यात्रयमित्यर्थाल्लभ्यम् । षट्स्वपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु शुक्ललेश्या भवति,न शेषाः पञ्च । अयोगिनोऽयोगिकेवलिनो लेश्याः अपगतलेश्याः । इह लेश्यानां प्रत्येकमसंख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि,ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ कृष्णलेश्यादीनामपि प्रमत्तगुणस्थानकेऽपि संभवो न विरुध्यत इति । तदेवमुक्ताः गुणस्थानकेषु लेश्याः । कर्म० ४ कर्म० । (गुणस्थानकेषु बन्धोदयसत्तास्थानानां स्वामित्वं 'कम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१२ पृष्ठे उक्तम् । बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधोऽपि अस्मिन्नेव भागे 'कम्म' शब्दे ३०६ पृष्ठे दर्शितः)

[१४] श्रीहीरविजयसूरिं प्रति विमलहर्षगणिकृतप्रश्नः । यथा-पञ्चविंशतिभङ्गाश्रितानाम् "पञ्चासिसे त्ति" गाथोक्तलक्षणोपेतानां च साधूनां षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्तित्वम् ?,उत मतान्तरेण मुहूर्तादृष्टकालस्थायिषष्ठगुणस्थानकवर्त्तित्वमिति प्रश्ने, उत्तरम्-" उभयमपि भवतु, अध्यवसायानां वैचित्र्यात्तथाविधव्यक्ताक्षरानुपपत्तिभावाच्च ॥ २ ॥ ही० १ प्रका० । गुणास्पदे, पञ्चा० ८ विव० ।

गुणट्ठाणविजागकाल-गुणस्थानविजागकाल-पु०। गुणस्थानेषु पार्थक्येन तद्भावापरित्यागार्थविषये काले,पं०सं० ९ द्वार।

गुणट्ठाणसिद्धजणग-गुणस्थानसिद्धजनक-त्रि०। प्रमत्तताऽऽदिगुणविशेषनिर्मलताधायके, पञ्चा० १५ विव०।

गुणण-गुणन-न०। परावर्तने,अभ्यासे, विशे०। स्था०। आ० म०। व्य०। दश०। गुणनिकाऽप्यत्र। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

गुणणाम-गुणनामन्-न०। गुणरूपे अर्थे, "से किं तं गुणनामे?, गुणनामे पंचविहे पन्नत्ते। त जहा-वन्ननामे, गंधणामे,रसणामे, फरसणामे, संठाणणामे, सेत्त गुणणामे" अनु०।

गुणणिप्फन्न-गुणनिष्पन्न-न०। गुणप्रधाने,विपा० १ श्रु०२ अ०।

गुणणिप्फन्नसणामा-गुणनिष्पन्नस्वनामा-स्त्री०। गुणे कृत्वा निष्पन्नं स्वं स्वकीयं नाम यासां ता. गुणनिष्पन्नस्वनाम्न्यः। गौणनामिकासु, तथाहि-एकैकपरमाणव परमाणुवर्गणाद्वयोः परमाण्वोर्वर्गणा द्विपरमाणुवर्गणा इत्येवं नाम्ना वर्गणा "गुण गुणणिप्फन्न नामधिज्ज करेति" क० प्र०।

गुणणिहि-गुणनिधि-पु०। सयमानुगता ये गुणास्तेषां निधिरिव तै' परिपूर्णो गुणनिधि। ज्ञानादिगुणरत्ननिधाने, व्य० ३ उ०। पञ्चा०।

गुणत्तयी-गुणत्रयी-स्त्री०। ज्ञानदर्शनचारित्रगुणत्रये. अष्ट० ८ अष्ट०।

गुणत्थुइ-गुणस्तुति-स्त्री०। क्षान्त्यादिगुणश्लाघायाम्, जी०।

अर्थविशमाह-

रे जीव ! किं व जेसिं, तए सुय इय मयं बहु पयारं।
तेसिं पि गुणे सलहसु, जइ मज्झत्थं मणे धरसु ॥१॥

रे जीव ! भो आत्मन् ! किं वा पर. येषामनिर्दिष्टनाम्नां त्वया प्रवचना श्रुतभाकर्णितमिनीत्थं मतमभिप्रायो,बहुप्रकार नानाभेद, तेषामपि, न केवलमन्येषामित्यपिशब्दार्थ। गुणान् क्षान्त्यादीन्, श्लाघय प्रशंसय, यदि माध्यस्थ्य रागाद्यभावो, मनसि चित्ते, धारयसि धत्से. अन्यथा तन्मतदूषणेन मत्सर एव स्फुटः स्यादिति गाथार्थः ॥ १॥

तद्गुणश्लाघामेवाह-

धन्ना मुणीण किरियं, कुणंति धारिंति मलिणवत्थे उ।
परिवज्जिअदव्वज्जण-ववहारा वारियारंभा ॥ २ ॥

धन्या पुण्यभाजः एते प्रत्यक्षा. साधवो, वर्तन्त इति क्रियाध्याहार। य किमित्याह-मुनीनां साधूनां क्रियामारम्भ प्रत्युपेक्षणादिका कुर्वन्ति चेष्टन्ते, धारयन्ति पुनर्बिभ्रति मलिनवस्त्रान् तु पुनरर्थे योजित एव। परीति सामस्त्येन वर्जितस्त्यक्तो द्रव्यार्जनाय द्रविणार्थ व्यवहारो वाणिज्यादिको यैस्ते,तथा वारितारम्भा निषिद्धगृहकरणादिपापक्रिया इति गाथार्थ ॥ २॥

सूत्रकृतमपद्यां गाथामाह-

अन्नेसिं पि पसंससु, विमलगुणा जेण जीव ! तुह होइ।
फलिय वुज्जलतरय, पमोयकरणाउ सम्मत्त ॥३॥

अन्येषामपि पूर्वव्यतिरिक्तानां प्रशंसय श्लाघय विमलगुणान् अतिशय,तु यन जीव ! प्राणिन् ! तव भवतो भवति जायते स्फटिक इव रत्नविशेष इव,मकारः पूर्ववत. उज्ज्वलतरकमतिशयनिर्मल प्रमोदकरणाद्गुणवत्प्रीते सम्यक्त्व दर्शनमिति गाथार्थः॥३॥

विमलगुणप्रशंसामेव गाथानवकेनाह-

जीवतु चिरं परो पा-वयणी परहिएक्ककयचित्ता।
जें द्दि एगाहिं व आगम-सरस्स गाहत्तणं पत्त ॥४॥
एसो सो धम्मकही, अणेयणिगमलालियं महुरवयणरसं।
जस्स वयणारविंदे, भमर व्व पियंति भव्वजणा॥५॥
एसो परवाइगइं-दकुंभनिद्दलणकेसरिकिसोरो।
सलहिज्जइ सूरी द-सणस्स तिलओ महाभागो ॥६॥
विप्फुरइ जस्स वयण-म्मि भारई नट्टिय व्व कव्वम्मि।
ललियपयसारसिंगा-रसुंदरा भत्ति सो धन्नो ॥७॥
एगंतरोववासा-इगुरुयतवतवियतणुयदेहस्स।
एयस्स चेव जम्मो, कम्ममहाधतसूरस्स ॥ ८॥
परसमयावेहारणत-कगंथपरमत्थकहयसोंडीरो।
स कयत्थो जस्स मई, वन्निज्जइ विउसलोएहिं ॥ ९॥
एसो समत्थदंसण-पभावणागुणमहिं संजुत्तो।
रयणायरो व्व रेहइ, सययं अक्खलियमाहप्पो ॥१०॥
कप्पदुम व्व वियरति, जे उ संघस्स कप्पियच्छेअं।
अणवरयं ते धन्ना, सुसावया दंसणुद्धरणा ॥११॥
किं बहुणा सव्वेसिं, जियाण सलहेसु गुणगणं जीव!।
तुज्झुवएसो एसो, जइ मज्झत्थं पियं तुज्झ ॥ १२ ॥

प्रकटार्थो.। नवर प्रथमगाथया आगमधरगुणो वर्णितो, द्वितीयया धर्मकथकस्य,तृतीयया वादिन', चतुर्थ्या कवे', पञ्चम्या तपस्विन , षष्ठ्या तर्कग्रन्थव्याख्यातु , सप्तम्या समस्तगुणवताम्, अष्टम्या श्रावकाणां, नवम्या समस्तजीवानां, नैमित्तिकविद्यासिद्धा. साम्प्रत प्रायो न सन्तीति तद्गुणगाथा न कृता। जीवा० ३० अधि०।

गुणदोसविन्नावण-गुणदोषविज्ञापन-न०। अर्थानर्थालोचने, पञ्चा० ६ विव०।

गुणड्ढि-गुणर्द्धि-स्त्री०। गुणश्रियाम्, पञ्चा० ७ विव०।

गुणड्ढिजोग-गुणर्द्धियोग-पु०। गुणश्रीयुक्तत्वे, पञ्चा०७विव०।

गुणधारि-गुणधारिन्-त्रि०। अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। (अष्टादशशीलाङ्गसहस्रस्वरूपम 'गुरुकुलवास' शब्दे द्रष्टव्यम्)

गुणपक्खवाय-गुणपक्षपात-पु०। सौजन्यादिषु बहुमाने, गुण पक्षपात -गुणेषु सौजन्यौदार्यधैर्यदाक्षिण्यस्थैर्यप्रियप्रथमाभिभाषणादिषु स्वपरयोरुपकारकारणेष्वात्मधर्मेषु पक्षपातो बहुमान तत्प्रशंसासाहाय्यदानादिनाऽनुकूला प्रवृत्ति। गुणपक्षपातिनो हि जीवा अवन्ध्यपुण्यबीजानिषेकेणेहामुत्र च गुणग्रामसपद्मारोहन्ति। ध० १ अधि०।

गुणपगरिस-गुणप्रकर्ष-पु०। गुणातिशये, पञ्चा० ८ विव०।

गुणपडिवत्ति-गुणप्रतिपत्ति-स्त्री०। गुणाभ्युपपत्तौ, पञ्चा० ६ विव०।

गुणपडिवस्स–गुणप्रतिपन्न–त्रि० । गुणा मूलोत्तररूपास्तान्प्रतिपन्न , गुणैः प्रतिपन्न' पात्रमिति कृत्वा गुणैराश्रितो गुणप्रतिपन्नः । मूलोत्तरगुणसम्पन्ने, नं० ।

गुणपुरिस–गुणपुरुष–पुं० । व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिप्रधाने पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

गुणपेहि (ण्)–गुणप्रेक्षिन्–पुं० । गुणान् अप्रमादादीन्प्रेक्षते तच्छीलश्च य. । सप्रमत्तादौ, दश० ७ अ० २ उ० । यो यस्य यावन्त गुण पश्यति तस्य तमेव प्रेक्षते पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वप्युदास्ते । तस्मिन्, कर्म० २ कर्म० ।

गुणवल्लभ–गुणवल्लभ–पुं० । प्राकृतभाषानिबद्धनेमिनाथचरित्रकाव्यकृत्याचार्ये, जै० इ० ।

गुणमंत–गुणवत् -त्रि० । पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणोपेते, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

गुणमहंव–गुणमहत्–त्रि० । गुणैर्महति, आव० २ अ० ।

गुणरयण–गुणरत्न–त्रि० । गुणा एव रत्नानि यस्याऽसौ गुणरत्न । रत्नस्वरूपगुणभृते, आ० म० प्र० । सोमतिलकसूरेस्तृतीये शिष्ये,पु० । न० ४ अधि० । तपागच्छीयदेवसुन्दरसूरिशिष्ये,स च विक्रमसंवत् १४५६ मिते विद्यमान आसीत. षड्दर्शनसमुच्चय टीकां क्रियारत्नसमुच्चयनामानं च ग्रन्थं व्यरीरचत् । जै० इ० ।

गुणरयणणिहि–गुणरत्ननिधि–पुं० । ज्ञानादिमाणिक्यनिधाने, पञ्चा० ७ विव० ।

गुणरयणवियरण–गुणरत्नवितरण–न० । सम्यक्त्वबीजसम्यग्दर्शनादिलक्षणगुणमाणिक्यवितरणे, पञ्चा० ७ विव० ।

गुणरयणसंवच्छर–गुणरत्नसंवत्सर–न० । तपोभेदे, भ० ।

इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे० जाव नमंसित्ता गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तं जहा–पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य, दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य,एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेणं, चउत्थं मासं दसमं दसमेणं,पंचमं मासं वारसमं वारसमेणं,छट्ठं मासं चोद्दसमं चोद्दसमेणं, सत्तमं मासं सोलसमं सोलसमेणं, अट्ठमं मासं अट्ठारसमं अट्ठारसमेणं, नवमं मासं वीसइमं वीसइमेणं, दसमं मासं बावीसइमं बावीसइमेणं, एक्कारसमं मासं चउव्वीसइमं चउव्वीसइमेणं, वारसमं मासं छव्वीसइमं छव्वीसइमेणं, तेरसमं मासं अट्ठावीसइमं अट्ठावीसइमेणं, चोद्दसमं मासं तीसइमं तीसइमेणं, पन्नरसमं मासं बत्तीसइमं बत्तीसइमेणं, सोलसमं मासं चउत्तीसइमं चउत्तीसइमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेणं ।

गुणानां निर्जराविशेषाणां रचनं करणं संवत्सरेण सत्रिभागवर्षेण यस्मिंस्तपसि तद्गुणरचनसंवत्सरम् । गुणा एव वा रत्नानि यत्र स तथा गुणरत्न. संवत्सरो यत्र तत् गुणरत्नसंवत्सरं तप , इह च त्रयोदश मासा. सप्तदशदिनाधिकास्तप.काल., त्रिसप्ततिश्च दिनानि पारणककाल इति । एवं चायम्–

" पण्णरस वीस चउवी- स चेव चउवीस पण्णवीसा य ।
चउवीस एक्कवीसा, चउवीसा सत्तवीसा य ॥ १ ॥
तीसा तेत्तीसा वि य, चउवीस छवीस अट्ठवीसा य ।
तीसा बत्तीसा वि य, सोलसमासेसु तवदिवसा ॥ २ ॥
पण्णरस दसट्ठ छ पं-च चउर पंचसु य तिण्णि तिण्णि त्ति ।
पंचसु दो दो य तहा, सोलस मासेसु पारणगा " ॥ ३ ॥

इह च यत्र मासे अष्टमादितपसो यावन्ति दिनानि न पूर्यन्ते, तावन्त्यग्रेतनमासादाकृष्य पूरणीयानि अधिकानि चाग्रेतनमासे क्षेप्तव्यानि । (चउत्थं चउत्थेण त्ति) चतुर्थं भक्तं यावद्भक्तं त्यज्यते यत्र तच्चतुर्थम्,इयञ्चोपवासस्य सञ्ज्ञा,एवं षष्ठादिकमुपवासद्वयादेरिति । (अणिक्खित्तेणं ति) अविश्रान्तेन (दिय त्ति) दिवा, दिवसे इत्यर्थः । (ठाणुक्कुडुए त्ति) स्थानमासनमुत्कुटुकमाधारे पुतालगनरूप यस्याऽसौ स्थानोत्कुटुक । (वीरासणेण ति) सिंहासनोपविष्टस्य भून्यस्तपादस्यापनीतसिंहासनस्येव यदवस्थानं तद्वीरासनं, तेन । (अवाउडेण य त्ति) प्रावरणाभावेन च । भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० ।

गुणरयणसायर–गुणरत्नसागर–पुं० । गुणा महाव्रतादयस्त एव रत्नानि विशिष्टफलहेतुत्वात् सर्ववस्तुसारत्वाच्च गुणरत्नानि, तान्येव बहुत्वात् सागर इव सागर. समुद्रो गुणरत्नसागरः । पा० । रत्नकल्पप्रभूतगुणे, " जे अ इमं गुणरयणसायरमविराहिऊण तिण्णि संसारा " मूलगुणात्मनि, नि० चू० १ उ० । मूलगुणादिसंपन्ने च । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

गुणरहिय–गुणरहित–त्रि० । गुणविकले सदोषे, दर्श० ।

गुणराग–गुणराग–पुं० । वन्दनीयार्हदादिगतार्हत्वभगवत्त्वादिगुणबहुमाने, पञ्चा० ६ विव० ।

गुणरागि–गुणरागिन्–पुं० । गुणेषु गाम्भीर्यस्थैर्यप्रमुखेषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी । प्रव० २३८ द्वार । गुणिपक्षपातकृति दशगुणविशिष्टे श्रावके, स हि गुणपक्षपातित्वादेव सगुणान् बहु मन्यते निर्गुणांश्चोपेक्षते । ध० १ अधि० । पञ्चा० ।

इदानीं गुणरागिगुणमाह–

गुणरागी गुणवंते, बहु मन्नइ निग्गुणे उवेहेइ ।
गुणसंगहे पवत्तइ, संपत्तगुणं न मइलेइ ॥ १६ ॥

गुणेषु धार्मिकलोकमात्रेषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी, गुणभाजो यतिश्रावकादीन् बहु मन्यते मन.प्रीतिभाजन करोति, यथा अहो ! धन्या एते,सुलब्धमेतेषां मनुष्यजन्मेत्यादि । तर्हि निर्गुणान्निन्दतीत्यापन्नम्, यथा–देवदत्तो दक्षिणेन चक्षुषा पश्यती-

त्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यवसीयते । तथा चाहुरेके-" शत्रोरपि गुणा ग्राह्या , दोषा वाच्या गुरोरपीति । " न चैतदेव धार्मिकोचितमित्याह-निर्गुणानुपेक्षते असंक्लिष्टचित्ततया तेषामपि निन्दां न करोति । यतः स एवमालोचयति-

" सन्तोऽप्यसन्तोऽपि परस्य दोषाः,
नोक्ताः श्रुता वा गुणमावहन्ति ।
वैराणि वक्तुः परिवर्द्धयन्ति,
श्रोतुश्च तन्वन्ति परां कुबुद्धिम् " ॥ १ ॥

तथा-

"कालम्मि अणाईए, अणाइदोसेहि वासिए जीवे ।
जं पाविया गुणो वि हु, तं मन्नह भो महच्छरियं ॥ २ ॥
भूरिगुणो विरल च्चिय, एक्कगुणो वि हु जणो न सव्वत्थ ।
निद्दोसाण वि भद्द, पसंसिमो थोवदोसे वि " ॥ ३ ॥

इत्यादिसंसारस्वरूपमालोचयन्नसौ निर्गुणानपि न निन्दति, किं तूपेक्षते, मध्यस्थभावमास्त इत्यर्थः । तथा गुणानां संग्रहे समुपादाने प्रवर्तते यतते, संप्राप्तमङ्गीकृतं सम्यग्दर्शनविरत्यादिकं न मलिनयति सातिचारं करोति, पुरन्दरराजवत् । ध० र० ॥

गुणवई-गुणवती-स्त्री० । जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिणीनगरे वज्रसेनचक्रिणो राज्ञ्याम्, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

गुणवंत-गुणवत् -पुं० । पञ्चभिर्गुणैर्विशिष्टे श्रावके, ध० र० ।

अधुना तृतीयभावश्रावकलक्षणं गुणवत्स्वरूपं निरूपयिषुः सम्बन्धगाथामाह-

जइ वि गुणा बहुरूवा, तहा वि पंचहि गुणेहिँ गुणवंतो ।
इह मुणिवरेहिँ भणिओ, सरूवमेसिं निसामेहि ॥४२॥

यद्यपीत्यभ्युपगमे, अभ्युगमभित्रसामिपेइत्त-गुणा बहुरूपा बहुप्रकारा औदार्यधैर्यगाम्भीर्यप्रियंवदत्वादयः ,तथापि पञ्चभिर्गुणैर्गुणवानिह भावश्रावकविचारे मुनिवरैर्गीतार्थसूरिभिर्भणित उक्तः, स्वरूपं स्वतत्त्वमेषां गुणानां निशामयाऽऽकर्णयेति शिष्यप्रोत्साहनाय क्रियापदम्, प्रमादी शिष्यः प्रोत्साह्य श्रावणीय इति ज्ञापनार्थमिति ॥ ४२ ॥

स्वरूपमेवाऽऽह-

सज्झाए करणम्मि य, विणयम्मि य निच्चमेव उज्जुत्तो ॥
सव्वत्थ णऽभिनिवेसो, वहइ रुइं सुट्ठु जिणवयणे ॥४३॥

शोभनमध्ययनं स्वेनाऽऽत्मना वाऽध्यायः,स्वध्यायः, स्वाध्यायो वा, तस्मिन्नित्युद्युक्त इति योगः (१) तथा करणेऽनुष्ठाने (२) विनये गुर्वाद्यभ्युत्थानादिरूपे नित्यं सदैवोद्युक्तः प्रयत्नवान् भवतीति प्रत्येकमभिसम्बन्धादिति गुणत्रयम् (३) तथा सर्वत्र सर्वप्रयोजनेष्वैहिकामुष्मिकेषु न विद्यतेऽभिनिवेशः कदाग्रहो यस्य सोऽनभिनिवेश प्रज्ञापनीयो भवतीति चतुर्थो गुणः ,तथा वहति धारयति रुचिमिच्छां श्रद्धानमित्यर्थः । सुष्ठु बाढं जिनवचने पारगतगदिते आगमे इति । ध० र० ।

गुणवत्तपारतंत-गुणवत्पारतन्त्र्य-न० । विद्यमानसम्यग्ज्ञानक्रियागुणानामधीनत्वे, द्वा० २२ अष्ट० ।

गुणवज्जिय-गुणवर्जित-त्रि० । " जधया य. " । ८ । ४ । २६२ । इति मागध्यां जस्य यः । गुणरहिते, प्रा० ४ पाद ।

गुणविजय-गुणविजय-पुं० । स्वनामख्याते जयसोमसूरिशिष्ये, येन खण्डप्रशस्तिदमयन्तीकथारघुवंशटीका वैराग्यशतकटीकासिंहासनद्वात्रिंशिकादयो ग्रन्थाः कृताः, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १५६० मित आसीत् । जै० इ० ।

गुणविसेसासय-गुणविशेषाश्रय-पुं० । द्रव्यगुणकर्मसमुदाये, "व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिरिति"।अस्यार्थो वार्त्तिककारमतेन-विशिष्यत इति विशेषः,गुणेभ्यो विशेषो गुणविशेषः, कर्माभिधीयते । द्वितीयश्चात्र गुणविशेषशब्दः एकशेषं कृत्वा निर्दिष्टः,तेन गुणपदार्थो गृह्यते । गुणाश्च ते विशेषाश्च गुणविशेषाः , विशेषग्रहणमाकृतिनिरासार्थं,तथा ह्याकृतिः संयोगविशेषस्वभावा, संयोगश्च गुणपदार्थान्तर्गतः । ततश्चासति विशेषग्रहणे आकृतेरपि ग्रहणं स्यात् । न च तस्या व्यक्तावन्तर्भाव इष्यते, पृथक्स्वशब्देन तस्या उपादानात् । आश्रयशब्देन द्रव्यमभिधीयते । तेषां गुणविशेषाणामाश्रयस्तदाश्रयो,द्रव्यमित्यर्थः ।सूत्रे तच्छब्दलोपं कृत्वा निर्देशः कृतः । एवं च विग्रहः कर्त्तव्यः-गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः, तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः , समाहारद्वन्द्वश्चायम् । ' लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्येति" नपुंसकलिङ्गनिर्देशः ।तेनायमर्थो भवति-योऽयं गुणविशेषाश्रयः सा व्यक्तिश्चोच्यते, मूर्त्तिश्चेति । तत्र यदा द्रव्ये मूर्त्तिशब्दस्तदाऽधिकरणसाधनो द्रष्टव्यः -मूर्च्छन्त्यस्मिन्नवयवा इति मूर्त्तिः । यदा तु रूपादिषु तदा कर्तृसाधनः-मूर्च्छन्ति द्रव्ये समवयन्तीति रूपादयो मूर्त्तिः।व्यक्तिशब्दस्तु द्रव्ये कर्मसाधनो, रूपादिषु करणसाधनः। भाष्यकारमतेन तु यथाश्रुति सूत्रार्थः । गुणविशेषाणामाश्रयो द्रव्यमेव व्यक्तिर्मूर्त्तिश्चेति तस्येष्टम् । यथोक्तम्-"गुणविशेषाणां रूपरसगन्धस्पर्शानां गुरुत्व-द्रवत्व-घनत्व-संस्काराणामव्यापिनश्च परिमाणविशेषस्याऽऽश्रयो यथासम्भवं तद्द्रव्यं मूर्त्तिर्मूर्च्छितावयवत्वादिति"।आकृतिशब्देन प्राण्यऽवयवानां पाण्यादीनां तदवयवानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते । सम० १ काण्ड ।

गुणवुड्ढि-गुणवृद्धि-स्त्री० । कर्मनिर्जरायाम्, व्य० १० उ० । अनुपमानन्दरसदानदक्षेक्षुयष्टिपुष्टिप्राये स्वगतज्ञानादिगुणवर्द्धने, पञ्चा० १८ विव० ॥

गुणवेतण्ह-गुणवैतृष्ण्य-न० । विषयवैराग्ये, यदाहुर्योगाचार्याः-तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । ध० ४ अधि० ।

गुणव्वय-गुणव्रत-न० । अणुव्रतानां गुणायोपकाराय व्रतानि । ध० र० । श्रावकधर्मनरोरुपचयलक्षणगुणनिबन्धनत्वेनात्मसत्ताविप्रतिपित्सुश्रावकव्रतेषु,पञ्चा० १ विव० । अणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते-तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति । तद्यथा-दिक्परिमाणं, भोगोपभोगव्रतम्, अनर्थदण्डविरमणमिति । २७६ । आ० । पञ्चा० । भ० । आव० । आ० चू० । ध० । [एषां त्रयाणां व्याख्या स्वस्वस्थाने]
[अणुव्रतस्वरूपम् 'अणुव्वय' शब्दे ४१६ पृष्ठे गतम्]

गुणसंकम-गुणसङ्क्रम-पुं० । सङ्क्रमभेदे, प० सं० ५ द्वार ।

इदानीं गुणसंक्रमस्य लक्षणमाह-

गुणसंकमो ऽबज्झं-तऽसुभप्पगईणऽपुव्वकरणाइ ॥१७७॥

अपूर्वकरणादयोऽपूर्वकरणप्रभृतयो अबध्यमानानामशुभप्रकृतीनां सम्बन्धि कर्मदलिकं प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया बध्यमानासु प्रकृतिषु यत् प्रक्षिपन्ति स गुणसंक्रमः । गुणेन प्रतिसमयमसंख्येयलक्षणेन गुणकारेण संक्रमो गुणसंक्रमः ।

तथाहि-मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां मिथ्यादृष्टियोग्यानां च योग्यानामनन्तानुबन्धिनिबन्धनायुरुद्योतवर्जानां च सास्वादनयोग्यानामेकोनविंशतिप्रकृतीनां यतो मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चापूर्वकरणादारभ्य पर्वावरनमम्यग्दृष्टयादयश्च सपयन्ति, आनपोद्गमोने च शुभे अशुभप्रकृतीनां च गुणसंक्रम, आयुषा च परप्रकृतौ न सक्रमः, ततो मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामिह वर्जन, तथा अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाएकास्थिरा-शुभाशुभयशःकीर्तिशोकारत्यमातवेदनीयानां मध्यमप्रत्यया-पद्चत्वारिंशत्प्रकृतीनाम, अशुभानां बध्यमानानामपूर्वकरणादारभ्य गुणसंक्रमो भवति, निद्राप्रचलोपघाताशुभवर्णादिनवकहास्यरतिजुगुप्सानां त्वपूर्वकरणे स्वस्वबन्धव्यवच्छेदादारभ्य गुणसक्रमो वेदितव्य । अपरोऽर्थ –अपूर्वकरणादयोऽपूर्वकरणसमाकरणेयासंप्रभृतयोऽशुभप्रकृतीनां बध्यमाना दलिकमसंख्येयगुणनया श्रेण्या बध्यमानासु प्रकृतिषु यत् प्रक्षिप्यन्ते स गुणसक्रमः । तेन क्षपणकालेऽनन्तानुबन्धिमिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्वानामप्यपूर्वकरणादारभ्य गुणसक्रमः प्रवर्त्तते । तदेवमुक्त गुणसक्रमस्य लक्षणम् । क० प्र० ।

गुणसंपण्ण–गुणसम्पन्न–त्रि० । गुणसहिते, उत्त० २७ अ० ।

गुणसंपिणद्ध–गुणसंपिनद्ध–त्रि० । गुणपरिपूने, प्रश्न० ४ सव० द्वार ।

गुणसमिद्ध–गुणसमृद्ध–त्रि० । ज्ञानादिगुणैर्महत्याचार्यादौ, पञ्चा० २ विव० ।

गुणसमिय–गुणसमित–त्रि० । गुणयुक्ते श्रमणतपतौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

गुणसमुदाय–गुणसमुदाय–पुं० । अनेकप्राणिस्थज्ञानादिगुणसमूहे, पञ्चा० ८ विव० ।

गुणसयकलिय–गुणशतकलित–त्रि० । औदार्यस्थैर्याद्यनेकगुणोपेते, ग० १ अधि० । आचा० ।

गुणसयसहस्सकलिय–गुणशतसहस्रकलित–त्रि० । अष्टादशशीलाङ्गसहस्रे अष्टादशशीलाङ्गसहस्रयुक्ते, "गुणसयसहस्सकलिय,गुणुत्तर च सा अहियसत्ताण।" "गुणाण सय गुणसयं, गुणसयाण सहस्सा,छदोभङ्गतया सकारस्स हस्सता । ते य अट्ठारससीलंगसहस्सा, तेहिं कलियं जुत्त, सहिय वा, किं त ?, चारित्तं, " नि० चू० ६ उ० ।

गुणसयागर–गुणशताकर–पुं० । गुणशतानामनेकेषां गुणनामाकरो निधानं गुणशताकरः प्रभूतगुणाश्रये सघोऽय०२ उ० । वृ० ।

गुणसागर–गुणसागर–पुं० । गुणसमुद्रे, "गुरुणा गुणसागराण मेहावी" दश० ९ अ० ३ उ० । गजपुरनगरवास्तिव्यरत्नसञ्चिनश्रेष्ठिपुत्रे, स च नवपरिणीता एव वधूर्विहाय धर्मध्यान ध्यायन् केवलमवाप, पश्चात्ता अपि अलेधिषु । ध० र० । सागरचन्द्रशिष्ये सिद्धसेनदिवाकरकृतकल्याणमन्दिरस्तोत्रोपरि टीकाकारके मुनौ, जै० इ० ॥

गुणसागरमुणी–गुणसागरमुनि–पुं० । स्वनामख्याते मुनौ,यो हि पुरोहितपुत्रेण दत्तेन पृष्ट –तत्रैतस्य चैत्यागमने दोषो न वेति । ती० ५४ कल्प० ।

गुणसायर–गुणसागर–पुं० । 'गुणसागर' शब्दार्थे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

गुणसिद्धि–गुणसिद्धि–स्त्री० । शब्दस्य यौगिकार्थप्रदर्शने, दश० १ अ० ।

गुणसिलय–गुणशिलक–न० । राजगृहनगरचैत्ये,अन्त० ७ वर्ग । "ते ण काले ण ते णं समए ण रायगिहे णाम णयरे होत्था । वण्णओ–तस्स ण रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए णाम चेइए होत्था ।" भ० १ श० १ उ० । नि० चू० । विशे० । आ० चू० । अनु० । उत्त० ।

गुणसुंदर–गुणसुन्दर–पुं० । सुहस्तिश्यामार्यान्तराले जाते दशपूर्वविदि स्थविरे, कल्प० १ क्षण ।

गुणसुट्टियप्प–गुणसुस्थितात्मन–त्रि० । सग्रहोपग्रहादिषु सुष्ठु भावसार स्थित आत्मा येषा ते तथा । सद्ग्रहोपग्रहकुशलेषु, दश० ६ अ० १ उ० ।

गुणसेढि–गुणश्रेणि–स्त्री० । उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेऽपवर्तितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विरचने, कम० २ कर्म० । दर्श० । पं० स० । स्थापना– [स्थापना]

अधुना श्रेणिगुणस्वरूपमाह–

गुणसेढीनिक्खेवो, समये समये असंखगुणणाए ।
अद्धादुगाइरित्तो, सेसे सेसे य निक्खेवो ।। ३३० ।।

यत् स्थितिखण्डक घातयन्ति तन्मध्यात् दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया परिक्षिपति । तद्यथा-उदयसमये स्तोक,द्वितीयसमये असंख्येयगुण, ततोऽपि तृतीयसमये "असंखगुणणाए अद्धा दुगाइरित्तो" एव तावद्वाच्य यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमय, तच्चान्तर्मुहूर्त पूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालात् मनागपि रिक्त वेदितव्यम् । अक्षरयोजना त्वियम्—गुणश्रेण्या निक्षेपः समये समये असंख्येयगुणतया पूर्वपूर्वसमयापेक्षया उत्तरोत्तरसमये वृद्ध्यात्मकः । सोऽपि च निक्षेपोऽध्वाद्विकानिरिक्त –अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालाभ्यामभ्यधिक । एष प्रथमसमये गृहीतदलिकनिक्षेपविधिः । एव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकाना निक्षेपविधिर्द्रष्टव्य । अन्यच्च-गुणश्रेणिरचनाप्रथमसमयदलिकं यत्र गृह्यते तत स्तोक, द्वितीयसमये असंख्येयगुण, ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणम् । एव तावद्वाच्यं यावद् गुणश्रेणिदलिकनिक्षेप, शेषे शेषे भवति, उपरि च न वर्द्धते ॥ ३३० ॥

गुणसेण–गुणसेन–पुं० । येनाग्निशर्माणमुपहसता नवमभवानुबन्धि वैरं वर्धितमिति समरादित्यचरित्रादवसेयम् । माकन्दीये नवमभवे समरादित्यजीवे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । गुणालयनगरस्थसागरदत्तश्रेष्ठिनो द्वितीये पुत्रे, पिं० ।

गुणसेलक–गुणशैलक–न० । राजगृहसत्कचैत्ये, आ० क० ।

गुणसेहर–गुणशेखर–पुं० । सागरदत्तश्रेष्ठिपुत्रे, पिं० । चन्द्रसूरिशिष्ये सोमतिलकदेवेन्द्रसूरिणोर्गुरौ, अयमाचार्यः विक्रमसवत् १४२० वर्षे विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

गुणसोभग्गगणि–गुणसौभाग्यगणिन्–पुं० । स्वनामख्याते गणिनि, यत प्राप्ततन्दुलवैचारिकज्ञानशिष्य धनमालाख्येन तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णकावचूरिः सम्पूर्णा । त० ।

गुणागर–गुणाकर–पुं० । गुणसमुद्रे, स्वनामख्याते आचार्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् ११६० मित आसीत्,येन नेमिचन्द्रसूरिकृ-

ताऽऽख्यानमणिकोशोपरि टीकाकरणे आम्रदेवसूरिणे सा-हाय्य दत्तम् । द्वितीयोऽप्येतन्नामा विक्रमसंवत् १२९६ मित विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

गुणाणुराइत्तण–गुणानुरागित्व–न०। गुणवत्प्रीतौ, "गुणाणुरागित्तण धरसु" जी० ६ अधि० ।

गुणाणुराग–गुणानुराग–पुं०। गुणविषयकरागे भावश्रावकलिङ्गे, ध० र० ।

षष्ठ गुणानुरागमाह—

जायइ गुणेसु रागो, सुद्धचरित्तस्स नियमओ पवरो ।
परिहरइ तओ दोसे, गुणगणमालिन्नसंजणए ॥ १२० ॥

जायते संपद्यते गुणेषु—
" वय समण धम्म संजम, वेयावच्च च बंभ गुत्तीओ ।
नाणाइतिय तव को–हनिग्गहाई य चरणमेयं ॥ १ ॥
पिंडविसोही समिई, भावण पडिमा उ इंदियनिरोहो ।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करण तु " ॥ २ ॥

इत्यागमप्ररूपितेषु मूलगुणोत्तरगुणसञ्ज्ञितेषु राग. प्रतिबन्ध· शुद्धचारित्रस्य निष्कलङ्कसंयमस्य नियमतोऽवश्यभावेन प्रवर प्रधानो,न मिथ्या इति भाव । परिहराते वर्जयति, ततस्तस्माद्गुणानुरागाद्दोषान् दुष्टव्यापारान्, किंविशिष्टान् ?, गुणगणमालिन्य· सजनकान् ज्ञानादीनामशुद्धिहेतून् भावसाधुरिति ॥१२०॥

गुणानुरागस्यैव लिङ्गमाह–

गुणलेसं पि पसंसइ, गुरुगुणबुद्धीइ परगयं एसो ।
दोसलवेण वि नियय, गुणनिवहं निग्गुणं गणइ ॥१२१॥

गुणलेशमपि,आस्तां महीयांस गुणमित्यपेरर्थ.। प्रशंसति श्लाघते परगतमन्यसत्कमेष भावसाधु, उत्तमप्रकृतित्वान्महतोऽपि दोषानुत्सृज्य स्वल्पमपि परगत गुण पश्यति । कुथितकृष्णसारमेयशरीरे सितदन्तपङ्क्ति पुरुषोत्तमवत् । [गुणाऽनुरागविषये पुरुषोत्तमचरित्रम् 'पुरिसोत्तम' शब्दे वदाहरिष्यते] तथा–दोषलवेनाप्यल्पप्रमादस्खलितेनापि निजकमात्मीय गुणनिवह गुणकलाप निर्गुणमसार गणयति कल्पयति-धिग्मां प्रमादशीलमिति भावनया प्रकृतो भावयति, कर्णस्थापितविस्मृतशुण्ठीखण्डपश्चिमदशपूर्वधरश्रीवज्रस्वामिवदिति । [श्रीवज्रस्वामिचरित्र सुप्रतीतत्वात् नेह प्रतन्यते] ध० र० ।

गुणानुरागस्यैव लिङ्गान्तरमाह–

पालइ संपत्तगुणे, गुणड्ढसंगे पमोयमुव्वहइ ।
उज्जमइ भावसार, गुरुतरगुणरयणलाभत्थी ॥ १२२ ॥

पालयति रक्षति वर्द्धयति च जननीव प्रियपुत्र संप्राप्त सम्यकर्मक्षयोपशमोपलब्ध गुण ज्ञानदर्शनचारित्रादिरूप, तथा गुणैराढ्याना सङ्गे मीलके चिरप्रोषितस्निग्धबन्धुसंप्रयोग इव प्रमोदमानन्दमुत्प्राबल्येन वहति प्राप्नोति । तद्यथा—
"असता सङ्गपङ्केन, यन्मनो मलिनीकृतम् ।
तन्मेऽद्य निर्मलीभूत, साधुसम्बन्धवारिणा ॥ १ ॥
पूर्वपुण्यतरोरद्य, फल प्राप्त मयाऽनघम् ।
सङ्गेनासङ्गचित्ताना, साधूना गुणधारिणाम " ॥ २ ॥
तथा गुणानुरागादेवोद्यच्छति प्रयतते भावसार सद्भावसुन्दरं यथा भवति ध्यानाध्ययनतप प्रभृतिकृत्येष्विति गम्यते । किमिति ?, अत आह–गुरुतराणि क्षायिकभावभावित्वाद् यानि गुणरत्नानि क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषां यो लाभस्तदर्थी तदभिलाषवान् । तथाहि–भवत्येवोद्यमवतामपूर्वकरणक्षपकश्रेणिक्रमेण केवलज्ञानादिसंप्राप्ति –सुप्रतीतमेतदिति ॥१२२॥

गुणानुरागस्यैव प्रकारान्तरेण लक्षणमाह–

सयणु त्ति व सीस त्ति व,उवगारि त्ति व गणिच्चउ च्च त्ति ॥
पडिवंधस्स न हेऊ, नियमा एयस्स गुणहीणो ॥१२३॥

स्वकीयो जन. स्वजन ,इतिशब्दस्तद्भेदसूचको,वाशब्द समुच्चये,ह्रस्वत्व तु प्राकृतशैल्या । शिष्यो विनेय', 'इति–वा' शब्दौ पूर्ववत् । उपकारी भक्तपानदानादिना पूर्वमुपकृतवान्, 'इतिवा' शब्दौ प्राग्वत् । (गणिच्चउ च्च त्ति)एकगच्छवासी, 'इतिवा'शब्दौ पूर्ववदेव, एतेषामेकैकेऽपि–प्राय. प्रतिबन्धकारण भवत्येतस्य पुनर्गुणानुरागिणो नियमान्निश्चयेन, न नैव, हेतुर्निमित्तमेकोऽपि भवत्येतेषाम् । किंविशिष्ट. सन्निति ?, आह–गुणहीनो निर्गुण ।
"सीसो सज्झिलओ वा, गणिच्चओ वा न सोग्गइं नेइ । जे तत्थ नाणदसण–चरणा ते सोग्गइं जाओ" ॥१॥ [इति कृत्वा] ॥

अथ चारित्रिणां तेषां स्वजनादीनां किं विधेयमिति आह–

करुणावसेण नवरं, अणुसासइ तं पि सुद्धमग्गम्मि ।
अच्चंताजोग्गं पुण, अरत्तदुट्ठो उवेहेइ ॥ १२४ ॥

करुणा परदुःखनिवारणबुद्धिः। उक्तं च–"परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखनिवारिणी तथा करुणा ॥ परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा " ॥ १ ॥ तद्वशेन तद्रसिकतया, नवरं केवल, रागदोषपरिहारेणानुशास्ति शिक्षयति, तमपि स्वजनादिकम्, अपिशब्दात्तदितरमपि, क्वेति ?, आह–शुद्धमार्गे यथावस्थितमोक्षाध्वविषये । तद्यथा–
"किं नारकतिर्यङ्नर–विबुधगतिविचित्रयोनिभेदेषु ॥
वत ससरण सतत, निर्विण्णो तु खानरयेषु ॥ १ ॥
येन प्रमादमुद्धत–माश्रित्य महाधिहेतुमस्खलितम् ।
सत्यज्य धर्मचित्त, रतस्त्वमार्येतराचरणे ? ॥ २ ॥
यत्र प्रयान्ति जीवा , स्वर्गं यत्र प्रयान्ति विनिपातम् ।
तत्र निमित्तमनार्य., प्रमाद इति निश्चितमिद मे ॥ ३ ॥

किञ्च–

केवल रिपुरनादिमानय, सर्वदैव सहचारितामित. ।
य प्रमाद इति विश्रुतः परा–मस्य वित्तशठतामकुण्ठताम ॥४॥
यत्करोति विकथा. प्रथावती–र्यत् खलेषु विषयेषु हृष्यति ।
सुप्तमत्त इव यद्विचेष्टते, यन्न वेत्ति गुणदोषयोर्भिदाम् ॥ ५ ॥
क्रुध्यति स्वहितदेशनेऽपि यत, यच्च सीदति हित विदन्नपि ।
लोक एष निखिल दुरात्मन–स्तत्प्रमादकुरिपोर्विजृम्भितम् ॥६॥
इत्यवेत्य परिपोष्य पौरुष, दुर्जयोऽपि रिपुरेष जीयताम् ।
यत्सुखाय न भवन्त्युपेक्षिता ,व्याधयश्च रिपवश्च जातुचित्"७॥
इत्यादिविविधवाचोयुक्तिभिरुत्पादितसंवेग त शुद्धधर्मे प्रवर्त्तयति । प्रज्ञापनीयश्चेदसौ स्यात् अत्यन्तायोग्य बाढमप्रज्ञापनीयम्, पुनस्तमरक्तद्विष्टो रागद्वेषरहित उपेक्षते अवधीरयति, " उपेक्षा निर्गुणेष्विति " वाक्यमनुस्मृत्येति गाथार्थ ।१२४।

गुणानुरागस्यैव फलमाह–

उत्तमगुणाणुराया, कालाईदोसओ अपत्ता वि ।
गुणसंपया परत्थ वि, न दुल्लहा होइ भव्वाण ॥१२५॥

उत्तमा उत्कृष्टा गुणा ज्ञानादय., तेष्वनुराग प्रीतिप्रकर्ष ,तस्मा-

हेतो· कालो दु षमारूप', आदिशब्दात् संहननादिपरिग्रह',त एव दोषा दूषणानि, विघ्नकारित्वात्, ततोऽप्राप्ताऽप्यास्तां तावत्प्राप्तेत्यपेरर्थ । गुणसपत्परिपूर्णधर्मसामग्री,वर्तमानजन्मनीति गम्यते । परत्र भाविजन्मे, अपि सम्भावने, संभवति एतस्यैव दुर्लभा दुरापा भवति, भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानामिति । उक्त गुणानुरागरूपं षष्ठ भावसाधोर्लिङ्गम्। ध० र०।

गुणासाय–गुणास्वाद–पुं० । गुणेष्वास्वादो येषां ते गुणास्वादाः। विषयास्वादलोलुपेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

गुणाहिय–गुणाऽधिक–त्रि० । गुणैः स्वस्मिन् स्थितैर्विनयज्ञानादिभिरधिके, " गुणाहिए वदणए, उत्तमत्थगुणा गुणे अयाणन्तो । " उत्त० ३२ अ० ।

गुणि (ण्)–गुणिन्–त्रि० । गुणवति,ज्ञा० १२ ज्ञा० । "शूरे त्यागिनि विदुषि च, वसति जनः स च जनाद्गुणी भवति ॥ गुणवति धन धनाच्छ्रीः, श्रीमत्या जायते राज्यम् " ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

गुणिय–गुणित–न० । बहुशः परावर्तिते, व्य० ३ उ० ।

गुणुत्तर–गुणोत्तर–न० । गुणश्चासावुत्तर च गुणोत्तरम्,अथवाऽन्येपि गुणा· शान्तिक्षमादयः, तेषामुत्तर गुणोत्तरम् । सरागचारित्रे, नि० चू० १६ उ० ।

गुणुप्पायण–गुणोत्पादन–न० । रसविशेषोत्पादने, भ० ७ श० १ उ० ।

गुणोववेय–गुणोपपेत–त्रि० । गुणा रम्यतादय', तैरुपपेतं युक्त यत् तथा । औ० । रम्यतादिगुणोपपेते, रा० । विपा० । प्रशस्तत्वेनोपपेते, दक्षत्वप्रियवदत्वादिभिरुपपेते च । रा० ।

गुण्ठ–उद्–धूल्–धा० । रक्तादिना वेष्टनप्रकारे, " उद्धूलेर्गुण्ठ·" । ८ । ४ । २९ । उद्धूलेरपर्यन्तस्य गुण्ठ इत्यादेश· । ' गुण्ठइ ' पक्षे–' उद्धूलइ ' उद्धूलयति । प्रा० ४ पाद ।

गुत्त–गुप्त–त्रि० । " कगटडतदपयशषस ≍ क ≍ पामूर्ध्वे लुक् " । ८ । २ । ७७ । इति पलुक् । प्रा० २ पाद । मनोवाक्कायकर्म्मभिः-(आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०) असयमस्थानेभ्यो रक्षिते, उत्त० १५ अ० । सूत्र० । गुप्तित्रयेण स्थिते, उत्त० १५ अ० । ध० । गुप्तयोऽनवद्यप्रतीचाराप्रतीचाररूपा· । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । वृत्तिकरणादिभिः (कल्प० ६ क्षण) गुप्ता यदि प्राकारावृता· । आ० १ श्रु० १३ अ० । प्रज्ञा० । पराऽप्रवदये, जी० ३ प्रति० । स्वामिभेदकारिणि, रा० ।

गुत्तकुमार–गुप्तकुमार–पु० । गौतमगोत्रकाद्यकानन्तरजाते गौतमगोत्रीये स्थविरे, कल्प० ८ क्षण।

गुत्तदुवार–गुप्तद्वार–त्रि० । कपाटद्वयोपेतद्वारेषु, वृ० १ उ० । भ० । केषाञ्चिद् द्वाराणा स्थगितत्वात् (रा०) अन्तर्गुप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । स्था० ।

गुत्तपाण–देशी–पितृभ्यो जलाञ्जलिदाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गुत्तपालिय–गुप्तपालिक–पु० । गुप्ता प्रावेश्या पालि सेतुर्येषां ते गुप्तपालिका । जी० ३ प्रति० पुराप्रवेश्यबन्धावृते, रा० ।

गुत्तबभयारि (ण्)–गुप्तब्रह्मचारिन्–पु० । स्त्री० । गुप्त नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभी रक्षित, ब्रह्म मैथुनविरमण चरतीति विग्रह· । स्था० ९ ठा० । गुप्त सत्याऽऽदिनवगुप्तिविराजितम, एवविधं ब्रह्मचर्य्यं चरतीति । कल्प० ६ क्षण । ज्ञा० । ब्रह्मगुप्तियुक्ते ब्रह्मचरणशीले, भ० २ श० १ उ० ।

गुत्तसूरि–गुप्तसूरि–पु० । त्रैराशिकनिह्नवमतप्रवर्त्तकरोहगुप्तगुरौ आचार्य्ये, आ० क० ।

गुत्तायरिय–गुप्ताचार्य्य–पु० । श्रीगुप्तसूरौ, यच्छिष्येण रोहगुप्तेन त्रैराशिकदृष्टिः समुत्पादिता । कल्प० ८ क्षण ।

गुत्ति–गुप्ति–स्त्री० । गोपन गुप्तिः,स्त्रियां क्तिप्रत्यय । आगन्तुककचवरनिरोधे, आ० म० प्र० । सवरे, विशे० । आत्मसरक्षणे मुमुक्षोरशुभयोगनिग्रहे, ध० ३ अधि० । ज्ञा० । कल्प० । उत्त० । सथा० । रा० ।

तिस्रो गुप्तय·–

तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ । त जहा–मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती । संजयमणुस्साण तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ । त जहा–मण–वय–काए ।

गोपन गुप्तिर्मन·प्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्त्तनमकुशलानां च निवर्त्तनमिति । आह च–"मणगुत्तिकाइयाओ, गुत्तीओ तिन्नि समयकेऊहिं, परियारेयररूवा, निद्दिट्ठाओ जओ भणिय"॥१॥ स्था० ३ ठा० १ उ० । तिस्रो गुप्तय प्रतीचाराप्रतीचाररूपा· । व्य० १ उ० । नि० चू० । "समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समइत्तणम्मि भइयव्वो । कुसलवइमुईरतो, जं वयगुत्तो वि समिओ वि त्ति " ॥२॥ एताश्चतुर्विंशतिदण्डके चिन्त्यमाना मनुष्याणामेव, तत्रापि सयतानां, न तु नारकादीनामित्यत आह–" सजयमणुस्साण " इत्यादि कण्ठ्यम् । उक्ता गुप्तय· । स्था० ३ ठा० १ उ० । स० । आ० म० । प्रव० । ओघ० । सूत्र० । आव० । [मनोगुप्त्यादिषूदाहरणानि स्वस्वस्थाने] सलीनतायाम्, पा० । " गुत्तिट्ठिओ पमाय रुभइ " यदा किल गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिषु स्थितो भवति तदा यो गुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्तं निरुणद्धि, तन्निरोधाच्च तत्प्रत्ययं कर्म्मापि न बध्नाति । वृ० ३ उ० । गुप्तिप्रमादे मिथ्याचारप्रतिक्रमणम । जीत० । ध० । प्रथमश्रावारिंशगौणाहिंसायाम, प्रश्न० १ सव० द्वार । आत्यन्तिक्यां रक्षायाम, वृ० १ उ० । ज्ञा० । रक्षाप्राकारे, स्था० ६ ठा० ।

गुत्तिंदिय गुप्तेन्द्रिय–त्रि० । नवब्रह्मचर्य्यगुप्त्युपेतब्रह्मचारिणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्वविषयेषु रागादिनेन्द्रियाणामप्रवृत्ते, स्था० ६ ठा० । उत्त० ।

गुत्तिकर–गुप्तिकर–गुप्तिकरणशीलो गुप्तिकर । "हेतुतच्छीलानुकूलेऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदात् " ॥ ५ । १ । १०३ ॥ इति (हैम०) टप्रत्यय । गुप्तिकारके, आ० म० प्र० । सयमोऽप्यपूर्वकर्म्मकचवरागमननिरोधेनोपकुरुते, तत्स्वभावत्वात्, गृहशोधने पवनप्रेरितकचवरागमननिरोधाय वातायनादिस्थगनवत् । आ० म० प्र० ॥ रक्षाकारके, नि०चू०२ उ० ।

गुत्तिगुत्त–गुप्तिगुप्त–त्रि० । ब्रह्मचर्य्यगुप्तियुक्ते, गुप्तिभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्वसत्यादिभिर्वा नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्युक्त वा यस्तथा । प्रश्न० ४ सव० द्वार ।

गुत्तिभेय–गुप्तिभेद–त्रि० । गुप्तेर्वचनगुप्तेर्भेदो भङ्गो यस्मात्तद् गुप्तिभेदम । आर्यानात्रकोद्घाटके वचने, ग० ३ अधि० ।

गुत्तिसंरक्खणहेउ-गुप्तिसंरक्षणहेतु-पुं०। गोपनीयद्रव्यसरक्षण-हेतौ, भ० १४ श० २ उ०।

गुत्तिसेण-गुप्तिसेन-पुं०। अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते षोडशे जिने, स० ४ सम०।

गुत्ती-देशी-बन्धने, इच्छायाम, वचने, लतायाम, शिरोमाल्ये-च। दे० ना० २ वर्ग।

गुत्थंड-देशी भासपक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग।

गुंदा-देशी-श्मश्रुणि, दे० ना० २ वर्ग।

गुन-गुण-पु०। "णो न"। ८। ४। ३०६। पैशाच्यां णकारस्य नो भवति। उपकारे, "गुनगनयुत्तो"। 'गुनेन'। प्रा० ४ पाद।

गुप्प-गोप्य-त्रि०। रहसि,एकान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ०।

गुप्पंत-गुप्यत्-त्रि०। "गुप्येर्विर-णमौ"। ८। ४ १५०। इति विरणमादेशाऽभावे तथारूपम। व्याकुलीभवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

गुप्पमाण-गुप्यत्-त्रि०। व्याकुलीभवति, कल्प० ३ क्षण।

गुप्पंतं-देशी-शयनीये, समूहे, गोपिते च। दे० ना० २ वर्ग।

गुंपा-देशी-बिन्दौ, अधमे च। दे० ना० २ वर्ग।

गुप्फ-गुल्फ-पु०। "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः"। ८। २। ९०। इति फस्योपरि प्रथमः। प्रा० २ पाद। गुल्फके,जी० ३ प्रति०। औ०। ज०। पादग्रन्थौ, वाच०। गुल्फ घुटः प्रपदः आप्रपदः खुरक. निस्नोद. पादशीर्षश्चेति पर्यायाः। है०।

गुंफ-देशी-गुप्तौ, दे० ना० २ वर्ग।

गुंफा-देशी-शनपद्याम, दे० ना० २ वर्ग।

गुम-भ्रम-धा०-चलने, "भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः"। ८। ४। १६१। इति भ्रमेर्गुमाऽऽदेशः। 'गुमइ'। प्रा० ४ पाद।

गुमइ-देशी भ्रमति, दे० ना० २ वर्ग।

गुमगुमत-गुमगुमायमान-त्रि०। शब्दविशेषं कुर्वाणे, औ०। ज०।

गुमगुमाइय-गुमगुमायित-त्रि०। गुमगुमायन्ते स्म, अकर्मक-त्वात्कर्त्तरि क्तप्रत्ययः। गुमगुमेतिशब्दं कुर्वन्ति, "महुकरिभमर-गणगुमगुमाइय"। रा०।औ०। मधुरं शब्दं कुर्वति, कल्प० ३ क्षण।

गुम्म-गुल्म-पु०। न०। ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेते, जी० ३ प्रति०। लतासमूहे, विशे०। वनस्पतिभेदे, जी० ३प्रति०। गुल्मानि तु नवमालिकावासन्तिकासेरयककोरियककोरिटकबन्धुजीवकबाणकरवीरसिन्दुवारविचकिलजातियूथिकादयः। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। ज्ञा०। औ०। प्रज्ञा०। भ०। ज०। रा०। जी०।

एतदेव सूत्रकृदाह—

से किं तं गुम्मा ?। गुम्मा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा— "सेरियए णोमालिय, कोरंटय बंधुजीवग मणोज्जे। पीयय बाण कणवीर, कुज्जय तह सिंधुवारे य॥ १॥ जाई मोग्गर तह जू-हिया य तह मल्लिया य वासंती। वत्थुल कत्थुल सेवा-ऽगत्थ मगदंतिया चेव॥ २॥ चंपग जाई णवणी-इया य कुंदे तहा महाकुंदे। एवमणेगागारा, हवन्ति गुम्मा मुणेयव्वा"॥ ३॥ सेत्तं गुम्मा। प्रज्ञा० १ पद॥

सेरिकागुल्मा. नवमालिकागुल्मा कोरण्टगुल्मा बन्धुजीवक-गुल्मा. मनोवद्यगुल्मा बीजकगुल्मा. बाणगुल्माः कणवीरगुल्माः कुब्जकगुल्मा. सिन्दुवारगुल्माः जातिगुल्मा. मुद्गरगुल्मा. यूथिकागुल्माः मल्लिकागुल्मा. वासन्तिकगुल्मा. वस्तुलगुल्मा. कस्तुलगुल्माः सेवालगुल्मा., अगस्त्यगुल्मा. मृगदन्तिकागुल्माः चम्पकगुल्मा. जातिगुल्मा नवनीतिकागुल्मा. कुन्दगुल्मा. महाकुन्दगुल्मा.। सेरिकादयो लोकतः प्रत्येतव्याः। गुल्मा नाम ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेताः,तत. सर्वत्र विशेषणसमास.। जी० ३ प्रति०। वृन्दे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

गुम्मड-मुह-धा०। "मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ"। ८। ४। २०७। मुहेरेतावादेशौ वा भवत.। 'गुम्मइ'। 'गुम्मडइ'। मुज्झइ' मुह्यति। प्रा० ४ पाद। दे० ना० २ वर्ग।

गुम्मागुम्मि-गुल्मागुल्मि-अव्य०। गुल्म वृन्दमात्रम, गुल्मेन च गुल्मेन च भूत्वेत्यर्थे, औ०। "गुम्मागुम्मिं कुड्डाकुड्डिं अप्पेगइया वाणंति"। गुल्म गच्छैकदेश। औ०।

गुम्मिअ-देशी-मूलोत्खाते, दे० ना० २ वर्ग।

गुम्मिय-गौल्मिक-पु०। गुल्मेन समुदायेन सचरन्तीति गौल्मिका.। आरक्षिकाणामप्युपरि स्थायिनि, व्य० १ उ०। गौल्मिका नाम ये राज्ञ पुरुषस्थानकं बद्ध्वा पन्थानं रक्षयन्ति। बृ० १ उ०।

गुल्मित-त्रि०। घूर्णिते, बृ० १ उ०।

गुम्मी-गुल्मी-स्त्री०। त्रीन्द्रियजीवभेदे,उत्त०३६ अ०। इच्छायाम, दे० ना० २ वर्ग।

गुरुह-गुह्य-न०। "ह्यो ह्यो"। ८। २। १२४। हकारयकारयोर्विपर्ययः। गोप्ये, प्रा० २ पाद।

गुरु-गुरु-पु०। गृणाति यथावस्थितं शास्त्रार्थमिति गुरु। धर्मोपदेशादिदातरि, आ० म० प्र०। सम्यग्ज्ञानक्रियायुक्ते सम्यग्धर्मशास्त्रार्थदेशके, यदाह-"धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायण.। सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते"॥ १॥ ध० २ अधि०। अष्ट०। पञ्चा०। गौरवार्हे, उत्त० १ अ०। धर्माचार्ये, पञ्चा० १ विव०। उत्त०। प्रव०। नि० चू०। सम्यग्गुरुचरणपर्युपासनाऽविकलतया यथावस्थिततत्त्वदेशदातरि, पिं०। "गुर्वायत्ता यस्मात्, शास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि। तस्माद्गुर्वाराधन-परेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम्"॥ १॥ आ० म० प्र०। अनु०। ध०र०। "माणुस्स उत्तमो धम्मो, गुरुनाणाइसजुओ"। ध० र०।

गुरुगुणयुक्त एव गुरु:-

गुरुगुणरहिओ वि इहं, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो। ण उ गुणमेत्तविहीणो, त्ति चंमरुद्दो उदाहरणं॥२७॥

गुरुगुणरहितोऽपि, अपिशब्दोऽत्र पुन शब्दार्थः। ततश्च गुरुगुणरहितो गुरुर्न भवति। गुरुगुणरहित पुन, इह गुरुकु-

वनासप्रक्रमे स एव द्रष्टव्यो ज्ञातव्य., मूलगुणवियुक्तो म-हाव्रतरहित, सम्यग्ज्ञानक्रियाविरहितो वा । यो न तु न पुनर्गुणमात्रविहीनो मूलगुणव्यतिरिक्तप्रतिरूपताविशिष्टोपशमा-दिगुणविकल । इति हेतो. गुरुगणरहितो द्रष्टव्य इति प्रक्र-म ।उपप्रदर्शनार्थो वा इतिशब्द । उक्त चेहार्थे-" कालपरिहा-णिदोसा, एत्तो इक्काइगुणविहीणेण। अन्नेण वि पव्वज्जा, दायव्वा सीलवतेण"॥१॥ अत्रार्थे किं ज्ञापकमिति ?,आह-चण्डरुद्रश्चण्ड-रुद्राभिधानाचार्य उदाहरणं ज्ञापकम्। तत्प्रयोगश्चैवम्-गुणमात्र-विहीनोऽपि गुरुरेव, मूलगुणयुक्तत्वात, चण्डरुद्राचार्यवत् । तथाह्यसौ प्रकृतिरोषणोऽपि बहूनां संविग्नगीतार्थशिष्याणा-ममोचनीय विशिष्टबहुमानविषयश्चाभूत् ।

तत् कथानक चैवम्-

चण्डरुद्राभिधानोऽभू-दाचार्योऽतिबहुश्रुत' ।
ज्ञानादिपञ्चधाचार-रत्नरत्नाकरोपम' ॥ १ ॥
असमाचारसल्लोक-सञ्ज्वलत्कोपवाडव. ।
सक्लेशपरिहाराय, गच्छपार्श्वे स्म तिष्ठति ॥ २ ॥
विहरंश्च समायात , उज्जयिन्यां कदाऽप्यसौ ।
विविक्तोद्यानदेशे च, तस्थौ गच्छस्य सन्निधौ ॥ ३ ॥
अथ श्रीमत्सुत कोऽपि, सुरूपो नवयौवन' ।
प्रधानवस्त्रमाल्यादि-भूषितो मित्रवेष्टित ॥ ४ ॥
विवाहानन्तर क्रीड-न्नागत. साधुसन्निधौ ।
तन्मित्रै केलिना प्रोक्ता-स्त पुरस्कृत्य साधव' ॥ ५ ॥
अस्मत्सखममु यूय, हे भदन्ता. ! विरागिणम् ।
निर्विघ्न भवकान्ताराद्, प्रव्राजयत सत्वरम् ॥ ६ ॥
साधवस्तु तकान् ज्ञात्वा, चसूरीकरणोद्यतान् ।
औषध सूरिरेवैषा-मित्यालोच्य बभाषिरे ॥ ७ ॥
भो भद्रा ! गुरवोऽस्माक, कुर्वते कार्यमीदृशम् ।
वय तु नो ततो यात, गुरूणामन्तिक लघु ॥ ८ ॥
केलिनैव ततो गत्वा, गुरुमूचुस्तथैव ते ।
सूरिणा भणित तर्हि, भस्माऽऽनयत सत्वरम् ॥ ९ ॥
येनास्य लुञ्चनं कुर्मो, वयस्यैस्तु ततो लघु ।
तदानीत तत सूरि , पञ्चमङ्गलपूर्वकम् ॥ १० ॥
लुञ्चन कर्तुमारेभे, तद्वयस्यास्तु लज्जिता. ।
चिन्तित चेभ्यपुत्रेण, कथ यास्याम्यह गृहे ? ॥ ११ ॥
स्वयमाश्रितसाधुत्व ,स लुञ्चितशिरोमुख ।
ततो विसृज्य मित्राणि, गुरुमेवमुवाच स ॥ १२ ॥
भदन्त ! परिहासोऽपि, सद्भावोऽजनि मेऽधुना ।
रङ्कत्वेनापि तुष्टस्य, सौराज्य मे समागतम् ॥ १३ ॥
तत स्वजनराजाद्या , यावन्नायान्ति मत्कृते ।
तावदन्यत्र गच्छामो, नोचेद्बाधा भविष्यति ॥ १४ ॥
गुरुर्वभाषे यद्येव, ततो मार्ग निरूपय ।
तथैव कृतवानेष, वृत्तौ गन्तु ततस्तकौ ॥ १५ ॥
आचार्य. पृष्ठतो याति, पुरतो याति शिष्यक ।
रात्रौ वृद्धत्वतोऽपश्यन्, मार्ग प्रस्खलितो गुरु ॥ १६ ॥
रे दुष्ट ! शैक्ष ! कीदृक्षो, मार्ग सवीक्षितस्त्वया ।
इति ब्रुवाणो दण्डेन, शीर्षे त हतवान् क्रुधा ॥ १७ ॥
एव स चण्डरोषत्वा-च्चलित स्खलित पथि ।
शिरस्यास्फाटयन् याति, तं शिष्य क्षमिणां वरम् ॥ १८ ॥
शिष्यस्तु भावयामास, मन्दभाग्योऽस्म्यह यत ।
महात्मानो महात्माऽय, महाकष्टे नियोजित. ॥ १९ ॥
भगवानेष मौर्ख्येन, स्वगच्छे निवसन्मया ।
अहो दशां महाकष्टां, प्रापितः पापिना मुधा ॥ २० ॥
एव भावयतस्तस्य, प्रशस्तध्यानवह्निना ।
दग्धकर्मेन्धनत्वेन, केवलज्ञानमुद्गतम् ॥ २१ ॥
ततस्त तद्बलेनाऽसौ, सम्यङ् नेतु प्रवृत्तवान् ।
प्रभाते च स त दृष्ट्वा, क्षरल्लोहितमस्तकम् ॥ २२ ॥
आत्मान निन्दति स्मैव-मधन्योऽहमपुण्यवान् ।
यस्य मे सति रोषाग्नि-शममेघे बहुश्रुते ॥ २३ ॥
परोपदेशदक्षत्वे, बहुकाले च सयमे ।
न जातो गुणरत्नानां, प्रधान. क्षान्तिसद्गुण' ॥ २४ ॥
अय तु शिष्यो धन्योऽत्र, गुणवानेष सत्तम ।
यस्याद्य दीक्षितस्याऽपि, कोऽप्यपूर्वं क्षमागुण. ॥ २५ ॥
एव सद्भावनायोगात्, वीर्योल्लासादपूर्वत'।
आचार्यश्चण्डरुद्रोऽपि, सम्प्राप्त. केवलश्रियम् ॥ २६ ॥
इति गाथार्थ ॥ ३५ ॥

गुरुगुणरहिओ उ गुरू,न गुरू विहिच्चायमो उ तस्सिट्ठो ।
अन्नत्थ संकमेणं, ण उ एगागित्तणेण ति ॥ २४ ॥

गुरुगुणा. सज्ज्ञानसदनुष्ठानविशेषा , तै रहितो हीनो गुरु-गुणरहित. । तुशब्द पुनरर्थे' । गुरुर्धर्माचार्यो, न गुरुर्न धर्मा-चार्यो भवति, सुवर्णगुणविकल सुवर्णमिव । ततश्च (विहिच्चाय-मो उ त्ति)इह मकारोऽलाक्षणिक । ततश्च विधित्याग एवाऽऽगमि-कन्यायेन परिहार एव । तस्य गुरोरिष्टोऽभिमतो जिनानाम्। स च न यथा कथञ्चिदत एवाह-अन्यत्र गुरुकुलान्तरे, सङ्क्रमेण प्रवेशेन, न पुनरेकाकित्वेन एकाकिविहारितयेति । गुरुकुला-न्तरसङ्क्रमणविधिश्च-" सा‍हिंतो सदिंठ-स्स चेव संपज्जइ उ एमाई।चउभंगो एत्थ पुण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो"॥१॥ इत्या-दिरागमप्रसिद्ध इति । सर्वथा गुरुरहितेन न भाव्यमिति भा-व । यदाह-" एसणमणेसणं वा, कह ते नाहिंति जिणवरमयं वा । कुरिणम्मि व पायाला,जे मुक्का पव्वइयमेत्ता"॥१॥इतिशब्द. प्राग्वदिति गाथार्थ. ॥ २४ ॥

ननु यदि गुरुकुल एव वस्तव्य,तदा कथमुक्त दशवैकालिके ?, यथा-" ण या लभेज्जा निउणं सहाय, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एक्को वि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु अ-सज्जमाणो ॥१०॥ " (दश० २ चू०) इत्येतदाशङ्क्याह-

जं पि य ण वा लभेज्जा, एक्को वीत्थादि भासियं सुत्ते ।
एयं विसेसविसयं, णायव्वं बुद्धिमंतेहिं ॥ २५ ॥

यदपि च यच्च न वा लभेतैकोऽपीत्यादि इत्येनत्तद्द्वयं प्रागुक्तमेवोपलक्षणम । भाषितमुक्त, सूत्रे दशवैकालिकाख्ये,एत-दिद सूत्रम्, विशेषविषय विशिष्टपुरुषगोचर,न पुरुषमात्रविषय-म, ज्ञातव्यमवसेयम् , बुद्धिमद्भि प्रवचनगर्भार्थवेदिभि , यतो " व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति " गाथार्थ ॥ २५ ॥ पञ्चा० ११ विव० । प० व० । ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३५५ पृष्ठे तदर्हो गुरुरुक्त)

षड्विधे उपक्रमे गुरुचित्तोपक्रम । अत्र पर. प्राह-

को वक्खाणाऽवसरे, गुरुचित्तोवक्कमाहिगारोऽयं ?।
भण्णइ वक्खाणंगं, गुरुचित्तोवक्कमो पढम ॥ ९३० ॥

नन्वावश्यकस्यानुयोगो व्याख्यानमिह प्रक्रान्त, ततस्तदवसरे

प्रस्तुते, कोऽयमप्रस्तुतेन गुरुचित्तोपक्रमेणाऽधिकारः ?। अत्रोत्तरमाह-(भगइत्यादि) जगयनेऽत्र प्रतिविधानम्-यद्याख्यानमिह प्रस्तुतं भवता गीयते, तद्गुरुचित्तायत्तमेव। ततश्च गुरुचित्तोपक्रमः प्रथममेव व्याख्यानस्याङ्गं कारणम्, कारणमन्तरेण च कार्यस्याभावात्, तस्मिन् प्रकृते तत्कारणस्याधिकाराभिधानं न किञ्चिदप्रस्तुतमिति ॥९३०॥

न केवलं गुरुचित्तोपक्रमः प्रथमं व्याख्यानाङ्गं, किन्तु यानि कानिचित्सामान्येन शास्त्राद्युपक्रमपुस्तकोपाश्रयाहारवस्त्रपात्रसहायादीनि व्याख्यानाङ्गानि तानि सर्वाण्यपि गुरुचित्तायत्तानि नियमतो वर्तन्ते, तस्माद्यथा गुरुचित्तं सुप्रसन्नं भवति तथा कार्यमिति दर्शयन्नाह-

गुरुचित्तायत्ताइं, वक्खाणंगाइँ जेण सव्वाइं ।
तो जेण सुप्पसन्नं, होइ तयं तं तहा कज्जं ॥९३१॥

गतार्थैव, नवरं गुरुचित्तं च तदा सुप्रसन्नं भवति यदा इङ्गिताकाराद्यभिज्ञः शिष्यस्तदुपक्रमानुकूल्येन प्रवर्त्तते। अतो न गुरुचित्तोपक्रमोऽत्राऽप्रस्तुत इति भावः ॥९३१॥

गुरुचित्तप्रसादनोपायानेवाह-

जो जेण पगारेणं, तुस्सइ करणविणयाणुवत्तीहिं ।
आराहणाएँ मग्गो, सो च्चिय अव्वाहओ तस्स ॥९३२॥
आगारिंगियकुसलं, जइ सेयं वायसं वए पुज्जा ।
तह वि य सिं न विकूडे, विरहम्मि य कारणं पुच्छे ॥९३३॥
निवपुच्छिएण गुरुणा, भणिओ गंगा कओमुही वहइ ।
संपाइयवं सीसो, जह तह सव्वत्थ कायव्वं ॥९३४॥

तिस्रोऽपि सुगमाः, नवरं प्रथमगाथायां 'करणेत्यादि' करणं गुर्वादिष्टस्य सम्पादनं, विनयोऽभिमुखगमनाऽऽसनप्रदानपर्युपास्त्यञ्जलिबन्धाऽनुव्रजनादिलक्षणः, अनुवृत्तिस्त्विङ्गितादिना गुरुचित्तं विज्ञाय तदाऽऽनुकूल्ये प्रवृत्तिः, ताभिः। द्वितीयगाथायामाकारेङ्गितकुशलं शिष्यं प्रति यदि श्वेतं वायसं पूज्या गुरवो वदेयुस्तथापि [सिं ति] तेषां सम्बन्धि वचो न विकुट्टयेत्र प्रतिहन्यात्। विरहे च तद्विषयं कारणं पृच्छेदिति। नृपपृष्टेन गुरुणा भणितो 'गङ्गा केन मुखेन वहति ?,' ततो यथा सर्वमपि गुरुभणितं शिष्यः संपादितवांस्तथा सर्वत्र सर्वप्रयोजनेषु कार्यम्। इति तृतीयगाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। विशे०। [तच्च 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १६ पृष्ठे गुरुवैयावृत्यप्रस्तावे उक्तम्]

तदेवं गुरुभावोपक्रमे युक्ततया अत्र व्यवस्थापिते सति परः प्राह-

जुत्तं गुरुमयगहणं, को सेसोवक्कमोवओगोऽत्थ ?।
गुरुचित्तपसायत्थं, ते वि जहाजोगमाओज्जा ॥ ९३५ ॥

ननूक्तन्यायेन युक्तं तर्हि गुरुमतग्रहणं गुरुभावोपक्रमणं, शेषाणां तु नामस्थापनाद्रव्याद्युपक्रमाणां क इहोपयोगः ?, येन तेऽप्युपन्यस्ताः ?। अत्रोत्तरमाह-ननु गुरुचित्तप्रसादनार्थं तेऽपि शेषोपक्रमा यथायोगं यथाप्रस्तावमायोज्याः सप्रयोजनत्वेनाभ्यूह्या इति ॥९३५॥

तदेवं द्रव्याद्युपक्रमाणां गुरुचित्तप्रसादनोपयोगित्वमाह--

परिकम्मनासणाओ, देसे काले य जा जहा जोग्गा ।
ताओ दव्वाईणं, कज्जाऽऽहाराइकज्जेसु ॥९३६॥
उवहियजोग्गदव्वो, देसे काले परेण विणएणं ।
चित्तण्णू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ ॥९३७॥

याः काश्चिद् देशे मरुमण्डलादौ, काले ग्रीष्मादौ, येन केनचित् प्रकारेण, योग्या उचिताः परिकर्मनाशनाः परिकर्मविनाशा भवन्ति, ता द्रव्यक्षेत्रकालानां गुरोराहारादिकार्येषु शिष्येण तच्चित्तप्रसादनार्थं कर्त्तव्याः। तत्र द्रव्यस्य दधिक्षीरनीरादेर्गुडशुण्ठ्युशीरमुस्तादिक्षेपेण परिकर्म भावनीयम्, क्षेत्रस्योपाश्रयादेरुपलेपनादिना, कालस्य मुहूर्त्तादेः शिक्यकदीकादौ घटिकादिनेति। विनाशेऽपि द्रव्यादीनां द्रव्यान्तरसंयोगादिना भावनीय इति। तत इत्थं गुरुचित्तं प्रसादयन् शिष्यः किमाप्नोति ?, इत्याह-[उवहियेत्यादि] उपहितानि गुरोराहाराद्यर्थं ढौकितानि कृतपरिकर्माणि योग्यासनपानवस्त्रपात्रौषधादीनि द्रव्याणि येन, असौ उपहितयोग्यद्रव्यः शिष्यः। शेषं सुगमम् ॥ ९३६ ॥ ९३७ ॥

समाधानान्तरमाह-

अहवोवक्कमसामन्नओ मया पगयनिरुवओगा वि ।
अन्नत्थ सोवओगा, एवं चिय सव्वनिक्खेवो ॥९३८॥

यदि वा प्रकृते प्रस्तुते निरुपयोगाः प्रकृतनिरुपयोगाः, एवंभूता अपि सन्तो नामस्थापनाद्रव्याद्युपक्रमाः उपक्रमसामान्यतोऽत्र मता उपन्यस्ताः। कुतः ?, इत्याह-अन्यत्र स्थानान्तरे सोपयोगा इतिकृत्वा, न केवलमत्रैवासौ न्यायः, किन्त्वन्यत्र शास्त्रे, अन्येषु वा शास्त्रेषु ये केचन बहुप्रकारा नामादिनिक्षेपास्तेषां सर्वेषामप्यपरसमाधानाऽभावे इदमेव समाधानं वाच्यमिति। तदेवं नामादिभेदैर्दर्शितमुपक्रमस्य षड्विधत्वम् ॥९३८॥

यदि वा अन्यथैवायमुपक्रमः षड्विध इति दिदर्शयिषुः प्रस्तावनामाह-

गुरुभावोवक्कमणं, कयमज्झयणस्स छव्विहमियाणिं [९३९]

तदेवं नामादिभेदैः षड्विधे उपक्रमे विचार्यमाणे कृतं गुरुभावोपक्रमणम्, तत्करणे च दर्शितमेकेन प्रकारेणोपक्रमस्य षड्विधत्वम्। विशे०। गृणाति प्रवचनार्थतत्त्वमिति गुरुः। प्रवचनार्थप्रतिपादकतया पूज्ये, न०। स्था०। तीर्थकरगणधरादौ, विशे०। सूत्र०। वाचनाऽऽचार्ये, आ०। विद्यादायिनि, व्य० १ उ०। षो०। आ० म०। पितामहे, आव० ३ अ०। मातापितृप्रभृतौ पूज्ये, "माता पिता कलाचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा। वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः" ॥१॥ ध० २ अधि०। स्था०। अनु०। कल्याणमित्रे, पं० सू० ४ सू०। "गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम् ॥ अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम्" ॥२॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। बृहति, व्य० १ उ०। महति, पञ्चा० १० विव०। यदूर्ध्वं निर्मुक्तं वा प्रक्षिप्तमपि पुनर्निसर्गादधो निपतति तस्मिन् गुरुद्रव्ये, यथा—लेष्ट्वादि। विशे०। आ० म०। अधोगमनहेतौ अयोगोलकादिगते स्पर्शभेदे, स्था० १ ठा० १ उ०। कर्म०। (किं द्रव्यं गुरु, किं वा लघु?, इति 'अगुरुलहुय' शब्दे प्र० भागे १५७ पृष्ठे उक्तम्) बृहस्पतौ देवाचार्ये, प्रभाकराख्ये मीमांसकभेदे, कपिकच्छूवृक्षे, "सानुस्वारो विसर्गान्तो, दीर्घो युक्तपरश्च यः। वा पदान्ते त्वसौ," इत्युक्ते दीर्घवर्णादौ, वाच०।

ऽऽगमवचनप्रस्तावनाऽर्थमाह-तथा चेत्युपप्रदर्शनार्थो, भणित-मुक्तमागमे, इदं वक्ष्यमाणगाथासूत्रमिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

यदुक्तं तदेवाह-

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसण चरित्ते य ।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवास ण मुचंति ॥ १६ ॥

ज्ञानस्य श्रुतज्ञानादे ,भवति स्याद्, भागी भाजन, गुरुकुले वसन्निति प्रकृत, प्रत्यहं वाचनादिभावात् । तथा स्थिरतरकः पूर्वप्रतिपन्नदर्शनोऽपि सन्नतिशयस्थिरो भवति, दर्शने सम्यक्त्वे, अन्वह स्वसमयपरसमयतत्त्वश्रवणात् । तथा-चरित्रे चरणे स्थिरतरो भवति, अनुवेल वारणादिभावात् । चशब्दः समुच्चये । यत एव ततो धन्या धर्मधन लब्धार , यावत्कथ यावज्जीवं, गुरुकुलवास गुरुगृहनिवसनं, न मुञ्चन्ति न त्यजन्तीति गाथाऽर्थः । तदेव चरणपरिणामे सति गुरुकुलमोचनरूपमसमञ्जस न भवतीति स्थापितम ॥१६॥

अथ गुरुकुले तिष्ठतो यद्भवति तदाह—

तत्थ पुण संठिताणं, आणाआराहणा ससत्तीए ।
अविगलमेयं जायति, बज्झाभावे वि भावेणं ॥ १७ ॥

तत्र गुरुकुले, पुन शब्दो विशेषणार्थः । तद्भावना चैवम--चरणे सति गुरुकुलत्यागो न भवति, गुरुकुले पुन. संस्थितानां तिष्ठताम् । पाठान्तरेण-वसताम, आज्ञाराधनादाप्तोपदेशपालनात्, स्वशक्त्या निजसामर्थ्येन, यथाशक्तीत्यर्थः। अविकल परिपूर्णम्, एतच्चरण, जायते संपद्यते, प्रागुक्तन्यायेन ज्ञानादिवृद्धिसद्भावात् । ननु गुरुकुले वसतोऽपि कदाचित् तदविकल न दृश्यत इत्याशङ्क्याह-बाह्याभावेऽपि प्रत्युपेक्षणादिबाह्यतदनुष्ठानाऽसद्भावेऽपि ग्लानाद्यवस्थासु, अपिशब्दः परमताभ्यनुज्ञानार्थ । कथमित्याह-भावेन परिणामेन, सद्गुरूपदेशश्रवणसंजनितसंवेगेनेत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥१७॥

गुरुकुलवासमेव पुरस्कुर्वन्नाह-

कुलवहुणायादीया, एत्तो च्चिय एत्थ दसिया वहुगा ।
एत्थेव संठियाण, खंतादीणं पि सिद्धि त्ति ॥ १८ ॥

कुलवधूज्ञातादयः कुलीनाङ्गनोदाहरणप्रभृतय , शिष्य प्रत्युपदेशा इति गम्यते । (एत्तो च्चिय त्ति) यतो गुरुकुले वसतां निर्वाणनगरगमनयानोपमानमविकल चरणमुपजायते, इत एवास्मादेव कारणात्, अत्र गुरुकुलामोचने विषये, दर्शिता उक्ता आगमे, बहुका बहव । तत्र कुलवधूज्ञातमेवम-"ता कुलवहुनाएणं, कज्जे निब्भत्थिएहिं वि कहिं चि ॥ एयस्स पायमूल, आमरणंत न मोत्तव्व' ॥ १ ॥ आदिशब्दाच्छन्याज्ञानादिग्रह । तथाहि-"जे माणिया सयय माणयंति, जत्तेण कन्न व निवेसयंति ॥ ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो" ॥४७॥ ननु साधुधर्मे प्रक्रान्त क्षमादीनामेवोत्कर्षेण युक्त, तद्रूपत्वात्तस्य, किं गुरुकुलवासोत्कर्षणेनाऽऽश्रयमात्रत्वात्तस्येत्याशङ्क्याह-अत्रैव गुरुकुले, नान्यत्र, संस्थितानां सम्यग्विनीततया स्थितानां, सतां यतीनां, क्षान्त्यादीनामपि क्षमाप्रभृतीनामपि, साधुधर्मतया सम्मतानां गुणानां, न केवलमैहलौकिकानामर्थानामित्यपिशब्दार्थ । सिद्धिर्निष्पत्ति , प्रकर्षवृत्तिर्वा भवति इतिशब्द प्राग्वदिति गाथार्थ ॥१८॥

क्षान्त्यादीनामेवोपदर्शनायाऽऽह-

खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे ।
सच्च सोय आकिं-चण्ण च बंभ च जतिधम्मो ॥ १९ ॥

क्षान्तिः क्रोधनिग्रहो, यतिधर्मो भवतीतियोग । चशब्द उत्तरपदापेक्षया समुच्चयार्थः । मार्दवं मृदुता, मानविवेक इत्यर्थ । आर्जवमृजुता, मायाविवेक इत्यर्थ । मुक्तिर्लोभविवेकः, तपोऽनशनादिक, संयम पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षण , एतानि च मार्दवादिपदानि लुप्तप्रथमैकवचनानि, समाहारद्वन्द्वसमासवन्ति वा द्रष्टव्यानि । बोधव्यो ज्ञेय । तथा-सत्यं प्रतीत, शौच भावतो निरुपलेपता, अचौर्यमित्यन्ये । आकिञ्चन्यं च कनकादिरहितता, ब्रह्म च ब्रह्मचर्य, चशब्दा समुच्चयार्थो । यतिधर्म्मः साधुधर्म्मो बोद्धव्य इति गाथाऽर्थः ॥१९॥

गुरुकुले वसतां क्षान्त्यादिसिद्धिर्भवति, तद्विपर्यये पुनर्यद्भवति तद्दर्शयन्नाह-

गुरुकुलवासच्चाए, णेसाणं हंदि सुपरिसुद्धि त्ति ।
सम्मं णिरूवियव्वं, एय सति णिउणबुद्धीए ॥ २० ॥

गुरुकुलवासत्यागे गुरुगृहनिवासत्यजने सति, न नैव, एतेषां क्षान्त्यादीनां श्रमणधर्म्मतया मताना, हन्दीत्युपप्रदर्शने, सुपरिशुद्धि. सुष्ठुविशुद्धिर्भवति, इति प्राग्वत् । सम्यगविपर्यस्ततया बुद्ध्या, न पुनर्गुरुकुले वसतामितरेतरस्नेहरोषविषादादीनां भावादेषणायाश्च प्रायो बाधासंभवादपरिशुद्धिरेव क्षमादीनामित्येवं विपर्यस्ततया, विपर्यस्तत्व चाऽस्या एकाकित्वे बहुतरदोषोक्त । यदाह-' एगस्स कओ धम्मो' इत्यादि । निरूपयितव्यमालोचनीयम् । एतत् क्षमादीनामपरिशुद्धत्व, सकृत्सदा, निपुणबुद्ध्या सूक्ष्मधिया इति गाथार्थः ॥ २० ॥

न केवल गुरुकुलवासत्यागिनः क्षमादीनामपरिशुद्धिः, तदभावोऽपि स्यादिति दर्शयन्नाह-

खंतादभावउ च्चिय, णियमेणं तस्स होति चाउ त्ति ।
बंभं ण गुत्तिविगमा, सेसाणि वि एव जोइज्जा ॥ २१ ॥

क्षान्त्याद्यभावत एव क्षमाप्रभृतिसाधुधर्म्मविशेषाभावादेव, कषायोदयादेवेति भाव । नियमेन सर्वथैव, यस्तु क्षमादिगुणयुक्तस्यापि पुष्टालम्बनेन गुरुकुलत्यागो भवत्यसौ कथञ्चिदत्याग एवेत्येतदर्थख्यापनार्थं नियमग्रहणम् । तस्य गुरुकुलस्य, भवति जायते, त्यागस्त्यजनं, सारणाद्यसहनात् । आह च-

" जह सागरम्मि मीणा, संखोभं सागरस्स असहंता ।
निंति तओ सुहकामी, निग्गयमेत्ता विणस्संति ॥ १ ॥
एव गच्छसमुद्दे, सारणवीईहिं, चोइया संता ।
निंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ॥ २ ॥ "

इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । अनेन च गुरुकुलत्यागात्क्षेपाञ्चित् क्षमादीनामभाव उक्त । अथान्येषां तदनन्तर न-माह-ब्रह्म ब्रह्मचर्यं न भवति, तत्त्यागे गुप्तिविगमात् ब्रह्मगुप्त्यभावात्, यतिजनसहायता हि ब्रह्मचर्यगुप्तिर्वर्तते । यदाह-" काउ मणो वि अकज्जं, न तरइ काऊण बहु मज्झे । " शेषस्तु का वार्तेत्याह-शेषाण्यपि ब्रह्मव्यतिरिक्तान्यपि, तप संयमादीनि, एवमनेनैव न्यायेन गुप्तिविगमलक्षणेन न संभवन्तीत्येवम्, योजयेत् संबन्धयेत्, असहायतया सामान्येन समस्तव्रतभङ्गहेतुत्वादिति गाथार्थ ॥ २१ ॥

गुरुकुले वसतां गुणान्तरोपदर्शनायाऽऽह-

गुरुवेयावच्चेण, सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ ।
विउलं फलमिब्भस्स व, विसोवगेणावि ववहारे ॥२२॥

गुरुवैयावृत्त्येन आचार्यविषयेण भक्तादिदानग्लानताप्रतिच-

रणादिलक्षणेन हेतुना, सदनुष्ठाने गुरुगते जिनप्रवचनार्थप्रकाशनगच्छपालनादौ, सहकारिभावो य सहायकरणं, स तथा, तस्मात्सदनुष्ठानसहकारिभावतः। किम् ?, इत्याह-विपुलं महत्, फलं कर्मक्षयलक्षणं, गुरुकुलवासिनो भवति। कस्मिन्निवेत्याह-इभ्यस्येव सुवर्णलक्षादिमानमहाधनपतेरिव, सत्केन, विंशोपकेनाऽपि तदीयद्रव्यविंशतितमभागेनाऽपि, आस्तां सर्वेण। व्यवहारे वाणिज्ये क्रियमाणे सति। तथाहि-लक्षपतिसंबन्धिना लक्षविंशतिभागेनाऽपि,आस्तां सर्वेण सहस्रपञ्चकलक्षणेन व्यवहारतो वणिक्पुत्रस्य महान् लाभो भवति, एवं गुरोर्वैयावृत्त्यमात्रमपि कुर्वन् महत्फलमासादयति, गुरुविषयवैयावृत्त्यमात्रस्यापि महत्त्वादिति। अन्ये त्वाहुः-इभ्यस्य गृहागतस्य विंशोपकेनापि व्यवहारे सत्कारे वणिक्पुत्रो महत्फलमासादयति। इति गाथाऽर्थः ॥ २२ ॥

गुरुकुलवासाऽभावे च यत्स्यात्तदाह-

इहरा सइ तराया, दोसोऽविहिणा य विविहजोगेसुं ।
हंदि पयट्टतस्सा, तदण्णदिक्खावसाणेसुं ॥ २३ ॥

इतरथा गुरुकुलवासत्यागे, सदा सर्वदा, अन्तरायात् वैयावृत्त्यतपोज्ञानचरणविशुद्ध्यादीनां गुरुसंसर्गसाध्यगुणानां व्याघातादिप्राप्ते, सतां वा शोभनानां वा गुणानामन्तरायः सदन्तरायस्तस्मात्, दोषो दूषणं भवति। तस्य गुरुकुलवासिनस्तथा अविधिना यो यत्र प्रव्रज्यादाने विधिस्तदभावेन, गुरोरनुपासनेन सर्वसंविग्नसामाचारीप्रावीण्याभावादन्यथेत्यर्थः। चशब्दः समुच्चयार्थः, विविधयोगेषु बहुविधव्यापारेषु, 'हंदि' इत्युपप्रदर्शने, प्रवर्त्तमानस्य व्याप्रियमाणस्य, गुरुकुलत्यागिनः। किंभूतेषु योगेष्विति ?, आह-तस्मात् गुरुकुलत्यागिनोऽन्येऽपरे तदन्ये, तेषां या दीक्षा प्रव्राजनं, साऽवसाने येषां सूत्रार्थग्रहणप्रत्युपेक्षणादिसामाचार्यनुपालनादीनां ते तथा, तेषु तदन्यदीक्षाऽवसानेषु। ज्ञानक्रियागुणेषु हि पूर्वं स्वयं निष्पद्यते, ततः पश्चाद्दीक्षादाने प्रवर्तते इति हृद्योक्तम्-तदन्यदीक्षाऽवसानेष्विति। दोषश्चात्रैहिकपारलौकिकानर्थावाप्तिः, इत्यतः स्थितमेतत्-"एसा य परा आणा,पयमा ज गुरुकुलं न मोत्तव्वं" इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ पञ्चा० ११ विव० ।

अथ यदुक्तं गुरुकुलं न मोक्तव्यमित्यत्र विषयविभागं दर्शयन्नाह-

गुरुकुलामोचकानेव पुरस्कुर्वन्नाह-

जे इह होंति सुपुरिसा, कयण्णुया ण खलु ते ऽवमन्नंति ।
कल्लाणभायणत्ते-ण गुरुजणं उभयलोगहियं ॥ ३६ ॥

ये केचन, इह मनुजलोके, भवन्ति स्युः, सुपुरुषा उत्तमनराः, पुरुषग्रहणं च नारीणामुपलक्षणम्। कृतज्ञका गुरुविहितोपकारज्ञाः, न खलु नैव, ते उक्तस्वरूपाः, अवमन्यन्ते अवज्ञयन्ति। केन हेतुनेत्याह-कल्याणभाजनत्वेन ऐहिकाद्यभ्युदयपात्रत्वेन। किंविधमित्याह-गुरुजनं धर्माचार्यम्, उभयलोकहितं लोकद्वयेऽप्युपकारकमिति। उक्तं च-"निर्भाग्योऽपि जनोऽधनाकृतिरपि प्राज्ञोपहास्योऽपि हि, मूकोऽप्यप्रतिभोऽप्यसन्नपि जनानादेयवाक्योऽपि हि ॥ पादास्पृश्यतमोऽपि सज्जनजनैर्नम्यः शिरोभिर्भवेत्, यत्पादद्वितयप्रसादनविधेस्तेभ्यो गुरुभ्यो नमः" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ गुरुकुलमोचकान्निन्दयन्नाह—

जे उ तह विवज्जत्था, सम्मं गुरुलाघवं अयाणंती ।
सग्गाहा किरियरया, पवयणखिसावहा खुद्दा ॥ ३७ ॥
पायं अहिण्णगंठी-तमाउ तह दुक्करं पि कुव्वंता ।
वज्झा व ण ते साहू, धंखाहरणेण विण्णेया ॥ ३८ ॥

ये तु ये पुनः,तथा तस्मादुक्तप्रकारात्,विपर्यस्ता विपरीताः कुपुरुषाः अकृतज्ञाः अकल्याणभाजनत्वेन गुरुजनमवमन्यन्त इत्यर्थः, तेन साधव इति योगः। कथं विपर्यस्ता इत्याह-सम्यक् यथावत्,गुरुलाघवं सारासारताविभागं, गुरुकुलवासैकाकिविहारयोरिति गम्यम्। अजानन्तोऽनवबुध्यमानाः। अयमभिप्रायः-यद्यपि ते गुरुकुलमनेकसाधुसंकीर्णतया सभवदनेषणापरस्परस्नेहरोषादिदोषतया बहुदोषम्, एकाकित्वं चैतद्दोषाभावादल्पदोषं कल्पयन्ति, तथाऽप्येतन्न तेषां सम्यग्ज्ञानम्, आगमबाधितत्वादस्य, आगमबाधा च प्रागुपदर्शितेति। तथा स्वग्राहात् स्वकीयाभिनिवेशात्,आगमापारतन्त्र्यादित्यर्थः। क्रियारता भिक्षाशुद्ध्यप्रतिकर्मतान्तप्रान्तोपधितातापनामासक्षपणाद्यनुष्ठाननिरताः,तथाप्रवचनखिंसावहाः शासनाऽपभ्राजनाहेतवः, अनागमिकत्वेनैकाकित्वेन च प्रवचनगुप्तिरक्षायामसमर्थत्वात्। तथा-क्षुद्रास्तुच्छाः, आत्मनि बहुमानात्, गुरुषु चावज्ञापरत्वात्। कृपणा वा, तथाविधजनावर्जनपरत्वात्। क्रूरा वा,शेषसाधुषु पूजाविच्छेदाभिप्रायत्वादिति ॥ ३७ ॥ तथा-प्रायो बाहुल्येन, अभिन्नग्रन्थयः सकृदप्यनवाप्तसम्यग्दर्शनाः। अयमभिप्रायः मिथ्यादृष्टयोऽपि भिन्नग्रन्थयः,तेनैवविधाऽसमीक्षितकारिणो भवन्तीति। कथं तर्हि ते दुष्करतराणि तपांसि सेवन्त इत्याशङ्क्याह-तमसोऽज्ञानात्, तथा तत्प्रकारं मासक्षपणादि, दुष्करमपि प्रकृष्टमपि, आस्तामदुष्करम्, कुर्वन्तो विदधानाः, बाह्या इव कुतीर्थिका इव, न नैव, ते गुर्वाज्ञाकारिणः, साधवः सयताः, विज्ञेया ज्ञातव्याः, जिनाज्ञोत्तीर्णत्वात्। इहैवार्थे दृष्टान्तमाह-ध्वाङ्क्षोदाहरणेन काकज्ञातेन। प्रयोगश्चास्यैवम्-ये निर्गुणं वस्तु समाश्रिताः, न ते स्वार्थभाजो दृष्टाः, यथा मृगतृष्णासरःश्रयिणः काकाः, आश्रिताश्च निर्गुणं गच्छबहिर्भागं गच्छत्यागिन इति।

काकज्ञातं चैवम्-

"सुस्वादु शीतलं स्वच्छं, पद्मरेणुसुगन्धि च ।
धारयन्ती जलं वापी, काचिदासीद् मनोहरा ॥ १ ॥
तस्यास्तटेऽभवन् काका-स्तेषु चाल्पे पिपासिताः ।
अन्विष्यन्तोऽपि पानीयं, नाश्रयन्ति स्म ते च ताम् ॥ २ ॥
ततो दृष्ट्वा पुरोवर्ति-मृगतृष्णासरांसि ते ।
तानि प्रतिप्रयान्ति स्म, वापीं हित्वा जलाऽर्थिनः ॥ ३ ॥
कश्चित्तु तानुवाचैवं-मैषा भो मृगतृष्णिका ।
यदि वोऽस्ति जलार्थित्वं, तदाऽऽश्रयत वापिकाम् ॥ ४ ॥
ततः केचित्तदाकर्ण्य, वापीमेव समाश्रिताः ।
भूयांसस्त्ववधीर्यैत-न्मृगतृष्णां ययुः प्रति ॥ ५ ॥
ततो जलमनासाद्य, ते विनाशमुपागताः ।
वापीं समाश्रिता ये तु, बभूवुस्ते कृतार्थकाः ॥ ६ ॥
वापीतुल्योऽत्र विज्ञेयो, गुरुगच्छो गुणान्वयः ।
धर्मार्थिनस्तु काकाभा-श्चारित्रं जलसन्निभम् ॥ ७ ॥
मृगतृष्णासरस्तुल्या गुरुगच्छाद् बहिः स्थितिः ।
तच्छिक्षादायको ज्ञेयो, गीतार्थस्तत्कृपापरः ॥ ८ ॥
चारित्रापात्रतां प्राप्ताः, काकवत् केऽपि कुग्रहात् ।
गुरुगच्छबहिर्वासं, संश्रिता ये तपस्विनः ॥ ९ ॥
अल्पास्तु केऽपि सद्बोधा-श्चारित्रे पात्रतां गताः ।

काका इवैव ये धन्याः गुरुगच्छमुपाश्रिता. " ॥ १० ॥ इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अथ गुरुकुलत्यागिन एव कष्टविहारकारित्वेन ये बहु मन्यन्ते तान् शिक्षयितुमाह-

तेसिं बहुमाणेणं, उम्मग्गऽणुमोयणा अणिट्ठफला ।
तम्हा तित्थगराणा-ठिएसु जुत्तोऽत्थ बहुमाणो । ३६॥

तेषां गुरुकुलत्यागिनाम्, बहुमानेन पक्षपातेन करणभूतेन, उन्मार्गानुमोदना अनागमिकाचारानुमतिः; किंफला ?, इति आह-अनिष्टफला अनभिमतफला, दुर्गतिप्रयोजनेत्यर्थः । आह च-"आणाएँ अवट्टंत, जो उववूहेइ मोहदोसेण । सो आणा अणवत्थ, मिच्छत्तविराहण पावे " ॥ १ ॥ (तम्ह त्ति) यस्मादेवं तस्मात्तीर्थकराज्ञास्थितेषु गुरुकुलवासादिजिनादेशाश्रितेषु साधुषु, युक्त सङ्गतः, अत्र विचारे, बहुमानः पक्षपातो, नेतरेषु इति गाथार्थः ॥ ३६॥ पञ्चा० ११ विव० ।

कुलवधूदृष्टान्तेन गुरुकुलासेवनम्-

तुब्भेहिं पि न एसो, संसाराडविमहाकडिल्लम्मि ।
सिद्धिपुरसत्थवाहो, जत्तेण खणं पि मोतव्वो ॥५४॥

युष्माभिरपि नैष गुरुः संसाराटवीमहाकडिल्ले गहने सिद्धिपुरसार्थवाहः, तत्रानपायेन नयनात्, यत्नेन क्षणमपि मोक्तव्यो नेति गाथाऽर्थः ॥ ५४ ॥

ण य पडिकूलेअव्वं, वयणं एअस्स नाणरासिस्स ।
एवं गिहवासचाओ, जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥ ५५ ॥

न च प्रतिकूलयितव्यमशक्त्या वचनमेतस्य ज्ञानराशेः गुरोरेव गृहवासत्यागः प्रव्रज्यया यत् सफलो भवति युष्माकमाज्ञाराधनेनेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

इहरा परमगुरूणं, आणाभंगो निसेविओ होइ ।
विहला य होंति तम्मी, निअमा इहलोअपरलोआ ॥५६॥

इतरथा तद्वचनप्रतिकूलनेन परमगुरूणां तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गो निषेवितो भवति । निष्फलौ च भवतस्तस्मिन्नाज्ञाभङ्गे सति नियमादिहलोकपरलोकाविति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

ता कुलवहुणाएणं, कज्जे निब्भत्थिएहिँ वि कहिंचि ।
एअस्स पायमूलं, आमरणंत न मोत्तव्वं ॥५७॥

तत् कुलवधूज्ञातेनोदाहरणेन, कार्ये निर्भर्त्सितैरपि सद्भिः कथञ्चिदेतस्य गुरोः पादमूलं समीपमामरणान्तं न मोक्तव्यं सर्वकालमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

गुणमाह-

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ ।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचाति ॥ ५८ ॥

ज्ञानस्य भवति भागी गुरुकुले वसन्, स्थिरतरो दर्शने, चरित्रे चाऽऽज्ञाराधनदर्शनादीनाम्, अतो धन्या यावत्कथं सर्वकालं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्तीति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ पं० व० ४ द्वार । "लज्जा दया संजम बंभचेर-कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं । जे मे गुरू सययं अणुसासयंति, ते हं गुरू सययं पूययामि " ॥१॥ इत्यादि । तथा गुर्वाज्ञाराधने गुर्वादेशसंपादने तल्लिप्सुस्तमेवादेशं लब्धुमिच्छुर्गुरोरादेशं प्रतीक्षमाणः समीपवर्त्येव स्यात् । इत्थंभूतश्चरणभरधरणे चारित्रभरोद्वहने शक्तः समर्थो भवति सुविहितो, नान्यथा भणितविपरीतो, नियमान्निश्चयेनेति । कथं पुनरेष निश्चयोऽवसीयत इति ?, आह-

सव्वगुणमूलभूओ, भणिओ आयारपढमसुत्ते जं ।
गुरुकुलवासोऽवस्सं, वसिज्ज तो तत्थ चरणत्थी ॥१२७॥

सर्वे गुणा अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपा, तदानयनोपायश्चैवम्-"जोए १ करणे २ सन्ना, ३ इंदिय ४ भोमाइ ५ समणधम्मे य ६ । सीलंगसहस्साण, अट्ठारसगस्स निप्फत्ती " ॥ १ ॥

स्थापना शीलाङ्गरथस्येयम्-

ये न कुर्वन्ति ६०००	ये न कारयन्ति ६०००	ये नाऽनुमन्यन्ते ६०००							
मनसा २०००	वचसा २०००	कायेन २०००							
निर्जिताहारसंज्ञा ५००	निर्जितभयसंज्ञा ५००	निर्जितमैथुनसंज्ञा ५००	निर्जितपरिग्रहसंज्ञा ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शेन्द्रिय १००					
पृथिवीकायारम्भ १०	अप्कायारम्भ १०	तेजस्कायारम्भ १०	वायुकायारम्भ १०	वनस्पतिकायारम्भ १०	द्वीन्द्रियारम्भ १०	त्रीन्द्रियारम्भ १०	चतुरिन्द्रियारम्भ १०	पञ्चेन्द्रियकायारम्भ १०	अजीवकायारम्भ १०
क्षान्तियुतान् मुनीन् वन्दे १	समार्दवान् मुनीन् वन्दे २	आर्जवान् मुनीन् वन्दे ३	मुक्तियुतान् मुनीन् वन्दे ४	तपोयुतान् मुनीन् वन्दे ५	संयमयुतान् मुनीन् वन्दे ६	सत्ययुतान् मुनीन् वन्दे ७	शौचयुतान् मुनीन् वन्दे ८	अकिञ्चनान् मुनीन् वन्दे ९	ब्रह्मयुतान् मुनीन् वन्दे १०

तेषां मूलभूतः प्रथमकारणं, भणितं उक्तः, आचारः प्रथमम् अङ्गं, तस्य प्रथमसूत्रे " सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं " इति वचनरचनाप्रकारे, यदस्माद्गुरुकुलवासो गुरुपादच्छायासेवनम् । अयमत्र भावार्थः - श्रीसुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं कथयति स्म -' श्रुतं मया वसता भगवतः समीपे तिष्ठता वक्ष्यमाणमर्थपदमिति '। क्व पुनरस्य भावार्थः ?, सर्वेण धर्मार्थिना गुरुसेवा विधेयेति । यस्मादेवं तस्माद्वसेत्तिष्ठेत्तत्र गुरुकुले चरणार्थी चारित्रकामो ।

तथा च गच्छे वसतो गुणः-

"गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
विणयाउ तहा सारण-माईहिं न दोसपडिवत्ती ॥ १ ॥
अन्नोन्नावेक्खाए, जोगम्मि तहिं तहिं पयट्टंतो ।
नियमेण गच्छवासी, असंगपयसाहगो भणिओ ॥"

जइ वि हु निग्गयभावो, तहा वि रक्खिज्जइ स अन्नेहिं ।
वंसकुडंगे छिन्नो, वि वेणुओ पावए न महिं " ॥ २ ॥

अन्यागमे चैतदाहारशुद्ध्यैव गुरुचारित्रशुद्धिहेतुरुद्घुष्यते। यदुक्तम्-

"पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती एत्थ संसओ नऽत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थिया " ॥ १ ॥

तथा—

" जिणसासणस्स मूलं, भिक्खायरिया जिणेहिं पन्नत्ता ।
इत्थ परितप्पमाणं, तं जाणसु मंदसद्धीयं " ॥२॥

पिण्डविशुद्धिश्च बहूनां मध्ये वसतां दुष्करैव प्रतिभासते, तस्या एकाकिनाऽपि सूत्रा सेव विधेया, किं ज्ञानादिलाभेन कार्यम् ?, मूलमूलं चारित्रमेव पालनीयं, मूले सत्येव लाभचिन्ता उपपद्यते, इति चेत् । उच्यते - हन्त ! गुरुपारतन्त्र्यवर्जितत्वात् द्वितीयमात्रनपेक्षाऽसमाधानस्यातिदुर्जयत्वात् क्षणे क्षणे परिवर्तमानपरिणामेनैकाकिना पिण्डविशुद्धिरेव न पालयितुं शक्यते । तथा चोक्तम्-" एगागियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए ।
भिक्खविसोहिमहव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं " ॥१॥ तथा "पिण्डेसणाभिक्खो" इत्यादि । ततस्तदभावे कथं मूलभूतं चारित्रमेव पालनीयमित्यायुक्तम् ?। अथ कश्चित् गाढदाढर्यादिवशात् शुद्धोञ्छादिनाऽपि निर्वाहयेदात्मानं सोऽपि " सव्वजिणपडिकुट्ठं, अणवत्थाथेरकप्पभेओ य ॥ एगो य सुयाउत्तो,विहणइ तवसंजमं अइरा " ॥१॥ इति वचनात् त्रिभुवनगुर्वाज्ञाविराधकत्वान्न सुन्दरतामाश्रयन्तीति ॥ १२७ ॥

तथा चाह सूत्रकारः-

एयस्स परिच्चाया, सुद्धुंछाइ वि न सुंदरं भणियं ।
कम्माइ वि परिसुद्धं, गुरुआणावत्तिणो विंति ॥ १२८ ॥

एतस्य गुरुकुलवासस्य, परित्यागात्सर्वथा मोचनेन, शुद्धोञ्छादि शुद्धभैक्षग्रहणम्, आदिशब्दात् शुद्धोपाश्रयवस्त्रपात्रादिपरिग्रहः । न सुन्दरं शोभनं, भणितं निगदितमागमज्ञैरित्युपस्कारः ।

तथाच-जीवाऽनुशासने तदुक्तिः-

" सुद्धुञ्छाइसु जत्तो, गुरुकुलचागाइणेह विन्नेओ ।
सबरस्स मरकपिच्छ-स्स घायपायाछिवणतुल्लो " ॥ १०० ॥

ध० र० ।

एवं गुरुबहुमाणो, कयन्नुया सयलगच्छगुणवुड्ढी ॥
अणवत्थापरिहारो, हुंति गुणा एवमाईया ॥१३३॥

एवं मूलगुणसमन्वितं गुरुमसुञ्चता, सन्मार्गोद्यमं च कारयता, गुरुबहुमानः कृतो भवति, कृतज्ञता चाराधिता भवति, सकलगच्छगुणवृद्धिः, अनवस्था (मर्यादा) परिहारः कृतो भवति । एवमादयो गुणा भवन्ति । ध० र० ।

अत्रानुशासनम्-

गच्छं गुरुवयणं चिय, चइउ केई चरंति धम्मत्थी ।
तं पि न संगयमेयं, जम्हा सुत्ते इम भणियं ॥ ९९ ॥

गच्छमाचार्यादिसमुदायं, गुरुवचश्च सूरिभणितं, 'चिय' शब्दः समुच्चयार्थः । त्यक्त्वा परिहृत्य, केऽपि केचन, चरन्ति पर्यटन्ति, धर्मार्थिनश्चारित्रप्रयोजनाः, तदपि गच्छत्यागादिकं, न केवलं पूर्वोक्तमित्यपिशब्दार्थः । न नैव, संगतं युक्तमेतद् गच्छत्यागादि यस्मात्सूत्रे उपदेशपदाख्ये, इदं पुरोवर्त्ति, भणितमुक्तमिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

सुद्धुंछाइसु जत्तो, गुरुकुलचागाइणेह विन्नेओ ।
सबरस्स मरकपिच्छ-स्स घायपायाछिवणतुल्लो ॥१००॥

शुद्धोञ्छादिषु यत्नः उद्यमः, तत्र शुद्धमाधाकर्माद्यदूषितम्, उञ्छं तु भिक्षाऽऽदि, आदिग्रहणाच्छेषानुष्ठानग्रहः, गुरुकुलत्यागादिना गुरुकुलं गच्छं, तदाज्ञापरिहारेण, इह प्रवचने, विज्ञेयो बोद्धव्यः । किंविशिष्ट ?, शबरनृपेण म्लेच्छकाराजविशेषाः, तेषां पिच्छानि मयूराङ्गरुहाणि, तदर्थं घातो विनाशः, तत्र पादानां चरणानां ' छिवण ' ति ' देशीभाषया स्पर्शनं, तदभावः, तेन तुल्यः सदृश इति गाथार्थः ॥ १०० ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-किलैकस्य नरपतेरग्रमहिषीपनके मनाक् दृष्टाः, जातानि च तेषां ज्ञानानि, ततो नरपतिना वैद्य पृष्टः-कथमेते भव्या भविष्यन्ति ?। तेनोक्तम्-यदि मायूरपिच्छनिर्माणितैलेन प्रदयन्ते, इत्युक्ते नराधिपेन समादिष्टास्तदानयनार्थं निजपुरुषाः, यावत्ते परिभ्रम्य समागताः, राज्ञः समीपे कथितं च तैः-देव ! न कुत्रापि मयूराङ्गरुहाणि सन्ति मुक्त्वा युष्माकं गुरून्, ते हि तानि सर्वाङ्गेषु धारयन्ति, न च जीवन्तो मुञ्चन्ति, इदमेव तेषां व्रतम् । राज्ञोक्तम् यद्येवं ततो घातयित्वा तान् समानयत पिच्छान्, परं प्राङ्घ्रिस्तेषां निजचरणा न लगनीया, यतोऽस्माकं ते गुरवः । तत्र ये जीवितव्यतुल्यान् मूलगुणान् नाशयन्ति, पादास्पर्शनसदृशोत्तरगुणरक्षार्थं गच्छाश्रिताय ते पर्यटन्ति, तस्मादुत्तरगुणसङ्केऽपि शुद्धभक्ताभ्यवहारलक्षणे गच्छ एवाऽऽसितव्यमिति ।

इदानीं गुरुवचनाऽकरणे सिद्धान्तगाथामाह-

छट्ठट्ठमदसमदुवा-लसेहिं मासद्धमासखमणेहिं ।
अकरिंतो गुरुवयणं,अणंतसंसारिओ भणिओ ॥१०१॥

उत्तानार्था ॥ १०१ ॥

यदि पुनर्गच्छो गुरुश्च सर्वथा निजगुणविकलो भवति, ततः आगमोक्तविधिना त्यजनीयः, परं कालापेक्षया योऽन्यो विशिष्टतरः, तस्योपसम्पद् ग्राह्या, न पुनः स्वतन्त्रैः स्थातव्यमिति हृदयम् । यत एवमतो जीवानुशिष्टिमाह-

हेलाए विहामियदो-सपंजरे गच्छवासगुरुवयणे ।
जीव ! तुमं थिरचित्त, करेसु ता सिहरिसिहरं व ॥१०२॥

हेलया लीलया "विहामिय त्ति" देशीभाषया विनाशिता, दोषा रागादय, त एव जीवशकुनिनिरोधकत्वात्पञ्जरं, तेन तस्मिन् गच्छवासगुरुवचने उक्तलक्षणे, जीव ! आत्मन् ! त्वं भवान्, स्थिरं निश्चलम् अनुस्वारोऽत्र प्राकृतत्वात् लुप्तः, चित्तं मानसं, कुरु विधेहि, तस्मात्, किमिव ?, शिखरिशिखरमिव पर्वतशृङ्ग-

मिवेति गाथार्थः ॥ १०२ ॥ जीवा० १७—१८ अधि० ।

अत्र दृष्टान्तमाह-

जहा दियापोतमपत्तजातं,
सावासगा पविउं मन्नमाणं ।
तमचाइय तरुणमपत्तजातं,
ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥ २ ॥

यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शनार्थः, यथा येन प्रकारेण, द्विजपोतः पक्षिशिशुरव्यक्तः। तमेव विशिनष्टि-पतन्ति गच्छन्ति येनेति पत्रं पक्षपुटं, न विद्यते पत्रजातं पक्षोद्भवो यस्यासावपत्रजातः। तत्र स्वकीयादावासकात् स्वनीडात् प्लवितुमुत्पतितुं, मन्यमानं तत्र तत्र पतन्तमुपलभ्य, तं द्विजपोतं (अचाइयं ति) पक्षाभावाद्गन्तुमसमर्थम्, अपत्रजातमिति कृत्वा मांसपेशीकल्प,ढङ्कादय. क्षुद्रसत्त्वा. पिशिताशिनोऽव्यक्तगमं गमनाभावे नष्टुमसमर्थं, हरेयुश्चञ्च्वादिनोत्क्षिप्य नयेयुर्व्यापादयेयुरिति ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शयितुमाह-

एवं तु सेहं पि अपुट्ठधम्मं,
निस्सारियं वुसिमं मन्नमाणा ॥
दियस्स छावं व अपत्तजायं,
हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥ ३ ॥

"एवं तु सेहं" इत्यादि। एवमित्युक्तप्रकारेण, तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषं दर्शयति-पूर्वं ह्यसंजातपक्षत्वादव्यक्तता प्रतिपादिता, इह त्वपुष्टधर्मतयेति । अयं विशेषः-यथा द्विजपोतमसञ्जातपक्षं स्वनीडान्निर्गतं क्षुद्रसत्त्वा विनाशयन्ति,एवं शिष्यकमभिनवप्रव्रजितं सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थमपुष्टधर्माणं सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थं सन्तमनेकपापधर्माणः पाषण्डिकाः प्रतारयन्ति, प्रतार्य च गच्छनिर्गमुद्युक्तं मारयन्ति, निःसारितं च सन्तं विषयोन्मुखतामापादितमपगतपरलोकभयमस्माकं वश्यमित्येवं मन्यमाना। यदि वा (वुसि त्ति)चारित्रं सदसदनुष्ठानतो निःसारं मन्यमाना, अजातपक्षं द्विजशावकमिव पक्षिपोतमिव ढङ्कादय पापधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः स्वजना राजादयो वाऽनेके बहवो हृतवन्तो,हरन्ति, हरिष्यन्ति चेति कालत्रयोपलक्षणार्थं भूतनिर्देश इति। तथाहि-पाषण्डिका एवमगीतार्थं प्रतारयन्ति । तद्यथा-युष्मद्दर्शनेनाग्निप्रज्वालनविषापहाराशिखाच्छेदादिका. प्रत्यया दृश्यन्ते, तथाऽणिमाद्यष्टगुणमैश्वर्यं च नास्ति, तथा न राजादिभिर्बहुभिराश्रितम्, याऽप्यहिंसोच्यते भवदागमे, साऽपि जीवाकुलत्वाल्लोकस्य दु.साध्या, नापि भवतां स्नानादिकं शौचमस्तीत्यादिकाभि. शठोक्तिभिरिन्द्रजालकल्पाभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति। स्वजनादयश्चैवं विप्रलम्भयन्ति । तद्यथा-न भवन्तमन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति पोषकः, पोष्यो वा, त्वमेवास्माकं सर्वस्वं, त्वया विना शून्यमाभाति, तथा शब्दादिविषयोपभोगामन्त्रणेन सद्धर्माच्च्यावयन्ति । एवं राजादयोऽपि द्रष्टव्या । तदेवमपुष्टधर्माणमेकाकिनं बहुभिः प्रकारैः प्रतार्यापहरेयुरिति ॥ ३ ॥

तदेवमेकाकिनः साधोर्यतो बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्त्यतः सदा गुरुपादमूले स्थातव्यमित्येतद्दर्शयितुमाह-

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं,
अणोसिए णंतकरिं ति णच्चा ।
ओभासमाणे दवियस्स वित्तं,
ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो ॥ ४ ॥

"ओसाणमिच्छे" इत्यादि। अवसानं गुरोरन्तिके स्थानं,तद्यावज्जीवं समाधिं सन्मार्गानुष्ठानरूपमिच्छेदभिलषेन्मनुजो मनुष्य , साधुरित्यर्थः। स एव परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञात निर्वाहयति। तच्च सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सदनुष्ठानरूप समाधिमनुपालयता निर्वाह्यते, नान्यथेत्येतद्दर्शयति-गुरोरन्तिकेऽनुषितोऽव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी समाधिः सदनुष्ठानरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तरो भवतीति ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्य , तद्रहितस्य विज्ञानमुपहास्यप्राय भवतीति । उक्तञ्च—" न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् । प्रकटितपश्चाद्भाग, पश्यत नृत्य मयूरस्य " ॥ १ ॥ तथा जाङ्गलविलम्बवालुका पार्ष्णिप्रहारेण प्रगुणा दृष्ट्वाऽपरोऽनुपासितगुरुकुलो राज्ञीं सजातगलगण्डां पार्ष्णिप्रहारेण व्यापादितवानित्यादयोऽनुपासितगुरोर्बहवो दोषाः संसारवर्धनाद्या भवन्तीत्यवगम्यानया मर्यादया गुरोरन्तिके स्थातव्यमिति दर्शयति-अवभासयन्नुद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् द्रव्यस्य मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधोः रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य व्यावृत्तमनुष्ठान तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेद्धर्मकथिकः कथनतो वोद्भासयेदिति । तदेवम्-यतो गुरुकुलवासो बहूनां गुणानामाधारो भवत्यतो न निष्कसेन्न निर्गच्छेत् गच्छाद्वर्तिकाद्वा बहि. स्वेच्छाचारी न भवेद्,आशुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञ , तदन्तिके निवसन् विषयकषायाभ्यामात्मानं ह्रियमाणं ज्ञात्वा क्षिप्रमेवाचार्योपदेशात्स्वत एव वा निवर्तयति सत्समाधौ व्यवस्थापयतीति ॥ ४ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

गुरुकुलवासि (ण्) —गुरुकुलवासिन्-पु० । गुरुकुलानिर्गमनेन गुरुप्रतिबद्धे, पं० सू० ४ सू० ।

गुरुकुलवासच्चाय—गुरुकुलवासत्याग—पु० । गुरुगृहनिवासत्यजने, पञ्चा० ११ विव० ।

गुरुग—गुरुक—पु० । अष्टमादौ मासपरिमाणान्ते प्रायश्चित्ते, बृ० १ उ० । गुरुकं व्यवहार मासपरिमाणेनाष्टमेन वहति, बृ० ५ उ०। प्रकरणनापूरणीये, ('सुत्त' शब्दे प्रसगोपात्तमस्य स्वरूपम्) " गुरुगो य होइ मासो" गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिमाणः गुरुके व्यवहारे समापतिते मास एक. प्रायश्चित्तं दातव्य. । व्य० २ उ० ।

गुरुगइ-गुरुगति-स्त्री० । भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य गौरवेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनस्वभावतो गतिः सा गुरुगतिः। गतिभेदे,स्था० द्वा०।

गुरुगच्छवुड्डिसील—गुरुगच्छवृद्धिशील—त्रि० । आचार्यतच्छिष्यसमुदायोपचयकारणस्वभावे, जी० १ प्रति० ।

गुरुगतर—गुरुकतर—पु० । चतुर्मासात्मके प्रायश्चित्ते, " गुरुगतरगो चउम्मासो" गुरुकतरको भवति चतुर्मासपरिकर्मा सपरिमाण. । व्य० २ उ० ।

गुरुगाति—स्त्री० । 'गुरुगइ' शब्दार्थे, स्था० ८ ठा०।

गुरुगदरिसण—गुरुकदर्शन—न०। गुरुकाणि च प्रौढानि पयोधरनितम्बादीनि स्थूलोच्चत्वात् सुन्दराणि च यानि दर्शनानि च आकृतयस्तेषु, त०।

गुरुमय-गुरुगत-त्रि० । भागवततापसशाक्यशाखाभिन्ने मिथ्यात्वे, दर्श० ।

गुरुगुणरहिय-गुरुगुणरहित-त्रि० । मूलगुणवियुक्ते "गुरुगुणरहिओ सहिस, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो " । ध० ३ अधि० । पञ्चा० ।

गुरुगुरु-गुरुगुरु-पुं० । पितामहस्थानीये गुरोः सम्बन्धिनि, बृ० ४ उ० ।

गुरुजण-गुरुजन-पुं० । गुणरूपसाधुवर्गे, आव० ३ अ० ।

गुरुजणपूया-गुरुजनपूजा-स्त्री० । गुरुजनस्य उचितप्रतिपत्तौ, ध० २ अधि० । गुरवश्च यद्यपि धर्माचार्या एवोच्यन्ते, तथाऽपीह मातापित्रादयोऽपि गृह्यन्ते । यदुक्तम्-"माता पिता कलाचार्य , एतेषां ज्ञातयस्तथा ॥ वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मत "॥१॥ ध० २ अधि० । (विशेषस्त्वत्र 'गुरुपूया' शब्दे वक्ष्यते।

गुरुणिओग-गुरुनियोग-त्रि० । गुरवो धर्माचार्यास्तेषां नियोगो व्यापारणं गुरुनियोगः । उत्त० ४ अ० । पञ्चा० ।

गुरुणिओगविणयरहिय-गुरुनियोगविनयरहित त्रि० । मातापित्रादिषु नियोगे अवश्यतया कर्त्तव्येन विनयेन रहिते, भ० ७ श० ६ उ० ।

गुरुणिग्गह गुरुनिग्रह-पुं० । मातापितृप्रभृत्ये गुरूणां चैत्यसाधूनां प्रत्यनीकस्य लोपद्रवे, उत्त० २ अ० ।

अथ गुरुनिग्रहे कथा-

"भिक्षुपासकसङ्घैक-, भद्रपुत्रीमथान्यतः ।
न दत्ते श्रावकः सोऽथ, माग्रून शाठ्येन सेवते ॥ १ ॥
श्रावकाः क्रमाज्ञात-स्तत सङ्घायसूचिषान् ।
अतः काऽपि पुत्री क्या, दत्ता ता परिणीतवान् ॥ २ ॥
स्थित पृथग्गृह तया, कुरुते धर्ममार्हतम ।
पितरौ तस्य भिक्षूणां, सभक्तुर्नतमन्यदा ॥ ३ ॥
ऊचे ताभ्यामेकदाऽथ, वल्लेहि सौगतान्तिके ।
स पर्या भिक्षुणा तस्या-निमन्त्रितफल गृहे ॥ ४ ॥
स्यन्तर्याधिष्ठित सोऽथ, गृहायातोऽवदत्प्रियाम् ।
सत्कविधेहि भिक्षूणां, सा नेच्छन्त्यानियेदिमके ॥ ५ ॥
साऽथ कारितवान् सर्व, सा गुरूणामर्चाकथयत् ।
आर्पयद् गुरवस्तस्या-स्तद्विधाद्धेऽनौषधम ॥ ६ ॥
अथ सा पयसा सार्द्धं, तद्दपीप्यसंदेय च ।
तद्य तद्यतरी छुपा, जात स्वाभाविकोऽथ स ॥ ७ ॥
किमेतदिति तत्पृष्टे, कथिते प्रियया ऽखिले ।
तत्रासुकाप्रपानादि, साधुभ्यो दत्तवान् सुधी " ॥ ८ ॥

आह-तद्दाने को दोष ? । उच्यते-तेषां तद्भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरणं, धर्मबुद्ध्या तद्दाने सम्यक्त्वलाञ्छनम, आत्मनश्च दोषश्च । अनुकम्पया दद्यादपि । उक्त च-" सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं । सत्ताणुकपणट्ठा, दाण न कहिंचि पमिसिद्धं " ॥ १ ॥ स्वयमपि च भगवन्त. सावत्सरिकदानमनुकम्पया दत्त । " समत्तस्स समणोवासएण इमे पच अइयारा जाणिअव्वा, न समायरिअव्वा । त जहा-सका, कखा, विजिगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासडसथवो । आ० क० " । (शङ्कादिषूदाहरणानि स्वस्वस्थाने)

गुरुणिवेयण-गुरुनिवेदन-न० । सर्वात्मना गुरोः प्रव्राजकस्याऽऽत्मसमर्पणे, ध० ३ अधि० ।

गुरुत्त-गुरुत्व-न० । सर्वत्र गौरवलाभे, यो० वि० ।

गुरुदव्व-गुरुद्रव्य-न० । गुरुयतिसत्केषु सुवर्णास्रिकासनादिषु, ध० २ अधि० ।

गुरुदार-गुरुदार-पुं० । ब० व० । पितृव्यकलाग्राहकोपाध्यायादीनां पूज्यानां स्त्रियाम, अनु० ।

गुरुदेववेयावच्च-गुरुदेववैयावृत्त्य-न० । धर्मोपदेशकानामर्हतां च प्रतिपत्तिविश्रामणाभ्यर्चनादौ नियमे, ध० १ अधि० ।

गुरुदेवाइपूयण-गुरुदेवादिपूजन-न० । गुरुदेवादिपूजाविषये बहुमाने, यो० वि० ।

गुरुदेवोग्गहभूमि-गुरुदेवावग्रहभूमि-स्त्री० । आचार्यदेवावग्रहभूमि,"गुरुदेवोग्गहभूमी-ए जत्तओ चेव होति परिभोगो ।" पञ्चा० १७ विव० ।

गुरुदोस-गुरुदोष-पुं० । गुरुर्महान् दोषोऽशुभकर्मबन्धादिरूपो यस्मिन्नसौ गुरुदोषः । पापकारिणि, "वयभगो गुरुदोसो, थोवस्स वि पालणा गुणकरी उ । " पञ्चा० ५ विव० ।

गुरुदोसारंभिया-गुरुदोषारम्भिता-स्त्री० । गुरून् दोषान् प्रवचनोपघातकारिण आरब्धु शीलमस्येति गुरुदोषारम्भी, तद्भावस्तत्ता । गुरुदोषकरणे, पो० १ विव० ।

गुरुपडिणीय-गुरुप्रत्यनीक-त्रि० । गुरु प्रति ज्ञानाद्यवर्णवादभाषणादिना प्रतिकूले, आतु० ।

गुरुपडिवत्ति-गुरुप्रतिपत्ति--स्त्री० । मातापितृधर्माचार्यदेवतालक्षणानां गुरूणामुचितपूजायाम, ध० ।

सा चेत्थं योगशास्त्रे-

"अभ्युत्थानं तदालोके-ऽभियानं च तदाऽऽगमे ।
शिरस्यञ्जलिसंश्लेष , स्वयमासनढौकनम ॥ १ ॥
आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम् ।
तद्यानेऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरो " ॥ २ ॥

दिनकृत्येऽपि-

" आसणेण निमंतेत्ता, तओ परिअणसज्जुओ ।
पढए मुणिणो ताहे, सत्ताइगुणसजुए" ॥ ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

गुरुपयसेवा-गुरुपदसेवा-स्त्री० । षट्त्रिंशद्गुणसमन्विता गुरवस्तेषां पदानि चरणास्तेषां सेवा । गुरुचरणानां सम्यगाराधने, ध० र० ।

गुरुपरंपरागम-गुरुपरम्परागम-पुं० । तीर्थङ्करगणधराचार्यादिक्रमेण प्रवचनार्थागमे, अनु० ।

गुरुपरम्परागमवक्तव्यतेत्थम्-

तेणं अज्जसुहम्मसामिणा एव वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए जंबू एवं वयासी-कहं णं भंते ! गुरुपरंपरागमो जणइ ?। जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं तओ आगमा पण्णत्ता । तं जहा-अंतागमे, अणंतरागमे, परपरागमे । अत्थओ अरहंताणं भगवंताणं अंतागमे । सुत्तओ गणहराण अंतागमे । गणहरसीसाणं अणंतरागमे । तओ परं सव्वेसिं परंपरागमे । अणु० ।

गुरुपरतत–गुरुपरतन्त्र–त्रि० । ज्ञानिनिश्रावति, द्वा० २७ द्वा० ।

गुरुपरिवार–गुरुपरिवार–पु० । साधुवर्गे, "गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसताण णिज्जरा बहूला ।" प० व० ३ द्वार ।

गुरुपारतंत–गुरुपारतन्त्र्य–न० । ज्ञानाधिकाचार्याऽऽयतत्वे, पञ्चा० ११ विव० । षो० । "तत्थ गुरुपारतत, विणओ सज्झायसारणा चेव ।" पञ्चा० १८ विव० ।

गुरुपुच्छा–गुरुपृच्छा–स्त्री० । रत्नाधिकप्रश्ने, "गुरुपुच्छाए णिओगकरण" पञ्चा० १२ विव० ।

गुरुपूयण–गुरुपूजन–न० । भक्तपानवस्त्रप्रणामादिभिरभ्यर्चने, हा० २४ अष्ट० ।

गुरुपूया–गुरुपूजा–स्त्री० । वाचनाऽऽचार्यपूजायाम्, आ० ।

आह गुरू पूयाए, कायवहो होइ जइ वि हु जिणाणं ।
तह वि तई कायव्वा, परिणामविसुद्धिहेऊओ ॥३४६॥

आह गुरुरित्युक्तवानाचार्य.–पूजायां क्रियमाणाया कायवधः पृथव्याद्युपमर्दो यद्यपि भवत्येव जिनानां रागादिजेतृणामित्यनेन तस्याः सम्यग्विषयमाह–तथाऽप्यसौ पूजा कर्त्तव्यैव । कुतः ?, परिणामविशुद्धिहेतुत्वादिति ॥३४६॥ आ० । गुरुपूजासत्क सुवर्णादि द्रव्य गुरुद्रव्यमुच्यते, नवा ? ॥ १० ॥ प्रागेवं पूजाविधानमस्ति, न वा ? ॥ ११ ॥ कुत्र चैतदुपयोगीति प्रसाद्यम ? ॥ १२ ॥ इति प्रश्नत्रये उत्तरम–गुरुपूजासत्कं सुवर्णादि गुरुद्रव्य न भवति, स्वनिश्रायामकृतत्वात् । स्वनिश्राकृत च रजोहरणाद्य गुरुद्रव्यमुच्यते इति ज्ञायते ॥१०॥ हेमाचार्याणां कुमारपालराजेन सुवर्णकमलै पूजा कृताऽस्ति, एतदक्षराणि कुमारपालप्रबन्धे सन्ति ॥११॥ "धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूरादुच्छ्रितपाणये । सूरये सिद्धसेनाय, ददौ कोटिं नराधिप." ॥१॥ ही० ३ प्रका० ।

गुरुपूयाकरणरइ–गुरुपूजाकरणरति–त्रि० । गुरवः पूज्या लौकिका लोकोत्तराश्च । तत्र लौकिका' पित्रादयो वृद्धाश्च, लोकोत्तरा धर्माचार्यादय., तेषा पूजाकरणे रतिर्यस्य । गुरूणा यथोचितविनयादिविधौ शक्तिमति, दर्श० ।

गुरुप्पवेस–गुरुप्रवेश–पु० । गुरूणामुपदेशदानाय ग्रामादिप्रवेशे, ध० । तत्र गुरुप्रवेशोत्सव. सर्वाङ्गीणप्रौढाऽऽडम्बरचतुर्विधश्रीसङ्घसमुखगमनश्रीगुर्वादिसङ्घसत्कारादिना यथाशक्ति कार्य. । यत.–' अभिगमणवंदणनमसणेण" इत्यादि । ध० २ अधि० ।

गुरुफासणाम–गुरुस्पर्शनामन्–न० । स्पर्शनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीर वज्रादिवद् गुरु भवति । कर्म० १ कर्म० ।

गुरुभत्त–गुरुभक्त–त्रि० । गुरव. पूज्या., तेषु भक्तो गुरुभक्तः । गुरुबहुमानिनि, षो० १२ विव० ।

गुरुभत्ति–गुरुभक्ति–स्त्री०। गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरु'। आह च–" धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायण । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ–देशको गुरुरुच्यते '॥१॥ तस्य भक्ति । गुरुबहुमाने, हा०२ अष्ट० । गुरवो मातापितृधर्माचार्यादय , तेषां भक्ति । मातापित्रादीनामासनादिप्रतिपत्तौ, कर्म० १ कर्म० । धर्माचार्यबहुमाने' पञ्चा० २ विव० ।

गुरुभाव–गुरुभाव–पु० । गुरुरय गुणात्मकत्वादित्येवरूपेऽध्यवसाये, गुरुत्वे गौरवार्हत्वे च । स० ।

गुरुमहत्तर–गुरुमहत्तर–पु० । गुर्वोर्मातापित्रोर्महत्तराः पूज्या', अथवा–गौरवार्हत्वेन गुरवो महत्तराश्च वयसा वृद्धत्वाद् ये ते गुरुमहत्तराः । गुर्वोर्गौरवार्हत्वेन वा महत्तरेषु, गुरुषु महत्तरेषु च । स्था० १० ठा० ।

गुरुमुह–गुरुमुख–न० । सूरिवन्दने, " जत्ताविहाणमेय, णाऊणं गुरुमुहाउ धीरेहिं ।" पञ्चा० ११ विव० ।

गुरुमूल–गुरुमूल–न० । गुरोराचार्यस्य मूलमन्तिकम् । ध० २ अधि० । पञ्चा० । कलाचार्यादेः समीपे, आ० म० प्र० । " गुरुमूले निवसंता, अणुकूला जे न हुंति उ गुरूणं ॥ एएसिं तु पयाणं, दूरं दूरेण ते हुंति " ॥५३॥ आव० ४ अ० ।

गुरुय–गुरुक–न० । अधो गमनस्वभावे, वज्रादेरिव स्पर्शभेदे, विशे० । स्था० । " इड्ढिरससायगुरुए–णं भोगासंसगिद्धेणं ।" स्था० २ ठा० २ उ० । गुरुकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

गुरुयण–गुरुजन–पुं० । धर्माचार्ये, पञ्चा० ११ विव० ।

गुरुयणपूया–गुरुजनपूजा–स्त्री० । मातापितृधर्माचार्यादिपूजने, पञ्चा० ५ विव० ।

गुरुयलहुय–गुरुकलघुक–न०। तिर्यग्गामिवायुज्योतिष्कविमानादिके, गुरुलघूभयस्वभावे द्रव्ये, विशे०। आ० म०। म०। स्था०। ('अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे वक्तव्यता)

गुरुयसिरिमोहरायआणापरवस-गुरुकश्रीमोहराजाज्ञापरवश–त्रि० । महाज्ञाननृपतिशासनाऽऽयत्ते, जी० १ प्रति० ।

गुरुलाघव–गुरुलाघव–न०। गुरु च सारं, लघु चासारं, तयोर्भावो गुरुलाघवम । प्रव० ४ द्वार । सारेतरताविभागे, पञ्चा० ११ विव० ।

गुरुलाघवचिंता–गुरुलाघवचिन्ता–स्त्री० । सारेतरालोचने, पञ्चा० १८ विव० ।

गुरुल्लाव–गुरूल्लाप–पुं०। "ह्रस्व. संयोगे दीर्घस्य" ॥८।१।८४॥ इति मध्योकारस्य ह्रस्व. । गुरुसंबन्धिन्युल्लापे, प्रा० १ पाद ।

गुरुवग्ग–गुरुवर्ग–पु० । गौरववल्लोकसमुदाये, " माता पिता कलाचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मत." ॥१॥ द्वा० १२ द्वा० । षो० । ध० ।

गुरुवय–गुरुवचस्–न० । सूरिभाणिते, जी० १ प्रति० ।

गुरुवयण–गुरुवचन–न० । रत्नाधिकाज्ञायाम, पञ्चा० ।

गुरुआएसेणं वा, जोगंतरगं पि तदहिगं तमिह ।
गुरुआणाभंगम्मि, सव्वेऽणत्था जओ भणितं ॥ ४५ ॥

गुर्वादेशेन रत्नाधिकाऽऽज्ञया । 'वा' शब्दो विकल्पार्थ । योगान्तरमपि स्वभूमिकासदृशयोगादर्थकथनादेरन्यो योगो व्यापारो ग्लानप्रतिजागरणादि योगान्तरम, तदेव योगान्तरकम, तदपि, आस्तां स्वभूमिकासदृशयोगम । य करोति तस्यानुबन्धभाव विधिरिति प्रक्रम. । कस्मादेवमिति ?, अत आह–तस्मात्स्वभूमिकासदृशयोगादर्थकथनादेरधिकं प्रधानतरं तदधिकम, गुरुग्लानप्रलम्बनवेदिभिर्गुरुभिरुपदिष्टत्वात । तदिति योगान्तर ग्लानप्रतिचरणादि. । इह प्रक्रमे । अथ स्वभूमिकोचित एव योगो वि–

धेय, किं गुर्वादेशास्तेन कृतेनेति ?। अत्राह-गुर्वाज्ञाभङ्गे धर्माचार्यादेशविराधने, सर्वे समस्ताः, अनर्था अपाया भवन्ति । एतदेव कुत इति ?, आह-यतो यस्मात्कारणात्, भणितमुक्तमागमे, गुर्वाज्ञाभङ्गेऽनर्थप्रतिपादनपरं वचनम् । इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

तदेव वचनं दर्शयन्नाह-

छट्ठट्ठमदसमदुवा-लसेहिँ मासद्धमासखमणेहिं ।
अकरिंतो गुरुवयणं, अणंतसंसारिओ होति ॥४६॥

षष्ठाष्टमदशमद्वादशैः क्लेशोपवासद्वयादिस्वरूपैः । तथा-मासार्द्धमासक्षपणैः प्रसिद्धैः । इह व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम् । इह च पुनोऽपीति शेषो दृश्यः । अकुर्वन्ननाचरन्, गुरुवचनं रत्नाधिकाज्ञाम्, अनन्तसंसारिकोऽनन्तभवभ्रमणयुक्तो, भवति जायते । यतः संविग्नगीतार्था गुरवो भवन्ति, ते चाऽऽप्तोपदिष्टमेवादिशन्ति, आभिनिवेशिकं च तदकरणं मिथ्यात्वोदयादेव, तदुदयाच्चानन्तसंसारिकत्व,बहुलकनपक्षरणवतोऽपि भवति तथा- क्तम् । इति गाथार्थः ॥४६॥ पञ्चा० ८ विव० । जी० ।

गुरुवयणाणुसार-गुरुवचनानुसार-गुरवो जिनादयः, तेषामुपदेश आज्ञा, तस्यानुसार आनुरूप्यं गुरूपदेशानुसारः । आज्ञाकल्पे, पञ्चा० १३ विव० ।

गुरुवयणोवगय-गुरुवचनोपगत-त्रि० । गुरोः सकाशाद् वचनमुपयाते, विशे० । अनु० । गुरुप्रदत्तया वाचनया प्राप्ते, ग० २ अधि० ।

गुरुविणय-गुरुविनत-त्रि० । संसारोत्तरणोपायोपदेशकेषु प्रणते, पञ्चा० १७ विव० ।

गुरुविनय-पुं० । गुरोर्बहुमानादौ, षो० ।

गुरुविनयस्वरूपमाह-

औचित्याद् गुरुवृत्ति-र्बहुमानस्तत्कृतज्ञताचित्तम् ॥
आज्ञायोगस्तत्स-त्यकरणता चेति गुरुविनयः ॥१॥

औचित्यादौचित्येन पुरुषभूमिकापेक्षया गुरुवृत्तिर्गुरुषु वर्त्तनं वैयावृत्त्यद्वारेण बहुमानं आन्तरः प्रीतिविशेषो भावप्रतिबन्धः सदन्तःकरणलक्षणो न मोहो,मोहो हि ससङ्गप्रतिपत्तिरूपः शास्त्रे निवार्यते, गुरुषु गौतमस्नेहप्रतिबन्धन्यायेन तस्य मोक्षं प्रत्यनुपकारकत्वात् । मोक्षानुकूलस्य तु भावप्रतिबन्धस्यानिषेधात् सकलकल्याणसिद्धेः यो हि गुरुकृतमुपकारमात्मविषयं विशिष्टविवेकसंपन्नतया जानाति । यथाऽस्मास्वनुग्रहप्रवृत्तैः स्वकीयक्लेशनिरपेक्षतया रात्रिन्दिवं महान् प्रयासः शास्त्राध्ययनपरिज्ञानविषयः प्रभूतं कालं यावत् कृत इति स कृतज्ञ उच्यते।अथवा-अल्पमप्युपकारं भूयांसं मन्यते । अथवा-कृताकृतयोर्लोकप्रसिद्धयोर्विभागेन कृतस्य मतिपाटवाद्विशेषविषयस्वरूपं परिच्छिनत्ति, न पुनर्जडतया कृतमपि साक्षात्प्रणालिकया वा न वेत्ति, ततस्तद्भावः कृतज्ञता, तेषु गुरुषु कृतज्ञतासहितं चित्तं तत्कृतज्ञताचित्तम् । आज्ञायोगः आज्ञानियोगः शासनम् । यथा राजाऽऽज्ञा राजशासनं, तस्या योगः उत्साहस्तया वा आज्ञया योगः संबन्धः । आज्ञां दत्तां न विफलीकर्तुमिच्छति । तत्सत्यकरणता चेति तेषां गुरूणां सत्यकरणता यत् तैरुक्तं तत्तथैव तेषु विद्यमानेषु स्वभूयमानेषु वा संपादयत्येव तद्वचः सत्यं कृतं भवति । इति गुरुविनयः । एवमेते सर्वेऽपि प्रकारा औचित्यात् गुरुवृत्त्यादयो गुरुविनयो भवति प्रागुक्तः । षो० १३ विव० ।

गुरुविनयस्य किं मूलम् इति ?, आह-

सिद्धान्तकथा सत्सङ्-गमश्च मृत्युपरिभावनं चैव ।
दुष्कृतसुकृतविपाका-लोचनमथ मूलमस्याऽपि ॥ १५ ॥

"सिद्धान्तेत्यादि" सिद्धान्तकथा स्वसमयकथा सत्सङ्गमश्च सत्पुरुषसंपर्कश्च, मृत्युपरिभावनं चैवावश्यभावी मृत्युरिति । यथोक्तम्-"नरेन्द्रचन्द्रेन्द्रदिवाकरेषु,तिर्यङ्मनुष्यामरनारकेषु । मुनीन्द्रविद्याधरकिन्नरेषु, स्वच्छन्दलीलाचरितो हि मृत्युः" ॥१॥ इति । दुष्कृतानां पापानां,सुकृतानां च पुण्यानां, विपाकोऽनुभावः, तदालोचनं तद्विचारणं हेतुफलभावद्वारेण, अथाऽनन्तरं मूलं कारणमस्यापि गुरुविनयस्य सर्वमेतत्समुदितम् ॥ १५ ॥

अधुना गुरुविनयसहितस्य प्रतिपादितमूलस्याऽऽदेयतामुपदर्शयन्निदमाह-

एतस्मिन् खलु यत्नो, विदुषा सम्यक् सदैव कर्तव्यः ।
आमूलमिदं परमं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य ॥ १६ ॥

"एतस्मिन्नित्यादि" एतस्मिन् खलु एतस्मिन्नेव प्रागुक्ते सिद्धान्तकथादौ, यत्न आदरो,विदुषा विचक्षणेन,सम्यक् सगतं सदैव सर्वकालमेव कर्त्तव्यो विधेयः । आमूलमभिव्याप्त्या कारणमिदं सिद्धान्तकथादि, परमं प्रधानं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य सकलस्य योगवर्त्मनो यतो वर्त्तते ॥ १६ ॥ षो० १३ विव० ।

गुरुविनयफलं प्रतिपादयन् गुरुविनयमाह-

जो गिण्हइ गुरुवयणं, भन्नंतं भावओ पसन्नमणो ।
ओसहमिव पिज्जंतं, तं तस्स सुहावहं होइ ॥
पुन्नेहिँ चोइया पुर-कएहि सिरिभायणं भवियसत्ता ।
गुरुमागमेसि भद्दा, देवयमिव पज्जुवासंति ॥
बहुसोक्खसयसहस्सा-ण दायगा मोयगा दुहसयाणं ।
महा० ५ अ० ।

गुरुवी-गुर्वी-स्त्री० । "तन्वीतुल्येषु" ॥८ । २ । ११३॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्योत्कारः । गुरुत्वविशिष्टे स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे,गर्भवत्याम्, प्रा० २ पाद ।

गुरुवेगकर-गुरुवेगकृत-त्रि० । मातापितृचित्तसन्तापकारिणि, हा० २५ अष्ट० ।

गुरुसइ-गुरुस्मृति-स्त्री० । धन्यास्ते ग्रामनगरजनपदादयो येषु मदीया धर्माचार्या विहरन्तीति । गुरुस्मरणे, ध० २ अधि० ।

गुरुसक्खिय-गुरुसाक्षिक-न० । गुरुं साक्षिणं कृत्वा कृते, ध० । त्रिविधं हि प्रत्याख्यानकरणम्-आत्मसाक्षिकम् १, गुरुसाक्षिकम् २, देवसाक्षिकम् ३ चेति । गुरोः पार्श्वे प्रत्याख्यानं कार्यमेव । उक्तं च-"प्रत्याख्यानं यदासीत्त-त्करोति गुरुसाक्षिकम् । विशेषेणार्थं गृह्णाति,धर्मोऽसौ गुरुसाक्षिकम्" ॥१॥ गुरुसाक्षिकत्वे हि दृढता भवति प्रत्याख्यानपरिणामस्य । "गुरुसक्खिओ हु धम्मो" धर्म० २ अधि० ।

गुरुसज्झिल्लग-गुरुसहाध्यायिक-पुं० । गुरूणां सहाध्यायिनि पितृव्यस्थानीये, बृ० ४ उ० ।

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया–गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणता–स्त्री० । तत्त्वोपदेष्टुः समानधर्मकर्तुश्च सेवायाम्, उत्त० २९ अ० । दीक्षाद्याचार्याणां साधर्मिकाणां च सामान्यसाधूनां शुश्रूषणतायाम्, भ० १ श० ९ उ० ।

गुरुशुश्रूषणताफलं प्रष्टुकामः शिष्य आह–

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ । विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ निरुम्भइ, वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसुगईओ निबन्धइ, सिद्धिसुगइं च विसोहेइ, पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ, अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! गुरूणामाचार्याणां साधर्मिकाणां एकधर्मवतां शुश्रूषया सेवनया जीवः किं जनयति ? । तदा गुरुराह–गुरुसाधर्मिकशुश्रूषया विनयप्रतिपत्तिं विनयधर्मस्याराधतां विनयाङ्गीकारत्वं जनयति । विनयं प्रतिपन्नः प्रतिपन्नविनयोऽङ्गीकृतविनयो जीवः अनत्याशातनाशीलः सन् आचार्यादीनाम् अभक्तिनिन्दाहीलाऽवर्णवादाद्याशातनानिवारकः सन् नरकतिर्यग्योनिं, तथा मनुष्यदेवयोः कुगतिं च रुणद्धि निषेधयति, आचार्याणामत्याशातनानिवारको नरो नरकयोनौ नोत्पद्यते, तिर्यग्योनौ च नोत्पद्यते, मनुष्येषु कुयोनौ म्लेच्छादौ, देवेषु कुयोनौ किल्बिषिकादौ नोत्पद्यते । तथा पुनर्वर्णसञ्ज्वलनभक्तिबहुमाननया मानवेषु उच्चैः कुलेषु सर्वसुखभाक् मनुष्यः स्यात्, वर्णः श्लाघा, तेन वर्णेन सञ्ज्वलनं गुणप्रकटीकरणं वर्णसंज्वलनं, भक्तिरभ्युत्थानादिका, बहुमानोऽभ्यन्तरप्रीतिविशेषः । वर्णसञ्ज्वलनं च भक्तिश्च बहुमानश्च वर्णसञ्ज्वलनबहुमानाः, तेषां भावो वर्णसञ्ज्वलनबहुमानता, तया वर्णसञ्ज्वलनबहुमानतया पुमान् भवेत्, यस्य गुणश्लाघाभक्तिप्रीतयः सर्वैः क्रियन्ते, तादृगुत्तमकुलप्रसूतो नरः स्यादित्यर्थः । देवोऽपि च महर्द्धिकः स्यात्, च पुनः, स सिद्धिं सद्गतिं च मोक्षरूपां समीचीनगतिं च विशेषेण शोधयति, प्रशस्तानि च विनयमूलानि श्रुतज्ञानादीनि सर्वाणि धर्मकार्याणि शोधयति । स च स्वयं विनयमूलसर्वकार्यशोधकः सन् अन्यान् अपि बहून् जीवान् विनेता विनयग्राहयिता भवति । उत्त० २९ अ० । गुरूणां शुश्रूषणं पर्युपासनं, तेन विनयप्रतिपत्तिमुचितकर्तव्यकरणाङ्गीकाररूपां जनयति, "विनयपडिवत्तिं" इति प्राकृतत्वात् । प्रतिपन्नोऽङ्गीकृतो विनयो येन स तथा । चः पुनरर्थे, जीवः (अणच्चासायणासीले त्ति) अतीवाय सम्यक्त्वादिलाभं शातयति विनाशयतीत्याशातना, तस्याः शीलं तत्करणस्वभावात्मकस्येत्याशातनाशीलो, न तथाऽनत्याशातनाशीलः । कोऽर्थः ?, गुरुपरिवादादिपरिहारकृदेवंविधश्च नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवदुर्गतिरिति, नैरयिकाश्च तिर्यञ्चश्च नैरयिकतिर्यञ्चः, तेषां योनिः, स्वार्थिके कनि नैरयिकः । तिर्यग्योनिनैरयिके प्रतीते, मनुष्यदेवदुर्गती च म्लेच्छकिल्बिषिकत्वादिलक्षणे, निरुणद्धि निषेधति, तद्धेतोरत्याशातनाया अभावेन तत्रागमनात् । तथा वर्णः श्लाघा, तेन सञ्ज्वलनं गुणोद्भासनं वर्णसञ्ज्वलनं, भक्तिरञ्जलिप्रग्रहादिका, बहुमान आन्तरः प्रीतिविशेषः, एषां द्वन्द्वे भवप्रत्यये च वर्णसञ्ज्वलनभक्तिबहुमानता, तया प्रक्रमाद् गुरूणां विनयप्रतिपत्तिरूपया (माणुस्सदेवसुगइउ त्ति) मानुष्यदेवसुगतीं विशिष्टकुलैश्वर्येन्द्रत्वादुपलक्षिते निबध्नाति, तत्प्रायोग्यकर्मनिबन्धनेनेति भावः । (सिद्धिसुगइं च त्ति) सिद्धिसुगतिं च विशोधयति । तन्मार्गभूतसम्यग्दर्शनादिविशोधनेन प्रशस्तानि च प्रशंसाऽऽस्पदानि विनयमूलानि विनयहेतुकानि सर्वकार्याणीह श्रुतज्ञानादीनि परत्र च मुक्तिं साधयति निष्पादयति । तत् किमेवं स्वार्थसाधक एवासावित्याह–अन्यांश्च बहून् जीवान् विनेता विनयं ग्राहयिता, स्वयं सुस्थितस्योपादेयवचनत्वात् । तदुक्तम्–"ठिइठिओ ठावए परं ति" । तथा च विनयमूलत्वाच्छ्रेयसां तत्प्रापणेन परार्थसाधकोऽप्यसौ भवत्येवेति भावः ॥ उत्त० २९ अ० । (पाईटीका)

गुरुसुस्सूसग–गुरुशुश्रूषक–पुं० । आराध्यवर्गस्य शुश्रूषां कुर्वति,

साम्प्रतं गुरुशुश्रूषक इति पञ्चमं भावश्रावकमाह–

सेवाइ कारणेण य, संपायण भावओ गुरुजणस्स ।
सुस्सूसणं कुणंतो, गुरुसुस्सूसो हवइ चउहा ॥ ४९ ॥

सेवया पर्युपासनेन १, कारणेन अन्यजनप्रवर्त्तनेन २, सम्पादनं गुरोरौषधादीनां प्रदानम् ३, भावश्चेतोबहुमानः ४, ताभिः स्य सम्पादनभावतः गुरुजनस्याराध्यवर्गस्य, शुश्रूषां कुर्वन् गुरुशुश्रूषको भवतीति । (ध० र०) इह यद्यपि गुरवो मातापित्रादयोऽपि भण्यन्ते, तथाऽप्यत्र धर्मप्रस्तावादिह धर्माचार्यादय एव प्रस्तुता इति । ध० र० ।

सेवइ कालम्मि गुरुं, अकुणंतो झाणजोगवाघायं ॥ ५० ॥

सेवते पर्युपास्ते, कालेऽवसरे, गुरुं पूर्वोक्तस्वरूपं, कथमकुर्वन् ध्यानं धर्मध्यानादि, योगाः प्रत्युपेक्षणावश्यकादयः, तेषां व्याघातमन्तरायं, जीर्णश्रेष्ठिवत् । ध० र० (तत्कथा–'जिण्णसेट्ठि' शब्दे वक्ष्यते)

गुरुसुस्सूसण–गुरुशुश्रूषण–न० । मातापितृपरिचरणे, "आरब्धमङ्गलं ह्यस्या गुरुशुश्रूषणं परम् ।" द्वा० २५ द्वा० ।

गुरुसुस्सूसा–गुरुशुश्रूषा–स्त्री० । गुरुपरिचर्यायाम्, दर्श० ।

गुरुशुश्रूषा पुनस्त्रिविधा–

" गुरुसुस्सूसा तिविहा, सेवासपाडणेण नायव्वा ।
इहलोयगुरू पियरो, ताण सुस्सूसणं कुणइ ॥
आहारवत्थपत्ता–इएसु उज्जमइ इच्छियारेसु ।
भावे उ ताणमवक्क–लमवसरे जयइ किच्चेसु ॥
अहवा वि गुरू सम्म–त्तदायगा तेण होइ तिविहा वि ।
नवरं कालोनया, तिविहा वि सुहाणुबंधफला ॥
काले सुणेइ पुच्छइ, पढइ य विस्सामणाइ पकरेइ ।
वाहाविवज्जणट्ठा, साहूण सव्वकालम्मि ॥
आहारवत्थपत्ता–इयाइ सइ एसणीयं निच्च पि ।
होएइ मण हु चित्तो, विसेसओ एसकालम्मि ॥
इंताणं सम्मुहो जाइ, गच्छंताणमणुव्वए ।
गुरूण पायमूलम्मि, चिट्ठई कयपंजली ॥ " दर्श० ।

गुम–गुम–पुं० । इक्षुरसक्वाथे, आव० ६ अ० । प्रज्ञा० । गुमो द्विधा, द्रव–पिण्डभेदात् । स्था० ६ ठा० । औ० । " सर्वगुलमक्ष्मिमाहेण " अनु० । " वर्षासु लवणममृतं, शरदि जल

गोपयश्च हेमन्ते ॥ शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । स्नुहीवृक्षे, स्त्री० । टाप्। वाच० ।

गुलकय-गुडकृत्-त्रि० । गुडसंस्कृते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

गुलगुंछ-उद्-नमि-धा० । ऊर्ध्वे नयने, " उन्नमेरुत्थङ्घोल्लालगुलगुञ्छोप्पेलाः." ॥ ८ । ४ । ३६ ॥ इति एयन्तस्योन्नमेर्गुलगुञ्छाऽऽदेशः । 'गुलगुञ्छइ' उन्नमयति । प्रा० ४ पाद ।

गुलगुलाइय-गुलगुलायित-न० । गुलगुलेतिशब्दानुकरणम् । ततः प्रत्ययः । हस्तिशब्दे, ज० ५ वक्ष० । अनु० ।

गुलपाणिय-गुडपानीय-न० । गुडाधारस्थे जले, स० १ सम० । " गुलो जीए कवल्लीए कड्डिज्जति, तत्थ ज पाणिय कयं तत्तमतत्तं वा, तं गुलपाणियं भण्णति " नि० चू० २ उ० । तच्च गुडनिर्वृत्तिकम् । ध० २ अधि० ।

गुलल-कृ-धा० । चाटुकरणे, " चाटौ गुललः " ॥ ८ । ४ । ७३ ॥ चाटुविषयस्य कृगो गुलल इत्यादेशः । गुललइ । चाटु करोतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

गुललावणिया-गुडलापनिका-स्त्री० । लोकप्रसिद्धायां (गुलतापसी) गुलपर्पटिकायां, गुडधानेषु वा । सू० प्र० २० पाहु० । स्था० । भ० ।

गुलल्ली-देशी-चाटुकरोति, दे० ना० २ वर्ग ।

गुल्ली-देशी-चुम्बने, दे० ना० २ वर्ग ।

गुलिया-गुटिका-स्त्री० । वटिकायाम्, उत्त० ३ अ० । स्था० । आ० म० । अनु० । वर्णकद्रव्यविशेषे, औ० । ज्ञा० । द्रव्यसंयोगनिष्पादितगोलिकायाम् ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । रा० । मुखप्रक्षेपकस्य स्वरपरावर्तादिकारिकायां गुटिकायाम्, पिं० । उत्त० ।

गुलिका-गुटिका-स्त्री० । तुम्बरवृक्षचूर्णगुटिकायाम्, सू० १ उ० । नासिकायाम्, औ० । पीनिकायाम्, जी० ३ प्रति० ।

गुलुइय-गुल्मित-त्रि० । सञ्जातगुल्मके, गुल्मक च लतासमूहः । ज० १ वक्ष० । गुल्मवति, औ० । ज्ञा० । गुलगुलेत्यनुकरणशब्दः, ततः प्रत्ययः । हस्तिशब्दे, रा० । ज० ।

गुलुगुंछि अ-देशी वृत्यन्तरिते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुलुच्छ-देशी भ्रमिते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुवंत-गुप्यत्-त्रि० । व्याकुलीभवति, 'गुप्' व्याकुले इति वचनात् । भ० १५ श० १ उ० ।

गुवलय-कुवलय-न० । नीलोत्पले, "मुद्दियगुवलयनिहाणु" न० ।

गुविय-गुप्त-त्रि० । व्याकुलीभूते क्षुब्धे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

गुविल-गुपिल-त्रि० । गहने, नि० चू० २ उ० । गम्भीरे, बृ० ३ उ० । आ० म० ।

गुव्विणी-गुर्विणी-स्त्री० सगर्भायाम्, ध० ३ अधि० । आपन्नसत्त्वायाम्, पिं० । गर्भवत्याम्, दश० ५ अ० । ' तस्स भद्दा भारिया गुव्विणी " आ० म० द्वि० ।

गुहंधयाराखोय-गुहान्धकाराखोक-पु० । तमोग्रन्थिभेदानन्दे, ल० ।

गुहा-गुहा-स्त्री० पर्वतकन्दरायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज० । स्था० । गुहास्तमिस्रगुहादयः न० । सुरङ्गायाम्, दशा० ७ अ० । सिंहपुच्छीलतायाम्, शालपर्ण्याम्, अकृत्रिमे देवखाते, हृदये, बुद्धौ, गुह्-भावे भिदा अङ् । संवरणे, स्त्री० । वाच० ।

गूढ-गूढ-त्रि० । प्रच्छन्ने स० ३० सम० । गुप्ते, अनुपलक्ष्ये, नि० चू० १० उ० । औ० । विशे० । प्रकटवृत्त्याऽज्ञायमाने, प्रव० ४ द्वार । कथमप्युद्भेदयितुमशक्येऽपि प्रच्छन्नमापन्ने, विशे० । "प्रकाशयश्च लोके मे, गूढगर्भाऽभवत प्रिया" आ० क० । "सुसिलिट्ठगूढगोफा" गूढौ मांसलत्वाद् अनुपलक्ष्याद्गुल्फौ गुल्फौ घुण्टकौ येषां ते तथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

गूढचोर-गूढचोर-पु० । प्रच्छन्नचौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गूढत्थ-गूढार्थ-त्रि० । गूढो गुप्तोऽनवगम्यमानोऽर्थो यस्य तद् गूढार्थम् । अप्रकाशपाठे, विशे० ।

गूढदंत-गूढदन्त-पु० । विद्युन्मुखस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, प्रज्ञा० १ पद । न० । प्रव० । उत्त० । स्था० । भरतवर्षे भविष्यति द्वितीयचक्रिणि, ती० २१ कल्प । श्रेणिकस्य धारिण्यां जाते पुत्रे, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रजितः मृत्वा वैजयन्ते उत्पन्न, इत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गे चतुर्थाध्ययने सूचितम् । अनु० । ('अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

गूढमुत्तोलि-गूढमूत्रावलि-स्त्री० । अपवित्रे रामाभगे, पुंश्चिह्ने च । त० ।

गूढसिराग-गूढशिराक-त्रि० । अलक्ष्यमाणशिराविशेषे, प्रव० ४ द्वार । प्रज्ञा० ।

गूढहियय-गूढहृदय-त्रि० । अलक्ष्याभिप्राये, कर्म० । यो हि उदयिनृपमारकादिवत्तथाऽऽत्माभिप्राय सर्वथैव निगूहति यथा नाऽपर कश्चिद्वेत्ति । कर्म० १ कर्म० ।

गूढायार-गूढाचार-त्रि० । गूढो मायाग्रन्थिगुपिल आचारः प्रवृत्तिर्यस्य स गूढाचार, गूढ आचारो येषा ते गूढाचाराः । गलकर्तकग्रन्थिच्छेदादिषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गूढायारि(ण्)-गूढाचारिन्-त्रि० । प्रच्छन्नाऽऽचारयति, स० ३० सम० । "गूढायारी निगूहिज्जा" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गूढावत्त-गूढावर्त्त-पु० । गूढश्चासावावर्त्तश्च गूढावर्त्तः । गेन्दुकदवरकस्य दारुग्रन्थादेर्वा आवर्त्तने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

गूह-गूथ-न० । पु० । गूथ-क । अर्द्धर्चा० । विष्ठायाम्, त० ।

गूहण-गूहन-न० । स्वरूपस्य गोपायने मायाविशेषे, भ० १२ श० ५ उ० । तदात्मके मोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

गूहमाण-गूहमान-त्रि० । गोपायति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गेण्ह-ग्रह-धा० । उपादाने, ' ग्रहेर्गेण्ह " ॥ ८ । ४ । २०४ ॥ इत्यपभ्रंशे ग्रहेर्धातोर्गेण्ह इत्यादेश । "पढ गेण्हप्पिणु व्रतु" प्रा० ४ पाद ।

गे-गै-पु० । शब्दे, गीते च । गै पुमान् शब्दगीतयो । एका० ।

गेंदुअ-कन्दुक-न० । " पक्षस्यादौ " ॥ ८ । १ । ५७ ॥ इति "आदेरस्यैत्वम् (प्रा०) "मरकतमदकले ग कन्दुके त्वादे " ॥ ८ । १ । १८२ । इति कस्य ग. । वस्त्रादिनिर्मिते गोलके "गेन्द" इति ख्याते, प्रा० १ पाद ।

गेज्झ-ग्राह्य-त्रि०। "एद् ग्राह्ये" ॥८।१।७८॥ ग्राह्यशब्दे आदेर्गत एद् भवति। 'गेज्झं' आदेये, प्रा० १ पाद।

गेएह-ग्रह्-धा०। "ग्रहो वल-गेएह-हर-पङ्ग निरुवाराहिपच्चुआः" ॥८।४।२०९॥ इति ग्रहेर्गेएहादेशः। 'गेएहइ' गृह्णाति। प्रा० ४ पाद।

गेएिहअ-गृहीत्वा-अव्य०। "क्त्वा-तुम-तव्येषु घेत्" ॥८।४।२१०॥ इति घेदादेशाभावे तथारूपम्। आदायेत्यर्थे,प्रा०१ पाद।

गेय-गेय-न०। गानयोग्ये, स्था० ४ ठा० ४ उ०। स्वरसञ्चारेण गीतिप्राय निबद्धम्। तद्यथा-कापिलीयमध्ययनम् "अधुवे असासयम्मी, संसारम्मि दुक्खपउराए।" इत्यादि। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। 'सरकरण, सरे सचारो वा गेय'। नि० चू० १७ उ०।

अधुना गेयमाह-

तंतिसमं तालसमं, वन्नसमं गहसमं लयसमं च।
कव्वं तु होइ गेयं, पचविह गीयसन्नाए ॥ १७६ ॥

तन्त्रीसम तालसम वर्णसम ग्रहसम लयसम च काव्य तु भवति। तुशब्दोऽवधारणार्थ एव। गीयत इति गेय पञ्चविधमुक्तैर्विधिभिर्गीतसञ्ज्ञायां गेयाख्यायाम्। तत्र तन्त्रीसम वीणादितन्त्रीशब्देन तुल्य,मिलित च। एव तालादिष्वपि योजनीयम्। नवर ताला हस्ततगमा, वर्णा निषादपञ्चमाऽऽदय., ग्रहा उत्क्षेपा., प्रारम्भरभसविशेषा इत्यन्ये,लयास्तन्त्रीस्वनविशेषा.,"नत्थ किल कोणएण तंती छिप्पति,तओ णहेहि अणुमज्जिज्जति,नत्थ अन्नारिसो सरो उट्टेति,सो लयो त्ति" गाथार्थः॥ १७६ ॥ दश० नि० २ अ०। "अप्पेगइया देवा चउव्विह गेय गायंति। त जहा-उक्खित्ताय पायत्ताय मदा रोइयावसाण।" रा०। "चउव्विहे गेये पण्णत्ते। त जहा-उक्खित्तए पत्तए मंदए रोविंदए" स्था०४ठा०४ उ०। (अष्टौ गुणा 'गीय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ६०१ पृष्ठे उक्ता)

गेरिय-गैरिक-न०। गिरौ भवम्-ठञ्। वाच०। धातौ, दश० ५ अ० १उ०। पृथ्वीकायभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। मणिभेदे,सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। प्रज्ञा०। धातुरक्तवस्त्रे त्रिदण्डिनि परिव्राजके, प्रव० ९४ द्वार। गैरिकरञ्जितवाससि श्रमणभेदे, पिं०। श्रमणभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। आचा०। न०। कापिले, पिं०। अचलस्य प्रजापतिपुत्रस्य प्रतिपक्षे, ति०।

गेरुय-गैरिक-न०। 'गेरिय' शब्दार्थे,आचा० १ श्रु०१ अ० ४ उ०।

गेलन्न-ग्लान्य-न०। ग्लानत्वे ग्लानभावे, आव० ४ अ० "गेलन्न रोगो वा जवे, आतको वा"। नि० चू० १५ उ०। (आगाढाऽनागाढौ द्वौ भेदौ इति 'गिलाण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ८७७ पृष्ठे उक्तौ)

गेविज्जग-ग्रैवेयक-न०। ग्रीवायां बद्धमलङ्करणम् "कुलकुक्षिग्रीवाभ्य इवास्यलङ्कारेषु' ॥४।२।९६॥ इति (पाणि०)ढकञ्। वाच०। ग्रीवाऽऽभरणे, औ०। रा०। जं०। प्रश्न०। ग्रीवाबन्धने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। ग्रैविव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जुपरिवर्त्तिप्रदेश., तन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूतादौ ग्रैवेयका देशनामा ,तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयका। उत्त० ३६ अ०। विशे०। अनु०। आ० म०। कल्पातीतविमानेषु तद्वासिषु कल्पातीतवैमानिकदेवभेदेषु, स० ३५ सम०। ('ठाण' शब्दे चैषां स्थानानि वक्ष्यन्ते) तद्वक्तव्यम्-"गेविज्जगाण देवाण दोरयणीओ उड्ढ उच्चत्तेण पन्नत्ता" स्था० २ ठा० ३ उ०।

गेविज्ज अंगुलिज्ज-ग्रैवेयकाङ्गुलीयक-न०। कण्ठकाभ्योर्मिकाख्येषु, त०।

गेविज्जविमाणपत्थड-ग्रैवेयकविमानप्रस्तट-पुं०। लोकपुरुषस्य ग्रीवाभवानि ग्रैवेयकानि, तानि च तानि विमानानि च,तेषां प्रस्तटाः। ग्रैवेयकविमानानां रचनाविशेषवत्सु समूहेषु, स्था०।

तओ गेविज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता। तं जहा-हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। हेट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-हिट्ठिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-मज्झिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। (स्था० ३ ठा० ४ उ०) नव गेविज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता। तं जहा-हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे। एएसि णं नवण्हं गेविज्जगाण विमाणपत्थडाण नव नामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा-भद्दे सुभद्दे सुजाए सोमणसे पियदसणे सुदंसणे अमोहे य सुप्पबुद्धे जसोहरे। स्था० ९ ठा०।

गेवेय-ग्रैवेय-न०। ग्रीवाऽऽभरणे,"अद्धहार चा तरत्थं वा गेवेय वा मउम वा" ॥ आचा० २ श्रु० २ चू०।

गेह-गेह-न०। वास्तुविद्याप्रसिद्धगृहे, सू० प्र० ४ पाहु०। चं० प्र०। गृहे,स्था० ३ ठा० ४ उ०। "गेह ति वा गिह ति वा एगठ" नि० चू० २ उ०।

गेहाकाररुक्खकयणिलय-गेहाकारवृक्षकृतनिलय-पुं०। गेहाकारेषु गृहसदृशेषु वृक्षेषु कल्पद्रुमेषु कृतो निष्पादितो निलय आवासो यैस्ते गेहाकारवृक्षकृतनिलयाः॥ युगलिकमनुष्येषु,जं० २वक्ष०। ("तीसे ण समाए तत्थ तत्थ बहवे गेहागारा णामं दुमगणा पण्णत्ता" इत्यादि नवमकल्पवृक्षस्वरूपप्रतिपादक सर्वं सूत्रकदम्बकम् 'ओसप्पिणी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

गेहागार-गेहाकार-पुं० । गेहं गृहं तद्वदाकारो येषां ते गेहाकारा. । भवनत्वेनोपकारिषु, सुषमसुषमायां नवमेषु कल्पवृक्षेषु, स्था० १० ठा० । स० । गेहस्यैवाऽऽकारो यस्य स गेहाकार । गृहसस्थानसस्थिते,त्रि० । च० प्र० । ज० । जी० । त० (वर्णकस्त्वस्य ' ओसप्पिणी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७ पृष्ठे उक्त.)

गेहायार-गेहाचार-पुं० । गृहकृत्याचरणरूपे कल्पभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गेहावण-गेहापण-पुं० । गृहयुक्ते आपणे, च० प्र० ४ पाहु० ।

गेहि-गृद्धि-स्त्री० । गार्द्ध्ये, अभिलाषे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्राप्तार्थेष्वासक्तौ, भ० १२ श० ५ उ० । ग्रामे, ग्राम्यसुखे, नि० चू० १ उ० । अभिष्वङ्गे, आव० ४ अ० । अभिकाङ्क्षायाम्,उत्त० ७ अ० । " नच्च गेहिं परिण्णाय, एस पणते महामुणी " सर्वां गृद्धिं भोगकाङ्क्षां दु खरूपतया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । परित्यागे गुणमाह-' एस ' इत्यादि । एष इति कामपिपासापरित्यागी, प्रकर्षेण नत प्रह्वी, सयमे, कर्मधूननाया वा महामुनिर्भवति नापर इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । " पुढोवमे धुणेइ विगयगेहिं " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

गेहिअ-गेहिक-पुं० । भर्तरि, " गेहिओ हरिओ सरणागओ " उत्त० २ अ० ।

गेहिज्झाण-गृद्धिध्यान-न० । गेहिर्गृद्धिराहाराद्यत्यन्तमाकाङ्क्षा, तस्या ध्यान गृद्धिध्यान, मथुरामङ्गोरिव कण्डराजस्य मुकवनस्येव वा दुर्ध्यान, आतु० ।

गेहिधम्म-गेहिधर्म-पुं० । गृहस्थधर्म एव श्रेयानिति अभिसंधाय तथोक्तकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

गेण्हियव्व-गृहीतव्य-त्रि० । गृह्यते उपादीयते कार्यार्थिभिरिति गृहीतव्य. । कार्यसाधके, उत्त० १ अ० । उपादेये, आव० ६ अ० ।

गो-गो-पुं० । गच्छतीति गौ. । विशे० । आ० म० । गोशब्दाद् गोधूमस्ततशक्तश्च।जै० गा० । खुरककुदविषाणसास्नालाङ्गूलाद्यवयवसपन्ने पशौ, जै० गा० । बलीवर्दे, स्था० २ ठा० १ उ० । रा० । " गोशब्द· पशुभूम्यप्सु, वाग्दिगर्थप्रयोगवान् । मन्दप्रयोगे दृष्टचक्षु-वज्रस्वर्गाभिधायक ॥१॥ " इति । अनु० । स्था० । वाचि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । दश० । आ० म० । रश्मौ, वज्रे, स्वर्गे, चन्द्रे, सूर्ये, ऋषभनामौषधे, करणे-डो-नेत्रे, कर्तरि-डो-बाणे, वाचि, स्त्री० । दिशि, भुवि, जले, मातरि, पुलस्त्यभार्यायाम्, स्त्री० । इन्द्रिये, पशुमात्रे, वृषराशौ, नवमसख्यायाम्, वाच० । आदितीर्थकृल्लाञ्छने, हैम० ।

गोअमजिया-गौतमार्यिका-स्त्री० । ऋषिगुप्ताभिर्गतस्य माणवगणस्य द्वितीयशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

गोआरफली-गोआरफली-स्त्री० । गोआरफली चणकादिद्विदलस्य भञ्जिका च द्विदल स्यान्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-द्विदल भवतीति । १६१ प्र० सेन० २ उल्ला० ।

गोआवरी-गोदावरी-स्त्री० । नदीभेदे, गोदावरि ! सरस्वति ! इति जले तीर्थावाहनमन्त्र' । वाच० । प्रा० ।

गोउर-गोपुर-न० । गोभि· पूर्यते इति गोपुरम् । पुरद्वारे, जी० ३ प्रति० । नगरप्रतोल्याम्, भ० ५ श० ७ उ० । प्रतोलीद्वाराणां परस्परतोऽन्तरे,अनु० । प्राकारद्वारे, जी० ३ प्रति० । "दो वलाणगा पागारपमिणिबद्धा ताण अंतर गोपुर " नि० चू० ८ उ० । श्रेष्ठद्वारे, कैवर्तीमुस्तके, वाच० ।

गोउल-गोकुल-न० । व्रजे, गवां समूहे, गोष्ठे, आव० ३ अ० । " सामी गोउलगतो " आ० म० प्र० । " आउट्टो गोउलाणि विउव्विता " आव० ३ अ० ।

गोकण्ण गोकर्ण-पुं० । गौरिव कर्णो यस्य । सर्पे, गौरिव कर्णावस्य । अश्वतरे, मृगभेदे, वाच० । द्विखुरचतुष्पदविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । गोकर्णद्वीपवासिमनुष्ये च । स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० । प्रज्ञा० । उत्त० । गोकर्णमनुष्याणां गोकर्णद्वीपो नामा द्वीप. । जी० ३ प्रति० ।

गोकण्णदीव-गोकर्णद्वीप-पुं० । वैषाणिकस्य परतोऽन्तर्द्वीपे,न० ।

गोकलिंज-गोकलिञ्ज-न० । गोचरणार्थं महावशमयभाजनविशेषे, मल्लायाम्, भ० ७ श० ८ उ० । गोकलिंज नाम यत्र गोभक्तं प्रक्षिप्यते । रा० ।

गोकुलिणी-गोकुलिनी-स्त्री० । गोपालिकायाम्, "तदानीं जिनदास्याश्च, गोकुलिन्याश्च चेतसा ॥ उपप्रयाग मेलोऽभूद्, गङ्गाजमुनयोरिव ॥ १ ॥ " आ० क० ।

गोखीर-गोक्षीर-न० । धेनुदुग्धे,कल्प० ३ क्षण । ज्ञा० । औ० । गोक्षीरपाण्डुरं मांसशोणितमिति तृतीयोऽतिशयस्तीर्थकृताम् । स० ३४ सम० ।

गोखीराभ-गोक्षीराभ-त्रि० । गोक्षीरपाण्डुरे, "इहिर गोखीराभ निव्विस पांडुर मस" औ० ।

गोघयमंमण-गोघृतमण्मन-पुं० । गोघृतसारे, "गोघयमण्डण" उपा० १ अ० ।

गोघायय-गोघातक-पुं० । गोघ्ने,गोघातके,पापजीविनि, 'कसाई' इतिप्रसिद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

गोचोर-गोचोर-त्रि० । चोरविशेषे, यो हि धेनु चोरयति । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गोच्छय-गोच्छक-पुं० । पात्रवस्त्रप्रमार्जनहेतुकम्बलशकलरूपे, प्रश्न० ५ सम्व० द्वार । पात्रोपकरणे, तस्य प्रमाणम्-एका वितस्तिश्चत्वार्यङ्गुलानि चतुरस्रम् । " होइ य मज्जणहेऊ, गोच्छको भाणवत्थाण । " एतदुक्त भवति-गोच्छकेन पटलानि प्रमृज्यन्ते । औ० । कम्बलमयपात्रकोपरि दीयते । चू० ३ उ० । प० व० ।

गोच्छिय-गुच्छित-त्रि० । गुच्छवति, रा० । सजातगुच्छ, गुच्छश्च पत्रसमूह. । भ० १ श० १ उ० । ज्ञा० । औ० ।

गोजलोया-गोजलौका-स्त्री० । जलौकजन्तुविशेषे द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १५ पद । जी० ॥

गोजूह-गोयूथ-पुं० । गोसमूहे, पूर्वं नन्दगोपादीनां गवां यूथा. कोटीवद्धा आसीरन्, इदानीं ते तथाभूता न सन्ति, किन्तु पञ्चदशादिसख्याका । व्य० १० उ० ।

गोज्ज-गोज्ज-पु० । गायके, " जाव गोज्जो आढवेइ " । नि० चू० १ उ० । "एगम्मि पएसे गोज्जो रम्मिओ" दश० १ अ० ।

गोज्झग-गुह्यक-पु० । देवविशेषे, " केलासभवणाए एगो गुज्झगो समुवट्ठिओ " पिं० ।

गोट्ठंगण-गोष्ठाङ्गण-पु० । गोष्ठमध्ये, आव० ४ अ० ।

गोट्ठामाहिल-गोष्ठामाहिल-पु० । आर्यरक्षितसूरीणां मातुले, तद्वक्तव्यता किञ्चिदत्र-

एवं विहियपुहुत्ते-हिँ रक्खियज्जेहिँ पूसमित्तम्मि ।
ठविए गणम्मि किर गो-ट्ठमाहिलो पडिनिवेसेण ।२२६६।
सो मिच्छत्तोदयओ, सत्तमओ निन्हवो समुप्पण्णो (२२६७)

एवमुक्तप्रकारेण विहितानुयोगपृथक्त्वैरार्यरक्षितसूरिभिर्दिव यित्रायुभिर्धृततैलवल्लघटादिप्ररूपणां सकलगच्छममक्षं विधाय दुर्बलिकापुष्पमित्रे गणिन्याचार्ये स्थापिते यो मथुरानगर्यामन्यतीर्थिकेन सह वचस्वीतिकृत्वा वाददानार्थं सूरिभिर्निजमातुलको गोष्ठामाहिलः प्रेषित आसीत, स यशःशेषेषु सूरिषु प्रतिवादिन जित्वा समागतः सन् 'मामेवभूतं वचस्विन परित्यज्य अन्योऽयमृषिर्मूककल्पः सूरिभिराचार्य उपवेशितः, तत्पश्य कीदृश तै' कृतम्,"इत्याजिप्रायतः,तथा तां च घृतपटादिप्ररूपणां श्रुत्वा प्रतिनिवेशेन गाढानुशयेन यो मिथ्यात्वोदयो जात ,तत. तस्मात्स गोष्ठामाहिल सप्तमो निह्नवः समुत्पन्न ।२२६६।२२६७। विशे०। आ०म०।

" पंच सया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
अावद्धियाण दिट्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥ १ ॥
दसउरनगरुच्छुघरे, अज्जरक्खियपूसमित्ततिगय च ।
गोट्ठामाहिलनवम-ट्ठमेसु पुच्छा य विंझस्स " ॥ २ ॥

नवर विन्ध्योऽष्टमे कर्मप्रवादपूर्वे कर्म प्ररूपयति। यथा-जीव' प्रदेशैर्बद्धमात्रं कर्म तदेव विघटते,शुष्ककुड्यापातितचूर्णमुष्टिवत् । किञ्चित्स्पृष्ट कालान्तरेण विघटते, आर्द्रलेखकुड्ये सस्नेहचूर्णवत् । किञ्चिद्बद्धस्पृष्ट निकाचित बद्धयय.पिण्डन्यायेन जीवेन सहैकीभूतं चिरेणाऽपि वेद्यते । तत श्रुत्वा गोष्ठामाहिल आह-नैव शास्त्रकृतसंमतम् । आह-

पुट्ठो जहा अबद्धो, कंचुइणो कंचुअं समन्नेइ ।
एवं पुट्ठमवद्धं, जीवं कम्मं समन्नेइ ॥ १ ॥

यथा अबद्ध. कञ्चुकिनं समन्वेति एव स्पृष्टमबद्ध कर्म जीवं समन्वेति, जीवेन सहाविभागबद्ध कर्म न वियुज्यते । विन्ध्येनोक्तम्-ममैव गुरुभिराख्यातम् । स ऊचे-त्वद्गुरु. किं विजानाति ?। तेन शङ्कितेन गुरुः पृष्ट.-किमिद मया न सम्यक् श्रुतम् ?। गुरुराह-सम्यक् श्रुतम् । इदमित्थमेव नान्यथा । तेन गोष्ठामाहिलोक्त कथितम् । गुरुराह-एतन्मिथ्या, यथा-अय.पिण्ड वह्नि. सर्वात्मना बध्यते, वियुज्यते च; एव कर्माऽपि । इत्येनद् गुरोर्ज्ञात्वा विन्ध्येन स भणित -इत्थमाचार्या भणन्ति । तत. स तूष्णीं स्थित. । अन्यदा नवमे पूर्वे साधूनां प्रत्याख्यान वर्ण्यते । यथा-" पाणाइवाय पच्चक्खामि जावज्जीवाए " इत्यादि । गोष्ठामाहिलो वक्ति-नैव, नहिं कथमित्याह-

पच्चक्खाण सेअं, अपरिमाणाइ होइ कायव्व ।
जेसिं तु परीमाण, तं दुट्ठ आससा होइ ॥ १ ॥

प्रत्याख्यानम अपरिमाणकृत श्रेय , कृतपरिमाण दुष्ट, पूर्ये अवधौ प्रत्याख्यातवस्तुन आशंसासंभवात् । आशसाशब्दे सूत्रे प्राकृतत्वादनुस्वारलोप. ।

एव वदन् गोष्ठामाहिलो विन्ध्येन निषिद्धः । तदा च नवमपूर्वस्य यदवशेषमभूत्तत्समाप्तम् । तथाऽभिनिवेशाद् दुर्बलिकापुष्पाचार्येण सह गोष्ठामाहिलो वादार्थं ढुढौके । तत्र क्षपकं स्थापयन् आचार्येणोक्ते-अहो आर्य ! न हि साधूनां कालावधिप्रत्याख्यान मृताः सेविष्याम इत्याशसार्थं, किं तु देवभवे मा भूद्व्रतभङ्ग इत्यर्थः । एतच्चाश्रद्दधाने तस्मिन् सर्वसङ्घेन मिलित्वा कायोत्सर्गेण देवता आकृष्टा, सा आगता उवाच-आदिशतु सङ्घ. । उक्ता सङ्घेन-गत्वा तीर्थङ्कर पृच्छ-यद् दुर्बलिकापुष्पमित्राचार्यप्रमुख. सङ्घो वक्ति तत् सत्यम्?,उत गोष्ठामाहिलोक्तम् ?। तत्साहाय्याय च सङ्घः कायोत्सर्गेण स्थित । सा तीर्थङ्कर पृष्ट्वा आगता उवाच-सङ्घ' सम्यग्वादी, इतरो मिथ्यावादी निह्नवः । स तदपि न श्रद्धे, मिथ्यावादिन्येषा, न तत्र गता । तत. सङ्घेन बाह्य. कृत., अनालोचितप्रतिक्रान्तश्च काल गत. । आ० क० । आ० चू० । (गोष्ठामाहिलाबद्धिकानामुत्पत्ति., तन्मत च 'कम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २४६ पृष्ठे उक्तम्) गोष्ठामाहिलाः स्थविराः स्पृष्टमबद्धमेव प्ररूपयन्ति स्म । उत्त० ३ अ० । आ० म० ।

गोट्ठिदासी-गोष्ठिदासी-स्त्री० । जनसमुदायदासिकायाम्, "सिट्ठो विउज्जुमतीए गोट्ठिदासीए" । आ० म० प्र० ॥

गोट्ठिधम्म-गोष्ठिधर्म-पु० । गोष्ठिव्यवस्थायाम्, इह च समवयसा समुदायो गोष्ठी, तद्व्यवस्था पुनर्वसन्तादाविद कर्तव्यमित्यादिलक्षणा । दश० १ अ० ।

गोट्ठिल्ल-गोष्ठिवत्-त्रि० । गोष्ठीपतौ, अन्त० ७ वर्ग । विपा० । द्वाविंशतिगोष्ठीवत्पुरुषेषु, ग० ।

"नमिऊनरनमिरसुरनर-सिरिसेहरकिरणरइयससिरियं ।
नमिउं सिरिवीरपयं, वुच्छं मुयहीलुप्पत्तिं ॥ १ ॥
वीराउ वीसमे वरि-से सिरिसुहम्मस्सामिनिव्वाणं ।
तत्तो चूयालेसे, सिद्धो जबू चरमनाणी ॥ २ ॥
तउ इक्कारसवरिसे, पभवस्सूरी गओ तियसभवणं ।
तेवीसाए सिज्जं-भवो य तत्तो गओ सग्ग ॥ ३ ॥
जसभद्दगुरू तत्तो, सीसो सिज्जंभवस्स समयन्नू ।
विहरंतोऽयं पत्तो, सावत्थीकुट्ठगुज्जाण ॥ ४ ॥
सिरिभद्दबाहुसंभू-इविजयसीसा दुवालसगधरा ।
पासट्ठिया य निच्च, कुणंति सुस्सूसणं गुरुणो ॥ ५ ॥
अह भद्दबाहुसीसो, महिलाए अग्गिदत्तनामेणं ।
लच्छिगेहे उज्जाणे, सो पभिमाइट्ठिओ तवं चरइ ॥ ६ ॥
इत्तो बुवीसपुरिसा, गोट्ठिल्ला मज्जमंसपरवसगा ।
कामलयाए रत्ता, वियरंति सया तदुज्जाणे ॥ ७ ॥
पासंती तं साहु, महघा निग्घिणा अईपावा ।
अइतिक्खसत्थहत्था, धावंति वहाय समकालं ॥ ८ ॥
पभिया य अधकूवे, सव्वे दट्ठूण मन्नुणा गहिया ।

अन्नुन्नसत्थपहिया, चिंतेइ मुणी सकरुणाए ॥ ९ ॥
हा हा अकालसमए, वरायया जीवियाउ वुच्छिन्ना ।
जिणधम्मकरहिया ते, कत्थ वि पत्ता मुणइ नाणी ॥१०॥
इय चिंतित्ता साहू, पारित्ता काउसग्ग तउ चालिओ ।
जत्थेव य गुरुगुरुणो, इरियाए समागओ तत्थ ॥११॥
काऊण य किइकम्म, तस्स य गुरुणस्स भद्दवाहुस्स ।
सम्भूईविजयस्स वि, तह पुरो कयजली पुच्छे" ॥१२॥

इत्थं पुच्छा-भयवं ! ते दुवीसगा गोट्ठिल्ला पुरिसा अह-म्मिआ अकाल कालधम्मेण पत्ता कहिं उववन्ना ?। कत्थइ वा जोणिमडले कम्मणा परिब्भमिस्सति ?। ते दुवीसगा किं सुलहवोहिवत्तिणो,उयाहु दुल्लहवोहिवत्तिणो?, त्ति पासिय मम संसयं विहामेउ ?।तए णं से जसभद्दगुरू तुंगियायणसगुत्ते तिसमग्गोवगए दिट्ठिवायतभावियतकरणे सुउवओगं पउजमाणे तेसिं दुवीसगोट्ठिल्लाण पुरिसाणं गईओ उववाय कम्मणा जोणीमंडलपरिब्भमणं वोहिदुल्लह नाऊण त अग्गिदत्तसीसं एवं वयासी-अग्गिदत्ता ! ते गोट्ठिल्ला पुरिसा तुम वहयट्ठयाए पहावेमाणे मज्जपरवसगा अधकूवम्मि पमिया समाणा परुप्परतिक्खसत्थेहिं छिन्नगुवगा अट्टदुहट्टवसा पुणो पुणो कामल्लय गणियं कंखमाणा अतमुहुत्ताए तदज्झवसाणं०. तीसे ण कामल्लयाए गणियाए तेहिं गोट्ठिल्लपुरुसेहिं किमिजोणियत्ताए सकमाहिं अउल्ला दुरहियासा घणवेयणा पाउब्भूया। तीसे णं वेयणाए कामल्लया गणिया पीडिया ममाणी अणेगाणं विज्जाणं चिगिच्छगाणं थणं उवदसेमाणी वहुमततत आसेधजेसज्जेण पमियार करेमाणी संचिट्ठति। तया ण अग्गिदत्ता ! एगए ण विज्जे सत्थकम्मेण लद्धोवत्ताए उरो य वियारणए ते दुवीसकिमिकीडगा वेइंदिया अट्ठियमससोणियवद्धा साहरिय जलजरियभायणे पमुत्ता णं कामल्लयाए उवदसेइ, पुणो वि थणमसचम्मं सायिसुत्तेण मालेइ, सरोहणोसहेण समाहिज्जइ। तए णं अग्गिदत्ता ! मा कामलया तेहिं दुवीमकीमगेहिं थणमज्झकढिएहि उप्पन्नसमाहिया जयणी त विज्ज विउलेण असणपाणखाइमसाइमवत्थमल्लालकारेण य जीवियारिहपीइदाणेण य तोसइत्ता विसज्जेइ। तए ण सा कामल्लया गणिया तेसु किमिकीमगेसु पुव्वबंधाणुमया सकरुणं चिंतेइ-मा इमेसिं ववरोवणं मम हत्थाओ भविस्सइ त्ति गहाय महिल्लाए पुरीए खाइयमज्झवाडियदुग्गंधसुक्कसोणियकोट्ठगसि उम्मयइ। तत्थ वि ते दुवीसकिमिकीमगा आयवछुहातएहिं अभिभूया समाणा अतमुहुत्तपहुत्तेहिं कालं गया। तओ ण अग्गिदत्ता ! साहारणवणेसु मुत्थाकंदएसु एगिंदियत्ताए उववज्जिस्सति । तीओ कालेहिं खणिज्जमाणे कट्टिज्जमाणे ते दुवीसकिमिसत्ता पुढवीदगागणिपवणवणस्सइएसु पंचसु एगिंदियेसु जहन्नमज्झिमगठिइं पूरिस्सति । ततो वि य अग्गिदत्ता ! ताणं दुवीसकिमिजीवाण तीसे णं कामलयाए उयरसि गंमोलयत्ताए उप्पत्ती भविस्सति । तओ चिगिच्छएणं दिण्ण विरेयण, तेसिं दुवीसगंमोलगाणं अहिट्ठाणदारेण पुरीसलित्तगाण पाडियाण अतमुहुत्ता विवन्नाण तत्थेव पुरीसे तेइंदियत्ताए उप्पत्ती भविस्सति। तनो वि अतमुहुत्ताउएण ते दुवीसा तेइंदिया विवन्ना समाणा तमेव पुरीसे चोरिंदिया होहिंति । एव च ण तीसे कामल्लयाए उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणवंतापित्तेसु मत्तवारं विगलिंदियत्तणं जहाकमं पाविहिंति । इत्थमेगूणतीसभववत्तव्वया । तओ पुणो अग्गिदत्ता ! ते दुवीसगोट्ठिल्लपुरिसा तीमइमे भवे तीमे गणियाए गेहे मोयगहणनिद्धमणे मरुका समुप्पिस्सति । ततो दिणपुहुत्तेणं आउमइक्कम्म इगतीसिमे भवे मूसया गब्भुब्भवा तीमे कामल्लयाए गणियाए गेहे होहिंति । तओ य मासपहुत्ता आउक्खएण दुतीसइमे भवे तीसे णं कामल्लयाए गणियाए गिहे सवद्दारदेसम्मि गता सूअरत्तं अणुहवइस्सति। तत्थ ते दुवीसगा सूयग रुद्दा पयरूा पीणखंधा कामगिद्धा दाढाविल्लंवियवयणा कद्दमचिट्ठाविल्लित्तगत्ता तेणं चेवाहारेणं वित्ति कप्पेमाणा परुप्पर रोद्दस्सरेणं गुंजमाणा वहूए पाणीणं विमद्दणट्ठाए अप्पाणं सहरिस मन्नमाणा वासपहुत्तट्ठिइखएणं काल किच्चा सेलमरीरगावया तेत्तीसइमे भवे अवतीजणवएसु सोवागकुलेसु उववज्जिस्संति । तत्थ णं ते दुवीसगा सोवागा वुड्ढिं पत्ता हुंडसंठाणे दीहदंता लंवोयरा नीलीयरा विसिन्ननासिका अदसणिज्जा जणाणं दुगंछामुप्पायमाणा सकम्मकुसला आवि होहिंति। तए णं ते दुवीसकम्मकुसलत्तणेण विण्णाणगुणेण य उवाएण कम्मुपायणेण वहुअतरदविणजायं एगओ मेलइस्सति । तदव्वजीवियट्ठाए उवभुजेमाणा विहराति। इत्थतरम्मि अग्गिदत्ता ! सा कामल्लया गणिया वुड्ढिं पत्ता समाणी वहूणं अत्थणाण य मग्गणाण य भिक्खायरियाण य अत्थयमाणी परियरमाणी नियथसयणजण आपुच्छित्ता परिव्वायगधम्मे परिवधाणुरागा महिल्लानयरीओ निग्गच्छति। निग्गच्छित्ता कासीजणवयमज्झट्ठियसुरसरिउवकठियाण परिव्वायगाण अंतिए आगओ सासणमूलं परिव्वायगधम्मं उवमपज्जित्ता णं चिट्ठइ; तए ण मा कामलया गणिया सुद्धपरिव्वाइया भविस्सइ । अण्णयाइ सा कामलया परिव्वाइया कासीजणवयाओ वहिया सव्वतित्थाइनमसणट्ठयाए नियगुरुं आपुच्छित्ता वहिया जणवयविहार विहरमाणी तित्थाइनमममाणी अवंतिदेसट्ठियसिप्पासरी।देसु अणेगाहिं परिव्वाइगाहिं सद्धिं सपरिवु-

डा धाउरत्तवत्थपरिहिया तं दंडिकुट्टियं अंकुमवरमालप-
वित्तियहत्था समाणा आगमिस्सइ । तए णं सा कामलया
परिव्वाइया सिप्पासरीतमेसु समागय जाणित्ता अणेगे
अवंतिजणवयमज्झिल्ला सेट्ठिसेणावइमतिणो वहवे उत्तमा
य मज्झिमा य पुरिसा इत्थिआ य जत्ताए हव्वमागमिस्सं-
ति। तत्थ ण ते दुवीससोवागा तीसे ण जत्ताए आगमिस्संति।
तीसे ण कामलया परिव्वाइया तेसिं सिट्ठी० जाव इत्थीणं
पुरओ सोयमूल परिव्वायगधम्म परूवेइ। एवं खलु अम्हे
सोयमूले धम्मे पन्नत्ते। से वि य सोए दुविहे पन्नत्ते। त जहा-
दव्वसोए १ भावसोए अ २। दव्वओ उदयमट्टियाए य,
भावओ दसेहि य मतेहि य। जं णं अम्हं किंमिहि अ-
सुई भवइ, स य मट्टियाहिं लिंपिज्जइ, तओ सुद्धोदएण
पक्खालिज्जइ, तते ण सा असुई सुई हवइ, एवं खलु
सत्ता जलाभिसेए सते परं पय गच्छति। तया णं ते दुवी-
ससोवागा कामलयापरिव्वाइयावूतं सोय धम्मं सोच्चा
हट्ठतुट्ठा धम्म अभिसद्दहमाणा रोहमाणा कामलयापरि-
व्वाइयाए अतिए तियपयाहिणापुव्वं सोयमूलं धम्मं
पडिवज्जिहिंति, पुणो वि कयपणामा सएसु गिहेसु
पमिगमिस्संति, परिव्वायगधम्मपरमभत्ता होहिंति । अह
ते दुवीससोवागा मिच्छादसणधारिणो अण्णधम्मप-
डिणीया हुंता सेसाण पंचदरिसणाणं, विसेसओ
जिणमग्गपवन्नाणं सजयसड्ढाणं जिणवयणाणं अवण्णवाइ-
णो पडिणीया निंदणीया होहिंति। तओ ते दुवीससोवागा
परिव्वायगधम्माणुरत्ता जिणधम्मस्स अवण्णवायं उच्चारे-
माणा अन्नया कयाइं आमंतणे अणेगाहिं गिहियं दाणं
आहारेमाणे मरणमणवकंखमाणे पंचवासं परिव्वायगधम्मं
परमभावपरियाग पाउणित्ता आउक्खयम्मि तत्थेव अवंतिदेसे
चउतीसइमे भवे भडसकुलेसु उववज्जिहिंति। तओ णं ते दु-
वीसभडिया कमेण वुड्ढि पत्ता दुट्ठा रुद्दा साहस्सिया विया-
लचारिणो अणेगसेट्ठिसेणावइअमच्चनरवइणो भमचिट्ठे
विहरमाणा विहरिस्सति। अन्नया कुमत्थल्लनयरम्मि वंजदी-
वगायापुरओ असुसवेसविमंविय असुसदासपरिकीलियं
दुट्ठचिट्ठं उवदंसमाणा एगं साहुजुगलं अट्ठमपारणंसि
गोयरचरियाए विहरमाणं पासिस्सति । एयम्मि समए
एगेण तत्थ दुट्ठपुरोहिएणं कयसन्ना ते दुवीसभडगा कलक-
लारवं करेमाणा पहाविस्सति, त साहुजुगल संघट्टइस्सति,
परियावइस्सति, किलामइस्सति, हीलइस्सति, खिंसिस्संति,
निंदिस्सति, पुरोहियपमुहाणं हासं जणइस्संति, तह वि
हु त साहुजुयलं मोणावलंवियं दट्ठूण मंता तत्ता समाणा
सयमेव ससद्दचिट्ठाइमि मद्दवभाव पमिवन्ना तं साहुण

जुयलं खुहियं ति कट्टु विसज्जिहिंति। तए णं अग्गिदत्ता !
ते दुवीसभंडगा अकम्मा अकालविज्जुपाएण पज्जलियंगा
भविस्संति। तीए णं पणतीसइमे भवे मज्झे विसएसु पुहो पुहो
कुलेसु चउदसविज्जापारया दिया समुप्पज्जइस्सति । तते
णं ते दुवीसदिया धाराउरे जन्नदत्तदियामंतणेणं जण्णवाम-
म्मि ठिया पिहियदुवारा दव्वेहिं घएहिं हवणं करेमाणा
वज्झग्गिणा उट्ठिएण दड्ढा हुंता अट्टज्झाणोवगया पि-
वासासोसियकंठा सिप्पाणईए दहम्मि मच्छा होहिंति।
एव सत्तभववत्तव्वयाओ जलयराणं मज्झे, तओ णं नव-
भववत्तव्वया खयरजोणीसु, तओ य एक्कारसभववत्त-
व्वया थलयराणं मज्झे । एवं च णं अग्गिदत्ता ! दुस-
ट्ठिभवग्गहणं णेयव्वं । तेसिं इत्थंतरम्मि दुसट्ठिमे भवे ते
गोट्ठिल्लपुरिसजीवा मिया उप्पज्जिस्संति । तए णं ते दु-
वीसमिया वुड्ढि पत्ता अपरिकम्मवणदवग्गिदड्ढा सेलपरि-
गावया तेसट्ठिमे भवे मज्झे विसएसु सावयवाणियकु-
लेसु पुहो पुहो समुप्पज्जिस्सति। तए णं ते दुवीसवाणि-
यगा उम्मुक्कबालवत्था विण्णायपरिणयमित्ता दुट्ठा धिट्ठा
कुसीला परवंचणा खलुंका पुव्वभवमिच्छत्तभावाओ जि-
णमग्गपमिणीया देवगुरुणिंदणया तहारूवाणं समणाण
माहणाणं पमिकुट्ठकारिणो जिणपण्णत्तं तत्त असद्दहमाणा
अत्तपसंसिणं वहूण नरनारीणं सहस्साण पुरओ नियक-
प्पियं कुमग्गं आघवेमाणा पन्नवेमाणा परूवेमाणा जिण-
पमिमाणं भंजणया ण हीलंता खिंसंता निंदंता गरिहं-
ता परिहवंता चेइयतित्थाणि साहुसाहुणी य उड्डावइस्सं-
ति। तया णं अग्गिदत्ता ! सा कामलया परिव्वाइया अ-
ट्ठहुत्तरिवासाइं गिहवासं किच्चा दुतेरसवासाइ परिव्वायग-
धम्ममणुरत्ता चउरुत्तर वाससय सव्वाउयं पाउणित्ता
सत्तअहोरत्तनिरसणट्ठिया कालं किच्चा वाणवितरस्स
सुवत्थस्स दाहिणे दिसि देसूणपलिओवमाउया सुवत्था नाम
देवी उप्पज्जिस्सति । सा सुवत्था वाणवितरी ओहिणा
पुव्वबहुभवसंबंधिणो ते दुवीसवाणियगे पासित्ता हट्ठ-
तुट्ठा ताणं दुवीसवाणियगाण दुट्ठाणं० जाव परि-
हवताणं पुव्वभवपच्चओ सहियाणं परमपिईए सा-
हाएज्जं करिस्सति । तया णं अग्गिदत्ता ! ते दु-
वीसवाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता तीसे णं सुव-
त्थावाणवंतरीए साहज्जेणं धणेण धन्नेण पुत्तकलित्ति-
आएणं पीईसक्कारसमुदाएणं वड्ढिस्सति। तया णं ते दुवीस-
वाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता धनेण धन्नेणं० जाव समु-
दाएणं वड्ढिया समाणा वाहाहिं अप्पाणं अफोडिस्संति वि

वागिस्सति,बहूण नरनारीसहस्साणं पुरओ एवं परूवइस्सं-ति-जओ ण अम्हाणं एस धम्मे सव्वे अट्ठे परमट्ठे, सेसे अणट्ठो, हंजो माणुस्सा ! पासह-अम्हाणं किच्चफलं इहलोए वि पयरू,किमंग ! पुण फलकद्दणं ति तुम्हे वि अम्ह धम्माणुट्ठाणपरा होह त्ति कट्टु आहियं नियगमइविगप्पियं सच्छंदबुद्धिमग्ग आइक्खइस्सति । एव च णं अग्गिदत्ता ! ते दुवीसवाणियगा पव्वज्जट्ठमावयधम्मगा छएहं दरिसणेणं मज्झे एगमवि दरिसणममद्दहता सकप्पियं पहं पहावेमाणा असखकालं० जाव दुल्लहबोहियत्ताए कम्मं पकरिस्संति, भामिपरूवियस्स सुयस्स हीलणेणं जविस्सइ। तया णं सुयहीलणयाए समणाणं निग्गंथाणं नो उदए पूआ सक्कारे संमाणे जविस्सइ, अइदुक्करं धम्मपालणं भविस्सइ । तए णं अग्गिदत्ता ! दुवीसवाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता पन्नरसवासाइं अहिकंच अणाणुपुव्वीए चउरंतं नवनवइवासपरियागं पाउणित्ता सोलसरोगायंकाहिं परिजूया समाणा अट्टज्भाणोवगया कालं किच्चा धम्माइपुढवीए पढमपयरम्मि दसवाससहस्सट्ठिईए नेरइयत्ताए उववज्जिहिंति । तओ य लगिस्सइ धूमकेउग्गहो, तस्स ठिई तिन्नि सया तेत्तीसा एगरासिवरिसाणं, तम्मि य मीणपइट्ठो उ मिच्छत्तावं पडिवज्जणाउ पाणाविहजोणीसु कम्मणा तेसिं परियट्टणं हविस्सइ । एवं णं अग्गिदत्ता ! जीवा सावयत्तणमवि लद्धूण सुयहीलणाए दुल्लहबोहिणो हविस्संति ।

"अह अग्गिदत्तसाहू, पुणो वि पुव्वं गुरुकयपणामा ।
अज्जा! कया होही सुय-हीला अवि कया उदओ ॥१॥
जणइ जसजद्दसूरी, सुउवओगेण अग्गिदत्तमुणिं ।
सुणसु महाजाय! जहा, सुयहीलणमह जहा उदओ ॥२॥
मोक्खाउ वीरपहुणो, दुसएहिं य एगनवइअहिएहिं ।
वरिसाइ संपइनिवो, जिणपमिमाउवगो होही ॥ ३ ॥
तत्तो सोलसएहिं, नवनवइ पुणो जुएहि वरिसेहिं ।
ते दुट्ठा वाणियगा, अवन्नइस्सति सुयमेयं ॥ ४ ॥
तम्मि समएँ अग्गिदत्ता !. संघसुयजम्मरासिनक्खत्ते।
अमतीसइमे दुट्ठो, लगइस्सइ धूमकेउगहो ॥ ५ ॥
तस्स ठिई तिन्नि सया, तेत्तीसा एगरासिवरिसाणं ॥
तम्मि य मीणपइट्ठो, संघस्स सुयस्स उदयत्थी ॥ ६ ॥
इय जसभद्दगुरूणं, वयणं सोच्चा मुणी सुवेरग्गो ॥
पायाहिण कुणंतो, पुणो पुणो वंदणं कुणइ ॥ ७ ॥
आपुच्छिऊण सूरिं, सुगुरु तह भद्दवाहुसंजूइं ।
संलेहणं पवन्नो, गओऽग्गिदत्तो पढमकप्पे ॥८॥
इय सुयहीलणुपायण-फज्ञाफलं जाणिऊण अन्ने वि ।
जसजद्दे जिणवयणे, ढढचित्तो होह पइदिवहं " ॥९॥
॥ इय वंगचूलियाए सुयहीलुप्पत्ती अज्झयण संमत्तं ॥

गोट्ठी-गोष्ठी-स्त्री०। गावाऽनेका वाचस्तिष्ठन्ति अत्र। स्था घञर्थे क। "अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्कङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमे बर्हिर्दिव्यग्निभ्य. स्थ" ॥८।३।९७॥ इति (पाणि०) षत्वम् । गौरा० ङीष् । वाच० । "कगटमतदपशषस ४ क ४ पामूर्ध्वं लुक्" । ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति षलुक् । प्रा० २ पाद । महत्तरादिपुरुषपञ्चकपरिगृहीते, बृ० २ उ० । जनसमुदायविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । परस्पराऽऽलापे, पोष्यवर्गे च । वाच० ।

गोड-गौड-पुं० । देशभेदे, कल्प० ७ क्षण । स च देशो वङ्गदेशाद्दक्षिणस्यां समुद्रान्तिके । (प्रश्न० १ आश्र० द्वार) अनार्यक्षेत्रेष्वनन्तर्भवति । तद्वासिनि म्लेच्छजातीये मनुष्ये च । प्रव० २७४ द्वार । सू० प्र० ।

गोमवागरण-गौमव्याकरण-न० । विंशतिव्याकरणानां षोडशे, कल्प० १ क्षण ।

गोमी-गौमी-स्त्री० । गुडनिष्पन्नायां मदिरायाम्, बृ० २ उ० । "ओज.प्रकाशकैर्वर्णै-र्बन्ध आडम्बर पुन· ॥ समासबहुला गौडी, " इत्युक्तलक्षणे काव्यरीतिभेदे, वाच० ।

गोड्ड-गौड्य-न० । गौल्यरसोपेते मधुररसोपेते, भ० १८ श० ६ उ० ।

गोण-गो-पुं० । "गोणादयः" । ८ । २ । १७४ ॥ इति गोशब्दस्य स्थाने निपात'। प्रा० २ पाद । बलीवर्दे, दश० ५ अ० १ उ० । आचा० । उत्त० । ओ० । स्था० । प्रश्न० । ज० । प्रज्ञा० । "गोण वियात" । आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

गोण-न० । गुणैर्निर्वृत्त गौणम् । उत्त० २९ अ० । गौणानि गौणनिष्पन्नानि । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । गुणेभ्य आगत गौणम् । कल्प० ४ क्षण । स्था० । "अव्यभिचारी मुख्यो-ऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च, विपरीतोऽर्थो गौण" । स्या० ६ श्लोक । नि० चू० । "गोण गुणनिप्पन्न नामधेज्ज करिंति ।" किमुक्त भवति?, इत्याह-गौणशब्दोऽप्रधानेऽपि वर्त्तते इत्यत उक्त गुणनिष्पन्नम । औ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । विशे० । गुणप्रधाने, विपा० १ श्रु० २ अ० । नामनि, पिं० । ('नाम' शब्दे व्याख्या) ।

से किं तं गोणे ? । गोणे खमइ त्ति खमणो, तवइ त्ति तवणो, जलइ त्ति जलणो, पवइ त्ति पवणो । सेत्तं गोणे ।

"से किं त गोणे" इत्यादि, गुणैर्निष्पन्न गौण, यथार्थमित्यर्थ. । तच्चानेकप्रकार, तत्र क्षमत इति क्षमण इत्येतत् क्षमालक्षणेन गुणेन निष्पन्न, तथा तपतीति तपन इत्येतत्तपनलक्षणेन गुणेन निर्वृत्तम्, एव ज्वलतीति ज्वलन इतीद ज्वलनगुणेन सभूतम् । इत्येवमन्यदपि भावनीयम् । अनु० ।

गोणंगुल-गोलाङ्गूल-पुं० । लङ्गूरे वानरे, भ० १२ श० ८ उ० ।

गोणंगुलवसभ-गोलाङ्गूलवृषभ-पुं०। गोलाङ्गूलानां वानराणां मध्ये महान् स एव वा विदग्ध , विदग्धपर्यायत्वात् वृषभशब्दस्य । विशिष्टवृषभे, भ० १२ श० ८ उ० ।

गोणणाम-गौणनामन्-न० । गुणैर्निष्पन्न गौण, तच्च नाम च गौणनाम । यौगिकनाम्नि, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

गोणपोत्तय-गोपुत्रक-पुं० । गोवत्से, उत्त० ५ अ० ।

गोणगोजूत-गौणगोजूत-त्रि० । बलीवर्दकल्पे, बृ० २ उ० ।

गोणलक्खण-गोलक्षण-न० । सास्नाविलरूक्ष्यो मूषिकनयनाश्च न शुभदा गाव इत्यादिके गोजातीयलक्षणे, जं० २ वक्ष० । द्वात्रिंशत्कलाभेदे, स० । ज्ञा० ।

गोणस-गोनश(स)-पुं० । नि.फणाहिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जी० । प्रज्ञा० । सरीसृपभेदे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गोणसखाइयाइ-गोनसखादितादि-पुं० । स्त्री० । "गोणसखइयाइ रप्पुप वा त्ति" । (७) आव० ५ अ० । गोनससरीसृपभक्षित-प्रभृतौ, आदिशब्दात् गोधेरकादिपरिग्रहः । पञ्चा० १६ विव० ।

गोणागिति-गवाकृति-पुं० । गवये, नि० चू० १ उ० ।

गोणिय-गाविक-त्रि० । गोक्रयविक्रयकारिषु, व्य० ६ उ० ।

गोणिपाण-गोपान-न० । गवां यत्र पानं तस्मिन्, बृ० ३ उ० ।

गोणिवच्छ-गोवत्स-पुं० । धेनुवत्से, पिं० ।

गोणिसज्जा-गोनिषद्या-स्त्री० । गोरिवोपवेशने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

गोणी-गो-स्त्री० । गवि, "गोणीणं संगेल्लं" गवां स्त्रीगवानां 'संगेल्ल' समुदायः । व्य० ४ उ० । आ० चू० । विशे० आ० म० । (आचार्यशिष्ययोग्यायोग्यत्वे गोदृष्टान्तोऽन्यत्र)

गोतित्थ-गोतीर्थ-न० । ६ त० । गवां तडागादाववतारमार्गे, गोतीर्थमिव गोतीर्थम् । लवणसमुद्रादेरवतारवत्यां भूमौ, स्था० १० ठा० । क्रमेण नीचतरे प्रवेशमार्गे, जी० ३ प्रति० । (लवणसमुद्रशब्देऽस्य व्याख्या)

गोतित्थविरहिय-गोतीर्थविरहित-पुं० । समभूमौ, द्वी० । "गोतित्थेहिं विरहिय, खेत्त नलिणोदगसमुद्दे" ॥ १६ ॥ द्वी० । विषमेऽवतारभूमिर्भवति । स्था० १० ठा० ।

गोतिहाणी-गोत्रिहायनी-स्त्री० । त्रिवर्षजातायां गोवत्सिकायाम्, त० ।

गोत्त-गोत्र-न० । 'गुङ्' शब्दे, गूयते संशब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद् गोत्रम् । उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणे पर्यायविशेषे, प० स० ३ द्वार । तथाविधैकपुरुषप्रभवे वंशे, ध० १ अधि० । यथार्थकुले, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

सत्त मूलगोत्ता पण्णत्ता । तं जहा-कासवा, गोयमा, वच्छा, कोच्छा, कोसिया, मंडवा, वसिट्ठा ।

'सत्त मूलगोत्ता' इत्यादिना ग्रन्थेन गोत्रविभागमाह । सुगमश्चायम्, नवरं गोत्राणि तथाविधैकैकपुरुषप्रभवा मनुष्यसन्ताना उत्तरगोत्रापेक्षया मूलभूतानि आदिभूतानि गोत्राणि मूलगोत्राणि, काशे भवः काश्यो रसस्तं पीतवानिति काश्यपः, तदपत्यानि काश्यपा, यथा-मुनिसुव्रतनेमिवर्जा जिनाश्चक्रवर्त्यादयश्च क्षत्रियाः । सप्तमगणधरादयो द्विजा जम्बूस्वाम्यादयो गृहपतयश्चेति । इह च गोत्रस्य गोत्रवद्भ्यो भेदादेव निर्देशः, अन्यथा काश्यपमिति वाच्यं स्यात् । एवं सर्वत्र । तथा गोतमस्यापत्यानि गौतमाः क्षत्रियादयः । यथा-सुव्रतनेमिजिनौ नारायणपद्मवर्जवासुदेवबलदेवा इन्द्रभूत्यादिगणनाथत्रयं वैरस्वामी च । तथा वत्सस्यापत्यानि वत्साः-शय्यम्भवादयः । एवं कुत्साः-शिवभूत्यादयः, "कोच्छं सिवभूइमपि य" इति वचनात् । एवं कौशिका षडुलूकादयः । मण्डोरपत्यानि मण्डवाः । वसिष्ठस्यापत्यानि वासिष्ठाः-षष्ठगणधरार्यसुहस्त्यादयः । तथा ये काश्यपास्ते सप्तविधाः । एके काश्यपशब्दव्यपदेश्यत्वेन काश्यपा एव । अन्ये तु काश्यपगोत्रविशेषभूतशाण्डिल्यादिपुरुषापत्यरूपाः शाण्डिल्याद्योऽवगन्तव्याः । स्था० ७ ठा० । एते च प्रत्येकं सप्तसप्तेति सर्वसंकनया एकोनपञ्चाशत् । स० । ज्ञा० । भ० । स्था० । न० । नि० । तद्विपाकवेद्ये कर्मणि च । कारणे कार्योपचारात् कर्मण उपादानविवक्षया गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयप्राप्तात्तद्गोत्रम् । प० स० ३ द्वार । कर्म० । दशा० । प्रव० । पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादिव्यपदेश्यरूपां गां वाचं त्रायते इति गोत्रम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । सप्तमे कर्मणि, उत्त० ३३ अ० । तच्च द्विधा-"गोत्ते कम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-उच्चागोए चेव, णीयागोए चेव" । स्वरूपं चास्येदम्-"जह कुंभारो भण्डाइँ कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स ॥ इय गोय कुणइ जिय, लोए पुज्जेयरा वत्थु" ॥ १ ॥ उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम्, इतरद्विपरीतम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । प्रज्ञा० ।

सम्प्रति द्विभेदगोत्रकर्माभिधित्सुराह-

गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं । (५२)

गोत्रं प्राग्वर्णितशब्दार्थं द्विधा द्विभेदम् । कथमित्याह-'उच्चनीचं' उच्चं च नीचं च उच्चनीचम्, उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रमित्यर्थः । एतच्च कुलाल इव कुम्भकारतुल्यं शोभनो घट सुघटः पूर्णकलशः, 'भुम्भल' मद्यस्थानं सुघटभुम्भले आदौ यस्य तत्कृतोपकरणस्य तत्सुघटभुम्भलादि, करोतीति शेषः । अयमत्र भावः-यथा हि कुलालः पृथिव्यास्तादृशं पूर्णकलशादिरूपं करोति यादृशं लोकात् कुसुमचन्दनाक्षतादिभिः पूजां लभते, स एव भुम्भलादि तादृशं विदधाति यादृशमप्रक्षिप्तमद्यमपि लोकान्निन्दां लभते । कर्म० १ कर्म० ॥ प० स० । कल्प० । आचा० । आ० । (अनुभागादयोऽस्य प्रथमभागे अनुभागादिशब्देषु तृतीयभागे २०० पृष्ठे 'कम्म' शब्दे च सबन्ध उक्तः) गां वाचं त्रायतेऽर्थाविसंवादनतः पालयतीति गोत्रम् । समस्तागमाधारभूते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पर्वते, सम्भावनीयबोधे, कानने, क्षेत्रे, मार्गे, छत्रे, सङ्घे, वृद्धौ, वित्ते, धने, वाच० । (गोत्राणां भेदाः स्वस्वशब्दे)

गोत्तजोगि (ण्)-गोत्रयोगिन्-पुं० । गोत्रवन्तो योगिनो गोत्रयोगिनः । षो० १३ विव० । गोत्रमात्रेण योगिषु, द्वा० ११ द्वा० ।

गोत्तफुस्सिया-गोत्रस्पर्शिका-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

गोत्तमय-गोत्रमद-पुं० । उच्चैर्गोत्रे इक्ष्वाकुवंशहरिवंशादिके संजातोऽहमित्येवमात्मके मदे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

गोत्तागार-गोत्राकार-पुं० । द्र० स० । नामाकृतिषु, च० प्र० १० पाहु० ।

गोत्रागार-न० । कुलगृहे, च० प्र० १० पाहु० । स्था० ।

गोत्तावगय-गोत्रापगत-त्रि० । गोत्रादेरपगते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

गोत्तास-गोत्रास-पुं० । भीमस्य कूटग्राहस्य पुत्रे, स्था० । अथ हि हस्तिनागपुरे भीमा गाश्चासितवानिति गोत्रासः । अथ हि हस्तिनागपुरे भीमाभिधानकूटग्राहस्योत्पलाभिधानाया भार्याया पुत्रोऽभूत्, प्रस-

वकासे चानेन महापापसत्त्वेनाराज्या गावस्त्रासिता',यौवने चाय गोमांसान्यनेकधा भक्षितवान्, ततो नारको जात., ततो वाणिजग्रामनगरे विजयसार्थवाहभद्राभार्ययोरुज्झितकाभिधान. पुत्रो जात , स च कामध्वजगणिकार्थे राज्ञा तिलशो मासच्छेदनेन तत्स्वादनेन च चतुष्पथे विरूम्य व्यापादितो नरक जगामेति। स्था० १० ठा० । विपा० । (गोत्रासवक्तव्यताप्रतिबद्ध द्वितीयमध्ययन सर्वं द्रष्टव्यम् । कर्मविपाकदशानां द्वितीयाऽध्ययनसूत्रम् "उज्झियय" शब्दे द्वितीयभागे ७४६ पृष्ठे उक्तम्)।

गोथुन्न–कौस्तुभ–पु० । मणिविशेषे, स० ।

गोस्तूप–पु० । प्राच्यां लवणसमुद्रमध्यवर्त्तिनि प्रथमवेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वते, स०५२ सम०। स्था०।प्रथमवेलन्धरनागराजे, जी०३ प्रति० । स० । एकादशजिनस्य प्रथमशिष्ये, अस्य द्वितीय नाम कुनार्थ शति । स० । ति० । मानुष्योत्तरपर्वतस्य स्वनामख्याते कूटे उत्तरदिक्स्थे, द्वी० ।

गोथून–कौस्तुन–पु० । ' गोथुभ ' शब्दार्थे, स० ।

गोथूभा–गोस्तूपा–स्त्री० । पाश्चात्यस्याञ्जनपर्वतस्य पाश्चात्यायां वाप्याम्,स्था०३ठा०३उ०। पूर्वदिग्भाव्यञ्जनपर्वतस्यापरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी०३ प्रति० । ती० । दक्षिणपाश्चात्यरतिकरपर्वतस्य पश्चिमायां दिशि नवमिकानाम्न्या शक्राग्रमहिष्या राजधान्याम्, स्था०४ ठा० २ उ० । जि० ।

गोदास–गोदास–पु० । भद्रबाहोः प्रथमशिष्ये, कल्प० ८ क्षण । तस्मान्निर्गते गणे च । कल्प० ८ क्षण । वीरजिनेन्द्रस्य नवानां गणानां प्रथमे, स्था० ६ ठा० ।

गोदेव–गोदेव–त्रि० । गोशब्देन खुरककुदविषाणसास्नालाङ्गूलाद्यवयवसपन्न. पशुरुच्यते,तत्र विधेयता लक्ष्यते। ततो गौरिव विधेयानि देवानीन्द्रियाणि यस्य स तथा। जितेन्द्रिये, गोभिर्भूतार्थगर्भाभिर्वाग्भिर्दीव्यति स्तौतीति । गोदेवप्रशसके,जै० गा०।

गोदोहिया–गोदोहिका–स्त्री०। गोदोहन गोदोहिका,तद्वद् याऽसौ गोदोहिका। दशा० ७ अ० । स्था० । गोदोहनप्रवृत्तस्येवाग्रपादतलाभ्यामवस्थानक्रियायाम, पञ्चा० १८ विव० ।

गोदोहिकासनमाऽऽर्यिकाणा न कल्पते–

वीरासणगोदोहं, मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पति ।
ते पुण पमुच्च चेट्ठ, मुत्ताउ अभिग्गहं पप्प ॥

अनन्तरोक्तासनानां मध्याद् वीरासन, गोदोहिकासन च मुक्त्वा शेषाण्यूर्द्धस्थानादीनि सर्वाण्यपि तासां कल्पन्ते ।आह–सूत्रे तान्यपि प्रतिषिद्धानि तत्कथमनुज्ञायन्ते इत्याह–तानि पुन. शेषाणि स्थानानि चेष्टा प्रतीत्य कल्पन्ते, न पुनरभिग्रहविशेषम् । सूत्राणि पुनरभिग्रह प्राप्य प्रतीत्य प्रवृत्तानि, तत इदमुक्त भवति–अभिग्रहविशेषादूर्ध्वस्थानानि संयतीनां न कल्पन्ते, सामान्यत. पुनरवद्यकादिवेलाया यानि क्रियन्ते तानि कल्पन्त एव । वृ० ५ उ० ।

गोध–गोध–पु०। म्लेच्छदेशभेदे, तद्वासिनि जने च। प्रज्ञा०४ पद।

गोपुच्छसंठाणसंठिय–गोपुच्छसंस्थानसंस्थित–त्रि० । ऊर्ध्वीकृतगोपुच्छसस्थानसस्थिते, जी० ३ प्रति० । गोपुच्छो ह्यादौ स्थूलोऽन्ते सूक्ष्मस्तद्वत् । स्था० ५ ठा० २ उ० । रा० ।

गोपुट्ठय–गोपृष्ठक न०। गोपृष्ठात्पतिते पानके, भ०१५ श०१ उ०।

गोपुर–गोपुर–न० । गोभि पूर्यते इति गोपुरम् । प्रतोलीद्वारे, उत्त० ९ अ० । प्रतोलीकपाटमित्यन्ये । प्रश्न० १ आश्र० द्वार। प्राकारद्वारे, रा० । ज्ञा० । पुरद्वारे, च० प्र० ४ पाहु० । "पागार कारइत्ता ण, गोपुरट्टालगाणि य" । (१८) उत्त० ९ अ० ।

गोप्पय–गोष्पद्–न० । गोपदमिते क्षेत्रे, "जहा समुद्दो तहा गोप्पय" अनु० ।

गोप्पलेहिया–गोप्रलेह्या–स्त्री० । अल्पशाद्वलां सक्षारां वा यां भूमिं गाव. प्रलिहन्ति तस्याम्, आचा० २ चू० ।

गोप्फणा–गोफणा–स्त्री० । चर्मदवरिकामयेऽर्थे ' गोफण ' इति प्रसिद्धे, स० ।

गोबहुल–गोबहुल–पु० । शरवणसन्निवेशवासिनि स्वनामख्याते ब्राह्मणे, यस्य शालायां मङ्खलिपुत्रो गोशालो जात. । भ०१५श० १ उ० । स्था० । आ० म० ।

गोभत्तालंदय–गोभक्तालन्दक–पु० । गोभक्तयुक्तोऽलन्दको गोभक्तालन्दक। "गोभत्तालंदो विअ, बहुरूपसमो व्व एअगो चेव" यथा–अलिन्दगोभक्त कुक्कुसा ओदननिस्सयमवश्रावणमित्यादि सर्वमेकत्र मिलितं भवति । व्य० १ उ० ।

गोभद्द–गोभद्र–पु० । शालिभद्रस्य पितरि राजगृहवासिश्रेष्ठिनि, स्था० १० ठा० ।

गोभूमि–गोभूमि–स्त्री० । गोचरणभूमौ, आ० चू० १ अ० । " ततो विहरता सामी गोभूमिं वच्चेति, तत्थ अडवीवणे सयगावीओ चरति" आ० म० द्वि०। ततः स्वामी गोभूमिं गत. ततो राजगृहे अष्टम वर्षावासम् । कल्प० ६ क्षण।

गोमंस–गोमांस–पु०। गवा मांसे, गोमांसाऽभक्षणात्केचिद् मोक्ष वदन्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

गोमम–गोमृत–पु० । गौश्चासौ मृतश्च । गोशवे, जी० ३ प्रति० । विपा० ।

गोमढदेव–गोमठदेव–पु० । ऋषभदेवस्य बाहुबलेश्च प्रतिमाभेदे, उत्तरापथे कलिङ्गदेशे गोमठ श्रीऋषभ, दक्षिणापथे गोमठदेव' श्रीबाहुबलि. । ती० ४५ कल्प ।

गोमय–गोमय–पु०। न०। गो पुरीषम्–मयट्, अर्धर्चादिः । गोपुरीषे, वाच० । छगणे, भ० ५ श० २ उ० । गोकरीषे, नि० चू० ।

गोमयप्रतिग्रहणे दोषाः–

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिगाहेत्ता दिया गोमयं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिगाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपतं वा विलिंपतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिगाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपतं वा विलिंपतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिगाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

चउक्कभंगसुत्त उच्चारेयव्व,काय शरीरं,व्रण क्षत, तेण गोमयेन आलिंपइ सकृत्, विलिंपइ अनेकश ,अपरिवासिते मासलहु,परिवासिते चउभंगे चउलहु तवकालविसिट्ठो,आणादिया दोसा।

दिय रातो गोमएणं, चउक्कभयणा तु जा वणे वुत्ता ।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेताऽऽणादिणो दोसा ॥ २१६ ॥
चउक्कभयणा चउन्नगो, ततियउद्देसए जा वणे वुत्ता इहं पि सच्चेव ।

तच्चुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए ।
अद्दाणो अच्चहितो, तं दुक्खहियासते सम्मं ॥ २१७ ॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेउं वा ।
एतेहिँ कारणेहिं, जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥ २१८ ॥

पूर्ववत् । गोमयगहणे इमा विही-

अभिणववोसट्ठाऽसति, इतरे उवयोगकाउ गहणं तु ।
माहिस असती गव्वं, अणातवत्थ व विसघाती ॥ २१९ ॥

वोसिरियमेत्त घेत्तव्वं, तं बहुगुणं, तस्सासति इयर चिरकालवोसिरियं, तं पि उवओग करेतुं गहणं, दिणसत्तं पि माहिस घत्तव्वं, माहिसाऽसति गव्वं, तं पि अणातवत्थं, छायायामित्यर्थः । तं असुसिरं विसघाती भवति, आतवत्थं पुण सुसिरं, स ण गुणकारी । नि० चू० १२ उ० ।

गोमयकीमय-गोमयकीटक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० ।

गोमयणिस्सिय-गोमयनिश्रित-पुं० । कुन्थुपनकादिषु जीवेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

गोमाणसिया-गोमानसिका-स्त्री० । शय्याकारे स्थानविशेषे, जी० ३ प्रति० । " गोमाणसिया च तत्तिया " तावन्मात्रा एकोनपञ्चाशत् । जी० ३ प्रति० । रा० ।

गोमाणसी-गोमा (पा) नसी-स्त्री० । शय्याकारे स्थानविशेषे, जी० ३ प्रति० । जं० ।

गोमिअ-गौल्मिक-पुं० । गुल्मेन चरन्तीति गौल्मिकाः । स्थानरक्षपालेषु, बृ० ३ उ० । बद्धस्थानेषु, बृ० १ उ० । गुप्तिपालेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ये राज. पुरुषा. स्थानक बध्वा रक्षयन्ति । बृ १ उ० ।

गोमिकभमोवगरण-गौल्मिकभाण्डोपकरण-न० । गौल्मिकपरिच्छदविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गोमिय-गोमत्-त्रि० । गावोऽस्य सन्तीति गोमान् । गोस्वामिनि, "गोहिं गोमिए" अनु० ।"गोमिया सुक्किलिया कासिणवत्थमिच्च नेहिं घेप्पन्ति " नि० चू० २ उ० ।

गोमुत्तिया-गोमूत्रिका-स्त्री० । गोर्बलीवर्दस्य मूत्रण गोमूत्रिका । गोप्रश्रवणोत्सर्गे, तदाकारा गोचरभूमिरपि गोमूत्रिका । ग० २ अधि० । उत्त० । वक्रायां कुटिलायां गृहपङ्क्तौ, दशा० ७ अ० । पञ्चा० । बृ० । स्था० । अष्टाना गोचरभूमीनामन्यतमस्यां भूमौ, "आइओ सन्नियट्ट गोमुत्तिया वक्को ।" प्रव० २ द्वार । गोमूत्रिका च परस्पराभिमुखगृहपङ्क्त्योर्वामपङ्क्त्येकगृह गत्वा दक्षिणपङ्क्त्येकगृहे यातीत्येव क्रमेण श्रेणिद्वयसमाप्तिकरणे भवति । ध० २ अधि० ।

गोमुह-गोमुख-पुं० । आदिनाथस्य यक्षे, स च सुवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणिद्वयश्च । प्रव० २३ द्वार । आ० क० । गोमुखद्वीपवासिनि मनुष्ये च । स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० । श्रीऋषभस्य अयोध्यास्थसङ्घरक्षके यक्षे, ती० १३ कल्प० ।

गोमुहदीव-गोमुखद्वीप-पुं० । शष्कुलिकर्णस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । (' अतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ९६ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

गोमुही-गोमुखी-स्त्री० । वाद्यभेदे, "सङ्खं रवइ मुअंगो गोमुही" अनु० । सा गोमुखी लोकतोऽवसेया । रा० । आ० चू० ।

गोमेज्ज-गोमेद-पुं० । मणिभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । "गोमेज्जरायरूपए" उत्त० २ अ० । रा० । प्रज्ञा० । "गोमेज्जमया इदकीला" गोमेदकरत्नमयी इन्द्रकीला । रा० ।

गोमेह-गोमेध-पुं० । श्रीनेमिजिनस्य यक्षे, स च त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड्भुजो मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो नकुलशूलशक्तियुक्तो वामपाणित्रयश्च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

गोम्मिय-गौल्मिक-पुं० 'गोमिअ ' शब्दार्थे, बृ० ३ उ० ।

गोम्ही-गोम्ही-स्त्री० । कर्णशृगालाख्ये, स्था० ७ ठा० । प्रज्ञा० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । अनु० । नि० चू० । बृ० ।

गोय-गोद-पुं० । उदुम्बरादिफले, आव० ६ अ० । प्रज्ञा० ।

गोत्र-न० । उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणे पर्यायविशेषे, प०सं० ३ द्वार ।

गोयम-गोतम-पुं० । गोभिस्तमो ध्वस्तं यस्य । पृषो० । मुनिभेदे, वाच० । हस्वे बलीवर्दे च । औ० । गोतमस्य ऋषेरपत्यं गौतमः । "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" । ४ । १ । ११४ । (पाणि०) इत्यण्प्रत्ययः । न० । गौतमर्षेः सन्ताने, ते च क्षत्रियादयो यथा-मुव्रतनेमीजिनौ नारायणपद्मवर्जवासुदेवबलदेवा इन्द्रभूत्यादिगणनाथत्रयम् । स्था० "जे गोयमा ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा-ते गोयमा ते गग्गा ते भारद्दाया ते अंगिरसा ते सक्कराभा ते भक्खराभा ते उदत्ताभा ।" स्था० ७ ठा० । आ० चू० । आ० म० । " गोयमो य गोत्तेणं " गौतमो गोत्रेण, गोतमाह्वयवंशजात इत्यर्थः । जं० १ वक्ष० ।

गौतमस्वामिवर्णकः-

ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयमगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहणारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

(तेणमित्यादि) तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य (जेट्ठे त्ति) प्रथम. [अंतेवासि त्ति] शिष्य. । अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसङ्घनायकत्वमाह । [इंदभूइ त्ति] इन्द्रभूतिरिति मातापितृकृतं नामधेयम् [नाम ति] विभक्तिविपरिणामात् नाम्नेत्यर्थः । अन्तेवासी किल विवक्षया श्रावकोऽपि स्यादित्यत आह-[अणगारे त्ति]नास्यागारं विद्यत इत्यन-

नगार। अयचावगीतगोत्रोऽपि स्यादित्यत आह-(गोयमगोत्ते ण ति) गौतमसगोत्र इत्यर्थ । अयञ्च तत्कालोचितदेहमानापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादित्यत आह-(सत्तुस्सेहे त्ति) सप्तहस्तोच्छ्रय । अय च लक्षणहीनोऽपि स्यादित्यत आह-[समचउरससंठाणसंठिए त्ति] सम नाभेरुपरि अधश्च सकल-पुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्य, तच्च तच्चतुरस्त्र च प्रधान समचतुरस्त्रम । अथवा समा. शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाविसवादिन्यश्चतस्रोऽस्त्रयो यस्य तत्समचतुरस्त्रम्। अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्भागोपलक्षिता. शरीरावयवा इति । अन्ये त्वाहु'--समा अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यश्रयो यत्र तत्समचतुरश्रम । अश्रयश्च पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तर,दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुन अन्तर, वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति । अन्ये त्वाहु --विस्तारोत्सेधयोः समत्वात समचतुरस्त्रं,तच्च तत् सस्थानञ्चाकार. समचतुरस्त्रसस्थानं, तेन सस्थितो व्यवस्थितो यः स तथा । अयञ्च हीनसहननोऽपि स्यादित्यत आह-(वज्जरिसहणारायसघयणे त्ति) इह सहननम अस्थिसचयविशेष.।वज्राटीनां लक्षणमिदम "रिसभो य होइ पट्टो, वज्ज पुण कीलय वियाणाहि । उभओ मक्कडबधो, णाराय त वियाणाहि" ॥ १ ॥ तत्र वज्र च तत्कीलिकाकीलितकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्ययुक्तत्वात्, ऋषभश्च लोहादिमयपट्टवद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वाद्वज्रर्षभ । स चासौ नाराचश्च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्योपेतत्वात् वज्रर्षभनाराच ,स चासौ सहननमस्थिसचयविशेषोऽनुत्तमसामर्थ्ययोगाद्यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसहनन । अन्ये तु-कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति । अयञ्च निन्द्यवर्णोऽपि स्यादित्यत आह-(कणगपुलगनिघसपम्हगोरे) कनकस्य सुवर्णस्य (पुलग त्ति) य. पुलको लवस्तस्य यो निकष. कषपट्टके रेखालक्षण.,तथा। (पम्ह त्ति) पद्मपक्ष्माणि केसराणि तद्वद्गौरो य. स तथा। वृद्धव्याख्या तु-कनकस्य न लोहादेर्य पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म बहलत्व तद्वद्गौरो य'स तथा । अथवा-कनकस्य य पुलको-ऽद्रुतत्वे सति विन्दुस्तस्य निकषो वर्णत सदृशो यः स तथा। (पम्ह त्ति) पद्म, तस्य चेह प्रस्तावात्केसराणि गृह्यन्ते, तत पद्मवद्गौरो य स तथा । तत. पदद्वयस्य कर्मधारय. । अयञ्च विशिष्टचरणरहितोऽपि स्यादित्यत आह-(उग्गतवे त्ति) उग्रमप्रधृष्य तपोऽनशनादि यस्य स उग्रतपा , यदन्येन प्राकृतपुसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थ.। (दित्ततवे त्ति) । दीप्त जाज्वल्यमानदहन इव कर्म्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलित तपो धर्म्मध्यानादि यस्य स तथा । (तत्ततवे त्ति)। तप्त तपो येनासौ तप्ततपा.। एव हि तेन तत्तपस्तप्त येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते न तपसा स्वात्माऽपि तपोरूप सन्तापितो यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातमिति (महातवे त्ति) आशसादोषरहितत्वात् प्रशस्ततपा । (उराले त्ति) भीम उग्रादिविशेषणविशिष्टतप.करणात्पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थ. । अन्ये त्वाहु -[उराले त्ति] उदार प्रधान [घोरे त्ति] घोरो निर्घृण , परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थ. । अन्ये त्वात्मनिरपेक्ष घोरमाहु -(घोरगुणे त्ति) घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा (घोरतवस्सि त्ति) घोरैस्तपोभिस्तपस्वीत्यर्थ. । (घोरबम्भचेरवासि त्ति) घोरं दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद्यद्ब्रह्मचर्य तत्र वस्तु शील यस्य स तथा । (उच्छूढसरीरे त्ति) उच्छूढम् उज्झितमिवोज्झित शरीर येन तत्सस्कारत्यागात्स तथा। (सखित्तविउलतेउलेस्से त्ति) सक्षिप्ता शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । मूलटीकाकृता तु-" उच्छूढसरीरसखित्तविपुलतेयलेसे त्ति " कर्मधारय कृत्वा व्याख्यातमिति । (चउद्दसपुव्वि त्ति) चतुर्दशपूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुर्दशपूर्वी।अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह।स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह-(चउनाणोवगए त्ति) केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थ. उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति । चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानकपतितत्वेन श्रवणादित्यत आह-(सव्वक्खरसंनिवाइ त्ति) सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्सयोगा' सर्वेषां वाक्षराणां निसन्निपाता. सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयतया सन्ति ससर्वाक्षरसन्निपाती, श्रव्याणि वा श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गत्येन नितरां वदितु शीलमस्येति श्रव्याक्षरसान्निवादी, स च एवगुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादितिकृत्वा शिष्याचारत्वाच्च (समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामते) विहरति इति योगः । तत्र दूर च विप्रकृष्ट सामन्त च सन्निकृष्ट, तन्निषेधाददूरसामन्त, तत्र नातिदूरे, नातिनिकट इत्यर्थ । किंविध. सस्तत्र विहरतीत्यत आह-(उड्ढ जाणु त्ति) ऊर्द्ध जानुनी यस्यासावूर्द्धजानुः, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभवाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थ । (अहोसिरे त्ति) अधोमुखो नोर्द्ध तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टि , किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भाव । (झाणकोट्ठोवगए त्ति) ध्यान धर्म्य शुक्ल वा तदेव कोष्ठ कुसूलो ध्यानकोष्ठ , तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगत. । यथाहि कोष्ठके धान्य प्रक्षिप्तमविप्रसृत भवत्येव स भगवान् ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्त करणवृत्तिरिति (संजमेण ति) सवरेण [तवस त्ति] अनशनादिना, चशब्द समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्य । सयमतपोग्रहण चानयो' प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थम । प्रधानत्वञ्च सयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन, तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात पुराणकर्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति (अप्पाण भावेमाणे विहरइ त्ति) आत्मान वासयस्तिष्ठतीत्यर्थ. ॥

तए णं से भगव गोयमे जायसड्ढे जायसंसये संजायकोउहल्ले उप्पण्णसड्ढे उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोउहल्ले सजायसड्ढे संजायससए संजायकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेति । उट्ठाए उट्ठेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता समण भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ। करेइत्ता वंदइ, णमंसइ,वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एव वयासी- ॥

(तए ण से त्ति) ततो ध्यानकोष्ठोपगतविहरणानन्तरं, णमितिवाक्यालङ्कारार्थः ' से ' इति प्रस्तुतपरामर्शार्थं । तस्य तु सामान्योक्तस्य विशेषावधारणार्थमाह-(भगव गोयमे त्ति) किं-

मित्याह-(जायसड्ढे इत्यादि) जातश्रद्धादिविशेषण' सन्तुत्तिष्ठतीति योगः । तत्र जाता प्रवृत्ता श्रद्धा इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वज्ञानं प्रति यस्यासौ जातश्रद्धः। तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशय । संशयस्त्वनवधारितार्थज्ञानम् । स चैवम्-तस्य भगवतो जातो भगवता हि महावीरेण "चलमाणे चलिए" इत्यादौ सूत्रे चलन्नर्थश्चलितो निर्दिष्टः, तत्र च य एव चलन् स एव चलित इत्युक्त', ततश्चैकार्थविषयावेतौ निर्देशौ; चलन्निति वर्त्तमानकालविषय , चलित इति चातीतकालविषयः; अतोऽत्र संशय'-कथं नाम यदेवार्थो वर्त्तमान' स एवातीतो भवतीति ?, विरुद्धत्वादनयोः कालयोरिति । तथा [जायकोऊहल्ले त्ति] जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलो, जातौत्सुक्य इत्यर्थः । कथमेनान् पदार्थान् भगवान् प्रज्ञापयिष्यतीति ?। तथा-(उप्पन्नसड्ढे त्ति) उत्पन्ना प्राग्भूता सती भूता श्रद्धा यस्य स उत्पन्नश्रद्धः। अथ जातश्रद्ध इत्येतावदेवास्तु किमर्थमुत्पन्नश्रद्ध इत्यभिधीयते, प्रवृत्तश्रद्धत्वेनैवोत्पन्नश्रद्धत्वस्य लब्धत्वात्,न ह्यनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्त्तत इति?। अत्रोच्यते-हेतुत्वप्रदर्शनार्थम् ।तथाहि कथं प्रवृत्तश्रद्ध ,उच्यते-यत उत्पन्नश्रद्ध इति हेतुत्वप्रदर्शनञ्चोचितमेव,वाक्यालङ्कारत्वात् तस्यायदाहु'-"प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करां, प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरीम्।" इह यद्यपि प्रवृत्तदीपत्वादेवाप्रवृत्तभास्करत्वमवगत तथापि अप्रवृत्तभास्करत्वं प्रवृत्तदीपत्वादेर्हेतुतयोपन्यस्तमिति । "उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोऊहल्ले त्ति" प्राग्वत्। तथा " संजायसड्ढे " इत्यादि पदषट्क प्राग्वत्, नवरमिह समुत्शब्दः प्रकर्षादिवचनः । यथा-" सञ्जातकामो बलजिद्विभूत्या, मानात् प्रजाभिः प्रतिमाननाच्च । " ऐन्द्रैश्वर्ये प्रकर्षेण जातेच्छः कार्त्तवीर्य इति । अन्ये तु-"जायसड्ढे" इत्यादि विशेषणद्वादशकमेवं व्याख्यान्ति-जाता श्रद्धा यस्य प्रष्टु स जातश्रद्ध । किमिति जातश्रद्ध इत्यत आह-यस्माज्जातसंशयः इदं वस्त्वेवं स्यादेवं वेति ?। अथ जातसंशयोऽपि कथमित्यत आह-यस्माज्जातकुतूहल' कथं नामास्यार्थमवभोत्स्ये इत्यभिप्रायवानिति। एतच्च विशेषणत्रयमवग्रहापेक्षया द्रष्टव्यम्।एवमुत्पन्नसञ्जातसमुत्पन्नश्रद्धत्वादय ईहापायधारणाभेदेन वाच्याः। अन्ये त्वाहु'-जातश्रद्धत्वाद्यपेक्षयोत्पन्नश्रद्धत्वादय' समानार्था विवक्षितार्थस्य प्रकर्षप्रवृत्तिप्रतिपादनाय स्तुतिमुखेन ग्रन्थकृतोक्ता', न चैवं पुनरुक्तदोषाय । यदाह-"वक्ता हर्षभयादिभि-राक्षिप्तमना' स्तुवंस्तथा निन्दन् । यत्पदमसकृद् ब्रूते, तत्पुनरुक्तं न दोषाय" ॥ १ ॥ इति (उट्ठाए उट्ठेति) उत्थानमुत्था, ऊर्द्धं वर्त्तन, तया उत्थया उत्तिष्ठति ऊर्द्धो भवति । 'उट्ठेइ' इत्युक्ते क्रियाऽऽरम्भमात्रमपि प्रतीयते, यथा वक्तुमुत्तिष्ठत इति । ततस्तद्व्यवच्छेदायोक्तमुत्थायेति । (उट्ठाए उट्ठेए त्ति) उपागच्छतीत्युत्तरक्रियापेक्षया उत्थानक्रियायाः पूर्वकालताभिधानाय उत्थायोत्थायेति क्त्वाप्रत्ययेन निर्दिश्यतीति । (जेणेवेत्यादि) इह प्राकृतप्रयोगादव्ययत्वाद्वा येनेति यस्मिन्नेव दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्त्तते (तेणेव त्ति) तस्मिन्नेव दिग्भागे उपागच्छति, तत्कालापेक्षया वर्त्तमानत्वादागमनक्रियाया वर्त्तमानार्थभक्त्या निर्देश' कृत , उपागतवानित्यर्थः । उपागम्य च श्रमण भगवन्त महावीरं कर्मतापन्नं (तिक्खुत्तो त्ति) त्रीन् वारान् त्रि कृत्व (आयाहिणपयाहिणं करेइ त्ति) आदक्षिणाद्दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिण' परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणोऽतस्त करोतीति । (वंदइ त्ति) वन्दते वाचा स्तौति । (नमसइ त्ति) नमस्यति, कायेन प्रणमति [नच्चासन्ने त्ति] न नैव अत्यासन्नोऽतिनिकट , अवग्रहपरिहारान्नात्यासन्ने वा स्थाने, वर्तमान इति गम्यम् । [नाइदूरे त्ति] न नैवातिदूरोऽतिविप्रकृष्टोऽनौचित्यपरिहारात् नातिदूरे वा स्थाने [सुस्सूसमाणे त्ति] भगवद्वचनानि श्रोतुमिच्छन् [अभिमुहे त्ति] अभि भगवन्तं लक्षीकृत्य मुखमस्येत्यभिमुख' । तथा [विणएण ति] विनयेन हेतुना [पंजलिउडे त्ति] प्रकृष्टः प्रधानो ललाटतटघटितत्वेन अञ्जलिर्हस्तन्यासविशेषः कृतो विहितो येन सोऽभ्याहितादिदर्शनात्प्राञ्जलिकृतः [पज्जुवासमाणे त्ति] पर्युपासीन सेवमानोऽनेन च विशेषणकदम्बकेन श्रवणविधिरुपदर्शित । आह च-" णिद्दाविगहापरिवज्जिएहि गुत्तेहिँ पंजलिउडेहिँ । भत्तिबहुमाणपुव्व,उवउत्तेहिं सुणेयव्व"॥१॥ इति [एव वयासि त्ति] एवं वक्ष्यमाणप्रकारं वस्तु अवादीदुक्तवान्। भ० १ श० १ उ० । विपा० । (यदवादीत् तत् 'कज्जकारणभाव' शब्देऽत्रैव भागे १६७ पृष्ठे निरूपितम्) श्रीवीरजिनेन्द्रस्येन्द्रभूतिर्वायुभूतिरग्निभूतिश्चेति त्रय आद्याः शिष्या , तेषु इन्द्रभूतिरेवातिप्रसिद्धः, तत्प्रश्नप्रतिवचनरूपत्वादागमस्य । यदाह भगवान् वीरः-" चिरसंसट्ठोऽसि गोयमा ! " पं० सं० २ द्वार । जं० । उपा० । विशे० ।

गौतमेत्यत्र भगवताऽऽत्मनस्तुल्यताऽदर्शि यथा-

रायगिहे० जाव परिसा पडिगया गोयमादि०। समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी-चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा !, चिरसंथुतो सि मे गोयमा !, चिरपरिचितोसि मे गोयमा !, चिरजुसिओसि मे गोयमा !, चिराणुगओसि मे गोयमा !, चिराणुवत्तीसि मे गोयमा !, अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे किं परं मरणकायस्स भेदा, इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्साम । भ० १४ श० ७ उ० ।

("तुल्ल" शब्दे व्याख्यास्यते) (गौतमस्वामिन तुङ्गिकापुर्यां गोचरचर्यायै गमनं 'ववहार' शब्दे द्वितीयभागे ६७६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) पञ्चदशशततापसानां गौतमस्वामिना परमान्नेन पारणा कारिता, तत्र लब्धिपरमान्नमदत्तमिति साधूनां कथं कल्पते इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रैकोऽपि परमान्नपतद्ग्रहोऽक्षीणमहानसलब्धिप्रभावेणैव सर्वेषां प्राप्त इत्यत्रादत्त किमपि ज्ञात नास्तीति बोध्यमिति॥२०॥ ही० ३ प्रका० । निर्वाणगमन चेत्थम्-स्वकीयनिर्वाणसमये देवशर्मण प्रतिबोधनाय क्वापि ग्रामे स्वामिना प्रेषित', श्रीगौतम त प्रतिबोध्य पश्चादागच्छन् श्रीवीरनिर्वाणं श्रुत्वा वज्राहत इव शून्य' क्षण तस्थौ । वनाए च-

" प्रसरति मिथ्यात्वतमो, गर्जन्ति कुतीर्थिकौशिका अद्य ।
दुर्भिक्षमरवैरा-दिराक्षसाः प्रसरमेष्यन्ति ॥ १ ॥
राहुग्रस्तनिशाकर-मिव गगन दीपहीनमिव भवनम् ।
भरतमिद गतशोभं, त्वया विनाऽद्य प्रभो ! जज्ञे ॥ २ ॥
कस्यांह्रिपीठे प्रणत' पदार्थान् ,
पुनः पुनः प्रश्नपदीकरोमि ।
क वा भदन्तेति वदामि को वा,
मां गौतमेत्याप्तगिराऽथ वक्ता " ? ॥ ३ ॥
हा हा हा वीर ! किं कृतं यदीदृशेऽवसरेऽहं दूरीकृत', किं

मारमक मरमयित्वा बालवत्सवाञ्चलेऽलगिष्यम, किं केवलज्ञानमंमार्गयिष्यम, किं मुक्तौ सकीर्णमभविष्यत, किं वा तव भारोऽभविष्यत् यदेव मां विसृज्य गत ?। एव च वीर ! वीर ! इति कुर्वतो वी वी इति मुखे लग्न गौतमस्य। तथा हु ज्ञात वीतरागा निःस्नेहा भवन्ति, ममैवायमपराधो यन्मया तदा श्रुतोपयोगो न दत्त ,धिग् इमम् एकपाक्षिक स्नेहम, अल स्नेहेन, एकोऽस्मि,नास्ति कश्चन मम, एव सम्यक् साम्य भावयतस्तस्य केवलमुत्पेदे-" मुक्खमग्गपवन्नाण, सिणेहो वज्जसिंखला । वीरे जीवन्तए जाओ,गोयम ज न केवली " ॥१॥ प्रात काले इन्द्राद्यैर्महिमा कृत । अत्र कवि -"अहङ्कारोऽपि बोधाय,रागोऽपि गुरुभक्तये। विषाद' केवलायाभूद्,चित्र श्रीगौतमप्रभोः, "॥१॥ स च द्वादशवर्षाणि केवलिपर्याय परिपाल्य दीर्घायुरितिकृत्वा सुधर्मस्वामिने गण समर्प्य मोक्ष ययौ। सुधर्मस्वामिनोऽपि पश्चात्केवलोत्पत्ति' । सोऽप्यष्टौ वर्षाणि विहृत्य जम्बूस्वामिने गण समर्प्य सिद्धिं गत ।१२७। कल्प० ६ क्षण। ' कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभर', सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः । शतमखशतविनतपद ,श्री गौतमगणधर' पातु" ॥१॥ कर्म० १ कर्म० ।(सर्वैव गौतमगणधरवक्तव्यता ' इदभूइ ' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे अन्यत्र च निरूपिता । मगधेषु नन्दिग्रामे कणवृत्तिकगौतमस्य ' पसणासमिई' शब्देऽत्रैव भागे ७३ पृष्ठे कथा)अन्धकवृष्णे' पुत्रे,अन्त० ।

तस्स ण अंधगवण्हिस्स रण्णो धारणी नाम देवी होत्था। वण्णओ-तए णं सा धारणी देवी अण्णया कयाई तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि एवं जहा महब्बलो सुमिणं दंसण कहणा जमं बालत्तणं कलाओ य जोव्वण पाणिग्गहणं कण्णा पासादभोगा य णवरं गोयमकुमारे णामं अट्ठण्हं रायवरकण्णाण एगदिवसेण पाणिं गेण्हावेंति अट्ठठ उ दाउ, ते ण काले णं ते णं समए णं अरहा अरिट्ठनेमी आदिकरे० जाव विहरति। चउव्विहा देवा आगया,कण्हे विनिग्गते,तते णं काले णं तस्स गोतमस्स कुमारस्स जहा मेहे तथा णिग्गते धम्मं सोच्चा ४ जं णवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापियरो आपुच्छामि देवाणुप्पियाणं एव जहा मेहे कुमारे०जाव अणगारे जाए ईरियासमिते०जाव इणमेव णिग्गथं पावयण पुरतो काउ विहरति। तते ण से गोतमे अण्णया कयाती अरहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराण अतिए सामातियमादीयाई एकारस अंगाई अहिज्जति, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थ० जाव भावेमाणे विहरति । तं अरहा अरिट्ठनेमी अण्णया कयाती बारवतीतो णगरीतो णंदणवणातो पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता बहता जणवयविहार विहरति,तते णं से गोतमअणगारे अण्णया कताई जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छति,उवागच्छित्ता अरिहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं वदति, नमसति,एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते ममाणे मासियभिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एवं जहा खदओ तहा बारस भिक्खुपडिमाओ फासेति,गुणरयणं पि तवोकम्मं तहेव फासेति णिरवसेसं, एवं जहा खंदओ तहा चिंतेति,तहा आपुच्छति,तहा थेरेहिं सद्धिं सेत्तुजए पव्वए दुरुहति, मासियाए संलेहणाए बारस वरिसाइं परियाओ० जाव सिद्धे । अन्त० १ वर्ग । स्था० ।

गोतमो ह्रस्वो बलीवर्द'., तेन गृहीतपादपतनादिविचित्रशिक्षेण जनचित्ताक्षेपदक्षेण भिक्षामटति य' स गौतम । औ० । ग० । लघुतराक्षमालाचर्चितविचित्रपादपतनादिशिक्षाकषायवत्प्रतिवृषभकोपास्तकणभिक्षाग्राहिणि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । गोव्रतिके,सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अनु० । आचा० । पञ्चदशशततापसाना गौतमेन लब्धिपरमान्नेन पारणा कारिता, तत्परमान्नं वैक्रियमन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-न तद्वैक्रिय किं त्वक्षीणमहानसीलब्ध्यैव तत्परमान्न तावज्जातमिति । १० प्र० सेन० ३ उल्ला० । गौतमपतद्ग्रहतर्पणे पतद्ग्रहे प्रथम यन्नाणक मुच्यते तन्नाणक ज्ञानस्यार्थे समायाति,अन्यथा वा,तत्तप करण कुत्र ग्रन्थमध्ये प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्—गौतमपतद्ग्रहतप आचारदिनकरग्रन्थे प्रोक्तमस्ति,पर तत्र नाणकमोचनमुक्त नास्ति, यदि क्वापि प्रसिद्ध नाणकमोचन तदा तद् ज्ञानद्रव्य न भवति, तेन यथायोग ज्ञानार्थ यतीनां वैयावृत्य वा व्यापारणीयमिति । ११० प्र० सेन० ४ उल्ला० ।

गोयमकेसिज्ज-गोतमकेशीय-न० । त्रयोविंशे उत्तराध्ययने, स० ३५ सम० ।

जिणे पासि त्ति नामेणं, अरहा लोगपूइए ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥ १ ॥

पार्श्व इति नाम अर्हन् अभूत् तीर्थकरोऽभूत् कीदृश' स जिनः परीषहोपसर्गजेता, रागद्वेषजेता वा, पुन' कीदृश' स पार्श्वजिन'?,लोकपूजित' लोकेन त्रिजगता अर्चित ,पुन' कथम्भूत स ?, [सबुद्धप्पा] सबुद्धात्मा तत्त्वावबोधयुक्तात्मा, पुन कीदृशः स पार्श्व ?, सर्वज्ञ , पुन' कीदृश पार्श्व ?, धर्मतीर्थकर धर्म एव भवाम्बुधितरणहेतुत्वात्तीर्थं धर्मतीर्थं करोतीति धर्मतीर्थंकर , पुन कीदृश ? जयति स सर्वकर्माणीति जिन',द्वितीयजिनविशेषणे श्रीपार्श्वस्य मुक्तिगमन सूचित, तदा हि श्रीमहावीर' प्रत्यक्ष तीर्थकरो विहरति, श्रीपार्श्वनाथस्तु मुक्तिं जगामेति भाव ॥ १ ॥

तस्स लोगप्पईवस्स, आसी सीसे महायसे ।
केसीकुमारसमणे, विज्जाचरणपारगे ॥ २ ॥

तस्य लोकप्रदीपस्य श्रीपार्श्वनाथतीर्थकरस्य केशीकुमारः शिष्य आसीत्, कुमारो हि अपरिणीततया कुमारत्वेन एव श्रमण सगृहीतचारित्र कुमारश्रमण केशीकुमारश्रमण । कथम्भूत स ?महायशा महाकीर्ति ,पुन कीदृशो ?,विद्याचरणपारगः ज्ञानचारित्रयो पारगामी ॥ २ ॥

ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगाम रीयते, सावत्थिं नगरिमागए ॥ ३ ॥

स केशीकुमारश्रमण श्रावस्त्यां नगर्याम् आगत ,किं कुर्वन् ? ग्रामानुग्राम रीयन्ते इति ग्रामानुग्राम विचरन् कीदृश ?, [ओहिनाणसुए बुद्धे इति] अवधिज्ञानश्रुताभ्या बुद्धोऽवगततत्त्व'

मतिश्रुतावधिज्ञानसहित॰, पुनः कीदृश॰ ?, शिष्यसङ्घसमाकुलः शिष्यवर्गसहितः ॥ ३ ॥

तिंदुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नयरमंडले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ४ ॥

स केशिकुमारश्रमणस्तत्र श्रावस्त्यां नगर्यां तस्या॰ श्रावस्त्याः नगरमण्डले पुरपरिसरे तिन्दुक नाम उद्यानं वर्तते, तत्रोद्याने प्राशुके प्रदेशे जीवरहिते शय्यासंस्तारे वासम् उपागतः, शय्या वसति॰,तस्यां संस्तारः शय्यासंस्तारः, तस्मिन् समवसृत इत्यर्थ॰ ॥ ४ ॥

अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे ।
भगवं वद्धमाणे त्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥ ५ ॥

अथशब्दो वक्तव्यान्तरोपन्यासे, तस्मिन् एव काले धर्मतीर्थकरो जिनो भगवान् श्रीवर्द्धमान इति सर्वलोके विश्रुतोऽभूत ॥५॥

तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे ।
भयवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे ॥ ६ ॥

तस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनो लोकप्रदीपस्य तीर्थकरस्य गौतम॰नामा शिष्योऽभूत्, कथम्भूतो गौतम॰ ?, महायशाः महाकीर्ति॰, पुनः कीदृशो गौतम॰ ?, विद्याचरणपारगः ज्ञानचारित्रधारी, पुनः कीदृशो गौतम ?, भगवान् चतुर्ज्ञानी मतिश्रुत्यवधिमनः–पर्यायज्ञानयुक् ॥ ६ ॥

बारसंगविऊ वुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीअंते, सो वि सावत्थिमागए ॥ ७ ॥

स गौतमोऽपि ग्रामानुग्राम विहरन् श्रावस्त्यां नगर्यामागत॰, कीदृशो गौतम ?, द्वादशाङ्गवित् एकादशाङ्गानि दृष्टिवादसहितानि येन गौतमेन सम्पूर्णानि, ज्ञातानीत्यर्थः । पुनः कीदृशो गौतम ?, वुद्धो ज्ञाततत्त्वः, पुन॰ कीदृश ?, शिष्यसङ्घसमाकुल॰ ॥७॥

कोट्ठगं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमंडले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥

तस्या॰ श्रावस्त्या नगर्या मण्डले परिसरे क्रोष्टुक नाम उद्यान वर्त्तते तत्र प्रासुके 'सिज्जासथारे' वासम् अवस्थानम् उपागत॰ प्राप्त॰ ॥ ८ ॥

केसीकुमारसमणो, गोयमो य महायसे ॥
उभओ वि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

केशिकुमारश्रमणश्च पुनर्गौतम॰, एतौ उभौ अपि व्यवहार्णम आगानाम्, कीदृशौ तौ उभौ ?, महायशसौ, पुनः कीदृशौ ?, अलीनौ मनोवाक्कायगुप्तिष्वाश्रितौ, पुन॰ कीदृशौ ?, सुसमाहितौ सम्यक् समाधियुक्तौ ॥ ९ ॥

उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं ।
तत्थ चिंता समुप्पन्ना, गुणवंताण ताइणं ॥१०॥

तत्र तस्यां श्रावस्त्यामुभयो॰ केशिगौतमयो॰ शिष्यसङ्घानां संयतानां तपस्विनां साधूनां गुणवतां ज्ञानदर्शनचारित्रवतां त्रायिणां षड्जीवरक्षाकारिणां परस्परावलोकनात् चिन्ता समुत्पन्ना विचार समुत्पन्न ॥१०॥

केरिसो वा इमो धम्मो,इमो धम्मो व केरिसो ? ।
आयारधम्मपणिही, इमा वा सा व केरिसी ? ॥११॥

अयम् अस्मत्संबन्धी धर्मः, कीदृशः,वा इति विकल्पे,वाशब्दोऽथवार्थे वा, अथवा–अय धर्मो दृश्यमानगणभृतशिष्यसम्बन्धी कीदृश॰ पुनरयम् ?, आचारधर्मप्रणधिरस्माक कीदृश॰, पुनरेतेषां वा आचारधर्मप्रणिधिः कीदृश , प्राकृतत्वात् लिङ्गव्यत्ययः,आचारो वेषधारणादिको बाह्य॰ क्रियाकलाप॰,स एव धर्मः, तस्य प्रणधिर्व्यवस्थापनम् आचारधर्मप्रणधिः, पृथक् २ कथं सर्वज्ञोक्तस्य धर्मः, तत्साधनाना च भेदमनुज्ञातुमिच्छाम इति भाव॰ ॥११॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥१२॥

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ॥१३॥ [युग्मम्]

यश्चाय चातुर्यामो धर्म॰ पार्श्वेन महामुनिना तीर्थकरेण दर्शित , चत्वारश्च यमाश्च चतुर्यमाः, तत्र यश्चातुर्याम॰ चातुर्मातिको–अहिंसा–सत्य–चौर्यत्याग–परिग्रहत्याग––लक्षणो धर्म॰ प्रकाशितः । यश्च पुनरय धर्मो वर्द्धमानेन पञ्चशिक्षिक॰, पञ्चशिक्षितो वा, पञ्चभिर्महाव्रतै॰ शिक्षित॰ पञ्चशिक्षितः प्रकाशितः,पञ्चसु शिक्षासु भव पञ्चशिक्षिकः, पञ्चमहाव्रतात्मः अहिंसासत्यचौर्यत्यागमैथुनपरिहारपरिग्रहत्यागलक्षणो धर्मः प्रकाशित॰ ॥१२॥ पुनर्वर्द्धमानेन अचेलको धर्मः प्रकाशित॰, अचेल मानोपेत धवल जीर्णप्रायम् अल्पमूल्य वस्त्र धारणीयमिति वर्द्धमानस्वामिना प्रोक्तम्, असत इव चेल यत्र स अचेलः, अचेल एव अचेलकः, यत् वस्त्र सदपि असत् इव तत् धार्यमित्यर्थ । पुनर्यो धर्मः पार्श्वेन स्वामिना सान्तरोत्तरः सह अन्तरेण उत्तरेण प्रधानबहुमूल्येन नानावर्णेन प्रलम्बेन वस्त्रेण च वर्त्तते यः स सान्तरोत्तरः-सचेलको धर्म प्रकाशितः, एककार्ये मुक्तिरूपे कार्ये प्रवृत्तयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे किं तु कारण को हेतुः,कारणभेदे हि कार्यभेदसम्भव॰,कार्यं तु उभयोरेकमेव, कारण च पृथक् २ कथमिति भाव॰ ?। किमिति प्रश्ने, नुरिति वितर्के ॥ १३ ॥

अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवियक्कियं ।
समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥ १४ ॥

अथानन्तर तयोरुभयोस्तत्र श्रावस्त्याम् आगमनानन्तर केशिगौतमौ तौ उभौ समागमे कृतमती अभूताम् । किं कृत्वा ?, शिष्याणां च चुल्लकाना प्रवितर्कित विज्ञाय विकल्पं ज्ञात्वा ।१४।

गोयमो पडिरूवन्नू, सिस्ससघसमाउले ।
जेट्ठं कुलमविक्खंतो, तिंदुअं वणमागओ ॥ १५ ॥

गौतमस्तिन्दुक वनम् आगत॰ केशिकुमाराऽधिष्ठिते वने आगतः, कीदृशो गौतम ?, प्रतिरूपज्ञ॰ प्रतिरूपो यथोचितविनय॰ त जानातीति प्रतिरूपज्ञ॰, पुनः कीदृशः ?, शिष्यसङ्घसमाकुलः शिष्यवृन्दसहित॰, गौतम॰ किंकुर्वाण॰ ?, ज्येष्ठ कुलम् अपेक्षमाण॰ ज्येष्ठ वृद्ध प्रथमभवनात्पार्श्वनाथस्य, कुल सन्तानं विचारयत इत्यर्थ ॥ १५ ॥

केसीकुमारसमणे, गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडीवत्तिं, सम्मं च पडिवज्जइ ॥ १६ ॥

केशिकुमारश्रमणो गौतमम् आगत दृष्ट्वा सम्यक् प्रतिरूपाम् आगतानां योग्यां, प्रतिपत्ति सेवां, प्रतिपद्यते सम्यक् करोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

पलाल फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पयं सपणामए ॥ १७ ॥

तत्र तिन्दुकोद्याने एव केशिकुमारश्रमणो गौतमस्य निषद्यायै गौतस्य उपवेशनार्थं प्रासुक निर्बीज चतुर्विध पलाल,पञ्चमानि कुशतृणानि, चकारात् अन्यान्यपि साधुयोग्यानि तृणानि (सपणामए) समर्पयति । पञ्चमत्र हि कुशतृणानां पलालभेदेन । चतुर्विधं पलाल यथा-" तणपणगं पन्नत्त, जिणेहि कम्मट्ठगठमहणेहिं । साली १ वीही २ कोद्दव ३, रालग ४रन्ने तणा ५ पञ्च ॥ १ ॥ " इति वचनात् चत्वारि पलालानि साधुप्रस्तरणयोग्यानि, पञ्चम हि दर्भादिप्रासुकं तृण वर्त्तते, तत् केशिकुमारश्रमणेन गौतमस्य प्रस्तारणार्थं प्रदत्तमिति भाव. ॥१७॥

केसीकुमारसमणे, गोयमे य महायसे ।
उभओ निसन्ना सोहंति, चंदसूरसमप्पभा ॥ १८ ॥

तदा केशिकुमारश्रमणश्च पुनर्गौतमो महायशाः, एतौ उभौ तत्र तिन्दुकोद्याने निषण्णौ उपविष्टौ, शोभेते विराजेते, कथम्भूतौ तौ ?, चन्द्रादित्यसमप्रभौ ॥ १८ ॥

समागया बहू तत्थ, पासण्डा कोउगा मिया ।
गिहत्थाणं[1] अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥ १९ ॥

तत्र तस्मिन् तिन्दुकोद्याने, बहवः पाखण्डा अन्यदर्शिनः परिव्राजकादयः समागता.,कीदृशास्ते पाखण्डा.?,कौतुकात् मृगा. आश्चर्याद् मृगा इव अज्ञानिनः, तु पुनः अनेकलोकाना सहस्र समागतम्-अनेका प्रचुरा लोकाना सहस्राण्यपि आर्षत्वात्, समागता तत्र संप्राप्ता ॥ १९ ॥

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥ २० ॥

तत्र तस्मिन् प्रदेशे देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसकिन्नराः, समागता इति शेष.। च पुनस्तत्र अदृश्यानां भूतानां केलीकिलव्यन्तराणा समागम' सङ्गम आसीत् ॥ २० ॥

पुच्छामि ते महाभाग ! , केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं वुवंत तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ २१ ॥

तयोर्जल्पमाह-तदा केशी गौतममब्रवीत् । किमब्रवीदित्याह-हे महाभाग ! ते त्वाम् अहं पृच्छामि । यदा केशिकुमारेण इत्युक्त तदा केशिकुमारश्रमण ब्रुवन्त गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ २१ ॥

पुच्छ भंते ! जहिच्छं ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी ॥ २२ ॥

गौतमो वदति-हे भदन्त ! हे पूज्य ! ते तव यथेच्छं यत् तव चेतसि अवभासते तत् त्व पृच्छ-मम प्रश्नं कुरु, इति केशिकुमारं प्रति गौतमोऽब्रवीत् 'गौतमम' इति प्राकृतत्वात् प्रथमास्थाने द्वितिया। ततो गौतमवाक्यादनन्तर केशिकुमारो गौतमेन अनुज्ञात. सन् गौतमेन दत्ताज्ञः सन् गौतम प्रति इदं वक्ष्यमाण वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
धम्मो दुविहे मेहावी !, कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥२४॥

हे गौतम ! पार्श्वेन मुनिना तीर्थकरेण यश्चातुर्यामश्चातुर्व्रतिकोऽयम् अस्माक धर्मो उद्दिष्ट , पुनर्योऽयं धर्मो वर्द्धमानेन पञ्चशिक्षिक पञ्चव्रतात्मको दिष्ट' कथितः ॥२३॥ एककार्ये मोक्षसाधनरूपे कार्ये प्रपन्नयो. श्रीपार्श्वमहावीरयोर्विशेषे भेदे किं कारणम् ?,हे मेधाविन् ! द्विविधे धर्मे तव कथ विप्रत्ययो न भवति ? । यतो द्वौ अपि तीर्थकरौ द्वावपि मोक्षकार्यसाधने प्रवृत्तौ कथमनयोर्भेद इति हेतोस्तव मनसि कथ विप्रत्ययो न भवति सन्देहो न भवति ? ॥ २४ ॥

तओ केसिं वुवंत तु, गोयमो इणमब्बवी ।
पण्णा समिक्खए धम्म-तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥२५॥

ततोऽनन्तर केशिकुमारश्रमण ब्रुवन्त कथयन्तं गौतम इदम् अब्रवीत्-हे केशिकुमारश्रमण ! प्रज्ञा बुद्धिर्धर्मतत्त्व धर्मस्य परमार्थं पश्यति, धर्मतत्त्व बुद्ध्या एव विलोक्यते, " सूक्ष्म धर्मे सुधीर्वेत्ति " इति वचनात् । कीदृशं धर्मतत्त्वम् ?, तत्त्वविनिश्चयं तत्त्वानां जीवादीना विशेषेण निश्चयो यस्मिन् तत् तत्त्वविनिश्चयम्,केवल धर्मतत्त्वस्य श्रवणमात्रेण निश्चयो न भवति, किन्तु प्रज्ञावशादेव धर्मतत्त्वस्य विनिश्चय. स्यादिति भाव. ॥ २५ ॥

पुरिमा उज्जुजड्डाओ, वक्कजड्डा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्नाओ, तेण धम्मो दुहा कओ ॥२६॥

केशिकुमारश्रमण ! पुरिमा. पूर्वे प्रथमतीर्थकृत्साधव' आदीश्वरस्य मुनय ऋजुजडाः ऋजवश्च ते जडाश्च ऋजुजडा , बभूवुरिति शेष. । शिक्षाग्रहणतत्पराः ऋजवः, दुष्प्रतिपाद्यतया जडा मूर्खा.।तुशब्दो यस्मादर्थे। पश्चिमा. पश्चिमतीर्थकृत्साधवो महावीरस्य मुनयो वक्रजडाः-वक्राश्च ते जडाश्च वक्रजडा , वक्रा. प्रतिबोधसमये वक्रज्ञाना', जडा कदाग्रहपराः, तादृशा बभूवु , तु पुनर्मध्यमा. मध्यमतीर्थङ्कराणां मुनयो द्वाविंशतितीर्थकृत्साधव ऋजुप्राज्ञा. बभूवु', ऋजवश्च प्राज्ञाश्च ऋजुप्राज्ञा', ऋजव' शिक्षाग्रहणतत्परा , पुन' प्राज्ञाः प्रकृष्टबुद्धयः, तेन कारणेन हे मुने ! धर्मो द्विधा कृतः ॥२६॥

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ चेव ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥ २७ ॥

[पुरिमाण इति] प्रथमतीर्थकृत्साधूनां कल्पः साध्वाचारो दुर्विशोध्य', दु खेन निर्मलीकरणीय , ऋजुजडाः कल्पनीयाः कल्पनीयज्ञानविकला', पुनश्चरमाणां चरमतीर्थकृत्साधूनां दुरनुपालक -दु खेन अनुपाल्यते इति दुरनुपालक', महावीरस्य साधवो वक्रजडाः वक्रत्वाद्विकल्पबहुलत्वात् साध्वाचारं जानन्तोऽपि कर्तुमशक्ता , तु पुनर्मध्यमगानां द्वाविंशतितीर्थकृत्साधूनाम्-अजितनाथादारभ्य पार्श्वनाथपर्यन्ततीर्थकरमुनीनां कल्प साध्वाचार सुविशोध्य , सुपालकश्च, साध्वाचारसुखेन निर्मलीकर्त्तव्य', पुन' सुखेन पाल्य', द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवो हि ऋजुप्राज्ञा -स्तोकेनोक्तेन बहुज्ञा तस्माच्चातुर्व्रतिको धर्म उद्दिष्ट । मैथुनं हि परिग्रहे एव गण्यते, आदीश्वरस्य साधूनां यदि पञ्च महाव्रतानि प्राणातिपातविरतिमृषावादविरतिमैथुनविरतिपरिग्रहविरतिरूपाणि पृथक् २ कथ्यन्ते

[1] टीकाकारोक्तरीत्या " लोगाणं तु अणेगाओ " इति पाठोऽनुमीयते ।

तदा ते ऋजुजडा पञ्चमहाव्रतानि पालयन्ति, नो चेत्ते व्रतभङ्गं कुर्वन्ति, ते तु यावन्मात्रमाचारं शृण्वन्ति तावन्मात्रमेव कुर्वन्ति, अधिकं स्वबुद्ध्या किमपि न विदन्ति । महावीरस्य साधवोऽपि चेत्पञ्च महाव्रतानि शृण्वन्ति तदैव पालयन्ति, तेऽपि वक्रा जडाश्च, चेत् चत्वारि महाव्रतानि शृण्वन्ति तदा चत्वार्येव पालयन्ति, न तु पञ्चमं पालयन्ति । वक्रजडादिकदाग्रहग्रस्ताः अतीव हठधारिणः, द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवः ऋजवः प्राज्ञाश्चत्वारि श्रुत्वा सुबुद्धित्वात् पञ्चापि व्रतानि पालयन्ति । तस्माच्चत्वारि व्रतानि प्रोक्तानि, तस्मात् धर्मो द्विविधः कृतः-चातुर्व्रतिकः, पञ्चव्रतात्मकश्च । स्वस्वारकपुरुषाणाम् अभिप्रायं विज्ञाय तीर्थकरैर्धर्मं उपदिष्ट इति भावः ॥ २७ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमो ! ॥ २८ ॥

इति श्रुत्वा केशिकुमारः श्रमणो वदति-हे गौतम ! ते तव साधु प्रज्ञाऽस्ति सम्यक् बुद्धिरस्ति, मे मम अयं संशयस्त्वया छिन्नो दूरीकृतः । अन्योऽपि मम संशयोऽस्ति, तमिति तस्योत्तरं हे गौतम ! त्वं कथयस्व । इदं वचनं हि शिष्यापेक्षं, न तु तस्य केशिमुनेर्ज्ञानत्रयवत एवंविधः संशयसम्भवः ॥ २८ ॥

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महायसा ॥२९॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
लिंगे दुविहे मेहावी !, कह विप्पच्चओ न ते ? ॥ ३० ॥

वर्द्धमानेन चतुर्विंशतितमतीर्थकरेण यो धर्मोऽचेलकः-प्रमाणोपेतजीर्णप्रायो धवलवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारो दिष्टः, च पुनः पार्श्वेन महायशसा त्रयोविंशतितमतीर्थकरेण योऽयं धर्मः सान्तरोत्तरः पञ्चवर्णबहुमूल्यप्रमाणरहितवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारः प्रदर्शितः, हे मेधाविन् ! एककार्यप्रतिपन्नयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे भेदे किं कारणं को हेतुः ?, हे गौतम ! द्विविधे लिङ्गे द्विप्रकारके साधुवेषभेदे तव कथं विप्रत्ययो न उत्पद्यते कथं सन्देहो न जायते ?। उभौ अपि तीर्थकरौ मोक्षकार्यसाधकौ कथं ताभ्यां वेषभेदः प्रकाशितः ?, इति कथं तव अयं संशयो न भवति ? ॥ ३० ॥

केसिं एवं बुवंताणं, गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥ ३१ ॥

गौतम एवं ब्रुवाणं केशिकुमारं मुनिम् इदम् अब्रवीत्-हे केशिमुने ! तीर्थकरैर्विज्ञानेन विशिष्टज्ञानेन केवलज्ञानेन समागम्य यत् यत् यस्य उचितं तत्तथैव ज्ञात्वा धर्मसाधनं धर्मोपकरणं वर्षाकल्पादि इदम् ऋजुप्राज्ञयोग्यम्, इदं वक्रजडयोग्यम् इति ईप्सितम् अनुमतम् इष्टं कथितमिति यावत्, यतो हि शिष्याणां रक्तवर्णादिवस्त्रानुज्ञाने वक्रजडत्वेन रञ्जनादिषु प्रवृत्तिर्दुर्निवारा एव स्यात्, पार्श्वनाथशिष्यास्तु ऋजुप्राज्ञत्वेन शरीराच्छादनमात्रेण प्रयोजनं जानन्ति, न च ते किञ्चित्कदाग्रहं कुर्वन्ति ॥ ३१ ॥

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगप्पओयणं ॥ ३२ ॥

हे केशिमुने ! नानाविधं विकल्पनं नानाप्रकारोपकरणपरिकल्पनम् अनेकप्रकारोपकरणचतुर्दशोपकरणधारणं वर्षाकल्पादिकं च यत्, पुनर्लोके लिङ्गस्य प्रयोजनं साधुवेषस्य प्रवर्त्तनं यत्तीर्थकरैरुक्तं तत् लोकस्य प्रत्ययार्थं लोकस्य गृहस्थस्य प्रत्ययाय, यतो हि साधुवेषं लुञ्चनाद्याचारं च दृष्ट्वा अमी व्रतिन इति प्रतीतिरुत्पद्यते । अन्यथा विडम्बकाः पाखण्डिनोऽपि पूजाद्यर्थं वयं व्रतिन इति ब्रवीरन्, ततश्च व्रतिषु अप्रतीतिः स्यात्, अतो नानाविधविकल्पनं, लिङ्गप्रयोजनं च पुनर्यात्रार्थं संयमनिर्वाहार्थं, यतो हि वर्षाकल्पादिकं विना वृष्ट्यादिना संयमनिर्वाहो न स्यात्, तेन वर्षाकल्पादिकं वर्षर्तुयोग्यः आचार उपकरणधारणं च दर्शितम्, पुनर्ग्रहणं ज्ञानं तदर्थम् इति ग्रहणार्थं, ज्ञानाय इत्यर्थः । यदि कदाचित् चित्तविप्लवोत्पत्तिः स्यात्, परीषहोत्पत्तौ संयमे अरतिरुत्पद्यते, तदा साधुवेषधारी मनसि एतादृशं ज्ञानं कुर्यात्-यतोऽहं साधोर्वेषधारी अस्मि, यतो "धम्मं रक्खइ वेसो" इत्युक्तत्वात् इत्यादिहेतोर्लिङ्गधारणं ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

अह भवे पइन्नाओ, मोक्खसब्भूयसाहणे ।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥३३॥

पुनर्गौतमो वदति-हे केशिकुमारश्रमण ! निश्चयेन येन ये मोक्षसद्भूतसाधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि सत्यानि साधनानि निश्चयनये वर्तन्ते, अथ प्रतिज्ञा भवेत् श्रीपार्श्वनाथमहावीरयोः इयम् एका एव प्रतिज्ञा भवेत्, श्रीपार्श्वनाथस्यापि मोक्षस्य साधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव, श्रीवीरस्यापि मोक्षस्य साधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव, श्रीपार्श्ववीरयोरेषा प्रतिज्ञा भिन्ना नास्ति इत्यर्थः । वेषस्य अन्तरम् ऋजुजडवक्रजडाद्यर्थं, मोक्षस्य साधने वेषो व्यवहारनये ज्ञेयः, न तु निश्चयनये वेषः । निश्चये तु ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव, तत्र ज्ञानं मतिज्ञानादिकम्, दर्शनं तत्त्वरुचिः, चारित्रं सर्वसावद्यविरतिरूपं, तस्मात् निश्चयव्यवहारनयौ ज्ञातव्यौ इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ३४ ॥

अस्या अर्थस्तु पूर्ववत्, नवरं प्रसङ्गतः शिष्याणां व्युत्पत्त्यर्थं जानन्नपि अपरमपि वस्तुतत्त्वं गौतमस्य स्तुतिद्वारेण पृच्छन्न्योऽपि संशयोत्पादी आह ॥ ३४ ॥

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अभिगच्छंति, कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥३५॥

केशी वदति-हे गौतम ! अनेकेषां शत्रुसम्बन्धिनां सहस्राणां मध्ये त्वं तिष्ठसि, ते च अनेकसहस्रसङ्ख्याः शत्रवस्ते इति त्वाम् अभिलक्षीकृत्य गच्छन्ति सम्मुखं धावन्ति, ते शत्रवस्त्वया कथं निर्जिताः ? ॥ ३५ ॥

अथ गौतम उत्तरं वदति-

एगे जिए जिया पंच, पंचे जिये जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामि हं ॥ ३६ ॥

हे केशिमुने ! एकस्मिन् शत्रौ जिते पञ्च शत्रवो जिताः, पञ्चसु जितेषु दश शत्रवो जिताः, दशैव वैरिणो वशीकृत्य दशप्रकारान् शत्रून् जित्वा सर्वशत्रून् जयाम्यहम् । यद्यपि चतुर्णां कषायाणाम् अवान्तरभेदेन षोडश संख्या भवति, नोकषायाणां नवानां मीलनात् पञ्चविंशतिभेदा भवन्ति, तथापि सहस्रसंख्या न भवति, परं तु तेषां दुर्जयत्वात् सहस्रसंख्या प्रोक्ता ॥ ३६ ॥

अथ केशी पृच्छति-

सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ३७ ॥

हे गौतम ! शत्रवः के उक्ताः ? केशिकुमारो मुनिर्गौतमम् इदम् अब्रवीत्, ततोऽनन्तरं केशिमुनिम् एवं ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ३७ ॥

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ॥ ३८ ॥

हे मुने ! एक आत्मा चित्तं,तस्य अभेदोपचारात् आत्ममनसोरेकीभावे मनसः प्रवृत्तिः स्यात्, तस्मात् एक आत्मा अजितः शत्रुर्दुर्जयो रिपुः, अनेकदुःखहेतुत्वात् । एवं सर्वेऽप्येते उत्तरोत्तरभेदात् एकस्मिन् आत्मनि जिते चत्वारः कषायास्तेषां मीलनात् पञ्चपञ्चसु आत्मकषायेषु जितेषु इन्द्रियाणि पञ्च जितानि, तदा दश शत्रवो जिताः । आत्मा, कषायाश्चत्वारः, एवं पञ्च, पुनः पञ्चेन्द्रियाणि, एवं दशैव आत्मकषाया , नोकषाया इन्द्रियाणि । एते सर्वे शत्रवोऽजिता सन्ति, तान् सर्वान् शत्रून् यथान्यायं वीतरागोक्तवचसा जित्वा अहं विहरामि,तेषां मध्ये तिष्ठन्नपि अप्रतिबद्धविहारेण विचरामि । अत्र पूर्वं हि प्रश्नकाले अनेकेषां सहस्राणां अरीणां मध्ये तिष्ठसि इत्युक्तम्,उत्तरसमये तु कषायाणाम् अवान्तरभेदेन षोडशसंख्या भवति, नोकषायाणां नवानां मीलनाच्च पञ्चविंशतिभेदा भवन्ति, तथा आत्मेन्द्रियाणामपि सहस्रं संख्या न भवति, परं तु एतेषां दुर्जयत्वात् सहस्रसंख्या उक्तेति भावः ॥ ३८ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ३९ ॥

अस्यार्थस्तु पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

दीसंति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी ! ॥ ४० ॥

पुनः केशी वदति-हे गौतम मुने ! लोके संसारे बहवः शरीरिणः पाशबद्धाः दृश्यन्ते, त्वं मुक्तपाशः सन् लघुभूतः सन् कथं विचरसि हे मुने ! ॥ ४० ॥

ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ! ॥ ४१ ॥

तान् पाशान् सर्वान् छित्वा पुनः उपायेन बुद्ध्या निहत्य मुक्तपाशो लघुभूतोऽहं विहरामि ॥ ४१ ॥

पासा य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ४२ ॥

इति गौतमवाक्यादनन्तरं केशिश्रमणो गौतममब्रवीत्-हे गौतम ! पाशाः के उक्ताः बन्धनानि कानि उक्तानि ? । ततः इति पृच्छन्तं केशिकुमारमुनिं गौतम इदमुत्तरम् अब्रवीत् ॥ ४२ ॥

रागदोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा ।
ते छिंदित्तु जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥ ४३ ॥

हे केशिमुने ! जीवानां रागद्वेषादयस्तीव्राः कठोराः छेत्तुमशक्याः स्नेहपाशाः मोहपाशाः उक्ताः । कीदृशास्ते स्नेहपाशाः ?, भयकराः भयं कुर्वन्तीति भयङ्कराः, रागद्वेषौ आदौ येषां ते रागद्वेषादयः ,रागद्वेषमोहाः एव जीवानां भयदाः,तान् स्नेहपाशान् यथान्यायं वीतरागोक्तोपदेशेन छित्वा,यथाक्रमं साध्वाचारानुक्रमेण, अहं विहरामि साधुमार्गे विचरामि ॥ ४३ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ४४ ॥

अस्यार्थस्तु पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

अंतोहियसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा ! ।
फलेइ विसभक्खीणं, सा उ उद्धरिया कहं ? ॥ ४५ ॥

हे गौतम ! सा लता सा वल्ली त्वया कथं केन प्रकारेण उद्धृता उत्पाटिता ?,सा का ?,या लता अन्तर्हृदयसम्भूता सती तिष्ठति, अन्तर्हृदयं मन उच्यते, एतावता मनसि उद्भूता पुनर्या वल्ली विषभक्ष्याणि फलानि फलति-विषवद्भक्ष्याणि विषभक्ष्याणि विषफलानि उत्पादयति, पर्यन्तदारुणतया विषोपमानि फलानि यस्या लताया भवन्ति ॥ ४५ ॥

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं, मुक्को मि विसभक्खणा ॥ ४६ ॥

गौतमो वदति-हे मुने ! तां लतां सर्वतः सर्वप्रकारेण छित्वा खण्डीकृत्य, पुनः समूलिकां मूलसहिताम् उद्धृत्य उत्पाट्य, यथान्यायं साधुमार्गे विहरामि, ततोऽहं विषभक्षणात् विषोपमफलाहारात् मुक्तोऽस्मि ॥ ४६ ॥

लया य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ! ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ४७ ॥

हे गौतम ! लता इति का उक्ता ?, इति पृष्टे सति इति ब्रुवन्तं केशिमुनिं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ४७ ॥

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ! ॥ ४८ ॥

हे केशिमुने ! भवे संसारे तृष्णा लोभप्रकृतिर्लता वल्ली उक्ता, कीदृशी सा ?,भीमा भयदायिनी,पुनः कीदृशी ?,भीमफलोदया भीमो दुःखकारणानां फलानां दुष्कर्मणाम् उदयो विपाको यस्याः सा भीमफलोदया दुःखदायककर्मफलहेतुभूता, " लोभमूलानि पापानि " इत्युक्तत्वात् । तां तृष्णावल्लीं यथान्यायम् उद्धृत्य अहं विहारं करोमि ॥ ४८ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ४९ ॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥४९॥

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! ।
जे डहंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ? ॥ ५० ॥

हे गौतम ! संप्रज्वलिता जाज्वल्यमाना घोरा भीषणा अग्नयः संसारे तिष्ठन्ति, ये अग्नयः शरीरस्थाः अर्थात् प्राणिनो जीवान् दहन्ति ज्वालयन्ति, तेऽग्नयस्त्वया कथं विध्यापिताः ?, कथं शमिता इत्यर्थः ? ॥ ५० ॥

महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नेव डहंति मे ॥ ५१ ॥

हे केशिमुने ! महामेघप्रसूतात् महामेघसमुत्पन्नात् अर्थाद् महानदीप्रवाहात् वारि पानीयं गृहीत्वा तान् अग्नीन् सततं निरन्तरं सिञ्चामि, ते अग्नयो जलेन सिक्ताः सन्तो मां नैव दहन्ति, कथम्भूतं तत् वारि ?, " जलुत्तम " जलेषु उत्तमं सर्वेषु जलेषु मेघोदकस्यैव उत्तमत्वात् ॥ ५१ ॥

अग्गी य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्ववी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्ववी ॥ ५२ ॥

तदा केशिश्रमणो गौतमम् इदम् अब्रवीत्-हे गौतम ! तेऽग्नय इति के उक्ताः ?, इति उक्तवन्तं केशिकुमारं मुनिं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ५२ ॥

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिहया संता, भिन्ना हु न डहंति मे ॥५३॥

हे केशिमुने ! कषाया अग्नय उक्ताः, श्रुतं शीलं तपश्च जलं वर्तते, तत्र श्रुतं च श्रुतमध्योपदेशः महामेघस्तीर्थंकरः, महास्रोत-आगमः, ते कषायाग्नयः श्रुतधाराभिहताः श्रुतस्य आगमवाक्यस्य, उपलक्षणत्वात् शीलतपसोऽपि, धारा इव धारास्ताभिरभिहता विध्यापिताः श्रुतधाराभिहताः सन्तो, भिन्नाः विध्यापिताः 'हु' निश्चयेन, 'मे' इति मां न दहन्ति मां न ज्वलयन्ति ॥५३॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ५४ ॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ५४ ॥

अइसाहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम ! मारूढो, कहं तेण न हीरसी ? ॥ ५५ ॥

हे गौतम ! अतिसाहसिको दुष्टाश्वः परिधावति, यस्मिन् दुष्टाश्वे हे गौतम ! त्वम् आरूढोऽसि, तेन दुष्टाश्वेन कथं न ह्रियसे कथम् उन्मार्गे न नीयसे ?, सहसा अविचार्य प्रवर्तते इति साहसिकः अविचारिताध्वगामी, पुनः कीदृशो दुष्टाश्वः ?, भीमो भयानकः ॥ ५५ ॥

पहावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥ ५६ ॥

अथ गौतमो वदति-हे केशिमुने ! तं दुष्टाश्वं प्रधावन्तम् उन्मार्गे व्रजन्तम् अहं निगृह्णामि वशीकरोमि, कीदृशं तं दुष्टाश्वं ?, श्रुतरश्मिसमाहितं सिद्धान्तवल्गया बद्धं, ततः स मे मम दुष्टाश्वः उन्मार्गे न गच्छति, स दुष्टाश्वो मार्गं च प्रतिपद्यते अङ्गीकरोति ॥५६॥

अस्से य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्ववी ? ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्ववी ॥ ५७ ॥

केशी पृच्छति-हे गौतम ! अश्व इति क उक्तः ?, तत इति ब्रुवन्तं केशिमुनिं गौतम इदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं च सम्मं निगिण्हामि, धम्मसिक्खाएँ कंथगं ॥ ५८ ॥

हे केशिमुने ! मनो दुष्टाश्वः साहसिकः परिधावति इतस्ततः परिभ्रमति, तं मनोदुष्टाश्वं धर्मशिक्षायै धर्माभ्यासनिमित्तं कथकमिव जात्याश्वमिव, निगृह्णामि वशीकरोमि, यथा जात्याश्वो वशीक्रियते, तथा तं मनोदुष्टाश्वं वशीकरोमि ॥ ५८ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥५९॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ५९ ॥

कुप्पहा बहवो लोए, जेहिं नासंति जंतवो ।
अद्धाणे कह वट्टंतो, तं न नाससि गोयमा ! ? ॥ ६० ॥

हे गौतम ! लोके बहवः कुपथाः कुमार्गाः सन्ति, यैः कुमार्गैर्जन्तवो नश्यन्ति दुर्गतिवने भ्रजन्तो विलीयन्ते, ते मार्गात् च्यवन्ते इत्यर्थः । हे गौतम ! त्वम् अध्वनि वर्तमानः सन् कथं न नश्यसि नाशं न प्राप्नोषि सत्पथात् त्वं न च्यवसे ? ॥ ६० ॥

जे य मग्गेण गच्छंति, जे य उम्मग्गपट्ठिया ।
ते सव्वे वेइया मज्झ, तो ण णस्सामि हं मुणी ! ॥६१॥

हे केशिमुने ! ये भव्यजना मार्गेण वीतरागोपदेशेन गच्छन्ति, च पुनर्येऽभव्याः उन्मार्गप्रस्थिताः भगवदुपदेशाद्विपरीत प्रचलितास्ते सर्वे मया विदिताः, भव्याभव्ययोः सन्मार्गासन्मार्गयोर्ज्ञानं मम जातम् इति भावः । 'तो' इति, तस्मात्कारणात् अहं न नश्यामि अपथपरिज्ञानात् नाशं न प्राप्नोमि ॥ ६१ ॥

मग्गे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्ववी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्ववी ? ॥ ६२ ॥

अस्यार्थः पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गेहि उत्तमे ॥ ६३ ॥

हे केशिमुने ! कुत्सितानि प्रवचनानि कुप्रवचनानि कुदर्शनानि, तेषु पाखण्डिनः कुप्रवचनपाखण्डिनः एकान्तवादिनः, ते सर्वे उन्मार्गप्रस्थिता उन्मार्गगामिनः सन्ति, सन्मार्गं तु पुनर्जिनाख्यातं विद्यते, एष जिनोक्तः सर्वमार्गेषु उत्तमः सर्वमार्गेभ्यः प्रधानो, दयाविनयमूलत्वात् इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६४॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ६४ ॥

महाउदगवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
सरणं गई पइट्ठा य, दीवं कं मन्नसी मुणी ! ? ॥ ६५ ॥

केशी गौतमं प्रति पृच्छति-हे गौतम मुने ! महोदकवेगेन महाजलप्रवाहेण बह्यमानानां प्रवतां प्राणिनां त्वं द्वीपं कं मन्यसे ? इति प्रश्नः; कीदृशं द्वीपम् ?, शरणं रक्षणक्षमम्, पुनः कीदृशम् ?, गतिम् आधारभूमिम्, पुनः कीदृशं प्रतिष्ठां स्थिरावस्थानहेतुम् । द्वीपं निवासस्थानं जलमध्यवर्ति ॥ ६५ ॥

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जइ ॥ ६६ ॥

हे केशिमुने ! वारिमध्ये पानीयान्तरे महालयो विस्तीर्णः एको द्वीपोऽस्ति, द्विर्गता आपो यस्मिन् स द्वीपः, तत्र तस्मिन् द्वीपे महोदकवेगस्य गतिर्न विद्यते पातालकलशवातैः क्षुभितस्य जलवेगस्य गमनं नास्ति । अपरत्र द्वीपे प्रलयकाले समुद्रजलस्य गतिरस्ति, परं द्वीपे सति तत्र नास्ति ॥ ६६ ॥

दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्ववी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्ववी ? ॥ ६७ ॥

केशी गौतमं पृच्छति-हे गौतम ! द्वीपम् इति किमुक्तम् ?, इत्युक्तवन्तं केशिश्रमणं प्रति गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ६७ ॥

जरामरणवेगेणं, वुड्डमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥६८॥

हे केशिमुने ! जरामरणजलप्रवाहेण ब्रुडतां च वहतां प्राणिनां संसारसमुद्रे श्रुतधर्मचारित्रधर्मरूप द्वीप वर्त्तते मुक्तिसुखहेतुधर्मोऽस्तीति भाव । कीदृश स धर्म ?, प्रतिष्ठा निश्चलं स्थानम्, पुन कीदृशो धर्म ?, गतिर्विवेकिनाम् आश्रयणीयः स धर्म्म उत्तम प्रधान स्थान शरणमस्ति इति भाव ॥६८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६९॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ६९ ॥

अन्नवंसि महोहंसि, नावा वि परिधावई ।
जंसि गोयम ! मारूढा, कहं पारं गमिस्ससि ? ॥७०॥

हे गौतम ! महौघे अर्णवे महाप्रवाहे समुद्रे [नावा इति] नौ परिधावति इतस्तत परिभ्रमति, यस्यां नौकायां त्वम् आरूढः सन् कथ पार गमिष्यसि कथ पारं प्राप्स्यसि ? ॥७०॥

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा य निस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

हे केशिमुने ! या नौः आश्राविणी छिद्रसहिताऽस्ति, आश्रवति आगच्छति पानीयं यस्यां सा आश्राविणी, सा नौ. पारस्य गामिनी नास्ति, या निश्राविणी निश्छिद्रा नौ, सा तु पारस्य गामिनी ॥ ७१ ॥

अथ केशी पृच्छति-

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ? ।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ७२ ॥
सरीरमाहु नावि त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अन्नवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥ ७३ ॥

नौ इति का उक्ता ?, केशी गौतमम् अब्रवीत् । तत केशिं ब्रुवन्त गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ७२ ॥ हे केशिमुने ! शरीर नौर्वर्त्तते, जीवो नाविक नौखेटक उच्यते । ससारोऽर्णव समुद्र उक्तः । यं ससार समुद्र महर्षयस्तरन्ति, एतावता महर्षय स्वजीव तपोऽनुष्ठानक्रियावन्त नौवाहक नाविक कृत्वा चतुर्गतिभ्रमणरूपे भवार्णवे स्वशरीर धर्माधारकत्वेन नावं कृत्वा पार प्राप्नुवन्ति, मोक्ष व्रजन्तीति भाव ॥७३॥

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ७४ ॥

अर्थस्तु प्राग्वत् ॥ ७४ ॥

अंधकारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहु ।
को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ? ॥७५॥

अथ पुनः केशिश्रमणो गौतम पृच्छति-हे गौतम ! अन्धकारे तमसि प्रकाशाभावे बहवः प्राणिनस्तिष्ठन्ति, अन्धकारतम शब्दयोर्यद्यप्येक एव अर्थस्तथाऽप्यत्र अन्धकारशब्दस्तमसो विशेषणत्वेन प्रतिपादितम् । कीदृशे तमसि ?, अन्धकारे अन्धं करोति लोकमित्यन्धकार तस्मिन् अन्धकारे, पुन कीदृशे तमसि ?, घोरे रौद्रे भयोत्पादके, हे गौतम ! एतादृशे सर्वस्मिन् लोके सर्वेषां प्राणिना सर्वजीवानां क पदार्थ उद्द्योत करिष्यते प्रकाश करिष्यति ? ॥ ७५ ॥

उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोगप्पभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥ ७६ ॥

गौतम प्राह-हे केशिमुने ! सर्वलोकप्रभाकरो विमलो भानुरुद्गत, स भानु सर्वस्मिन् लोके सर्वेषां प्राणिनामुद्द्योत करिष्यति, सर्वस्मिन् लोके प्रभां करोतीति सर्वलोकप्रभाकर., सर्वलोकालोकप्रकाशको निर्मलो बार्दलादिना अनाच्छादितभानुरेव सर्वेषां प्राणिनां सर्वत्रोद्योत करोति, नान्य कोऽपि तेजस्वी पदार्थ इति भाव ॥ ७६ ॥

भाणू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ? ।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ७७ ॥

तदा केशिमुनिर्गौतम पृच्छति-हे गौतम ! भानुरिति क उक्त ?, केशिमुनिर्गौतमम् इत्यब्रवीत, तत केशिमुनिमिति ब्रुवन्त गौतम इदम अब्रवीत ॥ ७७ ॥

उग्गओ खीणसंसारो, सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥ ७८ ॥

हे केशिमुने ! क्षीण ससारो भवभ्रमणं यस्य स क्षीणससारः क्षयीकृतसंसार, सर्वज्ञ सर्वपदार्थवेत्ता, जिनो रागद्वेषयोर्विजेता, स भास्कर सूर्यः, सर्वस्मिन् लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोके सर्वेषा प्राणिनामुद्द्योत करिष्यति प्रकाशं करिष्यति ॥७८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ७९ ॥

अर्थस्तु प्राग्वत् ॥ ७९ ॥

सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणाण पाणिणं ।
खेमं सिवं अणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी ! ? ॥८०॥

अथ पुन केशिश्रमणो गौतम पृच्छति-हे गौतम मुने ! शारिरिकै शरीरात् उत्पन्नै, तथा मानसै मनस उत्पन्नैर्दुःखैर्बाध्यमानानां पीड्यमानानां प्राणिनां त्व क्षेम व्याध्यादिरहित, शिवं जरोपद्रवरहितम्, अनाबाध शत्रुजनाभावात् स्वभावेन पीडारहितम्, एतादृशं स्थान किम् मन्यसे ?, मा वदेति शेष ॥ ८० ॥

अत्थि एगं धुवट्ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥ ८१ ॥

हे केशिमुने ! लोकाग्रे लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य अग्र लोकाग्र तस्मिन् लोकाग्रे, एक ध्रुव निश्चल स्थानम् अस्ति, कथम्भूत तत्स्थानम् ?, "दुरारुह" दुःखेन आरुह्यते यस्मिन् तत् दुरारोह, दुष्प्राप्यमित्यर्थः । पुनर्यत्र यस्मिन् स्थाने जरामृत्यू न स्तः जरामरणे न विद्येते, पुनर्यस्मिन् व्याधय., तथा वेदना वा, वातपित्तकफश्लेष्मादयो न विद्यन्ते ॥८१॥

ठाणे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ? ।
तओ केसिं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ८२ ॥

तत केशिश्रमणो गौतमम इदम अब्रवीत्, हे गौतम ! स्थानम् इति किमुक्तम ?, ततः केशिकुमारमिति ब्रुवन्त गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ८२ ॥

निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धि लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवमणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥ ८३ ॥

तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जं संपत्ता ण सोयंति, भवोहंतकरा मुणी ॥८४॥ (युग्मम्)

हे केशिमुने ! त शाश्वतं सदातन वास स्थान लोकाग्रे वर्त्तते, यत्स्थान सम्प्राप्ता· सन्तो भवौघान्तकरा· संसारप्रवाहविनाशका मुनयो न शोचन्ते शोक न कुर्वन्ति । कीदृश तत्स्थानम् ?, दुरारोह दुःखेन तपःसयमयोगेन आरुह्यते आसाद्यते इति दुरारोह दुष्प्राप्यम् । इति द्वितीयगाथया संबन्धः । अथ प्रथमगाथार्थः–पुन· कीदृश तत्स्थानम् ?, यत् स्थानम् एभिर्नामभिरुच्यते· कानि तानि नामानि ?, निर्वाणम् इति, अबाधम् इति, सिद्धिरिति, लोकाग्रम् एव च, पुनः क्षेमं, शिवम् इति नामानि । एताहशैः सार्थकैरभिधानैर्यत् स्थानम् उच्यते । तेषां नाम्नामर्थो यथा–निर्वान्ति संतापस्य अभावात् शीतीभवन्ति जीवा यस्मिन् इति निर्वाणम् । न विद्यते बाधा यस्मिन् तत् अबाधं निर्भयम् । सिध्यन्ति समस्तकार्याणि भ्रमणाभावात् यस्याम् इति सिद्धिः । लोकस्य अग्रम् अग्रभूमिर्लोकाग्रम् । एव क्षेमं क्षेमस्य शाश्वतसुखस्य कारकत्वात् क्षेमम्, शिवमुपद्रवाभावात् । पुनर्यत् स्थान प्रति महर्षयोऽनाबाधं यथा स्यात्तथा चरन्ति व्रजन्ति सुखेन मुनयः प्राप्नुवन्ति, मुनयो हि चक्रवर्त्यधिकसुखभाजः सन्तो मोक्षं लभन्ते इति भावः ॥ ८४ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयातीत !, सव्वसुत्तमहोदही ॥ ८५ ॥

अथ केशिकुमारो मुनिर्गौतम स्तौति–हे गौतम ! ते तव प्रज्ञा साध्वी वर्त्तते, मे मम अय संशयश्छिन्नः सन्देहो दूरीकृतः, हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्रमहोदधे ! सकलसिद्धान्तसमुद्र ! तुभ्य नमो नमस्कारोऽस्तु ॥ ८५ ॥

एवं तु संसए छिन्ने, केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवंदित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥ ८६ ॥
पंचमहव्वयं धम्मं, पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥ (युग्मम्)

केशिकुमारश्रमणो भावतः श्रद्धातः (पुरिमस्स इति) प्रथमतीर्थकृतो मार्गे पश्चिमतीर्थकरस्य मार्गे अर्थात् आदीश्वरमहावीरयोर्मार्गे तत्र तिन्दुके उद्याने पञ्चमहाव्रतरूपं धर्मं प्रतिपद्यते अङ्गीकरोति । किं कृत्वा?, गौतमं शिरसा मस्तकेन अभिवन्द्य नमस्कृत्य, क सति, एवम् अमुना प्रकारेण गौतमेन संशये छिन्ने सति, कीदृश गौतमम् ?, महायशसम्, कीदृशः केशी मुनिः?, घोरपराक्रमः रौद्रपुरुषाकारयुक्त, पूर्वं केशिकुमारश्रमणेन चत्वारि व्रतानि गृहीतान्यासन् तदा गौतमवाक्यात्पञ्च महाव्रतान्यङ्गीकृतानीति भावः ॥ ८७ ॥

केसीगोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमो ।
सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ॥ ८८ ॥

तत्र तस्यां नगर्यां केशिगौतमयोर्नित्यं समागम आसीत् । तयो· पुनः श्रुतशीलसमुत्कर्षः श्रुतज्ञानचारित्रयोः समुत्कर्षोऽतिशयोऽभूत, पुनस्तयोरुभयोर्महान् अर्थविनिश्चयोऽभूत शिक्षाव्रतनत्त्वादीनां निर्णयोऽभूत ॥ ८८ ॥

तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया ।
संथुया ते पसीयंतु, भगवं ! केसि ! गोयमा ! ।८९। इति बेमि ।

तदा सर्वा परिषत् तोषिता प्रीणिता, सम्यक् मार्गे सर्वा परिषत् समुपस्थिता सावधाना जाता, तौ भगवन्तौ ज्ञानवन्तौ केशिगौतमौ परिषदा संस्तुतौ प्रसीदतां प्रसन्नौ भवतां, सतामिति शेषः, इत्यहं ब्रवीमि । इति सुधर्म्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ॥ ८९ ॥ इति केशिगौतमाऽध्ययनं संपूर्णम् । उत्त० २३ अ० ।

गोयमगोत्त–गौतमगोत्र–त्रि० । गौतमाह्वयगोत्रसमन्विते, चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० ।

गोयमदीव–गौतमद्वीप–पुं० । लवणसमुद्रपश्चिमायां दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य द्वादशसहस्रमाने सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपतेर्भवनेनालङ्कृतौ स्वनामख्याते द्वीपभेदे, स० ६६ सम० । प्रज्ञा० । जी० ।

गोयमसगुत्त–गौतमसगोत्र–त्रि० । समानं गोत्र येषां ते सगोत्राः, गौतमेन गोत्रेण सगोत्रा गौतमसगोत्राः । गौतमाभिधानगोत्रयुक्तेषु, आ० म० द्वि० ।

गोयर–गोचर–पुं० । गोरिव चरणं गोचरः । यथाऽसौ परिचितविशेषमपहायैव प्रवर्त्तते, तथा साधुरपि भिक्षार्थम् । उत्त०२अ० । पञ्चा० । आव० । गोरिव चरति यस्मिन्स गोचरः । उत्त०२ अ० । उत्तमाधममध्यमकुलेषु अरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटने, दश० ५ अ० १ उ० । भिक्षाग्रहणविधौ, स० । भ० । उत्त० । नं० । गोचरः सामयिकत्वाद् गोरिव चरणं गोचरः, अन्यथा गोचारः । तदर्थसूचकत्वाच्च द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनविशेषो गोचरः । दशवैकालिकस्य प्रथमेऽध्ययने, यथा गौश्चरत्येवमविशेषतः साधुनाऽप्यटितव्यं, न विभ्रमकृत्योत्तमाऽधममध्यमेषु कुलेष्विति वणिग्वत्सकदृष्टान्तेनेति । दश०१अ० । अधिकरणे अच् । गवां चारिस्थाने, बृ०३ उ० । चरणक्षेत्रे, ज्ञा०१ श्रु०१७ अ० । विषये, आ० म० द्वि० । स्था० । यो० विं० । आ० चू० । आचा० । आव० । विषयः प्रासिर्गोचर एकार्थाः । आ० चू० १ अ० ।

गोयरकाल–गोचरकाल–पुं० । गोचरचर्यावेलायाम्, कल्प० ६ क्षण ।

गोयरग्ग–न०–अग्रगोचर–पुं० । प्राकृतत्वाद् अग्रगोचरस्य परनिपातसाध्य 'गोयरग्ग त्ति' । प्रधाने गोचरे, "अट्ठविह गोयरग्गं तु" । उत्त० ३० अ० ।

गोचराग्र–न० । गोचरस्याग्र प्रधानं यतोऽसावेषणायुक्तो गृह्णाति, न पुनर्गौरिव यथाकथञ्चित् । उत्त० १ अ० । अन्याहताधाकर्मादिपरित्यागेन (दश० ५ अ० १ उ०) प्रधानपिण्डग्रहणे, उत्त० २४ अ० ।

गोयरग्गगय–गोचराग्रगत–त्रि० । ग्रामान्तरं भिक्षार्थं प्रविष्टे, दश० ५ अ० १ उ० ।

गोयरग्गपविट्ठ–गोचराग्रप्रविष्ट–त्रि० । गोचराग्रं प्रधानपिण्डग्रहण तन्निमित्तं प्रविष्टो गृहे प्रस्थितः । उत्त०२४ अ० । ग्रामान्तरं भिक्षाप्रविष्टे, दश० ५ अ० १ उ० । "गोयरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ" । दश० ६ अ० ।

गोयरचरिया–गोचरचर्या–स्त्री० । गोश्चरणं गोचरः, चरणं चर्या, गोचर इव चर्या गोचरचर्या । भिक्षाचर्यायाम्, आ० चू० ४ अ० । स्था० ।

विषयसूची—

(१) कथं गोचरचर्या कर्तव्या ।
(२) गोचरचर्यानिरूपणम् ।
(३) भिक्षाद्वारम् ।
(४) भिक्षाऽटनविधिः ।
(५) वर्षासु दिशमापृच्छ्य गन्तव्यम् ।
(६) गच्छतो धार्याधार्याणि कार्याकार्याणि तत्रावश्यकद्वारम् ।
(७) उपकरणद्वारम् ।
(८) कायोत्सर्गद्वारम् ।
(९) कस्मिन् काले प्रविशेदिति कालद्वारम् ।
(१०) नित्यभक्तिकादेः प्ररूपणम् ।
(११) कालातिक्रान्तक्षेत्रातिक्रान्तपानभोजने वक्तव्यता ।
(१२) रात्रौ भिक्षा न ग्रहीतव्या ।
(१३) कतिवारान् गच्छेदिति प्रमाणद्वारम् ।
(१४) मात्रकं गृहीत्वा गन्तव्यमिति मात्रकद्वारम् ।
(१५) यस्य च योगद्वारम् ।
(१६) संघाटकं कृत्वा गन्तव्यम् ।
(१७) उच्चावचकुलेषु चरेत् सामुदानिकः ।
(१८) मार्गे यथा गच्छति तथा निरूपणम् ।
(१९) स्थाणुकण्टकादिवक्तव्यता, गृहपतिद्वारे स्थाणुकण्टकादिवक्तव्यता च ।
(२०) षट्काययतना ।
(२१) वृष्टिकाये निपतति यत्कर्तव्यं तन्निरूपणम् ।
(२२) प्रवेशवक्तव्यता ।
(२३) काकादीन् संनिपतितान् प्रेक्ष्य न गच्छेत् ।
(२४) गां दुह्यमानां प्रेक्ष्य न गच्छेत् ।
(२५) गृहावयवानालम्ब्य न तिष्ठेत्, न वाऽङ्गुल्यादि दर्शयेत्।
(२६) अगार्या सह न तिष्ठेत् ।
(२७) ब्राह्मणादिकं प्रविष्टं दृष्ट्वा प्रवेशविचारः ।
(२८) ग्रामपिण्डोलकादिं प्रविष्टं दृष्ट्वा प्रवेशविचारः ।
(२९) परग्रामे पिण्डनविधिः ।
(३०) आहारे क्षुधे गोचराटनम् ।
(३१) ग्रहणविधिः ।
(३२) याच्यं वस्तु दृष्ट्वा याचेत, नान्यथा याचेत ।
(३३) वन्दमानं न याचेत ।
(३४) भुञ्जानाद् याचनम् ।
(३५) ग्राह्यवस्तूनामत्युष्णग्रहणे विधिः ।
(३६) आधाकर्मिकादिविचारः ।
(३७) आकरखन्यादौ विचारः ।
(३८) आरण्यकादीनां विचारः ।
(३९) उत्सवेषु अर्द्धमासिकादिषु विचारः ।
(४०) इक्ष्वादिखण्डादिवक्तव्यता ।
(४१) औषधविषयो विधिः ।
(४२) क्रीतप्रायमित्यादिविचारः ।
(४३) नौकागतम् ।
(४४) तण्डुलप्रलम्बादिवक्तव्यता ।
(४५) पर्युषिताहारो न ग्राह्यः ।
(४६) बहिर्निर्हृतम् ।
(४७) भिलिङ्गसूपो न ग्राह्यः ।
(४८) लवणग्रहणम् ।
(४९) वनस्पतिप्रतिष्ठितम् ।
(५०) बहुग्रहणे तत्परिष्ठापनम् ।
(५१) सुरभिं गृह्णाति असुरभिं परिष्ठापयति ।
(५२) अन्नगन्धः ।
(५३) आचार्याद्यर्थे विधिः ।
(५४) ग्लानार्थं गृहीत्वा स्वयं नाश्नीयात् ।
(५५) गोचरे भोजनम् ।
(५६) गोचरादागमनम् ।
(५७) गोचरातिचारालोचनम् ।
(५८) गोचरातिचारे प्रायश्चित्तम् ।
(५९) निर्ग्रन्थीनां भिक्षाविधिः ।
(६०) सर्वसपत्कर्यादिभिक्षानिरूपणम् ।
(६१) भ्रमरदृष्टान्तेन भिक्षायां निर्दोषत्वसिद्धिः ।

(१) कथं गोचरचर्या कर्तव्या–

" जहा कवोतो य कपिंजलो य,गावो चरंती इव पागडाओ ।
एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा,नो हीलए नो वि य संथवेज्जा" ॥
" लाभालाभे सुहदुक्खे सोभणासोभणे भत्ते वा पाणे वा समणे तुसिहक्को चरति " । आ० चू० ४ अ० ।

(२) गोचरचर्यानिरूपणम्–

"जधा वा सो वच्छओ दिवसनिसाए छुहाए य परितावितो वितीए अविरतियाए पचविहविसयसपउत्ते एतेसं पाणिए दिज्जमाणे तम्मि इच्छियम्मि न तुच्छं गच्छति,नवाऽन्नेसु चित्त देति. किं तु चारियाणि एव एगग्गमणो सो आलोएति, एवं साधू वि पचविहेसु विसएसु असज्जतो भिक्खायरियाए उवउत्तो चरति, तेण गोचरातीते य गोचरचरियातीए गोचरचरियाए य भिक्खादिया भिक्खेसणा " ॥ आ० चू० ४ अ० । स्था० ।
(' भिक्खाग ' शब्दे घुणदृष्टान्तेन भिक्षाप्ररूपणा)

(३) अथ भिक्षाद्वारमभिधित्सुराह–

तत्र गोचरचर्याया. सर्वोऽधिकारोऽत्रैव प्रदर्श्यते, नवरमेषणोत्पादनोद्गमदोषाणां स्वस्वस्थाने व्याख्या, इह तु जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां निर्ग्रन्थीनां च भिक्षणविधिरुपदर्श्यते–

जिणकप्पिअऽभिग्गहिए–सणाएँ पंचएहमन्नतरियाए ।
गच्छे पुण सव्वाहिं, सावेक्खो जेण गच्छो उ ॥

जिनकल्पिका –अभिगृहीतया पञ्चानामुद्धृतादीनामन्यतरया एषणया भक्तम् एकधा पानकं गृह्णन्ति, गच्छे गच्छवासिन. पुनः सर्वाभिरप्यसंसृष्टादिभिरेषणाभिर्भक्तपानं गृह्णन्ति, कुत इत्याह– सापेक्षो बालवृद्धाद्यपेक्षायुक्तो येन कारणेन गच्छ इति ।
आह–किमिति गच्छवासिन. सर्वाभिरप्येषणाभिर्गृह्णन्ति, किं तेषां निर्जरया न कार्यम् ?, उच्यते–

बाले वुड्ढे सेहे, अगियत्थे नाणदंसणप्पेही ।
दुब्बलसंघयणम्मि उ, गच्छे पइण्णेसणा भणिया ॥

षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाद् बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्य अगीतार्थस्य ज्ञानदर्शनप्रेक्षिणो ज्ञानार्थिनो, दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थिनश्चेत्यर्थ. । दुर्बलसंहननस्य वा समर्थशरीरस्यानुग्रहार्थं गच्छे प्रकीर्णा अप्रतिनियता एषणा भणिता भगवद्भिरिति ।

अथैतान्येव पदानि गाथाद्वयेन भावयति-

तिक्खछुहाओ पीमा, उड्डाहे निवारणम्मि निक्खिवया ।
इय जुयलसिक्खरोसु, पओस भेओ य एकतरो ॥
सुचिरेण वि गीयत्थो, न होहिई न वि सुयस्स आजागी ।
पग्गहिएसणचारी, किमहीउ धरेउ वा अवलो ? ॥

अभिगृहीतयैवैषणया भक्तपानग्रहणे प्रतिज्ञाते तया वा लब्धे स्तोके वा लब्धे सति बालवृद्धशैक्षकाणां तीक्ष्णया दुरधिसहया क्षुधा,उपलक्षणत्वात् तृषा च महती पीडा भवति,उड्डाहो वा भवेत्। स हि बालादिरित्थं लोकपुरतो ब्रूयात्-एते साधवो मां क्षुधा तृषा वा मारयन्तीति। तथा निवारणे विवक्षितामेकामेषणां विमुच्यान्यासां प्रतिषेधे विधीयमाने सति बालादयश्चिन्तयेयुः-अहो ! निक्षिपत्यमीषां, ततः प्रद्वेषं गच्छेयु , भेदो वा एकतरः जीवस्य चारित्रस्य वा विनाशोऽमीषां भवेत्, इति बालवृद्धयुगले शैक्षके वा नियन्त्र्यमाणे दोषा मन्तव्याः । तथा अगीतार्थः सुचिरेणापि कालेन गीतार्थो न भविष्यति,नापि श्रुतस्याचारादेः,उपलक्षणत्वाद्दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा, आज्ञागी, कीदृश इत्याह-प्रगृहीतैषणाचारी प्रगृहीता अभिग्रहवती या एषणा तच्चारी तत्पर्यटनशीलधरो वा,अबलो दुर्बलसंहननः संप्रणीताहाराद्युपष्टम्भाभावे किं सूत्रमर्थं वा अधीता, धारयिता वा,अत एतेषामनुग्रहार्थं गच्छे प्रकीर्णा एषणा दृष्टा ॥ बृ० १ उ० ।

गोचरचर्यायां विधिः-

संपत्ते भिक्खकालम्मी, असंभंतो अमुच्छिओ ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥

(संपत्ते इति) संप्राप्ते शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, भिक्षाकाले भिक्षासमये, अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति। असम्भ्रान्तोऽनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थः । अमूर्च्छितः पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो विहितानुष्ठानमिति कृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति । अनेन वक्ष्यमाणलक्षणेन क्रमयोगेन परिपाटीव्यापारेण,भक्तपानं यतियोग्यमोदनाऽऽरनालादि, गवेषयेत् अन्वेषयेदिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

अथास्या एव विधिमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह-

पमाण काले आव-स्सए य-संघाडगे अ उवगरणे ।
मत्तग काउस्सग्गो, जस्स य जोगो सपडिवक्खो ॥

प्रमाणं नाम कतिवारान् पिण्डपातार्थं गृहपतिकुलेषु प्रवेष्टव्यमिति । (काले त्ति) कस्यां वेलायां भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम् । (आवस्सग त्ति) आवश्यकं संज्ञाकायिकीलक्षणं, तस्य शोधनं कृत्वा निर्गन्तव्यम्, (संघाडगे त्ति) संघाटकेन साधुयुग्मेन निर्गन्तव्यं नैकाकिना, (उवगरणि त्ति) सर्वोपकरणमादाय भिक्षायामवतरणीयम्, (मत्तग त्ति) मात्रकं गृहीतव्यम् (काउस्सग्गि त्ति) उपयोगनिमित्त कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः (जस्स य जोगो त्ति) यस्य च सचित्तस्य वा योगः सम्बन्धो भविष्यति, लाभ इत्यर्थः; तदप्यहं गृहीष्यामीति भणित्वा निर्गन्तव्यम् । (सपडिवक्खो त्ति) एष प्रमाणादिको द्वारकलापः सप्रतिपक्षस्यापवादो वक्तव्य इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ बृ० १ उ० ।

(४) सम्प्रति भिक्षाटनविधिप्रदर्शनार्थमाह ।

तत्र यथा गवेषयेत्तदाह-

से गामे वा णगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी ।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥ २ ॥

(से इति) असम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितो ग्रामे वा नगरे वा, उपलक्षणत्वादस्य,कर्बटादौ वा,गोचराग्रगत इति। गोरिव चरणं गोचरः उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्, अग्रः प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन तद्गतस्तद्वर्त्ती, मुनिर्भावसाधुश्चरेत् गच्छेत्,मन्दं शनैः शनैः,न द्रुतमित्यर्थः। अनुद्विग्नः प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत् अव्याक्षिप्तेन चेतसा वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन चेतसा अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तेनेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

यथा चरेत् तथैवाह-

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे ।
वज्जंतो वीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥ ३ ॥

पुरतोऽग्रतो युगमात्रया शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धसंस्थितया, दृष्ट्येति वाक्यशेषः। प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन्, महीं भुवं चरेत् यायात्, केचिन्नेति योजयन्ति, न शेषादिगुपयोगेनेति गम्यते,न प्रेक्षमाण एव, अपि तु वर्जयन् परिहरन् बीजहरितानि, अनेनानेकभेदस्य वनस्पतेः परिहारमाह । तथा प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्, तथोदकम् अप्कायं, मृत्तिकां च पृथ्वीकायं, चशब्दात् तेजोवायुपरिग्रहः । दृष्टिमानं त्वत्र लघुतरयोपलब्धावपि प्रवृत्तितो रक्षणायोगात्,महत्तरया तु देशविप्रकर्षेणानुपलब्धेरिति सूत्रार्थः । उक्तः संयमविराधनापरिहारः ॥ ३ ॥

अधुनाऽऽत्मसंयमविराधनापरिहारमाह-

ओवायं विसमं खाणुं, विजलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥

अवपातं गर्तादिरूपं, विषमं निम्नोन्नतं, स्थाणुमूर्द्ध्वकाष्ठं, विजलं विगतजलं कर्दमं परिवर्जयेत्, एतत्सर्वं परिहरेत् । तथा संक्रमेण जलगर्त्तपरिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन न गच्छेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात् । अपवादमाह-विद्यमाने पराक्रमे, अन्यमार्ग इत्यर्थः । असति तु तस्मिन् प्रयोजनमाश्रित्य यतनया गच्छेदिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

अवपातादौ दोषमाह-

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

प्रपतन् वा असौ तत्रावपातादौ गर्तादौ प्रस्खलन् वा संयतः साधुर्हिंस्यात् व्यापादयेत् प्राणिभूतानि,प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, भूतान्येकेन्द्रियाः। एतदेवाह-त्रसानथवा स्थावरान् प्रपातेनात्मानं चेत्येवमुभयविराधनेति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए ।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥

तस्मात्तेनावपातादिमार्गेण न गच्छेत् संयतः सुसमाहितो भगवदाज्ञावर्तीत्यर्थः । न गच्छेत् न यायात्, सत्यन्येनेत्यन्यस्मिन् समादौ मार्गेणेति मार्गे, छान्दसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया,असति त्वन्यस्मिन् मार्गे तेनैवावपातादिना यतमेव पराक्रमेत्, यायादिति क्रियाविशेषणं, यतमात्मसंयमविराधनापरिहारेण यायादिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

क्षेत्रयतनामाह-

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया ।
तं उज्जुयं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥ ७ ॥

तथैवोच्चावचा. शोभनाऽशोभनभेदेन नानाप्रकारा', प्राणिनो भक्तार्थं समागता वलिप्राभृतिकादिष्वागता भवन्ति, तदजुक तेषामभिमुखं न गच्छेत,तत्सत्रासेनान्तरायाधिकरणादिदोषात् । किन्तु यतमेव पराक्रमेत् तदुद्वेगमनुत्पादयन्निति सूत्रार्थः ॥७॥

किञ्च-

गोयरग्गपविट्ठो य, न निसीइज्ज कत्थइ ।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ता ण व संजए ॥८॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु भिक्षार्थं प्रविष्ट इत्यर्थः । न निषीदेत् नोपविशेत, क्वचिद् गृहदेवकुलादौ, संयमोपघातादिप्रसङ्गात् । कथां च धर्मकथादिरूपां न प्रबध्नीयात् प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह । अत एवाह-स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इत्यनेषणाद्वेषादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः । उक्ता क्षेत्रयतना । दश० ५ अ० २ उ० ।

भिक्खू मुयच्चे कयदिट्ठधम्मे,
गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा ।
से एसणं जाणमणेसणं च,
अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥ १७ ॥

स एव मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षु । त विशिनष्टि-मृते च स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा तनु. शरीरं यस्य स मृतार्चः । यदि वा-मोदन मुत्, तद्भूता शोभनाऽर्चा पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः, प्रशस्तदर्शलेश्यः । तथा दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतधर्मचारित्राख्यो येन स तथा चैवभूत' क्वचिदवसरे ग्राम नगरमन्यद्वा मठादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहनननोपपन्नः सन्नेषणा गवेषणग्रहणैषणादिकां जानन् सम्यगवगच्छन्ननेषणां चोद्गमदोषादिका तत्परिहार विपाक च सम्यगवगच्छन्नन्नस्य पानस्य वा, अनागृद्धोऽनध्युपपन्न. सम्यग् विहरेत् । तथाहि-स्थविरकल्पिका द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुर्जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रह. । ताश्चेमा'-" संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह होंति अप्पलेवा य । उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया " ॥ १ ॥ अथवा-यो यस्याभिग्रहः स तस्यैषणा, अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणाऽनेषणाभिज्ञ. क्वचित्प्रविष्टः सन्नाहारावावमूर्च्छित. सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीयादिति ॥ १७ ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । (आचार्य्योज्ञा 'पज्जु (ज्जो) सवणाकप्प' शब्दे वक्ष्यते)

(५) वर्षासु दिशमापृच्छ्य गन्तव्यम्-

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कप्पइ, अन्नयरिं दिसिं वा अणुदिसिं वा अवगिज्झिय भत्तं वा पाणं वा गवेसित्तए,से किमाहु भंते !?। ओसन्नं समणा भगवंतो वासासु तवसपउत्ता भवंति, तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा,तमेव दिसिं वा अणुदिसिं वा समणा भगवंतो पडिजागरंति ॥ ६१ ॥

" वासेत्यादितः पडिजागरंति त्ति " यावत् । तत्र ' अन्नयरे ' इत्यादि । अन्यतरां दिशं पूर्वादिकाम, अनुदिशम् आग्नेय्यादिकां विदिशम् (अवगिज्झिय त्ति) अवगृह्य उद्दिश्य, अहमेनां दिशम् आग्नेय्यां वा यास्यामीत्यन्यसाधुभ्य. कथयित्वा भक्तपान गवेषयितु कल्पते । "से किमित्यादि" तत्कुत इति शिष्यप्रश्ने,गुरुराह-(ओसन्न ति) प्राय. श्रमणा भगवन्तो वर्षासु तप'संप्रयुक्ताः प्रायश्चित्तवहनार्थं संयमार्थं स्निग्धकाले मोहजयार्थं वा षष्ठादितपश्चारिणो भवन्ति । ते च तपस्विनो दुर्बलास्तपसैव कृशाङ्गाश्च, अत एव क्लान्ताः सन्त. कदाचिन्मूर्च्छेयु., पतेयुर्वा,ततः श्रमणास्तान् तत्रैव दिगादौ प्रतिजाग्रति गवेषयन्ति,अथाकथयित्वा गतांस्तु कुत्र गवेषयन्ति ? ॥ ६१ ॥

[६] गच्छतो धार्याधार्याणि कार्याकार्याणि च । अथावश्यकद्वारम्-यदाऽऽवश्यकमशोध्य निर्गच्छति तदा मासलघु, आज्ञादयो दोषाश्च, विराधना च प्रवचनादीनाम् । तद्यथा-भिक्षामटत सज्ञा समागच्छेत्, ततो यद्युद्ग्राहितपात्रकः पानकं वा विना व्युत्सृजति तदा प्रवचनविराधना-" अहो ! अशुचयोऽमी " । अथैतद्दोषभयात् न व्युत्सृजति तत आत्मविराधना । अथ प्रतिश्रयमागत्य पानकं गृहीत्वा सञ्ज्ञाभूमौ व्रजति ततो देशकाले स्फिटिते सति भिक्षामलभमान एषणां प्रेरयेत्, ततः संयमविराधना, यत एवमत आवश्यकं शोधयित्वा निर्गन्तव्यम् । गतमावश्यकद्वारम् । बृ० १ उ० । अनाभोगतो ग्लानादिषु कार्येषु व्यापृत सन्नावश्यकमप्यशोध्य निर्गच्छेत्, निर्गच्छतश्च सञ्ज्ञया बाध्यमानो यदि प्रतिश्रय' प्रत्यासन्नस्ततो निवर्तते, अथ दूरे, ततो यदि कालो न पूर्यते, तदा तयोरेक. पात्रकाणि धारयति, इतर' सञ्ज्ञां व्युत्सृजति । अथ सागारिकास्तत्र पश्यन्ति, तत. समनोज्ञाना प्रतिश्रय गत्वा व्युत्सृजति, तदभावे अमनोज्ञानां संविग्नानां, तेषामलाभे पार्श्वस्थादीनां, तेषामप्यभावे सारूपिकाणां, तदभावे सिद्धपुत्रकाणां, तेषामप्राप्तौ श्रावकाणां वैद्यस्य वा गृहे, एतेषामभावे राजमार्गे, गृहद्वयमध्यभागे वा,गृहस्थसत्के वा अवग्रहे कायिकीवर्जं व्युत्सृजति । ततो यद्यसौ गृहपतिस्तां सञ्ज्ञां त्याजयति तदा राजकुले व्यवहारो लभ्यते । यथा-" त्रय. शल्या महाराज !, अस्मिन् देहे प्रतिष्ठिता. । वायुमूत्रपुरीषाणां, प्राप्त वेग न धारयेत् " ॥ १ ॥ बृ० १ उ० ।

(७) अथोपकरणद्वारम्-सर्वमप्युपकरणमादाय भिक्षायामटितव्यम्, यदि सर्वोपकरणं न गृह्णाति तदा मासलघु, उपधिनिष्पन्न वा, तथा तेषा भिक्षामटितु गताना स प्रतिश्रयस्थापित उपधिरग्निकायेन दह्येत, दण्डकक्षोभो वा भवेत्, स्तेनक्षोभो वा तेषां भिक्षामटतां सहसा समापतित इतिकृत्वा तत एव ते पलायिता , ततो यदुपधिं विना तृणग्रहणादि कुर्युः, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति । गतमुपकरणद्वारम् । बृ० १ उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलं पविसिउकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा । से भिक्खू वा

भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

स भिक्षुर्गच्छनिर्गतो जिनकल्पिकादिः गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं निरवशेषं भण्डकं धर्मोपकरणमादाय-गृहीत्वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेद्वा ततो निष्क्रामेद्वा, तस्य चोपकरणमनेकं भवति । तद्यथा-तत्र जिनकल्पिको द्विविधः। छिद्रपाणिरच्छिद्रपाणिश्च ।तत्राच्छिद्रपाणे शक्त्यनुरूपाभिग्रहविशेषाद् द्विविधमुपकरणम् । तद्यथा-रजोहरणं,मुखवस्त्रिका च । कस्यचित् त्वक्त्राणार्थं क्षौमपटपरिग्रहात् त्रिविधम्, अपरस्योदकबिन्दुपरितापादिरक्षणार्थमौर्णिकपटपरिग्रहाच्चतुर्द्धा । तथा सहिष्णुतरस्य द्वितीयक्षौमपटपरिग्रहात् पञ्चधा सति छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकादिग्रहणक्रमेण यथायोगं नवविधो दशविध एकादश द्वादशविधश्चोपधिर्भवति । पात्रनिर्योगश्च-" पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइं रयत्ताणं, च गच्छओ पायणिज्जोगो " ॥ १ ॥ अन्यत्रापि गच्छता सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गन्तव्यमित्याह-" से भिक्खू " इत्यादि । स भिक्षुर्ग्रामादेर्बहिर्विहारभूमिं वा स्वाध्यायभूमिं, तथा विचारभूमिं वा विष्ठोत्सर्गभूमिं सर्वमुपकरणमादाय प्रविशेन्निष्क्रामेद्वेति द्वितीयम् । एवं ग्रामान्तरेऽपि तृतीय सूत्रम् ।

साम्प्रतं गमनाभावे निमित्तमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अह पुण एवं जाणेज्जा तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणे पेहाए तिव्वदेसियं वा महियं सण्णिवयमाणे पेहाए महावाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए तिरिच्छसंपातिमा वा तसा पाणा संथडा सण्णिवयमाणा पेहाए से एवं णच्चा णो सव्वं भंडगमायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा, बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥

(से भिक्खू इत्यादि) स भिक्षुरथ पुनरेव विजानीयात् । तद्यथा—तीव्रं बृहद्धारोपेतं देशिकं बृहत्क्षेत्रव्यापि, तीव्रं च तद्देशिकं चेति समासः । बृहद्धारं महति क्षेत्रे वर्षन्तं प्रेक्ष्य, तथा तीव्रदेशिकां महति देशे अन्धकारोपेतां महिकां वा धूमिकां संनिपतन्तीं प्रेक्ष्योपलक्ष्य, तथा महावातेन वा समुद्धूतं रजः प्रेक्ष्य, तिरश्चीनं च संनिपततो गच्छतः प्राणिनः पतङ्गादीन् संस्कृतान् घनान् प्रेक्ष्य, स भिक्षुरेव ज्ञात्वा गृहपतिकुलादौ उद्दिष्ट सर्वमादाय न गच्छेन्नापि निष्क्रामेद्वेति । इदमुक्तं भवति-सामाचारी एषा-यथा गच्छता साधुना गच्छनिर्गतेन तदन्तर्गतेन वा उपयोगो दातव्यः । तत्र यदि वर्षं महिकादिकं जानीयात्ततो जिनकल्पिको न गच्छत्येव, यतस्तस्य शक्तिरेषा-यथा षण्मासं यावत् पुरीषोत्सर्गनिषेधं विदध्यात् । इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत्तदा सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गच्छेदिति तात्पर्यार्थः। आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । द्वितीयपदम्-यत्र श्वानगवादयो दुष्टा भवन्ति,तद् गृहं यद्यनाभोगतः प्रविष्टः,ततः कुट्यकनिश्रं याति,दण्डकेन वा तान् वारयति, यदि काचिदविरतिका तमुपसर्गयेत्, ततो धर्मकथा कर्तव्या, तया यद्युपशाम्यति, ततः सुन्दरं, नो चेदभिधातव्यम्-एतानि व्रतानि गुरुसमीपे स्थापयित्वा समागच्छामीति, यदि प्रत्यनीकगृहमनाभोगतः प्रविष्टस्ततो महता शब्देन तथा बोलं करोति, यथा भूयान् लोको मिलति, त्रयाणां गृहाणां वा मध्यस्थितः सन्नुपयोगं कृत्वा भिक्षां गृह्णीयात् । पञ्चानामपि महाव्रतानामतिक्रमं महता प्रयत्नेन परिहरेत्, सर्वोपकरणमपि स्तेनप्रत्यनीकाद्युपद्रवभयाद् वृद्धत्वादधुनोत्थितग्लानत्वाद्वा न गृह्णीयात् । इयत्पुनरवश्यमेव ग्रहीतव्यम्-पात्रभाजनकं,चोलपट्टको,रजोहरणं, मुखवस्त्रिका चेति । बृ० १ उ० । (स्थविरः किमुपकरणमादाय गोचरचर्यार्थे गच्छतीति ' अइमुत्तय ' शब्देऽपि प्रथम भागे ७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) " कक्खपडिग्गह-रयहरणमायाए " कक्षायां प्रतिग्राहकं रजोहरणं चादायेत्यर्थः । भ०५ श०४ उ० ।

(८) कायोत्सर्गद्वारम्—

कायोत्सर्गमकृत्वा व्रजति मासलघु। दोषश्चात्र-कश्चित् योगप्रतिपन्नः, तस्य तद्दिवसमाचाम्लं, स चोपयोगकायोत्सर्गमकृत्वा गतो, दध्नः करम्बं गृहीत्वा समायातः, पश्चादपरैः साधुभिस्तस्याचाम्लं स्मारितं, ततः स यदि तं समुद्दिशति तदा योगविराधना । ततः कायोत्सर्गं कृत्वा निर्गच्छेत् । तत्र च कायोत्सर्गे चिन्तयेत् । यथा-अद्य किं मे आचाम्लम्, उत निर्विकृतिकम्, उताहो अभक्तार्थम्, आहोश्विदेकासनकमिति इत्थमुपयोगं गत्वा प्रत्याख्यानानुगुणमेवाऽऽहारं गृह्णाति । बृ०१ उ० । द्वितीयपदम् । कायोत्सर्गादीन्यपि ग्लानादिकार्येषु त्वरमाणो न कुर्यात् । बृ० १ उ० ।

(९) अथ कालद्वारम्-

कस्मिन् काले भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम् । उच्यते-यः क्षपको बालो वृद्धो वा पर्युषितेन प्रथमालिकां कर्तुकामः स सूत्रपौरुषीं कृत्वा निर्गच्छति, अथ तावतीं वेलां न प्रतिपालयितुं क्षमः, ततोऽर्द्धपौरुष्यां निर्गच्छति; यद्यतिप्रभाते पर्यटति तदा मासलघु, भद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति । तत्र साधुरतिप्रभात एव कस्यापि गृहं गत्वा भिक्षां याचितवान्, स च गृहपतिर्भद्रकः सुतामविरतिकामुत्थापयेत्, ततस्तस्यामुत्थितायामधिकरणं भवेत्; यस्तु प्रान्तो भवति, स ब्रूयात्-" किमुन्मत्तो वर्तसे, यदेवमतिप्रभाते पर्यटसि, सुखरात्रिकं वा प्रष्टुं समायासीरिति "? । यद्वा-कोऽपि ग्रामान्तरं प्रस्थितः प्रथममेव तं साधुं दृष्ट्वाऽपशकुनं मन्यमानः प्रद्वेषं यायात्, प्रद्विष्टश्चाहननादि कुर्यात् । अथैतद्दोषभयादतिक्रान्तायां वेलायामटति तदाऽपि मासलघु । "अकाले चरसी भिक्खू" (दश०५अ०) इत्यादि गाथोक्ताश्च दोषाः। एवमुष्णस्यापि प्रत्तस्याप्राप्तेऽतिक्रान्ते वा एत एव दोषा मन्तव्याः । बृ० १ उ० ।

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥ ४ ॥

(कालेनेति) यो यस्मिन् ग्रामादौ उचितो भिक्षाकालः,तेन करणभूतेन निष्क्रामेद्भिक्षुः वसतेर्भिक्षायै कालेन चोचितेनैव यावता स्वाध्यायादि निष्पद्यते तावता प्रतिक्रामेत् निवर्तेत । भणितं च-"खेत्त, कालो, भायण,तिन्नि वि प्पहुप्पंति हिंमउ त्ति भत्त च-" सुभगा।"अकालं च वर्जयित्वा,येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते स त्वकालः, तमपास्य, काले कालं समाचरेदिति सर्वयोगोपसंग्रहार्थं निगमनम् । भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादि-

वेलायां स्वाध्यायादीनीति। उक्तं च-" जोगो जोगो जिणसासणम्मि " इत्यादि। इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

अकालचरणे दोषमाह-

अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पमिलेहिसि ।
अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥

अकालचारी कश्चित् साधुरलब्धभैक्षः, केनचित् साधुना प्रोक्तो भिक्षा न वेत्यभिहित सन्नेव ब्रूयात्-कुतोऽत्र स्थण्डिलसन्निवेसे भिक्षा ?। स तेनोच्यते-अकाले चरसि भिक्षो ! प्रमादात्स्वाध्यायलोभाद्वा कालं न प्रत्युपेक्षसे-किमय भिक्षाकालो, न वेति ?। अकालचरणेनाऽऽत्मानं च ग्लपयसि, दीर्घाटनन्यूनोदरभावेन संनिवेशं च निन्दसि गर्हसि, भगवदाज्ञालोपतो दैन्यं प्रतिपद्येति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

यस्मादयं दोषः संभाव्यते तस्मादकालाटनं न कुर्यादित्याह-

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं ।
अलाभु त्ति न सोएज्जा, तवु त्ति अहियासए ॥ ६ ॥

सति विद्यमाने काले भिक्षासमये चरेद्भिक्षुः। अन्ये तु व्याचक्षते-स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते। स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालस्तस्मिन् चरेद्भिक्षुः भिक्षार्थं यायात्, कुर्यात् पुरुषकारं सति जङ्घाबले वीर्याचारं न लङ्घयेत्। तत्र चालाभेऽपि भिक्षाया अलाभ इति न शोचयेत्, वीर्याचाराराधनस्य निष्पन्नत्वात्। तदर्थं च भिक्षाटनं,नाहारार्थमेवातो न शोचेत, अपि तु तप इत्यधिसहेत्, अनशन न्यूनोदरतालक्षणं तपो भविष्यतीति सम्यग्विचिन्तयेदिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ चक्षाकालयतना। दश० ५ अ० २ उ०।

(१०) नित्यभक्तिकादेः-

वासावासं पज्जोसवियाणं निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति एगं गोअरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, णण्णत्थायरियवेयावच्चेणं वा, एवं उवज्झायवेयावच्चेणं तवस्सिवेयावच्चेणं गिलाणवेयावच्चेणं खुड्डुएण वा खुड्डियाए वा अवंजणजाएण वा ॥ २० ॥ वासावासं पज्जोसवियाणं चउत्थभत्तिअस्स भिक्खुस्स अयं एवइए विसेसे-जं से पाओ निक्खम्म पुव्वामेव वियडग भुच्चा पिच्चा पमिग्गहग संलिहिय संपमज्जिय से य संथरिज्जा, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए-से य नो संथरिज्जा, एवं से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ २१ ॥ वासावासं पज्जोसवियाणं छट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति दो गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२२॥ वासावासं पज्जोसवियाणं अट्ठमभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२३॥ वासावासं पज्जोसवियाणं विगिट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वे वि गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ २४ ॥

वासावासमित्यादितः 'अव्वंजणजाएण वेति' यावत्। तत्र (निच्चभत्तियस्से ति) नित्यमेकाशनिनः साधो (एग गोअरकाल त्ति) एकस्मिन् गोचरचर्याकाले (गाहावइकुलमिति) गाथापतिर्गृहस्थस्तस्य कुलं गृहम् (भत्ताए त्ति) भक्तार्थम् [पाणाए त्ति] पानार्थं निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं कल्पते, न तु द्वितीय वारम्, परं ["णण्णत्थेत्यादि"] णकारो वाक्यादौ अलङ्कारार्थः। अन्यत्र आचार्यादिवैयावृत्यकरेभ्यः, तान् वर्जयित्वेत्यर्थः । ते तु यदि एकं वारं भुक्ते च वैयावृत्यं कर्तुं न शक्नुवन्ति,तदा द्विरपि भुञ्जते, "तपसो हि वैयावृत्यं गरीयः" इति। [अव्वंजणजाएण वत्ति] यावत् व्यञ्जनानि वस्तिकूर्चकक्षादिरोमाणि न जातानि तावत् क्षुल्लकक्षुल्लिकयोरपि द्विर्भुञ्जानयोर्न दोषः। यद्वा वैयावृत्यमस्यास्तीति वैयावृत्यो,वैयावृत्यकर इत्यर्थः। आचार्यश्च वैयावृत्यश्च आचार्यवैयावृत्यौ, एवं च उपाध्यायादिष्वपि, ततश्च आचार्योपाध्यायतपस्विग्लानक्षुल्लकानां तद्वैयावृत्यकराणां च द्विर्भोजनेऽपि न दोष इत्यर्थो जातः ॥२०॥ "वासावास" इत्यादितः "पविसित्तए त्ति" यावत्। [चउत्थभत्तियस्स त्ति] एकान्तरोपवासिनः साधोः,अयमेतावान् विशेषः-[जं से पाओ निक्खमे त्ति] यत् स प्रातर्निष्क्रम्य गोचरचर्यार्थम् [पुव्वामेव त्ति] प्रथममेव [वियडग ति] विकटं प्रासुकाहारं भुक्त्वा [पिच्चा इति] तक्रादिकं पीत्वा [पडिग्गह त्ति] पात्रम् [संलिहिय त्ति] संलिख्य निर्लेपीकृत्य, [संपमज्जिय त्ति] संप्रमृज्य प्रक्षाल्य [से अ संथरिज्ज त्ति] स यदि संस्तरेत् निर्वहेत् तर्हि तेनैव भोजनेन तस्मिन् दिने परिवसेत्। अथ यदि न संस्तरेत् स्तोकत्वात्, तदा द्वितीयवारमपि भिक्षेतेत्यर्थः ॥२१॥ "वासावासमित्यादि" सूत्रत्रयी सुगमा। नवरं, चतुर्मासकं स्थितस्य षष्ठभक्तिकस्य षष्ठभक्तिकारिणः भिक्षोः द्वौ गोचरकालौ, गृहस्थगृहे भक्तार्थं वा पानार्थं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा [२७] अष्टमभक्तिकस्य चतुःपञ्चाद्युपवासकारिणः सर्वोऽपि गोचरकालः, यदा इच्छा भवति तदा भिक्षते न तु प्रातर्गृहीतमेव धारयेत्, संचयजीवसंसक्तिसर्पाघ्राणादिदोषसंभवात्। कल्प० ६ क्षण।

(११) कालातिक्रान्तक्षेत्रातिक्रान्तपानभोजने-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहित्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तए नेव आहच्च उवाइणेविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुपएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पमिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया,तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं॥ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं अद्धजोयणमेराए उवायणावित्तए नेव आहच्च उवाइणाविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजेज्जा० जाव आवज्जइ, चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥

अस्य सूत्रद्वयस्य सबन्धमाह—

भावस्स उ अतियारो, मा होज्ज इती तु पत्थुते सुत्ते ।
कालस्स य खेत्तस्स य, दुवे उ सुत्ता अतीयारो ॥

भावस्य ब्रह्मव्रतस्य परिणामस्यातिचारः अतिक्रमो मा भूदित्यनन्तरप्रस्तुते सूत्रे प्रतिपादिते । अथ कालस्य च क्षेत्रस्य चातिचारोऽतिक्रमो मा भूदिति द्वे सूत्रे प्रारभ्येते । अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अशनं वा पानं वा खादिमं स्वादिमं वा प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य पश्चिमां पौरुषीं (उवाइणावित्तए त्ति) उपानाययितुं सम्प्रापयितुमिति [नेव आहच्च] कदाचिदुपानाययितुं स्यात्, ततस्तदशनादिकं स्वयं नो भुञ्जीत, न वा अन्येषां साधूनामनुप्रदद्यात्, किं पुनस्तर्हि विधेयमित्याह-एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणेन परिष्ठापयितव्यं स्यात्, तदाऽऽत्मना भुञ्जानोऽन्येषां वा ददान आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकम् । एवं क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रमपि वक्तव्यं, नवरमर्द्धयोजनलक्षणाया मर्यादाया अतिक्रामयितुमशनादिकं न कल्पते स्यात्तदुपानायितं भवेत्ततो यः स्वयं तद्भुङ्क्ते अन्येषां वा ददाति, तस्य चतुर्लघुकमिति सूत्रद्वयार्थः ॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

बितियाउ पढम पुव्विं, उवातिणे चउगुरु च आणादी ।
दोसा संचएँ संस-त्त दीह साणो य गोणी य ॥१॥
अगणिगिलाणुत्तारे, अब्भुट्ठाणे य पाहुणणिरोधे ।
मज्झायविणयकाइ य, पयलंतपलोट्टणे पाणा ॥२॥

आस्तां तावत् पश्चिमा चतुर्थी पौरुषी, किन्तु द्वितीयया पौरुष्या प्रथमाऽपि पूर्वा भण्यते । प्रथमायाश्च द्वितीया पाश्चात्या, एवं तृतीयाया द्वितीया पूर्वा, द्वितीयायाः पाश्चात्या चतुर्थ्यास्तृतीया पूर्वा, तृतीयस्याः चतुर्थी पश्चिमा । ततः प्रथमायाः पौरुष्या द्वितीयायामशनादिकमतिक्रामयतश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, तथा सचयो भवति, चिरं वाऽवतिष्ठमानं तदशनादिकं प्राणिभिः संसक्तं भवति, दीर्घजातीयो वा श्वा वा समागच्छेत्, ततः स द्रवभाजनव्यग्रहस्त उत्थातुमशक्नुवन् नाभ्यां खादेत, गौर्बलीवर्दस्तेन वा आहन्येत्, अत्राऽऽत्मविराधनानिष्पन्नं चतुर्गुरु, तद्भयेन वा इतस्ततः स्पन्दमानो भाजनं भिन्द्यात्, तत्र चतुर्लघु, तेन विनयपरिहाणिस्तन्निष्पन्नम्, अथैनेषां भयाग्निक्षिपति ततश्चतुर्लघु, (अगणि त्ति) अग्नावुत्थिते भारव्यापृतत्वेनाऽनिर्गच्छन् दह्येत, तत्प्रतिबन्धेन वा उपधेर्दाहो भवेत्, ततः उपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं, ग्लानस्य वैयावृत्यमुद्वर्त्तनादिकं भारव्यापृतो न करोति, अक्रियमाणे परितापनादिकं स प्राप्नुयात्, तन्निष्पन्नं चतुर्लघुकादि पाराञ्चिकान्तम्, अथ निक्षिप्य करोति ततो मासलघु, तेन गृहीतेन नावुत्तरति प्रच्छाद्यमानस्य वा भोजनं भुञ्जीत तस्य च प्रद्योटने पानकादिना प्लाव्यमानाः प्राणिनो विपद्यन्ते ।

अथामूनेव सचयादिदोषान् व्याचष्टे-

निस्संचया उ समणा, संचयिनु गिही व होंति धारेंता ।
संसत्तेऽगुरज्जोगो, दुक्खं च विगिंचिउं होंति ॥

निःसञ्चयाः श्रमणा उच्यन्ते, ततो यदि तेऽपि गृहीत्वा धारन्ति तदा गृहिण इव संचयिनो भवन्ति, चिरं वाऽवतिष्ठमानं तद्भक्तपानं संसज्येत, संसक्तं च साधूनामुपभोक्तुं न कल्पते, विवेक्तुं च परिष्ठापयितुं तद् दुःखं भवति, यतस्तत्र परिष्ठाप्यमाने ये प्राणिभिः संसक्तास्ते विनाशमाप्यते ।

एमेव सेसएसु वि, एगतरविराहणा उभयतो वि ।
असमाहि विणयहाणी, तप्पच्चयणिज्जराए य ॥

एवमेव शेषेष्वपि दीर्घादिषु द्वारेषु भावना कर्त्तव्या, सा च प्रागेव कृता, न वा एकतरस्य साधोर्भाजनस्य वा विराधना दीर्घजातीयादिषु भवति, उभयमात्मा संयमश्चेति द्वयम् । तस्य विराधना उभयविराधना । [असमाहि त्ति] अग्निना दह्यमानस्यासमाधिमरणं, भारेणाक्रान्तस्य वा असमाधिदुःखेनावस्थानं भवेत्, गुरुप्रभृतीनां च विनयहानिं कुर्वतस्तत्प्रत्ययनिर्जराया अपि हानिर्भवति ॥

पच्छित्तपरूवणता, एतेसि ठवेंतए य जे दोसा ।
गहितकरणे य दोसा, दोसा य परिट्ठवेंतस्स ॥

एतेषां संचयादीनां सर्वेषामपि प्रायश्चित्तप्ररूपणा कर्त्तव्या । सा च प्रागेव लेशतः कृता, स्थापयतो निक्षिपतश्च ये दोषाः, ये च गृहीतेन कार्याणि कुर्वतो भाजनभेदप्रभृतयो दोषाः, ये च परिष्ठापयतो दोषास्तेऽपि च वक्तव्या इति ।

यत एतावन्तो दोषाः-

तम्हाउ जहिं गहितं, तहिं भुंजाण वज्जिया भवे दोसा ।
एवं सोधिए वज्जति, गहणे वि य पावती वितियं ॥

तस्माद्यस्यामेव पौरुष्यां गृहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम्, एवं कुर्वतो दोषाः पूर्वोक्ता वर्जिता भवन्ति । परः प्राह-नन्वेवं शोधिन विद्यते यतो [गहणे वि य त्ति] यावन्निद्रां गृह्णाति तावदेव द्वितीयां पौरुषीं प्राप्नोति ।

सूरिराह—

एवं ता जिणकप्पे, गच्छम्मि व उज्झियाइ जे दोसा ।
इतरासि किं ण होंती, दव्वे सेसे पि जतणाए ॥

एवं तावज्जिनकल्पिकानामुक्तं तद्यस्यामेव गृहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम्, गच्छवासिनस्तु प्रथमायां गृहीत्वा यदि तदुद्धरितमतिक्रामयन्ति, तदा ये सचयादयो दोषा उक्तास्तान्प्राप्नुवन्ति, द्वयोरपि परः प्रेरयति-इतरयोर्द्वितीयतृतीययोः पौरुष्योरशनादि द्रव्यं धारयतां किमेते दोषा न भवन्ति ? । गुरुराह-भवन्ति, परं द्रव्ये भुक्तशेषे कारणे यतनया धार्यमाणा दोषा न भवन्ति ।

कथं पुनस्तदुद्धरितं भवति ?, इत्याह-

पडिलाभणा बहुविहा, पढमाए विणासिमविणासी ।
तत्थ विणासिं भुंजे-ऽजिण्णपरिन्ने य इतरं पि ॥

अभिगतश्राद्धेन दानश्राद्धेन वा कश्चित् कारणे प्रथमपौरुष्यां बहुविधा प्रतिलाभना, ततो बहुभिर्भक्ष्यभोज्यद्रव्यैरित्यर्थः । तच्च द्रव्यं द्विधा-विनाशि, अविनाशि च । क्षीरादिकं विनाशि, अवगाहनादिकमविनाशि । तत्र यद्विनाशि द्रव्यं तन्नमस्कारपौरुषीप्रत्याख्यानं कुर्वतो भुज्यते, शेषसाधूनां यद्यजीर्णं, यदि वा तैः प्रत्याख्यानं कुर्वतो भुज्जते, शेषसाधूनां यद्यजीर्णं, यदि वा तैः परिज्ञानं, तस्या विकृतेः प्रत्याख्यानं कृतम् । अजकार्थो या प्र-

त्याख्यात., आत्मार्थिका वा ते, तत इतरदविनाशि द्रव्य भुञ्जते ।

अमुमेवार्थं व्याचष्टे-

जइ पोरिसिं पवन्ना, गमेंति तो सेसगाण ण विसज्जे ।
अगमेंताऽजिष्ठे वा, धरेंति ते मत्तगादीसु ॥

यदि पौरुषीप्रत्याख्यानवन्तस्तद् द्रव्य सर्वमपि गमयन्ति नि-र्वाहयितु शक्नुवन्ति, तत. शेषाणा पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनां न विसर्जयेयुर्न दद्यु' । अथ ते सर्वमपि न गमयन्ति, ततः पूर्वार्द्ध-प्रत्याख्यानिनामपि दीयते । अथ तेषामप्यजीर्णं, ततो मात्रका-दिके धारयन्ति ।

अथवा अमुना कारणेन धारयेत्-

तं काउ कोइ न तरइ, गिलाणमाईण दाउमच्चुण्हे ।
नाउ व बहु वियरइ, जहासमाहिं चरिमवज्जं ॥

तदशनादिक कृत्वा भुक्त्वा कश्चित् ग्लानादीनां प्रायोग्यमादाय दातुमत्युष्णे अतीवाऽऽतपे चटिते न शक्नोति, एतेन कारणेन धारयेत् । यद्वा-बहु प्रभूतं भैक्ष लब्ध ततो न परिष्ठापयितव्य भवेदिति ज्ञात्वा गुरवोऽशनादेर्धारण वितरन्ति,अनुजानन्तीत्य-र्थः। (जहासमाहिं ति) प्रथमपौरुष्यां लब्ध परमथाप्यजीर्णं,ततो यावज्जीर्यते तावत् धारयेदपि, एव यथा यथा समाधिर्भवति तथा तथा भुञ्जीत,पर चरमवर्ज चतुर्थी पौरुषीं नातिक्रमयेदि-ति भावः ।

तत्रावधार्यमाणा इयं यतना-

संसज्जिमेसु बुञ्भइ, गुलाइ लेवाडमें इयरें लोणाई ।
जं च गमिस्सति पुणो, एमेव य भुत्तसेसे वि ॥

(ससज्जिमेसु) ससक्तियोग्येषु लेपकृतेषु गोरसादिद्रव्येषु गुडादिक प्रक्षिप्यते येन न ससज्यते, इतरत्रामत्रे लेपकृत, त-द्यदि ससक्तियोग्य,तदा लवणादिक प्रक्षिपेत्,न गुम, यच्च प्रथ-मपौरुष्या द्वितीयपौरुष्या वा भुक्त्वा पुनर्गमिष्यन्ति, कियतीम-पि वेलां प्रतीक्ष्य भूयो भोक्ष्यन्त इत्यर्थ. । तत्रापि भुक्तशेषे धार्य-माणे एष एव गुडादिप्रक्षेपणरूपो विधिर्भवति ।

चोएइ धरिज्जंते, जइ दोसा गिण्हमाणि किं न भवे ? ।
उस्सग्ग वीसमंते, उब्भामादी उदिक्खते ॥

नोदयति प्रेरयति-प्रागेव यद्येवं भक्तपाने धार्यमाणे दोषा ,ततो भक्तादौ गृह्यमाणे किमिति श्वानगवाद्यो दोषा न भवन्ति ?,भ-वन्त्येव। तथा कायोत्सर्गे कुर्वतोऽपि त एव बहुपरितापनादयश्च दोषा। एव विश्राम्यतोऽपि त एव दोषा । उद्भ्रामकभिक्षाचर्या ये गतास्तदादीनपि [उदिक्खते त्ति]प्रतीक्षमाणस्य त एव दोषा.?।

पर एवं प्राह—

एवं अवातदंसी, थूले वि कहं ण पासह अवाए ? ।
हंदी णिरतरोऽयं, भरितो लोगो अवायाणं ॥

यद्येष यूयमपायदर्शिन. सूक्ष्मानपायानपि प्रेक्षध्वे,तत. स्थूला-नपि भिक्षाचर्यादिविषयानपायान् कथ न पश्यथ ?, 'हंदि' इत्युपदर्शने, पश्यन्तु भवन्त -यदेवं निरन्तरोऽप्यय लोकोऽ-पायानां भृत' । कथमिति चेत् ?, उच्यते-

भिक्खादिवियारगते, दोसा पमिणीयमाणमादीया ।
उप्पज्जते जम्हा, ण हु लब्भा हिंडितुं तम्हा ॥

भिक्षाविचारादौ गतानां प्रत्यनीकश्वानगवाद्यो बहवो दोषा यस्मादुत्पद्यन्ते तस्मान्न हि नैव साधुना हिण्डितु लभ्यम् ।

अहवा आहारादी, णेव णिययं हवंति घेत्तव्वा ।
णेवाऽऽहारेयव्वा, तो दोसा वज्जिया होंति ॥

अथवा-आहाराद्यो नियतं सर्वदा न गृहीतव्या भवन्ति,कि-न्तु चतुर्थषष्ठादिक कृत्वा सर्वथैवाऽशक्तेनाऽऽहारो ग्राह्यः। यद्वा-नैव कदाचिदप्याहारयितव्यम्, एव दोषा अपाया. सर्वेऽपि वर्जिता भवन्ति ।

एव परेणोक्ते सूरिराह-

भणति सज्भमसज्भं, कज्जं सज्भं तु साहए मतिमं ।
अविसज्भं साधेतो, केलिस्सति ण तं च साधेति ॥

भएयते अत्र प्रतिवचनम्-कार्यं द्विविधम्-साध्यमसाध्य च, तत्र मतिमान् साध्यमेव कार्यं साधयति, नासाध्य, तुशब्द एवकारार्थः। यस्तु युष्मादृशोऽविमाध्यं साधयति, स केवल क्लिश्यति, न च तत्कार्यं साधयति। यथा मृत्पिण्डेन पटादि-साधनाय प्रवर्तमान पुरुष इति, असाध्य चात्र भिक्षाचर्या-दावपर्यटनम् ।

कुत इति चेत् ?, उच्यते-

जति एयविप्पहूणा, न च णियमगुणा भवे निरवसेसा ।
आहारमादियाण, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ? ॥

यद्येतैराहारादिभिर्विविध प्रकर्षेण हीना रहितास्तपोनियमगु-णा निरवशेषा भवेयु', तत आहारादीनां को नाम कथमपि कुर्यात् ?, अत आहारग्रहणार्थं भिक्षामटनीयमिति प्रक्रम', एतेन "अहवा आहारादी" इत्याद्यपि प्रत्युक्त द्रष्टव्यम् ।

इदमेव सविशेषमाह—

मोक्खपसाहणहेऊ, णाणाती तप्पसाहणो देहो ।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥

इह मोक्षप्रसाधनहेतवो ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषां च प्रसाधनो देहो भवति, अतो देहार्थमाहार इष्यते, स च काले गृह्यमाणो धार्यमाणश्चारित्रस्यानुपघातको भवति, तेन कारणेन कालोऽनुज्ञात. ।

कथमित्याह-

काले अ अणुण्णाए, जति वि हु लग्गेज्ज तेहिं दोसेहिं ।
सुद्धो उवादिणतो, लग्गते उ वितिक्कमेंतो परेणं ॥

आद्यप्रहरत्रयलक्षणो द्वितीयादिपौरुषीत्रयात्मको वा कालो भक्तपानादेर्धारणे अनुज्ञात', एवंविधे अनुज्ञाते काले यद्यपि तैः पूर्वोक्तैर्दोषैर्लग्येत स्पृश्येत, तथापि शुद्ध. । अनुज्ञातकालात्परे-णातिक्रामयन् विपर्यय , अविद्यमानेष्वपि दोषेषु स प्रायश्चित्ती मन्तव्य' ।

पढमाए घेत्तूणं, पच्छिमपोरिसि उवादिणति जो तु ।
ते चेव तत्थ दोसा, वितियाए जे भणिएँ पुव्विं ॥

प्रथमाया पौरुष्यां गृहीत्वा पश्चिमां पौरुषीं योऽतिक्रामयति, तत्र ते दोषा , ये पूर्वं प्रथमायां गृहीत्वा द्वितीयामतिक्रामय-तो जिनकल्पिकस्य भणिताः ।

अमूनि तानि वक्ष्यमाणकारणानि-

सज्झायलेवसीव्वण--भायणपरिकम्मसट्टरादीहिं ।
सहस अणाभोगेण व, उवादियं होज्ज जा चरिमा ॥

स्वाध्याये अतीवोपयोगाद्विस्मृतम्, एवं लेपपरिकर्मणं कुर्वतो, वस्त्रं वा सीवतो,भाजनं वा परिकर्मयतो, देशकथादिकं वा सट्टरमालजालं कुर्वतः, आदिशब्द· सट्टरस्यानेकभेदसूचकः । एतेषु यदन्त्यं तच्चमत्व सहसाकारः, अनाभोगोऽत्यन्तविस्मृतिः । एव सहसाकारेणानाभोगेन वा चरमां चतुर्थीं यावदतिक्रमितं भवति ।

आहच्चुवाइणाविय, विगिंचण परिण्णऽसंथरंतम्मि ।
अन्नस्स गेण्हणं भुं-जणं च असतीएँ तस्सेव ॥

एतैः कारणैराहत्य कदाचिदतिक्रामित भवेत्ततो विगिञ्च्य परित्यज्य परिज्ञा दिवसचरमं प्रत्याख्यानं कर्तव्यम् । अथ न संस्तरति, तत· काले पूर्यमाणे अन्नस्याशनादेर्ग्रहणं भोजनं च कर्तव्यम । अथ कालो न पूर्यते, न वा तदानीं पर्याप्तं लभ्यते, ततो यतनया, यथा-अगीतार्थाः तदेवेदमशनादिकमिति न जानन्ति, तथा तस्यैव परिभोगः कर्तव्यः ।

विइयपएण गिलाण--स्स कारणा अधव वातिणे ओमे ।
अध्दाण पविसमाणो, मज्झे अहवा वि उत्तिष्णे ॥

द्वितीयपदे ग्लानस्य कारणात्प्रायोग्यं भक्तादिकमतिरिक्तमपि काल धारयेत्, ग्लानकृत्ये वा तावद् व्यापृतः यावच्चरमपौरुषी, अथवा अवमे पर्यटन् एव चतुर्थी सजाता, अध्वनि वा प्रविशान् सार्थवशगोऽतिक्रमयेत् । एवमध्वनो मध्ये वर्तमानः, ततो वा उत्तीर्णोऽसस्तरन्नातिक्रमयेत् भुञ्जीत वा, न कश्चिद्दोष· । व्याख्यात कालातिक्रान्तसूत्रम् ।

अथ क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रं व्याख्यानयति-

परमध्दजोयणाओ,उज्जाणपरेण चउ गुरू होंति ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमाताए ॥

अर्धयोजन द्विगव्यूतं, ततः परमशनादिकमतिक्रमयतश्चतुर्गुरुकाः स्युः । अथोद्यानादपि परेणातिक्रमयतश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, सयमात्मनश्च विराधना ।

तामेवाह-

भारेण वेदणाए, ण पेहती खाणुमादि अभिघाओ ।
इरिया पगलिय तेणग, भायणभेदो य छक्काया ॥

भारेणाऽऽक्रान्तो वेदनाऽभिभूतः स्थाणुकण्टकादीनि न प्रेक्षते तैः कीलकादिभिर्वा अभिहन्यते । अथवा-(अभिघाओ त्ति)वटशाखादिना शिरसि घट्यते, ईर्यां वा न शोधयति, दूरनयनेन च भक्तपाने पतिते पृथिव्यादिविराधना, स्तेनैर्वा स समुद्देशो ह्रियेत, क्षुधापिपासाऽऽर्तस्य वा क्षीणबलस्य भाजनभेदो भवेत् । तत्र षट्कायविराधना, आत्मन· परस्य च, तेन विना परिहाणिः ।

परः प्राह-

उज्जाणआरएणं, तहिँ किं ते ण जायते दोसा ? ।
परिहरिया ते होज्जा, जंति वि तहिं खेत्तमावज्जे ॥

उद्यानादारतो ग्रामादेरानीयमाने भक्तपाने किं ते दोषा न जायन्ते, यदेवमुद्यानात्परत इत्यभिधीयते ? । सूरिराह-ते दोषास्तीर्थकरवचनप्रामाण्येन परिहृता भवन्ति, तथाऽप्यननुज्ञातक्षेत्रे तान् दोषानापद्यन्ते ।

पुनरपि परः प्रेरयति-

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो इमो तु जिणकप्पो ।
गच्छम्मि अध्दजोयण, केसिं ची कारणे तं पि ॥

ननु यद्युद्यानात् परतो नातिक्रामयितव्य, ततो यत् " परमद्धजोयणे मेराव त्ति " सूत्र भणित, तदफल प्राप्नोति । आचार्यः प्राह-यदग्रोद्यानात्परतो नातिक्रमयितव्यमित्युच्यते स एष सूत्रार्थनिपातो जिनकल्पिकविषयो मन्तव्य·। यत्पुनरर्द्धयोजनात् परत इत्यादि सूत्रं,तद्गच्छवासिविषयम् । केषाञ्चिदाचार्याणामयमभिप्राय·-यथा गच्छवासिभिरप्युत्सर्गेन उद्यानात्परतो नातिक्रामणीयम्, कारणात्तु तदप्यर्द्धयोजन नेतव्यम् । एवमापन्नादिकं सूत्रम् यथा "केसिंचि कारणे त पि त्ति"। अन्यथा व्याख्यायते—केषाञ्चिदाचार्यबालवृद्धादीनां कारणे तदप्यर्धयोजन गम्यते ।

इदमेव भावयति-

सखेत्ते जह ण लभति, भत्तो दूरे वि कारणे जतति ।
गिहिणो वि चिंतमाणा--ऽऽगतम्मि गच्छे किमंग ! पुण ? ॥

स्वक्षेत्रे स्वग्रामे यदा न लभते तदा दूरेऽप्याचार्यादीनां कारणे भक्तपानग्रहणार्थं यतते,अर्द्धयोजनमपि गच्छतीति भावः। अपि च-यद्यपि स्वग्रामे प्राचुर्येण लभ्यते,तथाऽप्युत्सर्गतस्तत्र न हिण्डनीयम् । कुत· ?, इत्याह-यदि तावद् गृहिणोऽपि क्रयविक्रयसम्प्रयुक्ता अनागतं प्राघूर्णकाद्यर्थं घृतगुडलवणतन्दुलादीनां चिन्तां कुर्वन्ति, किमङ्ग ! पुनर्गच्छे सबालवृद्धे, येषां क्रयविक्रय·, संचयश्च नास्ति, तैः प्राघूर्णकाद्यर्थमनागत न चिन्तनीयम् ? ।

ततः—

संघामेगे ठवणा--कुलेसु सेसेसु बालवुड्ढादी ॥
तरुणा बाहिरगामे, पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए ॥

स्वग्रामे यानि दानश्रद्धादीनि स्थापनाकुलानि, तेषु गुरूणां संघाटक एक· प्रविशति, यानि स्वग्रामे शेषाणि कुलानि, तेषु बालवृद्धासहिष्णुप्रभृतयो हिण्डन्ते, ये तु तरुणास्ते बहिर्ग्रामे पर्यटन्ति । शिष्यः पृच्छति-किमादरेण क्षेत्रं प्रत्यपेक्षा रक्षते ?। गुरुराह-अगार्या दृष्टान्तोऽत्र क्रियते-

परिमियभत्तपदाणे, णेहादवहराति थोव थोवं तु ।
पाहुण वियाल आगत, विसण्ण आसासणा दाणं ॥

"एगो किविणवणिओ, अगारीए अविस्ससतो तंडुलघतलवणकठममादियं दिवसपरिमाणपरिमित देति, आवणतो घरे ण किंचि तदुला धारेति । अगारीए चिंता-जदि एयस्स अब्भहितो, मित्तो वा,अन्नो वा पदोसादिम्मवेलाए आगमिस्सति,तो किं दाह ?। तओ अप्पणो बुद्धिपुव्वगेण वणियस्स अजाणतो णेहतदुलादियाणं थोवथोव फेमिति । कालेण बहु संपण्णं । अन्नया तस्स मित्तो पदोसकाले आगतो, आवण आरक्खियभया गतु न सक्कति,वणियस्स चिंता जाया, विसण्णो,कहमेतस्स भत्त दाहामीति ?। अगारी वणियस्स मणोगतं भाव जाणित्ता भणाति-मा विसाद करेहि, सव्व से करेमि । तीए अब्भंगादिणा ण्हावेउं विसिट्ठमाहार भुंजाविओ, तुट्ठो मित्तो पभाए पुणो जेमेउ गतो । वणिओ वि तुट्ठो भारियं भणइ-अह ते परिमिय देमि, कत ति ?। तीए सव्व कहियं । तुट्ठेण वाणिएण सा

घरचिंतिय त्ति सव्वो घरसारो समप्पिओ " अथाक्षरार्थः-परिमितभक्तप्रदाने सति स्नेहादेर्मध्यादगारी स्तोकस्तोकमपहरति, प्राघूर्णकस्य च विकाले आगमन, ततो गृहपतिर्विषण्ण, तया तस्याऽऽश्वासना कृता, तत. प्राघूर्णकस्य भक्तपानदानमकारि ॥

एवं पीईवुड्ढी, विवरीयऽस्रेण होइ दिट्ठंतो ।
लोगुत्तरे विसेसो, असंचया जेण समणाओ ॥

एव क्रियमाणे तयोः सुहृदो' परस्पर प्रीतिवृद्धिरुपजायते,विपरीतश्चान्येन प्रकारेण दृष्टान्तो भवति। तत्र यदि परमितभक्तमध्यादगारी स्तोकस्तोक नापहरति ततः सुहृदादे. प्राघूर्णकस्य स्नेहच्छेदो भवति, एव यदि गृहस्था आगमन चिन्तयन्ति,तत कुक्षिशम्बलै' साधुभि. सुतरामनागतं चिन्तनीयम्। अपि च-लोकोत्तरे येन असचयाः श्रमणास्तेन कारणेन विशेषत. क्षेत्र रक्षणीयम ॥

जणलावो परगामे, हिंडमाणेंति वसहि इह गामे ।
देज्जह बालादीणं, कारणजाते य सुलभं तु ॥

जनस्याऽऽत्मीयगृहेषु ग्राममध्ये वा मिलितस्याऽऽलापः प्रवादो भवति-अमी साधव. परग्रामे हिण्डित्वा भिक्षामिहानयन्ति,तत. केवल वसतिरेवेह ग्रामे अमीषाम। एव श्रुत्वा गृहपतय.स्वस्वमहेला आदिशन्ति-ये बालादयोऽत्र हिण्डन्ते,तेषामादरेण सविशेष। प्रयच्छत एवविधायां चिन्तायां, प्राघूर्णकादिकारणजाते च सुलभ तु, यदि देशकाले अदेशकाले वा हिण्डन्ते तदा सुलभ भवति ॥

पाहुणविसेसदाणे, णिज्जर कित्ती य इहर विवरीयं ।
पुव्विं चमढणसिग्गा, न देंति संतं पि कज्जेसु ॥

प्राघूर्णकस्य विशेषेणाऽऽदरेण भक्तपाने दीयमाने परलोके निर्जरा, इहलोके च कीर्त्तिर्भवति। चशब्दात्प्रीतिवृद्धि ,परस्परोपकारिता च भवति। इतरथा प्राघूर्णकस्याक्रियमाणे एतदेव विपरीत भवति, निर्जरादिक न भवतीत्यर्थः। कथ पुनस्तद्दान न भवतीत्याह-पूर्वं चमढतया दिने २ प्रविशद्भिः साधुभि. 'सिग्गानि' परिश्रान्तानि स्थापनाकुलानि सदपि गृहे विद्यमानमपि घृतादिकं द्रव्य प्राघूर्णकादिकार्येषु उत्पन्नेषु न प्रयच्छन्ति। एव गुणदोषान् विज्ञाय क्षेत्र प्रयत्नेन रक्षणीयमिति प्रक्रम.।

अथ चापरस्तद्गुणो भवति-

बोरी इह दिट्ठंतो, गच्छे वायामो बहिं च पतिरिक्कं ।
केई पुण तत्थ भुंजण, आणेमाणे भणिय दोसा ॥

बहिर्ग्रामे भिक्षाटने क्रियमाणे प्राभृत दुग्धदध्यादिक प्रायोग्य प्राप्यते। तथा चात्र बदरीदृष्टान्तो भवति । अपि च-गच्छे एषैव सामाचारी गणधरभणिता-यद्बहिर्ग्रामे तरुणैर्भिक्षायामटनीय, व्यायामश्च मोहचिकित्सानिमित्त तैः कृतो भवति। तत्र बहिर्ग्रामे, चशब्दादिह वा परग्रामे ' पइरिक्क ' एकान्त भवति मुत्कलमित्यर्थ.। यद्वा [पतिरिक्क ति] प्रचुर भक्तपान तत्राबाप्यते। केचित्पुनराचार्यदेशीया ब्रुवते-तत्रैव बहिर्ग्रामे भोजन कर्त्तव्य, यतो ये पूर्वमानयतो भारवेदनाऽऽदयो दोषा भणितास्ते एव परिहृता भवन्ति। (एतत्परमतमुत्तरत्र निराकरिष्ये)

अथ बदरीदृष्टान्तमाह-

गामब्भासे बदरी, नीसंद कडुप्फला य कुज्जा य ।
पक्कामालसचेमा, खायतियरे गता दूरं ॥
सिग्घयरं ते आगा, तेसिऽण्हेसिं च दिंति सयमेव ।
खायंति एव इह इ, आयपरसुहावहा तरुणा ॥

कस्याऽपि ग्रामस्याऽभ्यासे प्रत्यासत्तौ बदरी,सा ग्रामनिस्यन्दपानीयेन सवर्द्धिता,ततः कटुकफला संवृत्ता। अन्यच्च-सा स्वभावत एव कुब्जा,तेन सुखारोहा, तस्यां च कानिचित् फलानि पक्वानि,कानिचित्कटुकानि। अथवा (पक्कमेति) मन्दपक्वानि,तत्र ये अलसाश्चेटका बालकाः, ते तां बदरीं सुखारोहामारुह्य कटुकान्यपि बदराणि भक्षयन्ति, तान्यपि स्वल्पतया न पर्याप्तानि भवन्ति, इतरे नाम अनलसा उत्साहवन्तश्चेटका बालकाः, ते दूरमटवीं गता',तत्र महाबदरीवनेषु परिपक्वानि बदराणि यथेच्छ खादन्ति। ततो यावत्ते अलसास्तस्यां कटुकबदर्यां क्लिश्यमाना आसते, तावत्ते दूरगामिनो बालका आत्मन. पर्याप्त कृत्वा बदरीपोट्टलकभाराऽऽक्रान्ता शीघ्रतरमागता ,तेषामलसानामन्येषां च गृहे स्थितानां स्वजनानां बदराणि पर्याप्त्या ददति, स्वयमेव च भक्षयन्ति। एवमिहापि गच्छवासे तरुणा भिक्षवो वीर्यसपन्ना उत्साहवन्तो बहिर्ग्रामे हिण्डमाना आत्मन. परेषां च बालवृद्धादीनां सुखावहा भवन्ति।

कथम् ?, इति चेत् , उच्यते-

खीरदहिमादियाण य, लम्भो सिग्घतर पढम पइरिक्के ।
उग्गमदोसा विजढा, भवंति अणुकंपिया वितरे ॥

यथा ते अलसाश्चेटकास्तथा बालवृद्धादयोऽपि कटुबदरीकल्पे तस्मिन् मूलग्रामे प्रत्यहमुद्धेज्यमानतया चिरमपि हिण्डमानाः कोद्रवकूरादिकमेव लभन्ते, तदपि न पर्याप्त, ये तु तरुणा बहिर्ग्रामे गच्छन्ति, ते अनलसचेटककल्पाः, ततः क्षीरदध्यादीनां प्रायोग्यद्रव्याणां लाभस्तेषां बहिर्ग्रामे भवति, शीघ्रतर च ते स्वग्रामे आगच्छन्ति, (पढम त्ति) प्रथमालिकां च स्वय कुर्वन्ति, बालादिभ्य. प्रथमतर वा समागच्छन्ति (पइरिक्क ति) प्रचुरभक्तपानमुत्पादयन्ति, उद्गमदोषाश्च ' विजढा ' परित्यक्ता भवन्ति, इतरे च बालाऽऽदयो अनुकम्पिता भवन्ति ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह—

एवं उग्गमदोसा, विजढ पइरिक्कया अणोमाणं ।
मोहतिगिच्छा य कता, विरियायारो य अणुचिण्णो ॥

एव बहिर्ग्राम गच्छद्भिस्तैरुद्गमदोषा आधाकर्मादय. परित्यक्ता भवन्ति, (पइरिक्कय त्ति) प्रचुरस्य भक्तपानस्य लाभो भवति, अनपमानत्व पक्वापमानेन भवति। मोहचिकित्सा च परिश्रमाऽऽतपोवैयावृत्त्यादिभिर्मोहस्य निग्रहात्कृतो भवति । वीर्याचारश्चानुचीर्णोऽनुष्ठितो भवति।

अथ पर प्राह-

लग्घायतो परेण, उवातिण तम्मि पुव्व जे भणिता ।
भारादीया दोसा, तच्चेव इहं तु सविसेसा ॥

ननु शोभनमिद यदर्द्धयोजन गम्यते, किन्तु तेषां भरितभाराणामाचार्यसकाशमागच्छता ये पूर्वमुद्धातात्परेणातिक्रामयति भारादयो दोषा भणितास्त एवेह सविशेषा भवन्ति ।

ततः किं कर्तव्यमित्याह-

तम्हा च ण गंतव्वं, तहिँ भोत्तव्वं ण वा वि भोत्तव्वं ।
इतरा भे ते दोसा, इति उदिते चोदगं भणति ॥

तस्मादाचार्यसमीपे भक्तपानेन गृहीतेन न गन्तव्यं, किन्तु तत्रैव बहिर्ग्रामे भोक्तव्यम्,एवं भाराऽऽदयो दोषा परिहृता भवन्ति। (न वा वि भोत्तव्व ति) वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः। अथ भवतो भणिष्यन्ति-नैव बहिर्ग्रामे भोक्तव्यं तत एवम्। इतरथा (भे) भवतां त एव भारादयो दोषा परिहृताः। एवमुदिते भणिते सति सूरिर्नोदकं भणति-यदि तत्र समुद्दिशन्ति ततो मासलघु, भवतोऽप्येव भणितो मासलघु, तैश्च तत्र प्रायोग्य समुद्दिशद्भिराचार्यादयः परित्यक्ताः, तेषां प्रायोग्यमन्तरेण परितापनादिसम्भवात्।

आह-किमित्याचार्यमन्तरेण न सिद्ध्यति यदेवं तदर्थं प्रायोग्यमानीयते ?, इत्याह-

जइ एयविप्पहूणा, तवनियमगुणा भवे निरवसेसा ।
आहारमाइयाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ? ॥

यद्येतेनाऽऽचार्येण विप्रहीणा, एतमन्तरेणेत्यर्थः । तपोनियमगुणा निरवशेषा भवेयु , तत आचार्यप्रायोग्यानामाहारादीनामन्वेषणे को नाम कथमपि कुर्वीत ?, न कश्चित् । इदमत्र हृदयम्-सर्वोऽपि तपोनियमादिक प्रयासोऽस्माकं संसारनिस्तरणार्थं, ते च तपःप्रभृतयो गुणा गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यग् गम्यन्ते, न वा निरवशेषा अपि यथावदनुगन्तु शक्यन्ते, अत संसारनिस्तरणार्थमाचार्याणां प्रायोग्यनयनादि कर्त्तव्यमेव वैयावृत्यमिति ।

अपि च-

जति ताव लोइयगुरू, से लहुय सागारिय पुढविमादी ।
आणयणे परिहरिया, पढमा आपुच्छ जतणाए ॥

यदि तावल्लौकिकोऽपि यो गुरुः पिता ज्येष्ठबन्धुर्वा कुटुम्बं धारयति तस्मिन्नभुक्ते न भुञ्जते, यच्चोत्कृष्टं शाल्योदनादिकं तत्तस्य प्रयच्छन्ति, ततः किं पुनर्यस्य प्रभावेन संसारो निस्तीर्यते तस्य प्रायोग्यमदत्त्वा एवमेव भुज्येत । यस्तु भुङ्क्ते, तस्य मासलघु । वसतेरभावात् तत्र भुञ्जानान् सागारिको यदि पश्यति तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः। अस्थण्डिले च समुद्दिशतां पृथिव्यादिविराधना, आनयने तु सर्वेऽप्येते दोषाः परिहृता भवन्ति, अतो गुरुसमीपमानेतव्याः । द्वितीयपदे प्रथमालिकां कुर्वन्तो गुरुमापृच्छ्य गच्छन्ति । यतनया च यथा संसृष्ट न भवति तथा प्रथमालिका कर्त्तव्या ॥

चोदगवयणं अप्पा-ऽणुकंपिओ ते य भे य परिचत्ता ।
आयरिए अणुकंपा, परलोए इह पसंसणया ॥

नोदकवचनं नाम-परः प्रेरयति-यावत्ते ततो ग्रामात्प्रत्यागच्छन्ति तावत् तृषाक्षुधाक्लान्ता अतीव परिताप्यन्ते, एवं प्रस्थापयद्भिर्भवद्भिरात्मा अनुकम्पितः,ते च साधवः परित्यक्ता भवन्ति। गुरुराह-ननु मुग्ध ! त एवानुकम्पिता । कथमित्याह-(आयरिए इत्यादि) ते यदाचार्यवैयावृत्यनियुक्ताः, एषा पारलौकिकी तेषामनुकम्पा. इहलोकेऽपि ते अनुकम्पिताः,यतो बहुभ्यः साधुसाध्वीजनेभ्यः प्रशंसामासादयन्ति ।

परः प्राह-

एवं पि परिच्चत्ता, काले खमए असहुपुरिसे य ।
काले गिम्हे उ भवे, खमओ वा पढमवितिएहिं ॥

यतस्ते बुभुक्षितातृषिता भाराक्रान्ताः शीतलवातातपैरभिहताः पन्थानं वहन्ति यूयं तु शीतलच्छायायां तिष्ठत, एवमपि ते परित्यक्ताः । सूरिराह-तेषामपि कालं क्षपकमसहिष्णुपुरुषं च प्रतीत्य प्रथमालिकाकरणमनुज्ञातम्, तत्र कालो ग्रीष्मलक्षणस्तस्मिन् प्रथमालिका कृत्वा पानकं पिबन्ति, क्षपको वा प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यामतीव बाधितः प्रथमालिका कुर्यात् ।

अत्र परः प्राह-

जइ एवं संसट्ठं, अप्पत्ते दोसियाइणं गहणं ।
लंबण भिक्खा दुविहा, जहण्णमुक्कोस तिय पणए ॥

यद्येवमसौ बहिरेव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तः संसृष्टो भवति, संसृष्टे च गुर्वादीनां दीयमानेऽभक्तिः कृता भवति ?। गुरुराह-अप्राप्ते देशकाले दोषान्नादेर्ग्रहणं कृत्वा येषु वा कुलेषु प्रभाते चाग्राह्ये पर्यटन्तः प्रथमालिकां कुर्वन्ति,भोजनस्य च कल्पं कुर्वन्ति । प्रथमालिकाप्रमाणं च द्विधा-लम्बनतो, भिक्षातश्च । तत्र जघन्येन त्रयो लम्बनाः कवलाः, तिस्रश्च भिक्षाः, उत्कर्षतः पञ्च लम्बनाः पञ्च वा भिक्षाः । शेषं सर्वमपि मध्यमप्रमाणम् ।

अथ तैः कुत्र किं ग्रहीतव्यमिति निरूपयति-

एगत्थ होइ भत्तं, वितियम्मि पडिग्गहे दवं होति ।
गुरुमादी पाउग्गं, मत्तं विइए उ संसत्तं ॥

साधुद्वयस्य द्वौ प्रतिग्रहौ, द्वौ च मात्रकौ भवतः, तत्रैकस्मिन् प्रतिग्रहे भक्तं प्रतिग्रहीतव्यं,द्वितीये द्रव पानकं भवति। तथैकस्मिन् मात्रके आचार्यादीनां प्रायोग्यं गृह्यते, द्वितीये तु संसक्तं भक्तं वा पानकं वा प्रत्युपेक्षितो यदि शुद्धः ततः प्रतिग्रहे प्रक्षिप्यते ।

जति रिक्को तो दवम-त्तगम्मि पढमालियाएँ गहणं तु ।
संसत्तगहण दवदु-ल्लभे य तत्थेव जं पंता ॥

यदि रिक्तोऽसौ द्रवमात्रकः, ततः तत्र प्रथमालिकाया ग्रहणं वक्तव्यम्, एवं संसृष्ट न भवति । अथवा-तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्त द्रव गृहीतं, द्रवं वा तत्र क्षेत्रे दुर्लभं, ततस्तत्रैव भक्तप्रतिग्रहे यत्प्रान्तं, तदेकेन हस्तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति, एवं संसृष्टं न भवति ।

विइयपयं तत्थेव, सेसं अहवा वि होज्ज सव्वं पि ।
तम्हा तं गंतव्वं, संसट्ठं जति वि तहावि सुद्धो ॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते-अतीव बुभुक्षितास्तत्रैवात्मनः संविभागं भुञ्जते,शेषं सर्वमप्यानयन्ति। अथवा-तत्रैव सर्वमात्मपरम भागं भुञ्जते, यत एष एवंविधो विधिस्तस्माद्विधिना गन्तव्यम्,विधिना आनेतव्यं,विधिना वा तत्रैव भोक्तव्यम् । एवं सर्वत्र विधिं कुर्वन् यद्यपि दोषैः स्पृष्टो भवति तथाऽपि शुद्धः ।

कथं पुनः सर्वं वा भिक्षाचर्यागतेन भोक्तव्यमित्याह-

अंतरपल्लीगहितं, पढमागहियं य भुंजए सव्वं ।
संखडिधुवलंभे वा, जं गहियं दोसिणं वा वि ।

यदन्तरपल्लिकायां गृहीतं, प्रथमपौरुषीगृहीतं वा, तत्सर्वमपि

भुङ्क्ते, यत्र वा जानन्ति सखड्यां ध्रुवो लाभो भविता तत्र यत्पूर्वं गृहीतं तत्सर्वमपि भोक्तव्यम्, यद्वा दोषात्त गृहीत तदशेषमपि भोक्तव्यम्।

दरहिंमिए व भाणं, भरियं भुत्तुं-पुणो वि हिंमिज्जा।
कालो वाऽतिकमई, भुंजेज्जा अंतरा सव्वं॥

अथवा-दरहिण्डिते अर्द्धपर्यटिते एव भाजन भृत, ततोऽल्प-सागारिके तत्पर्याप्त भुक्त्वा पुनरपि हिण्डेत। अथवा-याव-दाचार्यान्तिके आगच्छति तावत्कालोऽतिक्रामति-चतुर्थपौरुषी लगति, सूर्यो वाऽस्तमेतीत्यर्थः। ततः सर्वमप्यन्तरा तत्रैव भुञ्जीत।

परमद्धजोयणातो, उज्जाणपरेण जे भणियदोसा।
आहच्चुवातिणाविएँ, ते चेवोस्सग्गअववातो॥

अथार्द्धयोजनात्परेणातिक्रामयति तदा ये उद्यानात्परतोऽति-क्रामणे दोषा. पूर्वं भणितास्त एव द्रष्टव्याः। अथवा—आहत्य कदाचिदनाभोगादिना अतिक्रामन्ति ततस्तावेवोत्सर्गापवादौ। उत्सर्गतस्तन्न भोक्तव्यम्, अपवादत. पुनरसस्तरणे भोक्तव्य-मिति भाव.। चू० ४ उ०।

जे भिक्खू पढमाए पोरिसीए असणं वा पाणं वा खा-इमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेइ, उवाइणावंतं वा साइज्जइ॥ ३७॥ नि० चू० १२ उ०।
वितियाउ पढमपुव्विं,उवातिणे चउगुरू य आणादी। चू०४उ०।
" दिवसस्स पढमपोरिसीए भत्त पाण घेत्तु चरिमति-चउत्थपोरिसी, तं जो सपावेति, तस्स चतुलहु, आणा-दिया य दोसा "। नि० चू० १२ उ०।

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ परेण असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवाइणावेइ, उवाइणावंत वा सा-इज्जइ॥ ३८॥

परमद्धजोयणाओ, असणादी जे उवातिणे भिक्खू।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे॥१८७॥

दुगाउयं अद्धजोयण, जो तओ खेत्तप्पमाणओ परेण अस-णाइ सकामेइ, तस्स चतुलहु, आणादिया य दोसा। नि० चू० १२ उ०।

अह भंते! खेत्ताइक्कंतस्स कालाइक्कंतस्स मग्गाइक्कंत-स्स पमाणाइक्कंतस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?। गोयमा! जे णं निग्गंथे वा फासुएसणिज्जं असण पाणं खा मं साइमं अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा! खेत्ताइक्कंते पाणभोय-णे। जे णं निग्गंथे वा० जाव साइमं पढमाए पोरिसीए पडिग्गहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवायणाविता आहारमा-हारेइ एस णं गोयमा! कालाइक्कंते पाणभोयणे। जे ण निग्गंथे० जाव साइमं परिग्गहित्ता पर अद्धजोयणमेराए वीइक्कमावइत्ता आहारमाहारेइ, एस ण गोयमा! मग्गा-इक्कते पाणभोयणे। जे णं निग्गंथे वा फासुएसणिज्जे-

ण० जाव साइमं पडिग्गहित्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंड-गप्पमाणमेत्ताणं कवलाण आहारमाहारेइ एस णं गो-यमा! पमाणाइक्कते पाणभोयणे। अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे। दुवालस कुक्कु-डिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे। अवड्ढो-मोयरिया। सोलसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहा-रमाहारेमाणे दुभागपत्ते। चउव्वीस कुक्कुडिअंडगप्प-माणे० जाव आहारमाणे ओमोदरिया। बत्तीसं कुक्कु-डिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाण-पत्ते। एक्को एकेण वि घासेण ऊणगं आहारमाहारेमा-णे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोइ त्ति वत्तव्वं सिया, एस णं गोयमा! खेत्ताइक्कतस्स कालाइक्कतस्स मग्गाइक्कं-तस्स पमाणाइक्कतस्स पाणभोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते। भ० ७ श० १ उ०। (मूलपाठस्य सुगमत्वात् टीका नात्र गृहीता)

अत्रैव दृष्टान्तमभिधित्सुराह-

दिट्ठंतोऽमच्चेणं, पासादे णं तु रायसंदिट्ठे।
दव्वे खेत्ते काले, भावेण य संकिलेसेइ॥

गाथाक्षरयोजना सुगमा। भावार्थस्त्वयम्-केनापि राज्ञा अमात्य आज्ञप्त.-शीघ्र प्रासादः कारयितव्या। स चामात्यो द्रव्ये लुब्धस्तान् कर्मकरान् द्रव्यत क्षेत्रत. कालतो भाव-तश्च सक्लेशयति।

कथमित्याह—

अलोयणसक्कयं सुक्खं, नो पगामं च दव्वतो।
खित्ते अणुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयण॥
भावे न देति विस्साम, निट्ठुरेहिं च खिंसइ।
जियं भित्तिं च नो देइ, नट्ठा अकए दंमणा॥

द्रव्यतोऽलवणसस्कृत विशिष्टसस्काररहित,शुष्क वातादिना शोष नीत, वल्लचणकादि, तदपि न प्रकाम न परिपूर्ण ददाति। क्षेत्रतो—यत्तस्मिन् क्षेत्रे अनुचित भक्त पान वा तद् ददा-ति, तथा उष्णे कर्म कारयति, काले उत्सूरे भोजन दापयति। भावतो-न ददाति विश्राम, निष्ठुरैश्च वचनै खिंसयति। जित-मपि च कर्मकरणतो लभ्यमपि भृतिं मूल्य न ददाति। एव च सति ते कर्मकरा' प्रासादमकृत्वाऽपि नष्टा. पलायि-ता', स्थित. प्रासादोऽकृत राज्ञा चैतत् ज्ञात, ततोऽमात्यस्य दण्डना कृता। अमात्यपदाच्च्यावयित्वा तस्य सर्वस्वापहरण कृतमिति। एष दृष्टान्त.।

साम्प्रतमुपनयमाह-

अकरणें पासायस्स उ, जह सोऽमच्चो उ दंमितो रन्ना।
एमेव य आयरिए, उवणयण होति कायव्वं॥

यथा प्रासादस्याकरणेऽमात्यो राज्ञा दण्डित , एवमेवाचार्ये उपनयन भवति कर्त्तव्यम्। तथैव राजस्थानीयेन तीर्थकरेण अमात्यस्थानीयस्याऽऽचार्यस्य सिद्धिप्रासादसाधनार्थमादेशो द-त्त , स च कर्मकरस्थानीयाना साधूनां द्रव्यादिपु नत् करोति यथा ते सर्वे पालयन्ति।

तथा चाह-

कज्जम्मि वि नो विगितिं, भत्तं पंतं न तं च पज्जत्तं ।
खेत्तं खलुखेत्तादी, कुवसहि उब्भामगे चेव ॥
तइयाएँ देति काले, ओमे वुस्सग्गवादितो निच्च ।
संगह-उवग्गहे वि य, न कुणइ भावे पयडो य ॥

द्रव्यतः-कार्येऽपि समापतिते विकृतिं घृतादिकां न ददाति, भक्तमपि प्रान्त दापयति, तदपि च न पर्याप्तम् । क्षेत्रत'-खलुक्षेत्रादीन् प्रेषयति,खलुक्षेत्र नाम-यत्र तु किमपि न प्रायोग्य लभ्यते, आदिशब्दात् यत्र स्वपक्षतः परपक्षतो वाऽपभ्राजना, तदादिपरिग्रह' । कुवसतौ वा स्थापयति,उद्भ्रामके वा ग्रामे यदा तदा वा प्रेषयति । कालत'-सदैव तृतीयाया भोजन ददाति । अवमेऽपि दुर्भिक्षेऽप्युत्सर्गवादिको नित्यम्, भावतः-सग्रहं ज्ञानादिभि ,उपग्रह वस्त्रपात्रादिभिर्न करोति । प्रचण्डश्च प्रकोपनशील ।

लोए लोउत्तरे चेव, दो वि एए असाहगा ।
विवरीयवित्तिणो सिद्धी, अन्ने दो वि य साहगा ॥

लोके लोकोत्तरेऽपि च एतावनन्तरोक्तौ द्वावप्यसाधकौ द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य विपरीतवर्तिन पुनरुभयथापि सिद्धिरिति कृत्वा अन्यौ द्वावपि द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य साधकौ।

सिद्धीपासायवर्मि-सगस्स करणं चउव्विहं होइ ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य न संकिलेसेइ ॥

सिद्धिप्रासादावतसकरण चतुर्विध भवति । तद्यथा-द्रव्यतः, क्षेत्रत , कालतो, भावतश्च । ततो गीतार्थो द्रव्यादिषु साधून् न सङ्क्लेशयति ।

एवं तु निम्मवंती, ते विय अचिरेण सिद्धिपासायं ।
तेसिं पि इमो उ विही, आहारेयव्वए होति ॥

एव द्रव्यादिषु सक्लेशाकरणतस्ते साधवोऽचिरेण स्तोकेन कालेन सिद्धिप्रासाद निर्मापयन्ति, तेषामपि सिद्धिप्रासादनिर्मापकाणामाहारयितव्येऽय वक्ष्यमाणो विधि' ।

तमेवाह-

अद्धमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे ।
वायपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥

अर्द्धमुदरस्य दधिनक्तीमनादिसहितस्याशनस्य योग्य कुर्यात्, द्वौ भागौ द्रवस्य पानीयस्य योग्यौ, षष्ठ तु भाग वातप्रविचरणार्थमूनक कुर्यात् । इयमत्र भावना-उदरस्य षड् भागा' कल्पन्ते, तत्र त्रयो भागा अशनस्य सव्यञ्जनस्य, द्वौ भागौ पानीयस्य, षष्ठो वातप्रविचरणाय । एतच्च साधारणे, प्रावृट्काले चत्वारो भागा' सव्यञ्जनस्याशनस्य, पञ्चम' पानीयस्य, षष्ठो वातप्रविचाराय, उष्णकाले द्वौ भागावशनस्य सव्यञ्जनस्य, त्रयः पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचारणायेति ।

एसो आहारविही, जह भणितो सव्वभावदंसीहिं ।
धम्मावस्सगजोगा, जेण न हायंति तं कुज्जा ॥

एष आहारविधिर्यथा सर्वभावदर्शिभिः सर्वज्ञैर्भणिता, येन च प्रकारेण धर्मनिमित्ता अवश्यकर्त्तव्या योगा न हीयन्ते, त कुर्यान्नान्यदिति ॥ व्य० ८ उ० । सूत्र० । ओ० । दश० ।

" जे ण पढमाए पोरिसीए असणकत्ताए तइयाए पोरिसीए अकत्ताए भत्त वा पाण वा पडिगाहेज्ज वा,परिभुंजेज्ज वा, तस्स ण पुरिमड्ढ ।" महा० ७ अ० ।

(१२) रात्रौ भिक्षा न ग्रहीतव्या-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राए वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्तए ।

अस्य सबन्ध घटयन्नाह-

वयअहिगारे पगए, राईवयभत्तपालणे इणमो ।
सुत्तं उदाहु थेरा, मा पीला होज्ज सव्वेसिं ॥

पूर्वसूत्रे द्वितीयावग्रहोऽनुज्ञामन्तरेण वस्त्र न परिभोक्तव्यमिति तृतीयव्रतस्याधिकार' प्रकृतः, तस्मिँश्च प्रकृते रात्रिभक्तव्रतपालनार्थमिद सूत्र स्थविराः श्रीभद्रबाहुस्वामिन उदाहृतवन्त' । कुत इत्याह-मा तस्मिन् षष्ठव्रते भग्ने सर्वेषामपि महाव्रताना पीडा विराधना भवेत् इति कृत्वा ।

प्रकारान्तरेण सबन्धमाह-

अहवा पिंडो भणिओ, न य भणिओ गहणकालं तु ।
तस्स गहणं खवाए, वारेइ अणंतरे सुत्ते ।

अथवा-" निग्गथ च णं गाहावइकुल पिंडवायपडियाए" इत्यादिषु सूत्रेषु पिण्डो भणितः, न च तस्य पिण्डस्य ग्रहणकालो भणित , कदा गृह्यते, कदा नेति । अत' पूर्वसूत्रेभ्यो यदपान्तरालमिदमेव सूत्र, तत्र तस्य पिण्डस्य ग्रहण क्षपायां रात्रौ निवारयतीत्यनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा अशन वा ओदनादि, पानं वा द्रवादि, खादिमं वा फलादि, स्वादिमं वा शुण्ठ्यादि प्रतिग्रहीतुम इति सूत्राक्षरार्थ' ।

अथ भाष्यविस्तर'-

राते व वियाले वा संझा राई ओकिसिइ विकालो ।
चउरो य अणुग्घाया, चोदगपडिघाएँ आणादी ॥

रात्रौ वा विकाले वेति यदुक्त सूत्रे, तत्र 'सन्ध्या रात्रिरुच्यते' इतिनिरुक्तिवशात् शेषा सर्वाऽपि रजनी, विगतः सन्ध्याकालोऽत्रेति विकाल उच्यते । केषाञ्चिदाचार्याणां दिवसलक्षणकालविगमात् सन्ध्या विकाल', शेषा तु रात्रि', रज्यन्ति स्तेनपारदारिकादयो अत्रेति कृत्वा । एतयोः रात्रिविकालयो सूत्रोक्त चतुर्विधमाहार गृह्णतो भुञ्जानस्य च चत्वारो अनुद्धाता मासा' प्रायश्चित्तम् । बृ० १ उ० ॥

(१३) कतिवारान् गच्छेत्-

अथ विस्तरार्थमभिधित्सु' प्रमाणद्वार भावयति-

दोन्नि अणुन्नाया ऊ, तइया आवज्ज मासियं लहुयं ।
गुरुगो उ चउत्थीए, चाउम्मासो पुरेकम्मे ॥

चतुर्थभक्तिकस्य द्वौ वारौ गोचरचर्यामटितुमनुज्ञातौ,अथ तृतीयं वारमटति, तत आपद्यते मासिक लघुकम्, अथ चतुर्थं वार पर्यटति,तदा गुरुको मास । स्त्रीत्व सर्वत्र प्राकृतत्वात् । अथ तृतीयादीन् वारान् भिक्षार्थं प्रविशति,ततो गृहिण' पुर' कर्म कुर्वन्ति, तत्र चत्वारो मासा लघव इति । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अथैनामेव भाष्यकृद्विवृणोति-

सइमेव उ निग्गमणं, चउत्थभत्तिस्स दोन्नि वि अलद्धे ।
सव्वे गोयरकाला, विगिट्ठ छट्ठट्ठमे वि तिन्नि ॥

सकृदेव एकवारमेव नित्यभक्तिकस्य भक्ताय वा पानाय वा निर्गमन कल्पते, चतुर्थभक्तिकस्याप्युत्सर्गत. सकृदेव भिक्षामटितु कल्पते । अथ तदानीं पर्यटताऽपि तेन परिपूर्णो भक्तार्थो न लब्धः,ततोऽलब्धे सति तस्य द्वावपि गोचरकालावनुज्ञातौ, यस्य विकृष्टभक्तिको दशमद्वादशमादिक्षपक, तस्य सर्वेऽपि गोचरकाला. कल्पन्ते। (छट्ठमे वितिर्हि ति) षष्ठभक्तिकस्य द्वयोर्गोचरकालयो', अष्टमभक्तिकस्य तु त्रिषु गोचरकालेषु भिक्षामटितु कल्पते ।

स्यान्मति. किमर्थं षष्ठादिभक्तिकानां द्व्यादिगोचरकालाना-मनुज्ञा ?, उच्यते-

संखुन्ना जेणऽन्ता. दुगाइ छट्ठादिणं ततो कालो ।
सुत्तऽणुसुत्ते अ बलं, जायइ न य सीतलं होइ ॥

सक्षुण्णानि सकुचितानि येन कारणेन षष्ठादितपसा अन्त्राणि प्रनीतानि । तत. षष्ठादिभक्तिकानां द्विकादिको गोचरद्वयादिक' कालोऽनुज्ञात । अपि च-प्रथममेकवार भुक्तस्ततो द्वितीयादिक वारमनुभुक्तस्य भुक्तानुभुक्तस्य, द्व्यादीन् वारान् भुक्तवत इत्यर्थ. । बल भूयोऽपि षष्ठादिकरणे सामर्थ्यमुपजायते,न चेत्थ तद्भक्त शीतल भवति, सद्यो गृहीतत्वात्। यदि ह्येकमेकवार पर्यटता यद् गृहीत तन्मध्यात् किञ्चित् समुद्दिश्य द्वितीयादिवार समुद्देशनार्थं शेष स्थापयेत,तदा तद् भवत्येव शीतल,तच्च तस्य तम क्षामदेहस्य कारकमिति कृत्वा द्व्यादयो गोचरकाला अनुज्ञाता इति ।

अत्र पर प्राह-यद्यसौ षष्ठादिभक्तिको यावन्ति भक्तानि छिनत्ति तावन्त्येकेनैव दिवसेन पूरयति, तत. को नाम गुणस्तस्य भक्तच्छेदनेन ?, उच्यते-

बहुदेवसिया भत्ता, एक्कदिणेणं तु जइ वि भुंजेज्जा ।
तह वि य चागतितिक्खा-एगग्गपभावणाईया ॥

बहुदैवसिकानि भक्तानि यद्यप्यसावेकदिनेनैव षष्ठादिभक्तिको भुञ्जीत, तथापि भक्तच्छेदने त्यागतितिक्षैकाग्रप्रभावनादयो गुणा भवन्ति। त्यागो नाम-द्व्यादीन् दिवसान् सर्वथैव भक्तार्थपरिहार., तितिक्षा क्षुधापरीषहस्याधिसहनम, ऐकाग्र्य तु सूत्रार्थपरावर्त्तनादौ चित्तस्यानन्योपयुक्तता, प्रभावना नाम-अहो अमीषां शासन विजयते यत्रादृशास्तपस्विन इति । आदिशब्दादन्येषामपि तप.कर्मणि श्रद्धाजनन, गृहिणा वा तद्दर्शनात् प्रव्रज्याप्रतिपत्तिरित्यत षष्ठादिभक्तिकस्य द्व्यादिगोचरकालानुज्ञानम. नित्यभक्तिकस्तु यदि द्वितीय वार भिक्षार्थमवतरति मासलघु, तृतीयवार मासगुरु, चतुर्थं वार चतुर्लघु, पञ्चम चतुर्गुरु, षष्ठ षड्लघु, सप्तम षड्गुरु, अष्टम छेद., नवम मूल, दशममनवस्थाप्यम, एकादश वार पाराञ्चिकम ।

चतुर्थभक्तिकादीनामतिदेशमाह-

जह एस एत्थ वुड्ढी, ओअरमाणस्स दसहि सपदं च ।
सेसेसु वि ज जुज्जइ, तत्थ विवुड्ढी उ सोहीए ॥

यथा द्वितीयादिवार भिक्षामवतरत एषा लघुमासादारभ्य प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भणिता, दशभिश्च दशसख्याकै. स्थानै' स्वपद पाराञ्चिक नित्यभक्तिकस्योक्तम । तथा शेषेष्वपि चतुर्थभक्तिकादिषु यत् तृतीयवारादिक प्रायश्चित्तस्थान युज्यते, तत्र तदारभ्य शोधे प्रायश्चित्तस्य विवृद्धि. कर्तव्या । तद्यथा-चतुर्थभक्तिकस्तृतीय वार भिक्षामवतरति मासलघु, चतुर्थे मासगुरु, पञ्चम चतुर्लघु, षष्ठ चतुर्गुरु, सप्तमं षड्लघु, अष्टमं षड्गुरु, नवमं छेद , दशमं मूल , एकादशमनवस्थाप्यम, द्वादश वार पर्यटत: पाराञ्चिकम् । एव षष्ठभक्तिकस्यापि द्वादश वारमवतरतः पाराञ्चिकम् । यदाह चूर्णिकृत्-" छट्ठभत्तियस्स वि वारसहिं पायइ पारचिय ति" । अष्टमभक्तिकस्य तु चतुर्थवारादारभ्य त्रयोदश वार यावत्पर्यटतो लघुमासादिक पाराञ्चिकान्तमिति । गत प्रमाणद्वारम । बृ० १ उ० ।

द्वितीयद्वार प्रविशति-

जे भिक्खू गाहावतिकुलं पिंमवायपमियाए पविट्ठे पडियाइक्खित्ते समाणे दोच्चं पि तमेव कुलं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

"जे भिक्खू गाहावतिकुल पिंमवातपडियाए" इत्यादि । (पमियाइक्खिए ति) प्रत्याख्यात , अतित्थावित्ते त्ति भणिय भवति, दोच्च पुनरपि तमेव प्रविशति, तस्स मासलहु, आणाइणा य दोसा ।

णिज्जुत्तिगाहा—

जे भिक्खू गाहावति-कुलमतिगए पिंमवातपमियाए ।
पच्चक्खितेतं समाणे, तं चेव कुल पुणो पविसे ॥ २७ ॥

जे त्ति णिद्देसे, भिक्खू पूर्ववत्, गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुल, गृहमित्यर्थ । अतिगत. प्रविष्ट', पिंमपातपमियाए पच्चक्खातो प्रतिषिद्धः प्रत्याख्यानेन, (समाणे त्ति) सम. प्रत्याख्यानेत्यर्थ' । अहवा-' समाणे त्ति ' पच्चक्खाउ त्ति होउ तमेव पुन. प्रविशेत् ।

गाहा—

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, पच्चक्खाते तु ण प्पविसे ॥ २८ ॥

दुविहा विराहणा-आयाए, सजमे य । जम्हा एते दोसा पावति, तम्हा ण त पुणो कुलं पविसे ।

अथ पविसति तो इमे दोसा-

दुपदचतुप्पयणासे, हरणोद्दविणे य महण खणणे य ।
वारियकामी दोचा-दिएसु संका भवे तत्थ ॥ २९ ॥

तम्मि कुले दुपद दुअक्खरियादि, चउप्पद अस्सादि, णट्ठे, हरिते वा सो सकिज्जति, एव उद्दविते, घरादिदाहे, खत्ते य खातिते अडिउकामी उब्भामगो एह सादिआण ताए वा दूइत्तण करेइ, एव सकिते णिस्सकिते वा ज तमावज्जे, साहूहिं घर मरिय ति, रायकुले कहेज्ज, एव गेण्हणादयो दोसा ।

कारणे तु पुण दोच्च पि पविसति-

वितियपदमणाभोगे, अचितं गेलण्ण पगत पाहुणए ।
रायदुट्ठे रोधगे, अद्धाणे वा वितितिकप्प ॥ ३० ॥

अणाभोगेण दोच्च पि पविसे, तमणीओ खत्तियाओ जत्थ तं अचिय दाउ सचियादी, दुर्भिक्ष वा,गिलाणकारणेण वा भुज्जो पविसति, एव पाहुणगातिएसु वि, अद्धाणे वा वितितिकप्पेति आदी मज्झे अवसाणे य, अहवा गेलण्णादिएसु कज्जेसु एसणिज्जे अलब्भमाणे ति परियट्टविकप्पे पुणो तेसु चेव गद्देसु दोच्च वार पविसति ।

गाहा-

एतं तं चेव घरं, अपुव्वघरसकमेण वा मूढो ।

पुच्छा पुण सेसेसुं, कहेति कज्ज अपुच्छो वा ॥ ३१ ॥

अणाभोगपविट्ठो गिहीण सुणेताण भणति-एय तं चेव घरं ति । अहवा-अपुव्वघरसकमेण वा पविठो भणति-एय त चेव घर ति । (सेसेसु त्ति) गिलाणादिसु कारणेसु गिहीसु पुच्छितो अपुच्छितो वा 'गिलाणठा दोच्च पि आगत' त्ति कज्ज कहेति ।

गाहा-

भावितकुलाणि पविसति, अदेसकाले वि जेसु से आसि ।
सुण्णे पुणरागतेसुं, भद्दमसुण्णं च जं आसि ॥ ३२ ॥

अहवा-जे साहुसाहुणीहिं पविसतेहिं भाविता कुला, तेसिं ण संकातिदोसा भवति, तेसु दोच्च पि कारणे पविसति । अदेसकाले वि जेसु कुलेसु आसी, तेसु पुणो देसकालेसु पविसति, जं भिक्खाकाले सुण्ण असिवेसु पुणो पविसति, भद्दकुलं वा असुण्ण ज आसि, तत्थ केणइ कारणेण भिक्खा ण दत्ता, त पुणो पविसति । नि० चू० २ उ० ।

(१४) मात्रक गृहीत्वा गन्तव्यम् । मात्रकद्वारम्-

अथ मात्रकद्वार व्याख्यायते-मात्रकमगृहीत्वा निर्गच्छति मासलघु, आचार्यादीनां प्रायोग्य मात्रक विना कुत्र गृह्णातु ?, यदि न गृह्णाति तदा, यदा ते अनागाढमागाढ वा परिताप्यन्ते, तन्निष्पन्नम् । अथ ते आन्तप्रान्त समुद्दिशेयु., ततो ग्लान्यादयो दोषा । दुर्लभद्रव्यस्य वा घृतादेस्तद्दिवस लाभो जातः, यदि मात्रक नास्तीतिकृत्वा तत्तु न गृह्णाति तदा मासलघु, ससक्तभक्तपानं वा मात्रक विना क शोधयतु ?, यदि मात्रकमभविष्यत ततस्तत्र शोधयित्वा परिष्ठापयेत्, प्रतिग्रहे परिक्षिपेद्वा, यत एवमतः कर्त्तव्य मात्रकग्रहणम् । गतं मात्रकद्वारम् । बृ०१ उ० । द्वितीयपदे मात्रकमप्यनाभोगादिना न गृह्णीयात् । बृ० १ उ० । ध० । औ० ।

(१५) यस्य च योगद्वारम्—

यस्य वस्त्रपात्रशैक्षादेर्योगः सवन्धो भविष्यति तदपि गृहीष्यामीति यदि न भणति, तदाऽपि मासलघु, वस्त्रपात्रादिक च ग्रहीतु न कल्पते । बृ० १ उ० ।

(१६) संघाटक कृत्वा गन्तव्यम् । अथ संघाटकद्वारं भाष्यकृदेव व्याख्यानयति--

एगागियस्स दोसा, साणे इत्थी तहेव पडिणीए ।
भिक्खऽविसोहि महव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं ॥

यद्येकाकी पर्यटति तदा मासलघु, एते च दोषाः-स एकाकी यदि भिक्षां शोधयति, तदा पृष्ठत. श्वान. समागत्य त दशेत् । अथ श्वानमवलोकते, तत एषणां न रक्षति, तमेकाकिन दृष्ट्वा काचित्प्रोषितभर्तृका, विधवा वा स्त्री, बहि प्रचारमलभमाना द्वार पिधाय त गृह्णीयात्, प्रत्यनीको वा तमेकाकिनं दृष्ट्वा प्रतापनादि कुर्यात्, भिक्षाविशोधिरिति एकाकी यदि त्रिषु गृहेषु भिक्षां दीयमाना गृह्णाति, तत एषणाया अशुद्धिर्भवति । अथैकत्रैव गृहे गृह्णाति, तत इतरयोर्दायकयो. प्रद्वेषो भवेत् । द्वयोस्तु निर्गतयोरेक एकत्र भिक्षामाददान एवोपयोग ददाति । द्वितीयस्तु शेषगृहद्वयादानीयमान भिक्षाद्वयमपि सम्यगुपयुङ्क्ते, महाव्रतानि वा एकाकी विराधयेत् । तथाहि-एकाकी नि.शङ्कत्वादप्कायमप्यापिवेत् १, कुण्टलवेण्टलादि वा प्रयुञ्जीत २, हिरण्यादिक वा विक्षिप्त गुरुकर्मतया स्तेनयेत् ३, अविरतिकां वा रूपवतीं दृष्ट्वा समुदीर्णमोहतया प्रतिसेवेत् ४, भैक्षेण वा सम पतितं सुवर्णादि गृह्णीयादिति । यत एते दोषास्तस्मात् सद्वितीयेन गमन कर्तव्यम, सघाटकेनेत्यर्थः ।

स पुनरेकाकी कैः कारणै संघाटिक न गृह्णाती-त्युच्यते-

गारविए काहीए, माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे ।
दुल्लह अत्ताहिट्ठिय, अमणुन्ने वा असंघाडो ॥

गौरविको नाम लब्धिसंपन्नोऽहमित्येवविधगर्वोपेत । अत्र चेय भावना-सघाटके यो रत्नाधिकः सोऽलब्धिमान्, अवमरत्नाधिकस्तु लब्धिसंपन्नः, ततोऽसावप्रणीकृय भिक्षामुत्पादयति, प्रतिश्रयमागतयोश्च तयो. रत्नाधिको मण्डलीस्थविरेण भण्यते ज्येष्ठाय-मुञ्च प्रतिगृह; ततोऽवमरत्नाधक स्वलब्धिगर्वितश्चिन्तयेत्-मया स्वलब्धिसामर्थ्येनेद भक्तपानमुत्पादितम्, इदानीमस्य रत्नाधिक. प्रभुरजूत, येनास्य पार्श्वे प्रतिग्रहो याच्यते, इति कषायितः सन्नेकाकित्वं प्रतिपद्येत । (काहीए त्ति) कथाभिश्चरतीति काथिकः कथाकथनैकनिष्ठ, स गोचर प्रविष्ट कथाः कथयन् द्वितीयेन साधुना गुर्वादिभिर्वा वार्यमाणोऽपि नोपरमते, तत एकाकी भवति । मायावान् भद्रकं २ भुक्त्वा शेषमानयन्नेकाकी जायते । अलसश्चिरगोचरचर्याभ्रमणभग्नः सन्नेकाकी पर्यटति । लुब्धस्तु दधिदुग्धादिका विकृतीः खलु भाव्यमानः पृथगेव पर्यटति । निर्द्धर्मा पुनरनेषणीयं जिघृक्षुरेकत्व प्रतिपद्यते । (दुल्लहं ति) दुर्लभभैक्षकाले एकत्वमुपसंपद्यते (अत्ताहिट्ठिय त्ति) आत्मार्थिक आत्मलब्धिकः, स स्वलब्धिसामर्थ्येनैवोत्पादितमह गृह्णामीत्येकाकी भवति । अमनोज्ञो नाम-सर्वेषामप्यनिष्ट., कलहकारकत्वात्, असावप्येकाकी पर्यटतीत्येतै कारणैरसघाट, सघाटको न भवति ।

अथैतेषामेकाकित्वप्रत्ययं प्रायश्चित्तमाह-

लघुया य दोसु गुरुओ, अह तइए चउ गुरू य पंचमए ।
सेसाण मासलहुओ, जं वा आवज्जई जत्थ ॥

द्वयोर्गौरविककाथिकयोश्चत्वारो लघवः, तृतीयकस्य मायावतो गुरुको मास., पञ्चमस्य लुब्धस्य चत्वारो गुरव., शेषाणामलसनिर्द्धर्मादीनां मासलघु । यद्वा-सयमविराधनादि यत्राऽऽपद्यते तन्निष्पन्न तत्र प्रायश्चित्तम् । गत सघाटकद्वारम् । बृ० १ उ० । तथा सघाटक विनाऽपि निर्गच्छेत् । कथमिति चेत् ?, उच्यते-यदि दुर्भिक्षे चिरमप्यटित्वा पर्याप्त लभ्यते ततो द्वावेव पर्यटतो, न पुनरेकाकी । अथ द्वयोरप्येकैव भिक्षा लभ्यते, न च काल. पूर्यते, तत एकोऽपि पर्यटेत् । यदि सर्वेऽपि स्वगुणत्वादात्मलब्धिका भवन्ति, तदा प्रतिषेधितव्य., अथ कोऽपि प्रियधर्मा मातृस्थानविरहित आत्मलब्धिकत्व प्रतिपद्यते, ततः सोऽनुज्ञातव्य । य. पुनरमनोज्ञ स अन्यान्यै साधुभिः सम सयोज्य प्रेष्यते । यदि सर्वेऽपि नेच्छन्ति, ततः परित्यज्यनीयोऽसौ, अथ स एवैक कलहकरणस्तस्य दोष., अपरे निर्लोभत्वादयो बहवो गुणा., एषणाशुद्धो वाऽतीव दृढः, ततो न परित्यक्तव्य इति । बृ० १ उ० ।

(१७) उच्चावचकुलेषु चरेत् सामुदानिकः--

समुआणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥ २५ ॥

समुदानं यावदैक्यमाश्रित्य चरेद्भिक्षुः । केत्याह-कुलमुच्चावच सदा,सगर्हितत्वे सति विभवापेक्षया प्रधानमप्रधान च । यथा-परिपाट्येव चरेत्सदा सर्वकालम. नीच कुलमतिक्रम्य विभवापेक्षया प्रभूततरलाभार्थमुच्छिन्नम् ऋद्धिमत्कुल, नाभिधारयेत्र यायात; अभिष्वङ्गलोकलाघवादिप्रसङ्गादिति सूत्रार्थ ॥२५॥

किं च-

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीएज्ज पंमिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि, माइन्ने एसणारए ॥ २६ ॥

अदीनो द्रव्यदैन्यमङ्गीकृत्य न म्लानवदन, वृत्तिर्वर्तनम्, एषयेत् गवेषयेत्, न विषीदेत् अलाभे सति विषाद न कुर्यात्, पण्डित साधु, अमूर्छितः-अगृद्धो भोजने, लाभे सति मात्राज्ञ आहारमात्र प्रति, एषणारत- उद्गमोत्पादनैषणापक्षपातीति सूत्रार्थ ॥ २६ ॥

एवं च भावयेत-

बहु परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं ।
न तत्थ पंमिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥ २७ ॥

बहु प्रमाणतः प्रभूतं,परगृहे असयतादिगृहे अस्ति, विविधमनेकप्रकार,खाद्य स्वाद्यम, एतच्चाशनाद्युपलक्षणम् । न तत्र पण्डित. कुप्येत् सदपि न ददातीति न रोष कुर्यात, किं तु इच्छा चेद्दद्यात् परो न वेति,इच्छा परस्य,न तत्रान्यत्किञ्चिदपि चिन्तयेदिति, सामायिकबाधनादिति सूत्रार्थ. ॥ २७ ॥

एतदेव विशेषेणाह-

सयणासणवत्थं वा, जत्त पाणं व संजए ।
अदितस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खे वि य दिस्सओ ॥ २८ ॥

शयनाशनवस्त्र चेत्येकवद्भावः, भक्त पान वा सयत. अददतो न कुप्येत् तत्स्वामिन, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने, शयनासनादाविति सूत्रार्थ ॥ २८ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

(१८) मार्गे यथा गच्छति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं से तत्थ परक्कममाणे पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया तहप्पगारं काय णो अणंतरहियाए पुढवीए णो ससणिद्धाए पुढवीए णो ससरक्खाए पुढवीए णो चित्तमंताए सिलाए णो चित्तमताए लेलूए कोलावाससि वा दारुए जीवपतिट्ठिए जमे सपाणे० जाव ससंताणए णो आमज्जेज्ज वा, णो पमज्जेज्ज वा,संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, आउट्टेज्ज वा,आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा । से पुव्वामेव अप्पं ससरक्खं तण वा पत्तं वा कट्ठ वा सक्करं वा जाएज्जा, जाइत्ता से तमायाए एगतमवक्कमेज्जा २ अहे झामथंडिलंसि वा० जाव अण्णयरंसि वा तहप्पगारंमि वा पडिलेहिय२ पमज्जिय२ तओ संजयामेव आमज्जेज्ज वा० जाव पयावेज्ज वा । से भिक्खु वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे सेज्ज पुण जाणेज्जा, गोणं वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आस हत्थिं सीह वग्घं वगं दीवियं अच्छं तरच्छं परासरं सीयाल विरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चेत्ताचिल्लडयं वियालं पडिपहे पेहाए, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुल पाटक रथ्या ग्रामादिक वा प्रविष्ट सन्मार्गं प्रत्युपेक्षेत । तत्र यद्यन्तराऽन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छत एतानि स्यु । तद्यथा-वप्रा उन्नता भूभागा ,ग्रामान्तरे वा केदारा.,तथा परिखा वा,प्राकारा वा गृहस्य पत्तनस्य वा,तथा तोरणानि वा,तथाऽर्गला वा,पाशका यत्रार्गलाप्राणि निक्षिप्यन्ते, एतानि चान्तराले ज्ञात्वा, प्रक्रम्यते अनेनेति प्रक्रमो मार्गस्तस्मिन्नन्यस्मिन् सति सयत एव तेन प्रक्रमेण गच्छेन्न नैवर्जुना गच्छेत।किमिति ? यत -केवली सर्वज्ञो ब्रूयात्-आदान कर्मोपादानम्,एतत् सयमात्मविराधना,अतस्तामेव दर्शयति-स भिक्षुस्तत्र तस्मिन् वप्रादियुक्ते मार्गे पराक्रममाणो गच्छन् विषमत्वान्मार्गस्य कदाचित्प्रचलेत्कम्पेत,प्रस्खलेद्वा तथा प्रपतेद्वा,स तत्र प्रस्खलन् प्रपतन् वा षण्णां कायानामन्यतम विराधयेत्। तथा तत्र 'से' तस्य काय उच्चारेण वा प्रश्रवणेन वा श्लेष्मणा वा सिङ्घाणकेन वा वान्तेन वा पित्तेन वा पूयेन वा शुक्रेण वा शोणितेन वा उपलिप्त स्यादित्यत एवभूतेन पथा न गन्तव्यम । अथ मार्गान्तराभावात् तेनैव गत प्रस्खलित. सन् कर्दमाद्युपलिप्तकायो नैव कुर्यादिति दर्शयति-स यदि तथाप्रकारमशुचिकर्दमाद्युपलिप्तकायमनन्तर्हितयाऽव्यवहितया पृथिव्या तथा सस्निग्धयाऽऽर्द्रया,एव सरजस्कया वा,तथा चित्तवता, लेलुना पृथिवीशकलेन,एव कोला घुणास्तदावासभूते दारुणि,जीवप्रतिष्ठिते साण्डे सप्राणिनि, यावत्ससन्तानके, नो नैव सकृदामृज्याद्, नाऽपि पुन पुन प्रमृज्यात्, कर्दमादि शोधयेदित्यर्थ । तथा तत्रस्थ एव 'न सलिहेज्जा' न सलिखेन्,नोद्वर्तनादिनोद्वलेत्, नापि तदेवैकच्छुष्कमुद्वर्तयेत,नाऽपि तत्रस्थ एव सकृदातापयेत्, पुन पुनर्वा प्रतापयेत। यत् कुर्यात् तदाह-स भिक्षु पूर्वमेव तदनन्तरमेव अल्प सरजस्क तृणादि याचेत.तेन चैकान्तस्थण्डिले स्थित सन् गात्र प्रमृज्याच्छोधयेत्. शेष सुगममिति । किं च-" से भिक्खू " इत्यादि । स भिक्षु भिक्षार्थं प्रविष्ट सन् पथ्युपयोग कुर्यात. तत्र च यदि पुनरेव जानीयात् , यथाऽत्र किञ्चिद्व्यालिकमास्ते इति तन्मार्ग रुन्धान गा बलीवर्द व्याल दृप्त दुष्टमित्यर्थ , पन्था. प्रतिपथ , तस्मिन् स्थित प्रत्युपेक्ष्य, शेष सुगम, यावत् सति पराक्रमे मार्गान्तरे ऋजुना पथा आत्मविराधनासम्भवात् न गच्छेत्. नवर (वग त्ति) वृक, द्वीपिन चित्रकम (अच्छ ति) ऋक्ष (परासर त्ति) सरभ (कोलसुणय) महाशूकर (कोकतिय त्ति) शृगालाकृति लोमटको रात्रौ कोको इत्येव रारटीति, (चेत्ताचिल्लडय ति) आरण्यो जीवविशेष , तस्मिन । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

(१९) मार्गे स्थाणुकण्टकादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अतरा से ओवाओ

वा खाणुं वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जेज्जा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

" से भिक्खू वेत्यादि "। स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन्मार्गोपयोगं दद्यात्तत्रान्तराले यद्येतत्पर्यापद्येत स्यात्। तद्यथा-अवपातो गर्तः,स्थाणुर्वा,कण्टको वा,'घसी' नाम स्थलादधस्तादवतरणम्, (भिलुग त्ति) स्फुटितकृष्णभूराजि , विषम उन्नत 'विज्जल' कर्दमः, तत्राऽऽत्मसंयमविराधनासम्भवात् । पराक्रमे मार्गान्तरे सति ऋजुना पथा न गच्छेदिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । १० भा० । पं० चू० ।

गृहपतिद्वारे कण्टकादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलस्स दुवारवाहं कंटगबोंदियाए पडिपिहितं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णवितं अपडिलेहियए अपमज्जिय णो अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय २ पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा ॥

"से भिक्खू वेत्यादि"। स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् गृहपतिकुलस्य (दुवारवाह ति) द्वारभाग , तं कण्टकशाखया पिहितं प्रेक्ष्य येषां तद् गृहं तेषामवग्रहं पूर्वमेवाननुज्ञाप्यायाचित्वा, तथा प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा अप्रमृज्य च रजोहरणादिना (णो अवगुणेज्ज त्ति) नैवोद्घाटयेद्, उद्घाट्य च न प्रविशेत्, नापि निष्क्रामेत्,दोषदर्शनात्। तथाहि-गृहपतिः प्रद्वेषं गच्छेत्, नष्टे च वस्तुनि साधुविषयाशङ्कोत्पद्येत, उद्घाटद्वारे चान्यत् श्वादि प्रविशेदित्येवं च संयमात्मविराधने । सति कारणे अपवादमाह-स भिक्षुर्येषां तद् गृहं तेषां संबन्धिनमवग्रहमनुज्ञाप्य याचित्वा प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृहोद्घाटनादि कुर्यादिति । एतदुक्तं भवति-स्वतो द्वारमुद्घाट्य न प्रवेष्टव्यमेव, यदि पुनर्ग्लानाचार्यादिप्रायोग्यं तत्र लभ्यते,वैद्यो वा तत्रास्ते,दुर्लभं वा द्रव्यं तत्र भविष्यति, अवमौदर्ये सति एभिः कारणैरुपस्थिते॰ स्थगितद्वारे व्यवस्थित॰ सन् शब्दं कुर्यात्, स्वयं वा यथाविध्युद्घाट्य प्रवेष्टव्यमिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

तत्र प्रविष्टस्य विधिं दर्शयितुमाह-

(२०)षट्काययतना । अत्रैव विशेषतः पृथिवीकाययतनामाह--

इंगालछारिए रासिं, तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिँ पाएहिं, संजओ तं नऽइक्कमे ॥ ७ ॥

अङ्गाराणामयमाङ्गार , तमाङ्गारं राशिम् । एवं क्षारराशिं, तुषराशिं, गोमयराशिं च । राशिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । सरजस्काभ्यां पद्भ्यां सचित्तपृथिवीरजोगुण्डिताभ्यां पादाभ्यां,संयतः साधुः, तमनन्तरोदितं राशिं, नातिक्रमेत् मा भूत्पृथिवीरजोविराधनेति सूत्रार्थः ॥७॥

अत्रैवाप्काययतनामाह—

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए पडंतिए ।
महावाए व वायते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥ ८ ॥

न चरेद्वर्षे वर्षति भिक्षार्थं प्रविष्टो, वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्। तथा मिहिकायां वा पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति। महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात्। तिर्यक् संपतन्तीति तिर्यक्संपाताः पतङ्गादयः, तेषु वा सत्सु क्वचिद्-दर्शनिरूपेण न चरेदितिसूत्रार्थः ॥८॥ उक्ता प्रथमव्रतयतना ।

साम्प्रतं चतुर्थव्रतयतनोच्यते-

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणुए ।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसोत्तिया ॥ ९ ॥

न चरेद्वेश्यासामन्ते न गच्छेद्गणिकागृहसमीपे, किंविशिष्टे इति?, आह-ब्रह्मचर्यवशानयने । ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिरूपं, वशमानयत्याऽऽत्मायत्तं करोति दर्शनाक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशानयनं तस्मिन् । दोषमाह-ब्रह्मचारिणः साधोर्दान्तस्य इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां भवेत्तत्र वेश्यासामन्ते विस्रोतसिका-तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमस्य शोषफला चित्तविक्रियेति सूत्रार्थः । एष सकृच्चरणदोषो वेश्यासामन्तसङ्गत उक्तः ॥ ९ ॥

सांप्रतमिहान्यत्र वाऽसकृच्चरणदोषमाह-

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।
हुज्जा वयाणं पीला उ, सामन्नम्मि य संसओ ॥१०॥

अनायतने अस्थाने वेश्यासामन्तादौ चरतो गच्छतः संसर्गेण संबन्धेन अभीक्ष्णं पुनः २, किमिति ? आह-भवेद्व्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना, श्रामण्ये श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिसंधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः, कदाचिदनिष्क्रामत्येवेत्यर्थः । तथा च वृद्धव्याख्या-"वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ,अणुवओगेण एसणाकरणे हिंसा,पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयण, अणणुण्णा य वेसाइदंसणे अदत्तादाण, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामण्णे पुण संसयो उण्णिक्खमणेण त्ति "सूत्रार्थः ॥ १० ॥

निगमयन्नाह-

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥ ११ ॥

यस्मादेवं तस्मादेतत् विज्ञाय दोषमनन्तरोदितं दुर्गतिवर्द्धनं वर्जयेद्वेश्यासामन्तं मुनिरेकान्तं मोक्षमार्गमाश्रित इति सूत्रार्थः ॥११॥

आह-प्रथमव्रतविराधनाऽनन्तरं चतुर्थव्रतविराधनोपन्यासः किमर्थम्?, उच्यते-प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यव्रतविराधनाहेतुत्वेन प्राधान्यं, तच्च लेशतो दर्शितमेवेति । अत्रैव विशेषमाह-

साणं च सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥ १२ ॥

श्वानं लोकप्रतीतं, सूतां गाम्, अभिनवप्रसूतामित्यर्थः । दृप्तं च दर्पितम्, किमिति ?, आह-" गोणं हयं गजं " गोणो बलीवर्द , हयोऽश्वो, गजो हस्ती। तथा किमिति ?, आह-(संडिब्भं) बालक्रीडास्थानं, कलहं वाक्प्रतिबद्धं,युद्धं खड्गादिभि ,एतद्दूरतो दूरेण परिवर्जयेत् , आत्मसंयमविराधनासम्भवात् । श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतन-

भएमनमलुतनादिना सयमविराधना, सर्वत्र चाऽऽत्मपात्रभेदा द्विनोनयविराधनेति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

अत्रैव विधिमाह-

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥

अनुन्नतो-द्रव्यतो नायतस्तः । द्रव्यतो-नाकाशदर्शी, भावतो-न जात्यादिभिमानवान् । नावनतो द्रव्यतोऽनवनतः, भावतोऽदीनः, अप्रहृष्ट: असहसन्, अनाकुल: क्रोधादिरहितः, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, यथाभागं यथाविषयं, दमयित्वा इष्टानिष्टेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषरहितो मुनिः साधुश्चरेत्, विपर्यये प्रभूतदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-उन्नतो लोकहास्य, आयोन्नत ईर्यां न रक्षति । द्रव्यावनत: बक इति सम्भाव्यते, भावावनत: क्षुद्रसत्त्व इति, प्रहृष्टो योषिदनुरक्तः इति सम्भाव्यते, आकुलः प्रायश्चाऽनर्थ इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

किं च-

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे ।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥ १४ ॥

द्रुतं द्रुतं, त्वरितमित्यर्थः । भाषमाणो वा गोचरे न गच्छेत् । तथा हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा । उच्चं द्रव्य भावभेदाद् द्विधा-द्रव्योच्चं धवलगृहवासि, भावोच्चं जात्यादियुक्त । एवमवचमपि द्रव्यतः कुटीरवासि, भावतो जात्यादिहीनमिति । दोषा उभयविराधनालोकोपघातादय इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

अत्रैव विधिमाह-

आलोअं थिग्गलं दारं, संधि दगभवणाणि य ।
चरंतो न विनिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥ १५ ॥

अवलोक निर्यूहकादिरूपं, 'थिग्गल' चित द्वारादि, सन्धिश्चित क्षेत्रं, दकभवनानि पानीयगृहाणि, चरन् भिक्षार्थम्, न विनिध्यायेत न विशेषेण पश्येत्, शङ्कास्थानमेतदवलोकादि, अतो विवर्जयेत, तथा च नष्टादौ तत्राशङ्कोपजायत इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

रन्नो गिहवईणं च, रहस्साऽऽरक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥

राज्ञश्चक्रवर्त्यादेः, गृहपतीनां श्रेष्ठिप्रभृतीनां, "रहस्सा ठाणं" इति योगः । आरक्षकाणां च दण्डनायकादीनां, रहःस्थानं गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि सङ्क्लेशकरमसदभिप्रायतया मन्त्रभेदे वाऽऽकर्षणादिनेति दूरतः परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

(२१) वृष्टिकाये निपतति-

वासावासं पज्जोसवियस्स नो कप्पइ पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स कणगफुसियमित्तमवि वुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि० जाव गाहावइकुलं पविसित्तए वा,निक्खमित्तए वा ॥ २८ ॥

"वासावास" इत्यादितः "पविसित्तए त्ति" पर्यन्तम्। तत्र (पाणिपडिग्गहियस्स त्ति) पाणिपात्रस्य जिनकल्पिकादेः भिक्षो, (कणगफुसियमित्तमवि) फुसारमात्रम, एतावन्मात्रे वृष्टिकाये निपतति सति गोचरचर्यायां गन्तुं न कल्पते ॥ २८ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ अगिहिंसि पिंडवायं पडिगाहित्ता पज्जोसवित्तए, पज्जोसवेमाणस्स सहसा वुट्ठिकाए निवइज्जा देसं भुच्चा देसमादाय से पाणिणा पाणिं परिपिहित्ता उरंसि वा णं निलिज्जिज्जा, कक्खंसि वा णं समाहडिज्जा, अहाछन्नाणि लेणाणि वा उवागच्छिज्जा, रुक्खमूलाणि वा उवागच्छिज्जा जहा से तत्थ पाणिसि दए वा दगरए वा दगफुसिया वा णो परियावज्जइ ॥ २९ ॥

"वासावासं" इत्यादितः "परियावज्जइ त्ति " यावत् । तत्र जिनकल्पिकादेः पाणिपात्रस्य साधोः, (पिंडवायं त्ति) पिण्डपातं भिक्षां प्रतिगृह्य (अगिहिंसि त्ति) अनाच्छादिते आकाशे (पज्जोसवित्तए त्ति) पर्युषितुं आहारयितुं न कल्पते (पज्जोसवेमाणस्स त्ति) कदाचित् आकाशे भुञ्जानस्य देशं यदि सहसा अर्द्धमुक्तेऽपि वृष्टिपातः स्यात्तदा पिण्डपातस्य भुक्त्वा देशं चादाय पाणिमाहारैकदेशसहितं द्वितीय पाणिना पिधाय हस्तेन परिपिधाय वक्षःस्थले उरसि निलीयेत निलिंपेद् वा । वा सहार पाणिं कक्षायां वा समाहरेत् एवं रहितं कुर्यात्, एवं च कृत्वा यथाछन्नानि गृहिभिः स्वनिमित्तमाच्छादितानि लयनानि गृहाणि उपागच्छेत् । वृक्षमूलानि वा यथा (से) तस्य पाणौ दकादीनि न पर्यापद्यन्ते, न विराध्यन्ते, न पतन्ति वा । तत्र दकं बहवो बिन्दवो, दकरजो बिन्दुमात्रम (दगफुसिआ) फुसारम, अवश्याय इत्यर्थः । यद्यपि जिनकल्पिकादेर्देशोनदशपूर्वधरत्वेन प्रागेव वर्षोपयोगो भवति, तथा चाऽऽहुक्ते गमनं न संभवति, तथाऽपि छद्मस्थत्वात् कदाचिदनुपयोगोऽपि जायते ॥ २९ ॥

उक्तमेवार्थं निगमयन्नाह-

वासावासं पज्जोसवियस्स पाणिपडिग्गहस्स भिक्खुस्स जं किंचि कणगफुसियमित्तं पि निवडेति, नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ॥ ३० ॥

"वासावास पज्जोसवियाणं" इत्यादितः " पविसित्तए त्ति " यावत् । तत्र (कणगफुसियमित्त पि त्ति) कणो लेश , तन्मात्रक पानीय कणक, तस्य " फुसिआ " फुसारमात्रम, तस्मिन्नपि निपतति जिनकल्पिकादेर्भिक्षार्थं गन्तुं न कल्पते ॥ ३० ॥ उक्तः पाणिपात्रविधिः ।

अथ पात्रधारिणो विधिमाह-

वासावासं पज्जोसवियस्स पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ वग्घारियवुट्ठिकायंसि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा, कप्पइ से अप्पवुट्ठिकायंसि संतरुत्तरंसि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा,पविसित्तए वा ॥ ३१ ॥

" वासावास " इत्यादितः " पविसित्तए त्ति " यावत् । तत्र

(पमिग्गहधारिस्स त्ति) पात्रधारिणः स्थविरकल्पिकादेः (व-ग्घारियवुट्ठिकायम्मि त्ति) अविच्छिन्नधारा वृष्टिः, यस्यां वर्षाक-ल्पो तीव्रं वा अवनति, कल्पं वा भित्त्वाऽन्तः काय आर्द्रयति या वृ-ष्टिस्तत्र विहर्तुं न कल्पते । अपवादे तु तत्रापि तर्पाखिनः क्षुद्रस-हाश्च भिक्षार्थं पूर्वपूर्वाभावे और्णिकेन औष्ट्रिकेण तार्णेन सौ-त्रेण वा कल्पेन, तथा तालपत्रेण पात्राशच्छत्रेण वा प्रावृता विहरन्त्यपि । (संतरुत्तरंसि त्ति) अन्तरः सौत्रकल्पः, उत्तर और्णि-कः, ताभ्यां प्रावृतस्य अल्पवृष्टौ गन्तुं कल्पते ॥ ३१ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहा-वइकुलं पिंमवायपमिआए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगि-ज्झिय वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अहे वियडगिहंसि वा अहे रुक्ख-मूलंसि वा उवागच्छित्तए ॥ ३२ ॥

"वासावासं" इत्यादित "उवागच्छित्तए त्ति" यावत्। तत्र "पिं-मवायपमिआए त्ति" यावत् । तत्र (पिंमवायपडिआए त्ति) पिण्डपातो भिक्षालाभः, तत्प्रतिज्ञया अत्राह् लप्स्ये इति धि. या अनुप्रविष्टस्य गोचरचर्यायां गतस्य साधोः [निगिज्झिय २ त्ति] स्थित्वा २, वर्षति घनः तदा (अहे आरामंसि त्ति) आरामस्य अधः (अहे उवस्सयंसि व त्ति) साम्भोगिका-नाम् इतरेषां वा उपाश्रयस्याध, तदभावे [अहे वियडगिहंसि त्ति] विकटगृहं मण्डपिका, यत्र ग्राम्यपर्षदुपविशति, तस्याध. [अहे रुक्खमूलंसि व त्ति] वृक्षमूलं वा निर्गतकरीरादिमूलं तस्य वा अधः (उवागच्छित्तए त्ति) तत्रोपागन्तुं कल्पते ॥३२॥ कल्प० ६ क्षण ।

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंमवायपमियाए अणुप्पविट्ठस्स निगि-ज्झिय २ वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामं-सि वा० जाव रुक्खमूलंसि वा उवागच्छित्तए, नो से कप्पइ पुव्वगहिएणं भत्तपाणेणं वेलं उवायणावित्त-ए, कप्पइ से पुव्वामेव वियडगं भुच्चा पमिग्गहगं संलि-हिय २ सपमज्जिय २ एगओ भंमगं कट्टु सावसेसे सूरि-ए जेणेव उवस्सए तेणेव उवागच्छित्तए, नो से कप्पइ तं रयणिं उवायणावित्तए ॥ ३३ ॥

"वासावासं" इत्यादित " उवायणावित्तए त्ति " पर्यन्तम् । तत्र (वेलं उवायणावित्तए त्ति) वेलामतिक्रमयितुं न कल्पते। तर्हि किं कुर्यादिति ?, आह-आरामादिस्थितस्य साधोः यदि वर्षं नोपरमति तदा विकटम् । उद्गमादिशुद्धमशनादि भुक्त्वा पात्रं च (एगओ भंमगं कट्टु त्ति) एकत्रायतं सबद्धं भाजनक पात्राद्युपकरणं कृत्वा वपुषा सह प्रावृत्य वर्षत्यपि मेघे (साव-सेसे सूरिए त्ति) सावशेषे अनस्तमिते सूर्ये (जेणेव उवस्सए त्ति) यत्रोपाश्रयस्तत्रागन्तुं कल्पते, परं न कल्पते तां रात्रिं वसतेर्बहिः (उवायणावित्तए) एकाकिनो हि बहिर्वसतः साधोः स्वपर-समुत्था बहवो दोषा भवेयुः, साधवो वा वसतिस्था अधृ-तिं कुर्युरिति ॥ ३३ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंमवायपमियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय २ वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा० जाव उवा-गच्छित्तए ॥ ३७ ॥

(वासावासं पज्जोसवियस्स) चतुर्मासिक स्थितस्य (निग्गंथस्स) साधोः (निग्गंथीए)साध्व्याश्च (गाहावइकुलं) गृहस्थगृहे (पिंमवायपडियाए) भिक्षाग्रहणार्थम् (अणुप्पवि-ट्ठस्स) अनुप्रविष्टस्य (निगिज्झिय निगिज्झिय) स्थित्वा स्थि-त्वा (वुट्ठिकाए) वृष्टिकायः (निवइज्जा) निपतेत, तदा (कप्पइ) कल्पते (से) तस्य (आरामंसि वा) आरामस्याधो वा (जाव उवागच्छित्तए) यावत् उपागन्तुम् ॥ ३७ ॥

तत्थ नो से कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए णिग्गंथीए एगओ चिट्ठित्तए १, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स दुण्हं निग्गंथीणं एगओ चिट्ठित्तए २, तत्थ नो कप्पइ दुण्हं निग्गंथाणं एगाए निग्गंथीए एगओ चिट्ठित्तए ३, तत्थ नो कप्पइ दुण्हं णिग्गंथाणं दुण्हं निग्गंथीए एगओ चि-ट्ठित्तए ४, अत्थि य इत्थ केई पंचमे खुड्डए वा खुड्डिआ वा अन्नेसिं वा संलोए सपमिदुवारे एवं एहं कप्पइ एग-ओ चिट्ठित्तए ॥ ३८ ॥

अथ स्थित्वा २ वर्षे पतति यदि आरामादौ साधुस्तिष्ठति तदा केन विधिनेति ?। आह-"तत्थ नो से कप्पइ" इत्यादितः "एगओ चिट्ठित्तए त्ति" यावत्। शब्दार्थः सुगमः।भावार्थस्तु-न कल्पते एवम् एकस्य साधोर्द्वाभ्यां साध्वीभ्यां सह, द्वयोः सा-ध्व्योरेकया साध्व्या सह, द्वयोः साध्वोर्द्वाभ्यां साध्वीभ्यां सह स्थातुं न कल्पते । यदि चात्र पञ्चमः कोऽपि क्षुल्लकः क्षुल्लिका वा साक्षी स्यात्तदा कल्पते । अथवा-अन्येषां ध्रुवकर्मिक-लोहकारादीनां घर्षन्यव्यमुक्तस्वकर्मणां सलोके तत्रापि (सप-मिदुवारे त्ति) सप्रतिद्वारे सर्वतो द्वारे सर्वगृहाणां वा द्वारे [एवं एहंति] अत्र 'एहमिति' वाक्यालंकारे, तत एव पञ्चमं विनाऽपि स्थातुं कल्पते ॥ ३८ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिं-मवायपमियाए० जाव उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ ए-गस्स निग्गंथस्स एगाए अगारीए एगओ चिट्ठित्तए, एवं चउभंगी, अत्थि णं इत्थ केई पंचमे थेरे वा थेरिया वा अन्नेसिं वा संलोए सपमिदुवारे एवं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए-एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य भाणियव्वं ॥ ३९ ॥

चतुर्मासक स्थितस्य साधोः गृहस्थगृहे भिक्षाग्रहणार्थं या-वत् उपागन्तुम्, तत्र नो कल्पते एकस्य साधोः एकस्या' श्रा-विकाया एकत्र स्थातुम्, एवं चत्वारो भङ्गाः । यदि स्यात् अत्र कोऽपि पञ्चमः स्थविरः स्थविरा वा साक्षी भवति, तदा स्थातुं कल्पते,अन्येषां वा दृष्टिविषये बहुद्वारसहिते वा स्थाने, एवं कल्पते एकत्र स्थातुम्,एवमेव साध्व्याः गृहस्थस्य च चतुर्भङ्गी वाच्या । तथा एकाकित्वं च साधोः साङ्घाटिके उपोषिते असु-स्थिते वा कारणाद्भवति, अन्यथा हि उत्सर्गतस्तु साधुरात्मना द्वितीयः, साध्व्यस्तु त्र्याद्यो विहरन्ति ॥३९॥ कल्प० ६ क्षण ।

सुत्ते जहा निवधो, वग्घारिएँ भत्तपाणमग्गहणं ।
नाणट्ठि तवस्सी अण–हियासि वग्घारिए गहणं ॥५७४॥

"णो कप्पति णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा वग्घारियवुट्ठिकायंसि गाहावतिकुलं वा भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा॥ ' वग्घारिय णाम तिष्ठि–वास पतति, जत्थ वा णिच्च वासकप्पो वा गलति, जत्थ वा वासकप्प भेत्तूण अतो काठयं उल्लेति,एय वग्घारियवासं वरिसे ण कप्पति भत्तपाण घेत्तु,सुत्ते जहा णिवंधो, तहा न कल्पतीत्यर्थ. । अवग्घारिए पुण कप्पति भत्तपाणगहण काउं, "कप्पति से अप्पवुट्ठिकायंसि सतरुत्तरसि" सतरमिति अतरकप्पो,उत्तरमिति वासाकप्पकंवली, इमेहिं कारणेहिं वितियपदे वग्घारियवुट्ठिकाए वि भत्तपाणगहण कज्जति-(णाणठी पच्छद्ध) ' णाणिठि त्ति, ' जथा कोपि साहू मज्झयण, सुत्त,खंध, अंगं वा अहिज्जति,वग्घारियवास पडति, ताहे सो वग्घारिए वि हिंमति । अहवा–छुहालू मणहियासो वग्घारिं हिंडइ,एते तिष्ठि वग्घारिते संतरुत्तरा हिंमति, सतरुत्तरस्य व्याख्या पूर्ववत् । अहवा–इह सतर जदासत्तीए चउत्थमादी करेंति, उत्तरमिति वालसुत्तादिएण अमति च ।

संजमखेचचुयाणं, णाणट्ठि तवस्सि अणहियासी य ।
आसज्ज भिक्खकालं, उत्तरकरणेण जातियव्वं॥नि॰चू॰१०उ॰।

(२२) प्रवेश.–

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥

अतिभूमिं न गच्छेत् अननुज्ञातां गृहस्थै',यत्र अन्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थ. । गोचराग्रगतो मुनिः । अनेनान्यदा तद्गमनासम्भवमाह–किं तर्हि ?, कुलस्य भूमिमुत्तमादिरूपामवस्था ज्ञात्वा मिता भूमिं तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्, यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायत इति सूत्रार्थ. ॥ २४ ॥

विधिशेषमाह–

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥

तत्रैव तस्यामेव मितायां भूमौ प्रत्युपेक्षेत सूत्रोक्तेन विधिना भूमिभागमुचित भूमिदेश विचक्षणो विद्वान् ; अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह–तत्र च तिष्ठन् स्नानस्य, तथा वर्चस. विष्ठाया. सलोक परिवर्जयेत् । एतदुक्त भवति–स्नानभूमिकायिकादिभूमिसंदर्शन परिहरेत, प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्,अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावादिति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

किञ्च–

दगमट्टियआयाणे, बीयाणि हरियाणि य ।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥ २६ ॥

उदकमृत्तिकादानम्, आदीयतेऽनेनेत्यादानो मार्ग. । उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थ । वीजानि शाल्यादीनि च,हरितानि दूर्वादीनि, चशब्दादन्यानि च सचेतनानि, परिवर्जयेस्तिष्ठेदनन्तरोदिते देशे सर्वेन्द्रियसमाहित. शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति सूत्रार्थः । दश॰ ५ अ॰ १ उ॰।

(२३) काकादीन् सनिपतितान् प्रेक्ष्य न गच्छेत्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा॰ जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, रसेसिणो बहवे पाणा गासेसिणाए संथडे संणिवतिए पेहाए । तं जहा–कुक्कुडजातियं वा सूयरजातियं वा अग्गपिंडंसि वा वायसा संथडा संणिवडिया पेहाए सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्ट सन् यदि पुनरेव विजानीयात् · तद्यथा–बहव. प्राणाः प्राणिनो रस्यत आस्वाद्यत इति रसः, तमेष्टुं शीलमेषां ते रसैषिण.,रसान्वेषिण इत्यर्थः। ते तदर्थिन. सन्तः पश्चात् ग्रासार्थं क्वचिद्रसादौ सनिपतिता., तांश्चाहारार्थं संस्कृतान् घनान् प्रेक्ष्य ततस्तदभिमुख न गच्छेदिति संबन्ध , तांश्च प्राणिनः स्वनामग्राहमाह-कुक्कुटजातिक वेत्यनेन च पक्षिजातिरुद्दिष्टा, शूकरजातिकमित्यनेन चतुष्पदजातिरिति । अग्रपिण्डे वा काकपिण्ड्यां वा बहिःक्षिप्तायां वायसा. सनिपतिता भवेयुः,तांश्च दृष्ट्वाऽप्रनस्ततः सति पराक्रमेऽन्यस्मिन्मार्गान्तरे सयतः सम्यगुपयुक्त , सयतामन्त्रण वा, ऋजु तदभिमुख न गच्छेत् । यतः तत्र गच्छतोऽन्तरायं भवति, तषां चान्यत्र सनिपतितानां वधोऽपि स्यादिति । आचा॰ २ श्रु॰ १ अ॰ ६ उ॰ ।

(२४) साम्प्रत गृहपतिकुल प्रविष्टस्य साधोर्विधिमाह–
गा दुह्यमाना दृष्ट्वा न गच्छेत्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइ॰ जाव पविसितुकामे सेज्जं पुण जाणेज्जा–खीरिणिआओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवखडिज्जमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं णच्चा णो गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा, पविसेज्ज वा ।

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सन्नथ पुनरेव विजानीयात् । यथा–क्षीरिण्यो गावोऽत्र दुह्यन्ते,ताश्च दुह्यमाना. प्रेक्ष्य,तथाऽशनादिक चतुर्विधमप्याहारमुपसंस्क्रियमाण प्रेक्ष्य, तथा (अप्पजूहिए त्ति) सिद्धेऽप्योदनादिके पुरा पूर्वमन्येषामदत्ते सति प्रवर्त्तनाधिकरणापेक्षी पूर्वत्र च प्रकृतिभद्रकादि' कश्चिद्यति दृष्ट्वा श्रद्धावान् बहुतर दुग्ध ददामीति वत्सकपीडां कुर्यात्, त्रसेयुर्वा दुह्यमाना गाव',तत्र संयमात्मविराधना, अर्द्धपक्वौदने पाकार्थं त्वरयाऽधिक यत्न कुर्यात्, तत' सयमविराधना इति, तदेव ज्ञात्वा स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेदिति ।

यच्च कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह–

से तमायाए एगंतमवक्कमित्ता२ अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा । अह पुण एवं जाणेज्जा–खीरिणीओ गावीओ खीरियाओ पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए पराए जूहिते,स एवं णच्चा तओ संजतामेव गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा, निक्खमेज्ज वा, भिक्खागाणामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे–खुड्डाए खलु अयं गामे संणिरुद्धाए णो महालए,से हंता ! भयंतारो बाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह, संति तत्थेगतियस्स भिक्खुस्स पुरे संथुया वा पच्छा संथुया वा परिवसंति, तं

जहा-गाहावती वा गाहावइणीओ वा गाहावतिपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुण्हाओ वा धाईतो वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा तह-प्पगाराइं कुलाइं पुरे संथुयाणि वा पच्छा संथुयाणि वा पुव्वमेव भिक्खायरियाए अणुप्पविसिस्सामि, अवि य इत्थ लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दधिं वा नवणी-यं वा घयं वा गुलं वा तेल्लं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा संकुलिं वा फाणियं वा पूयं वा सिहरिणिं वा, तं पुव्वा-मेव भुच्चा पेच्चा पडिग्गहं संलिहिय संपमज्जिय तओ पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहावइकुलं पिंडपायपडियाए पविसि-स्सामि वा, निक्खमिस्सामि वा, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करे-ज्जा, से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थितरेयरेहिं कुलेहिं समुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

[से तमादायेत्यादि] स भिक्षुस्तमर्थं गोदोहनादिकमादाय गृहीत्वाऽवगम्येत्यर्थः । तत एकान्तमपक्रम्य च गृहस्थानामनापाते असंलोके च तिष्ठेत्, तत्र तिष्ठन्नथ पुनरेवं जानीयात् । यथा-क्षीरिण्यो गावो दुग्धा इत्यादि पूर्ववद् व्यत्ययेनालापका नेया यावन्निष्क्रामेत्प्रविशेद्वेति । पिण्डाधिकार एवेदमाह-"भिक्खागे-त्यादि" । भिक्षणशीला भिक्षुका नामैके साधवः केचन एवमुक्तव-न्तः । किंभूतास्ते इति ?, आह-समाना इति जङ्घाबलक्षीणतयैक-स्मिन्नेव क्षेत्रे तिष्ठन्तः, तथा वसमाना मासकल्पविहारिणः, त एवंभूताः प्राघूर्णकान् समायातान् ग्रामानुग्रामं दूयमानान् गच्छ-त एवमूचुः । यथा-क्षुल्लकोऽयं ग्रामोऽल्पगृहभिक्षादो वा, तथा सन्निरुद्धः सूतकादिना, नो महानिति पुनर्वचनमादरख्यापनार्थ-म्, अतिशयेन क्षुल्लक इत्यर्थः । ततो "हन्ता !" इत्यामन्त्रणं यूयं भवन्तः पूज्या बहिर्ग्रामेषु भिक्षाचर्यार्थं व्रजतेत्येवं कुर्यात् । यदि वा तत्रैतस्य वास्तव्यस्य भिक्षोः पुरः संस्तुताः भ्रातृव्यादयः पश्चात् संस्तुताः श्वशुरकुलसंबद्धाः परिवसन्ति, तान् स्वनाम-ग्राहमाह । तद्यथा-गृहपतिर्वेत्यादि सुगमम्, यावत्तथाप्रकाराणि कुलानि पुरःपश्चात्संस्तुतानि पूर्वमेव भिक्षाकालादहं तेषु भिक्षार्थं प्रवेक्ष्यामि, अपि चैतेषु स्वजनादिकुलेष्वाभिप्रेतं लाभं लप्स्ये, तदेव दर्शयति-पिण्डं शाल्योदनादिकं, (लोयमिति) इन्द्रियानुकूलं र-सायुपेतमुच्यते, तथा क्षीरं वेत्यादि सुगमं, यावत् "सिहरिणी वेति" नवरं मद्यमांसे छेदसूत्राभिप्रायेण व्याख्येये। अथवा-क-श्चिदतिप्रमादावष्टब्धोऽत्यन्तगृध्नुतया मधुमांसाद्यप्याश्रीयादतस्त-दुपादानम् । (फाणिय त्ति) उदकेन द्रवीकृतो गुडः, क्वथितो वा, शिखरिणी मार्जिता, तल्लब्ध्वा पूर्वमेव भुक्त्वा, पेयं च पीत्वा पतद्ग्रहं संलिह्य निरवयवं कृत्वा, संमृज्य च वस्त्रादिनाऽऽर्द्रता-मपनीय, तत पश्चादुपागते भिक्षाकाले विकृतवदनः प्राघूर्ण-कभिक्षुभिः सार्द्धं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेक्ष्यामि, निष्क्रमिष्यामि वेत्यभिसन्धिना मातृस्थानं संस्पृशेदसावि-त्यतः प्रतिषिध्यते, नैवं कुर्यादिति । कथं च कुर्यादित्याह-(से तत्थेत्यादि) स भिक्षुस्तत्र ग्रामादौ प्राघूर्णकभिक्षुभिः सार्द्धं कालेन भिक्षाऽवसरेण प्राप्तेन गृहपतिकुलमनुप्रविश्य तत्रेतरे-ष्य उच्चावचेभ्यः सामुदानिकं भिक्षापिण्डमेषणीयमुद्गमा-दिदोषरहितं वैषिकं केवलवेषावाप्तं धात्रीदूतनिमित्तादिपि-ण्डदोषरहितं पिण्डपातं भैक्ष्यं प्रतिगृह्य प्राघूर्णकादिभिः सह ग्रासैषणादिदोषरहितमाहारमाहारयेत्, तत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति। आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

[२५] गृहावयवानालम्ब्य न तिष्ठेत्, नवाऽङ्गुल्यादि दर्शयेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे णो गाहावतिकुलस्स दुवारसाहं अवलंबिय अवलंबिय चिट्ठे-ज्जा, णो गाहावतिकुलस्स दगछड्डणमत्तए चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स चंदणिउदयं पविट्ठेज्जा, णो गाहावतिकु-लस्स सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठे-ज्जा, णो गाहावतिकुलस्स आलोयं वा थिग्गलं वा संधिं वा दगभवणं वाहाउ पगिज्झिय पगिज्झिय अंगुलियाए वा उद्दिसिय उद्दिसिय उण्णमिय उण्णमिय णिज्झाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए उद्दिसिय उद्दिसिय जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए चालिय चालिय जाएज्जा, णो गाहा-वतिं अंगुलियाए तज्जिए तज्जिए जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए उक्खुलंपिय उक्खुलंपिय जाएज्जा, णो गाहावइं वंदिय वंदिय जाएज्जा, णो वयणं फरुसं वदेज्जा ॥

"से भिक्खू वेत्यादि।" स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नेतत् कुर्यात् । तद्यथा-नो गृहपतिकुलस्य द्वारशाखामवल-म्ब्याऽवलम्ब्य पौनःपुन्येन भृशं वा अवलम्ब्य च तिष्ठेत् । यतः सा जीर्णत्वात्पतेत्, दुष्प्रतिष्ठितत्वाद्वा चलेत्, ततश्च संयमात्मविराध-नेति । तथोदकप्रतिष्ठापनमात्रके उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्था-ने प्रवचनजुगुप्साभयान्न तिष्ठेत् । तथा (चंदणिउदय त्ति) आच-मनोदकप्रवाहभूमौ न तिष्ठेत् । दोषः पूर्वोक्त एव । तथा स्नानव-र्चःसंलोके, तत्प्रतिद्वारं वा, न तिष्ठेत् । एतदुक्तं भवति-यत्र स्थितैः स्नानवर्चःक्रिये कुर्वन् गृहस्थः समवलोक्यते, तत्र न तिष्ठेदिति । दोषश्चात्र दर्शनाऽऽशङ्कया निःशङ्कतत्क्रियाया अभावेन निरोधप्रद्वे-षसंभव इति । तथा नैव गृहपतिकुलस्याऽऽलोकस्थानं गवाक्षा-दिकम् (थिग्गल त्ति) प्रदेशपतितसंस्कृतम्, तथा (संधि त्ति) चौरखातं भित्तिसन्धिं वा, तथोदकभवनमुदकगृहं, सर्वाण्यप्ये-तानि भुजं परिगृह्य पौनःपुन्येन प्रसार्य, तथा अङ्गुल्योद्दिश्य, तथा कायमवनम्योन्नम्य च, न निध्यापयेत्प्रलोकयेत, नाप्यन्यस्मै प्रद-र्शयेत् । सर्वत्र द्विर्वचनमादरख्यापनार्थम् । तथाहि-तत्र हि हृत-नष्टादौ शङ्कोत्पद्येतेति । अपि च-" नो गाहावईत्यादि " । स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैव गृहपतिमङ्गुल्याऽन्यार्थमुद्दिश्य तथा चालयित्वा, तथा तर्जयित्वा भयमुपदर्श्य, तथा कण्डूयनं कृत्वा, तथा गृहपतिं वन्दित्वा वाग्भिः स्तुत्वा प्रशस्य, नो याचे-त । अदत्ते च नैव तद्गृहपतिं परुषं वदेत् । यथा-यक्षस्त्वं परगृहं रक्षसि, कुतस्ते दानवार्तेव ?, भद्रका भवतो न पुनरनुष्ठानम्, अपि च अक्षरद्वयमेतद्धि-नास्ति नास्ति यदुच्यते, तदिदं देहि देहीति विपरीतं भविष्यति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अन्यच्च-

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए ।

अवलंबिया न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥ ९ ॥

अर्गलं गोपाटादिसंबन्धिन, परिघं नगरद्वारादिसंबन्धिन, द्वारं शाखामयम्, कपाटं द्वारयन्त्रं वाऽपि संयतः, अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, लाघवविराधनादोषात् । गोचराग्रगतो भिक्षाप्रविष्टः मुनि. संयत इति पर्यायौ, तदुपदेशाधिकारादनुग्राहेवेति सूत्रार्थः । उक्ता द्रव्ययतना ॥ ९ ॥

भावयतनामाह-

समणं माहणं वा वि, किविणं वा वणीमगं ।

उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठा एव संजए ॥ १० ॥

श्रमणं निर्ग्रन्थादिरूपं, ब्राह्मणं धिग्वर्णं वाऽपि, कृपणं वा पिण्डोलकं, वनीपकं, चञ्चानामप्यन्यतमम् उपसङ्क्रामन्तं सामीप्येन गच्छन्तं गतं वा भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः साधुरिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

तमइक्कमित्तु न पविसे, न वि चिट्ठे चक्खुगोअरे ।

एगतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥ ११ ॥

तं श्रमणादिमतिक्रम्योल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, दीयमाने च समुदाने तेभ्यो न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे । कस्तत्र विधिरिति ?, आह- एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत् संयत इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

अन्यथैते दोषा इत्याह-

वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा ।

अप्पत्तियं सिया होज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ १२ ॥

वनीपकस्येत्येतच्छ्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा, उभयोर्वा, अप्रीतिः कदाचित्स्यात्-अहो ! अलोकज्ञतैतेषामिति । लघुत्वं प्रवचनस्य वाऽन्तरायदोषश्चेति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

तस्मान्नैवं कुर्यात्, किं तु-

पडिसेहिए दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।

उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततः स्थानात्तस्मिन्वनीपकादौ निवर्तिते सति उपसङ्क्रामेद्भक्तार्थं पानार्थं वाऽपि संयत इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

(२६) अगार्या सह न तिष्ठेत्-

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडिआए० जाव उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए अगारीए एगओ चिट्ठित्तए, एवं चउभंगी, अत्थि णं इत्थ केइ पंचमे थेरे वा थेरिया वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे, एवं से कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए, एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य भाणियव्वं ॥ ३९ ॥

चतुर्मासकं स्थितस्य साधोः गृहस्थगृहे भिक्षाग्रहणार्थं यावत् उपागन्तुं, तत्र नो कल्पते एकस्य साधोः एकस्या श्राविकाया एकत्र स्थातुम्, एवं चत्वारो भङ्गाः, यदि स्यात् अत्र कोऽपि पञ्चमः स्थविरः स्थविरा वा साक्षीभवति, तदा स्थातुं कल्पते, अन्येषां वा दृष्टिविषयः, बहुद्वारसहितं वा स्थानम्, एवं कल्पते एकत्र स्थातुम्, एवमेव साध्व्या गृहस्थस्य च चतुर्भङ्गी वाच्या, तथा एकाकित्वं च साधोः साध्व्यादिके उपोषिते असुखिते वा कारणाद्भवति, अन्यथा हि उत्सर्गेणस्तु साधुरात्मना द्वितीयः, साध्व्यस्तु त्र्याद्यो विहरन्ति ॥ ३९ ॥ कल्प० ९ क्षण । (एलुको देहली, तस्मात्परतो न प्रवेष्टव्यमिति 'एलुग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४ पृष्ठे उक्तम्)

(२७) माहनादिकं प्रविष्टं दृष्ट्वा तत्र न प्रविशेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा-समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिथिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, केवली बूया-आयाणमेतं पुरा पेहाए तस्स द्वाए परो असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलएज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठाए सपतिण्णाए सहेउए सकारणं एसो जं णो तेसिं सलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, से तमाताए एगंतमवक्कमेज्जा, अवक्कम्म अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा २, से परो अणावायमसंलोए चिट्ठेमाणस्स असणं वा० ४ आहट्टु दलएज्जा, सेवं वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! इमे भे असणं वा० ४ सव्वजणाए णिसट्ठे, तं भुंजह च णं, परिभाएह च णं, तवेमातिउ पडिगाहेत्ता तुसिणीओ उवेज्जा, अविआइं एयं ममभेव सिया, एवं माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, से तमाताए तत्थ गच्छेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा, आउसंतो समणा ! इमे भे असणे वा० ४ सव्वजणाए णिसट्ठा, तं भुंजह च णं, परिभाएह च णं, सेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्थ परिभाएमाणे णो अप्पणो खध्दं २ डायं २ ओसढं २ रसियं २ मणुण्णं २ णिध्दं २ लुक्खं २, से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववण्णे बहु सममेव परिभाएज्जा, से णं परिभाएमाणं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! मा णं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगतिया भोक्खामो वा, पाहामो वा, से तत्थ भुंजमाणे णो अप्पणो खध्दं खध्दं० जाव लुक्खं, से तत्थ अमुच्छिए० ४ बहु सममेव भुंजेज्ज वा, पीएज्ज वा ॥

[से भिक्खू वेत्यादि] स भिक्षुर्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टो यदि पुनरेवं विजानीयात्-यथाऽत्र गृहे श्रमणादिः कश्चित्प्रविष्टः, तं च पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य दातृप्रतिग्राहिकाप्रमाधानान्तरायभयान्न तदालोके तिष्ठेत्, नापि तन्निर्गमद्वारं प्रति दातृप्रतिग्राहकासमाधानान्तरायभयात्, किन्तु स भिक्षुस्तं श्रमणादिकं भिक्षार्थमुपस्थितमादायावगम्यैकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य चान्येषां चानापाते विजने असंलोके च संतिष्ठेत । तत्र च तिष्ठन् स गृहस्थः (से) तस्य भिक्षोश्चतुर्विधमप्याहारमाहृत्य दद्यात्, प्रयच्छंश्चैनत् ब्रूयात् । यथा-यूयं बहवो भिक्षार्थमुपस्थिताः, अहं च व्याकुलत्वान्नाहारं विभजयितुमलम्, अतो हे आयुष्मन् ! श्रमणाय आहारश्चतुर्विधोऽपि ते युष्मभ्यं सर्वजनार्थं मया निसृष्टो दत्तः, तस्मात् स्वरुच्या तमाहारमेकत्र वा भुञ्जध्वं, परिभजध्वं वा, वि-

भज्य वा गृह्णीतेत्यर्थः । तदेवंविधं आहारं उन्मार्गतो न ग्राह्यो, दुर्भिक्षे वा अध्वाननिर्गतादौ वा द्वितीयपदे कारणे सति गृह्णीयात्, गृहीत्वा च नैवं कुर्यात् । तद्यथा-तमहारं गृहीत्वा तूष्णीका गच्छन्नैवमुत्प्रेक्षेत । यथा-ममैवायमेकस्य दत्तः, अपि चाऽयमल्पत्वान्ममैवैकस्य स्यात् । एवं च मातृस्थानं संस्पृशेदतो नैव कुर्यादिति । यथा च कुर्यात्तथा दर्शयति-स भिक्षुस्तमाहारं गृहीत्वा तत्र श्रमणाद्यन्तिके गच्छेत् । गत्वा च स पूर्वमेवादावेव तेषामाहारमालोकयेद्दर्शयेत् । इदं च ब्रूयात् । यथा-भो आयुष्मन्तः श्रमणादयः ! अयमशनादिक आहारो युष्मभ्यं सर्वजनार्थमविभक्त एव गृहस्थेन निसृष्टो दत्तः । तत् यूयमेकत्र भुङ्क्ष्व वा, विभजध्वं वा, 'से' अथैनं साधुमेव ब्रुवाणं कश्चिच्छ्रमणादिरेव ब्रूयात्-यथा भो आयुष्मन् ! श्रमण ! त्वमेवास्माकं परिभाजय, नैवं तावत् कुर्यात् । अथ सति कारणे कुर्यात्, तत्रानेन विधिनेति दर्शयति-स भिक्षुर्विभाजयन् आत्मनः खद्धं खद्धं प्रचुरं प्रचुरं (डाय ति) शाकम (ऊसढं ति) उच्छ्रितं वर्णादिगुणोपेतम् । शेषं सुगमम् । यावद्रूक्षमिति न गृह्णीयादिति । अपि च-भिक्षुस्तत्राहारे अमूर्च्छितोऽगृद्धोऽनादृतोऽनध्युपपन्न इत्येतान्यादरख्यापनार्थमेकार्थिकान्युपात्तानि कथञ्चिद्भेदाद् व्याख्यातव्यानीति । (बहुसममिति) सर्वमत्र समं किञ्चित्सिक्थादिना यद्यधिकं भवेदिति, तदेवं प्रभूतसमं परिभाजयेत् । तं च साधुं परिभाजयन्तं कश्चिदेवं ब्रूयात् । यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! मा त्वं परिभाजय, किं तु सर्वे एव चैकत्र वयं भोक्ष्यामहे, पास्यामो वा, तत्र परतीर्थकैः सार्द्धं न भोक्तव्यम्, स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह सांभोगिकैः सहोपालोचनां दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधिः । तद्यथा-नो आत्मन इत्यादि सुगममिति ।

[२८] इहानन्तरसूत्रे बहिरालोकस्थानं निषिद्धं, सांप्रतं तत्प्रवेशप्रतिषेधार्थमाह-ग्रामपिण्डोलकादि प्रविष्टं दृष्ट्वा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा-समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेओ वातिकम्म पविसेज्ज वा, भासेज्ज वा, से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पडिसेहिए वा दिन्ने वा ततो तम्मि णियट्टिते संजतामेव पविसेज्ज वा, ओभासेज्ज वा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

[से भिक्खू वेत्यादि] स भिक्षुर्भिक्षार्थं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् यदा पुनरेवं विजानीयात् । तद्यथा-अत्र गृहपतिकुले श्रमणादिकः प्रविष्टः, तं च पूर्वं प्रविष्टं श्रमणादिकं प्रेक्ष्य, ततो न तान् श्रमणादीन् पूर्वप्रविष्टानतिक्रम्य प्रविशेत् नापि तत्स्थ एवावभाषेत दातारं याचेत । अपि च-स तमादायावगम्यैकान्तमपक्रामेत्, अनापातासंलोके च तिष्ठेत्तावद्यावत् श्रमणादिके प्रतिषिद्धे पिण्डे वा तस्मै दत्ते, ततस्तस्मिन्निवृत्ते गृहान्निर्गते सति ततः संयत एव प्रविशेत्, अवभाषेत वेति, एवं च तस्य भिक्षोः सामर्थ्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । [संखडिगमननिषेधः ' संखडि ' शब्दे वक्ष्यते]

[२९] इदानीं परग्रामे हिण्डनविधिः-

पुरओ जुगमायाए, गंतूणं अन्नगामे बाहिठिओ ।
तरुणे मज्झिमे थेरे, एव पुच्छाओ जहा हिट्ठा ॥ ६२ ॥

पुरतो युगमात्रं निरीक्षमाणो गत्वा अन्यग्रामं संप्राप्य बहिर्व्यवस्थितः पृच्छति-विद्यते किं भिक्षावेलाऽत्र ग्रामे, उत न ? । कान् पृच्छति ?, अत आह-तरुणं मध्यमं स्थविरम् । एकैकस्य त्रैविध्यमत्र पृच्छा कर्त्तव्या, यथा अधस्तात् प्रतिपादिताः तथैवात्रापि न्यायः । अत्र तरुणं स्त्रीपुंनपुंसकम्, मध्यमं स्त्रीपुंनपुंसकं, स्थविरं स्त्रीपुंनपुंसकमिति ॥ ६२ ॥

एवं पृष्ट्वा यदि तत्र भिक्षावेला तत्क्षणमेव, ततः को विधिरिति ?, अत आह-

पायपमज्जण पडिलेहणा य भाणदुग देसकालम्मि ।
अप्पत्ते चिय पाए, पमज्ज पत्ते य पायजुगं ॥ ६३ ॥

तत्र हि ग्रामान्ते उपविश्य पादप्रमार्जनं करोति, किं कारणम् ?, तत्पादरजः कदाचित्सचित्तं कदाचिन्मिश्रं लग्नं भवेत्, ग्रामे च नियमादचित्तं रजः, अतः प्रमार्जयति, पुनश्च प्रत्युपेक्षणं करोति, पात्रद्वितयस्य-पतद्ग्रहस्य, मात्रकस्य च; एवं देशकाले भिक्षावेलायां प्राप्तायां करोति । अथाद्यापि न भवति भिक्षाकालः,ततः तस्मिन्नप्राप्ते भिक्षाकाले पादौ प्रमार्जयन् तावदास्ते,यावत् भिक्षाकालः प्राप्तः,ततस्तस्मिन् प्राप्ते सति तस्यां वेलायां पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्षते । एवमसौ पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्ष्य ग्रामं प्रविशन् कदाचित् श्रमणादीन् पश्यति, ततस्तान् पृच्छति ।

एतदेवाह-

समणं समणिं सावय, साविय गिहिअन्नातित्थि बहिं पुच्छे ।
अत्थिह समण सुविहिया, सिट्ठे ते सालयं गच्छे ॥६४॥

श्रमणं श्रमणीं श्रावकं श्राविकां गृहस्थम् अन्यतीर्थिकं वा बहिर्दृष्ट्वा पृच्छति, एतानन्तरोक्तान् सर्वान् दृष्ट्वाऽऽपृच्छ्य यत्र सन्ति श्रमणाः, किं विशिष्टाः ?, शोभनं विहितमेषामिति शोभनानुष्ठानाः, ततश्च एतेषामन्यतमेन कथिते सति ततस्तेषामेव श्रमणादीनामालयमावासं गच्छेत् ।

ततस्तेषामालयं प्राप्य किं करोति ?, इत्यत आह-

समणुन्नेसु पवेसो, बाहिं ठवेऊण अन्नें किइकम्मं ।
खग्गूडो संतेसुं, ठवणा उच्छोभ वंदणयं ॥ ६५ ॥

यदि हि तत्र समनोज्ञा एकसामाचारीप्रतिबद्धाः, ततस्तेषां मध्ये प्रविशति । अथान्ये अमनोज्ञा भवन्ति, ततो बाह्यत उपकरणं स्थापयित्वा प्रविश्य कृतिकर्म द्वादशावर्तं वन्दनं ददाति । अथ तेऽसंविग्नपाक्षिका अवमग्ना भवन्ति, ततो बहिर्व्यवस्थित एव वन्दनं कृत्वा सबाधां पृच्छति । अथ ते संविग्नपाक्षिका अवमग्ना भवन्ति, अथ ते अवमग्नाः खग्गूडप्रायाः *, ततो बहिरेवोपकरणं संस्थाप्य पुनश्च प्रविश्य तेषाम् उच्छोभं वन्दनं करोति ॥ ६५ ॥

गेलण्णाइअबाहं, पुच्छिय सयकारणं च दीवंतो ।
जयणाए ठवणकुले, पुच्छइ दोसा अजयणाए ॥ ६६ ॥

एवं सर्वेष्वेतेषु अनन्तरोदितेषु समनोज्ञादिषु प्रविश्य ग्लानाद्याबाधां पृष्ट्वा स्वकीयमागमने कारणं दीपयित्वा निवेद्य यतनया मधुरवाक्यलक्षणया स्थापनाकुलानि पृच्छति, अयतनया पृच्छति दोषो वक्ष्यमाणो यतोऽतो यतनया पृच्छति ।

एतानि तानि स्थापनाकुलानि-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइं जयणाएँ दाएंति ॥ ६७ ॥

* खग्गूडप्राया स्निग्धमधुराद्याहारलम्पटाः, स्वभावाद् वक्राचारा निद्रालवो वा ।

दानश्राद्धक, अभिगमनश्राद्धक, यस्मिन् कारणे आपन्ने प्रविशन्ति तत्कुलम, सम्यक्त्वधरकुल, मिथ्यात्वकुल मामक.-"मा मम समणा घर आयतु" तत्कुल (अवियत्त) अदानकुलमशीलकक्षम । एतानि कुलानि, ते वास्तव्या, साधोस्तस्य यतनया दर्शयन्ति ॥ ६७ ॥

तथा चैतानि कुलानि दर्शयन्ति-

सागारि वणिम सुणए, गोणे पुत्ते दुगंछियकुलाई ।
हिंसागं मामागं, सव्वपयत्तेण वज्जेज्जा ॥ ६८ ॥

सागारिक' शय्यातर, तद्गृह दर्शयन्ति, तथा "वणिमओ" दरिद्र., तस्य गृह च दर्शयन्ति, तत्र हि एतदर्थं न गृह्यते-स हि दरिद्र असति भक्ते लज्जां करोति, यद्वा-यत्किञ्चिदस्ति तद्दत्वा पुनरात्मार्थं रन्धन करोति, तथा-श्वा यत्र दुष्टो गृहे तच्च, गौर्वा यत्र दुष्टः तच्च, (पुत्ते त्ति) पुण्यार्थं यत्र बहु रन्धयित्वा श्रमणादीनां दीयते। अथवा-पूर्णयन् गृहस्थैर्बहुभिस्तच्च प्रदर्शयन्ति,जुगुप्सितं च लिम्पकादि,तच्च, हिंसाकं सौकरिकादिगृह,तच्च, 'मामग' चोक्तम । एतानि प्रदर्शितानि सर्वप्रयत्नेन परिहर्त्तव्यानि ॥ ६८ ॥ ओघ० । आचा० । सार्द्धचतुर्मासकमध्ये सार्द्धगव्यूतद्वयप्रमाणां नदीमुत्तीर्य भिक्षा गृह्यत । ही० ४ प्रका० । (परचक्रेणोपरोधे भिक्षा 'उपरोध' शब्दे द्वितीयभागे १०७ पृष्ठे द्रष्टव्या । समवसरणे भिक्षाहार च तत्रैव ९१० पृष्ठे निरूपितम । क्षेत्रमतिलेखकाना मार्गे भिक्षाटनं 'मासकप्पविहार' वक्तव्यतायाम्। आचार्यो हिण्डितु न याति इति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १८ पृष्ठे उक्तम) तीर्थकृत उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शना भिक्षार्थं न पर्यटन्ति, यतस्तस्यामवस्थायां भिक्षाटनेन प्रवचनलाघवसम्भवात्। उक्त च-"देविंद चक्कवट्टी, मंडलिया ईसरा तलवरा य । अहिगच्छति जिणिंदे, गोयरचरियं न सो अमइ" ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० ।

(३०) आहारे क्षुधे गोचराटनम्-

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोयरे ।
अजावगट्टा भोच्चा णं, जइ तेणं न सथरे ॥ २ ॥

शय्यायां वसतौ, नैषेधिक्यां स्वाध्यायभूमौ. शय्यैव वाऽसमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी, तस्यां समापन्नो वा गोचरे क्षपकादिच्छात्रमठादौ, अयावदर्थ भुक्त्वा, न यावदर्थम्, अपरिसमाप्तमित्यर्थ । 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, यदि तेन भुक्तेन न सस्तरेत न यापयितु समर्थ, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति सूत्रार्थ ॥ २ ॥

तओ कारणमुप्पन्ने, भत्तपाणं गवेसए ।
विहिणा पुव्वउत्तेण, इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥

तत कारणे वेदनादावुत्पन्ने पुष्टालम्बन सन् भक्तपान गवेषयेत् अन्विष्येत् । अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति, विधिना पूर्वोक्तेन संप्राप्ते भिक्षाकाले इत्यादिना अनेन च वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण चेति गाथार्थ ॥ ३ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

(३१) अथ ग्रहणविधिमाह-

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं ।
अकप्पियं न गेण्हिज्जा, पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥ २७ ॥

तत्र कुलोचितभूमौ, (से) तस्य साधोस्तिष्ठत सत आहरेदानयेत्पानभोजन,गृहीति गम्यते। तत्राय विधि -अकल्पिकमनेषणीय न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकमेषणीयम्,एतच्चार्थापन्नमपि कल्पिकग्रहणं उच्यत' शोभनमशोभनमप्येतद्विशेषेण ग्राह्यमिति दर्शनार्थं साक्षादुक्तमिति सूत्रार्थ' ॥२७॥

आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोयणं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥

आहरन्ती आनयन्ती भिक्षाम्,अगारीति गम्यते, स्यात् कदाचित्तत्र देशे परिशाटयेत् इतश्चेतश्च विक्षिपेत् भोजन वा पान वा । तत' किमित्याह-ददतीं प्रत्याचक्षीत प्रतिषेधयेत्तामगारीम् । स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम। कथ प्रत्याचक्षीत?,इत्यत आह-न मम कल्पते तादृश परिशाटनावत,समयोक्तदोषप्रसङ्गात्। दोषांश्च भावं च ज्ञात्वा कथयेत् मधुबिन्दूदाहरणादिनेति सूत्रार्थ. ॥ २८ ॥

किञ्च-

संमद्दमाणी पाणाणि, वीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥

समर्दयन्ती पद्भ्यां समाक्रामन्ती, कानित्याह-प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्. बीजानि शाल्यादीनि, हरितानि दूर्वादीनि, असयमकरीं साधुनिमित्तमसयमकरणशीलां, ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत् ददतीं प्रत्याचक्षीतेति सूत्रार्थ ॥ २९ ॥

तथा-

साहट्टु निक्खिवित्ता णं, सचित्तं घट्टियाणि य ।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया ॥ ३० ॥

संहृत्यान्यस्मिन् भाजने ददाति, "तं फासुगमवि वज्जए, तत्थ फासुए फासुय साहरइ, फासुए अफासुअं साहरइ, अफासुए फासुअं साहरइ, अफासुए अफासुअं साहरइ, तत्थ जं फासुअं फासुए साहरइ, तत्थ वि थेवे थेवं साहरइ, थेवे बहुयं साहरइ, बहुए थेवं साहरइ, बहुए बहुअं साहरइ," एवमादि यथा पिण्डनिर्युक्तौ तथा निक्षिप्य भाजनगतमदेय षट्सु जीवनिकायेषु ददाति, सचित्तमलानपुष्पादि घट्टयित्वा सचाल्य च ददाति, तथैव श्रमणार्थं प्रव्रजितनिमित्तम, उदकं सप्रणुद्य भाजनस्थं प्रेर्य ददाति। इति सूत्रार्थ ॥ ३० ॥

आगहइत्ता चलइत्ता, आहारे पाणभोयणं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३१ ॥

तथा चावगाह्य उदकमेवात्माभिमुखमाकृष्य ददाति, वर्षासु गृहाङ्गणादिनिहित जल स्वाभिमुख कृत्वा दत्ते। तथा चालयित्वा उदकमेव ददाति। उदके नियमादनन्तवनस्पतिरिति प्राधान्यख्यापनार्थं 'सचित्त घट्टयित्वेत्युक्तेऽपि' भेदेनोपादानम । अस्ति चाय न्यायो यदुत "सामान्यग्रहणेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपादानम" यथा-ब्राह्मण आयात ,वसिष्ठोऽप्यायात इति। तत-श्चोदक चालयित्वा आहरेदानीय दद्यादित्यर्थ। किं तदित्याह-पानभोजनमोदनारनालादि। तदित्थभूता ददतीं प्रत्याचक्षीत निराकुर्यात्,न मम कल्पते तादृशमिति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थ. ॥३१॥ दश० ५ अ० १ उ० । प० व० ।

(३२) याच्य वस्तु दृष्ट्वा याचेत, नाऽन्यथा-

वासावास पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्वं

जवइ-अट्ठो जंते ! गिलाएस्स ?। से अ वएज्जा-अट्ठो। से अ पुच्छिअव्वे-केवइए णं अट्ठो ?। से वएज्जा-एवइए णं अट्ठो गिलाएस्स, जं से पमाणं वयइ, से य पमाणओ घित्तव्वे, से अ विन्नवेज्जा। से अ विन्नवेमाणे लभेज्जा, से अ पमाणपत्ते होउ अलाहि इय वत्तव्वं सिया । से किमाहु जंते ! ?। एवइएणं अट्ठो गिलाएस्स । सिया णं एवं वयंतं परो वइज्जा-पमिगाहेहि अज्जो !, पच्छा तुमं भक्खसि वा,पाहिसि वा,एव से कप्पइ पमिगाहित्तए,नो से कप्पइ गिलाणनीसाए पमिगाहित्तए ॥१८॥ वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थि णं थेराणं तहप्पगाराइं कुलाइं कडाइं, पत्तियाइं, थिज्जाइं, वेसासियाइं, संमयाइं, बहुमयाइं, अणुमयाइं जवंति, तत्थ से नो कप्पइ अदक्खु वइत्तए-"अत्थि ते आउसो ! इम वा" । से किमाहु जंते ! ?, सड्ढी गिही गिण्हइ वा,तेणिय पि कुज्जा॥१९॥

" वासावास " इत्यादितः " कुज्जे त्ति " यावत् । तत्र (अत्थि त्ति) अस्त्येतत् ' णमिति ' प्राग्वत् (थेराण ति) स्थविराणाम् (तहप्पगाराइं ति)तथाप्रकाराणि अजुगुप्सितानि, कुलानि गृहाणि । किंविशिष्टानि ?, (कमाइ त्ति) तैरन्यैर्वा श्रावकीकृतानि (पत्तियाइं ति) प्रीतिकराणि (थिज्जाइं ति) प्रीतौ दाने वा स्थैर्यवन्ति (वेसासियाइं ति) निश्चिनमत्र लप्स्येऽहमिति विश्वासो येषु तानि वैश्वासिकानि, (सम्मयाइ ति) येषां यतिप्रवेशः सम्मतो जवति तानि सम्मतानि (बहुमयाइ ति) बहवोऽपि साधव समना येषाम्, अथवा बहूनां गृहमनुष्याणां साधवः सम्मता येषां तानि बहुमतानि । (अणुमताइ ति) अनुमतानि दातुमज्ञातानि, अथवा अणुरपि क्षुल्लकोऽपि मतो येषु सर्वसाधुसाधारणत्वात्, न तु मुखं दृष्ट्वा तिलक कुर्वन्तीति अनुमतानि अणुमतानि वा प्रवन्ति । " तत्थ से इत्यादि " तत्र तेषु गृहेषु (से) तस्य साधो (अदक्खुत्ति) याच्य वस्तु अदृष्ट्वा इति वक्तु न कल्पते। यथा-हे आयुष्मन् ! इद २ वा वस्तु अस्ति, इत्यदृष्टं वस्तु प्रष्टु न कल्पते इत्यर्थः। (से किमाहु भंते त्ति) तत् कुतो भगवन् ! इति शिष्यप्रश्ने, गुरुराह-यतयस्तथाविधा । (सड्ढि त्ति) श्रद्धावान् गृही मूल्येन गृह्णीत, यदि च मूल्येनापि न प्राप्नोति तदा स श्रद्धातिशयेन (तेणियं पि त्ति) चौर्यमपि कुर्यात् । कृपणगृहे तु अदृष्ट्वा पि याचने न दोषः ॥ १९ ॥ कल्प० ९ क्षण ।

(३३) वन्दमानं न याचेत-

इत्थियं पुरिसं वा वि, डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो अ णं फरुसं वए ॥ २९ ॥

स्त्रियं वा पुरुषं वाऽपि, अपिशब्दात्तथाविधं नपुंसकं वा, 'महर' तरुणं, महल्लकं वा वृद्धं वा, वाशब्दान्मध्यमं वा, वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचेत, विपरिणामदोषात् । अन्माद्यभावेन याचितादाने न चैनं परुषं ब्रूयात्-वृथा ते वन्दनमित्यादि । पाठान्तरं वा-वन्दमानो न याचेत, लक्षिण्याकरणेन, शेषं पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

तथा ।

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामन्नमणुचिट्ठइ ॥ ३० ॥

यो न वन्दते कश्चिद् गृहस्थादिः न तस्मै कुप्येत्,तथा वन्दितः केनचित् नृपादिना न समुत्कर्षेत् । एवमुक्तेन प्रकारेणान्वेषमाणस्य भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डमिति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥

स्वपक्षस्तेयप्रतिषेधमाह-

सिया एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ ।
मा मेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए ॥ ३१ ॥

स्यात्कदाचिदेकः कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्ध्वोत्कृष्टमाहारं लोभेनाभिष्वङ्गेण विनिगूहते, 'अहमेव भोक्ष्ये' इत्यन्तप्रान्तादिना छादयति । किमित्यत आह-मा ममेदं भोजनजातं दर्शितं सत् दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमाददीत,आत्मनैव गृह्णीयादिति सूत्रार्थः ॥३१॥

अस्य दोषमाह-

अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ ।
दुत्तोसओ अ से होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥ ३२ ॥

आत्मार्थ एव जघन्यो गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः लुब्धः सन् क्षुद्रभोजने बहु प्रभूतं पापं करोति, मायया दारिद्र कर्मेत्यर्थः । अयं परलोकदोषः । इहलोकदोषमाह-दुस्तोषश्च भवति, येन केनचिदाहारेणास्य क्षुद्रसत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते, अत एव निर्वाणं च न गच्छति, इहलोक एव धृतिं न लभते । अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छतीति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

(३४) भुञ्जानाद् याचनम्-

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए । तं जहा-गाहावइयं वा०जाव कम्मकरिं वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा। आउसो ! त्ति वा भइणि ! त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं भोयणजायं, से सेवं वंदतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदकवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा । आउसो ! त्ति वा भगिणि ! त्ति वा मा एतं तुमं हत्थं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदगवियडणे वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा, पधोएहि वा, अभिकंखसि मे दातु, एमेव दलयाहि, से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा० ४ सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता पधोइत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारेणं पुरे कम्मकरेण हत्थेण वा० ४ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

(अह तत्थेत्यादि) अथ भिक्षुस्तत्र गृहपतिकुले प्रविष्टः सन् कञ्चन गृहपत्यादिकं भुञ्जानं प्रेक्ष्य भिक्षुः पूर्वमेवालोचयेत्-यथाऽयं गृहपतिः तद्भार्या वा,यावत्कर्मकरी वा भुङ्क्ते। पर्यालोच्य च सनामग्राहमाह । तद्यथा-(आउसो त्ति) अमुक इति गृहपते भगिनीत्यामन्त्र्य ' दास्यसि मे अस्मादाहारजातादन्यतरद्भोजनजातम् ' इत्येवं याचेत, तच्च न वर्त्तते, एवं कर्तुं कारणे वा सत्येवं वदेत्-अथ (से) तस्य भिक्षोरेवं वदतो

यावमानस्य परो गृहस्थः कदाचिद्धस्तमात्र दर्वीभाजन वा शीतोदकविकटेन अप्कायेन उष्णोदकविकटेनोष्णोदकेनाप्रासुकेन त्रिदण्डोद्भूतेन पश्चाद्वा सचित्तीभूतेन (उच्छोलेज्ज त्ति) सकृदुदकेन प्रक्षालन कुर्यात् [पहोएज्ज त्ति] प्रकर्षेण वा हस्तादेर्धावन कुर्यात, स भिक्षुर्हस्तादिक पूर्वमेव प्रक्षाल्यमानमालोचयेत, दत्तावधानो भवेदित्यर्थः । तच्च प्रक्षाल्यमानमालोक्य 'अमुक' इत्येव स्वनामग्राह निवारयेत, यथा-मैव कुथास्त्वमिति । यदि पुनरसौ गृहस्थः हस्तादिक सचित्तोदकेन प्रक्षाल्य दद्यात, तदप्रासुकमिति ज्ञात्वा न प्रतिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

किञ्च—

दोएहं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

द्वयोर्भुञ्जतो पालना कुर्वतोरेकस्य वस्तुन स्वामिनोरित्यर्थः । एकस्तत्र निमन्त्रयेत् तद्दान प्रत्यामन्त्रयेत, तद्दीयमान नेच्छेदुत्सर्गत', अपि तु छन्दमभिप्रायम् (से) तस्य द्वितीयस्य, प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारैः, किमस्येदमिष्ट दीयमान, नवेति?, इष्ट चेद्, गृह्णीयात, न चेन्नेति । एव भुञ्जानयोरभ्यवहारोद्यतयोरपि योजनीयम्, यतो ' भुजि० 'पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

तत.—

दोएहं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, ज तत्थेसणियं भवे ॥ ३८ ॥

द्वयोस्तु पूर्ववद् भुञ्जतो भुञ्जानयोर्वा, द्वावपि तत्रातिप्रसादेन निमन्त्रयेयाताम् । तत्राय विधि.-दीयमान प्रतीच्छेत् गृह्णीयात्, यत्तत्रैषणीय भवेत्तदन्यदोषरहितमिति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

(३५) ग्राह्यवस्तूनामत्युष्णग्रहणे विधि.-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अच्चुसिणं वा अस्संजए भिक्खुपडियाए सुवेण वा विहुवणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभगेण वा पेहुणेण वा पेहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फूमेज्ज वा, वीएज्ज वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो ! त्ति वा भगिणि ! त्ति वा मा एत तुम असणं वा पाणं वा खाइम वा साइम वा अच्चुसिणं सुप्पेण वा०जाव फूमाहि वा, वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दातु, एमेव दलयाहि, से सेवं वदंतस्स परो सुप्पेण वा० जाव वीयित्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगार असण वा०४ अफासुयं०जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुल प्रविष्टः सन् यदि पुनरेव विजानीयात् । यथा-अत्युष्णमोदनादिकम् असयतो भिक्षुप्रतिज्ञया शीतीकरणार्थं सूर्पेण वा, वीजनेन वा, तालवृन्तेन वा, मयूरपिच्छकृतव्यजनेनेत्यर्थः । तथा-पत्रेण वा, शाखया, शाखाभङ्गेन, पल्लवेनेत्यर्थः । तथा बर्हेण, बर्हकलापेन वा, तथा वस्त्रेण वा वस्त्रकर्णेन वा मुखेन वा तथाप्रकारेणान्येन वा केनचित् (फूमेज्ज वेति) मुखवायुना शीतीकुर्यात, हस्तादिभिर्वा वीजयेत, स भिक्षु पूर्वमेवालोचयेत् दत्तोपयोगो भवेत्, तथाकुर्वाणं च दृष्ट्वैतद्वदेत । तद्यथा-अमुक इति वा भगिनीति वेत्यामन्त्र्य मैव कृथा यद्यभिकाङ्क्षसि मे दातुम्, तत एव स्थितमेव ददस्व, अथ पुन. स परो गृहस्थ' (से) तस्य भिक्षोरेव वदतोऽपि सूर्पेण च यावन्मुखेन वा वीजित्वा आहृत्य तथाप्रकारमशनादिक दद्यात, स च साधुरनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । नि० चू० ।

[३६] आधाकर्मिकादिविचार.-

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा संतेगतिया सड्ढा भवति गाहावती वा० जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति-जे इमे भवति समणा भगवंतो सीलमंता वयमंता गुणमंता संजया संवुडा बंभचारिणो उवरया मेहुणाओ धम्माओ, णो खलु एतेसिं कप्पति आधाकम्मिए असणे वा०४ भोत्तए वा, पायत्तए वा. सेज्जं पुण इमं अम्हं अप्पणो सअट्ठाए णिट्ठितं । तं जहा-असणं वा० ४ सव्वमेयं समणाणं णिसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा वि अप्पणो सअट्ठाए असणं वा० ४ वेतेस्सामो, एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म तहप्पगारं असणं वा० ४ अफासुयं अणेसणिज्जं०जाव लाभे सते णो पडिगाहेज्जा ॥

[इहेत्यादि] इहेति वाक्योपन्यासे, प्रज्ञापकक्षेत्रे वा । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादौ दिशि सन्ति विद्यन्ते पुरुषा., तेषु च केचन श्रद्धालवो भवेयु, ते च श्रावका. प्रकृतिभद्रका वा, ते चामी गृहपतिर्यावत्कर्मकरी वेति, तेषां चेदमुक्तपूर्व भवेत्-णमिति वाक्यालङ्कारे, य इमे श्रमणा. साधवो भगवन्त. शीलवन्तोऽष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणो व्रतवन्तो रात्रिभोजनविरमणषष्ठपञ्चमहाव्रतधारिणो गुणवन्त. पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणोपेता सयता इन्द्रियनोइन्द्रियसयमवन्तः सवृता पिहिताश्रवद्वारा ब्रह्मचारिणो नवविधब्रह्मगुप्तिगुप्ताः उपरता मैथुनधर्मात् अष्टादशविकल्पब्रह्मोपेता, एतेषा च न कल्पते आधाकम्मिकमशनादि भोक्तु, पातु वा, अतो यदात्मार्थमस्माक निष्ठित सिद्धमशनादि० ४, तत्सर्वमेतेभ्य. श्रमणेभ्यो [णिसिरामो त्ति] प्रयच्छाम । अपि च-वय पश्चादात्मार्थमशनाद्यन्यत् वेतयिष्याम सकल्पयिष्यामो निवर्त्तयिष्याम इति यावत्, तदेव साधुरेव निर्घोष ध्वनि स्वत एव श्रुत्वाऽन्यतो वा कुतश्चिन्निशम्य ज्ञात्वा तथाप्रकारमशनादि पश्चात्कर्मभयादप्रासुकमनेषणीय मत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ९ उ० ।

(३७) आकरस्थान्यादौ-

जे भिक्खू णवगणिवेसे अयआगरंसि वा तंबागरंसि वा तउआगरंसि वा सीसागरंसि वा रयणागरंसि वा वइरागरंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

अय लोह, त जत्थ उप्पज्जति, सो अयागारो, तवं, सीसग, हिरण्ण रुप्पय सुवण्ण, वइर रत्नविशेष. पाषाणक, तत्थ जो गेण्हति, तस्स मासलहु, आणादिया य दोसा ।

अयमाइआगरा खलु, जत्तियमित्ता य आहिया सुत्ते ।
तेसू असणादीणं, गिण्हंताऽऽणाइणो दोसा ॥ ११० ॥
मंगले अमंगले वा, पवत्तणणिवत्तणे य थिरमथिरे ।
दोसा णिव्विसमाणे, इमे य दोसा णिविट्ठम्मि ॥ १११ ॥
पुढवि ससरक्ख हरिते, सच्चित्ते मीसए हिए सका ।
सयमेव कोइ गिण्हति, तष्णीसाए अहव अण्णो ॥ ११२ ॥

णवगणिवेसे असत्थोवहता सचित्ता पुढवी, अहवा धाउ-मट्टिताखनिताए हत्था खरंटिता ससरक्खेण वा हत्थेण दे-ज्ज, णवगणिवेसे वा हारियसम्भवो सचित्तमीसस्स, तत्थऽ-सेण सुवण्णातिते हरिते साहू सकिज्जाति । अहवा कोइ सजतो लुद्धो तण्णिक्खमिउकामो सयमेव गेण्हति । अहवा-साहुणि-स्साते अण्णो कोइ गेण्हति, तत्थ आसकाए गेण्हणकड्ढणा-तिया दोसा, जम्हा एते दोसा तम्हा णवगणिवेसेसु णो गेण्हेज्ज ।

कारणे गेण्हेज्जा वि-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जतणा गहणं तु गीयत्थे ॥ ११३ ॥

पूर्ववत् ॥ नि० चू० ५ उ० ।

(३८) आरण्यकादीनाम्-

जे भिक्खू आरण्णयाणं वणंठयाणं अडवीजत्ताए पट्ठि-याणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडि-गाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

" जे आरण्णाण वणट्ठाणं अडविजत्ताए पयट्ठिण इ-त्यादि " अरण्णं गच्छतीति आरण्णगा, वण ठावतीति वण-ट्ठा, आरण्या वनार्थाय धावन्तीत्यर्थः । तेसिं जत्तापट्ठियाण जो असणाती गेण्हति, जत्तापडिणियत्ताण असणादिसेस, खउरादि वा, जो गेण्हति, तस्स आणादी दोसा, चउलहुं च पच्छित्त ।

तणकट्ठाऽऽहारगादी, आरण्ण वणं च काउ विसेसा ।
अडविं पविसंताणं, णियत्तमाणाण तत्तो य ॥ ३२१ ॥

आदिसद्दातो पुप्फफलमूलकंदादीणि, तेसिं वणट्ठाण अडविं पविसताण जं संबल कत, तओ णियत्ताण अ किंचि चु-ण्णादी, सेस कठ ।

तणकट्ठपुप्फफलमू-लकंदपत्तादिहारका चेव ।
पत्थयणं वच्चता, करेंति पविसंत सेसं च ॥ ३२२ ॥

तणादिहारगा अडविं पविसता अप्पणो पत्थयण करेंति, सेस कण्ठ्य ।

अडविं पविसंताणं, अहवा पत्ते य पडिणियत्ताणं ।
जे भिक्खू असणादी, पडिच्छते आणमादीणि ॥ ३२३ ॥

इमो सो-

पच्छाकम्ममतीते, णियट्टमाणे य बंध वा तेसिं ।
अत्थिज्जा णु तदा सा, तद्दव्वे अण्णदव्वे य ॥ ३२४ ॥

अडविं पविसतेण जं संबल कय, त साहूण दातु पच्छा अ-प्पणो अण्ण करेति, स णियट्टणे वि ण घत्तव्व, तेसिं वध वा, तद्दव्वे अण्णदव्वे वा कया, सा अत्थेज्जा, तद्दव्व जं चेव घरातो णीत, अण्णदव्व-ज अडवीए कदचुण्णादि उप्पज्जति ।

पत्थयणं दाउं इम करेति-

कम्मं कीतं पामि-च्चियं च अच्छेज्जऽणाहए विगिच्छं ।
कंदादीण व घातं, करेंति पंचिंदियाणं च ॥ ३२५ ॥

अप्पणो कम्म ति अण्णं करेति, अप्पणो वा कीणाति, पामिच्च ति उच्छिण्णं गेण्हति, अण्णेसिं वा अच्छिंदति, अह ण गेण्हति प-त्थयण, तो विगिच्छति छुहाए, ज अणागाढादि परितावेज्ज-ति । अहवा-छुक्खितो कदादि गेण्हति, तत्थ परित्ताणतणिप्फण्ण, अहवा-भुक्खत्तो ज सावगतित्तिरादि घातिस्सति, परितावणा-दिणिप्फण्ण, तिसु चरिम । आरण्णातो णियत्तमाणाए जो गेण्हति तस्स इमे दोसा-

गाहा-

चुण्णए खउरादि दाउं, कप्पट्ठग देइ कोव जइ गोणे ।
वट्टए अण्णाणयणे, खउरादि वऽसंखडे भोई ॥ ३२६ ॥

चुण्णो बदराढियाण, गोरखदिरमादियाण खउरो, ज्जसेसं वा साहूण दाउं कप्पट्ठिएहिं पुत्तणत्तुभत्तिज्जगादिएहिं अण्णेहि य तदासाए अत्थमाणेहिं जातिज्जमाणो जे वणे कट्ठे मूले चुण्णखउरभत्तमेस वा । ते भणति-दिण्णा मेहिं साहूण, एव भणते ते पउण्णा रुदण करेंताणि, ताणि दट्ठूण पदोस गच्छेज्ज, जहा गावो पिंडणिज्जुत्तीए, तेसु वा वट्टेतेसु अडवीओ अण्ण वा आणेति, खउरादिणिमित्ते मारि-यातिए सह असखड भवति, अंतरायदोसा य, जम्हा एव-मादि दोसा, तम्हा वण पविसताण णेंताण वा ण घेत्तव्व भवे ।

कारणे तु-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ॥ ३२७ ॥

(जयण त्ति) पणगपरिहाणीए जाए चउलहुं पत्तो ताहे साव-सेस गेण्हति । नि० चू० १६ उ० ।

[३९] उत्सवेषु अर्द्धमासिकादिषु-

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडि-याए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अट्ठमिपोसहिएसु वा अ-द्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उऊसंधीसु वा उऊपरियट्टेसु वा बहवे समणमाहणअ-तिहिकिवणवणीमगे एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए चउहिं उक्खाहिं प-रिएसिज्जमाणे पेहाए कुंभीमुहातो वा कलोवातितो वा सण्णिहिसण्णिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अपुरिसंतरकडं ०जाव अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव णो प-डिगाहेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पुरिसंतरकडं० जाव आसेवितं फासुयं० जाव पडिगाहेज्जा ॥

स भावभिक्षुर्यत्पुनरशनादिकमाहारमेवंभूतं जानीयात् । तद्यथा—अष्टम्यां पौषध उपवासादिक अष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां ते अष्टमीपौषधिका उत्सवाः । तथा अर्द्धमासिकादयश्च, ऋतुसन्धिः ऋतोः पर्यवसानम्, ऋतुपरिवर्त्तः ऋत्वन्तरमित्यादिषु बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकानेकस्मात्पिठरकाद् गृहीत्वा कूरादिकं (परिएसिज्जमाणे त्ति) तद्दीयमानाहारेण भोज्यमानान् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, एवं द्विकादिकादपि पिठरकाद् गृहीत्वेत्यायोजनीयमिति । पिठरकः स्थाली सङ्कटमुखः कुम्भी (कलोवातितो) पच्छी पिटकं वा तस्मादिः कस्मादिति, (संति) सन्निधिर्गोरसादेः सन्निचयः तस्माद्वेति (परिएसिज्जमाण पेहाए त्ति) एवंभूतं पिण्डं दीयमानं दृष्ट्वा अपुरुषान्तरकृतादिविशेषणमप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति । एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह–"अहेत्यादि" अथ पुनः स भिक्षुरेवंभूतं जानीयात्ततो गृह्णीयादिति सम्बन्धः । तद्यथा–पुरुषान्तरकृतमित्यादि ।

साम्प्रतं येषु कुलेषु भिक्षार्थं प्रवेष्टव्यं, तान्यधिकृत्याह–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा–असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा समवाएसु वा पिंडणियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु वा णागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तडागमहेसु वा दहमहेसु वा णदीमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समणमाहणअतिथिकिवणवणीमए एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं० जाव संणिहिसंणिचयातो वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा० ४ अपुरिसंतरकडं वा० जाव णो पडिगाहेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा–दिण्णं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणे पेहाए गाहावतिभारियं वा गाहावतिभगिणिं वा गाहावतिपुत्तं वा गाहावतिधूयं वा सुण्हं वा धातिं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोएज्जा–आउसे त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं भोयणजायं, सेवं वदंतस्स परो असणं वा० ४ आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा० ४ सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं० जाव पडिगाहेज्जा ॥

तथा "से भिक्खू" इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात् तदपुरुषान्तरकृतादिविशेषणम् । अप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो न गृह्णीयादिति सम्बन्धः । तत्र समवायो मेलकः संखच्छेदश्रेण्यादेः पिण्डनिकरः पितृपिण्डः मृतकभक्तमित्यर्थः । इन्द्रोत्सवः प्रतीतः, स्कन्दः स्वामिकार्त्तिकेयस्तस्य महिमा पूजा विशिष्टे काले क्रियते । रुद्रादयः प्रतीता, नवरं मुकुन्दो बलदेवः, तदेवंभूतेषु नानाप्रकारेषु प्रकरणेषु सत्सु तेषु च यदि यः कश्चित् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकादिरापतति, तस्मै सर्वस्मै दीयत इति मन्यमानो पुरुषान्तर इति कृतादिविशेषणविशिष्टमाहारादिकं न गृह्णीयात् । अथापि सर्वस्मै न दीयते, तथापि जनाकीर्णमिति मन्यमान एवंभूते सङ्खडिविशेषे न प्रविशेदिति । एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह–" अहेत्यादि " अथ पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात् । तद्यथा–दत्तं यत्तेभ्यः श्रमणादिभ्यो दातव्यमथानन्तरं तत्र स्वत एव तान् गृहस्थान् भुञ्जानान् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा आहारार्थी तत्र यायात् तान् गृहस्थान्, स्वनामग्राहमाह । तद्यथा-गृहपतिभार्यादिकं भुञ्जानं पूर्वमेवाऽऽलोकयेत् पश्येत प्रभु प्रभुसन्दिष्टं वा ब्रूयात् । तद्यथा-आयुष्मति ! भगिनीत्यादि दास्यसि मह्यमन्यतरद्भोजनजातमित्येवं वदते साधवे परो गृहस्थ आहृत्याऽशनादिकं दद्यात् । अत्र च जनसङ्कुलत्वात् सति वाऽन्यस्मिन् कारणे स्वत एव साधुर्याचेत, अयाचितो वा गृहस्थो दद्यात्, तत्प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा । तं जहा–उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइण्णकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा वोक्कसालियकुलाणि वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु वा अगरहितेसु वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा फासुयं एसणिज्जं० जाव पडिगाहेज्जा ।

" से भिक्खू " इत्यादि । स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रवेष्टुकामो यानि पुनरेवंभूतानि जानीयात्, तेषु प्रविशेदिति सम्बन्धः । तद्यथा–उग्रा आरक्षिका भोगा राज्ञः पूज्यस्थानीया राजन्याः सखिस्थानीयाः क्षत्रिया राष्ट्रकूटादयः इक्ष्वाकवः ऋषभस्वामिवंशिकाः हरिवंश्या हरिवंशजा अरिष्टनेमिवंशस्थानीयाः (एसिय त्ति] गोष्ठा वैश्या वणिजः गण्डका नापिता, ये हि ग्रामे उद्घोषयन्ति, कोट्टागाः काष्ठतक्षकाः, वर्द्धकिन इत्यर्थः । वोक्कशालिया तन्तुवायाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्ते ?, इत्युपसंहरति-अन्यतरेषु वा तथाप्रकारेष्वजुगुप्सितेषु कुलेषु नानादेशविनेयसुखप्रतिपत्त्यर्थं पर्यायान्तरेण दर्शयत्यगर्ह्येषु, यदि वा–जुगुप्सितानि चर्मकारकुलादीनि, गर्ह्याणि दास्यादिकुलानि, विपर्यभूतेषु कुलेषु लभ्यमानमाहारादिकं प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

(४०) इक्ष्वादिखण्डादि–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा संबलिं वा संबलिथालगं वा अस्सिं खलु पडिग्गाहियंसि अप्पे सिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा० जाव संबलिथालगं वा अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारजातं जा-

नीयात्। तद्यथा-(अतरुच्छुयं व त्ति) इक्षुपर्वमध्यम। (उच्छु-गंमियं त्ति) सपर्वेक्षुमकलम (चोयग) पीलितेक्षुच्छोदिक [मेरुगं ति] अग्रम [सालग ति] दीर्घशाखा [मालग ति] शाखैकदेश· [संबलि त्ति] मुद्गादीनां विध्वस्तफलि· [स-बलिथालगं ति] वल्लादिफलीनां पाक· । अत्रैवंभूते परिगृ-ह्यतेऽप्यन्तरिक्ष्वादिकल्पमशनीय बहु परित्यजनधर्मकमि-ति मत्वा न गृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० ।

परपीडादिप्रतिषेधाधिकारादिदमाह-

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥ १४ ॥

उत्पल नीलोत्पलादि, पद्ममरविन्द वाऽपि, कुमुद वा गर्दभ-कं वा, मगदन्तिकां मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये, तथा-अन्यद्वा पुष्प सचित्त शाल्मलीपुष्पादि, तच्च संलुञ्च्यापनीय छित्वा, दद्यादिति सूत्रार्थ· ॥ १४ ॥

तं भवे भत्त पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पमिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥
उप्पलं पउमं वावि, कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए ॥ १६ ॥
तं भवे भत्त पाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥

तादृश भक्तपान तु संयतानामकल्पिक, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ एव तच्च समृद्य दद्यात्। समर्दन नाम-पूर्वच्छिन्नानामेवापरिण-तानां मर्दनम्। शेष सूत्रद्वयेऽपि तुल्यम्। आह-एतत्पूर्वमप्युक्त-मेव-" संमद्दमाणी पाणाणि, वीयाणि हरियाणि य।" इत्यत्र। उच्यते-सामान्येन विशेषाभिधानाददोष· ॥१७॥

तथा-

सालुयं वा विरालियं, कुमुयं उप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं, उच्छुखंमं अनिव्वुमं ॥१८॥

सालूकं वा उत्पलकन्दं, विरालिका पलासकन्दरूपा, पर्ववल्लि-प्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये, कुमुदोत्पलनालौ प्रतीतौ, तथा मृणालिका पद्मिनीकन्दोत्थां, सर्षपनालिकां सिद्धार्थकम-ञ्जरीं, तथा इक्षुखण्डम, अनिर्वृतं सचित्तम। एतच्चानिर्वृतग्रहण सर्वत्राभिसबध्यत इति सूत्रार्थ· ॥ १८ ॥

किं च-

तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स, आमगं परिवज्जए ॥ १९ ॥

तरुण वा प्रवाल पल्लव वृक्षस्य चिञ्चिणिकादे , तृणस्य वा मधुरतृणादे ,अन्यस्य वाऽपि हरितस्याऽऽर्द्रकादेः आमम अपरि-णत परिवर्जयेदिति सूत्रार्थ ॥ १९ ॥

तथा—

तरुणियं वा छिवाडिं, आमियं भज्जियं सइं ।
दिंतियं पमिआइक्खे,न मे कप्पइ तारिसं ॥२०॥

तरुणा वा असञ्जातां (छिवाडिमिति) मुद्गादिफलिम; आमा-मसिद्धां सचेतनां, तथा भर्जितां सकृदेकवार ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृश भोजनमिति सूत्रार्थः ॥२०॥

तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥

तथा कोल बदरम अस्विन्न वह्न्युदकयोगेनाऽनापादितविकारा-न्तर, वेणुक वंशकरिल्लं, कासवनालिक श्रीपर्णीफलम, अस्विन्न-मिति सर्वत्र योज्यम।तिलपर्पट पिष्टतिलमयम,नीम नीमफल-म, आम परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

तहेव चाउलं पिट्ठं, वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइपिन्नागं, आमगं परिवज्जए ॥ २२ ॥

तथैव तान्दुल पिष्ट, लोट्टमित्यर्थः। विकट वा शुद्धोदकं, तप्त-निर्वृत क्वथित सत शीतीभूत, तप्तानिर्वृतम वा अप्रवृत्तत्रिदण्ड, तिलपिष्ट तिललोट्ट, पूतिपिण्याकं सर्षपखलम, आम परिवर्जये-दिति सूत्रार्थ· ॥ २२ ॥

कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलवत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं, मणसा वि न पत्थए ॥ २३ ॥

कपित्थ कपित्थफल, मातुलिङ्ग च बीजपूरक, मूलक सपत्र-जालकं,मूलवर्त्तिका मूलकन्दचक्कलिम्,आम पक्काम्,अशस्त्रप-रिणतां स्वकायशस्त्रादिनाऽविध्वस्ताम, अनन्तकायत्वात गुरु-त्वख्यापनार्थमुक्तम्। मनसाऽपि न प्रार्थयेदिति सूत्रार्थ· ॥२३॥

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिय ।
बिहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥

तथैव फलमन्थून् बदरचूर्णान्,बीजमन्थून् यवादिचूर्णान्,ज्ञात्वा प्रवचनतो बिभीतक बिभीतकफल, प्रियाल वा प्रियालफलं च, आममपरिणत परिवर्जयेदिति सूत्रार्थ· ॥२४॥ दश०५ अ०२ उ०।

उन्मिश्रम्—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥

अशन पानक वाऽपि खाद्य स्वाद्य तथा पुष्पैर्जातिपाटलादि-भिर्भवेदुन्मिश्र बीजैर्हरितैर्वेति सूत्रार्थ ॥ ५७ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पमियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

तादृश भक्तपान तु संयतानामकल्पिक, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थ ॥५८॥ दश० ५ अ० १ उ० । (उद्गमोत्पादनादोषाः स्वस्वस्थाने निरूपिता)

(३१) साम्प्रतमौषधिविषय विधिमाह-

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइकुलं पिंमवायपमि-याए अणुपविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहिओ जाणेज्जा-कसिणाओ सासियाओ अविदलकमाओ अतिरिच्छच्छि-न्नाओ अव्वोच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कं-ताभज्जितं पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जं ति मन्नमाणे लाभे संते णो पमिगाहेज्जा ॥

"से भिक्खू वेत्यादि।" स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नया पुनरौषधीः शालिबीजादिका एवंभूता जानीयात्। तद्यथा-(कसिणाओ त्ति) कृत्स्ना सपूर्णा अनुपहता। अत्र च द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गिका-तत्र द्रव्यकृत्स्ना अशस्त्रोपहताः, भावकृत्स्ना सचित्ता, तत्र कृत्स्ना इत्यनेन चतुर्भङ्गकेषु आद्य भङ्गत्रयमुपात्तम्। (सासियाओ त्ति) जीवस्य स्व आत्मीय उत्पत्तिप्रत्ययो यासु ता स्वाश्रया, अविनष्टयोनय इत्यर्थः। आगमे च कासांचिदौषधीनामविनष्टयोनिकाल पठ्यते। तदुक्तम्-" एतेसि णं भंते! सालीणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ?" इत्याद्यालापकाः। (अविदलकडाओ त्ति) न द्विदलकृता अद्विदलकृता अनूर्द्धपाटिता इत्यर्थः। (अतिरिच्छच्छिण्णाओ त्ति) तिरश्चीन छिन्ना कन्दलीकृता, तत्प्रतिषेधादतिरश्चीनच्छिन्ना। एताश्च द्रव्यतः कृत्स्नाः, भावतो भाज्याः (अव्वोच्छिन्नाओ त्ति) व्यवच्छिन्नजीवरहिता, न व्यवच्छिन्ना अव्यवच्छिन्ना, भावतः कृत्स्ना इत्यर्थः। तथा [तरुणियं वा छिवाडिं ति] तरुणीमपरिपक्वाम [छिवाडि त्ति] मुद्गादेः फलिम्' तामेव विशिनष्टि-[अणभिक्कंतभज्जियं ति] न अभिक्रान्ता जीवितादनभिक्रान्ता, सचेतनेत्यर्थः। इति अभञ्जितामभग्नाममर्दितामविराधितामित्यर्थः। इति प्रेक्ष्य दृष्ट्वा तदेवभूतमाहारजातमप्रासुकमनेषणीयं वा मन्यमानः लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

साम्प्रतमेतदेव सूत्रं विपर्ययेणाऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणेज्जा-अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिण्णाओ अव्वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिक्कंतभज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

"से भिक्खू वा" इत्यादि। स एव भावभिक्षुर्या पुनरौषधीरेव जानीयात्। तद्यथा-अकृत्स्ना असपूर्णा द्रव्यतो भावतश्च पूर्ववत्, अस्वाश्रयो विनष्टयोनय, द्विदलकृता ऊर्द्धपाटिता, तिरश्चीनच्छिन्ना कन्दलीकृता, तथा तरुणिकां वा फलीं, जीविताद्पक्रान्ता भग्ना चेति, तदेवभूतमाहारजातं प्रासुकमेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति कारणे गृह्णीयादिति।

ग्राह्याग्राह्याधिकार एवाऽऽहारविशेषमधिकृत्याऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविसमाणे से जाओ पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा बहुरयं वा भज्जियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सई संभज्जियं अफासुयं अणेसणिज्जं मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

"से भिक्खू वा" इत्यादि। स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः स न इत्यादि पूर्ववद्यावत् (पिहुयं व त्ति) पृथुक,जातावेकवचनम्। नवस्य शालिव्रीह्यादेरग्निना ये लाजाः क्रियन्ते त इति बहुरजस्तुषादिकं यस्मिंस्तद् बहुरजः। (भज्जियं ति) अग्न्यर्द्धपक्वं गोधूमादेः शीर्षकम्, अथवा तिलगोधूमादि, तथा गोधूमादेर्मन्थु चूर्णं, तथा चाउलास्तण्डुलाः शालिव्रीह्यादे, त एव चूर्णीकृतास्तत्कणिका वा (चाउलपलंब ति) तदेवभूतं पृथुकाद्याहारजातं सकृदेकवारम् (संभज्जियं ति) आमर्दितं किञ्चिदग्निना किञ्चिदपरशस्त्रेणाप्रासुकमनेषणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

एतद्विपरीतं ग्राह्यमित्याह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा पिहुयं वा० जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं० जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा ॥

" से भिक्खू वा " इत्यादि पूर्ववत्, नवरं यदसकृदनेकशोऽग्न्यादिना पक्वमामर्दितदुरभिपक्वादिदोषरहितं प्रासुकं मन्यमानो लाभे सति गृह्णीयादिति। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

(४२) क्रीतप्रायादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अस्सपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ ति तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया नीहडं वा अणीहडं वा अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं वा० जाव णो पडिगाहेज्जा, एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ॥

" से भिक्खू " इत्यादि। स भिक्षुर्यावत् गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नेवभूतमाहारजातं नो प्रतिगृह्णीयादिति सम्बन्धः। (अस्सपडियाए त्ति) न विद्यते स्व द्रव्यमस्य सोऽयमस्व, निर्ग्रन्थ इत्यर्थः। तत्प्रतिज्ञया कश्चिद् गृहस्थः प्रकृतिभद्रकः एकं साधर्मिकं साधुं समुद्दिश्य निर्ग्रन्थोऽयमित्यभिसंधाय प्राणिनो भूतानि जीवा सत्त्वाश्चैतेषां किञ्चिद्भेदात् भेदः, तान् समारभ्येत्यनेन मध्यग्रहणात्संरम्भसमारम्भा गृहीता, एतेषां च स्वरूपमिदम्-" संकप्पो संरंभो, परियावकरो भवे समारंभो। आरंभो, उद्दवओ, सुद्धणयाणं तु सव्वेसिं ॥" इत्येवं समारम्भादि समुद्दिश्याधिकृत्य कर्म कुर्यादित्यनेन सर्वा विशुद्धिकोटिर्गृहीता। तथा क्रीतं मूल्यगृहीतं,(पामिच्चं) उच्छिन्नकम्, आच्छेद्य परस्माद्बलादाच्छिन्नम्, (अणिसट्ठं ति) अनिसृष्टं तत् स्वामिना अननुज्ञातम्, चोलकादि अभ्याहृतं गृहस्थेनाऽऽनीतं, तदेवभूतं क्रीताद्याहृत्य (चेएइ त्ति) ददातीत्यनेनापि समस्ता विशुद्धिकोटिर्गृहीता, तदाहारजातं चतुर्विधमपि तथाप्रकारमाधाकर्मादिदोषदुष्टं यो ददाति तस्मात् पुरुषादपरः पुरुषः पुरुषान्तरं, तत्कृतं वा,अपुरुषान्तरकृतं वा,तेनैव दात्रा कृतं,तथा-गृहान्निर्गतमनिर्गतं वा, तथा-तेनैव दात्रा स्वीकृतमस्वीकृतं वा, तेनैव दात्रा तस्माद्बहु परिभुक्तमपरिभुक्तं वा, तथा स्तोकस्वादितमनास्वादितं वा, तदेवमप्रासुकमनेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादित्येतत् प्रथमचरमतीर्थकृतोरकल्पनीयम्, मध्यतीर्थकराणां चान्यस्य कल्पत इति, एवं बहून् साधर्मिकान् समुद्दिश्य प्राग्वद् वाच्यम्। तथा साध्वीसूत्रमप्येकत्वबहुत्वाभ्यां योजनीयमिति। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

(४३) नौकागमनम्-

जे भिक्खू णावाउ णावागयस्स असणं वा पाणं वा

खाइमं वा साइमं वा पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू णावाउ जलगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू णावाउ पंकगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू णावाउ थलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२२॥ जे भिक्खू जलगओ णावागयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू जलगओ जलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२४॥ जे भिक्खू जलगओ पंकगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू जलगओ थलगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू पंकगओ णावागयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू पंकगओ पंकगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू पंकगओ जलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू पंकगओ थलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू थलगओ णावागयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू थलगओ जलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू थलगओ पंकगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू थलगओ थलगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

गाहा—

णावें जले पंके थले, संजोगा तत्थ होंति णायव्वा ।
तत्थ गमणं एको, गमणाऽऽगमणेण वितिओ उ ॥२८॥

णावागतो भिक्खू णावागयस्सेव दायगस्स हत्थातो असणादीहिं पमिगाहेति, तस्स चउलहु । अण्णेसु तिसु भंगेसु भिक्खू णावागतो चेव, दायगा जलपंकथलगता, एतेसु चउरो भगा। अन्नेसु चउभंगेसु भिक्खू जलगतो, दायगा णावाजलपकथलगता। अन्नेसु चउसु भिक्खू पकगओ, दायगा णावाजलपकथलगता। अन्नेसु चउसु भिक्खू थलगतो, दायगा णावाजलपकथलगता। एते सव्वे सोलससु वि पत्तेय चउलहु, णावगते दायगे पमिसेहो। एतेसु णावजलपकथलपदेसु ठितो भिक्खू दायगस्स सट्ठाणपरट्ठाणसजोगेण ठियस्स हत्थाओ गेण्हतस्स दुगसजोगाऽभिलावं अमुचतेण सोलस भगा कायव्वा, पूर्ववत् । तत्थ कम दरिसेइ-(तत्थ गमण एक्को ति) णावारूढो णावागयस्स हत्थातो गेण्हति, एस पढमभंगो, णावागतो जलगयस्स इच्छदायगस्स आगच्छमाणस्स जलठियस्स हत्थातो गेण्हति, एव पकथलेसु वि गमणागमणेण ततियचउत्थभगा । एवं सेसभगा वि बारस उवउज्ज भाणियव्वा ।

गाहा—

एत्तो एगतरेणं, संजोगेणं तु जो उ पमिगाहे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥२९॥

कण्ठ्या। सोलसमभंगो-थलगओ थलगतस्स समुद्दस्स अंतरद्दीवे संभवति । सा पुढवी सच्चित्ता, मीसा वा, ससणिद्धा वा, तेण पमिसिज्झति ।

इम वितियपदं—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्था ॥ ३० ॥

जयणा पणगपरिहाणी, मीसपरंपरठितादि वा जयणा, भाणियव्वा । नि० चू० १७ उ० ।

[४४] तण्डुलप्रलम्बादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा बहुरयं वा० जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खुपमियाए चित्तमंताए सिलाए० जाव मक्कडसंताणाए कोट्टेंसु वा, कोट्टेंति वा, कोट्टेस्संति वा, उप्पिणिंसु वा, उप्पिणिंति वा, उप्पिणिस्संति वा, तहप्पगारं पिहुं वा० जाव चाउलपलंबं वा अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ।

" से भिक्खू वा " इत्यादि । स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात् । तद्यथा-पृथुकं शाल्यादिलाजान् (बहुरय ति) बहुकम (चाउलपलव ति) अर्द्धपक्वशाल्यादिकणादिकमित्ययमादिकमसंयतो गृहस्थोऽभिक्षुप्रतिज्ञया भिक्षुमुद्दिश्य चित्तमत्यां शिलायां तथा सबीजायां सहरितायां साण्डायां यावन्मर्कटसन्तानोपेतायामकुट्टिषुः कुट्टिनवन्त ,तथा कुट्टन्ति, कुट्टिष्यन्ति वा । एकवचनाधिकारेऽपि च्छान्दसत्वात् तद्व्यत्ययेन बहुवचन द्रष्टव्यम् । पूर्वत्र वा जातावेकवचनम्, तत्र पृथुकादिक सचित्त वाऽचित्तमत्या शिलायां कुट्टयित्वा (उप्पिणिंसु त्ति) सात्वथं वा तावद्दत्तवन्तो, ददति, दास्यन्ति वा, तदेव तथाप्रकार पृथुकादि ज्ञात्वा लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अगणिणिक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अफासुयं० जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा, केवली बूया-आयाणमेतं असंजए भिक्खुपमियाए उस्सिंचमाणे वा निस्सिंचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा उत्तारेमाणे वा उप्पएणेमाणे वा अगणिजीवे हिंसेज्जा वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पइण्णा एस हेतू एस कारणं एसुवएसो जं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अगणिणिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

" से भिक्खू वेत्यादि । " स भिक्षुर्गृहपतिकुल प्रविष्टश्चतुर्विधमप्याहारमग्नावुपरि निक्षिप्तं तथाप्रकार ज्ञात्वा सति लाभे

सति न प्रतिगृह्णीयात् । अत्रैव दोषमाह-केवली ब्रूयात्-आदान कर्मादानमेतदिति । तथाहि-असंयतो गृहस्थः भिक्षुप्रतिज्ञया तत्राप्युपरि व्यवस्थितमाहारमुत्सिञ्चन् आक्षिपन्, निस्सिञ्चन् हस्तोद्धरिते प्रक्षिपन्,तथा मार्जयन् सकृत् हस्तादिना शोधयन्, तथा प्रकर्षेण मार्जयन् शोधयन्, तथाऽवतारयन्, तथा प्रवर्तयन् तिरश्चीनं कुर्वन् अग्निजीवान् हिंस्यादिति । अथानन्तरं भिक्षूणां साधूनां पूर्वोद्दिष्टा एषा प्रतिज्ञा, एष हेतुः, एतत्कारणम्,अयमुपदेशो,यत् तथाप्रकारमग्निसंबद्धमशनाद्यग्निनिक्षिप्तमप्रासुकमनेषणीयमिति ज्ञात्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

(४५) पर्युषिताहारो न ग्राह्यः-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, पारिवासियस्स आहारस्स० जाव तयप्पमाणमित्तमवि भूमिप्पमाणमित्तमवि तोयबिंदुप्पमाणमित्तमवि आहारमाहारित्तए नऽन्नत्थ आगाढ सरोगायंकेसु ॥

अस्य सम्बन्धमाह-

वदिओऽयमणाहारो, इमं तु सुत्तं पडुच्च आहारं ।
अत्थे वा निसि मोयं, पिज्जति सेसं पि माए व ॥

अयं मोकलक्षणो अनाहारः पूर्वसूत्रे वदितो भणितः । इदं तु सूत्रमाहारं प्रतीत्याऽऽरभ्यते । अर्थतो वा निशि मोकं पीयत इत्युक्तम् । अतः शेषमप्याहारादिकमेव रात्रौ आहारयेदिति प्रस्तुतसूत्रमारभ्यते । अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितस्याऽऽहारस्य मध्यात् त्वक्प्रमाणमात्रमपि भूमिप्रमाणमात्रमपि तोयबिन्दुप्रमाणमात्रमपि यावदाहारमाहर्तुम् । त्वक्प्रमाणमात्रं नाम-तिलतुषत्रिभागमात्रं,नत्वाशनस्य घटते । भूमिप्रमाणमात्रम्-(एतदग्रेतनं तु 'पारियासिय' शब्दे वक्ष्यते) [बृ०] [सेस ति] शेषमाहारं तस्य परिवासितस्य यदि तिलतुषत्वक्मात्रमप्याऽऽहरति,सक्तुकादीनां शुष्कचूर्णमेकस्यामङ्गुल्यां यावती भूमिमात्रं लगति तावन्मात्रमपि पिबति, ततोऽस्य पानकस्य बिन्दुमात्रमपि यद्यापिबति, तदा चतुर्गुरु, आज्ञा च तीर्थकृतां कोपिता भवति ।

एते चापरे दोषाः-

मिच्छत्तमसंचइए, विराहणा सत्तुपाणजाईओ ।
संमुच्छणा य तक्कण, दवे य दोसो इमो होति ॥

अशनादि परिवास्यमानं दृष्ट्वा शैक्षोऽन्यो वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, उड्डाहं वा कुर्यात्-कथमहो ! अमी असंचयिका ?, परिवासिते तु संयमात्मविराधना भवति, सक्तुकादिषु धार्यमाणेषु ऊरणिकादयः प्राणिजातयः संमूर्च्छन्ति, पुपूलिकादिषु लालादिसंमूर्च्छना च भवति । उन्दुरो वा तत्सकर्णमजिघ्रन् कुर्वन् पार्श्वतः परिभ्रमन् मार्जारादिना भक्ष्यते,एवमादिका संयमाऽऽत्मविराधना, आत्मविराधना च तत्राशनादौ लालाविषः सर्पो लालां मुञ्चेत्, दृग्विषो वा जिघ्रन् निःश्वासेन विषीकुर्यात्, उन्दुरो वा लालां मुञ्चेत्, द्रवे चाहारे एते वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ।

तत्र " मिच्छत्तमसंचइए त्ति " पदं व्याख्याति-

सेहे गिहिणा व दिट्ठे, मिच्छत्तं कहमसंचया समणा ? ।
संचयमिणं करिंती, अन्नत्थ वि नूण एमेव ॥

शैक्षेण गृहिणा वा केनापि तत्राशनादौ परिवासिते दृष्टे मिथ्यात्वं भवेत्-एवंविधं संचयं ये कुर्वन्ति कथं ते श्रमणा असंचया भवन्ति ?। यथा सर्वस्माद्रात्रिभोजनाद्विरमणमित्यभिग्रहं गृहीत्वा लुम्पन्ति, तथा नूनमिति वितर्कयाम्यहम्-अन्यत्रापि प्राणिवधादावेवमेव समाचरन्ति ।

अथ द्रवे दोषा अमी भवन्तीति पदं व्याचष्टे-

निद्धे दवे पणीए, आवज्जण पाणि तक्कणा पडणा ।
आहारे दिट्ठदोसा, कप्पइ तम्हा अणाहारे ॥

इह वक्ष्यमाणेऽन्त्यगतसूत्रे भणितं यत् गुडादिकं तैलवर्जितम् अद्रवं भवति तदत्र स्निग्धमुच्यते । यत्तु सौवीरद्रवादिकम् अलेपकृत्, यच्च दुग्धतैलवशाद्द्रवघृतादिकं लेपकृत, तदुभयमपि द्रवमित्युच्यते । तथा चाह-"तत्थ पणियं तु निद्धं,तं चिय अहसिया अनिलुत्तस । सोवीरगदुद्धादी,दव अलेवाड लेवाड ॥ " व्याख्यातार्था । प्रणीतं नाम-गूढस्नेहं घृतपूरादिकम् आर्द्रखाद्यकं, यद्वा-बहिः स्नेहेन म्रक्षितं मण्डकादि, अपरं वा स्नेहावगाढं कुरुणादि प्रणीतमुच्यते । तथा चाह-"गूढसिणेहं उल्लं, तु खज्जगं मक्खियं च जं बाहिं । नेहावगाढ कुरुणं,तु एवमाई पणीयं तु ॥" गतार्था । एवंविधे द्रवे प्रणीते च रात्रौ स्थापिते कीटिकादयः प्राणिजातीया आपद्यन्ते, पतन्तीत्यर्थः । अत्र गृहकोकिलादितर्कणपरम्परा वक्तव्या । (पडण त्ति) स्पन्दमाने भाजने अधस्तात्प्राणिजातीयाः संपतन्ति । परः प्राह-तत्त्वतो दोषा आहारे दृष्टाः तस्मादनाहारे परिवासयितुं कल्पते ।

सूरिराह-

अणयरो वि न कप्पइ, दोसा ते चेव जे भणियपुव्वा ।
तद्दिवसं जयणाए, बिइए आगाढ संविग्गे ॥

अनाहारोऽपि न कल्पते स्थापयितुं, यदि स्थापयति ततश्चतुर्लघु, त एव च विराधनादयो दोषाः,ये पूर्वमाहारे भणिताः । तस्मादनाहारमपि न स्थापयेत्, यदा प्रयोजनं तदा तद्दिवसं विजीतकहरीतकादिकं मार्ग्यते, अथ न लभ्यते दिने दिने मार्गयतो वा गर्हितं , ततो यतनया यथा अगीतार्था न पश्यन्ति, तथा द्वितीयपदमाश्रित्य आगाढे कारणे संविग्नो गीतार्थः स्थापयति । घनचीरेण चर्मणा वा छर्दयति, पार्श्वतः क्षारेणावगुण्ठयति, उभयकालं प्रमार्जयति ॥

जह कारणेऽणाहारो, कप्पइ तह भवेज्ज इयरो वि ।
वोच्छिन्नम्मि मडंबे, बिइयं अद्धाणमाईसु ॥

यथा कारणे अनाहारं स्थापयितुं कल्पते,तथेतरोऽप्याहारोऽपि कारणे कल्पते स्थापयितुम् । कथमित्याह-व्यवच्छिन्ने 'मडंबे' कारणे स्थिता सन्तो द्वितीयपदं सेवन्ते । तथाहि-तत्र पिप्पल्यादिकं दुर्लभं, प्रत्यासन्नं ग्रामादिकं तत्र नास्ति ततः परिवासयेदपि, यथा कारणे पिप्पल्यादिकं स्थापयन्ति,तथा द्वितीयपदे अशनाद्यपि स्थापयेत् । (अद्धाणमाईसु त्ति) अध्वप्रपन्ना अध्वकल्पं स्थापयेयुः, आदिशब्दात्प्रतिपन्नकपार्श्वस्य ग्लानस्य वा योग्यं पानकादिकं स्थापयेत् ।

" वोच्छिन्नम्मि" पद् व्याख्याति-

वुच्छिन्नम्मि मडंबे, सहसरुगुप्पायउवसमनिमित्तं ।
दिठ्ठत्थाई तं चिय, गिण्हती तिविह भेसज्जं ॥

व्यवच्छिन्ने मडम्बे वर्त्तमानानां सहसा शूलविशूचिकादिका रुगुत्पद्येत,तस्योपशमनिमित्त दृष्टार्थो गीतार्थः,आदिशब्दात् संविग्नादिगुणयुक्तास्ते अनागतमेव तदेव द्रव्य गृह्णन्ति, येनोपशमो भवति, तच्च भेषजं द्रव्य त्रिविध-वातपित्तश्लेष्मभेषजभेदात् त्रिप्रकार ज्ञेयम् । बृ० ५ उ० ।

जे भिक्खू पारियासिया पिप्पलिं वा पिप्पलिचुण्णं वा सिंगवेरचुण्णं वा० जाव पारियासियं बिलं वा लोणं, उब्भियं वा लोणं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ ॥ १०० ॥

पारियासिय णाम-रातो पज्जुसियं, भमिक्षा पिप्पली, सा एव सुहुमा भेदकता चुन्ना, एव सिरीयसिंगवेराणं पि, सिंगवेरं सुंठी,जत्थ विसए लोण णत्थि,तत्थ ज सो उपज्जति, त बिललोण भन्नति. उब्भियं पुण सयरुह,जहा-सामुद्द सिंधवं वा, एवमादि परिवासित आहारेंतस्स आणादी दोसा, चउगुरुं च । नि० चू० ११ उ० ।

(४६) बहिर्निर्हृतम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं समुद्दिस्स बहिया णीहडं तं परेहिं असमणुणायं अणिसिट्ठं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा, तं परेहिं समणुणायं समणिसिट्ठं फासुयं लाभे संते० जाव पडिगाहेज्जा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

स पुनर्यदेवभूतमाहारजातं जानीयात् । तद्यथा-परं चारभटादिकमुद्दिश्य गृहान्निष्क्रान्तं यच्च परैर्यदि भवान् कस्मैचिद्ददाति तदा ददात्वित्येवमननुज्ञातं,न तु दातुर्वा स्वामिनानिसृष्टं वा, तद्बहुदोषदुष्टत्वादप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयात्, विपरीतं तु प्रतिगृह्णीयादित्येतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ अ० ।

(४७) भिलिङ्गसूपो न ग्राह्य -

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पइ,से चाउलोदणे पडिगाहित्तए,नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए ॥ ३३ ॥ तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए, नो कप्पइ चाउलोदणे पडिगाहित्तए ॥३४॥ तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताई, एवं नो से कप्पति दो वि पडिगाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिगाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से नो कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३५॥

"तत्थ" इत्यादित "पडिगाहित्तए त्ति" यावत् सूत्रत्रय सुगमम् । नवरम् (तत्थे त्ति) तत्र विकटगृहे वृक्षमूलादौ स्थितस्य साधो. (पुव्वागमणेण ति) आगमनात्पूर्वकाल पूर्वायुक्तस्तन्दुलौदन कल्पते, पश्चादायुक्त (भिलिंगसूवे त्ति) भिलिङ्गसूपो मसूरदालिर्माषदालि., सस्नेहसूपो वा न कल्पते । अयमर्थ -तत्र यः पूर्वायुक्तः साध्वागमात्पूर्वमेव स्वार्थं गृहस्थैः पक्तुमारब्धः, स कल्पते,दोषाभावात् । साध्वागमनानन्तर च यः पक्तुमारब्धः स पश्चादायुक्त सन् न कल्पते,उद्गमादिदोषसम्भवात् । एवं शेषाद्यापकद्वयमपि भाव्यम् । ३३ । (३४) । (३५) कल्प० ६ क्षण । (पानकवक्तव्यता 'पानक' शब्दे । मांसशब्द मांसविचारः)

(४८) लवणग्रहणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अस्संजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए० जाव संताणाए भिंदिसु वा,भिंदंति वा, भिंदिस्संति वा, रुचिंसु वा,रुचिंति वा, रुचिस्सति वा, बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ।

"से भिक्खू वेत्यादि । " स भिक्षुर्यदि पुनरेवं विजानीयात् । तद्यथा-(बिल इति) खनिविशेषोत्पन्न लवणम्,अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् सैन्धवसौवर्चलादिकमपि द्रष्टव्यम् । तथोद्भिजमिति-समुद्रोपकण्ठक्षारोदकसम्पर्कात् यदुद्भिद्यते लवणम्,अस्याप्युपलक्षणार्थत्वात् क्षारोदकसेकात् यद् भवति रुमकादिक तदपि ग्राह्यम्, तदेवम्भूतं लवण पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टायां शिलायामनेतत्तु कणिकाकार कुर्यु ,तथा साध्वर्थमेव भिन्दन्ति, भेत्स्यन्ति वा, तथा श्लक्ष्णतरार्थं (रुचिंसु व त्ति) पिष्टवन्त , पिंषन्ति, पेक्ष्यन्ति वा, तदपि लवणमेव प्रकारं ज्ञात्वा नो गृह्णीयात् । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहंते बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं परिभाएत्ताए णीहट्टु दलएज्जा,तहप्पगार पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं णो पडिगाहेज्जा, से आहच्च पडिगाहिते सिया, तं च णातिदूरगए जाणेज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा २,पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो ! त्ति वा भइणीति वा इम ते किं जाणता दिण्णं,उदाहु अजाणया? से य भणेज्जा-णो खलु मे जाणया दिण्णं, अजाणया कामं खलु । आउसो ! इदाणिं णिसिरामि, तं जहा-भुंजह च णं, परिभाएह च णं । तं परेहिं समणुण्णायं समणुसट्ठं ततो संजयामेव भुंजेज्ज वा, पीएज्ज वा, जं च णो संचाएति, भोत्तए वा पायए वा साहम्मिया, तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिगा अदूरगया, तेसिं अणुप्पदायव्वं सिया,णो जत्थ साहम्मिया जहेव बहुपरियावण्णे कीरति,तहेव कायव्वं सिया,एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

" से " इत्यादि । स भिक्षुर्गृहादौ प्रविष्ट., तस्य च स्यात्कदा-

च्चित्परो गृहस्थ (अभिहट्टु अनो इति) अन्तः प्रविश्य, पतद्भद्रे काष्ठपट्टकादौ ग्लानाद्यर्थं लवणादि याचमाने सति विमर्षा लवण खनिविशेषोत्पन्नमुद्भिज वा लवणमाकराद्युत्पन्न (परिभाएत्त त्ति) दातव्य विज्ञाव्य, दानव्यद्रव्यात् कश्चिदश गृहीत्वेत्यर्थः । ततो नि सृत्य दद्यात्तथाप्रकार परहस्तादिगतमेव प्रतिषेधयेत्, तच्च (आहच्चेति) सहसा प्रतिगृहीत भवेत्, त च दातारमदूरगत ज्ञात्वा स भिक्षुस्तल्लवणादिकमादाय तत्समीप गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव तल्लवणादिकमालोकयेद्दर्शयेत्, एतच्च ब्रूयात्-अमुक ! इति वा, भगिनि ! इति वा, एतच्च लवणादिक त्वया जानता दत्तमुताऽजानता ?। एवमुक्तः सन् पर एव वदेत्। यथा-पूर्व मया अजानता दत्त, साम्प्रतं तु यदि भवना तेन प्रयोजन, ततो दत्तमेतत्, परिभोग कुरुध्व, तदेव परैः समनुज्ञात समनुसृष्ट सत्प्रासुक, कारणवशात् अप्रासुक वा भुञ्जीत, पिवेद्वा। यच्च न शक्नोति भोक्तु, पातु वा, तत साधर्मिकादिभ्यो दद्यात्, तदभावे बहुपर्यापन्नविधिं प्राक्तनवत् विदध्यात्, एतस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० । दश० ।

(४६) वनस्पतिप्रतिष्ठितम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वणस्सइकायपतिट्ठियं तहप्पगारं असणं वा० ४ वणस्सइकायपतिट्ठियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा, एवं तसकाए वि ॥

'से भिक्खू वा ' इत्यादि । स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयाद्वनस्पतिकायप्रतिष्ठित तं चतुर्विधमप्याहार गृह्णीयादिति । एव त्रसकायसूत्रमपि नेयमिति । अत्र च वनस्पतिकायप्रतिष्ठितमित्यादिना निक्षिप्ताख्य एषणादोषोऽभिहित, एवमन्येऽप्येषणादोषा यथासभव सूत्रेष्वेवायोज्याः । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । (वनीपकपिण्डोऽपि स्वस्थाने)

(५०) बहुत्वग्रहणे तत्परिष्ठापनम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुपरियावन्नं भोयणजायं पडिगाहेत्ता बहवे साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणालोइया अणामंतिया परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, से तमादाय तत्थ गच्छेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसंतो ! समणा ! इमे मे असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा बहुपरियावन्ने, तं भुंजह च णं, से सेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! आहारमेयं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा जावतियं २ परिसडइ, तावतियं २ भोक्खामो वा, पेहामो वा, सव्वमेयं परिसडइ, सव्वमेयं भोक्खामो वा, पेहामो वा !!

'से' इत्यादि । स भिक्षुर्बहुशनादिपर्यापन्न लब्ध्वा परिगृह्य बहुभिर्वा प्रकारैराचार्यग्लानप्राघूर्णकाद्यर्थं दुर्लभद्रव्यादिभिः पर्यापन्नमाहारजात परिगृह्य तद्बहुत्वाद्भोक्तुमसमर्थ । तत्र च साधर्मिकाः सांभोगिकाः समनोज्ञा अपरिहारिका एकार्थास्थापकाः।

इत्येतेषु सत्सु अदूरगतेषु वा, ताननापृच्छय प्रमादितय। परिष्ठापयेत् परित्यजेत्, एव च मातृस्थान सस्पृशेत्, नैवं कुर्यात्, यच्च कुर्यात्तद्दर्शयति-स भिक्षुस्तदधिकमाहारजात परिगृह्य तत्समीप गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेवालोकयेद्दर्शयेदेवं ब्रूयात्-आयुष्मन्! श्रमण! ममैतदशनादि बहु पर्यापन्न, नाह भोक्तुमलमतो यूयं किं भुङ्ध्वम्?। तस्य चैवं वदत: स परो ब्रूयात्-यावन्मात्र भोक्तु शक्नुमस्तावन्मात्र भोक्ष्यामहे, पास्यामो वा, सर्वं वा परिशटत्युपयुज्यते तत्सर्वं भोक्ष्यामहे पास्याम इति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । ('संथव' शब्दे संस्तववक्तव्यता। ससक्तव्याख्या 'ससत्त' शब्दे)

(५१) सुरभिं गृह्णाति, असुरभिं परिष्ठापयति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहेत्ता सुब्भिं सुब्भिं भोच्चा दुब्भिं दुब्भिं परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, सुब्भिं वा दुब्भिं वा सव्वं भुंजे. ण छड्डएज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अण्णयरं वा पाणगजायं पडिगाहेत्ता पुप्फं आविइत्ता कसायं परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, पुप्फं पुप्फेति वा कसायं कसायेति वा सव्वमेयं भुंजेज्जा, णो किंचि वि परिट्ठवेज्जा ॥

"से" इत्यादि। स भिक्षुरन्यतरभोजनजात परिगृह्य सुरभिर भक्षयेत्, दुर्गन्धं दुर्गन्ध वा परित्यजेद्। वीप्सायां द्विर्वचनम्। मातृस्थान चैव सस्पृशेत्, तच्च न कुर्यात्। यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति-सुरभिं वा दुर्गन्धं वा सर्वं भुञ्जीत, न परित्यजेदिति ॥ एव पानकसूत्रमपि, नवर वर्णगन्धोपेत पुष्पं, तद्विपरीत कषाय, वीप्सायां द्विर्वचनम् । दोषश्चात्रान्तरसूत्रयोराहारगार्ध्यात् सूत्रार्थहानिः, कर्मबन्धश्चेति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

जे भिक्खू अण्णयरं पाणगजायं, पडिगाहित्ता पुप्फं २ आइयति, कसाइयं २ परिट्ठावइ, परिट्ठावंतं वा साइज्जइ ४२॥

अन्यतरग्रहणात् अनेके पानका प्रदर्शिता भवन्ति। खण्डकपानगुलसक्करादालिममुद्दिकाचिंचादिपाने, जातग्रहणात् प्रासुक, पडी।त्युपसर्गे, ग्रह आदाने, विधिपूर्वक गृहीत्वा, पुप्फ णाम-अच्छ वण्णगंधरसफासेहिं पधाण, कसाय स्पर्शादिप्रतिलोमप्रधान, कषाय बहुल कलुषमित्यर्थः । स्वसमयसज्ञाप्रतिबद्धमिद सूत्रम्। एव करेतस्स मासलहु। एस सुत्तत्थो।

अहुणा णिज्जुत्तिगाहा-

जं गंधरसोवेतं, अच्छं व दव्वं तु तं भवे पुप्फं ।
जं दुब्भिगंधमरसं, कलुसं वा तं भवे कलुसं ॥३१४॥ कंठा।

गाहा—

घित्तूण दोण्णि वि दवे, पत्तेयं अहव एकतो चेव ।
जे पुप्फमादिइत्ता, कुज्ज कसाए विगिंचणयं ॥ ३१५ ॥

दोण्णि वि-पुप्फं, कसाय च, एगम्मि वा भायणे, पत्तेमेसु वा भायणेसु पुप्फमा इत्ता, कसाए परिट्ठवण करेज्ज, तस्स मासलहुं, इमे य दोसे पावेज्ज ।

गाहा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेण, पुव्व कसाए-तरं पच्छा ॥ ३१६ ॥

आयसजमविराहणा पुव्वं कसाय पिवे, इतरं पुप्फ पच्छा । जो पुप्फ पुव्वं पिवे, कसाय परिठवेति, तस्सिमे दोसा । गाहा-

तम्मि य गिद्धो अन्नं, गेच्छे अलभंतो एसणं पेल्ले ।
परिठाविते य कुमे, तसाण संगामदिट्ठंतो ॥ ३१७ ॥

अच्छदवे गिद्धो अन्नं कसाय गेच्छति पातु, तं कसायं परिठवेउ पुणो वि हिंमतस्स सुत्तादिपलिमथो, अच्छ अलभतो वा एसण पेल्लेज्ज, आयविराहणाद्दिया य बहु दोसा। कलुसे य परिठविए कुमदोसा। जहा-कूडे पाणिणो वज्झंति, तहा तत्थ वि मच्छियादी पडिवज्झति । अन्ने य तत्थ बहवे पयगा णिपतंति, पिवीलिगादि य ससज्जति,एव बहुतसघातो दीसति। एत्थ संगामदिट्ठंतो-तत्थ कलुसे परिठविए मच्छियाओ लभंति, तेसिं घरकोइला धावंति,ताए वि मज्जारी,मज्जरीए सुणगो,सुणगस्स वि अन्नो सुणगो, सुणहणिमित्त सुणहसामिणो कलहेंति, एव पक्खापक्खीए सगामो भवति। जम्हा एते दोसा तम्हा णो पुप्फ आदिए कसाय परिठवेति। इमा सामायारी-वसहिपालो अत्थतो भिक्खागयसाहुआगमण णाउं गच्छमासज्ज एक्क दो तिष्णि वा भायणे उग्गाहेति, तो जो जहा साधुसघाडगो आगच्छति, तस्स तहा पाणभोयणाओ अच्छतेसु भायणेसु परिग्गाहेति, एव अच्छ पुढो कज्जति, कलुस पि पुढो कज्जति, तं कसायं पुच्छा वा अपुच्छा वा पुव्वं पिवति,तम्मि णिट्ठिते पुच्छा पुप्फ पिवति।

पुच्छस्स इमे कारणा । गाहा-

आयरिएँ अभाविएँ पा-णगट्ठता पादपोसधुवणट्ठा ।
होति य सुह विवेगो, सुह आयमण व सागरी पच्छा ॥३१८॥

आयरियस्स पाणाए आयमणाए,एवं अभाविए सेहस्स वि उत्तरकालं पाणट्ठता,पायपोस अपाणद्वार, एतेसिं धुवणट्ठा,उआरियस्स य सुह विवेगो कज्जति, ण कुडातिदोसा भवति । सागारिए य आयमणादि सुहं कज्जति ।

गाहा-

भाणस्स कप्पकरणं, दट्ठूणं वहिआयमंतो वा ।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥ ३१९ ॥

अच्छ भायणकप्पकरण भवति, बहले पुण इमे अहम्मतरा, अशुचितरत्वात् अग्गहण वा करेज्ज, सर्वलोकपाषण्डधर्मातीता होते अग्राह्या., अणादरो वा अग्गहणं, दुविह वोच्छेद करेज्ज, तद्द्रव्यान्यद्रव्ययो., तद्द्रव्यं पानकम् , अन्यद्रव्य भक्तवस्त्रादि, अह वा तस्स साधो अन्नस्स वा साधो अन्नाएण पुण परिठवेंतो वि सुद्धो।

जतो । गाहा-

वितियपदे दोण्हि वि बहू,थोवे व विगिं चणारिहं होइ।
अविगिंचणारिहे वा, जयणिज्जे गिलाणमायरिए ॥३२०॥

दो वि बहू-पुप्फ,कसायं च णज्जति,जहा अवस्सं काय परिट्ठविज्जति, जइ वि न पिज्ज ति ताहे न न पिवति, पुप्फ पिवति, एग पत्तेयगहियाण विही,अह मीस गहियं, तत्थ गालिए पुप्फ बहुय, कसाय थोव,ताहे न परिट्ठविज्जति, पुप्फ पिवति, अहवा-कसाय विगिंचणारिह होज्जा, अणेसणिज्ज ति, ताहे परिट्ठविज्जति, अहवा-अविगिंचणारिह पि ज आयरियातीण जावणिज्ज ण भवति, एव परिट्ठवेंतो सुद्धो ।

विगिंचणारिहस्स वक्खाण इम । गाहा-

जं होति अप्पयं जं च-ऽणेसियं तं विगिंचणारिहं तु ।
विसकत मंतकत वा, दव्वविरुद्धं कतं वा वि ॥३२१॥

अपेय मज्जमांसरसादि, अणेसणीय तु उग्गमादिदोसजुत्त, अहवा अपेय इम पच्छद्धेण-विससंजुत्तं, वसीकरणादिमतेण वा अभिमतिय, दव्वविरुद्ध जहा-खीरविलाण।

जे भिक्खू अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता सुब्भिं सुब्भिं भुंजइ, दुब्भिं दुब्भिं परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

सुभ सुब्भी, असुभं दुब्भी, शेषं पूर्ववत् ।

गाहा-

वण्णेण य गंधेण य, रसेण फासेण जं तु उववेता ।
तं भोयणं तु सुब्भिं, तव्विवरीतं भवे दुब्भिं ॥ ३२ ॥

जं भोयण वण्णगधरसफासेहिं सुभेहिं उववेत, तं सुब्भिं भण्णति, इतर दुब्भि ।

अहवा गाहा-

रसालमवि दुग्गंधि, भोयणं तु न पूतियं ।
सुगंधिमरसालं पि, पूइयं तेण सुब्भि तु ॥ ३२३ ॥

रसेण उववेय पि भोयण दुब्भिगंध ण पूजितं, दुब्भमित्यर्थः॥ अरसालं पि भोयण सुभगधजुत्त, पूजितमित्यर्थ. ।

गाहा-

घेत्तूण भोयणदुगं, पत्तेयं अहव एकतो चेव ।
जे सुब्भिं भुंजित्ता, दुब्भिं तु विगिंचणं कुज्जा ॥ ३२४॥

सुब्भि दुब्भिं च भोयण एकतो पत्तेय घेत्तु जो साहू सुब्भिं भोत्ता दुब्भि परिट्ठवेति, तस्स मासलहु, इमे य दोसा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं,दुब्भि पुव्वेतर पच्छा ॥३२५॥ कंठा ॥

इमे य दोसा-

रसगेहि अधिकखाए, अविधिमयंगालपक्कमे मायी ।
लोभे एसण वाघा-तो दिट्ठतो अज्जमंगूहिं ॥ ३२६ ॥

रसेसु गद्दी भवति, अण्णसाहूहिंतो अहिग खायति, भोयणपमाणातो अहिग खायति,एगओ गहियस्स उच्चरित्तु सुभ खायति, इतर छड्डेति, कागसियालगखइयकारगगेही, एव अविही भवति, इगालदोसो य भवति, रसगिद्धो गच्छे म च्छिति अलभतो गच्छाओ पक्कमति,अपक्कमतीत्यर्थ । मायी-मण्डलीए रसालं अलभतो भिक्खागओ रसालं भोत्तुमागच्छति, भद्दक भद्दक भोच्चा विवण्ण विरसमाहारतीत्यादिरसभोयणे लुद्धो एसण वि पेल्लेति, एत्थ दिट्ठतो अज्जमगू। जहा-"अज्जमगू आयरिया बहुस्सुया बहुपरियारा मधुर आगता, तत्थ सड्ढेहिं धरिज्जति, ता कालतरेण ओमण्णा जाता, काल काऊण भवणवासी उववण्णो, साहुपडिवोहणट्ठा आगओ सरीरमहिमाए अद्धकत्ताए जीहं णिल्लालेति। पुच्छिओ-को भव?। भणाति-अज्जमगू ह। साधू सड्ढा य मणुसालिउं गतो,एत दोसा। पडिपक्खे अज्जसमुद्दा, त रस

गेहीभीना एकतो सव्वं मेलेउ भुजति, त च अरसं विरस वा वि सव्व भुजे, ण छड्डुए, सूत्राभिहित च कृत भवति ।

" रसगेहि त्ति " अस्य व्याख्या-

मुञ्जीदमुगजीहो, रोच्छति छातो वि भुंजितुं इतरं ।
आवस्सएँ परिहाणी,गोयरेँ दीहो इ उज्झिणिया ॥३२९॥

इतर दुर्लभ ति लभतो वि सुभिक्खत्तणिमित्त दीह भिक्खायरिय अडति, सुत्तत्थमादिए सुत्तआवस्सएसु,परिहाणी भवति, दुर्भियस्स उज्झिणिया परिठावणिया ।

" अधिक्खाए त्ति " अस्य व्याख्या-

मणुण्णं भोयणज्जायं, भुंजताए तु एकतो ।
भुंजओ साहुभी सद्धिं, अधिक्खाए य वुच्चती ॥३२८॥

मनसो रुचित मनोज्ञ भोयण, जातमिति प्रकारवाचक, साधुभि· सार्द्धं भुञ्जानः जो अधिकतर खाए सो अधिक्खाओ भण्णए। जम्हा एते दोसा-

तम्हा विधीएँ भुंजे, दिण्णम्मि गुरुण सेस रातिणिते।
भुयति करवे ऊण, एवं समता तु सव्वेसिं ॥ ३२९ ॥

का पुण विही, जाए आयरियगिलाणपाहुणगआदेसमादिया ण उक्कड्डिय, पत्तेयगहिय वा दिण्ण, सस मण्डलिं रातिणिओ सुभिक्खदुब्भिक्खदव्वाविरोहेण, करवे तु मण्डलीए भुजति, एव सव्वेसिं समता भवति, एव पुव्वुत्ता दोसा परिहारिया भवति ।

कारणओ परिट्ठवेज्जा-

वितियपदेँ दोसु वि वहू, भीसे व विगिंचणारिहं होज्जा।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्ज गिलाणमायरिए॥३३०॥

पूर्ववत् कठ ।

जं होज्ज अभोज्ज जं, चउणेसियं त विगिंचणारिहं तु।
विसकय मंतकयं वा, दव्वविरुद्धं कतं वा वि ॥ ३३१ ॥

पूर्ववत् ॥ ३३१ ॥ नि० चू० २ उ० ॥

(५२) अन्नगन्ध.-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविसमाणे से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा अग्घाय से तत्थ आसायवडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अहो गंधो अहो गंधो णो गंधमाघाएज्जा ॥

"से भिक्खू वा" इत्यादि। (आगन्तारेसु वेति) पत्तनाद् बहिर्गृहेषु तेषु ह्यागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्तीति, तथाऽऽरामगृहेषु वा, पर्यावसथेष्विति भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्नपानगन्धान् सुरभीनाघ्राय स भिक्षुस्तेष्वास्वादनप्रतिज्ञया मूर्च्छितोऽध्युपपन्न सन्नहो गन्ध , अहो गन्ध इत्येवमादरवान्न गन्धं जिघ्रेदिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

[५३] आचार्यार्थं तु-

आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसदाणे ।
एवं होइ अजाया, इमा उ गहणे विही होइ ॥ ११३ ॥

कदाचित् कस्मिँश्चित् क्षेत्रे आचार्यप्रायोग्य दुर्लभ भवति, ततश्च भवे एव सङ्घाटकाश्चाचार्यप्रायोग्यस्य ग्रहणं कुर्वन्ति । तनश्च तत घृतादि कदाचित् सर्व एव लभन्ते, ततश्च तदुद्धरति, अन्येषां च साधूनां पर्याप्तम, एवमाचार्यार्थं गृहीतस्य शुकस्यापि परिष्ठापना भवतीति । तथा ग्लानार्थमप्येव गृहीत यदुद्धरति, प्राघूर्णकानामप्येवमेव, तथा दुर्लभलाभे सति सर्वैरेव सङ्घाटकैर्गृहीतमुद्धरतीति। तथा च-(सहसदाणे) अप्रतर्कितदाने सति प्रचुरमुद्धरति, ततश्चैव भवति, अजाताऽपरिष्ठापनिका, तत्र चाऽऽचार्यादीनां ग्रहणेऽयं विधिर्वक्ष्यमाणो भवतीति ॥ ११३ ॥

कश्चासाविति ? अत आह-

जइ तरुणो निरुवहओ, भुंजइ सो मंडलीएँ आयरिओ ।
असहुस्स वीसगहण, एमेव य होइ पाहुणए ॥ ११४ ॥

केचन एवं भणन्ति-यद्यसावाचार्य तरुणो, निरुपहतपञ्चेन्द्रियश्च, तत स्वल्पशो मण्डल्यामेव भुङ्क्ते सामान्यम्। अथ 'असहू' असमर्थ , ततस्तस्य विष्वक् ग्रहण प्रायोग्यस्य कर्त्तव्यम् । एवमेव प्राघूर्णकेऽपि विधिर्द्रष्टव्य'। यदि प्राघूर्णकः समर्थ·,ततो नैव तत प्रायोग्यस्य ग्रहण कर्त्तव्यम,अथासमर्थ ,तत क्रियते इति। केचित्पुनरेव भणन्ति । यदुत-समर्थस्याप्याचार्यस्य प्रायोग्यग्रहण कर्त्तव्यम ॥ ११४ ॥

यदुत एते गुणा भवन्ति-

सुत्तत्थथिरीकरणं, विणओ गुरुपूयणं बहूमाणे ।
भवड य सड्ढावुड्ढी, वुड्ढी बलवड्ढणं चेव ॥ ११५ ॥

आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणेन सूत्रार्थयो स्थिरीकरण भवति, यतो मनोज्ञाहारेण सूत्रार्थयो· सुखेनैव चिन्तयति, वाचाऽऽसक्तस्य अत आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहण कर्त्तव्यम्। तथा विनयश्चानेन प्रकारेण प्रदर्शितो भवति , गुरुपूजा कृता भवति, सेहस्य च आचार्यकृते बहुमान· प्रदर्शितो भवतीति, अन्यथाऽसौ सेह इद चिन्तयति-यदुत न कश्चिदत्र गुरुर्नाऽपि लघुरिति, अतो विपरिणामो भवति। तथा प्रायोग्यदानेनश्च श्रद्धावृद्धिर्भवति , तथा वृद्धेर्बलस्य च वर्द्धन कृत भवति, तत्र महती निर्जरा भवतीति ॥ ११५ ॥

एएहिँ कारणेहिँ उ, केइ सहुस्स वि वयति अणुकंपा ।
गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छे तित्थे य अणुकंपा ॥ ११६ ॥

एभि· पूर्वोक्तकारणै कश्चित्समर्थस्यापि आचार्यस्यानुकम्पा कर्त्तव्या इत्येव वदन्ति। यत· गुरोरनुकम्पया गच्छे तीर्थे चानुकम्पा कृता भवति; यतश्चैवमतः प्रायोग्यग्रहण गुरो· कर्त्तव्यमिति ॥ ११६ ॥

कीदृग पुनराचार्यप्रायोग्य ग्राह्यमिति ?, अत आह-

सइ लाभे पुण दव्वे, खेत्ते काले य भावओ चेव ।
गहणं तिसु उक्कोसं, भावे जं जस्स अणुकूलं ॥११७॥

सति विद्यमाने लाभे द्रव्यत· क्षेत्रत कालतो भावतश्च उत्कृष्टं ग्राह्यम् । इदानीं निर्युक्तिकारो व्याख्यानयन्नाह-(गहण तिसु उक्कोस) ग्रहण त्रिषु द्रव्यक्षेत्रकालेषु उत्कृष्ट कर्त्तव्यम, भावे यद्वस्तु यस्यानुकूलं तत् गृह्यते ।

इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति-तत्र द्रव्योत्कृष्टतां प्रदर्शयन्नाह-

कलमोयणे तु पयसा, उक्कोसो हाणि कोद्दवकुसो तु ।
तत्थ वि मिउ तुप्पयरं, जत्थ व जं अच्चियं दोसु ॥११८॥

कलमशाल्योदनं पयसा सह द्रव्यत उत्कृष्ट ग्राह्य,तदभावे हान्या तावत् गृह्यते यावत् कोद्रवकुसुम। 'कोद्दव चाउलय'। तत्रा-प्ययं विशेष क्रियते-यदुत तदेव चाउलय मृदु गृह्यते,तथा (तु-प्पयर ति) स्निग्धतर तदेव चाउलय गृह्यते, उक्त द्रव्योत्कृष्टम् ।

इदानीं क्षेत्रकालोत्कृष्टप्रतिपादनायाऽऽह-

(जत्थ व ज अच्चिय दोसु) द्वयो· क्षेत्रकालयोः यद्वस्तु यत्र पूजित तत् तत्र गृह्यते। एतदुक्त भवति-यद्यत्र क्षेत्रे बहुमत द्रव्यं तत् तत्र तस्मिन् क्षेत्रोत्कृष्टमुच्यते, तच्च ग्राह्य, तथा यद्वस्तु य-स्मिन् काले कालोत्कृष्टमुच्यते। भावोत्कृष्ट पुन· निर्युक्तिकारेणैव व्याख्यातम्। उक्त प्रसगागतम् ॥११८॥

इदानीं यदुक्तमाचार्यादीनां गृहीत सद् यथोद्धरति, तथा प्रतिपादयन्नाह-

हाणे सइ संघाडो, गिण्हइ एगो उ इयरहा सव्वे ।
तस्सऽप्पणो य पज्ज-त्तगेण्हणे होइ अइरेगं ॥ ११९ ॥

यदि तस्मिन्क्षेत्रे घृतादीनां स्वभावेनैव लाभोऽस्ति, ततस्तस्मि-न्काले सति आचार्यार्थमेक एव सघाटक· प्रायोग्य गृह्णाति (इ-यरह त्ति) यदा तस्मिन् क्षेत्रे प्रायोवृत्त्या प्रायोग्यस्य लाभ, तदा सर्वे एव सघाटकाः तस्याचार्यस्य आत्मनश्चार्थे, पर्याप्तग्रहणे सति अतिरिक्त भवति, ततश्च तत् परिष्ठाप्यते इति ॥११९॥

इदानीं "गिलाण त्ति" व्याख्यानयन्नाह-

गेलन्नगहणनियमं, नाणत्तोहासियं पि तत्थ नवे ।
ओहासियमुव्वरियं, विगिंचए सेसगं भुंजे ॥१२०॥

ग्लानस्य यन्नियमेन प्रायोग्यग्रहण,यदि पर नानात्वम "ओभा-सित पि" प्रार्थितमपि तत् ग्लाने भवति, ग्लानार्थे प्रायोग्यस्य प्रार्थनमपि क्रियते,ततश्च "ओभासित" प्रार्थित यत् ग्लानार्थ,पुन-श्च यदुद्धरति,ततस्तद् विगिञ्च्यते परित्यज्यते,(सेसग भुंजे त्ति) शेष यदनवभासितम अप्रार्थितम उद्धरित, त भुञ्जीत कश्चि-त्साधुरिति,प्राघूर्णकोऽपि आचार्यवद्व्याख्यातो द्रष्टव्यः ॥१२०॥

इदानीं "दुल्लभे त्ति" व्याख्यानयन्नाह-

दुल्लहदव्व व सिया· घयाइ घेत्तूण सेसमुस्संति ।
थोवं देमि व गेण्हा-मि वेति सहसा नते अयरिं ॥१२१॥

दुर्लभद्रव्य वा स्याद्भवेत घृतादि, तद् गृहीत्वोपभुज्य च य-च्छेष तदुत्सति, एव वा परिष्ठापनिका भवति। ('सहसदाण-त्ति' व्याख्या 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते) ओघ०।

(५४) ग्लानार्थं गृहीत्वा स्वय नाश्नीयात्-

से एगतिओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहेज्जा, ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ, तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलयति, माइट्ठाण संफासे, णो एव करेज्जा,से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा,पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसतो! समणा! संति मम पुरे संथुया वा, त जहा-आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा ग-णावच्छेइया वा,अवियाइ एतेसिं खद्धं खद्धं दाहामि, से-णेवं वयंत परो वइज्जा-कामं खलु आउसो! अहापज्जत्तं णि-सराहि,जावइयं जावइय परो वयइ,तावइयं तावइयं णिसिरे-ज्जा,सव्वमेयं परो वयति,सव्वमेयं णिसिरेज्जा। से एगति-ओ मणुण्णं भोयणजायं पडिगाहेत्ता पत्तेणं भोयणेण पलि-च्छाडेति, मा मेतं दातियं तं दट्ठूणं सयमातिए एवं आ-यरिए वा०जाव गणावच्छेइए वा णो खलु मे कस्स पि किंचि वि दायव्वं सिया,माइट्ठाणं संफासे, णो एव करेज्जा। से त-मायाए तत्थ गच्छेज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडि-ग्गहं कट्टु इमं खलु त्ति २ आलोएज्जा,णो किंचि वि णि-गूहेज्जा, से एगतिओ अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहेज्जा, भद्दय २ भोच्चा विवण्णं विरसमाहरति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा ।

"से" इत्यादि। स भिक्षुरेकतर· कश्चित्साधारण बहूनां सा-मान्येन दत्त, वाशब्द पूर्वोत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतक·। पिण्ड-पात परिगृह्य तत्साधर्मिकाननापृच्छ्य यस्मै रोचते तस्मै तस्मै स्वमनीषिकया [खद्धं खद्ध ति] प्रभूत प्रभूत प्रयच्छति, एव-च मातृस्थान सस्पृशेत,तस्मान्नैव कुर्यादिति। असाधारणपि-ण्डमावाप्तावपि यद्विधेय तद्दर्शयति-"से इत्यादि।" स भिक्षु-स्तमेषणीय केवलवेषावाप्त पिण्डमादाय तत्राचार्याद्यन्तिके ग-च्छेत। गत्वा चैव वदेत-यथा आयुष्मन्! श्रमण! सन्ति विद्यन्ते मम पुर· सस्तुता यदन्तिके प्रव्रजितास्तत्सबन्धिन, पश्चात् सस्तुता वा यदन्तिके अधीत श्रुत वा, तत्सबन्धिनो वा अन्यत्रावासितास्ताश्च स्वनामग्राहम। तद्यथा-आचार्योऽनुयो-गधर, उपाध्यायोऽध्यापक प्रवृत्तिर्यथायोग वैयावृत्यादौ सा-धूनां प्रवर्तक·,सयमादौ सीदतां साधूनां स्थिरीकरणात् स्थविर·, गच्छाधिपो गणी,यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेशात् साधुगण गृ-हीत्वा पृथग्विहरति स गणधर। गणावच्छेदकस्तु गच्छकार्य-चिन्तक· (अवियाइति) एवमादीनुद्दिश्यैतद्वदेत। यथा-अहमे-तेभ्यो युष्मदनुज्ञया (खद्ध खद्ध ति) प्रभूत प्रभूत दास्यामि। त-देव विज्ञप्त सन् पर आचार्यादिर्यावन्मात्रमनुजानीते ताव-न्मात्रमेव निसृजेद्दद्यात, सर्वानुज्ञया सर्व वा दद्यादिति। किञ्च-"से" इत्यादि सुगमम,यावन्नैव कुर्यात। यच्च कुर्यात्तद्दर्शयति-स भिक्षुस्त पिण्डमादाय तत्राचार्याद्यन्तिक गच्छेद, गत्वा च सर्व यथावस्थितमेव दर्शयेत,न किञ्चिदपगूहेत् प्रच्छादयेदिति। सा-म्प्रतमदत्तो मातृस्थानप्रतिषेधमाह-"से इत्यादि।" स भिक्षुरेकतरः कश्चिदन्यतरद्वर्णाद्युपेत भोजनजात परिगृह्य तन्नेव रसगृध्नु-तया भद्रक भद्रक भुक्त्वा यद्विवर्णमन्तप्रान्तादिक तत्प्रतिश्रये समाहरत्यानयति, एव च मातृस्थान सस्पृशेत, न चैव कुर्या-दिति ॥ आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० ।

णिग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पवि-ट्ठ केइ दोहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा-एगं आउसो! अप्प-णा भुंजाहि, एगं थेराणं दलयाहि, से य तं पडिगाहेज्जा, थेरा य से अणुगवेसियव्वा सिया, जत्थेव अणुवगेसमाणे थेरे पासेज्जा, तत्थेव अणुप्पदायव्वे सिया,नो चेव णं अ-णुगवेसमाणे थेरे पासेज्जा, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते अणावाए अचित्ते बहुफासुए थंडि-ल्ले पडिलेहित्ता परिमज्जित्ता परिट्ठवियव्वे सिया। निग्ग-थं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठ केइ तिहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा-एगं आउसो! अप्पणा भुंजाहि, दो थेराणं दलयाहि,से य ते पडिगाहेज्जा,थेरा य अणुग-

वेसमाणे सेसं त चेव० जाव परिट्ठवियव्वे सिया । एवं० जाव दसहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा, णवर एगं आउसो ! अप्पणा भुंजाहि, नव थेराणं दलयाहि,सेसं त चेव० जावपरिट्ठवियव्वे सिया । निग्गथं च णं गाहावइकुलं० जाव केइ दोहिं पडिग्गहेहिं उवनिमंतेज्जा-एग आउसो ! अप्पणा पडिभुंजाहि, एग थेराए दलयाहि, से य तं पडिग्गाहेज्जा तहेव० जाव तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा, नो अण्णेसिं दावए, सेसं तं चेव ०जाव परिट्ठवियव्वे सिया, एवं० जाव दसहिं पडिग्गहेहिं,एव जहा पडिग्गहवत्तव्वया भणिया, एवं गोच्छगरयहरणचोलपट्टगकंबललट्ठीसंथारगवत्तव्वया भाणियव्वा० जाव दसहिं संथारएहिं उवनिमंतेज्जा० जाव परिट्ठवियव्वे सिया ।

निर्ग्रन्थं पुनर्गृहपतिकुलं गृहिगृहम् [पिंडवायपडियाए त्ति] पिण्डस्य पातो भोजनस्य पात्रे गृहस्थाक्षिपतनं, तत्र प्रतिज्ञा ज्ञानं बुद्धिः, पिण्डपातप्रतिज्ञा, तया, पिण्डस्य पातो मम पात्रे भवत्विति बुद्ध्येत्यर्थः । [उवनिमंतेज्ज त्ति] भिक्षो ! गृहाणेदं पिण्डद्वयमित्यभिदध्यादित्यर्थः । तत्र च "एगमित्यादि ।" [से य त्ति] स पुनर्निर्ग्रन्थः । [तं ति] स्थविरपिण्डम् [थेरा य से त्ति]। स्थविराः पुनस्तस्य निर्ग्रन्थस्य [सिय त्ति] स्युर्न भवन्तीत्यर्थः । [दावए त्ति] दद्याद्दापयेद्वा, अदत्तादानप्रसङ्गाद् गृहपतिना हि पिण्डोऽसौ विवक्षितस्थविरेभ्य एव दत्तो नान्यस्मै इति (एगते त्ति) जनालोकवर्जिते (अणावाए त्ति) जनसम्पातवर्जिते (अचित्ते त्ति)अचेतनाऽचेतनमात्र एवेत्यत आह-(बहुफासुए त्ति) बहुधा प्रासुकं बहुप्रासुकं,तत्रानेन चाऽचिरकालकृते विस्तीर्णे दूरावगाढे त्रसप्राणबीजरहिते चेति सगृहीत द्रष्टव्यमिति । (से य ते त्ति) स च निर्ग्रन्थस्तौ स्थविरपिण्डौ (पडिगाहेज्ज त्ति) प्रतिगृह्णीयादिति । निर्ग्रन्थप्रस्तावादिदमाह-" निग्गथं च णं" इत्यादि । भ० ८ श० ६ उ० । (ग्लानं प्रति विशेषः 'गिलाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७६४ पृष्ठे गतः) (गोचरचर्यायामकृत्यं प्रतिसेव्याऽऽलोचना 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४२७ पृष्ठे, स आराधको विराधको वेति 'आराहग' शब्दे द्वितीयभागे ३७७ पृष्ठे, आराधना च 'आराहणा' शब्दे द्वितीयभागे ३८६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

(५५) गोचरे भोजनविधिमाह-

सिया य गोयरग्गगओ, इच्छेज्जा परिभोत्तुअं ।
कोट्ठग भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुयं ॥ ८२ ॥

स्यात्कदाचिद्गोचराग्रगतो ग्रामान्तरं भिक्षां प्रविष्ट इच्छेत्परिभोक्तुं पानादिपिपासाद्यभिभूतः सन् , तत्र साधुवसत्यभावे कोष्ठकं शून्यवट्टमठादि, भित्तिमूलं वा कुड्यैकदेशादि, प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा, प्रमृज्य च रजोहरणेन, प्रासुकं बीजादिरहितं चेति सूत्रार्थः ॥ ८२ ॥

तत्र-

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥

अनुज्ञाप्य सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं, मेधावी साधुः, प्रतिच्छन्ने तत्र कोष्ठकादौ, संवृत उपयुक्तः सन्साधुः, ईर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा, तदनु हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपम्, आदायेति वाक्यशेषः । संप्रमृज्य विधिना तेन कायं, तत्र भुञ्जीत संयतः, रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः ॥ ८३ ॥

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठियं कंटओ सिया ।
तणकट्ठसक्करं चावि, अन्नं वा वि तहाविहं ॥ ८४ ॥

तत्र कोष्ठकादौ 'से' तस्य साधोर्भुञ्जानस्य अस्थि, कण्टको वा स्यात्, कथञ्चित् गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गले चेत्यन्ये-, तृणकाष्ठशर्करादि चापि स्यात्, उचितभोजने अन्यद्वाऽपि तथाविधं बदरकर्कटकादीति सूत्रार्थः ॥ ८४ ॥

तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डए ।
हत्थेण य गहेऊण, त एगंतमवक्कमे ॥ ८५ ॥

तदस्थ्यादि उत्क्षिप्य हस्तेन यत्र क्वचिन्न निक्षिपेत्, तथाऽऽस्येन मुखेन नोज्झेत् , अपि तु हस्तेन गृहीत्वा तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामेदिति सूत्रार्थः ॥ ८५ ॥

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८६ ॥

एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य यतं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रामेदिति, भावार्थः पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ८६ ॥

(५६) गोचरादागमनम् । वसतिमधिकृत्य भोजनविधिमाह-

सिया य भिक्खू इच्छेज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म, उंडुयं से पडिलेहिया ॥ ८७ ॥

स्यात्कदाचित्तदन्यकारणाभावे सति भिक्षुरिच्छेत् शय्यां वसतिमागम्य परिभोक्तुम् । तत्राऽयं विधिः -सह पिण्डपातेन विशुद्धसमुदानेनाऽऽगम्य,वसतिमिति गम्यते,तत्र बहिरेवोन्दुकं स्थानं प्रत्युपेक्ष्य, विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं शोधयेदिति सूत्रार्थः॥८७॥

तत उर्द्धम्-

विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥८८॥

विशोध्य पिण्डं बहिर्विनयेन नैषेधिकी 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' अञ्जलिकरणलक्षणेन, प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते । सकाशे गुरोर्मुनिः, गुरुसमीपे इत्यर्थः । ईर्यापथिकीमादाय "इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए" इत्यादि पठित्वा सूत्रम् । आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रामेत्, कायोत्सर्गं कुर्यादिति सूत्रार्थः ।

(५७) गोचरातिचारालोचनम्-

आभोइत्ताण निस्सेसं, अइयारं जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव, भत्ते पाणे च संजए ॥ ८९ ॥

तत्र कायोत्सर्गे आभोगयित्वा ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं यथाक्रमं परिपाट्या, क्वेत्याह-गमनागमनयोश्चैव, गमने गच्छतः, आगमने आगच्छतो योऽतिचारः, तथा भक्तपानयोश्च , भक्ते पाने च योऽतिचारः । तं संयतः साधुः कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेदिति सूत्रार्थः ॥ ८६ ॥ दश० ५ अ०१उ० । (अत्र कीदृक् स्थापयेद् भुञ्जीत चेति बहुविचारः 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते)

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्

थीए वा अपरिन्नएणं अपरिन्नयस्स अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा०जाव पमिगाहित्तए ॥४०॥ से किमाहु भंते !? इच्छा परो अपरिन्नए भुंजिज्जा, इच्छा परो न भुंजिज्जा ॥ ४१ ॥

"वासावास" इत्यादितः "न भुंजिज्जे त्ति" यावत्सूत्रद्वयम् । तत्र "अपरिन्नएण" इत्यादि । 'त्वं मम योग्यमशनम् आनये' इति अपरिज्ञातेन अज्ञापितेन साधुना 'अहं तव योग्यम् अशनादि आनेष्ये' इत्यपरिज्ञातस्य अज्ञापितस्य साधोः (अट्ठाए त्ति) अर्थाय कृते अशनादि परिग्रहीतुं न कल्पते ॥ ४० ॥ अत्र शिष्यः पृच्छति-(से किमाहु भंते त्ति) तत्कुतो भदन्त ! ?। गुरुराह- "इच्छेत्यादि।" इच्छा चेदस्ति तदा परो यदर्थमानीत स भुञ्जीत, इच्छा न चेत्तदा न भुञ्जीत, प्रत्युतैव वदति-केनोक्तमासीत यत्त्वया आनीतम् ?। किं च-अनिच्छया दाक्षिण्यतश्चेद् भुङ्क्ते तदा अजीर्णादिना बाधा स्यात्, परिष्ठापने च वर्षासु स्थण्डिलदौर्लभ्यादोषः स्यात्, तस्मात्पृष्ट्वा आनेयम् ॥ ४१ ॥ कल्प० ९ क्षण।

उग्गम उप्पायणए-सणाएँ बायाल होंति अवराहा ।
सोहेउं समुदाणं, पमिवण्णे वच्चमू वसहिं ॥ ७६५ ॥

एवं साधोरुद्गमोत्पादनैषणाभिर्द्विचत्वारिंशदपराधा भवन्ति । तैः समुदानं भिक्षां शोधयित्वा विविच्य ते तत 'पडिवण्णे' लब्धे सति भक्तादौ वसतिं प्रयान्ति ॥ ७६५ ॥

इदानीं तद्भक्तं गृहीतं सत् शोधयित्वा वसतिं प्रविशति, केषु स्थानेष्वत आह-

अन्नघर देउले वा, असइ य ओवस्सगस्स वा दारे ।
संसत्तकंटगाइं, सोहेउमुवस्सगं पविसे ॥ ७६६ ॥

गृहीत्वा भक्तमुपाश्रयाभिमुखो व्रजंस्तदन्यगृहे तत् भक्तं प्रत्युपेक्ष्य ततो वसतिं प्रविशति, तदभावे देवकुले वा, तदसति-यदि गृहादीनामभावस्तदोपाश्रयद्वारे संसक्तं त्रसैः, कण्टकैर्वा यद् स्यात्, तत् शोधयित्वा प्रोक्ष्य संसक्तादिभक्तं, तत उपाश्रयं प्रविशति ॥ ७६६ ॥

एवं तस्य प्रत्युपेक्षत कदाचित् संसक्तं भवति, तत्र किं करोतीत्यत आह-

संसत्तं तत्तो च्चिय, परिट्ठवित्ता पुणो दगं गेण्हे ।
कारणे मत्तगगहियं, उग्गाहिएँ उड्ड पविसणया ॥७६७॥

यदि तत्र संसक्तं पानकं भवेत्, ततोऽस्मादेव स्थानात् प्रतिष्ठाप्य पुनरप्यन्यद् दकं गृह्णाति, तथा ग्लानादिकारणेन च मात्रके यद् गृहीतमासीत्तत् पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य प्रविशति । ततस्तस्य साधुभिराख्यातम्-यदुत ग्लानस्यान्यद् ब्रध्निमतो निष्कारणं मात्रकोपयोगं परिहर, निष्कारणमात्रकोपयोगे च प्रमादा भवन्ति, एवमसौ परिशुद्धे सति भक्ते प्रविशति उपाश्रयम् ॥ ७६७ ॥

अथाशुद्धं भवति, ततः परिष्ठाप्य किं करोति?, इत्यत आह-

गामे य काले भाणे, पहुप्पमाणे हवंति भंगट्ठा ।
काले अ पहुप्पंति त-त्थ वट्टिए सेसए जयणा ॥ ७६८ ॥

यदा ग्राम पर्याप्यते, कालश्च पर्याप्यते, भाजनं च पर्याप्यते, एवमस्मिँस्त्रये पर्याप्यमाणे सति, पदत्रयनिष्पन्ना अष्टौ भङ्गका भवन्ति । तेषां च भङ्गकानां मध्ये यस्मिन् भङ्गके कालो न पर्याप्यते, तस्मिन् वर्तित एव शेषेषु चतुर्भङ्गकेषु भजनां विकल्पनां करोति ॥७६८॥

इदानीं भजनां दर्शयन्नाह-

अन्नं व वए गामं, अन्नं भाणं च गेण्ह मइ काले ।
पढमे बिइए छप्प-चए य भएँ सेसएँ नियत्ते ॥७६९॥

अन्यं ग्रामं वा व्रजति काले पर्याप्यमाणे, अन्यच्च भाजनं गृह्णाति पर्याप्यमाणे काले सति, एवं प्रथमभङ्गके, द्वितीये च, षष्ठे पञ्चमे भङ्गके च भजनां सेवनां करोति काले सति, येषु भङ्गकेषु कालो न पर्याप्यते तेषु निवर्तेत, तेषु न गन्तव्यं भिक्षाया इत्यर्थः । स च पर्याप्यमाणकालो द्विविधः-जघन्यः, उत्कृष्टश्च ॥ ७६९ ॥

तत्र जघन्यप्रतिपादनायाऽऽह-

वोसिव मागयाणं, वसु धाविएँ मत्तए च भूमितिए ।
पमिलेह अणत्थमिए, सेसऽत्थमिए जहन्नो उ ॥७७०॥

संज्ञां व्युत्सृज्य आगतानां, मात्रकं च, यस्मिँस्तोयं गृहीत्वा गत आसीत् निर्लेपनार्थं, तस्मिन् उत्क्षालितशोषिते सति, भूमित्रिके च-कायिकभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि, संज्ञाभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि, कालभूमौ त्रीणि स्थण्डिलानि, एवमस्मिन् भूमित्रितये प्रत्युपेक्षिते सति, यदाऽनस्तमनं भवति अस्मिन् प्रदेशे,(सेसअत्थामिते त्ति) शेषोपधिमस्तमिते आदित्ये प्रत्युपेक्षिते, यदा अयमित्थम्भूतः काल इति स जघन्य इति ॥ ७७० ॥

इदानीमुत्कृष्टकालप्रतिपादनायाऽऽह-

भुत्ते वियारभूमिं, गयाऽऽगयाणं तु जह य उग्गाहे ।
चरिमाएँ पोरिसीए, उक्कोसो सेसेँ मज्झिमओ ॥७७१॥

भुक्ते सति विचारभूमिं संज्ञाभूमिं गत्वा आगतानां यथा उद्ग्रहे आगच्छति चरमपौरुषी चतुर्थप्रहर, अथ वा-चरमपौरुषी पादोनचतुर्थप्रहरो यथा आगच्छति, यस्यां वेलायाम्, अयमुत्कृष्टः कालः, शेषस्त्वन्यो मध्यमकाल इति ॥ ७७१ ॥

तेन च भिक्षामटित्वा विनिवृत्य प्रविशता किं कर्तव्यमत आह-

पायपमज्जण निस्सी-हीया तिन्नि उ करे पवेसम्मि ।
अंजलि ठाणविसोही, दंमग उवहिस्स निक्खेवो ॥७७२॥

बहिरेव वसते पादौ प्रमार्जयति, निषेधिकात्रिकं करोति प्रविशन्, पुनश्च गुरोः पुरस्तादञ्जलिना नमस्कारं करोति "नमो खमासमणमिति" तथा प्रविष्टश्च स्थानं विशोधयति, तत्र दण्डकस्योपधेश्च निक्षेपं करोति ॥ ७७२ ॥

इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

एव पच्चुप्पन्ने, पविसउ तिन्नि य निसीहिया होंति ।
अग्गद्दारे मज्झे, पवेसेँ पाए असागारिए ॥७७३॥

एवं प्रत्युत्पन्ने लब्धे सति भक्ते प्रविशतस्तिस्रो निषेधिका भवन्ति । क?, अग्रद्वारे प्रथमा, तथा द्वितीया मध्यमदेशे वसतेः, प्रवेशे च मूलद्वारस्य तृतीयां निषेधिकां करोति, पादौ च प्रमार्जयति, यदि कश्चित्सागारिको न भवति । अथ तत्र सागारिको भवति, ततः वरण्डकाभ्यन्तरे प्रमार्जनं करोति । अथ मध्यमेऽपि भवति-द्वितीयनिषेधिकास्थानेऽपि भवति सागारिक, ततः मध्ये प्रविश्य प्रमार्जयति पादौ, अनेन कारणेन प-

आकाम्यकारेण पादप्रमार्जनं व्याख्यातम, येन तदनियतं वर्त्तते, निर्पाधिकास्यहस्तास्वपि कारणवशात् सन्नयतीति ॥ ७७३ ॥

इदानीमञ्जल्यग्रहणं व्याख्यानयन्नाह-

हत्थुस्सेहो सीस-प्पणामणं वाइश्रो नमोकारो ।
गुरुजायणे य माए, वायाएँ णमो न उस्सेहो ॥७७४॥

हस्तोच्छ्रय नमस्कारार्थं करोति, शीर्षप्रणमनं करोति, वाचा च "नमो खमासमणाणं" इत्येव नमस्कारं करोति । अथ तद्गुरु भिक्षाभाजनं भवति, मात्रकं च गुरु गृहीतमङ्गुलीभिः, ततश्चैवं गुरुणि भाजने सति शिरसा प्रणामं करोति, वाचा नमो इत्येव ब्रूते, हस्तोच्छ्रयं न करोति, यतोऽसौ गुरोर्मात्रकस्याग्रे हस्ता इव प्रसारणार्थं ततश्च नोच्छ्रयं करोति ॥७७४॥ ओघ० (गुरवे निवेदयेत् भुञ्जीत चेति ' भोयण ' शब्दे वक्ष्यते)

(५८) गोचरातिचारे प्रायश्चित्तम्-

गोयमा ! जेणं भिक्खू विसेसणाभिहिएणं विहिणा अदीणमणसा वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगम-ट्टियं ओवायं विसमं खाणुं रुक्खो गिहवईणं व संकट्ठाणं वि वज्जंतो पंचसमियतिगुत्तो गोयरचरियाए पाहुडिय न पडियरिया, तस्स णं चउत्थं पायच्छित्तं उवइ-सेज्जा । जइ णं नो अणत्तट्ठी उवणत्तुलेसु पविसे, खवणं सहसा पडिवुत्थं पडिगाहियंते तक्खणा ण परिट्ठवे, नि-रुवद्दवे थंडिले खवणं अकप्पं पडिगाहेज्जा, चउत्थाइ जहा-जोगं कप्पं वा पडिसेहेइ उवट्ठावणं, गोयरपविट्ठो कहं वा विकहं वा उभयकहं वा पत्थावेज्ज वा, उदीरेज्ज वा, कहेज्ज वा, निसामेज्ज वा, कहं गोयरमागओ य, भत्तं वा पाणं वा भे-सज्जं वा, से जेणं जिमियं, जं जहा य चित्ते, जं जहा य पडिग्ग-हियं, तं तहा सव्वं आलोएज्जा पुरिमड्ढ, इरियाए अपडि-क्कंताए भत्तपाणाइयं आलोएज्जा पुरिमड्ढं । महा० ७ अ० ॥

(गोचरातिचारप्रतिक्रमण 'पडिक्कमण' शब्दे एव स्थ-विरकल्पिकस्य भिक्षणविधिरुक्तः । जिनकल्पिकस्य तु ' जि-णकप्पिय ' शब्दे)

(५९) निर्ग्रन्थीनां तु भिक्षाविधिरेवम्-

अथ भिक्षानिर्गमद्वारमभिधित्सुराह-

दो थेरि तरुणि थेरी, दोन्नि उ तरुणीउ एक्किया तरुणी ।
चउरो अ अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

अत्र गुरुनियोगत. चूर्णिरेव लिख्यते-"जति दोन्नि थेरीओ नि-ग्गच्छंति भिक्खट्ठस्स वा, तरुणी थेरी य जति वा, दो तरुणी उ निग्गच्छंति वा, एगा थेरी जति निग्गच्छति वा, एक्किया तरुणी जति निग्गच्छति वा । " तत्राऽप्याज्ञादयो दोषा. ।

कुत इत्याह-

चउकण्णं नोज्जरहं, संका दोसा य थेरियाणं पि ।
कुट्टिणिसहिता बीए, ति थुत्त तक्कण चउत्थीसु ॥

दोण्ह थेरीण दोसो-दुवे अभिक्खरहस्सीउ होज्जा, संका, य, किं, मन्ने-केणइ पुत्तिकिच्चेण निउत्तिया उ असकणिज्जाउ त्ति काउ, तरुणी थेरी य, लोगो भणेज्जा-कुट्टिणिसहिया हिंमति वितिए, तिएगारे निग्गमस्स-दो तरुणीओ थुत्तीओ सज्झावि-

ज्जति, एगा वि थेरी भुत्ती सभाविज्जति, एगा तरुणी तक्कणिज्जा"॥

यस्मादेते दोषा तस्मादयं विधिः -

पुरतो य मग्गतो वा, थेरीओ मज्झे होंति तरुणीउ ।
अइगमणे निग्गमणे, एस विही होइ कायव्वा ॥

पुरतो मार्गतश्च स्थविरा भवन्ति, मध्यभागे तरुण्यः, एव वृद्धी-मा सभृय पर्यटनीनामुक्तम, जघन्येन तु तिस्रः सदैव पर्यटन्ति, तत्रैका स्थविरा पुरतो, द्वितीया स्थविरैव पृष्ठतः, तृतीया तरु-णी तयोर्द्वयोरपि मध्ये, एवमतिगमने गृहपतिगृहप्रवेशे, निर्गम-ने च, तत एव निर्गम एव विधिः कर्त्तव्यो भवति ।

कुत इति चेदुच्यते-

तिगमाइऽसंकणिज्जा, अतक्कणिज्जा य साण-तरुणाणं ।
अन्नोन्नरक्खणेसण, वीसत्थ पवेसकिरियाए ॥

त्रिकादयः पर्यटन्त्योऽशङ्कनीया जनेषु, श्वानतरुणानां च अतर्क-णीया अनभिलषणीया भवन्ति । उपद्रवत्स्वपि च श्वानगवादिषु अन्योऽन्यं सुखेनैव रक्षणं कुर्वन्ति एषणां च सम्यक् शोधयन्ति, विश्वस्ताश्च सत्यो गृहस्थकुलेषु प्रवेशनिर्गमादिक्रियाः कुर्वन्ति ।

यत्र कोष्ठको भवेत्तत्राऽयं विधिः -

थेरी कोट्ठगदारे, तरुणी पुण होइ तीएँ णो दूरे ।
बिइय बिट्टी वारवहिं, पडिणीयपरक्खणट्ठाए ॥

एका स्थविरा कोष्ठकस्यापवरकस्य द्वारे, तरुणी पुनस्तस्याः स्थविराया नातिदूरे प्रदेशे, या तु द्वितीया 'बिट्टी' स्थविरा, सा द्वारस्य बहिस्तिष्ठति । किमर्थमित्याह-प्रत्यनीक, तस्य रक्षणा-र्थं, यदि कोऽप्युपसर्गं कुर्यात, तदा सुखेनैव बोलं कृत्वा स नि-वार्यते ।

जाणंति तव्विहकुले, संवुड्ढीए चरिज्ज अन्नोन्नं ।
ओराल निच्च लोयं, खुज्ज तवो आउले सहाया ॥

तद्विधानि तादृशानि सभावनीयोपद्रवाणि कुलानि सम्यग् जानन्ति, ज्ञात्वाऽथ प्रथमत एव परिहरन्ति । अन्योऽन्य परस्पर संवृद्ध्या समत्या चरेयुर्भिक्षाचर्यां पर्यटेयु, मा नूतनसमत्यां प-र्यटन परस्परमसत्प्रवादादयो दोषा. । या च उदारा रूपातिशययु-क्ता संयती, सा नित्यमेव लोचमात्मना करोति (खुज्ज त्ति) तस्या. पृष्ठप्रदेशे कुब्जकरणी स्थापयितव्या, तपश्चतुर्थादि सा कारापणीया, आकुले जनाकीर्णे वृद्धाभिश्च सहायाभि. सहिता सा भिक्षाटी हिण्डापनीया ।

अथ तासां वृन्देन भिक्षाटने कारणान्तरमाह-

तिप्पभिइ अडंताओ, गिण्हंतऽन्नन्नाहिं भिन्ने तिन्नि ।
संजमदव्वविरुद्धं, देहविरुद्धं च जं दव्वं ॥

त्रिप्रभृतिवृन्दे भिक्षामटन्त्योऽन्यान्यस्मिन् पृथक्पृथग् भाजने, चशब्दः प्रागुक्तकारणापेक्षया कारणान्तरद्योतनार्थः । अमूनि त्रीणि द्रव्याणि सुखेनैव गृह्णन्ति । तद्यथा-संयमद्रव्यविरुद्धं, देहविरुद्धं च यत् द्रव्यम् ।

एतान्येव प्रतिपादयति-

पालंकलट्टसागा, मुग्गकयं चामगोरसुम्मीसं ।
संसज्जती उ अचिरा, तं पि य नियमा दुदोसाय ॥

पालङ्कशाक महाराष्ट्रादौ प्रसिद्ध, लट्टशाकं कौसुम्भशाकनकम् ।

एते अन्योऽन्यं मिलिते सूक्ष्मजन्तुभिः संसृज्येते, यच्च मुक्तकृतम, उपलक्षणत्वादन्यदपि द्विदल, तदप्यामगोरसोन्मिश्रं सद्चिरादेव सूक्ष्मजन्तुभि· संसज्यते, संसक्तं च नियमात्, "एके द्वौ दोषौ समाहृतौ द्विदोषम्" तस्मै, छिन्नोपाय भवति,संयमोपघाताऽऽत्मोपघातरूप दोषद्वय करोतीत्यर्थ· ।

दहि तिल्लाई उभयं, पय सोवीरा य हुंति य विरुद्धा ।
देहस्स विरुद्धं पुण, सीउण्हाणं समाओगो ।

दधितैले, आदिशब्दादन्यदप्युभय मिलितं सद्यत्परम्पराविरुद्धं, ये च पय·सौवीरे दुग्धकाञ्जिके परस्पर विरुद्धे, एतत् द्रव्यविरुद्ध मन्तव्यम्, देहस्य पुनर्विरुद्ध य· शीतोष्णयोर्द्रव्ययो· परस्परं समायोग । एतानि पृथक् पृथक् भाजनेषु गृह्यमाणानि न संयमाद्युपघाताय जायन्ते ।

अपि च-

नत्थि य मामागाइं, माउग्गामो य तासिपज्जामे ।
सीउण्हगिण्हणाए, सारक्खणमेक्कमेकस्स ।

न सन्ति तासां मामकानि कुलानि-न हि कोऽपि स्त्रीजन गृहे प्रविशन्तमीर्ष्यया निषेधयतीति भाव· । मातृग्रामश्च नाम-समयपरिभाषया स्त्रीवर्ग·, चशब्द एवकारार्थः । तत् किमुक्त भवति?-स्त्रीवर्ग एव प्रायेण भिक्षादायकः, स च तासां संयतीनामत्यासे स्त्रीत्वसबन्धमधिकृत्य यथात्यासन्नो वर्तते, अतस्तिप्रभृतीनामपि पर्यटन्तीनां सुखेनैव भक्तपान पर्याप्त भवति । शीतोष्णग्रहणेन च सरक्षणमेकैकस्याः परस्परं कृत भवति ।

कथ पुनरिति ?, अत आह-

एगत्थ सीयमुसिणं, च एगहिं पाणगं च एगत्थ ।
दोसऽन्नस्स अगहणे, विराहणे दोज्जिमे दोसा ॥

एकत्र प्रतिग्रहे शीत पर्युषित गृह्णन्ति, एकस्मिन्नुष्णम्, एकत्र च पानकम् । एतद् तिसृणामटन्तीनां भवति । अथ द्वे पर्यटतस्तत एकत्र प्रतिग्रहे उष्ण, द्वितीय तु पानक, पर दोषान्नं कुत्र गृह्णन्तु ?। सार्थे परिभोक्तु न कल्पते । अथोष्णमध्ये दोषाऽन्नं गृह्णन्ति, तदा देहविरुद्ध भवति । अथ दोषान्न न गृह्णन्ति, ततो दोषान्नस्याग्रहणे चिराटनम्, चिर पर्यटन्तीनां तरुणादिकृतो मार्गे स्त्रीवेद उद्दीपेत ।

तथा चामुमेवार्थं दर्शयितु वेदस्वरूपमाह

थी पुरिसो अ नपुंसो, वेदो तस्स उग्गमे पगारा उ ।
फुंफुम दवग्गिसरिसो, पुरदाहसमो भवे तइओ ॥

वेदस्त्रिधा-स्त्रीवेद , पुरुषवेदो, नपुसकवेदश्च । तस्य तु त्रिधाऽपि यथाक्रम-त्रिविधस्यापि यथाक्रममी प्रकाराः-स्त्रीवेद फुफुमाग्निसदृशः करीषाग्नितुल्य । यथा-करीषाग्निरन्तर्धगधगायमानस्ते, न परिस्फुट प्रज्वलति, न वा विध्यायति , चालितस्तु तत्क्षणादेवोद्दीप्यते, एव स्त्रीवेदोऽपि । पुरुषवेदस्तु दवाग्निसदृश· । यथा-दवाग्निरिन्धनयोगत सहसैव प्रज्वल्य विध्यापयति, एव पुरुषवेदोऽपि । तृतीयो नपुसकवेद , स पुरदाहसम· । यथाहि महानगरदाहे वह्नि प्रज्वलित· सार्द्रे वा शुष्के वा सर्वत्र दीप्यते, एवमेव नपुंसकवेदोऽपि स्त्रियां पुरुषे वा सर्वत्र दीप्यते, न चोपशाम्यति, इत्थ वेदत्रयस्वरूप द्रष्टव्यम् ।

प्रस्तुतयोजनामाह--

जह फुमा हसई सह, घट्टिया एवमेव थीवेदो ।
दिप्पइ अतिकिढियाण वि, आलिंगन-छेदणादीहिं ॥

यथा फुफुकाग्निर्घट्टित सन् (हसइ त्ति) देदीप्यते, एवमेव स्त्रीवेदोऽप्यालिङ्गनच्छेदनादिभिरुदीरित· स्थविराणामपि दीप्यते, किं पुनस्तरुणीनामित्यपिशब्दार्थ· ।

आह-स्थविराणां कथ वेदोद्दीपन भवतीत्युच्यते-

न वओ इत्थ पमाणं, न तवस्सित्त सुयं न परियाओ ।
अवि क्खीणम्मि वेदे, थीलिंगं सव्वहा रक्खं ॥

न वयो वार्द्धकादिकमत्र विचारे प्रमाण, न वा तपस्वित्वमनशनादितपःकर्मकारित्व, न वा श्रुतमाचारादिक सुबह्वप्यवगाहित, न वा पर्यायो दीर्घाय प्रव्रज्याकाललक्षण । एतेषु सत्स्वपि वेदोदयो भवेदित्यर्थ । अपि च-क्षीणेऽपि वेदे स्त्रीभि· स्त्रीलिङ्ग सर्वथा रक्ष्यम् । अत एव स्त्री केवलिपथोक्तामार्यिकोपकरणप्रावरणादियतनां करोतीति भाव ।

आह-यदि ता· स्नानादिपरिकर्मरहिता , ततः किंकोऽपि तासु रागं व्रजति, येनेत्थ यतना क्रियते ?,

उच्यते--

कामं तवस्सिणीओ, एहाणुवट्टणविकारविरयाओ ।
तह वि य सुपाउआणं, अपेसणाणं चिमं होइ ॥

काममनुमतं यथा तपस्विन्य· स्नानोद्वर्तनविकारविरता·, तथापि सुप्रावृताना नित्यमेव बहुभिरुपकरणैराच्छादितानाम्, अप्रेषणानां वा व्यापाराणाम , इदमनन्तरमेव वक्ष्यमाणं शरीरसौन्दर्यं भवति ।

तदेवाह-

रूवं वन्नो सुकुमा-रया य निद्धच्छवी य अंगाणं ।
होंति किर सन्निरोहे, अज्जाण तवं चरंतीणं ॥

रूपमाकृति , वर्णो गौरत्वादि ,सुकुमारता कोमलस्पर्शता, स्निग्धता च कान्तिमती छविस्त्वक्, अङ्गानां शरीरावयवानामिति । नीरूपादीनि आर्यिकाणां सनिरोधे बहुप्रकारेण प्रावरणादिभिर्ध्रियमाणानां भवन्ति । ततो नियुक्तियुक्ता पूर्वोक्तानां सा यतनेति । वृ० १ उ० ।

(६०) सर्वसंपत्कर्यादिभिक्षानिरूपणम्-

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राऽऽद्या, सर्वसंपत्करी मता ।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्यात्, वृत्तिभिक्षा तथाऽन्तिमा ॥९॥

त्रिधेत्यादि व्यक्त· ॥ ९ ॥

सदाऽनारम्भहेतुर्या, सा भिक्षा प्रथमा स्मृता ।
एकवाले द्रव्यमुनौ, सदाऽनारम्भिता पुनः ॥ १० ॥

(सदेति) सदा अनारम्भस्य हेतुर्या भिक्षा, सा प्रथमा, सर्वसंपत्करी स्मृता । तद्धेतुत्व च सदाऽऽरम्भपरिहारेण, सदाऽऽनारम्भगुणानुकीर्तनाभिव्यङ्ग्यपरिणामविशेषादितयतनया वा । सदाऽनारम्भिता तु-एकवाले द्रव्यमुनौ सविघ्नपाक्षिकरूपे न सभवति । इदमुपलक्षणम्-एकादशी प्रतिमा प्रतिपन्नस्य श्रमणोपासकस्यापि प्रतिमाकालावधिकत्वादनारम्भकत्वस्य न तत्सभव , न च तद्भिक्षाया· सर्वसंपत्करीकल्पत्वोक्त्यैव निस्तार· । इत्थ द्विधाकथञ्चित्सर्वसंपत्करीयमिति व्यवहारोपपादनेऽपि न

पौरुषघ्नीत्यादि,व्यवहारानुपपादनात् । तथा च-" यतिर्ध्यानादियुक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः । सदाऽनारम्भिणस्तस्य, सर्वसंपत्करी मता" ॥ १ ॥ इत्याचार्याणामभिधानं संभवाभिप्रायेणैव, जिनकल्पिकादौ गुर्वाज्ञाव्यवस्थितत्वादेरिव सदाऽनारम्भित्वस्य फलत एव ग्रहणात् । अन्यथा-लक्षणाननुगमापत्तेर्द्रव्यसर्वसंपत्करीमुपेक्ष्य भावसर्वसंपत्करीलक्षणमेव वा कृत्स्नमिदमिति यथातन्त्रं भावनीयम् ॥ १० ॥

दीक्षाविरोधिनी भिक्षा,-पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता ।

धर्मलाघवमेव स्यात्, तया पीनस्य जीवतः ॥ ११ ॥

(दीक्षेति) दीक्षाया विरोधिनी दीक्षाचरणकर्मबन्धकारिणी भिक्षा पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता,तया, जीवतः पीनस्य पुष्टाङ्गस्य धर्मलाघवमेव स्यात् । तथाहि-गृहीतव्रतः पृथिव्याद्युपमर्दनेन शुद्धोञ्छजीविगुणनिन्दया च भिक्षां गृह्णन् स्वस्य परेषां च धर्मस्य लघुतामेवापादयति । तथा गृहस्थोऽपि यः सदाऽनारम्भविहितायां भिक्षायां तदुचितमात्मानमाकलयन् मोहनाश्रयति, सोऽप्यनुचितकारिणोऽमी खल्वार्हता इति शासनावर्णवादेन धर्मलघुतामेवाऽऽपादयतीति । तदिदमुक्तम्-

" प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो य-स्तद्विरोधेन वर्तते ।

असदारम्भिणस्तस्य, पौरुषघ्नीति कीर्तिता ॥ १ ॥

धर्मलाघवकृन्मूढो, भिक्षयोदरपूरणम् ।

करोति दैन्यात्पीनाङ्ग:, पौरुषं हन्ति केवलम् ॥ २ ॥ "

अत्र प्रतिमाप्रतिपन्नभिक्षाया दीक्षाविरोधित्वाभावादेव नातिव्याप्तिरिति ध्येयम् ॥ ११ ॥

क्रियान्तरासमर्थत्व-प्रयुक्ता वृत्तिसंज्ञिका ।

दीनान्धादिष्वियं सिद्ध-पुत्रादिष्वपि केषुचित् ॥ १२ ॥

(क्रियान्तरेति) क्रियान्तरासमर्थत्वेन प्रयुक्ता, न तु मोहेन, चारित्रशुद्धीच्छया वा, वृत्तिसंज्ञिका भिक्षा भवति, इयं च दीनान्धादिषु संभवति । यदाह—

" निःस्वान्धपङ्गवो ये तु, न शक्ता वै क्रियान्तरे ।

भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं, वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ॥ १ ॥

नातिदुष्टाऽपि चामीषा-मेषा स्यान्न ह्यमी तथा ।

अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, धर्मलाघवकारिणः ॥ २ ॥ "

तथा सिद्धपुत्रादिष्वपि केषुचिद्वृत्तिभिक्षा संभवति । आदिना सारूपिकग्रहः, दीनादिपदाव्यपदेश्यत्वाच्चैषां पृथगुक्तिः । श्रूयन्ते चोत्प्रव्रजिता अमी जिनागमे भिक्षुकाः । यतो व्यवहारचूर्ण्यामुक्तम्-" जो अणुसासिओ ण पडिनियत्तो सो सारूविअत्तणेण वा सिद्धपुत्तत्तणेण वा अच्छउ कंचि कालं । सारूविओ णाम—सिरमुंडो अरजोहरणो अलाउयाहिं भिक्खं हिंडइ, अभज्जो अ । सिद्धपुत्तो णाम—सभज्जओ भिक्खं हिंडइ वा, ण वा, वरामएहिं वेंटलिअं करेइ, सिहं वा धरेति त्ति । "केषुचिदित्यनेन ये त्वप्रव्रजितत्वेन क्रियान्तरासमर्थास्ते गृह्यन्ते । येषां पुनरत्यन्तावद्यभीरूणां संवेगातिशयेन प्रव्रज्यां प्रति प्रतिबद्धमेव मानसं, तेषामाद्यैव भिक्षा । एतद्व्यतिरिक्तानामसदारम्भाणां च पौरुषघ्न्येव ' तत्त्वं पुनरिह केवलिनो विदन्ति" इत्यष्टकवृत्तिकृद्वचनं च तेषां नियतभावापरिज्ञानसूचकमित्यवधेयम् ॥ १२ ॥

अन्याबाधेन सामग्र्यू, मुख्यया भिक्षयाऽलिवत् ।

गृह्णतः पिण्डमकृत-मकारितमकल्पितम् ॥ १३ ॥

[अन्येति] अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां दायकानामबाधेनाऽपीडनेन मुख्यया सर्वसंपत्कर्या भिक्षया,अलिवद्भ्रमरवत्, अकृतमकारितमकल्पितं च पिण्डं गृह्णतः । सामग्र्यं चारित्रसमृद्ध्या पूर्णत्वं भवति । अलिवदित्यनेनाऽऽनयनप्रतिषेधः,तथासत्यभ्याहृतदोषप्रसङ्गात् । साधुवन्दनार्थमागच्छद्भिर्गृहस्थैः पिण्डानयनेनायं न भविष्यति, तदागमनस्य वन्दनार्थत्वेन साध्वर्थपिण्डानयनस्य प्रासङ्गिकत्वादिति चेत्,नैवमपि मालापहृताद्यनिवारणादिति वदन्ति ॥ १३ ॥

नन्वेवं सद्गृहस्थानां, गृहे भिक्षा न युज्यते ।

अनात्मम्भरयो यत्र, स्वपरार्थं हि कुर्वते ॥ १४ ॥

(नन्वेवमिति) ननु एवं सकल्पितपिण्डस्याऽप्यग्राह्यत्वे सद्गृहस्थानां शोभनब्राह्मणाद्यगारिणां गृहे भिक्षा न युज्यते यतः,हि यतोऽनात्मम्भरयोऽनुदरम्भरयो यत्र पाकादिविषये स्वपरार्थं कुर्वते । भिक्षाचरदानासफलेन स्वार्थमेव पाकप्रयत्ने सद्गृहस्थत्वभङ्गप्रसङ्गात्, देवतापितृतिथिभर्त्त्व्यपोषणशेषभोजनस्य गृहस्थधर्मत्वश्रवणात् । न च दानकालात्पूर्वं देयत्वबुध्या असंकल्पितं दातुं शक्यमिति इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

संकल्पभेदविरहो, विषयो यावदर्थिकम् ।

पुण्यार्थिकं च वदता, दुष्टमत्र हि दुर्वचः ॥ १५ ॥

(सकल्पेति) अत्र हि "असंकल्पितः पिण्डो यतेर्ग्राह्य " इति वचने हि संकल्पभेदस्य यतिसंप्रदानकत्वप्रकारदानेच्छात्मकस्य विरहो दुर्वचः । केनेति ?,आह-यावदर्थिकं यावदर्थिनिमित्तनिष्पादितम्,पुण्यार्थिकं पुण्यनिमित्तनिष्पादितं च, पिण्डं दुष्टं वदता अन्यथोक्तासंकल्पितत्वस्य यावदर्थिकपुण्यार्थिकयोः सत्त्वेन तयोर्ग्राह्यत्वाऽऽपत्तेः ।

तदाह-

"संकल्पनं विशेषेण, यत्रासौ दुष्ट इत्यपि ।

परिहारो न सम्यक् स्याद्, यावदर्थिकवादिनः ॥ १ ॥

विषयो वाऽस्य वक्तव्यः, पुण्यार्थं प्रकृतस्य च ।

असंभवाभिधानात् स्या-दासस्यानाप्तताऽन्यथा " ॥ २ ॥

इति ॥ १५ ॥

उच्यते विषयोऽत्रायं, भिन्ने देये स्वभोग्यतः ।

संकल्पनं क्रियाकाले, दुष्टं पुष्टमियत्तया ॥ १६ ॥

(उच्यत इति) अत्रायं विषय उच्यते, यदुत क्रियाकाले पाकनिर्वर्तनसमये, स्वभोग्यादात्मीयभोगार्हात् ओदनादेर्भिन्नेऽतिरिक्ते देये ओदनादौ, इयत्तया ' एतावदिह कुटुम्बाय एतावच्चार्थिभ्यः पुण्यार्थं चेति" विषयतया, पुष्टं सर्वजनहितम्, संकल्पनं दुष्टम्, तदाह-"विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि । संकल्पनं क्रियाकाले, तद्दुष्टं विषयोऽनयोः." १ ॥ १६ ॥ द्वा० ६ द्वा० ।

अकृतोऽकारितश्चान्यै-रसंकल्पित एव च ।

यतेः पिण्डः समाख्यातो, विशुद्धः शुद्धिकारकः ॥ १ ॥

अकृतः क्रयणहननपचनैर्भोज्यतया स्वयमनिर्वर्तितः, एवमेवाकारितश्चाविधापितः । चकारः समुच्चये, अन्यैः कर्मकरादिभिरसंकल्पित एव च क्रयणादिप्रकारैः साधवे इदं दास्यामीत्यनभिसन्धितः,अन्यैरेव एवकारेणान्यथाविधपिण्डस्य साधोरग्राह्यतामाह । आह च-"पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि । चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थिया ॥ " चकार उ

कसमुच्चये, अकृतादिपदैश्च क्रयणक्रापणतदनुज्ञानहननघातनतदनुज्ञानपचनपाचनतदनुज्ञानलक्षणकोटीनवकशुद्धता पिण्डस्योक्तेति, यते· पृथिव्यादिसंरक्षणप्रयत्नवतः पिण्ड ओदनादिः, उपलक्षणत्वादस्य शय्योपकरणे च समाख्यातो विगतरागादिदोषसकलपदार्थसार्थस्वभावावभासनसहस्रेदनेन निर्वाणनगरगमनासनानमार्गायमाणचरणकरणविशुद्धिहेतुतयोपलभ्यसम्यगभिहितस्तीर्थकरैरिति नान्तरायदोषः तेषाम्, पुनः किंविधः पिण्ड इत्याह-विशुद्धः सकलदोषवियुक्तः, तथा विशुद्धत्वादेव शुद्धिकारकः कर्ममलक्षालनकारीति । अथवा-कस्मादकृतादिगुणः पिण्डो यते समाख्यात इत्याह-विशुद्धो विशुद्ध एव कृतादिदोषरहित एव शुद्धिकारको भवति नान्यो, विशुद्ध्यर्थी च यतिर्भवप्रपञ्चोपचितकल्मषमलपटलस्येति ॥ १ ॥

असंकल्पित एव चेत्युक्तम्, तस्य च परमतेनासंभवमुपदर्शयन्नाह-

यो न संकल्पितः पूर्वं, देयबुद्ध्या कथं नु तम् ? ।
ददाति कश्चिदेवं च, सविशुद्धो वृथोदितम् ॥ २ ॥

यः पिण्डो न नैव संकल्पितोऽभिसन्धितः पूर्वं दानकालात् देयबुद्ध्या दातव्योऽयं मया भिक्षुभ्य इत्येवरूपया धिया, कथमिति क्षेपे, 'नु' इति वितर्के,केन प्रकारेणेन, कथञ्चिदिति यावत्, तं पिण्डं ददाति भिक्षुभ्यः प्रयच्छति कश्चित्कोऽपि दायकः प्राणी, न कोपीत्यर्थः । दानार्थमसंकल्पितस्य असत्त्वेन दातुमशक्यत्वादिति भावः । एवं च अमुना प्रकारेणासंकल्पितस्य देयस्यासंभवे सति सोऽसंकल्पितपिण्डो विशुद्धो निरवद्य इति यदुक्तं प्राक्,तद्वृथा व्यर्थम्, असंभवादुदितं भणितमिति ॥२॥

असंकल्पित एव पिण्डो ग्राह्यो यतेरित्यतस्तत्रैवाभ्युपगमे दूषणान्तरमाह-

न चैवं सद्गृहस्थानां, भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत् ।
स्वपरार्थं तु ते यत्नं, कुर्वन्ति नान्यथा क्वचित् ॥ ३ ॥

न केवलमसंकल्पितपिण्डासंभवेन व्यर्थं तत्प्रतिपादनं, भिक्षा च न ग्राह्या सद्गृहेषु भवतीति वाक्यार्थः । पदार्थस्त्वेवम्-नेति प्रतिषेधे, चशब्दो दूषणान्तरसमुच्चये एवमिति, असंकल्पितपिण्डाभ्युपगमे सति, सद्गृहस्थानां ब्राह्मणादिभोजनाऽगारिणां, गृहेषु वेश्मसु,भिक्षासमुदानं, ग्राह्या आदानव्या। कुत एवमेतदित्यत आह-यत् यस्मात्कारणात्, स्वपरार्थं तु आत्मभिक्षाचरनिमित्तमेव, ते सद्गृहस्थाः यत्नं पाकनिर्वर्तनप्रयासं, कुर्वते विदधति, नान्यथा भिक्षाचरदानासंकल्पेन, स्वार्थमेव क्वचित् कदाचनापि स्वनिमित्तमेव पाकप्रयत्नं सद्गृहस्थत्वायोगादिति। यस्मात् स्वकर्माजीवनकुल्यैः समानऋषिभिर्वैवाह्यम्, ऋतुगामित्वं, देवतापित्रतिथिभर्तव्यपोषणं, शेषभोजनं चेति गृहस्थधर्मः । अतिथिश्च यतिरपि भवति, भोजनकालोपस्थायित्वात्तस्यापीत्यर्थः ॥ ३ ॥

पर एवाचार्यमतमाशङ्कयमानमाह-

संकल्पं च विशेषेण, यत्राऽसौ दुष्ट इत्यपि ।
परिहारो न सम्यक् स्याद्, यावदर्थिकवादिनः ॥ ४ ॥

संकल्पनमभिसंधानं, विशेषेणामुष्मै साधवे मयेदं दातव्यमित्येवमसामान्यतः,यत्र पिण्डे,असौ स एव पिण्डो, दुष्टो दोषवानित्यपि अयमनन्तरोदितोऽपि, न केवलमसंकल्पितपिण्डाभ्युपगमो न सम्यगित्यपि शब्दार्थः, परिहारः पूर्वपक्षवाद्युक्तदूषणपरिहरणम्, 'न' नैव, सम्यक् सङ्गतः, स्याद्भवेत् । कस्येत्याह-यावदर्थिकवादिनस्तव, तत्र यावन्तो यत् परिमाणास्ते च तेऽर्थिनश्च भिक्षुकादयो यावदर्थिनः ते प्रयोजनं यस्य निष्पादने स यावदर्थिकः पिण्डः, तमपि परिहार्यतया यो वदतीत्येवंशीलः स तथा, तस्य यावदर्थिकवादिनः, यावदर्थिनिमित्तनिष्पादितपिण्डपरिहारवादित्वाद्भवत इति भावः ।

यतोऽभिहितम्-

" यावंति य मुद्देसं, पासंडीण भवे समुद्देसं ।
समणाणं आएसं, निग्गंथाण समाएसं ॥ १ ॥ " इति ।

तथा-

" असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणेज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥ २ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३ ॥ " ॥ ४ ॥

पूर्वपक्ष एवाह-

विषयो वाऽस्य वक्तव्यः, पुण्यार्थं प्रकृतस्य च ।
असंभवाभिधानात्स्या-दाप्तस्याऽनाप्तताऽन्यथा ॥ ५ ॥

यावदर्थिकपिण्डपरिहारवादिना भवता पूर्वोक्तपरिहारासम्यक्त्वमभ्युपगन्तव्यं, नो चेद्विषयो वा गोचरो वा, वाशब्दो विकल्पार्थः ।अस्य यावदर्थिकपिण्डस्य वक्तव्यो वाच्यः,अमुमर्थिविशेषमाश्रित्य निर्वर्तितोऽयं परिहार्य इत्येवं गोचरान्तरपरिकल्पनयैवायं शक्यः परिहर्तुं, नान्यथा इति भावः । तथा न केवलं यावदर्थिकपिण्डस्य विषयो वक्तव्यः । पुण्यार्थं पुण्यनिमित्तं, प्रकृतस्य च निष्पादितस्यापि स वक्तव्यः, यतः पुण्यार्थं प्रकृतस्यापि पिण्डस्य परिहारोऽभ्युपगम्यते भवद्भिः । यदाह-" असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ॥ जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं "१इत्यादि। अशक्यपरिहारश्चायमपीति, तस्यापि विषयविशेषो वाच्य इति भावः । अथ किंविषयान्तराभिधानेनेत्याचार्यमतमाशङ्क्याह-अन्यथा यावदर्थिकपुण्यार्थप्रकृतपिण्डयोर्विषयविशेषाप्रतिपादने, आप्तस्य क्षीणरागद्वेषमोहदोषतयाऽन्यसकलवचनत्वेनैकान्तहितस्य शास्त्रप्रणेतुरनाप्तता अक्षीणदोषत्वेनाहितत्वं स्याद्भवेत्,कुत इत्याह-असंभवाभिधानात्, अविद्यमानः संभवो यस्य यावदर्थिकादिपिण्डपरिहारस्य सोऽसंभवः, तस्याभिधानं तस्मात्, असंभवश्च तस्य स्वपरार्थं तु ते यत्नं कुर्वते, नान्यथेत्यनेन दर्शित एवेति पूर्वपक्षः ॥ ५ ॥

अत्रोत्तरमाह-

विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि ।
संकल्पनं क्रियाकाले, तद्दुष्टं विषयोऽनयोः ॥ ६ ॥

विभिन्नमतिरिक्तं, देयं दातव्यमोदनादि, आश्रित्याङ्गीकृत्य, कुतो विभिन्नमित्याह-स्वभोग्यात् विवक्षितात्मीयोदनादिभोगार्हात्, यत्र यस्मिन्, वस्तुनि ओदनादिपदार्थे, संकल्पनमेतावदिदं कुटुम्बायैतावद्याचकेभ्यः पुण्यार्थं चेत्यभिसंधानं, क्रियाकाले पाकानिर्वर्तनसमये, तदिति यदेतत्संकल्पनं तद्दुष्टं दोषवद्विषयो गोचरोऽनयोः यावदर्थिकपुण्यार्थं प्रकृतयोरपि, एवंविधसंकल्पनवन्तावेतौ पिण्डविशेषौ परिहार्याविति भाव इति ॥ ६ ॥

सङ्कल्पनानन्तरं तु न दुष्टमित्येतदाह-

स्वोचिते तु यदारम्भे, तथा संकल्पनं क्वचित् ।

न दुष्टं शुभभावत्वात्, तच्छुद्धापरयोगवत् ॥ ७ ॥

स्वस्य शरीरकुटुम्बादे , उचितो योग्य स्वोचित , तस्मिन्, तुश- ब्द. पुन शब्दार्थ ,यदिति सङ्कल्पनम्. आरम्भे पाकादिरूपे सति, तथा तेन प्रकारेण स्वयोग्यातिरिक्तपाकशून्यतया, सङ्कल्पनमिदं स्वार्थमुपकल्पितमन्नमतो मुनीनामुचितदानेनाऽऽत्मानमथ पु- ण्यपात्रमाधास्यामीति चिन्तन, क्वचित् कस्मिंश्चिदेवारम्भे, न तु साध्वनुचितद्रव्यपाकरूपे,तदित्यस्येह दर्शनात् तत्सङ्कल्पन, न दु- ष्टम् न दोषवत्,न तत् पिण्डमदूषणकारणम्,कुत इत्याह-शुभभाव- त्वात् चित्तविशुद्धिमात्रत्वात्, न हि तत् सङ्कल्पनं साध्वर्थं- पृथिव्यादिजीवोपमर्दनिमित्तम्, अपि तु दायकस्य शुभभावमा- त्रं तदिति भाव । किंवदित्याह-शुद्धापरयोगवत्, य शुद्ध प्र- शस्तोऽपरयोग संकल्पनव्यतिरिक्तव्यापारो मुनिवन्दनादि",न- द्वत् । यथाहि मुनिविषयो नमनस्तवनादिरनवद्यो व्यापारो न पिण्डमदूषणकारणमेवमेवंविधसंकल्पनमपीति भावनेति ॥ ७ ॥ यदुक्तमसम्भविनोऽसङ्कल्पितस्याभिधानादाऽऽसत्यानाप्ततेति, तत् परिहरन्नाह-

दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि, लाभ एवमसंभवः ।

नोक्त इत्याप्ततासिद्धिः, यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥ ८ ॥

दृष्ट उपलब्धोऽसङ्कल्पितस्यापि यत्यर्थमसंभावितस्यापि,न केवल सङ्कल्पितस्यैव लाभो भवतीत्यदृष्ट इत्यपिशब्दार्थ । लाभ प्राप्ति., पिण्डस्येति गम्यते । यतो गृहस्था अदित्सवोऽ- पि स्वगृहकान्तारादिषु, तथा भिक्षूणामभावेऽपि, तथा रात्र्या- दौ भिक्षाऽनवसरेऽपि पाकं कुर्वन्ति, तथा कथञ्चिद्ददत्यपीति दृश्यते । आह च-"सम्भवइ य एसो वि हु,केसिंचि य सूयगाइ- भावे वि । अवि सेसुवलभाओ,तत्थ वि तल्लाभसिद्धीओ॥१॥" एव च यदुक्तम्-"यो न सङ्कल्पित" इत्यादि, तथा-"न चैव सद्गृह- स्थानाम्" इत्यादि च । तत् परिहृतम् । गाथा चेह-" सङ्कप्पिय केइ इहं, विसेसओ धम्मसत्थकुसलमई । इय न कुणंति वियरण-मेवं भिक्खाइए च इमे ॥ १ ॥" यथासङ्कल्पितस्या- पि पिण्डस्य लाभो दृष्टस्तत. किमिति ? । आह- एव- मिति-अनेनासङ्कल्पितप्रकारेण पिण्डलाभदर्शने सति, असं- भव -असम्भावना, अप्राप्तिरसङ्कल्पितपिण्डस्य, नोक्तो नाभिहि- त., आप्तेन । तत किमिति ?,आह-इतिशब्दो हेत्वर्थ । तेन अ- सम्भविपिण्डस्यानभिधानाद्धेतो ,संभविन एवाभिधानादित्यर्थ । आप्ततायाः असम्भविपिण्डानभिधानसम्भावितानाप्तताव्यतिरेक- भूतायाः, सिद्धि प्रतिष्ठा, आप्ततासिद्धि , शास्तुरिति गम्यते । अथवा-भवत्वसंकल्पितपिण्डस्य सम्भवः, तथापि तद्ग्रहणदुष्कर- त्वात् तत्प्रणेतुरनाप्ततैवेत्याह-यतिधर्मो मूलगुणोत्तरगुणसमुदाय- रूप.,अतिदुष्करोऽतीव दुष्परिपाल्य इति प्रसिद्धमेव, नानेनाऽऽप्त- स्यानाप्तता भवति । अनन्योपायत्वान्मोक्षस्येति ।आह च-"दुक्करयं अह एयं,जइधम्मो दुक्करो च्चिय पसिद्धोकिं पुण एत्थ पयत्तो,मोक्ख फलत्तेण पयडत्थ"॥१॥ इति । ततो हे कुतीर्थिकाः! यदि यूयमा- त्मनो यतित्वेन सर्वसंपत्करीं भिक्षां मन्यध्वे,तदा अकृतादिगुणो- पेतपिण्डपरिग्रहः कार्य इति प्रकरणगर्भार्थ इति ॥ ८ ॥ हा० ६ अष्ट० । पञ्चा० ।

पिण्डाद्यशोधने दोष.-

"पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।

चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ १ ॥
सिज्जं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ २ ॥
वत्थं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ ३ ॥
पत्तं असोहयंतो अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया " ॥ ४ ॥

इदं चोत्सर्गेण सति संस्तरणे ज्ञेयम्, असंस्तरणे तु अशुद्ध- ग्रहणेऽप्यदोष. । यदुक्तम्-" संथरणम्मि असुद्धं " इत्यादि । ध० ३ अधि० ।

[६१] भ्रमरदृष्टान्तेन भिक्षायां निर्दोषत्वसिद्धि -

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।

न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

अथाह-अथ कस्माद्दशावयवनिरूपणायां प्रतिज्ञादीन्विहाय सूत्रकृता दृष्टान्त एवोक्त इति ?। उच्यते-"दृष्टान्तादेव हेतुप्रतिज्ञे अभ्यूह्ये" इति न्यायप्रदर्शनार्थम् । कृत प्रसङ्गेन, प्रकृत प्रस्तुमः- तत्र-यथा येन प्रकारेण, द्रुमस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, पुष्पेषु प्राग्निरूपितशब्दार्थेष्वेव, असमस्तपदाभिधानमनुमेये गृहिद्रुमा- णामाहारादिषु पुष्पाद्यधिकृत्य विशिष्टसम्बन्धप्रतिपादना- र्थमिति । तथा चान्यायोपार्जितवित्तदानेऽपि ग्रहण प्रतिषिद्ध- मेव । भ्रमरश्चतुरिन्द्रियविशेषः । किम् ?, आपिबति मर्यादया पिबत्यापिबति । कम् ? , रस्यत इति रसस्त, निर्यास, मकरन्दमित्यर्थ । एष दृष्टान्त । अयं च तद्देशोदाहरणमधिकृत्य वेदितव्य इति । एतच्च सूत्रस्पर्शिकनियुक्तौ दर्शयिष्यते एक च सूत्रस्पर्शे नियमम्येति । अधुना दृष्टान्तविशुद्धिमाह-न च नैव पुष्प प्राग्निरूपितस्वरूप, क्लामयति पीडयति, स च भ्रमरः, प्रीणाति तर्पयत्यात्मानमिति सूत्रसमुदायार्थ । अवयवार्थं तु निर्युक्तिकारो महता प्रपञ्चेन व्याख्यास्यति ।

तथा चाह-

जह भमरो त्ति य एत्थं, दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे ।

चंदमुहिदारिगेयं, सोमत्तऽवहारणं ण सेसं ॥१००॥ नि०।

यथा भ्रमर इति चात्र प्रमाणे दृष्टान्तो भवत्युदाहरणदेशमधि- कृत्य,यथा-चन्द्रमुखी दारिकेयमित्यत्र सौम्यत्वावधारण गृह्य- ते, न शेष कलङ्काङ्कितत्वाऽनवस्थितत्वादीति गाथार्थ. ॥१००॥

एवं भमराहरणे, अणियतवित्तित्तणं न सेसाणं ।

गहणं दिट्ठंतविसु-द्धि सुत्ते भणिया इमा चऽन्ना ॥१०१॥ नि०।

एव भ्रमरोदाहरणे अनियतवृत्तित्व, गृह्यत इति शेष. । न शेषाणामविरत्यादीनां भ्रमरधर्माणां, ग्रहण दृष्टान्त इति । एषा दृष्टान्तविशुद्धि सूत्रे भणिता, इय चान्या सूत्रस्पर्शिनिर्यु- क्ताविति गाथार्थ ॥ १०१ ॥ दश० १ अ० । प० व० । (वि- शेषस्त्वत्र "धम्म" शब्दे । विहङ्गमदृष्टान्त " विहगम " शब्दे) (स्थापनाकुलव्याख्या "ठवणाकुल" शब्दे) यति. श्राद्धगृहे गत्वोपविश्य भक्तादिकं गृह्णाति,न वेति प्रश्ने,यति. श्राद्धगृहे कारण विनोपविश्य भक्तादिकं न गृह्णाति.कारणे तु गृह्णाति"तिण्हमन्नय- रागस्स,निसिज्जा जस्स कप्पइ । जराए अभिभूयस्स,गिलाणस्स तवस्सिणो"॥६०॥ इति दशवैकालिकषष्ठाध्ययने प्रतिपादितत्वा- दिति । १२४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

गोयरणिसिज्जा–गोचरनिषद्या–स्त्री० । गोचरगतस्य निषदने, व्य० १० उ० ।

गोयरप्पवेस–गोचरप्रवेश–पुं० । गोचरार्थं प्रवेशे, दश० ५ अ० ।

गोयरभूमि–गोचरभूमि–स्त्री० । भिक्षाचर्यावीथ्याम्, भिक्षाचर्याविषये मार्गविशेषे, ध० ३ अधि० । ताश्च षडष्टौ वा—" छ- व्विहा गोयरचरिया पण्णत्ता । तं जहा– १ पेडा २ अद्धपेडा ३ गोमुत्तिया ४ पतंगवीहिगा ५ संबुक्कावट्टा ६ गंतु पच्चागया "। स्था० ६ ठा० । पं० व० ।

अष्ट चेमाः—

" उज्जुग गंतुं पच्चा-गई य गोमुत्तिआ पयंगविही ।
पेडा य अद्धपेडा, अब्भिंतर बाहिं संबुक्का ॥ १ ॥ "

ऋज्वी १ गत्वा प्रत्यागतिः २ गोमूत्रिका ३ पतङ्ग- वीथिः ४ पेटा ५ अर्द्धपेटा ६ अभ्यन्तरशम्बूका ७ बहिः- शम्बूका ८ चेति । तत्र ऋज्वी-स्ववसतेः ऋजुमार्गेण समश्रे- णिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षाग्रहणेन पङ्क्तिसमापने, ततो द्वितीय- पङ्क्तौ पर्याप्तेऽपि भिक्षाग्रहणेन ऋजुगत्यैव निवर्तने च भवति १ ; गत्वा प्रत्यागतिस्तु-एकपङ्क्तौ गच्छतो द्वितीयपङ्क्तौ च प्रत्यावर्तमानस्य भिक्षणे २ ; गोमूत्रिका च-परस्पराभिमुख- गृहपङ्क्त्योर्वामपङ्क्त्येकगृहे गत्वा दक्षिणपङ्क्त्येकगृहे याती- त्येवंक्रमेण श्रेणिद्वयसमाप्तिकरणे भवति ३ ; पतङ्गवीथिश्च- अनियतक्रमा ४ ; पेटा च-पेटाकारं चतुरस्रं क्षेत्रं विभज्य मध्यवर्तीनि गृहाणि मुक्त्वा चतसृष्वपि दिक्षु समश्रेण्या भिक्ष- णे भवति ५ ; अर्द्धपेटा च-प्राग्वत् क्षेत्रं विभज्य दिग्द्वयसंब- द्धगृहश्रेण्योर्भिक्षणे ६ ; अन्तःशम्बूका च-मध्यभागात् श- ङ्खावर्तगत्या भिक्षमाणस्य बहिर्निस्सरणे भवति ७, बहिः- शम्बूका तु-बहिर्भागात्तथैव भिक्षामटतो मध्यभागागमने भ- वतीति ८ ॥ ध० ३ अधि० । बृ० । पं० व० । नि० चू० ।

गोयरि–गोचरि–स्त्री० । चतुर्मासकमध्ये " सक्कोसं जोअणं भिक्खायरियाए गंतुं पडिनिअत्तए " इत्युक्तं श्रीकल्पसूत्रे, एत- दनुसारेण चैत्यगुर्वादिवन्दनाद्यर्थं गन्तुं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–" भिक्खायरियाए " इत्येतत्पदं चैत्यगुरुवन्दनाद्यर्थ- गमनस्योपलक्षणपरमवसीयते, आवश्यकहारिभद्रयां द्वि- क्रियनिह्नवस्य शरत्काले नद्युत्तरणपुरस्सरं गुरुवन्दनादिप्रवृत्ति- र्नास्तीति ॥ ५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

गोयवग्ग–गोत्रवर्ग–पुं० । गोत्रप्रकृतिसमुदाये, कर्म० २ कर्म० ।

गोयसुद्ध–गोत्रशुद्ध–न० । उच्चैर्गोत्रे, दश० १ अ० ।

गोयावरी–गोदावरी–स्त्री० । नासिकपुरसन्निधानिर्गते पूर्वसमु- द्रसंगते नदीभेदे, " सच्चं भण गोयावरि !, पुव्वसमुद्देण साह- या संती । " व्य० ३ उ० ।

गोयावाइ–गोत्रवादिन्–पु० । समोच्चैर्गोत्रं सर्वलोकमाननीय ना- परस्येत्येवं वादिनि, " एगे गोयावादी माणावादी " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

गोयावाय–गोत्रवाद–पुं० । गोत्रोद्घाटनेन वादे, यथा-काश्यपस- गोत्रो वसिष्ठसगोत्रो वेति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

गोर–गौर–त्रि० । अवदाते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । गौरवर्णयुक्ते वर्णभेदे, पु० । वाच० । " खार लवणं १ दहणं, हिम च २ अ- ग्गिगोरच्छिन्नादो रोगी ३ । परवसगुणो अ खुष्णो, केवलगोरत्तणेऽ- वगुणा " ॥१॥ कल्प० ७ क्षण । गोधूमे, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

गोरखर–गौरखर–पु० । गौरवर्णगर्दभे, स च आत्यन्तरमेव, कच्छा- रण्याद्युत्पद्यमानो 'गोरखलेति' भाषाप्रसिद्धः । प्रश्न० १ पद ।

गोरगिरि–गौरगिरि–पुं० । श्वेतपर्वते, " गोरगिरि नाम पव्वतो, तस्स णिज्झरे सिवो, तं च एगो बंभणो, पुलिंदो य भवति " । नि० चू० १ उ० ।

गोरमिग–गौरमृग–न० । गौरमृगचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

गोरव–गौरव–न० । महासामन्तादिकृताभ्युत्थानादिप्रतिपत्तौ, जं० ३ वक्ष० । गमने च । गौरवशब्दो गमनपर्याय' । स्था० ६ ठा० ।

गोरस–गोरस–पुं० । गवां रसो गोरसः, व्युत्पत्तिरेवम्, प्रवृत्ति- स्त्वेवम्-गोमहीष्यादीनां दुग्धादिरूपे रसे, स्था० ४ ठा० १ उ० । तक्रे, बृ० १ उ० । स च शालनकेऽन्तर्भवति । प्रश्न० ५ सब० द्वार । सू० प्र० । व्य० । स्था० । 'आमगोरससंपृक्तद्विदलम्' इत्यत्र गोरसशब्देन किं व्याख्यातमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-गोरसशब्देन दु- ग्धं, दधि, तक्रं च त्रयमपि परम्परयाऽभिधीयमानमस्ति, योगशास्त्र- वृत्तौ गोरसशब्दार्थो व्याख्यातो नास्ति । ३३० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

गोरसविगइ–गोरसविकृति–स्त्री० । गोरसे विकृतयः, शरीरमनसोः प्रायो विकारहेतुत्वात् । गोरसरूपासु विकृतिषु, " चत्तारि गोरसविगईओ पण्णत्ताओ । तं जहा–खीरं दहिं सप्पिं णव- णीअं । " स्था० ४ ठा० १ उ० ।

गोरहग–गोरथक–पुं० । कलहोडके, बृ० १ उ० । आचा० । त्रि- वर्षबलीवर्दे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दश० ।

गोरा–देशी–लाङ्गलपद्धतौ, चक्षुषि, ग्रीवायां च । दे० ना० २ वर्ग ।

गोरि–गौरी–स्त्री० । "स्वराणां स्वराः" ॥ ८ । ४ । ३३८ ॥ प्रा- योऽपभ्रंश इत्यन्त्यह्रस्वत्वम् । गौरवर्णायां स्त्रियाम्, प्रा० ४ पाद ।

गोरिहर–गौरीहर–न० । स० द्वन्द्व । "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" ॥ ८ । १ । ४ । इति दीर्घस्य ह्रस्वः । उमामहेश्वरे, प्रा० १ पाद ।

गोरी–गौरी–स्त्री० । गौर-ङीष् । प्रा० । गौरवर्णस्त्रियाम्, "गोरी गायइ महुर" । प्रा० ३ पाद । स्था० । अनु० । ज्ञा० । पार्वत्या- म्, शिवपत्न्याम्, प्रा० । को० । बलमातरि, बलकोट्टनार्य्यायाम्, उत्त० १२ अ० । कृष्णवासुदेवस्याष्टानामग्रमहिषीणां द्विती- यायाम्, सा चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्धेति । अन्त० ५ वर्ग । स्था० । कल्प० । महाविद्याभेदे, " गोरी मणुन्ना म- णुन्नपुण्णगा । " आ० चू० १ अ० । कल्प० । बहुवचने " ईतः सेश्चाऽऽवा " ॥ ८ । ३ । २८ ॥ इति जश्शसोराकारः । 'गोरीआ' प्रा० ३ पाद ।

गोरेय–गौरेय–पु० । वैताढ्यपर्वतदक्षिणविद्याधरश्रेणिव्यव- स्थिते निकायभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गोरोयणा–गोरोचना–स्त्री० । गोभ्यो जाता रोचना हरिद्रा । स्वनामख्याते गन्धद्रव्ये, वाच० । गोपित्तजातायाम्, पञ्चा० ४ विव० ।

गोरंफीमी–देशी-गोधायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोल्ल–गोल्ल–पुं० । वृत्तपिण्डे, (पुरुषदृष्टान्तेन गोलप्ररूपणा 'पुरि-

सज्जाय' शब्दे वक्ष्यते) " जह अयगोलो धंतो" प्रश्न० १ पद । गोलो जतुगोलः सूचकत्वात्तस्य जतुगोलाख्यातोपमया भिक्षाग्रहणप्रतिपादके द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश०।

" जह जउगोलो अगणि-स्स णातिदूरे ण यावि आसन्ने।
सक्काइ काऊण तहा, सजमगोलो गिहत्थाणं ॥
दूरे अणेसणाइं, इयरम्मी तेण सकाइ ।
तम्हा मियभूमीए, चिट्ठिज्जा गोयरग्गगओ ॥" दश०१ अ०।

कन्दुके,सूत्र०१ श्रु० ४ अ०२ उ०।क्षेत्रभेदे,मण्डले,मदनकवृक्षे, वाच० । "होस गोल वसुलि त्ति, पुरिस नेवमालवे।' दश०७अ०। आचा०।'गोलेति' देशविशेषापेक्षया कुत्सागर्भे पुरुषामन्त्रणम्। स्था० १ श्रु० ६ अ० । दश० । देशीप्रसिद्धो नैष्ठुर्यवाचकः । दश० ७ अ० । काश्यपगोत्रविशेषभूते पुरुषापत्यरूपे शाण्डिल्यादौ, स्था० ७ ठा० । साक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग ।

गोलक्खण-गोलक्षण-न०।६त०।गो शुभाशुभसूचके चिह्नभेदे,वाच० । तत्प्रतिपादकशास्त्रे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गोलग-गोलक-पु० । वर्तुले पाषाणादिमये, अनु० । पिण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।औत्पत्तिक्यामुदाहरणम्। आ० म० द्वि०। मणिके, आलिञ्जरिके, गुडे च, गन्धरसे, कलाये, विधवायाः जारजे पुत्रे, वाच० ।

गोलगोलच्छाया-गोलगोलच्छाया-स्त्री० । गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा निष्पादित एको गोल ,स गोलगोल ,तस्य च्छाया गोलगोलच्छाया, गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा निष्पादितस्यैकस्य गोलस्य छायायाम्, च० प्र० ६ पाहु० ।

गोलच्छाया-गोलच्छाया-गोलमात्रस्य छायायाम्, चं० प्र० ६ पाहु० । सू० प्र० ।

गोलपुंज-गोलपुञ्ज-पु०। ६ त०। गोलोत्करे, सू०प्र० ६ पाहु० । चं० प्र० ।

गोलपुंजच्छाया-गोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० ।गोलोत्करच्छायायाम, सू० प्र० ६ पाहु० । चं० प्र० ।

गोलवट्ट-गोलवृत्त-त्रि० । गोलवद्वृत्ते, रा० ।

गोलवट्टसमुग्गय-गोलवृत्तसमुद्गक-पु० । गोलकाऽऽकारे वृत्तसमुद्गके, भ० १० श०८ उ० ।

गोला-गोदावरी-स्त्री०। "गोणादयः" ॥८।२।१७४॥ इति निपातनाद्गोलाऽऽदेशः। नदीविशेषे, प्रा० २ पाद। गवि,गोदावर्याम्, सामान्येन नद्याम्, सख्यायां च । दे० ना० २ वर्ग ।

गोलावलिच्छाया-गोलावलिच्छाया-स्त्री० । गोलानामवलिर्गोलावलि', तस्य छाया गोलावलिच्छाया । गोलपङ्क्तिच्छायायाम्, सू० प्र० ६ पाहु० । चं० प्र० ।

गोलिय-गोलिक-पु० । गुरुकरके, व्य० ९ उ० ।

गाल्मिक-त्रि० । मथितविक्रयके, बृ० १ उ० ।

गोलिया-गुटिका-स्त्री० । वटिकायाम्, रा० । अनु० ।

गोल्लिका-स्त्री० । वृत्ताऽऽकृतौ बालक्रीडनोपकरणे, प्रव० ३८ द्वार । " तीए दासीए घडो गोलियाए भिन्नो, त च अधिर्तिं करिंतिं दट्ठूण पुणरावत्ती जाया " दश० २ अ० ।

गोलियायण-गोलिकायन-पु० । कौशिकगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्येषु च । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

गोलियालिंग-गोलिकालिङ्ग-न० । अश्लेषाभ्रयविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

गोली-गौरी-स्त्री० । " रस्य लो वा " ॥ ८ । ४ । ३२६ ॥ इति चूलिकपैशाचिके रस्य स्थाने वा लः । पार्वत्याम्, "पनमथ पनय-पकुप्पित-गोलीचलनग्ग-लग्ग-पति-बिंवं।" प्रा० ४ पाद। मन्थिन्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोलेहणिया-गोलेहनिका-स्त्री० । गोभिर्लिह्यमानायाभूपभूमौ, नि० चू० ३ उ० ।

गोलोम-गोलोम-पु० । द्वीन्द्रियभेदे, जी० १ प्रति० ।

गोलोमप्पमाण-गोलोमप्रमाण-त्रि० । प्रमाणविशेषे,गोलोमप्रमाणा अपि केशा न स्थापनीयाः । कल्प० ९ क्षण ।

गोल्ल-गोल्ल-पु० । देशभेदे, यत्र चणकग्रामे चाणक्यो ब्राह्मणो जातः। आ० म० द्वि० । आ० चू० । बिम्बाफले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गोल्लास-गोल्लास-पु० । देशभेदे, यत्र चाणक्यो जातः । आ० क० ।

गोल्हा-गोह्ला-स्त्री० । बिम्बाफले, आ० म० प्र० । बिम्ब्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोव-गोप-पु०।स्त्री०। गां भूमिं वा पाति रक्षति । पा-क०।जातिभेदे, स्त्रियां ङीप् । ग्रामाधिकृते, भूरक्षके च । पु० । गोष्ठाध्यक्षे च । वाच० । गोरक्षके, उपा० ७ अ० । आ० म० । आ० चू० । गोपायति, गुप्-अच् । रक्षके, स्त्रियां गौरा० ङीष् । " शालिगोप्यो जगुर्यशः " उपकारके, त्रि० । वाच० ।

गोवइ-गोपति-पु०। ६ त०। "पो वः" ॥८।१।२३१॥ इति पस्यः वः। प्रा० १ पाद। गवेन्द्रे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। गवां पशूनां पत्यौ शिवे, वृषे, भूमिपतौ, नृपे, श्रीकृष्णे, किरणपतौ सूर्ये, स्वर्गपतौ शक्रे, ऋषभजनामौषधे, वाच० ।

गोवग्ग-गोवर्ग-त्रि०। गवां समूहे, "एग च ण महं सेयं गोवग्गं पासित्ता ण पडिवुद्धे ॥४॥" स्था० १० ठा० । आ० क० ।

गोवतिअ-गोव्रतिक-गोव्रत येषामस्ति ते गोव्रतिकाः । औ० । गोचर्यानुकारिणि तपस्विनि, अनु० । ते हि वयमपि किल तिर्यक्षु वसाम इति भावनां भावयन्तो गोभिर्निर्गच्छन्तीभिः सह निर्गच्छन्ति, स्थिताभिस्तिष्ठन्त्यासीनाभिरुपविशन्ति, भुञ्जानासु तद्वदेव तृणपत्रपुष्पफलादि भुञ्जन्ति । तत.— "तह ते गावीहि सम, निग्गमपवेसणाइ पकरांति । भुजंति जहा गावी, तिरिक्खवास विभावता ॥ १ ॥" अनु० । औ० । ग० ।

गोवय-गोष्पद-न० । गो. पदम्, गाव. पद्यन्ते यस्मिन् देशे वा । गा पदजाते गर्ते, गोपदप्रमाणे च । गोभिः सेवितदेशे, तद्सेविते वनादौ च । प्रभासक्षेत्रस्थे तीर्थभेदे, वाच० । स्था० ।

गोपद-न० । गोपदप्रमाणे गर्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

गोवर-देशी- करीषे, दे० ना० २ वर्ग ।

गोवरग्गाम-गोवरग्राम-पु० । मागधीये स्वनामख्याते ग्रामे, यत्रेन्द्रभूत्यादयो गणधरा उत्पन्नाः । गुव्वरग्राम इत्यपि । आ० क० । आ० चू० ।

गोवलायण-गोवलायन-पुं० । गोवलस्य गोत्रापत्ये, सू० प्र० १० पाहु० । च० प्र० । ज० ।

गोवल्ल-गोवल्ल-पु० । गोवल्लस्य गोत्रापत्ये, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । " गोवल्लायते " ज० ७ वक्त० ।

गोवल्लायण-गोवल्लायन-पु० । ' गोवलायणं ' शब्दार्थे, सू० प्र० १० पाहु० ।

गोवाम-गोवाट-न० । गोशालायाम्, गोष्ठे, वाच० । स्था० । ति० ।

गोवाल-गोपाल-पु० । । गां भूमिं पशुभेदं वा पालयति । पालि-अण्, उप० स० । नृपे, गोरक्षके, उत्त० २२ अ० । स्थविरसुस्थितप्रतिबुद्धे शिष्ये, कल्प० ८ क्षण । आ० म० । नृपप्रद्योतनपुत्रपालके, आ० चू० ४ अ० । "क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां, समुत्पन्नस्तु यः सुतः । स गोपाल इति ज्ञेयो, भोज्यो विप्रैर्न संशयः ॥ १ ॥ " इति पराशरोक्ते सङ्कीर्णजातिभेदे, वाच० ।

गोवालगिरि-गोपालगिरि-पु० । गोवर्द्धनगिरौ, ती० ९ कल्प० ।

गोवालय-गोपालक-पु० । गोपालयति-पालि-ण्वुल् । ६ त० । गोरक्षके, भूमिरक्षके च । वाच० । सूत्र० ।

गोवाली-गोपाली-स्त्री० । लताभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

गोविंद-गोपेन्द्र-पुं० । योगशास्त्रकृति, यो० विं० । स्वनामख्याते वाचकेन्द्रे, यो० विं० । ल० । पं० व० । " गोविंदाण पि नमो, अणुओगविउलधारणिंदाण । णिच्चं खंतिदयाण, परूवणे दुल्लभिंदाण ॥ १ ॥ " न० ।

गोविन्द-पु० । छन्दया प्रव्रज्यया प्रव्रजिते स्वनामख्याते शाक्यभक्ते प्राप्तबोधे, स्था० १० ठा० । व्य० । तत् कथा चैवम्-कश्चिद् गोविन्दनामा शाक्यमतभक्तो जिनागमरहस्यग्रहणार्थं कपटेन यतीभूय आचार्याणां पार्श्वे सिद्धान्ताध्ययनं कुर्वाणस्तेनैवाधीयमानसूत्रेण परिणामविशुद्धिप्रादुर्भावात्सम्यक्त्वं प्राप्य साधुर्भूत्वा सूरिपदं प्राप्त इति त० । व्य० । प० भा० । कर्मस्तवटीकाकारके देवनागसूरिशिष्ये च । जै० इ० । सूर्यशिवपुत्र्याः सूर्यश्रिया भर्त्तरि स्वनामख्याते ब्राह्मणे, महा० १ चू० । विष्णौ च । को० । स्या० । (' सुसढ ' शब्देऽस्य कथा)

गोविंदणिज्जुत्ति-गोविन्दनिर्युक्ति-स्त्री० । दर्शनप्रभावके स्वनामख्याते प्रमाणग्रन्थे, नि० चू० ११ उ० । बृ० । आ० चू० । तत्कृतिश्चैवम्-गोविन्दो नाम बौद्धभिक्षुः, स एकेन जैनाचार्येण अष्टादश वारान् वादे पराजितः चिन्तितवान्-यावदेषां सिद्धान्तस्वरूपं न जानामि तावन्न शक्नोमि जेतुमिति तस्यैवाचार्यस्यान्तिके सामायिकादिपठनच्छद्मेन सर्वं श्रुतं जग्राह, ततस्तत्प्रज्ञावाज्ज्ञानावरणापगमे सम्यक्त्वपरिणतात्मा व्रतमाददे, पश्चाद् गोविन्दनिर्युक्तिनामकं दार्शनिकग्रन्थं चक्रे । नि० चू० ११ उ० ।

गोविंददत्त-गोपेन्द्रदत्त-पु० । स्कन्दनाचार्यस्य सतीर्थ्ये, व्य० ३ उ० ।

गोविय-गोपित-त्रि० । रक्षिते, नि० ३ वर्ग । सूत्र० । ऐरवतवर्षे जाते कुलकरे, ति० ।

गोवी-देशी-बालायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोवीय-देशी-अजलपाके, दे० ना० २ वर्ग ।

गोवीही-गोवीथी-स्त्री० । गोसंज्ञके चतुर्भिर्नक्षत्रैरुपलक्षिते शुक्रादिमहाग्रहचारक्षेत्रभागे, स्था० ९ ठा० ।

गोस-गोस-पुं० । प्रत्यूषसि, पं० व० २ द्वार । आव० । नि० चू० । प्रातःशब्दार्थे, व्य० ६ उ० । आ० । चोले, उष्णकाले, वाच० । प्रभाते, दे० ना० २ वर्ग ।

गोसराण-देशी-मुखे, दे० ना० २ वर्ग ।

गोसंखी-गोसङ्खी-पुं० । मागधीयगोवरग्रामवास्तव्ये आभीराधिपतौ, आ० म० प्र० । आ० क० । आ० चू० । प्रव० ।

गोसंधिय-गोसन्धित-पु० । गोपाले, आव० ६ अ० ।

गोसालग-गोशालक-पुं० । मङ्खलिसुभद्राभ्यां गोबहुलब्राह्मणगोशालायां जातत्वाद् गोशालकः । कल्प० २ क्षण । स्वनामख्याते मङ्खलिपुत्रे श्रीवीरशिष्ये, (स च प्राग्भवे ईश्वरमुनिरासीदिति "इस्सर" शब्दे द्वितीयभागे ६५५ पृष्ठे आवेदितम्)

तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णामं णयरी होत्था । वण्णओ-तीसे णं सवत्थीए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, तत्थ णं कोट्टए णामं चेइए होत्था । वण्णओ-तत्थ णं सावत्थीए णयरीए हालाहला णामं कुंभकारी आजीवियउवासिया परिवसइ, अड्ढा० जाव अपरिभूया, आजीवियसमयंसि लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता अयमाउसो! आजीवियसमए अट्ठे, अयमट्ठे परमट्ठे, सेसे अणट्ठे त्ति आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणी विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं गोसाले मंखलिपुत्ते चउवीसवासपरियाए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

"तेण" इत्यादि । (मखलिपुत्ते त्ति) मङ्खल्यभिधानमङ्खपुत्रः । (चउवीसवासपरियाए ति) । चतुर्विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायः ।

तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अण्णया कयाइं इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भवित्था । तं जहा-साणे, कणंदे, कणियारे अच्छिंदे, अग्गिवेसायणे, अज्जुणे, गोमायुपुत्ते । तए णं ते छद्दिसाचरा अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं सएहिं मइदंसणेहिं णिज्जूहिंति । सएहिं मइदंसणेहिं णिज्जूहित्ता गोसालं मंखलिपुत्तं उवट्ठाइंसु । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महानिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं इमाइं छ अणइक्कमणिज्जाइं वागरणाइं वागरइ । तं जहा-लाभं, अलाभं, सुहं, दुक्खं, जीवियं, मरणं । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महाणिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेणं सावत्थीए णयरीए अजिणे जिणप्पलावी अणरहा अरहप्पलावी अकेवली केवलिप्पलावी असव्वण्णू सव्वण्णुप्पलावी अजिणे जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले

मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ। से कहमेयं मन्ने एवं ?। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं० जाव छट्ठं छट्ठेणं एवं जहा बिइयसए णियंठुद्देसए० जाव अडमाणे बहुजणसद्दं णिसामेइ। बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० ४-" एवं खलु देवाणुप्पिया! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ, से कहमेयं मन्ने एवं "?। तए णं भगवं गोयमे बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म० जाव जायसड्ढे० जाव भत्तपाणं पडिदंसेइ,० जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-एवं खलु अहं भंते! छट्ठं तं चेव० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ, से कहमेयं भंते! एवं?। इच्छामि णं भंते! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स उट्ठाणपरियाणियं परिकहियं ?। गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं! एवं वयासी-जं णं गोयमा! से बहुजणे अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० ४-"एवं खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ," तं णं मिच्छा। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु एयस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखलि णामं मंखे पिता होत्था। तस्स णं मंखलिमंखस्स भद्दा णामं भारिया होत्था, सुकुमाल० जाव पडिरूवा। तए णं सा भद्दा भारिया अन्नया कयाइं गुव्विणी यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं सरवणे णामं सन्निवेसे होत्था, रिद्धत्थिमिय० जाव सन्निभप्पगासे पासादीए। तत्थ णं सरवणे सन्निवेसे गोबहुले णामं माहणे परिवसइ, अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेय० जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था। तस्स णं गोबहुलस्स माहणस्स गोसाला यावि होत्था। तए णं से मंखलिमंखणामं अन्नया कयाइं भद्दाए भारियाए गुव्विणीए सद्धिं चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सरवणे सन्निवेसे जेणेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसाले, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि भंडणिक्खेवं करेइ। करेइत्ता सरवणे सन्निवेसे उच्चणीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वसहीं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। वसहीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणे अन्नत्थ वसहिं अलभमाणे तस्सेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागए। तए णं सा भद्दा भारिया णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं वीइक्कंताणं सुकुमाल० जाव पडिरूवं दारगं पयाता। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते० जाव बारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गोणं गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं करेंति-जम्हा णं अम्हं इमे दारए गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए जाते, तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं गोसाले त्ति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेंति-गोसाले त्ति। तए णं से गोसाले दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमेत्ते जुव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पाडिएक्कं चित्तफलगं करेइ। करेइत्ता चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा! तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता अम्मापिऊहिं देवत्तं गएहिं एवं जहा भावणाए० जाव एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए॥

(दिसाचर त्ति) दिशां चरन्ति यान्ति मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चरा, देशाटा वा दिक्चराः, भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति टीकाकारः। "पासावच्चिज्ज त्ति" चूर्णिकारः। (अंतिय पाउब्भवित्थ त्ति) समीपमागताः। (अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं ति) अष्टविधमष्टप्रकारं, निमित्तमिति शेषः। तच्चेदम्-दिव्यम्, उत्पातम्, आन्तरिक्षं, भौमम्, आङ्गं, स्वरं, लक्षणं, व्यञ्जनं चेति। पूर्वगतं पूर्वाभिधानश्रुतविशेषमध्यगतं, तथा मार्गौ गीतमार्गनृत्यमार्गलक्षणौ समाम्नेते। (दसमं ति) अत्र नवमशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनान्नवमदशमाविति दृश्यम्। ततश्च मार्गौ नवमदशमौ यत्र तत्तथा। (सएहिं ति) स्वकैः स्वकीयैः (मइदंसणेहिं ति) मतेर्बुद्धेर्मत्या वा, दर्शनानि प्रमेयस्य परिच्छेदनानि मतिदर्शनानि, तैः। (निज्जूहिंति त्ति) निर्यूथयन्ति-पूर्वलक्षणश्रुतपर्याययूथान्निर्धारयन्ति, उद्धरन्तीत्यर्थः। (उवट्ठाइंसु त्ति) उपस्थितवन्त, आश्रितवन्त इत्यर्थः। (अट्ठंगस्स त्ति) अष्टभेदस्य (केणइ त्ति) केनचित् तथाविधजनाविदितस्वरूपेण (उल्लोयमेत्तेण त्ति) उद्देशमात्रेण (इमाइं छ अणइक्कमणिज्जाइं ति) इमानि षट् अनतिक्रमणीयानि व्यभिचारयितुमशक्यानि (वागरणाइं ति) पृष्टेन सता यानि व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते तानि व्याकरणानि, पुरुषार्थोपयोगित्वाच्चैतानि षट् उक्तानि, अन्यथा नष्टमुष्टिचिन्तालूकाप्रभृतीन्यन्यान्यपि बहूनि निमित्तगोचरीभवन्तीति। (अजिणे जिणप्पलावि त्ति) अजिनोऽवीतरागः सन् जिनमात्मानं प्रकर्षेण लपतीत्येवं शीलो जिनप्रलापी। एवमन्यान्यपि पदानि वाच्यानि। नवरमर्हन् पूजार्हः, केवली परिपूर्णज्ञानादिः। किमुक्तं भवति ?-"अजिणे" इत्यादि। (एवं जहा बिइयसए नियंठुद्देसए त्ति) द्वितीयशतस्य पञ्चमोद्देशके (उट्ठाणपारियाणियं ति) परियानं विविधव्यतिकरपरिगमनं, तदेव पारियानिकं चरितम्। उत्थानाज्जन्मन आरभ्य पारियानिकम् उत्थानपारियानिकम्, तत्परिकथितं, भगवद्भिरिति गम्यते। (मंखे त्ति) मङ्खः-चित्रफलकव्यग्रकरो भिक्षुकविशेषः। "सुकुमाल०" इह यावत्करणादेवं दृश्यम्-"सुकुमालपाणिपाया लक्खणवंजणगुणोववेया०" इत्यादि। "रि-

त्थमिय०" इह यावत्करणादेव दृश्यम्-" रिद्धत्थिमियसमिद्धे पमुइयजणजाणवए०" इत्यादि । व्याख्या तु पूर्ववत् । (चित्तफलगहत्थगए त्ति) चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा। (पाडिएक्क ति) एकमात्मानं प्रति प्रत्येकं, पितुः फलकाद्भिन्नमित्यर्थः। (अगारवासमज्झ वसित्त त्ति)अगारवासं गृहवासमध्युष्याऽऽसेव्य। (एवं जहा भावणाए त्ति) आचारद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चदशे अध्ययने। अनेन चेदं सूचितम्-" समत्तपइन्नेनाहं समणो होह अम्मापियरम्मि जीवंते त्ति " समाप्ताभिग्रह इत्यर्थः । "चिच्चा हिरणं चिच्चा सुवणं चिच्चा बलमित्यादीति ॥ " (भ०)

तए णं अहं गोयमा ! पढमं वासं अद्धमासं अद्धमासेणं खममाणे अट्ठियगामं णिस्साए पढमं अंतरावासं वासावासं उवागए। दोच्चं वासं मासं मासेणं खममाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव नालिंदा बाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हामि। अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागए। तए णं अहं गोयमा ! पढमं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे० जाव दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव णालिंदा बाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता तंतुवायसालाए एगदेसंसि भंडणिक्खेवं करेति। करेतित्ता रायगिहे णयरे उच्चणीय०जाव अण्णत्थ कत्थ वि वसहिं अलभमाणे तीसे य तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासावासमुवागए, जत्थेव णं अहं गोयमा !। तए णं अहं गोयमा ! पढममासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाए पडिणिक्खमामि। तंतुवायसालाए पडिणिक्खमित्ता नालिंदा बाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव रायगिहे णयरे उच्चणीय० जाव अडमाणे विजयस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से विजए गाहावई ममं एज्जमाणं पासइ। पासइत्ता हट्ठतुट्ठ० खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठेइत्ता पादपीढाओ पच्चोरुहति। पच्चोरुहतित्ता पाययाओ उम्मुयइ। उम्मुयइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ। करेइत्ता अंजलिमउलियहत्थे ममं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ। अणुगच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेइत्ता ममं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता ममं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभिस्सामि त्ति तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिते वि तुट्ठे। तए णं तस्स विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिग्गहसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे देवाउयं णिबद्धं, संसारए परित्तीकए, गिहंसि य से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा-वसुहारा वुट्ठा १ दसद्धवण्णे कुसुमे णिवातिते २ चेलुक्खेवे कए ३ आहयाओ देवदुंदुहीओ ४ अंतरा वि य णं आगासे अहो दाणे२ त्ति घुट्ठे ५। तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-धण्णे णं देवाणुप्पिए ! विजए गाहावई, कयत्थे णं देवाणुप्पिए ! विजए गाहावई, कयपुण्णे णं देवाणुप्पिया! विजए गाहावई, कयलक्खणे देवाणुप्पिया ! विजए गाहावई, कया णं लोया देवाणुप्पिया ! विजयस्स गाहावइस्स, सुलद्धे णं देवाणुप्पिए ! माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावइस्स, जस्स णं गिहंसि तहारूवे साधुसाधुरूवे पडिलाभिए समाणे इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा-वसुधारा वुट्ठा० जाव अहो दाणे२ घुट्ठे, धण्णे णं कयत्थे कयपुण्णे कयलक्खणे कया णं लोया सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावइस्स जस्स० । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समुप्पण्णसंसए समुप्पण्णकोउहल्ले जेणेव विजयस्स गाहावइस्स गिहे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता विजयस्स गाहावइस्स गिहंमि वसुहारांसि वुट्ठिं दसद्धवण्णं कुसुमं णिवडियं, ममं च णं विजयस्स गाहावइस्स गिहाओ पडिणिक्खममाणं पासइ । पासइत्ता हट्ठतुट्ठे जेणेव ममं अंतिए, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ । करेइत्ता ममं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता ममं एवं वयासी-तुब्भे णं भंते ! ममं धम्मायरिया, अहं णं तुब्भं धम्मंतेवासी । तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं णो आढामि, णो परिजाणामि, तुसिणीए संचिट्ठामि। तए णं अहं गोयमा! रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खमामि, पडिणिक्खमामित्ता णालिंदं बाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छामि। उवागच्छामित्ता दोच्चं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं अहं मासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि। पडिणिक्खमामित्ता णालिंदं बाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव रायगिहे णयरे० जाव अडमाणे आणंदस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे । तए णं से आणंदे गाहावई ममं एज्जमाणं पासइ। पासइत्ता एवं जहेव विजयस्स, णवरं ममं विउलाए खज्जगविहीए पडिलाभिस्सामीति तुट्ठे० सेसं तं चेव,० जाव तच्चं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं अहं गोयमा ! तच्चं मासक्खमणं पारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि। पडिणिक्खमामित्ता तहेव० जाव अडमाणे सुदंसणस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से सुदंसणे गाहावई णवरं ममं सव्वकामगुणिएणं भोयणेणं पडिलाभेति। सेसं तं चेव,० जाव चउत्थं मासक्ख-

मणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । तीसे णं णालिंदा बाहिरियाए अदूरसामंते एत्थ णं कोल्लाए णामं सन्निवेसे होत्था। सन्निवेसवस्रओ-तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेसे बहुले णामं माहणे परिवसइ अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेय० जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था । तए णं से बहुले माहणे कत्तियचाउम्मासियपाडिवयंसि विउलेणं महुघयसंजुत्तेणं परमन्नेणं माहणे आयामेत्था। तए णं अहं गोयमा! चउत्थमासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि । पडिणिक्खमामित्ता णालिंदा बाहिरियं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छामि। णिग्गच्छामित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे उच्चणीय० जाव अडमाणे बहुलस्स माहणस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से बहुले माहणे ममं एज्जमाणं तहेव० जाव ममं विउलेणं महुघयसंजुत्तेणं परमन्नेणं पडिलाभिस्सामीति तुट्ठे, सेसं जहा विजयस्स०जाव बहुले माहणे बहु० । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं तंतुवायसालाए अपासमाणे रायगिहे णयरे सब्भिंतरबाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ । ममं कत्थ वि सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य वाणहाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेइ । आयामेइत्ता सउत्तरोट्ठं मुंडं करेइ। करेइत्ता तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता णालिंदं बाहिरियं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ । णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोल्लागसन्निवेसे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तए णं तस्स कोल्लागस्स सन्निवेसस्स बहिया बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ-"धन्ने णं देवाणुप्पिया ! बहुले माहणे,तं चेव० जाव जीवियफले बहुलस्स माणस्स बहु० " तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोचा णिसम्म अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। जारिसियाणं मम धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स इड्ढी जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसकारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए णो खलु अत्थि तारिसियाणं अन्नस्स कस्स वि तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा इड्ढी जुत्ती० जाव परक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए। तं णिस्संदिद्धं णं एत्थं धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे भविस्सतीति कट्टु कोल्लागसन्निवेसे सब्भिंतरबाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। ममं सव्वओ० जाव करेमाणे कोल्लागसन्निवेसस्स बहिया पणियभूमीए मए सद्धिं अभिसमन्नागए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हट्ठतुट्ठे मम तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-तुब्भे णं भंते! ममं धम्मायरिया, अहं णं तुब्भं अंतेवासी। तए णं अहं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि। तए णं अहं गोयमा! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं पणियभूमीए छव्वासाइं लाभं अलाभं सुहं दुक्खं सक्कारमसक्कारं पच्चणुब्भवमाणे अणिच्चजागरियं विहरित्था । तए णं अहं गोयमा ! अन्नया कयाइं पढमसरयकालसमयंसि अप्पवुट्ठिकायंसि गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं सिद्धत्थगामाओ णयराओ कुम्मगामं णयरं संपट्ठिए विहाराए । तस्स णं सिद्धत्थगामस्स णयरस्स कुम्मगामस्स य णयरस्स य अंतरा एत्थ णं मह एगे तिलथंभए पत्तिए पुप्फिए हरियगरेरिज्जमाणे सिरीए अईव २ उवसोभेमाणे २ चिट्ठइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तं तिलथंभं पासइ । पासइत्ता मम वंदइ,णमंसइ,वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-एस णं भंते ! तिलथंभए किं णिप्फज्जिस्सइ, णो णिप्फज्जिस्सइ?,एए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता कहिं गच्छिहिंति,कहिं उववज्जिहिंति । तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-गोसाला ! एस णं तिलथंभए णिप्फज्जिस्सइ, णो णो णिप्फज्जिस्सइ, एए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायातिस्संति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं आइक्खमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहति,णो पत्तियति,णो रोएइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाय अयं णं मिच्छावादी भवउ त्ति कट्टु ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तं तिलथंभगं सलेट्ठुयायं चेव उप्पाडेइ । उप्पाडेइत्ता एगंते एडेइ। एडेइत्ता तक्खणमेत्तं च गोयमा ! दिव्वे अब्भवद्दलए पाउब्भूए। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पामेव पतणतणाए, खिप्पामेव विज्जुयाइ,खिप्पामेव णच्चोसगं णातिमट्टियं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वसलिलोदगं वास वासइ । जेणं से तिलथंभए आसत्थवीसत्थए पच्चायाए बद्धमूले तत्थेव पतिट्ठिए। ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता २ तस्सेव तिलथभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाया ।

(पढम वास ति) विभक्तिपरिणामात्प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः प्रथमे वर्षे (निस्साए त्ति) निश्राय निश्रां कृत्वा (पढम अंतरावास ति) विभक्तिपरिणामादेव प्रथमे अन्तरमवसरो वर्षस्य वृष्टेर्यत्रासावन्तरवर्षः । अथवाऽन्तरेऽपि जिगमिषितक्षेत्रमप्राप्यापि यत्र सति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासो वर्षाकाल., तत्र । (वास ति) वर्षासु वासश्चातुर्मासिकमवस्थान वर्षावासः, तमुपागत उपाश्रितः (दोच्चं वास ति) द्वितीये

घम (तंतुवायसाल त्ति) कुविन्दशाला (अंजलिमउलियहत्थ त्ति) अञ्जलिना मुकुलितौ मुकुलाकारौ कृतौ हस्तौ येन स तथा । (दव्वसुद्धेणं ति) द्रव्यमोदनादिकं, शुद्धमुद्गमादिदोषरहितं यत्र दाने तत्तथा, तेन, (दायगसुद्धेण ति) दायक शुद्धो यत्राऽऽशंसादिदोषरहितत्वात् तत्तथा, तेन, एवमितरदपि (तिविहेण ति) उक्तलक्षणेन त्रिविधेन, अथवा त्रिविधेन कृतकारितानुमतिभेदेन, त्रिकरणशुद्धेन मनोवाक्कायशुद्धेन । (वसुहारा वुट्ठ त्ति) वसुधारा द्रव्यरूपा धारा वृष्टाः (अहो दाए ति) 'अहो' शब्दो विस्मये, (कयत्थे णं ति) कृतार्थः कृतस्वप्रयोजनः । (कयलक्खणे त्ति) कृतफलवल्लक्षण इत्यर्थः । (कया णं लोय त्ति) कृतौ कृतशुभफलौ, अवयवे समुदायोपचारल्लोकौ इहलोकपरलोकौ (जम्मजीवियफले त्ति) जन्मनो जीवितव्यस्य च यत्फलं तत्तथा (तहारूवे साहुसाहुरूवे त्ति) तथारूपे तथाविधे, अविज्ञातव्रतविशेष इत्यर्थः । साधौ श्रमणे साधुरूपे साध्वाकारे (धम्मंतेवासि त्ति) शिल्पादिग्रहणार्थमपि शिष्या भवन्तीत्यत उच्यते-धर्मान्तेवासी । (खज्जगविहीए त्ति) खण्डखाद्यादिलक्षणभोजनप्रकारेण (सव्वकामगुणिएण ति) सर्वे कामगुणा अभिलाषाविषयभूता रसादयः सजाता यत्र तत्सर्वकामगुणितं, तेन (परमन्नेणं ति) परमान्नेन दैरेयया (आयामेत्थ त्ति) आचामितवान्, तद्भोजनदानद्वारेणोच्छिष्टतासम्पादनेन तच्छुद्ध्यर्थमाचमनं कारितवान्, भोजितवानिति तात्पर्यम् (सब्भिंतरबाहिरिए त्ति) सहाभ्यन्तरेण विभागेन बाह्येन च यत्तत्तथा, तत्र (मग्गणगवेसण ति) अन्वयतो मार्गणं, व्यतिरेकतो गवेषणं, ततश्च समाहारद्वन्द्वः । (सुइं व त्ति) श्रूयत इति श्रुतिः शब्दः, ता चक्षुषा किलादृश्यमानोऽर्थः शब्देन निश्चीयत इति श्रुतिग्रहणम् । (खुइं व त्ति) क्षवणं क्षुतिः, छीत्कृतं, ताम् । यथाऽप्यदृश्यमनुष्यादिगमिका भवतीति गृहीता (पउत्तिं व त्ति) प्रवृत्तिं वार्त्ताम् (साडियाओ त्ति) परिधानवस्त्राणि (पाडियाओ त्ति) उत्तरीयवस्त्राणि । क्वचिद् "भंडियाओ त्ति" दृश्यते । तत्र भण्डिका रन्धनादिभाजनानि (माहणे आयामेइ त्ति) शाटकादीनर्थान् ब्राह्मणान् लम्भयति, शाटकादीनर्थान् ब्राह्मणेभ्यो ददातीत्यर्थः । (सउत्तरोट्ठं ति) सह उत्तरोष्ठेन सोत्तरोष्ठं सश्मश्रुकं यथाभवतीत्येवं (मुंडं ति) मुण्डनं कारयति नापितेन (पणियभूमीए त्ति) पणितभूमौ भाण्डविश्रामस्थाने, प्रणीतभूमौ वा मनोज्ञभूमौ (अभिसमन्नागए त्ति) मिलितः । (एयमट्ठं पडिसुणेमि त्ति) अभ्युपगच्छामि, यच्चैतस्याऽयोग्यस्याप्यभ्युपगमनं भगवतस्तदक्षीणरागतया परिचयेनेषत्स्नेहगर्भानुकम्पासद्भावात्, छद्मस्थतया वाऽनागतदोषानवगमादवश्यभावित्वाच्चैतस्यार्थस्येति भावनीयमिति । (पणियभूमिए त्ति) पणितभूमेरारभ्य, प्रणीतभूमौ वा मनोज्ञभूमौ, विहृतवानिति योगः । (अणिच्चजागरियं ति) अनित्यचिन्तां, कुर्वन्निति वाक्यशेषः । (पढमसरयकालसमयंसि त्ति) समयभाषया मार्गशीर्षपौषौ शरदभिधीयते । तत्र प्रथमशरत्कालसमये मार्गशीर्षे (अप्पवुट्ठिकायंसि त्ति) अल्पशब्दस्याऽभाववचनत्वादविद्यमानवर्षे इत्यर्थः । अन्ये तु "अश्वयुक्कार्त्तिकौ शरत्" इत्याहुः । अल्पवृष्टिकायत्वाच्च तत्राऽपि विहरतां न दूषणमिति; एतच्चासङ्गतमिव, भगवतोऽप्यवश्यं पर्युषणाकर्त्तव्यत्वेन पर्युषणकल्पेऽभिहितत्वादिति । (हरियगरेरिज्जमाणे त्ति) हरितक इति कृत्वा (रेरिज्जमाणे त्ति) अतिशयेन राजमान इत्यर्थः । (तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासि त्ति) इह यद्भगवतः पूर्वकालप्रतिपन्नमौनाभिग्रहस्यापि प्रत्युत्तरकालं तदेकादिकं वचनमुक्तमित्येवमभिग्रहग्रहणस्य सम्भाव्यमानत्वेन न विरुद्धमिति (तिलसंगलियाए त्ति) तिलफलिकायाम् । (ममं पणिहाय त्ति) मां प्रणिधाय मामाश्रित्याय मिथ्यावादी भवत्विति विकल्पं कृत्वा । (अब्भवद्दलए त्ति) अभ्ररूपं वारो जलस्य दलक कारणमभ्रवार्दलकम् (पतणतणाए त्ति) प्रकर्षेण तणतणायते गर्जतीत्यर्थः । (नच्चोदगं ति) नात्युदकं यथा भवति (नातिमट्टियं ति) नातिकर्दमं यथा भवतीत्यर्थः । (पविरलपप्फुसिय ति) प्रविरलाः प्रस्पृशिका विप्रुषो यत्र तत्तथा (रयरेणुविणासणं ति) रजो वातोत्पाटित व्योमवर्त्ति रेणवश्च भूमिस्थितपांशवस्तदुपशमिकम् । (सलिलोदगवासं ति) सलिलाः शीतादिमहानद्यस्तासामिव यदुदकं रसादिगुणसाधर्म्यात् तस्य यः सलिलोदकवर्षोऽतस्तम् । [बद्धमूले त्ति] बद्धमूलः सन् । [तत्थेव पतिट्ठिए त्ति] यत्र पतितस्तत्रैव प्रतिष्ठितः । [भ०]

तए णं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं जेणेव कुम्मगामे णयरे तेणेव उवागच्छामि । तए णं तस्स कुम्मगामस्स णयरस्स बाहिया वेसियायणे णामं बालतवस्सी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ । आइच्चतेयतवियाओ से छप्पदीओ सव्वओ समंता अभिणिस्सवेंति पाणभूयजीवसत्तदयट्ठयाए, एयं णं पडियाओ २ तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चोरुभइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ । पासइत्ता ममं अंतियाओ सणियं २ पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी-किं भवं मुणी मुणिए, उदाहु जूयासेज्जायरए ? । तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि एवं वयासी-किं भवं मुणी मुणिए० जाव सेज्जायरए ? । तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता तेयासमुग्घाएणं समोहणइ । समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वहाए सरीरगं तेयं णिसिरइ । तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणतेयलेस्सा तेयपडिसाहरणट्ठयाए, एत्थ णं अंतरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं णिसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणतेयलेस्सा पडिहया ।

तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी ममं सीयलियाए तेयले-स्साए सा उसिणं तेयलेस्सं पमिहयं जाणित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छवि-च्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सा उसिणं तेयलेस्स पडि-साहरइ। पमिसाहरइत्ता ममं एवं वयासी-से गयमेयं भगवं!, गयगयमेयं भगवं!। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी-किं णं भंते! एस जूयासिज्जातरए तुब्भे एवं व-यासी-"से गयमेयं भगवं! गयगयमेयं भगवं!"। तए णं अहं गोयमा! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-तुमं णं गो-साला! वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ। पासइत्ता ममं अं-तियाओ सणियं २ पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी-"किं भवं मुणी मुणिए, उदाहु जूयासेज्जायरए?"। तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तव एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं तुमं गोसाला! वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-"किं भवं मुणी० जाव जूयासेज्जायरए?"। तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तुमं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता तव वहाए सरीरगं तेयलेस्सं णिसिरइ। तए णं अहं गोसाला! तव अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा य तेयपडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा सीयलियं तेयलेस्सं णिसिरामि० जाव पडिहयं जाणित्ता तव सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छ-विच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सा उसिणं तेयलेस्सं पमिसाहरति। पडिसाहरतित्ता ममं एवं वयासी-"से गय-मेयं भगवं!, गयगयमेयं भगवं!"। तए णं गोसाले मंखलि-पुत्ते ममं अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीए० जाव संजायभए ममं एवं वयासी-कहिं णं भंते! संखित्तविउ-लतेयलेस्से भवइ?। तए णं अहं गोयमा! गोसालं मं-खलिपुत्तं एवं वयासी-जे णं गोसाला! एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठं छट्ठेणं अ-णिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगि-ज्झिय० जाव विहरइ; से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तवि-उलतेउलेस्से भवइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एय-मट्ठं सम्मं विणएणं पमिसुणेइ। तए णं अहं गोयमा! अण्णया कयाइ गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं कुम्मगामाओ णयरा-ओ सिद्धत्थगामं णयरं संपट्ठिए विहाराए, जाहे य मो त देसं हव्वमागया, जत्थ णं से तिलथंभए। तए णं से गोसा-ले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी-तुब्भे णं भंते! तदा ममं एवं आइक्खह,० जाव एवं परूवेह-"गोसाला! एस णं तिलथं-भए णिप्पज्जिस्सइ, णो णिप्पज्जिस्सइ," तं चेव पच्चायाइ-स्संति, तं णं मिच्छा, इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ। एस णं तिलथंभए णो णिप्पण्णे अणिप्पण्णमेव, ते य सत्त तिलपु-प्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता णो एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। तए णं अहं गोयमा! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—तुमं णं गोसाला! तदा मम एव आइक्खमाणस्स० जाव एवं प-रूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहसि, णो पत्तियसि, णो रो-यसि, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाय, अयं णं मिच्छावादी भवउ त्ति कट्टु ममं अंति-याओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता० जाव एगंत-मंते एडेसि, तक्खणमेत्त गोसाला! दिव्वे अब्भवद्दलए पा-उब्भूए। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पामेव तं चेव० जाव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। तं एस णं गोसाला! से तिलथंभए णिप्पण्णे, णो अणिप्पण्णमेव। ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दा-इत्ता एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। एवं खलु गोसाला! वणस्सइकाइ-याओ पउट्टपरिहारं परिहरंति। तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते ममं एवमाइक्खमाणस्स० जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहति। णो सद्दहतित्ता एयमट्ठं असद्दहमाणे० जाव अरोएमाणे जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छइ। उ-वागच्छइत्ता ताओ तिलथंभयाओ तं तिलसंगलियं खुड्डति। खुड्डित्ता करयलंसि सत्त तिले पप्फोडेइ। तए णं तस्स गोसालस्स ते सत्त तिले गणेमाणस्स अयमेयारूवे अब्भ-त्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु सव्वजीवा वि प-उट्टपरिहारं परिहरंति। एस णं गोयमा! गोसालस्स मंख-लिपुत्तस्स पउट्टे। एस णं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्त-स्स ममं अंतियाओ आयाए अवक्कमणे पण्णत्ते। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठं छट्ठेण उड्ढं बाहाओ पगि-ज्झिय २ ० जाव विहरइ। तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से जाए॥

(पाणभूयजीवसत्तदयट्ठयाए त्ति) प्राणादिषु सामान्येन या दया सैवार्थः प्राणादिदयार्थः, तद्भावस्तत्ता, तया, अथवा-षट्पदिका एव प्राणानामुच्छ्वासादीनां भावात्प्राणाः, भवनधर्म-कत्वाद्भूता, उपयोगलक्षणत्वाज्जीवाः, सत्त्वोपेतत्वात्सत्त्वाः, ततः कर्मधारयः, तदर्थताये, चशब्दः पुनरर्थे। (तत्थेव त्ति) शिरः-प्रभृतिके (किं भव मुणी मुणिए त्ति) किं भवान् मुनिस्तपस्वी

ज्ञातः । (मुणिए त्ति) ज्ञाते तत्त्वे सति, ज्ञात्वा वा तत्त्वम् । अथवा-भवान् मुनी तपस्विनी (?)(मुणिए त्ति) मुनिकस्तपस्वीति, अथवा-भवान् मुनिर्यति , उत मुणिको ग्रहगृहीतः (उदाहु त्ति) 'उताहो' इति विकल्पार्थो निपातः। (जूयासेज्जायरए त्ति) यूकानां स्थानदातेति।(सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ त्ति) प्रयत्नविशेषार्थः, मुरज इव प्रहारदानार्थमिति । (सा उसिणं तेयलेस्स ति) स्वां स्वीयामुष्णां तेजोलेश्याम् । (से गयमेयं भगव गयगयमेयं भगवं ति) अथ गतगतमेतन्मया हे भगवन् ! यथा भगवतः प्रसादादयं न दग्धः सम्भ्रमार्थत्वाच्च गतशब्दस्य पुन पुनरुच्चारणम्। इह च यद्गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन, दयैकरसत्वाद्भगवतः। यच्च सुनक्षत्रसर्वानुभूतिमुनिपुङ्गवयोर्न करिष्यति, तद्वीतरागत्वेन, लब्ध्यनुपजीवकत्वादवश्यभाविभावत्वाद्वेत्यवसेयमिति । (संखित्तविउलतेयलेस्स त्ति) सङ्क्षिप्ता अप्रयोगकाले अविपुला, प्रयोगकाले तेजोलेश्या लब्धिविशेषो यस्य स तथा (सणहाए त्ति) सनखया यस्यां पिण्डिकायां बध्यमानायामङ्गुलीनखा अङ्गुष्ठस्याधो गलन्ति सा सनखेत्युच्यते । (कुम्मासपिंडियाए त्ति) कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादयः, माषा इत्यन्ये (वियडासएणं ति) विकट जलं, तस्याशयः आश्रयो वा स्थानं विकटाशयो विकटाश्रयः । तेन अमुं च प्रस्तावाच्चुलुकमाहुर्वृद्धाः (जाहे य मो त्ति) यदा च स्मो भवामो वयम् । (अनिप्फन्नमेव त्ति) मकारस्याऽऽगमिकत्वाद्-निष्पन्न एव (वणस्सइकाइयाओ पउट्टपरिहार परिहरंति त्ति) परिवृत्य २ मृत्वा यस्तस्यैव वनस्पतिशरीरस्य परिहारः परिवर्तः, परिवर्तवाद इत्यर्थः । (आयाए अवक्कमणे त्ति) आत्मना आदावेवोपदेशमपक्रमणमपसरणम् । (भ०)

तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अण्णया कयाइं इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भवित्था । तं जहा-साणे तं चेव सव्वं० जाव अजिणे जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । तं णो खलु गोयमा ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ ; गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ । तए णं सा महई महालिया महच्चपरिसा जहा सिवे० जाव पडिगया। तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव बहुजणो अण्णमण्णस्स० जाव परूवेइ-जे णं देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी विहरइ, तं मिच्छा । समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ,० जाव परूवेइ। एवं खलु तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखली णामं मंखे पिता होत्था। तए णं तस्स मंखस्स एवं तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव अजिणे जिणप्पलावी जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। तं णो खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ; गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी विहरइ। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ।

पच्चोरुभइत्ता सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे महया अमरिसं वहमाणे एवं चावि विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे णामं थेरे पगइभद्दए० जाव विणीए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से आणंदे थेरे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए एवं जहा गोयमसामी तहेव आपुच्छइ । तहेव० जाव उच्चणीयमज्झिम० जाव अडमाणे हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स अदूरसामंते वीईवयइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंद-थेरं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स अदूरसामंते वीईवयमाणं पासइ। पासइत्ता एवं वयासी-एहि ताव आणंदा ! इओ एगं महं उवमियं णिसामेइ। तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंदं थेरं एवं वयासी-एवं खलु आणंदा ! इतो चिरातीताए अद्धाए केई उच्चावया वणिया अत्थत्थी अत्थलुद्धा अत्थगवेसी अत्थकंखिया अत्थपिवासिया अत्थगवेसणयाए णाणाविहविउलपणियभंडमायाय सगडीसागडेणं सुबहुं भत्तपाणपत्थयणं गहाय एगं महं अगामियं अणोहियं छिण्णावायं दीहमद्धं अडविं अणुप्पविट्ठा। तए णं तेसिं वणियाणं तीसे अगामियाए अणोहियाए छिण्णावायाए दीहमद्धाए अडवीए किंचिदेसं अणुप्पत्ता णं समाणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुज्जमाणे २ खीणे। तए णं से वणिया खीणोदगा समाणा तण्हाए परिब्भवमाणा अण्णमण्णे सद्दावेंति। सद्दावेंतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे अगामियाए० जाव अडवीए किंचिदेसं अणुप्पत्ताणं समाणाणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे परिभुंजमाणे खीणे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमी से अगामियाए० जाव अडवीए उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति । पडिसुणेंतित्ता तीसे अगामियाए० जाव अडवीए उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेंति। उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणे एगं महं वणसंडं आसादेंति। किण्हं किण्होभासं० जाव णिकुरुंबभूयं पासादीयं० जाव पडिरूवं; तस्स णं वणसंडस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगं वम्मीयं आसादेंति । तस्स णं वम्मियस्स चत्ता-

रि वप्पुओ अब्भुग्गयाओ अभिणिसढाओ तिरियं सुसं-पग्गहियाओ अहे पणगद्धरूवाओ पणगद्धसंठाणसंठियाओ पासादीयाओ० जाव पडिरूवाओ। तए णं से वणिया हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं० जाव सद्दावेंति। सद्दावेंतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमीसे अगामियाए० जाव सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणेहिं इमे वणखंडे आसादिए, किण्हे किण्होभासे। इमस्स णं वणखंडस्स बहुमज्झदेसभाए इमे वम्मीए आसादीए। इमस्स णं वम्मीयस्स चत्तारि वप्पुओ अब्भुग्गयाओ० जाव पडिरूवाओ तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स पढमं वप्पिं भिंदित्तए, अवियाइ उरालं उदगरयणं अस्सादिस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति। पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स पढमं वप्पिं भिंदेंति। तेणं तत्थ अच्छं पत्थं जच्चं तणुयं फालियवण्णाभं उरालं उदगरयणं आसादेंति। तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा पाणियं पिबंति। पिबंतित्ता वाहणाइं पज्जेंति। पज्जेंतित्ता भायणाइं भरेंति। भरेंतित्ता दोच्चं पि अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हेहिं इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पं भिंदित्तए, एत्थ उरालं सुवण्णरयणं अस्सादेस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति। पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पं भिंदेंति। तत्थ अच्छं जच्चं तावणिज्जं महत्थं महग्घं महरिहं उरालं सुवण्णरयणं अस्सादेंति। तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा भायणाइं भरेंति। भरेंतित्ता पवहणाइं भरेंति। भरेंतित्ता तच्चं पि अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए, दोच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले सुवण्णरयणे अस्सादिए। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! तच्चं पि वप्पं भिंदित्तए, अवियाइं इत्थ उरालं मणिरयणं अस्सादेस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति। पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स तच्चं पि वप्पं भिंदेंति। तेणं तत्थ विमलं णिम्मलं णित्तलं णिक्कलं महग्घं महत्थं महरिहं उरालं मणिरयणं अस्सादिंति। तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा भायणाइं भरेंति। भरेंतित्ता पवहणाइं भरेंति। भरेंतित्ता चउत्थं पि अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए। दोच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले सुवण्णरयणे अस्सादिए। तच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले मणिरयणे अस्सादिए। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स चउत्थं पि वप्पं भिंदित्तए, अवियाइं इत्थ उत्तमं महग्घं महत्थं महरिहं उरालं वइररयणं अस्सादेस्सामो। तए णं तेसिं वणियाणं एगे वणिए हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए णिस्सेयसिए हियसुहणिस्सेसकामए ते वणिए एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे० जाव तच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले मणिरयणे अस्सादिए। तं होउ अलाहि पज्जत्तं णे, एसा चउत्थी वप्पा मा भिज्जउ, चउत्थी णं वप्पा सउवसग्गा यावि होज्जा। तए णं ते वणिया तस्स वणियस्स हियकामगस्स सुहकामगस्स० जाव हियसुहणिस्सेसकामगस्स एवमाइक्खमाणस्स० जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति० जाव णो रोयंति। एयमट्ठं असद्दहमाणा० जाव अरोएमाणा तस्स वम्मीयस्स चउत्थं पि वप्पं भिंदंति। तेणं तत्थ उग्गविसं चंडविसं घोरविसं महाविसं अतिकायमहाकायं मसिमूसाकालगं नयणविसरोसपुण्णं अंजणपुंजणिगरप्पगासं रत्तच्छं जमलजुयलचंचलचलंतजीहं धरणितलवेणिभूयं उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडविकडफडाडोवकरणदच्छं लोहागरधम्ममाणधमधमेंतघोसं अणागलियचंडतिव्वरोसं समुहं तुरियं चवलं धमंतं दिट्ठिविसं सप्पं संघट्टेंति। तए णं से दिट्ठिविससप्पे तेहिं वणिएहिं संघट्टिए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सणियं सणियं उट्ठेइ। उट्ठेइत्ता सरसरसरस्स वम्मीयस्स सिहरतलं दुरूहइ। दुरूहइत्ता आदिच्चं णिज्झाइ। णिज्झाइत्ता ते वणिए अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोएंति। तए णं ते वणिया दिट्ठिविसेणं सप्पेणं अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोया समाणा खिप्पामेव सभंडमत्तोवगरणमायाए एगाहच्चं कूडाहच्चं भासिरासीकया यावि होत्था॥

[जहा सिवे त्ति] शिवराजर्षिचरिते [महया अमरिसं ति] महान्तममर्षम् [एव चावि त्ति] एवञ्चेति प्रज्ञापकोपदर्श्यमानकोपचिह्नम्, अपीति समुच्चये [महं उवमियं ति] मम संबन्धि, महद्वा विशिष्टमौपम्यमुपमादृष्टान्तमित्यर्थः। (चिरातीताए अद्धाए त्ति] चिरमतीते काले [उच्चावय त्ति] उच्चावचा उत्तमानुत्तमाः। [अत्थत्थि त्ति] द्रव्यप्रयोजनाः। कुत एवमित्याह-[अत्थलुद्ध त्ति] द्रव्यलालसाः, अत एव [अत्थगवेसि त्ति] अर्थगवेषिणोऽपि। कुत इत्याह-[अत्थकंखिय त्ति] प्राप्तेऽप्यर्थेऽविच्छिन्नेच्छाः। (अत्थपिवासिय त्ति)। अप्राप्तार्थविषयसञ्जाततृष्णाः। यत एवमत एवाह-"अत्थगवेसणयाए" इत्यादि। (पणियभंडे त्ति) पणित व्यवहारः, तदर्थं भाण्डं, पणितं वा क्रयाणकं, तद्रूपं भाण्डं, न तु भाजनमिति पणितभाण्डम्। (सगडीसागडेणं ति) शकट्यो गन्त्रिकाः, शकटानि मन्त्रीविशेषाः

समूहः शाकटं, ततः समाहारद्वन्द्वोऽतस्तेन । [भत्तपाणपत्थयण त्ति] भक्तपानरूपं यत्पथ्योदनं शम्बलं तत्तथा (अगामिय त्ति) अग्रामिकाम्, अकामिकां वा अनभिलाषविषयभूताम् (अणोहियं त्ति) अविद्यमानजलौघिकामतिगहनत्वेनाविद्यमानोहां वा । [छिन्नावायं त्ति] व्यवच्छिन्नसार्थघोषाद्यापातां (दीहमद्धं त्ति) दीर्घमार्गां दीर्घकालां वा । " किण्हं किण्होभास० " इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" नीलं नीलोभासं हारयं हारओभासं " ०इत्यादि " । व्याख्या चास्य प्राग्वत् [महेगं वम्मीयं ति] महान्तमेकं वल्मीकं [वप्पुओ त्ति] वपूंषि शरीराणि, शिखराणीत्यर्थः । [अब्भुग्गयाओ त्ति] अभ्युद्गतानि, अभ्रोन्नतानि वोच्चानीत्यर्थः । [अभिनिसढाओ त्ति] अभिविधिना निर्गताः सटास्तदवयवरूपाः केसरिस्कन्धसटावद्येषां तानि अभिनिःसटानि, इदं च तेषामूर्द्ध्वगतं स्वरूपम् । अथ तिर्यगाह-[तिरियं सुसंपग्गहियाओ त्ति] सुसंप्रगृहीतानि सुसंवृतानि तानि, विस्तीर्णानीत्यर्थः । अधः किंभूतानीत्याह-[अहे पणगद्धरूवाओ त्ति] सर्पार्द्धरूपाणि यादृशं पन्नगस्योदरच्छिन्नस्य पुच्छतः ऊर्द्ध्वीकृतमर्द्धमधोविस्तीर्णमुपर्युपरि चातिश्लक्ष्णं भवतीत्येवंरूपं येषां तानि तथा । पन्नगार्द्धरूपाणि च वर्णादिनाऽपि भवन्तीत्याह-(पणगद्धसंठाणसंठियाओ त्ति) भावितमेव (उरालं उदगरयणं आसाइस्सामो त्ति) अस्यायमभिप्रायः-एवंविधभूमिगर्त्ते किलोदकं भवति, वल्मीके चाऽवश्यंभाविनो गर्त्ताः, अतः शिखरभेदे गर्त्तः प्रकटो भविष्यति, तत्र च जलं भविष्यतीति । (अच्छं ति) निर्मलं [पत्थं ति] पथ्यं रोगोपशमहेतुः [जच्चं ति] जात्यं संस्काररहितम् [तणुयं ति] तनुकं, सुजरमित्यर्थः । [फालियवण्णाभं ति] स्फटिकवर्णवदाभा यस्य तत्तथा । अत एव (उरालं ति) प्रधानम् [उदगरयणं ति] उदकमेव रत्नं उदकरत्नम्, उदकजातौ तस्योत्कृष्टत्वात् [वाहणाइं पज्जेंति त्ति] बलीवर्दादिवाहनानि पाययन्ति [अच्छं ति] निर्मलं [जच्चं ति] अकृत्रिमम् [तावणिज्जं ति] तापनीयं तापसहम् । [महत्थं ति] महाप्रयोजनं । [महग्घं ति] महामूल्यं महतां योग्यं [विमलं ति] विगतागन्तुकमलं [निम्मलं ति] स्वाभाविकमलरहितम् [नित्तलं ति] निस्तलम् अनिवृत्तमित्यर्थः । [निक्कलं ति] निष्कलं त्रासादिरत्नदोषरहितं [वइररयणं ति] वज्राभिधानरत्नं [हितकामए त्ति] इह हितमपायाभावः [सुहकामए त्ति] सुखमानन्दरूपः [पत्थकामए त्ति] पथ्यमिव पथ्यम् आनन्दकारणं वस्तु [अणुकंपिए त्ति] । अनुकम्पया चरतीत्यानुकम्पिकः [निस्सेयसिए त्ति] निःश्रेयसं विपन्मोक्षमिच्छतीति नैश्रेयसिकः । अधिकृतवाणिजस्योक्तैरेव गुणैः कश्चिद्गुणपद्योगमाह [हियेत्यादि] (तं होउ अलाहि पज्जत्तं णे त्ति) तदस्माकमलमलं पर्याप्तमित्येते शब्दाः प्रतिषेधवाचकत्वेनैकार्थाः आपात्तिकप्रतिषेधप्रतिपादनार्थमुक्ताः । (णे) अस्माकम् (सउवसग्गा यावि त्ति) इह चापीति सम्भावनार्थः । (उग्गविसं ति) दुर्जरविषम् (चंडविसं त्ति) दष्टकनरकायस्य झगिति व्यापकविषं (घोरविसं ति) परम्परया पुरुषसहस्रस्यापि हननसमर्थविषम् (महाविसे ति) जम्बूद्वीपप्रमाणस्यापि शरीरस्य व्यापनसमर्थविषम् [अइकायमहाकायं ति) कायान् शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिकायोऽत एव महाकायः । ततः कर्मधारयोऽथवाऽतिकायानां मध्ये महाकायोऽतिकायमहाकायोऽतस्तम् (मसिमूसाकालगं ति) मषी कज्जलं, मूषा च सुवर्णादितापनभाजनविशेषः ते इव कालको यः स तथा तं (नयणविसरोसपुण्णं ति) नयनविषेण दृष्टिविषेण रोषेण च पूर्णो यः स तथा तम् । (अंजणपुंजनिगरप्पगासं ति) अञ्जनपुञ्जानां निकरस्येव प्रकाशो दीप्तिर्यस्य स तथा तं, पूर्वं कालवर्णत्वमुक्तमिह तु दीप्तिरिति न पुनरुक्ततेति (रत्तच्छं ति) रक्ताक्षम् (जमलजुयलचंचलचलंतजीहं ति) जमलं सहवर्ति युगलं द्वयं चञ्चलं यथा भवत्येवं चलन्त्योरतिचपलयोर्जिह्वयोर्यस्य स तथा तं, प्राकृतत्वाच्चैवं समासः (धरणितलवेणिभूयं ति) धरणीतलस्य वेणीभूतो वनिताशिरसः केशबन्धविशेष इव यः कृष्णत्वदीर्घत्वश्लक्ष्णत्वपश्चाद्भागत्वादिसाधर्म्यात् स तथा तम् । [उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडवियडफडाडोवकरणदच्छं ति] उत्कटो बलवतान्येनाध्वसनीयत्वात्, स्फुटो व्यक्तप्रयत्नविहितत्वात्, कुटिलो वक्रः तत्स्वरूपत्वात्, जटिलः स्कन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात्, कर्कशो निष्ठुरो बलवत्त्वात्, विकटो विस्तीर्णो यः स्फटाटोपः फणासंरम्भः तत्करणे दक्षो यः स तथा, तम् । [लोहागरधम्ममाणधमधमेंतघोसं ति] लोहस्येवाकरे ध्मायमानस्याग्निना ताप्यमानस्य धमधमायमानं धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयन् घोषः शब्दो यस्य स तथा तं [अणागलियचंडतिव्वरोसं ति] अनिर्गलितोऽनिवारितोऽनाकलितो वा अप्रमेयश्चण्डः तीव्र इत्यर्थः, तीव्रो रोषो यस्य स तथा तम् [समुहं तुरियं चवलं धमंतं ति] शुनो मुखः श्वमुखं, तस्य वा चरणं श्वमुखिकाकौलेयकस्येव भषणतः त्वरितचपलमतिचटुलतया धमन्तं शब्दायन्तं कुर्वन्तमित्यर्थः । [सरसरसरस्स त्ति] सर्पगतेरनुकरणम् [आइच्चं निज्झाइ त्ति] आदित्यं पश्यति दृष्टिलक्षणविषस्य तीक्ष्णतार्थं [सभंडमत्तोवगरणमायाए त्ति] सह भाण्डमात्रया पणितपरिच्छदेन उपकरणमात्रया च ये ते तथा [एगाहच्चं ति] एकैव आहत्या आहननं प्रहारो यत्र भस्मीकरणे तदेकाहत्यं, तद् यथा भवत्येवम् । कथमिवेत्याह-[कूडाहच्चं ति] कूटस्येव पाषाणमयमारणमहायन्त्रस्येवाहत्या आहननं यत्र तत् कूटाहत्यम्, तद्यथा भवतीत्येवम् । भ० ।

तत्थ णं जे से वणिए तेसिं वणियाणं हियकामए० जाव हियसुहणिस्सेसकामए, से णं अणुकंपियाए देवयाए सभंडमत्तोवगरणमायाए णियगं णयरं साहिए । एवामेव आणंदा ! तव वि धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं समणेणं णायपुत्तेणं उराले परियाए अस्सादिए । उराला कित्तिवण्णसद्दसिलोगा सदेवमणुयासुरलोए पुव्वंति, गुव्वंति, थुव्वंति, इति खलु समणे भगवं महावीरे इति २। तं जदि मे से अज्ज किंचि वदति, तं णं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि । जहा वा वालेणं ते वणिया । तुमं च णं आणंदा ! सारक्खामि, संगोवामि, जहा वा से वणिए तेसिं वणियाणं हियकामए ०जाव णिस्सेसकामए अणुकंपियाए देवयाए सभंड ०जाव साहिए । तं गच्छह णं तुमं आणंदा ! धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स णायपुत्तस्स एयमट्ठं परिकहेहि । तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे भीए ०जाव संजायभए गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंतिआओ हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता सिग्घं तुरियं सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ । णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोट्ठए

चेइए जेणेव समणे जगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अहं जंते ! छट्ठक्खमणपारणगंसि तुब्भेहिं अब्भणुणाए समाणे सावत्थीए णयरीए उच्चणीय ०जाव अममाणे हालाहलाए कुंभकारीए०जाव वीईवयामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं हालाहलाए ०जाव पासित्ता एवं वयासी-एहि ताव आणंदा ! इओ एग महं उवमियं णिसामेहि । तए णं अहं से गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी-एवं खलु आणंदा ! इओ चिराईयाए अद्धाए केइ उच्चावया वणिया, 'एवं तं चेव सव्वं णिरवसेसं भाणियव्वं ०जाव णियगं णयरं साहिए' । तं गच्छह णं तुमं आणंदा ! धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स०जाव परिकहेहि । तं पभू णं जंते ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेएणं एगाहचं कूडाहच्चं जासिरासिं करेत्तए। विसए णं जंते ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स ०जाव करेत्तए । समत्थे णं जंते ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं ०जाव करेत्तए ?। पभू णं आणंदा ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं ०जाव करेत्तए, विसए णं आणंदा ! गोसाले ०जाव करेत्तए, समत्थे णं आणंदा ! गोसाले ०जाव करेत्तए । णो चेव णं अरहंते जगवंते पारियावणियं पुण करेज्जा, जावइए णं आणंदा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठयाए चेव तवतेए अणगाराणं जगवंतो खंतिखमा पुण अणगारा जगवंतो। जावइए णं आणंदा ! अणगाराणं भगवंताणं तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव तवतेए थेराणं जगवंताणं खंतिखमा पुण थेरा जगवंतो । जावइए णं आणंदा ! थेराणं जगवंताण तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव तवतेए अरहंताणं जगवंताणं खंतिखमा पुण अरहंता जगवंतो। तं पभू णं आणंदा ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेएणं० जाव करेत्तए, विसए णं आणंदा ! ०जाव करेत्तए, समत्थे णं आणंदा ! ० जाव करेत्तए, णो चेव णं अरहंते भगवंते परियावणियं पुण करेज्जा। तं गच्छह णं तुमं आणंदा ! गोयमादीणं समणाणं णिग्गंथाणं एयमट्ठं परिकहेहि, मा णं अज्जो ! तुब्भं के वि गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएओ, धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेओ, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेओ,गोसालेण मंखलिपुत्तेणं समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ने । तए णं से आणंदे थेरे समणेणं जगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे समणं जगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, जेणेव गोयमादि ! समणा णिग्गथा तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोयमादि ! समणे णिग्गंथे आमंतेइ । आमंतेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अज्जो ! छट्ठक्खमणपारणगंसि समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे सावत्थीए णयरीए उच्चणीय० तं चेव सव्वं० जाव णायपुत्तस्स एयमट्ठं परिकहेहि । तं मा णं अज्जो! तुब्भं केइ गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएओ० जाव मिच्छं विप्पडिवन्ने, जावं च णं आणंदे थेरे गोयमाईणं समणाणं णिग्गंथाणं एयमट्ठं परिकहेहि, तावं च णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता आजीवियसंघसंपरिवुडे महया अमरिसं वहमाणे सिग्घं तुरियं० जाव सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ । णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोट्ठए चेइए जेणेव समणे जगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं जगवं महावीरं एवं वयासी-सुट्ठु णं आउसो ! कासवा!, मम एवं वयासी ; साहु णं आउसो ! कासवा ! मम एव वयासी-गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी, गोसाले, २ । जे णं गोसाले मंखलिपुत्ते तव धम्मतेवासी, से णं सुक्के सुक्काभिजाइए जवित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने । अहं णं उदाई णामं कुंडियायणीए अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता इम सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। जेवि याइं आउसो ! कासवा ! अम्ह समयंसि केइ सिज्झिसु वा, सिज्झंति वा, सिज्झिस्संति वा, सव्वे ते चउरासीइमहाकप्पसयसहस्साइं सत्त दिव्वे सत्त संजूहे सत्त सण्णिगब्भे सत्त पउट्टपरिहारे पंच कम्माणि सयसहस्साइं सट्ठिं च सहस्साइं छच्च सए तिण्णि य कम्मंसे अणुपुव्वेणं खवइत्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वाइंति, सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करिंति वा, करिस्संति वा ॥

[परियाए त्ति] पर्यायोऽवस्था [किंचिवण्णसद्दसिलोग त्ति] इह वृद्धव्याख्या-सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्त्तिः,एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थान एव श्लोकः, श्लाघेति यावत् [सदेवमणुयासुरलोए त्ति] सह देवैर्मनुजैरसुरैश्च यो लोको जीवलोकः स तथा तत्र [पुवंति त्ति] प्लवन्ते गच्छन्ति, "प्लु" गतावितिवचनात् [गुवंति त्ति] गुप्यन्ति व्याकुलीभवन्ति, "गुप" व्याकुलत्वे इति वचनात् [थुवंति त्ति] क्वचित्तत्र स्तूयन्ते अभिनन्द्यन्ते. क्वचित् परिजूमन्तीति दृश्यते, व्यक्तं चैतदिति । एतदेव दर्शयति- "इति खल्वित्यादि " इतिशब्दः प्रख्यातगुणानुवादार्थः । [त त्ति] तस्मादिति निगमनम् । [तवेण तेएण त्ति] तपोजन्य तेजस्तप एव, तेन तेजसा तेजोलेश्यया । [जहा

वा वालेण त्ति] यथैव व्यालेन भुजगेन [सारक्खामि त्ति] सरक्षामि दाहभयात् । [संगोवामि त्ति] संगोपयामि क्षेमस्थानप्रापणेन [पच्चू त्ति] प्रज्ञविष्णुर्गोशालको भस्मराशिं कर्तुमित्येक प्रश्न । प्रभुत्वं च द्विधा-विषयमात्रापेक्षया,तत्करणतश्चेति । पुनः पृच्छति-"विसएण" इत्यादि । अनेन च प्रथमो विकल्पः पृष्टः "समत्थेण" इत्यादिना तु द्वितीय इति [पारियावणिय त्ति] पारितापनिकीं क्रिया पुनः कुर्यादिति । [अणगाराण त्ति] सामान्यसाधूनाम [खंतिखम त्ति] क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण क्षमन्त इति क्षान्तिक्षमाः [थेराण त्ति] आचार्यादीनां वय श्रुतपर्यायस्थविराणाम । [पडिचोयणाए त्ति] तन्मतप्रतिकूला चोदना कर्त्तव्यप्रोत्साहना प्रतिचोदना,तया । (पडिसारणाए त्ति) तन्मतप्रतिकूलतया विस्मृतार्थस्मारणा प्रतिस्मारणा,तया । किमुक्त भवति-"धम्मिएण" इत्यादि । (पडोयारेणं ति) प्रत्युपचारेण प्रत्युपकारेण वा ।[पडोयारेउ त्ति]प्रत्युपचारयितुम्प्रत्युपचारङ्करोतु एव प्रत्युपकारयतुं वा [मिच्छं विप्पडिवन्ने त्ति] मिथ्यात्वं म्लेच्छं वाऽनार्यत्व विशेषत प्रतिपन्न इत्यर्थः । [सुट्ठु णं ति] उपालम्भवचनम [आउसो त्ति] हे आयुष्मन् ! चिरप्रशस्तजीवित ! (कासव त्ति) काश्यपगोत्र ![सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामित्ति] सप्तम शरीरान्तःप्रवेशं करोमीत्यर्थः । [जे वि याइं ति] येऽपि च । 'आइं ति ' निपात । "चउरासीइमहाकप्पसयसहस्साइं" इत्यादि । गोशालकसिद्धान्तार्थ स्थाप्यो, वृद्धैर्व्याख्यातत्वात् । आह च चूर्णिकार- " सद्दिट्ठत्तामो तस्सिरूतस्स न लिखिज्जइ त्ति । " तथापि शब्दानुसारेण किञ्चिदुच्यते-चतुरशीतिं महाकल्पशतसहस्राणि क्षपयित्वेति योगः। तत्र कल्पा कालविशेषा,,ते च लोकप्रसिद्धा अपि भवन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तम । महाकल्पा वक्ष्यमाणस्वरूपाः,तेषां यानि शतसहस्राणि लक्षाणि तानि तथा [सत्त दिव्वे त्ति] सप्त दिव्यान् देवभवान् [सत्त संजूहे त्ति] सप्त संयूथानि निकायविशेषान् [सत्त सन्निगब्भि त्ति] सञ्ज्ञिगर्भान् मनुष्यगर्भवसती । एते च तन्मतेन मोक्षगामिनां सप्त सान्तरा भवन्ति । वक्ष्यति चैवमेवैतान् स्वयमेवेति । [सत्त पउट्टपरिहारे त्ति] सप्त शरीरान्तरप्रवेशान् । एते च सप्तमसञ्ज्ञिगर्भानन्तरक्रमेणावसेयाः तथा पञ्चेत्यादाविदं सम्भाव्यते-[पंच कम्माणि सयसहस्साइं त्ति] कर्म्मणि कर्म्मविषये, कर्म्मणामित्यर्थः पञ्च शतसहस्राणि लक्षाणि [तिण्णि य कम्मंसे त्ति] त्रींश्च कर्म्मभेदान् [खवइत्त त्ति] क्षपयित्वा अतिकाह्य । [भ०] ।

से जहा वा गंगा महाणदी जओ पवूढा, जहिं वा पज्जुवत्थिया, एस णं अद्धा पंच जोअणसयाइं आयामेणं, अद्धजोअणं विक्खंभेणं, पंचधणुहसयाइं उव्वेहेणं, एएणं गंगापमाणेणं सत्त गंगाओ एगा महागंगा,सत्त महागंगाओ सा एगा सादीणगंगा, सत्त सादीणगंगाओ सा एगा मच्चुगंगा, सत्त मच्चुगंगाओ सा एगा लोहियगंगा, सत्त लोहियगंगाओ सा एगा अवंतीगंगा, सत्त अवंतीगंगाओ सा एगा परमावती । एवामेव सपुव्वावरेणं एगं गंगासयसहस्सं सत्तरसयसहस्सा छच्च गुणपन्नं गंगासया भवंतीति मक्खाया । तासिं दुविहे उद्धारे पण्णत्ते । तं जहा-सुहुमबोंदिकलेवरे चेव, बादरबोंदिकलेवरे चेव । तत्थ णं जे से सुहुमबोंदिकलेवरे से ठप्प, तत्थ णं जे से बादरबोंदिकलेवरे तओ णं वाससए गते एगमेगं गंगावालुयं अवहाय जावइएणं कालेणं से कोट्ठे खीणे णीरए णिल्लेवे णिट्ठिए भवइ, से तं सरे, एएणं सरप्पमाणेणं तिण्णि सरसयसाहस्सीओ से महाकप्पे, चउरासीतिमहाकप्पसयसहस्साइं से एगे महामाणसे, अणंताओ संजूहाओ जीवे चयं चइत्ता उवरिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जिहिति । से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता पढमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति । से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जइ । से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं जाव विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आउ० ३ जाव चइत्ता दोच्चे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति, से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता हेट्ठिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जइ । से णं तत्थ दिव्वाइं० जाव चइत्ता तच्चे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति । से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता उवरिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जइ । से णं तत्थ दिव्वाइं भोगं चइत्ता चउत्थे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति । से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जइ । से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता, पंचमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति । से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता हिट्ठिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जति । से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता,छट्ठेणं सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति,से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता बंभलोगे णामं से कप्पे पण्णत्ते । पाईणपडिणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे, जहा ठाणपदे० जाव पंच वडेंसगा पण्णत्ता । तं जहा-असोगवडेंसए० जाव पडिरूवा, से णं तत्थ देवे उववज्जइ, से णं तत्थ दससागरोवमाइं दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता, सत्तमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति, से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं० जाव वीइक्कंताणं सुकुमालगभद्दलए मिउकुंडलकुंचियकेसए मट्ठगंडतलकण्णपीढए देवकुमारसमप्पभए दारए पयाते । से णं अहं कासवा ! तए णं अहं आउसो ! कासवा ! कोमारियाए पव्वज्जाए कोमारिएणं बंभचेरवासेणं अविद्धकण्णए चेव संखाणं पडिलभामि,सं०३ इमे सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तं जहा-एणेज्जस्स मल्लरामस्स मंडियस्स रोहस्स भारद्दाइस्स अज्जुणगस्स गोयमपुत्तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स;तत्थ णं जे से पढमे पउट्टपरिहारे, से णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया मंडिकुच्छिंसि चेइयंसि उदायणस्स कुंडियायणस्स सरीरं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता एणेज्जगस्स सरीरगं अणुप्पवि-

सामि। अणुप्पविसामित्ता बावीसं वासाइं पढमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से दोच्चे पउट्टपरिहारे, से णं उद्दंडपुरस्स णयरस्स वहिया चंदोयरणंसि चेइयंसि एणेज्जगस्स सरीरगं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता मल्लरामस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता एगवीसं वासाइं दोच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से तच्चे पउट्टपरिहारे, से णं चंपाए णयरीए वहिया अंगमंदिरम्मि चेइयंसि मल्लरामस्स सरीरं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता मंडियस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता वीसं वासाइं तच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से चउत्थे पउट्टपरिहारे, से णं वाणारसीए णयरीए वहिया काममहावणंसि चेइयंसि मंडियस्स सरीरं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता रोहस्स सरीरं अणुप्पविसामि। रोहगस्स सरीरं अणुपविसामित्ता एगूणवीसं वासाइं चउत्थं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से पंचमे पउट्टपरिहारे, से णं आलंभियाए णयरीए वहिया पत्तकालगंमि चेइयंसि रोहस्स सरीरगं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता भारद्दाइस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता अट्ठारस वासाइं पंचमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से छट्ठे पउट्टपरिहारे, से णं वेसालीए णयरीए वहिया कुंडियायणंसि चेइयंसि भारद्दाइस्स सरीरगं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता सत्तरस वासाइं छट्ठं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तत्थ णं जे से सत्तमे पउट्टपरिहारे, से णं इहेव सावत्थीए णयरीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं सीयसहं उण्हसहं खुहासहं विविहदंसमसगपरीसहोवसग्गसहं थिरसंघयणं ति कट्टु तं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता तं सोलस वासाइं इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। एवामेव आउसो! कासवा! एगेणं तेत्तीसेणं वाससएणं सत्त पउट्टपरिहारा परिहरिया भवंतीति मक्खाया। तं सुट्ठु णं आउसो! कासवा! ममं एवं वयासी।

"से जहा" इत्यादिना महाकल्पप्रमाणमाह-तत्र-(से जहा व त्ति) महाकल्पप्रमाणवाक्योपन्यासार्थः। (जाईं वा पज्जुवत्थिय त्ति) यत्र गत्वा परि सामस्त्येनोपस्थिता उपरता, समाप्तेत्यर्थः। (एस णं अद्धा त्ति] एष गङ्गाया मार्गः। [एएणं गंगापमाणेणं ति] गङ्गायास्तन्मार्गस्य चाभेदात् गङ्गाप्रमाणेनेत्युक्तम् [एवामेव त्ति) उक्तेनैव क्रमेण [सपुव्वावरेण ति] सह पूर्वेण गङ्गादिना यदपरं महागङ्गादि तत्सपूर्वापरं, तेन, भावप्रत्ययलोपदर्शनात्सपूर्वापरतयेत्यर्थः।" तासिं दुविहे" इत्यादि। तासां गङ्गादिगतवालुकाकणादीनामित्यर्थः। द्विविधः उद्धारः, उद्धरणीयद्वैविध्यात्। (सुहुमबोंदिकलेवरे चेव त्ति) सूक्ष्मबोन्दीनि सूक्ष्माकाराणि कलेवराण्यसङ्ख्यातखण्डीकृतवालुकाकणरूपाणि यत्रोद्धारे स तथा [बायरबोंदिकलेवरे चेव त्ति) बादरबोन्दीनि बादराकाराणि कलेवराणि वालुकाकणरूपाणि यत्र स तथा (ठप्प त्ति) न व्याख्येयः, इतरस्तु व्याख्येय इत्यर्थः। (अवहाय त्ति) अपहाय त्यक्त्वा [से कोट्ठे त्ति]स कोष्ठो गङ्गासमुदायात्मकः (खीणे त्ति) क्षीणः, स चाविशेषसङ्गावेऽप्युच्यते, यथा क्षीणधान्यं कोष्ठागारमत उच्यते। (णीरए त्ति) नीरजाः, स च तद्भूमिगतरजसामप्यभावे उच्यत इत्यादि (निल्लेवे त्ति) निर्लेपः भूमिमित्त्यादिसंश्लिष्टसिकतालेपाभावात्। किमुक्तं भवति?-निष्ठितो निरवयवीकृत इति। (से तं सरे त्ति) अथ तत्तावत्कालखण्डं सरःसंज्ञं भवति, मानससंज्ञं सर इत्यर्थः (सरप्पमाणे त्ति) सरः पूर्वोक्तलक्षणं प्रमाणं वक्ष्यमाणमहाकल्पादेर्यत्र सरःप्रमाणम् (महामाणस त्ति) मानसोत्तरं यदुक्तं चतुरशीतिर्महाकल्पशतसहस्राणीति तत्प्ररूपितम्। अथ सत्तानां दिव्यादीनां प्ररूपणायाह-(अणताओ संजूहाओ त्ति] अनन्तजीवसमुदायरूपाविकायान् (चयं चइत्त त्ति) च्यवं च्युत्वा च्यवनं कृत्वा चयं वा देहम 'चइत्त त्ति' त्यक्त्वा [उवरिल्ले त्ति] उपरितनमध्यमाधस्तनानां मानसानां सद्भावात्तदन्यव्यवच्छेदाय उपरितने इत्युक्तम् (माणसे त्ति) गङ्गादिप्ररूपणतः प्रागुक्तस्वरूपे सरसि, सरःप्रमाणायुष्कयुक्ते इत्यर्थः। (संजूहे त्ति) निकायविशेषे (देवे उववज्जइ त्ति) प्रथमो दिव्यभवः साक्षिणर्निमलयासूत्राक्तेव। एवं त्रिषु मानसेषु सयूथेषु आद्यसयूथसहितेषु चत्वारि संयूथानि, त्रयश्च देवभवाः तथा। (मानसोत्तरे त्ति) महामानसे पूर्वोक्तमहाकल्पप्रतिमायुष्कवति; यच्च प्रागुक्तं चतुरशीतिमहाकल्पशतसहस्राणि क्षपयित्वेति तत् प्रथममहामानसापेक्षयेति द्रष्टव्यम्। अन्यथा त्रिषु महामानसेषु बहुतराणि तानि स्युरिति। एतेषु चोपरिमादिभेदात्त्रिषु मानसोत्तरेषु त्रीण्येव संयूथानि, त्रयश्च देवभवाः। आदितस्तु सप्त सयूथानि, षट् च देवभवाः। सप्तमदेवभवस्तु ब्रह्मलोके, स च सयूथं न भवति, सूत्रे सयूथत्वेनानभिहितत्वादिति। (पाईणपडिणायए उदीणदाहिणविच्छिन्ने त्ति] इहायामविष्कम्भयोः स्थापनामात्रत्वं मन्तव्यम्। तस्य प्रतिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितत्वेन तयोस्तुल्यत्वादिति। [जहा ठाणपदे त्ति] ब्रह्मलोकस्वरूपं तथा वाच्यं यथा स्थानपदे प्रज्ञापनाद्वितीयप्रकरणे। तच्चैवम्-"पडिपुण्णचंदसठाणसंठिए अच्चिमालीभासरासिप्पभे" इत्यादि। "असोगवडेंसए" इत्यत्र यावत्करणात्-"सत्तिवण्णवडेंसए चूयवडेंसए मज्झे य बंभलोयवडेंसए" इत्यादि दृश्यम्। [सुकुमालगभद्दलए त्ति] सुकुमारकश्चासौ भद्रश्च भद्रमूर्तिरिति समासे ककारलकारौ स्वार्थिकाविति। [मिउकुंडलकुंचियकेसए त्ति] मृदवः कुण्डलमिव दर्भादिकुण्डलकमिव कुञ्चिताश्च केशा यस्य स तथा [मट्ठगंडतलकण्णपीढए त्ति] मृष्टगण्डतले कर्णपीठके कर्णाभरणविशेषौ यस्य स तथा। देवकुमारवत्सप्रभः देवकुमारसमानप्रभावो यः स तथा, कशब्दः स्वार्थिक इति। [कोमारियाए पव्वज्जाए त्ति] कुमारस्येयं कौमारी, सैव कौमारिकी, तस्यां प्रव्रज्यायां विषयभूतायां सद्बुद्धानं बुद्धिं प्रतिलेभ इति योगः। [अविद्धकण्णए चेव त्ति] कुश्रुतिशलाकया अविद्धकर्णो व्युत्पन्नमतिरित्यर्थः। [एष्ठे तस्सेत्यादि] इहैणका-

यः पञ्च नामतोऽभिहिताः, द्वौ पुनरन्यौ पितृनामसहिताविति । [अल थिर त्ति] अत्यर्थं स्थिरं, चिरस्थितकालं यावदव्ययं स्यादित्यात् । [धुव त्ति] ध्रुवं तद्गुणानां ध्रुवत्वादत एव धारणिज्ज त्ति] धारयितु योग्यम् । एतदेव भावयितुमाह-[सीत्यादि] एवंभूत च, तत्कुत इत्याह- [थिरसघयण त्ति] विघटमानसंहननमित्यर्थः । [ति कट्टु त्ति,] इतिकृत्वा इति तोऽस्तदनुप्रविशामीति । (भ०)

साधु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वयासी-गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी, गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी । तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्त एवं वयासी-गोसाला ! से जहाणामए तेणए सिया गामेल्लएहिं परिब्भवमाणे २ कत्थइ गत्तं वा दरिं वा दुग्गं वा णिण्णं वा पव्वयं वा विसमं वा अणस्सादेमाणे एगेणं महं उण्णालोमेण वा सणलोमेण वा कप्पासपम्हेण वा तणसूएण वा अत्ताणं आवरेत्ता णं चिट्ठेज्जा । से णं अणावरिए आवरियामिति अप्पाणं मण्णइ, अपच्छण्णे य पच्छण्णमिति अप्पाणं मण्णइ, अणिलुक्के लुक्कमिति अप्पाणं मण्णइ, अपलायए पलायमिति अप्पाणं मण्णइ, एवामेव तुम्हं पि गोसाला ! अणण्णे संते अण्णमिति उपलभसि, तं मा एवं गोसाला !, णारिहसि गोसाला !, सच्चेव ते सा च्छाया, णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ । आउसइत्ता उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेइ । उद्धंसेइत्ता उच्चावयाहिं णिब्भत्थणाहिं णिब्भत्थेइ । णिब्भत्थेइत्ता उच्चावयाहिं णिच्छोडणाहिं णिच्छोडेइ । णिच्छोडेइत्ता एवं वयासी-णट्ठेसि कदाइ, विणट्ठेसि कदाइ, भट्ठेसि कदाइ, णट्ठविणट्ठभट्ठेसि कदाइ, अज्ज ण भवसि, णाहि ते ममाहिंतो सुहमत्थि । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, धम्मायरियाणुरागेणं एयमट्ठं असद्दहमाणे उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-जे वि ताव गोसाला ! तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं णिसामेइ, से वि ताव तं वंदइ, णमंसइ०, जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ । किमंग ! पुण तुमं गोसाला !-भगवया चेव पव्वाविए, भगवया चेव मुंडाविए, भगवया चेव सेहाविए, भगवया चेव सिक्खाविए, भगवया चेव बहुस्सुईकए, भगवओ चेव मिच्छं विप्पडिवण्णे, तं मा एवं गोसाला ! , णारिहसि गोसाला !, सच्चेव ते सा च्छाया, णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूई णामं अणगारे एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते सव्वाणुभूतिं अणगारं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूतिं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेत्ता दोच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ०, जाव सुहं णत्थि । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी कोसलजाणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए धम्मायरियाणुरागेणं जहा सव्वाणुभूई तहेव० जाव सच्चेव ते सा च्छाया, णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सुणक्खत्तेण अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते सुणक्खत्तं अणगारं तवेणं तेएणं परितावेइ । तए णं से सुणक्खत्ते अणगारे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परिताविए समाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ, णमंसइ । णमंसइत्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ । आरुहेइत्ता समणा य समणीओ य खामेइ । खामेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सुणक्खत्त अणगारं तवेणं तेएणं परितावेत्ता तच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ, सव्वं तं चेव० जाव सुहं णत्थि । तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-जे वि ताव गोसाला ! तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा तं चेव० जाव पज्जुवासति, किमंग ! पुण गोसाला !, तुम्हं मए चेव पव्वाविए० जाव मए चेव बहुस्सुईकए, ममं चेव मिच्छं विप्पडिवण्णे, तं मा एवं गोसाला !, ०जाव णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते तेयासमुग्घाएणं समोहणइ । समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स वहाए सरीरगंसि तेयं णिस्सरइ । से जहाणामए वाउक्कलियाइ वा वायमंडलियाइ वा सेलंसि वा कुड्डुंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जमाणा वा णिवारिज्जमाणा वा, सा णं तत्थ णो कमइ, णो पक्कमइ, एवामेव गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवतेए समणस्स भगवओ महावीरस्स वहाए सरीरगं णिसिट्ठे समाणे, से णं तत्थ णो कमइ, णो पक्कमइ, अंचियंचियं करेइ । करेइत्ता आयाहिणं पयाहिणं करेइ । करेइत्ता उड्ढं वेहासं उप्पइ । ते से णं तओ पडिहए पडिणियत्तमाणे तस्सेव गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुडहमाणे अणुडहमाणे अंतो २ अणुप्पविट्ठे । तए णं से

गोसाले मंखलिपुत्ते सएणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी–तुमं णं आउसो ! कासवा ! ममं तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतिए छउमत्थे चेव कालं करिस्सइ । तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–णो खलु अहं गोसाला ! तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं० जाव कालं करिस्सामि । अहं णं अन्नाइं सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि । तुम्हं णं गोसाला ! अप्पणा चेव सएणं तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे०जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्ससि । तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सावत्थीए णयरीए बहिया कोट्ठए चेइए दुवे जिणा संलवंति । एगे एवं वयासी–तुमं पुव्विं कालं करिस्ससि । एगे एवं वदंति–तुमं पुव्विं कालं करिस्ससि । तत्थ णं के सम्मावादी, के मिच्छावादी ? । तत्थ णं जे से अहप्पहाणे जणे, से वदंति–समणे भगवं महावीरे सम्मावादी; गोसाले मंखलिपुत्ते मिच्छावादी, अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी–अज्जो ! से जहाणामए तणरासीति वा कट्ठरासीति वा पत्तरासीति वा तयारासीति वा तुसरासीति वा भुसरासीति वा गोमयरासीति वा अवकररासीति वा अगणिज्झामिए अगणिज्झूसिए अगणिपरिणामिए हयतेए गयतेए णट्ठतेए भट्ठतेए लुत्ततेए विणट्ठतेए० जाव एवामेव गोसाले मंखलिपुत्ते ममं वहाए सरीरगंसि तेयं णिसिरित्ता हयतेए गयतेए० जाव विणट्ठतेए, तं छंदेणं अज्जो ! तुब्भं गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएह, धम्मि०२ धम्मिए पडिसारणाए पडिसारेह, ध०२ धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेह, ध०२ अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य वागरणेहि य कारणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणं करेह । तए णं से समणा णिग्गंथा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएंति, ध० २ धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेंति, ध०२ धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेंति, ध० २ अट्ठेहि य हेऊहि य कारणेहि य० जाव वागरणं करेंति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेहिं णिग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोइज्जमाणे० जाव णिप्पट्ठपसिणवागरणे कीरमाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे णो संचाएइ । समणाण णिग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएत्तए छविच्छेदं वा करेत्तए । तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं समणेहिं णिग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएज्जमाणं धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारिज्जमाणं धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारिज्जमाणं अट्ठेहि य हेऊहि य०जाव कीरमाणं आसुरुत्तं० जाव मिसिमिसेमाणे समणाणं णिग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छविच्छेदं वा अकरेमाणे पासइ । पासइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंतियाओ आताए अवक्कमंति । अवक्कमंतित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छंतित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ वंदंति, णमंसंति । वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । अत्थेगइया आजीवियथेरा गोसालं चेव मंखलिपुत्तं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते जस्सट्ठाए हव्वमागए,तमट्ठमसाहेमाणे रुंदाइं पलोएमाणे दीहुण्हाइं नीससमाणे दाढियाइं लोमाइं लुंचमाणे अवडुं कंडूयमाणे पुयलिं पप्फोडेमाणे हत्थे विणिधुणमाणे दोहिं वि पाएहिं भूमिं कोट्टेमाणे हा हा अहो हतोऽहमस्सीति कट्टु समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता जेणेव सावत्थी णयरी जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता हालाहलाहिं कुंभकारीहिं कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए मज्जपाणगं पियमाणे अभिक्खणं गायमाणे अभिक्खणं णच्चमाणे अभिक्खणं हालाहलाए कुंभकारीए अंजलिकम्मं करेमाणे सीतलएणं मट्टियापाणएणं आयंचणिउदएणं गाताइं परिसिंचमाणे विहरइ । अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गथे आमंतेत्ता एवं वयासी–जावइएणं अज्जो ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं ममं वहाए सरीरगंसि तेयं णिसट्ठे, से णं अलाहि पज्जत्ते सोलसण्हं जणवयाणं । तं जहा–अंगाणं वंगाणं मगहाणं मलयाणं मालवगाणं अच्छाणं वच्छाणं कोच्छाणं पाढाणं लाढाणं वज्जीणं मालीणं कासीणं कोसलगाणं अवाहाण संभुत्तराणं घाताए वहाए उच्छादणट्ठयाए भासीकरणयाए जं पि य अज्ज ! गोमाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए मज्जपाणं पियमाणे अभि०जाव अंजलिकम्मं करेमाणे विहरइ ।

(गत्त व ति) गर्तं श्वभ्रम्, (दरिं ति) शृगालादिकृतभूविवरविशेषम्, (दुग्ग ति) दुःखगम्यं, वनगहनादिति । (निन्नं

ति) निम्नं शुष्कसर प्रभृति (पव्वयं व त्ति) प्रतीतम् . (विसमं ति) गर्त्तपाषाणाद्याकुलम् , (एगेणं महं ति) एकेन महता (तणसूयए व त्ति) तृणसूकेन तृणाग्रेण (अणावरिए त्ति) अनावृतोऽसात्रावरस्याल्पत्वात् (उपलंभासि त्ति) उपलम्भयसि, दर्शयसीत्यर्थः । (तं मा एवं गोसाल त्ति) इह कुर्विति शेषः । (नारिहसि गोसाल त्ति) इह चैव कर्तुमिति शेष । (सच्चेव ते सा च्छाय त्ति) सैव ते छायाऽन्यथा दर्शयितुमिष्टा, छाया प्रकृति· [उच्चावयाहिं ति] असमञ्जसाभिः [आउसणाहिं ति] मृतोऽसि त्वमित्यादिभिर्वचनैराक्रोशति शपति [उद्धंसणाहिं ति] दुष्कुलीनेत्यादिभिः कुलाद्यभिमानपातनार्थैर्वचनैः [उद्धंसेइ त्ति] कुलाद्यभिमानादधःपातयतीव [निब्भत्थणाहिं ति] न त्वया मम प्रयोजनमित्यादिभिः परुषवचनै. [निब्भत्थेइ त्ति] नितरां दुष्टमभिधत्ते [निच्छोडणाहिं ति] त्यजास्मदीयास्तीर्थकरालङ्कारानित्यादिभि· [निच्छोडेइ त्ति] प्राप्तमर्थं त्याजयतीति [नट्ठेसि कयाइ त्ति] नष्ट स्वाचारनाशादसि भवसि त्वम् । [कयाइ त्ति] कदाचिदिति वितर्कार्थः । अहम् एव मन्ये यदुत नष्टस्त्वमसीति [विणट्ठेसि त्ति] मृतोऽसि [भट्ठोसि त्ति] भ्रष्टोऽसि सम्पदा व्यपेतोऽसि त्वं, धर्मत्रयस्य यौगपद्येन योगान्नष्टविनष्टभ्रष्टोऽसीति [नाहित्ते त्ति] नैव ते [पाईणजाणवए त्ति] प्राचीनजानपदः, प्राच्य इत्यर्थः। [पव्वाविए त्ति] शिष्यत्वेनाभ्युपगतः " अब्भुवगमो पव्वज त्ति " वचनात् । [मुण्डाविए त्ति] मुण्डितस्य तस्य शिष्यत्वेनानुमननात् । [सेहाविए त्ति] व्रतित्वेन सेवितः , व्रतिसमाचारसेवाया तस्य भगवतो हेतुभूतत्वात् । [सिक्खाविए त्ति] शिक्षितः तेजोलेश्याद्युपदेशदानतः [बहुस्सुईकए त्ति] नियतिवादादिप्रतिपत्तिहेतुभूतत्वात् । [कोसलजाणवए त्ति] अयोध्यादेशोत्पन्नः । [वाउक्कलियाइ व त्ति] वातोत्कलिका, स्थित्वा स्थित्वा यो वातो वाति सा वातोत्कलिका [वायमण्डलियाइ व त्ति] मण्डलिकाभिर्यो वाति ।"सेलसि वा"इत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी । [आवरिज्जमाणं त्ति] स्खल्यमाना [निवारिज्जमाणि त्ति] निवर्त्यमाना [नोक्कमइ त्ति] न क्रमते न प्रभवति ।[नो पक्कमइ त्ति] प्रकर्षेण न क्रमते[अंचिअंचि त्ति] अञ्चिते सकृत्कृते. अञ्चितेन सकृत्कृतेन वा देशेनाञ्चि· पुनर्गमनमञ्चिनाञ्चि । अथवा–अञ्च्या गमनेन सह आञ्चिरागमनमञ्च्याञ्चि ,गमागम इत्यर्थः। तां करोति । [अन्नाइट्ठे त्ति] अन्वाविष्टोऽभिव्याप्त· [सुहत्थि त्ति] सुहस्तीव सुहस्ती [अहप्पहाणे जणे त्ति] यथाप्रधानो जनो, यो य· प्रधान इत्यर्थः । [अगणिज्झामिए त्ति] अग्निना ध्मातो दग्धो, ध्यामितो वा ईषद्दग्धः (अगणिज्झूसिए त्ति) अग्निना सेवित·,क्षपितो वा [अगणिपरिणामिए त्ति] अग्निना परिणमितः पूर्वस्वभावत्याजनेनाऽऽत्मभाव नीतः । ततश्च हततेजोधूल्यादिना गततेजाः । क्वचित् स्वत एव नष्टतेजाः , क्वचिदव्यक्तीभूततेजा , भ्रष्टतेजा·, ध्यामतेजा इत्यर्थः। लुप्ततेजा·,क्वचिद्द्वैधीभूततेजा , 'लुप्' छेदने,"छिदिर् द्वैधीभावे" इति वचनात् । किमुक्त भवति ?–विनष्टतेजाः नि·सत्ताकीभूततेजा एकार्थाश्चैते शब्दा· । (छन्देण ति) स्वाभिप्रायेण यथेष्टमित्यर्थ । (निप्पट्ठपसिणवागरणं ति) निर्गतानि स्पृष्टानि प्रश्नव्याकरणानि यस्य स तथा तम । [दुद्दाइ पहोएमाणे त्ति] दीर्घा दृष्टिं दिक्षु प्रक्षिपन्नित्यर्थ· । मानधनाना हतमानानां लक्षणमिदम् । [दीहुण्हाइं नीससमाणि त्ति] निःश्वासानीति गम्यते। [दाढियाइ लोमाइ ति] उत्तरौष्ठस्येव रोमाणि । [अवदु त्ति] कृकाटिकायाम् [पुयलिं पप्फोडेमाणे त्ति] पुतलटीं पुतप्रदेशं प्रस्फोटयन् । [विणिद्धुणमाणे त्ति] विनिर्धुन्वन् । [हा हा अहो हओऽहमस्सी ति कट्टु त्ति] हा हा अहो हतोऽहमस्मीति कृत्वा, इति भणित्वेत्यर्थः। [अंबकूणगहत्थगए त्ति] आम्रफलहस्तगतः स्वकीयतपस्तेजोजनितदाहोपशमनार्थमाम्रास्थिक चूषन्निति भाव·। गानादयस्तु मद्यपानकृता विकाराः समवसेयाः [मट्टियापाणएण ति] मृत्तिकामिश्रजलेन, मृत्तिकाजल सामान्यमप्यस्त्यत आह-[आयचणिउदएण ति । इह टीका व्याख्या–आतञ्चनिकोदकं कुम्भकारस्य यन्द्राजने स्थितं तेमनाय मृन्मिश्रं जलं तेन [अलाहि पज्जत्ते त्ति] अलमत्यर्थं पर्याप्त· शक्तो, घातायेति योगः (घाताए त्ति) हननाय तदाश्रितवसापेक्षया [वहाए त्ति] वधाय, तत्र तदाश्रितस्थावरापेक्षया [उच्छादणट्ठयाए त्ति] उच्छादनतायै सचेतनाचेतनतद्गतवस्तुच्छादनायेति, एतच्च प्रकारान्तरेणाऽपि भवतीत्यभिपरिणामोपदर्शनायाह-[भासीकरणयाए त्ति] (भ०)

तस्स वि णं वज्जस्स पच्छादणट्ठयाए इमाइं अट्ठ चरमाइं पण्णवेइ । तं जहा–चरिमे पाणे,चरिमे गेए,चरिमे णट्टे, चरिमे अंजलिकम्मे,चरिमे पोक्खलस्स संवट्टए महामेहे,चरिमे सेयणए गंधहत्थी, चरिमे महासिलाकंटए संगामे । अहं च णं इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थंकराणं चरिमे तित्थंकर सिज्झिस्सइ,०जाव अंतं करेस्सं । जं पि य अज्जो ! गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलएणं मट्टियापाणएण आयंचणिउदएणं गायाइं परिसिंचमाणे विहरइ, तस्स वि णं वज्जस्स पच्छादणट्ठाए इमाइं चत्तारि पाणगाइं चत्तारि अपाणगाइं पण्णवेइ । से किं तं पाणए ?। पाणए चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–गोपुट्ठए हत्थमद्दियए आतवतत्तए सिलापब्भट्ठए, से तं पाणए । से किं तं अपाणए?। अपाणए चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–थालपाणए तयापाणए सिंबलिपाणए सुद्धापाणए। से किं तं थालपाणए ?। थालपाणए जे णं दायालगं वा दावारगं वा दाकुंभगं वा दाकलसं वा सीयलगं वा उल्लागहत्थेहिं परामुसइ, न य पाणियं पिवइ,से तं थालपाणए। से किं तं तयापाणए?। जे णं अंबं वा अंबाडगं वा जहा पओगपदे० जाव बोरं वा तिंदुयं वा तरुणगं वा आमगं वा आसिगंसि आविसलेइ वा, पवालेति वा, ण य पाणियं पिवइ, से तं तयापाणए । से किं तं संबलिपाणए ?। संबलिपाणए जे णं कलसंगलियं वा मुग्गसंगलियं वा माससंगलियं वा सिंबलिसंगलियं वा तरुणियं आमियं आसिगंसि आविसलेइ वा, पवालेइ वा, ण य पाणियं पिवइ, से तं संबलिपाणए । से किं तं सुद्धापाणए ?। सुद्धापाणए जे णं छम्मासे सुद्धखाइमं खाइ, दोमासे पुढविसंथारोवगए दोमासे कट्ठसंथारोवगए दोमासे दब्भसंथारोवगए,तस्स णं बहुपडिपुण्णाणं छण्हं मासाणं अंतिमराइए इमे दो देवा महिड्ढिया० जाव महेसक्खा अंतियं पाउब्भवंति । तं जहा–पुण्णभद्दे य,माणि-

भद्दे य। तए णं से देवा सीयलिएहिं उल्लएहिं हत्थेहिं गायाइं परामुसंति । जे णं ते देवा साइज्जइ, से णं आसीविसत्ताए कम्मं पकरेइ । जे णं ते देवे णो साइज्जइ, तस्स णं संसि सरीरगंसि अगणिकायं संभवति, से णं सएणं तेएणं सरीरगं झामेइ । झामेइत्ता तओ पच्छा सिज्झंति,० जाव अंतं करेंति, से तं सुद्धापाणए । तत्थ णं सावत्थीए णयरीए अयंपुले णामं आजीवियउवासए परिवसइ, अड्ढे जहा हालाहला , आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं तस्स अयंपुलस्स आजीवियउवासगस्स अएणया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणे अयमेयारूवे अज्झत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था-किं संठिया हल्ला पण्णत्ता ?। तए णं तस्स य अयंपुलस्स आजीवियउवासगस्स दोच्चं पि अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु मम धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते उप्पन्नणाणदंसणधरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी इहेव सावत्थीए णयरीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तं सेयं खलु मे कल्लं०जाव जलंते गोसालं मंखलिपुत्तं वंदित्ता०जाव पज्जुवासित्ता इमं एयारूवं वागरणं वागरित्तए ति कट्टु एवं संपेहेइ । संपेहित्ता कल्लं०जाव जलंते एहाए कय०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता पादविहारचारेणं सावत्थिं नयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे,तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पासइ। पासइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगयं०जाव अंजलिकम्मं करेमाणे सीयलियाए मट्टिया ०जाव गायाइं परिसिंचमाणं पासइ। पासइत्ता लज्जिए विलिए विड्डे सणियं २ पच्चोसक्कइ । तए णं ते आजीवियथेरा अयंपुलं आजीवियउवासगं लज्जियं० जाव पच्चोसक्कमाणं पासइ । पासइत्ता एवं वयासी-एहि ताव अयंपुला ! इतो । तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए आजीवियथेरेहिं एवं वुत्ते समाणे जेणेव आजीवियथेरा, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता आजीवियथेरे वंदइ,णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासएणे०जाव पज्जुवासति । अयंपुलाइ ! आजीवियथेरा अयंपुलं आजीवियउवासगं एवं वयासी-से णूणं ते अयंपुला ! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि० जाव किं संठिया हल्ला पएणत्ता । तए णं तव अयंपुला ! दोच्चं पि अयमेया तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव इहं, तेणेव हव्वमागए। से णूणं ते अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि। जं पि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए०जाव अंजलिं करेमाणे विहरइ । तत्थ वि णं भगवं इमाइं अट्ठ चरिमाइं पएणवेइ। तं जहा-चरिमे पाणे० जाव अंतं करेस्सइ । जे वि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलयाएणं मट्टिया० जाव विहरंति, तत्थ वि णं भगवं इमाइं चत्तारि पाणगाइं, चत्तारि अपाणगाइं पएणवेइ; से किं तं पाणए ?। पाणए० जाव तओ पच्छा सिज्झंति० जाव अंतं करेंति । तं गच्छह णं तुमं अयंपुला ! एवं चेव तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते इमं एयारूवं वागरणं वागरेहि । तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए आजीवियएहिं थेरेहिं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं ते आजीवियथेरा गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंबकूणगए भाववणट्ठयाए एगंतमंते संगारं कुव्वति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आजीवियाणं थेराणं संगारं पडिच्छइ । पडिच्छइत्ता अंबकूणगं एगंतमंते एमेइ। तए णं से अयपुले आजीवियउवासए जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं तिक्खुत्तो० जाव पज्जुवासइ । अयपुलाइ ! गोसाले मंखलिपुत्ते आजीवियउवासगं एवं वयासी-से णूणं अयंपुला! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि० जाव जेणेव ममं अंतियं, तेणेव हव्वमागए। से णूणं अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि । तं णो खलु एस अंबकूणए अंबचोयएणं एस । किं संठिया हल्ला पएणत्ता ?। तं जहा-वंसीमूलसंठिया हल्ला पएणत्ता,वीणं वाएहिरे वीरगा, वी० २ । तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं इमं एयारूवं वागरणं वागरिए समाणे हट्ठतुट्ठ०जाव हियए गोसालं मंखलिपुत्तं वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता पसिणाइं पुच्छइ। पुच्छइत्ता अट्ठाइं परियादियइ। परियादियइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता नमंसइत्ता०जाव पडिगए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते अप्पणो मरणं आभोएइ । आभोएइत्ता आजीवियथेरे सद्दावेइ । सद्दावेइत्ता एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया! ममं कालगयं जाणित्ता सुरभिणा गंधोदएणं एहाणेह । सुरभिणा गंधोदएणं एहाणेइत्ता पम्हलसुकुमालए गंधकासाइए गायाइं लूहेह । गायाइं लूहेहइत्ता सरसेणं गोसीसेणं गायाइं अणुलिंपह । अणुलिंपहइत्ता महरिहं हंसलक्खणं पडसाडगं नियंसेह । नियंसेहइत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेह । करेत्ता पुरिस-

सहस्सवाहिणी सीयं दुरूहेह । दुरूहइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु महया सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वदह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी०जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरित्ता । इमी से ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थगराणं चरिमे तित्थगरे सिद्धे० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, इड्ढीसक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स णीहरणं करेह । तए णं ते आजीविया थेरा गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति । तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सत्तरत्तंसि परिणममाणंसि पडिलद्धसम्मत्तस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-णो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । अहं गोसाले मंखलिपुत्ते समणघायए समणमारए समणपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए अकित्तिकारए बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे विहरित्ता, सएणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्सं । समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी०जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ, एवं संपेहेइ । संपेहेइत्ता आजीवियथेरे सद्दावेइ । सद्दावेइत्ता उच्चावयं सवहसाविए पकरेइ । पकरेइत्ता एवं वयासी-णो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी०जाव पगासमाणे विहरइ, अहं णं गोसाले मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्सं । समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी०जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ममं कालगयं जाणित्ता वामपाए सुंबेणं बंधह । बंधित्ता तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुहह त्ति । उट्ठुहइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वदह-णो खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ । एस णं गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघायए०जाव छउमत्थे चेव कालगए । समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ । अणिड्ढी असक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स नीहरणं करेज्जह । एवं वदित्ता कालगए ।

(वज्जस्स त्ति) अवद्यस्य, वज्रस्य वा, मद्यपानादिपापस्येत्यर्थः । (चरमे त्ति) न पुनरिदं भविष्यतीतिकृत्वा चरमम् । तत्र पानकादीनि चत्वारि स्वगतानि, चरमता चैषां स्वस्य निर्वाणगमनेन पुनरकरणात् । एतानि च किल निर्वाणकाले जिनस्यावश्यं भावीनीति नास्त्येतेषु दोष इत्यस्य, तथा नाहमेतानि दाहोपशमायोपसेवामीत्यस्य चार्थस्य, प्रकाशनार्थत्वादवद्यप्रच्छादनार्थानि भवन्ति । पुष्कलसंवर्त्तकादीनि तु त्रीणि बाह्यानि प्रकृतानुपयोगेऽपि चरमसामान्याज्जनचित्तरञ्जनाय चरमाण्युक्तानि, जनेन हि तेषां सातिशयत्वाच्चरमता श्रद्धीयते, ततस्तैः सहोक्तानामाम्रकूणकपानकादीनामपि सा सुश्रद्धेया भवतीवति बुद्ध्येति । (पाणगाइं ति) जलविशेषा व्रतियोग्याः (अपाणयाइं ति) पानकसदृशानि शीतलत्वेन दाहोपशमहेतवः । (गोपुट्ठए त्ति) गोपृष्ठाद्युत्पतितम् । (हत्थमद्दियए त्ति) हस्तेन मर्दितं, मलितमित्यर्थः । यथैतदेव आतन्यनिकोदकम् । (थालपाणए त्ति) स्थालं वट्टं तत्पानकमिव दाहोपशमहेतुत्वात्स्थालपानकम् । उपलक्षणत्वादस्य भाजनान्तरग्रहोऽपि दृश्यः । एवमन्यान्यपि, नवरं त्वक्छल्लीशम्बलीकलापादिफलिका । (सुद्धापाणए त्ति) देवहस्तस्पर्श इति (दाथालयं ति) उदकार्द्रं स्थालकम् । (दावारग ति) उदकधारकम् (दाकुभग त्ति) इह कुम्भो महान् । (दाकलस ति) कलशस्तु लघुतरः (जहापओगपए त्ति) षोडशपदे, तत्र चेदमेवमधीयते-" अब्बं वा फणसं वा दालिमं वा " इत्यादि । (तरुणग ति) अभिनवम् । [आमग ति] अपक्वम् [आसगंसि त्ति] मुखे आपीडयेदीषत्पीडयेत् प्रकंपन इह यदिति शेषः । [कल त्ति] कलायो धान्यविशेषः । (सिंवालि त्ति) वृक्षविशेषः । "पुढविसंथारोवगए" इत्यत्र, वर्तते इति शेषो दृश्यः । (जे ण ते देवे साइज्जइ त्ति) यस्तौ देवौ स्वदतेऽनुमन्यते (संसि त्ति) स्वके, स्वकीये इत्यर्थः । [हल्ल त्ति] गोवालिकातृणसमानाकारः कीटकविशेषः "जाव सव्वण्णू " इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"जिणे अरहा केवलीति" 'वागरण ति' प्रश्नः [वागरित्तए त्ति] प्रष्टुम्[विलिए त्ति]व्यलीकितः सञ्जातव्यलीकः [विड्डे त्ति]व्रीडा अस्यास्तीति व्रीडः, लज्जाप्रकर्षवानित्यर्थः । भूमार्थे अस्त्यर्थप्रत्ययोपादानात् विजने भूविभागे यावदयपुलो गोशालकान्तिकेनागच्छतीत्यर्थः । [सगार ति] सङ्केतम् अयपुलो भवत्समीपे आगमिष्यति, ततो भवानाम्रकूणकं परित्यजतु, सघृतश्च भवत्येव रूपमिति । [तं नो खलु एस अंबकूणए त्ति]तदिदं किलाम्रास्थिकं न भवति यद् व्रतिनामकल्प यद्भवताऽऽम्रास्थिकतया विकल्पितम्, किं त्विदं यद्भवता दृष्टं तदाम्रत्वक् । एतदेवाह-[अंबचोयए णं एस त्ति] इय च निर्वाणगमनकाले आश्रयणीयैव, त्वक्पानकत्वादस्येति । तथा हल्ला संस्थान यत्पृष्टमासोत्तद्दर्शयन्नाह-[वंसीमूलसंठिय त्ति] इद च वंशीमूलसंस्थितत्वं तृणगोवालिकाया लोकप्रतीतमेवेति । एतावत्युक्ते मदिरामदविह्वलितमनोवृत्तिरसावकस्मादाह-[वीणं वा एहिरिवारगा] एतदेव द्विरावर्त्तयति; एतच्चोन्मादवचनं तस्योपासकस्य शृण्वतोऽपि न व्यलीककारणं जातं, यो हि सिद्धिं गच्छति, स चरमं गेयादि करोतीत्यादिवचनैर्विमोहितमतित्वादिति । (हसलक्खणं ति) हसस्वरूपम्, शुक्लमित्यर्थः, हंसचिह्नं वेति । [इड्ढीसक्कारसमुदएणं ति] ऋद्ध्या ये सत्काराः पूजाविशेषास्तेषां यः समुदायः स तथा, तेन । अथवा-ऋद्धिसत्कारसमुदायैरित्यर्थः । समुदायश्च जनानां सङ्घः । (समणघायए त्ति) श्रमणयोस्तेजोलेश्याक्षेपलक्षणघातदानात् घातदो घातको वा, अत एव श्रमणमारक इति । (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहोत्पत्त्या [सुंबेण ति] वल्करज्ज्वा [उट्ठुहह त्ति] अवष्ठीव्यते निष्ठीव्यते, क्वचित् " उच्छुभन्ति " दृश्यते, तत्र चापसदं किञ्चित् क्षिपतेत्यर्थः । [आकड्ढविकड्ढिं ति] आकर्षविकर्षिकाम् । (भ०)

तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं कालगयं

जाणित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स दुवा-
राइ पिहेंति। पिहेंतित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारा-
वणस्स बहुमज्झदेसभाए सावत्थिं णयरिं आलिहंति। आ-
लिहंतित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं वामे पादे
सुंबेणं बंधंति। बंधंतित्ता तिक्खुत्तो मुहे उट्टुभंति। उट्टुभं-
तित्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग जाव० पहेसु आक-
ड्ढविकड्ढिं करेमाणे णीयं सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा
एवं वयासी-णो खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते
जिणे जिणप्पलावी०जाव विहरिए। एस णं गोसाले चेव
मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए,
समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ।
सवहपडिमोक्खमणगं करेंति। करेंतित्ता दोच्चं पि पूयास-
कारथिरीकरणट्ठयाए गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वामाओ
पादाओ सुंबेयंति। सुंबेयंतित्ता हालाहलाए कुंभकारीए
कुंभकारावणस्स दुवारवयणाइं अवगुणंति। अवगुणंतित्ता
गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं सुरभिणा गंधोदएणं
ण्हाणेंति। तं चेव० जाव महया महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं
गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगस्स णीहरणं करेंति।
तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइं सावत्थीओ
णयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणि-
क्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं
तेणं समएणं मिंढियगामे णामं णयरे होत्था। वण्णओ-तस्स
णं मिंढियगामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसि-
भाए एत्थ णं सालकोट्ठए नामं चेइए होत्था। वण्णओ-पुढ-
वीसिलापट्टओ, तस्स णं सालकोट्ठगस्स चेइयस्स अदूरसा-
मंते एत्थ णं महेगे मालुयाकच्छे यावि होत्था। किण्हे कि-
ण्होभासे०जाव निकुरुंबभूए पत्तिए पुप्फिए फलिए हरि-
यगरेरिज्जमाणे सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसो-
भेमाणे चिट्ठइ। तत्थ णं मेंढियगामे णयरे रेवती णामं गा-
हावइणी परिवसइ, अड्ढा०जाव अपरिभूया। तए णं समणे
भगवं महावीरे अन्नया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव
जेणेव मिंढियगामे णयरे जेणेव मालकोट्ठए चेइए चेव०जाव
परिसा पडिगया। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स
सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले०जाव दुरहि-
यासे पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि विहरइ। अवि-
याइं लोहियवच्चाइं पि करेइ, चाउवण्णं वागरेइ।एवं खलु समणे
भगवं महावीरे गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अ-
ण्णाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे
दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्संति। तेणं कालेणं तेणं
समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सीहे
णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए मालुयाकच्छगस्स
अदूरसामंते छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं २ उड्ढं बाहाओ०
जाव विहरइ। तए णं तस्स सीहस्स अणगारस्स झाणं-
तरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे०जाव समुप्पज्जित्था-एवं
खलु मम धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स भ-
गवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए
उज्जले० जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्सइ, वदिस्संति य
णं अन्नउत्थिया-छउमत्थे चेव कालगए। इमेणं एयारूवेणं
महया मणोमाणसिएणं दुक्खेण अभिभूए समाणे आ-
यावणभूमीओ पच्चोरुभइ। पच्चोरुभइत्ता जेणेव मालुयाक-
च्छए, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयं अं-
तो २ अणुप्पविसइ। अणुप्पविसइत्ता महया महया सद्दे-
णं कुहुकुहुस्स परुण्णे अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे स-
मणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी-एवं खलु अज्जो !
ममंतेवासी सीहे णामं अणगारे पगइभद्दए तं चेव सव्वं
भाणियव्वं० जाव परुण्णे, तं गच्छह णं अज्जो ! तुब्भे सीहं
अणगारं सद्दह। तए णं ते समणा णिग्गंथा समणेणं भ-
गवया महावीरेणं एवं वुत्ता समणा समणं भगवं महावीरं
वंदंति, णमंसंति। वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ म-
हावीरस्स अंतियाओ सालकोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणि-
क्खमंति। पडिणिक्खमंतित्ता जेणेव मालुयाकच्छए जेणेव
सीहे अणगारे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता सीहं
अणगारं एवं वयासी-सीहा ! तव धम्मायरिया सद्दावेइ।
तए णं सीहे अणगारे समणेहिं णिग्गंथेहिं सद्धिं मालुयाक-
च्छयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता जेणेव समणे
भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणं भ-
गवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिण० जाव पज्जुवा-
सइ। सीहादि ! समणे भगवं महावीरे सीहं अणगारं एवं
वयासी-से णूणं सीहा झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमे-
यारूवे०जाव परुण्णे, से णूणं ते सीहा ! अट्ठे समट्ठे हंता
अत्थि। तं णो खलु सीहा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स त-
वेणं तेएणं अणाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं०जाव का-
लं करेस्सं। अहं णं अन्नाइं सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी
विहरिस्सामि। तं गच्छह णं तुमं सीहा ! मिंढियगामं णयरं
रेवतीए गाहावइणीए गिहे। तत्थ णं रेवतीए गाहावईए मम
अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं णो अट्ठो अत्थि।
से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि,
तेणं अट्ठो। तए णं सीहे अणगारे समणेणं भगवया महा-
वीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हियए समणं भगवं
महावीरं वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता अतुरियमच-
वलमसंभंतं मुहपोत्तिय पडिलेहेइ। पडिलेहेइत्ता जहा गोय
मसामी०जाव जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ।

उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ,णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ सालकोट्ठयाओ चेइयाओ पमिणिक्खमइ। पमिणिक्खमइत्ता अतुरिय० जाव जेणेव मिंढियगामे णयरे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता मिंढियगामं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव रेवईए गाहावइणीए गिहे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता रेवईए गाहावइणीए गिहे अणुप्पविट्ठे। तए णं सा रेवई गाहावइणी सीहं अणगारं एज्जमाणं पासइ। पासइत्ता हट्ठतुट्ठ०खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठेइत्ता सीहं अणगारं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ। अणुगच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदइ,णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–संदिसंतु णं देवाणुप्पिया! किमागमणप्पओयणं?। तए णं से सीहे अणगारे रेवतिं गाहावइणिं एवं वयासी–एवं खलु तुम्हे देवाणुप्पिए! समणस्स भगवओ महावीरस्स अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खमिया, तेहिं णो अट्ठो, अत्थि ते अम्ने पारियासिए मज्जारकमए कुक्कुमंसए तमाहराहि; तेणं अट्ठो। तए णं सा रेवती गाहावइणी सीहं अणगारं एवं वयासी–केस णं सीहा! सेणाणी वा तवस्सी वा, जेणं तव एस अट्ठे, मम ताव रहस्सकए हव्वमक्खाए?, जओ णं तुमं जाणसि?, एवं जहा खंदए० जाव जओ णं अहं जाणामि। तए णं सा रेवती गाहावइणी सीहस्स अणगारस्स अंतियं एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठतुट्ठा जेणेव भत्तघरे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पत्तगं मोएइ। जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता सीहस्स अणगारस्स पमिग्गहगंसि त सव्वं सम्मं णिसिरइ। तए णं रेवतीए गाहावइणीए तेणं दव्वसुद्धेणं० जाव दाणेणं सीहे अणगारे पमिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे,जहा विजयस्स०जाव जम्मजीवियफले रेवईए गाहावइणीए रेव० २। तए णं सीहे अणगारे रेवतीए गाहावइणीए गिहाओ पमिणिक्खमइ। पमिणिक्खमइत्ता मिंढियगामं णयर मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जहा गोयमसामी० जाव भत्तपाणं पमिदंसेइ। पमिदंसेइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स पाणिंसि तं सव्वं णिसिरइ। तए णं समणे भगवं महावीरे अमुच्छिए०जाव अणज्झोववण्णे बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं तमाहारं सरीरकोट्ठंसि पक्खिवइ। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समाणस्स विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसते, हट्ठे जाए अरोगो बलियसरीरे तुट्ठा समणा, तुट्ठीओ समणीओ, तुट्ठा सावया, तुट्ठीओ सावियाओ, तुट्ठा देवा, तुट्ठीओ देवीओ, सदेवमणुयासुरे लोए हट्ठे जाए, समणे भगवं महावीरे हट्ठे २ भंते त्ति!। भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णामे अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, से णं भंते! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं भासरासीकए समाणे कहिं गए, कहिं उववन्ने?। एवं खलु गोयमा! ममं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं भासरासीकरेमाणे उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव बंभलंतगमहासुक्के कप्पे वीईवइत्ता सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं अट्ठारसमागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं सव्वाणुभूइस्स वि देवस्स अट्ठारस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं सव्वाणुभूईदेवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं०जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति,० जाव अंतं करेहिति। एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कोसलजाणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए०जाव विणीए, से णं भंते! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परितावेिए समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने?। एवं खलु गोयमा! ममं अंतेवासी सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए०जाव विणीए, से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परितावेिए समाणे जेणेव ममं अंतिए, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहइ। आरुहइत्ता समणाओ समणीओ य खामेइ। आलोइयपमिकंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव आणयपाणयारणकप्पे वीईवइत्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं सुणक्खत्तस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं, सेसं जहा सव्वाणुभूइस्स० जाव अंतं काहिति। एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले णामं मंखलिपुत्ते, से णं भंते! गोसाले मंखलिपुत्ते कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने?। एवं खलु गोयमा! ममं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले णामं मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरिए०जाव अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं गोसालस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता॥

[पूयासक्कारथिरीकरणट्ठयाए त्ति] पूजासत्कारयोः पूर्वप्राप्तयोः स्थिरत्वहेतो.। यदि तु ते गोशालकशरीरस्य विशिष्टपूजां न

अप्पेगइए णिच्छोडेहेति, अप्पेगइए णिब्भच्छेहिति. अप्पेगइए वंधेहिति, अप्पेगइए णिरुंभेहिति, अप्पेगइयाणं छविच्छेदं करेहिंति, अप्पेगइए पम्मारेहिंति, अप्पेगइयाणं उद्दवेहिति. अप्पेगइयाणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुच्छणं आच्छिंदिहिति, विच्छिंदिहिति, भिंदिहिति, अप्पेगइयाणं भत्तपाण वोच्छिंदिहिति, अप्पेगइए णिण्णारे करेहिति, अप्पेगइए णिव्विसए करेहिति। तए णं सतदुवारे णयरे बहवे राईसर० जाव वदिहिंति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! विमलवाहणे राया समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवण्णे अप्पेगइए आउसति० जाव णिव्विसए कारेति, तं णो खलु देवाणुप्पिया ! एयं अम्हं सेयं, णो खलु एयं विमलवाहणस्स रण्णो सेयं, णो खलु एयं रज्जस्स वा रट्ठस्स वा बलस्स वा वाहणस्स वा पुरस्स वा अंतेउरस्स वा जणवयस्स वा सेयं, जेणं विमलवाहणे राया समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवण्णे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं विमलवाहणं रायं एयमट्ठं विण्णवेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेति। पडिसुणेतित्ता जेणेव विमलवाहणे राया, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं विमलवाहणं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति । वद्धावेंतित्ता एवं वदिस्संहिंति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवण्णा अप्पेगइए आउसइ०, जाव अप्पेगइए निव्विसए कारेति, तं णो खलु एयं जं णं देवाणुप्पियाणं सेयं, णो खलु एयं अम्हं सेयं, णो खलु एयं रज्जस्स वा० जाव जणवयस्स वा सेयं, जं णं देवाणुप्पिया ! समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवण्णा, तं विरमंतु णं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठस्स अकरणयाए। तए णं से विमलवाहणे राया तेहिं बहूहिं राईसर० जाव सत्थवाहप्पभिईहिं एयमट्ठं विण्णत्ते समाणे णो धम्मो त्ति णो तवो त्ति मिच्छाविणएणं एयमट्ठं पडिसुणेहिं, तस्स णं सयदुवारस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, एत्थ णं सुभूमिभागे उज्जाणे भविस्सइ; सव्वोउयवण्णओ ।

(भारग्गसो य त्ति) भारपरिमाणतः, भारश्च भारकः पुरुषोद्वहनीयो, विंशतिपलशतप्रमाणो वेति। (कुम्भग्गसो य त्ति) कुम्भो जघन्य आढकानां षष्ठ्या, मध्यमस्त्वशीत्या, उत्कृष्टः पुनः शतेनेति (पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति त्ति) वर्षो वृष्टिः वर्षिष्यति भविष्यति। किंविध इत्याह-पद्मवर्षः पद्मवर्षरूप एव रत्नवर्ष इति [सेए त्ति] श्वेत । कथंभूत [संखतलविमलसण्णिगासे त्ति] शंखस्य यद्दलं खण्डं तलं वा रूपं विमल तत्सन्निकाशः सदृशो यः स तथा, प्राकृतत्वाच्चैव समासः । (आउसिहिइ त्ति) आक्रोशान् दास्यति (निच्छोडेहिइ त्ति) पुरुषान्तरसम्बन्धितहस्ताद्यवयवाकारणतो ये श्रमणास्तांस्ततो वियोजयिष्यति [निब्भच्छेहिइ त्ति] आक्रोशव्यतिरिक्तदुर्वचनानि दास्यति [पम्मारेहिइ त्ति] प्रमारं मरणक्रियारम्भं कारिष्यति प्रमारयिष्यति [उद्दवेहि त्ति] अपद्रावयिष्यति, मारयिष्यति। (उवद्दवेहिइ त्ति) उपद्रवान् कारिष्यति [आच्छिंदिहि त्ति] ईषच्छेत्स्यति [विच्छिंदिहिइ त्ति] विशेषेण विविधतया वा छेत्स्यति । [भिंदिहिइ त्ति] स्फोटयिष्यति पात्रापेक्षयमेतत् अपहरिष्यत्युद्दालयिष्यति । [निण्णारे करेहिति त्ति] निर्नगरान् नगरविष्क्रान्तान् करिष्यति (रज्जस्स व त्ति) राज्यस्य वा, राज्यं च राजादिपदार्थसमुदाय । आह च-"स्वाम्यमात्याश्वराष्ट्रं, कोशो दुर्गबल सुहृत् । सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं; बुद्धिसत्त्वसमाश्रयम् " ॥ १ ॥ राष्ट्रादयस्तु तद्विशेषाः, किन्तु राष्ट्रं जनपदैकदेश । [विरमतु णं देवाणुप्पिया ! एयस्स अट्ठस्स अकरणयाए त्ति] विरमणं किल वचनाद्यपेक्षयाऽपि स्यादत उच्यते, अकरणतया करणनिषेधरूपतया । भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पउप्पए सुमंगले णामं अणगारे जाइसंपण्णे जहा धम्मघोसस्स वण्णओ० जाव संखित्तविउलतेयलेस्से तिण्णाणोवगए सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं० जाव आयावेमाणे विहरिस्सइ। तए णं से विमलवाहणे राया अण्णया कयायि रहचरियं काउं णिज्जाहिति। तए णं से विमलवाहणे राया सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते रहचरियं करेमाणे सुमंगलं अणगारं छट्ठं छट्ठेणं० जाव आयावेमाणे पासिहिति। पासहितित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं रहसिरेणं णोल्लावेहिति। तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति। उट्ठेहितित्ता दोच्चं पि उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय० जाव आयावेमाणे विहरिस्सइ। तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलं अणगारं दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लावेहिति। तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति। उट्ठेहितित्ता ओहिं पउंजेहिति। ओहिं पउंजेहितित्ता विमलवाहणस्स रण्णो तीयद्धा आभोएहिति। ती० २ विमलवाहणं राय एवं वादिहिति-णो खलु तुमं विमलवाहणे राया, णो खलु तुमं देवसेणे राया, णो खलु तुमं महापउमे राया, तुमं णं इओ तच्चे भवग्गहणे गोसाले णामं मंखलिपुत्ते होत्था समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए, तं जति ते तदा सव्वाणुभूइणा अणगारेणं पभूणा वि होऊणं सम्मं सहियं खमियं तितिक्खियं अहियासियं, जइ ते तदा सुणक्खत्तेणं अणगारेणं पभूणा वि होऊणं सम्मं सहियं खमियं० जाव अहियासियं, जइ ते तदा समणेणं भगवया महावीरेणं पभूणा वि० जाव अहियासियं, तं णो खलु अहं तहा सम्मं सहिस्सं० जाव अहियासिस्सं; अहं ते णवरं स-

हयं सरहं ससारहियं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेज्जामि । तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं तच्चं पि रहसिरेण णोल्लविहिति । तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रएणा तच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ । पच्चोरुभइत्ता तेयासमुग्घाएणं समोहणिहिति । समोहणहिंतित्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्किहिति । पच्चोसक्किहितित्ता विमलवाहणं रायं सहयं सरहं ससारहियं तवेणं तेएणं० जाव भासरासिं करेहिति । सुमंगले णं भंते ! अणगारे विमलवाहणं रायं सहयं० जाव भासरासिं करेत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! सुमंगले णं अणगारे णं विमलवाहणं रायं सहयं० जाव भासरासिं करेत्ता बहूहिं छट्ठट्ठमदसमदुवालस० जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिहिति । बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिहितित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं० जाव छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव गेवेज्जगविमाणे सयं वीईवइत्ता सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति । तत्थ णं देवाणं अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता । तत्थ णं सुमंगलस्स वि देवस्स अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता । से णं भंते ! सुमंगले देवे ताओ देवलोगाओ० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०, जाव अंतं काहिति । विमलवाहणे णं भंते ! राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहयं० जाव भासरासीकए समाणे कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! विमलवाहणे राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहयं० जाव भासरासीकए समाणे अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसं कालट्ठितियंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति; से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि अहे सत्तमाए उक्कोसकालट्ठितियंसि णरगंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उववज्जिहिति, तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा १, छट्ठीए तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता इत्थियासु उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाह० जाव दोच्चं पि छट्ठीए तमाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि इत्थियासु उववज्जिहिति २। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता उरएसु उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे दोच्चं पि पंचमाए० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि उरएसु उववज्जिहिति, ०जाव किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि० जाव उव्वट्टित्ता सीहेसु उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे तहेव कालं किच्चा दोच्चं पि चउत्थीए पंकप्पभाए० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सीहेसु उववज्जिहिति ०जाव किच्चा तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता पक्खीसु उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि वालुयप्पभाए० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि पक्खीसु उववज्जिहिति० जाव किच्चा दोच्चाए सक्करप्पभाए० जाव उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति । तत्थ वि ण सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि दोच्चाए सक्कर० (६) जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सरीसवेसु उववज्जिहिति० जाव किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालठिइयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति०, जाव उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा असण्णीसु उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओ० जाव उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहचरविहाणाइं भवंति । तं जहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं वियतपक्खीणं, तेसु अणेगसयसहस्सक्खुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो २ पच्चायाति । सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा जाइं इमाइं भुयपरिसप्पविहाणाइं भवंति । तं जहा—गोहाण णउलाण जहा पण्णवणापदे० जाव जाहगाणं चउप्पइयाणं तेसु अणेगसयसहस्सक्खुत्तो सेसं जहा—खहचराणं० जाव किच्चा जाइं इमाइं उरपरिसप्पविहाणाइं भवंति । तं जहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणहपदाणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा, जाइं इमाइं जलचरविहाणाइ भवंति । तं जहा—मच्छाणं कच्छभाणं० जाव सुंसुमाराणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा जाइ इमाइं चउरिंदियविहाणाइं भवंति । तं जहा—अंधियाणं पोत्तियाणं जहा पण्णवणापदे० जाव गोमयकीडाणं, तेसु अणेगसय० जाव किच्चा जाइं इमाइं तेइंदियविहाणाइं भवंति । तं जहा—ओवचियाणं० जाव हत्थिसोंडाणं तेसु अणेग० जाव किच्चा जाइ इमाइं बेइंदियविहाणाइं भवंति । तं जहा—पुलाकिमियाणं० जाव समुद्दलिक्खाणं तेसु अणेगसय० जाव किच्चा जाइं इमाइं वणस्सइविहाणाइं भवंति ।

रुक्खाणं गुच्छाणं० जाव कुहुणाणं तेसु अणेग० जाव पच्चायाइस्सइ । उस्सण्णं च णं कडुयरुक्खेसु कडुयवल्लीसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा जाइं इमाइं वाउक्काइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–पाईणवाताणं० जाव सुद्धवाताणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा, जाइं इमाइं तेउक्काइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–इंगालाणं० जाव सूरियकंतमणिणिस्सियाणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा, जाइं इमाइं आउक्काइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–ओसाणं०जाव खातोदगाणं तेसु अणेग०जाव पच्चायातिस्सइ । उस्सण्णं च णं खारोदएसु खातोदएसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा इमाइं पुढविकाइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–पुढवीणं सक्कराणं० जाव सूरिकंताणं, तेसु अणेगसय० जाव पच्चायाहिति । उस्सण्णं च णं खरबादरपुढविकाइएसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा, रायगिहे णयरे बाहिं खरियत्ताए उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि रायगिहे णयरे अंतोखरियत्ताए उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले विभेले सण्णिवेसे माहणकुलंसि दारियत्ताए पच्चायाहिति । तए णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं जोव्वणगमणुप्पत्तं पडिरूविएणं सुक्केणं पडिरूवएणं विणएणं पडिरूवियस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलइस्सइ । सा णं तस्स भारिया भविस्सइ, इट्ठा कंता० जाव अणुमया भंडकरंडगसमाणा तेल्लकेला इव सुसंगोविया चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिया रयणकरंडगउं विव सुसारक्खिया सुसंगोविया माणं सीयं माणं उण्हं० जाव परिस्सहोवसग्गं फुसंतु । तए णं सा दारिया अण्णया कयाइ गुव्विणी ससुरकुलाओ कुलघरं णिज्जमाणी अंतरा दवग्गिजालाभिहया कालमासे कालं किच्चा दाहिणिल्लेसु अग्गिकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति । लभिहितित्ता केवलं बोहिं बुज्झिहिति । बोहिं बुज्झिहितित्ता केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति । तत्थ वि य णं विराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा दाहिणिल्लेसु असुरकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं तं चेव०जाव विराहियसामण्णे काल० जाव किच्चा दाहिणिल्लेसु णागकुमारेसु देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता एवं एएणं अभिलावेणं दाहिणिल्लेसु विज्जुकुमारेसु एवं अग्गिकुमारेसु वज्ज०जाव दाहिणिल्लेसु थणियकुमारेसु से णं तओ० जाव उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति० जाव विराहियसामण्णे जोइसिएसु देवेसु उववज्जिहिति । से णं तओ अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति०, जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति, केवलं बोहिं बुज्झिहिति । तत्थ वि णं अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सणंकुमारेणं कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो एवं जहा सणंकुमारे तहा बंभलोए महासुक्के आणए आरणे, से णं तओ ०जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं चइत्ता महाविदेहे वासे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं० जाव अपरिभूयाइं तहप्पगारेसु कुलेसु पुत्तत्ताए पच्चायाहिति । एवं जहा उववाइए दढपइण्णवत्तव्वया, सा चेव वत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा०जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिहिति । तए णं दढपइण्णे केवली अप्पणो तीतद्धं आभोएइ । आभोएइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दाविहिति । सद्दाविहितित्ता एवं वदिहिति–एवं खलु अहं अज्जो ! इओ चिरातीयाए अद्धाए गोसाले मंखलिपुत्ते होत्था, समणघायए०जाव छउमत्थे चेव कालगए, तं मूलगं च णं अहं अज्जो ! अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ । तं मा णं अज्जो ! तुज्झं पि केइ भवतु आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए अकित्तिकारए, मा णं से वि एवं चेव अणादीयं अणवदग्गं० जाव संसारकंतारं अणुपरियट्टिहिति, जहा णं अहं । तए णं ते समणा णिग्गंथा दढपइण्णस्स केवलिस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया तत्था तसिया संसारभयुव्विग्गा दढपइण्णं केवलिं वंदिहिंति, णमंसिहिंति; तस्स ठाणस्स आलोइएहिंति, निंदिहिंति०, जाव पडिवज्जिहिंति । तए णं दढपइण्णे केवली बहूइं वासाइं केवलपरियागं पाउणिहिति । पाउणिहितित्ता अप्पाणं आउसेसं जाणित्ता भत्तं पच्चक्खाहिति, एवं जहा उववाइए० जाव सव्वदुक्खाणमंतं काहिति । सेवं भंते ! भंते ! त्ति० जाव विहरइ । तेयाणिसग्गो सम्मत्तो अद्धेणं ।

[विमलस्स त्ति] । विमलजिन किलोत्सर्पिण्यामेकविंशतितमः समवाये दृश्यते, स चावसर्पिणीचतुर्थजिनस्थाने प्राप्नोति । तस्माच्चार्वाचीनजिनान्तरेषु बह्व्यः सागरोपमकोट्योऽतिक्रान्ता लभ्यन्ते, अयश्च महापद्मो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते भविष्यतीति दुरवगममिदम् । अथवा यो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते तीर्थकृदुत्सर्पिण्यां भविष्यति, तस्यापि विमल इति नाम सम्भाव्यते, अनेकाभिधानाभिधेयत्वान्महापुरुषा-

कामिति । (पडप्पए त्ति) शिष्यसन्ताने,(जहा धम्मघोसस्स व-ण्णओ त्ति) । यथा धर्मघोषस्यैकादशशतैकादशोद्देशकाभिहि-तस्य वर्णकस्तथाऽस्य वाच्यः। स च "कुलसंपन्ने बलसंपन्ने" इत्यादिरिति । (रहचरियं ति) । रथचर्याम (नोल्लावेहिइ त्ति) नोदयिष्यति प्रेरयिष्यति, सहितमित्यादय एकार्थाः [सत्थव-ज्झे ति) शस्त्रवध्यः सन् (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहोत्पत्त्या कालं कृत्वेति योगः,दाहव्युत्क्रान्तिको वा भूत्वेति शेषः। इह च यथोक्तक्रमेणैवासंज्ञिप्रभृतयो रत्नप्रभादिषु यत उत्पद्यन्ते इ-त्यसौ तथैवोत्पादितः। आह च-"अस्सन्नी खलु पढमां,दोच्चं च सरीसिवा तइयं पक्खी । सीहा जंति चउत्थीं, उरगा पुण पं-चमीं पुढवीं ॥१॥ छट्ठिं च इत्थियाओ, मच्छा मणुया य सत्त-मीं पुढविं ।" इति ।[खहचरविहाणाइं ति] इह विधानानि भेदाः (चम्मपक्खीणं ति) वग्गुलीप्रभृतीनां [लोमपक्खीणं ति] हंसादीनाम् (समुग्गपक्खीणं ति) समुद्गकाकारपक्षवतां मनु-ष्यक्षेत्रबहिर्वर्त्तिनाम् [विययपक्खीणं ति] विस्तारितपक्षवतां समयक्षेत्रबहिर्वर्त्तिनामेवेति " अणेगसयसहस्सखुत्तो" इत्यादि तु यदुक्तम्, तत्सान्तरमवसेयम्, निरन्तरस्यापञ्चेन्द्रियत्वला-भस्योत्कर्षतोऽप्यष्टभवप्रमाणस्यैव भावात् । यदाह-" पंचेंदिय-तिरियनरा,सत्तट्ठभवा भवग्गहणे" इति [जहा पन्नवणाए त्ति] प्रज्ञापनायाः प्रथमपदे। तत्र चैवमिदम्-"सरडाणं सल्लाणं" इ-त्यादि (एगखुराणं ति) अश्वादीनाम् (दुखुराण ति) गवादीनाम् (गण्डीपयाण ति) हस्त्यादीनां[सणहपयाण ति]सनखपदानां सिं-हादिनखराणां कव्यभानाम् । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"गा-हाणं मगराणं ति " । "पोत्तियाण" इत्यत्र[जहा पन्नवणाए त्ति] अनेन यत्सूचितं तदिदम्-"मच्छियाणं मसगाणमित्यादि" "उवचियाण" इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"रोहिणियाण कुं-थूणं पिपीलियाणमित्यादि" । "पुलाकिमियाणं" इत्यत्र याव-त्करणादिदं दृश्यम्-"कुच्छिकिमियाण गंडूपलगाण गोलोमाण-मित्यादि" [रुक्खाणं ति] वृक्षाणामेकास्थिकबहुजीवकभेदेन द्विविधानां, तत्रैकास्थिका निम्बाम्रादयः, बहुबीजाः अस्थिक-तिन्दुकादयः। (गुच्छाण ति) वृन्ताकीप्रभृतीनां, यावत्करणादि-दं दृश्यम्-"गुम्माण लयाणं वल्लीणं पव्वगाण तणाण वलयाणं हरियाण ओसहीणं जलरुहाण ति"। तत्र गुल्मानां नवमालिका-प्रभृतीनां लतानां पद्मलतादीनां वल्लीनां पुष्पफलप्रभृतीनां पर्व-काणाम् इक्षुप्रभृतीनां तृणानां दर्भकुशादीनां वलयानां तालत-मालादीनां हरितानाम् अध्यारोहकतन्दुलीयकादीनाम् औषधी-नां शालिगोधूमप्रभृतीनां जलरुहाणां कुमुदादीनां [कुहुणाण ति] कुहुणानाम् आयकायप्रभृतिभूमिस्फोटानाम् [वस्सत्र व त्ति] बाहुल्येन पुनः । (पाईणवायाण ति) पूर्ववातानाम् । यावत्कर-णादिदं दृश्यम्-"पडीणवायाणं दाहिणवायाणमित्यादि" (सु-द्धवायाण ति) मन्दस्तिमितवायूनाम् । इङ्गालानामिह यावत्क-रणादिदं दृश्यम्-"जालाण मुम्मुराणं अच्चीणमित्यादि" तत्र च ज्वालानामनलसंबद्धस्वरूपाणां मुर्मुराणां फुम्फुकादौ मसृणा-ग्निरूपाणाम् । अर्चिषामनलाप्रतिबद्धज्वालानामिति ।(ओसाणं ति) रात्रिजलानाम् । इह यावत्करणात्-"हिमाण महियाण ति" (खाओदयाण ति) खातायां भूमौ यान्युदकानि तानि खातो-दकानि, तेषाम् । (पुढवीण ति) मृत्तिकानाम् । (सक्कराणं ति) घर्घरकानाम् । यावत्करणादिदं दृश्यम्-"वालुयाणं उव-लाण ति ।" (खुरिकताणं ति) मणिविशेषाणाम् (बाहिं खरिय-ताए त्ति) नगरबहिर्वर्त्तिवेश्यात्वेन, प्रान्तजवेश्यात्वेनेत्यन्ये । (अंतोखरियत्ताए त्ति) नगराभ्यन्तरवेश्यात्वेन, विशिष्टवेश्या-त्वेनेत्यन्ये (पडिरूविएणं सुक्केणं ति) प्रतिरूपकेनोचितेन शुल्केन दानेन । (भंमकरंडगसमाणे त्ति) आभरणभाजनतुल्या आदे-या इत्यर्थः। (तेल्लकेला इव सुसंगोविय त्ति) तैलकेला तैलाश्रयो भाजनविशेषः सौराष्ट्रप्रसिद्धः,सा च सुष्ठु सङ्गोप्या सङ्गोपनीया भवत्यन्यथा लुठति, ततश्च तैलहानिः स्यादिति । (चेलपेला इव सुसंपरिग्गाहिय त्ति) चेलपेटावत् वस्त्रमञ्जूषेव सुष्ठु संपरिवृता निरुपद्रवे स्थाने निवेशिता (दाहिणिल्लेसु असुरकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति) विराधितश्रामण्यत्वादन्यथाऽनगा-राणां वैमानिकेष्वेवोत्पत्तिः स्यादिति । यच्चेह-" दाहिणिल्लेसु त्ति " प्रोच्यते, तत्तस्य क्रूरकर्मत्वेन दक्षिणक्षेत्रेष्वेवोत्पाद इति कृत्वा । (अविराहियसामण्णे त्ति) आराधितचरण इत्यर्थः । आराधना चेह चरणप्रतिपत्तिसमयादारभ्य मरणान्तं यावन्नि-रतिचारतया तस्य पालना । आह च-" आराहणा य एत्थं, चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई । आमरणंतमजस्सं, संजमप-रिपालणं विहिणा " ॥ १ ॥ एवं चेह यद्यपि चारित्रप्रतिप-त्तिभवा विराधना युक्ता अग्निकुमारवर्ज्यभवनपतिज्योतिष्क-त्वहेतुभवसहिता दश, अविराधनाभवास्तु यथोक्तसौधर्मादि-देवलोकसर्वार्थसिद्ध्युत्पत्तिहेतवः सप्त, अष्टमश्च सिद्धिगमनभव इत्येवमष्टादश चारित्रभवा उक्ताः। श्रूयते चाष्टैव भवाश्चारित्रं भवति, तथाऽपि न विरोधः, अविराधनाभवानामेव ग्रहणादि-ति । अन्ये त्वाहुः-" अट्ठभवा उ चरित्ते" इत्यत्र सूत्रे आदानभ-वानां वृत्तिकृता व्याख्यानत्वाच्चारित्रप्रतिपत्तिविशेषिता एव भवा ग्राह्या नाविराधनाविशेषणं कार्यम्, अन्यथा यद्भगवता श्रीम-न्महावीरेण हालिकाय प्रव्रज्याबीजमिति दापिता तन्निरर्थकं स्या-त्, सम्यक्त्वमात्रेणैव बीजमात्रस्य सिद्धत्वात् । यत्तु चारित्रदानं तस्य तदष्टमचारित्रे सिद्धिरेतस्य स्यादिति विकल्पादुपपन्नं स्यादिति । यच्च दशसु विराधनाभवेषु तस्य चारित्रमुपवर्णितं तद् द्रव्यतोऽपि स्यादिति न दोष इति । अन्ये त्वाहुः-न हि वृ-त्तिकारवचनमात्रादष्टभवादेव अधिकृतसूत्रमन्यथा व्याख्येयं भ-वति, आवश्यकचूर्णिकारेणाऽप्याराधनापक्षस्य समर्थितत्वा-दिति । " एवं जहा उववातिए० " इत्यादि भावितमेवाम्मड-परिव्राजककथानक इति । भ० १५ श० १ उ० । उपा० । कल्प० । आ० चू० । स्था० । ('वीर' शब्दे भगवतो गो-शालकेन सह विचारो वक्ष्यते)

गोसाला-गोशाला-स्त्री० । गवां शालायाम्, यत्र गवादयस्ति-ष्ठन्ति । नि० चू० ८ उ० । आ० म० । " विभाषा सेनासुराच्छाया-शालानिशानाम् " ॥ २ । ४ । २५ । (पाणि०) इति वा नपुंसकत्वम् । वाच० ।

गोसीस-गोशीर्ष-न० । स्वनामख्याते चन्दनविशेषे, ज्ञा० । " गोसीससरसरत्तचंदनदद्दरदिन्नपंचंगुलितल " गोशीर्षस्य चन्दनविशेषस्य सरसस्य च रक्तचन्दनविशेषस्येव दर्दरेण चपे-टारूपेण दत्ता न्यस्ता पञ्चाङ्गुलयस्तला हस्तका यस्मिन् कु-ड्यादिषु तत् तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । रा० । जी० । आ० म० । स० । कल्प० । प्रज्ञा० । सू० प्र० । "गोसीसचंदणं च गंधाण" संथा० । आ० म० । गोशीर्षचन्दनमयीदेवतापरिगृहीता कृष्णस्य भेर्यासीत् । विशे० । हरिचन्दने, तं० ।

गोसीसावलि-गोशीर्षावलि-स्त्री० । गोशीर्षपुद्गलानां दीर्घरू-पायां श्रेणौ , जं० ७ वक्ष० ।

गोह-गोह-पुं० । ग्रामेयके, विशे०। "ततो गोहः प्रयात्ययम्"। आ० क० । ग्रामप्रधानार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

गोहण-गोधन-न० । गवां धनं समूहः । गोसमूहे , गौरेव धनमस्य । गोरूपधनवति, त्रि० । वाच० । "गोहणं किमेत्थ वट्टंति ।" पं० व० १ द्वार ।

गोहा-गोधा-स्त्री० । सरीसृपभेदे, भ० ८ श० ३ उ० । सूत्र० ।

गोहिया-गोधिका-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० । गोधाचर्माऽवनद्धे वाद्यविशेषे , अनु० । भाण्डानां कक्षाहस्तगताऽऽतोद्यविशेषे , आचा० २ श्रु० २ चू० ।

गोहूम-गोधूम-पुं० । धान्यभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । नारङ्गे, है० । आचा० । प्रज्ञा० । आ० म० । जं० । स्था० ।

गोंजी-देशी-मञ्जर्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोंठी-देशी-मञ्जर्याम् , दे० ना० २ वर्ग ।

गोंड-देशी-कानने, दे० ना० २ वर्ग ।

गोंडी-देशी-मञ्जर्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोंदीण-देशी-मयूरपिच्छे , दे० ना० २ वर्ग ।

गोहो-देशी-भटे , पुरुषे , दे० ना० २ वर्ग ।

गिंन-संस्कृतशब्दः । वाक्यालङ्कारे , 'पुरुष एवेदं गिंन ' वेद० । आ० म० द्वि० । विशे० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे गकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

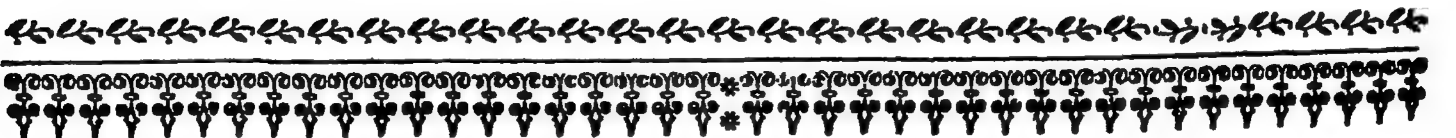

घ-घ-घकारस्योच्चारणस्थानं जिह्वामूलम, " जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः " इति शिक्षोक्तेः। 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्युक्तिस्तु जिह्वामूलरूपकण्ठपरा। अस्योच्चारणे आभ्यन्तरः प्रयत्न स्पर्शः, जिह्वामूलस्पर्शनेन तदुच्चारणात्। अत एवास्य स्पर्शवर्णत्वम्। बाह्यप्रयत्नास्तु घोषनादसम्वारमहाप्राणाः। वाच०। घटायाम, घर्घरशब्दे च। वाच०। मारणे, स्मरणे, घाते, घण्टायाम, किङ्किणीरवे, शक्तौ, भैरवे देवे, पुण्ये, प्रवाहे, पापक्षेमे च। पुं०। घोरे घुरो रवे च। न०। ए० को०।

घइम्-अव्य०। " घइमादयोऽनर्थकाः " । ८। ४। ४२४। इति अपभ्रंशे 'घइ' इत्यनर्थको निपातः प्रयुज्यते। " घइं विवरीरी बुद्धडी, होइ विणासहों कालि। " प्रा० ४ पाद।

घओद-घृतोद-पुं०। सद्यो विस्यन्दितगोघृतस्वादुतत्कालविकसितकर्णिकारपुष्पवर्णाभतोये घृतवरद्वीपस्य समन्ततो वर्तमाने समुद्रे, सू० प्र० २० पाहु०। जी०।

घओवरं णं दीवं घओदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते० जाव चिट्ठति समचक्क० तहेव दारा पदेसा जीवा य अट्ठो ?। गोयमा ! घओदस्स णं समुद्दस्स उदए जहा से सवग्गफुल्लसल्लइविमुक्कलकण्णियारसरसवसुविसुद्धकोरंटदामपिंडितरसणिद्धगुणतेयदीवियनिरुवहतविसिट्ठसुंदरतरस्स सुजायदधिमथिततद्दिवसगहितणवणीयपडुप्पावणावितसुकढितउद्दावसज्जवीसंदितस्स अहियं पीवरसुराभिगंधमणहरमधुरपरिणामदरिसणिज्जपच्छणिम्मलसुहोवभोगगस्स सरयकालम्मि होज्ज गोघयवरस्स मंडे भवे एतारूवे सिया ?। नो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! घतोदस्स णं समुद्दे एत्तो इट्ठतरे० जाव अस्साएणं पण्णत्ते,कंते सुकंता य इत्थ दो देवा महिड्ढीया० जाव परिवसंति; सेसं तहेव० जाव तारागणकोडिकोडीओ।

घृतवरं द्वीपं, घृतोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति। शेषं यथा घृतवरस्य द्वीपस्य यावज्जीवोपपातसूत्रम्। इदानीं नामनिमित्तमभिधित्सुराह-"से केणट्ठेणं" इत्यादि। अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते-घृतोदः समुद्रः घृतोद समुद्र इति ?। भगवानाह-गौतम ! घृतोदसमुद्रस्य उदकं स यथानाम सकललोकप्रसिद्धः शारदिकः शरत्कालभावी गोघृतवरस्य मण्डः घृतसंघातस्य एकदेशपरिमाणे स्थितं घृतं स मण्ड इत्यभिधीयते, सार इत्यर्थः। तथा चाह मूलटीकाकारः-घृतमण्डो घृतसार इति सुकथितो यथोक्ताग्निपरितापतापितः दहरे स्थानान्तरे वाऽऽज्याद्यसंक्रमितः सद्यो विस्यन्दितः तत्कालनिष्पादितो विश्रान्त उपशान्तकचवरः सल्लकीकर्णिकारपुष्पवर्णाभो वर्णेनोपपेतो गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेत आस्वादनीयो विस्वादनीयो दीपनीयो मदनीयो बृंहणीयः सर्वेन्द्रियगात्रप्रल्हादनीयः। एवमुक्ते गौतम आह-(भवे एयारूवे सिया) भवेत् घृतोदकस्य समुद्रस्योदकमेतद्रूपम्। भगवानाह-नायमर्थः समर्थः, घृतोदकस्य समुद्रस्य उदकमितो यथोक्तस्वरूपात् इष्टतरं यावन्मन आप्ततरमेव आस्वादेन प्रज्ञप्तम्। कान्तसुकान्तौ यथाक्रम पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती, अत्र घृतोदे समुद्रे महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्ततो घृतमिवोदकं यस्यासौ घृतोदः। तथा चाह-"से एएणट्ठेणं" इत्यादि सुगमम्। चन्द्रादिसंख्यासूत्रमपि सुगमम्। जी०३ प्रति०। स्था०। अनु०। दुःषमदुःषमान्तर्भाविनि घृतमेघापरनामके महामेघे, "पुक्खलसंवट्टा वि य, खारोदघतोदअमयमेहो य।" नि०। घृतमिव उदकं यासां ताः घृतसमानोदकासु वापीषु, जी० ३ प्रति०। रा०।

घंघल-झकट-पुं०। " शीघ्रादीनां वहिल्लादयः " ॥ ८।४।४२२ ॥ इत्यपभ्रंशे झकटस्य घंघलादेशः। कलहे, प्रा० ४ पाद।

घंघसाला-घङ्घशाला-स्त्री०। बहुकार्पटिकसेवितायां शालायाम, व्य०७ उ०। "जा अतिरित्ता वसही बहुकप्पडिगसेविया सा घंघसाला" आव० ४ अ०। नि० चू०। स०। आचा०। वाततापनाविरहितायां वसतौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०।

घंघो-देशी-गृहे, दे० ना० २ वर्ग।

घंघोरो-देशी-भ्रमणशीले, दे० ना० २ वर्ग।

घंट-घण्ट-न०। दृष्टिवादस्य सूत्रभेदे, स०।

घंटा-घण्टा-स्त्री०। " टो डः " ॥ ८। १। १९५ ॥ इत्यत्र स्वरादित्यधिकाराद्त्र न डादेशः। प्रा० १ पाद। 'घंटि' शब्दकरणे चु० अच्। काकिण्यपेक्षया किञ्चिन्महति, रा०। कांस्यनिर्मिते वाद्यभेदे, वाच०।

घण्टावर्णकः-

तेसि णं घंटाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा-जंबूणयामयाओ घंटातो वतिरामईओ लालातो णाणामणिमया घंटापासा तवणिज्जामईतो संकलातो रययामयातो रज्जूतो ताओ णं घंटाओ हंसस्सराओ मेहस्सराओ सीहस्सराओ दुंदुहिस्सराओ कोंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदियोसातो सीहस्सराओ सीहघोसातो मंजुस्सरातो मंजुघोसातो सुस्सरातो सुस्सरनिग्घोसातो उरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणणिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरेमाणीतो० जाव चिट्ठंति।

तासां च घण्टानामयमेतद्रूपो वर्णावासो वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः तद् यथा-जाम्बूनदमय्यो घण्टा वज्रमय्यो लाला नानामणिमया घण्टापार्श्वाः, तपनीयमय्यः शृङ्खला यासु ता अवलम्बितास्तिष्ठन्ति, रजतमय्यो रज्जवः "ताओ णं घंटाओ" इत्यादि। ताश्च घण्टाः (हंसस्सरा) हंसस्येव मधुरः स्वरो यासां ता हं-

सस्वराः, मेघस्येवाति दीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वराः । सिंहस्येव प्रभूतो देशव्यापी स्वरो यासां ताः सिंहस्वराः। एवं दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, द्वादशविधतूर्यसंघातो नन्दिः। नन्दिवत् घोषो ह्रादो यासां ता नन्दिघोषाः, मञ्जु प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वरा, एवं मञ्जुघोषाः, किं बहुना ?-सुस्वराः सुस्वरघोषाः। "उरालेणं" इत्यादि प्राग्वत् । रा०। औ० । जी० ।

घंटाकएण-घण्टाकर्ण-पुं० । श्रीपर्वतस्थायां स्वनामख्यातायां श्रीमहावीरप्रतिमायाम्, ती० ४५ कल्प।

घंटाजाल-घण्टाजाल-न० । किङ्किण्यपेक्षया किञ्चिन्महतीनां घण्टानां दामसमूहे, रा० । जी० ।

घंटाजुयल-घण्टायुगल-न० । घण्टाद्वन्द्वे, रा० ।

घंटावलि-घण्टावलि-स्त्री० । घण्टापङ्क्तौ, रा० । औ० ।

घंटावलिचलिय-घण्टावलिचलित-न० । घण्टापङ्क्तेश्चलने, भ० ११ श० ११ उ० ।

घंटिय-घण्टिक-पुं० । घण्टया चरन्ति तां वादयन्तीति घण्टिकाः। 'राउलिया' इतिप्रसिद्धे घण्टावादनजीविके, कल्प० ५ क्षण । भ० ।

घंटियगण-घण्टिकगण-पुं० । घण्टावादकसमुदाये, जं० ५ वक्ष० ।

घंटिया-घण्टिका-स्त्री० । आभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ए अ० । औ० । प्रश्न० । घुर्घुरिकायाम, जं० २ वक्ष० ।

घंटियाजाल-घण्टिकाजाल-न० । क्षुद्रघण्टिकासमूहे, आ० म० प्र० । रा० ।

घंसण-घर्षण-नं० । 'घृस' भावे ल्युट्। वाच० । हस्ताभ्यां चन्दनस्येव पेषणे, आ० म० प्र० । आ० क० । विशे० । "घंसणमिति घंसणदार गहियं । तत्थ परंपरे मणिवारा माणिए घंसंति अणुमेण वेधं काउ, आदिसद्दातो मोत्तिया, कट्ठादित्ति चंदणकट्ठाओ घरिसादिसु वृष्यति" । नि० चू० १ उ० । बृ० ।

घंसियग-घर्षितक-त्रि० । चन्दनवद्दषदि पेषिते, औ० ।

घग्घरं-देशी-जघनस्थवस्त्रभेदे, दे० ना० २ वर्ग ।

घट्टण-घट्टन-न० । मिथः सजातीयादिना, हस्तस्पर्शनेन चालने, दश०४ अ० । ज्ञा० । घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फालनेति वा एकार्थिकानि पदानि । बृ०४ उ० ।

घट्टणग-घट्टनक-पुं० । पात्राणां घर्षलिप्तमात्रमसृणताकारके पाषाणे, बृ० ३ उ० ।

घट्टणया-घट्टनता-स्त्री० । घट्टनशब्दस्य भावे प्रवृत्तिनिमित्ते, प्रज्ञा० १६ पद । संघट्टने, आ० । स्था० ।

घट्टणा-घट्टना-स्त्री० । आहनने, ओघ० । कदर्थनायाम, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । घट्टनातो जायमाने उपसर्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आ० म० ।

घट्टिय-घट्टित-त्रि० । प्रेरिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । परस्परसङ्घर्षयुक्ते, जं०१ वक्ष० । रा० । उत्क्षिप्य विक्षिप्य वा वर्तिते, आव० ४ अ० । " घट्टियाए फंदियाए खोमियाए " वीणायाम् कम्बाघोगव्कृता चन्दनसारकोणेन गाढतर क्षीणादण्डेन सह तन्त्र्याः स्पृष्टाया इत्यर्थः । जं० १ वक्ष० । रा० ।

घट्ठ-घृष्ट-त्रि० । प्राकृते तु घृष्टशब्दस्य प्रयोगो न भवति, आर्षे तु भवत्येव । प्रा०२ पाद । "ऋतोऽत्" ॥ ८।१।१२६ ॥ इत्यादेर्ऋकारस्याऽत्त्वम । प्रा० १ पाद । घर्षे प्रापिते, घृष्टमिव घृष्टं खरशाणया, पाषाणप्रतिमावत् । जी० ३ प्रति० । आ० म० । भ० । औ० । स० । स्था० । रा० । जं० । सुधादिखरपिण्डेन, (आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०) मसृणपाषाणादिना वा (बृ० ३ उ० । च० प्र० । कल्प० । सू० प्र०) घट्टकेन घर्षिते,बृ० १ उ०। येषां जङ्घे श्लक्ष्णीकरणार्थं फेनादिना घृष्टे भवतस्ते अवयवावयविनोरभेदोपचारात् घृष्टाः। अनु० । ग० । जङ्घासु इत्तफेनकेषु, औ० । अश्वेषु, विषमभूमिभञ्जनात् । कल्प० ४ क्षण ।

घड्-घट्-धा० । चेष्टायाम, भ्वा० आत्म० सक० सेट् घटादि० ततो णिच् । वाच० । "घटे: परिवाम:" ॥८।४।५०॥ इति घटेर्ण्यन्तस्य परिवाआदेशाभावपक्षे 'घडेइ' घटयति। प्रा०४ पाद। 'घडए' घटते । नि० चू० १ उ० ।

घड-घट-पुं० । घट्-अच्। "टो डः" ॥८।१।१९५॥ इति स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः टस्य डः। प्रा० १ पाद । घटतेऽसौ घटनाद् वा घटः । विशे० । सूत्र० । जलाद्याहरणार्थं क्रियामाचेष्टमाने, विशे० । स्था० । आ० म० । आ० चू०। कुम्भोदरकपालात्मके पदार्थे, अनु० । "घडा चउव्विहा पण्णत्ता । त जहा-छिड्डकुडे, बोडकुडे,खडकुडे,सगले त्ति । छिड्डो जो मूलछिड्डो,बोडो जस्स कंट्ठा णत्थि,खंडो एगसे उडपुडं णत्थि, सगलो अव्वंगो चेव। छिड्डे ज छूढं तं गलति,बोमे तावतियं ण ठाति,खडे तपण पासेण छुडिज्जइ जदि इच्छा थोवेण वि उभइ,खडे एस विसेसो-बडा घोराणं सपुन्नो सव्वं धरेति। एव चेव सीसा चत्तारि समोतारेयव्वा, सव्वत्थ विराहणाचर्चो भाणियव्वा " । आ० चू० १ अ०।

घडकडितडच्छाय-घटकटितटच्छाय-पुं० । इह शरीरस्य मध्यभागे कटिः, ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते, कटिस्तटमिव कटितटम, घटेन अन्योऽन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशतो निविडा कटितटे मध्यभागे छाया येषां ते तथा। मध्यभागे निबिडच्छाये, रा० ।

घडकार-घटकार-पुं०। घटकारणक्रियाकर्त्तरि, विशे० । आ०म०।

घडग-घटक-पुं० । लघुघटे, जं० २ वक्ष० । अनु० । घटकपोलुपे, आ० चू० ४ अ० ।

घडण-घटन-न० । अप्राप्तसयमयोगप्राप्तये यत्ने, प्रश्न० १ संव० द्वार । अनु० ।

घडणा-घटना-स्त्री० । मीलने, आ० म० द्वि० । संबन्धप्राप्तौ, सूत्र० १ श्रु०१ अ०१ उ० । परस्परादिसंघर्षणायाम, विशे० ।

घडणावा-घटनौ-स्त्री० । उडुपे, नि०चू०१२ उ०।

घडदास-घटदास-पुं०। जलवाहके दासे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जलवाहिन्याम्, स्त्री० । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

घडमाण-घटमान-पुं० । पूज्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

घडमुह-घटमुख-पुं० । कलसवदने, स० ।

घडय-घटक-पुं० । 'घडग' शब्दार्थे, जं० २ वक्ष० ।

घडा-घटा-स्त्री० । महत्तरादिगोष्ठीपुरुषसमवाये. बृ०३ उ०। व्य०।

घडाजोज्ज-घटाजोज्य-न०। महत्तरानुमहत्तरादिबहिरायाते जोज्ये, व्य० १० उ० ।

घडावित्ता-घटयित्वा-अव्य०। निर्माप्येत्यर्थे, आ० म० द्वि०।

घमिअघडा-देशी-गोष्ठ्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

घमिमंतय-घटीमात्रक-न०। घटीसंस्थानमृण्मयभाजनविशेषे, बृ०।

कप्पइ णिग्गंथीणं अंतोलित्तं घमिमंतयं ति धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

अस्य सूत्रस्य सम्बन्धमाह—

ओहाडियँ चिलिमिलिए, दुक्खं बहुसो अइंति निंति वि य।
आरंभो घमिमंते, निसिं च वुत्तं इमं तु दिवा ॥

चिलिमिलिकया, उपलक्षणत्वात्कटद्वयेन च, अवघाटिते पिनद्धे सति द्वारे रजन्यां मात्रकमन्तरेण बहिः कायिक्यादिव्युत्सर्जनार्थं बहुशो निर्गमप्रवेशेषु दुःखमार्यिका निर्गच्छन्ति, प्रविशन्ति च; अत्रायं घटीमात्रकसूत्रस्यारम्भः। यद्वा-निशायां रात्रौ मात्रके यथा कायिकी व्युत्सृज्यते, तथाऽनन्तरसूत्रेऽर्थतः प्रोक्तम्, इदं तु सूत्रं दिवा मात्रकमधिकृत्योच्यते इति। अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थीनामन्तर्लिप्तं घटीमात्रकं घटीसंस्थानं मृन्मयभाजनविशेषं धारयितुं वा परिहर्तुं वा। धारयितुं नाम-स्वसत्तायां स्थापयितुं, परिहर्तुं परिभोक्तुम्, एष सूत्रार्थः।

अथ निर्युक्तिः—

घमिमंतऽतो लित्तं, निग्गंथीणं अगिण्हमाणीणं।
चउगुरुगाऽऽयरियादी, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

अन्तर्मध्ये लिप्तं लेपेनोपदिग्धं घटीमात्रकं निर्ग्रन्थीनामगृह्णतीनां चतुर्गुरुकाः (आयरियाइ ति) आचार्यः एतत्सूत्रं प्रवर्त्तिन्या न कथयति चतुर्गुरु, प्रवर्त्तिनी आर्यिकाणां न कथयति चतुर्गुरु, आर्यिका न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु, तत्रापि घटीमात्रकस्याग्रहणेऽकथनेऽप्रतिश्रवणे वाऽऽज्ञादयो दोषाः।

आह-स घटीमात्रकः कीदृशो भवति?, इत्याह—

अपरिस्साई मसिणो, पगासवदणो स मिम्मओ लहुओ।
सुयसियदद्दरपिहुणो, चिट्ठइ अरहंसि वसहीए ॥

स इति घटीमात्रकः पानकेनात्यन्तभावितत्वादवश्यं न परिस्रवतीत्यपरिस्रावी, मसृणः सुकुमारः, प्रकाशः प्रकटं वदनं मुखमस्येति प्रकाशवदनः, मृन्मयो मृत्तिकानिष्पन्नो, लघुकः स्वल्पभारः, शुचि पवित्रं, चोक्षमित्यर्थः। सितं श्वेतं शुक्लवर्णोपेतं, दर्दरपिधानं वस्त्रमयं बन्धनं यस्य स शुचिसितदर्दरपिधानः, एवंविधः, अरहसि प्रकाशप्रदेशे वसत्यां तिष्ठति।

नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतोलित्तं घमिमंतं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

अस्य व्याख्या प्राग्वत्।

अत्र निर्युक्तिः—

साहू गिण्हइ लहुगा, आणाइ विराहणा अणुवहि त्ति।
बिइयं गिलाणकारणे, साहूण वि सो अवादीसु ॥

यदि साधुर्घटीमात्रकं गृह्णाति तदा चत्वारो लघुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मविषया। तत्र (अणुवहि त्ति) साधूनामयमनुपधिर्भवति। किमुक्तं भवति?-यत्किल साधूनामुपकारे न व्याप्रियते, तन्नोपकरणं, किं तु अधिकरणम्। "जं जुज्जइ उवयारे, उवगरणं तंसि होइ उवगरणं। अइरेग अहिगरणं," इति वचनात्। यः स्वाधिकरणं, तत्र परिस्फुटितेऽपि संयमविराधनाऽऽत्मविराधनाव्यतिरिक्तोपधिभारवहनादनागाढपरितापनादिका (बिइयं ति) द्वितीयपदमत्र भवति। किं पुनस्तदित्याह-ग्लानकारणे समुत्पन्ने साधूनामपि घटीमात्रकग्रहणं युज्यते, तदपि शौचवादिषु शिष्येषु देशविशेषेषु वा, तदुत्तरत्र भावयिष्यते।

अथ किमर्थमत्र चतुर्लघु प्रायश्चित्तमुक्तम्?। अत्रोच्यते—

दुविहपमाणऽतिरेगे, सुत्तादेसेण तेण लहुगाओ।
मज्झिमगं पुण उवहिं, पडुच्च मासो भवे लहुओ ॥

द्विविधं द्विप्रकारं गणनाप्रमाणभेदाद्यत्प्रमाणं, ततोऽतिरिक्ते उपधौ सूत्रादेशेन चतुर्लघुका भवन्ति। यत उक्तं निशीथसूत्रे-"जे भिक्खू गणणाइरित्तं वा पमाणाइरित्तं वा उवहिं धरेइ, से अवस्स चाउम्मासियं, परिहरणे ठाणं उग्घाइयं" इत्यतः सूत्रादेशेन चतुर्लघुकं यदा तपविनिष्पन्नं चिन्त्यते तदा अयं घटीमात्रको मध्यमोपधिष्ववतरतीति कृत्वा मध्यमं पुनरुपधिं प्रतीत्य लघुको मासो भवति ॥

अवधारयितुं परिहर्तुं चेति पदद्वयव्याख्यानमाह—

धारणयाउ अभोगो, परिहरणा तस्स होइ परिभोगो।
दुविहेण वि सो कप्पइ, परिहारेणं तु परिभोत्तुं ॥

इह द्विधा परिहारः। तद्यथा-धारणा परिहरणा, अभोगोऽव्यापारणं, संयमोपबृंहणार्थं स्वसत्तायां स्थापनमित्यर्थः। परिहरणा नाम-तस्य घटीमात्रकादेरुपकरणस्य परिभोगो व्यापारणम्, एतेन द्विविधेनापि परिहारेण स घटीमात्रको निर्ग्रन्थीनां परिभोक्तुं कल्पते, स च दिवस पानकपूर्णस्तिष्ठति।

अथ किमर्थमयं गृह्यत इत्याह—

उड्डाहो वोसिरणे, गिलाणआरोवणा य धरणम्मि।
बिइयपए असई वा, भिन्नो वा अद्धलित्तो वा ॥

संयतीभिरुत्सर्गतो द्रव्यप्रतिबद्धायां वसतौ स्थातव्यं, तत्र घटीमात्रकाग्रहणेऽगारिकाणां पश्यतां बहिः कायिकीव्युत्सर्जने उड्डाहः प्रवचनलाघवमुपजायते। अथ कायिक्या वेगं धारयन्ति, ततो धारणे ग्लानारोपणा, यत एवमतो गृहीतव्यो घटीमात्रकः संयतीभिः। द्वितीयपदम्-असत्यविद्यमाने घटीमात्रके, यदि वा विद्यते घटीमात्रकः परं भिन्नो भग्नः, अर्द्धलिप्तो वा, अत एवोड्डाहा अव्याप्रियमाणा, ततो बहिर्गत्वा कायिकीयतना व्युत्सर्जनीया, निर्ग्रन्थ्याः पुनरप्रतिबद्धोपाश्रये तिष्ठन्ति, अतस्ते घटीमात्रकं न गृह्णन्ति।

कारणे तु गृह्णन्त्यपि—

लाउएँ असइ सिणेहो, ठाइ तहिं पुव्वभावियेँ कडाहे।
सेहो व सोयवाई, धरंति देसं च ते पप्प ॥

अलाबुपात्रकस्याभावे ग्लानार्थं च स्नेहं ग्रहीतव्यं, पूर्वभावितं कटाहकं, घटीमात्रकं वा गृहीतव्यं, यतस्तत्र गृहीतः स्नेहः तिष्ठति, न परिस्रवति, शैक्षो वा कश्चित् साधूनां मध्ये अत्यन्तं शौचवादी, न शौचार्थं घटीमात्रकं गृह्णीयात्, देशं वा देशविशेषं शौचवादबहुलं प्राप्य घटीमात्रकं धारयन्ति यथा गौडविषये ॥

अथ तस्यैव ग्रहणे विधिमाह—

गहणं तु अहागडए, तस्सासइ होइ अप्पपरिकम्मं।

तस्सासइ कुमिगादी , घेत्तुं नाला विउज्जंति ॥

प्रथमतो यथाकृतस्य घटीमात्रकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, तस्यासति अल्पपरिकर्मयोग्य गृहीतव्य , तस्यासति कुण्डिकादि गृहीत्वा नालानि वियोज्यन्ते । बृ० १ उ० ।

घडिय-घटयित्वा-अव्य० । संचाल्येत्यर्थे,दशा० ५ अ० १ उ० ।

घमित-त्रि० । युक्ते, औ० ।

घमियव्व-घटितव्य-त्रि० । अप्राप्तानां संयमयोगानां प्राप्तये कार्यायां घटनायाम् , भ० ए श० ३३ उ० ।

घडिया-घटिका-स्त्री० । मृण्मयकुल्लकिकायाम, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । षट्पुदकपलमानायाम (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०) नालिकायाम् , तत्परिमिते काले च । आव० ४ अ० ।

घडुक्कअ-घटोत्कच-पुं० । भीमसेनस्य हिडिम्बायां जनिते पुत्रे, " भीमशेणस्स पश्चादो हिंमीअदि हिडिंबाए घडुक्कअशोके ण उवशमादि । " प्रा० ४ पाद ।

घण-घन-पु० । 'हन' मूर्त्तौ अप्-घनादेशश्च । वाच० । मेघे, औ० । प्रश्न० । रा० । आ० म० । स्था० । आव० । ध० । प्रावृट्कालभाविनि मेघे, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । लोहमुद्गरे , तं० । प्रश्न० । व्याप्ते, त्रि० । प्रज्ञा० १ पद । आचा० । दृढे, त्रि० । आव० ५ अ० । निचिते, त्रि० । जी० ३ प्रति० । पिण्डे , न० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अविरले, त्रि० । कल्प० २ क्षण । बहुतरे, भ० । रा० । निश्छिद्रे, न० । रा० । बृ० । ज्ञा० । निबिडे, पु० । रा० । जं० । औ० । तं० । कल्प० । बृ० । विशे० । ज्ञा० । निबिडप्रदेशोपचये, चं०प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । अतिशये, रा० । प्रश्न० । तालप्रभृतिके, जं० ५ वक्ष० । कांस्यतालादिके , जं० २ वक्ष० । जी० । भ० । स्था० । कांसिकादौ, रा० । आ० म० । जी० । तन्तुभिः समे , नि० चू० २ उ० । सान्द्रे , बृ० ३ उ० । संमर्द्दरूपे च वाद्ये , न० । सू० प्र० १२ पाहु० । आचा० । आ० चू० । हिमशिलावत् स्त्याने, पुं० । स्था० ३ ठा० ४ उ० । संख्याने , पुं० । विशे० । आव० । कर्म० । घनः सङ्ख्यानम् , यथा-"द्वयोर्घनोऽष्टौ समत्रिराशिहतिः" इति वचनात् । स्था० १० ठा० । मुस्ते, समूहे, दार्ढ्ये , विस्तारे , शरीरे , कफे, अभ्रके, पूर्णे, सम्पुटे, त्रि० । मध्यमनृत्ये, न० । लोहे, न० । त्वचे, न० । " समत्रिनागश्च घनः प्रदिष्ट. " इत्युक्ते समाङ्कत्रयवधे,वाच० । "घणकमियडछाए त्ति" इह शरीरस्य मध्यभागः कटि',ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते ,कटिस्तटमिव कटितटं, घनाऽन्योन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशिता निबिडा कटितटे मध्यभागे छाया यस्य स घनकटितटच्छायः, मध्यभागेनिबिडतरच्छाय इत्यर्थः। क्वचित्पाठ.-"घनकडियकडच्छ ए" इति । तत्रायमर्थ.-कट. सञ्जातोऽस्येति कटितः, कटान्तरेणाऽऽवृत इत्यर्थ.। कटितश्चासौ कटश्च कटितकटः, घना निबिडा कटितकटस्येव अधोभूमौ छाया यस्य स घनकटितकटच्छायः। जी० ३ प्रति० ।

घणकवाड-घनकपाट-न०। निश्छिद्रकपाटे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार ।

घणकोट्टिम-घनकुट्टिम-न०। घनकुट्टेन अयोघनताडनेन निर्वृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

घणघणाइय-घनघनायित-न० । रथवत् चीत्कुर्वति, जं० ५ वक्ष० । अनु० ।

घणनिचय-घननिचय-त्रि० । अत्यर्थनिबिडे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । " घणनिचयवट्टपालिखंधे " घननिचितोऽत्यर्थं निबिडो दृढश्च वृत्तश्च वर्तुलः पालिवत् डागादिपालीवत् स्कन्धोदेशो यस्य स तथा । उपा० ७ अ० ।

घणनिचिय-घननिचित-त्रि० । घनो लोहमुद्गरस्तद्वन्निचितं निबिडम् । अतीव निबिडे , औ० । अतिशयनिबिडे, " घणनिचियवलियवट्टखंधे " घनमतिशयेन निचितौ निबिडतरचयमापन्नौ वलिताविव वलितौ वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स तथा । जी० ३ प्रति० । रा० । " घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिहपिंडियसिरा " घनमतिशयेन निचितं घननिचितं, सुष्ठु अतिशयेन बद्धानि अवस्थितानि लक्षणानि यत्र तत् सुबद्धलक्षणम्, उन्नतं मध्यभागे उच्च यत् कूटं तस्याकारो मूर्त्तिस्तन्निभमुन्नतकूटाकारसदृशमिति भावः पिण्डितं स्वकर्मणा संयोजितं शिरो येषां ते घननिचितसुबद्धलक्षणोन्नतकूटाकारनिभपिण्डितशिराः। जी०३ प्रति० गाढनियोजने,"घणनिचियनिरंतरनिच्छिद्दाइं " घननिचितानि कपाटादिद्वारपिधानानां द्वारेषु आदिषु गाढनियोजनेन तानि च तानि निरन्तरं कपाटादीनामन्तराभावेन निश्छिद्राणि च नीरन्ध्राणि घननिचितनिरन्तरनिश्छिद्राणि । भ० ७ श० ८ उ० ।

घणतव-घनतप-न० । चतुःषष्टिपदात्मके तपसि, उत्त० ३ अ० ।

घणदंत-घनदन्त-पुं० । स्वनामख्यातेऽन्तर्द्वीपे,तद्वासिनि मनुष्ये च। प्रज्ञा० १ पद । स्था० । उत्त० । (तद्वर्णको 'अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे १७ पृष्ठे उक्त.)

घणपयर-घनप्रतर-पुं० । घनः प्रतर एव, घनं च प्रतरं च घनप्रतरम् । प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोप । सर्वत्र च प्रतरपूर्वक एव घनः प्ररूप्यते, इहापि तथैवोपदर्शयिष्यते, ततः प्रतरघन इति निर्देशः प्राप्तः, अल्पाक्षरत्वाद् घनशब्दस्य पूर्वनिपातः । ततश्चैकैकं परिमण्डलादि प्रतरं घनं च भवतीति गम्यते । उत्त० १ अ० ।

घणमिच्छत्त-घनमिथ्यात्व-न० । निबिडमिथ्यात्वे, " घणमिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो य होइ नायव्वो । कालो उ अपुणबंधग-पभिई धीरेहि णिद्दिट्ठो ॥ " ध० १ अधि० ।

घणमुइंग-घनमृदङ्ग-पु० । घनो घनाकारो ध्वनिसाधर्म्याद् यो मृदङ्गः । सू० प्र० १८ पाहु० । घनो मेघ तदाकारो यो मृदङ्गः स्वनिगाम्भीर्यसाधर्म्यात् । स्था० ७ ठा० । मेघसमानगम्भीरध्वनिमर्द्दले , स्था० ८ ठा० । जी० । कल्प० । भ० । औ० ।

घणमुयंग-घनमृदङ्ग-पु० । 'घणमुइंग' शब्दार्थे, स्था०८ ठा० ।

घणरज्जु-घनरज्जु-स्त्री० । घनीकृतासु रज्जुषु , प्रव० ९ द्वार ।

तिन्नि सया तेयाला, रज्जूणं होंति सव्वलोगम्मि ।
चउरंसं होइ जयं, सत्तण्ह घणेणिमा संखा ॥ ९११ ॥

सर्वस्मिन्नपि चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके घनीकृते त्रिचत्वारिंशदुत्तराणि त्रीणि शतानि रज्जूनां भवन्ति । अथ घनीकरणे कीदृक्संस्थानो लोक. संपद्यते । तत्राह-(चउरंसं होइ जयं ति) चतुरस्रं सर्वतः समचतुरस्रं जगत् लोको भवति, संवर्त्तितं सदिति शेष. । इयं च त्रिचत्वारिंशदुत्तरशतत्रयलक्षणा रज्जुसंख्या, सप्तानां घनेन'समत्रिराशिहतिर्घनः'इति वचनात् भन्योन्यं त्रिस्ताडनेन आयते । एतदुक्तं भवति-संवर्तितलोकस्याऽऽ-

यामविष्कम्भबाहल्यानां प्रत्येक सप्तरज्जुमानत्वात् सप्तकेन गुण्यन्ते, जाता एकोनपञ्चाशत्,साऽपि पुन. सप्तकेन गुण्यते,जातानि त्रीणि शतानि त्रिचत्वारिंशानीति । एतच्च व्यवहारमाश्रित्योक्तं, निश्चयतस्तु-एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशतसङ्ख्यानामेव घनरज्जूनां सद्भावात् । तथाहि-षट्पञ्चाशत्संख्यास्वपि पङ्क्तिषु " तिरिय चउरो दोसु " इत्यादिगाथाकथितानि चतुरादीनि प्रतरखण्डकानि एकैकपङ्क्तिगतानि पृथक् पृथक् वर्ग्यन्ते,सदृशद्विराशिघातो वर्ग इति वचनाच्च चतुष्कादयोदङ्काश्चतुष्कादिभिरेव गुण्यन्ते इत्यर्थ. । जाता. षोडशादयोदङ्का ,तेषां च सर्वमीलने च दश सहस्रा , षण्णवत्यधिके च द्वे शते खण्डकानां भवन्ति । अस्य च राशेर्घनरज्जुसमानयनाय चतुःषष्ट्या भागो क्षिप्यते, ततो जायते एकोनचत्वारिंशदधिका द्विशतसङ्ख्या एव घनरज्जव इति । उक्तं च—

" उवरिंत्थहत्थलप्प-अपयरपच्चक्खदिट्ठखमाण ।
वग्ग कुणह पिहुप्पिहु, सजोगे तिजय गणियपय ॥
सहसेगारस दुसया, वत्तीसऽहिया अहम्मि खमाण ।
समदीहपिहुव्वेहा-णरज्जुचउरंसमाणेण ॥
चत्तारि सहस्साई, चउसठिजुआइ उड्ढलोगम्मि ।
पनरह सहस्स तिरिय, चउरूण जायमुत्तरंसि ॥
चउसठीए विभत्तं, इगुयाला दोसया हविज्जेव ।
लोए घणरज्जूण, । " प्रव० १४३ द्वार ।

घणवट्ट-घनवृत्त-न० । सर्वत समे मोदकवद्घनवृत्ते, भ० २५ श० ३ उ० । उत्त० । (तत्त्वं च 'संजोग' शब्दे परमाणूनां सयोगप्ररूपणावसरे प्ररूपयिष्यते)

घणवलय-घनवलय-न० । नरकपृथिवीनां पार्श्ववर्तिनि वृत्ताकारतोयविशेषे, पिं० ।

घणवाउ-घनवायु-पुं० । रत्नप्रभाद्यधोवर्तिनि घनरूपे वायुविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

घणवाय-घनवात-पुं० । रत्नप्रभानां नरकपृथिवीनामाधारतया व्यवस्थितेऽधो वर्तिनि अत्यन्तघने पिण्डीभूते वातविशेषे, पिं० । जी० । आचा० । स्था० ।

घणवाही-देशी-इन्द्रे, दे० ना० २ वर्ग ।

घणविज्जुया-घनविद्युता-स्त्री० । दिक्कुमारीभेदे, स्था० ६ ठा० ।

घणवुट्ठि-घनवृष्टि-स्त्री० । पञ्चम्यां स्त्रीकलायाम् ,कल्प०७क्षण ।

घणसंठान-घनसंस्थान-न० । अष्टमे सङ्ख्यानभेदे, घन' सङ्ख्यानं यथा-द्वयोर्घनोऽष्टौ समत्रिराशिहतिरिति वचनात् । स्था० १० ठा० ।

घणसंताण-घनसंतान-पुं० । कोलिके,पं०व०२द्वार । नि०चू० । ध० ।

घणसार- घनसार-पुं० । घनस्य मुस्तकस्य सार. । कर्पूरभेदे,'शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारहारेत्यादि' घनो निबिड. सारोऽस्य । दक्षिणावर्तपारदे, वृक्षभेदे, जले, श्रेष्ठवारिदे, वाच० । सथा० ।

घणिय-घनित-न० । गर्जिते, सू० प्र० २० पाहु० ।

घणोदहि-घनोदधि-पुं० । घन. स्त्यानो हिमशिलावत् उदधिर्जलनिचय , स चासौ स चेति घनोदधिः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभाया. पृथिव्या अधो घन स्त्यानीभूतोदक उदधिर्घनोदधि. । जी० ३ प्रति० । औ० । नरकपृथिवीनामाधारभूतेषु कठिनतोयेषु समुद्रेषु, पिं० । प्रज्ञा० । स०। " सव्वे वि य णं घणोदहिविसजोयणसहस्साइ " घनोदधयः सप्तमपृथिवीप्रतिष्ठानभूताः सामानिकाः इन्द्रसमानर्द्धयः साहस्र्य. विंशतिसहस्राणि । स० २० सम० । स्था० । " सत्तसु घणवाएसु सत्त घणोदहीओ पइठिया " स्था० ७ ठा० । प्रज्ञा० ।

घणोदहिवलय-घनोदधिवलय-न० । घनोदधिरेव वलयमिव वलय कटक घनोदधिवलयम् । वलयाकारे घनोदधौ, स्था०३ ठा० ४ उ० । वलयाकारे पृथिवीपर्यन्तवेष्टके समुद्रे,प्रज्ञा०२पद ।

घणो-देशी-उरसि, रक्ते च । दे० ना० २ वर्ग ।

घतमंड-घृतमण्ड-पुं० । घृतसारे, यो घृतसङ्घातस्योपरिभागे स्थित घृत स मण्ड इत्यभिधीयते, सार इत्यर्थ. । तथा चाह *जीवाभिगममूलटीकाकार*-'घृतमण्डो घृतसार.' इति । जी० ३ प्रति० ।

घतवर-घृतवर-न० । क्षीरोदस्य समुद्रस्य परितो द्वीपभेदे, जी० ।

खीरोदं णं समुद्दं घतवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते० जाव परिक्खित्ता णं चिट्ठति समचक्कवाले नो विसमचक्कवाले संखेज्जविक्खंभपरिक्खेवपदेसा० जाव अट्ठो ?। गोयमा ! घतवरे णामं दीवे तत्थ २ वहवे खुड्डा खुड्डिया वावीउ० जाव घतोदगपडहत्थाउ उप्पीयपव्वयगा० जाव खमखडगा सव्वकंचणमया अच्छा० जाव पडिरूवा कणगकणगप्पभा इत्थ दो देवा महिड्ढिया चंदा संखेज्जा ।

क्षीरोद णमिति पूर्ववत्, समुद्र,घृतवरो नाम द्वीपो. वृत्तो वलयाकारसस्थानसस्थित' सर्वत. समन्तात् सपरिक्षिप्य तिष्ठति। अत्रापि चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपपद्मवरवेदिकावनखण्डद्वारान्तरप्रदेशजीवोपपातवक्तता पूर्ववत् । सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह-"से केणट्ठेणमित्यादि"। अथ केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते-घृतवरो द्वीपो घृतवरद्वीप इति ?। भगवानाह-गौतम ! घृतवरद्वीपे "तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं" इत्यादि । अरुणवरद्वीपवत् सर्वं तावद्वक्तव्य यावत् "वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयति सयति, यावद्विहरति" इति, नवर वाप्यादयो घृतोदकपरिपूर्णा इति वक्तव्य,तथा पर्वता. पर्वतेष्वासनानि,गृहकाणि गृहकेष्वासनानि,मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टका. सर्वात्मना कनकमया इति वक्तव्य, कनककनकप्रभौ चात्र द्वौ देवौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ, यावत् पल्योपमस्थितिकौ परिवसत , ततो घृतोदवाप्यादियोगात्,घृतवर्णदेवस्वामिकत्वाच्च घृतवरो द्वीप इति । तथा चाह-" से एएट्ठेणमित्यादि । " चन्द्रादिसङ्ख्यासूत्रं प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । चं० प्र० । अनु० । स्था० ।

घत्त-क्षिप-धा० । प्रेरणे, उभ० सक० सेट् । वाच० । "क्षिपेर्गलत्थाड्डक्खसोल्लपेल्लणोल्लछुहहुलपरीघत्ताः " ॥ ८ । ४ । १४३ ॥ इति क्षिपेर्घत्तादेश' । ' घत्तइ ' क्षिपति । प्रा० ४ पाद । गवेष-धा० । अन्वेषणे, चुरा० आत्म० सेट् । ध च० । " गवेषदुण्डुल्लढण्ढोल्लगमेसघत्ता "॥८।४।१८९॥ इति गवेषेर्घत्तादेश । 'घत्तइ, गवेसइ' गवेषयते । प्रा० ४ पाद । 'तह घत्तइति' तथा खेदयते । तं० ।

घत्ति घकारप्पविभत्ति-घ इति घकारप्रविभक्ति-स्त्री० । घकाराकृत्यभिनयात्मके नाट्यविशेषे, रा० ।

घतोद-घृतोद-पुं० । ' घओद ' शब्दार्थे, सू० प्र० २० पाहु० ।

घतोय-घृतोद-पुं० । ' घतोद ' शब्दार्थे , सू० प्र० २० पाहु० ।

घत्थ-ग्रस्त-न० । अभिभूते , आव० ४ अ० ।

घम्म-घर्म-पुं० घरति अङ्गात् घृ-सेके, क्षरणे, कर्तरि मक् । नि० गुणः । वाच० । केषांचिदाचार्याणां मते चतुर्थस्य द्वितीयो न । प्रा० ४ पाद । अङ्गनिष्पन्दे स्वेदे , श्रमजवारिणि , घरत्युद्गमनेनेति करणे मक् । आतपे, ग्रीष्मकाले, तयोरङ्गस्वेदसाधनत्वात्तथात्वम् । आतपयुक्ते दिवसे, वाच० । उष्णे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

घम्मट्ठाण-घर्मस्थान-न० । उष्णप्रधाने स्थाने , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आतपस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

घम्मा-घर्मा-स्त्री० । सप्तसु नरकपृथिवीषु प्रथमायां नरकपृथिव्याम्, "घम्मा णामेण रयणप्पभागो तेण" जी० ३ प्रति० । स्था० ।

घम्मोइ-देशी-गण्डुसङ्के तृणे, दे० ना० २ वर्ग ।

घम्मोडी-देशी-मध्याह्ने, मशके, ग्रामीसंङ्के तृणे च । दे० ना० २ वर्ग ।

घय-घृत-पुं० न० । घृ-सेके क्तः । अर्द्धर्चादि० । वाच० । "ऋतोऽत्" । ८ । १ । १२६ । आदे ऋकारस्यात्वं भवति । घृतं, 'घयं' । प्रा० १ पाद । दुग्धभवे, वाच० । " सर्पिर्विलीनमाज्यं तु, घनीभूतं घृतं भवेत्" । इत्युक्ते घनीभूते आज्ये, घृतगुणभेदादि उक्तम् । यथा-

" घृतमाज्यं हविः सर्पि , कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ।
घृतं रसायनं स्वादु, चक्षुष्यं वह्निदीपनम् ।
शीतं वीर्ये विषालक्ष्मी-पापपित्तानिलापहम् ।
अल्पाभिष्यन्दि कान्त्योज-स्तेजोलावण्यवृद्धिकृत् ॥
स्वरस्मृतिकरं मेध्य-मायुष्यं बलकृद्गुरु ।
उदावर्तज्वरोन्मादशूलानाहव्रणान् हरेत् ॥
स्निग्धं कफकरं रक्ष-क्षयवीसर्परक्तनुत्" । वाच० । दर्श० । स्था० ।

घृतमपि चतुर्भेदं गवादिसंबन्धित्वेनैव । प्रव० ४ द्वार । " उद्दीण दधि नत्थि, नवणीय घय पि ते णत्थि । " आव० ६ अ० । आ० चू० । "घृतेन वर्धते मेधा" । बृ० ५ उ० । सूत्र० ।

घयआसव-घृताश्रव-पुं० । घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृताश्रवाः । लब्धिमद्भेदे, आ० म० प्र० ।

घयकिट्ट-घृतकिट्ट-न० । घृतमले , तच्च घृतेन विकृतिः । ध० २ अधि० ।

घयकिट्टिया-घृतकिट्टिका-स्त्री० । घृतमले, प्रव० ४ द्वार ।

घयगुलपुण्ण-घृतगुडपूर्ण-स्त्री० । घृतगुडसमन्विते , पञ्चा० ८ विव० ।

घयघट्ट-घृतघट्ट-त्रि० । घृतसंबन्धिनि किट्टे, यो हि मह्नियारूवमित्युच्यते । बृ० १ उ० । पं० व० ।

घयण-घतन-पुं० । भाण्डे , " घयणवच्छले णियच्छओ । " पं० व० ४ द्वार । प्रव० । आ० क० । आ० म० ।

घयपकोसहि-घृतपक्वौषधि-स्त्री० । पक्वौषधोपरि तरिकारूपे सर्पिषि, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

घयपुण्ण-घृतपूर्ण-पुं० । अपूपे , (घेवर) " सद्यः प्राणकरा हृद्या:, घृतपूर्णाः कफापहा: " । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

घयपूसमित्त-घृतपुष्पमित्र-पुं० । आर्यरक्षितसूरेः शिष्ये, आ० चू० । "घयपूसमित्तस्स इमा लद्धी-दव्वतो-घतं उप्पाएतव्वं, खेत्तओजहा उज्जेणीए, काले तु-जेट्ठासाढमासेसु, भावओ-धिज्जातिणी गुव्विणी, तीसे अज्जुणा दिवसेहिं इहिं मासेहिं पंसाविहिति पिडिओ चार घट्टओ, घृतस्स चि ताए उववज्जिहिति त्ति, सा य कल्ले वा परे वा विहिति त्ति कातूणं तेण य जातित, अण णत्थि तह वि पेमितं,सा हठ्ठतुट्ठमणसा देज्जा, परिमाणओ-जत्तिय गच्छस्स उवउज्जति सो य नितो चेव पुच्छति-कस्स केत्तिएण घएण कज्जं ? । आ० चू० १ अ० । आ० म० । विशे० ।

घयमेह-घृतमेघ-पुं० । दुःषमदुःषमान्तभाविनि महामेघे , जं० ३ वक्ष० ।

घयविहिपरिणाम-घृतविधिपरिणाम-पुं० । " घयविहिपरिणामं करेइ " उपा० १ अ० ।

घयसागर-घृतसागर-पुं० । घृतोदे समुद्रे , द्वी० ।

घयसित्त-घृतासिक्त-पुं० । घृततर्पिते, " निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए " । निर्वाणं निर्वृतिः, स्वास्थ्यमित्यर्थः । परमं प्रकृष्टं याति प्राप्नोतीत्यभिसंबन्धः । क इव (घयसित्ते व त्ति) इवस्य भिन्नक्रमत्वात्, घृतेन सिक्तो घृतसिक्तः, पुनातीति पावकोऽग्निर्लोकप्रसिद्ध्या, समयप्रसिद्ध्या तु पापहेतुत्वात्पावकः, तद्वत् सिञ्चनतया तृणादिर्निर्दीप्यते, यथा घृतेनेत्यस्य घृतासिक्तस्य निर्वृतिरनुगीयते, ततः सन्निवेशपणस्यास्य दृष्टान्तत्वेनाभिधानमिति भावनीयम् । यद्वा-निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिं याति, "निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम्" ॥१॥ इति वचनात्, कथंभूतः सन् घृतसिक्तपावक इव तपस्तेजसा ज्वलितत्वेन घृततर्पिताग्निसमान इति । उत्त० ३ अ० ।

घर-गृह-पुं० न० । गृह्यते धर्माचरणाय 'ग्रह'-गेहार्थे क । वाच० । " गृहस्य घरोऽपतौ " ॥ ८ । २ । १४४ ॥ इति घरादेशः । प्रा० २ पाद । सामान्यजनानां सामान्ये (भ० ५ श० ७ उ० । अनु०) अपवरकादिमात्रे, स्था० ५ ठा० १ उ० । कटकुड्यदेहलीपट्टादिसमुदायात्मके (अनु०) वेश्मनि, दर्श० । प्रश्न० ।

घरंतर-गृहान्तर-न० । गृहमेवान्तरं गृहान्तरम्, गृहद्वयाद् द्वयाद्वा परतो गृहे, नि० चू० ३ उ० ।

घरकुमी-गृहकुटी-स्त्री० । स्त्रीदेहे, तं० ।

घरकोइला-गृहकोकिला-स्त्री० । गृहगोधायाम्, पिं० । सूत्र० ।

घरग-गृहक-न० । वासभवने, अत्र ककारः स्वार्थिकः । जं० १ वक्ष० ।

तस्स णं वणसंमस्स तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे आलिघरा मालियाघरा कयलिघरगा लयाघरगा अत्थणघरगा पेच्छणघरगा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालयघरगा जालयघरगा कुसुमघरगा चित्तघरगा गंधव्वघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका निक्कंकमच्छाया सप्पभासस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥

" तस्स " ण इत्यादि । तस्य वनखण्डस्य मध्ये तत्र तत्र प्रदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे, बहूनि आलिगृहकाणि-आलिर्वनस्पतिविशेषः, तन्मयानि गृहकाणि आलिगृहकाणि, मालि-

घाणिंदियमुंड-घ्राणेन्द्रियमुण्ड-पुं० । घ्राणेन्द्रियविषयासक्तमुण्डभेदे, स्था० १० ठा० ।

घाय-घात-पुं० । घात्यन्ते व्यापाद्यन्त नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः स घातः । संसारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । सर्वदा परिणामपरिणतोऽनुपशान्तो हन्यते प्राणी स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातः । नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रहारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । मारणे, सूत्र० १ श्रु०११ अ० । प्रलये, विशे० दिगमादिभिस्ताडने, आ० म० प्र० । हनने च । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स्था० । उ० प्र० । निर्लुण्ठने, सू० १ उ० ।

घायग-घातक-पुं० । मारके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । हिंसके,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अन्येन घातयितरि, जी० ३ प्रति० । प्राणव्यपरोपजीविनि, पञ्चा०६ विव० । " अनुमन्ता विशसिता, संहर्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्ट घातकाः ।" ॥ इति मनुः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

घायगता-घातकता-स्त्री० । मारकतायाम्, भ० १२ श० ७ उ० ।

घायण-घातन-न० । मारणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

घायणा-घातना-स्त्री० । षष्ठ्यां गौणहिंसायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

घायणो-देशी-गायने, दे० ना० २ वर्ग ।

घायमाण-घातयत्-त्रि० । परैर्व्यापादयति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० ।

घारी-देशी-शकुनिकाख्ये पक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग ।

घारो-देशी-प्राकारे, दे० ना० २ वर्ग ।

घारंतो-देशी-घृतपूरे, दे० ना० २ वर्ग ।

घास-ग्रास-पुं० । कवले, उत्त० २ अ० । आहारे च । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ४ उ० । आचा० ।

घासेसणा-ग्रासैषणा-स्त्री० । ग्रासो भोजनं, तद्विषया एषणा शुद्धाशुद्धपर्यालोचनम्, भोजनविषयायां शुद्धाशुद्धपर्यालोचनायाम्, प्रव० ६३ द्वार । ध० । ओघ० । पिं० । (अस्य निक्षेपादिकम् 'एसणा' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५२ पृष्ठे द्रष्टव्यम् । दोषा अपि ६७ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

घिअं-देशी-भर्त्सिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घिंसु-ग्रीष्म-पुं० । ग्रसते रसान् 'ग्रस' मनिन् । वाच० । " ग्रसेर्घिसः " ८ । २ । २०४ । इति घिसादेशः । प्रा०४ पाद । ज्येष्ठाषाढमासद्वयात्मके ऋतुभेदे, वाच० । घर्मकाले, व्य० ४ उ० । उष्णकाले, उत्त० २ अ० । उष्णाभितापे च । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

घिट्टो-देशी-कुब्जे, दे० ना० २ वर्ग ।

घिणा-घृणा-स्त्री० । " इत्कृपादौ " ८ । १ । १२८ । इति आदेः ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । दयायाम्, आव० ४ अ० । संथा० ।

घित्तुं-गृहीतुं-अव्य० । ग्रहणं कर्तुमित्यर्थे, ज्यो० ४ पाहु० ।

घित्तूण-गृहीत्वा-अव्य० । ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

घिसर-देशी-न० । मत्स्यबन्धनभेदे, विपा०१श्रु० १ अ० ।

घुंघुरो-देशी-उत्करे, दे० ना० २ वर्ग ।

घुंटिय-घुण्टयत्-त्रि० । पिबति, तं० ।

घुग्घ-घूत्क-पुं० । "हुहुरुघुग्घादयः शब्दचेष्टाऽनुकरणयोः" ।८।४। ४२३ ॥ इति चेष्टाऽनुकरणे घुग्घादेशः । 'घुग्घ' इत्याकारके चेष्टाऽनुकृत शब्दे, " ताउजि ।विरह गवक्खेहिं मक्कडु घुग्घउ देइ " प्रा० ४ पाद ।

घुग्घुच्छणयं-देशी-खेदे, दे० ना० २ वर्ग ।

घुग्घुरी-देशी-मण्डूके, दे० ना० २ वर्ग ।

घुग्घुवंत-घुग्घुवत्-त्रि० । घूत्कारशब्दं कुर्वाणे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

घुग्घुस्सुसयं-देशी-साशङ्कभणिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घुग्घेर-स्त्री० । तल्लिनकादौ, ल० प्र० । ध० ।

घुट्टघाणिअं-देशी-गिरेर्गर्ते, पृथुशिलायां च । दे० ना० २ वर्ग ।

घुट्ठ-घुष्ट-त्रि० । घुष् क्त-इमभावः । उद्घशब्देन प्रकटिताभिप्राये शब्दिते, वाक्यादौ न । वाच० । कथिते, त० । घोषिते, व्य० ३ उ० । आ० म० ।

घुमुक्क-गर्ज-धा० । रवे, वाच० । "तडयादीनां गोल्लादयः" ॥८।४। ३६४॥ इत्यपभ्रंशे गर्जेर्घुमुक्कादेशः । "गगणि घुमुक्कइ मेहु" गगने मेघो गर्जति । प्रा० ढु० ४ पाद ।

घुण-घुण-पुं० । कोलाख्ये जन्तुविशेषे, तत्कृते छिद्रे च । आव० ४ अ० । आचा० । (घुणदृष्टान्तेन भिक्षाकशब्दप्ररूपणा ' भिक्खाग ' शब्दे वक्ष्यते)

घुणंत-घूर्णमान-पुं० । भयाविह्वलत्वाद्भ्राम्यति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

घुत्तिअं-देशी-गवेषिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घुम्म-घूर्ण-धा० । भ्रमणे, अक० उभ० सेट् । वाच० । " घूर्णेर्घुलघोलघुम्मपहल्लाः" ॥८।४।११७॥ इति घूर्णेर्घुम्मादेशः । 'घुम्मइ' घूर्णति , घूर्णते । प्रा० ४ पाद ।

घुम्मंत-घूर्णत्-त्रि० । भ्राम्यति, औ० ।

घुणघुणिआ-देशी-कर्णोपकर्णिकायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

घुयग-घुट्टक-पुं० । लेपितपात्रमसृणताकारके पाषाणे, पिं० ।

घुरुघुरी-देशी-मण्डूके, दे० ना० २ वर्ग ।

घुल-घूर्ण-धा० । भ्रमणे, अक० उभ० सेट् । वाच० । " घूर्णेर्घुलघोलघुम्मपहल्लाः " ॥८।४।११७॥ इति घुलादेशः । 'घुलइ-घुम्मइ-घोलइ' घूर्णति, घूर्णते । प्रा० ४ पाद ।

घुल्ला-घुल्ला-स्त्री० । द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा०१ पद । जी० ।

घुसल-मन्थ-धा० । विलोडने, क्रयादि० पर० द्विक० सेट् । वाच० । "मन्थेर्घुसलविरोलौ" ॥८।४।१२१॥ इति घुसलादेशः । 'घुसलइ' मथ्नाति । प्रा० ४ पाद ।

घुसिण-घुसृण-न० । घुषि (सि) वा ऋणक्-पृषो० नलोपः । घुषेः ऋत पस्य लक्ष्म । वाच० । " इत्कृपादौ " ॥८।१।१२८॥ इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । कुङ्कुमे, त्रि० । " घुसृणैर्यत्र जलाशयोदरे " इति । वाच० ।

घुसिणिअ-देशी-गवेषिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घुसिरसार-देशी-अवस्नाने, मसूरादीनां पिष्टे, दे० ना० २ वर्ग ।

घूघरी-स्त्री० । 'घुग्घरी' शब्दार्थे, ल० प्र० ।

घूणाग-घूणाक-न० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्रागतस्य श्रीवीरजिनस्य शुभलक्षणानि पुष्पेण सामुद्रिकेण दृष्टानि । आ० चू० १ अ० ।

घूय-घूक-पु० । कौशिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उलूके, प्रति० ।

घूयारि-घूकारि-पु० । काके, तं० ।

घूरा-घूरा-स्त्री० । जङ्घायाम्, खलकायां च । सूत्र०२ श्रु०२अ० ।

घेतव्व-ग्रहीतव्य-त्रि० । " क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् " ॥८। ४। २१० । इति ग्रहेर्घेदादेशः । प्राहे, प्रा० ४ पाद ।

घेत्तुं-ग्रहीतुम्-अव्य०।"क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत्"॥८। ४।२१०॥ इति ग्रहेर्घेदादेश । ग्राहे , प्रा० ४ पाद ।

घेत्तुआण-गृहीत्वा-अव्य० । " क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् " ॥८ । ४ । २१० ॥ इति ग्रहेर्घेदादेशः । ग्रहण इत्येत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । आर्षेऽन्यत्रापि ' घेच्छं ' ग्रहीष्यामि । नि० चू० १ उ० ।

घेत्तूण-गृहीत्वा-अव्य० । " क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत्" । ८ । ४ । २१० । इति घेदादेशः । ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे , प्रा० ४ पाद ।

घेप्प-ग्रह्-धा० । हस्तव्यापारभेदे, स्वीकारे, ज्ञाने च । क्र्यादि० उभ० सक० सेट् । वाच० । "ग्रहेर्घेप्प." ॥८।४।२५६॥ ग्रहे. कर्म्मभावे 'घेप्प' इत्यादेशो भवति, क्यलुक् च।'घेप्पइ, गेण्हिज्जइ'। प्रा० ४ पाद । नि० चू० ।

घोट्ट-पा-धा० । पाने, भ्वादि० पर० सक० अनिट् । वाच० । " पिबे पिज्जडुल्लपट्टघोट्टा ' ॥८ । ४ । १० ॥ इति पिबतेर्घोट्टादेश. । ' घोट्टइ , पिबइ ' । प्रा० ४ पाद ।

घोम-देशी-अभ्रे , दे० ना० २ वर्ग ।

घोडग-घोटक-पु० । अजात्ये , ध० २ अधि० । चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतैर्य्यग्योनिकैकखुरभेदे , प्रज्ञा० १ पद । तुरङ्गमे च । ग०३ अधि० । प्रथमे उत्सर्गदोषे, "आसो व्व विसमपायं, आउंटावित्तु, ठाइ उस्सग्गे ।" प्रव० ५ द्वार । आकुञ्चितस्यैकपादस्य घोटकस्येव स्थान घोटकदोष. । प्रव० ४ द्वार । आव० । प्रज्ञा० ।

घोडगकंडूइय-घोटककण्डूयित-न० । द्वयोः संयतयोर्घोटककण्डूयितमिव घोटककण्डूयितम्, यद् वारं वारं परस्पर प्रच्छन्न तत्तयोः परस्परकण्डूयितमिव घोटककण्डूयितम् । परस्पर प्रच्छन्ने , व्य० ४ उ० ।

घोडयगीव-घोटकग्रीव-पु० । अश्वग्रीवापरनामके त्रिपृष्ठाख्यप्रथमवासुदेवप्रतिशत्रौ, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

घोडयपुंछ-घोटकपुच्छ-न० । अश्ववालधौ , " घोडयपुच्छं व तस्स मसुइ । " उपा० २ अ० ।

घोडयमुह-घोटकमुख-पु० । घोटकस्येव मुखमस्य । किन्नरभेदे , वाच० । मिथ्याश्रुतविशेषे , अनु० ।

घोडयमुही-घोटकमुखी-स्त्री० । घोटकाकारमुखमनुष्यस्त्रियाम्, बृ० ६ उ० । जीत० । नि० चू० ।

घोडिय-घोटिक-पु० । मित्रे , बृ० ५ उ० ।

घोर-घोर-त्रि० । घुर-अच् । रौद्रे , बृ० ३ उ० । आ० म० । आव० । व्य० । तं० । पञ्चा० । उत्त० । दारुणे, रा० । ग० । आचा० । निर्घृणे, नि० १ वर्ग । औ० । रा० । जं० । सू० प्र० । विशे० । चं० प्र० । ज्ञा० । आत्मनिरपेक्षे, भ० १ श० १ उ० । हिंस्रे, भ०३ श० २ उ० । भयदे, उत्त० १६ अ० । भयानके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दारुणक्रियाकारिणि, प्रश्न०१ आश्र०द्वार । उत्त० । विशे० । नं० । वाच० । " घोरनिकुरंबकंदरचलंतबीभत्थभावाणं" घोरो रौद्रः प्राणनाशहेतुत्वात् निकुरम्बं घनम् , अगाधमित्यर्थः । यत्कमिति जलं , तस्य दरो भय यस्मात् भावाल,साकेतपुराधिपदेवपतिराजस्येव,स निकुरम्बकन्दर', कमिति अव्ययशब्द उदकवाचक., चलन् पुरुष पुरुष प्रति भ्रमत् बीभत्सो भयङ्करः इह , परत्र महाभयोत्पादकत्वात् एवंविधो भाव आन्तरमायाधकस्वभावो यासां ता घोरनिकुरम्बकन्दरचलद्बीभत्सभावाः, तासां स्त्रीणाम् । तं० "घोररूवदित्तधरा ति" घोर यद्रूपं दीप्त च एत या तद्धारयति यः स तथा तम् । भ० १६ श० ६ उ० ।

घोरकट्ठ-घोरकष्ट-त्रि० । अतिकष्टे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

घोरगुण-घोरगुण-पु० । घोरो निर्घृणः परीषहेन्द्रियकषायाख्यानां रिपूणां विनाशे कर्त्तव्ये, अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहु., 'घोरगुणो' घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणाः मूलगुणादयो यस्य स तथा । अन्यैर्दुरनुचरगुणे , औ० । जं० । सू० प्र० । रा० । विपा० । भ० । चं० प्र० ।

घोरतव -घोरतपस्-न० । आजीविकतपसि, घोरमात्मनिरपेक्षं तपः । स्था० ४ ठा० ।

घोरतवस्सि-(ण्)-घोरतपस्विन्-पुं० । घोरैस्तपोभिस्तपस्वी घोरतपस्वी । दारुणतप कर्त्तरि, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० । औ० । भ० । ति० । सू० प्र० । रा० । ज० ।

घोरधम्म-घोरधर्म-पु० । घोरो भयानको धर्मः । सर्वाश्रवनिरोधाद्दुरनुचरे धर्म्मे , आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

घोरपरक्कम-घोरपराक्रम-पु० । घोरः पराक्रम' धर्म्मानुष्ठानाविधिर्यस्य स. । उत्त० १४ अ० । रौद्रमनोबले , क्रोधादिचतुष्कषायाणां जये रौद्रसामर्थ्ये, उत्त १२ अ० ।

घोरबंभचेरवासि (ण्)-घोरब्रह्मचर्यवासिन्-पु० । औ० । घोर च तद् ब्रह्मचर्यं चाल्पसत्त्वैर्दु.खेन यदनुचर्य्यते तस्मिन् घोरब्रह्मचर्ये वस्तु शीलमस्येति घोरब्रह्मचर्य्यवासी । उत्कृष्टब्रह्मचारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । चं० प्र० । सू० प्र० । रा० । औ० । नि० ।

घोरविस-घोरविष-पु० । परम्परया पुरुषसहस्रस्यापि हननसमर्थविषे सर्पे, भ० १५ श० ११ उ० । उत्त० । ज्ञा० ।

घोरव्वय-घोरव्रत-न० । पु० । घोराण्यन्यैर्दुरनुचराणि व्रतानि महाव्रतेषु तानि सन्त्यस्य तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । दुर्धरमहाव्रतधारिणि, उत्त० १ अ० ।

घोरागार-घोराकार-पुं० । हिंस्राकृतौ , भ० ३ श० २ उ० । " घोरागारं तवच्चरणं करइ " आ० म० द्वि० ।

घोरी-देशी-शलभविशेषे, दे० ना० २ वर्ग ।

घोरो-देशी-नाशिते, गृध्रे पक्षिणि च । दे० ना० २ वर्ग

घोल-घोल-पुं० । न० । घुड-कर्म्मणि घञ्, डस्य लः । वाच० । वस्त्रगालिते दध्नि,ध०२ अधि०।प्रव०।वाच०।तक्रे , मथितदध्नि,

"तत्तु सस्नेहमजलं, मथितं घोलमुच्यते ।
सशर निर्जलं घोल, वातपित्तहरं स्मृतम् ॥ १ ॥
मस्तुना रहितं गाव्य, दधि शुक्लतरे पटे ।
जीरसैन्धवसमिश्र, घोल घनतरं स्मृतम् ॥ २ ॥
जीरसैन्धवसयुक्त, घोल वातप्रणाशनम् ।
अतीसारे च मन्देऽग्नौ, हित रुच्य बलप्रदम्" ॥ ३ ॥
"हिङ्गुजीरयुत घोलं, सैन्धवेन च सयुतम् ।
भवेदतीव वातघ्न-मर्शोऽतीसारहृत् परम् ॥ १ ॥
रुचिद पुष्टिद बल्यं, वस्तिशूलविनाशनम् ।
मूत्रकृच्छ्रे तु मगुरु, पाण्डुरोगे सचित्रकम्" ॥२॥ वाच० ।

घोलंत–घोलत्–त्रि० । दोलायमाने, औ० । आ० म० प्र० । रा० ।

घोलण–घोलन–न० । अङ्गुष्ठकाङ्गुलिगृहीतचाल्यमानयूकाया इव मर्दने, आ० क० । आ० म० । विशे० । महा० ।

घोलवडक–घोलवटक–न० । घोलयुक्ते वटके , प्रव० ४ द्वार । ध० ।

घोलिय–घोलित–पुं० । दधिघट इव पट इव वा घोलनां प्रापितेषु राजदर्पितपुरुषेषु , औ० । सूत्र० ।

घोल्लियं–देशी–शिलातले. इक्षुकृते च । दे० ना० २ वर्ग ।

घोस–घोष–पुं० । 'घुष्' आधारे घञ् । वाच० । "शषो सः" ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति षस्य सः । प्रा० १ पाद । आभीरपल्ल्याम्, तस्यां गोभिर्नादात्तथात्वम् । वाच० । गोकुले, बृ० १ उ० । "घोसो गोउल वि य एगट्ठं" घोष इति गोकुलमिति चैकार्थम् । बृ० ४ उ० । गोष्ठे, स्था० २ ठा० ४ उ० । कर्तरि अच्–गोपाले, वाच० । शब्दे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सर्वदिव्यत्रुटितशब्दसन्निनादविशेषे, जी० ३ प्रति० । घण्टाऽनुप्रवृत्तरणितमिव य शब्द. तस्मिन् , त० । अनुनादे , भ० ६ श० १ उ० । उदात्तादिस्वरविशेषे , नं० । औ० । अनु० । भ० । "खयां यमाः खय ᳲ क ᳲ पौ, विसर्गः शर एव च । एते श्वासानुप्रदानाः, अघोषाश्च विवृण्वते ॥१॥ कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः," इति शिक्षोक्ते वर्णोच्चारणबाह्यप्रयत्नभेदे, ध्वनौ, मेघशब्दे, कांस्ये, न० । मशके, घोषलतायाम्, स्त्री० । वाच० । कुमाराणामिन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । स० । स्था० । चतुर्थदेवलोकस्थविमानभेदे , स० । (अस्य लोकपालादयो लोकपालादिशब्देषु वक्ष्यन्ते) "हैयङ्गवीनमादाय, घोषवृद्धानुपस्थितान् ।" वाच० ।

घोसजुय–घोषयुत–न० । यथावस्थितैरुदात्तादिभिर्घोषैर्युक्ते , बृ० १ उ० ।

घोसण–घोषण–न० । घुष–भावे ल्युट् । ध्वनौ, नि० चू० १ उ० । भावे ल्युट् । उच्चशब्देन ज्ञापने व्यापारभेदे, वाच० । आ० म० । रा० । "घोसणे कोऊहलाहिअकण्णए एगग्गचित्तउवउत्तगमाणसाणमिति" कौरग्रामघोषण भविष्यतीत्येवं घोषणे कुतूहलेन दत्तौ कर्णौ यैस्ते घोषणकुतूहलदत्तकर्णाः, तथा एकाग्र घोषणश्रवणैकविषय चित्तं येषां ते एकाग्रचित्ताः, एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदाचिदनुपयोग. स्यादत आह–उपयुक्तमानसाः । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तेषां पटहेण घोषणां कारितवान् । रा० । आ० म० ।

घोसवती–घोषवती–स्त्री० । प्रद्योतनृपपुत्र्याः वासवदत्ताया वास्याम् , आ० क० । आ० चू० ।

घोसविसुद्धिकर–घोषविशुद्धिकर–पुं० । श्रुतसम्पद्भेदे, व्य० ।

घोषविशुद्धिमाह–

घोसा उदत्तमादी , तेहिँ विसुद्धं तु घोसपरिसुद्धं ।
एस सुत्तोवसंपय, सरीरउवसंपयं अतो वुच्छं ॥

घोषा उदात्तादयस्तैर्विशुद्धं घोषविशुद्ध, तत्करणशीलो घोषविशुद्धिकरः । एषा चतुर्थी श्रुतोपसंपत् । व्य० १० उ० ।

घोसविसुद्धिकारय–घोषविशुद्धिकारक–पुं० । श्रुतसम्पत्सपक्षभेदे, दशा० । घोषविशुद्धिकारकः, घोषा उदात्तादय तेषां शुद्धिर्घोषशुद्धि , विशेषेण शुद्धिर्विशुद्धि , तां करोतीति घोषविशुद्धिकारकः। यत. स्वयं घोषशुद्धिमान् अन्यानपि तथैव स्वरशुद्धिकारक. । दशा० ४ अ० ।

घोसविसुद्धिकरया–घोषविशुद्धिकरता–स्त्री० । श्रुतसम्पद्भेदे, उदात्तानुदात्तादिस्वरविशुद्धिविधायितायाम्, उत्त० १अ० । आ० ।

घोससम–घोषसम–न० । उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितद्रुतविलम्बित विश्लिष्टापेक्षस्वरनियते, आ० चू० १ अ० । वाचनाचार्याभिहितोदात्तानुदात्तस्वरितलक्षणैर्घोषै· सदृशत्वेनैव गृहीते, विशे० । यथा गुरुणाऽभिहिता घोषा तत्र तथा यत्र शिष्येणापि समुच्चार्यन्ते तद्घोषसमम् । आ० म० प्र० । ग० । अनु० ।

घोसहीण–घोषहीन–उदात्तादिघोषरहिते, आव० ४ अ० । ध० ।

घोसाडिया–घोषातकी–स्त्री० । घोषातकी पृषो० । कोषातकीलतायां, श्वेतघोषालतायाम्, वाच० । रा० । प्रव० । ज० । जी० । आ० म० । प्रज्ञा० । फले , न० । प्रज्ञा० १ पद ।

घोसाली–देशी–शरदुद्भवे वल्लिभेदे , दे० ना० २ वर्ग ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक–
जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते
अभिधानराजेन्द्रे घकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

चकार

च (य)-च-अव्य० । 'चि' म० । समुच्चये, ध० २ अधि० । विपा० । कर्म०। पं० सं० । नि० चू० । पञ्चा० । सघा० । स० । रा० । सामान्यसमुच्चये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । एकार्थिकसमुच्चये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अनुक्तसमुच्चये, जीत० । अप्यर्थे, षो० ६ विव० । पुनरर्थे, दर्श० । व्य० । प्रश्न० । पञ्चा० । हिशब्दार्थे, विशे० । अवधारणे, ध० स० १३ द्वार । नि० चू० । दश०। स्तुतावुत्कर्षणे, दर्श०। लक्ष्ये, विशेषे, नि०चू० १ उ० । पञ्च० । सघा० । पूरणे, नि० चू० १ उ० । आ० म० । पादपूरणे, नि० चू० १ उ० । अनुमतौ, नि० चू० १ उ० । भेदप्रदर्शने, नि० चू० १ उ० । समानुकर्षणे, नि० चू० १ उ० । उपप्रदर्शने, औ० । अतिशयवचनप्रदर्शने, नि० चू० ४ उ० । आधिक्ये, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ० । सक्षेपेण व्याख्याने, चशब्दात्क्वचित्केचित् सक्षेपेण व्याख्यायन्ते । स० । " च. पुंसि चेतने चन्द्रे, चौरेऽद्दौ चाऽऽदर्शने । " " चान्वाचयसमाहारे-तरेतरसमुच्चये । समासार्थेऽव्ययम्" एका० । पुं० । तुरुष्क, भरे, रुधिरे, त्रि० । विमलार्थे, अव्य० मिथोयोगे, एका० ।

" च पुंल्लिङ्गे निशानार्थे, तुरुष्के तस्करे भरे ।
चा शोभायां स्त्रियामुक्ता, रुधिरे च नपुंसके ॥
चशब्दस्त्रिपु लिङ्गेपु, विमलार्थेऽव्ययं स्मृत ।
समुच्चयान्वाचययो', पक्षान्तरनिरूपणे ॥
समासिके समाहारे, मिथोयोगेऽप्युदाहृत " । एका० । चपमेशे, कच्छपे, त्रि० । दुर्जने, निर्वीज, अव्य० । तुल्यत्वे हेतौ, विनियोगे, वाच० ।

चइत्तुं--त्यक्त्वा-अव्य० । त्यागं कृत्वेत्यर्थे, जीवा० १ अधि० ।

चइऊण-च्युत्वा-त्यक्त्वा-अव्य० । च्यवन कृत्वेत्यर्थे, उत्त० ६ अ० । त्यक्त्वा विहायेत्यर्थे, पञ्चा० १६ विव० । "चइऊण गारवासं,चरित्तिणो तस्स पालणाहेउ ।" ध० ध०१ द्वार । आचा० ।

चइत्त-चैत्य-न०। चित्याया इदम् अण् । "अर्हदैत्यादौ च" ॥ ८।१।१५१॥ इति चैत्-'अइ'इत्यादेशः पत्वापवादः।प्रा०१ पाद । "त्योऽचैत्ये" ॥८ । २ । १३॥ इह अचैत्य इति पर्युदासान्न च । प्रा० २ पाद । ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे, देवावासे वृक्षे, जनाना सभास्थतरौ, आयतने, चिताचिह्ने, जनसभायां, यज्ञस्थाने, जनानां विश्रामस्थाने, देवस्थाने च । वाच० ।

चैत्र--पु० । चित्रानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी चैत्री, साऽस्मिन्मासे अण् । " वैरादौ वा " ॥ ८ । १ । १५२ ॥ इति एतो वा इत्यादेश । प्रा० १ पाद । स्वनामख्याते शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तरूपे मासे, वाच० ।

चइत्ता-च्युत्वा त्यक्त्वा-अव्य० । च्यवन कृत्वेत्यर्थे, स्था०८ ठा०। कल्प०। भ०। त्याग कृत्वेत्यर्थे,आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०। भ०। औ०।

चइत्ताण-त्यक्त्वा-अव्य०। त्यागं कृत्वेत्यर्थे, "कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे (५)" उत्त० १ अ० ।

चइत्तु-त्यक्त्वा-न० । अव्य० । त्याग कृत्वेत्यर्थे, "स देवगधव्वमणुस्सपूइये, चइत्तु देह मलपंकपुव्वयं (४८)" उत्त० १ अ० ।

चउकट्ठी-चतुष्काष्ठी-स्त्री० । चतुरस्राकारे काष्ठचतुष्टये, "चउकट्ठि काउ कोणे घडओ पज्झति " नि० चू० १ उ० ।

चउकप्पसेगसित्त-चतुष्कल्पसेकसिक्त-त्रि० । चतुर्भि. सेकविषयै कल्पं सिक्ते ओदने, चत्वारश्च कलशाः सेकविषया रसवतीशालाभिप्रेतेभ्यो भाजनीया । जी० ३ प्रति० ।

चउकारणपरिसुद्ध-चतुष्कारणपरिशुद्ध-त्रि० । निर्णयहेतुचतुष्कनिर्णीतदोषाभावे, " चउकारणपरिसुद्ध, कसछेदताव-तालणाए य । ज तं विसघातिरसा- यणादिगुणसजुय होइ " ॥३६॥ पञ्चा० १४ विव० ।

चउकारणसंजुत्त-चतुष्कारणसंयुक्त-त्रि० । चतुर्भिः कारणैः संयुक्ते कारणचतुष्कसहिते, उत्त० ।

" मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदसणलक्खणं" ॥ उत्त० ।
"नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं " ॥
एष चतुष्कारणरूपो मोक्षमार्गो जिनै केवलिभिस्तीर्थकरैश्च प्रज्ञप्तः । उत्त० २८ अ० ।

चउक्क-चतुष्क-त्रि० । चत्वारि परिमाणमस्येति चतुष्क' । " संख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः " ॥ ६ । ४ । १३० ॥ इति (हैम०) कः प्रत्ययः । पिं० । " सख्याया अतिशदन्ताया. कन् " ॥ ५ । १ । २२ ॥ इति (पाणि०) कन् । उत्त० १ अ० । चतसृणां रथ्यानां समागमे, सू० १ उ० । चतुष्पथयुक्ते स्थाने, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० । यत्र रथ्या चतुष्टय मिलति । कल्प० ४ क्षण । भ० । औ० । रा० । " चउक्कचच्चरं चउम्मुह " औ० । स्था० । अनु०। ज० । ज्ञा० । आ० म० । "खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! विजयाए रायहाणीए संघाडगेसु पत्तिएसु य चउक्केसु य । " जी० १ प्रति० । स्थापना— + " सीले चउक्क दव्वे, पाउरणाऽऽहरणभोयणादीसु । भावेउ ओदइऐ, अनिक्ख-मासेवणा चेव ॥ !" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । " चउक्को कम्ममासओ " इत्यादि । चतसृभिः काकिणीभिर्निष्पन्नत्वात् । चतुष्के, अनु०। चतुर्भिः स्तम्भै. कायति, कै-कः । चतु.स्तम्भयुक्ते मण्डपे, वाच० ।

चउक्कनइय-चतुष्कनयिक-न० । नयचतुष्काभिप्रायतश्चिन्त्यमाने सूत्रे, स० ।

चउक्कर-चतुष्कर-त्रि० । चत्वार' करा यस्येति चतुष्करः । चतुर्भुजे देवे, उत्त० ८ अ० ।

चउक्कसाओवगय-चतुष्कषायोपगत-त्रि० । क्रोधाद्युदयवशगते, पा० ।

चउक्कसायावगय-चतुष्कषायापगत-त्रि० । अपगतक्रोधादिक-

धायो यः सः । दश० ८ अ० १ उ० । क्रोधादिनिरोधकर्तरि, दश० ८ अ० १ उ० ।

चउकाल-चतुष्काल-पुं० । दिवसरजनिप्रथमचरमयामेषु , आव० ४ अ० । " चउकाल सज्झाय करित्तए । " स्था० ४ ठा० १ उ० ।

चउक्कोण-चतुष्कोण-त्रि० । चतुरस्रे, " सउत्ताराओ मणिसुघाओ चउक्कोणाओ " चत्वारः कोणा यासां ताश्चतुष्कोणाः । एतच्च विशेषणं वापीकूपान् प्रति द्रष्टव्यम् । रा० । जं० । जी० ।

चउगइय-चतुर्गतिक-त्रि० । चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतौ विद्यमाने, प० स०५ द्वार । कच्छपे, पुं० । स्त्री० । हेम० । वाच० ।

चउगाउय-चतुर्गव्यूत-न० । गव्यूतचतुष्टये, " चउगाउए जोयणे पयासे । " स० ४ सम० ।

चउगुरुग-चतुर्गुरुक-पुं० । चत्वारश्च ते गुरुकाश्चतुर्गुरुकाः । "आयरियगिलाणवच्छलं ण करेति चउ गुरुगा, पत्तेय खमगस्स पाहुणगस्स वच्छल्लं ण करेति चउलहुगा । " नि० चू० १ उ० ।

चउचलणपइट्ठाण-चतुश्चरणप्रतिष्ठान-त्रि० । चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठिते, "चउचलणपइट्ठाणा, गोहिया पंचमं सरं । आडवरो य धेवयय,महाभेरी य सत्तमं॥२॥" चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानं भुवि यस्याः सा । स्था० ७ ठा० । अनु० ।

चउचामरवालवीइयंग-चतुश्चामरबालवीजिताङ्ग-त्रि० । चतुर्णां चामराणां वालैर्वीजितमङ्गं यस्य स तथा । चामरचतुष्ककेशैर्वीजितविग्रहे, भ० ७ श० ६ उ० ।

चउज्झाइया-चतुर्ध्यायिका-स्त्री० । घटकस्य रसमानविशेषस्य चतुर्थभागमात्रे मानविशेषे, भ० ७ श० ७ उ० ।

चउट्ठ-चतुर्थ-त्रि० । "स्त्यानचतुर्थार्थे वा" ॥ ८ । २ । ३३ ॥ एषु संयुक्तस्य ठो वा भवति । प्रा० २ पाद । चतुर्णां पूरणः । येन चतुःसंख्या पूर्यते तादृशे तुरीये , वाच० ।

चउट्ठाणपरिणामपज्जत्त-चतुःस्थानपरिणामपर्याप्त-न० । चातुरक्ये, जी० ३ प्रति० । ('चातुरक्कगोखीर' शब्दे व्याख्याऽस्य वक्ष्यते)

चउणउइ-चतुर्नवति-स्त्री० । चतुरधिकायां नवतिसंख्यायाम , " चउणउइसहस्साइं,उप्पणादियं सयं कहा । " स०८३ सम० ।

चउणय-चतुर्नयक-न० । सग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दरूपनयचतुष्टयोपेते, संग्रहादिनयचतुष्टयेन चिन्त्यमाने, नं० ।

चउणाणोवगय-चतुर्ज्ञानोपगत-त्रि० । मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयसमन्विते, चं० प्र० १ पाहु० । रा० । केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्विते, भ० १ श० १ उ० ।

चउणारीओमिणण-चतुर्नार्य्यवमान-न० । चतुःसंख्या नार्यः स्त्रियः चतुर्नार्यः, ताभिर्मङ्गल्याभिः " ओमिणणं ति " अवमान प्रोञ्छनकं लोकप्रसिद्धं चतुर्नार्य्यवमानं भवति । चतसृभिर्नारीभिः क्रियमाणे प्रोञ्छणके , पञ्चा० ८ विव० ।

चउणाम-चतुर्नामन्-न० । आगमादिचतुष्प्रकारैर्निष्पन्ने नाम्नि, अनु० ।

से किं तं चउणामे ? । चउणामे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—आगमेणं लोवेणं पयईएणं विगारेणं ।से किं तं आगमेणं ? । आगमेणं पद्मानि पयांसि कुण्डानि, से तं आगमेणं ।से किं तं लोवेणं ? । लोवेणं ते अत्र,तेऽत्र, पटो अत्र पटोऽत्र,घटो अत्र,घटोऽत्र, से तं लोवेणं । से किं तं पगईए ? । पगईए अग्नी एतौ,पटू इमौ,शाले एते, माले इमे, से तं पगईए । से किं तं विगारेणं ? । विगारेणं दण्डस्य अग्रं-दण्डाग्रं, सा आगता-साऽऽगता, दधि इदम् , दधीदम्, नदी इह, नदीह, मधु उदकम्-मधूदकम्, वधू ऊह-वधूह । से तं विगारेणं । से तं चउणामे ॥

"से किं त चउनामे " इत्यादि आगच्छतीत्यागमोऽप्रागमादिस्तेन निष्पन्नं नाम,यथा-"पद्मानीत्यादि""कुण्डस्वरादीत्युः" । इत्यनेनात्र त्वागमस्य विधानात् । उपलक्षणमात्रं चेदम्-संस्कार उपस्कार इत्यादेरपि सुडाद्यागमनिष्पन्नत्वादिति । लोपो वर्णापगमरूपस्तेन निष्पन्नं नाम-यथा तेऽत्रेत्यादि ।"एदोत्परः पदान्ते" इत्यादिना अकारस्येह लुप्तत्वात् । नामत्वं चात्र तेन तेन रूपेण नमनात्ते इति व्युत्पत्तेरस्त्येवेतीत्यमन्यत्रापि वाच्यम् । उपलक्षण चेदम-मनस् ईषा-मनीषा बुद्धिः । भ्रमतीति भ्रूरित्यादेरपि सकारमकारादिवर्णलोपेन निष्पन्नत्वादिति । प्रकृतिः स्वभावो वर्णलोपाद्यभावः,तया निष्पन्नं नाम,यथा-अग्नी एतावित्यादि "द्विवचनमनौ" इत्यनेनात्र प्रकृतिभावस्य विधानात् । निदर्शनमात्रं चेदम्-सरसिजं, कण्ठे काल इत्यादीनामपि प्रकृतिनिष्पन्नत्वादिति । वर्णस्यान्यथाभावापादनं विकार , तेन निष्पन्नम्-दण्डस्याग्रम्,दण्डाग्रमित्यादि।"समानः सवर्णे दीर्घो भवति"इत्यादिना दीर्घत्वलक्षणस्य वर्णविकारस्येह कृतत्वात्,उदाहरणमात्रं चैतत् , तस्करः,षोडश इत्यादेरपि वर्णविकारसिद्धत्वादिति । तदिह यदस्ति तेन सर्वेणापि नाम्ना आगमनिष्पन्नेन वा लोपनिष्पन्नेन वा प्रकृतिनिर्वृत्तेन वा विकारनिष्पन्नेन वा भवितव्यम्,मित्यादिनाम्नामपि सनिरुक्तत्वागमचतुर्थो "तुजमहेत्यादि" वचनात् । ततश्चतुर्भिरप्येते सर्वस्य संग्रहाच्चतुर्नामेदमुच्यते, "से त्तं चउनामेति" निगमनम् ।अनु० ।

चउतंतुय-चतुस्तन्तुक-न० । तन्तुचतुष्टये , पञ्चा० ८ विव० ।

चउतीस-चतुस्त्रिंशत्-स्त्री० । चतुरधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम, " चउतीसबुद्धवयणातिसेसपत्ते " चतुस्त्रिंशद्बुद्धानां जिनानां (वयण त्ति) वचनप्रमुखः सर्वस्वभाषाऽनुगतं वचनं धर्मावबोधकरमित्यादिनोक्तस्वरूपा येऽतिशेषास्तान् प्राप्तो यः स तथा । औ० ।

चउत्थ-चतुर्थ-त्रि० । चतुःसंख्यापूर्वके चतुर्वरे, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

चउत्थभत्त-चतुर्थभक्त-न० । केवलमेकं पूर्वदिने, द्वे उपवासदिने, चतुर्थं पारणकादिने भक्तं भोजनं परिहरतो यत्र तपसि तच्चतुर्थं पारणकादिने भक्त भोजनं ... चतुर्थभक्त । प्रवृत्तिस्तु चतुर्थभक्तशब्दस्यैकोपवासे , स्था० ३ ठा० ३ उ० । पञ्चा० ।

तेषु चतुर्थभक्तं प्रायश्चित्तम्—

सहसाऽणाजोगेण य , जेसु पडिक्कमणमभिहियं तेसु ।
आजोगेण त्ति बहुसो, अइप्पमाणे य निव्विगई ॥ ४४ ॥
धावणडेवणसंघरि—सगमणकिड्डाकुहावणाईसु ।
उक्किट्ठगीयछेलिय—जीवरुआईसु य चउत्था ॥ ४५ ॥

सहसाऽनाभोगः प्रागुक्तरूपः, सहसाऽनाभोगेन वा येषु श्लेषितक्षिपेषु आलम्बु प्रतिक्रमणमहं प्रायश्चित्तमभिहितं,तेषु आ-

षकेषु मध्ये आभोगेनापि, कोऽर्थः ?-जानन्नपि, बहुशः पुनर्यदा सेवते अतृप्यन्, अतिमात्रं वा तदेवासेवते. तत्र सर्वत्र निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् अनन्तरगाथायां जानन् पौन पुन्यासेवायां प्रायश्चित्तमुक्तम्, सा च शैक्षस्य दुर्दान्तस्य सम्भवति, दुर्दान्तश्च धावनादिकमपि कुर्यात् ॥ ४४ ॥ अतस्तदर्थमाह-(धावणे त्ति) धावनमतिवेगेन गमनं, मेपनं वरणमापुल्लुहन, सङ्घर्षगमनम्-आययोः फ. शीघ्रगतिरिति स्पर्द्धया गमनं समश्रेणिस्थितस्य धावनं, क्रीडा सारिचतुरङ्गद्यूताद्या। (कुहावण त्ति) कुहविस्मापन, अदन्तस्य धुरादित्वादिनि "ईयिपन्त्यासिविदिभिदिकारितान्तेभ्यो युः।" इति युप्रत्यय.। कुहनाऽतिविस्मयकारिणी , दन्तक्रिया इन्द्रजालगोलफलसेसनाद्याः , आदिशब्दात् समस्याप्रहेलिकादयो गृह्यन्ते, उत्कृष्टिर्वकारपूर्वक फलकल , गान गान, छेलितं सिण्टित तस्करसञ्ज्ञा, जीवरुत मयूरमार्जारशुकसारादिलपितम, आदिशब्दाज्जीवरुतम् मरघट्टशकटपादुकादिशब्दरूप, च' समुच्चये, एतेषु सर्वेषु शुक्लचतुर्थम ॥ ४५ ॥ जीत० ।

चउत्थभत्तिय चतुर्थभक्तिक-त्रि० । केचसमेक पूर्वदिने द्वे उपवासदिने चतुर्थं पारणकदिने भक्त भोजन परिहरतो यत्र तपसि तच्चतुर्थभक्त, तदस्यास्ति स चतुर्थभक्तिक'। प्रवृत्तिस्तु' चतुर्थभक्तशब्दस्य एकोपवासे इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । एकान्तरोपवासिनि साधौ, कल्प० ८ क्षण ।

चउत्थी-चतुर्थी-स्त्री० । चन्द्रस्य चतुर्थकलायाः प्रवेशनिर्गमनरूपक्रियाऽऽत्मकतिथौ, व्याकरणोक्तेषु 'ङे भ्याम् भ्यस्'इति प्रत्ययेषु च । वाच० । "चाउद्दसिं पन्नरसिं च,विज्जा अट्ठमिं च नवमिं च। छट्ठिं च चउत्थिं च,वारसिं च दुण्हं पि पक्खाण ।७। द० प०९ प०। ज्यो० । विशे० । "चउत्थी संपयावणे" सम्प्रदाने चतुर्थी । अनु० । यथा-भिक्षवे भिक्षां दापयति ददाति वेति। सम्प्रदानस्योपलक्षणत्वादेव- " नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च " ॥ २ । ३ । १६ ॥ इति चतुर्थी भवति । स्था० ८ ठा० । नमो देवेभ्य' स्वाहा, अग्नये, इत्यादिषु सम्प्रदाने चतुर्थी भवतीत्येके । अन्ये तु उपाध्यायाय गां ददाति इत्यादिष्वेव सम्प्रदाने चतुर्थीमिच्छन्ति । अनु० ।

चउदंत-चतुर्दन्त-पुं०। चत्वारो दन्ता अस्य। ऐरावते इन्द्रगजे, वाच० । स्था० । कल्प० ।

चउदंसण-चतुर्दर्शन-न० । चतुर्णां दर्शनानां चक्षुरादीनां समाहारे, दर्श० । चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपे, कर्म० २ कर्म० ।

चउदेवसेण-चतुर्देवसेन-पुं० । " जम्हा देवा सेणं, पडियग्गीय पुव्वसगइया । ताहे चउदेवसेणो, देवासुरपूजितो नामं "॥४६॥ विमलवाहननाम्नि तीर्थकरे, ति० ।

चउद्दसपुव्वि-चतुर्दशपूर्विन्-पुं०। चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य, तेनैव तेषां रचितत्वात्,असौ चतुर्दशपूर्वी ।। श्रुतकेवलिनि, ष० प्र० १ पाहु० । ज० । चतुर्दशपूर्विणः षट्स्थानपतितत्वम् । नि० चू०१५ उ० । विशे० ।

जं चोद्दसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।
तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं ॥ १४२ ॥

यद्यस्मात्कारणाच्चतुर्दशपूर्वधरा षट्स्थानपतिताः परस्पर भवन्ति, हीनाधिक्येनेति शेष । तथाहि-सकलाभिलाप्यवस्तुवेदितया य उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वधरः,ततोऽन्यो हीन-हीनतरादिरागमे इत्थ प्रतिप दितः तद्यथा-"अणंतभागहीणे वा , असंखेज्जभागहीणे वा,संखेज्जभागहीणे वा,संखेज्जगुणहीणे वा,असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा।" यस्तु सर्वस्तोकाऽभिलाप्यवस्तुज्ञायकतया सर्वजघन्यः,ततोऽन्य उत्कृष्ट उत्कृष्टतरादिरप्येवं प्रोक्तः । तद्यथा-"अणंतभागब्भहिए वा, असंखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जगुणब्भहिए वा असंखेज्जगुणब्भहिए वा, अणंतगुणब्भहिए वा।" तदेवम् परस्पर षट्स्थानपतिताश्चतुर्दशपूर्वविदः, तस्मात्कारणात् यत् सूत्र चतुर्दशपूर्वलक्षण,तत् प्रज्ञापनीयाना भावानामनन्तभाग एवेति । यदि पुनर्यावन्त प्रज्ञापनीया भावास्तावन्त सर्वेऽपि सूत्रे निबद्धा भवेयुः,तदा तद्वेदिनां तुल्यतैव स्यात् ,न षट्स्थानपतितत्वमिति भाव. , इति गाथार्थ' ॥ १४२ ॥ विशे० ।

चतुर्दशपूर्विणो विकुर्वणा-

पभू णं भंते ! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं पडाओ पडसहस्सं कडाओ कडसहस्सं रहाओ रहसहस्सं छत्ताओ छत्तसहस्सं दंडाओ दंडसहस्सं अभिनिव्वट्टेत्ता उवदंसेत्तए ?। हंता पभू । से केणट्ठेणं पभू चोद्दसपुव्वी० जाव उवदंसेत्तए ?। गोयमा ! चोद्दसपुव्विस्स णं अणंताइं दव्वाइं उक्कारियाभेएणं भिज्जमाणाइं लद्धाइं पत्ताइं अभिसमण्णागयाइं भवंति, से तेणट्ठेणं० जाव उवदंसित्तए, सेवं भंते भंते त्ति ॥

(घडाओ घडसहस्स ति) घटादवधेर्घटमिश्रां कृत्वा घटसहस्रम (अभिनिव्वट्टित्ता) अभिनिर्वर्त्य विधाय श्रुतसमुत्थलब्धिविशेषेण उपदर्शयितुं प्रभुरिति प्रश्न' । (उक्कारियाभेएणं ति) इह पुद्गलानां भेद. पञ्चधा भवति, खण्डादिभेदात् । तत्र खण्डभेद खण्डशो यो भवति लोष्टादेरिव, प्रतरभेदोऽभ्रपटलानामिव, चूर्णिकाभेदस्तिलादिचूर्णवत्, अनुतटिकाभेदोऽवटतटभेदवत्, उत्कारिकाभेद एरण्डबीजानामिवेति, तत्रोत्कारिकाभेदेन भिद्यमानानि (लद्धाइ ति) लब्धिविशेषात् ग्रहणाविषयता गतानि । (पत्ताइ ति) तत एव गृहीतानि (अभिसमण्णागयाइ ति) घटादिरूपेण परिणमयितुमारब्धानि, ततस्तैर्घटसहस्रादि निर्वर्त्तयति, आहारकशरीरवन्निर्वर्त्य च दर्शयति जनानाम्, इह चोत्कारिकाभेदग्रहण तद्भिन्नानामेव द्रव्याणां विवक्षितघटादिनिष्पादनसामर्थ्यमस्ति, नान्येषामिति कृत्वेति ॥ भ० ५ श० ४ उ० ।

चउद्दह-चतुर्दश-त्रि० । " सख्यागद्गदे रः " ॥ ८ । १ । २१९ ॥ सख्यावाचिनि गद्गदशब्दे च दस्य रो भवति । इह असंयुक्तस्येत्युक्तेर्नेह । प्रा० १ पाद । चतुरधिकदशसख्याभेदे, तत्संख्याते पदार्थे च । वाच० ।

चउदिस-चतुर्दिक्-न० । दिक्चतुष्टये, " माणुसुत्तरस्स णं पव्वयस्स चउद्दिसिं चत्तारि कूडा पण्णत्ता " चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिंश्चतुर्दिशि,अनुस्वार' प्राकृतत्वात्। स्था० १ ठा० १ उ० ।

चउद्धा-चतुर्धा-अव्य० । प्रकारे धा च । चतुष्प्रकारे, वाच० । पञ्चा० ।

चउधाउय चतुर्धातुक-त्रि० । चतुर्भिर्धातुभिर्निष्पन्ने, सूत्र० ।

बौद्धाश्चतुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह—

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु अवरे ॥ १८ ॥

पृथिवीधातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति, धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम् । (एगअ त्ति) यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया, तदा जीवव्यपदेशमश्नुवन्त० । तथा चोचुः-चतुर्धातुकमिदं शरीरं, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति । (एवमाहंसु अवरे त्ति) अपरे बौद्धविशेषा एवमाहुरभिहितवन्त इति । क्वचित् " जाणगा " इति पाठः । तत्राप्ययमर्थः-जानका ज्ञानिनो वयं किलेत्यभिमानाग्निदग्धाः सन्त एवमाहुरिति सम्बन्धनीयम् । अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाक्षण एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सम्बन्धाभावादवसेयम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ७०५ पृष्ठ 'खणिय' शब्दे क्षणिकत्वं निराकृतम्) तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति । एवं च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी भूतेभ्यः कथञ्चिदन्य एव शरीरेण सहायोऽन्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि । तथा सहेतुकोऽपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति, तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपीति । आत्मनश्च शरीरव्यतिरिक्तस्य साधितत्वाच्चतुर्धातुकमात्रं शरीरमेवेदमित्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

चउपत्थ-चतुष्प्रस्थ-न० । चत्वारः प्रस्थाः समाहृताश्चतुष्प्रस्थम् । आढके, तोल्यत्वाचिन्तायां पञ्चाशत्पलेषु, ज्यो० २ पाहु० ।

चउपाल-चतुष्पाल-न० । 'चउपालका' ऽभिधानप्रहरणकोशे । " सूरियाभस्स देवस्स चउपाले णाम पहरणकोसे । " रा० ।

चउपुरिसपविभत्तगइ-चतुष्पुरुषप्रविभक्तगति-स्त्री० । चतुर्धा पुरुषाणां प्रविभक्तगतौ, प्रज्ञा० ।

से किं तं चउपुरिसपविभत्तगती ? । चउपुरिसपविभत्तगती से जहानामए चत्तारि पुरिसा समगं पज्जवट्ठिया समगं पट्ठिता, विसमं पट्ठिता विसमं पज्जवट्ठिया, सेत्तं चउपुरिसपविभत्तगती ।

चतुर्धा पुरुषाणां प्रविभक्तगतिः चतुष्पुरुषप्रविभक्तगतिः, तच्चतुर्धात्वम् " समगं पज्जवट्ठिया " इत्यादिना ज्ञेयम् । प्रज्ञा० १६ पद ।

चउप्पइया-चतुष्पादिका-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

चउपज्जाय-चतुष्पर्याय-त्रि० । चत्वारः पर्यायाः नामाकारद्रव्यभावलक्षणा यत्र तच्चतुष्पर्यायम् । नामादिचतुर्विधनिक्षेपनिक्षिप्ते, विशे० । ('निक्खेव' शब्देऽस्य व्याख्या द्रष्टव्या)

चउप्पमोयार-चतुष्प्रत्यवतार-त्रि० । चतुर्षु भेदश्चरणकालसम्बनानुप्रेक्षालक्षणेषु पदार्थेषु प्रत्यवतारः समवतारो विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुर्विधप्रत्यवतारम् । भ० २५ श० ए उ० । ग० । स्था० । " चउपडोयारं नाम एकेकं तत्थ चउव्विहं " नि० चू० ४ उ० ।

चउप्पद-चतुष्पद-पुं० । चत्वारि पदानि पादा येषां ते । स्था० १० ठा० । अश्वादौ, नि० चू० ३ उ० । चतुष्पदा दशधा-"गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य । घोडग गद्दभ हत्थी, चउप्पदा होंति दसधा उ ॥" नि० चू० २ उ० । एते प्रतीता नवरमश्वा वाह्लीकादिदेशोत्पन्ना जात्या अश्वाः, अश्वतरा वेगसरा अजात्या घोटकाः । ध० २ अधि० । आचा० । स० । आ० चू० । सूत्र० । विशे० । दश० । आव० । अनु० ।

चतुष्पदमाह-

गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य ।
घोडग गद्दह हत्थी, चउप्पयं होइ दसहा उ ॥ २१ ॥

गौर्महिषी उष्ट्री अजा एडका अश्वा अश्वतराश्च घोटका गर्दभा हस्तिनश्चतुष्पदं भवति दशधा तु । एते गवादयः प्रतीता एव, नवरमश्वा वाह्लिकादिदेशोत्पन्ना जात्या०, अश्वतरा वेगसरा अजात्या घोटका इति गाथार्थः । दश० ६ अ० ।

चउव्विहा चउप्पया पण्णत्ता । तं जहा एगखुरा दुखुरा गंमीपदा सणहपदा ।

चतुष्पदा स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः, एकः खुरः पादे पादे येषां ते एकखुरा अश्वादयः, एवं द्वौ खुरौ येषां ते तथा ते च गवादयः, गण्डी सुवर्णकारादीनामधिकरणी गण्डिका, तद्वत्पदानि येषां ते तथा ते हस्त्यादयः (सणहप्पय त्ति) सनखपदा नाखरा सिंहादय । स्था० ४ ठा० ४ उ० । स० । ववादिषु करणेषु नवमे करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "अमावासाए दिवा चउप्पय" अमावास्यायां दिवा चतुष्पदं करणम् । आ० म० प्र० । आ० चू० । विशे० ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिय-चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-पुं० । चत्वारि पदानि पादा येषां ते चतुष्पदास्ते च ते, स्थले चरन्तीति स्थलचराश्चेति चतुष्पदस्थलचरास्ते च ते पञ्चेन्द्रियाश्चेति विग्रह०, पुनास्तिर्यग्योनिकाश्चेति कर्मधारयः । स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदेषु, स्था० १० ठा० । सूत्र० । (एषामाहार 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ४७६ पृष्ठे उक्त०)

चउप्पयविहिपरिमाण-चतुष्पदविधिपरिमाण-त्रि० । चतुष्पदानामुपभोगपरिमाणे, उपा० १ अ० । ('आणद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्र रूपत्यम्)

चउप्पया-चतुष्पदा-स्त्री० । पौषीपूर्णिमायास्, चतुष्पदा पौरुषी स्यात् । चतुर्भिः पदैर्गम्यमाने दिनप्रहरे, उत्त० २६ अ० ।

चउप्पदी-चतुष्पदी-स्त्री० । स्थलचरतिर्यग्स्त्रीभेदे, " से किं तं चउप्पदीओ ? । चउप्पदीओ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-एगखुरीओ० जाव सणप्फईओ । " जी० २ प्रति० । चतुश्चरणात्मके पद्ये, वाच० ।

चउप्पुडय-चतुष्पुटक-न० । चतुर्भिः पुटकैरुपेते, " सयमेव चउप्पुडय दारुमय । " भ० ३ श० २ उ० ।

चउव्वग्ग-चतुर्वर्ग-पुं० । चतुर्णां वर्गः, आचा० २ श्रु० २ चू० । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गः समुदायः । धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्षु पुरुषार्थेषु, वाच० ।

—

चउन्भाग-चतुर्भाग-पुं० । पादे, चतुर्थांशे,स्था० ३ ठा० ४ उ०।

चउन्भुय-चतुर्भुज-पुं० । चत्वारो भुजा हस्ता अस्य । नारायणे, वाच० । "दहूण तओ जणणी, चउन्भुयपुत्तमब्भुयमणग्घ " ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

चउभंग-पुं०-चतुर्भङ्ग-स्त्री०।न०। चत्वारो भङ्गा.समाहृताश्चतुर्भङ्गी, चतुर्भङ्ग वा, पुंल्लिङ्गता चात्र प्राकृतत्वात् । चतुर्षु भङ्गेषु "सुद्धे णामं एगे सुद्धे, सुद्धे णाम एगे असुद्धे, असुद्धे णाम एगे सुद्धे, असुद्धे णामं एगे असुद्धे चउभगो" स्था० ४ ठा० १ उ० ।

चउभाइया-चतुर्भागिका-स्त्री० । माणिकायाश्चतुर्भागवर्तित्वात् चतुष्पष्टिपलमाना चतुर्भागिका । माणिकायाश्चतुर्भागवर्तिनि रसमानविशेषे, अनु० ।

चउमाट्टिया-चतुर्मृत्तिका-स्त्री० । चैलेन कुट्टितायां मृत्तिकायाम्, "चेलेण सह मट्टिया कुट्टिया चउमट्टिया" । नि० चू० १८ उ० ।

चउमुट्ठिलोय-चतुर्मुष्टिलोच-पुं० । चतुर्मुष्टिकलोचे, कल्प० ।

असोगवरपायवस्स अहे० जाव सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ । करेइत्ता छट्ठेणं जत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उग्गाणं भोगाणं राइआणं खत्तियाणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥ २११ ॥

अशोकवरवृक्षस्य अधः० यावत् आत्मनैव चतुर्मौष्टिकं लोचं करोति, चतसृभिर्मुष्टिभिर्लोचे कृते सति अवशिष्टाम् एकां मुष्टिं सुवर्णवर्णयोः स्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं कनककलशोपरिविराजमानां नीलकमलमालामिव विलोक्य हृष्टचित्तस्य शक्रस्य आग्रहेण रक्षितवान् " छट्ठेण " इत्यादि सुगमम् ॥२११॥ कल्प० ७ क्षण० ।

चउमुह-चतुर्मुख-पुं० चत्वारि मुखान्यस्य । चतुरानने वेधसि, चतुर्द्वारे गृहे, न०। चतुर्षु मुखेषु, त्रि० औषधभेदे, पुं० वाच०। चतुर्मुखे पथि, यस्माच्चतुर्ष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति । आ० म० प्र० । जी० । चतुर्द्वारे देवकुलादौ, औ० । भ० । कल्प० । स्था० । आचा० । अनु० । ज्ञा० । स्वनामख्याते पाटलिपुत्रस्य राज्ञि, " एं एय च नयरं, पाडलिपुत्तं तु विस्सुयं लोए । एत्थं होई राया, चउम्मुहो नाम नामेण ॥ " ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

चउपाह-चतुरह-न० । दिनचतुष्टये, आचा० २ श्रु०२ अ०१उ०।

चउर-चतुर-त्रि० । ब० व० चत् उरन् । चतुःसंख्यायाम्, चतुःसंख्यासमन्विते च ।

चतुरशब्दस्य निक्षेपः-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण भावे य ।
निक्खेवो य चउण्हं, गणणासंखाए अहिगारो ॥ उत्त० ३ अ० ।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्ये विचार्ये सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्याणि चतुःसंख्यतया विवक्षितानि, क्षेत्रे चतुःसंख्यापरिच्छिन्ना आकाशदेशा यत्र वा चत्वारो विचार्यन्ते, काले च चत्वारः समयावलिकादयः कालभेदाः यदा चामी व्याख्यायन्ते गणनायां चत्वार एको द्वौ त्रयश्चत्वार इत्यादि, गणनाऽन्तःपातिन , भावे चत्वारो मानुषत्वादयोऽभिधास्यमाना भावा । एषां मध्ये केनाधिकारः ?, उच्यते-गणनासंख्ययाऽधिकारः। किमुक्तं भवति ?-गणना चतुर्भिरधिकारस्तैरेव वक्ष्यमाणानामङ्गानां गण्यमानतया तेषामेवोपयोगित्वादिति गाथार्थः॥ उत्त०३ अ०। "चउरंगुलसुप्पमाणकबुवरसरिसग्गीवा" चतुरङ्गुललक्षणं सुष्ठु प्रमाणं यस्याः सा तथाविधकम्बुवरसदृशी चान्नततया वलित्रययोगाच्च प्रधानशङ्खसदृशी ग्रीवा कण्ठो यस्य तथा । जी० ३ प्रति० । पुं० । वक्रगतौ, हस्तिशालायां च । कार्यदक्षे, आलस्यहीने, निपुणे च । त्रि० । नायकभेदे, पुं० । चतुर-अर्श० अच् । चतुःसंख्याविशिष्टे, त्रि० वाच० । " केसी गायइ महुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च । केसी गायइ चउरं, केसि विलंब दुतं केसी ॥ " स्था० ७ ठा० ।

चउरंग-चतुरङ्ग-न० । चत्वारि चतुर्गुणितानि (उत्त० ३ अ०) अङ्गानि मनुष्यादिभावाङ्गानि, (उत्त० ४ अ०) तेषां समाहारः मानुष्यधर्मश्रुतिश्रद्धानपःसंयमवीर्यचतुष्टयरूपे, व्य० ३ उ० । मोक्षोपायसाधने, उत्त० ३२ अ० ।

नासेती अगीतो, चउरंगं सव्वलोयसारंगं ।
नट्ठम्मि य चउरंगे, न हु सुलहं होइ चउरंगं ॥

अगीतार्थो निर्यापकः, तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य चतुरङ्गं चतुर्णामङ्गानां समाहारः चतुरङ्गम्, कथभूतमित्याह-सर्वलोकसाराङ्गम् । अङ्गशब्द प्रधानमित्यनर्थान्तरम्, सर्वेषामपि त्रयाणामपि लोकाना यानि अङ्गानि तेषां सारमिति । विशिष्टमङ्ग प्रधान सर्वलोकसाराङ्गीणचतुरङ्गेन पुनः सुलभप्रायं भवति चतुरङ्गम्, किं तु चुल्लकादिदृष्टान्तैरतिशयेन दुष्प्राप्य, ततोऽगीतस्य समीपे भक्तं न प्रत्याख्येयम् ॥

किं पुण तं चउरंगं, जं नट्ठ दुल्लभं पुणो होइ ।
माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तवसंजमे विरियं ॥

किं पुनस्तत् चतुरङ्गं यद् नष्टं सत् पुनर्दुर्लभं भवति । सूरिराह-मानुष्य मानुषत्वं, धर्मश्रुतिः धर्मश्रवणं, श्रद्धा,तपसि संयमे च वीर्यमिति । व्य० १ उ० । अङ्ग० । आ० म० । उत्त० ।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥ १॥

" चत्तारि " इत्यादि । चत्वारि चतुःसंख्यानि, परमाणि च तानि अत्यासन्नोपकारित्वेन अङ्गानि च मुक्तिकारणत्वेन परमाङ्गानि परमङ्गानि, दुर्लभानि दुःखेन लभ्यन्त इति कृत्वा दुष्प्राप्याणि, इहास्मिन् संसारे, कस्य ?, जायत इति जन्तुस्तस्य,देहिन इत्यर्थः । पठ्यते च-देहिन इति । कानि पुनस्तानि?, मनसि शेते मानुषोऽथवा मनोरपत्यमिति वाक्ये "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ।"।४।१।१६१। इति अञ्प्रत्यये षुगागमे च मानुषत्वं मनुजभावः, श्रवणं श्रुतिः, सा चार्थप्रकरणादिभ्यः सामान्यशब्दा अपि विशेषेऽवतिष्ठन्ते इति न्यायाद्धर्मविषया, श्रद्धाऽपि तत एव धर्मविषया, संयमे आश्रवविरमणाद्यात्मनि, चः समुच्चये, भिन्नक्रमः, ततो विशेषेणेरयति प्रवर्तयति आत्मानं तासु तासु क्रियास्विति वीर्यं च सामर्थ्यं विशेषम् इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

तत्र मानुषत्वं दुर्लभं तद्दर्शयितुमाह-

समावन्ना ण संसारे, णाणागोत्तासु जाइसु ।

कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥ २ ॥

समन्तादापन्ना' प्राप्ता' समापन्नाः । 'ण' इतिवाक्यालङ्कारे। केत्याह-संसारे, तत्रापि क्व, नानेत्यनेकार्थो,गोत्रशब्दश्च नामपर्याय·, ततो नानागोत्रास्वनेकाभिधानासु जायन्ते जन्तव आस्विति जातयः क्षत्रियाद्या', तासु । अथवा-जननानि जातयः, ततो जातिषु क्षत्रियादिजन्मसु नानाहीनमध्यमोत्तमभेदेनानेक गोत्र यासु तास्तथा तासु। अत्र हेतुमाह-क्रियन्त इति कर्माणि,ज्ञानावरणादीनि, नानाविधानि अनेकप्रकाराणि, कृत्वा निर्वर्त्य, (पुढो त्ति) पृथक्२ भेदेन। किमुक्तं भवति ?, एकैकशः(विस्सभिय त्ति) विशेरलाक्षणिकत्वात् विश्व जगद् बिभ्रति पूरयन्ति क्वचित् कदाचिदुत्पत्त्या सर्वजगद्व्यापनेन विश्वभृतः । उक्तं च-" णत्थि किर सो पएसो, लोए वालग्गकोडिमत्तो वि । जम्मणमरणावाहा, जत्थ जिएहिं न संपत्ता" ॥१॥ इदमुक्त भवति-अवाप्यापि मानुषत्वं स्वकृतविचित्रकर्मानुभावत· पृथग्गतिभागिन्य एव भवन्ति, का ?, प्रजा जनसमूहरूपाः, तदनेन प्राप्तमनुष्यत्वानामपि कर्मवशाद्विविधगतिगमन मनुष्यत्व दुर्लभहेतुरुक्तः । यद्वा-संसारे कर्माणि नानाविधानि कृत्वा पृथगिति भिन्नासु नानागोत्रास्वनेककुलकोट्युपलक्षितासु जातिषु देवाद्युत्पत्तिरूपासु समापन्ना· संप्राप्ताः,वर्त्तन्त इति गम्यते। 'ण" इति प्राग्वदविश्रम्भिताः सञ्जातविश्रम्भा· सत्य', प्रक्रमात्कर्मस्वेव तद्विपाकदारुणत्वापरिज्ञानात्। का·?-प्रजायन्ते इति प्रजाः प्राणिन इति सम्बन्धः। तदनेन प्राणिनां विविधदेवादिभवभवनं मूलत एव मनुजत्वदुर्लभत्वे कारणमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह-

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिँ गच्छइ ॥ ३ ॥

(एकदेति) एकस्मिन् शुभकर्मानुभवकाले दीव्यन्ति देवाः, तेषां लोका उत्पत्तिस्थानानि देवगत्यादिपुण्यप्रकृत्युदयविषयतया लोक्यन्ते इति कृत्वा तेषु देवलोकेषु,नरान् कायन्ति योग्यतयाऽऽह्वयन्तीति नरका , तेषु रत्नप्रभादिषु नारकोत्पत्तिस्थानेषु, अपिशब्दस्य चार्थत्वात् तेषु चैकदा अशुभानुभवकाले, तथैकदा तथाविधभावनाभाविनान्न करणावसरे, असुराणामयमासुरस्तमसुरसम्बन्धिनं, चीयत इति काय·, निकायमित्यर्थः। बालतप·प्रभृतिरपि तत्प्राप्तिरिति दर्शनार्थं देवलोकोपादानेऽपि पुनरासुरकायग्रहणम । अथवा-देवलोकशब्दस्य सौधर्म्मादिषु रूढत्वात्तदुपादानमुपरितनदेवोपलक्षणमिदं चाधस्त्यदेवोपलक्षणमिति न पौनरुक्त्यम (आहाकम्मेहिं ति)आधानमाधा करणमित्यर्थः। तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्म्माणि, तैः। किमुक्त भवति ?-स्वय विहितैरेव सरागसंयममहारम्भासुरभावनादिभिर्देवनारकासुरगतिहेतुभिः क्रियाविशेषैर्यथाकर्म्मभिर्वा तत्तद्गत्यनुरूपचेष्टितैर्गच्छन्ति यान्ति । इति सूत्रार्थ· ॥ ३ ॥

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडालवोक्कसो ।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथुपिपीलिया ॥ ४ ॥

(एकदेति) मनुष्यजन्मानुरूपकर्मप्रकृत्युदयकाले, (खत्तिय त्ति) ' क्षण ' हिंसायाम । क्षणनानि क्षतानि, तेभ्यस्त्रायत इति क्षत्रियो राजा भवति; तत इति तदनन्तरं तस्मो वा प्राणी चण्डाल· प्रतीतः । यदि वा-शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातश्चण्डाल·, " वोक्कसो " वर्णान्तरभेदः । तथा च वृद्धाः- " बंभणसुद्दीओ जाओ निसातो त्ति वुच्चति , बंभणेण वेसीए जाओ अंबट्ठो त्ति वुच्चति, तत्थ निसाएण जो अंबट्ठीए जाओ सो बोक्कसो भण्णति ।" इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातय', चण्डालग्रहणान्नीचजातयः, "बोक्कस" ग्रहणाच्च सङ्कीर्णजातय उपलक्षिता',ततः मानुषत्वादुच्युत्येति शेष·, कीटः प्रतीतः, पतङ्ग· शलभः च·समुच्चये, ततस्तको वा (कुंथुपिपीलिक त्ति) चशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्कुन्थुः पिपीलिका च, भवतीति सर्वत्र सबध्यते। शेषतिर्यग्भेदोपलक्षण चैतदिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

किमित्थं पर्यटन्तस्ते निर्विद्यन्ते , न वेत्याह-

एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा ।
न निव्विज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु य खत्तिया ॥ ५ ॥
कम्मसंगेहिँ संमूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो ॥ ६ ॥

एवममुनोक्तन्यायेन,आवर्तनमावर्त· परिवर्त्त इति योऽर्थो युवन्ति मिश्रीभवन्ति कार्मणशरीरिण औदारिकादिशरीरैरासु जन्तवो युवन्ते सेवन्ते ता इति वा योनय आवर्तोपलक्षिता योनयस्तासु,प्राणिनो जन्तवः, कर्मणोक्तरूपेण,किल्बिषा अधमा· कर्मकिल्बिषा , प्राकृतत्वाद्वा पूर्वापरनिपातः। किल्बिषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्बिषकर्माणो न निर्विद्यन्ते कदैतद्विमुक्तिरिति नोद्विजन्ते, क्व आवर्तयोनय इत्याह-संसारे भवे,केऽिव के न निर्विद्यन्ते इत्याह-सर्वे च तेऽर्थाश्च मनोज्ञशब्दादयो , धनकनकादयो वा सर्वार्थास्तेष्विव, क्षत्रिया राजान'। किमुक्त भवति ?-यथा मनोज्ञान् शब्दादीन् भुञ्जानानां तेषां तदर्थोऽभिवर्धते, एव तासु योनिषु पुनरुत्पत्त्या कलङ्कलीभावमनुभवतामपि भवाभिनन्दिनां प्राणिनामिति; कथमन्यथा न तत्प्रतिघातार्थमुद्यच्छेयुरिति भाव·। पाठान्तरं वा-"सव्वट्ठ इव खत्तिय त्ति" इवो भिन्नक्रमः, ततः सर्वै· शयनादिभिरर्थैः प्रयोजनमस्येति सर्वार्थ , क्षत्रियः, स चार्थाद्भ्रष्टराज्यः, तद्यतो यथाऽसौ न निर्विद्यते अर्थात्सर्वार्थान्प्रार्थयमान , तथैतेऽपि प्राणिनः सुखान्यभिलषन्तः,अनिर्विद्यमानाश्च कर्मभिर्ज्ञानावरणीयादिभिः सङ्गाः सम्बन्धाः कर्मसयोगास्तै·,यद्वा-कर्माण्युक्तरूपाणि, तत्क्रियाविशेषात्मकानि वा, तथा सज्यन्तेऽमीषु जन्तव इति सङ्गाः,शब्दादयोऽभिष्वङ्गविषयाः,त एव च कर्माणि च सङ्गाश्च कर्मसङ्गास्तैः, समिति भृशं,मूढाः वैचित्र्यमुपगताः संमूढा दुःखमसातात्मकं जातमेषामिति दुःखिताः । क दाचिन्मानसमेव स्यादत आह- बहुवेदना वेदना· शारीरव्यथा येषां ते तथा, मनुष्याणामिमा मानुष्याः, न तथाऽमानुष्यास्तासु नरकतिर्यगाभियोग्यादिदेवदुर्गतिसंबन्धिनीषु , योनिष्वभिहितरूपासु, विहन्यन्ते विशेषेण निपात्यन्तेऽर्थात् कर्मभि· कोऽर्थो न तत उत्तार लभन्ते, प्राणिनो जन्तव',तदनेन सत्यप्यावर्ते निर्वेदाभावात्कर्मसङ्गसंस्तवात् दुःखहेतुर्नरकादिगत्यनुत्तरणेन प्राणिनो मनुजत्वं न लभन्त इत्युक्तमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

कथ तर्हि तदवाप्तिरित्याह-

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥ ७ ॥

कर्मणां मनुजगतिनिबन्धकानां, तुः पूर्वस्माद्विशेषद्योतकः,

ए त्ति प्रकृष्टं हानमपगमः प्रहाणं, तस्यायो लाभः प्रहाणायः, तस्मिन् । यद्वा-सूत्रत्वात्प्रहाणौ प्रहाण्या वा तद्विघातकानन्तानुबन्ध्यादिकर्म्मसु प्रक्षीणेषु कुतश्चिदीश्वरानुग्रहादेस्तदप्राप्तेः, अन्यथा हि तद्वैफल्यापत्तेः । अनेन-"अज्ञो जन्तुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्,स्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ।" ॥१॥ इत्यपास्तं भवति । अथ कथं पुनस्तेषां प्रहाणिरित्याह-आनुपूर्व्या क्रमेण, न तु झगित्येव, तयाऽपि (कयाइ उ त्ति) तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्कदाचिदेव, न सर्वदा, जीवाः प्राणिनः-शुद्धिं क्लिष्टकर्म्मविगमात्मिकाम 'अनु' तद्विघातिकर्म्मापगमस्य, पश्चात्प्राप्ताः, आददते स्वीकुर्वन्ति मनुष्यताम् । पाठान्तरतः (आजायते मणुस्सय ति) सुप्प्रत्ययात् मनुष्यतायां तदैव तन्निबन्धकमनुजगत्यादिकर्म्मोदयादिति भावः । अनेन मनुजत्वानिबन्धककर्मापगमस्य तथाविधकालादिसव्यपेक्षत्वेन दुरापतया मनुष्यत्वदुर्लभत्वमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

कदाचिदेतदवाप्तौ श्रुतिः सुलभैव स्यादत आह-

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥ ८ ॥

(माणुस्सं ति) सूत्रत्वान्मानुष्यकं मनुष्यसम्बन्धिनं विशेषणं गृह्यते, आत्मना कर्म्मपरतन्त्रेणेति विग्रहः । तं मनुजगत्याद्युपलक्षितमौदारिकशरीरम्, (लद्धुं ति) अपेर्गम्यमानत्वाल्लब्ध्वाऽपि श्रुतिराकर्णनं कस्य धारयति, दुर्गतौ निपततो जीवानिति धर्मः ।

तथा च वाचकः-

"प्राग्लोकविन्दुसारे, सर्वाक्षरसन्निपातपरिपठितः ।
धृञ् धारणार्थो धातु-स्तदर्थयोगाद्भवति धर्म्मः ॥ १ ॥
दुर्गतिभयप्रपाते, पतन्तमभयकरदुर्लभप्राणे ।
सम्यक्त्वचरितो यस्माद्, धारयति ततः स्मृतो धर्मः ॥ २ ॥"

तस्यैवमन्वर्थनाम्नो धर्मस्य दुर्लभा दुरापा प्रागुक्ताऽऽलस्यादिहेतुतः । स च-"मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ।" ॥ इत्यादि सुगतादिकल्पितोऽपि स्यादतस्तदपोहायाऽऽह-यं धर्मं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते अङ्गीकुर्वन्ति तपोऽनशनादि द्वादशविधं, क्षान्तिं क्रोधजयलक्षणं मानादिजयोपलक्षणं चैषा अहिंसयनिअहिंस्रतामहिंसनशीलतामनेन च प्रथमव्रतमुक्तमेतच्च शेषव्रतोपलक्षणम्, एतत्प्रधानत्वाच्चेषाम्, एतत्तुल्यानि हि शेषव्रतान्येव च तपसः क्षान्त्यादिचतुष्कस्य महाव्रतपञ्चकस्य चाभिधानाद्दशविधस्यापि यतिधर्म्मस्याभिधानमिह च यद्यपि श्रुते शब्दप्राधान्यं तथापि तत्त्वतो धर्म्म एव प्रधानं, तस्या अपि तदर्थत्वादिति, स एव यच्छब्देन परामृश्यते । अथ च काक्वा नीयते यस्मात् श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते तपःप्रभृतिना श्रुत्वा "सोच्चा जाणति कल्लाणं, सोच्चा जाणति पावगं" इत्यागमात् तत एवमतिमहार्थतया दुरापेयमिति सूत्रार्थः ॥८॥

श्रुत्यवाप्तावपि श्रद्धादुर्लभतामाह-

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥ ९ ॥

(आहच्चेति) कदाचित् श्रवणं धर्मधर्म्माकर्णनम्, उपलक्षणत्वान्मनुष्यत्वं च, लब्ध्वेति, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् लब्ध्वाऽप्यवाप्याऽपि, श्रद्धा रुचिरूपा, धर्मधर्म्मविषयैव, परमदुर्लभाऽतिशयदुरापा । कुतः पुनः परमदुर्लभत्वमस्या इत्याह-श्रुत्वाऽऽकर्ण्य, न्यायेन चरति प्रवर्त्तते नैयायिको, न्यायोपपन्न इत्यर्थः । स च मार्गं सम्यग्दर्शनाद्यात्मकं मुक्तिपथं प्राप्तमपि, बहवो नैके एव, परीति सर्वप्रकारम् (भस्सइ त्ति) भ्रस्यन्ति च्यवन्ते, प्रक्रमान्नैयायिकमार्गादेव, यथा यमालिप्रभृतयो, यच्च प्राप्तमप्यपैति तच्चिन्तामणिवत्परमदुर्लभमेवेति भावः । इहैव केचिन्निह्नववक्तव्यतां व्याख्यातवन्तः, उचितं चैतदप्याम्ते इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

एतत् त्रयावाप्तावपि संयमवीर्यदुर्लभत्वमाह-

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए ॥१०॥

श्रुतिं, चशब्दान्मनुष्यत्वम्, (लद्धु ति) प्राग्लब्ध्वाऽपि, श्रद्धां च वीर्यं प्रक्रमात्संयमविषयं, पुनःशब्दस्य विशेषत्वात् विशेषेण दुर्लभम्, यतो बहवो नैके एव रोचमाना अपि न केवलं प्राप्तमनुष्यत्वा शृण्वन्तो वेत्यपिशब्दार्थः । श्रद्दधाना अपि, (नो चेति) चशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे । अथवा-(णो य ण इति) सूत्रत्वात् (नोयण पडिवज्जइ इति) तत एव प्रतिपद्यन्ते । चारित्रमोहनीयकर्मोदयन सत्यकिश्रेणिकादिवन्न कर्तुमभ्युपगच्छन्ति इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

सम्प्रति दुर्लभस्यास्य चतुरङ्गस्य फलमाह-

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥ ११ ॥

मानुषत्वे मनुजत्वे आयात आगतः, किमुक्तं भवति ?-मानुषत्वं प्राप्तो य इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो, य एव कश्चिद्धर्म्मं श्रुत्वा (सद्दहे त्ति) श्रद्धत्ते रोचते, (तवस्सि त्ति) दानादिविरहिततया प्रशस्यतपोऽन्वितः, कथं, वीर्यं संयमोद्योगं लब्ध्वा संवृतः स्थगितसमस्ताश्रवः । स किमित्याह (निद्धुणे त्ति) निर्द्धुनोति नितरामपनयति, रज्यते स्वच्छस्फटिकवच्छुद्धस्वभावोऽप्यात्माऽन्यथात्वमापद्यत इति रजः कर्म्म वध्यमानकं बद्धं च तदपनयाच्च मुक्तिमाप्नोति इति भावः । उभयत्र "लिप्स्यमानसिद्धौ च" ५।३।१०। इति (हैम०) वा लट् । इह च श्रद्धानेन सम्यक्त्वमुक्तं, तेन च ज्ञानमाक्षिप्तं, दीपप्रकाशयोरिव युगपदुत्पादात्तयोः, तथा च "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति न विरुध्यत इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

इत्यमामुष्मिकं फलमुक्तमिदानीमिहैव फलमाह-

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए ॥ १२ ॥

शुद्धिः कषायकालुष्यापगमो, भवतीति गम्यते । ऋजुकभूतस्य चतुरङ्गप्राप्त्या मुक्तिं प्रति प्रगुणीभूतस्य, तथा च धर्म्मः क्षान्त्यादिः, शुद्धस्य शुद्धिं प्राप्तस्य तिष्ठत्यविचालिततयाऽऽस्ते इति । अशुद्धस्य तु कदाचित् कषायोदयात्तद्विचलनमपि स्यादित्याशयः, तदवस्थितौ च निर्वाणं निर्वृतिः, स्वास्थ्यमित्यर्थं । परमं प्रकृष्टम्, "एगमासपरियाए समणे वंतरियाण तेयलेसं वीईवयति" इत्याद्यागमेनोक्तं नैवास्ते, राजराजस्य तत्सुखमित्यादिना च वाचकवचनेनानूदितं, याति प्राप्नोति, क इव [घयसित्ते व त्ति) इवस्य भिन्नक्रमत्वात्, घृतेन सिक्तो घृतसिक्तः, पुनातीति पावकोऽग्निर्लोकप्रसिद्ध्या, समयप्रसिद्ध्या तु पापहेतुत्वा-

त्पापकः तद्वत् स च न तथा तृणादिभिर्दीप्यते यथा घृतेनेति,अस्य घृतसिक्तस्य निर्वृतिरनुगीयते। ततः सविशेषणस्यास्य दृष्टान्तत्वेनाभिधानामिति भावनीयम्। यद्वा-निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिं याति "निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानां विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानामिति" वचनात् । कथंभूतः सन् घृतसिक्तपावक इव तपस्तेजसोज्ज्वलितत्वेन घृततर्पिताग्निसमान इति सूत्रार्थः । पठन्ति च नागार्जुनीयाः-"चउक्का सपयं लद्धुं, इहेव ताव भायते। तेयते तेजसपन्ने, घयसित्ते व्व पावए त्ति"॥१॥ तत्र च-चतुर्द्धा चतुःप्रकारां संपद सपरिप्रक्रमान्मनुष्यत्वादिविषयां लब्ध्वा, इहैव लोके तावत्, आस्तां परत्र, भाजते ज्ञानश्रिया शोभते,तेजते दीप्यते तेजसा अर्थात्तपोजनितेन संपन्नो युक्तस्तेजः संपन्नशेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

इत्यमामुष्मिकमैहिकं च फलमुपदर्श्य शिष्योपदेशमाह--

विगिं च कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए ।

पाढवं सरीर हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ १३ ॥

(विगिं च त्ति) पृथक् कुरु, कर्मणः प्रस्तावात् मानुषत्वादिनिबन्धकस्य हेतुम् उपादानकारणं मिथ्यात्वाविरत्यादिकम् । तथा-यशोहेतुत्वाद्यशः संयमो विनयो वा यदुक्तम्-"एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो। जेण कित्तिसुय सिग्घ, णीसेस चाभिगच्छइ"इति । ततसंचिणु भृशमुपचितं कुरु,कया? क्षान्त्या उपलक्षणत्वान्मार्दवादिभिश्च, ततः किं स्यादित्याह-(पाढवति) पार्थिवमिव पार्थिवं शीतोष्णादिपरीषहसहिष्णुतया समदुःखसुखतया च पृथिव्यामिव भवम् पृथिवी हि सर्वसहा कारणानुरूपं च कार्यमिति भावः । यदि वा-पृथिव्या विकारः पार्थिवः स चेह शैलः ततश्च शैलेशीप्राप्त्यापेक्षया अतिनिश्चलतया शैलोपमत्वादागमप्रसिद्ध्या वा पार्थिवं शरीरं तनुं हित्वा त्यक्त्वा ऊर्द्ध्वदिशमिति सम्बन्धः प्रक्रामति प्रकर्षेण गच्छति । येन भवानित्युपस्कारः यद्वा-सोपस्कारत्वात् सूत्राणामेव नीयते एवं कुर्वन् भव्यजन्तुरूर्ध्वं दिशं प्रक्रामति । ततस्त्वमतिदृढचेता इत्थमित्थं च कुरु इत्युपादिश्यते । 'प्रक्रामतीति च' वर्तमानसामीप्येन निर्देश आसन्नफलप्राप्तिसूचक इति सूत्रार्थः॥१३॥

इत्थं येषां तद्भव एव मुक्त्यवाप्तिस्तान् प्रत्युक्तम् । येषां तु न तथा तान् प्रत्याह-

विसालसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तरउत्तरा ।

महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥ १४ ॥

अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो ।

उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वावाससया बहू ॥ १५ ॥

मागधदेशीयभाषया विसदृशैश्च स्वचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमापेक्षया विभिन्नैः शीलैर्व्रतपालनात्मकैरनुष्ठानविशेषैः किं इज्यन्ते पूज्यन्त इति यक्षाः, यान्ति वा तथाविधर्द्धिसमुदयेऽपि क्षयमिति यक्षाः ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति इत्युत्तरेण सम्बन्धः। उत्तरोत्तरा उत्तरोत्तरविमानवासिनः उत्तरो वा उपरितनस्थानवर्त्युत्तरः प्रधानो येषु ते अमी उत्तरोत्तरा महाशुक्ला अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादय. ते इव दीप्यमानाः प्रकाशमानाः अनेन च शरीरसपद्युक्ता । सुखसंपदमाह-मन्यमाना मनस्यवधारयन्तः शब्दादिविषयाणामिसमुत्पन्नरतिसागरावगाढतया अतिदीर्घस्थितितया वा किं न पुनश्च्यवनम् अपुनश्च्यवः तमर्थतिर्यगादिपूत्पत्त्यभावम् । यदुक्तम्-"मन्यमाना अपुनश्च्यवनमिति"॥१४॥ सूत्रोक्तमेव हेतुं सूत्रकृदाह-'अप्पिये'त्यादिना । अर्पिता. प्राकृतसुकृतेन ढौकिता इव केषां काम्यन्तेऽभिलष्यन्त इति कामाः देवानां कामाः देवकामा दिव्याङ्गनास्पर्शादयः। कामरूपम् (विउव्विणो त्ति) सूत्रत्वात् कामरूपविकरणा यथेप्सरूपाभिनिर्वर्तनशक्तिमन्विता. । कुर्वन्ति हि ते उत्तरवैक्रियाणि समवसरणागमनादिषु तथा तथेति येऽपि प्रयोजनाभावान्न कुर्वन्ति तेषामपि शक्तिरस्त्येवेत्येवमुच्यते । ऊर्द्ध्वं कल्पोपरिवर्त्तिषु ग्रैवेयकेषु अनुत्तरविमानेषु च कल्पेषु सौधर्मादिषु, यदि वा-ऊर्द्ध्वं उपरि कल्पन्ते विशिष्टपुण्यभाजामवस्थितेविषयतयेति, सौधर्मादयो ग्रैवेयकादयश्च सर्वेऽपि कल्पा एव तेषु तिष्ठन्ति आयुःस्थितिमनुपालयन्ति पूर्वाणि वर्षसप्ततिकोटिलक्षषट्पञ्चाशत्कोटिसहस्रपरिमितानि बहूनि, जघन्यतोऽपि पल्योपमस्थितित्वात् तत्राऽपि च तेषामसंख्येयानामेव सम्भवात् । एवं वर्षशतान्यपि बहूनि पूर्ववर्षशतायुपमेय चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमितिख्यापनार्थमित्युपन्यास इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

ततःकिमेषामेतावदेव फलमित्याशङ्क्य आह-

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।

उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए ॥१६॥

तत्र तेषु उक्तरूपोत्पत्तिस्थानेषु स्थित्वेत्यासित्वा यथास्थानमिति यद् यस्य स्थानुरूपमिन्द्रादिपदं तस्मिन् यक्षा आयुःक्षये स्वस्वजीवितावसाने च्युताः भ्रष्टाः (उवेंति त्ति) उपयन्ति मानुषाणामियं मानुषी ता योनिमुत्पत्तिस्थानम्। तत्र च "से" इति स सावशेषकुशलकर्मा कश्चिज्जन्तुर्दशाङ्गानि भोगोपकरणानि वक्ष्यमाणान्यस्येति, दशाङ्गोऽभिजायते एकवचननिर्देशस्तु विविसदृशशीलतया कश्चिद्दशाङ्गः कश्चिन्नवाङ्गादिरपि जायत इति वैचित्र्यसूचनार्थः ॥ यद्वा-' से ' इति सूत्रत्वात् तेषां दशानामङ्गानां समाहारो दशाङ्गी प्राकृतत्वाच्च पुंसा निर्देशो जायते। उपभोग्यतयाऽभिमुख्येनोत्पद्यत इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

कानि पुनर्दशाङ्गानि इति?, आह-

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं ।

चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥ १७ ॥

मित्तवं नायवं होई, उच्चागोए य वण्णवं ।

अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥ १८ ॥

'क्षि' निवासगत्योः,क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रम् ग्रामारामादि सेतुकेतूभयात्मकं वा। तथा-वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु खातोच्छ्रितोभयात्मकं वा। हिरण्य सुवर्णम् । उपलक्षणत्वात् रूप्यादि च । पशवोऽश्वादयः। दास्यते दीयते एभ्य. इति दासाः पोष्यवर्गरूपास्ते च। (पोरुसं इति) सूत्रत्वात् पौरुषेयं च पदातिसमूहः दासपौरुषेयं चत्वारः चतुःसंख्या । अत्र हि क्षेत्रं वास्त्विति चैकं । हिरण्यमिति द्वितीयः। पशवः इति तृतीयः। दासपौरुषेयमिति चतुर्थः। एते किमित्याह-काम्यत्वात्कामा मनोज्ञशब्दादय. तद्धेतव. स्कन्धास्तत्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कन्धा यत्र भवन्ति इति गम्यते। प्राकृतत्वाच्च नपुंसकनिर्देशास्तत्र तेषु कुलेषु (से इति) स उत्पद्यते जायते अनेन चैकमङ्गमुक्तम्। शेषाणि तु नवाङ्गान्याह-मित्राणि सहपांशुक्रीडितादीनि सन्त्यस्येति मित्रवान्।ज्ञातय स्वजना. सन्त्यस्येति ज्ञातिमान् भवति। उच्चैर्गोत्रं इक्ष्वाक्वादिकुलेऽपि पूज्यतया गोत्रं कुलमस्येत्युच्चैर्गोत्रः च. समुच्चये। वर्णः

दुविहा पम्मत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । एएसिं णं एवमाइयाणं चउरिंदियाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं नवजाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्साइं भवंतीति मक्खायं । सेत्तं चउरिंदियसंसारसमावन्नजीवपमवणा ॥

"से किं तमित्यादि" । एतेऽपि चतुरिन्द्रिया लोकतः प्रत्येतव्याः। एतेषां च पर्याप्ताऽपर्याप्तानां सर्वसंख्यया जातिकुलकोटीनां नव लक्षा भवन्ति। शेषाक्षरगमनिका प्राग्वत्। उपसंहारमाह-"सेत्तं" इत्यादि । उक्ता चतुरिन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। प्रज्ञा० १ पद। स्था० । आचा० । प्रश्न० । जी० । भ० । उत्त० ।

चतुरिन्द्रियवक्तव्यतामाह-

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १४६ ॥
अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीमपयंगे य, ढिंकुणे कुकुणे तहा ॥ १४७ ॥
कुकुमे सिंगरीमीय, णंदावते य विंछिए ।
डोले य भिंगरीमी य, चिरली अच्छिवेहए ॥१४८ ॥
अच्छिले मागहे अच्छि, रोमए चित्तपत्तए ।
उहिंजालीय जलकारी, णीयया तंवगाइया ॥ १४९ ॥
इइ चउरिंदिया एए, णेगहा एवमाइया ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥१५० ॥
संतइ पप्पणाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१५१॥
छचेव य मासातो, उक्कोसेण वियाहिया ।
चउरिंदिय आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ १५२ ॥
संखेज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णया ।
चउरिंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १५३ ॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णियं ।
विजढम्मि सए काए, अंतरेयं वियाहियं ॥ १५४ ॥
एएसिं वमओ चेव, गंधतो रसफासओ ।
संठाणादेसओ वा वि, विहाणाई सहस्ससो ॥१५५ ॥

सूत्रदशकम् इदमपि तथैव चतुरिन्द्रियाभिलाप एव विशेषः। एतद्भेदाश्च केचिदतिप्रतीता एव । अन्ये तु तत्तद्देशप्रसिद्धितो विशिष्टसंप्रदायाच्चाभिधेयाः तथा-षडेव मासानुत्कृष्टेषां स्थितिरिति दशकार्थः । उत्त० ३६ अ० । स्था० । उत्त० । भ० । चतुरिन्द्रियाणां परिभोग 'परिभोग' शब्दे वक्ष्यामि)

चउवग्ग-चतुर्वर्ग-पुं०। धर्मार्थकाममोक्षसमुदाये,वाच०।"चउवग्गो वि हु च अत्थे,धराऽऽगतुग्गा उ पच्छति । वेत्थवाओ असत्थरे,मोत्तूण गिलाण सधामे"। चउवग्गो णाम-वत्थव्वा संजयासजतीतो वि: आगंतुगा संजया सजतीओ य। एते चउवग्गा । नि० चू० १५

चउविगप्प-चतुर्विकल्प-त्रि० । चतुष्प्रकारे, व्य० १ उ० ।

चउव्विह-चतुर्विध-त्रि० । चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा । चतुष्प्रकारे, स्था० ४ ठा० १ उ० । रा० ।

चउव्विहाहार-चतुर्विधाहार-पुं० । चतुर्विधाहारे, श्राद्धविधावशनादिचतुष्काधिकारे क्रिया । संभोगे चतुर्विधाहारो न प्रज्यते पालादीनामोष्ठादिदुम्बने तु प्रज्यते । द्विधाहारे तदपि कल्पते। अत्र प्रथम स्थाने मुखसंगमेऽपीति पदं नास्ति तर्हि पृच्छ्यतां श्राद्धानामपि मुखसंगमे त्रिचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानयोर्भङ्गोऽभङ्गो वेति प्रश्ने-उत्तरम् पालादीनामित्यत्रादिशब्दात् क्रिया अपि मुखसंगमे प्रज्यत इति ज्ञायते। २२५ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

चउवीस-चतुर्विंशति-स्त्री० । चतुर्भिरधिका विंशतिश्चतुर्विंशतिः । चतुर्भिरधिकायां विंशतिसंख्यायाम्, तत्संख्येये च । त्रि० । वाच० । आ० म० ।

तन्निक्षेपदर्शनार्थमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
चउवीसयस्स एसो, निक्खेवो छव्विहो होई ॥

(नामं) नामचतुर्विंशतिः, स्थापनाचतुर्विंशतिः, द्रव्यचतुर्विंशति', क्षेत्रचतुर्विंशतिर्जीवस्याजीवस्य वा यश्चतुर्विंशतिरिति नाम क्रियते। चतुर्विंशत्यक्षरावली वा स्थापनाचतुर्विंशतिः । चतुर्विंशतिशब्दस्य एषोऽनन्तरोदितो निक्षेपः षड्विधो भवति । तत्र नामचतुर्विंशतिः जीवस्य अजीवस्य वा । यच्च केषांचित् स्थापनाचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिद्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानि तत्र सचित्तानि द्विपदचतुष्पदापदाभिन्नानि । अचित्तानि कार्षापणादीनि । मिश्राणि द्विपदादीनि एव कटकाद्यलङ्कृतानि क्षेत्रचतुर्विंशतिर्विवक्षया चतुर्विंशतिक्षेत्राणि भरतादीनि क्षेत्रप्रदेशा वा चतुर्विंशतिः क्षेत्रचतुर्विंशतिः । कालचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः समयाः ? एतत्कालस्थितिर्वा द्रव्य कालचतुर्विंशतिः । भावचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिभावसंयोगाः चतुर्विंशतिगुणं कृष्णादिद्रव्यं वा सा च चतुर्विंशतिः । इह सचित्तद्विपदमनुष्यचतुर्विंशत्यधिकार इति गाथार्थः । आ० म० द्वि० ।

चउवीसत्थय-चतुर्विंशतिस्तव-पुं० । चतुर्विंशतितीर्थकराणां नामोत्कीर्तनपूर्वकगुणकीर्तने, अ० म० ।
नामनिष्पन्ने निक्षेपे चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनशब्दाः प्ररूपणीयाः ।

तथा चाह-

चउवीसगत्थयस्स उ, निक्खेवो होई नामनिप्फन्नो ।
चउवीसगस्स छक्को, थयस्स चउक्को होई ॥

चतुर्विंशतिस्तवस्य निक्षेपो नामनिष्पन्नो भवति। स चान्यथुगस्वाक्यमेव, यदुत चतुर्विंशतिस्तव इति तुशब्दो वाक्यभेदोपदर्शनार्थः । वाक्यभेदश्च अध्ययनान्तरवक्तव्यताया उपक्षेपादिति । तत्र चतुर्विंशतिशब्दस्य निक्षेप. षड्विधः स्तवशब्दस्य चतुर्विधः तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादध्ययनस्य च । एष गाथासमासार्थः । आ० म० द्वि० ।

तत्सूत्राणि-

लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउव्वीसं पि केवली ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या-तल्लक्षणं चेदम्-" संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधा" ॥१॥ तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता । सा च प्रतीता । अधुना पदानि लोकस्य उद्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान् अर्हतः

कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिन इति । अधुना पदार्थः- लोक्यते प्रमाणेन दृश्यते इति लोकः अयं चेह तावत्पञ्चास्तिका- यात्मको गृह्यते तस्य लोकस्य उद्योतकरणशीला उद्योतकरा- स्तान् केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाश- करणशीलानित्यर्थः । तस्मात् दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारय- तीति धर्मः । उक्तञ्च-" दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, तस्माद्धार- यते यत. । धत्ते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृत." ॥१॥ तीर्यते संसारसागरो अनेनेति तीर्थं धर्म्म एव, धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थं तत्करणशीला धर्मतीर्थकरास्तान् तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽष्टप्रकारकर्मजेतृत्वाज्जिना- स्तान् तथा अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तान् अर्हत. कीर्तयिष्यामि नामभिः स्तोष्ये । चतुर्विंशति- रिति संख्या अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः । केवलं ज्ञानमेषां विद्यते इति केवलिन तान् केवलिनः, इतिपदार्थः । पदविग्रहोऽपि यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु दर्शित एव । संप्रति चालनावसर -तत्र तिष्ठतु तावत् । सूत्रस्पर्शिकानयु- क्तिरेवोच्यते । स्वस्थानत्वात् । उक्तञ्च-" अक्खालियसंहियाइ, वक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि । सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति, विनिउ- त्तो इमो होइ ॥ " चालनामपि वाऽत्रैव वक्ष्याम. तत्र लोक- स्योद्योतकरानिति यदुक्तम् ॥१॥ आ० म० द्वि० ।

अधुना जिनादिप्रतिपादनार्थमाह—

जियकोहमाणमाया, जिअलोहा तेण जिणा होंति ।
अरिणो हन्ता रयं हंता, अरिहता तेण वुच्चंति ॥

जितक्रोधमानमाया जितलोभा येन कारणेन भगवन्तस्तेन कारणेन ते जिना भवन्ति । " अरिणो हंता " इत्यादि गाथादलं यथा नमस्कारनिर्युक्तौ व्याख्यातं तथैव द्रष्टव्यम् सांप्रतं कीर्तयिष्यामीत्यादिव्याचिख्यासुरिदमाह—(कित्त त्ति) प्राकृतत्वात् कीर्तयिष्यामि, नामभिर्गुणैश्च । किं भूतान्? कीर्तना- र्हान् स्ववार्हानित्यर्थ । कस्येत्यत्राह—सदेवमनुजासुरस्य लो- कस्य त्रैलोक्यस्येतिभावः । गुणानुपदर्शयति-दर्शनज्ञानचारि- त्राणि मोक्षकारणानि तत्रैकवचनं समाहारत्वात्तथा तपोवि- नयोऽत्र दर्शितो यैस्तत्र त एव कर्मविनयात्तपोनियमः ।

चउवीसं तिय संखा, उसभादीया य भण्णमाणा उ ।
अविसद्दगहणाओ, एरवयमहाविदेहेसु ॥

चतुर्विंशतिरिति संख्याते च ऋषभादिका भण्यमाणा एव वतु शब्द एवकारार्थः । अपिशब्दग्रहणात् पुनरैरावतमहाविदे- हेषु ये भगवन्तस्तद्ग्रहोऽपि वेदितव्य इहसूत्रे " तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश" इति न्यायादैरावतमहाविदेहाश्चेत्युक्तम् । (आ०म०) सांप्रतमत्रैव चालनाप्रत्यवस्थाने विशेषतो निदर्श्येते तत्र लोक- स्योद्योतकरानित्युक्तम् अत्राह- अशोभनमिदं यदुक्तं लोकस्येति लोको हि चतुर्दशरज्ज्वात्मकत्वेन परिमितः केवलोद्योतस्याप- रिमितो लोकालोकव्यापकत्वात् यद्वक्ष्यति-"केवलियनाणलंभो लोगोय पगासेई"। ततः सामान्यत उद्योतकरान् । यदि वा-लो- कस्यलोकयोरुद्योतकरानिति वाच्य न तु लोकस्येति तदयुक्तमभि प्रायापरिज्ञानात् । इहलोकशब्देन पञ्चास्तिकाया एव गृह्यन्ते तत आकाशास्तिकायभेद एव । लोक इति नाथ युक्त. नचैतद- नार्षं यत उक्तम्- 'पचत्थियकायमइओ लोगो" इत्यादि । अप- रस्त्वाह-लोकस्योद्योतकरानित्येतावदेव साधुधर्मतीर्थकराणि- ति न वक्तव्य गतार्थत्वात् । तथाहि-ये लोकस्योद्योतकरास्ते ध- र्मतीर्थकरा एवेति । उच्यते-इह लोकैकदेशोऽपि ग्रामैकदेशे ग्रा- मशब्दवत् लोकशब्दप्रवृत्तिदर्शनात् माभूत्तदुद्योतकरेष्ववधि- विभङ्गज्ञानिष्वर्कचन्द्रादिषु वाक्यसंप्रत्यय इति. तद्व्यपदेशार्थं धर्मतीर्थकरानित्युक्तम् । आह-यद्येव धर्मतीर्थकरानित्येतावदे- वास्तु लोकस्योद्योतकरानिति न वाच्यम्? उच्यते-इहलोके ये- ऽपि नद्यादिविषमस्थानेषु सुधिकया धर्मार्थमवतरणतीर्थकर- णशीलास्तेऽपि धर्म्मकरा भण्यन्ते । ततो माभूदिति मुग्धबुद्धी- नां संप्रत्यय इति तदपनोदाय लोकस्योद्योतकरानित्याह-अपर- स्त्वाह-जिनानित्यतिरिच्यते । तथाहि-यथोक्तप्रकारा जिना एव भवन्ति इति । उच्यते-"इह केषाञ्चिदिदं दर्शनम् "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य,कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि,भवं तीर्थनिकारत "इत्यादि । ततस्तन्मतपरिकल्पितेषु यथोक्तप्रकारे- षु माभूत्संप्रत्यय इति तद्व्यवच्छेदार्थमित्याह-जिनामता रागा दिजेतारस्ते तनयपरिकल्पिता जिना न भवन्तीति तीर्थनिका- रत' पुनरिह भवाङ्कुरोत्पादादन्यथा स न स्यात् । बीजाभावात् तथोक्तमन्यैरपि-

अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि ।
तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥ १ ॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुर. ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुर. " ॥ २ ॥

आह-यद्येव जिनानित्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकराणि- त्यादिव्यतिरिच्यते । उच्यते-इहप्रवचने सामान्यतो विशिष्ट- श्रुतधरादयोऽपि जिना उच्यन्ते । तद्यथा-श्रुतजिना' अवधिजि- ना., मन पर्यायज्ञानिजिना , छद्मस्थवीतरागाश्च । ततो माभूत्ते- षु संप्रत्यय इति तदपनोदाय लोकस्योद्योतकरानित्या- द्यप्यदुष्टम् । अपरस्त्वाह-अर्हत इति न वाच्यम् । खल्वन- न्तरोदितस्वरूपा अर्हद्व्यतिरेकेणापरे संभवन्ति । उच्यते- अर्हतामेव विशेष्यत्वान्न दोष । आह-यद्येवं तर्हि अर्हत इ- त्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि पुनरप्यनर्थकम् । न तस्य विशेषणत्वात् विशेषणसाफल्यस्य च प्रतिपादितत्वा- दिति । अपरस्त्वाह्-केवलिन इति न वाच्यम् यथोक्तस्वरूपा- णामर्हतां केवलित्वव्यभिचाराभावात् । "सति च व्यभिचारसं- भवे विशेषणोपादान फलवत " तथा चोक्तम्-"संभवे व्यभि। चाराद्विशेषणमर्थवद्भवति"। यथा नीलोत्पलमिति । व्यभिचाराभा- वे तु तदुपादीयमानमपि न कञ्चनार्थं पुष्णातीति । यथा-कृष्णो भ्रमर. शुक्ला बलाहका इति तस्मात् केवलिन इत्यतिरिच्यते ना- भिप्रायापरिज्ञानात् इहकेवलिन एव यथोक्तस्वरूपा अर्हन्तो नान्ये इति नियमादर्थत्वेन स्वरूपज्ञानार्थमिदं विशेषणमित्यनवद्यम् न खल्वेकान्ततो व्यभिचारसंभवे एव विशेषणोपादानं फलवत्, उभयपदव्यभिचारे एकपदव्यभिचारे यथानीलोत्पलमिति । ए- कपदव्यभिचारे-अब्द्रव्यं पृथिवीद्रव्यमिति । स्वरूपज्ञापने यथा परमाणुरप्रदेश इत्यादि । तस्मात् केवलिन इत्यदुष्टम् आह-यद्येवं केवलिन इत्येवं सुन्दरम् । शेष तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि किमर्थमिति । उच्यते-इह श्रुतकेवलिप्रभृतयोऽपि केवलिनो वि- द्यन्ते तन्मा भूत्तेषु संप्रत्यय इति तत्प्रतिक्षेपार्थं लोकस्योद्योत- करानित्याद्युक्तम् । एवं व्यादिसंयोगापेक्षया विचित्रनयमताभि- ज्ञेन स्वधिया विशेषणसाफल्य वाच्यमिति । (आ०म०द्वि०) सं- प्रति विमल. । विगतमलो विमल. ज्ञानादियोगाद्वा विमल तत्र सर्वेऽपि भगवन्त इत्थंभूता इतो विशेषमाह-"विमलतणू ना-

इद्ध गब्भगतो मातुए सरीर उ। बुद्धी य अतिविमला, जाओ तेण विमलो त्ति"। इदाणि अणतो-तत्रानन्तकर्म्मांशयादनन्तः अनन्तानि वा ज्ञानादीन्यस्येति सर्वे हि "विऊ अणता कम्मं सालीया सव्वेसिं च अणनाणि णाणादीणि" "विरयणचित्तमणन दामं सुमिणे ततो णतो" रत्न विचित्र रत्नखचितं अनन्तमतिमहाप्रमाण दाम स्वप्ने जनन्या दृष्टमतोऽनन्त इति। संप्रति धर्म्म-दुर्गतौ प्रपतन्त सत्वसंघात धारयतीति धर्म्म। तत्र सर्वेऽपि भगवन्त ईदृशास्ततो विशेषमाह-"गब्भगए ज जणणी, जायसुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो"। भगवति गर्भगते येन कारणेन विशेषतो जननी धर्मे दानदयादिरूपशोभनधर्म्मपरायणा तेन नामतो धर्मजिनः। आ० म० द्वि०। (उसभमित्यादिति सोऽपि गाथाः व्याख्याता. ऋषभादि शब्देषु)-

उसजमजियं च वंदे, संजवमजिनंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयलसिज्जं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामिऽरिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दितु ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासगरा ।
सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

आव० २ अ०। आ० चू०। आ० म०। ल०। ध० (आवश्यकस्यपि चतुर्विंशतिस्तवोऽस्ति इति आवेदितम्, 'आवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे ४५७ पृष्ठे) जिनगुणोत्कीर्तनाधिकारवति अध्ययनविशेषे, पा०।

चउवीसदंडय-चतुर्विंशतिदण्डक-पुं०। स्था०। चतुर्विंशतिपदप्रतिबद्धो दण्डको वाक्यपद्धतिश्चतुर्विंशतिदण्डकः। स इह वाच्य इति शेषः। स चायम्-" नेरइया १ असुराई१०. पुढवाई ५ बेइन्दियादओ चेव ४। नर १ वतर १ जोतिसिया १, वेमाणिय १ दंडओ एव" ॥१॥ भवनपतयो दशधा "असुरा नागसुवन्ना, विज्जू अग्गी य दीव उदही य। दिसि पवणथणियनामा, दसहा एए भवणवासि ॥१॥ ति" एतदनुसारेण सूत्राणि वाच्यानि यावच्चतुर्विंशतितमम्। स्था० १ ठा० १ उ०।

चउवीसवासपरिजाय-चतुर्विंशतिवर्षपर्याय-त्रि०। चतुर्विंशतिवर्षपरिमाणप्रव्रज्यापर्याये, भ० १५ श० १ उ०।

चउव्विह-चतुर्विध-त्रि०। चतस्रो विधा भेदा यस्य तत् चतुर्विधम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। चतुःस्वभावे, भ० १५ श० ४ उ० " चउव्विह गेयं गायति " रा०।

चउसट्ठि-चतुष्षष्टि-स्त्री०। चतुरधिकषष्टिसंख्यायाम्, " चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्साओ असुरवज्जाण" प्रज्ञा०२पद।

चउसट्ठिआ-चतुःषष्टिका-स्त्री०। मणिद तु:षष्टितममागनिष्पन्ने चतु पलप्रमाणे रसमानविशेषे, अनु०। भ०।

चउसट्ठिअट्ठिय-चतुःषष्टिलष्टिक-त्रि०। चतु षष्टिर्लष्टीनां शराणां यस्मिन्नसौ। शराणां चतुष्षष्ट्या युते, स० ६४ सम०।

चउसद्दहण-चतुःश्रद्धान-न०। चत्वारि श्रद्धानानि यत्र तच्चतु श्रद्धानम्। श्रद्धानचतुष्टयान्विते सम्यक्त्वे, प्रव०१४७ द्वार। चतुर्विधे श्रद्धाने च। ध० २ अधि०।

चउसमयसिद्ध-चतुःसमयसिद्ध-पु०। सिद्धत्वसमयाच्चतुर्थसमये सिद्धे परम्परासिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

चउसरण-चतुःशरण-न०। प्रकीर्णकविशेषे, सेन०। चतुःशरणाध्ययनमुपासकानां कथं कार्यते यतीनां योग विना तदनध्याय. श्राद्धानां तु मनागनैव पाठस्तत्र किं शास्त्र बलीयः का वा गच्छसामाचारीति। प्रश्ने-उत्तरम्-चतु शरणादीनि चत्वारि प्रकीर्णकानि आवश्यकवत्प्रतिक्रमणादिषु बहूपयोगित्वादुपयोगोद्वहनमन्तरेणापि परपरयाऽभिधीयमानानि सन्ति सैव तत्र प्रमाणमिति। ४०८ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। चतु शरणप्रकीर्णकस्य गुणन यतीनां श्राद्धानां च कालवेलायाम्। अस्वाध्यायदिने च शुध्यति न वेतिप्रश्नः। उत्तरम-चतुःशरणप्रकीर्णकगुणन कालवेलायामपि कल्पते अस्वाध्यायदिनेषु कल्पत इति। ३८६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

चउसरणगमन-चतुःशरणगमन-न०। चतुर्णामर्हत्सिद्धसाधुकेवलिप्रज्ञप्तधर्माणां शरणगमनम्। " चत्तारि सरण पवज्जामि " इत्यादिरूपे प्रधानशरणोपगमे, प० सू० ३ सू०। पञ्चा०।

चतुःशरणगमन चैवम्-

" क्षीणरागादिदोषौघाः, सर्वज्ञाः विश्वपूजिताः ।
यथार्थवादिनोऽर्हन्त०, शरण्याः शरणं मम ॥ १ ॥
ध्यानाग्निदग्धकर्माण,ः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।
अनन्तसुखवीर्ये द्या०, सिद्धाश्च शरणं मम ॥ २ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्र-युताः स्वपरतारकाः ।
जगत्पूज्याः साधवश्च, भवन्तु शरणं मम ॥ ३ ॥
ससारदुःखसहर्ता, कर्ता मोक्षसुखस्य च ।
जिनप्रणीतधर्मश्च, सदैव शरण मम ॥ ४ ॥

एवं श्रावकस्य चतु शरणकरण महते गुणाय यदाह-" चउरंगो जिणधम्मो, न कओ चउरंगसरणमवि न कय। चउरंगभवच्छेओ, न कओ हा हारिओ जम्मो ॥ १ ॥ त्ति "

दुष्कृतगर्हण च—

" जं मणवयकाएहिं, कयकारिअअणुमईहि आयरिअं ।
धम्मविरुद्धमसुद्धं, सव्वं गरिहामि तं पाव" ॥ १ ॥ इत्यादि।

ध० २ अधि०।

जावज्जीवं मे भगवंतो परमतिलोअनाहा अणुत्तरपुण्णसंभारा खीणरागदोसमोहा अचिंतचिंतामणी भवजलहिपोआ एगंतसरणा अरहंता सरणं, तहा-पहीणजरमरणा अवेयकम्मकलंका पणट्ठवावाहा,केवलनाणदंसणा सिद्धपुरनिवासी निरुवमसुहसंगया सव्वहा कयकिच्चा सिद्धा सरणं, तहा-पसंतगंभीरासया सावज्जजोगविरया पंचविहायारजाणगा परोवयारनिरया पउमाइनिदंसणा झाणज्झयणसंगया विसुज्झमाणभावा साहू सरणं, तहा-सुरासुरमणुअपूजिओ मोहतिमिरंसुमाली रागदोसविसपरममंतो हेऊ

सयलकल्लाणाणं कम्मवणविहावसू साहगो सिद्धभावस्स केवलिपसत्तो धम्मो जावज्जीवं मे भगवं सरणं ॥

"जावज्जीव मे भगवंतो अरहंता सरण" इति योगः। (जावज्जीव मे) यावज्जीवित मे मम भगवन्त समग्रैश्वर्यादियुक्ता अर्हन्त. शरणमिति योग.। अत्र यावज्जीवमिति कालपरिमाण, परतो भङ्गभयात् पुनरवधित्वेन परतोऽप्यधिकृतशरणस्येष्टत्वात्। अत एव विशेष्यन्ते (परमतिलोअणाहा।) परमाश्च ते दुर्गतिभयसरक्षणेन त्रिलोकनाथाश्च। अत्र त्रिलोकवासिनो देवादय परिगृह्यन्ते। यत एव विशेष्यन्ते। (अणुत्तरपुण्णसंभारा) अनुत्तरः सर्वोत्तमहेतुत्कर्षोत्पुण्यसंभारः तीर्थङ्करनामकर्मलक्षणो येषा ते तथा। त एव विशेष्यन्ते (खीणरागदोसमोहा) क्षीणरागद्वेषमोहा अभिष्वङ्गाप्रीत्यज्ञानलक्षणा येषां ते तथा। त एव विशेष्यन्ते। (अचिंतचिंतामणी) अचिन्त्यचिन्तामणय. चिन्तातिक्रान्तापवर्गविधायकत्वेन। त एव विशेष्यन्ते (भवजलहिपोआ) भवजलधिपोताः, तदुत्तारत्वेन त एव विशेष्यन्ते (एगतसरणा) एकान्तशरण्याः सर्वाश्रितहितत्वेन, क एव भूताः किं वा एत इत्याह-(अरहंता सरण) अर्हन्तः शरण तत्राशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यलक्षणपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः ते मम शरणमाश्रय इति। (तहा पहीणजरामरणा) सिद्धा शरणम् इति योगः। तथा न केवलमर्हन्त. किं तु सिद्धा. शरणमिति क्रिया। किंविशिष्टास्ते इत्याह-प्रक्षीणजरामरणा प्रक्षीणे सदाऽपुनर्भावित्वेन जरामरणे येषां ते तथा, जन्मादिबीजाभावात्। एत एव विशेष्यन्ते। (अवेयकम्मकलंका) अपेतकर्मकलङ्का. अपेत. कर्मकलङ्को येषां ते तथाविधा., सर्वथा कर्मरहिता इत्यर्थः। एत एव विशेष्यन्ते-(पणट्ठवाबाहा)। प्रणष्टव्याबाधा. प्रकर्षेण नष्टा क्षीणा व्याबाधा येषां ते तथा, सर्वव्याबाधावर्जिता इति भाव.। एत एव विशेष्यन्ते-(केवलणाणदंसणा) केवलज्ञानदर्शना. केवले सम्पूर्णे ज्ञानदर्शने येषां ते तथाविधा, सर्वज्ञा. सर्वदर्शिन इत्यर्थ.। एत एव विशेष्यन्ते-(सिद्धिपुरनिवासी) सिद्धिपुरनिवासिनः सिद्धिपुरे लोकान्ते निवस्तुं शील येषां ते तथा, मुक्तिवासिन इति गर्भ। एत एव विशेष्यन्ते-(णिरुवमसुहसंगया)। निरुपमसुखसंगताः। निरुपमसुखेन विद्यमानापेक्षेण संगता इति समास.। असांयोगिकानन्दयुक्ता इत्यर्थः। एत एव. विशेष्यन्ते-(सव्वहा कयकिच्चा) सर्वथा कृतकृत्याः। सर्वथा सर्वैः प्रकारै कृत कृत्यं यैस्ते तथा, निष्ठितार्था इति भाव.। क एवभूता., किं वा एत इत्याह-(सिद्धा सरण) सिद्धा शरण सिद्ध्यन्ति स्म सिद्धा. परमतत्त्वरूपास्ते मम शरणमाश्रय इति "तहा पसंतगंभीरासया साहू" शरणमिति योग.। तथा न केवल सिद्धा. शरण, किन्तु साधव. शरणमिति क्रिया। किं विशिष्टास्त इत्याह-प्रशान्ता क्रान्तियोगात् गम्भीरोऽगाधतया आशयश्चित्तपरिणामो येषां ते प्रशान्तगम्भीराशया। एत एव विशेष्यन्ते। (सावज्जजोगविरया)। सहावद्येन सावद्य सपापो योगो व्यापार. कृतादिरूप. तस्माद्विरताः सावद्ययोगविरता.। त एव विशेष्यन्ते॥ (पंचविहायारजाणगा) पञ्चविधमाचार ज्ञानाचारादिभेदभिन्न जानन्ते इति पञ्चविधाचारज्ञानका.। एत एव विशेष्यन्ते। (पउमाइणिदंसणा) पद्मादीनि पङ्कोत्पत्तिजलस्थितिभावेऽपि तदस्पर्शनेन कामभोगापेक्षयैवमेव भाव इति निदर्शनानि येषां ते पद्मादिनिदर्शना। आदिशब्दाच्छरत्सलिलादिग्रहः। एत एव विशेष्यन्ते [झाणज्झयणसंगया] ध्यानाध्ययनाभ्याम् एकाग्रचिन्तानिरोधस्वाध्यायलक्षणाभ्यां संगता ध्यानाध्ययनसंगताः एत एव विशेष्यन्ते। (विसुज्झमाणभावा) विशुद्ध्यमानो विहितानुष्ठानेन भावो येषां ते विशुद्ध्यमानभावा., क एव भूता। किं वा एत इत्याह-(साहू सरण) तत्र सम्यग्दर्शनादिभि सिद्धिं साधयन्तीति साधव., मुनय. इत्यर्थः। ते मम शरणमाश्रयः इति। "तहा सुरासुरमणुअपूजिओ, केवलिपन्नत्तो धम्मो-यावज्जीव मे भगव सरण" इति योग.। तथा न केवल साधव. शरणं किं तु केवलिप्रज्ञप्तो धर्म्म इति संबन्धः। किंविशिष्ट इत्याह-(सुरासुरमनुअपूइओ) सुरासुरमनुजैः पूजितः सुरासुरमनुजपूजित. सुरा ज्योतिष्कवैमानिका, असुरा व्यन्तरभवनपतय., मनुजाः पुरुषविद्याधरा.। अयमेव विशेष्यते। (मोहतिमिरंसुमाली) मोहस्तिमिरमिव मोहतिमिर सद्दर्शनवारकत्वेन तस्यांशुमालीवांशुमाली तदपनयनादादित्यकल्प.। अयमेव विशेष्यते। (रागदोसविसपरममंतो) रागद्वेषौ विषमिव रागद्वेषविष तस्य परममन्त्र. तद्घातित्वेनेति भावः। अयमेव विशेष्यते। (हेऊ सयलकल्लाणाण) हेतु. कारणं, प्रवर्तकत्वादिना सकलकल्याणाना सुदेवत्वादीनाम्। अयमेव विशेष्यते। (कम्मवणविभावसू) कर्मवनस्य ज्ञानावरणीयादिसमुदयरूपस्य विभावसुरिवाग्निरिव तद्दाहकत्वेन। अयमेव विशेष्यते। (साहगो सिद्धभावस्स) साधको निवर्तक. सिद्धभावस्य सिद्धत्वस्य तथा तथा तत्सपादकत्वेन कोऽयमेव किं वेत्याह-(केवलिपण्णत्तो धम्मो) केवलिप्रज्ञप्त. केवलिप्ररूपितो धर्म. श्रुतादिरूप.। (जावज्जीव मे भगवं सरणं) यावज्जीवमिति पूर्ववत्। मे मम भगवान् समग्रैश्वर्यादिगुणयुक्तः शरणमाश्रय। एतच्च शरणगमनम्। एकार्थसाधकत्वेन प्रभूतानामप्यविरुद्धमेव। एष एव परमार्थ.। "चत्तारि सरणं पवज्जामि। अरहंते सरण पवज्जामि। सिद्धे सरण पवज्जामि। साहू सरण पवज्जामि केवलिपण्णत्त धम्म सरणं पवज्जामि त्ति" प० सू० १ सू०।

सावज्जजोगविरई-उक्कित्तणगुणवओपडिवत्ती।
खलियस्स निंदणावण-तिगिच्छगुणधारणा चेव ॥ १ ॥
चारित्तस्स विसोही, कीरइ सामाइएण किल इह यं।
सावज्जेयरजोगाऽऽणं-वज्जणा सेवणत्तणओ ॥ २ ॥
दंसणयारविसोही, चउवीसा पत्थएण किज्जइ य।
अच्चब्भुअगुणकित्तण-रूवेणं जिणवरिंदाणं ॥ ३ ॥
नाणाइया उ गुणा, तस्स पन्नवत्तिकरणाओ।
वंदणएणं विहिणा, कीरइ सोही उ तेसिं तु ॥ ४ ॥
खलियस्स य तेसि पुणो, विहिणा जं निंदणाइपडिकमणं।
तेणं पडिकमणेणं, तेसिं पि य कीरए सोही ॥ ५ ॥
चरणाइयाईयाणं, जहक्कमं वणतिगिच्छरूवेणं।
पडिकमणो सुद्धाणं, सोही तह काउसग्गेणं ॥ ६ ॥
गुणधारणरूवेणं, पच्चक्खाणेण तवऽइयारस्स।
विरियायारस्स पुणो, सव्वेहिं वि कीरए सोही ॥ ७ ॥
गयवसहसीहअभिमे-य दामससिदिणयरं झयं कुंभं।
पउमसरसागरविमा-णभवणरयणुच्चयसिहिं च ॥ ८ ॥
अमरिंदनरिंदमुणिं-दवंदियं वंदिउं महावीरं।

कुसलाणुबंधुबंधुर-मज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ ६ ॥
चउसरणगमणदुक्कड-गरिहासुकडाऽणुमोअणा चेव।
एस गणो अणवरयं, कायव्वो कुसलहेउ त्ति ॥ १० ॥
अरिहंतसिद्धसाहू-केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो ।
एए चउरो चउगइ-हरणा सरणं लहइ धन्नो ॥ ११ ॥
अह सो जिणभत्तिभरु-च्छरंतरोमंचकंचुअकरालो ।
पहरिसपणउम्मीसं, सीसम्मि कयंजली भणइ ॥ १२ ॥
रागद्दोसअरीणं, हंता कम्मट्ठगाइअरिहंता ।
विसयकसायारीणं, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १३ ॥
रायसिरिमवकसित्ता, तवचरणं दुक्करं अणुचरित्ता ।
केवलिसिरिमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १४ ॥
थुइवंदणमरिहंता, अमरिंदनरिंदपूअमरिहंता ।
सासयसुहमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १५ ॥
परमणगयं मुणंता, जोइंदमहिंदझाणमरिहंता ।
धम्मकहं च कहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १६ ॥
सव्वजिआणमहिंसं, अरिहंता सच्चवयणमरिहंता ।
बंभव्वयमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १७ ॥
ओसरणमवसरित्ता, चउतीसं अइसए निसेवित्ता ।
धम्मकहं च कहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १८ ॥
एगाइगिराऽणेगे, संदेहे देहिणं समच्छिंता ।
तिहुयणमणुसासंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १६ ॥
वयणामएण भुवणं, निव्वावंता गुणेसु ठावंता ।
जिअलोअमुद्धरंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ २० ॥
अच्चब्भुयगुणवंते, नियजसससहरपसाहिअदियंते ।
नियमणाइअणंते, पडिवज्जे सरणमरिहंते ॥ २१ ॥
उज्झियजरमरणाणं, समत्तदुक्खत्तसत्त सरणाणं ।
तिहुयणजणसुहयाणं, अरिहंताणं नमो ताणं ॥ २२ ॥
अरिहंतसरणमलसुद्धि, लद्धसुविसुद्धसिद्धबहुमाणो ।
पणयसिररइयकरकमल-सेहरो सहरिसं भणइ ॥ २३ ॥
कम्मट्ठक्खयसिद्धा, साहावियनाणदंसणसमिद्धा ।
सव्वट्ठलद्धसिद्धा, ते सिद्धा हुंतु मे सरणं ॥ २४ ॥
तियलोयमत्थयत्था, परमपयत्था अचिंतसामत्था ।
मंगलसिद्धपयत्था, सिद्धा सरणं सुहपसत्था ॥ २५ ॥
मूलुक्खयपडिवक्खा, अमूढलक्खा सजोगिपच्चक्खा ।
साहावियत्तसुक्खा, सिद्धा सरणं परमसुक्खा ॥ २६ ॥
पडिपिल्लियपडिणीया, समग्गझाणग्गिदड्ढभवबीया ।
जोईसरसरणीया, सिद्धा सरणं सुमरणीया ॥ २७ ॥
पावियपरमाणंदा, गुणनीसंदा विदिन्नभवकंदा ।
लहुईकयरविचंदा, सिद्धा सरणं खवियदंदा ॥ २८ ॥
उवलद्धपरमबंभा, दुल्लहलंभा विमुक्कसंरंभा ।
भुवणघरधरणखंभा, सिद्धा सरणं निरारंभा ॥ २६ ॥
सिद्धसरणेण नवबंभ-हेउ साहुगुणजणिअअणुराओ ।
मेइणिमिलंतसुपसत्थ-मत्थओ तत्थिमं भणइ ॥ ३० ॥
जिअलोअबंधुणो कुगइ-सिंधुणो पारगा महाभागा ।
नाणाइएहिँ सिवसुक्ख-साहगा साहुणो सरणं ॥ ३१ ॥
केवलिणो परमोही, विउलमई सुयहरा जिणमयम्मि ।
आयरियउवज्झाया, ते सव्वे साहुणो सरणं ॥ ३२ ॥
चउदसदसनवपुव्वी, दुवालसिक्कारसंगिणो जयई ।
जिणकप्पाऽहालंदिय-परिहारविसुद्धसाहू य ॥ ३३ ॥
खीरासवमहुआसव-संभिन्नसोअ कुट्ठबुद्धी य ।
चारणवेउव्वियपया-णुसारिणो साहुणो सरणं ॥ ३४ ॥
उज्झियवइरविरोहा, निच्चमदोहापसंतमुहसोहा ।
अभिमयगुणसंदोहा, हयमोहा साहुणो सरणं ॥ ३५ ॥
खंडियसिणेहदामा, अकामधामा निकामसुहकामा ।
सुपुरिसमणाभिरामा, आयारामा मुनी सरणं ॥ ३६ ॥
मिल्हियविसयकसाया, उज्झियघरघरणिसंगसुहसाया ।
अकलियहरिसविसाया, साहू सरणं गयपमाया ॥ ३७ ॥
हिंसाइदोससुन्ना, कयकारुन्ना सयंभुरूपन्ना ।
अजरामरपहखुन्ना, साहू सरणं सुकयपुन्ना ॥ ३८ ॥
कामविडंबणचुक्का, कलिमलमुक्का विविक्कचोरिक्का ।
पावरयसुरयरिक्का, साहू गुणरयणचच्चिक्का ॥ ३६ ॥
साहुत्तसुट्ठिया जं, आयरियाई तओ अ साहू ।
साहुभणिएण गहिआ, ते तम्हा साहुणो सरणं ॥ ४० ॥
पडिवन्नसाहुसरणो, सरणं काउं पुणो वि जिणधम्मं ।
पहरिसरोमंच, पवंचकंचुअं चियतणू भणइ ॥ ४१ ॥
पवरसुकएहिँ पत्तं, पत्तेहिं वि नवरि केहिँ वि न पत्तं ।
तं केवलिपन्नत्तं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥ ४२ ॥
पत्तेण अपत्तेण य, पत्ताणि य जेण नरसुरसुहाइं ।
मुक्खसुहं पुण पत्तेण, नवरि धम्मो स मे सरणं ॥ ४३ ॥
निद्दलियकलुसकम्मो-कयसुहजम्मो खलीकयअहम्मो ।
पमुहपरिणामरम्मो, सरणं मे होउ जिणधम्मो ॥
कालत्तए वि न मयं, जम्मणजरमरणवाहिसयसमयं ।
अमयं व बहुमयं जिण-मयं च सरणं पवन्नो हं ॥ ४५ ॥
पसमियकामपमोहं-दिट्ठादिट्ठेसु न कलियविरोहं ।
सिवसुहफलयममोहं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥ ४६ ॥
नरयगइगमणरोहं, गुणसंदोहं पवाइनिक्खोहं ।
निहणियवम्महजोहं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥ ४७ ॥
भासुरसुवन्नसुंदर-रयणालंकारगारवं महयं ।
निहिमिव दोगच्चहरं, धम्मं जिणदेसियं वंदे ॥ ४८ ॥
चउसरणगमणसंचिय-सुचरियरोमंचअंचियसरीरो ।

कयदुक्कडगरिहा असु-हकम्मक्खयकंखिरो भणइ ॥४९॥
इह भवियमन्नभवियं, मिच्छत्तपवत्तणं जमहिगरणं ।
जिणपवयणपडिकुट्ठं, दुट्ठं गरिहामि तं पावं ॥ ५० ॥
मिच्छत्ततमंधेणं, अरिहंताईसुं अवन्नवयणं जं ।
अन्नाणेण विरइयं, इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५१ ॥
सुअधम्मसंघसाहु, सुपावपडिणीयआई जं रइअं ।
अन्नेसु अपावेसुं, इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५२॥
अन्नेसु अ जीवेसुं, मित्ती करुणाइगो अरेसु कयं ।
परियावणाइ दुक्खं, इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५३ ॥
जं मणवयकाएहिं, कयकारियअणुमईहिं आयरियं ।
धम्मविरुद्धमसुद्धं इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५४ ॥
अह सो दुक्कडगरिहा, दलिउक्कडदुक्कमो फुडं भणइ ।
सुकमाणुरायसमुइ-न्नपुन्नपुलयं करकरालो ॥ ५५ ॥
अरिहंतं अरिहंते-सु जं च सिद्धत्तणं च सिद्धेसु ।
आयार आयरिए, उवज्झायं तं उवज्झाए ॥ ५६ ॥
साहूण साहुकिरियं, देसविरइं च सावयजणाणं ।
अणुमन्ने सव्वेसुं, सम्मत्तं सम्मदिट्ठीणं ॥ ५७ ॥
अहवा सव्वंचिय वी-यरायवयणाणुसारि जं सुकडं ।
कालत्तए वि तिविहं, अणुमोएमो तयं सव्वं ॥ ५८ ॥
सुहपरिणामो निचं, चउसरणगमाइआयारं ।
जीवो कुसलपयडीउ,बंधइ बंधाउ सुहाणुबंधीओ ॥५९॥
मंदणुभावा बद्धा तिव्वणुभावा कुणइ ता चेव ।
असुहाओ निरणुबंधा,उ कुणइ तिव्वाउ मंदा उ ॥६०॥
ता एयं कायव्वं, बुहेहिं निच्चं पि संकिलेसम्मि ।
होइ तिकाल सम्मं, असंकिलेसम्मि सुकयफलं ॥६१ ॥
चउरंगो जिणधम्मो, न कओ चउरंगसरणं वि ।
न कयं चउरंगो भव-च्छेओ न कओ हा हारिओ जम्मो॥६२॥
इह जीवपमायमाहारि,वीरभद्द नमेवमज्झयणं ।
जासु एति संजयत्तं-झकारणं निव्वुइसुहाणं ॥६३॥ द०प०।

चउसिर-चतुश्शिरस्-न० । चत्वारि शिरांसि यस्मिन्‌ तच्चतु:शिर: । प्रथमप्रवेशे क्षमणाकाले शिष्याचार्ययोरवनत यच्छिरोद्वयं निष्क्रम्य पुनः प्रवेशे तथैव शिरोद्वयम । शिरश्चतुष्टययोगिनि वन्दनके, ध० ३ अधि० । आव० । स० ।

चउहा-चतुर्द्धा-अव्य० । चतुःप्रकारे, 'चउहविवाग त्ति' चतुर्द्धा क्षेत्रजीवभवनपुद्गलविपाका: प्रकृतीर्वेदये । कर्म० ५ कर्म० ।

चउहार-चतुराहार-पुं० । चतुर्णामशनपानखादिमस्वादिमानां त्यागे, ल० प्र० ।

चओरग-चकोरक-पुं० । 'चक' तृप्तौ । ओरन् । स्वार्थे कन् । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, वाच० । प्रश्न० ।

चओवचइय-चयोपचयिक-त्रि० । वृद्धिहान्यात्मके, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

चंकमंत-चङ्क्रममाण-त्रि० । चलनस्वभावे, औ० । कल्प० ।
चङ्क्रम्यमाण-त्रि० । चलनस्वभावे, औ० । कल्प० ।

चंकमण-चङ्क्रमण-न० । उपाश्रयान्तरे शरीरश्रमव्यपोहार्थमितस्ततः सञ्चरणे, स० ।

चङ्क्रमणगुणानुपदर्शयति—

वायाई सट्ठाणं, वयंति कुविया उ सन्निरोहेणं ।
लाघवमग्गिपडुत्तं, परिस्समजयो अ चङ्कमतो ॥

अनुयोगदानादिनिमित्त यच्चिरमेकस्थानोपवेशनलक्षणः सन्निरोधस्तेन कुपिता: स्वस्थानाच्चालिता ये वातादयो धातवस्ते चङ्क्रमतो भूयः स्वस्थान व्रजन्ति लाघवं शरीरे लघुभाव उपजायते । अग्निपटुत्व जाठरानलपाटव च भवति । यश्च व्याख्यानादिजनित: परिश्रमस्तस्य जय: कृतो भवति । एते चङ्क्रमतो गुणा भवन्ति । बृ०३ उ० । नि० चू० । आव० । भ्रमणे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

चंकमिय-चङ्क्रमित-न० । गतिविभ्रमे, " चंकमियं ठियजंपिय व, विप्पेक्खियं च सविलासं । आगारियवहुविधे, दट्ठुं छुसेयरे दोसा " ॥ ३७ ॥ नि० चू० १ उ० ।

चंकार अणुओग-चकारानुयोग-पुं० । समाहारेतरेतरयोगसमुच्चयान्वाचयाऽवधारणपादपूरणाधिकवचनादिषु, (स्था०) (चकारे त्ति) अत्रानुस्वारोऽलाक्षणिकः, यथा—" सुके सणिचरे " इत्यादि । ततश्चकार इत्यर्थ: । तस्य चानुयोगो यथा—चशब्दः समाहारेतरेतरयोगसमुच्चयान्वाचयावधारणपादपूरणाधिकवचनादिषु इति । तत्र-(इत्थीओ सयणाणि य त्ति) इहसूत्रे चकार: समुच्चयार्थः स्त्रीणां शयनाना चापरिभोग्यतातुल्यत्वप्रतिपादनार्थ: । स्था० १० ठा० ।

चंगवेर-चंगवेर-पुं० । काष्ठपात्र्याम्, "पीढए चंगवेरे य, नगले मइय सिया । जतलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिया " ॥२८॥ दश० ७ अ० ।

चंगेरी-चङ्गेरी-स्त्री० । महत्यां काष्ठपात्र्यां, बृहत्पाटलिकायां च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० । स्था० म० । जी० । प्रज्ञा० ।

चंचत-चञ्चत्-त्रि० । मनोहारिणि, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

चंचपुम-चञ्चुपुट-पुं० । आघातविशेषे, "खुरचलणचंचपुमेहिं धरणिमल अभिहणमाण" ज० ३ वक्ष० ।

चंचल-चञ्चल-त्रि० । लोले, स्था० ।

चञ्चलभेदाः-

गइठाणभासभावे, लहुओ मासो उ होइ एक्केक्को ।
आणाईणो य दोसा, विराहणा संजमायाए ॥

चञ्चलश्चतुर्द्धा तद्यथा-गतिचञ्चलः, स्थानचञ्चलः, भाषाचञ्चलः, भावचञ्चलश्च । एतेषामेकैकस्मिन्‌ लघुको मास प्रायश्चित्तम । आज्ञादयश्च दोषा विराधनासंयमे आत्मनि च । तत्र संयमविराधना-गतिचञ्चलस्य त्वरितं गच्छतः पृथिव्यादीनां कायानामुपमर्दनम । आत्मविराधना-प्रपतनप्रस्खलनदेवतातुलनादिका । एवं स्थानचञ्चलादिष्वप्युपयुज्यात्मसंयमविराधना वक्तव्या ।

अथ गतिस्थानचञ्चलौ तावदाह-

दावद्दविओ गइचं-चलो उ ठाणचंचलो इमो तिविहो ।

कुड्डाइ सई फुसइ व, लसइ व पाए वा विच्छुभइ ॥

इह द्रवशब्दो द्रुतार्थवाचकस्ततो द्रावद्रविको नाम द्रुत-द्रुत-गामी स गतिचञ्चलो भण्यते। स्थानचञ्चलः पुनरयं त्रिविध-स्तद्यथा-असौ निषण्णः सन् पृष्ठबाहुकरचरणादिभिः कुड्यम् आदिशब्दात् स्तम्भादिकमसकृदनेकशः स्पृशति। वाशब्द उ-त्तरापेक्षया विकल्पार्थः। यो वा निषण्ण एव इतस्ततो भ्राम्यति।२। पादौ वा विक्षिपति पुनः पुनः सङ्कोचयति प्रसारय-ति चेत्यर्थः॥ ३॥

भाषाचपलमाह-

भासाचपलो चउहा, असंति अलियं असोहणं वा वि।
असभाजोग्गमसब्भं, अणूहिउं तं उ असमिक्खं ॥

भाषाचपलश्चतुर्द्धा-असत्प्रलापी,असभ्यप्रलापी, असमीक्षित-प्रलापी,अदेशकालप्रलापी च। तत्रासत्प्रलापितुं शीलमस्येत्यसत्प्र-लापी,अथ असदिति कोऽर्थः इत्याह-असदितिशब्देनालीकमशो-भनं वा अभिधीयते। तत्रालीकम्-साधुम् असाधुं ब्रवीमीति अ-साधु साधुमित्यादि, अशोभनं गर्वादिदूषितं वचनम्-तथा अस-भायोग्यमसभ्यमभिधीयते, इह सभा एकत्रोपविष्टशिष्टपुरुषस-मुदायः,तथा चोक्तम्-"धम्मत्थसत्थकुसला,सभासया जत्थ सा सभा नाम। जा पुण अविहिपलुट्टा, बुहेहिँ सा भण्णए मेहा " तस्याः सभाया योग्यं यद्वचनं तत् सभ्यम्। तद्विपरीतमसभ्यं तच्च दास चण्डाल इत्यादिकम्। जकारमकारादिवाक्यरूपं वा, तत्प्रलपितुं शीलमस्येत्यसभ्यप्रलापी अनूहित्वा अविचार्य कि-मिदं पूर्वापरविरुद्धं किं वा इहपरलोकबाधकमित्याद्यविमृश्य यद्वदति तत् वचनमसमीक्षितमुच्यते। तत्प्रलपनशीलोऽसमी-क्षितप्रलापी।

अथादेशकालप्रलापिनमाह-

कज्जविवत्तिं दट्ठुं, भणाइ पुव्वं मए उ विण्णायं।
एवमिदं तु भविस्सति, अदेसकालप्पलावी उ।

कार्यविपत्तिं कार्यस्य विनाशं दृष्ट्वा कश्चित् भणति यथा-मया पूर्वमेव विज्ञातमिदं कार्यमेवं भविष्यति। यथा केनाचित् साधुना पात्रं लेपितं ततो रूढं सत् कुतोऽपि प्रमादतो भग्नं ततः कश्चिदात्मनो दक्षत्वं स्थापयन् ब्रवीति-यदैवेदं परिकर्मयितुमारब्धं तदैव मया ज्ञातं यथेदं निष्पन्न-मपि भङ्क्ष्यते। एष एव विधोऽदेशकाले अनवसरे प्रलपनशी-लोऽदेशकालप्रलापी। व्याख्यातश्चतुर्विधोऽपि भाषाचपलः।

अथ भावचपलमाह-

जं जं सुयमत्थो वा, उद्दिट्ठं तस्स पारमप्पत्तो।
अन्नऽन्नसुयदुमाणं, पल्लवगाही उ भावचवलो ॥

यद् यदावश्यकदशवैकालिकादेर्ग्रन्थस्य श्रुतं सूत्रमर्थो वा उद्दिष्टं प्रारब्धं तस्येत्यत्रापि वीप्सा गम्यते। तस्य तस्य पारमप्राप्त-सन्नन्यान्यश्रुतद्रुमाणामाचारादिरूपपरापरशास्त्रतरूणां पल्ल-वान् तन्मध्यगतालापकश्लोकगाथारूपान् सूत्रार्थलवान् स्वक-रुच्या ग्रहीतुं शीलमस्येति पल्लवग्राही तु, पुनरर्थे, य एवंविधः स पुनर्भावचपलो मन्तव्यः भवेत्कारणं येन चञ्चलत्वमपि कुर्यात्।

किं पुनस्तदित्याह—

तेणे सावय ओसह, खित्ताई वाइ सेहवोसिरणो।
आयरियवालमाई, तदुभयछेए य बिइयपयं ॥

स्तेनभयेन श्वापदभयेन वा द्रुतमपि गच्छेन्न दोषः। ग्लानो वा कश्चिदागाढस्तस्यौषधानयननिमित्तं शीघ्रमपि गच्छेत्। न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् (खित्ताई इति) क्षिप्तचित्त आदिशब्दात् दृप्तचित्तो यक्षाविष्ट उन्मादप्राप्तश्च एते स्थानचञ्चलत्वमपि कु-र्युः। न च प्रायश्चित्तमाप्नुयुः वाशब्दात् (वाइ त्ति) वादिनो बुद्धिं परिभवितुमलीकमपि ब्रूयात्। यथारोहगुप्तेन पोट्टशालप-रिव्राजकमतिव्यामोहनार्थं "जीवा अजीवा नोजीवाश्चेति" त्रयो राशयः स्थापिताः। तथा शैक्षस्य पण्डकादिव्युत्सर्जनविधेये तं निर्भर्त्सयन्नसभ्यमपि भणेत येनोद्वेजितः स्वयमेव गणान्नि-ष्क्रम्य गच्छेत्। आचार्यो वा कुतश्चित्प्रमादत्वान्नोपरमन्ते ततो-ऽदेशकालप्रलापित्वमपि कुर्यात्। यथा-क्षमाश्रमणा अमुकः संय-तोऽमुकश्च श्रावको मम पुरत इदं भणति-यथा त्वदीया गुरवः पार्श्वस्था भवन्तः संभाव्यन्ते एतच्च मया पूर्वमपि विज्ञातमासी-त् यथा क्षमाश्रमणानामेवमाचरतामपवादो भविष्यति। एवमु-क्ते ते अश्लोकभयेनैवोपरमन्ते। बालो वा केलिकन्दर्पादिकुर्वा-णोऽपि न निवर्तते ततोऽन्न हितमपि यदपि भाषित्वा निवारणी-यः। आदिग्रहणात्प्रत्यनीकादयो वा खरपरुषादिभाषणैः उपशम-यितव्यः। तथा-तदुभयच्छेदे इति कस्याचार्यस्य पूर्वं सूत्रम-र्थो वा विद्यते तस्योभयस्यापि तत्पार्श्वादनधीयमानस्य व्यव-च्छेदो भवति। अतः पूर्वारब्धं शास्त्रमर्द्धपतितमपि मुक्त्वा ततस्त-दुभयमध्येतव्यमिति। यथाक्रमं गतिस्थानभावचपलेषु द्वितीयपद-मवसातव्यम्। एतद्गाथोक्तप्रकारेण कलापमन्तरेण ये गतिचप-लादयस्तद्विपरीता ये गतिस्थानभाषाभावैश्चतुर्भिरप्यचपलास्ते-ऽस्य कल्पाध्ययनस्यानुयोगमर्हन्तीति। गतं चञ्चलद्वारम्। बृ०१ उ०। अनवस्थितचित्ते, विशे०। प्रज्ञा०। जी०। अतीवचटुले, औ०। विमुक्तस्थैर्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। चपले, औ०। भ०। नं०। प्रश्न०। "चंचलजीहे धरणीयलं चेति भूअ" उपा० २ अ०।

चंचा-चञ्चा-स्त्री०। 'चञ्च' अच्। नलनिर्मिते कटभेदे, (चाँच) "चञ्चेव" इवार्थे कन् "लुप् मनुष्ये" ५। ३। ९८ इति तस्य (पाणि०) लुप्। तृणमयपुरुषे, वाच०। चमरचञ्चानाम्नि चमरस्य राजधान्याम्, श्री०। स्था०।

चंचुच्चिय-चञ्चुरित-न०। प्राकृतत्वाच्चञ्चुरितमित्यस्य चंचु-च्चियमिति। कुटिलगमने, औ०।

चञ्चूचित-न०। चञ्चुश्शुकचञ्चुः तद्वद्वक्रतयेत्यर्थः उच्चितं उच्चताकारणं पादस्य उच्चित वा उत्पादनं पादस्यैषं चञ्चूचि-तम्। पादोत्थापने, "चंचुच्चियललियपुलियचलचवलचवल-गईणं" भा०।

चंचुमालइय-त्रि०। देशी-रोमाञ्चिते, कल्प० १ क्षण। ज्ञा०।

चंचुय-चञ्चुक-पुं०। अनार्यदेशविशेषे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च। प्रव० २७३ द्वार। सूत्र०।

चंड-चण्ड-त्रि०। क्रोधने, उत्त० १ अ०। ज्ञा०। आव०। आ० क०। प्रवृद्धकोपसहिते, स०। क्रोधनिध्मातचित्ते, उत्त० १० अ०। क्रोधने, चारभटवृत्त्याश्रयणकर्तरि, उत्त० १७ अ०। चण्डकोपने, परुषभाषिणि, उत्त० १० अ०। रोषणे, दश० ८ अ० १ उ०। उत्कटरोषे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। रौद्रे, उत्त० २६ अ०। तीव्रे, कल्प० २ क्षण। जं०।

प्रश्न०। कर्कशे, स्था० ८ ठा० । तिन्तिणीवृक्षे, यमकिङ्करे, दैत्यभेदे च । पुं० । अत्यन्तकोपने, त्रि० । वाच० ।

चंमकम्मा–चण्डकर्मन्–त्रि०। चण्डं कोपोत्कटतया रौद्राभिधानरसविशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म समाचरणं येषां ते । रौद्रकर्मकर्तृषु, प्रव० २७३ द्वार ।

चंमकोसिय–चण्डकौशिक–पुं०। वीरस्य उपसर्गकारिणि कस्मिंश्चित्सर्पे, आ० क०। कल्प० । आ० म०। आ० चू०। स्था०। (तत्कथा 'वीर' शब्दे)

चंमज्झय–चण्डध्वज–पुं० । 'अरुखुरीति' नामप्रत्यन्तनगरस्य माण्डलिकराज्ञि, आ० क० । आ० चू० ।

चंडदंम–चण्डदण्ड–त्रि०। रौद्रदण्डकर्तरि, "पावा पचंडदंडा, अणारिया णिग्घिणा णिरणुकंपा । धम्मोत्ति अक्खराइं, जेसु ण णज्जंति सुविणे वि" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

चंमपज्जोय–चण्डप्रद्योत–पुं० । मालवदेशभूपसेव्ये उज्जयिन्या नगर्याः स्वनामख्याते राज्ञि, विशे० । (उदयनेन पराजयः 'उदयन' शब्दे द्वितीयभागे ७८३ पृष्ठे उक्तः) उत्त० । तं० । स्था० । आ० म० । प्रति० । (काम्पिल्यराजेन द्विमुखेनास्य पराजयः अस्मै मदनमञ्जर्याः दानं च 'दुमुह' शब्दे)

चंमपिंगल–चण्डपिङ्गल–पुं० । स्वनामख्याते चौरे, स च राजगृहिकारक इति राज्ञा मारितः आ० म०। आ० चू०। (तस्यैव राज्ञः पुत्रो भूत्वा जातिस्मरणेन स्वय सबुद्ध इति णमोक्कार-शब्दे उदाहरिष्यते) ।

चंममेह–चण्डमेघ–पुं० । अश्वग्रीवस्य प्रतिवासुदेवस्य स्वनामख्याते दूते,य प्रजापतिसुतस्य त्रिपृष्ठवासुदेवस्य सभायामाधर्षित. । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

चंमरुद्द–चण्डरुद्र–पुं० । प्रकृतिरोषणे स्वनामख्याते आचार्ये, तत्कथा चैवम्—

"उज्जयिन्यां चण्डरुद्रसूरि. समायातः स रोषणप्रकृति. साधुभ्यः पृथक् एकान्तस्थाने आसनं चक्रे मामूत्कोपोत्पत्तिरिति चित्ते विचारयति । इतश्च इभ्यसुतः कोऽपि नवपरिणीतः सुहृत्परिवृतस्तत्रागत्य साधून् वन्दते । कैश्चित्तन्मित्रैर्हास्येन प्रोक्तम् । अमुं प्रव्राजयत । साधुभिर्वरमित्यभिधाय गुरुर्दर्शितः । तेऽपि गुरुसमीपे गता.। तथैव तैरुक्तम् । गुरुभिर्भूतिमानयेति प्रोक्ते तेन नवपरिणीतेन हास्यादेव स्वयम्भूतिरानीता गुरुभिर्बलादेव गृहीत्वा तल्लोचः कृतः । सुहृदः खिन्नास्तदा नष्टाः तस्य तु कृतलोचस्य लघुकर्मतया अत पर मम प्रव्रज्यैवास्तु इति परिणाम सम्पन्न । ततस्तेनोक्तं केचित् सत्यम्भूत. । अथ अन्यत्र गम्यते। गुरुराह–अहो शिष्य ! साम्प्रतं रात्रिर्जाता अहं रात्रौ न पश्यामि । तेन स्वस्कन्धे गुरुरारोपितः उच्चनीचप्रदेशे मार्ग वहता तेन गुरो. खेद उत्पादित. खिन्नेन तेन गुरुणा अस्य शिरसि दण्डप्रहाराः दत्ताः । असौ मनसि एव विचारयति–"अहो महात्माय मयेदृशीमवस्था प्रापितः" इति सम्यग्भावयत तस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं केवलज्ञानबलेन समप्रदेश एव वहन् गुरुभिरेष उक्त –मार्गि. सार इति । कीदृश. समो वहसीति तेनोक्त युष्मत्प्रसादात् मे समं वहनम् । गुरुभिरुक्त किम् अरे ज्ञानं समुत्पन्नं तव । तेनोक्तम्–ज्ञानमेव गुरुभिरुक्त प्रतिपाति अप्रतिपाति,वा तेनोक्तम्–अप्रतिपाति । गुरवस्तु हा मया केवली आशातित इत्युक्त्वा तच्छिरसि दण्डप्रहारोद्भूतरुधिरप्रवाहं पश्यतः पुनस्तत्क्षामणं कुर्वतः केवलज्ञानमापुरिति विनीतशिष्यैरीदृशैर्भाव्यम् । इति चण्डरुद्राचार्यस्य कथा । उत्त०१ अ०। आव०। आ० क० । आ० चू०। पञ्चा०। दश० । चण्डरुद्राचार्योः शिष्यस्य स्कन्धे उपविश्य चलिता इति सत्य नवेति प्रश्नः। उत्तरम्–श्रीउत्तराध्ययनवृत्तिप्रमुखबहुग्रन्थानुसारेण चण्डरुद्राचार्येण शिष्यस्य कथित त्वमग्रतो गमनं कुरु पश्चात्सोऽग्रतश्चलितश्चण्डरुद्राचार्यास्तु पृष्ठतश्चलिताः कस्मिंश्चिद्ग्रन्थे कथितमस्ति, यच्छिष्यस्य स्कन्धे भुजां दत्त्वा चलिता इति १३ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चंमविस–चण्डविष–पुं०। चण्ड झगिति अल्पकालेनैव दष्टशरीरव्यापकं विषं यस्य सः झगिति दष्टशरीरव्यापकविषयुक्ते सर्पे ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उत्त० । भ० ।

चंमा–चण्डा–स्त्री० । तथाविधमहत्वाभावेनोत्पन्नकोपादिभावाच्च एषा चमरादीनां देवेन्द्राणां मध्यमायां पर्षदि, । भ० ४ श० १ उ०। जी० । स्था० । गत्युत्कर्षयोगाद् रौद्रायां देवगतौ, भ०६श० १० उ०। दुर्गानायिकाभेदे, "उग्रचण्डा प्रचण्डा च, चण्डोग्रा चण्डनायिका । चण्डा चण्डवती चण्ड–नायिकाप्यतिचण्डिका" चोरनाम्नि गन्धद्रव्ये, शङ्खपुष्पीद्रुमे, लिङ्गिनीलतायाम, कपिकच्छाम, आखुपर्ण्याम, श्वेतदूर्वायां च । नदीभेदे, पताला चण्डवीर्यत्वात् तथात्वम । कोपनाया स्त्रियाम, च । वाच० । रुद्रायां तीव्रायामतिशायिन्याम उत्कटायां वक्तुमशक्यायाम्, उत्त० १८ अ० । "विपुला कक्कसा पगाढा चंमा दुहा तिव्वा दुरहियसि त्ति" एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १ अ० । विपुला तीव्रा चण्डा प्रगाढा कमी कर्कशा इत्येव लक्षणा दृष्टव्या । अन्त० ४ वर्ग । प्रवरापरनामिकायां श्रीवासुपूज्यस्य जिनेन्द्रस्य शासनदेव्याम्, सा च श्यामवर्णा तुरगवाहना चतुर्भुजा वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरयुगा पुष्पगदायुतवामकरद्वया च । प्रव० २६ द्वार ।

चंमानिल–चण्डानिल–पुं० । चण्डमारुते, जं० २ वक्ष०। "चंमानिलपहपतिक्खधाराणिवायपउर"–प्र० ७ श ६ उ० ।

चंमाधर–चण्डाधर–त्रि० । चण्डाधरोष्ठे, विपा० १ श्रु०२ अ० ।

चंमाल–चण्डाल–पुं० । स्त्री० । चण्डेन अधमस्य चण्डेन वा कलितः स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालः । उत्त०१ अ०। शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्ने, आचा० १ श्रु० १ अ०१ उ० । उत्त० । "माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदुवोकसा । एसि पावेसिया सुद्दा, जे य आरम्भणिस्सिया " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " रेवयसरमनाओ, हवंति दुहजीविणो । कुचेला य कुविंचिय, चोरा चंडालमुट्ठीया" ॥१३॥ अनु० । क्रूरकर्मणि–वाच० ।

चंमालिय–चण्डालीक–न० । चण्डः क्रोधस्तद्वशादलीकम् । यद्वा–चण्डाले, चण्डालजातौ भव चण्डालीकम् । अनुचितापयोग्यचण्डालकर्मणि, उत्त० १ अ० ।

चंमिक्क–चाण्डिक्य–न०। रौद्राकारकरणे, क्रोधकषायविशेषकार्ये, गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५१ सम०। भ० ।

चंमिकिअ–चाण्डिक्यित–त्रि० । चाण्डिक्यं रौद्ररूपत्वं संजातमस्येति चाण्डिक्यित सजातचाण्डिक्ये प्रकटितरौद्ररूपे, भ ७ श० ८ उ० । ज्ञा० । नि० चू० । विपा० । ज० । दारुणीभूते, विपा० १ श्रु० १ अ० । रोषणीभूते, नि० १ वर्ग । आसु

इत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किये मिसिमिसियमाणेत्ति " एकार्थाः । उत्त० २१ अ० ।

चंडिक्क–देशी–रोषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंमिय–देशी–कृत्ते, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंभिल–देशी–पीने, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंमीदेवग–चण्मीदेवक–पु० । चक्रधरप्राये चण्डीजके,सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

चंद (न्द)–चन्द्र–पुं० । ' चदि ' आह्लादे । णिच् रक् । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९ । इत्यचन्द्रपर्युदासान्न रेफस्य लुक् । 'चन्द्र' संस्कृतसमोऽयं प्राकृतशब्दः । अत्र "द्रे रो न वा " ॥ ८ । २ । ८० ॥ इति विकल्पो न भवति । निषेधसामर्थ्यात् । संस्कृतसमे तु वा रलुक् ' चंदो चन्द्रो ' । प्रा० २ पाद । " वर्गेऽन्त्यो वा " ॥ ८ । १ । ३० । इति परसवर्णो वा । प्रा० १ पाद । ज्योतिष्काणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । स० । शशधरे, औ० । चन्द्रः शशी निशाकरः नक्षुपतिः रजनीकर इत्येवमादिचन्द्रपर्य्यायाः । आ० चू० १ अ० । आ० म० । प्रज्ञा० । स्था० । सूत्र० । प्रश्न० । भ० । प्रव० ।

तस्य पूर्वापरवर्त्तमानभववक्तव्यता–

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए चेइए सेणिए राया, तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समो सढे । परिसा निग्गया, तेणं कालेणं तेणं समएणं चन्दो जोइसिंदे जोइसराया चंदवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए चंदंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं० जाव विहरति । इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे दीवे विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे पासति पासित्ता समणं भगवं महावीरं जहा सूरियाभे आभिओगिं सद्दावित्ता० जाव सुरिंदाभिगमणजोग करेत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति सुस्सरा घंटा० जाव विउव्वणा । नवरं जोयणसहस्सं विच्छिन्नं अद्धतेवट्ठिजोयणसमूसियं महिंदज्झओ पणवीसं जोयणसमूसिते सेसं जहा सूरियाभस्स० जाव आगतो णट्टविही तहेव० जाव पडिगतो । नि० ३ वर्ग । स्था० ।

(चन्द्रस्य अग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ताः) (अनुभावश्चन्द्रसूर्यादीनाम् ' जोइसिय ' शब्दे) (अमावास्यायोगः चन्द्रेणामावास्यापौर्णमासीयोगश्चान्द्रमासवक्तव्यता ' जोग ' शब्दे,) (अयनं चन्द्रस्य ' अयन ' शब्दे प्रथमभागे ७५१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (अवभासनम् कति सूर्याः कति चन्द्राः सर्वलोकमवभासयन्ति इति ' जोइसिय ' शब्दे) " दो चंदा इह (जंबुद्दीवे) चत्तारि य सागरे लवणतोए धायइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य " स्था० २ ठा० ३ उ० । (चन्द्रसूर्यादीनां संख्यानं जम्बूद्वीपादिशब्देषु,) (चन्द्रसूर्याणामावृत्तय 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे उक्ताः) (उच्चत्वम् ' जोइसिय ' शब्दे) (चन्द्रस्योद्घातादिचन्द्रिकादि च सूर्यस्येव ' सूर ' शब्दे ज्ञेयम्) (चन्द्रोपपातः ' उववाय ' शब्दे) (चन्द्रगु० द्वितीयभागे ' उड ' शब्दे ६८२ पृष्ठे उक्त०)

(कामभोगो ' जोइसिय ' शब्दे चन्द्रस्य) (चन्द्रस्य गतिपरिमाणम् 'मंडल' शब्दे) (ज्योत्स्नावक्तव्यता 'दोसिणा' शब्दे)

चन्द्रस्य परिवारः–

एगमेगस्स णं भंते ! चंदस्स केवइआ महग्गहा परिवारा ?, केवइआ णक्खत्ता परिवारा ?, केवइआ तारागणकोमाकोडीओ पण्णत्ताओ ?। गोअमा ! अट्ठासीइमहग्गहा परिवारो । अट्ठावीसं णक्खत्ता परिवारो । छावट्ठिसहस्साइं णवसया तारागणकोमाकोमीणं पण्णत्ता ॥

एकैकस्य भदन्त ! चन्द्रस्य कियन्तो महाग्रहाः परिवारः ?। तथा कियन्ति नक्षत्राणि परिवारः ?। तथा कियन्त्यस्तारागणकोटाकोट्यः परिवारभूता प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह–गौतम ! अष्टाशीतिर्महाग्रहाः परिवारः । अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः। षट्षष्टिसहस्राणि नवशतानि । पञ्चसप्तशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि तारागणकोटाकोटीनां परिवारभूतानि प्रज्ञप्तानि । यद्यप्यत्र एते चन्द्रस्यैव परिवारतयोक्तास्तथापि सूर्यस्यापीन्द्रत्वादेते एव परिवारतयाऽवगन्तव्याः समवायाङ्गजीवाभिगमसूत्रवृत्त्यादौ तथादर्शनात् । जं० ७ वक्ष० । स० । (पर्वचन्द्रमसः पर्वविचारः ' पव्व ' शब्दे) [युगमध्ये चन्द्रसूर्याः ' जुग ' शब्दे]

वर्णकः—

ससिं च गोखीरफेणदगरयरययकलसपंडुरं । सुभं हिअयनयणकंतं । पडिपुण्णं । तिमिरनिकरघणगुहिरवितिमिरकरं । पमाणपक्खंतरायलेहं । कुमुअवणविबोहगं । निसासोहगं । सुपरिमट्ठदप्पणतलोवमं । हंसपडुवन्नं । जोइसमुहमंडगं । तमरिपुं । मयणसरापूरगं । समुद्ददगपूरगं । दुम्मणं । जणं दइयवज्जिअं पाएहिं सोसयंतं । पुणो सोमचारुरूवं । पिच्छइ । सा गगणमंडलविसालसोमचंकम्ममाणतिलयं । रोहिणिमणहिअयवल्लहं । देवी पुन्नचंदं समुल्लसंतं ॥३७॥

"ससिं चेत्यादि" तत. पुनः सा त्रिशला देवी षष्ठे स्वप्ने शशिनं पश्यति । अथ कीदृशम्-(गोखीरं ति) गोक्षीरं धेनुदुग्धं फेन प्रसिद्धं दकरजांसि जलकणाः (रययकलस त्ति) रजतकलशो रूप्यघटः तद्वत्पाण्डुरम् उज्ज्वलम् । पुनः किंविशिष्टम्-(सुभ ति) शुभम् । सौम्यम् । पुन. किंविशिष्टम्-(हिअयनयणकंत) अत्र लोकानाम् इति शेष. । ततश्च–लोकानां हृदयनयनयोः कान्तं वल्लभम् । पुनः किंविशिष्टम्–(पडिपुण्ण त्ति) प्रतिपूर्णं पूर्णमासीसत्कम् । पुनः किंविशिष्टम् " तिमिरनिकरेत्यादि " तिमिराणाम् अन्धकाराणां निकरेण समूहेन (घण त्ति) घना निबिडा गम्भीरा ये वनगह्वरादयः तेषाम् अन्धकाराभावकरं वनगह्वरस्थितान्धकारनाशकम् इत्यर्थः । यदुक्तम्-"विरम तिमिरसाहसादमुष्मा-यदि रविरस्तमितः स्वतस्ततः किम् । कलयसि न पुरो महोमहोर्मिस्फुटतरकैरवितान्तरिक्षमिन्दुम्" ॥१॥ पुन. किंविशिष्टम्–(पमाणपक्खंतरायलेह ति) प्रमाणपक्षौ वर्षमासादिमानकारिणौ यौ पक्षौ शुक्लकृष्णपक्षौ तयोः (अंत त्ति) अन्तर्मध्ये पूर्णिमायाम् इत्यर्थः । तत्र (राय त्ति) राजन्त्यः शोभमानाः लेखाः कला यस्य स तथा तम् । पुन किंविशिष्टं शशिनम्–(कुमुअवणविबोहग) कुमुदवनानां चन्द्रविकाशिकमलवनानां विबोधकं विकाशकं यतः

"दिनकरतापव्याप-प्रपन्नमूर्छानि कुमुदगहनानि । उत्तस्थु-रमुनदीधिति-कान्तिसुधासेकतस्त्वरितम्" ॥१॥ पुनः किंविशि-ष्टम् शशिनम्-(निसासोहग त्ति) निशाशोभक रात्रिशोभाका-रकम् । पुन. किंविशिष्टम् शशिनम्-"सुपरिमट्ठे" त्यादि । सुप-रिमृष्ट सम्यक् प्रकारेण रक्षादिना उज्ज्वलितं यत् दर्प्पणतलं तेन उपमा यस्य स तथा तम् । पुन. किंविशिष्टम्-(हंसपडुवण्ण हंसवत् पटुवर्णम् उज्ज्वलवर्णमित्यर्थः । पुन. किंविशिष्टं शशिनम् (जोइसमुहमंडग) ज्योतिषां मुखमण्डकम् । पुन. किं विशिष्टम्-(तमरिपु] अन्धकारवैरिणम् । पुनः किं विशिष्टम्-(मयणसरापूरगं) मदनस्य कामस्य शरापूरमिव तूणीरमिव, अयमर्थः-यथा धनुर्धर. तूणीरं प्राप्य मुदितो निःशङ्कं मृगादिक शरैर्विध्यति एव मदनोऽपि चन्द्रोदयं प्राप्य निःशङ्को जनान् बाणैर्व्याकुलीकरोति । पुनः किं विशिष्टम्-"समुद्द" इत्यादि । समुद्रोदकपूरकं जलधिवेलावर्द्धकमि-त्यर्थ. । पुनः किंविशिष्टम्-(दुम्मण इति) दुर्मनस्क व्यग्रम् । ईदृशम् (दइयवज्जियन्ति) दयितेन प्राणवल्लभेन रहितं जनं विरहिणीलोकम् इत्यर्थः । (पाएहिँ सोसयत) पादै. किरणैः शोषयन्तं वियोगिदु ख्दम् इत्यर्थ. । यत.-" रजनि-नाथ ! निशाचर ! दुर्मते !, विरहिणां रुधिरं पिबसि ध्रुवम् । उदयतोऽरुणता कथमन्यथा, तव कथ च तके तनुताभृतः ॥ १ ॥ " (पुणो त्ति) पुनःशब्दो भूरि योजितः । पुनः किं-विशिष्टम्-(सोमचारुरूव त्ति) य. सौम्यः सन् चारुरूपो मनोहररूप. तम् । प्रेक्षत इति क्रियापदम् (सा) त्रिशला । पुनः किंविशिष्टम्-(गगणमंडल त्ति) गगनमण्डलस्य आकाशतलस्य (विसाले त्ति) विशालं विस्तीर्णम् । (सोम त्ति) सौम्यं सुन्दराकारं (चंकममाण त्ति) चङ्क-म्यमाण चलनस्वभावं एवविधं तिलकं तिलकमिव शोभाकर-त्वात् । पुन. किंविशिष्टम्,-" रोहिणीमणे " त्यादि । रोहिण्या-श्चन्द्रवल्लभाया. (मण त्ति) मनश्चित्त तस्य (हिअय त्ति) हितदो हितकारी एकपाक्षिकप्रेमनिरासार्थं हितद इति विशे-षणम् । ईदृश. (वल्लह त्ति) वल्लभो यस्तम् इद कविसमयापे-क्षया । अन्यथा-रोहिणी किल नक्षत्रं नक्षत्रचन्द्रयोश्च स्वामिसे-वकभाव एव सिद्धान्ते प्रसिद्धः । न तु स्त्रीभर्तृभाव. । (देवी) त्रिशला पूर्णचन्द्रम्, इद विशेष्यम् । (समुल्लसतं) ज्योत्स्नया शोभमानम् ॥ ३७ ॥ कल्प० ३ क्षण ।

चन्द्रमसो वृद्धिः—

ता कहं ते चंदमसा वड्ढोवड्ढी आहितातिवदेज्जा । ता अट्ठे पंचासीते मुहुत्तसते तीसं च वावट्ठिभागे मुहु-त्तस्स आहितातिवदेज्जा । ता दोसिणापक्खातो णं अं-धकारपक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे रज्जति, तं जहा-पढमाते पढमं भागं जाव पण्णरसीते पण्णरसम-भागं चरिमे समए चंदे रत्ते भवति । अवसेसे समए चंदे रत्ते य विरत्ते य भवति । इयं णं अमावासं एत्थ णं पढमे पव्वे अमावासा । ता अंधारपक्खतो णं दोसिणापक्खं अ-यमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च वाव-ट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे विरज्जइ । तं जहा-पढमाए पढमं भागं० जाव पण्णरसीए पण्णरसमं भागं । चरिमे समए चंदे विरत्ते भवति । अवसेसे समए चंदे रत्ते य विरत्ते य भवति । अयं णं पुण्णिमासिणी । तत्थ खलु इमातो वावट्ठिपुण्णिमातो वावट्ठि अमावासातो पण्णत्ताओ । वावट्ठि एए कसिणा विरागा । एए चउव्वीसे पव्वसिते एए चउव्वीसे कसिणरागसए ता जावतियाणं पचण्हं संवच्छराणं समया एगेण चउव्वीसेणं सतेणं ऊणगाए वति ताणं परित्ता असंखेज्जा देसरागविरा-गसता भवंतीति मक्खाता । ता अमावासातो णं पुण्णिमासि-णी चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छातालीसं वावट्ठिभागे मु-हुत्तस्स आहितातिवदेज्जा । ता अमावासातो णं अवामासा अट्ठापंचासीते मुहुत्तसते तीसं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहियाति वदेज्जा । ता पुण्णिमासिणीतो णं अमावासा चत्तारि बायाले मुहुत्तसते तं चेव ता पुण्णिमासिणीतो णं पुण्णि-मासिणी अट्ठापंचासीते मुहुत्तसते तीसं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहिताति वदेज्जा । एस णं एवइए चंदे मासे मासे । एसणं एवतिए सगले जुगे ॥

" ता कह ते " इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत् । कथ केन प्रकारेण त्वया भगवन् ! चन्द्रमसो वृद्ध्यपवृद्धी आख्याते इति वदेत् ? । किमुक्त भवति-कियन्त काल यावत् चन्द्रमसो वृद्धिः कियन्तं काल यावदपवृद्धिस्त्वया भगवन् ! आख्याता इति वदेत् । एव-मुक्ते भगवानाह- 'ता अट्ठे " इत्यादि ' ता' इति पूर्ववत् । अष्टौ मुहूर्त शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि । एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशत द्वाषष्टिभागान् यावद्वृद्ध्यपवृद्धी समुदायेन आख्याते इति वदेत् तथा ह्येकस्य चन्द्रमासस्य मध्ये एकस्मिन् पक्षे चन्द्रमसो वृ-द्धिरेकस्मिन् चापवृद्धिः, चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रिं-शत्रात्रिन्दिवानि । एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वात्रिंशत्द्वाषष्टि-भागा. रात्रिन्दिव च त्रिंशद्मुहूर्त्तकरणार्थमेकोनत्रिंशता गुण्यते जातान्यष्टौ शतानि सप्तत्यधिकानि ८७० मुहूर्त्तानाम् । येऽपि च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य तेऽपि मुहूर्त्तलक्षा भागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि नवशतानि षष्ट्यधिकानि ९६० तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः पञ्चदश मुहूर्ता १५ ते मुहूर्त्त-राशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि मूहूर्त्तानामष्टौ शतानि पञ्चाशीत्यधि-कानि [८८५] शेषाश्चोद्वरन्ति । त्रिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एतदेव प्रतिविशेषावबोधार्थं वैचित्र्येण स्पष्टयति-"ता दोसिणा-पक्खातो णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । ज्योत्स्नाप्रधानः पक्षः ज्योत्स्नापक्षः शुक्लपक्ष इत्यर्थ । तस्मात् अन्धकारपक्षमयमानो गच्छन् चन्द्र चत्वारि मुहूर्तशतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि, षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य यावदपवृद्धिं गच्छतीति वाक्यशेष' । यानि यथोक्तसंख्यानि मुहूर्त्तशतानि यावत् चन्द्रो राहुविमानप्रभया रज्यते कथं रज्यत इति । तमेव रागप्रकारं तद्यथेत्यादिना प्रकटयति प्रथमायां प्रतिप-ल्लक्षणाया तिथौ परिसमाप्नुवत्यां परिपूर्णं प्रथमं पञ्चदशं भागं यावत् रज्यते । द्वितीयाया परिसमाप्नुवत्यां तिथौ परिपूर्णं द्वितीयं पञ्चदशभागं यावत् । एव यावत् पञ्चदश्यां तिथौ परि-समाप्नुवत्यां परिपूर्णं पञ्चदशभाग यावत् तस्याश्च पञ्चदश्या. तिथेश्चरमसमये चन्द्रः सर्वात्मना राहुविमानप्रभया रक्तो भवति

रोहितो भवतीति तात्पर्यार्थः । यस्तु पौरुषो भागो द्वाषष्टि-भागद्वयात्मकोऽनावृत्य तिष्ठति स स्तोकत्वाददृश्यत्वाच्च न गण्यते । " अवसेसे " इत्यादि पञ्चदश्यास्तिथेश्वरमसमयं-मुक्त्वा शेषेषु सर्वेष्वपि समयेषु चन्द्रो रक्तो भवति । विर-क्तश्च । कियान् स तस्य राहुणा आवृतो भवति कियांश्चानावृत इति भावः । अन्धकारपक्षवक्तव्यतोपसंहारमाह-"इयं णं" इ-त्यादि । इयमन्धकारपक्षे पञ्चदशीतिथिः 'णं' इति वाक्यालङ्कारे अमावास्यानाम्नी तत्र च युगे प्रथमे पर्वे अमावास्या, इह मुख्य-वृत्त्या पर्वशब्दस्याभिधेयममावास्या पौर्णमासी च । उपचारात् पक्षे पर्वशब्दस्य प्रवृत्तिः। तत् उक्तम्-"इत्थ णं पढमे पव्वे अमा-वासा" इति । अथ कथं चत्वारि मुहूर्त्तशतानि चत्वारिंशदधि-कानि षट्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ? उच्यते-इह शुक्ल-पक्षः कृष्णपक्षो वा चन्द्रमासस्यार्द्धं ततः पक्षस्य प्रमाणं चतुर्दश-रात्रिन्दिवानि रात्रिन्दिवस्य सप्तचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः, रात्रि-दिवस्य परिमाणं त्रिंशत् मुहूर्त्ताः इति । चतुर्दश त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि मुहूर्त्तानां चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि ४२० येऽपि च सप्तचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः रात्रिन्दिवस्य तेऽपि मुहूर्त्तभाग-करणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि चतुर्दशशतानि दशोत्त-राणि १४१० तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः द्वाविंशतिमु-हूर्त्तास्ते मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि मुहूर्त्तानां चत्वारि श-तानि द्विचत्वारिंशदधिकानि ४४२ शेषास्तिष्ठन्ति-षट्चत्वारिंश-द्द्वाषष्टिभागाः मुहूर्त्तस्य ४६ तदेव यावन्तं कालं चन्द्रमसोऽप-वृद्धिः तावत्कालप्रतिपादनं कृतम् । अथ यावन्तं कालं वृद्धिस्तावन्त-मभिधित्सुराह-" ता अंधकारपक्खातो णं" इत्यादि । ता इति पूर्ववत् । अन्धकारपक्षात् 'ण' इति वाक्यालङ्कारे ज्योत्स्नापक्षं शु-क्लपक्षमयमानश्चन्द्रः चत्वारि द्विचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तश-तानि षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य यावत् वृद्धि-मुपगच्छति इति वाक्यशेषः । यानि यथोक्तसंख्यानि मुहूर्त्तश-तानि यावच्चन्द्रः तैर्विरज्यते राहुविमानेनानावृतो भवतीति । विरागप्रकारमेवाह-" त जहे " इत्यादि । तद्यथेत्यादि । विरा-गप्रकारः प्रदर्श्यते-प्रथमायां प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ-प्रथमं पञ्च-दशभागं यावच्चन्द्रो विरज्यते । द्वितीयायां द्वितीयं पञ्चदशभागं यावत् । एवं यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदशभागम् । तस्यां च पञ्चदश्यां तिथौ पौर्णमासीरूपायां चरमसमये चन्द्रो विरक्तो भवति; सर्वा-त्मना राहुविमानेनानावृतो भवतीति भावः । त पञ्चदश्याश्चरमस-मयं मुक्त्वा शुक्लपक्षप्रथमसमयादारभ्य शेषेषु समयेषु चन्द्रो रक्त-श्च भवति विरक्तश्च भवति देशतो रक्तो भवति देशतो विरक्तश्चेति भावः । मुहूर्तसंख्या भावना च प्राग्वत् कर्तव्या । शुक्लपक्षवक्त-व्यतोपसंहारमाह-"इयं ण" इत्यादि । इयमनन्तरोदिता पञ्चदशी-तिथिः पौर्णमासीनाम्नी अत्र च "जुगे ण" पूर्ववत् । द्वितीयं पर्व पूर्णमासी अथैवंरूपा युगे कियन्तोऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्ण-मास्य इति । युगे तद्गतसर्वसंख्यामाह "तत्थ खलु" इत्यादि । तत्र युगे खल्विमा एवं स्वरूपा द्वाषष्टिः पौर्णमास्यो द्वाषष्टिश्चामावा-स्या प्रज्ञप्ताः। तथा युगे चन्द्रमस एते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृ-त्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वाषष्टिरमावास्यानां युगे द्वाषष्टिसंख्या प्रमाणत्वात् तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णरागसंभवात् एते अन-न्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः कृत्स्ना विरागाः सर्वात्मना रागाभावाद् द्वाषष्टिः युगे पौर्णमासीनां द्वाषष्टिसंख्यात्मकत्वात् तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णविरागसंभवात् । तथा युगे सर्वसंख्य-या एकं चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतम् । अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य वाच्यत्वात् तासां च पृथक् पृथक् द्वाषष्टिसंख्यानामे-कत्र मीलने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात् एवमेव युगमध्ये सर्वसं-कलनया चतुर्विंशत्यधिकं कृत्स्नरागविरागशतम् " ता आव-इयाए " इत्यादि । यावन्तं पञ्चानां चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितरूपा-णां समयाः एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन एतावन्तः परिमिताः असंख्याता देशरागविरागसमयाः एतेषु सर्वेष्व-पि चन्द्रमसो देशतो रागविरागभावात् यत्तु चतुर्विंशत्यधि-कं समयः शतं तत्र द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो रागो द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागस्तेन तद्वर्जनमित्याख्यातं मया इति गम्यते । भगव-द्वचनमेतत् सम्यक् श्रद्धेयम् । संप्रति कियत्सु मुहूर्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी ? । कियत्सु वा मुहूर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या इत्यादि निरूपयति-" ता अ-मावासातो णं " इत्यादि सुगमम् । नवरम् अमावास्याया अन-न्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अनन्तरमर्द्धमा-सेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अमावास्या— परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति । यथोक्ता मुहूर्त्तसंख्या । उपसंहारमाह-"एस णं" इत्यादि । एष अष्टौ मुहूर्त्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्येति एतावान् एतावत्प्रमाणश्च-न्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकलं खण्डरूपं युगं चन्द्रमा-सप्रमितं युगं सकलमेतदित्यर्थः । चं० प्र० १३ पाहु० । स० । (राहुभेदाः ' राहु ' शब्दे) (राहु सकाशात्चन्द्रसूर्यग्रह-णवक्तव्यता ' गहण ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ८६१ पृष्ठे गता) ।

चन्द्रवृद्ध्या जीवानां वृद्धिहान्यौ-

जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव-संपत्तेणं नवमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दसमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणे णं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णगरे होत्था तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था । तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुण-सेलए णामं चेइए होत्था तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव गुणसेलए चेइए तणेव समोसढे परिसा णिग्गया सेणियो वि राया णिग्गओ धम्मं सोच्चा परिसा पडिगया तए णं गोयमे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-कह णं भंते ! जीवा वड्ढंति वा हायंति वा गोयमा ! से जहानामए बहुलपक्ख-स्स पाडिवयाचंदे पुण्णिमाचंदं पणिहाय हीणे वण्णेणं हीणे सोमयाए हीणे णिद्धयाए हीणे कंतीए हीणे एवं दित्तीए जुत्तीए छायाए पभाए ओयाए लेस्साए मंडलेणं तयाणंतरं च णं बीयाचंदो पाडिवयं चदं पणिहाय हीणत-राए वण्णेणं जाव मंडलेणं तयाणंतरं च णं तइयाचंदे बीइ-याचंदं पणिहाय हीणतराए वण्णेणं० जाव मंडलेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिहायमाणे परिहायमाणे० जाव अमावसाचं-

दे चाउद्दसिचंदं पणिहाय एष्ठो वयेणं० जाव एट्ठो मंमलेणं एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा० जाव पव्वतिए समाणे हीणे खंतीए एवं मुत्तीए गुत्तीए अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं सच्चेणं तवेणं चियाए अकिंचणयाए बंभचेरवासे णं तयाणंतरं च णं हीणतराए खंतीए जाव हीणतरा बंभचेरवासेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिहीयमाणे परिहीयमाणे एट्ठे खंतीए० जाव नट्ठे-बंभचेरवासे णं से जहा वा सुक्कपक्खस्स पामिवयाचंदे अमावासाचंदं पणिहाय अहिए वन्नेणं० जाव अहिए ममलेणं तयाणंतरं च णं बीयाए चंदे पामिवयाचंदं पणिहाय अहियतराए वन्नेणं० जाव अहिययराए मंमलेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिवड्ढेमाणे०२ जाव पुण्णिमाचंदे चाउद्दसिचंदं पणिहाय पमिपुण्णे वन्नेणं० जाव पमिपुण्णे मंडलेणं एवामेव समणाउसो० ! जाव पव्वतिए समाणे अहिए खंतीए०जाव बंभचेरवासेणं तयाणंतरं च णं अहिययराए खंतीए० जाव बंभचेरवासे णं एवं खलु एएणं कमेणं परिवड्ढेमाणे० २ जाव पमिपुण्णे बंभचेरवासे णं एवं खलु जीवा वड्ढइ वा हायंति वा एवं खलु जवू ! समणेणं जगवया महावीरेणं०जाव संपत्तेणं दसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पणत्ते त्तिबेमि ॥

अथ दशमं विवियते-अस्य चायं पूर्वेण सह संबन्धः । अनन्तराध्ययने विरतिविराधनयोरनर्थप्रार्थयोः संवादितयोरनन्तरोक्ताविह तु गुणहानिवृद्धिलक्षणावनर्थौ० प्रमादाप्रमादिनोरभिधीयेते । इत्येवं संबन्धमिदं सर्व सुगमं नवरं जीवाना कथ्यतोऽनन्तत्वेन प्रदेशतश्च प्रत्येकमसंख्यातप्रदेशत्वेनापरिमितपरिमाणत्वात् धर्मास्ते गुणैर्हीयन्ते च, तैरेव अनन्तरनिर्दिष्टत्वेन हानिमेव तावदाह-"से जहेत्यादि" [पणिहाए त्ति] प्रणिधायापेक्ष्य वर्णेन शुक्लतालक्षणेन सौम्यतया सुखदर्शनीयतया स्निग्धतया रूक्षतया कान्त्या कमनीयतया दीप्त्या दीपनेन वस्तुप्रकाशनेनेत्यर्थः. [जुत्ती पत्ति) युक्त्या आकाशसंयोगेन खण्डेन हिमखण्डेनाल्पतराकारसंयुतेन पुनर्यायत्संपूर्णेनेति छायया जलादौ प्रतिबिम्बलक्षणया शोभया वा प्रभया वा उद्गमनसमये द्युतिस्फुरणतया [ओयाए त्ति]ओजसा दाहापनयनादिस्वकार्यकरणशक्त्या लेश्यया किरणरूपया मण्डलेन वृत्ततया क्रान्त्यादिगुणहानिश्च कुशीलसंसर्गात् गुरूणामपर्युपासनात्प्रतिदिनं प्रमादपदसेवनात्तथाविधचारित्रावरणकर्मोदयाच्च भवतीति । गुणवृद्धिस्त्वेतद्विपर्ययादिति । अत्र च हीयमानानां जीवानां न वाञ्छितस्य निर्वाणसुखस्यावाप्तिरित्यनर्थः। आह च-"चंदो व्व कालपक्खे, परिहाए पए पए पमायपरो । तओ उग्घरविग्घर निरंगणो वि न इच्छियं लहइ " त्ति । गुणैर्वर्द्धमानानां तु वाञ्छितावाप्तिरर्थ इति । विशेषयोजना पुनरेवम्-

" जह चंदो तह साहू, राहुवरोहो जहा तह पमाओ ॥
वण्णाइगुणगणो जह, तहा खमाईसमणधम्मो ॥ १ ॥
पुण्णो वि पइदिणं जह, हायंतो सव्वहा ससी नस्स ।
तह पुण चरित्तो विहु, कुसीलसंसग्गिमाईहिं ॥ २ ॥
जणियपमाओ साहू, हायंतो पइदिण खमाईहिं ।
जायइ नट्ठचरित्तो, तत्तो दुक्खाइं पावइ " ॥ ३ ॥
तथा-"हीणगुणो वि हु होउं, सुह गुरुजोगोइ जणियसंवेगो ।
पुण्णसुरूवो जायइ, विवड्ढमाणो ससहरो व्व ॥ ४ ॥ इति"

ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । [संस्थाने 'जोइसिय' शब्दे] जिनदत्तस्य श्रावकस्य स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ क्षण । रुचकस्य पर्वतस्य दक्षिणतः सप्तमे कूटे, द्वी० । आल्हादजनकद्रव्यमात्रे, कर्पूरे, स्वर्णे, जले, काम्पिल्ये, पुं० । विसर्गवर्णे, 'चदि' दीप्तौ रक् कमनीये, त्रि० । मयूरपिच्छे, मेचके, हे० । शोणमुक्ताफले, मृगशिरोनक्षत्रे, एकाङ्के च । वाच० । दाक्षिणात्यानां ज्योतिष्काणामिन्द्रे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

चंदअ-चन्द्र-पुं० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति स्वार्थे कः । शशिनि, प्रा० २ पाद ।

चंदइल्लो-देशी-मयूरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंदउउ-चन्द्रर्तु-पुं० चन्द्रसम्बन्धिनि ऋतौ,ज्यो० १४ पाहु० । ('उउ' शब्दे द्वितीयभागे ६८२ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

चंदकंत-चन्द्रकान्त-त्रि० । चन्द्रप्रभे, आ० म० प्र० । चतुर्थे, देवलोकस्थे, स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम० । वाच० ।

चंदकंता-चन्द्रकान्ता-स्त्री० । गान्धाराधिपतेः शतबलनामराजस्य कान्तायाम, महाबलस्य मातरि, आ० क० । चक्षुष्मतो द्वितीयकुलकरस्य पत्न्याम, आ० क० । आ० म० । स० । आ० चू० । ति० । स्वनामख्यातायां नगर्यां च । यत्र विजयसेनो नामराजा आसीत् । कल्प०१ क्षण ।

चंदकित्ति-चन्द्रकीर्ति-पुं० । सारस्वतटीकाकारके नागपुरीयतपागच्छाचार्ये राजरत्नसूरिशिष्ये, जै०इ०। विमलसूरिशिष्ये, धर्मघोषाचार्यस्योपशिष्ये , जै० इ० ।

चंदकुमार-चन्द्रकुमार-पुं० । अयोध्यापतेर्हरिसिंहस्य पृथ्वीचन्द्रनामके कुमारे, ध० र० ।

चंदकुल-चान्द्रकुल-न० । श्रीवज्रार्यशिष्यवज्रसेनसूरिशिष्यचन्द्रसूरिनिर्गतकुले, मूलचान्द्रकुलस्याजनि च ततश्चन्द्रसूरिः । ग० ४ अधि० । हा० । ती० ।

चंदकूम-चन्द्रकूट-न० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमाने, स०३सम०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमेन रुचकवरे सप्तमे स्वनामख्यात कूटे , स्था० ८६ ठा० । ६

चंदकेउ-चन्द्रकेतु-पुं० अयोध्याधिपतौ स्वनामख्याते राज्ञि,दर्श०।

चंदग-चन्द्रक-पुं० । चन्द्र इव कायति कै-क । मयूरपुच्छस्थे चन्द्राकारे पदार्थे, अमरः । नखे, मत्स्यभेदे, सितमरिचे, न० । शिग्रुबीजे, न० । वामदक्षिणावर्त्तभ्रमदष्टचक्रः समध्यनिर्गच्छदूर्ध्वमुखशरप्रायः ततो भूस्थकुण्डिकागततैलान्तःप्रतिबिम्बितगगनस्थाधोमुखपुत्तलिकावामलोचने , त० । वृ० ।

चंदगणि-चन्द्रगणिन्-पुं० । स्वनामके सुमतिवाचकशिष्ये,येन विक्रमसम्वत् ११३६ श्रीवीरचरित्रनामा ग्रन्थः ह्यभयदेवसूरिशिष्यैः प्रसन्नचन्द्राचार्यैः विरचितः । जै० इ० ।

चंदगवेज्झ-चन्द्रकवेध्य-न० । चन्द्रकरूप वेध्यं चन्द्रकवेध्यम् । आतु० । व्य० । राधावेधे, तद्वद् दुराराध्ये अनशने. च । नि० चू० ११ उ० । वृ० । स० । द० प० ।

चंदगुत्त-चन्द्रगुप्त-पुं० । मौर्यग्रामसंजाते चाणक्येन चन्द्रराज-

सिंहासनमारोहिते स्वनामख्याते पाटलिपुत्रराजनि, आ० चू०। तत्कथा चैवम्-नन्दराजकदर्थितश्चाणिक्यो नन्दावधं प्रत्य-भिज्ञाय -

" मौर्यग्रामे स नान्दोगा-त्परिव्राजकवेषभाक् ।
तत्र ग्रामपतेः पुत्र्या-श्चन्द्रपानेऽस्ति दोहदः ॥ १३ ॥
पृष्टः परिव्राट् तत्पूर्त्यै, सोऽवक् चेद्दत्तमेऽर्भकम् ।
दोहदं पूरयाम्यस्या, स्तद्वयास्तेरमन्यत ॥ १४ ॥
तत्र राकादिने जाते, कारितः पटमण्डपः ।
भृत्वा स्थालं च दुग्धेन, रसवद् द्रव्ययोगिना ॥ १५ ॥
नभोमध्यगते चन्द्रे, तत्रानाय्यत सा सुता ।
छिद्रेण बिम्बितं चन्द्रं, क्षीरान्तर्वीक्ष्य सा पपौ ॥ १६ ॥
उपर्यारोपितश्चच प्राक्, छिद्रमाच्छादयत्पुमान् ।
पूर्णेऽस्या दोहदे पुत्र-श्चन्द्रगुप्ताभिधोऽभवत् ॥ १७ ॥
ववृधे स क्रमात्स्वर्ण-सिद्धिं चाप चणिप्रभूः ।
चन्द्रगुप्तोऽन्यदा रेमे, राजनीत्याऽर्भकैः समम् ॥ १८ ॥
चाणिक्योऽप्यागतः प्रेक्ष्या-याचन् मे देहि किंचन ।
ऊचे गृहाण गा एता, हन्ता कोऽपि न-गृह्णतः ॥ १९ ॥
ऊचे किं त्वं न जानासि, वीरभोज्या वसुंधरा ।
तच्छ्रुत्वा चणिसूर्जज्ञौ, तेजोऽस्त्यस्य नृपोचितम् ॥ २० ॥
पृष्ट कस्यायमूचेऽर्भः, परिव्राट्सुनुरेषकः ।
यदि सोऽहं परिव्राड् भोः, कुर्वे त्वां सत्यभूभुजम् ॥ २१ ॥
चाणिक्यस्तं गृहीत्वाऽसौ, सैन्यं स्वर्णैरमेलयत् ।
रुरोध पाटलीपुत्रं, भग्नो नन्देन सोऽनशत् ॥ २२ ॥
दृष्ट्वाऽश्ववारमायान्तं, मौर्यं पद्मवनेऽक्षिपत् ।
स्वयं च रजको जातः, पृष्टस्तेनेदमूचिवान् ॥ २३ ॥
मौर्यः पद्मसरस्यैष, तं दृष्ट्वोत्तीर्णवान् हयात् ।
चाणिक्यस्य समर्प्याश्वं, मुक्त्वाऽसिं मोचकेऽमुचत् ॥ २४ ॥
यावत् यावज्जले तावत्-चाणिक्येन हतोऽसिना ।
चन्द्रगुप्तमथाकार्या-श्विरोऽप्याश्वं पलायितौ ॥ २५ ॥
पृष्टोऽसि त्वं यदानेन, मयाशिष्टं तदा त्वया ।
किं दध्ये सोऽवदन्नून-मेवमार्यस्य शोभनम् ॥ २६ ॥
ज्ञातं तेनाथ योग्योऽयं, न मे व्यभिचरत्यसौ ।
मौर्यं क्षुधार्तं मुक्त्वाऽथ, चाणिक्योऽभ्याययात्ततः ॥ २७ ॥
मा ज्ञासीत्कोऽपि नो भुक्तं, विप्रस्य बहिरीयुषः ।
विपाट्योदरमादाय, दध्योदनमुपागतः ॥ २८ ॥
भोजयित्वा चन्द्रगुप्तं, ग्रामेऽन्यत्र गतो निशि ।
चाणिक्यो भिक्षितुमगाद्, वृद्धयाऽग्रेऽर्भभोजने ॥ २९ ॥
विक्षेप्य क्षेप्यथैकेन, दग्धः क्षिप्तोऽन्तरे करः ।
समूचे स्थविरा वत्स ! , चाणिक्यसदृशोऽसि किम् ॥ ३० ॥
पृष्टाऽनेनावदत्पूर्वं, गृह्यते पार्श्वतस्ततः ।
कटे हिमवतः सोऽगात्, कृतश्च पर्वतः सुहृत् ॥ ३१ ॥
ग्राह्यमावाभ्यामित्युक्त्वा, द्वौ नन्दौ क्ष्मां वजग्मतुः ।
पपात किं न दुर्गं तत्, प्रविष्टोऽन्तस्त्रिदण्डिमकः ॥ ३२ ॥
विज्ञायेन्द्रकुमारीणां, प्रभावात्प्रपतत्यदः ।
मायोत्थापितस्तेन, जगृहे तत्पुरं जवात् ॥ ३३ ॥
रुद्धं द्वाभ्यां ततो विष्वक्, पाटलीपुत्रपत्तनम् ।
नन्दो यावद्धर्मद्वारं, चाणिक्योऽद्राजगाद च ॥ ३४ ॥
यन्मात्यैकरथे तत् त्वं, सर्वमादाय निःसर ।
नन्दः प्रियां सुतां त्वेकां, द्रव्यं चादाय निर्ययौ ॥ ३५ ॥
चन्द्रगुप्तं प्रविशन्तं, कन्याऽपश्यत्सुधा सताम् ।
ऊचे याहीति सोत्तीर्णः, चन्द्रगुप्तरथं ययौ ॥ ३६ ॥
भग्ना न चारकास्तस्या-मारोहन्त्यां त्रिदण्ड्यवक् ।
शकुनान्मौर्यतेऽमुष्मा-द्राधि राज्यं न वान्वयात् ॥ ३७ ॥
गत्वाऽन्तः सौधमीक्षित्वा, तं च मुक्त्वा चणिप्रसूः ।
कन्यकां विषकन्येति, ज्ञात्वाऽदात्पर्वतस्य ताम् ॥ ३८ ॥
स तस्यां करलग्नाया-मप्यभून्मरणातुरः ।
ऊचे वयस्य ! म्रियते, मौर्योऽवादीन्मणिर्मलिः ॥ ३९ ॥
चाणिक्यो भ्रुकुटीं चक्रे, निवृत्तः सोऽथ तन्मृतौ ।
अभूद्राज्यद्वयस्वामी, चाणिक्यो राजचाटकः ॥ ४० ॥
कुर्वन्ति चोरिकां नान्दा-स्तदा रक्षान् विमार्गयत् ।
घ्नन्तं मत्कोटकानुष्ण-जलक्षेपेण तद्बिले ॥ ४१ ॥
प्रेक्ष्याप्राक्षीत्कुविन्द स, नक्षदानं करोषि किम् ।
स ऊचे मेऽदशन्सूनु-मेको दत्तस्त्यमूंस्ततः ॥ ४२ ॥
रौद्रं ज्ञात्वाथ तं प्रान, राकार्याऽऽरक्षकं व्यधात् ।
विश्वास्याभक्तय चौरान्, स सर्वानज्वालयद् गृहे ॥ ४३ ॥
निष्ठां नैकत्र लब्धाऽन्-ग्रामे तं प्रत्यथाऽऽदिशत् ।
आर्यावशात्क्षितिशूले, स्तनमालेऽकृतेऽन्यथा ॥ ४४ ॥
विमृश्य पारिणामिक्या, धिया कोशविवृद्धये ।
दीनारैर्भाजनं भृत्वा, द्यूतं रेमे चणिप्रसूः ॥ ४५ ॥
कूटैः पाशैः समं पौरैः, स्थालं गृह्णात्वसुं जयी ।
दीनारं मे जयेद्या-देवं कोशश्चिरान्नवेत् ॥ ४६ ॥
ध्यात्वोपायमथान्यं स, पौरान् स्वौकस्यभोजयत् ।
मद्यं चापाययत्तेषु, मत्तेष्वथ ननर्त सः ॥ ४७ ॥
ऊचे द्वेधाऽन्तुरके मे, वाससी स्वर्णकुण्डिका ।
त्रिदण्डं च वशो राजा, होलां वादयतात्र भोः ॥ ४८ ॥
ऊचेऽन्यो व्रजतो मत्त-हस्तिनो लक्षयोजनम् ।
पदे पदे स्वर्णवृष्टिः, होलां वादयतात्र भोः ॥ ४९ ॥
ऊचे परस्तिला उप्ता, यावन्तः स्युस्तिलाढके ।
तावन्तः सन्ति लक्षा मे, होलां वादयताऽत्र भोः ॥ ५० ॥
ऊचेऽन्यो दीर्घवेगायाः, पूरं नद्यास्तपात्यये ।
एकाहम्रक्षणे रुन्धे, होलां वादयताऽत्र भोः ॥ ५१ ॥
तदहर्जातजात्याश्च, किशोराणां परोऽवदत् ।
छादयाम्यंशकशोभा, होलां वादयतात्र भोः ॥ ५२ ॥
ऊचेऽन्यः शालिरत्ने द्वे, छिन्ने छिन्ने प्ररोहितः ।
शालिप्रसूतिगर्दभ्यो, होलां वादयताऽत्र भोः ॥ ५३ ॥
शुक्लवासाः सुगन्धाङ्गो, निरृणोऽनुचयः प्रियः ।
अप्रवासी सहस्रेशो, होलां वादताऽत्र भोः ॥ ५४ ॥
एकयोजनमत्तेभ-गतिमित्यर्थलक्षकाः ।
तथैकतिलजानिल-मितान् शतसहस्रकान् ॥ ५५ ॥
एकाहम्रक्षणाज्यं चै-काहाश्वान्मासि मासि च ।
कोष्ठागारभृतः शाली-श्चाणिक्याय ददुश्च ते ॥ ५६ ॥

आ० क० । तं० । न० । आ० चू० । आव० । आ० म० । दर्श० । आव० । आ० म० । चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारस्तस्याशोकश्रीस्तस्य सम्प्रतिराज इत्येवमुत्तरोत्तरं समृद्धिमन्त आसन् ततो ह्रासश्च । बृ० । विशे० । कल्प० । सिंहलद्वीपे रत्नज्योत्स्ना श्रीपुरनगरस्याधिपतौ राजनि, ती० १० कल्प ।

चंदचरिय-चन्द्रचरित-न० । चन्द्रस्य ग्रहपतेश्चरित चन्द्रचरितम् । चन्द्रस्य वर्णसंस्थानप्रमाणनक्षत्रयोगराहुग्रहादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

चंदचार–चन्द्रचार–पुं०। चन्द्रस्य मण्डलोपसंक्रमणे,(च० प्र०)
तत्र प्रथमचन्द्रचारपरिज्ञानार्थं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कहं ते चंदचारा आहिया ति वएज्जा ?। ता पंचसंवच्छरिए णं जुगे अभिइएणक्खत्ते सत्तसट्ठिचारे चंदेणं सद्धिं जोयं जोएइ, सवणे णक्खत्ते सत्तट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोगं जोएति,एवं० जाव च उत्तरासाढाणक्खत्ते सत्तट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोएइ ॥

"ता कहं ते"इत्यादि। 'ता'इति प्राग्वत्। कथं केन प्रकारेण,कया सङ्ख्यया इत्यर्थः। ते त्वया भगवन् ! चारा आख्याता इति वदेत्। भगवानाह-"ता पंच" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत् पञ्चसांवत्सरिके चन्द्रादिपञ्चसंवत्सरप्रमाणे युगे युगमध्ये अभिजिन्नक्षत्र सप्तषष्टिचारान् यावत् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। किमुक्तं भवति?-चन्द्रोऽभिजिन्नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् चारान् चरतीति। कथमेतत्प्रत्येयमिति चेत् ?। उच्यते-इह योगमधिकृत्य सकलनक्षत्रमण्डलीपरिसमाप्तिरेकेन नक्षत्रेण मासेन भवति। नक्षत्रमासाश्च युगमध्ये सप्तषष्टिः, एतच्चाग्रे भावयिष्यते। ततः प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकं चारमभिजिता नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगसंभवादुपपद्यते चन्द्रोऽभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसङ्ख्यातं चरतीति। एवं च प्रति नक्षत्र भावनीयम् । च० प्र० १० पाहु० ।

चंदचूल–चन्द्रचूल–पुं०। खेचराधिपतौ, दर्श०। हरिश्चन्द्रमहीपतिसमये वनवराहरूपं विकृत्यायोध्यापरिसरस्थितशक्रावतारचैत्याश्रमसङ्कुरि स्वनामख्याते राजनि, ती० ३८ कल्प ।

चंदच्छाय–चन्द्रच्छाय–पुं०। मल्लिनाथेन सह प्रव्रजितेऽङ्गराजे, "चंदच्छाए अंगराया," ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था०। चम्पायां चन्द्रच्छायराजः कदाचिदर्हन्नकाभिधानेन श्रावकेण पोतवणिजा चम्पावास्तव्येन यात्राप्रतिनिवृत्तेन दिव्ये कुण्डलयुग्मे कौशलिकतयोपनीते सति पप्रच्छ , यदुत-यूयं बहुशः समुद्रं लङ्घयथ, तत्र च किञ्चिदाश्चर्यमपश्यत ?। असाववोचत्-स्वामिन् ! अस्यां यात्रायां समुद्रमध्येऽस्माकं धर्मचालनार्थं देवः कश्चिदुपसर्गं चकार, अविचलने चास्माकं तुष्टेन तेन कुण्डलयुगलाद्वितयमदायि, तदेकं कुम्भकस्यास्माभिरुपनिन्ये, तेनाऽपि मल्लिकन्यायाः कर्णयोः स्वकरेण विन्यासि, सा च कन्या त्रिभुवनाश्चर्यभूता दृष्टेति। स्था० ७ ठा० । तं० ।

चंदजसा–चन्द्रयशस्–स्त्री०। मित्रप्रभोः राज्ञो राजगृहस्थायां भार्यायाम्, आ० क०। पद्मिनीखण्डनगरराजस्य भार्यायाम्, आव० ४ अ० । आ० चू०। सघा०। प्रथमकुलकरस्य विमलवाहनस्य स्वनामख्यातायां चतुर्दशपत्न्याम् , ति०। स्था०। स०। आ० म०।

चंदज्झय–चन्द्रध्वज–पुं०। चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम०। 'अरुखीरीति' प्रत्यन्तनगरस्य मण्डलिके राज्ञि, आ० चू० ४ अ०।

चंदण–चन्दन–न०। स्वनामख्याते गन्धप्रधाने वृक्षविशेषे, आ० म० प्र०। प्रज्ञा०। आचा०। औ०। रा०। सूत्र०। ज्ञा०। रुचकपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि स्वनामख्याते कूटे, द्वा०१द्वा०। ज०।

चंदणकयचच्चाग–चन्दनकृतचर्चाक–त्रि०। चन्दनकृतोपरागे, ज० १ वक्ष०। रा०।

चंदणकलस–चन्दनकलश–पुं०। माङ्गल्यघटे, कल्प० ५ क्षण। जी०। औ०।

चंदणक्खत्तजोग–चन्द्रनक्षत्रयोग–पुं०। चन्द्रेण सह नक्षत्रस्य योगे, (ज्यो०)

एवंतु चन्द्रनक्षत्रयोगः, तत्परिज्ञानार्थं करणमाह–

चउवीससयं काऊ–ण य पमाणं सत्तट्ठिमेव फलं ।
इच्छापव्वेहि गुणं , काऊणं पज्जया लद्धा ॥ १ ॥
अट्ठारसहिँ सएहिँ, तीसेहिँ सेसगम्मि गुणियम्मि ।
तेरस दुउत्तरेहिँ, सएहिँ अभिजिम्मि सुद्धम्मि ॥२॥
सत्तट्ठिदुसट्ठीणं, सव्वग्गेणं ततो उ जं सेसं ।
तं रिक्खं नायव्वं, जत्थ समत्तं हवइ पव्वं ॥३॥

त्रैराशिकविधौ चतुर्विंशत्यधिक प्रमाणं प्रमाणराशिं कृत्वा सप्तषष्टिरूपं फलं फलराशिं कुर्यात्, कृत्वा वा ईप्सितैः पर्वभिर्गुणं गुणकारं विदध्यात्, अनुविधाय चाऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागे हृते यल्लब्धं ते पर्याया ज्ञातव्याः । १। यत्पुनः शेषमवतिष्ठते तत् अष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सगुण्यते, सगुणिते च तस्मिन् ततस्त्रयोदशभिः शतैर्द्व्युत्तरैरभिजित् शोधनीयः।२। ततः तस्मिन् शोधिते सप्तषष्टिसंख्यया' द्वाषष्ट्या ,तासां सर्वाग्रेण यद्भवति। किमुक्तं भवति-सप्तषष्ट्या द्वाषष्टौ गुणितायां यद्भवति,तेन भागे हृते लब्ध तावन्ति नक्षत्राणि शुद्धानि द्रष्टव्यानि,यत्पुनस्ततोऽपि भागहरणादपि शेषमवतिष्ठते तत् ऋक्षं नक्षत्रं ज्ञातव्यम्, यत्र विवक्षितं पर्व समाप्तमिति। एष करणगाथात्रयाक्षरार्थः ।३। भावना त्वियम्-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिपर्याया लभ्यन्ते,तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-।१२४।६७।१। अत्र चतुर्विंशत्यधिकपर्वशतरूपो राशिः प्रमाणभूतः सप्तषष्टिरूपः फलम्, तत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातस्तावानेव। तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणम् , स च स्तोकत्वात् भागं न प्रयच्छति। ततो नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराशिः , परार्द्धेनापवर्तना जातो गुणकारराशिः नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, छेदराशिर्द्वाषष्टिः, तत्र सप्तषष्टिर्नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैर्गुण्यते, जातानि एकषष्टिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि६१३०५,एतस्मादभिजित् त्रयोदशशतानि द्व्युत्तराणि शुद्धानि स्थितानि। शेषाणि षष्टिसहस्राणि द्व्युत्तराणि ६०००३। तत्र छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि एकचत्वारिंशत्शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४। तैर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चतुर्दश। तेन श्रवणादीनि पुष्यपर्यन्तानि चतुर्दश नक्षत्राणि तिष्ठन्ति अष्टादशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि १८४७, एतानि मुहूर्त्तानयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते , जातानि पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि दशोत्तराणि ५५४१०, तेषां भागे हृते लब्धास्त्रयोदश मुहूर्त्ताः। शेषाणि तिष्ठन्ति चतुर्दशशतानि अष्टोत्तराणि १४०८। एतानि द्वाषष्टिभागानयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानीति। गुणकारच्छेदराश्योः द्वाषष्ट्याऽपवर्तना क्रियते, तत्र गुणकारराशिर्जात एककच्छेदराशिः सप्तषष्टिः, एकेन च गुणित उपरितनो राशिर्जातस्तावानेव, ततस्सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकविंशति , पश्चादवतिष्ठते एकः सप्तषष्टिभागः, एकस्य च सप्तषष्टि–

भागस्य आगतं प्रथमं पर्व अश्लेषायास्त्रयोदश मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशतिद्वाषष्टिभागानेकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैक सप्तषष्टिभागं भुक्त्वा समाप्तमिति । तथा यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिपर्याया लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां पर्वाभ्यां किं लभ्यते ?; राशित्रयस्थापना-१२४-६७-२। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जात चतुस्त्रिंशदधिक शतम् १३४, तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण भागो ह्रियते,लब्ध एको नक्षत्रपर्यायः। स्थिताः शेषा दश। तत एतान् नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणाकारच्छेदराश्योरर्द्धेनाऽपवर्तना,अपवर्तनाजातानि गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि गुण्यन्ते, जातानि एकनवतिशतानि पञ्चाशदधिकानि ९१५०, तेभ्यस्त्रयोदशशतानि द्व्युत्तराणि अभिजितः शुद्धानि, स्थितानि पश्चादष्टसप्ततिशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ७८४८, तत्र द्वाषष्टिरूपच्छेदराशिः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, तैर्भागो ह्रियते, लब्धमेकं श्रवणरूपं नक्षत्रं, शेषाणि षट्त्रिंशच्छतानि चतुर्नवत्यधिकानि ३६९४, एतानि मुहूर्त्तानि यदर्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातमेक लक्षं दश सहस्राणि अष्टौ शतानि विंशत्युत्तराणि ११०८२०, तेषां छेदराशिना भागे हृते लब्धाः षड्विंशतिर्मुहूर्ताः २६, शेषाणि तिष्ठन्ति अष्टाविंशशतानि षोडशोत्तराणि २८१६, एतानि द्वाषष्टिभागानयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानि, तत्र गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्ट्याऽपवर्तना। तत्र गुणकारराशिरेकरूपो जातश्छेदराशिः सप्तषष्टिः, तत्र एकेन उपरितनो राशिर्गुणितो जातस्तावानेव। तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः द्वाचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ, तत आगतं द्वितीयं पर्व धनिष्ठानक्षत्रस्य षड्विंशतिर्मुहूर्तान्, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाचत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागा भुक्ताः समाप्तिं गच्छन्तीति। एवं शेषेष्वपि पर्वसु समाप्तिनक्षत्राणि भावनीयानि।

सम्प्रति युगपूर्वार्द्धे तत्संग्रहिकाः पञ्च गाथाः पठति-

> सप्प धणिट्ठा अज्जम, अभिवुड्ढि चित्त आस वहिदग्गी ।
> रोहिणि जेट्ठा मगसिर, वीस अदिइ सवण पिउदेवा ॥
> अज अज्जम अभिवुड्ढी, चित्ता आसो तह विसाहा उ ।
> रोहिणि मूलो अद्दा, वीसग पुस्सो तह धणिट्ठा य ॥
> भग अज अज्जम पूसा, साई अग्गी य मित्तदेवा य ।
> रोहिणि पुव्वासाढा, पुणव्वसू वीसदेवा य ॥
> अहि वसु भगाऽभिवुड्ढी,हत्थऽस्स विमाह कत्तिया जेट्ठा ।
> सोमाउ रवी सवणा, पिउ वरुण भगाभिवुड्ढिया चित्ता ॥
> अस्स विसाहा अग्गी, मूलो अद्दा य विस्स पुस्सो य ।
> एए जुगपुव्वद्धे, दुसट्ठिपव्वेसु णक्खत्ता ॥

प्रथमस्य पर्वणः समाप्तौ सर्पः सर्पदेवतोपलक्षितम् अश्लेषा नक्षत्रम् १। द्वितीयस्य धनिष्ठा २। तृतीयस्य अर्यमा,अर्यमादेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः ३। चतुर्थस्य अभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४। पञ्चमस्य चित्रा ५। षष्ठस्य अश्व, अश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी ६। सप्तमस्य इन्द्राग्निदेवोपलक्षिता विशाखा ७। अष्टमस्य रोहिणी ८। नवमस्य ज्येष्ठा ९। दशमस्य मृगशिरः १०। एकादशस्य विष्वगृदेवतोपलक्षिता उत्तराषाढा ११। द्वादशस्यादितिरदितिदेवतोपलक्षिता पुनर्वसुः १२। त्रयोदशस्य श्रवणः १३। चतुर्दशस्य पितृदेवा मघाः १४। पञ्चदशस्य अज अजादेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा १५। षोडशस्यार्यमा, अर्यमादेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः १६। सप्तदशस्य अभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा १७। अष्टादशस्य चित्रा १८। एकोनविंशतितमस्याश्वोऽश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी १९। विंशतितमस्य विशाखा २०। एकविंशतितमस्य रोहिणी २१। द्वाविंशतितमस्य मूलम् २२। त्रयोविंशतितमस्य आर्द्रा २३। चतुर्विंशतितमस्य विष्वगृदेवतोपलक्षिता उत्तराषाढा २४। पञ्चविंशतितमस्य पुष्यः २५। षड्विंशतितमस्य धनिष्ठा २६। सप्तविंशतितमस्य भगो, भगदेवतोपलक्षिता पूर्वफाल्गुनी २७। अष्टाविंशतितमस्याजोऽजदेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा २८। एकोनत्रिंशत्तमस्य अर्यमा, अर्यमादेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः २९। त्रिंशत्तमस्य पूषा, पूषदेवतको रेवती ३०। एकत्रिंशत्तमस्य स्वातिः ३१। द्वात्रिंशत्तमस्याग्निरग्निदेवतोपलक्षिताः कृत्तिकाः ३२। त्रयस्त्रिंशत्तमस्य मित्रदेवा, मित्रनामा देवा यस्याः सा तथा, अनुराधा इत्यर्थः ३३। चतुस्त्रिंशत्तमस्य रोहिणी ३४। पञ्चत्रिंशत्तमस्य पूर्वाषाढा ३५। षट्त्रिंशत्तमस्य पुनर्वसुः ३६। सप्तत्रिंशत्तमस्य विष्वग्देवा, उत्तराषाढा इत्यर्थः ३७। अष्टात्रिंशत्तमस्य अहिरहिदेवतोपलक्षिता अश्लेषाः ३८। एकोनचत्वारिंशत्तमस्य वसुः, वसुनामदेवोपलक्षिता धनिष्ठा ३९। चत्वारिंशत्तमस्य भगो भगदेवोपलक्षिताः पूर्वफाल्गुन्यः ४०। एकचत्वारिंशत्तमस्य अभिवृद्धिरभिवृद्धिनामकदेवोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४१। द्वाचत्वारिंशत्तमस्य हस्तः ४२। त्रिचत्वारिंशत्तमस्य अश्व, अश्वदेवता अश्विनी ४३। चतुश्चत्वारिंशत्तमस्य, विशाखा ४४। पञ्चचत्वारिंशत्तमस्य कृत्तिका ४५। षट्चत्वारिंशत्तमस्य ज्येष्ठा ४६। सप्तचत्वारिंशत्तमस्य सोमः,सोमदेवोपलक्षितं मृगशिरानक्षत्रम् ४७। अष्टचत्वारिंशत्तमस्यायुरायुर्देवा पूर्वाषाढाः ४८। एकोनपञ्चाशत्तमस्य रविः, रविनामकदेवोपलक्षितं पुनर्वसुनक्षत्रम् ४९। पञ्चाशत्तमस्य श्रवण ५०। एकपञ्चाशत्तमस्य पिता, पितृदेवा मघाः ५१। द्विपञ्चाशत्तमस्य वरुणो, वरुणदेवोपलक्षितं शतभिषक्नक्षत्रम् ५२। त्रिपञ्चाशत्तमस्य भगो, भगदेवाः उत्तरफाल्गुन्यः ५३। चतुःपञ्चाशत्तमस्याभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवा उत्तरभद्रपदा ५४। पञ्चपञ्चाशत्तमस्य चित्रा ५५। षट्पञ्चाशत्तमस्याश्वोऽश्वदेवाऽश्विनी ५६। सप्तपञ्चाशत्तमस्य विशाखाः ५७। अष्टपञ्चाशत्तमस्य अग्निरग्निदेवोपलक्षिताः कृत्तिकाः ५८। एकोनषष्टितमस्य मूलम् ५९। षष्टितमस्य आर्द्रा ६०। एकषष्टितमस्य विष्वग्देवा उत्तराषाढा ६१। द्वाषष्टितमस्य पुष्यः ६२। एतदुपसंहारमाह-"एए" इत्यादि। एतानि नक्षत्राणि युगस्य पूर्वार्द्धे यानि द्वाषष्टिसंख्यानि पर्वाणि तेषु क्रमेण वेदितव्यानि। एव प्रोक्तकरणवशात् युगस्योत्तरार्द्धमपि क्रमेण द्वाषष्टिसंख्येषु पर्वस्ववगन्तव्यानि। ज्यो० १५ पाहु०। द्० प०।

चंदणखोडि—चन्दनखोटि—स्त्री० । गोशीर्षचन्दनस्य खोटौ, व्य० ३ उ०। (चन्दनखोटकदृष्टान्तेन सूत्रस्याचार्यस्य भरदना 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३२२ पृष्ठे उक्ता)

चंदणघड-चंदनघट-पुं०। चन्दनकलशे, "चंदणघडसुकयतोरण-

पइदारदेसभागा" चन्दनघटैश्चन्दनकलशैः सुकृतानि सुष्ठु कृतानि,शोभनानि इति तात्पर्यार्थः। यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि प्रसिद्धानि, प्रतिद्वारे देशभागो यस्यां सा तथा। जा० ३ प्रति० ।

चंदणज्जा-चन्दनार्या-स्त्री० । वीरजिनस्य प्रथमशिष्यायाम, ति० । स० ।

चंदणपुड-चन्दनपुट-न० । चन्दनमुख्यगन्धद्रव्यपुटे पुटपरिमिते चन्दनाख्यगन्धद्रव्ये, रा० ।

चंदणपेसिया-चन्दनपेषिका-स्त्री० । चन्दनपेषणकारिकायां, हरितालादिपेषिकायां च । भ० ११ श० ११ उ० ।

चंदणबाला-चन्दनबाला-स्त्री० । आर्य्यचन्दनायां श्रीमहावीरस्य प्रथमशिष्यायाम् , ती० १२ कल्प । "चन्दना सा कथं नाम, बालेति प्रोच्यते बुधैः ?। मोक्षमादत्त कुल्माषैर्महावीर प्रतार्य या ॥ १॥" कल्प० ६ क्षण ।

चंदणविलेवण-चन्दनविलेपन-न०। मलयजात्युपलेपने,पञ्चा० ५ विव० ।

चंदणसार-चन्दनसार-पुं०। चन्दनस्येव सारोऽस्य । वज्रभेदे, ६ त० । घृष्टचन्दनसारे, वाच० । " चंदणसारणिम्माविय " (जी० ३ प्रति०) " कोणपरिघट्टियाए " चन्दनसारो गर्भस्तेन निर्मापितो यः कोणो वादनदण्डस्तेन परिघट्टिता । ज० १ वक्ष० । जी० ।

चंदणा-चन्दना-स्त्री० । महावीरजिनस्य प्रथमशिष्यायाम, आ० क० । अन्त० । कल्प० । आ० म० । द्वीन्द्रियजीवभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

चंदणागरी-चन्दनागरी-स्त्री० । उत्तरवलिस्सहात्स्थविराज्जिर्गतस्योत्तरवलिस्सहगणस्य चतुर्थ्यां शाखायाम, कल्प० ८ क्षण ।

चंदणुक्खित्तगायसरीर-चन्दनोक्षितगात्रशरीर-त्रि० । चन्दनोपलिप्ताङ्गदेहे, भ० ए श० ३३ उ० । रा० ।

चंदणोक्किणगायसरीर-चन्दनोत्कीर्णगात्रशरीर-त्रि० । चन्दनेन प्रलीनेन उत्कीर्णमिवोत्कीर्णं गात्राणि शरीरं यस्य स तथा । दशा० १० अ० । चन्दनेन श्रीचन्दनेनोत्कीर्णं चर्चितं गात्रं शरीरं येन स तथा । चन्दनचर्चितदेहे , त० ।

चंददरिसणिया-चन्द्रदर्शनिका-स्त्री० । जातपुत्रस्य चन्द्रदर्शनेनोत्सवविशेषे, (कल्प०) तद्विधिश्चायम्-जन्मदिनाद्दिनद्वयातिक्रमे गृहस्थः गुर्वर्हत्प्रतिमाग्रे रूप्यमयीं चन्द्रमूर्तिं प्रतिष्ठाप्य अर्चित्वा विधिना स्थापयेत् । ततः स्नातां सुवस्त्राभरणां सपुत्रां मातरं चन्द्रोदये प्रत्यक्षचन्द्रसमक्षं नीत्वा " ॐ अर्हं चन्द्रोऽसि निशाकरोऽसि नक्षत्रपतिरसि सुधाकरोऽसि ओषधीगर्भोऽसि अस्य कुलस्य वृद्धिं कुरु२ स्वाहा" इत्यादि चन्द्रमन्त्रमुच्चार्य्यमाणश्चन्द्रं दर्शयेत् । सपुत्रा माता च गुरुं प्रणमति,गुरुश्चाशीर्वादं ददाति। स चायम्-"सर्वौषधीमिश्रमरीचिराजिः, सर्वापदां संहरणप्रवीणः । करोतु वृद्धिं सकलेऽपि वंशे, युष्माकमिन्दुः सततं प्रसन्नः " ॥ १ ॥ कल्प० २ क्षण ।

चंददह-चन्द्रह्रद-पुं० । जम्बूद्वीपे उत्तरकुरुषु दशाभिः काञ्चनकाभिधानैश्चन्द्रसमाननामदेवाधिवासैर्दशयोजनान्तरैः पूर्वापरव्यवस्थितैर्गिरिभिरुपेते महाह्रदे, स्था०५ ठा०२ उ०। जी०।

चंददिण-चन्द्रदिन-न० । प्रतिपदादिकायां तिथौ, " चंददिवेणं एगूणतीसं मुहुत्ते सातिरेगे मुहुत्तग्गेणं " पं० सं० ५ द्वार ।

चंददीव-चन्द्रद्वीप-पुं० । चन्द्राणां द्वीपे, (जी०)

सम्प्रति जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्र— सत्कचन्द्रद्वीपप्रतिपादनार्थमाह-

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता। जंबुद्दीवंतेणं अद्धेकूणणउतिं जोयणाति चत्तालीसं च पंचाणउतिभागे जोयणस्स ऊसिया जलंतातो लवणसमुद्दं तेणं दो कोसे ऊसिता जलंतातो बारसजोयणसहस्साति आयामविक्खंभेणं सेसं तं चेव जहा गोतमदीवस्स परिक्खेवो । पउमवरवेतिया पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरि० दोण्ह वि वण्णओ-बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा० जाव जोइसिया देवा आसयंति । तेसिं णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स पासादवडेंसका बावट्ठिं जोयणाइं बहुमज्झ० मणिपेढियाओ दो जोयणाओ० जाव सीहासणा सपरिवारा भाणियव्वा, तहेव अट्ठो । गोयमा ! बहुओ खुड्डिखुड्डियाओ बहुइं चंदवण्णाभाइं चंदा य इत्थ देवा महिड्डिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति। तेणं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसहस्सीणं० जाव चंददीवाणं चंदाण य रायहाणीणं अन्नेसिं च बहूणं जोतिसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! चंददीवा० जाव णिच्चा ।

" कहि णं भंते ! " इत्यादि । क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ ?। भगवानाह-गौतम ! इत्यादि । सर्वं गौतमद्वीपवत् परिभावनीयं, नवरमत्र जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशीति वक्तव्यम् । तथा प्रासादावतंसको वक्तव्यः । तस्य चायामादिप्रमाणं तथैव नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात् क्षुल्लाक्षुल्लिकावाप्यादिषु बहूनि उत्पलानि यावत् सहस्रपत्राणि चन्द्रप्रभाणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रौ च ज्योतिश्चन्द्रौ ज्योतिषराजौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तौ च चन्द्रौ प्रत्येकं चतुर्णां सामानिक— सहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां स्वस्य स्वस्य चन्द्रद्वीपस्य स्वस्याः स्वस्याः चन्द्राभिधायाः राजधान्याः, अन्येषां च बहूनां ज्योतिष्काणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरतः, ततस्तद्गतोत्पलादीनां चन्द्राकारत्वात् चन्द्रवर्णत्वात् चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्च तौ चन्द्रद्वीपाविति ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंदाणत्ति णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चंददीवाणं पुरच्छिमेणं तिरियं०जाव अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारसजोयणसहस्साति

ओगाहित्ता तं चेव पमाणं० जाव महिड्डिया चंदा देवा चंदा देवा।

चन्द्राभिधे च राजधान्यौ, तयोश्चन्द्रद्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य विजयराजधानीसदृशो वक्तव्ये ।

सूर्याणामपीहैव–

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवगाणं सूराणं सूरदीवा णाम दीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चच्छिमेणं लवणसमुद्दं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तं चेव उच्चत्तं आयामविक्खंभेण परिक्खेवो वेदियावणसंडा भूमिभागा० जाव आसयंति। पासायवडेंसगाणं त चेव पमाणं मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा अट्ठो उप्पलाइं सूरप्पभाइं सूरा य इत्थ देवा० जाव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे सेसं तं चेव० जाव सूरा देवा ॥

एवं जम्बूद्वीपगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एतमेव लवणसमुद्रमवगाह्य वक्तव्य राजधान्यावपि स्वकद्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे वक्तव्ये,शेष सर्वं चन्द्रद्वीपवद्भावनीय, नवर चन्द्रस्थाने सूर्यग्रहणमिति ।

सम्प्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामाह–

कहि णं भंते ! अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णाम दीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबूमंदरपव्वयस्स पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णाम दीवा पण्णत्ता। जहा जंबुद्दीवगा चंदा तहा भाणियव्वा, णवरं रायहाणीओ अण्णम्मि लवणे सेसं तं चेव। एवं अब्भिंतरलावणगाणं सूराणं वि लवणसमुद्दं वारसजोयणसहस्साइं तं चेव सव्वं रायहाणीओ वि ।

"कहि णं भंते !" इत्यादि। लवणभवौ लावणिकौ अभ्यन्तरौ च तौ लावणिकौ च अभ्यन्तरलावणिकौ, शिखाया अर्वाक्चारिणावित्यर्थः । तयोः सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। शेषं सुगमम्। भगवानाह–गौतम ! जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशि एतमेव लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्याऽत्र एतस्मिन् अवकाशे अभ्यन्तरलावणिकयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ वक्तव्यावित्यादि जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवन्निरवशेषं वक्तव्यम्। नवरमत्र राजधान्यौ स्वकयोर्द्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वेदितव्ये, एवमभ्यन्तरलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एतमेव लवणसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्यौ राजधान्यावपि स्वकयोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति ।

कहि णं भंते ! वाहिरिल्लावणगाणं चंददीवा नाम दीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! लवणसमुद्दस्स पुरच्छिमिल्लातो वेदियंतातो लवणसमुद्दपच्चच्छिमे णं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं वाहिरिल्लावणगाणं चंददीवा पण्णत्ता धायतिसमं तेणं अद्धेकूणणउइजोयणाइं चत्तालीसं पंचाणउतिभागे जोयणस्स ऊसित्ता जलंतातो लवणं समुद्द तेणं दो कोसे ऊसित्ता वारसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पउमवरवेइयावणसंडे बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा सो चेव अट्ठो रायहाणीओ साणं दीवाणं पुरच्छिमे णं तिरियमस० अण्णम्मि लवणे समुद्दे तहेव सव्वं ॥

"कहि णं भंते!" इत्यादि। क्व भदन्त ! बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ ?। बाह्यलावणिकौ नाम लवणसमुद्रे शिखाया बहिश्चारिणौ चन्द्रौ। भगवानाह–गौतम ! लवणसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात् अर्वाक् लवणसमुद्रं पश्चिमादिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ। तौ च धातकीखण्डद्वीपान्तेन धातकीखण्डद्वीपदिशि अर्द्धैकोननवतियोजनानि चत्वारिंशत च पञ्चनवतिभागान् योजनस्योदकादूर्द्धमुच्छ्रितौ लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ, शेषा वक्तव्यता अभ्यन्तरलावणिके चन्द्रद्वीपवद्वक्तव्या। अत्रापि राजधान्यौ स्वकयोः द्वीपयोः पूर्वस्यां तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे वक्तव्ये ।

कहि णं भंते ! वाहिरलावणगाणं सूराणं सूरदेवा नामं दीवा पण्णत्ता ?। लवणसमुद्दं पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ लवणसमुद्दं पुरच्छिमेणं वारसजोयणसहस्साइं धायतिखंडदीवं तेणं अद्धेकूणणउतिं जोयणाइं चत्तालीसं च पचाणउतिभागो जो लवणसमुद्दं तेणं दो कोसे ऊसिया सेसं तहेव० जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं तिरियमसंखेज्जलवणे चेव वारसजोयणं तहेव सव्वं भाणियव्वं ।

एवं बाह्यलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरमत्र लवणसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् लवणसमुद्रं पूर्वस्यां दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यौ राजधान्यावपि स्वकयोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे इति ।

संप्रति धातकीखण्डगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामभिधित्सुराह–

कहि णं भंते ! धायतिसंडे दीवगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! धायतिसंडस्स दीवस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेदियंतातो कालोयणं समुद्द वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं धायतिसंडदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, सव्वतो समंता दो कोसा ऊसित्ता जलंतातो वारसजोयणसहस्साइं तहेव विक्खंभपरिक्खेवो भूमिभागो पासादवडेंसया मणिपेढिसीहासणा सपरिवारा अट्ठो तहेव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पुरच्छिमेणं

अप्पम्मि धायतिसंमे दीवे सेसं तहेव । एवं धायतिसंमगा वि सूरा । णवरं धायतिसंमस्स दीवस्स पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ कालोयणसमुदं वारसजोयणं तहेव सव्वं० जाव रायहाणीओ सूराणं दीवाणं पच्चच्छिमेण अप्पम्मि धायति खंडे दीवे सव्वं तहेव ।

" कहि णं भंते !" इत्यादि । क भदन्त ! धातकीखण्डद्वीपगतानां चन्द्राणां तत्र द्वादश चन्द्रा इति बहुवचनं चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः । भगवानाह-गौतम ! धातकीखण्डस्य पूर्वस्यां दिशि कालोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र धातकीखण्डगतानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः । ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवद्वक्तव्याः। नवरं ते सर्वासु दिक्षु जलादूर्ध्वं द्वौ क्रोशौ उच्छ्रिता इति वक्तव्य तत्र पानीयस्य सर्वत्रापि समत्वात् राजधान्योऽपि तेषां स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वतस्तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यास्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीवद्वक्तव्या एवं धातकीखण्डगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्या। नवरं धातकीखण्डस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्या राजधान्योऽपि स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे शेष तथैव ।

संप्रति कालोदसमुद्रगतचन्द्रादित्यसत्कद्वीपवक्तव्यतां प्रतिपादयितुमाह—

कहि णं भंते ! कालोयणगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ? गोयमा ! कालोयणस्स समुद्दस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेतियंताओ कालोयणं समुदं पच्चच्छिमेणं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं कालोयणं चंदाणं चंददीवा सव्वतो समंता दो कोसा ऊसित्ता जलंतातो सेसं तहेव० जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरच्छिमेणं अप्पम्मि कालोयणं समुदे वारस जोयणं तहेव सव्वं० जाव चंदा देवा । एव सूराण वि । णवरं चंदाणं कालोयणं पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंतातो कालोयणं समुदं पुरत्थिमेणं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव रायहाणीओ सगाए दीवाणं पच्चच्छिमेणं अप्पम्मि कालोयणं समुदे तहेव सव्वं । एवं पुक्खरवरगाणं चंदाणं पुक्खरदीवस्स पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ पुक्खरवरसमुदं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता चंददीवा अप्पम्मि पुक्खरवरे दीवे रायहाणीओ तहेव । एवं सूराण वि दीवा पुक्खवरदीवस्स पच्चत्थिमिल्लाओ वेइयंताओ पुक्खरोदं समुदं वारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ दीविल्लगाणं समुदे समुद्दगाणं समुदे चेव एगाणं अब्भंतरपासे एगाणं बाहिरए पासे रायहाणीओ दीविल्लगाणं दीवेसु समुद्दगाणं समुदेसु सरिसणामतेसु इमे णामा अणुगंतव्वा—जंबुदीवे लवणे धायइकालोदपुक्खरे वरुणे खीरघयखोयणंदी अरुणवरे कुंभले रुयए आभरणवत्थगंधे उप्पलतिलयए पुढविणिहिरयणे वासधरदहणदीओ विजया वक्खारकप्पिंदा कुरुमंदिरमावासा कूडा णक्खत्त चंदसूरा य । एवं भाणियव्वं ॥

" कहि णं भंते ! " इत्यादि । " कालोयगाण " इत्यादि । क भदन्त ! कालोदकानां कालोदसत्कानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः ? । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्र कालोदगतचन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। ते च सर्वासु दिक्षु जलादूर्ध्वं द्वौ क्रोशावुच्छ्रिताः । शेषं तथैव राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यास्मिन् कालोदसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य विजया राजधानीवत् वक्तव्याः। एवं कालोदकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्या । नवरं कालोदसमुद्रस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यम् । राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे शेषं तथैव। एवं पुष्करवरद्वीपगतानां चन्द्राणां पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पुष्करोदसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य द्वीपा वक्तव्याः राजधान्य। स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य पुष्करवरद्वीपगतसूर्याणां द्वीपा। पुष्करवरद्वीपस्य पश्चिमान्तवेदिकान्तात् पुष्करवरसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः । राजधान्य पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य पुष्करवरसमुद्रगतचन्द्रसत्कद्वीपाः । पुष्करवरसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्या राजधान्य । स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्रेभ्यः परत. पुष्करवरसमुद्रगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा. पुष्करवरसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् पूर्वतो द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य राजधान्य। पुन. स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्या। एवं शेषद्वीपगतानामपि चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात् पूर्वस्मात् वेदिकान्तादनन्तरे समुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्या । सूर्याणां सूर्यद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात् पश्चिमात् वेदिकान्तात् अनन्तरे समुद्रे राजधान्यश्चन्द्राणामात्मीयचन्द्रद्वीपेभ्य. पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके २ द्वीपे । सूर्याणामपि आत्मीयसूर्यद्वीपेभ्य पश्चिमदिशि तस्मिन्नेव सदृशनामके अन्यस्मिन् द्वीपे द्वादशयोजनसहस्रेभ्य. परत शेषसमुद्रगतानां तु चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा. स्वस्वसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य सूर्याणां तु स्वस्वसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य चन्द्राणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके समुद्रे सूर्याणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पश्चिमदिशि केवलमग्रेतनशेषसमुद्रगतानां चन्द्रसूर्याणां राजधान्योऽन्यस्मिन् सदृशनामके द्वीपे समुद्रे वा अग्रेतने पश्चातने वा प्रतिपत्तव्याः

गामेतन पदान्यथाऽनवस्थाप्रसक्तेः । एतच्च देवद्वीपादर्वाक् सूर्यवरावभासं समुद्रं यावत् ।

देवद्वीपादिषु तु राजधानीं प्रति विशेषस्तमभिधित्सुराह-

कहि णं भंते ! देवदीवगाणं चंदाणं चंददीवाणामं दीवा पण्णत्ता । गोयमा ! देवदीवस्स देवोदं समुद्दं बारसजोयणाइं ओगाहित्ता तेणेव कमेणं पुरत्थिमिल्लाओ वेतियंतातो० जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरत्थिमे णं देवोदं समुद्दं असंखेज्जाति जोयणसहस्साति उग्गाहित्ता एत्थ णं देवदीवगाणं चंदाणं चंदाओ नाम रायहाणीतो पण्णत्ताओ । सेसं तहेव देवदीवचंदा देवा२। एवं सूराण । वि णवरिं पच्चात्थिमिल्लातो वेदियंतातो पञ्चत्थिमे णं च भाणियव्वो तम्मि चेव समुद्दे ।

" कहि ण भंते ! " इत्यादि । क्व भदन्त ! देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः । भगवानाह-गौतम ! देवद्वीपस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात् देवोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः इत्यादि प्राग्वत् राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि तमेव देवद्वीपमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रानामराजधान्यः प्रज्ञप्तास्ता अपि विजयाराजधानीवत् वक्तव्याः "कहि ण भंते !" इत्यादि । क्व भदन्त ! देवद्वीपगाना सूर्यद्वीपानामद्वीपा प्रज्ञप्ता । भगवानाह-गौतम ! देवद्वीपस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् देवोद समुद्र द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि राजधान्यः स्वकीनां सूर्यद्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तमेव देवद्वीपमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि ।

कहि णं भंते ! देवसमुद्दगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता । गोयमा ! देवोदगस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लातो वेतियंतातो देवोदगं समुद्दं पच्चच्छिमे णं बारसजोयणसहस्साइं तेणेव कमेणं० जाव रायहाणीओ, सगाणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं देवोदगं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साति उग्गाहित्ता एत्थ णं देवोदगस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो देवोदगं समुद्दं पुरत्थिमेणं बारसजोयणसहस्साति ओगाहित्ता रायहाणीओ सयाणं सयाणं पुरत्थिमे णं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ।

"कहि ण भंते!" इत्यादि । क्व ? भदन्त ! देवसमुद्रगाणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः । गौतम ! देवोदकस्य समुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् देवोदक समुद्रं पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवोदकसमुद्रगाणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्तास्ते च प्राग्वत् राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपाना पश्चिमदिशि देवोदक समुद्रमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्याः । देवोदकसमुद्रगाणां सूर्याणां सूर्यद्वीपाः देवोदकस्य समुद्रस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् देवोदक समुद्रं पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्या राजधान्योऽपि स्वकीयानां स्वकी नां सूर्यद्वीपानां पूर्वदिशि देवोदक समुद्रमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य ।

एवं णागे जक्खे भूते वि चउण्हं दीवसमुद्दाणं कहि णं भंते ! सयंभुरमणदीवगाणं चंदाणं चंददीवाणामदीवा पण्णत्ता । गोयमा ! सयंभुरमणस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लातो वेतियंतातो सयंभुरमणोदगं समुद्दं बारसजोयणसहस्साइं तहेव रायहाणीतो सगाणं सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं सयंभुरमणोदगं समुद्दे पुरत्थिमेणं असंखेज्जाइं जोयणाइं तहेव । एवं सूराण वि । सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो रायहाणीओ सकाणं सकाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं सयंभुरमणोदगं समुद्दं असंखेज्जा । सेसं तहेव । कहि णं भंते ! सयंभुरमणसमुद्दकाणं चंदाणं गोयमा ! सयंभुरमणस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेतियंतातो सयंभुरमणं समुद्दं पच्चत्थिमेणं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता सेसं तं चेव एवं सूराण वि सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लाओ सयंभुरमणोदसमुद्दं पुरत्थिमेणं बारसजोयणसहस्साइं उग्गाहित्ता-रायहाणीओ सगाणं सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं ॥

एवं नागयक्षभूतस्वयम्भूरमणद्वीपसमुद्रचन्द्रादित्यानामपि वक्तव्या द्वीपगनानां चन्द्रादित्यानां चन्द्रादित्यद्वीपा अनन्तरे समुद्रे । समुद्रगतानां तु चन्द्रादित्यानां स्वस्वसमुद्रे एव । आह च मूलटीकाकारोऽपि-एवं शेषद्वीपचन्द्रादित्यानामपि द्वीपा अनन्तरसमुद्रेष्ववगन्तव्या राजधान्यश्च तेषां पूर्वपरतोऽसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा ततोऽन्यस्मिन् सदृशनाम्नि द्वीपे भवन्ति अन्त्यानिमान् पञ्चद्वीपान् मुक्त्वा देवनागयक्षभूतस्वयम्भूरमणाख्यान् तेषु चन्द्रादित्यानां राजधान्योऽन्यस्मिन् द्वीपे तु तस्मिन्नेव पूर्वापरतो वेदिकान्तात् असङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य भवन्ति इति इह बहुधा सूत्रेषु पाठभेदाः परमेतावानेव सर्वत्राप्यर्थो नार्थभेदान्तरमित्येतद्व्याख्यानुसारेण सर्वेष्वनुगन्तव्या न मोग्धव्यमिति । जी० ३ प्रति० ।

चंदद्ध-चन्द्रार्द्ध-न० । अष्टमीचन्द्रे. (जी०) " चंदद्धसमणिडालाओ" चन्द्रार्द्धेन अष्टमीचन्द्रेण सम समान ललाटं यासां ताः चन्द्रार्द्धसमललाटाः । जी० ३ प्रति० ।

चंदद्धसम-चन्द्रार्द्धसम-त्रि० । शशधरसमप्रविभागसदृशे, " णिव्वणसमलट्ठमट्ठचंदद्धसमणिडाला " जी० ३ प्रति० ।

चंदपडिमा-चन्द्रप्रतिमा-स्त्री० । चन्द्र इव कला वृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमा । प्रतिमाभेदे, शुक्लप्रतिपदि एक कवलमभ्यवहृत्य ततः प्रतिदिनं कवलवृद्ध्या पञ्चदश पूर्णमास्यां कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्त्वा प्रतिदिनमेकहान्याऽमावस्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते । (स्था०) यस्या तु कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश भुक्त्वा एकैकहान्या अमावस्यायामेक शुक्लप्रतिपदि चैकमेव ततः पुनरेकैकवृद्ध्या पूर्णिमायां पञ्चदश भुङ्क्ते सा वज्रस्येव मध्य यस्यास्तन्विर्थ । मा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमेति (स्था०) एतदेवसूत्रकृदाह-" दो पडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा-जवमज्झे चेव चंदपडिमा वइरमज्झे चेव चंदपडिमा" । स्था०२ठा०३उ० ।

चंदपण्णत्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति-स्त्री० । चन्द्रचारप्रतिपादके अन्ये, पा० । सा चाङ्गबाह्यप्रकीर्णकरूपा, । आ०४ अ०१ उ० ।

चंदपरिवेस–चन्द्रपरिवेश–पुं० । चन्द्रस्य परितो वलयाकारप-रिणतौ, जी०३ प्रति० । अनु० ।

चंदपव्वय–चन्द्रपर्वत–पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शी-तोदाया महानद्या उत्तरे कूले, वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । उ० । " दो चंदपव्वया " । स्था०२ ठा०३ उ० ।

चंदपाणिलेह–चन्द्रपाणिरेख–त्रि० । चन्द्राकारा. पाणौ रेखा यस्य स तथा । औ० । जी० । प्रश्न० । चन्द्राकृतिहस्तरेखे, त० ।

चंदप्पभ–चन्द्रप्रभ–पुं० । चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यले-श्याविशेषोऽस्येति चन्द्रप्रभ. । तथा देव्याश्चन्द्रपानदोहदोऽ-भूत् चन्द्रसमवर्णश्च भगवान् इति चन्द्रप्रभ. । ध० २ अधि० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतवर्षे जातेऽष्टमे तीर्थकरे , स० । तत्र सर्वेऽपि तीर्थकृतश्चन्द्रवत् सौम्यलेश्याकास्ततो विशेष माह-" जणणीए चंदपियणम्मि , दोहलो तेण चंदाभो " येन कारणेन भगवति गर्भगते जनन्याश्चन्द्रपाने दौहृदमजायत च-न्द्रसदृशवर्णश्च भगवान् तेन चन्द्राभश्चन्द्रप्रभ इति विश्रुतः । आ० म० द्वि० । अनु० । प्रव० । (अन्तरम् । आयु । उच्चत्वम् वर्ण. । एवमादयः सर्वेऽधिकाराश्चन्द्रप्रभस्वामिनः 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यन्ते) (यस्मिन् समये भरते चन्द्रप्रभो जातस्तस्मि-न्समये ऐरवते दीर्घसेनजिन सञ्जज्ञे) । चन्द्रकान्तमणौ, रा० । आ० म० । आ० चू० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । जी० । कल्प० । "तेसि णं" इत्यादि । तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रज्ञप्ते तानि च चामराणि " चंदप्पभवइरवेरुलियनाणामणिरयणख-चियदंडाउ इति " चंद्रप्रभ चन्द्रकान्तो वज्र वैडूर्य च प्रतीत चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु तथा एव रूपाश्चित्रा नानाकारा दण्डा येषां चामराणां तानि तथा सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । जी०३ प्रति० । चतुर्थदेवलो कस्थ विमानभेदे, न० । स०३ सम० । चन्द्रस्य ज्योतिष्केन्द्रस्य सिंहासने,न०।ज्ञा०२श्रु०१ अ०। श्रीचन्द्रप्रभचरित्रमध्ये अजापुत्रे-णाग्निज्वालिकामध्ये रूपाचक्रे इत्युक्तमस्ति । तत्किमिति । तथा दु-र्जयराजा तत्र गतस्तद्वन्नं कथ्यते किं वा पातालगृहं तस्मात्स्त्री-अपहृत्य गतस्तत्र नरका दर्शिता पश्चादेतया बहिर्मुक्त. स-र्वाङ्गसुन्दर्याः पार्श्वे गतस्तत्र किं भवनपतिनिकाये किं व्यन्तर-निकाये वा तथा दुर्जयराज' कुत्र भवनमध्येऽस्ति सर्वाङ्गसु-न्दरी च ततोऽधः कुत्रास्ति तथाऽग्रपदे गतस्तत्रेन्द्रेण वस्त्राणि समर्पितानि तानि किं वैक्रियाण्यौदारिकानि चेति प्रश्ने-उ-त्तरम्–अजापुत्रेणाग्निज्वालिकामध्ये रूप्यादत्ता फल च दिव्यानु-भावेन प्राप्त तथा दुर्जयराजो वासस्थान भूमिकाविवरमध्ये मनुष्यसम्बन्धिन्यां राजधान्यामस्ति तथा सर्वाङ्गसुन्दरीव्यन्तरी तद्वासस्थान व्यन्तरनिकायेऽस्ति तथास्ति अपहृत्यागत इत्या-दि सर्वं तद्विलसितं ज्ञेयं तथाऽग्रपदे वस्त्राण्यर्पितानि तान्यौ-दारिकानि ज्ञेयानीति ॥ ४६० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

चंदप्पभविहार–चन्द्रप्रभविहार–पुं० । नासिक्यपुरे पत्तनमहो-त्सवे प्रजापतिना कारिते चन्द्रप्रभस्वामिचैत्ये, ती०२७ कल्प ।

चंदप्पभसूरि–चन्द्रप्रभसूरि–पुं० । चन्द्रगच्छीये दर्शनशुद्धिसू-त्रकर्तरि स्वनामख्याते आचार्ये, (दर्श०)

नामनिरुक्तिश्चैवम् सम्प्रति स्वयमेव वस्तुगृहीतनामधेयो भगवान् ग्रन्थकारः स्वनामव्युत्पत्त्या प्रकटयन् ग्रन्थ-स्वरूप प्रयोजन च दर्शयन्निदं गाथाद्वयमाह-

चंदादिपहवसूरि–पयनिवहपढमवन्नेहिं ।
जेसिं नाम तेहिं, परोवयारम्मि निरएहिं ॥ ५७ ॥
इयपाय पुव्वायरिय–रइयगाहाण संगहो एसो ।
विहिओ अणुग्गहत्थं, कुमग्गलग्गाण जीवाणं ॥५८॥

चन्द्रादीनां रिद्धिपर्यवसानपदानां प्रथमाक्षरैः प्रथमवर्णैः ये-षां नामाभिधान ते चन्द्रप्रभसूरिभिरित्यर्थः । कथम्भूतैः परोपका-रनिरतैरिति निगदितप्रकारेण प्रायः पूर्वाचार्यरचितगाथाभिरेष सङ्ग्रहो विहितो निष्पादितोऽनुग्रहार्थं कुमार्गलग्नानां कुप्रवचन-कुदेशनावासितान्तःकरणानां भव्यप्राणिनामिति गाथाद्वयार्थः (दर्श०) दर्शनशुद्धिटीका तु तच्छिष्यधर्मघोषप्रभूणां शिष्येण विमलगणिना वैक्रमवत्सरे-११८१ कृतेति समयोऽस्य मनि-मद्भिस्स्वयमेवाभ्यूह्य । दर्श० ।

चंदप्पभा–चन्द्रप्रभा–स्त्री० । चन्द्रस्येव प्रभा आकारो यस्या-स्सा । सुराविशेषे, जी० ३ प्रति० । चन्द्रस्य प्रथमायामग्रमहि-ष्याम् , ज्ञा० २ श्रु० १ अ० । जं० भ० । सू० प्र० । स्था० । दशमतीर्थकरस्य शीतलस्य चतुर्विंशस्य च वीरस्य निष्क्रमण-शिबिकायाम् , स० । आ० म० द्वि० । ति० । कल्प० ।

संप्रति शिबिकाप्रमाणप्रदर्शनार्थमाह–

पंचासयआयामा, धणूणि विच्छिन्नपन्नवीसं तु ।
छत्तीसं उव्वेहा, सीया चंदप्पभा भणिया ॥

पञ्चाशतमायामो दैर्घ्यं यस्याः सा पञ्चाशदायामा धनूंषि पञ्चविंशतिं विस्तीर्णा तथा षट्त्रिंशत धनूंषि उद्वेधा उच्चा शि-बिका चन्द्रप्रभाऽभिधाना गणधरैर्भणिता ॥

अनेन शास्त्राय पारतन्त्र्यमाह–

सीयाए मज्झयारे, दिव्वं मणिकणगरयणचिंचइयं ।
सिंहासणं महरिहं, सपायवीढं जिणवरस्स ।

शिबिका वा मध्य एव मध्यकारस्तस्मिन् दिव्यसुरनिर्मितं मण-यश्चन्द्रकान्तादय. कनक देवकाञ्चन रत्नानि मरकतेन्द्रनीलादी-नि तैः' चिंचइय ' देशीपदमेतत् भूषितमित्यर्थः । सिंहप्रधानमा-सन महान्त भुवनगुरुमर्हतीति महार्हम् । सह पादपीठं यस्य येन वा तत्सपादपीठ जिनवरस्य कृतमिति वाक्यशेषः । आ० म० द्वि० ।

चन्दभागा–चन्द्रभागा–स्त्री० । सिन्धुमहानद्यां सगतायां जम-पर्माणिकायाम् स्वनामख्यातायां नद्याम्, स्था०५ ठा०३ उ० ।

चंदमंडल–चन्द्रमण्डल–न० । चन्द्रविमाने, स० ६२ सम० ।

अथ चन्द्रमण्डलवक्तव्यताह–

तत्र सप्त अनुयोगद्वाराणि-मण्डलसख्याप्ररूपणा, मण्डलक्षे-त्रप्ररूपणा, प्रतिमण्डलमन्तरप्ररूणा, मण्डलायामादिमानम्, म-न्दरमधिकृत्य प्रथमादिमण्डलाबाधा, सर्वाभ्यन्तरादिमण्डला-यामादि, मुहूर्तगतिः, ।

तत्रादौ मण्डलसंख्याप्ररूपणां पृच्छति–

कति णं भंते ! चंदमंडला पण्णत्ता । गोयमा ! पण्णरस चं-दमंडला पण्णत्ता । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइअं ओगाहि-त्ता केवइआ चंदमंडला पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे

असीयं जोअणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पंच चंदमंडला पएणत्ता।

"कति णं भंते!" इत्यादि। कति भदन्त! चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि! भगवानाह-गौतम! पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि। अथैषां मध्ये कति द्वीपे कति लवणे इतिव्यक्त्यर्थं पृच्छति- जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे कियदवगाह्य कियन्ति चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि। गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य पञ्च चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि।

लवणे णं भंते! पुच्छा? गोअमा! लवणे णं समुद्दे तिणि तीसे जोअणसए ओगाहित्ता एत्थ णं दस चंदमंडला पएणत्ता। एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे लवणसमुद्दे पण्णरस चंदमंडला भवंतीतिमक्खायं।

अथ लवणसमुद्रे भदन्त! प्रश्नः। गौतम! लवणसमुद्रे त्रिंशदधिकानि त्रीणि योजनशतानि अवगाह्य अत्रान्तरे दशचन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि। एवमेव सपूर्वापरेण जम्बूद्वीपे द्वीपे लवणसमुद्रे पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि भवन्तीति आख्यातमिति। ('चंदमग' शब्दे अनुपदमेव एतानि व्याख्यास्यामि)

अथ मण्डलक्षेत्रप्ररूपणा प्रश्नयन्नाह—

सव्वब्भंतराओ णं भंते! चंदमंडलाओ णं केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए चंदमंडले पण्णत्ते? । गोअमा! पंचदसुत्तरे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरए चंदमंडले पएणत्ते।

"सव्वंतराओ ण" इत्यादि। सर्वाभ्यन्तराद् भदन्त! चन्द्रमण्डलात् कियत्या अबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। किमुक्तं भवति-चन्द्रमण्डलैः सर्वाभ्यन्तरादिभिः सर्वबाह्यान्तैर्यद्व्याप्तमाकाशं तन्मण्डलक्षेत्रं, तत्र च चक्रवालतया विष्कम्भः पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि अष्टचत्वारिंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्य ५१० ४८ इदं च व्याख्यातोऽधिकं बोध्यं तथाहि-चन्द्रस्य मण्डलानि पञ्चदश चन्द्रबिम्बस्य च विष्कम्भः एकषष्टिभागात्मकयोजनस्य षट्पञ्चाशद् भागास्तेन ते ५६ पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते जातं ८४० तत एषां योजनानयनार्थम् ६१ एकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि त्रयोदश योजनानि। शेषाः सप्तचत्वारिंशत् तथा पञ्चदशानां मण्डलानामन्तराणि चतुर्दश एकैकस्यान्तरस्य प्रमाणं पञ्चत्रिंशद्योजनानि पञ्चत्रिंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः, ततः पञ्चत्रिंशच्चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि योजनशतानि नवत्यधिकानि च। येऽपि च त्रिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि ४२०। अयं च राशिरेकषष्टिभागात्मकस्तेन एकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धानि षट्योजनशतानि एषु पूर्वराशौ प्रक्षिप्तेषु जातानि ४९६ योजनानि, शेषाश्चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागास्तिष्ठन्ति, ये च एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्त भागास्तेऽपि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जाता षट्पञ्चाशत, तेषां सप्तभिर्भागे हृते लब्धा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽनन्तरोक्तचतु पञ्चाशति प्रक्षिप्यन्ते जाता द्वाषष्टिः६२तत्रैकषष्टिभागैर्योजनं लब्ध तच्च योजनराशौ प्रक्षिप्यते, एकश्चैकषष्टिभाग शेषा ४९७ योजनम् १ इदं च मण्डलान्तरक्षेत्र योऽपि च बिम्बक्षेत्रराशिस्त्रयोदशयोजनसप्तचत्वारिंशदेकषष्टिभागात्मकः सोऽपि मण्डलान्तरराशौ प्रक्षिप्यते,जातं योजनानि ५१० यश्च पूर्वोद्धरित एक एकषष्टिभागः सप्तचत्वारिंशति प्रक्षिप्यन्ते. जातम् ४८ एकषष्टिभागाः। ननु पञ्चदशसु मण्डलेषु च चतुर्दशान्तरालसम्भवाच्चतुर्दशभिर्भाजनं युक्तिमत्। सप्तचत्वारो भागा इति कथं संगच्छते?। उच्यते-मामलान्तरक्षेत्रराशेः ४९७ $\frac{1}{61}$ मण्डलान्तरैश्चतुर्दशभिर्भजने लब्धानि ३५ योजनानि उद्धरितस्य योजनराशेरेकषष्ट्या गुणने मूलराशिसत्कैकषष्टिभागप्रक्षेपे च जातम् ४२७ एषां चतुर्दशभिर्भजने भागतः सराशिः ३० शेषा अष्टौ तेषां चतुर्दशभिर्भागाऽप्राप्तौ लाघवार्थं द्वाभ्यामपवर्तने जाव भाजकराश्यो $\frac{4}{7}$ इति सुस्थम्। जं० ७ वक्ष०। (चन्द्रमण्डलाच्चन्द्रमण्डलं कियत्याऽबाधया स्थितमिति 'अन्तर' शब्दे प्रथमभागे ९९ पृष्ठे गतम्)

संप्रति मण्डलायामादिमानद्वारम्—

चंदमंडले णं भंते! केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं केवइअं बाहल्लेणं पण्णत्ते। गोअमा! छप्पण्णं एगसट्ठिभाए जो अणस्स आयामविक्खंभे णं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अट्ठावीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स बाहल्लेणं।

"चंदमंडले णं भंते! केवइअं आयाम" इत्यादि। चन्द्रमण्डलं भगवन्! कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण कियद्बाहल्येनोच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तम्। गौतम! षट्पञ्चाशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्यां एकस्य योजनस्य एकषष्टिभागीकृतस्य यावत्प्रमाणा भागास्तावत्प्रमाणं षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणमित्यर्थः। तत् त्रिगुणं सविशेषं साधिकं परिक्षेपेण करणरीत्या द्वे योजने पञ्चपञ्चाशद्भागाः, साधिका इत्यर्थः। अष्टाविंशतिमेकषष्टिभागान् योजनस्य बाहल्येन।

अथ मन्दरमधिकृत्य प्रथमादिमण्डलाबाधाप्रश्नमाह-

जंबुद्दीवे दीवे णं भंते! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वब्भंतरए चंदमंडले पएणत्ते?। गोयमा! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य वीसे जोअणसए अबाहाए सव्वब्भंतरे चंदमंडले पएणत्ते॥

"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि। जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन्! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्?। गौतम! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वाभ्यन्तरं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तमिति। उपपत्तिस्तु प्राक् सूर्यवक्तव्यतायां दर्शिता।

द्वितीयमण्डलाबाधाप्रश्नसूत्रमाह-

जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए अब्भंतराणंतरे चंदमंडले पएणत्ते?। गोयमा! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य छप्पण्णे जोअणसए पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए अबाहाए अब्भंतराणंतरे चंदमंडले पएणत्ते।

"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि। जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन्! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। गौतम! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्टौ च षट्

पञ्चाशदधिकानि योजनशतानि पञ्चविंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य, एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा चतुरश्चूर्णिका भागानबाधया सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। अत्रोपपत्तिः-प्रागुक्तेऽभ्यन्तरमण्डलगतराशौ मण्डलान्तरक्षेत्रमण्डलविष्कम्भराश्योः प्रक्षेपे जायते। तथाहि ४४८२० रूपः पूर्वमण्डलयोजनराशिः अस्मिन् मण्डलान्तरक्षेत्रयोजनानि ३५ तथान्तरसत्कत्रिंशदेकषष्टिभागानां मण्डलविष्कम्भसत्कषट्पञ्चाशदेकषष्टिभागानां च परस्परमीलने जातम् ८६ एकषष्ट्या भागे चागतं योजनमेकं, तच्च पूर्वोक्तायां पञ्चत्रिंशत् प्रक्षिप्यते जाताः षट्त्रिंशद्योजनानां शेषाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः चत्वारश्चूर्णिका भागा इति।

अथ तृतीयाभ्यन्तरमण्डलाऽबाधां पृच्छन्नाह-

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए अब्भंतरतच्चे मंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य बाणउए जोअणसए एगावण्णं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं अबाहाए अब्भंतरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते।

"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि। प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। उत्तरसूत्रे द्वितीयमण्डलसत्कराशौ ३६ योजनानि २५ एक इत्यस्य प्रक्षेपे जातं यथोक्तम्।

अथाबाधाविषयं चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह-

एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे चंदे तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरमंडलं संकममाणे २ छत्तीसं छत्तीसं जोअणाइं पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए एगमेगे मंडले अबाहाए वुड्ढिमभिवड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ।

"एवं खलु" इत्यादि। एवमुक्तरीत्या मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः। एतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण निष्क्रामन् लवणाभिमुखमण्डलानि कुर्वन् चन्द्रस्तदनन्तराद्विवक्षितात्पूर्वस्मान्मण्डलाद्विवक्षितमुत्तरमण्डलं संक्रामन् २ षट्त्रिंशद्योजनानि, अत्र योजनसंख्यागतवीप्साभागसंख्यापदेष्वतिप्राह्या तेन पञ्चविंशतिम् पञ्चविंशतिम् एकषष्टिभागान् योजनस्य एकमेकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा चतुरश्चतुरश्चूर्णिकाभागान् एकैकस्मिन्मण्डले अबाधया वृद्धिं अभिवर्द्धयन् २ सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति।

अथ पश्चानुपूर्व्यापि व्याख्यानाङ्गमित्यन्त्यमण्डलान्मण्डलाबाधां पृच्छन्नाह--

जंबुद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरे चंदमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरए चंदमंडले पण्णत्ते।

"जंबुद्दीवे त्ति" जम्बूद्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। उपपत्तिस्तु प्राग्वत्।

अथ द्वितीयबाह्यमण्डलाबाधां पृच्छन्नाह-

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए बाहिराणंतरे चंदमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेणउए जोअणसए पणतीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता तिण्णि चुण्णिआभाए अबाहाए बाहिराणंतरे चंदमंडले पण्णत्ते।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च त्रिनवत्यधिके योजनशते पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा त्रींश्चूर्णिकाभागानबाधया सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। सर्वबाह्यमण्डलराशेः षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिश्च योजनैकषष्टिभागा एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः पात्यन्ते जायते यथोक्तो राशिः। जं० ७ वक्ष०। जी०।

चंदमंडले एगसट्ठि विभागविभाइए समंसे पण्णत्ते। एवं सूरस्स वि ॥ ६१ ॥

चन्द्रमण्डले चन्द्रविमानं 'णं' इत्यलंकृतौ (एगसट्ठि त्ति) योजनस्यैकषष्टिभागेन षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणैर्विभाजितं विभागैर्व्यवस्थापिते समांशं समविभागं प्रज्ञप्तं विषमांशं योजनस्यैकषष्टिभागानां षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणत्वात्तस्य च भागभागस्याविद्यमानत्वादिति। एवं सूर्यस्यापि मण्डलं वाच्यम्। अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागमात्रं हि तत्र चापरमंशान्तरं तस्याप्यस्तीति समांशतेति। स० ६१ सम०।

अथ तृतीयबाह्यमण्डलाबाधामाह—

जंबुद्दीवेणं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए बाहिरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ सत्तावण्णे जोअणसए णव य एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता छच्चुण्णिआभाए अबाहाए बाहिरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते ॥

"जंबुद्दीवे" इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरसूत्रे पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च सप्तपञ्चाशदधिके योजनशते नव च एकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा षट् चूर्णिभाकागान् अबाधया बाह्यतृतीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। उपपत्तिस्तु बाह्यद्वितीयमण्डलराशेस्तमेव षट्त्रिंशद्योजनादिकं राशिं पातयित्वा यथोक्तं मानमानेतव्यम्। (जं०) ज्यो०।

अथाबाधाविषयमभ्यन्तरचतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे चंदे तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे २ छत्तीसं छत्तीसं जोअणाइं पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए एगमेगे मंडले अबाहा वुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु" इत्यादि व्यक्तं नवरम्। अबाधायाः वृद्धिं निर्वर्धयन् २ ह्रासयन् ह्रापयन्नित्यर्थः।

अथ सर्वाभ्यन्तरादिमण्डलायामाद्याह—

सव्वब्भंतरे णं भंते ! चंदमंमले केवइअं आयामविक्खंभे-णं केवइअ परिक्खेवेण पम्नत्ते ?। गोयमा! णवणउइं जो-अणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिन्नि अ जोअणसयसहस्साइं पन्नरस जोअणसहस्साइं अउणाणउतिं च जोअणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खे-वेणं पन्नत्ते ।

"सव्वब्भंतरे णं" इत्यादि। सर्वाभ्यन्तरं भदन्त! चन्द्रमण्डल कि-यदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। गौतम ! नवन-वतिं योजनसहस्राणि षट्चत्वारिंशदधिकानि योजनशतान्याया-मविष्कम्भाभ्यां त्रीणि च योजनलक्षाणि पञ्चदशयोजनसहस्रा-एयेकोननवतिं च योजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम् । उपपत्तिस्त्वत्रत्याऽपि सूर्यमण्डलाधिकारे दर्शिता ।

अथ द्वितीयम्—

अब्भंतराणंतरे सा चेव पुच्छा ?। गोयमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं सत्त य बारसुत्तरे जोअणसए एगावणं च एगट्ठिभागे जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं आयामविक्खंभेणं तिन्नि अ जो-अणसयसहस्साइं तिन्नि अ एगूणवीसे जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं ॥

"अब्भंतराणंतरे" इत्यादि । अभ्यन्तरानन्तरे सैव पृच्छा या सर्वाभ्यन्तरे मण्डले उत्तरसूत्रे । गौतम ! नवनवतिं योजनसह-स्राणि सप्त द्वादशोत्तराणि योजनशतानि एकपञ्चाशतम् एक-षष्टिभागान् योजनस्य एक चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्वा एकं चूर्णिकाभागमायामविष्कम्भाभ्यां तथाहि—एकश्चन्द्र-मा द्वितीये मण्डले संक्रामन् षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविं-शतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकस्य एकस्य एकषष्टि-भागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्कान् चतुरो भागान् विमुच्य संक्रामति । अपरतोऽपि तावन्त्येव योजनानि विमुच्य संक्रामति उभयमीलने जात द्वासप्ततियोजनानि एकपञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्क एकोन-भागो द्वितीयमण्डले विष्कम्भाऽऽयामचिन्तायामधिकत्वेन प्राप्य ते इति । तच्च पूर्वमण्डलराशौ प्रक्षिप्यते जायते यथोक्त द्विती-यं मण्डलाऽऽयामविकष्कम्भमानं त्रीणि योजनशतसहस्राणि त्रीणि चैकोनविंशत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाऽधि-कानि परिक्षेपेण द्वितीयं मण्डलं प्रज्ञप्तम् । उपपत्तिस्तु प्रथमम-ण्डलपरिरये द्वासप्ततिं योजनादीनां परिरये त्रिंशदधिकद्वियो-जनशतरूपे प्रक्षिप्ते सति यथोक्तं मानम् ।

अथ तृतीयम्—

अब्भंतरतच्चे णं०जाव पन्नत्ता ?। गोअमा! णवणउइं जो-अणसहस्साइं सत्त य पंचासीए जोअणसए इगतालीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता दोण्णि अ चुण्णिआभाए आयामविक्खंभेणं तिन्नि अ जोअणसय सहस्साइं पन्नरसजोअणसहस्साइं पंच य इगुणापण्णे जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं ।

"अब्भतरतच्चे णं" इत्यादि । अभ्यन्तरतृतीये चन्द्रमण्डले याव-त्पदात् "चंदमंडले केवइअं आयामविक्खंभेण केवइअं परिक्खे-वेणं" इति ग्राह्यम् । उत्तरसूत्रे गौतम ! नवनवतियोजनसहस्रा-णि सप्त च पञ्चाशीत्यधिकानि योजनशतानि एकचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च षष्टिभाग सप्तधा छित्वा द्वौ च चूर्णिकाभागावायामविष्कम्भाभ्याम्। अथद्वितीयमण्डलगत राशौ द्वासप्ततिं योजनान्येकपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजन-स्य एकं च चूर्णिकाभागं प्रक्षिप्य यथोक्त मानमानेतव्य त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदशयोजनसहस्राणि पञ्च चैकोनपञ्चाशद-धिकानि योजनशतानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण इह पूर्वमण्डल परिरयराशौ द्वे योजनशते त्रिंशदधिके प्रक्षिप्योपप-त्तिः कार्या । (जं०) ज्यो० ।

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे चंदे० जाव संक-ममाणे संकममाणे बावत्तरिं बावत्तरिं जोअणाइं ए-गावणं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं एगमेगे मंडले विक्खंभवुढ्ढिं अभि-वुड्ढेमाणे २ दो दो तीसाइं जोअणसयाइं परिरयवुढ्ढिं अभि-वड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ।

" एव खलु " इत्यादि पूर्ववत् । निष्क्रामंश्चन्द्रो यावत्पदात् "तयाणंतराओ मंमलाओ मण्णरमंडल" इति ग्राह्यम्। सक्रामन् सक्रामन् द्वासप्ततिं २ योजनानि । योजना-न सख्या पद-गता वीप्सा प्रागसंख्यापदेष्वपि ग्राह्या तेनैकपञ्चाशतम् एक-पञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एक च एकषष्टि-भाग सप्तधा छित्वा एकमेकं चूर्णिकाभागमेकैकस्मिन्मण्डले विष्कम्भवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ द्वे द्वे त्रिंशदधिके योजनशते परि-रयवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतीति । (जं०) ज्यो० ।

संप्रति पश्चानुपूर्व्या पृच्छति—

सव्वबाहिरए णं भंते ! चंदमंडले केवइअं आयामविक्खं-भेणं केवइअं परिक्खेवेणं पन्नत्ते। गोअमा ! एगं जोअण-सयसहस्सं। छच्च सट्ठे जोअणसयसहस्सं। छच्च सट्ठे जो-अणसए आयामविक्खंभेणं तिन्नि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं तिन्नि अ पन्नरसुत्तरे,जोअणसए परि-क्खेवेणं ॥

" सव्वबाहिरए णं" इत्यादि । सर्वबाह्यं भदन्त ! चन्द्रमण्ड-लं कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। गौतम ! एकं योजनलक्षं षट्षष्ट्यानि षट्षष्ट्यधिकानि योजनशतान्याया-मविष्कम्भाभ्याम् उपपत्तिस्तु जम्बूद्वीपो लक्षम् उभयोः प्र-त्येकं त्रीणि योजनशतानि त्रिंशदधिकानि उभयमीलने योज-नानां षट्शतानि षष्ट्यधिकानीति। त्रीणि च योजनलक्षाणि अ-ष्टादशसहस्राणि त्रीणि च पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि परि-क्षेपेण । अत्रोपपत्तिः-जम्बूद्वीपपरिधौ षष्ट्यधिकषट्शतपरि-धौ प्रक्षिप्ते भवति यथोक्त मानम् ।

अथ द्वितीयम्—

बाहिराणंतरे णं पुच्छा ?। गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं

पंचसत्तावीसं जोअणसए णव य एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता छ चुण्णिआभाए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं पंचासीइं च जोअणाइं परिक्खेवेणं ॥

" बाहिराण" इत्यादि। बाह्यानन्तर द्वितीयं मण्डलमित्यर्थः। पृच्छेति प्रश्नालापकस्तथैव उत्तरसूत्रे गौतम ! एकयोजनलक्षं पञ्चसप्ताशीत्यधिकानि योजनशतानि नव चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभाग सप्तधा छित्त्वा षट् चूर्णिकाभागान् आयामविष्कम्भाभ्याम । अत्रोपपत्तिः--पूर्वराशेर्द्वासप्तति योजनान्येकं पञ्चाशत चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य एक भागमपनीय कर्तव्या त्रीणि योजनलक्षाणि अष्टादश सहस्राणि पञ्चाशीति योजनानि परिक्षेपेण सर्वबाह्यमण्डलपरिधेः द्वे शते त्रिंशदधिके योजनानामपनयने यथोक्तं मानम् ।

अथ तृतीयम्-

बाहिरतच्चे णं भंते ! चंदमंडले पण्णत्ते। गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं पंचदसुत्तरे जोअणसए एगूणवीसं च एगसट्ठिभाए जोअणसए एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता पंच चुण्णिआभाए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं सत्तरससहस्साइं अट्ठ य पणपण्णे जोअणसए परिक्खेवेणं ॥

" बाहिरतच्चे णं " इत्यादि । बाह्यतृतीयं भदन्त ! चन्द्रमण्डलं यावच्चन्द्रात् सर्वं प्रश्नसूत्र ज्ञेयम् उत्तरसूत्रे गौतम! एक योजनलक्ष पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि एकोनविंशति चैकषष्टिभागान् योजनस्य एक चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा पञ्च चूर्णिकाभागान् आयामविष्कम्भाभ्याम् । अत्र संगतिस्तु द्वितीयमण्डलराशेः द्वासप्ततियोजनादिक राशिमपनीय कार्या त्रीणि योजनलक्षाणि सप्तदशसहस्राणि अष्ट च पञ्चपञ्चाशदधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण उपपत्तिस्तु पूर्वराशेर्द्वे शते त्रिंशदधिकेऽपनीय कार्या ।

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह-

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे चंदे० जाव संकममाणे २ बावत्तरिं२जोअणाइं एगावण्णं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभाग च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागा एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ दो दो तीसाइं जोअणसयाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

" एव खलु " इत्यादि पूर्ववत् । प्रविशंश्चन्द्रो यावत्पदात् "तयाणंतराओ मंडलाओ तयणंतर मंडलमिति" ग्राह्यम् । संक्रामन् २ द्वासप्ततिं २ योजनानि एक पञ्चाशतमेकपञ्चाशत चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकषष्टिभागं च सप्तधा छित्त्वा एकमेकं चूर्णिकाभागमेकैकस्मिन् मण्डले विष्कम्भवृद्धिं निवर्द्धयन् २ हापयन् हापयन्नित्यर्थं । द्वे द्वे त्रिंशदधिके योजनशते परिरयवृद्धिं निवर्द्धयन् २ हापयन् हापयन्नित्यर्थः। सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति ।

अथ मुहूर्तगतिप्ररूपणा—

जया णं भंते! चंदे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्त गच्छइ । गोयमा ! पंचजोअणसहस्साइं तेवत्तरिं च जोअणाइं सत्तत्तरिं च चोआले भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं सत्तहिं अ पणवीसे छेत्ता ॥

" जया ण " इत्यादि पूर्ववत् । भदन्त ! चन्द्रः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसङ्क्रम्य चार चरति। तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। भगवानाह-गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि त्रिसप्ततिं च योजनानि सप्तसप्ततिं च चत्वारिंशदधिकानि भागशतानि गच्छति। कस्य सत्का भागा इत्याह-मण्डल प्रक्रमात् सर्वाभ्यन्तर त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिश्च शतैः पञ्चविंशत्यधिकभागैः छित्त्वा विभज्यैतत् पञ्चसहस्रयोजनादिक गतिपरिमाणमानेतव्यं तथाहि-प्रथमतः सर्वाभ्यन्तरमण्डल परिधिः योजन ३१५०८९ रूपो द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ६६६३४६ ६९ अस्य राशे त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनसहस्राणि त्रिसप्तत्यधिकानि अंशाश्च सप्ततिशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकाः—५०७३ ननु यदि मण्डलपरिधिः त्रयोदशसहस्रादिकेन रा-
७७४४ / १३७२५ शिना भाज्यस्तर्हि किमित्येकविंशत्यधिकाभ्यां द्वाभ्यां शताभ्यां मण्डलपरिधिर्गुण्यते उच्यते चन्द्रस्य मण्डलपूरणकालाद् द्वाषष्टिमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य सत्का त्रयोविंशतिरेकविंशत्यधिकशतद्वयभागा । अस्य च भावना चन्द्रस्य मुहूर्तभागगत्यवसरे विधास्यते मुहूर्तानां सवर्णनार्थमेकविंशत्यधिकशतद्वयेन गुणने त्रयोविंशत्यशप्रक्षेपे च जातम् १३७२५ अतः समभागानयनार्थं मण्डलस्याप्येकविंशत्यधिकशतद्वयेन गुणन संगतमेवेति।अयं भाव —यथा सूर्यः षष्ट्या मुहूर्तैर्मण्डलं समापयति शीघ्रगतित्वात् लघुविमानगामित्वाच्च । तथा चन्द्रो द्वाषष्ट्या मुहूर्तैस्त्रयोविंशत्यधिकशतद्वयभागैर्मण्डलं पूरयति। मन्दगतित्वाद् गुरुविमानगामित्वाच्च तेन मण्डलपूर्तिकालेन मण्डलपरिधिर्भक्त सन् मुहूर्तगतिं प्रयच्छतीति सर्वसमतमाह एकविंशत्यधिकशतद्वयभागकरणे किं बीजमिति चेदुच्यते-मण्डल कालानयने अस्यैव छेदराशेः समानयनात् मण्डलकालनिरूपणार्थमिद त्रैराशिकं यदि सप्तदशशतैः अष्टषष्ट्यधिकैः सकलयुगवर्तिभिः अर्द्धमण्डलैरष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानां लभ्यन्ते ततो द्वाभ्यामर्धमण्डलाभ्यामेकेन मण्डलेनेति भावः । कति रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते । राशित्रयस्थाना-१७६८। १८३० । २ । अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यस्य राशेः १८३० रूपस्य गुणने जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६० तेषामाद्येन राशिना १७६८ रूपेण भागे हृते लब्धे द्वे द्वे रात्रिन्दिवे। शेष तिष्ठति-चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४ तत एकस्मिन् त्रिंशन्मुहूर्ता इति तस्य त्रिंशता गुणने जातानि सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिंशत्यधिकानि ३७२० तेषां सप्तदशभिः शतैः अष्टषष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धौ द्वौ मुहूर्तौ शेषाः १८४ अथ छेद्यछेदकराश्योरष्टकेनापवर्तने जाते छेद्यो राशिस्त्रयोविंशतिः छेदकराशिरेकविंशत्यधिकशतद्वयरूप इति । (जं०) ज्यो० ।

अथाऽस्य दृष्टिपथप्राप्ततामाह—

तया णं इहगयस्स मणुसस्स सीआलीसाए जोअणसह-

स्सेहिं दोहिं अ तेवट्ठेहिं जोअणसएहिं एगवीसाए अ सट्ठिभाएहिं जोअणस्स चंदे चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ ॥

"तया णं इहगयस्स" इत्यादि। तदा इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्द्वाभ्यां च त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या च षष्टिभागैर्योजनस्य चन्द्रः चक्षुःस्पर्शं शीघ्रमागच्छति। अत्रोपपत्तिः सूर्याधिकारे दर्शिताऽपि किंचिद्विशेषाभिधानाय दर्श्यते-यथा सूर्यस्य सर्वाभ्यन्तरमण्डले जम्बूद्वीपचक्रवालपरिधेर्दशभागीकृतस्य दशत्रिभागान् यावत्तापक्षेत्रं तथाऽस्याऽपि प्रकाशक्षेत्रं तावदेव पूर्वतोऽपरतश्च तस्यार्द्धे चक्षुःपथप्राप्ततामायाति। यत्तु षष्टिभागीकृतयोजनस्यैकविंशतिभागाधिकत्वं तत्तु संप्रदायगम्यम्। अन्यथा चन्द्राधिकारे साधिकद्वाषष्टिमुहूर्तप्रमाणमण्डलपूर्तिकालस्य छेदराशित्वेन गणनात् सूर्याधिकारे षष्टिमुहूर्तप्रमाणमण्डलपूर्त्तिकालरूपस्य छेदराशेरनुपपद्यमानत्वात्।

अथ द्वितीयमण्डले मुहूर्तगतिमाह-

जया णं भंते! चंदे अब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ० जाव केवइअं खेत्तं गच्छइ। गोयमा! पंचजोअणसहस्साइं सत्तत्तरिं च जोअणाइं छत्तीसं च चोअत्तरे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं० जाव छेत्ता।

"जया णं भंते!" इत्यादि। यदा भदन्त! चन्द्रः अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। यावत्पदात् "तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं" इति गम्यते। कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम! पञ्चयोजनसहस्राणि सप्तसप्ततिं च योजनानि षट्त्रिंशतं च चतुःसप्तत्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैः। यावत्पदात् "सत्तहिं अ पणवीसेहिं" इति ग्राह्यम्। छित्त्वा विभज्य एतत् सूत्रं प्राग्भावितार्थमिति नेह पुनरुच्यते। अत्रोपपत्तिः-द्वितीयचन्द्रमण्डले परिरयपरिमाणम् ३१५३१९ एतत् द्वाभ्यामेकविंशताभ्यां गुण्यते जातम् ६९६८०४९९ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनसहस्राणि सप्तसप्तत्यधिकानि ५०७७ शेषं षट्त्रिंशच्छतानि चतुःसप्तत्यधिकानि भागानाम् ३६७४

|१३७२५|

अथ तृतीयम्--

जया णं भंते! चंदे अब्भंतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ? गोअमा! पंचजोअणसहस्साइं असीइं च जोअणाइं तेरस य भागसहस्साइं तिण्णि अ एगूणतीसे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं० जाव छेत्ता।

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त! चन्द्रः अभ्यन्तरतृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम! पञ्चयोजनसहस्राणि अशीतिं च योजनानि त्रयोदश च भागसहस्राणि त्रीणि च एकोनत्रिंशदधिकानि भागशतानि गच्छति। मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैरित्यादि पूर्ववत्। अत्रोपपत्तिर्यथा-अत्र मण्डले परिरयः ३१५५४९ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ६९७३६३२९ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चसहस्राण्यशीत्यधिकानि ५०८० शेषं त्रयोदशसहस्राणि त्रीणि शतान्येकोनत्रिंशदधिकानि भागानाम् १३३२९

|१३७२५|

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह-

एवं खलु एएणं उवाएणं निक्खममाणे चंदे तयाणंतराओ० जाव संकममाणे २ तिण्णि २ जोअणाइं छण्णउइं च पंचावण्णे भागसए एगमेगे मंडले मुहुत्तगई अभिवड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ॥

"एवं खलु एएणं" इत्यादि पूर्ववत्। निष्क्रामन् चन्द्रस्तदनन्तरात् यावच्छब्दात् मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् संक्रामन् त्रीणि २ योजनानि षण्णवतिं च पञ्चपञ्चाशदधिकानि भागशतान्येकैकस्मिन् मण्डले मुहूर्तगतिमभिवर्द्धयन्। सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। कथमेतदवसीयते इति चेदुच्यते-प्रतिचन्द्रमण्डले परिरयवृद्धिः द्वे शते त्रिंशदधिके २३० अस्य च त्रयोदशसहस्राधिकेन राशिना भागे हृते लब्धानि त्रीणि योजनानि शेषं षण्णवतिपञ्चपञ्चाशदधिकानि भागशतानि। ३

|९६५५
१३७२५|

अथ पश्चानुपूर्व्या पृच्छति-

जया णं भंते! चंदे सव्वबाहिरे मंडले उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ। गोअमा! पंचजोअणसहस्साइं एगं च पणवीसं जोअणसयं अउणत्तरिं च णउए भागसए गच्छइ मंडले तेरसहिं भागसहस्सेहिं सत्तहिं अ० जाव छेत्ता।

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त! चन्द्रः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम! पञ्चयोजनसहस्राणि एकं च पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतमेकोनसप्ततिं च नवत्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिर्भागसहस्रैः सप्तभिश्च यावच्छेदात् पञ्चविंशत्यधिकैः शतैर्विभज्य अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिरयपरिमाणम्। ३१८३१५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ७०३४७६१५ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि ५१२५ शेषं भागाः। ६९९०

|१३७२५|

अथास्य मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततामाह-

तया णं इहगयस्स मणूसस्स एक्कतीसाए जोअणसहस्सेहिं अट्ठहिं अ एगतीसेहिं जोअणसएहिं चंदे चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ।

"तया णं" इति तदा सर्वबाह्यमण्डलसंचरणकाले इहगतानां मनुष्याणामेकत्रिंशता योजनसहस्रैः अष्टभिश्चैकत्रिंशदधिकैर्योजनशतैश्चन्द्रश्चक्षुःस्पर्शं शीघ्रमागच्छति। अत्र सूर्याधिकारोक्तम्-"तीसाए सट्ठिभाए" इत्यधिकं मन्तव्यम्। उपपत्तिस्तु प्राग्वत्।

अथ द्वितीयमण्डलम्-

जया णं भंते! बाहिराणंतरं पुच्छा?। गोअमा! पंचजोअणसहस्साइं एक्कं च एक्कवीसं जोअणसयं एक्कारस य सट्ठिभागसहस्से गच्छइ मंडलं तेरसहिं० जाव छेत्ता॥

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त ! सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयमित्यादि प्रश्नः प्राग्वत्। गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि एकं चैकाविंशत्यधिकं योजनशतम् एकादश च षष्ट्यधिकानि भागसहस्राणि गच्छति मण्डलं अग्रदेशामितावदपदाव सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैः छित्त्वा। अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिरयः ३१८०८५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम्-७०२६६२८५ एषां १३७२५ एतन्निर्भागे हृते लब्धम् ५१२१ शेषम् । ११०६०/१३७२५

अथ तृतीयम्-

जया णं भंते ! बाहिरतचं पुच्छा। गोअमा ! पंचजोअण सहस्साइं एगं च अट्ठारसुत्तरं जोअणसयं चोद्दस य पंचुत्तरे भागसए गच्छइ मंमलं तेरसहिं सहस्सेहिं सत्तहिं पणवीसेहिं सएहिं छेत्ता।

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त ! सर्वबाह्यमण्डलमित्यादि प्रश्नः प्राग्वत्। गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राण्येकं चाष्टादशाधिकं योजनशतं चतुर्दशपञ्चाधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैः छित्त्वा। अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिरयपरिमाणम् ३१७८५५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् । ७०२४५०५५ एषां १३७२५ एतन्निर्भागे हृते लब्धम् ५११८ शेषं भागाः १४०५/१३७२५

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह-

एवं खलु एएणं उवाएणं० जाव संकममाणे २ तिण्णि २ जोअणाइं छण्णउतिं च पंचावण्णे भागसए एगमेगे मंमले मुहुत्तगइं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु" इत्यादि। एतेनोपायेन यावच्छब्दात् "पविसमाणे चंदे तयणंतराओ मंडलाओ तयणंतरं मंमलं" इति ग्राह्यं सङ्क्रामन् २ त्रीणि २ योजनानि षण्णवतिं च पञ्च पञ्चाशदधिकानि भागशतानि एकैकस्मिन्मण्डले मुहूर्तगतिं निवर्द्धयन् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति। उपपत्तिः पूर्ववत्। अत्र सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यचन्द्रमण्डलयोर्दृष्टिपथप्राप्तता दर्शिता शेषमण्डलेषु तु सा अत्र ग्रन्थे चन्द्रप्रज्ञप्तिबृहत्क्षेत्रसमासवृत्त्यादिषु च पूर्वैः क्वापि न दर्शिता तेनात्र न दर्श्यत इति। जं० ७ वक्ष०।

चन्द्रार्द्धमासे चन्द्रमण्डलानि-

ता चंदे णं अद्धमासे णं चंदे कति मंमलाइं चरति ?। ता चोद्दस चउब्भागमंमलाइं चरति, एगं च चउवीससतभागं मंमलस्स आइच्चेणं अद्धमासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति, ता सोलस मंडलाइं चरति, सोलसमंडलचारी तदा अवराइं खलु दुवे अट्ठकाइं। जाइं चंदे केणइ असामण्णकाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति, कतराइं खलु दुवे अट्ठकाइं जाइं चंदे केणइ असामण्णकाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति। इमाइं खलु दुवे अट्ठगाइं जाइं चंदे केणइ असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति। तं जहा-निक्खममाणे चेव अमावासंतेणं पविसमाणे चेव पुण्णिमासिं तेणं एताइं खलु दुवे अट्ठगाइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति। ता पढमायणगते चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे सत्त अद्धचंदमंमलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति। कतराइं खलु ताइं सत्त अद्धमंमलाइं से जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति। इमाइं खलु ताइं सत्त अद्धमंमलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति, तं वि दिए अद्धमंडले चउत्थे अद्धमंमले छट्ठे अद्धमंमले अट्ठमे अद्धमंमले दसमे अद्धमंमले बारसे अद्धमंमले चउदसमे अद्धमंमले एताइं खलु ताइं सत्तऽद्धमंमलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति, ता पढमायणगते चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे अद्धमंमलाइं तेरस य सत्तट्ठिभागाइं अद्धमंमलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति, कतराइं खलु ताइं अद्धमंडलाइं सत्तट्ठिभाइं अद्धमंमलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति। इमाइं खलु ताइं अद्धमंमलाइं तेरससत्तट्ठिभागाइं अद्धमंमलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति, तं जहा-ततिए अद्धमंमले पंचमे अद्धमंडले सत्तमे अद्धमंडले नवमे अद्धमंडले एकारसमे अद्धमंमले तेरसमे अद्धमंमले पन्नरसमे अद्धमंमलस्स तेरसमसत्तट्ठिभागाइं एताइं खलु ताइं अद्धमंमलाइं तेरसयसत्तट्ठिभागाइं अद्धमंमलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति। एतावता य पढमे चंदायणे सम्मत्ते भवति ॥१॥ ता नक्खत्ते अद्धमासे नो चंदे अद्धमासे चंदे अद्धमासे नो णक्खत्ते अद्धमासे ता नक्खत्ताओ अद्धमासातो चंदेणं अद्धमासेणं किमधियं चरति, ता एगं अद्धमंमलं चरति चत्तारि य सत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स सत्तट्ठिभागं च एकतीसाए छेत्ता णवभागाइं ता दोच्चायणगते चंदे पुरच्छिमाते भागाते णिक्खममाणे सत्तचउपण्णाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं परिचरति। सत्ततेरसकाइं जाइं चंदे अप्पणो चिण्णं पामिचरति ता-दोच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाए भागाए णिक्खममाणे-छचउप्पण्णाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं परिचरति, छत्तेरसगाइं चंदे अप्पणो चिण्णं परिचरति। अवराइं खलु दुवे तेरसगाइं जाइं चंदे केणइ असामन्नगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति, कतराइं खलु ताइं दुवेतेरसगाइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति, इमाइं खलु ताइं दुवे तेरसगाइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २

चारं चरति । सव्वब्भंतरे चेव मंमले सव्वबाहिरे चेव मंमले एयाणि खलु ताणि दुवे तेरसगाइं चंदे केणइं जाव चारं चरइ, एतावता दोच्चे चंदायणे समत्ते नवति ॥२॥ ता णक्खत्ते मासे नो चंदे मासे चंदे मासे णो णक्खत्ते मासे ता णक्खत्तातो मासाओ चंदेणं मासेण किमधियं चरति ?, ता दो अद्धमंडलाइं चरति अट्ठ य सत्तट्ठिजागाइं अद्धमंडलस्स सत्तट्ठिजागं च एकतीसधा छेत्ता अट्ठारस जागाइं ता तच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाते जागाए पविसमाणे बाहिराहिणंतरस्स पच्चच्छिमिल्लस्स अद्धमंडलस्स इत्तालीसं सत्तट्ठिभागाइं जाइ चंदे अप्पणो परस्स य चिण्णं पमिचरति,तेरस सत्तट्ठिजागाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं पमिचरति, तेरससत्तट्ठिजागाइं चंदे अप्पणो परस्स चिण्णं पमिचरति, एतावया च बाहिराणंतरे पच्चच्छिमिल्ले अद्धमंडले समत्ते नवति तच्चायणगते चंदे पुरच्छिमाए भागाए पविसमाणे बाहिरतच्चस्स पुरच्छिमिल्लस्स अद्धमंमलस्स इत्तालीसं सत्तट्ठिभागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स चिण्णं पमिचरति तेरससत्तट्ठिजागाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं पमिचरति तेरससत्तट्ठिभागाइं जाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिण्णं परियरति,एतावता च बाहिरतच्चे पुरमिल्ले अद्धमंमले सम्मत्ते नवति ता तच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाते जागाते पविसमाणे ३ । बाहिरचउत्थस्स पच्चच्छिमिल्लस्स अद्धमंमलस्स अट्ठसत्तट्ठिजागाइं सत्तट्ठिजागं च एगतीसधा छेत्ता अट्ठारस जागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिण्णं पमिचरति एतावता च बाहिरचउत्थे पच्चच्छिमिल्ले अद्धमंमले संमत्ते नवइ । एवं खलु चंदेण मासेण चंदे तेरसचउप्पणगाइं दुवे तेरसगाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं पमिचरति तेरस तेरस गाइ जाइं चंदे अप्पणो चिण्णं पमियरति दुवे इत्तालीसगाइं अट्ठसत्तट्ठिभागाइं सत्तट्ठिभागं च एकतीसधा छेत्ता अट्ठारस भागाइ जाइं चंदे अप्पणो परस्स अ चिण्णं पमिचरति अवराइं खलु दुवे तेरसगाइं जाइं चंदे केणइ असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति । इच्चेसा चंदमसो णिगमणणिक्खमणवुड्ढिणिवुड्ढितमंठाणसंठितीति उवणगहिपत्तेसु वि चंदे देवे देवेआहितेति वदेज्जा ।

"ता चंदेण अद्धमासेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रेण अर्द्धमासेन प्रागुक्तस्वरूपेण चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-"ता चोद्द" इत्यादि । चतुर्दश सचतुर्भागमण्डलानि चरति । एक च चतुर्विंशतिम भाग मण्डलस्य किमुक्तं भवति परिपूर्णानि चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्भागं चतुर्विंशत्यधिकशतैकत्रिंशद्भागप्रमाणमेक च चतुर्विंशतिभाग मण्डलस्य सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत् पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरतीति । कथमेतदवसीयते इति चेत् । उच्यते-त्रैराशिकबलात् तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते । तत एकेन पर्वणा किं लभ्यते ?। राशित्रयस्थापना-१२४।१७६८।१। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते स च तावानेव जातस्तत्राद्येन राशिना भागहरणं लब्धाश्चतुर्दश १४। शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशत् ३२। तत्र छेद्यछेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना क्रियते । तत इदमागच्छति चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः १४। १६। उक्तं चैतदन्यत्रापि । " चोद्दस य मंडलाइं १२४, बि सट्ठि भागा य सोलस हविज्जा । मासद्धेण उडुवई, एत्तियमित्तं चरइ खेत्तं" । ॥ १ ॥ "ता आइच्चेणं" इत्यादि । आदित्येनार्द्धमासेन चन्द्रः कति ६२ मण्डलानि चरति । भगवानाह-"ता सोलस" इत्यादि। षोडश मण्डलानि चरति षोडशमण्डलचारी च तदा अपरे खलु द्वे अष्टके चतुर्विंशत्याधिकशतसत्का भागाष्टकमानो यकोऽप्येष. सामान्ये केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः स्वयमेव प्रविश्य २ चारं चरति । "त कयराइं खलु दुवे" इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"इमा खलु दुवे" इत्यादि । इमे खलु अष्टके ये केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः स्वयमेव प्रविश्य चारं चरति । तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामन् नैवामावास्यान्ते एकमष्टकं केनाप्यनाचीर्णे चन्द्र. प्रविश्य चारं चरति । सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तर प्रविशन्नेव पौर्णमास्यन्ते द्वैतीयमष्टक केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्र. प्रविश्य चार चरति । "एयाइ खलु दुवे अट्ठगाइ" इत्यादि । उपसंहारवाक्यं सुगमम् । इह परमार्थतो द्वौ चन्द्रौ एकेन चन्द्रेणार्धमासेन चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य च मण्डलस्य द्वात्रिंशत चतुर्विंशत्याधिकशतभागान् भ्रमणेन पूरयत. परं लोकरूढ्या व्यक्तिभेदमनपेक्ष्य जातिभेदमेव केवलमाश्रित्य चन्द्रश्चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य द्वात्रिंशतं चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति इत्युक्तम् । अधुना एकश्चन्द्रमा एकस्मिन्नयने कति अर्धमण्डलानि दक्षिणभागे कत्युत्तरभागे भ्रम्यापूरयतीति प्रतिपिपादयिषुर्भगवानाह-" ता पढमायणगए चंदे " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । प्रथमायनगते प्रथमायनं प्रविष्टश्चन्द्रो दक्षिणस्माद्भागादभ्यन्तरं प्रविशति सप्त अर्द्धमण्डलानि भवन्ति । यानि चन्द्रो दक्षिणस्माद्भागादभ्यन्तर प्रविशन्नाक्रम्य चारं चरति । " कतराइं खलु " इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-" इमाइं खलु " इत्यादि । इमानि खलु सप्तार्द्धमण्डलानि यानि चन्द्रो दक्षिणाद्भागादभ्यन्तरं प्रविशन्नाक्रम्य चार चरति । तद्यथा-द्वितीयमर्द्धमण्डलमित्यादि सुगमम् नवरमियमत्र भावना-सर्वबाह्ये पञ्चदशे मण्डले परिभ्रमणेन पूरणमधिकृत्य परिपूर्णपाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिर्भवति ततोऽपरयुगप्रथमायनप्रवृत्तौ प्रथमेऽहोरात्रे एकश्चन्द्रमा दक्षिणभागादभ्यन्तर प्रविशन् द्वितीय मण्डलमाक्रम्य चार चरति । स पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिदिवसे उत्तरस्यां दिशि चार चरितवान् स वेदितव्य. ततः स तस्मात् द्वितीयान्मण्डलात् शनैश्शनैरभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीये अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं तृतीयमर्द्धमण्डलमाक्रम्य चारं चरति । तृतीये अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि चतुर्थमण्डल चतुर्थे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि पञ्चममर्द्धमण्डल पञ्चमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि षष्ठमर्द्धमण्डल षष्ठे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि सप्तममर्द्धमण्डल सप्तमे अहोरात्रे दक्षिणस्या दिशि अष्टममर्द्धमण्डलमष्टमेऽहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि

नवममर्द्धमण्डलं नवमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि दशममर्द्धमण्डलं दशमे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि एकादशमर्द्धमण्डलमेकादशे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि द्वादशमर्द्धमण्डलं द्वादशे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि त्रयोदशमर्द्धमण्डलं त्रयोदशे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि चतुर्दशमर्द्धमण्डलं चतुर्दशे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि पञ्चदशस्यार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागानाक्रम्य चारं चरति । एतावता च कालेन चन्द्रस्याऽयनपरिसमाप्तिः चन्द्रायनं हि नक्षत्रमासप्रमाणं तेन नक्षत्रार्द्धमासेन चन्द्रचारे सामान्यतस्त्रयोदश मण्डलानि चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागा लभ्यन्ते । तथा हि-यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्टिसहितानि मण्डलानां लभ्यन्ते । तत एकेनायनेन किं लभामहे । राशित्रयस्थापना-१३४।१७६८।१। अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते जातः स तावानेव ततस्तस्याद्येन राशिना चतुस्त्रिंशदधिकशतरूपेण भागहरणे लब्धास्त्रयोदश शेषास्तिष्ठन्ति षड्विंशतिः । तत्र छेद्यछेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना लब्धास्त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः उक्तं च "तेरस य मंडलाणि य, तेरस सत्तट्ठि चेव भागा य । अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्तेणऽद्धमासेण" ॥१॥ एतच्च सामान्यत उक्तं विशेषचिन्तायां चैकस्य चन्द्रसो युगस्य प्रथमे अयने यथोक्तेन प्रकारेण दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेशे द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्धमण्डलानि लभ्यन्ते उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट्परिपूर्णान्यर्द्धमण्डलानि सप्तमस्य तु पञ्चदशमण्डलगतस्यार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः एतावता च यद्वक्ष्यति उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायाम् " तइए अद्धमंडले " इत्यादिसूत्रं तदपि भावितमेव । सम्प्रति दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेशे यानि सप्तार्द्धमण्डलान्युक्तानि तदुपसंहारमाह-"एयाइं" इत्यादि । सुगमम् अधुना तस्यैव चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव प्रथमे अयने उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे यावन्त्यर्द्धमण्डलानि भवन्ति तावन्ति विवक्षुराह-"ता पढमायणगए" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् प्रथमायनगते युगस्यादौ प्रथममयनं प्रविष्टे चन्द्रे उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशति । षट् अर्द्धमण्डलानि भवन्ति । सप्तमस्य चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागा यानि चन्द्र उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशन् आक्रम्य चारं चरति । " कयराइं खलु" इत्यादि । प्रश्नसूत्रं सुगमम् । "इमाइं खलु" इत्यादि निर्वचनसूत्रम् । एतच्च प्रागेव भावितम् । "एयाइं खलु" इत्यादि । निगमनवाक्यं निगदसिद्धम् । "एतावता" इत्यादि । एतावता कालेन प्रथमं चन्द्रस्यायनं समाप्तं भवति । एतदपि प्राग्भावितं तदेव पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिचरमदिवसे य उत्तरस्यां दिशि चारं चरितवान् तस्याऽभिनवयुगपक्षे प्रथमे अयने यावन्ति दक्षिणभागाभ्यन्तरप्रवेशेऽर्द्धमण्डलानि यावन्ति चोत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे तावन्ति साक्षादुक्तानि एतदनुसारेण द्वितीयस्याऽपि चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव प्रथमे चन्द्रायणेऽर्द्धमण्डलानि वक्तव्यानि तानि चैव स पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिचरमदिवसे दक्षिणदिग्भागे सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरित्वा अभिनवस्य युगस्य प्रथमे अयने प्रथमेऽहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि द्वितीयमर्द्धमण्डलं प्रविश्य चारं चरति । द्वितीये अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि सर्वबाह्यतृतीयमर्द्धमण्डलं प्रविश्य चारं चरति । तृतीये अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि । चतुर्थमण्डलमित्यादि । प्रागुक्तानुसारेण सकलमपि वक्तव्यं । तदेवमस्य चन्द्रमसः प्रथमे अहोरात्रे उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायां द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्द्धमण्डलानि भवन्ति । दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायां तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट् अर्धमण्डलानि भवन्ति । पञ्चदशस्य चार्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः । एवं च सति यावत् चन्द्रस्यार्धमासस्तावान्नक्षत्रस्यार्धमासो न भवति । किं तु ततो न्यून इति सामर्थ्यात्तत् द्रष्टव्यम् । तथा चाह-"ता नक्खत्तेण" इत्यादि । यद्येवमेकस्मिन्नयने नक्षत्रार्धमासरूपे सामान्यतश्चन्द्रमसस्त्रयोदश मण्डलानि चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः । 'ता' इति ततो नक्षत्रार्धमासश्चान्द्रोऽर्धमासो न भवति चान्द्रे अर्धे मासे चतुर्दशानां मण्डलानां पञ्चदशस्य चन्द्रमण्डलस्य द्वात्रिंशतश्चतुर्विंशत्यधिकशतभागानां प्राप्यमाणत्वात् । "इह नक्षत्रोऽर्धमासश्चान्द्रोऽर्धमासो न भवति" इत्युक्तौ नक्षत्रार्द्धमासः चान्द्रोऽर्द्धमासो न भवति । यस्तु चान्द्रोऽर्द्धमासः स कदाचिन्नक्षत्रोऽप्यर्द्धमासः स्यात् । यथा "परमाणुरप्रदेश" इत्युक्तौ परमाणुरप्रदेश एव यस्त्वप्रदेशः स परमाणुरपि भवति अपरमाणुश्च क्षेत्रप्रदेशादिरिति शङ्का स्यात् । ततस्तदपनोदार्थमाह-"चान्द्रोऽर्द्धमासो नक्षत्रोऽर्द्धमासो न भवति" एवमुक्ते भगवान् गौतमो ! नक्षत्रार्द्धमासयोर्विशेषपरिज्ञानार्थमाह-"ता नक्खत्ताओ अद्धमासाओ" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । नक्षत्रात् अर्द्धमासाच्चे तव मतेन भगवन् ! चन्द्रश्चान्द्रेणाऽर्द्धमासेन किमधिकं चरति । भगवानाह-" ता एगं" इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं द्वितीयस्य चार्द्धमण्डलस्य चतुःसप्तषष्टिभागानेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकत्रिंशधा विभिन्नस्य सत्कान् नवभागानधिकं चरति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? उच्यते-त्रैराशिकबलात् तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन सप्तदशशतानि अष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना-१२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते जातः स तावानेव । तत आद्येन चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण राशिना भागहरणे छेद्यछेदकराश्योश्चतुष्केनापवर्तना, लब्धानि चतुर्दशमण्डलानि अष्टौ च एकत्रिंशद्भागा एतस्मान्नक्षत्रार्द्धमासगम्यक्षेत्रं त्रयोदश मण्डलानि एकस्य च मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागा इत्येवंप्रमाणः शोध्यते तत्र चतुर्दशभ्यस्त्रयोदश मण्डलानि शुद्धानि एकमवशिष्टं सप्तत्यष्टभ्य एकत्रिंशद्भागेभ्यस्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः शोध्यास्तत्र सप्तषष्टिरष्टभिर्गुणितो जातानि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ५३६ एकत्रिंशता त्रयोदश गुणिता जातानि चत्वारि शतानि त्र्युत्तराणि ४०३ एतानि पञ्चभ्य शतेभ्यः षट्त्रिंशदधिकेभ्यः शोध्यन्ते स्थितं शेषं त्रयस्त्रिंशदधिकं शतम् १३३ तत एतत् सप्तषष्टिभागानयनार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यते जातानि नवाशीतिशतान्येकादशाधिकानि ८९११ छेदराशिमोल एकत्रिंशत् सप्तषष्ट्या गुण्यते जाते द्वे सहस्रे सप्तसप्तत्यधिके २०७७ ताभ्यां भागो ह्रियते लब्धा चत्वारः सप्तषष्टिभागाः । शेषाणि तिष्ठन्ति षट्शतानि त्र्युत्तराणि ६०३ ततश्छेद्यछेदकराश्योः सप्तषष्ट्यापवर्तना जाता उपरि नव अधस्तादेकत्रिंशल्लब्धा एकस्य सप्तषष्टिभागस्य नव एकत्रिंशच्छेदकृता भागाः । उक्तं च-"एगं च मंडलं मंडलस्स सत्तट्ठि भाग चत्तारि । नव चेव चुण्णिया उ, इगतीसकएण छेएण" ॥१॥ इह भावनां कुर्वता मण्डलं मण्डलमिति । यदुक्तं तत् सामान्यतो ग्रन्थान्तरे या प्रसिद्धा भावना तदुपरोधादवसेयं परमार्थतः पुनरर्धमण्डलमवसातव्यम् ततो न कश्चित् सूत्रभावनि-

कयोर्विरोधः । तदेवमेकचन्द्रायणवक्तव्यतोक्ता ॥ १ ॥ संप्रति द्वितीयचन्द्रायणवक्तव्यताऽभिधीयते-तत्र यः प्रथमे चान्द्रायणे दक्षिणभागादभ्यन्तरं प्रविशन् सप्तार्द्धमण्डलानि उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशन् षमर्द्धमण्डलानि सप्तमस्य चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागान् चरितवान् तमधिकृत्य द्वितीयायनभावना क्रियते-तत्रायनस्य मण्डलं क्षेत्रपरिमाणं त्रयोदशार्द्धमण्डलानि चतुर्दश चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः तत्र प्राक्तनमयनमुत्तरस्यां दिशि सर्वाभ्यन्तरे मण्डले त्रयोदशसप्तषष्टिभागपर्यन्ते परिसमाप्तम् । तदनन्तरं द्वितीयायनप्रवेशे चतुःपञ्चाशता सप्तषष्टिभागैः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं परिसमाप्य ततो द्वितीये मण्डले चारं चरति । तत्र त्रयोदशभागपर्यन्तं प्रथमर्द्धमण्डलं द्वितीयस्यायनस्य परिसमाप्तं द्वितीयमर्द्धमण्डलमुत्तरस्यां सर्वाभ्यन्तरात् तृतीये अर्द्धमण्डलत्रयोदशभागपर्यन्ते तृतीयमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि चतुर्थेऽर्द्धमण्डले चतुर्थमर्द्धमण्डलमुत्तरस्यां दिशि पञ्चमेऽर्द्धमण्डले पञ्चमेऽर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि षष्ठेऽर्द्धमण्डले षष्ठमर्द्धमण्डलम् उत्तरस्यां दिशि सप्तमेऽर्द्धमण्डले सप्तममर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि अष्टमेऽर्द्धमण्डलेऽष्टममर्द्धमण्डलमुत्तरस्यां दिशि नवमेऽर्द्धमण्डले नवममर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि दशमेऽर्द्धमण्डले मण्डले दशममर्द्धमण्डलम् उत्तरस्यां दिशि एकादशेऽर्द्धमण्डले एकादशमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि द्वादशेऽर्द्धमण्डले द्वादशमर्द्धमण्डलम् उत्तरस्यां दिशि त्रयोदशेऽर्द्धमण्डले त्रयोदशमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि चतुर्दशेऽर्द्धमण्डले चतुर्दशमर्द्धमण्डलं तच्च त्रयोदशभागपर्यन्ते परिसमाप्तं तदनन्तरं त्रयोदशसप्तषष्टिभागान् अन्यान् चरति । एतावता द्वितीयमयनं परिसमाप्तम् ॥ चतुर्दशे च मण्डले सङ्क्रान्तः सन् प्रथमक्षणादूर्द्ध्वं सर्वबाह्यमण्डलाभिमुखं चारं चरति । ततः परमार्थतः कतिपयभागातिक्रमे पञ्चदश एव सर्वबाह्ये मण्डले वेदितव्यः तदेवमस्मिन्नयने पूर्वभागे द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्द्धमण्डलाचीर्णानि पश्चिमभागे च तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट् अर्द्धमण्डलानि । तत्र पूर्वभागे पश्चिमभागे बाह्यप्रतिमण्डलं स्वयं चीर्णमन्यचीर्णं वा चरति तन्निरूपयति-" ता दोच्चायणगए " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । द्वितीयाऽयनगते चन्द्रः पौरस्त्याद्भागान्निष्क्रामति किमुक्तं भवति-पौरस्त्यभागे चारं चरति । सप्तचतुःपञ्चाशत्कानि भवन्ति यानि चन्द्रः परस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । परेण सूर्यादिनाचीर्णानि प्रतिचरति सप्त च त्रयोदशकानि भवन्ति यानि चन्द्र आत्मनैव चीर्णानि प्रतिचरति । इयमत्र भावना-मेरोः पूर्वस्यां दिशि यो भागः स पूर्वभागो यश्चापरस्यां दिशि स पश्चिमभागः तत्र पूर्वभागे सप्तस्वा । द्वितीयादिष्वेकान्तरितेषु चतुर्दशपर्यन्तेषु सप्तषष्टिभागप्रविभक्तेषु प्रत्येकं चतुःपञ्चाशतम् २ सप्तषष्टिभागान् चन्द्रः परेण सूर्यादिना चीर्णान् प्रतिचरति । त्रयोदश २ सप्तषष्टिभागान् स्वयं चीर्णानिति । " ता दोच्चाणे गए " इत्यादि । तस्मिन्नेव चन्द्रमासि द्वितीयाऽयनगते पश्चिमभागान्निष्क्रामति पश्चिमे भागे चारं चरति । षट्चतुःपञ्चाशत्कानि भवन्ति यानि चन्द्रः परस्येति परेण सूर्यादिना चीर्णानि प्रतिचरति षट्त्रयोदशकानि यानि चन्द्रः स्वयं चीर्णानि प्रतिचरति । अत्रापीयं भावना-पश्चिमे भागे षट्स्वपि तृतीयादिष्वेकान्तरितेषु त्रयोदशपर्यन्तेषु अर्द्धमण्डलेषु सप्तषष्टिभागप्रविभक्तेषु प्रत्येकं चतुःपञ्चाशतं सप्तषष्टिभागान् परचीर्णान् चरति त्रयोदश सप्तषष्टिभागान् स्वयं चीर्णानिति । "कयराइं खलु दुवे" इत्यादि । अपरे खलु द्वे त्रयोदशके तस्मिन्नयने द्वितीये चन्द्रः केनाप्यनाचीर्णे पूर्वे स्वयमेव प्रविश्य चारं चरति । " कयराइं खलु" इत्यादि । प्रश्नसूत्रं सुगमम् । "इमाइं खलु" इत्यादि । निर्वचनवाक्यमेतदेतच्च प्रायो निगदसिद्धं नवरमेकं तत् त्रयोदशकं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तत्पाश्चात्यायनगतत्रयोदशकादूर्द्ध्वं वेदितव्यम् । तस्यैव सञ्चारास्पदत्वात् द्वितीये सर्वबाह्ये मण्डले तच्च पर्यन्तवर्ती प्रतिपत्तव्यम् "एयाइं खलु ताणि " इत्यादि । निगमनवाक्यं सुगमम् । तदेवमेकं चन्द्रमसमधिकृत्य द्वितीयायनवक्तव्यतोक्ता एतदनुसारेण च द्वितीयमपि चन्द्रमसमधिकृत्य द्वितीयायनवक्तव्यता भावनीया । परं तस्य पश्चिमभागे सप्तचतुःपञ्चाशत्कानि परचीर्णानि चरणीयानि सप्तत्रयोदशकानि स्वयं चीर्णाचरणीयानि वक्तव्यानि पूर्वभागे षट्चतुःपञ्चाशत्कानि परचीर्णाचरणीयानि षट्त्रयोदशकानि स्वयं चीर्णप्रतिचरणीयानि ॥ " एतावता " इत्यादि । एतावता कालेन द्वितीयं चन्द्रायनं समाप्तं भवति । " ता नक्खत्ते " इत्यादि । यदैव द्वितीयमप्ययनं एतावत्प्रमाणं ता इति ततो नक्षत्रो मासो न चान्द्रो मासो भवति, नापि चान्द्रो मासो नक्षत्रो मासः, संप्रति नक्षत्रमासात् कियता चन्द्रमासोऽधिकः इति जिज्ञासुः प्रश्नं करोति । "ता नक्खत्ताओ मासातो" इत्यादि । 'ता' इति तत्र नक्षत्रात् चन्द्रः चान्द्रेण मासेन किमधिकं चरति । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता दो अद्धमंडलाइं" इत्यादि । द्वे अर्द्धमण्डले तृतीयस्यार्द्धमण्डलस्याष्टौ सप्तषष्टिभागान् । एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशद्धा छित्त्वा तस्य सत्कानष्टादशभागानधिकं चरति ॥ एतच्च प्रागुक्तमेकायनात्क्रिकमर्द्धमण्डलामित्यादि गुणं कृत्वा परिभावनीयम् ॥२॥ संप्रति यावता चन्द्रमासः परिपूर्णो भवति तावन्मात्रतृतीयायनवक्तव्यतामाह-" ता तच्चायणगए चंदे" इत्यादि । इह द्वितीयायनपर्यन्ते चतुर्दशे मण्डले षट्त्रिंशतिसङ्ख्यसप्तषष्टिभागमात्रमाक्रान्तं तच्च परमार्थतः पञ्चदशमर्द्धमण्डले वेदितव्यम् बहु तदाभिमुखं गतत्वात्तदनन्तरं नीलवत्पर्वतप्रदेशे साक्षात्पञ्चदशमर्द्धमण्डलं प्रविष्टस्तत्प्रविष्टश्च प्रथमक्षणादूर्द्ध्वं सर्वबाह्यानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलाभिमुखं चरति । तस्य तस्मिन्नेव सर्वबाह्यानन्तरेऽर्वाक्तने द्वितीये मण्डले चारं चरन् त्रिवक्रितस्ततोऽधिकृतस्तत्रोपनिपातस्तृतीयायनगते चन्द्रे पश्चिमे भागे प्रविशति । बाह्यानन्तरस्यार्वाग्भागवर्तिनः पाश्चात्यस्यार्द्धमण्डलस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागास्ते वर्तन्ते यानि चन्द्र आत्मना परेण चीर्णान् प्रतिचरति । त्रयोदश च सप्तषष्टिभागास्ते यान् चन्द्रः परेणैव चीर्णान् प्रतिचरति । अन्ये च त्रयोदशसप्तषष्टिभागास्ते वर्तन्ते यान् चन्द्रः स्वयं परेणाचीर्णान् प्रतिचरति । एतावता च परिभ्रमणेन बाह्यानन्तरमर्वाक्तनपाश्चात्यमर्द्धमण्डलं समाप्तं भवति । तदनन्तरं च तस्मिन्नेव तृतीयाऽयनगते चन्द्रे पौरस्त्यभागे प्रविशति सर्वबाह्यादर्वाक्तनस्य तृतीयस्य पौरस्त्यस्यार्द्धमण्डलस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागान् यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति । ततः परमन्ये ते त्रयोदश भागा यान् चन्द्रः परेणैव चीर्णान् प्रतिचरति । अन्ये च ते त्रयोदशभागा यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति एतावता सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं पौरस्त्यमर्द्धमण्डलं परिसमाप्तं भवति सप्तषष्टिरपि भागानां परिपूर्णतया जातत्वात् ' ता' इत्यादि । ततस्तस्मिन्नेव तृतीयायनगते चन्द्रे पश्चिमे भागे

प्रविशति सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनस्य चतुर्थस्य पाश्चात्यस्यार्द्धमण्डलस्याष्टौ सप्तषष्टिभागा एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशधा छित्वा तस्य सत्का अष्टादश भागास्ते वर्तन्ते यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति, एतावता च परिभ्रमणेन चान्द्रो मासः परिपूर्णो जातः सम्प्रति पूर्वोक्तमेव स्मारयन् चन्द्रमासगसमुपसंहारमाह-"एवं खलु चंदेण मासेण" इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितं चान्द्रेण मासेन चान्द्रे त्रयोदश चतुःपञ्चाशत्कानि जातानि द्वे च त्रयोदशके,यानि चन्द्र. परेणैव चीर्णानि प्रतिचरति । वर्तमानकालनिर्देशः सकलकालयुगस्य प्रथमे चान्द्रे मासे एवमेव द्रष्टव्यमिति ज्ञापनार्थं । तत्र त्रयोदशाऽपि चतुःपञ्चाशत्कानि द्वितीये अयने तत्राऽपि सप्तचतुःपञ्चाशत्कानि पूर्वभागे षट्पाश्चात्यभागे ये च द्वे त्रयोदशके ते द्वितीयस्याऽयनस्योपरि चन्द्रमासावधेरर्वाक् द्रष्टव्ये, तत्रैकत्रयोदशकं सर्वबाह्यादर्वाक्तने द्वितीये पाश्चात्ये अर्द्धमण्डले द्वितीये पौरस्त्ये तृतीये अर्द्धमण्डले । तथा "तेरस" इत्यादि । त्रयोदश त्रयोदशकानि यानि चन्द्र आत्मनैव चीर्णानि प्रतिचरति तानि सर्वाण्यपि द्वितीये अयने वेदितव्यानि,तत्राऽपि सप्त पूर्वभागे, षट् पश्चिमभागे इत्यादि । तथा "दुवे" इत्यादि । द्वे एकचत्वारिंशत्के द्वे च त्रयोदशके अष्टौ सप्तषष्टिभागा एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशधा छित्वा तस्य सत्का अष्टादश भागाः, चान्येतानि चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णानि प्रतिचरति । तत्र एकमेकचत्वारिंशत एकमेकं च त्रयोदशकद्वितीयायनोपरि सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने द्वितीये पाश्चात्येऽर्द्धमण्डले द्वितीयमेकचत्वारिंशत्कं, द्वितीयं च त्रयोदशकं सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने तृतीयं पौरस्त्ये शेषपाश्चात्ये सर्वबाह्यादर्वाक्तने चतुर्थार्द्धमण्डले। अमुनोपसंहारमाह-" इच्चेसा " इत्यादि । इत्येषा चन्द्रमसः, संस्थितिरिति योगः। किंविशिष्टेत्याह-अभिगमननिष्क्रमणवृद्धिनिर्वृद्ध्यनवस्थितसंस्थाना,अभिगमनं सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरप्रविशनं, निष्क्रमणं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्गमनम्, वृद्धिः चन्द्रमसः प्रकटतया उपचयो, निर्वृद्धिर्यथोक्तस्वरूपवृद्ध्यभावः, एताभिरनवस्थितं संस्थानम् अभिगमननिष्क्रमणे अधिकृत्याव-स्थानं वृद्धिनिर्वृद्धी अपेक्ष्य संस्थानमाकारो यस्याः सा तथारूपा संस्थिति , तथा परे दृश्यमानचन्द्रविमानस्याधिष्ठाता विकुर्वणर्द्धिप्राप्तो रूपी रूपवान्, अत्रातिशये मत्वर्थीयोऽतिशयरूपवान् चन्द्रो देव आख्यातो, न तु परिदृश्यमानविमानमात्रश्चन्द्रो देव इति वदेत्स्वशिष्येभ्यः । सू० प्र० १३ पाहु० । चं० प्र० ।

अथ चन्द्रवक्तव्यप्रश्नमाह-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे चंदिमा उदीणपाईणमुग्गच्छ पाईणदाहिणमागच्छंति, जहा सूरवत्तव्वया, जहा पंचमसयस्स दसमे उद्देसे० जाव अवट्ठिएणं तत्थ काले पण्णत्ते । समणाउसो ! इच्चेसा जंबुद्दीवपण्णत्ती चंदपण्णत्ती वत्थुसमासेणं समत्ता भवइ ॥

"जंबुद्दीवे णं" इत्यादि । जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे चन्द्रावुदीचीनप्राचीनदिग्भागे उद्गत्य प्राचीनदक्षिणदिग्भागे आगच्छतः इत्यादि । यथा सूरवक्तव्यता तथा चन्द्रवक्तव्यता, यथा, वाशब्दोऽत्र गम्य , पञ्चमशतस्य दशमे उद्देशके चन्द्रनाम्नि कियत्पर्यन्त सूत्र ग्राह्यमित्याह-यावदवस्थितस्तत्र काल प्रज्ञप्त । हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! अत्राप्युपसंजिहीर्षुराह-"इच्चेसा" इत्यादि । व्याख्यानं पूर्ववत्, परं सूर्यप्रज्ञप्तिस्थाने चन्द्रप्रज्ञप्तिर्वाच्या । भ० ७ शत० ।

चंदमंडलणिभ-चन्द्रमण्डलनिभ-त्रि० । चन्द्रमण्डलाकारे, रा० ।

चंदमंडलसमप्पभ-चन्द्रमण्डलसमप्रभ-त्रि० । शशधरबिम्बवत् प्रभाते वृत्ततया शोभमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चंदमग्ग-चन्द्रमार्ग-पुं० । चन्द्रमण्डले, (सू० प्र०)

नक्षत्राद्यधिकृत्य चन्द्रमण्डलानि चन्द्रमार्गा अभिधीयन्ते-

ता कहं ते चंदमग्गा आहिता ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि नक्खत्ता, जे णं सया चंदस्स दाहिणेणं जोअं जोएंति, अत्थि णक्खत्ता जे णं सया चंदस्स उत्तरेणं जोअं जोएंति,अत्थि णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि उत्तरेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, अत्थि णक्खत्ता जे णं चंदस्स सदा पमद्दं जोअं जोएति। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए नक्खत्ताणं कतरे नक्खत्ता, जे णं सदा चंदस्स दाहिणेणं जोयं जोएंति, तहेव०जाव कतरे नक्खत्ता जे णं सदा चंदस्स पमद्दं जोअं जोएंति ?, ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं जे णं णक्खत्ता सया चंदस्स दाहिणेणं जोयं जोएंति,ते णं छ,तं जहा-संठाणा अद्दा पुस्सो असेसा हत्थो मूलो, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं सदा चंदस्स उत्तरेणं जोयं जोएंति, ते णं बारस। तं जहा-अभिई सवणो धणिट्ठा सतभिसया पुव्वभद्दवया उत्तरपोट्ठवया रेवती अस्सिणी भरणी पुव्वाफग्गुणी उत्तराफग्गुणी साती, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेण वि उत्तरेणं वि पमद्दं पि जोअं,जोएंति, ते णं सत्त। तं जहा-कत्तिया रोहिणी पुणव्वसू महा चित्ता विसाहा अणुराहा, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, ताओ य णं दो आसाढाओ सव्वबाहिरे मंडले जोयं जोयंसु वा, जोयंति वा, जोएस्संति वा, तत्थ जे ते णक्खत्ते जे णं सदा चंदस्स पमद्दं जोयं जोएंति, सा णं एगा जेट्ठा ।

" ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण नक्षत्राणां दक्षिणत उत्तरत प्रमर्दतो यदि वा सूर्यनक्षत्रैर्विरहिततया अविरहिततया च चन्द्रस्य मार्गाश्चन्द्रस्य मण्डलगत्या परिभ्रमणरूपा मण्डलरूपा वा मार्गा आख्याता इति वदेत ?। भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये,अस्तीति, निपातत्वादार्षत्वाद्वा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि, ' णं ' इति वाक्यालङ्कारे, सदा चन्द्रस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि व्यवस्थितानि योग युञ्जन्ति कुर्वन्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि सदा चन्द्रस्य उत्तरेण उत्तरस्यां दिशि व्यवस्थितानि योग युञ्जन्ति, तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितानि उत्तरस्यामपि दिशि स्थितानि योगं युञ्जन्ति,प्रमर्दमपि प्रमर्दरूपमपि योग कुर्वन्ति, तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि

चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति प्रमर्दरूपमपि योगं युञ्जन्ति, अस्ति तन्नक्षत्रं यत् सदा चन्द्रस्य प्रमर्दरूपं योगं युनक्ति। एवं सामान्येन भगवतोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति- "ता एएसि णं" इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामन्तरोदितानामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि सदा चन्द्रस्य दक्षिणस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं कुर्वन्ति तानि षट्। तद्यथा-मृगशिर आर्द्रा पुष्योऽश्लेषा हस्तो मूलश्च,एतानि सर्वाण्यपि पञ्चदशस्य चन्द्रमण्डलस्य बहिश्चारं चरन्ति। तथा चोक्तं करणविभावनायाम्-" पन्नरसमस्स चंद-मंडलस्स बाहिरओ। मगसिर अद्दा पुस्सो, असिलेहा हत्थ मूलो य" ॥१॥ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यामप्युक्तम्-" संठाण अद्द पुस्सो, सिलेस हत्थो तहेव मूलो य। बाहिरओ बाहिरम-डलस्स छप्पेते नक्खत्ता"॥१॥ ततः सदैव दक्षिणदिग्व्यवस्थितान्येव तानि चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्त्युपपद्यन्ते, नान्यथेति, तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि यानि सदा सर्वकालं चन्द्रस्योत्तरेण उत्तरस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति कुर्वन्ति तानि द्वादश। तद्यथा-"अभिई"इत्यादि। एतानि हि द्वादशाऽपि नक्षत्राणि सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले चारं चरन्ति। तथा चोक्तं करणविभावनायाम्-"से पढमे सव्वब्भंतरे चंदमंडले नक्खत्ता इमे,तं जहा-अभिई सवणो धणिट्ठा सतभिसया पुव्वभद्दवया उत्तरभद्दवया रेवई अस्सिणी भरणी पुव्वफग्गुणी उत्तरफग्गुणी साई"इति। यदा चैतैः सह चन्द्रस्य योगस्तदा स्वभावाच्चन्द्रः शेषेष्वेव मण्डलेषु वर्तते, ततः सदैवैतान्युत्तरदिग्व्यवस्थितान्येव चन्द्रमसा सह योगमुपयान्ति। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि यानि चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, उत्तरस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, प्रमर्दरूपमपि योगं युञ्जन्ति, तानि सप्त। तद्यथा-कृत्तिका रोहिणी पुनर्वसू मघा चित्रा विशाखा अनुराधा,केचित्पुनर्ज्येष्ठानक्षत्रमपि दक्षिणोत्तरप्रमर्दयोगि मन्यन्ते। तथा चोक्तं लोकश्रियाम्-"पुणव्वसु,रोहिणि चित्ता,मह जेट्ठाणुराह कत्तिय विसाहा। चंदस्स उभयजोगीति"। अत्र उभययोगीति व्याख्यानयता टीकाकृतोक्तम्-एतानि नक्षत्राणि उभययोगीनि-चन्द्रस्योत्तरेण दक्षिणेन च युञ्जन्ते,कदाचित् भेदमप्युपयान्तीति,तच्च वक्ष्यमाणज्येष्ठासूत्रेण सह विरोधीति न प्रमाणं,तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये ये ते नक्षत्रे, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, सदा चन्द्रस्य दक्षिणेनापि दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थिते योगं युक्तः, प्रमर्दं च प्रमर्दरूपं च योगं युक्तः,ते,'ण' इति वाक्यालङ्कारे,द्वे आषाढे पूर्वाषाढोत्तराषाढरूपे,ते हि प्रत्येकं चतुस्तारे,तथा च प्रागेवोक्तम्-"पुव्वासाढे चउतारे पन्नत्ते त्ति" तत्र द्वे द्वे तारे सर्वबाह्यस्य पञ्चदशस्य मण्डलस्याभ्यन्तरतो द्वे द्वे बहिः। तथा चोक्तं करणविभावनायाम्-"पुव्वुत्तराणं आसाढाण दो दो ताराओ अब्भिंतरओ, दो दो बाहिरओ सव्वबाहिरस्स मंडलस्स" इति। ततो ये द्वे द्वे तारे अभ्यन्तरतस्तयोर्मध्ये न चन्द्रो गच्छतीति तदपेक्षया प्रमर्दं योगं युक्त इत्युच्यते, ये तु द्वे द्वे तारे बहिस्ते चन्द्रस्य पञ्चदशेऽपि मण्डले चारं चरतः सदा दक्षिणदिग्व्यवस्थिते, ततस्तदपेक्षया दक्षिणेन योगं युक्त इत्युक्तम्। सम्प्रत्येनयोरेव प्रमर्दयोगजापनार्थं किञ्चिदाह-"ताओ य सव्वबाहिरे" इत्यादि। ते च पूर्वाषाढोत्तराषाढारूपे नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमयुक्षु, युञ्जे, योक्ष्यते वा सदा सर्वबाह्ये मण्डले व्यवस्थिते,ततो यदा पूर्वाषाढोत्तराषाढाभ्यां सह चन्द्रो योगमुपैति तदा नियमतोऽभ्यन्तरतारकायां मध्ये, न गच्छतीति तदपेक्षया प्रमर्दमपि योगं युक्त इत्युक्तम्, तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यन्नक्षत्रं यत्सदा चन्द्रस्य प्रमर्दं प्रमर्दरूपं योगं युनक्ति सा एका ज्येष्ठा, तदेवं मण्डलगत्या परिभ्रमणरूपाश्चन्द्रमार्गा उक्ताः। सू० प्र०।

सम्प्रति मण्डलरूपान् चन्द्रमार्गान् अभिधित्सुः प्रथमं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कति णं चंदमंडला पन्नत्ता?। ता पन्नरस चंदमंडला पन्नत्ता। एतेसि णं पन्नरसण्हं चंदमंडलाणं अत्थि चंदमंडला जे णं सत्ता नक्खत्तेणं अविरहिया, अत्थि चंदमंडला जे णं सत्ता णक्खत्तेहिं विरहिया, अत्थि चंदमंडला जे णं रविससिनक्खत्ताणं सामण्णा भवंति, अत्थि चंदमंडला जे णं सत्ता आदिच्चेहिं विरहिया, ता एतेसि णं पन्नरसण्हं चंदमंडलाणं कयरे चंदमंडला जे णं सत्ता नक्खत्तेहिं अविरहिया० जाव कयरे चंदमंडला जे णं सदा आदिच्चविरहिता, ता एतेसि णं पन्नरसण्हं चंदमंडलाणं तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा णक्खत्तेहिं अविरहिता,ते णं अट्ठ,तं जहा-पढमे चंदमंडले ततिए चंदमंडले छट्ठे चंदमंडले सत्तमे चंदमंडले अट्ठमे चंदमंडले दसमे चंदमंडले एकादसे चंदमंडले पण्णरसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा णक्खत्तेहिं विरहिया ते णं सत्त,तं जहा-बितिए चंदमंडले चउत्थे चंदमंडले पंचमे चंदमंडले नवमे चंदमंडले बारसमे चंदमंडले तेरसमे चंदमंडले चउदसमे चंदमंडले,तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं ससिरविनक्खत्ताणं सामण्णा भवंति, ते णं चत्तारि। तं जहा-पढमे चंदमंडले बीए चंदमंडले इक्कारसमे चंदमंडले पन्नरसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा आदिच्चविरहिता ते णं पंच,तं जहा-छट्ठे चंदमंडले सत्तमे चंदमंडले अट्ठमे चंदमंडले णवमे चंदमंडले दसमे चंदमंडले।

"ता कइ णं" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कति किंसंख्यानि 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि?। भगवानाह-"ता पन्नरस" इत्यादि। 'ता' इति प्राग्वत्। पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, तत्र पञ्च चन्द्रमण्डलानि जम्बूद्वीपे, शेषाणि च दश मण्डलानि लवणसमुद्रे। तथाचोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-" जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे केवइयं ओगाहित्ता केवइया चंदमंडला पन्नत्ता?। गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे असीयं जोयणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पंच चंदमंडला पन्नत्ता। लवणे णं भंते! समुद्दे केवइयं ओगाहित्ता केवइया चंदमंडला पन्नत्ता?। गोयमा! लवणे णं समुद्दे तिण्णि तीसे जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दस चंदमंडला पन्नत्ता,एवामेव सपुव्वावरेण जंबुद्दीवे लवणे य पन्नरस चंदमंडला भवतीति अक्खायं" 'ता'इत्यादि। 'ता' इति। तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये (अत्थि'त्ति) सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा नक्षत्रैरविरहितानि, तत' सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा नक्षत्रैर्विरहितानि, तथा स-

न्ति चन्द्रमण्डलानि यानि रविशशिनक्षत्राणां सामान्यानि साधारणानि । किमुक्तं भवति ?-रविरपि तेषु मण्डलेषु गच्छति, शश्यपि,नक्षत्राण्यपीति,तथा सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा आदित्याभ्यां,'सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्' विरहितानि, येषु न कदाचिदपि द्वयोः सूर्ययोर्मध्ये एकोऽपि सूर्यो गच्छतीति भावः । एवं भगवता सामान्येनोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूय प्रश्नयति-"ता एएसि णं" इत्यादि, सुगमम् । भगवानाह-" ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि, यानि, 'णं' इति प्राग्वत् सदा नक्षत्रैरविरहितानि तान्यष्टौ । तद्यथा-"पढमे चंदमंडले" इत्यादि । तत्र प्रथमे चन्द्रमण्डले अभिजिदादीनि द्वादश नक्षत्राणि । तथा च तत्र संग्रहणिगाथा-"अभिइ सवण धणिठा, सयभिसया दो य होंति भद्दवया । रेवइ अस्सिणि भरणी,दो फग्गुणि साइ पढमंसि "।१। तृतीये चन्द्रमण्डले पुनर्वसुमघे, षष्ठे चन्द्रमण्डले कृत्तिका,सप्तमे रोहिणीचित्रे,अष्टमे विशाखा,दशमे अनुराधा,एकादशे ज्येष्ठा,पञ्चदशे मृगशिर आर्द्रा पुष्योऽश्लेषा हस्तो मूलम् पूर्वाषाढा उत्तराषाढा च । तत्राद्यानि षट् नक्षत्राणि यद्यपि पञ्चदशस्य मण्डलस्य बहिश्चारं चरन्ति तथाऽपि तानि तस्य प्रत्यासन्नानीति तत्र गण्यन्ते, ततो न कश्चिद्विरोधः।तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि, यानि सदा नक्षत्रैर्विरहितानि तानि सप्त । तद्यथा-द्वितीय चन्द्रमण्डलमित्यादि । तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि रविशशिनक्षत्राणां सामान्यानि भवन्ति तानि, 'णं' इति प्राग्वत् चत्वारि । तद्यथा-'पढमे चंदमंडले" इत्यादि । तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि,यानि सदा आदित्याभ्यां विरहितानि तानि पञ्च । तद्यथा-"छट्ठे चंदमंडले" इत्यादि सुगमम् । एतद्ग्रहणाच्च यान्यन्यन्तराणि पञ्च चन्द्रमण्डलानि । तद्यथा-प्रथमं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पञ्चमं, यानि च सर्वबाह्यानि पञ्चचन्द्रमण्डलानि, तद्यथा-एकादशं द्वादशं त्रयोदशं चतुर्दशं पञ्चदशमित्येतानि दश तानि सूर्यस्यापि साधारणानीति गम्यते । तथा चोक्तमन्यत्र-

"दस चेव मंडलाइं, अभिंतरबाहिरा रविससीणं ।
सामन्नाणि उ नियमा, पत्तेया होंति सेसाणि " ॥ १ ॥

अस्याक्षरगमनिका-पञ्चाभ्यन्तराणि,पञ्च बाह्यानि,सर्वसंख्यया दश मण्डलानि नियमाद् रविशशिनोः सामान्यानि साधारणानि,शेषाणि तु यानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि षष्ठादीनि दशपर्यन्तानि प्रत्येकान्यसाधारणानि चन्द्रस्य, तेषु चन्द्र एव गच्छति, न तु जातु कदाचिदपि सूर्य इति भावः ।

इह किं चन्द्रमण्डल कियता भागेन सूर्यमण्डलेन स्पृश्यते, कियन्ति वा चन्द्रमण्डलस्यापान्तराले एव सूर्यमण्डलानि, कथं वा षष्ठादीनि दशपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्येण न स्पृश्यन्ते,इति चिन्तायां विभागोपदर्शनं पूर्वाचार्यैः कृतम्, ततस्तद्विनेयजनानुग्रहायोपदश्यते-तत्र प्रथमत एतद्विभावनार्थं विकम्पक्षेत्रकाष्ठा निरूप्यते-इह सूर्यस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि।तथाहि-यदि सूर्यस्यैकेनाहोरात्रेण विकम्पो द्वे योजने,एकस्य च योजनस्याष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा लभ्यन्ते, ततस्त्र्यशीत्यधिकेनाहोरात्रशतेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१।८।१८३। अत्र सवर्णनार्थं द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, एतत् अशीत्यधिकेन शतेनान्त्यराशिना गुण्यते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३१११०। तत एतस्य राशेर्योजनानयनार्थमेकषष्ट्या ६१ भागो ह्रियते,लब्धानि पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०,एतावती सूर्यस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा । चन्द्रमसः पुनर्विकम्पक्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि, एकस्य च योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः । तथाहि-यदि चन्द्रमस एकेनाहोरात्रेण विकम्पः षट्त्रिंशद्योजनानि, एकस्य च योजनस्य पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा , एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागा लभ्यन्ते, ततश्चतुर्दशभिरहोरात्रैः किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१।३६।२५।४।१४। अत्र सवर्णनार्थं प्रथमतः षट्त्रिंशत् एकषष्ट्या गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितनाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वात्रिंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि २२२१ । एतानि सप्तभिर्गुणयित्वा चोपरितनाश्चत्वारः सप्तभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते. ततो जातानि पञ्चदशसहस्राणि पंचशतान्येकपञ्चाशदधिकानि १५५५१.ततो योजनानयनार्थम् ६१।७ छेदराशिरप्येकषष्टिलक्षणः सप्तभिर्गुण्यते, जातानि चत्वारि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि ४२७, तत उपरितनो राशिश्चतुर्दशभिरन्त्यराशिरूपैर्गुण्यते, ततो जाते द्वे लक्षे सप्तदश सहस्राणि सप्तशतानि चतुर्दशाधिकानि २१७७१४,तत एतयोश्छेद्यछेदकराश्योः सप्तभिरपवर्तना जाता, उपरितनो राशिरेकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरं ३११०२, छेदराशिरेकषष्टिः, ततस्तया भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनशतानि नवोत्तराणि, एकस्य च योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः ५०९।५३, एतावती चन्द्रमसो विकम्पक्षेत्रे काष्ठा, सूर्यमण्डलस्य च परस्परमन्तरं द्वे द्वे योजने, चन्द्रमण्डलस्य च परस्परम् अन्तरं पञ्चत्रिंशद्योजनानि, एकस्य च योजनस्य त्रिंशदेकषष्टि ३०।६१ भागा , एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागाः । उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-" सूरमंडलस्स णं भंते ! सूरमंडलस्स एस णं केवइअं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? । गोयमा ! दो जोअणाइं सूरमंडलस्स सूरमंडलस्स अबाहाए अंतरे पण्णत्ते, तथा चंदमंडलस्स णं भंते ! चंदमंडलस्स एस णं केवइए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पणतीसं जोयणाइं तीसं च एगसट्ठिभागा जोअणस्स एगं च एगसट्ठिभागं सत्तहा छित्ता चत्तारि अ चुण्णिआ भागा, सेसा चंदमंडलस्स, चंदमंडलस्स अबाहाए अंतरे पण्णत्ते " इति । एतदेव च सूर्यमण्डलस्य चन्द्रमण्डलस्य च स्वस्वमण्डलविष्कम्भपरिमाणमुक्तं सूर्यस्य चन्द्रमसश्च विकम्पपरिमाणमवसेयम् । तथा चोक्तम्-

" सूरविकंपो एक्को, समंडला होइ मंडलंतरिया ।
चंदविकंपो य तहा, समंडला मंडलंतरिया ॥ १ ॥ "

अस्या गाथाया अक्षरगमनिका-एकः सूर्यविष्कम्भो भवति, (मंडलंतरिय त्ति) अन्तरमेव आन्तर्यं, भेषजादित्वात् स्वार्थे ष्यण्, ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्प्रत्यये आन्तरी, आन्तर्येव आन्तरिका मण्डलस्य मण्डलान्तरिका (समंडल त्ति) इह मण्डलशब्देन मण्डलविष्कम्भ उच्यते, परिमाणे परिमाणवत् उपचारात्, ततः सह मण्डलेन मण्डलविष्कम्भपरिमाणेन वर्तते इति समण्डला । किमुक्तं भवति ?-एकस्य सूर्यमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणं योजनद्वयलक्षणं तदेव सूर्यमण्डलविष्कम्भपरिमाणेन अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागलक्षणेन सहितमेकस्य सूर्यवि-

कम्पस्य परिमाणमिति, तथा मण्डलान्तरिका चन्द्रमण्डलपरिमाणं पञ्चत्रिंशत् योजनानि, एकस्य च योजनस्य त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागा इत्येवरूपम। (सममल त्ति) मण्डलविष्कम्भपरिमाणेन सहित एकश्चन्द्रविकम्पो भवति।

यस्तु विकम्पक्षेत्रकाष्ठादर्शनतो विकम्पपरिमाण ज्ञातुमिच्छति तं प्रतीयं पूर्वाचार्योपदर्शिता करणगाथा—

" सगमंडलेहिं लद्धं, सगकट्ठाओ हवंति सविकंपा ।
जे सगविक्खभजुया, हवंति सगमंडलंतरिया ॥ १॥ "

अस्याक्षरगमनिका-ये चन्द्रमसः सूर्यस्य वा विकम्पाः, कथं भूतास्ते इत्याह-स्वकविष्कम्भयुताः स्वकमण्डलान्तरिकाः,स्वस्वमण्डलविष्कम्भपरिमाणसहितस्वस्वमण्डलान्तरिकारूपा इत्यर्थः। भवन्ति स्वकाष्ठातः स्वस्वविकम्पयोग्यक्षेत्रपरिमाणस्य स्वकमण्डलैः स्वस्वमण्डलसंख्यया भागे हृते यल्लब्धं तावत्परिमाणास्ते स्वविकम्पाः स्वस्वविकम्पा भवन्ति। क्षेत्रकाष्ठापञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०, तान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते,जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरं ३१११०, सूर्यस्य मण्डलानि विकम्पक्षेत्रे त्र्यशीत्यधिक शतम् १८३, ततो योजनानयनार्थे त्र्यशीत्यधिक मण्डलशतमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकादशसहस्राणि शतमेकं त्रिषष्ट्यधिकम् ११६३, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते,लब्धे द्वे योजने, शेषमुपरिष्टादुद्वरति सप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४, ततः संप्रत्येकषष्टिभागा आनेतव्या इत्यधस्तात् छेदराशिः त्र्यशीत्यधिक शतम् १८३, तेन भागे हृते लब्धा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः४८६१,एतावदेकैकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणं।तथा चन्द्रस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा-पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ५०९।५३,तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थम् एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि एकोनपञ्चाशदधिकानि ३१०४९, तत उपरितनास्त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते ६१, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, चन्द्रस्य तु विकम्पक्षेत्रमध्ये मण्डलानि चतुर्दश १४, ततो योजनार्थं चतुर्दश एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टौ शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ८५४,तैः पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धानि षट्त्रिंशद्योजनानि ३६, शेषाणि तिष्ठन्ति त्रीणि शतान्यष्टपञ्चाशदधिकानि ३५८, अत ऊर्ध्वम् एकषष्टिभागा आनेतव्याः, ततश्चतुर्दशरूपोऽधस्तात् छेदराशिः १४ तेन भागे हृते लब्धाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः२५।६१शेषास्तिष्ठन्त्यष्टौ ८।ते सप्तभागकरणार्थं सप्तभिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत् ५६, तस्याश्चतुर्दशभिर्भागे हृते लब्धाश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्परिमाण एकैकश्चन्द्रविकम्प इति,तदेवं चन्द्रस्य सूर्यस्य च विकम्पक्षेत्रकाष्ठा चन्द्रमण्डलानां सूर्यमण्डलानां च परस्परमन्तरमुक्तम्। संप्रति प्रस्तुतमभिधीयते-तत्र सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं सर्वात्मना पविष्ट, केवलमष्टावेकषष्टिभागाश्चन्द्रमण्डलस्य बहिः शेषा वर्तन्ते। चन्द्रमण्डलात् सूर्यमण्डलस्याष्टाभिरेकषष्टिभागैर्हीनत्वात्ततो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गाः।तथाहि-द्वयोश्चन्द्रमण्डलयोरन्तरं पञ्चत्रिंशत् योजनानि, त्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते,गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि २१६५,सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य,तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशशतम् १२२, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिक शत १७०,तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धा द्वादश, एतावन्तोऽपान्तराले सूर्यमार्गा भवन्ति, शेषं तिष्ठति पञ्चविंशशत १२५, तत्र द्वाविंशेन शतेन द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने लब्धे,शेषास्तिष्ठन्ति त्रय एकषष्टिभागाः,येऽपि च प्रथमे चन्द्रमण्डले रविमण्डलात् शेषा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र प्रक्षिप्यन्ते इति जाता एकादश एकषष्टिभागाः, तत इदमागतं द्वादशात्सूर्यमार्गात्परतो द्वितीयाश्चन्द्रमण्डलादर्वाग् द्वे योजने, एकादश च एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र योजनद्वयानन्तरं सूर्यमण्डलमतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलम्, एकादश एकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्,ततः परं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलं चन्द्रमण्डलसंमिश्र, ततः सूर्यमण्डलात्परतो बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डलमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य चतुरः सप्तभागान्, ततः परं भूयस्तृतीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् यथोक्तपरिमाणमन्तरम्। तद्यथा-पञ्चत्रिंशत्योजनानि त्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावति चान्तरे द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते,उपरि च द्वे योजने त्रयश्चैकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततोऽत्र प्रागुक्ता द्वितीयस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्काः सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता एकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातास्त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तत इदमायातं द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयातिक्रमेण सूर्यमण्डलं, तच्च तृतीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तर प्रविष्टं, त्रयोविंशतिमेकषष्टिभागान् एकं च एकषष्टिभागसत्कं सप्तभागं, ततः शेषाश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागाः, एकषष्टिभागस्य षट् सप्तभागाः सूर्यमण्डलस्य तृतीयचन्द्रमण्डलसंमिश्र, ततस्तृतीयं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतमेकत्रिंशतमेकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, ततो भूयोऽपि यथोक्तं चन्द्रमण्डलान्तरं, तस्मिंश्च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततो येऽत्र तृतीयमण्डलसत्काः सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता एकत्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्का एके सप्तभागाः, तेऽत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताश्चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तत इदं वस्तुतत्त्वं जात-तृतीयाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादशसूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डलं, तच्चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अभ्यन्तर प्रविष्ट चतुस्त्रिंशतमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, ततः शेषाः सूर्यमण्डलस्य त्रयोदश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ भागौ, इत्येतावच्चतुर्थचन्द्रमण्डलसंमिश्रं, चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतद्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकषष्टिभा-

गस्य सत्काः पञ्च सप्त भागाः, ततः पुनरपि यथोदितपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने त्रयः एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र च ये चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता द्वाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तेऽत्र राशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताः षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, द्वौ च एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, तत एवं वस्तुस्वरूपमवगन्तव्यम्-चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयातिक्रमे सूर्यमण्डलं, तच्च पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् अभ्यन्तरं प्रविष्टं षट्चत्वारिंशतमेकषष्टिभागान्, द्वौ च एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, शेषं सूर्यमण्डलस्य एकः एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य पञ्च सप्तभागाः, इत्येतावत्परिमाणं पञ्चमं चन्द्रमण्डलं समिश्रं, तस्य च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागाः एकस्य च एकषष्टिभागस्य द्वौ सप्तभागौ, तदेवं पञ्च सर्वाभ्यन्तराणि चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलसमिश्राणि, चतुर्षु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश द्वादश सूर्यमार्गा इति जातम् । सम्प्रति षष्ठादीनि दशमपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलासंस्पृष्टानि भाव्यन्ते-तत्र पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतो भूयः षष्ठं चन्द्रमण्डलमधिकृत्यान्तरं, तच्च पञ्चत्रिंशद्योजनानि त्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र च पञ्चत्रिंशद्योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातान्येकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि २१६५, येऽपि च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गताश्चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ च एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, ते अत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतान्येकोनत्रिंशत्यधिकानि २२१९, सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाधिके, तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशं शतमेकषष्टिभागानां, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, तत इदमागतं पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयोदश सूर्यमार्गास्त्रयोदशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि षष्ठाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं नव एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, ततः परतः षष्ठं चन्द्रमण्डलं, तच्च षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागात्मकं, ततः परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरं षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य एकः सप्तभागः, तदनन्तरं सूर्यमण्डलं, तस्माच्च परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्केनैकेन सप्तभागेन हीनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं प्राप्यते, तस्मात्सूर्यमार्गात्परतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततः सर्वसंकलनया तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि सप्तमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरमेकविंशतिरेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः, ततः सप्तमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च सप्तमाच्चन्द्रमण्डलात् परतः चतुश्चत्वारिंशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैश्चतुर्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, ततो द्विनवतिसंख्यैरेकषष्टिभागैश्चतुर्भिश्च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कैः सप्तभागैर्न्यूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततः परमस्तीत्यनेनापि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसङ्कलनया त्रयोदश सूर्यमार्गास्त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्य बहिरष्टमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् अन्तरं त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, ततोऽष्टमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्चाष्टमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयस्त्रिंशता एकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकाशीतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं पुरतो विद्यते इति ततः पुरतोऽन्येऽपि द्वादश सूर्यमार्गाः, ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशाच्च सूर्यमार्गात्परतो नवमाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं, चतुश्चत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तभागाः, ततः परं नवमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च नवमाच्चन्द्रमण्डलात्परत एकविंशत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रिभिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकोनसप्ततिसंख्यैरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रिभिः सप्तभागैः परिहीणं यथोक्तप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र चान्ये द्वादश सूर्यमार्गाः, एवं चास्मिन्नप्यन्तरे सर्वसकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि दशमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य एकः सप्तभागः, ततो दशमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च दशमाच्चन्द्रमण्डलात्परतो नवभिरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, तत सप्तपञ्चाशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैरूनं प्रागुक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततो भूयोऽपि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, इति तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, ततस्त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि एकादशाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं सप्तषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तदेवं पञ्च चन्द्रमण्डलानि षष्ठादीनि दशमपर्यन्तानि सूर्यसमिश्राणि, षट्सु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु त्रयोदश सूर्यमार्गा इति जातम्, सम्प्रत्येतदन्तरमुच्यते-तत्र एकादशे चन्द्रमण्डले चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतावत् सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं एकः एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य पञ्च सप्तभागाः, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसमिश्रम् एकादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरमस्तीति द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततः परमेकोनाशीत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काभ्यां द्वाभ्यां सप्तभागाभ्यां द्वादशं चन्द्रमण्डलं, तच्च द्वादशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं द्वाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, शेषं च त्रयोदश एकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसमिश्रं, तस्माच्च द्वादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं चतुस्त्रिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, तत एतावन्मात्रेण हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो नवतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैस्त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं, तच्च त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् एक-

त्रिंशतमेकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, शेषं चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागा इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च त्रयोदशाच्चन्द्रमण्डलाद्बहिः सूर्यमण्डलं विनिर्गतं त्रयोविंशतिमेकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां त्र्युत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैस्त्रिभिः सप्तभागैश्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं, तच्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, शेषं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्चतुर्दशाच्चन्द्रमण्डलाद्बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलमेकादश, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चतुरः सप्तभागान्, तत एतावता हीनं यथोक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां चतुर्दशोत्तरेण शतेन पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं सर्वस्मात्सूर्यमण्डलाद्बाह्यादभ्यन्तरं प्रविष्टमष्टावेकषष्टिभागान्, शेषा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलसंमिश्राः, तदेवमेतान्येकादशादीनि पञ्चदशपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलसंमिश्राणि भवन्ति, चतुर्षु च चरमेषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश द्वादश सूर्यमार्गाः एवं तु यदन्यत्र चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गप्रतिपादनमकारि, यथा-"चंदंतरेसु अट्ठसु, अब्भिंतरबाहिरेसु सूरस्स। बारस बारस मग्गा, छसु तेरस तेरस भवंति"॥१॥ तदपि सत्रादि द्रष्टव्यम्। सू० प्र० ११ पाहु०।

चंदमहत्तर-चन्द्रमहत्तर-पुं०। षष्ठकर्मग्रन्थस्य टीकाकारके गणिनि, जै० ६०।

चंदमा-चन्द्रमस्-पुं०। चन्द्रे, सान्तोऽयं शब्दः प्रथमैकवचनान्त आदन्त उपलभ्यते। "णक्खत्ताणं च चंदमा" सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। चन्द्रदृष्टान्तप्रतिपादके दशमे ज्ञाताध्ययने, स० १९ सम०।

चंदमालिया-चन्द्रमालिका-स्त्री०। चन्द्राकृतिमालायाम्, औ०।

चंदमास-चान्द्रमास-पुं०। चन्द्रे भवश्चान्द्रः, स चासौ मासश्च। कृष्णपक्षप्रतिपद आरभ्य यावत्पूर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालमाने मासभेदे, स च एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य २ कर्ममास ऋतुमास इत्येकोऽर्थः। स त्रिंशद्दिवसप्रमाणः। बृ० १ उ०। स०। नि० चू०। सू० प्र०। ज्यो०। (चान्द्रो मासो यथा चन्द्रमण्डलैर्निष्पद्यते तथा "चंदमंडल" शब्देऽत्रैव भागे ७४ पृष्ठे समुक्तम्)

चंदरिसि-चन्द्रर्षि-पुं०। पञ्चसंग्रहकर्तरि, पं० सं० ५ द्वार।

चंदलक्खण-चन्द्रलक्षण-न०। कलाभेदे, स०।

चंदलेसा-चन्द्रलेश्या-स्त्री०। चन्द्रस्य लेश्या, लेश्या दीप्तिस्तत्कारणत्वान्मण्डलम्। चन्द्रमण्डले, स० १५ सम०। चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, न०। स० ३ सम०।

चंदलेहा-चन्द्रलेखा-स्त्री०। चन्द्रं चन्द्रकान्तिं लिखति, लिखअण्। उप० स०। "हाकुत्र" इति ख्याते लताभेदे, चन्द्ररेखायाम्, पञ्चदशाक्षरके छन्दोभेदे, वाच०। राजपुरनगरराजस्य समरकेतोः कन्यायाम्, दर्श०। "जंबुद्दीवे सिंहलदीवे रयणदीवासिरिपुरनयरे चंदगुत्तो राया, तस्स चंदलेहा भारिआ" जम्बूद्वीपस्थचन्द्रगुप्तस्य राज्ञो भार्यायाम्, ती० १० कल्प। "सिरिसालिवाहणरन्नो चंदलेहाभिहाणा महासई देवी" शालिवाहनराजस्य स्वनामख्यातायां महासत्यां स्त्रियाम्, ती० ५३ कल्प।

चंदवडिंसग-चन्द्रावतंसक-न०। चन्द्रस्य ज्योतिष्केन्द्रस्य विमाने, चं० प्र० १८ पाहु०। सू० प्र०। साकेतनगरस्याधिपतौ मुनिचन्द्राभिधानस्य मुनेः पितरि, उत्त० १३ अ०। आ० म०। आ० चू०।

चंदवण्ण-चन्द्रवर्ण-न०। चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम०।

चंदवयणा-चन्द्रवदना-स्त्री०। विश्वपुरराजपुत्रमहेन्द्रमित्रस्य मदनश्रेष्ठिपुत्रस्य भार्यायाम्, ग० ३ अधि०।

चंदवागरण-चन्द्रव्याकरण-न०। विंशतेर्व्याकरणानां मध्ये चतुर्थे व्याकरणे, कल्प० १ क्षण।

चंदविकंप-चन्द्रविकम्प-पुं०। चन्द्रस्य विकम्पक्षेत्रे, (ज्यो०)

परस्परं चन्द्रसूर्यविकम्पाः-

> चंदंतरेसु अट्ठसु, अब्भिंतरबाहिरेसु सूरस्स।
> बारस बारस मग्गा, छसु तेरस तेरस भवंति॥

इह चन्द्रमण्डलानामन्तराणि चतुर्दश। तथाहि-पञ्चदश चन्द्रमसो मण्डलानि पञ्चदशानां चान्तराणि चतुर्दश भवन्ति, नाधिकानि। तत्र सर्वाभ्यन्तरेषु चतुर्षु चन्द्रमण्डलान्तरेषु चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु प्रत्येकं द्वादश सूर्यमार्गा भवन्ति, षट्सु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु मध्यवर्तिषु त्रयोदश त्रयोदश मार्गा भवन्ति। अथ कथमेतदवसीयते-एकैकस्मिन् चन्द्रमण्डलान्तरे द्वादश त्रयोदश वा सूर्यमार्गा भवन्ति इति?।

एतदर्थमेकैकस्मिन् चन्द्रविकम्पे यावन्तः सूर्यविकम्पा भवन्ति तावतः प्रतिपादयिषुः करणमाह-

> चंदविकंपं एक्कं, सूरविकंपेण भायए नियमा।
> जावइ भागं लद्धं, सूरविकंपाउ ते होंति॥

एकं चन्द्रविकम्पं षट्शतयोजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इत्येवंरूपं सूर्यविकम्पेन द्वे योजने अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिरित्येवंप्रमाणेन नियमान्निश्चयेन भाजयेत्, विभक्ते च सति यावद् भागं लब्धं भवति तावत्प्रमाणास्ते सूर्यविकम्पा भवन्ति, तत एव सूर्यविकम्पान् ज्ञात्वा यावन्तश्चन्द्रमण्डलान्तरे सूर्यमार्गा भवन्ति तावन्तः सूर्या ज्ञातव्याः। तद्यथा-प्रथमे सर्वाभ्यन्तरे सूर्यमण्डले सूर्योपरि भ्रमति चन्द्रोऽपि, चन्द्रश्च द्वितीयदिने तन्मण्डलकोणाद् बहिरन्तरं, पञ्चत्रिंशद् योजनानि त्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्कान् चतुरो भागान् विकम्प्य चारं चरति, ततो विकम्पस्य परिमाणं षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः। अत्र योजनराशिरेकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६, ये च उपरितना पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र

प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि २२२१, सूर्यविकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, तत्र द्वे योजने एकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशत्यधिकं शतं १२२, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, एतावन्तः सूर्यविकम्पा एकस्मिन् चन्द्रविकम्पे भवन्ति, शेषे तिष्ठन्त्येकादश एकषष्टिभागा, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः, द्वयोश्च चन्द्रमण्डलयोरपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गा भवन्ति, एकस्य सूर्यमार्गस्य सर्वाभ्यन्तरे एव मण्डले भावात्। एवं शेषेष्वपि चन्द्रमण्डलान्तरेषु पूर्वपूर्वचन्द्रमण्डलान्तरोक्तरितभागपरिमीलनेन यथोक्तसूर्यमार्गप्रमाणं परिभावनीयम्। भावयिष्यते चाऽयमर्थोऽग्रे स्वयमेव सूत्रकृतेति न प्रतिचन्द्रमण्डलान्तरभावना क्रियते, तदेवमुक्तं चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गप्रतिपादनार्थं करणम्।

संप्रति सूर्यमण्डलान्तरपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरपरिमाणं च प्रतिपादयति-

दो जोयणाणि सूर-स्स मंडलाणं तु हवइ अंतरिया ।
चंदस्स वि पणतीसं, साहीया होइ नायव्वा ॥

सूर्यस्य सवितुः सत्कानां मण्डलानां परस्परमन्तरिका अन्तरमेवान्तर्यम्, ब्राह्मणादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः, तत स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्प्रत्यये अन्तरी, अन्तर्येव आन्तरिका भवति द्वे योजने, चन्द्रस्य पुनरान्तरिका भवति ज्ञातव्या पञ्चत्रिंशत् योजनानि साधिकानि, पञ्चत्रिंशत्योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इत्यर्थः।

अधुना सूर्यविकम्पस्य चन्द्रविकम्पस्य च परिमाणमाह-

सूरविकंपो एक्को, समंमला होइ मंमलंतरिया ।
चंदविकंपो य तहा, समंमला मंमलंतरिया ॥

एकः सूर्यविकम्पो भवति मण्डलान्तरिका समण्डला। किमुक्तं भवति?-एकस्य सूर्यमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणमेकसूर्यमण्डलपरिमाणसहितं तदेकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणमिति। "चंदविकंपो य" इत्यादि। तथा तेनैव प्रकारेण चन्द्रविकम्पश्च ज्ञातव्यो मण्डलान्तरिका समण्डला, एकस्य चन्द्रमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणं तत् प्रागेवास्माभिरुक्तमिति।

साम्प्रतमेकेनायनेन चन्द्रः सूर्यो वा यावत्प्रमाणं क्षेत्रं तिर्यगाक्रामति तत्परिमाणमाह-

पंचेव जोयणसया, दसुत्तरा जत्थ मंमला होंति ।
जं अक्कमेइ तिरियं, चंदो सूरो य अयणेणं ॥

यत् क्षेत्रं चन्द्रः सूर्यो वा एकेनायनेन तिर्यगाक्रामति, यत्र चन्द्रमसः सूर्यस्य वा मण्डलानि भवन्ति, तस्य क्षेत्रस्य परिमाणं पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि, नवरं चन्द्रमसमधिकृत्याष्टाभिरेकषष्टिभागैर्न्यूनानि, तथाहि-एकस्मिन्नयने सूर्यविकम्पानाम् अशीत्यधिकं शतं भवति। एकैकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणमेकषष्टिभागरूपं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, ततश्च त्र्यशीत्यधिकं शतमेकेन शतेन गुण्यते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३१११०, तत एतेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्च योजनशतानि ५००, एतावत् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतः एकेनायनेन सूर्यस्तिर्यक्क्षेत्रमाक्रामति, तथा एकस्मिन्नयने चन्द्रविकम्पाश्चतुर्दश, एकस्य च चन्द्रविकम्पस्य परिमाणं षट्त्रिंशत्योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य चत्वारो भागाः योजनराशिरेकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६, तत उपरितनाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि २२२१, चतुर्दश च सर्वसंख्यया चन्द्रमसो विकम्पाः, ततो द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि चतुर्नवत्यधिकानि ३१०९४, येऽपि च एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागास्तेऽपि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत्, सप्तभिर्भागे हृते लब्धा अष्टौ, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातः पूर्वराशिरेकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ५०९, $\frac{५३}{६१}$ पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि अष्टभिरेकषष्टिभागैर्हीनानीत्यर्थः। एतावत्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतः एकेनाऽयनेन चन्द्रस्तिर्यक्क्षेत्रमाक्रामति, एवंरूपा च क्षेत्रकाष्ठा मूलटीकायामपि भाविता। तथा च तद्ग्रन्थः-" सूरस्स पंच जोयणसया दसाहिया कट्ठा, सच्चेव अट्ठहिं एकसट्ठिभागेहिं ऊणिया चंदकट्ठा हवइ त्ति "॥

सम्प्रति काष्ठादर्शनतो विकम्पानयनार्थं करणमाह—

सगमंमलेहि लद्धं, सगकट्ठाओ हवंति सविकंपा ।
जे सगविक्खंभजुया, हवंति सगमंडलंतरिया ॥

चन्द्रमसः सूर्यस्य वा विकम्पाः, कथम्भूता इत्याह-स्वकविष्कम्भयुताः स्वकमण्डलान्तरिका, स्वस्वमण्डलविष्कम्भसहितस्वस्वमण्डलान्तरिकारूपा इत्यर्थः। भवन्ति ते स्वकाष्ठातः, प्राकृतत्वात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमी। स्वस्वविकम्पयोग्यक्षेत्रपरिमाणस्य स्वकमण्डलैः स्वस्वमण्डलसंख्यया भागे हृते यल्लब्धं तावत्प्रमाणाः स्वस्वविकम्पा भवन्ति। तथाहि-सूर्यस्य क्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०, तान्येव षष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३१११०, सूर्यस्य मण्डलानि त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३, ततो योजनानयनार्थं त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकादशसहस्राणि शतमेकं त्रिषष्ट्यधिकम् १११६३, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धे द्वे योजने, शेषमुपरिष्टादुद्धरितसप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४, ततः सप्रत्येकषष्टिभागा आनेतव्या इति अधस्ताच्छेदराशिस्त्र्यशीत्यधिकं शतं ध्रियते १८३, तेन भागे हृते लब्धा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एतावत्परिमाणमेकैकस्य सूर्यविकम्पस्य, तथा चन्द्रस्य तिर्यक्क्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य ५०९। ५३, तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि एकोनपञ्चाशदधिकानि ३१०४९, तत उपरितनास्त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागा प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलानि सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक् चतुर्दश १४, ततो योजनानयनार्थं चतुर्दश एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जाता

अष्टौ शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ८५४, तैः पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धानि षट्त्रिंशत्योजनानि ३६, शेषाणि तिष्ठन्ति त्रीणि शतान्यष्टापञ्चाशदधिकानि ३५८, अत ऊर्ध्वमेकषष्टिभागा आनेतव्याः, ततश्चतुर्दशभिर्भागे लब्धाश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्परिमाण एकैकश्चन्द्रविकम्प इति, इह सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं सर्वात्मना प्रविष्टं केवलमष्टापञ्चाशत्शतं १५८, तत्र द्वाविंशेन शतेन द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने लब्धे, शेषास्तिष्ठन्ति तत्र एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्त भागाः, येऽपि च प्रथमे चन्द्रमण्डले रविमण्डलात् शेषा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र प्रक्षिप्यन्ते इति जाता एकादश एकादश एकषष्टिभागाः, द्वादशाच्च सूर्यमण्डलात्परतो योजनद्वयातिक्रमे सूर्यमण्डलमत आगत्य द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलमेकादश एकषष्टिभागा एकस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इति ।

साम्प्रतं शेषेषु द्वितीयादिषु चन्द्रमण्डलेषु यावत्प्रमाणं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं तावत्परिमाणप्रतिपादनार्थं करणमाह-

इच्छामंडलरूवूण, गुणियमब्भतरं तु सूरस्स ।
तस्सेसं सामएणं, सामएणविसेसियं ससिणो ॥

यस्मिन्मण्डलस्य चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टस्य ज्ञातुमिच्छा, तेन इच्छामण्डलेन रूपोनेन प्राक्तनमनन्तरोक्तमभ्यन्तरप्रविष्टं सूर्यमण्डलपरिमाणगुणितं क्रियते, गुणितं च सत् यावद् भवति तावत्प्रमाणे तस्मिन् मण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं सूर्यस्य मण्डलं प्रविष्टमवसेयम् । तद् यथा-तृतीये चन्द्रमण्डले किल ज्ञातुमिच्छा, ततस्त्रयो रूपोनाः क्रियन्ते, जातौ द्वौ, ताभ्यां प्रागुक्ता एकादश एकषष्टिभागा गुण्यन्ते, जाता द्वाविंशतिः, येऽपि च चत्वारः सप्तभागास्तेऽपि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता अष्टौ, सप्तभिरेक एकषष्टिभागो लब्धः, स पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत आगतं तृतीये चन्द्रमण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलं त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्क एको भागः, एवं चतुर्थचन्द्रमण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं प्रविष्टाश्चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, पञ्चमे मण्डले षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, अस्य सप्तधा छिन्नस्य द्वितीयादिषु तु चन्द्रमण्डलेषु विशेषं वक्ष्यति । (तस्सेसं सामएणं ति) तस्याभ्यन्तरप्रविष्टस्य सूर्यमण्डलस्य यत् शेषं सूर्यमण्डलसत्कं तत् सामान्यं साधारणं, चन्द्रमण्डलमपि प्रविष्टमित्यर्थः । यत् सामान्याद् विशेषितमतिरिक्तं चन्द्रमण्डलविष्कम्भस्य तत् शशिनोऽसाधारणं द्रष्टव्यम् । तद्यथा-द्वितीये चन्द्रमण्डले सूर्यमण्डलसाधारणाः षट्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः । किमुक्तं भवति ?, एतावत्प्रमाणं द्वितीये चन्द्रमण्डले सूर्यमण्डलं प्रविष्टमिति चन्द्रमण्डलस्य च विष्कम्भः षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य, ततः षट्पञ्चाशतः षट्त्रिंशत्येकषष्टिभागेषु त्रिषु चैकषष्टिभागस्य सप्तभागेष्वपनीतेषु शेषास्तिष्ठन्त्येकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्प्रमाणं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं क्षेत्रे सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डलमिति । एवं सर्वेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम्, भावयिष्यते चाग्रेऽप्येतदाचार्यं इति न सम्मोहः कार्यः ।

सम्प्रति षष्ठादिषु चन्द्रमण्डलेषु विशेषमाह-

छट्ठाइं रविसेसं, रविससिणो अंतरं तु नायव्वं ।
तं व ससि सुद्ध सूर-तराहियं अंतर बाहिं ॥

षष्ठादिषु चन्द्रमण्डलेषु प्रागुक्तकरणवशात् यल्लभ्यते तत्र रवेः सूर्यमण्डलात् शेषं वर्तते, तत् रविशशिनोरन्तरं ज्ञातव्यम् । " तं वेत्यादि " अत्र तं वेति प्रथमा सप्तम्यर्थे, शशिशुद्ध इत्यत्र प्रत्येकं विभक्तिलोपः आर्षत्वात् । ततोऽयमर्थः-तस्मिन् रविशशिनोरन्तरे, वाशब्दो भिन्नक्रमः, स चैव योजनीयः-शशिनि च सूर्यान्तरात् सूर्यान्तरपरिमाणात् योजनद्विकरूपात् शुद्धे शेषं यदधिकं सूर्यान्तरपरिमाणस्य वर्तते तत् शशिनो बहिः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरमवसेयम् । यथा षष्ठे किल चन्द्रमण्डले अन्तरं ज्ञातुमिच्छा, ततः षड्रूपोनाः क्रियन्ते, जाताः पञ्च, तैरेकादश एकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागा गुण्यन्ते, जाताः सप्तपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, तत्राष्टाचत्वारिंशतैकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं विशुद्धं, शेषा एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः तिष्ठन्ति । एतावन्मात्रप्रदेशे रविशशिनोरन्तरं, तत एतस्मिन् सूर्यान्तरपरिमाणात् द्वियोजनरूपात् परिशुद्धे चन्द्रमण्डलपरिमाणात् द्वियोजनरूपात् परिशुद्धे चन्द्रे मण्डलपरिमाणे च षट्पञ्चाशदेकषष्टिरूपे शुद्धे शेषमवतिष्ठन्ते षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, एतावत् षष्ठाच्चन्द्रमण्डलात्परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरम्, एवं शेषेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम् ।

जत्थ न सुज्झइ सोमो, तं ससिणो तत्थ होइ पत्तेयं ।
तस्सेसं सामन्नं, सामन्नविसेसियं रविणो ॥

यत्र चन्द्रमण्डलके अनन्तरोक्तकरणचिन्तायां सोमश्चन्द्रो न शुद्ध्यति । यथा एकादशे चतुर्दशे पञ्चदशे वा, तत्र तावत्प्रमाणं शशिनः प्रत्येकमसाधारणं ज्ञातव्यं, तस्माच्च परतो यत् शेषं चन्द्रमण्डलान्तर्गतं सूर्यमण्डलसत्कं तत् सामान्यमुभयसामिश्रं ज्ञातव्यम् । तस्माच्च सामान्यात् परतो यद्विशेषितमसाधारणं वर्तते तत् रवेरवसेयम् । यथा किलैकादशे चन्द्रमण्डलेऽन्तरादि परिमाणं जिज्ञास्य तदेकादशरूपोनं क्रियते, जाता दश ते एकादश एकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य च सत्काश्चत्वारः सप्त भागा गुण्यन्ते, जातं पञ्चदशोत्तरमेकशतम्, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः ११५ । ५, एतेषां मध्ये अष्टाचत्वारिंशतैकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं शुद्धं, शेषाः सप्तषष्टिरेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागास्तिष्ठन्ति, एतत् सूर्यान्तरपरिमाणात् योजनद्वयरूपात् शोध्यन्ते, शेषं त्रिचतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ चैकस्यैकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, एतावता चन्द्रो न शुध्यति, चन्द्रमण्डलस्य षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागप्रमाणत्वात्, तत एतावत् सूर्यमण्डलादेकादशं चन्द्रमण्डलमभ्यन्तरं प्रविष्टमवसेयम्, शेषं त्वेकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागा इत्येतावत् प्रमाणं सूर्यमण्डलसम्मिश्रं, तस्माच्च परतः षट्चत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् द्वौ चैकषष्टिभागस्य सप्त भागान् यावत् केवलं सूर्यमण्डलम्, एवं शेषेष्वपि द्वादशादिषु मण्डलेषु भावना कार्या । तदेवमुक्तं चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गपरिमाणं, चन्द्रसूर्यमण्डलान्तरपरिमाणं, चन्द्रमण्डलसूर्यमण्डलसाधारणं भागपरिमाणं च ।

साम्प्रतमुक्तमेवार्थं सुखग्रहणधारणानिमित्तं व्याख्याता सजिघृक्षु. प्रथमतः सर्वाभ्यन्तराणां पञ्चानां साधारणमण्डलानां गाथाद्वयेन भावनामाह—

अट्ठ बारस चउ छ-त्तीसा तिन्नि उ गुणवीस चत्तारि ।
तेवीसेगं चउवी-स छक्क इगतीस एक्क च ॥
चउतीस पच तेरस, दुगं च बायाल पंच भागाणि ।
बायाल दुगेगं पुण, चउपण्णं चेव दो भागा ॥

प्रथमे सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले क्षेत्रे सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतचन्द्रमण्डलमष्टावेकषष्टिभागान्, ततो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गा । अत्रार्थे च भावना प्रागेव कृता। द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् द्वे योजने एकादश च एकषष्टिभागा , एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वार. सप्तभागा., तत्र योजनद्वयानन्तर सूर्यमण्डलमतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तर प्रविष्ट सूर्यमण्डलमेकादशैकषष्टिभागान् , एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुर. सप्तभागान्, तत. पर षट्त्रिंशदेकषष्टिभागा , एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चयः सप्तभागाः,इत्येतावत् परिमाणं सूर्यमण्डलसमिश्रम्, एतावता किल शुद्ध सूर्यमण्डल, तत सूर्यमण्डलात्परतो बहिर्विनिर्गत चन्द्रमण्डलमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागान्, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुर. सप्तभागान्, ततः परं भूयः तृतीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् यथोक्तपरिमाणमन्तरम्।तद्यथा-पञ्चत्रिंशद् योजनानि त्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागा·,एतावति चान्तरे द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, उपरि च द्वे योजने त्रयश्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वार. सप्तभागाः, ततोऽत्र प्रागुक्तद्वितीयाद्या ते द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने, त्रय एकषष्टिभागा. योजनस्य,एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एक. सप्तभागस्तत्र प्रक्षिप्यते। ततो जाताश्चतुर्त्रिंशदेकषष्टिभागस्य सप्तभागा., तत इह तृतीयाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गा , द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डल चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तर प्रविष्ट चतुस्त्रिंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्,तत शेष सूर्यमण्डलस्य त्रयोदशैकसप्तषष्टिभागा.,एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतत् चतुर्थचन्द्रमण्डलसमिश्र चतुर्थस्य सूर्यमण्डलाद् बहिश्चन्द्रमण्डलस्य विनिर्गतद्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागा , ततः पुनरपि यथोदित परिमाण चन्द्रमण्डलान्तर, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने, त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वार. सप्तभागाः, तत्र ये चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्निर्गता द्वाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा , एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्का. पञ्च सप्तभागा , तेऽत्र राशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाता. षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागा , द्वौ च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ , ततश्चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादशसूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डल, तच्च पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अभ्यन्तर प्रविष्ट षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागान्,द्वौ चैकस्य सत्कौ सप्तभागौ,शेष सूर्यमण्डलस्यैक एकषष्टिभाग एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागा इत्येतावत्परिमाण पञ्चम चन्द्रमण्डलसमिश्रं, तस्य च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद्बहिर्विनिर्गतं चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा.,एकस्य चैकषष्टिभागस्य द्वौ सप्तभागौ, तदेव पञ्च सर्वाभ्यन्तराणि चन्द्रमण्डलानि साधारणानि, चतुर्षु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गा इत्येतद् भावितम् ।

सम्प्रति पञ्च साधारणानि चन्द्रमण्डलानि विभावयिषुराह—

नव छप्पणेग एक्का-वीसं वा तिष्णि वा चचा ।
चत्तालीस तिगऽडहिया, तेतीसा एगसीया य ॥
चउयाला उणवीसं, ति छप्पणं एग नव छक्कं ।

पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतो भूय षष्ठ चन्द्रमण्डलमधिकृत्यान्तरं, तच्च पञ्चत्रिंशद्योजनानि एकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते,गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते,ततो जातानि एकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि२१६५, येऽपि च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद्बहिर्विनिर्गताश्चतु.पञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्का. षट् सप्तभागा. २२१९।६, सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाधिके, तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जात द्वाविंश शतमेकषष्टिभागानां,तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा. प्रक्षिप्यन्ते, जात सप्तत्यधिक शत १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्का· षट् सप्तभागाः,तत इदमागतम्-पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयोदश सूर्यमार्गा·,त्रयोदशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि षष्ठाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तर नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्का षट् सप्तभागा., तत· परत. षष्ठ चन्द्रमण्डल, तच्च षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागात्मक, तत. परत. सूर्यमण्डलादर्वागन्तर, (छप्पणेग त्ति) षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागा , एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्क एक. सप्तभाग., तदनन्तर सूर्यमण्डल, तस्माच्च परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्केन सप्तभागेन हीन यथोदितप्रमाण चन्द्रमण्डलान्तर प्राप्यत इति एतस्मात् सूर्यमण्डलात्परतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, तत सर्वसकलनया तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गा , तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि सप्तमाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरमेकविंशतिरेकषष्टिभागा., एकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रय. सप्तभागा , तत सप्तम चन्द्रमण्डल,तस्माच्च सप्तमाच्चन्द्रमण्डलात्परतश्चतुश्चत्वारिंशता एकषष्टिभागे एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैश्चतुर्भि. सप्तभागै सूर्यमण्डल, ततो द्विनवतिसंख्यैकषष्टिभागै. चतुर्भिश्च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कै सप्तभागै. न्यून यथोदितप्रमाण चन्द्रमण्डलान्तर, तत. परमस्तीत्यनेनाऽपि द्वादश सूर्यमार्गा प्रवर्त्तन्तीति, तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गा., त्रयोदशस्य च सूर्यस्य बहिरष्टमाच्च चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तर त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिभागा , ततोऽष्टम चन्द्रमण्डल, तस्माच्चाष्टमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयस्त्रिंशता एकषष्टिभागै. सूर्यमण्डल, तत एकाशीतिसख्यैरेकषष्टिभागैरून यथोदितप्रमाण चन्द्रमण्डलान्तर पुरतो विद्यते इति,तत. पुरतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गा.,ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गा., त्रयोद-

शाच्च सूर्यान्नवमाच्च चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं चतुश्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः चत्वारः सप्तभागाः, ततः परं नवमं मण्डलं, तस्माच्च नवमाच्चन्द्रमण्डलात्परतः एकाविंशतिः एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः त्रिभिः सप्तभागैः परिहीनं यथोक्तं प्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र चाऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गाः, एवं चाऽस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यस्योपरि दशमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षष्ठ, षष्ठात् चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं पञ्चपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्यैकः सप्तभागः, ततो दशमं मण्डलं, दशमाच्चन्द्रमण्डलादेकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं नत सप्तपञ्चाशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैरून प्रागुक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततः सूर्येऽपि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते इति । तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि एकादशाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं सप्तषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च भागाः, तदेवं भावितानि मध्यमानि पञ्च साधारणानि मण्डलानि षट्सुखचन्द्रमण्डलान्तरेषु त्रयोदश सूर्यमार्गाः ।

सम्प्रति सर्वबाह्यानि पञ्च साधारणानि मण्डलानि, चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गान् विभावयिषुराह-

> चउ छप्पण्णु दुगेगं, पणवयालीसं व दो चेव ।
> बायाल पंच तेरस, दुगं च चोतीस पंच भागा य ॥
> इगतीसेगं चउदी-स छक्क तेवीस एक्कं च ।
> इगुणवीस चउ छत्ती-स तिन्नि एक्कारसेव चउरछ ।
> दो दो तेत्तीसऽट्ठ य, नत्थि चउण्हं पि सच्चंसा ॥

एकादशस्य चन्द्रमण्डलस्य चतु पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतत् सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसमिश्रम् । अत्रार्थे च-"जत्थ न सुज्झइ सोमो" इत्यत्र प्रदेशे भावना कृतैवेति न भूयः क्रियते, तदनुसारेण चोत्तरत्राऽपि स्वयं भावना भावनीया । एकादशात् तु चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरमस्तीति द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते । ततः परतः एकोनाशीत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काभ्यां सप्तभागाभ्यां द्वादश चन्द्रमण्डलं, तच्च द्वादशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् (बायाल पंच त्ति) द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, शेषं च त्रयोदश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागावित्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसमिश्रं, तस्माच्च द्वादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तत एतावन्मात्रेण हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशाच्च सूर्यात्परतो नवतिसङ्ख्यैरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैस्त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं, तत्र त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम्, (इगतीसेग त्ति) एकत्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च त्रयोदशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिः सूर्यमण्डलाविनिर्गतं त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतः एकषष्टिभागानां द्युत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैस्त्रिभिः सप्तभागैश्चतुर्दश चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम्, (इगुणवीस चउ त्ति) एकोनविंशतिरेकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, शेषं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलसमिश्रं, तस्माच्चतुर्दशात् सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलम् एकादश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत एतावता हीनं यथोक्तं परिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमण्डलात्परतः एकषष्टिभागानां चतुर्दशोत्तरेण शतेन पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं, तच्च पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं सर्वात्मना सूर्यमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टमष्टाविंशकषष्टिभागाः, शेषा अष्टचत्वारिंशद्भागाः सूर्यमण्डलसमिश्रं, तदेवं भावितानि सर्वबाह्यानि पञ्च साधारणानि मण्डलानि, चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गाः । सम्प्रति येषु प्रागुक्तेषु अंशेषु सप्तांशा भावास्तस्माद् मन्दमतीनां विशिष्टस्मरणायाऽधुना कथयति-" दो दो तेत्तीस" इत्यादि । ये द्वे अष्टमचन्द्रमण्डलचिन्तायां त्रयस्त्रिंशताबुक्ते, यौ च प्रथमपञ्चदशचन्द्रमण्डलयोरष्टकावुक्तौ, एतेषां चतुर्णामपि सप्तांशा न विद्यन्ते, किं तु परिपूर्णा एव ते एकषष्टिभागाः, तदेवं नत. सूर्यमण्डलानां चन्द्रमण्डलानां च परस्परं विभागभावना, एतेषु चन्द्रमण्डलेषु द्वौ सूर्यौ, द्वौ च चन्द्रमसौ चारं चरतः ।

सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानयोर्द्वयोः परस्परमन्तरपरिमाणमाह-

> नवनउई य सहस्सा, छ च्चेव सया हवंति चत्ताला ।
> सूराण उ अबाहा, अब्भितरमंडलच्छाया ॥

सूर्ययोः परस्परमाबाधा नवनवतिः सहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि योजनानां ९९६४०, तथाहि-एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपे अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मण्डले स्थितोऽपरोऽपि, ततोऽशीत्यधिकं शतं द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, एतेषु जम्बूद्वीपविभागयोजनलक्षप्रमाणादपनीतेषु शेषं यथोक्तपरिमाणं भवति, यदा तु सर्वाभ्यन्तराऽन्तरे द्वितीये मण्डले उपसङ्क्रम्य सूर्यौ चारं चरतः, तदा तयोः परस्परमन्तरं नवतियोजनसहस्राणि षट्शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि, पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ९९६४५-३५-६१, तथाहि-एकोऽपि सूर्यो द्वितीये मण्डले सङ्क्रामन् द्वे योजने अष्टचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागान् विमुच्य सङ्क्रामति तथा द्वितीयोऽपि, सूर्यविकम्पस्य एतावत्प्रमाणत्वात्, तच्च प्रागेव भावितं, ततः पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, द्वितीये मण्डले सूर्ययोः परस्परमन्तरचिन्तायामधिकत्वेन प्राप्यन्ते, एवमग्रेतनेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम् । यदा तु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले सूर्यौ चारं चरतस्तदा तयोः परस्परमन्तरं नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि एकपञ्चाश-

दधिकानि सप्तचैकषष्टिभागा योजनस्य ११६५१-६,एवं सर्वा-भ्यन्तरान्मण्डलाद् बाह्येषु मण्डलेषु संक्रामतो सूर्यस्य परस्परमन्तरचिन्तायां मण्डले मण्डले पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंश-च्चैकषष्टिभागा योजनस्य वृद्धिस्तावद् वक्तव्या यावत् सर्वबाह्यं मण्डलम् । ज्यो० १० पाहु० ।

चंदविमाण-चन्द्रविमान-न० । चन्द्रस्याऽऽविमाने, जं० ७ वक्ष० । (चन्द्रविमानस्य संस्थानादि 'जोइसियविमाण' शब्दे) (चन्द्रविमानमेव षोडश सहस्राणां देवानां वहन्ति ' विमाण ' शब्दे वक्ष्यते) (तत्स्वरूपमपि ' जिर ' शब्दे द्रष्टव्यम्)

चंदविलासिणी-चन्द्रविलासिनी-स्त्री० । चन्द्रस्य मनोहरस्त्रीजातायाम्, रा० । जं० । जी० ।

चंदसंवच्छर-चन्द्रसंवत्सर-पुं० । चान्द्रमासैर्निष्पन्ने प्रमाणसंवत्सरे, च० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स चंदे मासे तीसतीं मुहुत्तेणं गणिज्जमाणे केवतिए रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा ? । ता एगूणतीसं रातिंदियाइं, बत्तीसं च बावट्ठिभागा रातिंदियस्स,रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा। ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ? । ता अट्ठ पंचासीए मुहुत्तसते तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिते ति वदेज्जा । ता एस णं अद्धा दुवालस खुत्तकडा चंदे संवच्छरे, ता केण केवतिए रातिंदियग्गेणं आहिताति वदेज्जा ? । ता तिण्णि चउप्पण्णे रातिंदियसते दुवालस्स य बावट्ठिभागा राइंदियस्स रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा । ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ? । ता दस मुहुत्तसहस्साइं छच्च पणुवीसं मुहुत्तसते पण्णासं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ॥

"ता एएसि ण" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-"ता एगूणतीसं"इत्यादि । एकोनत्रिंशत् रात्रिन्दिवानां,द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य,एतावत्परिमाणश्चान्द्रमासो रात्रिन्दिवाग्रेण आख्यात इति वदेत् । तथाहि-युगे द्वाषष्टिश्चन्द्रमासाः, एतच्च प्रागेव भावित्, ततो युगसत्कानामष्टादशानामहोरात्रशतानां त्रिंशदधिकानां द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्राः, एकस्य चाहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागा २९ । ३२ । " ता से णं " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-- " ता अट्ठ " इत्यादि । अष्टौ मुहूर्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकान्येकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः,एतावत्परिमाणश्चान्द्रमासो मुहूर्ताग्रेणाख्यात इति वदेत् । तथाहि-चान्द्रमासपरिमाणमेकोनत्रिंशदहोरात्रा, एकस्य च अहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः,तत्र सवर्णनार्थमेकोनत्रिंशदप्यहोरात्रा द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च उपरितनाः द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागा प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि द्वाषष्टिभागानां १८३०, तत एतानि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि मुहूर्तगतद्वाषष्टिभागानाम् । ५४९००,तत एतेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते,लब्धान्यष्टौ शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा: ८८५।३० "ता एस णं अद्धा " इत्यादि प्राग्वद्भावनीयम् । च० प्र० १२ पाहु० । (आदित्यचन्द्रसंवत्सरा ' संवच्छर ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

अत्र दिनमानम्-

चंदस्स णं संवच्छरस्स एगमेगे उऊ एगूणसट्ठिराइंदियाइं राइंदियग्गेणं पण्णत्ता ।

"चंदस्स ण" इत्यादि । संवत्सरो हानेकविधः स्थानाङ्गादिषूक्तस्तत्र यो द्वादशभिश्चन्द्रमासैः संवत्सरो निष्पद्यते स चन्द्र एव । तत्र च द्वादश मासाः षट् च ऋतवो भवन्ति । तत्र चैकैक ऋतुरेकोनषष्टिरात्रिन्दिवाग्रेण भवति । कथम् ?,एकोनत्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणः कृष्णप्रतिपदारब्धः पौर्णमासीपरिनिष्ठितश्चन्द्रमासो भवति, द्वाभ्यां च ताभ्यामृतुर्भवति । तत एकोनषष्टिरहोरात्राणामृतुः भवति । यच्चेह द्विषष्टिभागद्वयमधिकं तन्न विवक्षितम् । स० ५९ सम० । एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्येत्येवं प्रमाणः २९ । ३२ । ६२, कृष्णप्रतिपदारब्धः पौर्णमासीपरिनिष्ठितश्चन्द्रमासः , तेन मासेन द्वादशमासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरः ,तस्य च प्रमाणमिदं त्रीणि शतानि दिनानां चतुःपञ्चाशदुत्तराणि द्वादश च द्विषष्टिभागाः ३५४ । १२ । ६२ । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

पुण्णिमपरियट्टा पुण, बारस संवच्छरो हवइ चंदो ।

द्वादशसंख्याः पौर्णमासीपरावर्त्ता एकश्चान्द्रसंवत्सरो भवति । एकश्च पौर्णमासीपरावर्त्त एकश्चान्द्रो मासः , तस्मिंश्चान्द्रे मासे रात्रिन्दिवपरिमाणचिन्तायामेकोनत्रिंशत् रात्रिन्दिवानि, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, एतद् द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि रात्रिन्दिवानां , द्वादश च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य , एवंपरिमाणश्चान्द्रः संवत्सरः । ज्यो० २ पाहु० । ('संवच्छर' शब्दे चैतद् विवरिष्यते) (' आउट्टि ' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे चन्द्रादित्यावृत्तय उक्ताः)

लक्षणमस्य-

ससि सगलपुण्णमासी, जोएइ विसमचारि णक्खत्ते ।
कडुओ बहूदओ या, तमाहु संवच्छरं चंदं ॥

(ससि त्ति) विभक्तिलोपात् शशिना चन्द्रेण सकलपौर्णमासी समस्तराका, य संवत्सर इति गम्यते । अथवा-यत्र शशी सकला पौर्णमासीं योजयति, आत्मना सम्बन्धयति, तथा विषमचारीणि यथा स्वतिथिष्ववर्तीनि नक्षत्राणि , यत्र सविषमचारि नक्षत्रं, तथा कटुकोऽतिशीतोष्णसद्भावात् , बहूदकश्च,दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्,तमेवंविधमाहुर्लक्षणतो मुक्ते तद्विद संवत्सरं चान्द्रं,चन्द्रचारलक्षणलक्षितत्वादिति । स्था० ५ठा० ३उ० ।

चंदसाला-चन्द्रशाला-स्त्री० । प्रासादोपरितनशालायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज० । ज्ञा० । शिरोगृहे, जी० ३ प्रति० ।

चंदसिंग-चन्द्रशृङ्ग-न० । चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम० ।

चंदसिट्ठ-चन्द्रशिष्ट-न० । चतुर्थे देवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम० ।

चंदसिरी-चन्द्रश्री-स्त्री० । द्वितीयकुलकरस्य चक्षुष्मतो भा-

तरि, आ० चू० १ अ० । पूर्वभवे चन्द्रस्याग्रमहिष्या मातरि, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० ।

चंदसूरदंसावणिया–चन्द्रसूर्यदर्शनिका–स्त्री० । सद्यो जातस्य बालस्य तृतीये दिवसे क्रियमाणे चन्द्रसूर्यदर्शनाभिधे उत्सवविशेषे, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । ('चददरिसणिया' शब्दे १०७१ पृष्ठे तद्विधि)

चंदसूरपासणिया–चन्द्रसूर्यदर्शनिका–स्त्री० । अन्वर्थानुसारिणि सद्यो बालस्य तृतीयदिवसोत्सवे विपा० १ श्रु० २ अ० ।

चंदसूरि–चन्द्रसूरि–पुं० । आर्यवज्रस्वामिशिष्यश्रीवज्रसेनसूरीणां शिष्ये, यतश्चन्द्रकुलं विनिर्गतम् । "श्रीवज्रसेनसद्गुरुस्तत्पट्टपूर्वाद्रिचूलिकाऽऽदित्यः। मूलं चान्द्रकुलस्या–जनि च ततश्चन्द्रसूरिगुरुः" ॥१॥ ग० ४ अधि० । स च वैक्रमसंवत्सराणां द्वितीयशतकेऽभवदिति पट्टावलिकादर्शनात् प्रतीयते । निरयावलिकानां श्रुतस्कन्धस्य विवरणकर्त्तरि, स च "वसुलोचनरविवर्षे,श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिभिर्दृब्धा । आभडवसाकवसतौ,निरयावलिशास्त्रवृत्तिरियम् ॥१॥" इति (नि० ५ वर्ग) १२२८ वैक्रमवर्षे आसीत् । निशीथाध्ययनस्य विंशतितमोद्देशस्य सूत्राणां विशेषव्याख्याकृति श्रीशीलभद्रसूरीणां शिष्ये च । (स च " श्रीशीलभद्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः । विंशकोद्देशे व्याख्या, दृब्धा स्वपरहेतवे ॥ वेदाश्वरुद्रयुक्ते,विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे । माघसितद्वादश्यां, समर्थितेयं रवौ वारे ॥२॥" इति स्वोल्लेखात् वैक्रमसंवत् ११७४ वर्षे जज्ञे, इति निरयावलिकानिशीथाध्ययनयोरेक एव व्याख्याकृत् इति प्रतीयते, उभयत्र दृब्धेतिपदप्रयोगात्, चतुःपञ्चाशद् वर्षाण्यनन्तरं दीर्घायुषः कथञ्चित्सम्भवत्येव ।) अयञ्च मलधारिश्रीअभयदेवशिष्यहेमचन्द्रसूरिशिष्यविजयसिंहसूरिशिष्योऽभवदिति, तत्कृतसंग्रहणीरत्नग्रन्थोक्तेः, अनेनावश्यके प्रदेशव्याख्या नाम टिप्पनकमपि कृतमस्ति, विक्रमसंवत् १२२२ वर्षे तृतीयोऽपि चन्द्रसूरिः पाक्षिकसूत्रटीकाकारकस्य यशोदेवसूरेः शिष्य आसीत् । जै० इ० ।

चंदसूरोतरण–चन्द्रसूर्यावतरण–न० । समवसरणभूमौ श्रीवीरस्वामिवन्दनार्थं सविमानयोश्चन्द्रसूर्ययोरवतरणे,कल्प०५क्षण। विपा०। नि०। (तद्वक्तव्यता 'सूरचंद' शब्दयोरवसेया) ('उत्तरण चदसूराण' 'अच्छेर' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे आवेदितम्)

चंदसूरोवराग–चन्द्रसूर्योपराग–पुं० । ग्रहणं, " चदसूरोवरागो गहण भण्णति " नि० चू० १६ उ० ।

चंदसेण–चन्द्रसेन–पुं० । श्रीऋषभजिनेन्द्रस्य षट्चत्वारिंशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण । स्वनामके सूरौ च, अयमाचार्यः विक्रम संवत् १२०७ मिते विद्यमान आसीत्, प्रद्युम्नसूरेरयं शिष्य उत्पादसिद्धिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्ता । जै० इ० ।

चंदसेहर–चन्द्रशेखर–पुं० । हरिश्चन्द्रसमकालीने नृपे, यो हि क्षीणद्रव्यं हरिश्चन्द्रं याचमानेन कुलपतिना वसु लक्षं याचनीय इत्युक्तः । ती० ३८ कल्प० । श्रीसोमतिलकसूरीणां शिष्ये च, श्रीसोमप्रभसूरेः पट्टे श्रीसोमतिलकसूरीन्द्रास्तेषां च ये विनेयास्तत्र श्रीचन्द्रशेखरः प्रथमः । ग० ४ अधि० ।

चंदा–चन्द्रा–स्त्री० । चन्द्रद्वीपे चन्द्रदेवस्य राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० । (तद्वक्तव्यता ' चददीव ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १०७१ पृष्ठे उक्ता)

चंदागमणपविभत्ति–चन्द्रागमनप्रविभक्ति–न० । वीरवन्दनार्थं समागतस्य चन्द्रस्यागमनयात्मके नाट्यभेदे, रा० ।

चंदागारोवम–चन्द्राकारोपम–त्रि० । चन्द्राकारश्चन्द्राकृतिः स उपमा येषां तानि तथा । चन्द्रमण्डलवद् वृत्ते, जी० ३ प्रति० । रा० ।

चंदाणण–चन्द्रानन–पुं० । जम्बूद्वीपे ऐरवतवर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते प्रथमतीर्थकरे, स० । ति० । आव० ।

चंदाणणा–चन्द्रानना–स्त्री० । चन्द्रवदाननं मुखं यासां ताः। जी० ३ प्रति० । रा० । नन्दमुख्याम्, नेमिकुमारस्य राजीमत्याः भार्यायाः स्वनामख्यातायां सख्याम्, कल्प० ७ क्षण । स्वनामख्यातायां शाश्वतजिनप्रतिमायाम्, सा चोत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि जघन्यतः सप्तहस्ता । रा० ।

चंदाभ–चन्द्राभ–पुं० । अवसर्पिण्यामेकादशे कुलकरे, ज०२वक्ष०। भ० । " चदाभो त्ति सामन्न न चेव ताव सोमलेसा विसेसो चटपियणम्मि दोहिलो चदाभोयत्ति, " चन्द्रप्रभे तीर्थकरे, आ० चू० २ अ० । पञ्चमदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० ६ सम०। अभ्यन्तरपश्चिमायाः कृष्णराजेरग्रे लोकान्तिकविमाने, यत्र गर्दतोया लोकान्तिकदेवा निवसन्ति । स्था० ८ ठा० ।

चंदायण–चान्द्रायण–न० । चन्द्रेण वृद्धिभाजा क्षयभाजा च सहायते गम्यते यत्तच्चान्द्रायणम् । चन्द्रप्रतिमायाम्, (द्वा०) ।

> एकैकं वर्द्धयेद् ग्रासं, शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत् ।
> भुञ्जीत नामावास्याया–मेष चान्द्रायणे विधिः ॥१८॥

(एकैकमिति) एकैकं वर्द्धयेत् ग्रासं कवलं शुक्ले पक्षे प्रतिपत्तिथेरारभ्य यावत् पौर्णमास्यां पञ्चदश कवलाः, कृष्णे च पक्षे ह्रापयेत् हीनं कुर्यादेकैकं कवलं,ततो भुञ्जीत न अमावास्यायां, तस्यां सकलकवलक्षयादेषं चान्द्रायणश्चन्द्रेण वृद्धिभाजा क्षयभाजा च सहायते गम्यते यत् तत् चान्द्रायणं,तस्याय विधिः करणप्रकार इति । द्वा० १२ द्वा० ।

इय च चान्द्रायणप्रतिमा यवमध्या वज्रमध्या च, तत्राद्यां तावद्दर्शयन्नाह–

> सुक्कम्मि पडिवयाओ, तहेव वुड्डीएँ जाव पण्णरस ।
> पंचदसपडिवयाहिं, तो हाणी किण्हपडिवक्खे ॥१९॥

शुक्ले शुक्लपक्षे प्रतिपदः प्रथमतिथेरारभ्य तथैव तेनैव प्रकारेण एकाद्येकोत्तरलक्षणेन वृद्ध्या प्रतिदिनं भिक्षाणां कवलानां च वर्द्धनेन यावत्पञ्चदश भिक्षाः कवलान्वा गृह्णाति (पचदसपडिवयाहिं ति) पञ्चदश्यां पौर्णमास्यां प्रतिपदि च कृष्णपक्षप्रथमतिथौ (तो त्ति) ततोऽनन्तरम्-(हाणि त्ति) एकैकशोऽनुदिनं भिक्षादिहानिं करोति कृष्णप्रतिपदि, कृष्णस्वरूपे शुक्लापेक्षया द्वितीयपक्षे इत्यर्थः । तत्र चामावास्यायामेका भिक्षा कवलो वा स्यादिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अथ वज्रमध्या, तामाह–

> किण्हे पडिवइँ पणर–स पगइगाणीओ जाव इक्को उ ।
> अमवस्सपडिवयाहिं , वुड्ढी पण्णरस पुण्णाए ॥ २० ॥

कृष्णे पक्षे प्रतिपदि प्रथमतिथौ पञ्चदश कवलादीन् गृह्णाति

तत (पगहाणीओ त्ति) एककवलादिहानिः प्रतिदिनं क्रियते, यावदेकस्तु एक एव कवलादिरमावास्याप्रतिपदोः प्रतीतयोः ततो वृद्धिः कवलादीनामनुदिनं क्रियते, यावत्पञ्चदश कवलादयः पूर्णायां पूर्णमास्यां भवन्तीति गाथार्थः ॥ २० ॥

इह तपसि भिक्षाऽऽदि प्राग्यतयोक्तमतस्तल्लक्षणमाह-

एत्ता भिक्खामाणं, एगा दत्ती विचित्तरूवा वि ।
कुक्कुडिअंडयमेत्तं, कवलस्स वि होइ विण्णेयं ॥२१॥

इता विवक्षिततपःस्वरूपाभिधानानन्तरं भिक्षामानं,वाच्यमिति शेषः । तच्चेदम्-एका असहाया, दत्तिरेकप्रक्षेपरूपा, विचित्ररूपाऽपि बह्वल्पैकानेकरूपस्वभावतया नानास्वभावाऽपि, न केवलमेकस्वभावेति । अथ कवलमानमाह-कुक्कुट्यण्डकमात्रं कवलस्याऽपि भवति विज्ञेयमिति प्रतीत , नवरं मानमिति वर्तते इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

इदं च विशेषमाह-

एतं च कीरमाणं, सफलं परिसुद्धजोगभावस्स ।
णिरहिगरणस्स णेयं, इयरस्स ण तारिसं होइ ॥ २२ ॥

एतच्च एतत्पुनरनन्तरोक्तं तपः क्रियमाणं विधीयमानं सफलं मोक्षादिफलं, ज्ञेयमिति योगः ; परिशुद्धा निर्दोषा योगा व्यापारा भावश्चाध्यवसायो यस्य स तथा, तस्य, एतदेव स्पष्टतरमाह-निरधिकरणस्य गुरुतरारम्भवर्जितस्य निष्कलहस्य वा ज्ञेय ज्ञातव्यम्, इतरस्य साधिकरणस्य न नैवं तादृशं, यादृशं निरधिकरणस्य फलमिति गम्यते, भवति स्यादिति गाथार्थः ॥२२॥ पञ्चा० १६ विव० । चन्द्रस्योत्तरतो दक्षिणतश्च पञ्चभिः पञ्चभिर्मासैर्गमने, ज्यो० ११ पाहु० । (तत्प्रमाणम 'अयन' शब्दे प्रथमभागे ७५१ पृष्ठे उक्तम् । तथा ' चंदमंगल ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७१ पृष्ठेऽप्युक्तम्)

चंदालग-चन्द्रालक-न० । देवतार्चनिकार्थं ताम्रमये मथुराप्रसिद्धे भाजने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

चंदावली-चन्द्रावली-स्त्री० । तडागादिषु जलमध्यप्रतिबिम्बितचन्द्रपङ्क्तौ, रा० । जी० । ज० । आ० म० ।

चंदावलीपविभत्ति-चन्द्रावलीप्रविभक्ति-न० । चन्द्रावलीप्रविभागाभिनयात्मके नाट्यभेदे, जी० ३ प्रति० । जं० ।

चंदाविज्झय-चन्द्रावेध्यक-न० । चन्द्रो यन्त्रपुत्तलिकाक्षिगोलको गृह्यते,तथा आ मर्यादया विध्यते इति आवेध्य,तदेवावेध्यकं,चन्द्रलक्षणमावेध्यकं चन्द्रावेध्यकम् । राधावेधे,तदुपमानमरणाराधनप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे च । तच्च प्रकीर्णकरूपम् उत्कालिकश्रुतभेदः । पा० । नं० ।

तच्चेदम्-

' नमिऊण नमोक्कारं, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संथारम्मि निबद्धं, गुणपरिवाडिं निसामेह ॥ १ ॥
एस किराराहणया, एस किर मणोरहो सुविहियाणं ।
एस किर पच्छिमंते, पडागहरण सुविहियाणं ॥२॥
भूईगहणं जहा णं, कयाण अवमाणयं व अज्झाणं ।
मल्लाण च पडागा, तह संथारो सुविहियाण" ॥३॥
इत्याद्युपक्रम्य सस्तारकविधिरुक्तः । द० प० ३ प० ।
" इत्थ समप्पइ इणमो, पव्वज्जामरणकालसमयम्मि ।
जो हु न सज्जइ मरणे, साहू आराहओ भणिओ ॥१७३॥
विणयं आयरियगुणे, सीसगुणे विणयनिग्गहगुणे अ ।
नाणगुणे चरणगुणा, मरणगुणविहिं च सोऊणं ॥१७४॥
तह घित्तह काउज्जे, जह मुच्चह गब्भवासवसहीण ।
मरणपुणब्भवजम्मण-दुग्गाए विणिवायगमणाणं " ॥१७५॥
द० प० ४ प० ।

चंदिमा-चन्द्रिका-स्त्री० । "चन्द्रिकायां मः" ८ । १ । १८१ । चन्द्रिकाशब्दे कस्य मो भवति, इति मः।प्रा० १ पाद।द० प० । चन्द्रज्योत्स्नायाम्, जं० १ श्रु० ८ अ० ।

चंदिमाइय-चान्द्रिक-पुं० । चन्द्रदृष्टान्तप्रतिपादके प्रथमश्रुतस्कन्धस्य ज्ञाताध्ययने, आव० ४ अ० । आ० चू० । प्रश्न० ।

चंदिल्लो-देशी-तापिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंदुत्तरवडिंसग-चन्द्रोत्तरावतंसक-न० । चतुर्थे देवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० १ सम० ।

चंदेरी-चन्देरी-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, यत्राजितस्वामी प्रतिमारूपेण पूज्यते । ती० ४५ कल्प ।

चंदोज्ज-देशी-कुमुदे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंदोत्तर-चन्द्रोत्तर-न० । कौशाम्ब्या नगर्या बहिः स्वनामख्याते उद्याने, विपा० १ श्रु० ५ अ० ।

चंदोयर-चन्द्रोदर-पुं० । चक्रपुराधिपस्य वज्रायुधस्याङ्गजे इन्द्रपुर्यधिपपद्मोत्तरनृपतिसुतायाः सलीलेदायाः पत्यौ वैताढ्यपर्वते मलयपुरे किरणवेगस्य नरपते राजसिंहासनेऽभिषिक्ते भानुसूरीणां शिष्ये, ध० र० ।

चंदोवग-चन्द्रोपक-न० । कुशासम्पननिमित्ते परिव्राजकोपकरणे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

चंदोवराग-चन्द्रोपराग-पुं० । चन्द्रस्य चन्द्रविमानस्य उपरागो राहुविमानतेजसोपरञ्जनं चन्द्रोपरागः । स्था० १० ठा० । चन्द्रग्रहणे, भ० ३ श० ६ उ० । अनु० ।

चंपग-चम्पक-पुं० । पुष्पप्रधाने स्वनामख्याते वृक्षविशेषे, स च सुवर्णचम्पकः काष्ठचम्पकश्चेति द्विविधः । जं० १ वक्ष० । दर्श० । रा० । स्था० । आ० म० । कल्प० । आचा० । आव० । भ० । प्रज्ञा० । जी० । ज्ञा० । विंशतितमजिनस्य किम्पुरुषाणां च चम्पकश्चैत्यवृक्षः । प्रश्न० २ आश्र०द्वार । स० । तत्पुष्पे,न० । तच्च स्वर्णवत्पीतं भवति । प्रश्न० २ आश्र०द्वार । जम्बूद्वीपस्य विजयद्वारसत्कविजयाभिधानराजधान्याः पश्चिमदिग्वर्तिचम्पकवनस्याधिपतौ देवे, पुं० । जी० ३ प्रति० ।

चंपगकुसुम-चम्पककुसुम-न० । सुवर्णचम्पकत्वचि, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

चंपगगुम्म-चम्पकगुल्म-न० । ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेतेषु चम्पकवृक्षेषु, जं० २ वक्ष० ।

चंपगलल्ली-चम्पकलल्ली-स्त्री० । सुवर्णचम्पकत्वचि, प्रज्ञा० १७ पद । ज० ।

चंपगपिय-चम्पकप्रिय-त्रि० । यस्य चम्पकपुष्पं प्रियं तस्मिन्, आव० ३ अ० ।

चंपगभेय-चम्पकभेद-पुं० । सुवर्णचम्पकच्छेदे, जी० ३ प्रति० ।

चंपगमाला-चम्पकमाला-स्त्री० । ६ त० । स्वर्णचम्पकैर्निर्मितायां मालायाम्, स्त्रीणां कण्ठाभरणे, दशाक्षरपादके पङ्क्तिच्छन्दोभेदे च । वाच० । "असुइठाणे पडिया, चंपगमाला न कीरई सीसे॥" आव० ३ अ०। ('किइकम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५१७ पृष्ठे ऽस्या व्याख्या)

चंपगलया-चम्पकलता-स्त्री०। चम्पका द्रुमविशेषाः, लतास्तिर्यक्शाखाः, प्रचाराभावात्, चम्पकानां लतास्तनुकास्त एव । लताकृतिषु चम्पकवृक्षेषु, जं० १ वक्ष० । औ० ।

चंपगवडिंसय-चम्पकावतंसक-पुं० । सौधर्मादिविमानानां मध्यदेशवर्तिनि अन्यतमेऽवतंसके, प्रज्ञा० २ पद । रा० ।

चंपरमणिज्ज-चम्पारमणीय-न० । कुमाराख्यसंनिवेशस्य वहिः स्वनामख्याते उद्याने, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

चंपा-चम्पा-स्त्री० । अङ्गाख्यजनपदराजधान्याम्, आव० १ अ० । आ० म० । कल्प० । सूत्र० । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० । पञ्चा० । प्रश्न० । ती० । आ० क० । अन्त० । चम्पानगर्या हि व्याख्या प्रकृते पञ्चमशतकस्य दशम उद्देशे उक्ता । भ० ५ श० १ उ० । पञ्चा० ।

तत्कल्पश्चेत्थम्-

" कुनदुर्नयभङ्गाना-मङ्गानां जनपदस्य भूषायाः ।
चम्पापुर्याः कल्पं, जल्पामस्तीर्थपुर्यायाः " ॥ १ ॥

अस्यां द्वादशमजिनेन्द्रस्य श्रीवासुपूज्यस्य त्रिभुवनजनपूज्यानि गर्भावतारजन्मप्रव्रज्याकेवलज्ञाननिर्वाणोपगमलक्षणानि पञ्च कल्याणकानि जज्ञिरे ।१। अस्यामेव श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्रपुत्रमघवनृपतिपुत्री लक्ष्मीकुक्षिजाता रोहिणी नाम कन्याऽष्टानां पुत्राणामुपरि जज्ञे, सा च स्वयंवरे अशोकराजन्यकण्ठे वरमालां निक्षिप्य तं परिणीय पट्टराज्ञी जाता, क्रमेणाष्टौ पुत्रांश्चतस्रश्च पुत्रीरजीजनत् ।२। अन्यदा वासुपूज्यशिष्ययो रूप्यकुम्भस्वर्णकुम्भयोर्मुखाद्दष्टदुःखस्योपशमहेतु प्राग्जन्मचीर्ण रोहिणी तपः श्रुत्वा सोद्यापनविधि प्राचीकटन्मुक्तिं सपरिच्छदाऽगच्छत् ।३। अस्यां करकण्डुनामधेयो भूमण्डलाखण्डलः पुराऽसीद्यः कादम्बर्य्यामटव्यां कलिगिरेरुपत्यकावर्तिनि कुण्डनाम्नि सरोवरे श्रीपार्श्वनाथ छद्मस्थावस्थायां विहरन्त हस्तिव्यन्तरानुभावात्कलिकुण्डतीर्थतया प्रतिष्ठापितवान् ।४ । अस्यां सुभद्रा महासती पाषाणमयविटकपाटसंपुटपिहितास्तिस्रः प्रतोलीः शीलमाहात्म्याद्दामसूत्रतन्तुवेष्टितेन तितउना कूपाज्जलमाकृष्य तेनाभिषिच्य सप्रभावमुद्घाटयत्, एका तु तुरीया प्रतोली अन्याऽस्ति, या किल मत्सदृशी सुचरित्रा भवति, तयेयमुद्घाटनीयेति भणित्वा राजादिजनसमक्षं तथैव पिहितामेवास्थापयत्, सा च तद्दिनादारभ्य चिरकाल तथैव दृष्टा जनतया, क्रमेण विक्रमादित्यवर्षेपु षण्णवत्यधिकत्रयोदशशतेष्वतिक्रान्तेषु १३६० लक्षणावतीहम्मीरश्रीसुरत्राणसमदीनः शङ्करपुरदुर्गोपयोगि पाषाणग्रहणार्थं प्रतोलीं पातयित्वा कपाटसंपुटमग्रहीत् ।५। अस्यां दधिवाहननृपतिमहिष्या पद्मावत्या सह तद्दोहदपूरणार्थमनेकपाऽऽरूढ सञ्चरन् स्मृताटवीमानीविहारेण करिणा नीत प्रति व्रजता अपवाहितः स्वयं वटशाखामालम्ब्य स्थितः, करिणि पुनः सञ्चरिते व्यावृत्येमामेव स्वपुरीमागमत्, देवी चाभाग्यवशान्तराटवीमागात् । तद्वतीर्णा क्रमेण सुतं सुषुवे, स च करकण्डुर्नाम क्षितिपतिर्जज्ञे, कालिङ्गेषु पित्रा सार्द्धं युध्यमानः प्रतिषिध्य आर्यया जनन्या क्रमेण महावृषभस्य यौवनवार्द्धकदशादर्शनाज्जातः प्रत्येकबुद्धः, सिद्धिं चाससाद । ६। अस्यां चन्दनबाला दधिवाहननृपतिनन्दना जन्म उपलेभे, या किल भगवतः श्रीमहावीरस्य कौशाम्ब्यां सूर्पकोणस्थकुल्माषैः पारणाकारणात् पञ्चदिनोनषण्मासावसाने द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहानपूरयत् । ७। अस्यां पृष्ठचम्पया सह श्रीवीरस्त्रीणि वर्षारात्रसमवसरणानि चक्रे । ८ । अस्यामेव परिसरे श्रीश्रेणिकसूनुरशोकचन्द्रो नरेन्द्रः कूणिकाऽपराख्यः श्रीराजगृहं जनकशोकाद्विहाय नवीनां राजधानीं चम्पामचीकरत् ।९। अस्यामेव पाण्डुकुलमण्डनो दानशौण्डेषु दृष्टान्तः श्रीकर्णनृपतिः साम्राज्यश्रियं चकार, दृश्यन्ते चाद्यापि तानि तानि तदवदानस्थानानि शृङ्गाटचतुष्कादीनि पुर्यामस्याम् । १० । अस्यां सम्यग्दृशां निदर्शनं सुदर्शनश्रेष्ठी दधिवाहनभूपस्य राज्याऽभयाख्यया सम्भोगार्थमुपसर्ग्यमाणः क्षितिपतिवचसा वधार्थं नीतः स्वकीयनिष्कम्पशीलसंपत्प्रभावाकृष्टशासनदेवतासान्निध्यात् शूलं हैमासिंहासनतामनैषीत, तरवारिं च निशितं सुरभिसुमनोदामानयत् । ११ । अस्यां च कामदेवः श्रेष्ठी श्रीवीरस्योपासकाग्रणीरष्टादशकनककोटिस्वामी गोदशसहस्रयुतषड्गोकुलाधिपतिर्भद्रापतिरभवत् , यः पोषधागारस्थितो मिथ्यादृग्देवेन पिशाचगजभुजगरूपैरुपसर्गितोऽपि न क्षोभमभजत , श्लाघितश्च भगवताऽन्तःसमवसरणम् ॥ १२ ॥ अस्यां विहरन् श्रीशय्यम्भवसूरिश्चतुर्दशपूर्वधरः स्वतनयं मनकाभिधानं राजगृहागतं प्रव्राज्य तस्यायुः षण्मासावशेषं श्रुतज्ञानोपयोगेनाऽऽकलय्य तदध्ययनार्थं दशवैकालिकं पूर्वगतान्निर्यूढवान्, तत्रात्मप्रवादात् षड्जीवनिकां कर्मप्रवादात् पिण्डैषणां सत्यप्रवादाद्वाक्यशुद्धिम् अवशिष्टाध्ययनानि प्रत्याख्यानपूर्वतृतीयवस्तुन इति । १३ । अस्यां वास्तव्यः कुमारनन्दी सुवर्णकारः स्वविभववैभवाभिभूतधनदोऽकृशकृशानुप्रवेशात्पञ्चशैलाधिपत्यमधिगत्य प्राग्भवसुहृदच्युतविबुधबोधितचारुगोशीर्षचन्दनमयीं जीवन्तस्वामिनीं सालङ्कारां देवाधिदेवश्रीमहावीरप्रतिमां निर्ममे । १४ । अस्यां पूर्णभद्रे चैत्ये श्रीवीरो व्याकरोद्योऽष्टापदमारोहति स तद्भव एव सिद्ध्यतीति ॥१५॥ अस्यां पालितनामा श्रीवीरोपासको वणिक्, तस्य पुत्रः समुद्रयात्रायां समुद्रे प्रसूत इति समुद्रपालो वध्यं नीयमानं वीक्ष्य प्रतिबुद्धः, सिद्धिं च प्रापत् ।१६। अस्यां सुनन्दः श्राद्धः साधूनां मलदुर्गन्धं निन्दित्वा मृतः कौशाम्ब्यामिभ्यसुतोऽभूद् व्रतं चाऽग्रहीदुदीर्णः दुर्गन्धः कायोत्सर्गेण देवतामाकृष्य स्वाङ्गे सौगन्ध्यमकार्षीत् ।१७। अस्यां कौशिकार्य शिष्याङ्गर्षिरुद्रकाख्यानसविधानकं सुजातप्रियङ्गवादिसविधानकानि च जज्ञिरे । १८ । इत्यादिसंविधानकरत्नप्रकटनानावृत्तीनिधानामिव पुरी, अस्याश्च प्राकारभित्तिप्रियसखीव प्रतिक्षणमालिङ्गति पावनघनरसपूरितान्तरा सरिद्वरा प्रसृतवीचिभुजाभिः ।१९। "उत्तमतमनरनारी-मुक्तामणिधोरणिप्रसवशुक्तिः । नगरीविविधाद्भुतय-स्तुशालिनी मालिनी जयति ॥ २० ॥ जन्मभूर्वासुपूज्यस्य, तद्भक्त्या श्रूयते बुधैः । चम्पायाः कल्पमित्याहुः, श्रीजिनप्रभसूरयः ॥२१॥" ती० ३५ कल्प ।

चंपाकुसुम-चम्पककुसुम-न० । सुवर्णचम्पकपुष्पे, रा० । जी० ।

चंपिज्जिया-चम्पीया-स्त्री० । स्थविराद् भद्रयशसो निर्गतस्य उडुपातिकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

चकोर-चकोर-पुं० । एकपादे दीर्घग्रीवे जलचरपक्षिणि, नि० चू० १७ उ० । प्रश्न० ।

चक्क-चक्र-न० । " सर्वत्र लवरामवन्द्रे " ८ । २ । ७९ । इति रलोपः । प्रा० २पाद । नाभिप्रोतारबद्धे वृत्ताकृतौ पदार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । यथा रथाङ्गमरघट्टाङ्ग वा । औ० । प्रश्न० । समस्तायुधातिशायिदुर्दमरिपुविजयकरे , प्रव० २१२ द्वार । रत्नभूतप्रहरणविशेषे , स्था० २ ठा० ४ उ० । ओघ० । आव० । रा० । प्रश्न० । (मनुष्यभवदौर्लभ्ये चक्रदृष्टान्तो "मणुस्स" शब्दे वक्ष्यते)वासुदेवानां सुदर्शनाभिधान चक्रम् । उत्त० ११ अ० । चक्राकारे शिरोभूषणविशेषे, जं० २ वक्ष० । आभरणविशेषे, औ० । चक्रवाके, कल्प० ३ क्षण । पक्षिविशेषे, पुं० । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । सैन्ये, राष्ट्रे, दम्भभेदे , जलावर्ते, ग्रामजाले, तगरपुष्पे, व्यूहभेदे, वाच० ।

चक्ककंत-चक्रकान्त-पुं० । अन्तिमसमुद्रस्याधिपतौ, द्वी० ।

चक्कजोहि (ण्)-चक्रयोधिन्-पुं० । चक्रेण युद्धकर्तरि वासुदेवे, आव० १ अ० ।

चक्कज्झय-चक्रध्वज-पुं० । स्त्री० । चक्रालेख्यरूपचिह्नोपेतायां ध्वजायाम् , जं० १ वक्ष० । पञ्चा० । रा० । जी० । तादृशध्वजयुक्ते च । त्रि० । "चक्कज्झया य सव्वा, सव्वा वइरज्झया चेव।" द्वा० १ द्वा० ।

चक्कट्ठपइट्ठाण-चक्राष्टप्रतिष्ठान-त्रि० । चक्रेष्वष्टासु प्रतिष्ठान प्रतिष्ठाऽवस्थान यस्य तत्तथा । अष्टचक्रयुक्ते, स्था० ६ ठा० ।

चक्कणाभि-चक्रनाभि-पुं० । चक्रारप्रोतस्थाने, "भरहो रहेण समुद्दमवगाहिया चक्कणाभि० जाव ततो नामकं सरं विसज्जाइ " आव० १ अ० ।

चक्कतित्थ-चक्रतीर्थ-न० । मथुरास्थे तीर्थभेदे, ती० ६ कल्प ।

चक्कदेव-चक्रदेव-पुं० । स्वनामख्याते सार्थवाहपुत्रे, ध०१अधि० । (चक्रदेवचरित्रं तु प्रथमभागे 'असढ' शब्दे ८३५ पृष्ठे समुक्तम्)

चक्कपाणिलेह-चक्रपाणिरेख-त्रि० । चक्र इव पाणिरेखा येषां ते तथा । चक्राङ्कितहस्तरेखेषु , प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चक्कपुरा-चक्रपुरा-स्त्री० । वल्गुविजयराजधान्याम्,जं०४वक्ष० । आव० । " दो चक्कपुराओ " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चक्कवाल-चक्रवाल-न० । सर्वतः परिमण्डलरूपे, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । कल्प० । भ० । औ० । मण्डले, स्था० ३ ठा० ४ उ० । जलपारिमाण्डल्ये, स० १०० समः । समूहे, आतु० । चक्रे , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दशविधचक्रवालसामाचारीत्यत्र चक्रवालशब्देन किमुच्यते ?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-चक्रवाले नित्यकर्मणि सामाचारी चक्रवालसामाचारी, दशविधा दशप्रकारा चासौ चक्रवालसामाचारी च दशविधचक्रवालसामाचारीति चक्रवालशब्दोऽवश्यकार्यवाचीति पञ्चवस्तुवृत्तौ, तथा चक्रवाले चक्रवालविषया चक्रवत्प्रतिपद भ्रमन्ती दशविधा सामाचारीत्यपि प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ शततमद्वारे इति । ३२ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चक्कवालपव्वय-चक्रवालपर्वत-पुं० । कुण्डलाभिधानैकादशद्वीपवर्तिनि पर्वते, स्था० १० ठा० ।

चक्कवालविक्खंभ-चक्रवालविष्कम्भ-पुं० । चक्रवालस्य विष्कम्भः । पृथुत्वे , स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चक्कवालसामायारी-चक्रवालसामाचारी-स्त्री० । चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्तीति चक्रवालविषया सामाचारी । ध० ३ अधि० । नित्यकर्मसामाचार्याम्, पं० व० ४ द्वार ।

सांप्रत दशधा पदविभागसामाचारीस्वरूपप्रदर्शनायाऽऽह-
"इच्छा मिथ्या तथाकारा, गताऽऽवश्यानिषेधयोः ।
आपृच्छा प्रतिपृच्छा च, छन्दना च निमन्त्रणा ॥ ३३ ॥
उपसपच्चेति जिनैः , प्रज्ञप्ता दशधाऽभिधा ।
भेद० पदविभागस्तु, स्यादुत्सर्गापवादयो" ॥ ३४ ॥ (युग्मम्)

इति अमुना प्रकारेण जिनैर्दशधाऽभिधा दशधाख्या सामाचारी प्रज्ञप्ता प्ररूपिता । (ध०) चक्रवत्प्रतिपद भ्रमन्तीति चक्रवालविषया दशधा सामाचारी,एतत्सेवकानां च महाफलम्, यत-" एवं सामायारिं, जुंजुंता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवेंति कम्म, अणेगभवसंचिअमणंत ॥१॥ " प्रवचनसारोद्धारे तु प्रकारान्तरेणापि दशधा चक्रवालसामाचारी प्रोक्ता । तथाहि- "पडिलेहणा पमज्जण, भिक्खायरिया अ भुंजणा चेव । पत्तंगधुवण विआ-रे थंडिलआवस्सयाईआ ॥१॥ " एतद्व्याख्यान तु ओघसामाचार्यां गतप्रायमेवेति । ध० ३अधि० ।

चक्कवाला-चक्रवाला-स्त्री० । चक्राकृतौ श्रेण्याम्, स्था०७ठा० ।

चक्कय-चक्रक-पुं० । चक्रमिव कायति कै-कः । स्वापेक्षापेक्ष्यपेक्षित्वनिबन्धनेऽनिष्टप्रसङ्गरूपे तर्कभेदे, वाच० । यथा प्रामाण्यविचारे-न यावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषः सिद्ध्यति सवादार्थिना यावच्च न प्रवृत्तिर्न तावत् क्रियासवादः, यावन्न सवादो न तावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदकत्वसिद्धिरेति चक्रकप्रसङ्गः । अने०१अधि० । चक्राकारे,प्रज्ञा० १ पद ।

चक्करयण-चक्ररत्न-न० । चक्रजातौ वीर्यत उत्कृष्टे, चक्रवर्तिनामेकेन्द्रियरत्ने, स्था० ७ ठा० । स० । प्रज्ञा० । जं० । आ० म० । आ०चू० । (चक्रवर्तिनां चक्ररत्न यथोत्पद्यते यथा च तद्देशितमार्गाश्चक्रिणो भारतवर्षविजयाय यान्ति तथा'भरह'शब्दे वक्ष्यते)

चक्कल-चक्रल-पुं० । पादानामधो वृत्ताकारेऽवयवविशेषे, आ० म० प्र० ।

चक्कलक्खण-चक्रलक्षण-न० । चक्रस्वरूपे, तत्प्रतिपादकशास्त्रे, तद्विज्ञाने च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० । चक्राकारचिह्नोपेते, स्था० ६ ठा० । औ० ।

चक्कलियाभिन्न-चक्रलिकाभिन्न-त्रि० । वृत्तखण्डे, वृ० १ उ० ।

चक्कवट्टि (ण्)-चक्रवर्तिन्-पुं० । चक्रेण रत्नभूतेन प्रहरणविशेषेण वर्तितुं शीलमस्य चक्रवर्ती । स्था० २ ठा० ४ उ० । चक्रं प्रहरण तेन विजयाधिपत्ये वर्तितु शीलमस्येति । आव० ४ अ० । प्रश्न० । आ० म० । रा० । अनु० । षट्खण्डभरतेश्वरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । उत्त० । आव० ।

अथ चक्रिणां सर्वोऽधिकारः-

"जंबुद्दीवे बारस चक्कवट्टी होत्था । त जहा-
" भरहे सगरे मघवं, सणकुमारो य रायसद्दूलो ।
संती कुंथू य अरो, हवइ सुभूमो य कोरव्वो ॥४६॥

नवमो य महापउमो, हरिसेणो चेव रायसद्दूलो।
जयनामो य नरवई, बारसमो बंभदत्तो य ॥ ४७॥ स०।

(कस्मिन् जिनान्तरे कश्चक्रीति 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ९९ पृष्ठे उक्तम्। चक्रवर्त्यवग्रहः 'अवग्गह' शब्दे प्रथमभागे ६९९ पृष्ठे उक्तः)

सांप्रतं चक्रवर्त्यायुष्कप्रतिपादनायाऽऽह-

"चउरासीई बाव-त्तरी य पुव्वाण सयसहस्साइं॥
पंचेव य तिन्नि अ ए-गं च सयसहस्सा उ वासाण ॥ ६२॥
पंचाणउइसहस्सा, चउरासीई अ अट्ठमे सट्ठी ॥
तीसा य दस य तिन्नि य, अपच्छिमो सत्त वाससया"॥६३॥

गाथाद्वयं पतितसिद्धम्। आव० १ अ०।

चक्रवर्तिनः कल्याणभोजनम्-

अत्र कल्याणभोजनसंप्रदाय एवम्-चक्रवर्तिसंबन्धिनीनां पुण्ड्रेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां गवां लक्षस्यार्द्धार्द्धक्रमेण पीतगोक्षीरस्य पर्यन्ते यावदेकस्याः गोः संबन्धि यत् क्षीरं तत्प्रासकलमशालिपरमान्नरूपमनेकसंस्कारकद्रव्यसंमिश्रं कल्याणभोजनमिति प्रसिद्धं, चक्रिणं स्त्रीरत्नं च विना अन्यस्य भोक्तुर्दुर्जरं महदुन्मादकं चेति। जं० ३ वक्ष०।

काकिणी-

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवण्णिए काकिणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अधिकरणिसंठिए पण्णत्ते ।

एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिन इत्यत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि तुल्यकाकिणीरत्नप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं, निरुपचरितराजशब्दविषयज्ञापनार्थं राजग्रहणं, षट्खण्डभरतादिभोक्तृत्वप्रतिपादनार्थं चतुरन्तचक्रवर्तिग्रहणमिति, अष्टसौवर्णिकं काकिणिरत्नं, सुवर्णमानं तु-चत्वारि मधुरतृणफलान्येकः श्वेतसर्षपः, षोडश श्वेतसर्षपा एकं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जा एकः कर्ममाषकः, षोडश कर्ममाषका एकः सुवर्णः, एतानि मधुरतृणफलादीनि भरतकालभावीनीति गृह्यन्ते, यतः सर्वचक्रवर्तिनां तुल्यमेव काकिणीरत्नमिति। षट्तलं द्वादशास्रि अष्टकर्णिकम् अधिकरणीसंस्थितं प्रज्ञप्तमिति। तत्र तलानि मध्यखण्डानि, अस्रयः कोटयः, कर्णिकाः कोणविभागाः, अधिकरणिः सुवर्णकारोपकरणं प्रतीतमेवेति। इदं च चतुरङ्गुलप्रमाणम्, "चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागिणी नेया।" इति। स्था० ८ ठा०।

साम्प्रतं चक्रिणां गतिप्रतिपादनायाऽऽह-

"अट्ठेव गया मुक्खं, सुहुमो बंभो अ सत्तमिं पुढविं।
मघवं सणंकुमारो, सणंकुमारं गया कप्पं ॥ ९७॥"

सूत्रसिद्धा। आव० १ अ०।

ग्रामा एकैकस्य—

"एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स छन्नउइं छन्नउइं गामकोडीओ होत्था।" स० ९७ सम०। "दो चक्कवट्टी अपरिचत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणे नरके नेरइयत्ताए उववन्ना, सुभूमे चेव बंभदत्ते चेव"। स्था० २ ठा० ४ उ०। (चक्रिणां चक्ररत्नं यथोत्पद्यते यथा च तद्दर्शितमार्गो भरतं साधयन्ति तथा भरतचरिताधिकारे वक्ष्यते)

पर्यायः—

पर्यायः केषाञ्चित्प्रथमानुयोगतोऽवसेयः, केषाञ्चित्प्रव्रज्याभावात् विगत एवेति। आव० १ अ०। भरतक्षेत्रचक्री प्रथमं कं खण्डं साधयतीति क्रमः प्रसाद इति प्रश्ने, उत्तरम्-भरतक्षेत्रचक्री प्रथमं कं खण्ड साधयतीत्यत्र चक्री प्रथममखण्डं साधयित्वा सेनानीरत्नेन सिन्धुखण्डं साधयति, तदनु गुहाप्रवेशेन वैताढ्यमतिक्रम्य मध्यखण्डं साधयति, तेनैव तत्रत्यं सिन्धुखण्डं गङ्गाखण्डं च साधयित्वा अत्राप्यागतो गङ्गाखण्डं तेनैव साधयित्वा राजधानीं समागच्छतीति क्रमः। ही० ३ प्रका०।

पितरः—

जंबुद्दीवे णं भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए बारस चक्कवट्टिपियरो होत्था। तं जहा-

"उसभे सुमित्तविजए, समुद्दविजए य अससेणे य।
विस्ससेणे य सूरे, सुदंसणे कत्तवीरिए चेव ॥ ४४॥
पउमुत्तरे महाहरी-विजए राया तहेव य।
बंभे बारसमउत्ते, पिउनामा चक्कवट्टीणं" ॥ ४५॥ स०।

इदानीं चक्रवर्तिपुरप्रतिपादनायाह—

"एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स बावत्तरिपुरवरसाहस्सीओ पण्णत्ताओ।" स० ७२ सम०।

"जम्मणविणीअ उज्झा, सावत्थी पंच हत्थिणपुरम्मि।
वाणारसि कंपिल्ले, रायगिहे चेव कंपिल्ले ॥"

निगदसिद्धा। आव०१अ०। (चक्रवर्तिबलं 'बल' शब्दे वक्ष्यते)

सांप्रतं चक्रवर्तिनां मातृप्रतिपादनायाह-

"जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए बारस चक्कवट्टिमायरो होत्था। तं जहा-सुमंगला जसवती भद्दा सहदेवी अइरा सिरिदेवी तारा जाला मेरा वप्पा चुल्लणी अपच्छिमा ॥" स०। आव०।

चक्रवर्तिनां मुक्ताहारः-

सव्वस्स वि य णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चउसट्ठिलट्ठीए महग्घे मुत्तामणिमए हारे पण्णत्ते ॥

सर्वाणि चतुःषष्टिरिति (चउसट्ठिलट्ठीए त्ति) चतुःषष्टिर्यष्टीनां सराणां यस्मिन्नसौ चतुःषष्टियष्टिकः। (मुत्तामणिमए त्ति) मुक्ताश्च मुक्ताफलानि मणयश्चन्द्रकान्तादिरत्नविशेषाः, मुक्तारूपा वा मणयो रत्नानि मुक्तामणयः, तद्विकारो मुक्तामणिमयः। स० ६४ सम०।

चक्रवर्तिनां रत्नानि-

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त एगिंदियरयणा पण्णत्ता। तं जहा-चक्करयणे छत्तरयणे चम्मरयणे दंडरयणे असिरयणे मणिरयणे काकणिरयणे।

"चक्करयणे" इत्यादि। "रत्नं निगद्यते तत्, जातौ जातौ यदुत्कृष्टम्" इति वचनात्। चक्रादिजातिषु यानि वीर्यतः उत्कृष्टानि तानि चक्ररत्नादीनि मन्तव्यानि, तत्र चक्रादीनि सप्तैकेन्द्रियाणि पृथिवीरूपाणि। तेषां च प्रमाणम्-

"चक्कं छत्तं दंडो, तिष्णि वि एयाइँ वामतुल्लाइ ।
चम्म दुहत्थदीह, बत्तीसं अंगुलाइँ असी ।
चउरंगुलो मणी पुण, तस्सऽद्धं चेव होइ विच्छिणो ।
चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागणी नेया " ॥ स्था० ७ ठा० ।
" एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त पचेंदियरयणा पण्णत्ता । तं जहा—सेणावइरयणे गाहावइरयणे वड्ढइरयणे पुरोहियरयणे इत्थिरयणे आसरयणे हत्थिरयणे " सेनापति सैन्यनायको, गृहपतिः कोष्ठागारनियुक्तः, वर्द्धकिः सूत्रधारः, पुरोहितः शान्तिकर्मकारीति चतुर्दशाप्येतानि प्रत्येकं यक्षसहस्राधिष्ठितानीति । स्था० ७ ठा० । प्रव० ।

चक्रवर्तिनां वर्णादयः-

"सव्वे वि एगवन्ना, निम्मलकणगप्पहा मुणेयव्वा ।
छक्खमभरहसामी, तेसिं य माण अओ वुच्छं ॥ ८८ ॥
पंचसय अद्धपंचम, छायालीसा य अद्धधणुअं च ।
इगुआलधणुस्सऽद्ध, च चउत्थे पंचमे चत्ता ॥ ८९ ॥
पणतीसा तीसा पुण, अट्ठावीसा य वीस य धणूणि ।
पन्नरस बारसेव य, अपच्छिमो सत्त य धणूणि"।१०।आव०१अ०

चक्रवर्तिनां स्त्रियः-

पणसि बारसण्हं, चक्कवट्टीण बारस इत्थिरयणा होत्था। तं जहा-
"पउमा होइ सुभद्दा, भद्द सुणंदा जया य विजया य ॥
किण्हसिरी सूरसिरी, पउमसिरी वसुधरा देवी ।
लच्छिमई कुरुमई, इत्थीरयणाण णामाइं" ॥ स० ।

चक्रवर्तिनां स्त्रीषु सन्तानः-

चक्री वैक्रिय रूपं त्यक्त्वा स्त्रियं भुनक्ति, तत्र सन्तानं स्यान्न वेति? प्रश्ने, उत्तरम्-चक्रिणो वैक्रियशरीरेण सन्तानोत्पत्तिर्न सम्भाव्यते, किं त्वौदारिकेणैव, केवलं ते वैक्रियशरीरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतव इति प्रज्ञापनावृत्तिवचनात् । या च शिवादीत्यादीनां । सूर्यादेरुत्पत्तिः श्रूयते, तत्रापि समाधानान्तरमस्ति, तथेदम्-' वैक्रियेभ्यः सुराङ्गेभ्यो, गर्भो यद्यपि नो भवेत् । तदा नीतौदारिकाङ्गधातुयोगात्तु सम्भवी"।१। इत्यादिमल्लवादिप्रबन्धे । ही०२ प्रका०।

चक्कवट्टी सुरनरवतिसक्कया सुरवर व्व देवलोए भरहनगणगरनिगमजणवयपुरवरदोणमुहखेडकव्वडमडंबसंवाहपट्टणसहस्समंडियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं नरसीहा नरवती नरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा रविससिसंखवरचक्कसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरभगभवणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावत्तमुसलणंगलसुरइयवरकप्परुक्खमिगवतिभद्दासणसुरविथूभवरमउडसरियकुंडलकुंजरवसभदीवमंदरगरुलज्झयइंदकेउदप्पणअट्ठावयचावबाणनक्खत्तमेहलवीणाजुगछत्तदामदामिणिकमंडलुकमलघंटावरपोतसुईसागरकुमुदागरमगरहारगागरनेउरणगणगरवइरकिन्नरमयूरवररायहंससारसचकोरचक्कवागमिहुणचामरखेडगपव्वीसगविपंचिवरतालियंटसिरियाभिसेयमेयणिखग्गंकुसविमलकलसभिंगारवद्धमाणगपसत्थउत्तमविभत्तवरपुरिसलक्खणधरा, बत्तीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा, चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणयणकंता, रत्ताभा, पउमपम्हकोरंटगदामचंपगसुतत्तवरकणकनिघसवण्णा, सुजायसव्वंगसुंदरंगा, महग्घवरपट्टणग्गयविचित्तरागएणीपएणीनिम्मियदुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्जसोणीसुत्तकविभूसियंगा, वरसुरभिगंधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया, कप्पियच्छेयायरियसुकयरइदमालकडगंगयतुडियवरभूसणपिणद्धदेहा, एकावलिकंठसुरइयवच्छ, पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया, उज्जलनेवत्थरइयचिल्लगविरायमाणा, तेएण दिवाकरो व्व दित्ता, सारयनवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा उप्पण्णसमत्तरयणचक्करयणप्पहाणा, नवनिहिपइणो समिद्धकोसा, चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमानमग्गा, तुरगपती गयपती रहपती नरपती विपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोम्मवयणा, सूरतिल्लोकानिग्गयपभावलद्धसद्दा, समत्तभरहाहिवा, नरिंदा, ससेलवणकाणणं च हिमवंतसागरंतं धरा जोत्तूण भरहवासं जियसत्तू पवररायसिंहा पुव्वकडतवपभावा निविट्ठसंचियसुहा, अणेगवाससयमाउव्वंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता, अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे य अणुभवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं।

चक्रवर्तिनः राजातिशयाः ससागरां भुक्त्वा वसुधां माण्डलिकत्वं च भुक्त्वा भरतवर्षे चक्रवर्तित्वे अतुलान् शब्दादीन् अनुभूयोपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ताः कामानामिति सम्बन्धः । किंविधास्ते इत्याह-सुरनरपतिभिः सुरेश्वरनरेश्वरैः सत्कृताः पूजिता ये ते तथा । के इवानुभूता इत्याह-सुरवरा इव देवप्रवरा इव, क्व-देवलोके स्वर्गे तथा भरतस्य भारतवर्षस्य सम्बन्धिनां नगानां पर्वतानां नगराणां करविरहितस्थानानां सहस्रैर्निगमानां वणिक्जनप्रधानस्थानानां जनपदानां देशानां पुरवराणां राजधानीरूपाणां द्रोणमुखं न जलस्थलपथयुक्तानां खेटानां धूलीप्राकाराणां कर्वटानां कुनगराणां मडम्बानां दूरसंस्थितसन्निवेशान्तराणां सवाहानां रक्षार्थं धान्यादिसंवहनं चितदुर्गविशेषरूपाणां पत्तनानां च जलपथस्थलपथयोरेकतरयुक्तानां मण्डिमता या सा, तथा, तां स्तिमितमेदिनीकां निर्भयत्वेन स्थिरविभवनराश्रितजनाम् एकमेव छत्रं यत्र एकराजत्वात् सा एकच्छत्रा ता ससागरा तां भुक्त्वा पालयित्वा वसुधां पृथिवीं भरतावनीरूपां, माण्डलिकत्वेन पुनश्च पदद्वयमुत्तरत्र "हिमवंत सागरंतं धीरा भोत्तूण भरहवासमिति " समस्तभरतक्षेत्रभोक्तृत्वापेक्षया भणनादवसीयते, नरसिंहाः सूरत्वात् नरपतयः तत्स्वामित्वात्, नरेन्द्राः तेषां मध्ये ईश्वरत्वात्, नरवृषभाः गुणैः प्रधानत्वात्, मरुद्वृषभकल्पा वा देवनाथभूताः मरुजवृषभकल्पा वा मरुदेशोत्पन्नगवभूता अङ्गीकृतकार्यभारनिर्वाहकत्वात्, अभ्यधिकमत्यर्थं राजतेजोलक्ष्म्या देदीप्यमाना, सौम्या अदारुणा नीरुजा वा, राजवंशतिलकास्तन्मण्डनभूता, तथा रविशश्यादीनि वरपुरुषलक्षणानि येषां ते तथा, रविशशी, शङ्खो वरचक्रं, स्वस्तिकं, पताका, यवो, मत्स्यश्च प्रतीताः, कूर्मः, कच्छपः, रथवरः प्रतीतो, भगो योनिः, भवनं भवनपतिदेवावासो, विमानं

वैमानिकनिवासः, तुरगस्तोरणं गोपुरं च प्रसिद्धानि, मणि. चन्द्रकान्तादिरत्न', कर्केतनादि, नन्द्यावर्तो नवकोणः स्वस्तिकविशेषः, मुशलं लाङ्गलं च प्रसिद्धं, सुरचितः सुष्ठुकृतः सुरतिदो वा सुखकरो यो वरकल्पवृक्षः कल्पद्रुमः स तथा, मृगपतिः सिंहो, भद्रासनं सिंहासनं, सुरुचिः रूढिगम्या आभरणविशेष इति केचित्, स्तूपः प्रतीतः, वरमुकुटं प्रवरशेखरः, [सरिय त्ति] मुक्तावली,कुण्डलं कर्णाभरणं, कुञ्जरो वरवृषभश्च प्रतीतौ,द्वीपो जलवृतो भूदेशः,मन्दिरो मेरुः,मन्दरं वा गृहं, गरुडः सुपर्णः, ध्वजः केतुः,इन्द्रकेतुरिन्द्रयष्टिः, दर्पणः आदर्शः, अष्टापदं द्यूतफलकं, कैलाशः पर्वतविशेषो वा, चापं धनुः, बाणो मार्गणः, नक्षत्रं मेघश्च प्रतीतौ, मेखला काञ्ची, वीणाः प्रतीता, युगं यूपं, छत्रं प्रतीतं,दाममाला दामिनी लोकरूढिगम्या,कमण्डलुः कुट्टिमं का कमलं घण्टा च प्रतीते, वरपोतो बोहित्थः, सूची प्रतीता, सागरः समुद्रः, कुमुदाकरः कुमुदखण्डं, मकरो जलचरविशेषः, हारः प्रतीतः [गागर त्ति] स्त्रीपरिधानविशेषः, नूपुरं पादाभरणं, नगः पर्वतो,नगरं प्रतीतं,वैरं वज्रं,किन्नरो वाद्यविशेषो,देवविशेषो वा,मयूरवरराजहंससारसचकोरचक्रवाकमिथुनानि प्रसिद्धानि, चामरं प्रकीर्णकं, खेमकं फलकं,पव्वीसकं 'विपञ्ची' वाद्यविशेषो, वरतालवृन्तं व्यजनविशेषः,श्रीकाभिषेको लक्ष्म्यभिषेचनं, मेदिनी पृथिवी,खड्गोऽसिः, अङ्कुशः सृणिः, विमलकलशो भृङ्गारश्च भाजनविशेषो, वर्द्धमानकः शरावं, पुरुषारूढपुरुषो वा, एतेषां द्वन्द्वः, तत एतानि प्रशस्तानि मङ्गल्यानि उत्तमानि प्रधानानि विभक्तानि विविक्तानि यानि वरपुरुषाणां लक्षणानि तानि धारयन्ते ये ते तथा, तथा द्वात्रिंशता राजवराणां सहस्रैरनुजातोऽनुगतो मार्गो येषां ते तथा, चतुःषष्टिसहस्राणि यासां तास्तथा ताश्च ताः प्रवरयुवतयश्च तरुण्य इति समासः, तासां नयनकान्ताः लोचनाभिरामाः, परिणयनभर्तारो वा, रक्ता लोहिता आभा प्रभा येषां ते रक्ताभाः, (पउमपम्ह त्ति) पद्मगर्भः कोरण्टकदाम कोरण्टकाऽभिधानपुष्पस्रक्, चम्पकः, कुसुमविशेषः, सुतप्तवरकनकस्य यो निकषो रेखा स तथा, तत एतेषामिव वर्णो येषां ते तथा,सुजातानि सुनिष्पन्नानि सर्वाण्यङ्गानि अवयवा यत्र तदेवंविधं सुन्दरमङ्गं येषां ते तथा, महार्घानि महामूल्यानि वरपत्तनोद्गतानि प्रवरक्षेत्रविशेषोत्पन्नानि विचित्ररागाणि विविधरागरञ्जितानि,एणी हरिणी,प्रैणी च तद्विशेष एव,तच्चर्मनिर्मितानि यानि वस्त्राणि तानि एणीप्रैणीनिर्मितान्युच्यन्ते, श्रूयन्ते च निशीथे-" कालमृगाणि नीलमृगाणि च " इत्यादिभिर्वचनैः मृगचर्मवस्त्राणीति , तथा दुकूलानीति दुकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कं गृहीत्वा उदूखलजलेन सह कुट्टयित्वा बुशीकृत्य सूत्रीकृत्य वृय्यन्ते यानि तानि दुकूलानि-वरचीनानीति दुकूलवृक्षवल्कवृक्षस्यैव यान्यभ्यन्तरं हीरेति निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि भवन्ति तानि, चीनदेशोत्पन्नानि वा चीनान्युच्यन्ते,पट्टसूत्रमयानि पट्टानि कौशेयकानि कौशेयकरोद्भवानि वस्त्राणि,श्रोणीसूत्रकं कटिसूत्रकम्, एभिर्विभूषितान्यङ्गानि येषां ते तथा, वाचनान्तरे निर्मितस्थाने क्षौमिक इति पठ्यते-तत्र क्षौमिकाणि कार्पासिकानि वृक्षेभ्यो निर्गतानीत्यन्ये, अतसीमयानीत्यपरे, तथा वरसुरभिगन्धाः प्रधानमनोज्ञपुटपाकलक्षणा गन्धास्तथा वरचूर्णरूपा वासास्ताडिता इत्यर्थः । वरकुसुमानि च प्रतीतानि, तेषां भरितानि भृतानि शिरांसि मस्तकानि येषां ते तथा, कल्पितानि ईप्सितानि छेकाचार्येण निपुणशिल्पिना सुकृतानि सुष्ठु विहितानि रतिदानि सुखकारी-

णि, माला आभरणविशेषः, कटकानि कङ्कणानि , पाठान्तरेण कुण्डलानि प्रतीतानि, अङ्गदानि बाह्वाभरणविशेषा , त्रुटिका बाहुरक्षिका, प्रवरभूषणानि च मुकुटादीनि,मालादीन्येव वा प्रवरभूषणानि,पिनद्धानि बद्धानि ये देहे येषां ते तथा,एकावलीविचित्रमणिका एकसरिका कण्ठे गले सुरचिता वक्षसि हृदये येषां ते तथा , प्रलम्बो दीर्घप्रलम्बमानो लम्बमानः सुकृतः सुरचितः पटशाटकः उत्तरीयम् उपरि कायवस्त्रं यैस्ते तथा, मुद्रिकाभिरङ्गुलीयकैः पिङ्गलाः पिङ्गा अङ्गुल्यो येषां ते तथा, तत कर्मधारयः,उज्ज्वलं नेपथ्यं वेषो रचितं रतिदं वा (चिल्लग त्ति) लीनं दीप्यमानं वा विराजमानं शोभमानं येषां तेन वा विराजमानं वा ये ते तथा, तेजसा दिवाकर इव दीप्ता इति प्रतीतं, शारदं शरत्कालीनं यत् नवमुत्पद्यमानावस्थं स्तनितं मेघगर्जितं तद्वन्मधुरो गम्भीरः स्निग्धश्च घोषो येषां ते तथा। वाचनान्तरे-" सागरनवेत्यादि" दृश्यते। उत्पन्नसमस्तरत्नाश्च ते चक्ररत्नप्रधानाश्चेति विग्रहः। रत्नानि च तेषां चतुर्दश। तद्यथा-"सेणावइ १ गाहावइ २ पुरोहिय ३ तुरग ४ वड्ढई ५ गय ६ इत्थी ७। चक्क ८ छत्तं ९ चम्मं, १० मणि ११ कागिणि १२ खग्ग १३ दंडो य १४।" नवनिधिपतयः। निधयश्चैवम्-"निसप्पे १ पंडु २ पिंगु ३ पिंगलय, सव्वरयणे ५ तहा महापउमे ६। काले ७ य महकाले, ८ माणवगमहानिही ९ संखे॥१॥" समृद्धकोशा इति प्रतीतं, चत्वारोऽन्ता भूविभागाः पूर्वसमुद्रादिरूपा येषां ते तथा,त एव चातुरन्ता चतुर्भिरश्वैर्हस्त्यश्वरथपादातिलक्षणैरुपेता वा तुर्यस्तामि समनुयायमानमार्गाः समनुगम्यमानपन्थाः,एतदेव दर्शयति तुरगपतय इत्यादि, विपुलकुलाश्च ते विश्रुतयशसश्च प्रतीतः ख्यात इति विग्रहः, शारदशशी यः सकलपूर्णस्तद्वत् सौम्यं वदनं येषां ते तथा, शूराः लोकप्रनिर्गतप्रभावाश्च ते लब्धशब्दाश्च प्राप्तख्यातय इति विग्रहः, समस्तभरताधिपा नरेन्द्रा इति प्रतीतं , सह शैलैः पर्वतैर्वनैर्नगरावप्रकृष्टैः काननैश्च, नगरासवैर्यत्तथा, हिमवत्सागरान्तं धीरा भुक्त्वा भरतवर्षं जितशत्रवः प्रवरराजसिंहाः पूर्वकृततपःप्रभावादिति प्रतीतं, निर्विष्टं परिसिञ्चितं च पोषितं सुखं यैस्ते तथा,अनेकवर्षशतायुष्मतः जायाभिश्च जनपदप्रधानाभिर्लाल्यमानाः विलास्यमानाः , अतुला निरुपमा ये शब्दस्पर्शरसरूपगन्धास्ते तथा स्ताश्चानुभूय तेऽपि आसताम् उपनमन्ति प्राप्नुवन्ति मरणधर्मं मृत्युलक्षणं जीवपर्यायं च अवितृप्ता अतृप्ता कामानामन्नज्ञानाम्। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

चम्पादिषु दश चक्रिणः प्रव्रजिताः-

एयासु णं दससु रायहाणीसु दस रायाणो, मुंडा भवित्ता० जाव पव्वइया। तं जहा-भरहे सगरे मघवं सणंकुमारे संती कुंथू अरे महापउमे हरिसेणे जयनामे ॥

"तरुणा वेसित्थिविवा-हरायमाईसु होइ सइकरणं। आउज्जगीयसद्दे, इत्थीसद्दे य सवियारे" ॥१॥ (एतास्विति) अनन्तरोदितासु दशस्वार्यनगरीषु मध्येऽन्यतरासु कासुचिदश राजानश्चक्रवर्तिनः प्रव्रजिता इत्येव दशस्थानकेऽवतारस्तेषां कृतः। द्वौ च सुभूमब्रह्मदत्ताभिधानौ न प्रव्रजितौ,नरकं च गताविति। तत्र भरतसगरौ प्रथमद्वितीयौ चक्रवर्तिराजौ साकेते नगरे विनीतायोध्यापर्याये जातौ,प्रव्रजितौ च। मघवान् श्रावस्त्याम्, सनत्कुमारादयस्त्रयो हस्तिनागपुरे, महापद्मो वाराणस्याम्, हरिषेणः काम्पिल्ये, जयनामा राजगृहे इति। न चैतासु

नगरीषु क्रमेणैते राजानो व्याख्येयाः, ग्रन्थविरोधात् । उक्तं च—" अप्पमणपिणी अउज्झा , सावत्थी पच हत्थिणपुरम्मि । वाणारसि कपिल्ले रायगिहे चेव कंपिल्ले त्ति " ॥ १ ॥ अप्रव्रजितचक्रवर्तिनौ तु हस्तिनागपुरकाम्पिल्ययोरुत्पन्नावििति, ये च यत्रोत्पन्नास्ते तत्रैव प्रव्रजिता इति इदमावश्यकाभिप्रायेण व्याख्यातम्, निशीथभाष्याभिप्रायेण तु दशस्वेतासु नगरीषु द्वादश चक्रिणो जातास्तत्र नवस्वेकैक , एकस्या तु त्रय इति ।

आह च-

"चंपा महुरा वाणा-रसी य सावत्थिमेव साकेयं ।
हत्थिणपुर कंपिल्लं, मिहिला कोसंबि रायगिहं ॥ १ ॥
सती कुथू य अरो, तिणि वि जिण चक्कि एक्कएक्केहिं ।
जाया तेण दस हौति, केसवजाया जणाइम्म" ॥ २ ॥

स्था० १० ठा० । (एकस्मिन्क्षेत्रे एकदा द्वौ चक्रवर्तिनौ न भवत इति 'डुवई' शब्दे वक्ष्यते)

उत्सर्पिण्यां भविष्यच्चक्रिणः—

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए बारस चक्कवट्टिणो भविस्संति । तं जहा—

"भरहे य दीहदंते, गूढदंते य सुद्धदंते य ।
सिरिउत्ते सिरिभूई, सिरिसोमे य सत्तमे पउमे ॥ १ ॥
महापउमे य विमल-वाहणे विपुलवाहणे चेव ।
रिट्ठे बारसमे तह, आगामिभरहाहिवा वुत्ता ॥ ॥२॥"

एएसि णं बारसण्हं चक्कवट्टीणं बारस पियरो भविस्संति, बारस मायरो भविस्संति, बारस इत्थीरयणा भविस्संति । स० ।

जम्बूद्वीपे चक्रवर्तिनः पृच्छा-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआ जहण्णपए वा उक्कोसपए वा चक्कवट्टी सव्वग्गेणं पण्णत्ता ?। गोअमा ! जहण्णपदे चत्तारि, उक्कोसपदे तीसं चक्कवट्टी सव्वग्गेणं पण्णत्ता , बलदेवा तत्तिआ चेव, जत्तिआ चक्कवट्टी वासुदेवा वि तत्तिआ चेव ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे कियन्तो जघन्यपदे वा उत्कृष्टपदे वा चक्रवर्तिनः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह—गौतम ! जघन्यपदे चत्वारः । उपपत्तिस्तु तीर्थकराणामिव , उत्कृष्टपदे त्रिंशच्चक्रवर्तिनः सर्वाग्रेण प्रज्ञप्ताः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-द्वात्रिंशद्विजयेषु वासुदेवस्वामिकान्यतरविजयचतुष्कवर्जितविजयसत्काष्टाविंशतिः, भरतैरावतयोस्तु द्वाविति पूर्वापरमीलितास्त्रिंशत् । यदा महाविदेहे उत्कृष्टपदेऽष्टाविंशतिश्चक्रिणः प्राप्यन्ते , तदा नियमाच्चतुर्णामर्द्धचक्रिणां सम्भवेन तन्निरुद्धक्षेत्रेषु चक्रिणामसंभवात्, चक्रिणामर्द्धचक्रिणां च सहानवस्थानलक्षणविरोधादिति । अथात्र तथैव बलदेवार्द्धचक्रिणावाह-"बलदेवा तत्तिया" इत्यादि । बलदेवा अपि तावन्त एवोत्कृष्टपदे , जघन्यपदे च यावन्तश्चक्रवर्तिनः वासुदेवा अपि तावन्त एव, बलदेवसहचारित्वात्, कोऽर्थः ?-यदा चक्रवर्तिन उत्कृष्टपदे त्रिंशत् अवश्यं बलदेववासुदेवौ जघन्यपदे चत्वार , तेषां चतुर्णामवश्यंभावात् । यदा च बलदेवा वासुदेवा वा उत्कृष्टपदे त्रिंशत् , तदा चक्रिणो जघन्यपदे चत्वार , तेषामपि चतुर्णामवश्यंभावात् । तेनैतेषां परस्पर सहानवस्थानलक्षणविरोधभावेनान्यतराश्रितक्षेत्रे तदन्यतरस्याभाव इति । जं० ७ वक्ष० । (कश्चक्रवर्ती कथं लभत इति 'अतकिरिया ' आदिशब्देषु प्रथमभागे ५९ पृष्ठे उक्तम्)

देशविरतौ चक्रिपदबन्धो भवति नवेति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रान्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति । ही० ६ प्रका० । चक्रवर्तिनस्तिमिश्रगुहाद्वारोद्घाटने ज्वाला निःसरन्ति , न वा यदि न , तर्हि कूणिकस्य कथं निस्ससारेति प्रश्ने , उत्तरम्-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादिषूक्तमस्ति , यच्चक्रवर्तिनः सेनानीनरो द्वारमुद्घाटयति , ज्वाला च न निःसरति कूणिकस्य तु द्वाराणि नोद्घाटितानि , तर्हि ज्वाला कुतो निःसरेत् , स तु तमिस्रगुहाधिष्ठायकेन दण्डरत्नेन हतः सैन्यानि पश्चाद्वालितानीत्यक्षराणि आवश्यकद्वाविंशतिसहस्रीमध्ये सन्ति, द्वादशसहस्रीमध्ये तु ज्वालानिःसरणमप्युक्तमस्ति, सा तु कुमतिकृताऽस्ति । आवश्यकटिप्पनके तु कथितमस्ति , यज्ज्वालानिःसरणघोटकपश्चात्पादचलनप्रघोषसिद्धान्तविरुद्धो ज्ञेय इति । ४७४ प्र० सेन० ३ उल्ला० । चक्रवर्ती कियत्कालेन मोक्षं यातीति प्रश्ने , उत्तरम्-जघन्यतस्तद्भवे, उत्कृष्टतस्तु कश्चित्किञ्चिदूनार्द्धपुद्गलपरावर्तान्तरेणापि मोक्षं यातीति । ६७ प्र०सेन०४ उल्ला० । सर्वचक्रवर्तिनां सर्वरत्नानि प्रमाणतस्तुल्यानि न्यूनाधिकानि वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सर्वचक्रवर्तिनां काकिण्यादिरत्नानि कियन्ति केषाञ्चिन्मते प्रमाणाङ्गुलमाननिष्पन्नानि, कियन्ति तु तत्कालीनपुरुषादिमानोचितमानानि, केषाञ्चिन्मते तु सर्वाण्यपि तत्कालोचितमानानीति ४२० प्र० सेन ३ उल्ला० । चक्रवर्तिनो राज्याऽभिषेकादनु पुत्रो भवति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-चक्रवर्तिनो राज्याभिषेकादनु पुत्रो भवतीति श्रीअजितचरित्रादौ विद्यते । ८५ प्र० सेन० १ उल्ला० । चक्रवर्तिनः स्कन्धावारो द्वादश योजनान्युत्तरति, चक्रवर्ती तु प्रत्येक योजनमेकं चलति, ततो द्वादशयोजनप्रान्ते य उत्तरति स योजनमेकं चलति तदा द्वादशयोजनमध्ये कियन्ति दिनानि भवन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ योजनं योजनान्तरेण क्रमेण चक्रवर्त्ती चलति , तथा चक्रवर्त्तिसैन्य द्वादश योजनान्युत्तरतीत्यनेकग्रन्थे कथितमस्ति , तस्मात्पूर्वापरविचारणया यद्योजनान्त कथितमस्ति तस्मात्पूर्वापरविचारणया योजनान्तरं कथितमस्ति तत्सैन्याग्रभागापेक्षया सभाव्यते , तथा चक्रिसैन्यस्यादौ मध्ये नैवोत्तरतीत्यक्षराणि व्यक्तानि शास्त्रे न दृष्टानि,आधुनिकग्रन्थकारास्तु दिवाले उत्तरतो,दृश्यन्ते,ततस्तत्काले यथोचित भविष्यति तथोत्तरिष्यन्ति, तथाऽपि चक्रवर्त्तिनां दिव्यानुभावेन सैन्यप्रान्तोत्तीर्णास्तेऽपि शीघ्र सुखेन मार्गमतिक्रमिष्यन्तीत्यत्र न काऽप्याशङ्का, यतो दिव्यशक्तेरचिन्त्याऽस्तीति । ६६ प्र० सेन० ४ उल्ला० । (व्यासेन तु भरतादिशब्देषु द्रष्टव्यम्) ।

चक्कवट्टिलद्धि—चक्रवर्तिलब्धि—स्त्री० । चक्रवर्तित्वप्राप्तिहेतौ लब्धिभेदे , प्रव० २७० द्वार । पा० ।

चक्कवट्टिविजय—चक्रवर्तिविजय—पु० । चक्रवर्तिनो विजयन्ते येषु यान् वा ते चक्रवर्त्तिविजयाः । स्था० ८ ठा० । चक्रवर्तिविजेतव्ये क्षेत्रखण्डे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स० ।

चक्रवर्तिविजयवक्तव्यतामाह—

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता । तं जहा—कच्छे सुकच्छे महाकच्छे कच्छगावई आवत्ते० जाव पुक्खलावई । जंबूमंदरपुरच्छि-

मेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता । तं जहा–वच्छे सुवच्छे० जाव मंगलावई । जंबूमंदरपव्वच्छिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता । तं जहा–पम्हे० जाव सलिलावई । जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयामहानईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता । तं जहा–वप्पे सुवप्पे० जाव गंधिलावई ।

"जाव पुक्खलावइ त्ति" भणनात् "मंगलावत्ते पुक्खले त्ति" द्रष्टव्यम् । 'जाव मगलावइ त्ति' करणात् "महावच्छे वच्छावइ रम्मे रम्मए रमणिज्जे" इति दृश्यम् । "जाव सलिलावइ त्ति" करणात् "सुपम्हे महापम्हावई सखे नलिणे कुमुए त्ति" दृश्यम् । "जाव गंधिलावइ त्ति" करणात् "पम्हे महावप्पे वप्पावइ वग्गु सुवग्गु गंधिलेत्ति" दृश्यम् । स्था० ८ ठा० ।

चक्कवाग–चक्रवाक–पुं० । पक्षिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । औ० । जी० । प्रश्न० । रा० ।

चक्कवूह–चक्रव्यूह–पुं० । चक्रमिव व्यूहः सैन्यस्थितिरचनाविशेषः । युद्धार्थे मण्डलाकारे सैन्यस्थापने, वाच० । तत्परिज्ञानात्मके कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । औ० ।

चक्कसाला–चक्रशाला–स्त्री० । तिलपीडनशालायाम्, व्य०१०उ० ।

चक्कसुह–चक्रसुख–पुं० । मानुषोत्तरपर्वतस्याधिपतौ देवे, द्वी० ।

चक्कसेण–चक्रसेन–पुं० । चक्रपुराधीश्वरे, दर्श० ।

चक्कहर–चक्रधर–पुं० । वासुदेवे, विशे० ।

चक्कहरगंमिया–चक्रधरगमिका–स्त्री० । चक्रधरवक्तव्यताधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, स० ।

चक्काअ–चक्रवाक–पुं० । सर्वत्र रलोपः अनादौ द्वित्वम् "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" ८ । १ । १७७ । इति वकयोर्लुक् । "से चक्काओ" पक्षिविशेषे, प्रा० १ पाद । ज्ञा० ।

चक्काउह–चक्रायुध–पुं० । षोडशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । ति०

चक्काग–चक्राक–न० । चक्राकारे, "चक्कगं भज्जमाणस्स समो भग्गो य दीसइ" प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

चक्कारवद्ध–चक्रारवद्ध–न० । गन्त्र्यादौ द्विपदे याने, दश० ५ अ० १ उ० ।

चक्कि (ण्)–चक्रिन्–पुं० । चक्रधरे, चक्रवर्तिनि, ही० ३ प्रका० ।

चक्किय–चाक्रिक–पुं० । चक्रं प्रहरणमेषामिति चाक्रिकाः चक्रप्रहरणेषु योद्धृषु, चक्रं त्राऽस्ति येषां ते चाक्रिकाः कुम्भकारतैलिकादिषु चक्रं चोपदर्श्य याचन्ते ये ते चाक्रिकाः । चक्रधरेषु, ज्ञा० । १ श्रु० १ अ० । औ० । प्र० । जं० । कल्प० ।

चक्कियसाला–चाक्रिकशाला–स्त्री० । तैलविक्रयशालायाम्, व्य० ९ उ० ।

चक्की–चक्रिन्–पुं० । चक्रवर्तिषु, चक्रिणां चक्रादिसप्तरत्नान्येकजीवात्मकान्यसंख्यजीवात्मकानि वा ? । तथैषामागतिरुका सा एकजा । धमाभित्यानेकान् येति प्रश्ने, उत्तरम्–चक्रिणां चक्रादिसप्तरत्नान्यसंख्येयजीवरूपाणि दृश्यमानपृथ्वीपिण्डस्यासंख्येयजीवात्मकत्वात्तथा आगत्यप्यसंख्यानाश्रित्येति संभाव्यत इति । ११८ प्र० सेन १ उल्ला० । देशविरतिचक्रित्वे देशविरत्या चाक्रिपदं लभ्यते न वा । तथा चक्रिणां गार्हस्थ्ये देशविरतिः स्यान्न वा । यदि सा न स्यात्तत्र को हेतुरिति प्रश्ने, उत्तरम्–देशविरत्या चक्रवर्तिपदप्राप्तिर्भवति न भवति च इत्येकान्तो ज्ञातो नास्ति तथा चक्रिणां महापरिग्रहित्वाद्देशविरतेः प्राप्तिः स्यादिति । ७८ प्र०सेन २ उल्ला० । प्रत्यर्द्धचक्रिणोऽर्द्धचक्रिणो वा गङ्गासिन्धुकृतव्यवधानपूर्वापरखण्डयोः साधने तत्र गमने क उपायश्च रत्नाभावात्तयोरुत्तरणं कथं स्यादिति । तथा संप्रति भूपत्यादीनां त्रिखण्डाधिपत्यं वास्तवमुतोपमामात्र वेति प्रश्ने, उत्तरम्–तेषां देवादिसान्निध्यात्सर्वं संभाव्यत इति १५४ प्र० सेन० २ उल्ला० । चक्रित्वं प्राप्य पुनश्चक्रित्वं कियता कालेन प्राप्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्–जघन्यतः साधिकसागरेणोत्कृष्टतोऽनन्तकालेन तत्प्राप्यते इति भगवती १५ शतके । ६७ प्र० सेन० ३ उल्ला० । चक्रवर्तिनो मागधादौ कत्यष्टमान् कुर्वन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–मागधस्तूप १ वरदामस्तूप २ प्रभासस्तूप ३ वैताढ्यदेवसाधन ४ तमिस्रादेवसाधन ५ नमिविनमिदेवसाधन ६ सिंधुदेवसाधन ७ क्षुल्लहिमवन्तसाधन ८ गङ्गादेवीसाधन ९ नवनिधानप्रकटीकरण–१० ऽयोध्यानगरीप्रवेशकरणार्थं चक्रिणो ११ ऽनुक्रमेणैकादशाष्टमान् कुर्वन्तीति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रे तीर्थकृच्चक्रिणोऽष्टमान्न कुर्वन्तीत्यपि शान्तिचरित्रेऽस्तीति ज्ञेयम् । ६६ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चक्केसर–चक्रेश्वर–पुं० । विक्रमसंवत् १२९० वर्षे विद्यमाने, अजयमेरुराजजयसिंहमान्यधर्मघोषसूरिशिष्ये, आवश्यकलघुवृत्तिकारके सूरौ, जै० इ० ।

चक्केसरी–चक्रेश्वरी–स्त्री० । ऋषभदेवस्य शासनदेवतायाम्, आ० क० । सा च मतान्तरेणाप्रतिचक्रा सुवर्णवर्णा गरुडवाहनाऽष्टकरा वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टया धनुर्वज्राङ्कुशयुक्तवामपाणिचतुष्टया चेति । प्रव० २७ द्वार ।

चक्कोट्टा–देशी–अभिभ्रष्टे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चक्खिय–आस्वादित–त्रि० । "केनाफुण्णादयः" ८ । ४ । २५८ ॥ इति आस्वादितशब्दस्य 'चक्खिय' आदेशः । ईषत्सस्पृक्वाऽऽस्वादिते, प्रा० ४ पाद ।

चक्खिंदिय–चक्षुरिन्द्रिय–न० । रूपग्राहके इन्द्रियभेदे, तच्च द्रव्यपकरणभेदाद् द्विधा–तत्र लब्धीन्द्रियमेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामपि, उपकरणेन्द्रियं तु चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या कापि, उपकरणेन्द्रियं तु चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रूपग्रहणोपकारे वर्तते, तं० । (अत्र विषयविभागादय 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५६५ पृष्ठे उक्ताः)

अथ चक्षुरिन्द्रिये उदाहरणम्–

नगरी मथुरा नाम, जितशत्रुर्नरेश्वरः ।
प्रकृत्या धार्मिकी राज्ञी, धारिणी चित्तहारिणी ॥ १ ॥
तत्रैकयकथायां, राजा राज्ञी च नागराः ।
ययुः सर्वेऽपि, सर्वर्द्ध्या, विच्छर्दितमहीयसा ॥ २ ॥
तदैकेनेभ्यपुत्रेण, यान्त्या राज्या सुखासने ।
अरच्छदाद्बहिर्भूतो, दृष्टोऽङ्घ्रिर्नूपुराद्भृत् ॥ ३ ॥
दध्यावेवंविधो यस्या–श्चरणोऽपि हि ।
देवीतोऽप्यधिकं मन्ये, रूपमस्या भविष्यति ॥ ४ ॥

मथाऽनुरक्तस्तस्यां स, तद्गेहमासन्नमापणम् ।
गृहीत्वाऽऽवर्जयद्दासी-वर्गं समर्प्यैद्दानतः ॥ ५ ॥
अथैकदा च पप्रच्छ, चेटीर्गन्धपुटीरिमाः ।
कच्छोटयति ताः स्माहुः, स्वय न. स्वामिनीत्यथ ॥ ६ ॥
कस्तूरिकाक्षरैर्लेखं, लिखित्वा भूर्जपत्रके ।
क्षिप्त्वैकस्या गन्धपुट्याः, मध्ये चेट्याः समार्पयत् ॥ ७ ॥

स चायम्--

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य,
मेघान्धकारासु च शर्वरीषु ।
मिथ्या न जल्पामि विशालनेत्रे !,
ते प्रत्ययार्थं प्रथमाक्षरेषु ॥ ८ ॥
छोटयित्वा पुटं मध्या-त्तं लेखं देव्यवाचयत् ।
अचिन्तयच्च धिग्भोगान्, मसिलेखमथालिखत् ॥ ९ ॥

स चायम्--

नेहलोके सुखं किञ्चि-च्छादितस्यांहसा भृशम् ।
मित च जीवितं ह्लोके, तेन धर्मे मतिं कुरु ॥ १० ॥
पूर्ववत् प्रथमाक्षरैरेवोत्तरम् ।
सदैव च तथा कृत्वाऽ-र्पयच्चेटीकरे पुटीम् ।
न बन्धुरा इमे गन्धा, इत्युदित्वाऽर्पयेरिमाम् ॥ ११ ॥
अर्पितायां गन्धपुट्यां, चेट्याऽऽत्याते च वाचिके ।
पुटीमाच्छोट्य लेखस्य, लेखार्थमवधार्य सः ॥ १२ ॥
भग्नाश. खेदमेदस्वी, निर्ययौ सहृताऽऽपणः ।
तदाऽऽसिचिन्तोपायार्थी, भ्रमन् राज्यान्तरं गतः ॥ १३ ॥

एनं श्लोकं तत्राश्रौषीत्-

न शक्यं त्वरमाणेन, प्राप्तुमर्थान् सुदुर्लभान् ।
भार्यां च रूपसंपन्नां, शत्रूणां च पराजयम् ॥ १४ ॥

अत्र च दृष्टान्तः-

वसन्तपुरमित्यास्ते, पुरं सुरपुरात्प्रति ।
श्रावको जिनदत्तोऽभू-त्तत्र सार्थपतेः सुतः ॥ १५ ॥
पुर्यासीनस्त्र चम्पाया-मीश्वरः सार्थपो धन. ।
अस्त्याश्चर्यद्वयं तस्य, यन्न भूतं न भावि च ॥ १६ ॥
चतुरब्धिसारभूता, विमला मुक्तावलीगुणै. कलिता ।
अकलितमूल्यविशेषा, सकलकलाकुशलमतिरपि च ॥ १७ ॥
हारप्रभा च कन्यास्ति. तद्रूपादिगुणस्तुतौ ।
स्याद्वागीशोऽप्यवागीश, स्वयं वागप्यवागिव ॥ १८ ॥
जिनदत्तस्तदाकर्ण्या-ऽनुरक्तस्तामयाचत ।
श्रावकोऽयमिति ददौ, मिथ्यादृष्टिर्न तस्य सः ॥ १९ ॥
चट्टवेष. स्वयं चम्पा-मेकाकी संययौ ततः ।
एकस्तत्रास्त्युपाध्याय, तं विद्यार्थीत्युपस्थितः ॥ २० ॥
उपाध्यायोऽवदद्भद्र !, पाठयिष्याम्यहं परम ।
मद्गृहे भोजन नास्ति, दुर्भिक्षं चास्ति संप्रति ॥ २१ ॥
धनश्च दत्ते भीतानां, ततः सोऽगात्तदन्तिके ।
देहि विद्यार्थिनो मेऽन्नं, सोऽवदद्दास्यते पठ ॥ २२ ॥
तेनोद्दिष्टा सुताऽमुष्मै, ददीथा नित्यं भोजनम् ।
स दध्यौ चिन्तितं जातं, सक्तुमध्येऽलुठद् घृतम् ॥ २३ ॥
फलाद्युपाचरत्तस्या, उपचार न साऽग्रहीत् ।
अथावसरमासाद्य, सोऽत्वरस्तां वशेऽनयत् ॥ २४ ॥
अथ सा तद्गुणै रक्ता, तमुवाच पलाय्यते ।
तेनोक्तं नोचितमिदं, त्वमुन्मत्ताऽधुना भव ॥ २५ ॥
सा तथाऽभूत्ततः पित्रा-ऽऽहूता मान्त्रिकतान्त्रिकाः ।
सर्वानवर्जयत्तीव्रं. तां तेऽसाध्येत्यथाऽत्यजन् ॥ २६ ॥
अथाधृतिः पिता मुह्य, चट्टस्त स्माह मा मुह ।
क्रमागतास्ति मे विद्या, सर्वं सेत्स्यत्यदस्तया ॥ २७ ॥
दुष्करस्तूपचारोऽस्याः, श्रेष्ठ्यूचे सुकरो मम ।
आख्यच्चट्टोऽथ कार्येऽत्र, चत्वारो ब्रह्मचारिणः ॥ २८ ॥
आनेयास्ते कुशुद्धाश्चे-त्तदा कार्यं न सेत्स्यति ।
तेषां भवत्यनर्थश्च, तान् भौतर्षीनथानयत् ॥ २९ ॥
आनायितास्तथा, योधाश्चत्वारः शब्दवेधिनः ।
दिक्पालाः स्थापितास्तेऽथ. लिखित्वा तत्र मण्डलम् ॥ ३० ॥
उक्ताश्च ते मनाग् वेध्याः, शिवाशब्दो भवेद्यतः ।
भौताश्चोच्यन्त कुर्याध्वं, हुं फट् कृते शिवारुतम् ॥ ३१ ॥
त्व वोवेद्य घृतेनैव, तिष्ठेरूचे च कन्यका ।
कृते तथैव भूतास्ते, विद्धा नाभूत्पटुः सुता ॥ ३२ ॥
तदा धनस्य वैराग्य-मजायत तपस्विषु ।
चट्टेनोक्त मयाऽनाणि, सिद्धिर्नाब्रह्मचारिभिः ॥ ३३ ॥
ऊचे धनोऽधुना कः स्या-दुपायश्चट्ट ऊचिवान् ।
शोध्या ब्रह्मभृत. क्वापि, शृणु तेषां च लक्षणम् ॥ ३४ ॥
भवन्त्येवविधाः श्रेष्ठिन् !, मुनयो ब्रह्मचारिणः ।
ये च सत्यादिका गुप्ती., पालयन्ति सदा नव ॥ ३५ ॥
अथ दर्शनिनः सर्वान्, श्रेष्ठी प्रश्न स पृष्टवान् ।
ब्रह्मगुप्तीर्न कोऽप्याख्य-दाख्यन् श्वेताम्बराः पुनः ॥ ३६ ॥
वसति कथासनाक्षे, कुड्यन्तरपुरा रते ।
प्रणीतात्यसने भूषा, नवैता ब्रह्मगुप्तयः ॥ ३७ ॥
श्रेष्ठी तानाह मे कार्यं, गृहेऽस्ति ब्रह्मचारिभि. ।
ऊचुस्ते गृहिणां कार्यं, विधातु कल्पते न नः ॥ ३८ ॥
लब्धा ब्रह्मभृतश्चट्ट !, कार्यं नेच्छन्ति ते पुनः ।
सोऽन्यधादीदृशा एव, भवन्ति मुनयो धन ! ॥ ३९ ॥
विमुक्तलोकव्यापारा., एषां नामापि सिद्धिकृत् ।
मण्डलं पुनरालिख्य, दिक्पाला विनिवेशिताः ॥ ४० ॥
न्यस्तानि साधुनामानि, चक्रे पूजां यथाविधि ।
न शिवाकूजितं जात, जाता श्रेष्ठिसुता पटु ॥ ४१ ॥
धनोऽथ साधुमाहात्म्य-ज्ञानात् सुश्रावकोऽभवत् ।
चट्टो धर्मोपकारीति, दत्ते द्वे अपि तस्य ते ॥ ४२ ॥
एव स्थैर्याद्युपायेन, प्राप रूपवतीं प्रियाम् ।
इति श्रुत्वेऽन्यसुदेशे, तदुपायं च सोऽप्यगात् ॥ ४३ ॥
विद्यासिद्धा दण्डरक्षा-करास्तिष्ठन्ति तत्र च ।
तस्य ते सेवया तुष्टाः, स्माहुरसत्किमीहसे ? ॥ ४४ ॥
ऊचे मे घट्यतां देवी, जगुस्ते घटयिष्यते ।
तैस्ततस्याथ समं राज्ञ्या, मेलोपायो व्यचिन्त्यसौ ॥ ४५ ॥
साऽपवादा नृपत्यक्ता, मिलत्येषाऽस्य नान्यथा ।
विकुर्विताऽथ तैर्मारि-र्मर्तुं लग्नो घनो जनः ॥ ४६ ॥
अथारक्षा नृपेणोक्ता, मारिर्विज्ञाय कथ्यताम् ।
वासवेश्मनि तैर्देव्यो, विद्ययाऽथ विकुर्विता. ॥ ४७ ॥
मनुष्यहस्तपादांशाः, देव्यास्य च सलोहितम् ।
तैरुक्त देव ! गृहे स्वे-ऽन्वेष्या मारिः परत्र न ॥ ४८ ॥
राज्ञाऽन्विष्टा च दृष्टा चा-ऽऽदिष्टास्तेऽथ यथा रहः ।
स्वगृहे मण्डल कृत्वा, नीत्वा तत्र निगृह्णताम् ॥ ४९ ॥
नीता तैरथ सा तत्र, राज्ञावध्यास्य मण्डलम् ।
हन्तुं प्रचक्रमे याव-द्दिव्यसूस्तावदाययौ ॥ ५० ॥

स ऊचे मार्यतेऽसौ किं, मारिरेषेति मार्यते ।
सोऽवदत् घटते नैत-ज्ञातोऽस्याः कोऽपि दुर्जनः ॥ ५१ ॥
हत मा मुञ्चतैतां तु, नेत्रकैरवकौमुदीम् ।
नैपुस्ते पुनरूचे च, गृह्णीध्वं कोऽस्यबंकृतिम् ॥ ५२ ॥
निगृह्णीध्व च मा मैतां, मुञ्चध्व वः कृतोऽञ्जलिः ।
तस्या अप्यभवत्प्रेम, नत्राकारणवत्सले ॥ ५३ ॥
ऊचुस्ते नेति निर्बन्धा-न्मुक्ताऽसौ त्व च किं त्वतः ।
गत्वा देशान्तरे तिष्ठे-त्तामथादाय सोऽगमत् ॥ ५४ ॥
प्राणप्रदोऽयमित्यासी-त्तत्रातिप्रेममागसौ ।
रतिसागरनिर्मग्ना, तेन सार्द्धमथास्ति सा ॥ ५५ ॥
द्रष्टुं स्वान् साऽन्यदाऽचाद्वी-त्प्रेम्णा गन्तुं न सा ददौ ।
हसितं तेन साऽप्राक्षी-न्निर्बन्धेऽकथयत्कथाम् ॥ ५६ ॥
निर्विण्णा साऽथ साध्वीनां, धर्मं श्रुत्वाऽग्रहीद् व्रतम् ।
इतरोऽगात्तु नरकं, चक्षुर्लौल्यकृतोदयात् ॥ ५७ ॥ आ० क० । आ० म० । आ० चू० । ग० । "चक्खिंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ भवति दोसो । जं जलणम्मि जलंते, पडइ पयंगो अबुद्धीओ" ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

चक्खिंदियणिग्गह-चक्षुरिन्द्रियनिग्रह-पुं० । चक्षुरिन्द्रियस्य विषयग्राम्यप्रवृत्तिनिषेधे, (उत्त०)

तत्फलम्-

चक्खिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। चक्खिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६३॥

हे भदन्त ! हे स्वामिन् ! चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ?। तदा गुरुराह-हे शिष्य ! चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु रागद्वेषजयं जनयति । ततश्च तत्प्रत्ययिकं रागद्वेषोत्पन्नं कर्म न बध्नाति । पूर्ववद्धं रागद्वेषोपार्जितं कर्म निर्जरयति क्षपयति ॥ ६३ ॥ उत्त० २९ अ० ।

चक्खु-चक्षुष्-न० । चक्ष्यतेऽनेनेति चक्षुः । " वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ८ । १ । ३३ । इति वा पुंस्त्वम् । लोचने, तत्त द्रव्यतोऽस्ति, भावतो ज्ञानम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । सूत्र० । इह चक्षुरिन्द्रियम्, तच्च द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्येन्द्रियं बाह्यनिर्वृत्तिसाधकम्, तत्करणरूपम् "निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्" इति वचनात् । भावेन्द्रियं तु क्षयोपशम उपयोगश्च "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात् । अत्र चक्षुर्विशिष्टमेवात्मधर्मरूपं तत्त्वाववोधने बन्धनश्रद्धास्वभावं गृह्यते । श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव रूपतत्त्वदर्शनायोगात् । न चेयं मार्गानुसारिणी सुखमवाप्यते । सत्यां चास्यां भवत्येव तन्नियोगतः कल्याणचक्षुषीव सद्रूपदर्शनं न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेन ऋते कालादिति निपुणसमयविदः । अयं चाप्रातिबन्ध एव । तथा तद्भवनोपयोगित्वात् । तमन्तरेण तात्सिद्ध्यसिद्धेः, विशिष्टस्योपादानहेतोरेव तथापरिणतिस्वभावत्वात् तदेषाऽवन्ध्यबीजभूता धर्मकल्पद्रुमस्येति परिभावनीयम् । इद चेह चक्षुरिदं चोक्तं भगवद्भ्यः इति । ल० । " चक्षुष्मन्त एवेह, ये श्रुतज्ञानचक्षुषा । सम्यक् तदैव पश्यन्ति, भावान् हेयेतरान्नराः" ॥१॥ भ० १ श० १ उ० । शुभाशुभार्थकारित्वात् श्रुतज्ञाने, स० । चक्षुरिव चक्षुः । केवलज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दर्शने, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । विशिष्ट आत्मधर्मे, रा० । लोकस्य विविधकार्येषु प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयप्रदर्शके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

तिविहे चक्खू पण्णत्ते । तं जहा-एगचक्खू बिचक्खू तिचक्खू । छउमत्थे णं मणुस्से एगचक्खू देवे बिचक्खू तहारूवे समणे वा माहणे वा उप्पण्णणाणदंसणधरे से णं तिचक्खु त्ति वत्तव्वं सिया ॥

प्रायः कण्ठ्यम् । चक्षुर्लोचनं तत् द्रव्यतोऽस्ति, भावतो ज्ञानम् । तद्यस्यास्तीति स तद्योगाच्चक्षुरेव चक्षुष्मानित्यर्थः । स च त्रिविधस्तु सख्याभेदात्, तत्रैकं चक्षुरस्येत्येकचक्षुः एवमितरावपि । छादयतीति छद्म ज्ञानावरणादि तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः । स च यद्यप्यनुत्पन्नकेवलज्ञानः सर्व एवोच्यते तथाऽपीहातिशयवत् श्रुतज्ञानादिविवर्जितो विवक्षित इति । एकचक्षुरिन्द्रियापेक्षया देवो द्विचक्षुश्चक्षुरिन्द्रियावधिभ्याम् उत्पन्नमावरणक्षयोपशमेनाज्ञान च श्रुतावधिरूपं दर्शनं चावधिदर्शनरूपं यो धारयति वहति स तथा एवंभूतः सः त्रिचक्षुश्चक्षुरिन्द्रियपरमश्रुतावधिरिति वक्तव्यं स्यात् । स हि साक्षादेवावलोकयति हेयोपादेयानि समस्तवस्तूनि केवली त्विह न व्याख्यातः केवलज्ञानदर्शनलक्षणचक्षुर्द्वयकल्पनासम्भवेऽपि चक्षुरिन्द्रियलक्षणचक्षुषः उपयोगाभावेनासत्कल्पनया तस्य चक्षुस्त्रयं न विद्यत इति कृत्वेति द्रव्येन्द्रियापेक्षया तु सोऽपि न विरुध्यत इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । "ते चक्खुलोगंसि इह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हियं पयाणं" ते तीर्थकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते । यथा हि-चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति । एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति । यथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः प्रधानाः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

चक्खुइंदियबल-चक्षुरिन्द्रियबल-न० । चक्षुरिन्द्रियस्य स्वसामर्थ्यग्रहणे, स्था० १० ठा० ।

चक्खुकंत-चक्षुष्कान्त-पुं० । कुण्डलोदसमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

चक्खुकंता-चक्षुष्कान्ता-स्त्री० । प्रसेनजितः कुलकरस्य भार्यायाम्, आ० म० प्र० । आ० क० । स० ।

चक्खुदंसण-चक्षुर्दर्शन-न० । चक्षुषा वस्तुसामान्यांशात्मके ग्रहणे, कर्म० ४ कर्म० । दर्शनभेदे, पं० सं० १ द्वार० । स्था० । चक्षुरिन्द्रियप्रीत्यर्थं दर्शनप्रतिज्ञायाम्, नि० चू० १२ उ० ।

चक्खुदंसणवडिया-चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञा-स्त्री० । चक्षुषा संद्रष्टुं प्रतिज्ञायाम्, (आचा०) ।

चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया न गच्छेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अह वेगयाइं रूवाइं पासइ । तं जहा-गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघाइमाणि वा कट्ठकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा मणिकम्माणि वा दंतकम्माणि वा मालकम्माणि वा पत्तच्छेज्जकम्माणि वा विविहाणि वा वेढिमाइं अन्नयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं चक्खुदंसणपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए एवं णेयव्वं जहा सद्दपडियाए सव्वा वाइत्तवज्जा रूवपडिया वि पंचमयं सत्तिक्कयं ।

" से " इत्यादि । स भावभिक्षुः क्वचित्पर्यटन्नथैकानि कानि

विज्ञानाविधानि रूपाणि पश्यति । अथवा-ग्रथिमानि प्रायेणपुष्पादिभिर्निर्वर्तितस्वस्तिकादीनि, वेष्टिमानि पुष्पादिनिर्वर्तितपुत्तलिकादीनि, (पूरिमाणि त्ति) यान्यन्त: पूरणायाकृतीनि भवन्ति, सङ्घातिमानि चोलकादीनि, काष्ठकर्माणि रथादीनि, पुस्तकर्माणि लेप्यकर्माणि, चित्रकर्माणि प्रतीतानि, मणिकर्माणि विचित्रमणिनिष्पादितस्वस्तिकादीनि, दन्तकर्माणि दन्तपुत्तलिकादीनि, तथा पत्रच्छेद्यकर्माणीतिप्रेयमादीनि विरूपरूपाणि चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय एतानि एवं गमने मनो न विदध्यादित्यर्थः । एवं शब्दसप्तैकस्सूत्राणि चतुर्थे धातो प्रहितानि सर्वाण्यपीहापोढव्यानि केवलं रूपप्रतिज्ञयेषेयमभिलापो योज्यः, दोषाश्चात्र प्राग्वत्समायोज्या इति । आचा० २ चू० ।

जे भिक्खू रणो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अइगच्छमाणाण वा णिग्गच्छमाणाण वा पयमवि चक्खुदंसणवमियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥८॥

अतियानं प्रवेश: यादिभिर्निर्गमो निर्यानं चक्षुरुपमेया दहु प्रतिज्ञा । अथवा-चक्षुर्वोदर्शयामीति प्रतिज्ञा पदमपदं गच्छति तस्स आणादिया दोसा ॥

जे भिक्खु रातिणा, णिग्गच्छंताण अह तिताणा ।
चक्खुपमियाए पदमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥४४॥

अतिति प्रवसंति पदमवि पदं अभिधारेंतो आणादि दोसे पावति ॥

संकप्पुट्ठियपदभिं-दणे य दिट्ठेसु चेव सोहीओ ।
लहुओ गुरुओ मासो, चतु लहुगा चेव गुरुगा य ॥४५॥
मणउट्ठियपदभेदे, य दंसणे मासमादि चतु गुरुगा ।
लहुओ लहुया गुरुगा, दंसणवज्जेसु व पदेसु ॥ ४६ ॥
पभिपोग्गले अपभिपो-ग्गले य गमणं णियत्तणं वा वि ।
विनए पराजए वा, पडिसेहं वा वि वोच्छेदं ॥ ४७ ॥

रायाणं पासामित्ति मणसा चिंतेइ मासलहुं उट्ठिते मासगुरुं पदभेदे चउलहुं दिट्ठे चउगुरुं । अहवा-चिंतियादेसेण मणसा चिंतेति मासगुरु उट्ठिते चउलहुं । पदभेदे चउगुरुं पदमपदभेदे वि चउगुरुगा किमंग ! पुण दिट्ठे आणादिविराहणा भद्दपंता दोसा य जो भद्दनो सो य,जो भद्दनो सो । पडिपोग्गलेत्ति साधु दट्ठुं ध्रुवा सिद्धि । अतियउकामो वि गच्छइ ताहे अधिकरण भवति । ज च सो जुज्झादि करेस्सति । जति से जयो ताहे णियमेय सजए पुरतो गच्छ । अपडिपोग्गलेत्ति इमेहिं सुत्तसिरेहिं विदिट्ठेहिं कुओ मे सिद्धी गतुकामो णियत्तिस्सति । अह फट्टं वि गतो पराजिओ ताहे पच्चगतो पदुस्सति पउट्ठो य जं काहिति भत्तो य करपणयंनाए य पभिसेह करेज्ज उवकरणवोच्छेदं वा करेज्ज अह परेत्यर्थ । ।

अहवा इमे दोसा हवेज्ज-

दट्ठूण य रायत्थिं, परीसहपराति तत्थ केयं तु ।
आसंसं वा कुज्जा, पभिगमणादीणि व पदाणि ॥

जं काहिति भत्तो आसंसं णिदाणं कुज्जा । अह वा-तस्समीवे अलंकियविभूसियाओ इत्थीओ दट्ठु पभिगमणं अन्नतित्थिणी सिद्धिपुत्तिं संजती वा पभिसेवति हत्थकम्मं वा करेति । अहवा-कोइ ईसरपुत्तो कुमारो पव्वइतो सो तं रायाणं चीपरिखुमं दट्ठूणं चिंतेइ सर्व्वं जोइय अम्हेहिं परिसीण णाणुभूतं ताहे पभिगच्छेज्जा भवे कारणं ।

वितियपदमणप्पज्झे, जाणंतो वा वि पुणो अप्पज्झे ।
गच्छंतो वा वि पुणो, कुलगणसंघातिकज्जेसु ॥ ४९ ॥

कुलादि वा कज्जे जइ राया पधाविग्गो ताहे ण अल्लियति मग्गतो गच्छति एवं पडियरिऊण जति ते पभिपुमालावयो दोसा ण भवति तो अंदि ठिओ ताहे अल्लियति ।

जे भिक्खू रन्नो खत्तियाणं मुद्दियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इत्थीओ सव्वालंकारविभूसियाओ पयमवि चक्खुदंसणवमियाए अभिसंधारेइ गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू इत्थियाए, सव्वालंकारभूसियाए उ ।
चक्खुवमियाए पयमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥४८॥

के इत्थ भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी य केइ निक्खंता ।
रमणिज्जलोइयंतिय, अम्हे एयारिसं आसि ॥ ५१ ॥

पूर्ववत् "के इत्थ त्ति" । भुत्तभोगिणो सति विभवे णिक्खंता पुणो सत्रयंता यद्धति ।

पडिगमणअण्णतित्थिय, सिद्धी संजति सलिंगहत्थे य ।
वेहाणस ओहाणे, एमेव अभुत्तभोगी वि ॥ ५२ ॥

पूर्ववत् । अभुत्तभोगी वि कप्पणकोहो उ पडिगमणादी पदे करेज्ज ।

किं चान्यत्—

रीयाति अणुवयोगी, इच्छी णाती सुहीणभवियत्तं ।
अजिर्तिदियउड्डाहो, आवडणे भेदवडणं च ॥ ५३ ॥

भवियरक्खतो रीयाए अणुवउत्तो भवति इत्थीए जे सयणा सयणाणयो जे सुहिणो तेसिं अचियत्त भवति । जहा से अणुरत्ता दिट्ठी लक्खिज्जति । तहा से अतगओ विभावेण णज्जति अजिइंदिओ एवं उड्डाहतं निरक्खतो खाणगादिसु आवमेज्ज भायण वा भिंदेज्ज सय वा पडेज्ज हत्थ पाद वा लूसेज्ज आयविराहणा ।

वितियपदमणप्पज्झे, अभिधारविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, मोहतिगिच्छा तु कज्जेसु ॥ ५४ ॥

मोहतिगिच्छाए वसभेहिं समं अप्पसारिए ठितो णिरिक्खति साइमविधिमाविक्कंतो पासति ।

णिव्वीतिमायतीए, दिट्ठीकीवो असारिए पेहे ।
अट्टाणाणि व गच्छति,संवाहणमादि गच्छंति ॥ ५५ ॥

णिव्वितियादिय जाहे अतीतो ताहे अप्पसारिए दिट्ठितो दिट्ठीए कीवो पासति । जइ से पोग्गलपरिसामो जीओ तो अणुवसमतेहिं मावादिए वा दच्छति अट्टाणं गच्छेज्ज तत्थ पदभेदे वि णत्थि पच्छित्तं । नि० चू० ९ उ० ।

जे भिक्खू वप्पाणि वा वराणि वा वावीणि वा पोक्खराणि वा पोक्खरीणि वा दीहाणि वा गुज्जालियाणि वा

णि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा चक्खूदंसणपभियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ।

वप्पाई ठाणा खलु, जेत्तियमेत्ता य आहिया सुत्ते ।
चक्खूपडियाइठाणी, अभिवरितम्मि आणादी ॥१४३॥

वप्पो केदारो, परिहा खातिया णगरादिसु पगारो रत्तदुवारादिसु तोरणा, णगरदुवारादिसु अभाग्ना तस्सेव पासगोरहसठितो पासातो पव्वयसठिय । उवरुवरिभूमियाहिं उववदमाणं कूडागार कुडेआगार पर्वते कुट्टिनमित्यर्थः । भूमिगिह भूमिघर रुक्खोवियगिहागारो रुक्खगिह रुक्खो वा घर कडं, पर्वतः प्रसिद्ध· ममवो वियरू स्तम्भ· प्रसिरूः पडिमागिहं चेत्तियं लोहारकुट्ट । आवेसणं लोगसमवायठाणं आयतणं देवकुलप्रसिरूं सद्भयः स्थानं सभा गिम्हादिसु उदगपदाणं य घा जत्थ भरूं अच्छति त पाणियगिह जत्थ चिक्काइ सा साला । अहवा-सकुट्टिग गिहं अकुड्डा साला एवं जणसालाओ वि जणो सेविगादि जत्थ णिक्खित्ता छुदा प्रसिद्धा एगं मज्झो पव्वगो वि मज्झसारिच्छो इंगाला जत्थ रुज्झेति कच्छा जथ फट्टनि घडिजंति वा सवसयाणं सुसाण गिरिगुहा कंदर असिवसमणठाणं सती सेलो पव्वतो गोसादिट्ठाण भवणागारं वणरायमभियं भवण तं चेव वणाविवज्जिय गिह चक्षुरिन्द्रियप्रीत्यर्थे दर्शनप्रतिज्ञया गच्छन्ति ।

तत्थ गच्छतस्स सजमविराहणा दिट्ठे य रागदोसादयो इमे दोसा-

कम्मपसत्थऽपसत्थे, रागं दोसं च कारए कुज्जा ।
सुकयं सुअज्जियं ति य, सुट्टु वि विणओइयं दव्वं ॥१४४॥

कारको सिप्पी तेण सुपसत्थे कते राग करेति अप्पसत्थे दोसं । अह वा भणंति-देवकुलादिसु कय एत्थ अणुमती । अहवाजेण कारवियं त भणति सुट्टु अज्जिय तेण दव्व सुठाणे घा णिउत्तं एवं अणुमती मित्थं तूववूहा ।

वक्केहि य सत्थेहि य, परलोयगता वि तेसु णज्जंति ।
निउणाऽनिउणत्त कई, कम्माण व कारगा सिप्पी ॥१४५॥

णिवणाण णिउणत्तं कवीण वक्केहिं णज्जति सिप्पियाण सत्थेहिं णज्जइ विणट्ठवत्थु दट्ठु भणति ।

दुस्सिक्खियस्स कम्मं, धणियं अपरिक्खिओ य सो आसि ।
जेण सुहाविणियत्तं, सुवीयमिव ऊसरे मोक्खा ॥१४६॥

कारगे वा धम्माधम्मे सिप्पिसुए वा अपरिक्खगो आसि कहं अपरिक्खित्तो आसि ।

पच्छद्ध भणाति अतरागयस्स वा इमे दोसा-

दुविहा तिविहा य तसा, जीया वा ऊसरणाणि कंखेज्जा ।
नोद्धतगं य अवच्छं, अंतराइयं च जं वच्छं ॥१४७॥

दुविधा-जलचरा थलचरा य । तिविहा जलथलखहचारिणो य ते भीता दुव्विरवडय देज्जा जलयरस्स जलं सरणं विलं डोगर वा थलचरस्स खहचरस्स आगास कंखेज्जा अभिलाससरण वा मच्छतेत्यर्थः । त वा साधु अन्न वा णोलेज्जा, तेसिं वा चरताणं अंतराइयं करेमि जं वणाति ते णस्स ता जं काहिति ।

इयाणि अववादो—

विंतियपदमणप्पज्झे, आहिवरे अकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, कज्जेसु वहुप्पगारेसु ॥१४८॥

कंठा ।

"कज्जेसु वहुप्पगारेसु त्ति" अस्य व्याख्या-

तत्थ गतो होज्ज पहू-ण विणा तेण वि य सन्ना ।
तं कज्जं संभम पडि-णीय भए उमछ गेलण्णे ॥१४९॥

पभू रायावि कुलगणसंघकज्जं अग्गिमादिसंभमे पडिणीयभया वा गच्छति ओसण्णंति साधूणं तत्थ गमणं अविरुद्धं आरछंति साधवो तत्थेव आवासेति गिलाणस्स वा पच्छा भायणादिणिमित्त गच्छति ।

तत्थिमा जयणा—

तेसुं दिट्ठिमवंधं नो, गयं वा पडिसाहरे ।
परस्साणुवरोहेणं, देहं तो दो वि वज्जए ॥ १५० ॥

पधाणप्पधाणेसु दिट्ठिं ण वंधाति सहसा वा गयदिट्ठिं पडिसाहरति । रायादिं अणुयन्ति उज्जोयंतो दो वि रागदोसे वज्जेइ ।

जे भिक्खू कत्थाणि वा, गहणाणि वा णूमाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयविदुग्गाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

कच्छादी ठाणा खलु, जेत्ति य मेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
चक्खुपडियाए तेसुं, दोसा ते तं च वितियपद ॥१५१॥

चक्खुदंसणपडियाए गच्छंतो चतुलहुं कच्छमादी कच्छा दविय धीय णूमं भिन्नं एगजातीय अणेगजाईय रुक्खाउलं गहणविदुग्गं एगो पव्वतो वहुएहिं पव्वतेहिं विदुग्ग कूवो अगमो तडागरेहा णदी पसिद्धा समवृत्ता वापी चातुरस्सा पुक्खरिणी एताउ चेव दीहद्दियाओ दीहिया सारणी वा विपुक्खरणीओ वा मडलिसंठियाओ अन्नोन्नकवाडसंजुत्ताओ गुंजालिया भणंति अन्ने भणति णिक्का अणेगभेदगता गुंजालिया सप्पगती वा एगं महाप्रमाणं सर ताणि चेव बहूणियं ति ठियाणि पत्तेयं वा जुत्ताणि सरपंती ताणि चेव बहूणि अन्नोन्नकवाडसंजुत्ताणि सरसरपंती तेसु गच्छतस्स ते चेव दोसा तं चेव होति वितियपद ।

जे भिक्खू गामाणि वा णगराणि वा खेडाणि वा कब्बडाणि वा मडंबाणि वा दोणमुहाणि वा पट्टणाणि वा आगराणि वा संवाहाणि वा संनिवेसाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

गामादी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
चक्खुपडियाए तेसुं, दोसा ते तं वितियपदं ॥१५२॥

गच्छतस्स दप्पे चतुलहु करादियाण गम्मो गामो, ण करो जत्थ तं णकरं खेड नाम धूलिपागारपरिक्खित्तं कुणगरो कव्वड जोयणब्भन्तरे जस्स गामादि णत्थि त मडंबादी भवछादि आगारोपलक्खण दुविहं जलेण जस्स भंडमागच्छति इतर थलपट्टण थलेण जस्स भममागच्छति इतरं थलइतर थलपट्टण थलेण जस्स भममागच्छति इतरं थलपट्टण दोण्णि मुहा जस्स त दोणिमुहं जलेण वि थलेण वि पट्टण ... आसम णाम तावसमादीणं सत्था वासणत्थाभममागच्छति ।

णं सण्णिवेस. गामो वा पिंडितो संनिविट्ठो, जत्थागतो वा लोगो संनिविट्ठो तं सण्णिवेसं भण्णति. सपण-थ किंचि करेत्ता जत्थ घोदु वसति,न मयासं भण्णति । घोसं गोउलं,उणियग-भो जत्थ वसति त खेडमं, अभिया गामनतियत्ताणाधि मंडुगा घणा जत्थ भिज्जति सं पुडभेय, जत्थ राया वसति सा रायहाणी ।

जे भिक्खू गामपाहाणि वा० जाव सण्णिवेसमाहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू गामवहाणि वा० जाव सण्णिवेसवहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू गामपहाणि वा० जाव सण्णिवेसपहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभि० जाव साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू गामदाहाणि वा० जाव सण्णिवेसदाहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

गामस्स पहो गाममार्ग इत्यर्थ. ।

जे भिक्खू आसकरणाणि वा हत्थिकरणाणि वा० जाव सूकरकरणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू आघायाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

आसाभिदमणाय आसकरणं, एव सेसाणि त्ति ।

जे भिक्खू आसजुद्धाणि वा० जाव सूकरजुद्धाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

हयोऽश्व तेषां परस्परतो युद्धं, एवमन्येषामपि, गजादयः प्रसिद्धा, शरीरेषु विमध्यम कटट रक्तपादप वट्टक सिद्धी धूम्रवर्णः लावक आडिमादि प्रसिद्धा महियपच्छाडियादिकरणेहिं जुद्ध,मध्यसंधिविक्खोवण णिजुद्ध,पुव्वं जुद्धेण जुज्झिओ पच्छा संधी विक्खोविज्जति जत्थ त जुद्ध णिजुद्ध ।

जे भिक्खू गायजुहियट्ठाणाणि वा हयजुहियट्ठाणाणि वा गयजुहियट्ठाणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

उज्जूहिं गावा गावाओ उज्जूहित्ताओ अरवी जुत्ती उज्जूहिअंति, अहवा गोसंखडी उज्जूहिगा भण्णति, गावीणं णिव्वेढणा परिमाविणिज्झाहिगा वधूवरपरियारति मिथुजूहियवामिसगुरूपाहिं हएहिं वन्नदरिसणा हयाणीय, गएहिं वन्नदरिसणा गयाणीय, रहेहिं वन्नदरिसणा रहाणीय, पाइक्कवलदरिसणा पायत्ताणीय, चउसमवायो य अणियदरिसणं चोरादि वा वज्झ णीणिज्जमाण पेहाए ।

जे भिक्खू अभिसेयट्ठाणाणि वा अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा पमाणियट्ठाणाणि वा महया हयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू डिंबाणि वा डमराणि वा खाराणि वा वेराणि वा महासंगामाणि वा कलहाणि वा बोलाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

अक्खाणगादि आघादिय एगस्स वक्खमाण अन्नेण अणुमीयत इति, माणुम्माणिय जदा धन्न कयक्खयला अथवा माणपोतयो माणुम्माणिय विज्ञादिपादि रुक्खादीण भिज्जंतीति णेम, अथवा-णम्स वट्ट सिवरायवज्जनस्स अगाणि णमिज्जंति गहितकच्छा । अथवा-वत्थपुप्फचम्मादि वा कण्ण रुक्खादिभगो दव्वविभागे य कलहो वादिणो जहा सिवरीण रायादीण वुग्गहो, पासगादी जूया सभादिसु अणेगविहा जणवया ।

जे भिक्खू कट्ठकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा लेप्पकम्माणि वा मणिकम्माणि वा सेलकम्माणि वा गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघायमाणि वा वेहमाणि वा विविहमाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

कट्ठकम्म कोट्टिमादि पुत्तकेसु च वत्थे वा पोत्थं, चित्तलेपा प्रसिद्धा, पूयादिसु पुप्पमालादिसु गठिम, जहा आणंदपुरे पुप्फपूरगादि वेढिमं प्रतिमापूरिमं सयचुकादिसु कट्ठसंघयीसु वा, संघाधिमं महदाघयान वा महता हतं , अहवा-महता शब्देन वादित्रमाहत, वाहता तंती, अन्यद्वा किंचित, हत्थतालणं तालो, कड वादित्रसमुदायो, तुडि जस्स मुतिगस्स घण सहसारिच्छो सद्दो सो घणमुइंगो पडुणा सद्दण वाइतो सर्वं पचेन्द्रियार्थः चक्षुः ।

जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा मज्झिमाणि वा डहराणि वा अणलंकियाणि वा सुअलंकियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परिभुंजंताणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥३४॥

आसयते सत्थाणि अच्छति । अहवा-आम्नावति भुञ्जन्तीत्यर्थः । रममाणा गेंदुगादिसु रमते मज्जपानअदोलगादिसु ललतो जलमध्ये क्रीमा नट्टनृत्तादिसु कदणी मोहनोद्भवकारिका क्रिया मोहणा , सेवणना सेसपदा प्र थप्रसिद्धा । जे भिक्खु विरूवरूवाणि वा इत्यादि । अणेगरूवा विरूवरूवा महता महामहा जत्थ महेवहराया जहा भंसुरुलाए, अहवा-जत्थ महे बहू राया मिलंति, जहा सरक्खमो वहुग्यो भण्णति तालायरबहुला वहुणमाला गत्तपुज्जेअ गमभगा य बहुराया अव्वत्तभासिणो, बहुगा जत्थ महे मिलंति सो बहू मिलक्खुमहो, ते य मिलक्खु दमिलादी ।

जे भिक्खू इहलोएसु वा रूवेसु दिट्ठेसु वा रूवेसु सुएसु वा रूवेसु असुएसु वा रूवेसु विण्णाएसु वा रूवेसु अविण्णाएसु वा रूवेसु सज्जइ रज्जइ गिज्झइ अज्झोववज्जइ, सज्जमाणं वा रज्जमाणं वा गिज्झमाणं वा अज्झोववज्जमाणं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

इहलोइया मणुस्सा, परलोइया हयगयादी पुव्वं पच्चक्खं दिट्ठा अदिट्ठा देवादी मणुस्सा जे अणिट्ठा सद्दाणादी पदा एगट्ठिया । अहवा-आसेवणाभावे सज्जणता मणसा पीती गमणं रज्जणता सदोसुवलद्धे वि अविरमो गेधी अगम्मगमणासेवणा वि अज्झुववातो । नि० चू० १२ उ० ।

चक्खुदंसणावरण-चक्षुर्दर्शनावरण-न० । ६ त० । दर्शनावरणकर्मभेदे, यदुदयात् जीवानां चक्षुर्दर्शनं सामान्यग्राही बोधः (स्था० ६ ठा०) न भवति । स० ६ सम० ।

चक्खूदिट्ठि अचक्खू, सेसिंदिय ओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरणं तयं चउहा ॥ १० ॥

इह चक्षुर्दर्शनं नाम यच्चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं, चक्षुःसामान्योपयोगावरणमिति यावत् (कर्म०) अत्र च चक्षुर्दर्शनावरणोदये एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुस्तथाविधे तदुदये विनश्यति, तिमिरादिना वाऽस्पष्टं भवति ॥ कर्म० १ कर्म० ।

चक्खुदय-चक्षुर्दय-पुं० । चक्षुरिव चक्षुः श्रुतज्ञानं, शुभाशुभार्थविभागकारित्वात्, तत् दयते इति चक्षुर्दयः। स० । चक्षुरिव चक्षुः विशिष्टः आत्मधर्मस्तत्त्वावबोधनिबन्धनश्रद्धास्वभावः, श्रद्धाविहीनस्याऽचक्षुष्मत इव रूपतत्त्वदर्शनायोगात्, कल्याणचक्षुरीव भवति वस्तुतत्त्वदर्शनं तदीयं धर्मकल्पद्रुमस्याबन्ध्यबीजभूतेभ्यो भगवद्भ्य एव । ध० २ अधि० । तद्ददतीति चक्षुर्दाः । रा० । न च मार्गानुसारिणी श्रद्धा सुखेनावाप्यते । चक्षुःसमानश्रुतज्ञानदायकेषु तीर्थकृत्सु, कल्प० १ क्षण ।

चक्खुपडिलेहा-चक्षुःप्रतिलेखा-स्त्री० । चक्षुषाऽवलोकने, नि० चू० १ उ० ।

चक्खुपह-चक्षुष्पथ-पुं० । लोचनमार्गे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

चक्खुपहट्ठिय-चक्षुष्पथस्थित-पुं० । लोकानां लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थिते लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावन चक्षुर्भूते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

चक्खुपम्हनिवाय-चक्षुःपक्ष्मनिपात-पुं० । उन्मेषनिमेषमात्रक्रियायाम्, भ० १ श० ३ उ० ।

चक्खुफास-चक्षुःस्पर्श-पुं० । चक्षुषोः दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो, न तु स्पर्श एव, चक्षुषोरप्राप्यकारित्वात् इति चक्षुःस्पर्शः । भ० १ श० ६ उ० । दर्शन, औ० । दृष्टिगोचरे, उत्त० १ अ० ।

चक्खुविक्खेव-चक्षुर्विक्षेप-पुं० । चक्षुर्भ्रमे, भ० ३ श० २ उ० ।

चक्खुभीय-चक्षुर्भीत-त्रि० । चक्षुःशब्दोऽत्र दर्शनपर्यायः । दर्शनादेव भीते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

चक्खुमंत-चक्षुष्मत्-पुं० । स्वनामख्याते ऽवसर्पिण्यां जाते द्वितीये कुलकरे, आ० म० प्र० । आ० क० । स० । ज० । स्था० । आ० चू० । लोचनयुक्ते, त्रि० । विशे० । ('कुलगर' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५९३ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

चक्खुम्मेल-चक्षुर्मेल-पुं० । एकस्य चक्षुष उन्मीलनेऽपरस्य निमीलने, व्य० १ उ० ।

चक्खुय-चाक्षुष-पुं० । चक्षुःस्पर्शे दृष्टिगोचरे अप्रेक्षणीयाप्राप्ते, आ० म० द्वि० ।

चक्खुलोल-चक्षुर्लोल-पुं० । चक्षुषा लोलश्चञ्चलः, चक्षुषो लोलं यस्य स तथा । स्तूपादीनालोकयित्वा व्रजति, स्था० ४ ठा० ४ उ० । " चक्खुलोलए इरियावहियाए पालिमथू " बृ० ६ उ० ।

अथ चक्षुर्लोलमाह-

आलोयणा य कहणा, परियट्टऽणुपेहणा अणाभोए ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

स्तूपादीनां लोकनं कुर्वाणः, कथनं धर्मकथां, परिवर्तनां प्रेक्षा च कुर्वन् यदनाभोगेनानुपयुक्तो मार्गे व्रजति तदा लघुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः, द्विविधा विराधना भवेत् ।

इदमेव भावयति-

आलोएंतो वचति, थूभादीणि व कहेति वा धम्मं ।
परियट्टणाणुपेहण, न यावि पंथं ति उवउत्तो ॥

स्तूपादीनि आलोकमानो, धर्मं वा कथयन्, परिवर्तनामुत्प्रेक्षां वा कुर्वाणो व्रजति । यद्वा-सामान्येन न च नैवोपयुक्तः पथि व्रजति, एष चक्षुर्लोल उच्यते ।

अमीते दोषाः-

छक्कायाण विराहण, संजमे आयाएँ कंटगादीया ।
आवडणे भाणभेदो, खद्धे उड्डाह परिहाणी ॥

अनुपयुक्तस्य गच्छतः संयमे षट्कायानां विराधना भवेत्, आत्मविराधनायां कण्टकादयः पादयोर्लगेयुः, विषमे वा प्रदेशे आपतनं भवेत्, तत्र भाजनभेदः । 'खद्धे च' प्रचुरे भक्तपाने भूमौ छर्दिते उड्डाहो भवेत्-अहो बहुभक्षका अमी इति । भाजने च भिन्ने परिहाणिः सूत्रार्थपरिमन्थो भाजनान्तरगवेषणे, तत्परिकर्मणायां च भवेदिति । गतश्चक्षुर्लोलः । बृ० ६ उ० ।

चक्खुल्लोयणलेस्स-चक्षुर्लोकनलेश्य-त्रि० । चक्षुःकर्तृकलोक-(न)ने, अवलोकने लेश्यति च दर्शनीयत्वातिशयतः श्लिष्यतो वा यत्र तत्तथा । जी० ३ प्रति० । चक्षुःकर्तृकलोकने लिश्यतीव दर्शनीयत्वातिशयात् श्लेष्यतीव यत्र तत्तथा । तथाविधे सुरूपे, येन तत्पश्यच्चक्षुर्न विनिवर्त्यति । रा० ।

चक्खुविहिय-चक्षुर्विहित-त्रि० । दृष्ट्याऽपरिचिते, व्य० ८ उ० ।

चक्खुस्सव-चक्षुःश्रवस्-पुं० । भुजङ्गे, स हि चक्षुषैव शृणोति । (सम्म०) श्रूयत एव चक्षुषा शब्दश्रवणं प्राणिविशेषाणाम्, "चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः" इति लोकप्रवादात् । मिथ्या स प्रवाद इति चेत्, नैतत्, प्रवादबाधकस्याभावात्, कर्णच्छिद्रानुपलम्भेन । न च दन्दशूकचक्षुषोः आत्मन्तरत्वादित्युत्तरग्रन्थोपयोगि, अन्व-

अपि प्रकृष्टपुण्यसंभारजनितसर्वविद्धकृषि समानत्वात् । सम्म० १ काण्ड ।

चक्खुहर-चक्षुर्ह(घ)र-त्रि० । दृष्टयाक्षेपकत्वात्, अथवा प्र-ह्लादनीयाकृदर्शनात् चक्षुर्हरति धरति वा निर्वर्तयति यधून-त्वात्तथा । तथाविधेऽतिशीघ्रेऽजिनये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चच्चर-चत्वर-न० । "कृत्तिचत्वरे चः" । ८ । २ । १२ । इति तकारस्य चकारादेशः । प्रा० २ पाद । अनेकरथ्यासङ्गम-स्थाने, कल्प० ४ क्षण । औ० । रा० । भ० । जं० । विपा० । प्रश्न० । स्था० । रथ्याष्टकमध्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । त्रिपथभे-दिस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । "जएहं रत्थाण जहिं, पवहो तं चच्चरं विंति ।" यत्र षष्णां रथ्यानां प्रवहो निर्गमस्तं चत्वरं ब्रुवते तीर्थकरगणधराः । बृ० १ उ० ।

चज्जर-त्रि० । "चूलिकापैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्विती-यौ" । ८ । ४ । ३२५ । इति तृतीयस्य स्थाने प्रथमः । जीर्णे, प्रा० ४ पाद ।

चच्चरी-चर्चरी-स्त्री० । चर्च-अरन् । गौरा० ङीप् । गीतिभेदे, कुटिलकेशे, हर्षक्रीडायाम्, साटोपवाक्ये, छन्दोभेदे, वाच० । करध्वनौ, "रासे चच्चरीओ य" आव० १ अ० ।

चच्चसा-चर्चसा-स्त्री० । वाद्यभेदे, "अट्ठसयं चच्चसाणं अट्ठस-यं चच्चसावायगाणं" । रा० ।

चच्चिक्क-न०। स्थासक-पुं० । "गोणाऽऽदयः" । ८।२।१७४। इति स्थासक इत्यस्य 'चच्चिक' आदेशः । चाकचिक्ये, निलये, च । प्र० द्वु० २ पाद।

चच्चुप्प-अर्प्पि-धा० । अर्पि-णिच् । समर्पणे, "अर्प्पेरल्लिव-चच्चुप्प-पणामाः" ॥ ८ । ४ । ३९ ॥ इत्यर्पेरर्पयन्तस्य चच्चु-प्पादेशः । 'चच्चुप्पइ' अर्पयति । प्रा० ४ पाद ।

चच्छ-तक्ष्-धा० । तनूकरणे, (चाँछना) "तक्षेस्तच्छचच्छर-म्पर्म्फाः" ॥ ८ । ४ । १९४ ॥ इति तक्षेः 'चच्छ' आदेशः । 'चच्छइ' तक्षति । सतनूकरोतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

चज्ज-दृश्-धा० । "दृशो निअच्छपेच्छावयच्छावयज्झवज्जस-व्ववदेक्खौअक्खावक्खावअक्खपुलोएपुलएनिआवआसपा--साः" ॥ ८ । ४ । १८१ ॥ इति सूत्रेण दृशेश्चज्जादेशः । 'चज्जइ' पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

चट्टसाला-चट्टशाला-स्त्री० । ब्रह्मचटूनामध्ययनशालायाम्, बृ० १ उ० ।

चड-आरुह्-धा० । "आरुहेश्चडवलग्गौ" । ८ । ४ । २०६ । इति आङ्पूर्वस्य रुहधातोश्चडादेशः । 'चडइ' आरोहति । प्रा० ४ पाद० ।

चडग-चटक-पुं० । कलविङ्के पक्षिविशेषे, (चिरकली) प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । प्रश्न० । आ० म० । कोशकारे, कोशकार-भवं सूत्र चटकसूत्रमिति लोके प्रतीतम् । अनु० । आ० म० ।

चडगर-चटकर-पुं० । समुदाये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विस्तरे, भ० ६ श० ३३ उ० । विपा० । आ० म० । विच्छर्दे, 'महया भडचडगरविंदपरिक्खित्तं' । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चडगरत्तण-चटकरत्व-न० । अतिप्रपञ्चकथने, "महया चडगर-त्तणेणं अत्थकहा हणइ ।(२०)" दश० ३ अ० ।

चडवेला-चटवेला-स्त्री० । चपेटायाम्, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

चडुयार-चटुकार-पुं० । मुखमङ्गलकरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

चडुल-चटुल-त्रि० । चट-उलच् । चञ्चले, चपले च, विद्युति, स्त्री० । वाच० । सूत्र० ।

चडुलजाव-चटुलजाव-त्रि० । चटुलश्च विविधवस्तुषु क्षणे आकाङ्क्षादिप्रवृत्तेर्जावाश्चित्तं यस्य स तथा । विषयासक्तचञ्चल-चित्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

चडुलिया-चटुलिका-स्त्री० । पर्यन्तज्वलिततृणपूलिकायाम्, नं० ।

चड्ड-पिष्-धा० । चूर्णने, "पिषेर्णिवहणिरिणासणिरिणज्जरो-ञ्चड्डाः" । ८ । ४ । १८५ । इति पिषेश्चड्डादेशः । 'चड्डइ' पि-नष्टि । भुज-धा० । भक्षणे, खादने, "भुजो भुञ्जजिमजेमकम्मा-एहसमाणचमढचड्डाः" । ८ । ४ । ११० । इति भुजेः चड्डादेशः । 'चड्डइ' भुनक्ति । प्रा० ४ पाद । पात्रविशेषे, बृ० १ उ० ।

चण-चण-पुं० । चणकधान्ये, जं० ३ वक्ष० ।

चणइया-चणकिका-स्त्री० । मसूरधान्ये, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चणग-चणक-पुं० । सनालवृत्तफलके सस्यभेदे, तत्फलरूपे धान्यभेदे च । (चना) आ० चू० ६ अ० ।

चणगगाम-चणकग्राम-पुं० । गोल्लविषये स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र चणिद्विजात्मजश्चाणक्यो जज्ञे । आ० म० द्वि० । आ० चू० । आ० क० ।

चणगपुर-चणकपुर-न० । चणकक्षेत्रं दृष्ट्वा निवासिते नगरे, यत्क्रमेण राजगृहं नाम नगरं जातम् । आ० क० । आव० । आ० चू० । ती० ।

चणि-चणि-पुं० । चाणिक्याख्यस्य चन्द्रगुप्तमहाराजस्य मन्त्रि-णो ब्राह्मणस्य पितरि, आ० क० । आ० चू० ।

चत्त-चत्र-न० । तर्कौ, ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

त्यक्त-त्रि० । परिहृते, उत्त० १ अ० । "त्यक्ते परिग्रहे साधोः, प्रयाति सकलं रजः ।" अष्ट० २५ अष्ट० ।

चत्तदेह-त्यक्तदेह-त्रि० । त्यक्तो निर्ममत्वेन परिचर्याऽभावेन अवगणितो देहो यैस्ते त्यक्तदेहाः । उत्त० १२ अ० । व्युत्सृष्ट-शरीरे, स्था० ।

चत्तदोस-त्यक्तदोष-त्रि० । परिहृतरागादौ, ध० ३ अधि० ।

चत्तालीस-चत्वारिंशत्-स्त्री० । चतुर्गुणितायां दशसंख्यायाम्, "तीसा चत्तालीसा" प्रज्ञा० २ पद ।

चत्वारिंशत्क-त्रि० । चत्वारिंशद्वर्षजाते, "भोगायनीसगस्स य, चत्तालीसस्स विन्नाणं ।" तं० ।

चप्फल-मिथ्यात्वादिन्-त्रि० । गोणादित्वात्तथादेशः । असत्प्र-लापिनि, "रे रे चप्फलया !" रे रे मिथ्यावादिन् ! । "गोणादयः" । ८ । २ । १७४ । इति "चप्फल" इत्यादेशः "स्वार्थे कश्च वा" । ८ । २ । १६४ । इति कप्रत्ययः । अनेन वा दीर्घः । कगचज० । ८ । १ । १७७ । इति कलुक् "अवर्णो०" । ८ । १ । १८० । अया० श्रुता० सलुक् । "चप्फलया रे" प्रा० ढुं० १ पाद ।

चमक्किरिया-चमत्क्रिया-स्त्री० । चमत्कारे, अष्ट० १४ अष्ट० ।

चमढ-भुज्-धा० । पालनाऽभ्यवहारयोः, "भुजो भुञ्जजि-

मज्जेमकम्माएहसमाएचमढचक्षुः" । ५ । ४ । ११० । इति चु-जधातोश्चमढादेशः । 'चमढइ' भुङ्क्ते । भुनक्ति । प्रा० ४ पाद ।

चमढणा-चमढना-स्त्री० । कदर्थनायाम्, उद्वेगे, बृ०१ उ० औ० ।

चमढिअ-चमढित-त्रि० । विनाशिते, व्य० २ उ० ।

चमढिज्जंत-चमढायमान-त्रि० । कदर्थ्यमाने, ओघ० । उद्वेज्यमाने, बृ० १ उ० ।

चमर-चमर-पुं० । आरण्ये गवि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । रा० । जं० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । ज्ञा० । सुमतिनाथस्य प्रथमशिष्ये, स० । प्रव० । दाक्षिणात्यानामसुरकुमाराणामिन्द्रे, प्रज्ञा० २ पद । स० ।

अथ चमरस्योपपातवक्तव्यता-

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे होत्था० जाव परिसा पज्जुवासइ, तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे अ-सुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुह-म्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणियसाह-स्सीहिं० जाव नट्टविहिं उवदंसेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए, भंते ! त्ति । भ० ३ श० २ उ० ।

असुरकुमाराणां सर्वोऽधिकारः 'असुरकुमार' शब्दे प्रथम-भागे ८४१ पृष्ठे उक्तः)

यावदूर्ध्वमुपपातः-

एस वि य णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उ-प्पइयपुव्वे० जाव सोहम्मे कप्पे ? । हंता गोयमा ! एस वि य णं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पइयपुव्वे० जाव सो-हम्मे कप्पे । अहो णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया म-हिड्ढीए महज्जुतीए० जाव कहिं पविट्ठा कूडागारसाला दिट्ठंतो भाणियव्वो । चमरेणं भंते ! असुरिंदेणं असुर-रण्णो सा दिव्वा देविड्ढी तं चेव किणा लद्धा० ३ ? । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले वेभेले णामं संनिवेसे होत्था । वण्णओ-तत्थ णं वेभेलसंनिवेसे पूरणे नामं गाहावई परि-वसइ, अड्ढे दित्ते जहा तामलिस्स वत्तव्वया तहा नेयव्वा, णवरं चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं करेत्ता० जाव विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव सयमेव चउप्पुडयं दारु-मयं पडिग्गहयं गहाय मुंडे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए, पव्वइए वि य णं समाणे तं चेव० जाव आया-वणभूमीए पच्चोरुभित्ता सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडि-ग्गहयं गहाय वेभेलसंनिवेसे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता जं मे पढमे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं पंथियपहियाणं दलइत्तए, जं मे दोच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं कागसुणयाणं दलइत्तए, जं मे तच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं मच्छकच्छभाणं दलइत्तए, जं मे चउत्थे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं अप्पणा आहारं आहा-रेत्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए तं चेव निरवसेसं चउत्थे पुडए पडइ तं अ-प्पणा आहारं आहारेइ । तए णं से पूरणे बालतव-स्सी तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं तं चेव० जाव वेभेलस्स सन्निवेसस्स मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता पाउयकुंडियमादीयं उव-गरणं चउप्पुडयं च दारुमयं पडिग्गहियं एगंतमंते एडेइ, एडेइत्ता वेभेलस्स सन्निवेसस्स दाहिणपुरच्छिमे दिसी-भागे अद्धनियत्तणियं मंडलं आलिहित्ता संलेहणाझू-सणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं नि-वन्ने, तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! छउमत्थ-कालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपु-व्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारपुरे नगरे जेणेव असोयवणसंडे उज्जाणे जेणेव असोयवरपा-यवे जेणेव पुढवीसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि, उवा-गच्छामित्ता असोगवरपायवस्स हेट्ठे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हामि दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी अणिमिसनयणे ईसिं पब्भारगएणं काएणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं एग-राइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता विहरामि । भ० ३ श० २ उ० ।

उपपातः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया यावि होत्था, तए णं से पूरणे बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं परियागं पाउणित्ता मासि-याए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता कालमासे कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए उववायसभाए० जाव इंदत्ताए उववन्ने, तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ । तं जहा-आहारपज्जत्तीए० जाव भा-सामणपज्जत्तीए तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गए समाणे उड्ढं वीस-साए ओहिणा आभोइए० जाव सोहम्मे कप्पे पासइ य, तत्थ सक्कं देविंदं देवरायं मघवं पागसासणं सयक्कउ सह-स्सक्खं वज्जपाणिं पुरंदरं० जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ, पासइत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था, केस णं एस अप्पत्थियपत्थए दुरंतपंतलक्खणे हिरिसिरिपरिवज्जिए हीणपुण्णचाउद्दसे जं णं मम इमे एयारूवाए दिव्वाए दे-

विड्डिए० जाव दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए उप्पिं अप्पुस्सुए दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, एवं संपेहेइ,सपेहेइत्ता सामाणियपरिसोववण्णए देवे सद्दावेइ,सद्दावेइत्ता एवं वयासी-केस णं एस देवाणुप्पिया! अपत्थियपत्थिए० जाव भुंजमाणे विहरइ ?। तए णं से सामाणियपरिसोववण्णगा देवा चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेतित्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया! सक्के देविंदे देवराया०जाव विहरइ। भ० ३ श० २ उ०।

ऊर्द्ध्वमुपपातः-

तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तेसिं सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाण अंतिए एयमट्ठं सोचा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे ते सामाणियपरिसोववण्णए देवे एवं वयासी-अन्ने खलु भो ! से सक्के देविंदे देवराया, अन्ने खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्डिए खलु भो ! से सक्के देविंदे देवराया, अप्पिड्डिए खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु उसिणे उसिणब्भूए जाए यावि होत्था। तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ओहिं पउंजइ,पउंजइत्ता ममं ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सुंसुमारपुरे नगरे असोगवणसंडे उज्जाणे असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हित्ता एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ , त सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु एव संपेहेइ, संपेहेइत्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता देवदूसं परिहेइ, परिहेइत्ता जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता फलिहरयणं परामुसइ, परामुसइत्ता एगे अबीए फलिहरयणमयाए महया अमरिसं वहमाणे चमरचंचाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव तिगिच्छकूडे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ,समोहणइत्ता० जाव उत्तरवेउव्वियरूवं विकुव्वइ, ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव पुढविसिलावट्टए जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ०, जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेवं अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु उत्तरपुरच्छिम दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणइत्ता० जाव दोचं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणइत्ता एगं महं घोरं घोरागारं भीमं भीमागारं भासुर भयाणीयं गंभीरं उत्तासणयं कालड्डरत्तं भासरासीसंकासं जोयणसयसाहस्सीयं महाबोंदिं विउव्वइ, विउव्वइत्ता अप्फोडेइ, अप्फोडेइत्ता वग्गइ, वग्गइत्ता गज्जइ,गज्जइत्ता हयहेसियं करेइ, करेइत्ता हत्थिगुलुगुलाइयं करेइ, करेइत्ता रहघणघणाइय करेइ, करेइत्ता पायदद्दरगं करेइ, करेइत्ता भूमिचवेडं दलयइ,दलयइत्ता सीहनादं नदइ, नदइत्ता उच्छोलेइ,उच्छोलेइत्ता पच्छोलेइ,पच्छोलेइत्ता तिवतिं छिंदइ, तिवतिं छिंदइत्ता वाम भुयं ऊसवेइ, ऊसवेइत्ता दाहिणहत्थपएसिणीए अंगुट्ठनहेण य वि तिरिच्छ मुहं विडंबइ,विडंबइत्ता महया महया सद्देणं कलकलरवं करेइ, करेइत्ता एगे अबिइए फलिहरयणामयाए उड्ढं विहासं उप्पइए खोभंते चेव अहोलोयं कंपेमाणे व मेयणितलं सा कड्ढते व तिरियलोयं फोडेमाणे व अंबरतलं कत्थइ गज्जइ, कत्थइ विज्जुयायते, कत्थइ वासं वासेमाणे,कत्थइ ग्युग्घायं पकरेमाणे, कत्थइ तमुकायं पकरेमाणे, वाणमंतरे देवे वित्तासेमाणे वित्तासेमाणे जोइसिए देवे दुहा विभयमाणे दुहा विभयमाणे आयरक्खदेवे वि पलायमाणे पलायमाणे फलिहरयणं अंबरतलंसि वियट्टमाणे वियट्टमाणे विउब्भाएमाणे विउब्भाएमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सोहम्मवडिंसए विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता एगं पायं पउमवरवेइयाए करेइ, एगं पायं सभाए सुहम्माए करेइ, फलिहरयणेणं महया महया सद्देणं तिक्खुत्तो इंदकीलं आउडेइ, आउडेइत्ता एवं वयासी-कहि णं भो ! सक्के देविंदे देवराया,कहि णं ताओ चउरासीइसामाणियसाहस्सीओ० जाव कहि णं ताओ चत्तारि चउरासीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ, कहि णं ताओ अणेगाओ अच्छराकोडीओ, अज्ज हणामि, अज्ज वहेमि,अज्ज महेमि,अज्ज ममं अवसाओ अच्छराओ वसमुवणमंतु त्ति कट्टु तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं फरुसं गिरं निसिरइ। तए णं से सक्के देविंदे देवराया तं अणिट्ठं० जाव अमणामं अस्सुयपुव्वं फरुसं गिरं सोचा निसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निलाडे साहट्टु चमरं असुरिंदं असुररायं एव वयासी-हं भो ! चमरा असुरिंदा असुरराया अप्पत्थियपत्थिया०जाव हीणपुण्णचाउद्देसा अज्ज न भवसि नाहि ते सुहमत्थि त्ति कट्टु तत्थेव सीहासणवरगए

वज्जं परामुसइ,परामुसइत्ता तं जलंतं फुडंतं तडतडंतं उक्कासहस्साइं विणिमुयमाणं विणिमुयमाणं जालासहस्साइं मुयमाणं इंगालसयसहस्साइं पविक्खिरमाणं पविक्खिरमाणं फुलिंगजालामालासहस्सेहिं चक्खुविक्खेवदिट्ठिपडिघायं पि पकरेमाणं हुयवहअतिरेगतेयदिप्पंतं जइणवेगं फुल्लकिंसुयसमाणं महब्भयं भयंकरं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जं निसिरइ । तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तं जलंतं० जाव भयंकरं वज्जमभिमुहं आवयमाणं पासइ,पासइत्ता झियाइ पिहाइ पिहाइ झियाइ झियाइत्ता पिहाइत्ता तहेव संभग्गमउडविडए सालंबहत्थाभरणे उड्ढं पाए अहोसिरे कक्खागयसेयं पि व विणिं मुयमाणे मुयमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेण वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव जंबुद्दीवे दीवे० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भीए भयगग्गरसरे भगवं सरणं मे त्ति वुयमाणे ममं दोण्हं वि पायाणं अंतरंसि झत्ति वेगेणं समोवडिए तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, णो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, णो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पइत्ता० जाव सोहम्मे कप्पे,णण्णत्थ अरहंते वा अरहंतचेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पाणो णीसाए उड्ढं उप्पयइ० जाव सोहम्मे कप्पे, तं महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं अणगाराण य अच्चासायणाए त्ति कट्टु ओहिं पउंजइ,पउंजइत्ता ममं ओहिणा आभोएइ,आभोएइत्ता हा हा अहो हतो अहमंसि त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए०जाव दिव्वाए देवगईए वज्जस्स वीहिं अणुगच्छमाणे अणुगच्छमाणे तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता ममं च णं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ, अवि या इमे गोयमा ! मुट्ठिवाएणं केसग्गे वीइत्था, तए णं से सक्के देविंदे देवराया वज्जं पडिसाहरित्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ,करेइत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–एवं खलु भंते ! अहं तुब्भं नीसाए चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो सयमेव अच्चासाइए,तए णं मए कुविएणं समाणेणं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जे निसिट्ठे, तए णं ममं इमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जेत्था , णो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तहेव०जाव ओहिं पउंजामि, देवाणुप्पिए ओहिणा आभोएमि, हा हा० जाव जेणेव देवाणुप्पिए तेणेव उवागच्छामि, देवाणुप्पियाणं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरामि, वज्जपडिसाहरणट्ठयाए णं इहमागए, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! खमंतु मं देवाणुप्पिया ! खंतुमरिहंतु णं देवाणुप्पिया ! नाइभुज्जो २ एवं करणयाए त्ति कट्टु ममं वंदइ,नमंसइ,नमंसइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता वामेणं पादेणं तिक्खुत्तो भूमिं दालेइ, चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वयासी–मुक्कोसि णं भो ! चमरा असुरिंदा असुरराया समणस्स भगवओ महावीरस्स पभावेणं नाहि ते दाणिं ममाओ भयमत्थि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंते त्ति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ,नमंसइ,नमंसइत्ता एवं वयासी–देवे णं भंते ! महड्ढीए महज्जुइए०जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खिवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्टित्ता णं गिण्हित्तए ? हंता पभू । से केणट्ठेणं भंते !० जाव गेण्हित्तए ? गोयमा ! पोग्गलेणं खिवित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगई भवित्ता तओ पच्छा मंदगई भवइ, देवे णं महिड्ढीए पुव्विं पि पच्छा वि सीहे सीहगई चेव तुरिए तुरियगई चेव, से तेणट्ठेणं०जाव पभू गेण्हित्तए । जइ णं भंते ! देवे महिड्ढीए० जाव अणुपरियट्टित्ता णं गेण्हित्तए,कम्हा णं भंते ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो खलु संचाएइ साहत्थिं गेण्हित्तए ? । गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं अहेगइविसए सिग्घे चेव तुरिए चेव, उड्ढं गतिविसए अप्पे अप्पे चेव मंदे मंदे चेव,वेमाणियाणं देवाणं उड्ढं गतिविसए सीहे सीहे चेव तुरिए तुरिए चेव,अहेगतिविसए अप्पे अप्पे चेव मंदे मंदे चेव, जावइयं खित्तं सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पयइ एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं तं चमरे तिहिं, सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे० जावइयं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया अहे उवयइ एक्केणं समएणं तं सक्के दोहिं जं सक्के दोहिं तं वज्जे तिहिं सव्वत्थोवे चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अहोलोयकंडए उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे एवं खलु गोयमा ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णो चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाएइ साहत्थिं गिण्हित्तए, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं अहो तिरियं च गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तं सक्के देविंदे देवराया अहे उवयइ, एक्केणं समएणं तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, उड्ढं संखे-

ज्जे भागे गच्छइ। चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो उड्ढं अहे तिरियं च गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा?। गोयमा! सव्वत्थोवं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पयइ, एक्केणं समएणं तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, अहे संखेज्जे भागे गच्छइ, सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पयइ, एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं तं चमरे तिहिं वज्ज जहा सक्कस्स तहेव, नवरं विसेसाहियं कायव्वं,सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो उवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा?। गोयमा! सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं उप्पयणकाले उवयणकाले संखेज्जगुणे, चमरस्स वि जहा सक्कस्स, णवरं सव्वत्थोवे उवयणकाले उप्पयणकाले संखेज्जगुणे। वज्जस्स पुच्छा?। गोयमा! सव्वत्थोवे उप्पयणकाले उवयणकाले विसेसाहिए। एयस्स णं भंते! वज्जस्स वज्जाहिवइस्स चमरस्स य असुरिंदस्स असुररण्णो उवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा० ४?। गोयमा! सक्कस्स य उप्पयणकाले चमरस्स उवयणकाले, एस ण दोण्ह वि तुल्ले सव्वत्थोवे सक्कस्स य उवयणकाले वज्जस्स य उप्पयणकाले एस णं दोण्हं वि तुल्ले संखेज्जगुणे, चमरस्स य उप्पयणकाले,वज्जस्स य उवयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले विसेसाहिए, तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया वज्जभयविप्पमुक्के सक्केणं देविंदेणं देवरण्णो महया अवमाणेणं अवमाणिए समाणे चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि उवहयमणसंकप्पे चिंतासोयसागरसंपविट्ठे करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठीए झियाइ, तए णं तं चमरं असुरिंदं असुररायं सामाणियपरिसोववण्णया देवा ओहयमणसंकप्पं० जाव झियायमाणं पासइ, पासइत्ता करयल० जाव एवं वयासी-किण्णं देवाणुप्पिया! उवहयमणसंकप्पा० जाव झियायह?। तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ते सामाणियपरिसोववण्णए देवे एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! मए समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाइए, तए णं तेणं परिकुविएणं समाणेणं ममं वहाए वज्जे निसिट्ठे, तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स, जस्सम्मि पभावेण अकिट्ठे अव्वहिए अपरिताविए इहमागए, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरामि,तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया,समणं भगवं महावीरं वंदामो! नमंसामो० जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं० जाव सव्विड्ढीए० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं० जाव नमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते! मए तुब्भं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाइए० जाव तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पियाणं जस्सम्मि पभावेण अकिट्ठे० जाव विहरामि, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया!० जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ,अवक्कमइत्ता० जाव बत्तीसइबद्धं नट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए,एवं खलु गोयमा! चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया ठिई सागरोवमं महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ०,जाव अंतं काहिइ। भ० ३ श० २ उ०।

(विकुर्वणावक्तव्यता 'विउव्वणा' शब्दे) (चमरस्याग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ताः) ('परिसा' शब्दे त्रिविधा पर्षत्) "चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो तिगिच्छिकूडे उप्पायपव्वए सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते।" स० १७ सम०। ('सामाणिय' शब्दे सामानिकदेवाः)

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तिगिच्छकूडे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ते। चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमस्स महारण्णो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। स्था० १० ठा०।

चामर--न०। चमर्या इदम् अण्। "घाञ्ययोत्खातादावदातः" ।८।१।६७। इत्याकारस्याकारः। चमरीपुच्छे, प्रा०१पाद।

चमरचंच-चमरचञ्च--पु०। चमरस्यावासपर्वते, (भ०)

चमरे णं भंते! असुरिंदे असुरराया चमरचंचे आवासे वसहिं उवेइ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं खाइणं अट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-चमरचंचे आवासे २?। गोयमा! से जहा णामए इहेव मणुस्सलोगंसि उवगारियलेणाइ वा उज्जाणियलेणाइ वा णिज्जाणियलेणाइ वा धारवारियलेणाइ वा तत्थ णं बहवे मणुस्सा य मणुस्सीओ य आसयंति, सयंति जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव कल्लाणफलविवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, एवामेव गोयमा! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे आवासे केवलं किड्डारतिपत्तियं अण्णत्थ पुण वसहिं उवेति, से तेणट्ठेणं० जाव आवासे॥

(उवगारियलेणाइ व त्ति) औपकारिकलयनानि प्रासादादिपीठकल्पानि। (उज्जाणियलेणाइ व त्ति) उद्यानगतजनानामुपकारकगृहाणि नगरप्रवेशगृहाणि वा (णिज्जाणियलेणाइ व त्ति) नगरनिर्गमगृहाणि (धारवारियलेणाइ व त्ति) धारा-

प्रधानं वारि जल येषु तानि धारावारिकाणि तानि च तानि शयनानि चेति वाक्यम् । (आसयंति त्ति) आश्रयन्ते ईषद्भजन्ते (सयंति त्ति) श्रयन्ते अनीषद्भजन्ते । अथवा-(आसयंति) ईषत्स्वपन्ति (सयति) अनीषत्स्वपन्ति (जहा रायप्पसेणइज्जे त्ति) अनेन यत्सुचित तदिदम्-" चिट्ठति " ऊर्ध्वस्थानेन तेषु तिष्ठन्ति " निसीयंति " उपविशन्ति (तुयट्टंति) निषण्णा आसते ' हसति ' परिहासं कुर्वन्ति ' रमति ' अक्षादिना रतिं कुर्वन्ति । ' ललति ' ईप्सितक्रियाविशेषान् कुर्वन्ति ' कीलति ' कामक्रीडां कुर्वन्ति ' किट्टति ' अन्तर्भूतकारितार्थत्वादन्यान् क्रीडयन्ति ' मोहयति ' मोहन निधुवनं विदधाति " पुरा पोराणाणं सुचिन्नाण सुपरक्कंताण सुभाणं कडाणं कम्माण " इति, व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (वसहिं उवेंति त्ति) वासमुपयान्ति । "एवामेव" इत्यादि । एवमेव मनुष्याणामौपकारिकादिलयनवच्चमरस्य ३,चमरचञ्चावासो न निवासस्थानं केवल किं तु (किड्डारतिपत्तिय त्ति) क्रीमायां रतिरानन्दः क्रीडारतिः । अथवा-क्रीडा च रतिश्च क्रीमारता, सा ते वा ; प्रत्ययो निमित्त यत्र तत्क्रीमारतिप्रत्यय , तत्रागच्छतीति शेषः । भ० १३ श० ६ उ० । दश० ।

चमरचंचा-चमरचञ्चा-स्त्री० । रत्नप्रभापृथिव्याः चमरस्यासुरराजस्य राजधान्याम्, स्था०४ ठा०२ उ० ।

कहि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सन्ना सुहम्मा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरदीवस्स वाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तिगिच्छकूडे नामं उप्पायपव्वए पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसे जोयणसए उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसए कोसं च उव्वेहेणं गोथूभस्स आवासपव्वयस्स पमाणेणं णेयव्वं, नवरं उवरिल्लं पमाणं मज्झे भाणियव्वं, मूले दसवावीसे जोयणसए विक्खंभेणं, मज्झे चत्तारि चउवीसे जोयणसए विक्खंभेणं, उवरिं सत्ततेवीसे जोयणसए विक्खंभेणं , मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं, दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं , मज्झे एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, उवरिं दोण्णि य जोणयसहस्साइं दोण्णि य छलसीए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं०, जाव मूले वित्थडे मज्झे संखित्ते उप्पिं विसाले मज्झे वरवइरविग्गहिए महामउंदसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे० जाव पडिरूवे, से णं एगाए पउमवरवेइयाए वणखंडेण य सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते पउमवरवेइयाए वणखंडस्स य वण्णओ-तस्स णं तिगिच्छकूडस्स उप्पायपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, वण्णओ-तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडिंसए पण्णत्ते, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं,पणवीसं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, पासायवण्णओ उल्लोयभूमिवण्णओ अट्ठजोयणाणि मणिपेढिया चमरस्स सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं , तस्स णं तिगिच्छकूडस्स दाहिणेणं छक्कोडिसए पणवण्णं च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्साइं पण्णासं च सहस्साइं जोयणाइं अरुणोदए समुद्दे तिरियं वीईवइत्ता अहे रयणप्पभाए पुढवीए चत्तालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा नामं रायहाणी पण्णत्ता , एगं जोयणसयसहस्स आयामविक्खंभेणं जंबूदीवप्पमाणा उवरियतलेणं सोलसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, पण्णासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउयजोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं , सव्वप्पमाणं वेमाणियस्स पमाणस्स अद्धं नेयव्वं ।

" कहि ण " इत्यादि । (असुरिंदस्स त्ति) असुरेन्द्रस्य स चेश्वरतामात्रेणाऽपि स्यादित्याह-असुरराजस्य अशवर्त्यसुरनिकायस्येत्यर्थः [उप्पायपव्वए त्ति] तिर्यग्लोकगमनाय यआगत्योत्पतति स उत्पातपर्वत इति । " गोथूभस्स " इत्यादि । तत्र गोस्तूभो लवणसमुद्रमध्ये पूर्वस्यां दिशि नागराजावासपर्वत ,तस्य चादिमध्यान्तेषु विष्कम्भप्रमाणमिदम्-" कमसो विक्खंभो से, दसवावीसाइ जोयणसयाइ । सत्तसए तेवीसे, चत्तारि सए य चउवीसे"॥१॥ इहैव विशेषमाह-"नवरं" इत्यादि । ततश्चेदमापन्नम्-" मूले दसवावीसे जोयणसए विक्खंभेण मज्झे चत्तारि चउवीसे उवरिं सत्ततेवीसे मूले तिण्णि जोयणसहस्साइ दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं मज्झे एग जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेण उवरिं दोण्णि जोयणसहस्साइ दोन्नि य छलसीए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेण " पुस्तकान्तरे त्वेतत्सकलमस्त्येवेति । (वरवइरविग्गहिए त्ति) वरवज्रस्येव विग्रह आकृतिर्यस्य स स्वार्थिकप्रत्यये सति वरवज्रविग्रहिको मध्यक्षाम इत्यर्थ । एतदेवाह-"महामउंदे" इत्यादि । मुकुन्दो वाद्यविशेषः। (अच्छे त्ति) स्वच्छ आकाशस्फटिकवत् , यावत्करणादिद दृश्यम्-"सण्हे" श्लक्ष्ण श्लक्ष्णपुद्गलनिर्वृतत्वात् 'लण्हे' मसृणः ' घट्ठे' घृष्ट इव घृष्टः खरशाणया प्रतिमेव ' मट्ठे ' मृष्ट इव मृष्टः सुकुमारशाणया प्रतिमेव प्रमार्जनिकयेव वा शोधितोऽत एव 'नीरए' नीरजा रजोरहित 'निम्मले' कठिनमलरहितः 'निप्पंके' आर्द्रमलरहितः ' निक्कंकडच्छाए ' निरावरणदीप्तिः ' सप्पभे ' सप्रभाव ' समिरिईए ' सकिरणः ' सउज्जोए ' प्रत्यासन्नवस्तूद्योतकः , (पासाईए पउमवरवेइयाए वणखंडस्स य वण्णओ त्ति) । वेदिकावर्णको यथा-"सा णं पउमवरवेइया अद्धं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइ विक्खंभेणं सव्वरयणामई तिगिच्छगकूडउवरितलपरिक्खेवसमा परिक्खेवेण-" वर्णकेतीसेण पउमवरवेइयाए इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते" वर्णकव्यासो वर्णकविस्तरः "वइरामया नेमा" इत्यादि । (नेम त्ति)

स्तम्भानां मूलपादाः,नवरं वनखण्डवर्णकस्त्वेवम्-"से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं पउमवरवेइयापरिक्खेवसमे परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे" इत्यादि। (बहुसमरमणिज्जे त्ति) अत्यन्तसमो रमणीयश्चेत्यर्थः। [वण्णओ त्ति] वर्णकस्तस्य वाच्यः। स चायम्-"से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा" आलिङ्गपुष्करं मुरजमुखं, तद्वत्सम इत्यर्थः। "मुइंगपुक्खरेइ वा सरतलेइ वा करतलेइ वा आयंसमंडलेइ वा चंदमंडलेइ वा" इत्यादि। [पासायवडिंसए त्ति] प्रासादोऽवतंसक इव शेखरक इव प्रधानत्वात्प्रासादावतंसकः। "पासायवण्णओ त्ति" प्रासादवर्णको वाच्यः। स चैवम्-" अब्भुग्गयमूसियपहसिए" अभ्युद्गतमभ्रोद्गतं वा यथा भवत्येवमुच्छ्रित, अथवा-मकारस्यागमिकत्वात् अभ्युद्गतश्चासावुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः, अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः, प्रथमैकवचनलोपश्चात्र द्रष्टव्यः। तथा प्रहसित इव प्रभापटलपरिगततया प्रहसितः प्रभया वा सितः शुक्लः संबद्धो वा प्रभासित इति। (मणिकणगरयणभत्तिचित्ते) मणिकनकरत्नानां भक्तिभिर्विच्छित्तिभिश्च चित्रो विचित्रो यः स तथा इत्यादि। (उल्लोयभूमिवण्णओ त्ति) उल्लोचवर्णकः प्रासादस्योपरिभागवर्णकः। स चैवम्-" तस्स णं पासायवडिंसगस्स इमेयारूवे उल्लोए पन्नत्ते पउमलयभत्तिचित्ते० जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे० जाव पडिरूवे"। भूमिवर्णकस्त्वेवम्-" तस्स णं पासायवडिंसयस्स बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पन्नत्ते। तं जहा-आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि। (सपरिवारं ति) चमरसम्बन्धिपरिवारसिंहासनोपेतम्। तच्चैवम्-"तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेण एत्थ णं चमरस्स चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउसट्ठी भद्दासणसाहस्सीओ पन्नत्ताओ, एवं पुरच्छिमेणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं पंचभद्दासणाइं सपरिवाराइं, दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भिंतरियाए परिसाए चउव्वीसाए देवसाहस्सीणं चउव्वीसं भद्दासणसाहस्सीओ, एवं दाहिणेणं मज्झिमाए अट्ठावीसं भद्दासणसाहस्सीओ, दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरियाए बत्तीसं पच्चच्छिमेणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सत्त भद्दासणाइं, चउद्दिसिं आयरक्खदेवाणं चत्तारि भद्दासणसहस्सचउसट्ठीओ त्ति"। "तेत्तीस भोम त्ति" वाचनान्तरे दृश्यते, तत्र भौमानि विशिष्टस्थानानि, नगराकाराणीत्यन्ये। (उवरियतलेणं ति) गृहस्य पीठबन्धकल्पम् (सव्वप्पमाणं वेमाणियपमाणस्स अद्धं नेयव्वं त्ति) अयमर्थः-यत्तस्यां राजधान्यां प्राकारप्रासादसभादि वस्तु तस्य सर्वस्योच्चत्वादिप्रमाणं सौधर्मवैमानिकविमानप्राकारप्रासादसभादिवस्तुगतप्रमाणस्यार्द्धं नेतव्यम्। तथाहि-सौधर्मवैमानिकानां विमानप्राकारो योजनानां त्रीणि शतान्युच्चत्वेन, एतस्यास्तु सार्द्धं शतं, तथा सौधर्मवैमानिकानां मूलप्रासादः पञ्च योजनानां शतानि, तदन्ये चत्वारस्तत्परिवारभूताः सार्द्धे द्वे शते, प्रत्येकं च तेषां चतुर्णामप्यन्ये परिवारभूताश्चत्वारः सपादं शतम्, एवमन्ये तत्परिवारभूताः सार्द्धा द्विषष्टिः, एवमन्ये सपादैकत्रिंशत्, इह तु मूलप्रासादः सार्द्धे द्वे योजनशते, एवमर्द्धार्द्धहीनास्तदपरे यावदन्तिमाः पञ्चदश योजनानि, पञ्च च योजनस्याष्टांशाः। एतदेव वाचनान्तरे उक्तम्-"चत्तारि परिवाडीओ पासायवडिंसगाणं अद्धद्धहीणाओ त्ति।" एतेषां च प्रासादानां चतसृष्वपि परिपाटीषु त्रीणि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि भवन्ति। एतेभ्यः प्रासादेभ्यः उत्तरपूर्वस्यां दिशि सभा, सुधर्मा, सिद्धायतनमुपपातसभा, ह्रदोऽभिषेकसभा, अलङ्कारसभा, व्यवसायसभा चेति। एतानि च सुधर्मसभादीनि सौधर्मवैमानिकसभादिभ्यः प्रमाणतोऽर्द्धप्रमाणानि, तत्रश्चोच्छ्रय इहैषां षट्त्रिंशद्योजनानि, पञ्चाशदायामो, विष्कम्भश्च पञ्चविंशतिरिति। एतेषां च विजयदेवसम्बन्धिनामिव "अणेगखंभसयसन्निविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवइरवेइया" इत्यादि वर्णको वाच्यः। तथा "दाराण उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता" इत्यादिरलङ्कारश्च सभादीनां वाच्यः। सर्वं च जीवाभिगमोक्तं विजयदेवसम्बन्धि चमरस्य वाच्यं, यावदुपपातसभायां सङ्कल्पश्चाभिनवोत्पन्नस्य किं मम पूर्वं पश्चाद्वा कर्तुं श्रेय इत्यादिरूपः, अभिषेकश्चाभिषेकसभायां महर्द्ध्या सामानिकादिदेवकृतः, विभूषणा च वस्त्रालङ्कारकृता अलङ्कारसभायाम्, व्यवसायश्च व्यवसायसभायाम्, पुस्तकवाचनतोऽर्चनिका च सिद्धायतने सिद्धप्रतिमादीनां सुधर्मसभागमनं च सामानिकादिपरिवारोपेतस्य चमरस्य परिवारश्च सामानिकादि ऋद्धिमत्त्वं च "एवं महिड्ढिए" इत्यादिवचनैर्वाच्यमस्येति, एतच्च वाचनान्तरेऽर्थतः प्रायोऽवलोक्यत एव। भ० २ श० ८ उ०।

कहि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चरमचंचा णामं आवासे पन्नत्ते ?। गोयमा ! जंबूदीवे दिवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे एवं जहा बितियसए सभाउद्देसए वत्तव्वया सव्वेव अपरिसेसा णेतव्वा, णवरं इमं णाणत्तं० जाव तिगिच्छिकूडस्स उप्पायपव्वयस्स चमरचंचा रायहाणी चमरचंचस्स आवासपव्वयस्स अन्नेसिं च बहूणं सेसं तं चेव० जाव तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं किंचिविसेसाहिया परिक्खेवेणं तीसे णं चमरचंचाए रायहाणीए दाहिणपच्चच्छिमेणं छक्कोडिसए पणपन्ने च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्साइं पन्नासं च सहस्साइं अरुणोदगसमुद्दे तिरियं वीईवइत्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा णामं आवासे पन्नत्ते, चउरासीइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं दो जोअणसयसहस्सा पण्णट्ठिं च सहस्साइं छच्च बत्तीसे जोअणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं; से णं एगाए पागारेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते से णं पागारे दिवड्ढं जोअणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं, एवं चमरचंचा रायहाणी वत्तव्वया भाणियव्वा सभाविहूणा० जाव चत्तारि पासायपंतीओ। चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरराया चमरचंचे आवासे वसहिं उवेइ ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं खाइ अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ चमरचंचे आवासे ?। चमरचंचे आवासे गोयमा ! से जहाणामए इहेव मणुस्सलोगंसि उवगारियलेणाइ वा उज्जाणियलेणाइ वा णिज्जाणियलेणाइ वा धारवारियलेणाइ वा तत्थ णं बहवे मणुस्सा य मणुस्सीओ य आसयंति, सयंति, जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव कल्लाणफलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, एवामेव गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे आवासे केवलं किड्डारतिपत्तियं,

अन्नत्थ पुण वसहिं उवेंति, से तेणट्ठेणं० जाव आवासे ॥

सुधर्म्माद्याः पञ्चेह सभा न वाच्याः, कियद्दूरं यावदियमिह चमरचञ्चाराजधानीवक्तव्यता भणितव्येत्याह- (जाव चत्तारि पासायपंतीओ त्ति) ताश्च प्राग्दर्शिता एवेति (उवगारियलेणाइ व त्ति) औपकारिकलयनानि प्रासादादिपीठकल्पानि (उज्जाणियलेणाति व त्ति) उद्यानगतजनानामुपकारकगृहाणि नगरप्रवेशगृहाणि वा (निज्जाणियलेणाति व त्ति) नगरनिर्गमगृहाणि । (धारवारियलेणाति व त्ति) धाराप्रधान वारि जलं येषु तानि धारावारिकाणि तानि च तानि लयनानि चेति वाक्यम् । [आसयति त्ति] आश्रयन्ते ईषद्भजन्ते (सयति त्ति) श्रयन्ते अनीषद्भजन्ते । अथवा-(आसयति त्ति) ईषत्स्वपन्ति (सयंति) अनीषत्स्वपन्ति (जहा रायप्पसेणइज्जे त्ति) अनेन यत्सूचितं तदिदम्-' चिट्ठंति ' ऊर्द्धस्थानेन तेषु तिष्ठन्ति ' निसीयति ' उपविशन्ति ' तुयट्टंति ' निषण्णा आसते ' हसति ' परिहासं कुर्वन्ति ' रमंति ' अक्षादिना रतिं कुर्वन्ति (ललति) ईप्सितक्रियाविशेषान् कुर्वन्ति ' कीलंति ' कामक्रीडा कुर्वन्ति । ' किट्टंति ' अन्तर्भूतकारितार्थत्वादन्यान् क्रीमयन्ति । ' मोहयति ' मोहनं निधुवनं विदधति " पुरा पोराणाण सुचिन्नाणं सुपरकंताण सुभाणं कडाणं कम्माण ति " व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (वसहिं उवेंति त्ति) वासमुपयान्ति "एवामेव" इत्यादि । एवमेव मनुष्याणामौपकारिकादिलयनवच्चमरस्य चमरचञ्चावासो न निवासस्थानं केवलं, किन्तु (किड्डारतिपत्तिय त्ति) क्रीमायां रतिरानन्दः क्रीमारतिः। अथवा-क्रीडा च रतिश्च क्रीमारती, सा ते वा प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीमारतिप्रत्ययं, तत्रागच्छतीति शेषः । भ० १३ श० ६ उ० । द्वी० ।

तत्र सभाः-

चमरचंचाए णं रायधाणीए पंच सभाओ पन्नत्ता । तं जहा-सभा सुहम्मा उववायसभा अभिसेयसभा आलंकारियसभा ववसायसभा ।

चमरचञ्चारत्नप्रभापृथिव्यां चमरस्यासुरकुमारराजस्येति सुधर्मासभा यस्यां शय्या, उपपातसभा यस्यामुत्पद्यते, अभिषेकसभा यस्यां राज्याभिषेकेणाभिषिच्यते, अलङ्कारिका यस्यामलङ्क्रियते, व्यवसायसभा यत्र पुस्तकवाचनतो व्यवसाय तत्त्वनिश्चयं करोति, एताश्च यथाक्रममुत्तरपूर्वस्यां द्रष्टव्या इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो चमरचंचाए रायहाणीए एक्कमेक्कवाराए तेत्तीसं २ भोमा पण्णत्ता ॥

(तेत्तीसं भोम त्ति) भौमानि नगराकाराणि, विशिष्टस्थानानीत्यन्ये । स० ३३ सम० ।

तत्रोपपातविरहः--

चमरचंचा णं रायहाणी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं ॥

" चमरचञ्चेत्यादि " चमरस्य दाक्षिणात्यस्यासुरनिकायनायकस्य, चञ्चा चञ्चाख्या नगरी चमरचञ्चा, या हि जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यारुणवरद्वीपस्य बाह्याद्वेदिकान्तादरुणोदं समुद्रं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य चमरस्यासुरराजस्य तिगिच्छिकूटो नाम य उत्पातपर्वतोऽस्ति सप्तदशैकविंशत्युत्तराणि योजनशतान्युच्चः, तस्य दक्षिणेन षट्योजनकोटिशतानि साधिकान्यरुणोदे समुद्रे तिर्यग् व्यतिव्रज्याधो रत्नप्रभायाः पृथिव्याश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य व्यवस्थिता जम्बूद्वीपप्रमाणा चं, सा चमरचञ्चा राजधानी उत्कृष्टेन षण्मासान् विरहिता वियुक्ता उपपातेन, इहोत्पद्यमानदेवानां षट्मासान् यावत् विरहो भवतीति भावः । स्था० ६ ठा० ।

चमरपच्छिमसरीर-चमरपश्चिमशरीर-न० । चमराणां गोविशेषाणां पश्चिमशरीरम् देहपश्चाद्भागः । चामरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चमरुप्पाय-चमरोत्पात-पुं० । चमरस्यासुरराजस्योत्पतने ऊर्द्धगमने, स्था० १० ठा० । (स च ' अच्छेर ' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे उक्तः । चमरशब्देऽस्मिन्नेव भागे१११३ पृष्ठे चोक्तः)

चमस-चमस-पुं० । दर्विकायाम् , औ० ।

चमू-चमू-स्त्री० । सेनायाम, आ० म० द्वि० । ज्ञा० ।

चम्म-चर्मन्-न०। कृतौ, धा० । सलोमकृत्स्नचर्मग्रहणम ।(सू०)

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुं, निषदनादिना परिभोक्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

चम्मम्मि सलोमम्मी, णिग्गंथीणं उवेसमाणीणं ।
चउगुरुगाऽऽयरियादी, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

सलोमनि चर्मणि निर्ग्रन्थीनामुपविशन्तीनां चतुर्गुरुकाः । अत एवाचार्य एतत्सूत्रं प्रवर्तिन्या न कथयति चतुर्गुरवः, प्रवर्तिनी श्रमणीनां न कथयति चतुर्गुरुकाः, श्रमण्यो न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु, तत्राप्यकथने अश्रवणे सलोमचर्मोपवेशने वाऽऽज्ञादयो दोषाः ।

अथानन्तरोक्तमेव प्रायश्चित्तं विशेषयन्नाह—

गहणे चिट्ठे णिसीयणे, तुयट्टणे च गुरुगा सलोमम्मि ।
णिल्लोमे चउगुरुगा, समणीणारोवणा चम्मे ॥

सलोमचर्मणो ग्रहणं कुर्वन्ति चतुर्गुरु, कालेन च लघवः, गृहीत्वा तत्र स्थानरूपं कुर्वन्ति चतुर्गुरुकाः, तपसा लघवः, कालेन गुरवः, निषदनं कुर्वन्ति चतुर्गुरुकाः, तपसा गुरवः, कालेन लघवः, त्वग्वर्तनं कुर्वन्ति तपसा कालेन च गुरवः, निर्लोमचर्मणि तु चतुर्लघुकाः, एवमेव चतुर्षु स्थानेषु तपःकालविशेषिता एषा श्रमणीनां चर्मणि चर्मविषयाऽऽरोपणा मन्तव्या ।

अत्र दोषान् दर्शयति-

कुंथुपणगाइ संजमे, कंटगअहिविच्छुगाइ आयाए ।
जारो जय भुत्तियरे, पडिगमणाई सलोमम्मि ॥

सलोमचर्माणि कुन्थुपनकादयो वर्षासु संमूर्छयेयुः, तेषु स्थाननिषदनादिना विराध्यमानेषु संयमविराधना, कण्टकेन, अहिना, वृश्चिकादिना वा तत्रोपविष्टा क्षता वा भक्षिता वा

प्नुवन्ति सा आत्मविराधना, मारक्ष मार्गे गच्छन्तीनां तस्य महान् भवति, भय च स्तेनादिभ्यस्तन्निमित्तं भवति भुक्तभोगिनीनां च स्मृतिकरणम्, इतरासां तु कौतुकमुपजायते, ततश्च प्रतिगमन भूयोऽपि गृहवासाश्रयणम्, आदिशब्दादन्यतीर्थिकगमनादि वा कुर्युः ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति—

तसपाणविराहणया, चम्मसलोमे तु होति अहिकरणं ।
निल्लोमे तसपाणग, कुंथुयमाणे य करणं वा ॥

सलोमनि चर्मणि ससत्त्वाना कुन्थुप्रभृतीनां त्रसप्राणिनां विराधना भवति , तथातिरिक्तोपकरणत्वादधिकरणं भवति , निर्लोमन्यपि चर्मणि परिभुज्यमाने त्रसप्राणिनो विराध्यन्ते कुन्थुमति च तस्मिन् करणं पादकर्म संयती कुर्यात् ।

अविदिण्णोवधि पाणा,पडिलेहा वि य ण सुज्झति सलोमे ।
वासासु य संसज्जति , पतावणतावणे दोसा ॥

तीर्थकरैरवितीर्णोऽदत्तोऽय सलोमचर्मलक्षण उपधि , शुषिरतया च तत्र लोमान्तरेषु प्राणिन सम्मूर्च्छन्ति, प्रत्युपेक्षणाऽपि च न शुद्ध्यति, वर्षासु च कुन्थुपनकादिभि तच्चर्म संसज्यते, यदि संसक्तभयात्प्रतापयति ततोऽग्निविराधना , अथ न प्रतापयति तत प्रसप्राणिन संसज्जन्ति, एवमुभयथाऽपि दोषा भवन्ति ।

आगंतुतदुब्भूया सत्ता, सुसिरे वि णिण्हितुं दुक्खं ।
अह उज्झति तो मरण, सलोमणिल्लोमचम्मेऽयं ॥

आगन्तुकास्तदुद्भूताश्च कुन्थुपनकादय सत्त्वा. अशुषिरेऽपि ग्रहीतु दु खेन शक्यन्ते, किं पुन शुषिरे सलोमचर्मणि, ततो यत्तेषां भूयो भूय संघट्यमानाना परितापन तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम्, अथ तद्भयात् जन्तूनुज्झति ततस्तेषा मरण भवेद तत सलोमचर्माऽशिवोक्तम् ।

अथ सलोमनिर्लोम्नोरुभयोरपि दोषा उच्यन्ते—

भारो भय परितावण, मारण अहिकरणमेव अविदिन्नं ।
तित्थयरगणहरेहिं, सतिकरणं भुत्तभोगीणं ॥

सलोम्ना निर्लोम्ना वा चर्मणा मार्गे गच्छन्तीनां भारो भय चोत्पद्यते, परितापन मारण वा भवति । अथैतद्दोषभयात् परित्यजति , ततोऽसयतैर्गृहीते अधिकरणम्, तीर्थकरगणधरैश्चावितीर्णोऽदत्तोऽयमुपधिः, सलोमनि च कुन्थुपनकादिजीवानां परिभुज्यमाने स्मृतिकरण भुक्तभोगिनीनाम्, इतरासां कौतुकमुपजायते ।

कथमित्याह—

जइ ता अचेतणम्मि, अइणे फरिसो उ एरिसो होति ।
केरिस सचेयणम्मी, पुरिसे फरिसो उ गमणादी ॥

यदि तावदचेतने अजिने चर्माणि ईदृश स्पर्शो भवति ततः किं पुन. सचेतनस्य पुरुषस्य स्पर्शो भवति , एव विचिन्त्य काचिदार्यिका गमनमवधावनं कुर्यात्, आदिशब्दाद् विहायसमरणं वा प्रतिपद्यते ।

द्वितीयपदमाह—

बिइयपर्दे कारणम्मी, चम्मुव्वल्लणे तु होति निल्लोमं ।
आगाढकारणम्मी, चम्मसलोमम्मि जयणाए ॥

द्वितीयपदे कारणे चर्माऽपि गृह्णीयात्, कथमित्याह-उद्वलनम्यङ्गन कस्याश्चिदार्यिकाया. कर्तव्य, तदर्थं निर्लोम चर्म गृह्यते । अथागाढ कारणं, ततः सलोमचर्मणोऽपि यतनया परिभोग. कर्तव्य इति ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति-

उच्छम्मि वायम्मि धणुग्गहे वा,अरिसासि सूले व विमोइतव्वे ।
एगंगसव्वंगगए व वाते, अब्भिंगिता चिट्ठति चम्मलोमे ॥

यस्याः सयत्याः प्राचुर्येणोर्द्धो वात उच्छलति, धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो, य. शरीरं कुब्जीकरोति, स वा यस्या भजनिष्ट, अर्शांसि वा सजातानि,शूल वा अभीक्ष्ण मुद्धावति,पाणिपादादयश्च विमोचित स्वस्थानाच्चलितम्, एकाङ्गतो वा सर्वाङ्गतो वा कस्याश्चिद् वातः समुत्पन्नः, सा निर्लोमचर्मणि अभ्यङ्गिता तिष्ठति ।

अथ सलोमविषयं विधिमाह-

तरच्छुचम्मं अणिलामयस्स, कमि व वेढेंति जाहिं व वातो ।
एरंडऽणेरंड सुणेण दक्कं, वेढेंति ठायति व दीविचम्मे ॥

अनिलमयीं वातरोगिणीं तरच्छुचर्मणा वेष्टयन्ति, यत्र वा हस्तादौ वातो भवति त वेष्टयन्ति,परएडेन वा हमिक्किनेन वा अनेरएडेन वा,शुनाऽऽदिदष्टानां वा चर्मणा वेष्टयन्ति, द्वीपिचर्मणि वा तान् स्थापयन्ति ।

पुया व घसंति अणत्थरम्मि,पासा व घसंति व थेरियाए।
लोहारमादी दिवसोवभुत्ते,लोमाणि काउं अह संपिहंति ॥

स्थविरायाः संयत्या अनास्तृते प्रासादे उपविशन्त्याः पुतौ घृष्येते, सुप्ताया वा पार्श्वौ घृष्येते, तत. सलोमचर्मापि, यदि च सा लोहकारादिभिरुपविशाद्भिरुपभुक्तं तत्प्रातिहारिकं दिने दिने मार्गेऽपि लोमान्यध कृत्वा सपिदधाति, परिभुज्जते इत्यर्थः ।

दिवसे दिवसे य दुल्लभं, उचत्तं घेत्तुं तमाइणं ।
लोमेहि णं संविओयए, मउअट्ठा च न ते समुद्धरे ॥

अथ प्रातिहारिक दिवसे दिवसे गवेष्यमाणं दुर्लभ, न लभ्यते इत्यर्थ.। तत उचत्वेन 'परिमित' तदजिनं गृहीत्वा रोमाभिः संवियोजयेत, रोमाणयुत्खुभेदिति भावः । अथ तेषु स्थानेषु न तदजिन परुपस्पर्श भवति ततो मृद्वर्थं न तानि रोमाणि समुद्धरेत् ॥ बृ० ३ उ० ॥

जे भिक्खू सलोमाइं चम्माइं धारेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥५॥

सह लोमेहिं सलोम अहिट्ठेइ,नाम ममेमं ति जो गिण्हइ,तस्स चउलहु ।

चम्मम्मि सलोमम्मी, ठाणणिसीयणतुयट्टणादीणि ।
जे भिक्खू तेगिच्छा, सो पावति आणमादीणि ॥ २१ ॥

सलोमे चम्मे जो ठाण चेव त्ति करे णिसीयइ तुयट्टइ वा,सो आणादिदोसे पावति, इमं व से पच्छित्तं । नि० चू० १२ उ० ॥

कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए, से वि परिभुत्ते, नो चेव णं अपरिभुत्ते, से वि य परिहारिए, नो चेव णं अपरिहारिए, से वि य एगराईए, नो चेव णं अणेगराईए ॥

कल्पते निर्ग्रन्थानां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुं परिभोक्तुं, तत्रापि यत् चर्म परिभोक्तुं तदेव ग्राह्यं नोऽपरिभुक्तं, तदपि च प्रातिहारिकं, नोऽप्रातिहारिकं, तदपि चैकरात्रकं, नैवानेकरात्रिकमिति सूत्रार्थः । एतन्निर्ग्रन्थानामपवादसूत्रम् ।

अथ शिष्यः प्राह-निर्ग्रन्थानां किं कारणं न कल्पते? । सूरिराह-

दोसा उ जे होंति तवस्सिणीणं,
लोमाइणे ते ण जतीण तम्मि ।
तं कप्पती तेसि सुतोवदोसा,
जं कप्पती तासि ण तं जतीणं ॥

ये दोषाः स्मृतिकरणादयस्तपस्विनीनां लोमयुक्ते अजिने चर्मणि भवन्ति, ते यतीनां तस्मिन् सलोमचर्मणि न भवन्ति । अतस्तत्कल्पते तेषां श्रुतोपदेशात्प्रस्तुतसूत्रवचनात्, यच्च निर्लोम चर्म तासां कल्पते, न तद्यतीनां, स्मृतिकरणादिदोषप्रसङ्गादिति, सलोमापि चर्म निर्ग्रन्थानामुत्सर्गतो न कल्पते ।

यत आह-

निग्गंथाण सलोमं, ण कप्पती सुसिर तं तु पंचविहं ।
पोत्थग तण दूसं तं, दुविहं चम्मं पि पणगं च ॥

सलोमचर्म निर्ग्रन्थानां न कल्पते शुषिरं जीवाश्रयस्थानमिति कृत्वा । बृ० ३ उ० ।

अत्र परः प्राह-

दिट्ठा सलोमे दोसा, णिल्लोमं णाम कप्पती घेत्तुं ।
गेण्हाणे गुरुगा पडिले-हपणगतसपाणसतिकरणं ॥

सलोमचर्मणि यतो दोषा दृष्टा अतो निर्ग्रन्थानां निर्लोमचर्म नामेति सम्भावयामः कल्पते ग्रहीतुम् । सूरिराह-यदि निर्लोमचर्मणो ग्रहणं करोति ततश्चतुर्गुरुकाः, यत्सूत्रप्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति, पनकत्रसप्राणिनो वा समूर्च्छन्ति, सुकुमारतया भुक्तभोगिनां स्मृतिकरणं भवति, अभुक्तभोगिनस्तु कौतुकम् ।

इदमेव स्पष्टयति-

भुत्तस्स सतीकरणं, सरिसं इत्थीण एय फासेणं ।
जाति ता अचेयणम्मि, फासो किमु चेयणे इतरे ॥

भुक्तभोगिनः स्मृतिकरणं भवति-अहो! स्त्रीणां सम्बन्धी यः स्पर्शोऽस्माभिरनुभूतपूर्वः तेन सदृशमेतच्चर्माप्येनादृशसुखस्पर्शोऽनुभूयते । किं पुनः सचेतने इतरस्मिन् स्त्रीशरीरे भविता, एवं विचिन्त्य प्रतिगमनादीनि कुर्युः, यत एते दोषा अतो निर्लोम गृहीतुं न कल्पते, तर्हि मा कल्पतां, यत्तु सलोमकं तत्तावदेतत्सूत्रेणानुज्ञातं, भवद्भिस्तु तदपि प्रतिषिद्धं, तदेतत् कथमिति? ।

अत्रोच्यते-

सुत्तनिवाओ वुड्ढे, गिलाण तद्दिवसभुत्त जतणाए ।
आगाढे च गिलाणे, मक्खण घट्टे भिन्ने अरिसीओ ॥

सूत्रनिपातो वृद्धे ग्लाने वा भवति, वृद्धस्य ग्लानस्य वा तृणस्पर्शमसहिष्णोरास्तरणार्थं सलोम चर्म ग्राह्यमिति भावः । तच्च तद्दिवसभुक्तं, कुम्भकारादिभिस्तस्मिन्नेव दिवसे परिभुक्तम्, तत्र हि त्रसादयः प्राणिनो न भवन्ति, तच्च गृहीत्वा यतनया रोमाण्युपरि कृत्वा परिभोक्तव्यम्, आगाढे च ग्लानत्वे यस्तैलेन म्रक्षणं तदर्थं,यस्य वा गुदादिपार्श्वाणि घृष्टानि,यो वा साधुर्भिन्नकुष्ठी, यस्य वा अर्शांसि समुद्भूतानि तदर्थं वा निर्लोम चर्म ग्रहीतव्यमिति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

संथारह गिलाणे, अनिलादी चम्म घेप्पति सलोमं ।
वुड्ढाऽसहबालाण व, अत्थरणट्ठा वि एमेव ॥

ग्लानस्य संस्तारकार्थम् अनिलादिसम्बन्धि सलोम चर्म गृह्यते, वृद्धाऽसहिष्णुबालानामप्यास्तरणार्थमेवमेव सलोम चर्म ग्राह्यम् ।

तच्च कीदृशमित्याह-

कुंभारलोहकारे-हिं दिवसमलिय भुत्तं तसविहूणं ।
उवरिं लोमे काउं, सोत्तुं गोसे तमप्पेंति ॥

कुम्भकारलोहकारादिभिः स्वस्वकर्मकुर्वाणैर्यद्दिवसतो मलितं परिभुक्तं तत् त्रसविहीनं भवति । अतः सन्ध्यासमये तेषां तत्प्रातिहारिकं गृहीत्वा लोमान्युपरि कृत्वा रात्रौ तत्र सुप्त्वा 'गोसे' प्रभाते प्रत्यर्पयन्ति ।

अब्भंगणादि णिल्लो-म तेल्ल चमड्ड घेप्पती चम्मं ।
घट्ठा व जस्स पासा, गलंतकोढेऽरिसासुं वा ॥

अभ्यङ्गणादितैलेन वा ग्लानस्याभ्यङ्गे विधातव्ये निर्लोम चर्म ग्रहीतव्यम्, अध्वानादौ वा चर्मार्थम्, यस्य वा पार्श्वानि घृष्टानि तस्यास्तरणार्थं,यो वा गलत्कुष्ठः साधुस्तस्य परिधानार्थमास्तरणार्थं वा, अर्शांसि वा यस्य समुत्पन्नानि तस्योपवेशनार्थं निर्लोम चर्म गृह्यते ।

सोणिय पूयालित्ते, दुक्खं धुवणा दिणे चीरे ।
कच्छुल्ले किमिभिल्ले, उप्पतिगिल्ले व णिल्लोमं ॥

शोणितेन पूयेन वा आलिप्तस्य चीवरस्य दिने दिने धुवना दुष्करा,अतः कच्छूवतः किट्टिभवतश्च निर्लोम चर्म कल्पते। कच्छूः पामा, किटिभं शरीरैकदेशस्रावी कुष्ठभेदः, तथा यस्य षट्पदिका प्राचुर्येण समूर्च्छन्ति स षट्पदिकावान् निर्लोम चर्म परिधानं गृह्णाति ।

जह कारणे णिल्लोमं,तु कप्पती तह भवेज्ज इयरं पि ।
आगाढे सलोमं आ-दि काउ जा पोत्थए गहणं ॥

यथा कारणे निर्लोम चर्म कल्पते तथा इतरदपि शुषिरमपि ग्रहीतुं कल्पते । किं बहुना? आगाढे कारणे सलोम चर्म आदौ कृत्वा पश्चानुपूर्व्या तावन्नेतव्यं यावत्पुस्तकस्याऽपि ग्रहणं कर्तव्यम् ।

एतदेव स्पष्टयति-

भत्तपरिन्नगिलाणे, कुसमादि खराऽसती तु झुसिरा वि ।
अप्पडिलेहिय दूसा-ऽसती तु पच्छा तणा होंति ॥

भक्तपरिज्ञावतः प्रतिपन्नानशनस्य,तथा ग्लानस्यास्तरणार्थं कुशादीन्यशुषिरतृणानि गृह्यन्ते, अथ तानि खराणि कर्कशानि नवानि प्राप्यन्ते, तत शुषिराण्यपि तृणानि गृहीतव्यानि । अनशनिनो ग्लानस्य वा सुखशयनार्थं प्रथमतोऽप्रत्याख्यानिनो ग्लानस्य वा सुखशयनार्थं प्रथमतोऽप्रत्युपेक्ष्य दूष्यम् उपधानं तूलादि ग्रहीतव्यं, तदभावे यथाक्रमम्-

शुषिराणि पश्चात् तृणानि भवन्ति, तानि प्रस्तीर्यन्त इत्यर्थः ।

दुप्पलेहिय दूसे, अद्धाणादी विचित्त गेण्हंती ।
घेप्पति पोत्थगपणगं, कालियणिज्जुत्ति कोसट्ठा ॥

अध्वादौ विविक्तमुषिताः सन्तो यथोक्तमुपधिमलभमाना दुष्प्रत्युपेद्य दूष्याणि केऽपि प्रावारप्रभृतीनि गृह्णन्ति, तथा मतिमेधादिपरिहाणिं विज्ञाय कालिकश्रुतस्य, उपलक्षणत्वादुत्कालिकश्रुतस्य वा, निर्युक्तीनां वा आवश्यकादिप्रतिबद्धानां दानग्रहणादौ कोश इव भाण्डागारमिवेदं भविष्यतीत्येषमर्थं पुस्तकपञ्चकमपि गृह्यते ।

कृत्स्नचर्मग्रहणम्-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं वण्णाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।

अस्य सबन्धमाह-

चम्मं चेवाहिकयं, तस्स पमाणमिह मिस्सिए सुत्ते ।
अपमाणं पमिसिज्झति, ण उ गहणं एस संबंधो ॥

इह पूर्वसूत्रे चर्मैव तावदधिकृतमतस्तस्य चर्मणः प्रमाणमिह मिश्रिते निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीप्रतिबद्धे सूत्रे प्ररूप्य ततोऽप्रमाण प्रमाणातिरिक्तं तत्प्रतिषिध्यते न तु पुनः सर्वथा चर्मणो ग्रहणम् । एष संबन्धः ।

अहवा अत्थरणट्ठा, तं वुत्तमिदं तु पादरक्खट्ठा ।
तस्स वि य वन्नगादी, पमिसेहेंती इहं सुत्ते ॥

अथवा-तत्पूर्वसूत्रोक्तं चर्म आस्तरणार्थमुक्तम, इदं तु प्रस्तुतसूत्रं पादरक्षार्थमुच्यते, तस्यापि च चर्मणो ये वर्णादयो गुणास्तद्युक्तमिह सूत्रे प्रतिषेधयति । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा कृत्स्नानि प्रमाणादिभिः प्रतिपूर्णानि चर्माणि धारयितु वा, परिहर्तु वेति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

सगलप्पमाणवण्णे, बंधणकसिणे य होइ नायव्वो ।
अकसिणमट्ठारसगं, दोसु वि पासेसु खंडाइं ॥

कृत्स्नं चतुर्धा-सकलकृत्स्नं, प्रमाणकृत्स्नं, वर्णकृत्स्नं, बन्धनकृत्स्नं चैव भवति ज्ञातव्यम् । एतच्चतुर्विधमपि न कल्पते प्रतिग्रहीतुम । परः प्राह-यद्येव ततो यदकृत्स्नं चर्म तदष्टादशभिः खण्डैः कर्तव्यमित्यर्थः । तानि च खण्डानि द्वयोरपि पार्श्वयोः परिज्ञातव्यानि इति सग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह-

एगपुड सकलकसिणं, दुपुमादीयं पमाणतो कसिणं ।
खल्ल खओसा वग्गुरि, कोसग जंघऽद्धजंघा य ॥

एकपुटमेकतरं चर्म सकलकृत्स्नमुच्यते । द्विपुटादिकं द्वित्रिप्रभृतितलं तु प्रमाणतः कृत्स्नम्, तथा खल्लका द्विधा-अर्द्धखल्लका,समस्तखल्लका च । या पदार्धं छादयति साऽर्द्धखल्लका। या पुनरुपानत् सपूर्णं पदं स्थगयति सा समस्तखल्लका, या तु घुण्टकं पिदधाति सा खपुसा, या पुनरङ्गुलीश्छादयित्वा पादावप्युपरि छादयति सा वागुरा । यत्र तु पाषाणादिषु प्रतिस्फलिताः पादा नखा वा न भज्यन्तामिति बुद्ध्या अङ्गुल्यो-

ऽङ्गुष्ठौ वा प्रक्षिप्यन्ते स कोशकः, या तु संपूर्णां जङ्घां पिदधाति सा जङ्घा, जङ्घार्द्धपिधायिनी सैवार्द्धजङ्घा, एतान्यपि प्रमाणकृत्स्नानि ।

अथैतदेव स्पष्टयति-

पायस्स जं पमाणं, तेण पमाणेण जा भवे कमणी ।
मज्झे तत्थ अखंमा, अन्नत्थ व सकलकसिणं तु ॥

पादस्य यत्प्रमाणं तेन प्रमाणेन या युक्ता क्रमणिका मध्यप्रदेशे अन्यत्र वाऽखण्डा भवति तदेव सकलकृत्स्नमुच्यते ।

दुपुमादि अद्धखल्ला, समत्तखल्ला य वग्गुरी खपुसा ।
अद्धजंघा समत्था, पमाणकसिणं मुणेयव्वं ॥ ४ ॥

द्विपुटादिका द्वित्रिप्रभृतितलोपेता या उपानत्, या वाऽर्द्धखल्ला समस्तखल्ला वागुरा खपुसा अर्द्धजङ्घा चेति सर्वमप्येतत् प्रमाणकृत्स्नं ज्ञातव्यम् ।

तत्रैव कानिचिद्विषमपदानि व्याचष्टे-

उवरिं तु अंगुलीओ, जाया एसा तु वग्गुरी होति ।
खपुसय खल्लगमेत्तं, अद्धं सव्वं व दो इयरे ॥

या पादयोरङ्गुलीः छादयित्वा उपर्यपि छादयति सा वागुरा भवति । खल्लको घुण्टकस्तन्मात्र यावदाच्छादयति सा खपुसा, इतरे तु द्वे जङ्घार्द्धजङ्घालक्षणे अर्द्धां सर्वां वा जङ्घां यथास्य छादयति । गत प्रमाणकृत्स्नम् ।

अथ वर्णकृत्स्नबन्धकृत्स्ने प्रतिपादयति-

वण्णड्ढं वण्णकसिणं, त पंचविहं तु होइ नायव्वं ।
बहु बंधणकसिण पुण, पुरेण जं तिण्ह बंधाणं ॥

यत् चर्म वर्णेनाढ्यम, उज्ज्वलमित्यर्थः, तद्वर्णकृत्स्नम्, तच्च कृष्णादिवर्णभेदात्पञ्चविध ज्ञातव्यं, यत्तु त्रयाणां बन्धानां पुरतो बहुबन्धैर्बद्ध तद् बन्धनकृत्स्नमुच्यते ।

अथैतेष्वेव प्रायश्चित्तमाह-

लहुओ लहुगा दुपुमा-दिएसु गुरुगादि खल्लगादीसु ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमावाए ॥

सकलकृत्स्नं गृण्हतां लघुमास ,द्विपुटादिषु चत्वारो लघवः, खल्लकादिषु समस्तार्द्धखल्लकाखपुसावागुराजङ्घार्द्धजङ्घासु, चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः,विराधना च संयमात्मविषया भवति । तत्र क्रमणिकादिभिः पिनद्धाभिः कीटिकादिव्यपरोपणात् संयमविराधना,आत्मविराधना तु बन्धे छिन्ने सति प्रस्खलनं भवेत्, प्रमत्तं वा देवता छलयेत् । अर्द्धखल्लकायामुपानहि चतुर्गुरु, तपसा कालेन च लघुकं, समस्तखल्लकायां कालगुरुकं, वागुरिकायामन्यतरेण तपसा कालेन वा गुरुकं, खपुसायां तपोगुरुकम, अर्द्धजङ्घायां समस्तजङ्घायां च तपसा कालेन च गुरुकम ।

किञ्च-

जत्तियमित्ता वारा, तु बंधते मुंचते व जति वारा ।
सट्ठाणं ततिवारे, होती वुड्ढी य पच्छित्ते ॥

यावन्मात्रान् वारानङ्गुलीकोशसकलकृत्स्नादिकं बध्नाति मुञ्चति वा, यदि तावन्तो वाराः स्वस्थानं नाम यदत्र पञ्च-

कादि चतुर्गुरुकान्त प्रायश्चित्तमुक्तं, तथा आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु, अनवस्थायां चतुर्लघु, मिथ्यात्वे चतुर्लघु, आत्मविराधनायां चतुर्गुरु, संयमविराधनायां कायनिष्पन्नमेवमाज्ञादिभिः पदैरभीक्ष्णं सेवानिष्पन्ना वा प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भवति । बृ० ३ उ०।

जे भिक्खू कसिणाणि चम्माइं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे भिक्खू कसिणातिं चम्मातिं धरेति, धरतं वा सातिज्जति ॥ २२ ॥

कसिणमात्र प्रधानभावे गृह्यते । नि० चू० २ उ० ।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अकृत्स्नानि चर्माणि धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्—

अकसिणचम्मग्गहणे, लहुओ मासो उ दोस आणादी।
वितियपदे घेप्पमाणे, अट्ठारस जाव उक्कोसा ॥

यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातं तथाऽपि न कल्पते अकृत्स्नं चर्म प्रतिगृहीतुं, यदि गृह्णाति ततो लघुमासः प्रायश्चित्तम्, आज्ञादयश्च दोषाः । द्वितीयपदे तु पूर्वोक्तैरध्वादिभिः कारणैरकृत्स्ने गृह्यमाणे विधिरभिधीयते। तत्र नोदक आह-यद्यकृत्स्नं गृहीतुं कल्पते ततो द्वयोरुपानहोरुत्कर्षतोऽष्टादश खण्डानि यावत् कल्प्यानि।

इदमेव व्याचष्टे—

अकसिणमट्ठारसगं, एगपुड विवप्प एगवंधं च ।
तं कारणम्मि कप्पति, णिक्कारणधारणे लहुओ ॥

अकृत्स्नं नाम अष्टादशभिः खण्डैः कृत,तदप्येकपुटमेकतलं, विवर्णं विवर्णाढ्यम्, एकबन्ध च तद् यदि बन्धनोपेतम्, एभिः चतुर्भिः पदैर्यथाक्रम सकलप्रमाणवर्णबन्धनैः कृत्स्नता परिहृता, तदेवंविधमकृत्स्न कारणे धारयितुं कल्पते, अथ निष्कारणे धारयति ततो लघुमासः। एषा पुरातनी गाथा ।

अथैनां व्याख्याति--

जइ अकसिणस्स गहणं, भाए कालं कमेण अट्ठदस ।
एगपुडविवण्णेहि य, जहिं तहिं बंधते कज्जे ॥

यद्यकृत्स्नस्य चर्मणो ग्रहणं कर्तव्य तत उपानहावष्टादशभागान् वक्ष्यमाणक्रमेण कृत्वा तैः खण्डैरेकपुटैः विवर्णैश्च शब्दादेकबन्धैश्च यत्र यत्र पादप्रदेशे आबाधा, तत्र तत्र कार्ये समुत्पन्ने बध्नीयात् ।

कथं पुनरष्टादश खण्डानि भवन्तीत्युच्यते-

पंचंगुल पत्तेयं, अंगुट्टमहे य छट्ठमं तु ।
सत्तमगतलं वा, मज्झऽट्ठं पण्हिया णवमं ॥

इहैकस्य पादस्य पञ्चानामङ्गुलीनां बन्धनाय प्रत्येकमेकैकं खण्डं कर्त्तव्यम्,अङ्गुष्ठस्याधः षष्ठं खण्डम्, अग्रतले सप्तमं, मध्यतले अष्टमम्, पार्ष्णिकाया नवमम् । एवं द्वितीयस्या अप्युपानहो नव खण्डानि, सर्वाण्यप्येवमष्टादश खण्डानि भवन्ति।

एवं परेणोक्ते सति सूरिराह-

एवइयाणं गहणे, मासो मुच्चंति होति पलिमंथो ।
वितियपए घेप्पमाणे, दो खंडा मज्झपलिबंधा ॥

एतावतां खण्डानां ग्रहणे मासलघु प्रायश्चित्तम्, असमाचारीनिष्पन्नमित्यर्थः । मुच्यमानेषु चैतावत्सु खण्डेषु महान् सूत्रार्थयोः परिमन्थो भवति । आह-यद्येवं ततः कियन्ति खण्डानि क्रियन्ते इत्याह—द्वितीयपदे यदा चर्म गृह्यते तदा मध्यप्रतिबद्धे खण्डे कर्त्तव्ये मध्यभागौ त्रोटयित्वा खण्डद्वय विधाय मध्ये वध्यादिना बन्धनीय इत्यर्थः । अथ पूर्वार्द्धस्य इद पाठान्तरम्-"मुच्चते पलिमंथो, जत्तियमित्तं तु तासि गहण।" अष्टादशखण्डानि मुञ्चति साधौ महान्पलिमन्थः, ततो यावन्मात्रम् अपरिमन्थाय भवति तावन्मात्र ग्रहीतव्यम् । उत्तरार्द्ध प्राग्वत् ।

अथाष्टादशानां खण्डानां करणे कीदृश परिमन्थो-भवति ?, इत्याह--

पडिलेहापलिमंथो, णदिमादुदए य मुंच बंधंते ।
सत्थफिडणेण तेणा, अंतरविंधे य रुंकणता ॥

यावदष्टादश खण्डानि द्विसन्ध्य प्रत्युपेक्षते तावत् सूत्रार्थयोः परिमन्थो भवति, नद्याद्युदकमेव तितीर्षुश्च यावदष्टादश खण्डानि मुञ्चति, उत्तीर्णश्च यावत्तानि भूयोऽपि बध्नाति, तावत्सार्थान् स्फिटति, स्फिटितश्च स्तेनानां गम्यो भवति । बध्नतां खण्डानामन्तरेषु च कण्टकैर्विद्धेन बहुबन्धघर्षेण वा पादयोः रुद्धो भवेत्, यत एवमतः पूर्वोक्तनीत्या खण्डद्वय विधेयम्।

कथ पुनस्तद् बन्धनीयमित्याह-

तज्जायमतज्जायं, दुविहं तिविहं व बंधणं तस्स ।
तज्जायम्मि वि लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

तस्य चर्मखण्डद्वयस्य तज्जातम् अतज्जात वा बन्धनं भवति, तज्जात नाम-तस्मिन् चर्मणि जात,वध्र्यादिबन्धनमित्यर्थः। तद्विपरीतं दवरकादि अतज्जातम्। एतच्च द्विविधं त्रिविधं वा भवति, द्वौ वा त्रयो वा बन्धा दातव्या इति भाव । अत्र प्रथममतज्जातेन दवरकादिना बन्धनाय यदि तज्जातेन वध्र्यादिना बध्नाति ततो मासलघु , तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवन्ति। बृ० ३ उ० । प० भा० । अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपे स्फुरके, जी० १ प्रति०। भ० । (मानुष्यदौर्लभ्ये चर्मदृष्टान्तः 'माणुसत्त' शब्दे वक्ष्यते)

चम्मकम्म (ण्)-चर्मकर्मन्-न०। चर्मनिर्माणपरिज्ञानात्मिकायां षष्टिकलायाम्, कल्प० ७ क्षण । स० ।

चम्मकरग-चर्मकरक-न० । गालनोपकरणे; " गालिंति तंच तु करगेण "। प्रासुक द्रव्य पानकं च चर्मकरकेण गालयन्ति । नि० चू० २ उ० ।

चम्मकिम-चर्मकिट-न० । चर्मण्यूते वस्त्रादिके , प्र० १३ श० ९ उ० ।

चम्मकोस-चर्मकोश-पु० । छविकोशे, तं० । पार्ष्णित्रं गुन्द्रादौ, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अंगुट्ठ अवरफाणु, नह कोसगठ्ठेयणं तु जे वन्धा ।
ते छिन्नसंधणट्ठा, दुक्खरूसंधाणहेतुं वा ॥

चर्ममयः कोशः चर्मकोशः, सोऽङ्गुष्ठस्य, यदि वा 'अवरफाणु' पार्ष्णिका, तस्याः परिरक्षणाय क्रियते । अथवा-नखरदनादेरौपग्रहिकोपकरणविशेषस्य चर्ममयः कोशश्चर्मकोशः, ये तु बन्धास्ते चर्मपरिच्छेदनकमित्युच्यन्ते, ते च छिन्नसन्धाना-र्थमथवा छिन्नमसन्धानहेतोर्भवन्ते । वृ० ८ उ० ।

चम्मकोसिया-चर्मकोशिका-स्त्री० । शस्त्रक्षेपणकोत्थके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

चम्मखंडिय-चर्मखण्डिक-पुं० । चर्मपरिधाने, चर्ममयं सर्वमेवोपकरणं यस्य स चर्मखण्डिकः । सर्वचर्मोपकरणे, अनु० । ग० । ज्ञा० ।

चम्मखेम-चर्मखेट-न० । कलाभेदे, स० ७३ सम० ।

चम्मग-चर्मक-न० । पादुकादौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पं० भा० । आचा० ।

चम्मचक्खु-चर्मचक्षुष्-त्रि० । चर्मचक्षुर्भूते, अष्ट० २४ अष्ट० ।

चम्मच्छेयणग-चर्मच्छेदनक-न० । वर्धपट्टिकायाम, पिप्पलकादौ च । ध० ३ अधि० । आचा० ।

चम्मट्ठिल-चर्माष्ठिल-पुं० । चर्मचटके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चम्मतिग-चर्मत्रिक-न० । वर्ध्रतलिकाकृतिरूपे चर्मत्रये , ध० ३ अधि० ।

चम्मपक्खि (ण्)-चर्मपक्षिन्-पुं० । चर्ममयपक्षा पक्षिणः चर्मपक्षिण. । वल्गुलीप्रभृतिषु पक्षिभेदेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । " से किं त चम्मपक्खी ? । चम्मपक्खी अणेगविधा पण्णत्ता । तं जहा-वग्गुली जलोया अडिला भारुडपक्खी जीवंजीवा समुद्दवायसा कण्णत्तिया पक्खिविराली, जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं चम्मपक्खी । " जी० १ प्रति० ।

चम्मपट्ट-चर्मपट्ट-पुं० । वर्ध्रे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

चम्मपणग-चर्मपञ्चक-न० । अजादिचर्मपञ्चके , (प्रव०)

अयएलगाविमहिसी-मिगाणमजिणं च पंचमं होइ ।
तलिगा खल्लग वद्धे, कासग कित्ती अ बीअं तु ॥

अजाश्छगलिकाः, एडका अजाविशेषा., गावो महिष्यश्च प्रतीताः, मृगा हरिणा , एतेषा सम्बन्धीनि पञ्च अजिनानि चर्माणि भवन्ति । अथवा-द्वितीयादेशेन इदं चर्मपञ्चकम् । यथा-(तलि ग त्ति) उपानहस्ताश्च एकतलिका , तदभावे यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्ते, अचक्षुर्विषये रात्रौ गम्यमाने सार्थवशाद् दिवापि मार्गं मुक्त्वा उन्मार्गेण गम्यमाने स्तेनस्वापदादिभयेन त्वरितं गम्यमाने कण्टकादिसंरक्षणार्थमेताः पादयो' क्रियन्ते । यद्वा-कश्चित् सुकुमारपादत्वात्क्रन्तुमसमर्थो भवति तत सोऽपि गृह्णाति, तथा खल्लकानि पादत्राणानि, यस्य हि पादौ विचर्चिकात्वेन स्फटितौ भवत., स मार्गे गच्छन् तृणादिभिर्दूयते । यद्वा-कस्यचित्सुकुमारपादत्वात् शीतेन पाण्र्योदिप्रदेशेषु विपादिकाः स्फुटन्ति , ततस्तद्रक्षणार्थं तानि पादयोः परिधीयन्ते । तथा (वद्ध त्ति) वर्ध्रास्ते च त्रुटितोपानहादिसंधानार्थं गृह्यन्ते । तथा कोशकश्चर्ममय उपकरणविशेष , यदि हि कस्यचित्पादनखा. पाषाणादिषु प्रतिस्फलिता भिद्यन्ते तदा तेषु कोशके ष्वङ्गुल्योऽङ्गुष्ठौ वा क्षिप्यन्ते । अथवा-नखरदनिकाधीधार. कोशक , तथा कृत्तिर्मार्गादावनलभयाक्रच्छन् यच्चर्म ध्रियते , यत्र वा प्रचुर· सचित्त पृथिवीकायो भवति तत्र पृथिवीकाययतनार्थं कृत्तिमास्तीर्य अवस्थानादि क्रियते । यद्वा-कदाचित्तस्करर्मुषिता भवेयुस्ततोऽन्यप्रावरणाभावे तामपि प्रावृण्वन्तीत्येत् द्वितीयं यतिजनयोग्यं चर्मपञ्चक भवति । प्रव० ८३ द्वार । पा० । आव० । बृ० । ओत० ।

चम्मपरिच्छेयणग-चर्मपरिच्छेदनक-न० । वर्ध्रे, तद्धिच्छिन्नसंधानार्थम् अथवा-छिन्नखण्डसन्तानहेतोर्ध्रियते । व्य० ८ उ० ।

चम्मपाणि-चर्मपाणि-पुं० । चर्म अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूप यस्य तस्य तथा । स्फुरकहस्ते, रा० । भ० ।

चम्मपाय-चर्मपात्र-न० । चर्मनिर्मिते पात्रे, आचा० २ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

चम्मरयण-चर्मरत्न-न० । चर्मजातौ यद् वीर्यत उत्कृष्ट तच्चर्मरत्नम् । चक्रवर्तिनामेकेन्द्रियरत्नभेदे, स्था० ७ ठा० । स० । आ० चू० । चर्मरत्न छत्रस्याधस्ताच्चक्रवर्तिहस्तस्पर्शप्रभावसजातद्वादशयोजनायामविस्तारं प्रातरुप्ताऽपराह्णसंपन्नोपभोग्यशाल्यादिसंपत्तिकरम् । प्रव० २१२ द्वार । (भरतचक्रिणोऽधिकारे एतत्स्वरूप वक्ष्यते)

चम्मरुक्ख-चर्मवृक्ष-पुं० । वृक्षभेदे, भ० ८ श० ३ उ० ।

चम्मलक्खण-चर्मलक्षण-न० । कलाभेदे, औ० ।

चम्मेट्ठगा-चर्मेष्टका-स्त्री० । चर्मनद्धपाषाणे प्रश्न ३ आश्र० द्वार । इष्टिकाशकलादिभृतचर्मकुतुपे , यदाकर्षणेन धनुर्धरा व्यायामं कुर्वन्ति । उपा० ७ अ० । लोहमये लोहादिकुट्टनप्रयोजने लोहकारापकरणविशेषे, भ० १६ श० १ उ० " चम्मेट्ठगदुहणमोट्ठिय-समाहयनिचितगायकाए त्ति । " चर्मेष्टका इष्टिकाशकलादिभृतचर्मकुतुपरूपा, यदाकर्षणेन धनुर्द्धरा व्यायाम कुर्वन्ति, द्रुघणको मुद्गरो, मौष्टिको मुष्टिप्रमाणः प्रोतचर्मरज्जुकः पाषाणगोलकस्तैः समाहतानि व्यायामकरणे प्रवृत्तौ सत्यां तामितानि निचितानि गात्राण्यङ्गानि यत्र स तथा एवंविधः कायो यस्य स तथा । अनेनाभ्यासजनित सामर्थ्यमुक्तम् । उपा० ७ अ० । रा० । जी० ।

चय-त्यज्-धा० । हानौ, त्यजेश्चयादेशः 'चयइ' त्यजति । शक-स० धा० । " शकेश्चयतरतीरपारा. " । ८ । ४ । ८६ । इति शकेश्चयादेश. । ' चयइ ' शक्नोति । प्रा० ४ पाद ।

जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए । [१]

इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गा· प्रतिपादिता , ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च । तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूला· प्रतिपादिता , इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्ते । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

चय-पुं० । चयनं चय. । पिण्डीभवने, अनु० । वृद्धौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । आ० म० । परमाणूपचयाश्चय । संघाते, ओघ० । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । शरीरे, आच० ५ अ० । विपा० । देवभवसंबन्धिनि देहे, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

च्यव-पुं० । च्यवने , स्था० ८ ठा० । ज्ञा० । भ० । नि० ।

चयंत-शक्नुवत्-त्रि० । सामर्थ्यं भजमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

चयण-चयन-न० । कुशलकर्मण उपचयकरणे, प्रव० २ द्वार । भ० । कषायादिपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । विशे० ।

च्यवन-न० । च्युतिश्च्यवनम् । वैमानिकज्योतिष्काणां मरणे, " एगे चयणे " च्यवनमेकजीवापेक्षया नानाजीवापेक्षया च

पूर्ववदिति । स्था० १ ठा० १ उ० । " दोराह चयणे पम्पत्ते । त जहा-जोइसियाए चेव वेमाणियाए, " इच्युतिश्च्यवनं, मरणमित्यर्थः । तच्च ज्योतिष्कवैमानिकानामेव व्यपदिश्यते । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

इच्चेयाहिं तिहिं ठाणेहिं दो देवे चइस्सामीति जाणइ विमाणाभरणाइ णिप्पनाइं पासित्ता कप्परुक्खग मिलायमाणं पासित्ता अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणं जाणित्ता ॥

विमानाभरणानां निष्प्रभत्वमौत्पातिक, तच्चकुर्विभ्रमरूप वा (कप्परुक्खग त्ति) चैत्यवृक्षम् (तेयलेस्स त्ति) शरीरदीप्तिं,सुखासिकां वा, "इच्चेयाहिं ' इत्यादि निगमनम्। भवन्ति च एवंविधानि लिङ्गानि देवानां च्यवनकाले। उक्तं च-"माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः। दैन्य तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गो, दृष्टेर्भ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च "॥ १ ॥ इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

देवे णं भंते ! महड्डिए महज्जुइए महब्बले महाजसे महेसक्खे महाणुभावे अविउक्कंतियं चयमाणे किंचि कालं हिरिवत्तियं दुगंछावत्तियं परिसहवत्तियं आहारं नो आहारेइ, अहे णं आहारेइ आहारिज्जमाणे आहारिए परिणामिज्जमाणे परिणामिए पहीणे य आउए भवइ जत्थ उववज्जइ तमाउयं पडिसंवेएइ तं तिरिक्खजोणियाउयं वा मणुस्साउयं वा ?। हंता गोयमा ! देवे णं महड्डिए० जाव मणुस्साउयं वा ॥

(महड्डिए त्ति) महर्द्धिको विमानपरिवाराद्यपेक्षया (महज्जुइए त्ति) महाद्युतिकः शरीराभरणाद्यपेक्षया (महब्बले त्ति) महाबलः शारीरप्राणापेक्षया (महाजसे त्ति) महायशाः बृहत्प्रख्यातिः (महेसक्खे त्ति) महेशो महेश्वर इत्याख्याऽभिधानं यस्यासौ महेशाख्यः।"महासोक्खे त्ति" क्वचित्। (महाणुभावे त्ति) महानुभावो विशिष्टवैक्रियादिकरणाचिन्त्यसामर्थ्यः (अविउक्कंतियं चयमाणे त्ति) च्यवमानता किलोत्पत्तिसमयेऽप्युच्यते इत्यत आह-व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिस्तन्निषेधादव्युत्क्रान्तिकम्, अथवा-व्यवक्रान्तिर्मरणं तन्निषेधादव्यवक्रान्तिकम्, तद्यथा भवत्येव च्यवमानो जीवन्नेव मरणकाल इत्यर्थः। " अविउक्कंतियं चय चयमाणे त्ति " क्वचिद् दृश्यते। तत्र चय शरीरम् ' चयमाणे त्ति ' त्यजन् (किंचिकालं ति) कियन्तमपि काल, यावन्नाहारयेदिति योगः । कुत इत्याह-ह्रीप्रत्यय लज्जानिमित्तम् , स हि च्यवनसमयेऽनुपक्रान्त एव पश्यत्युत्पत्तिस्थानमात्मनो दृष्ट्वा च तदेव भवविसदृशं पुरुषपरिभुज्यमानस्त्रीगर्भाशयरूप जिह्रेति, ह्रिया च नाहारयतीति । तथा जुगुप्साप्रत्यय कुत्सानिमित्तम्, शुक्रादेरुत्पत्तिकारणस्य कुत्साहेतुत्वात् । (परिसहवत्तियं ति) इह प्रक्रमात्परीषहशब्देनारतिपरीषहो ग्राह्यः, तत अरतिपरीषहनिमित्त, दृश्यते चारतिप्रत्ययाल्लोकेऽप्याहारग्रहणवैमुख्यमिति । आहार मनसा तथाविधपुद्गलोपादानरूपम् । (अहे ण ति) अथ लज्जादिक्षणानन्तरमाहारयति, बुभुक्षावेदनीयस्य चिर सोढुमशक्यत्वादिति । " आहारिज्जमाणे आहारिए " इत्यादौ भावार्थः प्रथमसूत्रवत्, अनेन च क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदाभिधानेन तदीयाहारकालस्याल्पतोक्ता, तदनन्तर (पहीणे य आउए भवइ त्ति) चः समुच्चये, प्रक्षीणं प्रहीण वा आयुर्भवति, ततश्च यत्रोत्पद्यते मनुजत्वादौ (तमाउयं त्ति) तस्य मनुजत्वादेरायुस्तदायुः, प्रतिसंवेदयत्यनुभवतीति । " तिरिक्खजोणियाउयं च" इत्यादौ देवनारकायुषोः प्रतिषेधो, देवस्य तत्रानुत्पादादिति। भ० १४ श० ७ उ० । हस्तपादादेर्देशक्रये, तं० । व्याख्यानान्तरेण कलने, स्था० २ ठा० १ उ० । चं० प्र० ।

चयणकप्प-च्यवनकल्प-पुं० । च्यवन चारित्रात् प्रतिपतनं, तस्य कल्पः प्रकारश्च्यवनकल्पः । पार्श्वस्थादिविहारे, ग० १ अधि० ।

पार्श्वस्थादिषु गच्छतः सामाचार्याम्-

संखेवसमुद्दिट्ठं, एत्तो वोच्छं चयणकप्पं ॥
आहारोवहिसेज्जा, तिकरणसोहीएँ जाहे परितंतो ।
पग्गहितविहारातो, तो चवती त्तिसयपमिवद्धो ॥
कोति विसेसं बुज्झति, पसत्थठाणा अहं परिब्भट्ठो ।
अंधत्तेणं कोती, ण बुज्झए मंदधम्मत्तं ॥
दव्वे भावे अंधो, दव्वे चक्खूहिँ भावेँ ओसण्हो ।
संविग्गत्त ण रोयति, णितियाइ पहाणमिच्छंतो ॥
जत्तो चुओ विहारा, तं चेव पसंसते सुलभबोही ।
ओसण्हविहारं पुण, पसंसए दीहसंसारी ॥
आहारोवहिसेज्जा, णीयावासो वि तिकरणविसोही।
तह भावंधा केई-मं तु पहाणं ति घोसेंती ॥
णीया वि विहारम्मि वि,जदि कुणती णिग्गहं कसायाणं ।
तस्स हु भवते सिद्धी, अवितह सुत्ते भणियमेयं ॥
बहुमोहे वि हु पुव्विं, विहरित्ता संवुडे कुणति कालं ।
सो सिज्झति अविय इमे, पुरिसज्जाता भवे चउरो ॥
णाणेणं संपण्णो,णो तु चरित्तेण एत्थ चउभंगो ।
तेणेसेव पहाणो, एवं भासंति णिद्धम्मा ॥
तम्हा तु न एताइं, कुज्जा आलंवणाइ मतिमं तु ।
कुज्जा हि पसत्थाइं, इमाइँ आलंवणाइं तु ॥
तित्थगराण चरित्तं, कसिणं वा गणधराणं च ।
जो जाणति सद्दहती, ओसण्हं सो ण रोएति ॥
धुवसिज्झितव्वगम्मि वि,तित्थगरो जदि तवम्मि उज्जमति।
किं पुण तत्ते उज्जोगो, अवसेसेहिं न कायव्वो ?॥
चोदसपुव्वी कसिणं-गपारगा तेसि जो उ उज्जोगो ।
तं जो जाणति सो खलु, संविग्गविहार सद्दहते ॥
एमादी आलंबण, काउं संविग्गं तु रोएति ।
को पुण ओसण्हत्तं, रोएती भण्णते इमं तु ॥
सुत्तत्थतदुभए कम-जोगी ओसण्णरोयओ होज्जा ।
अहवा दुग्गहियत्थो, अहवा वी मंदधम्मत्ता ॥
अण्णाणी कडजोगी, दुग्गहियत्थो तु जेण अववादो ।

गहिओ ण वि उस्सग्गो, गहितो वा मंदधम्मो तु ॥
सो रोए ओसएहं, इति एसो वणिओ चयणकप्पो ।
पं० भा० ॥

इयाणिं चयणकप्पो । गाहा-(आहारोवहि) जो आहारोवहिं नियत्तइ सेज्जाए ताणाहाराईणि जाहे उग्गमाइसु सो हेउ परितंतो भवइ ताहे तओ पग्गहियविहाराओ, पग्गहिओ नाम-गीयत्थसंविग्गविहारो, ताओ चयमाणो पासत्थाइसु गच्छइ जिब्भाइविसयपडिबद्धो । गाहा-(कोइ विसेसं) कोइ पुण पासत्थाइसु गंतुं पि विसेसं जाणइ, जहा ऽहं मदपुत्तो जाओ इहलोगपडिबद्धो परलोगनिप्पिवासो किंपागफलोवमेसु विसएसु अहिलासं करेमि, साहुणो परिक्कमति, एस पसंसिओ, कोइ पुण अन्नाणभावंधत्तेण ण बुज्झइ, मंदधम्मयाए वा-किं वा ते अब्भहियं करेंति गीयत्थसंविग्गा । गाहा-(जत्तो चुओ) चुओ नाम प्रभ्रष्ट इत्यर्थः । संविग्गविहाराओ त चेव पसंसए सुलभवोहीओ, जो पुण दीहसंसारी सो ओसन्नमेव पसंसइ। गाहा-(आहारोवहिसेज्जा-णीयावासो तिकरणविसोहि त्ति) उग्गमुप्पायणेसणाइसु जा तिकरणविसोही भणाइ करणं तहेव दुरणुचर अचयंतो अणुपालेउं इम चेव पहाणं ति घोसइ, नवरि कसाया न कायव्वा तं मूलिया सोही असोही वा भणति च बहुमोहे वि य पुव्विं विहरित्ता नाणसपन्ने नामेणे नो चरणे, जहा अठमे सए, नो एवमालंबणं कायव्वं । किं पुण कायव्वं ? गाहा-(तित्थगराण चरित्त) जहा भगवया अवस्ससिज्झियव्वे वि तवे उज्जमियं, किं पुण अवसेसएहिं साहूहिं सपच्चवाए माणुस्से,तहा कसिण गणधराण चरियं चोद्दसपुव्वीणं, जो एयंसि विहारं सद्दहइ सो ओसण्णविहारं ण रोयइ, गाहा-(सुत्तत्थ) को पुण ओसण्णविहार रोएति ?, जो सुत्तत्थे तदुभएसु च कडओगी, अज्ञ इत्यर्थः । सो ओसन्न रोएआ, दुग्गहियत्थो नाम-जेण अववायपयाणि गहियाणि न उस्सग्गो पयइए, मंदधम्मो वा सो रोएज्जा, एस चयणकप्पो । पं० चू० ।

चयणमुह-च्यवनमुख-त्रि० । मरणमुखे, तं० ।

चयणोववाय-च्यवनोपपात-पु० । च्यवने उपपाते, चं० प्र० १५ पाहु० । (चन्द्रसूर्ययोश्च्यवनोपपातौ 'जोइसिय' शब्दे वक्ष्यते)

चयावचइय-चयापचयिक-न० । इष्टाहारोपभोगतया घृत्युपष्टम्भादौदारिकवर्गणापरमाणूपचयाच्चयः, तदभावेन तद्विघट्टनादपचयः । चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकम् । तथाविधे शरीरे, " एयं असासयं चयोवचइयं विपरिणामधम्मं पासह" । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

चयोवचय-चयोपचय-पु० । अधिकत्वेन वृद्धौ, हीनत्वेनापकर्षे च । सू० प्र० १ पाहु० ।

चर-चर-पुं० । चरणे, दर्श० । आ० चू० । स्था० । आ० म० । आचा० ।

चरंत-चरत्-त्रि० । विहरति, उत्त० २ अ० । अटति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । विश्वं व्याप्नुवति, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चरंती-चरन्ती-स्त्री० । यस्यां दिशि भगवानर्हन् विहरति तस्याम्, (व्य०) तथा तिस्रो दिशः प्रशस्ता आज्ञाः । तद्यथा-पूर्वा, उत्तरा, चरन्ती । चरन्ती नाम-यस्यां भगवानर्हन्विहरति सामान्यतः केवलज्ञानी मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी त्रयोदशपूर्वी यावन्नपूर्वी । यदि वा-यो यस्मिन् युगे प्रधान आचार्यः स प्रतिहारिकान् यथा विहरति । व्य० १ उ० ।

चरग-चरक-पु० । धाटिभिक्षाचरे, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० । परिव्राजकविशेषे, दश० १ अ० । व्य० । सधाटिवाहका सन्तो ये भिक्षां चरन्ति ये भुञ्जानाश्चरन्ति । ग० २ अधि० । ये धावितभैक्षोपजीविनः । अथ वा कच्छोटकादय । प्रज्ञा० २० पद । दशमशकादौ च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । चरगतिभक्षणयो । भावे-ल्युट् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

चरण-चरण-न० । गमने, ग० १ अधि० । प्रव० । आ० म० । स्था० । आव० । अतिशयगमने, नं० । विहरणे,सूत्र० १ श्रु० १० अ० २ उ० । अवस्थाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । सयमानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । सेवने, जी० ३ प्रति० ।

चरणनिक्षेपमाह-

चरणे छक्को दव्वे, गइए चेव भक्खणे चरणं ।
खित्ते काले जम्मि व, भावे उ गुणाण आयरणं ॥

चरणविषयः षट्परिमाणम् छक्करूपो निक्षेप ,तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्ये गतिरूपं चरणं, चरगतिभक्षणयोरिति । तथा ('खेत्ते काले जम्मि त्ति) यस्मिन् क्षेत्रे काले वा चरणं चर्य्यते व्यावर्ण्यते वा तत् क्षेत्रचरणं,कालचरणं चेति प्रक्रमः। भावे तु गुणानां मूलोत्तरगुणरूपाणामाचरणमासेवनमिति गाथार्थः । उत्त० १५ अ० । चरण नामादिभेदात् षोढा, तत्र द्रव्यचरणं त्रिधा भवति, गतिभक्षणगुणभेदात् । तत्र गतिचरणं गमनमेव, आहारचरणं मोदकादेः । गुणचरणं द्विधा-लौकिक, लोकोत्तरं च । लौकिकं यत् द्रव्यार्थं हस्तिशिक्षादिकं वैद्यकादिकं वा शिक्षन्ते, लोकोत्तरं साधूनामनुपयुक्तचरणमुदायिकृपमारकादेर्वा, क्षेत्रचरणं यस्मिन् क्षेत्रे गत्याहारादि चर्य्यते व्याख्यायते वा शब्दसामान्यान्तर्भावाद्वा शालिक्षेत्रादिचरणमिति । कालेऽप्येवमेव, भावे भावचरणमपि गत्याहारगुणभेदात् त्रिधा, तत्र गतिचरणं-साधोरुपयुक्तस्य युगमात्रदत्तदृष्टेर्गच्छतः, भक्षणचरणमपि शुद्धं पिण्डमुपभुञ्जानस्य, गुणचरणमप्रशस्तं मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्टीनामपि सनिदानं प्रशस्तं तेषामेव कर्मोद्देश्नार्थं मूलोत्तरगुणकलापविषयम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भक्षणे, वाच० । चर्य्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते इति चरणम् । अथवा-चर्यते गम्यते प्राप्यते भवोदधेः परं कूलमनेनेति चरणम् । व्रतश्रमणधर्मादिषु मूलगुणेषु, विशे० । ज्ञा० । आव० । आ० चू० । सूत्र० । नं० । आ० म० । म० । ओघ० ।

" चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं, णिच्छियसुद्धं न याणंति " ॥

चरणं श्रमणधर्मः ।

" वयसमणधम्मसंयम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ ।
णाणाइतियं तवकोहनिग्गहाई चरणमेयं ॥ " इति । सम्म० ३ काण्ड । आ० म० । ज्ञा० । " सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ३, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४, स-

ल्याओ परिग्गहाओ वेरमणं ५" इति व्रतानि । "दसविधे समणधम्मे पण्णत्ते । त जहा-खती १ मुत्ती २ अज्जवे ३ मद्दवे ४ लाघवे ५ सच्चे ६ संजमे ७ तवे ८ चियाए ९ बंभचेरवासे १०।" क्रोधजय १, निर्लोभता २ मायात्यागः ३ अहङ्कारत्यागः ४ परिग्रहत्यागः ५ सत्यं ६ प्राणातिपातविरमणरूपः ७ तपः ८ त्यागः सुविहितेभ्यो वस्त्रादिदानरूपः ९ ब्रह्मचर्यम् १० इति श्रमणधर्मः । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां पालनान्नव भेदाः ९, अजीवसंयमः पुस्तकचर्मपञ्चकादीनामनुपभोगो यतनया परिभोगो वा हिरण्यादित्यागो वा १० प्रेक्षासंयमः स्थानादि यत्र चिकीर्षेत् तत्र चक्षुषा प्रेक्षां कुर्यात् ११ उपेक्षासंयमो व्यापारविषयतया द्वेधा तत्र सदनुष्ठाने सीदतः साधूनुपेक्षेत, प्रेरयेदित्यर्थः । गृहिणस्तु आरम्भे सीदतः उपेक्षेत, न व्यापारयेत् १२ प्रमार्जनासंयमः पथि पादयोर्वसत्यादेश्च विधिना प्रमार्जनं १३ परिष्ठापनासंयमः अविशुद्धभक्तोपकरणादेर्विधिना त्यागः १४ मनोवाक्कायसंयमाः अकुशलानां मनोवाक्कायानां निरोधाः १५ श्रीउमास्वातिवाचकपादैस्तु संयमभेदाः प्रशमरतावेवमुक्ताः "पञ्चाश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चे-ति संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥" इति संयमः । "दसविधे वेयावच्चे पण्णत्ते । तं जहा-आयरियावच्चे १ उवज्झाय २ थेर ३ तवस्सि ४ गिलाण ५ सेह ६ कुल ७ गण ८ संघ ९ वेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे १०॥" इति वैयावृत्यम् । "नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवति, नो इत्थिसंसत्ताइं नो पसुसंसत्ताइं नो पंडगसंसत्ताइं १ नो इत्थीणं कहं कहेत्ता हवइ ।" नो स्त्रीणां केवलानां कथां धर्मदेशनादिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपाम् २ "नो इत्थिठाणाइं सेवेत्ता भवति । ठाणं निषद्या ३, णो इत्थीणं मणोहराइं मणोरमाइं इंदियाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४, णो पणीयरसभोई ५, णो पाणभोयणस्स अइमायमाहारए सया भवति ६, णो पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ ७, णो सद्दाणुवाती णो रूवाणुवाई णो सिलोगाणुवाई ८, णो सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ ९ इति ब्रह्मगुप्तयः । ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणं ज्ञानादित्रिकं तपो द्वादशधा पूर्वोक्तम् १२, क्रोधमानमायालोभत्यागः ४ क्रोधादिनिग्रह इति चरणम् । ग० १ अधि० । सप्ततिसंख्याश्चरणस्य चारित्रस्य भेदा भवन्तीति, चरणसप्ततिसंज्ञा इत्यर्थः । अत्रायं विवेकः-चतुर्थव्रतान्तर्गतत्वेऽपि नवब्रह्मगुप्तीनां पृथगुपादानं तुर्यव्रतस्य निरपवादत्वसूचनार्थम् । यत उक्तमागमे-" न य किंचि अणुण्णाय, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं । मुत्तु मेहुणभावं, न विणा तं रागदोसेहिं ॥ १ ॥ " तथा व्रतग्रहणेन चारित्रस्य गतार्थत्वेऽपि ज्ञानादित्रिके चारित्रग्रहणं शेषचतुर्विधचारित्रसंग्रहार्थं, व्रतशब्देन सामायिकादिपञ्चविधचारित्रस्यैकांशरूपसामायिकाभिधेयत्वेन शेषचतुर्विधचारित्राग्रहणात् तथा श्रमणधर्मान्तर्भूतत्वेऽपि संयमतपसोः पृथगुपन्यासस्तयोर्मोक्षाङ्गं प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम् । दृष्टश्चायं न्यायः-यथा ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इत्यादि । प्राधान्यं च तयोः क्रमेणापूर्वकर्माश्रवनिरोधहेतुत्वेनानशनादिभ्योऽतिशायित्वोपदर्शनार्थं, तथा श्रमणधर्मग्रहणेन गृहिणामपि क्रोधनिग्रहादीनां पृथगुपादानम्, उदयप्राप्तक्रोधादीनां निष्फलीकरणं क्रोधादिनिग्रह इति व्याख्यानात्, क्षान्त्यादीनां तु उदीर्णक्रोधाद्यनुदयरूपत्वात् । अथवा-क्षान्त्यादयो ग्राह्याः, क्रोधादयो हेया इति भेदात् इत्युक्ता मूलगुणाः । ध० ३ अधि० । दश०' । चर्य्यते इति चरणम् । चारित्रे, उत्त० १ अ० । सूत्र० । न० । सर्वतो देशतश्च चारित्रे, विशे० । चारित्रक्रियायाम्, अनु० । सूत्र० । आचा० । विशे० । उत्त० । दर्श० । विरतिपरिणामे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । दर्श० । समग्रविरतिरूपे चारित्रे, दश० ३ अ० । सकलयतिसमाचाराचरणे, दर्श० । चरणं त्रिविधं त्रिप्रकारम् । तद्यथा-क्षायिकम्, औपशमिकम्, क्षायोपशमिकं च । तत्र क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, औपशमिकमुपशमश्रेण्यां शेषकालं क्षायोपशमिकं चरणमपि क्षायिकं, क्षपकनिर्ग्रन्थस्य औपशमिकमौपशमिकश्रेण्यामन्यत्र क्षायोपशमिकम् । व्य० २ उ० । विशे० ।

तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ॥११२९॥

तस्याऽपि श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणं, सारशब्दोऽत्र फलवचनः प्रधानवचनश्च मन्तव्यः, तस्य फलं चरणम् । यदि वा-तस्मादपि श्रुतज्ञानाच्चरणं प्रधानम्, न तु चरणं नाम संवररूपा क्रिया, क्रिया च ज्ञानाभावे हता "हया अन्नाणओ किरिया" इतिवचनात्, ततो ज्ञानक्रियाभ्यां समुदिताभ्यामेव मोक्ष इति समानत्वमेवोभयोः, कथं ज्ञानस्य सारश्चरणमिति ?। उच्यते-इह यद्यपि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति समानं ज्ञानचरणयोर्निर्वाणहेतुत्वमुपन्यस्तं, तथाऽपि गुणप्रधानभावोऽस्ति । तथा ज्ञानं प्रकाशकमेव, " नाणं पयासयमिति " वचनात्, चरणं त्वभिनवकर्मादाननिरोधफलं, प्रागुपात्तकर्मनिर्जराफलं च, ततो यद्यपि ज्ञानमपि प्रकाशकतयोपकारीति ज्ञानचरणरूपद्विकाधीनो मोक्षस्तथापि प्रकाशकतयैव व्याप्रियते ज्ञानं, कर्ममलशोधकतयाऽनुचरणमिति प्रधानगुणभावाच्चरणं ज्ञानस्य सारं । उक्तं च-" नाणं पयासयं वी, गुत्तिविसुद्धिफलं च जं चरणं । मोक्खो य दुगाहीणो, चरणं नाणस्स तो सारो ॥११३०॥" अपिशब्दात्सम्यक्त्वस्यापि सारश्चरणम् । अथवा अपिशब्दस्य व्यवहितः सबन्धः, तस्य श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणमपि, अपिशब्दान्निर्वाणमपीत्यर्थः । अन्यथा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता न स्यात्, किं तु चरणस्यैव, अनिष्टं चैतत्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'। तथा-" नाणकिरियाहिं मोक्खो " इत्यादिवचनात्केवलं सा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता गौणतया प्रतिपत्तव्या, मुख्यतया तु चरणस्य, यतः केवलज्ञानलाभेऽपि न तत्क्षणमेव मुक्तिरुपजायते, किं तु शैलेश्यवस्थाचरमसमयभाविचरणप्रतिपत्त्यनन्तरमतो मुख्यं कारणं निर्वाणस्य चरणम् । तथा चोक्तम्-"जं सव्वनाणलंभा-नतरमइवा न मुक्खसओ । मुच्चइ य सव्वसंवर-लाभे तो सो पहाणयरो" ॥ तत उक्तं तस्य सारश्चरणमिति । तथा " सारो चरणस्स निव्वाणं" इत्यत्र सारशब्दः फलवचनः, चरणस्य संयमतपोरूपस्य सारः फलं निर्वाणम् । इहापि शैलेश्यवस्थाभाविसर्वसंवररूपचारित्रमन्तरेण निर्वाणस्याभावात्तद्भावे चावश्यंभावादिति प्रधानभावमधिकृत्य उपन्यस्तम्, अन्यथा शैलेश्यवस्थायामपि क्षायिकज्ञानदर्शने स्त इति सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयस्य समुदितस्यैव निर्वाणहेतुत्वमिति ।

तथा चाह नियुक्तिकारः-

सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं ।
जो तवसंजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे ॥ ११३१ ॥

कुतश्चाले, कथञ्चित्सत्यामपि इच्छायाम्, जीवो वर्त्तमान-स्य प्राप्नोति मोक्षमित्येतेन प्रतिज्ञार्थ सूचितः । स किंवि-शिष्ट इत्याह-चरणसंयमविकलात् स च चारित्रवान् योगाप प्राप्नोति योऽपि कालेन देशतः । " से " इति पादपूरणे, " इजेराः पादपूरणे । " । ८ । ३ । २१७ । इति वचनात् । इत्या-नान्तु स्वयमभ्यूह्यम् । भवति वा प्रयोग - न ज्ञानमेवेप्सितार्थ-प्रापकं, सक्रियारहितत्वात्, स्वदेशप्रापणाभिलषितगमनक्रियाशू-न्यमार्गज्ञानवत् । दीपो वा दृष्टान्त - यथा हस्तयोग्यपिपासि-तोऽभिमतदेशप्रापकपदार्थज्ञानवान् सपोतवत् ।

तथा चाह—

जह छेयलद्धनिज्जा-मगो वि वाणियगइच्छियं भूमिं ।

वाएण विणा पोतो, न चएइ महण्णवं तरिउं ॥११४५॥

तह नाणलद्धनिज्जा-मगो वि सिद्धिवसहिं न पाउणइ ।

निउणो वि जीवपोओ, तवसंजममारुयविहूणो ॥११४६॥

यथा येन प्रकारेण छेको दक्षो लब्धः प्राप्तो निर्यामको येन पोतेन स तथाविधः, अविज्ञातत्वात् सुवर्णभाराद्यभिपूरितोऽपि, वणिजः इष्टा वणिगिष्टा, तां भूमिं, महार्णवं तीर्त्वा वातेन विना पोतो न शक्नोति, प्राप्नोतीति वाक्यशेषः । तथाप्यमाह-तथा ज्ञानमेव लब्धो निर्यामको येन जीवपोतेन स तथाविधः, अविज्ञातत्वात् मतिश्रुतज्ञानैकभारापूरितोऽपि संयमतपो-निपुणरूपेण मारुतेन विरहितो निपुणोऽपि जीवपोतो भवार्ण-व तीर्त्वा ज्ञानलब्धनिर्यामकोऽपि सिद्धिवसतिं न प्राप्नोति, तस्माच्चरणानुष्ठाने तत्त्वप्रमादवता भवितव्यम् ।

तथा चाचारो निर्युक्तिगाथामुपन्यस्याह-

संसारसागराओ, उब्बुड्डो मा पुणो निबुड्डेज्जा ।

चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो ॥११४७॥

अस्या पश्चार्धं दृष्टान्तेनाभिधानतोऽभिप्रेतः । यथा नाम क-श्चित्कच्छप. प्रचुरतृणपत्रपटलनिचितमहाहृदान्तर्गतोदका-न्धकारमहाहृदान्तर्गतो विविधानेकजलचरक्षोभादिव्यसनपर-म्परानुभवेनाभिव्याप्तमानस. सन् परिभ्रमन् कथमपि शैवालरन्ध्र-मासाद्य तेनैव च तत उपरि विनिर्गत्य शारदि पार्वणचन्द्रचन्द्रि-कास्पर्शसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वबन्धुस्नेहादाकृष्टचेतोवृत्तिस्ते-षामपि तत् स्वनामदृष्टकल्याणानामहमिदं सुरलोकवत् कि-मपि दर्शयामीत्यवधार्य तस्मिन्नेव हृदमध्ये निमग्न, तत समा-साद्यितबन्धुवर्गः तद्दर्शननिमित्तं विवक्षितरन्ध्रोपलब्धये पर्य-टन् अपश्यंश्च कष्टतरं व्यसनमनुभवति स्म, एवमयमपि जीव-कच्छपोऽनादिकर्म्मपटलसन्तानाच्छादितो मिथ्यादर्शनादितमो-ऽवगाढः विविधशारीरमानसकर्णच्छेदनाज्वरकुष्ठभगन्दरादिशारीरेष्ट-वियोगानिष्टसंप्रयोगादिमानसदुःखजलचरसमूहानुगतात्, स-मरणं ससारो, भावे घञ्प्रत्ययः, स एव सागरस्तस्मात् परि-भ्रमन् कथञ्चिदेव मनुष्यभवप्राप्तियोग्यकर्म्मोदयलक्षणं रन्ध्रमा-साद्य मनुष्यत्वप्राप्त्या उन्मग्न. सन् जिनचन्द्रवचनकिरणाव-बोधमवाप्य दुष्प्रापोऽयं जिनवचनबोधिलाभ इत्येवं जाना-नः स्वजनस्नेहविषयातुरचिन्तया मा पुन. कूर्मवत् तत्रैव निमज्जेत । आह-अज्ञानी कूर्मोऽतो निमज्जति, इतरस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारज्ञो ज्ञानी, ततः कथं निमज्जति ? । तत आह—चरणगुणैर्विविधमनेकप्रकारं प्रकर्षेण हीन-श्चरणगुणविप्रहीणस्ततः सुबह्वपि जानन् निमज्जति । आ० म० प्र० । आ० चू० । विशे० । पादे, वेदैकदेशशाखारूपे ग्रन्थे, तदध्येतरि जने, गोत्रे, वाच० । केनापि यजमानेन वेदान्तर्गत-ग्रन्थविशेषाध्ययननिमित्तं चरणशब्दवाच्येभ्यश्चतुर्भ्यो ब्राह्म-णेभ्य. । विशे० । चतुर्णां चरणानां चतुर्वेदब्राह्मणानामिति । बृ० १ उ० ।

चरणकरणपरिहीण-चरणकरणपरिहीन-त्रि० । व्रतादिना पिण्डविशुद्ध्यादिना च परिहीनः । मूलोत्तरगुणहीने, बृ० ३ उ० ।

चरणकरणपारविउ-चरणकरणपारवित्-त्रि० । चर्य्यते इति चरणं मूलगुणा, क्रियत इति करणमुत्तरगुणा., तेषां पारं तीरं पर्यन्तगमनं, तद्वेत्तीति चरणकरणवित् । मूलोत्तरगुणपारज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोग । दश० २ अध्या० ।

चरणकरणाणुओग-चरणकरणानुयोग-पुं० । द्विचत्वारिंश-द्दूषणरहितपिण्डग्रहणादौ, दश० ।

क्षुल्लकाचारादिस्त्वनुयोगो, महान् द्रव्यानुयोगजः ।

इत्थं योगशतात् ज्ञात्वा, विदधीत गुणादरम् ॥ ३ ॥

क्षुल्लकाचारादि क्षुल्लकाचारग्रहणात्, सर्वोऽपि चरणकरणानुयोगाख्यो योगो द्विचत्वारिंशद्दूषणरहितपिण्डग्रहणो योगस्त्वनुर्लघु क-थित, तथा द्रव्यानुयोग. स्वसमयपरसमयपरिज्ञानं, तदाख्यो योगो द्रव्यानुयोगजो योगो महान् महत्तर. कथित. ॥ ३ ॥ द्वा० १ अध्या० ।

चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।

चरणकरणस्स सारं, णिच्छयसुद्धं न याणंति ॥ १६४ ॥

चरणकरणयोर्भावित्रागमत्त्वात् द्रव्यपर्यायात्मकजीवादित-त्त्वागमस्य भावरूपाभावेऽभावाच्च चरणकरणयोः सारं निश्च-येन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति । न हि यथावस्थितवस्तुत-त्त्वावबोधमन्तरेण तच्छुचि । न च स्वसमयपरसमयतात्पर्यार्था-नवगमे तदवगमे तदवबोधो घटिकादिरिव सम्भवी । अथ जीवादिद्रव्यार्थपर्यायार्थापरिज्ञानेऽपि यदर्हद्भिरुक्तं तदेवैकं सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भाव । " सच्चं तमेव स-च्चं, णिस्संकं जं जिणेहिं पन्नत्तं । " इत्याद्यागमप्रामाण्याच्च स्वस-मयपरसमयपरमार्थानभिज्ञैर्निरावरणज्ञानदर्शनात्मकजिनस्वरू-पाज्ञानवद्भिस्तदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाऽप्यनवच्छेदेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, न त्वेवमागमाविरोधः, सामा-यिकमात्रपदविदो माषतुषादेर्यथोक्ताचारित्रिणस्तत्र मुक्तिप्रति-पादनात् सकलशास्त्रार्थज्ञता, विफलमतस्य व्रताद्याचरणनै-रर्थक्यापत्तिश्च, तत्साध्यफलानवाप्ते । न च यथोपवर्णितचरण-करणसम्यग्विकल्पे प्रवृत्तो ज्ञानादितृतीयस्यापि तत्र पाठात् येन यथोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्राधान्याद्वाचार्याः स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्तीति नत्वोऽत्र सबन्धात् चरणकरणस्य सारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येव, गुर्वाज्ञायाः प्रवृ-त्तेः चरणगुणस्थितस्य साधो. सर्वनयविशुद्धत्वाभ्युपगमात् । "तं सव्वणयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू । " इत्याद्यागमप्रा-माण्यात, अगीतार्थस्तु स्वतन्त्रचरणप्रवृत्तेः व्रताद्यनुष्ठानस्य वै-फल्यमभ्युपगम्यत एव, " गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थ-मीसओ भणिओ । " इत्यागमप्रामाण्यात् । सम्म० ३ काण्ड ।

चरणकरणाभिलासि (ण्)–चरणकरणाभिलाषिन्–त्रि० । योऽवसन्न आत्मन उद्यतचरणो भविष्यामीत्यभिलाषिणि, नि० चू० १५ उ० ।

चरणकुसील–चरणकुशील–त्रि० । चरणमालिन्यजननं कुर्वाणे, प्रव० २ द्वार ।

चरणगुण–चरणगुण–पुं० । चरणं चारित्रं पञ्चमहाव्रतरूपं, तस्य गुणाः । पिण्डविशुद्ध्यादिषु करणचरणसप्ततिरूपेषु, "नाणिस्स दंसणिस्स य, नाणेण विणा ण होंति चरणगुणा । अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्खस्स निव्वाणं ॥" अनु० ।

चरणगुणट्ठिय–चरणगुणस्थित–त्रि० । चर्यत इति चरणं चारित्रं, गुणः साधनमुपकारकमित्यनर्थान्तरम् । तच्चासौ गुणश्च निर्वाणात्यन्तोपकारितया चरणगुणः। तस्मिन्, उत्त० १ अ० । आचा० । चारित्रलक्षणगुणेषु व्यवस्थिते, पञ्चा० ११ विव० । ज्ञाननयव्यवस्थिते, विशे० । चरणं चारित्रं क्रिया, गुणोऽत्र ज्ञानं, तयोः स्थितः । ज्ञानक्रियाभ्यां द्वाभ्यामपि युक्ते, विशे० ।

चरणग्ग–चरणाग्र–त्रि० । चरणेनाग्रः प्रधानश्चरणाग्रः । निश्चयनयमतापेक्षया क्षीणकषायादिके अकषायचारित्रे, पिं० ।

चरणणय–चरणनय–पुं० । नयभेदे क्रियानये, स च चरणस्य प्राधान्यमभिदधाति । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । (तदभिधानं च 'किरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५४ पृष्ठे समुक्तम्)

चरणपडिवत्ति–चरणप्रतिपत्ति–स्त्री० । चर्यते इति चरणं व्रतादि, तस्य प्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तिः । ओघ० । सर्वविरत्यभ्युपगमे चारित्राभ्युपगमस्वभावे, त्रि० । पञ्चा० ६ विव० ।

चरणपडिवत्तिसमय–चरणप्रतिपत्तिसमय–पुं० । चारित्राभ्युपगमकाले, पञ्चा० ७ विव० ।

चरणपरिणाम–चरणपरिणाम–पुं० । चारित्राध्यवसाये, पञ्चा० ११ विव० ।

चरणपुरिस–चरणपुरुष–पुं० । मूलोत्तरगुणरूपे पुरुषोपमितेऽर्थे, "मूलुत्तरगुणरूव-स्स तारिसो परमचरणपुरिसस्स । अवराहसल्लपभवो, भावव्वणो होइ नायव्वो ॥ १ ॥" आव० ५ अ० ।

चरणमोह–चरणमोह–न० । चरणं चारित्रं, तं मोहयतीति चरणमोहमिति । कर्म० १ कर्म० । चारित्रमोहनीयकर्मणि, आ० ।

चरणय–चरणक–न० । कन्यापरिधाने, आ० म० द्वि० ।

चरणरय–चरणरत–त्रि० । चरणप्रतिबद्धे, दश० ३ अ० ।

चरणविगम–चरणविगम–पुं० । चरणाभावे, पञ्चा० १६ विव० ।

चरणविगमसंकेस–चरणविगमसंक्लेश–पुं० । चारित्राभावहेतुदुष्टाध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

चरणविघाय–चरणविघात–पुं० । चारित्राभावे, पञ्चा० ११ विव० ।

चरणविप्पहूण–चरणविप्रहीण–त्रि० । क्रियारहिते, "सुबहुं पि सुयमधीतं, किं काही चरणविप्पहूणस्स ? । अंधस्स जह पलित्ता, दीवसतसहस्सकोडी वि ॥" इतिक्रियापूर्वकार्क्रियाविकलत्वात्तस्येति भावः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

चरणविहि–चरणविधि–पुं० । चरणं चारित्रं, तस्य विधिर्यत्र वर्ण्यते ग्रन्थे स चरणविधिः । नं० । चरणं व्रतादि तत्प्रतिपादकमध्ययनं चरणविधिः । पा० । उत्कालिकश्रुतविशेषे, ६ ठ० । चारित्रविधौ, चारित्रस्य विधाने, उत्त० ३० अ० ।

चरणविधिशब्दनिक्षेपायाऽऽह निर्युक्तिकृत्–

निक्खेवो चरणम्मी, चउव्विहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नो आगमतो य सो तिविहो ॥ ४८ ॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य भक्खणाईसु ।
आचरणा आचरणं, भावे चरणं तु नायव्वं ॥ ४९ ॥
निक्खेवो उ विहीए, चउव्विहो दुविह होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, आगमतो होइ सो तिविहो ॥ ५० ॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य इंदियत्थेसु ।
भावविही पुण दुविहा, संजमजोगा तओ चेव ॥ ५१ ॥

गाथाचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं (तव्वइरित्ते य त्ति) तद्व्यतिरिक्तं च गतिभक्षणादिषु, गतिर्गमनं, भक्षणं, पठ्यते हि–'चर' गतिभक्षणयोरिति । आदिशब्दादासेवापरिग्रहः । उक्तं हि–चरतिरासेवायामपि वर्त्तते इति । तत एतेषु सत्सु प्रक्रमाद् द्रव्यमेव, द्रव्यत्ययेन गत्यादयो वा, भावचरणं कार्याकरणत्वेन, तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यचरणं, तथा चरणे प्रस्तावात् ज्ञानाद्याचारे आचरणमनुष्ठानं सिद्धमित्यभिहितं, भावे विचार्ये चरणं तु विशेषेण ज्ञातव्यमिति । तथा (इंदियत्थेसु त्ति) इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, तेषामर्थाः स्पर्शादयः, तेषु प्रक्रमाद्यो विधिरनुष्ठानरूपं चरणासेवनं स भावविधिः, स चैवंविध एवेति गाथाचतुष्टयार्थः ।

सम्प्रति येनेह प्रकृतं तदुपदर्शयन्नुपदेशमाह–

एगयं तु भावचरणे, भावविहीए य होइ नायव्वं ।
चइऊण अचरणविहिं, चरणविहीए उ जइयव्वं ॥ ५२ ॥

गाथा निगदसिद्धा, नवरं भावचरणेन प्रस्तावाच्चारित्रानुष्ठानेन अचरणविधिमनाचारानुष्ठानं त्यक्त्वा चरणविधावुक्तरूपे यतितव्यं, यत्नो विधेय इति गाथार्थः । उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ॥ ५२ ॥

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्–

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता वहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥ १ ॥

चरणस्य विधिरागमोक्तन्यायश्चरणविधिस्तं प्रवक्ष्यामि जीवस्य, तुरवधारणे भिन्नक्रमस्ततः (सुहावह त्ति) सुखावहमेव यथा चैतदेव तथा फलोपदर्शनद्वारेण आह–यं चरित्वा वा ऽऽसेव्य बहवो जीवास्तीर्णा अतिक्रान्ताः, संसारसागरं भवसमुद्रं, मुक्तिमवाप्ता इत्यभिप्राय इति सूत्रार्थः ।

यथाप्रतिज्ञातमेवाह–

एगओ विरइं कुज्जा, एगतो य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥ २ ॥
रागदोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ३ ॥
दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे ।
जे भिक्खू सहई सम्मं, से न अच्छइ मंडले ॥ ४ ॥
दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं ।

जे भिक्खू रुंभए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ५ ॥
विगहाकसायसन्नाणं, झाणाणं दुहुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ६ ॥
वएसु इंदियत्थेसु, समिईसु किरियासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ७ ॥
लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ८ ॥
पिंडुग्गहपडिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ९ ॥
मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मम्मि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १० ॥
उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ११ ॥
किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १२ ॥
गाहासोलसएहिं, तहा असंजमम्मि य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १३ ॥
बंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु य समाहिए ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १४ ॥
एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १५ ॥
तेवीसाए सूयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १६ ॥
पणवीसभावणेहिं, उद्देसेसु दसाइण ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १७ ॥
अणगारगुणेहिं च, पकप्पम्मि तहेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १८ ॥
पावेसु य पसंगेसु, मोहट्ठाणेसु चेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १९ ॥
सिध्दाइगुणजोगेसु, तेत्तीसासायणासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ २० ॥

इत्यादि एकोनविंशतिः सूत्राणि । उत्त० ३१ अ० । (विस्तरार्थीनामर्थोऽन्यत्रान्यत्र)

अध्ययनार्थं निगमयितुमाह–

इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयई सया ।
खिप्पं सो सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥ २१ ॥

इत्यनेन प्रकारेणैतेष्वनन्तरोक्तरूपेषु स्थानेषु असंयमादिषु यो भिक्षुर्यतते उक्तन्यायेन यत्नवान् भवति सदा क्षिप्रं स संसाराद्विप्रमुच्यते पण्डित इति सूत्रार्थः । उत्त० ३१ अ० । एकत्रिंशे उत्तराध्ययने, स० ३६ सम० ।

चरणसंपण्ण–चरणसंपन्न–त्रि० । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसम्पन्ने, पं० चू० ।

चरणहीण–चरणहीन–त्रि० । सर्वथा चारित्रसत्ताविकले द्रव्यचरणहीने, ध० ३ अधि० । प्रव० । आव० ।

चरणाराहणाणिमित्त–चरणाराधनानिमित्त–न० । अस्खलितचारित्रपालनार्थे, पञ्चा० २ विव० ।

चरणेरिया–चरणेर्य्या–स्त्री० । 'अम्र–चम्र–मम्र–चर' गत्यर्थाः । चरतेर्भावे ल्युट् चरणं, तद्रूपेर्या चरणेर्य्या । श्रमणस्य केनापि प्रकारेण भावरूपे गमने, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । ('इरिया' शब्दे द्वितीयभागे ६२६ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम्)

चरम–चरम–त्रि० । अवसानवृत्तौ, षो० ३ विव० । पर्यन्तवर्तिनि, प्रज्ञा० ५ पद । भ० ।

विषयसूची–

(१) चरमाचरमनिर्वचनम् ।
(२) चरमाचरमलक्षणम् ।
(३) रत्नप्रभादीनां नैरयिकादीनां च चरमाचरमविभागः ।
(४) रत्नप्रभादिषु प्रत्येकं चरमाचरमादिगतमल्पबहुत्वाभिधानम् ।
(५) लोकालोकविषये प्रश्नाः ।
(६) परमाणुपुद्गलानां चरमाचरमत्वविचारः ।
(७) जीवादीनां चरमाचरमविभागेन चिन्तनम् ।
(८) स्थितिचरमे विचारः ।
(९) जीवादयो जीवभावेन चरमा अचरमा वेत्याहारादिविशेषेण प्रश्नाः ।
(१०) अल्पस्थितौ चरमाचरमविचारः ।

(१) अथ केयं चरमाचरमपरिभाषा ? । तत्रोच्यते–चरमं नाम प्रान्तं पर्यन्तवर्ति, आपेक्षिकं च चरमत्वं, यदुक्तम्–अन्यद्रव्यापेक्षया इदं चरमं द्रव्यमिति, यथा पूर्वशरीरापेक्षया चरमं शरीरमिति । तथा अचरमं नाम अप्रान्तं मध्यवर्ति, आपेक्षिकं चाचरमत्वम्, यदुक्तम्–अन्यद्रव्यापेक्षया इदमचरमं द्रव्यं, यथा–अन्यशरीरापेक्षया मध्यशरीरमिति । भ० ८ श० ३ उ० ।

(२) अथ चरमाचरमलक्षणाभिधानायाऽऽह–

जो जं पाविहिति पुणो, भावं सो तेण अचरिमो होइ ।
अच्चंतविजोगो ज–स्स तेण भावेण सो चरिमो ॥

(जो जं पाविहिति त्ति) यो जीवो नारकादिर्यं जीवत्वनारकत्वादिकमप्रतिपतितं प्रतिपतितं वा प्राप्स्यति लप्स्यते पुनः पुनरपि भावं धर्मं, स तेन भावेन, तद्भावापेक्षयेत्यर्थः; अचरमो भवति । तथा अत्यन्तवियोगः सर्वथाविरहो यस्य जीवादेर्येन भावेन स तेनेति शेषश्चरमो भवतीति । भ० १६ श० १ उ० ।

(३) रत्नप्रभादीनां नैरयिकादीनां च चरमाचरमविभागमाह–

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं चरमा, अचरमा, चरमाइं, अचरमाइं, चरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा ? । गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी नो चरमा, नो अचरमा, नो चरमाइं, नो अचरमाइं, नो चरमंतपदेसा, नो अचरमंतपदेसा, नियमा अचरमं चरमाइं य चरमंतपदेसा य, अचरमंतपदेसा य, एवं० जाव अहे सत्तमा पुढवी सोहम्मादी० जाव अनुत्तर–

विमाणाणं एवं चेव, इसीप्पब्भाराए एवं चेव, लोगे वि एवं चेव, एवं अलोगे वि ।

"इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं चरमा" इत्यादि पृच्छा ? । अथ केयं चरमाचरमपरिभाषा ? । उच्यते-चरमं नाम पर्यन्तवर्त्ति, तच्चरमत्वमापेक्षिकमन्यापेक्षया तस्य भावात् । यथा पूर्वशरीरापेक्षया चरमं शरीरमिति, अचरममप्रान्तं मध्यवर्त्ति इति यावत्, तदपि चापेक्षिकं, तस्य चरमापेक्षया भावात् । यथा तथाविधान्यशरीरापेक्षया मध्यशरीरमचरमशरीरं तदेवं चरमाचरमेत्येकवचनान्तः प्रश्नः कृतः । सम्प्रति बहुवचनान्तमाह-(चरमाइं अचरमाइं ति) एतानि चत्वारि प्रश्नसूत्राणि तथाविधैकत्वपरिणामविशिष्टद्रव्यविषयाणि कृतानि । सम्प्रति प्रदेशानधिकृत्य प्रश्नसूत्रद्वयमाह-(चरमंतपएसा य इति) चरमाण्येवान्तवर्त्तित्वात् अन्ताश्चरमान्तप्रदेशाः । अचरममेव कस्याप्यपेक्षयाऽन्तवर्त्तित्वादन्तोऽचरमान्तप्रदेशाः । तदेवं षट्सु प्रश्नेषु कृतेषु भगवानाह-गौतम ! सा रत्नप्रभा पृथिवी नो चरमा, चरमत्वं ह्यापेक्षिकमित्युक्तं, न चात्रान्यदपेक्षणीयमस्ति, केवलाया एव तदन्यनिरपेक्षाया स्पृष्टत्वात्, नाप्यचरमा, तत एव हेतोः, तथा ह्यचरमत्वमपि आपेक्षिकं, न चात्रान्यदपेक्षणीयमस्तीति । किमुक्तं भवति ?-इयं रत्नप्रभा पृथिवी न पश्चिमा, नापि मध्यमा, तदन्यस्यापेक्षणीयस्याविवक्षणादिति । अत एव न चरमाणि, चरमत्वव्यपदेशस्यैवाऽसम्भवे, तद्विषयबहुवचनासम्भवात् । तथाहि-यदा तस्याश्चरमत्वव्यपदेश एवोक्तयुक्तेर्नोपपद्यते, तदा कथं तद्विषयं बहुवचनमुपपत्तुमर्हतीति, एवमचरमाण्यपि प्रतिषेधनीयानि, प्रागुक्तयुक्तेरचरमत्वव्यपदेशस्यासम्भवात्, न चरमान्तप्रदेशा नाप्यचरमान्तप्रदेशाः, उक्तयुक्त्या चरमत्वस्याचरमत्वस्य चाऽसम्भवतस्तत्प्रदेशकल्पनाया अप्यसम्भवात् । यद्येवं तर्हि किंस्वरूपा सेत्यत्र आह-नियमान्नियमेनाचरमं चरमाणि च । किमुक्तं भवति ?-यदीयमखण्डरूपा विवक्षितत्वात् पृच्छ्यते तदा यथोक्तभङ्गानामेकेनापि भङ्गेन व्यपदेशो न भवति, यदा त्वसंख्येयप्रदेशावगाढेत्यनेकावयवविभागात्मिका विवक्ष्यते तदा यथोक्तनिर्वचनविषया भवति । तथाहि-रत्नप्रभापृथिव्या यानि प्रान्तेष्ववस्थितानि खण्डानि प्रत्येकं तथाविधविशिष्टैकत्वपरिणामपरिणतानि चरमाणि १, यत्पुनर्मध्ये महद्रत्नप्रभायाः खण्डं तत्तथाविधैकत्वपरिणामयुक्तत्वादेकत्वेन विवक्षितमित्यचरमम् २, उभयसमुदायरूपा चेयम्, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । तदेवमवयवावयविरूपतया चिन्तायामचरमचरमाणि चेत्येकमेकनिर्वचनविषया प्रतिपादिता, यदा पुनः प्रदेशचिन्ता क्रियते तदैव निर्वचनम्, चरमान्तप्रदेशाश्च, अचरमान्तप्रदेशाश्च । तथाहि-ये बाह्यखण्डेषु गताः प्रदेशास्ते चरमान्तप्रदेशाः ये पुनर्मध्यैकखण्डगताः प्रदेशास्तेऽचरमान्तप्रदेशाः । अन्ये तु व्याचक्षते-चरमाणि नाम तथाविधप्रविष्टेतरप्रान्तैकप्रादेशिकश्रेणिपटलरूपाणि मध्यभागोऽचरम इति । तदपि समीचीनम्, दोषाभावात् । चरमान्तप्रदेशा यथोक्तरूपप्रान्तैकप्रादेशिकश्रेणिपटलगताः प्रदेशा अचरमान्तप्रदेशा मध्यभागगताः प्रदेशाः । अनेन निर्वचनसूत्रेण एकान्तदुर्नयप्रधानेन अवयवावयविरूपं रत्नप्रभादिकं वस्तु, तयोश्चावयवावयविनोर्भेदाभेद इत्यावेदितं, तथा चावयवावयविरूपताया परोक्तदूषणावकाश । तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां बाह्यवस्तुप्रतिष्ठापनपर प्रतिपादितमिति ततोऽवधार्यम् । एवं " जाव अहे सत्तमाए पुढवीए " इत्यादि । यथा रत्नप्रभा पृथिवी प्रश्ननिर्वचनाभ्यामुक्ता, एवं शर्कराद्या अपि पृथिव्यः, सौधर्मादीनि च विमानानि अनुत्तरविमानपर्यवसानानि, ईषत्प्राग्भारालोकश्च वक्तव्यः, सूत्रपाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयः । स चैव-"सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी किं चरमा, अचरमा, चरमाणि, अचरमाणि" इत्यादि । (एवमलोके वि इति) एवमुक्तेन प्रकारेणालोकोऽपि वक्तव्यः । स चैवम्-" अलोए णं भंते ! किं चरमे अचरमे " इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव । निर्वचनसूत्रं-" गोयमा ! अचरमे चरमाणि य चरमंतपएसा य अचरमंतपएसा य " । तत्र चरमाणि यानि लोकनिष्कुटेषु प्रविष्टानि, शेषमन्यत्सर्वमचरमं, चरमखण्डगताः प्रदेशाश्चरमान्तप्रदेशाः, अचरमखण्डगताः प्रदेशा अचरमप्रदेशाः । प्रज्ञा० १ पद । भ० ।

(४) सम्प्रत्येतेषु रत्नप्रभादिषु प्रत्येकं चरमाचरमादिगतमल्पबहुत्वमभिधित्सुरिदमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया एवं० जाव अहे सत्तमा सोहम्मस्स० जाव लोगस्स य एवं चेव ।

"इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अचरमस्स य चरमाण" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । निर्वचनसूत्रे सर्वस्तोकं द्रव्यार्थतया अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या अचरमखण्डम् । कस्मादिति चेदत आह-एके 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायोदर्शनम्' इति न्यायादत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यस्मात्तथाविधैकस्कन्धपरिणामपरिणतत्वादेकं ततः स्तोकं, तस्मात् यानि चरमाणि खण्डानि तान्यसंख्येयगुणानि, तेषामसंख्यातत्वात्, अथाचरमं चरमाणि समुदितानि चरमाणां तुल्यानि विशेषाधिकानि चेति शङ्कायामाह-अचरमं चरमाणि च समुदितानि विशेषाधिकानि । तथाहि-यदचरमद्रव्यं तच्चरमद्रव्येषु प्रक्षिप्ते ततश्चरमेभ्य एकोनाधिकत्वाद्विशेषाधिकसमुदायो भवति, प्रदेशार्थत्वाचिन्तायां सर्वस्तोकाश्चरमान्तप्रदेशाः, यतश्चरमखण्डानि मध्यखण्डापेक्षयाऽतिसूक्ष्माणि, ततस्तेषामसंख्येयानामपि ये प्रदेशास्ते मध्यखण्डगतप्रदेशापेक्षया सर्वस्तोकाः, तेभ्यो अचरमप्रदेशा असंख्येयगुणाः, अचरमखण्ड-

एकैकस्यापि चरमखण्डसमुदायापेक्षया स्तोकोऽसंख्येयगुणे-त्वात्, चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाश्च द्वयेऽपि समुदिता अचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिकाः कथमिति चेत् ?, उच्यते चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशापेक्षया असंख्येयभागमात्राः, ततोऽचरमान्तप्रदेशेषु चरमान्तप्रदेशप्रक्षेपेऽपि ते अचरमान्त-प्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव भवन्ति द्रव्यार्थप्रदेशार्थचि-न्तायाम् (अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चर-मंतपएसा असंखेज्जगुणा इति) अचरमचरमसमुदायाच्च-रमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणाः। कथम् ? उच्यते इह यदचरमख-ण्डं तदसंख्येयप्रदेशावगाढमपि द्रव्यार्थतया एकं चरमेषु पुनः खण्डेषु प्रत्येकमसंख्येयाः प्रदेशास्ततो भवन्ति चरमाचरमद्रव्य-समुदायादसंख्येयगुणाश्चरमान्तप्रदेशास्तेभ्योऽप्यचरमान्तप्रदे-शा असंख्येयगुणास्तेभ्योऽपि चरमाचरमप्रदेशा समुदिता विशेषाधिका इति पूर्ववत्।

अलोगस्स णं भंते ! अचरमस्स य चरमाण य चरमं-तपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे,कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे अलोगस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा; अलोगस्स चरमंतपदेसा अचरमं-तपदेसा अणंतगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे; अलोग-स्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचर-मं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा अणंतगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया।

प्रदेशार्थचिन्तायां सर्वस्तोका अलोकस्य चरमान्तप्रदेशा ,लो-कनिष्कुटेष्वेवान्तस्तेषां भावात् , तेभ्योऽचरमान्तप्रदेशा अन-न्तगुणाः, अलोकस्यानन्तत्वात्। चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदे-शाश्च समुदिता विशेषाधिकाः, चरमान्तप्रदेशा ह्यचरमान्तप्रदे-शापेक्षया अनन्तभागकल्पाः, ततस्तेषामचरमान्तप्रदेशराशौ प्रक्षेपेऽपि तेऽचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव भवन्ति ।

(५) सम्प्रति लोकालोकविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

लोगालोगस्स णं भंते ! अचरमस्स य चरमाण य चरमं-तपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे लोगालो-गस्स दव्वट्ठयाए एगमेगे अचरमे, लोगस्स चरमाइं असंखे-ज्जगुणाइं,अलोगस्स चरमाइं विसेसाहियाइं, लोगस्स अलो-गस्स य अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, लोगस्स चरमंतपदेसा, अलोगस्स चरमंतपदेसा विसेसाहिया, लोगस्स अचरमंतपदेसा असं-खिज्जगुणा,अलोगस्स अचरमंतपदेसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलोगस्स य चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, लोगालोगस्स दव्वट्ठयाए एगमेगे अचरमे,लोगस्स चरमाइं असंखेज्जगु-णाइं,अलोगस्स चरमाइं विसेसाहियाइं, लोगस्स य अलो-गस्स य अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, लोगस्स चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा,अलोगस्स चरमंतपदे-सा विसेसाहिया, लोगस्स अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स अचरमंतपदेसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलो-गस्स य चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसे-साहिया सव्वदव्वा विसेसाहिया सव्वपदेसा अणंतगुणा सव्वपज्जवा अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनमाह-"गोयमा" इत्यादि । गौतम ! लोकस्य अलोकस्य च यत् एकैकं अचरमखण्डं तत् स्तोकमे-कत्वात्, तेभ्यो लोकस्य चरमखण्डान्यसंख्येयगुणानि तेषामसंख्यत्वात्, तेभ्योऽप्यलोकस्य चरमखण्डानि विशेषाधि-कानि । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह यद्यपि लोकस्य चरमख-ण्डानि तत्त्वतोऽसंख्येयानि तथापि प्रागुपदर्शितपूर्व्वीन्यासपरि-कल्पनया तान्यष्टौ परिकल्प्यन्ते । तद्यथा-एकैकं चतसृषु दिक्षु एकैकं च विदिक्ष्विति अलोकचरमखण्डानि च तन्न्यासपरि-कल्पनया परिगण्यमानानि द्वादश । तद्यथा-एकैकं चतसृषु दिक्षु द्वे द्वे विदिक्ष्विति द्वादश चाष्टभ्यो न द्विगुणानि त्रिगु-णानि च,किं तु विशेषाधिकानि, तेभ्योऽलोकस्य चरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमाचरमखण्डानि, अलोकस्य चरमाचरमखण्डानि समुदितानि विशेषाधिकानि। तथाहि-लोकस्य चरमखण्डानि प्रागुक्तपरिकल्पनया अष्टावेकमचरममित्युभयमीलनेन नव अ-लोकस्यापि चरमाचरमखण्डानि समुदितानि त्रयोदश, उभये-षामेकत्र मीलनेन द्वाविंशतिः, सा च द्वादशभ्यो न द्विगुणा नापि त्रिगुणा , किं तु विशेषाधिकेति, अलोकस्य चरमख-ण्डेभ्यो लोकालोकचरमाचरमखण्डानि समुदितानि विशेषा-धिकानि, प्रदेशार्थताचिन्तायां सर्वस्तोका लोकस्य चरमा-न्तप्रदेशा , अल्पखण्डसत्कानामेव प्रदेशानां भावात् । तेभ्यो-ऽलोकस्य चरमान्तप्रदेशा विशेषाधिकाः , तेभ्योऽलोकस्याच-रमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणाः , क्षेत्रस्यातिप्रभूततया तत्प्रदेशा-नामप्यतिप्रभूतत्वाभावात् । तेभ्योऽप्यलोकस्याचरमान्तप्रदेशा अनन्तगुणा , क्षेत्रस्यानन्तगुणत्वात्, तेभ्योऽपि लोकस्य चरमा-न्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशा अलोकस्यापि चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाः समुदिता विशेषाधिकाः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह अलोकस्याचरमान्तप्रदेशराशौ लोकस्य चरमा-चरमान्तप्रदेशा अलोकस्य चरमान्तप्रदेशाश्च प्रक्षिप्यन्ते, ते च सर्वसंख्यया ऽप्यसंख्येया अनन्तराश्यपेक्षयाऽतिस्तोका इति प्रक्षेपेऽपि ते अलोकस्याचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव । एतदनुसारेण द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तासूत्रमपि स्वयं परिभाव-नीयम् , नवरं लोकालोकचरमाचरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणा इति लोकस्य किल चरमाणि खण्डान्यष्टौ एकैकस्मिंश्च खण्डदेशे खण्डप्रदेशा असंख्येयलो-कालोकचरमाचरमखण्डानि च समुदितानि द्वाविंशतिः, ततो घटन्ते लोकालोकचरमाचरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमान्तप्र-देशा असंख्येयगुणाः। शेषपदभावना प्राग्वत् (सव्वदव्वा

विसेसाहिया इति) लोकालोकचरमाचरमान्तप्रदेशेभ्यः सर्वद्रव्याणि विशेषाधिकानि , अनन्तानन्तसंख्यानां जीवानां तथा परमाण्वादीनामनन्तपरमाण्वारम्भकस्कन्धपर्यन्तानां प्रत्येकमनन्तसंख्यानां पृथक् २ द्रव्यत्वात् तेभ्योऽपि सर्वप्रदेशा अनन्तगुणाः , तेभ्योऽपि सर्वपर्याया अनन्तगुणाः , प्रतिप्रदेशं स्वपरभेदभिन्नानां पर्यायाणामानन्त्यात् ।

(६) इदानीं परमाण्वादिकं चिन्तयन्नाह—

परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं चरमे अचरमे अवत्तव्वए चरमाइं अचरमाइं अवत्तव्वयाइं ६ उदाहु चरमे य अचरमे य ७ उदाहु चरमे य अचरमाइं ८ उदाहु चरमाइं अचरमे य ९ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च १० पढमा चउभंगी । उदाहु चरमे य अवत्तव्वए य ११ उदाहु चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२, उदाहु चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ उदाहु चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ बीया चउभंगी । उदाहु अचरमे य अवत्तव्वए य १५ उदाहु अचरमस्स य अवत्तव्वयाइं च १६ उदाहु अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ उदाहु अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ तइया चउभंगी । उदाहु चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ उदाहु चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० उदाहु चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ उदाहु चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ उदाहु चरमाइं अचरमे य अवत्तव्वए य २३ उदाहु चरमाइं अचरमे य अवत्तव्वयाइं २४ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ एवं छव्वीसभंगा ? । गोयमा ! परमाणुपोग्गले नो चरमे नो अचरमे नियमा अवत्तव्वए, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ।

तत्र प्रश्नसूत्रे षड्विंशतिभङ्गाः, यतस्त्रीणि पदानि चरमाचरमावक्तव्यलक्षणानि, तेषां चैकैकसंयोगे प्रत्येकमेकवचनात्त्रयो भङ्गाः। तद्यथा-चरमः १ अचरमः २ अवक्तव्यकः ३। त्रयो बहुवचनेन। तद्यथा-चरमाणि १ अचरमाणि २ अवक्तव्यानि ३। सर्वसंख्यया षट्। द्विकसंयोगास्त्रयः। तद्यथा-चरमाचरमपदयोरेकः, चरमाऽवक्तव्यकपदयोर्द्वितीयः, अचरमाऽवक्तव्यकपदयोस्तृतीयः। एकैकस्मिंश्चत्वारो भङ्गाः, तत्र प्रथमे द्विकसंयोगे एवं चरमश्चाऽचरमश्च १ चरमश्चाऽचरमाश्च २ चरमाश्चाचरमश्च ३ चरमाश्चाचरमाश्च ४ । एवमेव चतुर्भङ्गी चरमावक्तव्यपदयोः, एवमेव चाचरमावक्तव्यपदयोः, सर्वसंख्यया द्विकसंयोगे द्वादश भङ्गाः, त्रिकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ, सर्वसङ्कलनया षड्विंशतिः । अत्र निर्वचनमाह-" गोयमा ! परमाणुपोग्गले नो चरमे" इत्यादि । परमाणुपुद्गलश्चरमो न भवति, चरमत्वं ह्यन्यापेक्षं, न चान्यदपेक्षणीयमस्ति, तदन्याविवक्षणाच्च सांशः परमाणुर्येनांशापेक्षया चरमत्वं प्रकल्पते, निरवयवत्वात्तस्मान्न चरमो नाप्यचरमो निरवयवतया मध्यत्वायोगात्, किं त्ववक्तव्यः, चरमाचरमव्यपदेशकारणतः शून्यतया चरमशब्देनाऽचरमशब्देन वा व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्, यच्च शक्यं हि वक्तव्यं, यत्तु चरमशब्देन अचरमशब्देन वा स्वस्वनिमित्तशून्यतया वक्तुमशक्यं तदवक्तव्यमिति, शेषास्तु भङ्गाः प्रतिषेध्याः, परमाणौ तेषामसम्भवात् । वक्ष्यति च-"परमाणुम्मि य तइओ" अस्यायमर्थः-परमाणौ परमाणुचिन्तायां तृतीयो भङ्गः परिग्राह्यः, शेषा निरवयवत्वेन प्रतिषेध्याः । प्रज्ञा० १० पद ।

परमाणुपोग्गले णं भंते ! । किं चरिमे अचरिमे ? । गोयमा ! दव्वादेसेणं णो चरिमे अचरिमे, खेत्तादेसेणं सिय चरिमे सिय अचरिमे, कालादेसेणं सिय चरिमे , सिय अचरिमे, भावादेसेणं सिय चरिमे सिय अचरिमे ॥

"परमाणु" इत्यादि । (चरमे त्ति) यः परमाणुर्यस्माद्विवक्षितभावाच्च्युतः सन् पुनस्तं भावं न प्राप्स्यति स तद्भावापेक्षया चरमः , एतद्विपरीतस्त्वचरम इति , तत्र (दव्वादेसेणं ति) आदेशः प्रकारो द्रव्यरूप आदेशो द्रव्यादेशस्तेन नो चरमः, स हि द्रव्यतः परमाणुत्वाच्च्युतः संघातमवाप्यापि ततश्च्युतः, परमाणुत्वलक्षणं द्रव्यत्वमवाप्स्यति इति (खेत्तादेसेणं ति) क्षेत्रविशेषितत्वलक्षणप्रकारेण स्यात्कदाचिच्चरमः। कथम् ?, यत्र क्षेत्रे केवली समुद्घातगतस्तत्र क्षेत्रे यः परमाणुरवगाढोऽसौ तत्र क्षेत्रे तेन केवलिना समुद्घातगतेन विशेषितो न कदाचनाप्यवगाहं लप्स्यते , केवलिनो निर्वाणगमनादित्येवं क्षेत्रतश्चरमोऽसाविति । निर्विशेषणक्षेत्रापेक्षया त्वचरमस्तत्क्षेत्रावगाहस्य तेन लप्स्यमानत्वादिति । (कालादेसेणं ति) कालविशेषितत्वलक्षणप्रकारेण (सिय चरिमे त्ति) कथञ्चिच्चरमः , कथम् ?, यत्र काले पूर्वाह्णादौ केवलिना समुद्घातः कृतस्तत्रैव यः परमाणुः परमाणुतया संवृत्तः स तं कालविशेषं केवलिसमुद्घातविशेषितं न कदाचनापि प्राप्स्यति, तस्य केवलिन सिद्धिगमनेन पुनः समुद्घाताभावादिति तदपेक्षया कालतश्चरमोऽसाविति निर्विशेषणकालापेक्षया त्वचरम इति । (भावादेसेणं ति) भावो वर्णादिविशेषः , तद्विशेषणलक्षणप्रकारेण स्याच्चरमः, कथम् ? , विवक्षितकेवलिसमुद्घातावसरे यः पुद्गलो वर्णादिभावविशेषं परिणतः स विवक्षितकेवलिसमुद्घातविशेषितवर्णपरिणामापेक्षया चरमो यस्मात् तत्केवलिनिर्वाणे पुनस्तं परिणाममसौ न प्राप्स्यतीति , इदं च व्याख्यानं चूर्णिकारमतमुपजीव्य कृतमिति । भ० १४ श० ४ उ० ।

दुपदेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! दुपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

" दुपएसिए णं भंते ! " इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनमाह-" गोयमा ! सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए " इत्यादि । द्विप्रदेशकः स्कन्धः स्यात् कदाचित् चरमः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह यदा द्विप्रदेशकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोरवगाढो भवति समश्रेण्या व्यवस्थितया, तदा एकोऽपि परमाणुरपरपरमाण्वपेक्षया चरमोऽपरोऽप्यपरपरमाण्वपेक्षया चरम इति चरमः , अचरमस्तु न भवति , सर्वद्रव्याणामपि केवलाचरमत्वस्यायोगात् । यदा तु स एव द्विप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अवगाहते , तदा स तथाविधैकत्वपरिमाणपरिणततया परमाणुवत् चरमाचरमव्यपदेशकारणशून्यत्वान्न चरमशब्देन व्यपदेष्टुं शक्यते , नाप्यचरम-

शब्देनेति अवक्तव्यः, शेषास्तु भङ्गाः प्रतिषेध्याः। तथा च वक्ष्यति-" पढमो तइओ य होइ दुपएसे।" अस्यायमर्थः -द्विप्रदेशके स्कन्धे प्रथमो भङ्गश्चरम इति तृतीयोऽवक्तव्य इति भवति। शेषास्तु प्रतिषेध्याः, असम्भवात्, स चासम्भवः सुप्रतीत एव ।

तिपएसिए णं भंते! खंधे पुच्छा?। गोयमा! तिपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं, नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं, नो चरमे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं, सिय चरमाइं च अचरमे य, नो चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए य, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

" तिपएसिए णं भंते! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्-"गोयमा! सिय चरमे" इत्यादि। इह यदा त्रिप्रदेशिकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाढो भवति तदाऽसौ चरमः, सा चरमाचरमत्वभावना द्विप्रदेशिकस्कन्धवद्भावनीया, अचरमप्रतिषेधः प्राग्वत्, स्यादवक्तव्य इति, यदा स एव त्रिप्रदेशिकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवत् चरमाचरमव्यपदेशकारणशून्यतया चरमाऽचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्यः, चतुर्थादयोऽष्टमपर्यन्ताः प्रतिषेध्याः, असम्भवात्, असम्भवस्तु प्रतीतत्वात् स्वयमुपयुज्य वक्तव्यः,नवमस्तु ग्राह्यः, तथा चाह—(सिय चरमाइं य अचरमे य) प्राकृते द्वित्वेऽपि बहुवचनम्, ततोऽयमर्थः-स्यात्कदाचिदयं भङ्गश्चरमोऽचरमश्च, तत्र यदा स त्रिप्रदेशिकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते तदाऽऽदिमान्तिमौ द्वौ परमाणुपर्यन्तवर्तित्वाच्चरमौ, मध्यमस्तु मध्यवर्तित्वादचरम इति, दशमस्तु प्रतिषेध्यस्कन्धस्य त्रिप्रदेशिकतया चरमाचरमशब्दयो बहुवचननिमित्तासम्भवात्, एकादशस्तु ग्राह्यः, तथा चाह-(सिय चरमे य अवत्तव्वए य) स्यात्कदाचिदयं भङ्गश्चावक्तव्यश्च, तत्र यदा स त्रिप्रदेशिकः समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते तदा द्वौ परमाणू समश्रेण्या व्यवस्थिताविति द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशिकस्कन्धवच्चरमव्यपदेशकारणभावतः चरम एकश्च परमाणुर्विश्रेणिस्थश्चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्य इत्यवक्तव्यः, शेषास्तु भङ्गाः सर्वेऽपि प्रतिषेध्याः। वक्ष्यति च-" पढमो तइओ नवमो, एक्कारसमो य तिपएसे।" अस्यायमर्थः-त्रिप्रदेशे स्कन्धे प्रथमो भङ्गश्चरम इति, तृतीयोऽवक्तव्य इति, नवमश्चरमौ चाऽचरमश्च, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्चेति भवति, शेषा भङ्गा न घटन्ते।

चउप्पएसिए णं भंते! खंधे पुच्छा?। गोयमा! चउप्पएसिए णं खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं,नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं, नो चरमे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं च, सिय चरमाइं अचरमे य, सिय चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए य, सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमाइं च अवत्तव्वए य, नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च,नो अचरमे य अवत्तव्वए य, नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

"चउप्पएसिए णं भंते! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह-" गोयमा! सिय चरमे " इत्यादि। अत्र प्रथमतृतीयनवमदशमैकादशद्वादशत्रयोविंशतितमरूपाः सप्त भङ्गाः ग्राह्याः,शेषाः प्रतिषेध्याः, तत्र प्रथमभङ्गो यः स्याच्चरम इति, इह यदा चतुःप्रदेशिकस्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाहते तदा चरमः,सा च चरमत्वभावना समश्रेण्या व्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशस्कन्धवद्भावनीया, तृतीयो भङ्गः स्यादवक्तव्य इति,स चैवम् -यदा स एव चतुष्प्रदेशकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवत् अवक्तव्यः,नवमः स्याच्चरमौ चाचरमश्च,स चैवम्-यदा स चतुःप्रदेशात्मकस्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ, मध्यप्रदेशावगाढस्त्वचरमः, दशमः स्याच्चरमौ चाचरमौ च, तत्र यदा स चतुःप्रदेशात्मकः स्कन्धः समश्रेण्या व्यवस्थितेषु चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा आद्यन्तद्विप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमौ, द्वयोस्तु मध्यमयोराकाशप्रदेशयोरवगाढौ द्वौ परमाणू अचरमाविति, एकादशः स्याच्चरमश्चावक्तव्यः, स चैवम्-यदा स चतुःप्रदेशकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या चैवमवगाहते तदा समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढास्त्रयः परमाणवो द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवत् चरम एकश्च विश्रेणिस्थः परमाणुरिव चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्य इति, द्वादशः स्याच्चरमश्चावक्तव्यौ च, स चैवम्-यदा स चतुःप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोः समश्रेण्याव्यवस्थितयोराकाशप्रदेशयोर्द्वौ च परमाणू द्वयो विश्रेण्या व्यवस्थितयोः तदा द्वौ परमाणू समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरमः, द्वौ च परमाणू विश्रेणिव्यवस्थितौ केवलपरमाणुवच्चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्यावित्यवक्तव्यौ । त्रयोविंशतितमः स्याच्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च, कथमिति चेत्?, उच्यते-इह यदा स चतुःप्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते त्रयः परमाणवस्त्रिषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेष्वेको विश्रेणिस्थप्रदेशे तदा त्रिषु परमाणुषु समश्रेणिव्यवस्थितेषु मध्ये आद्यन्तौ परमाणुपर्यन्तवर्तित्वाच्चरमौ, मध्यस्त्वचरमो, विश्रेणिस्थस्त्ववक्तव्य इति। वक्ष्यति च-"पढमो तइओ नवमो, दसमो एक्कारसो य बारसमो । भंगा चउप्पएसे, तेवीसइमो य बोधव्वो ॥ १ ॥ " गतार्थो ।

पंचपदेसिए णं भंते! खंधे पुच्छा?। गोयमा! पंचपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं,सिय चरमे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य, सिय चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए

य, सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमे य अवत्तव्वए य, नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च ।

" पचपएसिए णं भंते ! " इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनमाह-"गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि । इह प्रथमतृतीयसप्तमनवमदशमैकादशद्वादशत्रयोदशत्रयोविंशतितमचतुर्विंशतितमपञ्चविंशतितमरूपा एकादश भङ्गाः ग्राह्याः, शेषाः प्रतिषेध्याः । वक्ष्यति च-" पढमो तइओ सत्तम, नव दस एक्कार बार तेरसमो । तेवीस चउव्वीसो, पणवीसइमो य पचमए" ॥ १ ॥ तत्राथ प्रथमो भङ्गः-स्यात् चरम इति , इह यदा पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाहते त्रयः परमाणव एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वौ द्वितीये तदा द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरम , तृतीयोऽवक्तव्य. । स चैवम्-यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा स परमाणुवदवक्तव्यः, सप्तमः स्याच्चरमश्चाचरमश्च , स चैवम्-यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा ये चरमाश्चत्वारः परमाणवस्तेषामेकसम्बन्धिपरिणामपरिणतत्वादेकवर्णत्वादेकगन्धत्वादेकरसत्वादेकस्पर्शत्वाच्चैकत्वव्यपदेशे चरम इति व्यपदेशो, मध्यस्तु परमाणुर्मध्यवर्तित्वादचरम इति , नवमश्चरमौ चाचरमश्च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशकस्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू आद्ये आकाशप्रदेशे द्वावन्ते एको मध्ये तदा आद्यप्रदेशावगाढौ द्वौ चरमौ द्वावन्त्यप्रदेशावगाढौ चरम इति चरमौ मध्यस्तु मध्यवर्तित्वादचरम , दशमश्चरमौ चाचरमौ च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते त्रय. परमाणव त्रिष्वाकाशप्रदेशेष्वेकस्मिन् द्वाविति, तदा आद्यप्रदेशवर्ती परमाणुश्चरमौ द्वौ चान्त्यप्रदेशवर्तिनौ चरम इति चरमौ द्वौ च मध्यवर्तित्वादचरमौ, एकादशश्चरमश्चावक्तव्य., कथमिति चेत् ?, उच्यते-यदा स पञ्चप्रदेशस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ २ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेको विश्रेणिस्थ. तदा चत्वारः परमाणवो द्विप्रदेशावगाहित्वात् द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरम एकश्च विश्रेणिस्थ. परमाणुर्वक्तव्य., द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू , द्वयोराकाशप्रदेशयो. समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेको विश्रेणिस्थो द्वौ चान्यस्मिन् विश्रेणिस्थे तदा द्वौ परमाणू समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढौ द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशस्कन्धवच्चरम., द्वौ च विश्रेणिस्थौ पृथगेकैकाकाशप्रदेशावगाढौ चावक्तव्यौ, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च. तत्र यदा स पञ्चप्रदेशावगाढ-

पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू उपरि द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरवगाढौ द्वौ च द्वयोस्तथैवाधः एकपर्यन्तमध्यसमे तदा द्वावप्युपरितनौ द्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवच्चरमौ द्वौ चाधस्तनौ चरम इति चरमौ एकश्च केवलः परमाणुरिवावक्तव्य इति,त्रयोविंशतितमः चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च । यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाद्येऽपि विश्रेणिस्थ एकः तदा त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ, मध्यप्रदेशवर्ती तु द्व्यणुको मध्यवर्तित्वादचरमो विश्रेणिस्थश्चावक्तव्य इति । चतुर्विंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च । कथमिति चेदुच्यते-स एव यदा पञ्चप्रदेशक स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रयः परमाणवस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेषु द्वौ च द्वयो परमाण्वोर्विश्रेणिस्थयोः तदा त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये द्वावाद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ मध्यश्चाचरमो द्वौ च विश्रेणिस्थावक्तव्यौ,पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यश्च,स चैवम्-यदा स पञ्चप्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते चत्वारश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेष्वेको विश्रेणिस्थ तदा चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये द्वावाद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ द्वौ च मध्यमवर्तिनावचरमावेको विश्रेणिस्थोऽवक्तव्यः।

छप्पएसिए णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! छप्पएसिए णं खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ ॥

"छप्पएसिए ण भंते ! " इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम-"गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि । इह द्वितीयचतुर्थपञ्चमषष्ठपञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशविंशतितमैकविंशतितमद्वाविंशतितमरूपा एकादश भङ्गाः प्रतिषेध्याः। वक्ष्यति च-"वि चउत्थ पंच छट्ठ, पन्नर सोलं च सत्तरट्ठार। विसेक्कवीसगा च,...... वज्जेज्ज छट्ठम्मि॥ " शेषास्त्वेकादय परिग्राह्या', घटमानत्वात्तत्र यथा द्वादयो न घटन्ते , एकादयस्तु घटन्ते , तथा भाव्यते-इह यदा षट्प्रदेशकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या

व्यवस्थितयोरेवमवगाहते, एकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे अथ परमाणवोऽपरस्मिन्नपि अथ इति, तदा द्विप्रदेशावगाढो द्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरमः, अचरमलक्षणस्तु द्वितीयो भङ्गो न घटते, चरमरहितस्य केवलस्याऽचरमस्याऽसम्भवात्, न खलु प्रान्ताभावे मध्यं भवतीति भावनीयमेतत्, तृतीयोऽवक्तव्यलक्षणः, स चैवम्-यदा षट्प्रदेशात्मकः स्कन्ध एतस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवच्चरमाचरमशब्देन व्यपदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्यः, चतुर्थश्चरमाणीति, पञ्चमोऽचरमाणीति, षष्ठोऽवक्तव्यानि इति, पञ्चदशोऽचरमश्चावक्तव्यश्च, षोडशोऽचरमश्चावक्तव्यानि च, सप्तदशोऽचरमाणि चावक्तव्यश्चाष्टादशोऽचरमाणि चावक्तव्यानि चेत्येते सप्त भङ्गा अोघत एव न सम्भवन्ति, तथाप्रकाराणां द्रव्याणामेवासम्भवात् । न हि एवं जगति केवलानि चरमादीनि द्रव्याणि सम्भवन्ति, शेषास्त्वष्ट भङ्गाः प्रागुक्तभावनानुसारेण सुगमत्वात् स्वयं भावनीयाः, सप्तमश्चरमश्चाचरमश्चेत्येवं रूपः, एष यदा स षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेकपरिक्षेपेण व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू मध्यमप्रदेशे एकैकः शेषेषु तदा तेषां चतुर्णां परमाणूनामेकसम्बन्धिपरिणामपरिणतत्वादेकवर्णत्वादेकगन्धत्वादेकरसत्वादेकस्पर्शत्वात् चैकत्वव्यपदेशः, एकत्वव्यपदेशश्चरम इति व्यपदेशो, यौ तु द्वौ परमाणू मध्ये तावेकत्वपरिणामपरिणतावित्यचरमः, अष्टमश्चरमश्चाचरमौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः षट्सु प्रदेशेषु एकपरिक्षेपेणैकाधिकमेवमवगाहते तदा पर्यन्तवर्तिनः परिक्षेपेणावस्थिताश्चत्वारः परमाणवः प्रागुक्तयुक्तेरेकश्चरमो द्वौ च मध्यवर्तिनावचरमाविति, अन्ये त्वभिदधति-चतुर्णां परमाणूनां क्षेत्रप्रदेशान्तरव्यवहिताधिकत्वपरिणामो न भवति, तदभावाच्च नैष भङ्ग उपपद्यते, प्रतिषिद्धश्च सूत्रे, यतो वक्ष्यति-"वि चउत्थ पंचछट्ठ" इति प्राकृतशैल्या "अट्ठऽट्ठ" इत्येतयोः पदयोर्निर्देशः । ततोऽयमर्थः-षष्ठमष्टमं च वर्जयित्वेति, अथ नामैवरूपोऽपि भङ्गो भवति तदेवं गम्यते-य एकवेष्टकाव्यवधानेन चत्वारः परमाणवः ते तथाविधैकत्वपरिणामपरिणतत्वाच्चरमः तस्मादधिकोऽपि समश्रेण्यैव प्रतिबद्धत्वान्न तद्व्यतिरिक्त इति सोऽपि तस्मिन्नेव चरमे गण्यते इत्येकः चरमः, पुनश्च योऽधिकमध्ये व्यवस्थित इति स मध्यवर्तित्वादनेकपरिणामित्वाच्च वस्तुनोऽचरमोऽपि, ततोऽचरमावित्यपि भवति, अत्रापि न कश्चिद्विरोधः, तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति, नवमश्चरमौ चाचरमश्च, यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वौ २ परमाणू इति तदाऽऽद्यप्रदेशवर्तिनौ द्वौ २ परमाणू चरमौ द्वावन्त्यप्रदेशवर्तिनौ चरम इति, चरमौ द्वौ तु मध्यप्रदेशवर्तिनावेकोऽचरम इति, दशमश्चरमौ चाऽचरमौ च । स चैवम्-यदा षट्प्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ चाद्ये प्रदेशे द्वौ द्वितीये एकस्तृतीये एकश्चतुर्थे तदा द्वौ परमाणू प्रथमप्रदेशवर्तिनावेकश्चरम एकोऽन्त्यप्रदेशवर्ती चरम इति चरमौ द्वौ परमाणू द्वितीयप्रदेशवर्तिनावेकोऽचरम एकस्तृतीयप्रदेशवर्ती अचरम इत्यचरमावपि द्वौ, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्च । स चैवम्-यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वावाद्ये प्रदेशे द्वौ समश्रेण्या व्यवस्थिते द्वितीयप्रदेशे द्वौ विश्रेणिस्थे तृतीयप्रदेशे तदा द्वितीयप्रदेशावगाढाश्चत्वारः परमाणवः समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवदेकश्चरमो द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशावगाढौ परमाणुवदेकोऽवक्तव्यः, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू प्रथमप्रदेशे द्वौ समश्रेणिव्यवस्थिते द्वितीये प्रदेशे एकस्ततः परमुपरि तृतीयप्रदेशे एकस्याधश्चतुर्थे इति तदा चत्वारः परमाणवो, द्विप्रदेशावगाढः पूर्ववदेकश्चरमो, द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशद्वयावगाढाववक्तव्याविति, त्रयोदशश्चरमो चावक्तव्यश्च यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेणिव्यवस्थितयोः द्वौ तयोरेवाधः समश्रेणिव्यवस्थितयोराकाशप्रदेशयोः श्रेणिद्वयमध्यभागसमश्रेणिस्थे चैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वाविति तदा द्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवदुपरितनद्विप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू एकश्चरमो द्वावधस्तनाविति चरमौ द्वावेकप्रदेशावगाढौ परमाणुवदेकोऽवक्तव्यः, चतुर्दशश्चरमौ चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोः द्वौ तयोरेवाधः समश्रेणिव्यवस्थितयोराकाशप्रदेशयोरेको विश्रेणिद्वयमध्यभागसमश्रेणिस्थे प्रदेशे एक उपरितनयोः द्वयोः विश्रेणिस्थे तदा द्वावुपरितनावेकश्चरमो द्वावधस्तनाविति चरमौ द्वौ चावक्तव्यकाविति, एकोनविंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यश्च, स चैवम्-यदा स षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु एकपरिक्षेपेण विश्रेणिस्थैकाधिकमवगाहते तदा एकवेष्टकाश्चत्वारः परमाणवः, प्रागुक्तयुक्तेरेकश्चरम एकोऽचरमो मध्यवर्ती एकोऽवक्तव्यो, यश्च विंशतितमश्चरमश्चाऽचरमश्चावक्तव्यौ च स सप्तप्रदेशस्यैवोपपद्यते, न षट्प्रदेशकस्य, योऽप्येकविंशतितमश्चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यश्च सोऽपि सप्तप्रदेशस्यैवोपपद्यते न षट्प्रदेशकस्य, यस्तु द्वाविंशतितमः चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यौ च सोऽष्टप्रदेशकस्यैवेति त्रयोऽप्येकोनविंशत्यादयोऽत्र प्रतिषिद्धाः, यश्च त्रयोविंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यः स च एव, यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ २ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोरेकस्तयोरेव समश्रेणिस्थे तृतीये आकाशप्रदेशे एको विश्रेणिस्थे इति तदा आद्यप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमस्तृतीयप्रदेशावगाढश्चरमो द्वितीयप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमौ विश्रेणिस्थोऽवक्तव्यः, चतुर्विंशतितमः चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाद्ये एको द्वितीये एकस्तृतीये द्वौ द्वयोर्विश्रेणिस्थयोरेकैक इति तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ मध्यावगाढौ अचरमौ विश्रेणिस्थौ प्रदेशद्वयावगाढौ अवक्तव्यौ, पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाऽचरमौ चावक्तव्यश्च, यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चसु प्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेष्वाद्यप्रदेशत्रये एकैकश्चतुर्थे द्वौ पञ्चमे विश्रेणिस्थे एकः तदा आद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ मध्यप्रदेशद्वयवर्तिनौ द्वावचरमौ विश्रेणिप्रदेशस्थ एकोऽवक्तव्यः षड्विंशतितमः चरमौ चाऽचरमौ चावक्तव्यौ, स

चैवम्-यदा स षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ द्वौ चरमौ, द्वौ मध्यप्रदेशावगाढावचरमौ, द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशद्वयावगाढाववक्तव्याविति ।

सत्तपदेसिए णं भंते! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! सत्तपएसिए णं खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६॥

" सत्तपएसिए णं भंते ! खंधे " इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनमाह-" गोयमा ! सत्तपएसिए णं खंधे सिय चरमे नो अचरमे " इत्यादि । इह द्वितीयचतुर्थपञ्चमषष्ठपञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशद्वाविंशतितमरूपा नव भङ्गाः प्रतिषेध्याः, शेषा उपादेयाः,वक्ष्यति च-"वि चउक्क पंच छक्क, पणरस सोल च सत्तरट्ठारं । बज्जिय बावीसइमं, सेसा भंगा उ सत्तमए " ॥ १ ॥ तत्र द्व्यादीनामष्टादशपर्यन्तानां प्रतिषेधकारणं प्रागुक्तमनुसर्तव्यं न केवलमत्र किं तु सर्वेष्वप्युत्तरेषु स्कन्धेषु वस्तु द्वाविंशतितमः सोऽष्टप्रदेशकस्यैव घटते , न सप्तप्रदेशकस्येत्युक्त प्राक् , तत इह प्रतिषेधः, शेषास्तु प्रथमाद्यः षड्विंशतितमपर्यन्ताः सप्तदश भङ्गाः षट्प्रदेशकस्कन्धस्यैव भावनीयाः, केवलं विनेयजनानुग्रहाय स्थापनामात्रेणोपदर्श्यन्ते , प्रथमो भङ्गश्चरमभङ्गः , तृतीयोऽवक्तव्यः, सप्तमश्चरमश्चाचरमश्च, अष्टमश्चरमश्चाचरमौ च, नवमश्चरमौ चाचरमश्च,दशमश्चरमौ चाचरमौ च, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्च, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च, चतुर्दशश्चरमौ चावक्तव्यौ च, एकोनविंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यश्च, विंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यौ च, एकविंशतितमश्चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यश्च, त्रयोविंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च , चतुर्विंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च , पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यश्च, षड्विंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यौ । इह यस्मात् सप्तप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते द्वयोरपि त्रिष्वपि यावत्सप्तस्वपि, तत एवं भङ्गाः सम्भवन्ति ।

अट्ठपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! अट्ठपएसिए खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ संखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसिए अणंतपदेसिए खंधे जहेव अट्ठपदेसिए तहेव पत्तेयं जाणियव्वा ।

" अट्ठपएसिए णं भंते ! खंधे " इत्यादि पृच्छासूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनसूत्रम्-" अट्ठपएसिए णं खंधे सिय चरमे " इत्यादि। अत्र द्वितीयचतुर्थपञ्चमषष्ठपञ्चदशषोडशसप्तदशाऽष्टादशाः अष्टौ भङ्गाः प्रतिषेध्याः, शेषास्तु ग्राह्याः । वक्ष्यति च-"बिय चउक्क पंच छट्ठं, पणर सोल च सत्तरट्ठारं । एए बज्जियभंगा, सेसा सेसेसु खंधेसु ॥ १ ॥ " सुगमा, नवरं " सेसा सेसेसु खंधेसु इति" शेषा भङ्गाः शेषेषु सप्तप्रदेशकात् स्कन्धादितरेषु अष्टप्रदेशादिकेषु सर्वेषु स्कन्धेषु रूप्याः। अन्ये त्वेवमुत्तरार्द्धं पठन्ति-"एए वज्जिय भंगा, तेण परमवट्ठिया भंगा। सेसा" सुगमम्, ते च प्रथमादयो भङ्गाः षड्विंशतिपर्यन्ता अष्टादशभावनात् स्थापनातश्च प्राग्वद्भावनीया., नवरं चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यौ चेत्येवंरूपो द्वाविंशतितमो भङ्गः, तत एवम्,अथ द्विप्रदेशकादिषु स्कन्धेष्ववक्तव्यावित्येवरूप षष्ठो भङ्गः कस्मात्प्रतिषिध्यते, तस्याऽपि युक्तितः सम्भवप्राप्तात् । तथाहि-यदा एकः परमाणुरेकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वितीयो विश्रेणिस्थे प्रदेशत्या एकोऽप्यवक्तव्यो द्वितीयोऽप्यवक्तव्य इति भवत्यवक्तव्याविति भङ्गस्त्रिप्रदेशकचिन्तायामेकस्मिन्नेकपरमाणुरपरस्मिन्द्वौ, चतुःप्रदेशकचिन्तायां प्रत्येकं द्वौ २ परमाणू इत्यादि । सत्यमेतत्, केवलमेवरूप जगति द्रव्यमेव नास्ति। कथमेतदवसितमिति चेत् ?,उच्यते-अत एव प्रतिषेधवचनात्, यदि हि तथारूपद्रव्यं सम्भवेन्नायं प्रतिषेधं कुर्यादिति,यदि वा सम्भवेऽपि जातिपदनिर्देशात् तृतीयभङ्गक एवान्तर्भावो वेदितव्यः,यथा चाष्टप्रदेशाक स्कन्धे भङ्गाः प्रतिषेध्या विधेयाश्चोक्तास्तथा सङ्ख्यातप्रदेशकेऽसंख्यातप्रदेशके च प्रत्येकं वक्तव्या।।तथा चाह-"संखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसिए " इत्यादि पाठसिद्ध, नवरम् इय सर्वत्र भावना, यस्मादेकादिष्वपि आकाशप्रदेशेष्वष्टप्रदेशकादीनां स्कन्धानामवगाहो भवति तथा घटन्ते, यथोक्ताः सर्वेऽपि भङ्गाः। नन्वसङ्ख्यातप्रदेशात्मकस्यानन्तप्रदेशात्मकस्य च स्कन्धस्य कथमेकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाह ?।उच्यते-तथा तथा माहात्म्यात्,न

चेदनुपपन्नं,युक्तिन· सम्भाव्यमानत्वात् । तथाहि-अनन्तानन्ता द्विप्रदेशकाः स्कन्धाः,यावदनन्तानन्ताः सङ्ख्येयप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः, अनन्तानन्ता असङ्ख्येयप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः,अनन्तानन्ता अनन्तप्रदेशात्मकाः,लोकश्च सर्वात्मनाऽप्यसङ्ख्येयप्रदेशात्मकः,ते च सर्वेऽपि लोक एवावगाढानालोके ततोऽवसीयते, सन्त्येकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽवगाढा बहवः परमाणवो,बहवो द्विप्रदेशकाः स्कन्धाः,यावद् बहवोऽनन्तप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः। तथा चात्र पूर्वसूरयः प्रदीपदृष्टान्तमुपवर्णयन्ति-यथैकस्य प्रदीपस्य गृहमध्ये प्रज्वलितस्य प्रभापरमाणवः सर्वमेव गृहं प्राप्नुवन्ति, तथा प्रत्येकं प्रदीपसहस्रस्यापि, न च प्रतिप्रदीपप्रभापरमाणवो न भिन्ना, प्रतिप्रदीपे पुरुषस्य मध्यस्थितस्य छायाभेददर्शनात्,ततो यथेति स्थूला अपि प्रदीपप्रभापरमाणव एकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे बहवो मान्ति, तथा परमाण्वादयोऽपि, इति न कश्चिद्दोषः, आकाशस्य तथा तथाऽवकाशदानस्वभावतया वस्तूनां च विचित्रपरिणमनस्वभावतया विरोधाभावात् ।

परमाणुम्मि य तइओ, पढमो तइओ य होइ दुपदेसे ।
पढमो तइओ नवमो, एक्कारसमो य तिपदेसे ॥ १ ॥
पढमो तइओ नवमो, दसमो एक्कार वारसमो ।
भंगा चउप्पदेसे, तेवीसइमो य बोद्धव्वो ॥ २ ॥
पढमो तइओ सत्तम, णव दस एक्कार वार तेरसमो ।
तेवीस चउव्वीसम, पणवीसइमो य पंचमए ॥ ३ ॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
वीसेक्कवीस वावी-सगं च वज्जेज्ज छट्टम्मि ॥ ४ ॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
वावीसइमविहूणा, सत्तपदेसम्मि खंधम्मि ॥ ५ ॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठार ।
एते वज्जिय भंगा, सेसा सेसेसु खंधेसु ॥ ६ ॥

" परमाणुम्मि य तइओ " इत्यादि पाठसिद्धम्, भावितार्थत्वात् । नवरं षट्प्रदेशादिचिन्तायां प्रतिषेध्या भङ्गाः स्तोका इति, लाघवार्थं त एव संगृहीताः । इदानीं स्कन्धानां चरमाचरमादिवक्तव्यतोक्ता, स्कन्धाश्च यथायोगं परिमण्डलादिसंस्थाने च भवन्ति । (प्रज्ञा०)

परिमंमले णं भंते! संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे,अचरमे, चरमाइं, अचरमाइं, चरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा ?। गोयमा ! परिमंमले णं संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे नो चरमे,नो अचरमे,नो चरमाइं, नो अचरमाइं, नो चरमंतपदेसा, नो अचरमंतपदेसा, नियमा अचरमं चरमाणि य १, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य २, एवं० जाव आयते ॥ परिमंमले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ?। गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे जहा संखेज्जपदेसिए एवं० जाव आयए॥ परिमंमले णं भंते! संठाणे असंखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ?। गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे नो चरमे, जहा संखेज्जपदेसोगाढे एवं० जाव आयए ॥ परिमंमले णं भंते ! संठाणे अणंतपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ?। गोयमा ! तहेव० जाव आयते ॥ अणंतपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे जहा संखेज्जपदेसोगाढे एवं० जाव आयते ॥

संख्यातप्रदेशासंख्यातप्रदेशानन्तप्रदेशपरिमण्डलादिसंस्थानचरमाचरमादिचिन्तायां निर्वचनसूत्राणि रत्नप्रभाया इव प्रत्येतव्यानि, अनेकावयवविभागात्मकत्वाविवक्षायामचरमं च चरमाणि चेति निर्वचनं प्रदेशविवक्षायां चरमान्तप्रदेशाश्चाचरमान्तप्रदेशाश्च ।

सम्प्रति संख्यातप्रदेशस्य संख्यातप्रदेशावगाढस्य परिमण्डलादेश्चरमाचरमादिविषयमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह-

परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?। गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंमलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे, चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा,परिमंमलस्स संठाणस्स संखिज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स चरिमंतपदेसा अचरिमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा दो वि विसेसाहिया,दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे , चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, चरमंतपदेसा संखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया ॥ एवं वट्टतंसचउरंसआयएसु वि जोएयव्वं ॥ परिमंमलस्स णं भंते ! संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंमलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे, चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं. पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा,परिमंमलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे,परिमंमलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अच-

रमे चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया वा। एवं० जाव आयते ।

" परिमंडलस्स णं भंते ! " इत्यादि सुगम, नवरं द्रव्यार्थतायाचिन्तायां चरमाणि । (संखेज्जगुणाइं इति) सर्वात्मना परिमण्डलसंस्थानस्य संख्यातप्रदेशात्मकत्वात् , असंख्यातप्रदेशस्याऽसंख्यातप्रदेशावगाढस्य अल्पबहुत्वं रत्नप्रभाया इव भावनीयम् , अनन्तप्रदेशकस्याऽप्यसंख्यातप्रदेशाऽवगाढस्य नवरं संक्रमे अनन्तगुणा इति । क्षेत्रचिन्तातो यदा द्रव्यचिन्तां प्रति संक्रमणं तदा तानि चरमाण्यनन्तगुणानि वक्तव्यानि। तद्यथा- "सव्वत्थोवे एगे अचरमे चरमाइं, खेत्तओ असंखेज्जगुणाइं,दव्वओ अणंतगुणाइं अचरमं चरमाणि य दोवि विसेसाहियाइं" इति,तदेव संस्थानान्यपि चरमाचरमादिविभागेन चिन्तितानि।

(७) सम्प्रति जीवादीन् चरमाचरमविभागेन गतिं चिन्तयति-

जीवे णं भंते ! गतिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे ।

गतिपर्यायरूपं चरमं गतिचरमं, तेन जीवो भदन्त ! चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमः ? । भगवानाह-गौतम ! स्याच्चरमः, स्यादचरमः , कश्चिच्चरमः कश्चिदचरम इत्यर्थः । तत्र यः पृच्छासमये सामर्थ्यान्मनुष्यगतिरूपे पर्याये वर्तमानानन्तरं न किमपि गतिपर्यायमवाप्स्यति किं तु मुक्तो एव भविता,स गतिचरमः, शेषस्त्वगतिचरम इति ।

नेरइए णं भंते ! गतिचरमेणं किं चरमे,अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया । नेरइया णं भंते ! गतिचरमेणं किं चरमा,किं अचरमा ?। गोयमा! चरमा वि अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया ॥

" नेरइए णं भंते ! गइचरमे ' इत्यादि । नैरयिको भदन्त ! गतिचरमेण सामर्थ्यान्नरकगतिपर्यायरूपेण चरमेण चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमो वा ? । भगवानाह- गौतम ! स्याच्चरमः स्यादचरमो, नरकगतिपर्यायादुद्वृत्तो न भूयोऽपि नरकगतिपर्यायमनुभविष्यति स चरमः, शेषस्त्वचरमः। एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । बहुवचनदण्डकसूत्रे निर्वचनम्-(चरमा वि अचरमा वि इति) पृच्छासमये केचन नैरयिकास्तेषां मध्येऽवश्यं केचन नैरयिकगतिपर्यायेण चरमाः, इतरे त्वचरमास्तत एकमेवेदमत्र निर्वचनम्-चरमा अपि अचरमा अपि, एवं सर्वस्थानेष्वपि तां तां गतिमधिकृत्य भावनीयम् । प्रज्ञा० १० पद । भ० । स्था० ।

(८) स्थितिचरमे-

नेरइए णं भंते ! ठितिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे। एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइया णं भंते ! ठितिचरमेणं किं चरमा , अचरमा ? । गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! भवचरमेणं किं चरमे,किं अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइया णं भंते ! भवचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि अचरमा वि , एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया ॥

" नेरइए णं भंते ! ठिइचरमेण " इत्यादि । नैरयिको भदन्त ! तत्रैव नरकेषु चरमसमये स्थितिपर्यायरूपे चरमेण चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमो वा ? । भगवानाह-स्याच्चरमः, स्यादचरमः । किमुक्तं भवति ?-यो भूयोऽपि नरकमागत्य स्थितिचरमसमयं प्राप्स्यति सोऽचरमः, शेषस्तु चरमः। एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकः। बहुत्वदण्डकचिन्तायाम्-(चरमा वि अचरमा वि इति) इह यः पृच्छासमये स्थितिचरमसमयं प्राप्स्यति सोऽचरमः, शेषस्तु चरमः,एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकः। बहुत्वदण्डकचिन्तायाम्-(चरमा वि अचरमा वि इति) इह ये पृच्छासमये स्थितिचरमसमये वर्तन्ते ते चिन्त्यन्ते, इत्येतन्न, अन्यथा उद्वर्त्तनाया विरहस्यापि सम्भवात्, एकादीनामपि चोद्वर्त्तनाया भावात्, "चरमा वि अचरमा वि" इत्युभयभाष्यवश्यभाविनां बहुवचनेन निर्वचनं नोपपद्येत, किं तु ये पृच्छासमये वर्तन्ते ते क्रमेण स्वस्वस्थितिचरमसमयं प्राप्ताः सन्तस्तेन रूपेण चरमा अचरमा वा इत्येतच्चिन्तनेन उपपद्यते, यथोक्तं निर्वचनमिति भवचरमसूत्रगतिचरमसूत्रवत् । प्रज्ञा० १० पद ।

भाषोच्छ्वासः-

नेरइए णं भंते ! भासाचरमेणं किं चरमे, अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे,सिय अचरमे, एवं निरंतरं०जाव वेमाणिया। नेइया णं भंते ! भासाचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि अचरमा वि, एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! आणापाणुचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे,एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! आणापाणुचरमेणं किं चरमा,अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि,अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! आहारचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे,एवं निरंतरं०जाव वेमाणिए। नेरइए णं भंते ! आहारचरमेणं किं चरमा,अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं०जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! भावचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए । नेरइया णं भंते ! भावचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं भंते ! वन्नचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे , एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए । नेरइया णं भंते ! वन्नचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? । गोयमा ! चरमा वि , अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव

स्य भव्यत्वेनाभावात् । " नो भवे " इत्यादि । उभयनिषेधवान् जीवपदे सिद्धपदे वा भवसिद्धिकवदचरमः,तस्य सिद्धत्वासिद्धत्वस्य च सिद्धत्वपर्यायानपगमादिति । संज्ञिद्वारे-(सण्णी जहा आहारओ त्ति) संज्ञित्वेन स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः। एवमसंज्ञ्यपि, उभयनिषेधवाँश्च जीवः सिद्धश्चाचरमो, मनुष्यस्तु चरमः. उभयनिषेधवतो मनुष्यस्य केवलित्वेन पुनर्मनुष्यत्वस्यालाभादिति । लेश्याद्वारे-" सलेसा " इत्यादि । (जहा आहारओ त्ति) स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः । तत्र ये निर्वास्यन्ति ते सलेश्यत्वस्य चरमाः,अन्ये त्वचरमा इति। दृष्टिद्वारे -(सम्मद्दिट्ठी जहा अणाहारओ त्ति) जीवः सिद्धश्च सम्यग्दृष्टिरचरमः, यतो जीवस्य सम्यक्त्वं प्रतिपतितमप्यवश्यंभावि, सिद्धस्य तु न प्रतिपतत्येव, मनुष्यस्तु अकषायितोपेत मनुष्यत्वं यः पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु लप्स्यते सोऽचरम इति । ज्ञानद्वारे-(णाणी जहा सम्मद्दिट्ठी) अयमिह सम्यग्दृष्टिदृष्टान्तलब्धोऽर्थः-जीवः सिद्धश्चाचरमो, जीवो हि ज्ञानस्य सतः प्रतिपातेऽप्यवश्यं पुनर्भावेनाचरमः,सिद्धत्वक्षीणज्ञानभाव एव भवतीत्यचरमः। शेषास्तु ज्ञानोपेतनारकत्वादीनां पुनर्लाभासंभवे चरमाः, अन्यथा त्वऽचरमा इति (सव्वत्थ त्ति) सर्वेषु जीवादिसिद्धान्तेषु पदेष्वेकेन्द्रियवर्जितेष्विति गम्यम् । ज्ञानभेदापेक्षयाऽऽह-"आभिणिबोहिय" इत्यादि । "जहा आहारओ त्ति" करणात् स्याच्चरमः, स्यादचरम इति दृश्यम् । तत्राभिनिबोधिकादिज्ञानं यः केवलज्ञानप्राप्त्या पुनरपि न लप्स्यते स चरमोऽन्यस्त्वचरमः। (जस्स जं अत्थि त्ति) यस्य जीवनारकादेर्यत्राभिनिबोधिकाद्यस्ति तस्य तद्वाच्य. तच्च प्रतीतमेव, केवलज्ञान्यऽचरमो वाच्य इति भावः । "अन्नाणी" इत्यादि । अज्ञानी सभेदः स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः । यो ह्यज्ञानं पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु अभव्यो ज्ञान न लप्स्यत एवासावचरम इति । एवं यत्र यत्राहारकातिदेशः तत्र तत्र स्याच्चरमः स्यादचरम इति व्याख्येयम् । शेषमप्यनयैव दिशाऽभ्यूह्यमिति । भ० १८ श० १ उ० । ('गोसालग' शब्दे अत्रैव भागे १०२६पृष्ठे तत्प्ररूपितान्यष्टचरमाण्युक्तानि) चरमाण्यचरमाणीति प्रश्नमुद्दिश्य प्रवृत्ते दशमे प्रज्ञापनापदे, प्रज्ञा० १ पद ।

(१०) अल्पस्थितौ—

अत्थि णं भंते ! चरिमा वि णेरइया, परमा वि णेरइया ?। हंता ! अत्थि । से णूणं चरिमेहिंतो णेरइएहिंतो परमा णेरइया महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव परमेहिंतो वा णेरइएहिंतो चरमा णेरइया अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव अप्पासवतरा चेव अप्पवेयणतरा चेव ?। गोयमा ! चरमेहिंतो णेरइएहिंतो परमा० जाव महावेयणतरा चेव परमेहिंतो णेरइएहिंतो चरमा णेरइया० जाव अप्पवेयणतरा चेव । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव अप्पवेयणतरा चेव ?। गोयमा ! ठितिं पडुच्च,से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव अप्पवेयणतरा चेव । अत्थि णं भंते ! चरमा वि असुरकुमारा, परमा वि असुरकुमारा ?। एवं चेव, णवरं विवरीयं भाणियव्वं, परमा अप्पकम्मा, चरमा महाकम्मा, सेसं तं चेव० जाव थणियकुमारा ताव एमेव । पुढवीकाइया० जाव मणुस्सा, एए जहा णेरइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

" अत्थि णं" इत्यादि (चरमा वि त्ति) अल्पस्थितयोऽपि। (परमा वि त्ति) महास्थितयोऽपि । (ठिइं पडुच्च त्ति) येषां नारकाणां महती स्थितिस्ते इतरेभ्यो महाकर्मतरादयोऽशुभकर्म्मापेक्षया भवन्ति , येषां त्वल्पा स्थितिस्ते इतरेभ्योऽल्पकर्मतरादयो भवन्तीति भावः । असुरसूत्रे-(णवरं विवरीयं ति) पूर्वोक्तापेक्षया विपरीतं वाच्यम् । तच्चैवम्-" से णूणं भंते ! चरमेहिंतो असुरकुमारेहिंतो परमा असुरकुमारा अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव" इत्यादि । अल्पकर्मत्वं च तेषामसाताद्यशुभकर्मापेक्षम्, अल्पक्रियत्वं च तथाविधकायिक्यादिकष्टक्रियापेक्षम्,अल्पास्रवत्वं तु तथाविधकष्टक्रियाजन्यकर्म्मबन्धापेक्षम् । अल्पवेदनत्वं च पीडाभावापेक्षमवसेयमिति । भ० ६ श० ५ उ० । चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्यासौ चरमः । " अभ्रादिभ्यः "॥७।२।४६॥ इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । यस्य नारकादिभवभ्रमः पुनस्तेनैव नोत्पत्स्यते सिद्धिगमनादिति तादृशे नैरयिकादौ वैमानिकपर्यन्ते, दर्शितं चैतदधुनैव । स्था० २ ठा० २ उ० ।

चरमजहापवित्तिकरण-चरमयथाप्रवृत्तिकरण-न० । अन्तिमयथाप्रवृत्तिकरणे, तच्च परमार्थतोऽपूर्वकरणमेवेति योगविन्दौ व्यवस्थापितम् । तथा च, तद्ग्रन्थः-" अपूर्वासन्नभावेन, व्यभिचारवियोगतः । तत्त्वतोऽपूर्वमेवेद-मिति योगविदो विदुः " ॥ १ ॥ ध० १ अधि० ।

चरमंत-चरमान्त-पुं० । इह च विवक्षयाऽऽदिरप्यन्तो भवति तद्व्यवच्छेदार्थं चरमग्रहणम् । चरमः पर्यन्तवर्ती अन्तो न पुनरादिभूत इति पर्यन्तवर्तिनोऽन्ते, विशे० । "लोगस्स य चरिमतो, चरिमतो होइ भासाए । " विशे० । (लोकचरमान्तो 'लोक' शब्दे एव व्याख्यास्यते)

सर्वेषां चरमान्तानां वक्तव्यता—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते किं जीवा पुच्छा ?। गोयमा ! णो जीवा, एवं जहेव लोगस्स तहेव चत्तारि वि चरिमंता० जाव उवरिल्ले, जहा दसमसए विमला दिसा तहेव णिरवसेसं हेट्ठिल्ले चरिमंते, जहेव लोगस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते तहेव णवरं देसे पंचिंदिएसु भंगो,सेसं तं चेव, एवं जहा रयणप्पभाए चत्तारि चरिमंता भणिया एवं सक्करप्पभाए वि, उवरिमहेट्ठिल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ला, एवं०जाव अहे सत्तमाए, एवं सोहम्मस्स वि० जाव अच्चुयस्स, गेवेज्जगविमाणाणं एवं चेव, णवरं उवरिमहेट्ठिल्लेसु चरिमंतेसु देसेसु पंचिंदियाण वि मज्झिल्लविरहिओ, सेसं तहेव, एवं जहा गेवेज्जगविमाणा तहा अणुत्तरविमाणा वि,ईसिप्पब्भारा वि। परमाणुपोग्गले णं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ, पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पुरच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ, दाहिणिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं० जाव गच्छइ, उत्तरिल्लाओ दाहि-

णिल्लं० जाव गच्छइ, उवरिल्लाओ चरिमंताओ हेट्ठिल्लं च-रिमंतं एग० जाव गच्छइ, हेट्ठिल्लाओ चरिमंताओ उव-रिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ । हंता गोयमा ! परमा-णुपोग्गलेणं लोगस्स पुरच्छिमिल्लं त चेव० जाव उवरिल्लं चरिमंतं गच्छइ ॥

" इमीसे णं " इत्यादि । (उवरिल्ले जहा दसमसए विमला दिसा तहेव निरवसेसं ति) दशमशते यथा विमला दिगुक्ता तथैव रत्नप्रभोपरितनचरमान्तो वाच्यो निरवशेषं यथा भव-तीति । स चैवम्-"इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उव-रिल्ले चरिमंते किं जीवा० ?। गोयमा ! नो जीवा"। एकप्रदेशि-कप्रतरात्मकत्वेन तत्र तेषामनवस्थानात् । " जीवदेसा वि, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा " सर्वत्र तेषां भावात् । "अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स य देसे, अहवा एगिंदिय-देसा य बेइंदियस्स य देसा, अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदि-याण य देसा ३। " रत्नप्रभा हि द्वीन्द्रियाणामाश्रय , ते चैके-न्द्रियापेक्षयाऽतिस्तोका., ततश्च तदुपरितनचरमान्ते तेषां क-दाचिद्देश. स्याद्देशा वेति, एव त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिन्द्रियान्तेषु तथा-"जे जीवप्पएसा ते नियमा एगिंदियपएसा, अहवा ए-गिंदियपएसा वि बेंदियस्स य पएसा १ , अहवा-एगिंदियप-एसा य बेंदियाण य पएसा २। " एव त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिन्द्रि-यान्तेषु तथा, "जे अजीवा ते दुविहा पन्नत्ता । त जहा-रूवि-अजीवा य अरूविअजीवा य । जे रूविअजीवा ते चउव्विहा पन्नत्ता । तं जहा-खंधा जाव परमाणु पोग्गला। जे अरूविअ-जीवा ते सत्तविहा पन्नत्ता । त जहा-नो धम्मत्थिका-ए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायप्पएसा, एव अध-म्मत्थिकायस्स वि, आगासत्थिकायस्स वि, अद्धासमए त्ति " अद्धासमयो हि मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तिनि रत्नप्रभोपरि-तनचरमान्तेऽस्त्येवेति । " हेट्ठिल्ले चरिमंते " इत्यादि । यथाऽधश्चरमान्तो लोकस्योक्त एव रत्नप्रभापृथिव्या., स चानन्तरोक्त एव । विशेषस्त्वयम्-लोकाधस्तनचरमान्ते द्वी-न्द्रियादीना देशभङ्गकत्रय मध्यमरहितमुक्तमिद तु रत्नप्रभा-धस्तनचरमान्ते पञ्चेन्द्रियाणां परिपूर्णमेव तद्वाच्यं, शेषाणां तु द्वीन्द्रियादीनां मध्यमरहितमेव, यतो रत्नप्रभाऽधस्तन-चरमान्ते पञ्चेन्द्रियाणा गमागमद्वारेण देशो देशाश्च संभ-वन्त्यतः पञ्चेन्द्रियाणा तत्तत्र परिपूर्णमेव भवति, द्वीन्द्रि-यादीनां तु रत्नप्रभाऽधस्तनचरमान्ते मारणान्तिकसमुद्घातेन गतानामपि तत्र देश एव सम्भवति, न देशाः, तस्यैक-प्रतररूपत्वेन देशानेकत्वाऽहेतुत्वादिति, तेषा तत्तत्र मध्यम-रहितमेवेति । अत एवाह-" नवरं देसे " इत्यादि । (चत्ता-रि चरिमत त्ति) पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तररूपाः (उवरिमहेट्ठि-ल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ले त्ति) शर्करप्रभाया उपरितना-धस्तनचरमान्तौ रत्नप्रभाऽधस्तनचरमान्तवद्वाच्यौ, द्वीन्द्रिया-दिषु पूर्वोक्तयुक्तेर्मध्यमभङ्गरहित, पञ्चेन्द्रियेषु तु परिपूर्णं दे-शभङ्गत्रयं ,प्रदेशचिन्तायां तु द्वीन्द्रियादिषु सर्वेष्वाद्यभङ्गर-हितत्वेन शेषभङ्गकद्वयम, अजीवचिन्तायां तु रूपिणां चतु-ष्कम, अरूपिणा त्वद्धासमयस्य तत्राभावेन षट्क वाच्यमिति भावः । भ० १६ श० ८ उ० ।

चरमकाल-चरमकाल-पु० । मरणसमये , पं० व० ४ द्वार ।

चरमणिदाहसमय-चरमनिदाघसमय-पु० । जेष्ठमासपर्यन्ते, जी० ३ प्रति० ।

चरमतित्थयर-चरमतीर्थकर-पु० । अन्तिमतीर्थकरे, यथाऽव-सर्पिण्यां महावीर. । स्था० १ ठा० १ उ० ।

चरमभव-चरमभव-त्रि० । चरम एव भवो यस्य प्राप्तस्तिष्ठति, देवभवो वा चरमो यस्य स., चरमभवो भविष्यति यस्य सः । अन्तिमभवे, प्रति० ।

चरमवण्ण-चरमवर्ण-पु० । अधमवर्णे, यथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां जात. क्षत्रियो भवति इति चरमवर्णव्यपदेशः । आचा० २ श्रु० १ अ० ।

चरमसमय-चरमसमय-पु० । सयोगिभवस्थान्तिमसमये , न० ।

चरमसमयभवत्थ-चरमसमयभवस्थ-पुं० । चरमसमये भवस्य जीवितस्य तिष्ठति य. स तथा । आयुषश्चरमसमये स्थिते, भ० ७ श० १ उ० ।

चरमाण-चरत्-त्रि० । सेवमाने, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चरवल्लय-चरपलक-पु० । श्रावकरजोहरणरूपे, तत्स्वरूपमाग-मे न क्वाप्युपलब्धमिति न दर्शितम् । (राजेन्द्रसूरिः)

चरिऊण-चरित्वा-अव्य० । आसेव्येत्यर्थे, आ० म० प्र० ।

चरिगा-चरिका-स्त्री० । परिव्राजिकायाम्, ओघ० । आ० म०।

चरित्त-च (चा) रित्र-न०। 'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य "अर्तिलू-धूसूखनसहचर इत्र " । ३।२।१८४। इति इत्रप्रत्ययान्तं चरित्रमि-ति भवति । चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रम । चारित्रमोहनीय-क्षयोपशमे,दश०१ अ०। आव०। व्य०। 'चर' गतिभक्षणयो ,चर-न्ति गच्छन्ति अनिन्दितमनेनेति चरित्रम । "खनसहलूधूचरचे." इति (५।२।८७) इत्रप्रत्यय.। चरित्रमेव चारित्र,किमुक्त भवति ?, अन्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरण, सर्वसावद्य-योगनिवृत्तिरूप चारित्रमिति । आ० म० प्र०। चरन्त्यनिन्दितम-नेनेति चारित्रम, अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाद् वा चारित्रम् । सर्वविरतिक्रियायाम, विशे० । चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते त-दिति, चर्यते वा गम्यते अनेन निर्वृतावितिं चारित्रम, अथवा-चयस्य कर्मणा रिक्तीकरणाच्चरित्रं,निरुक्तन्यायादिति । (स्था०) चारित्रमोहनीयक्षयाद्याविर्भूते आत्मनो विरतिरूपे परिणामे, (स्था०) " एगे चरित्ते " तदेक वक्ष्यमाणानां सामायिका-दितद्भेदानां विरतिसामान्यान्तर्भावादेकस्य चैकदा भावाद्वेति, एतेषां च ज्ञानादीनामयमेव क्रमो, यतो नाऽज्ञात श्रद्धीयते, ना-श्रद्धित सम्यगनुष्ठीयत इति । स्था०१० ठा०। सूत्र०। चर्यते आ-सेव्यते अनेन वा, चर्यते गम्यते मोक्ष इति चारित्रम । मूलोत्तर-गुणकलापे, स्था० २ ठा० १ उ० । आश्रवनिरोधे, व्य० १ उ० । अनुष्ठाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । स्था० । अज्ञानोपचितस्य कर्म-व्रजस्य रिक्तीकरणे, नि० चू०१ उ० । सर्वसंवरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । चारित्रमोहनीयक्षयक्षयोपशमजे जीवपरिणामे, भ० ८ श० २ उ० । सावद्ययोगनिवृत्तौ, प्रश्न० ३ संव० द्वार । बाह्य-मसदनुष्ठाने, रा० । क्रियाचेष्टादिके, उत्त० २८ अ० ।

कुम्भदृष्टान्तेन चत्वारि चरित्राणि-

चत्तारि कुंभा पन्नत्ता । तं जहा-भिन्ने, जज्जरिए, परि-

स्साई, अपरिस्साई । एवामेव चउव्विहे चरित्ते पन्नत्ते । तं जहा-छिन्ने० जाव अपरिस्साई ।

तथा छिन्नः स्फुटितो, जर्जरितो राजीयुक्तः, परिश्रावी दुष्पक्वत्वात् करकः, अपरिश्रावी कठिनत्वादिति । चारित्रं तु छिन्नं मूलप्रायश्चित्तापत्त्या, जर्जरितं छेदादिप्राप्त्या, परिश्रावि सूक्ष्मातिचारतया, अपरिश्रावि निरतिचारतयेति । इह च पुरुषाधिकारेऽपि यच्चारित्रलक्षणं पुरुषधर्मभणनं तद्धर्मधर्म्मिणोः कथञ्चिदभेदादनवद्यमवगन्तव्यमिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । (सामायिकादिशब्देषु पृथग्व्याख्यानम्)

सामायिकादि पञ्चविधं चारित्रम्-

सामाइयऽत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीअं, सुहुमं तह संपरायं च ॥ १२६० ॥
तत्तो य अहक्खायं, खायं सव्वम्मि जीवलोगम्मि ।
जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंतऽयरामरं ठाणं ॥१२६१॥

(एषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने)
विस्तरार्थं तु भाष्यकृदाह-

सव्वमिणं सामइयं, छेयाइविसेसओ पुणो भिन्नं ।
अविसेसियमाइमयं, ठियमिह सामण्णसन्नाए ॥१२६२॥
सावज्जजोगविरइ, त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च ।
इत्तरमावकहं ति य, पढमं पढमंतिमजिणाणं ॥१२६३॥
तित्थेसुमणारोविय-वयस्स सेहस्स थोवकालीयं ।
सेसाणमावकहियं, तित्थेसु विदेहयाणं च ॥ १२६४ ॥

सर्वमपीदं चारित्रमविशेषतः सामायिकमेव, एतदेव च छेदादिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः संज्ञातश्च नानात्वं प्रतिपद्यते, तत्राद्यं विशेषणाभावात्सामान्यसंज्ञायामेवावतिष्ठते सामायिकमिति । तत्र सावद्ययोगविरतिस्वरूपमेतत्सामायिकम् । तच्च द्विधा-इत्वरं, यावत्कथितं च । तत्रेत्वरं स्वल्पकालीनं भरतैरावताद्यचरमतीर्थकरतीर्थयोरेवानारोपितमहाव्रतस्य शिष्यकस्य द्रष्टव्यम् । यावत्कथिकं यावज्जीविकं भरतैरावतप्रथमचरमवर्जशेषतीर्थकरतीर्थसाधूनां महाविदेहजानां च साधूनामवसेयमिति ॥ १२६४ ॥

अथ प्रेरकः प्राह-

ननु जावज्जीवाए, इत्तरियं पि गहियं मुयंतस्स ।
होइ पइन्नालोवो, जहाऽऽवकहियं मुयंतस्स ॥ १२६५ ॥

आह-ननु करोमि भदन्त ! सामायिकं यावज्जीवमित्येवं व्रतग्रहणकाले इत्वरमपि सामायिकं गृहीतमुपस्थापनायां मुञ्चतः प्रतिज्ञालोपः प्राप्नोति, यावत्कथितपरित्याग इव ।

अत्रोत्तरमाह-

ननु नक्खियं सव्वं चिय, सामाइयमिणं विसुद्धिओ भिन्नं ।
सावज्जविरइमइयं, को वयलोवो विसुद्धीए ॥ १२६६ ॥

ननूक्तं सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सावद्ययोगविरतिसामान्यात् सामायिकमेव छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशिष्यमाणमन्यथात्वं प्रतिपद्यते, ततः को नाम विशिष्टतरायां विशुद्धौ प्रतिपद्यमानायां व्रतलोपः ?, न कश्चिदित्यर्थः ॥ १२६६ ॥

कुत इत्याह-

उन्निक्खमओ भंगो, जो पुण तं चिय करेइ सुद्धयरं ।
सन्नामित्तविसिट्ठं, सुहुमं पि व तस्स को भंगो ॥१२६७॥

उन्निष्क्रामतः प्रव्रज्यात्यागमेव कुर्वतो व्रतभङ्गो भवति, यः पुनस्तदेव प्राक् गृहीतं चारित्रं विशुद्धतरं संपादयति, संज्ञामात्रेण तु चारित्रं विशिष्टं भिन्नं, तस्य भङ्गो न भवति, किं तु सुतरामेव व्रतनैर्मल्यं संपद्यते, यथा सामायिकसंयतस्य (सुहुमं ति) सूक्ष्मसंपरायं प्रतिपद्यमानस्य, छेदोपस्थापनीयस्य वा परिहारविशुद्धिकमङ्गीकुर्वतो व्रतनिर्मलत्वमिति ॥ १२६७ ॥

छेदोपस्थापनीयस्य व्याख्यानमाह-

परियायस्स य छेओ, जत्थोवट्ठावणं वएसु च ।
छेओवट्ठावणमिह, तमणइआरेयरं दुविहं ॥ १२६८ ॥
सेहस्स निरइयारं, तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा ।
मूलगुणघाइणो सा-इयारमुभयं च ठियकप्पे ॥ १२६९ ॥

(जत्थ त्ति) यत्र चारित्रे पूर्वपर्यायस्य छेदो व्रतेषु चोपस्थापनं विधीयते, तदिह छेदोपस्थापनं, तच्च द्विधा-सातिचारमनतिचारं च । तत्र शिष्यकस्योपस्थापनायां, तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा यदारोप्यते तन्निरतिचारं भवेत्, यत्तु मूलगुणघातिनः पुनरपि समारोप्यते तत्सातिचारम् । एतच्चोभयमपि स्थितकल्प एव भवति, न स्थितास्थितकल्पे, तत्र भरतैरावतप्रथमचरमतीर्थकरसाधूनां स्थितकल्पः । विशे० । प्रव० । आतु० । सूत्र० । पं० भा० । आ० म० । ('सामाइय' आदिशब्दे पृथक् २ व्याख्यानम्) (केषां कषायाणामुदये चारित्रमतिचर्यते इति 'अइयार' शब्दे प्रथमभागे ८ पृष्ठे उक्तम्)

अथ तत्क्षयोपशमादिभ्यश्चारित्रप्राप्तिमभिधित्सुराह-

बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए व जोगेहिं ।
लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥ १२५४॥

द्वादशविधे द्वादशप्रकारेऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्ने, कषाये, जातावेकवचनं, क्रोधादिलक्षणे, क्षपिते विध्याताग्नितुल्यतां नीते, उपशमिते भस्मच्छन्नदहनकल्पतां प्रापिते, वाशब्दात् क्षयोपशमे चार्धविध्यातज्वलनसमतामुपकल्पिते, योगैर्मनोवाक्कायरूपैः प्रशस्तैर्हेतुभिर्लभ्यते चारित्रलाभः, तस्य च सामान्येन चारित्रस्य विशेषा भेदा एते वक्ष्यमाणाः पञ्च । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ १२५४ ॥

भाष्यम्-

खविए उवसमिए वा, बारसहेणं खओवसमिए वा ।
बारसविहे कसाए, पसत्थझाणाइजोगेहिं ॥ १२५५ ॥

गतार्था नवरं प्रशस्तध्यानं प्रशस्तं मनः ॥ १२५५ ॥

क्षीणादिकषायस्वरूपमाह-

खीणा निव्वायहुया-सणो व छारपिहिय व्व उवसंता ।
दरविज्झायविहाडिय-जलणोवम्मा खओवसमा १२५६

व्याख्यातार्था, नवरम् अर्द्धविध्यातविघट्टितज्वलनोपमाः क्षायोपशमिककषायाः, क्षयोपशमावस्थेषु हि कषायेषु दलिकस्य वेदनमप्यस्ति, तच्च विघट्टितवह्निकल्पमिति ॥ १२५६ ॥

अथ कस्य चारित्रस्य कथं लाभ इत्याह-

खयओ वा समओ वा, खओवसमओ व तिन्नि लब्भंति ।

सुहुम अहक्खायाइं, लग्गओ समगओ व नायव्वो ॥ १२५७॥

सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकलक्षणान्याद्यानि त्रीणि चारित्राणि श्रेणिद्वयादन्यत्र कषायक्षयोपशमात् पूर्वप्रतिपन्नानि प्रतिपाद्यमानानि च लभ्यन्ते, अनिवृत्तिबादरस्य पुनरुपशमश्रेणौ तदुपशमात्पूर्वप्रतिपन्नानां तेषां लाभः, क्षपकश्रेणौ तु क्षयादिति । सूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रे तूपशमश्रेणौ कषायोपशमात्, क्षपकश्रेणौ तु तत्क्षयाल्लभ्येते, नान्यतः, क्षयोपशमान्न प्राप्यत इत्यर्थः ॥ १२५७ ॥

आह-ननु "तस्स विसेसा इमे पंच" (१२५४) इत्यत्र किं सामान्यं चारित्रमात्रं तच्छब्दस्य वाच्यम्, अहोस्वित् द्वादशानां कषायाणां क्षयादिभ्यो यदनन्तरमेवोक्त तदेवेत्याशङ्क्याह-

लब्भइ चरित्तलाभो, खयाइओ बारसण्ह नियमोऽयं ।
न उ पंचविहनियमणं, पंच विसेस त्ति सामण्णं ॥१२५८॥

द्वादशानां कषायाणां क्षयादित' क्षयक्षयोपशमोपशमेभ्य एव लाभश्चारित्रस्य, नान्यथा इत्येवमेवेह नियमो द्रष्टव्यो, न तु पञ्चविधनियमन, द्वादशकषायाणामेव क्षयादितो लब्धस्य चारित्रस्य पञ्चैते विशेषा इत्येवम्भूतो नियमोऽत्र न कर्तव्य इत्यर्थः । किं तर्हि ?, द्वादशानामधिकानां वा कषायाणा क्षयादितो लब्धस्य तस्य सामान्येनैव चारित्रस्यैते वक्ष्यमाणा पञ्च विशेषा इत्येव सामान्यं चारित्रमात्र तच्छब्दस्य सबध्यत इति ॥ १२५८ ॥

अथ कस्माद्द्वादश कषायाणामेव क्षयादितो लब्धस्य चारित्रस्य पञ्चैते विशेषा इत्येवभूंतो नियमोऽत्र न क्रियते इत्याह-

जं तिन्नि बारसण्हं, लब्भंति खयाइओ कसायाणं ।
सुहुमं पन्नरसण्ह, चरिमं पुण सोलसण्हं पि ॥१२५९॥

यत सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकलक्षणानि त्रीण्येव चारित्राणि द्वादशकषायाणां क्षयादितो लभ्यन्ते, इति कथ तत्क्षयादिलभ्यस्य चारित्रस्य पञ्चविधत्वं स्यात् ?। सूक्ष्मसपरायचारित्र तु सज्वलनलोभवर्जितानां शेषपञ्चदशकषायाणां क्षयादुपशमाद्वा लभ्यते । चरम तु यथाख्यातचारित्र षोडशानामपि कषायाणां क्षयात्, उपशमाद् वा प्राप्यते । एव च सति सामान्यस्यैव चारित्रस्य पञ्च विशेषा भवन्ति । इति गाथापञ्चकार्थः ॥ १२५९ ॥ (चारित्रादेव मोक्ष इति ' किरियाणय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५४ पृष्ठे उपपादितम्) चारित्ररहित ज्ञान दर्शन वा न स्वातन्त्र्येण मोक्षसाधनम्। आव० ३ अ० ।

साम्प्रतमसहायदर्शनपक्षे दोषा उच्यन्ते । यदुक्त-" न सेणिओ आसि" इत्यादि । तन्न । तत्त्वत एवासौ नरकमगमत्, असहायदर्शनयुक्तत्वात्, अन्येऽप्येवविधा दसारसिंहादयो नरकमेव गता इत्याह—

दसारसीहस्स य सेणिअस्स, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स ।
अणुत्तरा दंसणसंपया तया, विणा चरित्तेण हरागइं गया ९४

दसारसिंहस्य अरिष्टनेमिपितृव्यपुत्रस्य, श्रेणिकस्य च प्रसेनजित्पुत्रस्य , पेढालपुत्रस्य च सत्यकिन. , अनुत्तरा प्रधाना, क्षायिकीत्युक्तं भवति, का ?, दर्शनसपत् , तदा तस्मिन् काले, तथापि विना चारित्रेण धरागतिं गता नरकगतिं गता., नरकगतिं प्राप्ता इति वृत्तार्थ ॥ ९४ ॥

किं च—

सव्वाओ विगईओ, अविरहिआ नाणदंसणधरेहिं ।
ता मा कासि पमायं, नाणेण चरित्तरहिएणं ॥ ९५ ॥

सर्वा अपि नारकतिर्यङ्नरामरगतयः अविरहिता अवियुक्ताः, कैः ?, ज्ञानदर्शनधरैः , यतः सर्वास्वेव सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयमस्त्येव, न च नरकगतिव्यतिरेकेण अन्यासु मुक्तिः, चारित्राभावात्,तस्माच्चारित्रमेव प्रधानं मुक्तिकारणं, तद्भावभावित्वादिति, यस्मादेवं (ता मा कासि पमायं ति) तत्तस्मान्मा काषीः प्रमाद ज्ञानेन चारित्रम्, एतेन तस्येष्टफलासाधकत्वात् । ज्ञानग्रहण च दर्शनोपलक्षणार्थमिति गाथार्थ. ॥ ९५ ॥

इतश्चारित्रमेव प्रधानं, नियमेन चारित्रयुक्त एव सम्यक्त्वसद्भावादाह च—

सम्मत्तं अचरित्त-स्स हुज्ज भयणाइ निअमसो नत्थि ।
जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स उ निअमेण सम्मत्तं ॥९६॥

सम्यक्त्व प्राङ्निरूपितस्वरूपम् , अचारित्रस्य चारित्ररहितस्य प्राणिन', भवेत् भजनया विकल्पनया, कदाचिद् भवति कदाचिन्नेति नियमशो नास्ति नियमेन न विद्यते, प्रभूतानां चारित्ररहितानां मिथ्यादृष्टित्वात्, यः पुनश्चारित्रयुक्तः सत्त्वस्तस्यैव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् नियमेनावश्यतया सम्यक्त्वमत सम्यक्त्वस्यापि नियमतश्चारित्रयुक्त एव भावात्प्राधान्यमिति गाथार्थ. ॥ ९६ ॥

किञ्च—

जिणवयणबाहिरा भा-वणाहि उव्वट्टणं अयाणंता ।
नेरइअतिरिअएगिं-दिएहि जह सिज्झई जीवो ॥९७॥

जिनवचनबाह्या यथावस्थितागमपरिज्ञानरहिता',प्रत्येक ज्ञानदर्शननयाऽवलम्बिनः (भावणाहिं ति) उक्तेन न्यायेन ज्ञानदर्शनभावनाभ्या सकाशान्मोक्षमिच्छन्तीति वाक्यशेषः उद्वर्तनामजानानां नारकतीर्यगेकेन्द्रियेभ्यो यथा सिद्ध्यति जीवस्तथोद्वर्तनामजानाना इति योगः। इयमत्र भावना-ज्ञानदर्शनाभावेऽपि न नारकादिभ्योऽनन्तरमनुष्यभावमप्राप्य सिध्यति कश्चित् , चरणाभावात्, तेन तयोः केवलयोरहेतुत्वमोक्ष प्रतितेभ्य एकेन्द्रियेभ्यश्च ज्ञानादिरहितेभ्योऽप्युद्वृत्तो मनुष्यत्वमपि प्राप्य चारित्रपरिणाम एव सिद्ध्यति , नायुक्तो अकर्मभूमिकादिरत इयमुद्वर्तना कारणवैकल्यं सूचयतीति गाथार्थ. ॥ ९७ ॥

पुनरपि चारित्रमेव प्रधानं समर्थयन्नाह-

सुट्ठु वि सम्मद्दिट्ठी, न सिज्झई चरणकरणपरिहीणा ।
जं चेव सिद्धिमूलं,मूढो तं चेव नासेइ ॥ ९८॥

सुष्ठ्वप्यतिशयेनाऽपि , सम्यग्दृष्टिर्न सिद्ध्यति, किंभूत. ? , चरणकरणपरिहीन ,तद्वादमेव च समर्थयति,किमिति ?, यदेव सिद्धिमूल तदेव मोक्षकारण सम्यक्त्वं,मूढस्तदेव नाशयति, केवल तद्वादसमर्थनेन "एक पि असद्दहतो, मिच्छत्त" इति वचनात्। अथवा-सुष्ठ्वपि सम्यग्दृष्टि , क्षायिकसम्यग्दृष्टिरपीत्यर्थ. । न सिद्ध्यति चरणकरणपरिहीन , श्रेणिकादिवत्, किमिति ?, यदेव सिद्धिमूलचरणकरणमूढस्तदेव नाशयति, वनासेवयेति गाथार्थ.॥ ९८ ॥

किं चायं केवलदर्शनपक्षो न भवत्येवागमविदः
सुसाधोः, कस्य तर्हि भवत्यत आह-

दंसणपक्खो सावए, चरित्तभट्ठे अ मंदधम्मे अ ।
दंसणचरित्तपक्खो, समणे परलोअकंखम्मि ॥ ९९ ॥

दर्शनपक्षः श्रावकेऽप्रत्याख्यानकषायोदयवर्तिनि, चारित्रभ्रष्टे च कस्मिंश्चिदव्यवस्थितपुराणे, मन्दधर्मे च पार्श्वस्थादौ दर्शनचारित्रपक्ष श्रमणे भवति, किंभूते?, परलोककाङ्क्षिणि, सुसाधावित्यर्थः। प्राकृतशैल्या चेह सप्तमी षष्ठ्यर्थे एव द्रष्टव्या,दर्शनग्रहणाच्च ज्ञानमपि गृहीतमेव द्रष्टव्यमतो दर्शनादिपक्षत्रिरूपो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

अपरस्त्वाह-यद्येवं बह्वीभिरुपपत्तिभिश्चारित्रं प्रधानमुपवर्ण्यते भवता,ततश्च ते देवास्त्वलं ज्ञानदर्शनाख्यामिति न तस्यैव, तद्व्यतिरेकेणासम्भवात् ।
आह च-

पारंपरप्पसिद्धी, दंसणनाणेहि होइ चरणस्स ।
पारंपरप्पसिद्धी, जह होइ तहऽन्नपाणेहिं ॥ १०० ॥
जम्हा दंसणनाणा, संपुन्नफलं न दिंति पत्तेअं ।
चारित्तजुआ दिंति उ, विसिस्सए तेण चारित्तं ॥१०१॥

पारम्पर्येण प्रसिद्धिः पारम्पर्यप्रसिद्धिः स्वरूपसत्ता, एतदुक्तं भवति-दर्शनं ज्ञानं, चारित्रम्, एवं पारम्पर्येण चरणस्वरूपसत्ता, सा दर्शनज्ञानाभ्यां सकाशाद्भवति चरणस्यातस्तद्भावभावित्वाच्चरणस्य त्रितयमप्यस्तु। लौकिकन्यायमाह-पारम्पर्यप्रसिद्धिर्यथा भवति तथाऽन्नपानयोर्लोकेऽपि प्रतीतैवेति क्रिया, तथा चान्नार्थी स्थालीन्धनाद्यपि गृह्णाति, पानार्थी च घटाद्यतस्त्रितयमपि प्रधानमिति गाथार्थः ॥१००॥ आह-यद्येवमतस्तुल्यबलत्वे सति ज्ञानादिना किमित्यस्थानपक्षपातमाश्रित्य चारित्रं प्रशस्यते भवतेत्यत्रोच्यते-यस्माद् दर्शनज्ञाने संपूर्णफलं मोक्षलक्षणं न दत्तः न प्रयच्छतः प्रत्येकं, चारित्रयुक्ते दत्त एव, विशेष्यते तेन चारित्रं,तस्मिन् सति फलभावात्, इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

आह-विशिष्यतां चारित्रं किं तु—

उज्जममाणस्स गुणा, जह होंति ससत्तिओ तवसुएसु ।
एमेव जहासत्ती, संजममाणे कहं न गुणा ? ॥ १०२ ॥

'उज्जमाणस्स' उद्यच्छत उद्यमं कुर्वतः,क्व?,तपःश्रुतयोरिति योगः। गुणास्तपोज्ञानाद्यासेविनेर्जरादयो यथा भवन्ति स्वशक्तितः स्वशक्त्युद्यमवत एवमेव यथाशक्ति, शक्त्यनुरूपमित्यर्थः। (संजममाणे कहं ण गुण त्ति) संयममाने संयमं पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणं कुर्वति सति साधौ, कथं न गुणाः?, गुणा एवेत्यर्थः। अथवा-कथं गुणा येनाविकलसंयमानुष्ठानरहितो विराधकः प्रतिपद्यते इत्यत्रोच्यते-

अणिगूहंतो विरिअं, न विराहेइ चरणं तवसुएसु ।
जइ संजमे वि विरिअं, न निगूहिज्जा न हाविज्जा ॥१०३॥
संजमजोगेसु सया, जे पुण संतविरिआ विसीअंति ।
कह ते विसुद्धचरणा, बाहिरकरणालसा हुंति ॥ १०४ ॥

अनिगूहन् वीर्यं प्रकटयन् सामर्थ्यं यथाशक्त्या, क्व?, तपःश्रुतयोरिति योगः, किं?, न विराधयति चरणं न खण्डयति चारित्रं,यदि संयमेऽपि पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणे, वीर्यं सामर्थ्यं, तपयोगादिरूपतया न निगूहयेत् न प्रच्छादयेत्,मातृस्थानेन (न हावेज त्ति) ततो न हापयेदिति संयमं न खण्डयेत्, स्यादेवं संयमगुण इति गाथार्थः । संयमयोगेषु पृथिव्यादिसंरक्षणादिव्यापारेषु, सदा सर्वकालं, ये पुनः प्राणिनः(संतविरिया विसीयंति त्ति) विद्यमानसामर्थ्या अपि नोत्सहन्ते, कथं ते विशुद्धचरणा भवन्ति ? इति, योगेनैवेत्यर्थः। बाह्यकरणालसाः सन्तः, प्रत्युपेक्षणादिबाह्यचेष्टारहिता इति गाथार्थः ॥ १०४ ॥

आह-ये पुनरालम्बनमाश्रित्य बाह्यकरणालसा भवन्ति
तेषु का वार्तेति ?, उच्यते—

आलंबणेण केणइ, जे मन्ने संजमं पमायंति ।
न हु तं होइ पमाणं, भूअत्थगवेसणं कुज्जा ॥१०५॥

आलम्बत इत्यालम्बनं प्रपततां साधारणस्थानं, तेनालम्बनेन केनचित्, अव्यवस्थितत्यादिना ये प्राणिनः, मन्ये इत्येवमहं मन्ये, संयमम् उक्तलक्षणं, प्रमादयन्ति परित्यजन्ति (न हु तं होइ पमाणं) नैव तदालम्बनमात्रं भवति प्रमाणम् आदेयं, किं तु भूतार्थगवेषणं कुर्यात्सत्यार्थान्वेषणं कुर्यात् । किमिदं पुष्टमालम्बनमाहोस्विन्नेति, यद्यपुष्टमविशुद्धचरणा एव ते, अथ पुष्टं विशुद्धचरणा इति गाथार्थः । आव० ३ अ० । ध० ।

एवममुना प्रकारेण चरित्रे विद्यते शोधिः, तदादद्दतः
कुर्वतश्च शोधिमेवमुक्तप्रकारेण दृश्यते, यदपि
चोक्तं दर्शनज्ञानाभ्यां तीर्थं याति तद-
प्ययुक्तं यथा भवति तथा शृणुत।
अयुक्ततामेव कथयति—

एवं तु जणंतेणं, सेणियमादी वि थाविया समणा ।
समणस्स य गुत्तस्स य, नत्थी नरएसु उववातो ॥

यदि नाम ज्ञानदर्शनाभ्यां तीर्थं, तर्हि प्रवचनं, तच्च श्रमणेषु व्यवस्थितं, तत एवं भणता त्वया श्रेणिकादयोऽपि श्रमणा व्यवस्थापिताः, तेषामपि ज्ञानदर्शनभावात् , न चैतदुपपन्नं, यतः श्रमणस्य, श्रमणगुणैर्युक्तस्य च नास्ति नरकेषूपपातः । तच्च न श्रेणिकादीनामसंभवात् ।

जंपिज्ज हु एक्कवीसं, वाससहस्साणि होहिं तित्थं तु ।
तं मिच्छा सिद्धी वि य, सव्वगतीसुं च होज्जाहि ॥

यदपि सूत्रे च भणितम्-एकविंशतिवर्षसहस्राणि तीर्थमनुवर्तमानं भविष्यति इति, तदपि त्वन्मतेन मिथ्या प्राप्नोति, यतस्त्वन्मते दुःषमासु ज्ञानदर्शनभाविनश्चिरकालमपि तीर्थानुषङ्गप्रसक्तेः । यथा सर्वास्वपि च गतिषु सिद्धिरप्येवमनिवारितप्रसरा भवेत् । सम्यग्दर्शनज्ञानयुक्तानां चारित्ररहितानां सर्वगतिष्वपि जीवानां भावात्, ये चानुत्तरोपपातिनो देवास्ते नियमतस्तद्भवसिद्धिगामिनो भवेयुः, तेषामनुत्तरज्ञानदर्शनोपेतत्वात्, न चैतदिष्टम्, तस्मादिदमागतम्-" पच्छित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे नो सचरित्तया।" असति अविद्यमाने प्रायश्चित्ते चारित्रं न तिष्ठति, प्रायश्चित्तमन्तरेण चारित्रस्य शुद्धिर्न भवेत्, चारित्रे चासति तीर्थस्य न सचरित्रता ।

अचरित्तयाएं तित्थस्स, निव्वाणम्मि न गच्छइ ।

निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थया ॥

तीर्थस्याचारित्रतायां साधुर्निर्वाणं न गच्छति । असति च निर्वाणे सर्वा दीक्षा निरर्थका । व्य० १० उ० । पञ्चा० । ('उवसम' शब्दे द्वितीयभागे १०२८ पृष्ठे चारित्रमोहनीयस्योपशमताऽभिहिता) "नाणेण होइ करणं, करणं नाणेण फासियं होइ । दुण्ह पि समाओगे, होइ विसोही चरित्तस्स ॥" ध० प० । केषाञ्चित्कषायाणामुदये चारित्रस्य लाभ एव न भवति, केषाञ्चित् पुनर्लब्धमपि अतिचरति प्रतिपतति च । आ० चू० १ अ० । वीतरागाणां चारित्रं न वर्द्धते, नापि हानिमुपगच्छति, कषायाणामभावात्, किन्त्ववस्थितमेकमेव परमप्रकर्षप्राप्तं संयमस्थानमिति, सरागसंयतानां तु केषाञ्चिद् वर्धते, केषाञ्चिद्धीयते । व्य०१० उ० । व्यवहारनयमते देशभङ्गेऽपि सर्वभङ्गाभावः चारित्रमवतिष्ठत एव । व्य०१ उ० । वस्तुतो योगस्थैर्यरूपं चारित्रं महाभाष्यस्वरससिद्धमिति महता प्रबन्धेनोपपादितमध्यात्ममतपरीक्षायाम् । प्रति० । "चारित्रमात्मचरणाद्,ज्ञानं वा दर्शनं मुने । शुद्धज्ञाननये साध्य-क्रियालाभात् क्रियानयः ॥३॥" अष्ट० १३ अष्ट० । "सम्मत्त आवरित-स्स जुज्ज भयणाएं नियमसो नत्थि । जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स उ नियमेण सम्मत्त ॥१॥" सथा० । सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहत्तेण सावओ होज्जा । चरणोवसमखयाण, सायरसखतरा हुति ॥" था० ।

आधिक्यस्थैर्यसिद्ध्यर्थं, चक्रभ्रामकदण्डवत् ।
असौ व्यञ्जकताऽप्यस्य, तद्बलोपनतिक्रिया ॥ २९ ॥

आधिक्यं सजातीयपरिणामप्राचुर्यं, स्थैर्यं च पतनप्रतिबन्धः, तत्सिद्ध्यर्थं चक्रभ्रामकदण्डवदसावुपदेश उपयुज्यते । यथाहि दण्डो भ्रमतश्चक्रस्य इष्टभ्रम्यर्थं, भग्नभ्रमेर्वा भ्रम्याधानार्थमुपयुज्यते, न तूचितभ्रमवत्येव,तत्र तथोपदेशोऽपि गुणप्रारम्भाय, तत्प्रतिबन्धाय चोपयुज्यते, न तु स्थितिपरिणाम प्रतीति । तदुक्तमुपदेशपदे-"उवएसो वि हु सफलो, गुणठाणारम्भगाण जीवाण । परिवडमाणाण तहा, पाय न उ तट्ठियाण पि" ॥१॥ व्यञ्जकताऽप्यस्योपदेशस्य तद्बलेन परिणामबलेनोपनतिक्रिया सन्निधानलक्षणा, अन्यथा घटादौ दण्डादेरपि व्यञ्जकत्वापत्तेरिति भाव. । २६ । द्वा० १७ द्वा० । द्रव्यस्तव निर्दूषणं प्रसाध्य-" अलमित्थपसंगेण, एव खलु होइ भावचरणं तु । परिसुज्झिस्सतऽथे, भावे जिअकम्मजोएण ॥ " इत्यादि । अथवाऽत्र द्रव्यचरणम्-" भावचरणमुग्गविहा-रणा य द-व्वचरणं तु जिणपूजा । पढमा जइ ण डुंसि वि, जइ ण पढम बिय पसत्था ॥१॥ कचणमणिसुसोपाणं सुवण्णतले जो कारवेज्ज जिणहरं, तओ वि संजमतवो अणतगुणो, तवसजमेण बहुभवसमज्जिअपावकम्ममलपवहं निट्ठविऊण अइसासयसुक्खं वए मुक्ख काउ जिणायणेहिं मंडिअ सयलमेइणीवट्टं दाणाइचोक्केण वि सुट्ठु वि गच्छिज्ज इम च्चुय न परओ त्ति । " प्रति० । (चारित्रस्य निन्दा प्रशंसा च ' अवुसराह्य ' शब्दे प्रथमभागे ८११ पृष्ठे उक्ता) (चारित्रस्यावर्णं वदतीति 'अवण्णवाय' शब्दे ७६३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

न चारित्रं विराधयेत्-

जया विसए उदिज्जंति, पमणाऽसणविसं पि वा ।
काकं बंधिऊणं मरियव्वं, नो चरित्तं विराहए ॥

अह एयाइं न सक्केज्जा, तो गुरुणो लिंगं समप्पिय ।
विदेसे जत्थ नागच्छे, पउत्ती तत्थ गंतूणं ॥
अणुव्वयं तु पालिज्जा णो नविया णिद्धम्मो ।
महा० ९ अ० ।

"विइयचरिमव्वयाइं, पइं चरित्तमिह सव्वदव्वेसु " इति 'सामाइय' शब्दे प्रपञ्चयिष्यते) आहारशुद्धिरेव मुख्यश्चारित्रहेतुरुद्घुष्यते । यदुक्तम्-" पिंडं असोहयतो, अचरित्ती इत्थ ससओ नत्थि । चारित्तम्मि असते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ " ध० र० । इदानीमप्यस्ति चारित्रं पञ्चयामचातुर्यामचिन्तां कृत्वा, ननु तर्हि द्वाविंशतिजिनयतीनां ऋजुप्राज्ञानां भवतु धर्म्मः, पर प्रथमजिनयतीनां ऋजुजडानां कुतो धर्म ?, अनवबोधात्, तथा च वक्रजडानां वीरयतीनां तु सर्वथा धर्मस्य अभाव एव, नैवम्, ऋजुजडानां प्रथमजिनयतीनां जडत्वेन स्खलनासद्भावेऽपि भावस्य विशुद्धत्वाद् भवति धर्म., तथा वक्रजडानामपि वीरजिनयतीना ऋजुप्राज्ञापेक्षया अविशुद्धो भवति, पर सर्वथा धर्मो न भवति इति न वक्तव्यम्, तथावचने हि महान् दोषः । यदुक्तम्-" जो भणइ नत्थि धम्मो, न य सामइय न चेव य वयाइं । सो समणसघबज्झो, कायव्वो समणसघेण " ॥ १ ॥ कल्प० १ क्षण । दर्श० । पञ्चा० । एष एवार्थः पुष्करिण्यादिदृष्टान्तेन भावनीय. । यथा-पूर्वकाले पुष्करिण्यादयो महापरिमाणा आसन्, इदानीं तु न तथा, तथापि पुष्करिण्य एवेत्येवमिदानीं हीनमपि चारित्रत्वं न विजहाति, किन्तु यावत्प्रायश्चित्त तावत्प्रायश्चित्तम् ।

न विणा तित्थ नियंठे-हिं नियंठा वा अतित्थगा चेव ।
छक्कायसंजमो जा-व ताव अणुसज्जणा दोण्हं ।

निर्ग्रन्थैर्विना तीर्थं न भवति,तेनापि विना निर्ग्रन्था अतीर्थकास्तीर्थरहिता भवन्ति, परस्परव्यवच्छिन्नतया एकस्याऽपरस्य भावात्, निर्ग्रन्थग्रहणं संयतानामुपलक्षणं, तदेतदपि द्रष्टव्यम्-संयतैर्विना न तीर्थं,नापि तीर्थमन्तरेण संयता निर्ग्रन्थाः,संयताश्च प्रथमभङ्गेन चतुर्दशपूर्वधरव्यवच्छेदेऽपि विद्यन्ते, यतो यावत् षट्कायसंगमस्तावत् द्वयानामनुषञ्जनाऽनुवर्त्तमाना समस्ति, षट्कायसंयमश्च प्रत्यक्षतोऽद्याप्युपलभ्यते, तत सन्ति निर्ग्रन्थाः, सन्ति संयता इति प्रतिपत्तव्य,ततश्च प्रतिपत्तव्य, तत्सत्त्वप्रतिपत्तौ च तीर्थं सचारित्रमित्यपि, प्रत्येकमव्य चारित्रे सति प्रायश्चित्तमस्त्येव ॥

सव्वण्णूहिं परूविय, छकाय महव्वया य समितीओ ।
स चेव य पन्नवणा, संपतिकाले वि साहूणं ॥
तेनोवपन्न तित्थं, दंसणनाणेहिं एव सिद्धं तु ।
निज्जवगा वोच्छिन्ना, जं पि य नणियं तु तन्न तहा ॥

पूर्वसाधूनां सर्वज्ञैश्चारित्रस्य प्रतिपत्तयो रक्षणाय च षट्कायानां महाव्रतानि समितयश्च प्ररूपिता., सैव च प्रतिज्ञापना सम्यगाराध्यतया संप्रतिकालेऽपि साधूनामस्ति, तत उपपन्न सम्प्रत्यपि चारित्रमस्ति, एव च सिद्ध न तीर्थं ज्ञानदर्शनाभ्यां व्रजति, किं तु ज्ञानदर्शनचारित्रैरिति । व्य० १० उ० ।

तच्चाकल्किराजपर्यन्तम्-

"से भयवं ! उड्ढं पुच्छा ? । गोयमा ! तओ परेणं उड्ढं हीयमाणे कालसमये, तत्थ णं जे केइ छक्कायसमारंभविवज्जी से णं धन्ने

पुन्ने वदे पूए नमसणिज्जे जीवियं सुजीविय तेसिं"॥ महा०५अ०।

" अह दूसमारसेसे , होहा नामेण दुप्पसह समणो ।
अणगारो गुणगारो, धम्मागारो तवोऽगारो ॥ १३ ॥
सो किर आयारधरो, अपच्छिमो होइ ताव भरहवासे ।
तेण समं आयारो, नस्सिहि सम्म चरित्तेणं ॥ १४ ॥ " ति०।

(मूलगुणोत्तरगुणयोरेकस्य नाशे द्वयोरपि नाश इति ' अइयार ' शब्दे प्रथमभागे ६ पृष्ठे उक्तम्) अत्र चोदक आह-यदि मूलगुणानां नाशे उत्तरगुणानामपि नाशः, उत्तरगुणानां नाशे मूलगुणानामपि स्यात् ततो न खलु नैव मूलगुणाः सन्ति, नाप्युत्तरगुणाः,यस्मान्नास्ति स सर्वतो यो मूलोत्तरगुणानामन्यतम गुणं न प्रतिसेवते । अन्यतमगुणप्रतिसेवने च द्वयानामपि मूलोत्तरगुणानामभावः, तेषामभावे सामायिकादिसंयमाभावः, तदभावे बकुशादिनिर्ग्रन्थानामभावः , ततः प्राप्त तीर्थमचारित्रमिति ।

सूरिराह—

चोयग ! छक्कायाणं, तु संजमं जाऽणुधावए ताव ।
मूलगुण उत्तरगुणा, दोन्नि वि अणुधावए ताव ॥

चोदक ! यावत् षड्जीवनिकायेषु संयमोऽनुधावति अनुगच्छति प्रबन्धेन वर्तते तावत् मूलगुणा उत्तरगुणाश्च द्वयेऽप्येते अनुधावन्ति प्रबन्धेन वर्तन्ते ।

इत्तरसामइयच्छे-यसंजमा तह दुवे नियंठा य ।
बउसु पडिसेवणा ता, अणुसज्जंते य जा तित्थं ।

यावन्मूलगुणा उत्तरगुणाश्चानुधावन्ति तावदित्वरसामायिकच्छेदसंयमावनुधावत , यावच्चेत्वरसामायिकच्छेदोपस्थानसंयमौ तावत् द्वौ निर्ग्रन्थावनुधावत' । तद्यथा-बकुशः, प्रतिसेवकश्च । तथाहि-यावद् मूलगुणप्रतिसेवना तावत्प्रतिसेवको, यावदुत्तरगुणप्रतिसेवना तावद्बकुशः, ततो यावत्तीर्थं तावद्बकुशाः, प्रतिसेवकाश्च अनुसज्जन्ति अनुवर्तन्ते, ततो नाचारित्रं प्रसक्तं प्रवचनमिति । अथ मूलगुणप्रतिसेवनायामुत्तरगुणप्रतिसेवनायां वा चारित्रभ्रंशे अस्ति कश्चिद्विशेषः, उत नास्ति ? । अस्ति इति ब्रूमः ।

कोऽसावित्याह-

मूलगुणे दऽयसगमे, उत्तरगुणे मंभवे सरिसवाई ।
छक्कायरक्खणट्ठा, दोसु वि सुद्धेसु चरणसुद्धी ॥

मूलगुणेषु दृष्टान्तो दतिः , शकटं च। केवलमुत्तरगुणा अपि तत्र दर्शयितव्याः, उत्तरगुणेषु दृष्टान्तो मण्डप, सर्षपादि, आदिशब्दात् शिलादिपरिग्रह , तत्राऽपि मूलगुणा अपि दर्शयितव्याः। इयमत्र भावना-एकेनापि मूलगुणप्रतिसेवनेन तत्क्षणादेव चारित्रभ्रंश उपजायते , उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन, अत्र दृष्टान्तो दतिकः। तथाहि-यथा दतिक उदकभृतः पञ्चमहाद्वारः,तेषां महाद्वाराणामेकस्मिन्नपि द्वारे मुत्कलीभूते तत्क्षणादेव रिक्तो भवति , सुचिरेण तु कालेन पूर्यते, एवं महाव्रतानामेकस्मिन्नपि महाव्रते अतिचर्यमाणे तत्क्षणादेव समस्तचारित्रभ्रंशो भवति , एकमूलगुणघाते सर्वमूलगुणानां घातात् । तथा च गुरवो व्याचक्षते—एकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्ग इति । एतन्निश्चयनयमत , व्यवहारतः पुनरेकव्रतभङ्गे तदेवैकं भग्नं प्रतिपत्तव्यम् , शेषाणां तु भङ्गः क्रमेण, यदि प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नानुसंधत्ते इति । अन्ये पुनराहु -चतुर्थमहाव्रतप्रतिसेवने तत्कालमेव सकलचारित्रभ्रंशः, शेषेषु पुनर्महाव्रतेष्वभीक्ष्णप्रतिसेवनया महत्यतिचरणे वा वेदितव्यः, उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन चरणभ्रंशो, यदि पुनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नोज्ज्वालयति । एतदेव कुतोऽवसेयमिति चेत् ?, उच्यते-शकटदृष्टान्तात् । तथाहि-शकटस्य मूलगुणा द्वे चक्रे, उद्धी , अक्षश्च, उत्तरगुणा वध्रकीलकलोहपट्टादयः। एतैर्मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसंप्रयुक्तं सत् शकटं यथा भारवहनक्षमं भवति , मार्गे च सुखं भवति , तथा साधुरपि मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसंप्रयुक्तः सन् अष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहनक्षमो भवति, विशिष्ट उत्तरोत्तरसंयमाध्यवसायस्थानपथे च सुखं वहति । अथ शकटस्य मूलाङ्गानामेकमपि मूलाङ्गं भग्नं भवति तदा न भारवहनक्षमं , नापि मार्गे प्रवर्तते , उत्तराङ्गेषु कैश्चिद् विनाऽपि शकटं कियत्कालं भारक्षमं भवति , प्रवहति च मार्गे, कालेन पुनर्गच्छताऽन्यान्यपरिशटनादयोग्यमेव तदुपजायते । एवमिहापि मूलगुणानामेकस्मिन्नपि मूलगुणे हते न साधूनामष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहनक्षमता, नापि संयमश्रेणिपथे प्रवहणम्, उत्तरगुणेषु कैश्चिदप्रतिसेवितैरपि भवति कियन्तं कालं चरणभारवहनक्षमता , संयमश्रेणिपथे प्रवर्तनं च, कालेन पुनर्गच्छता तत्राऽप्यन्यान्यगुणप्रतिसेवनातो भवति समस्तचारित्रभ्रंशः, ततः शकटदृष्टान्तादुपपद्यते मूलगुणानामेकस्यापि मूलगुणस्य नाशे तत्कालं चारित्रभ्रंशः , उत्तरगुणनाशे कालक्रमेणेति । इतश्चैतदेवं मण्डपसर्षपादिदृष्टान्तात् । तथाहि-एरण्डमादिमण्डपे यथोक्तो द्वौ बहवो वा सर्षपाः उपलक्षणमेतत्, तिलतण्डुलादयो वा प्रक्षिप्यन्ते, तथाऽपि न मण्डपो भङ्गमापद्यते , अतिप्रभूतैस्त्वाढकादिसंख्याकैर्भज्यते । अथ तत्र महती शिला प्रक्षिप्यते, तदा तयैकयाऽपि तत्क्षणादेव ध्वंसमुपयाति । एवं चारित्रमण्डपोऽप्येकद्विव्यादिभिरुत्तरगुणैरतिचर्यमाणैर्न भङ्गमुपयाति , बहुभिस्तु कालक्रमेणातिचर्यमाणैर्भज्यते , शिलाकल्पेन पुनरेकस्यापि मूलगुणस्यातिचारे तत्कालं ध्वंसमुपगच्छतीति, तदेवं यस्मान्मूलगुणातिचरणे क्षिप्रमुत्तरगुणातिचरणे कालेन चारित्रभ्रंशो भवति तस्मान्मूलगुणा उत्तरगुणाश्च निरतिचाराः स्युरिति षट्कायरक्षणार्थं सम्यक् प्रयतितव्यम्, षट्कायरक्षणे हि मूलगुणा उत्तरगुणाश्च शुद्धा भवन्ति, तेषु च द्वयेष्वपि शुद्धेषु, (अत्र गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽपि भवतीति) चरणशुद्धिः चारित्रशुद्धिः । व्य० १ उ० । नि० चू० । दर्श० ।

चारित्रफलम्-

इह भविए भंते ! चरित्ते, परभविए चरित्ते ? । गोयमा ! इह भविए चरित्ते, णो परभविए चरित्ते, णो तदुभयभविए चरित्ते, एवं तवे, संजमे ।

चारित्रसूत्रे निर्वचने विशेषः । तथाहि-चारित्रमैहभविकमेव,न हि चारित्रवानिह भूत्वा तेनैव चारित्रेण पुनश्चारित्री भवति,यावज्जीवताऽवधिकत्वात्तस्य । किञ्च-चारित्रिणः संसारे सर्वविरत्यभावतः देशविरतस्य च देवेष्वेवोत्पादात्,तत्र च विरतेरत्यन्तमभावात् । तस्य देशविरतस्य च देवेष्वेवोत्पादात्,तत्र च विरतेरत्यन्तमभावान्मोक्षगतावपि चारित्रसम्भवाभावात् । चारित्रं हि कर्मक्षपणायानुष्ठीयते, मोक्षे च तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, यावज्जीवमिति प्रतिज्ञासमाप्तेस्तदन्यस्याग्रहणात्, अनुष्ठानरूपत्वाच्च चारित्रस्य,शरीराभावे च तदयोगात् । अत एवोच्यते-"सिद्धे नो च-

रित्ती भो अचरित्ती " भो अचारित्रीति च अविरतेरभावा-दिति । अनन्तरं चारित्रमुक्तम् । तच्च द्विधा-तपःसंयमभेदादिति तयोर्निरूपणायातिदेशमाह-(एवं तवे संजमे त्ति) प्रश्ननिर्वचना-भ्यां चारित्रवत्तपःसंयमौ वाच्यौ, चारित्ररूपत्वात्तयोरिति । भ० १ श० १ उ० ।

अष्टादश चारित्रभवाः-

" आराहणा य एत्थं, चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई । आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा " ॥ १ ॥ इति । एवं चेह यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिभवा विराधनायुक्ता अग्नि-कुमारवर्जभवनपतिज्योतिष्कत्वहेतुभवसहिता दश, अविराध-नाभवास्तु यथोक्तसौधर्मादिदेवलोकसर्वार्थसिद्धयुत्पत्तिहेत-वः सप्त, अष्टमश्च सिद्धिगमनभव इत्येवमष्टादश चारित्रभवा-उक्ताः । अपरे चाष्टैव भवांश्चारित्रं प्रभाति । भ० १५ श० १ उ० । व्यवसायभेदे, चारित्रमपि समभावलक्षणो व्यवसाय एव, बो-धस्वभावस्याऽऽत्मनः परिणतिविशेषत्वात् । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चरित्तगुणप्पमाण-च (चा) रित्रगुणप्रमाण-न० । चरत्यनिन्दि-तमनेनेति चारित्रं, तदेव चारित्रं, चारित्रमेव गुणः । सावद्ययो-गाविरतिरूपे गुणप्रमाणभेदे, तच्च पञ्चविधम्-"चारित्तगुणप्प-माणे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-सामाइअचरित्तगुणप्पमाणे, छेओवट्ठावणचरित्तगुणप्पमाणे, परिहारविसुद्धिअचरित्तगुण-प्पमाणे, सुहुमसंपरायचरित्तगुणप्पमाणे, अहक्खायचरित्त-गुणप्पमाणे " । अनु० ।

चरित्तकप्प-चरित्रकल्प-पुं० । चारित्रप्रतिपादके शास्त्रे, पं०भा० ।

………… ", एत्तो वोच्छं चरित्तकप्पं तु ।
जे तु विहाणचरित्ते, वतेसु गुरुलाघवं चेव ॥
पंचविहम्मि चरित्त-म्मि वण्णिता जे जहिं अणुण्णागा ।
एसो चरित्तकप्पो, जहक्कयं होति विण्णेओ ॥
सामाइयादि पंचहिँ, सव्वो वि जवे वहुत्तरं कंठा ।
सव्वगुरुगा अहिंसा, तीसे सारक्खणट्ठ सेसाणि ॥
मेहुणवयं च तत्तो, ततो अदत्तं मुसं तत्तो ।
सव्वलहुओ परिग्गह, सव्वावत्थाएँ रागनिग्गहणं ॥
लोगे पुण गरुगतरो, सव्वेसु भवे मुसावादो ।
काऊण वि संधरणं, मुयवज्जाणं तु सव्वभंगे वि ॥
जे न पावंति धम्मं, सुएसु अह मिच्छगे ते उ ।
सोतुं मिच्छत्ततारा, विणयं काऊण हिट्ठए आह ॥
अज्जप्पजिई अम्हं, वुड्ढो सङ्घा वते देह ।
मुसवज्जा वापमो, धारेमो गिण्हितुं वते तेणा ॥
बीसत्थमित्तगाणं, मुसितविहार समोइत्ता ।
मिच्छत्त वेंति तेणे, घेत्तुं सिक्खावयाणि मा अज्जो ॥
मंजह लंवंति जहा, तेणा ऊ वज्जसमणेसु ।
सद्धम्मो गुरुलाघव-वक्खाणं मोहिकारणाजिहितं ॥
पचम्मि कारणम्मि तु, लहुयतरं पुव्व सेवेज्जा ।
काणि पुण कारणाणी, जेसुं पत्तेसु जयणपडिसेवा ॥
जाणइ ताण इमाइं, किंचेऽहं जे समासेणं ।
गच्छाणुकंपयाए, आयरिय गिलाणे आवतीए य ॥
पडिसेवा खलु भणिता, एते खलु कारणा ते उ ।
तेहि य तेणादीसुं, गच्छस्स ट्ठाणसेवणा होति ॥
आयरियाए व अट्ठा, विभासवित्थारदुएँ एत्थं ।
णातुं तवं विणासं, अरगा साहारणेण एवं तु ॥
आयरियस्स विणासे, गच्छविणासो धुवं एवं ।
आगाढे गेलण्णे, फंदातिविज्जास आवती वसुज्ञा ॥
देव्वावति तह जोगा, वतीवग्गओ तह जागओ चेव ।
एतेहि कारणेहिं, अप्पत्तेहि जो तु सेवेज्ज ॥
सुहसीलयाएँ जो ऊ, आवज्जति ण वि य सुज्झती सो उ ।
जो पुण पत्ते कारणे, जयणा आसेवणं करेज्जा इ ॥
तस्स सेवणा वि जा सा, लोगे सव्वे जिणेहि तं इणमो ।
गच्छाणुकंपयाए, आयरियगिलाण आवदि वि दिन्ने ॥
जत्थेव य पडिसेहो, सचरित्ताऽऽसेवणा तत्थ ।
पुरिमस्स पच्छिमस्स य, मज्झिमगाणं तु जिणवरिंदाणं ॥
आसेवणा य सचरि-त्तया य अत्थेण अणुगम्मा ।
वयभंगं पि करेंतो, जह सचरित्ती कहं तु अत्थेणं ॥
अणुगंतव्वं एयं, भन्नाति आगाढकारणतो ।
जे के अवराहपदा, कण्हा सुका भवे पवयणम्मि ॥
णिघरिसपरिच्छणाए, ठुगठाणेणं मुणेयव्वो ।
पडिसेहेहिँ अणुन्ना वा, पायच्छित्ते य ओह णिच्छइए ॥
ओहेण उ सट्ठाणं, अत्थविरेगेण वोगमियं ।
हिंसादवराहपदा, किण्हे अणुयाति सुक्किला लहुगा ॥
णिप्परिमपरिच्छण्णे, जह कणगं ताव णिहसेसु ।
एवं परिच्छिऊणं, आयवयं गच्छमावती जं तु ॥
णित्थारयम्मि पत्ते, जयणाए णिसेव सचरित्ती ।
ठुट्ठाणा मूलुत्तर-दप्पे अजए य होति पडिसेहो ॥
कप्पे जयणाऽणुण्णा, जो पुण निकारणाऽऽसेवे ।
पायच्छित्ते पावति, तं दुविहं ओहियं च णेच्छइयं ॥
ओहं च जमावण्णं,-तं दिज्जति तम्मि सट्ठाणं ।
णेच्छइयं अत्थेणं, वीमंसेत्ता तु देज्जती तं तु ॥
एयं अत्थविरेगं, वोगमियं छव्विहं इणमो ।
कस्स कहं व कहितं, वोकमिया कम्मि किंचे वा ॥
छट्ठाणपदविभत्तं, अत्थपदं होति वोगमियं ।
कस्स त्ति गीतगीत-स्स वा विकह जयणऽजयणाए ॥
कह अद्धाण वसंतो, दिया णु सुब्भिक्खदुब्भिक्खे ।
अहवा दिव राओ वा, कम्मि त्ती कारणे व इतरे वा ॥
कम्मि च पुरिसज्जाते, आयारादीण अन्नतरे ।
केचिर कतिवारे खलु, केवइकालं व सेवियं होज्जा ॥
एवं छट्ठाणेहिं, सुद्धासुद्धे असुद्धितरो ।
संघयणधितिजुताणं, सट्ठाणअरुहं तु दिज्जए तत्थ ॥

असढ् अथिरादीणं, दिज्जति वाएति जं वोढुं ।
सोचूण कप्पियपदं, करेति आलंबणं मतिविहूणो ॥
रहस्सं च अणरहस्सं, करेति मतिसूयओ पुरिसो ।
माइट्ठाणविमुक्कं, अकप्पियं जो तु सेवते भिक्खू ॥
तं तस्स कप्पति पदं, मायासहिते चरणभेदो । पं० भा० ।

इयाणिं चरित्तकप्पो,गाहा-(पंचविहम्मि)तं पुण चरित्तं पचविह सामाइअमाई, अणुभागो नाम सामाइओ दुविहो-इत्तिरिओ, आवकहिओ , छेओवट्ठावणिओ घेत्तूण परियागं परिहारविसुद्धिए निव्विसमाणे निव्विट्ठो य, एव सव्वे वि भाणियव्वा, जो जस्स अणुभागो तम्मि पुण चरित्ते गुरुलाघवं नायव्वं , पंचसु वि एएसु कयरं भारियतर वा ? । उच्यते-सव्वगुरुइया अहिंसा, तस्स सारक्खणत्थं सेसाणि, तयणंतर मेहुणं, ततश्चादत्तं, ततो मोसं, सव्वलहुओ परिग्गहो, सव्वावत्थासु रागदोसाणि अवणेऊणं तु,न विणा रागेण लोए पुण मुसावाओ चारित्तो, जहा दव्वत्ति य सव्वेहिं कवडेण मुसावायवज्जाणि सिक्खापयाणि घेत्तूण विहारो विलओ लिओ,एसा पुण गुरुलाघवा विसोही कारणे कीरइ । पढमं जं लहुयं तं सेविज्जइ त पुणो कत्थ सेविज्जइ ? । गाहा-(गच्छाणुकंपयाए) वोद्दियाइसु बालवुड्ढाओ ए गच्छकुलाइकज्जे वा,आयारियाणं गिलाणाइअज्जाइकज्जसु वा दव्वखेत्तकालभावावइसु वा एएसु गच्छाणुकंपयाइसु कारणेसु अयत्तेसु सुहसीलयाए वयाणि पेल्लेइ,सो आवज्जइ तट्ठाणपच्छित्तं। गाहा-(गच्छाणुकंप) सो पुण एएसु गच्छाणुकंपाइसु कारणेसु पत्तेसु गुरुलाघवविसोही य वयाणि पेल्लेइ, जाणि चेव पमिसेवियाणि चेव पमिसेवेइ सो सुद्धो । गाहा-(पुरिमस्स) एव पुरिमपच्छिममज्झिमाण तित्थगराण कारणे पत्तेयाऽऽसेवणाइ भवइ, पमिसेवियपयाणं सच्चरित्तया य । कइ पुण , अत्थओ अणुगामित्ता । गाहा-(जे के अवराहपया) हिंसादयो किच्च त्ति गुरुया, सुकिल त्ति बहुया सुवन्नं निघसमिव परिच्छियव्वा , अवधारणीअमिति कट्टु के य जयणपुरिसकारो तुल्लसमो नाणदरिसणचरित्तट्ठी , दुयट्ठाणं नाम मूलगुणा उत्तरगुणा य, ते कप्पंति । एवं सव्वत्थ वि पमिसेहे मुज्जो अणुसा कया। गाहा-(पमिसेहे अणुण्णा) पायच्छित्त पुण दुविहं-ओहिय निच्छइय च। ओहेण जं चेव आवन्नो तं चेव दिज्जइ , निच्छयओ पुण अत्थेण विरेचूण विणिच्छएण ति भणिय होइ,तो दिज्जइ,विरेगो पुण छव्विहो,तत्थ गाहा-(कस्स कह) कस्स वा?,गीयत्थस्स वा, गीयत्था आयरिया, उवज्झाया, भिक्खु वा, आयरियउवज्झाया नियमा गीयत्था, ते पुणो कयकरणा वा,कयकरणाणं तदाणुरूव दिज्जइ, भिक्खु अभिगयं अणभिगयं थिराथिरकयकरणा य मयणीओ कहति, जयणाए अजयणाए वा पडिसेवियं करेंति,अद्धाणे वा जणवए वा पमिसेविया कइया?,सुभिक्खे,दुब्भिक्खे वा,दिया,राओ । कम्मि? कारणे अकारणे वा । केच्चिर कइवारे कालं वा, एवं गहिं ठाणेहिं थोकमे जं ण दिज्जइ, तत्थ जइ सुरूण सुका चेव सुद्ध त्ति, कारणे सुद्धा अकारणे सेविय अगीयत्थासु वा असुद्ध , तस्स पुण सद्दु असद्दु त्ति विज्जइ, स दओ थिरसजमो जेण । गाहा-(सोचूण कप्पियपय) कप्पियपदमिति अववाओ , सव्वत्थ एवं कायव्व ति मण्णइ मइविहूणो त्ति । मइविहूणत्तणेण आलंबणेण करेइ, रहस्साणि अरहस्साणि करेइ । मइसूयगो नाम सो पावो । गाहा-(माइट्ठाणविमुक्कं) गाहा सिद्धमेव । एव चारित्तकप्पो । प० चू० ।

चरित्तट्ठया-चारित्रार्थता-स्त्री० । सदनुष्ठानरूपेऽर्थे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । वर्षास्वपि अन्यत्र गच्छेत्-"चारित्तट्ठयाए" चारित्रार्थतया तु तस्य क्षेत्रस्यानेषणा स्त्र्यादिदोषदुष्टतया तद्रक्षणार्थम । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

चरित्तट्ठवणा-चारित्रस्थापना-स्त्री० । ६ त० । चारित्रस्यानिर्बाह्यत्वेन न्यासे, यथा-" सज्झायरकप्पट्ठी चरित्तट्ठवणा " शय्यातरस्य कल्पस्थिकायामाचार्येण चारित्रस्य स्थापना कृता प्रतिसेवते इति भावः । बृ० ४ उ० ।

चरित्तधम्म-चारित्रधर्म-पुं० । चरित्रं क्षयोपशमरूपं, तस्य भावश्चारित्रमशेषकर्मक्षयाय चेष्टेत्यर्थः । ततश्चारित्रमेव धर्मश्चारित्रधर्म इति । श्रमणधर्मे, " चरित्तधम्मो समणधम्मो त्ति " वचनात् । दश० १ अ० । स्था० । स च क्षान्त्यादिरूपो दशधा । नं० । चारित्रं मूलोत्तरगुणकलापः , तदेव धर्मश्चारित्रधर्मः । स्था० २ ठा० १ उ० । क्षान्त्यादिश्रमणधर्मः । अयं च द्विविधोऽपि द्रव्यभावभेदे धर्मे भावधर्म उक्तः । यदाह-" दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य । सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥१॥ त्ति" स्था०२ठा० १उ०। प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपे धर्मभेदे, दश० ४ अ० । " दुविह चरित्तधम्म " द्विविधं देशसर्वचारित्रभेदाद् द्विप्रकार, चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते तदिति , चर्यते वा गम्यतेऽनेन निर्वृत्ताविति चरित्रम । अथवा-चयस्य कर्मणां रिक्तीकरणाच्चरित्र , निरुक्त्यायादिति ।.चारित्रमोहनीयक्षयाद्याविर्भूत आत्मनो विरतिरूपः परिणामस्तल्लक्षणो धर्मः श्रेयश्चारित्रधर्मस्तम् । पा० । चारित्र मूलोत्तरगुणकलापस्तदेव धर्मश्चारित्रधर्मः । स्था० ।

चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अगारचरित्तधम्मे चेव, अणगारचरित्तधम्मे चेव। अणगारचरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सरागसंजमे चेव, वीयरागसंजमे चेव । सरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव, बादरसंपरायसरागसंजमे चेव । सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव,अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव। अहवा चरमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे,अचरमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे । अहवा-सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-संकिलेसमाणए चेव,विसुज्झमाणए चेव। बादरसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे, अपढमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे । अहवा-चरमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे , अचरमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे । अहवा-बायरसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पडिवातिए चेव, अपडिवातिए चेव। वीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-उवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव, खीणकसायवीयरागसंजमे चेव। उवसंतकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव, अपढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव। अहवा-चरमसमय-

उवसंतकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयउवसंतकसायवीयरायसंजमे । खीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-छउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे चेव, केवलिखीणकसायवीयरायसंजमे चेव । छउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे । सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे चेव । अहवा-चरमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे । बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे । अहवा-चरमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे । केवलिखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे । सजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे । अहवा-चरमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे । अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे । अहवा-चरमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे ॥

"चरित्तेत्यादि"। अगारं गृहं, तद्योगादगारा गृहिणस्तेषां यश्चारित्रधर्मः सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूपः स तथा। एवमितरोऽपि,नवरमगारं नास्ति येषां तेऽनगाराः साधव इति। चारित्रधर्मश्च संयमोऽनस्तमेवाह-"दुविहे" इत्यादि । सह रागेण अभिष्वङ्गेण मायादिरूपेण यः स सरागः, स चासौ संयमश्च, सरागस्य वा संयम इति वाक्यम् । वीतो विगतो रागो यस्मात्, स चासौ संयमश्च, वीतरागस्य वा संयम इति वाक्यम् । "सराग" इत्यादि । सूक्ष्मोऽसंख्यातकिट्टिकावेदनतः सम्पराय कषायः, सम्परैति संसरति संसारं जन्तुरनेनेति व्युत्पादनात्। आह च-"कोहाइसंपराओ, तेण जओ संपरीइ संसारं।" स च लोभकषायरूप औपशमिकस्य क्षपकस्य वा यस्य सः सूक्ष्मसंपरायः साधुस्तस्य सरागसंयमविशेषणसमासो वा भणनीय इति। बादराः स्थूलाः सम्परायाः कषाया यस्य साधोर्यस्मिन् वा संयमे स तथा, सूक्ष्मसम्परायप्राचीनगुणस्थानकेषु, शेषं प्राग्वदिति । "सुहुमे" इत्यादि । सूत्रद्वये प्रथमसमयादिविभागः केवलज्ञानवदिति । "अहवा" इत्यादि । संक्लिश्यमानकः संयम उपशमश्रेण्याः प्रतिपततो विशुद्ध्यमानस्तामुपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा समारोहत इति। बादरेत्यादिसूत्रद्वयम्, बादरसंपरायसरागसंयमस्य प्रथमाप्रथमसमयता संयमप्रतिपत्तिकालापेक्षया, चरमाचरमसमयता तु यदनन्तरं सूक्ष्मसम्परायता; असंयतत्वं वा भविष्यति तदपेक्षयेति। "अहवा" इत्यादि । प्रतिपाती उपशमकस्यान्यस्य वा, अप्रतिपाती क्षपकस्येति सरागसंयम उक्तः। अतो वीतरागसंयममाह-"वीयराय" इत्यादि । उपशान्ताः प्रदेशतोऽप्यवेद्यमानाः कषाया यस्य यस्मिन् वा स तथा, साधुः संयमो वेति एकादशगुणस्थानवर्तीति,क्षीणकषायो द्वादशगुणस्थानवर्तीति। "उवसंत" इत्यादि सूत्रद्वयं प्राग्वत् । "खीणे" इत्यादि। छादयत्यात्मस्वरूपं यत्तच्छद्म,ज्ञानावरणादि घातिकर्म्म, तत्र तिष्ठति इति छद्मस्थोऽकेवली, शेषं तथैव, केवलमुक्तरूपं ज्ञानं च दर्शनं चास्यास्तीति केवलीति। "छउमत्थ" इत्यादि । स्वयम्बुद्धादिस्वरूपं प्राग्वदिति "सयंबुद्ध" इत्यादि नव सूत्राणि गतार्थान्येवेति । स्था० २ ठा० १ उ०। चरति मोक्षं प्रति याति येन तच्चरित्रं, तच्च तद्धर्मश्चेति चरित्रधर्मः, चरित्रशब्देन मुनस्य व्यवच्छेदः । प्रत्याख्याने, "पच्चक्खाण नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा ॥" पञ्चा० ५ विव० ।

चरित्तधम्मआराहणा-चारित्रधर्माराधना-स्त्री० । आराधनाभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या 'आराहणा' शब्दे द्वितीयभागे ३७४ पृष्ठे उक्ता)

चरित्तपडिवत्ति-चारित्रप्रतिपत्ति-स्त्री० । चारित्रस्य वैराग्यतया शुद्धौ, पं० चू० ।

चरित्तपरिणाम-चारित्रपरिणाम-पुं० । चारित्रमेव परिणामः। परिणामभेदे, प्रज्ञा० १३ पद । स्था०।

चरित्तपायच्छित्त-चारित्रप्रायश्चित्त-न० । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ('पच्छित्त' शब्देऽस्य व्याख्या)

चरित्तपुरिस-चारित्रपुरुष-पुं० । तद्वति, स्था० ३ ठा० १ उ०। (व्याख्या 'णाणपुरिस' शब्दे द्रष्टव्या)।

चरित्तबल-चारित्रबल-न० । चारित्रानुपालनसामर्थ्ये, यद् दुष्करमपि सकलसङ्गवियोगं करोत्यात्मा, यच्चानन्तमबाधमैकान्तिकमात्यन्तिकमात्मायत्तमानन्दमाप्नोति । स्था० १० ठा० । दृढचरित्रे, प्रज्ञा० ६ पद ।

चरित्तभावणाय-चारित्रभावनाक-त्रि० । चारित्रेण सामायिकादिना भावना वासना यस्य स चारित्रभावनाकः । चारित्रवासनायुक्ते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

चरित्तभेइणी-चारित्रभेदिनी-स्त्री० । चारित्रभेदकारिण्यां विकथायाम्, (स्था०) न सम्भवन्तीदानीं महाव्रतानि साधूनां प्रमादबहुलत्वादतिचारप्रचुरत्वादतिचारशोधकाचार्यतत्कारकसाधुशुद्धीनामभावादिति ज्ञानदर्शनाभ्यां तीर्थं प्रवर्तत इति ज्ञानदर्शनकर्त्तव्येष्वेव यत्नो विधेय इति । भणितं च-"सोही य नत्थि न वि दिं-तकरेंता ण वि य केइ दीसंति। तित्थं च णा-

णदसण-निव्ववगो चेव वोच्छिन्न त्ति ॥ १ ॥ " इत्यादि । अनया हि प्रतिपन्नचारित्रस्यापि तद्वैमुख्यमुपजायते, किं पुनस्तदभिमुखस्येति चारित्रभेदिनीति । स्था० ७ ठा० ।

चरित्तमोहणिज्ज-चारित्रमोहनीय-न०। मोहनीयकर्मभेदे,कर्म० १ कर्म० । (षोडश कषाया नव नोकषायाश्चेति द्विविधमेतत् 'मोहनीय' शब्दे वक्ष्यते)

चरित्तरक्खणट्ठ-चारित्ररक्षणार्थ-न० । पञ्चप्रकारं चारित्रं सामायिकाद्यमथाख्यातपर्यवसानं, तस्य रक्षणार्थम् । पुनरक्षायाः परिपालनार्थे , प० चू० । " चारित्तरक्खणट्ठा, सुयगमस्सुवरि ठवितांइ ॥ " प० भा० ।

चरित्तलंभ-चारित्रलाभ-पु० । चारित्रस्याऽन्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपस्य लाभे, आ० म० प्र० ।

चरित्तविणय-चारित्रविनय-पु० । चारित्राद् विनयश्चारित्रविनय । चारित्रेण विनीतकर्मतायाम, (दश०)

चारित्रविनयमाह-

अट्ठविहं कम्मचयं, जम्हा रित्तीकरेइ जयमाणो ।
नवमन्नं च न बंधइ, चरित्तविणीओ हवइ तम्हा ॥८५॥

अष्टविधमष्टप्रकारं कर्मचयं कर्मसङ्घातं प्राग्बद्धं यस्माद्रिक्तं करोति तुच्छताऽऽपादनेनापनयति यतमानः क्रियायां यत्नपरः, तथा नवमन्यं च कर्मचयं न बध्नाति यस्माच्चारित्रविनय इति, चारित्राद्विनयश्चारित्रविनयश्चारित्रेण विनीतकर्मा भवति तस्मादिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ दश० नि० ६ अ० १ उ० । औ० ।

चरित्तविराहणा-चारित्रविराधना-स्त्री०। चारित्रं सामायिकादीनि, तेषां विराधना खण्डना । स०३ सम० । व्रतादिखण्डने, ध० ३ अधि० ।

चरित्तवीरिय-चारित्रवीर्य-न० । अशेषकर्मविदारणसामर्थ्ये, क्षीरादिलब्ध्युत्पादनसामर्थ्ये च । नि० चू० १ उ० ।

चरित्तसंपण्णया-चारित्रसंपन्नता-स्त्री० । यथाख्यातचारित्रयुक्तत्वे, उत्त० १० अ० ।

तत्फलम्-

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ, सेलेसिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलकम्मं से खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ६१ ॥

हे स्वामिन् ! चारित्रसम्पन्नतया चरित्रेण यथाख्यातचारित्रेण सम्पन्नता, तया यथाख्यातचारित्रसहितत्वेन जीवः किं जनयति ? । तदा गुरुराह-हे शिष्य ! चारित्रसम्पन्नयथाख्यातचारित्रसहितत्वेन शैलेशीभावं जनयति, शैलानां पर्वतानां ईशः शैलेशो मेरुस्तस्येय अवस्था शैलेशी. तस्या भवनं शैलेशीभावः, तमुत्पादयति मेरुपर्वतस्य स्थैर्यं प्राप्नोति, शैलेश्यवस्थां प्रतिपन्नोऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति, अत्रशब्दः सत्यार्थवाचकः चतुर्दशगुणस्थानं भजते, ततः पश्चात्सिध्यति सकलकर्माणि क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्नोति, बुध्यति तत्त्वज्ञो भवति, मुच्यते कर्मभ्यो मुक्तो भवति, परिनिर्वाति कषायाग्नेरुपशमाच्छीतलो भवति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥६१॥ उत्त० २६ अ० ।

चरित्तसुद्धि-चारित्रशुद्धि-स्त्री० । चरणविशुद्धतायाम, पिं० । (तस्या बाह्यमान्तरं च कारणद्वयम 'उग्गम' शब्दे द्वितीयभागे ६७ पृष्ठे दर्शितम्)

चरित्ताचरित्त-चरित्राचरित्र-न० । चरित्रं तदचरित्रं चेति चरित्राचरित्रम् । संयमाऽसंयमे, भ० ८ श० २ उ० ।

चरित्तायार-चरित्राचार-पुं० । चारित्रिणां समित्यादिपालनात्मके व्यवहारे, स० १०० सम० ।

इयाणिं चरित्तायारो भण्णति-

पणिधाणजोगजुत्तो,पंचहिँ समितीहिँ तिहि य गुत्तीहिँ ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होति णायव्वो ॥ ३५ ॥

पणिहाणं ति वा अज्झवसाणं ति वा चिंतं ति वा एगट्ठा । जोगा मणवइकाया परिहाणजोगेहिं पसत्थेहिं जुत्तो पणिहाणजोगजुत्तो, तस्स य पणिहाणजोगजुत्तस्स पंच समितीओ, तिण्णि गुत्तीओ भवंति,ताइं समितिगुत्तीओ इमा-इरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिती, आयाणसमिई, भमत्तणिक्खेवणासमिई, परिट्ठावणियासमिई, मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती । जीवसरक्खणट्ठजुगमेत्ततरदिट्ठस्स अप्पमादिणो संजमोवकरणुप्पायणणिमित्तं जा गमणकिरिया सा इरितासमिती,कक्कसाणिट्ठुरकडुयफरुसअसंबद्धबहुप्पलावदोसवज्जिता हियमणवज्जमिता सदेहणभिद्दोहधम्मणो भासासमिती, सुत्ताणुसारेण रयहरणवत्थपादासणपाणाणिलमोसहखेमण एसणासमिती, जं वत्थपायसथारकफलगपीढकारणट्ठगहणिक्खेवकरण पडिलेहिय पमज्जिय सा आदाणणिक्खेवणासमिती, ज मुत्तमलसिंलेसपुरीसमुक्काण जं वा वि वेगाकहाण ससत्ताण भत्तपाणादीण जंतुविरहिए थंमिले विहिणा विवेगकरणं सा परिट्ठावणसमिती ५, कलुसकिलिट्ठमप्पसत्थसावज्जमणकिरियसकप्पणगोवणं मणगुत्ती, चावल्लफरुसपिसुणसावज्जप्पवत्तणणिग्गहकरणं मणे वा सा वयगुत्ती, गमणागमणपचलणादाणधसणप्फदणादिकिरियाण गोवणं कायगुत्ती समितिगुत्तीण विसेसो भण्णति-

" समितो नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि ततियव्वो ।
कुसलवइ उदीरेंतो, ज वइगुत्तो वि समिओ वि ॥
तणुगतिकिरियासमिती, तणुकिरियागोवणा तु तणुगुत्ती ।
वागोवण वागुत्ती, समितिपयारो वि तस्सेव ॥
सकप्पकिरियगोवण, मणगुत्ती भवति समितिसु पयारो ।
भणिता अट्ठ व माता, पवयणवतफलं ण तत्ता तो " ॥

गाहापच्छद्धं कंठ ॥

समितीण य गुत्तीण य, एसो ते दो तु होइ णायव्वो ।
समिती पयाररूवा, गुत्ती पुण उभयरूवा वि ॥ ३६ ॥
समितो नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि तइयव्वो ।
कुसलवति उदीरेंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ॥३७॥
समिती पयाररूवा, गुत्ती पुण होति नयरूवा ।
कुसलवति उदीरेंतो, तेणं गुत्तो वि समिओ वि ॥ ३८ ॥
गुत्तो पुण जो साधू, अप्पवियाराएँ णाम गुत्तीए ।

सो ण समिओ त्ति वुच्चति, तीसे तु वियाररूवत्ता॥३ए॥ नि० चू० १ उ० । स्था० ।

(चारित्रातिचारे प्रायश्चित्तं 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यते)

चरित्ताराहणा-चारित्राराधना-स्त्री० । " तिविहा चरित्ताराहणा पएणत्ता । त जहा-उक्कोसा, मज्झिमा, जहएणा । " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

चरित्तारिय-चारित्रार्य-पुं० । चारित्रेणार्ये, (प्रज्ञा०)

तद्भेदाः-

से किं तं चरित्तारिया ?। चरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सरागचरित्तारिया, वीतरागचरित्तारिया । से किं तं सरागचरित्तारिया ? । सरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य, बायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । से किं तं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया ? । सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया, अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया, अचरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संकिलिस्समाणा य, विसुज्झमाणा य । सेत्तं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया ॥ से किं तं बायरसंपरायसरागचरित्तारिया ?। बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया, अपढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया अचरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पडिवाई य, अपडिवाई य । सेत्तं बायरसंपरायचरित्तारिया । सेत्तं सरागचरित्तारिया ॥ से किं तं वीतरागचरित्तारिया ?। वीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, खीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । से किं तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ? । उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, अचरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । खीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, केवलिखीणकसायवीयरागचरित्तारिया य । से किं तं छउमत्थखीणकसायवीयरागचरित्तारिया ? । छउमत्थखीणकसायवीयरायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरायचरित्तारिया य । से किं तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसयंबुद्धखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । से किं तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य, अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ?। अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पएणत्ता । तं जहा-पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य, अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य, अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरायचरित्तारिया य । सेत्तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं केवलिखीणकसायवीतरागचरि-

त्तारिया । सेत्तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं वीतरागचरित्तारिया ॥ अहवा-चरित्तारिया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-सामाइयचरित्तारिया, छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, परिहारविसुद्धिचरित्तारिया, सुहुमसंपरायचरित्तारिया, अहक्खायचरित्तारिया य । से किं तं सामाइयचारित्तारिया ? । सामाइयचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-इत्तरियसामाइयचरित्तारिया, आवकहियसामाइयचरित्तारिया य । सेत्तं सामाइयचरित्तारिया ॥ से किं तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ? । छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-साइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, निरइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेत्तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ॥ से किं तं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया ? । परिहारविसुद्धियचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-निव्विस्समाणपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया, निव्विट्ठकाइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य । सेत्तं परिहारविसुद्धिअचरित्तारिया ॥ से किं तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ? । सुहुमसंपरायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संकिलिस्समाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया, विसुज्झमाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया य । सेत्तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ॥ से किं तं अहक्खायचरित्तारिया ? । अहक्खायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-छउमत्थअहक्खायचरित्तारिया, केवलिअहक्खायचरित्तारिया य । सेत्तं अहक्खायचरित्तारिया । सेत्तं चरित्तारिया । प्रज्ञा० १ पद ।

चरित्ति(ण्)-चारित्रिन्-त्रि० । संयते, पं० व० १ द्वार । अनु० ।

चरित्तिंद-चारित्रेन्द्र-पुं० । यथाख्यातचारित्रे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ४३४ पृष्ठे उक्ता)

चरित्तोवघाय-चारित्रोपघात-पुं० । समितिभङ्गादिभिश्चारित्रस्योपघाते, स्था० १० ठा० ।

चरिमपच्चक्खाण-चरमप्रत्याख्यान-न० । अन्तिमप्रत्याख्याने, चरमं चरिमोऽन्तिमो भागः । स च दिवसस्य, भवस्य चेति द्विधा । तद्विषयं प्रत्याख्यानमपि चरमं, तच्च प्रत्याख्यानं च । इह भवचरमं यावज्जीव, तत्र द्विविधेऽपि चत्वार आकारा भवन्ति । यत्सूत्रम्-"दिवसचरिमं भवचरिमं वा पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थाऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ ।" ननु दिवसचरमप्रत्याख्यानं निष्फलम्, एकाशनादिप्रत्याख्यानेनैव गतार्थत्वात् । नैवम्-एकाशनादिकं ह्यष्टाद्याकारमेव, एतच्च चतुराकारमत आकाराणां संक्षेपकरणात् सफलमेव, अत एवैकाशनादिकं दैवसिकमेव भवति; रात्रिभोजनस्य त्रिविधत्रिविधेन यावज्जीवं प्रत्याख्यातत्वात्; गृहस्थापेक्षया पुनरिदमादित्योद्गमान्तं दिवसस्याहोरात्रमिति पर्यायतयाऽपि दर्शनात् । तत्र च येषां रात्रिभोजननियमोऽस्ति तेषामपि इदं सार्थकमनुवादत्वेन स्मारकत्वात् । भवचरमं तु द्वयाकारमपि भवति, यदा जानाति महत्तरसर्वसमाधिप्रत्ययरूपाभ्यामाकाराभ्यां न प्रयोजनं, तदा अनाभोगसहसाकाराकारौ भवतः, अङ्गुल्यादेरनाभोगेन सहसाकारेण वा मुखप्रक्षेपसंभवात् । अत एवेदमनाकारमप्युच्यते, आकारद्वयस्यापि परिहार्यत्वात् । ध० २ अधि० । पंचा० । आव० ।

चरिमसगलसुयणाणि-चरमसकलश्रुतज्ञानिन्-त्रि० । चरममपश्चिममित्यर्थः । सकलं कृत्स्नं, निरवशेषमित्यर्थः । प० चू० । ज्ञानं यस्य सः । भद्रबाहुस्वामिनि, प० भा० ।

चरिय-चरित-त्रि० । सेविते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । चेष्टिते, पं० व० ३ द्वार । प्रश्न० । सत्ये उदाहरणे, तत् चरितमभिधीयते यद्वृत्तं, तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । तद्यथा-दुःखाय निदानं यथा ब्रह्मदत्तस्य । दश० १ अ० । नं० ।

चरियव्व-चरितव्य-त्रि० । आसेवितव्ये, भ० ६ श० ३३ उ० । आ० म० ।

चरिया-चरिका-स्त्री० । नगरप्राकारयोरन्तरेऽष्टहस्तप्रमाणे मार्गे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । जी० । रा० । स० । अनु० । वृ० औ० । गृहप्राकारान्तरे हस्त्यादिप्रचारमार्गे, भ० ५ श० ७ उ० ।

चर्या-स्त्री० । 'चर' गतिभक्षणयोः । "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे" ॥ ३।१।१००॥ (पाणि०) इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत्प्रत्ययः । चर्यते चरणं वा चर्या । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आव० । आ० चू० । गमने, साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ग्रामादिष्वनियतविहारित्वे, स० २२ सम० । भिक्षादिके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । चर्या उच्यते ग्रामानुग्रामविहरणात्मिका, भावतस्त्वेकस्थानमधितिष्ठतोऽप्यप्रतिबद्धता । प्रव० ८६ द्वार । वाहने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

चरियापरीसह-चर्यापरीषह-पुं० । चरणं चर्या ग्रामानुग्रामविहरणात्मिका, सैव परीषहश्चर्यापरीषहः । उत्त० २ अ० । प्रश्न० । वर्जितालस्यो ग्रामनगरकुलादिषु अनियतवसतिर्निर्ममत्व प्रतिमासं चर्यामाचरेदिति । आव० ४ अ० । इत्येवरीत्या ग्रामान्तरादिष्वप्रतिबद्धतया सञ्चरणकरणे, भ० ८ श० ८ उ० ।

" ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानाबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ " ध० ३ अधि० ।
" ग्रामाद्यनियतस्थायी, सदा चाऽनियतालयः ।
विविधाभिग्रहैर्युक्त-श्चर्यामेकोऽप्यधिश्रयेत् ॥ " आ० म० द्वि० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वा वि, निगमे वा रायहाणिए ॥ १८ ॥

एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्सहायवैकल्यतो चैकस्तथाविधगीतार्थः । यथोक्तम्-"ण या लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एको वि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥" (लाढे त्ति) लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वा आत्मानं यापयतीति लाढः । प्रशसाभिधायि वा देशीपदमेतत् पठ्यते (एग एव चरे लाढ०) प्रशसाभिधायि वा देशीपदमेतत् (लाढे त्ति) तत्र चैकोऽसहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादि, स चैको रागादिवैकल्याद् अभिभूय निर्जित्य परीषहान् । क्व पुनश्चरेत् ? इत्याह-

ग्रामे चोक्तरूपे, नगरे वा करविरहितसन्निवेशे, अपि पूरणे, निगमे वा वणिग्निवासे, राजधान्यां वा प्रसिद्धायामुभयत्र वा- शब्दानुवृत्तेः, मडम्बाद्युपलक्षण चैतत्, आग्रहाभावं चानेना- हेति सूत्रार्थः ।

पुनः प्रकृतमेवाह-

असमाणो चरे भिक्खू, नेय कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिकेओ परिव्वए ॥

न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्च्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु चानियतविहारादित्वेनासमानोऽसदृशो, यद्वा-समान साहङ्कारो, न तथेत्यसमान । अथ वा-"समाणो त्ति" प्राकृतत्वादसन्निवासन् यत्राऽऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति हृदयम्। सन्निहितो हि सर्व. स्वाश्रयस्योदन्तमावहत्यय तु न तथेत्येवंविध. सन्नप्रतिबद्धविहारितया विहरेद् भिक्षुर्यति । कथमेतत् स्यादित्याह-नैव कुर्यात्परिग्रहं ग्रामादिषु ममत्वबुद्ध्यात्मकम्, अत्राह च-"गामे कुले वा नगरे व देसे, मम ति भावं न कहिंचि कुज्जा।" इति । इदमपि यथा स्यात्तथाऽऽह-असंसक्तोऽसंबद्धो गृहस्थैर्गृहिभिरनिकेतोऽविद्यमानगृहो नैकत्र बद्धास्पद परिव्रजेत्, सर्वतो विहरेत्, न नियतदेशादौ, गृहिसंपर्के एकत्र बद्धास्पदत्वे, नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादपि ममत्वबुद्धिः, तदभावे तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः ।

अत्र च शिष्यद्वारमनुसरन् " असमाणो चरे "
इत्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह-

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो सीसो य हिंडतो तस्स ।
उवहरइ धाइ पिंडं, अंगुलिजलणा य सा दिव्वं ॥

उत्त० नि० १ खण्ड ।

(कोल्लइरे) ' कोल्लइर ' नाम्नि नगरे वास्तव्य', आचार्य इति शेष' । दत्त शिष्यश्च हिण्डक., तस्य उपहरति धात्री पिण्डम्, अङ्गुलिज्वलनाच्च सा देव्यमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवगन्तव्यः । स चायम्-कोल्लागपुरे सङ्गमस्थविरा बहुश्रुता यथास्थितोत्सर्गापवादनिपुणा' दुर्भिक्षे गण देशान्तरे प्रेष्य स्वय नगर नवभागीकृत्य व्यवस्थिता. नगरदेवता च तेषा गुणै रञ्जिता, अन्यदा तत्र गुरुवन्दनार्थं दत्तनामा शिष्यः समायात., तद्भक्त्यर्थं गुरव. सपात्र त सार्धं लात्वा भिक्षायां गता', एकस्येभ्यस्य भद्रप्रकृतेर्गृहे बालो व्यन्तरेण गृहीत सदा रोदिति, उपायशतसहस्रकरणेऽपि व्यन्तरदोषोपशान्तिर्न जाता, गुरवस्तद्गृहे गता., चप्पुटिकाकरणपूर्वं मा रुद बालेत्युक्तम्, आचार्यतपस्तेजसा व्यन्तरो नष्ट', तुष्टास्तन्मातृपितृप्रभृतिस्वजनास्तेभ्यो मोदकादिकमाहार गाढाऽऽग्रहेण दत्तवन्तः, ते मोदकास्तस्यैव शिष्यस्य गुरुभिर्दत्ता., स्वय तु अन्तप्रान्तमाहार विहृत्य भुक्तवन्तः, प्रतिक्रमणाऽवसरे तस्य शिष्यस्य पिण्डदोषमालोचयेति गुरुभिरुक्तम् । शिष्य. चिन्तयति-असौ धात्रीपिण्ड सदा भुङ्क्ते मम त्वेव कथयतीति चिन्तनसमये एव तद्भावनार्थं देवतयाऽन्धकार विकुर्वित, स भृशं बिभेति । गुरु प्रति वक्ति-अहमत्र दूरस्थो बिभेमि, गुरव प्राहु -एहि मत्समीपे । स वक्ति-अस्मिन् घोरान्धकारे नाहमागन्तु शक्नोमि । गुरुभि' थूत्कृताभिसा स्वाङ्गुली दर्शिता, तदुद्योतेन सोऽत्रायात , पर चिन्तयति-गुरवो दीपक रक्षयन्ति, एव चिन्तयन्नेवासौ देवतया चपेटाभिस्तर्जितः । ज्ञातस्वरूपैर्गुरुभिस्तस्य क्षेत्रनवभागीकरणादिक स्वस्वरूप प्रकाशितम् । यथा सङ्गमस्थविरैर्विहारक्रमापरपर्यायचर्यापरीषहोऽध्यासित , तथा ग्लानत्वाऽवस्थायामपि क्षेत्रनवभागीकरणेनाऽपि चर्यापरीषहोऽन्यैरध्यासितव्यः । उत्त० २ अ० । ('परीसह' शब्देऽन्यद् द्रष्टव्यम्)

चरियापरीसहविजय-चर्यापरीषहविजय-पुं० । अधिगतबन्धमोक्षतत्त्वस्य पवनवन्नि सङ्गतामादधानस्य देशकालप्रमाणोपेतसंयमविरोधिमार्गगमन प्रति मासकल्पमागमानुसारेण चर्यामाचरत परुषशर्कराकण्टकादिवेधजातचरणखेदस्यापि सतः पूर्वसेवितयानवाहनादिगमनास्मरणे, प० स० ४ द्वार ।

चरियापविट्ठ-चरिकाप्रविष्ट-त्रि० । अभिनिचारिकानिमित्त व्रजिकादिषु प्रविष्टे, (व्य०)

बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिणिचारियं चारए, णो एहं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयतो अभिनिचारियं चारए० जाव एहं थेरे आपुच्छित्ता एगयतो अभिणिचारियं चारए, से अंतरा छेए वा परिहारे वा ॥ १८ ॥ व्य० सू० ।

बहवस्त्रिप्रभृतिका. साधर्मिका. साम्भोगिकाः, इच्छेयुरेकतः सहिता इत्यर्थः । अभिनिचारिका'-आभिमुख्येन नियता चरिका सूत्रोपदेशेन बहुवर्जिकासु दुर्बलानामप्यायनिमित्त पूर्वाह्ने काले समुत्कृष्ट समुदान लब्धुं गमन अभिनिचारिका, तां, चरितु समाचरितु, कर्तुमित्यर्थ' । एवमेतेषामिच्छतां कल्पते नो " एह ' इति वाक्यालङ्कारे, स्थविरान् आचार्याननापृच्छ्य एकत' सहतानामभिनिचारिकां चरितु, यदि पुन' स्थविरान् अनापृच्छ्य व्रजन्ति तत प्रायश्चित्तं मासलघु, स्वच्छन्दचारित्वात् । यावद्ग्रहणादेव परिपूर्णपाठो द्रष्टव्य - " कप्पति एह थेरे आपुच्छित्ता एगतो अभिनिचारियं चारए, थेरा य से वियरेज्ज,एव एह कप्पइ एगतो अभिनिचारियं चारए, थेरा य से नो वियरेज्जा एव एह नो कप्पइ एगतो अभिनिचारियं चारए, ज तत्थ थेरेहिं अवितिण्णे एगतो अभिनिचारियं चरंति,से अतरा छेदे वा,परिहारे वा । " अस्य व्याख्या-यत एव स्वच्छन्दचारितायां मासलघु तस्मात् कल्पते "एह"इति पूर्ववत् स्थविरानापृच्छ्य एकतोऽभिनिचारिकां चरितुम्,आपृच्छायामपि कृताया यदि स्थविरा वितरेयुरनुजानीयु', ' एव एह" इति प्राग्वत् । कल्पते अभिनिचारिकां चरितु,स्थविराश्च न वितरेयुर्नानुजानीयु प्रत्यपाय पश्यन्त , प्रयोजनाभावतो वा, ततो न कल्पते एकतोऽभिनिचारिका चरितु,यत्पुनस्तत्र स्थविरैरवितीर्णेऽननुज्ञाते एकतोऽभिनिचारिका चरन्ति, तस्मिन्स 'से' तेषां प्रत्येकमन्तरात्, अन्तर नाम तस्मात्स्थानादप्रतिक्रमण तस्मात् छेद', परिहारो वा, उपलक्षणमतदन्यद्वा तपः प्रायश्चित्तमिति । व्य० ४ उ० ।

चरियापविट्ठे भिक्खू०जाव चउराया पंचरायातो थेरा पासेज्जा,से चेव आलोयणा,से चेव पडिक्कमणा, से चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठति ० जाव ०
"चरियापविट्ठे भिक्खू"

दिषु प्रविष्टास्तेषामेकतम परिगृह्येदमुच्यते-चरिकाप्रविष्टो भिक्षुर्यावत्परिमाणावधारणे । ततोऽयमर्थ -एकरात्र द्विरात्र त्रिरात्र चतूरात्र पञ्चरात्र यावत् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति द्वितीय तृतीयमपि पञ्चाह यावदिति द्रष्टव्यम्, स्थविरान् पश्येत् । कुत्र पश्येदिति चेत् ?, उच्यते-अभिनिचारिका गन्तुमुत्कलोऽपि तेनाचार्येण यत्र सदेशको दत्तः, तत्स्थविरैः सह मिलितानां सैवालोचना तिष्ठति, या अन्यस्मात् गणादागतेनोपसम्पद्यमानेन वितीर्णा, तदेव च प्रतिक्रमण, यदवसन्नादागत्य तस्मिन् गच्छे उपसम्पन्नेन तस्मात् स्थानात्प्रतिक्रान्त, सैव चावग्रहणस्य पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति, या अन्यस्मात् गणादागतेनोपसम्पद्यमानेन साधर्मिकावग्रहस्यानुज्ञापना कृता यथालान्दम । अपिशब्दोऽत्र सम्भावने,न केवल यथाकाल, किन्तु चिरमपि यथाकाल यावत् ततो गच्छात्तस्य भावो न विपरिणमति, तावदवग्रहः, अवग्रहस्य सैव पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति । एतच्चान्तर्दीपकमतो यथालन्दमप्यालोचना प्रतिक्रमण च द्रष्टव्यम् । व्य० ४ उ० ।

चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउराया पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,पुणो आलोएज्जा,पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो य परिहारस्स उवट्ठाएज्जा, भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोचं पि उग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया,कप्पइ से एवं वदित्तए अणुजाणह भंते ! मितोग्गहं अहालंदं धुवं णियतं णेच्छइयं विउट्टियं ततो पच्छा कायसंफासं, एवं नियट्टे वि दो गमा ॥२०॥

चरिकां प्रविष्टो भिक्षुः पर चतूरात्राद्या। अत्रापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिस्तत इद द्रष्टव्यम-यदि तस्य भावो विपरिणतो यथा कोऽत्र स्थास्यति इति, ततश्चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा आरतः परतो वा स्थविरान् पश्येत,पुनरपि च तस्य भावो जातो-यथा तिष्ठाम्यत्र तत्रैवोपसम्पदा,'तथा प्रथमोपसम्पदीव पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत, पुनश्छेदस्य परिहारस्य वा उपतिष्ठेत । किमुक्त भवति-विपरिणते अविपरिणते वा भावे यत् किञ्चित् आपन्न प्रायश्चित्तस्थान तस्मिन् आलोचिते य आचार्येण छेदः परिहारो वा निर्दिष्टस्तस्य भस्यकृश्चश्लायत्तस्य कारणार्थमभ्युत्तिष्ठेत. भिक्षुरुपपातस्य आज्ञाया अर्थाय,पाठान्तर-भिक्षुभावस्य भिक्षुत्वस्यार्थाय, मे यथावस्थित भिक्षुत्व भूयादित्येवमर्थः द्वितीयमपि वारमवग्रहोऽनुज्ञातव्यः स्यात् । कथमित्याह-अनुजानीत भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् मितमवग्रह, अवग्रहग्रहण गमनादीनामुपलक्षण, मित गमनं मितमवस्थान मित स्थाननिषीदनत्वग्वर्तनादि अनुजानीत,यथालन्द यथाकाल ध्रुव यदवश्य कर्त्तव्य नियत यावन्नावधावामि तावदवश्यमहापनीय, नियत यावत्सहायान्न लभे तावदवश्यमनुष्ठेयम्, तथा व्यावृत्तम् । किमुक्त भवति-व्यावृत्य यद्बहुधा उपपातप्रतिच्छन्न तत् अनुजानीत,ततो गुरुणा अभ्युपगते कायस्य क्रमयुगलक्षणस्य शिरसा सस्पर्श करोति । अथवा-कृतिकर्म्मादिष्वागमने निर्गमने च य. कायसस्पर्शस्तमप्यनुजानीत,"एव नियट्टे वि दो गमा' इति । एवमनुना प्रकारेण यथा चरिकाप्रविष्टौ .. गमाबुक्तौ द्वे सूत्रे अभिहिते, तथा चरिकानिवृत्तेऽपि द्वौ गमौ वक्तव्यौ । तौ चैवम्—

चरियानियट्टे भिक्खू० जाव चउरायपंचरायातो थेरे पासेज्जा, स चेव आलोयणा, स चेव पडिक्कमणा, स चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठति अहालंदमवि उग्गहे ॥ चरियानियट्टे भिक्खू परं चउरायपंचरायातो थेरे पासेज्जा पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयस्स परिहारस्स वा उवट्ठाएज्ज,भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि उग्गहे अणुएणवेयव्वे सिया, अनुजाणह भंते ! मितोग्गहं अहालंदं धुवं निययं निच्छइयं विउट्टियं ततो पच्छा कायसंफासमिति ॥

अस्य च सूत्रद्वयस्याप्यर्थः स एव यश्चरिकाप्रविष्टसूत्रद्वयस्य, यद्येव किमर्थमनयोरुपादान, चरिकाप्रविष्टसूत्राभ्यामेव गतार्थत्वात् । तथाहि-यैव चरिकाप्रविष्टानां सामाचारी सैव चरिकातो निवृत्तानामपीति । सत्यमेतत् , केवलमनुच्चारिते निवृत्तसूत्रद्वये यैव चरिकाप्रविष्टानां सामाचारी सैव चरिकातो निवृत्तानामपीति न लभ्यते, सूत्रेऽनुपात्तत्वात्, किं त्वन्यत्किमपि कल्पेत, नतः कल्पनान्तर मा भूदिति निवृत्तसूत्रद्वयमपि, सूत्रपञ्चकसङ्क्षेपार्थः ।

सम्प्रति भाष्यकृद्विषमपदविवरणं चिकीर्षुः प्रथमतो यच्चरिकाप्रविष्टसूत्रेऽभिहित " जाव चउरायपचरायतो थेरे पासेज्जा" इति तद्व्याख्यानार्थमाह-

पंचाहग्गहणं पुण, बलकरणं होइ पंचहिं दिणेहिं ।
एगदुगतिएणपणगा, आसज्ज बलं विजासाए ॥

सूत्रे " जाव चउरायपचरायाओ " इत्यत्र यत् पञ्चाहग्रहण पुनर्विशेषत. कृतमाचार्येण, पुन.शब्दो विशेषे, तत. पञ्चभिर्दिनैर्बलकरण भवतीति ज्ञापनार्थम् । उक्त च-"एगपणगऊमास,सट्ठीसुणमणुयगोणहत्थीण । " अथ पञ्चभिर्दिनै कथमपि बलं न भवतीति ततो द्वितीयमपि पञ्चाह यावत् । तथाचाह-एकद्वित्रिपञ्चकदिवसानां बलमाश्रित्य विषयाविकल्पेन एकं वा द्वौ वा त्रीन् वा यावदित्येवरूपेण, सूत्रे चैव पञ्चरात्रग्रहणमुपलक्षण व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरतो न भाष्यसूत्रयोर्विरोधः ।

संप्रति " स चेव आलोयणे " इत्यादिपदव्याख्यानार्थमाह—

उपसंपज्जमाणेन, जा दत्ताऽऽलोयणा पुरा ।
अवसन्नेहि आगम्म, पडिकंतो उ जावतो ॥
जा याणुण्णवणा पुव्वं, कया साहम्मिउग्गहे ।
संभावणाएं साऽलंद, जा भावो अणुवत्तती ॥

याऽन्यस्माद्गणादागतेनोपसद्यमानेनाऽऽलोचना पुरा दत्ता च तिष्ठति, यच्च पूर्वमवसन्नेभ्य आगत्य भावतः प्रतिक्रान्तस्तदेव प्रतिक्रमण तिष्ठति, या च पूर्वमन्यस्मात् गणादागतेन साधर्मिकावग्रहस्यानुज्ञापना कृता सैव तिष्ठति । " अहालंदमवि " इत्यत्र योऽपिशब्दः तस्यार्थः—सा च एषा न केवल तावन्त काल किं तु चिरमपि काल, यावज्जीवाऽधिकृतगच्छस्थायितयाऽनुवर्त्तते तावत् सैवावग्रहस्यानुज्ञापना तिष्ठति । यथालन्दमपि सैवालोचना, तदेव च प्रतिक्रमणमपि द्रष्टव्यम् । अधुना द्वितीये चरिकाप्रविष्टसूत्रे यदुक्तम-" पर चउरायपचरायातो " इत्यादि, तद्व्याख्यानार्थमाह-

परं परिणते भावे, परिभूतो उ सो पुणो ।
न चोवसंपयाए व, तत्थाऽऽलोए पडिक्कमे ॥

" पर चउरायपचरायातो " इत्यत्र परमिति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः । ततोऽयमर्थः-परिणते गच्छान्मया निष्क्रमितव्यमित्येव परिणते भावे, अत एव गच्छात्परिभूतः सन् चतूरात्रात्पञ्चरात्राद्वा परत आरतो वा स्थविरान् पश्येत्, भावश्च पुनर्गच्छावस्थायितया यदि प्रत्यावृत्तोऽजायत ततः स पुनर्भूयो न चोपसम्पदीव तत्प्रथमतयोपसम्पदीव तत्र तेषु स्थविरेषु पार्श्वे आलोचयेत्, प्रतिक्रामेच्च ।

जइ पुण किंचापण्णो, तस्स उ आलोइउं उवट्ठाति ।
विप्परिणयम्मि भावे, एमेव अविप्परिणयम्मि ॥

विपरिणते भावे यदि किञ्चित् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, तस्य प्रथमत आलोचयितुमालोचनां दातुमाचार्याणामुपतिष्ठते,एवमेव अविपरिणतेऽपि द्रष्टव्यम् । किमुक्तं भवति ?-अविपरिणतेऽपि भावे यदि किञ्चिदापन्नः प्रायश्चित्तस्थानं ततः सूत्राण्यालोचयति, स्वमाचार्याणामुपतिष्ठते, ततो विपरिणते अविपरिणते वा भावे प्रायश्चित्तस्थानापन्नावालोचितायामाचार्याः य छेदं परिहारं वा प्रयच्छन्ति । तस्य श्रद्धापूर्वकं कारणाया-भ्युत्तिष्ठति ।

" भिक्खुभावस्स अट्ठाए " इत्यत्र पाठान्तरम्-"भिक्खू उववायस्स अट्ठाए " इति । तत्रोपपातशब्द-
व्याख्यानार्थमाह-

उववाओ निद्देसो, आणा विणओ य होंति एगट्ठा ।
तस्सट्ठाए पुणरवि, मितोग्गहोवासगाऽणुण्णा ॥

उपपातो निर्देश आज्ञा विनय इत्येतानि भवन्त्येकार्थानि, ततोऽयमर्थः -भिक्षुस्तस्योपपातस्य आज्ञाया अर्थाय करणाय पुनरपि द्वितीयमपि वारं मितावग्रहानुज्ञा । किमुक्तं भवति ?-मिता चासावनुज्ञा, एतेन मितावग्रहपदव्याख्यानं कृतम् ।

मितावग्रहणं सूत्रे मितगमनादीनामुपलक्षणमतस्तदुप-
दर्शयति-

मितगमणचेट्ठणातो, मियजाव मियं च भोयणं भंते ! ।
मज्झ धुवं अणुजाणह, जा य धुवा गच्छमज्जाया ॥

मितं गमनं,प्रयोजनवशतः तस्य करणात् मितम् (चिट्ठण त्ति) अवस्थानं से तस्य यत् प्रवृत्ततया विश्रामनिमित्तं, तस्य कियत्कालं भावात्, मितं भाषितं, कार्ये समापतिते तस्यावष्टम्भावात्,मितं भोजनम्,एककुक्षिपूरणमात्रस्य भगवताऽनुज्ञानात् । भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! मम ध्रुवमनुजानीत, या च ध्रुवा गच्छमर्यादा,तामप्यनुजानीते,इह ध्रुवं नियतं नैत्यिकमिति त्रयोऽप्येकार्थाः, तथाऽप्यर्थभेदोऽस्ति, तत्र या ध्रुवा गच्छमर्यादेत्यनेन ध्रुवशब्दार्थो व्याख्यातो, ध्रुवमवश्यकरणीयमिति ।

सम्प्रति नियतनैत्यिकशब्दव्याख्यानार्थमाह-

निययं च न हाविस्सं, अहमवि ओहाणिया इ जा मेरा ।
निच्चं जाव सहाए, न लभामि इहावसे ताव ॥

यावदवधावनिका मर्यादा तावदहमपि नियतं न हापयिष्याम्यवश्यकरणीयम् । किमुक्तं भवति ?-नियतमवधावनमर्यादातोऽवश्यमहापनीयमिति । तथा नित्यमिति कोऽर्थः -यावत्सहायान् लभे तावदिहावसामीति, सहायलाभमर्यादाकमावसनं यावदवश्यमनुष्ठेयं , नित्यमित्यर्थः ।

अधुना " वेउट्टिय " इत्यस्य भावार्थं कथयति-

दिवसे दिवसे वेउ-ट्टिया उ पक्खे य वंदणादीसु ।
पट्ठवणमादिएसुं, उववायपडिच्छणा बहुधा ॥

दिवसे दिवसे, प्रतिदिवसमित्यर्थः । पक्षे पाक्षिकदिने, चशब्दाच्चातुर्मासिकदिने, सांवत्सरिकदिने च,वन्दनादिषु,आदिशब्दात् क्षामणकादिपरिग्रहः । तथा प्रस्थापनादिषु स्वाध्यायप्रस्थापनादिषु, अत्रादिशब्दात् उद्देशसमुद्देशादिपरिग्रहः । यद्बहुधा अनेकप्रकारमुपपातप्रतिच्छन्नं तदनुजानीत ।

सम्प्रति " कायसफास " इति व्याख्यानार्थमाह-

अब्भुवगए उ गुरुणा, सिरेण संफुसति तस्स कमजुयलं ।
कितिकम्ममादिएसु य, निंतमनिंते य जे फासा ॥

अनुज्ञापनायां कृतायां गुरुणाऽभ्युपगते हृष्टः सन् तस्य गुरोः क्रमयुगलमात्मीयेन शिरसा संस्पृशति, प्रणमतीत्यर्थः । तदेव तत पश्चात्कायसंस्पर्शं कुरुते इति व्याख्येयम् । अथवाऽयमर्थः-ततः पश्चात्कायसंस्पर्शमनुज्ञापयति । तथा चाह-कृतिकर्मादिषु, कृतिकर्म वन्दनकं, विश्रामणादिकं वा, आदिशब्दात्क्षामणादिपरिग्रहः, तेषु कर्त्तव्येष्वागच्छति गच्छति वा ये स्पर्शाः कायस्पर्शाः, तान् अनुजानीतेति वाक्यशेषः ।

सम्प्रति यत्पाठान्तर"भिक्खुभावस्सेति" तद्व्याख्यानार्थमाह-

भिक्खूभावो सारण-वारणपडिचोयणा जहा पुव्विं ।
तह चेव इयाणिं पी, निज्जुत्ती सुत्तफासे-सा ॥

भिक्षुभावो नाम सारणा, वारणा, प्रतिचोदना । अत्र प्रतिचोदनाग्रहणं चोदनाया उपलक्षणं, तत्र विस्मृतेऽर्थे स्मारणा, अनाचारस्य प्रतिषेधनं वारणा, स्खलितस्य पुनः शिक्षणं चोदना, पुनः पुनः स्खलितस्य निष्ठुरं शिक्षापणं प्रतिचोदना । एताभिर्यथावस्थितो भिक्षुभावः उपजायते, ततः कारणे कार्योपचारादेता एव भिक्षुभाव इत्युक्तं तद्दर्शयति । किमुक्तं भवति ?-यथा पूर्वमेताः सारणादय आसीरन् तथा इदानीमपि स्युरित्येवमर्थः, तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता, साम्प्रतमेषा वक्ष्यमाणा सूत्रस्य स्पर्शिका निर्युक्तिः ।

तामेव प्रथमसाधर्मिकसूत्रविषयामाह-

आकिण्णो सो गच्छो, सुहदुक्खपडिच्छएहिँ सीसेहिं ।
दुव्वलखमगगिलाणे, निग्गमसदेसकहणे य ॥

यहव साधर्मिका इच्छेयुरेकतो अभिनिचारिकां चरितुमित्युक्तम् । तत्र पर आह-केन कारणेन तेषां निर्गमेच्छा ? । निर्युक्तिकृदाह-सुखदुःखप्रतीच्छिकैः सुखदुःखार्थमुपसम्पन्नैः प्रतीच्छिकैः शिष्यैश्च स गच्छ आकीर्णः समाकुलः, आकीर्णत्वेन च स नगरे स्थितोऽन्यत्र स्थितानामेषणीयभक्तपानामभवात्, तत्र च तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षावेला, चिरं च हिण्डितव्यं, धान्याम्लकाराादिकं च तत्र भैक्षं, ततः केचित्साधवो दुर्बला जाताः, क्षपका अपि पारणके प्रायोग्यालाभतो दुर्बला अभवन् , ग्लाना अप्यधुनोत्थिताः सीदन्ति,एतैः कारणैर्निर्गन्तुमिच्छन्ति । दृष्ट्वा चाचार्यं पृच्छन्ति, ते चाचार्येण तान् दुर्बलान् ज्ञात्वा मुत्कलनीयाः,ये पुनर्निष्कारणं गन्तुकामा आपृच्छन्ति ते न मुत्कलनीया , ये चानुज्ञाता व्रजन्तीति तेषामाचार्यः संदेशं कथयति ।

कथमित्याह-

अहमवि एहामो वा, अम्मत्थ इहेव मं मिलिज्जाह ।
अतिदुब्बले य नाउं, विसज्जणा नत्थि इतरेसिं ॥

यत्र यूयं गमिष्यथ अहमपि इतः स्थानात् तत्र एष्यामि आगमिष्यामि । अथवा-अन्यत्र मम सकाशे आगन्तव्यम्, यदि वा-अत्रैव मां यूयं मिलेयुर्यथा वा यैः संदिश्यते तथा तैः कर्त्तव्यम्, आचार्येणाप्यतिदुर्बलान् तान् ज्ञात्वा तेषां विसर्जना मुत्कलेन कर्त्तव्या, इतरेषां निष्कारणं गन्तुमनसां विसर्जना नास्ति । एतेन वितरणमवितरणं च सूत्रोपात्तं व्याख्यातम् ।

तं चेव पुव्वभणियं, आपुच्छणे मास दोच्चऽणापुच्छा ।
उवओगे तहिं सुणणा, साहूसण्णीगिहत्थेसु ॥

यदि निर्गन्तुमनसोऽनापृच्छया व्रजन्ति तदा प्रायश्चित्तं मासलघु, पृच्छायामपि कृतायां यदेव पूर्वभणितं तदेवाधिकृत्य गमनकाले द्वितीयं वारमापृच्छा कर्त्तव्या । यदि पुनर्द्वितीयं वारं नापृच्छन्ति तदाऽपि प्रायश्चित्तं मासलघु, किं कारणं द्वितीयमपि वारमापृच्छा कर्त्तव्येति चेत्?,अत आह-"उवओगे" इत्यादि। यदा पूर्वमापृष्टं तदाऽऽचार्योऽनुपयुक्त आसीत, पश्चादुपयुक्तो जातः, उपयुक्तेन च तत्राशिवादयो दोषा ज्ञाताः । अथवा-(सुणण त्ति) पश्चादाचार्येण विचारादिनिमित्तं बहिर्निर्गतेन श्रुतं, यथा-तत्र बहवो दोषा इति, यदि वा साधुना केनापि संज्ञिना श्रावकेण गृहस्थेन वा,केन वा मिथ्यादृष्टिना भद्रकेण कथितमाचार्याणाम्, यथा-तत्र बहवो दोषा इति, तस्मात् द्वितीयवारमवश्यं प्रष्टव्यं, पृच्छायां च कृतायां यद्यपि तत्र न केचनापि दोषा आचार्येण विज्ञातास्तथाऽपि तत्र क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः पूर्वं प्रेषणीयाः ।

तथा चाह—

नाऊण य निग्गमणं, पडिलेहण सुलभ दुल्लभं भिक्खं ।
जे अ गुणा आपुच्छा, जे वि य दोसा अणापुच्छा ॥

तेषां साधूनां निर्गमनं ज्ञात्वाऽऽचार्येण साधुभिस्तस्य क्षेत्रस्य प्रतिलेखनं कारयितव्यं, येन सुलभं दुर्लभं वा भैक्षं ज्ञायते । किं च ये गुणा द्वितीयवारमापृच्छायां भवन्ति ते प्रतिलेखनेऽपि द्रष्टव्याः, येऽपि च दोषा द्वितीयवारमनापृच्छायां, ते दोषा अप्रत्युपेक्षणेऽपि ।

के ते ?, इत्याह—

पच्चंत सावयाइं, तेणा दुब्भिक्ख तावसीतो य ।
नियगपविट्ठुद्धाणा, फग्गुडणा हरियपण्णी य ॥

प्रत्यन्ता सीमावर्त्तिनो म्लेच्छा लोकानामुपप्लवोत्पादनायोत्थिता वर्त्तन्ते, श्वापदानि व्याघ्रादीन्यपान्तराले सन्ति, स्तेना वा शरीरापहारिण उपध्यपहारिणो वा समन्ततः उत्थिताः, दुर्भिक्षं वा तत्र जातं, तापस्यो वा प्रचुरास्तत्र भूयस्यो ब्रह्मचर्योपद्रवाय प्रभवन्ति, निजका वा अभिनवप्रव्रजितं साधुमुत्प्रव्राजयेयुः, प्रविष्टो वा तत्र कश्चिदुपस्थितः, (उद्धाण त्ति) उद्धसितो वा स कदाचित् दोषो भवेत् (फग्गुडण त्ति) तत्र या वसतिः प्रागासीत् सा केनचिदपनीता स्यात्, (हरितपन्नी य त्ति) तत्र दुर्भिक्षप्रायमतः शाकादिहरितं बाहुल्येन भक्ष्यते, तच्च साधूनामकल्पम् । अथवा-" हरितपर्णी ति " नाम-तत्र देशे केषुचित् गृहेषु राज्ञा दण्डं दत्त्वा देवतायै बल्यर्थं पुरुषो मार्यते, स च प्रव्रजितादिर्जितप्रविष्टः सन् " तत्र गृहस्योपरि आर्द्रवृक्षशाखाचिह्नं क्रियते, " तत्रागृहीतसंकेतो विनश्यतीति ।

संप्रति चरिकाप्रविष्टादिसूत्राणां चतुर्णामपि सामान्यतो निर्युक्तिमाह-

अण्णत्थ तत्थ विप्परि-णते य गेलण्णे होइ चउभंगो ।
फिडियागतागतेसु य, पुण्णा-पुण्णेसु वा दोसं ॥

अन्यत्र चरिकाप्रवेशे तत्र चरिकातो निवृत्तौ विपरिणते विपरिणामे जाते यदाऽऽभवति यच्च न भवति, तेषां तद्वक्तव्यमिति शेषः। तथा ग्लान्ये ग्लानत्वे भवति चतुर्भङ्गी, तस्यां च चतुर्भङ्ग्यामगवेषणादौ यदाऽऽभवति प्रायश्चित्तं, तद्वाच्यमित्युपस्कारः । तथा स्फिटिता त्रिपरिणता, तेषां गतागतेषु आचार्यस्य समीपमागता इत्येवंरूपेषु यावत्तं कालमधिकृताः, तस्मिन् अपूर्णे पूर्णे वा यदि द्वितीयमपि वारम् अवग्रहमनुज्ञापयति ततो यद्विपरिणतैर्लब्धं तदाचार्यो न लभते, किं तु यदा तेषां तथारूपं चित्तमजायत, यथा-द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञापयामः, ततःप्रभृति यल्लब्धं तदाचार्यस्याऽऽभवति । एष गाथार्थः ।

साम्प्रतमन्यत्र तत्र वा विपरिणते यत् आभाव्यं तदुपदर्शयति-

अवरोपरस्स निस्सं, जइ खलु सुहदुक्खिया करेज्जाहि ।
ओहव्वंतर सेहं, लभति गुरू पुणो न लभई य ॥

यदि चरिकाप्रविष्टा यदि चरिकातो निवृत्ता विपरिणामे किमस्माकमाचार्येण वयमेव परस्परं सुखदुःखनिश्रां कुर्म इत्येवंरूपे जाते अपरस्परस्य परस्परं सुखदुःखितां खलु निश्रां कुर्युः, तदा यावानवधिः कृतस्तस्याभ्यन्तरे तस्मिन्नपूर्णे पूर्णे वा यत् शैक्षं, शैक्षग्रहणमुपलक्षणं शैक्षप्रभृतिकं, सचित्तादिकमुत्पादयन्ति तत्तेषामेव भवति,गुरुराचार्यः पुनर्न लभते,चशब्दस्सूचितमर्थं " इट्टेण " इत्यादिना व्याख्यास्यति । तदेव तत्रान्यत्र विपरिणते इति भावितम् ।

इदानीं " गेलण्णे होइ चउभंगो " इति भावयति-

गेलण्णे चउभंगो, तेसिं अहवा वि होज्ज आयरिए ।
दोण्हं पी होज्जाही, अहव न होज्जाहि दोण्हं पि ॥

ग्लान्ये ग्लानत्वे चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा-तेषां विपरिणतानां ग्लानो, नाचार्यस्य इति प्रथमो भङ्गः । अथवा-आचार्ये आचार्यस्य भवति ग्लानो, न तेषामिति द्वितीयः। "दोण्ह पि होज्जाहीति" द्वयानां विपरिणतानामाचार्यस्य भवति ग्लान इति तृतीयः । अथ द्वयानामपि न भवति ग्लान इति चतुर्थः ।

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह--

आयरिए अपेसेंते, लहुओ अकरेंते चउ गुरू होंति ।
परितावणादिदोसा, तेसिं अप्पेसणे एवं ॥

प्रथमभङ्गे तेषां ग्लानो नाचार्यस्येत्येवंरूपे,यद्याचार्यो गवेषणया न कमपि साधुसंघाटं प्रेषयति प्रायश्चित्तं लघुको मासः । अथ प्रेषणे कृते तैर्वा कथिते यदि ग्लानकृत्यं न किमपि करोति तदा तस्मिन्नकुर्वति चत्वारो गुरुका भवन्ति । येऽपि चानागाढपरितापनादयो दोषास्तन्निमित्तमपि च गुरुलघ्वादि चरमपर्यन्तं तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते । द्वितीये भङ्गे आचार्यस्य ग्लानो, न तेषामित्येवंरूपे, तैरपि ग्लानस्य गवेषणाय साधुप्रेषणा-

दि कर्त्तव्यम्, यदि पुनर्न कुर्वन्ति तदा तेषामप्यप्रेषणे, उपलक्षणमेतदकरणेन एवमुक्तप्रकारेण प्रायश्चित्तमवसातव्यम्। तथाहि-यदि ते गवेषणाय साधुसंघाटं न प्रेषयन्ति तदा मासलघु, अथ कृतेऽपि प्रेषणे आचार्येण वा ज्ञापिते यदि ग्लानकृत्यं न कुर्वन्ति तदा चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम्।

अहवा दोण्ह वि हुज्जा, संथरमाणेहि तह वि गवेसणया ।
तं चेव य पच्छित्तं, असंथरंता भवे सुद्धा ॥

अथवा द्वयानामपि आचार्यस्य तेषां च, प्रत्येकं ग्लानो भवेत्, तथाऽपि यदि संस्तरन्ति ततः संस्तरद्भिः परस्परं ग्लानस्य गवेषणा कर्त्तव्या। अथ न कुर्वन्ति तदा तदेव प्रायश्चित्तं यदनन्तरमुक्तम्। तथाहि-परस्परमप्रेषणे मासलघु, ग्लानकृत्याकरणे चतुर्गुरुकम्। अथ द्वयेऽपि प्रत्येकं न संस्तरन्ति, द्वयानामपि च प्रत्येकं ग्लानस्तत आह-असंस्तरतो गवेषणामकुर्वन्तोऽपि भवन्ति शुद्धा न प्रायश्चित्तविषयाः।

सम्प्रति " गुरुपुण्णेण लभते च " इत्यत्र चशब्दसूचितमर्थमुपदर्शयति-

हट्ठेणं न गविट्ठा, अतरंतो ण ते य विप्परिणयाओ ।
तत्थ वि न लहइ सेहे, लब्भइ य कज्जे विपरिणया वि ॥

ते सुखदुःखोपसम्पन्नकाश्चरिकागता अतरन्तो यदि कथमप्याचार्येण हृष्टेन नीरोगेण, प्रयोजनान्तराव्याकुलितेन च सता न गवेषिताः, अतरन्तो न च ते विपरिणताः-यथा वयमतरन्तो वर्तामहे तथाऽप्याचार्येण न गवेषितास्ततः किमस्माकमाचार्येणेति, तथापि हृष्टेनागवेषणेऽपि, आस्तां परस्परनिश्रायामित्यपिशब्दार्थः, न लभते गुरुः शैक्षान्, किमुक्तं भवति-ते तथा विपरिणताः सन्तो यत्सचित्तादिकमुत्पादयन्ति तदाचार्यो न लभते। अथ कार्ये कस्मिन्नपि व्याकुलीभवनेन आचार्येण तेऽतरन्तो न गवेषितास्तर्हि यद्यपि ते विपरिणता अपि यत्ते सचित्तादिकमुत्पादयन्ति, तत्ते न लभन्ते, किं तु लभते आचार्यः।

लद्धुं अविप्परिणते, कहिंति नावम्मि विप्परियणाम्मि ।
इति मायाए गुरुओ, सच्चित्तादेसगुरुया वा ॥

यदि अविपरिणते भावे सचित्तादि लब्ध्वा विपरिणम्य कथयन्ति-इदं विपरिणते भावेऽस्माभिर्लब्धमिति तदा 'मायाए' उपसंपद् लोपयन्तीति मायानिष्पन्नं प्रायश्चित्तं गुरुको मासः। अचित्ते समुत्पादिते तत्प्रत्ययमुपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं, सचित्ते समुत्पादिते तत्प्रत्ययं चतुर्गुरुकमादेशान्तरेण प्रायश्चित्तमनवस्थाप्यम्। तथा आचार्यो निष्कारणं यदि तान् गवेषयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु।

सुहदुक्खिया गविट्ठा, सो चेव य उग्गहो य सीसा य ।
विप्परिणमंतु मा वा, अगविट्ठेसुं तु सो न लभे ॥

ते सुखदुःखिनाः सुखदुःखोपसम्पन्नका आचार्येण गवेषिताः, स एवावग्रहो वर्त्तते, अद्यापि विपरिणामाकथनात्, ते शिष्याः यदि विपरिणमन्तु यदि वा मा विपरिणमन्तु तथापि यत्तैरुत्पादितं सचित्तादि तदाचार्यो लभते, न पुनस्तत्तेषामिति। अथ न गवेषिता आचार्येण विपरिणताश्च ते ज्ञातास्ततस्तैरगवेषितैर्विपरिणतैश्च यल्लब्धं सचित्तादि तत्स आचार्यो न लभते, किं तु तत्तेषामेव।

विप्परिणयम्मि भावे, लद्धं अम्हेहिं बेंति जइ पुट्ठा।
पच्छा पुणो वि जातो, लभंति दोच्चं अणुण्णवणा ॥

यदि पुनस्ते पृष्टाः सन्तो ब्रुवते-एतद्विपरिणते भावेऽस्माभिर्लब्धं तत्तेषामेव, नाचार्यस्य, अथ पश्चात्पुनरपि भावो जातो द्वितीयमपि वारमवग्रहस्यानुज्ञापना कर्त्तव्या, तदा तथारूपाद्भावात् ज्ञानादारतो यत्ते लभन्ते तदाऽऽचार्यस्य भवति, न तेषामिति।

आगयमणागयाणं, उउबद्धे सो विही उ जो भणितो।
अद्धाण सीसगम्मि वि, एस विही पट्ठिएँ विदेसं ॥

य एषोऽनन्तरमुक्तो विधिः स एव ऋतुबद्धे काले आगतानां चरिकातो निवृत्तानामनागतानां चरिकाप्रविष्टानामवसेयः। एष पुनर्वक्ष्यमाणो विधिर्विदेशं प्रस्थिते, उपलक्षणमेतत् स्वदेशेऽपि दूरं गन्तुकामे अध्वशीर्षके ग्रामे स्थिते वेदितव्यः।

तमेवाह-

सत्थेणं सालंबं, गयागयाण इह मग्गणा होइ।
तत्थऽन्नत्थ गिलाणे, लहु गुरु लहुगा चरिम जाव।

सार्थेन सह विदेशेऽपि वा दूरं गन्तुकामा सालम्बं गता यथा-यदि अध्वशीर्षके ग्रामे परतो गमनाय सार्थं लप्स्यामहे ततो यास्यामः, अथ न लप्स्यामः, उदन्तं च परस्परं वक्ष्यामः। एवं ये सार्थेन सहाध्वशीर्षके ग्रामे गता, ये च न गतास्तेषामिह आभवत्वनाभवति सचित्तादौ विषये मार्गणा वक्ष्यमाणा भवति, तथा तत्रान्यत्र च ग्लाने चतुर्भङ्गी भवति। तद्यथा-अन्यत्राध्वशीर्षके ग्रामे स्थितानां ग्लानो न तत्र१। आचार्यपार्श्वे न तेषामिति द्वितीयः। द्वयानामपि पार्श्वे ग्लान इति तृतीयः। न द्वयानामपीति चतुर्थः। तत्र यद्याचार्यस्तेषां गवेषणं न करोति मासलघु, अथ ज्ञाते ग्लाने तस्य कृत्यकरणाय न यत्नमाधत्ते ततश्चतुर्गुरुक, यच्चानागाढपरितापनादिनिमित्तं चतुर्लघ्वादि यावच्चरमं पाराञ्चितं तदपि प्राप्नोति। तदेव प्रथमभङ्गे प्रागभिहितमपि प्रायश्चित्तं विनेयजनानुग्रहाय भूय उक्तम्, एवं द्वितीये तृतीयेऽपि भङ्गे वाच्यम्।

सम्प्रत्याभवत्यनाभवति च सचित्तादौ विषये मार्गणां चिकीर्षुराह-

पुण्णे व अपुण्णे वा, विपरिणएसु जा हो अणुण्णवणा।
गुरुणा वि हु कायव्वा, संका लद्धे विपरिणते उ ॥

यतो विदेशेऽपि वा दूरं गन्तुकामाः सङ्केतं कृतवन्तो, यदि वयमेतावद्भिर्दिवसैर्न प्रत्यागच्छामस्तदा ज्ञातव्यं गता इति, अन्यथा नेति, तस्मिन्नवधौ पूर्णे अपूर्णे वा यदि ते विपरिणता जातास्ततः पुनरपि तैरवग्रहस्य द्वितीयं वारमनुज्ञापना कर्त्तव्या गुरुणाऽपि, या तेषु तथा विपरिणतेष्वनुज्ञापना भवति सा प्रतिपत्तव्या, यदि पुनरपूर्णेऽवधौ तेषां शैक्षः प्रत्युत्पन्नस्ततो जाता शङ्का, यद्यपूर्णेऽवधावेष समुत्पन्न इति कथयिष्यते तत्र आचार्यस्य भविष्यति, तस्मादाचार्यस्य मा भूदिति प्रत्यागतास्ते आलोचयन्ति, पूर्णे सङ्केतकाले लब्धोऽयमस्माभिः शैक्ष इति तदा तेषां प्रायश्चित्तं मासगुरु, तस्मात्सत्यभूतेन भावेनाऽऽलोचयितव्यम्, तथा पूर्णेऽवधौ शैक्षे लब्धे प्रत्यागत्य तथैवालोचयति, गुरुणाऽपि शङ्का न कर्त्तव्या, यथा अपरिपूर्णेऽप्यवधौ लब्धे शैक्षे शैक्षलोभेन विपरिणत इति सत्यभावेनालोचनात् तच्च परभावोपसम्पत्कैकदेशेन ज्ञातव्यमिति तदेवमुपसम्पन्नानां यद्वक्तव्यं तदुक्तम्।

इदानीमुपसपद्यमानानधिकृत्याह—

पारिच्छानिमित्तं वा, सब्भावेणं व वेति तु पडिच्छे ।
उवसंपज्जितुकामे, मज्झं तु अकारकं इहइं ।
अष्ठ गवेसह खेत्तं, पाउग्गं जं च होइ सव्वेसिं ।
बालगिलाणादीणं, सुहसंथरणं महगणस्स ॥

परीक्षानिमित्तं वा, सद्भावेन वा प्रतीच्छिकानुपसंपत्तुकामान् गुरुर्ब्रूते-आर्याः ! इहास्मिन् क्षेत्रे मम अकारकं भक्तपानादि, तस्मादन्यत् क्षेत्रं मम प्रायोग्यं यत्र भवति सर्वेषां वा ग्लानादीनां प्रायोग्यं यत्र महतो गणस्य सुखसंस्तरणं सुखेन निस्तारहेतुस्तत् गवेषयथ प्रतिलेखयथ ।

कयसज्झाया एते, पुव्वं गहियं पि णासते अम्हं ।
खेत्तस्स अपडिलेहा, अकारगा तो विसज्जेइ ॥

एवं संदिष्टाः सन्तो यदि ते भाषन्ते-एते युष्माकं शिष्याः कृतस्वाध्यायास्तस्मादेतान्प्रेषयथ, अस्माकं पुनः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गतानां पूर्वगृहीतमपि नश्यति । एवमुक्ता यदि ते क्षेत्रस्य प्रत्युपेक्षका अप्रत्युपेक्षका विनयवैयावृत्त्यादेरकारकाश्च ततस्तान्विसर्जयति ।

सव्वं करिस्सामो सससत्तिजुत्तं,
इच्चेवमिच्छंते पडिच्छिआणं ।
निव्वेसबुद्धीए न यावि भुंजे,
तं चागिली पूरति तेसि इच्छं ॥

ये पुनः संदिष्टाः सन्त एव ब्रुवते-यथा सर्वं स्वशक्तियुक्तं स्वशक्त्युचितं करिष्यामः, तान् एवमिच्छत प्रतीच्छेत् । प्रतीच्छ्य च तान्,न चापि नैव, निर्वेशबुद्ध्या-कर्म्म मया पुरा कृतमेवं वेदयितव्यमिति बुद्ध्या, भुङ्क्ते परिभोगं नयति, किं तु स्वपरयोर्निर्जराबुद्ध्या यया वेच्छया ते उपसंपद्यन्ते तां चेच्छां तेषामागिलया निर्जराबुद्ध्या पूरयति, न परोपरोधात् चित्तनिरोधेन। अथ तेषां प्रतीच्छिकानां कियन्तं कालं प्रतीच्छको भवति ?।

तत्राह—

निट्ठिय महल्ल भिक्खे, कारण उवसग्गऽगारिपडिबंधो ।
पढमचरिमाइ मोत्तुं, निग्गम सेसेसु ववहारो ॥

निष्ठितं नाम, येन कारणेनोपसंपन्नस्तत्र सूत्रार्थलक्षणं कारणं निष्ठितं समाप्तं ततो निर्गच्छति,(महल्ल त्ति) महती सूत्रमण्डली, भक्तमण्डली वा,तत्र सूत्रमण्डल्यां चिरेणालापक आगच्छति , भक्तमण्डल्यां महत्यां आगागत, तत्र यथा अन्ये साधवोऽभ्यासते तथा तेनाऽप्यभ्यासितव्यम, अनभ्यासितश्च निर्गच्छति,तथा दुर्लभं तत्र क्षेत्रे भैक्षं, तत्र यथाऽन्ये साधवो यापयन्ति तथा तेनापि प्रतीच्छितेन यापनीयं , यापनां चासहमानः कोऽपि निर्गच्छति, कारणमशिवादिकं, तस्मिन् समुत्पन्ने सर्वैरेव निर्गन्तव्यम् । उपसर्गा द्विविधाः-दंशमशकादयः,स्वजनादयश्च। तत्र दंशमशकादिषु सर्वैर्निर्गन्तव्यम्,स्वजनादिकृतेषु तूपसर्गेषु गच्छसाधवो निर्गच्छन्ति वा, न वा, प्रतीच्छितेन पुनरवश्यं निर्गन्तव्यम्, अगारीप्रतिबन्धो नाम-यत्रागार्या विषये आत्मपरोभयसमुत्था दोषास्तत्रावश्यं तेन निर्गन्तव्यम् , अत्र प्रथमं चरमं कारणं मुक्त्वा शेषेषु कारणेषु निर्गमं आभवद्व्यवहारश्च स यथा भवति तावद्वक्ष्ये ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह—

सम्मत्तम्मि निग्गमो, तस्स होति इच्छाए ।
मंडलि महल्ल भिक्खे, जइ अन्ने तह जावए ॥

यस्य श्रुतस्यार्थेनोपसंपन्नस्तस्मिन् समाप्ते श्रुते तस्य निर्गम इच्छया भवति, यदि प्रतिभासते तर्हि तिष्ठति नो चेन्निर्गच्छति । तथा महत्यां भक्तमण्डल्यां, दुर्लभे च भैक्ष्ये यथाऽन्ये साधवो यापयन्ति तथा सोऽपि यापयेत् । यापनां चासहमानः कोऽपि गच्छेत्, सूत्रमण्डल्यामपि चारणालापमागच्छन्तमनवेक्षमाणस्त्वरया कोऽपि निर्गच्छति ।

कारणे असिवादिम्मि, सव्वेसिं होइ निग्गमो ।
दंसमादी उवसग्गे, सव्वेसिं एवमेव उ ॥

अशिवादौ कारणे समुत्थिते सर्वेषां भवति निर्गमः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण दंशादिके दंशमशकादिके उपसर्गे समुपस्थिते सर्वेषां भवति निर्गमः ।

नीयल्लएहिं उवसग्गे, जइ गच्छंति नेतरे ।
निग्गच्छति ततो एगो, पडिबंधो वि जावतो ॥

निजकैरपि स्वजनैरप्युपसर्गे क्रियमाणे यदि इतरे गच्छसाधवो न गच्छन्ति ततः स एक एकाकी प्रतीच्छिको निर्गच्छति। यदि वा—भावतः स्वजनेषु महान्प्रतिबन्ध , ततो निर्गच्छति।

आयपरोभयदोसे-हिँ जत्थऽगारीएँ होज्ज पडिबंधो ।
तत्थ न संचिट्ठेज्जा, नियमेण उ निग्गमो तत्थ ॥

यत्रात्मपरोभयदोषैरगार्या उपरि भवेत् प्रतिबन्धस्तत्र न सतिष्ठेत । किन्तु नियमतस्तत्रेति प्राकृतत्वात्तस्मादित्यर्थे ।

तस्मात्स्थानान्निर्गमः ।

पढमचरिमेसुऽणुण्णा, निग्गम सेसेसु होइ ववहारो ।
पढमचरमाण निग्गमे, इमा उ जयणा तहिं होइ ।

प्रथमे चरमे च कारणे नियमेन निर्गमे अनुज्ञा भवति,शेषेषु तु कारणेष्वनाभोगतो निर्गमे भवत्याभवद्व्यवहारश्च, तत्र प्रथमचरमाणां प्रथमचरमकारणोपेतानां निर्गमे इयं वक्ष्यमाणा तत्र यतना भवति ।

तामेवाऽऽह—

सरमाणे उभए वा, काउस्सग्गं तु काउ वच्चेज्जा ।
पम्हुट्ठो दोण्ह वि ऊ, आसन्नातो नियट्टेज्जा ॥

प्रथमे चरमे च कारणे समुपजाते उभयस्मिन्नप्याचार्यें प्रतीच्छिके च विधिं स्मरति, द्विधा सप्रत्युपसपद्विनि ज्ञापनार्थं कायोत्सर्गं कृत्वा स प्रतीच्छिको व्रजेत । अथ प्रतीच्छिकस्य विस्मृत तत आचार्येण स्मारयितव्य, यथा कुरु छिन्नोपसपत्तिमित्त कायोत्सर्गमिति। अथाऽनाभोगतो द्वयोरपि (पम्हुट्ठमिति) एकान्तेन विस्मृत, ततो द्वयोरप्येकान्तेन विस्मृतावकृते कायोत्सर्गे सप्रस्थितो यथाऽऽसन्ने प्रदेशे स्मरति तत आसन्नात् प्रदेशान्निवर्तेत , निवृत्य च कायोत्सर्गो विधेय ।

दूरगएण उ सरिए, साहम्मि दट्ठु तस्सगासम्मि ।
काउस्सग्गं काउं, लद्धं जं तं च पेसेइ ॥

अथ दूरं गत्वा स्मृतवान् , ततो दूरगतेन स्मृते साधर्म्मिकं

दृष्ट्वा तस्य सकाशे समीपे कायोत्सर्गः करणीयः, सर्वोऽपि शेषो लाभः आचार्यस्य, यथा-तदानीं युष्मत्समीपे कायोत्सर्गकरणं विस्मृतमिदानीममुकस्य साधर्मिकस्य समीपे कृतः कायोत्सर्ग इति, कायोत्सर्गं च कृत्वा यदुत्पन्नं कायोत्सर्गे सचित्तादिकमुत्पन्नं तत्प्रेषयति ।

एयमनुग्गाए एसो, निग्गमणविही समासतो भणितो ।
एत्तो पडिच्छगाणं, ववहारविहिं तु वुच्छामि ॥

प्रथमचरमाणां प्रथमचरमकाल्पोपेतानामेष निर्गमनविधिः समासतो भणितः । इत ऊर्ध्वं प्रतीच्छकानां सप्रथमकाल्पोपेतानां व्यवहारविधिं प्रायश्चित्तव्यवहारविधिं च वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

सज्झायभूमि दोसंते, जोए उम्मासपाहुडे ।
सज्झायभूमि दुविहा, आगाढा चेवऽणागाढा ॥

स्वाध्यायभूमिं प्रविशन् सन् सामाचारीं वा व्यतिक्रामति तस्मिन् प्राप्ते व्यवहारः उच्यते । अथ स्वाध्यायभूमिरिति किमभिधीयते ?, उच्यते-प्राभृतं नाम पठितं, श्रुतस्कन्धः वा तस्मिन् ये योगाः सा स्वाध्यायभूमिः, सा चागाढयोगमधिकृत्योत्कर्षतः षण्मासा । एतदेव द्वैविध्येनाह-स्वाध्यायभूमिर्द्विविधा, योगो द्विविध इत्यर्थः । आगाढा अनागाढा च ।

जहण्णेण तिण्णि दिवसा, अणागाढम्मि होइ बारसओ ।
एसा दिट्ठीवाए, महकप्पसुयम्मि बारसमा ॥

अनागाढा स्वाध्यायभूमिर्जघन्येन त्रयो दिवसाः, यथा-नन्द्यादिकस्याऽध्ययनस्य, उत्कर्षतो भवति द्वादश वर्षाणि, यथा द्वादशवर्षप्रमाणा उत्कृष्टा स्वाध्यायभूमिर्दृष्टिवादे, साऽपि दुर्मेधसः संप्रतिपत्तव्या, प्राज्ञस्य तु स्वल्पं । उक्तं च-" अणागाढो जहन्नेण तिन्नि दिवसा, उक्कोसेण वासा,जहा दिट्ठिवायस्स पारस वासाणि दुम्मेहस्सेति । " महाकल्पश्रुते द्वादश वर्षाण्युत्कृष्टा स्वाध्यायभूमिः ।

अथागमव्यवहारमाह-

संकंतो पढंतो, काउस्सग्गं तु तिम्मि उवसंपा ।
अकयम्मी उस्सग्गे, जा पढती तं सुयक्खंधं ॥

योगं वहन् गणान्तरमन्यत्र संक्रामन् त्वामुपसंपदिष्यामीति प्रतिपत्त्यर्थं कायोत्सर्गं कृत्वा व्रजेत् । अथ कथमपि तस्य विस्मृतं भवति, तत आचार्येण स्मारयितव्यः-यथा कुरु कायोत्सर्गम्, अथ द्वयोरपि विस्मरणतः सोऽकृतकायोत्सर्गो याति तर्हि यावत्सोऽन्यत्र गतोऽपि स श्रुतस्कन्धं पठति ।

ता लाभो उद्दिसणा-यरियस्स जइ वट्टइ वट्टमाणि से ।
अवट्टंतम्मि य लहुगा, एस विही होइ अणगाढे ॥

तावत् यत्किमपि स लभते सचित्तादिकं स समस्तोऽपि लाभ उद्देशनाचार्यस्य-येनोद्दिष्टः स श्रुतस्कन्धस्तस्य पूर्वाचार्यस्याऽऽभवति, केवलं यदि स पूर्वतन उद्देशनाचार्यः ' से ' तस्यान्यत्र गतस्य सतो वर्तमाना सारां वहति । अथ स तस्याकृतकायोत्सर्गस्य सतोऽन्यत्र गतस्य सारां न वहति ततस्तस्मिन् सारामवहत्युद्देशनाचार्ये प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, यच्च सचित्तादिकं स प्रतीच्छिको लभते तदपि तस्याऽऽभवति, एषोऽनन्तरोदितो विधिरनागाढे योगे ।

संप्रत्यागाढे विधिमभिधित्सुरिदमाह—

आगाढे वि जहण्णो, कप्पियऽकप्पादि तिण्णऽहोरत्ता ।
उक्कोसो छम्मासे, वियाहपण्णत्ति आगाढे ॥

आगाढोऽपि योगो जघन्यतस्त्रयोऽहोरात्राः, यथा कल्पिकाकल्पिकादेरुत्कर्षत आगाढ आगाढयोगः षण्मासान् यथा विवाहप्रज्ञप्तेः पञ्चमाङ्गस्य ।

अत्रागमव्यवहारमाह-

तत्थ वि काउस्सग्गं, आयरियाविसज्जियम्मि विण्णाओ ।
संसरयसंसरं वा, अकए लभंते तु सूरीए ॥

तत्राप्यागाढयोगे पूर्णे अपूर्णे वा आचार्येण यस्य सकाशे योगः प्रतिपन्नस्तेन सूरिणा विसर्जिते विसर्जने कृते त्वामुपसंपद्ये इति ज्ञापनार्थं संस्मरन् कायोत्सर्गं कुर्यात्, असंस्मरन् वा आचार्येण स्मारयितव्यः । तत्र भूमौ स्वाध्यायभूमावागाढे योगे अपरिपूर्णे आचार्येण विसर्जिते । कृते कायोत्सर्गे यदि व्रजति तर्हि स व्रजन् यत्किमपि लभते सचित्तादिकं तत्तस्यैवाऽऽभवति, नोद्देशनाचार्यस्य, अथाऽकृते कायोत्सर्गे व्रजति, तर्हि यावदन्यत्र गतोऽपि तं श्रुतस्कन्धं पठति, सारां चोद्देशनाचार्यस्तस्य करोति, तावद् यत् किमपि सचित्तादिकमुत्पादयति, तत्सर्वमुद्देशनाचार्यो लभते ।

पुनरितरः-

तीरिए अकए व गते, जा अन्नं न पढए उ ता पुरिमे ।
आसण्णाउ नियत्तउ, दूरगतो वा वि अप्पाहे ॥

तीरिते समाप्तिं नीते आगाढयोगे श्रुतस्कन्धे च भक्तिपुरस्सरमाचार्यादिक्रमणया तोषिते यदि कथमपि गमनवेलायामनाभोगतोऽकृते कायोत्सर्गे याति तर्हि स गतः सन् यावदन्यत् पठितुमारभ्यते तावद्यत्किमपि लभते तत्पूर्वस्याचार्यस्याभवति, न तस्य, तस्य चाऽस्मरणतोऽकृते कायोत्सर्गे गतस्यैव सामाचारी, यदि आसन्ने प्रदेशे गत्वा स्मृतं तत आगत्य निवर्तते । अथ दूरं गतेन स्मृतं तर्हि तत्र च साधर्मिकं पश्यति तस्य समीपे कायोत्सर्गं तु कृत्वा 'अप्पाहे त्ति' सन्देशं कथयति यथा मया कृतोऽमुकस्य समीपे कायोत्सर्ग इति ।

अवितोसिते पाहुडिते, छेद पडिच्छे चऊ गुरुया ।
जो वि य तस्स उ लाभो, तं पि य न लभे पडिच्छंतो ।

प्राभृते श्रुतस्कन्धे, अतोषिते समाप्त्यनन्तरं भक्तिबहुमानादिपुरस्सरमाचार्यादिक्रमणया तोषमनीते, यदि निर्गच्छति तर्हि तस्मिन् प्रायश्चित्तं छेदः । प्रायश्चित्तं पाठयितुं प्रतीच्छति, तस्मिन् प्रतीच्छके प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, योऽपि च तस्य निर्गतस्यान्यप्रविष्टस्य लाभस्तमपि न लभते प्रतीच्छकः, किमुक्तं भवति-? स तथा निर्गतो यत्किमप्युत्पादयति सचित्तादिकं तत्पूर्वतनस्याचार्यस्याऽऽभवति, न तु तस्य, नापि यस्तं पाठयति तस्य, प्रतीच्छत इति, तदेव गच्छानिर्गतानां विधिरुक्तः ।

सम्प्रत्यनिर्गतानां तमभिधित्सुराह—

तत्थ वि य अत्थमाणे, गुरुलहुया सव्वभंग जागस्स ।
आगाढमणागाढे, देसे भंगे उ गुरुलहुओ ॥

तत्रापि गच्छे तिष्ठन् यदि योगं वक्ष्यमाणप्रकारेण भनक्ति

देशतः सर्वतो वा, तदा तस्मिन् योगस्यागाढस्य सर्वतो भङ्गे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, अनागाढस्य सर्वतो भङ्गे चत्वारो लघुकाः। तथा आगाढे आगाढस्य देशतो भङ्गे गुरुकः, सर्वतो भङ्गे लघुकः।

अथ कथं देशतः सर्वतो वा योगस्य भङ्गस्तत आह-

आयंबिलं न कुव्वइ, भुंजति विगतीउ सव्वभंगो उ।
चत्तारि पगारा पुण, होंति इमे देसभंगम्मि ॥

आचामाम्लं परिपाट्या समापतितं न करोति विकृतीर्वा भुङ्क्ते, एष योगस्य सर्वभङ्गः, देशभङ्गे पुनरिमे वक्ष्यमाणाश्चत्वारः प्रकाराः। तानेवाह-

न करेति भुंजिऊणं, करेइ काउं सयं च भुंजति तु।
वीसज्जेइ ममं ति य, गुरु लहु मासो विसिट्ठो उ ॥

आचार्येण संदिष्टो विकृतिग्रहणाय-कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीः भोक्तुम्, तत्रैकोऽकृते कायोत्सर्गे विकृतीर्भुङ्क्ते, न च भुक्त्वाऽपि करोति कायोत्सर्गं, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, तपसा कालेन चतुर्गुरुक, तत्र तपसा अष्टमादिना, कालेन ग्रीष्मादिना, अन्यस्तथा संदिष्टः सन् विकृतीर्भुक्त्वा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गं करोति, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु। (काउ सयं च भुजति उ) तृतीयस्तथा संदिष्टः सन् स्वयं कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीर्भुङ्क्ते, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, तच्च तपसा लघु, चतुर्थादिना तस्य करणात्, कालेन वा गुरु, वसन्तादौ तस्य वहनाभ्यनुज्ञानात्, चतुर्थो विकृतिं लब्ध्वा भूरीन् ब्रूते-संदिशत कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतिं भुञ्जेऽहमिति, तस्य मासलघु तपःकालाभ्यां लघु। तथा चाह-चतुर्ष्वपि लघुमासो, गुरु पुनर्यथायोग तपःकालाभ्यां विशिष्टः सन्, एवमनागाढे योगे देशभङ्गः। आगाढे पुनर्नास्त्यपरिपूर्णेऽनुज्ञा विसर्जनस्य, न केवलमेतेषु चतुर्षु प्रकारेषु यथोक्त प्रायश्चित्तं, किं त्वाज्ञादयोऽपि दोषाः।

तथा चाह-

एक्केक्के आणादी, विराहणा होइ संजमाऽऽयाए।
अहवा कज्जे उ इमे, दट्ठुं जोगं विसज्जेज्जा ॥

एकैकस्मिन्प्रकारे आज्ञादय आज्ञाऽनवस्थाऽध्यमिथ्यात्वविराधनारूपा दोषा, तथा ग्लानत्वे भावतो देवताछलनतो वा संयमस्यात्मनश्च विराधना भवति। अथवा इमानि वक्ष्यमाणानि ग्लानत्वादीनि कार्याणि दृष्ट्वा योग विसर्जयेत्, नास्ति तत्र देशतः सर्वतो वा भङ्गः।

तान्येव कारणान्याह-

दट्ठु विसज्जण जोगे, गेलन्न चए महद्धाणे।
आगाढे नवगवज्जण, निक्कारणे कारणे विगती ॥

दृष्ट्वा ग्लानमतरन्त चयति भ्रजिकायां विकृतिलाभ, तथा महामहानिन्द्रमहादीन् अध्वानं भिक्षाध्वानमुपलक्षणमेतत् अवमौदर्यं राजप्रद्विष्टं च दृष्ट्वा योगो योगस्य विसर्जनं कर्त्तव्यं, तथा आगाढे विकृतिनवकस्य वर्जन, दशमायाः पक्करूपाया भजना। तथा निष्कारणे योग निक्षिप्य विकृतयो न कल्पन्ते, कारणे तु कल्पन्ते। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

संप्रत्येषा विवरीतव्या, तत्र प्रथम ग्लानमधिकृत्याह-

जोगे गेलम्मि य, आगाढियरे य होति चउभंगो।
पढमो उभयागाढो, वितिओ तइओ य एक्केणं ॥

योगे ग्लानत्वे च प्रत्येकमागाढेनाभवति चतुर्भङ्गी, गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। सा चैवम्-आगाढो योग आगाढं ग्लानत्वम् १, आगाढो योगोऽनागाढं ग्लानत्वम् २, अनागाढो योग आगाढ ग्लानत्वम् ३, अनागाढो योगोऽनागाढं ग्लानत्वम् ४। तथा चाह-प्रथमे भङ्गे उभयागाढ उभयमागाढ यस्मिन् स तथा। द्वितीय आगाढ आगाढयोगेन। तृतीय आगाढ आगाढग्लानत्वेनेत्यर्थः। चतुर्थ उभयस्याप्यागाढस्याभावे ॥

तत्र प्रथमभङ्गमधिकृत्याह-

उभयम्मि वि आगाढे, दद्धे पक्कएहिँ तिन्नि दिणे।
मक्खंते अठायंते, पच्चंते धरे दिणा तिन्नि ॥

उभयास्मिन्नपि योगे ग्लानत्वे चागाढे तं प्रतिपन्नागाढग्लानं दग्धेन पक्केन वा तैलेन। यदि वा-पक्केन शतपाकादिना तैलेन त्रीणि दिनानि म्रक्षयन्ति तथाऽप्यतिष्ठति ग्लानत्वे यत्र पच्यते पक्वान्न तत्र त्रीणि दिनानि यावत् नीत्वा पर्यन्ते ध्रियते, येन तद्गन्धपुद्गलाघ्राणत आप्यायितो भवति।

जत्तियमेत्ते दिवसे, विगइं सेवइ न उद्दिसे तेसु।
तह वि य अठायमाणे, निक्खिवणं सव्वहा जोगे ॥

यावन्मात्रां विकृतिमुक्तप्रकारेण सेवते तेषु तावन्मात्रेषु दिवसेषु सूत्रं नोद्दिशेत, तथापि च दिनत्रयपर्यन्तधारणेऽप्यतिष्ठत्यनिवर्तमाने ग्लानत्वे सर्वथा प्रायोग्यस्य निक्षेपण कर्त्तव्यम्।

जइ निक्खिप्पइ दिवसे, भूमीए तत्तिए उवरि वड्ढे।
अपरिमियं उद्देसो, भूमीएँ ततो परं कमसो ॥

यदि यावत्प्रमाणान् मत्वा योगो निक्षिप्यते तावन्मात्रान् दिवसान् भूमेः स्वाध्यायभूमेरुपरि वर्द्धयेत्। किमुक्त भवति?-यावति पठिते स्थितः स्वाध्यायः स्वाध्यायभूमिसूत्र यावतो दिवसान् चेद्धो योगो निक्षिप्यते तावतो दिवसान् भूयोऽपि योगमुत्क्षिप्य योगोद्वहनेन स्वाध्यायभूमेरुपर्येवमेवातिवाहयेत्। अथ यस्मिन् दिने योगः प्रथममुत्क्षिप्तस्तस्य विस्मृतेर्दिवसपरिमाणं प्रतिनियत कर्त्तुं न शक्यते, तत आह-परिमित यदि दिवसपरिमाणं तत उद्देशो ग्राह्यः, स स्वाध्यायभूमेरुपर्येव योगवहनेनातिवाह्यते तावन्मात्रदिवसातिवाहनतः, परं क्रमशः, सूत्रपाठानुसारेण वहेत्। गतः प्रथमभङ्गः।

संप्रति द्वितीयभङ्गमधिकृत्याह-

गेलण्णमणागाढे, रसवति नेहोव्वरे असति पक्का।
तह वि य अठायमाणे, आगाढतरं तु निक्खिवणा ॥

ग्लानत्वे अनागाढे रसवत्यां शालनकादौ यः स्नेह उद्धरितः स म्रक्षणाय प्रदीयते, तथाप्यसत्यतिष्ठति ग्लानत्वे यानि शतपाकादिना पक्वानि घृततैलानि तानि म्रक्षणाय दातव्यानि, तथाऽप्यतिष्ठति ग्लानत्वे ग्लानमागाढतरं ज्ञात्वा योगस्य सर्वथा निक्षेपणं कर्त्तव्यम्। गतो द्वितीयो भङ्गः।

सम्प्रति तृतीयमाह-

तिण्णि तिगेगंतरिए, गेलण्णागाढ निक्खिव परेणं।
तिण्णि तिगा अंतरिया, चउत्थ भंगे य निक्खिवणा ॥

अनागाढे योगे ग्लानत्वे त्रीन् दिवसानां त्रिकान् एकान्तरिकान् कारयेत्, तथाप्यतिष्ठति ततः परेण योगस्य निक्षेपः कर्त्तव्यः। इयमत्र भावना-एकस्मिन् दिवसे विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्ग-

कृतो द्वितीयेऽपि दिवसे पुनः कृतः कायोत्सर्गः, एवं तृतीयेऽपि। चतुर्थे दिवसे कृत निर्विकृतिकम्। पुनः पञ्चमषष्ठसप्तमेषु कायोत्सर्गः, ततो भूयोऽष्टमे दिवसे निर्विकृतिक,नवमे दिवसे कायोत्सर्गः, एवं कृतेऽपि यदि न स्थित ग्लानत्वं, ततो दशमे दिवसे योगनिक्षेपः । गतस्तृतीयोऽपि भङ्गः ।

संप्रति चतुर्थमाह—

"तिन्नि तिगा" इत्यादि । त्रयस्त्रिका न दिवसा इत्यर्थः । अन्तरिता एकान्तरिताश्चतुर्थे भङ्गे कर्तव्याः,तथाप्यतिष्ठति ग्लानत्वे योगस्य निक्षेपणम् । अत्रापीयं भावना-एकस्मिन् दिवसे कायोत्सर्गो, द्वितीयदिवसे निर्विकृतिक, तृतीयदिवसे कायोत्सर्ग , चतुर्थे निर्विकृतिकम् । एवमेकान्तरिते कायोत्सर्गनिर्विकृतिकेन नव दिवसान् यावत्कारयेत्तथाप्यतिष्ठति ग्लानत्वे दशमे दिवसे योगो निक्षिप्यते, तत्रापि प्रतिदिवस ग्लानप्रायोग्यस्यालाभे तत्परिवासयितव्यं भवति तत्रापि योगो निक्षिप्यते । अथ कदाचित् क्षीरादिभिर्ग्लानस्य प्रयोजनमजायत तदा स्वग्रामे तन्मार्गयितव्यम्, असति स्वक्षेत्रे परग्रामादप्यानेतव्य, तथाऽप्यसति क्षेत्राद् बहिरपि गत्वा समानेतव्यम् । अथ कदाचित्तत्राप्यलाभस्तर्हि व्रजिकामपि ग्लान गमयेत, पतित द्वितीयं व्रजिकाद्वारम् ।

तत्रेयं यतना-

वइया अजोगि जोगी, व अदढ अन्तरंतगस्स दिज्जंते ।
निव्विगियं आहारो, अंतर विगतीएँ निक्खिवणं ॥

व्रजिकायां गोकुले गन्तुकामस्य (अतरतगस्स त्ति) ग्लानस्य वा ग्लानत्वेन विना दुर्बलस्य द्वितीया दीयन्ते अयोगवाहिनः,तदभावे योगवाहिनो वा, तत्राहारो निर्विकृतिकमन्तरा च कायोत्सर्गतः । अथ लभ्यते प्रतिदिवस विकृतिस्तदा योगस्य निक्षेपणम् । अत्रेयं भावना-ग्लानस्य दुढस्य वा व्रजिकागन्तुकस्य द्वितीया दीयन्ते अयोगवाहिनः । अथ ते न सन्ति तदा अनागाढयोगवाहिनो दातव्याः, तत्र गता विकृतीः परिहरन्ति निर्विकृतिकमाहारमाहारयन्ति । अथ न लभ्यते दिने दिने निर्विकृतिक तदाऽन्तराऽन्तरा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गं कुर्वन्ति। अथ दिने दिने विकृतिरेव प्रायो लभ्यते नान्यत्तदा योगस्तेषां निक्षिप्यते ।

सप्रति निर्विकृतिकमाहारमाहारयतां विधिमाह-

आयंबिलस्सऽलंभे, चउत्थमेगंगियं च तक्कादी ।
असतेयरमागाढे, निक्खेवणुद्देस तहि चेव ॥

यद्याचाम्लके आचाम्लप्रायोग्य न लभ्यते तदा चतुर्थभक्तार्थ कुर्वन्ति । अथ न शक्नुवन्त्यभक्तार्थं कर्तुं तदा एकाङ्गिक तक्रमाहारयन्ति, तक्राचामाम्ल कुर्वन्तीत्यर्थः । आदिशब्दात् एकाङ्गिक काष्ठमूलमाहारयन्तीति द्रष्टव्यम्। अथ न लभ्यनागाढयोगवाहिनो द्वितीयास्तत इतरे आगाढयोगवाहिनो द्वितीया दीयन्ते, तत्र यदि तेषां प्रायोग्य लभ्यते ततः सुन्दरम्, अथ न लभ्यते केवल तत्र क्षीरादीनि लभ्यन्ते तदा योगो निक्षिप्यते, निक्षेपानन्तरं च पुनरुद्देशस्तत्रैव यथाऽधस्ताद्भणितम् ।

जति निक्खिप्पइ दिवसे, भूमीए तत्तिए उवरिं्ठे ।
अपरिमियं तुद्देसो, भूमीए तउ परं कमसो ॥

गतं व्रजिकाद्वारम्।

इदानीं महामहद्वारमाह-

सक्कमहादीसुं वा, पमत्त मा णं सुरा छले ठवणा ।
पिसिज्जंतु व अदढा, इतरे न दिसंति न पढंति ॥

महामहाः शक्रमहादयः,आदिशब्दात्सुग्रीष्मकमहादिपरिग्रहः। तेषु (ठवण त्ति) अनागाढयोगप्रतिपन्नाः, तेषां योगो निक्षिप्यते, किं कारणमिति चेत्? अत आह-मा त प्रथमतः सन्त काचित् मिथ्यादृष्टिर्देवता छलयेत्। अन्यच्च तेषु दिवसेषु विकृतयो लभ्यन्ते, ततो ये अदढा दुर्बला सन्ति तैर्विकृतिपरिभोगत आप्यायन्तामिति योगनिक्षेपणम्, ये पुनरितरे आगाढयोगवाहिनस्तेषां योगो न निक्षिप्यते, केवलमन्यत् नो दिशन्ति नापि पठन्ति । गत महामहद्वारम् ।

इदानीमध्वाऽऽवमराजद्विष्टलक्षणं द्वारत्रयमाह-

अध्दाणे जोगीणं, एसियं तु सेमगाण पणगादी ।
असतीएँ अणागाढे, निक्खिवमत्रासती इयरे ॥

अध्वनि ग्रामानुग्रामिके योग वहति, अथ भिक्षाध्वकं तदा यत एषितं, प्रासुकमित्यर्थः। ततो योगिनां योगवाहिनां दीयते, शेषाणा पञ्चकादि दातव्यम्। किमुक्त भवति-शेषाः पञ्चकपरिहाण्या पञ्चकादिषु यतन्ते । अथ सर्वे योगवाहिनो न संस्तरन्ति ते प्रासुकेन, तत आह-असति सर्वेषां तेषां योगवाहिनां प्रासुके अनागाढे योगवाहिनां योगस्य निक्षेपः करणीयः। अथ सर्वथा तत्र प्रासुक न लभ्यते। तत आह-सर्वेषां प्रासुकस्यासत्यभावे इतरेऽप्यागाढयोगवाहिनो निक्षिप्यन्ते । एवमवमौदर्यराजद्विष्टेऽपि च भावनीयम् ।

साम्प्रतमागाढे नवकवर्जनमिति व्याख्यानार्थमाह-

आगाढम्मि उ जोगे, विगतीउ नव विवज्जणीओ य।
दसमाएँ होइ जयणा, सेसग जयणा वि इयरम्मि ॥

आगाढयोगे एकविकृतिव्यतिरेकेण शेषा नवापि विकृतयो विवर्जनीयाः, दशम्याः पुनः पक्वविकृतेर्भवति भजना विकल्पना आगाढ ग्लानत्वमधिकृत्य पूर्वप्रकारेण तस्याः सेवना भवति, शेषकाल नेति भावः। इतरस्मिन्नागाढयोगे शेषकाणामपि क्षीरादीनां विकृतीनां भजना विकल्पना, आगाढग्लानस्यानागाढग्लानस्य चेतरा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गस्याधिकरणाभ्यनुज्ञानात् ।

सप्रति "निक्कारणेँ कारणे विगती" इति व्याख्यानयति-

निक्कारणे न कप्पंति, विगतीतो जोगवाहिणो ।
कप्पंति कारणे भोत्तुं, अणुन्नाया गुरूहिँ उ ॥

योगवाहिन आगाढयोगवाहिनो वा निष्कारणे ग्लानत्वादिकारणाभावे विकृतयः पूर्वप्रकारेण भोक्तु न कल्पन्ते, कारणे पुनरनुज्ञाता गुरुभिर्भोक्तु कल्पन्ते, नवकारणे योगनिक्षेपेऽपि दोषः ।

तथा चाह—

विगतीकएण जोगं, निक्खिवए दढदुब्बले ।
से भावतो अनिक्खित्ते, निक्खित्ते वि य तम्मि उ ॥

यः संहननेन दृढोऽपि सन् शरीरेण दुर्बल इति कृत्वा विकृतिकृतेन विकृतिपरिभोगाय योग निक्षिपति । 'से ' तस्य निक्षिप्तेऽपि तस्मिन् योगे भावतः स योगोऽनिक्षिप्त एव, गुर्वाज्ञया निक्षेपणात् ।

विगतीकएण जो जोगं , निक्खिवे अदढे वसे ।

से भावतो अनिक्खित्ते, उववाएण गुरूण उ ॥

यो वद्यो बलवानपि संहननेनादढ इति कृत्वा विकृतिकृतेन योगं निक्षिपति स योगस्तस्य भावतोऽनिक्षिप्त एव । कुत इत्याह-गुरूणामुपपातेन आज्ञया "उववातो निद्देसो, आणा विणओ य हौंति एगट्ठा " इति वचनात् निक्षेपणादिति वाक्यशेषः । न च तथा योगनिक्षेपणे योगस्य सर्वथा भङ्गः ।

यत आह—

आलंबो विगतिं जो उ, आपुच्छित्ताण सेवए ।
स जोगे देसभंगो उ, सव्वभंगो विपज्जए ॥

सालम्बो विकृतिभिः प्रार्थितः सन् क्षिप्रं ज्ञानादि ग्रहीष्यामीत्यालम्बनसहितो यो गुरुमापृच्छ्य विकृतीः सेवते परिभुङ्क्ते, स योगे योगस्य देशभङ्गो भवति, न सर्वभङ्गः, विपर्यये आलम्बनाभावे गुर्वनापृच्छायां च सर्वभङ्गः ।

अथ साक्षाद्योग निक्षिपति न च सर्वभङ्ग इति का वाचोयुक्तिः ?। आह-

जह कारणे असुद्धं, भुंजंतो न उ असंजतो होइ ।
तह कारणम्मि जोगं, न खलु अजोगी ठवेंतो वि ॥

यथा कारणे भिक्षाद्यकादावशुद्धमपि भुञ्जानो न तु नैवासंयतो भवति, तथा कारणे दुर्बलत्वादिलक्षणे सति योग स्थापयन्नपि खलु नैवायोगी भवति ततो न सर्वभङ्गः ।

अणो इणो पगारो, पमिच्छयस्स उ अहिज्जमाणस्स ।
मायानियमीजुत्ते, ववहारो सचित्तमादिम्मि ॥

प्रतीच्छकस्याधीयानस्याय वक्ष्यमाणः प्रकारः । तमेवोपदर्शयति-सचित्तादिके सचित्तादिकविषये यो मायानिकृतियुक्तो माया वञ्चनाऽभिप्रायो निकृतिस्तदनुरूपं बहिराकाराच्छादनं ताभ्यां युक्तस्तस्मिन् व्यवहार आगवदूव्यवहारः प्रायश्चित्तव्यवहारश्च भणनीयः ।

तमेवाभिधित्सुराह-

उप्पन्ने उप्पन्ने, सचित्ते जो उ निक्खिवइ जोगं ।
सव्वेसि गुरुकुलाणं, उपसंपज्ज होनिया तेण ॥

उत्पन्ने उत्पन्ने सचित्ते, उपलक्षणमेतदचित्ते वा, यो योगं निक्षिपति । किमुक्तं भवति-यदा यदा तस्य सचित्तादिकमुत्पन्नं भवति तदा तदा गुरु विज्ञपयति-अस्ति किञ्चित्प्रयोजन साधयितव्यमतो निक्षिपामि योगमिति,एवं मायाबहुलतया योग निक्षिपति । तेन पापीयसा सर्वेषां गुरुकुलानां श्रुतोपसपद्धोपिता ।

वहिया य अणापुच्छा, विहीएँ आपुच्छणाएँ मायाए ।
गुरुवयणे पच्छकयो, अब्भुवगमेँ तस्स इच्छाए ॥

बहिरुद्ग्रामकभिक्षाचर्यां गतो, यत्र सचित्तादिकमुत्पन्नं, तस्य सकाशेऽधीते तमनापृच्छ्य निजाचार्याणां प्रेषयति, तेनापि सर्वगुरुकुलानां श्रुतोपसपन्नोऽपि " विहीए आपुच्छणाए मायाए " इति यदा सचित्तादिकमुत्पन्नं तदैतच्चिन्तयति-मा ममैतद् गुरवो हरिष्यन्ति ततो मायया विधिना गुरूनापृच्छति-स्वजनवर्गं वन्दापयितु व्रजामि, तेनापि सर्वगुरुकुलानां श्रुतोपसंपद्धोपिता, अमीषां च त्रयाणामपि मायानिष्पन्नं प्रायश्चित्तं मासगुरु, सचित्तविषयं जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्नं (गुरुवयणे पच्छकडो त्ति) ये त्रिभिः प्रकारैरपहृताः शिष्यास्ते कदाचित्स्नानादिषु समवसरणादौ मिलन्ति गुरुणा च पृष्टा सन्तो यथावन्निवेदयन्ति, ततो व्यवहारे जाते स आचार्यवचनेन पश्चात् क्रियते पराजीयते, तस्य सत्क सर्वमाचार्यस्याऽऽभवतीत्यर्थः (अब्भुवगमे तस्स इच्छाए त्ति) यदि पुनस्तेन पराजितेनाभ्युगमः क्रियते यथा न सर्वं मया सुन्दरं कृत मिथ्या दुष्कृत ममेति तदा तस्यैवमभ्युपगमे इच्छया करोतु मा वा तद्धपादितसचित्ताद्यपहरणमिति ।

साम्प्रतमेतदेव गाथाद्वयोक्त व्याख्यानयति—

अहिज्जमाणे सच्चित्तं. उप्पन्नं तु जया भवे ।
जोगो निक्खिप्प तं भंते !, कज्जं मे किंचि वेति उ ॥

अधीयाने अधीयानस्य सतो यदा यदा सचित्तमुत्पन्नं भवति तदा तदा गुरुसमीप गत्वा ब्रूते-भदन्त ! मम किञ्चित्कार्ये प्रयोजनमस्ति प्रोः ! निक्षिप्यतां योग इति ।

अधुना " वहिया य अणापुच्छा " इति व्याख्यानायाह-

वहिया य अणापुच्छा, उब्भामे लद्धिय सेहमादिं तु ।
नेइ सयं पेसति वा, आसन्नठियाण उ गुरूणं ॥

बहिरुद्भ्रामे उद्भ्रामकभिक्षायां गत शैक्षकादि लब्ध्वा यस्य सकाशेऽधीते तमनापृच्छ्य आसन्नस्थितानामनन्तरदेशस्थितानां गुरूणां निजाचार्याणां स्वय नयति, अन्यैर्वा स्वगुरुकुलसत्कैः प्रेषयन्ति ।

" विहीएँ आपुच्छणाएँ मायाए " इति व्याख्यानार्थमाह-

अहवुप्पन्ने सचित्ते, मा मेतं वा गुरूहिँ अच्छिन्ती ।
मायाए आपुच्छइ, नायविहिँ गंतुमिच्छामि ॥

अथवेति मायायाः प्रकारान्तरोपदर्शने, उत्पन्ने सचित्तादिके चिन्तयति-मा ममेदं सचित्तादिकमुत्पन्नमेतैर्गुरुभिः (अच्छिन्ती इति) अपहियतामिति मायया आपृच्छति-ज्ञातिविधिं स्वजनवर्गं वन्दापयितु गन्तुमिच्छामि ।

पव्वावेउं तहियं, नालमनाले य पत्थवे गुरुणो ।
आगंतुं च निवेयण. लद्धं मे नालवद्धं ति ॥

तत्र गत्वा नालबद्धान् नालसंबद्धान् अनालबद्धान् वा प्रव्राज्य गुरोः स्वाचार्यस्य प्रेषयति । प्रेष्य च पुनरध्यापयितु समीपे समागच्छति, समागत्य च निवेदयति-यथा मया लब्धा नालबद्धा इति तत्र प्रेषिताः ॥

एहाणादिसु इहरा वा, दट्ठुं पुच्छा कयासि पव्वइआ ।
अमुएण अमुयकाले, इह पेसविया निया वा वि ॥

ये ते त्रिभिः प्रकारैरपहृताः शिष्यास्तान् जिनस्नानादिषु समवसरणे इतरथा वा अन्यत्र वा मिलित्वा दृष्ट्वा आचार्येण पृच्छा-यथा कदा कथं वा प्रव्रजिता अभवन् । ततस्ते तत्र क्षेत्र च काल च पुरुषं कथयन्ति-यथा अमुकेनामुके काले इह अस्मिन् क्षेत्रे प्रव्राजितास्तथा एवमन्यैः सह प्रेषिताः, स्वय वा तत्र नीताः, एवं निवेदिते व्यवहारो जातः, तस्मिंश्च व्यवहारे स पराजितः ।

तत आचार्येण यत्कर्त्तव्यं तदाह-

सो उ पसंगणवत्था-निवारणट्ठाएँ मा हु अन्नो वि।
काहिति एवं होउं, गुरुयं आरोवणं देइ॥

स आचार्यो मा एवं भूत्वा अन्योऽप्येवं कार्षीदिति प्रसङ्गानवस्थानिवारणार्थं गुरुकमारोपणं मासगुरुप्रभृतिक पूर्वोक्तं ददाति।

अधुना " अब्भुवगमेँ तस्स इच्छाए " इति-व्याख्यानयति-

अब्भुवगयस्स सम्मं, तस्स उ पणिवइयवच्छलो कोइ।
वियरति ते च्चिय सेहे, एमेव य वत्थपत्तादी॥

सत्य मयाऽसुन्दरं कृतं तस्मान्मिथ्या मे दुष्कृतमिति सम्यगभ्युपगतस्य प्रतिपन्नस्य तस्य कोऽप्याचार्य प्रणिपतितवत्सलो ये शैक्षास्तेन दीक्षितास्तानेव वितराति प्रयच्छति, एवमेव वस्त्रपात्रादिकमपि तदुत्पादित तस्यैव प्रयच्छति।

उपसंहारमाह-

एवं तु अहिज्जंते, ववहारो अभिहितो समासेण।
अभिधारंते इणमो, ववहारविहिं पवक्खामि॥

एवमनेन प्रकारेण, तुर्भिन्नक्रम., स चाग्रे योक्ष्यते, अधीयाने व्यवहारः समासेन सङ्क्षेपेणाभिहित'। इमं पुनर्व्यवहारविधिमभिधारयति प्रवक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

जं होंति नालवद्धं, घाभियनाती व जो व तह लंभो।
एहिंति विमग्गंतो, चिंधं सेसेसु आयरिओ॥
वल्ली संतरणंतर, अणंतरा छज्जणा इमे हुंति।
माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो य धूया य॥

यद्भवति नालबद्ध,वल्लीबद्धमित्यर्थः। सा च वल्ली द्विधा-अनन्तरा, सान्तरा च। तत्रानन्तरा इमे षड्जनाः। तद्यथा-माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रो दुहिता च। सान्तरा पुनरियम्-मातुर्माता १ पिता २ भ्राता ३ भगिनी च ४, तथा पितुः पिता १ माता २ भ्राता ३ भगिनी च ४, तथा भ्रातुरपत्यं भ्रात्रिव्यो, भ्रात्रिव्या वा, भगिन्या वा अपत्य भागिनेयो भागिनेयी वा, पुत्रस्यापत्य पौत्रः, पौत्री वा, दुहितुरपत्य दौहित्रो, दौहित्री वा। उक्त च-" माउस्माया य पिया, भाया भगिणिएँ य एव पिउणो वि। भाउभगिणीणऽवचा, धूयापुत्ताण वि तहेव॥ " परम्परवल्लिका एषा। अन्ये त्वाहुः-प्रपौत्रपौत्री इत्यादिरपि परम्परवल्ली यावत्स्वाजन्यस्वीकारः। (घाभियनाती व त्ति) यो वा घटितज्ञातिः, इष्टाभिलषित इत्यर्थः। यो वा तत्र नालबद्धे घटितज्ञातौ वा लाभः। एतेनैते अनन्तरोदिताश्चिह्नं विमार्गयन्त' सन्तोऽभिधारयन्ति। अभिधारयत आभाव्या भवन्ति, शेषेषु पुनरनभिधारयत्स्वाचार्यः श्रुतगुरुस्वामी भवति, शेषा अनभिधारयन्तः श्रुतगुरोराभाव्या भवन्ति इत्यर्थः। उक्तं च—" जइ ते अभिधारंती, पमिच्छते वा पमिच्छगस्सेव। अह नो अभिधारंती, सुयगुरुणो तो उ आभव्वा॥ " इयमत्र भावना-ये नालबद्धा एव घटितज्ञातयो, ये वा ते दीक्षितास्तैः सह संकेत. पूर्व कृतो, यथा-यूयममुकस्याचार्यस्य पार्श्वे व्रजत।ऽहं पुनरागमिष्यामि, एवं सङ्केत कृत्वा ते पूर्वमुपस्थापितास्ते चाभिधारयन्तो वर्नन्ते-यथाऽमुकोऽमुककाले समागमिष्यति, सोऽपि च पश्चादागत' सन् तथैव निवेदयति। चिह्नान्यपि च सर्वाण्यपि मिलन्ति, तदा पूर्वमुपस्थापितस्य सर्वे। उक्त च-" संगारो पुव्वकतो, पच्छा पाढिच्छओ उ सो जातो। तेणं निवेदयव्वं, उवट्ठिया पुव्वलेहा से॥ " यदि पुन. कालतश्चिह्नैश्च विसंवादस्तदा गुरोराभाव्या इति।

एतदेव व्याख्यानयन्नाह-

उवसंपज्जए जत्थ, तत्थ पुच्छा भणाति तु।
वयं चिंधेहिँ संगार, वय्म सीए यऽणंतगं॥

यत्रोपसम्पद्यते स पश्चात्तत्र तैः पृच्छ्यते-केन कारणेन त्वमागतोऽसि?। स आह-सूत्रार्थानामर्थायोपसम्पत्तुमेवमुक्त्वा तेन सद्भावः कथनीयो यथा उपलक्षये इति। परिणामात्पूर्वकालमपि युष्माकं पार्श्वे ये नालबद्धा घटितज्ञातयस्ते दीक्षिता वा पूर्वमुपस्थितास्तेषां मया सङ्केतः कृतो यथाऽहं पश्चात् शीते शीतकाले, वशब्दादन्यस्मिन्वा काले उपसम्पत्स्ये, तेषां चैतावद्वय एवम्भूतस्य शरीरस्य वर्णः,इत्थभूत च शीतकालप्रायोग्यमनन्तक वस्त्रमेव वयसा चिह्नैश्च सङ्केत स्पष्टयति। उक्त च-" ववएएहि दिणेहिं, तुब्भ सगास अवस्स एहामो॥ संगारो एव कतो, चिंधाणि य तेसि चिंधेइ॥ "

अत्राभाव्यविधिमाह-

नालबद्धा उ लब्भंते, जया तमभिधारए।
जे यावि चिंधकालेहिं, संवयंति उ घट्टिया॥

यदा तमुपसंपत्स्यमानमभिधारयन्ति नालबद्धाः पूर्वोपस्थिता यथा सोऽत्र सत्वरमुपसंपत्स्यते, तदा ते नालबद्धास्तेन लभ्यन्ते, ये वाऽपि घटितज्ञातयो नालबद्धादिदीक्षिताः चिह्नैः कालेन च, तेऽपि तस्याभवन्ति,विसंवदन्तस्तु गुरोः,अथ चिह्नैः संवादोऽस्ति न कालतः। तथाहि-यस्मिन्काले पूर्वमुपस्थिताः कथिता न ते तस्मिन् काले आयाता. किन्तु कालान्तरे, सोऽपि च संकेतदिवसे नायातस्तत. स ते वा पृच्छ्यन्ते, तत्र यदि केनाऽपि कारणेन ग्लानत्वादिना स ते वा नायातास्तदाऽस्ति तत्वतः कालसंवाद इति ते तस्याभाव्याः।

एतदेवाह-

अण्णकाले वि आयाया, कारणेण उ केण वि।
ते वि तस्साभवंती उ, विवरीयायरियस्स उ॥

ये कारणेन ग्लानत्वादिना केनचित्पूर्वमुपस्थिता अन्यकालेऽपि यस्तेनोपसपद्यमानेन कालो निर्दिष्टस्तस्मादन्यस्मिन्नपि काले आयातास्तेऽपि तस्याभवन्ति। विपरीतास्तु कारणमन्तरेण कालविसंवादिन आचार्यस्याभाव्याः। उपलक्षणमेतत्-सोऽपि यदि कारणेन विनिर्दिष्टकालादन्यस्मिन्काले समायातस्तथापि तस्याभवन्ति,विपरीतास्तु कारणमन्तरेणोपसंपद्यमानकालविसंवादभाज आचार्यस्याभाव्याः।

विप्परिणयम्मि भावे, जइ भावो सिं पुणो वि उप्पण्णो।
ते होंताऽऽयरियस्स उ, अहिज्जमाणे य जो लाभो॥

सङ्केतकरणादनन्तरं यदि तेषां पूर्वमुपस्थितानां भावो विपरिणतो यथा नामाऽमुकस्य पार्श्वे उपसंपत्स्ये,तस्मिन्विपरिणते

भावे पश्चात् पुनरपि केनापि कारणेन उपसपद्यमानस्याभिप्राय उत्पन्नस्तदा ते पूर्वमुपस्थिता प्रवज्याचार्यस्य , अधीयानेषु तेषु, गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् "प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽप्यस्ति , " यो लाभः सोऽप्याचार्यस्य , उपलक्षणत्वादेतदपि द्रष्टव्यम्-सकेतकरणादूर्ध्वं यदि तस्य पश्चादुपसपद्यमानस्य भावो विपरिणतः पश्चात्पुनरपि कालान्तरेण जातस्तदा ते पूर्वोपस्थिता गुरोराभाव्याः. यश्च तेषां लाभः सोऽपि गुरोः तथा च पश्चादुपसपद्यमानमधिकृत्य पञ्चकल्पेऽभिहितम्—

"कालेण य चिंधेहि य, अविसंवादीहिँ तस्स गुरुणिहरा।
कालम्मि विसवदिए, पुच्छिज्जइ किं नु आतो त्ति।
संगारयदिवसेहिं , जइ गेलएणादिदीवए तो उ ।
तस्स च ऊ अह भावो, विपरिणतो पच्छ पुण जातो ॥
तो होइ गुरुस्सेव उ, एवं सुयसंपदाए उ ।
जे यावि वत्थपायादी-चिंधेहिं सवयंति उ ॥
आभवति उ ते तस्सा, विवरीयाऽऽयरियस्स उ ॥"

यान्यपि च वस्त्रपात्रादीनि चिह्नैः संवदन्ति,यथा-अमुकस्य पार्श्वेऽमुकस्येदृशाकृति वस्त्र पात्रं यावदभून्मदीयमित्यादि, तान्यपि, गाथायां पुस्त्व प्राकृतत्वात्, तस्याभवन्ति, विपरीतानि तु चिह्नविसंवादभाञ्जि आचार्यस्य ।

आभवंताहिगारे उ , वट्टंते तप्पसंगया ।
आभवंता इमे अएणे, सुहसीलादि आहिआ ॥

आभवदधिकारे वर्तमाने तत्प्रसङ्गादाभवदधिकारप्रसङ्गादिमे वक्ष्यमाणा अन्ये आभवन्तः सुखशीलादयः सुखशीलादिप्रयुक्ता आख्याताः ।

तानेव द्वारगाथया सगृह्णान आह—

सुहसीलऽणुकंपाऽऽय-ट्ठिए य संबंधि खमग गेलण्णे ।
सचित्ते-ससिहाओ, पकट्टए धारए दिसाउ ॥

सुखशीलेन, भावप्रधानोऽय निर्देशः,सुखशीलतया, अनुकम्पया, आत्मस्थितस्य सबन्धिनः स्वज्ञातेः, क्षपकस्य ग्लानस्य वा ये प्रेषिताश्च सचित्तेष्वशिखाकोऽन्यस्य प्रेषित एतान् स्वकुलसंबन्धी स्वगणसंबन्धी वा प्रकर्षयति, आकर्षयतीत्यर्थः, धारयति च दिशात आत्मीये इत्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः सुखशीलद्वारमाह—

सुहसीलयाए पेसे-इ कोइ दुक्खं खु सारवेउं जो ।
देइ व आयट्ठीणं, सुहसीलो दुहसंलोो त्ति ॥

दुःखं खलु साधून् सारयितुमिति मन्यमानः कोऽपि सुखशीलतया कमपि साधुमन्यस्य प्रेषयति। यदि वा-कोऽपि सुखशील आत्माश्रितानां दुःखशीलोऽयमिति प्रकाश्य ददाति ।

तणुगं पि नेच्छए दुक्खं, सुहमाकंखए सया ।
सुहसीलतए वावी, सायागारवनिस्सितो ॥

तनुकमपि स्तोकमपि नेच्छत्यात्मनो दुःखं, किं तु केवलं सदा सुखमाकाङ्क्षति । ततः सुखशीलतया सातगौरवनिश्रितः स्वयं साधुना दत्ते सर्वे ते भवन्त्याचार्यस्याभाव्याः । गतं सुखशीलद्वारम् ।

साम्प्रतमनुकम्पाद्वारमाह—

एमेव य असहाय-स्स देति कोइ अणुकंपयाए उ ।
नेच्छइ परमायट्ठी, गच्छा निग्गंतुकामो वा ॥
पेसेइ सो उ अन्नत्थ, सिणेहा नायगस्स वा ।
खमए वेज्जवच्चट्ठा, देज्ज ता तहिं कोइ तु ॥

स्वसविधत्वादिकारणव्यतिरेकेणापि, असहायस्य सत कोऽप्यनुकम्पया ददाति । गतमनुकम्पाद्वारम् । आत्मस्थितद्वारमाह-आत्मार्थी आत्माश्रितार्थी सन् परं नेच्छति, ततः कमप्यास्थितं करोति। यदि वा-गच्छान्निर्गन्तुकामः स आत्मार्थी अन्यत्र यस्य यास्यति तत्र कमपि साधुं प्रेषयति । गतमास्थितद्वारम् । संबन्धिद्वारमाह-स्नेहात् ज्ञातस्य वा स्वजनस्य वा सोऽन्यत्र प्रेषयति। क्षपकद्वारमाह-तत्रान्यत्र वा प्रसिद्धे क्षपके कोऽपि वैयावृत्यार्थं कमपि साधु दद्यात् ।

सप्रति ग्लानद्वारं सशिखाकद्वारं चाह-

पेसेति गिलाणस्स व, अहव गिलाणो सयं अचायंतो ।
पेसंतस्स असीहो, ससिहो पुण पेसितो जस्स ॥

ग्लानस्य वा कोऽपि वैयावृत्यकरणाय प्रेषयति साधुम् । अथवा-स्वय ग्लानः सन्नशक्नुवन् करोति । सर्वेऽप्येते आचार्यस्याभाव्याः । तथा यदि सशिखाकः परस्मै प्रेष्यते तर्हि स यस्य प्रेषितस्तस्यैवाभवति । अथाशिखाकः परस्मै प्रेषितस्तर्हि प्रेषयितुरेवाभाव्यो, न परस्य। तथा चाह-"पेसंतस्स असीहो, ससिहो पुण पेसितो जस्स " ।

अत्र पर प्रश्नमाह—

चोदेती कप्पम्मी, पुव्वं भणियं च होति पेसितो जस्स ।
ससिहो वा असिहो वा, असंथरे सो उ तस्सेव ॥

चोदयति प्रश्न करोति-ननु पूर्वं कल्पे भणित यस्य सशिखो वा अशिखो वा प्रेषित. स तस्यैवासस्तरे असस्तरणे सति भवति । ततः कथमत्राशिखाकः प्रेषयितुराभाव्योऽभिहित इति ।

अत्रोत्तरमाह—

भण्णइ पुव्वुत्तातो, पच्छा वुत्तो विही भवे बलवं ।
कामं कप्पेऽभिहियं, इह असिहं दाउ न लभति तु ॥

भण्यते अत्रोत्तर दीयते-पूर्वोक्ताद् विधेः पश्चादुक्तो विधिर्बलवान् भवति, ततो यद्यपि काम कल्पेऽभिहित तथापीहाशिखं दातुं न लभते ।

अन्यच्च—

संविग्गाण विही एसो, असंविग्गे न दिज्जए ।
कुलिच्चो वा गणिच्चो वा, दिण्णं पी तं तु कड्ढए ॥

एष दानविधिः सविग्नानां भणितः असविग्नस्य पुन सर्वथा न दीयते न दातव्यः । अथ कथमपि केनापि दत्तो भवति तर्हि तं दत्तमपि कुलसत्को वा गणसत्को वा कर्षयति ।

खेत्ताती आउरे भीते, आदिसत्थी व जं दए ।
सचित्तादि कुलादी तु, मुज्जो तं परिकड्ढए ॥

क्षितादि-,आदिशब्दात् दत्तयक्षाविष्टादिपरिग्रह , आतुरो मरणाद्यिभ्यन्युपसर्ग्यात्याकुलो, भीत किमपि मे राजप्रद्विष्टादिक करिष्यति न विद्म इति भयाकुलो, अतिगीतार्थो वाऽधिकृतां दिश यद्ददाति परस्मै सचित्तादिक तद भूयः कुलादि ,आदिशब्दात् गणपरिग्रहः, परिकर्षयति । तदेतत्प्रातीच्छिकानधिकृत्योक्तम् ।

अधुना शिष्यानधिकृत्याह—

नालबद्धे अनाले वा, सीसम्मि उ नत्थि मग्गणा ।
दोक्खरखरदिट्ठंता, सव्वं आयरियस्स उ ॥

शिष्ये स्वदीक्षिते अयं नालबद्धोऽनालबद्ध इति विषयविभागेन नास्ति मार्गणा, किं तु यत्ते शिष्या लभन्ते सचित्तादि, तत्सर्वमाचार्यस्याऽऽभवति । केन दृष्टान्तेनेत्याह-द्व्यक्षरखरदृष्टान्तेन, तत्र द्व्यक्षरो दासः खरो गर्दभस्तद्दृष्टान्तात्, दासेन मे खरः क्रीतो, दासोऽपि मे, खरोऽपि मे, इत्येव लक्षणात्सूत्रम् । व्य० ४ उ० ।

चरियारय–चर्यारत–त्रि० । भिक्षारते, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

चरु–चरु–पुं० । हव्यान्ने होमार्थे पाच्यान्ने, " अनवस्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चरुः" इति याज्ञिकाः । वाच० । स्थालीविशेषे, औ० । तत्र पच्यमान द्रव्यमपि चरुरेव । वलौ, नि० ३ वर्ग । आ० म० ।

चल–चल–त्रि० । अस्थिरे, भ० ५ श० ४ उ० । स्था० । भङ्गुरे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । श्लथे, स्था० ४ ठा० २ उ० । नि० चू० । अनियते, विशे० । चपले, नि० चू० ४ उ० । अनियतविहारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

चलइत्ता–चलयित्वा–अव्य० । स्थानात् स्थानान्तरं नीत्वेत्यर्थे, " चलइत्ता आहरे पाणभोयणे " चलयित्वाऽऽहरेदानीय दद्यादित्यर्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

चलंत–चलत्–त्रि० । पतति, भ्रश्यति, अनु० । "चलतघुम्मंतजंगलसमूह " औ० । ईषत्कम्पमाने, ज० १ वक्ष० ।

चलचल–चलचल–पुं० । घृते निष्कास्यमानेषु त्रिषु घाणेषु, " ताव पढम ज घयं खित्त तत्थ अप्प अपक्खिवंती आदिमे जे तिन्नि घाणा ते चलचलेति " नि० चू० ४ उ० ।

चलचवल–चलचपल–त्रि० । अतिशयेन चपले, "चलचवलचित्तकीमनदवप्पिया " चलचपलमतिशयेन चपल यच्चित्र नानाप्रकार क्रीमन यश्च चित्रो नानाप्रकारो द्रव. परिहासस्तौ प्रियौ येषां ते चलचपलचित्रक्रीमनद्रवप्रियाः । जी० ३ प्रति० । स० ।

चलचित्त–चलचित्त–त्रि० । वानरवच्चपलाभिप्राये, तं० । नि० चू० ।

अथ चलचित्तद्वारमतिदेशेनैवाह—

चलचित्तो भावचलो, उस्सग्गऽववायतो तु जो पुव्विं ।
भणितो सो चेव इहं, गाणंगणियं अतो वोच्छं ॥

चलचित्त इह भावचलोऽपरापरशास्त्रपल्लवग्राही गृह्यते, स च उत्सर्गतोऽपवादतश्च यः पूर्वमचलद्वारे भणित स एवेहापि भणितव्यः । वृ०१ उ० । " रस्य लो वा " ॥ ८ । ४ । ३२६ ॥ इति चूलिकापैशाचिकेऽपि रस्य ल । प्रा० ४ पाद ।

चलण–चरण–पुं० । " हरिद्रादौ लः " ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति रस्य लः । प्रा० १ पाद । ज० । औ० । ज्ञा० । व्रतश्रमणधर्मेत्यादिसप्ततिस्थानरूपे चरणे, प्रव० ४० द्वार ।

चलण–न० । कर्मणः संचरणे, विशे० । " चलमाणे चलिए " इत्याद्यर्थनिर्णयार्थे चलनविषये व्याख्याप्रज्ञप्ते' प्रथमोद्देशके, भ० १ श० १ उ० । हस्तशरीरयोश्चालने, ध० ३ अधि० ।

चलणकम्मगइ–चलनकर्मगति–स्त्री० । चलनं स्पन्दन, तेन कर्मगतिर्विशिष्यते । चलनाख्यायां कर्मगतौ, दश०१ अ० । ('गइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७७५ पृष्ठे व्याख्योक्ता)

चलणगइ–चलनगति–स्त्री० । चलिरिय परिस्पन्दने वर्तते । चलन स्पन्दनमित्येकोऽर्थः । चलन च तद्गतिश्च सा चलनगति । गमनक्रियायाम्, दश० १ अ० ।

चलणमालिया–चरणमालिका–स्त्री० । पादाभरणभेदे, प्रश्न० ५ सम्व० द्वार ।

चलणा–चलना–स्त्री० । स्फुटतरस्वप्रावायामेजनायाम्, (भ०)

कइविहा णं भंते ! चलणा पन्नत्ता ?। गोयमा ! तिविहा चलणा पण्णत्ता । तं जहा–सरीरचलणा, इंदियचलणा, जोगचलणा । सरीरचलणा णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–ओरालियसरीरचलणा० जाव कम्मगसरीरचलणा । इंदियचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–सोइंदियचलणा० जाव फासिंदियचलणा । जोगचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पन्नत्ता । तं जहा–मणजोगचलणा, वइजोगचलणा, कायजोगचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा ?। गोयमा ! जं णं जीवा ओरालियसरीरे वट्टमाणा ओरालियसरीरप्पाओग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए परिणामेमाणे ओरालियसरीरचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा । से तेणट्ठेणं० जाव ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-वेउव्वियसरीरचलणा, वेउव्वियसरीरचलणा ?। एवं चेव, णवरं वेउव्वियसरीरे वट्टमाणे एवं० जाव कम्मगसरीरचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सोइंदियचलणा, सोइंदियचलणा ?। गोयमा ! जं णं जीवा सोइंदिए वट्टमाणा सोइंदियप्पाओग्गाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए परिणामेमाणे सोइंदियचलणं चलिंसु वा, चलिंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं० जाव सोइंदियचलणा, सोइंदियचलणा एवं० जाव फासिंदियचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-मणजोगचलणा, मणजोगचलणा ?। गोयमा ! जं णं जीवा मणजोए वट्टमाणा मणजोगप्पाओग्गाइं दव्वाइं मणजोगत्ताए परिणामेमाणा मणचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं० जाव मणजोगचलणा मणजोगचलणा । एवं वयजोगचलणा, एवं कायजोगचलणा वि । भ० १७ श० ३ उ० ।

चलणिया–चलनिका–स्त्री० । साध्वीनां कट्टपकरणभेदे, "जाणुप्पमाण चलणी, असिव्वियालाखियाए व्व ।" चलनिकाऽपि अर्धोरुकवत, नवरमधोजानुप्रमाणाऽस्यूतलङ्खिकापारिधानवत् वंशाग्रनर्तकीचलनकवन्मन्तव्या । वृ० ३ उ० । नि० चू० । ध० ।

चलणी–चलनी–स्त्री० । चलनमात्रस्पर्शिनि कर्दमे,जी०३ प्रति० । चलनप्रमाण· कर्दमश्चलनीत्युच्यते । भ० ७ श० ६ उ० ।

चलणोवयायकारिया–चलनोपपातकारिका–स्त्री० । पादसेवाविधायिन्यां दास्याम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

चलमण–चलमनस्–त्रि० । चलितचित्ते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

चलमाण–चलत्–त्रि० । स्थितिक्षयादुदयमागच्छति विपाकाभिमुखीभवति कर्मणि, " चलमाणे चलिए" भ० १ श०१ उ० । (" चलमाणे चलिए त्ति " ' कज्जकारणभाव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७ पृष्ठे व्याख्यातः)

चलसत्त–चलसत्त्व–त्रि० । चलमस्थिर परीषहादिसम्पाते त्वं-सात्सत्त्व यस्य स चलसत्त्वः । अस्थिरसत्त्वे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । भङ्गुरसत्त्वे पुरुषजाते, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चलसब्भाव–चलस्वभाव–त्रि० । चञ्चलस्वाभिप्राये, "समुद्दवीची विव चलसभावाओ । " त० । भ० ।

चलाचल–चलाचल–त्रि० । स्थूणादौ, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । अप्रतिष्ठितेऽस्थिरे, दश० ५ अ० १ उ० ।

चलिंदिय–चलेन्द्रिय–त्रि० । इन्द्रियविषयनिग्रहे रूपापात प्राप्याऽसमर्थे, आ० चू० १ अ० ।

चलिय–चलित–त्रि० । ईषत्कम्पमाने, रा० । कम्पिते, आ० म० प्र० । स्वस्थानगमनापन्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । गन्तु प्रवृत्ते, औ० । "ज एतेसिं चेव ठाणाण जहासभव चलियठितो पासत्थो पिठतो वा झुज्झति, त छठ चलियं णाम ठाणं " नि० चू० २० उ० ।

चलियरस–चलितरस–त्रि० । चलितो विनष्टो रसः स्वादः,उपलक्षणत्वाद् वर्णादिर्यस्य तच्चलितरसम् । कुथिताभपर्युषितद्विदलपूपिकादौ, केवलजलराद्धकूरादावनेकजन्तुससक्तत्वात् पुष्पितौदनपक्वान्नादिदिनद्वयातीतदध्यादौ च । ध० २ अधि० ।

चलुय–चलुक–पु० । स्तनाग्रभागे, प्रति० ।

चलेमाण–चलत्–त्रि० । गच्छति, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

चलोवगरणट्ठया–चलोपकरणार्थता–स्त्री० । चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणता । तस्याम्, भ० ५ श० ४ उ० ।

चल्ल–चल–धा० । सचलने, "स्फुटिचले· ॥ ८ । ४ । २३१॥ इति लस्य द्वित्वम् । 'चल्लइ' चलति । प्रा० ४ पाद ।

चव–च्यु–धा० । च्यवने, "उवर्णस्यावः " ॥ ८ । ४ । २३३ ॥ इत्युवर्णस्यावादेश· । ' चवइ ' च्यवते । प्रा० ४ पाद ।
च्यव–पु० । च्यवने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चवण–च्यवन–न० । चारित्रात्प्रतिपतने , वृ० १ उ० ।

चवणकप्प–च्यवनकल्प–पुं० । च्यवन चारित्रात्प्रतिपतनं तस्य कल्प· प्रकारश्च्यवनकल्प· । पार्श्वस्थादिविहारे, वृ० १ उ० ।

चवल–चपल–त्रि० । आकुले , आ० म० प्र० । कायचपलोपेततया (भ० ३ श० १ उ०) मनोवाक्कायास्थैर्यात् (स०) स्वरूपतो वा (औ०) सम्भ्रमवशादेव (आ० म० प्र०) आकुले,आ० म० प्र० । औ० । अनवस्थिताचित्ते, प्रज्ञा०२ पद । इतस्ततः कम्पमाने, कल्प० १ क्षण । यत्किञ्चनकारिणि,सूत्र० २ श्रु०२अ० । चञ्चले,ज्ञा०१ श्रु० ८ अ० । उत्त० । प्रश्न० । ध० । उत्सुकतयाऽसमीक्षिते, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । हस्तग्रीवादिरूपकायचलनवति, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । पारदे, मीने, विकले , दुर्विनीते च । त्रि० । वाच० ।

चवल–पु० । धान्यभेदे, जं०३ वक्ष० । स्था० । "चवलचलुच्चायप्पमाणकल्लोललोलंततोयं " अतिचपला इति यावत्, तथा उच्चमात्मप्रमाण येषामेवंविधा ये कल्लोलास्तै· लोलत् पुनरेकीभूय पृथक् भवत् एवंविध तोय पानीयं यस्य सः । कल्प० ३ क्षण ।

चवलक्ख–चपलाक्ष–पु० । चक्षुरिन्द्रियलोले, चक्षुरिन्द्रियविपाके, ग० २ अधि० ।

चवला–चपला–स्त्री० । विद्युति, लक्ष्म्याम, पुंश्चल्याम्, पिप्पल्याम, विजयायाम्, जिह्वायाम, आर्य्याभेदे च । वाच० । दे० ना० । चपलेव चपला क्रोधविशिष्टस्येव श्रमाऽसंवेदात्, जी० ३ प्रति० । रा० । कायचापल्यवत्यां देवगतौ, कल्प० २ क्षण । भ० ।

चविडा–चपेटा–स्त्री० । "एत इद्वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे ॥" ८ । १ । १४६ ॥ इत्येकारस्य वेत्वम् । विस्तृताङ्गुलिके हस्ते, प्रतले च । प्रा० १ पाद ।

चावेयव्व–च्योतव्य–न० । च्यवनीये, कर्त्तव्ये च्यवने, "चवियव्व भविस्सइ" स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चविया–चविका–स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १७ पद ।

चविला–चपेटा–स्त्री० । " चपेटापाटौ वा " ॥ ८ । १ । १९८ ॥ इति टस्य वा ल । प्रा० १ पाद । " एत इद्वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे " ॥ ८ । १ । १४६ ॥ इतीत्वम् । प्रा० १ पाद । करतलघाते, उत्त० १ अ० ।

चवेमी–देशी–करसंपुटे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चवेणं–देशी–वचनीये, दे० ना० ३ वर्ग ।

चव्वाइ (ण्)–चार्वाकिन्–त्रि० । चर्वणाशीले, "रोमंथयते कञ्ज, चव्वागी नीरसच विसने त्ति ।" यथा वृषभेश्च वृषसागारिकं नीरसमपरो वृषभश्चर्वयति, एव य· कार्यं रोमन्थायमानो निष्फल रचयन् तिष्ठेत, चर्वणाशीलश्चार्वाकी दुर्व्यवहारी । व्य० ३ उ० ।

चव्वाग–चार्वाक–पु० । लौकायतिके, (सूत्र०) चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तः । यथा–नास्ति कश्चित्परलोकयायी भूतपञ्चकाद्व्यतिरिक्तः पदार्थो, नाऽपि पुण्यपापे स्त इत्यादि, एव चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिका· मानवाः पुरुषा सक्ताः गृद्धा अभ्युपपन्ना· कामेष्विच्छामदनरूपेषु । तथा चोचुः–

" एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचर ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ १ ॥
पिव खाद च साधु शोभने !,

यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गत निवर्तते,
समुदयमात्रमिद कलेवरम् ॥ २ ॥ " सूत्र० १श्रु० १अ० १उ०।

प्रमाण चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकम्-

संति पंच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया ।
पुढवी आउ तेऊ वा, वाउ आगास पचमा ॥ ७ ॥

सन्ति विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्वविशेषणम्, अनेन च भूताभाववादिनिराकरणं द्रष्टव्यम् । इहास्मिम् लोके एकेषां भूतवादिनामाख्यातानि प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तैर्वा भूतवादिभिर्बार्हस्पत्यमतानुसारिभिराख्यातानि स्वयमङ्गीकृत्यान्येषां च प्रतिपादितानि । तानि चामूनि-(सूत्र० टी०)-पृथ्वी १ आपो जल २ तेजो वह्निः ३ वायु. ४ आकाश पञ्चमं येषां तानि । ननु सांख्यादिभिरपि भूतानि मन्यन्त एव तत् कथ चार्वाकमतापेक्षयैव भूतोपन्यास इति चेत् ?, उच्यते-सांख्यादिभिर्हि प्रधानादहङ्कारादिक तथा कालदिगात्मादिक चान्यदपि वस्तुजातमङ्गीक्रियते । चार्वाकैस्तु भूतव्यतिरिक्त नात्मादि किञ्चिन्मन्यत इति तन्मताश्रयणेनैवाय सूत्रोपन्यास इति । (सूत्र० टी०)।

यथा चैतत् तथा दर्शयितुमाह-

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेण, विणासो होइ देहिणो ॥

" एए पंच महब्भूया " इत्यादि । एतान्यनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि तेभ्य. कायाकारपरिणतेभ्य एक' कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति, न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपर. कश्चित्परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदु.खभोक्ता जीवाख्य. पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते । तथाहि एव प्रमाणयन्ति-न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आचा० । ('आता' शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे चैतदात्मन' साम्परायिकत्वसिद्धिर्व्यक्तेणोपपादि)

चव्वागि (ण्)-चार्वाकिन्-त्रि०। 'चव्वाइण्' शब्दार्थे,व्य०३उ०।

चसग-चपक-पु० । सुरापानपात्रे, ज० ५ वक्ष० ।

चाइ (ए)-त्यागिन्-त्रि० । सङ्गत्यागवति, भ० २श० १ उ०। प० व० । आजीविकादिभयप्रव्रजित सङ्क्लिष्टचित्तो द्रव्यक्रियां कुर्वन्नप्यश्रमण एवाऽत्याग्येव , कथम् ?, यत आह सूत्रकारः-

वत्थगधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

वस्त्रगन्धालङ्कारानित्यत्र वस्त्राणि चीनांशुकादीनि, गन्धा कोष्ठपुटादयः, अलङ्काराः कटकादयोऽनुस्वारोऽलाक्षणिक', स्त्रियोऽनेकप्रकारा', शयनानि पर्यङ्कादीनि, चशब्द आसनाद्यनुक्तसमुच्चयार्थ' । एतानि वस्त्रादीनि किम् ?, अच्छन्दा अस्ववशा., ये केचन , न भुञ्जते नासेवन्ते । बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देश' । विचित्रत्वात्सूत्रगते., विपर्ययश्च भवत्येवेति कृत्वा आह-नाऽसौ त्यागीत्युच्यते सुबन्धुवन्नासौ श्रमण इति सूत्रार्थः। क. पुन सुबन्धुरित्यत्र कथानकम्-"जया णंदो चंदगुत्तेण णिच्छूढो, तया तस्स दारेण निगाच्छतस्स दुहिया चंदगुत्ते दिट्ठिं बधइ । एय अक्खाणय जहा आवस्सए-जाव बिंदुसारो राया जाओ, णंदसतिओ य सुबधू णाम अमच्चो। से चाणक्कस्स पदुट्ठे समावण्णो छिद्दाणि मग्गति । अण्णया रायाणं विण्णवेइ-जदि वि तुम्हे अम्ह वित्तं ण देह, तहा वि अम्हेहिं तुम्ह हियं वत्तव्व । भणिय च-तुम्ह माया चाणक्केण मारिया । रण्णा धाती पुच्छिया । आम ति । कारण ण पुच्छियं । केण वि कारणेण रण्णो य सगासं चाणक्को आगओ, जाव दिट्ठिं णो देति ताव चाणिक्को चिंतेति-रुट्ठो एस राया । अह गताउ त्ति काउ दव्व पुत्तपपुत्ताण दाऊण सगोवित्ता य गंधा सजोइया, पत्तयं च लिहिऊण सो वि जोगो समुग्गे छूढो । समुग्गो य चउसु मंजूसासु छूढो, तासु छुभित्ता पुणो गब्भे घरए छूढो,तबहूहिं कीलियाहिं सुघडिय करेत्ता दव्वजायं णातवग्ग च धम्मे णिउंजइत्ता अडवीए गोकुलट्ठाणे इंगिणिमरणं अब्भुवगओ । रण्णा य पुच्छिय-चाणक्को किं करेइ ?। धाती य से सव्वं जहावत्तं परिकहेइ। गहियपरमत्थेण य भणिय-अहो! मया असमिक्खियं कत, सव्वंतेउरजीहवग्गसमग्गो खामेउ णिग्गतो, दिट्ठो अणेण करीसब्भट्ठिओ, खामिय सबहुमाण, भणिओ अणेण-णगर वच्चामो । भणति-मए सव्वपरिच्चाओ कओ त्ति, तओ सुबंधुणा राया विण्णविओ, अहं से पूय करेमि अणुजाणह, अणुण्णाए धूव डहिऊण तम्मि चेव एगप्पदेसे करीसस्सोवरि ते अंगारे परिट्ठवेति । सो य करीसो पलित्तो, दड्ढो चाणक्को। ताहे सुबंधुणा राया विण्णविओ-चाणक्कस्स सतियं घरं मम अणुजाणह, अणुण्णाए गओ पच्चुविक्खमाणेण य घर दिट्ठो, अपवरको घट्टिओ । सुबधू चिंतेइ-किमवि अच्छति । कवाडे भंजित्ता उग्घाडिउ मजूस पासइ । सा वि उग्घाडिया जाव समुग्ग पासइ । मघमघतगधय पत्तय पेच्छति। त पत्तय वाएति। तस्स य पत्तयस्स एसो अत्थो-जो एयं चुन्नय अग्घाएति-सो जइ ण्हाइ वा,समालभइ वा, अलंकारेइ सीओदग च पिवति महतीए सिज्जाए सुवति जाणेण गच्छइ गधव्व वा सुणेइ, एवमादी अन्ने वा इट्ठे विसए सेवेति । जहा साहुणो अच्छति तह सो जदि ण अच्छेइ तो मरति । ताहे सुबंधुणा विणासणत्थ अण्णो पुरिसो अग्घावित्ता सद्दाइणो विसए भुजाविओ,मओ य, तओ सुबधू जीवियट्ठी, अकामो साहू जहा अत्थंतो वि ण साहू।" एवमधिकृतसाधुरपि न साधुरतो न त्यागीत्युच्यते, अभिधेयाऽर्थाभावात् ।

यथा चोच्यते तथा अभिधातुकाम आह—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

चशब्दस्य अवधारणार्थत्वात् य एव कान्तान् कमनीयान्, शोभनानित्यर्थः। प्रियानिष्टान्,इह कान्तमपि किञ्चित् कस्यचित् कुतश्चिन्निमित्तान्तरादप्रिय भवति । यथोक्तम्-"चउहिं ठाणेहिं सते गुणे णासेज्जा । त जहा-रोसेण,पडिनिवेसेण,अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिनिवेसेण । " अतो विशेषण प्रियानिति, भोगान् शब्दादीन्विषयान्, लब्धान् प्राप्तान्, उपनतानिति यावत् । (विपिट्ठि कुव्वइ त्ति) विविधमनेकैः प्रकारै. शुभभावनादिभि' , पृष्ठतः करोति, परित्यजतीत्यर्थ. । स च न बन्धनबद्ध प्रोषितो वा, किं तु स्वाधीनोऽपरायत्त , स्वाधीनानेव त्यजति भोगान् । पुनस्त्यागग्रहण प्रतिसमय त्यागपरिणामवृद्धिसंसूचनार्थम् । भोगग्रहण तु सपूर्णभोगग्रहणार्थं, त्यक्तोपनतभोगसूचनार्थं वा। ततश्च य ईदृशः, हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, स एव त्यागीत्युच्यते, भरतादिवदिति । अत्राह-"जदि भरहजबुनामादिणो सपुष्ठो जे सते

भोगे परिच्चयति,ते परिच्चाइणो,एवं ते भणतस्स अथ दोसो भवति-जे केइ अत्थसारहीणा दमगाइणो पव्वइऊण भावश्रो श्रहिंसादिगुणजुत्ते सामरो अन्जुज्जुया, ते किं अपरिच्चाइणो हवति?। आयरिश्र आह-ते वि तिष्णि रयणकोडीश्रो परिच्चइऊण भावश्रो पव्वइया-अग्गी, उदयं, महिला, तिम्नि रयणाणि लोगसाराणि परिच्चइऊण पव्वइया। दिट्ठंतो-एगो धम्मिपुरिसो सुधम्मसामिणो सगासे कट्ठहारओ पव्वइओ, भिक्खं हिंडतो लोएण भणति-एसो सो कट्ठहारओ पव्वइओ,सो सेहत्तेण आयरिय भणति-मम अन्नत्थ णेह, अह न सक्केमि अहियासित्तए। आयरिएहिं अभओ आपुच्छिओ-वच्चामो त्ति। अभओ भणति-मासकप्पपाउग्गं खित्तं किं एयं न भवति, जेण अन्नत्थ वच्चह?। आयरिएहिं भणियं-जहा सेहनिमित्तं। अभओ भणति-अत्थह वीसत्था, अहमेय लोगं उवाएण निवारेमि। ठिओ आयरिओ। बितिए दिवसे तिन्नि रयणकोडीओ ठवियाओ, उग्घोसावियं नयरे-जहा अभओ दाणं देति। लोगो आगतो। भणियं च णेण-तस्साहं पयाओ तिन्नि कोडीओ देमि, जो एयाइं तिन्नि परिहरइ-अग्गी, पाणियं, महिलियं य। लोगो भणति-एतेहिं विणा किं सुवन्नकोडीहिं। अभओ भणाति-तो किं भणह-दमओ त्ति पव्वइओ। जो वि णिरत्थओ पव्वइओ तेण वि एयाओ तिन्नि सुवन्नकोडीओ परिच्चत्ताओ। सच्चं सामि! ठिओ लोगो पत्तीओ। तम्हा अत्थपरिहीणो वि संजमे ठिओ तिन्नि लोगसाराणि-अग्गी उदयं महिलाओ य परिच्चयंतो चाइ त्ति लब्भति।" कृत प्रसङ्गेति सूत्रार्थः। दश० २ अ०। अष्ट०।

चाउंमा-चामुंमा-स्त्री०। "यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च" ॥ ८। १७८। १॥ इति मस्य स्थानेऽनुनासिकः। चण्डमुण्डविघातिन्याम्, प्रा० १ पाद।

चाउक्कोण-चतुष्कोण-त्रि०। चत्वारः कोणा अस्रयो यस्य सः। चतुरस्रे, जी० ३ प्रति०।

चाउग्घंट-चतुर्घण्ट-त्रि०। चतस्रो घण्टाः पृष्ठतोऽग्रतः पार्श्वतश्चालम्बमाना यस्य सः। नि० १ वर्ग। ज०। ज्ञा०। चतुर्घण्टोपेते, भ० ६ श० ३३ उ०।

चाउज्जाम-चातुर्याम-न०। चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्भूतब्रह्मचर्यत्वेन चतुःसङ्ख्यानां यानानां समाहारश्चतुर्याममम्। पञ्चा० १७ विव०। पं० भा०। स्था०। तदेव चातुर्यामम्। प्रव० ७७ द्वार। नि० चू०। चतुर्महाव्रत्याम, स्था०।

भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पन्नविंति। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं,एवं मुसावायाओ, अदिन्नादाणाओ, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं, सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पन्नवयंति। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं० जाव सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं ॥

द्वाविंशतिरिति। चत्वारो यमा एव यामा निवृत्तयो यस्मिन् स तथा। (बहिद्धादाणाओ त्ति) बहिद्धा मैथुन, परिग्रहविशेष., आदानं च परिग्रह ,नयोर्द्वन्द्वैकत्वम्। अथवा-आदीयत इत्यादानं परिग्राह्यं वस्तु,तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह-बहिस्ताद्धर्मोपकरणाद्बहिर्यदिति, इह च मैथुन परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषित् भुज्यत इति। प्रत्याख्येयस्य प्राणातिपातादेश्चतुर्विधत्वाच्चतुर्यामता धर्मस्येति। इय चेह भावना-मध्यमतीर्थकराणां वैदेहिकानां च चतुर्यामकधर्मस्य पूर्वपश्चिमतीर्थकरयोश्च पञ्चयामधर्मस्य प्ररूपणा शिष्यापेक्षया। परमार्थतस्तु पञ्चयामस्यैवोभयेपामप्यसौ,यतः प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थसाधव ऋजुजडाः, वक्रजडाश्चेति, तस्मादेव परिग्रहो वर्जनीय इत्युपदिष्टे मैथुनवर्जनमवबोद्धुं पालयितुं च न क्षमा., मध्यमविदेहजतीर्थकरतीर्थसाधवस्तु ऋजुप्राज्ञास्तद्बोद्धुं वर्जयितुं च क्षमा इति।

भवतश्चात्र श्लोकौ-

" पुरिमा उज्जुजडाओ, वंकजडाओ य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपण्णाओ, तेण धम्मे दुहा कए ॥ १ ॥
पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ, चरिमा दुरणुपालए।
कप्पे मज्झिमगाण तु, सुविसोज्झे सुपालए त्ति ॥ २॥" स्था० ४ ठा० १ उ०। "अज्जो! वि ण सुपासा पासावच्चेज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता सिज्झिहिंति० जाव अंतं काहिंति" ॥ स्था० ६ ठा०। पञ्चयामचतुर्यामधर्मविचार. केशिनं प्रति गौतमेनोद्भावितः। उत्त० २३ अ०। 'कप्पट्ठिइ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २३३ पृष्ठे 'अकप्पट्ठिइ' शब्दे च प्रथमभागे ११७ पृष्ठे चातुर्यामिकपञ्चयामिकानां कल्पाऽकल्पविधिरुक्तः)

चाउत्थिय-चातुर्थिक-पुं०। चतुर्थे चतुर्थेऽहि जायमाने रोगभेदे, जी० ३ प्रति०।

चाउद्दसी-चातुर्दशी-स्त्री०। प्रतिपद आरभ्य चतुर्दशेऽहोरात्रे, ज्यो० ३ पाहु०। द० प०। "चाउद्दसिं पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।" विशे०।

चाउम्मास-चातुर्मास-पुं०। चत्वारो मासाः समाहृताश्चतुर्मास, तदेव चातुर्मासम्। मासचतुष्के, यथा आषाढ्याः कार्त्तिकीं यावत् उत्कृष्ट पर्युषणाकल्पः। पञ्चा०१७विव०। प्रव०। चतुर्षु मासे भवे, पञ्चा० १५ विव०। चतुर्मासकत्रयाद्या आह्निका कुत उपविशतीति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तमीत' उपविसति, पर पूर्णिमावासरे सुपर्वतिथित्वादात्मन इति। १५५ प्र० सेन० ४ उल्ला०। अथ वटपल्लीयपन्यासपद्मविजयगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा--सामाचार्यां चत्वारि पञ्च वा योजनानि गन्तुमागन्तुं च कल्पते इत्युक्तमस्ति, तद्गमनागमनमाश्रित्य, किं वा गमनमाश्रित्यैवेति प्रश्ने, उत्तरम्--चतुर्मासकमध्ये ग्लानौषधादिकारणे चत्वारि पञ्च वा योजनानि गच्छति, तान्येवागच्छति, न तु ग्लानौषधादिकार्ये सम्पूर्णे सति क्षणमात्रमपि तत्र तिष्ठति, तथा यत्क्रोशं योजनमस्ति तद्गमनागमनाभ्यां ज्ञेयमिति। ३५७ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

चाउम्मासिय-चातुर्मासिक-पुं०। तपोविशेषे, पाक्षिकचातुर्मासिकादितपः कियता कालेन प्राप्यते इति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा शक्त्या तत्तप' त्वरितमेव पूर्णीभवति तथा विधीयते,कालनियमस्तु ग्रन्थे ज्ञातो नास्तीति। ३४ प्र० सेन० ४ उल्ला०।

चाउम्मासी-चातुर्मासी-स्त्री०। चातुर्मास्ये, ध०। (' पज्जुसणा ' शब्दे साधूनां सामाचारी वक्ष्यते) श्रावकाणां तु चातुर्मासीकृत्यानि यथा--पूर्वप्रतिपन्नव्रतेन प्रतिचतुर्मा-

सक तन्नियमाः सदेष्याः, अप्रतिपन्ननियमेन तु यथास्व प्रति चतुर्मासक नियमा ग्राह्याः, वर्षाचतुर्मास्यां पुनर्ये नित्यानियमा. सम्यक्त्वाधिकारे प्रागुक्तास्ते विशिष्य ग्राह्या. । तथाहि-त्रिर्दिर्वा देवपूजाऽष्टभेदादिका सपूर्णदेववन्दन चैत्ये सर्वबिम्बानामर्चनं वन्दन वा स्नात्रमहोमहापूजाप्रभावनादि गुरोर्बृहद्वन्दनम्, अङ्गपूजनप्रभावा स्वस्तिकरचनादिपूर्वं व्याख्यानश्रवण विश्रामणा अपूर्वज्ञानपाठाद्यनेकविधस्वाध्यायकरण प्रासुकनीरपान सचित्तत्यागस्तदशक्तावनुपयोगिनस्त्यागः गृहहट्टभित्तिस्तम्भखट्वाकपाटपट्टपट्टिकासिक्ककघृततैलजलादिभाजने न्धनधान्यादिसर्ववस्तूनां पनकादिससक्तिरक्षार्थं चूर्णकरक्षादि खरण्टनमलापनयनातपमोचनशीतलस्थापनादिना जलस्य द्विस्त्रिर्गालनादिना स्नेहगुडतक्रजलादीनां सम्यगुस्थगनादिनाऽवश्रावण स्नानजलादीनां पनकाद्यससक्तजोवहुलभूमौ पृथक् पृथक् त्यागेन चुल्लीदीपादेरुद्घाटमोचनेन पेषणकण्डनवस्त्रभाजनादिक्षालनादौ सम्यक् प्रत्युपेक्षणेन चैत्यशालादेरपि विलोक्यमानसमारचनेन गृहे च व्यापारस्थानचन्द्रोदयबन्धनेन यथार्ह यतना अभ्याख्यानपैशुन्यपरुषवचननिरर्थकमृषावर्जन कूटतुलादिनाऽव्यवहरणं ब्रह्मचर्यपालन तथा शक्तौ पर्वतिथिपालन शेषदिनेषु दिवाऽब्रह्मत्यागो रात्रौ परिमाणकरण च इच्छापरिग्रहपरिमाणसक्षेपतर सर्वदिग्गमननिषेधस्तदशक्तावनुपयोगिदिग्गमननियम. यथाशक्ति स्नानशिरोगुम्फनदन्तकाष्ठोपानहादित्याग भूखननवस्त्रादिरञ्जनशकटखेटनादिनिषेध' वार्दलाम्द्रवृष्ट्यादिना इलिकादिपाते राजादनाम्रत्यागादि च पर्युषितद्विदलपूपिकादिपर्पटवटिकादिशुष्कशाकतन्दुलीयकादिपत्रशाकनागवल्लीदलटुप्परकखर्जूरद्राक्षाखण्डगुण्ठ्यादीनां कुन्थुकुन्थ्विलिकादिससक्तिसम्भवात् त्याग , औषधादिविशेषकार्ये तु सम्यग् शोधनादियतनतयैव तेषां ग्रहण खरकर्मव्यापारवर्जन जलक्रीडादिनियमन स्नानोद्वर्तनरन्धनादिपरिमाणकरण देशावकाशिकसामायिकपौषधव्रतानां विशेषत पर्वसु करणं नित्य पारणे चाऽतिथिसविभाग. यथाशक्त्युपधानमासादिप्रतिमाकषायेन्द्रियसमारतारणाद्याह्निकापत्तक्षपणमासक्षपणादिविशेषतपोविधान रात्रौ चतुर्विधाहारस्य त्रिविधाहारस्य वा प्रत्याख्यान दीनानाथाद्युद्धरणमित्यादीनि । एतदर्थसवादिन्यश्चतुर्मास्यभिग्रहप्रतिपादिका. पूर्वाचार्यप्रणीता गाथाः श्राद्धविधिवृत्तौ । तथाहि-

" चाउम्मासिअभिग्गह, नाणे तह दसणे चरित्ते अ ।
तवविरिआयारम्मि अ, दव्वाइ अणेगहा हुंति ॥ १ ॥
परिवाडीसज्झाओ, देसणसवण च चिंतण चेव ।
सत्तीए कायव्वं, सिअपचमि-नाणपूआ य ॥ २ ॥
सम्मज्जणोवलेवण-गहुलियामसण चइयभवणे ।
चेइअपूआवदण-निम्मलकरण च बिंबाण ॥ ३ ॥
चारित्तम्मि जलूआ, जूआगडोलपाडण चेव ।
वणकीमखारदाण, इंधणजलणऽन्नतसरक्खा ॥ ४ ॥
वज्जइ अब्भक्खाण, अक्कोस नइ य रुक्खवयण च ।
देवगुरुसवहकरण, पेसुन्न परपरीवाय ॥ ५ ॥
पिइमाइदिट्ठिवचण-जयण निहि सुक्कपमिअविसयम्मि ।
दिणे वभरयणिवेला-परनरसेवाइपरिहारो ॥ ६ ॥
धणधन्नाईनवविह-इच्छामाणम्मि निअमसखेवो ।
परपेसणसदेसय, अह गमणईर्यं दिसि मग्गे ॥ ७ ॥
न्हाणगरायधूवण-विलेवणाहरणफुल्लतंबोल ।
घणसारागुरुकुंकुम-पोट्टिसमयनाहिपरिमाण ॥ ८ ॥
मजिट्ठलक्खकोसु-भगुलियरागाण वत्थपरिमाण ।
रयण वज्जे मणिकणग-रुप्पमुत्ताइपरिमाण ॥ ९ ॥
जवीरजवजबुअ-नारिंगगर्वाजपूराण ।
ककडिअक्खोमवायम-कविठ्ठटिंबरुअविल्लाणं ॥ १० ॥
खज्जूरदक्खदाडिम-उत्तत्तिअनालिकेरकेलाइं ।
चिंचिणिअबोरबिल्लुअ-फलचिब्भडचिब्भमीणं च ॥ ११ ॥
कयरकरमद्याण, भोरडनिंबूअअंबिलीण च ।
अत्थाण अंकुरिअ-नाणाविहफुल्लपत्ताण ॥ १२ ॥
सच्चित्त बहुबीअ, अणंतकाय च वज्जए कमसो ।
विगईं विगइगयाणं, दव्वाण कुणइ परिमाण ॥ १३ ॥
असुअधोअणुलिंपण-खत्तक्खणण च न्हाणदाण च ।
जूआकड्डणमन्द-स्स खित्तकज्जं च बहुभेअ ॥ १४ ॥
खमणपीसणमाई-ण कूरूसक्खाइ कुणइ सखेव ।
जक्षजिल्लप्पणरधण-उव्वट्टणमाइआण च ॥ १५ ॥
देसावगासिअवए, पुढवीखणणे जलस्स आणयणे ।
तह चीरधोअणे न्हा-णपिअणजलणस्स जालणए ॥ १६ ॥
तह दीवबोहणे वा-यवीअणे हरिअछिंदणे चेव ।
अणिवद्धजंपणे गुरु-जणेण य अदत्तए गहणे ॥ १७ ॥
पुरिसासणसयणीए, तह सन्नासणपलोयणाईसु ।
ववहारे परिमाण, दिसि माणं भोगपरिभोगे ॥ १८ ॥
तह सव्वणत्थदमे, सामाइअपोसहे तिहि विभागे ।
सव्वेसु वि सखेव, काउ पइदिवसपरिमाण ॥ १९ ॥
खडणपीसणरधण-भुंजणविक्खणवत्थरयण च ।
कत्तणपिंजणलोढण-धवलणलिंपणयसोहणए ॥ २० ॥
वाहणरोहणलिक्खा-इजोअणे वाणपरिभोगे ।
निंदणलुणणच्छुण-रधणदलणाइकम्मे अ ॥ २१ ॥
सवरण कायव्व, जहसंभवमणुदिण तहा पढणे ।
जिणभवणदसणे सुण-णगुणणजिणभवणकिच्चे अ ॥ २२ ॥
अट्ठमिचउद्दसीसु, कल्लाणतिहीसु तवविसेसेसु ।
काहामि उज्जमसइ, धम्मत्थ वरिसमज्झम्मि ॥ २३ ॥
धम्मत्थ मुहपोत्ती-जलछाणण ओसहाइदाण च ।
साहम्मिअवच्छल्ल, जहसत्ति गुरूण विणओ अ ॥ २४ ॥
मासे मासे सामा-इअ च वरिसम्मि पोसह तु तहा ।
काहाम सत्तीए, अतिहीण सविभाग च " ॥ २५ ॥

इति चतुर्मासीकृत्यानि । ध०२ अधि० । आव०। ('पडिक्कमण' शब्दे चातुर्मासिकप्रतिक्रमणम्)

चाउरंगिज्ज–चातुरङ्गीय–न० । उत्तराध्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तत्र हि मानुष्य १ श्रुति २ धर्म. ३ श्रद्धा ४ चेति चत्वारि परमाङ्गाणि दुर्लभत्वेनोक्तानि । स० ५१ सम० । अनु० ।

चाउरंत–चातुरन्त–त्रि० । चत्वारोऽन्ताः पर्यन्ता' पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रहिमवल्लक्षणा यस्या. पृथिव्या. सा चतुरन्ता, तस्या अय स्वामित्वेनेति चातुरन्तः । स्था० ४ ठा० १ उ० । चत्वारोऽन्ता भूमिभागा' पूर्वसमुद्रादिरूपा यस्य स तथा, स एव चातुरन्त. । चक्रवर्त्तिनि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चतुरन्त–न० । चतसृणां गतीनां नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणानामन्तो यस्यास्तच्चतुरन्तम्, समृध्यादित्वादात्वम् । ध०२ अधि० । चत्वारोऽन्ता गतयो यस्य स तथा । चतुर्गतिके, सूत्र० २ श्रु० २

अ० २ उ० । प्रश्न० । दिग्भेदगतिभेदाभ्यां चतुर्विभागे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

चाउरंतचक्कवट्टि (ण्)–चातुरन्तचक्रवर्तिन्–पुं० । चत्वारोऽन्ताः समुद्रत्रयहिमवल्लक्षणा यस्याः सा चतुरन्ता पृथ्वी, तस्या अयं स्वामी चातुरन्तः, स चासौ चक्रवर्ती चेति । स्था० ५ ठा० । चतुर्षु पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु अन्तेषु वर्तितुं शीलमस्येति । रा० । जी० । चतुरन्ताया भरतादिपृथिव्या एते स्वामिन इति चातुरन्ताः, चक्रेण वर्त्तनशीलत्वाच्च चक्रवर्त्तिनः, ततः कर्मधारयः । चतुरन्तग्रहणेन च वासुदेवादीनां व्युदासः । भ० १२ श० ९ उ० । चतुरन्तायाः पृथिव्या ईश्वरेषु चक्रवर्त्तिषु चतुर्भिर्हयगजरथपदातिभिः सेनाङ्गैरन्तोऽरीणां विनाशो यस्य सः, चतुरन्त एव चातुरन्तः । आसमुद्रमा हिमालयं त्रिविधविद्याधरवृन्दगीतकीर्त्तितया एकच्छत्रषट्खण्डराज्यपालके, उत्त० ११ अ० ।

चाउरंतसंसारकंतार–चातुरन्तसंसारकान्तार–पुं० । चतुरन्त चतुर्विभाग नरकत्वादिभेदेन, तदेव चातुरन्तं, तच्च तत्संसारकान्तारं चेति । चतुर्गतिके संसाराऽरण्ये, स्था० । "तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीईवएज्जा । तं जहा–अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहियाए । " स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चाउरक्कगोक्खीर–चातुरक्यगोक्षीर–न० । चतुःस्थानपरिणामपर्यन्ते गोक्षीरे, (जी०) तच्चैवम्–गवां पुण्ड्रदेशोद्भवेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां कृष्णानां यत् क्षीरं तदन्यासां कृष्णगोभ्य एव यथोक्तगुणाभ्यः पानं दीयते तत्क्षीरमप्येवंभूताभ्योऽन्याभ्यस्तत्क्षीरमप्यन्यासां इति चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तम्, एवंभूतं यत् चातुरक्यं गोक्षीरम् । जी० ३ प्रति० । आ० म० ।

चाउल–तण्डुल–पुं० । शालिव्रीह्यादेस्तण्डुले, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । दे० ना० ३ वर्ग ।

चाउलपलंब–तण्डुलप्रलम्ब–न० । 'चाउलाः' तण्डुलाः शालिव्रीह्यादेस्त एव चूर्णीकृतास्तत्कणिका वा । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । अर्द्धपक्वशाल्यादिकणिकादिके, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । भग्नशाल्यादितण्डुलेषु, आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ० ।

चाउलपिट्ठ–तण्डुलपिष्ट–न० । तन्डुलसत्कपिष्टे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

चाउलोदग–तण्डुलोदक–न० । अष्टिकरके, "तंडुलोदगं अहुणा धोयं च वज्जए" दश० ५ अ० १ उ० । तण्डुलधावनोदके (ग०) "चाउलउदगं बहुपसन्नं" चाउलोदकं तण्डुलोदकमबहुप्रसन्नं नातिस्वच्छीभूतं, मिश्रमित्यर्थः । अबहुप्रसन्नमित्यत्रादावकारलोपः, आर्षत्वात् ।

आदेशत्रिकमेव दर्शयन्ति–

भंडगपासगलग्गा, उत्तेडा बुब्बुया य न समेंति ।
जा ताव मीसगं तं–दुला य रज्झंति जावऽन्ने ॥२१॥

तण्डुलोदके तण्डुलप्रक्षालनभाण्डादन्यस्मिन् भाण्डे प्रक्षिप्यमाणे ये त्रुटित्वा भाण्डकस्य पार्श्वेषु 'उत्तेडा' बिन्दवो लग्नास्ते यावन्न शाम्यन्ति विध्वंसमुपयान्ति तावत् तत् तण्डुलोदकं मिश्रमित्येके । अपरे पुनराहुः–तण्डुलोदके तन्दुलप्रक्षालनभाण्डकादपरस्मिन् भाण्डके प्रक्षिप्यमाणे ये तन्दुलोदकस्योपरि समुद्भूता बुद्बुदास्ते यावदद्यापि न शाम्यन्ति न विनाशमियति तावत् तन्डुलोदकं मिश्रमिति । अन्ये पुनरेवमाहुः–तन्दुलप्रक्षालनानन्तरं तन्दुला रन्धुमारब्धास्ततस्ते यावन्न राध्यन्ति, यावन्नाद्यापि सिध्यन्तीति भावः । तावत् तन्दुलोदकं मिश्रमिति ।

एषां त्रयाणामप्यादेशानां दूषणान्याह–

एए उ अणाएसा, तिन्नि वि कालनियमस्सऽसंभवओ ।
लुक्खेयरभंडगपव–णसंभवासंभवाईहिं ॥२२॥

एते त्रयोऽप्यनादेशा एव, तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, कुतोऽनादेशा इत्याह–कालनियमस्यासंभवात्, न खलु बिन्द्वपगमे, बुद्बुदापगमे, तण्डुलपाकनिष्पत्तौ वा, सदा सर्वत्र प्रतिनियत एव कालो, येन प्रतिनियतकालसंभाविनो मिश्रत्वादूर्ध्वमचित्तत्वस्याप्यमिश्रीभवमानस्य न व्यभिचारसंभवः । कथं प्रतिनियतः कालो न घटते ? इति कालनियमासंभवमाह–"लुक्खेयर" इत्यादि । रूक्षेतरभाण्डपवनसंभवासंभवादिभिः । अत्रादिशब्दाच्चिरकालसलिलभिन्नत्वादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना–इह यदा पाकतः प्रथममानीतं, चिरानीतं वा स्नेहजलादिना न भिन्नं भाण्डं तत् रूक्षमुच्यते, स्नेहादिना तु भिन्नं स्निग्धं, तत्र रूक्षे भाण्डे तण्डुलोदके प्रक्षिप्यमाणे ये बिन्दवः पार्श्वेषु लग्नास्ते भाण्डस्य रूक्षतया झटित्येव शोषमुपयान्ति, स्निग्धे तु भाण्डे भाण्डस्य स्निग्धतया चिरकालम् । ततः प्रथमादेशवादिनां मते रूक्षे भाण्डे बिन्दूनामपगमे परमार्थतो मिश्रस्याप्यचित्तत्वसंभावनया ग्रहणप्रसङ्गः । स्निग्धे तु भाण्डे परमार्थतोऽचित्तस्यापि बिन्दूनामपगमे मिश्रत्वेन संभावनया न ग्रहणमिति । तथा बुद्बुदा अपि प्रचुरखरपवनसंपर्कतो झटिति विनाशमुपगच्छन्ति, प्रचुरखरपवनसंपर्काभावे तु चिरमप्यवतिष्ठन्ते, ततो द्वितीयादेशवादिनामपि मते यदा खरप्रचुरपवनसंपर्कात् झटिति विनाशमेयुर्बुद्बुदास्तदा परमार्थतो मिश्रस्याऽपि तन्डुलोदकस्याचित्तत्वेन संभावनया ग्रहणप्रसङ्गः । यदा तु खरप्रचुरपवनसंपर्काभावे चिरकालमप्यवतिष्ठन्ते बुद्बुदास्तदा परमार्थतोऽचित्तीभूतस्यापि तन्दुलोदकस्य बुद्बुददर्शनतो मिश्रत्वशङ्कायां न ग्रहणमिति । येऽपि तृतीयादेशवादिनस्तेऽपि न परमार्थं पर्यालोचितवन्तः, तन्दुलानां चिरकालपानीयभिन्नाभिन्नत्वेन पाकस्य नियतकालत्वात् । तथाहि–ये चिरकालसलिलभिन्नास्तन्दुला न च नवीना इन्धनादिसामग्री च परिपूर्णा ते सत्वरमेव निष्पद्यन्ते, शेषास्तु मन्दं, ततस्तेषामपि मतेन कदाचिन्मिश्रस्याप्यचित्तत्वसंभावनया ग्रहणप्रसङ्गः कदाचित्पुनरचित्तीभूतस्यापि मिश्रत्वशङ्कासंभवादग्रहणमिति त्रयोऽप्यनादेशाः ।

संप्रति यः प्रवचनाविरोधी आदेशः प्रागुपदिष्टस्तं विभावयिषुराह–

जाव न बहु प्पसन्नं, ता मीसं एस इत्थ आएसो ।
होइ पमाणमचित्तं, बहुप्पसन्नं तु नायव्वं ॥ २३ ॥

यावत्तन्दुलोदकं न बहु प्रसन्नं नातिस्वच्छीभूतं तावन्मिश्र–

मवगन्तव्यम् । एषोऽत्र मिश्रविचारप्रक्रमे प्रनत्यादेशः प्रमाणं, न शेष, यत्तु बहुप्रसन्नमतिस्वच्छीभूतं तदचित्तं ज्ञातव्यम् । ततोऽचित्तत्वेन तस्य ग्रहणे न कश्चिद्दोष. । पिं० । कल्प० । आचा० । वृ० ।

चाउल्लग-देशी-न० । पुरुषपुत्तलके, नि० चू० १ उ० ।

चाउव्वप्ण-चातुर्वर्ण-न० । चत्वारो वर्णा. प्रकाराः श्रमणादयो यस्मिन् स तथा । स एव स्वार्थिकाण् विधानाच्चातुर्वर्णम् । स्था० ५ ठा० २ उ० । श्रमणश्रमणीश्रावकश्राविकाचतुष्टयरूपे सङ्घे, स्था० ५ ठा० २ उ० । ब्राह्मणादिलोके, भ० १५ श० १ उ० ।

चाउव्वण्णाइण्ण-चातुर्वर्णाकीर्ण-त्रि० । चत्वारो वर्णाः श्रमणादय· समाहृता इति चतुर्वर्णं, तदेव चातुर्वर्णम् । तेनाकीर्णं आकुलश्चातुर्वर्णाकीर्ण· । अथवा-चत्वारो वर्णा· प्रकारा यस्मिन्स तथा, दीर्घत्व प्राकृतत्वात्, चतुर्वर्णश्चासावाकीर्णश्च क्षमाज्ञानादिभिर्मेहागुणैरिति चतुर्वर्णाकीर्णः । तथाविधे सङ्घे, "समणस्स भगवओ महावीरस्स चाउव्वन्नाइन्ने सघे । त जहा-समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ ।" स्था० १० ठा० । भ० ।

चाउव्वेज्ज-चातुर्वैद्य-न० । चतुर्णां विद्यानां समाहारे, स्था० १ श्लो० ।

चाग-त्याग-पुं० । प्रोज्झने, पं० व० ।

त्यागशब्दार्थे व्याचिख्यासुराह-

चागो इमेसि सम्मं, मणवयकाएहिँ अप्पवित्तीओ ।
एसा खलु पव्वज्जा, मुक्खफला होइ निअमेणं ॥८॥

त्याग. प्रोज्झनम्, अनयोरारम्भपरिग्रहयो, सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना मनोवाक्कायै त्रिभिरप्यप्रवृत्तिरेव, आरम्भे परिग्रहे च मनसा वाचा कायेन प्रवर्त्तनमिनि भावः । एषा खल्विति । एवैव प्रव्रज्या यथोर्क्तस्वरूपा मोक्षफला भवति, मोक्षः फल यस्या· सा मोक्षफला भवति नियमेनावश्यतया, भावमन्तरेणारम्भादौ मन प्रवृत्त्यसम्भवादिति गाथार्थ. । ८ ॥

अधुनैतत्पर्यायानाह-

पव्वज्जा निक्कमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं ।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥९॥

प्रव्रज्या निरूपितशब्दार्था, निष्क्रमणं द्रव्यभावसङ्गात्, समता सत्त्वेष्विष्टानिष्टेषु, त्यागो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य, तथैव वैराग्य विषयेषु धर्मचरण क्षान्त्याद्यासेवनम्, अहिंसा प्राणिघातवर्जनं, दीक्षा सर्वसत्त्वाभयप्रदानेन भावसत्त्वम् । एकार्थिकानि तु एतानि प्रव्रज्याया एकार्थिकानि, तुर्विशेषणार्थः शब्दनयाभिप्रायेण, समभिरूढनयाऽभिप्रायेण तु नानार्थान्येव, अभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्सर्वशब्दानामिति गाथार्थ. । पं० व० १ द्वार ।

अथ त्यागाष्टकम्-

"संयतात्मा श्रयेच्छुद्धो-पयोग पितर निजम् ।
धृतिमम्बां च पितरौ, तन्मां विसृजत ध्रुवम् ॥ १ ॥
युष्माक सङ्गमोऽनादि-र्बन्धवो नियतात्मनाम् ।
ध्रुवैकरूपान् शीलादि-बन्धूनित्यधुना श्रयेत् ॥ २
कान्ता मे समता चैका, ज्ञातयो मे समक्रिया. ।
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा, धर्मसन्न्यासवान् भवेत् ॥ ३ ॥
धर्मास्त्याज्या· सुसङ्गोत्थाः, क्षायोपशमिका अपि ।
प्राप्य चन्दनगन्धाभ, धर्मसन्न्यासमुत्तमम् ॥ ४ ॥
गुरुत्व स्वस्य नोदेति, शिक्षा स्वात्म्येव यावता ।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरूत्तम ॥ ५ ॥
ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः, शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे, न विकल्पो न वा क्रिया ॥ ६ ॥
योगसन्न्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलाँस्त्यजेत् ।
इत्येव निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥ ७ ॥
वस्तुतस्तु गुणैः पूर्ण-मनन्तैर्भासते स्वतः ।
रूप त्यक्ताऽऽत्मनः साधो-र्निरभ्रस्य विधोरिव " ॥ ८ ॥
इति त्यागाष्टकम् । अष्ट० ८ अष्ट० । परिहारे, पञ्चा० २ विव० ।

चागाणुरूव-त्यागानुरूप-त्रि० । परिहारोचिते, द्वा० १८ द्वा० ।

चाडुकर-चाटुकर-त्रि० । प्रियवादिनि, औ० । प्रियम्वदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० ।

चाडो-देशी-मायाविनि, दे० ना० ३ वर्ग ।

चाणक्क चाण (णि) क्क-पु० । चणकग्रामे जातः, चणकस्य द्विजस्यापत्य वा चाणक्यश्चाणिक्यो वा ।

तदुत्पत्तिश्चैवम्-

"गोल्लासदेशेऽस्ति चणक-ग्रामस्तत्र चणी द्विजः ।
श्रावकः स च तद्गेहे, वियन्ते साधव· स्थिताः ॥ १ ॥
सदन्तोऽस्य सुतो जात·, सूरिपादेषु पातितः ।
तैरूचेऽसौ नृपो भावी, स दध्यौ पापकृन्नृप· ॥ २ ॥
घृष्टा तस्य रदा मास्यद्, गुरूणां तेऽभ्यधु· पुनः ।
भविष्यति तथाऽप्येष, बिम्बान्तरितराज्यकृत् ॥ ३ ॥
विद्यास्थानानि सोऽध्यापि, पाठयोग्यश्चतुर्दश ।
व्यवाहि च सुतां वैप्रीं, पिताऽथ प्राप पञ्चताम् ॥ ४ ॥
चाणिक्यस्य प्रियाऽथागाद्, बन्धूद्वाहे पितुर्गृहम् ।
स्वसारोऽन्याः पुनस्तस्याः, अलङ्कृतविभूषिताः ॥ ५ ॥
आयाता गौरव प्राप्ताः, सा पुनः कर्मकारिका ।
खिन्ना सा स्वगृहेऽथागात्, पत्या पृष्टाऽऽदराज्जगौ ॥ ६ ॥
स दध्यौ निःस्वभार्येत्य-भिभूता तैः स्वपुत्र्यपि ।
ददाति पाटलीपुत्रे, नन्दस्तत्राथ सोऽगमत् ॥ ७ ॥
ततः कार्तिकराकायां, प्रगे न्यस्तान्युपाविशत् ।
नन्दाऽर्थे चास्त तन्न्यस्त, निमित्ती नन्दमूचिवान् ॥ ८ ॥
द्विजोऽय नन्दवशस्य, छायामाक्रम्य तस्थिवान् ।
दास्यूचेऽत्राऽऽस्यतां विप्र!, सोऽमुचत्तत्र कुण्डिकाम् ॥ ९ ॥
तृतीये दण्डिकां न्यस्था चतुर्थे जपमालिकाम् ।
धृष्टोऽयमिति विज्ञाय, क्रुष्टो धृत्वा पदेऽथ सः ॥ १० ॥
सोऽथ क्रुद्धो विप्रोऽवादीत्-
कोशैश्च भृत्यैश्च निवद्धमूल,
पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम् ।
उत्पाट्य नन्द परिवर्त्तयामि,
महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः ॥ ११ ॥
दध्यौ गुरुभिरुक्तोऽसि, बिम्बान्तरितराज्यकृत् ।
राज्ययोग्यस्य कस्यापि, प्रेक्षार्थं सोऽथ निर्ययौ " ॥१२॥ आ० क० । आ० म० । न० । आचा० । संथा० । आ० म० । आ० चू० । स्था० । विशे० । ती० । सूत्र० । आव० । (नन्द वञ्चयित्वा चन्द्रगुप्त राज्ये प्रतिष्ठापितवान् इति ' चंदगुत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०६८ पृष्ठे समुक्तम्)

चाणिक्क–चाणक्य–पुं० 'चाणक्क' शब्दार्थे, आ० क०।

चामर–चामर–न०। चमरपुच्छे, ज्ञा० १६ अ०। प्रकीर्णके, स० ३४ सम०। ज्ञा०। औ०। रा०।

चामरज्झय–चामरध्वज–पुं०। चामरयुक्तध्वजायाम्, औ०।

चामरधारपडिमा–चामरधारप्रतिमा–स्त्री०। चामरधारिण्यां प्रतिमायाम्, जिनप्रतिमानां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते। जी० ३ प्रति०। रा०।

चामरा–चामरा–स्त्री०। चमरीपुच्छे, भ० "णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखकुंददगरयअमियमहियफेणपुंजसंनिगासाओ धवलाओ चामराओ गहाय सलील वीयमाणीओ २ चिट्ठंति" यद्यपि चामरशब्दो नपुंसकलिङ्गे रूढस्तथापीह स्त्रीलिङ्गतया निर्दिष्टः, तथैव क्वचिद्रूढत्वादिति। भ० ९ श० ३३ उ०। जी०॥

चामीकर–चामीकर–न०। कनके, दर्श०। आ० म०।

चामीकररइय–चामीकररचित–त्रि०। सुवर्णरचिते सुवर्णमये, कल्प० २ क्षण।

चामुंडराय–चामुण्डराज–पुं०। ९०० शके वर्तमाने जिनसेनभट्टारकशिष्ये दिगम्बराचार्ये, जै० इ०।

चामुंडा–चामुण्डा–स्त्री०। निहतचण्डमुण्डायां भगवत्याम्, विशे०। आ० म०।

चायंत–शक्नुवत्–त्रि०। समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

चार–चार–पुं०। चरण चारः अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। नि० चू०। प्रश्न०। संचरणे, औ०। चरन्ति भ्रमन्ति ज्योतिष्काविमानानि यत्र स चारः। समस्ते ज्योतिष्कक्षेत्रे, व्युत्पत्त्यर्थमात्रानपेक्षत्वेन शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयणात्। स्था० २ ठा० २ उ०। परिभ्रमणे, स० १२ सम०। मण्डलगत्या परिभ्रमणे, सू० प्र० १० पाहु० ('जोइसिय' शब्देऽस्य विस्तरः)

> चारो चरिया चरणं, एगट्ठं वंजणे तहिं छक्कं।
> दव्वं तु दारुसंकम–जलथलचारादियं बहुहा॥४५॥

(चार इति) 'चर' गतिभक्षणयोः, भावे घञ् (चर्येति) "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे" ॥३।१।१००॥ इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत्, (चरणमिति) भावे ल्युट्, एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थम्, किं तद्? व्यञ्जन–व्यज्यते आविष्क्रियते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जन शब्दः, इत्येतत् पूर्वोक्तं शब्दत्रयमेकार्थम्, एकार्थत्वाच्च न प्रथमनिक्षेपः, तत्र चारनिक्षेपे षट्कं चारस्य, षट्प्रकारो निक्षेप इत्यर्थः। तद्यथा–नामस्थापनेत्यादि। तत्र सुगमत्वात् नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यचारं गाथाशकलेन दर्शयति–(दव्वं तु त्ति) तुशब्दः पुनःशब्दार्थे, द्रव्य पुनरेवंभूत भवति–दारुसंक्रमश्च जलस्थलचारश्च दारुसंक्रमजलस्थलचारौ, तावादी यस्य तद्दारुसंक्रमजलस्थलचारादिकं, बहुधा अनेकधा, तत्र दारुसंक्रमो जले सेत्वादि क्रियते, स्थले वा गर्तालङ्घनादिकं, जलचारो नावादिना, स्थलचारो रथादिना, आदिग्रहणात्प्रासादादौ सोपानपङ्क्त्यादिरिति, यज्जले सेत्वादिना देशान्तरावाप्तये द्रव्य स द्रव्यचार इति गाथार्थः॥४५॥

सम्प्रति क्षेत्रादिकमाह–

> खेत्तं तु जम्मि खित्ते, कालो काले जहिं जवे चारो।
> जावम्मि नाणदंसण–चरणं तु पसत्थमपसत्थं॥४६॥

क्षेत्रं पुनर्यस्मिन्क्षेत्रे चारः क्रियते, यावद्वा क्षेत्रं चर्यते, स क्षेत्रचारः, कालस्तु यस्मिन्काले चरति, यावन्त वा काल, स कालचारः, भावे तु द्विधा चरण–प्रशस्तमप्रशस्तं च। तत्र प्रशस्तं ज्ञानदर्शनचरणान्यतोऽन्यदप्रशस्तं गृहस्थान्यतीर्थिकाणामिति गाथार्थः॥४६॥

तदेव सामान्यतो द्रव्यादिकं चार प्रदर्श्य प्रकृतोपयोगितायाः यतेर्भावचार प्रशस्त प्रश्नद्वारेण दर्शयितुमाह–

> लोगे चउव्विहम्मी, समणस्स चउव्विहो कहं चारो?।
> होइ धिती तहिगारो, विसेसओ खित्तकालेसु॥४७॥

लोके चतुर्विधे द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपे श्रमणस्य श्रोष्यतीति श्रमणो यतिस्तस्य, कथंभूतो द्रव्यादिश्चतुर्विधश्चारः स्यादिति प्रश्ननिर्वचनमाह–भवति धृतिरित्येषोऽधिकारः, द्रव्ये तावद्रसविरसप्रान्तरूक्षादिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थिकभाविते प्रकृत्यरूक्षे वा नोद्वेगः कार्यः, कालेऽपि दुष्कालादौ यथालाभसन्तोषिणा भाव्य, भावेऽप्याक्रोशोपहसनादौ नोद्दीपितव्यम्, विशेषतस्तु क्षेत्रकालयोरुभयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायशस्तन्निमित्तत्वात्॥४७॥

पुनरपि द्रव्यादिकविशेषतो यतेश्चारमाह–

> पावोवरए अपरि–ग्गहे य गुरुकुलनिसेवए जुत्ते।
> उम्मग्गवज्जए रा–गदोसविरए य से विहरे॥४८॥

पापोपरतः पापात् पापहेतोः सावद्यानुष्ठानाद् हिंसाऽनृताऽदत्ताऽऽदानाऽब्रह्मरूपादुपरतः पापोपरतः, तथा न विद्यते परिग्रहो अस्येत्यपरिग्रहः। पापोपरतोऽपरिग्रहश्चेति द्रव्यचारः। क्षेत्रचारमाह–गुरोः कुलं गुरुसान्निध्यं, तत्सेवने युक्तः समन्वितो यावज्जीवं गुरूपदेशादिनेत्यनेन कालचारः प्रदर्शितः। सर्वकाल गुरूपदेशविधायित्वोपदेशाद्भावचारमाह–उत्पतो मार्गोऽन्मार्गोऽकार्याचरणं तद्वर्जकः, तथा रागद्वेषविरतः स साधुर्विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यादिति गता निर्युक्तिः। आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। कलाभेदे, जं० २ वक्ष०। वृत्तविशेषे, येषु चारकुतिका उत्पद्यते। अनु०। तत्फले, न०। प्रज्ञा० १६ पद।

चारग–चारक–न०। बन्दिप्रभृतीनामवस्थापनार्थे गृहविशेषे, दशा० ६ अ०। कल्प०। कारागृहे, आव० १ अ०। गुप्तिगृहे, स्था० ७ ठा०। व्य०। भरतस्य साम्राज्यानुभवनकाले चतुर्विधा दण्डनीतिरभूत्, तत्र तृतीया चारकलक्षणा भरतेन माणवकनिधि परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधविषया। आ० म० प्र०। गुप्तौ, औ०। आ० म०।

चारगपरिसोहण–चारकपरिशोधन–न०। चारकशब्देन कारागृहमुच्यते, तस्य शोधनं शुद्धिः। बन्दिविमोचने, भ० ११ श० ११ उ०। कल्प०।

चारगपाल–चारकपाल–पुं०। गुप्तिरक्षके, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

चारट्ठिइय–चारस्थितिक–पुं०। चारे ज्योतिश्चक्रे क्षेत्रे स्थितिरेव येषां ते चारस्थितिकाः। समयक्षेत्रबहिर्वर्तिषु घण्टाकृतिषु ज्योतिष्केषु, स्था० २ ठा० २ उ०। भ०। चारस्य यथोक्तस्वरू-

पस्य स्थितिरज्ञावो येषां ते चारस्थितिका. । अपगतचारेषु, सू० प्र० १६ पाहु० । जी० ।

चारण–चारण–पु० । चरणं गमनं तद् विद्यते येषां ते चारणाः। " ज्योत्स्नादिभ्योऽण् " ॥ ७ । २ । ३४ ॥ इति मत्वर्थीयोऽण् प्रत्यय. । तच्च गमनमन्येषामप्यस्ति ततो विशेषणान्यथाऽनुपपत्त्या चरणमिह विशिष्टम् आकाशे गमनमागमन वाऽभिगृह्यतेऽन एवातिशयितो मत्वर्थीयोऽयम्, यथा रूपवती कन्येत्यत्र । अतिशयितगमनागमनलब्धिसपन्नेषु, आ० म० प्र० । आव० । न० । आ० चू० । प्र० । साधुविशेषेषु , विशे० । औ० ।

कइविहा णं भंते ! चारणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा चारणा पण्णत्ता । तं जहा–विज्जाचारणा य, जंघाचारणा य । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–विज्जाचारणा, वि० २ ?। गोयमा ! तस्स णं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं विज्जाएसु उत्तरगुणलद्धिखममाणस्स विज्जाचारणलद्धी णामं लद्धी समुप्पज्जइ,से तेणट्ठेणं० जाव विज्जाचारणा, वि० २ । विज्जाचारणस्स णं भंते ! कहं सीहागई, कहं सीहे गइविसए पण्णत्ते ? । गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं देवेणं महिड्ढीए० जाव महेसक्खे० जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा । विज्जाचारणस्स णं तहा सीहागई तहा सीहे गइविसए पण्णत्ते । विज्जाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवइयं गतिविसए पण्णत्ते ? । गोयमा ! से णं एगेणं उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता बितिएणं उप्पाएणं णंदिस्सरवरदीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तइ, पडिणियत्तइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इह चेइयाइं वंदइ,विज्जाचारणस्स ण गोयमा ! तिरियं एवइए गतिविसए पण्णत्ते । विज्जाचारणस्स णं भंते! उड्ढं केवइए गतिविसए पण्णत्ते ?। गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएण णंदणवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता बितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तइ, पडिनियत्तइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इहं चेइयाइं वंदइ, विज्जाचारस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवइयं गइविसए पण्णत्ते । से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा । से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जंघाचारणा, जं०२ । गोयमा ! तस्स णं अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स जंघाचारणलद्धी णामं लद्धी समुप्पज्जइ, से तेणट्ठेणं० जाव जंघाचारणा, जंघा० २ । जंघाचारणस्स णं भंते ! कहं सीहागती, कहं सीहे गतिविसए पण्णत्ते ? । गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे एवं जहेव विज्जाचारणस्स, णवरं तिसत्तक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तहा सीहागई तहा सीहे गतिविसए पण्णत्ते, सेसं तं चेव । जंघाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवइए गतिविसए पण्णत्ते ?। गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं रुयगवरे दीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएणं णंदीसरवरे दीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इह हव्वमागच्छइ, इहं चेइयाइं वंदइ, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवइए गइविसए पण्णत्ते । जंघाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवइए गतिविसए पण्णत्ते ? । गोयमा ! से णं इओ एगेणं पंडगवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पडिणियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएणं णंदणवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इह चेइयाइं वंदइ, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवइए गतिविसए पण्णत्ते । से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा । से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा । सेवं भंते ! भंते त्ति॥

ते च द्विभेदाः–जङ्घाचारणाः, विद्याचारणाश्च । तत्र ये चारित्रतपोविशेषप्रभावत. समुद्भूतगमनागमनविषयलब्धिसपन्नास्ते जङ्घाचारणाः । ये पुनर्विद्यावशत. समुत्पन्नगमनागमनलब्धयस्ते विद्याचारणाः । जङ्घाचारणाश्च रुचकवरद्वीपं यावत् गन्तु समर्थाः, विद्याचारणा नन्दीश्वर, तत्र जङ्घाचारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवस्तत्र रविकरानपि निश्रीकृत्य गच्छन्ति, विद्याचारणास्त्वेवमेव । जङ्घाचारणश्च रुचकवरद्वीप गच्छन् एकेनैवोत्पातेन गच्छति, प्रतिनिवर्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति, द्वितीयेन स्वस्थान, यदि पुनर्मेरुशिखर जिगमिषुस्तर्हि प्रथमेनैवोत्पातेन पण्डकवनमधिरोहति, प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनेति । प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनमागच्छति, द्वितीयेन स्वस्थानमिति, जङ्घाचारणो हि चारित्रातिशयप्रभावतो भवति, ततो लब्ध्युपजीवेन औत्सुक्यभावतः प्रमादसम्भवात् चारित्रातिशयनिबन्धना लब्धिरपि हीयते, तत प्रतिनिवर्तमानो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वस्थानमायाति, विद्याचारण. पुन प्रथमेनोत्पातेन मानुषोत्तर पर्वत गच्छति, द्वितीयेन तु नन्दीश्वर, तत्र च गत्वा चैत्यानि वन्दते, तत. प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति । तथा मेरु गच्छन् प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवन गच्छति, द्वितीयेन पण्डकवन, तत्रैव चैत्यानि वन्दित्वा ततः प्रतिनिवर्तमान एकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति । विद्याचारणो हि विद्यावशाद्भवति, विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते । ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्यतिशयसम्भवादेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानागमनमिति ।

उक्तं च–
"अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहि चारणा मुणयो ।
जंघाहि जाइ पढमो, नीसं काउं रविकरे वि ॥
एगुप्पाएण गतो, रुयगवरम्मितो ततो पडिनियत्तो ।
बिइएणं नंदिस्सर-मिह ततो एइ तइएण ॥
पढमेण पंमगवणं, विइउप्पाएण नंदणं एइ ।
तइउप्पाएण ततो, इह जंघाचारणो होइ ॥
पढमेण माणुसोत्तर-नगम्मि नंदिस्सर तु विइएणं ।
एइ तओ तइएणं, कयचेइयवंदणो इहइं ॥
पढमेण नंदणवणे, बीउप्पाएण पमगवणम्मि ।
एइ इह तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ " ॥ आ० म० प्र० । विशे० । प्रश्न० । जी० । पा० । स्था० । आ० चू० ।
अन्येऽपि बहुभेदाश्चारणा भवन्ति । तद्यथा-आकाशगामिनः पर्यङ्कासनावस्थानिषण्णाः कायोत्सर्गशरीरपादोत्-क्षेपनिक्षेपक्रमादिना व्योमचारिणः, केचित्तु जलजङ्घाफलपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कटकतन्तुज्योतीरश्मिपवनाऽऽलम्बनगतिपरिणामकुशलाः । तथाहि-जलमुपेत्य वापीनिम्नगासमुद्रादिष्वप्कायिकजीवानविराधयन्तो जले भूमाविव पादोत्क्षेपकुशलाः जलचारणाः १, भुव उपरि चतुरङ्गुलप्रमिते आकाशे जङ्घानिक्षेपोत्क्षेपनिपुणाः जङ्घाचारणाः २, नानाद्रुमफलान्युपादाय फलाश्रयप्राण्यविरोधेन फलतले पादोत्क्षेपनिक्षेपकुशला. फलचारणाः ३, नानाद्रुमलतागुल्मपुष्पाण्युपादाय पुष्पसूक्ष्मजीवानविराधयन्तः कुसुमतलदलावलम्बनसंसर्गतया पुष्पचारणा ४, नानावृक्षगुल्मवीरुल्लतावितानप्रवालतरुणपल्लवालम्बनेन पर्णसूक्ष्मजीवानविराधयन्तः चरणोत्क्षेपनिक्षेपपटवः पत्रचारणा. ५, चतुर्योजनशतोच्छ्रितस्य निषधस्य नीलस्य वाऽऽरूढटङ्कच्छिन्नां श्रेणिमुपादायोपर्यधो वा पादनिक्षेपोत्क्षेपपूर्वकमुत्तरणावतरणनिपुणाः श्रेणिचारणाः ६, अग्निशिखामुपादाय तेजःकायिकानविराधयन्तः स्वयमदह्यमाना. पादविहारनिपुणा अग्निशिखाचारणाः ७, धूमवर्त्तिं तिरश्चीनामूर्द्ध्वगां वा आलम्ब्यास्खलितगमनास्पन्दिनो धूमचारणाः ८, नीहारमवष्टभ्याप्कायिकपीडामजनयन्तो गतिमसङ्गामनुभवाना नीहारचारणाः ९, अवश्यायमाश्रित्य तदाश्रयजीवानुपरोधेन यान्तोऽवश्यायचारणाः १०, नभोवर्त्मनि प्रविततजलधरपटलपटास्तरणे जीवानुपघातिचङ्क्रमणप्रभवा मेघचारणाः ११, प्रावृषेण्यादिजलधरादेर्विनिर्गतवारिधाराऽवलम्बनेन प्राणिपीडामन्तरेण यान्तो वारिधाराचारणाः १२, कुब्जवृक्षान्तरालप्रभाविनभ प्रदेशेषु कुब्जवृक्षादिसंबद्धमर्कटतन्त्वालम्बनपादोद्धरणनिक्षेपावदाना मर्कटतन्तूनच्छिन्दयन्तो मर्कटकतन्तुचारणाः १३, चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रान्यतमज्योतीरश्मिसम्बन्धेन भुवीव पादविहारकुशला ज्योतीरश्मिचारणाः १४, पवनेष्वनेकदिग्मुखोन्मुखेषु प्रतिलोमानुलोमवर्त्तिषु तत्प्रदेशावलीमुपादाय गतिमस्खलितचरणविन्यासा नभसि यान्तो वायुचारणाः १५ । इति चारणाश्च सातिरेकानि सप्तदशयोजनसहस्राणि ऊर्द्ध्वमुत्पत्य पश्चात्तिर्यगागच्छन्ति । उक्तं च समवायाङ्गे—" इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सातरेगाइं सत्तरस जोअणसहस्साइं उड्ढं उप्पइत्ता तओ पच्छा चारणाणं तिरियं गती य वत्तति त्ति " ग० २ अधि० ।

चारणगण–चारणगण–पुं० । श्रीगुप्ताचार्यान्निर्गते स्वनामख्याते वीरतीर्थीयानामेकक्रियावाचनानां साधूनां समुदाये, स्था० ९ ठा० ।

थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो हारियसगोत्तेहिंतो इत्थ णं चारणगणे नामं गणे निग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । एवमाहिज्जंति । तं जहा–हारिअमालागारी १, संकासिआ २, गवेधुआ ३, वज्जनागरी ४ । सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? । एवमाहिज्जंति । तं जहा–
"पढमित्थ वच्छलिज्जं, बीअं पुण पीइधम्मिअं होइ ।
तइअं पुण हालिज्जं, चतुत्थयं पूसमित्तिज्जं ॥ १ ॥
पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जवेरयं होइ ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्त कुला चारणगणस्स ॥" कल्प० ८ क्षण ।

चारणपुंगव–चारणपुङ्गव–पुं० । चारणप्रधाने, प्रति० ।

चारणभावणा–चारणभावना–स्त्री० । व० व० । चारणशब्दे चारणस्योक्तस्वरूपम्, चारणस्वरूपं भाव्यते सविस्तरं प्रतिपाद्यते यासु ताश्चारणभावनाः । अङ्गबाह्यकालिकश्रुतभेदे, पा० । ताश्च षोडशवर्षपर्यायस्य दीयन्ते । प० व० २ द्वार ।

चारणलद्धि–चारणलब्धि–स्त्री० । लब्धिभेदे, यद्वशाच्चारणलब्धिर्विद्याधरलब्धिश्च जायते । आ० चू० १ अ० । प्रव० ।

चारणसमण–चारणश्रमण–पुं० । बहुविधैश्वर्यभूतलब्धिकलापोपेते महातपस्विनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तथा योगशास्त्रवृत्तिगतवसुराजाधिकारे चारणश्रमणानां निशि गमनागमनं दृश्यतेऽतो निशि चारणश्रमणा व्योम्नि गमनागमनं कुर्वन्ति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–चारणश्रमणा निशि व्योम्नि गमनागमनं कुर्वन्ति, श्रीपार्श्वनाथचरित्रादावपि तथैव दर्शनादिति । ६५ प्र० सेन० १ उल्ला० ।

चारपुरिस–चारपुरुष–पुं० । गुप्तिरक्षकेषु, आ० म० प्र० ।

चारभड–चारभट–पुं० । राजपुरुषे, बृ० १ उ० । प्रश्न० । नि० चू० । चौरग्राहे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० क० ।

चारि–चारि–स्त्री० । भोजनसंपत्तौ, ध० ३ अधि० । विशे० । न० ।

चारिचरकसंजीव–न्यचरकचारणविधानतश्चरमे ।
सर्वत्र हिता वृत्ति–र्गाम्भीर्यात्समरसापत्त्या ॥ ११ ॥

चारिश्चरको भक्षयिता, संजीवन्या औषधेश्चरकोऽनुपभोक्ता, तस्य चारणमत्यवहरण, तस्य विधानं संपादनं, तस्माच्चारिचरकसंजीवन्यचरकचारणविधानतः, चरमे भावनामयज्ञाने सति,सर्वत्र सर्वेषु जीवेषु हिता वृत्तिः हितहेतुः प्रवृत्तिः,न कस्यचिदहिता । गाम्भीर्यादाशयविशेषात् समरसापत्त्या सर्वानुग्रहरूपया, कयाचित् स्त्रिया कस्यचित् पुरुषस्य वशीकरणार्थं परिव्राजिकोक्ता–यथेमं मम वशवर्तिनं वृषभं कुरु, तया च किल कुतश्चित्सामर्थ्यात् स वृषभः कृतस्तं चारयन्ती पाययन्ती चास्ते, अन्यदा च वटवृक्षस्याऽधस्ताद्विषण्णे तस्मिन् पुरुषगवे विद्याधरीयुग्ममाकाशमागमत् । तत्रैकयोक्तम्–अयं स्वाभाविको न गौः ।

द्वितीययोक्तम्-कथमयं स्वाभाविको भवति ?। तत्राद्ययोक्तम्-अस्य वटस्याधस्तात् संजीवनी नामौषधिरस्ति, यदि तां चरति तदाऽयं स्वाभाविकः पुरुषो जायते। तच्च विद्याधरीवचनं तया स्त्रिया समाकर्णितं, तया चौषधिं विशेषतो अजानानया सर्वामेव चारिं तत्प्रदेशवर्तिनीं सामान्येनैव चारितः, यावत्संजीवनीमुपभुक्तवान्, तदुपभोगानन्तरमेवासौ पुरुषः संवृत्तः। एवमिदं लौकिकमाख्यानकं श्रूयते। यथा तस्याः स्त्रियास्तस्मिन् पुरुषगवे हिता प्रवृत्तिः, एवं भावनाज्ञानसमन्वितस्यापि सर्वत्र भव्यसमुदाये अनुग्रहप्रवृत्तस्य हितैव प्रवृत्तिरिति ॥ षो० ११ विव०।

चारिसंजीवनीचार-न्याय एष सतां मतः ।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्यात्, विशेषेणाऽऽदिकर्मणाम् ॥११७॥

चारेः प्रतीतरूपाया मध्ये संजीवन्यौषधिविशेषश्चारिसंजीवनी, तस्याश्चारश्चरणं, स एव न्यायो दृष्टान्तश्चारिसंजीवनीचारन्यायः, यथोऽविशेषेण देवतानमस्करणीयत्वोपदेशः सतां शिष्टानां मतोऽभिप्रेतः ॥ ११७ ॥ यो० विं० ॥

चारित्त-चारित्र-न० । श्रामण्ये, संथा० । अष्टादशशीलाङ्गसहस्रनिष्पत्तिप्रतिपत्तौ, पं० चू० । पं० व० । स्थूलसूक्ष्मप्राणातिपातादिविरमणपरिणामाऽऽत्मके, आ० म० द्वि० । आचा० । क्रियारूपेऽर्थे, आव०६ अ० । सर्वसावद्ययोगपरिहारनिरवद्ययोगसमाचाररूपेऽर्थे, ध० ३ अधि० । बाह्ये सदनुष्ठाने, आ० १ श्रु० १ अ० । निष्कारणं सदोषभुजां जघन्यतोऽपि चारित्रं स्यान्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-" जं किंचि वि पूइकडं, सड्ढीमागंतु ईहितं । सहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवई ॥१॥" इत्यादिश्रीसूत्रकृदङ्गादिवचनप्रामाण्यान्मुख्यतस्तदभावः, परं सशूकानि शूकादिपरिणामभेदेन गूढागूढालम्बननिरालम्बनवत्त्वेन केषाञ्चित्कथमपि स्यादपि, न स्यादपि केषाञ्चिदत एव पार्श्वस्थादिष्वपि देशसर्वभेदेन भूयानधिकारः सिद्धान्ते प्रोक्तोऽस्तीति । १०६ । प्र० सेन० २ उल्ला० । तथैकेन केनचिच्चारित्रं ब्रह्मचर्यादिव्रतं गृहीतं पश्चात्कर्मवशाद्भग्नम्, अपरेण तु तद्भङ्गभयादेव न गृहीतं, तयोर्मध्ये को गुरुकश्च लघुरिति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-येन व्रतग्रहणवेलायां शुभाध्यवसायेन यत्कर्मार्जितं बोधिलाभस्वर्गायुर्बध्नाति तदर्जितमेव गौतमप्रतिबोधितहालिकवत् कर्मवशाच्च तद्भङ्गेऽपि निन्दागर्हाऽऽदिना नन्दिषेणादिवत् शुद्धोऽपि स्यात्सद्रपेक्षया स लघुकर्मा, येन तु तद् भङ्गभयादेव न गृहीतं स गुरुकर्मा, तद्ग्रहणलाभाभावादिति, अन्यथा तु "वयभंगे गुरुदोसो, थेवस्स वि पालणा गुणकरी अगुरुलाघवं च नेअं" ९७ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चारित्तगिरिपज्जिया-चारित्रगिरिपद्यिका-स्त्री० । चारित्रं सर्वसावद्ययोगपरिहारनिरवद्ययोगसमाचाररूपं, तदेव गिरिः पर्वतस्तस्य पद्यिकेव पद्यिका। गृहिधर्मे, ध० । यथारोहेण पुमान् यथा सुखेन महाशैलमारोहति तथा निष्कलङ्कानुपालितश्रमणोपासकाचारः सर्वविरतिं सुखेनावगाहत इति भावः। ध० २ अधि० ।

चारित्ततह-चारित्रतथ्य-न० । तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० ।

चारित्तपज्जव-चारित्रपर्यव-पुं० । ६ त० । सर्वविरतिरूपपरिणामस्य बुद्धिकृते अविभागपलिच्छेदाविषयकृते वा पर्याये, भ० २५ श० ६ उ० ।

चारित्तपरिणाम-चारित्रपरिणाम-पुं० । सर्वविरतिपरिणतौ, पञ्चा० ९ विव० । प्रव्रज्यास्थतत्वे, प० व० ४ द्वार ।

चारित्तपालण-चारित्रपालन-न० । चयरित्तीकरणं चारित्रं तस्य पालनं यत्तत्तथा । सकलसमितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानकरणे, दर्श० ।

चारित्तब्भंस-चारित्रभ्रंश-पुं० । भ्रष्टचारित्रत्वे, (ग०)

अथ वाङ्मात्रेणापि भ्रष्टचारित्रस्य दण्डप्रतिपादनद्वारेण प्रस्तुतमेवाह-

वायामित्तेण वि ज-त्थ भट्ठचरियस्स निग्गहं विहिणा ।
बहुलद्धिजुअस्सावी, कीरइ गुरुणा तयं गच्छं ॥३१॥

वाङ्मात्रेणापि, किं पुनः कायेनेत्यपिशब्दार्थः । यत्र गच्छे भ्रष्टचरितस्य क्षपितचारित्रस्य साधोः (निग्गहं ति) नपुंसकत्वं प्राकृतत्वात् निग्रहो दण्डो विधिनाऽऽगमोक्तप्रकारेण, कथंभूतस्य बहुलब्धियुतस्यापि अनेकलब्धिसमन्वितस्यापि, क्रियते विधीयते, गुरुणाऽऽचार्येण, क्षुल्लकस्येव पित्रा, स गच्छः स्यादिति । ग० २ अधि० ।

चारित्तभाव-चारित्रभाव-पुं० । चरणपरिणामे, पञ्चा० १७ विव० ।

चारित्तभावणा-चारित्रभावना-स्त्री० । चारित्रस्य फलपर्यालोचनायाम, आव० ४ अ० । (" नवकम्माणायाणं, पोराणं विणिज्जर सुभादाणं । चारित्तस्स व णाए, झायमयत्तेण य समेइ ॥३२॥ " इति ' झाण ' शब्दे व्याख्यास्यते)

चारित्तभेदणी-चारित्रभेदिनी-स्त्री० । कुतीर्थकज्ञानादिरूपायां विकथायाम, न सम्भवन्तीदानीं महाव्रतानि साधूनां, प्रमादबहुलत्वादतिचारशोधकाचार्यतत्कारकशुद्धीनामभावादित्यादिरूपा । ध० ३ अधि० । ग० ।

चारित्तरसायण-चारित्ररसायन-न० । चरणशरीरस्य पुष्टिकरणात् रसायनोपमिते, पञ्चा० १० विव० ।

चारित्तवंत-चारित्रवत्-त्रि० । साधौ, षो० १ विव० ।

चारित्तविणय-चारित्रविनय-पुं० । चारित्रमेव विनयः, चारित्रस्य वा श्रद्धानादिरूपो, विनयश्चारित्रविनयः । विनयभेदे, "सामाइयादि चरणं-स्स सद्दहणया तहेव कायेण । संफासणं परूवण-मह परओ भव्वसत्ताणं । " स्था० ७ ठा० । "से किं तं चारित्तविणए ?। चारित्तविणए पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-सामाइअचारित्तविणए छेदोवट्ठावणिअचारित्तविणए परिहारविसुद्धिचारित्तविणए सुहुमसंपरायचारित्तविणए अहक्खायचारित्तविणए, से त्त चारित्तविणए " ॥ औ० ॥

चारित्तविसोहि-चारित्रविशोधि-स्त्री० । चारित्रस्यातिचारपरिपालनतो विशुद्धौ, स्था० १० ठा० ।

चारित्तसंका-चारित्रशङ्का-स्त्री० । पद्मचरिते अनन्या जैनरथकर्षणाभिग्रहप्रासादुनिर्गततापसाश्रमावस्थितजनमेजययनृपसुतामदनावल्यनुरागादिसकलचरित्रं हारिषेणचक्रिणः प्रोक्ते, श्रीउत्तराध्ययनवृत्तिभावविजयाद्यौ च महापद्मचक्रिचरित्रमिति कथमेतेषां संगतिर्विचारणीया, तत्कारितप्रासादस्य दर्शनेन हारिषेणसांनिध्यमेव संगतिमङ्कति, परमन्यपक्षे बहुग्रन्थ-

सम्मतिरिति वह्वाऽऽरेका समुत्पद्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र मतान्तरमवसीयत इति ॥ ए० प्र० सेन० १ उल्ला० ।

चारित्तसमाहि–चारित्रसमाधि–पुं०। अभ्युद्यतविहारमरणयोः, चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिस्पृहतया निष्किञ्चनोऽपि परं समाधिमाप्नोति । तथा चोक्तम्-" तणसंथारणिसषे, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो। जं पावइ मुत्तिपहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ॥ " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

चारित्तायार–चारित्राचार–पुं० । समितिगुप्तिरूपे आचारभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । ध० । नं० ।

पणिहाणजोगजुत्तो,पंचहिँ समिईहिँ।तिहिँ य गुत्तीहिँ ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ १ए१॥

प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगा व्यापाराः तैर्युक्तः समन्वितः प्रणिधानयोगयुक्तः । अथ चौघतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरपि भवति । अत आह-पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिश्च गुप्तिभिर्यः प्रणिधानयोगयुक्तः एतद्योगयुक्त एतद्योगवानेव । अथवा-पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिष्वस्मिन् विषये एता आश्रित्य प्रणिधानयोगयुक्तो य., एष चारित्राचारः, आचाराचारवतोः कथञ्चिदव्यतिरेकात् अष्टविधो भवति ज्ञातव्यः, समितिगुप्तिभेदात् । समितिगुप्तिरूपश्च प्रवीचाराप्रवीचाररूप यथा प्रतिक्रमणे इति गाथार्थः । उक्तश्चारित्राचारः ॥१६१॥ दश० ३ अ० ।

चारित्ति(ण्)–चारित्रिन्–पुं० । शीलवति,पं० व० १द्वार । निरतिचारचारित्रवति, ध० २ अधि० ।

चारित्रिणः स्वरूपत आह-

मग्गणुसारी सद्धो, पन्नवणिज्जो कियापरो चेव ।
गुणरागी सक्कारं-भसंगश्रो तह य चारित्ती ॥६॥

मार्गं, तत्त्वपथमनुसरत्यनुयातीत्येवशीलो मार्गानुसारी-निसर्गतस्तत्त्वानुकूलप्रवृत्तिः, चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमात् । एतच्च तत्त्वावाप्तौ प्रत्यवन्ध्यकारणं, कान्तारगतविवक्षितपुरप्राप्तिसद्योग्यतायुक्तस्येव, तथा श्राद्ध-तत्त्वं प्रति श्रद्धावान्, तत्प्रत्यनीकक्लेशह्रासातिशयादवासव्यमहानिधानतद्ग्रहणविधानोपदेशश्रद्धालुनरवत् विहितानुष्ठानरुचिर्वा तथा, अत एव कारणात् प्रज्ञापनीयः-कथञ्चिदनाभोगादन्यथाप्रवृत्तौ तथाविधगीतार्थेन सवोधयितुं शक्यः,तथाविधकर्मक्षयोपशमादविद्यमानासदभिनिवेश प्राप्तव्यमहानिधितद्ग्रहणादन्यथाप्रवृत्तसुकरसंबोधननरवत्तथा,अत एव कारणात्क्रियापर -चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमान्मुक्तिसाधनानुष्ठानकरणपरायण. तथाविधनिधानग्राहकवत्, चशब्दः समुच्चये,एवशब्दोऽवधारणे,एव चामयोः प्रयोगः क्रियापर एव नाक्रियापरोऽपि सत्क्रियारूपत्वाच्चारित्रस्य,तथा गुणरागी-विशुद्धाध्यवसायतया स्वगतेषु परगतेषु वा गुणेषु ज्ञानादिषु रागः प्रमोदो यस्यास्त्यसौ गुणरागी, निर्मत्सर इत्यर्थः । तथा शक्यारम्भसङ्गतः-कर्त्तुं शकनीयानुष्ठानयुक्तो, न शक्ये प्रमाद्यति, न चाशक्यमारभत इति भाव.। तथा चेति समुच्चयार्थ. । ततश्च मार्गानुसारितादिगुणयुक्त शक्यारम्भसगतश्चेति स्यात् चारित्री, सर्वतो देशतो वा चारित्रयुक्तो भवतीति गम्यमिति गाथार्थ ॥६॥ पञ्चा०३ विव०।

चारिय–चारिक–पुं० । हैरिके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । सू०। भाषिमके, नि० चू० १ उ० ।

चारु–चारु–त्रि० । शोभने, सू० प्र० २० पाहु० । उपा० । पो०। औ० । चारु शोभनमुल्लपितं च मन्मनभाषितादि, तत्सहगतमुखादिविकारोपलक्षणमेतत्, प्रेक्षितं चार्द्धकटाक्षवीक्षितादि,उल्लपितप्रेक्षितम् । उत्त० १६ अ० । औ० । चं० प्र० । विशिष्टचक्रिमोपेते , रा० । तृतीयतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये , स० । नि० । प्रहरणविशेषे , जी० ३ प्रति० ।

चारुणिया–चारुणिका–स्त्री० । चारुणदेशोत्पन्नायां दास्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चारुदत्त–चारुदत्त–पुं० । कुक्कुटेश्वरतीर्थकारकस्य ईश्वरनृपस्य जीवे, ती० ५५ कल्प । ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिना परिणीतायाः कात्यायनीनाम्न्याः कन्याया. पितरि, उत्त० १३ अ० ।

चारुदत्तदृष्टान्तश्चायम्-

अत्थिऽत्थ पवरनयरी, चंपा छुपागलोगपरिमुक्का ।
तत्थ य सिट्ठी भाणू, भाणू इव भुयणकमलाण ॥ १ ॥
तस्स सुभद्दा गिहिणी, अइनिम्मलसीलधम्मवरधरणी ।
पुत्तो य चारुदत्तो, सुदंतिदंतु व्व विमलगुणो ॥ २ ॥
मित्तेहिँ सह रमंतो, पयाणुसारेण खयरमिहुणस्स ।
स कयावि कयलिगेहे, पत्तो पिच्छेइ असिफलगं ॥ ३ ॥
तत्थ कमेण सद्धिं, दट्ठुं सव्वंगकीलियं खयरं ।
तस्सासिकोसमज्झे, ओसहितियगं तहा तेण ॥ ४ ॥
निस्सल्लो रूढवणो, सचेयणो ताहिँ ओसहीहिँ कश्रो ।
सो जपइ वेयड्ढे, गिरिम्मि सिवमंदिरपुरम्मि ॥ ५ ॥
पुत्तो महिंदविक्कम-नरवइणोऽमियगइ त्ति खयरोऽहं ।
धूमसिहवयस्सेणं, जुत्तो सेच्छाएँ कीलतो ॥ ६ ॥
हरिमंतपव्वयगओ, हिरण्णरोमस्स माउलस्स सुयं ।
सुकुमालियं ति दट्ठुं, मयणत्तो तो गओ सपुरं ॥ ७ ॥
मित्ताउ तय नाउं, पिउणा परिणाविओ य तस्स सुयं ।
अह धूमसिहो तीए, अहिलासी सो मए नाओ ॥ ८ ॥
सुकुमालियाएँ तेण य, समन्निओ तह य आगओ इहयं ।
सो मं पमत्तय कीलिऊण हरिउं गओ भज्जं ॥ ९ ॥
तुमए वि मोइओ ते-ण तुज्झ नाह भवामि रिणमुक्को ।
इय भणिय गओ खयरो, सिट्ठिसुओ नियगिहं पत्तो ॥ १० ॥
सव्वट्ठमाउलसुयं, पिउणा उव्वाहिओ स मित्तवई ।
तह वि हु नीरागमणो, खित्तो दुल्ललियगोट्ठीए ॥ ११ ॥
पत्तो गणियाएँ गिहे, वसंतसेणाएँ तीएँ आसत्तो ।
सोलससुवन्नकोडी, वारसवरिसेहिँ सो देइ ॥ १२ ॥
अक्काएँ निद्धणु त्ति य, गिहाउ निस्सारिओ गओ सगिहं ।
नाउं पिऊण मरणं, गाढयरं दूमिओ चित्ते ॥ १३ ॥
भज्जाएँ भूसणेहिँ, माउलसहिओ गओ वणिज्जेणं ।
नयरे उसीरवत्ते, कप्पासो तत्थ बहु किणिओ ॥ १४ ॥
जंतस्स तामलित्तिं, मग्गे दड्ढो दवेण सो सयलो ।
निब्भग्गसेहरो त्ति य, माउलपणएवि सो चत्तो ॥ १५ ॥
आसारूढो गच्छइ, पच्छिमदिसि तयणु से मओ तुरगो ।
छुत्तण्हपरिकिलंतो, तत्तो पत्तो पियंगुपुरं ॥ १६ ॥
सिट्ठी सुरिंददत्तो, पिउमित्तो तत्थ तस्सगासाओ ।
वुड्ढीएँ दव्वलक्खं, गहिउं सो पोयमारूढो ॥ १७ ॥

पत्तो जमुणादीवं, तस्स पुरेसुं गमागमेणं च ।
अज्जेइ चारुदत्तो, कहमवि कणगऽट्ठकोडीओ ॥ १८ ॥
अह तम्मि नियपदेसा-भिमुहं इंतस्स पवहणं फुट्टं ।
तो फलगलग्गो सत्तहिँ, दिणेहिँ किच्छेण उत्तिण्णो ॥ १९ ॥
उम्बरवइवेलतडे, पत्तो रायपुराऽऽदिउज्जाणे ।
तत्थ तिदण्डी दिणयर-पहनामो तस्स सामिलिओ ॥ २० ॥
तेण सह सो पत्तो, रसहेउ पव्वयस्स कूवीए ।
मञ्चीए ठिओ तुंबय-मज्झिओ रज्जूए ओइण्णो ॥ २१ ॥
ता केण वि भणियमिय, को सि तुमं तयणु तेण इय वुत्तं ।
वाहिओ मि चारुदत्तो, तिदण्डिपणिहिय पक्खित्तो ॥ २२ ॥
सो भणइ पुणो वणिओ, इमिणा निक्खिओ वि इत्थ मे हेट्ठो ।
अङ्गो रसेण गलिओ, तुमं पि ता इत्थ मा विसहु ॥ २३ ॥
इय भणिऊण तेण, समप्पिय तस्स भरियरसतुंबं ।
रज्जूए कावियाए, तिदण्डिणा कारिसिओ सो उ ॥ २४ ॥
मग्गइ रसतुंब तं, नो तारइ तेण तो रसं चत्तो ।
अह लिङ्गिणा स खित्तो, पडिओ रसकूवियाए तडे ॥ २५ ॥
तो वणिणा सो वुत्तो, गोहागुच्छेण उत्तरिज्जासु ।
एवमिमो उत्तरिओ, सुमिरंतो पंचनवकारं ॥ २६ ॥
जा गिरिकुहराउ बहिं, निक्खमइ ताव धाविओ महिसो ।
तो सो सिलाए उवरिं, आरूढो जाव चिट्ठेइ ॥ २७ ॥
ता निग्गओ अयगरो, तेसिं जुज्झंताण सो नट्ठो ।
मिलिओ माउलपुत्तो, अह तस्स रुद्ददत्तो सो ॥ २८ ॥
अह अलत्तयाइ, घेत्तुं चलिया सुवण्णभूमुवरिं ।
तरिउं वेगवइनइं, गिरिकूडे ते गया दो वि ॥ २९ ॥
तो वित्तवणे तत्तो, टंकणदेसम्मि तत्थ दो मेसा ।
किणिउं तेसु चडिउं, पत्ता अज्जपरिसीओ पडुसो ॥ ३० ॥
रुद्देण तओ वुत्तं, इओ परं नत्थि भूमि चारु त्ति ।
तो मेसे मारेउं, उच्छल्लेउं च पविसामो ॥ ३१ ॥
तो पक्खिसमीवे, मारुंडविहगमेहिँ उक्खित्ता ।
वच्चिस्सामो अम्हे, सुवण्णभूमिं सुहेणावि ॥ ३२ ॥
अह तेणुत्तो रुद्दो, जेहिँ उत्तारिया विसमभूमिं ।
ते मेसे कह हणिमो, हियजणए परमबंधु व्व ? ॥ ३३ ॥
रुद्दो भणइ न एमि, त मामी तेण मारिओ मेसो ।
नियओ बीओ य पुणो, तरलच्छो नियइ माणुसुयं ॥ ३४ ॥
तो वुत्तो तेण इम, ताऽसमत्थो तुम किमु करेमि ? ।
जिणधम्मं पडिवज्जसु, सरणं विहुरे वि बंधुसमं ॥ ३५ ॥
दिन्नो नवकारो त-स्स चारुदत्तेण, अह इओ उगओ ।
रुद्देण, तओ दुन्नि वि, तब्भत्थासु पविट्ठा ते ॥ ३६ ॥
उक्खित्ता विहगे-हिँ उड्डिआ एगआमिसत्थीण ।
तेसिं जुज्झंताण, माणुसुओ सरवरे पडिओ ॥ ३७ ॥
छुरियाए छित्तु भत्थ, निस्सरिऊणं गओ नगं एगं ।
दिट्ठो तत्थुस्सग्गे, ठिओ मुणी वंदिओ तेण ॥ ३८ ॥
पारियकाउस्सग्गो, भणइ मुणी धम्मलाभ मह दाउ ।
कहमित्थ भूमिगोयर-अविसयसेले तुमं पत्तो ? ॥ ३९ ॥
खयरोऽहं अमियगई, तइया तुमए वि मोइओ पत्तो ।
अट्ठावयगिरिपासे, मं दट्ठुं सो अरी नट्ठो ॥ ४० ॥
ता हं नियमज्ज गि-ण्हिऊण सिवमंदिरम्मि संपत्तो ।
रज्जे म ठविऊण, मज्झ पिया गिण्हए दिक्खं ॥ ४१ ॥
पुत्तो मे सीहजसो, पत्तीए मणोरमाए संजाओ ।
बीओ वराहगीवो, मम तुट्ठा विक्कमयलेहिं ॥ ४२ ॥
गन्धव्वसेणधूया, तह जाया विजयसेणपत्तीए ।
रज्जं सुयरज्जमहं, दाउ पुत्ताण पव्वइओ ॥ ४३ ॥
कक्कोडगसेलोऽयं, लवणजले कुंभकंठगे दीवे ।
अहमित्थ तवेमि तवं, तुमं पि साहसु नियमवहं ॥ ४४ ॥
सिट्ठसुएण वि सव्वो, नियवुत्तंतो मुणिस्स तो कहिओ ।
अह साहुसुया ते दो, पत्ता तेहिं मुणी नमिओ ॥ ४५ ॥
भणिया ते वरमुणिणा, पुत्ता सो एस चारुदत्तु त्ति ।
इत्थंतरे महिड्ढी, तत्थेगो आगओ तियसो ॥ ४६ ॥
तेण नओ सो पढमं, पच्छा साहू तओ य खयरेहिं ।
पुट्ठो साहइ देवो, हेउ वंदणविवज्जासे ॥ ४७ ॥

तथाहि-

सुलसा तह य सुभद्दा, ससाउ चरियाउ आसि कासीसु ।
वेयगपारगाओ, तीहि जिया वाइणो बहवे ॥ ४८ ॥
अह जागवायपरिव्वा-यगेण सुलसा जिया कया दासी ।
बहुसो रमंतीए, तेण य तीए सुओ जाओ ॥ ४९ ॥
लोगोवहासभीया-णि ताणि तं मुत्तु पिप्पलस्स अहे ।
नट्ठाणि सुभद्दाए, दिट्ठो मुहपक्खियप्पिओ सो ॥ ५० ॥
कयपिप्पलायनामो, तीए संवड्ढिओ गहियविज्जो ।
पियमायमेहनमुहे, जन्ने पवज्जिय ते हणइ ॥ ५१ ॥
तस्स विणेओ वट्टलि-नामाऽहं पसुवहाइ बहु जन्ने ।
काउं नरयम्मि गओ, पंचभवे तो पसू जाओ ॥ ५२ ॥
हणिओ दियहिँ जन्ने, छट्ठभवेऽणेण दिन्नणवकारो ।
सोहम्मे उववन्नो, तो पुव्वमिमो मए नमिओ ॥ ५३ ॥
इय भणिय चारुदत्तं, नमिउं च गओ सुरो सठाणम्मि ।
खयरेहि तेहि सो पुण, नीओ सिवमंदिरे नयरे ॥ ५४ ॥
सक्कारिओ य समा-णिओ य बहुगरुयगउरवेण तहिं ।
खयरेहि तेहि सद्धिं, जा चलिओ नियपुरीसमुहं ॥ ५५ ॥
ता तत्थ सुरवरो सो, पत्तो तव्विहियवरविमाणम्मि ।
आरूढो सिट्ठिसुओ, समागओ झत्ति चपाए ॥ ५६ ॥
बहुयाउ कणयकोडी-उ दाउमह सो सुरो गओ सग्गं ।
नमिऊण चारुदत्तं, खयरा वि गया सठाणम्मि ॥ ५७ ॥
सव्वट्ठमाउलो तह, मित्तवई सा वसंतसेणा य ।
सव्वे वि तस्स मिलिया, फुरिया विमला तहा कित्ती ॥ ५८ ॥
अह सो अत्थमणत्थि-क्कमंदिरं जाणिउं विसुद्धमणो ।
परिग्गहपरिमाणजुअं, गुरुमूले लेइ गिहिधम्मं ॥ ५९ ॥
जहजुग्गं नियदव्वं, सव्वं ववियऊण सत्तखित्तेसु ।
मुच्छामच्छरचत्तो, स चारुदत्तो गओ सुगइं ॥ ६० ॥
एवं ज्ञात्वा चारुदत्तस्य वृत्तं,
नित्यं शिष्टाः ! सुष्ठु सन्तुष्टिपुष्टौ ।
अर्थेऽनर्थक्लेशसंबन्धबद्धे,
धर्मक्षोभं मा स्म धत्त प्रलोभम् ॥ ६१ ॥ ध० र० ।

चारुपाणि-चारुपाणि-त्रि०। चारु प्रहरणविशेषः पाणौ येषां ते चारुपाणयः। करेण चारुनामकप्रहरणधारके, जी० १ प्रति०। रा०।

चारुपेहिणी-चारुप्रेक्षणी-स्त्री०। चारु प्रेक्षितुमवलोकितुं शीलमस्याश्चारुप्रेक्षिणी। अधोदृष्टितादिदोषादुष्टायाम्, उत्त० १ अ०। सुन्दरावलोकनायां, सुन्दरनयनायां वा। उत्त० २२ अ०।

चारुरूव-चारुरूप-त्रि०। मनोहररूपे, कल्प० ३ क्षण।

चारुवण्ण-चारुवर्ण-त्रि०। सत्कीर्तौ, शौर्यादिशरीरवर्णयुक्ते, औ०।

चारुवेस-चारुवेष-त्रि० । चारुर्वेषो नेपथ्यं सत्प्रज्ञा वा यस्य सः। जी० ३ प्रति० । मनोहरनेपथ्ये , ज० १ वक्ष० ।

चारोवग-चारोपग-पुं० । चारयुक्ते ज्योतिष्के , सू० प्र० १९ पाहु० ।

चारोववएणग-चारोपपन्नक-पुं० । चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, तमुपपन्नाश्चारोपपन्नाः । चारमाश्रितवत्सु ज्योतिष्केषु, जी० ३ प्रति० । जं० । स्था० ।

चालण-चालन-न० । स्थानात्स्थानान्तरनयने , ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

चालणा-चालना स्त्री० । गोचरमर्द्धगोचरं वा दूषणं चाल्यते आक्षिप्यते यया वचनपद्धत्या सा चालना । बृ०१ उ० । सूत्रस्यार्थस्य वाऽनुपपत्तेरुद्भावने , एषैव चालनाऽऽवश्यके सामायिकव्याख्याऽवसरे स्वस्थाने विस्तरवती द्रष्टव्या । अनु० । स्था० । विशे० । अधिकृतानुपपत्तिचोदनायाम्, यथा अस्त्विति प्रार्थना न युज्यते, तन्मात्रादिष्टासिद्धेः । ल० ।

चालणी-चालनी-स्त्री० । (चालनी) तितउः, आ० क० । आ० म० । विशे० ।

चालणीपडिवक्ख-चालनीप्रतिपक्ष-न० । चालनीप्रतिपक्षभूते वंशदलनिर्मापिते तापसभाजने, ततो हि बिन्दुमात्रमपि न प्रस्रवति । उक्तं च-"तावसखउरकाढिणयं, चालणिपडिवक्ख न सवइ दव्व पि ॥" आ० म० प्र० ।

चालित्तए-चालयितुम्-अव्य० । भङ्गकान्तरं कर्तुमित्यर्थे, उपा० २ अ० ।

चालेमाण-चालयत्-त्रि० । शरीरस्य मध्यभागे संचराति , जी० ३ प्रति० ।

चाव-चाप-पुं० । धनुषि, औ० । आ० म० । जं० । उपा० । जी० । म० । ज्ञा० । प्रश्न० ।

चावपाणि-चापपाणि-त्रि० । चापं पाणौ येषां ते चापपाणयः । धनुर्हस्तेषु, जी० ३ प्रति० । रा० ।

चावल्ल-चापल्य-न० । आत्मपरिणतीनां स्वस्वकार्यांकरणे पर भावोन्मुखप्रवर्त्तनरूपे अस्थैर्ये, अष्ट० ३ अष्ट० ।

चावाली-चावाला-स्त्री० । स्वनामख्याते ग्रामे , सा चोत्तरदक्षिणभेदाद् द्विधा-"सामी दाहिणचावालीओ उत्तरचावालिं वच्चति" । आ० म० द्वि० । आ० चू० । आ० क० ।

चाविअ-च्यावित-त्रि० । परिस्रंसिते, अनु० ।

चावेडी-चापेटी-स्त्री० । विद्याभेदे, ययाऽन्यस्य चपेटायां दीयमानायामातुरः स्वस्थीभवति । व्य० ५ उ० ।

चास-चाष-पुं० । किकीदिविनि, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । पक्षिविशेषे , रा० । जी० । प्रव० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । उत्त० ।

चासपिच्छ-चाषपिच्छ-न० । चाषपत्रे, रा० ।

चि अ-अव्य० । " एव-चेअ-चिअ-च्च अवधारणे " । ८ । २ । १८४ । इति अवधारणे चिअशब्दः । अवधारणे, प्रा० २ पाद । " सेवादौ वा " । ८ । २ । ९९ । इति वा द्वित्वम् । ' त चेअ' ' तच्चअ ' । प्रा० २ पाद ।

चित-त्रि० । व्याप्ते, अनु० ।

चिआग-त्याग-पुं० । संयतेभ्यो वस्त्रादिदाने आव० ४ अ० ।

चिइ-चिति-स्त्री० । ' चिञ ' चयने इत्यस्य स्त्रियां क्तिन् । कुशलकर्मणः उपचयकरणे, प्रव० २ द्वार । कारणे कार्योपचाराद्रजोहरणाद्युपधिसत्तौ, चीयतेऽसाविति वा व्युत्पत्तेः । आव० ३ अ० । इष्टकादिचये, उत्त० ९ अ० ।

चिइकम्म (ण्)-चितिकर्मन्-न० । कृतिकर्मणि वन्दनके, आव० ३ अ० । चितिकर्मापि द्विधैव-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतस्तापसादिलिङ्गग्रहकर्म, अनुपयुक्तसम्यग्दृष्टे रजोहरणादिकर्म च, भावतः सम्यग्दृष्टयुपयुक्तरजोहरणाद्युपधिक्रियेति । (अत्र क्षुल्लकदृष्टान्तः ' किइकम्म ' शब्देऽत्रैव भागे ५०७ पृष्ठे उक्तः)

चिइच्छा-चिकित्सा-स्त्री० । "स्वरादनतो वा" ।८।४।२४०॥ इत्यनञः पर्युदासाच्च ह्रस्वः । प्रा० ४ पाद । " ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले " । ८ । २ । २१ । इति त्सभागस्य छः । रोगप्रतिकारे, प्रा० २ पाद ।

चिइवंदणा-चैत्यवन्दना-स्त्री० । पूजापुरःसरमर्हद्बिम्बवन्दने , पञ्चा० १ विव० । ध० ।

चिउर-चिकुर-पुं० । पीतरागद्रव्यविशेषे, ज० १ वक्ष० । आ० म० । प्रज्ञा० । रा० । गन्धद्रव्यविशेषे , रा० । प्रज्ञा० । ' चि ' इत्यव्यक्तं शब्दं कुरुति कुर-क । केशे, वृक्षभेदे, पर्वते, सरीसृपे , चपले , तरले , चञ्चले च । त्रि० । वाच० ।

चिउरंगराग-चिकुराङ्गराग-पुं० । चिकुरसंयोगनिमित्ते वस्त्रादौ रागे , रा० । आ० म० ।

चिउरबंध-चिकुरबन्ध-पुं० । केशबन्धपरिज्ञानलक्षणे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

चिउरराग-चिकुरराग-पुं० । पीतद्रव्यविशेषनिष्पादिते वस्त्रादौ रागे , प्रज्ञा० १७ पद ।

चिंचइओ-देशी-मण्डिते, चलिते , दे० ना० ३ वर्ग ।

चिंचा-चिञ्चा-स्त्री० । अम्लिकायाम् , बृ० १ उ० । व्य० । ल० प्र० । पं० व० ।

चिंतग-चिन्तक-पुं० । अप्रमादेन ध्यातरि, आव० ४ अ० ।

चिंतण-चिन्तन-न० । अनुस्मरणे, पर्यालोचने, आव० ४ अ० । चेतसि स्मरणे , परिभावने , उत्त० ३२ अ० ।

चिंतणिया-चिन्तनिका-स्त्री० । अनुप्रेक्षायाम, स्था०५ठा०३उ० ।

चिंतयंत-चिन्तयत्-त्रि० । स्मरति, संथा० । मन्यमाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

चिंता-चिन्ता-स्त्री० । चिन्तनं चिन्ता । नं० । मनश्चेष्टायाम्, आव० ४ अ० । विचारे, उत्त० २३ अ० । पर्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । दश० । स्वरूपपर्यालोचनरूपायां कथायाम् , आव० ४ अ० ।

चिंताजोग-चिन्तायोग-पुं० । मतिसूक्ष्मसंयुक्तिचिन्तनसंबन्धे, षो० ११ विव० ।

चिंताणाण-चिन्ताज्ञान-न० । क्षीररसास्वादतुल्ये, षो०११विव० ।

चिंतामणि-चिन्तामणि-पुं० । चिन्तामात्रेणैवार्थप्रदे मणिभेदे, मन्त्रभेदे, षो० २ विव० ।

चिंतामय-चिन्तामय-त्रि० । चिन्तानिर्वृत्ते, षो० १२ विव० ।

चिंतावग-चिन्तापक-त्रि० । अनुभावके, आ० म० द्वि० ।

चिंतासोगसागरप्पविट्ठा-चिन्ताशोकसागरप्रविष्टा-स्त्री० । चिन्तैव शोकसागरश्चिन्ताप्रधानो वा शोकसागरश्चिन्ताशोकसागरस्तं प्रविष्टा । शोकाधिक्यनिमग्ने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

चिंतिय-चिन्तित-न० । स्मरणे, भ० ६ श० ३३ उ० । नि० ओ० । नि० चू० । भ० । विपा० । चिन्ता सञ्जाताऽस्मिन्निति चिन्तितः । चिन्ताऽऽत्मके, जी० ३ प्रति० । रा० । औ० । विपा० । सूत्र० । परेण हृदि स्थापिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चिंतियव्व-चिन्तितव्य-त्रि० । मनसा विकल्पनीये, तं० । परिभावनीये, पञ्चा० २ विव० ।

चिंतितुं-चिन्तयित्वा-अव्य० । स्मृत्वेत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

चिंध-चिह्न-न० । चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नम् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ७ उ० । "चिह्ने न्धो वा" ॥ ८ । २ । ५० ॥ चिह्ने संयुक्तस्य न्धो वा भवति । ह्लाऽपवादः, पक्षे सोऽपि । 'चिन्धं' चिण्हं, लाञ्छने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । लिङ्गे, पञ्चा० १ विव० ।

चिंधगय-चिह्नगत-त्रि० । चिह्नानि लक्षणानि गतः । औ० । चिह्नप्राप्ते, औ० ।

चिंधज्झय-चिह्नध्वज-पुं० । चिह्नभूतगरुडसिंहवराहाङ्कितध्वजादौ, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

चिंधज्झयपडाग-चिह्नध्वजपताक-त्रि० । चिह्नध्वजा गरुडादिचिह्नयुक्ताः केतवः पताका यस्य स तथा । चिह्नयुक्तध्वजपताकोपेते, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

चिंधणिप्पण्ण-चिह्ननिष्पन्न-त्रि० । लिङ्गिते, " लिंगियं ति वा चिंधणिप्पण्णं ति वा करणणिप्पण्णं ति वा णिमित्तियणिप्पण्णं ति वा एगट्ठा " आ० चू० ६ अ० ।

चिंधपट्ट-चिह्नपट्ट-पुं० । ६ ब० । धीरतासूचके नेत्रादिवस्त्रमयपट्टोपेते, औ० ।

चिंधपुरिस-चिह्नपुरुष-पुं० । पुरुषचिह्नैः श्मश्रुप्रभृतिभिरुपलक्षिते नपुंसके पुरुषवेदे, तेन चिह्नयते पुरुष इति कृत्वेति पुरुषवेषधारिणि स्त्र्यादौ । आह च-" पुरिसाकिई नपुंसो, वेओ वा पुरुसवेओ वा " । स्था० ३ ठा० १ उ० । विशे० ।

चिंधित्थी-चिह्नस्त्री-स्त्री० । चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं, स्तननेपथ्यादिकम् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । चिह्नमात्रेण स्त्रियाम्, ('इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ५९५ पृष्ठे चैतदुक्तम्)

चिंफुल्लणी-देशी-स्त्रीणामर्धोरुकवस्त्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिक्कण-चिक्कण-त्रि० । श्लक्ष्णस्कन्धनिष्पन्ने, प्र० १७ श० १ उ० । पिच्छिले, तं० । दुर्विमोचे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आश्लेषवति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दारुणे, "कम्म संधेइ चिक्कणं" दश० ६ अ० ।

चिक्कणंग-चिक्कणाङ्ग-न० । चिगचिगायमाने शरीरे, तं० ।

चिक्कणीकय-चिक्कणीकृत-त्रि० । तथाविधमृत्पिण्डवत् सूक्ष्मकर्मस्कन्धानां सरसतया परस्पर गाढसंबन्धकरणतो दुर्भेदीकृते कर्मणि, भ० ६ श० १ उ० ।

चिक्खल्ल-चिक्खल्ल-न० । चिखं करोति जलं च भवति चिक्खल्लम् । अनु० । प्रबलकर्दमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सू० । स्था० । आव० । प्रज्ञा० ।

चिक्खल्लय-चिक्खल्लक-न० । उज्जयन्तशैले स्वनामख्याते नगरे, "चिक्खल्लयम्मि नयरे, मउयहरं अत्थि सेलगं दिव्वं । तस्स य मज्झम्मि ठिओ, गणकहरस्स कुंडओ उवरिं ॥ " ती० २ कल्प ।

चिक्खिल्ल-चिक्खिल्ल-न० । कर्दमे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । स० । औ० ।

चिंच-चिंचय-चिंचिल्ल-मंडि-धा० इदित् चुरा० भूषायाम् । भूषायाम्, "मण्डेश्चिञ्चचिञ्चअचिञ्चिल्लरीडटिविडिक्काः " ॥ ८ । ४ । ११५ ॥ इति मण्डेश्चिञ्चाद्यादेशाः । " चिञ्चइ, चिञ्चयइ, चिञ्चिल्लइ " मण्डयति । प्रा० ४ पाद ।

चिंचणा-देशी-घरट्टिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिच्चरी-देशी-चिपिटनासायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिच्चा-त्यक्त्वा-अव्य० । हित्वेत्यर्थे, उत्त० १८ अ० । सूत्र० ।

चिच्चि-चिच्चि-अव्य० । चीत्कारे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

चिच्चो-देशी-चिपिटनासायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिच्चं-देशी-रमणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिट्ठ-स्था-धा० । ऊर्ध्वस्थानेऽनुपवेशने, " स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः " ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति तिष्ठतेरादेशः । प्रा० ४ पाद । " तिष्ठश्चिष्ठः " ॥ ८ । ४ । २९८ ॥ इति मागध्यां तिष्ठतेश्चिष्ठादेशः । ' चिष्ठइ '-तिष्ठति । प्रा० ४ पाद । ऊर्ध्वस्थानेन, (भ० ११ श० ११ उ०) तिष्ठति, 'चिट्ठइत्ता भवति' स्थाता भवति । दशा० ३ अ० ।

चिट्ठणा-स्त्री०-स्थान-न० । अवस्थाने, "पतिट्ठा ठावणा ट्ठाणं, ववत्था संठिती ठिती । अवट्ठाण अवत्था य, एगट्ठा चिट्ठणा विय ॥ " बृ० ६ उ० । (उदकतीरे स्थाननिषेधः "दगतीर" शब्दे वक्ष्यते)

चिट्ठमाण-चेष्टमान-त्रि० । अनुष्ठानं विदधति, पञ्चा० २ विव० । तिष्ठत्-त्रि० । अवस्थाने, वाच० ।

चिट्ठा-चेष्टा-स्त्री० । कायव्यापारे, आचा० २ श्रु० २ चू० । नि० चू० । बृ० । देहावस्थायाम्, आव० ४ अ० ।

चिट्ठिण-स्थित्वा-अव्य० । स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः" ॥८।४।१६॥ इति स्थाधातोश्चिट्ठादेशः । प्रा० ४ पाद । ऊर्ध्वस्थानेनोपविश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

चिट्ठित्ता-स्थित्वा-अव्य० । 'चिट्ठिण' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

चिट्ठिय-चेष्टित-न० । भावे क्तः । सकाममङ्गप्रत्यङ्गावयवप्रदर्शनपुरःसरे प्रियस्य पुरतोऽवस्थाने, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । हस्तन्यासादौ, प्रश्न० ४ संव० द्वार । कृतचेष्टोपेते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चिट्ठिंसु-क्रिया-स्थितवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

चिट्ठियव्व-स्थातव्य-न० । निष्क्रमप्रवेशादिवर्जितस्थाने संयमात्मप्रवचनबाधापरिहारेणोर्ध्वस्थानेनोपवेष्टव्ये, प्र० २ श० १ उ० ।

चिणंसु--क्रिया-अतीतकाले चिन्वति , स्था० २ ठा० ४ उ० । गृहीतवति, स्था० ६ ठा० ।

चिणिज्जंत-चीयमान--त्रि० । 'चिव्वंत' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

चिन्न-चीर्ण-त्रि० । चर-क्त-इट् । चीर्णे, प्रोषितवतामित्यादिरूढित० साधुत्वम् । अन्यथा चरितमिति युक्तम् । उत्त० १३ अ० । पञ्चा० । अङ्गीकृते, निषेविते, उत्त० ३१ अ० । हारिते, भ० १ए श० ३ उ० । सू० प्र० । पञ्चा० । "सव्वं सुचिन्नं सफलं नराणं," सुचीर्णं सम्यक् प्रकारेण कृतं सयमतपःप्रमुखं सर्वम् । उत्त० १३ अ० ।

चित्त-चित्र-त्रि० । आश्चर्यभूते, विपा०१ श्रु०६अ० । नानाप्रकारे, प्रव० ४ द्वार । जी० । अनेकविधे, स्था० १० ठा० । द्वा० । प्रज्ञा० । स० । औ० । विशे० । उत्त० । दर्श० । रा० । आश्चर्यकारिणि, कल्प० ३ क्षण । अतिरम्यतयाऽद्भुते, औ० । शोजयाऽद्भुतभूते, त० । अनेकरूपवति, सू० प्र० १८ पाहु० । विचित्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चित्रकारिणि, कल्प० १ क्षण । चित्रघाति , उत्त० १ए अ० । न० । ज्ञा० । भित्यादिलेख्ये, " चित्रमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम् " । द्वा० ३१ द्वा० । विशे० । औ० । कर्बुरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आलेखने, रा० । आ० म० । वेणुदेववेणुदारिणोः प्रथमे लोकपाले , स्था० ४ ठा० १ उ० । न० । शङ्खराजस्य जागिनेये, आ० म० द्वि० । प्रदेशिराजदूते, श्वेतव्यां नगर्यां चित्रनामा दूतः प्रदेशिराज्ञा प्रेषित० श्रावस्त्यां नगर्यां जितशत्रुसमीपे स्वगृहान्निर्गत्य गतः । नि० १ वर्ग । काम्पिल्यनगरे ब्रह्मदत्तचक्रिपूर्वभवजीवस्य सम्भूतस्य चाण्मालयोनेर्भ्रातरि, उत्त०१३ अ० । (स च यतिर्भूत्वाऽनिदान एव मृतः पुरिमतालनगरे श्रेष्ठिकुले उत्पन्न० प्रवव्राजेति 'बंजदत्त' शब्दे वक्ष्यते) ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिनो राजमहिष्योः विद्युन्मालाविद्युन्मत्यो० पितरि, उत्त० १३ अ० ।

चित्त-न० । अन्तःकरणे, आव० ४ अ० । आचा० । चित्तं मनो विज्ञानमिति पर्यायाः । अनु० । भ० । मानसे, औ० । आतु० । भावे, पञ्चा० २ विव० । चेतनास्वभावे, षो० १३ विव० । चेतयति येन तद् चित्तम् । ज्ञाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । मतौ, आव० ४ अ० । आचार्याभिप्राये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । सामान्योपयोगे, अनु० । चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः । आव० ६ अ० । गत्यागतिस्थितिसकलव्यवहारनिबन्धनस्य बुद्धेराधारे, दर्श० । चित्तमुपयोगो ज्ञानम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । दृढाऽध्यवसाये , वृ० ।

तत् त्रिविधम्—

काायादितिहिक्किकं, चित्तं तिव्वं मजयं च मज्झं च ।
जह सीहस्स गतीओ, मंदा य पुता दुया चेव ॥

पुनर्दृढाध्यवसायात्मकं चित्तं त्रिधा-कायिकं , वाचिकं , मानसिकं च । कायिकं नाम-यत्कायव्यापारेणोपयुक्तो भङ्गकचारणिकां करोति,कूर्मवद्वा संलीनाङ्गोपाङ्गस्तिष्ठति । वाचिकं तुमयेदृशी निरवद्या भाषा भाषितव्या, नेदृशी सावद्येति विमर्शपुरस्सरं यद्भाषते । यद्वा-विकथादिव्युदासेन श्रुतपरावर्त्तनादिकमुपयुक्तः करोति तद्वाचिकम् । मानसं त्वेकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता । पुनरेकैकं त्रिविधम्-तीव्रं, मृदुकं च, मध्यं च । तत्र तीव्रमुत्कटं, मृदुकं च मन्दं, मध्यं च-नातितीव्रं नातिमृदुकमित्यर्थः । यथा सिंहस्य गतयस्तिस्रो भवन्ति । तद्यथा-मन्दा च, प्लुता च, द्रुता च । तत्र मन्दा-विलम्बिता, प्लुता-नातिमन्दा नातित्वरिता, द्रुता चातिशीघ्रवेगा स्यात् । वृ० १ उ० । आव० । (जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं । तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ " इति ध्यानाच्चित्तस्य भेदो 'झाण' शब्दे वक्ष्यते)

चित्तउत्त-चित्रगुप्त-पुं० । पोमशे भविष्यज्जिने, स० । ती० । प्रव० । यमभेदे, चित्रगुप्ताय वै नम इति तर्पणमन्त्रः । वाच० ।

चित्तंग-चित्राङ्ग-पुं० । चित्रस्यानेकविधस्य, विवक्षावशः प्राधान्यात्, माल्यस्य कारणत्वाच्चित्राङ्गाः । स्था० ७ ठा० । सुषमसुषमायां कर्मभूमिषु सदा चाकर्मभूमिषु युगलिमनुष्यसमये जायमानेषु कल्पद्रुमभेदेषु, आ० म० प्र० । स० । जी० । "चित्तंगेसु य मल्लं" चित्राङ्गेषु माल्यमनेकप्रकारसरसमुरभिनानावर्णकुसुमदामरूपं भवति । तं० । श्रीऋषभदेवस्याष्टमे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

चित्तंतरलेस्सा-चित्रान्तरलेश्या-पुं० । चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा । तथाविधेषु ज्योतिष्केषु, यथा चित्रमन्तरं सूर्याणां, चन्द्रान्तरितत्वात् , चित्रलेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात् , सूर्याणामुष्णरश्मित्वात् । जं० ७ वक्ष० । सू० प्र० ।

चित्तकट्टर-चित्रकट्टर-न० । चित्रशब्देन कलिञ्जादिकं वस्तु किञ्चिदुच्यते । तस्य कट्टरः खण्डः । चित्रखण्डे, अनु० ।

चित्तकणगा-चित्रकनका-स्त्री० । द्वितीयायां विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्ष० । स्था० । विदिग्रुचकवास्तव्यां दिक्कुमारिकायाम् , द्वी० । आ० क० । ति० ।

चित्तकम्म (ए)-चित्रकर्मन्-न० । चित्रलिखितरूपके, अनु० । ग० । आचा० ।

चित्तकर-चित्रकर-पुं० । चित्रकारे शिल्पिनि , आव० ४ अ० । अनु० । परिनिष्ठितश्चित्रकारोऽप्यापि रेखादिकं प्रमाणयुक्तं चित्रं करोति, तावन्मात्रं वा वर्णकं गृह्णाति यावन्मात्रेण समाप्यते । आ० म० द्वि० ।

चित्तकह-चित्रकथ-त्रि० । नानाकथाकथके, उत्त० ३ अ० ।

चित्तकूड-चित्रकूट-पुं० । चित्राणि चित्ररूपाणि कूटानि यस्य सः । नं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य सीताया महानद्या उत्तरकूले वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । स० । 'दो चित्तकूडा ' स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे चित्तकूडे णामं वक्खारपव्वए पामत्ते ? । गोयमा ! सीआए महाणईए उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं कच्छविजयस्स पुरच्छिमेणं सुकच्छविजयस्स पच्चच्छिमेणं एत्य णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे चित्तकूडे णामं वक्खारपव्वए पामत्ते । उत्तरदाहिणाए पाईणपमीणविच्छिन्ने सोलस जोअणसहस्साइं पंच य बाणउए जोअणसए दुण्णि

म एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं पंच जोअणसयाइ विक्खंभेणं नीलवंतवासहरपव्वयं तेणं चत्तारि जोअणसयाइं उद्धं उच्चत्तेणं चत्तारि गाउअसयाइं उव्वेहेणं तयाऽणंतरं च णं मायाए २ उस्सेहोव्वेहपरिवुड्ढीए परिवुड्ढमाणे २ सीआमहाणईअंतेणं पंच जोअणसयाइं उद्धं उच्चत्तेणं पंच गाउअसयाइ उव्वेहेणं आसखंधसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे सण्हे० जाव पडिरूवे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंडेहिं सपरिक्खित्ते वण्णओ दुण्ह, वि चित्तकूडस्स णं वक्खारपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव आसयंति । चित्तकूडे णं भंते ! वक्खारपव्वए कति कूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ चित्तकूडे २, कच्छकूडे ३, सुकच्छकूडे ४. समा उत्तरदाहिणेणं परुप्परं पढमं सीआए उत्तरेणं चउत्थयं नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं एत्थ णं चित्तकूडे णामं देवे महिड्ढिए० जाव रायहाणी ॥

अथ यतोऽय पश्चिमायामुक्तस्त चित्रकूटवक्षस्कार लक्षयन्नाह-'कहि ण' इत्यादि सुलभम्, नवरम आयामे पोडशसहस्रयोजनादिरूपो विजयसमान एव, विजयाना विजयवक्षस्काराणां चतुल्यायामत्वात तेन तत्करण प्राग्वदेव, विष्कम्भेन पञ्च योजनानीति विशेषस्तेन तानि कथमित्युच्यते-जम्बूद्वीपपरिमाणविष्कम्भात् पञ्चनवतिसहस्रेषु शोधितेषु अवशिष्टानि चत्वारि सहस्राणि एकस्मिन् दक्षिणे भागे उत्तरे वाऽष्टौ वक्षस्कारगिरय , ततोऽष्टाभिर्विभज्यन्ते तत. सम्पद्यते वक्षस्काराणा प्रत्येकं पूर्वोक्तो विष्कम्भ , इह हि विदेहेषु विजयान्तर्नदीमुखवनमेर्वादिव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्र वक्षस्कारगिरयस्ते पूर्वापरविस्तृता सर्वत्र तुल्यविस्तारा., ततोऽस्य करणस्यावकाश', तत्र विजयषोडशकपृथुत्व पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षडुत्तराणि ३५४०६ । अन्तरनदीषट्पृथुत्व सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५० , मेरुविष्कम्भपूर्वापरभद्रशालवनायामपरिमाण चतु पञ्चाशत्सहस्राणि ५४००० । मुखवनद्वयपृथुत्वमष्टापञ्चाशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि ५८४४ । सर्वमीलने जातानि पञ्चनवतिसहस्राणि ६६००० । इति तथा नीलवद्वर्षधरपर्यंतसमीपे चत्वारि योजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन, तदनन्तर च मात्रया २ क्रमेण २ उत्सेधोद्वेधपरिवर्द्धमान. २ यत्र यावदुच्चत्व तत्र तच्चतुर्थभाग उद्वेध इति द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामधिकतरो भवतीत्यर्थ । शीतामहानद्यन्ते. पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन पञ्चगव्यूतशतान्यूर्ध्वोद्वेधेन, अत एव च स्कन्धसस्थान प्रथमतोऽग्रे तुङ्गत्वात्, क्रमेणान्ते तुङ्गत्वात सर्वरत्नमय , शेष प्राग्वत् । अथास्य शिखरसौभाग्यमावेदयन्ति-" चित्तकूडस्स ण " इत्यादि व्यक्तम ॥ अथात्र कूटसङ्ख्यार्थं पृच्छति-" चित्तकूडे " इत्यादि ॥ पदयोजना सुलभा । भावार्थस्त्वयम्-परस्परमेतानि चत्वार्यपि कूटानि उत्तरदक्षिणभावेन समानि, तुल्यानीत्यर्थ. । तथाहि-प्रथम सिद्धायतनकूट द्वितीयस्य चित्रकूटस्य दक्षिणस्या, चित्रकूट सिद्धायतनकूटस्योत्तरस्याम । एव प्राक्तन प्राक्तनमग्रेतनादग्रेतनाद्दक्षिणस्याम, अग्रेतनमग्रेतन प्राक्तनात् प्राक्तनादुत्तरस्यां ज्ञेय, तर्हि शीतानीलवतोः कस्यां दिशि इमानीत्याह-प्रथमक शीताया उत्तरत:' चतुर्थक नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिण इति सूत्रपाठोक्तक्रमवशात् द्वितीय चित्रनामक प्रथमानन्तर ज्ञेय, तृतीय कच्छनामक चतुर्थादर्वाग् ज्ञेयमिति । चित्रकूटादिषु वक्षस्कारेष्वेवं कूटनामनिवेशे पूर्वेषां सप्रदाय.-सर्वत्राद्य सिद्धायतनकूट , महानदीसमीपतो गण्यमानत्वात, द्वितीयं स्वस्ववक्षस्कारनामक , तृतीय पाश्चात्यविजयनामक, चतुर्थं प्राच्यविजयनामकमिति । अथास्य नामार्थं प्ररूपयति-" एत्थ णं " इत्यादि । अत्र चित्रकूटनामा देव परिवसति , तद्योगात् चित्रकूट इति नाम अस्य राजधानी मेरोरुत्तरत. शीताया उत्तरदिग्भाविवक्षस्काराधिपतित्वात् । एवमग्रेतनेष्वपि वक्षस्कारेषु यथासभव वाच्यमिति गत प्रथमो वक्षस्कार । जं० ४ वक्ष० ।

देवकुरुषु चित्रविचित्रकूटौ नामकौ द्वौ पर्वतौ स्थानतः पृच्छति-

कहि णं भंते ! देवकुराए चित्तविचित्तकूडा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता ? । गोयमा ! णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठचोत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीओआए महाणईए पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं उभओ कूले एत्थ णं चित्तविचित्तकूडा णामं दुवे पण्णत्ता, एवं जच्चेव जमगपव्वयाणं सच्चेव एएसिं रायहाणीओ दक्खिणेणं ॥

" कहि ण भंते ! देवकुराए चित्तविचित्तकूडा " इत्यादि व्यक्त, नवरम एवमुक्तन्यायेन यैव यमकपर्वतयो. वक्तव्यता इति शेष , सैवैतयोश्चित्रविचित्रकूटयो , एतदधिपतिचित्रदेवयोः राजधान्यो दक्षिणेनेति । जं० ४ वक्ष० ।

चित्तकोकिल-चित्रकोकिल-पुं० । नानारूपे कोकिलपक्षिणि, "चित्रोऽन्यः कोकिलो यत्तद्, द्वादशाङ्गी प्रवक्ष्यसि" । इत्युत्पन्नं प्रति वीरजिन । आ० क० ।

चित्तगुत्ता-चित्रगुप्ता-स्त्री० । रुचकपर्वते विहरणशीलायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, द्वी० । जं० । आ० क० । आ० म० । स्था० । चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्य सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । स्था० ।

चित्तघरग-चित्रगृहक-न० । चित्रप्रधाने गृहके, जं० ७ वक्ष० । रा० । जी० ।

चित्तचमक्कय-चित्तचमत्कृत-न० । मनश्चाश्चर्यावगाहित्वे , " जायइ चित्तचमक्क, देविंदाण पि त गच्छ । " महा० ५ अ० ।

चित्तणिबंधणसमुज्जल-चित्रनिबन्धनसमुज्ज्वल-त्रि० । नानाप्रकारकरणाद्युत्पन्ने, पं० व० १ द्वार ।

चित्तण्णास-चित्तन्यास-पुं० । मनोनिक्षेपे, पञ्चा० २ विव० ।

चित्तणिवाइ (ण्)-चित्तनिपातिन्-पुं० । चित्तमाचार्याभिप्राय , तेन निपतितु क्रियायां प्रवर्त्तितु शीलमस्येति चित्तनिपाती । गुरुच्छन्दानुवर्तिनि , आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

चित्तदोस-चित्तदोष-पुं० । क्लेशादिषु चित्त दूषयत्सु, (पो०)

" खेदोद्वेगक्षेपो--त्थानभ्रान्त्यन्यमुद्रुल्लासङ्गैः । युक्तानि हि चित्तानि, प्रबन्धतो वर्जयेन्मतिमान् ॥ १ ॥ " षो० १३ विव० ।

चित्तधणप्पभूय-चित्तधनप्रभूत-त्रि० । प्रभूत बहु चित्रमाश्चर्यमनेकप्रकारं वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचित्रधनम् । प्राकृतत्वात्प्रभूतशब्दस्य परनिपातः । उत्त० । नानाप्रकारचित्रधनशालिनि, " इम गिहं चित्तधणप्पभूयं । " उत्त० १३ अ० ।

चित्तपक्ख-चित्रपक्ष-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । सुवर्णकुमाराणामिन्द्रयोर्वेणुदेववेणुदारिणोस्तृतीये लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० ।

चित्तप्पभव-चित्तप्रभव-त्रि० । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः, चित्तहेतुकत्वाच्चित्तं, चित्त चासौ प्रभवश्च चित्तप्रभव । तथाविधे धर्मे, "धर्मश्चित्तप्रभवो,यत. क्रियाकारणाश्रय कार्यम्" । षो०३विव० ।

चित्तपयजुय-चित्रपदयुत-त्रि० । नानाविधधार्म्मप्रतिपादकाभिधानयुक्ते , पञ्चा० १६ विव० ।

चित्तपरिच्छेय-चित्रपरिच्छेक-पुं० । अर्थौ , " चित्तपरिच्छेयपच्छाए, " चित्रपरिच्छेको लघु. प्रच्छदो वस्त्रविशेषो यस्य स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । औ० ।

चित्तफलग-चित्रफलक-न० । चित्रयुक्ते फलके, "चित्तफलगहत्थगए " चित्रफलकं हस्ते गत यस्य । भ० १५ श० १ उ० ।

चित्तबहुल-चैत्रबहुल-पुं० । चैत्रमासस्यान्धकारपक्षे,जं० २वक्ष० ।

चित्तभित्ति-चित्रभित्ति-स्त्री० । चित्रगतायां स्त्रियाम्, दश०८अ० ।

चित्तभेय-चित्रभेद-पुं० । बहुप्रकारे, पञ्चा० ३ विव० ।

चित्तमंत-चित्तवत्-त्रि० । चित्तं जीवलक्षणं तदस्यास्तीति चित्तवत् । सजीवे, दश० ४ अ० । सचेतने, दश० ४ अ० । पा० । आव० । आचा० ।

चित्तमाणंदिय-चित्तानन्दित-त्रि० । चित्तेनानन्दितः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चित्तमानन्दितं स्फीतीभूतं ('टु नदि' समृद्धाविति वचनात्) यस्य स चित्तानन्दितः । आर्याहिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः । मकारः प्राकृतत्वादाागमिकः । चेतसा प्रहृष्टे, जी० ३ प्रति० ।

चित्तय-चित्रक-पुं० । (चीता) द्वीपिभेदे, आ० म० प्र० । रोमार्थे चित्रका बध्यन्ते । आचा० । अशोकवृक्षे, एरण्डवृक्षे, कुष्ठभेदे, वाच० ।

चित्तरयण-चित्तरत्न-न० । चित्तं मनस्तद्रत्नमिव चित्तरत्नं, निर्मलस्वभावत्वोपाधिजनितविकारत्वादिसाधर्म्यात् । द्वा० २४ द्वा० । प्रकाशस्वभावसाधर्म्यान्मनोमाणिक्ये, पञ्चा० २ विव० ।

चित्तरस-चित्ररस-पुं० । चित्रा विचित्रा रसा मधुरादयो मनोहारिणो येभ्यः सकाशात्संपद्यन्ते ते चित्ररसाः । स्था० ७ ठा० । भोजनाङ्गेषु, स्था० १० ठा० । विशिष्टदलिककलमशालिसालनकपक्वान्नप्रभृतिभ्योऽपि चापरिमितस्वादुतादिगुणोपेतेभ्यः बलपुष्टिहेतुस्वादुभाजनपदार्थपरिपूर्णे फलमध्यैर्विराजमानेषु (तं०) भोजनदायिषु, स० १० सम० । अनेकबहुविधभक्ष्यपरिजतेन भोजनविधिनापपेतेषु, जी० ३ प्रति० युगलिकमनुष्योपभोग्यकल्पवृक्षेषु , आ० म० प्र० ।

चित्तराग-चित्रराग-पुं० । विविधरागरञ्जिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चित्तल-चित्रल-त्रि० । शबले, आव० ४ अ० । न्य० । आरण्ये जीवविशेषे, जी० १ प्रति० ।

चित्तलय-चित्रलक-त्रि० । क' प्रत्ययः स्वार्थिकः, प्राकृतलक्षणवशात् । विचित्रे पञ्चवर्ण (गुल्लादि) रचनोपेते रजोहरणे, ग० ३ अधि० । हरिणाकृतौ द्विखुरविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चित्तलि (ण्)-चित्रलिन्-पुं० । मुकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

चित्तवल्लि-चित्रवल्लि-स्त्री० । गन्धप्रधाने वल्लीभेदे, कल्प०७क्षण ।

चित्तविचित्तजमगपव्वय-चित्रविचित्रयमकपर्वत-पुं० । देवकुरुषु शीतोदाया उभयपार्श्वेतश्चित्रकूटश्च पर्वतः, तथा उत्तरकुरुषु, शीताभिधाया नद्या उभयतो यमकाभिधानौ पर्वतौ स्तः । तेषु, भ० १४ श० ८ उ० ।

चित्तविणास-चित्तविनाश-पुं० । चित्तभेदे, चित्तकालुष्ये, षो० ७ विव० ।

चित्तविणास-चित्तविन्यास-पुं० । मानसावेशने, पञ्चा० ३ विव० ।

चित्तविब्भम-चित्तविभ्रम-पुं० । चित्तभ्रमकारणे, त० । आ०म० । चित्तस्य विभ्रमो विशेषेण भ्रमणमनवस्थान यस्मात् । उन्मादरोगे, वाच० ।

चित्तविप्पुइ-चित्तविप्लुति-स्त्री० । चित्तविप्लवे, चित्तविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवादौ प्रवर्तते । दश० ।

चित्तवीणा-चित्रवीणा-स्त्री० । आकारविशेषवत्यां वीणायाम्, रा० ।

चित्तसंभूइय-चित्रसंभूतीय-न० । चित्रसम्भूतयोश्चाण्डालयोनिजातयोराख्यानकप्रतिबद्धे उत्तराध्ययनानां त्रयोदशेऽध्ययने, (उत्त०) चित्रसभूतीयमिति नाम, अतश्चित्रसंभूतनिक्षेपाभिधानायाऽऽह निर्युक्तिकृत्-

> चित्ते संभूयम्मि य, निक्खेवो चउक्कओ दुहा दव्वे ।
> आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥६४॥
> जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
> एगभवियबद्धाउय-अभिमुहओ नामगोए य ॥ ६५ ॥

"चित्ते सभूतीओ, वेइत्तो भावओ उ नायव्वो । तेसुं इति च" पाठे तयोः समुत्थितमिति भव चित्रसभूतीयम् । "वृद्धाच्छः" ॥ ४ । २ । ११४ ॥ इति (पाणि०) छप्रत्ययः, वृद्धसंज्ञा तु-" वा नामधेयस्य" इति वचनात् ।

सास्प्रतिकाविमौ चित्रसभूतौ , केन चानयोरभिकार इत्याशङ्कयाऽऽह-

> साएए चंदवर्डि-सयस्स पुत्तो उ आसि मुणिचंदो ।
> सो वि य सागरचंद-स्स अंतिए पव्वए समणो ॥६६॥

तएहातुहाकिलंतं, समणं दहूण अमविनिहुयंतं ।
पमिलाभणा य बोही, पत्तो गोवालपुत्तेहिं ॥ ६७ ॥
तत्तो दुन्नि दुगंछं, काउं दासा दसन्ने आयाया ।
दोन्नि य उसुयारपुरे, अहिगारो बंभदत्तेण ॥६८॥

गाथात्रयस्याप्यक्षरार्थः स्पष्ट एव, नवरम् (पव्वइ समण त्ति) प्राव्राजीत्, समानं मनोऽस्येति समनाः, सर्वत्रारक्तद्विष्टचित्तः सन् । यद्वा-श्राम्यतीति श्रमणः तपस्वी सन्, निश्चयनयापेक्ष चैतत्, " नेरइए नेरइएसु उववज्जइ " इत्यादिवत् । तथा (अमविनिहुयंतं ति) अटवीनिःसृतमरण्याभिक्रान्तमित्यर्थः । भावार्थस्तु कथानकगम्यः। तच्चेदम्-अस्ति कोशलाऽलङ्कारभूतं साकेतं नाम नगरं, तत्र चाधिगतजीवाजीवादितत्त्वश्चन्द्रावतंसको नाम राजा, तस्य च धारिणी देवी, तदङ्गजो मुनिचन्द्रः, स च राजा अन्यदा समुत्पन्नसंवेगस्तमेव सुत राज्येऽभिषिच्य प्रव्रज्यामशिश्रियत्, प्रतिपाल्य च प्रव्रज्यामपगतमलकलङ्कोऽपवर्गमगमत् । अन्यदा च सागरचन्द्राचार्या बहुशिष्यपरिवृतास्तत्रागताः, निर्गतश्च चन्द्रनृपतिस्तद्वन्दनाय, दृष्टाश्चानेन सूरयः, स्तुत्वा च तानुपविष्टस्तदान्तिके, श्रुतश्च तत्कथितो विशुद्धो धर्मः, समुत्पन्नश्चास्य तत्कराभिलाषः, ततः स्वसुत राज्ये निवेश्य प्रतिपन्नोऽसौ श्रामण्यं, गृहीता चानेन ग्रहणासेवनोभयलक्षणा शिक्षा, प्रवृत्ताश्चान्यदा सुसार्थेन सगच्छाः सागरचन्द्रसूरयोऽध्वानम्, मुनिचन्द्रमुनिश्च तैः समं व्रजन् गुरुनियोगादेकाक्येव भक्तपाननिमित्तं कश्चित्प्रत्यन्तग्रामे प्राविशत्, प्रविष्टे चास्मिन् प्रवृत्तः सार्थो गन्तु, प्रचलिताः सहानेन सूरयः, विस्मृतश्चायमेषाम्, प्रस्थितश्च क्षणान्तरेण गृहीतभक्तपानस्तदनुकारिणीं विन्ध्याटवीम्, तत्र चासौ परिभ्रमन् गिरिकन्दराण्यतिक्राम् अतिनिम्नोन्नतभूभागान् पश्यन् भयानकानेकक्षोपितरक्षुभल्लादिश्वापदानुत्तीर्णः, तृतीयदिने तदा च क्षुत्क्षामकुक्षिः शुष्कोष्ठकण्ठतालुरेकत्र वृक्षच्छायायां मूर्छावशनष्टचेष्टो दृष्टश्चतुर्भिर्गोपालदारकैः, उत्पन्नाऽमीषामनुकम्पा, ते त्वरितमागत्य गोरसोन्मिश्रतिजलेन पायितोऽसौ, तदैव समाश्वस्तश्च नीतो गोकुलं, प्रति जागरितः तत्कालोचितकृत्येन, प्रतिलाभितः प्रासुकाऽऽदिना, कथितस्तेषामनेन जिनप्रणीतधर्मो, गृहीतश्चायमेतैर्भावगर्भं, गतश्चासौ विवक्षितस्थानं, तं च मलमलिनदेहमवलोक्य द्वयोः समजनि जुगुप्सा, तदनुकम्पातः सम्यक्त्वानुभावतश्च निर्वर्तितं चतुर्भिरपि देवायुः, जग्मुश्च देवलोकं, ततश्च्युतौ चाकृतजुगुप्सौ कतिचिद्भवान्तरितौ इषुकारपुरे द्विजकुले जातौ, (तद्वक्तव्यता च इषुकारीयनाम्न्यनन्तराध्ययनेऽभिधास्यते) यौ च द्वौ जुगुप्सकौ तौ दशार्णजनपदे ब्राह्मणकुले दासतयोत्पन्नौ, तयोश्च य इह ब्रह्मदत्तो भविष्यति, तेनाऽधिकारो . निदानस्यैवात्र वक्तुमुपक्रान्तत्वात्, तैनैव च तद्विधानात्, द्वितीयस्य तु प्रसक्त एवाभिधीयमानत्वात्, इह च नामनिष्पन्ननिक्षेपेऽपि प्रस्तुते प्रसक्तोऽर्थाधिकारोऽप्युक्त इति गाथात्रयभावार्थः । उत्त० १२ अ० । स० । (ब्रह्मदत्तकथानकं 'बम्भदत्त' शब्दे वक्ष्यते) ।

चित्तसंविआ-चित्तसंवित्-स्त्री० । ६ त० । स्वपरचित्तगतरागादिज्ञाने, "हृदये चित्तसंवित्" । हृदये शरीरप्रदेशविशेषेऽधोमुखस्वल्पपुण्डरीकारे संयमाच्चेतसः संवित् स्वपरचित्तगतवासनारागादिज्ञानं भवति । द्वा० २६ द्वा० ।

चित्तसभा-चित्रसभा-स्त्री० । चित्रकर्मवन्मण्डपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आव० । ज्ञा० ।

चित्तसमाहिट्ठाण-चित्तसमाधिस्थान-न० । ६ त० । मनसः समाधिपदेषु, (दशा०) येषु सत्सु चित्तस्य प्रशस्तपरिणतिर्जायते । तानि दश-

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता, कतराइं खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं पन्नत्ताइं ? । इमाइं खलु थेरेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं पन्नत्ताइं । तं जहा-तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णगरे होत्था; एवं नगरवण्णओ भाणियव्वो । तस्स णं वाणियगामस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासए नामं चेइए होत्था; चेइयवण्णओ भाणियव्वो । जितसत्तू राया, तस्स णं धारिणी देवी, एवं समोसरणं भाणियव्वं० जाव पुढविसिलावट्टए सामी समोसढो, परिसा निग्गया, धम्मो कहितो, परिसा पडिगता, अज्जो ! इति समणे भगवं महावीरे समणा निग्गंथा य निग्गंथी य आमंतेत्ता एवं वयासी-इह खलु अज्जो ! णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इरियासमिताणं भासासमिताणं एसणासमिताणं आदाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिताणं उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिताणं मणसमिताणं वयसमिताणं कायसमिताणं मणगुत्ताणं वइगुत्ताणं कायगुत्ताणं गुत्तिंदियाणं गुत्तबंभयारीणं आयट्ठीण आयहिताणं आयजुतीणं आयपरकमाणं पक्खियपोसहिएसु समाहिपत्ताणं झियायमाणाणं इमाइं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं असमुप्पन्नपुव्वाइं समुप्पज्जिज्जा । तं जहा-धम्मचिंता वा से असमुप्पन्नपुव्वा समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए १, सुविणदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुविणं पासित्ते जाइसरणेण वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अप्पणो पोराणिय जाइं सुमरित्तए अह सत्रामि२, देवदंसणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुज्जेज्जा ३, दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए ४, ओहिणाणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोयं जाणित्तए ५, ओहिदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोयं पासित्तए ६, मणपज्जवणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अंतो मणुस्सखित्तेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगते भावे जाणित्तए ७, केवलणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं जाणित्तए ८, केवलदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं पासित्तए ९, केवलमरणे वा से अ-

समुप्पएणपुव्वे समुप्पज्जेज्जा सव्वदुक्खप्पहीणाए १० ।
ओयं चित्तं समादाय, झाणं समणुपस्सति ।
धम्मट्ठितो अविमणे, निव्वाणमभिगच्छति ॥ १ ॥
ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायति ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सएणी णाणेण जाणति ॥ २ ॥
जहा तच्चं तु सुविणं, खिप्पं पासति संवुडे ।
सव्वं च ओहं तरती, दुक्खादो य विमुच्चति ॥ ३ ॥
पंताई भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं ।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति तातिणो ॥ ४ ॥
सव्वकामविरत्तस्स, खमंतो भयभेरवं ।
तओ से ओही भवति, संजतस्स तवस्सिणो ॥ ५ ॥
तवसा अवहुमस्स, दंसणा परिसुज्झति ।
उड्ढमहयं तिरियं च, सव्वं समणुपस्सति ॥ ६ ॥
सुसमाहितलेसस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो ।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणति पज्जवे ॥ ७ ॥
जदा से णाणावरणं, सव्वं होति खतं गतं ।
तदा लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥ ८ ॥
जया से दरिसणावरणे, सव्वं होइ खयं गयं ।
तओ लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली ॥ ९ ॥
पडिमाए विसुज्झाए, मोहणिज्जे खयं गते ।
आससं लोगमलोगं च, पासंति सुसमाहिते ॥ १० ॥
जहा य मत्थयसूयीए, हत्थाए हणती तले ।
एवं कम्माणि हणति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ ११ ॥
सेणावतिम्मि णिहते, जहा सेणा पणस्सति ।
एवं कम्मा पणस्संति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ १२ ॥
धूमहीणो जहा अग्गी, खीयती से निरंधणे ।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ १३ ॥
सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति ।
एव कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ १४ ॥
जहा दड्ढाण बीयाणं, ण जायंते पुण अंकुरा ।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, ण जायंति भवंकुरा ॥ १५ ॥
चिच्चा उरालियं बोंदिं, नाम गोत्त च केवली ।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति णीरये ॥ १६ ॥
एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो ।
सेणिसोधिमुवागम्म, आता सोधिमुवागइ'त्ति बेमि'॥१७॥

" सुयं मे " इत्यादि प्राग्वत्, ननु कृत एव मङ्गलोपचारस्तर्हि किमर्थं भूयोऽपि तदुपादान पौनरुक्त्यात् इति चेत् ?, उच्यते-" यावच्छ्रेयं तदाचरेत् " इति वाक्यात् पुनर्नमस्कारेण न पुनरुक्तताऽऽशङ्कनीया इति, नवरं चित्तस्य मनस समाधिस्थानानि, समाधिपदानीति यावत्। तद्यथा-" ते णं काले णु ते ण समए णं" इत्यादि । ननु स्थविरैरेवामूनि दश चित्तसमाधिस्थानान्युक्तानि इति पूर्वमुक्तं, किमर्थं तर्हि भूयोऽपि भगवद्वचनानुवादपूर्वकम् "ते णं कालेणं" इत्यादि सूत्रम् ?। उच्यते-स्वमनीषिकापरिहारायेदमुक्तम् । यद्वा-स्वयमेव स्थविरैरेवाऽमून्युक्तानि भविष्यन्ति न पुनस्तीर्थकरैरित्यविश्वासपिशाचीनिराकरणायेद सूत्रम्। तत्र यस्यां नगर्यां यस्मिन्नुद्याने यथा भगवांस्त्रिलोकीपतिर्दश चित्तसमाधिस्थानानि व्यागृणाति स्म, तथोपदिदर्शयिषुः प्रथमतो नगर्युद्यानाभिधानपुरस्सरं सकलवक्तव्यतोपक्षेप वक्तुकाम इदमाह-"ते ण काले ण" इत्यादि । 'ते' इति प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्निति, यस्मिन् समये भगवान् प्रस्तुतां चित्तसमाधिस्थानवक्तव्यतामचकथत् तस्मिन् समये, वाणिजग्राम इति नाम्ना नगरमभवत्। नन्विदानीमपि तन्नगर वर्त्तते, तत. कथमुक्तमभवदिति?। उच्यते-वक्ष्यमाणवर्णकग्रन्थोक्तविभूतिसमन्वित तदैवाभवत्। ननु विवक्षितं ग्रन्थविधानकाले, एतदपि कथमवसेयमिति चेत् ?। उच्यते-अयं कालोऽवसर्पिणी, अवसर्पिण्यां च प्रतिक्षणशुभभावादीनि हानिमुपगच्छन्ति । एतच्च सुप्रतीतं जिनवचनवेदिनामतोऽभवदित्युच्यमान न विरोधभाक्। "एत्थ" इत्यत्र नगरवर्णको ज्ञेयः । स चायम्-"रिद्धित्थमियसमिद्धे पमुइयजणजाणवए " इत्यादि औपपातिकग्रन्थप्रतिपादितः समस्तोऽपि वर्णको वाच्यः; स चेह ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवल तत एवोपपातिकादवसेयः। "तस्स णं" इत्यादि। तस्य वाणिजग्रामनगरस्य बहिरुत्तरपौरस्त्यां दिशि उत्तरपूर्वो रूपो दिग्विभागः, ईशानकोण इत्यर्थः। एवकारो मागधभाषाऽनुरोधत. प्रथमैकवचनप्रभवः। यथा-"कयरे आगच्छइ दित्तरूवे" इत्यादौ। दूतीपलाशमिति नाम चैत्यमभवत् । चितेर्लेप्यादिचयनस्य वा भावः कर्म वा चैत्यम् । तच्च सञ्ज्ञाशब्दत्वाद् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धः । ततस्तदाश्रयभूत यद्देवस्य गृहं तदप्युपचाराच्चैत्यम् । " चैत्यमायतनं तुल्ये।" तच्चेह व्यन्तरायतन द्रष्टव्यं, न तु भगवतामर्हतामायतनम्। 'होत्था' इत्यभवत्, (चेइयवण्णओ भाणियव्वो त्ति) चैत्यवर्णको भणितव्यः; सोऽप्यौपपातिकग्रन्थादवसेयः । (जियसत्तू राया, तस्स त्ति) तस्य जितशत्रुराज्ञो धारिणी नाम्नी देवी समस्तान्तःपुरप्रधाना भार्या (एव समोसरण भाणियव्व ति) एवमित्यमुनौपपातिकग्रन्थानुसारेण सर्वं निरवशेष समवसरण भगवदागमनपरिषन्मिलनधर्मकथादिरूपं भणनीयम् "जाव पुढविसिलावट्टए समोसढे" "जाव त्ति" यावत्करणात्-" जेणेव वाणियग्रामे नगरे जेणेव दूतिपलासए चेइए जेणेव पुढविसिलावट्टए तेणेव उवागच्छइ" इत्यादि औपपातिकोक्त पाठसिद्धं सर्वमवसेयम्। संज्ञामात्रमत्रैव दर्शयति-पृथिवीशिलापट्टके स्वामी समवसृतः, पर्षन्निर्गता (धम्मो कहिओ त्ति) स्वामिना पर्षदग्रे "अत्थि लोए" इत्यादिभावप्रदर्शनरूपो धर्मः कथितः। साम्प्रत विवक्षित प्रदर्शयति-(अज्जो ! इति) हे आर्या. ! इत्यामन्त्रणवचन श्रमणो भगवान् महावीरः श्रमणान् निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थ्यश्च आमन्त्रयित्वा एवमवादीत्-"इह खलु" इत्यादि । इह खलु इति निपातौ इति। इह लोके, प्रवचने वा । खल्ववधारणे। निर्ग्रन्थानामिति। निर्ग्रन्था निर्गतान्तरान्मिथ्यात्वादेर्बाह्याच्च धर्मोपकरणवर्ज्जाद्धनादेर्निर्ग्रन्था', तेषां निर्ग्रन्थानाम्, एवं निर्ग्रन्थीनाम् । कथंभूतानामित्याह-(इरियाण ति) सम्यगेकीभावेनेति निश्चयेन समितिः ईर्यायां विषये समिति., शकटादिवाहनाक्रान्तेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु युगमात्रदृष्टिभिर्यानिर्गमन कर्त्तव्य,तद्युक्ता.,तेषाम्। एवं भाषासमितासद्भिर्धैषणासमितिभिर्गोचर-

गतैः साधुभि· सम्यगुपयुक्तैर्नवकोटीविशुद्धं ग्राह्यम् । (आयाणे इत्यादि) आदानं ग्रहणं, निक्षेपणा मोचनं, भाण्डमात्रं सर्वोपकरणं, मध्ये स्थितो भाण्डमात्रशब्दः काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्रापि सबध्यते, ततश्च भाण्डमात्राद्यादाने निक्षेपणायां च समिति· प्रेक्षणप्रमार्जनपूर्विका सुन्दरचेष्टा, तया युक्तानाम्, उच्चारादीनां परिष्ठापना पुनर्ग्रहणतयोपन्यासः, तत्र भवा पारिष्ठापनिका, सा चासौ समितिश्च प्रत्युपेक्षणादिपूर्वा चेष्टा, तया समितानां, तत्रोच्चारः पुरीष, प्रस्रवण मूत्र, खेलो निष्ठीवनं, सिङ्घाणं नासिकाश्लेष्मा, जल्लो मल, तेषां परिष्ठापने समिति, श्रीउत्तराध्ययनोक्तदशगुणं स्थण्डिलं, तथा (मणसमित्ताण त्ति) मनसा समितानाम् । एव वाचा, कायेनेति च स्यात्, तया समितानां गवेषणे(मणगुत्ताण त्ति) गोपन गुप्ति·, तया गुप्तानाम, एवं वचसा, कायेन, अतएव गुप्तेन्द्रियाणां गुप्तब्रह्मचारिणां, भूयः कथभूतानामित्याह-आयतो दीर्घकालावस्थितिकत्वान्मोक्षस्तस्यार्थिनस्तेषाम्, आत्महिता-आत्मनो हितमिव हितम आत्महितं, हिताहितं च शरीरे आत्मनि च भवति, तत्र शरीरे हिताहितं पथ्यापथ्याहारादिकम्, आत्मनि तु हिंसादिप्रवृत्तिनिवृत्ती । अथवा-आत्मनो हितानि त्रीणि त्रिषष्ठानि पाषण्डिकशतानि, तदपनयनं,तदस्ति येषां ते आत्महिता·, तेषाम् (आयजोगीण त्ति) आत्मायत्ताः स्ववशे वर्तमानाः योगा मनोवाक्कायलक्षणा येषां ते आत्मयोगिन·, आत्तयोगिनो वा, तेषा, तथा येषा ते आत्मपराक्रमास्तेषां, तथा (पक्खियपोसहिए सुसमाहिपत्ताणं ति) पक्षे भवं पाक्षिकम् अर्द्धमासिक पर्व, तत्र पोषधः पाक्षिकपोषध·,सोऽस्ति येषां ते पाक्षिकपोषधिकाः। यतश्चूर्णि·-"पक्खिय पक्खियमेव, पक्खिए पोसहो पक्खियपोसहो चाउद्दसिअट्ठमीसु वा "। अत्रापि स एवार्थ· यथा पक्षे अर्द्धमासे भवं पाक्षिकं, तत्र पाक्षिके पोषध· पाक्षिकपोषध·, अत्र च नियतः पोषध उपवासरूपः । यतः श्रीउत्तराध्ययनबृहद्वृत्तौ-" सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु । अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतः पोषध वसेत् " ॥ १ ॥ तथा श्रीआवश्यकचूर्णौ-" सव्वेसु कालपव्वे-सु पसत्थो जिणमते तवो जोगो । अट्ठमिपन्नरसीसु,नियमेण हविज्ज पोसहिओ ॥१॥" इति वचनात् पाक्षिकेऽवश्य तप कार्यम् । उपलक्षण चैतच्चतुर्दश्यष्टम्यो·, तत्रापि तप· कार्यम् इति । अतएवोक्त चूर्णिकृता-" चाउद्दसिअट्ठमीसु वा । " अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थे अनुक्तपर्वसग्राहको व्यावर्णितश्चूर्णिकृता, तत्र तपोविशेषश्चतुर्थादिरूपस्तेन युक्तानां साधूना मध्ये (समाहिपत्ताण ति) समाधिप्राप्तानां ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसमाधिमता (झियायमाणाण ति) धर्मशुक्ल ध्यानं ध्यायमानानाम् (इमाइ ति) इमानि अनन्तरवक्ष्यमाणस्वरूपाणि दश चित्तसमाधिस्थानानि (असमुप्पन्नपुव्वाइं ति) असमुत्पन्नपूर्वाणि, कदाऽप्यतीतकाले न समुत्पन्नपूर्वाणि इत्यर्थ· । समुत्पद्येरन्निति शेष· । तद्यथा-(धम्मेत्यादि) 'से त्ति' निर्देशे,तस्य एवंगुणजातीयस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा (धम्माचिंत त्ति) धर्मो नाम स्वभावः जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च, तद्विषया चिन्ता, कथंरूपा ?-अमी नित्या उतानित्याः, रूपिण उतारूपिण इत्यादिरूपा (असमुप्पन्नपुव्व त्ति) प्राग्वत्, सत्यं धर्म ज्ञातुम् । अथवा धर्मचिन्ता-यथा सर्वे कुसमया अशोभना अनिर्वाहका· पूर्वापरविरुद्धा अत· सर्वधर्मेषु शोभनतरोऽय धर्मो जिनप्रणीत एवंरूपा इत्येकम् १ (सन्नीत्यादि) सं सम्यग्जानातीति सज्ञ·,तस्य यत् ज्ञान सज्ञान, यथा-पूर्वाह्णे गां दृष्ट्वा पुनरपराह्णे प्रत्यभिजानीते-असौ गौरिति । "असमुप्पण्णे" इत्यादि प्राग्वत् । (अह सरामीति) अहं स्मरामीति-अमुकोऽह पूर्वभवे आसं, सुदर्शनादिवत् इति २ । (सुमिणेत्यादि) स्वप्नदर्शन यथा-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः प्रज्ञप्त्यां प्रतिपादित स्वप्नफल तथा,अथ स्त्री पुरुषं वा एकां महतीं हयपङ्क्तिम् (अहातच्च ति) यथातथ्य फल स्वप्नदृष्टुर्जातिस्मरणम्, आत्मन पौराणिकीं जातिं स्मर्तुं चिन्ता उत्पद्यते ३। तत्र(देवदसणे व त्ति) त यथाऽसावितिकृत्वा देवा 'से' तस्य आत्मानं दर्शयन्ति दिव्यां देवर्द्धिं दिव्या देवद्युतिं दिव्य देवानुभाव द्रष्टुम ४। (ओहिनाणे वा से त्ति) अवधिज्ञान ५, शेषवक्तव्यता देवावधिदर्शन ६, मन·पर्यवज्ञानम् (अंते त्ति) अन्तर्मध्ये मनुष्यक्षेत्रस्य अर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धेषु सज्ञिनां मनोलब्धिमताम्, एवविधाना पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तकानां पर्याप्तिषट्कसमेतानां मनसि गतान् मनोगतान् भावान् परिणामस्वरूपान् ज्ञात्रमिति ७। 'केवलनाणे' इत्यादि व्यक्तम, नवरं केवलकल्पमिति केवल ज्ञानवत् परिपूर्ण सकलस्वांशसपूर्ण लोकालोक ज्ञातुम ८। एव केवलदर्शनम् ९। (केवलमरणमिति) केवलज्ञानेन यद् मरणं केवलमरणम (सव्वदुक्खप्पहीणाए त्ति) सर्वदु खप्रक्षेपार्थम् १०॥ साम्प्रत गद्योक्तमेवार्थं श्लोकैर्दर्शयति-(ओय ति) ओज नाम रागद्वेषरहित चित्त उच्यते, शुद्धम् एकमेव सम्यक् आदाय गृहीत्वा (झाण ति) ध्यान धर्म पश्यति करोति, धातूनामनेकार्थत्वात्, सम्यक् यथा भवति तथा भवति, तथा अन्यैर्दृष्टम् अनु पश्चात्पश्यति, पुनःपुनर्वा पश्यति करोति समनुपश्यति, पुनः कथभूत· ?-(धम्मट्ठिअ त्ति) धर्मे स्थितः-धर्मे यथार्थोपलम्भके ज्ञानक्रियारूपे स्थितो धर्मस्थित· । पुन·कथभूतः ?-(अविमणो) अविमना·-परसमयेषु मनो यस्य न याति सोऽविमना । अथ वा-शङ्कादि जिनवचने न करोतीत्यविमनाः, स एव पूर्वोक्तगुणविशिष्टो निर्वाण कषायक्षयोपशमलक्षण, मोक्षं च अभिगच्छति । य एव गत्यर्थास्त एव ज्ञानार्था इति वचनात् याति इति गाथार्थः ॥१॥ (ण इम ति) न इति प्रतिषेधे, (इमं ति) एतत् चित्त ज्ञानं,सम्यक् आदाय गृहीत्वा, किं तत् ज्ञानम्? । उच्यते-जातिस्मरणादि,भूयो भूयः लोके ससारे जायते उत्पद्यते,आत्मन·(उत्तम ति)प्रधान स्थान यो हि परभवे-"आसम् अमुकश्चैव रूपम्"। अथवा-उत्तमः सयमो मोक्षो वा,यतो ज्ञातं कर्म वा न विद्यते । अथवा-उत्तम श्रेष्ठ निर्वाहक हित वा आत्मनः,तज्जानीते ॥२॥"जहातच्च तु" यथातथ्यम्-अविसवादिफलं यत्तत् यथातथ्यमित्युच्यते,यथा चरमतीर्थकृता दश स्वप्ना दृष्टा·, क्षिप्र च फलमजनि, तथा क्षिप्रफल पश्यति, संवृतात्मा निरुद्धाश्रवद्वार·, सर्वं निरवशेषं,चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचक·। 'ओह' सतत प्रसृतप्रवाह ससारसमुद्रमिव समुद्रम, अप्राप्य पारम् । एवविधं तरति-न पुनः ससारी भवति,(दुक्खादो य त्ति) दु·खात् दु·खोत्पादककर्मणः शारीरमानसिकाद्वा दुःखात्, सासारिकाद्वा विविधादनेकप्रकारान्मुच्यते इति गाथार्थ· ॥३॥ (पताइ ति) प्रान्तानि कल्प्यामूल्यानि जीर्णानि भजमानस्य सेवमानस्य (विवित्तं सयणासण ति) विविक्तं रहस्यभूतं स्त्रीपशुपण्डकसंसर्गरहितम् । अथवा-(विविच्च) 'विचिर्' पृथग्भावे, पृथिव्यादिजीवेभ्यः पृथग्भूतानि, तदपि सेवमानस्येति सम्बन्धनीयम् । पुनः कथभूतस्य ?-अल्पाहारस्य ब्रह्मचर्यगुप्तिरक्षणार्थं स्वल्पाहारिणः, दान्तस्येन्द्रियदमनतत्परस्य, एवगुणविशिष्टस्य साधो·,देवाः वैमानिका आत्मान दर्शयन्ति-यथास्थित देवस्वरू-

पयुक्तम् (तानिणो त्ति) आत्मत्राता, परत्राता, उभयत्राता, तस्य ॥४॥ (सव्व त्ति) सर्वे च ते कामाश्च सर्वकामाः शब्दादयः,तेभ्यो विरक्तः,सर्वकामविरक्तस्तस्य भयेन भैरव रौद्र भयभैरव, सिंहव्याघ्रपिशाचशिवादिकृतं, द्यमत सहतः, ततस्तस्यैवगुणजातीयस्य (ओही ति) अवधिर्भवति,पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् अवधिज्ञान भवति। कथभूतस्य ?-सयमवतः (तवस्सिणो त्ति) तपस्विन इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ (तवसा त्ति) तपसा द्वादशप्रकारेण अपहृतकृष्णादिलेश्यात्रयस्यावधिदर्शन परिशुद्ध्यति विशुद्धतरं भवति। आह-तेन किं पश्यति ?। उच्यते-ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वं सम्यग् अनुपश्यति। तत्र-ऊर्ध्वमित्यूर्ध्वलोकम्, अधोलोकं च, तथा तिर्यगसख्येयद्वीपसमुद्रात्मक लोकं पश्यति। कोऽर्थः- ये तत्र भावाः जीवादयः कर्माणि वा, यैर्वा जीवैर्यत्र गम्यते पुद्गलाल्लोके यथापरिणामस्तथा सर्वं सर्वात्मना सर्वासु च दिक्षु ॥ ६ ॥ "सुसमाहित" इत्यादि। सुष्ठुतिशयेन समाहिताः स्वचेतासि स्थापिता लेश्यास्तेज-पद्मः शुक्लाख्या येन स सुसमाहितलेश्यः, तस्य सुसमाहितलेश्यस्य (अवितक्कस्स त्ति) वितर्को नाम-ऊहो विमर्श इति पर्यायः। सोऽस्ति विद्यते यस्य स वितर्कः,न विद्यते वितर्कोऽश्रद्धानक्रियाफलदेहरूपो यस्य सोऽवितर्कः, तस्य (भिक्खुणो त्ति) भिक्षणशीलो भिक्षुः, तस्य भिक्षोः (सव्वतो त्ति) सर्वतः सर्वबाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नपरिग्रहाद्, विविधैर्भावनादिभिः प्रकारैः,प्रकर्षेण परीषहादिसहिष्णुतया मुक्तस्य, एवंविधस्य साधोरात्मा जीवो, ज्ञानेन मनःपर्यायलक्षणेन,पर्यायान् जीवस्य मनोगतान्, जानीते ॥७॥ अथ कीदृश केवलज्ञानं भवति ?, तदाह-"जदा से" इत्यादि। यदा यस्मिन्नवसरे,सेत्यनिर्दिष्टनाम्नो जीवस्य ज्ञानावरणे विशेषावबोधरूपप्रस्तावात् केवलज्ञानावरणं, सर्वं निरवशेष क्षय गत भवति। ननु केवलज्ञान तदैवोत्पद्यते यदा सर्वावरणविगमो भवतीत्यर्थादागते किमर्थ सर्वग्रहणमित्याशङ्का ?। तत्रोच्यते-सर्वग्रहण ज्ञानान्तरभेदसूचकं ज्ञेयं, यावदावरणविगमे ज्ञानान्तरव्यपदेशो दर्शित. ततो न निरर्थकता आशङ्कनीया, (तदा इति) तदा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकम्, अलोकं चानन्तं, जिनो जानाति केवली लोकालोक च सर्वं, नान्यतरमित्यर्थः ॥ ८ ॥ "जया" इत्यादि व्यक्तं, नवर दर्शनं सामान्यावबोधरूपम् ॥ ९ ॥ "पडिमाए" इत्यादि। प्रतिमायाम् "सप्तम्यर्थे तृतीया"। विशुद्धायाम्, प्रतिमा तु द्वादशभिक्षुप्रतिमारूपा। अथवा-इयमेव रजोहरणतद्ग्रहणधारणरूपा। अथवा-मोहनीयकर्मविवर्जित आत्मा च वसति, सैव प्रतिमाप्रतिरूपता। अथवा-इहलोकपरलोकानाश्रितत्वेन विशुद्धा प्रतिज्ञा, मोहनीये च कर्मणि क्षय गते सति, शेषं व्यक्तं, नवरम्-(सुसमाहिए त्ति) सुष्ठुतिशयेन समाधिनः समाधिमन्तः ॥ १० ॥ "जहा" इत्यादि। यथा मस्तकसूची हन्यते करतलेन, तदा करतलोऽपि हतो भवति, एवं कर्माणि हन्यन्ते, 'हन' हिंसागत्योः। ततो हन्यन्ते घातमाप्नुवन्ति, क सति ?, मोहनीये कर्मणि क्षयं गते सति इति गाथार्थ ॥ ११ ॥ (सेणावतिम्मि) सेनापतौ कटकनायके (हते त्ति) यथा सेना प्रणश्यति, एव कर्माणीति, सर्वं सुगमम् ॥ १२ ॥ "धूम" इत्यादि। धूमहीनो यथाऽग्निः क्षीयते स निरन्धनो नाम-इन्धनरहितः, एवं व्यक्तम् ॥ १३ ॥ (सुक्कमूले त्ति) शुष्कमूलो यथा वृक्षः सिच्यमानो न रोहति-न वृद्धिमाप्नोति, एवं व्यक्तम् ॥ १४ ॥ "जह" इत्यादि। यथा-दग्धेषु बीजेषु न जायन्ते नोत्पद्यन्ते पुनरङ्कुराः, तथा कर्मबीजेषु इति व्यक्तम् ॥ १५ ॥ "चिच्चा" इत्यादि। त्यक्त्वा औदारिकं बोन्दि शरीर, तत्र औदारिक नाम उदार, प्राधान्य चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात्। अथवा-'उराल' नाम-विस्तरवत्, विस्तरवत्ता चास्यावस्थितस्वभावस्य सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्। चशब्दात् तैजस,कार्मण च। उक्त च-"ओरालियतेयाकम्माया सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहत्ति" च पुनर्नामगोत्र, तत्र नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम. तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद् गोत्रम्-उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणः पर्यायविशेष., तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं, कार्ये कारणोपचारात्। यद्वा-कर्मणोऽपादानविवक्षा-गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्कर्मण उदयात्तद्गोत्र चेत्युत्तरेण सह सटङ्कः। केवली ति केवलज्ञानवान्, तथा-(आउयमिति) एति आगच्छति च प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मबाह्यनरकादिकुगतेर्निष्क्रमितुमनसो जन्तोरित्यायुः। अथवा-आ समन्तादधिगच्छति भवाद्भवान्तरसंक्रान्तौ विपाकोदयमित्यायुः, उणयत्राप्यौणादिक उस्प्रत्यय। तथा (वेयणिज्ज च त्ति) चकारोऽत्र क्रमदर्शकः, वेद्यते आह्लादादिरूपेण यदनुभूयते तद्वेदनीयमत्र कर्मपयनीयः। यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवत् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात्, छित्त्वेति आत्मप्रदेशेभ्यः कर्मदलिकान् पातयित्वा (भवति णीरए त्ति) भवति नीरजाः कर्मरजोरहितः ॥१६॥ "एव" इत्यादि। एवमवधारणे, अभिराभिमुख्ये, समेकीभावे,'आङ्' मर्यादाभिविध्योः। 'गम्लृ' 'सिपृ' गतौ, सर्वे एव गत्यर्था ज्ञानार्था ज्ञेयाः। अभिसमागत्य आभिमुख्यं सम्यग् ज्ञात्वेत्यर्थः। किं कर्तव्यमित्याह-(चित्तमादाय त्ति) चित्तशब्देन ज्ञानम्, आदाय गृहीत्वा,एतावता रागादिकालुष्यवर्जितं ज्ञानं प्रगृह्य (आउसो ति) आयुष्मन्नित्यामन्त्रणे। एतानि च दश चित्तसमाधिस्थानानि समादाय, किं कर्तव्यम् ?। उच्यते-(सेणिसोधिमुवागम्म त्ति) श्रेणिशोधि उपागम्य। श्रेणिर्द्विधा-द्रव्यश्रेणिर्भावश्रेणिश्च। द्रव्यश्रेणिः-प्रासादानां श्रेणिर्नाम सोपानपङ्क्तिरुच्यते यया आरुह्यते। भावश्रेणिरपि द्विधा-विशुद्धा,अविशुद्धा च। संसाराय अविशुद्धा,मोक्षाय विशुद्धा,तस्याः शोधिरिति शुद्धिः, कर्मणां शुद्धिर्येन भवति सा शुद्धिरित्यभिधीयते। शोधिग्रहणात् संयमश्रेणिर्गृहीता भवति। उक्त च-"अकलेवरसेणिमुस्सिआइ त्ति" उपागम्य ज्ञात्वा, उप सामीप्ये आगम्य प्राप्य, किं भवति ?। उच्यते-आत्मनः शोधिरात्मशोधिस्तां, तपसा (उवेइ त्ति) पश्यति, य एवं करोति ॥१७॥ दशा० ५ अ०। स्था०।

चित्तसमाहिय-चित्तसमाहित-त्रि०। चित्तेनातिप्रसन्ने, दश० १० अ०।

चित्तसहाव-चित्रस्वभाव-त्रि०। नानास्वभावे, पं० व० १द्वार।

चित्तसाहु-चित्रसाधु-पुं०। भवान्तरे चाण्डालपुत्रः चित्राख्यो भूत्वा सार्थवाहपुत्रीभूय प्रव्रजिते ब्रह्मदत्तचक्रिणो मित्रसाधौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

चित्तसेणग-चित्रसेनक-पुं०। ब्रह्मदत्तचक्रिराज्याः भद्रायाः पितरि, उत्त० १३ अ०।

चित्ता-चित्रा-स्त्री०। नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष०। सू० प्र०। ज्यो०। विशे०। अनु०। स्था०। "दो चित्ताओ" स्था० २ ठा० ३ उ०।

स्त्री० । विदिग्रुचकाद्रिवासिन्यां विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम्, ति० । स्था० । आ० म० । आ० क० । जं० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोममहाराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

चित्ताणुय-चित्तानुग-त्रि० । आचार्यचित्तानुगामिनि, उत्त० २ अ० ।

चिति-चिति-स्त्री० । चिस्यादेश्चयने, मृतकदहनार्थं दारुविन्यासे च । प्रश्न० ११ आश्र० द्वार ।

चित्तिया-चित्रिका-स्त्री० । व्याघ्रविशेषस्त्रियाम्, प्रज्ञा० ११ पद ।

चित्ति (ण्)-चित्रिन्-पुं० । चित्रं चित्रकर्म तत् कर्त्तव्यतया विद्यते यस्य स चित्री । चित्रकरे, कर्म० १ कर्म० ।

चित्तिसम-चित्रिसम-न० । चित्री चित्रकरस्तेन समं सदृशं चित्रिसमम् । चित्रकारोपमिते नामकर्मणि, यथा हि चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णयुक्तं करोति, तथा नामकर्मापि जीव नारकोऽयं तिर्यग्योनिकोऽयमेकेन्द्रियोऽय द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोति चित्रसममिदमिति । कर्म० १ कर्म० ।

चित्तुस्साह-चित्तोत्साह-पुं० । मनःसमुत्साहे, षो० ६ विव० ।

चिद्-चित्-स्त्री० । चित्-सम्प०-क्विप् । ज्ञाने, वाच० । चैतन्यशक्तौ, स्था० । प्राकृते एतादृशः शब्दो न प्रयुज्यते व्यस्तः । " चिदानन्दघनस्य " चिद् ज्ञानमानन्दः सुखं, तद्घनः तत्सन्दोहरूपस्तस्य । अष्ट० १८ अष्ट० । " चिदाणदमकरंदमहुव्वए " ज्ञानानन्दस्य मकरन्दं रहस्यं तस्य मधुव्रतो रसास्वादी । अष्ट० २१ अष्ट० । " चिदाणदसुहालिहे, " विज्ञान तस्यानन्दः स एव सुधाऽमृतं तां लेढीति । अष्ट० ३० अष्ट० ।

चिदप्पण-चिद्दर्पण-पुं० । चिद् ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदकं, तदेव दर्पणः । ज्ञानादर्शे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

चिद्दविओ-देशी-निर्नाशिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिद्दीव-चिद्दीप-पुं० । ज्ञानप्रदीपे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

चिप्पिडय-चिप्पिटक-पुं० । चपलसदृशे धान्यभेदे, दशा० ६ अ० । आ० ।

चिप्पिण-चिप्पिन-पुं० । केदारवति तटवति वा देशे, केदारे च । भ० ५ श० ७ उ० ।

चिब्भडियामच्छ-चिर्भटिकामत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

चिमिढ-चिपिट-पुं० । निम्ने, " चीणचिमिढणासाओ । " ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

चिमिणो-देशी-रोमशे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिम्मंत-चीयमान-त्रि० । चि-कर्मणि भावे वा यकि शानच् । " म्मश्चेः " ८ । ४ । २ । २४३ ॥ इति धातोः कर्मणि भावे चान्ते वा म्माऽऽदेशः । चयं नीयमाने, प्रा० ४ पाद ।

चिम्मेत्त-चिन्मात्र-न० । ज्ञानमात्रे, अष्ट० २ अष्ट० ।

चिय-चित-त्रि० । शरीरे, चयं गते, भ० १ श० १ उ० । उपचिते, स्था० ४ ठा० ४ उ० । इष्टकादिरचिते प्रासादपीठादौ, अनु० ।

चिय-अव्य० । एवकारार्थे, स्था० २ ठा० १ उ० । पञ्चा० ।

चियत्त-त्यक्त-त्रि० । प्रीत्या दत्ते, पा० । अप्रीत्यकरणे, स्था० ३ ठा० । प्रीतिकरे, औ० । रा० । अभिमते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

चियत्तंतेउरघरप्पवेस-त्यक्तान्तःपुरगृहप्रवेश-पुं० । " चियत्ततेउरघरप्पवेसा चियत्तो त्ति" लोकानां प्रीतिकर एवान्तःपुरे वा गृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयास्त इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः -(चियत्तो त्ति) नाप्रीतिकरोऽन्तःपुरगृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं येषां ते तथा, अनीर्ष्यालुतातिपादनपरं चेत्थं विशेषणमिति । अथवा-(चियत्तो त्ति) त्यक्तः अन्तःपुरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित् प्रवेशो यैस्ते तथा । भ० २ श० ५ उ० । तथाविधे अतिधार्मिके, तथा सर्वत्रानाशङ्कनीये श्रावके, दशा० १० अ० ।

चियत्तकिच्च-त्यक्तकृत्य-त्रि० । त्यक्तानि कृत्यानि दशविधचक्रवालसामाचारीरूपाणि सर्वाणि येन स । जीत० । कृत्यं करणीय, त्यक्तं कृत्य येन सः । त्यक्तचारित्रे, नि० चू० १ उ० । पं० चू० ।

चियत्तदेह-त्यक्तदेह-त्रि० । त्यक्तो वधबन्धाद्यवारणात्, अथवा चियत्तः सम्मतः प्रीतिविषयो, धर्मसाधनेषु प्रधानत्वाद्देहस्येति । भ० १० श० २ उ० । परीषहसहनाद्वा देहो यस्य । अभिग्रहविशेषयुक्ते, कल्प० ६ क्षण । व्य० ।

संप्रति " चियत्तदेहे त्ति " व्याख्यायते । तत्र त्यक्तं द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत आह—

जुज्झपराजिय अट्टण, फलहियमल्ले निरुत्तपरिकम्मे ।
गुहण मच्छियमल्ले, तइयदिणे दव्वतो चत्तो ॥

इद कथानकं प्रबन्धेनावश्यकटीकायामुक्तम्, इह तु ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, ततस्तस्मादवधारणीयम् । अक्षरयोजना त्वेवम्-अट्टनो नाम मल्ल उज्जयिनीवास्तव्यः सोपारे पत्तने वृद्धतया युद्धे पराजितः, तेनान्यः फलहीमल्लो नाम मल्लो मार्गितः । स सोपारके मात्सिकमल्लेन सह युद्धं दत्तवान् । तत्र फलहीमल्ले निरुक्तं निरवशेषं, परिकर्म क्रियते । इतरस्तु मात्सिकमल्लो गर्वाध्माततया शरीरपीडां गूहयन् न किमपि परिकर्म कारितवान् । ततः परिकर्माकरणतः तृतीयदिने मारितस्तेन, परिकर्माकरणतो यस्त्यक्तो देहः स द्रव्यतस्त्यक्तः ।

भावतस्त्यक्तमाह-

बंधेज्ज व रुंभेज्ज व, कोई व हणेज्ज अहव मारेज्ज ।
वारेइ न सो भयवं, वि चत्तदेहो अपडिबद्धो ॥

स प्रतिमाप्रतिपन्नो भगवान्, शरीरेऽप्यप्रतिबद्धो यदि कोऽपि बध्नीयात्, अथवा रुन्ध्यात्, यदि वा हन्यात्, मारयेद्वा, तथापि तं न निवारयति । एष भावतस्त्यक्तदेहः । व्य० १० उ० ।

चियमंससोणियत्त-चितमांसशोणितत्व-न० । धातूद्रेके, पं० व० ३ द्वार ।

चियलोहिय-चितलोहित-त्रि० । चितमुपचयं प्राप्तं लोहितं शोणितमस्येति चितलोहितः । लोहितमिति शेषधातूपलक्षणम् । उद्रिक्तधातौ, उत्त० ७ अ० ।

चिया-चिता-स्त्री० । शवदाहार्थे चितेन्धनाग्नौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

चियाग-त्याग-पु० । त्यजनं त्यागः । संविग्नैकसंभोगिकानां भक्तादिदाने, स्था० ५ ठा० १ उ० । श्रमणधर्मे, स्था० १ ठा० १ उ० । त्यागो द्विधा-द्रव्यत्यागो, भावत्यागश्च । द्रव्यत्यागो नाम आहारोपधिशय्यादीनामप्रायोग्याणां परित्यागः, प्रायोग्याणां यतिजनेभ्यो दानम् । भावत्यागः-क्रोधादीनां विवेको, ज्ञानादीनां यतिजनेभ्यो वितरणम् । आ० म० प्र० । प्रव० ।

चियायमंत-त्यागवत्-त्रि० । दानशीले, स च स्तोकादपि स्तोकं ददानो गणस्य बहुमानभाग्भवति इति स गच्छोपग्रहयोग्यः । व्य० ३ उ० ।

चिर-चिर-न० । दीर्घकाले, व्य० १ उ० । प्रभूतकाले, आतु० । सूत्र० । आव० ।

चिरंजीविय-चिरंजीवित-न० । दीर्घे आयुषि, स्था० १० ठा० ।

चिरंतण-चिरन्तन-त्रि० । पुराणे, आव० ४ अ० ।

चिरजुसिय-चिरजुषित-त्रि० । चिरसेविते, 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात् । भ० १४ श० ७ उ० ।

चिरट्ठितिय-चिरस्थितिक-त्रि० । चिरं प्रभूतकालं स्थितिरवस्थानं येषां ते तथा । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रभूतकालस्थितिकेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । एकद्व्यादिसागरोपमस्थितिकेषु, स्था० ८ ठा० । तथाहि-उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्ति देवा नारकाश्च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दशा० । "एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

चिरदिक्खिय-चिरदीक्षित-त्रि० । प्रभूतकाले प्रव्रजिते, व्य० ४ उ० ।

संप्रति चिरप्रव्राजितद्वारमाह—

चिरपव्वइओ तिविहो, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो ।
तिवरिस पंचम मज्झो, वीसतिवरिसो य उक्कोसो ॥

चिरप्रव्रजितस्त्रिविधः । तद्यथा-जघन्यो मध्यम उत्कृष्टः । तत्र त्रिवर्षप्रव्रजितो जघन्यश्चिरप्रव्रजित., पञ्चवर्षप्रव्रजितो मध्यमो, विंशतिवर्षप्रव्रजित उत्कृष्टः ॥

अथ केन बहुश्रुतेन चिरप्रव्रजितेन चाधिकार इत्यत आह-

बहुसुयचिरपव्वइओ, एत्थ मज्झेसु होति अहिगारो ।
एत्थ उ कमे विभासा, कम्हाउ बहुस्सुओ पढमं ॥

अत्र बहुश्रुतचिरप्रव्रजितयोर्मध्ये ताभ्यामधिकार., गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे । अत्र क्रमे क्रमविषये, विभाषा कर्तव्या । सा चैवम्-कस्मात् प्रथमं बहुश्रुत उक्त. ?, यतः प्रथमं प्रव्रज्या भवति, ततः श्रुतं, ततः प्रथमं चिरप्रव्रजितस्योपादानं युज्यते ? । नैष दोष.-नियमविशेषप्रदर्शनार्थं ह्येवमुपादानं, यो बहुश्रुतः स नियमाच्चिरप्रव्रजितो, येन त्रिवर्षप्रव्रजितस्य निशीथमुद्दिश्यते, पञ्चवर्षप्रव्रजितस्य कल्पव्यवहारौ, विंशतिवर्षप्रव्रजितस्य दृष्टिवादस्तेन न दोष इति । वृ० १ उ० ।

चिरपरिचिय-चिरपरिचित-त्रि० । पुनःपुनर्दर्शनतः परिचिते, भ० १४ श० ७ उ० ।

चिरपोराण-चिरपुराण-त्रि० । चिरप्रतिष्ठितत्वेन पुराणे, भ० ३ श० ७ उ० ।

चिरपव्वइय-चिरप्रव्रजित-पुं० । चिरदीक्षिते, वृ० १ उ० ।

चिरप्पवास-चिरप्रवास-पुं० । चिरवियोगे, प० चू० ।

चिरया-देशी-कुट्याम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरसंथुत-चिरसंस्तुत-त्रि० । चिरं बहुकालमतीतं यावत्संस्तुतः । चिरस्नेहात्प्रशंसिते, भ० १४ श० ७ उ० ।

चिरसंसिट्ठ-चिरसंसृष्ट-त्रि० । चिरं बहुकालं यावत् चिरे वाऽतीते प्रभूते काले संश्लिष्टः । चिरस्नेहात्सम्बद्धे, भ० १४ श० ७ अ० ।

चिराइय-चिरादिक-त्रि० । चिरश्चिरकाल आदिर्निवेशो यस्य तच्चिरादिकम् । नि० ५ वर्ग । औ० । ज्ञा० । चिरकालिके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

चिराणुगय-चिरानुगत-त्रि० । ममानुगतिकारित्वात् चिरमनुगते, भ० १४ श० ७ उ० ।

चिराणुवत्ति-चिरानुवृत्ति-त्रि० । चिरमनुवृत्तिरनुकूलवर्तिता यस्यासौ चिरानुवृत्तिः । प्रभूतकालमनुकूलतया संजाते, " चिरपरिचितो सि मे गोयमा !, चिरजुसिओ सि मे गोयमा', चिराणुगओ सि मे गोयमा !, चिराणुवत्ती सि मे गोयमा ! " भ० १४ श० ७ उ० ।

चिरादण-चिरंतन-त्रि० । प्राचीने आचार्यपरम्परागते, वृ० ३ उ० ।

चिरिचिरा-देशी-जलधारायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरिचिरा-देशी०-जलधारायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरिट्टिहिल्लं-देशी-दध्नि, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरोववण्णग-चिरोपपन्नक-त्रि० । चिरजाते, आव० ५ अ० ।

चिलाइया-किरातिका-स्त्री० । किराताख्यानार्यदेशोत्पन्नायां दास्याम्, नि० १ वर्ग । रा० । आ० चू० । दशा० । भ० ।

चिलाई-किराती-स्त्री० । किराताख्यानार्यदेशोत्पन्नायां चेट्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चिलाईपुत्त-किरातीपुत्र-पुं० । धनश्रेष्ठिदास्याः किरात्याः पुत्रे, आ० क० ।

" विद्वन्मानी द्विजन्मैको, जिनशासनहीलकः ।
वादेऽधिक्षमाचार्यै-र्जित्वा शिष्यीकृतो बलात् ॥ १ ॥
स्त्रिरोऽनुदेवतावाक्याद्, जुगुप्सां तु मुमोच न ।
भार्याऽस्यात्कार्मणं प्रेम्णा, मृतस्तेन दिवं गत. ॥ २ ॥
तन्निर्वेदेन साऽप्यात्त-व्रताऽनालोच्य तन्मृता ।
दिवं ययौ स पूर्णायु-र्द्विजदेवस्ततश्च्युत. ॥ ३ ॥
पुरे राजगृहे श्रेष्ठी, धनश्चेटी चिलातिका ।
तस्याः स्तनंधयो नाम्ना, चिलातीपुत्र इत्यभूत् ॥ ४ ॥
तत्प्राग्जन्मप्रियाऽप्यन्दैः, कियद्भिः सुसुमाऽभिधा ।
उपरिष्टात् पञ्चपुत्र्याः, धनस्यैव सुताऽभवत् ॥ ५ ॥
स बालो धारकस्तस्याः-श्चेटोऽथ श्रेष्ठिनाऽन्यदा ।
तच्चिह्ने विक्रियां कुर्वन्, दृष्ट्वा नि.सारितो गृहात् ॥ ६ ॥
गतः सिंहगुहापल्लीं-मिष्टः पल्लीपतेरभूत् ।
गुप्तैः कैश्चित् ततस्तं स, मुमूर्षुः स्वपदेऽकरोत् ॥ ७ ॥

सोऽवक् चौरान् राजगृहे, धनसार्थपतेर्गृहम् ।
मुष्णीमोऽभ्येत्य यो द्रव्य, तत्पुत्री सुसुमा मम ॥ ८ ॥
हत्वाऽथ रक्षिणं प्राप्तो, मुषितु धनवेश्म तव ।
धनो नष्ट सपुत्रोऽपि, सोऽगादादाय सुसुमाम् ॥ ९ ॥
धनेनोक्तास्तलारक्षा', निवर्तयत मे सुताम् ।
धन वो मे सुता तेऽथा-ऽधावन् भग्नाश्च तस्कराः ॥ १० ॥
निवृत्तास्ते गृहीत्वा स्व, श्रेष्ठी पञ्चसुतान्वितः ।
नयन्त सुसुमां चेट-मन्वधावत् कृतान्तवत् ॥ ११ ॥
चेटोऽप्यशक्तस्तां वोढु, गृहीत्वा तच्छिरोऽव्रजत् ।
तस्थौ श्रेष्ठी सपुत्रोऽथ, शोकार्तोऽथ क्षुधार्दित· ॥ १२ ॥
हत्वा मां खादतेत्यूचे, पुत्रान् यातात्र पतनम् ।
तन्नैषु किं तु तेऽप्याहुः, श्रेष्ठिवत्सर्व एव हि ॥ १३ ॥
श्रेष्ठ्युवाच पुन· पुत्रान्, सर्वेषां मृत्युरस्तु मा ।
एतदेव वपु· पुत्र्या·, खादित्वा गम्यते पुरे ॥ १४ ॥
तदेतै· कारणे गाढे, पुत्रीमांसादन कृतम् ।
एवं साधुभिराहारो, ग्राह्यो महति कारणे ॥ १५ ॥
तेनाहारेण ते याताः, सजाता भोगभोगिन ।
स्यादेव कारणाहाराद्, साधुवर्गोऽपि सिद्धिभाक् ॥ १६ ॥
स च शीर्षासिभृद्भ्रम्यन्, साधुमातापमापरम् ।
दृष्ट्वाऽचष्ट समासेन, धर्ममाख्याहि मेऽधुना ॥ १७ ॥
नो चेदपि शिरश्छेत्स्ये, साधुर्धर्मोऽयामित्यवक् ।
समासाद्धो उपशमो, विवेक· संवरस्तथा ॥ १८ ॥
एकान्तेऽस्थात्प्रतिमया, सोऽपि तां त्रिपदीं स्मरन् ।
जज्ञावुपशम· स्याद-क्रोधस्येत्यत्यजत् क्रुधम् ॥ १९ ॥
विवेकः स्यादसङ्गस्य, खड्गशीर्षे ततोऽमुचत् ।
संवृतेन्द्रियचित्तस्य, संवरस्त तथाऽकरोत् ॥ २० ॥
तदा लोहितगन्धेन, वज्रतुण्डाः पिपीलिका· ।
शैव त्रिरश्चीस्थिताश्चक्रु-श्चालनीमिव तद्वपुः ॥ २१ ॥
दुष्कर्मनिर्गमे द्वार-कारका· कीटिका इमे ।
उपकर्त्र्यो ममेत्येव, तासु ध्यानं बबन्ध सः ॥२२॥ आ० क०।

एतदेव सप्रपञ्च सूत्रकृदाह—

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेण० जाव संपत्तेणं सत्तरसमस्स णं णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठारसमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, वण्णओ, तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बाहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं गुणसिलए णाम चेइए होत्था, वण्णओ रिद्धित्थिए समिद्धे, तत्थ णं धण्णे नामं सत्थवाहे परिवसइ, भद्दा नामं भारिया, तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स पुत्ता भद्दाए अत्तया पंच सत्थवाहदारगा होत्था । तं जहा-धणे, धणपाले, धणदेवे, धणगोवे, धणरक्खिए । तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स धूआ भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं अणुमग्ग जाइया सुंसुमा नामं दारिया होत्था सुकुमालपाणिपाया। तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स चिलाए नामं दासचेडए होत्था

अहीणपंचिंदिअसरीरे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था सुकुमालपाणिपाया । तए णं से चिलाए दासचेडए सुंसुमाए दारियाए बालग्गाहे जाए यावि होत्था, सुंसुमं दारियं कडीए गेण्हइ, गेण्हइत्ता बहूहिं दारएहि य दारियाहि य डिंभएहि य डिंभियाहि य कुमारएहि य कुमारियाहि य सद्धिं अभिरममाणे २ विहरइ । तए णं से चिलाए दासचेडए तेसिं बहूणं दारयाण य ६ अप्पेगइआणं खुल्लए अवहरइ, एवं वट्टए आंमोलीयाओ त्ति दूसए त्ति पोत्तुल्लए साभोल्लए अप्पेगइयाणं आभरणमल्लालंकारं अवहरइ, अप्पेगइया णं आउसइ, एवं अवहसइ, निच्छोडेइ, निब्भत्थेइ, तज्जेइ, तालेइ । तए णं ते बहवे दारगा य ६ रोयमाणा य कंदमाणा य विलवमाणा य साणं २ अम्मापिऊणं णिवेयंति । तए णं तेसिं बहुणं दारगाण य ६ अम्मापियरो जेणेव धण्णे सत्थवाहे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता धण्णं सत्थवाहं बहुहिं खिज्जणाहि य रुंटणाहि य उवलंभणाहि य खिज्जमाणा य रुंटमाणा य उवलंभमाणा य धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं णिवेयंति । तए णं से धण्णे सत्थवाहे चिलायं दासचेडयं एयमट्ठं भुज्जो २ निवारेइ, नो चेव णं चिलाए दासचेडे उवरमइ । तए णं से चिलाए दासचेडए तेसिं बहुणं दारगाण य ६ अप्पेगतियाणं खुल्लए अवहरति० जाव तालेइ । तए णं ते बहवे दारगा य ६ रोयमाणा य० जाव अम्मापिऊणं निवेएंति । तए णं ते आसुरुत्ता० ५ जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता बहुहिं खिज्जणाहि य० जाव एयमट्ठं णिवेयंति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे बहुणं दारगाणं० ६ अम्मापिऊणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरुत्ते० ५ चिलायं दासचेडयं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आउसइ, उद्धंसेइ, णिब्भत्थेइ, निच्छोडेइ, तज्जेति, उच्चावयाहिं तालणाहिं तालेति, साओ गिहाओ णिच्छुभइ । तए णं से चिलाए दासचेडए साओ गिहाओ णिच्छूढे समाणे रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव पहेसु देवकुलेसु य सभासु य पवासु य जयखलएसु य वेसाघरएसु य पाणघरएसु य सुहं सुहेणं परिवड्ढइ । तए णं से चिलाए दासचेडए अणोहट्टिए अणिवारिए सच्छंदमई सइरप्पयारी मज्जप्पसंगी चोरप्पसंगी मंसप्पसंगी जूयप्पसंगी वेसप्पसंगी परदारप्पसंगी जाए यावि होत्था । तए णं रायगिहस्स नगरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सीहगुहा णामं चोरपल्ली होत्था-विसमगिरिकडगकोमंबसंनिविट्ठा वंसीकलंगपागारपरिक्खित्ता छिन्नसेलगविसमप्पवायफलिहोवगूढा एकदुवारा अनेकखंडी विदितजणनिग्गमप्पवेसा अब्भिंतरपाणिया सु-

दुह्मचजह्मपेरंता सुवहुस्स वि कुवियस्स बह्नस्स आगयस्स दुप्पवेसा वि होत्था । तत्थ णं सीहगुहाए चोरपह्नीए विजए नामं चोरसेणाहिवई परिवसइ, अहम्मिए अहम्मक्खाई अधम्मिट्ठे अधम्माणुए अहम्मपलोई अहम्मसीलसमुदारे० जाव अहम्मकेउसमुट्ठिए बहुणगरनिग्गयजसे सूरे दढप्पहारी साहसिए सद्दवेही, से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपह्नीए पंचएहं चोरसयाणं आहेवच्चं० जाव विहरइ। तए णं से विजयतक्करे चोरसेणावई बहूणं चोराण य पारदारगाण य खत्तखणगाण य गंठिछिंदगाण य संधिच्छेदगाण य रायावराहाण य अणधारगाण य सुणभंजगाण य बालघायगाण य वीसंभघायगाण य जूयकाराण य खंडरक्खाण य असेसिं च बहूणं छिण्णभिण्णबाहिराहयाणं कुडंगे यावि होत्था । तए णं से विजयतक्करे चोरसेणाहिवई रायगिहस्स णयरस्स दाहिणपुरच्छिमं जणवयं बहूहिं गामघाएहि य नगरघाएहि य गोग्गहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंथकुट्टणाहि य खत्तखणणेहि य उववीलेमाणे २ विद्धंसेमाणे नित्थाणं निद्धणं करेमाणे विहरइ। तए णं से चिलाए दासचेमए रायगिहे णयरे बहूहिं अत्थाभिसंकीहि य चोरियाभिसंकीहि य दाराभिसंकीहि य धणिएहि य जूयकरेहि य परिब्भवमाणा २ रायगिहाओ णयराओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छतित्ता जेणेव सीहगुहा चोरपल्ली तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता विजयं चोरसेणाहिवई उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं से चिलाए दासचेमए विजयस्स चोरसेणाहिवइस्स अग्गअसिलट्ठिग्गाहे जाए यावि होत्था। जाहे वि य णं से विजए चोरसेणाहिवई गामघायं वा० जाव पंथकोट्टं वा काउं वयंति, ताहे वि य णं से चिलाए दासचेमे सुबहुं पि य कुवियबलं हयमहिय० जाव पडिसेहेइ, पुणरवि लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे सीहगुहं चोरपल्लिं हव्वमागच्छइ। तए णं से विजए चोरसेणाहिवई चिलायं तक्करं बहुओ चोरविज्जाओ य चोरमंते य चोरपाउयाओ य चोरमायाओ य चोरणिगमीओ य सिक्खावेइ। तए णं से विजयचोरसेणाहिवई अन्नया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते यावि होत्था । तए णं से ताइं पंचचोरसयाइं विजयस्स चोरसेणाहिवइस्स महया २ इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेंति, करेतित्ता बहुइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ, काले णं० जाव विगयसोया जाया यावि होत्था। तते णं ताइं पंचचोरसयाइं अन्नमन्नं सद्दावेइ,सद्दावेइत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! विजए चोरसेणाहिवई कालधम्मुणा संजुत्ते, अयं च णं चिलाए तक्करे विजएणं चोरसेणावइणा बहुओ चोरविज्जाओ० जाव सिक्खाविये, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! चिलायं तक्करं सीहगुहाओ चोरपल्लीओ चोरसेणाहिवइत्ताए अभिसिंचित्तए त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पमिसुणेंति, चिलायं सीहगुहाए चोरपल्लीए चोरसेणाहिवइत्ताए अभिसिंचंति। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई जाए अहम्मिए० जाव विहरति। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई चोरणायगे० जाव कुडंगे यावि होत्था। से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपल्लीए पंचण्ह य चोरसयाए य एवं जहा विजओ तहेव सव्वं० जाव रायगिहस्स णं णगरस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लं जणवयं० जाव निद्धणं करेमाणे विहरइ । तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई अन्नया कयाइं विउलं असणं० ४ उवक्खडावेति, ताए पंचचोरसए आमंतेइ, तओ पच्छा एहाए० जाव भोयणमंडवंसि तेहिं पंचहि चोरसएहिं सद्धि विउलं असणं० ४ सुरं च० जाव पसण्णं च आसाएमाणे विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागए ते पंचचोरसए विउलेणं धूवगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ, संमाणेइ, एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! रायगिहे णयरे धण्णे नामं सत्थवाहे अड्ढे, तस्स णं धूआ भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं अणुमग्गं जाइया सुंसुमा नामं दारिया होत्था अहीणा० जाव सुरूवा । तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं विलुंपामो, तुब्भं विपुलेणं धणकणग० जाव सिलप्पवाले, मम सुंसुमा दारिया। तए णं ते पंच चोरसया चिलायस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई तेहिं पंचचोरसएहिं सद्धिं अल्लचम्मं दुरूहइ, पुव्वावरण्हकालसमयंसि पंचचोरसएहिं सद्धिं सन्नद्ध० जाव गहिआउहपहरणे माइयगोमुहएहिं फलएहिं निकट्ठाहिं असिलट्ठाहिं आसगएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुएहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालियाहिं दाहाहिं ओसारियाहिं जलघंटियाहिं ऊरूघंटियाहिं छिप्पतूरेहिं वज्जमाणाहिं महया २ उक्किट्ठसीहणायचोरकलकलरवं० जाव समुद्दरवभूयं करेमाणा पुव्वावरण्हकालसमयंसि सीहगुहाओ चोरपल्लीओ पडिणिक्खमाति, पमिणिक्खमइत्ता जेणेव रायगिहे णयरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता रायगिहस्स णयरस्स अदूरसामंते एगं महं गहणं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसंतित्ता दिवसं खवेमाणा२ चिट्ठंति, तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई अद्धरत्तकालसमयंसि णिसंतं पमिणिसंतम्मि पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं माइयगोमुहेहिं फलएहिं० जाव मुइयाहिं ऊरूघंटियाहिं जेणेव रायगिहे णगरे पुरच्छिमिल्ले दुवारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता उदगवत्थिं परामुसइ, परामुसइत्ता

आयंते २ तालुग्घाडणिं विज्जं आवाहइ , आवाहइत्ता रायगिहस्स णयरस्स दुवारकवाडे उदएण अच्छोडेइ, अच्छोडेइत्ता कवाडं विहाडेइ,विहाडेइत्ता रायगिहं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता महया २ सद्देण उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयासी--एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! चिलाए नामं चोरसेणावई पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं सीहगुहाओ चोरपल्लीओ इहं हव्वमागए धणस्स सत्थवाहस्स गिहं घाउकामे, तं जो णं णवियाए माउयाए दुद्धं पाउकामे, से णं णिग्गच्छउ इति कट्टु जेणेव धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता धण्णस्स गिहं विहाडेइ, तए णं से धण्णे सत्थवाहे चिलाएणं चोरसेणाहिवइणा पंचहि चोरसएहिं सद्धिं गिहं घाइज्जमाणं पासइ, पासइत्ता भीए तत्थेव पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं एगंते अवक्कमइ। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं घाएइ, घाएइत्ता सुबहुं णं धणकणगं० जाव सावएज्जं सुंसुमं च दारियं गिण्हति, गिण्हतित्ता रायगिहाओ पडिणिक्खमति , पडिणिक्खमतित्ता जेणेव सीहगुहा पल्ली तेणेव उवागच्छति पहारेत्थगमणाए, तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे, तेणेव उवागच्छति , उवागच्छतित्ता सुबहुं धणकणगं, सुसुमं च दारियं अवहरियं च जाणित्ता महत्थं० जाव पाहुडं गहाय जेणेव नगरगुत्तिया, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता तं महत्थं० जाव पाहुडं उवणेति, एवं वयासी--एवं खलु देवाणुप्पिया ! चिलाए चोरसेणाहिवई सीहगुहातो चोरपल्लीतो इहं हव्वमागम्म पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं मम गिहं घाएत्ता सुबहुं धणकणगं, सुसुमं च दारियं गहाय० जाव पडिगए, तं इच्छामो णं देवाणुप्पिया ! सुंसुमाए दारियाए कूवं गमित्तए तुब्भ णं देवाणुप्पिया ! से विउले धणकणगं, मम सुसुमा दारिया । तए णं ते नगरगुत्तिया धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणंति सण्णद्धबद्धा० जाव गहियाउहप्पहरणा महया २ उक्किट्ठसीहणायं करेमाणा समुद्दरवभूयं पि व करेमाणा रायगिहाओ नगराओ निक्खमंति, निक्खमंतित्ता जेणेव चिलाए चोरसेणाहिवई, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता चिलाएणं चोरसेणावतिणा सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था। ततेणं ते नगरगुत्तिया चिलायं चोरसेणावइं हतमहिय०जाव पडिसेहेति। तते णं ते पंच चोरसया नगरगुत्तिएहिं हतमहिय० जाव पडिसेहिया समाणा तं विपुलं धणकणगं विच्छड्डेमाणा य विप्पकिरमाणा य सव्वओ समंता वि पलाइत्था। तते णं ते नगरगुत्तिया तं विपुलं धणकणगं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता जेणेव रायगिहे नगरे, तेणेव उवागच्छंति। तते णं से चिलाए तं चोरसेणं तेहिं नगरगुत्तिएहिं हयमहियपवरवीते तत्थे सुंसुमं दारियं गहाय एगं महं आगामियं दीहमद्धं अडविं अणुप्पविट्ठे। तते णं से धण्णे सत्थवाहे सुंसुमं दारियं चिलाएणं अडविमुहं अवहीरमाणिं पासित्ता पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे सण्णद्धबद्धचिलायस्स पदमग्गविहिं अणुगच्छमाणे अभिगज्जंते अणुगिज्झमाणे हक्कारेमाणे पुक्कारेमाण अभितज्जेमाणे अभित्तासेमाणे पिट्ठओ अणुगच्छंति । तते णं ते चिलाए तं धण्णं सत्थवाहं पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठं सण्णद्धबद्धसमणुगम्ममाणं पासति, पासतित्ता अत्थामे अबले० ४ जाहे नो संचाएइ सुसुमं दारियं निव्वाहेत्तए, ताहे संते तंते परितंते नीलुप्पलमसिं परामुसति,-परामुसतित्ता सुंसुमाए दारियाए उत्तमंगं छिंदति, छिंदतित्ता तं गहाय आगामियं अडविं अणुपविट्ठे। तते णं से चिलाए तीसे आगामियाए तण्हाए अभिभूते समाणे पम्हुट्ठदिसाभाए सीहगुहं चोरपल्लिं असंपत्ते अंतरा चेव कालगए , एवामेव समणाउसो० ! जाव पव्वइए समाणे इमस्स उरालियस्स सरीरस्स वंतासवस्स० जाव विद्धंसणधम्मस्स वण्णहेउं वा० जाव आहारं आहारेइ, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं ४ हीलणिज्जे० जाव अणुपरियट्टिस्सइ, जहा वा से चिलाए तक्करे, तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं तीसे आगामियाए सव्वओ समंता परिधाडेमाणे २ संते तते परितंते नो संचाएइ चिलायं चोरसेणावइं साहत्थिं गिण्हित्तए, से णं तओ पडिनियत्तए जेणेव सुंसुमा दारिया चिलाएणं जीवियाओ ववरोविआ तेणेव उवागच्छति , उवागच्छतित्ता सुंसुमं दारियं चिलाएणं जीवियाओ ववरोवियं पासति, (पासतित्ता) परसुणियत्तेव चंपगपायवे, तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे आसत्थे कूयमाणे कंदमाणे विलवमाणे महया महया सद्देणं कुहुकुहस्स परुण्णे सुचिरं कालं वाहमोक्खं करेति। तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं तीसे आगामियाए सव्वतो समंता परिधावेमाणे २ तण्हाए छुहाए य पराजूए समाणे तीसे आगामियाए अडवीए सव्वतो समंता उदगस्स मग्गणगवेसणं करेति, संते तंते परितंते निव्विण्णे तीसे आगामियाए अडवीए उदगस्स मग्गणगवेसणं करेमाणे णो चेव णं उदगं आसाएइ। तए णं उदगं अणासाएमाणे जेणेव सुंसमा दारिया जीवियातो ववरोविया, तेणेव उवागच्छति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेट्ठं पुत्तं सद्दावेति, सद्दावेत्तित्ता एवं वयासी--एवं खलु पुत्ता ! सुंसुमाए दारियाए अट्ठाए चिलायं तक्करं सव्वतो समंता परिधाडेमाणे

तएणं ताए छुहाए अभिभूत्रा समाणा इमीसे आगामिआए अमवीए उदयस्स मग्गणगवेसणं करेमाणा नो चेव णं उदगं आसादेमो, तए णं उदगं अणासाएमाणा णो संचाएमो रायगिहं संपावित्तए। तए णं तुब्भे णं ममं देवाणुप्पिया ! जीवियाओ ववरोवेह, ममं मंसं च सोणियं च आहारेह, तेणं आहारेणं अवथद्धा समाणा ततो पच्छा इमं आगामियं अडविं नित्थरिहेह, रायगिहं च संपाविहिह, मित्तणाइणियगं अभिसमागच्छिहिह, अत्थस्स य धम्मस्स य पुन्नस्स य आभागी भविस्सह। तते णं से जेट्ठपुत्ते धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे धणं सत्थवाहं एवं वयासी-तुब्भे णं ताओ अम्हं पिआ गुरुजणा य देवयभूया ठवका पतिट्ठवका संरक्खगा संगोवगा, तं कहं णं अम्हे ताओ तुज्झे जीवियातो ववरोवेमो, तुब्भे णं मंसं च सोणियं च आहारेमो, त तुब्भे णं ताओ ममं जीवियातो ववरोवेह, मंसं च सोणियं च आहारेह, आगामियं अडविं नित्थरह, तं चेव सव्वं भणति०जाव अत्थस्स ३ आभागी भविस्सह। तते णं धणं सत्थवाहं दोच्चे पुत्ते एवं वयासी-मा णं ताओ अम्हं जेट्ठभायरं गुरुदेवयं जीवियाओ ववरोवेमो, तुब्भे णं ताओ ममं जीवियाओ ववरोवेह०जाव आभागी भवस्सह, एवं०जाव पंचमे पुत्ते। तते णं से धणे सत्थवाहे पंचपुत्ताणं हियइच्छियं जाणित्ता ते पंचपुत्ते एवं वयासी-मा णं अम्हे पुत्ता एगमवि जीवितातो ववरोवेमो, एस णं सुंसुमाए दारियाए सरीरे निप्पाणे०जाव जीवआओ विप्पजढे, तं सेयं खलु पुत्ता ! अम्हे सुंसुमाए दारियाए मंसं च सोणियं च आहारित्तए। तते णं अम्हे तेणं आहारेणं अवथद्धा समाणा रायगिहं णयरं संपाउणियस्सामो। तए णं ते पंच पुत्ता धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा एयमट्ठं पडिसुणंति। तते णं से धणे सत्थवाहे पंचपुत्तेहिं सद्धिं अरणिं करेति, अरणिं करेतित्ता सरगं करेति, सरएणं अरणिं महेति, महेतित्ता अग्गिं पाडेति, अग्गिं पाडेतित्ता अग्गिं संधुक्कं करेति, करेतित्ता दारुयाइ पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता अग्गिं पज्जालेति, अग्गिं पज्जालेतित्ता सुंसुमाए दारियाए मंसं च सोणियं च आहारेति, तेणं आहारेणं अवथद्धा समाणा रायगिहं नगरं संपत्ता मित्तनातिं अभिसमन्नागया, तस्स य विपुलस्स धणकणभरयण० जाव आभागी जाया। तते णं धणे सत्थवाहे सुंसुमाए दारियाए बहुइं लोइयाइं० जाव विगयसोए जाए यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जेणेव गुणसिलए चेइए, तेणेव समोसढे, सेणिओ वि राया णिग्गओ। तए णं से धणे सत्थवाहे धम्मं सोच्चा० जाव पव्वइया, एक्कारसंगविऊ मासियाए संलेहणाए०जाव कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववण्णे, ताओ देवलोगाओ महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०, जाव अंतं करेहिंति, जहा वि य णं जंबू ! धणे सत्थवाहे णो वण्णहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा सुंसुमाए दारियाए मंसं सोणियं च आहारिए, नन्नत्थ एगाए रायगिहं संपावणट्ठयाए, एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा इमस्स ओरालियसरीरस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कासवस्स सोणियासवस्स०जाव अवस्सविप्पजहियव्वस्स नो वन्नहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा आहारं आहारेति, नन्नत्थ एगाए सिद्धिगमणसंपावणट्ठयाए, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं० ४ अच्चणिज्जे० जाव वीईवइस्सइ, एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं अट्ठारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि। ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ॥

आसी चिलाइपुत्तो, मुइंगलियाहिँ चालणि व्व कओ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ८४॥

आसीच्चिलातिपुत्रः सुंसुमाज्ञाते प्रसिद्ध (मुइंगलियाहिं ति) कीटिकाभिः, पद्भ्यां शोणितगन्धेन प्रसृताभिर्भक्षयन्तीभिः शिरो यावच्चालनीव कृत, सोऽपि ताभिस्तथा भक्ष्यमाणः प्रतिपन्न उत्तमार्थम्। संथा०।

तथा तामुमेवार्थं प्रतिपिपादयिषुराह-

जो तिहि पएहि सम्मं, समभिगओ संजमं समभिरूढो।
उवसमविवेगसंवर-चिलाइपुत्तं नमंसामि ॥ २१० ॥

यस्त्रिभिः पदैः सम्यक्त्व समभिगतः प्राप्तः, तथा संयम समारूढः, कानि पदानि?-उपशमविवेकसंवराः, उपशमः क्रोधादिनिग्रहः, विवेकः स्वजनसुवर्णादित्यागः, सम्वर इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तिरिति। तमित्थम्भूतम् उपशमविवेकसम्वरचिलातिपुत्रं नमस्ये, उपशमादिगुणा अनन्यत्वाच्चिलातिपुत्रे एवोपशमविवेकसम्वर इति, स चासौ चिलातिपुत्रश्चेति समानाधिकरण इति गाथार्थः। आव० ४ अ०। संथा०।

अहिसरिआ पाएहिं, सोणिअगंधेण जस्स कीडीओ।
खायंति उत्तमंगं, तदुक्करकारयं वंदे ॥ २११ ॥

अभिसृताः पादाभ्यां शोणितगन्धेन कीटिकाः यस्य अविचलिताध्यवसायस्य भक्षयन्त्युत्तमाङ्गं पद्भ्यां शिरोवेधगता इत्यर्थः। त दुष्करकारक वन्दे इति गाथार्थः।

धीरो चिलाइपुत्तो, मुइंगलिआहि चालणि व्व कओ।
जो तहवि खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ २१२ ॥

धीरसत्त्वसंपन्नश्चिलातिपुत्रः (मुइंगलियाहि) कीटिकाभिर्भक्ष्यमाणश्चालनीव कृतस्तथापि खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थम्, शुभपरिणामापरित्यागादिति हृदयम् ॥

अड्डाइज्जेहिँ राइं-दिएहिँ पत्तं चिलाइपुत्तेणं ।
देविंदामरभवणं, अच्छरगणसंकुलं रम्मं ॥ ९१३ ॥

अर्द्धतृतीयैः रात्रिन्दिवैः प्राप्तं चिलातिपुत्रेण देवेन्द्रस्येव अमरभवनम्, अप्सरोगणसंकुलं रम्यमिति गाथार्थः । आव० २ अ० । आ० म० ।

चिलाय-किरात-पुं० । सिन्धुमहानदस्य पश्चिमायामविदूरे 'बलूचिस्तान इति ख्याते' म्लेच्छदेशभेदे, तज्जे मनुष्यजातौ च । ये हि भरतेन महाराजेन आपाना नाम किराताः पराजिताः । प्रश्न० १ पद । जं० । स्था० । कोटीवर्षस्याधिपतौ राजनि, आव०४ अ०। आ० क०। आ० चू०। (मूलगुणप्रत्याख्याने कथा)

चिलायपुत्त-किरातपुत्र-पुं० । किरातीपुत्रे, व्य० १ उ० ।

चिलिच्चिलं-देशी-आर्द्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिलिमिली-चिलिमिलि-स्त्री० । जवनिकायाम्, व्य०८ उ० । आचा० । प्रच्छादनपटयाम् , सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा ।

अस्य संबन्धमाह--

सागारिपच्चयट्ठा, जह घमिमत्तो तहा चिलिमिली वि ।
रत्तिं च हेट्ठऽणंतर, इमाउ जयणा उभयकाले ॥

सागारिको गृहस्थः, तत्प्रत्ययार्थं यथा घटीमात्रकः, तथा चिलिमिलिकाऽपि धारयितव्या, तदधस्ताव सूत्रं, ततोऽनन्तर तस्मिन्नपावृतद्वारोपाश्रयसूत्रे रात्रौ चिलिमिलिकादिप्रदानयतना भणिता, इय तु उभयकाले-रात्रौ दिवा च कर्त्तव्या इति । अनेन सबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चेलचिलिमिलिकां धारयितु वा । एष सूत्राक्षरार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः--

धारणया उ अभोगो, परिहरणा तस्स होइ परिभोगो ।
चेलं व पहाणतर तो, गहणं तस्सेव नऽन्नासिं ॥

धारणता तु अभोगो अव्यापारण, परिहरणा तु-तस्य चिलिमिलिकाख्यस्योपकरणस्य परिभोगो व्यापारणमुच्यते । आह-वस्त्ररज्जुवल्कदण्डकटभेदात् पञ्चविधा चिलिमिलिका वक्ष्यते, तत्कथं सूत्रे चेलचिलिमिलिकाया एव ग्रहणमिति ? आह-चेल तु वस्त्रं रज्ज्वादीनां मध्ये बहुतरोपयोगित्वात् प्रधानतरं, ततस्तस्यैव सूत्रे ग्रहण कृतं, नान्यासां रज्जुचिलिमिलिकादीनाम् ।

अथ चिलिमिलिकाया एव भेदादिनिरूपणाय द्वारगाथामाह-

भेदो य परूवणया, दुविह पमाणं च चिलिमिलीणं तु ।
उवभोगो उ दुपक्खे, अगहणऽधरणे य लहु दोसा ॥

प्रथमतः चिलिमिलिकाभेदो वक्तव्यः, ततस्तासामेव प्ररूपणा कर्त्तव्या, ततो द्विविध प्रमाणं गणनाप्रमाणभेदाद् चिलिमिलिकानामाश्रित्य वक्तव्यम्, चिलिमिलिकाविषय उपभोगो द्विपक्षे संयतीपक्षद्वयस्य वक्तव्य, चिलिमिलिकाया अग्रहणे अधारणे च चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्त, दोषाश्चाज्ञादयो भवन्ति । एतद्द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

अथैनामेव प्रतिद्वारं विवरीषुराह-

सुत्तमई रज्जुमई, वग्गमई दंडकडगमई य ।
पंचविह चिलिमिली पुण, उवग्गहकरी भवे गच्छे ॥

सूत्रमयी रज्जुमयी वल्कमयी दण्डमयी कटकमयी चेति पञ्चविधा चिलिमिली, एषा पुनर्गच्छे गच्छवासिनामुपग्रहकरी भवति । उक्तो भेदः । अथ सूत्रप्ररूपणा क्रियते-सूत्रस्य विकारः सूत्रमयी, सा च वस्त्रमयी वा, कम्बलमयी वा प्रतिपत्तव्या, रज्जोर्विकारो रज्जुमयी, ऊर्णादिमयो दवरक इत्यर्थः । वल्कं नाम-शणादिवृक्षत्वग्रूप, तेन निर्वृत्ता वल्कमयी, दण्डको वंशवेत्रादिमयी यष्टिस्तेन निर्वृत्ता दण्डकमयी, कटो वंशकटादिस्तन्निष्पन्ना कटकमयी । गता प्ररूपणा ।

अथास्याः पञ्चविध्या अपि चिलिमिलिकाया-यथाक्रम गाथात्रयेण द्विविधं प्रमाणमाह-

हत्थपणगं उ दीहा, तिहत्थ रुंदोमियाणऽसइ खोमा ।
एतप्पमाण गणणे-क्कमेक्क गच्छं व जा वेढे ॥

प्रमाणगणनाभेदाद् द्विविध प्रमाण, तत्र प्रमाणमाश्रित्य सूत्रमयी चिलिमिलिका हस्तपञ्चक दीर्घा, त्रीन् हस्तान् रुन्दा-विस्तीर्णा भवति । एष चोत्सर्गतस्तावदौर्णिकी, ऊर्णिकया असत्यभावे क्षौमिकी ग्रहीतव्या । वल्कचिलिमिलिकाया अप्येतदेव प्रमाणम् । गणनाप्रमाण पुनरधिकृत्य एकैकस्य साधोः, एकैकस्यां यावन्त्यो वा गच्छ वेष्टयन्त्यो भवन्ति, या वा प्रातिहारिकी गच्छं सकलमपि वेष्टयति सा गणनयैका, प्रमाणेन च नियता ।

असतीऍ खामरज्जू, एक्क पमाणेण जा उ वेढेइ ।
कडहूवग्गादीहिं, पोत्तेऽसइ भए व वग्गमई ॥

रज्जुचिलिमिलिका पूर्वमौर्णिकदवरकरूपा, तस्या अभावे क्षौमिकदवरिका, सैकाऽपि कर्तव्या, सा च सर्वेषामपि साधूनां प्रत्येक गणनयैकैका, प्रमाणेन तु हस्तपञ्चकदीर्घा भवति, गणावच्छेदिकहस्ते वा एक एव दवरको भवति, यः सकलमपि गच्छ शातादिरक्षार्थं वेष्टयति । कडहू नाम-वृक्षविशेषः, तस्य यद्वल्कम्, आदिशब्दात्पालाशीशणादिसंबन्धि, वल्केन निर्वृत्ता वल्कमयी, सा च (पोत्तेऽसइ त्ति) वस्त्रचिलिमिलिकाया अभावे, भये वा स्तेनादिसमुत्थे गृह्यते ।

देहाधिओ गणणेक्को, दुवारगुत्ती भए व दंडमयी ।
संचारिम चतुरो वा, भय माणे कममसंचारं ।

तस्य प्रमाणादधिको यो दण्डः स देहाधिकः, स च गच्छपरिभाषया देहाच्चतुरङ्गुलाधिकप्रमाणा नालिका भण्यते, एतावता प्रमाणमुक्तम् । स च देहाधिको दण्डको गणनयैकैकस्त्वाधारकैको भवति, तैश्च दण्डकैः श्वापदादिभये द्वारगुप्तिः-द्वारस्य स्थगनं क्रियते । एष दण्डमयो द्रष्टव्यः । एताश्चादिमाश्चतस्रश्चिलिमिलिका वक्ष्यतेर्वसतिक्षेत्राद् क्षेत्र सचरन्तीति सचारिमा उच्यन्ते, कटकमयी तु असंचारिमा, माने च प्रमाणे द्विविधे तां कटकमयीं चिलिमिलीं भज विकल्पय, अनियतप्रमाणेत्यर्थः । तत्र प्रमाणमङ्गीकृत्य यावत्या वक्ष्यमाणं कार्यं पूर्यते तावत्प्रमाणा कटकचिलिमिली, गणनया तु यद्येकः कटः कार्यं न प्रतिपूरयति ततो द्विपादयोऽपि तावत्संख्याकाः ग्रहीतव्या यावद्भिस्तत्कार्यं पूर्यते । गतं द्विविध प्रमाणम् ।

अथोपभोगो द्विपक्षे इति पद विवृणोति-

सागारिऍ सज्झाए, पाणदऍ गिलाणे सावयभए वा ।

अध्धाणमरणवासा-सु चेव सा कप्पए गच्छे ॥

सागारिके पश्यति, स्वाध्याये विधातव्ये, प्राणदयायां विधेयायां, ग्लानार्थं, श्वापदभये वा उत्पन्ने, अध्वनि, मरणे, वर्षासु चैव, सा चिलिमिलिका कल्पते, गच्छे गच्छवासिनां साधूनां परिभोक्तुम् । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति-

पडिलेहोभयमंडलि, इत्थीसागारियए सागरिए ।

घाणालोगज्झाए, मच्छियमोलाइपाणेसु ॥

प्रतिलेखनां कुर्वतो द्वारे चिलिमिलिकां कुर्वतो मा सागारिका उत्कृष्टोपधिं द्राक्षुः, मा वा तमुस्त्वकान् कार्षुरिति कृत्वा, (उभयमंडलि त्ति) समुद्देशनमण्डल्यां स्वाध्यायमण्डल्यां चोद्धतरक्षणार्थं, स्त्रीरूपप्रतिबद्धायां च वसतौ स्त्रीसागारिकाणामालोको मा स्तादिति एतदर्थं चिलिमिली दीयते (सागारिए त्ति) सागारिकद्वारे विन्यस्यमाने एतत्कारणजातं चिलिमिलिकाग्रहणे द्रष्टव्यम् । (घाणालोगज्झाए त्ति) यत्र मूत्रपुरीषादेरशुभा घ्राणिरागच्छति, शोणितचर्चिकाणां वा यत्रालोकः, चेटरूपाणि वा यत्र कुतूहलेनालोकन्ते तत्र चिलिमिलीं दत्त्वा स्वाध्यायः क्रियते, मक्षिकामोलादयो वा प्राणिनो यत्र बहवः प्रविशन्ति मोलास्तिका उच्यन्ते, तत्र प्राणदयार्थमेतासामेव ,चिलिमिलिकानामुपभोगः कर्तव्य इति ।

उब्भओसहकज्जे वा, देसे वीसत्थमाइ गेलन्ने ।

अध्धाणे उब्भासइ, उवहीए सावए तेणे ॥

उभय सञ्ज्ञाकायिकीलक्षण चिलिमिलिकया आवृतो ग्लानः सुख व्युत्सृजति,औषधकार्ये वा औषधं तस्य प्रच्छन्ने दातव्यं, मा मृगा अवलोकन्तामिति कृत्वा,अतः चिलिमिलिका दातव्या। एव (देसे त्ति) यत्र देशे शाकिन्या उपद्रवाः सम्भवन्ति तत्र ग्लान प्रच्छन्ने धारयितव्यः,विश्वस्तो ग्लान प्रच्छन्ने सुखमपावृतस्तिष्ठति । आदिशब्दात् दुग्धादिकं ग्लानार्थमेव गीतार्थेन स्थापित, तच्च दृष्ट्वा ग्लानो यदा तदा वा अभ्यवहरेदिति कृत्वा तदन्तरे चिलिमिलिका दीयते, यथाऽसौ तन्न पश्येत्, एवमादिके ग्लानत्वे चिलिमिलिकानामुपभोग । अध्वनि प्रच्छन्नस्थानस्याभावे चिलिमिलिकां दत्त्वा समुद्दिशन्ति वा, सारोपधिं वा प्रत्युपेक्षन्ते।श्वापदेभ्यो वा यत्र भय, स्तेनेभ्यो वा यत्रोपधेरपहरणशङ्का, तत्र दण्डकचिलिमिलिकया कटकचिलिमिलिकया वा दृढ द्वार पिधाय स्थीयते (बृ०)

तथा---

बंभव्वयस्स गुत्ती, दुहत्थसंघाडिए सुहं जोगो ।

वीसत्थचिट्ठणादी, दुराहिगमा दुविह रक्खा य ॥

उपाश्रये वर्तमाना आर्यिका चिलिमिलिकया नित्यकृतया तिष्ठति, यतो ब्रह्मव्रतस्य गुप्तिरेवं कृता भवति। द्विहस्तविस्तराया अपि सङ्घाटिकाया. सुखं योगो भवति , प्रतिश्रये हि तिष्ठन्त्यो द्विहस्तविस्तरामेव सङ्घाटिकां प्रावृण्वते,न त्रिहस्तां न वा चतुर्हस्ताम । ततः चिलिमिलिकया बहिर्विरूपा वसतयाऽपि प्रावृतया विश्वस्ता नि.शङ्का सत्यः सुख स्थाननिषदनत्वग्वर्तनादिकाः क्रियाः कुर्वन्ति,दुरधिगमाश्च दु.शीलानामगम्या भवन्ति , द्विधा च रक्षा कृता भवति , सयम आत्मा च रक्षितो भवतीति भाव । बृ० १ उ० । पं० भा० । प० व० । नि० चू० ।

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥१५॥

जे भिक्खू सोत्तियेत्यादि सभाष्य पूर्ववत् । नि० चू० ३ उ० ।

चिलीण-चिलीन-त्रि० । मनसः कलिमलपरिणामहेतौ, जी० ३ प्रति० ।

चिल्ल-चिल्ल-पुं० । (चीड) वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १६ पद ।

चिल्लग-चिल्लक-त्रि० । देदीप्यमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । च० प्र० । ज्ञा० । श्वापदभेदे, प्रज्ञा० ११ पद । शिष्ये, "एगस्स आयरियस्स चिल्लओ अविणीओ " आ० म० द्वि० ।

चिल्लग-चित्रक-पु० । व्याघ्रे, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

चिल्लणा-चिल्लणा-स्त्री० । वैशालिकपुराधिपतेश्चेटकराजस्य कन्यायां श्रेणिकमहाराजस्य भार्यायाम् , आ० क० । अन्त० । आ० म० । नि० । ज्ञा० । (तत्परिणयश्च 'सेणिय' शब्दे वक्ष्यते)

चिल्लल-चिल्लल-न० । चिक्खल्लमिश्रोदके जलाशयविशेषे, भ०५ श०७ उ० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । आरण्यके पशुविशेषे, जी० ३ प्रति० । खरविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । ज० ।

चिल्ललिया-चिल्ललिका-स्त्री० । चिल्ललाख्यपशुजातीयस्त्रियाम्, प्रज्ञा० ११ पद ।

चिल्ला-देशी- शकुनिकाख्ये, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिल्लिय-देशी-देदीप्यमाने, जी० ३ प्रति० । कल्प० । भ० । ज० । लीने , दीप्ते च । औ० ।

चिल्लिरी-देशी-मशके, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिल्लूरं-देशी-मुसले, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिल्लो-देशी-बाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिवट्टी-देशी-तृणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिव्वंत-चीयमान-त्रि० । चि-कर्मणि भावे वा यक् । "न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् " ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति चिधातोः कर्मणि भावे वा द्विरुक्तो वकारः । उपचीयमाने, प्रा० ४ पाद ।

चिहुर-चिकुर-पु० । " निकषस्फटिकचिकुरे हः " ॥८।१।१८६॥ इति ककारस्य हकारः । प्रा० १ पाद । रागद्रव्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

चिहुरंगराय-चिकुराङ्गराग-पु० । चिकुरसयोगनिमित्ते वस्त्रादौ रागे , जी० ३ प्रति० ।

चीम-चीम-पु० । गन्धप्रधाने वृक्षभेदे , ल० प्र० ।

चीण-चीन-पु० । श्रीऋषभजिनस्य द्वादशे सुते, तद्राज्ये च । कल्प० ७ क्षण । म्लेच्छदेशविशेषे , प्रव० २७४ द्वार । सूत्र० । प्रश्न०। बृ० । प्रज्ञा०। ह्रस्वे, त्रि०। 'चीणचिमिढवंकभग्गणास' चीना प्रश्न०। ह्रस्वा (चिमिढ त्ति) चिपिटा निम्ना वक्रा वक्रा भग्नेव भग्ना, अयोघनकुट्टितेवेत्यर्थः , नासिका यस्य स तथा। ज्ञा०१ श्रु० ८ अ० । कङ्गुतुल्यव्रीहिभेदे, मृगभेदे च । पताकायां , सीसके च । न० । वाच० ।

चीणंसुय-चीनांशुक-न० । स्वनामख्यात. कोशिकार. तज्जे,चीन-

विषये निष्पन्ने वस्त्रभेदे च। चीनांशुको नाम कोशिकारोऽप्य- स्ति, तस्माज्जात चीनांशुकम्। यद्वा-चीनो नाम जनपदस्तत्र यः श्लक्ष्णतरः पट्टस्तस्माज्जात चीनांशुकम्। बृ० १ उ०। कल्प०। स्था०। आ० म०। चीनांशुकानि नानादेशेषु प्रसिद्धा- नि दुकूलविशेषरूपाणि, पूर्वोक्तस्यैव वल्कस्य यान्यन्तरहीरैर्नि- ष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि च भवन्ति तानि चीनांशुकानि। जं० २ वक्ष०। नि० चू०। चीनदेशे आमिषपुञ्जाः क्रियन्ते, तद- र्थिनः कीटीरागत्य लालां मुञ्चन्ति, तत्सूत्रं भवति, तन्निष्पन्नं वस्त्रं चीनांशुकमित्युच्यते इति वृद्धाः। अनु०।

चीणपिट्ठ-चीनपिष्ट-पुं०। लोहितवर्णे वस्तुविशेषे (रा०) लोकप्रसिद्धे, प्रज्ञा० १७ पद। चीनदेशज सिन्दूरमिति प्रती- यते। वाच०।

चीमूय-जीमूत-पुं०। 'चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्य- द्वितीयौ॥ ८। ४। ३२५॥ इति जस्य चः। मेघे, पा०।

चीरकंडूसगपट्ट-चीरकण्डूसकपट्ट-पुं०। रजोहरणबन्धभेदे, "चीरकडूसगवधो खाम-जाहे रयहरणं तिभागपएसे लोमिय- ए ओणिए वा चीरेण वेढयं भवति, ताहे उन्निदोरेण तिपासियं करेति, त चीरकडूसगपट्टओ भखति" नि० चू० ५ उ०।

चीरग-चीरक-पुं०। रथ्यापतितचीवरपरिधाने लिङ्गिनि, ग० २ अधि०।

चीरत्थल-चीरस्थल-न०। मथुरास्थे स्थलभेदे, ती० ए कल्प।

चीरल्ल-चीरल्ल-पुं०। पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

चीरिय-चीरिक-पुं०। रथ्यापतितचीवरपरिधाने, चीरोपकरणे वा पाखण्डिसाधौ, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। अनु०।

चीवंदण-चैत्यवन्दन-न०। 'चेइयवंदण' इति प्राप्ते आर्षत्वात्त- थारूपम्। विधिपूर्वं देववन्दने, प्रा० १ पाद।

चीवर-चीवर-न०। वस्त्रे, स्था० ५ ठा० २ उ०। उत्त०।

चीवरधारि (ण्)-चीवरधारिन्-त्रि०। वस्त्रधारिणि, कल्प० ८ क्षण।

चुअ-च्युत-त्रि०। विनष्टे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। उच्छ्वास- निश्वासजीवितादिदशविधप्राणेभ्यः परिभ्रष्टे, अनु०। देव- लोकादवतीर्णे, कल्प० १ क्षण।

चुइ-च्युति-स्त्री०। च्यवने, वैमानिकज्योतिष्काणां मरणे, स्था० १ ठा० १ उ०।

चुइसमय-च्युतिसमय-पुं०। इहभवपरभवशरीरायुःपुद्गलपू- र्वपरिशाटसमये, आ० म० द्वि०। (अस्मिन् समये किम् इह भवः, किं वा परभवः? इति विवेचितं 'करण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२ पृष्ठे)

चुंचुण-चुञ्चुन-पुं०। इभ्यजातिभेदे, स्था० ६ ठा०। प्रज्ञा०।

चुंचुय-चुञ्चुक-पुं०। म्लेच्छजातिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

चुंबण-चुम्बन-न०। वक्त्रसंयोगे, प्रव० १६ए द्वार। चुम्बनावि- कल्पः सम्प्राप्तकामभेदः। दश० ६ अ०।

चुक्क-भ्रंश-धा०। अधःपतने, दिवा०-पर०-अनिट्। "भ्रंशेः फिडफिट्टफुडफुट्टचुक्कभुल्लाः" ॥ ८। ४। १७७॥ इति भ्रंशेश्चु- क्कादेशः। 'चुक्कइ' भ्रश्यति। प्रा० ४ पाद। आव०। वि- स्मृते, बृ० ४ उ०। मुष्टौ, दे० ना० ३ वर्ग।

भ्रष्ट-त्रि०। पतिते, "गिहत्थधम्माउ चुक्काति।" गृहस्थधर्मा- दर्थात्यतिधर्मात्सविघ्नपाक्षिकपथाच्चुक्काति, भ्रष्टः ससारपथ- प्रयान्तर्वर्तीत्यर्थः। ग० १ अधि०।

चुक्क-न०। चक्-रक्-अत उत्वं च। अम्लवेतसे, चुक्र- पालङ्कशाकभेदे, शुक्रभेदे च। स्वार्थे कन् (आमरुल) शाके, तिन्तिण्यां च। स्त्री०। वाच०।

चुक्कखलित-भ्रष्टस्खलित-न०। अनाभोगे, "अणाभोगो चुक्क- खलितो भखति" नि० चू० २० उ०।

चुक्खचुत्त-चोक्षचुक्त-त्रि०। शुचिसमाचारे, बृ० १ उ०।

चुच्चुय-चूचुक-न०। स्तनाग्रभागे, रा०। प्रश्न०।

चुच्छ-तुच्छ-त्रि०। "तुच्छे तश्चछौ वा" ॥ ८। १। २०४॥ इति तकारस्य चकारः। हीने, अल्पे च। प्रा० १ पाद।

चुडुल-चुटल-न०। जीर्णतायाम्, पिं०।

चुडुली-चुटली-स्त्री०। प्रदीप्ततृणपूलिकायाम्, भ० १ श० ५ उ०। तं०। वन्दनदोषभेदे, "चुडलि व्व गिण्हिऊणं, रयहरणं होइ चुडलिं तु"। चुटली नाम-उल्का, उल्कामिवालातमिव प- र्यन्ते रजोहरणं गृहीत्वा भ्रामयन् यत्र वन्दते तच्चुटलिकम्। द्वात्रिंशत्तमे वन्दनदोषे, प्रव० २ द्वार। ध०। आ० चू०। बृ०। आव०। (स च दोषः 'चुडलिंड' शब्दे वक्ष्यते)

चुण्ण-चूर्ण-पुं०। न०। "ह्रस्वः संयोगे" ॥ ८। १। ८४॥ प्रा० १ पाद। यवादीनाम् (आचा०२ श्रु०२अ०१उ०) बदरादिकाना- म् (नि० चू० १६ उ०) मोदकादिखाद्यकचूरौ, बृ० १ उ०। आचा०। प्रज्ञा०। गन्धद्रव्यसम्बन्धिनि रजसि, भ० ३ श० ७ उ०। वशीकरणादिफले द्रव्यसंयोगे, बृ० १ उ०। अन्तर्धा- नादिफले नयनाञ्जनादौ, ध० ३ अधि०। ग०।

जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा लोद्देण वा पउमचुण्णेण वा एहाणे वा चुण्णेहिं वा वण्णेहिं वा उव्वट्टेइ वा, परिवट्टेइ वा, उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ॥ ५॥

कक्कं उव्वलणय, द्रव्यसंयोगेन वा कक्कं क्रियते, किंचिल्लोद्धं द्रव्यं, तेण वा उव्वट्टेति, पद्मचूर्णेन वा एहाण-एहाणमेव, अहवा उब्वएहाणय भण्णति। त पुण मासचूर्णादिसिणाणं गंधि- यावणे अंगाघसणय वुच्चति। चुण्णओ जो सुगंधो, च- दणादिचूर्णानि, जहा वट्टमाणचुण्णो पडवासादिवासनिमि- त्ते तहेव उव्वट्टेति, एक्कसिं परिवट्टेति पुणो पुणो। नि० चू० १ उ०।

चौर्ण-न०। पदभेदे, (दश०)

चौर्णं पदमाह-

अत्थवहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसग्गगंभीरं।
वहुपायमवोच्छिन्नं, गमणयसुद्धं तु चुण्णपयं ॥ १८०॥

अर्थो बहुलो यस्मिन् तदर्थबहुलम्। "क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्र-

अणारियबुद्धी अणारियाइं पावाइं कम्माइं समाचरए, जेणं ममं जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि, मम अग्गओ घाएइ, घाएइत्ता जहा कयं तहा वि चिंतेइ० जाव गायं आइंचइ, जेणेव मम मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ० जाव सोणियं आइंचइ, जेणेव मम कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव० जाव आइंचइ, जा वि य णं इमं मम माता भद्दा सत्थवाही देवतं गुरुं जणणिं दुक्करकारियं तं पि य णं इच्छइ, साओ गिहाओ णीणेत्ता ममं अग्गओ घाइत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हेत्तए त्ति कट्टु उट्ठाति, ते से वि य आगासेए उप्पतिए तेण य खंभे आसादिए महया महया सद्देणं कोलाहले कए, तए णं सा भद्दा सत्थवाही तं कोलाहलसद्दं सोचा निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चुल्लणीपियं एवं बयासी-किं णं पुत्ता! तुमे महया महया सद्देणं कोलाहले कए?। तए णं से चुलणीपिया अम्मयं भद्दं सत्थिवाहिं एवं बयासी-एवं खलु अम्मो! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरुत्ते०५ एगं महं नीलुप्प०असिं गहाय ममं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया! अपत्थियपत्थिया० ४ वज्जिया जइ णं तुमं० जाव ववरोविज्जसि,तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए०जाव विहरामि। तए णं से देवे मम अभीयं०जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता ममं दोचं पि तचं पि एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया! तहेव गायं आइंचइ,तए णं अहं तं उज्जलं० जाव अहियासेमि,एवं तहेव उच्चारेयव्वं सव्वं०जाव कणीयसं० जाव आइंचइ,अहं तं उज्जलं०जाव अहियासेमि। तए णं से देवे ममं अभीयं०जाव पासइ, पासइत्ता ममं चउत्थं पि एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया! अपत्थियपत्थिया०जाव न भंजसि तओ ते अज्ज जा इमा माता गुरु० जाव ववरोविज्जसि, तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए० जाव विहरामि। तए णं से देवे दोच्चं पि तच्चं पि ममं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया! अज्ज०जाव ववरोविज्जसि, तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अभत्थिए अहो णं इमे पुरिसे अणारिए० जाव समायरए जेणं ममं जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ तहेव०जाव कणीयसं० जाव आइंचइ, तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ० जाव णीणेत्ता, मम अग्गओ घाएत्तए तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाति, ते से वि य आगासे उप्पतिते ममए वि य खंभे आसादिते महया महया सद्देणं कोलाहले कए, तए णं सा भद्दा चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी-नो खलु केइ पुरिसे तव० जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ णीणेइ, णीणेइत्ता तव अग्गओ घाएइ । एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एस णं तुमे वि दारिसणे दिट्ठे, तए णं तुमं इयाणिं भग्गवया भग्गणियमे भग्गपोसहे विहरसि, तेणं तुमं पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोइ०जाव पडिवज्जेहि। तए णं से चुल्लणीपिया समणोवासया अम्माए भद्दाए स० तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ० जाव पडिवज्जेइ। तए णं से चुल्लणिपिया स०पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। पढमं उवासगअहासुत्तं जहा आणंदो०जाव एकारस वि तए णं से चु० तेणं उरालेणं जहा कामदेवे० जाव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरच्छिमेणं अरुणप्पभे णामं विमाणे देवत्ताए उववण्णे चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति० ५। उपा० ३ अ० ॥

चुल्लसीइ-चतुरशीति-स्त्री० । चतुरधिकायामशीतौ, अं० १ वक्ष०। स०। प्रज्ञा०। प्रश्न०।

चुल्लसीइसमज्जिय-चतुरशीतिसमर्जित-त्रि०। एकत्र समये समुत्पद्यमानानां येषां राशिः चतुरशीतिसमर्जितः स्यात् तेषु नैरयिकादिषु, भ० २० श० १० उ०। उपा० (' उववाय ' शब्दे द्वितीयभागे ९१५ पृष्ठे उक्तं चैतत्)

चुल्लसीय-चतुरशीत-त्रि०। चतुरशीत्यधिके, " चुल्लसीयं मंगलसतं चरति " सू० प्र० १ पाहु०।

चुलुक्क-चुलुक्य-पुं०। क्षत्रियकुलविशेषे, यस्मिन् सिद्धराजादय आसन्, कुमारपालराज आसीत्। " अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम्। पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्नि, याः प्रेमरहिता अपि" ॥१॥ स्था० ४ ठा० २ उ०।

चुलचुल-स्पन्द्-धा०। किञ्चिच्चलने, " स्पन्देश्चुलचुलः " ॥ ८। ४। १२७ ॥ इति स्पन्देश्चुलचुलादेशः। "चुलचुलइ" स्पन्दते। प्रा० ४ पाद।

चुल्ल-क्षुद्र-त्रि०। महदपेक्षया लघौ, स्था० २ ठा० ४ उ०।

चुल्लकप्पसुय-क्षुद्रकल्पश्रुत-न०। अल्पग्रन्थे, अल्पार्थे च कल्पस्थविरादिकल्पप्रतिपादके उत्कालिकश्रुते, नं०।

चुल्लग-देशी-भोजने, मनुष्यत्वलाभे चुल्लग (भोजन) दृष्टान्तः। आ० क०।

चुल्लपिउ-क्षुद्रपितृ-पुं०। लघुपितरि, विपा० १ श्रु० ३ अ०। "अज्जए पज्जए वा वि, बप्पो चुल्लपिउ,त्ति य" । दश०७ अ०।

चुल्लमाउया-क्षुद्रमातृका-स्त्री०। लघुमातरि, नि० १ वर्ग । " कूणियस्स रण्णो चुल्लमाउया " अन्त० ८ वर्ग । ज्ञा०।

चुल्लसयय-क्षुद्रशतक-पुं०। महाशतकापेक्षया लघुः शतकश्चुल्लशतकः। स्वनामख्याते गृहपतौ, स चाऽऽलम्भिकाभिधाननगरनिवासिदेवेनोपसर्गकारिणा कल्यमुपाख्येयमाणमुपलम्य चलितप्रतिज्ञः पुनर्निरतिचारः सन् दिवमगमदिति यथा तथा यत्राभिधीयते तस्मिन् उपासकदशानां चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणा-रसीए णयरीए कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया , सुरादेवगा-हावई अड्ढे दित्ते छ हिरएणकोडीओ णिहाणपत्ताओ० जाव छव्वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं,धएणा भारिया,सामी समो-सढो, जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं,जहा काम-देवो० जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स पएणत्तिं उव-संपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवा-सयस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउ-ब्भवित्था। से देवे एगं महं नीलुप्पल० जाव असिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी-हंभो सुरादेवा! अपत्थियपत्थिया ४ जइ णं तुमं सीलाइं० जाव न भंजसि तओ जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि , तव अ-ग्गओ घाएमि , एवं मंससोल्लए करेमि । आयाणभरियं-सि कडाहगंसि अद्दहेमि, अद्दहेमित्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आइंचामि , जहा णं तुमं अकाले० जाव ववरोविज्जसि। एवं मज्झिमयं कणीयसं एकेके पंच सोल्लया तहेव करेइ जहा चुलणीपियस्स, नवरं एकेके पंच सोल्लया। तए णं से देवे सुरादेवं चउत्थं पि एवं वयासी-हंभो सुरा० ! अपत्थियपत्थिया० जाव न परिभंजसि तओ ते अज्ज सरीरस्स जमगसमगमेव सोलसरोगायंके पक्खिवामि । तं जहा-सासे कासे० जाव कोढे, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० जाव ववरोविज्जसि । तओ से सुरा० जाव विहरइ, एवं देवो दोच्चं पि तच्चं पि भणइ० जाव ववरोविज्जसि । तए णं तस्स सुरादेवस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झ० ४ अहो णं इमे पुरिसे अ-णारिए०जाव समायरइ जेणं ममं जेट्ठपुत्तं० जाव कणीयसं० जाव आइंचइ,जे वि य मे सोलस रोगायंका ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए; तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाएइ,से वि य आगासे उप्पतिते तेण य खंभे आसाइए,महया महया सद्देणं कोलाहले कए,तए णं सा धएणा भारिया कोलाहलं सुच्चा निसम्म जेणेव सुरादेवे सम-णोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया! तुब्भे णं महया सद्देणं कोलाहले कए?। तए णं से सुरादेवे धएणं भारियं एवं वयासी-एवं खलु देवा-णुप्पिया ! के वि पुरिसे तहेव कहइ जहा चुलणिपिया धएणा वि पडिभणइ० जाव कणीयसं णो खलु देवा०! तुब्भं केइ पुरिसे सरीरंसि जमगसमगं सोलसरोगायंके पक्खिवइ, एस ण के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ । सेसं जहा चुल-णीपियस्स भद्दा भणइ णिरवसेसं० जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकंते विमाणे चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति ५ (उपा० ४ अ०) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया णयरी, संखवणे उज्जाणे, जियसत्तू राया, चुल्लसयए गाहावई अड्ढे० जाव छ हिरएणकोडीओ० जाव छव्वया दसगो-साहस्सिएणं वएणं, बहुला भारिया, सामी समोसढो, जहा आणंदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ, सेसं जहा कामदेवे० जाव धम्मपएणत्तिं उवसंपज्जित्ता विहरइ, तए णं तस्स चुल्लसयगस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं० जाव असिं गहाय एवं वयासी-हं भो चुल्लस०! जाव ण भंजसि तओ अज्ज जेट्ठपुत्तं गिहाओ णीणेमि एवं जहा चुलणीपियं; णवरं एकेकसत्तमंससो-ल्लया०जाव कणीयसं०जाव आइंचामि ; तए णं से चुल्ल० जाव विहरइ । तए णं से देवे चुल्लस्स चउत्थं पि एवं वयासी-हंभो चुल्ल० ! जाव न भंजसि तो ते अज्ज इमाओ छ हिरएणकोडीओ णिहाणपत्ताओ छ वड्ढि० छ पवित्थरपत्ताओ ताओ साओ गिहाओ णीणेमि, णीणे-मित्ता आलभियाए णयरीए सिंघाडग०जाव पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि,जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० अकाले जी-वियाओ ववरोविज्जसि । तए णं से चुल्लसए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए० जाव विहरइ । तए णं से देवे चुल्लस० अभीयं० जाव पासित्ता दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते तहेव० जाव ववरोविज्जसि । तए णं तस्स चुल्लसए-णं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ४ अहो णं इमे पुरिसे अणारिए, जहा चुल-णीपिया तहा चिंतेइ०जाव कणीयसं०जाव आइंचइ । जा-ओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरएणकोडीणिहाणपत्ताओ वड्ढि० पवित्थरपत्ताओ ताओ वि य णं इच्छेइ ममं साओ गिहाओ णीणित्ता आलभियाए णयरीए सिंघा-डग० जाव विप्पइरित्तए ; तं सेयं खलु मम एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाइए जहा सुरादेवे तहेव भारि-या पुच्छइ, तहेव कहेइ, सेसं जहा चुलणीपियस्स० जाव सोहम्मे कप्पे अरुणसिट्ठे विमाणे उ० ठिई सेसं ताव जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति । उपा० ५ अ० ।

चुल्लहिमवंत-क्षुद्रहिमवत्-त्रि० । महदपेक्षया लघुर्हिमवान् क्षु-द्रहिमवान्। स्था० २ ठा० ३ उ० । वर्षधरपर्वतभेदे , स्था० ७ ठा०। स० ।

स च क्व कियन्मान इत्याह-

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंते णामं वासहरप-व्वए पएणत्ते?। गोयमा! हेमवयस्स वासस्स दाहिणेणं भरहस्स वासस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे

चुल्लहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते,पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे एगं जोअणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं जोअणाइं उव्वेहेणं एगं जोअणसहस्सं बावण्णं च जोअणाइं दुवालस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं ति तस्स तस्स बाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं पंच जोअणसहस्साइं तिण्णि अ पण्णासे जोअणसए पण्णरस्स य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायए० जाव पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा चउव्वीसं जोअणसहस्साइं णव य बत्तीसए जोअणसए अद्धभागं च किंचि विसेसूणा आयामेण पण्णत्ता ॥

क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे चुल्लः क्षुद्रो वा महाहिमवदपेक्षया लघुर्हिमवान् चुल्लहिमवान् नाम नाम्ना वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः। वर्षे उभयपार्श्वस्थिते द्वे क्षेत्रे धरतीति वर्षधरः, क्षेत्रद्वयसीमाकारी गिरिरित्यर्थः। स चासौ पर्वतश्च वर्षधरपर्वतः, आख्यातस्तीर्थकृद्भिरिति , शेषं सुगमं, नवरमेकयोजनशतमूर्ध्वोच्चत्वेन पञ्चविंशतियोजनानि उद्वेधेन भूगतत्वेन, उच्चत्वचतुर्थभागस्यैव भूगतत्वात्, एकं योजनसहस्रं, द्विपञ्चाशच्च योजनानि , द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य विष्कम्भेण । अस्योपपत्तिस्तु-द्विगुणितजम्बूद्वीपव्यासस्य, तस्य नवत्यधिकशतेन भागहरणेन भवति, क्षुद्रहिमवतो भरताद् द्विगुणत्वात् । अत्र च करणविधिर्भरतवर्षविष्कम्भ इव ज्ञेयः । अथास्य बाहे आह-" तस्स बाहा " इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवतो बाहे प्रत्येकं पूर्वपश्चिमयोः पञ्च योजनसहस्राणि, त्रीणि च योजनशतानि पञ्चाशदधिकानि, पञ्चदशयोजनस्यैकोनविंशतिभागान् एकस्य योजनैकोनविंशतितमभागस्यार्द्धं च यावदायामे प्रज्ञप्ते । सूत्रे च वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । स्थापना यथा-योजन ५३५० कला १५ । ½ । अस्य व्याख्यानं वैताढ्याधिकारसूत्रतो ज्ञेयम्, प्रायःसमसूत्रत्वात् । अथैतस्य जीवामाह-" तस्स जीवा " इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवतो जीवा उत्तरतो प्राचीनप्रतीचीनायता " जाव पच्चच्छिमिल्लाए " इत्यादि प्राग्वत्, यावत्पदात्-"पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठाइ त्ति " ग्राह्यम् । आयामेन चतुर्विंशतियोजनसहस्राणि नवद्वात्रिंशदधिकानि योजनशतानि अर्द्धभागं च कलार्द्धं प्रज्ञप्ता, किञ्चिद्विशेषोना किञ्चिदूना इत्यर्थः । किञ्चिदूनत्वं चास्या आनयनाय वर्गमूले कृते शेषोपरितनराश्यपेक्षया द्रष्टव्यम् ।

अथास्याः परिधिमाह—

तीसे धणुपिट्ठे दाहिणेणं पणवीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि य तीसजोअणसए चत्तारि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥

" तीसे " इत्यादि । तस्याः क्षुद्रहिमवज्जीवायाः धनुःपृष्ठं दक्षिणतो दक्षिणपार्श्वे पञ्चविंशतियोजनसहस्राणि, द्वे च त्रिंशदधिके योजनशते,चतुरश्च एकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्तम् । यच्चात्र " तीसे " इति शब्देन जीवानिर्देशस्तत् स्वस्वजीवापेक्षया स्वस्वधनुःपृष्ठस्य यथोक्तमानतोपपत्त्यर्थम् , अन्यथा न्यूनाधिकमानसम्भवात् ।

अथ पर्वतं विशेषणैर्विशिनष्टि-

रुअगसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे सण्हे लण्हे तहेव०जाव पडिरूवे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्त दुण्ह वि माणं वण्णगो त्ति।

" रुअग " इत्यादि । रुचकसंस्थानसंस्थितः सर्वकनकमय इत्यादि प्राग्वत् , नवरं द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोः प्रमाणं वर्णकश्च ज्ञातव्य इति शेषः ।

अथास्य शिखरस्वरूपमाह-

चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते; से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा०जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ अ आसयंति० जाव विहरंति ॥

"चुल्लहिमवंत" इत्यादि प्राग् व्याख्यातार्थं, नवरं बहुसमत्वं चात्र नदीस्थानादन्यत्र ज्ञेयम् । अन्यथा नदीस्रोतसा संसरणमेव न स्यात् ।

अथैतन्मध्यवर्त्तिह्रदस्वरूपनिरूपणमाह-

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए, इत्थ णं इक्के महं पउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते,पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे इक्कं जोअणसहस्सं आयामेणं पंच जोअणसयाइं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रययामयकूले० जाव पासाइए० जाव पडिरूवे० ४ ।

" तस्स णं " इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवतो बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्राऽवकाशे एको महान् पद्मद्रहो नाम द्रहः पद्मह्रदो नाम ह्रदो वा प्रज्ञप्तः; पूर्वापरायत उत्तरदक्षिणविस्तीर्णं एकं योजनसहस्रमायामेन पञ्च योजनशतानि विष्कम्भेण दश योजनान्युद्वेधेन उण्डत्वेन, अच्छोऽनाविलजलत्वात्,श्लक्ष्णः सारवज्रादिमयत्वात्, रजतमयकूल इति व्यक्तम् । जं० ४ वक्ष० । पं० व० ।

से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेण य सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वेइआवणसंडवण्णओ भाणिअव्वो, तस्स णं पउमद्दहस्स चउद्दिसिं चत्तारीति सोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णावासो भाणिअव्वो,तेसि णं ति सोवाणपडिरूवगाणं पुरओ अ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता, तेणं तोरणा णाणामणिमया, तस्स णं पउमद्दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पउमे पण्णत्ते, जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं दो कोस ऊसिए जलंताओ साइरेगाइं दस जोअणाइं सव्वग्गे णं पण्णत्ता ॥

" से णं " इत्यादि । स पद्मद्रह एवं यावत् पद्मद्रहवरवेदिकाया एकेन च वनखण्डेन सर्वत समन्तात् संपरिक्षिप्त ,वेदिकावनख-

एमवर्णको भणितव्यः, प्राग्वदित्यर्थः । " तस्स ण " इत्यादि व्यक्तम् । " तेसि णं " इत्यादि सर्वं प्राग्वत्, नवरं (णाणाम-णिमये त्ति) वर्णकैकदेशेन पूर्णस्तोरणवर्णको ग्राह्यः । अथात्र पद्मस्वरूपमाह-" तस्स णं " इत्यादि । तस्य पद्महृदस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे महदेकं पद्मं प्रज्ञप्तम्,एकं योजनमायामतो, विष्कम्भतश्च अर्द्धयोजनं, बाहल्येन पिण्डेन दश योजनान्युद्वेधेन जलावगाहेन द्वौ क्रोशावुच्छ्रितं जलान्ताज्जलपर्यन्तात् एव सातिरेकाणि दश योजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि, जलावगाहोपरितनभागसङ्कलनसमानमीलने एतावतामेव सम्भवात् ।

से णं एगाए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते जंबुद्दीवजगइप्पमाणा गवक्खकडए वि तह चेव पमाणेणं ॥

' से ण ' इत्यादि । तत्पद्ममेकया जगत्या प्राकारकल्पया सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्तं, सा च जगती जम्बूद्वीपजगतीप्रमाणा वेदितव्या, एतच्च प्रमाणं जलादुपरिष्टाद् ज्ञेयं, दशयोजनात्मकजलावगाहप्रमाणस्याऽविवक्षितत्वात् । गवाक्षकटकोऽपि जालकसमूहोऽपि तथैव प्रमाणेनोच्चत्वेनार्द्धयोजनपञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेणेत्यर्थः ।

अथ पद्मवर्णकमाह-

तस्स णं पउमस्स अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-वइरामया मूला,रिट्ठामए कंदे, वेरुलिआमए णाले,वेरुलियामया बाहिरपत्ता, जंबूणयमया अब्भिंतरपत्ता, तवणिज्जमया केसरा, णाणामणिमया पोक्खरत्थिभाया, कणगमई कण्णिगा, सा णं अद्धजोअणं आयामविक्खंभेणं, कोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा, तीसे णं कण्णिआए उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते, से जहा णामए आलिंग० तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं,अद्धकोसं विक्खंभेणं, देसूणगं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंणिविट्ठे० जाव पासाईदरसणिज्जे ४ तस्स णं भवणस्स तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, ते णं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं, अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं, तावतिअं चेव पवेसेणं, से आवरकणगथूभिअंगा० जाव वणमालाओ णेअव्वाओ, तस्स णं भवणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंग० तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थं महईएगा मणिपेढिआ पण्णत्ता, सा णं मणिपेढिआ पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा, तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं एत्थ णं महं एगे सयणिज्जे पण्णत्ते, सयणिज्जवण्णओ भाणिअव्वो ॥

(तस्स त्ति) तस्य पद्मस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-वज्रमयानि मूलानि कन्दादधस्तिर्यग्विनिर्गतजटासमूहावयवरूपाणि, अरिष्टरत्नमयः कन्दो मूलनालमध्यवर्ती ग्रन्थिः, वैडूर्यमयं नालं कन्दोपरि मध्यवर्त्यवयवः, वैडूर्यमयानि बाह्यपत्राणि । अत्राऽयं विशेषो बृहत्क्षेत्रविचारवृत्त्यादौ-बाह्यानि चत्वारि पत्राणि वैडूर्यमयाणि, शेषाणि रक्तसुवर्णमयानि जाम्बूनदमीषद्रक्तस्वर्णं, तन्मयानि अभ्यन्तरपत्राणि, सिरिनिलयमितिक्षेत्रविचारवृत्तौ तु-पीतस्वर्णमयान्युक्तानि, तपनीयमयानि रक्तस्वर्णमयानि, केसरकर्णिकायाः परितोऽवयवाः नानामणिमयाः पुष्करास्थिभागाः कमलबीजविभागाः, कनकमयी कर्णिका बीजकोशः । अथ कर्णिकामानाद्याह-" सा णं " इत्यादि । सा कर्णिका अर्द्धयोजनमायामेन, विष्कम्भेण च क्रोशं,बाहल्येन पिण्डेन सर्वात्मना कनकमयी,अत एव कनकमयानि पूर्वापरविशेषणान्यवयवविभागेऽपि कनकमयत्वं स्यादित्याशङ्का निरस्ता । " अच्छा " इत्येकदेशेन " सण्हाइ " इत्यादि पदान्यपि ज्ञेयानि । तेषां व्याख्या च प्राग्वत् । "तीसे ण" इत्यादि । एतानि सर्वाण्यपि निगदसिद्धानि । शयनीयवर्णकश्चायं जीवाभिगमोक्तः-"तस्स ण देवसयणिज्जस्स अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-णाणामणिपडिपाया सोवण्णिआ पाया णाणामणिमयाइ पायसीसगाइ जंबूणयमयाइ गत्ताइं वइरामया सधी णाणामणिमए विच्चे रययामई तूली लोहिअक्खमयाइ बिब्बोअणाइ तवणिज्जमईउ गंडोवहाणियाउ इति से ण सयणिज्जे सालिंगणवट्टिए उभओ बिब्बोअणे उभओ उण्णए मज्झे णए गंभीरे गंगापुलिणवालुआउद्दालसालिसए उअविअखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे आईणगरुअबूरणणीयतूलफासे सुविरइअरयत्ताणे रत्तंसुअसंवुडे सुरम्मे पासादीए कप त्ति"। अत्र व्याख्या-तस्य देवशयनीयस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-नानामणिमयाः प्रतिपादाः, मूलपादानां प्रति विशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादाः प्रतिपादाः,सौवर्णिकाः सुवर्णमयाः पादा मूलपादाः, जाम्बूनदमयानि गात्राणि ईषादीनि,वज्रमया वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः, (नानामणिमए विच्चे इति) विच्चं नाम व्यूत, विशिष्टं वानमित्यर्थः । रजतमया तूली,लोहिताक्षमयानि (बिब्बोअणाइ त्ति) उपधानकानि,उच्छीर्षकाणीति यावत्, तपनीयमय्यो गण्डोपधानिका , गल्लमसूरकाणीत्यर्थः । तपनीय सह आलिङ्गनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन यत् तत्तथा । उभयत उभौ शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य "बिब्बोअणे" उपधाने यत्र तत्तथा, उभयत उन्नत मध्ये नतं च तत् नम्रत्वात् गम्भीरं च महत्वात् तत्तथा, गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो विदलन पादादिन्यासे अधोगमनमिति तेन सा (सालिसए त्ति) सदृशक तथा (उअविअ त्ति) विशिष्टपरिकर्मितं क्षौमं कार्पासिकं दुकुलं वस्त्र,तदेव पट्ट ,स प्रतिच्छादनमाच्छादनं यस्य तत्तथा। "आईणग" इत्यादि प्राग्वत् । सुविरचितं रजस्त्राणमाच्छादनविशेषोऽपरिभोगावस्थायां यत्र तत्तथा , रक्ताशुकेन मशकदंशादिनिवारणार्थकमशकगृहाभिधानवस्त्रविशेषेण संवृतमत एव सुरम्यम्, "पासादीए"इत्यादि पदचतुष्कं प्राग्वत् ।

अथास्य प्रथमपरिक्षेपमाह—

से णं पउमे अण्णेणं अट्ठसएणं पउमाणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमित्ताणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । तेणं पउमा अद्धजोअणं आयामविक्खंभेणं, कोसं बाहल्लेणं, दस जोअणाइं उव्वेहेणं, कोसं ऊसिआ जलंताओ साइरेगाइं दस जोअणाइं उच्चत्तेणं, तेसि णं पउमाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-वइरामया मूला० जाव कणगामई क-

एणआ, सा णं कमिआ कोसं आयामेणं,अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा, तीसे णं कणिआए उप्पिं बहुसमरमणिज्जे०जाव मणीहिं उवसोभिए।तस्स णं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए चउण्हं सामाणिअसाहस्सीण चत्तारि पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । तस्स णं पउमस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए चउण्हं महत्तरिआणं चत्तारि पउमा पएणत्ता । तस्स णं पउमस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए अब्भिंतरिआए परिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठपउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । दाहिणेणं मज्झिमपरिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस पउमसाहस्सिओ पण्णत्ताओ,दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरिआए परिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारसए पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । पच्चच्छिमेणं सत्तण्हं अणिआहिवईणं सत्त पउमा पण्णत्ता । तस्स णं पउमस्स चउद्दिसिं सव्वओ समंता इत्थ णं सिरीए देवीए सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। से णं पउमवरपरिक्खेवेहिं सव्वओ समंता परिक्खित्ते। तं जहा—अब्भिंतरकेणं मज्झिमएणं बाहिरएणं अब्भिंतरपउमपरिक्खेवे बत्तीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमए पउमपरिक्खेवे चत्तालीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। बाहिरए पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीओ पएणत्ताओ। एवामेव सपुव्वावरेणं तिहिं पउमपरिक्खेवेहिं एगा पउमकोमी वीसं च पउमसयसाहस्सीओ भवंतीति अक्खायं ॥

"से ण" इत्यादि । तत् पद्ममन्येनाष्टशतेन पद्मानां तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्राणां तस्य मूलपद्मप्रमाणस्यार्द्धमर्द्धरूपा उच्चत्वे उच्चत्वोच्छ्रये प्रमाणे चायामविस्तारबाहल्यरूपे मात्रं प्रमाणं येषां तानि तथा, तेषां, सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तम्। अत्र जलोपरितनभागे उच्चत्वस्य व्यवहारप्राप्तस्य विवक्षणादर्द्धप्रमाणं सम्भवत्यन्यथा जलावगाहसहितोच्चत्वविवक्षायामुत्तरसूत्रे सातिरेकं पञ्चयोजनानि इति वक्तव्यं स्यात्, सामान्यत उक्तमेव मान व्यनक्ति-"तेण" इत्यादि प्राग्युक्तप्रायम्। एषां वर्णकमाह-"तेसि ण" इत्यादि व्यक्तम्।"सा ण" इत्यादि इदमपि व्यक्तम्। "तीसे ण" इत्यादि व्यक्तम्। एषु च श्रीदेव्या भूषणादिवस्तूनि तिष्ठन्ति इति सूत्रानुक्तोऽपि विशेषो बोध्य ॥ अथ द्वितीयपद्मपरिक्षेपमाह-" तस्स ण " इत्यादि । तस्य मूलपद्मस्यापरोत्तरस्यां वायव्यकोणे,उत्तरस्याम्, उत्तरपूर्वस्यामीशानकोणे च, सर्वसंकलनया तिसृषु दिक्षु, अत्रान्तरे श्रिया देव्याश्चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। तस्य पद्मस्य पूर्वस्यां दिशि, अत्र श्रियाश्चतसृणां महत्तरिकाणां चत्वारि पद्मानि प्रज्ञप्तानि। अत्र प्राग्व्यावर्णितविजयदेवसिंहासनपरिवारानुसारेण पार्षद्यादिपद्मसूत्राणि वक्तव्यानि, सुगमत्वाच्च न विव्रियन्ते, यावत्पश्चिमायां सप्तानीकाधिपतीनां सप्त पद्मानि॥ अथ तृतीयपद्मपरिक्षेपसमय-"तस्स ण" इत्यादि। तस्य मुख्यपद्मस्य, चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिन् चतुर्दिशि, सर्वतः समन्तात्, अत्रान्तरे श्रिया देव्याः षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां षोडश पद्मसहस्राणि। तथाहि-चत्वारि पूर्वस्यां, चत्वारि दक्षिणस्याम्, एवं पश्चिमोत्तरयोः । अथोक्तव्यतिरिक्ता अन्येऽपि त्रयः परिक्षेपाः सन्तीत्याह-"से ण पउमे" इत्यादि। तत्पद्मं त्रिभिरुक्तव्यतिरिक्तैः पद्मपरिक्षेपैः समन्तात् संपरिक्षिप्तम् । तद्यथा-अभ्यन्तरकेणाभ्यन्तरभवेन,मध्यमकेन, बाह्यकेण बहिर्भवेन,एतदेव व्यनक्ति अभ्यन्तरपद्मपरिक्षेपे द्वात्रिंशत्पद्मानां शतसहस्राणि लक्षाणि, मध्यमके चत्वारिंशत्पद्मलक्षाणि, बाह्येऽष्टचत्वारिंशत्पद्मलक्षाणि प्रज्ञप्तानि । इदं च पद्मपरिक्षेपत्रिकम् आभियोगिकदेवसंबन्धि बोध्यम्, अत एव भिन्नत्रिकव्यापनपरं सूत्रं निर्दिष्टम् । अन्यथा सूत्रकृत चतुर्थपञ्चमषष्ठपरिक्षेपा इत्येवाऽकथयिष्यत। ननु तर्हि आभियोगिकजातानामेक एवात्मरक्षकाणामिव वाच्यम् । उच्यते-उत्तममध्यमनीचकार्यनियोज्यत्वेनानियोगिकानां त्रिभेन परिक्षेपस्यापि भिन्नत्वात् । अथ परिक्षेपत्रिकस्य पद्मसर्वाग्रमाह-" एवामेव " इत्यादि । एवमेवोक्तन्यायेन सपूर्वापरेण पूर्वापरसमुदायेन त्रिभिः पद्मपरिक्षेपैरेका पद्मकोटी विंशतिश्च पद्मलक्षाणि भवन्तीत्याख्यातं मयाऽन्यैश्च तीर्थकृद्भिः। सङ्ख्यानयनं च स्वयमभ्यूह्यम्, एषां पद्मपरिक्षेपाणां मुख्यपद्मेन सह मीलने सैव सङ्ख्या पञ्चाशत्सहस्रैकशतविंशत्याधिका ज्ञातव्या। स्थापना यथा-५०१२०। ननु कमलानि कमलिन्याः पुष्परूपाणि भवन्ति, मूल कन्दश्च कमलिन्या एव भवतः, न तु कमलस्य तत् कथमत्र मूलकन्दावुक्तौ ?। उच्यते-कमलान्यत्र न वनस्पतिपरिणामानि,किं तु पृथ्वीकायपरिणामरूपाणि,कमलाकारवृक्षाणामेतेषामिमौ न विरुद्धाविति, अत्राद्यपरिक्षेपपद्मानां मूलपद्मादर्द्धमान सूत्रकृता साक्षादुक्तम्, उत्तरोत्तरपरिक्षेपपद्मानां तु पूर्वपूर्वपरिक्षेपपद्मेभ्योऽर्द्धार्द्धमानता युक्तितः सङ्गच्छते, देवप्रासादपङ्क्तेरिव, अन्यथाऽल्पर्द्धिकमहर्द्धिकदेवानामाश्रयतारतम्य, चतुर्थादिमद्यापरिक्षेपपद्मानामवकाश , शोभमानस्थितिकत्वं च न सङ्गच्छेयुः। अर्द्धार्द्धमानता चैवम्-मूलपद्म योजनप्रमाणम्, आद्ये परिक्षेपे पद्मानि द्विक्रोशमानानि,द्वितीये क्रोशमानानि, तृतीयेऽर्द्धक्रोशमानानि , चतुर्थे पञ्चधनु शतमानानि, पञ्चमे सार्द्धद्विशतधनुर्मानानि, षष्ठे सपादशतधनुर्मानानि। तथा मूलपद्मापेक्षया सर्वपरिक्षेपेषु जलादुच्छ्रयभागोऽप्यर्द्धार्द्धक्रमेण ज्ञेय । यथा मूलपद्मे जलात् क्रोशद्वयमुच्छ्रय आद्ये परिक्षेपक्रोश उच्छ्रयः, द्वितीये क्रोशार्द्धं, तृतीये क्रोशचतुर्थांशः,चतुर्थे क्रोशाष्टांशः, पञ्चमे क्रोशषोडशांश , षष्ठे क्रोशद्वात्रिंशांश इति। एवमेव मूलपद्मापेक्षया पद्मानां बाहल्यमप्यर्द्धार्द्धक्रमेण वाच्य , ननु षट्परिक्षेपा इति विचार्ये , योजनात्मना सहस्रत्रयात्मकस्य धनुराप्तमना द्विकोटिद्विचत्वारिंशल्लक्षप्रमाणस्य ह्रदपरमपरिधेः षट्परिक्षेपपद्मानां षष्टिकोटिधनुःक्षेत्रमायतानाम् एकया पङ्क्त्या कथमवकाशः संभवति ?, एवं प्रथमपरिक्षेपवर्जं शेषपरिक्षेपाणामपि तत्तत्परिधिमाने पद्ममान परिभाव्य वाच्यम्। उच्यते-षट्परिक्षेपा इत्यत्र षड्जातीयाः परिक्षेपा इति ग्राह्यम्। आद्या मूलपद्मार्द्धमाना जातिः, द्वितीया तत्पादमाना, तृतीया तदष्टमभागमाना, चतुर्थी तत्षोडशभागमाना, पञ्चमी तद्द्वात्रिंशत्तमभागमाना, षष्ठी तच्चतुःषष्टितमभागमाना। ततश्च तत्परिधिक्षेत्रपरिक्षेपपद्मसङ्ख्यापद्मविस्तारान् परिभाव्य-यत्र यावत्य पङ्क्तयः सम्भवन्ति गणितज्ञेन करणयोगस्तत्र तावतीभि पङ्क्तिभिरेक एव परि-

क्षेपो ज्ञेयः, पद्मानामेकजातीयत्वात् । किमुक्तं भवति ?-महापरिक्षेप एकया पङ्क्त्या न समानि, द्रहपरिधिक्षेत्रस्याल्पत्वात्, पद्मानां च बहुत्वात्, ततः पङ्क्तिभिः पद्मानि पूरणीयानि, एवं परिक्षेपः पूर्णो भवति, द्रहपरिधेश्च प्रतिपरिक्षेपं भिन्नमानकत्वात् स पद्मपरिक्षेपो भिन्न एव लक्ष्यते इति । न च द्रहक्षेत्रस्याल्पतामिति वाच्यम्, अत्र गणितपदक्षेत्रस्य पञ्चलक्षयोजनप्रमाणत्वात्, सहस्रयोजनप्रमाणायामस्य पञ्चशतयोजनविष्कम्भेण गुणने एतावतामेव लाभात्, पद्मावगाढक्षेत्रं तु सर्वसंख्यया विंशतिः सहस्राणि पञ्चाधिकानि योजनानां, षोडशभागीकृतस्यैकस्य योजनस्य त्रयोदश भागाः २००५ १३/१६ । तथाहि-मूलपद्मावगाहो योजनमेकं, जगती च द्वादशयोजनानि मूले पृथुरिति जगती पूर्वापरभागसत्कमूलव्यासपद्मव्यासयोर्मीलनेन पञ्चविंशतिर्योजनानीति । तथा तत्परिधौ प्रथमः परिक्षेपोऽष्टोत्तरशतपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं सप्तविंशतिर्योजनानि, अर्द्धयोजनप्रमाणत्वेन तेषामेकस्मिन् योजने चतुर्णामवकाशाच्चतुर्भिरष्टोत्तरशतैर्भक्ते एतावतामेव लाभात् । ननु योजनार्द्धमानवतां तावतां चतुःपञ्चाशद्योजनानि सन्नवेयुरिति ?। सत्यम्-क्षेत्रबहुत्वादेकपङ्क्त्या व्यवस्थितत्वेन प्रत्येकं योजनचतुर्थांशावगाहकत्वे च उक्तसंख्यैव समुचिता, अत्र पद्मरुद्धक्षेत्रस्यैव गणनादिति, तथा द्वितीयः परिक्षेप एकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्राणां तदवगाहक्षेत्रं द्वे सहस्रे पञ्चविंशत्यधिकं शतं च योजनानां, एकादश च भागा योजनस्य षोडशभागीकृतस्य २१२५ ११/१६ । उपपत्तिस्तु-योजनपादप्रमाणत्वादिमानि षोडशमानानीति ३४० ।११। इत्ययं परिक्षेपपद्मराशिः १६ षोडशभिर्भज्यते आगच्छत्यनन्तरोक्तो राशिः । अस्यां च परिक्षेपजातौ पङ्क्तयः सूत्रोक्तस्वस्वदिशि *निवेशनीयपद्मनिवेशनेन विषमवृत्ताः सम्भाव्यन्ते*, पद्मानां विषमसंख्याकत्वादिति । अथ तृतीयपरिक्षेपः-षोडशसहस्रपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं द्वे शते पञ्चाशदधिके योजनानाम् २५० । उपपत्तिस्तु-अमूनि योजनाष्टमभागप्रमाणत्वाद्योजने चतुःषष्टिं मान्तीति चतुःषष्ट्या १६००० प्रमाणः पद्मराशिर्भज्यते, उपतिष्ठते चायं राशिः । अत्र च पङ्क्तयः समवृत्ता एव निवेशनीयाः, यथेच्छं चतुर्दिक्षु पद्मानां निवेशनादिति । अथ चतुर्थः परिक्षेपः-द्वात्रिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं द्वादश सहस्राणि पञ्चशताधिकानि योजनानाम् १२५००, आनयनोपायस्तु-एषां योजनषोडशभागप्रमाणत्वाद्योजने २५६ मान्तीति षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयेन ३२०००० इत्यय पद्मराशिर्भज्यते, ततो यथोक्तो राशिरायातीति । *तथा* पञ्चमपरिक्षेपः-चत्वारिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं त्रीणि सहस्राणि नवशतानि च षडधिकानि योजनानां चत्वारश्च षोडश भागा योजनस्य ३९०६ ४/१६ । उपपत्तिस्तु-एषां योजनद्वात्रिंशत्तमांशप्रमाणत्वादमूनि योजने १०२४ मान्तीति चतुर्विंशत्यधिकसहस्रेण ४०००००० रूपस्य पद्मराशेर्भागहरणेन प्राप्यते यथोक्तराशिरिति । अथ षष्ठपरिक्षेपोऽष्टचत्वारिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रम् एकादशशतानि एकसप्तत्याधिकानि योजनानां, चतुर्दश च षोडशभागा योजनस्य ११७१ १४/१६, उपपत्तिश्चात्राऽमीषां योजनचतुःषष्टितमांशप्रमाणत्वाद्योजने ४०९६ मान्तीति षण्णवत्यधिकचतुःसहस्रैः ४८००००० इत्यस्य पद्मराशेर्भागहरणात् यथोक्तो राशिरुपपद्यते इति पूर्वापरपद्मक्षेत्रयोजनमीलनेन च पूर्वोक्तं सर्वाग्रं सम्पद्यते, परिक्षेपाश्चात्र वृत्ताकारेण ग्राह्याः क्षेत्रस्य बहुत्वात् सम्भवन्तीति, पङ्क्तयश्चात्र द्रहक्षेत्रस्यायतचतुरस्रत्वेन आयामविस्तारयोर्विषमत्वेऽपि पञ्चशतयोजनमर्यादयैव कर्त्तव्या, ततः परं व्याससत्कपञ्चशतयोजनानां पर्यवसितत्वात् शोभमानाश्चोक्तरीत्यैव भवन्तीति । किं च-इमानि पद्मानि शाश्वतानि पार्थिवपरिणामरूपत्वात्, वानस्पत्यान्यपि बहूनि तत्रोत्पद्यन्ते । यदाहुः श्रीउमास्वातिवाचकपादाः स्वोपज्ञजम्बूद्वीपसमासप्रकरणे-नीलोत्पलपुण्डरीकशतपत्रसौगन्धिकादिपुष्पार्चित इति । अन्यथा श्रीवज्रस्वामिपादाः श्रीदेवतासमर्पितानुपमे महापद्मानयनेन पुरिकापुर्यां कथं जिनप्रवचनप्रभावनामकार्षुरिति ?, एतानि च शाश्वतानि, तत्रत्यश्रीदेवतादिभिरवचीयमानत्वात् । यदूचुः श्रीहेमचन्द्रसूरयः स्वोपज्ञपरिशिष्टपर्वणि-"तदा च देवपूजार्थ-मवचित्यैकमम्बुजम् । श्रीदेव्या देवतागारं,यान्त्या वज्रोऽपरैक्ष्यत" ॥१॥ इति । नन्वयमनन्तरोक्तार्थः कथं प्रत्येतव्यः ?। उच्यते-इदमेव द्वितीयपरिक्षेपसूत्रं प्रत्यायकम् । तथाहि-अत्रैकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्रकमलानि उक्तदिशमापादितव्यानि, तानि च क्रोशमानानि एकपङ्क्त्या च तदाऽवकाशं लभेरन्, यदा द्वितीयपद्मपरिधिरेकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्रक्रोशप्रमाणः स्यात् । स च तदा स्याद्यदा मूलक्षेत्रायामव्यासौ साधिकषड्विंशतिशतप्रमाणौ स्यातां, तौ प्रस्तुते न स्तः, तेन यथासंभवं पङ्क्तिभिर्द्वितीयपरिक्षेपपद्मजातिः पूरणीयेति तात्पर्यम् । एवमन्यपरिक्षेपेष्वपि यथासम्भवं भावना कार्येति । अथ कथमयमर्थः सिद्धान्तता प्रापित इति ?। उच्यते-अन्यथानुपपत्त्या, न हि यथाऽक्षरमात्रसन्निवेशं सूरयः सूत्रव्याख्यानपरा भवन्ति, किं तु प्राक्परार्थाऽविरोधेन । यदुक्तम्-" जं जह सुत्ते भणिअं, तहेव तं जइ विआलणा नत्थि । किं कालिआणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥ १ ॥ " अलं प्रसङ्गेनेति । जं० ४ वक्ष० । (गङ्गासिन्धुवक्तव्यता स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

अथास्य नामान्वर्थं व्याचिख्यासुराह-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए ?। गोयमा ! महाहिमवंतवासहरपव्वयं पणिहाय आयामुच्चत्तुव्वेहविक्खंभपरिक्खेवं पडुच्च ईसिं खुड्डतराए चेव हस्सतराए चेव णीअतराए चेव चुल्लहिमवंते अ इत्थ देवे महिड्ढीए० जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए, अदुत्तरं च णं गोयमा ! सासए णामधेज्जे पण्णत्ते ॥

"से केणट्ठेण" इत्यादि । अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतः क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतः ?। गौतम ! महाहिमवद्वर्षधरपर्वतं प्रणिधाय प्रतीत्याश्रित्येत्यर्थः । आयामोच्चत्वोद्वेधविष्कम्भपरिक्षेपम् । अत्र समाहारद्वन्द्वः, तेन सूत्रे एकवचनम्, प्रतीत्य प्रेक्ष्य ईषत्क्षुद्रतरक एव लघुतरक एव यथासम्भवं योजनाया विधेयत्वेनायामाद्यपेक्षया ह्रस्वतरक एवोद्वेधापेक्षया नीचतरक एवोच्चत्वापेक्षया, अन्यच्च क्षुल्लहिमवांश्चात्र देवो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । शेषं प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० । क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतदेवे च । " दो चुल्लहिमवंता " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चुल्लहिमवंतकूड-क्षुद्रहिमवत्कूट-न० । क्षुद्रहिमवतो भरतकूटस्य पूर्वे सिद्धायतनकूटस्य पश्चिमे कूटभेदे, तदधिपे देवे

च । जं० ४ वक्ष० । स्था० । ('कूम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

चुल्लहिमवंतगिरिकुमार-क्षुद्रहिमवद्गिरिकुमार-पुं० । क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतकूटदेवे, तस्य क्षुद्रहिमवती नाम राजधानी। जं०४ वक्ष०। (सा च 'कूम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे दर्शिता) भरतविजयाधिकारे, " तओ चुल्लहिमवंतगिरिकुमार देव उयवेइ, तत्थ बावत्तरिजोयणाइ सरो उवरिं हुत्तो वच्चाचि।" आ० म० प्र० । आ० चू० ।

चुल्लि-चुल्लि-(ल्ली)-स्त्री० । चुल्ल-इन् वा ङीप् । पाकार्थमग्निस्थापनस्थाने, (चूला) " चुल्ली चिरं रोदिति " इत्युद्भटः । अत्र चुल्लाऽप्यत्र । वाच० । आचा०।

चुल्ली-चुल्लि (ल्ली)-स्त्री० । 'चुल्लि' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० २ चू० ।

चुल्लो-देशी-शिशौ, दासे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

चूचूसाय-चूचूशाक-पुं० लोकप्रसिद्धे शाकभेदे, उपा०१ अ०।

चूय-चूत-पुं०। आम्रे, विशे०। स्था०। सहकारे, औ०। जं०। नि० चू० । आचा० । " जइ फुल्ला कणियारआ, चूयग ! अहिमासगम्मि घुटम्मि । तुह न खम फुल्लेउ, जइ पच्चंता करंति डमराइ " ॥ १ ॥ चूत एव चूतकः, संज्ञायां कन्, तस्यामन्त्रणं हे चूतक !। आव० ४ अ० । विजयराजधान्यां चूतवनखण्डस्वामिनि देवे, जी० ३ प्रति० ।

चूयमंजरी-चूतमञ्जरी-स्त्री० । आम्रमञ्जर्याम्, जं० २ वक्ष० ।

चूयवर्डिसग-चूतावतंसक-न० । विमानमध्यगानां पञ्चानामवतंसकानामन्यतमे , रा० । ती० ।

चूयवर्डिसगा-चूतावतंसिका-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, जी० ३ प्रति० । ती० ।

चूयवण-चूतवन-न० । चूतप्रधाने वने, रा० ।

चूया-चूता-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० ।

चूला-चूडा-स्त्री० । शिखरे, न०। ('दिट्ठिवाय' शब्दे तच्चूलिकाः)

चूडानिक्षेपः-तत्र चूडाशब्दार्थमेवाभिधातुकाम आह-

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि अ चूलिआएँ निक्खेवो ।
तं पुण उत्तरतंतं, सुअगहियत्थं तु संगहणी ॥ २६ ॥

नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्याह-द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च द्रव्यादिविषयः चूडायाः निक्षेपो न्यास इति । तत्पुनश्चूडाद्वयमुत्तरतन्त्रमुत्तरसूत्रम् , दशवैकालिकस्याचारपञ्चचूडावत् । एतच्चोत्तरतन्त्र श्रुतगृहीतार्थमेव-दशवैकालिकाख्यश्रुतेन गृहीतोऽर्थोऽस्येति विग्रहः। यद्येवमपार्थकमिदम् ?, नेत्याह-सङ्ग्रहणी तदुक्तानुक्तार्थसंक्षेप इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

द्रव्यचूडादिव्याचिख्यासयाऽऽह-

दव्वे सचित्ताई, कुकुमचूडामणीमऊराइ ।
खेत्तम्मि लोगनिक्कुड-मंदरचूडा अ कूडाइ ॥ २७ ॥

(द्रव्य इति) द्रव्यचूडा आगमनोआगमज्ञशरीरेतरादिव्यतिरिक्ता त्रिविधा सचिताद्या । सचित्ता अचित्ता मिश्रा च । यथासङ्ख्यमाह-कुक्कुटचूडा सचित्ता, मणिचूडा अचित्ता, मयूरशिखा मिश्रा (क्षेत्र इति) क्षेत्रचूडा लोकनिष्कुटा उपरिवर्तिन', मन्दरचूडा च पाण्डुकम्बला, चूडादयश्च तदन्यपर्वतानां क्षेत्रप्राधान्यात् । आदिशब्दादधोलोकस्य सीमन्तकः, तिर्यग्लोकस्य मन्दरः, ऊर्द्धलोकस्येषत्प्राग्भार इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

अइरित्त अहिगमासा, अहिगा संवच्छरा अ कालम्मि ।
भावे खओवसमिए, इमा उ चूडा मुणेयव्वा ॥ २८ ॥

अतिरिक्ता उचितकालात्समधिका, अधिकमासकाः प्रतीताः, अधिकाः संवत्सराश्च षष्ट्यब्दाद्यपेक्षया, काल इति कालचूडा, भाव इति भावचूडा, क्षायोपशमिके भावे इयमेव द्विप्रकारा चूडा, मन्तव्या विज्ञेया, क्षायोपशमिकत्वाच्छ्रुतस्येति गाथार्थः ॥२८॥ दश० १ चू० । आचा० । नि० चू० ।

इयाणिं चूले त्ति दारं-

णामं ठवणा चूला, दव्वे खेत्ते य काले भावे य ।
एसो खलु चूलाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ६३ ॥

णिक्खेवगाहा कंठा । णामठवणाओ गयाओ, दव्वचूला दुविहा-आगमतो णोआगमतो य । आगमओ जाणए अणुवउत्ते, णोआगमतो जाणयभव्वसरीर, जाणयभव्वसरीरवइरित्ता ।

तिविधा य दव्वचूला, सचित्ता मीसगा य अचित्ता ।
कुक्कुडसिहमोरसिहा, चूलामणि अग्गकुंतादी ॥ ६४ ॥

पुव्वद्धं कंठं । पढमो चसद्दोऽवधारणे, वितिओ समुच्चये, पच्छद्धे जहासंखम्मि उदाहरणा, सचित्तचूला-कुक्कुडचूला सीमसपेसी चेव केवला लोकप्रतीता, मीसा-मोरसिहा, तस्स मंसपेसीए रोमाणि भवति । अचित्ता-चूलामणी, कुंतग्ग वा, आदिसद्दाओ सीहकण्णपासादथूभअग्गाणि । दव्वचूला गया ।

इदाणिं खेत्तचूला, सा तिविहा-

अहतिरियउड्ढलोगा-ण चूलिया होंति-मा उ खेत्तम्मि ।
सीमंत मंदरे वी, ईसीपब्भारणामा य ॥ ६५ ॥

अह इति अधोलोकः, तिरिय इति तिरियलोक', उड्ढ इति ऊर्ध्वलोकः, लोगस्स सद्दो पत्तेग,चूला इति सिहा, होंति भवति। इमा इति प्रत्यक्ष., तुशब्दः क्षेत्रावधारणे, अहोलोगादीण पच्छद्धेण जहासंख उदाहरणं-सीमंतग इति, सीमतगो णरगो रयणप्पभाए पुढवीए पढमो, से अहलोगस्स चूला। मंदरो मेरू,सो तिरियलोगस्स चूला,तिरियलोगे चूला तिरियलोगातिक्रान्तत्वात्, अहवा-तिरियलोगपतिट्ठियस्स मेरोरुवरि चत्तालीस जोयणा चूला, सा तिरियलोगचूला। चसद्दो समुच्चये, पायपूरणे वा । ईचूला, सा तिरियलोगचूला। ई इति अप्पभावे, प इति प्रायोवृत्त्या,भार इति भारकंतस्स पुरिसस्स गाय पायसो ईसि णयं भवति, जा य एव ठिता सा पुढवी ईसिप्पब्भारा, णाम इति एतमभिहाण तस्स , सा य सव्वट्ठसिद्धिविमाणाओ उवरिं बारसेहिं जोयणेहिं भवति, तेण सा उड्ढलोगचूला भवति । गता खेत्तचूला ।

इयाणिं कालभावचूलाओ दो वि एगगाहाए भण्णति-

अहिमासओ तु काले, भावे चूला तु होइ-मा चेव ।
चूला विभूसणं ति य, सिहरं ति य होंति एगट्ठा ॥६६॥

बारसमासपमाणवरिसाओ अहिओ मासो अहिमासो अहियचियवरिसे भवति । सो य अधिकत्वात् कालचूला भवति । तुसद्दोऽर्थप्पदरिसणे, ण केवल अधिको कालो कालचूला भवति अंतो वि वट्टमाणो कालो कालचूलाए भवति । एव जहा ओसप्पिणीए अते अतिदूसमाए सा उस्सप्पिणी कालस्स चूला भवति । कालचूला गता । इयाणि भावचूला-भवण भाव', पर्याय इत्यर्थ । तस्स चूला भावचूला । सा य दुविहा- आगमओ य,नो आगमओ य । आगमओ जाणए उवउत्ते, णो आगमओ य इमा चेव । तुसद्दो खओवसमभावविसणे दट्ठव्वो । इमा इति पकप्पज्झयणा चूला । एगसद्दोऽवधारणे, चूलेगट्ठिती । चूल ति वा विभूसण ति वा सिहर ति वा एते एगट्ठा । चूल त्ति दार गयं । नि० चू० १ उ० । उक्तशेषानुवादिन्या ग्रन्थपद्धतौ, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

चूलाकम्म–चूडाकर्मन्–न० । बालानां चूलके मुण्डने, आ० म० प्र० ।

चूलामणि–चूडामणि–पुं० । सकलपार्थिवरत्नसर्वसारे देवेन्द्रमूर्धकृतनिवासे नि शेषापमङ्गलाऽशान्तिरोगप्रमुखदोषापहारकारिणि प्रवरलक्षणोपेते परममङ्गलभूते आभरणविशेषे, रा० । ज० । आ० म० । उत्त० । औ० । " चूलामणिमउड-रयणभूसणा " चूडामणिर्नाम मुकुटरत्न चिह्नभूत येषां ते तथा, असुरकुमारभवनवासिनश्चूडामणिमुकुटरत्ना । प्रज्ञा० २ पद ।

चूलियंग–चूलिकाङ्ग–न० । चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते प्रयुते,अनु० । जी० । स्था० ।

चूलिया–चूलिका–स्त्री० । चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते चूलिकाङ्गे, जी० ३ प्रति० । भ० । अनु० । ज० । स्था० । उक्तानुक्तार्थसङ्ग्राहिकायां ग्रन्थपद्धतौ, न० । यथा दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वगतानुयोगोक्तार्थानुक्तासंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतय । स० । (' आयार' ' दिट्ठिवाय ' प्रभृतिशब्देषु तत्संख्या)

चूलियावत्थु–चूलिकावस्तु–न० । चूलारूपे आचाराङ्गाऽध्ययनकल्पे परिच्छेदविशेषे, यथा-उत्पादपूर्वस्य चत्वारि चूलिकावस्तूनि । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

चेअ–अव्य० । अवधारणे, " णइ चेअ चिअ च्च अवधारणे " ॥ ८ । २ । १८४ ॥ इति सूत्रात् निपातम् । प्रा० २ पाद ।

चेइय–चैत्य (त्य)–न० । चितिः पत्रपुष्पफलादीनामुपचयः । चित्या साधु चित्य, चित्यमेव चैत्यम् । उद्याने, " मिहिलाए चेइए वच्छे, सीअच्छाए मणोरमे । " उत्त० ३ अ० । चित्तमन्त करण, तस्य भावे कर्मणि वा " वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् " ॥ ५ । १ । १२३ ॥ (पाणि०) इति ष्यञ् । आव० १ अ० । ध० । प्रति० । " स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु याव " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति यात् पूर्व इत् । प्रा० १ पाद । प्रशस्तमनस्त्वे, तद्धेतुत्वात् जिनबिम्बे, कारणे कार्योपचारात् ।

(१) चैत्यशब्दस्यार्थाः ।
(२) चैत्यभेदपुरस्सर प्रतिमासिद्धिः ।
(३) भावैकनिक्षेपवादिन उपहासं विधाय भावाचार्यनिष्पत्तिः।
(४) ब्राह्मीं लिपिमाश्रित्य नामस्थापनाभ्यां प्रतिमायाः सिद्धिः।
(५) चारणकृतवन्दनां निरूप्य तत एवास्या दृढतर प्रामाण्यम्।
(६) चैत्यशब्दस्य ज्ञानार्थकतानिराकरणम् ।
(७) देवकृतवन्दनाधिकारः ।
(८) वन्दनादौ मौनेन भगवदनुमतिकरणं दृढतरयुक्त्युपपत्तिभि प्रतिपाद्यानुमोदने हिंसाया अभावप्रतिपादनम् ।
(९) साधोर्द्रव्यपूजादावनधिकार ।
(१०) द्रव्यस्तवे गुणा ।
(११) महानिशीथप्रामाण्यपूर्वक द्रव्यस्तवस्थापनम् ।
(१२) जिनपूजां तद्वैयावृत्त्य चोपपाद्य चैत्यपूजायामपि जिनवैयावृत्यम ।
(१३) जिनपूजायां हिंसादोषवादिनां निराकरणम् ।
(१४) आरम्भविचार निरूप्य सच्छ्रावकस्याधिकारविचारः।
(१५) द्रव्यस्तवे सिद्धावलोकिनेन हिंसाऽस्तीत्येतन्निरस्य कूपनिदर्शनेन हिंसाऽभावप्रतिपादनम् ।
(१६) पूजायां हिंसासम्भवोक्तिविकल्पदूषणम् ।
(१७) अर्थदण्डत्वविचार ।
(१८) प्रतिमापूजायां द्रौपदीभद्रासार्थवाहीसिद्धार्थराजानामुदाहरणानि ।
(१९) ऊर्ध्वलोकादिषु जिनप्रतिमायाः स्थितिः ।
(२०) प्रतिमाया फलदत्वम् ।
(२१) चैत्यानां पूजासत्कारादिस्तुतयः ।
(२२) द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षत्वविचारः ।
(२३) प्रतिमायाः प्रामाण्यनिरूपणम् ।
(२४) जिनभवनकारणविधिं निरूप्य जीर्णोद्धारकारणफलवर्णनम् ।
(२५) बिम्बकारणविधिः ।
(२६) जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधिः ।
(२७) जिनपूजाविधिस्तत्फलनिरूपणं च ।
(२८) चैत्यविषये हीरविजयसूरिपूज्यपादकृतोत्तराणि ।
(२९) चतुर्विंशतिकापट्टविचार ।
(३०) जिनचैत्ये व्यन्तरायतनविधानम् ।

(१) चैत्यशब्दस्यार्थाः—

चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यं, संज्ञाशब्दत्वाद् देवताप्रतिबिम्बे, 'चिती ' सञ्ज्ञाने काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा सञ्ज्ञानमुत्पद्यते इति । अर्हत्प्रतिमायां देवबिम्बे , सथा० १ प्रस्ता० । आ० चू० । ल० । ज्ञा० । बृ० । इष्टदेवताप्रतिमायाम्, औ० । आव० । " कल्लाण मगल चेइय पज्जुवासेजा " दीर्घायुर्भवति । स्था० ३ ठा० १ उ० । " कल्लाण मगल चेइय पज्जुवासामो " चैत्यमिवेष्टदेवताप्रतिमामिव पर्युपासे । औ० । कर्म० । चैत्यमिष्टदेवप्रतिमा, चैत्यमिव चैत्य पर्युपासयामः । भ० २ श० १ उ० । उपा० । अर्हत्प्रतिमायाम , आव० १ अ० । ज० ।

(२) चैत्यभेदपुरस्सर प्रतिमासिद्धिः—

भत्ती–मंगल–चेइय, निस्सकमेऽणिस्स–चेइए वा वि ।
सासय चेइय पंचम–मुवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥६६६॥
गिहजिणपडिमाए भ–त्तिचेइयं उत्तरंगघडियम्मि ।
जिणबिंबे मंगलचे–इयं ति समयन्नुणो बिंति ॥ ६६७॥
निस्सकमं जं गच्छ–स्स संतियं तदियरं अनिस्सकमं ।

सिद्धाययणं च इमं, चेइयपणगं विणिद्दिट्ठं ॥ ६६८ ॥

(भत्तीति) चैत्यशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् भक्तिचैत्यम्, मङ्गलचैत्यम्, निश्राकृतं चैत्यम्, अनिश्राकृतं चैत्यम्, शाश्वतचैत्यं च पञ्चममुद्दिष्टं नामतः कथितं जिनवरेन्द्रैरिति ।६६६। एतान्येव व्याचष्टे-"गिहजिण", इत्यादिगाथाद्वयम् । गृहे जिनप्रतिमायां यथोक्तलक्षणायुपेतायां प्रतिदिनं त्रिकालपूजावन्दनाद्यर्थं कारितायां भक्तिचैत्यम् । तथा उत्तराङ्गस्य गृहद्वारोपरिवर्त्तितिर्यक्काष्ठस्य मध्यभागे घटिते निष्पादिते जिनबिम्बे मङ्गलचैत्यमिति समयज्ञाः सिद्धान्तवेदिनो ब्रुवते वदन्ति । मथुरायां हि नगर्यां गृहे कृते मङ्गलनिमित्तमुत्तराङ्गेषु प्रथममर्हत्प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति । तथा चावोचामः स्तुतिषु-"जम्मि सिरिपासपडिमं, संतिकए करेइ पविसिगिहदुवारे । अज्ज वि जणो विपूरित-मइरुममधन्ना न पस्सति ॥" तथा निश्राकृतं यद्गच्छस्य कस्यापि सत्कं, स एव गच्छस्तत्र प्रतिष्ठादिप्रयोजनेष्वधिक्रियते, अन्यः पुनस्तत्र किञ्चित्प्रतिष्ठादिकं कर्तुं न लभते इत्यर्थः । तथा-(तदियर त्ति) तस्मान्निश्राकृतात् इतरदिति अनिश्राकृतम् । यत्र सर्वेऽपि गच्छाः प्रतिष्ठाप्रव्राजनकमालारोपणादीनि प्रयोजनानि कुर्वते इति । तथा सिद्धायतनं च शाश्वतजिनायतनं च, इदं चैत्यपञ्चकं विनिर्दिष्टं विशेषेण कथितमिति ॥ ६६८ ॥

अथवा-अन्येन प्रकारेण पञ्च चैत्यानि भवन्ति । तत्राह-

नीयाई सुरलोए, भत्तिकयाइं च भरहमाईहिं ।
निस्साऽनिस्सकयाई, मंगलकयमुत्तरंगम्मि ॥ ६६९ ॥
वारत्तयस्स पुत्तो, पमिमं कासी य चेइए रम्मे ।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु ॥ ६७० ॥

"नीया" इत्यादिगाथाद्वयम् । नित्यानि शाश्वतानि चैत्यानि, तानि च सुरलोके देवभूमौ, उपलक्षणत्वान्मेरुशिखरे कूटनन्दीश्वररुचकवरादिषु च भवन्ति । तथा भक्तिकृतानि भरतादिभिः कारितानि, मकारोऽयमलाक्षणिकः । तानि निश्राकृतानि अनिश्राकृतानि चेति द्विधा । तथा मङ्गलार्थं कृतं मङ्गलकृतं चैत्यं मथुरादिपुरीषु उत्तराङ्गप्रतिष्ठापितम् ॥६६९॥ तथा वारत्तकमुनेः पुत्रो रम्ये रमणीये चैत्ये देवगृहे प्रतिमां तस्यैव वारत्तकमुनेः प्रतिकृतिमकार्षीत् । तत्र च स्थलीति रूढिरभूत् । तत्तु साधर्मिकचैत्यमिति । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-वारत्तकं नगरम्, अभयसेनो राजा, तस्य च वारत्तको नाम मन्त्री । एकदा च धर्मघोषनामा मुनिर्भिक्षार्थं तस्य गेहं प्रविष्टः, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय दान्तखण्डसमिश्रपायसपरिपूर्णं पात्रमुत्पाटितवती, अत्रान्तरे च कथमपि ततः खण्डसमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ पतितः, ततः स महात्मा धर्मघोषमुनिर्भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानविहितोद्यमश्छर्दितदोषदुष्टेयं भिक्षा, तस्मान्न कल्पते ममेति मनसि विचिन्त्य भिक्षामगृहीत्वा गृहान्निर्जगाम । वारत्तकमन्त्रिणा च मत्तवारणोपविष्टेन दृष्टो भगवान्निर्गच्छन्, चिन्तितं च-किमनेन मुनिना मदीया भिक्षा न गृहीतेति ? । एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तं भूमौ निपतितं खण्डयुक्तघृतबिन्दुं मक्षिकाः समेत्याश्रिश्रियन्, तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, तस्या अपि वधाय प्रधावितः सरटः, तस्याऽपि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितो वास्तव्यः श्वा, ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरभूदन्योऽन्यं युद्धम्; निजनिजशुनकपराभवपीडया च प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्परं लकुटालकुटि महायुद्धं, दृष्टं चैतत् सर्वमपि वारत्तकमन्त्रिणा, परिभावितं च-घृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ पतिते यत एवंविधाऽधिकरणप्रवृत्तिरतः एवाधिकरणभीरुर्भगवान् भिक्षां न गृहीतवान् । अहो ! सुष्ठो भगवतो धर्मः । को हि तं भगवन्तं वीतरागमन्तरेणैवमनपायधर्ममुपदेष्टुमलं प्रभविष्णुः, ततो ममापि स एव देवता, तदुक्तमेवानुष्ठानमनुष्ठातुमुचितमिति विचिन्त्य संसारसुखविमुखः शुभध्यानोपगतसजातजातिस्मरणो देवतार्पितसाधुलिङ्गो दीर्घकालं संयममनुपाल्य केवलज्ञानमासादितवान् । कालक्रमेण च सिद्धः । ततस्तत्पुत्रेण स्नेहात्परीतमानसेन देवगृहं कारयित्वा रजोहरणमुखपोत्तिकापरिग्रहधारिणी पितृप्रतिमा तत्र स्थापिता, सत्रशाला च तत्र प्रवर्तिता । सा च साधर्मिकस्थलीति सिद्धान्ते भण्यते । प्रव० ७९ द्वार ।

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतश्चैत्यस्वरूपं व्याख्याति-

साहम्मियाण अट्ठा, चतुव्विहे लिंगं तु जह कुडुंबी ।
मंगल सासय भत्ती-ए जं कयं तत्थ आदेसो ॥

चैत्यानि चतुर्विधानि । तद्यथा-साधर्मिकचैत्यानि, मङ्गलचैत्यानि, शाश्वतचैत्यानि, भक्तिचैत्यानि चेति । तत्र साधर्मिकाणामर्थाय यत् कृतं तत् साधर्मिकचैत्यम् । साधर्मिकश्च द्विधा-लिङ्गतः, प्रवचनतश्च । तत्रेह लिङ्गतो गृह्यते । स च यथा कुटुम्बी । कुटुम्बी नाम प्रभूतपरिवारकलोकपरिवृतो रजोहरणमुखपोतिकादिलिङ्गधारी वारत्रकप्रतिच्छन्दः । तथा मथुरापुर्यां गृहेषु कृतेषु मङ्गलनिमित्तं यन्निवेश्यते तन्मङ्गलचैत्यं, सुरलोकादौ नित्यस्थायि शाश्वतं चैत्यम् । यत्तु भक्त्या मनुष्यैः पूजावन्दनाद्यर्थं कृतं, कारितमित्यर्थः, तद्भक्तिचैत्यम् । तेन च भक्तिचैत्येनादेशोऽधिकारः, अनुयानादिमहोत्सवस्य तत्रैव संभवादित्येषा निर्युक्तिगाथा ।

अथैनामेव विभावयिषुः साधर्मिकचैत्यं प्रवेदाह-

वारत्तगस्स पुत्तो, पमिमं कासी य चेइयघरम्मि ।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु ॥

इहावश्यके योगसङ्ग्रहेषु "वारत्तपुरे अभयसेणवारत्ते" इत्यत्र प्रदेशे प्रतिपादितचरितो यो वारत्तक इति नाम्ना महर्षिः, तस्य पुत्रः स्वपितरि भक्तिभरापूरिततया चैत्यगृहं कारितवान्, ततो रजोहरणमुखवस्त्रिकाप्रतिग्रहधारिणीं पितुः प्रतिमामस्थापयत् । तत्र च स्थली सत्रशाला तेन प्रवर्त्तिता आसीत्, तदेतत् साधर्मिकचैत्यम् । अन्यस्य ह्यर्थाय कृतमस्माकं कल्पते ।

अथ मङ्गलचैत्यमाह-

अरहंत पइट्ठाए, महुरानगरीएँ मंगलाइं तु ।
गेहेसु चच्चरेसु य, छन्नउईगामअद्धेसुं ॥

मथुरानगर्यां गृहे कृते मङ्गलनिमित्तमुत्तराङ्गेषु प्रथममर्हत्प्रतिमा प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति । मङ्गलचैत्यानि तानि च तस्यां नगर्यां गेहेषु चत्वरेषु च भवन्ति, तानि न केवलं तस्यामेव किं तु तत्पुरप्रतिबद्धा ये षण्णवतिसंख्याका ग्रामाः तेष्वपि भवन्ति । इहोत्तरापथाना ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति

सङ्घा । आह चूर्णिकृत्-"गामद्देसु त्ति देसण त्ति उत्तरउदंगामेसु त्ति भणिय होइ, उत्तरावहाण एसा भणिइ त्ति ।"

शाश्वतचैत्यभक्तिचैत्यानि दर्शयति—

निच्चाइं सुरलोए, भत्तिकयाइं तु भरहमाईहिं ।
निस्सानिस्सकयाइं, जहिं आएसो चयसु निस्स ॥

नित्यानि शाश्वतचैत्यानि सुरलोके भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकदेवानां भवननगरविमानेषु, उपलक्षणत्वात् मेरुशिखरवैताढ्यादिकूटनन्दीश्वररुचकादिष्वपि भवन्तीति, तथा भक्त्या भरतादिभिर्यानि कारितानि तानि,अन्तर्भूतण्यर्थत्वाद्भक्तिकृतानि। अत्र च (जहिं आएसो त्ति) येन भक्तिचैत्येनादेशः प्रकृतं, तद् द्विधा-निश्राकृत गच्छप्रतिबद्धम्, अनिश्राकृत तद्विपरीत, (चयसु निस्स त्ति) निश्राकृत तत् त्यज परिहर, अनिश्राकृत तु कल्पते । गतं चैत्यद्वारम् । बृ० १ उ० ।

अथार्हत्प्रतिमाया आगमोपपत्तिभ्यां युक्तता प्रदर्श्यते ।

तत्रेद प्रतिमाविषयाशङ्कानिकारणस्य चिकीर्षिताथत्वात् प्रतिमास्तुतिरूपमिष्टबीजप्रणिधानपुरस्सरमाद्यपद्यमाह—

ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं भव्याङ्गिनेत्रामृतं,
सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता ।
मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुरन्मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता ॥ १ ॥

जैनेश्वरी मूर्तिः सदा विजयते इत्यन्वयः । जिनेश्वराणामिय जैनेश्वरी , मूर्त्तिः प्रतिमा, सदा शश्वत्या प्रवाहतश्च निरन्तर , विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते , अत्र जयतेरर्थ उत्कर्ष., " पराभवे तथोत्कर्षे, जयत्यन्ते त्वकर्मक " इत्याख्यातचन्द्रिकावचनात्। सर्वाधिकत्वं च वेरुपसर्गस्येति बोध्यम्। मूर्तिः कीदृशी ?, (ऐन्द्र इति) इन्द्राणामियमैन्द्री, सा चासौ श्रेणिश्चेति कर्मधारय. । तया नता नमिकर्मीकृता, एतेनैतदपलापकारिणो भगवत्प्रतापमैन्द्र. शापो ध्रुव इति व्यज्यते । पुनः कीदृशी ?, प्रतापस्य कोशदण्डस्य तेजसो भवन गृहम्, उक्ततेज. स्थाप्यगत स्थापनायामुपचर्य व्याख्येयम्, तेनैतदपलापकारिणो भगवत्प्रतापदहनेनैवापहता भविष्यन्ति इति व्यज्यते। पुन. कीदृशी ?,भव्याङ्गिनाम्-आसन्नसिद्धिकप्राणिनां, नेत्रयोरमृत पीयूष, सकलनेत्ररोगापनयनात्परमानन्दजननाच्च । एतेनैतद्दर्शनात् येषा नयनयोर्नानन्दस्तेऽभव्या दूरभव्या इत्याभिव्यज्यते। पुन. कीदृशी ?,प्रमाणीकृता प्रमाणत्वेनाभ्युपगता । कै.?, सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरै.-सिद्धान्तानामुपनिषद्रहस्य तद्विचारे ये चतुरास्तै ,कया?,प्रीत्या स्वरसेन, न तु बलाभियोगादिना,एतेन सिद्धान्तप्रतिमाप्रामाण्याभ्युपगमयोर्नान्तरीयकत्वात्स्वरसत. प्रतिमाप्रामाण्याभ्युपगन्तैव शिष्टो नान्य इत्यादि सूचितं भवति,तदनभ्युपगन्ता च सिद्धान्तानभिज्ञ इति । पुन. कीदृशी ?, स्फूर्त्तिमती-स्फूर्त्तिः प्रतिक्षण प्रवर्द्धमानकान्ति ,सन्निहितप्रातिहार्यत्वं वा, तद्वती। एतेन तदाराधकानामेव बुद्धिस्फूर्त्तिर्भवति, नान्यस्येति सूच्यते। पुनः कीदृशी?,अनालोकिता, सादरमवीक्षितेत्यर्थः। अनालोकितपदस्य सादरमनालोकितत्वेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वात्, अन्यथा चक्षुष्मत पुरस्थितवस्तुनोऽनालोकितत्वानुपपत्ते.। कै.?, विस्फुरन् विविध परिणमन्, यो मोहोन्मादो घनप्रमादश्च, तावेव ये मदिरे,ताभ्यां ये मत्तास्तै । न च प्रमादस्य मोहेनैव गतार्थत्वादाधिक्यम, अनाभोगमतिभ्रंशादिरूपस्य ग्रहणात् । न चान्वयपरिसमाप्तावस्य विशेषणस्योपादानात्समाप्तपुनरात्तदोषदुष्टत्वमत्रेति शङ्कनीयम , सर्वोत्कृष्टत्वेन सर्वादरणीयत्वे लब्धे यदि सर्वैराद्रियेत कथ न लुम्पकैरित्याशङ्कानिवारणायैतद्विशेषणम् । ते हि मोहप्रमादोन्मत्ता इति तदनादरेऽपि सर्वप्रेक्षावदादरणीयत्वाक्षतिरित्युक्तदोषाभावात् , प्रकृतानुपपादविशेषणस्य पुनरुपादान एव तद्दोषव्यवस्थितेः । अत एव-" दीधितिमधिचिन्तामणि, तनुते तार्किकशिरोमणिः श्रीमान्।" इत्यत्र श्रीमद्विशेषणेन न समाप्तपुनरात्तत्वम्, श्रीर्विस्तरानुगुणज्ञानसमृद्धिरित्यस्य प्रकृतोपपादकत्वादिति समाहितं तार्किकैः । वा सेत्यध्याहृत्य वाक्ये, यैर्मै. सा नेक्षिता ते मन्दभाग्या इति ध्वनि ,आनन्तर्ये तु नानुपपत्तिलेशोऽपीति ध्येयम्। इत्येषमाद्यपद्ये प्रतिमाया निखिलप्रेक्षावदादरणीयत्वमुक्तम् ।

(२) भावैकान्निक्षेपत्वादिन उपहासं विधाय भावाचार्यनिष्पत्ति.-

नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणं ,
शास्त्रात्स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वतामन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः ? ॥ २ ॥

(नामादित्रयमित्यादि) त्रयमेव, नामादिपदस्य नामादिनिक्षेपपरत्वात् कृदभिहितत्वाद्याभिक्षिप्यमाण नामादित्रयमेवेत्यर्थ. । भावभगवतो निक्षिप्यमाणभावार्हतस्ताद्रूप्यधियोऽभेदबुद्धे. कारण, शास्त्रादागमप्रमाणात्, स्वानुभवात् स्वगतप्रातिभप्रमाणाच्च,मुहुर्वार वारमिष्टं च दृष्ट च, शास्त्रादिष्टम्, अनुभवाच्च दृष्टमित्यर्थः । मुहुरिष्टता मनन, मुहुर्दृष्टता च ध्यानमुपनिबद्ध, तेन तत्त्वप्रतिपत्त्युपायसामग्र्यमावेदितम्। तदाह-"आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते तत्त्वमुत्तमम " ॥ १ ॥ इति । तेन भावनिक्षेपाध्यात्मोपनायकत्वेन नामादिनिक्षेपत्रयस्यार्हत्प्रतिमास्थापनानिक्षेपस्वरूपत्वेनानादृतवतां भाव भावनिक्षेप पुरस्कुर्वतां वाङ्मात्रेण प्रमाणयतां दर्पणे निजमुखालोकार्थिनामन्धानामिव का मति. ?, न काचिदित्यर्थः । निक्षेपत्रयानादरे भावोल्लासस्यैव कर्तुमशक्यत्वात्, शास्त्र इव नामादित्रये हृदयस्थिते सति भगवान् पुर इव परिस्फुरति , हृदयमिवानुप्रविशति, मधुरालापमिवानुवदति , सर्वाङ्गीणमिवानुभवति, तन्मयीभावमिवापद्यते, तेन सर्वकल्याणसिद्धि.।

तदाह-

" अस्मिन् हृदयस्थे सति, हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मिन्नियमात्सर्वार्थसंसिद्धि ॥
चिन्तामणि. परोऽसौ , तेनेय भवति समरसापत्तिः ।
सैवेह योगमाता , निर्वाणफलप्रदा प्रोक्ता ॥ ' इति ।

तत्कथनिक्षेपत्रयादर विना भावनिक्षेपादरः , भावोल्लासस्य तदधीनत्वात् । न च नैसर्गिक एव भावोल्लास इत्येकान्तोऽस्ति जैनमते, तथा सति सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादिति स्मर्तव्यम् । अत्र निरुक्तविशेषणविशिष्टेषु लुम्पकेषु निरुक्तविशेषणविशिष्टान्धरूपोत्प्रेक्षा , कल्पितोपमानमादायोपमा वेति यथोचित्येन योजनीय तत्त्वज्ञलङ्कारग्रन्थनिपुणैः । स्यादेतत् । भावार्हद्दर्शनं यथा भव्यानां स्वगतफल प्रत्यव्यभिचारि, तथा न निक्षेपत्रयप्रतिपत्तिरिति तदनादर इति । मैवम् । स्वगतफले स्वव्यति-

रिकभावनिक्षेपस्याप्यव्यभिचारित्वाभावात् । न हि भावार्हतं दृष्ट्वा भव्या अभव्या वा प्रतिबुध्यन्त इति । स्वगतभावोल्लास-निमित्तभावस्तु निक्षेपचतुष्टयेऽपि तुल्य इति । एतेन स्वगताध्या-त्मोपनायकतागुणेन वन्द्यत्वमपि चतुष्टयविशिष्टमित्युक्तं भवति । शिरश्चरणसंयोगरूपं हि वन्दनं भावभगवतोऽपि शरीर एव सं-भवति, न तु भावभगवत्स्वरूपे, आकाश इव तदसंभवात् । भा-वसंबन्धाच्छरीरसंबद्धं वन्दनं भावस्यैवायातीति तत एव नामादिसंबद्धमपि भावस्य किं न प्राप्नोतीति परिभावय ?। क-श्चिदाह कुमतिव्युद्ग्राहिनः-किमेताभिर्युक्तिभिः ?, महानिशीथ एव भावाचार्यस्य तीर्थकृत्तुल्यत्वमुक्तं, निक्षेपत्रयस्य चाकिञ्चि-त्करत्वमिति भावनिक्षेपमपि पुरस्कुर्वतां क इवापराधः ? । तथा चोक्तं तत्र पञ्चमाध्ययने-"से भयवं ! किं तित्थयरसंतियं आणं नाइक्कमिज्जा, उयाहु आयरियसंतियं ?। गोयमा ! चउव्विहा आ-यरिया पण्णत्ता । तं जहा-नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वाय-रिया, भावायरिया । तत्थ णं जे ते भावायरिया, ते तित्थयर-समा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियं आणं नाइक्कमिज्जा । से भयवं ! कयरे णं ते भावायरिया भण्णंति ? । गोयमा ! जे अज्जपव्वइए वि आगमविहीए पए पए अणुसंचरंति ते भावायरिए, जे उ वाससयदिक्खिए वि हुत्ता णं वायामित्तेण वि आगमओ वाहिं करिंति, ते णामठवणाहिं णिउंजियव्वेति ।" अत्र ब्रूमः-प-रमगुरुभावग्राहिकनिश्चयनयस्यैवायं विषयः, यन्मते एकस्यापि गुणस्य त्यागे मिथ्यादृष्टित्वमिष्यते । तदाहुः-"जो जहवायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्नो ?" त्ति । तन्मते निक्षे-पान्तरानादरेऽपि नैगमादिनयवृन्देन नामादिनिक्षेपाणां प्रा-माण्याभ्युपगमात्क इव व्यामोहो भवतः, सर्वनयसमतस्यैव शास्त्रार्थत्वात्, अन्यथा सम्यक्त्वचारित्रैक्यग्राहिणा निश्चय-नयेनाप्रमत्तसंयत एव सम्यक्त्वस्वाम्युक्तो, न प्रमत्तान्त इति श्रेणिकादीनां बहूनां प्रसिद्धं सम्यक्त्वं न स्वीकरणीयं स्या-द्देवानां प्रियेण । उक्तार्थप्रतिपादकं त्विदं सूत्रमाचाराङ्गे पञ्च-माध्ययने तृतीयोद्देशके-"जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा" (प्रति०) अथवा-यावत्या निर्वृत्या भावाचार्यनिर्वृतिस्तावत्या द्रव्याचा-र्यसंपत्तिः, सा च सापेक्षत्वे भावयोग्यतयेति भावाचार्यना-मस्थापनावत् प्राशस्त्येनातिक्रामति, अन्यविकल्पं विना द्रव्य-भावसङ्करस्याविश्रामात् प्रशस्तनामस्थापनावत् । अप्रशस्त-भावस्याङ्गारमर्दकादेर्द्रव्यं तु तन्नामस्थापनावदप्रशस्तमेवेति प्रागुक्तमहानिशीथसूत्रे नियोजनीयार्थः ।

तदवदाम गुरुतत्त्वनिश्चये-

"नत्थि य एगो एसो, जं दव्वं होइ सुद्धभावस्स ।
तन्नामागिइतुल्लं, तं सुहमियरं तु विवरीयं ॥ १ ॥
जह गोयमाइआण, णामाइ तिन्नि हुंति पावहरा ।
अंगारमद्दगस्स वि, णामाइ तिन्नि पावयरा ॥ २ ॥"

इति प्रशस्तभावसंबन्धिनां सर्वेषां निक्षेपाणां तु प्रशस्तमेवेति निर्व्यूढम् । अपि च-"जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव । सयमेव न एह त्ति य, स निसग्गरुइ त्ति णायव्वो ॥१॥" इति उत्तराध्ययनवचनाच्चतुर्विधशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्य-भावभेदभिन्नत्वेन व्याख्यानिक्षेपचतुष्टयस्यापि यथौचित्ये-नाराध्यत्वमविरुद्धम् । अत एवाप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तु-तार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवानिति शास्त्रस्य मर्यादा । किं च-नामनिक्षेपस्याराध्यत्वं तावत् "चोवीसत्थएणं दंसण-विसोहिं जणयइ" इति सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनोपदर्शितचतु-र्विंशतिस्तवाराध्यतयैव सिद्धं, तत्रोत्कीर्तनस्यार्थाधिकारित्वासेन च दर्शनाराधनस्योक्तत्वात्, "महाफलं खलु तहारूवाणं भग-वंताणं णामगोत्तस्स वि सवणयाए एवं खलु तहारूवाणं भगवं-ताणं णामगोत्तस्स वि सवणयाए" इत्यादिना भगवत्यादौ म-हापुरुषनामश्रवणस्य महाफलत्वोक्तेश्च । नामस्थापनानिक्षेप-स्याराध्यता च-"थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । थयथुइमंगलेणं भंते ! नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभ संपन्ने णं भंते ! जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ" इति वचनेनैव सिद्धा । अत्र स्तवः स्तवनं स्तुतिः स्तुतित्रयं प्रसिद्धं, तत्र द्वितीया स्तुतिः स्थापनार्हतः पुरतः क्रियते । चैत्यवन्दनावसरतया च ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभतो निरर्गलस्वर्गापवर्गसुखलाभ इति शेषाक्षराण्यपि स्फुटीभविष्यन्त्यनुपदमेव । द्रव्यनिक्षेपारा-ध्यता च सूत्रयुक्त्या स्फुटैव प्रतीयते । तथाहि-श्रीआदिनाथवार-के साधूनामावश्यकक्रियायां कुर्वतां चतुर्विंशतिस्तवाराधने त्र-योविंशतिर्द्रव्यजिना एवाराध्यतामास्कन्दयेयुरिति । न च ऋष-भजिनादिकाले एकस्तवादिस्तवादिप्रक्रियाऽपि कर्तुं शक्या, शा-श्वताध्ययनपाठस्य लेशेनापि परावृत्त्या कृतान्तकोपस्य वज्रलेप-त्वात् । न च नामोत्कीर्तनमात्रे तात्पर्याद्विरोधोऽर्थोपयोगरहित-स्योत्कीर्तनस्य राजविष्टिसमत्वेन योगिकुलजन्मबाधकत्वात्, अत एव द्रव्यावासकस्य निषेधः सूत्रे,"अनुपयोगो द्रव्यम्" इति शतशः उद्घोषितमनुयोगद्वारादौ । अर्थोपयोगे तु वाक्यार्थतयैव सिद्धा द्रव्यजिनाराध्यतेति, एतेन द्रव्यजिनस्याराध्यत्वे करतल-परिकलितजलबुद्बुदवर्तिजीवानामप्याराध्यत्वापत्तिः, तेषामपि कदाचिज्जिनपदवीमाप्तिसंभवादिति शासनविडम्बकस्य लु-म्पकस्योपहासः । "तिरक्खो," द्रव्यजिनत्वनियामकपर्या-यस्य तत्रापरिज्ञानात् । मरीचिस्तु स्वाध्यायध्यानपरायणो महा-त्मा भगवतो नाभिनन्दनस्य चन्दनप्रतिमया गिरा परिकलित-तादृशपर्यायपुलकितगात्रेण भक्तिपात्रेण भरतचक्रवर्तिना व-न्दित एवेति प्रसिद्धमावश्यकनिर्युक्तौ, पुरस्कारः च वन्दन-निमित्तं द्रव्यजिनपर्याय,न त्वौदयिकभावम् । तथाहि-"ण वि ते पारे वक्कं, वंदामि अहं ण ते इह जम्मं । जं होहिसि तित्थयरो, अपच्छिमो तेण वंदामि ।" इति पापिष्ठत्वाइकमिदं निर्युक्तौ, पर-न सूत्र इति निर्युक्तिकमेवेति तस्य दुष्टस्य शिरसि अनुपमादिवा-रके चतुर्विंशतिस्तवसूत्रपाठानुपपत्तिरेव प्रहारः । यदि द्रव्यजि-नतां पुरस्कृत्य 'भरतेन मरीचिवत्' वन्द्या कथं न साधुभिरित्यत्र तु विशेष्य वन्दने तद्व्यवहारानुपपत्तिरेव समाधानम् । सामान्य-तस्तु-"जे अईआ सिद्धा" इत्यादिना गतमेव । अथ द्रव्य-त्वस्य द्रव्यसत्ययाद्यधिकारेऽनुयोगद्वारादिषु एकभविकब-द्धायुष्काभिमुखनामगोत्रभेदभिन्नस्यैवोपदेशाद्भावजिनादिति-व्यवहितपर्यायस्य मरीचेर्द्रव्यजिनत्वमेव कथं युक्तमिति चेत् ?, सत्यम् । आयुष्कमघटितस्य द्रव्यत्वस्यैकभाविकादिभेदनि-यतत्वेऽपि फलीभूतभावार्हत्पदनमनयोग्यतारूपस्य प्रसक्तादि-दृष्टान्तेन दूरेऽपि नैगमनयाभिप्रायेणाश्रयणात्, योग्यताविशेषे च ज्ञानिवचनादिनाऽवगते दोषमुपेक्ष्यापि तेषां वन्दनवैयावृत्त्या-दिव्यवहारः सगच्छत एवाऽतिमुक्तकार्ये वीरवचनाद्भावि-भद्रतामवगम्य स्थविरैर्मनस्खलितमुपेक्ष्याऽग्लान्या वैयावृत्त्यं निर्ममे । किं च-"नमो सुअस्स" इत्यादिनाऽपि द्रव्यनिक्षेपस्या-

राध्यत्व सुप्रतीतम् । अक्षरादिश्रुतभेदेषु संज्ञाव्यञ्जनाक्षरादीनां भावश्रुतकारणत्वेन द्रव्यश्रुतत्वात्, पत्रकपुस्तकालिखितस्य "तं द-व्वसुम जं पत्तयपोत्थयलिहिअं" इत्यागमेन द्रव्यश्रुतत्वप्रसिद्धेः । भावश्रुतस्यैव वन्द्यत्वे तत्पर्यायजिनवागपि न नमनीया स्यात्, केवलज्ञानेन दृष्टानामर्थानां जिनवाग्योगेन सृष्टायास्तस्याः श्रोतृषु भावश्रुतकारणत्वेन द्रव्यश्रुतत्वात् । तदार्षम्-"केवलनाणेण-त्थे, णाउं जे तत्थ पण्णवणजोग्गा । ते भासइ तित्थयरो, वयजो-गो सुअं हवइ सेसं ॥" इति । वाग्योगः श्रुतं भवति शेषम-प्रधानं, द्रव्यभूतमिति तुरीयपादार्थः । भगवन्मुखोत्सृष्टैव वाणी वन्दनीया नान्येति वदन् स्वमुखेनैव व्याहन्यते, केवलायास्त-स्याः श्रवणायोग्यत्वेन श्रोतृषु भावश्रुताजननात् द्रव्यश्रुतरूप-ताया अप्यनुपपत्तेः, मिश्रायाः श्रवणेऽपि वक्त्रिणि स्थिता ए-वागात् । पराघातवासिताया ग्रहणे च जिनवागप्रयोज्याया अन्याया अपि यथास्थितवाच आराध्यत्वापत्तेः । एतेन सि-द्धाचलादेराराध्यत्वमपि व्याख्यातं, ज्ञानदर्शनचारित्ररूपभाव-तीर्थहेतुत्वेनास्य द्रव्यतीर्थत्वादनन्तकोटिसिद्धस्थानत्वस्यान्यत्र विशेषेऽपि स्फुटप्रतीयमानतद्भावेन तीर्थस्थापनयैवात्र विशेषात्, अनुभवादिना तथासिद्धौ श्रुतपरिभाषाज्ञानस्य तन्त्रत्वात् । अ-न्यथा चतुर्वर्णश्रमणसङ्घे तीर्थत्व, तीर्थकरे तु तद्बाह्यत्वमित्यपि विचारकोटिं नाटीकेत, व्यवहारविशेषाय यथा परिभाषणमपरि-भाषणं च न व्यामोहाय विपश्चितामिति स्थितम् । भावनिक्षेपे तु न विप्रतिपत्तिरिति चतुर्णामपि सिद्धमाराध्यत्वम् ॥२॥ (प्रति०)

(४) ब्राह्मी लीपिरिव प्रतिमा सूत्रन्यायेन वन्द्येति तदपह्नवकारिणां मूढतामाविष्करोति-

लुप्तं मोहविषेण किं किमु हतं मिथ्यात्वदम्भोलिना,
मग्नं किं कुनयावटे किमु मनो लीनं नु दोषाकरे ।
प्रज्ञप्तौ प्रथमं नतां लिपिमपि ब्राह्मीमनालोकयन्,
वन्द्याऽर्हत्प्रतिमा न साधुभिरिति ब्रूते यदुन्मादवान् ॥३॥

(लुप्तमिति) प्रज्ञप्तौ प्रथममादौ वचने नतां सुधर्मस्वामि-ना ब्राह्मीं लिपिमनालोकयन्नवधारणाबुद्ध्याऽपरिकलयन् 'अ-र्हत्प्रतिमा साधुभिर्न वन्द्या" इति यदुन्मादवान् मोहपरवशो ब्रूते, तत्किं तस्य मनो मोहविषेण लुप्तं व्याकुलितम् ? । किमु मिथ्यात्वदम्भोलिना मिथ्यात्ववज्रेण हतं चूर्णितम् ? । अथवा-किं कुनयावटे दुर्नयकूपे मग्नम् ? । यद्वा नु इति उ-त्प्रेक्षायां, दोषसमूहाश्रिते दोषाकरे लीनम् ? । "छायाश्लेषेण म-नश्चन्द्रं विशति" इति श्रुतेर्मृतमित्यर्थः । अत्र "लिम्पतीव तमो-ऽङ्गानि" इत्यादौ लेपनादिना व्यापनादेरिव विषकर्तृकलुप्तत्वा-दिना लुम्पकमनोमूढताया अध्यवसानात् स्वरूपोत्प्रेक्षायाः कि-मादिर्द्योतकः "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा, प्रकृतस्य समेन यत्" इति काव्यप्रकाशकारः । अन्यधर्मसम्बन्धेनवादिद्योत्योत्प्रेक्षेति हेमचन्द्रा-चार्याः ॥ अथ भावः-"नमो बम्भीए लिवीए" इति पदं यद् व्या-ख्याप्रज्ञप्तेरादावुपन्यस्तं, तत्र ब्राह्मी लिपिरक्षरविन्यासः, सा यदि श्रुतज्ञानस्याऽऽकारस्थापना तदा तद्वन्द्यत्वे साकारस्थापनाया भगवत्प्रतिमायाः स्पष्टमेव साधूनां वन्द्यत्वम्, तुल्यन्यायादिति । तत्प्रद्वेषे प्रकृतप्रद्वेष एव । यत्तु प्रतिमाप्रद्वेषसाधनाऽन्धकारित-हृदयेन धर्मशृगालेन प्रलपितम्-ब्राह्मी लिपिरिति प्रस्थकदृष्टान्त-प्रसिद्धनैगमनयभेदेन तदादिप्रणेता नाभेयदेव एवेति, तस्यैवायं नमस्कार इति । तन्महामोहविलसितम् । ऋषभनमस्कारस्य 'न-मोऽर्हद्भ्यः' इत्यत एव सिद्धेः, प्रतिव्यक्ति ऋषभादिनमस्कारस्य

त्वविवक्षितत्वात्, अन्यथा चतुर्विंशतिनामोपन्यासप्रसङ्गात् । श्रुतदेवतानमस्कारानन्तरमृषभनमस्कारोपन्यासानौचित्यात् । शुद्धनैगमनये ब्राह्म्या लिपेः कर्तुः लेखकस्य नमस्कारप्राप्तेश्चेति न किञ्चिदेतत् । एतेनाकारप्रश्लेषादलिप्यै लेपरहितायै ब्राह्म्यै जिनवाण्यै नम इत्यादि तत्कल्पनाऽपि परास्ता, वाणीनमस्का-रस्य 'नमः श्रुतदेवतायै' इत्यनेनैव गतार्थत्वात्, वक्रमार्गेण पुन-रुक्तौ बीजाभावात् । "बंभीए णं लिवीए अट्ठारसविहे लिविविहा-णे पण्णत्ते" इति समवायाङ्गप्रसिद्धप्रकृतपदस्य मौलमर्थमुज्झि-त्वा विपरीतार्थकरणस्योत्सूत्रप्ररूपणाव्यसनं विना किमन्यत्कारणं धर्मशृगालस्येति वयं न जानीमः ? । केचित्तु पापिष्ठा नेदं सूत्र-स्य पदं, "रायगिहेनयरे" इत्यत एवारभ्य भगवतीसूत्रप्रवृत्तेः, किन्त्वन्यैरेवोपन्यस्तमित्याचक्षते, तदपि तुच्छम् । नमस्कारादी-नामेव सर्वसूत्राणां व्यवस्थितेरेतस्य मध्यपदत्वात् । प्रति० । (नम-स्कारस्य स्वस्थाने युक्तता) एवं च नमस्कारादौ प्रज्ञप्तिसूत्रे स्थि-तम्-"नमो बंभीए लिवीए" इति पदं प्रतिमास्थापनायात्य-न्तोपयुक्तमेवेति मन्तव्यम् ।

" हित्वा लुम्पकगच्छसूरिपदवीं गार्हस्थ्यलीलोपमां,
प्रोद्यद्बोधिरतः पदादभजत श्रीहीरवीरान्तिकम् ।
आगस्त्यागपुनर्व्रतग्रहपरो यो भाग्यसौभाग्यभूः,
स श्रीमेघमुनिर्न कैः सहृदयैर्धर्मार्थिषु श्लाघ्यते ? ॥ १ ॥
एकस्मादपि समये पदादनेके,
सबुद्धा वरपरमार्थरत्नलाभात् ॥
अम्भोधौ पतनपरस्तु तत्र मूढो,
निर्मुक्तप्रकरणसम्प्रदायपोतः ॥ २ ॥" ३ ॥

अथ नामप्रतिमावन्द्यां स्थापनां स्थेयपति-

किं नामस्मरणेन न प्रतिमया किं वा जिदा काऽनयोः,
संबन्धः प्रतियोगिना न सदृशो भावेन किं वा द्वयोः ? ॥
तद्वन्द्यं द्वयमेव वा जममते ! त्याज्यं द्वयं वा त्वया,
स्याच्चर्कादत एव लुम्पकमुखे दत्तो मषीकूर्चकः ॥ ४ ॥

"किं नाम" इत्यादि । किं नामस्मरणेन चतुर्विंशतिस्तवादिम-न्त्रामानुचिन्तनेन ?, नाम्नः पुद्गलात्मकत्वेनात्मानुपकारित्वान्नाम्नः स्मरणेन नामिस्मरणे तद्गुणसमापत्त्या फलमिति चेदत्राह-प्रतिमया किं वा न स्यात् ?, प्रभूतगुणसमुद्रलोकोत्तरमुद्रालङ्कृतभगवत्प्रतिमादर्शनादपि सकलातिशायिभगवद्गुणध्या-नस्य सुतरां सम्भवात् ।

तदुक्तम्-

" प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं,
वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्यः ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्यं,
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव " ॥ १ ॥ इति ।

बोध्युदयोऽपि प्रतिमादर्शनाद् बहूनां सिद्ध एव । तदुक्तं दशवैका-लिकनिर्युक्तौ-"सिज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबु-द्धं । मणगपिअरं दसका-लिअस्स णिज्जूहगं वंदे" ॥१॥ इत्यादि-निर्युक्तिश्च सूत्रान्नातिभिद्यत इति व्यक्तमेव । विवेचयिष्यते चेदमु-परिष्टात् । नाम्नो नामिना सह वाच्यवाचकभावसम्बन्धोऽस्ति, न स्थापनाया इत्यस्ति विशेष इति चेत्, अत्राह-प्रतियोगिनेतरनि-क्षेपानिरूपकेन भावनिक्षेपेण सह, द्वयोर्नामस्थापनयोः, सम्बन्धः किं सदृशो न ?, सदृशवचने न भिदः किं [illegible] इत्यर्थः । एकत्र

वाचकभावस्यान्यत्र स्थापकभावस्य संबन्धस्यापि विशेषात्, तादात्म्यस्य तु रूप्यादन्यत्रासंभवात्; अनया प्रतिवन्द्या दुर्धादिनमादिपति-तस्मात्कारणात् हे जडमते ! त्वया द्वयमेव नामस्थापनालक्षणमविशेषेण वन्द्यम्, द्वयोरपि भगवदध्यारोपनायकत्वाविशेषात्। अन्तरङ्गप्रत्यासत्त्यभावाद्धेयत्वे तु द्वयमेव त्वया त्याज्यं स्यात्, तच्चानिष्टम्, नाम्नः परेणाप्यङ्गीकरणात्, अत एव तर्कात् लुम्पकमुखे मषीकूर्चको दत्त स्यात्, मालिन्यापादनादिति भावः। अत्र मषीकूर्चकत्वेन मौनदानविवक्षायां 'कमलमनम्भसि' इत्यादाविव रूपकगर्भो यथाश्रुतविवक्षायां त्वसंबन्धे संबन्धरूपाऽतिशयोक्तिः। अथात्र स्थापना यद्यवन्द्या स्यात्तदा नामाप्यवन्द्य स्यादित्येतस्य न तर्कत्वम्, आपाद्यापादकयोर्भिन्नाश्रयत्वादिति चेत्, आपाद्यापादकान्यथानुपपत्तिमर्यादयैव विपर्ययपर्यवसायकत्वेनात्र तर्कोक्तेः। अत एव यद्यय ब्राह्मणो न स्यात्तत्तत्पिता ब्राह्मणो न स्यात्, उपरि सविता न स्याद् भूमेरालोकवत्त्वं न स्यादित्यादयस्तर्काः सुप्रसिद्धाः। विपर्ययपर्यवसानं च परेषामनुमितिरूपमस्माकं स्वतन्त्रप्रमितिरूपमित्यन्यदेतत्। भावनिक्षेपो यद्यवन्द्यस्थापनानिक्षेपप्रतियोगी स्यादवन्द्यनामनिक्षेपप्रतियोग्यपि स्यादित्येवं तर्कस्य व्यधिकरणत्वं निरसनीयम्, अनिष्टप्रसङ्गरूपत्वात्, प्रतिवन्द्ये चात्र स्वातन्त्र्येण तर्क इति विभावनीय तर्कनिष्णातैः।

प्रतिवादीनेव भङ्ग्याऽऽक्षिपस्तदाराधकानभिष्टौति-

(५) चारणकृतवन्दनाधिकारः। चारणदेववन्दितत्वम्-

स्वान्तं ध्वान्तमयं मुखं विषमयं दृग् धूमधारामयी,
तेषां यैर्न नता स्तुता न भगवन्मूर्तिर्न वा प्रेक्षिता ।
देवैश्चारणपुङ्गवैः सहृदयैरानन्दितैर्वन्दिता ।
ये त्वेनां समुपासते कृतधियस्तेषां पवित्रं जनुः ॥ ५ ॥

"स्वान्तमित्यादि"। यैर्भगवन्मूर्त्तिर्न नता तेषां स्वान्तं हृदयं ध्वान्तमयमन्धकारप्रचुरं, हृदये नमनप्रयोजकालोकाभावादेवातन्नमनोपपत्तेः, यैर्भगवन्मूर्त्तिर्न स्तुता तेषां मुखं विषमयं, स्तुतिसूक्तपीयूषाभावस्य तत्र विषमयत्व एवोपपत्तेः, यैर्भगवन्मूर्तिः, वा अथवा, न प्रेक्षिता तेषां दृग् धूमधारामयी, जगद्दृशाममृतसेचनकतत्प्रेक्षणाभावस्य धूमधारावृतनेत्रत एवोपपत्तेः, स्वान्तत्वादिना दोषविशेषा एवाध्यवसीयन्ते इत्यतिशयोक्तिः, सा चोक्तदिशा काव्यलिङ्गानुप्राणिताऽवसेया। ये तु कृतधियः पण्डिता एनां भगवन्मूर्तिं समुपासते तेषां जनुः जन्म पवित्रं, नित्य मिथ्यात्वमलपरित्यागात्। कीदृशी ?, देवैः सुरासुरव्यन्तरज्योतिष्कैः, चारणपुङ्गवैः चारणप्रधानैः जङ्घाचारणविद्याचारणैः, सहृदयैर्ज्ञानतत्त्वैरानन्दितैर्जातानन्दैर्वन्दिता, हेतुगर्भं चेद विशेषणम्, देवादिवन्दितत्वेन शिष्टाचारात्तत्समुपासनं जनानां पाविव्यायेति भावः । (प्रति०) (अत्र 'चारण' शब्दो द्रष्टव्योऽस्मिन्नेव भागे ११७३ पृष्ठे)

उक्तमेव स्वीकारयंस्तत्र कुमतिकल्पिताशङ्कां निरस्यन्नाह-

प्रज्ञप्तौ प्रतिमानतिर्न विदिता किं चारणैर्निर्मिता,
तेषां लब्ध्युपजीवनाद्विकटनाभावाच्चनाराधना ।
सा कृत्याकरणादकृत्यकरणाद्भग्नव्रतत्वं भवे-
दित्येता विलसन्ति सन्नयसुधासारा बुधानां गिरः ॥६॥

(प्रज्ञप्ताविति) भगवतीसूत्रे किं चारणैः जङ्घाचारणविद्याचारणश्रमणैर्निर्मिता प्रतिमानतिः न विदिता न प्रसिद्धा ?; अपि तु प्रसिद्धैव। सुधर्मस्वामिना कण्ठरवेणोक्तस्य तत्र तत्प्रिप्रकाशातुल्यस्य कुमतिकौशिकवाङ्मात्रेणापह्नोतुमशक्यत्वात्। ननु यदुक्तं तद्युक्तमेव, परं चैत्यवन्दननिमित्तालोचनाभावे नाराधकत्वमुक्तमिति तेषां चैत्यनतिं स्वारसिकीं नाभ्युपगच्छाम इत्याशङ्कायामाह-(तेषामिति) तेषां जङ्घाचारणविद्याचारणानां लब्ध्युपजीवनात्, तस्य प्रमादरूपत्वात्तु पुनर्विकटनाभावादालोचनाभावात् " आलोयणा वियडणेति " निर्युक्तिवचनाद्विकटनाशब्दस्यालोचनाऽर्थः। अनाराधना, तदन्यतो निमित्तात्तदाह-साऽनाराधना कृत्यस्य प्रमादालोचनस्याकरणात्, अकृत्यकरणं चैत्यवन्दने मिथ्यात्वकरण, तत् पुरस्कृत्यानाराधनायामुच्यमानायां भग्नव्रतत्व भवेत्, मिथ्यात्वसहचारिणामनन्तानुबन्धिनामुदयेन चारित्रस्य मूलत एवोच्छेदात्, " मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं" इति वचनात्। तच्चालोचनामात्रतोऽपि शोधयितुं शक्यमित्यय भारो मिथ्याकल्पकस्य शिरस्यस्त्वित्येताः, सन्नयः समीचीननयः, स एव मिथ्याकल्पनाविषविकारनिरासत्वात्सुधा पीयूषं, तेन साराः, बुधानां सिद्धान्तपारदृश्वनां गिरः वाचः ॥ ६ ॥ प्रति० ।

ननु चारणानां यावान् गतेर्गोचर उक्तस्तावद्देशगमनपरीक्षायामेव मुख्य उद्देशः, तेभ्यः क्रियमाणा या तत्तच्चैत्यानामपूर्वाणां दर्शनाद्विस्मयोद्बोधेन तन्नतिर्न तु स्वरसत इति, तदाचरणं न शिष्टाचार इति सर्वेषां साधूनां न तद्वन्द्यता तद्दृष्टान्तेनेति कुमतिमतमाशङ्क्य निषेधति-

तेषां न प्रतिमानतिः स्वरसतो लीलानुषङ्गात्तु सा,
लब्ध्याप्तादितिकालकूटकवलोद्गारा गिरः पाप्मनाम् ।
हन्तैवं न कथं नगादिषु नतिर्व्यक्ता कथं चेह सा,
चैत्यानामिति तर्ककर्कशगिरा स्याच्चन्मुखं मुद्रितम् ॥ ७॥

(तेषामिति) तेषां जङ्घाचारणविद्याचारणानां प्रतिमानतिः स्वरसतो न, स्वरसः श्रद्धाभक्तिसंमुलितः परिणामः। तु पुनः, लब्ध्याप्तात् लब्धिप्राप्तात् लीलानुषङ्गात्, लब्धिप्राप्तलीला विहत्तया प्रवृत्तानां तत्रापूर्वदर्शनीसंनिधिकदर्शनतयेत्यर्थः। न तु अस्वारसिकनत्या काऽपि क्षतिः, स्वारसिककृत्यकरणस्यैव दोषत्वात्, इत्येताः पाप्मनां लुम्पाकदुर्गतानां गिरः कालकूटकवलोद्गाराः, उद्गीर्यमाणकालकूटकवला इत्यर्थः। भक्तिमिथ्यात्वकालकूटानामीदृशानामिवोद्गाराणा संभवात्। तन्नोत्तरम्-हन्तेति निर्देशे, एवं लीलाप्राप्तस्य विस्मयेन साधूनां वन्दनसम्भवे कथ नगादिषु मानुषोत्तरनन्दीश्वररुचकमेरुतदारामादिविषये न चारणानां नतिः, तत्राप्यपूर्वदर्शनजनितविस्मयेन तत्संभवात्। कथ चेह भरतविदेहादौ ततः प्रतिनिवृत्तानां चैत्यानां प्रतिमानां सा नतिः इत्येवभूता या तर्ककर्कशा गीस्तया तन्मुखं पाप्मवदनं मुद्रितम्, अनया गिरा ते प्रतिवक्तु न शक्नुयुरित्यर्थः। कर्कशपदं तर्कस्य निग्रहमुद्राहेतुत्वमभिव्यनक्ति। अत्र यथा गोचरचर्योद्देशेनापि निर्गतेन साधुनाऽन्तरोपनताः साधवः स्वरसत एव वन्दनीयाः, तथाऽऽगमगोचरदर्शनायामपि, एवं चारणैर्नन्दीश्वरादिप्रतिमानतिः स्वरसत एव अनन्तोपनतपीयूषवृष्टिवत्परमप्रमोदहेतुत्वादित्युक्त भवति ॥ ७ ॥

(६) अथोक्तालापके-" तहिं चेइयाइं वंदइ " इत्यस्यायमर्थ -यथा भगवद्भिरुक्तं, तथैव नन्दीश्वरा-

दि दृष्टमिति, अहो ! तथ्यमिदं भगवज्ज्ञानमित्यनुमोदते इत्यर्थः। चैत्यपदस्य ज्ञानार्थत्वादिति मुग्धपर्षदि मूर्धानमाधूय व्याख्यातुरुपहसन्नाह—

ज्ञानं चैत्यपदार्थमाह न पुनर्मूर्त्तिं प्रभोर्यो द्विपन्,
वन्द्यं तत्तदपूर्ववस्तुकलनाद् दृष्टार्थसंचार्यपि ।
धातुप्रत्ययरूढिवाक्यवचनव्याख्यामजानन्नसौ ,
प्रज्ञावत्सु जनः श्रियं न लभते काको मरालेष्विव ॥ ८॥

यो द्विपन् जिनशासने द्वेषं कुर्वन्,प्रकृते चैत्यपदार्थं ज्ञानमाह,न पुनः प्रभोर्मूर्त्तिं,किंभूतं ज्ञानम् ?,तस्य तस्यापूर्वस्य वस्तुनः कलनात्परिच्छेदाद्, वन्द्यमनुमोद्यमिति योगः। किंभूतमपि ?, दृष्टार्थसंचार्यपि, इह लोके चैत्यवन्दनसंचरिष्णुजनविष्णुशब्दार्थमपि, अपूर्वदर्शनेन विस्मयोत्पादकत्वाद् भगवज्ज्ञानस्य वन्द्यत्वे " इह चेइयाइं वंदइ" इत्यस्यानुपपत्तिः, इहापूर्वादर्शनात्, अपिना निपातेनानौचित्यं दर्शयति-असौ जनः,प्रज्ञावत्सु प्रेक्षावत्सु मध्ये,श्रियं सद्वचस्स्फूर्तिसमृद्धिं न लभते, केषु क इव, मरालेषु राजहंसेषु काक इव इत्युपमा। किं कुर्वन् ?, अजानन्, कां?,धात्वादिव्याख्याम्। तथाहि-चैत्यानीत्यत्र 'चिती' संज्ञाने इति धातुः, कर्मप्रत्ययः। तथा चार्हत्प्रतिमा एवार्थः। 'चिती' संज्ञाने संज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा-' जहा एमा अरिहंतपडिम त्ति ' चूर्णिरवरसादिति प्रकृते ज्ञानमर्थं वदन् प्रकृतिप्रत्ययानभिज्ञ एव । तथा रूढेरप्यनभिज्ञ एव, चैत्यशब्दस्य जिनगृहादावेव रूढत्वात् । " चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं , चैत्यो जिनसभातरुः " इति कोशात् । एतेन विपरीतव्युत्पत्त्यानामभेदप्रत्ययोगार्थोऽपि निरस्तः , योगाद् रूढेर्बलवत्वात्। अन्यथा पङ्कजशैवालादियोगप्रसङ्गात् । वाक्यस्यापि । वाक्यं साकाङ्क्षपदसमुदायः-" इह चेइआइं वंदइ " इति। अत्रस्थानि चैत्यानि वन्दते इति हि वाक्यार्थः । स च चैत्यपदस्य ज्ञानार्थत्वे न घटते , भगवज्ज्ञानस्य नन्दीश्वरादिवृत्तित्वाभावात्, जगद्वृत्तित्वस्यान्यसाधारण्येनाविस्मापकत्वात्, तेन नन्दीश्वरादे प्रतिमावाचकतयाः प्रामाण्यानिर्णये च प्राग् भगवद्वचनाविश्वासेन मिथ्यादृष्टित्वप्रसङ्गादिति । वचनस्य । ज्ञानस्यैकत्वात् ज्ञानार्थे चैत्यशब्दस्यापीएकवचनस्य कुत्राप्यननुशासनात्सिद्धान्तेऽपि तथा परिभाषणस्याभावात् । अन्यथा " केवलनाणं " इत्यत्र स्थले " चेइआइं ति " प्रयोगापत्तेः, यदि वा पूर्वभगवदुक्तार्थदर्शनस्थलेऽपीदृक् प्रयोगः स्यादिति कल्पते तदा गर्भगृहस्थमहाव्याधितमृगपुत्रस्य यथोक्तस्य दर्शिनो गौतमस्याधिकारेऽपि तथा प्रयोगः स्यादिति किमसंबद्धवादिना पामरेण सह विचारणया । " तस्स चारणस्स " इत्यत्र तच्छब्दाव्यवहितपूर्ववर्त्तिपदार्थपरामर्शकत्वान्नन्दीश्वरादिचैत्यवन्दननिमित्तकाऽऽलोचनाप्रयुक्ताया एवानाराधनाया अभिधानाद्विगीतमेतदिति । मैवम्। तच्छब्देन व्यवहितस्याप्युत्पतनगमनस्यैवालोचनानिमित्तकालोचनानिमित्तस्य परामर्शात्,यतनयाऽऽहितेन नभोगमनेनाऽपि दोषाभावात्,अत एव च यतनया ग्रामानुग्रामं विहरता गौतमस्वामिनाऽष्टापदरोहणाय जङ्घाचारणलब्धिं प्रयुज्य तच्चैत्यवन्दने निर्दोषता , तद्वन्दनं चोक्तमुत्तराध्ययननिर्युक्तौ-

"चरमसरीरो साहू, आरुहती णगवरं ण अण्णो त्ति ।
एय तु उदाहरणं, कासी य तहिं जिणवरिंदो ॥ २५ ॥
सोऊण तं भगवओ, गच्छाति तहिं गोयमो पहितकित्ती ।
आरुज्झ तं णगवरं, पडिमाओ वदइ जिणाणं " ॥ २६ ॥ त्ति ॥

उत्त० नि० १० अ० । " भगवं च गोयमो जघाचारणलद्धीए लूतातंतुम्मि णिस्साए वहुं उप्पइओ त्ति " चूर्णिः । न च लब्धिप्रयोगमात्रं प्रमादमङ्गलान्या धर्मदेशनादिना तीर्थकृल्लब्धिप्रयोगेऽपि तत्प्रसंगात् , किं तु तत्कालीनमौत्सुक्यमिति, निरुत्सुकस्य नभोगमनेनापि चैत्यवन्दने न दोष इति दृढतरमनुसन्धेयम् । अत एव भगवत्यां तृतीयशतके पञ्चमोद्देशके सङ्कृत्ये साधोर्वैक्रियकरणस्य विषयमात्रमुक्तम् । अनगारपूर्वमभियोगे त्वानालोचनायामभियोगेषु गतिरुक्ता प्रशस्तव्यापारेषु न किञ्चिदेतत् । (तथा च तत्पाठः-"अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले";इत्यादि ' अणगार' शब्दे प्रथमभागे २७४ पृष्ठे उक्तः) (प्रति०)

(७) अथ देववन्द्यतामाधिकृत्य देवानां शरणीकरणीयां भगवन्मूर्त्तिमभिष्टौति-

अर्हच्चैत्यमुनीन्द्रनिश्रिततया शक्रासनक्ष्मावधि ,
प्रज्ञप्तौ भगवान् जगाद चमरस्योत्पातशक्तिं ध्रुवम् ।
जैनीं मूर्तिमतो न योऽत्र जिनवज्जानाति जानातु कस्तं मर्त्यं बत शृङ्गपुच्छरहितं स्पष्टं पशुं पण्डितः ॥९॥

(अर्हदिति) अर्हन्तस्तीर्थंकराः, चैत्यानि तत्प्रतिमाः, मुनीन्द्राः परमसौम्यभावनात् साधुचन्द्राः, तन्निश्रिततया तन्निश्राकरणेन हेतुना, भगवान् ज्ञातनन्दनः ,चमरस्यासुरकुमारराजस्य, शक्रस्यासनक्ष्माऽऽसनपृथ्वी,साऽवधिर्यत्र यस्यां क्रियायां तथा, चमरस्योत्पातस्य शक्तिं ध्रुवं निश्चितं, जगाद, अतः-अर्हदनगारमध्ये चैत्यपाठात्,योऽत्र जिनशासने, जैनीं मूर्तिं जिनवत् जिनतुल्यां न जानाति तं मर्त्यं मनुष्यं कः पण्डितः मोक्षानुगतप्रज्ञावान् जानाति ?, न कोऽपीत्यर्थः। सर्वेषामपि प्रेक्षावतां स मनुष्यमध्ये न गणनीय इति तात्पर्यम्। कीदृशं तम् ?, अविवेकितया स्पष्टं प्रत्यक्षं पशुम् । कीदृशं पशुम् ?,शृङ्गपुच्छाभ्यां रहितं, शृङ्गपुच्छाभावमात्रेण तस्य पशोर्वैधर्म्यं , नान्यदित्यर्थः । व्यतिरेकालङ्कारगर्भोऽयमाक्षेपः । प्रति० । (' असुरकुमार' शब्दे प्रथमभागे ८५२ पृष्ठे, ' चमर ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १११२ पृष्ठे च तत्कृतवन्दनकपाठ उक्तः) अत्र लुम्पकः-" अरहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा " इति पदद्वयस्याऽर्थः, " समणं वा माहणं वा " इति पदद्वयस्यैव । अन्यथा-" तं महादुक्खं खलु"इत्यादौ अर्हतां भगवतामनगाराणां च भगवत्याशातनया महादुःखमत्रेत्याशातनाद्वयस्यैवोपनयादुपक्रमोपसंहारविरोधापत्तेरित्याह। तत्तुच्छम्। उक्तपदद्वयस्योपक्रमे एकार्थत्वे,उपसंहारेऽपि तव गले पादिकया पदद्वयपाठप्रसङ्गात् , अन्यथा शैलीभङ्गदोषस्य वज्रलेपतानुपपत्तेः। कस्तर्हि विरोधपरिहारोपाय इति चेत्,आकर्णय कर्णामृतं सकर्णानाम्,अकर्णो मा भूः। उपक्रमे त्रयाणां शरणीकरणीयत्वे तुल्यत्वे विवक्षासु प्रकृतिवज्रस्य शक्रस्योपहारे वाऽर्हच्चैत्याशातनया अर्हदाशातनायामेवान्तर्भावाद् विवक्षितानां त्रयस्त्रिंशत एव परिगणनादविरोध इति । यद्यपि भावार्हता भावसाधूनां च ग्रहणान्मध्ये चैत्यग्रहणमयुक्तमिति कल्पते, तदपि सिद्धान्तापरिज्ञानविजृम्भितं, छद्मस्थकालिकस्य भगवतो द्रव्यार्हत एवासुरकुमारराजेन शरणीकरणात्, द्रव्यार्हतः शरणीकरणे स्थापनार्हत शरणकरणस्य न्यायप्राप्तत्वात्, चैत्यशरणीकरणीयत्वे स्वस्थानादौ त-

त्सत्वान्महावीरः शरणमस्त्विति प्रयोजनं स्यादित्युत्फुल्लकण्ठव-चनं तु महाविदेहे भावार्हतामपि सत्त्वाज्ञानतिक्रम्य द्रव्यार्हच्छ-रणीकरणं कथमित्याशङ्कयैव निर्लाञ्छनीयम्, एतेनात्र चैत्यश-ब्दस्य ज्ञानमर्थं इति मूढकल्पितार्थोऽपि निरस्तः। द्रव्यार्हतः केवलज्ञानाभावात्, अर्हतः पृथक् तद्ज्ञानस्य ग्रहे साधुभ्यः पृथगपि तद्ग्रहापत्तेः। तथा च-" अरिहंते वा अरिहंतचेइ-आणि वा भावियप्पणो अणगारे अणगारचेइआणि वा " इति पाठापत्तेरिति न किञ्चिदेतत्, उपसंहारे चैत्यपदविस्मृतेः। सम्भ्रमाद् न्यूनत्वं न दोषः। 'मा मा स्पृश' इत्यादिनाऽलङ्कारानु-यायिनं महावीरस्यैवाशातनाया उत्कटकोटिकसंशयरूपसंभा-वनामभिप्रेत्याशातनाद्वयस्यैव समावेशतात्पर्यं अदोष इत्यन्ये।

अथानाशातनाविनयेन देवैर्वन्दिता भगवन्मूर्त्तिः कस्य सचेतसो न वन्द्येत्याशयेनाह-

मूर्त्तीनां त्रिदशैस्तया भगवतां सक्थां सदाशातना-
त्यागो यत्र विधीयते जगति सा ख्याता सुधर्मा सभा ।
इत्यन्वर्थविचारणाऽपि हरते निद्रां दृशोर्दुर्नय-
ध्वान्तच्छेदरविप्रभा जमधियं घूकं विना कस्य न ? ।१०।

(मूर्त्तीनामिति) यत्र मूर्त्तीनां सदाशातनात्यागो विधीयते सा स-भा सुधर्मेति ख्यातेत्यन्वर्थविचारणाऽपि सुधर्मापदव्युत्पत्ति-भावनाऽपि जडधियं लुम्पकं घूकमुलूकं विना कस्य दृशोर्निद्रां न हरते ?, अपि तु सर्वस्यैव दृशोर्निद्रां हरत इत्यर्थः। कीदृशी ?, दुर्नया एव ध्वान्तानि, तेषां छेदे रविप्रभा तरणिकान्तिः, रविस-दृशीति न तु व्याख्येय, तत्सदृशात् तत्कार्यानुपपत्तेः। अत्र विनो-क्तिरूपककाव्यलिङ्गान्यलङ्काराः। (प्रति०) ('अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे सभायां इन्द्रा मैथुनं कर्तुं न शक्नुवन्ति, स्त-म्भितजिनशक्तिप्रभावादित्युक्तं दशमशते पञ्चमोद्देशके) एवं षष्ठे सूर्याभातिदेशेन शक्रसुधर्माधिकारोऽपि प्रतिमापूजाप्रतिपादनाद् भावनीयः। तथा हि-"कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवर-णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स० दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढ० एवं जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव पंचवडिंसया पण्णत्ता । तं जहा-असोगवडिंसए० जाव मज्झे सोहम्मवडिंसए, महाविमाणे अद्धतेरसजोयणसयसह-स्साइं आयामविक्खंभेणं, एवं जहा सूरियाभे तहेव उववाओ। सक्कसिद्धायतणं पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुप्पविसइ, जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणपडिमाए आलोए पणामं करेइ, लोमहत्थगं गिण्हइ, जिणपडिमं लोमहत्थ-एणं पमज्जइ, जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं न्हाइ सि० जाव आयरक्खत्ति।" अत्र निकाया. परो ग्रन्थस्तु बद्धाख्यो याव-दारक्षकाः। स चैव लेशतः-"तते णं से सक्के देविंदे देवराया सभं सुहम्मं अणुपविसइ, सीहासणे पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, तते णं सक्कस्स देविंदस्स देवरायस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुर-च्छिमेणं चोरासीसामाणिअसाहस्सीओ णिसीयंति, पुरच्छि-मेणं अग्गमहिसीओ, दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भिंतरिआए परि-साए बारसदेवसाहस्सीओ णिसीअंति, दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए चोद्दस देवसाहस्सीओ, दाहिणपच्चत्थिमेणं बा-हिरियाए परिसाए सोलसदेवसाहस्सीओ णिसीयंति । " इत्यादि । (प्रति०)

अथ सूर्याभाधिकारेण प्रतिमारीणां शासनार्थं स्तेनानां कान्दिशीकतां प्रदर्शयंस्ता अभिनौति-

प्राक् पश्चाच्च हितार्थितां हृदि विदन् तैस्तैरुपायैर्यथा,
मूर्तीः पूजितवान् मुदा भगवतां सूर्याभनामाऽसुरः ।
याति प्रच्युतवर्णकर्णकुहरे, तत्तत्रपुत्वं नृप-
प्रश्नोपाङ्गसमर्थिता हतधियां व्यक्ता तथा पद्धतिः ॥११॥

" प्रागित्यादि "। प्रागादौ, पश्चाच्चोत्तर, तद्भावभवान्तरस-म्बन्धिन्यामायत्यां हितार्थितां श्रेयोऽभिलाषितां, हृदि स्वान्ते, विद-न् जानन्, तैस्तैर्वक्ष्यमाणैरुपायैर्भक्तिसाधनप्रकारैः, यथा सूर्या-भनामाऽसुरः भगवतां मूर्तीः पूजितवान्, तथा व्यक्ता प्रकटा, नृपप्रश्नोपाङ्गे राजप्रश्नीयोपाङ्गे, समर्थिता सहेतुकं निर्णीता, पद्धतिः प्रक्रिया, हतधियां मूलोच्छिन्नबुद्धीनां, लुम्पकमतिवा-सितानां, प्रच्युतवर्णे प्रच्युतो वर्णो यस्मात्तादृशे, निरक्षरे इ-त्यर्थः। तेनाक्षरशक्तिप्रतिबन्धभावादतिदाहसम्भवो व्यज्यते। कर्णकुहरे श्रोत्रबिले, नात्र संस्कृतत्वं व्यज्यते। तत्तत्रपुत्वं याति। तान्यक्षराणि दुर्मतिकर्णे तत्तत्रपुवत्स्वगतदोषादेव दाहं ज-नयन्तीत्यर्थः । आह च-"गुरुवचनममलमपि खलद्रुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्येति "। अत्र तत्तत्रपुत्वं यातीति निद-र्शना,"अभवद्वस्तुसम्बन्ध उपमां परिकल्पयन्। निदर्शनेति" मम्म-टवचनात्। असम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिरित्यपरे। (उक्तार्थे आलापकस्तु 'सूरियाभ' शब्दे वक्ष्यमाणचरितादवसेयः) प्रति०। रा०।

नन्वत्र प्राक् पश्चाच्च हितार्थिता देवभवापेक्षयैव पर्यव-स्यति, तथा चैहिकाभ्युदयमात्रं प्रतिमापूजनादिफलं सूर्याभस्य न मोक्षार्थिनामादरणीयं, देवस्थितेर्दे-वानामेवाश्रयणीयत्वादित्याशङ्क्य तन्निराक-रणपूर्वं तादृशं कारणमाविष्कुर्वन्नाह-

नात्र प्रेत्य हितार्थितोच्यत इति व्यक्ता जिनार्चा स्थितिः,
देवानां न तु धर्महेतुरिति ये पूत्कुर्वते दुर्धियः ॥
प्राक् पश्चादिव रम्यतां परभवश्रेयोऽर्पितासंगतां,
प्राक्पश्चाच्च हितार्थितां श्रुतमतां पश्यन्त्यहो ते न किम् ? ।१२।

(नात्रेति) नात्राधिकृते सूर्याभकृत्ये प्रेत्य हितार्थितोच्यते। "एय मे पेच्चाहिआए" इत्यादिवचनात्। " पच्छा पुरा हिआ-ए " इति वचनं स्तवचनकर्षणस्थलेऽप्युक्तत्वादिति जिनार्चा व्यक्ता प्रकटा, देवानां स्थितिः स्थितिमात्रं, न तु धर्मसाधनम् इति दुर्धियो दुष्टबुद्धयः पूत्कुर्वते शिरसि रजः क्षिपन्त इव बाढं प्रलपन्ति, ते श्रुतमतां प्राक् पश्चाद्रम्यतामिव प्राक् पश्चाच्च हितार्थितां परभवश्रेयोऽर्थितायां सङ्गतां सहिताम्, उभयलोकार्थितापरिणामीत्यर्थः। किं न पश्यन्ति ?, तथाऽद-र्शने तेषां महाप्रमाद इत्यर्थः। प्राक्पश्चाद्रम्यतावचनं चेद राजप्रश्नीये-" तए णं केसीकुमारसमणे पएसिं-एवं वयासी-मा णं तुमं पएसी पुव्वं रमणिज्जे पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जा-सि " (इत्यादि 'पएसी' शब्दे केशीकुमारसंवादे स्फुटीभविष्य-ति) प्रति०। रा०। अत्र यदेव भावजिनवन्दने फलं तदेव जिनप्रतिमावन्दनेऽप्युक्तम्। न चैतत्सूर्याभदेवस्य सामानिकदे-ववचनं न सम्यग् भविष्यति इत्याशङ्कनीयम्, सम्यग्दृशां देवा-नामप्युत्सूत्रभाषित्वाऽसम्भवात्, तर्हि क्वाऽप्यागमे-" किं पुव्विं

करणिज्जं " इत्यादिके सम्यग्दृष्टिना पृष्टोऽप्यैहिकसुखमात्रनिमित्तं भगवन्दनादिकं " हिआए सुहाए " इत्यादिरूपेण केनाऽपि प्रत्युत्तरविषयीकृतं दृष्टम् । श्रुते चाऽपि वन्दनाधिकारेऽपि क्वचित् " पेच्चा हियाए " इत्याद्येवोक्तम । क्वचित्तु-" एअं णं इह भवे वा आणुगामियत्ताए भविस्सइ " त्ति नोक्तपाठवैषम्यकदर्थनाऽपि । किं च-" पच्छा कडुआ विवागा " इत्यत्र यथा पश्चाच्छब्दस्य परभवविषयत्वं तथा प्रकृतेऽपीति किं न विभावयसि? । एवम्-" जस्स नत्थि पुरा मज्झे, तस्स कओसिया " इत्यत्राऽपि पुरा पश्चादिति वाक्यस्य त्रिकालविषयत्वं व्यक्तमिति प्रकृतेऽपि तद् योजनीयम ॥ १२ ॥

स्थितिविषयाशङ्कामेव समानधर्मदर्शनेन
उपसंहरन्नाह—

वाप्यादेरिव पूजना द्विविधदां मूर्तेर्जिनानां स्थितिः,
सादृश्यादिति ये वदन्ति कुधियः पश्यन्ति भेदं तु न ।
एकत्वं यदि ते वदन्ति निजयोः स्त्रीत्वेन जायाऽम्बयो-
स्तत्को वा यततामसंवृततरं वक्त्रं पिधातुं बुधः ? ॥ १३॥

(वाप्यादेरिति) वाप्यादेर्नन्दापुष्करिण्यादेरिव, आदिशब्दतो महेन्द्रध्वजतोरणसभाशालभञ्जिकादिपरिग्रहः । द्विविधदां देवानां, जिनानां मूर्ते पूजना, स्थिति स्थितिमात्र, सादृश्यात् अर्चनशब्दाभिधानसाम्यादिति ये कुधिय कुत्सितबुद्धयो, वदन्ति, भेदं तु वक्ष्यमाण न पश्यन्ति, ते यदि स्त्रीत्वेन स्त्रीलिङ्गमात्रेण निजयोः स्वकीययोर्जायाम्बयोः कान्ताजनन्योर्वदन्ति एकत्व, तर्हि को वा को नाम, वक्त्रं मुखमनर्थोत्सदीयम्, असंवृततरम् अतिशयेनोद्घाटं,बुध• पण्डित , पिधातुमाच्छादयितु, यततां पराक्रमताम्,अशक्ये॰र्थे पण्डितस्य प्रवृत्तिकरणायोगात, न कोऽपि यततामिति भाव. । प्रतिवस्तूपमया दुरान्तरेऽपि यत्किञ्चित्साम्येन ग्राम्यतामुपहासो व्यज्यते ।

तदुक्तम्-
" काके कार्ष्ण्यमलौकिकं, धवलिमा हंसे निसर्गस्थितो ,
गाम्भीर्ये महदन्तरं, वचसि यो भेद स किं कथ्यते ? ॥
एतावत्सु विशेषणेष्वपि पुनर्यैरेवमालोक्यते ,
के काका. सखि! के च हंसशिशवो देशाय तस्मै नमः " ॥ १३ ॥

भेदहेतुनैवोपदर्शयस्तददर्शिनमाक्षिपन्नाह-

सद्धर्मव्यवसायपूर्वकतया शक्रस्तवप्रक्रिया-
भावप्राञ्जितहृद्यपद्यरचनाऽऽलोकप्रणामैरपि ।
ईक्षन्तेऽतिशयं न चेद्भगवतां मूर्त्यर्चने स्वःसदां ,
वाचास्तत्पथि लौकिकेऽपि शपथप्रत्यायनीया न किम् ? ॥ १४ ॥

(सद्धर्मेत्यादि) सद्धर्मव्यवसायपूर्वकत्वमेक जिनप्रतिमाऽर्चनस्यानुषङ्गिकत्वाद्यर्चनतो भेदक,व्यवसायनतासभवे क्षयोपशमादिहेतुत्वात्तज्जिनशासने नासिद्धम् । तदुक्तम्-" उदयक्खओवसमिओ,ववसाय च कम्मुणा भणिया । दव्वं खित्तं कालं,भावं च भवं च सपप्प " ॥ १ ॥ इति जीवाभिगमवृत्तौ विजयदेवाधिकारे प्रकृतस्थले विवृतमास्ते, तदालापकश्च प्रकृतालापकादाविशिष्ट इति न पृथग् लिखितः । अत्र पापिष्ठा.-ननु " धम्मियं ववसाय गिण्हइ "

इत्यत्र धार्मिको व्यवसाय. कुलस्थितिरूपधर्मविषय एव युक्तोऽत एव पुस्तके धर्म्यं शास्त्रमित्यत्रापि धर्मशब्दार्थ. कुलस्थितिधर्म एवा मुख्यव्यवसायस्तु देवानामसम्भव्येव ।"तिविहे ववसाए पण्णत्ते-धम्मिए ववसाए, अधम्मिए ववसाए, धम्माधम्मिए ववसाए " इति तृतीये स्थानके व्यवसायिनां धार्मिकाधार्मिकधार्मिकाधार्मिकाणां संयतासंयतसंयतासंयतलक्षणानां सन्निधत्वाङ्गेदेनोच्यमानास्त्रिधा भवन्तीति व्याख्यानाच्चारित्रिणामेव धार्मिकव्यवसायसम्भवादिति प्राह । स प्रष्टव्य.-अरे दुष्ट ! किमेवं देशसंयतानां सामायिकाद्यध्यवसायोऽपि न धार्मिकाध्यवसाय इति स्थापयितुमुद्यतोऽसि तर्हि विषयभेदात् त्रैविध्य व्याख्यास्यामोऽत एव संयमासंयमदेशसंयमलक्षणभेदाद्वेति पक्षान्तरेण वृत्तौ व्याख्यातमिति चेत्, एतदपि नैगमनयाभिनपरिभाषाविशेषेणैव युज्यते, अन्यथाऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वाध्यवसाय कुत्रान्तर्भवेदिति नेत्रे निमील्य विचारयन्तु देवानां प्रियाः। एकान्ताविरतादविरतसम्यग्दृष्टेर्विलक्षणत्वात,तद्व्यवसायः कदाचिदपेक्षया तृतीयेऽन्तर्भावयिष्यत इति चेत्तर्ह्येकान्तेन त्रैराशिकमतप्रवेशापत्तिभिया एकत्रयस्य एकद्वय एवान्तर्भावविवक्षया जिनपूजादिसम्यग्दृष्टिदेवकृत्य धर्म एवेति वदतां का बाधा ?। अन्यथा त्वया देवानां जिनवन्दनापि कथं वक्तव्य स्यात् ?। सर्वविरत्यादिबोगक्षेमप्रयोजकान् व्यापारानेव धर्मादिशब्दवाच्यान् स्वीकुर्म इति चेत्। न ।यदेनमेवं परिभाषन्ताम्,अनुगतो धर्मव्यवहारस्तु पुष्टिशुद्धिमच्चित्तानुगतक्रिये चतुर्थगुणस्थानक्रियाऽनुरोधाद्दर्शनाचाररूपत्वाद्दर्शनव्यवसायात्मक जिनार्चादि सिद्धान्ते चोक्तम्। तदुक्तं स्थानाङ्गे-"सामाइयववसाए तिविहे पण्णत्ते । त जहा-णाणववसाए , दंसणववसाए, चरित्तववसाए त्ति " ॥ द्वितीयभेदस्त्वं शक्रस्तवप्रक्रियाप्रसिद्धप्रणिपातदण्डकपाठ' । न हि वाप्यादिकं पूजयता वाप्यादे. पुरत शक्रस्तव. पठितोऽस्ति. किन्त्वर्हत्प्रतिमानां सकलसपक्षावाञ्छितस्थितिमात्रत्वेऽभ्यवाप्यपठिष्यत। न च तारणत्वं तारकत्वमित्यादयो भावजिनप्रतिमातोऽन्यत्राजिनेतु शक्यते , न च जिनयात्रादिव्यापार विना शान्तरसास्वाद इति यत्र यदुचित तत्रैव तत्प्रयोज्य सहृदयै. । तथा भावै. पापनिवेदनप्रणिधानाद्यैर्भ्राजितानि यानि हृद्यानि पद्यान्यष्टोत्तरशतसङ्ख्यानि,तेषां स्वनामप्रतिमानां पुरस्तादपि तृतीयं भेदकं प्रावस्तुतिमङ्गलानां महोदयहेतुत्वेन सूत्रेऽभिधानात्तस्य धर्माक्षेपकत्वात् नहि वाप्यादेरग्रे कृतम् । तथा चतुर्थभेदकम्-आलोकप्रणाम , यत्र जिनप्रतिमास्तत्र " आलोए पणामं करेइ " इति पाठोऽन्यत्र तु नेति विनयविशेषोऽपि धर्माक्षेपक'। एव तैरपि, स्वःसदां देवानां,'भगवतां मूर्त्यर्चने इति । चेद यदि, अतिशय विशेष नेक्षन्ते तर्हि वाचा विशेषदर्शनहेतुशक्तिविकला लुम्पका , लौकिकेऽपि पथि भोजनादौ,शपथेन-कोशपानादिना, प्रत्यायनीया विश्वासनीया.किं न भवन्ति ?, अपि तु तथैव भवन्ति । कामिनीकरकमलोपरि स्थितेन्न सिप्यानीते वा भोजने किमिद पुरीषमन्न वेति संशयात्तेन विरमेयुरित्यर्थ । न चाय वस्तुनोऽपराध , किं तु पुरुषस्य, नहाय स्थाणोरऽपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति । कियदेषां महामोहदैशेषुप्रवर्तितनाट्यविकृत्वितवर्णनीयमिति दिक् ॥ १४ ॥

अथ स्थितिमभ्युपगम्याप्याह-

जन्योऽन्यग्गबोधिरल्पभवनाक् सद्दृष्टिराराधको ,
यश्चोक्तश्चरमोऽर्हता स्थितिरहो सूर्याभनाम्नोऽस्य या ।

सा कल्पस्थितिवन्न धर्म्मपरतामन्वेति भावान्वयान् ,
मा कार्षुर्भ्रममत्र केऽपि पिशुनैः शब्दान्तरैर्वञ्चिताः ॥ १५ ॥

(भव्य इत्यादि) भव्यो भवसिद्धिकः, अभ्यग्रगबोधिः समीपगतबोधिः, सुलभबोधिक इति यावत् । अल्पभवं व्रजतीत्यल्पभवभाक् , परिमितसंसारिक इत्यर्थः । सती समीचीना दृष्टिर्यस्याऽसौ सद्दृष्टिः,सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः । आराधको ज्ञानाद्याराधनकर्ता, च पुनर्यः चरमोऽपश्चिमभवोऽर्हता महावीरेणोक्तः, अहो ! इत्याश्चर्ये,अस्य सूर्याभनाम्नो देवस्य या स्थितिः, सा कल्पस्थितिवन्न धर्मपरतां न धर्मव्यवहारविषयतामन्वेति अतिक्रामति । कस्माद् ? भावान्वयात् शुभभावसंबन्धात् । अत्राधिकृते पिशुनैर्नीचैः शब्दान्तरैः स्थित्यादिशब्दैर्वञ्चिता व्यामोहं प्रापिता भ्रमं मा कार्षुः, न धर्मोऽयं किं तु स्थितिरित्यादिभ्रमभाजो मा भूवन्नित्यर्थः । सूर्याभस्य भव्यत्वादिनिश्चायक आलापको यथा-" अह णं भंते ! सूरियाभदेवे किं भवसिद्धिए, अभवसिद्धिए, सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, परित्तससारिए, अणंतससारिए, सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए, आराहए, विराहए, चरमे, अचरमे ? । समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वयासी-सूरियाभा ! तुमं णं भवसिद्धिए णो अभवसिद्धिए० जाव चरमे णो अचरमे त्ति । " (भवसिद्धिए त्ति) भवे सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिक इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽभवसिद्धिकोऽभव्य इत्यर्थः । भव्योऽपि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति, कश्चित्सम्यग्दृष्टिस्तत आत्मनः सम्यग्दृष्टित्वनिश्चयार्थं पृच्छति । सम्यग्दृष्टिरपि कश्चित् परिमितससारो भवति, कश्चिदपरिमितससारः । उपशमश्रेणिशिरःप्राप्तानामपि केषाञ्चिदनन्तसंसारभावादतः पृच्छति-परिमितसंसारिको वाऽनन्तससारिको वाऽनन्तससारभावात् । परिमितः स चासौ संसारः परिमितससारः, सोऽस्यातीति परिमितसंसारिकः , "अतोऽनेकस्वरात् । ७ । २ । ६ । इतीकप्रत्ययः । एवमनन्तश्चासौ संसारश्चानन्तससारः, सोऽस्यास्तीत्यनन्तससारिकः । परिमितससारिकोऽपि कश्चित् सुलभबोधिको भवति । यथा-शालिभद्रादिकः । कश्चिद् दुर्लभबोधिकः । यथा-पुरोहितपुत्रजीवोऽतः पृच्छति । सुलभा बोधिर्भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः एवं दुर्लभबोधिकः । सुलभबोधिकोऽपि कश्चिद्बोधिं लब्ध्वा विराधयति ततः पृच्छति । आराधयति सम्यक् पालयति विधिमित्याराधकः , इतरो विराधकः । आराधकोऽपि कश्चित्तद्भवमोक्षगामी न भवति, ततः पृच्छति । चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्याऽसौ चरमः, " अभ्रादिभ्यः " । ७ । २ । ४६ । इति च मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । तद्विपरीतोऽचरमः । एवमुक्ते सूर्याभदेवे श्रमणो भगवान्महावीरः सूर्याभं देवमेवमवादीत्-भो सूर्याभ ! त्वं भवसिद्धिकः यावच्चरम इति वृत्तिः । कल्पस्थितिसूत्राणि च-" छव्विहे कप्पट्ठिई पण्णत्ता । तं जहा-सामाइअसंजयकप्पट्ठिई , असजयकप्पट्ठिई, छेओवट्ठावणियसजयकप्पट्ठिई, णिव्विसमाणकप्पट्ठिई, णिव्विट्ठकाइअसंजयकप्पट्ठिई,जिणकप्पट्ठिई थेरे कप्पट्ठिई" इत्यादीनि तस्मादर्हत्प्रतिमार्चनं सूर्याभादीना स्थितिरित्युच्यमानेऽपि सम्यग्दृष्टिस्थितित्वेन धर्मत्वमव्याहतमिति निर्व्यूढम् । यत्तु सूर्याभस्य तावत्सम्यग्दृष्टित्वं निश्चितं,परमष्टाह्निकादौ बहवो देवा जिनार्चनाद्युत्सवं कुर्वन्तीति जीवाभिगमेऽपि प्रसिद्धम्,तत्र च मिथ्यादृक्परिग्रहार्थं बहुशब्द इति सर्वदेवकृत्यत्वेन तत्स्थितिरिति चेत् । मैवम् । तत्रैकैकविमानस्थसख्यातासख्यातसम्यग्दृश एव जिनप्रतिमापूजादिपरायणा इति ज्ञापनार्थं बहुशब्दप्रयोगसाफल्यात् । अन्यथा-"सव्वेसिं देवाणं" इत्यादिपाठप्रसंगात् । अधिकृतजीवाभिगमसूत्रं चेदम्-"तत्थ देसे उत्तरिल्ले अञ्जणपव्वए तस्स णं चोदिसिं चत्तारि णंदापोक्खरिणीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विजया विजयंती,जयंती,अपराजिआ, सेसं तहेव० जाव सिद्धायतणा सव्वा चेइयघरवण्णणा णेयव्वा । तत्थ णं बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिया देवा चाउम्मासियपडिवएसु य संवच्छरेसु य अण्णेसु बहुसु जिणजम्मणणिक्खमणणाणुप्पायपरिनिव्वाणमाइएसु देवकज्जेसु देवसमुदएसु देवसमितीसु अ देवसमवाएसु अ देवपओअणेसु एगतओ साहिया समुवागया समाणा पमुइयपक्कीलिया अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेमाणा सुहं सुहेणं विहरंतीति चेइयघरवण्णणा ' इत्यत्र चैत्यगृहं जिनप्रतिमागृहमेव द्रष्टव्यम्, अर्हत्साधोस्तत्रासंभवादित्यपि लुम्पकस्यैव शिरसि प्रहारः । यद्यप्यभव्यानां चारित्राद्यनुष्ठानमिव मिथ्यादृशामपि जिनप्रतिमापूजादिकं संभवति, तथापि बहूना देवाना देवीनां चार्चनीया वन्दनीयाः पूजनीया इत्यादिप्रकारेण जिनप्रतिमावर्णनं मिथ्यादृगपेक्षया न युज्यते, नियमेन सम्यग्धर्मबुध्या जिनप्रतिमापूजावन्दनादेर्मिथ्यादृगदृष्टेर्बहिर्भूतत्वात्, मातृस्थानादिं विना मिथ्यात्वलेशस्याऽप्ययोगात्, चक्रिणां देशसाधनार्थं पौषधस्यैवैहिकफलस्याप्यश्रवणात्, विघ्नविनायकाद्युपशमस्य तेषां स्वतः सिद्धत्वात्, अन्यथा मिथ्यादृग्देवाना पुर इव यागभागादिवर्णनप्रसङ्गादिति दिक् । ननु यदा विमानाधिपतित्वेन मिथ्यादृष्टिरेव देवतयोत्पद्यते, तदाऽऽत्मीयबुद्ध्या जिनप्रतिमां पूजयति, देवस्थितौ च शक्रस्तवं पठति, आशातनां च त्याजयति, तत्प्रकृतेऽपि स्यादिति चेत् । मैवम् । मिथ्यादृशा विमानाधिपतित्वेनोत्पादासंभवाद्, विमानाधिपतिः मिथ्यादृगपि स्यादित्यादिवचनस्य क्वाप्यागमेऽनुपलम्भात्, ये च ज्योतिष्केन्द्राश्चन्द्रसूर्या अप्यसख्यातास्तेऽपि सम्यग्दृष्टय एव स्युरिति । ॥ १५ ॥ प्रति० । (वैमानिकानां सम्यग्दृष्टित्वचिन्ताऽन्यत्र)

(७) नन्वधार्मिका एव देवा उच्यन्ते, तत्कृत्यं न प्रमाणमित्याशङ्कां निराचिकीर्षुराह-

सद्भक्त्यादिगुणान्वितानपि सुरान् सम्यग्दृशो ये ध्रुवं,
मन्यन्ते स्म विधर्मणो गुरुकुलभ्रष्टा जिनार्चाद्विषः ।
देवाशातनयाऽनया जिनमताद् मातङ्गवल्लेभिरे,
स्थानाङ्गप्रतिषिद्धया विहितया ते सर्वतो बाह्यताम् ॥ १६ ॥

(सद्भक्त्यादीनि) सतां चातुर्वर्णीयस्थितानां भक्तिर्बहुमानप्रतिपत्त्यादिर्येषां बहुमानवैयावृत्त्यादीना ते च ते गुणाश्च,तैरन्वितान् संयुतान् सम्यग्दृशः सुरानपि ये गुरुकुलाद्भ्रष्टास्त्यक्तगुरुकुलवासा यथाच्छन्दा यथाच्छन्दविहारिणो जिनार्चाद्विषो जिनप्रतिमापूजादौ धृतद्वेषा , लुम्पाकाः श्वपाका ,विधर्माणं विगतो धर्मो येभ्यस्ते विधर्माणः ,तादृशान् मन्यन्ते स्म,तेऽनयाऽवर्णवादरूपयाऽऽशातनया स्थानाङ्गप्रतिषिद्धयाऽकर्तव्यत्वेनोक्तया,विहितया प्रमद्यकृतया, मातङ्गवच्चाण्डालवत्, सर्वतः सर्वस्माद् बाह्यतां लेभिरे । अनया तैः कर्मचाण्डालत्वं प्राप्तमिति व्यङ्ग्यप्रतीतेः पर्यायोक्तम्, 'व्यङ्ग्यस्योक्तिः पर्यायोक्तं' इति हैमवचनात् । देवाशातनयेत्यनन्तरमिवशब्दोल्लेखे तेषां सर्वतो बाह्यतायां हेतोरुत्प्रेक्षणाद् गम्योत्प्रे-

क्का नेति ध्येयम्। प्रति०।("अवन्नवाय" शब्दे प्रथमभागे ७६२ पृष्ठे सर्वेषामवर्ण उक्त) देववर्णवादो यथा—" देवाण अहो सीलं, विसयविसविमोहिआ वि जिणभवणे। अच्छरसाहिं पि समं, हासाई जेण न करिति ॥ १ ॥" इति। स्था०४ ठा०। "वृत्तौ सविशेषण" इत्यादिन्यायात्प्रागुभवनीयतपस्संयमयोरेव देववर्णनविधौ तात्पर्यमिति निरस्तम्, एकविधेरन्यत. सिद्धत्वेन चमरेन्द्रेशानेन्द्रादावतिप्रसङ्गेन च विशिष्टविधावेव तात्पर्यात् तस्माद् येऽधार्मिका देवा इति वदन्ति,तैस्तदवर्णवादस्य मूलत उपहसितत्वात् स्वकरेण स्वशिरसि रज. क्षिप्यते इति ज्ञेयम्। अत एव सत्यस्यासत्यत्वे निष्ठुरभाषाभयाद्योऽसयतत्वमागमे तेषां परिभाषितं, नो धर्मेण इति तु कुमतिग्रस्तैः पूत्क्रियमाणं न क्वापि श्रूयते, धर्मसामान्याभावप्रसङ्गेन तथा वक्तुमशक्यत्वात्। उपपादितं चैतन्महता प्रबन्धेन "धर्मपरीक्षायाम" इत्यस्माभिरुपरम्यते ॥ १६ ॥

अथ देवेषु धर्मस्थापकान् गुणानेव दर्शयन् परानाक्षिपति-

शक्रेऽवग्रहदातृता भ्रतभृतां निष्पापवाग्भाषिता,
सच्छ्राद्धाभिलाषिता च गदिता भक्तासिसूत्रे स्फुटम् ।
इत्युच्चैरतिदेशपेशलमतिः सम्यग्दृशां स्वःसदां,
धर्मित्वप्रतिभूः खलस्खलनकृद्धर्मस्थितिं जानताम्॥ १७॥

(शक्र इत्यादि) शक्रे सौधर्मेन्द्रे भ्रतभृतां साधूनामवग्रहदातृताऽवग्रहदानगुण, तथा निष्पापवाग्भाषिता निरवद्यवाग्भाषकत्वगुण.,सतां साध्वादीनां शर्माद्यभिलाषिता अविनश्वरसुखादिकारित्वगुण.,च. समुच्चये,भक्तसिसूत्रे भगवत्यां,स्फुट प्रकट,गदिता,एते गुणा व्यक्त प्रतिपादिता इत्यर्थः। इति अमुना प्रकारेण,उच्चैरत्यर्थम्, अतिदेशेन सादृश्यग्राहकवचनेन, पेशला रमणीया मति',सम्यग्दृशां सम्यग्दृष्टीनां, स्व.सदां देवानां, तत्सधर्मिनीत्यर्थ.। धर्मस्थितिं,धर्मव्यवस्थां,जानतां सहृदयानां, धर्मित्वप्रतिभूः धर्मित्वस्थापनाया प्रद्दे तु साक्षिणी, कीदृग्?, खलस्खलनकृत दुर्जयदुर्जनप्रतिवादिपराजयकृदित्यर्थ.। अय भाव –सम्यग्दृष्टिदेवेष्वेव नवग्रहदानादयो वन्दनवैयावृत्यादयश्चोभयसिद्धा गुणा दर्शनाचारस्य धर्मत्वेन विकृतिभूता. प्रकृतिवद्विकृतिरितिन्यायेन धर्मतयाऽकामेनाप्येष्टव्या., तत्कथ तद्वत्तोऽप्यधर्मिण इति वदता जिह्वा न परिशटते?। अथ भगवद्वन्दनमेव तेषां धर्मो, नार्चादिकमिति त्वर्द्धजरतीयग्रहणे बिनाऽनन्तानुबन्धिन हठाग्रान्यत्कारणं पश्यामः। अक्षराणि चात्र–" तए ण से सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा णिसम्म हट्ठ० समण भगवं महावीर वदइ, णंमसइत्ता एव वयासी–कइविहे ण भते! उग्गहे" (इत्यादि "उग्गह" शब्दे द्वितीयभागे ६६६ पृष्ठे शक्रागमनावसरे पाठ उक्तः) ॥ १७ ॥ प्रति० ।

(८) मौनेन भगवदनुमतिः। यत्त्वननुमोद्य देवानां भक्तिकृत्य,

तेन न धर्म इति मूढाशयस्य शङ्कामंसिद्धा निराकुर्वन्नाह–

देवानां ननु भक्तिकृत्यमपि न श्लाघ्यं यतीनां यतः,
सूर्याभःकृतनृत्यदर्शनरुचिप्रश्नोऽर्हताऽनादृतः ।
हन्तेयं जड! चातुरी गुरुकुले कुत्र त्वया शिक्षिता,
सर्वत्राऽपि हि पर्षिमतैरनुमतं येनानिषिद्धं स्मृतम् ॥१८॥

(देवानामित्यादि) ननु देवानां भक्तिकृत्यमपि प्रतिमाऽर्चनादि, यतीनां न श्लाघ्य नानुमोद्य, ततश्च न धर्मो वन्दनानि, श्लाघ्यत्वात् धर्म एषा। अत एव "पोराणमेय सूरियाभ" इत्यादि प्रतिज्ञाय चतुर्विधा देवा अर्हतो भगवतो वन्दित्वा नमस्कृत्य स्वस्वनामगोत्राणि श्रावयन्तीत्येव निगमनमिति रूपस्यम्। इदमित्थमेव। यतः सूर्याभ कृतो नृत्यविधिर्नृत्यकरणप्रश्नो येन स तथाऽर्हता श्रीमहावीरेण नादृतः तन्नृत्यकरणप्रश्न नादृतवानित्यर्थ'। तथा च सूत्रम्–" तते ण से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्म सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समण भगवं महावीर वदइ, णमसइ, णमसइत्ता एव वयासी-अह ण भते! सूरियाभे देवे किं भवसिद्धिए०जाव अचरमे। तते णं से सूरियाभे देवे समणेण एव वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणदिए परमसोमणस्से समण भगव महावीर वदइ, णमसइ,णमसइत्ता एव वयासी–तुब्भे ण भंते! सव्व जाणह सव्व पासह सव्व काल जाणह पासह सव्वे भावे जाणह पासह जाणति ण देवाणुप्पिया! ताव त इच्छामि ण० जाव उवदसित्तए। तते ण समणे भगव महावीरे सूरियाभेणं देवेण एव वुत्ते समणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ। तते ण से सूरियाभे देवे समणं भगव महावीर दोच्च पि तच्च पि एवं वयासी–तुब्भे ण भंते! सव्व जाणह० जाव उवदसित्तए त्ति कट्टु समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ" इत्यादि। प्रति०। रा०। अत्रोत्तरम्–हन्त इति खेदे, इयं चातुरी त्वया गुरुकुले कुत्र शिक्षिता, यत् मौन निषेधमेव व्यञ्जयतीति, येन कारणेन सर्वत्रापि सर्वस्मिन्नपि सम्प्रदायैः पण्डितैः अनिषिद्धमनुमत स्मृतम्, अत एव स्वार्थमाहारादि निष्पादयन् गृही अप्रतिषेधानुमतिप्रसङ्गभयादेव निषिध्यते, अनिषेधस्यानुमत्याक्षेपकत्वातिप्रसङ्गादिति। सोऽनुपदमेव निराकरिष्यते ॥ १८ ॥

तूर्ष्णींभावे भवद्भिरपि किं बीज वाच्यमित्याशङ्कायामाह–

इच्छा स्वस्य न नृत्यदर्शनविधौ स्वाध्यायभङ्गः पुनः,
साधूनां त्रिदशस्य चातिशयनी भक्तिर्भवध्वंसिनी ।
तुल्यायव्ययतामिति प्रतियता तूर्ष्णीं स्थितं स्वामिना,
वाह्यस्तत्प्रतिषेधको न कल्पयेत्तद्देशजानां स्थितिम् ॥१९॥

(इच्छेति) स्वदर्शनविधौ नेच्छा, वीतरागत्वात्, साधूनां गौतमादीनां पुनर्नृत्यदर्शने स्वाध्यायभङ्ग, स चानिष्ट.। तेषां त्रिदशस्य सूर्याभस्य च भक्ति' भवध्वसिनी, नृत्यप्रदर्शने समुदायापेक्षया तुल्यायव्ययतां समानहानिवृद्धिकरत्वं,प्रतियता केवलज्ञानालोकेन कलयता स्वामिना श्रीवर्द्धमानस्वामिना तूर्ष्णीं मौनेन स्थित, प्रत्येक तु यस्य यो भावो बलवाँस्तदपेक्षया तस्य विधिर्वैवल्येवानिष्टानुबन्धस्याबलत्वात्प्रतिशेषेण तदभावाद्वा तत्माप्राज्यात्। अन्यथाऽऽहारविधेश्चादिविधायिगते' वाग्विषये तु सम्प्रदायक्रमनियामक इति तद्देशजानां स्वामिवशोत्पन्नानां स्थितिमर्यादा तां, बाह्य, शासनबहिर्भूतो,न कल्पयेन्न जानीयात्,न ह्यन्यतकुलमर्यादां तद्बहिर्वर्ती जानातीत्युक्ति ॥१९॥

वाक्क्रमवैचित्र्यमेवोपदर्शयति। बलिमिव सावद्य नानुमन्यते भगवान्–

सावद्यं व्यवहारतोऽपि भगवान् साक्षात्क्रियानादिशन्,

बल्यादि प्रतिमार्चनादि गुणकृन्मौनेन संमन्यते ।
नत्यादि श्रुसदां तदा चरणतः कर्त्तव्यमाह स्फुटं,
योगेच्छामनुगृह्य वा व्रतमतश्चित्रो विज्ञोर्वाक्क्रमः ॥२०॥

(सावद्यमिति) यत्किल बलयादि प्रतिमार्चनादि च व्यवहारतोऽपि स्थूलव्यवहारेणाऽपि सावद्य सावद्यत्वव्यपदेशविषय, तत्साक्षात् कण्ठरवेण अनादिशन् भगवान्मौनेन गुणकृत्व समन्यते,मौनाक्षिप्तविधिना तत्र प्रवर्तयतीत्यर्थः । अप्रमादसारो हि भगवदुपदेशोऽपुनर्बन्धकादौ स्वस्वौचित्येन विशेषे विश्राम्यतीति, तदाऽय चातिशयविजृम्भितम । अत एव-"सव्वे पाणा सव्वे भूया" इत्याद्युपदेशात् तदीयात् केचिच्चारित्रं केचिद्देशविरतिं केचित्केवलसम्यक्त्वं, केचिन्मद्यमांसादिविरतिं प्रतिपन्नवन्तः ते ह्यप्रमादविधिशेषीभूताद स्वस्वौचितविधानमायाप्रतिज्ञयाद्वा प्रतिसंधाय तत्तदर्थेऽप्रमादमेव पुरस्कुर्वते, तथा प्रवर्तते चेत्यर्थः। सिद्धमुपदेशपदे, श्रुसदां देवाना, नत्यादि वन्दनादि, तदा चरणत. चरणमाश्रित्य स्फुटं कर्तव्यमाह । अत एवाऽऽह-"सूर्याभोदेवानुप्रिय वन्दे" इत्याद्युक्तौ "पोराणमेयं" इत्याद्युक्तेर्भगवतां पुर एव नाट्यकरणादिपर्युपासनाया अप्युपदेश. । अन्यथा-" जाव पज्जुवासामि " इत्यस्योत्तराभावेन न्यूनतापत्ते. । न च नाममात्रश्रावणविधिः स्वतन्त्र एव,तस्य सुखदुःखान्यतरत्वाभावेन फलविधित्वाभावात्,नाऽपि साधनविधि., पर्युपासनाया एव साधनत्वात्, समन्ततया नामगोत्रश्रावणस्य साधनत्वासिद्धेः, किं तु चिकीर्षितसाधनानुकूलप्रतिज्ञाविधिशेषतया तस्योपयोगः, शेषेण आक्षेपः सुकर एवेति व्युत्पन्नानां न कश्चिदत्र व्यामोह , व्रतं चारित्रं,स्फुटं प्रकटं, प्रवृत्तयोगिन प्रत्याह-" एस देवाणुप्पिया जीतव्वं " इत्यादिना इच्छायोगिन प्रति च योगेच्छामनुगृह्य चाह-" अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह " इतीच्छानुलोमभाषयाऽऽहेत्यर्थ , वाकारो व्यवस्थायाम । एवं विभोर्भगवतो,वाक्क्रमो वचनरचनानुक्रम.,चित्रो नानाप्रकार' । मौनमपि च विनीतमभिज्ञ पुरुष प्रतीच्छानुलोमादिव्यञ्जकमेवेति तत्तात्पर्यप्रतिसंधानेनैव प्रेक्षावत्प्रवृत्ति' सुघटा । अत एव मौने स्वव्यवहारानुरोधेन कृतेऽपि पारिणामिक्या बुद्ध्या स्वकृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वाद्यनुसंधाय नाट्यकरणमारब्ध सूर्याभेण देवेन । तदुक्तं राजप्रश्नीयवृत्तौ-"तए ण" इत्यादि । तत. पारिणामिकया बुद्ध्या तत्त्वगम्यमौनमेव भगवत उचित, न पुन किमपि वक्तु, केवल मया भक्तिरात्मीयोपदर्शनीयेति प्रमोदातिशयतो जातपुलक. सन् सूर्याभदेव श्रमण भगवं महावीर वन्दते, स्तौति, नमस्यति कायेन वन्दित्वा नमस्कृत्य, "उत्तरपुरच्छिम" इत्यादि सुगममिति ॥२०॥

एकाधिकारिकतुल्यायव्ययत्वादेव भक्तिकर्मणि विभोर्मौनमुचितमिति मतं निषेधयति--

दानादाविव भक्तिकर्मणि विभुर्दोषाग्निषेधे विधौ,
मौनी स्यादिति गीर्मृषैव कुधियां दुष्टे निषेधुस्थितेः ।
अन्यत्र प्रतिबन्धतोऽनभिमतत्वयाऽननुपस्थापनात्,
प्रज्ञाप्ये विनयान्विते त्रिफलताद्वेषोदयासंभवात् ॥२१॥

(दानादाविति) दानशालादिषु आरूढस्थानेषु दीयमाने दानादाविव भक्तिकर्मणि नाट्यजिनार्चादौ विभुर्निषेधे विधौ च दोषाद्भयत पाशरज्जुस्थानी स्याद । तथाहि-दानादिनिषेधेऽन्तराय भय, तद्विधाने च प्राणिघातानुमतिरिति तत्र साधूनां मौनमेव युक्तम् ।

" जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे अ णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेअं करंति ते ॥
दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आय रहस्सें हिच्चा ण, निव्वाणं पाउणंति ते " ॥

इति सूत्रकृद्वचनात् । तथा भक्तिकर्मण्यपि निषेधे भक्तिव्याघातभय, विधौ च बहुप्राणिव्यापत्तिभयादिति मौनमेवोचितमिति भावः । इतीय गी. कुधियां कुबुद्धीनां मृषैव । कुत ?,दुष्टे दोषवति,निषेधस्थितेः निषेधव्यवस्थानात् । एतदपि कुतः ?, प्रतिबन्धतः प्रतिबन्धो व्याप्तिस्ततः। प्रतिबन्धाकारश्चायम्-यद्यत्र येन दोषवता ज्ञायते तत्तत्र तेन निषेध्यमिति निषेधार्थः। पापजनकत्वमनिष्टजन्यशोभनत्व तावत् यदि दोषवति न स्यात् तर्हि स्वप्रतिव्याघातदण्डे विपक्षबाधकतर्केण तद्ग्रहः । अथ दुष्टमशुद्धाहारदान, तच्च व्याख्यानशक्त्यभावेऽननुकूलप्रत्यनीकेन निषिद्ध्यत इति व्यभिचार , तदाह-अन्यत्र तेनानभिमतो यस्याशक्तस्यानुपस्थापनमुपलक्षापनानुकूलशक्त्यभावस्ततः। तदुक्तमाचारे सप्तमस्य द्वितीये-"ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे तक्किया णमणेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयमस्स" इत्यादि तर्कयित्वा पुरुषं,कोऽय पुरुष इत्यनन्यसदृशमाचक्षीत,विकलेनानुवाग्गुप्तिर्विधेयेत्याह-"अदुवा" इत्याद्यर्थः। तथा च-यद् दुष्ट तच्छक्तिवे निषिद्ध्यतेति नियमो लभ्यते,तेन एकान्तदुष्टस्य निर्वहेन वादिनो निषेधेऽपि वाग्गुप्तिसमाधप्रतिरोधान्न दोष.। तदुक्तं तत्रैव-"अदुवा वायाओ विउज्जति। त जहाअत्थि लोए,णत्थि लोए,धुवे लोए,अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए,सपज्जवसिए लोए,अपज्जवसिए लोए,सुकडे त्ति वा दुक्कडे त्ति वा कल्लाणे त्ति वा पावित्ति वा सार त्ति वा असार त्ति वा सिद्धि त्ति वा असिद्धि त्ति वा निरए त्ति वा अनिरए त्ति वा जमणिविप्पडिवन्ना मामग धम्मं पन्नवेमाणा एत्थ विजाए"अकस्मात् "एवं तेसिं णो सुअक्खाए णो सुपन्नत्ते धम्मे भवति।से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेणं जाणया पासया अदुवा गुत्तीए गोयमस्स त्ति बेमि। " अस्तिनास्तिध्रुवाध्रुवाद्येकान्तवादमौलिकानां त्रयाणां त्रिषष्ठ्यधिकानां प्रावादुकशतानां वादे लब्धिमतां प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपन्यासेन तत्पराजयापादनत. सम्यगुत्तर देयम् । अथवा-गुप्तिर्वागोचरस्य विधेये तदहं ब्रवीमीति फलितार्थः.। तथा प्रज्ञाप्ये प्रज्ञापनीये,विनयान्विते पुरुष इत्यपि विशेषणीयम, कुत ?, निषेधस्य विफलताया श्रोतुर्द्वेषोदयस्य चासम्भवात्। तेन जमालिना विहारकर्त्तव्यतां पृष्टो भगवांस्तद्दुष्टत्वं जानानोऽपि यन्न निषिद्धवान्, किं तु मौनमास्थितवाँस्तत् न दोषः। अविनीते हि सत्यवच प्रयोगेऽपि फलतोऽसत्य एव। तदाह-"अविणीयमाणवं तो,किलिस्सई भासई मुसं चेव। घटादोह णाउ, को कमकरणे पवत्तिज्जा॥" त्ति। तत्प्रज्ञाप्ये विनीते सूर्याभे नाट्यकर्त्तव्यतां पृच्छति भगवतो मौनमनुमतिमेव व्यञ्जयतीति स्थितम् । यस्तु भक्तिनिषेधे 'जे उ दाण' इत्यादिना प्रशंसाया अपि निषेधाद् दाननिषेध. सुतरामिति पापिष्ठेन दृष्टान्ततयोक्त',सोऽप्ययुक्त.,'जे उ दानं' इत्यादिसूत्रस्य दातृपात्रयो दशाविशेषगोचरत्वात्,अपुष्टाऽऽलम्बनगोचरत्वादिति यावत् । पुष्टालम्बन तु द्विजन्मने भगवद्वस्त्रदानवत् सुहस्तिनो रङ्कदानवत्साधूनामपि गृहिभ्योऽनुकम्पादान श्रूयते"गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा" इत्यादिना

तन्निषेधस्याप्युत्सर्गपरत्वात्। भवति हि तेन मिथ्यादृष्टेरप्यप्रमत्तसंयतगुणस्थानादिनिबन्धनाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानप्राप्तिलक्षणो गुण प्राप्तदृढतरगुणस्थैर्यार्थम्। अपि च तदनुज्ञायते- " उस्सनस्स गिहस्स व, जिणपवयणनिच्चभावियमइस्स । कीरइ ज अणवज्ज, दढसम्मत्तस्सऽवत्थासु ॥ " इत्यादिना स्वनिष्ठ तु फल ज्ञानिनां तीर्थकृत इव तथाविधौचितप्रवृत्तिहेतुशुभकर्मनिर्जरणमेव । (प्रति०)

अनिषेधात्तु संमतिमेव सदृष्टान्तमुपपादयति-

ज्ञातैः शल्यविषादिभिर्नु भरतादीनां निषिद्धा यथा,
कामा नो जिनसद्मकारणविधिर्व्यक्तं निषिद्धस्तथा ॥
तीर्थेशानुमते परानुमतेर्द्रव्यस्तवे किं ततो,
नेष्टा चेज्ज्वरिणां ततः किमु सिता माधुर्यमुन्मुञ्चति ? २२

(ज्ञातैरिति) ' नु ' इति निश्चये, शल्यविषादिभिर्ज्ञातैर्दृष्टान्तै, यथा भरतादीना कामा निषिद्धा , तथा जिनसद्मकारणविधिर्व्यक्त न निषिद्ध । श्रूयते चागमे-"थूभसयभाउआण,अट्ठासीय च जिणघरे कासी।" इत्यादिना च यदि स दुष्ट स्यात्तदा कामादेरिव निषिध्येत, न च तथा निषिद्ध, इत्यनुमत इत्येवानुमीयते। आह च-"नाए अणुमउ च्चिय अप्पमिसेहाओ न जुत्तीए त्ति।" तथा "सोमरणे वलिमाइं,भरहाईण न निवारिन तेण। जह नेसि चिय कामा, सल्लविसाईहिँ णाएहिं ॥ " तीर्थेशानुमते द्रव्यस्तवे परानुमतेर्द्वेषाननुमोदनात् किं स्यात्?, न किञ्चिदित्यर्थ । इदमेव प्रतिवस्तूपमया दृढयति-चेद्यदि ज्वरिणां सिता शर्करा,नेष्टा नाभिमता, तत किं माधुर्यं स्वभावसिद्धमधुरतागुणमुन्मुञ्चति?, नैवोन्मुञ्चति। तद्वद्भगवदनुमतस्य द्रव्यस्तवस्यान्यद्वेषमात्रेण नासुन्दरत्वमिति गतार्थ ॥ २२॥

(९) अनुमोद्यत्वमेव द्रव्यस्तवस्य सूत्रनीत्या स्थापयन् परमाक्षिपति-

साधूनां वचनं च चैत्यनमनश्लाघार्चनोद्देशतः,
कायोत्सर्गविधायकं ह्यनुमतिं द्रव्यस्तवस्याह यत् ।
तत्किं लुम्पक ! लुम्पतस्तव भयं दुःखौघहालाहल-
ज्वालाजालमये भवाहिवदने पातेन नोत्पद्यते ?॥ २३ ॥

(साधूनामित्यादि) साधूना परमार्थतश्चारित्रवतां, चैत्यनमनश्लाघार्चनोद्देशतश्चैत्यवन्दनाद्युपदेशेन, कायोत्सर्गविधायक कायोत्सर्गकरणप्रतिज्ञाप्रतिपादक, हि निश्चित, वचन द्रव्यस्तवस्य यत् अनुमतिमनुमोदनमाह, हे लुम्पक ! तद्वचन, लुम्पतस्तव भवाऽहिवदने संसारभुजङ्गवक्त्रकोटरे,पातेन कृत्वा भय नोत्पद्यते?, अयुक्तमेतत् तवेति व्यङ्ग्यम्। भवाऽहिवदने किंभूते?, दु खौघ एव हालाहल तस्य यत् ज्वालाजाल तन्मये। सूत्रे चेद स्पष्टमेव-" अरिहंतचेइआण " इत्यादि । अस्यार्थ -अर्हता भावार्हतां चैत्यानि चित्तसमाधिजनकानि प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि, तेषां वन्दनानिमित्त कायोत्सर्गं करोमीति सबन्ध । कायोत्सर्ग. स्थानमौनत्याग विनाऽऽभ्यन्तरत्यागः,न करोमि । किं निमित्तमित्याह-"वंदणवत्तियाए ' इत्यादि । वन्दनं प्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्ति , तत्प्रत्यय तन्निमित्त, यादृक् वन्दनात् पुण्य स्यात्तादृक्कायोत्सर्गादपि भवत्वित्यर्थ. । ' वत्तिआए त्ति ' आर्षत्वात्सिद्धम्, 'पूअणवत्तिआए ' पूजनं गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्चन, तत्प्रत्ययम 'सक्कारवत्तिआए' सत्कारो वस्त्राभरणादिभिस्तत्प्रत्ययम । नन्वेतौ पूजासत्कारौ द्रव्यस्तवत्वात् साधोः " छज्जीवकायसंजमो " इत्यादिवचनप्रामाण्यात्कथ नानुचितौ ?, श्रावकस्य तु साक्षात् कुर्वत' कायोत्सर्गद्वारेण तत्प्रार्थने कथ न नैरर्थक्यम् ?। उच्यते-साधोर्द्रव्यस्तवनिषेध स्वय करणमाश्रित्य न तु कारणानुमतिरप्यस्ति । यदुक्तम्-"सुव्वइ अ वयररिसिणा,कारवण पि य अणुट्ठियमिमस्स। कामगधे. सुअ गया देसणा चेव" । श्रावकस्य त्वेतौ सपादयतो भक्त्यतिशयादाधिक्यसंपादनार्थं प्रार्थयमानस्य न नैरर्थक्यम । एते भगवन्तोऽत्यादरेण वन्द्यमाना. पूज्यमाना अप्यनन्तगुणत्वात्सुवन्दितपूजिताः स्युः । अत्र दशार्णभद्रो दृष्टान्त । तदेव पूजासत्कारौ भावस्तवहेतुत्वाद्गणनीयावेवेति। "सम्माणवत्तिआए" समान' स्तवादिभिर्गुणोत्कीर्तन, तत्प्रत्ययं अद्वैतभाववन्दनाद्यम्, तत् किमर्थमित्याह-"बोहिलाभवत्तियाए त्ति" बोधिलाभ' प्रेत्य जिनधर्मप्राप्ति ,तत्प्रत्ययम्। एषोऽपि किं निमित्तम ?-"निरुवसग्गवत्तियाए त्ति" निरुपसर्गो जन्माद्युपसर्गरहितो मोक्ष.,तत्प्रत्ययम। अय च कायोत्सर्ग श्रद्धादिरहितै. क्रियमाणोऽपि नेष्टसाधक इत्यत आह-" सद्धाए " इत्यादि । श्रद्धया स्वाभिप्रायेण, न बलाभियोगादिना, 'मेधया' हेयोपादेयपरिज्ञानरूपया, न जडत्वेन मर्यादावर्तितया वा नासमञ्जसेन तद्विकल्पेन वर्द्धमानयेति प्रत्येक श्रद्धादिभिः सबध्यते । एवमेतैर्हेतुभिस्तिष्ठामि करोमि कायोत्सर्गमिति वृत्ति, द्रव्यस्तवानुमोदनादिति भाव. । इति भावस्तवस्योपचयाय कायोत्सर्गद्वारा तदाश्रयण युक्तम्, अनुमोद्यनिमित्तलोकोपचारविनयोपकर्षत्वाच्च तदत्यन्तोपयोगः दुर्गतरत्नाकररत्नलाभतुल्यत्वाद्वा यतीनां कृतप्रयत्नस्येति भावनीय सुधीभि. ॥ २३ ॥ प्रति० ।

तन्त्रयुक्त्या द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदनमस्तीत्येतदेव दर्शयन्नाह-

तंतम्मि वंदणाए, पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो ।
जतिणो वि हु णिद्दिट्ठो, ते पुण दव्वत्थयसरूवे ॥२९॥

तन्त्रे शास्त्रे, किंनामके ?, वन्दनायां चैत्यवन्दनाऽभिधाने,पूजनसत्कारहेतु पूजासत्कृतिनिमित्तम, उत्सर्ग. कायोत्सर्ग', यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि , न केवल गृहिण', हुशब्दस्तथैव, निर्दिष्टोऽभिहितस्तीर्थकरादिभि'। यतस्तत्रसूत्रम्-"अरहतचेइयाण करेमि काउस्सग्ग वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए" इत्यादि। यद्येव तदा प्रस्तुते किमायातम्?, इत्याह-(ते पुण त्ति) तौ पुन पूजनसत्कारौ, (दव्वत्थयसरुवे त्ति) प्राकृतत्वात द्रव्यस्तवस्वरूपौ द्रव्यस्तवस्वभावौ भवत'। द्रव्यस्तवस्वरूपे वा एतौ वर्त्तेते। इदमुक्त भवति द्रव्यस्तवस्वरूपपूजादिप्रत्ययकायोत्सर्गप्रतिपादनात्साधोर्द्रव्यस्तवेऽनुमोदनमनुज्ञात सूत्रे । इति गाथार्थ. ॥ २९ ॥

अथ पूजनसत्कारयोर्द्रव्यस्तवताऽभिधानायाऽऽह-

मल्लाइएहिँ पूजा, सक्कारो पवरवत्थमाईहिँ ।
अन्ने विवज्जओ इह, दुहा वि दव्वत्थओ एत्थ ॥३०॥

मालायां साधूनि माल्यानि ग्रथितकुसुमानि, तदादिभि'। आदिशब्दादग्रथितकुसुमग्रह । पूजा पूजन भवति सत्कार. सत्कृतिर्भवति,प्रवरवस्त्रादिभि प्रधानवसनप्रभृतिभि ,इह च सकार. प्रा-

कृतप्रभव. । आदिशब्दश्च कनकादिपरिग्रहार्थः । इत्येकीयं मतम् । अन्येऽपरे सूरयः, विपर्ययो व्यत्यासः, पूजा प्रवरवस्त्रादिभिः, सत्कारो माल्यादिभिरित्येवं लक्षणः । इहेति पूजासत्कारलक्षणे, इति मन्यन्ते इति वाक्यशेषः । प्रस्तुतयोजनार्थमाह-द्विधाऽपि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां, व्याख्यानद्वयेऽपीत्यर्थः। द्रव्यस्तवोऽस्ति, अत्रेति पूजासत्कारयोः। इति गाथार्थः॥३०॥

एव तावत्तन्त्रतो द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदन दर्शितमथोपपत्तितस्तदेव दर्शयन्नाह-

ओसरणे बलिमादी, ण चेह जं भगवया वि पडिसिद्धं ।
ता एस अणुण्णाओ, उचियाणं गम्मती तेण ॥ ३१ ॥

अवसरणे समवसरणे,देवसंस्कृतभगवद्व्याख्यानभूमौ, बल्याद्युपहारप्रभृति, आदिशब्दाद्गन्धमाल्यगीतवाद्यपरिग्रहः । न नैव, चशब्दो द्रव्यस्तवाऽनुमोदनस्य समर्थने कारणान्तरसमुच्चयार्थः । इहागमे,लोके वा, यद्यस्मात्कारणात् , भगवता जिनेनाऽपि । तेन हि किल तन्निरतिचारचारित्रतया निषेधनीय स्यादित्यपिशब्दार्थः । प्रतिषिद्धं निवारितम् । (ता इति) तस्मात्कारणात्, एष द्रव्यस्तवः बल्यादिविधानस्य द्रव्यस्तवत्वात्,अनुज्ञातोऽनुमतः, इति गम्यतेऽवसीयते, " अप्रतिषिद्धमनुमत " इतिवचनात्, उचितानां तद्योग्यानां गृहस्थानां, राजादीनामित्यर्थः । तेन भगवता जिनेनेति । आह च-

" राया व रायमच्चो, तस्सासइ पउरजणवओ वा वि ।
दुब्बलिखंडियबलिछडिय-तंदुलाणाढग कलमा ॥ १ ॥
भाइअपुणाणियाणं, अखंडफुडियाण फलगसरियाण ।
कीरइ बली सुरा वि हु, तत्थेव छुहंति गंधाई ॥ २ ॥ "

इत्यादि । इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अथ भवतु भगवतोऽनुमतोऽयं तदन्येषां तदनुमतिर्न युक्ता, अमुकत्वयुक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह-

ण य भगवं अणुजाणति,जोगं मुक्खविगुणं कदाचिदवि ।
ण य तयणुगुणो वि तओ,ण बहुमतो होति अणेसिं ॥३२॥

न च नैव, भगवानर्हन्, अनुजानाति अनुमन्यते, योग व्यापारम् । किंविधम् ?, मोक्षविगुणं निर्वाणाननुगुणम्, कदाचिदपि कचिदपि काले, पारमार्थिकपरोपकारकरणस्वरूपत्वाद्भगवतः । तत. किमित्याह्-न च न पुनः, तदनुगुणोऽपि मोक्षानुकूलोऽपि, मोक्षविगुण एवाऽबहुमतो भवति इति सूचनार्थोऽपिशब्दः । तको योग., न बहुमतो नानुमतो, बहुमत एव, भवति जायते, अन्येषा भगवतोऽपरेषां साधूनाम् । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

ननु भगवतोऽपि चारित्रित्वात् द्रव्यस्तवानुमतिर्न युक्तेत्याशङ्क्याह-

जो चेव भावलेसो, सो चेव य भगवतो बहुमतो उ ।
ण तओ वि णेयरेणं, ति अत्थओ सो वि एमेव ॥ ३३ ॥

य एव भावलेशो भगवद्बहुमानरूप ,द्रव्यस्तवाद्भवतीति शेष. । (सो चेव य त्ति) स एवासावेव, नेतरः । चशब्द इदमपर युक्त्यन्तरमिति सूचनार्थ.। भगवतो जिनस्य,बहुमतोऽनुमतो, मुख्यवृत्त्या भगवतस्तथास्वभावत्वात्। तु. पूरणे। केवल न नैव, तकोऽसौ भावलेशोऽपि, नेतरेण द्रव्यस्तव बिना भवति, इति हेतोः, अर्थतः सामर्थ्यात्, सोऽपि द्रव्यस्तवोऽपि , न केवल भावलेश एव । एवमेव भावलेशवदेव, बहुमत एव । इति गाथार्थ. ॥ ३३ ॥

भावलेशं बहु मन्यमानेन द्रव्यस्तवो बहुमत एवेति समर्थयन्नाह-

कज्जं इच्छंतेणं, अणंतरं कारणं पि इट्ठं तु ।
जह आहारजतित्तिं, इच्छंतेणेह आहारो ॥ ३४ ॥

कार्यं साध्यं भावलेशादिकम्, इच्छता अनुमन्यमानेन, अनन्तरमव्यवहित,न तु व्यवहितं कृष्यादिक, तथैवानुभूते. । कारणमपि हेतुरपि द्रव्यस्तवादिक. , न केवल कार्यमेवेत्यपिशब्दार्थः । इष्ट त्वभिमतमेव, कारणाविनाभूतत्वात्कार्यस्य । किमिवेत्याह्-यथा यद्वत् , आहारजतृप्तिं भोजनजनितबुभुक्षोपशमम्, इच्छता वाञ्छता, इह लोके, आहारो भोजनम्, इष्ट इति प्रक्रमः । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

अथ बल्यादौ भवत्वनुमतिर्जिनस्य, जिनभवनादौ तु सा तस्य न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह-

जिणभवणकारणाइ वि, भरहादीणं ण वारितं तेण ।
जह तेसिं चिय कामा, सल्लविसादीहिँ णाएहिं ॥३५॥

जिनभवनकारणाद्यपि अर्हद्भवनविधापनप्रभृत्तिकमपि, न केवलं समवसरणे बल्यादि, आदिशब्दाद जिनबिम्बपूजादिग्रहः। भरतादीनां भरतचक्रवर्त्तिप्रभृतीनाम्, न वारित न निषिद्धम्, तेन भगवताऽऽदिदेवेन। कथमित्याह-यथा यद्वत्, तेषामेव भरतादीनाम्,कामा. शब्दादिभोगा., शल्यविषादिभि. शल्यविषप्रभृतिभिः, ज्ञातैर्निदर्शनैः,निषिद्धा इति प्रक्रमः। ज्ञातानि पुनरेवम्-"सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा। कामे य पत्थेमाणे तु, अकामा जंति दुग्गइं" ॥ १ ॥ अयमभिप्रायः यदि जिनभवनविधापनादिकमननुमतमभविष्यद्भगवतस्तदा कामवन्निषिद्धमभविष्यत् । इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

यदि तस्तेन तेषां न वारित, ततः किमित्याह-

ता तं पि अणुमयं चिय, अप्पडिसेहाउ तंतजुत्तीए ।
इय सेसाण वि एत्थं, अणुमोयणमादि अविरुद्धं ॥३६॥

यतो जिनभवनादि न वारितं, तत्तस्मात्तदपि जिनभवनाद्यपि, अपिशब्दाद्बल्याद्यपि । अनुमतमेव बहुमतमेव, भगवतः । कुत एतदवसितमित्याह—अप्रतिषेधादनिवारणात । अथ कथम् प्रतिषेधमात्रादिदमवसितमित्याह-तन्त्रयुक्त्या शास्त्रीयोपपत्त्या,यदि तस्व तदननुमतमभविष्यत्तदा कामानामिव तन्निषेधमकरिष्यत्, न चाऽसौ कृतस्तेन, अतस्तस्य तदनुमतमित्येवं लक्षणया । यदि भगवतस्तदनुमत तदाऽन्येषां किमित्याह-इत्येव भगवन्न्यायेन, शेषाणामपि भगवतोऽपरेषामपि साधूनां, न केवल भगवत एव । अत्र जिनभवनविधापनादिद्रव्यस्तवे, अनुमोदनादिक जिनबिम्बादिदर्शनसमुल्लसितप्रमोदतस्तत्कारकोपबृंहणतश्च याऽनुमतिस्तत्प्रभृतिकम्। आदिशब्दात्तदुपबृंहणेन तत्फलदेशनेन च बिम्बादिविधापनोत्साहसपादनतस्तद्विधापनस्य परिग्रह. । अविरुद्ध सगतम्, मोक्षसाधनस्यैव, भावलेशस्य तत्र मुख्यवृत्त्योपादेयत्वादिति च प्राग् दर्शितम् । इति गाथार्थ. ॥ ३६ ॥ पञ्चा० ६ विव० । प० व० ।

तदेवम्-" जइणो वि हु दव्वत्थय-भेओ अणुमोयणेणऽत्थि " त्ति यदुक्त, तत्समर्थितम् । अथ तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह-

जं च चउद्धा भणिओ,विणओ उवयारिओ उ जो तत्थ।

सो तित्थगरे णियमा, ण होइ दव्वत्थयादण्णो ॥ ३७ ॥

यद्यस्मात्कारणात्, चशब्द उपपत्त्यन्तरसमुच्चयार्थः । चतुर्द्धा चतुर्भिः प्रकारैर्ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारलक्षणैः । भणितः साधूनां विधेयतया वर्णितो विनयसमाध्यध्ययनादौ । विनयः कर्मविनयनसमर्थोऽनुष्ठानविशेषः । (तत्थ त्ति) तत्र तेषु चतुर्षु विनयेषु मध्ये, उपचारो लोकव्यवहारः, पूजा वा, प्रयोजनमस्येत्यौपचारिको भक्तिरूपः । तुशब्दः पुनरर्थः । य इति विनयः, स इत्यसौ, तीर्थकरे अर्हद्विषये, नियमादवश्यंभावेन, न भवति न वर्तते, द्रव्यस्तवात्पूजादेः, अन्योऽपरः, द्रव्यस्तव एवासाविति भावः । तस्मात् द्रव्यस्तवानुविद्धो भावस्तव इति प्रकृतम् । औपचारिकविनयस्वरूप चेदम्-

"तित्थयरसिद्धकुलगण-संघकिरियधम्मनाणनाणीण ।
आयरियथेरुवज्झा-यगणीणं तेरस पयाणि ॥ १ ॥
अणसायणा य भत्ती, बहुमाणो तह य वण्णसंजलणा ।
तित्थयरादी तेरस, चउग्गुणा होंति बावन्ना " ॥ २ ॥
इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

यदि द्रव्यस्तवादन्यो नासौ, ततः किमित्याह-

एअस्स उ संपाडण-हेउं तह चेव वंदणाए उ ।
पूजणमाइच्चारण-मुववन्नं होइ जइणो वि ॥ ३८ ॥

एतस्य तु एतस्यैव द्रव्यस्तवरूपौपचारिकविनयस्य संपादनहेतुं संपादनार्थम्, (तह चेव त्ति) तथैव तेनैव प्रकारेण, कायोत्सर्गकरणलक्षणेन, वन्दनायां चैत्यवन्दनायाम, तुशब्दः पादपूरणे । पूजनाद्युच्चारणं पूजाप्रभृतिपदाभिधानम् । आदिशब्दात्सत्कारादिपरिग्रहः । उपपन्नं सङ्गतम्, भवति वर्तते, यतेरपि भावस्तववतोऽपि, न केवल गृहिण एव । इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

उक्तविपर्यये बाधकमुपदर्शयन् प्रकृतनिगमनायाऽऽह-

इहरा अणत्थगं तं, ण य तयणुच्चारणेण सा भणिता ।
ता अहिसंधारणओ, संपाडणमिट्ठमेयस्स ॥ ३९ ॥

इतरथाऽन्यथा द्रव्यस्तवसंपादनार्थं यदि पूजाद्युच्चारणं न भवति तदा, अनर्थकं निष्प्रयोजनम्, तत्पूजाद्युच्चारणं, पूजादीनामनिष्टत्वात् । न च निरर्थकं वाक्यमुच्चारयन्ति सन्तः, तत्त्वक्षतिप्रसङ्गात् । अथ न कुर्वन्त्येव वन्दनायां पूजासत्काराद्युच्चारणमित्याशङ्क्याह-न च नैव, तदनुच्चारणेन पूजासत्काराद्यनुच्चारणेन, सा वन्दना, भणिता अभिहिताऽऽगमे विधेयतया । (ता इति) यस्मादेवं तस्मात्, अभिसंधारणात्, कायोत्सर्गकरणद्वारेण पूजादिसंपादनाभिसंधेः । संपादनं करणम्, इष्टमभिमतम्, एतस्य द्रव्यस्तवस्य, इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

हिंसाविचारः-

किं हिंसाऽनुमतिर्न संयमवतां द्रव्यस्तवश्लाघये-
त्येतल्लुम्पकलुब्धकस्य वचनं मुग्धे मृगे वागुरा ।
हृद्याधाय सरागसंयम इव त्यक्ताऽऽश्रवांशाः स्थिता-
भावाङ्गांशमदूषणा इति पुनस्तच्छेदशस्त्रं वचः ॥ २४ ॥

(किमिति) संयमवतां चारित्रिणां, द्रव्यस्तवश्लाघया द्रव्यार्चानुमोदनया, किं न हिंसानुमतिर्भवति ?; अपि तु भवत्येव, पश्यन्तु दयारसिका इति भावः । एतद्वचनं, लुम्पकलुब्धकस्य लुम्पकमृगयोः, मुग्धे आपाततः श्रुतबाह्यधर्माचारे, मृगे, वागुरा बन्धपाशः, इति व्यस्तरूपकं मुग्धपदमनभिरूपाऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमिति । य एतद्वचनं शृणुयात् स मृगवद्बध्येदिति व्यङ्ग्यम् । इति पुनस्तस्य पाशस्य छेदशस्त्रं वचोऽस्मत्सांप्रदायिकानाम् । इतीति किम्?, इह प्रक्रान्ते द्रव्यस्तवे द्रव्यभावोभयात्मके, भाव एवाङ्गभूतो योऽशस्तं हृदि चित्ते, आधाय स्थापयित्वा, सरागसंयम इव त्यक्ता उपेक्षिता, आश्रवांशाः आश्रवभागो यैस्ते तथा, अदूषणा दोषरहिता वयं स्थिताः स्मः । अयं भावः-सरागसंयमेऽनुमोद्यमाने यथा रागो नानुमोद्यताकुक्षौ प्रविशति, तथा द्रव्यस्तवेऽनुमोद्यमाने हिंसांशोऽपि । संयमत्वेनानुमोद्यत्वे रागांशो नोपतिष्ठत एवेति, द्रव्यस्तवत्वेनानुमोद्यत्वे तु सुतरां हिंसानुमतेः स्थितिः । द्रव्यस्तवत्वशिरसाऽप्यघटकत्वात्तस्याः । इत्थमेव श्रीनेमिना गजसुकुमारस्य श्मशानप्रतिमापरिशीलनाननुज्ञाते तदर्थिना भावितच्छिरोज्वलनमनुज्ञातमित्युपपादयितु शक्यते, द्रव्यस्तवे परप्राणव्यापादनानुकूलव्यापारत्वाद्विशेष इति चेत्, तथापि द्रव्यस्तवत्व न हिंसात्वमिति न क्षतिः, वस्तुतो विहारादावतिव्याप्तिवारणाय प्रमादप्रयुक्तप्राणव्यपरोपणत्व हिंसात्व वाच्यं, न प्रकृतिरिति न दोषः । एवं सति सविशेष इत्यादिना यावत् प्रमादाप्रमादयोरेव हिंसारूपत्वात् बन्धमोक्षहेतुत्वे विशेष्यभागानुपादान स्यादिति चेत् । सत्यम् । प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा, प्रमादायोगात् प्राणव्यपरोपणमहिंसेति लक्षणयोर्व्यवहारार्थमेवाचार्यैरनुशासनाद्बन्धमोक्षहेतुतायाश्च निश्चयत प्रमादत्वाप्रमादत्वाभ्यामेव व्यवस्थिते, बाह्यहेतूत्कर्षादपि फलोत्कर्षाभिमानिना व्यवहारनयेन तु विशेष्यभागोऽप्याद्रियत इति सर्वमवदातमानम् ॥ २४ ॥

अनुपदेश्यत्वादननुमोद्यत्व द्रव्यस्तवस्येत्यत्राऽऽह-

मिश्रस्यानुपदेश्यता यदि तदा श्राद्धस्य धर्मस्तथा,
सर्वः स्यात्सदृशी तु दोषघटना सौत्रक्रमोल्लङ्घनात् ।
तत्सम्यग्विधिभक्तिपूर्वमुचितद्रव्यस्तवस्थापने,
विघ्नो नापरमत्र लुम्पकमुखम्लानिं विना दूषणम् ॥ २५ ॥

(मिश्रस्येति) 'मिश्रस्येति' हेतुगर्भविशेषणम्, मिश्रत्वादिति यावत् । यदि अनुपदेश्यता साधूनामुपदेशाविषयता द्रव्यस्तवस्य त्वया प्रतिज्ञायते, तदा श्राद्धस्य धर्मः सर्वस्तथाऽनुपदेश्यः स्यात्, तस्य मिश्रतायाः कण्ठरवेण सूत्रकृताऽभिधानात्, इष्टापत्तिरत्र । सर्वविरतिरूपस्यैव धर्मस्य शास्त्रेऽभिधानादशे स्वकृत्यसाध्यताप्रतिसंधाने स एव तस्यार्थः, सिद्धदेशरूपविरतित्वात् । "जं सक्कइ तं कीरइ" इत्यादिव्युत्पत्तिमतां तत्र प्रवृत्तिसंभवादिति चेत् । न । द्वादशव्रतादिविभागस्य विशेषविधिं विना उपपत्तेरिति देशेन स्वेच्छया ग्रहणे श्रमणलिङ्गस्यापि श्राद्धेन ग्रहणप्रसङ्गात् । दृश्यत एव केषाञ्चित् श्राद्धानां भिक्षाग्रहणादिकं यतिव्रतमपि देशप्राप्तमिति चेत्, दृश्यते तदद्रव्यमुखानां, न तु मार्गवर्त्तिनाम्, अनुचितप्रवृत्तेर्महामोहबन्धहेतुत्वाद्भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनस्य भावानुपपत्तेरानन्दादिभिरनादरणात्, अम्बडस्य तु परिव्राजकलिङ्गत्वेन भिक्षायाम् अनौचित्याभावात्, ततः श्राद्धधर्मवद् द्रव्यस्तवस्य नानुपदेश्यता, अप्रतिषेधानुमत्याक्षेपपरिहारयोरुभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात्, यतिधर्माभिधानात् प्रागनभिधानस्याप्युभ-

यत्र तथात्वात् , यतिधर्मस्य प्रागभिधाने श्रोतुस्तदशक्तत्वाचेन प्रतिपाद्यधर्मप्ररूपणं यथाऽवसरसङ्गत्या, तथा भावस्तवस्य प्रागभिधाने तदशक्तिप्रकाशकं प्रत्येव द्रव्यस्तवाभिधानमिति क्रमस्यैव रूढत्वात्। अत एव गृहपतित्व वन्दिग्रहविमोचणन्याय. सूत्रसिद्ध ।तदिदमाह-सौत्रस्य सूत्रसिद्धस्य क्रमस्योल्लङ्घनाद्- द्वङ्घनमाश्रित्य, नु इति निश्चये, दोषघटना दोषसङ्गतिः, सदृशी तुल्या, क्रमप्राप्तिरुपदेशे न तु कोऽपि दोष इति अभ्युत्पन्न प्रति क्रमविरुद्धोपदेशे सुकरस्त्रेरुक्तत्वेनाप्रतिषेधानुमतिः प्रसङ्ग- दोषावहा, सम्यग्दृष्टिं प्रति तु यथायोग्योपदेशेऽपि न दोष इ- त्यननुव्यवहाराडिग्रन्थार्णवसम्प्लवव्यसनिना प्रसिद्ध पन्था।तत्त- स्मात्कारणात्, सम्यगवैपरीत्येन, विधिभक्तिपूर्वमुचितस्य द्रव्य- स्तवस्य स्थापने उपदेशे, ज्ञातप्रतिज्ञाऽऽख्यनिग्रहस्थानस्य लुम्प- कस्य मुखमन्तरेण बिना पर दूषण वय न विद्मो न जानीम. । विनोक्तिरलङ्कार. ॥ २५ ॥ प्रति० ।

मिश्रस्यानुपदेश्यताऽऽशङ्का-

नाशंसाऽनुमतिर्दयापरिणतिस्थैर्यार्थमुद्यच्छतां,
संवासानुमतिस्त्वनायतनतो दूरस्थितानां कथम् ?॥
हिंसाया अनिषेधनानुमतिरप्याज्ञास्थितानां न यत्,
साधूनां निरवद्यमेव तदिदं द्रव्यस्तवश्लाघनम् ॥ २६ ॥

द्रव्यस्तवे हिंसाऽनुमतेर्यत विशेषाभावात सामान्याभाव इत्यनु- शास्ति भगवत्पूजादर्शनाद्बहवो जीवा. सम्यग्दर्शनमलमासाद्य चारित्रप्राप्त्या सिद्धिसौधमध्यासतामिति भावनया पूजा कर्त- व्येति दयापरिणतेः स्थैर्यार्थमुद्यच्छताम उद्यमं कुर्वाणानां साधूनां नाशंसाऽनुमतिर्भवति, उपदेशफलेच्छाया हिंसाया अ- विषयत्वात्, संवासानुमतिस्तु अनायतनतो हिंसायतनाद् दूर- स्थितानां कथ भवति ? । पुष्पाद्यायतनमेवानायतनमिति चेत्, तर्हि समवसरणस्थितानामनायतनवर्तित्वप्रसङ्ग । न च दे- वगृहेऽपि स्तुतित्रयकर्पणात्परतोऽवस्थानमनुज्ञात साधूना- मिति विधिवन्दनाद्यर्थमवस्थाने नोक्तदोष. । आज्ञास्थितानां क्रमाद्विरुद्धोपदेशाद्याज्ञावर्तिनां हिंसाया अनिषेधनानुम- तिरपि यद्यस्मान्न भवति , तत्तस्मात्कारणादिद द्रव्यस्त- वस्य श्लाघन माहात्म्यप्रकाशन साधूना निरवद्यमेव शुभा- नुबन्धित्वादिति निष्कर्ष ॥ २६ ॥

कश्चिदाह-स्वातन्त्र्येण साधव किं न कुर्वन्ति,द्रव्यस्तवो यदि साधूनामनुमोद्यस्तदा तेषां कर्तव्य स्यादिति चेत्किमिद स्व- तन्त्र,साधने प्रसङ्गापादन वा ?। नाद्य साधुकर्तव्यः, तस्याना- श्रितत्वेनासाधकत्वादन्त्य एवाह—

साधूनामनुमोद्यमित्यथ न किं कर्त्तव्यमर्चादिकं,
सत्यं केवलसाहचर्यकलनाल्लिङ्गानुमानप्रथा ।
व्याप्तिः क्वाऽपि गता स्वरूपनिरवद्याचाराद्रुपाधेस्तत्र,
क्लीवस्येव वृथा वधूनिधुवने तद्बालतर्के रतिः ॥ २७ ॥

साधूनामप्यनुमोद्यमिति हेतो साधूनामर्चादि किंन कर्तव्यम, यद्यनुमोद्य स्यात्कर्तव्य स्यात्, न च कर्त्तव्यमस्ति . अतो नानु- मोद्यमिति विपर्ययपर्यवसानम् । तथा चैतत्तर्कसहकृताल्मिश्रत्वा- दिहेतोरननुमोद्यत्वसिद्धेरित्यर्थ. । अत्रोत्तरम्-सत्यम्, यत्त्वयाऽऽ- पातत प्रसञ्जन छत, पर केवलस्य साहचर्यस्य कलनात् पुरस्कर- णादनुमानप्रथा प्रसङ्गापादानलिङ्गा, नेष्टा,न हि साहचर्यमात्र व्या- प्ति , पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि तत्प्रसङ्गात। तथा च तर्कमूल- व्याप्त्यसिद्धेर्मूलशैथिल्यदोष इत्यर्थ ।यद्यदनुमोद्य तत्तत् कर्त्तव्य- म, नियतसाहचर्याद् व्याप्तिरस्त्येवेत्यत्राह-व्याप्ति क्वापि गता दूरे नष्टा,कस्मात्?, स्वरूपनिरवद्याचारात् स्वरूपनिरवद्याचाराद्रुपाधे', यत्र साधु कर्त्तव्यत्वं तत्र स्वरूपतो निरवद्यत्व, यत्र च तद- नुमोद्यं तत्र स्वरूपतो निरवद्यत्वमिति नास्ति कारणे विहितानां वर्षाविहारादीनां नद्युत्तारादीनां सयत्यवलम्बनादीनां चानु- मोद्यत्वेऽपि स्वरूपत्वनिरवद्यत्वात । तथा चानौपाधिकसहचा- ररूपव्याप्त्यभावान्मूलशैथिल्यं घट्टलेप इति भाव' । एव च शुष्क एव बलीवर्दस्य तर्के मुख प्रवेशयत उपहासमाह-तत्त- स्मात्कारणात् हे बाल 'अविवेकिन्' तव तर्के रति' वृथा,त्वद्गत शक्त्यभावात्, कस्य ?,क्लीवस्य वधूनिधुवन इव कान्तारसस- मर्दे इव । न च विद्यामुखचुम्बनमात्राद् भोगसौभाग्यमावि- र्भवति । यतस्तूक्तम्-" वेश्यानामिव विद्यानां , मुख कैः कैर्न चुम्बितम । हृदयग्राहिणस्तासां, द्वित्रा सन्ति न सन्ति वा" ॥ १ ॥ इति । किं च-अचेलकादीनामेकचेलाद्याचारस्यानुमो- द्यत्वेऽपि तदकर्त्तव्यत्वात् सूत्रनीत्या व्यक्त एव दोषः। य- दार्षम्-" जो विदुच्छति वत्था, परेण अचेलगो'व सयरइ। तेण हु हीलति परं, सव्वे वि अ ते जिणाणाए ॥ " त्ति । प्रति० । दर्श० ।

अत्र हरिभद्रसूरिः । यदि नाम यतिना संधारणतो द्रव्य- स्तवः सपाद्यते, तदा साक्षादेव कस्मात् न क्रियते ?, इत्याश- ङ्क्याह-

सक्खा उ कसिणसंजम-दव्वाभावेहिँ णो अयं इट्ठो ।
गम्मइ तंतठिईए, भावपहाणा हि मुणउ त्ति ॥ ४० ॥

साक्षात्तु स्वयं करणत' पुन., कृत्स्नसंयमश्च सर्वथा प्राणवध- विरति , द्रव्याभावश्च निष्परिग्रहत्वेनार्थासत्ता, कृत्स्नसयमद्रव्य- भावौ ताभ्याम् । पाठान्तरेण-' कृत्स्नसयमद्रव्यभावाभ्याम् ' तत्र द्रव्यभावोऽप्रधानत्व द्रव्यस्तवस्येति । नो नैव , अय द्र- व्यस्तव , इष्टोऽभिमतो, यतीनां विधेयतया इति । गम्यतेऽव- सीयते। कथम् ?, तन्त्रस्थित्या आगमनीत्या। तन्त्रे हि साधूनां स्ना- नादिपरिहारप्रतिपादनपर, निर्ग्रन्थताऽभिधायक च। युज्यते च स्वयमकरण द्रव्यस्तवस्योति।आह च-भावप्रधाना भावपूजापरा., न द्रव्यप्रधाना., हिर्यस्मादर्थ. । मुनयो यतयो, भवन्तीत्यतो भा- वत एव पूजा तेषा युक्ता, तदन्तिमधारणं पुनर्भाव एव । इति- शब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इति गाथार्थ ॥ ४० ॥

केषां तर्हि द्रव्यस्तवस्य साक्षात्करणमिष्टमित्याह-

एएहिँ तो अन्ने, जे धम्महिगारिणो उ तेसिं तु ।
सक्खं चिय विन्नेओ, भावंगतया जतो भणितं ॥ ४१ ॥

एतेभ्यो मुनिभ्योऽन्येऽपरे, ये इत्यधोत्तरस्य पुनरर्थस्य तुश- ब्दस्य सबन्धाद् ये पुन , धर्माधिकारिणो धार्मिका., तेषां तु ते- षामेव , साक्षादेव च स्वयकरणतोऽपि, विज्ञेयो विधेयतया ज्ञातव्यः। द्रव्यस्तव इति प्रकृत । कथमित्याह-भावाङ्गतया शुभ- भावकारणतया, भावस्तवाङ्गतया वा, इहार्थे शास्त्रप्रमाणतयो- पदिशन्नाह-यतो यस्मात्कारणाद्, भणितमभिहित निर्युक्तौ इति गाथार्थ ॥ ४१ ॥

यद्भणितं तद्दर्शयन्नाह—

अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।

संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ ४२ ॥

अकृत्स्नमपरिपूर्णं, संयमं प्रवर्त्तयन्ति विदधति ये ते अकृत्स्न-प्रवर्तकाः, तेषाम् । अत एव विरताश्च ते निवृत्ताः स्थूलादिवि-शेषणेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः, अविरताश्चानिवृत्ताः सूक्ष्मा-दिविशेषणेभ्यस्तेभ्य एवेति विरताविरताः, तेषाम् । एष द्रव्य-स्तवः । खलुरवधारणे भिन्नक्रमश्च । युक्त एव संगत एव । किं-फलोऽयमित्याह-संसारं भवं प्रतनुमल्पं करोतीति संसारप्रत-नुकरणः । इह च विशेषणस्य परनिपातः सिद्धसेनाचार्यं इत्या-दावित्र न दुष्टः । सुप्तभावप्रत्ययाद्वा संसारप्रतनुताकरण इति हृदयम् । ननु कथञ्चित्सावद्यतया सदोषत्वेनानाश्रयणीयत्वाद्रव्य कथं संसारप्रतनुकारित्वमित्याशङ्क्याऽऽह-द्रव्यस्तवे आश्र-यणीयतया साधयितुमिष्टे, कूपदृष्टान्तोऽवटखननदृष्टान्तमस्तीति। तत्प्रयोगश्चैवम्-सदोषमपि स्वरूपेण यद् गुरुकगुणान्तरकारणं तदाश्रयणीयं, यथा कूपखननं, तथा च द्रव्यस्तव इति हृदयम् । दृष्टान्तद्वारेण भावना तु प्राग्वत् । इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

अथ " अकसिणपवत्तगाणं " इत्यत्र गाथायां पुष्पादिरेव द्रव्यस्तवोऽभिहितः, इह च प्रकरणे जिनभवना-दिरसावुक्तः, तत्कथमियमिहत्यस्वाद्याय स्या-दित्येतदाशङ्क्य परिहरन्नाह—

सो खलु पुप्फाईओ, तत्थुत्तो न जिणभवणमाई वि ।
आईसद्दावुत्तो, तयभावे कस्स पुप्फाई ॥ ४३ ॥

स द्रव्यस्तवः, खलुरवधारणे, तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते, पु-ष्पादिक एव कुसुमधूपदीपप्रभृतिरेव, तत्र " अकसिणपवत्त-गाणं " इत्यत्र चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिगाथायाम्, उक्तोऽभिहितः, " दव्वत्थउ पुप्फाती, संतगुणुक्कित्तणाभावे । " इति प्रक्रमपति-तत्वादस्याः । न नैव, जिनभवनाद्यपि जिनभवनकरणप्रभृति-रपि । इह मकारः प्राकृतशैलीप्रभवः । अपिशब्दः समुच्चया-र्थत्वेनोक्त इति क्रियानिसवन्धार्थः । इहाक्षेपे समाधिमा-आदिशब्दात् " दव्वत्थउ पुप्फाई " इत्यत्रोपन्यस्तादुक्तो भणि-तः, जिनभवनादिर्द्रव्यस्तव इति प्रक्रमः । विपर्यये बाधकमाह-आदिशब्देन जिनभवनादीनामनभिधाने चेत्, तदा तेषामद्र-व्यस्तवत्वेनाकरणप्रसङ्गात् । अभावे जिनभवनबिम्बाद्यभावे कस्य ?, न कस्यापि । पुष्पादि कुसुमवल्ल्यादिर्द्रव्यस्तव-स्याश्रित्रिर्विषयत्वादिति भावना । इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ननु जिनभवनादिर्द्रव्यस्तवो भवतु, किं त्वसावागमे यतेर्निषिद्धस्तत्कथं भावस्तवो द्रव्यस्तवानुगतः ?, इत्याशङ्क्य परिहरन्नाह-

सुणु तत्थेव य मुणिणो, पुप्फाइनिवारणं फुडं अत्थि ।
अत्थि तयं सयकरणं, पमुच्च नऽणुमोयणाइ वि ॥४४॥

नन्विति परमताशङ्कायाम्, तत्रैव च ग्रन्थे, यत्र विरतानां द्र-व्यस्तवस्य साक्षात्करणमुपदिष्टम् । मुनेः साधोः, पुष्पादिनिवा-रणं कुसुमवल्ल्यादिनिषेधनम्, स्फुटं व्यक्तम्, अस्ति विद्यते । यतस्तत्रोक्तम्-"छज्जीवकायसंजमे, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो । तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥ १ ॥" मतः कथं पूजादिद्रव्यस्तवानुमोदनविधापने भवताऽभ्युपगते साधोः सङ्गते इति परमतम् । समाधिश्चैवम्-अस्ति विद्यते, तद् मुनेः पुष्पादिनिवारणम्, केवलं स्वयंकरणम् आत्मना पूजा-

दिविधानम्, प्रतीत्याश्रित्य, न पुनरनुमोदनाद्यपि पुष्पपूजादेर-नुमतिविधापनप्रभृतिकमपि प्रतीत्य, अपिशब्दः समुच्चयार्थः । इह ग्रन्थाचार्येणाऽपि विशेषेण द्रव्यस्तवं प्रति साधोर्विधा-पनमनभ्युपगतं तथाऽपि द्रव्यस्तवफलस्वरूपप्ररूपणद्वारेण त-द्रूद्धिरिष्यते, न पुनः साक्षात्कारेण । यथा-त्वं जिनभवनं कुरु, तदर्थं च भूमिं खन, मृत्तिकां वह, आनमानय, इत्यादि विभाषा । महांश्च स्वयंकरणस्य कारणस्य च महान् विशेषोऽ-स्ति । इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अथ द्रव्यस्तवस्यानुमोदनं साध्वोर्युक्तं, ज्ञापकैरनस्य समर्थितत्वात् । कारणं त्वयुक्तं, ज्ञापका-भावात्, इत्याशङ्क्याह-

सुव्वइ य वइरगिसिणा, कारवणं पि हु अणुट्ठियमिमस्स ।
वायगगंथेसु तहा, एयगया देसणा चेव ॥ ४५ ॥

श्रूयते समाकर्ण्यते आवश्यकनिर्युक्तौ, चशब्दो युक्त्यन्तर-समुच्चयार्थः, वैरऋषिणा वैराभिधानमुनिपतिना, कारापणमपि देवैर्विधापनमपि, न केवलमनुमोदनं, यद्भवतामनभिमतं कारा-पणं, तदपीत्यर्थः । हुर्वाक्यालङ्कारे । अनुष्ठितमासेवितम्, अस्य पुष्पादिद्रव्यस्तवस्य । यतस्तत्रोक्तम्-" माहेसरीउ सेसा, पुरिं पनीया हुयासणगिहाओ । गयणयलमइवइत्ता, वइरेण महाणुभावेण ॥ १ ॥ " किलैकदा भगवान् वैरस्वामी पुरिका-भिधानायां नगर्यां विहरति स्म । तत्र च तदा श्रमणोपासकै-र्बुद्धोपासकैश्च परस्परस्पर्द्धया स्वकीयदेवानां माल्यारोपणा-नि विधीयन्ते स्म । सर्वत्र च बुद्धोपासकाः पराजीयन्ते स्म । राजा च तेषामनुकूलः, ततस्तैर्नृपोऽभ्यर्थितः, तेन च श्रमणोपासका-नां कुसुमानि निषेधितानि । पर्युषणादिने च तदभावात् श्रावका विषण्णाः । सबालवृद्धाश्च ते वैरस्वामिनमुपस्थिताः, भणितव-न्तश्च-" यदि युष्मादृशैः प्रवचनमपभ्राज्यते, तदन्यथा यूय-मेव यद्भवति तज्जानीथेति"। ततश्च समुत्पत्य माहेश्वरीं नगरी-मगमद्भगवान्, तत्र च हुताशनं नाम व्यन्तरगृहम्, तदारामे प्रति-दिनं पुष्पाणां कुम्भः उत्पद्यते । तत्र च वैरस्वामिनः पितृसुहृद्धि-न्तकोऽभवत्, स च भगवन्तमुपलभ्य ससम्भ्रममवादीत्-किमाग-मनप्रयोजनम् ? । ततो भगवानुवाच-पुष्पैः प्रयोजनमस्ति । ततो-ऽसावुवाच-अनुग्रहो नो गृह्यतैतानि । भगवानवादीत्-यद्भी-त एतानि तावद् यूयं यावदहं त्वाऽऽगच्छामि, ततः समुत्पत्य हिमवन्महागिरौ श्रीदेवतायाः समीपे जगाम । श्रिया च चै-त्यार्चनाय तदा पद्मं चिच्छिदे । ततो वन्दित्वा तया तेन निम-न्त्रितः । तच्च गृहीत्वा हुताशनगृहमाजगाम । तत्र च तेन विमा-नं विरचितम् । तत्र पुष्पकुम्भं क्षिप्त्वा जृम्भकदेवगणपरिवृतो दिव्येन गन्धर्वगीतनिनादेनाम्बरतलमापूरयन्माहेश्वर्याः पुरीमा-गतवान् । तृतीयवर्णिकाश्च जृम्भकनिकायाकीर्णमाकाशमवलो-क्य वितर्कयामासुः-अस्माकमिदं प्रातिहार्यं देवा विदधति, इत्यर्घ-मादाय स्वकीयायतनेभ्यस्तदभिमुखं निर्गतवन्तः । भगवांस्तु देवसमुदायपरिवृतो जिनायतनमगमत् । तत्र च देवा महान्तं महिमानमकार्षुः । जिनशासनं प्रति च लोकस्यातीव बहुमानः समजनि । राजाऽपि चावर्जितः श्रमणोपासको बभूवेति । तथा वाचकग्रन्थेषु वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते । स च श्रीमानुमा-स्वातिनामा महातार्किकः प्रकरणपञ्चशतीकर्त्ताऽऽचार्यः सुप्र-सिद्धोऽभवत्, तस्य प्रकरणेषु, तथेति वाक्योपक्षेपे । स च

वाक्यस्यादौ द्रष्टव्य । एतच्छ्रुता द्रव्यस्तवविषया देशना प्ररूपणा । तथा हि—

"यस्तृणमयीमपि कुटीं, कुर्याद्दद्यात्तथैकपुष्पमपि ।
भक्त्या परमगुरुभ्य , पुण्योन्मान कुतस्तस्य ? ॥ १ ॥"

तथा—

"जिनभवन जिनबिम्ब, जिनपूजां जिनमत च य कुर्यात् ।
तस्य नरामरशिवसुख-फलानि करपल्लवस्थानि ॥१॥" इति ।

अनया हि देशनया श्रोता द्रव्यस्तव कारितो भवति । ततो वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवकारणमस्तीति भावः । चैनेति समुच्चयार्थं । तदेव स्वयंकरणमेवाश्रित्य पुष्पादिनिषेधन साधो न पुनरनुमोदनाद्यपीति प्रकृतमिति । इह च यद्यप्याचार्येण वैरोदाहरणतो द्रव्यस्तवकारण साधोरविशेषेण विधेयतया दर्शितम्, तथाऽप्यापदादिकमेवेदमित्यवसेयम्, वन्दनकानिर्युक्त्या तस्य भग्नशुभपरिणामालम्बनतयोपदिष्टत्वात् ।

तथाहि–

"नीया वासविहार, चेइयभत्तिं च अज्जियालाभ ।
विगईसु य पडिबंध, निद्दोस चोइया बेंति" ॥ १ ॥

तत्र चैत्यभक्ति प्रत्युक्तम्—

" चेइयकुलगणसघे, अन्न वा किं पि काउ निस्साणं ।
अहवा वि अज्जवइर, तो सेवती अकरणिज्ज ॥ १ ॥
चेइयपूआ किं वइ-रसामिणा मुणियपुव्वसारेण ।
न कया पुरियाइ ततो, मोक्खग सा वि साहूण ॥ २ ॥"

इह चाय समाधिस्तत्रैवोक्त–

" ओभावण परेसिं, सति थउब्भावण च वच्छल्ल ।
न गणेंति गणेमाणा, पुव्वुट्ठियपुप्फमाहिम च ॥ १ ॥"

(गणेमाण त्ति) आलम्बनानि गणयन्त । अपवादतस्तु स्वय करण कारण चानुमतमेव । यत कल्प उक्तम्–

" सीलेह मखफलए, इयरे चोयति ततुमाईसु ।
अह जोईंति सविचित्तिसु, अणिच्छफेर्डिंति दीसता ॥ १ ॥"

(मखफलए त्ति) मङ्खफलकानीव मङ्खफलकानि निर्वाहहेतुचैत्यानि । तथा–

" अन्नाभावे जयणा-ए मग्गनासो भवेज्ज मा तेण ।
पुव्वकया य यणाई, इंसि गुणसभवे इहरा ॥ १ ॥
चेइयकुलगणसघे, आयरियाण च पवयण सुए य ।
सव्वेसु वि तेण कय, तवसजममुज्जमतेण " ॥ २ ॥ इति ।

तथा वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवफलाद्यभिधानायैव देशना, फलार्थिनस्तु स्वत एव तत्र प्रवर्तन्ते, यदि पुन साक्षात् परप्रवर्तनाय सा स्यात्तदा साक्षादेव तत्र तत्प्रवर्तनमपि विधेय स्यात् । तथा च–वैरस्वामिचरितावलम्बनस्य पुष्टत्वमेव स्याद्, अपुष्टत्व च तस्यावेदितमिति । द्रव्यस्तवादिश्रावकधर्मप्ररूपण च यतिधर्मासमर्थस्यैव शिष्यस्य विधेयम्, अन्यथा आरम्भेषु प्रवर्तनदोषसभवात् ।

आह च–

" जइधम्ममम्मिऽसमत्थे, जुज्जइ तद्देसण पि साहूण ।
तदहिगदोसन्निवित्ती-फल ति कायाणुकपट्ठा ॥ १ ॥" इति

गाथार्थ. ॥ ४५ ॥ पञ्चा० ६ विव० । ध० ।

ननु यदि द्रव्यस्तवानुमतिर्भावस्तवेनोपचयायापेक्ष्यते तदा द्रव्यार्चैव कथ नापेक्ष्यते ? । तत्राह–

दुग्धं सर्पिरपेक्षते न तु तृणं साक्षाद्यथोत्पत्तये,
द्रव्यार्चानुमतिप्रभृत्यपि तथा भावस्तवो न त्विमाम् ।
इत्येवं श्रुचिशास्त्रतत्त्वमविदन् यत्किञ्चिदापादयन्,
किं मत्तोऽसि पिशाचकी किमथवा किं वातकी पातकी? ॥२८॥

(दुग्धमिति) सर्पिर्घृतमथोत्पत्तये दुग्ध क्षीरमपेक्षते , क्षीरादेवाव्यवधानेन सर्पिष उत्पद्यमानस्योपलम्भात्, न तु तृणम्, गवाभ्यवहारेण तथापरिणम्यमानमपि व्यवधानात् । तथा भावस्तव उपचितावयविस्थानीयो, द्रव्यार्चानुमतिप्रभृत्यपि स्वावयवभूत कारणमुक्ततयाऽपेक्षते, न त्विमां द्रव्यार्चां, व्यवधानात् । अत एव द्रव्याग्निकारिकाव्युदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता साधूनाम् । प्रति० ।

द्रव्यार्चा–

द्रव्यार्चामवलम्बते न हि मुनिस्तर्तुं समर्थो जलं,
बाहुभ्यामिव काष्ठमत्र विषमं नैतावता श्रावकः ।
बाहुभ्यां भववारि तर्तुमपटुः काष्ठोपमां नाश्रयेद्,
द्रव्यार्चामपि विप्रतारकगिरा भ्रान्तीरनासादयन् ? ॥२९॥

(द्रव्यार्चामिति) अत्र जगति बाहुभ्यां जल तर्तुं समर्थः विषमं सकण्टक काष्ठमिव मुनिर्भुजेन भवजलतरणक्षम., तर्हि नैव द्रव्यार्चामवलम्बते, स्वरूपत सावद्यायास्तस्याः सकण्टककाष्ठस्थानीयाया अवलम्बनायोगात् । नैतावता कुश्रुतादिदोषेण स्वौचित्यमविदन् श्रावकः बाहुभ्यां भववारि ससारसमुद्र तर्तुमपटुः सन् काष्ठोपमां विषमकाष्ठतुल्यां द्रव्यार्चामाश्रयेत ?, किं कुर्वन्, प्रतारकस्य गिराऽपि भ्रान्ती विपर्यासान् अनासादयन् अप्राप्नुवन्, तदा ननु स्वौचित्यापरिज्ञाने स्यादेव तदनाश्रयण मुग्धस्येति भावः ॥ २९ ॥

अक्षीणाविरतिज्वरा हि गृहिणो द्रव्यस्तवं सर्वदा,
सेवन्ते कटुकौषधेन सदृशं नानीदृशाः साधवः ।
इत्युच्चैरधिकारिभेदमविदन् बालो वृथा खिद्यते,
नैतस्य प्रतिमाद्विषो व्रतशतैर्मुक्तिः परं विद्यते ॥ ३० ॥

"अक्षीणेत्यादि" । हि निश्चितम्, अक्षीणोऽविरतिरेव ज्वरो येषां ते तथा, गृहिणः, ज्वरापहारिणा कटुकौषधेन सदृशद्रव्यस्तव सर्वदा सेवन्ते, अनीदृशा क्षीणाविरतिज्वरा साधवो न सेवन्ते, न हि नीरोगवैद्योक्तम् औषध रोगवान्न सेवत इति लोकेऽपि सिद्धमिति । इत्युच्चैरतिशयेनाधिकारिभेदं मलिनारम्भ तदितराधिकारिविशेषमविदन् बालोऽज्ञानी वृथा खिद्यते मुधा खेद कुरुते । एतस्य प्रतिमाद्विष प्रतिमाशत्रो पर केवल मुक्तिर्न विद्यते, प्रवचनार्थेन एकस्याश्रद्धानवतो योगशतस्य निष्फलत्वम् । तदुक्तमाचारे–"वितिगिच्छसमावन्नेण अप्पाणेण णो लभइ समाहिं " त्ति । अत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते–ननु यतिरत्र कस्मान्नाधिकारी , यत कर्मलक्षणो व्याधिरेको द्वयोरपि यतिगृहस्थयो., अतस्तच्चिकित्साऽपि पूजादिलक्षणा समैव भवति, ततो यद्यस्याधिकारस्तत कथ पुनस्तत् प्रतिषिद्धम् ? "स्नानमुद्वर्तनाभ्यङ्ग–नखकेशादिसत्क्रियाम् । गन्धमाल्य च धूप च, त्यजन्ति ब्रह्मचारिण ॥१॥" इति वचनान्मुने स्नानपूर्वकत्वाद्देवार्चनस्य तस्मिन्नाधिकार । नैवम् । भूतार्थस्यैव तस्य निषेधात् । यदि यति लावण्यार्थं वृत्तस्तत को दोषो यत् स्नान कृत्वा देवतार्चन न करोति ? यदि हि स्नानपूर्वकदेवार्चने सावद्ययोग स्यात् तदाऽसौ

गृहस्थस्यापि तुल्य इति तेनाऽपि तत्र कर्त्तव्य स्यात् । अथ गृहस्थ कुटुम्बाद्यर्थे सावद्ये प्रवृत्तस्तेन तत्रापि प्रवर्तनम्, यतिस्तु तत्राप्रवृत्तत्वात्कथ स्नानादौ प्रवर्तते इति ?। ननु यद्यपि कुटुम्बाद्यर्थे गृही सावद्ये प्रवर्तते, तथाऽपि तेन धर्मार्थं तत्र न प्रवृत्ति., तर्ह्येकं पापमाचरितावरित्याऽन्यदप्याचरितव्यम् । अथ कूपोदाहरणात् स्नानादि युक्तम्, एव यतेरपि तद् युक्तमेव, एव च कथ स्नानादौ यतिर्नाधिकारीति ?। अत्रोच्यते-यतय. सर्वथा सावद्यव्यापारान्निवृत्ता., ततश्च कूपोदाहरणेनापि तत्र प्रवर्त्तमानाना तेषामवद्यमेव चित्ते स्फुरति, न धर्मस्तत्र सदैव शुभध्यानादिप्रवृत्तत्वात् । गृहस्थास्तु सावद्ये स्वभावतः सततमेव प्रवृत्ता न पुनर्जिनार्चनादिद्वारेण स्वपरोपकारात्मकधर्मे, तेन तेषां स एव चित्ते लगति निरवद्य इति कर्तृपरिणामवशादधिकारीतरौ मन्तव्याविति स्नानादौ गृहस्थ एवाधिकारी, न यतिरित्यष्टकवृत्तिकृत । अत्र द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिकाले स्फुरणं साधो. किमवद्यसद्भावात्, अग्रिमकालेऽवद्यस्य स्वशोधत्वज्ञानात्, स्वप्रतिज्ञोचितधर्मविरुद्धत्वज्ञानात्, आहार्यारोपाद् वा ?। नाद्यद्वितीयौ । गृहिवदुभयोगक्षेमत्वादुभयासिद्धे. । न तृतीय । गृहिणाऽपि योगादिनिषेधाय धर्मार्थं हिंसा न कर्त्तव्येति प्रतिज्ञातकरणाद्विरुद्धत्वज्ञाने स्फुरितावद्यत्वेन द्रव्यस्तवाकरणप्रसङ्गात् । अध्यात्मानयनेन द्रव्यस्तवीयहिंसाया अहिंसीकरणेनाविरोधस्याप्युभयोस्तौल्यात् । नापि तुर्य. । अवद्याहार्यारोपस्येतरेणापि कर्तुं शक्यत्वात् ; तेन द्रव्यस्तवत्यागस्यापि प्रसङ्गादिति । मलिनारम्भस्याधिकारिविशेषस्याभावादेव न साधोर्देवपूजायां प्रवृत्ति , मलिनारम्भी हि तन्निवृत्तिफलायां तत्राधिक्रियते दुरितवानिव तन्निवृत्तिफले प्रायश्चित्ते । तदाह हरिभद्र.-"असदारम्भपवित्ता, ज गिहिणो तेण तेसि विन्नेया । निव्वित्तिफला एसा , तहा परिभावइयव्वमिण ॥ १ ॥ " अत एव स्नानेऽपि साधोर्नाधिकार , तस्य देवपूजाङ्गत्वात् । प्रधानाधिकारिण एव चाङ्गेऽधिकारो, नान्यस्य, स्वतन्त्रोपगतनङ्गप्रसङ्गादिति युक्त पश्यामः। असदारम्भनिवृत्तिफलत्व च द्रव्यस्तवस्य चारित्रमोहक्षयोपशमजननद्वारा फलत. शुभयोगरूपतया स्वरूपतश्चात एव ततो नारम्भिकी क्रिया शुभयोगे प्रमत्तसयतस्यानारम्भकतायाः प्रज्ञप्तौ दर्शितत्वाच, अर्थेनातिदेशेन देशविरतेश्चितरालाभात् । प्रति० । ('किरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे५४७पृष्ठे क्रियाऽधिकार उक्त.) (अविज्ञोपचितादि चतुर्विध कर्म नोपचीयते इति 'कम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५६ पृष्ठे समुक्तम्) तन्निष्कर्षस्त्वेवम्-"यतनातो न च हिंसा, यस्मादेषैव तन्निवृत्तिफला । तदधिकनिवृत्तिभावाद्, विहितमतो दुष्टमेतदिति " ॥ १ ॥ इति मूल एव विस्तरेणाभिधास्यते नैतद्धपरिष्ठादित्यल प्रसङ्गेन ।

" इय प्रोक्ता सम्यक् य इह समये वाचकवरैः,
क्रियाया निष्कर्षं कलयति कृती शान्तमनसा ।
यश श्रीस्तस्योच्चैरुपचलति भव्यस्य गुणिनो,
गुणानां बाहुल्यात्परमरसिकेव प्रणयिनी " ॥ १ ॥ ३० ॥

(१०) द्रव्यस्तवे गुणानुपदर्शयति-

वैतृष्ण्यादपरिग्रहस्य दृढता दानेन धर्मोन्नतिः,
सत्कर्मव्यवसायतश्च मलिनारम्भानुबन्धच्छिदा ।
चैत्यानत्युपनम्रसाधुवचसामाकर्णनात्कर्णयो-
रक्ष्णोश्चामृतमज्जनं जिनमुखज्योत्स्नासमालोकनात् ॥३१॥

(वैतृष्ण्यादिति) वैतृष्ण्याद् धनतृष्णाविच्छेदादपरिग्रहस्याऽपरिग्रहव्रतस्य दृढता भवति । तथा दानेन कृत्वा धर्मोन्नतिर्भवति । विहित च तज्जिनभवनकारणे पूर्वाङ्गम-"अत्रासन्नो विजन', सबन्ध्यपि दानमानसत्कारै । कुशलाशयवान् कार्यो, नियमाद् बोध्यङ्गमयमस्य " ॥ १ ॥ इत्यादिना । तथा मलिनारम्भानुबन्धस्य छिदा प्रासादादिकर्त्तव्यताऽनुसधाने सदारम्भाध्यवसायस्यैव प्राधान्यादितरस्यानुषङ्गिकत्वात्, तत्प्रवाहप्रवृत्त्यैव यशतरणोपपत्तेः । आह च-' अद्धयनीत्या ह्येव , ज्ञेयमिद यशतरकाणमम् " इति । तथा चैत्यानत्यर्थमुपनम्रा उपनमनशीला ये साधवस्तेषामेकदेशे देशनाद्यताना यानि वचांसि तेषामाकर्णनात् कर्णयोरमृतमज्जनम् । तथा-जिनमुखस्य भगवत्प्रतिमावन्दनादौ ज्योत्स्नाया लावण्यसमालोकनादक्ष्णोर्नयनयोश्चामृतमज्जनम्, विगलितवेद्यान्तरोऽभयानन्दात्मा शान्तरसोद्बोध इति यावत् ॥ ३१ ॥

नानासङ्घसमागमात् सुकृतवत्सगन्धहस्तिव्रज-
स्वस्तिप्रश्नपरम्परापरिचयादप्यद्भुतोद्भावना ।
वीणावेणुमृदङ्गसंगमचमत्काराच्च नृत्योत्सव-
स्फारार्हद्गुणलीनताऽभिनयनाद् भेदभ्रमप्लावना ॥३२॥

(नानेति) नानाप्रकारा स्वदेशीयान्यदेशीया ये सङ्घास्तेषां समागमात्सुकृतवन्तो ये सन्त एव गन्धहस्तिनो गन्धमात्रेण परवादिगजभञ्जकत्वात्, तेषां व्रज. समूह. , तत्र या स्वस्तिप्रश्नस्य परम्परा,तस्याः परिचयादप्यद्भुतरसस्योद्भावनोद्बोध ,ततश्च सद्योगावञ्चकादिक्रमेण परमः समाधिलाभ इति । च पुन. वीणावेणुमृदङ्गसङ्गमेन तौर्यत्रिकसपत्त्या यश्चमत्कार , ततो नृत्योत्सवे स्फारा येऽर्हद्गुणास्तल्लीनता विभावानुभावीभूत यदभिनयन तस्माद्भेदभ्रमस्य भेदविपर्ययस्य प्लावना परिगलनम् । तथा च समापत्त्यादिभेदेनार्हद्दर्शन स्यादिति भाव. । समापत्तिलक्षणमिदम्-"मणेरिवाऽभिजात्यस्य, क्षीणवृत्तेरसशयम् । तावत् स्यात्तदञ्जनत्वा-त्समापत्ति प्रकीर्तिता ॥१॥ " इति । आपत्तिस्तीर्थकृन्नामकर्मबन्धः , सपत्तिस्तद्भावाभिमुख्यमिति योगग्रन्थे प्रसिद्धम् ॥ ३२ ॥

पूजापूजकपूज्यसंगतगुणध्यानावधानक्षणे,
मैत्री सत्त्वगणेष्वनेन विधिना भव्यः सुखी स्तादिति ।
वैरव्याधिविरोधमत्सरमदक्रोधैश्च नोपप्लवः,
तत्को नाम गुणो न दोषदलनो द्रव्यस्तवोपक्रमे ? ॥३३॥

(पूजेति) पूजापूजकपूज्यसगतास्त्रयान्वयिनो गुणा तेषां यद्दृग्दृष्टेष्टसमापत्तिसमाधिफल ध्यान, ततो यद् अवधानमनुप्रेक्षा, तत्क्षणे तदवसरे,अनेन विधिना द्रव्यस्तवविधिना भव्य सर्वोऽपि सुखी स्तादिति सत्त्वगणेषु प्राणिसमूहेषु मैत्री भवति । अत एवाल्पबाधया बहुप्रकारादनुकम्पोपपत्तिरिति पञ्चलिङ्गीकार । तथा वैर च व्याधिश्च विरोधश्च मत्सरश्च मदश्च क्रोधश्च तैः कृत्वोपप्लव उपद्रवो न भवति, तत्तस्मात्कारणात्, द्रव्यस्तवोपक्रमे-उपक्रम्यमाणे द्रव्यस्तवे, दोषदलनो दोषोच्छेदकारी को नाम गुणो न भवति ?। अपि तु भूयानेव भवतीति भाव ॥ ३३ ॥

उक्तदोषमाह-भावयज्ञोऽय द्रव्यस्तवो नाऽत्र हिंसादोष.-

सत्तन्त्रोक्तदशत्रिकादिकविधौ सूत्रार्थमुद्राक्रिया-

योगेषु प्रणिधानतो व्रतभृतां स्याद्भावयज्ञो ह्ययम् ।
भावापद्विनिवारणोचितगुणा ह्यप्यत्र हिंसामति-
र्मूढानां महती शिला खलु गले जन्मोदधौ मज्जताम् ॥३४॥

(सत्तन्त्रेति) सत्तन्त्रे सच्छास्त्रे उक्तः पूजापूर्वापराङ्गीभूतो " दहतिगअहिगमपणग " इत्यादिनाऽभिहितो दशत्रिकादिकविधिस्तस्मिन्विषये, सूत्रं च अर्थश्च मुद्रा च क्रिया च तल्लक्षणेषु योगेषु, प्रणिधानतो, हि निश्चितम्, अयं द्रव्यस्तवः भावयज्ञः स्यात्, अभ्युदयनिश्चयहेतुयज्ञरूपत्वात्तदाह–एतदिह भावयज्ञं सद्गृहिणो जन्मफलमिदं परममभ्युदयाविच्छित्त्या नियमादपवर्गतरुबीजमिति । हि निश्चितमत्र द्रव्यस्तवे, जिनविरहप्रयुक्ततद्विलयासपत्तिरूपाया भावापद्विनिवारणोचितो गुणो यत्र तादृशाऽपि हिंसामतिः, सा खलु मूढानां विपर्यस्तानां जन्मोदधौ संसारसमुद्रे मज्जतां गले महती शिला । मज्जतां हि पापानां गले शिलारोप उचित एवेति सममलङ्कारः। "समं योग्यतया योगो, यदि सम्भावितः क्वचित् ।" इति काव्यप्रकाशकारः। इदं पुनरत्र विचारणीयम्–भावोपपदः स्तवशब्द इव भावोपपदो यज्ञशब्दश्चारित्रमेवाचष्ट इति कथं द्रव्यस्तवे भावयज्ञपदप्रवृत्तिः ?, द्रव्यस्तवशब्दस्यैव प्रवृत्तेरौचित्यात् । यज्ञशब्दो लौकिकयोगे प्रसिद्ध इति व्यावर्त्तनेन भावपदप्रयोगः प्रकृते प्रवर्त्तयिष्यते, तर्हि स्तवशब्दोऽपि स्तुतिमात्रे प्रवृत्तो भावशब्दयोगेन प्रकृते प्रवर्त्तताम्, "संतगुणकित्तणाभावे" त्ति निर्युक्तिस्वारस्यात् । गुणवत्तया ज्ञानजनकव्यापारमात्रे शक्तस्तवपदं भावपदयोगे आज्ञाप्रतिपत्तिरूपे विशेषे एव पर्यवसाययतीति तत्कारणे द्रव्यस्तवपदप्रवृत्तिरेव युक्तेति चेत्, तर्हि–"महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं" इत्यागमात् भावयज्ञपदस्यागमे चारित्र एव प्रसिद्धेर्द्रव्यस्तवपदप्रवृत्तेरेवौचित्यमिति देवतोद्देशकत्यागे योगशब्दस्य प्रयोगं प्राप्नुयात् । भावपदोपसङ्ग्रहेण वीतरागदेवतापूजया तत्प्रवृत्तिपर्यवसानमिति तु युक्तम् । आह च–"देवोद्देशेनैतद्–ब्राह्मणा कर्त्तव्यमित्यलं शुद्धः । अनिदानः खलु भावः, स्वाशय इति गीयते तज्ज्ञैः ॥" इति देवतोद्देशेन त्यागत्वनिश्चयतथात्मोद्देशेनैव, देवतायाश्च वीतरागत्वमिति रागात्समर्पितस्य स्वास्यानुपनयनात् ॥ योगास्तु देवतात्वं मन्त्रकरणकहविर्निष्ठफलभागित्वेनोद्देश्यत्वम्, अतश्चतुर्थीं विनाऽपीन्द्रादेर्देवतात्वं, हविर्निष्ठफलं स्वर्गस्तमतो न यागजन्यस्वर्गरूपफलाश्रयकर्त्तर्यव्याप्तिः। न च मन्त्रं विनेन्द्राय स्वाहेत्यनेन त्यागे देवतात्वं न स्यादिति वाच्यम्, मन्त्रकरणकत्यागान्तरमादाय देवतात्वात्, स्वाहास्वधाऽन्यतरस्यैव प्रकृते मन्त्रत्वात् । पित्रादीनां स्वधया त्यागे देवतात्वम्, न तु प्रेतस्य, नमःपदेनैव तदा त्यागाद्युक्तात्, अपि तु देवतात्वं च ब्राह्मणपठितस्वमन्त्रात् ब्राह्मणाय स्वाहेत्यनेन ब्राह्मणाय त्यागेऽपि स्वाहेत्यस्य न ब्राह्मणस्वत्वहेतुत्वं, तद्भिन्नाऽपि प्रतिग्रहमात्रादेव तत्स्वत्वसम्भवात् । अदृष्टजनकत्वेन वा त्यागो विशेषणीयः, स्वाहेत्यनेन ब्राह्मणाय त्यागो नादृष्टहेतुः, पामरेण मन्त्रं विनाऽपीश्वराय त्यागे ईश्वरस्य देवतात्वं, मन्त्रकरणकत्यागान्तरमत एव उद्देश्यत्वं उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नोपलक्षकं, केवलमैन्द्र्या देवतात्ववारणाय विशिष्टत्वेनोद्देश्यत्वाद्विशिष्टस्यैव देवतात्वमित्याहुः । तद्वाचापलमात्रम् । योगिनामुपासनीयाया वीतरागदेवताया एव प्रसिद्धेरहङ्कारममकारात्मकस्वत्वस्य तन्निरूपितस्य कुतोऽपि क्वचिदप्यादानासम्भवात्, सरागेश्वरदेवतायाश्च रागविडम्बितैरेवाभ्युपगन्तुमर्हत्वात् । वीतरागोद्देशेन कृतात्समन्त्रात्कर्मणोऽध्यवसायानुरोधिफलाभ्युपगमे तु मन्त्रकरणकोपासनेतिकर्त्तव्यतासम्बन्धत्वमेव देवतात्वमिति युक्तम् । संसारिदेवत्वं च देवगतिनामकर्मोदयवत्त्वं, संसारिषु संसारगामिनामितरेषु चेतरेषां भक्तिः स्वरससिद्धेति तु योगतन्त्रप्रसिद्धम् । तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये–"संसारिषु हि देवेषु, भक्तिस्तत्कायगामिनाम् । तदतीते पुनस्तत्त्वे, तदतीतार्थयायिनाम् ॥१॥" इति स्वाहास्वधान्यतरस्यैव मन्त्रत्वमित्ययमपि नैकान्तः, मन्त्रन्यासे नमःपदस्यापि तत्त्वश्रवणात् । तदुक्तम्–"मन्त्रन्यासस्तु तथा, प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम । मन्त्रः परमो ज्ञेयो, मननात् त्राणे ह्यतो नियमात् ॥१॥" इति । मीमांसकस्तु इन्द्रादिश्चेतनस्य सतोऽपि न देवतात्वं, तद्धि देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वम् । ब्राह्मणाय दद्यादित्यादौ ब्राह्मणादेर्देवतात्ववारणाय देशनादेशितेति । देशना वेदः, तेन यत्र यागे हविषि वा चतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यतया यो बोधितः स तत्र देवता । ऐन्द्रं दधि भवतीत्यादौ देवतातद्धितविधानादिन्द्रोऽस्य देवतेत्यर्थः । देवतात्वमत्र चतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वमेवेति नान्योऽन्याश्रयः । इन्द्राय स्वाहेत्यादौ तु चतुर्थ्या देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वमर्थः । इन्द्रपदं स्वपरतादृशनिर्देश्यत्ववदिन्द्रपदकस्त्याग इति वाक्यार्थः । अत एव ब्राह्मणाय स्वाहेत्यादि न प्रयोगः, स्वाहादिपदयोगे देवताचतुर्थ्या एव साधुत्वेन ब्राह्मणादेर्निरुक्तदेवतात्वाभावात् । तत्र हि सम्प्रदानत्वबोधकचतुर्थ्येव । एवं पृथक् सूत्रप्रणयनमेव, आकाशाय स्वाहेत्यादिसम्प्रदानचतुर्थ्यभावेऽपि "नमःस्वस्ति" ॥२।३।१६॥ इत्याद्युपपदचतुर्थीसम्भव । मन्त्रलिङ्गाद्विना च यत्र देवत्वावगमः तत्र ततस्तथाश्रुत्युन्नयनाद्देशनादेशितत्वम् । इत्थमेवेन्द्राय स्वाहेत्येव प्रयोगो, न तु शक्राय स्वाहेति पर्यायान्तरेऽपीत्यनेन चेतनैव देवतात्वम्, अग्नये प्रजापतये चेत्यादौ देवताद्वयकल्पने गौरवाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च चकारबलाद् विशिष्टस्यैव देवतात्वम्, अग्निप्रजापतिभ्यां स्वाहेत्येव प्रयोगात् । धृतिहोमे 'धृतिर्वो देवता रकायै' चतुर्थ्यन्तेनेति चतुर्थ्यन्तेत्यर्थकं धृतिः स्वाहेत्यादौ प्रथमाया एव चतुर्थीविधानात् । अथ देवतोद्देशेन क्रियमाणत्वात् ब्राह्मणोद्देशकत्यागवत् घृतोद्देशेन क्रियमाणे दधि व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । तत्परिशेषात् स्वामित्वादिति सिद्धं देवताचैतन्यमिति चेत् । न । अप्रयोजकत्वात् । तन्निष्ठकिञ्चिदुद्देशेनाऽयं क्रियतामिति न त्वस्योपाधित्वाच्च । न हि हविस्त्यागो देवतानिष्ठकिञ्चिदुद्देशेन क्रियते, किं तु स्वनिष्ठफलोद्देशेन । शिवाय गां दद्यादित्यादौ तूद्देश्यत्वेनोक्ता चतुर्थी, ददातिस्त्यागमात्रपर इति नानुपपत्तिरित्याह । तदसत् । चतुर्थ्यन्तपदस्य देवतात्वे मानाभावात्, चतुर्थीं विनाऽपीन्द्रो देवतेति व्यवहारात्, अग्नये कव्यवाहनायेत्यादौ देवताद्वयप्रसङ्गात् । "इन्द्र सहस्राक्ष" इत्यर्थवादस्य इन्द्रमुपासीनेति विधिशेषतया स्वर्गार्थिवादवत् प्रामाण्यात्, इन्द्रायेत्यादौ श्रुतपदेनैव त्यागस्य फलहेतुतया वचनसिद्धत्वात्, "तिर्यक्पद्धतिदेवार्षेयदेवतानामाधिकारः" इति जैमिनिसूत्रस्यैव देवताचैतन्यसाधकत्वाच्च अत्रैत्यन्येऽधिकाराप्रसक्त्या तन्निषेधानौचित्यात् । सूत्रार्थश्चैवम्–तिरश्चां विशिष्टान्तःसंज्ञाविरहात्, पङ्गोः प्रचरणाभावात्, तिस्रो ह्यष्टिश्रुतिवाच आर्षेया ऋत्विग्योग्यास्त्रिमुख्या येषामन्धबधिरमूकानां दर्शनश्रवणोच्चारणासमर्थानां तिसृणामार्षेयाणामिति त्रिप्रवराणामेवाधिकारो, न त्वेकद्विचतुःप्रवरादीनां देवतानामनधिकारित्वाभेदेन सम्प्रदानत्वायोगादिति । एतेन देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वस्य

तादृशपदयोध्यत्वरूपस्येन्द्रादिपदे सम्भवात्, तादृशपदविशिष्ट इन्द्रादिश्चेतन एव देवता, विशेषणस्येन्द्रादिपदस्येन्द्रादेश्चेतन एव देवतात्वे नानाभावात् तत्तद्बीजाक्षराणामानन्त्येन तेषां चतुर्थ्यन्तत्वाभावेन देवतात्वायोगात् । न च तथाऽपि देवताशरीराणामानन्त्यम्, बालादिना भिन्नशरीरेषु चैत्रत्वादिवदिति वाच्यम्, चैतन्यसिद्धे देवतात्वे इन्द्रत्वजातेरदृष्टविशेषोपग्रहीनत्वस्य चानुगतत्वात् । ईश्वरे च देवतात्वे मानाभावात्, ईशनादेः कर्मफलं भोक्तुं जीवभूतस्यैव देवतात्वात्, ईश्वरीयाहुतिश्रुतेरपीशानपरत्वात्, आकाशाहुतिश्रुतिरपि तदधिष्ठातृदेवपरेति न्यायमालायाम् । अदृष्टविशेषोपग्रहो देवगतिनामकर्मोदयो देवताव्यवहारप्रयोजकः, तीर्थकरनामकर्मोदयश्च देवाधिदेवव्यवहारप्रयोजकः, उपासनाफलप्रयोजकश्च मन्त्रमयदेवता, नयश्च समभिरूढनयभेदः, तदुपजीव्युपचारोपायमादाय सयतानामपि देवतानमस्कारौचित्यमित्यय सम्प्रदायाविरुद्धोऽस्माकं मनीषोन्मेषः । तत्सिद्धमेतत्-वीतरागोद्देशेन द्रव्यस्तवोऽपि भावयज्ञ एवेति ॥ ३४ ॥

भावापद्विनिवारणगुणेन कृतां स्थापनामेव द्रढयति-

सम्यग्दृष्टिरयोगतो भगवतां सर्वत्र भावापदं,
भेत्तुं तद्भवने तदर्चनविधिं कुर्वन्नदुष्टो भवेत् ।
वाहिन्युत्तरणोद्यतो मुनिरिव द्रव्यापदं निस्तरन्,
वैषम्यं किमिहेति हेतुविकलः शून्यं परं पश्यतु ? ॥ ३५ ॥

सम्यग्दृष्टिः भगवतां तीर्थकृताम्, अयोगतो विरहात्, सर्वत्र सर्वस्थाने भावापदं भेत्तुं तद्भवने भगवदायतने च तदर्चनविधिं विहितां भगवत्पूजां कुर्वन्नदुष्टो न दोषवान् भवेत्, क इव ?, द्रव्यापदमन्यतो विहारायोगरूपां निस्तरन्निस्तरणकामः,वाहिन्यां नद्यां तत्तदधिकार्यौचित्ये च तुल्यत्वादेकत्र नित्यत्वं, कारणनित्यत्वात्,अन्यत्र नैमित्तिकत्वं च,निमित्तमात्रापेक्षणादित्यस्योपपत्तेरिति । इतिः पर्यनुयोगे, हेतुविकलः प्रत्युत्तरदानासमर्थः, परं केवलं, शून्यं पश्यतु, दिग्मूढस्तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ ३५ ॥

वैषम्यहेतुमाशङ्क्य निराकरोति-

नो नद्युत्तरणे मुनेर्नियमनाद् वैषम्यमिष्टं यतः,
पुष्टालम्बनकं न तन्नियमितं किं तु श्रुते रागजम् ।
अस्मिन् सत्त्ववधे वदन्ति किल येऽशक्यप्रतीकारतां,
तैर्निन्दामि पिबामि चाम्भ इति हि न्यायः कृतार्थः कृतः ।३६।

मुनेः नद्युत्तरणे नियमनात् संख्यानियमाभिधानात् श्राद्धस्य पूजायां तदभावाद्वैषम्यमिष्टमिति नो नैव वाच्यं, यतः तन्नद्युत्तरणं पुष्टालम्बनकं ज्ञानादिलाभकारणं, न नियमितं, किं तु श्रुते सिद्धान्ते, रागजं रागप्राप्तम् इत्थमेव, नखनिर्दलनप्राप्तावघातनिषेधार्थप्रोक्षणविधेरिव रागप्राप्तनद्युत्तरणनिषेधार्थं, प्रकृतस्य नियमविधित्वोपपत्तेः । द्रव्यस्तवविधिस्तु गृहिणोऽपूर्व एवेति सामान्यायोगात्, पुष्टालम्बनं तु वर्षास्वपि ग्रामानुग्रामं विहारकरणमप्यनुज्ञातमिति कस्तत्र संख्यानियमः ?। तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्-"वासावासं पज्जोसवियाण नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा गामाणुगामं दूइज्जित्तए । पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ । तं जहा-णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चारित्तट्ठयाए आयरिअउवज्झायवासे वीसमेज्जा आयरियउवज्झायाणं वा बाहिया वेयावच्चकरणयाए त्ति" । तत्र च मालवादावेकदिनमध्येऽपि बहुधो नद्युत्तरणं संभवतीति ...

इ-अस्मिन्नद्युत्तरणे, सत्त्ववधे जलादिघाते येऽशक्यप्रतीकारतां वदन्ति तैः अम्भो जलं निन्दामि पिबामि चेति न्यायः कृतार्थः कृतः,सत्त्ववधमात्रस्य निन्दानद्युत्तरणसंभविनश्च तस्याश्रयणात् । शक्यं ह्येव प्रतिमार्चनेऽपि वक्तुम् । भक्तिसाधनीभूतपुष्पादिसत्त्ववधस्य शक्यपरिहारत्वात्तत्करणे तत्परिहारः शक्य इति चेत्,नद्युत्तरणे तज्जीववधपरिहारः शक्य इति तुल्यम् । साधुना कुलाद्यप्रतिबद्धेन विहारस्तावदवश्यं कर्तव्यः, स च नद्युत्तरणं विना न सम्भवतीत्यनन्यगत्यैव नद्युत्तरणमिति चेत्, साधुधर्माशक्तस्य श्राद्धस्याऽवश्यं कर्तव्या भगवद्भक्तिः प्रतिमाऽर्चनं विना न सम्भवतीत्यत्राप्यनन्यगतिः तुल्या । एतेनैकत्रैव प्रतिक्रमणस्यासाधकत्वात् "नइसंतरणे पडिक्कमइ" इत्यागमे तत्सिद्धेः । यदि स्वधिकाराज्ञानिरपेक्षेर्यापथिकयैव नदीप्राणवधशोधिकारी स्यात्तदा साधुदानोद्यतः श्राद्धोऽनाभोगादिना सचित्तस्पर्शमात्रेणाऽश्राद्धोऽपि तां प्रतिक्रम्य शुद्धः स्यात् । यथा प्रत्याख्यानस्य सर्वसावद्यानां साधूनां पानादिगतानेकजलादिजन्तुघातोत्पन्नं पातकमपाक्रियते, तथा गृहिणोऽनाभोगतः सचित्तस्पर्शमात्रजन्यपातकापाकरणमीषत्करमेवेति, संख्यानियमोऽपि न कल्पते । त्रिवारादिनिषेधे एकशब्दसत्त्वारविधायिनः एकजीववधपातकस्य वा परिहार्यत्वात्, शबलत्वनिषेधाय तदादरणस्याप्याज्ञामात्रशरणत्वात् । संख्यानियमेनैव पातकित्वे च सांवत्सरिकप्रतिक्रमणेऽतिप्रसंगः । किं च-लुम्पकाभिमते शास्त्रे क्वापीर्यापथिकी नद्युत्तारे नोक्ता, किं तु-"इत्थसयादागतु" इत्यादिनिर्युक्तिगाथयैवेति किमनेनाभिधानेनाम्रजालकल्पेन ?। अथ भगवतामेव नद्युत्तारे ईर्याप्रतिक्रान्तिर्न द्रव्यस्तवे इत्यत्र को हेतुरिति पृच्छामीति चेत्, यदि वक्रोऽसि तर्हि व्रतभङ्गजमहापातकशोधकस्याप्रतिपन्नशोधनेऽशक्तत्वान्मदातरुन्मूलकस्य तृणाश्रोन्मूलन इवेत्युत्तरमाकलय । वस्तुत ईर्यां प्रतिक्रम्यैव तद्विधानात् तत्र वर्त्तमानः श्रावकः साधुर्वा सचित्तादिसंघट्टे चर्यातोऽतिरिक्तामीर्यां प्रतिक्रामेत्, द्विविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानलक्षणस्य सामायिकपौषधादेस्त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानलक्षणस्य सामायिकच्छेदोपस्थापनीयादिचारित्रस्यातिचारलक्षणं मालिन्यं मा भूदित्यभिप्रायादित्यर्थः । तथेर्यापथिकस्य सामायिकाद्यङ्गत्वमन्येव न पुनरानुषङ्गिकं पृथिव्याद्यारम्भवद्धर्मानुष्ठानमात्रम्, अन्यथाऽभिगमनादावपि तदभिधानप्रसङ्गात् । अत एव कृतसामायिको मुनिरिव श्रावकः पुष्पादिभिर्जिनपूजां न करोतीति जिनाज्ञा, न पुनरितरोऽपि, कृतसामायिकस्य तदवाप्तपूर्तिकालं यावत्सचित्तादिस्पर्शरहितस्यैव व्रतपालकत्वात्, जिनपूजां चिकीर्षुस्तु सचित्तपुष्पादिवस्तून्युपादायैव तां करोति, तद्विना पूजाया एवाऽसम्भवात् । प्रति कार्यं कारणस्य भिन्नत्वादिति बोध्यम् । लोकेऽपि यथा गृहप्रवेशेऽभ्युपगमलक्षणं नापणप्रवेशे, तथा लोकोत्तरेऽपि सामायिकेऽर्थेऽजानानि याद्दृशादृशानि भावः।"अपमिकताए गरियावहिय न कप्पइ चेव किंचि काउं" इत्यत्र न किञ्चिदिति विशेषः, "एगमेव चेइयवंदणसज्झाए" इत्याग्रिमपदेनैव तदभिव्यक्तेरिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तीकृते नद्युत्तरणे दुष्टत्वं न्यायेन साधयति-

यन्नद्युत्तरणं प्रवृत्तिविषयो ज्ञानादिलाभार्थिनां,

दुष्टं तद् यदि तत्र कः खलु विधिव्यापारसारस्तदा ।
तस्मादीदृशकर्मणीहितगुणाऽधिक्येन निर्दोषतां,
ज्ञात्वाऽपि प्रतिमार्चनात् पशुरिव त्रस्तोऽसि किं दुर्मते! ।३७।

(यादिति) यद् ज्ञानादिथाप्रार्थिनां प्रवृत्तिविषयो नद्युत्तरणं, तद् यदि दुष्टं स्यात्तदा तत्र,खल्विति निश्चये,विधिव्यापारस्य विध्यर्थस्य सारः कः तात्पर्यं किम ?, विध्यर्थो हि बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं,पापे च बलवत्यनिष्टे जायमाने तत्र विध्यर्थबाधक एव स्यादित्यर्थः । तस्मादीदृशे अधिकायुंचिते, नद्युत्तारादिकर्मणि, ईहितस्येष्टस्य गुणस्याधिक्येन निर्दोषतां स्वरूपतः सावद्यत्वेऽपि बलवदनिष्टाननुबन्धितां विहितत्वेनैव ज्ञात्वाऽपि तदृष्टान्तेनैव चेतःशुद्धिसंभवात् । हे दुर्मते दुष्टबुद्धे ! प्रतिमार्चनात् पशुरिव किं त्रस्तोऽसि भयं प्राप्तोऽसि ?, विशेषदर्शितत्रासप्रयोजककुमतिनिरासस्यायं नाश इति भावः । प्रति० । (उत्सर्गापवादसूत्र पञ्चमहार्णवसूत्रं 'णईसंतार' शब्दे वक्ष्यते) अत्र हि संख्यानियमोऽपोद्धृतनस्य यतनया कल्पनाशतस्खलनाप्रयोजकत्वमिति यावत, परतस्त्वाज्ञाभङ्गानवस्थाभ्यां यतनयाऽपि न तथात्वमिति बोध्यम् । तदेवं पुष्पालम्बनेनापवादेऽपि त्रासौचित्यमिति स्थितम् ॥ ३७ ॥ प्रति० ।

दृष्टान्तान्तरेण समर्थनमाह-

गर्त्तादङ्गविघर्षणैरपि सुतं मातुर्यथाऽहेर्मुखात्,
कर्षन्त्या न हि दूषणं ननु तथा दुःखानलार्चिर्भृतात् ।
संसारादपि कर्षतो बहुजनान् द्रव्यस्तवोद्योगिन-
स्तीर्थस्फातिकृतो न किञ्चन मतं हिंसांशतो दूषणम् ॥ ३८ ॥

(गर्त्तादिति) यथा गर्त्ताद्विवरादतित्वरयाऽङ्गस्य विघर्षणैरपि कृत्वाऽहेर्मुखात्सर्पस्य वदनात्सुतं कर्षन्त्याः मातुर्न हि नैव,दूषणं, ननु निश्चये, तथा दुःखानलार्चिर्भृतादसुखानिलज्वालापूरितात् संसारादपि बहुजनान् बीजाधानद्वारेण कर्षतो द्रव्यस्तवे उद्योगिन उद्यमवतस्तीर्थस्फातिकृतो जिनशासनोन्नतिकारिणः हिंसांशतोऽपि हिंसांशेन न किञ्चन दूषणं मत, स्वरूपाहिंसाया दोषस्याबलत्वादुद्देश्यफलसाधनतयाऽनुबन्धतो दोषतादवस्थ्यात् ॥ ३८ ॥

एतत्समर्थितदृष्टान्तन्यायं प्रकृते योजयितुमाह-

एतेनैव समर्थिता जिनपतेः श्रीनाभिभूपान्वय-
व्योमेन्दोः सुतनीवृतां विभजना शिल्पादिशिक्षाऽपि च ॥
अंशोऽस्यां बहुदोषवारणमतिश्रेष्ठो हि नेष्टोऽपरो,
न्यायोऽस्तावपि दुर्मतद्रुमवनप्रोद्दामदावानलः ॥ ३९ ॥

(एतेनैवेति) एतेनोपदर्शितेन सुतकर्षणदृष्टान्तेनैव श्रीनाभिभूपस्य योऽन्वयो वंशस्तदेव व्योमाऽतिविशालत्वात्तत्रेन्दुः परमसौम्यलेश्यत्वाज्जगन्नेत्रासेचनकत्वात् च तस्य विशेषणेनैव भाविस्युपस्थितेर्विशेष्यानुपादानान्न न्यूनत्वम् । जिनपतेस्तीर्थकरस्य, श्रीऋषभदेवस्येत्यर्थः सुतनीवृतां सुतदेशानां विभजना विभज्य दानं, शिल्पादीनां शिक्षाऽपि च, प्रजानामिति शेषः । समर्थिता निर्दोषतयोपदर्शिता,नीवृत्त्वन्वितस्य सुतपदस्य शिक्षायां पृथगन्वये सुतेभ्य इत्यध्याहारावश्यकत्वेऽन्यथा विधेयाविमर्शदोषानुद्धारे सुष्ठु शोभना ता लक्ष्मीर्येनेति नीवृत्समानाधिकरणविशेषणमेव व्याख्येयम् । अस्या सुतनीवृद्विभजनायां शिल्पादिशिक्षायां च बहुदोषस्येतरथा मात्स्यन्यायेनान्यायप्रवृत्तिलक्षण-स्य वारणमतिश्रेष्ठोऽधिकारिणा भगवता अत्यन्तमभिप्रेतः,हि निश्चितमपरोऽन्योंऽशोऽनुपङ्गहिंसारूपो नेष्टः,उपेक्षित इति यावत् । तस्य स्वापेक्षयाऽबलवद्दोषत्वाज्ञावेन प्रवृत्त्यव्याघातकत्वादसावपि न्यायो निर्दृष्टलक्षण- दुर्मते द्रव्यस्तवानभ्युपगमे द्रुमवने वृक्षसमूहे प्रोद्दामः प्रवरतरो दावानलो दावाग्निः, एतन्मायोपस्थितौ प्रतीतस्यापि दुर्मतस्य त्वरितमेव भस्मीभावात्, द्रव्यस्तवेऽप्यधिकारिणो गृहिणो भक्त्युद्रेकेण बोधिलाभहेतुत्वस्यैवांशस्यैवेष्टत्वादितरस्योपेक्षणीयत्वादिति भावः । प्रति० ।

(११) महानिशीथाक्षराणि तत्प्रामाण्यज्ञापनपूर्वं दर्शयति-

किं योग्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां पूजासु पूज्या जगुः,
श्राद्धानां न महानिशीथसमये भक्त्या त्रिलोकीगुरोः ।
नन्दीदर्शितसूत्रवृन्दविदितप्रामाण्यमुद्राभृतो,
निद्राणेषु पतन्ति मिणिमिणमल्कास इवैता गिरः ॥ ४० ॥

(किं योग्यत्वमिति) किमकृत्स्नसंयमवतां देशविरतानां श्राद्धानां भक्त्याऽतिशयेन रागेण त्रिलोकीगुरोस्त्रिभुवनधर्माचार्यस्य पूजासु पुष्पादिनाऽर्चनेषु पूज्या गणधरा महानिशीथसमये महासिद्धान्ते योग्यत्वं न जगुः ?, अपि तु जगुरेव । प्रति० ।

दव्वत्थवओ ऊ भाव-त्थवं तु दव्वत्थओ बहुगुणो भवउ ।
तम्हा बुहजणबुद्धी-हिं ठकायहियं तु गोयमाऽणुट्ठे ॥
अकासिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
जे कसिणसंजमविऊ, पुप्फादीयं न कप्पए तेसिं ॥
किं मन्ने गोयम ! ए-सा वित्ती सदाणुट्ठिए जम्हा ।
तम्हा उभयं पि अणु-ट्ठिज्जेत्थं न बुज्जसी विणओ ॥
गामावंतं तेसिं, जावत्थवऽसंभवो तह य ।
भावच्चणा य उत्तम, दसन्नभद्देणुयाहरणं ॥
तह चेव चक्कहरभा-णुससिदत्तदमगादिहि विणिदेसो ।
पुच्छं ते गोयम ! ता-व जं सुरिंदेहिँ भत्तीओ ॥
सव्विड्ढिएँ अणण्णसा-मपूयासक्कारए कए ।
ता किं तं सव्वसावज्जं, तिविहं विरएहिँऽणुट्ठियं ॥
उआहु सव्वथामेसु, सव्वहाऽविरएसु उ ।
भयवं ! सुरवरिंदेहिं, सव्वथामेसु सव्वहा ॥
अविरइएहि सुनच्चीए, पूयासक्कारए कए ।
जइ एवं तओ बुज्ज,! गोयमा ! मनिसेसयं ॥
देसविरयऽविरयाणं, विणिओगमुभयत्थविसयमेव ।
सव्वतित्थंकरेहिं, जं गोयम ! संसमायरियं ॥
कसिणट्ठकम्मखयका-रियं तु जावत्थयमणुचिट्ठे ।
जवती उ गमागमजं, तु फरिसणाइ पमद्दणं तत्थ ॥
सपरहिओवरयाणं, ण मणं पि पवत्तए तत्थ ।
ता सपरहिओवरएहिं सव्वहा णेसियव्वं विसेसं ॥
जं परमसारचूयं, विसेसवंतं च अणुट्ठेयं ।
ता परमसारभूयं, विसेसवंतं * च साहुवग्गस्स ॥
एगंतहियं पत्थ, सुहावहं पय परमत्यं ।

* ' अणुवयवग्गस्स ' इत्यपि पाठः ।

तं जह मेरुतुंगे, मणिमंमए कंचणमए परमरम्मे ॥
नयणमणाणंदकरे, पभूयविन्नाणसाइसए ।
सुसिलिट्ठविसिट्ठसुल-ट्ठछंदसुविभत्तए सुणीवेसे ॥
बहुसिहरगतघंटा-द्धयाउले पवरतोरणसणाहे ।
सुविसाले सुविथिन्ने, पए पए पिच्छियव्वएँ सिरीए ॥
मघमघंतडज्जं-तअगरुकप्पूरचंदणामोए ।
बहुविहविचित्तबहुपु-प्फमाइपूयारिहे सुपूए य ॥
णच्चपरिचरणाउय-सयाउले महुरसुखसद्दाले ।
कुट्टंतरासजणसय-समाउले जिणकहाखितचित्ते ॥
पकहंतकहगणच्चं, तत्थगतं जब्बनिग्घोसे ।
एमादिगुणोवेए, पए पए सव्वमेइणीवट्टे ॥
नियभुयनिविट्ठपुब्ब-त्थिएण नायागएण अत्थेणं ।
कंचणमणिसोपाणे, थंभसहस्सूसिए सुवन्नतले ॥
जे कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि तवसंजमो अणंतगुणो ।
तवसंजमेण बहुभव-समज्जियं पावकम्ममललेवं ॥
निट्ठविऊणं अइरा, अणंतसोक्खं वए मोक्खं ।
काउं जिणायणेहिं, सुमंमियं सव्वमेइणीवट्टं ॥
दाणाइचउक्केणं, सुट्ठु वि गच्छेज्ज अच्चुयं न परं । महा० ३ अ० ।

उभयत्र-द्रव्यस्तवे भावस्तवे चेत्यर्थः । नन्द्यां नन्दीसूत्रे, दर्शितं यत् सूत्रवृन्दं, तन्मध्ये विदिता प्रसिद्धा या प्रामाण्यमुद्रा महानिशीथप्रमाणत्वाद्यै, तद्बिभ्रति याहश्यः, एताः सम्प्रदायसार्वभौमाना गिरः, निद्राणेषु सुतप्रमत्तेषु, डिण्डिमस्य पटहस्य, मत्कारा इव पतन्ति । यथा-गाढसुप्ताः परिमोषिण आकस्मिकभयङ्करभेरीभाङ्कारशब्दश्रवणेन सर्वस्वनाशोपस्थित्या कान्दिशीका भवन्ति, तथोक्तमहानिशीथशब्दश्रवणेन लुम्पका अपीति । न च वाङ्मात्रेण महानिशीथमप्रमाणमित्यपि तैर्वक्तुं शक्यम् यत्र सूत्रे आचारादीनि प्रमाणतया दर्शितानि तत्रैव महानिशीथस्यापि दर्शनात्, अतो विरोधस्य च बहुषु स्थानेषु दर्शनाद्विवेकिनः समाधिसौकर्यस्य च सर्वत्र तुल्यत्वादिति ॥४०॥

अभ्युच्चयमाह-

यद्दानादिचतुष्कतुल्यफलतासंकीर्तनं या पुन-
र्द्वौ श्राद्धस्य परो मुनेः स्तव इति व्यक्ता विभागप्रथा ।
यच्च स्वर्णजिनौकसः समधिकौ प्रोक्तौ तपःसंयमौ,
तत्सर्वं प्रतिमाऽर्चनस्य किमु न प्राग्धर्मताख्यापकम् ॥४१॥

यत् दानादिचतुष्कस्य दानादिचतुष्टयस्य, तुल्यफलतायाः संकीर्तनं, या पुनः द्वौ द्रव्यस्तवभावस्तवौ, श्राद्धस्योचितौ, परो भावस्तव एक एव मुनेः साधोरिति व्यक्ता विभागस्य प्रथा विस्तारः । यत् स्वर्णजिनौकसः सुवर्णजिनभवनकारणोत्कृष्टद्रव्यस्तवादपि, तपःसंयमौ समधिकौ प्रोक्तौ, तत्सर्वं प्रतिमार्चनस्य किमु प्राग्धर्मतायाः भावस्तवेनानुचीयमानधर्मतायाः, ख्यापकं सूचकं न ?, अपि तु ख्यापकमेव । उत्कृष्टनभावधेरुत्कृष्टनरस्यैव युक्तत्वात् हीनाद्यधिकोत्कर्षोक्तेरस्तुतित्वात्, नहि सामान्यजनाद्याधिक्यवर्णनेन चक्रवर्तिनः स्तुतिः, अपि तु महानरपतेरिति । अक्षराणि च-" भावच्चणमुग्गविहा-रया य दव्वच्चण तु जिणपूजा ।
पढमा जइ ण दुण्णि वि, जइयं पढमं चिय पसत्था ॥
कंचणमणिसोपाणे, थंभसहस्सूसिए सुवण्णतले ।
जो कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि संजमतओ अणंतगुणो ॥
तवसंजमेण बहुभव-समज्जिअं पावकम्ममलपवहं ।
निट्ठविऊणं अइरा, सासयसुक्खं वए मुक्खं ॥
काउं जिणायणेहिं, सुमंमिअं सयलमेइणीवट्टं ।
दाणाइचउक्केणं, सुट्ठु वि गच्छिज्ज अच्चुयं न पर " ॥
न च प्रथमाया एव प्रशस्तत्वाभिधानेनाद्याया अप्रशस्तत्वादनादरणीयत्वम्, एवं सति "सारो चरणस्स निव्वाण" इत्यभिधानान्मोक्षस्यैव सारत्वाभिधानाच्चारित्रस्याप्यनादरणीयताऽऽपत्तेः। सारोपायत्वेन सारत्वं तत्राविरुद्धमिति चेत्, प्रशस्तभावाचार्योपायत्वेन द्रव्यार्चाया अपि प्राशस्त्यादादरणीयत्वाक्षतेः ॥ ४१ ॥

महानिशीथेऽसदुक्त्याऽप्रामाण्याऽभ्युपगमं, कुमतिनो दूषयन्नाह-

प्रामाण्यं च महानिशीथसमये प्राचामपीत्यप्रियं,
यत्तुर्याध्ययने न तत्परिमितैः केषाञ्चिदालापकैः ।
वृद्धास्त्वाहुरिदं न सातिशयमित्याशङ्कनीयं क्वचित्,
तत्किं पाप! तवापदः परगिरां प्रामाण्यतो नोदिताः? ॥४२॥

(प्रामाण्यमिति) महानिशीथसमये प्राचामपि प्राचीनयुष्मत्सांप्रदायिकानां प्रामाण्यम् इति वचः अप्रियमरमणीयं, यत् यस्मात्तुर्याध्ययने केषाञ्चिदाचार्याणां परिमितैर्द्वित्रैरालापकैस्तत्प्रामाण्यं नास्ति ! वृद्धास्त्वाहुः-इदं महानिशीथं सातिशयं, अतिप्रभावमतिगम्भीरार्थं चेति क्वचिदपि स्थले नाशङ्कनीयम्, तस्मात्कारणात् हे पाप ! परगिरामुत्कृष्टवाचामस्मत्सम्प्रदायवृद्धानां प्रामाण्यतः प्रामाण्याभ्युपगमे तवापदो नोदिताः ?, अपि तूदिता एव । अभ्युपगमसिद्धान्तस्वीकारे च तन्त्रसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गादजां निष्काशयतः क्रमेलकागमन्यायापातात् । तथा चोक्तं चतुर्थाध्ययनप्रान्ते-अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैद्धान्तिकाः केचिदालापकान्न सम्यक् श्रद्दधत्येव तैरश्रद्दधानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धानमित्याह हरिभद्रसूरिः, न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्ययनम्, अन्यानि वाऽध्ययनानि, अस्यैव कतिपयैः परिमितैरालापकैरश्रद्धानमित्यर्थः । यतः स्थानसमवायजीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु किञ्चिदेवमाख्यातं यथा प्रतिसंतापस्थलमस्ति, तद्गुहावासिनश्च मनुजास्तत्र च परमाधार्मिकाणां पुनः पुनः सप्ताष्टवारान् यावदुपपातः, तेषां च नैर्दारुणैर्वज्रशिलाघरट्टसंपुटैर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत्प्राणव्यापत्तिर्न भवतीति । वृद्धवादस्तु पुनर्यथा-तावदिदमार्षं सूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रभूताश्चात्र श्रुतस्कन्धेऽर्थाः सुष्ठ्वतिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चैव वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयमिति । विरोधमानं च वेदनीयस्य जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्तराध्ययनेषूक्ता, प्रज्ञापनायां तु द्वादश मुहूर्त्ता इत्यादौ सम्भवन्त्येव " हेऊदाहरणासम्भवे वि " इत्यादिना प्रामाण्याभ्युपगमोऽप्युभयत्र तुल्य इति दिग् ॥ ४२ ॥

महानिशीथ एवाऽन्यथा वचनमाशङ्कते-

भ्रष्टैश्चैत्यकृतेऽर्थितः कुवलयाचार्यो जिनेन्द्रालये,
यद्यप्यस्ति तथाऽप्यदः सतम इत्युक्त्वा भवं तीर्णवान् ।
एतत्किं नवनीतसारवचनं नो मानमायुष्मतां,
यत् कुर्वन्ति महानिशीथवदतो द्रव्यस्तवस्थापनम्? ॥४३॥

भ्रष्टैर्लिङ्गमात्रोपजीविभिः, चैत्यकृते स्वाभिमतचैत्यालयसम्पाद-

नाय अर्थितः कुवलयाचार्यः,'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्'कुवलयप्रभाचार्यः-यद्यप्येतच्चैत्यालये वक्तव्यमस्ति तथाऽपि सतमः सपापम्, इत्युक्त्वा, एवं संसारार्णवं तीर्णवान्, एतत् किं नवनीतसाराध्ययनवचनम्, आयुष्मतां प्रशस्तायुषां भवतां, नो मानं न प्रमाणं ?, यन्महानिशीथबलतः महानिशीथमवगण्य, द्रव्यस्तवस्थापनं कुर्वन्त्यायुष्मन्तः। यत्र हि वाङ्मात्रेणापि द्रव्यस्तवप्रशंसनं निषिद्धं, तत्र कथं तत्करणकारणादि विहितं भविष्यतीति ॥ ४३ ॥

उत्तरयति—

भ्रान्त ! भ्रान्तधिया किमेतदुदितं पूर्वापरानिश्चयात्,
येन स्वभ्रमक्लृप्तचैत्यममता मूढात्मनां लिङ्गिनाम् ।
उन्मार्गेस्थिरता न्यषेधि न पुनश्चैत्यस्थितिः सूरिणा,
वाग्भङ्गी किमु यद्यपीति न मुखं वक्रं विधत्ते तव ? ॥४४॥

हे भ्रान्त ! विपर्ययाभिभूत ! पूर्वापरग्रन्थतात्पर्यानिश्चयात् भ्रान्तधिया हीनबुद्ध्या, त्वयैतत्किमुदितं कुत्सितमुक्तम् ? । येनोक्तवचनेन, स्वभ्रमक्लृप्तानि यानि चैत्यानि तेषु या ममता तत्र मूढ आत्मा येषां ते तथा, तादृशां लिङ्गिनां, सूरिणा कुवलयाचार्येण, मनसि निश्चितचैत्यकर्त्तव्यतागोचरतत्प्रतिज्ञां गलहस्तयता उन्मार्गस्थिरता अनायतनप्रवृत्तिदार्ढ्यं न्यषेधि, न पुनश्चैत्यस्थिति' सम्यग्भाविचैत्यप्रवृत्तिव्यवस्था, इहार्थे यद्यपीति वाग्भङ्गी वचनरचना, किमु तव मुखं वक्रं न विधत्ते ?, अपि तु विधत्त एव। अप्राकरणिकस्य सचोद्यमुखवक्रीकरणस्य कार्यस्याभिधानेन प्रकृतवक्रोक्त्यभिधानादप्रशंसालङ्कारः। "अप्रस्तुतप्रशंसा तु, या सैव प्रस्तुताश्रया॥"इति लक्षणम्। तथा च-"जइ वि जिणालयं तह वि सावज्जमिणं।" न स्वभावतश्चैत्यस्थितेर्दुष्टत्वमाह, किं तु सर्वप्रवृत्त्युपाधिनेत्येव श्रद्धेयम्, न हि यद्यपि पायसं तथाऽपि न भक्ष्यमिति वचनं विषमिश्रताद्युपाधिसमावेशं विनोपपद्यत इति भावनीयं सूरिभिः ॥ ४४ ॥

एवं व्याख्यातमेवान्यत्रापि सूत्रस्य निःशङ्कितत्वकरणेन प्रमाण्यासार्थकतोपपत्तिरित्यनुशास्ति—

यत्कर्मापरदोषमिश्रिततया शास्त्रे विगीतं भवेत्,
स्वाभीष्टार्थलवेन शुद्धमपि तल्लुम्पन्ति दुष्टाशयाः ।
मध्यस्थास्तु पदे पदे धृतधियः संबन्ध्य सर्वं बुधाः,
शुद्धाशुद्धविवेकतः स्वसमयं निःशल्यमातन्वते ॥४५॥

(यत्कर्मेति) यत्कर्म स्वरूपतः शुद्धमपि अपरदोषेण मिश्रिततया शास्त्रे विगीतं निषिद्धं भवेत् तत् स्वाभीष्टार्थलवेन स्वाभिमतार्थलेशप्राप्त्या शुद्धमपि दुष्टाशया लुम्पन्ति, छिद्रान्वेषिणामीदृशो बलस्य सुलभत्वात्, यथा वेदोद्वेगादिदोषमिश्रितमावश्यकादि निषिद्धमिति दुष्पालत्वादावश्यकमेवेदंयुगीनानामकर्तव्यमित्याध्यात्मिकादयो वदन्ति । विधिभक्तिविकलो द्रव्यस्तवो निष्फलः स्यात्तदाह-" जं पुण एयविउत्तं, एगतेणेव भावसुण्ण ति। त वि समयम्मि णितओ, भावत्थवहेउओ णेय" ॥ १ ॥ यदनुष्ठानम्, एतदौचित्य भावे बहुमानविषयेऽपि वीतरागेऽपि विधीयमानं तको द्रव्यस्तवः, तथा प्रकृतेऽपि मठमिश्रितदेवकुलादिकं नाचार्येणानुमतम् इत्यादिकं पुरस्कृत्य द्रव्यस्तव एव न कार्यमिति लुम्पका वदन्ति । मध्यस्थास्तु गीतार्थाः, पदे पदे स्थाने स्थाने, धृतधियः समुखीकृतविमर्शाः, सर्वं ग्रन्थं, शनैः शनैः मन्दं मन्दं, श्रोत्रे प्रज्ञाऽनुसारेण संबन्ध्य शुद्धाशुद्धयोर्विवेको विनिश्चयः,ततः स्वसमयं स्वसिद्धान्तं निःशल्यं शल्यरहितमातन्वते तात्पर्यविवेचनेन सूत्रं प्रमाणयन्ति, न तु शङ्कोद्भावनेन मिथ्यात्वं वर्द्धयन्तीति भावः ॥ ४५ ॥

एतेन प्रदेशान्तरविरोधोऽपि परिहृत इत्याह—

तेनाकोविदकल्पितश्चरणभृद्यात्रानिषेधोद्यत—
श्रीवज्रार्यनिदर्शनेन सुमुनेर्यात्रानिषेधो हृतः ।
स्वाच्छन्द्येन निवारिता खलु यतश्चन्द्रप्रभस्याऽऽनतिः,
प्रत्यज्ञायि महोत्तरं पुनरियं सा तैः स्वशिष्यैः सह ॥४६॥

(तेनेति) तेनोक्तहेतुना कोविदेन तात्पर्यज्ञेन कल्पितश्चरणभृतां यात्रानिषेधे उद्यता ये श्रीवज्रार्याः श्रीवज्रसूरयस्तेषां निदर्शनेन दृष्टान्तेन सुमुनेः सुसाधोः यात्रानिषेधो हृतो निराकृतः; यतस्तत्र ग्रन्थे स्वाच्छन्द्येनाज्ञारहिततया गुरुभिः चन्द्रप्रभस्य चन्द्रप्रभस्वामिन आनतिर्निषिद्धा,महोत्तरं सङ्ख्यातोत्सवनिवृत्त्यनन्तरं, पुनरियं चन्द्रप्रभयात्रा तैराचार्यैः, स्वशिष्यैः सह, प्रत्यज्ञायि कर्त्तव्येति प्रतिज्ञाविषयी कृता । अत्राऽप्यविधियात्रानिषेधमेवोपश्रुत्य यात्रामात्रं मूढैर्निषिद्धं तद् दूषितं तात्पर्यज्ञैरिति बोध्यम् । प्रति० (अत्र सावद्याचार्यवज्राचार्यसम्बन्धौ श्रोतॄणामुपकाराय महानिशीथगतावभिधास्येते 'सावज्जायरिअ' शब्दे)
" कुवलयप्रभवज्रमुनीशयो—श्चरितयुग्ममिदं विनिशम्य भोः ।
कुमतिभिर्जनितं मतिविभ्रमं, त्यजत युक्तमयुक्तविभाव—
काः ॥ १ ॥ " प्रथमे ह्यनधिकारिकर्तृकत्वविशिष्टचैत्यप्रवृत्त्यनुमोदने तात्पर्यं, द्वितीये चाविधियात्रानिषेध इति । न च यात्रायामेवासंयमाभिधानात्तन्मात्रनिषेधे स्वस्थानावधिकर्तार्थप्रासिफलकव्यापाररूपायास्तस्या निषेधे संयतसार्थेन तन्निषेधापत्त्या संयतसार्थेन तन्निषेधस्यैव फलितत्वात्, अत एव साधूनामवधानभूतां कदालम्बनीभूतैव चैत्यभक्तिश्चैत्यवासिनामावश्यकेऽपि निषिद्धा ।
" नीया वासविहारं, चेइअभत्तिं च अज्जियालाभं ।
विगइसु अप्पमियंधं, निद्दोस चोइआ विंति ॥
चेइअकुलगणसंघ, अन्नं वा किंचि काउ निस्साणं ।
अहवा वि अज्जवइरं, तो सेवंती अकरणिज्जं " ॥ इत्यादि ।
तस्मादावश्यकमहानिशीथाद्येकवाक्यतया साधुलिङ्गस्यैव चैत्यभाक्तिर्निषिद्धा, श्राद्धानां तु शतशो विहितैवेति श्रद्धेयम् ॥ ४६ ॥

सिंहावलोकितेन विम्बनमनानुकूल्यापारे यात्रापदार्थबोधमाशङ्क्य परिहरति—

नो यात्रा प्रतिमानतिर्व्रतभृतां साक्षादनादेशनात्,
तत्प्रश्नोत्तरवाक्य इत्यपि वचो मोहज्वरावेशजम् ।
मुख्यार्थैः प्रथिता यतो व्यवहृतिः शेषान् गुणान् लक्षयेत्,
सामग्र्येण हि यावताऽस्ति यतना यात्रा स्मृता तावना ।४७।

(नो इति) प्रतिमानति' यात्रा न भवति । केषाम् ?, व्रतभृतां चारित्रिणाम्। कुतः?,तत्प्रश्नोत्तरवाक्ये शुकसोमिलादिकृतयात्राप्रदार्थप्रश्नानां थावचापुत्रभगवदाद्युत्तरवाक्ये साक्षात्कण्ठपाठेनाऽनादेशनात् विम्बप्रणतेरनुपदेशात्, इत्यपि वचः, कुमतीनां मोहरूपो यो ज्वरस्तदावेशस्तत्पारवश्यप्रलापजनितम्, यतः मुख्यार्थैः प्रथिता प्रसिद्धा, व्यवहृतिः शब्दप्रयोगरूपा, शेषान् उक्तावशिष्टान् गुणान् लक्षयेत्। हि यतः, यावता सामग्र्येण

यावत्या सामग्र्या, यतना भवति तावता यात्रा स्मृता । तथा च-"किं ते भंते ! जत्तासु आगमे तवणियमसंजमसज्झायज्झाणावस्सयमाइसु जयणा " इत्यत्रादिपदस्वरसात् यत्याश्रमोचितयोगमात्रयतनायां यात्रापदार्थो लभ्यते । यथा " परेषां यत्नेन" इत्यादिसूत्र शतपथाविहितकर्मवृन्दोपलक्षकम, अत एव सोमिलप्रश्नोत्तरे यथाश्रुतार्थबोधे फलोपलक्षकत्व व्याख्यातम। तथा चात्र भगवतीवृत्तिः-एतेषु च यद्यपि भगवतो न तदानीं किञ्चिदस्ति तथाऽपि तत्फलसद्भावात्तदस्तीत्यवगन्तव्यमिति । अय च एवंभूतनयार्थः, प्रागुक्तस्तु शब्दसमभिरूढयोरिति विवेक. ॥ ४७ ॥

साक्षादादेशगतिमप्याह-

वैयावृत्यतया तपो भगवतां भक्तिः समग्राऽपि वा,
वैयावृत्यमुदाहृतं हि दशमे चैत्यार्थमङ्गे स्फुटम् ।
नैतत् स्यादशनादिनैव भजनाद्वाराऽपि किं त्वन्यथा,
सङ्घादेस्तदुदीरणे वत कथं न व्याकुलः स्यात्परः ? ॥४८॥

वा अथवा, समग्राऽपि सर्वाऽपि, भगवतां भक्ति' कृतकारितानुमतिरूपा,स्वाधिकारौचित्येन तप एव, तथा च तप.पदेन यात्रायाः साक्षादुपदेश एवेति भावः। वैयावृत्यत्वमस्याः कुत सिद्धमत आह-हि निश्चितं, दशमेऽङ्गे प्रश्नव्याकरणाख्ये, स्फुटं प्रकटं, चैत्यार्थं वैयावृत्यमुदाहृतम । तथा च तत्पाठः-"अह केरिसए पुणाऽऽइ आराहए वयमिणं ?। जे से उवहिभत्तपाणदाणसंगहणकुसले अच्चतबालदुब्बलगिलाणवुड्ढखवगपवित्तिआयरियउवज्झायसेहसाहम्मियतवस्सिकुलगणसंघचेइयट्ठो णिज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सिय दसविहं बहुविह पकरेइ त्ति "। (अह केरिसए त्ति) अथ परिप्रश्नार्थः, कीदृशः पुन' "आइ ति" अलंकारे, आराधयति व्रतमिदम ?। इह प्रश्ने उत्तरमाह-"जे से" इत्यादि। योऽसावुपधिभक्तपानानां दान च सग्रहणं च, तयोः कुशलो विधिज्ञेय., स तथा,बालश्चेत्यादे' समाहारद्वन्द्वः। ततोऽत्यन्तं यद् बालग्लानवृद्धक्षपकं तत्तथा । तत्र विषये वैयावृत्यं करोतीति योगः। तथा प्रवर्त्तयत्याचार्योपाध्याये, इह द्वन्द्वैकत्वात्प्रवृत्यादिषु, तत्र प्रवृत्तिलक्षणमिदम-"तवसंजमजोगेसुं, जो जुग्गो तत्थ त पवत्तेइ। असहू य णियत्तेई,गणतत्तिल्लो पवित्ती तो"।१। व्य०१ उ०। इतरौ प्रतीतौ,तथा 'सेहे' शैक्षेऽभिनवप्रव्राजिते, साधर्मिके समानधर्मिके लिङ्गप्रवचनाभ्या, तपस्विनि चतुर्थभक्तादिकारिणि, तथा कुलं गणसमुदायरूप चान्द्रादिकं, गणः कुलसमुदाय. कोटिकादिक', सङ्घस्तत्समुदायरूप , चैत्यानि जिनप्रतिमाः, एतासां योऽर्थ. प्रयोजन स तथा । तत्र निर्जरार्थी कर्मक्षयकामः, वैयावृत्य व्यावृतकर्मरूपमुपष्टम्भनमित्यर्थ. । अनिश्रितं कीर्त्यादिनिरपेक्षं, दशविध दशप्रकारम । आह-

" वेयावच्चं वावड-भावो इह धम्मसाहणणिमित्तं ।
अन्नाइआण विहिणा, संपायणमेस भावत्थो ॥
आयरियउवज्झाए, थेरतवस्सीगिलाणसेहाणं ।
साहम्मियकुलगणसं-घसगयं तद्दनिहायव्वं " ॥

बहुविध भक्तपानादिदानभेदेनानेकप्रकार करोतीति वृत्तिः । ननु चैत्यानि जिनप्रतिमा इत्यत्र वृत्तिकृतोक्त,परं विचार्यमाण न युक्तम्,अशनादिसंपादनस्यैव वैयावृत्यस्योक्तत्वेन प्रतिमासु तदर्थायोग्यत्वात् । अत आह-न एतद्वैयावृत्यम्, अशनादिनैवाशनादिसंपादनेनैव स्यादिति तर्त्कि तु भजनाद्वाराऽपि भक्तिद्वारेणाऽपि प्रत्यनीकनिवारणरूपे भक्तिव्यापारेऽपि "जक्खाहु वेयावडियं करेंति, तम्हाहु एए निहया कुमारा । " इत्यादौ वैयावृत्यवादप्रयोगस्य सूत्रे दर्शनान्न वादिपदग्राह्य पानादिकमेव, किं तु भक्त्यादिकमपि । अत एव तपस्व्यादीनां तपोयोगप्रभृतिकालेऽशनादिसंपादनस्यायोगाद्भक्त्याद्युचितनित्यव्यापारसंपादनसंभवाभिप्रायेण योगविभागात्समासः, बालादीनां शैक्षसाधर्मिकयोश्च कथञ्चित्तुल्यतयेति भावनीयम् । एतदेवाह-अन्यथोक्तवैपरीत्ये, सङ्घादेस्तदुदीरणे वैयावृत्योच्चारे,पर. कुमति', कथं न व्याकुलो व्यग्रः स्यात, कुलगणसङ्घादीनां सर्वेण सर्वदा सामग्र्येणाशनादिसंपादनस्य कर्तुमशक्यत्, यावदूबाधं प्रामाण्यं तुभ्यत्र वक्तु शक्यमिति दिक् ॥ ४८ ॥

अर्थान्तरवादमाधिकृत्याह-

ज्ञानं चैत्यपदार्थमत्र वदतः प्रत्यक्षबाधैकतो,
धर्मिद्वारतया मुनावधिकृते त्वाधिक्यधीरन्यतः ।
दोषायेति परः परःशतगुणप्रच्छादनात्पातकी,
दग्धां गच्छतु पृष्ठतश्च पुरतः कां कान्दिशीको दिशम् ? ४९

(ज्ञानमिति) अत्र प्रश्नव्याकरणप्रतीके, चैत्यपदार्थे ज्ञान वदतो लुम्पकस्यैकस्मिन्पक्षे प्रत्यक्षबाधा प्रत्यक्षप्रमाणबाध , परिदृष्टविश्रामणादिवैयावृत्यस्य ज्ञानेऽनुपपत्तेः। धर्मिद्वारतया धर्मिणि धर्मोपचाराभिप्रायेण, मुनौ साधौ, अवधिकृते वत्साग्रहीते तु, अन्यत पक्षान्तरे,आधिक्यधीर्दोषाय, मुनेर्बालादिपदैर्गृहीतत्वाच्चैत्यपदस्य पौनरुक्त्यमित्यर्थ. । चैत्यपदेनोपचारस्याप्ययोगात,एवं सति चैत्यार्थपदस्य चैत्यप्रयोजनममुना चार्थान्तरसङ्क्रामितवाच्यताया एव युक्तत्वात् । "चेइयकुलगणसंघे, आयरियाण च पवयणसुए अ । सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमतेण" ।१। इत्यादिना तपःसंजमयोः चैत्यप्रयोजनप्रयोजकत्वस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात बालादिपदैकवाक्यतया चैत्यपदस्यैककार्यत्वसङ्गत्यैव ग्रहणौचित्यात् । उपसंहरति-इत्येवं, परः कुमति ,पर.शतानां गुणानां चैत्यशब्दनिर्देशप्रयुक्तानां, प्रच्छादनाभिद्रवात्पातकी दुरितवान्, कान्दिशीको भयद्रुतः सन्, पृष्ठतः पुरतश्च दग्धां का दिशं गच्छतु मिथ्याभिशङ्की ?, न कुत्राऽपि गच्छतीति भावः। अत्र दग्धादिग्त्वेन पूर्वोत्तरपक्षद्वयाध्यवसानादतिशयोक्ति. ॥ ४९ ॥

(१२) निश्चितार्थेऽनुपपत्तिमाशङ्क्यनिराकरोति-

वैयावृत्यमथैवमापतति वस्तुर्ये गुणस्थानके,
यस्माद्भक्तिरनङ्कुरा भगवतां तत्रापि पूजाविधौ ।
सत्यं दर्शनलक्षणेऽत्र विदितेऽनन्तानुबन्धिव्ययात् ,
नो हानिं त्वयि निर्मलां धियमिव प्रेक्षामहे कामपि ॥५०॥

(वैयावृत्यमित्यादि) अथैवं चैत्यभक्तेर्वैयावृत्यत्वेन, व युष्माकं,तुर्ये चतुर्थे गुणस्थानके,वैयावृत्यमापतति प्रसज्यते,यस्मात्तत्र भगवतामर्हतां,पूजाविधौ विहितार्चनेऽनङ्कुराऽव्याप्या भक्तिर्वर्तते । सत्यमित्यर्द्धाङ्गीकारे, अत्र चतुर्थगुणस्थानके,दर्शनलक्षणे सम्यक्त्वलक्षणीभूते वैयावृत्ये विदिते "सुस्सूसधम्मरागो, गुरुदेवाण जहा समाहीए। वेयावच्चे णियमो, वा परिवत्ती असमणाओ"।१। इत्यादिप्रसिद्धेऽनन्तानुबन्धिनां व्ययात क्षयोपशमाच्च कामपि हानिं प्रेक्षामहे । कुत्र कामिव, त्वयि निर्मलां नि शङ्कितां धियमिव बुद्धिमिव, यथा त्वयि निर्मलां धियं न प्रेक्षामहे,

तथाऽसङ्गुक्तार्थे न हानिं प्रेक्षामहे इत्युपमा। चारित्रमोहनीयभेदादनन्तानुबन्धिव्ययजायमानस्य वैयावृत्यगुणस्याविरतसम्यग्दृशामपि सम्भवे बाधकाभावादित्यर्थः ॥ ५० ॥

तथा सति तेषां चारित्रलेशसंभवेऽविरतत्वानुपपत्तिरेव बाधिकेत्यत्राह—

श्राद्धानां तपसः परं गुणतया सम्यक्त्वमुख्यत्वतः,
सम्यक्त्वाङ्गमियं तपस्विनि मुनौ प्राधान्यमेषाऽश्नुते।
धीर्लीलाङ्गतयोपसर्जनविधां धत्ते यथा शैशवे,
तारुण्ये व्यवसायसंभृततया सा मुख्यतामञ्चति ॥५१॥

श्राद्धानां दर्शनश्रावकाणां, परं केवलं, तपसो गुणतया मनुष्यतया, इयं भक्तिः, सम्यक्त्वाङ्ग सम्यक्त्वप्रधानस्याङ्गीभूता, सम्यक्त्वफलेनैव फलवतीत्यर्थः । फलवत्संनिधानफल तदङ्गमिति न्यायात्, तथा च तावता नाविरतत्वहानिः, कार्षापणमात्रधनेन धनवानेकगोमात्रेण गोमानिति पञ्चाशकवृत्तावभयदेवसूरयः। कषायविशेषव्यय एवाविरतत्वहानिप्रयोजको,न तु प्रथमानुदयमात्रं , तेनापेक्षिकोपशमादीनां सम्यक्त्वगुणानामेव जनकत्वादिति निष्कर्षः । आह-" पढमाणुदयाभावो , एअस्स जओ भवे कसायाणं । ता कह एसो एव , भण्णइ य ताजियसवेरवाइ त्ति " ॥ १ ॥ प्रधानीभूतास्तूपशमादयोऽपि चारित्रिण एव घटन्ते । तदाह-"णिच्छयसम्मत्तं वा-गिहिस्स सुत्तभणियतिउणरूवं तु। एवंविहो णिओगो, होइ इमेहिं तवन्नु त्ति" ॥१॥इति विंशिकायाम् । एतदेवाभिप्रेत्याह-तपस्विनि प्रधानतपोयुक्ते, मुनौ चारित्रिणि, एषा भक्तिः प्राधान्यं प्राप्नोति। अत्र दृष्टान्तमाह-यथा शैशवे बाल्ये धीर्बुद्धिः लीलायाः प्रधानीभूतायाः क्रीडायाः अङ्गतया उपसर्जनविधां गौणभावं धत्ते, तारुण्ये यौवनकाले च सा बुद्धिः, व्यवसायसंभृततया बलपराक्रमसध्रीचीनतया, मुख्यतां मुख्यभावमञ्चति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

अत्र सूत्रनीत्या हिंसामाशङ्क्योद्वेगमभिनयति परः-

अर्थं काममपेक्ष्य धर्ममथवा निघ्नन्ति ये प्राणिनः,
प्रश्नव्याकरणे हि मन्दमतयस्ते दर्शितास्तत्कथम्।
पुष्पाम्भोदहनादिजीववधतो निष्पाद्यमानां जनैः,
पूजां धर्मतया प्रसह्य वदतां जिह्वा न नः कम्पताम् ॥५२॥

(अर्थमिति) अर्थम्, कामम् । अथवा-धर्ममपेक्ष्य ये प्राणिनो निघ्नन्ति, ते प्रश्नव्याकरणे,हि निश्चित, मन्दमतयो दर्शिताः, तत्कथ स्यात् ?, पुष्पाम्भोदहनादिजीवानां यो वधस्ततो, जनैः, केवलितत्त्वज्ञैरित्यर्थः । निष्पाद्यमानां कार्यमाणां,पूजां प्रसह्य हठात्,धर्मत्वेन वदतां नः-अस्माक जिह्वा कथं न कम्पताम्?, अपि तु कम्पताम्। धर्मिणां जिह्वैव मृषा भाषितु कम्पत इत्युक्तिः ।५२।

(१३) अत्रोत्तरदातुः स्वस्य वैद्यनाभिनयाभिव्यक्तये भेषजमुपदर्शयति-

(धर्माङ्गहिंसा न दोषाय)

भोः पापाः ! भवतां भविष्यति जगद्वैद्योक्तिशङ्काभृतां,
किं मिथ्यात्वमरुत्प्रकोपवशतः सर्वाङ्गकम्पोऽपि न।
यो धर्माङ्गतया वधः कुसमये दृष्टोऽत्र धर्मार्थिका,
सा हिंसा न तु सत्क्रियास्थितिरिति श्रद्धैव सद्भेषजम् ॥५३॥

(भो इति) भो. पापा. ! पापान्वेषिण कुमतयः! भवतां जगद्वैद्यस्य भगवतः,उक्तौ शङ्काभृतां, मिथ्यात्वरूपो यो महद्वायुस्तस्य प्रकोपवशत. किं सर्वाङ्गकम्पोऽपि न भविष्यति? तत्र प्रकम्पे प्रतीकारकवैद्यवचनविचिकित्सकस्य रोगिणो ब्रह्मणा प्रतिकर्तुमशक्यत्वात्। न सुवैद्योक्तिविचिकित्सावन्तो भविष्याम उक्तरोगौषधमुपदिश्यतामिति विवक्षायामाह-यो वध' कुसमये कुशास्त्रे धर्माङ्गतया धर्मकारणतया दृष्टः, अत्र परीक्ष्यलोके, सा धर्मार्थिका हिंसा न तु सत्क्रियास्थितिरप्रमत्तयोगेन हिंसायामुपरमात्, इतीयं श्रद्धैव सत् समीचीनं भेषजम् । अन्यथा स श्रुतभावाभिगमनायैकोनपञ्चाशता दिनैः परिपाकशोध्यादुदकरत्नं कृतवान् तथा राज्ञा कारितश्च सुबुद्धिर्महाहिंसको मन्दबुद्धिश्च स्यात। तथा च सूत्रम्-"तते ण सुबुद्धिस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था, अहो णं जियसत्तू तवे तहिए अवितहे सब्भूए जिणपण्णत्ते भावेणोवलंभितं सेयं खलु मम जियसत्तुस्स रण्णो सताण तवाण तहियाण अवितहाण सब्भूयाणं जिणपण्णत्ताण भावाणं अभिगमणट्ठयाए समट्ठ उवयणाविण्णए एव सपेहेइ। संपेहेइत्ता पंचसएहिं पुरिसेहिं सद्धि अतरापणाओ नवए घडे गिण्हइ। गिण्हइत्ता सञ्झकालसमयसि पविरलमणुस्ससि णिसंतपडिणिसंतसि जेणेव परिहोदए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं परिहोदगं गेण्हावेति, नवएसु घडेसु गालावेति, नवएसु घडेसु पक्खिवावेति, सज्जखार पक्खियावेइ, पक्खियावेइत्ता लञ्छियमुद्दिए करावेइ, करावेइत्ता तं परिसावेति, परिसावेतित्ता तच्चे पि नवएसु घडेसु० जाव सवसावेति,अंतरा गालावेमाणा २ अतरा पक्खिवावेमाणा २ अतरा वसावेमाणा २ सत्त सत्त राइंदियाइं परिसावेइ, परिसावेइत्ता ततेण से परिहोदए सत्तयंसि सत्तयसि परिणममाणसि उदगरयणे जाए आवि हुत्था" । तदा वायुकायादिविराधनाया अवर्जनीयत्वादकरणपरिहारस्य च तदुक्तरीत्यैव सम्भवात्। एतेन " एवमादी संते सत्त परिवज्जिया उवहणंति, अवसाहणंति, दढमूढदारुणमइ कोहा माणा माया लोभा हासरती सोयवेदत्थजीयकायत्थधम्महेउ सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठा य तसपाणा थावरे य हींसंति, मंदबुद्धी सवसा हणंति, अवसा हणंति,सवसा अवसा दुहओ हणति, अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति, हस्सा हणति, वेरा हणंति, रतीए हणंति, हस्सा वेरा रती हणति, कुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, कुद्धा मुद्धा लुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणति, कामा हणति, अत्था धम्मा कामा हणति । " त्ति प्रश्नसूत्रमपि व्याख्यातक्रोधादिकारणैर्हन्तॄणां स्ववश्याद्यर्थे प्रपञ्चितानां मन्दबुद्धितयोक्तत्वेऽपि, स्वाम्यधिकारे-" कयरे ते, जे सोयरियमच्छबंधा साउणेया वाहा कूरकम्मा " इत्याद्युपक्रम्य "सण्णी य असण्णी णो पज्जत्ता असुभलेसस्स परिणामा एते अण्णे य एवमादी करेंति पाणाइवायकरण " इत्यतिदेशाभिधानेन अशुभलेश्यानामेव प्राणातिपातकर्तृत्वोपदेशाद्, भक्तिरागोपबृंहितसम्यग्दर्शनोल्लासेन प्रशस्तलेश्याकाना देवपूजाकर्तॄणां हिंसालेशस्याप्यनुपदेशात, कथ च श्टङ्गग्राहिकयाऽतिदेशनैव तेषां हिंसकानुक्तावपि तथा प्रलापकारिणा नानन्तसंसारित्वं, शासनोच्छेदकारिणामनन्तानुबन्धिनीमायाविसदृशप्रलापस्यासम्भवात्। तदुक्तम्-" जइ वि य ण गिणे " इत्यादि । किं च-येऽर्थाय कामाय धर्माय घ्नन्ति मन्दबुद्धय इति पराऽभिमत उद्देश्यविधेयभावोऽप्ययुक्तः, अर्थाय घ्नतामानन्दादीनामपि मन्दबुद्धित्वप्रसङ्गात्। किं तु ये मन्दबुद्धय उक्तकारणै. घ्नन्ति, ते प्राणा-

तिपातफल दुस्तर प्राप्नुवन्तीति मन्दबुद्धित्वमुद्देश्यतावच्छेदके प्रवेश्ये प्रयोगो युक्त इति विवेके न चाशङ्का, न चोत्तरमिति श्रद्धेयम ॥ ५३ ॥

एतदेव षोडशके हरिभद्रसूरिः।
स्नानादिषु जीवकायवधमाशङ्क्याह—

स्नानादौ कायवधो, न चोपकारो जिनस्य कश्चिदपि ।
कृतकृत्यश्च स भगवान्, व्यर्था पूजेति मुग्धमतिः ॥१३॥

[स्नानादावित्यादि]स्नानादौ स्नानविलेपनसुगन्धिपुष्पादौ पूर्वोक्ते, कायवधो जलवनस्पत्यादिवधः परिदृष्टरूप एव, न चोपकारः सुखानुभवरूपस्तदनुभोगेन, जिनस्य वीतरागस्य मुक्तिव्यवस्थितस्य, कश्चिदपि कोऽपि, कृतकृत्यश्च निष्ठितार्थश्च, स भगवान्, न किञ्चित् तस्य करणीयमस्त्यपरैरेव व्यर्था पूजा निरर्थिका पूजेत्येव मुग्धमतिरव्युत्पन्नमतिर्मूढमतिर्वा पर्यनुयुङ्क्ते॥१३॥ षो० ६ विव०। पञ्चवस्तुके चैत्यहिंसाया अदुष्यत्व, वैदिकहिंसाया दुष्यत्वं विस्तरतोऽप्युक्तमरम्यत्वादत्रोपेक्षितम्। प्रति०। पं० व०।

यागधर्माङ्गतयेत्याद्युक्तमेवोपपादयति—

यागीयो वध एव धर्मजनकः प्रोक्तः परैः स्वागमे,
नास्मिन्नोधनिषेधदर्शितफलं कार्यान्तरार्थाश्रिते ? ।
दाहे क्वापि यथा सुवैद्यकबुधैरुत्सर्गतो वारिते,
धर्मत्वेन धृतोऽप्यधर्मफलको धर्मार्थकोऽयं वधः ॥ ५४ ॥

"यागीय इत्यादि"। यागीयो यागस्थलीयो वध एव हि, परैर्वैदिकैः स्वागमे धर्मजनकः प्रोक्तः, "भूतिकामः पशुमालभेत" इत्यादिवचनात्। अस्मिन् ओघनिषेधेन सामान्यनिषेधेन, दर्शितफलं निषेध्यप्रयोजन दुर्गतिगमनलक्षणम्। न इति न, कीदृशेऽस्मिन्कार्यान्तरम् ओघनियुक्तमुक्तरूपफलभिन्नं, कार्यं च न प्राप्तिलक्षण. तदर्थमाश्रिते । तदाह—उत्सर्गनिषेधानुगुणं दुःखरूप फलं न भवतीति न । अयं धर्मार्थको वध धर्मत्वेन धृतोऽपि भ्रान्तिविषयीकृतोऽपि, अधर्मफलकोऽधर्महेतुः । आह च—"मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिंसाद्यैः कलुषीकृतः । स धर्म इति वित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम् ॥१॥" इति। तस्मात् धर्मार्थं हिंसा यागादावेव,न तु जिनभवनपूजायामिति श्रद्धेयम् ॥ ५४ ॥

ननु भवतामपि सामान्यतो निषिद्धाया हिंसाया. फल
कथ न पूजास्थलीयहिंसायामित्याह—

अस्माकं त्वपवादनाकलयतां दोषोऽपि दोषान्तरो-
च्छेदी तुच्छफलेच्छया विरहितश्चोत्सर्गरक्षाकृते ।
यागादावपि सत्त्वशुद्धिफलतो नेयं स्थितिर्दुष्टतः,
श्येनादेरिव सत्त्वशुद्ध्यनुदयात्तत्संभवादन्यतः ॥ ५५ ॥

अस्माक त्वपवादमाकलयताम्, उत्सर्गिकाधिकारिकमपवाद निम्नोन्नतन्यायेन तुल्यसख्याकमभ्युपगच्छतामित्यर्थ.। दोषोऽपि द्रव्यस्तवेऽधिकारिविशेषणीभूतोऽयमिति नारम्भस्तत्कालीनः सदारम्भो वा, दोषान्तरस्यानुबन्धहिंसारूपस्योच्छेदी, तुच्छफलस्य भूत्यादिलक्षणस्येच्छया विरहितश्चोत्सर्गरक्षाकृत एवोत्सर्गरक्षार्थमेव प्रवर्तन इति विरोध. । परेषां तु सामान्यनिषेध उत्सर्गो मुमुक्षोरपवादश्च यागीयहिंसाविधिलक्षणो भूतिकामस्येति भिन्नविषयत्वादुत्सर्गापवादभावानुपपत्तिरेव। तदुक्तं हेमसूरिभिः—"नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च"।इति।ननु यागादौ प्रतिपदोक्तफलकामनया मा भूदेवमुत्सर्गापवादभाव., "तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुते. प्रतिपदोक्तफलत्यागेन शतपथविहितकर्मवृन्दस्य विविदिषायां सत्त्वशुद्धिद्वारा सन्न्यासमुच्चयेनोपयोगो भविष्यतीत्यत आह—"यागादावपीति" यागादावपि सत्त्वशुद्धिफलमाश्रित्य, नेयमस्मदुक्तजातीया, स्थितिर्मर्यादा, कुतः?, दुष्टतः स्वरूपतो दुष्टात् श्येनादेरिव श्येनयागादेरिव, सत्त्वशुद्ध्यनुदयात् मनःशुद्धे. कर्तुमशक्यत्वात्, ये हि प्रतिपदोक्तफलत्यागेन वेदोक्तमिति कृत्वा ज्योतिष्टोमादि सत्त्वशुद्ध्यर्थमाद्रियन्ते, तैः श्येनयागोऽप्यतिचारफलत्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमाद्रणीय इति भाव. । अवदाम च ज्ञानसागरप्रकरणे—"वेदोक्तत्वान्मनःशुद्ध्या,कर्मयज्ञोपयोगिनः।ब्रह्मयज्ञा इतीच्छ नः, श्येनयाग त्यजन्ति किम"१॥इति।तथाऽन्यतो गायत्रीजपादे.,तत्सम्भवात्सत्त्वशुद्धिसंभवान्नेयं स्थितिरित्यवधेयः। अस्माकं त्वनन्यगत्याऽऽयव्ययतुलनया वादाश्रयणे सत्त्वशुद्धेर्नासंभवः ॥ ५५ ॥

अनन्यगतिकत्वे पूजादावन्यथासिद्धिं शङ्कते-

नन्वेवं किमु पूजयाऽपि भवतां सिद्ध्यत्यवद्योज्झिता-
द्भावापद्विनिवारणोचितगुणः सामायिकादेरपि ।
सत्यं योऽधिकरोति दर्शनगुणोल्लासाय वित्तव्यये,
तस्येयं महते गुणाय विफला हेतुर्न हेत्वन्तरात् ॥ ५६ ॥

ननु एवं सत्त्वशुद्धेरन्यत. संभवे, भवतां स्वरूपत सावद्यया पूजयाऽपि किं जनैरिहप्रयुक्तया, भावापद्विनिवारणे जिन उचितो गुणः अवद्योज्झितात् पापरहितात् सामायिकादेरपि सिद्ध्यति, तस्य पारमार्थिकविनयरूपत्वात्। आह च—"पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्तीनां यथोत्तरं प्रामाण्यम्" इति। उत्तरमाह—(सत्यमिति) सत्यमित्यर्धाङ्गीकारे, यो दर्शनगुणोल्लासाय सम्यक्त्वगुणवृद्ध्यर्थं वित्तव्यये कृते धनव्ययायाऽधि करोति अधिकारभाग्भवति, तस्येय पूजा महते गुणाय भवति, अधिकारिविशेषेण कारणविशेषात् फलविशेषस्य न्याय्यत्वाद् भूम्ना तत्प्रवृत्तेश्चात एव द्रव्यस्तव. श्राद्धानां शरीरे हस्ततुल्यः, भावस्तवश्च तेषां किञ्चित्कालीनसामायिकादिरूपस्तदङ्गुलितुल्य इति तत्र तत्र स्थितम्। तुल्यफलत्वेऽप्याह—हेत्वन्तराद्धेतुर्विफलो न। तथा च दानादीनां सामायिकादीनां देवपूजायाश्च श्राद्धोचितफले "तृणारणिमणि"न्यायेन कारणत्वान्न दोष। अत एव श्रमणमाधिकृत्याप्युक्तम्—"सवरनिर्जररूपो, वहुप्रकारस्तपोविधिः सूत्रे। रोगचिकित्साविधिरिव, कस्याऽपि कथञ्चिदुपकारी" ॥ १ ॥ ५६ ॥

आरम्भशङ्कायामत्र दोषानाह–

अन्यारम्भवतो जिनार्चनविधावारम्भशङ्काभृतो,
मोहः शासननिन्दनं च वितथो बोधश्च दोषाः स्मृताः ।
सङ्काशादिनिदिष्यते गुणनिधिर्धर्मार्थमृद्ध्यर्जनं,
शुद्धालम्बनपक्षपातनिरतः कुर्वन्नुपेत्यापि हि ॥ ५७॥

(अन्यारम्भ इति) अन्यारम्भो जिनगृहातिरिक्ताऽऽरम्भस्तद्वतो जिनार्चनविधौ विहितजिनपूजायामारम्भशङ्का बिभर्तीत्यारम्भशङ्काभृत्तस्य मोहोऽनाभोगः स्वार्थभ्रशात् शासननिन्दन च-कीदृश एतेषां शासने धर्मो ये स्वेष्टदेवानामपि श-

ङ्कितकलुषिता नाराधयन्तीति, ततो बोधेर्विलयश्च, अनुचितप्रवृत्त्या शासनमालिन्यापादनस्य तत्फलत्वात्। आह च-"यः शासनस्य मालिन्ये-नाभोगेनाऽपि वर्तते। बध्नाति स तु मिथ्यात्वं,महानर्थनिबन्धनम्"।१। इति। एते दोषाः स्मृताः। नन्वेवमन्यारम्भप्रवृत्तः पूजार्थमारम्भे प्रवर्ततामित्यर्थादागतम्। तथा च-"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा,तस्यानीहा गरीयसी। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य,दूरादस्पर्शनं वरम्॥१॥" इत्यनेन विरोध इति चेत्। न। सर्वविरतापेक्षयाऽस्य श्लोकस्याधीतत्वेनाविरोधात्,गृहस्थापेक्षया तु सावद्यप्रवृत्तिविशेषस्य कूपदृष्टान्तत्वेनानुज्ञातत्वाच्च केवलं तस्य पूजाङ्गीभूतपुष्पावचयादारम्भप्रवृत्तिरिष्टा, अपि तु वाणिज्यादिसावद्यप्रवृत्तिरपि, कस्यचिद्विषयविशेषपक्षपातरूपत्वेन पापक्षयगुणबीजलाभहेतुत्वात्। तदिदमाह-संकाशादिवत् संकाशश्रावकादिरिव धर्मार्थम्, अर्थार्जनं वित्तोपार्जनम्, उपेत्यापि अङ्गीकृत्याऽपि, हि निश्चितम्, कुर्वन्, शुद्धालम्बने यः पक्षपातस्तत्र निरत इति हेतोर्गुणनिधिर्गुणनिधानमिष्यते। संकाशश्रावको हि प्रमादाद्भक्षितः चैत्यद्रव्यनिबद्धलाभान्तरायादिक्लिष्टकर्मा चिरंपर्यटितदुरन्तसंसारकान्तारोऽनन्तकालाल्लब्धमनुष्यभावो दुर्गतनरशिरःशेखररूपः पारगतसमीपोपलब्धस्वकीयपूर्वभववृत्तान्तः पारगतोपदेशतो दुर्गतत्वनिबन्धनकर्मक्षपणाय यदहमुपार्जयिष्यामि द्रव्यं ग्रासाच्छादनवर्जं सर्वं जिनायतनादिषु नियोजयिष्यामि, कालेन च निर्वाणमवाप्तवानिति। अथैतदित्थं संकाशस्यैव युक्तं, तथैव तत्कर्मक्षयोपपत्तेः, न पुनरन्यस्येत्यादिग्रहणमफलमन्यथा शुद्धागमैर्यथालाभमित्याद्यभिधानानुपपत्तेरिति चेत्। न। व्युत्पन्नाशयविशेषभेदेनान्यस्याप्यादिना ग्रहणौचित्यात्, अन्यथा-"सुब्बइ दुग्गयनारी" इत्यादिवचनव्याघातापत्तेः, न हि तया यथालाभं न्यायोपात्तवित्तेन वा तानि प्रदीतानि, तथा चैत्यसंबन्धितया ग्रामादिप्रतिपादनानुपपत्तेश्च।

दृश्यते च तत्प्रतिपादनं कल्पभाष्यादौ-

"चोइए चेइयाणं, रुप्पसुवण्णाइ गामगोवाइ।
लग्गंतस्स हु मुणिणो, तिगरणसुद्धी कहं णु भवे॥
भण्णइ इत्थ विभासा, जो एयाइ सय वि मग्गिज्जा।
न हु होज्ज तस्स सुद्धी, अह होई रज्जणायारे॥
सव्वत्थामेण तहिं, सघेण य होइ लग्गियव्वं तु।
सचरित्तचरित्तीए, एय सव्वोसि कज्जे तु"॥

शुद्धागमैर्यथालाभमित्यादि तु न स्वय पुष्पत्रोटननिषेधनपरं, किं तु पूजाकालोपस्थिते मालिके दर्शनप्रभावनाहेतोर्वणिग्कलानप्रोक्तव्ययस्यार्थस्य व्याख्यापनपरमित्यदोष इति॥ ५७॥

(१४) नन्वेवं मलिनारम्भो नाधिकारिविशेषण, किं तु सदारम्भोऽप्येवेति (सच्छ्राद्धस्य नाधिकारः) यतेरप्याधिकारः स्यादत आह-

यः श्राद्धोऽपि यतिक्रियारतमतिः सावद्यसंक्षेपकृत्,
भीरुः स्थावरमर्दनाच्च यतनायुक्तः प्रकृत्यैव च।
तस्यात्रानधिकारितां वयमपि ब्रूमो वरं दूरतः,
पङ्कास्पर्शनमेव तत्कृतमलप्रक्षालनापेक्षया॥ ५८॥

(य इति) यः श्राद्धोऽपि यतिक्रियायां रता कर्तव्यत्वेनोत्सुका मतिर्यस्य स तथा। सावद्यसंक्षेपकृत् सर्वसावद्यवर्जनार्थं, स्थावराणां पृथिव्यादीनां मर्दनाद्भीरु, प्रकृत्यैव स्वभावेनैव च यतनायुक्तः, तस्यात्र पूजायामनधिकारितां वयमपि ब्रूमः, अमलिनारम्भस्य माशनीयस्य माधाद्यनारम्भफलस्य च चारित्रेच्छायोगत एवोपपत्तेः। तत्कृतः पङ्कस्पर्शकृतो यो मलस्तस्य प्रक्षालनापेक्षया हि दूरतः पङ्कास्पर्शनमेव वरं, तस्मात्सदारम्भेच्छो मलिनारम्भश्चेत्युभयमेवाधिकारिविशेषण भक्तेदमित्यर्थः। उक्तं च द्वितीयाष्टकवृत्तौ-गृहिणोऽपि प्रकृत्या पृथिव्याद्युपमर्दनभीरोर्यतनावतः सावद्यसंक्षेपरुचेर्यतिक्रियानुरागिणो न धर्मार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्तिर्युक्तेति। हन्तैवसति क्रियाभ्यासेन श्रमणोपासकत्वमिदानींतनानां कुमतीनामनुमतं स्यात्तदा न तस्य स्वमतिविकल्पितत्वेनाबहुमतत्वान्निरपेक्षस्य सयतस्यैव भवितुमुचितत्वात्। आह-"णिरविक्खस्स उ जुत्तो, सपुण्णो संजमो चेव" त्ति। द्रव्यस्तवभावस्तवोभयभ्रष्टस्य दुर्लभबोधित्वात्। तदुक्तं धर्मदासगणिक्षमाश्रमणैः-"जो पुण निरवणुवि य,सरीरसुहकज्जमित्ततल्लीलो। तस्स ण य बोहिलाभो, ण सुग्गई णेव परलोगो॥१॥" त्ति। कस्तर्हि सावद्यसंक्षेपकृच्छ्राद्धः "एवं वि जयं चित्तो, सावगधम्मो बहुप्पगारो।" इत्यादिवचनादित्येवाह। इच्छया तु धर्मसंकरे क्रियमाणे न किञ्चित्फलमित्युक्तमेव॥५८॥ प्रति०॥ द्वा०।

अत एव यतियोगापेक्षयाऽस्य तुच्छतामेव दर्शयन्नाह-

सव्वत्थ निरभिसंग-त्तणेण जइजोगमो महं होइ।
एसो उ अभिस्संगा, कत्थइ तुच्छे वि तुच्छे उ॥ १८॥

सर्वत्र समस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु, निरभिष्वङ्गत्वेन साधूनां सङ्गरहिततया, यतियोगः स्वाध्यायादिसाधुव्यापारः, मकारः पूर्ववत्। महान् गुरुर्द्रव्यस्तवापेक्षया भवति। एष तु पुनर्द्रव्यस्तवः, अभिष्वङ्गात् द्रव्यस्तवकारिणां प्रति बन्धात्। क्वचित्कुत्रचित् देहगेहपुत्रमित्रकलत्रादौ, तुच्छेऽप्यसारेऽपि, परलोकानुपकारित्वात्। अपिशब्दः तुच्छे सङ्गकरणस्यानुचितत्वद्योतनार्थः। तुच्छस्त्वसार एव यतियोगापेक्षया न महानिति गाथार्थः॥ १८॥

अथ कथमभिष्वङ्गादपि तुच्छत्वं द्रव्यस्तवस्येत्यत्राह-

जम्हा उ अभिस्संगो, जीवं दूसेइ णियमतो चेव।
तद्दूसियस्स जोगो, विसघारियजोगतुल्लो त्ति॥ १९॥

यस्मात्,तुशब्दो भावनार्थः। येन हि कारणेन,अभिष्वङ्ग तथाविधवस्तुसङ्गः, जीवं प्राणिनम्, स्वभावतः स्फटिकोपलशकलधवलमपि, दूषयति कलुषयति, नियमतश्चैव नियमादेव, ततः किमित्याह-तद्दूषितस्याभिष्वङ्गकलुषितस्य, योगो व्यापारः, विषघारितयोगतुल्यो हालाहलव्याप्तपुरुषव्यापारसदृशोऽस्पष्टचेतनत्वादल्प इत्यर्थः। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इति गाथार्थः॥ १९॥

इहैवार्थे व्यतिरेकमाह-

जइणो अदूसियस्सा, हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स।
सुद्धो उ उवादेए, अकलंको सव्वहा सो उ॥ २०॥

यतेः साधोः, अदूषितस्याभिष्वङ्गेणाकलुषितस्य, अत एव हेयात् परिहर्तव्यात् हिंसादेः, सर्वथा सर्वप्रकारैः करणकारणादिभिर्निवृत्तस्य। किमित्याह-शुद्धस्तु शुद्ध एवाभिष्वङ्गादूषित एव भवति, योग इति प्रक्रमः। उपादेयवस्तुनि महाव्रतादौ विषये आज्ञाप्रवृत्तेः। अतोऽकलङ्कोऽपेतदोषकलङ्कः, सर्वथा सर्वप्रकारैः, स तु स एव, यतियोग एव भवती-

स्यतो विशिष्टयतियोगतुल्यत्वाभावेन न द्रव्यस्तवो भावस्तव एवेति स्थितम्। इति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथ दृष्टान्तेन द्रव्यस्तवभावस्तवयोर्विशेषमाह--

असुहतरंडुत्तरण–प्पाओ दव्वत्थओऽसमत्तो य ।
णदिमादिसु इयरो पुण, समत्तबाहुत्तरणकप्पो ॥ २१ ॥

अशुभमशोभनं, कण्टकादियोगादसुखदं वा, तत एव दुःखहेतुत्वात्। स च तत्तरण्डं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं पारगमनं, तत्प्रायस्तत्कल्पो, यः स तथा, मनागवयसङ्कीर्णत्वात्। कोऽसावित्याह–द्रव्यस्तवः प्रतीतः। तथा असमाप्तः–अपर्याप्तश्च, तत एव सिद्ध्यसिद्धेः। केषु यत्तरणोत्तरणमित्याह–नद्यादिषु नदीसमुद्रप्रभृतिषु तरणीयेषु, इतरो भावस्तवः, पुनरिति विशेषद्योतनार्थः। समाप्तः पर्याप्तः स चासौ बाहूत्तरणकल्पश्च भुजपारगमनतुल्यः, समाप्तबाहूत्तरणकल्पः। तत्र समाप्तत्व भावस्तवस्य द्रव्यस्तवानपेक्षस्यापि संसारसागरपारप्रापणप्रवणत्वात् बाहूत्तरणकल्पत्वं चात्मपरिणामरूपत्वेन बाह्यानपेक्षत्वात्। इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अथैव दृष्टान्तान्तरमाह–

कडुगोसहादिजोगा, मंथररोगसमसण्णिहो वा वि ।
पढमो विणोसहेणं, तक्खयतुल्लो य बितिओ उ ॥ २२ ॥

कटुकौषधादियोगात्मागतलौषधसंयोगात्, आदिशब्दात् क्षारदाहवेधादिग्रहः। मन्थरो विलम्बितो दीर्घकालभावी, यो रोगशमो व्याधिशमनमात्रं, न तु सर्वथा क्षयः, तत्सन्निभस्तत्तुल्यो वा, न तथा। वाऽपीति प्रागुक्तदृष्टान्तापेक्षया समुच्चयार्थः। कोऽसावेवंविध इत्याह–प्रथमो द्रव्यस्तवः, प्रथमत्वं चास्य सूत्रक्रमप्रामाण्यात्, आदितः प्राय प्राप्तेर्वा, इह चायमाशयः-युक्तः तथा कर्मरोगोपशमहेतुतया च यद्यपि द्रव्यस्तवः कटुकौषधादितुल्यो मन्थररोगोपशमतुल्यः पुनर्दीर्घकालभाविद्रव्यस्तवजन्यः कर्मशमस्तथापि कर्मशमस्य द्रव्यस्तवव्यपदेशतः कार्ये कारणोपचारान्मन्थररोगशमसन्निभो द्रव्यस्तव इत्युक्तम्। तथा विनौषधेन औषधं कटुकमधुरादिरूपं, तेन विनैव, नक्षयतुल्यश्च रोगात्यन्तिकनाशतुल्य एव, चशब्दोऽवधारणे, द्वितीयस्तु भावस्तवः पुनः। अयमभिप्रायः-भावस्तव आत्मपरिणामरूप एव, न तु द्रव्यस्तववद् बाह्यद्रव्यमप्यपेक्षः, तथा भावस्तवादेवात्यन्तिकः कर्मक्षयो भवतीति कृत्वा विनौषधेन तत्क्षयतुल्य इत्युक्तम्। तथा यद्यपीह कटुकौषधाभावकल्पो भावस्तवो, रोगक्षयतुल्यश्च भावस्तवसाध्यः कर्मक्षयः, तथाऽपि कर्मक्षयस्य भावस्तवव्यपदेशतः 'कार्ये कारणोपचारात्' क्षयतुल्यो भावस्तव इत्युक्तम्। इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

अथैतयोरेव हेतुफलभावतो भेदमाह—

पढमाओ कुसलबंधो, तस्स विवागेण सुगइमादीया ।
तत्तो परंपराए, बितिओ वि हु होइ कालेणं ॥ २३ ॥

प्रथमादिति द्रव्यस्तवात्, कुशलबन्धः पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्मबन्धनं भवति। तस्य कुशलस्य कर्मणः, विपाकेनोदयेन, सुगत्यादयः सुदेवत्वसुमानुषत्वलक्षणसत्कृतिप्रभृतयो भवन्ति। आदिशब्दात् शुभसत्त्वसंहननौदार्यसम्पदादिग्रहः। ततः सुगत्याद्यनन्तरम्, परम्परया विच्छिन्नसन्तानतया सुगत्यादीनामेव। द्वितीयो भावस्तवोऽपि, न केवलं सुगत्यादय एव। हुशब्दोऽलङ्कारे। भवति जायते, कालेन समयेन, कियताऽप्यतिक्रान्तेन, कालस्य तथाभव्यत्वपरिपाकहेतुत्वादेवमभिधानम्। इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

द्वितीयोऽपि भवति कालेनेत्युक्तमथ तस्यैव द्वितीयस्य स्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह—

चरणपडिवत्तिरूवो, थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ ।
संपुण्णाऽऽणाकरणं, कयकिच्चे हंदि उचियं तु ॥ २४ ॥

चरणप्रतिपत्तिरूपः चारित्राभ्युपगमस्वभावः, भावस्तव इति प्रकृतम्। स्तोतव्ये पूजनीये भगवति वीतरागे विषयभूते या उचिता सङ्गता प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं सा स्तोतव्योचितप्रवृत्तिः, तस्याः स्तोतव्योचितप्रवृत्तेर्हेतोः, गुरुको गरीयान्, द्रव्यस्तवापेक्षया। अथोचितप्रवृत्तितो द्रव्यस्तवोऽपि गुरुकोऽस्तु। नैवम्। यतः–सम्पूर्णं सर्वविरतिप्रतिपत्तितोऽखण्डं यदाज्ञाकरणमाप्तवचनानुपालनं, तत्संपूर्णाज्ञाकरणं, तदेव। कृतकृत्ये विहितनिखिलकर्त्तव्ये सिद्धप्रयोजने भगवति वीतरागे, हन्दीत्युपप्रदर्शने। उचितं सङ्गतम्, पुष्पादीनां तु द्रव्यस्तवाङ्गानां कृतकृत्यत्वेन तस्यानुपयोगित्वात्। तुशब्दोऽवधारणार्थो योजितश्च। इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

सम्पूर्णाज्ञाकरणं च साधोरेव भवति, नेतरस्येति दर्शयन्नाह–

णेयं च भावसाहुं, विहाय अण्णो चएइ काउं जे ।
सम्मं तग्गणणाणा–भावा तह कम्मदोसा य ॥ २५ ॥

न नैव, इदं सम्पूर्णाज्ञाकरणम्, चशब्दः पुनरर्थः। भावसाधुं पारमार्थिकयतिं, विहाय विमुच्य, अन्योऽपरः, (चएइ त्ति) शक्नोति, कर्तुं विधातुम्। 'जे' इति पादपूरणे निपातः। कुत एतदेवमित्याह–सम्यक् यथावत्, तद्गुणज्ञानाभावात् आज्ञाकरणगुणोपलम्भाभावात्। न हि यथा भावयतिराज्ञाकरणगुणान् वेत्ति, तथाऽन्यः, तस्यैव तत्र विशेषाधिकारित्वात्। तथा कर्मदोषाच्च कथञ्चिदाज्ञाकरणगुणपरिज्ञानेऽपि चारित्रमोहनीयकर्मविपाकादेवेति, अतो भावसाधोरेव कर्तुं शक्यत्वेन सम्पूर्णाज्ञाकरणरूपो भावस्तवो गुरुकः। इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

भावस्तवस्याचार्यान्तरैरपि गुरुत्वमिष्टमित्यावेदयन्नाह–

एत्तो चिय फुल्लामिस–थुइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि ।
चरिमा गरुई इट्ठा, अण्णेहि वि णिच्चभावाओ ॥ २६ ॥

इत एव सम्पूर्णाज्ञाकरणस्य भावसाधुसाध्यत्वादेव। (फुल्लामिसथुइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि त्ति) पुष्पाणि जात्यादिकुसुमानि, उपलक्षणत्वाद्वस्त्ररत्नादीनामिहैवान्तर्भावो वेदितव्यः। आमिषमाहारः, इहाऽपि तथैव फलादिसकलनैवेद्यपरिग्रहो दृश्यः। स्तुतिर्गुणोत्कीर्तनम्, प्रतिपत्तिश्चरणाभ्युपगमः, एता एव पूजाः, तासां मध्यमबहिर्भावः, पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्तिपूजामध्य, तत्र। चरमा प्रतिपत्तिपूजा, गुर्वी ज्येष्ठा, इष्टा मता, अन्यैरपि ग्रन्थकारैः। इहार्थे साधनमाह–नित्यभावात्सर्वदा सद्भावात्तस्याः, सा हि यावज्जीविकी, शेषास्तु कादाचित्क्यः। इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

एवं भिन्नावपि परस्परानुगतरूपावेताविति दर्शयन्नाह–

दव्वत्थयभावत्थय–रूवं एयमिह होति दट्ठव्वं ।
अण्णोण्णसमणुविद्धं, णिच्छयतो भणियविसए तु ॥ २७ ॥

द्रव्यस्तवभावस्तवयोः रूपं स्वभावो द्रव्यस्तवभावस्तवरूपम्,

एतदित्यत्रोत्तरतुशब्दयोगादेतत्तु एतत्पुनः, प्रागुपदर्शितं जिनभवनादिविधान चरणप्रतिपत्तिलक्षणम्, इह स्तवाधिकारे, भवति वर्त्तते, द्रव्यस्य बोद्धव्यम्। किंभूतमित्याह-अन्योऽन्यसनुविद्ध परस्परानुगतम, निश्चयत परमार्थेत, भणितः प्राग निहितो, विषयो गोचर., प्रायो गृहिसाधुलक्षणो यस्य तत्तथा। तुशब्दो व्याख्यात एव। इति गाथार्थः॥ २७॥

तत्र भावस्तवरूप द्रव्यस्तवेन समनुविद्धमिति तावद्दर्शयन्नाह-

जइणो वि हु दव्वत्थय-भेदो अणुमोयणेण अत्थि त्ति।
एयं च एत्थ णेयं, इय सुद्धं तंतजुत्तीए॥ २८॥

यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहिण एव। हुशब्दोऽलङ्कृतौ। द्रव्यस्तवभेदो द्रव्यस्तवविशेषः। अनुमोदनेन जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या, अस्ति विद्यते। इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ। अथ साधोर्द्रव्यस्तवे अनुमोदनमसिद्धमित्याशङ्क्याह-एतच्चैतत् पुनरनुमोदनम्, अत्र द्रव्यस्तवे, ज्ञेय ज्ञातव्यम, इत्यनया वक्ष्यमाणया, शुद्धमनवद्यम्, तन्त्रयुक्त्या शास्त्रगर्भोपपत्त्या। इति गाथार्थ. ॥ २८॥ पञ्चा० ६ विव०। दर्श०।

तं नत्थि भुवणमज्झे, पूयाकम्मं न जं कयं तस्स।
जेणेह परमआणा, न खंमिया परमदेवस्स॥ १२॥

तत्किमपि नास्ति न विद्यते, भुवनमध्ये त्रिभुवनेऽपि, पूजाकर्म्म पूजाविधान, यन्न कृत यन्न निष्पादितं, येन केनचिदनिर्दिष्टनाम्ना, इहेति पूजाविधानविचारे, परमोत्कृष्टाज्ञा परमाऽऽज्ञा, परमत्वचाऽस्या सकलकल्मषनिर्मूलनत्वेन सकलसुखविधायित्वात्; किं, न खण्डिता नोल्लङ्घिता। कस्येत्याह-परमदेवस्य वीतरागस्येत्यर्थः। अयमत्राभिप्राय.--यद्यपि साधु पुष्पपूजादौ न प्रवर्त्तते तथाऽपि समस्तप्रतिपत्तिमूलसर्वज्ञाऽऽज्ञाया. परिपालनात्पूजादिविषये चोचितदेशनादौ प्रवर्तनादनुमोदनाच्च दर्शनशुद्धिर्भवत्येवेति। प्रयोगश्चात्र-पुष्पपूजादिव्यतिरेकेणापि सर्वसम्वरवत्साधुसमाजानां दर्शनशुद्धिरुपजायते, भावस्तवहेतुकत्वात्पुष्पादिपूजाया, घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डवत्। न चास्य हेतोर्भावस्तवोत्पत्तिहेतुत्वेऽपि दर्शनशुद्धावसिद्धतोद्भावनीयेति; भावस्तवस्य दर्शनशुद्धिव्यतिरेकेणात्यन्तासद्भावात। अथ चेत्तं प्रयुज्यते तस्य हि भगवत. समस्तजगतीतलविख्यातकीर्त्तिसकलातिशयसम्पन्नस्य त्रिभुवनोदरविवरभासुरसकलसुरासुरकिन्नरनरखचरशेखरपरमपूजनीयस्य, सर्वमपि यात्रास्नात्रविलेपाभरणगीतनृत्यपुष्पाद्यारोहणादिक पूजाकर्म्म कृतमेव, तदविकलाज्ञाकरणत. सर्वसम्वरारूढै साधुभिरपि सकलकलङ्कविकलकेवलज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् प्रसन्नचन्द्रमहामुनिभरतेश्वरचक्रवर्तिवदिति गाथार्थ॥ १२॥

कश्चैतत्साध्ययोर्भावस्तवद्रव्यस्तवयोस्तयोरन्तरं फल च प्रतिपादयन् गाथाद्वयमाह—

मेरुस्स सरिसवस्स य, जत्तियमेत्तं तु अंतरं होइ।
भावत्थयदव्वथया-ण अंतरं तत्तियं नेयं॥ १३॥
उक्कोसं दव्वथयं, आराहिय जाइ अच्चुयं जाव।
भावत्थएण पावइ, अंतमुहुत्तेण निव्वाणं॥ १४॥

तत्र मेरो. समस्तलोकनाभिभूतलक्षयोजनप्रमाणस्य, सर्षपस्य च राजिकामात्रस्य, यावन्मात्र यावत्प्रमाणमन्तर व्यवधान, भवतीति गम्यते। उपलक्षण चैतत् समुद्रबिन्द्वाद्युदाहरणानाम्, तावन्मात्र ज्ञेयम; किम?, भावस्तवद्रव्यस्तवयोरन्तरमिति। यत उत्कृष्टमिति प्राकृतवशात्, यत उत्कृष्टतोऽपि द्रव्यस्तवमाराध्य, याति गच्छति, अच्युतं द्वादशम देवलोक यावत्। भावस्तवेन, तुशब्दस्य लुप्तस्येह दर्शनात् पुनः प्राप्नोति लभते, अन्तर्मुहूर्तेन, निर्वाण मोक्षमिति गाथार्थ. ॥१४॥

अतः किम्-

मोत्तूणं भावथयं, जो दव्वत्थएँ पवट्टए मूढो।
सो साहू वत्तव्वो, गोयम! अजओ अविरओ य॥१५॥

यो मौढ्याद्विषयव्यामूढत्वाद्वा महामोहग्रस्तबहुजनप्रवृत्तिदर्शनाद्वा, मुक्त्वा परित्यज्य, भावस्तव सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षण, द्रव्यस्तवे सर्वसावद्यनिबन्धनरूपे, प्रवर्तते, मूढ. परमार्थमजानानः, स साधुर्वक्तव्यो भणनीयो, गौतम! इन्द्रभूते! अयतोऽविरतश्च। चशब्दात् एतदपि द्रष्टव्यम्-असयताविरताऽप्रतिहतपापकर्मा देवार्चक इति वा देवभोजक इति। अयमाशयः-यो हि भवपरम्पराभिरनेकाभिर्दुरापमक्षेपेण मोक्षसुखसाधक सर्वसम्वरस्वभावं सयम प्राप्यापि मोहात्तस्य परित्यागेन पुष्पपूजादौ प्रवर्तते, स उभयत्र भ्रष्टतयाऽकिञ्चित्कर एवेति गाथार्थ. ॥१५॥

अन्यच्च तस्यातिमूर्खत्वप्रतिपादनायाऽऽह-

मंसनिवित्तिं काउं, सेवइ दंतिक्कयंति धणिभेआ।
इय चइऊणाऽऽरंभं, परववएसा कुणइ बालो॥ १६॥

मांस पिसितं, तस्यापि पापहेतुत्वाद् निवृत्तिं विरतिं कृत्वा विधाय। पश्चाज्जिह्वादोषात्सेवते भजते, तदपि खादतीत्यर्थ.। लोकलज्जया ध्वनिभेद शब्दमात्रभेदं विधाय, केनोल्लेखेन? (दंतिक्कय त्ति) दन्तिकमिद नेद मांसमिति, इत्यनेन हेतुना स्वयमात्मना समस्तजनप्रत्यक्ष त्यक्त्वा आरम्भ भूतोपमर्दन, तृतीयार्थे पञ्चमी। ततोऽपरव्यपदेशेन तीर्थकृतां भगवतामहं भक्त इति करोति विधत्ते, बालोऽज्ञ इति गाथार्थ. ॥ १६॥

ननु कथमसौ बाल.?, स हि धर्मार्थितया तीर्थकरानुदिश्य प्रवर्त्ततेऽतो युक्तमिवेति यो मन्येत, तं प्रत्याह-

तित्थयरुद्देसेण वि, सिढिलिज्जइ न संजमं सुगइमूलं।
तित्थयरेण वि जम्हा, समयम्मि इमं विणिद्दिट्ठं॥ १७॥

तीर्थङ्करोद्देशेनापि, न केवलमन्योद्देशेनेत्यपिशब्दार्थ। शिथिलयेत् शिथिल विदध्यात्, न नैव, कमित्याह-सयम सर्वविरतिं सुगतिमूल मोक्षस्यैकान्तप्रापक, तीर्थकरेणापि यदुद्देशेन सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्तिर्विधीयते तेनापीत्यपिशब्दार्थ.। यस्मात्समये सिद्धान्ते, इद विनिर्दिष्ट प्रतिपादितमिति गाथार्थ. ॥१७॥

तदेवाह-

सव्वरयणामएहिं, विभूसियं जिणहरेहिँ महिवलयं।
जो कारेज्ज समग्गं, तओ वि चरणं महिड्ढीयं॥ १८॥

सर्वाणि च तानि रत्नानि, यद्वा-सर्वतो रत्नानि, सर्वरत्नैर्निष्पन्नानि सर्वरत्नमयानि, तै. सर्वरत्नमयैः, सर्वतो महामाणिक्यशिलासञ्चयचितैरित्यर्थ.। न केवल सामान्यपाषाणेष्टका-

त्ति काऊणं " इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ अथ कीर्त्याद्यर्थमपि द्रव्यस्तवे प्रवृत्त्या शुभाध्यवसायस्यतिचारश्चारित्रक्रियायामपि तुल्य', शुभाध्यवसायस्यैव तथात्वाद्य कारणत्वेन पुष्पाद्यभ्यर्चने त्वेव चारित्रभावेन तत्क्रियायास्तथात्वापत्तिभावान्नैकान्तम् । नित्यस्मृत्यादिना भावनयोत्पादप्रातिपादगुणवृद्ध्यादिकमपिव्रतग्रहणादिक्रियया तुल्यम्, "एसा ठिई उ इत्थ, ण उ गहणादेव जायई णियमा । गहणोवाय पि जायइ, जाओ वि अ वेश्कम्मुदया ॥ तम्हा णिस्सचइए," इत्यादिवचनात्। उपरितनानुपादेयत्वमपि तथैव, प्रमत्तस्थविरकल्पिकादेः क्रियाया अप्रमत्तजिनकल्पिकादिनाऽनुपादेयत्वात्,द्रव्यस्तवजनितपरिणामशुद्ध्या द्रव्यस्तवस्थलीयासयमोपार्जितस्यान्यस्य च निरवशेषस्य कर्मणः क्षपणाभिधानमपि चारित्रक्रियाजनितपरिणामशुद्ध्या तदतिचारजनितान्यनिरवशेषकर्मक्षपणाभिधानतुल्यं, सर्वस्या अपि प्रव्रज्याया भवद्वयकृतकर्मप्रायश्चित्तरूपतायास्तत्र तत्र व्यवस्थितत्वात्, जिनशासनविहितेत्यत्रापि शुभयोगे तदतिदेशात् " जोगे जोगे जिणसा-सणम्मि दुक्खक्खया पउंजता । इक्कक्कम्मि अणता, वट्टंता केवली जाया । " इत्युक्तवचनात् द्रव्यस्तवे क्रियमाण एव च भावशुद्ध्या नागकेतुप्रभृतीनां कैवल्योत्पादश्रवणात् शुभानुबन्धिप्रभूततरनिर्जराफलत्वोपदर्शनमेव द्रव्यस्तवेऽल्पस्यापि पापस्थानं न सहन्त इति शुभभावस्य निर्विषय' कूपदृष्टान्तः। तत्र पुष्पाद्यभ्यर्चनवेलायां शुभभावसम्भवेन निश्चयनयेन तस्य व्यवहारनयेन च तदन्वितक्रियाया विशिष्टफलहेतुत्वेऽपि तत' पूर्वं तद्विषयसंभव इति वाच्यम्, प्रस्थकन्यायेन पूर्वपूर्वतरक्रियायामपि शुभभावान्वयतत्फलोपपत्तेः। नैगमनयाभिप्रायेणात एव पूजार्थं स्नानादिक्रियायामपि यतनया अधिकारसपत्त्या शुभभावान्वय उपदर्शितश्चतुर्थपञ्चाशके । तथाऽऽह--

" एहाणाइ वि जयणाए, आरंभवओ गुणाय णियमेणं ।
सुहभावहेउओ खलु, विण्णेय कूवनाएण " ॥ १० ॥ त्ति ।

स्नानाद्यपि देहशौचप्रभृतिकमपि, आस्तां तद्वर्जन, पूजा वा । आदिशब्दाद्विलेपनादिग्रहः। गुणायेति योग. । यतनया रक्षयितुं शक्यजीवरक्षणरूपतया, तत्किं साधोरपीत्याशङ्क्याह-आरम्भवत. स्वजनधनगेहादिनिमित्तं कृष्यादिकर्मभिः पृथिव्यादिजीवोपमर्दनयुक्तस्य,गृहिण इत्यर्थः। न पुन. साधो',तस्य सर्वसावद्ययोगविरतत्वाद्भावस्तवारूढत्वात्। भावस्तवारूढस्य हि स्नानादिपूर्वकद्रव्यस्तवोऽनादेय एव, भावस्तवार्थमेव तस्याश्रयणीयत्वात्, तस्य च स्वत एव सिद्धत्वात्। इम चार्थं प्रकरणान्तरे स्वयमेव वक्ष्यतीति। गुणाय पुण्यबन्धलक्षणोपकाराय, नियमेनावश्यभावेन। अथ कथ स्वरूपेण सदोषमप्यारम्भिणो गुणायेत्याह-(सुहभावहेउओ त्ति) लुप्तभावप्रत्ययत्वेन निर्देशस्य शुभभावहेतुत्वात्प्रशस्तभावनिबन्धनत्वाज्जिनपूजार्थस्नानादेरनुभवन्ति च केचित् स्नानपूर्वकं जिनार्चन विदधानाः शुभभावमिति। खलुर्वाक्यालङ्कारे। विज्ञेय ज्ञातव्यम्। अथ गुणकरत्वमस्य शुभभावहेतुत्वात्कथमिव ज्ञेयमित्याह-कूपज्ञातेनावटोदाहरणेन । इह चैव साधनप्रयोग -गुणकरमधिकारिण. किञ्चित्सदोषमपि स्नानादि, विशिष्टशुभभावहेतुत्वात्, विशिष्टशुभभावहेतुभूतं यत्तद्गुणकरं दृष्टम्। यथा कूपखननम्। विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया स्नानादि, ततो गुणकरमिति। कूपखननपक्षे शुभभाव तृष्णादिव्युदासेनानन्दाद्यवाप्तिरिति । इदमुक्त भवति-यथा कूपखनन श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्यावनन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय किल भवतीत्येवं स्नानादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायस्योत्पादनेन विशिष्टाशुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारण भवतीति। इह केचिन्मन्यन्ते-पूजार्थं स्नानादिकरणकालेऽपि निर्मलजलकल्पशुभाध्यवसायस्य विद्यमानत्वेन कर्दमलेपादिकल्पपापाभावाद्विषममिदमित्थमुदाहरणम्। तत्किलेदमित्थ योजनीयम्-यथा कूपखनन स्वपरोपकाराय भवत्येव स्नानपूजादिकं करणानुमोदनद्वारेण स्वपरयोः पुण्यकारण स्यादिति । न चैतदागमानुपाति। यतो धर्मार्थप्रवृत्तावप्यारम्भजनितस्याल्पस्य पापस्येष्टत्वात्, कथमन्यथा भगवत्यामुक्तम्-"तहारूवं समण वा माहण वा पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं अफासुएण अणेसणिज्जेण असण पाणं खाइम साइम पडिलाभेमाणे भंते ! किं कज्जइ?। गोयमा ! अप्पे पावे कम्मे बहुतरिया से णिज्जरा कज्जइ"। तथा ग्लानप्रतिचारणानन्तरं पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि कथं स्यादित्यलं प्रसङ्गेनेति समासार्थः ॥१०॥

यतनया विहितस्य स्नानादेः शुभभावहेतुत्व प्रागुक्तम्। अथ यतनां स्नानगतां शुभभावहेतुतां च यतनाकृतां स्नानस्य दर्शयन्नाह-

" भूमीपेहणजलछा-णणाइ जयणा उ होइ एहाणाओ ।
एत्तो विसुद्धभावो, अणुहवसिद्धो च्चिय बुहाण ॥ ११ ॥ "

भूमेः प्रेक्षणं च स्नानभुवः प्राणिरक्षार्थं चक्षुषा निरीक्षणं,जलच्छाणणं च पूतरकपरिहारार्थं नीरगालनम्, आदि' प्रमुख यस्य व्यापारवृन्दस्य तद्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणणादि।आदिशब्दात् मक्षिकारक्षणादिग्रह.। तत्किमित्याह-यतना प्रयत्नविशेषः । तुशब्दः पुनरर्थे । तद्भावना चैवम्-स्नानादि यतनया गुणकर भवति। यतना पुनर्भूमिप्रेक्षणजलछाणणादि ,भवति वर्तते,केत्याह-स्नानादावधिकृते देहशौचविलेपनजिनार्चनप्रभृतिनि च,इह प्राकृते श्रौकारश्रुतेरभावात्"एहाणाओ"इत्येव पठ्यते इति। (एत्तो त्ति) इतः पुनर्यतनाविहितस्नानादेर्विशुद्धभाव. शुभाध्यवसायोऽनुभवसिद्ध एव स्वसंवेदनप्रतिष्ठित एव,बुधानां बुद्धिमतामनेन च शुभभावहेतुत्वादित्यस्य पूर्वोक्तहेतोरसिद्धताऽऽशङ्का परिहृतेति गाथार्थः ॥११॥ अत्राभयदेवसूरिव्याख्याने धर्मार्थप्रवृत्तावप्यारम्भजनितदोषस्याल्पस्य यदिष्टत्वमुक्तम्,तद् ग्रन्थकर्तु' क सरससिद्ध?, षोडशके-"यतनातो न च हिंसा" इत्याद्यभिधानात् यतनया भावशुद्धिमत' पूजायां कायवधासभवस्यैव दर्शितत्वात्,पूजापञ्चाशकेऽपि कायवधात्कथं पूजा परिशुद्धेति प्रश्नोत्तरे-"भण्णइ जिणपूयाए, कायवहो जइ वि होइ उ कहिं वि। तह वि तई परिसुद्धा, गिहीण कूवाहरणजोगा ॥ ४२ ॥ " इत्यत्र कथञ्चित् केनचित् प्रकारेण यतनाविशेषेण प्रवर्तमानस्य सर्वथा न भवतीति प्रदर्शनार्थं कथञ्चिद् ग्रहणमिति तपस्विनां स्वयमेव व्याख्यानात्, "देहादिणिमित्त पि हु, जे कायवहम्मि तह पयट्टंति। जिणपूआकायवह-म्मि तेसिमपवत्तणं मोहो ॥४५॥" इति ग्रन्थेनाग्रे ग्रन्थकृतैवाधिकारिणो जिनपूजा कायवधम् उपेत्य प्रवृत्तेर्दर्शितेन हिंसास्वरूपस्य च यतनयैव त्याजनाभिप्रायात् समाधियोगेनेत्यादिलक्षणासिद्धेः । न च पुण्यजनकाध्यवसायेन योगेन चाल्पस्यापि पापस्य बन्धसम्भव ,अध्यवसायानां योगानां वा शुभाशुभैकरूपाणामेवोक्तत्वात्, तृतीयराशेरग्रे प्रसिद्धेरेतदुपपादयिष्यत उपरिष्टात् भाष्यसमत्या, भगवत्या सुपात्रे शुद्धदानेऽल्पपापबहुतरनिर्जराभिधान चनिर्जराविशेषमुपलक्षयति। स च शुद्धदानफलावधिकापकर्षात्मकः, प्रकृते च चारित्रफलावधिकापकर्षात्मको दानादिचतुष्कफलसमशील. सोऽधिक्रियत

(१७) अथैदम्पर्यविचारः-

आनन्दस्य हि सप्तमाङ्गवचसा हित्वा परिव्राड्वर-
श्राद्धस्य प्रथितौपपातिकगिरा चैत्यान्तरोपासनाम् ।
अर्हच्चैत्यनतिं विशिष्य विहितां श्रुत्वा न यो दुर्मतिं,
स्वान्तान्मुञ्चति नाश्रितप्रियतया कर्माणि मुञ्चन्ति तम् ॥६३॥

(आनन्दमिति) हि निश्चितम्, आनन्दस्य आनन्दश्रमणोपासकस्य, सप्तमाङ्गवचसा उपासकदशाङ्गवचनेन, तथा परिव्राड्वरः प्रधानो यः श्राद्धः अम्बडः श्रमणोपासकः, तस्य, प्रथिता प्रसिद्धा औपपातिकगिरौपपातिकोपाङ्गवाक्, तथा, चैत्यान्तरोपासनाम्-अन्यतीर्थिकचैत्यतत्परिगृहीतार्हच्चैत्योपासनां, हित्वा त्यक्त्वा, स्थितस्येति शेषः, "मत्प्रसूतिमनाराध्य" इत्यत्रेव, अन्यथा भिन्नकर्तृकक्त्वाप्रत्ययानुपपत्तेः। अथवा ऽन्तर्भूतण्यर्थत्वाद् हित्वेत्यस्य हापयित्वेत्यर्थः । एवं ह्यभिमतानभिमतविधानहापनयोरेककर्तृत्वे न क्त्वाप्रत्ययानुपपत्तिः । अर्हच्चैत्यानामर्हत्प्रतिमानां,नतिं विशिष्य नामग्राहं विहितां कर्त्तव्यत्वेनोक्तां श्रुत्वा यो दुर्मतिं प्रतिमाऽनाराध्येति दुष्टमतिं न त्यजति, तम्, आश्रितस्यातिप्रियतयाऽत्यन्ताभीष्टतया, स्वचेतस्य गम्यमानत्वादुपमोत्प्रेक्षे । आश्रिता प्रिया यस्य तत्तयेति व्याख्याने गुणप्रिय इत्यादाविव विशेषणपरनिपातः। कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि न मुञ्चन्ति। तत्र सप्तमाङ्गालापको यथा-" तते ण से आणदे गाहावती समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वयस्स सत्त सिक्खावय दुवालसविहं गिहिधम्म पमिवज्जइ,समणं भगवं महावीरं वदइ, णमंसइ, णमसइत्ता एव वटासी-नो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइ अण्णउत्थिया वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाइ वा अरिहंतचेइआइ वदित्तए वा णमंसित्तए वा"। प्रति० । ('सम्मत्त' शब्दे तद्ग्रहणप्रस्तावे व्याख्या) ('आणद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रमुक्तम्) अत्रान्ययूथिकपरिगृहीतचैत्यनिषेधे मिथ्रितार्हच्चैत्यवन्दनादिविधिः स्फुट एव । न चात्र चैत्यशब्दार्थे ज्ञानं मूर्खोक्तं घटते। अर्हज्ज्ञानस्यान्यतीर्थिकपरिगृहीतत्वानुपपत्तेः, नापि साधुः, श्रुतवत् तस्यान्यपरिगृहीतत्वासिद्धेः। सिद्धौ वा स्वतीर्थिक एव सः । अन्यागमस्याप्यन्यपरिग्रहेणैव व्यवस्थितेः भृश स दुर्बुद्धिपरिग्रहाद्य भ्रमः । "तदन्यागममप्रमाणम् " इति वचनात् । अथ-"अण्णउत्थिया वा" इत्यादिपदत्रयमेकार्थमेव "समणं वा माहणं वा" इति पदद्वयवत् । अन्यथा " तेसिं असरणं च " इत्याद्यनुपपत्तेः। तत्पदस्याव्यवहितपूर्वोक्तपदार्थपरामर्शकत्वात् चैत्यानामेव वाच्यत्वव्यवहितपूर्वोक्तत्वात्तेषां दानाद्यप्रसङ्गेन तन्निषेधानुपपत्तेरिति चेत्। न। प्रक्रान्तानां त्रयाणां नत्यादेरवश्यनिषेध्यत्वात्पदत्रयस्यैकार्थताया वक्तुमशक्यत्वात्, तेन तदा यावदुक्तपरामर्शस्यैव युक्तत्वाच्च वस्तुतोऽव्यवहितप्राक्कालीनशाब्दबोधानुकूलव्यापारविषयत्वं वाच्यम्। तथा च-पूर्वमनालपितेनेत्यत्रान्यतीर्थिकैरित्यध्याहारस्यावश्यकत्वात् तेषामिति तत्पदेन त्वव्यवहितपूर्वोक्तान्यतीर्थिकपरामर्शो युक्त इति मदुत्प्रेक्षा प्रमाणयन्तु प्रामाणिकाः। औपपातिकालापको यथा-"अम्मडस्स ण णो कप्पइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहिआणि य अरिहंतचेइआणि वा वदित्तए वा णमंसित्तए वा० जाव पज्जुवासित्तए वा णण्णत्थ अरिहंतेहिं वा अरिहंतचेइआणि वा वंदित्तिए।"तद्वृत्तिर्यथा-"अण्णउत्थिए त्ति"अन्ययूथिका आर्हतसमयापेक्षयाऽन्ये शाक्यादयः। " चेइआइं ति " अर्हच्चैत्यानि जिनप्रतिमाः, "नन्नत्थ अरहंतेहिं व त्ति " न कल्पते, इह योऽयं नेति प्रतिषेधः, सोऽन्यत्रार्हद्भ्यः, अर्हतो वर्जयित्वेत्यर्थः। न हि किल परिव्राजकवेषधारकोऽनोऽन्ययूथिकदेवतावन्दनादिनिषेधेऽर्हतामपि वन्दनादिनिषेधो मा भूदितिकृत्वा " नन्नत्थ " इत्यधीतम्, इति। अत्रार्हच्चैत्येऽम्बडस्य "कण्ठ एव विहिता" इति न्यायाद्यनभिज्ञस्यापि सुज्ञानम् । इत्थं च सम्यक्त्वालापक एवार्हच्चैत्यानां वन्दननमस्करणयोर्विहितत्वात्पूजाद्यप्यर्थिकारिणां सिद्धमिति सिद्धान्ते स्फुटमर्हच्चैत्यपूजाविधानं न पश्यामः। सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययने स्फुटं फलानभिधानादिति लुम्पकमतं निरस्तम्। न पश्याम इत्यस्य स्वापराधत्वात्। न ह्यय स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यतीति। सम्यक्त्वालापक एव सूक्ष्मदृष्ट्या दर्शनात्सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनेऽपि गुरुसाधर्मिकशुश्रूषाफलाभिधानेनैव पूजाफलाभिधानादिति भावनीयं सूरिभिः ॥६३ ॥

सुवर्णगुलिका । आह च—

प्रश्नव्याकरणे सुवर्णगुलिकासंबन्धनिर्द्धारणे,
शस्ते कर्मणि दिग्द्वयग्रहरहःख्यातौ तृतीयाङ्गतः ।
सम्यग्भावितचैत्यसाक्षिकमपि स्वालोचनाज्ञाश्रुतौ,
सूत्राच्च व्यवहारतो भवति नः प्रीतिर्जिनेन्द्रे स्थिरा ॥६४॥

प्रश्नव्याकरणे सुवर्णगुलिकायाः संबन्धनिर्द्धारणे सत्यसवद्रस्यानभिधेयत्वात्संबन्धाभिधानस्यावश्यकत्वे वृत्तिस्थस्य तस्य सौत्रत्वादिति भावः । तथा तृतीयाङ्गतः स्थानाङ्गतः, शस्ते प्रशस्ते कर्मणि दिग्द्वयस्य पूर्वोत्तरादिग्रूपस्य, यो ग्रहः पुरस्कारः, तस्य यो रहःख्यातिस्तात्पर्यप्रतिपत्तिः, तस्यां, च पुनः; व्यवहारतः सूत्रात्सम्यग्भावितान्ययतनारूपवर्जनया सद्भावं प्रापितानि यानि चैत्यानि तानि साक्षीणि यत्र यस्यां क्रियायां, तथा स्वालोचना सुष्ठु समीचीना याऽऽलोचना, तस्याः श्रुतौ विधिश्रवणे सति, नः अस्माकं, प्रीतिर्जिनेन्द्रे स्थापनाजिने स्थिराऽप्रतिपातिनी भवति, स्थापनाजिनस्य जिनेन्द्रत्वं भावजिनवत्सद्यःसमुपासनाफलदानसमर्थतयाऽव्यभिचारेणात्यात्मिकभावाक्षेपकत्वाद्वसेयम् । तत्र तुर्याश्रवद्वारे-" सुवन्नगुलिआए त्ति " प्रतीके वृत्तिः-यथा सुवर्णगुलिकायाः कृते सङ्ग्रामोऽभूत्। तथाहि-सिन्धुसौवीरेषु जनपदेषु विदर्भकनगरे उदायनस्य राज्ञः प्रभावत्या देव्याः सकाशे देवदत्ताभिधाना दास्यभूत् । सा च देवनिर्मितां गोशीर्षचन्दनमयीं श्रीमन्महावीरप्रतिमां राजमन्दिरान्तर्वर्तिचैत्यभवनव्यवस्थितां प्रतिचरति स्म, तद्वन्दनार्थं च आन्वकः कोऽपि देशात् सचरन् समायातः, तत्र चागतोऽसौ रोगेणाऽपटुशरीरो जातः,तया च सम्यक् प्रतिचरितः। तुष्टेन च तेन सर्वकामिकमाराधितदेवताविनीर्णगुलिकाशतमदायि। तथाऽनया कुब्जा विरूपा,सुरूपा भूयासमिति मनसि विभाव्य एका गुटिका भक्षिता, तत्प्रभावात् सा सुवर्णवर्णा जातेति सुवर्णगुलिका नाम्ना प्रसिद्धिमुपगता। ततोऽसौ चिन्तितवती-जातं मे रूपसंपद्, परं तया च किं भर्तृविहीनया,तत्र तावदयं राजा पितृतुल्यो न कामयितव्यः, शेषस्तु पुरुषमात्रमतः किं तैः?,ततः उज्जयिन्याः पतिश्चण्डप्रद्योतराजं मनस्याधाय गुटिका भक्षिता, ततोऽसौ देववचनात्तां विज्ञाय तदानयनाय हस्तिरत्नमारुह्य तत्रायातः। प्रार्थनां कारिता च तेन सा,तयोक्तम्-आगच्छामि यदि प्रतिमां नयसि,ते-

णि निवासयति, ततः पुष्पाणां माल्यानां, ग्रथितानामित्यर्थः । गन्धनां चूर्णानां वस्त्राणामाभरणानां चारोपणं करोति स्म । मालाकलापावलम्बन पुष्पप्रकरं तन्दुलैर्दर्पणाद्यष्टमङ्गलकाले रचन करोति । (वामं जाणु अचेइ त्ति) उत्क्षिपतीत्यर्थः (दाहिण जाणुं धरणितलंसि निहट्टु) निहत्य, स्थापयित्वेत्यर्थः । (तिक्खुत्तो मुद्धाण धरणितलंसि णिवेसेइ त्ति) निवेशयतीत्यर्थः । (इसिं पच्चुन्नमति २ करतलपरिग्गहिय अंजलिं मत्थए कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरिहंताणं० जाव संपत्ताण वंदति, णमंसति, णमंसितित्ता पमिनिक्खमइ त्ति) तत्र वन्दते चैत्यवन्दनाविधिना प्रसिद्धेन, नमस्यति पश्चात्प्रणिधानयोगेनेति वृद्धाः, न च द्रौपद्याः प्रणिपातदण्डकमात्रं चैत्यवन्दनमभिहितं सूत्रे इति सूत्रमात्रप्रामाण्यादन्यस्यापि श्रावकादेस्तावदेतद् मन्तव्यम् । अन्यथा सूर्याभादिदेववक्तव्यतायां बहूनां शस्त्रादिवस्तूनामर्चनं श्रूयते इति, तदपि विधेयं स्यात्, किञ्चाविरतानां प्रणिपातदण्डकमात्रमपि चैत्यवन्दनं सम्भाव्यते, यतो वन्दते नमस्यतीति पदद्वयस्य वृद्धान्तरव्याख्यानमेवमुपदर्शितं जीवाभिगमवृत्तिकृता-अविरतिमतामेव प्रसिद्धचैत्यवन्दनविधिर्भवति , अन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरं कायोत्सर्गासिद्धेः, ततो वन्दते सामान्येन, नमस्करोति आशयवृद्धेरभ्युत्थानरूपनमस्कारेणेति । किं च-" समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा । अंतो अहो णिसियस्स य, तम्हा आवस्सयं णाम ॥ १ ॥" तथा "-जं णं समणो वा समणी वा सावओ वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे उभओ कालं आवस्सएण चिट्ठंति, तं लोयउत्तरियं भावावस्सयं " इत्यादिरनुयोगद्वारवचनात् । तथा सम्यग्दर्शनं संपन्नः प्रवचनभक्तिमान् षड्विधावश्यकनिरतः षट्स्थानयुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् श्रावकस्य षड्विधावश्यकस्य सिद्धावावश्यकाऽन्तर्गतं प्रसिद्धं चैत्यवन्दनं सिद्धमेव भवतीति वृत्तौ । यच्च " जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ " त्ति एकस्यां वाचनायामेतावदेव दृश्यते इति वृत्तावेव प्रागुक्तं, तत्रापि वृद्धाशयात्सम्पूर्णो विधिरिष्यत एव, जिनप्रतिमार्चनस्य प्रणिधानस्तवेनैव विरतिमतां निर्वाहात् । यदपि " जाव संपत्ताणं ति" असपूर्णदण्डकदर्शनाश्वास इति प्रतिमाऽरिणोच्यते । तदपि स्तम्भतीर्थचिरकालीनताम्रपत्रीयपुस्तकसंपूर्णदण्डकप्रदर्शनेन बहुशो निराकृतमस्माभिः । सम्पूर्णचैत्यवन्दनविधौ चापुनर्बन्धकादयोऽधिकारिणः स्थाणोरर्थालम्बनतदन्ययोगपरा इति सिद्धमेव । योगग्रन्थे तु श्राविका तु द्रौपद्यानन्दादिवत्प्रत्याख्याता अन्यतीर्थिकादिरूपत्वादिव सिद्धा । तथाहि ज्ञातावृत्तौ-" तए णं पंच पंडवा दोवईदेवीए सद्धिं कल्लाकल्लिं वारं वारेण उरालाइ भोगभोगाइं० जाव विहरंति । तते णं से पंडुराया अण्णया कयाइ पंचपंडवेहिं कुंतीए देवीए दोवइए देवीए सद्धिं अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे सीहासणवरगए यावि विहरति । इमं च णं कच्छुल्लनारए दंसणेणं अइभद्दए विणीए अंतो य कलुसहियए मज्झत्थोवत्थिए अ अल्लीणसोमपियदंसणे सुरूवे अमइलसगलपरिहिए कालमियचम्मउत्तरासंगरइयवत्थे दंडकमंडलुहत्थे जडामउडदित्तसिरए जण्णोवइअगणे त्ति मुंजमेहलवक्कलधरे हत्थकयकच्छभीए पियगंधव्वे धरणिगोअरप्पहाणे संचरणावरणउवयणुप्पयणिलेसिणीसु य संकामणिआभिओगिपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुन्नपईवसंबअनिरुद्धनिसढउम्मुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईण जायवाण अद्धुट्ठाण य कुमारकोडीणं हियययइए संथवए कलहयुद्धकोलाहलप्पिए भंडणाभिलासी बहुसुयसमसुयसपराए सुदंसणए समंतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसतेल्लुक्कबलवग्गण आमंतेऊणं तं भगवतिं पक्कमणिं गयणगमणदच्छं उप्पइओ गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेमकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणसंबाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीतल वसुहं ओलोयंतो रम्मं हत्थिणाउरं नयरं उवागए पंडुरायभवणंमि अइवेगेणं समोवयइ, तए णं से पंडुराया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीए देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेइ, कच्छुल्लनारयं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छइ, पच्चुग्गच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता महरिहेणं आसणेण उवनिमंतेइ । तते णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिच्चरफासियाए दब्भोवरिए वत्थआए भिसिआए निसीयइ, निसीयइत्ता पंडुरायं रज्जे अ० जाव अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छति । तते णं से पंडुराया कुंती देवी पंच पंडवा कच्छुल्लनारयं आढति० जाव पज्जुवासति ; तते णं सा दोवती कच्छुल्लनारयं अस्संजयं अविरयअप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्म त्ति कट्टु नो आढाइ० जाव णो पज्जुवासति त्ति "। प्रति० । ज्ञा० ।

भद्रा सार्थवाही-

"तते णं से भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठ० जाव हियया विउलं असणं पाण खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे गेह्णति, रसयाउ गिहाणि गच्छइ, रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीए तीरेसु बहुपुप्फ० जाव मल्लालंकारं ठवेइ, ठवेइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहइ, ओगाहइत्ता जलमज्जणं करेइ, करेइत्ता जलकीडं करेइ, जलकीडं करेइत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिगाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता तं पुप्फवत्थगंधमल्लं गेण्हइ, गेण्हइत्ता जेणेव नागघरए० जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तत्थ णं नागपडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता पच्चुन्नमइ, पच्चुन्नमइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, नागपडिमाओ० जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थएण पमज्जइ, उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खेइत्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ, महरिहं वत्थारुहणं च गंधारुहणं च मल्लारुहणं च करेइ, करेइत्ता धूवं डहइ, रज्जन्नु पायपडिया एवं वयासी--जइ णं अहं दारगं वा पयामित्तो णं अहं जाय च० जाव अणुवड्डेमि त्ति कट्टु ओवाइयं करेइ, जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा० जाव विहरति । " न च द्रौपद्या जिनप्रतिमार्चनकालवरोपयाचितं कृतं श्रूयते, प्रत्युत " जिणाणं जावयाणं" इत्यादिना भगवद्गुणप्रणिधानमेव कृतमस्तीति कथं विशेषं न पश्यति सचेताः । इत्थं प्रणिधानेनैव च महापूजा, अन्यथा तु पूजामात्रमिति शास्त्रगतार्थः । तदाह-"देवगुणप्रणिधाना-त्तद्भावानुगतमुत्तमं विधिना । स्यादादरादियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् " ॥ १ ॥ इति । प्रति० । आचा० । कल्प० ।

हिहिमाइआ नवगेविज्जा विजयाईणि पचाणुत्तरमाईणि ।
एएसु विमाणाणि पत्तेय—
"बत्तीसऽट्ठावीसा, बारसह चउरो य सयसहस्सा ।
आरेण बम्भलोगा, विमाणसखा भवे एसा ॥
पचासचत्तछच्चे-व सहस्सा लतसुक्कसहसारे ।
सयचउरो आणयपा-णएसु तिन्नारणच्चुयए ॥
सक्कारसत्तर हि-ट्ठिमेसु सत्तुत्तर च मज्झिमए ।
सयमेय उवरिमए, पंचेव य अणुत्तरविमाणा ॥
सव्वग्गचुलसियसयसह-ससत्ताणउई भवे सहस्साइं ।
तेवीसं च विमाणा, विमाणसंखा भवे एसा" ॥

तहा अहोलोए मेरुस्स उत्तरदाहिणओ असुराइआ दस निकाया । तेसु वि भवणसखा—
"सत्तेव य कोडीओ, हवंति बावत्तरि सयसहस्सं ।
जावंति विमाणाइं, सिद्धायतणाइं तावंति" ॥
तहा तिरियलोगो, तत्थ जिनायतनानि—
"नंदिसरे बावन्ना, जिणहरा सुरगिरीसु तह असीई ।
कुण्डलनगमणुत्तर-रुअगवलएसु चउ चउरो ॥
उसुयारेसु चत्तारि, असीइ वक्खारपव्वयेसु तहा ।
वेयड्ढे सत्तरिसय, तीसं वासहरसेलेसु ॥
वीसं गयदंतेसु, दसजिणभवणाइं कुरुनगवरेसुं ।
एवं च तिरियलोए, अडवण्णा हुंति सयचउरो ॥
वतरजोइसिआणं, असंखसखा जिनालयाइं वा ।
गामागरनगराइ, एएसु कया बहू संति ॥
एयं च सासयासा-सयाइँ वंदामि चेइआइं ति ।
इत्थ पदेसम्मि ठिओ, संता तत्थ प्पदेसम्मि" ॥

इति समस्तद्रव्याईद्वन्दनादिवेदकगाथासमासार्थः ।
अत्र जिनप्रतिमानां यद् द्रव्यार्हत्वमुक्तं, तद्भावाऽर्हत्परिज्ञानहेतुमतामधिकृत्य,अन्यथा तासां स्थापनाजिनत्वात् । कश्चिदाह—एतत् श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र न गणधरकृतं,किं तु श्रावककृतम् । तत्रापि "तस्स धम्मस्स" इत्यादिगाथादशकं केनचिदर्वाचीनेन क्षिप्तमित्यादि निर्बीजम्, सहसाऽज्ञातकथने तीर्थकरादीनां महाशातनाप्रसङ्गात् । न हि क्वाप्येतत्सूत्रक प्रवचनमुपलभामहे । न चाविच्छिन्नपरम्परागतवृद्धवचनमीदृक् केनचित् श्रुतम्,किं तु यस्य सूत्रादेः कर्तृनाम न ज्ञायते, प्रवचने च सर्वसमत यत्तत्कर्त्ता सुधर्मस्वाम्येवेति वृद्धवादः । भणित च तथा विचारामृतसंग्रहेऽपि-"नियदव्वेण कयासु,जिणिन्दभवणबिंबवरपइट्ठासु । वियरइ पसत्थपुत्थय-सुतित्थतित्थयरपूजासु"॥१॥इति । भक्तप्रकीर्णके-"सवच्छरचाउम्मा-सिएसु अट्ठाहिआसु अ तिहीसुं । सव्वायरेण लग्गइ, जिणिंदपूआ तवगुणेसु ॥" इत्यादि । किं बहुना-उपदेशमालायाम्-"वाक्येनावगृहीतसगतनृणां वाच्यार्थवैशिष्ट्यत.,
सद्बोध प्रतिमा सृजन्ति तदिमा ज्ञेयाः प्रमाण स्वत ।
तत्तत्कर्मनियोगनृन्परिकरैः सेव्याः परोपस्करै-
रेता एव हि राजलक्षणभृतो राजन्ति नाकेष्वपि ॥१॥" प्रति० ।

तथा च—

तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठति, तासि णं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते । त जहा—तवणिज्जमया हत्थतला पायतला अकामयाइं नखाइं अंतो लोहियक्खपडिसेगाइं कणगामया पाया कणगामया गोफा कणगामईओ जंघाओ कणगामया जाणू कणगामया ऊरू कणगामईओ गायलट्ठीओ तवणिज्जमईओ नाभीओ रिट्ठमईओ रोमराजीओ तवणिज्जमया चूचुआ तवणिज्जमया सिरिवच्छा कणगामईओ गीवाओ कणगामईओ बाहाओ रिट्ठामए मंसू सिलप्पवालमया ओट्ठा फलिहमया दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुआ कणगमईओ नासाओ अंतो लोहियक्खपडिसेयाओ अंकामयाइं अच्छीणि अंतो लोहियक्खपडिसेआइं पुलकमईओ दिट्ठीओ रिट्ठामईओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामया णिडाला वइरामईओ सीसघडीओ तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमीओ रिट्ठामया उवरि मुद्धया, तासि णं जिणपडिमाणं पच्छिओ पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारगपडिमाओ पण्णत्ताओ,ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदेंदुप्पगासाइं कोरिंटमल्लदामाइं धवलाइं आतपत्ताइं सलीलं ओहारेमाणीओ ओहारेमाणीओ चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेयं पत्तेयं चामरधारगपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामरधारगपडिमाओ चदप्पहवेरुलियनाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमयमहितफेणपुंजसंनिकासाओ सुहुमरययदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं ओहारेमाणीओ २ चिट्ठंति । तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो नागपडिमाओ जक्खपडिमाओ भूतपडिमाओ कुंडधारपडिमाओ विणओणयाओ पंजलिपुडाओ (पायवडियाओ) संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति । सव्वरयणामईओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ नीरयाओ णिप्पंकाओ० जाव पडिरूवाओ, तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं चंदणकलसाणं अट्ठसयं भिंगारगाणं थालाणं णायंसगाणं पातीणं सुपइट्ठगाणं मणगुलियाणं वायकरगाणं चित्तारयणकरंडगाणं हयकंठगाणं० जाव उसभकंठगाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं अट्ठसयं तेल्लसमुग्गाणं० जाव धूवकडुच्छुगाण संनिक्खित्तं चिट्ठंति । जी०३ प्रति० ।

तत्थ णं जे से उवरिमविडिमगसाले एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे पण्णत्ते- कोसं आयामेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं, देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंनिविट्ठे, वण्णओ- तिदिसिं तओ दारा पंचधणुसता अड्ढाइज्जधणुसयं विक्खंभेणं मणिपेढिया पंचधणुसतिया देवच्छंदओ पंचधणुसतविक्खंभो सातिरेगं पंचधणुसयं उड्ढं उच्चत्तेणं,तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणाणं एवं

धन्नाण विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना ।
विहिबहुमाणी धन्ना, विहिपक्खअदूसगा धन्ना ॥ २ ॥
आसन्नसिद्धिआण विहिणा, परिणामो होइ सयकालं ।
विहिचाओऽविहिभत्ती, अभव्वजियदूरभव्वाणं ॥ ३ ॥ "

सर्वत्र सम्यग्विधिर्ज्ञेयः कार्यश्च सर्वशक्त्या पूजादिपुण्यक्रियायां, प्रान्ते च सर्वत्राविध्याशातनानिमित्तं मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमिति श्राद्धविधौ विधिभक्त्युपयोगादिसाचिव्ये, देवपूजादिकममृतानुष्ठानमेव, ततो विध्यद्वेषस्यापि सत्त्वे प्रथमयोगाङ्गसंपत्त्यनुबन्धतो विधिरागसाम्राज्ये-"एतद्रागादिह हेतुश्रेष्ठ योगविदो विदुः" इति च तद्वदनुष्ठानरूपं, तत्त्वयमपि चादेयं भवति, विषगरानुष्ठानानामेव हेयत्वादित्यध्यात्मचिन्तात्मकाः। अत एव भोगानाभोगाभ्यां द्रव्यस्तवस्य यद्वैविध्यमुक्तं तान्त्रिकैस्तदुपपद्यते । यदाहुः-

" देवगुणपरिण्णाणा, तब्भावाणुगयमुत्तमं विहिणा ।
आयरसारं जिणपू-अणेण आभोगदव्वथओ ॥ १ ॥
एत्तो चरित्तलाभो, होइ लहुं सयलकम्मणिद्दलणो ।
ता एत्थ सम्ममेव हि, पयट्टिअव्वं सुदिट्ठीहिं ॥ २ ॥
पूआविहिविरहाओ, अपरिन्नाणाउ जिणगयगुणाण ।
सुहपरिणामकयत्ता, एसोऽणाभोगदव्वथओ ॥ ३ ॥
गुणठाणठाणगत्ता, एसो एवं पि गुणकरो चेव ।
सुहसुहयरभावाओ, विसुद्धिहेऊ उ बोहीओ ॥ ४ ॥
असुहक्खएण धणियं, धन्नाणं आगमे सि भद्दाणं ।
असुणिय गुणे वि तूण, विसएऽपीई समुच्छलइ ॥ ५ ॥
यथा शुकमिथुनस्यार्हद्बिम्बे ।
होइ पओसो विसए-ऽगुरुकम्माणं भवातिणीदाणं ।
पत्थम्मि आउराण व, उवट्ठिए निच्छिए मरणे ॥ ६ ॥
एत्तो च्चिय धम्मन्तू , जिणबिंबे जिणवरिंदधम्मे वा ।
असुहज्झाणभयाओ, पओसलेसं पि वज्जंति" ॥ ७ ॥

परजिनद्वेषे शकुन्तलाज्ञातम् । अभ्युदयमाह-किं च गुरुकारितादिविषयम् आग्रहं त्यक्त्वा भक्तितो भक्तिमात्रेण, सर्वत्राऽपि चैत्येऽविशेषतो विशेषैदासीन्येन कृतवरैर्मुख्यपाक्षिकैः पूज्याकृतेः भगवत्प्रतिमायाः, पूज्यतोक्ता, कालाद्यालम्बनेनेत्थमेव बोधिसौलभ्योपपत्तेः । तथा च श्राद्धविधिपाठे प्रतिमाश्च विविधाः, तत्पूजाविधौ सम्यक्त्वप्रकरणे इत्युक्तम्-

" गुरुकारियाएँ केई, अन्ने सयकारियाएँ तं विंति ।
विहिकारियाएँ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं "॥ १ ॥

व्याख्या-गुरवो मातृपितृपितामहादिदादयस्तैः कारितायाः केचित्, अन्ये स्वयं कारितायाः, विधिकारितायास्त्वन्ये प्रतिमायाः, तत्पूर्वाभिहितं पूजाविधानं ब्रुवन्ति । कर्त्तव्यमिति शेषः। अथवाऽवस्थितपक्षस्तु-गुर्वादिकृतस्यानुपयोगित्वाग्रहरहितेन सर्वप्रतिमा अविशेषेण पूजनीयाः, सर्वत्र तीर्थकृताकारोपलम्भनवुद्धेरुपजायमानत्वात् । अन्यथा हि स्वाग्रहवशादर्हद्बिम्बेऽप्यवज्ञामाचरतो दुरन्तसंसारपरिभ्रमणलक्षणो बलाद् दण्डः समाढौकते । न चैवम्, अवधिकृतामपि पूजयतस्तदनुमतिद्वारेणाज्ञाभङ्गलक्षणदोषोपपत्तिः, आगमप्रामाण्यात् । तथाहि श्रीकल्पभाष्ये-

" निस्सकडमनिस्सकडे, अ चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं च चेइआईं य, णाउं इक्किक्कया वावि ॥ १ ॥ "

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे,अनिश्राकृते च तद्विपरीते चैत्ये, सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । तत्र प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति । अत्रावस्थितपक्षो यद्यप्युत्सर्गतो विधिकारितत्वमेव,गुरुकारितस्वयकारितयोर्द्वयोरपि तद्विशेषरूपयोरेवोपन्यासात्। अत एव विषयविशेषे पक्षपातोऽप्सद्वीर्यवृद्धिहेतुभूततया तदन्यथात्वे त्रयाणामपि पक्षाणां भजनीयत्वमुक्तं विंशतिकाप्रकरणे हरिभद्रसूरिभिः। तथाहि-"रंगाइ सोवओगा, साहरणाणं च इट्ठफला। किंचि विसेसेणित्ते ,सव्वे चिय ते विभइयव्वा" ।१। त्ति। विधिकारितसंपन्नापवादस्वाकारसौष्ठवमवलम्ब्य मनःप्रसत्तिरापादनीया, न चैवमविध्यनुमतिः,अपवादालम्बनेन तन्निरासात्, क्रमदेशनायां स्थावरहिंसानुमतिवत् भक्तिव्यापारप्रदर्शने दोषोपस्थितिप्रतिरोधाद्वा कात्स्न्र्यव्यक्तिप्रदर्शनेन शास्त्रस्थितिः। अत एवोक्तं व्यवहारभाष्ये-"लक्खणजुत्ता पडिमा,पासाइआ समत्तलंकारा। पल्हायइ जह य मणं, तह णिज्जरमो विआणाहि ॥१॥" त्ति ॥ ७० ॥

चैत्यानां पूजासत्कारादिस्तुतयः-

इज्यादेर्न च तस्या-उपकारः कश्चिदत्र मुख्य इति ।
तदतत्त्वकल्पनैषा, बालक्रीडासमा भवति ॥ ७ ॥

इज्या पूजा, तदादेः सत्काराभरणस्नात्रादेः, न च नैव, तस्या देवतायाः प्रस्तुतायाः, उपकारः सुखानुभवसंपादनलक्षणः, कश्चिदत्र मुख्य इति । न कश्चिन्निरुपचरितो मुख्यदेवताया उपकारः संभवति । तत्तस्मादतत्त्वकल्पनैषाऽपरमार्थकल्पनैषा मुक्तिगतदेवतोपकारविषया, बालक्रीडासमा भवति बालक्रीडया तुल्यैव वर्त्तते।यथा बालो नानाविधैरुपायैः क्रीडासुखमनुभवति तथा तदुपकारार्थमिष्यमाणैः पूजासत्कारादिभिर्देवताविशेषोऽपि परितोषमनुभवतीति । बालक्रीडातुल्यत्वमुपकारपक्षे दोषः, ये त्वात्मश्रेयोऽर्थं कुर्वते पूजासत्कारादि, न तेषामयं दोषो भवतीति भावः ॥ ७ ॥ षो० ८ विव० ।

एतत्सर्वं मनसिकृत्याह-

चैत्यानां खलु निश्रितेतरतया भेदोऽपि तन्त्रे स्मृतः,
प्रत्येकं लघुवृद्धवन्दनविधिः साम्ये तु यत्सांप्रतम् ।
इच्छाकल्पितदूषणेन भजनासङ्कोचनं सर्वतः,
स्वाऽभीष्टस्य च वन्दनं तदपि किं शास्त्रार्थबोधोचितम्॥७१॥

(चैत्यानामिति) खल्विति निश्चये, चैत्यानां निश्रितेतरतया निश्रितानिश्रितत्वात् भेदोऽपि तन्त्रे शास्त्रे प्रत्येकं लघुवृद्धवन्दनविधिः स्मृतः, साम्ये तु प्रायस्तुल्यत्वे यत् सांप्रतं विषमदुःषमाकाले, इच्छाकल्पितं यद् दूषणमन्यगच्छीयत्वादिकं, तेन भजनायाः सेवायाः,सङ्कोचनं संक्षेपणं, बहुभिरेकैलुम्पकसमाने, नापर्यवसायि, स्वाभीष्टस्य स्वेच्छामात्रविषयस्य च, वन्दनम, तदपि किं शास्त्रार्थबोधस्योचितम् ?, नैवोचितम्, कतिपयमुग्धवणिग्धनमात्रफलत्वादिति भावः ॥ ७१ ॥

वक्रार्थं काकुव्यङ्ग्येव कण्ठेन स्पष्टीकर्तुमाह—

चैत्यानां न हि लिङ्गिनामिव नतिर्गच्छान्तरस्योचिते-
त्येतावद्वचसैव मोहयति यो मुग्धान् जनानाग्रही ।
तेनावश्यकमेव किं न ददृशे वैषम्यनिर्णायकं,
लिङ्गे च प्रतिमासु दोषगुणयोः सत्त्वादसत्त्वात्तथा ॥७२॥

दिविनिर्मितं विभूषितं मणिमतं,जिनगृहैरर्हदायतनैर्महीवलय स-मस्तधरणीतलं. य. कश्चिदतिशयमहापुण्यप्राग्भारश्चक्रवर्त्या-दि., कारयेत्समग्रं परिपूर्ण, ततोऽपि तस्मादपि, सर्वोत्तमद्रव्यं यावदपीत्यर्थ । चरण चारित्रं सर्वविरतिस्वभाव,महर्द्धिक वि-शिष्टतरतमं, यतस्तैऽपि तादृग्विधसर्वोत्तमद्रव्यस्तवविधायि-नोऽपि सर्वसम्वरवन्त एव शिवसुखसाधका भवन्तीति गाथार्थः ॥ १८ ॥ दर्श० ३ तत्त्व ।

(१५) सिंहावलोकितेन हिंसाऽस्तीति तामेव द्रव्यस्तवे निरस्यति—

धर्मार्थं सृजतां क्रियां बहुविधां हिंसा न धर्मार्थिका,
हिंसांशे न यतः सदाशयभृतां वाञ्छा क्रियांशे परम् ।
न द्रव्याश्रवतश्च बाधनमपि स्वाध्यात्मभावोन्नते-
रारम्भादिकमिष्यते हि समये योगस्थितिव्यापकम् ॥५९॥

(धर्मार्थमिति) धर्मार्थं बहुविधा बहुप्रकारां, क्रियां पूजादि-रूपां, सृजतां तदर्थिका धर्मार्था हिंसा न, यतः सदाशयभृतां शुभभावानां. हिंसांशे वाञ्छा न,परं केवलं क्रियांशे वाञ्छा,तथा चानुबन्धहिंसानिरासः, सदाशयश्च यतनोपबृंहितो ग्राह्य इति हेतुहिंसाऽपि निरस्तैव, तथा च स्वरूपहिंसैवास्ति । तथाह-द्रव्याश्रवतश्च स्वस्य योऽध्यात्मभावस्तदुन्नतेः बाधनमपि "अज्झत्थे चेव बंधप्पमोक्खे" इत्याचारवचनात् । इदमेव कथ-मत्राह-हि यतः,समये सिद्धान्ते,योगस्थितिव्यापकं, यावत् यो-गास्तिष्ठन्ति तावदित्यर्थः । इष्यते मन्यते, " जावं च णं ए-यइ वेयइ, तावं च णं आरभइ सारंभइ समारभइ" इत्यादिवच-नात् आरम्भाद्यन्यतरत्वेन योगव्यापकतालाभात् । यदि च द्र-व्याश्रवमात्राद् बन्धः स्यात्तदा त्रयोदशगुणस्थानेऽपि स्यात्, न चैवमस्ति, समितगुप्तस्य द्रव्याश्रवसत्त्वेऽप्युपादानकारणानुसारि-तयैव बन्धवैचित्र्यस्याचारवृत्तिचूर्ण्यादौ व्यवस्थितत्वात् । न च द्रव्यतया परिणतिरपि सूक्ष्मैकेन्द्रियादेरिव बन्धजननीति धर्मा-र्णवमतमपि युक्तम् । एकेन्द्रियादीनामपि सूक्ष्मबन्धस्योपादान-सूक्ष्मतापेक्षित्वादप्रमत्तसाधोर्द्रव्याश्रवसपन्नस्य तन्निमित्तस्य परमाणुमात्रस्यापि बन्धनिषेधात् " ण हु तस्स तण्णिमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए । " इत्यागमात्, प्रपञ्चितं चेदं धर्मपरीक्षायां महता ग्रन्थेन ॥ ५९ ॥

एवं व्यवस्थिते कूपनिदर्शनचिन्त्यतामाविर्भावयति-

पूजायां खलु भावकारणतया हिंसा न बन्धावहा,
गौणीत्थं व्यवहारपद्धतिरियं हिंसा वृथा निश्चये ।
भावः केवलमेक एव फलदो बन्धो विरत्यंशज-
स्त्वन्यः कूपनिदर्शनं तत इहाशङ्कापदं कस्यचित् ॥६०॥
अत्रास्माकमिदं हृदि स्फुरति यद् द्रव्यस्तवे दूषणं,
वैगुण्येन विधेस्तदप्युपहतं भक्त्येति हि ज्ञापनम् ।
कूपज्ञातफलं यतो विधियुताऽप्युक्तक्रिया मोक्षदा,
भक्त्यैव व्यवधानतः श्रुतधराः शिष्टाः प्रमाणं पुनः ॥६१॥

(पूजायामिति) पूजाया, खल्विति निश्चये, भाव-स्य द्रव्यस्तवकारणाध्यवसायरूपस्य, कारणतया हिंसा ब-न्धावहा न भवति । एवा स्थापयति हि स्नानादिसामग्री द्र-व्यस्तवेऽधिकारिणम, न च सा हिंसा कर्मणा बध्यते, दुर्गतना-र्या देवलोकगमनानुपपत्तेः । बन्धावहा चेत्पुण्यबन्धावहे चो-त्कभावेन प्रशस्तीकरणात् प्रशस्तरागवत् पुष्पादिसंघट्टना-दिरूपोऽसयमस्तत्र हेतुरुक्त इति चेत्, सोऽपि पर्युदासेन स-यमयोगविरुद्धयोगरूप एव स्यात् । तस्यापि च भावेन प्र-शस्तीकरणे किं हीयते ?, उत्तरकालिक एव भावः प्रश-स्तीकर्तुं समर्थः,न पौर्वकालिक इति चेत् । न । दुर्गतनारीदृष्टान्ते-न विहितोत्तरत्वात् । कश्चाय मन्त्रो य. पूर्वापरभावेन न्यूनाधि-कभाव नियमयतीति सूक्ष्मेक्षिकायां प्रशस्तहिंसा पुण्यावहा-ऽपि न स्यादिति चेत् । इदमित्थम,इयं व्यवहारपद्धतिर्व्यवहार-नयसरणिर्गौणी, प्रशस्तपुण्यबन्धहेतुत्वस्याऽपि " घृत दह-तीति" न्यायेनेष्टत्वात्, निश्चये निश्चयनये तु विचार्यमाणे,हिंसा वृथैव, अन्यतरबन्धस्याप्यहेतुत्वात् । केवलम् एक एव भावः फलदः, प्रशस्तोऽप्रशस्तो वा, प्रशस्तमप्रशस्त वा फल जन-यितु समर्थ इत्यर्थः । अत एव कामभोगानाश्रित्योत्तराध्ययने-ऽप्युक्तम्-" न कामभोगा समय उवेंति, ण यावि भोगा विगइ उ-वेंति । जो तप्पओसी य परिग्गही य, समो य जो तेसु स वी-अरागो ॥१०१॥ " त्ति । उत्त० ३२ अ० । अत एव च विषयेष्वपि सतत्त्वचिन्तयाऽभिसमन्वागमनबन्धकारणमुक्तमाचारे । एवं विध' समाधिः पूर्वभूमिकाया न भवत्येवेति चेत् । न । सर्वथाऽ-भावस्य वक्तुमशक्यत्वात् । सम्यग्दर्शनसिद्धियोगकाल एव प्र-शमलक्षणलिङ्गसिद्धेरनुकम्पादीनामिच्छाद्यनुभवत्वात् ।

तदुक्त विंशिकायाम्-

" अणुकपा णिव्वेओ, सवेगो तह य होइ पसमुत्ती ।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईण जहासख ॥ १ ॥ " इति ।

अणुभावाः कार्याणि, इच्छादीनां इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धियो-गाना, समाधिजनितश्च भावोऽप्युत्थानकालेऽपि संस्कारशेषत-या मैत्र्याद्युपबृंहितोऽनुवर्तत एव, अन्यथा क्रियासाफल्यासिद्धेः, "भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा" इति वचनात् । एवं विविक्तविवेके विरतसम्यग्दृष्टेरपि पूजायां न बन्धः , विरत्यं-शजस्तु बन्धोऽन्यः पूजायोगाप्रयुक्तः, अन्यथा जिनवन्दनादाव-पि तदापत्तिः । तत इह कूपनिदर्शनं कूपज्ञातं कस्यचित् यथा श्रुत-ग्रहस्याऽऽशङ्कापदं आशङ्कास्थानम् । एवं हि तदावश्यके द्रव्यस्त-वीयप्रसङ्गसमाधानस्थले व्यवस्थितम् । प्रति० । षो० । आव० ।

" अकसिणपवत्तयाण, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
ससारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठतो ॥ ४२ ॥ "

अकृत्स्नं प्रवर्त्तयन्तीति,सयममिति सामर्थ्याद् गम्यते, अकृत्स्न-प्रवर्त्तका , तेषा, विरताविरतानामिति श्रावकाणाम, एष खलु युक्तः-एष द्रव्यस्तवः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव । किंभूतोऽयमित्यत आह-ससारप्रतनुकरण ससारक्षयकार-क इत्यर्थः । द्रव्यस्तव हेय प्रकृत्यैवासुन्दरः, स कथ श्राव-काणामपि युक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति । "जहा नवनयरा-दिसंनिवेसे केइ पभूअजलाभावतो तण्हातिपरिगता तदपनो-दार्थं कूवं खणंति, तेसिं च जइ वि तण्हादिया पिट्टंति, मट्टिआ कद्दमाइ भिज्जति, तहा वि तदुब्भवेण चेव पाणिएण ति सिं-चते, एहाइआ सो य मलो पुव्वगो य फिट्टति, सेसकाल च तदन्ने य लोगा सुहभाइणो भवंति, एवं दव्वत्थए जइ वि असजमो तहा वि तओ चेव सा परिणामसुद्धी भवति, जात असजमो-पज्जिय अन्न च निरवसेस खवेति त्ति, तमाह-विरयाविरएहिं एस दव्वत्थवो कायव्वो सहाणुबंधी य पभूतणिज्जराफलो य

ननु किं तन्ननु दुर्मतिग्रहवशाद् दुष्टं श्रयामीति चेत् ।
साम्राज्ये घटमानमेतदखिलं चारित्रभाजां भवेत्,
पार्श्वस्थस्त्वसती सतीचरितवन्नो वक्तुमेतत् प्रभुः ॥७६॥

(चैत्येनेति) अथ यत् यस्मात्कारणात्, तीर्थान्तरीस्य ग्रहः परिग्रहः, तस्मात्, अनायतनत्वमुक्तम्, "नो कप्पइ अण्णउत्थियपरिग्गहिआइं अरिहंतचेइआइं वा"इत्यादिना । तर्त्तार्हि,नन्वित्याक्षेपे, दुर्मतीनां दुर्बुद्धीनां पार्श्वस्थादीनां, यो ग्रहः परिग्रहस्तद्वशाद् दुष्टं दोषवत् चैत्यं किं श्रयामि ?। अन्यतीर्थिकपरिग्रहवद्भ्रष्टाचारपरिग्रहस्याप्यनायतनत्वहेतुत्वादिति भावः। इति चेत् एतदखिलं त्वयोच्यमानं, चारित्रभाजां साम्राज्ये सम्राड्भावे प्रवर्त्तमाने, घटमानं युक्तं भवेत् । तदोद्यतविधिभिरिति तर्जितसकलमयैराचार्यादिः पुरुषैः शुद्धाशुद्धविवेके क्रियमाणे विधिगुणपक्षपातस्य सर्वेषामसुकरत्वेन भावोल्लासस्यावश्यकत्वात्। आह-" जो जो उत्तममग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाण । आयरिअम्मि जयते, तयणुचरा के णु सीअति "॥१॥ इत्यादि । पार्श्वस्थस्य तु भावोल्लासस्यावश्यकत्वादाह-पार्श्वस्थस्तु भवान् पार्श्वस्थमध्यवर्त्ती, एतत् निर्दिष्टम्, असती सतीचरितवत् सतीचरित्रवद्, नो वक्तुं प्रभुः, अशक्यस्य स्वकृतिसाध्यतोक्तावसतीयत्वप्रसङ्गात्, प्रायस्तुल्यत्वे एकतरपक्षपातेनेतरभक्तिसङ्कोचप्रद्वेषादिना महापातकप्रसङ्गात् ॥ ७६ ॥

उपसंहरति-

सर्वासु प्रतिमासु चाग्रहकृतं वैषम्यमीक्षामहे,
पूर्वाचार्यपरम्परागतगिरा शास्त्रीययुक्त्याऽपि च ।
इत्थं चाविधिदोषतापदलनं शक्ता विधातुं विधि-
स्वैरोज्जागररागसागरविधुज्योत्स्नेव भक्तिप्रथा ॥ ७७ ॥

सर्वासु निश्रितानिश्रितादिभेदभिन्नासु प्रतिमासु, आग्रहकृत स्वमत्योत्प्रेक्षितं, वैषम्यं विषमत्वम्, ईक्षामहे प्रमाणयामः । तथा च सर्वत्र साम्यमेव प्रमाणयाम इति पर्यायोक्तम् । कया ?, पूर्वाचार्यपरम्परागतया गिरा,परम्परागमेनेत्यर्थः । शास्त्रीया या युक्तिस्तयाऽपि,चशब्देन तदुपजीविनाऽनुमानादिप्रमाणेनेत्यर्थः। भक्त्युल्लासप्राधान्येन चात्र विध्यनुमतिरनुत्थानोपहतेत्याह-इत्थं च एवं व्यवस्थिते चाविधिदोषतापस्य परितापकारिणो विध्यनुमोदनप्रसङ्गस्य, दलनं, विधातुं कर्त्तुं,विधौ विधाने,स्वैरोज्जागरो यथेच्छप्रवृत्तिमान्, राग एव सागरः, तत्र विधुज्योत्स्नेव चन्द्रचन्द्रिकेव, भक्तिप्रथा शक्ता समर्था ॥ ७७ ॥

उपस्थितया भक्त्या प्रणुन्न इव भगवत्प्रतिमामेवाभिष्टौति-

उत्फुल्लामिव मालतीं मधुकरो रेवामिवेभः प्रियां,
माकन्दद्रुममञ्जरीमिव पिकः सौंदर्यभाजं मधौ ।
नन्दच्चन्दनचारुनन्दनवनीभूमीमिव द्योःपति-
स्तीर्थेशप्रतिमां न हि क्षणमपि स्वान्ताद्विमुञ्चाम्यहम् ।७८।

(उत्फुल्लामिति) अहं तीर्थेशप्रतिमां क्षणमपि स्वान्ताद् न विमुञ्चामि न त्यजामि, किं तु विषयान्तरसंचारविरहेण सदा ध्यायामीति ध्वन्यते । कां का इव ?, उत्फुल्लां मालतीं मधुकर इव, भ्रमर एव हि मालतीगुणज्ञः, तद्रसपराग्वपि तत्पक्षपातं न परित्यजति, तथा प्रियां मनोहारिणीं रेवामिवेभो हस्ती, तस्य तत्तक्रीमयैव रत्युत्पत्तेः । तथा माकन्दद्रुममञ्जरीं सहकारतरुमञ्जरीं, कीदृशीम् ?, मधौ वसन्ते सौन्दर्यं भजतीत्येवंशीलां, तां, पिक इव कोकिल इव, सहकारमञ्जरीकषायककण्ठः कलकाकलीकलकलैर्मदयति च यूनां मन इति । तथा द्योः पतिरिन्द्रः, नन्दद्भिश्चन्दनैश्चार्वीं नन्दनवनीभूमिमिव, स हि प्रियाविरहतापं तच्चारित्रचमत्कारदर्शनाद्विस्मरतीति । अत्र रसनोपमाऽलङ्कारः ॥ ७८ ॥

जैनी मूर्तिरुपास्यताम्-

मोहोद्दामदवानलप्रशमने पाथोदवृष्टिः शम-
स्रोतोनिर्झरणी समीहितविधौ कल्पद्रुवल्लिः सताम् ।
संसारप्रबलान्धकारमथने मार्त्तण्डचण्डद्युति-
र्जैनी मूर्तिरुपास्यतां शिवसुखे भव्याः ! पिपासाऽस्ति चेत्७९

(मोहोद्दामेति) मोह एव य उद्दामो दवानलः, तस्य प्रशमने शान्तिकर्मणि, पाथोदवृष्टिः वारिदधारासंपातः, सकलप्लोषकशमनत्वात् । तथा शमतारूपप्रवाहस्य निर्झरणी नदी, एवं समीहितस्य वाञ्छितस्य, विधौ विधाने, सतां शिष्टानां, कल्पद्रुवल्लिः सुरतरुलता, अविलम्बेन सर्वसिद्धिकरत्वात् । तथा संसार एव यः प्रबलान्धकार उत्कट तमः, तस्य मथनेऽपनयने, मार्त्तण्डस्य सूर्यस्य, चण्डद्युतिस्तीव्रप्रभा, विवेकवासरतारुण्ये मोहच्छायाया अप्यनुपलम्भात्। एतादृशी जैनी जिनसम्बन्धिनी मूर्तिः, उपास्यतां सेव्यतां, भो भव्याः ! शिवसुखे मुक्तिशर्मणि, यदि वः युष्माकं, पिपासोत्कटेच्छाऽस्ति । रूपकमलङ्कारः ॥ ७९ ॥

(२२) द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षत्वविचारः । एवं वृत्तद्वयेन भगवन्मूर्तिं स्तुत्वा वादान्तरमारभते-

श्राद्धेन स्वजनुःफले जिनमतात्सारं गृहीत्वाऽखिलं,
त्रैलोक्याधिपपूजने कलुषता मोक्षार्थिना मुच्यताम् ।
धृत्वा धर्मधियं विशुद्धमनसा द्रव्यस्तवे त्यज्यतां,
मिश्रोऽसाविति लम्बितः पथि परैः पाशोऽपि चाशोभनः।८०।

(श्राद्धेनेति) श्राद्धेन श्रद्धावता, जिनमतात् जैनप्रवचनात्, सारं तात्पर्यमखिलं गृहीत्वा त्रैलोक्याधिपस्य त्रिजगतोऽधिकारकितुः, अत एव सर्वाराध्यत्वात् पूजने, कीदृशे ?, स्वजनुषो मनुजावतारस्य फले, मोक्षार्थिना सता, कलुषता कल्मषता, मुच्यतां त्यज्यतां, तथा द्रव्यस्तवे धर्मधियं धर्मत्वबुद्धिं धृत्वा, विशुद्धेन मनसा, मिश्रो धर्माधर्मोभयरूपोऽसौ द्रव्यस्तव इति परैरन्यमतिभिः, पथि मार्गे, लम्बितोऽशोभनः पाशोऽपि त्यज्यतां, पाशचन्द्राभ्युपगमस्य पाशत्वेनाध्यवसानं मुग्धजनमृगपातनरूप्यमभिव्यनक्ति ॥८०॥

भावेन क्रियया तयोर्न तु तयोर्मिश्रत्ववादे चतु-
र्भङ्ग्यां नादिम एकदाऽनभिमतं येनोपयोगद्वयम् ।
भावो धर्मगतः क्रियेतरगतेत्यल्पो द्वितीयः पुन-
र्भावादेव शुभात् क्रियागतरजोहेतुत्वरूपक्षयात् ॥८१॥

उक्तमिश्रत्ववादे चतुर्भङ्ग्यां भङ्गचतुष्टये,आदिमः पक्षो,भावेन उपभावस्य मिश्रत्वाकारो न घटते, कुतः ?, येन एकदा उपयोगद्वयम् अनभिमतम् अनिष्टम्, द्रव्यस्तवारम्भोपयोगयोर्योगद्वयम् अनभिमतम् अनिष्टम्, द्रव्यस्तवारम्भोपयोगयोर्भावयोर्मिश्रत्वम् । आरम्भे हि यस्तत्रारम्भे गपद्याभावाश्च भावयोर्मिश्रत्वम् । आरम्भे हि यस्तत्रारम्भे उपयुज्यते, स्थैर्यातिचारयोरप्येकदाऽभावादिति सूक्ष्मदृष्ट्या

इति कथङ्कारमशुद्धदानेन शुद्धपूजायां तुल्यत्वमुपनीयमानं विपश्चितश्चमत्कारसारं चेतो रमयितुं प्रत्यलम् ?। अशुद्धदानं हि अतिथिसंविभागव्रतस्याऽतिचारभूतं, शुद्धपूजा च सम्यग्श्राद्धधर्मस्य तिलकीभूतोत्तरगुणरूपेति च। आह वाचकचक्रवर्त्ती-"चैत्यायतनप्रस्था-पनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः। पूजाश्च गन्धमाल्या-धिवासधूपप्रदीपाद्याः"॥ इत्यादि। अथ शुद्धदानविधिरुत्सर्गः, अशुद्धदानविधिश्चापवादः,उत्सर्गापवादौ च स्वस्थाने द्वावपि बलवन्तावित्यपवादविधिविषयीभूताशुद्धदानतुल्यत्वं देवपूजायामुच्यमानं न दोषायेत्यभिप्रायः, तर्ह्यशुद्धपददानं कस्य बिभीषकायै,स्वरूपतोऽशुद्धताया. स्वरूपत आरम्भवत्ताया अनतिदोषत्वात्। वस्तुतोऽप्रासुकदानदृष्टान्तो लुब्धकदृष्टान्तभावितदानापेक्षयैव भावितो भगवतीवृत्ताविति, परव्युत्पन्नकृतजिनपूजायां विपरीतव्युत्पन्नकृतदानतुल्यत्वमभिधीयमानं कथं घटेत ?,ग्लानप्रतिचारणानन्तरं पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि गीतार्थाद्यन्यतरपदवैकल्या एवेति। सर्वपदसाकल्ये प्रायश्चित्तकरणं कल्पमात्रस्वरूपतः सदोषतयैतददुष्टम्, तावद्धर्मेन जिनपूजां कृत्वाऽपि प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यं स्यात्, तच्च नैर्यापथिकीमात्रमप्युक्तम्, अशुद्धदानेऽपि आजीतकल्पादावुक्तमिति वृथा वल्गनमेतदभिन्नसूत्राभिमानिनामतिचारजनकक्लिष्टभावशोधनमपि तुल्याधिकशुद्धाध्यवसायेनैव, अन्यथा ब्राह्म्यादीनां स्वल्पमायया अशुभविपाके प्रमत्तसाधूनामिदानीं चारित्रं कथं निर्वहेदित्यर्थः। एतद्भावेन प्रपञ्चितं पञ्चवस्तुक एवेति यतनाभावशुद्धस्याधिकारिण क इवात्तोपलेप इति केषाञ्चिन्मतं नानागमिकमाभाति,पूजेतिकर्त्तव्यतासंपत्तिरेव च तन्मते कूपोत्पत्तितत्कालीन एवारम्भः । प्रतिपन्नगृहस्थधर्मप्राणद्रव्यस्तवस्य कूपखननस्थानीयः, तत्कालार्जितद्रव्येणैव द्रव्यस्तवसंभवात्त्रिवर्गाविरोधिनस्ततः प्रथमवर्गस्याऽपि सिद्धे सदारम्भार्जितकर्मनिर्जरणमेव च द्रव्यस्तवसंभाविनी भावेनेति, अन्योक्तपूर्वपक्षे "अस्माकमिदं यदि स्फुरति यत् द्रव्यस्तवे दूषणं" तद्विधिवैगुण्येन भक्तिमात्रैकतानतासंभविविधिवैकल्येन प्राक्कालसंभवव्याप्यारम्भदोषस्य फलेन समारोपेण तच्छोधने तथाऽपि कूपदृष्टान्ताभिधानापत्तिरिति प्राचीनपक्षे स्वरसः स्नानादावारम्भश्चित्ते जगतीत्याभिमानिक आरम्भदोषस्त्वनधिकारिणो न संगतः । अभिधानस्य भावदोषत्वादल्पदोषस्य च विरूपस्यैवेष्टत्वादभिधानस्य विपर्ययस्य विपर्ययरूपदोषस्याल्पस्य वक्तुमशक्यत्वादुपरितनानां तत्र दोषत्वाभिमानस्तु न विपर्ययाद्, स्याद्वादमार्गे वस्तुन आपेक्षिकत्वात् । स्थविरकल्पकस्य यो मार्गः स जिनकल्पिकापेक्षया न मार्ग इति तदुपपत्तेः, तदपि विधिवैकल्यप्रयुक्तं, द्रव्यस्तवदूषणमपि भक्त्याऽधिकतरभक्तिभावेनोपहतं भवति, इति हि ज्ञानं कूपज्ञानस्य फलरूपज्ञानेनैतद् ज्ञाप्यते इत्यर्थः । पूजाविधिवैगुण्यस्थलीयेऽप्युपलेपे भक्तिप्राबल्यस्य प्रतिबन्धकत्वम्,कूपे खन्यमाने कर्दमोपलेपादाविव मन्त्रविशेषस्येति भावः। यतोऽत्वधियुताऽपि क्रिया व्यवधानेनातिपारम्पर्येण भक्त्यैव कृत्वा मोक्षदोक्ता, शिष्टा पुनरत्रार्थे शिष्टैकवाक्यतयाऽभूतत्र स्वकपोलकल्पितत्वमात्रमिति भावः। इत्थं चाऽभयदेवसूरिवचनानामुक्तानां शेषाणां च भक्तिमात्रप्रयुक्तपूजैव विषय इति सर्वोऽपि प्राचीननवीनपन्थास्तिरस्कृतो भवति। इत्थं विवेचका एव सुज्ञानाः सुप्ररूपकाः शङ्कितार्थे पुनः सूत्रे व्याख्याते प्रथिकाः। उक्तं च सम्मतौ गन्धहस्तिना-" ण उ सासणभत्तीमेत्तए सिद्धंतजाणगो होइ । ण वि जाणगो वि समए , पन्नवणाणिच्छिओ णेओ " त्ति न परीक्षां विना स्थेयं , प्राचीनप्रणयात्परमविमृश्यरुचिस्तत्र निरस्ता गन्धहस्तिना। तथाहि-

" अयं जनोऽन्यस्य मृतः पुरातनः,
पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः ,
पुरातनोक्तान्यभिमृश्य रोचयेत् ॥ १ ॥ "

प्राचीनं त्वनवीनमप्यनेकान्तगर्भितं तत्तात्पर्यभेदेन तन्त्रेनातिप्रसञ्जकं कूपदृष्टान्तं विशदीकरणेऽधिकमादरात् प्रपञ्चेनोक्तमस्माभिस्तदवधार्यताम् ॥ ६१ ॥

(१६) पूजायां हिंसासंभवोक्तिविकल्पं दूषयन्नाह-

धर्मार्थैः प्रतिमार्चनं यदि वधः स्यादर्थदण्डस्तदा,
तत्किं सूत्रकृते न तत्र पठितो भूताहियक्षार्थवत् ।
या हिंसा खलु जैनमार्गविहिता सा स्यान्निषेध्या स्फुटं ,
नाधाकर्मिकवन्निहन्तुमिह किं दोषं प्रसङ्गोद्भवम् ? ॥६२॥

(धर्मार्थमिति) यदि पूजायां हिंसा कुमतिना वाच्या, तदा किमनर्थदण्डरूपा वा स्यादर्थदण्डरूपा वा ?। नाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः, प्रयोजनराहित्यासिद्धेः। अन्त्ये त्वाह-यदि प्रतिमार्चन धर्मार्थो वधः स्यात्तदाऽर्थदण्डः स्यादर्थदण्डत्वेन व्यवहार्यः स्यात् । इष्टापत्तावाह-तदर्थदण्डश्चेत्तदा सूत्रकृतेऽर्थदण्डाधिकारे किं न पठितः। किंवत्? भूताहियक्षार्थो यथा दण्डः पठितस्तद्वत्। इदं हि तत्सूत्रम्-"पढमे दमसमादाणे अट्ठादमवत्तिए त्ति आहिज्जइ,से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा आगारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूयहेउं वा जक्खहेउं वा दमतसथावरेहिं सयमेव णिस्सरइ, अन्नेहिं वा णिसिरावेइ, अन्नं वा णिसिरंत समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तिअं सावज्जं ति आहिज्जइ त्ति"। यदि हि जिनप्रतिमापूजार्थोऽपि वधोऽत्राधिकृतः स्यात्तदा-" जिणपडिमाहेउं जिणहेउं च " इत्यप्यभणिष्यत् सूत्रकारः । न च सर्वोऽपि दण्डो गृहस्थानामगारार्थ इत्यगारविषयकेच्छाप्रयोज्येच्छाया हेतोरुक्तशेषे संभवान्न न्यूनत्वमिति रामदासादिपामरोक्तं श्रद्धेयम् । एवं सति-" परिवारहेउं " इत्यादेराधिक्यापत्तेः, परिवाराद्यर्थस्यापि तत्त्वतो गृहार्थत्वादिति यत्किञ्चिदेतत्। अथ विवक्षात एव तत्पाठ इत्यत आह-या खलु जैनमार्गविहिता हिंसा सा किं प्रसङ्गोद्भवं दोषं निहन्तुं वारयितुं स्फुटं नामग्राहं निषेध्या न स्यात् ?, अपि तु स्यादेव। ननु प्रतिलोममेतत्, एवं सत्यर्थदण्डाधिकारे पूजार्थवधस्याधाकर्मिकस्येव पाठोपपत्तेरिति चेत्। सत्यम्, तर्हि भगवत्याद्याधाकर्मिकस्येव तस्य स्फुटं निषेधौचित्यमन्यत्र प्रपञ्चितनिरूपितस्यैवात्रोपलक्षणसंभवादित्यत्र तात्पर्यात्, तत्त्वे तदाशिक्षितोपालम्भमात्रम्।" तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणापूअणाए दुक्खपडिघातहेउं " इत्याचारे प्रथमाध्ययने जातिमरणमोचनार्थं प्राणातिपातस्य दर्शितत्वात्, तस्य च कटुतरविपाकोपदर्शनाज्जिनपूजादेरपि भगवदभ्युपगमेन मुक्त्यर्थं प्रसिद्धेरर्थदण्डतया साक्षान्निषेधादिति चेत्। न। एतद्व्याख्यानपर्यालोचनायां त्वन्मनोरथस्य लेशेनाप्यसिद्धेः। तथाहि-तत्र कर्मणि भगवता परिज्ञानं परिज्ञा प्रत्याख्यानं च प्रवेदिता, अथ किमर्थमसौ कटुकविपाकेषु कर्माश्रवभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तनेत्याह-" इमस्सेत्यादि "।

दिति मिथ्याद्वयं स्यात्, इतरद्वयलोपेन एकशेषात् तन्निभाद्वयं तव मतं नेदमयं पक्षत्रयप्रतिपादकं कथं न लुम्पति ?, "स्वशस्त्रं सोपघाताय" इति न्यायस्तवापन्न इति भावः ॥ ८५ ॥

तृतीयपक्षमधिकृत्याह-नदीतरणादौ वादिप्रसङ्गं समाधत्ते-

भावो धर्मगतः क्रियेतरगतेत्यत्रापि भङ्गे कथं ,
मिश्रत्वं तमधर्ममेव मुनयो भावानुरोधाद्विदुः ।
भक्त्याऽर्हत्प्रतिमाऽर्चनं कृतवतां न स्पृश्यमानः पुन-
र्भावश्चित्तमिवाग्रहाविलधियां पापेन संलक्ष्यते ॥ ८६ ॥

भावो धर्मगत. क्रियेतरगता इत्यत्रापि तृतीयाख्ये भङ्गे मिश्रत्वं कथम् ?, यत.-भावानुरोधात्तमधर्ममेव मुनयो विदुः। दुष्टभावपूर्विकाया विहितक्रियाया अपि प्रत्यवायबहुलत्वेनाधर्मत्वात्, अत एव निह्नवादीनां निर्ग्रन्थरूपस्य दुरन्तससारहेतुत्वेनाधर्मत्वम् । "इ-च्चेयाइं दिट्ठीओ, जाइजरामरणगब्भवसहीण । मूलं संसारस्स उ, हवंति निग्गंथरूवेण" ॥१॥ इत्यादिनाऽव्यवस्थापितदृष्टीनां नियतोत्सूत्रप्ररूपकाणामेव तत्फलं, निर्ग्रन्थरूपेण इत्यत्रोपलक्षणे तृतीयेति नाशङ्कनीयम्, चरमग्रैवेयकपर्यन्तफलहेतोर्निह्नवरूपमुपगताचारस्यैवात्र दृष्टिपदार्थत्वात्, निर्ग्रन्थरूपेणेत्यत्र धान्येन धनमितिवदभेदार्थाश्रयणात् विषगराद्यनुष्ठानानामधर्मत्वेनैव बहुशो निषेधादिति दिक् । न च मिश्रणीयो धर्मगतो भावः प्रकृतस्थले सम्भवतीत्यत्राह-भक्त्येति। भक्त्या, उपलक्षणाद्विधिना च, अर्हत्प्रतिमार्चनं कृतवतां भाव.,पापेन स्पृश्यमानः संलक्ष्यते। व्यतिरेकदृष्टान्तमाह-किमिव ?, आग्रहाविलधियाम् अभिनिवेशमलीमसबुद्धीनां चित्तमिव, तद्यथा पापेन स्पृश्यमानं संलक्ष्यते, तथा न भक्तिकृतां भाव इति योजना । अथ पुष्पाद्युपमर्दयामि ततः प्रतिमां पूजयामि इति भावः पापस्पृष्टो लक्ष्यत एवेति चेत्तर्हि, नदीजलजीवाद्युपमर्दयामि ततो नद्यामुत्तीर्य विहारं कुर्वे, इति साधोरपि दुष्टं स्यात् । कृताऽनुषङ्गिकेनोद्देश्यत्वाख्यविषयतासाध्यत्वाख्यविषयता यतमानस्य न निषिद्धरूपाऽवस्थितेति चेत् , तुल्यमेतदुभयोरपीति किमाम्रेडितेन ? ॥ ८६ ॥

तुरीयं विकल्पमपाकुर्वन्नाह-

धर्माधर्मगते क्रिये च युगपद्वृत्तो विरोधं मिथो ,
नाऽप्येते प्रकृतस्थले क्वचिदतस्तुर्योऽपि भङ्गो वृथा ।
शुद्धाशुद्ध उदाहृतो ह्यविधिना योगोऽर्चनाद्याश्रयः ,
सोऽप्येको व्यवहारदर्शनमतो नैव द्वयोर्मिश्रणात् ॥ ८७ ॥

(धर्माधर्मगते इति) धर्माधर्मगते च क्रिये युगपद्विरोधतः भिन्नविषयक्रियाद्वयस्यैककालावच्छेदेनैकत्रानवस्थाननियमात् । "भिन्नाविसय निसिद्ध, किरियादुगमेगसमए" इति वचनात् । प्रकृतेऽसिद्धिश्चेदित्यत्राह-नाप्येते धर्माधर्मगते क्रिये, प्रकृतस्थले द्रव्यस्तवस्थाने, क्वचिदतः कारणात् तुर्योऽपि भङ्गो वृथा मिश्रपक्षसमर्थनाय मृषोपन्यासः । शुद्धाशुद्धो योगः शास्त्रोक्त एवेति, तत्र तुर्यभङ्गावकाशः किं न स्यादित्यत्राह-शुद्धाशुद्ध इति । अविधिना जिनार्चनाद्याश्रयः, हि निश्चितं, शुद्धाशुद्धो योग उदाहृतः, सोऽपि व्यवहारदर्शनमत , एकः , अंशे भ्रमप्रमादरूपे एकज्ञानवदंशे शुद्धाशुद्धविषयमनुबध्नयोः शुद्धाशुद्धयोर्योगयोर्मिश्रणात्तयोर्विरोधादेवेति इतो मिश्रपक्षस्य जलाञ्जलिः, शुद्धाशुद्धविषयत्व च योगाभिव्यापारानुबन्धिविषयतानयेन , स्वतो योगस्य निर्विषयत्वादिति स्मर्त्तव्यम् ॥ ८७ ॥

निश्चयतस्तु शुद्धाशुद्धयोगो नाऽस्त्येवेत्याह-

भावद्रव्यतया द्विधा परिणतिभस्पन्दरूपा स्मृताः ,
योगास्तत्र तृतीयराश्यकथनादाद्येषु नो मिश्रता ।
नैवान्त्येष्वपि निश्चयादिति विषोद्गारः कथं ते भ्रमो ,
निष्पीता किमु न क्षमाश्रमणगीः सद्भाष्यसिन्धोः सुधा ? ॥ ८८ ॥

(भावेत्यादि) परिणतिपरिस्पन्दलक्षणा योगा भावद्रव्यतया द्विधा स्मृताः, तत्राद्येषु भावयोगेषु, नो नैव, मिश्रता भवति, कस्मात् ?, तृतीयराशेरकथनात् शुभान्यशुभानीति द्विविधान्येवाध्यवसायस्थानान्युक्तानि, न तु तृतीयोऽपि राशिरिति । अन्त्येषु द्रव्ययोगेष्वपि निश्चयात् नैव मिश्रता, तन्मते द्रव्ययोगे मिश्राणामभावात् । तदशप्राधान्ये शुभाशुभान्यतरस्यैव पर्यवसानान्निश्रं योगव्यवहारेणापि तथा व्यवहरणात् । अत एवाशोकप्रधानं वनमशोकवनमिति विवक्षया मिश्रभाषापत्तिः। कथं तर्हि भूतभावभाषायां तृतीयभेदस्यापरिगणनं, द्रव्यभावनाभाषायां तु नेति चेत्, एकत्र निश्चयनयेन धर्मिणोऽर्पणादन्यत्र व्यवहारनयेनेति गृहाण। सर्वत्र निश्चयनयेन धर्म्यर्पणे तु भाषायां द्वावेव भेदौ. न चत्वारः । इदमेव भाषारहस्ये-"सा चउविह त्ति ववहा-रनयाउ सुयम्मि पण्णाणं। सच्चामुस त्ति भासा, दुविहं चिय हंदि निच्छयओ" ॥१॥ ति। एवं विशदीकृतेऽर्थे भ्रान्तोक्त्या कथं व्यामोहः कार्य इत्याह-इत्येवं, ते तव, कथं भ्रमो भ्रान्तप्रयोगो विषोद्गारः, किं तु सद्भाष्यवद्विशेषावश्यक, तदेव सिन्धुः समुद्रस्तस्य सुधाऽमृतं क्षमाश्रमणगीः जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणवाणी, न निष्पीता ?, अन्यथा भ्रमो विषोद्गारो न स्यादेव, भ्रमहरत्वाद्गुद्गारस्य, किं तु कुमतिपरिगृहीतभूताऽऽभासविषयः, तस्यैवेदं विलसितमिति सम्भावयामः ॥ ८८ ॥

किं च संकीर्णकर्मरूपफलाभावादपि सकीर्णयोगो नास्तीति द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षोक्तिप्रौढि. खलताविस्तार इत्याह-

मिश्रत्वे खलु योगभावविषया कुत्रापि कृत्ये भवे-
न्मिश्रं कर्म न बध्यते च शबलं तत्संक्रमात्स्यात्परम् ।
तत् द्रव्यस्तवमिश्रतां प्रवदता किं तस्य वाच्यं फलं ,
स्वव्युद्ग्राहितमूढपर्षदि मदान्मूर्द्धानमाधुन्वता ॥ ८९ ॥

(मिश्रत्वे इति) खल्विति निश्चये , कुत्रापि कृत्ये योगभावविषया मिश्रत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, फलत्वेनाङ्गीक्रियमाणं मिश्रं कर्म भवेत्, तत्तु बन्धतो नास्ति इत्याह-न बध्यते च शबलमिति, शबलं मिश्रं कर्म न बध्यते। कथं तर्हि मिश्रमोहनीयं प्रसिद्धं, तत्राह-परं केवलं, तत् मिश्रं, संक्रमात्स्यात्, तस्मात् तत् द्रव्यस्तवमिश्रतां प्रवदता तस्य द्रव्यस्तवस्य फलं बध्यमानं कर्म शुभं भावपक्ष भवति, अन्तस्य द्रव्यस्तवस्य फलं बध्यमानं कर्म शुभ भावपक्ष भवति, अ... ननुरूपत्वात्, मिश्रं च बध्यमानमभ्युपगच्छता कृतान्तः कुप्येदित्यत्र तूष्णीमेव स्थेयं त्वया, कीदृशेन ?, स्वेन व्युद्ग्राहिता ये मूढाः , तेषां पर्षदि मदाद् बुद्धिगौरवान्मूर्द्धानं शिरसमाधुन्वता कम्पयता, अनुभावो मदस्य व्याधेरेव पर्यवसान इति जानीहि । अत्रेयमुक्तभाष्यवाणी, कुमतपाशकृपाणी प्रगलभते-

" न य साहारणरूवं, कम्मं तक्कारणाभावा । "

न च साधारणरूपं सकीर्णस्वभाव पुण्यपापात्मकमेकं कर्मास्ति, तस्यैवंभूतस्य कर्मणः कारणाभावात् । अत्र प्रयोगः-नास्ति सकीर्णोभयरूपं कर्म, असंभाव्यमानैवंविधकारणत्वात्, बन्ध्यासुतवदिति ।

हेतोरसिद्धतां परिहरन्नाह—

" कम्मं जोग णिमित्तं, सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।

नोक्तम्-तामहं श्वो नेष्यामि । ततोऽसौ स्वनगरीं गत्वा तद्रूपां प्रतिमां कारयित्वा रचित्वा तामादाय तत्रैव रात्रावायातः, स्वकीयप्रतिमां देवतानिर्मितप्रतिमास्थाने विमुच्य तां सुवर्णगुलिकां च गृहीत्वाऽऽगतः । प्रभाते च चण्डप्रद्योतगन्धहस्तिविमुक्तमूत्रपुरीषगन्धेन विमदान् स्वहस्तिनो विज्ञाय ज्ञातचण्डप्रद्योतागमोऽपगतप्रतिमासुवर्णगुलिकानयमोऽसावुदायनराजः परं कोपमुपगतो दशभिर्मुकुटबद्धैः राजभिः सहोज्जयिनीं प्रति प्रस्थितः। अन्तरा पिपासाबाधितसैन्यस्त्रिपुष्करकरणेन देवतया निस्तारितसैन्योऽक्षेपेणोज्जयिन्या बहिः प्राप्तः, रथारूढश्च धनुर्वेदकुशलतया सन्नद्धहस्तिरत्नारूढं चण्डप्रद्योतं प्राजिहीर्षुं मण्डलेन भ्रमन्तं चरणतलशरव्यथितहस्तिनो भुवि निपातनेन वशीकृतवान् दासीपतिरिति ललाटपट्टे मयूरपिच्छेनाङ्कितवानिति । प्रति० । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । दिग्द्वयोर्निग्रहे स्थानाङ्गालापको द्वितीयस्थाने प्रथमोद्देशके यथा-" दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पव्वावित्तए पाईणं चेव उदीणं चेव एवं मुंडावित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए संभुंजित्तए संवासित्तए सज्झायं उद्दिसित्तए सज्झायं समुद्दिसित्तए सज्झायं अणुजाणित्तए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए णिंदित्तए गरहित्तए विउट्टित्तए विसोहित्तए अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए,दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसियाणं भत्तपाणपडियाइक्खियाण पाओवगयाण कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए तं पाईणं चेव उदीणं चेव त्ति"। प्रति०। स्था०। अत्र हि दिग्द्वयाभिमुखीकरणमर्हच्चैत्यानां मुखाभिमुखीकरणायैवेति तद्विनयसर्वकर्मपूर्वाङ्गत्वाद् गृहस्थस्याधिकारिणो लोकोपचारतद्विनयात्मकपूजायाः प्रधानवस्तूचितमेवेति तात्पर्यम्। प्रति०। उक्तं च-"पुव्वाभिमुहो ठिच्चा, दिज्जा अहवा पडिच्छिज्जा। जाए जिणादओ वा, जिणिंदवरचेइयाइं वा" ॥१॥ प्रति० । व्यवहारालापको यथा आलोचनासूत्रे-" जत्थेव सम्मं भावियाइं पासेज्जा० जाव पडिक्कमिज्जा, णो चेव सम्मं भावियाइं बहिया गामस्स० जाव सन्निवेसस्स पाईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वदिज्जा-एवइआ मे अवराहा एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो अरहंताणं सिद्धाणं अंतिए आलोइज्जा पडिक्कमेज्जा निंदिज्जा पायच्छित्तं पडिवज्जिज्ज त्ति बेमि ।" प्रति० । अथाऽऽलोचनस्याप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि जिनवचनवासितान्तःकरणानि दैवतानि पश्यति, तत्र गत्वा तेषामन्तिके आलोचयेत्, दैवतानि हि भृगुकच्छगुणशिलादौ भगवत्समवसरणे एकशो विधीयमानानि शोधिकरणानि दृष्ट्वा विशोधिदानसमर्थानि भवन्ति, महाविदेहेषु गत्वा तीर्थङ्करानापृच्छ्य वाचाऽष्टमेनाकम्प्य पुरत आलोचयेत्। तासामपि देवतानामभावेऽर्हत्प्रतिमानां पुरतः स्वप्रापितदानपरिज्ञाकुशलमालोचयति,ततः स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तम्, तासामप्यभावे ग्रामादेर्बहिः प्राचीनादिदिगभिमुखः, करतलाभ्यां परिगृहीतं तथा शिरस्याऽऽवर्त्तो यस्य तम् । अलुक्समासः । अञ्जलिं कृत्वा एवं वदेत्-एतावन्तो मेऽपराधाः, एतावत् कृत्वाऽहमपराद्धः। एवमर्हतां सिद्धानामन्तिके आलोचयेत् । प्रायश्चित्तदानविधिं विद्वानालोच्य च स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तं, स च तथा प्रतिपद्यमानः शुद्ध एव, सूत्रोक्तविधिना प्रवृत्तेः। यदपि च विराधितं तत्रापि शुद्धः, प्रायश्चित्तप्रतिपत्तेरिति । अत्र "सम्मं भाविआइं " इति विशेषणेनैव देवतानां चैत्यानां च "अह च भोयराथस्स" इत्यत्र 'पुच्याम्'इत्याक्षेपात् विशेषणद्वयानुरोधेनावृत्तिं कृत्वा व्याख्येयम् । सम्यग्भावितप्रतिमापुरस्कारश्च मनःशुद्धेर्विशेषायैव दिग्द्वयपरिग्रह इवेति न्यायोपेतमेव। यत्तूच्यते कुमतिभिः-सम्यग्भावितपदेनाविरतसम्यग्दृष्टेरेव पारिशेष्येण ग्रहान्न प्रतिमास्पर्श इति। तदस्पृश्यास्पर्शस्य भूषणत्वान्न दूषणम्, आलोचनादानार्हस्य गीतार्थे सत्त्वेऽध्यात्मशुद्धये प्रतिमाश्रयणस्यैव शास्त्रार्थत्वात् । अर्हत्सिद्धपुरस्कारस्य कथमिदमुत्सर्गतामवलम्बतामिति चेत्, सद्भावाभ्यामत्रापि विशेषविज्ञावय। एतेन पर्यन्तोक्तत्वाज्जघन्यं प्रतिमाश्रयणमित्यपि दुर्वचनं निरस्तम्, ततोऽप्यग्रेऽर्हत्सिद्धपुरस्कारस्योक्तेरिति किमिति पल्लवितेन ॥ ६४ ॥

(१७) द्रौपद्यधिकारः । प्रतिमापूजायां द्रौपदीभद्रासार्थवाहीसिद्धार्थराजानामुदाहरणानि—

तीर्थेशप्रतिमार्चनं कृतवती सूर्याभवद्भक्तितो,
यत् कृष्णा परदर्पमाथि तदिदं षष्ठाङ्गविस्फूर्जितम् ।
सच्चक्रे खलु या न नारदमृषिं मत्वाऽव्रतासंयतं,
मूढानामुपजायते कथमसौ न श्राविकेति भ्रमः ? ॥६५॥

कृष्णा द्रौपदी, सूर्याभवत् राजप्रश्नीयोपाङ्गाभिहितव्यतिकरसूर्याभदेववत्, भक्तितो भक्त्या, तीर्थेशानां भगवतां,प्रतिमार्चनं प्रतिमापूजनं,कृतवती,तदिदं तदेव तदर्थाभिधायकम्,न परं,षष्ठाङ्गस्य ज्ञाताधर्मकथाध्ययनाङ्गस्य, विस्फूर्जितं सम्यग्व्याख्यानविलसितं,परेषां कुवादिनां,दर्पमहङ्कारं मथ्नातीत्येवंशीलम्, ते हि वदन्ति-पञ्चमगुणस्थानवृत्त्या पूजा कृतेति सूत्रे कुत्राऽपि व्यक्ताक्षरं नोपलभ्यते, गते प्रसिद्धे षष्ठाङ्ग एव च तदक्षरोपलब्धेरिति कथं नोत्तानदृशो दर्पप्रतिघातः। ननु द्रौपद्याऽर्हत्प्रतिमापूजा कृतेति षष्ठाङ्गेऽभिहितमिति वयमपि नापह्नुमः, तस्याः पञ्चमगुणस्थानं नास्तीत्येवं तु ब्रूम इति चेत्,अत्राह-या तं नारदमृषिं अव्रतासंयतं मत्वा न सच्चक्रे न सत्कृतवती, असौ श्राविका नेति भ्रमः कथमुपजायते ?, न युक्तोऽयं भ्रमः । एवमापद्याचाम्लान्तरितषष्ठादिकरणमपि श्राविकात्वमेवार्थापयतीति द्रष्टव्यम् । अत्रालापका ज्ञातावृत्तौ-" तए णं सा दोवई रायवरकन्नगा जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता ण्हाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिया मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुपविसइ, जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता लोमहत्थेणं परामुसति, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति तहेव भाणियव्वं० जाव धूवं डहति, डहतित्ता वामं जाणुं अंचेइ, दाहिणं जाणुं धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसेइत्ता ईसिं पच्चुन्नमइ, करयल० जाव कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं वंदइ, णमंसइ, नमंसइत्ता जिणघराओ पडिनिक्खमइ, जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ "। ज्ञा० १६ अ० । अत्र यावत्करणात् अर्थतो दृश्यं, लोमहस्तकेन जिनप्रतिमाः प्रमार्ष्टि, सुरभिगन्धोदकेन स्नपयति, गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, वस्त्रा-

शुभत्वमशुभत्वं वा जनयति,आश्रव· कर्मणो जीवः,तस्य स कोऽपि स्वभावो येन शुभान्यत· परत्वेन परिणमयन्नेव कर्म गृह्णाति,तथा शुभाशुभत्वयोः कर्म, तस्यापि स कोऽपि स्वभाव· येन शुभाशुभपरिणामान्वितेन जीवेन गृह्यमाणमेव तद्रूपतया परिणमयति । उपलक्षणमेतत्-प्रदेशाल्पबहुभागवैचित्र्यादेः ।

उक्तं च कर्मप्रकृतिसंग्रहिण्याम्–

"गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएई गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजिआनंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु " ॥
आउयमागो थोवो" इत्यादि ॥१६४३॥
"परिणामासयवसओ, धेणूए जह पओ विसमाहिस्स ।
तुल्लो वि तदाहारो, तह पुण्णापुण्णपरिणामो ॥ १६४४ ॥
जह देहसरीरम्मि वि, सारासारपरिणामयामेति ।
अविसिट्ठो आहारो, तह कम्मसुहासुहविवागो " ॥१६४५॥

ननु न्यायस्तावन्मुग्धानां कूटपाशप्राय इत्यभिन्नसूत्रादेशेन श्राद्धानां मिश्रपक्षोऽस्त्येवेति पश्यतस्तदधिकृतद्रव्यस्तवस्य मिश्रत्वं रोचयाम इति चेत्, अहो दुराशयसिद्धान्ततात्पर्यपरिज्ञानमनुपासितगुरुकुलस्य तव कथकारं संभवति ? । तथाहि–व्यवहारनयादेशेन बन्धानौपयिकं पक्षत्रयोपवर्णनं कृतं, संग्रहनयादेशेन तु फलापेक्षया द्वैविध्यमेवेति पूजापोषधयोः को वा विशेषः ? ॥ ८९ ॥

श्राद्धानां मिश्रपक्षस्य भेदोऽस्त्येतदभिप्रायवानाह—

सिद्धान्ते परिभाषितो हि गृहिणो मिश्रत्वपक्षस्ततो,
बन्धानौपयिको विरत्यविरतिस्थानात्तदुत्प्रेक्षया ।
अन्तर्भावित एव सोऽपि पुरतो धर्मे फलापेक्षया,
पूजापोषधतुल्यताऽस्य किमु न व्यक्ता विशेषेक्षिणाम् ?॥९०

(सिद्धान्त इति) सिद्धान्ते सूत्रकृताख्ये, हि निश्चितं, ततो मिश्रत्वपक्षो बन्धानौपयिकः बन्धाननुगुणः विरत्यविरतिस्थानात् योऽनुगमस्तदुत्प्रेक्षया , स्वरूपमात्रेणेति यावत् । परिभाषितः संकेतितः, सोऽपि परिभाषितमिश्रपक्षोऽपि, पुरतोऽग्रे, फलापेक्षया धर्मेऽन्तर्भावितः , ततोऽस्य गृहिणः , विशेषेक्षिणां विशेषदर्शिनां,पूजापोषधयोस्तुल्यता,किमु न व्यक्ता ?,अपि तु व्यक्ता। वाग्व्यवहारतो मिश्रपक्षस्य, निश्चयतश्च धर्मत्वस्य, सूत्रकृते हि पक्षत्रयव्याख्यानावसरे-"अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि, इह खलु नाणापण्णाणं नाणाछंदाणं नाणासीलाणं नाणादिट्ठीणं नाणारुईणं णाणारंभाणं नाणाअज्झवसायसंजुत्ताणं नाणाविहपावसुअज्झयणं एवं भवति । तं जहा-भोमं उप्पायं ।" इत्यादिना पापश्रुताध्ययनाद्यर्थं तत्प्रयोगेण सुरकिल्बिषादिभावनया तल्लोकोत्पादितश्रुतस्येममूकादिभावोत्पादेन गृहिणां चात्मस्वजनाद्यर्थचतुर्दशभिरसदनुष्ठानैः , तथाहि–कश्चिदकार्याध्यवसायेनानुगच्छतीत्यनुगामिको भवति , तं गच्छन्तमनुगच्छतीत्यर्थः। अथवा-तस्यापकारावसरापेक्ष्युपचारको भवति,अथवा तस्य प्रातिपथिको भवति,प्रतिपथं समुखीनमागच्छतीति । अथवा स्वजनाद्यर्थं संधिच्छेदको भवति, खात्रखननादिकर्त्ता भवतीत्यर्थः। अथवा घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपद्यते , अथ सौरभ्रैर्मेषैश्चरतीति सौरभ्रिकः, अथवा शौकरिको भवति अथवा शकुनिभिश्चरति शाकुनिकः , अथवा वागुरया मृगादिबन्धनरज्ज्वा चरति वागुरिकः , अथवा मत्स्यैश्चरति मात्स्यिकः , अथवा गोपालकभावं प्रतिपद्यते , अथवा गरघातकः

स्यात् , अथवा श्वभिश्चरति, सोऽवनिशुनां परिपालको भवतीत्यर्थः । अथवा ' सोवणिअंतए' श्वभिः पापर्द्धिं कुर्वन्मृगादीनामन्तं करोतीत्यर्थः । इति अन्यहननतया सापराधगृहपतिदानादिना तत्संबन्धुष्टजङ्घाच्छेदादिना तच्छालादाहादिना तत्सधर्मधिकुण्डलाद्यपहारेण वा पापण्डिकोपरि क्रोधेन तदुपकरणापहारतदाहारदानानिषेधादिना निर्मितमेव गृहपतिक्षेत्रं दानादिनाऽभिग्रहिकमिथ्यादृष्टितयाऽपशकुनधिया श्रमणानां दर्शनोपघातापसरणेन तदुद्दणावसरास्फालनेन च , स्फाटिकादानेनेत्यर्थः । परुषवचनप्रहारैः परेषां शोकाद्युत्पादनादिना महारम्भादिना भोगभवाश्लाघया चैश्वर्यात्, अत्र भवे महातृष्णावतामधर्मपक्ष उक्तः । उपसंहृतश्च-"एसट्ठाणे अणारिए अकेवले अपडिपुन्ने असंसुद्धे अणेयाउए असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अणिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू एस खलु पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए त्ति"॥ अद· स्थानमनार्यमनाचीर्णत्वात्, नास्ति केवलं यत्रेत्यकेवलमशुद्धमित्यर्थः । अपरिपूर्णं सद्गुणविरहात्, इत्थमनैयायिकमसन्न्यायवृत्तिकमसल्लगत्वमिन्द्रियासंवरणरूपम्, 'लगि लगि संवरणे' इति धातोः शोभनो लगः सल्लगस्तद्भावस्तत्त्वं, नास्ति स यत्रेतिव्युत्पत्तेः । यद्वा-शल्यं गायति कथयतीति शल्यगः, तद्भावस्तत्त्वं , नास्ति तद् यत्र तदशल्यगत्वम् , सिद्धिः स्थानविशेषो, मुक्तिरशेषकर्मक्षयः , निर्वाणं निःशेषतया भवपरित्यागेन यानं, निर्याणमात्मस्थानावाप्तिः, सर्वदुःखस्य प्रक्षीणं प्रत्यक्षः, तन्मार्गाभावादसिद्धिमार्गादिपदानि व्याख्येयानि । कुत एवमित्यत्र " आहरणं च " इत्यादि एकान्तेनैव तत्स्थानं , यतो मिथ्याभूतं मिथ्यात्वोपहतबुद्धिस्वामिकत्वात् अन्तरसाध्वसवृत्तित्वात्। तदयं प्रथमस्य स्थानस्याधर्मपाक्षिकस्य पापोपादानभूतस्य विभङ्गो विशेषः, स्वरूपमिति यावत्, एवमाहृत एवमुपदर्शितः । धर्मपक्षस्त्वेवमतिदिष्टः-"अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा पडीणं वा० संतेगइआ मणुस्सा भवंति । तं जहा–आरिआ वेगे अणारिया वेगे उच्चागोआ वेगे,नीआगोआ वेगे, कायमंता वेगे,हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे,दुवण्णा वेगे,सुरूवा वेगे,दुरूवा वेगे। तेसिं च खेत्तवत्थूणि परिगहिआइं भवति। एसो आलावगो जहा पुंडरीए तहा णेयव्वो,तेणेव अभिलावेणं०जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुड त्ति बेमि। एसट्ठाणे आरिए केवले० जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए त्ति । " तृतीयं स्थानमधिकृत्य एव सूत्रं प्रवृत्तम्-"अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ,जे इमे भवंति-आरण्णिया आवसहिया गामणिअंतिया कण्हुई रहस्सिया०जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले० जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे अमाहू एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए त्ति । " साम्प्रतं धर्माधर्मयुक्तं तृतीयस्थानमाश्रित्याह–" अहावरे " इत्यादि । अथाऽपरस्तृतीयस्थानस्य मिश्रकाख्यस्य विभङ्गो विभागः स्वरूपमाख्यायते । अत्र चाधर्मपक्षेण युक्तो धर्मपक्षो मिश्र इत्युच्यते , तत्राधर्मस्येह भूयस्त्वादधर्मपक्ष एवायं द्रष्टव्यः। एतदुक्तं भवति-यद्यपि मिथ्यादृष्टयः काञ्चित्तथाप्रकारां प्राणातिपातादिनिवृत्तिं विदधति, तथाऽप्याशयाशुद्धत्वादभिनवेऽपि तदन्ये सति शर्करामिश्रक्षी-

(सिद्धार्थराजस्य) आह च-

एतेनैव समर्थिताऽभ्युदयिकी धर्म्या च कल्पोदिता,
श्रीसिद्धार्थनृपस्य यागकरणप्रौढिर्दशाहोत्सवे ।
श्राद्धः खल्वयमादिमाङ्गविदितो यागं जिनार्चां विना,
कुर्यान्नान्यमुदाहृता व्रतभृतां त्याज्या कुशास्त्रस्थितिः ॥६६॥

(एतेनेति) एतेनैव द्रौपदीचरितसमर्थनेनैव, आभ्युदयिकी अभ्युदयनिर्वृत्ता, धर्म्या च धर्मादनपेता च, कल्पोदिता कल्पसूत्रप्रोक्ता, श्रीसिद्धार्थनृपस्य श्रीसिद्धार्थनाम्नो राज्ञो भगवत्पितुः, दशाहोत्सवे दशदिवसमहे, यागकरणस्य प्रौढिः प्रौढता समर्थिता उपपादिता । न च यागशब्दार्थोऽन्यः स्यादिति तत्राह-खलु निश्चित, अयं सिद्धार्थराज आदिमाङ्गविदितः आचाराङ्गप्रसिद्धः, श्राद्धः श्रीपार्श्वापत्यीयश्रमणोपासकः, जिनार्चां विनाऽन्यं लोकप्रसिद्धं यागं, न कुर्यात् । यतः व्रतभृतां कुशास्त्रस्थितिस्त्याज्या । अन्यश्च यागः कुशास्त्रीयः । कल्पसूत्रपाठो यथा-" तए णं सिद्धत्थे राया दसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीए सइए अ साहस्सिए अ सयसाहस्सिए अ .... लभमाणे य पडिच्छमाणे य पडिच्छावेमाणे य एवं च णं विहरइ ।" व्याख्या-(दसाहिए त्ति) दशाहिकायां दशदिवसमानायां, स्थितौ कुलमर्यादायां, पतितायां गतायां, पुत्रजन्मोत्सवप्रक्रियायां तस्यां प्रवर्त्तमानायां, शतिकान् शतपरिमाणान् साहस्रिकान् सहस्रप्रमाणान् शतसाहस्रिकान् लक्षप्रमाणान् यागान् देवपूजाः दानानि पर्वदिवसादौ दानादीन् भागान् ददत् दापयन् लाभयन् प्रतीच्छन् गृह्णन् प्रतिग्राहयन् विहरन्नास्ते । एवं श्रीसिद्धार्थनृपेण परमश्राद्धेन देवपूजा कृता चेदन्येषां कथं न कर्तव्या ? । तस्य श्रमणोपासकत्वे आचारालापकश्चायम्-" समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासया आवि हुत्था । तेणं बहूइं वासाइं समणोवासगपरिआइं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाण सरक्खणनिमित्तं आलोइत्ता णिंदित्ता गरहित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्तं पडिवज्जित्ता कुससंथारं दुरूहित्ता भत्तं पच्चक्खाइंति, पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए सरीरसंलेहणाए झूसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना । तओ णं आउक्खएणं चइत्ता महाविदेहे वासे चरिमेणं ऊसासेणं सिज्झिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति " त्ति । यथा च सिद्धार्थराजव्यतिकरे यागशब्देन पूजा कृतेति समर्थितं, तथा महाबलादिव्यतिकरेऽपि द्रष्टव्यम् । अपि च-शाश्वताशाश्वततीर्थान्याचार्यादींश्च प्रत्यभिगमनसद्भपूजनादिना सम्यक्त्वनैर्मल्यं स्यादित्युक्तमाचारनिर्युक्तौ ।

तथाहि-

" तित्थयराण भगवओ-पवयणपावयणिअइसयड्ढीणं ।
अहिगमणनमणदरिसण-कित्तणसंपूअणत्थुणणा ॥ १ ॥
जम्माभिसेयनिक्खम-णचरणनाणुप्पयाणनिव्वाणे ।
दियलोअभवणमंदर-नंदीसरभोमनगरेसु ॥ २ ॥
अट्ठावयमुज्जिंते-गयग्गपयधम्मचक्के य ।
पासरहावत्त चिय, चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ३ ॥ "

वृत्तिर्यथा-दर्शनभावनार्थमाह 'तित्थयरगाहा' । तीर्थकृतां भगवतां, प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिकानामाचार्यादीनां युगप्रधानानाम् , तथाऽतिशयिनामृद्धिमतां केवलिमनःपर्यायावधिमच्चतुर्दशपूर्वविदां, तथाऽऽमर्षौषध्यादिप्राप्तर्द्धीनां, यदभिमुखगमनं, गत्वा च नमनं, नत्वा च दर्शनं, तथा गुणोत्कीर्तनं, संपूजनं गन्धादिना, स्तोत्रैः स्तवनमित्यादिका दर्शनभावना, तया हि दर्शनभावनया दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ १ ॥ किं च-"जम्माभिसेयगाहा" " अट्ठावयगाहा " तीर्थकृतां जन्माभिषेकभूमिषु तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु, तथा देवलोकभवनेषु मन्दरेषु नन्दीश्वरद्वीपादौ भौमेषु पातालभवनेषु यानि शाश्वतानि चैत्यानि तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथान्ते क्रिया । इत्येवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ, गजाग्रपदे दशार्णकूटवर्त्तिनि, तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे, तथाऽहिच्छत्रायां श्रीपार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने, एवं रथावर्त्तपर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतम्, यत्र च श्रीवर्द्धमानस्वामिनमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम् । एतेषु यथासंभवमभिगमनवन्दनपूजनोत्कीर्त्तनादिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ।

तथा—

" अरिहंतसिद्धचेइय—गुरुसुअधम्मे य साहुवग्गे य ।
आयरिए उवज्झाए, पवयणए सव्वसंघे य ॥ १ ॥
एएसु भत्तिजुत्ता, पूअंता अहारिहं अणन्नमणा ।
सासणमणुसरंता, परित्त-संसारिआ भणिआ" ॥२॥ म० प० ।

इति मरणसमाधिप्रकीर्णके, तथा भावनमस्कारं प्रतिपाद्यमानो दर्शनमोहनीयादिक्षयोपशमेन अर्हन्, अर्हत्प्रतिमा, अर्हन्तः, अर्हत्प्रतिमाः, साधुरर्हत्प्रतिमा चेति युगद्वयम्, साधुर्जिनप्रतिमाश्च, साधवो जिनप्रतिमा च, साधवो जिनप्रतिमाश्च, इत्यष्टस्वपि भङ्गेषु लभ्यते । उक्तम्-" नाणावरणिज्जस्स उ, दंसणमोहस्स तह खओवसमे । जीवमजीवे अट्ठसु, भंगेसु अ होइ सव्वस्स " ॥ १ ॥ इति गाथया नमस्कारनिर्युक्तौ-" तित्थयरा जिणचउदस, साविभा वामसंविग्गा । साहूविययवयदंसण-पडिमाओ भावगामा उ " ॥१॥ इति कल्पभाष्येण च, जिनप्रतिमादर्शनाद्यभावेऽपि केषाञ्चित्सम्यक्त्वलाभदर्शनाद्व्यभिचार इति नाशङ्कनीयम्, चित्रभव्यत्वपरिपाकयोग्यतया प्रतिभव्यं सम्यक्त्वहेतूनां वैचित्र्यात्, तथात्वे कस्यचित् तीर्थकृत्, कस्यचिद् गणधरः, कस्यचित्साधुः, कस्यचिज्जिनप्रतिमादिकमित्येवं वैचित्र्यात् स्वजनभव्यत्वपरिपाकद्वारेण व्यभिचाराभावात् । अन्यथा तीर्थकृतोऽपि सम्यक्त्वहेतवो न भवेयुः, तीर्थकरमन्तरेणापि गौतमादिबोधितानां बहूनां सम्यक्त्वलाभप्रतीतेरन्वयव्यतिरेकसिद्धश्चायमर्थः । अत एव सम्यग्दृष्टिपरिगृहीताः सम्यग्भाविता अपि दृष्टा भव्यजीवस्यार्द्रकुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदयमानमुपलभ्यते । ततः "कारणे कार्योपचारः" इति कृत्वा ता अपि भावग्रामा भण्यन्ते इति, तथा षडावश्यकान्तर्गतश्रावकप्रतिक्रमणसूत्रे साक्षादेव चैत्याराधनमुक्तम्-" जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरियलोए अ । सव्वाइं ताइँ वंदे, इह संतो तत्थ संताइं" ॥४४॥ इति चतुश्चत्वारिंशत्तमगाथया । एतच्चूर्णिर्यथा-" एवं चउवीसाए जिणाणं वंदणं काउं संपइ सम्मत्तविसुद्धिणिमित्तं तिलोअगयाण सासयासासयाण वंदणं भण्णइ-(जावंति) " ॥ प्रति० ।

(१६) ऊर्ध्वलोकादिषु जिनप्रतिमास्थिति -

" इत्थ लोओ तिविहो-उड्ढलोओ, अहोलोओ, तिरियलोओ अ । तत्थ उड्ढलोगो सोहम्मीसाणाइया दुवालसदेवलोगा,

मंसि वा अणुप्पमंसि वा बहुइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खाएति, पच्चक्खाएत्तित्ता बहुइं अणसणाइं छेदेंति, छेदेंतित्ता आलोइअपडिक्कता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु उववत्तारो भवंति । तं जहा-महड्डिएसु महज्जुइएसु० जाव महासुखेसु सेसं तहेव० जाव एसट्ठाणे आयरिए० जाव एगंतसम्मे साहू तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए" त्ति । अथ स्थानत्रयमुपसंहारद्वारेण सङ्क्षेपतो विभणिषुराह-"अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ,विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरताविरतिं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरतिए एसट्ठाणे आरंभठाणे अणारिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरताविरती एसठाणे आरंभाणारंभठाणे एसठाणे आरिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, एवामेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समो अवतरंति । तं जहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसते चेव अणुवसते चेव ।" (सूत्र० २ श्रु० २ अ०) आह च-मिश्रपक्षो मिथ्यादृशामधर्मपक्ष एव, सम्यग्दृशां श्राद्धानामपि स धर्मपक्ष एवेति व्यक्तं फलतः प्रतीयते, साधुश्राद्धमार्गयोः सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गत्वात् । यथा च मिथ्यादृष्टेः द्रव्यतो विरतिरपि सम्यक्त्वाभावादविरतिरेव बालशब्दव्यपदेशनिबन्धनं स्यात्, तथा सम्यग्दृष्टेः धर्मकर्मणि द्रव्यतोऽविरतिरपि विरतिकार्यांशिकपाणिमित्यव्यपदेशप्रतिबन्धिका न स्यात्, द्रव्यतयैव निष्फलत्वादिति सूक्ष्ममीक्षणीयम् । अविरतिविषयाणामष्टादशानामपि स्थानानामेकतरांशस्य सत्त्वेऽपि तत्प्रतिपक्षस्य धर्मांशस्योत्कटत्वे धर्मपक्ष एव विजयते; अन्यथाऽविरतिसम्यग्दृष्टिकस्याऽपि पक्षस्य स्थानं न स्यात् । ततश्च यन्निष्कृष्योक्तम्-"तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ तस्स णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावाओ असयाइं भवंति त्ति अक्खाइयं । जहा-किरियावाईण, अणाणियवाईण, वेणइअवाईण ति " तद्विमर्शे परस्य गगनमालोकनीयं स्यात् । न हि तीर्थकृद्दृष्टान्तानुगत आचारो धर्मः स्वसमयानुगतश्च धर्मः प्रतीयते इति ॥ ९० ॥

एतत्सर्वमभिप्रेत्य भक्तिरागप्रतिबन्धाद् द्रव्यस्तवे धर्मपक्षत्वात्परमङ्गीकारयन्नाह-

हिंसांशो यदि दोषकृत्तव जड ! द्रव्यस्तवे केन त-
न्मिश्रत्वं यदि दर्शनेन किमु तद्भोगादिकालेऽपि न ।
भक्त्या चेत् न तु साऽपि का यदि मतो रागो भवाङ्गं तदा-
हिंसायामपि शस्तता तु सदृशीत्यत्रोत्तरं मृग्यते ॥९१॥

(हिंसांश इति) हे जड ! यदि द्रव्यस्तवे हिंसांशो दोषकृन्मिश्रत्वकृत्, तदा केन तन्मिश्रत्वं कृतं स्यात् ?। चेत् यदि-भक्त्या मिश्रत्वं त्वयोच्यते तर्हि साऽपि भक्तिरपि रागो मतस्तदा भवाङ्गम्, रागद्वेषयोरेव संसारमूलत्वात्तदाऽऽभ्यां संसारान्तर्गताभ्यां धर्मपक्षश्चोत्कर्षः स्यादिति को मिश्रावकाशः ?, प्रशस्तरागत्वाद्भक्तिर्भवाङ्गमिति चेत्, तर्हि द्रव्यस्तवानुगतहिंसायामपि शस्तता सदृशी; अत्र तव किमुत्तरमिति मृग्यते?, अत्र च सम्यगुत्तरं वर्षसहस्रेणापि न परेण दातुं शक्यमिति मोक्षार्थिभिरस्मदुक्त एव पन्था श्रद्धेयः । एतेन षट्पुरुषीप्रदर्शनेन श्रमणोपासकानां न द्रव्यस्तवाधिकार इति कापुरुषस्य पाश्चस्थस्य मत निरस्तम् । एव हि तत्-सर्वतो विरत.१, अविरत.२, विरताविरत. ३, सर्वतो विरताविरतः ४, श्रमणोपासको देशविरतः ५, सर्वविरतश्च ६ इति तावत् षट् पुरुषा भवन्ति । तत्र सर्वतो विरतः स उच्यते,यः कुगुरुकुदेवकुधर्मश्रद्धावान् सम्यक्त्वलेशेनाऽप्युत्स्पृष्टमनाः, यमुद्दिश्य-" इह खलु पाईणं वा० ४ संतेगइआ मणुआ भवंति । तं जहा महिच्छा महारंभा " इत्यादि सूत्रं वृत्तम् । १ । अविरतस्तु स उच्यते, यः सम्यक्त्वालङ्कृतोऽपि मूलोत्तरभेदभिन्नो विरतिं पालयितुमसमर्थो जिनप्रतिमामुनिवैयावृत्यकरणाशातनापरिहारादिना भूयः प्रकटितभक्तिरागः ।२। विरताविरतश्च स उच्यते, यः पूर्णसम्यक्त्वाभावबानपि स्वोपचितान् सर्वव्रतनियमान् बिभर्ति । ३ । सर्वतो विरताविरतश्च स उच्यते, यस्य मनसि " तमेव निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं ।" इति परिणामः स्थिरो भवति, परं मनसः प्रमादपारतन्त्र्याद् भूम्ना साधुसङ्गमाभावात्परिपूर्णं जिनभाषितं न जानीते, कुलक्रमागतां च विरतिं पालयति, पूर्वं संयमज्ञानाभावादारम्भेन जिनपूजां करोति भक्तिरागपारवश्यात्, तत एव संयमवानयमिति वा यावता कृत्स्नेन संयमः पालयितुं न शक्यते तावानेवाविरतिभाग श्रुते भणित इति । यमुद्दिश्येदं सूत्रम्-" इह खलु पाईणं वा संतेगइआ मणुआ भवंति । तं जहा-अप्पिच्छा अप्पारंभा " इत्यादि । चतुर्थभङ्गस्त्वविरत्यपेक्षया स्तोकस्याविरत्या तृतीयो भङ्ग इति विवेकः ॥ ४ ॥ श्रमणोपासको देशविरतश्च स उच्यते,यः श्रमणोपासनमहिम्ना प्रतिदिनप्रवर्द्धमानसंवेगो यावज्जीवं सूक्ष्मबादरादिभेदपरिज्ञानवान् तत एवास्थिमज्जप्रेमानुरागरक्तचित्तो देशविरतिं गृहीत्वा पालयति सम्यक्त्वसहितव्रतग्रहोत्तमभङ्गकश्चोभयकालमावश्यकं कुरुते, स एव संयमं जानीते । उक्तं चानुयोगद्वारसूत्रे-" समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा । अंतो अहोणिसीए, तम्हा आवस्सयं नाम " ॥१॥ दशवैकालिके च-" जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ । जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु णाहिइ संजमं॥" एनमेवोद्दिश्य"-से जहाणामए समणोवासगा भगवंता अभिगयजीवाजीवा" इत्यादि सूत्रं प्रवर्त्तते । अयमेव शुद्धजिनप्रतिमानुचितं संयममाद्रियते, हिंसां परिहृत्य जिनविरहे जिनप्रतिमां पूजयति, संयमज्ञो ह्यसौ षट्कायहिंसां परिहरति । अत एवोक्तं महानिशीथे-" अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । जे कसिणसंयमविऊ, पुप्फाईअं न कप्पए तेसिं ॥१॥" आवश्यकनिर्युक्तावपि-"जे कसिणसंयमविऊ, पुप्फाईअं ण इच्छंति।" इत्यत्र साधुश्रावकयोर्द्वयोरविशेषेण कृत्स्नसंयमज्ञत्वपुष्पादिपरिहारेण पूजाधिकारे तादवस्थ्यमुक्तम्,तत्रैकतरपक्षपातो न श्रेयान्, किं चात्र कारणमिति विचारणीयम् । यदीन्द्राभिषेककरणे सुपर्वाणोऽहमहमिकमौदारिकजलपुष्पसिद्धार्थादीनि गृह्णन्ति, जिनपूजां तु तेनोपचारेण कुर्वन्तीति सुरपुष्पेष्वत्र सत्त्ववोऽम्लानत्वं च हेतुश्चेद्, हिंसापरिहार एवाय धर्माभ्युदयाय प्रगल्भा, समवसरणे च वैक्रियाण्येव पुष्पाणि देवाः प्रभोरग्रे देशनावसरे व्याकिरन्ति, मण्यादिरचनाप्यचित्तैवोक्ता राजप्रश्नीयोपाङ्गे-"पुप्फवद्दलयं विउव्वंति" इत्यादि नवकमलरचनाप्यचित्तैव ज्ञेया तथामाना,वन्दनाद्यधिकारे पञ्चविधाभिगमविधौ सचित्तद्रव्योज्झनमुक्तमस्ति, जिनभवनप्रवेशेऽपि चैत्यवन्दनभाष्यादावय विधिरुक्तोऽस्तीति, ततो निरवद्यपूजैव देशविरतस्य संभवतीति श्रद्धेयम्। सर्वविरतश्च स उच्यते-यो गृहीतपञ्चमहाव्रतः

सव्वामिड्ढीए पवणसत्तेणं जाणियव्वा० जाव धूवकडुच्छु-
याउ । चि पागारा सोलसमणिहिं रयणेहिं उवए तहेव ॥

(जी० ३ प्रति०) अष्टशतं १०८ जिनप्रतिमानामित्यादि । एवंविध-
शाश्वतचैत्यव्यापारनियुक्तनागादिप्रतिमाभिर्व्यमानाः च-
न्द्रार्कादिपूर्वोपकारसत्त्वोपेताश्च प्रतिमाः शाश्वतभावेन स्वत
एवानन्ता अनन्त्यत्वं व्यापयन्ति, अन्यथा तथाविधविशेषानु-
पेतत्वानुपपत्तेः । एवंविधव्यतिकरमाकर्ण्याऽपि ये जिनप्रति-
माप्रामाण्यं नाङ्गीकुर्वते ते क्लिष्टकर्मोदयवन्तो मन्तव्याः । न
चैवं परिवारोपेताः शाश्वतप्रतिमाः भव नामि नाम्ना इति
वाच्यम् । भरतपदाऽन्तो भरतकारितामावृषभादिप्रतिमाबिम्बा-
नां वसुविधैरपि जिनप्रतिमानां तथा परिवारोपेतत्वात् , जी-
वाभिगमोक्तम् 'परिवारयुक्ता' इति वचनात् । किं चन्द्रपलोका-
दावपि " देवच्छंदए " इत्यागमसिद्धप्रतिमानां न एव
शाश्वतभावेन देवच्छंदकत्वं सति, न तथाऽन्यत्रापि कर्मादि-
मत्त्वात्पाठ्या , सेवा देवानामनन्यासात् ।
"ईदृशोऽपि देवप्रतिमाः प्रभुना नृतन प्रतिष्ठितममादधति ।
साहसानिश्चयाच्च मतो विशेषो,न स्वयमभावा किमु निर्विशेषः"॥
अथ स्वपरोद्धत्या प्रचमदेशनादेशिनो,
गुणैर्गणैरिवस्य स्वधाभिः परिपूर्यते ।
इह खलु समीहितं सरस्वदादिवादादिना,
कुतोऽपि नमूतमं स्ववचोदितिर्निर्मणवते" ॥ २ ॥ प्रति० ।
(अत्र स्वपरोद्धरे टीकाकृता दर्शिता,नामह तं दर्शयिष्यामि)
स उपसंहरन्नुपसंहरन्नाह-

इत्थेवं श्रुतिनिगमष्टकादिरिष्टिना निर्युक्तिभाष्यादिभिः,
सन्न्यायेन समर्थिता च भगवन्मूर्तिः सर्वाणां मताम् ।
युक्तिस्वन्तपरम्पराश्रयतो या जाग्रदोद्धपिका-
येनदर्शनवञ्चिना हराति किं शून्येन भ्राम्यति ? ॥६७॥

इत्थेवं उक्तरीत्या, श्रुतिना सिद्धान्तेन, सूत्रकृदेन विधिना, निर्यु-
क्तिभाष्यादिभिः, आदिना चूर्णिवृत्तिसर्वोत्तमप्रकरणपरिग्रहः ।
सन्न्यायेन सद्युक्त्या च, समर्थिता निरस्तदूषितविप्रतिपत्ती
कृता, भगवन्मूर्तिः , सतां शिष्टानां प्रमाणमाध्यस्थ्यादिना, यु
क्तिस्तु दुष्टबुद्धीनामप्यपरस्पराऽऽश्रयणीयत्वनुपगमरूपा, तया
इता सती, या जागर्ति ऐष मा भूत परिष्ट, युक्तिनिरासपर-
म्परायां युक्तिप्रहणस्यानुपपत्तित्वात् । एतद्दर्शनेन भगवन्मूर्ति-
दर्शनेन, वञ्चिता इतोऽपि दृष्टिरपि, किं शून्येव न भ्राम्यति ?,
अपि तु भ्राम्यतीति ।

" निसर्गकर्मुनमललाटभ्राजमाना स्वनाथ्या-
कृतामिव समुद्धीत दर्शयन्ते जनानाम् ।
स्फुरत्गुरुकुसुमालासौरभाभारम्भारा.,
कृताजिनवरपूजा देवरूपा मदन्त्या ॥ १ ॥
आनन्दमान्तरमुदारमुदाहरन्ती,
रोमाञ्चिते वपुषि सम्मृदमुत्तमन्ती ।
पुंसां प्रकाशयति पुण्यस्मानमाधि-
सौभाग्यमर्चनकृता निभृता दृशेव ॥ २ ॥
स्पृशति तिलकशून्य नैव लक्ष्मीर्ललाट.
मृतमनुकृतमिव श्रीः शौचसंस्काराहीनम् ।
अकलितभजनानां चल्कशाश्येव वस्त्रा-
ण्यपि च शिरसि युक्तं ब्रह्मन्युग्रसार. ॥ ३ ॥
अरहन्तादेरपूजस्य, तस्करस्येव लाचने ।
लोचनेनैव सस्पृष्टे, गुप्तपातकशङ्किते ॥ ४ ॥ "

(५०) अनुपकारे कथं फलदायि प्रतिमायाः -

माध्या नूनमुपक्रिया प्रतिमया नो काऽपि पूजाकृता,
चैतन्येन विहीनया तत इयं व्यर्थेति मिथ्यामतिः ।
पूजा जायत एव देरणाणिवत् सा पूजिता सर्पदे-
त्येतदन्मतगर्वपर्वतभिदाबज्रं गुणानां वचः ॥ ६८ ॥

" माध्या नूनमुपक्रिया " इत्यादि सर्वमवगतार्थम् ।
" एवं पूजया शान्तिफला पूजे देवता तुष्टाका-
क्षितोऽञ्छिता मायासिका फलसारिता. किम्पाका. ।
पत्तनुधव शिरीगुणव निर्गुणव अद्यापि-
स्तरपं योग्यं भीरवा रीतिव नेयायोव निःकोषे. ॥ १ ॥
मानसमार्गे युक्तवर्त्मे छविसामे विधान्ता-
स्तुत्यरूपथाः शेष सन्ध्याभिमत धार्द्ग्रान्ता. ।
अर्हद्भवत पूर्णो रता विघाऽऽसन्न ऐऽर्थीना-
निशा तेनामुत्रैव तर्कोच्छिन्ना निर्णीता ॥ ३ ॥" प्रति० अधि० पो०।
(नमस्कारशब्दे फलप्रयोजनोपदर्शनाऽवसरे व्याख्यास्यते)
अविधिकृतायेऽपि दूषणं यदनुसारिणो मतमुप यस्य दूषयति-

यन्नाऽस्तु प्रतिमा तथापि विधिना सा कारिता मृग्यते,
स प्रायो विरलस्तथा च सकलं स्यादिन्द्रजालोपमम् ।
इत्येवं पतिधर्मपाप यमुखभाक्क्रियादेर्विधे-
दौर्लभ्येन तदस्ति किं तव न यत् स्यादिन्द्रजालोपमम् ॥६९॥

ननु प्रतिमा या वाऽस्तु, उक्ताद्युक्तैस्तथाऽप्यवस्थिते., तथापि
सा विधिना कारिता मृग्यते, सम्यग्भावितानामेव प्रतिमानां
भावग्रामत्वेनाभिधानात्स विधिः प्रायो विरल', ऐदंयुगीनानां
प्रायोऽविधिप्रवृत्तत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । तथा च सकल
प्रतिमागतं पूजाप्रतिष्ठावन्दनादिकम्, इन्द्रजालोपमं स्यात्, म-
हतोऽप्यानुपस्थापसत्याग्रहनत्वात् । इत्येवेति प्रत्यवधार-
णे । एव प्रतिमावद्य, यतिधर्मश्रावकाचार., पौषध. श्राद्धाना
पर्वदिनानुष्ठान, तन्मुखा तदादिर्वा श्रावकक्रिया, तदादेर्वा वि-
धि', आदिनाऽपुनर्बन्धकानुष्ठितमाचारपरिग्रह. । तस्य,दु पमाया
दुर्लभत्वेन तत्किमस्ति यच्चेन्द्रजालोपमं न स्यात् ?, न्यायस्य समानत्वात् । न चेय प्रतिबन्दि',सा च कर्मानुकूलपरिवार-
सम्पत्तिराराधनात्मनैव समानसंलभ्यस्य विवक्षितत्वात् ॥६९॥

तदाह-

योगाराधनशर्मनस्य विधेर्दोषः क्रियायां न चेत्,
तत् किं न प्रतिमास्थलेऽपि सदृशं सत्यङ्गमुद्रीक्ष्यते ।
किं चोक्ता गुरुकारितादिविषयं त्यक्त्वाऽऽग्रहं भक्तितः,
सर्वत्राऽप्यविशेषतः कृतिवरैः पूज्याऽऽकृतेः पूज्यता ॥७०॥

(योगेत्यादि) योगो विधि कर्मानुकूलपरिवारसम्पत्तिः, आरा-
धनमात्मनैव निर्वाह , शासन च बहुमानमुपलक्षणत्वाद् द्वेषश्च,
ते , विधे., अथ क्रियाया चेद् न दोष', तत्किं योगादिनाऽदुष्ट-
त्व प्रतिमास्थलेऽपि सदृश नोद्वीक्ष्यते ?, उद्वीक्षणीयमिदमपि ।
तदुक्तम्-
" विहिसार चिय सेवइ , सद्धालुसचित्तम अणुट्ठाण ।
दव्वाइदोसनिहओ , विपक्खवाय वहइ तम्मि ॥ १ ॥

पातात्, यत्तत्कालीनासयमोज्झनं शुभभावेनोक्तं तद्विभक्त्यन्यतरवैगुण्य एव। अन्यथा स्वरूपासयमस्य द्रव्यस्तवातिरेकेणोज्झितुमशक्यत्वादनुबन्धिसंयमस्य चानुद्भवोपहतत्वाद्, द्रव्यस्तवस्याप्रधानत्वमपि स्वरूपत एव विधिभक्तिवसाद्, गुणोपबृंहितभावप्रवृत्तौ भावस्तवस्यैव साम्राज्यात्।

इत्थमेव महाबुद्धिशालिना हरिभद्राचार्येणाऽभिहितं, तथाऽपि यस्य स्थूलबुद्धेर्मनसि नायाति तदनुकम्पार्थं तद्ग्रन्थपाङ्क्तिरत्र लिख्यते–

"दव्वथओ भावथओ, दव्वथओ बहुगुणो त्ति बुद्धे सिया।
अनिउणमइवयणमिणं, छज्जीवहिअं जिणा बिंति" ॥१॥

द्रव्यस्तवो भावस्तव इत्यत्र द्रव्यस्तवो बहुगुणः प्रभूततरगुण इति एवं बुद्धिः स्यात्, एव चेन्मन्यसे इत्यर्थः। तथाहि– किलास्मिन् क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसायः, तीर्थस्योन्नतिकरणं दृष्ट्वा तं च क्रियमाणमन्येऽपि प्रतिबुध्यन्ते इति स्वपरानुग्रहः, सर्वमिद सप्रतिपक्षमिति चेतसि निधाय द्रव्यस्तवो बहुगुण इत्यस्यासारताख्यापनायाह–अनिपुणमतिवचनमिदमिति । अनिपुणमतेर्वचनमनिपुणमतिवचनम्, इदमिति द्रव्यस्तवो बहुगुणमिति गम्यते । किं च–षड्जीवहितमित्यत आह–षड्जीवहितं जिना ब्रुवते षण्णां पृथिवीकायादीनां जीवानां हितं,जिनास्तीर्थकरा ब्रुवते। प्रधानं मोक्षसाधनमिति गम्यते ।

किं च षड्जीवहितमित्यत आह–

"छज्जीवकायसंजमे, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो ।
तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईआ ण इच्छंति" ॥१॥

षड्जीवकायसंयम इति, षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां, सयमः संहननादिपरित्यागः षड्जीवकायसंयमः। असौ हि यदि नामैवं ततः किमित्यत आह–द्रव्यस्तवे पुष्पादिसमभ्यर्चनलक्षणे, षड्जीवकायसंयमः,किम् ?, विरुध्यते न सम्यक्संपद्यते, कृत्स्नः संपूर्ण इति, पुष्पादिसंलुञ्चनसंघटनादिना कृत्स्नसंयमानुपपत्तेः। ततश्चैवं न स्यात, कृत्स्नसंयमविद्वांस इति, कृत्स्नसंयमप्रधाना विद्वांसस्ततः साधव उच्यन्ते। कृत्स्नसंयमग्रहणमकृत्स्नसंयमविदुषां श्रावकाणां व्यपोहार्थम् । ते किम् ?, अत आह–पुष्पादिकं द्रव्यस्तवं नेच्छन्ति, यदुक्त द्रव्यस्तवे क्रियमाणे सचित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसाय इत्यादि, तदपि यत्किञ्चिद्व्यभिचारात् कस्यचिदन्यसत्त्वस्याविवेकिनो वा शुभाध्यवसायानुपपत्तेः। दृश्यते च कीर्त्याद्यर्थमपि सत्त्वानां द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिरिति शुभाध्यवसायभावेऽपि तस्यैव भावस्तवत्वादितरस्य च तत्कारणत्वेनाप्रधानत्वमेव, "फलप्रधानाः समारम्भाः" इति न्यायात् । भावस्तवत एव तस्य सम्यक्त्वादिति पूज्यत्वात्तमेव दृष्ट्वा क्रियमाणमन्येऽपि सुतरां प्रतिबुध्यन्ते शैक्षा इति स्वपरानुग्रहोऽपीहैवेति गाथार्थः।

आह–यद्येव किमय द्रव्यस्तव एकान्तत एव हेयो वर्तते, अहोस्विदुपादेयोऽपि । उच्यते–साधुना हेय एव,श्रावकेणोपादेयोऽपि । तथा चाह भाष्यकारः–

" अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
ससारपयणुकरणो, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो " ॥ ४२ ॥

अकृत्स्नं प्रवर्तयन्तीति, संयममिति सामर्थ्याद् गम्यते, अकृत्स्नप्रवर्तका , तेषां विरताविरतानामिति श्रावकाणामेष खलु युक्त , एष द्रव्यस्तव , खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव। किंभूतोऽयमित्यत आह–ससारप्रतनुकरण , ससारक्षयकारक इत्यर्थः। द्रव्यस्तवो हेयः प्रकृत्यैवासुन्दरः, स कथ श्रावका[णा]मपि युक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति । " जहा णवणगराइसं[निवे]वेसे केइ पभूयजलाभावतो तण्हाविपरिगता तदपनोदार्थं [कूवं] खणंति, तेसिं जइ वि तण्हादिया वड्ढंति, मट्टिकाकद्दमाई[हि] अ मलिणिज्जंति, तहा वि तदुब्भवेण चेव पाणिएण ते[सिं] तण्हादीनां सो अ मलो पुव्वगो य फिट्टइ त्ति, सेसकालं च[ ] तदण्णे य लोगा सुहभागिणो भवंति, एवं दव्वत्थए जइ[वि] असंजमो तहा वि तओ चेव सा परिणामसुद्धी भवति। [जाए] तं असंजमोवज्जियं अण्णं च णिरवसेसं खवेति त्ति, त[म्हा] विरताविरतेहिं एस दव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुबंधी पभू[य]णिज्जराफलो अतिकाऊणम्" इति गाथार्थः ।

अत्र हि द्रव्यस्तवभावस्तवक्रिययोः स्वजन्यपरिणामशुद्धि[ ] तुल्यवन्मोक्षकारणत्वमास्तां तत्फलकालव्यवधानाभ्यां तु [वि]शेषः क्रियायाःसत्त्वशुद्धिकारणतावच्छेदकोटौ च प्रणिधानादि[ ] तत्पूर्वकत्वं निवेश्यते "भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रि[या] तुच्छा" इति वचनात्। ऋजुसूत्रादेशेनापि क्रियायामतिशय[ ] धानभावेनेवेति या द्रव्यक्रिया तुच्छेति शुभानुबन्धे प्रभूतनि[र्ज]रां जनयेत् सा कथमसयममिति विचारणीयम् । न चैकत्व[ ] त प्रदीपरूपप्रकाशकार्यद्वयवद्युत्पत्तिकारणान्तरानुप्रवेश[ ] त न हि पापपुण्योपादानकारणशुभाशुभाध्यवसायस्थानयौ[ग]गपद्यं सभवति, तस्मात्कथञ्चित्पदद्योत्ययतनासमावेशादे[ ] तत्रासयमोपपत्तिस्तच्छोधनमपि परिणामशुद्ध्या भवतीति [ ] म्यगमनस्यनियत, यथा द्रव्यस्तवस्य गृहाश्रमरूपधर्माधिक[ा]रितावच्छेदकासदारम्भकर्मापनयनसदारम्भक्रियाव्यक्तिरिति[ ] कूपदृष्टान्तोपादानमत्र, नापवादपदादौ मुनयः,प्रधानाधिकारि[त्व]एवाङ्गेऽधिकारादिति तत्त्वम् ।

" अयमिति विशदो विचारमार्गः,
स्फुरति हृदि प्रतिभावतां मुनीनाम् ।
जडमतिवचनैस्तु विप्रलब्धाः,
कति न जनास्तददो कलिर्बलीयान् ॥ १ ॥
निजमतिरचितप्रकल्पितेऽर्थे,
विबुधजनोक्तितिरस्क्रियापराणाम् ।
श्रुतलवमातिदर्पाणां,
स्फुरितमत समुदीक्ष्य विस्मिताः स्मः ॥ २ ॥
विधिवदनुपदं विवृण्वते ये,
नयगमभङ्गगभीरमाप्तवाक्यम् ।
कथमिव मलिनाद्विनिश्रितार्थं,
तादिदमहो न पुनर्जनैर्गृहीतम् ? ॥ ३ ॥
शिष्ये मूढे गुरौ मूढे, श्रुत मूढमिवाखिलम् ।
इति शङ्कापिशाचिन्यः, सुखं खेलन्तु बालिशैः ॥ ४ ॥
स्फुटोदर्के तर्के स्फुटमभिनवे स्फूर्जति सता–
मियं प्राचां वाचां न गतिरिति मूढः प्रलपति ।
न जानीते चित्रां नयपरिणतिं नापि रचना,
वृथागर्वग्रस्तश्छलमखिलमन्वेति विदुषाम् ॥ ५ ॥
शोभते न विदुषां प्रगल्भता,
पल्लवज्ञजडसङ्गिपर्षदि ।
पञ्जरे बहुलकाकसङ्कुले,
संगता न हि मरालबालना ॥ ६ ॥
क्षणतासिततयोः स्फुटेऽन्तरे,
गीर्गभीरिमगुणे च भेदिनि ।

(चैत्यानां न हीति) गच्छान्तरस्य चैत्यानां नतिर्नोचिता, केषामिव ?, लिङ्गिनामिव, गच्छान्तरस्येति सम्बध्यते । अवयवद्वयप्रदर्शनादत्र पञ्चावयवप्रयोग एवं कर्त्तव्यः -गच्छान्तरीया प्रतिमा न वन्दनीया, गच्छान्तरपरिगृहीतत्वात्, यो यो गच्छान्तरपरिगृहीतः स स अवन्दनीयः, यथा अन्यगच्छसाधुरिति । एतद्वचसैव यः मुग्धान् जनान् मोहयति विपर्यासयति-प्रमाणपाठैरस्मद्गुरुनिर्यन्त्रुक्तं तत् सत्यमिति । यः कीदृशः ?, आग्रही अभिनिवेशमिथ्यात्ववान्, तेन किमावश्यकनिर्युक्त्याख्यशास्त्रमेव न ददृशे न दृष्टम्, कीदृशं तत् ?, लिङ्गे च दोषगुणयोः सत्त्वात् तथा प्रतिमासु तयोरसत्त्वाद्वैपरीत्यनिश्चायकं वैसदृश्यनिर्णयकारि. लिङ्ग इत्यत्र व्यञ्जकत्वाख्यविषयत्वे सप्तमी । अत्राह-मोक्षोपसमाधानग्रन्थ आवश्यके एवमुपपद्यते, तद्विहारिगते विधौ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः-किमनेन पर्यायान्वेषणेन, सर्वथा भावशुद्ध्या कर्मापनयनाय जिनप्रणीतलिङ्गमेव युक्तं, तद्गतगुणविचारस्य निष्फलत्वात् । न हि तत्कृतगुणप्रभावान्नमस्कर्तुर्निर्जरा, अपि त्वात्मीयाध्यात्मशुद्धिप्रभवा । प्रति० (तथाहि "तित्थयरगुणा पडिमा" (५८) आव० ३ अ० । इत्यादि 'किइकम्म' शब्देऽत्रैव भागे ५१६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

उक्तमेव विवेचयन् वादिनो मुग्धतां दर्शयति-

लिङ्गे स्वप्रतिबद्धबुद्धिकलनाज्ज्ञान्या भवेद्वन्द्यता,
सैकान्तात् प्रतिमासु भावभगवद्भूयोगुणोद्बोधनात् ।
तुल्ये वस्तुनि पापकर्मरहिते भावोऽपि चारोप्यते,
कूटद्रव्यतया धृतेऽत्र न पुनर्मोहस्ततः कः सताम् ? ॥७३॥

(लिङ्ग इति) लिङ्गे स्वप्रतिबद्धः स्वसम्बन्धी यो धर्मः तद्बुद्धिकलनात् तद्धीस्मरणात् "एकसंबन्धिज्ञानेऽपरसम्बन्धिज्ञानस्य स्मारकत्वा"दिति सद्धर्मोपस्थितौ तदालम्बनतया वन्द्यतेत्यर्थः, तथाऽसद्धर्मोपस्थितौ च तदालम्बनतया निन्द्यतेत्यर्थः । प्रतिमासु सा सावद्यता एकान्तात्, कस्मात् ?, भावभगवत्सम्बन्धिनो ये भूयांसो गुणास्तेषामुद्बोधनात्, एकेन्द्रियदलनिष्पन्नत्वादेश्च बन्धगतस्य भगवत्कायगतौदारिकवर्गणानिष्पन्नत्वादेरिवानुद्भूतदोषस्याप्रयोजकत्वाद्गच्छान्तरीयसाधुवत्तादृशप्रतिमाया अवन्द्यत्वमित्यप्ययुक्तम्, तदध्यारोपविषयसद्भावात् । तदाह-तुल्ये वस्तुन्युभयाभावेनाकारसाम्यवति, पापकर्मरहिते सावद्यचेष्टारहिते, भावोऽपि गुणोऽप्यवाप्यते । अत्र वस्तुनि कूटद्रव्यतया धृते चारोप्यतेऽङ्गारमर्दक इव भावाचार्यगुणः, तत्र कः सतां शिष्टानां मोहो, यदुत स्वगच्छीयैव प्रतिमा वन्द्येति, नान्या, अन्यसाधुवदिति । द्रव्ये हि कतिपयगुणवत्यपि सम्पूर्णगुणवदध्यारोपो युक्तः, प्रतिमायां स्वाकारसाम्येनेत्यागोपालाङ्गनाप्रतीतत्वात् ॥ ७३ ॥

एवं सति प्रतिष्ठावैयर्थ्यमित्याशङ्क्य समाधत्ते —

नन्वेवं प्रतिमैकतां प्रवदतामिष्टा प्रतिष्ठाऽपि का,
सत्यं साऽऽत्मगतैव देवविषयोद्देशेन मुख्योदिता ।
यस्याः सा वचनानलेन परमा स्थाप्ये समापत्तितो,
दग्धे कर्ममले भवेत्कनकता जीवायसः सिद्धता ॥७४॥

(नन्वेवमित्यादि) ननु एवमाकारमात्रेण प्रतिमाया एकतां वन्द्यताप्रयोजिकां प्रवदतां युष्माकं प्रतिष्ठाऽपि का इष्टा ?, न काचिदिति, तद्विधिवैयर्थ्यं स्यादिति । अत्रोत्तरम्-सत्यं, सा प्रतिष्ठा, देवविषयोद्देशेन आत्मगतैवाऽऽत्मनिष्ठैव, मुख्या उदिता प्रतिपादिता, विधिना जनितस्यात्मगतातिशयस्यादृष्टाशस्य पूजाफलप्रयोजकत्वात्, प्रतिष्ठाध्वंसेनैव तदन्यथासिद्धौ संस्कारध्वंसेनानुभवस्य ज्ञानादिष्व सः । न चादृष्टस्य तदापत्तेर्देवतासान्निध्यमपि न फलम्, अहङ्कारममकारान्यतररूपस्य सान्निध्यस्य वीतरागदेवतानयेऽसम्भवात् । न च चाण्डालादिस्पर्शनाश्या प्रतिष्ठाजनिता प्रतिमागता शक्तिरेव कल्पनीयेति, आत्मनिष्ठफलोद्देशेन क्रियमाणस्यात्मगतकिञ्चिदतिशयजनकत्वकल्पनाया एवौचित्यात् । अत एवाऽऽत्मगतातिशयस्य समानाधिकरणपापान्तिकमुक्तिफलकत्वमप्युपपद्यते । तदा यस्याः प्रतिष्ठायाः सकाशात्परमा सा प्रतिष्ठा, भवेत्स्यात्, किंस्वरूपा ?, जीवायसो जीवरूपलोहस्य, सिद्धतारूपा कनकता, कस्याः ?, स्थाप्ये परमात्मनि समापत्तितः समापत्तिमासाद्य, कस्मिन् सति ?, कर्ममले दग्धे सति, केन ?, वचनानलेन नियोगवाक्यहुताशनेन ॥ ७४ ॥

नन्वेवमात्मनः प्रतिष्ठितत्वेऽपि प्रतिमाया अप्रतिष्ठितत्वं स्यात्, प्रतिष्ठाकर्तृगतादृष्टक्षये प्रतिमायाः पूज्यताऽनापत्तिश्चेत्यत आह-

बिम्बेऽसावुपचारतो निजहृदो भावस्य संकीर्त्यते,
पूजा स्याद्विहिता विशिष्टफलदा झाक् प्रत्यभिज्ञाय या ।
तेनास्यामधिकारिता गुणवतां शुद्धाऽऽशयस्फूर्त्तये,
वैगुण्ये तु ततः स्वतोऽप्युपनतादिष्टं प्रतिष्ठाफलम् ॥७५॥

बिम्बेऽसौ प्रतिष्ठा, निजहृदो निजहृदयसम्बन्धिनो भावस्याध्यवसायस्य, उपचारात्संकीर्त्यते प्रतिष्ठाजनिताऽऽत्मगता समापत्तिरेव स्वनिरूपकतयाऽप्यालम्बनाध्यवसायसम्बन्धेन प्रतिष्ठितत्वव्यवहारजननीत्यर्थः । या झाक् शीघ्रं प्रत्यभिज्ञाय पूजा विहिता विशिष्टफलदा स्यात्, विशिष्टं फलमाकारमात्रालम्बनाध्यवसायफलातिशायि, तथा च प्रतिष्ठितविषयकं यथार्थं प्रत्यभिज्ञानमेव पूजाफलप्रयोजकमिति । तेनास्यां प्रतिष्ठायां, गुणवतां प्रशस्तगुणवतामधिकारिता, शुद्धस्य विशिष्टस्याशयस्य स्फूर्त्तये उपस्थितये, विशिष्टगुणवत्प्रतिष्ठितेयमिति प्रत्यभिज्ञाने विशिष्टाध्यवसायस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । वैगुण्ये तु प्रतिष्ठाविधिसामग्र्यसम्पत्तौ तु, प्रत्यभिज्ञानात् स्वतोऽपि उपनताद् बाह्यसामग्रीं विना मनसोऽप्युपस्थितात् प्रतिष्ठाफलम् इष्टम् । तदुक्तं विंशिकायाम्-

" थम्मिल्ले वि हु एसा, मणवयणाए पसंसिया चेव ।
भागासगोमयाईहिं, पत्थवणाईहिं सामग्गी " ॥

स्थापना मनसि स्थापनं, यदुक्तं न्यायसमये-"यत् तु सम्यक्प्रसिद्धानुस्मरणपूर्वकमसङ्गम । उक्तं तत्स्थापनमिव, कर्त्तव्यं स्थापनं मनसि" ॥ इति, इत्थं च बाह्यकरणानुपपत्तौ, प्रतिष्ठाकर्तुर्गुणानां प्रायो दुर्लभत्वे वा, कटुकादिगम्बरप्रतिष्ठितद्रव्यलिङ्गद्रव्यनिष्पन्नव्यतिरिक्ताः सर्वा अपि प्रतिमा वन्दनीया इति वचनकलापस्य हेतुत्वान्न्यायविदस्तत्रानादरोऽपि कर्तृगतोत्कटदोषशङ्काशयापरिस्कृतेः । अत एव साधुवासक्षेपाद्वन्दनीयास्तत्रोऽपि वन्दनीयतां नातिक्रामन्तीति सूरिचक्रवर्तिनां श्रीहीरनामधेयानामाम्नातः शुद्धाशयस्फूर्त्तेरप्रतिहतत्वादिति दिग् ॥ ७५ ॥

एतेनैव शङ्काशेषोऽपि निरस्त एवेत्याह-

चैत्येऽनायतनत्वमुक्तमथ यत्तीर्थान्तरीयग्रहात्,

किं ब्रूते न तदङ्गतां त्वधिकृतेऽप्यभ्रान्तमीक्षामहे ॥६४॥

(पुण्य कर्मेति) पुण्यं सरागकर्म,अन्यदरागकर्म, शास्त्रेषु धर्मायोदित परिभाषितम, इति शुद्धनयार्थं श्रुत्वा, न चात्र एवार्थो भिन्नक्रमश्च, नात्रैवेत्यर्थः। सुधियां पण्डितानाम, एकान्तधीरेकान्ताभिनिवेशो युज्यते, एकनयाभिनिवेशस्य मिथ्यात्वरूपत्वादन्यनयाविचारेण तस्य मूलोक्तवचनाच्च "धम्मकंखिए पुण्णकंखिए" इत्यादि धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्य तत्फलभूतं शुभ कर्मेति विवृण्वता वृत्तिकृता साधकफलेच्छाभेदेन भेदेऽपि श्रुतचारित्रभावान्यतरानुगतक्रियाणां धर्मत्वेनैव निश्चययोगव्यवहारनयेनाभ्युपगमत्वात, शुभाभिक्रिया स्वर्गादीच्छाया अप्युपेयमोक्षेच्छाव्याघातकत्वेनाऽदोषत्वात । प्रयाणभङ्गाभावेन शाश्वतसुखसमो हि सम्यग्दृशां स्वर्गलाभ इति योगमर्मविदः । यद् चोक्तम्-निश्चय एव रुचिः,साऽपि न युक्ता।हि यत',तस्मादुक्तावान्तरनिश्चयात् (शुद्धतरामिति) शुद्धो नयो निश्चयः, चतुर्दशगुणस्थाने तच्चरमसमये इत्यर्थः। किं धर्मं न ब्रूते, तथा चैकान्ताभिनिवेशे ततोऽर्वाग् सर्वत्राप्यधर्म' स्यात्। स चातिष्टस्तत्राऽपीति भाव.। शुभः निश्चयाऽभिमतधर्माङ्गभावेन प्रागपि धर्मे व्यवहारनयेनाऽभ्युपगतो "उभयक्खयहेऊओ, सेलेसीचरमसमयभावी जो। सेसो पुण णिच्छयओ, तस्सेव य साहगो भणिओ" ॥१॥ इति धर्मसग्रहणीप्रतीकपर्यालोचनादिति चेत्, तर्हि त्यक्तस्त्वया एकान्ताभिनिवेश', आयातोऽसि मार्गेण, प्रत्यपद्यस्व द्रव्यस्तवेऽपि निश्चयधर्मप्रसाधकतया व्यवहारधर्मत्वं,मा भूत्तव भ्रान्तिकृद्दूरासन्नत्वादिति भावः।प्रस्थकादिभावः प्रस्थकादिदृष्टान्तभावितविचित्रनैगमनयप्रवृत्तेश्चासद्धेतुत्वात् । तदाह-तदङ्गतां तु शुद्धनिश्चयाभिमतधर्माङ्गतां तु,अधिकृते द्रव्यस्तवेऽपि,अभ्रान्त भ्रान्तिरहितमीक्षामहेऽनो विशेषदर्शितामस्माक वचनेनैव त्वयैतत् तत्त्वं ध्येयमित्युपदेशे तात्पर्यम। अय च निश्चयनय. परिणतिरूपभावग्राहककाष्ठाप्राप्तैवंभूतरूप', येन शैलेशीचरमक्षणे शुद्धो धर्म उच्यते, अर्वाक् तु तदङ्गतया व्यवहारान् कुर्वद्रूपत्वेन हेतुताऽभ्युपगमश्चास्यर्जुसूत्रतरुप्रशाखारूपत्वात्। आह गन्धहस्ती-"मूलनिमेण पज्जव-णयस्स उज्जसुअवयणविच्छेदो। तस्स उ सद्दाईआ साहयसाहासुहुमभेया" ॥ १ ॥ उपयोगरूप भावग्राहकनिश्चयनयस्तु द्रव्यस्तवकाषिशुद्धं धर्मस्वातन्त्र्येणैवाभ्युपैति, रागाद्यकलुषस्य वीतरागगुणलयात्मकस्य धर्मस्य तदाप्यानुभविकत्वात्, तन्मते हि शुद्धोपयोगो धर्म.,शुभाशुभौ पुण्यपापात्मकाविति ।यैरप्यात्मस्वभावो धर्म इत्युच्यते,तेषां यदि घटादिस्वभावो घटत्वादिधर्म इति मत तदाऽनादित्वेनापुरुषार्थत्वापत्ति.। यदि तु स्वकीयो नागन्तुकोऽनुपाधिर्भावो धर्म इति, तदा वर्त्तमानः स्वकीय. शुभ परिणाम ऋजुसूत्रविषयः स जिनपूजायामप्यक्षत इति कथ न तत्र निश्चयशुद्धो धर्म ?, शब्दनयेन सामायिकवद्देशविरतानां धर्मो नेष्यत इति चेत्,किं तावता समभिरूढेन षष्ठगुणस्थानेऽप्यनभ्युपगमाद्वहिपरिणतोऽय.पिण्मो वाहिरिति तद्भावपरिणत आत्मैव धर्मः, स्वभावपदप्रवृत्तिरपि तत्रैव स्वो भाव. पदार्थ इति व्युत्पत्तेः। आह च-" परिणमविनेण दव्वं, तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्त । तम्हा धम्मपरिणओ . आदो धम्मो मुणेअव्वो "।१। इति। एतदप्यधिकृते संबन्धमेव इद तु वितन्वते, आत्मनो धर्मिणो द्रव्यस्य निर्देशे धर्मद्वारा धर्मत्वम , अन्यथाऽऽराध्यत्वामितिसकर. कथ वारणीय , प्रशान्तवाहिताख्यस्य पर्यायप्रवचनस्यैव निषेधे तु प्रागुक्तो भेदधर्मः किं द्रव्यं पर्यायो वेति जिज्ञासायामित्थमुच्यते इति चेल्लक्षणाधिकारि नेदमुपयोगि , न चिन्ताधिकारि , नयद्वयनिर्देश एव युक्तैनैकनयनिर्देशः तूभयनिग्रहस्थानप्रसङ्गात्। यथोक्तं भगवता भद्रबाहुस्वामिना सामायिकमधिकृत्य-" किं दारे जीवो गुण-पमिवण्णो णयस्स दव्वट्ठिअस्स। सामाइअ सो चेव पज्जवणयट्ठियस्स एस गुणो ॥ " त्ति। एतदर्थप्रपञ्चोऽकृतानेकान्तव्यवस्थायाम्, एकनयेनैव धर्मलक्षणे चाभिधातव्ये व्यवहारनयेन तत्प्रणयनमुचित , निश्चयनयाभ्यां प्रत्ययपरिणामैकान्तपरिणामकत्वेन दुष्टत्वात । अत एव मूढ " तइअ कालियं " इत्याद्युक्तं, सर्वाशङ्कानिराकरणाय च नयद्वयेन तत्प्रणयनं न्याय्यं,यथा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसेति तत्त्वार्थशास्त्रे हिंसालक्षणमभिहितम, इत्य विचार्यमाणे च क्रियाहेतु' पुष्टशुद्धिमच्चित्तं धर्म इति हरिभद्रोक्तं लक्षणमतिव्याप्त्यादिदोषाकलङ्कित सर्वत्रानुगत निरवद्य सगच्छते,अधर्मश्चित्तप्रभव इत्यादि षोमशक, तद्वृत्तिश्चास्मत्प्रणीता योगदीपिकानाम्नी अनुसरणीया , यावानुपाधिविगमस्तावान् धर्म इत्यप्युभयोपाधिविगमो, नोभयनयानुगत सर्वत्र सङ्गम्यमानं रमणीयमेव । " सेवतो कोहं च माणं च मायां च लोभं च एस नासगस्स दंसण" इत्यादिसूत्रमप्यत्र प्रमाणमेव ।

" द्रव्यस्तवे तदिह भक्तिविधिप्रणीते ,
पुण्यं न धर्म इति दुर्मतिनां कुबुद्धि. ।
तत्तद्नयैस्तु सुधियां विविधोपदेशः,
संक्लेशभाग् यदि जडस्य किमत्र चित्रम ?॥१॥
अधर्मः पूजेति प्रलपति स लुम्पाकमुखरः ,
श्रयन्मिश्रं पक्ष तमनुहरते पाशकुमतिः।
विधिभ्रान्तः पुण्य वदति तपगच्छोत्तमबुधः,
सुधासारां वाणीमभिदधति धर्मो ह्ययमिति ॥ २ ॥ " ॥ ६४ ॥

गम्भीरविचारे गुरुपारतन्त्र्येणैव फलवत्तां दर्शयन्नुपदेशसर्वस्वमाह-

इत्येवं नयभङ्गहेतुगहने मार्गे मनीषोन्मिषेद् ,
मुग्धानां करुणां विना न सुगुरोरुद्यच्छतां स्वेच्छया ।
तस्मात्सद्गुरुपादपद्ममधुपः स्वं संविदानो बलं,
सेवां तीर्थकृतां करोतु सुकृती द्रव्येण भावेन वा ॥९५॥

इत्येवममुना प्रकारेण,नया नैगमादयो, भङ्गाः सयोगाः, हेतवश्च उत्कृष्टाद्यपेक्षया दशपञ्चाद्येकावयववाक्यानि, तैर्गहने गम्भीरे, मार्गे स्वेच्छया स्वोत्प्रेक्षया, उद्यच्छतामुद्यम कुर्वतां मुग्धानां,मनीषा बुद्धिः,सुगुरोः करुणां विना नोन्मिषेदत्र निराकाङ्क्षतया विश्रामे च तस्मात्सद्गुरुपादपद्मे मधुप. सन्, गुर्वाज्ञामात्रवर्त्ती सन्नित्यर्थः। स्व बल योग्यतारूप संविदानो जानन् । परस्मैपादिनः प्रत्ययस्य रूपमिदम,पराभिसन्धिमसंविदानस्त्येत्यत्रेवेति बोध्यम्। द्रव्येण गृही भावेन सुकृती साधुस्तीर्थकृतां सेवां करोतु, यथाधिकारं भगवद्भक्तेरेव परमधर्मत्वात ॥ ९५ ॥

एतत्सर्वं प्रतिमाविषये भ्रान्तमिव दूषण पुर इव परिस्फुरन्तं हृदयमिवानुप्रविशन्तं सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्त समापत्त्यैकतामिवोपगतं श्रीशङ्खेश्वरपुराधिष्ठितं पार्श्वपरमेश्वरं सयोध्याभिमुखीकृत्यैव यत्रापि वादी सबोध्यस्तत्राप्यार्थिकी भगवत्संमुखीभावेष तन्मतामृतबाह्यो दूष्यत इति स्फुरितेयं पर्यवसन्नेति तत्रैव नयभेदमुपदर्शयति-

भावनीयम्। भावो धर्मगतः, क्रियेतरगताऽधर्मगता, इत्यपि द्विनीयः पुनर्भङ्गोऽल्पः, अक्षोदक्षम इत्यर्थः। कुतः?, शुभाशुभावादेव, क्रियागतं यद्द्योऽहितुस्वरूपं अशुभभावद्वारकत्वं, तस्य त्यागात्। क्रिया ह्यशुभभावद्वाराऽधर्मस्य, शुभभावद्वारा धर्मस्य कारणम्, न च स्वरूपतः ॥ ८१ ॥

द्वितीयपक्षाभ्युपगम एव वादिनामिष्टापत्तिमाह–

वाहिन्युत्तरणादिके परपदे चारित्रिणामन्यथा,
स्यान्मिश्रत्वमपापभावमिलितां पापक्रियां तन्वताम् ।
किञ्चाऽऽकेवलिनं विचार्य समये द्रव्याश्रयं भाषितं,
शुद्धं धर्ममपश्यतस्तनुधियः शोकः कथं गच्छति ?॥८२॥

(वाहिनीत्यादि) अन्यथोक्तानभ्युपगमस्वरूपत एवाभवत्वाभिमतस्याधर्मे चोक्त्यैक्यादिति, उत्तरणादिके नद्युत्तारप्रमुखे, परपदेऽपवादमार्गे, चारित्रिणां भावसाधूनाम्, अपापो धर्मैकस्वभावो यो भावः पुष्टालम्बनाध्यवसायः, तेन मिलितां पापक्रियां नद्युत्तारादिरूपां, तन्वतां कुर्वतां, मिश्रत्वं मिश्रपक्षाश्रयणं, स्यात्, न चेष्टं परस्यापि, साधूनां धर्मैकपक्षाभ्युपगतत्वात्, तस्माद् धर्मभावे स्वरूपतः सावद्यक्रियाया मिश्रणं दुर्व्यस्तव इत्यर्थः। समुच्चयमाह–किञ्च, आकेवलिनं केवलिपर्यन्तं, समये सिद्धान्ते, " जाव च णं एस जीवे एयइ वेयइ ताव च णं आरभइ " इत्यादिना द्रव्याश्रयं भाषितं विचार्य, तदेव शुद्धं धर्ममपश्यतस्तदनुचिते ऐदम्पर्यानालोचने तनुबुद्धेः शोको धर्मपक्षस्थानोच्छेदजनितवैक्लव्यलक्षणः, कथं गच्छतु ?, न कथञ्चित्। अत एव सुन्दरर्षिः–"अयोगिकेवलिन्येव, सर्वतः संवरो मतः।" इति।

नदीतरणादौ वादिप्रसङ्गं समाधत्ते—

वाहिन्युत्तरणादिकेऽपि यतनाभागे विधिर्न क्रिया–
भागेऽप्राप्तविधेयता हि गदिता तन्त्रेऽखिलैस्तान्त्रिकैः ।
हिंसा न व्यवहारतश्च गृहिवत्साधोरितीष्टं तु नो,
मिश्रत्वं ननु नो मते किमिह तद्दोषस्य संकीर्त्तनम् ॥८३॥

(वाहिन्युत्तरणादिकेऽपीति) वाहिन्युत्तरणादिके कर्मणि, यतनाभागे विधिः, अप्राप्तत्वात्, न तु क्रियाभागेऽपि, यतः, अखिलैस्तान्त्रिकैरप्राप्तविधेयता गदिता, 'अप्राप्तप्रापणं विधिः', अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्, इत्यनादिमीमांसाव्यवस्थिते, अयं च न्यायोऽस्माभिराश्रीयते। अत्र हि यतनाभाग इति यतना न तेन मिश्रिता, अन्येनैव मिश्रणसंभवात्, तर्हि नद्युत्तारादिक्रिययैव मिश्रता स्यात्, तत्राह–गृहिवत् साधोर्व्यवहारतो व्यवहारतया नद्युत्तारादिक्रियायै हिंसा न, गृहिसाध्वोर्यतनाऽयतनाभ्यामेव व्यवहारविशेषादिति, ततो हिंसा मिश्राऽभावा, नो तु नैव, मिश्रत्वम् इष्टम्, नन्वित्याक्षेपे, नोऽस्माकं मते किमिह तद्दोषस्य कीर्त्तनं, भवता द्रव्यस्तवे तु साधुयतनाऽभावाद्वर्जनीयैव हिंसेति मिश्रपक्षो दुष्परिहर इति भावः ॥ ८३ ॥

एतद् दूषयति—

हिंसा सद्व्यवहारतो विधिकृतः आरूढस्य साधोश्च नो,
सा लोकव्यवहारतस्तु विदिता बाधाकरी नोभयोः ।
इच्छाकल्पनयाऽभ्युपेत्य विहिते तथ्या तदुत्पादनो–
त्पत्तिभ्यां तु भिदा न कापि नियतव्यापारके कर्मणि॥८४॥

(हिंसेति) विधिकृतः आरूढस्य साधोश्च सद्व्यवहारतः सिद्धान्तव्युत्पन्नजनव्यवहारेण, हिंसा नैव भवति, प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणस्यैव तन्मते हिंसात्वात्, स्वगुणस्थानोचितयतनया प्रमादपरिहारस्य चोभयोरविशेषादुपरितनेनाधःप्रमादपर्यवसायकतायाश्चातिप्रसङ्गत्वात् अधिकारिभेदेन न्यूनाधिकभावस्याप्युक्तिसंभवात्। अन्यथा सम्पूर्णाचारश्चतुर्दशोपकरणधरः स्थविरकल्पिको जिनकल्पिकमपेक्ष्य यतो न्यूनश्च स्यात्, न चैवमस्ति, रत्नाकरदृष्टान्तेन द्वयोस्तुल्यताप्रतिपादनात्। तस्मात्स्वविषये गृहिणः साधोश्च धर्मकर्मणि हिंसा नास्त्येवेति। लोकव्यवहारतस्तु बाह्यलोकव्यवहारापेक्षया, सा परप्राणव्यपरोपणरूपा हिंसा, उभयोर्गृहिसाध्वोर्बाधाकरी न, मिश्रपक्षप्रवेशकरा न, व्यधिकरणतया मिश्रणासंभवात्। स्वानुकूलव्यापारसंबन्धे तस्याः सामानाधिकरण्यस्य च योगमादाय केवलिमतेऽप्रमत्तभावस्थले वक्तुमशक्यत्वात् सद्व्यवहारपर्यवसानाच्चेति, न किञ्चिदेतत्। प्राण्युपमर्दनस्तावद्धर्मकर्मण्यपि हिंसैव, गृही तु तां करोति, साधोस्तु सा कथञ्चिद्भवतीत्यस्ति विशेष इत्यत्राऽऽह–इच्छाकल्पनया स्वरसपूर्वयेच्छयाऽभ्युपेत्य विहिते नियतव्यापारके वर्जनीयहिंसासंबन्धे कर्मणि तदुत्पादनोत्पत्तिभ्यां भिदा काऽपि तथ्या न, अपि तु स्वकल्पनया मुग्धमनोविनोदमात्रमिति भावः। तथाहि–हिंसाऽनुषक्तधर्मव्यापारे साध्यत्वाख्यविषयाहिंसाऽनुकूलकृतिमत्त्वं गृहिणश्चेत्, साधोः न कथम्?, यतनया परिहारश्चेदुभयत्र समानाकृतौ हिंसात्वावच्छिन्नसाध्यत्वाख्यविषयताभावोऽप्युभयोस्तुल्यः, अशक्यपरिहारोऽपि प्रसक्ताकरणप्रत्यवायभिया द्वयोः शास्त्रीय इति सूक्ष्ममीक्षणीयम् ॥ ८४ ॥

अपवादप्राये कर्मणि न विधिः, किं तु यतनाभाग एव,
स्वच्छन्दप्राप्तया तत्र मिश्रत्वं स्यादत्राऽऽह–

पूर्णेऽर्थेऽपि विधेयता वचनतः सिद्धा लिङर्थात्मिका,
भागे बुद्धिकृता यतः प्रतिजनं चित्रा स्मृता साऽऽकरे ।
नो चेज्जैनवचः क्रियानयविधिः सर्वश्च मिश्रो भवे–
दित्थं भेदमयं न किं तव मतं मिश्राद्वयं लुम्पति ?॥८५॥

(पूर्णे इति) पूर्णेऽर्थेऽपि विधीयमाने यतनाविशिष्टे कर्मणि लिङर्थात्मिका लिङर्थस्वरूपा विधेयता, वचनतः श्रुतिमात्रेण सिद्धा, प्रवर्त्तनाया एव तदर्थत्वात्, तस्याश्च प्रवृत्तिहेतुधर्मात्मकत्वात्, "प्रवृत्तिहेतुं धर्मं तु, प्रवदन्ति प्रवर्त्तनाम्" इत्यभियुक्तोक्तेस्तस्य तत्त्वात् इष्टसाधनत्वरूपत्वात्। तथा च प्रवृत्तिहेत्विच्छाविषयतापर्याप्त्यधिकरणधर्मत्वं यद्धर्मावच्छिन्ने बोध्यते, तद्धर्मावच्छिन्नस्य विधेयत्वमिति प्रकृते यतनाविशिष्टद्रव्यस्तवस्य विधेयत्वमबाधितमेव, ततो विनिगमनाविरहेणाऽपि तथासिद्धे लिङर्थत्रयस्यैव विनिगमकत्वम्। बुद्धिकृता विधेयता विषयताविशेषरूपा, सा भागे भवतु, न तावता क्षतिः। यतः सा प्रतिजनं प्रतिप्राणि चित्रा, आकारे स्याद्वादरत्नाकरे, स्थिता व्यवस्थिता, "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्" इत्यत्र विशेषणविशेष्यान्यतराप्रसिद्धौ तदन्यभागस्य विधेयत्वाप्रसिद्ध्या उभयस्यैव विधेयत्वमिति तत्रोक्तेः। रक्तं पटं वय, ब्राह्मणं स्नातं भोजयेत्यादावेकविधे द्विविधे त्रिविधे च दर्शनात्। नो चेद् यतनाक्रियाभ्यामेव च मिश्रत्वे, तदा तत्प्रतिपादकं जैनवचः क्रियानयविधिश्च सर्वोऽपि मिश्रो भवेत्, इत्थं च धर्मपक्षोऽपि ताभ्यां भागाभ्यां मिश्रो भवे-

पातज्ञानेन केवलज्ञानादर्वाग् तदभिधानात्। उक्तं च-"प्रागस्मात्स्वदर्शन-मिपुपातमात्रतो ज्ञेयम। एतद्धि केवलं तद्,ज्ञान यत्तत्परं ज्योतिः"॥१॥ इति । सत्यम् । तत्त्वतस्तदानीमेव सभवेऽपि योग्यतया प्रागप्युक्तौ बाधकाभावात् । शुक्लध्यानवत्, योगानुभवश्चात्र साक्षीति किं वृथाऽऽडम्बरेण ॥ ९८ ॥

क्रमेव भावयन्नभिष्टौति-

किं ब्रह्मैकमयी किमुत्सवमयी श्रेयोमयी किं किमु ,
ज्ञानानन्दमयी किमुन्नतिमयी किं सर्वशोभामयी ।
इत्थं किं किमिति प्रकल्पनपरैस्त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता,
किं सर्वातिगमेव दर्शयति सद्ध्यानप्रसादान्महः॥९९॥

किं ब्रह्मैकमयी ब्रह्मैव एकं प्रचुर स्यां सा, ब्रह्मणैकमयी ब्रह्मैकमयी, स्वरूपोत्प्रेक्षेयम । एवमग्रेऽपि किमुत्सवमयीत्यादौ उत्सवादयोऽपि ब्रह्मविवर्ता एव उत्प्रेक्षिताः, तेन नाक्रमदोषः, उत्प्रेक्षिते क्रमस्यातन्त्रत्वात् । यथा मनोराज्यमेव तत्र क्रमप्रवृत्तेः,'ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदम्' इत्यादाविति बोध्यम। इत्यमनुना प्रकारेण, किं किमिति प्रकल्पनपरैः कविभिः,त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता सती, ज्ञानानिवर्तकस्य रूपस्य कुत्राप्यलाभात्, सद्ध्यानप्रसादान्निर्विकल्पकलयाऽधिगमात् किंशब्दमवगच्छति यत्तादृशं महः स्वप्रकाशज्ञानं दर्शयति । उक्तं च सिद्धस्वरूपं परमार्षे-"सव्वे सरा णियट्टंति तक्का जत्थ णावि एज्ज एयइ तत्थ एगाहिओ ओ एअप्पइट्ठाणस्स से यन्नेएण सद्देण रूवेण" इत्यादि स्वत.सिद्धता, तत्र च जिज्ञासेति सकलप्रयोजनमौलिभूतपरब्रह्मास्वादप्रदत्वाद् भगवन्मूर्तिदर्शन भव्यानां परमहितमिति द्योत्यते ॥ ९९ ॥

प्रार्थनगर्भां स्तुतिमाह-

त्वद्रूपं परिवर्तितां हृदि मम ज्योतिःस्वरूपं प्रभो ! ,
तावद्यावदरूपमुत्तमपदं निष्पापमाविर्भवेत् ।
यत्रानन्दघने सुरासुरसुखं संपिण्डितं सर्वतो ,
भागेऽनन्ततमेऽपि नैति घटनां कालत्रयीसंभवि ॥१००॥
स्वान्तं शुष्यति दह्यते च नयनं भस्मीभवत्याननं,
दृष्ट्वा त्वत्प्रतिमामपीह कुधियामित्याप्तलुप्तात्मनाम् ।
अस्माकं त्वनिमेषविस्मितदृशां रागादिमां पश्यतां ,
सान्द्रानन्दसुधानिमज्जनसुखं व्यक्तीभवत्यन्वहम्॥१०१॥
मन्दारद्रुमचारुपुष्पनिकरैर्वृन्दारकैरर्चितां ,
सद्वृन्दाभिनतस्य निर्वृतिलताकन्दायमानस्य ते ।
निस्यन्दात् स्नपनामृतस्य जगतीं पान्तीममन्दामया-
वस्कन्दात्प्रतिमां जिनेन्द्र ! परमानन्दाय वन्दामहे ॥१०२॥

(त्वद्रूपमिति) हे प्रभो ! मम हृदि त्वद्रूपं तव रूपं परिवर्ततामनेकधा येन केन प्रकारेण परिणमतु, कियत् ?, यावद् क्षीणकिल्बिषमरूपं रूपरहितं, उत्तमपदं फलीभूतं साधनीभूतमप्रतिपाति, ध्याने नाविर्भवेत्तावत्, उत्तमपदमभिष्टौति-यत्र यस्मिन्नानन्दघने आनन्दैकरसे,कालत्रयीसंभवि सर्वतः संपिण्डितमेकराशीकृतं सुरासुरसुखमनन्ततमेऽपि भागे घटनां नैति,अनन्तानन्तमित्यर्थः। यदार्षम्-"सुरासुरसुहसमत्तं,सव्वद्धा पिंडिय अनंतगुणं । ण वि पावे मुत्तिसुहं-ऽणंतेहिं विवेगवग्गेहिं "॥१॥ तथा-"सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धापिंडिओ जइ हविज्जा। सोऽणन्तवग्गभइओ, सव्वागासेण माइज्जा"॥ अत्र सर्वाद्धासंपिण्डनमनन्तवर्गभजन, सर्वाऽऽकाशमानं चानन्तानन्तरूपप्रदर्शनार्थं, व्याबाधाक्षयसजातसुखलवानामत्र मेलनाभावाद्वास्तवस्य निरतिशयसिद्धसुखस्य कालेन भेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्, न हि न्यासीकृतधनकोटिसत्ता धनिनः कालभेदेन भिद्यते ।

तदाहुर्यौगिकाः-

" वावाहक्खयसंजा-यसुहलवभावमेलिज्जा ।
तत्तो अणंतरुत्तर-खयभावो वा तहा णेयो ॥ १ ॥
ए उ तह भिन्नाणं चिय, सुखलवाणं तु एस समुदाओ ।
ते तह भिन्ना सभा-व खउवसम जाव ज हुंति ॥ २ ॥
ए य तस्स इमो भावो, स हु सुखं पि हु पर तहा होइ ।
वहुविसलवसजुत्तो, अमय पि न केवलं अमय ॥ ३ ॥
सव्वद्धासंपिंडण-मणंतवग्गभयण जइत्थ सव्वग्गो ।
सव्वागासेण माणं, अणणगुणदसणत्थ तु ॥ ४ ॥
तिन्नि चिय एस रासी, एगाणं तु ठाविया हुंति ।
हंदि विसेसेण तहा, अणंतयाऽणतया सम्म ॥ ५ ॥
तुल्ल च सव्वहेयं, सव्वेंसि होइ कालभेएण ।
जह त कोडीसत्त, तह तं णाइसइ सुहुमाणं ॥ ६ ॥
सव्वं पि कोडिकप्पिय-मसमभवणाइ ज भवे ठविय ।
तत्तो तस्सुहसामी-ण होइ इह भेअओ कालो ॥ ७ ॥
जइ तत्तो अहिग खलु, होइ सरूवेण किं वि तो भेओ ।
ण हु अन्न वासकोडी, समयाण ाि पि सो होइ" ॥८॥

फलस्यानन्दघनत्वेन साधनस्यापि तथात्व बोध्यम्, इत्थं चारूपध्यानरूपनिरालम्बनयोगायैव रूपस्तुतिरित्यावेदित भवति। तथा च-"प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्"इत्यादिदर्शनेनाऽपि न व्यामोहः कार्यः,निरालम्बनयोगादर्वाक् स्वल्पबुद्धीनामित्यादि तदधिकारासिद्धेः, सालम्बनयोगस्य पादकत्वेनैव तस्याभरितार्थत्वात्। अन्यथा केवलज्ञानकाद्यानतुवर्त्ति श्रुतज्ञानमप्यनुपजीव्यं स्याद् देवाना प्रियस्येति न किञ्चिदेतदित्यर्थः ॥ १०२ ॥ प्रति०॥
इति दर्शित जिनप्रतिमाया आगमोपपत्तिभ्या युक्तत्वम् ।

(२४) तत्र जिनभवनकारणविधिः-

नमिऊण वद्धमाणं, वोच्छं जिणभवणकारणविहाणं ।
संखेवओ महत्थं, गुरूवएसाणुसारेणं ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्द्धमानं महावीरम्, वक्ष्ये भणिष्यामि, जिनभवनकारणविधानमर्हदायतनविधापनविधिम , संक्षेपतः समासेन,न पुनर्विस्तरतः पूर्वसूरिवत्, महार्थं वृहदभिधेयं,न तु सक्षिप्तत्वेनाल्पसूत्रतयाऽल्पार्थम्, गुरूपदेशानुसारेण आचार्यशिक्षाऽऽनुरूप्येण, न तु स्वोत्प्रेक्षिततया,व्यभिचारित्वाशङ्कया तस्यानादेयताप्रसङ्गादिति गाथार्थः ॥ १ ॥

'जिनभवनकारणविधानं वक्ष्ये' इत्युक्तं, जिनभवनं च येन कारयितव्य, तमादौ तावन्निरूपयन्नाह-

अहिगारिणा इमं खलु, कारेयव्वं विवज्जए दोसो ।
आणाभंगाउ चिय, धम्मो आणाएं पडिवद्धो ॥ २ ॥

अधिकारिणा तत्कारणयोग्यतावतैव, इदं जिनभवनम, खलुरवधारणे । तस्य च प्रयोगः प्रागुपदर्शित एव । कारयितव्य विधापयितव्यम । अथ किमित्यधिकारिणैवेत्युच्यते ?, इत्याह

होज्ज ण उ उभयरूवो, कम्मं पि तओ तयणुरूवं " ॥१९३५॥
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इति पर्यन्ते योगाभिधानं सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाविनाभावात्, योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति कर्मयोगनिमित्तमित्युच्यते । स च मनोवाक्कायात्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेत्, न तूभयरूपोऽत. कारणानुरूपत्वात् कार्यस्य कर्माऽपि तदनुरूप शुभं पुण्यरूपं, अशुभं वा पापरूपं बध्यते, न तु सङ्कीर्णस्वभावमुभयरूपमेकदैव बध्यत इति ॥१६३५॥

प्रेरक आह-

"ननु मणवइकाउगमा, सुभासुभा वि समयम्मि दीसंति।
दव्वम्मि मीसभावो, हवेज्ज ण उ भावकरणम्मि" ॥१९३६॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभा अशुभाश्च, मिश्रा इत्यर्थः । एकस्मिन्समये दृश्यन्ते, तत्कथमुच्यते-" सुहो असुहो वा स एगसमयम्मि त्ति " ? । तथाहि-किञ्चिदविधिना दानादिक वितरण चिन्तयतः शुभाशुभो मनोयोगः, तथा किमप्यविधिनैव दानादिधर्ममुपदिशतः शुभाशुभो वाग्योग., तथा किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनादिकायचेष्टा कुर्वतः शुभाशुभः काययोग इति। तदेतदयुक्तम् । कुत इत्याह-"दव्वम्मि" इत्यादि। इदमुक्त भवति-इह द्विविधो योगो-द्रव्यतो भावतश्च। तत्र मनोवाक्काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि, मनोवाक्कायपरिस्पन्दात्मको योगश्च द्रव्ययोग',यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसाय. स भावयोग', तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्तके द्रव्ययोगे द्विविधेऽपि व्यवहारनयदर्शनविवक्षामात्रेण प्रवेदपि शुभाशुभत्वलक्षणो मिश्रभावः, न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणे भावात्मके योगे,अयमभिप्रायः-द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपि इष्यते, निश्चयनयेन तु सोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति, यथोक्तचिन्तादेशनादिप्रवर्तकद्रव्ययोगानामपि शुभाशुभरूपमिश्रभावाणां तन्मतेनाभावात् , मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे तु भावकरणे भावयोगे, शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति, निश्चयनयदर्शनस्यैवागमेऽत्र विवक्षितत्वात् । न हि शुभान्यशुभानि वाऽध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते, येनाध्यवसायरूपेषु भावयोगेषु शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः । तस्माद्भावयोगे एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति, न तु मिश्रः । ततः कर्मापि तत्प्रत्ययं पृथक् पुण्यरूपं पापरूपं वा बध्यते, न तु मिश्ररूपमिति स्थितम् ॥ १६३६ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

" झाणं सुभमसुभं वा, न उ मीसं जं च झाणविरमम्मि ।
लेसा सुहाऽसुहा वा, सुहमसुहं वा तओ कम्मं " ॥१९३७॥

ध्यानं यस्मादागमे एकदा धर्मशुक्लध्यानात्मक शुभम, आर्त्तरौद्रात्मकमशुभं वा निर्दिष्ट, न तु शुभाशुभात्मकं, यस्माच्च ध्यानोपरमेऽपि लेश्या तैजसीप्रमुखा शुभा, कापोतीप्रमुखा च अशुभा एकदा प्रोक्ता, न तु शुभाशुभरूपा. ध्यानलेश्यात्मकाश्च भावयोगाः, ततस्तेऽप्येकदा शुभा अशुभा वा भवन्ति, न तु मिश्राः । ततो भावयोगनिमित्त कर्माऽप्येकदा पुण्यात्मक शुभं बध्यते, पापात्मकमशुभं वा बध्यते, न तु मिश्रमपि ॥१९३७॥

अपि च-

" पुव्वगहियं च कम्मं, परिणामवसेण मीसयं नेज्जा ।
इयरेयरभावं वा, सम्मामिच्छाई न उ गहणे " ॥१६३८॥

वेति अथ वा, एतदद्यापि संभाव्यते, यत्पूर्वं गृहीतं पूर्वं बद्धं मिथ्यात्वलक्षण कर्म परिणामवशात् पुञ्जत्रयं कुर्वन्मिश्रतां सम्यग्मिथ्यात्वपुञ्जरूपतां नयेत्प्रापयेदिति, इतरेतरभाव वा नयेत सम्यक्त्वं मिथ्यात्व वेति । इदमुक्तं भवति-पूर्वबद्धान् मिथ्यात्वपुद्गलान् विशुद्धपरिणामः सशोधयित्वा सम्यक्त्वरूपतां नयेत, अविशुद्धपरिणामस्तु रसमुत्कर्षं नीत्वा सम्यक्त्वपुद्गलान्मिथ्यात्वपुञ्जे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयेदिति पूर्वगृहीतस्य सत्तावर्तिन. कर्मण इद कुर्यात् । ग्रहणकाले पुनर्न मिश्रं पुण्यपापरूपतया संकीर्णस्वभाव कर्म बध्नाति,नापीतरदितररूपतां नयतीति ॥१९३८॥

सम्यक्त्वं मिथ्यात्वे सक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयतीत्युक्तम्, तत. सक्रमविधिमेव सक्षेपतो दर्शयति-

"मोत्तूण आउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च ।
सेसाणं पयडीणं, उत्तरविहिसंकमो भज्जो" ॥१६३९॥

इह ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामन्योन्यं सक्रम. कदापि न भवत्येव, उत्तरप्रकृतीनां तु निजानिजमूलप्रकृत्यभिन्नानां परस्परं सक्रमो भवति। तत्र चायं विधि.-" मोत्तूण आउय " इत्यादि। " आउयं " इति जातिप्रधानो निर्देश इति बहुवचनमत्र द्रष्टव्यम,चत्वार्यायूंषि मुक्त्वेति । एकस्या आयुर्लक्षणाया निजमूलप्रकृतेरभिन्नानामपि चतुर्णामायुषामन्योऽन्यं सक्रमो न भवतीति तद्वर्जनम् । तथा दर्शनमोहं चारित्रमोहं च मुक्त्वा, एकस्या मोहनीयलक्षणायाः स्वमूलप्रकृतेरभिन्नयोरपि दर्शनमोहचारित्रमोहयोरन्योऽन्यं सक्रमो न भवतीत्यर्थ. । उक्तशेषाणां तु प्रकृतीनां,कथम्भूतानामित्याह-"उत्तरविहि त्ति" । विधयो भेदा',उत्तरे च ते विधयश्चोत्तरविधय उत्तरभेदाः,तद्भूतानाम् उत्तरप्रकृतिरूपाणामिति तात्पर्यम्। किमित्याह-सक्रमो भाज्यो भजनीयः। भजना चैव द्रष्टव्या-याः किल ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवककषायषोडशकमिथ्यात्वभयजुगुप्सातैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणान्तरायपञ्चकलक्षणाः सप्तचत्वारिंशत् ध्रुवबन्धिन्य उत्तरप्रकृतय.,तासां निजैकमूलप्रकृत्यभिन्नानामन्योन्यं सक्रम. सदैव भवति। तद्यथा-ज्ञानावरणपञ्चकान्तर्वर्तिनि मतिज्ञानावरणे श्रुतज्ञानावरणादीनि,तेष्वपि मतिज्ञानावरण संक्रामतीत्यादि। यास्तु शेषा अध्रुवबन्धिन्यस्तासां निजैकमूलप्रकृत्यभेदवर्तिनीनामपि बध्यमानायामबध्यमानाः सक्रामन्ति, न त्वबध्यमानायां बध्यमाना यथा साते बध्यमानेऽसातमबध्यमान सक्रामति, न तु बध्यमानमबध्यमाने, इत्यादि वाच्यमित्येष प्रकृतिसंक्रमे विधि', शेषस्तु प्रदेशादिसक्रमविधिः "मूलप्रकृत्यभिन्नासु, वेद्यमानासु सक्रम । भवति" इत्यादिना स्थानान्तरादवसेयमित्यद्य प्रसङ्गेनेति ॥१९३९॥

ननु मिश्रयोगाध्यवसायाभावाद् मा भून्मिश्रप्रकृतिबन्धावाप्तिः, तथाऽपि द्रव्याश्रवादन्ततो ध्रुवबन्धि पापमपि फलमवर्जनीयमिति चेत् । न । ध्रुवबन्धित्वादेव तस्यातत्प्रत्ययत्वात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ग्रहणसमय एव गुणाश्रयाभ्यां कर्मणि शुभत्वस्याशुभत्वस्य रसाद्यपेक्षया जननात्।

तदाह-

"अविसिट्ठं च्चिय तं सो, परिणामासयसभावओ खिप्प ।
कुरुते सुभमसुभं वा,गहणे जीवो जहाहार" ॥ १६४२ ॥

परिणामो जीवस्याध्यवसायस्तद्वशाज्जीवो ग्रहणसमये कर्मण.

णाम प्रशंसादिरूप , खलुर्वाक्यालङ्कारे, सर्वज्ञमते सर्ववेदिप्रवचनविषये , तदन्यविषयस्यातथाविधत्वात् । भवति जायते, परिशुद्धः, न पुनः परानुवृत्त्यादिदूषणोपेतत्वेनापरिशुद्धः, स एवासावेव, परिशुद्धः शुभभाव एव , जायते संपद्यते , बीजमिव बीज कारणम् ,बोधेः सम्यग्दर्शनस्य ; अयं चार्थः कथं समर्थनीय इत्याह-स्तेनज्ञातेन चौरोदाहरणेन । तच्चेदम्—

" इहाभूतां नरौ कौ चि-दन्योऽन्यं दृढसौहृदौ ।
युवानौ साहसोपेतौ, चौरौ स्वबलगर्वितौ ॥ १॥
भोगलुब्धौ समस्तेच्छा-पूरकद्रव्यवर्जितौ।
तौ च चौर्यं व्यधासिष्टां, भोगवाञ्छाविमम्बितौ ॥ २ ॥
दण्डपाशिकलोकेन, संप्राप्तावन्यदा तकौ ।
नीयमानौ च तौ तेन, वध्यस्थानं तपस्विनौ ॥ ३ ॥
दृष्टवन्तौ मुनीन् मान्यान् , मानिमानवसंहतेः।
साधूनां सत्क्रियां दृष्ट्वा, तयोरेको व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥
अहो धन्यतमा एते, मुनयो विमलक्रियाः ।
स्वकीयगुणसंदोहात्, जगतां पूज्यतां गताः ॥ ५ ॥
वयं पुनरधन्यानाम-धन्या धनकाङ्क्षया ।
विदधाना विरुद्धानि, वध्यतां प्रापिता जनैः ॥ ६ ॥
धिक्कारोपहतात्मानो, यास्यामः कां गतिं मृताः ।
ही जाता दुःस्वभावेन , लोकद्वयविराधकाः ॥ ७ ॥
तदेव साधु साधूनां, वृत्तं वारितकल्मषम्।
विपरीतो मतोऽस्माक-मस्मात् कल्याणकं कुतः ? ॥ ८ ॥
अन्यः पुनरुदासीनो, भवति स्म मुनीनपि ।
गुणरागादपेको,बोधिबीज न चापरः ॥ ९ ॥
ततस्तत्तनुकषायत्वा-द्दानशीलतया च तौ ।
नरजन्मोचितं कर्म्म, बद्धवन्तावनिन्दितम् ॥ १० ॥
मृत्वा च तौ समुत्पन्नौ, कौशाम्ब्यां पुरि वाणिजौ ।
जातौ चानिन्दिताचारौ, वणिग्धर्मपरायणौ ॥ ११ ॥
जन्मान्तरीयसंस्कारा-दाबाल्यात्तयोरभूत् ।
अत्यन्तामित्रताभावो, लोकाश्चर्यविधायकः ॥ १२ ॥
रोचते च यदेकस्य, तदन्यस्यापि रोचते ।
ततो लोके गतौ ख्याति-मेकचित्ताविमाविति ॥ १३ ॥
ततः कुलोचितं कर्म, कुर्वतोर्यान्ति वासराः ।
अन्यदा भुवनानन्दी प्राप्तस्तत्र जिनेश्वरः ॥ १४ ॥
भगवान् श्रीमहावीर , इक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
वाग्नीरैर्जनसंताप-शमने ऽम्भोदसन्निभः ॥ १५ ॥
विदधुस्तस्य गीर्वाणाः, व्याख्याभूमिं मनोहराम् ।
तत्राऽसौ धर्ममाचख्यौ, सनरामरपर्षदि ॥ १६ ॥
तमागतं समाकर्ण्य, कौशाम्बीवासिनो जना ।
राजादयः समाजग्मु-र्वन्दितु तत्पदाम्बुजम् ॥ १७ ॥
तावपि श्रेष्ठिसत्सूनू , कुतूहलपरायणौ ।
जनेन सार्द्धमायातौ, जिननायकसंनिधौ ॥ १८ ॥
जिनस्तु देशयामास, मोक्षमार्गं सनातनम् ।
सत्त्वानां सर्वकल्याण-कारणं करुणापरः ॥ १९ ॥
ततस्तयोर्वणिक्सून्वो-रेकस्य तज्जिनोदितम् ।
श्रवणमार्गमायाति, भाव्यतेऽथ स मानसे ॥ २० ॥
स्फाराक्षो मस्तकं धुन्वन्, कर्णपर्णपुटार्पितम् ।
रोमाञ्चितः पिबत्युच्चै-र्जिनवाक्यं यथाऽमृतम् ॥ २१ ॥
तदन्यस्य तदाभाति, वालुकाकवलोपमम् ।
अन्योऽन्यस्य च तौ भावं , लक्षयामासतुस्तराम् ॥ २२ ॥
व्याख्याभुवः समुत्थाय, जग्मतुर्भवनं निजम् ।
तत्रैको व्याजहारैवं , यातस्त्वं भावितः किल ॥ २३ ॥
जैनवाचा न चाऽहं भोः !, तदत्र किमु कारणम् ? ।
एकचित्ततयाऽऽख्याता-वावां लोक इयच्चिरम् ॥ २४ ॥
इदानीमत्र संजात, विभिन्न चित्तमावयोः ।
तदत्र कारणं किं स्या-दन्यो वक्ति स्म विस्मितः ॥ २५ ॥
सत्यमेव ममाप्यत्र, विकल्पः संप्रवर्तते ।
केवलं केवली नून, निश्चयं नः करिष्यति ॥ २६ ॥
स एव प्रश्नितोऽत्रार्थे, तद्यातावस्तदन्तिके ।
एव तौ निश्चयं कृत्वा, प्रातर्यातौ तदन्तिकम् ॥ २७ ॥
पप्रच्छतुस्तमाराध्यं, विनयेन स्वसंशयम् ।
सोऽप्युवाच पुरैकेन, साधवो वां प्रशंसिताः ॥ २८ ॥
न चान्येन तदेकस्य, जातं बीजस्य तत्फलम् ।
तद्बोधरूपमन्यस्य , बीजत्वेन न चाभवत् ॥ २९ ॥
एवं पूर्वभवासेवां , जिनेनोक्तां सविस्तराम् ।
निशम्यैकस्य संजात, जातेः संस्मरणं क्षणात् ॥ ३० ॥
ततोऽसौ प्रत्यये जाते, जातः संवेगभावितः ।
भावतश्च जिनोद्दिष्टं, प्रपेदे शासनं शुभम् ॥ ३१ ॥
तत्प्रतिपत्तिसामर्थ्यात्, शुभकर्मानुबन्धतः ।
सिद्धिं यास्यत्यसौ काले, परः संसारमेव हि ॥ ३२ ॥
ततः स्थापितमेतेन, भावो जैनमताश्रयः ।
स्वल्पोऽपि जायते बीज, निर्वाणसुखसंपदाम् ॥ ३३ ॥

इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एवं जिनभवनकारणाधिकारी सप्रसङ्गोऽभिहितोऽथाधिकृतमेव जिनभवनविधिमुपदर्शयन्नाह-

जिणभवणकारणविही, सुद्धा भूमी दलं च कट्ठाई ।
भियगाणइसंधाणं, सासयवुड्ढी य जयणा य ॥ ९ ॥

जिनभवनकारणविधिरुक्तशब्दार्थः, किंविध इत्याह-शुद्धा निर्दोषा, काऽसौ ?, भूमिः क्षेत्र, तथा दलं चोपादानकारण, किंभूतम् ? , काष्ठादि दारुपाषाणप्रभृति, शुद्धमिति प्रक्रमः। तथा भृतकानां कर्मकराणामनतिसन्धानमवञ्चनं भृतकानतिसन्धानम् । तथा स्वाशयस्य शोभनाध्यवसायस्य, स्वकीयाध्यवसायस्य वा, वृद्धिर्वर्द्धनं स्वाशयवृद्धिः, सा च । तथा यतना च यथाशक्ति गुरुदोषत्यागेतरदोषाश्रयणम्, सा च । चशब्दाः समुच्चयार्थाः। इह भूम्यादीनि जिनभवनविधेरङ्गानीत्यङ्गाङ्गिनोरभेदोपचारात् जिनभवनविधिर्भूम्यादीनीति समानाधिकरणेनोक्तम् । इति द्वारगाथासमासार्थः । पञ्चा० ७ विव० । षो० । ध० । द्वा० ।

शुद्धा भूमिरित्युक्तमतस्तां दर्शयन्नाह—

दव्वे भावे य तहा, सुद्धा भूमी पएसऽकीला य ।
दव्वेऽप्पीतिगरहिया, अन्नेसिं होइ भावे उ ॥ १० ॥

द्रव्ये द्रव्यमाश्रित्य, भावे भावमाश्रित्य, चशब्दः समुच्चये । तथा तेन वक्ष्यमाणप्रकारेण विशिष्टप्रदेशादिलक्षणेन, किमित्याह- शुद्धा भूमिर्निर्दोषा जिनभवनोचितभूः , द्विविधा भवति । तत्राऽऽद्यां तावदाह-प्रदेशे विशिष्टजनोचितभूभागे, तथा अकीला च शल्यरहिता। उपलक्षणत्वादस्थ्यादिशल्यरहिता च,

रपांनवदूसरप्रदेशवृष्टिवदिति तीर्थासाधकत्वान्निरर्थकत्वमाशयाशुद्धत्वादभिनत्रेऽपि ते तथा मिथ्यात्वानुभावात् मिश्रपक्षोऽप्यधर्मपक्ष एवावगन्तव्य. , इत्येतदेव दर्शयितुमाह-" जे इमे भवतीत्यादि " । ये इमे अनन्तरमुच्यमाना आरण्यिकाः कन्दमूलफलासिनस्तापसादयो , ये चावसथिका आवसथो गृहं , तेन चरन्तीत्यावसथिका गृहिणस्तु कुतश्चित्पापस्थानान्निवृत्ता अपि प्रबलमिथ्यात्वोपहतबुद्धयस्ते यदुपवासादिना महता कायक्लेशेन देवगतयः केचन भवन्ति , तथाऽपि ते आसुरीयेषु स्थानेषु किल्बिषिकेषूत्पद्यन्ते इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयम् , यावदेकान्तमिथ्याभूत सर्वथैतदसाध्विति तृतीयस्थानस्य मिश्रकस्याऽय विभङ्गो विभागः स्वरूपमाख्यातमिति । उक्तान्यधर्ममिश्रस्थानानि । साम्प्रत तेनाश्रिताः स्थानिनोऽभिधीयन्ते । यदि वा प्रकृतमेवान्येन प्रकारेण विशेषतरमुच्यते इति संगत्याऽग्रिममालापकत्रयं योजितम्-" अहावरे पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा०संतेगइआ मणुस्सा भवंति-गिहत्था महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुआ अधम्मिठा अधम्मक्खाई अधम्मपलोई अधम्मपावजीविणो अधम्मपलज्जणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहिअपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिआ उक्कंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडिआणंदा असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वओ कोहाओ० जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया सव्वओ ण्हाणुम्मद्दणवण्णगंधविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसिआ संदमाणिया सयणासणजाणवाहणभोगभोअणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए०जाव सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ अप्पडिविरया०सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया०सव्वाओ करणकारणाओअप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ पयणपायाणाओ अप्पडिविरया०सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जे आवन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिआ कम्मंता परपाणपरियावणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति तओ वि अप्पडिविरया जावज्जीवाए, से जहाणामए केइ पुरिसे कलमसूर० जाव एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिआ अज्झोववन्ना० जाव वासाइं चउपंचमाइं वा छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुइत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सन्नाइं संभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए अयगोलए वा सेलगोलए वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति । एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले० जाव अयसबहुले उस्सन्नतसपाणघाई कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवति । ते णं णरगा अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसप्पहामेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा० जाव असुभा णरगा असुभा णरएसु वेदणाओ । नो चेव णं णरगेसु णेरइआ णिद्दाइंति य पलायंति या सूतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंते , तेण तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुअं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहिआसं णेरइआ वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति । से जहाणामए रुक्खसिया पव्वयग्गे जाए मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णिन्नं जतो विसमं जतो दुग्गं ततो पवडति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहिए आवि भवइ, एसट्ठाणे अणारिए अकेवले० जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए । अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा० संतेगइआ मणुस्सा भवंति । तं जहा-अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिठा० जाव जे आवन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिआ कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति,तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए,से जहाणामए अणगारा भगवंतो इरिआसमिआ भासासमिआ अणगारवण्णओ० जाव सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति । तते णं एएणं विहारेण विहरमाणा बहुइं वासाइं सामन्नपरिआगं पाउणंति बहु २ आबाहंसि वा उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहुइं भत्ताइं पच्चक्खित्ता बहुइं वासाहिं अणसणाहिं छेदंति २ जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अछत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जाफलगसेज्जा० जाव केसलोए बंभचेरवासे परघरप्पवेसे लद्धा अलद्धा माणावमाणणाओ हीलणाओ णिंदणाओ गरहणाओ खिंसणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटया बावीसं परीसहोवसग्गा अहिआसिज्जंति तमट्ठमारोहेंति , तमट्ठमाराहेत्ता चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुन्नं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेंति,समुप्पाडेतित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति०जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति,एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति अवरे०पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा-महड्ढिएसु०जाव महिड्ढीया महज्जुइआ०जाव महासुक्खा-हारविराइअवत्था कडगतुडिअथंभिअभुया पगयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी विचित्तवत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगंधपवरवत्थपरिहिआ कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदीपलंबवणमालधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गतिकल्लाणा ठितिकल्लाणा आगमेसिं भद्दया वि भवंति, एसट्ठाणे आरिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए । अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ,इह खलु पाईणं वा०संतेगइआ मणुस्सा भवंति। तं जहा-अप्पेच्छा०जाव सुपडिआणंदा साहू०जाव परपाणपरितावणकरा कज्जंति, तओ वि एगच्चाओ अप्पडिविरया से जहाणामए समणोवासगा भवंति । अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा० जाव अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहुइं वासाइं समणोवासपरिआयं पाउणंति, पाउणंतित्ता आबाहंसि उप्प-

भट्टारकः पुनस्तानि, निःसङ्गत्वादुपेक्षते ॥ ११ ॥
ततस्ते तापसाः स्वस्य, नायकस्य न्यवेदयन्।
यथैष भवतामिष्टो, गोऽयो नावति नो मठम् ॥ १२ ॥
ततः कुलपतिर्गत्वा, बभाण श्रीजिनं प्रति।
कुमार भो! न युक्तं ते, मठस्योपेक्षणं यतः ॥ १३ ॥
शकुन्तोऽपि निजं नीडं, रक्षत्येव यथाबलम्।
ततो गावो निवार्यास्ते, नाशयन्त्यो मठं तकम् ॥ १४ ॥
इत्येवं शिक्षयामास, सपिपासमसौ जिनम्।
ततः स्वामी तदप्रीतिं, ज्ञात्वा निर्गतवांस्ततः ॥ १५ ॥
प्रावृषोऽतिगते पक्षे, अस्थिकग्राममाययौ।
अप्रीतिपरिहाराय, यतेतैव यथा जिनः ॥ १६ ॥ इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

इदमेव निदर्शनमङ्गीकृत्योपदिशन्नाह-

इय सव्वेण वि सम्मं, सक्कं अप्पत्तियं सइ जणस्स।
णियमा परिहरियव्वं, इयरम्मि सतत्तचिंता उ ॥ १६ ॥

इत्येवं, भगवतेवेत्यर्थः। सर्वेणाऽपि समस्तेनाऽपि, जिनभवनादिविधानार्थिना सयमार्थिना च, न केवलमेकतरेणैवेत्यपिशब्दार्थः। अप्रीतिकं परिहर्त्तव्यमिति योगः। कथं?, सम्यग् भावशुद्ध्या। किंभूतं तदित्याह-शक्यं शक्यपरिहारत्वेन शकनीयं, नाशकनीयमपि, तस्य परिहर्तुमशक्यत्वादेव, (अप्पत्तियं ति) अप्रीतिरेवाप्रीतिकं, सकृत्सदा, जनस्य लोकस्य, नियमादवश्यतया, परिहर्त्तव्यं वर्ज्जनीयम्, इतरस्मिन्नशक्यपरिहारेऽप्रीतिके, स्वतत्त्वचिन्ता तु स्वस्वभावपर्यालोचनमेव विधेयम्।

तथाहि-

"ममैवाऽयं दोषो यदपरभवे नार्जितमहो,
शुभं यस्माल्लोको भवति मयि कुप्रीतिहृदयः।
अपापस्यैवं मे कथमपरथा मत्सरमयं,
जनो याति स्वार्थं प्रति विमुखतामेत्य सहसा" ॥ १ ॥

इति गाथार्थः ॥१६॥ व्याख्यातं शुद्धा भूमिरिति द्वारम्। पञ्चा० ७ विव०। द्वा०। षो०।

अथ दलद्वारमधिकृत्याऽऽह-

कट्ठादी वि दलं इह, सुद्धं जं देवतादुववणाओ।
णो अविहिणोवणीयं, सयं च काराविय जं णो ॥ १७ ॥

काष्ठादि दारुपाषाणप्रभृतिकम्, अपि शब्दस्योत्तरत्र सम्बन्धः। दलमपि जिनभवनोपादानद्रव्यम्, अपिशब्दो भूम्यपेक्षया समुच्चयार्थः। (इहेति) जिनभवनविधौ, शुद्धमनवद्यम्, किंविधमित्याह-यदिति दलम्, (देवयादुववणाउ त्ति) इहादिशब्दस्यान्यत्र दर्शनाद्देवतोपवनादेरिति द्रष्टव्यम्। तेन देवतोपवनाद् व्यन्तरकाननात्, आदिशब्दात्तद्भवनादिपरिग्रहः, तदानयने हि तस्याः प्रद्वेषसम्भवात्, जिनायतनस्य तत्कारकादीनां व्याघातसम्भवादिति। नो नैव, उपनीतमुपहितम्, तथाऽविधिना द्विपदचतुष्पदानां शरीरादिसतापजननद्वारेण, तथा स्वयं चात्मना च, कारितं वृक्षच्छेदेष्टकापचनादिभिर्विधापितम्, यद्दलम्, नो नैव, तत् शुद्धमिति। उक्तं च-"दलमिष्टकादि तदपि च, शुद्धं तत्कारिवर्गतः क्रीतम्। उचितक्रयेण यत्स्याद्-आनीतं चैव विधिना तु" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

अथ दलस्यैव शुद्धाशुद्धत्वपरिज्ञानोपायं दर्शयन्नाह-

तस्स वि य इमो णेओ, सुद्धासुद्धपरिजाणणोवाओ।
तक्कहगहणादिम्मी, सउणेयरसंणिवातो जो ॥ १८ ॥

तस्य दलस्यापि, चेतिशब्दात् भूमेश्च, अयमेव वक्ष्यमाणः, ज्ञेयः ज्ञातव्यः, शुद्धाऽशुद्धपरिज्ञानोपायो निर्दोषसदोषत्वाधिगमहेतुः, तयोर्दलभूम्योः कथा च ग्रहणाय पर्यालोचो, ग्रहणं च परतः स्वीकरणं तदादिर्यस्यानयनादेस्तत्तथा तत्र तत्कथाग्रहणादौ, शकुनेतरसन्निपातः साधकासाधकस्वीकृतादिनिमित्तः सम्बन्धो, यः, स उपाय इति प्रकृतम्। इति गाथार्थः ॥१८॥

शकुनाशकुनयोरेव स्वरूपोद्देशमाह-

णंदादिसुहो सद्दो, भरिओ कलसोऽत्थ सुंदरा पुरिसा।
सुहजोगाइ य सउणो, कंदियसद्दादि इतरो उ ॥ १९ ॥

नन्द्यादिर्नन्दीप्रभृतिः, तत्र नन्दी द्वादशतूर्यनिर्घोषः। तद्यथा-
"भंभा मउंद मद्दल, कलब झल्लरि हुडुक्क कंसाला।
वीणा वंसो पणवो, संखो पणवो य बारसमो" ॥ १ ॥
आदिशब्दात् घण्टाशब्दादिपरिग्रहः। शुभः प्रशस्तः, स्वतन्त्र एव वा सिद्ध इन्द्र इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धः। तथाहि-" सिद्धे इंदे चंदे, सूरनरिंदे तहेव गोविंदे। सेलसमुद्दे गयवस-ह सीह तह मेहसद्दे य" ॥ १ ॥ शब्दो ध्वनिः, तथा भृतो जलपरिपूर्णः कलशो घटः, अत्र व्यतिकरे, सुन्दराः प्रशस्ताकारनेपथ्याः, पुरुषा नराः, शुभयोगादि प्रशस्तचेष्टाप्रभृति, शुभचन्द्रनक्षत्रादि, सम्बन्धादि वा, चशब्दः समुच्चये। शकुनो विवक्षितार्थसिद्धिसूचकं निमित्तम्, क्रन्दितशब्दादि आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवचनप्रभृति, तु पुनः, इतरोऽशकुन इत्यर्थः। तुशब्दः पुनरर्थे। स च सबाधित एवेति गाथार्थः ॥ १६ ॥

दलगतमेव विधिशेषमाह-

सुद्धस्स वि गहियस्स, पसत्थदियहम्मि सुहमुहुत्तेणं।
संकामणम्मि वि पुणो, विण्णेया सउणमादीया ॥ २० ॥

शुद्धस्याऽपि शकुनसन्निपातेन निश्चितानवद्यत्वस्याऽपि, अशुद्धस्य ग्रहणमेव नास्तीति प्रतिपादनपरोऽपिशब्दः। गृहीतस्य स्वीकृतस्य, दलस्येति प्रकृतम्। कदा गृहीतस्येत्याह-प्रशस्तदिवसे नन्दादिकायां तिथौ, शुभमुहूर्त्तेन भद्राऽऽदिना शुभकालविशेषेण करणभूतेन, सङ्क्रामणेऽपि गृहस्थानात् स्थानान्तरनयनेऽपि, न केवलं ग्रहण एव। पुनरपि भूयोऽपीत्यर्थः। विज्ञेया ज्ञातव्याः, निरूपणीया इत्यर्थः। शकुनादयः शकुनप्रभृतयः, आदिशब्दात् शुभदिनादिपरिग्रहः। इति गाथार्थः ॥ २० ॥ गतं दलद्वारम्। पञ्चा० ७ विव०। दर्श०। द्वा०। षो०।

अथ भृतकानतिसन्धानद्वारं प्रतिपादयन्नाह-

कारवणे वि य तस्सिह, भितगाणातिसंधणं ण कायव्वं।
अवि याहिगप्पदाणं, दिट्ठादिट्ठप्फलं एयं ॥ २१ ॥

कारापणे विधापने, अपि चेत्यस्य समुच्चयार्थत्वाद् दलग्रहणानयनादावपि चेति व्याख्येयम्। तस्य जिनभवनस्य, इह द्रव्यस्तवाधिकारे, भृतकानां कर्मकराणां सूत्रधारादीनाम्, अतिसन्धानं वञ्चनं देयद्रव्यापेक्षया, न कर्त्तव्यं नैव विधेयम्, अपि चेति विशेषप्रतिपादनार्थः। अधिकप्रदानं प्रतिपन्नवेतनापेक्षया

समितिगुप्तिसपन्नो घोरपरीषहोपसर्गसहनदृढशक्तिमान् संय-स्तसर्वारम्भपरिग्रह· सदानिरवद्योपदेशदाता वाङ्मात्रेणाऽपि सावद्यतन्निश्चाननुमोदक परमगम्भीरचेता· संप्राप्तभवपार इति। एतद् हताशस्य मतम् । संमूर्च्छिताऽन्येऽक्षितघातयतोः सर्वविरताविरतयोरत्यन्तभेदाभावाद् बालत्वव्यपदेशनिबन्धनाविरते-रुभयत्राऽविशेषात् पापस्यानत्वविभाजकोपाधिव्याप्यविषय-ताका विरतिः सर्वतोऽप्यविरतत्वे द्रव्यतो हिंसादिव्यावृत्तमि-थ्यादृष्टिष्वव्याप्तेः, सम्यक्त्वाभावस्यैव सर्वतोऽविरतत्वपरि-भाषणे च सम्यग्दृष्टिव्यावृत्तावप्येकभेदानुगुण्याभावात्फलासि-द्धेः । किं चैवं सम्यग्दृष्टिरपि मिथ्यादर्शनविरत्यविरतिभ्यां मि श्रपक्षपात·। इष्टापत्तिरत्र-"एगच्चाओ मिच्छादसणसल्लाओ प-मिविरयाए०जाव अप्पमिविरयाए जाओ अप्पडिविरया" इति पाठस्वरसादिति चेत् । न । तस्याकारानाकारादिविषयत्वेन मू-लगुणविरत्यभावापेक्षयैवाविरतेर्व्यवस्थापितत्वात्, सम्यक्त्वा-भावेन विरतिरेवेति तु कृतमेव भाषित,का तवाऽऽहोपुरुषिका ?। एतेन तृतीयभङ्गोऽपि विलूनशीर्षः, सपूर्णश्रद्धाने चाविरतेरेवै-कस्या· साम्राज्यात् । यत्किञ्चिदर्थाश्रद्धाने तु " एकस्मिन्नप्यर्थे संदिग्धेऽर्हति तु निश्चयो नष्ट·" इति न्यायात् सपूर्णश्रद्धाना-भावान्मिथ्यात्वस्यैवावस्थिते· । चतुर्थे भङ्गे तु सैव मि-थ्यादिसत्क्षेपरुचिसम्यक्त्वाभावाद्देशतो विरत्या देशविरतिः सपन्नेति कथ वाचोयुक्तिर्यदुत सर्वतो विरताविरतिः ?। ननु देश-विरतिविशेषपरिज्ञानाभावेऽपि तादृशसम्यक्त्वेन माषतुषादीनां सर्वविरतिरप्यखण्डा प्रसिद्धेति किमपराद्ध देशविरत्या ?,येना-स्य तद्वत्ता न भवेत् । एव वदतश्च सिद्धान्तलेशमपि नाघ्रातवान् हताशः । तथा चोक्त भगवत्याम्-" से नूण भंते ! 'तमेव सच्चं णीसक,ज जिणेहिं पवेइअ' ?। हता गोयमा ! तमेव सच्च । से नूण भंते ! एव मणे धारेमाणे एव पकरेमाणे आणाए आराहए भवति ?। हता गोयमा ! त चेव" त्ति । जीवविशेषपरिज्ञानाभा-वेन मूलत· सम्यक्त्वाभावोक्तौ षट्कायपरिज्ञानवतोऽपि स्या-द्वादसाधनानभिज्ञस्य न सम्यक्त्वमित्युपरितनोद्दिष्ट तव सर्ष-मिन्द्रजालायते । तदुक्त सम्मतौ-"छज्जीवनिकाए स-द्दहमाणो न सद्दहइ भावा। हंदी अपज्जवेसु, सद्दहणा होइ अविभत्ता"।१। प्रकरणोक्तिरियमिति चेत्, किमुत्तराद्धावपि नाराधितां स्पृश-ति । तदुक्तम्-"दावाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उ-वलद्धा । सव्वाहि णयविहीहिं, विरतरुई य त्ति णायव्वो"॥१॥ त्ति । विशेषाभावेऽपि सामान्यात्प्रतिश्चावयोस्तुल्या । एव "ए इम सक्कमागारमावसतेहिं" इत्यादिनाऽपि न व्यामोह· कार्यः। सूत्र-स्य नयगम्भीरत्वान्नयगतेश्च विचित्रत्वात् । इह तु तव दुस्त-रवारिखुडनमय स्यात् । यदेतत् भक्तिरागेण देवपूजाप्रवृत्तावार-म्भात् सयमहत्या कथ देशविरतित्वेन भक्तिरागेण सजमाप-रिगणनाद्विरत्याविरतिरेव न देशविरतिरिति,तत्तु महामोहाभि-निवेशेनागणितपरलोकभयस्य तवैव दुस्तरवारिकृताय, असदारम्भपरित्यागेन सदारम्भप्रवृत्तौ शुभयोगः, सयमहतिभया-भावात्, भक्तिरागस्य प्रशस्तत्वे दोषाभावात्तस्यैव च दोषत्वे-न विदुषोऽपि बलात्प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न हि विद्वानपि रागोत्क-ष्टादसंयमे न प्रवर्त्तते, श्रमणोपासकाना देशविरतानां पृथग्गु-णवर्णनाद्विरताविरतेभ्यस्तेऽतिरिच्यन्ते इति चेत्,अहो बालिश ! केनेदं शिक्षितस् ?, किं करुणया विप्रलब्धोऽसि, स्वकर्मणा वा?। सूत्रे हि-"एगच्चाओ पाणाइवायाओ अप्पमिविरया जावजीवाए" "एगच्चाओ अप्पमिविरया" इत्यन्वयः। "से जहानामए समणो-वासगा भवंति " श्रमणोपासकगुणवतो विरताविरतगुणव-द्व्यापकत्वस्यैव लाभाद्वस्तुतः श्रमणोपासकपदेन विरतावि-रतपरिचरणाद् गुणस्थानविशेषावच्छिन्ने शक्तिग्रहतात्पर्ये श्रम णोपासकपदाद् बुद्धिविशेषानुगतैर्गुणविशेषैरेव बोधे विरतप दादपि व्युत्पत्तिविशेषात्तथैव बोध· समभिरूढनयाश्रयणेन विरताविरतश्रमणोपासकपदार्थभेदस्त्वयाऽभ्युपगम्यते चेदेवं घटकुम्भादिपदार्थभेदोऽपि किं नाभ्युपगम्यत एव, पर-विभाजकोपाधिभेदाप्रयुक्तत्वेन विभागाननुकूल इति चेत्, प्र-कृतेऽपि दीयतां दृष्टिः, " अकसिणपवत्तगाणं " इत्यादि-महानिशीथप्रवचनाद् द्रव्यस्तवाधिकारिणो विरताविरता·,न देशविरता· इति चेत्, महानिशीथध्वान्तविलासिनमेतद्देवानां प्रियस्य । तत्र हि विशिष्य देशविरतकृत्यमेतद्दानादिचतुष्क तु-ल्यफलं चेति व्यक्तमुपदर्शितमेवाधस्तात् । यत्तु कृत्स्नसयमवि-दां पुष्पाद्यर्चने नाधिकारात् श्रमणोपासका अपि न तदधिका-रिण इति तदधिकारित्वेनोक्ता विरताविरता एवेति चेत्, अहो भवान् पामरादपि पामरोऽस्ति, य· कृत्स्नसयमविद इत्यस्य वृ-त्तिकृदुक्तमर्थमपि न जानाति । कृत्स्नसयमाश्च ते विदो वि-द्वास इत्येव हि वृत्तिकृता विवृतामिति । यदि च श्रमणोपासक-महिमलब्धकृत्स्नसयमपरिज्ञानेन देशविरता· पुष्पाद्यर्चनेना-धिकुर्युः , तदा देवा अपि कृतजिनादिसेवाः पुस्तकरत्नवाचनोप-लब्धधर्मव्यवसायाः सम्यक्त्वोपबृंहितनिर्मलावधिज्ञानेनागम्य व्यवहारप्रिया· कथ तन्नाऽपि कुर्युः ?। अत एवार्चितपुष्पादिभि-रेव ते जिनपूजां कुर्वन्तीति चेत्, अहो लुम्पकमातृष्वस· ! केनेद तव कर्णे सूचितं, यन्नदीपुष्करिणीकमलादीन्यचित्तान्येवेति सचित्तपुष्पादिना पूजाध्यवसाये द्रव्यतः पापाभ्युपगमेऽचि-त्तपुष्पादिना ततो भावत· पापस्य दुर्निवारत्वात् महिषव्यापा-दन इव शौकरिकस्य किमिति मुग्धवन्धनार्थं कृत्रिमपुष्पादिना पूजां व्यवस्थापयसि । एवं हि स्नानजलादिनैवाभिषेको ऽपि वाच्य , मूलत एव निषेधे किं न भाषसे दुरन्तस-सारकारण धर्मारम्भशङ्काम ?। तदाहु· श्रीहरिभद्रसूरय·-"अ-प्पत्थारम्भवओ, धम्मेणारम्भओ अणाभोगा । लोए पवयणखिसा, अवोहिवीय ति दोसाय ॥ १ ॥ " इन्द्राभिषेके जलादिग्रहण जिनपूजार्थं तु तत्रत्यस्यैवेत्यत्र तु कारण मङ्गलार्थत्वनित्य-भक्त्यर्थत्वादीनि, मा विप्रिय कुरु, अभिगमवचन तु योग्यतया भोगाङ्गं सचित्तपरिहारविषय, यथा घटमाहरे-त्यत्र घटपद योग्यतया छिद्रेतरविषयम् । अन्यथा सवालक-स्त्रियो मुनिवन्दने नाभिगच्छेयु । चैत्यवन्दनभाष्यादौ चाभि-गमेऽचित्तद्रव्योज्झन श्राद्धानां पुष्पादिना पूजाविधान चो-क्तमिति किमुपजीव्य विरोधेनाभिगम इति खड्गच्छत्रोपानत्प्र-भृति चिह्नद्रव्य ध्वजादिरपरित्याज्यं स्यात्, प्रवचनशोभानुगु-णाचित्तद्रव्योपादानमेव द्वितीयार्थ इति चेत्, पूजावसरे तद-नुपयोगिसचित्तद्रव्योज्झनमेव प्रथमार्थ इति किं न दीयते दृष्टि·, येन शाकिनीव वाकुवलमेधामन्वेषयसि, पुष्पवद्दलविकु-र्वणमपि विकरणमात्रसपादनार्थम्, अधोवृन्तजलस्थलजपुष्प-विकरणस्यैव पाठसिद्धत्वात्पूजाङ्गे सचित्तशङ्का तद्दृष्टान्तेना-नेया । एतेन यदुत्प्रेक्षित जातिसङ्करवना पूजायामादौ पुष्पाद्यु-पमर्दादधर्म एव, तदनन्तर शुभभावसपत्त्या तु धर्म इति धर्मा-धर्मसंकर एवेति । तन्निरस्तम । एवं हि यागे हिंसया प्रागधर्म-मुत्तराङ्गदानदक्षिणादिना त्वनन्तर धर्म वदत· सब्रह्मचारिता-

हा, एकान्तसुखं वा सिद्धिसुखं, तदावहा। यतनोक्तलक्षणा, इह च यतनाशब्दस्य पुनः पुनरुपादानं न दुष्टम्, आदरकृतत्वात्। आह च-"वक्ता हर्षभयादिभि-राक्षिप्तमनाः स्तुवँस्तथा निन्दन्। यत्पदमसकृद् ब्रूया-त्तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

तथा-

जयणाएँ वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं।
सद्धाबोहासेवण-भावेणाराहगो भणितो ॥ ३१ ॥

यतनया करणभूतया, वर्त्तमानो व्याप्रियमाणो, विधियोगेषु यतनायां वा वर्त्तमानः, जीवो जन्तुः, सम्यक्त्वज्ञानचरणानां मोक्षपथानाम्, क्रमेण श्रद्धाबोधासेवनानां रुच्यवगमानुष्ठानानां, यो भावः सद्भावः स तथा, तेन यतनायाः श्रद्धाभावेन सम्यक्त्वस्य, बोधभावेन ज्ञानस्य, आसेनभावेन चरणस्य, आराधकः साधकः, भणितोऽभिहितः, जिनैरिति गम्यते। इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

नन्वस्याः कथञ्चिदारम्भरूपत्वात्कथमनया वर्तमानस्य चरणाराधकत्वं निवृत्तिरूपत्वाच्चरणस्येत्याशङ्क्याऽऽह-

एसा य होइ णियमा, तदहिगदोसविणिवारणी जयणा।
तेण णिवित्तिपहाणा, विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ॥ ३२ ॥

एषा च इयं पुनर्यतना, भवति जायते, नियमादवश्यंतया, तदधिकदोषविनिवारिणी तस्माद्यतनागतारम्भदोषादधिको बहुतरो यो दोष आरम्भान्तररूपस्तं विनिवारयति इति तदधिकदोषविनिवारिणी। येन यस्मात्कारणात्तेन तस्मात्कारणात्, निवृत्तिप्रधाना आरम्भान्तरनिवर्त्तनसारा, विज्ञेया ज्ञातव्या इति। बुद्धिमद्भिः पण्डितैः, एषा। इति गाथार्थः ॥३२॥

तामेव स्वरूपेण दर्शयन्नाह-

सा इह परिणयजलदल-विसुद्धिरूवा उ होइ णायव्वा।
अण्णारंभणिवित्ती-एँ अप्पणाऽहिट्ठणं चेवं ॥ ३३ ॥

सा पुनर्यतना, इह जिनभवनविधाने, अन्यत्र पुनरनीदृश्यपि परिणत प्रासुकं यज्जलं पानीयं दलं च दार्वादि, तयोर्या विशुद्धिरनवद्यता त्रसरहितत्वादिलक्षणा, सैव रूपं स्वभावो यस्याः सा परिणतजलदलविशुद्धिरूपा। तुशब्दः पुनरर्थः। सा तु सा पुनरित्येवं सर्वन्धित एव, अवधारणार्थो वाऽय, तेन एवविधैव सामान्यरूपा, भवति वर्त्तते, ज्ञातव्या ज्ञेया। तथा अन्यारम्भनिवृत्त्या कृष्याद्यारम्भत्यागेन, आत्मना स्वयमेव, अधिष्ठानं जिनभवनारम्भाणामध्यासनम्, एव चैषा यतना, भवति ज्ञातव्येति प्रकृतम्। जिनभवनारम्भाणां हि स्वयमधिष्ठायकत्वं प्रतिपन्नो यथोचितं जीवान् रक्षयन् कर्मकरांस्तदारम्भेषु प्रवर्त्तयति, निरधिष्ठायकास्तु ते यथाकथञ्चित्तेषु प्रवर्त्तन्ते, इत्यात्माऽधिष्ठायकत्वं यतना। इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

निवृत्तिप्रधाना यतनेति यदुक्तं, तदेव समर्थयन्नाह-

एवं च होइ एसा, पवित्तिरूवा वि भावतो णवरं।
अकुसलणिवित्तिरूपा, अप्पबहुविसेसभावेणं ॥ ३४ ॥

एवं चानेन पुनः प्रकारेण परिणतजलाद्याश्रयणाजिनभवनारम्भाधिष्ठायकत्वलक्षणेन, भवति जायते, एषा यतना, प्रवृत्तिरूपाऽपि सती, आस्तामप्रवृत्तिरूपा, भावतः परमार्थेन, नवरं केवलम्, अकुशलनिवृत्तिरूपा सपापारम्भोपरमणस्वभावा। ननु यतनायामपि अल्पीयसां पृथिव्याद्यारम्भाणां विद्यमानत्वात्कथमकुशलारम्भनिवृत्तिरूपाऽसावित्याह-(अप्पबहुविसेसभावेणं ति) इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनादल्पत्वबहुत्वलक्षणौ यौ विशेषौ परस्परभेदौ जिनभवनविषयाणां यतनारम्भाणां तदन्यारम्भाणां च तयोर्यो भावः सद्भावः स तथा, तेनाल्पबहुविशेषभावेन। इदमुक्तं भवति-जिनभवनारम्भाणामल्पदोषाणामाश्रयणेन तदन्येषां बहुदोषाणां त्यागादकुशलनिवृत्तिरूपा यतना भवतीति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

नन्वादिदेवस्य सकललोकव्यवहारप्रवर्त्तनमयुक्तं, भूतोपघातरूपत्वादित्येवं पूर्वपक्षं जिनभवनयतनाद्वारप्रसङ्गेन परिहरन्नाह-

एत्तो च्चिय णिद्दोसं, सिप्पादिविहाणमो जिणिंदस्स।
लेसेण सदोसं पि हु, बहुदोसणिवारणत्तेण ॥ ३५ ॥

(एत्तो च्चिय त्ति) यतोऽल्पबहुत्वविशेषभावेनाकुशलनिवृत्तिरूपा जिनायतना भवति, अत एव कारणात्। निर्दोषं निरवद्यम्, शिल्पादिविधानं शिल्पकलाराजनीतिप्रभृतिपदार्थोपदर्शनम्, 'ओ' इति निपातः। जिनेन्द्रस्य नाभिनन्दनस्य, किंभूतं तदित्याह—लेशेन मात्रया, सदोषमपि सावद्यमपि, निर्दोषमेवेत्यपिशब्दार्थः। हुशब्दोऽलङ्कृतौ। केन कारणेनेत्याह-बहुदोषनिवारणत्वेनाऽन्योऽन्यहननधनहरणाद्यनेकविधाऽनर्थनिषेधकतया, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

भगवतः शिल्पादिविधाने निर्दोषतामेव समर्थयन्नाह-

वरबोहिलाभओ सो, सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ भयवं।
एगंतपरहियरतो, विसुद्धजोगो महासत्तो ॥ ३६ ॥
जं बहुगुणं पयाणं, तं णाऊणं तहेव दंसेइ।
ते रक्खंतस्स ततो, जहोचितं कह भवे दोसो ॥ ३७ ॥

वरः प्रधानोऽप्रतिपातित्वाद्बोधिलाभः सम्यग्दर्शनावाप्तिर्यस्य स वरबोधिलाभको, वरबोधिलाभाद्वा हेतोः स जिनः। किमित्याह-सर्वोत्तमपुण्यसंयुतः अत्यन्तप्रकृष्टतीर्थकरनामादिलक्षणशुभकर्मसंयुक्तः, तथा भगवान् परमेश्वरः, तथैकान्तपरहितरतः सर्वथा परोपकारनिरतः, तथा विशुद्धयोगो निरवद्यमनोवाक्कायव्यापारः, तथा महासत्त्व उत्तमसत्त्व इति। ततः किमित्याह-यच्छिल्पादि, बहुगुणं प्रभूतोपकारं, किञ्चिद् दुष्टमपि, प्रजानां लोकानां, तच्छिल्पादिकम्, ज्ञात्वाऽवगम्य, तथैव यथा लोकोपकारम्, दर्शयति प्रकाशयति, (ते त्ति) तान् प्रजाशब्दपर्यायान् लोकान्, रक्षतो बहुतराऽनर्थेभ्यः पालयतः, ततः शिल्पादिप्रकाशनात्, यथोचितमौचित्येन, उचितचावश्यवेद्यशुभवेदनीयचारित्रमोहादिकर्मोदये वर्त्तमानस्य कलादिदर्शनत एव प्राणिसंरक्षणम्, ततः विरतिप्रतिपत्तौ तु स्वयम्,ज्ञानोत्पत्तौ च तीर्थप्रवर्त्तनाद्वेवेति। कथं केन प्रकारेण ?, भवेज्जायेत, दोषो दूषणम्, न कथञ्चिदित्यर्थः। इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ननु शिल्पादिविधानेऽप्यारम्भदोषो दृष्ट एवास्त्यतः कथं तत्र न दोष इत्याशङ्क्याऽऽह-

तत्थ पहाणो अंसो, बहुदोसणिवारणाउ जगगुरुणो।
णागादिरक्खणे जह, कड्ढणदोसे वि सुहजोगो ॥ ३८ ॥

यस्य हंसादिशुकाक्षराङ्किता,
न पिपासुर्जननी न तस्य धिक् ॥७॥
अस्तु वस्तु नयतो यथा तथा,
पर्यनतोऽय जिनशासने मम ।
शासनं सकलपापनाशनं,
यद्दिशं जयति पारमेश्वरम् " ॥ ८ ॥ ६१ ॥

(२३) प्रतिमायाः प्रामाण्यनिरूपणम् । मत्रान्तरेशेन कुमतदोषं निराकुर्वन्नाह–

एतेनेदमपि व्यपास्तमपरे यत्प्राहुरज्ञाः परे,
पुण्यं कर्म जिनार्चनादि न पुनश्चारित्रवद् धर्मकृत् ।
तद्रूपस्य सरागतां कलयतः पुण्यार्जनद्वारतो,
धर्मत्वं व्यवहारतो हि जननान्मोक्षस्य नो हीयते ॥ ६२ ॥

एतेन शुद्धजिनपूजाया धर्मत्वव्यवस्थापनेन, इदमपि व्यपास्तं निराकृतम्, यदपरे अज्ञाः इतःभिन्नागमसूत्रगतार्थाः प्राहुः । किं प्राहुः ?, जिनार्चनादि पुण्यं कर्म न पुनश्चारित्रवद् धर्मकृद् धर्मकारणम्, स्वर्गादिहेतुत्वाद् इति न मुक्तिहेतुरिति हेतवः, तस्य जिनार्चनादिकर्मणः, तद्रूपस्य चारित्रवत्, सरागतां रागसहितां कलयतो रागसहितस्य पुण्यार्जनद्वारतः शुभाश्रवव्यापारकत्वेन मोक्षस्य जननात् व्यवहारतो धर्मत्वं न हीयते । यच्च प्राहुः–जिनार्चनादिकं पुण्यं कर्म स्वर्गादिफलकत्वात् कृषिवाणिज्यादिवदिति साधनं न युक्तम्, साध्यव्याप्त्यभावात् । अज्ञानोदितेति विशेषणे च विशेष्यासिद्धिः, न हि तादृशा जिनार्चनादिकं स्वर्गाय कुर्वन्ति, किं तु मोक्षायैवेति । स्वयं च मोक्षार्थं तु घटते विशिष्टधर्मत्वम् । पुण्य इति स्वर्गाधिगमाविहितत्वादिति हेतुरपि निषिद्धनिदानकारित्वात् विवेकिनः, सर्वत्र मोक्षार्थिनं पर्यायेणेह, तन्निर्वाणसाधनत्वेनैव फलोपदेशाच्च, यदाह वाचकः–
" जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात् ।
तस्य नरामरशिवसुखफलानि करपल्लवस्थानि ॥१॥ " इति । एतेषामभ्युदयैकफलकत्वं हेतुत्वमस्ति चेत्, रागानुप्रवेशेन तत्त्वस्य च चारित्रेऽपि सत्त्वात्, स्वरूपतस्तस्य योग्यताविरहेण निरवच्छिन्नधर्माधिकारेणाभ्युदयजनकता तद्धर्मावच्छेदे सर्वचारित्रस्य सरागत्वेनाभ्युदयजनकता, न स्वरूपत इति न दोष इति चेत् । न । द्रव्यस्तवत्वेनापि चारित्रजनकताघटितरूपेणाभ्युदयजनकत्वात् । विजातीययोगत्वेनैव द्रव्यस्तवस्य स्वर्गजनकत्वेति चारित्रस्यापि तथैव सत्त्वमिति तत्तुल्यतया पुण्यत्वे कालुष्यमिति । अथ क्षपकतपो न मयद्रस्तपो, हेतुमद्भावप्रसङ्गादिति निश्चयनयपर्यालोचनायां सरागचारित्रकालीना योगा एव स्वर्गहेतवः, तच्चारित्रं घृतस्य दाहकत्ववत् तद्व्यवहारनयेनैव चारित्रस्वर्गजनकयोः स्थित्यस्ति विशेष इति चेत् । न । द्रव्यस्तवस्थलेऽपि निश्चयतो योगानामेव स्वर्गहेतुत्वं, न मोक्षहेतोर्द्रव्यस्तवस्येति, प्रत्युत शक्यत्वाद् दानादिक्रियास्वपि सम्यक्त्वानुगमाजिनातिशयेन मुक्तिहेतुत्वात् । तदुक्तं विंशतिकायाम्–"दाणाइया उ एअ-म्मि चेव सुद्धा न हुंति किरिया उ । एयाओ विहु जम्हा, मोक्खफलाओ पराओ य ॥ १ ॥ " अन्यथा च तत्रापि योगानामेव निश्चयतः स्वर्गहेतुत्वमवशिष्यत इति चारित्रं शुद्धोपयोगरूपं योगेभ्यो भिन्नमित्यनुक्तनिश्चयविशेषोपपत्तिः, पूजादानादिकं तु न योगाभिन्नमिति तदनुपपत्तिरिति चेत् । न । भावपया पूजादानादेरपीच्छाशुपयोगरूपत्वात् । अत एव पूजादानादिक मानसप्रत्यक्षगम्यो जातिविशेष इति परेऽपि सङ्गिरन्ते । वस्तुतो योगस्थैर्यरूपं चारित्रं महाभाष्यस्वरससिद्धमिति महता प्रबन्धेनोपपादितमध्यात्ममतपरीक्षायामस्माभिः । तथा च स्थिरयोगरूपस्य चारित्रस्य मोक्षहेतुत्वं, तदवान्तरजातीयस्य च स्वर्गहेतुत्वं वैजात्यद्वारा कल्पनीयं तत्पूजादावपि तुल्यमिति ॥ ६२ ॥

आचार्यं मप्येनां शंसति । लोकोत्तरलौकिकत्वाभ्यां धर्मपुण्यरूपत्वं तु पूजायामिष्यते इत्याह–

या ज्ञानाद्युपकारिका विधियुता शुद्धोपयोगोज्ज्वला,
सा पूजा खलु धर्म एव गदिता लोकोत्तरत्वं श्रिता ।
श्राद्धस्याऽपि सुपात्रदानवदितस्त्वन्यादृशीं लौकिकी–
माचार्या अपि दानभेदवदिमां जल्पन्ति पुण्याय नः ॥ ६३ ॥

या ज्ञानादेः, आदिना सम्यक्त्वादिग्रहः; उपकारिका पुष्टिकारिणी, विधियुता विधिसहिता, तथा शुद्धोपयोगेन इमां भवतरणे नाविकरूपां भगवत्पूजां दृष्ट्वा वयं प्रतिबुध्यन्तां, षट्कायरक्षाश्च भवन्त्वित्याकारेणोज्ज्वला, सा पूजा खलु भावपूर्विका प्रमोदपूर्विका चेति धर्म एव गदिता, यतः लोकोत्तरत्वं श्रिता, एतादृग्गुणप्रणिधानात् पूजाया आगमिकविहितत्वात्, कस्याऽपि ?, श्राद्धस्याऽपि, किंवत् ?, सुपात्रदानवत् । इतस्त्वन्यादृशीं लौकिकीं सामान्यधर्मफलप्राप्तां, नः अस्माकं, दानभेदवद्दानविशेषवत्, पुण्या जल्पन्ति, इच्छन्ति ।

तदुक्तं बिम्बसाधनमाश्रित्य षोडशप्रकरणे–
" एवंविधेन यद्बि–म्बकारणं तद्वदन्ति समयविदः ।
लोकोत्तरम–यदतो, लौकिकमभ्युदयसारं च ॥ १४ ॥
लोकोत्तरं तु निर्वा–णसाधकं परमफलमिहाश्रित्य ।
अभ्युदयोऽपि हि परमो, भवति त्वत्रानुषङ्गेण ॥ १५ ॥
कृषिकरण इव पलालं, नियमादत्रानुषङ्गिकोऽभ्युदयः ।
फलमिह धान्यावाप्तिः, परमं निर्वाणमिव विम्बात् ॥ १६ ॥ "
(षो० ७ विव०)

एतद्बाधकं, क्षमाऽऽदिभेदानामप्यलौकिकानामेवोत्तमक्षमणादेवेति सूत्रेण धर्ममध्ये ग्रहणादन्येषामर्थतः पुण्यत्वसिद्धेः लौकिकस्याभिधानादेवेत्ययुपपन्नम् । आह–" उवगारवगारिविवा–गवयणधम्मुत्तरा भवे खंती । साविक्खं अट्ठेगं, लोगिगमिहरं दुग जइणो ॥१॥ " दानविशेषस्य पुण्यत्वं चानुकम्पादानादौ अल्पतरपापबहुतरनिर्जराकारणत्वेन सूत्रोपदिष्टस्य श्राद्धादिपुण्यमध्ये प्रोक्तं धर्ममध्येऽपि, तद्वत्पूजाऽपि स्यादिति परमार्थः ॥ ६३ ॥

ननु पूजादानप्रवचनवात्सल्यादिकं सरागकृत्यं, तपश्चारित्रादिकं तु वीतरागकृत्यमिति विविक्तविभागः, तत्राद्यं पुण्यम्, अन्त्यं धर्मः स्यात्, अत एव धर्मपदार्थो द्विविधः, एकः संज्ञानयोगलक्षणो, अन्यः पुण्यलक्षण इति शास्त्रवार्तासमुच्चये हरिभद्रसूरिभिरुक्तं, ततो वाग्भौमिकस्य देवपूजादिकर्मणः कथं धर्मत्वं रोचयामः ?,

तत्राह–

पुण्यं कर्म सरागमन्यदुदितं धर्माय शास्त्रेष्विति,
श्रुत्वा शुद्धनयं न चात्र सुधियामेकान्तधीर्युज्यते ।
तस्माच्छुद्धतरं चतुर्दशगुणस्थाने हि धर्मे नयः,

आसीद्वेचेत्यपिशब्दार्थः । साधुदर्शने मुनिजनावलोकने, यो भावोऽध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव, " पेच्छिस्सं एत्थ अहं, वंदणगनिमित्तमागए साहू । कयपुष्ले भगवते, गुणरयणनिही महासत्ते ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथोक्तः, तेन यदुपार्जितं कर्म्म पुण्यरूप तत्तथा तस्मात्साधुदर्शनभावार्जितकर्मतः, तुशब्दः पुनरर्थः , गुणरागो गुणपक्षपातो, भवति स्वरूपेणैव । ततः काले चावसरे पुनः । साधुदर्शनं मुनिपुङ्गवावलोकनम्, तत एव जायते । किंभूतम् ?, यथाक्रमेण यथापरिपाटि । अथवा-अथाऽनन्तर, क्रमेण परिपाट्या , गुणकरं तु गुणकरणशीलमेव , इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

पडिबुज्झिस्संतन्ने, जावज्जियकम्मओ य पडिवत्ती ।
जावचरणस्स जायति, एगंतसुहावहा णियमा ॥ ४७ ॥

प्रतिभोत्स्यन्ते बोधिं लप्स्यन्ते, अन्ये जिनभवनविधायकापेक्षयाऽपरे , इत्यादिरूपो यो भावोऽध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव, "पडिबुज्झिस्संति इहं, दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंक । अन्ने वि भव्वसत्ता, काहिंति तओ परं धम्मं ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथोक्तः, तस्माद्यदार्जितं कर्म्म कुशलानुबन्धिपुण्यस्वरूपं तत्तथा तस्मात्प्रतिभोत्स्यन्तेऽन्ये भावार्जितकर्म्मतः सकाशात्, चशब्दः पुनरर्थः , प्रतिपत्तिरभ्युपगमः , भावचरणस्य पारमार्थिकचारित्रस्य , जायते भवति, एकान्तसुखावहा मोक्षशर्मावहा, अव्यभिचारतो वा सुखावहा, नियमादवश्यंतया, इति गाथार्थः ॥४७॥

अपतिवडियसुहचिंता-भावज्जियकम्मपरिणतीए उ ।
गच्छति इमीइ अंतं, ततो य आराहणं लहइ ॥ ४८ ॥

अप्रतिपतिता स्थिरा या शुभचिन्ता प्रशस्तानुचिन्तन स्वाशयवृद्धिरूपा, "ता एयं मे वित्त, जमेत्थमुवओगमेइ अणवरय । इय चिंतापरिवडिया, सासयवुड्ढीउ मोक्खफला ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथाऽभिहिता, तल्लक्षणो यो भावः, तेनार्जितं यत्कर्म कुशलरूपं, तस्य या परिणतिः सा तथा, तस्या अप्रतिपतितशुभचिन्ताभावार्जितकर्म्मपरिणतेः सकाशात्, तुशब्दः पुनरर्थः । गच्छति याति, अस्याश्चरणप्रतिपत्तेः , अन्तमवसानम, अप्रतिपतितां पालयतीत्यर्थः । ततश्चरणप्रतिपत्त्यन्तगमनात्पुनः, आराधनां चरणाराधकत्वम , लभते प्राप्नोति , विशुद्धचरणाराधको भवतीत्यर्थः । अप्रतिपतितचरणस्यैव हि चरणाराधना भवति , इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह-

णिच्छयणया जमेसा, चरणपडिवत्तिसमयतो पभिति ।
आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा ॥ ४९ ॥

निश्चयनयान्नयविशेषमतेन, व्यवहारनयात्तु मरणावसरचरणासेवनमात्रमाराधनेत्यभिप्रायेण निश्चयनयाद इत्युक्तम् । यद्यस्मात्, एषा प्रागुक्ताऽऽराधना भवति । कुतः कथं तदित्याह-चरणप्रतिपत्तिसमयतः चारित्राभ्युपगमकालात्, प्रभृति तदादितः , आमरणान्त मृत्युलक्षणावसान यावत्, न पुनस्तदारात् । अजस्रमनवरतं, संयमपरिपालनमहिंसाद्याराधनम , विधिनाऽऽगमोक्तन्यायेन । अतस्तदन्त आराधनां लभते इति युक्तम् । इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

यद्याराधनां लभते ततः किं स्यादित्याह-

आराहगो य जीवो, सत्तट्ठभवेहिँ पावती णियमा ।
जम्मादिदोसविरहा, सासयसोक्खं तु णिव्वाणं ॥५०॥

आराधकश्च ज्ञानाद्याराधनावान्, चशब्दः पुनरर्थः । जीवः प्राणी, सप्ताष्टभवैः सप्तभिरष्टाभिर्जन्मभिरित्यर्थः । इद च जघन्याराधनामाश्रित्योक्तम्, अन्यथा तद्भव एव कश्चित्सिद्ध्यतीति । एते च सप्ताष्टौ वा भवा आराधनायुक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा तु ससैव प्राप्नुवन्तीत्याराधकस्य मनुष्येष्वनुत्पादादिति । प्राप्नोति लभते, नियमादवश्यंतया, कुतः किंविध किमित्याह-जन्मादिदोषविरहाज्जातिजरामरणप्रभृतिदूषणवियोगात , एतच्च पदं शाश्वतसौख्यमित्यनेन प्राप्नोतीत्यनेन वा संबन्धनीयम । शाश्वतसौख्य तु नित्यसुखमेव, न तु स्वास्थ्यमात्रम , निर्वाणं निर्वृतिम , इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ उक्तो जिनभवनविधिः । पञ्चा० ७ विव० ।

जीर्णोद्धारे त्वेव त्रिशिष्योपक्रम्यम्; यतः-

" नवीनजिनगेहस्य, विधाने यत्फल भवेत ।
तस्मादष्टगुणं पुण्य, जीर्णोद्धारेण जायते ॥ १ ॥
जीर्णे समुद्धृते यावत, तावत्पुण्य न नूतने ।
उपमर्दो महांस्तत्र, स्वचैत्यख्यातिधीरपि " ॥ २ ॥

तथा-

"राया अमच्च सिट्ठी, कोडुंबीए वि देसणं काउं ।
जिण्णे पुव्वाययणे, जिण-कप्पी वा वि कारवइ ॥ १ ॥
जिणभवणाइं जे उ-द्धरंति भत्तीइ सडियपडिआइं ।
ते उद्धरंति अप्पं, भीमाओ भवसमुद्दाओ ॥ २ ॥"

जीर्णचैत्योद्धारकारणपूर्वकमेव च नव्यचैत्यकारापणमुचितम, तत एव संप्रतिनृपतिना एकोननवतिसहस्रा जीर्णोद्धाराः कारिताः, नवचैत्यानि तु षट्त्रिंशत्सहस्रा एव । एव कुमारपालवस्तुपालाद्यैरपि नव्यचैत्येभ्यो जीर्णोद्धारा एव बहवो व्यधाप्यन्त इति । चैत्ये च कुशिलकाकलशौ रसप्रदीपादिसर्वाङ्गीणोपस्करणकारणं यथाशक्ति कोशदेवदायवाटिकादियुक्तिकरण च, राजादेस्तु विधापयितुः प्रचुरतरकोशग्रामगोकुलादिदान, यथाऽविच्छिन्ना पूजा प्रवर्त्तते इति द्वारम् । इत्थ च चैत्ये निष्पन्ने शीघ्रमेव प्रतिमां स्थापयेत् । यदाह षोडशके श्रीहरिभद्रसूरिः-"जिनभवने जिनबिम्बं, कारयितव्य द्रुतं तु बुद्धिमता । साधिष्ठानं ह्येव तद्भवनं वृद्धिमद्भवति ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० ।

(२५) जिनबिम्बकारणविधिः-जिनभवन च जिनबिम्बाध्यासितमेव भवतीति तद्बिम्बप्रतिष्ठाविधिं प्रतिपिपादयिषुर्मङ्गलादिप्रतिपादनायाऽऽह-

नमिऊण देवदेवं, वीरं सम्मं समासओ वोच्छं ।
जिणबिंबपइट्ठाए, विहिमागमलोयणीतीए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य , देवदेवं पुरन्दरादिदेवानामाराध्यम् , वीरं वर्द्धमानस्वामिनम , सम्यग्भावशुद्ध्या, वक्ष्ये इत्येतत्क्रियाया वेद विशेषणम । ततश्च सम्यगवैपरीत्येन, समासतः सङ्क्षेपेण, वक्ष्ये अभिधास्ये , जिनबिम्बप्रतिष्ठायाः प्रतीतायाः , विधिं विधानम , आगमलोकनीत्यो जिनप्रवचनन्यायेन, लौकिकन्यायेन चेत्यर्थः । लोकग्रहणेन चेदं दर्शयति-लोकनीतिरपि क्वचिज्जिनमताविरुद्धाश्रयणीया, अत एव प्रासादादिलक्षण तदुक्तमप्याश्रीयते , इति गाथार्थः ॥ १ ॥

सेयं ते व्यवहारजभक्तिरुचिता शङ्खेश्वराधीश ! यद् ,
दुर्वादिव्रजदूषणेन पयसा शङ्कामलक्षालनम् ॥
स्वात्माऽऽरामसमाधिवाधितभवैर्नोस्मादृशैरुन्नीयते,
दूष्यं दूषकदूषणस्थितिरपि प्रास्तैनेयं निश्चयम् ॥ ७६ ॥

हे श्रीशङ्खेश्वराधीश ! सेयं ते तव उचिता व्यवहारजभक्तिः व्यवहारनयोचिता भक्तिः, कृता इत्यर्थः । विधेयप्राधान्यानुरोधात् स्त्रीत्वनिर्देशः । यद् दुर्वादिनां व्रजः समूहस्तद्दूषणरूपेण, पयसा नीरेण, शङ्कारूपमलस्य क्षालनं व्यवहरन्तीदृशिष्टाः, परसमयदूषणपूर्वं स्वसमयस्थापनस्य भगवद्यथार्थवचनगुणस्तुत्योपासनं च । तदाहुः श्रीहेमसूरयः-" अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय , गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव । विगाहतां किन्तु यथार्थवाद-मेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः " ॥ १ ॥ तदयनोऽपि सर्वप्रसिद्धमीश्वरमुद्दिश्य उपासनात्वेनैव करणीयतामाह । तदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलौ-तदेवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभवे भगवति किं निरूपणीयम् ?, तथाऽपि " न्यायचर्चेयमीशस्य, मननव्यपदेशभाक् । उपासनैव क्रियते, श्रवणानन्तरागता"॥ ३॥ यदीय व्यवहारजभक्तिस्तदा निश्चयभक्तिः का ?, उच्यताम्, इत्याकाङ्क्षायामाह-स्वात्मेति । स्वात्मैवाऽऽरामोऽत्यन्तसुखहेतुत्वान्नन्दनवनसदृशः, स्वात्मानमारामयति समन्तात् क्रीमयति तादृशो वा यः समाधिः शुद्धोपयोगरूपः सम्प्रज्ञातः, अपश्चिमविकल्पनिर्वचनरूपार्थिकोपयोगजनितलेशतो वा सम्प्रज्ञातो लयरूपः, तेन बाधितो बाधितानुवृत्त्या स्थापितः, संसारो यैः, कुतस्तत्प्रतियानुगतो वादग्रन्थ इति ध्यानदशाया निश्चयभक्तिस्थितानामस्माकं सर्वत्र समये च परिणामो, व्युत्थाने व्यवहारजभक्तौ तु परपक्षदूषणमसमभावनाविपरीतभावनानिरासायैव, एतेन रागद्वेषकालुष्यमित्युचितत्वमात्रं वेदितं भवति ॥ ६६ ॥

अथ साक्षात् स्तुतिमेवाह कतिपयैः-

दर्शं दर्शमवापमव्ययमुदं विद्योतमाना लस-
द्विश्वासं प्रतिमामकेन रहित ! स्वान्ते सदानन्द ! याम् ।
सा धत्ते स्वरसप्रसृत्वरगुणस्थानोचितामानमद्-
विश्वा संप्रति मामके नरहित ! स्वान्ते सदानं दयाम् ॥७७॥

(दर्शं दर्शमिति) अकेन रहित सर्वदुःखविप्रमुक्त , अत एव सदानन्द ! सम्प्रति योग्यानन्द, ! ते तव प्रतिमां मूर्तिम् । कीदृशीम्, सद्भावस्थापनामित्यर्थः । यां दर्शं दर्शं दृष्ट्वा २ प्रतिप्रवर्द्धमानशुभपरिणामोऽहम्, अव्ययमुदं विगलितवेद्यान्तरपरब्रह्माऽऽस्वादसोदरशीतरसास्वादमवापं प्रापम्, कुत्र ?, स्वान्ते हृदये , कथम् ?, लसद्विश्वासं लसन् विश्वासो यत्र यस्यां क्रियायाम्, अविश्वस्तस्य रमणीयदर्शनेनापि सुखानवाप्तेर्धर्मेऽपि सविचिकित्सस्य समाध्यलाभात् । तथा परमार्षम्-" विइगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं " न लभते समाधिरिति । हे नरहित ! मनुष्यहितकारिन्, ! सा तव प्रतिमा, संप्रति दर्शनजन्यभावनाप्रकर्षकाले, मयि सदानं दयां धत्ते, अभयदानसहितं दयावृत्तिं पोषयति,ज्ञानोत्कर्षस्य निश्चयचारित्रस्य परमेश्वरानुग्रहजनितस्य तदुभयस्वरूपत्वात्,ज्ञानोत्कर्षस्यातिशयिता भावेनैवेति । दयां कीदृशीम् ?, स्वरसप्रसृत्वर मनुष्यादिप्रवर्त्तमानं, यद्गुणस्थानं, तदुचिता तदनुरूपाम्, अनुग्राह्यानुग्राहकयोर्ग्ययोर्द्वयोस्तुल्यवृत्तित्वात् । अत एव "अनियोगपरोऽप्यागमः"इति योगाचार्याः। यन्मनपद्मप्रवृत्तौ निश्चयतश्चारित्रत्वात् तेन चारित्रं लभ्यते इत्यर्थः । सा कीदृशी ?, आनमद्विश्वा नमन् विश्वो यस्यां सा तथा, अत एव विद्योतमाना विशेषेण भ्राजमाना । यमकालङ्कारः ॥ ७७ ॥

त्वद्बिम्बे विधृते हृदि स्फुरति न प्रागेव रूपान्तरं,
त्वद्रूपे तु ततः स्मृते भुवि भवेन्नो रूपमात्रमथा ।
तस्मात् त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयतो नो युष्मदस्मत्पदो-
ल्लेखः किञ्चिदगोचरं तु लसति ज्योतिः परं चिन्मयम् ।७८।

त्वद्बिम्बे हृदि विशेषेण धृते सति, प्रागेव सुतरां रूपान्तरमाकारान्तर,न स्फुरति न स्मृतिकोटिमाटीकते, सदृशदर्शनविधावस्मारके त्वद्बिम्बे तदन्यस्य स्मृतिपथारोहायोगात् , त्वद्बिम्बमेव च तादृश प्रकृतिरमणीय, येनान्यबिम्बनेव दृक्पथं नागन्तु दीयते, कुतस्तरां तदाकारिणि देवत्वम् , उपनीतदोषेणापि भावात् ।

अवदानाष्टसहस्रीविवरणे—

" यदेवैतद्रूप प्रथममिह सालम्बनतया ,
तदेव ध्यानस्थं घटयति निरालम्बनसुखम् ।
रमागौरीगङ्गावलयशरकुन्तासिकसितं ,
कथं लीलारूपं स्फुटयतु निराकारपदवीम् ॥ १ ॥
अतर्क्या लीलाऽस्येत्यपि कपिकुलाधीतचपल-
स्वभावोद्भ्रान्तत्वं विदधति परीक्षां हि सुधियः ।
न यद् ध्यानस्याङ्गं तदिह भगवद्रूपमपि किं,
जगल्लीलाहेतुर्बहुविधमदृष्टं जनयति ? ॥ २ ॥ " इति

ततस्त्वद्बिम्बालम्बनध्यानानन्तररूपे ध्याते सति भुवि रूपमात्रप्रधानं भवेत्, सर्वेषां रूपाणां ततो निकृष्टत्वात्, सर्वोत्कृष्टत्वेनैव भगवद्रूपस्य ध्येयत्वात् ।

तदाहुः-

"सर्वजगद्धितमतिशय-संदोहसमृद्धिसंयुक्तम् ।
ध्येयं जिनेन्द्ररूपं, सदसि गदनतत्परं चैव ॥ १ ॥
सिंहासने निविष्टं, छत्रत्रयकल्पपादपस्याधः ।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्तं, देशनया कान्तमत्यर्थम् ॥ २ ॥
आधीनां परमौषध-मव्याहतमखिलसंपदां बीजम् ।
चक्रादिलक्षणयुतं, सर्वोत्तमपुण्यनिर्माणम् ॥ ३ ॥
निर्वाणसाधनं भुवि , भव्यानामतुलमाहात्म्यम् ।
सुरसिद्धयोगिवन्द्यं, वरेण्यशब्दाभिधेयं च" ॥ ४ ॥ इति

तस्मात् त्वद्रूपध्यानाद् यद् द्रव्यगुणपर्यायसादृश्यं तेन यतस्त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयः स्यात् । तदुक्तम्-"जो जाणदि अरहंते"इत्यादि । ततः,युष्मदस्मत्पदोल्लेखो न भवति, ध्यातृध्यानध्येयानां त्रयाणामेकत्वप्राप्ते । ततः किञ्चिदगोचरं,चिन्मयं ज्योतिः, परमनुपमं, प्रसरति,तद्ध्याने च क्षीणकिल्बिषत्वान्नैश्चयिकद्रव्यगुणपर्यायसाम्यपर्यालोचनायां त्वमहं च विलयेते, ततश्च भिन्नत्वेन ज्ञातयोरभेदस्यायोग्यत्वाच्च युष्मदस्मत्पदयोर्वेदान्तरीत्याऽखण्डब्रह्मणि जहदजहल्लक्षणायामतुलं यद् निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपज्ञानमाविर्भवति, भेदतया, अर्थव्युत्क्रान्त्याभेदप्राधिद्रव्यार्थोपयोगेन वा, सोऽयमनालम्बनयोगश्चरमावञ्चकयोगप्राप्तिमाहात्म्ये यद्दर्शनाद् भवति,सा भगवत्प्रतिमा परमोपकारिणी,तद्गुणवर्णने योगीन्द्रा अपि न क्षमा , इत्यावेदित भवति । ननु कथमर्वाग्दृशां भगवत्प्रतिमादर्शनाज्जातप्रमोदानां प्राणिनां संभवति,इत्यु-

सम्मं णिरूविऊणं, गाढगिलाणस्स वाऽपत्थं ॥ १० ॥

यदनुष्ठानम्, जायते संपद्यते, परिणामे आयत्याम्, असुखम्, असुखहेतुत्वात्, असौख्यमशुभं वा, सर्वस्य समस्तस्याऽऽत्मनः परस्य वा, न पुनरात्मन एव। सतां परोपकारकरणप्रवणान्तःकरणत्वात्। आह च-"जयन्तु ते सदा सन्तः, सत्त्वीयाः सद्गुणान्विताः। ये कृतार्थाः स्वयं सन्तः, परार्थे विहितश्रमाः॥१॥" तदित्यनुष्ठानम्, न कर्तव्यं न विधेयम्, सम्यगविपरीततया, निरूप्यालोच्य, सम्यग्निरूपणाभावे हि परिणामस्य दुरवसेयत्व स्यादिति। अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-गाढग्लानस्य सन्निपाताद्यभिभूततया तीव्रातुरस्य, वाशब्द इवशब्दार्थः, अपथ्यमयोग्यभोजनम्, अपथ्यदानेन हि गाढग्लानो विनाशितो भवति, इति गाथार्थः॥ १०॥

ननु यद्यनवद्यकारुकस्याविशेषेण मूल्यार्पणे सदोषस्य वा तन्नियमनेऽपि देवद्रव्यक्षतिः स्यात्सदा का वार्तेत्याशङ्क्याऽऽह-

आणागारी आरा-हणेण तीए ण दोसवं होति।
वत्थुविवज्जासम्मि वि, छउमत्थो सुद्धपरिणामो ॥ ११ ॥

आज्ञाकारी आप्तोपदेशवर्त्ती,यथोक्तजिनबिम्बमूल्यविधिविधायीत्यर्थः। किमित्याह-आराधनेन बिम्बमूल्यनियमनादिद्वारेण पालनया, तस्या आज्ञायाः, न नैव, दोषवान् विपाकदारुणदेवस्वपरिभोगप्रवृत्तकलक्षणदूषणयुक्तः, भवति जायते, वस्तुनो यथोक्तमूल्यार्पणविधानेन देवद्रव्यरक्षणलक्षणस्य, विपर्यासः स्वभाववैपरीत्यं, वस्तुविपर्यासस्तस्मिन्नपि, देवद्रव्यस्य कारुकेण भक्षणेऽपीत्यर्थः, अविपर्यासे निर्दोष एवेत्यपिशब्दार्थः। छद्मस्थो निरतिशयज्ञानः, अनेन च वस्तुविपर्यासस्य बीजमुक्तं, तस्यैव मोहसंभवात्। अथ कथमसावाज्ञाकारी न दोषवानित्याह-यतः शुद्धपरिणामो निरवद्याध्यवसायः कर्ता। इति गाथार्थः॥ ११॥

अथ कथं वस्तुविपर्यासेऽप्याज्ञाकारिणः शुद्धपरिणामो भवतीत्यत आह-

आणापवित्तिओ चिय, सुद्धो एसो ण अन्नहा णियमा।
तित्थगरे बहुमाणा, तदभावाओ य णायव्वो ॥ १२ ॥

आज्ञाप्रवृत्तित एवाऽऽप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तनादेव, शुद्धो विशुद्ध, एष परिणामो बिम्बविधायको वा, ज्ञेय इति योगः। न नैव, अन्यथा अपरथा, आज्ञाया अपारतन्त्र्यप्रवृत्तेरित्यर्थः। नियमादवश्यतया, शुद्धो ज्ञेयो भवतीति प्रकृतमेव। अथ कुत एतदपि द्वयमित्याह-तीर्थकरे जिने बहुमानात्पक्षपातात् आज्ञाप्रवृत्तिकः शुद्धः। तदभावात्तीर्थकरे बहुमानाभावात् अनाज्ञाप्रवृत्तिकस्त्वशुद्धः, चशब्दः समुच्चयार्थः, ज्ञातव्यो ज्ञेय इति सम्बन्धितमेव, इति गाथार्थः॥ १२॥

अथ किमेवमाज्ञायाः प्राधान्यमुद्घुष्यते इत्याह-

समतिपवित्ती सव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव।
तित्थगरुद्देसेण वि, ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥ १३ ॥

स्वमतिप्रवृत्तिः आत्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा, सर्वा समस्ता द्रव्यस्तवभावस्तवविषया, आज्ञाबाह्या आप्तोपदेशशून्या, इति हेतोः, भवफलैव संसारनिबन्धनमेव, आज्ञाया एव प्रयोजकहेतुषु प्रमाणत्वादिति। ननु या तीर्थकरानुद्देशवती सा भवफला युक्ता, न त्वितरा, जिनपक्षपातस्य महाफलत्वादित्याशङ्क्याह-तीर्थकरोद्देशेनाऽपि जिनालम्बनेनापि, आस्तां ततोऽन्यत्र स्वमतिप्रवृत्तिर्भवफलैवेति प्रकृतम्। कुत एवम्? यतो न तत्त्वतो न परमार्थेन, सा तीर्थकरोद्देशवती स्वमतिप्रवृत्तिः, तस्मिंस्तीर्थकरे उद्देशः प्रणिधानं यस्यां सा तदुद्देशा, य एव ह्याज्ञया प्रवर्तते स एव हि जिनमुद्दिश्य प्रवर्त्तत इत्यभिधीयते, नापर इति गाथार्थः॥ १३॥

आज्ञोल्लङ्घनेन जिनमुद्दिश्य जिनभवनबिम्बतत्पूजाऽऽदिप्रवृत्तान् बहूनुपलभ्योपालम्भयन्नाह-

मूढा अणादिमोहा, तहा तहा एत्थ संपयट्टंता।
तं चेव य मण्णंता, अवमण्णंता ण याणंति ॥ १४ ॥

मूढा मूर्खाः, कुत इत्याह-अनादिमोहात् आदिरहिताज्ञानात्, अनादिर्वा मोहो येषां ते तथा। तथा तथा तेन तेन प्रकारेणाऽऽज्ञोल्लङ्घनतो बिम्बपूजादिलक्षणेन, अत्र तीर्थकरविषये,संप्रवर्त्तमाना व्याप्रियमाणाः, (त चेव य त्ति) तमेव च तीर्थकरं, मन्यमानास्तत्पूजादिकरणेन आराध्यतयाऽभ्युपगच्छन्तः, अवमन्यमानास्तमेव परिभवन्त आज्ञोल्लङ्घनेन, न जानन्ति नावगच्छन्ति, अनादिमोहमूढत्वादिति हृदयम्। इति गाथार्थः॥ १४॥

प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नाह-

मोक्खत्थिणा तओ इह, आणाए चेव सव्वजत्तेणं।
सव्वत्थ वि जइयव्वं, संमं ति कयं पसंगेण ॥ १५ ॥

मोक्षार्थिना सिद्धिकामेन, (तओ त्ति) यतः स्वमतिप्रवृत्तिः भवफला ततो हेतोः, इह प्रक्रमे,आज्ञयैवाप्तोपदेशेनैव, सर्वयत्नेन सर्वादरेण, सर्वत्रापि समस्तेऽपि परलोकसाधनविधौ, आस्तामेकत्र; यतितव्यं चेष्टितव्यं, सम्यग् भावशुद्ध्या, इतिशब्दः परिसमाप्तौ, कृतमलम्, प्रसङ्गेन प्रसक्तापन्नभणितेन; इति गाथार्थः। १५॥ पञ्चा० ८ विव०।

जिनभवने तद्बिम्बं, कारयितव्यं द्रुतं तु बुद्धिमता।
साधिष्ठानं ह्येवं, तद्भवनं वृद्धिमद्भवति ॥ १ ॥

जिनभवने जिनायतने, तद्बिम्बं जिनबिम्बं, कारयितव्यं कारणीयं, द्रुतं तु शीघ्रमेव, बुद्धिमता बुद्धिसंपन्नेन, किमिति द्रुतं कारयितव्यमित्याह-हि यस्मात्साधिष्ठानं साधिष्ठातृकमेव, जिनबिम्बेनैव, तद्भवनं प्रस्तुतं वृद्धिमद्भवति वृद्धिभाग् भवति॥ १॥

तद्बिम्बकारणविधिमाह-

जिनबिम्बकारणविधिः, काले पूजापुरस्सरं कर्तुः।
विभवोचितमूल्यार्पण-मनघस्य शुभेन भावेन ॥ २ ॥

जिनबिम्बकारणविधिः, अभिधीयते इति वाक्यशेषः। काले अवसरे, पूजापुरस्सरं भोजनपत्रपुष्पफलपूजापूर्वकं, कर्तुः शिल्पिनः विज्ञानिकस्य, विभवोचितस्य मूल्यस्य धनस्यार्पणं समर्पणमनघस्याव्यसनस्य, शुभेन प्रशस्तेन भावेनान्तःकरणेन॥२॥

अनघस्येत्युक्तं तद्व्यतिरेकेणाह-

नार्पणमितरस्य तथा, युक्त्या वक्तव्यमेव मूल्यमिति।
काले च दानमुचितं, शुभभावेनैव विधिपूर्वम् ॥ ३ ॥

विपर्यये विपरीतत्वे, अनधिकारिकारण इत्यर्थः। दोषो दूषणमशुभकर्मबन्धलक्षणम्। ननु संसारसरित्तरणतरकाण्डकल्पद्रव्यस्तवविधावपि कथं दोष इत्याह-आज्ञाभङ्गादेव आप्तवचनोल्लङ्घनादेव; आज्ञा चैवं द्रव्यस्तवं प्रति व्यवस्थिता-"अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो। संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ १ ॥" अथाज्ञाभङ्गेऽपि कथं दोष इत्याह-धर्मो द्रव्यस्तवादिरूपः, आज्ञायामाप्तवचने, प्रतिबद्धो नियतो वर्त्तते यतोऽतस्तद्भङ्गे दोष एव, धर्माभावलक्षण इति गाथार्थः ॥ २ ॥

आज्ञाप्रतिबद्धत्वमेव धर्मस्य दर्शयन्नाह-

आराहणाएँ तीए, पुण्णं पावं विराहणाए उ ।

एयं धम्मरहस्सं, विण्णेयं बुद्धिमंतेहिं ॥ ३ ॥

आराधनया पालनया, पञ्चमीसप्तम्योर्वैकवचनं व्याख्येयम्। तस्या आज्ञायाः, पुण्यं शुभकर्म भवति। पुण्यं च धर्म एव, तद्धेतुकत्वात् पुण्यस्य। पापमशुभं कर्म भवति। विराधनया तु बाधया पुनः, आज्ञाया एव धर्मनिमित्ततां प्रति पुरस्करणायाऽऽह-एतदनन्तरोक्तमाराधनाविराधनारूपविधिनिषेधद्वारेण, धर्मरहस्यं कुशलकर्मगुह्यम्, विज्ञेयं ज्ञातव्यम्, बुद्धिमद्भिः पण्डितैः, यतः पारलौकिकेषु विधिष्वाज्ञात एव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः, प्रत्यक्षादीनां तत्राप्रवृत्तेः,अनाप्तवचनस्य च व्यभिचारित्वादिति। आह च-"यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि, निवर्त्तकं चान्तरात्मनो वचनम्। धर्मश्चैतत्संस्थो, मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तदेवं जिनभवनकारणविधानाधिकारिणं प्रस्ताव्य तमेव गाथायुग्मेन निदर्शयन्नाह—

अहिगारी उ गिहत्थो, सुहसयणो वित्तसंजुओ कुलजो।

अक्खुद्दो धिइबलिओ, मइमं तह धम्मरागी य ॥ ४ ॥

गुरुपूयाकरणरई, सुस्सूसाइगुणसंगओ चेव ।

णायाऽहिगयविहाण-स्स धणियमाणप्पहाणो य ॥५॥

अधिकारी तु योग्यः पुनर्जैनभवनविधौ गृहस्थोऽगारी, न तु साधुः, विशेषप्रतिज्ञारूढत्वात्तस्य। सोऽपि न सामान्यः, इत आह-शुभस्वजनोऽसंक्लिष्टबान्धवः। अशुभस्वजनो हि स्वजनानां लोकधर्मविरुद्धचारित्वेन न शुभभावबुद्धिमवाप्नोति, न च प्रवचनं प्रभावयितुमलम्। एतद् द्वयार्थमेव हि जिनभवनारम्भो विवेकिनामिति। सोऽपि वित्तसंयुतो द्रव्यपतिः, अनीदृशस्य हि तदारब्धमपि न सिद्ध्यति, तदसिद्धौ च खेदभाजनं भवति, परान्यर्थनाद्वारेण तत्साधयन्नपि जनहास्यो भवति-"अहो जिनभवनकारणव्याजेनाय कुटुम्बं पुष्णाति" इतिसम्भावनाहेतुत्वादिति। सोऽपि कुलजः प्रशस्यकुलजातोऽनिन्द्यकुलजातो वा। अन्यथाविधेन हि विहितं तद्यात्यन्तं लोकादेयं स्यादिति। सोऽप्यक्षुद्रोऽकृपणः,कृपणो ह्यौचित्येन द्रव्यव्ययकरणाशक्तत्वान्न तत्साधनाय,शासनप्रभावनाय चालम्। अथवाऽक्षुद्रोऽक्रूरः। क्रूरेण हि परोपतापित्वाज्जनद्वेष्येण कृतं तदायतनं, तन्मत्सरेण जनद्वेष्यं स्यादिति। सोऽपि धृतिबलिकः चित्तसमाधानलक्षणसामर्थ्ययुक्तः। धृतिबलविहीनो हि द्रव्यव्यये पश्चात्तापान्न पुण्यभाजनं भवति। सोऽपि मतिमान् बुद्धियुक्तः, मतिविहीनो ह्यनुपायप्रवृत्तेर्न दृष्टादृष्टफलभाक् भवति।

तथेति समुच्चये। सोऽपि धर्मरागी श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्तः, धर्माननुरागी ह्युक्तगुणकलापोपेतो न जिनभवनविधाने प्रवर्त्तते, प्रवृत्तावपि नाभिप्रेतफलसिद्धिभागिति नासावधिकारी। चशब्दः समुच्चयार्थ एवेति ॥ तथा गुरवः पूज्याः, लौकिका लोकोत्तराश्च। लौकिकाः पित्रादयो वयोवृद्धाश्च, लोकोत्तरास्तु धर्माचार्यादयः। तेषां पूजाकरणे यथोचितविनयाद्यर्चाविधौ, रतिरासक्तिर्यस्य स तथा, गुरुपूजाकरणरतो वा, एवंविधो हि जनप्रियत्वेन ससहायतया समारब्धसाधनसमर्थो भवति। तथा शुश्रूषादिगुणसङ्गत एव च, शुश्रूषा श्रोतुमिच्छा, तदादयोऽष्टौ गुणाः। तद्यथा-"शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं तु धीगुणाः ॥ १ ॥" तैः समन्वित एव च। चैवशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ नियोजितावेव। एवंविधो हि शास्त्रसंस्कृतबुद्धित्वेनोपायज्ञतयेप्सितार्थसाधको भवति। अस्यैव विशेषमाह-ज्ञाता विद्वान्, कस्येत्याह-अधिकृतविधानस्य जिनभवनकारणविधेः, एवंविधेन हि क्रियमाणं तद्विवक्षितार्थसाधकं भवति। तथा धनिकमत्यर्थम्, आज्ञाप्रधानश्चागमपरतन्त्रश्च, एतेन हि तत्कारितं लोकोत्तरक्रियत्वेन निर्वाणाङ्गं भवति। चशब्दः समुच्चयार्थः। इति गाथाद्वयार्थः ॥ ५ ॥

अथ कस्मादस्यैव गुणगणो मृग्यत इत्याह—

एसो गुणड्ढिजोगा, अणेगसत्ताण तीएँ विणिओगा ।

गुणरयणवियरणेणं, तं कारिंतो हियं कुणइ ॥ ६ ॥

एषोऽनन्तरोक्तो जिनभवनविधानाधिकारी, गुणर्द्धियोगादनन्तरोक्तगुणश्रीयुक्तत्वात्,अत एव तस्या गुणर्द्धेर्विनियोगात् स्वकीये स्वकीये कार्ये व्यापारणात्, अत एव गुणरत्नवितरणेन सम्यक्त्वबीजसम्यग्दर्शनादिलक्षणगुणमाणिक्यविश्राणनेन अनेकसत्त्वानामिति सम्बन्धनीयम्। तज्जिनभवनं, कारयन् विधापयन्, हितं श्रेयः, करोति विदधाति,अनेकसत्त्वानामात्मनो वेति। अतो हितहेतुत्वाद् गुणगणोऽन्विष्यते। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

गुणरत्नवितरणेनेत्युक्तं तत्पुनरस्य यथा स्यात्तथा दर्शयन्नाह-

तं तह पवत्तमाणं, दट्ठुं केइ गुणरागिणो मग्गं ।

अण्णे उ तस्स बीयं, सुहभावाओ पवज्जंति ॥ ७ ॥

तं जिनभवनकारणाधिकारिणम्, तथा तेन प्रकारेणोक्तगुणानुरूपलक्षणेन, प्रवर्त्तमानं जिनभवनविधौ घटमानम्, दृष्ट्वा उपलभ्य, केचिदेकतमे जीवाः। किंविधाः ?, गुणरागिणो गुणपक्षपातिनः, तदन्येषां मार्गादिप्रतिपत्तेरसम्भवात् मार्गं सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षपथम्, प्रतिपद्यन्त इति योगः। अन्ये तु मार्गप्रतिपत्तृभ्योऽपरे पुनः, तस्य मार्गस्य, बीजं हेतुप्रवचनप्रशंसादिकम्। कुत इत्याह—शुभभावात् शोभनपरिणामाद् गुणानुरागरूपात्, प्रतिपद्यन्ते समाश्रयन्ति, इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

शुभभावाद् बीजं प्रतिपद्यन्त इति यदुक्तं तत्समर्थनार्थमाह—

जो च्चिय सुहब्भावो खलु, सव्वन्नुमयम्मि होइ परिसुद्धो।

सो च्चिय जायइ बीयं, बोहीए तेणणाएणं ॥ ८ ॥

य एव जघन्यादिरूपतयाऽसामान्यः, शुभभावः प्रशस्तपरि-

(आगमेत्यादि) आगमतन्त्र आगमपरतन्त्र आगमानुसारी, सततमनवरत, स आगमो विद्यते येषां ते तद्वन्तस्तेषु, भक्त्यादीनि भक्तिबहुमानविनयपूजनादीनि यानि लिङ्गानि तैः ससिद्धो निश्चित , तद्वद्भक्त्यादिलिङ्गससिद्धः, चेष्टायां व्यापारकरणे, तत्स्मृतिमानागमस्मृतियुक्त, शस्तः खलु प्रशस्तो भवत्याशयविशेष परिणामभेदः ॥ १३ ॥

एवमाशयविशेषमभिधाय तेन विम्बकरण समर्थयन्नाह-

एवंविधेन यद् वि-म्बकारणं तद्वदन्ति समयविदः।
लोकोत्तरमन्यदतो, लौकिकमभ्युदयसारं च ॥ १४ ॥

(एवमित्यादि) एवविधेनाऽऽशयेन यद् विम्बकारणं पूर्वोक्तं,तद्वदन्ति प्रतिपादयन्ति, समयविद शास्त्रज्ञाः, लोकोत्तरमागमिकमन्यदतो लौकिकमतोऽस्मादाशयविशेषसमन्वितात् जिनविम्बकारणाद्, अन्यद् लौकिक वर्त्तते, अभ्युदयसार च तद्भवति ॥ १४ ॥

लौकिकमभ्युदयसारमित्युक्तं, लोकोत्तर तु कीदृगित्याह-

लोकोत्तरं तु निर्वा-णसाधकं परमफलमिहाश्रित्य।
अभ्युदयोऽपि हि परमो, भवति त्वत्रानुषङ्गेण ॥ १५ ॥

लोकोत्तरं तु पुनर्निर्वाणसाधक मोक्षसाधकं, परमफलमिहाश्रित्य प्रकृष्टफलमङ्गीकृत्याऽभ्युदयोऽपि हि स्वर्गादिः, परमः प्रधानो भवति त्वत्रानुषङ्गेण भवत्येवात्र प्रसङ्गेन, न मुख्यवृत्त्या ॥ १५ ॥

प्रधानानुषङ्गिकप्रतिपत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह-

कृषिकरण इव पलालं, नियमादत्रानुषङ्गिकोऽभ्युदयः।
फलमिह धान्यावाप्तिः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात् ॥ १६ ॥

कृषिकरण इव,पलाल प्रतीत,नियमादत्र जिनबिम्बकारणे,आनुषङ्गिकोऽभ्युदयः स्वर्गादि फलमिह दृष्टान्ते, धान्यावाप्तिः सस्यलाभः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात धान्यनिर्वाणावाप्त्यो साम्य दर्शयति। षो० ७ विव०।

जिनबिम्बस्य तावद्विशिष्टलक्षणलक्षितस्य प्रसादनीयस्य वज्रेन्द्रनीलाञ्जनचन्द्रकान्तसूर्यकान्तारिष्टकर्केतनविद्रुमसुवर्णरूप्यचन्दनोपलमृदादीभि सारद्रव्यैर्विधापनम् । यदाह-

"सन्मृत्तिकाऽमलशिलातलरूप्यदारु-
सौवर्णरत्नमणिचन्दनचारु विम्बम् ।
कुर्वन्ति जैनमिह ये स्वधनानुरूपं,
ते प्राप्नुवन्ति नृसुरेषु महासुखानि ॥ १ ॥"

तथा-

"पासाईआ पडिमा, लक्खणजुत्ता समत्तलंकरणा ।
जह पल्हायइ मणं, तह णिज्जरमो वियाणाहि"॥१॥ ध०२ अधि०।

प्रतिमाश्च वास्तुशास्त्रोक्तविधिनिष्पन्नाः सुलक्षणा अत्राभ्युदयगुणहेतव । यतः-

"अन्यायद्रव्यनिष्पन्ना, परवास्तुदलोद्भवा ।
हीनाधिकाङ्गा प्रतिमा, स्वपरोन्नतिनाशिनी ॥ १ ॥
मुहनक्कनयणनाही-कडिभंगे मूलनायमं चयह ।
आहरणवत्थपरिगर-चिंधाउहभंगे पूइज्जा ॥ २ ॥
वरिससयाओ उड्ढं, जं बिंब उत्तमेहि संठविअं ।
विअलंग वि पूइज्जइ, त बिंब निक्कल न जओ ॥ ३ ॥
बिंबपरिवारमज्झे, सेलस्स य वण्णसंकर न सुहं ।
समअंगुलप्पमाणं, न सुंदर होइ कइया वि ॥ ४ ॥
इक्कंगुलाइपडिमा, इक्कारस जाव गेहे पूइज्जा ।
उड्ढं पासाए पुणो, इअ भणिअं पुव्वसूरीहिं ॥ ५ ॥
निरयावलिसुत्ताओ, लेवोवलदंतकट्ठलोहाणं ।
परिवारमाणरहिअं, घरम्मि नो पूअए बिंब ॥ ६ ॥
गिहपडिमाण पुरओ, बलिवित्थारो न चेव कायव्वो ।
निच्चं न्हवणं तिसंझ, मज्जणय भावओ कुज्जा" ॥ ७ ॥

प्रतिमा मुख्यवृत्त्या सपरिकरा सतिलकाद्याभरणाश्च कारयितव्या, विशिष्य च मूलनायकः, तथैव विशेषशोभातज्जनितविशेषपुण्यानुबन्धिपुण्यादिसंभवात् । उक्त च-" पासाईआ पडिमा" इत्यादि द्वारम्। अथैवंनिष्पन्नस्य बिम्बस्य सद्य प्रतिष्ठा विधाप्या। यदुक्तं षोडशके-"निष्पन्नस्यैव खलु, जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा तु । दशदिवसाभ्यन्तरत, सा च त्रिविधा समासेन ॥ १ ॥ " इत्यादि । बृहद्भाष्येऽपि-"वत्तपइट्ठा एगा, खित्तपइठा महापइठा य । एगचउवीससत्तरि-सयाण सा होइ अणुकमसो ॥ १ ॥ " प्रतिष्ठाविधिश्च सर्वोङ्गीणतदुपकरणमीलननानास्थानश्रीसङ्घगुर्वाह्वानप्रौढप्रवेशमहादितत्स्वागतकरणभोजनवसनप्रदानादि सर्वाङ्गीण सप्रकारेण बन्दिमोक्षकारणमारिनिवारणाऽवारितसत्रवितरणसूत्रधारसत्कारणस्फीतसङ्गीताद्यभिनवाद्भुतोत्सवावतारणादिरष्टादशस्नात्रकरणादिश्च प्रतिष्ठाकल्पादेर्ज्ञेयः। ध० २ अधि०।

(२६) अथ तत्प्रतिष्ठाविधिमभिधातुमाह-

णिप्फण्णस्स य सम्मं, तस्स पइट्ठावणे विही एस ।
सुहजोएण पवेसो, आयतणे ठाणठवणा य ॥ १६ ॥

निष्पन्नस्य च सिद्धस्य पुनः,सम्यक् यथावत,इद पद प्रतिष्ठापन इत्यनेन, निष्पन्नस्येत्यनेन वा सबध्यते । तस्य जिनबिम्बस्य, प्रतिष्ठापने न्यस्थापने, विधिर्विधानम्, एष वक्ष्यमाणः । तमेवाह-शुभयोगेन साधकचन्द्रनक्षत्रादिसबन्धेन प्रशस्तमनःप्रभृतिव्यापारेण वा, प्रवेशः प्रवेशन, बिम्बस्य कर्त्तव्य इति शेषः । आयतने भवने, स्थानस्थापना च उचितस्थानन्यासश्च, बिम्बस्यैव । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

तथा

तेणेव खेत्तसुद्धी, हत्थसयादिविसया णिओगेण ।
कायव्वो सक्कारो, य गंधपुप्फादिएहि तहिं ॥ १७ ॥

तेनैव शुभयोगेन, क्षेत्रशुद्धिर्भूमिशोधन, हस्तशतादिर्विषयो गोचरो यस्या शुद्धे सा हस्तशतादिविषया,आदिशब्दाद् बहुतरविषया,अल्पतरविषया वा । इयं च समन्ततो द्रष्टव्या, शोधनीय च तत्रास्थिमांसाशुच्यादिद्रव्यमिति । नियोगेनावश्यतया, कार्येति गम्यम्। तथा कर्तव्यो विधेय , सत्कारश्च गन्धपुष्पादिभिः प्रतीतैः, आदिशब्दाद् धूपादिग्रहः। तस्मिन् जिनभवने, प्रतिष्ठावसरे च, इति गाथार्थ ॥ १७ ॥

दिसि देवयाण पूजा, सव्वेसिं तह य लोगपालाणं ।
ओसरणकमेणऽण्णे, सव्वेसिं चेव देवाणं ॥ १८ ॥

दिग्देवताऽऽदीनामिन्द्रादीनाम्, पूजाऽर्चन,सर्वेषां समस्तानाम्, तथा चेति समुच्चये, लोकपालाना सोमयमवरुणकुबेराणां,

द्रव्ये द्रव्यतः, शुद्धा भूमिर्भवतीति प्रकृतम् । अथ द्वितीयामाह-अप्रीतिकरहिता अप्रीतिवर्जिता । इहाप्रीतिकशब्दस्यान्येषामित्येतत्सापेक्षस्यापि समासः, तथा दर्शनादिति । अन्येषां येषाम्, भवति वर्त्तते, भावे तु भावतः पुनः, शुद्धा भूमिरिति प्रस्तुतमेवेति गाथार्थः ॥ १० ॥

विहितद्रव्याऽऽदिदेशे जिनभवनभूमिर्द्रव्यतः शुद्धा भवतीत्युक्तमन्यत्र पुनरशुद्धा भवति, दोषसंभवात् ।

अमुमेव दोषमाह-

अण्णेसम्मि य वुड्ढी, कारणे जिणवरस्स ण य पूया ।
साहूणमणणुवाओ, किरियाणासो उ अववाए ॥ ११ ॥

अन्यदेशे, तथा, कुत्सितद्रव्यात्मकतृणकाष्ठादिप्रतिबद्धेन वा कुत्सिते प्रदेशे, (कारणे त्ति) कारिते विधापिते, जिनगृहे अर्हद्भवनस्य, न वृद्धिरनुदिनं स्फातिसंगतिः, अपवित्रस्थानप्रत्ययेन वर्धनाभावाद् । तत एव मत्वैव, पूजा अपि तस्य भवति । जिनबिम्बपूजाऽपि जिनभवनपूजा विवक्षिता, बिम्बानां तदाधारत्वेनोपचारादिति । तथा साधूनां संयतानाम्, अननुपातोऽनागमनम्, अशुचिस्थानत्वात् चैत्यवन्दनाद्यर्थं धर्मश्रवणार्थं च, अपायवत्त्वेऽपि तत्र यदा कदाचिदागच्छन्ति तदा क्रियानाशः स्वाध्यायादिक्रियाविरोधोऽशुचिदर्शनादिति भवति । तु शब्दः पुनरर्थो विशेषणार्थः । अपवादे तु तदागमने पुनः । इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

तथा-

सासणगरिहा लोए, अहिगरणं कुच्छियाण संपाए ।
आणादीया दोसा, संसारणिबंधणा घोरा ॥ १२ ॥

शासनगर्हा प्रवचननिन्दा, "एवमेव एते जैनाः, ये चण्डालपाटकादिप्रदेशेषु कुत्सितस्थानेषु च धार्मिकपाटकादिषु जिनायतनं विधापयन्ति" इत्येवंरूपा । लोके जनमध्ये, तथाऽधिकरणं कलहो भवति, कुत्सितानां निन्द्यानां मद्यपप्रभृतीनां, संपाते समागमे सति । ते हि निवार्यमाणाः कलहायोत्तिष्ठन्ते । तथा अश्रेयाऽऽहृतस्य, आज्ञाभङ्गानवस्थामिथ्यात्वविराधना दोषा भवन्ति । किंभूताः ?, संसारनिबन्धनाः भवहेतवः, घोरा दारुणाः । इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

अप्रीतिका चेत्युक्ता, तत्र सप्रीतिका दोषमाह-

कीलादिसल्लजोगा, होंति अणिच्चाणमादिया दोसा ।
एएसिं परिहरणट्ठा, जइज्ज इह सुत्तविहिणा उ ॥ १३ ॥

कीलादिशल्ययोगात् विषकाष्ठास्थिप्रभृतिशल्यसंबन्धात्, भवन्ति जायन्ते, अनिर्वाणादयोऽनिवृत्त्यर्थहान्यर्थासिद्धिप्रभृतयः, दोषा दूषणानि, यस्मादेव तस्मात्, एतेषामनिवृत्त्यादीनामुक्तदोषाणां, वर्जनार्थं परिहारार्थम्, यतेत कुर्यात् । इह जिनभवनं प्रति द्रव्यतो भूमिशुद्धौ, सूत्रविधिना तु आगमनीत्येवोक्तलक्षणयेति गाथार्थः ॥ १३ ॥

द्रव्यतो भूमिशुद्धिरुक्ता, अथ भावतस्तामाश्रित्य यदुक्तमप्रीतिकरहितेति तत्र कारणमाह-

धम्मत्थमुज्जएणं, सव्वस्सापत्तियं ण कायव्वं ।
इय संजमोऽवि सेओ, एत्थ य भयवं उदाहरणं ॥ १४ ॥

धर्मार्थं जिनभवनोद्देशेन कर्मक्षयनिमित्तम्, उद्यतेनोद्यमं कुर्वता, सर्वस्य समस्तस्य जघन्यादिजनस्य, अप्रीतिकमप्रेम, न कर्त्तव्यं न विधातव्यं, धर्मविरुद्धत्वादस्याप्रीतिनियोगाच्च जिनभवनविधानादिप्रवृत्तौ दीर्घसंसारभाजनं भवन्तीत्यतोऽप्रीतिकरहिता भावतः शुद्धा भवति भूमिरिति हृदयम् । न केवलं जिनभवनविधिरूपं धर्ममिच्छता परार्प्रीतिकं न कार्यं, किं तु इत्येवमप्रीतिवर्जनेन, संयमोऽप्याश्रवनिरोधोऽपि, आस्तां जिनभवनम्, श्रेयान् प्रशस्यः, अथ कथमयमर्थः सिद्ध इत्याह-अत्र च इह पुनः, परप्रीतिपरिहारेण संयमस्य श्रेयस्त्वे प्रत्येतव्ये, भगवान् महावीरः, उदाहरणं ज्ञातम् । उदाहरणप्रयोगश्चैवम्-ये संयमार्थिनस्ते परार्प्रीतिकं न कुर्वन्ति, संयमार्थित्वादेव, यथा भगवान् । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह-

सो तावसासमाओ, तेसिं अप्पत्तियं मुणेऊणं ।
परमं अबोहिबीयं, तओ गओ हंतऽकाले वि ॥ १५ ॥

स भगवान्, यः पूर्वगाथायामुदाहरणतयोक्तः, तापसाश्रमात्पाश्र्वस्थकतिपयतापसनिवासात्, तेषां तापसानाम्, अप्रीतिकमप्रीतिम्, (मुणेऊण त्ति) ज्ञात्वा, परममात्यन्तिकम्, अबोधिबीजं सम्यग्दर्शनाभावहेतुम्, ततस्तस्मादत्र तापसाश्रमे वर्षावासं कर्तुमारब्ध, गतो निर्गत, " हन्तेति " कोमलामन्त्रणे, सम्प्रधारणे वा । अकालेऽपि साधूनां विहारासमयेऽपि, प्रावृषीत्यर्थः । विहारकालश्चाष्टौ, यदाह-" नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुग्गामं दूइज्जित्तए । " तथा-" हरियालछायणासो, हरियतणाणं च बीहिबासेसु । आयविराहणाओ, न जई वासासु विहरंति ॥ १ ॥" काल एव किल गच्छन्ति साधव इत्यर्थस्सूचकोऽपिशब्द, इत्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकगम्यः । तच्चेदम्-

" जिनः श्रीमान् महावीरो, चारित्रान्तरशात्रयः ।
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, प्रव्रज्यां प्रतिपद्य च ॥ १ ॥
निः सङ्गोऽतिमहासत्त्वः, सत्त्वानां रक्षणोद्यतः ।
ग्रामादिसंकुलां पृथ्वीं, छद्मस्थो विहरन्नसौ ॥ २ ॥
मथुराकाभिधं ग्राम, समागतस्तत्र चाश्रयं ।
दूयमानाभिधानानां, पाषण्डिगृहिणामभूत् ॥ ३ ॥
तेषां कुलपतिर्मित्र—मासीद्भगवतः पितुः ।
महावीरमसौ दृष्ट्वा, सम्भ्रमेण समुत्थितः ॥ ४ ॥
स्नेहाचालिङ्गनार्थाय, श्रीजिनस्य ततो जिनः ।
बाहू प्रसारयामास, तं प्रति प्राक् प्रयोगतः ॥ ५ ॥
सोऽवोचत्सन्ति वेश्मानि, योग्यान्यत्राश्रमे तव ।
ततः कुमार ! तिष्ठ त्व-मत्राथ जिननायकः ॥ ६ ॥
एकां तत्र स्थितो रात्रि-मन्यत्र गतवांस्ततः ।
गच्छन्तं च जिनं स्नेहा-दवोचत्तापसाधिपः ॥ ७ ॥
यद्यत्र रोचते तुभ्यं, तदागत्य विधीयताम् ।
वर्षावासो जनस्यास्या—नुग्रहार्थं त्वया मुने ! ॥ ८ ॥
मासानष्टौ विहृत्याथ, तं ग्राममगमज्जिनः ।
उपागतासु वर्षासु, मठं चैकमुपाश्रितः ॥ ९ ॥
प्रारम्भे प्रावृषस्तत्र, प्राप्नुवन्ति नव तृणम् ।
गोरूपाणि मठानां तत्, प्रचखादुः पुरातनम् ॥ १० ॥
तापसा वारयन्ति स्म, तानि ते दण्डपाणयः ।

ऐहलौकिकमेवावमानफलमाह-

दिक्खियजिणोमिणणओ, दाणाओ सत्तिओ तहेयम्मि ।
वेहव्वं दारिदं, च होंति ण कयाति नारीणं ॥ २८ ॥

दीक्षितजिनावमानतोऽधिवासितजिनप्रोञ्छणकाद् लोकप्रसिद्धात्, तथा दानाद्वित्तविनरणात्. शक्तित· शक्तिमाश्रित्य, यथाशक्तीत्यर्थ· । तथा तेन प्रकारेण प्रोञ्छणकोद्देशलक्षणेन, एतस्मिन् भगवति विषयभूते, वैधव्य मृतभर्तृकत्वम्, दारिद्र्य च दौर्गत्य च, भवति जायते, न कदाचिन्न जातुचित्, नारीणां स्त्रीणां प्रोञ्छणककारिणीनाम्, इति गाथार्थ· ॥ २८ ॥

अधिवासनगत विध्यन्तरमाह-

उक्कोसिया य पूजा, पहाणदव्वेहिँ एत्थ कायव्वा ।
ओसहिफलवत्थसुव-ण्णमुत्तरयणाइएहिं च ॥ २९ ॥

उत्कर्षिका उत्कर्षवती, चशब्दः पुनरर्थ·, पूजा पूजनमर्हद्विम्बस्य । प्रधानद्रव्यैः प्रवरपूजाङ्गैश्चन्दनागरुकर्पूरपुष्पादिभि·, अत्राधिवासनावसरे, कर्तव्या विधेया, ओषधिफलवस्त्रसुवर्णमुक्तारत्नाादिकैश्च प्रतीतैरेव, नवरमोषध्यो व्रीह्यादय·, फलानि नालिकेरदाभिमादीनि । इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

चित्तबलिचित्तगंधे-हिँ चित्तकुसुमेहिँ चित्तवासेहिं ।
चित्तेहिँ विऊहेहिं, भावेहिं विहवसारेण ॥ ३० ॥

चित्रबलिचित्रगन्धै·, पूजा कर्तव्येति प्रकृतम् । तत्र चित्रा नानाविधा बलय उपहारा गन्धास्तु कोष्ठपुटपाकादयः । चित्रकुसुमैर्विचित्रपुष्पै, चित्रवासैः सुगन्धिद्रव्यचूर्णरूपैर्वस्त्वन्तरवासकस्वभावै·, चित्रैर्विविधैः, (विऊहेहिं ति) व्यूहे रचनाविशेषै', भावैश्च रचनागतैः प्रक्रीमितप्रमुदितालिङ्गितादिभिर्भक्तिसारैर्वा, विभवसारेण विभूत्युत्कर्षेण, इति गाथार्थ· ॥ ३० ॥

अथ कस्मादेवमत्यादर· पूजायां विधीयत इत्याह-

एयमिह मूलमंगल, एत्तो चिय उत्तरा वि सकारा ।
ता एयम्मि पयत्तो, कायव्वो बुद्धिमंतेहिँ ॥ ३१ ॥

एतदुत्कृष्टपूजादिकम, इह जिनबिम्बविषये, मूलमङ्गलमादिकल्याणम्, तत किमित्याह-(एत्तो चिय त्ति) इत एव मूलमङ्गलात्, उत्तरेऽप्युत्तरकालभाविनोऽपि सत्कारा अधिकृतविम्बपूजाविशेषा भवन्ति, निमित्तभूतत्वात् मूलमङ्गलस्य । 'ता' इति । यस्मादेव तत्तस्माद्, एतस्मिन् मूलमङ्गले उत्तरोत्तरसत्कारहेतौ, प्रयत्न उद्यम·, कर्तव्यो विधेय·, बुद्धिमद्भिर्धीमद्भि, इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

पूजाद्यनन्तर यत्कर्त्तव्य तदाह-

चितिवंदनथुतिवुड्ढी, उस्सग्गो साहु सासणसुराए ।
थय सरण पूय काले, ठवणा मंगलगपुव्वा उ ॥ ३२ ॥

चैत्यवन्दना प्रतीता कर्तव्या, स्तुतिवृद्धि· प्रवर्धमानस्तुतिपाठरूपा विधेया, उत्सर्ग कायोत्सर्गो विधेयः, साधु यथा भवति, असमूढतयेत्यर्थ· । कस्या आराधनायेत्याह-शासनसुराया प्रवचनदेवताया·, स्तवस्मरणं चतुर्विंशतिस्तवानुचिन्तन, कायोत्सर्गे कार्यम् । अथवा-चतुर्विंशतिस्तव· पठनीय, स्मरण चेष्टगुर्वादीनामिति । तत पूजा पूजन विधेया, जिनबिम्बस्य, प्रतिष्ठाकारकस्य वा । स्तवस्मरणपूजापदयोश्चानुस्वाराश्रवण, ह्रस्वता च प्राकृतत्वादिति । ततः काले लग्नस्याभिमतांशे, स्थापना प्रतिष्ठा जिनबिम्बस्य, मङ्गलपूर्वा तु पञ्चनमस्कारपूर्वैव, मङ्गलान्तरपूर्वैव वा कर्त्तव्या, इति गाथार्थ· ॥ ३२ ॥

पूया वंदणमुस्स-ग्गपारणा भावथेज्जकरणं च ।
सिद्धाचलदीवसमु-द्दमगलाणं च पाठो उ ॥ ३३ ॥

तत पूजा पुष्पादिभिरर्चन प्रतिष्ठितबिम्बस्य विधेया, ततो वन्दन चैत्यवन्दन विधेयम्, तत उत्सर्ग· कायोत्सर्गो निरुपसर्गनिमित्त विधेय·, प्रतिष्ठा देवताया इत्यन्ये । तत· पारणा परिसमाप्ति· तस्यैव विधेया । भावस्थैर्यकरण च चित्तस्थिरतासंपादनम्, भावेन वा आशीर्वचनहेतुभूतेन प्रतिष्ठास्थैर्यकरण च विधेयम् । अत एवाह-सिद्धाचलद्वीपसमुद्रमङ्गलाना च सिद्धाद्युपमोपेतमङ्गलगाथानां वक्ष्यमाणरूपाणाम्, पाठोऽभिधान विधेय, तुशब्दो गाथापूरणार्थ·, इति गाथार्थ ॥ ३३ ॥

सिद्धादिमङ्गलान्येवाह-

जह सिद्धाण पतिट्ठा, तिलोगचूमामणिम्मि सिद्धिपदे ।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पतिट्ठ त्ति ॥ ३४ ॥

यथा यद्वत, सिद्धानां निर्वृतानां, प्रतिष्ठा अवस्थानम्, त्रिलोकचूमामणौ त्रिभुवनशिरोरत्नकल्पे, सिद्धिपदे निर्वाणरूपे आस्पदे, आचन्द्रसूर्यं चन्द्रसूर्यौ यावत, तथा तद्, भवतु अस्तु, इयमधिकृता, सुप्रतिष्ठा शोभनावस्थानम्, इतिशब्द· परिसमाप्तौ, इति गाथार्थ· ॥ ३४ ॥

शेषा मङ्गलगाथा अतिदेशत आह-

एवं अचलादीसु वि, मेरुप्पमुहेसु होंति वत्तव्वं ।
एते मंगलसद्दा, तम्मि सुहनिबंधणा दिट्ठा ॥ ३५ ॥

एवमनेनैव सिद्धमङ्गलन्यायेन, अचलादिष्वपि अचलद्वीपसमुद्रेष्वपि, न केवल सिद्धविषय एव । किंभूतेष्वचलादिषु ?, मेरुप्रमुखेषु मेरुजम्बूद्वीपलवणोदधिप्रभृतिषु, भवति जायते, वक्तव्य भणनीय, तथाविधगाथाभिधानद्वारेण । तथाहि-

" जह मेरुस्स पइट्ठा, जम्बूदीवस्स मज्झयारम्मि ।
आचदसूरिय तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ १ ॥
जम्बूदीवपइट्ठा, जह सेसयदीवमज्झयारम्मि ।
आचदसूरिय तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ २ ॥
जह लवणस्स पइट्ठा, सव्वसमुद्दाण मज्झयारम्मि ।
आचदसूरिय तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ ३ ॥ "

एवमन्या अपि मङ्गलगाथा न विरुद्धा इति । अथ कस्मादेता· पठ्यन्ते इत्यत्र कारणमाह-एते अनन्तरोक्ता· सिद्धादयो, मङ्गलशब्दा माङ्गल्यध्वनय·, तस्मिन् जिनप्रतिष्ठावसरे, शुभनिबन्धना शुभहेतव, दृष्टा निश्चिता समयज्ञैः, इति गाथार्थ· ॥ ३५ ॥

शुभनिबन्धनत्वमेवैतेषां समर्थयन्नाह-

सोउं मंगलसद्दं, सउणम्मि जहा उ इट्ठसिद्धि त्ति ।
एत्थं पि तहा सम्मं, विण्णेया बुद्धिमंतेहिँ ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा आकर्ण्य, मङ्गलमित्येवरूपो मङ्गलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिशब्दो मङ्गलशब्दस्तम्, शकुने शकुनविषये, यथा तु यद्वदेव, इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिः, भवतीति गम्यम्, इत्ये तत,

समगलतरद्रव्यवितरणम , कर्त्तव्यमिति प्रक्रमः । यतो दृष्टादृष्टफलमुपलभ्य प्रयोजनम् , एतदधिकप्रदानमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥

दृष्टफलप्रतिपादनायाऽऽह-

ते तुच्छगा वराया, अहिगेण दढं उविंति परितोसं ।
तुट्ठा य तत्थ कम्मं, तत्तो अहिगं पकुव्वंति ॥२२॥

ते भृतकाः, तुच्छका अगम्भीराः, वराकास्तपस्विनः, यतोऽतः, अधिकेन प्रतिपन्नवेतनापेक्षया समर्गलेन द्रव्येण, दत्तेनेति गम्यम । दृढमत्यर्थम्, उपयान्त्युपगच्छन्ति , परितोषमानन्दम । तत किमित्याह-तुष्टाश्च हृष्टाः पुन , तत्र चिकीर्षितजिनभवने, कर्म भृतकोचितव्यापारं, ततोऽधिकदानानन्तरम् , अधिकदान विना वा कृत यत्कर्म ततस्तस्मात्सकाशात । अधिक समर्गलं, प्रकुर्वन्ति विदधति, इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एवं तावदधिकदानस्य दृष्टसाधकतां प्रतिपाद्यादृष्टफलसाधकतां प्रतिपादनायाऽऽह-

धम्मपसंसाएँ तहा, केइ णिबंधंति बोहिबीयाइं ।
अन्ने उ लहुयकम्मा, एत्तो चिय संपबुज्झंति ॥ २३ ॥

धर्मप्रशंसया जिनशासनश्लाघया, तथेत्याधिकदानोद्भवसंतोषप्रभवया, केचिदेके भृतकाः, तदन्ये वा भृतकविषयाधिकदानदर्शनाऽऽवर्जितहृदयाः, निबध्नन्त्युपार्जयन्ति , बोधिबीजानि सम्यग्दर्शनकारणानि , अन्ये तु बोधिबीजबन्धकेभ्योऽपरे पुनर्भृतकाः, तद्दानदर्शिनो वा, लघुकर्माणो बोधिबीजबन्धकापेक्षया अल्पावरणाः , इत एवाधिकदानात , सम्प्रबुध्यन्ते सम्यग्बोधमुपयान्तीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

लोगे य साहुवाओ, अतुच्छभावेण सोहणो धम्मो ।
पुरिसुत्तमप्पणीतो, पभावणा चेव तित्थस्स ॥ २४ ॥

लोके शिष्टजने , चशब्दो गुणान्तरसमुच्चये । साधुवादो वर्णवादो भवति । केनेत्याह-अतुच्छभावेनोदाराशयेन जिनभवनकारयितृगतेन करणभूतेन । किंभूतः साधुवाद इत्याह-शोभनः प्रधान , उदारत्वाज्जैनानाम । धर्मो जिनप्रवचनरूपः, पुरुषोत्तमप्रणीत उत्तमपुरुषगदित , तथा प्रभावनोद्भावना, च समुच्चये । एवमनेन न्यायेन, अनुस्वाराश्रवण चेह गाथाऽनुलोम्यात । तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य भवति । इति गाथार्थः ॥२४॥ उक्त भृतकानतिसन्धानद्वारम ।

अथ स्वाशयवृद्धिद्वारमाह--

सामयवुड्डी वि इहं, भुवनगुरुजिणिंदगुणपरिन्नाए ।
तब्बिंबठावणत्थं, सुद्धपवित्तीएँ णियमेण ॥ २५ ॥

स्वाशयवृद्धिरपि कुशलपरिणामवर्द्धनमपि, न केवलं भृतकानतिसन्धानमित्यपिशब्दार्थः । इह जिनभवनविधाने , भवतीति गम्यम । कथमित्याह-भुवनगुरुजिनेन्द्रगुणपरिज्ञया त्रिलोकगौरवजिनेश्वरसर्वज्ञत्वससारकान्तारोत्तारणसामर्थ्यादिगुणपरिज्ञानेन करणभूतेन, तद्बिम्बस्थापनार्थं जिनेन्द्रप्रतिमाप्रतिष्ठानिमित्त, या शुद्धप्रवृत्तिर्निरवद्यक्रिया, तस्या शुद्धप्रवृत्ते सकाशात, नियमेन नियोगेन, इति गाथार्थ ॥ २५ ॥

तथा-

पेच्छिस्सं इत्थमहं, वंदणगणिमित्तमागए साहू ।
कयपुण्णे भगवंते, गुणरयणणिही महासत्ते ॥ २६ ॥

प्रेक्षिष्ये द्रक्ष्यामि, अत्र जिनभवने,अहमित्यात्मनिर्देशो, वन्दनकनिमित्त चैत्यवन्दनार्थम् , आगतानायातान्, स्थानान्तरेभ्यः । साधून् मुनीन्, कृतपुण्यानुपार्जितशुभकर्मणः, भगवत परमेश्वरान् , गुणरत्ननिधीन् ज्ञानादिमाणिक्यनिधानानि , महासत्त्वान् सत्त्वाधिकान्, इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

तथा-

पडिबुज्झिस्संति इत्तं, दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंकं ।
अन्ने वि भव्वसत्ता, काहिंति ततो परं धम्मं ॥ २७ ॥

प्रतिभोत्स्यन्ते बोधिं लप्स्यन्ते, इह जिनभवने , दृष्ट्वाऽवलोक्य, जिनेन्द्रबिम्ब वीतरागप्रतिमाम्, अकलङ्क शस्त्रस्त्र्यादिकलङ्करहितम , अन्येऽप्यस्मत्तोऽपरे, अहं तु प्रतिबुद्ध एवेत्यपिशब्दार्थः । भव्यसत्त्वा मुक्तियोग्यजीवाः , करिष्यन्ति विधास्यन्ति, ततः पर प्रतिबोधकालात परतः, धर्मं कुशलानुष्ठानमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

ततः किमित्याह-

ता एयं मे वित्तं, जमेत्थमुवओगमेति अणवरयं ।
इय चिंताऽपतिवडिया,सासयवुड्डी उ मोक्खफला ॥२८॥

यस्मादिह जिनभवने सति तद्बिम्बस्थापनसाधुदर्शन भव्यप्रतिबोधश्च भविष्यति, तत्तस्माद्धेतोः,एतदिदमेव,अवधारण च काकुपाठात । मे मदीयम , वित्त द्रव्यम , अन्यत्परमार्थतः परकीयमेव । यत्किंविधमित्याह-यदत्र जिनभवने, उपयोगं विनियोगम्,प्रति याति,अनवरत सततम, इत्येव प्रकारा, चिन्ता विकल्पः, अप्रातिपतिता अविच्छिन्ना । किमित्याह-स्वाशयवृद्धिः कुशलपरिणामवर्द्धनम , भवतीति गम्यम । तुशब्द एवकारार्थः , उत्तरत्र च सम्बन्धोऽस्य । सा च मोक्षफला सिद्धिप्रयोजनैव । इति गाथार्थः ॥ २८ ॥ उक्तं स्वाशयवृद्धिद्वारम् ।

अथ यतनाद्वारमाह-

जयणा य पयत्तेणं, कायव्वा एत्थ सव्वजोगेसु ।
जयणा उ धम्मसारो, जं भणिया वीयरागेहिं ॥२९॥

यतना च जलगालनादिजीवरक्षणोपायविशेषलक्षणा, चशब्दः स्वाशयवृद्ध्यपेक्षया समुच्चयार्थः । प्रयत्नेनात्यादरेण, कर्त्तव्या विधेया , अत्र जिनभवनविधौ , सर्वयोगेषु समस्तव्यापारेषु दलानयनभूशोधनभित्तिचयनादिषु, कस्मादेवमित्याह-यतना तु यथाशक्तिजीवरक्षैव, धर्मसारो धर्मोत्कर्षः , यद्यस्माद्भणिता वीतरागैरर्हद्भि , इति गाथार्थ ॥ २९ ॥

अथ यतनाया धर्मसारतामेव समर्थयन्नाह —

जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥ ३० ॥

यतना तु यथाशक्ति जन्तुरक्षणोपाय एव , धर्मजननी कुशलमाता , तथा यतनैव धर्मस्य पालनी, जनितस्य सत पुनरस्यैवापायेभ्यो रक्षिका, चशब्द समुच्चयार्थः, एवशब्दोऽवधारणार्थः, तस्य च सम्बन्धः प्रागेव दर्शितः । तद्वृद्धिकरी धर्मोपचयकरणशीला यतना, मातेव पुत्रस्य । किं बहुनोक्तेन ?, एकान्तेन सर्वथैव, सुखावहा शर्मप्रापिका,एकान्तसुखाव-

ज्ञातव्यम्, परमं प्रधानम्, निर्वाणमेव निर्वृत्तिरेव, नियमेनावश्यन्तया, सुरनरसुखानि प्रतीतानि, आनुषङ्गिकाणि प्रासङ्गिकानि, न परमाणीत्यर्थः । इह सङ्घपूजाया, फलविचारे वा, किंवदित्याह-कृषौ कर्षणे पलालबुस कृषिपलालवत् तद्विव तद्वदिति गाथात्रयार्थः ॥ ४५ ॥

सङ्घपूजाप्रकरणमुपसहरन्नाह-

कयमेत्थ पसंगेणं, उत्तरकालोचियं इहऽन्नं पि ।
अणुरूवं कायव्वं, तित्थुन्नतिकारगं णियमा ॥ ४६ ॥

कृतमत्रम्, अत्र प्रतिष्ठाऽधिकारे, प्रसङ्गेन प्रसङ्गभणितेन,पूजाविषयेण । उत्तरकालोचित प्रतिष्ठोत्तरसमयानुरूपम्, इह प्रतिष्ठापर्वणि, अन्यदप्युक्तातिरिक्तमपि, अमारिघोसणादि । अनुरूपमुचितम्, कर्त्तव्य विधेयम्, तीर्थोन्नतिकारक प्रवचनप्रभावनाकारि, नियमादवश्यतया । इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उचिओ जणोवयारो, विसेसओ णवरि सयणवग्गम्मि ।
साहम्मियवग्गम्मि य, एयं खलु परमवच्छल्लं ॥ ४७ ॥

उचितो योग्यः, जनोपचारो लोकपूजा सामान्यतो विधेयः, विशेषतो विशेषेण, नवरं केवलम्, स्वजनवर्गे स्वकीयलोके, प्रत्यासन्नतरत्वात्,साधर्म्मिकवर्गे च स्वजनातिरिक्तसमानधार्मिकजने च, धर्मबहुमानात् विशेषत इति प्रकृतम् । कस्मादेवमित्याह-एतत्खलु एतदेव, पाठान्तरेणैव खलु, इत्थमेवेत्यर्थः । प्रतिष्ठोद्देशकृतोपचाररूपम् । परमवात्सल्य प्रधानगौरव च, स्वजनसाधर्मिकाणाम्, इति गाथार्थ ॥ ४७ ॥

अट्ठाहिया य महिमा, सम्मं अणुबंधसाहिता केइ ।
अन्ने उ तिन्नि दियहे, णिओगओ चेव कायव्वा ॥४८॥

अष्टाह्निका अष्टदैवसिकी, चशब्द· समुच्चये, महिमा महोत्सवः, महिमाशब्दश्च स्त्रीलिङ्गोऽपि दृश्यते। सम्यग्भावतः, सा ह्यनुबन्धसाधिका पूजाविच्छेदगामिका भवतीति केचिदाचार्या वदन्ति। अन्ये त्वपरे पुनराचार्याः, त्रीन् दिवसान् यावत् महिमा । नियोगत एव नियमनैव, चैवशब्दोऽवधारणार्थः । कर्त्तव्या विधेया इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तत्तो विसेसपूया-पुव्वं विहिणा पमिस्सरोम्मुयणं ।
भूयबलिदीणदाणं, एत्थं पि ससत्तिओ किं पि ॥४९॥

ततो महिमाऽनन्तरम्, विशेषपूजापूर्वं प्राकृतनदिनापेक्षया विशिष्टतरार्चनपुर·सरम्, विधिना शास्त्रोक्तेन, साम्प्रदायिकेन वा । प्रतिसरोन्मोचन कङ्कणमोचन विधेयम् । तथा भूतबलिः प्रेतोपहारः पत्रपुष्पफलाक्षताद्य सुरभिगन्धोदकोन्मिश्रः सिद्धान्नप्रक्षेपरूपः, दीनदान कृपणेभ्योऽनुकम्पावितरण, तत· पदद्वयस्य समाहारद्वन्द्व· । अत्रापि कङ्कणमोचने, न केवलं प्रतिष्ठानन्तरमेवेत्यपिशब्दार्थ· । स्वशक्तितः स्वकीयं वित्तविस्तसामर्थ्यमाश्रित्य, किमपि प्रतिष्ठाऽवसरापेक्षया स्तोकम्, इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अथ प्रकरणार्थोपसहारार्थमाह-

तत्तो पमिदिणपूया-विहाणओ तह तहेह कायव्वं ।
विहिताणुट्ठाण खलु, भवविरहफलं जहा होति ॥ ५० ॥

तत कङ्कणोन्मोचनानन्तरम्, प्रतिदिनपूजाविधानतोऽनुदिवसार्चनकरणेन, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण, [illegible] तयेत्यर्थः । इह जिनबिम्बे प्रतिष्ठिते सति, कर्तव्य विधेयम, विहितानुष्ठान पूजावन्दनयात्राम्नानादि, खलुरवधारणे, स चोत्तरत्र सम्भन्त्स्यते । भवविरहफलमेव ससारवियोगसाधकमेव, यथेति तथाशब्दस्य वीप्सायां प्रयुक्तत्वाद्यथाशब्दोऽपि वीप्सायामेव द्रष्टव्यः,तेन यथा यथा येन येन प्रकारेण भवति जायत इत्युपदेशः, इति गाथार्थ· ॥ ५० ॥ पञ्चा० ८ विव० । इति प्रतिष्ठाविधिः । ध० । षो० ।

श्रावककृतबिम्बप्रतिष्ठाविधिः-

दव्वत्थओ त्ति केई, बिंबपइट्ठं भणंति सड्ढस्स ।
तह कप्पे भणियमिणं, सम्म पइट्ठवणवयणाओ ॥

द्रव्य वासकुसुमधूपकषायमृत्तिकातैलोन्मीलनकारि लक्षणम्, तत्प्रधानः स्तवो द्रव्यस्तवो,भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य,ततो द्रव्यस्तवत्वात् कारणात्,इतिर्हेतौ,स च दर्शित एव। केचनैके,बिम्बप्रतिष्ठां सर्वज्ञप्रतिनिधेस्तद्गुणाध्यारोपलक्षणां, भणन्ति जल्पन्ति, श्राद्धस्य श्रावकस्य । अयं तेषामाशय·-यतिधर्मो हि भावस्तवप्रधानः,स च प्रतिष्ठायां क्रियमाणायां पूर्वोक्तद्रव्यव्यापारणतो न सम्यग् जाघटीति,तथा प्रकारेण,कल्पे छेदग्रन्थविशेषे, भणित प्रतिपादितम, इद प्रतिष्ठाविधान, सम्यक् प्रतिष्ठापनवचनात्-"सावओ कोइ पढमं जिणपमिमाए पइट्ठवण करेइ" त्ति भणनात्।श्रावकः कश्चित्प्रथमम् आद्यं, जिनप्रतिमाया जिनमूर्तेः,प्रतिष्ठापन प्रतिष्ठां, करोति विदधाति । गाथायां च प्रथमकरोत्यादिशब्दानुपादानं छन्दोवशात् न कृत, सूचनाच्च सूत्रस्येति। अत· स्थितमेतत्-कारणद्वयाद्युक्तलक्षणात् श्रावक एव प्रतिष्ठां करोति, न साधुरिति ।

साम्प्रतं पूर्वपक्षार्थी प्रथमपक्षस्य परिहारं दातुकामस्तदनुष्ठानेनैव चोत्तरं गाथाऽर्द्धेनाऽऽह-

सयमामिलाण दामं, खिवंति सड्ढीण खंधदेसम्मि ॥

स्वयमात्मना, अम्लानां सार्द्धा, दाम मालां, क्षिपन्त्यक्षपयन्ति, श्राद्धीनां श्राविकाणां, स्कन्धदेशे ग्रीवायाम । अयमभिप्राय·-यदि द्रव्यस्तवभीतैर्भवद्भिः प्रतिष्ठा न क्रियते, किमित्युपधानविधौ मालाऽऽरोपण विधीयते ?, अम्लानादित्वेनास्यापि साध्वनुचितद्रव्यस्तवत्वात, इदमपि कर्तुं न युज्यत इति ।

एवमुक्तः परः स्वमतस्थित्यर्थ यद्वदिष्यति, तत् तृतीयपादेनाह-

अह सत्थे भणियमिणं, ति

अथेत्याचार्यवचनानन्तर्यार्थम, शास्त्रे महानिशीथाख्ये, भणितमुक्तम, इदं मालारोपणविधानम्, इतिर्हेतावतो विधेयत इति ।

अस्यापि न्यायत उत्तरं चरमपादेनाऽऽह-

तत्थिमा जुत्ति वत्तव्वा ॥

तत्र शास्त्रभणने, (इम त्ति) इयं वक्ष्यमाणा, युक्तिरवितथभणिति, वक्तव्या वाच्येति गाथार्थ ।

तामेवाह-

सत्थं पि बहुमयं ते, रइयं जं पुव्वसूरिपवरेहिं ।
ताणाऽऽयरणं नणु मू-ढ ! होइ गज्भं विसेसेण ॥

तत्र शिल्पादिविधाने, प्रधानः प्रवरः,अपेक्षणीय इत्यर्थः । अ-शोऽवयवः, किंरूप , बहुदोषनिवारणात् अन्योऽन्यच यादिल-क्षणप्रभूतदूषणनिषेधनेनैव , जगद्गुरोस्त्रिभुवननायकस्य; स्यात् आरम्भदोषेऽपि भगवत शुभ एव योग इति हृदयम् । एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति-नागादिरक्षणे सर्पादिभ्यः पुत्रादेरघने , यथा यद्वत , कर्षणं पुत्रादेराकर्षण तद्देव तस्मिन् वा दोषो दूषण शरीरघर्षणादिः कर्षणदोष:, तत्र कर्ष-णदोषेऽपि सति, आस्तां दोषाभावे, शुभयोगो मात्रादेः शोभन एव व्यापारः । इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

नागादिरक्षणज्ञातमेवाह—

खड्डातडम्मि विसमे, इट्ठसुय पेच्छिऊण कीलंतं ।
तप्पच्चवायभीया, तदाणणट्ठा गया जणणी ॥ ३९ ॥
दिट्ठो य तीएँ णागो, तं पति एंतो दुतो उ खड्डाए ।
तो कड्ढितो तगो तह, पीडाएँ विसुद्धभावाए ॥ ४० ॥

गर्तातटे श्वभ्रतटयाम , किंविधे ? , विषमे निम्नोन्नतादि-रूपे, इष्टसुत वल्लभपुत्रम, प्रेक्ष्य दृष्ट्वा , क्रीडन्तं रममाणम , तत्प्रत्यपायभीता गर्तप्रपातरूपसुतानर्थचकिता, तदानयनार्थं पुत्रानयनार्थम् , गता प्रस्थिता, जननी मातेति । ततो दृष्टोऽवलोकितः , च. समुच्चये , तया जनन्या , नागो भुज-ग. , तं प्रति पुत्र प्रति, (एतो त्ति) आयन्नागच्छन् , द्रुतस्तु शीघ्रगतिरेव, (खड्डाए त्ति) गर्ताश्वभ्रात् , (तो त्ति) ततो ना-गदर्शनान्तरम, (कड्ढिओ त्ति) कृष्ट आकृष्ट , तक पुत्रक , तथा पीडायामपि आकर्षणजनितदेहसमुत्थवेदनायामपि संज-यन्त्याम, पीडासम्भवेनाऽकर्षणीयतासूचनार्थोऽपिशब्दः । शु-द्धभावया उपकारकरणाध्यवसायोपेतया, इति गाथाद्वयार्थः । ॥ ३९ ॥ ४० ॥

दृष्टान्तार्थस्यैव निरवद्यतां दर्शयन्नाह—

एयं च एत्थ जुत्तं, इहराऽहिगदोसभावतोऽणत्थो ।
तप्परिहारेऽणत्थो, अत्थो चिय तत्तओ णेओ ॥ ४१ ॥

एतच्च एतत्पुनः पीडयाऽपि पुत्राकर्षणम् , अत्र जननीज्ञाते, युक्तं संगतम् , इतरथा पुत्रस्याकृष्यमाणस्य पीडा भविष्यती-त्यनाकर्षणे , अधिकदोषभावत आकर्षणजन्यपीडापेक्षया स-मर्गावतरस्य सर्पभक्षणजन्यपीडालक्षणस्य दूषणस्य सद्भावात् , अनर्थः सुतमरणलक्षणोऽपाय:, तस्याऽनर्थस्य सुतमरणलक्षण-स्य परिहारो वर्जन तत्परिहारस्तत्र , योऽनर्थो घर्षणेन पीडो-त्पत्तिलक्षण:, सोऽर्थ एव गुण एव, तत्त्वत. परमार्थतो मर-णलक्षणमहादोषरक्षणतः, ज्ञेयो ज्ञातव्यः । अथवा दार्ष्टान्ति-कमर्थमाश्रित्यैव गाथा व्याख्येया । तत्र ' एयं च ' इति भगवतः शिल्पादिविधानम् , शेष तथैव । इति गाथार्थ. ॥ ४१ ॥

अथ यतनाद्वारं निगमयन्नाह-

एव निवित्तिपहाणा, विन्नेया भावओ अहिंसेयं ।
जयणावओ उ विहिणा, पूजादिगया वि एमेव ॥४२॥

एवमुक्तेन प्रकारेणानन्तरोक्तदृष्टान्तलक्षणेन,निवृत्तिप्रधाना ब-हुतरसत्त्वघातनिवर्त्तनसारा , यतो विज्ञेया ज्ञातव्या, भावतः परमार्थतः , अहिंसा हिंसानिवृत्तिरिति , इयमिति प्रक्रमाज्जि-नभवनविषया प्रवृत्तिः , किं सर्वस्यैव ? , नेत्याह-यतनावत-स्तु यतनावत एव, नान्यस्य । तथा विधिना भूमिशुद्ध्यादि-लक्षणेन, नान्यथा । अथ किं जिनभवनविषयप्रवृत्तिरेव बहुत-रसत्त्वघातनिवृत्तिप्रधानत्वादहिंसेति ज्ञेया, उताऽन्यापीत्या-शङ्क्याह-पूजादिगताऽपि जिनार्चनयात्राप्रभृतिविषयाऽपि, न केवल जिनभवनविषया, प्रवृत्तिरिति गम्यम् । एवमेव एव-प्रकारैवाहिंसैवेत्यर्थ । अथवा-पूर्वार्द्धेन भगवतः शिल्पादिषु प्रवृत्तेरहिंसात्वमुक्तम्, उत्तरार्द्धेन तु जिनभवनप्रवृत्ते , पूजा-दीन्यादिग्रहणेन जिनभवनग्रहणात्,- इति गाथार्थ ॥ ४२ ॥ उक्तं यतनाद्वारम् । उक्तश्च जिनभवनकारणविधिः । पञ्चा० ७ विव० । षो० । ध० ब० ।

अथ तदुत्तरविधिमाह-

णिप्फाइऊण एवं, जिणभवणं सुंदरं तहिं बिंबं ।
विहिकारियमह विहिणा, पइट्ठवेज्जा लहुं चेव ॥४३॥

निष्पाद्य निर्माप्य, एवमनन्तरोक्तविधिना , जिनभवन प्रतीतम् , ततः सुन्दरं शोभनम् , तत्र जिनभवने , बिम्ब प्रतिमां, प्रक्रमाज्जिनस्यैव । विधिकारित शास्त्रनीतिविधापितम् । अथानन्तरम् , विधिना शास्त्रनीत्या, प्रतिष्ठापयेल्लघु शीघ्रमेव । यदुक्तम्-"निष्पन्नस्यैवं खलु,जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा तु । दश-दिवसाभ्यन्तरतः, तद्भवन स्फातिमद् भवति ॥१॥" इति । चैवे-त्यवधारणार्थः । इति गाथार्थ ॥ ४३ ॥

अथ जिनभवनकारणविधेः फलोपदर्शनार्थमाह-

एयस्स फलं भणियं, इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स ।
चित्तं सुहाणुबंधं, णिव्वाणंतं जिणिंदेहिं ॥ ४४ ॥

एतस्य समस्तस्य जिनभवनविधानस्य , फल प्रयोजनम, भ-णितमुक्तम् , इत्येवमुक्तनीत्या, आज्ञाकारिणस्तु आप्तोपदेशवि-धायिन एव , श्राद्धस्य श्रद्धावत , श्रावकस्येत्यर्थः । चित्र वि-चित्र देवमनुजजन्मसु तथाविधाभ्युदयरूपम , शुभानुबन्धमवि-च्छिन्नकल्याणसन्तानम् , निर्वाणान्त मुक्तिपर्यवसानम , जिने-न्द्रैः सर्वज्ञैः , इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

एतदेव विभागेनाह-

जिणबिंबपइट्ठावण-भावज्जियकम्मपरिणतिवसेणं ।
सुगतीइ पइट्ठावण-मणहं सदि अप्पणो चेव ॥ ४५ ॥

जिनबिम्बप्रतिष्ठापनमर्हत्प्रतिमास्थापन, तस्मिन् यो भावः स्वाशयवृद्धिरूप, " सासयवुड्ढी वि इह, भुवणगुरुजिणिंदगु-णपरिणाए । तब्बिंबठावणत्थ, सुरूपवित्तीऍ नियमेण ॥ १ ॥ " इति प्रागुक्तगाथानिहित., तेन यदर्जितमुपात्तं कर्म पुण्यानुब-न्धिपुण्यरूपं,तस्य या परिणतिर्विपाक ,तस्या यो वश सामर्थ्य, स तथा तेन जिनबिम्बप्रतिष्ठापनभावार्जितकर्मपरिणतिवशेन , किमित्याह-सुगतौ देवगत्यादौ , प्रतिष्ठापन व्यवस्थापनम् , अनघमनवद्य, तत्कालीनदोषाऽऽगामिदोषागोचरत्वात् । असकृ-त्सदा । कस्येत्याह-आत्मन एव स्वजीवस्यैव । भवति, इति गाथार्थ. ॥ ४५ ॥

तथा-

तत्थ वि य साहुदंसण-भावज्जियकम्मतो उ गुणरागो ।
काले य साहुदंसण-महक्कमेणं गुणकरं तु ॥४६॥

तत्रापि च स्वस्य सुगतिप्रतिष्ठापनेऽपि च पूर्वकाले, गुणराग

पुव्वं पइट्ठियाए, रहम्मि अणुयाणअहिगारा ॥

तत्र संशिष्टव्याख्याने, चः पुनरर्थः, प्रथम स्थापनं प्रथम न्यासमारोपणमिति यावत्, भणन्ति जल्पन्ति, समयविदः सिद्धान्तज्ञाः, पूर्वं प्रथम,प्रतिष्ठितायाः,कन्यसनम् ?, रथे जिनस्यन्दने, अनुयानाधिकारात् उक्तलक्षणाद्धेतोरिति गाथार्थः ।

स्यान्मतं, कथमिदं ज्ञायते यदुतास्यायमर्थो न पुनर्मयोक्त अत आह-

जइ पुण पइट्ठअत्थो, हवेज्ज तो महुरणयरिगेहेसु ।
मंगलपडिमाणं पि हु, तुम्ह मया पावइ पइट्ठा ॥

यदि पुनरिति पराभिप्रायात् स्वाऽसमानार्थः, प्रतिष्ठालक्षणोऽर्थोऽभिधेयो, भवेत् जायेत, ततो मथुरानगरीगेहेषु मथुराभिधानपत्तनसदनेषु, मङ्गलप्रतिमानामपि, न केवल तत्र समतानामित्यपिशब्दार्थः । 'हु.' पूरणे । युष्माक भवतां, मतादभिप्रायात्, प्राप्नोति प्रतिष्ठा, न च निष्पादिता भवति भवत्समता, अत्र प्रतिष्ठाशब्दस्य विद्यमानत्वादित्यभिप्रायः । मङ्गलप्रतिमाश्चेह ता उच्यन्ते यासामकरणे गृहस्योपद्रवादिकं भवति, यथा तु देशरूढ्या गृहद्वारस्योपरि विनायकमूर्तिः वास्तुविद्योपदेशाच्च क्रियते । तथा मथुरायां गृहे गृहे पार्श्वनाथजिनप्रतिमा ब्राह्मणादिभिरपि गृहद्वारस्योपरि कार्यन्ते । यदि न क्रियन्ते, ततो गृहाणां पतनादिक भवति । तथा च तत्रैव कल्पे भणित मङ्गलचैत्यप्ररूपणावसरे-" महुराए नयरीए, जिणपडिमाउ गिहे गिहे पइट्ठविज्जंति " प्रतिष्ठाप्यन्ते न्यस्यन्ते इति भवतोऽपि सम्मत, न हि तासां मिथ्यादृष्टिभिस्तव मतसमतं प्रतिष्ठाविधानं क्रियते । एतदिहाकूतम्-प्रतिष्ठाशब्दस्यात्र न्यसनमेव वाच्यम् । किं च-प्रथमशब्दस्य नैरर्थक्यं प्राप्नोति, नह्येकस्या एव प्रतिमाया द्वितीया प्रतिष्ठा क्रियते,येन तद्व्युच्छित्तये प्रथमशब्दोपादान क्रियते । अस्मत्पक्षे तु प्रथमं रथारोपण सम्भवत्येव । पूज्यास्तु व्याचक्षते-अत्र करोतेर्भणनेऽपि कारापण दृश्यम् । ततश्च साधुभ्यः सकाशात् श्रावक: प्रतिष्ठां कारयतीत्यर्थ. । यथोमास्वातिवाचकोक्तायामस्याम्-"जिनभवन जिनाबिम्बं,जिनपूजां जिनमत च यः कुर्यात् । तस्य नरामरशिवसुख-फलानि करपल्लवस्थानि॥१॥"अत्र कुर्यादित्युक्तेऽपि कारयेदिति द्रष्टव्य, न हि श्राद्धः स्वय जिनमन्दिर तत्प्रतिमां वा करोति । एवमत्रापि प्रथमशब्दसाफल्य त्वेव कथयन्ति-तेन श्रावकेण प्रथममेव प्रतिमा कारिता निष्पाद्यमाना सापाय तेषां दूषण स्थाने स्थाने प्रतिपादितमेवेति गाथार्थः ।

एवं भणित्वा प्रतिपद्यमानसापायदूषणमाह-

तह कासहृहसिरिभि-ल्लमालसच्चउरविंबमाईणं ।
अपमाणयं कुणते-हिँ तेहिँ अप्पा भवे खित्तो ॥

तथेति दूषणान्तरसमुच्चयार्थः, काशह्रदश्रीमालसत्यपुरविम्बादीनां, तत्र काशह्रद नगरमासापल्लिपत्तनादूरवर्त्ति. श्रीमाल सांप्रतं यत् भिन्नमालमिति रूढम । सत्यपुरम्, तत्रस्थराजवल्लदर्पभञ्जनलब्धमाहात्म्यश्रीमहावीरजिनसदनमधिरूतम, तत एषां द्वन्द्व ,तेषु विम्बानि सर्वज्ञप्रतिमा.। आदिशब्दाच्छत्रुञ्जयगिरिमहातीर्थाऽश्वावबोधमहातीर्थमोटेरपुरमथुराऽर्बुदगिरिस्तम्भनस्थादिपरिग्रह ,तासाम् । तदिह हृदयम्-एता. साधुभि. प्रतिमाः प्रतिष्ठिता , तथा च काशहृदीयजिनस्तोत्रे पठ्यते-"नमिविनमिकुलान्वयिभि-र्विद्याधरनाथकालिकाचार्यैः। काशह्रदशङ्खनगरे, प्रतिष्ठितो जयति जिनवृषभः॥१॥" शेषास्तु सर्वजिनप्रतिमा. । अपमानताम्-आचार्यप्रतिष्ठितत्वेनाविधिप्रतिमा एता इति प्ररूपणतो मुग्धजनैर्भावसारतदनौचित्यलक्षणां, कुर्वद्भिः विदधानैस्तैः श्रावकप्रतिमाप्रतिपादनपरैरात्मा जीवो भवे संसारे क्षिप्तः प्रणुन्नः । इति गाथार्थः ।

ननु किमेतावता एतावान् दण्डो भवति ?, भवत्येवेत्यस्यार्थस्य साधनाय सिद्धान्तोक्तमाह-

कप्पुत्तमेवमाई, अवि पडिमासु वि तिल्लोयणाहाणं ।
पडिरूवमकुव्वंतो, पावइ पारंचियं ठाणं ॥

कल्पस्य छेदग्रन्थस्योक्तं संवादकवचनम्, परमेतावान् विशेषस्तत्र 'अन्न वा' इत्यादौ गाथायां पठ्यते तीर्थकराशातनाधिकारे। एवमादिः पूर्वोक्तप्रकार.,अपीति सभावने। संभवत्येवैतत्-प्रतिमास्वपि जिनमूर्त्तिष्वपि, न केवलं साक्षाद्भावतीर्थकृतामित्यपिशब्दार्थः । प्रतिरूपं यथोक्ताशातनादिवर्ज्जनमकुर्वन्नविदधानः, प्राप्नोति लभते, पाराञ्चिक प्रायश्चित्त (ठाणमिति) तिष्ठन्त्यस्मिन्निति कर्म्माणि प्रायश्चित्तानावरणत इति स्थान कर्मधारः कर्मभिश्च भव.। अतः सिद्धमिदम्-"तेहिँ अप्पा भवे खित्तो त्ति" किं च-आचाराङ्गनिर्युक्त्यां दर्शनविशुद्धिं वर्णयता श्रुतकेवलिना भणितम्-चिरन्तनचैत्यवन्दने दर्शनशुद्धिर्भवति । तच्चेदम्-

" तित्थगराण भयवओ, पवयणपावणिअऽइसइड्डीण ।
अभिगमणनमणदरिसण-कित्तणसपूअणत्थुवणा ॥ १ ॥
जम्माऽभिसेयनिक्खम-णचरणनाणुप्पयाणनिव्वाणे ।
दियलोयभवणमंदर-नदीसरभोमणगरेसु ॥ २ ॥
अट्ठावयमुज्जंते, गयग्गपयधम्मचक्के य ।
पासरहावत्त चिय, चमरुप्पायं च वदामि ॥ ३ ॥
गणियनिमित्ता जुत्ती, सदिट्ठी अवितहं चेय ।
· · · · · , पुण पच्चइगा इमे अत्था ॥ ४ ॥
गुणमाहप्प इसिना-मकित्तण सुरनरिंदपूया य ।
पोराणचेइयाण य, इय एसा दसणे होइ " ॥ ५ ॥

चिरन्तनचैत्यानि च पूजयतो दर्शनशुद्धिर्भवति, न केवलं पूर्वगाथोक्त कुर्वतः, अतः स्थितमिह-चिरन्तनचैत्यानामवर्णवादादि न कार्यम । ननु किमेवं बहुश्रुतवचनसन्दर्भश्रवणेऽपि ते एवंभूतं प्रतिपादयन्ति ?। उच्यते-विकृत्यार्थ्यो. । तथा चोक व्यवहारे यथाच्छन्दलक्षणं कथयता-" सच्छंदमइविगप्पिय काउ त पन्नवेइ, तओ तस्स गुणेण विगईओ लहइ, सा य पडिच्छदा सुहं इच्छइ । तेण य सच्छन्दकप्पिएण पहविएण समाहिओ समाणो पूइउ जाति इत्थिमाइगारवेहिँ सरुइ " इत्यादि, एतच्चायतनेष्वप्यधिकारेषु यथासंभव योज्यमिति गाथार्थः ।

इदानीं पूर्वोक्तार्थनिगमनगर्भं जीवोपदेशमाह-

जह समयण्णू जंपंति, मुणसु तह जीव ! समयवयणाई ।
पुव्वुत्तदोसजाल-स्स जेण नो भायणं होसि ॥

यथा येन प्रकारेण, समयज्ञाः सिद्धान्तविद , जल्पन्ति वदन्ति , (मुणसु) जानीहि , तथा तेन प्रकारेण, न स्वमत्यनाबाधेन, जीव ! आत्मन् !, समयवचनानि सिद्धान्तवाक्यानि, यै. पूर्वोक्तदोषजालस्य भवपातादिदूषणव्रातस्य,

जिनबिम्बस्याकारितस्य प्रतिष्ठा न भवतीति तत्कारणविधिमभिधित्सुस्तत्प्रस्तावनायाऽऽह-

जिणबिंबस्स पइट्ठा, पायं कारावियस्स जं तेण ।
तक्कारवणम्मि विहिं, पढमं चिय वन्निमो ताव ॥ २ ॥

जिनबिम्बस्य जिनप्रतिमायाः, प्रतिष्ठा प्रतिष्ठापना, प्रायः प्रायेण, प्रायोग्रहणं चाकारितस्याऽपि स्वयंकृतस्य क्रीतस्य च प्रतिष्ठा भवतीति प्रतिपादनार्थम् । यदिति यस्माद्धेतो, तेन तस्मात्, (तक्कारवणम्मि त्ति) जिनबिम्बविधापने, विधिं कल्पम्, प्रथममेव पूर्वमेव, प्रतिष्ठाभिधानात्, वर्णयामो भणामः, तावदिति प्रक्रमार्थः । इति गाथार्थः ॥ २ ॥

अथ बिम्बकारणविधिमेवाभिधित्सुस्तत्प्रवर्तकशुद्धबुद्धिस्वरूपं तावद्गाथाचतुष्केणाऽऽह—

सोउं णाऊण गुणे, जिणाण जायाएँ सुद्धबुद्धीए ।
किच्चमिणं मणुयाणं, जम्मफलं एत्तियं चेव ॥ ३ ॥
गुणपगरिसो जिणा खलु, तेसिं बिंबस्स दंसणं पि सुहं ।
कारावणेण तस्स उ, अणुग्गहो अत्तणो परमो ॥ ४ ॥
मोक्खपहसामियाणं, मोक्खत्थं उज्जएण कुसलेणं ।
तग्गुणबहुमाणादिसु, जइयव्वं सव्वजत्तेणं ॥ ५ ॥
तग्गुणबहुमाणाओ, तह सुहभावेण बज्झती णियमा ।
कम्मं सुहाणुबंधं, तस्सुदया सव्वसिद्धि त्ति ॥ ६ ॥

श्रुत्वा गुरुणाऽभिधीयमानानाकर्ण्य, तथा ज्ञात्वाऽवगम्य, कान् ?, गुणान् रागादिवैरिवारविदारणप्रवचनप्रवर्तनादीन्, केषाम् ?, जिनानामर्हताम्, जातायां प्रसूतायां सत्यां जातायामित्यत्र पुनर्व्याख्याने एककर्तृकत्वाभावात् क्त्वाप्रत्ययस्यानुपपत्तिः स्यादिति प्रसूतायामिति व्याख्यातम् । अथवा-गुणगुणिनोर्बुद्धिजीवयोरभेदात् श्रवणज्ञानक्रियाऽपेक्षया बुद्धिजननक्रियाया एककर्तृकत्वमेवेति, ततो जातायामुत्पन्नायाम्, शुद्धबुद्धौ निर्मलबोधे, किमित्याह-कृत्यं विधेयम्, इदं जिनबिम्बम्, मनुजानां नृणाम्, तथा जन्मफलं जननसाध्यम्, एतावदेव नाधिकम्, अत्र मनुष्यभवे ॥ ३ ॥ तथा-गुणप्रकर्षो गुणातिशयः, जिना एवार्हन्त एव, धर्मधर्मिणोरभेदाच्च गुणप्रकर्षो जिना इत्युक्तम् । अन्यथा गुणप्रकर्षो जिनानामिति वक्तव्यं स्यादिति । खलुरवधारणे । अत एव तेषां जिनानां, बिम्बस्य प्रतिमायाः, दर्शनमप्यवलोकनमपि, आस्तां तद्वन्दनादि । सुखं शुभं वा वर्तते, तद्धेतुत्वात् । ततः किमित्याह-कारणेन विधापनेन, तस्य बिम्बस्य, तुशब्दः पुनरर्थः, अनुग्रह उपकारो भवति, आत्मनः स्वकीयस्य, परम उत्कृष्टः ॥ ४ ॥ ततश्च मोक्षपथस्वामिकानां सिद्धिमार्गप्रभूणां, तदुपदर्शकत्वाज्जिनानां, मोक्षार्थं सिद्धिनिमित्तम्, उद्यतेन प्रयत्नपरेण, कुशलेन निपुणेन, स एव मोक्षो गुणः फलं येषां बहुमानादीनां ते तद्गुणाः, ते च ते बहुमानादयश्च । अथवा-ते च ते असाधारणा गुणाश्च तद्गुणास्तेषु बहुमानादय प्रीतिपूजाप्रभृतयः तद्गुणबहुमानादयः । अथवा-ते च ते गुणा बहुमानादयश्चेति समासोऽनस्तेषु, तेषां मोक्षपथस्वामिकानां गुणबहुमानादय इति तु न व्याख्यातम्, तच्छब्दस्य गतार्थत्वात्तत्सम्पर्शमीयस्य साक्षादेवोक्तत्वात् । अथवा--तदिति सुप्तषष्ठीबहुवचनान्तं, तेन तेषां जिनानामिति व्याख्येयमिति । यतितव्यं प्रवृत्तिर्विधेया, सर्वयत्नेन समस्तादरेण ॥ ५ ॥ अथ कस्मादेवमित्याह—तद्गुणबहुमानात् मोक्षपथस्वामिगुणपक्षपातात्, तथा तत्प्रकारेण मोक्षपथस्वामिगुणबहुमानोद्भवेन, शुभभावेन शोभनपरिणामेन, बध्यते उपादीयते, नियमादवश्यंतया, कर्माद्दष्टं, शुभानुबन्धं कुशलानुबन्धि । ततश्च तस्य शुभानुबन्धिकर्मण उदयाद्विपाकात्, सर्वसिद्धिः समस्तेप्सितकार्यनिष्पत्तिर्भवति । इतिशब्दः शुद्धबुद्धिस्वरूपोक्तिसमाप्तिसूचनार्थः । इति गाथाचतुष्कार्थः ॥ ६ ॥ चतुर्भिः कलापकम् ।

अथ जिनबिम्बकारणविधिमाह-

इय सुद्धबुद्धिजोगा, काले संपूइऊण कत्तारं ।
विहवोचियमप्पेज्जा, मोल्लं अणहस्स सुहभावो ॥ ७ ॥

इति शुद्धबुद्धियोगादेवमनन्तरगाथाचतुष्कोक्तनिर्मलबोधसंबन्धात्, काले तदुचितावसरे, संपूज्य संमानयित्वा, कर्तारं जिनबिम्बविधायकं, सूत्रधारकमित्यर्थः । विभवोचितं स्वसमृद्ध्यनुरूपम्, अर्पयेत् समर्पयेत्, मूल्यं वेतनम्, अनघस्य निर्दोषस्य, अनौचित्येन द्रव्यविनाशकत्वात् । शुभभाव उदारतया प्रवर्द्धमानप्रशस्ताध्यवसायः, कारयिता । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अनघशिल्पिनोऽसद्भावे यद्विधेयं तदाह-

तारिसयस्साभावे, तस्सेव हि तत्थ मुज्जुओ णवरं ।
णियमेज्ज बिंबमोल्लं, जं उचियं कालमासज्ज ॥ ८ ॥

तादृशकस्यानघस्येत्यर्थः, कर्तुरिति प्रक्रमः । अभावे अप्राप्तौ, तस्यैव कर्तुरेव, हितार्थं श्रेयोनिमित्तम्, बिम्बार्थकल्पितद्रव्यभक्षणतो यत्तस्य संसारगर्तपतनं, तद्रक्षणद्वारेण उद्यतः प्रयतः, नवरं केवलम् । नियमयेन्नियन्त्रयेत्, बिम्बमूल्यं प्रतिमावेतनम्, यथेयता द्रव्येण यद् बिम्बं विधातव्यं भवता यथाबहुशो मूल्यं च दास्यामीति । यदिति मूल्यम्, उचितं योग्यं प्रतिमाऽपेक्षया, कालमवसरम्, आश्रित्य प्रतीत्य, यतः क्वचित्काले लघावपि बिम्बे मूल्यं प्रचुरं स्यात्कदाचिदल्पम् । इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

यदि पुनरनघस्यैवेतरस्यापि मूल्यमर्पयति, ततः को दोषः स्यादित्यत आह-

देवस्सपरीभोगो, अणेगजम्मेसु दारुणविवागो ।
तम्मि स होइ णिउत्तो, पावो जो कारुओ इहरा ॥ ९ ॥

देवस्वस्य जिनबिम्बनिर्मापणार्थं कल्पितत्वेन जिनदेवद्रव्यस्य, परिभोगो भक्षणं, देवस्वपरिभोगः । उपचारात्तद्धेतुकं कर्म देवस्वपरिभोग उक्तः । स चानेकजन्मस्वनन्तभवेषु, दारुणविपाको नरकादिदुःखकारणत्वेन घोरोदयो भवति, ततश्च तस्मिन् देवस्वपरिभोगे, स इति कारुकः, भवति स्यात्, नियुक्तो व्यापारितः, पापः सदोषो, यः कारुकः शिल्पी, इतरथाऽन्यथा, बिम्बमूल्यनियमनाभावे इत्यर्थः । न च परोपकारकरणप्रवणान्तःकरणानां सतां दारुणविपाके कर्मणि परव्यापारणं युक्तम् । इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

अथ देवस्वपरिभोगो दारुणविपाको यदि कारुकस्य भविष्यति, ततः किमस्माकमित्यभिप्रायवन्तं शिक्षयितुमाह-

जं जायइ परिणामे, असुहं सव्वस्स तं न कायव्वं ।

भूत, तेन विशुद्धिमतेत्यर्थ । तथा विशिष्टपुष्पादिभिः प्रधान सुमन प्रभृतिभिः करणभूतैः । आदिशब्दार्थं स्वयमेव वक्ष्यति । तथा विधिना वक्ष्यमाणविधानेनेति, तुशब्दः समुच्चयार्थः, तथा सारस्तुतिस्तोत्रगुर्वी प्रधानस्तुतिस्तोत्रमहती, स्तुतिश्चैकश्लोकप्रमाणा, स्तोत्र तु बहुश्लोकमानम्, जिनपूजाऽर्हदर्चनं, भवति वर्त्तते, कर्त्तव्या विधेया । इति द्वारगाथासमासार्थः ॥३॥ पञ्चा० ४ विव० ।

सम्यक् स्नात्वोचिते काले, संस्नाप्य च जिनान् क्रमात् ।
पुष्पाहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः ॥ ६१ ॥

उचिते जिनपूजाया योग्ये, कालेऽवसरे, सम्यग् विधिना, स्नात्वा स्वय स्नान कृत्वा,च पुनर्जिनानर्हत्प्रतिमाः, संस्नाप्य सम्यक् स्नपयित्वा, क्रमात् पुष्पादिक्रमेण, न तु तमुल्लङ्घ्य, पुष्पाणि कुसुमानि, पुष्पग्रहण च सुगन्धिद्रव्याणा विलेपनगन्धधूपवासादीनामङ्गन्यसनीयानां च वस्त्राभरणादीनामुपलक्षणम् । आहारश्च पक्वान्नफलाक्षतदीपजलघृतपूर्णपात्रादिरूप', स्तुति शक्रस्तवादिसद्भूतगुणोत्कीर्तनरूपा, ततो द्वन्द्वः, ताभिः, पूजयेदिति । तस्य चैत्यपूजनस्य विधिरिति क्रियाकारकसम्बन्धः । ध० २ अधि० ।

अथ जिनपूजायां कालः किमित्याश्रीयते त्याह–

कालम्मि कीरमाणं, किसिकम्मं बहुफलं जहा होइ ।
इय सव्व च्चिय किरिया, णियणियकालम्मि विन्नेया ॥४॥

काले प्रावृडादिसमये, निजे इति शेष । क्रियमाण विधीयमानम, कृषिकर्म क्षेत्रकर्षणक्रिया, बहुफल प्रभूतधान्यादिसाधकम्, यथा येन प्रकारेण, भवति जायते, इत्येतेनैव प्रकारेण, (सव्व च्चिय त्ति) सर्वाऽपि समस्ताऽप्यास्ता जिनपूजा, क्रिया कर्म, निजनिजकाले स्वकीयस्वकीयावसरे, क्रियमाणा बहुफलेति शेष । विज्ञेया ज्ञातव्या भवति इति । अतो जिनपूजायाः करणे कालः समाश्रयणीयः । इति गाथार्थ ॥ ४ ॥

अथ पूजाकाल विशेषतो दर्शयन्नाह–

सो पुण इह विन्नेओ, संझाओ तिन्नि ताव ओहेण ।
वित्तिकिरियाविरुद्धो, अहवा जो जस्स जावइओ ॥ ५ ॥

स इति यः सर्वक्रियासु बहुफलनिबन्धनत्वेन प्रागुपदिष्टोऽसौ कालः, पुनरिति विशेषप्रतिपादनार्थः, इह जिनपूजाया विषये, विज्ञेयो ज्ञातव्यः, किंभूत इत्याह–सन्ध्याः कालवेलाः, तिस्रस्त्रिसङ्ख्या, तावदिति वक्ष्यमाणापवादिककालापेक्षया प्रथमोऽयमिति क्रमभावसूचनार्थः । ओघेन सामान्येन, उत्सर्गत इत्यर्थ । अथापवादमाह–वृत्तिर्जीवन, तदर्थाः क्रियाः कर्माणि राजसेवावाणिज्यादीनि, तासामविरुद्धोऽबाधको वृत्तिक्रियाविरुद्धः, अथवेति विकल्पार्थ । ततश्चापवादत इत्युक्त भवति । यः पूर्वाह्णादिः, यस्य राजसेवकवाणिज्यकादे, (जावइओ त्ति) यत्परिमाणो यावान्, स एव यावत्को मुहूर्तादिपरिमाणः, स तस्य तावत्क पूजाकालो भवति, न पुन' सन्ध्यात्रयरूप एवेति गाथार्थः ॥ ५ ॥

अथ किमर्थमापवादिककालप्ररूपणमित्याशङ्क्याऽऽह–

पुरिसेण बुद्धिमया, सुहवुड्ढिं भावओ गणंतेणं ।
जत्तेणं होयव्वं, सुहाणुबंधप्पहाणेण ॥ ६ ॥

पुरुषेण नरेण, नरग्रहण चेह प्रायः पुरुषस्य प्राधान्यात् । अथवा–पू शरीरं, तत्र शयनात्पुरुषो जीवः, तेन बुद्धिमता धीमता, बुद्धिमानेव हि औचित्येन वर्तत इति बुद्धिमद्ग्रहणम् । किंकुर्वता तेनेत्याह–शुभवृद्धिं कल्याणोपचय, सुखवर्द्धन वा । भावतः परमार्थतः, गणयताऽऽमनोऽन्विच्छता सता, किमित्याह–यत्नेनाऽऽदरेण, भवितव्य भाव्यम् । शुभानुबन्धप्रधानेन कुशलाविच्छेदपरेण, यथा कल्याणसन्तानो वर्धते, तथा यत्नो विधेय । वृत्तिक्रियाविरुद्धसमये च पूजासेवनेनासौ व्यवच्छिद्यते, अतः पूजायामापवादिककालः समाश्रीयते, इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

अथ कथमापवादिककालानाश्रयणे शुभसन्तानव्यवच्छेदः स्यात् ?, वृत्तिव्यवच्छेदादिति ब्रूमः । एतदेवाह–

वित्तीवोच्छेयम्मि य, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ ।
निरवेक्खस्स उ जुत्तो, संपुण्णो संजमो चेव ॥ ७ ॥

वृत्तिव्यवच्छेदे जीविकाविघाते, वृत्तिक्रियाविरुद्धपूजाकालाश्रयणे कृते, चशब्दो विशेषद्योतकः पुनश्शब्दार्थः; तस्य चैव भावना–वृत्तिक्रियाविरुद्धकालाश्रयणे वृत्तिव्यवच्छेदो भवति । वृत्तिव्यवच्छेदे पुनः किमित्याह–गृहिणो गृहस्थस्य, सीदन्ति न प्रवर्तन्ते । सर्वक्रिया धर्मलोकाश्रिताः समस्तव्यापारा । अथ सीदन्तु ताः सकलकलमषविमोपपरपरममुनिपदपङ्कजपूजनप्रवृत्तस्य किं ताभिरित्यत्राह–निरपेक्षस्य तु वृत्तिनिस्पृहस्य पुनः, पुरुषस्य । युक्तः सङ्गतो विधेयतया, सपूर्णः सर्वविरतिरूपतया परिपूर्णः । संयमश्चैव साधुधर्म्म एव साधोरिवान्यथा सर्वथा निरपेक्षत्वासिद्धेरिति गाथार्थः । ७ ॥

अथ कालद्वारं निगमयन्नाह–

तासिं अविरोहेणं, आभिग्गहिओ इहं मओ कालो ।
तत्थावोच्छिन्नो जं, णिच्चं तक्करणभावो त्ति ॥ ८ ॥

तत्तस्मात्तासां वृत्तिक्रियाणा,तासा वा, अविरोधेनानाबाधया, अभिग्रहश्चैत्यवन्दनमकृत्वा मया न भोक्तव्य, न वा स्वप्तव्यमित्यादिरूपो नियमः प्रयोजनमस्येत्याभिग्रहिकः, इह जिनपूजायां विषये, मतो विदुषां सम्मतः, कालोऽवसरः, अथ कथमभिमतोऽसौ, यतोऽभिग्रहेण बलात्तत्र काले पूजायां प्रवर्ततेऽसौ, स्वरसप्रवृत्तिरेव च गुणकरीत्याशङ्क्याऽऽह–तत्राभिग्रहे सति, अविच्छिन्नोऽत्रुटितः । यद्यस्मात्, नित्य प्रतिदिनम्, तत्करणभावः पूजाविधानाध्यवसायो भवति, तत्परिणामाध्यवच्छेदस्य चाव्यवच्छिन्नपुण्यबन्धहेतुत्वादभिमत एवाभिग्रहिकः पूजाकाल इति भावः । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्त कालद्वारम् ।

अथ शुचिद्वाराभिधानायाऽऽह–

तत्थ सुइणा दुहा वि हु, दव्वे एहाणण सुद्धवत्थेण ।
भावे उ अवत्थोचिय–विसुद्धविचिप्पहाणेण ॥ ६ ॥

(तत्थ त्ति) शुचिभूतेनेति यत् द्वारमुक्त तत्रेदमुच्यते, शुचिना शुचिमता प्राणिना, द्विधाऽपि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्याम्, आस्तामेकधा इत्यपिशब्दार्थ । 'हु' शब्दः समुच्चये, तत्प्रयोगश्च दर्शयिष्यते । जिनपूजा कर्त्तव्येति प्रक्रम । द्वैविध्य चद्रव्यभावापेक्षम्, एतदेवाऽऽह– द्रव्ये द्रव्यशौचविषये, स्नातेन जल-

(नार्पणमित्यादि) इतरस्य स्त्रीमद्यद्यूतादिव्यसनवतो, नार्पणं तथा क्रियते यथा व्यसनस्य, युक्त्या लोकन्यायेन, वक्तव्यमेव मूल्यमिति इति एवम्भूतं मूल्यमित्र वक्तव्यं, काले च प्रस्तावे च दानमुचितं, मूल्यस्येति गम्यते। शुभभावेनैव न अशुभभावेन, विधिपूर्वमविधिपरिहारेण ॥ ३ ॥

एतत्पालनं प्रति किमेवमुपदिश्यत इत्याह–

चित्तविनाशो नैवं, प्रायः संजायते द्वयोरपि हि ।
अस्मिन् व्यतिकर एष, प्रतिषिद्धो धर्मतत्त्वज्ञैः ॥ ४ ॥

चित्तविनाशः चित्तकालुष्यं, नैवम् उक्तनीत्या, प्रायो बाहुल्येन, संजायते, द्वयोरपि हि कारयितृघटयित्रोः, अस्मिन् प्रस्तुते, व्यतिकरे संबन्धे, एष चित्तविनाशश्चित्तभेदः, प्रतिषिद्धो निराकृतो, धर्मतत्त्वज्ञैर्धर्मस्वरूपवेदिभिः ॥ ४ ॥

अस्मिन् व्यतिकरे इत्युक्तं तमेवाधिकृत्याह–

एष द्वयोरपि महान्, विशिष्टकार्यप्रसाधकत्वेन ।
संबन्धोऽपीह शुभं, न मिथः सन्तः प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥

(एष इत्यादि) एष योगो, द्वयोरपि पूर्वोक्तयोर्महान् गुरु विशिष्टकार्यप्रसाधकत्वेन जिनबिम्बनिर्वर्त्तकत्वेन, इह भवन्य, शुभं धवलं, न मिथः परस्परं, सन्तः साधुपुरुषाः, प्रशंसन्ति स्तुवन्ति ॥ ५ ॥

जिनबिम्बकारणे भावप्राधान्यमुररीकृत्याऽऽह–

यावन्तः परितोषाः, कारयितुस्तत्समुद्भवाः केचित् ।
तद्बिम्बकारणानी-ह तस्य तावन्ति तत्त्वेन ॥ ६ ॥

(यावन्त इत्यादि) यावन्तो यत्परिमाणाः, परितोषाः प्रीतिविशेषाः, कारयितुर्बिम्बस्य, तत्समुद्भवा बिम्बसमुद्भवाः, केचित्कोऽपि, निरवच्छेदोऽप्यर्थं, तद्बिम्बकारणानि जिनबिम्बनिर्वर्त्तनानीह प्रक्रमे, तस्य कारयितुः, तावन्ति तत्परिमाणानि, तत्त्वेन परमार्थेन ॥ ६ ॥

चित्तविनाशोऽत्र प्रतिषिद्ध इत्युक्तं, तमाश्रित्याह–

अप्रीतिरपि च तस्मिन्, भगवति परमार्थनीतितो ज्ञेया ।
सर्वापायनिमित्तं, ह्येषा पापा न कर्त्तव्या ॥ ७ ॥

(अप्रीतिरित्यादि) अप्रीतिरपि च चित्तविनाशरूपा, तस्मिन् शिल्पिनि क्रियमाणा, भगवति जिने, परमार्थनीतितः परमार्थन्यायेन, कारयितुर्ज्ञेया सर्वापायनिमित्तं, हि यत, सर्वेषामपायानां प्रत्यवायानां निमित्तमप्रीतिः, तस्मादेषा पापाऽप्रीतिः, न कर्त्तव्या न विधेया ॥ ७ ॥

कथं पुनः तत्कारयितव्यमित्याह–

अधिकगुणस्थैर्नियमात्, कारयितव्यं स्वदौर्हृदैर्युक्तम् ।
न्यायार्जितवित्तेन तु, जिनबिम्बं भावशुद्धेन ॥ ८ ॥

(अधिकेत्यादि) अधिकगुणस्थैरधिकगुणवर्त्तिभिः, प्राक्तनकालापेक्षया, नियमात् नियमेन, कारयितव्यं कारणीयं, स्वदौर्हृदैः स्वमनोरथैः, शिल्पिगतैः, युक्तं सहितं, न्यायार्जितवित्तेन तु न्यायोपात्तद्रविणेन तु करणभूतेन, जिनबिम्बं जिनप्रतिमारूपं, भावशुद्धेन भावेन सदन्तःकरणलक्षणेन शुद्धं यन्न्यायार्जितवित्तं तेन ॥ ८ ॥

स्वदौर्हृदैर्युक्तमित्युक्तं तद्विवरीषुराह–

अत्रावस्थात्रयगा-मिनो बुधैर्दौर्हृदाः समाख्याताः ।
बालाद्यर्थैता य-त्क्रीडनकादि देयमिति ॥ ९ ॥

(अत्रेत्यादि) अत्र जिनबिम्बकारणे, अवस्थात्रयगामिनो बालकुमारयुवलक्षणावस्थात्रयगामिनो, बुधैर्विद्वद्भिर्दौर्हृदा मनोरथाः, समाख्याताः कथिताः, बालाद्यर्थैताः यत् चित्ते भवाश्चैत्ताः शिल्पिचित्तगताः, यद्यस्मात् वर्त्तन्ते तत्तस्माच्चैत्तबालाद्यवस्थात्रयमनोरथसम्पत्तये, क्रीडनकादि क्रीडनकं विस्मयकारि भोगोपकरणजातं, देयमुपढौकनीयम्, इति एवम्प्रकारम्। इदमुक्तं भवति–शिल्पी बालो युवा मध्यमवया वा प्रतिमानिर्माणे व्याप्रियते, तस्य तदवस्थात्रयमनाहत्य प्रतिमागतावस्थात्रयदर्शितचैत्ता ये दौर्हृदाः समुत्पद्यन्ते, तत्परिपूरणाय यतितव्यम् ॥ ९ ॥

भावशुद्धेनेत्युक्तं, तदुपदर्शनायाऽऽह–

यदस्य सत्कमनुचित-मिह वित्ते तस्य तज्जमिह पुण्यम् ।
भवतु शुभाशयकरणा-दित्येतद्भावशुद्धं स्यात् ॥ १० ॥

यत् स्वरूपेण यन्मात्रं, यस्य सत्कं यस्य सम्बन्धि, वित्तमिति गम्यते, अनुचितमयोग्यम्, इह वित्ते मदीये कथञ्चिदनुप्रविष्टं, तस्य पुरुषस्य, तस्माज्जातं तज्जम्, इह बिम्बकरणे, पुण्यं पुण्यकर्म, भवतु अस्तु, शुभाशयकरणात् शुभपरिणामकरणात्, इत्येवमुक्तनीत्या, एतत् न्यायार्जितं वित्तं पूर्वोक्तं भावशुद्धं, स्यात्। परकीयवित्तेन स्ववित्तानुप्रविष्टेन पुण्यकारणानभिलाषाङ्कितेनान्तःकरणेन शुद्धं भवेत ॥ १० ॥

जिनबिम्बकारणविधिरभिधीयत इत्युक्तं, तद्गतमेव विशेषमाह–

मन्त्रन्यासश्च तथा, प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम ।
मन्त्रः परमो ज्ञेयो, मननत्राणे ह्यतो नियमात् ॥ ११ ॥

मन्त्रन्यासश्च तथा जिनबिम्बे कारयितव्यतयाऽभिप्रेते मन्त्रस्य न्यासो विधेयः । कः पुनः स्वरूपेण मन्त्र इत्याह–'प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम। मन्त्रः परमो ज्ञेयः' प्रणव ओङ्कारो, नमःशब्दश्च, तौ पूर्वावादौ यस्य तत्प्रणवनमःपूर्वकं, तस्य विवक्षितस्य ऋषभादेर्नाम तन्नाम, मन्त्रः परमः प्रधानो, ज्ञेयो वेदितव्यः। किमित्याह–'मननत्राणे ह्यतो नियमात्' हि यस्मादतः प्रणवनमःपूर्वकान्नाम्नः मननात् त्राणरक्षणे नियमाद्भवत इति कृत्वा मन्त्र उच्यते तन्नामैवेति ॥ ११ ॥

ननु च रत्नकनकादिभिः सुरूपमहाबिम्बकरणैर्विशिष्टं फलमाहोस्वित्परिणामविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह–

बिम्बं महत्सुरूपं, कनकादिमयं च यः खलु विशेषः ।
नास्मात्फलं विशिष्टं, भवति तु तदिहाशयविशेषात् ॥ १२ ॥

बिम्बं प्रतिमारूपं, महत्प्रमाणतः, सुरूपं विशिष्टाङ्गावयवसन्निवेशसौन्दर्यं, कनकादिमयं च चतुर्वर्णरत्नादिमयं च, यः खलु विशेषो बाह्यवस्तुगतः, नास्मात्फलं विशिष्टमस्मादेव विशेषान्न फलविशेषो न फलमधिकं, नैतदविनाभावि फलमित्यर्थः। भवति तु भवत्येव, तद्विशिष्टं फलम्, इह प्रक्रमे, आशयविशेषात् यत्र भावोऽधिकस्तत्र फलमप्यधिकमिति हृदयम् ॥ १२ ॥

आशयविशेषात् विशिष्टं फलमित्युक्तं, स एव आशयविशेषो यादृक् प्रशस्तो भवति तादृक्माह–

आगमतन्त्रः सततं, तद्वद्भक्त्यादिलिङ्गसंसिद्धः ।
चेष्टायां तत्स्मृतिमान्, शस्तः खल्वाशयविशेषः ॥ १३ ॥

एत्तो विसुद्धभावो,अणुहवसिद्धो च्चिय बुहाणं ॥११॥

भूमे प्रेक्षणं च स्नानभुवः प्राणिरक्षार्थं चक्षुषा निरीक्षणं, जलच्छाणनं च पूतरकपरिहारार्थं नीरगालनमादिः प्रमुखं यस्य व्यापारवृन्दस्य तद्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादि। आदिशब्दान्मक्षिकारक्षणादिग्रहः। तत्किमित्याह-यतना प्रयत्नविशेषः, तुशब्दः पुनरर्थः। तद्भावना चैवम्-स्नानादि यतनया गुणकरं भवति, यतना पुनर्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादिर्भवति वर्त्तते । केत्याह-स्नानादावधिकृते,देहशौचविलेपनजिनाऽर्चनप्रभृतिनि च, इह च प्राकृते ओकाराश्रुतेरभावात् (एहाणाओ) इत्येवं पठ्यत इति । (एत्तो त्ति) कृतः पुनर्यतनाविहितस्नानादेर्विशुद्धभावः शुभाध्यवसायोऽनुभवसिद्ध एव स्वसंवेदनप्रतिष्ठित एव, बुधाना बुद्धिमताम्, अनेन च शुभभावहेतुत्वा दित्यस्य पूर्वोक्तहेतोरसिद्धताशङ्का परिहृता, इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

आरम्भवतो यतनया स्नानादि गुणायेति यत् प्रागुक्तं, तत्र कश्चिदाह-आरम्भवानपि यद्यधिकतरपापभीरुतया धर्मार्थं स्नानादि न करोति, तदा न गुणमुत्पश्याम इत्याशङ्कयाऽऽह-

अमत्थारंभवओ, धम्मेऽणारंभओ अणाभोगो।
लोए पवयणखिंसा, अबोहिवीयं ति दोसा-य ॥ १२ ॥

अन्यत्राधिकृतस्नानादेरपरत्र विविधदेहगेहादिकर्मसु, आरम्भवतो भूतोपमर्दनकारिणः सतो देहिनो,धर्मे धर्मविषये,जिनार्चानिमित्तमित्यर्थः। (अणारभओ त्ति) अनारम्भ एवानारम्भको, भूतोपमर्दनपरिहारः। किमित्याह-अनाभोगो ज्ञानाभावो वर्त्तते, अनाभोगकार्यत्वादनारम्भस्य। अथवा-अनारम्भतोऽनारम्भादनाभोगो ऽवसीयते। ज्ञानाभाव एव हि शास्त्रानुमतोऽपि जिनार्चनादिगत आरम्भोऽकृत्यतया ऽवभासते । तथा लोके शिष्टजने, तन्मध्य इत्यर्थः। प्रवचनखिंसा जिनशासनाश्लाघा-"पूजाविधानाप्रतिपादनपरं जिनशासनम्, अन्यथा कथमार्हताः शौचादिव्यतिरेकेणापि जिनं पूजयन्ति " इत्यादिरूपा भवति । सा चाबोधेर्जन्मान्तरे जिनधर्माप्राप्तेर्बीजमिव बीजं हेतुरबोधिबीजम् । इत्येतावनन्तरोक्तौ दोषौ दूषणे भवतः। चशब्दोऽनाभोगापेक्षया समुच्चयार्थः । अथ वा-दोषाय प्रवचनप्रातिलक्षणाय तदबोधिबीजं सपद्यते । इतिशब्दः समाप्तौ। ततो द्रव्यतः स्नातेन शुद्धवस्त्रेण च जिनपूजा विधेयेति स्थितमिति गाथाऽर्थः ॥ १२ ॥

अथ भावशौचानाश्रयणे दोषाभिधानायाऽऽह-

अविसुद्धा वि हु वित्ती, एवं चिय होइ अहिगदोसा उ।
तम्हा दुहा वि सुइणा, जिणपूजा होइ कायव्वा ॥१३॥

अविशुद्धा अवस्थाया औचित्येन सावद्या, अपिशब्दो भिन्नक्रमः। हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, वृत्तिरपि जीविकाऽपि, न केवलं स्नानाद्यभाव एव। (एवं चिय त्ति) एवमेवानेनैव प्रकारेण, स्नानादिद्रव्यशौचाकरणप्रदर्शितेन, भवति सपद्यते, अधिकदोषा तु द्रव्यशौचाभावापेक्षया प्रचुरदूषणैव । यतोऽनाभोगादयो द्रव्यशौचाभावोक्ता दोषास्तावदशुद्धवृत्त्यां भवन्त्येव, अन्ये च राजनिग्रहादयो भवन्ति, अन्यायरूपत्वात्तस्याः। अथ शुचिभूतेनेत्येतद्द्वारोपसंहाराय (तम्ह त्ति) यस्मात् द्रव्यशौचभावशौचाभावे एते दोषा भवन्ति, तस्माद्धेतोः, द्विधाऽपि द्रव्यभावभेदात्प्रकारद्वयेनाऽपि, आस्ताम् एकप्रकारेण। शुचिना शुचिभूतेन, जिनपूजाऽर्हदर्चनम्, भवति वर्त्तते, कर्त्तव्या विधेयेति गाथार्थः ॥ १३ ॥ उक्तं शुचिभूतेनेति द्वारम् ।

अथ विशिष्टपुष्पादिभिरित्येतत्द्वारप्रतिपादनायाऽऽह-

गंधवरधूवसव्वो-सहीहिँ उदगाऽऽइएहिँ चित्तेहिं ।
सुरहिविलेवणवरकुसु-मदामबलिदीवएहिँ च ॥ १४ ॥
सिद्धत्थयदहिअक्खय-गोरोयणमाइएहिँ जहलाभं ।
कंचणमोत्तियरयणा-ऽऽदामएहिं च विविहेहिँ ॥१५॥ युग्मम्।

द्वारगाथायां पुष्पादिभिरित्येव द्वारस्य निर्दिष्टत्वाद् गन्धेत्यादि न युक्तम् । अत्रोच्यते-पुष्पादिभिरित्यत्रादिशब्दस्य प्रकारार्थत्वेन पुष्पादिभिः पुष्पप्रकारैरिति व्याख्यानात् दोषः। वरधूपः प्रधानधूपो, गन्धवरो वा गन्धप्रधानो धूपः कृष्णागरुप्रभृतिगन्धयुक्तिप्रसिद्धः, सर्वौषधयो लोकरूढाः, एतेषां द्वन्द्वः। ताभिर्जिनपूजा भवति, कर्त्तव्येत्यनेन द्वारगाथोक्तेन योगः। तथोदकादिभिर्जलप्रभृतिभिरादिशब्दादिक्षुरसघृतदुग्धादिपरिग्रहः। चित्रैर्विविधैः, एभिः पुनः पूजा जिनबिम्बस्य स्नपनद्वारेण पुरतः स्थापनाद्वारेण यथारूढि स्यात्, उभयथाऽपि पूजात्वेनाविरूद्धत्वात्। अथ जीवाभिगमादिषु इक्षुरसादीनां पूजात्वेनाप्रदर्शितत्वान्न युक्तं तेषामादिशब्दोपादानव्याख्यानम्, नैवम्, जीवाभिगमाद्यप्रदर्शितानामपि बलिदीपगोरोचनादीनामिहोक्तत्वेन तदुपदर्शितस्य पूजाविधानस्याव्यापकत्वात्। अत एव जीवाभिगमे नन्दापुष्करिणीजलेन स्नानोक्तावपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यां नानाविधैर्जलैर्मृत्तिकातुवरादिद्रव्यैश्च स्नपनमुक्तम्। अथ घृतादिभिः स्नपनं न युक्तं,विगन्धित्वात्तेषां को वा किमाह, यतो यानि गन्धादिभिः सुन्दराणि घृतादिद्रव्याणि शोभावहानि कर्तृद्रष्टृणां भावोल्लासकारीणि , तैरेव च तद्विधेयम्। यतो वक्ष्यति-"जह रेहति तह सम्मं,कायव्वमणण्णचेट्ठेणं"ति। तथा सुरभिविलेपनं सुरभिश्रीखण्डाद्यनुलेपनं, वरकुसुमदामानि प्रधानपुष्पमालाः, बलिरुपहारः, दीपकः प्रदीपकः, एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तैः। चशब्दः समुच्चये। सिद्धार्थकाः सर्षपाः, दधि च प्रतीतम्, अक्षताश्च तन्दुलाः, दध्यक्षत, गोरोचना गोपित्तजा, एषां द्वन्द्वोऽतस्तदादिभिरेतत्प्रभृतिभिः, आदिशब्दाच्छेषमङ्गलवस्तुपरिग्रहः। यथालाभं यथासंपत्ति। काञ्चनमौक्तिकरत्नादिदामकैश्च कनकमुक्ताफलमाणिक्यमालाभिश्च, विविधैर्बहुप्रकारैरिति गाथाद्वयार्थः ॥ १४-१५ ॥

अथ कस्माद्विशिष्टपुष्पादिभिरेव पूजा विधीयते इत्याशङ्क्याह-

पवरेहिँ साहणेहिं, पायं भावो वि जायए पवरो ।
ण य अण्णो उवओगो, एएसि सयाण लट्ठयरो ॥१६॥

प्रवरैरुत्कृष्टैः, साधनैः पूजाकारणद्रव्यैः, प्रायो बाहुल्येन, कस्यापि क्लिष्टकर्मणः प्रवरसाधनैरपि न जायते प्रवरभावस्तस्यान्यस्यातिशुभकर्मणः प्रवरद्रव्याणि विनैव प्रवरभावो जायते, इत्येतदर्थसूचनाय प्रायोग्रहणम्। भावोऽध्यवसायोऽपि, न केवलं द्रव्याण्येव प्रवराणीत्यपिशब्दार्थः। जायते सपद्यते, प्रवरः प्रधानोऽशुभकर्मक्षयहेतुः। भवति च द्रव्यविशेषाद्भावविशेषः। यदाह-"गुणभूइट्ठे दव्व-म्मि जेण मित्तो हियत्तभावे। इय वत्थूओ इच्छति, ववहारो निज्जरं विउलं॥१॥" इत्येण भावे। क प्रवरद्रव्योपादाने कारणम्। अथ कारणान्तरमाह-न नैव,

संबन्धिनां पूर्वादिदिक्षु क्रमेण व्यवस्थितानां, क्रमेणैव तु खड्गदण्डपाशगदाहस्तानामिति, अवसरणक्रमेण समवसरणन्यायेन द्वितीयप्रकरणवर्णितेन, अन्ये ऽपरे सूरयः, सर्वेषां चैव समस्तानामेव, देवानां सुराणाम, पूजा कार्येत्याहुरिति शेषः । इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

अथ किमेषामसंयतानां पूजादि क्रियत इत्याह—

जमहिगयबिंबसामी, सव्वेसिं चेव अब्भुदयहेऊ ।
ता तस्स पइट्ठाए, तेसिं पूयादि अविरुद्धं ॥ १९ ॥

यद्यस्मादधिकृतबिम्बस्वामी, जिनपतिरित्यर्थः । सर्वेषामेव समस्तानामपीन्द्रादिदेवानाम, अभ्युदयहेतु कल्याणनिमित्तम, तत्तस्मात्, तस्याधिकृतबिम्बस्वामिनः, प्रतिष्ठायाम, तेषां दिक्‌देवतादीनाम, पूजादि पूजासत्कारप्रभृति क्रियमाणम, अविरुद्धं सङ्गतमेव, इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

साहम्मिया य एए, महिड्ढिया सम्मदिट्ठिणो जेण ।
एत्तो च्चिय उचियं खलु, एएसिं एत्थ पूजादी ॥२०॥

साधर्मिकाः समानधार्मिकाः, आर्हतत्वात्तेषाम । एते दिग्देवतादयः, तथा महर्द्धिका महैश्वर्याः, तथा मिथ्यादृशोऽपि साधर्मिका व्यवतो भवन्तीत्याह-सम्यग्दृष्टयः सम्यग्दर्शनधराः, येन कारणेन, (एत्तो च्चिय त्ति) अत एव कारणत्रयादेव, उचित खलु सङ्गतमेवेति, एतेषां दिग्देवतादीनाम, अत्र प्रतिष्ठाऽवसरे, पूजादि पूजासत्कारप्रभृति । इति गाथार्थः ॥ २० ॥

तत्तो सुहजोएणं, सट्ठाणे मंगलेहिँ ठवणा उ ।
अहिवासणमुचिएणं, गंधोदगमादिणा एत्थ ॥ २१ ॥

ततो दिग्देवताऽऽदिपूजानन्तरम, शुभयोगेन प्रशस्तचन्द्रनक्षत्रलग्नादिसम्बन्धेन, स्वस्थानेऽधिवासनोचितदेशे, मङ्गलैर्मङ्गलविशेषैः, चन्दनादिभिर्वा । स्थापना तु न्यासश्च, बिम्बस्य विधेयेति गम्यम । ततश्चाधिवासनमधिवासनं वा, शुद्धिविशेषापादनेन बिम्बप्रतिष्ठायोग्यताकरणं प्रतिष्ठाकल्पप्रसिद्धम, उचितेन योग्येन, गन्धोदकादिना मङ्गलपञ्चयोनिमिश्रजलप्रभृतिना, आदिशब्दात्कषायमृत्तिकाऽऽदिपरिग्रहः, अत्र प्रतिष्ठायाम । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

तथा-

चत्तारि पुण्णकलसा, पहाणमुद्दाविचित्तकुसुमजुया ।
सुहपुण्णचचउतं-तुगोत्थया होंति पासेसु ॥ २२ ॥

चत्वारश्चतुःसंख्याः, पूर्णकलशा घटा जलपरिपूर्णा अक्षमाश्च, प्रधानमुद्रया रूप्यसुवर्णरत्नस्वरूपया विचित्रकुसुमैश्च नानाविधपुष्पैर्युता युक्ता ये ते तथा । शुभपूर्णचत्रतन्तुस्तन्तुकावस्तृताः, पूर्ण सूत्रकुक्कुटिकापूरित, यच्चत्र तर्कुः, तस्य संबन्धि यच्चतुस्तन्तुकं तन्तुकचतुष्टं तत्तथा । शुभं च तत्पूर्णचत्रचतुस्तन्तुकं चेति समासः, तेनावस्तृता आच्छादिताः कण्ठदेशेषु ये ते तथा, भवन्ति, विधेया इति शेषः । पार्श्वेषु चतसृषु दिक्षु, पुरस्तात्प्रतिष्ठाप्यप्रतिमायाः, इति गाथार्थः ॥२२॥

किं चान्यत्-

मंगलदीवा य तहा, घयगुलपुण्णा सुभिक्खुजक्खा य ।
जवबारयवण्णयस-त्थिगादि सव्वं महारम्मं ॥ २३ ॥

मङ्गलदीपा माङ्गल्यप्रदीपाः, च समुच्चयार्थः, तथेति तेनैव प्रकारेण, घृतगुडपूर्णाः घृतगुडसमन्विता भवन्ति, तत्र तथा शुभाः प्रशस्ता इक्षव इक्षुयष्टिखण्डानि, भक्ष्याणि च खण्डखाद्यकादीनि, येषु दीपेषु ते तथा । चः समुच्चये । अथवा-स्वतन्त्राण्येव शुभेक्षुभक्ष्याणि च भवन्ति । "सुभेक्खुलक्खा त्ति" पाठान्तरम । तत्र शुभा इक्षवो वृक्षाश्च फलत्यादयः । तथा यववारकाः शरावादिरोपितयवाङ्कुराः, वर्णकश्चन्दनं श्रीखण्डादि, स्वस्तिकः प्रसिद्ध एव, वर्णकस्य वा स्वस्तिका वर्णकस्वस्तिकास्ते आदिर्यस्य नन्द्यावर्त्तादिवस्तुजातस्य तत्तथा । सर्वं समस्तम्, महारम्यमतिरमणीयं, भवति, तत्र विधेयमित्यन्वयः । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

मगलपमिमरणाइं, चित्ताइं रिद्धिविद्धिजुत्ताइं ।
पढमदियहम्मि चंदण-विलेवणं चेव गंधड्ढं ॥ २४ ॥

मङ्गलप्रतिसरणानि मङ्गलकङ्कणानि, चित्राणि विचित्राणि, ऋद्धिवृद्धियुक्तानि ऋद्धिवृद्धयभिधानौषधीसनाथानि, प्रथमदिवसे आद्यदिने, अधिवासनादिने इत्यर्थः । चन्दनविलेपनमेव च मलयजानुलेपनमेव च, गन्धाढ्यं कर्पूरकस्तूरिकादिगन्धैः पूर्णं विधेयम, इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

चउणारीओमिणणं, णियमा अहिगासु णत्थि उ विरोहो।
णेवत्थं च इमासिं, जं पवरं त इहं सेयं ॥ २५ ॥

चतुःसंख्या नार्यः स्त्रियश्चतुर्नार्यस्ताभिर्मङ्गलयाभिः, (ओमिणण ति) अवमानं प्रोङ्खणकं लोकशास्त्रसिद्धम, चतुर्नार्यवमानं भवति तत्र कर्त्तव्यम । नियमादवश्यतया, अधिकासु चतसृभ्योऽर्गलतरासु, नास्ति तु न भवत्येव, विरोधः शास्त्रबाधः, नेपथ्यं च वेषः, आसामवमानकारिणीनां नारीणां, यत्प्रवरं यत्प्रधानं प्रशस्तं च, तदिहावमानप्रस्तावे, श्रेयः कल्याणभूतं समाश्रयणीयं च, इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

ननु प्रवरनेपथ्यस्य रागहेतुत्वात्कथं श्रेयस्त्वमित्याह-

जं एयवइयरेणं, सरीरसक्कारसंगयं चारु ।
कीरइ तयं असेसं, पुण्णणिमित्तं मुणेयव्वं ॥ २६ ॥

यत्प्रवरनेपथ्यादि, एतद्व्यतिकरेण जिनबिम्बप्रतिष्ठासम्बन्धेन, शरीरसत्कारसङ्गतं देहभूषानुगतं, चारु शोभनम्, क्रियते विधीयते, धार्मिकजनेन । तत्तदशेषं सर्वम्, पुण्यनिमित्तं शुभकर्मनिबन्धनम्, (मुणेयव्व त्ति) ज्ञेयं, सत्पक्षपातरूपत्वात्तत्परिणामस्येत्यर्थः । श्रेय एव तासां नेपथ्यविशेषः, इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अथ कुतस्तत्पुण्यनिमित्तमित्याह-

तित्थगरे बहुमाणा, आणाआराहणा कुसलजोगा ।
अणुबंधसुद्धिभावा, रागादीणं अभावा य ॥ २७ ॥

तीर्थकरे जिने, बहुमानात् पक्षपातात्, तथा आज्ञाऽऽराधनादाप्तोपदेशानुपालनात्, कुशलयोगात् प्रशस्तव्यापारात् शास्त्रोक्तत्वेन । अनुबन्धशुद्धिभावात् सातत्येन कर्मक्षयोपशमेनात्मनो निर्मलत्वसद्भावात्, रागादीनां रागद्वेषप्रभृतीनाम, अभावात् अविद्यमानत्वात्, रागाऽऽद्यभावश्चाज्ञापरतन्त्रत्वादेव, चशब्दः समुच्चये, पुण्यनिमित्तं प्रवरनेपथ्यादि विज्ञेयमिति प्रकृतम्, इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

पायडिअपामिहेर, देवागमसोहिअं चेव ॥ १ ॥
दंसणनाणचरित्ता-राहणकज्जे जिणत्तिअ कोइ ।
परमिट्ठिनमोक्कार, उज्जमिउं कोइ पंच जिणा ॥ २ ॥
कल्लाणतवमहत्था, उज्जमिउ भरहवासभावि त्ति ।
वद्धमाणविसेसाओ, कोई कारिंति चउवीसं ॥ ३ ॥
उक्कोस सत्तरिसयं, नरलोए विहरइ त्ति भत्तीए ।
सत्तरिसय पि कोई, बिंबाण कारइ धणड्ढो ॥ ४ ॥ "

तस्मात्त्रितीर्थीपञ्चतीर्थीचतुर्विंशतिपट्टादिकारण न्याय्यमेव दृश्यते, तथा सति तत्प्रक्षालनाद्यपि निर्दोषमेव, अङ्गरूक्षण हस्तादि च पृथक् भाजनस्थशुद्धजलेन क्षाल्यं,न तु प्रतिमाक्षालनजलेन, चन्दनादिवत्। इति जिनस्नपनविधिः।

अथ पूजाविधिः—

पूजा चाङ्गाग्रभावभेदात् त्रिधा। तत्र स्नपनमङ्गपूजैव,ततः "अंह्रि २ जानु २ करा ६ सेषु, ८ मूर्ध्नि ९ पूजां यथाक्रमम्" इत्युक्तेर्नवद्यमाणत्वात्स्पृष्ट्या नवाङ्गेषु कर्पूरकुङ्कुमादिमिश्रगोशीर्षचन्दनान्यर्चयेत्। केऽप्याहुः-पूर्वं भाले तिलकं कृत्वा नवाङ्गपूजा कार्या।श्रीजिनप्रभसूरिकृतपूजाविधौ तु-"सरससुरहिचंदणेणं देवस्स दाहिणजाणुदाहिणखंधनिडालवामखंधवामजाणुलक्खणेसु पंचसु हिअएहिं सहत्थेसु वा अंगेसु पूअं काऊण पच्चमाकुसुमेहिं गंधवासेहिं च पूएइ " इत्युक्तम्। ततः सद्वर्णैः सुगन्धिभिः सरसैरभूपतितैर्विकाशिभिरशटितदलैः प्रत्यग्रैश्च प्रकीर्णैर्नानाप्रकारग्रथितैर्वा पुष्पैः पूजयेत्। पुष्पाणि च यथोक्तान्येव ग्राह्याणि। यतः—

" न शुष्कै पूजयेद्देवं, कुसुमैर्न महीगतैः।
न विशीर्णदलैः स्पृष्टै-र्नाशुभैर्नाऽविकाशिभिः ॥ १ ॥
कीटकोशापविद्धानि, शीर्णपर्युषितानि च।
वर्जयेदूर्णनाभेन, वासितं यदशोभितम् ॥ २ ॥
पूतिगन्धीन्यगन्धीनि, अम्लगन्धीनि वर्जयेत्।
मलमूत्रादिनिर्माणा-दुच्छिष्टानि कृतानि च " ॥ ३ ॥

सति च सामर्थ्ये रत्नसुवर्णमुक्ताभरणरौप्यसौवर्णपुष्पादिभिश्चन्द्रोदयादिविचित्रदुकूलादिवस्त्रैश्चाप्यलङ्कुर्यात्। एवं चान्येषामपि भाववृद्ध्यादि स्यात्। यतः " पवरेहिं साहणेहिं, पायं भावो वि जायए पवरो। न य अन्नो उवओगो, एएसि सयाण लट्ठयरो"॥१॥त्ति। श्राद्धविधिवृत्तौ-"ग्रन्थिम १ वेष्टिम २ पूरिम ३ संघातिम ४ रूपचतुर्विधप्रधानाम्लानविधानैःशतपत्रसहस्रपत्रजातीकेतकचम्पकादिविशिष्टपुष्पैर्माला १ मुकुट २ शिरस्क ३ पुष्पगृहादि विरचयेदिति विशेषः। चन्दनपुष्पादिपूजा च तथा कार्या यथा जिनस्य चक्षुर्मुखाच्छादनादि न स्यात्, सश्रीकताऽतिरेकश्च स्यात्, तथैव द्रष्टृणां प्रमोदवृद्ध्यादिसंभवात्। अन्योऽप्यङ्गपूजाप्रकारः कुसुमाञ्जलिमोचनपञ्चामृतप्रक्षालनशुद्धोदकधाराप्रदान कुङ्कुमकर्पूरादिमिश्रचन्दनविलेपनाङ्गीविधानगोरोचनमृगमदादिमयतिलकपत्रभङ्ग्यादिकरणप्रमुखो भक्तिचैत्यप्रतिमापूजाभिकारे वक्ष्यमाणो यथास्थ ज्ञेयः। तथा जिनस्य हस्ते सौवर्णबीजपूरनालिकेरपूगीफलनागवल्लीदलनाणकमुद्रिकादिमोचनं कृष्णागुर्वादिधूपोत्क्षेपसुगन्धवासप्रक्षेपाद्यपि सर्वमङ्गपूजायामन्तर्भवति। तथोक्तं बृहद्भाष्ये-" एहवणविलेवणआहर-णवत्थफलगंधधूवपुप्फेहिं। कीरइ जिणंगपूआ, तत्थ विही एस नायव्वो" ॥ १ ॥ त्ति। तत्र धूपो जिनस्य वामपार्श्वे कार्य इत्यङ्गपूजा। ततो घृतपूर्णप्रदीपैः शाल्यादितन्दुलाक्षतैर्बीजपूरादिनानाफलैः सर्वैर्नैवेद्यैर्निर्मलोदकभृतशरावादिपात्रैश्च पूजयेत्। तत्र प्रदीपो जिनस्य दक्षिणपार्श्वे स्थाप्यः, अक्षतैश्चाखण्डै रौप्यसौवर्णैः शालेयैर्वा जिनस्य पुरतो दर्पण १ भद्रासन २ वर्द्धमान ३ श्रीवत्स ४ मत्स्ययुग्म ५ स्वस्तिक ६ कुम्भ ७ नन्द्यावर्त्त ८ रूपाष्टमङ्गलानालेखयेत्। अन्यथा वा ज्ञानदर्शनचारित्राराधननिमित्त बुद्ध्या पुञ्जत्रयेण पट्टादौ विशिष्टाक्षतान् पूगादिफलं च ढौकयेत्। नवीनफलागमे तु पूर्वं जिनस्य पुरतः सर्वथा ढौक्य, नैवेद्यमपि सति सामर्थ्ये कूराद्यशनशर्करागुडादिपानफलादिखाद्यताम्बूलादिस्वाद्यान् ढौकयेत्। नैवेद्यपूजा च प्रत्यहमपि सुकरा, महाफला च धान्यस्य च विशिष्य, आगमेऽपि राद्धधान्यस्यैव प्रतिपादनात्; यत आवश्यकनिर्युक्तौ समवसरणाधिकारे " कीरइ बलीति," निशीथेऽपि—"तओ पभावईए देवीए सव्वं बलिमाई काउ भणिअ-देवाहिदेवो वद्धमाणसामी तस्स पडिमा कीरओ त्ति वाहिओ कुहाडो दुहा जायं पिच्छइ सव्वालंकारविभूसिअं भगवओ पडिमं" निशीथपीठेऽपि-[बलि त्ति]"असिवोवसमनिमित्तं कूरो किज्जइ "। महानिशीथेऽपि तृतीयाध्ययने-"अरिहंताणं भगवंताणं गंधमल्लपईवसमज्जणोवलेवणविचित्तबलिवत्थधूवाईएहिं पूआसक्कारेहिं पइदिणमब्भच्चणं पकुव्वाणा तित्थुत्थप्पणं करामो त्ति"। ततो गोशीर्षचन्दनरसेन पञ्चाङ्गुलितलैर्मण्डलालेखनादि पुष्पप्रकराऽऽरात्रिकादिगीतनृत्यादि च कुर्यात्। सर्वमप्येतदग्रपूजैव,यद्भाष्यम्-" गंधव्वनट्टवाइअ-लवणजलारत्तिआइ दीवाई। जं किच्चं तं सव्वं,पि ओअरइ अग्गपूआए"।१। इत्यग्रपूजा। भावपूजा तु जिनपूजाव्यापारनिषेधरूपतृतीयनैषेधिकीकरणपूर्वं जिनाद्दक्षिणदिशि पुमान्, स्त्री तु वामदिशि, आशातनापरिहारार्थं जघन्यतोऽपि सम्भवे नवहस्तमानादसंभवे तु हस्तहस्तार्द्धमानादुत्कृष्टतस्तु षष्टिहस्तमानादवग्रहाद् बहिः स्थित्वा चैत्यवन्दनां विशिष्टस्तुत्यादिभिः कुर्यात्। आह च-"तइआ उ भावपूआ, ठाउं चिइवंदणोचिए देसे। जहसत्ति चित्तथुइथुत्तमाइणा देववंदणयं ॥१॥ " निशीथेऽपि-"सो उ गंधारसावओ थयथुईहिं थुणंतो तत्थ गिरिगुहाए अहोरत्तं निवसिओ"। तथा वसुदेवहिण्डौ-" वसुदेवो पच्चूसे कयसमत्तसावयसामाइआइनिअमो गहिअपच्चक्खाणो कयकाउस्सग्गथुइवंदणो त्ति"। एवमनेकत्र श्रावकादिभिरपि कायोत्सर्गस्तुत्यादिभिश्चैत्यवन्दना कृतेत्युक्तम्। (ध०) (स्तुतिभेदनिरूपणम् 'थुइ' शब्दे वक्ष्यते)गीतनृत्याद्यग्रपूजाप्युक्त भावपूजायामप्यवतरति, तच्च महाफलत्वान्मुख्यवृत्त्या स्वयं करोत्युदायननृपराज्ञी प्रभावती यथा। यन्निशीथचूर्णिः-"पभावई एहाया कयबलिकम्मा कयकोउअमंगल्ला सुक्किल्लवासपरिहिआ० जाव अट्ठमी चउद्दसी सु अभात्तिरागेण य सयमेव राओ नट्टोवयारं करेइ, राया वि तयाणुवित्तीए मुरयं वाएइ " इति। पूजाकरणावसरे चार्हतश्छद्मस्थकेवलिसिद्धत्वावस्थात्रयं भावयेत्। यद्भाष्यम्-" एहवणच्चगेहि छउमत्थवत्थपडिहारगेहिँ केवलिअं। पलिअंकुस्सग्गेहि अ, जिणस्स भाविज्ज सिद्धत्तं ॥ १ ॥ " स्नापकैः परिकरोपरिघटितगजारूढकरकलितकलशैरमरैरर्चकैश्च तत्रैव घटितमालाधारैः कृत्वा जिनस्य छद्मस्थावस्थां भावयेत्। छद्मस्थावस्था त्रिधा-जन्मावस्था १, राज्यावस्था २, श्रामण्यावस्था च ३। तत्र स्नपनकारैर्जन्मावस्था १, मालाधारै राज्यावस्था २, श्रामण्यावस्था भगवतोऽपगतकेशशीर्षमुखदर्शना-

ज्ञातव्य इति शेषः । अत्रापि प्रतिष्ठायामपि, न केवलं शकुनविषय एव, तथा तद्वदिष्टसिद्धिः, सम्यग्यथावत्, विज्ञेया ज्ञातव्या, बुद्धिमद्भिर्मतिमद्भिः, इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

इहाऽऽचार्यान्तरमतमाह-

अन्ने उ पुण्णकलसा-दिठावणे उदहिमंगलादीणि ।
जंपंतऽण्णे सव्व-त्थ भावतो जिणवरा चेव ॥ ३७ ॥

अन्ये त्वपरे पुनः सूरयः,पूर्णकलशादिस्थापने पूर्णकलशमङ्गलदीपानां न्यासे, उदधिमङ्गलादीनि समुद्रज्वलनमङ्गलप्रभृतीनि, जल्पन्ति भणन्ति,पठनीयतयेति । अन्येऽपरे पुनः,सर्वत्र सर्वप्रयोजनेषु प्रतिष्ठागतेषु, भावतः परमार्थतः, मङ्गलमिति गम्यम् । जिनवरा एव जिनेन्द्रा एव, न मङ्गलान्तरमतस्तन्नामैव सर्वत्र ग्रहीतव्यम् । इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

प्रतिष्ठाऽनन्तरं यद्विधेयं तदाह-

सत्तीएँ संघपूजा, विसेसपूजाउ बहुगुणा एसा ।
जं एस सुए भणिओ, तित्थयराऽणंतरो संघो ॥३७॥

शक्त्या यथाशक्तीत्यर्थः, सङ्घपूजा चतुर्वर्णश्रीश्रमणसङ्घाभ्यर्चनं, विधेया, यस्माद्विशेषपूजातो धर्माचार्यादितद्विशेषार्चनायाः सकाशात्,बहुगुणा महाफलेत्यर्थः । एषा सङ्घपूजा, एतदपि कुत इत्याह-यद्यस्माद्, एषोऽयं सङ्घः ।श्रुते सिद्धान्ते, भणितोऽभिहितः, तीर्थकरेभ्योऽनन्तरो द्वितीयस्थानवर्त्ती तीर्थकरानन्तरः, पूज्यत्वेनेति शेषः । अथवा-अविद्यमानमन्तरं विशेषो यस्य सोऽनन्तरः, तीर्थकराणामनन्तरस्तीर्थकरतुल्य इत्यर्थः । तेषामपि तस्य पूज्यत्वात् । अथवा-तीर्थकरोऽनन्तरो यस्मात्स तथा, सङ्घपूर्वकं हि तीर्थकरस्य तीर्थकरत्वम् । सङ्घ इति सम्बन्धितमेव, इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह-

गुणसमुदाओ संघो, पवयण तित्थं ति होंति एगट्ठा ।
तित्थयरो वि य एणं, णमए गुरुभावतो चेव ॥३६॥

गुणसमुदायोऽनेकप्राणिस्थज्ञानादिगुणसमूहः, (संघो त्ति) सङ्घ उच्यते । तस्य च प्रवचनं तीर्थमिति चैतौ शब्दौ, प्रवतो वर्त्तेते, एकार्थाविभिन्नार्थौ । यद्यपि प्रकृष्टं प्रशस्तं वा वचनं प्रवचनं द्वादशाङ्गी, तथा तरन्ति येन भवोदधिमिति तीर्थं, द्वादशाङ्ग्येव,तथाऽप्याधाराधेययोरभेदविवक्षणात्प्रवचनं तीर्थं च सङ्घ उच्यत इति, तत्स्थानपेक्षितपुरुषादिभावतया गुणसमुदायरूपताया एवापेक्षणात् । तीर्थकरोऽपि च जिनोऽपि च,आस्तामितरजनः, एतं सङ्घम्, नमति वन्दते, धर्मकथाऽऽरम्भे-"नमो तित्थस्स" इति भणनात् । कुत इत्याह-गुरुभावतः " गुरुरयं गुणात्मकत्वात् " इत्येवंरूपो यो भावोऽध्यवसायः स गुरुभावस्तस्मात् । अथवा-गुरुभावतो गुरुत्वाद्गौरवार्हत्वात्, चैवेत्यवधारणार्थः, इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ तीर्थकरनमनीयत्वं सङ्घस्यागमेन दर्शयन्नाह-

तप्पुव्विया अरिहया, पूजितपूया य विणयकम्मं च ।
कयकिच्चो वि जह कहं, कहेति णमते तहा तित्थं ॥४०॥

तत्पूर्विका तीर्थहेतुका, तीर्थं च सङ्घः, (अरिहय त्ति) अर्हता तीर्थकरत्वं प्रवचनवात्सल्यादिजन्यत्वात्तस्याः । तथा पूजितस्य सतः पूज्यैर्या सङ्घस्य पूजा सा पूजितपूजा,सा च प्रवर्त्ततां, पूजितपूजकत्वाल्लोकस्य । तथा विनयकर्म्म च वैनयिककृत्यं च, कृतज्ञताधर्मगर्भं कृतं भवतु, विनयमूलो धर्म इत्यादिनिष्करणार्थम्, इत्येवं कारणत्रयान्नमति तीर्थमिति योगः । अथ कृतकृत्यस्य किं तीर्थनमनेनेत्यत आह-कृतकृत्योऽपि निष्ठितार्थोऽपि, आस्तामितरः, यथा यद्वत्, कथां धर्मदेशनाम्, कथयति करोति, नमति प्रणमति, तथा तद्वत्, तीर्थं सङ्घं, तीर्थकरनामकर्मोदयादौचित्यप्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तदेव-

एयम्मि पूजियम्मि, णऽत्थि तयं जं ण पूजियं होइ ।
भुवणे वि पूयणिज्जं, ण गुणट्ठाणं ततो अण्णं ॥ ४१ ॥

एतस्मिन् सङ्घे पूजिते सति, नास्ति न विद्यते, तकत्पूज्यम्, यन्न पूजितमर्चितं भवति, सर्वमेव पूजितं भवतीति भावः । कुत एतदेवमित्याह-भुवनेऽपि लोकेऽपि, पूजनीयं पूज्यम्, न नैव, गुणस्थानं गुणास्पदं, ततः सङ्घात्, अन्यदपरमस्ति, इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

अथ सङ्घैकदेशपूजैव कर्तुं शक्या, न सङ्घपूजा, तस्य सकलसमयक्षेत्राश्रयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह-

तप्पूयापरिणामो, हंदि महाविसयमो मुणेयव्वो ।
तद्देसपूयणम्मि वि, देवयपूयादिणाएण ॥ ४२ ॥

तत्पूजापरिणामः सङ्घपूजनाध्यवसायः, " संघमहं पूजयामि " इत्येवंरूपः, हन्दीत्युपप्रदर्शने, महाविषयो बृहद्गोचरः, मकारः प्राकृतत्वात्, (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यः, तद्देशपूजनेऽपि सङ्घैकदेशार्चनेऽपि, अपिशब्दः परोक्ताभ्युपगमसूचनार्थः । कथमेतत्सिद्धमित्याह-दैवतपूजादिज्ञातेन देवतार्चनप्रभृत्युदाहरणेन । यथा हि-दैवतस्य राज्ञो वा मस्तकपादाद्येकदेशपूजनेऽपि तत्पूजापरिणामाद्दैवतादि पूजितो भवति, एवमेकदेशपूजनेऽपि सङ्घः पूजितो भवति, इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

सङ्घपूजामेव गाथात्रयेण स्तुवन्नाह-

आसण्णसिद्धियाणं, लिंगमिणं जिणवरेहिँ पण्णत्तं ।
संघम्मि चेव पूया, सामण्णेणं गुणणिहिम्मि ॥ ४३ ॥
एसा उ महादाणं, एस च्चिय होति भावजण्णो त्ति ।
एसा गिहत्थसारो, एस च्चिय संपयामूलं ॥ ४४ ॥
एत्तीएँ फलं णेयं, परमं णेव्वाणमेव णियमेण ।
सुरणरसुहाइँ अणुसं-गियाइँ इह किसिपलालं व ॥४५॥

आसन्नसिद्धिकानां समासन्नीभूतनिर्वृतीनां, जीवानाम् । लिङ्गं चिह्नम्, इदमेतत्, जिनवरैः तीर्थकृद्भिः, प्रज्ञप्तमुक्तम्, यतः किमित्याह-सङ्घे श्रीश्रमणसङ्घे,चैवशब्दोऽवधारणार्थः।स चोत्तरत्र सम्बन्त्स्यते, पूजाऽर्चना, कथम् ?, सामान्येनैव, न तु परिचयस्वाजन्यादिविशेषेण, विशेषापेक्षया हि गुणानामुपसर्जनभावो भवति, स्वाजन्यादिविशेषस्यैव च प्रधानता स्यादिति । गुणनिधौ ज्ञानादिगुणरत्ननिधाने, गुणनिधानत्वादिति भाव , इति ॥४३॥ एषा तु इयमेव सङ्घपूजा,महादानमुत्तमविश्राणनम् । एषैव च, भवति जायते, भावयज्ञः परमार्थयाग ,इति, समाप्तौ, एषा सङ्घपूजा गृहस्थसारो गृहिणां सार इव सारः सर्वस्वम्, ईप्सितार्थसाधकत्वात् । गृहस्थधर्मसारो वा । एषैव च सम्पन्मूलं श्रीकारणम् ॥४४॥ एतस्याः ... साध्यम्, ज्ञेयं

मङ्गलार्थे तथा रक्तं, पञ्चवर्णं च सिद्धये ॥ १५ ॥
पञ्चामृतं तथा शान्तौ, दीपः स्यात् सघृतैर्गुणैः ।
वह्नौ लवणनिक्षेपः, शान्त्यै तुष्ट्यै प्रशस्यते ॥ १६ ॥
खण्डिते सन्धिते छिन्ने, रक्ते रौद्रे च वाससि ।
दानपूजातपोहोम-सख्यादि निष्फलं भवेत् ॥ १७ ॥
पद्मासनसमासीनो, नासाऽग्रन्यस्तलोचनः ।
मौनी वस्त्रावृतस्योऽस्य, पूजां कुर्याज्जिनेशितुः ॥ १८ ॥
स्नात्रं विलेपनविभूषणपुष्पवास-
धूपप्रदीपफलतन्दुलपत्रपूगैः ॥
नैवेद्यवारिवसनैश्चमराऽऽतपत्र-
वादित्रगीतनटनस्तुतिकोशवृद्ध्या ॥ १९ ॥
इत्येकविंशतिविधा जिनराजपूजा,
ख्याता सुरासुरगणेन कृता सदैव ।
खण्डीकृता कुमतिभिः कलिकालयोगा-
द्यद्यत्प्रियं तदिह भाववशेन योज्यम् ॥ २० ॥" इति ।

एवमन्यदपि जिनबिम्बवैशिष्ट्यकरणचैत्यगृहप्रमार्जनसुधाधवलनजिनचरित्रादिविचित्रचित्ररचनसमग्रविशिष्टपूजोपकरणसामग्रीरचनपरिधापनिकाचन्द्रोदयतोरणप्रदानादिसर्वमङ्गादिपूजायामन्तर्भवति, सर्वत्र जिनभक्तेरेव प्राधान्यात्। गृहचैत्योपरि च धौतिकाद्यपि न मोच्यं, चैत्यवत्तत्रापि चतुरशीत्याशातनाया वर्जनीयत्वात्। अत एव देवसत्कपुष्पधूपदीपजलपात्रचन्द्रोदयादिना गृहकार्यं किञ्चिदपि न कार्यमेव, नापि स्वगृहचैत्यढौकितचोक्षपूगीफलनैवेद्यादिक्रियोत्थद्रव्यं व्यापार्यम्। चैत्यान्तरे तु स्फुटं तत्स्वरूपं सर्वेषां पुरतो विज्ञाप्यारोप्यम्, अन्यथाऽर्पणे च मुधा जनप्रशंसादिदोषप्रसङ्गः। गृहचैत्यनैवेद्याद्यप्यारामिकस्य मुख्यवृत्त्या मासदेयस्थाने न देयं, शक्त्यभावे च आदावेव नैवेद्यार्पणेन मासदेयोक्तौ तु न दोषः। इति पूजाविधिः। ध० २ अधि०।

प्रस्तावितद्वारमेवोपदर्शयन्नाह-

सारा पुण थुइथोत्ता, गंभीरपयत्थविरइया जे उ ।
सब्भूयगुणुक्कित्तण-रूवा खलु ते जिणाणं तु ॥ २४ ॥

साराणि प्रधानानि, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः । तच्चैवम्-सारैः स्तुतिस्तोत्रैर्गुर्वी पूजा कर्त्तव्या, साराणि पुनस्तानि कानीत्युच्यते, यानि त्वित्येनस्येह दर्शनाद्यान्येव गम्भीरैरतुच्छैः, पदानां शब्दानामर्थैरभिधेयैर्विरचितानि दृब्धानि गम्भीरपदार्थविरचितानि । तद्यथा--" पमिवएणचरिमतगुणो, अइसयलेस पि जस्स दट्ठूण । भवहुत्तमणा जाय-ति जोइणो त जिण नमह" ॥ १ ॥ 'जे उ त्ति' व्याख्यातमेव । अतुच्छपदार्थयुक्तान्यपि कानिचिदसद्भूतगुणकीर्त्तनरूपाणि स्युः । यथा-

क्षेमाय मर्त्यजगतस्तल एव शङ्के,
शाकम्भरीनृप ! गत न भवद्यशोभिः ।
गायन्ति तानि यदि तत्र भुजङ्गयोषाः,
शेषः शिरांसि धुनुयान्न मही स्थिरा स्यात् " ॥ १ ॥

इत्येतद्व्यवच्छेदायाऽऽह-सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनरूपाणि विद्यमानगुणग्रहणस्वभावान्येव, खलुरवधारणे, तानि स्तुतिस्तोत्राणि, जिनानां तु आप्तानामेव । तद्यथा--" आणा जस्स विलइया, सीसे सव्वेहिं हरिहरेहिं पि । सो वि तुह झाणजलणे, मयणो मयण व्व पविलीणो " ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अथ कथं स्तुत्यादिप्रधानपूजाया गुर्वीत्वमित्यत्रोच्यते, स्तुत्यादीनां कुशलपरिणामहेतुत्वादेतदेवाऽऽह-

तेसिं अत्थाहिगमे, णियमेणं होइ कुसलपरिणामो ।
सुंदरभावा तेसिं, इयरम्मि वि रयणणाएण ॥ २५ ॥

तेषां सारस्तुत्यादीनामर्थाधिगमेऽभिधेयाऽवगमे सति, नियमेनावश्यंभावेन, भवति जायते, कुशलपरिणामः शुभाध्यवसायः, अर्थाधिगमस्य प्रायः कुशलपरिणामकारकत्वादिति भव्यस्तोतॄणामिति गम्यते। एवं तर्ह्यर्थाधिगमवतामेव स्तुत्यादिभिर्गुर्वी पूजा स्यान्नान्येषामित्यत्रोच्यते-सुन्दरभावात् शुभभावत्वात्, तेषां स्तुत्यादीनाम्, इतरस्मिन्नपि तदर्थानवगमेऽपि,आस्तां तदर्थाधिगमे, कुशलः परिणामो भवतीति प्रकृतम्। अथ कथमिदमवसीयते इत्याह-रत्नज्ञातेन माणिक्योदाहरणेन, यथा रत्नमज्ञानगुणमपि सुन्दरस्वभावतया गुणकरमेवमेतान्यपीति गाथार्थः ॥ २५ ॥

अधिकृतमेव ज्ञातं ज्ञापनीये योजयन्नाह-

जरसमणाई रयणा, अण्णायगुणा वि ते समिंति जहा ।
कम्मजराई थुइमा-इया वि तह भावरयणाओ ॥ २६ ॥

ज्वरशमनादीनि ज्वरापहारप्रभृतीनि, आदिशब्दाच्छूलशमनादिग्रहः, रत्नानि माणिक्यानि, अज्ञातगुणान्यपि रोगिभिरविदितज्वरादिशमनसामर्थ्यान्यपि, न केवलं ज्ञातगुणान्येव तान् ज्वरादिरोगान् शमयन्ति नाशयन्ति, यथा येन प्रकारेण,सुन्दररूपतालक्षणेन,कर्मज्वरादीन् कर्मलक्षणज्वरादिरोगान् स्तुत्यादीन्यपि स्तुतिस्तोत्राण्यपि, न केवलं रत्नान्येव, (तह इति) अत्रोत्तरस्यावधारणार्थस्य तुशब्दस्य सम्बन्धात्,तथैव तेनैव प्रकारेण, किंभूतानि स्तुत्यादीनि ?, भावरत्नानि पारमार्थिकमाणिक्यानि, शमयन्तीति प्रकृतमिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

सारस्तुतिस्तोत्रद्वारनिगमनम्, तथा यदुक्तम्-" सारथुइथोत्तसहिया, उ तह य चिइवंदणाउ त्ति" । पञ्चा० ४ विव० ।

पूजा अविच्छेदतोऽस्य कर्तव्येत्युक्तं सैव स्वरूपतोऽभिधीयते कारिकाद्वयेन-

स्नानविलेपनसुसुग-न्धिपुष्पधूपादिभिः शुभैः कान्तम् ।
विभवानुसारतो यत्, काले नियतं विधानेन ॥ १ ॥
अनुपकृतपरहितरतः, शिवदस्त्रिदशेशपूजितो भगवान् ।
पूज्यो हितकामाना-मिति भक्त्या पूजनं पूजा ॥२॥

स्नानं गन्धद्रव्यसंयोजितं, स्नात्रं वा,विलेपनं चन्दनकुङ्कुमादिभिः,सुष्ठु सुगन्धिपुष्पाणि जात्यादिकुसुमानि। तथा सुगन्धिधूपो गन्धयुक्तिप्रतीतः, तदादिभिरपरैरपि शुभैर्गन्धद्रव्यविशेषैः, कान्तं मनोहारि, विभवानुसारतो विभवानुसारेण. यत् पूजनमिति सम्बन्धः। काले त्रिसन्ध्यं स्ववृत्त्यविरुद्धे वा, नियतं सदा,विधानेन शास्त्रोक्तेन ॥ १ ॥ उपकृतमुपकारो, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते परे च तेभ्यो हितं तस्मिन् रतोऽभिरतः, प्रवृत्तोऽनुपकृतपरहितरतो निष्कारणवत्सलः, शिवं ददातीति शिवदस्त्रिदशानामीशास्तैः पूजितो, भगवान् समग्रैश्वर्यादिसंपन्नः, पूज्यः पूजनीयो, हितकामानां हिताभिलाषिणां, सत्त्वानामित्येवंविधेन कुशलपरिणामेन, भक्त्या विनयसेवया, पूजनं पूजोच्यते ॥२॥

शास्त्रमेव महानिशीथादिलक्षणम्, अपिशब्द एवकारार्थः, स च दर्शित एव, बहुमतमनीवाभीष्टं, ते तव, रचित कृतं, यत यस्मात्, पूर्वसूरिप्रवरैश्चिरन्तनाचार्यप्रधानैः, तेषामाचार्यवृन्दारकाणाम्, आचरण चेष्टितं,नन्वित्यक्षमायां,मूढ! मन्दमते!, भवति जायते, ग्राह्य स्वीकर्त्तव्य, विशेषेणाऽऽदरेण। इदमत्र तत्त्वम्-यदि तव पूर्वाचार्यवचन शास्त्रास्थित प्रमाण, ततस्तच्चेष्टित विशेषतः कर्त्तु युज्यते, न हि ते अनुचित कुर्वन्ति, अत्र बहुवचनप्रक्रमेऽपि यदेकवचनेन निगमन कृत, तद् "बह्वादेशेऽपि एकादेशः" इति वचनाद् अदुष्ट मन्तव्यम्, एवमन्यत्रापीति गाथार्थः।

अत्र यदि परो ब्रूयात्-न मम तदाचरित प्रमाणम्-

तस्तत्साधनाय गाथाऽर्द्धमाह-

असढेहि समाइन्नं, इच्चाइवयणओ तयं सिद्धं ।

अशठैरमायिभिः, समाचीर्णमासेवितम्, इत्यादिवचनत एवप्रभृतिभणनात्,तकं तत् पूर्वाचार्यानुष्ठित,सिद्धं प्रतिष्ठितम्।आदिग्रहणादेवं दृश्यम्-" ज कत्थइ केणइ वा, असावज्जमणुछिम तेण । अनिवारियमन्नेहिं,बहुमणुमयमेवमायरिय"।१। सुगम च। एतच्च पराभिप्रायमभ्युपगम्यास्माभिरुक्तम्, वस्तुतस्तु त्वदुक्तस्तव एवेयं विम्बप्रतिष्ठा न भवति, निरवद्याचार्यमन्त्रन्यनुष्ठानपूर्वकाजिनगुणाध्यारोपणेन भावस्तवत्वादस्याः। किं च-आचार्यप्रतिष्ठाकरणे श्रीमदुमास्वातिवाचकसमुद्रसूरिहरिभद्राचार्यादिरचिताः प्रतिष्ठाकल्पा दृश्यन्ते, श्रावकप्रतिष्ठाकरणविधौ तु न किमपि दृश्यते विधानम्, ततः कथं ते तां कुर्वन्तु?,मा वा भवतु, यदि श्रावकेण कुत्रचित् कदापि च कृता भवति भवद्वचनात्पूर्वप्रतिष्ठा, ततो युज्येतेदमपि वक्तुम्। यदप्युच्यते-अष्टापदजैनालये कृता भविष्यति, तदपि युक्त स्यात् यदि साधुव्युच्छित्तौ निष्पन्नं तत्स्यात्।किञ्चावश्यकचूर्ण्यां तत्करणविधि सर्व प्रतिपादितो, न तु साधुना श्रावकेण वा प्रतिष्ठा कृतेत्युक्तम्। यच्च सम्प्रतिराजनि राजनिर्मापितानार्यदेशचैत्येषु साध्वभावात्कृता भविष्यति, तत्रापि पश्चात्कृतैः साधुभिः प्रतिष्ठा कृता भविष्यतीत्ये, तदपि वक्तु शक्यते,तस्मात्किमेभिः कुशकाशावलम्बनैरिति?।

द्वितीयविकल्पशोधनायोत्तरार्द्धमाह-

कप्पम्मि वि जं भणियं, तं अणुजाणाहिगारम्मि ।

कल्पेऽपि न केवलं प्रथमविकल्पेन तव न किञ्चित्समीहित जात, द्वितीयेनापि नेत्यपिशब्दार्थः, यद् वचन भणित तद्वचनमनुयानाधिकारे रथस्य पृष्ठतोऽनुव्रजनेन प्रतिष्ठाधिकार इति गाथार्थः।

अस्यैवार्थस्य सुखावगमार्थं सबन्धपूर्वकमिदानीं कल्पोक्तं तदक्षरैर्लिख्यते। तत्र रथयात्रादौ प्रभूतजनसम्मर्दात् कुलेषु साधुभिर्न प्रवेष्टव्यम् उत्सर्गत, किं कारणम?, गच्छतां मार्गे ईर्याशुद्धिर्न भवति, भक्तादिशुद्धिश्च न भवति, प्रासानां च तत्स्थाने श्रावकादिलोकैरवरुद्धानि गृहाणि भवन्ति ततो देवगृहेऽपि स्थातव्य स्यात्, तथा स्त्र्यादिसघट्टनतो रागद्वेषौ स्यातामेवमाद्यर्थप्रतिपादिका विस्तरेण द्वारगाथा प्रतिपादिता, सा चाऽत्र ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिता।

अपवादमाह-

इमेहिं पुण कारणेहिं पविसियव्व, जइ ण पविसइ, तो चउगुरुय पच्छित्त। काणि य कारणाणि?-

" चेइयपूया राया-णिमनण सन्निवाइखवगधम्मकही ।
सकियपत्तपभावण-पवित्तिकज्जा य उड्डाहो " ॥ १ ॥

चेइयपूया रायानिमतण च दो वि दारे एगट्ठे ।

वक्खाणेइ पविसतेइमे गुणा भवति-

"सद्धावुड्ढी रन्नो, पूयाएँ थिरत्तण पभावणया ।
पमिघाओ य अणत्थे, अत्था य कआ हवइ तित्थे " ॥ १ ॥

रन्नो सद्धा वड्ढिया भवइ, चेइयपूया थिरीकया हवइ, तीर्थं प्रभावित भवति, ये चाऽर्हच्छाशनप्रत्यनीका बहुजने दोषान् ख्यापयन्ति,एवविधानामनर्थाना प्रतिघात कृतो भवति। आस्था नाम-स्वपक्षाणामर्हत्कृते तीर्थे बहुमानत्वमुत्पादित भवति।

निमतण सन्नि त्ति सावगा वाई, एए दो वि
दारे पगिज्झे वक्खाणेइ-

" एमेव य सन्नीण वि, जिणाण पडिमासु पढमपट्ठवणे ।
मा परवाई विग्घं, करेज्ज वाई तओ वि सई " ॥ १ ॥

कण्ठा। सावओ कोइ पढम जिणपडिमाए पट्ठवण करेइ णाइपगिद्धेण। इमे गुणा परवाइनिग्गह दट्ठुं-

"तवधम्माण थिरत्त, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।
अभिगच्छति य विग्घा, पूयाएँ सपक्खसेयाए" ॥१॥

कण्ठा। (सेयाए त्ति) अविग्घेण पूआए कयाए सपक्खस्स इहलोए एय सेय-इहलोए असिवाई उवद्दवा न हवति, परलोए तित्थगरपूयाए दरिसणविसुद्धी तव्वत्तिया भवइ।

खवग त्ति दारमियाणिं-

"आयाविंति तवस्सी, ओभावणया परप्पवाईण ।
जे इ परिसा वि महिमं, उवेंति कारिंति सड्ढा य" ॥१॥

(कारिंति सड्ढाय त्ति) जइ परिसा तवस्सिणो उवेंति, तओ सावगा महिम करिंति, कारविंति य।

इयाणिं धम्मकहिं ति दार-

"आयपरसमुत्तारो, तित्थाविवड्ढी य होइ कहयतो।
अन्नोन्नाभिगमेण य, पूयाथिरया सबहुमाणो"॥१॥

इयाणिं सकिय ति दार-

"निस्सकिय च काहिइ, उभए ज सकियं सुयहरेहिं" ।

पत्तदारमियाणिं—

"अव्वोच्छित्तिकर वा, लज्जइ पत्त दुपक्खाओ " ॥१॥

पभावणदारमियाणिं--

जाइकुलरूवधणबल-सपक्षा इड्डिमत निस्सका ।
जयणाजुत्ता य जई-एमेव तित्थ पभासिंति" ॥१॥

उक्त च--

" प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।
जिनवचनरतश्च कवि, प्रवचनमुद्भावयन्त्येते" ॥१॥
"जो जेण गुणा गहिओ, जेण गुणा वा न सिज्झए ज तु।
सो तेण धम्मकज्जे, सव्वत्थाम न दावेइ" ॥२॥

इयाणिं पवित्तिदारं-

"साहम्मियागयाण, खेमासिवाण व लज्जइ पवित्तिं ।
गच्छति हिताइ वा, होहिंति न वा वि अत्थइ वा" ॥१॥

इयाणिं कज्जदार-उड्डाहदारे-

"कुलमाईण कज्जइ, इमाहिं सलिंगिणो य सस्सिसस्सा।
ज लोगविरुद्धाइ, करिंति लोगुत्तराइं वा" ॥१॥

समाप्ता द्वारगाथा।

अत्र सङ्घिद्वारेणैव प्रयोजन तदर्थं व्याख्यानायाऽऽह-

तत्थ य पढमं ठवणं, पढम एसणं भणति समयविऊ ।

यथोगसारा, गीता कथिता, अभ्युदय प्रसाधयतीत्यभ्युदयप्रसाधनी चान्याऽपरा वाग्योगप्रधाना, निर्वाण साधयतीति निर्वाणसाधनीति च मनोयोगसारा स्वतन्त्रा वा त्रिविधा, फलदा तु फलदैवैकैका यथार्थसञ्ज्ञाभिरन्वर्थाभिधानैः ॥ १० ॥

तिसृष्वपि यद् भवति तदाह–

प्रवरं पुष्पादि सदा, चाद्यायां सेवते तु तद्दाता ।
आनयति चान्यतोऽपि हि, नियमादेव द्वितीयायाम्॥११॥
त्रैलोक्यसुन्दरं यद्, मनसाऽऽपादयति तत्तु चरमायाम् ।
अखिलगुणाधिकसद्यो–गसारसद्ब्रह्मयागपरः ॥ १२ ॥

प्रवर प्रधान, पुष्पादि पुष्पगन्धमाल्यादि, सदा च सर्वदैव, आद्याया प्रथमाया, सेवते तु सेवते एव ददात्येव, तद्दाता तस्याः पूजाया. कर्त्तर दाता, आनयति च वचनेनाऽन्यतोऽपि हि क्षेत्रान्तरात् प्रस्तुत पुष्पादि, नियमादेव नियमेनैव, द्वितीयायां पूजायाम ॥११॥ त्रैलोक्यसुन्दर त्रिषु लोकेषु प्रधान, यत् पारिजातकुसुमादि नन्दनादिवनगतं, मनसाऽन्त करणेन, आपादयति सपादयति, तत्तु तदेव, चरमायां निर्वाणसाधन्यां, तद्दातेत्यत्राप्यभिसवध्यते । अयमेव विशिष्यते–अखिलैर्गुणैरधिकं सद्योगानां सद्धर्मव्यापाराणां सारं फलकल्पमजरामरत्वेन धर्मस्य सारोऽमरत्वमिति तत्त्वम् । सद्योगसार यत् सद् ब्रह्म परमात्मस्वरूप, तस्य यागो यजनं, पूजन तत्र तत्परस्तत्प्रधानः प्रस्तुतस्तद्दाताऽखिलगुणाधिकसद्योगसारसद्ब्रह्मयागपर उच्यते ॥ १२ ॥ षो० ६ विव० ।

अक्षतादिपूजास्तत्र दृष्टान्ताश्च । जिनप्रतिमापूजाविधिमाह–

कुसुमऽक्खयधूवेहिं, दीवयवासेहिं सुंदरफलेहिं ।
पूया घयसलिलेहिं, अट्ठविहा तस्स कायव्वा ॥ २४ ॥

कुसुमाक्षतधूपैः पुष्पशाल्याद्यखण्डतन्दुलकृष्णागुरुसारधूपैः, दीप. प्रदीपो, गन्धा. सुगन्धिसारद्रव्यनिष्पन्नानेकभेदभिन्नास्तै', सुन्दरफलैः पवित्रसुगन्धिमनोहरातिवर्णाढ्यनारङ्गाम्राजपूरकादिभिः, पूजा सपर्या, घृत सर्पि, उपलक्षण चैतत्–समस्तनैवेद्यपक्वान्नादे । सलिल जल, ताभ्याम्, अष्टविधाऽष्टभेदा । उपलक्षण चैतत्–काञ्चनरत्नवस्त्रादे' । तस्य मिश्रामिश्रादिभेदभिन्नजिनभवनमध्यगतभावार्हद्गुणगणाध्यारोपणसदार्हद्विम्बस्य कर्त्तव्या कार्या भवतीति गाथार्थ. ॥ २४ ॥

अथैतस्या एवाष्टविधपूजायाः फलोपदर्शनप्रतिबद्धानि ग्रन्थान्तरोपरिचितानि भविकजनात्यन्तादरातिशयोत्पादनार्थं सन्ति कथानकानि । दर्श० । (तानि च ग्रन्थगौरवभयादत्र न प्रदर्शयाम. । तद्दिदृक्षुणा दर्शनशुद्धिग्रन्थो निरीक्ष्यः)

"गन्धैर्माल्यैर्विनिर्यद्बहुलपरिमलैरक्षतैर्धूपदीपैः,
साम्नाय्यै' प्राज्यभेदैश्चरुभिरुपहितै पाकपूतै. फलैश्च ।
अम्भ सपूर्णपात्रैरिति हि जिनपतेरर्चनामष्टभेदां,
कुर्वाणा वेश्मभाज परमपदसुखस्तोममाराल्लभन्ते' ॥ १ ॥

न च जिनबिम्बानां पूजादिकरणे न काचित्फलप्राप्तिरिति वाच्यम, चिन्तामण्यादिभ्य इव तेभ्योऽपि फलप्राप्त्यविरोधात्। यदुक्तं वीतरागस्तोत्रे श्रीहेमसूरिभि –

"अप्रसन्नात्कथ प्राप्य फलमेतदसङ्गतम् ।
चिन्तामण्यादय किं न,फलन्त्यपि विचेतना."॥१॥ ध०२अधि०।

(स्नात्रविधिः) राजादिना कार्य्या विधिना जिनपूजा–ततो विधिना जिनगृहे त्रिविधप्रतिमाऽपेक्षया भक्तिचैत्यरूपे, पञ्चविधचैत्यापेक्षया तु निश्राकृतेऽनिश्राकृते वा गत्वा विधिना जिनस्य भगवतः पूजन पुष्पादिभिरभ्यर्चन, वन्दन स्तुतिर्गुणोत्कीर्त्तनमित्यर्थः । तच्च जघन्यतो नमस्कारमात्रमुत्कर्षतश्चैर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकशक्रस्तवादिभिर्दण्डकैरिति। अत्र विधिना जिनगृहे गमनमुक्तम् । तद्विधिश्च यदि राजा महर्द्धिकस्तदा–" सव्वाए इड्ढीए सव्वाए जुईए सव्ववलेणं सव्वपोरिसेण " इत्यादिवचनात् प्रभावनानिमित्त महर्द्ध्या देवगृहे याति । अथ सामान्यविभवस्तदौद्धत्यपरिहारेण यथाऽनुरूपामम्बर बिभ्रन् मित्रपुत्रादिपरिवृतो याति, तत्र गतश्च पुष्पताम्बूलादिसचित्तद्रव्याणां परिहारेण १, किरीटवर्जशेषाऽऽभरणाद्यचित्तद्रव्याणामपरिहारेण २, एकैकपृथुलवस्त्रोत्तरासङ्ग , एतच्च पुरुष प्रति द्रष्टव्यम्, स्त्री तु सविशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुलतेति ३, दृष्टे जिनेन्द्रे अञ्जलिबन्ध शिरस्यारोपयन्–"नमो जिणाण"इति भणनप्रणमने ४। अयमपि सङ्घाचारवृत्तौ स्त्रीणां निषिद्धः। तथा च तत्पाठ–"एकशाटकोत्तरासङ्गकरण जिनेन्द्रदर्शने शिरस्यञ्जलिबन्धश्चेति द्वौ पुरुषमाश्रित्योक्तौ; स्त्री तु सविशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुलतेति" ॥ तथा चागम'–" विणओणयाए गायलट्ठीए " त्ति । तावता शक्रस्तवपाठादावप्यासां शिरस्यञ्जलिन्यासो न युज्यते, तथाकरणेऽङ्गादिदर्शनप्रसक्तेः। यत्तु–"करयल०जाव कट्टु एवं वयासी " इत्युक्त द्रौपदीप्रस्तावे,तद्भक्त्यर्थं न्युञ्छनादिवदञ्जलिभ्रमणसूचनपर, न तु पुरुषे. सर्वसाम्यार्थ,न च तथा स्थितस्यैव सूत्रोच्चारख्यापनपर वा,अन्यदपि नृपविज्ञपनादावप्यादौ तथा भणनात्, इत्याद्युक्तप्राय परिज्ञाव्यमत्रागमाविरोधेनेति, मनसश्चैकाग्र्य कुर्वन्निति पञ्चविधाभिगमेन नैषेधिकीपूर्व प्रविशति।यदाह–" सच्चित्ताण दव्वाण विउसरणयाए १, अच्चित्ताण दव्वाण अविउसरणयाए २, एगल्लसाडएण उत्तरासगेण ३, चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं ४, मणसो एगत्तीकरणेण ति" ५ । राजादिस्तु चैत्य प्रविशॅस्तत्काल राजचिह्नानि त्यजति । यतः–" अवहट्टु रायककुआ–इं पचवररायककुआइं । खग्ग छत्तोवाणह, मउड तह चामराओ अ ॥ १ ॥ " अग्रद्वारे प्रवेशे मनोवाक्कायैर्गृहव्यापारो निषिध्यते इति ज्ञापनार्थं नैषेधिकीत्रय क्रियते,परमेकैवैषा गण्यते,गृहादिव्यापारस्यैकस्यैव निषिद्धत्वात्,कृताया च नैषेधिक्या सावद्यव्यापारवर्जनमेव न्याय्यम्, अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्ते' । यतो दिनकृत्ये–"मिहो कहाओ सव्वाओ, जो वज्जेइ जिणालए । तस्स निसीहिआ होइ, इइ केवलिभासिअं"॥१॥ इति । ततो मूलबिम्बस्य प्रणामं कृत्वा सर्वं हि प्रायेणोत्कृष्ट वस्तु श्रेयस्कामैर्दक्षिणभाग एव विधेयमित्यात्मनो दक्षिणाङ्गभागे मूलबिम्ब कुर्वन् ज्ञानादित्रयाराधनार्थं प्रदक्षिणात्रयं करोति ।

उक्त च–

" तत्तो नमो जिणाण, ति भणिअ अद्धोणय पणाम च ।
काउ पचग वा, भत्तिब्भरनिब्भरमणेण ॥ १ ॥
पूअगपाणिपरिवा–रपरिगओ गहिरमहुरघोसेण ।
पढमाणो जिणगुणगण–निबद्धमगल्लथुत्ताइ ॥ २ ॥
करधरिअजोगमुद्दो, पयपाणिरक्खणाउत्तो ।
दिज्जा पयाहिणतिग, एगग्गमणो जिणगुणेसु ॥ ३ ॥

येन कारणेन , नो नैव , भाजन पात्र , भवसि जायसे । इति गाथार्थः । जीवा० १ अधि० । द्वा० ।

पार्श्वस्थकृतचैत्य न पूज्यम्-

सावयजणस्स धम्म-स्सा फसए के वि विंति चेइहरे।
पासत्थाईविहिए, नो सक्काराइयं कुज्जा ॥

श्रावकजनस्य धर्मस्य दानादेः "फसए त्ति" देशीभाषया आशका· केऽप्यके, ब्रुवते भणन्ति, चैत्यगृहे जिनसदने, पार्श्वस्थादिविहिते अवसन्नादिकृते, नो नैव, सत्कारादिक वस्त्राभरणपूजादिक , कुर्याद्विधेयादिति गाथार्थः ।

अन्यच्च त एव यद्वदन्ति तत्सोत्तर गाथया प्राह-

ते वि हु तट्ठाणाओ, सइ सत्तीए निगासणिज्जाओ ।
नेयं पि सुविहियाणं, जुज्जइ वोत्तुं जओ भणियं ॥

तेऽपि पार्श्वस्थादयो, यैर्देवकुलानि कारितानीति शेषः। आशातनाकारित्वात्तेषामित्याशयः। हुस्तथैव, तत्स्थानात् देवकुलादे , सत्यां विद्यमानायां, शक्त्यां सामर्थ्ये,निष्काशनीया एव, न नैव, इदमपि पूर्वोक्तं,सुविहितानां साधूनां, युज्यते घटते, वक्तु भणितु, यतो भणित तदनन्तरगाथायां भणिष्यतीति गाथार्थः।

तदेव गाथापञ्चकेनाह-

ववहारछेयगंथे, ओसन्नविहारिणीएँ वइणीए।
कारविय चेइहरं, तत्थ य तप्परियजणेहिं ।
विज्जंते सक्कारम्मी, महिए वट्टंतयम्मि पत्ते य ।
विहरंती तत्थ पवि-त्तिणी उ पत्ता तहिं सा उ ॥ २ ॥
अप्पुज्जमिती भणिया, अत्थि न वा कोइ एइ चेइहरे ।
सुस्सूसयरो जंपइ, नऽत्थि च्चिय भणइ गुरुणी उ ॥३॥
लज्जमिउं नो कुज्जइ, अविज्जमाणम्मि तम्मि तुह भद्दे !।
होइ अभत्ती जम्हा, इय करणे चेइयाणं ति ॥ ४ ॥
अह पुण अविज्जमाणे, सुस्सूसयरे उ लज्जमा विंति ।
तो पच्छित्तं भणियं, पयमं ववहारगंथम्मि ॥ ५ ॥

सुगमा । तथा च व्यवहारे भणितम्-

" अणुसट्ठ उज्जमंती, खिज्जते चेइयाण सारवए।
पमिवज्जते गरुया, अणवट्ठप्पा अभत्तीए " ॥

ननु तेषां तत्करणपुण्य भवति, न वेत्याह-

"होउ व मा होउ व तिएं , पुन्नं तक्कारयाण सव्वन्नू ।
जाणति ते ववहारउ, ओजस्साइं इम वयण "॥
सुबोधा ।

तदेवोक्त गाथाद्वयेनाऽऽह-

" समयपवित्ती सव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव ।
तित्थयरुद्देसेण वि , म तत्तओ वा तदुद्देसा " ॥

तथा छेदग्रन्थे भणितम्-

"दुब्भिगंधमलस्सावि, तणुरप्पेसहाणिया ।
उभओ वाउवाहे वा, ण चिट्ठति न वेइए " ॥
सुगमा ।

श्रावकाणां पुनस्तत्र किमित्याह-

सड्ढाण पुणो चेइय-हरं तु जह तह व होउ निप्फन्नं ।
पुज्जं तप्फलयं, मयमेयं आगमन्नूणं ॥

श्रावकाणां श्राद्धानां, पुनश्चैत्यगृहं जिनसदनं, तुः पूरणे। यथा तथा वा पार्श्वस्थादिकृतम, श्रावकादिकृत वा, भवतु, निष्पन्नं तन्निष्ठां गत, पूज्यमानमर्च्यमान, फलदमीप्सितकारि, मतमेवत्त सम्मतमिदम्, आगमज्ञानां सिद्धान्तविदामिति गाथार्थः ॥

इति विदिते आत्मनः शिक्षामाह-

रे जीव ! जीववच्छ-ल्लकारओ तं सि जइ फुमं ता मा ।
वारेसु सावयजणे, इय पूयंते उ चेइहरे ॥

रे जीव ! भो आत्मन्! जीववात्सल्यकारको भव्यप्राणुपकारकर्त्ता,त्वमसि भवसि, यदि स्फुट प्रकट, ततो मा वारय निषेधय, श्रावकजनान् श्राद्धलोकान्, इत्येव, पूजयतोऽर्चयमानान् , तुः पूर्ववत्, चैत्यगृहान् जिनमन्दिरानिति गाथार्थः । जीवा० ३ अधि० । उक्ता प्रतिष्ठा, तदनन्तरं च यात्रा वक्तव्या भवति " जिणभवणबिंबठावण-जत्ता पूयाइ सुत्तओ विहिणा " इति द्रव्यस्तवक्रमायातत्वाज्जिनयात्राऽत्र वक्तव्या। (सा च ' अणुजाण ' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे उक्ता, यात्राविषय दानद्वार च प्र० भा० ' अणुकपा ' शब्दे ३६० पृष्ठे च गतम्)

(२७) अथ जिनपूजा प्रोच्यते-

नमिऊण महावीरं, जिणपूजाए विहिं पवक्खामि ।
संखेवओ महत्थं, गुरूवएसाऽणुसारेणं ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, महावीरं वर्द्धमानजिनम्, जिनपूजाया अर्हदर्चनस्य, विधिं विधानम्,प्रवक्ष्यामि भणिष्यामि, संक्षेपतः समासत.। विस्तरतस्तु पूर्वसूरिभिरेव तस्योक्तत्वाद्, एव तर्ह्यल्पार्थं तद्भविष्यतीत्याशङ्कयाह-महार्थं बृहदभिधेयम्, बृहत्प्रयोजन वा। स्वयमुत्प्रेक्षितमेतदित्याशङ्कयाऽनादेयमिद मा भूदित्याह-गुरूपदेशानुसारेणाऽऽचार्यशिक्षाऽनुवर्त्तनेनेति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ पूजाविधिभणने किं प्रयोजनमित्याह-

विहिणा उ कीरमाणा,सव्व च्चिय फलवती भवति चेट्ठा।
इहलोइया वि किं पुण, जिणपूया उभयलोगहिया ॥२॥

विधिनैव यथोचितविधानेनैव , तुशब्द एवकारार्थः , क्रियमाणा विधीयमाना , सर्वैव समस्ताऽपि , फलवती साध्यसाधिका , भवति जायते , चेष्टा क्रिया , ऐहलौकिक्यपीहलोकप्रयोजनाऽपि, कृष्यादिकाऽपीत्यर्थः। किं पुनरिति विशेषद्योतनार्थः, सुतरामित्यर्थः। जिनपूजाऽर्हदर्चनम् , किंभूता ?, उभयलोकहिता इहलोकपरलोकयोर्हितकरीति। उभयलोकहितत्वाद्विशेषतो जिनपूजा विधिनैव विधीयमाना फलवती भवति, ततस्तद्विधिः प्ररूपणीयो भवतीति गाथार्थः ॥ २ ॥

अथ विधिमाह-

काले सुइभूएणं, विसिट्ठपुप्फाइएहिँ विहिणा उ ।
सारथुइथोत्तगरुई, जिणपूजा होइ कायव्वा ॥ ३ ॥

काले समये, वक्ष्यमाणस्वरूपे। कर्त्तव्येति संबन्धः । तथा शुचिभूतेन भूतशब्दस्य प्रकृतिमात्रार्थत्वात् शुचिना , अथवाभावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद् भूनशब्दस्य प्राप्त्यर्थत्वाच्च शुचितां प्राप्तेन । अथवा-शुचिश्चासौ भूतश्च सत्त्वः प्राणी वा शुचि-

" गंधाइड्ढिअमहुअर-मणहरझंकारसद्दसंगीआ ।
जिणचलणोवरि मुक्का, हरउ तुह कुसुमंजली दुरिअं " ॥१॥

इत्यादिपाठैः प्रतिगाथादिपाठं जिनचरणोपरि श्रावकेण कुसुमाञ्जलिपुष्पाणि क्षेप्याणि, सर्वेषु कुसुमाञ्जलिपाठेषु तिलकपुष्पपत्रधूपादिविस्तरो ज्ञेयः । अथोदारमधुरस्वरेणाधिकृतजिनजन्माभिषेककलशपाठः, ततो घृतेक्षुरसदुग्धदधिसुगन्धिजलपञ्चामृतैः स्नात्राणि, स्नात्रान्तरालेषु च धूपो देयः, स्नात्रकालेऽपि जिनशिरः पुष्पैरशून्यं कार्यम् ।

यदाहुर्वादिवेतालाः श्रीशान्तिसूरयः-
" आस्नात्रपरिसमाप्ते-रशून्यमुष्णीषदेशमीशस्य ।
सान्तर्द्धानाद् धारा-पात पुष्पोत्तमैः कुर्यात् " ॥१॥

स्नात्रे च क्रियमाणे निरन्तरं चामरसंगीततूर्याद्याडम्बरः सर्वशक्त्या कार्यः, सर्वैः स्नात्रे कृते पुनरकरणाय शुद्धजलेन धारा देया ।

तत्पाठश्चायम्-
" अभिषेकतोयधारा, धारेव ध्यानमण्डलाग्रस्य ।
भवभवनभित्तिभागान्, भूयोऽपि भिनत्तु भागवती ॥१॥ "

ततोऽङ्गरूक्षणविलेपनादिपूजा प्राक्पूजातोऽधिका कार्या, सर्वप्रकारैर्धान्यपक्वान्नशाकविकृतिफलादिभिर्बलिढौकनं, ज्ञानादिरत्नत्रयाढ्यस्य लोकत्रयाधिपतेर्भगवतोऽग्रे पुञ्जत्रयेणोचितं स्नात्रपूजादिकं पूर्वश्रावकैर्वृद्धलघुत्वव्यवस्थया, ततः श्राविकाभिः कार्यं,जिनजन्ममहेऽपि पूर्वमच्युतेन्द्रः परिवारयुतः, ततो यथाक्रममन्ये इन्द्राः स्नात्रादि कुर्वन्ति, स्नात्रजलस्य च शेषावत् शीर्षादौ क्षेपेऽपि न दोषः संभाव्यः ।

यदुक्तं हैमश्रीवीरचरित्रे-
" अभिषेकजलं तत्तु, सुरासुरनरोरगाः ।
ववन्दिरे मुहुः सर्वा-ङ्गीणं च परिचिक्षिपुः ॥१॥ "

श्रीपद्मचरित्रेऽप्येकोनत्रिंशे उद्देशे आषाढशुक्लाष्टम्या आरभ्य दशरथनृपकारिताष्टाहिकाचैत्यस्नात्रमहाधिकारे-
" त एहवणसतिसलिलं, नरवइणा पेसिअं समज्झाणं ।
तरुणवलयाहि नेउं, बूढ चिअ उत्तमंगेसु ॥ १ ॥
कंचुइहत्थोवगय, जाव य गंधोदयं चिरावेइ ।
ताव य वरगा महिसी, पत्ता सोगं च कोहं च ॥ २ ॥
सा कचुइणा कुद्धा, अहिसित्ता तेण संतिसलिलेण ।
तिवावियं माणसग्गी, पसन्नहिअया तओ जाया" ॥ ३ ॥

बृहच्छान्तिस्तवेऽपि शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमित्युक्तम् । श्रूयतेऽपि जरासन्धमुक्तजरयोपद्रुत स्वसैन्य श्रीनेमिगिरा कृष्णेनाराद्धनागेन्द्रात्पातालस्थश्रीपार्श्वप्रतिमां शङ्खेश्वरपुरे आनाय्य तत्स्नपनाम्बुना जिनदेशनासद्मनि नृपाद्यैः प्रक्षिप्तं, क्रूररूप बलिमर्धपतितं देवा गृह्णन्ति, तदर्द्धार्द्धं नृपः, शेषं तु जनाः, तत्सिक्थेनाऽपि शिरसि क्षिप्तेन व्याधिरुपशाम्यति, षण्मासाँश्चान्यो न स्यादित्यागमेऽपि, ततः सद्गुरुप्रतिष्ठितः प्रौढोत्सवानीतो दुकूलादिमयो महाध्वजः प्रदक्षिणात्रयादिविधिना प्रदेयः, सर्वैर्यथाशक्ति परिधापनिका च मोच्या । अथाऽऽरात्रिकं समङ्गलदीपमर्हतः पुरस्तादुद्द्योत्यम्, आसन्नं च वह्निपात्रं स्थाप्यम् । तत्र लवणं जलं च पातयिष्यते ।

" उवणेउ मंगलं वो, जिणाण मुहलालिजालसंवलिआ ।
तित्थपवत्तणसमए, तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी " ॥ १ ॥

इत्युक्त्वा प्रथमं कुसुमवृष्टिः ।

ततः-
" उअहपमिअभग्गपसरं, पयाहिणं मुणिवइ करेऊण ।
पडइ सलोणत्तणल-ज्जिअं च लोणं हुअवहम्मि" ॥ १ ॥

इत्यादिपाठैर्विधिना जिनस्य त्रिः पुष्पलवणजलोत्तारणादि कार्यं, ततः सुष्ठवा पूजयित्वा आरात्रिकसधूपोत्क्षेप उभयत उच्चैः सजलधारं परितः श्राद्धैः प्रकीर्यमाणपुष्पप्रकर-
" मरगयमणिघमिअविसा-लथालमाणिक्कमंडिअपईवो ।
न्हवणयरकरुक्खित्तो, भमउ जिणारत्तिअ तुम्ह" ॥ ४४ ॥

इत्यादिपाठपूर्वं प्रधानभाजनस्थं सोत्सवमुत्तार्यते त्रिवारम् ।

यदुक्तं त्रिषष्टीयादिचरित्रे-
" कृतकृत्य इवाथाऽप- सृत्य किञ्चित्पुरन्दरः ।
पुरोभूय जगद्भर्तु-रारात्रिकमुपाददे ॥ १ ॥
ज्वलद्दीपालिविषा तेन, चकासामास कौशिकः ।
भास्वदोषधिचक्रेण, शृङ्गेणैव महागिरिः ॥ २ ॥
श्रद्धालुभिः सुरवरैः, प्रकीर्णकुसुमोत्करम् ।
भर्तुरुत्तारयामास, ततस्त्रिदशपुङ्गवः " ॥ ३ ॥

मङ्गलप्रदीपोऽप्यारात्रिकवत्पूज्यते-
" कोसंबिसंठिअस्स य, पयाहिणं कुणइ मउलिअपईवो ।
जिण ! सोमदंसणे दिण-यरु व्व तुह मंगलपईवो ॥ १ ॥
भामिज्जंतो सुरसु-दरीहिँ तुह नाह ! मंगलपईवो ।
कणयायलस्स नज्जइ, भाणु व्व पयाहिणं दिंतो " ॥ २ ॥

इति पाठपूर्वं तथैवोत्तार्यते,देदीप्यमानो जिनचरणाग्रे मुच्यते, आरात्रिकं तु विध्याप्यते, तेन न दोषः, प्रदीपारात्रिकादि च मुख्यवृत्त्या घृतगुडकर्पूरादिभिः क्रियते, विशेषफलत्वात् ।

लोकेऽप्युक्तम्-
" पुरः प्रज्ञातदेवस्य, कर्पूरेण तु दीपकम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति, कुलं चैव समुद्धरेत्" ॥ १ ॥

अत्र मुक्तालङ्कारेत्यादिगाथाः श्रीहरिभद्रसूरिकृताः संभाव्यन्ते, तत्कृतसमरादित्यचरित्रग्रन्थस्यादौ-"उवणेउ मंगलं वो," इति नमस्कारदर्शनात् । एताश्च गाथाः श्रीतपापक्षादौ प्रसिद्धा इति न सर्वा लिखिताः, स्नात्रादौ सामाचारीविशेषेण विविधविधिदर्शनेऽपि न व्यामोहः कार्यः,अर्हद्भक्तिफलस्यैव सर्वेषां साध्यत्वात् । गणधरादिसामाचारीष्वपि भूयांसो भेदा भवन्ति, तेन यद्यद् धर्माविरुद्धमर्हद्भक्तिपोषकं तत्तन्न केषामप्यसंमतम् । एवं सर्वधर्मतत्त्वेष्वपि ज्ञेयम् । इह लवणारात्रिकाद्युत्तारणं सम्प्रदायेन सर्वगच्छेषु परदर्शनेष्वपि च सृष्टौ च क्रियमाणं दृश्यते ।

श्रीजिनप्रभसूरिकृतपूजाविधौ त्वेवमुक्तम्-
" लवणाईउत्तारण, पलित्तय सूरिमाइपुरिसेहिं ।
संहारेण अणुन्ना-य समए सिट्ठिअ सम्मं " ॥ १ ॥ इति ।

स्नात्रकरणे च सर्वप्रकारसविस्तरपूजाप्रभावनादिसम्भवेन प्रेत्य प्रकृष्टफलं स्पष्टं, जिनजन्मस्नात्रकर्तृचतुःषष्टिसुरेन्द्राद्यनुकारकरणादि चात्रापीति स्नात्रविधिः । ध० २ अधि० ।

विवसनैः सहाभरणविषयकः शास्त्रार्थः-

यदपि भगवत्प्रतिमाया न भूषा आभरणादिभिर्विधेयेति स्वाग्रहावष्टब्धचेतोभिर्दिगम्बरैरुच्यते, तदप्यर्हत्प्रणीताऽऽगमापरिज्ञानस्य विजृम्भितमुपलक्षयते, तत्करणस्य शुभभा-

क्षालितदेहेन, देशतः सर्वतो वा । तत्र देशतो विहितकरचरणमुखादिशौचेन, सर्वतस्तु जलक्षालितसर्वशरीरेणेति । तथा शुक्लवस्त्रेण च शुचिनिवसनोत्तरीयवाससा च सितवस्त्रेण,भावे तु भावशौचे पुनर्विषयभूते, अवस्थोचिता देशकालविशिष्टावस्थापेक्षया स्वभूमिकायोग्या, विशुद्धा निरवद्यप्राया, वृत्तिर्जीविका, तया प्रधान शोभनोऽय , सा वा प्रधाना यस्य, स तथा, तेन न्यायोपात्तवित्तयुक्तेनेति भाव । न्याय एव हि भावतः शौच, कर्म्ममलपटलक्षालनजलकल्पत्वात्तस्य । इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ४ विव० । (श्रावकस्य स्नानविधिरन्यत्र विस्तृतः)

" कृत्वेद यो विधानेन, देवताऽतिथिपूजनम् ।
करोति मलिनारम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥ " ॥ १ ॥

विधानेन विधिना, अतिथिः साधुः, मलिनारम्भी गृहस्थ. ।

द्रव्यस्नानस्य शोभनत्वे हेतुमाह–

" भावशुद्धेर्निमित्तत्वा-त्तथाऽनुभवसिद्धितः ।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः " ॥ २ ॥ युग्मम् ।

दोषोऽप्कायविराधनादि, तस्माद्दोषादन्यो गुणः सद्दर्शनशुद्धिलक्षणः । यदुक्त–"पूआए कायवहो, पडिकुट्ठो सो उ किंतु जिणपूआ । सम्मत्तसुद्धिहेउ, त्ति भावणीआ उ णिरवज्जा ॥ १ ॥" अन्यत्राप्युक्तम्-द्रव्यस्नानादिके यद्यपि षट्कायोपमर्दादिका काचिद्विराधना स्यात, तथापि कूपोदाहरणेन श्रावकस्य द्रव्यस्तव. कर्तुमुचित' । यदाहु.–" अकसिणपवत्तयाण, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठन्तो ॥ १ ॥ " इदमुक्त भवति-यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्यावन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय च किल भवतीत्येवं स्नानादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायोत्पादनेन विशिष्टाशुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारण भवति । इह केचिन्मन्यन्ते पूजार्थं स्नानादिकरणकालेऽपि निर्मलजलकल्पशुभाध्यवसायस्य विद्यमानत्वेन कर्दमलेपादिकल्पपापाभावाद्विषममिदमित्थमुदाहरणम्, ततः किलेदमित्थं योजनीयम्–"यथा कूपखनन स्वपरोपकाराय भवति एव स्नानपूजादिक करणानुमोदनद्वारेण स्वपरयो पुण्यकारण स्यादिति, न चैतदागमानुपाति, यतो धर्म्मार्थप्रवृत्तावप्यारम्भजनितस्याल्पपापस्येष्टत्वात्,कथमन्यथा भगवत्यामुक्तम्–"तहारूप वा समण वा माहण वा पडिहयपच्चक्खायपावकम्म अफासुएण अणेसणिज्जेण असण पाण खाइम साइम पडिलाभेमाणे भंते ! किं कज्जइ ? । गोयमा ! अप्पे पावे कम्मे बहुअरिआ से णिज्जरा कज्जइ " । तथा ग्लानप्रतिचरणानन्तर पञ्चकल्याणक प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि कथ स्यादिति पञ्चाशकवृत्तौ तत्सूत्रमपि–" ण्हाणाइ वि जयणाए , आरम्भवओ गुणा य नियमेण । सुहभावहेउओ खलु, विण्णेअ कूवणाएण ॥ १ ॥ " इत्यल प्रसङ्गेन । एव च देवपूजाद्यर्थमेव गृहस्थस्य द्रव्यस्नानमनुमत, तेन द्रव्यस्नान पुण्यायेति यत्प्रोच्यते तन्निरस्त मन्तव्यम् । भावस्नान च शुभध्यानरूपम्, यत —" ध्यानाम्भसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् । मल कर्म समाश्रित्य , भावस्नान तदुच्यते ॥१॥ " इति । कस्यचित्स्नाने कृतेऽपि यदि गण्डमूत्रकादि स्रवति, तदा तेनाङ्गपूजां स्वपुष्पचन्दनादिभिः परेभ्यः कारयित्वाऽग्रपूजा भावपूजा च स्वय कार्या,वपुरपवित्रत्वे प्रत्युताशातनासम्भवेन स्वयमङ्गपूजाया निषिद्धत्वात् । उक्त च–"नि शूकत्वादशौचेऽपि, देवपूजा तनोति य. । पुष्पैर्भूपतितैर्यश्च, भवतः श्वपचाविमौ ॥१॥" इति । तत्र स्नानानन्तर पवित्रमृदुगन्धकाषायिकाद्यंशुकेनाङ्गरूक्षण तथा पोत्तिकमोचनपवित्रवस्त्रान्तरपरिधानादियुक्त्या क्लिन्नाङ्घ्रिभ्यां भूमिमस्पृशन् पवित्रस्थानमागत्योत्तरासु स्थयते दिव्य नव्यमकीलित श्वेतांशुकद्वयम् । यत.–

" विशुद्ध वपुष. कृत्वा, यथायोग जलादिभि ।
धौतवस्त्रे वसीत द्वे, विशुद्धे धूपधूमिते " ॥ १ ॥

लोकेऽप्युक्तम्–

न कुर्यात्सन्धित वस्त्र, देवकर्मणि भूमिप ! ।
न दग्ध न तु वै छिन्न, परस्य तु न धारयेत् ॥ २ ॥
कटिस्पृष्ट तु यद्वस्त्र, पुरीष येन कारितम् ।
समूत्रमैथुन वाऽपि, तद्वस्त्र परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥
एकवस्त्रो न भुञ्जीत, न कुर्याद्देवताऽर्चनम् ।
न कञ्चुक विना कार्या, देवार्चा स्त्रीजनेन तु " ॥ ४ ॥

एव हि पुसां वस्त्रद्वय,स्त्रीणां च वस्त्रत्रय विना देवपूजनादि न कल्पते, वस्त्र च मुख्यवृत्त्याऽतिविशिष्ट क्षीरोदकादिक श्वेतमेव कार्यम । उदायननृपराज्ञीप्रभावतीप्रभृतीनामपि धौतांशुक श्वेत निशीथादावुक्त दिनकृत्याख्यावपि–" सेअवत्थनिअसणो त्ति " क्षीरोदकाद्यशक्तावपि दुकूलादि धौतिक विशिष्टमेव कार्यम् । यदुक्तं पूजाषोडशके–"सितशुभवस्त्रेण" इति । तद्वृत्तिर्यथा-सितवस्त्रेण च शुभवस्त्रेण च, शुभमिह शुभ्रादन्यदपि पट्टयुग्मादि रक्तपीतादिवर्णं परिगृह्यते इति, "एगसाडिअं उत्तरासंगं करेइ" इत्यागमप्रमाणाद् उत्तरीयमखण्डमेव कार्यम्,न तु खण्डद्वयादिरूप,तच्च वस्त्रद्वय भोजनादिकार्ये न व्यापार्य,प्रस्वेदादिनाऽशुचित्वापत्ते , व्यापारचैलमेव व्यापार्य, परसत्कमपि च प्रायो वर्ज्यं, विशिष्य च बालवृद्धरुग्यादिसत्क, न च ताभ्यां प्रस्वेदश्लेष्मादि स्फेटनीय, व्यापारितवस्त्रान्तरेऽन्यच्च पृथग् मोच्यमिति सम्यग् स्नानवेलायां. प्रदर्शित. । अथ जिन सद्मप्रेयश' प्रदर्शनीय., तत्र जिनस्नपनादिविधिश्च समस्तपूजासामग्रीमेलनपूर्वक । सा चेयम् । तथाहि–शुभस्थानात्स्वयमारामिकादिक सुमूल्यार्पणादिना सतोष्य पवित्रभाजनाच्छादनादयाग्रस्थकरसपुटधारणादिविधिना पुष्पाद्यानयेत, वैश्वासिकपुरुषेण वाऽऽनाययेत्, जलमपि च तथा, तथोष्ठपुटोत्तरीयप्रान्तेन मुखकोश विदध्यात् । यतो दिनकृत्ये–" काऊण विहिणा ण्हाण, सेअवत्थनिअसणो । मुहकोस तु काऊण, गिहबिंबाणि पमज्जए "॥१॥ त्ति । तमपि च यथासमाधि कुर्यान्नासाबाधे तु नापि । यत' पूजापञ्चाशके–"वत्थेण बंधिऊ णास अहवा जहासमाहीए" । एतद्वृत्तिर्यथा–वस्त्रेण वसनेन,बद्ध्वा आवृत्य, नासा नासिकाम् । अथवेति विकल्पार्थो यथासमाधि समाधानानतिक्रमेण,यदि हि नासाबन्धे असमाधान स्यात्तदा तामबध्वापीत्यर्थ. । सर्वं यत्नेन कार्यमित्यनुवर्त्तते इति, युक्तिमच्च मुखे वस्त्रबन्धन, भृत्या अपि स्वामिनोऽङ्गमर्दनश्मश्रुरचनादिक कुर्वन्ति । यदुक्तम्–" वग्गित्ता कासवयो वयण अट्ठगुणाए पोत्तीए । पत्थिवमुवासए खलु, वित्तिनिमित्त सया चेव " ॥१॥ त्ति । ध० २ अधि० ।

स्नानादौ यतना–यतनया विहितस्य स्नानादे' शुभभावहेतुत्व प्रागुक्तम्, अथ यतनां स्नानगतां शुभभावहेतुना च यतनाकृतां स्नानस्य दर्शयन्नाह–

भूमीपेहणजलछा–णणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ ।

एव कथितमस्ति यन्द्रोगविनष्टं द्रव्यं तद् निर्माल्यमिति, तेनाभरणानां भोगविनष्टत्वाभावेन निर्माल्यता न भवतीति ज्ञेयमिति। २ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

परचैत्यवन्दनोन्मोके-

तपापक्षीयः श्राद्ध स्वकीयेषु परकीयेषु वा चैत्येषु वन्दनादि करोति, तत्र स्वकीयेषु यथा लाभस्तथा श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टेषु परकीयेष्वपि लाभ एव ज्ञातोऽस्ति, न तु पापम । १४ प्र० । ही० १ प्रका० ।

काजकोद्धरणम्-

अन्यच्च चतुर्मासकमध्ये जिनगृहे देवनन्दन साधूनां श्राद्धानां च काजकोद्धरणपूर्वकमेव युक्तिमत् ॥४॥ जिनगृहे रात्रौ नाट्यादिविधेर्निषेधो ज्ञायते। यत उक्तम्-" रात्रौ न नन्दिर्न बलिः प्रतिष्ठा, न स्त्रीप्रवेशो न च लास्यकीला ॥ " इत्यादि । किं च क्वाऽपि तीर्थादौ तत्क्रियमाणं दृश्यते, तत्तु कारणिकमिति बोध्यम । ५ प्र० । ही० २ प्रका० ।

प्रतिमाना चक्षुरादिकरणम्-

जिनप्रतिमानां चक्षुरादिसंयोजनमाश्रित्य ये निपुणाः श्राद्धाः सन्ति तैः रालतैले मेलयित्वा चूयो वर्त्तयित्वा तद्रसेन चक्षुरादि संयोजयन्ति, न तूष्णलाक्षारसेन, तथाकरणे आशातनादोषप्रसङ्गादिति । ३ प्र० । ही० ३ प्रका० ।

साधारणप्रासादे प्रतिमाः-

साधारणप्रासादे प्रतिमायां कार्यमाणायां ग्रामनाम्ना प्रतिमा विलोक्यते,उत सङ्घराशिनाम्ना ?,यदि सङ्घराशिनाम्ना,तदा सर्वग्रामसङ्घानामेकमेव राशिनाम विद्यते, तेन यथा युक्तं भवति तथा प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र साधारणप्रासादे प्रतिमायां कार्यमाणायां ग्रामनाम्ना प्रतिमा विलोक्यत इति युक्तं ज्ञायते इति । २५ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

गुर्वाज्ञया चैत्यपूजा-

चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वता तेषा तपागणसम्बन्धी शक्तिमान् श्राद्धः सानिध्यम, माध्यस्थ्यम, विकार वा भजते, तदा लाभो भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतां तेषां श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टचैत्यादिधर्मकार्ये सानिध्यकरणमायाति सुन्दर, तदितरकार्ये तु माध्यस्थ्यमेव, न तु क्वापि वैपरीत्यकरणेन विरोधोत्पादनं श्रेयसे । ही० १ प्रका० ।

रात्रावारात्रिकम्-

श्राद्धानां रात्रौ जिनालये आरात्रिकोत्तारणं युक्तं, न वा ?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-श्राद्धाना जिनालये रात्रौ आरात्रिकोत्तारणं कारणे सति युक्तिमद्, नान्यथा ॥ १ ॥ ही० २ प्रका० ।

कायोत्सर्गस्थितजिनप्रतिमाना चरणादिपरिधापनविचार.-

कायोत्सर्गस्थितजिनप्रतिमाना चरणादिपरिधापन युक्तं, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-जिनप्रतिमाना चरणादिपरिधापन तु सम्प्रति न व्यवहारेण युक्तियुक्तं प्रतिभाति । ही० २ प्रका० ।

आरात्रिकमङ्गलप्रदीपविचार.-

आरात्रिकमङ्गलप्रदीप सृष्ट्या सहारेण चोत्तार्यते, तदुत्तारणपाठश्च क इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र जिनप्रतिमाग्रे आरात्रिकमङ्गलप्रदीप सृष्ट्योत्तार्यते. न तु संहारेण , पूर्वाचार्यप्रणीतग्रन्थमध्ये क्वापि संहारोत्तारणस्याप्यक्षराणि सन्ति, परमिदानीं श्राद्धविधिजिनप्रभसूरिकृतपूजाप्रकरणयोः सृष्ट्यैवोत्तारणमुक्तमस्ति, तेन तथैव क्रियते । तदुत्तारणगाथा च-

" मरगयमणिघडियविसा- लथालमाणिक्कमंडियपईवो ।
न्हवणयरकरुक्खित्तो, भमउ जिणाऽऽरत्तिय तुम्ह" ॥४॥

ही० ४ प्रका० । (चैत्यायतन कारितवत्या निर्ग्रन्थ्या. कृताचारायां तद्वरण'खयाचार'शब्दे अस्मिन्नेव भागे ७१७ पृष्ठे उक्तम्) (गामशब्दे अस्मिन्नेव भागे ८६८ पृष्ठे तन्निवेके जिनप्रतिमाना भावग्रामत्वम) (भरते चतुरशीतिजिनप्रतिमा. ' जिनपडिमा ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(२६) प्रकीर्णकरूपा वार्त्ताः । चतुर्विंशतिकापट्टविचारः-

चउवीसवट्टयाई, पमिमा उ जिणाण केइ वारिंति ।
तं पि ण जुत्तं जम्हा, एए दोसा पसज्जंति ॥१॥

चतुर्विंशतिपट्टकादी , आदिशब्दाज्जिनत्रयादिपरिग्रहः । प्रतिमा जिनप्रतिकृती., जिनानां तीर्थकृतां, केऽपि, न सर्वे । वारयन्ति निषेधयन्ति, नैला. तै. क्रियन्त इत्यर्थ. । तदपि, न केवल पूर्वोक्तमित्यपेरर्थः, नेति निषेधे , युक्तं सङ्गत, यस्मादेते वक्ष्यमाणाः, दोषा दूषणानि, प्रसज्यन्ते भवन्तीति गाथार्थ. ॥१॥

तानेवाह-

पुव्वायरणाभंगो, जिणाण आसायणा विपमिवत्ती ।
सद्धाभंगो मुद्धा-ण होंति एमाइया दोसा ॥ २ ॥

पूर्वाचरणाभङ्ग -वहो. कालादिर्य प्रवृत्तिस्तस्या विनाशः,जिनानां सर्वज्ञानाम्, आशातना पूर्वकथितप्रकारेण विप्रतिपत्तिविरोध । एको भणति-मदीया श्रेष्ठा प्रतिष्ठा, अन्यश्च मदीयेत्येव लक्षणा। श्रद्धाभङ्गो भक्तिनाशश्च, मुग्धानां मन्दमतीनाम्; तेह्येवमध्यवस्यन्ति-हा किमस्माभिर्मन्दभाग्यैर्विधिमजानद्भिरेव प्रतिष्ठा कारितेति । भवन्ति जायन्ते, एवमादय उक्तप्रकारादय , आदिग्रहणात् तद्बहुमानपूजाद्यभावाख्या.। चकारोऽत्र प्राकृतात्लुप्तो द्रष्टव्य इति गाथार्थ. ॥२॥

सूत्रेणैव सबद्धां गाथामाह-

किंचऽत्थ अत्थि जुत्ती, वि पयमहरिभद्दसूरिवयणाओ ।
तं भणणं तिविहा खलु, होइ पइट्ठा जिणिंदाणं ॥ ३ ॥

किञ्चेत्यभ्युच्चये,अस्ति विद्यते, अत्र चतुर्विंशतिपट्टकादिकरणे, युक्तिरपि घटमानवाक्यमपि,न केवलमादरणेत्यपिशब्दार्थः।प्रकटहरिभद्रसूरिवचनात् प्रसिद्धहरिभद्राभिधानाचार्यभणनात्,तदेवार्थत आह-तत्पुनर्भणनमिद वक्ष्यमाणम्-त्रिविधा त्रिप्रकारा,खलुर्वाक्यालङ्कारे,भवति, प्रतिमाप्रतिष्ठा जिनगुणाद्यारोपलक्षणा, जिनेन्द्राणां मुनीशानामिति गाथार्थ. ॥३॥

तदेव त्रैविध्यमाह-

पढमा वत्तिपइट्ठा, खेत्तपइट्ठा पुणो भवे बीया ।
तइया महापइट्ठा, तासिं वक्खाणमेवं तु ॥ ४ ॥

प्रथमाऽऽद्या, व्यक्तिप्रतिष्ठा,क्षेत्रप्रतिष्ठा पुनर्भवेद् द्वितीया,महाप्रतिष्ठा तृतीया,तासां प्रतिष्ठानां व्याख्यानं विवरणम्,एव वक्ष्यमाणप्रकारमेव, तुरेवकारार्थ , स च दर्शित इति गाथार्थः ॥४॥

तदेव गाथाद्वयेनाऽऽह-

हवति विसेसो एग-स्स जा उ पमिमा भवे जिणिंदस्स।
खेत्ते भरहे उसभा-इयाण सव्वाण बीया उ ॥ ५ ॥
सव्वेसु वि खेत्तेसुं, जित्तियमित्ता भवंति तित्थयरा।
सत्तरसयसखाए, महापइट्ठा इमा भणिया ॥ ६ ॥

न्यायक्रू.। तथा ज्ञानसामर्थ्यमनुभूतं तत्प्रसादेन लोकेनेति। स-च्छत्र सध्वज सघण्टमिति व्यक्तम् (सपमागपडागाइपमागमण्डिए) सह पताकया वर्त्तत इति सपताक,तच्च तदेकां पताकामतिक्रम्य या पताका सा अतिपताका, तया मण्डित यत्तत्तथा। वाचनान्तरे-(सपमाए पमागाग्पकागमण्डिए त्ति)(सल्लोमहत्थे) लोममयप्रमार्जनकयुक्तम् (कयवेयद्दिए) कृतवितर्दिक. रचितवेदिकम। (लाउल्लोइयमाहिए)"लाइय" यद् भूमे. छगणादिनोपलेपनम्। (उल्लोइय) कुड्यमागानां सेटिकादिभिः संमृष्टीकरण, ततस्ताभ्यां महितमिव महित पूजितं यत्तत्तथा। (गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितले) गोशीर्षेण सरसरक्तचन्दनेन च दर्दरेण बहुलेन चपेटाप्रकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलहस्तका यत्र तत्तथा (उवचियचंदणकलसे) उपचिता निवेशिताः चन्दनकलशा मङ्गलघटा यत्र तत्तथा। (चदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए) चन्दनघटाश्च सुष्ठु कृततोरणानि च द्वारदेशभाग प्रति यस्मिँस्तच्चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभाग, देशभागाश्च देशा एव। (आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे) आसक्तो भूमौ संवद्धः, उत्सक्त उपरि संवद्ध. विपुलो विस्तीर्ण. वृत्तो वर्तुलः (वग्घारिओ त्ति) प्रलम्बमानः माल्यदामकलाप. पुष्पमालासमूहो यत्र तत्तथेति (पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए) पञ्चवर्णेन सरसेन सुरभिणा मुक्तेन क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण पूजया कलित यत्तत्तथा (कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघतगंधुद्धुयाभिरामे) कालागुरुप्रभृतीनां धूपानां यो मघमघायमानो गन्ध उद्भूत उद्भूतस्तेनाभिराम यत्तत्तथा। तत्र (कुंदुरुक्कं ति) चीमा (तुरुक्क ति) सिह्लक (सुगंधवरगंधगंधिए) सुगन्धा ये वरगन्धाः प्रवरवासास्तेषां गन्धो यत्रास्ति तत्तथा। (गंधिवट्टिभूए) सौरभ्यातिशेषाद्गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पमित्यर्थः। "नमनट्टेत्यादि" पूर्ववन्नवरमिह-'भुयगा' भुजङ्गाः, भोगिन इत्यर्थः। भोजका वा तदर्चका मागधा भट्टा इति। (बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए) बहोर्जनस्य पौरस्य जानपदस्य च जनपदजनलोकस्य विश्रुतकीर्तिकं प्रतीतख्यातिकम्। (बहुजणस्स आहुस्स त्ति) आहितुर्दातु.। क्वचिदिद न दृश्यते। (आहुणिज्जे त्ति) आहवनीय सम्प्रदानभूतम (पाहुणिज्जे त्ति) प्रकर्षेण आहवनीयम (अच्चणिज्जे) चन्दनगन्धादिभि. (वंदणिज्जे) स्तुतिभि.। (नमसणिज्जे) प्रणामत (पूयणिज्जे) पुष्पै (सक्कारणिज्जे) वस्त्रैः(सम्माणणिज्जे) बहुमानाविषयतया (कल्लाण मगल देवय चेइय विणएण पज्जुवासणिज्जे) कल्याणमित्यादि बुद्ध्या विनयेन पर्युपासनीय, तत्र कल्याणमर्थहेतुर्मङ्गलमनर्थप्रतिहतिहेतु.,दैवत देवः,चैत्यमिष्टदेवताप्रतिमादि दिव्य प्रधान (सच्चे) सत्य, सत्यादेशत्वात् (सच्चोवाए) सत्याभिलाष सत्यसेव, सेवायाः सफलीकरणात् (सन्निहियपाडिहेरे) विहितदेवताप्रातिहार्यम्। (जागसहस्सभागपडिच्छए) यागा पूजाविशेषाः, ब्राह्मणप्रसिद्धाः, तत्सहस्राणां भागमश प्रतीच्छति अभ्यर्त्यत्वात् यत्तत्तथा। वाचनान्तरे-(जागभागदायसाहस्सपडिच्छए) यागा. पूजाविशेषाः, भागा विंशतिभागादयो, दायाः सामान्यदानानि, एषां सहस्राणि प्रतीच्छति यत्तत्तथा। "बहुजणो" इत्यादि सुगम, नवरम्-"पुणभद्द चेइय" इत्यत्र द्विर्वचन भक्तिसम्भ्रमविवक्षयेति। (सव्वओ समता इति) सर्वतः सर्वदिक्षु, समन्ताद्विदिक्षु। औ०। स्वनामख्याते सन्निवेशविशेषे, यत्र पूर्वभवे भगवान् वीरस्वामी, अग्न्याग्यों नाम्ना जातः। आ० चू० १ अ०। आ० म०। ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे, जनानां सञ्ज्ञास्यतरौ, चिताचिह्ने, जनसभायां, बहुस्थाने, जनानां विश्रामस्थाने च। वाच०। क्षेत्रप्रत्युप्रेक्षणायाम, वृ० १ उ०।

जिनालये जिनदृष्टौ स्वस्य तिलके क्रियमाणे किं पटान्तर क्रियते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र पटान्तरं विना तिलके क्रियमाणे किं पटान्तर क्रियते। ६६ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

जेसलमेरुनगरे मेदिनीरूद्धे चोपाश्रयमध्ये श्रीहीरविजयसूरिप्रतिमाया मस्तकस्योपरि श्रीवीरप्रतिमाऽस्ति, तस्मात्तमुपाश्रयं केचन चैत्य कथयन्ति, तत्र किमुत्तरमिति प्रश्ने-उत्तरम्-यथा श्राद्धानां गृहस्य जिनप्रतिमासत्त्वेऽपि न चैत्यत्व तथाऽत्रापीति ज्ञेयम्। ३५ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

श्रीहीरविजयसूरीश्वरप्रसादितद्वादशजल्पपट्टकमध्ये अवन्दनीयचैत्यत्रयं विनाऽन्येषां सर्वेषां चैत्यानि वन्दनपूजनयोग्यानि कथितानि सन्ति, किन्तु केचन तन्निषेध ब्रुवन्त. श्रूयन्ते, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-केवलश्राद्धप्रतिष्ठितचैत्य१-द्रव्यलिङ्गीद्रव्यनिष्पन्नचैत्य२-दिगम्बरचैत्यानि ३ विना सर्वेषां चैत्यानि वन्दनार्हाणि पूजार्हाणि च ज्ञेयानि, अथ च पूर्वोक्तानि निषिद्धान्यपि चैत्यानि साधुवासक्षेपेण वन्दनपूजनयोग्यानि भवन्तीति, अन्यथा परपक्षकृतग्रन्था अप्यमान्या भवेयुः। तथा भव्यपार्श्वस्थादिदीक्षिता साधव केवलिनश्चावन्दनीया स्युः, तथा चासमञ्जसमापद्येत, यतस्तत्कृतस्तोत्रादिग्रन्था आत्मीयपूर्वाचार्यैरङ्गीकृताः सन्ति, पार्श्वस्थादिदीक्षितसाधवश्च वन्दनीयतया शास्त्रे प्रोक्ताः सन्तीति स्वयमेव ध्येयमिति। १०४ प्र०। सेन०४ उल्ला०।

चेइयकम–चैत्यकृत–न०। वृक्षस्याधो व्यन्तरादिस्थानके,आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ०। स्वाभिमतचैत्यालयसंपादने,प्रति०।

चेइयखंभ–चैत्यस्तम्भ–पुं०। जिनसक्थ्यायतनरूपे स्तम्भे, यथा सुधर्मायां सभायां माणवको नाम चैत्यस्तम्भ., तत्र वज्रमयेषु सिक्ककेषु वज्रमयेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति। सू० प्र० १८ पाहु०। रा०। जी०।

चेइयजत्ता–चैत्ययात्रा–स्त्री०। श्रृङ्गारितप्रवररथे जिनप्रतिमां संस्थाप्य समह स्नात्रपूजादिपुरस्सरं समस्तनगरे पूजाप्रवर्त्तनादिरूपायां रथयात्रायाम, ध० २ अधि०। स्था०। (सा च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे दर्शिता)

चेइयट्ठ–चैत्यार्थ–पुं०। जिनप्रतिमानां प्रयोजने, प्रश्न० ३ सम्व० द्वार।

चेइयथुइ–चैत्यनुति–स्त्री०। देववन्दने, ध० २ अधि०।

चेइयथूभ–चैत्यस्तूप–पुं०। सिद्धायतनस्य प्रत्यासन्ने स्तूपे, चित्ताह्लादके च। स्था० ४ ठा० २ उ०।

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयथूभे। पण्णत्ता। तेणं चेतियथूभा दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं. दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सेया संखंककुंददगरयअमतमहितफेणपुंजसन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा, तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पिं अट्ठट्ठ-

त्सुद्दानैव , प्रातिहार्येषु परिकरोपरितनकलशोभयपार्श्वघटितैः पत्रैः कङ्केल्लिः १, मालाधारैः पुष्पवृष्टिः २, वीणावंशकरैः प्रतिमोभयपार्श्ववर्तिभिर्दिव्यो ध्वनिः ३, शेषाणि स्फुटान्येव । इति भावपूजा । अन्यरीत्याऽपि पूजात्रयं बृहद्भाष्याद्युक्तं यथा—

"पचोवयारजुत्ता, पूआ अट्ठोवयारकलिआ य ।
रिद्धिविसेसेण पुण, नेआ सव्वोवयारा वि ॥ १ ॥
तत्थ य पञ्चुवयारा, कुसुमऽक्खयगंधधूवदीवेहिं ।
कुसुमक्खयगंधपई-वधूवनेवेज्जफलजलेहिं पुणो ॥ २ ॥
अठविहकम्मदलणी, अट्ठुवयारा हवइ पूआ ।
सव्वोवयारपूया, न्हवणऽच्चणवत्थभूसणाईहिं ॥ ३ ॥
फलबलिदीवाईहिं, नट्टगीआरत्तिआहिं त्ति ॥ "

शास्त्रान्तरे चानेकधाऽपि पूजाभेदा उक्ताः सन्ति ।
तद्यथा-

" सयमाणयणे पढमा , बीआ आणावणेण अन्नेहिं ।
तइआ मणसा संपा-मणेण वरपुप्फमाईणं " ॥ १ ॥

इति कायवाङ्मनोयोगितया करणकारणानुमतिभेदतया च पूजात्रिकम् । तथा-" पूअं पि पुप्फामिसथुइपडिवत्तिभेअओ चउव्विहं पि जहासत्तीए कुज्जा "। ललितविस्तरादौ तु पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यमित्युक्तं, तत्राऽऽमिषमशनादिभोग्यवस्तुप्रतिपत्तिः, पुनरविकलाप्तोपदेशपरिपालना इत्यागमोक्तं पूजाभेदचतुष्कम् ।

तथा-

" दुविहा जिणिंदपूआ , दव्वे भावे अ तत्थ दव्वम्मि ।
दव्वेहिं जिणपूआ, जिणआणापालणं भावे " ॥ १ ॥

इति भेदद्वयेऽपि । तथा सप्तभेदा यथा-

" न्हवण विलेवण अंग-म्मि चक्खुजुअलं च वासपूआए ।
पुप्फारुहणं माला-रुहण तह वन्नयारुहणं ॥ १ ॥
चुन्नारुहण जिणपुं-गवाण आहरणारोहणं चेव ।
पुप्फगिहपुप्फपगरो, आरत्ती मंगलपईवो ॥ २ ॥
दीवो धूवुक्खेवो, नेवज्ज सुहफलाण ढोअणगं ।
गीअं नट्ट वज्ज, पूआभेआ इमे सतरा "॥ ३ ॥

एकविंशतिभेदास्त्वनुपदमेव वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः । एते सर्वेऽप्यङ्गादिपूजात्रये सर्वव्यापकेऽन्तर्भवन्ति ।

अङ्गादिपूजात्रयफलं त्वेवमाहुः-

"विग्घोवसामगेगा, अब्भुदयसाहणी भवे बीआ ।
निव्वुइकरणी तइआ, फलया उ जहत्थनामेहिं ॥ १ ॥ "

सात्विक्यादिभेदैरपि पूजात्रैविध्यमुक्तं यतो विचारामृतसंग्रहे-

"सात्विकी राजसी भक्ति-स्तामसीति त्रिधाऽथवा ।
जन्तोस्तत्स्यादभिप्राय-विशेषादर्हतो भवेत् ॥ १ ॥
अर्हत्सम्यग्गुणश्रेणि-परिज्ञानैकपूर्वकम् ।
अमुञ्चता मनोरङ्ग-मुपसर्गेऽपि भूयसि ॥ २ ॥
अर्हत्सबन्धिकार्यार्थे, सर्वस्वमपि दित्सुना ।
अध्यात्मिना महोत्साहात्, क्रियते या निरन्तरम् ॥ ३ ॥
भक्तिः शक्त्यनुसारेण, निःस्पृहाशयवृत्तिना ।
सा सात्विकी भवेद्भक्ति-र्लोकद्वयफलावहा ॥ ४ ॥
यदैहिकफलप्राप्ति-हेतवे कृतनिश्चया ।
लोकरञ्जनवृत्त्यर्थं, राजसी भक्तिरुच्यते ॥ ५ ॥
द्विषदां यत्प्रतीकारकृते, या कृतमत्सरम् ।
दुराशयं विधीयेत, सा भक्तिस्तामसी मता ॥ ६ ॥
रजस्तमोमयी भक्ति , सुप्रापा सर्वदेहिनाम् ।
दुर्लभा सात्विकी भक्तिः, शिवाबधिसुखावहा" ॥ ७ ॥

अत्र च प्रागुक्तमङ्गाग्रपूजाद्वयं चैत्यबिम्बकारणयात्रादिश्च द्रव्यस्तवः । यदाह-

"जिणभवणबिंबठावण-जत्तापूआइ सुत्तओ विहिणा ।
दव्वत्थओ त्ति नेओ, भावत्थयकारणत्तेण ॥ १ ॥
निच्चं चिअ संपुआ, जइ वि हु एसा न तीरए काउं ।
तह वि अणुचिठिअव्वा, अक्खयदीवाइदाणेण ॥ २ ॥
एग पि उदगबिंदू, जह पक्खित्तं महासमुद्दम्मि ।
जायइ अक्खयमेअं, पूआ वि हु वीअरागेसु ॥ ३ ॥
एएणं बीएण, दुक्खाइं अपाविऊण भवगहणे ।
अच्चंतुदारभोए, भोत्तु सिज्झंति सव्वाजिआ ॥ ४ ॥
पूआए मणसंती, मणसंतीए अ उत्तमं झाणं ।
सुहझाणेण य मुक्खं, मुक्खे सुक्खं निराबाधं" ॥ ५ ॥ इति ।

पूजादिविधिसंग्राहकं प्रसिद्धोमास्वातिवाचककृतं प्रकरणं चैवम्-

" स्नानं पूर्वाऽऽमुखीभूय, प्रतीच्यां दन्तधावनम् ।
उदीच्यां श्वेतवस्त्राणि, पूजा पूर्वोत्तरामुखी ॥ १ ॥
गृहे प्रविशतां वाम-भागे शल्यविवर्जिते ।
देवताऽवसरं कुर्यात्, सार्द्धहस्तोर्द्धभूमिके ॥ २ ॥
नीचैर्भूमिस्थितं कुर्याद्, देवताऽवसरं यदि ।
नीचैर्नीचैस्ततो वंशः, सततस्याऽपि सदा भवेत् ॥ ३ ॥
पूजकः स्याद्यथा पूर्व-उत्तरस्याश्च सम्मुखः ।
दक्षिणस्या दिशो वर्ज्ये, विदिग्भ्वर्जनमेव हि ॥ ४ ॥
पश्चिमाभिमुखं कुर्यात्, पूजां जैनेन्द्रमूर्त्तये ।
अन्यत्र सततिच्छेदो, दक्षिणस्यां न सन्ततिः ॥ ५ ॥
आग्नेय्यां तु यदा पूजा, धनहानिर्दिने दिने ।
वायव्यां सततिर्नैव, नैर्ऋत्यां च कुलक्षयः ॥ ६ ॥
ऐशान्यां कुर्वतां पूजां, सस्थितिर्नैव जायते ।
अंह्रि २ जानु २ करां ६ सेषु, मूर्द्धि ए पूजा यथाक्रमम् ॥ ७ ॥
श्रीचन्दनं विना नैव, पूजा कार्या कदाचन ।
भाले कण्ठे हृदम्भोजो-दरे तिलककारणम् ॥ ८ ॥
नवभिस्तिलकैः पूजा, करणीया निरन्तरम् ।
प्रभाते प्रथमं वास-पूजा कार्या विचक्षणैः ॥ ९ ॥
मध्याह्ने कुसुमैः पूजा, सन्ध्यायां धूपदीपकृत् ।
वामांशे धूपदाहः स्या-दग्रतूरं तु सन्मुखम् ॥ १० ॥
अर्हतो दक्षिणे भागे, दीपस्य विनिवेशनम् ।
ध्यानं तु दक्षिणे भागे, चैत्यानां वन्दनं तथा ॥ ११ ॥
हस्तात्प्रस्खलितं क्षितौ निपतितं लग्नं क्वचित्पादयो-
र्यन्मूर्द्धोपगतं धृतं कुवसनैर्नाभेरधो यद् भृतम् ।
स्पृष्टं दुष्टजनैर्घनैरभिहतं यद् दूषितं कीटकै-
स्त्याज्यं तत्कुसुमं दलं फलमथो भक्तैर्जिनप्रीतये ॥ १२ ॥
नैकपुष्पं द्विधा कुर्याद्, न छिन्द्यात्कलिकामपि ।
चम्पकोत्पलभेदेन, भवेद्दोषो विशेषतः ॥ १३ ॥
गन्धधूपाक्षतैः स्रग्भिः, प्रदीपैर्बलिवारिभिः ।
प्रधानैश्च फलैः पूजा, विधेया श्रीजिनेशितुः ॥ १४ ॥
शान्तौ श्वेतं तथा पीतं, लाभे श्यामं पराजये ।

जिनबिम्बानि, पूजामपि सपर्यामपि, 'हुः' पूरणे, भविष्यन्ति उत्पत्स्यन्ते, यतो यस्मात्, अमी वक्ष्यमाणाः, दोषा दूषणानि, इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

तानेवाऽऽह-

भज्जेज्ज व अवणेज्ज व, कोई तुम्हाण कम्मबंधो उ ।
तम्हा बुज्झइ पुन्नं, पावं वा नियमपरिणामा ॥ ७ ॥

भञ्जयेद् विनाशयेद् वाऽपनयेत् स्थानान्तरे कुर्यात्; वाशब्दौ समुच्चयार्थौ, उपलक्षणत्वाद् मठादिकं वा तदुपरि विदध्यात्, कोऽप्येक, ततः (तुम्हाण त्ति) युष्माकं भवतां, कर्म्मबन्ध एव ज्ञानावरणीयाद्युपश्लेषः, तुरेवकारार्थो, भवत्विमित्यादिति हृदयम्। तस्माद् बुध्यस्व जानीत, पुण्य शुभकर्म्म, पापं तद्विपरीतं, वाशब्दः समुच्चये । निजकपरिणामात् स्वाभिप्रायादिति गाथार्थः ॥ ७ ॥

परिणाममेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-

दत्तस्स पुन्नमउलं, भक्खंतस्स य पुणो महापावं ।
कुसलेयरभावाओ, एवं चिय जिणमहाइसु वि ॥८॥

ददतः प्रयच्छतः, जन्यस्य जिनाय वस्त्रादीति शेषः। पुण्य शुभमतुलमनन्यसदृश, भक्षयतश्च पुनरश्नतो, महापाप गुरुकिल्बिषम्, कुशलेतरभावात् प्रधानेतरान्तःकरणात्, एवमित्थम्, जिनमहादिष्वपि सर्वज्ञमन्दिरप्रतिमादिकरणादिष्वपीति गाथार्थः॥८॥

व्यतिरेकमाह—

जइ पुण तह कायव्वं, जह दव्वं नेव होइ चेइहरे ।
ता कह सहलं वयणं, एय सिद्धंतसुपसिद्धं ॥९॥

यदि पुनस्तथा कर्त्तव्यं यथा नैव भवति द्रव्य चैत्यगृहे, ततः कथ सफल चरितार्थं वचनम्, एतत्-उपदेशपदपठितम्; अर्थतः सिद्धान्तसुप्रसिद्धमिति गाथासंक्षेपार्थः ॥ ९ ॥

तदेव गाथात्रयेणाऽऽह-

जिणपवयणविड्ढिकरं, पभावणं नाणदंसणगुणाणं ।
रक्खंतो जिणदव्वं, परित्तसंसारिओ होइ ॥ १० ॥
जिणपवयणविड्ढिकरं, पभावणं नाणदंसणगुणाणं ।
वड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्ताइयं लहइ ॥ ११ ॥
जिणपवयणविड्ढिकरं, पभावणं नाणदंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ १२ ॥

सुगमाः । अयमाशयः-त्वन्मते जिनद्रव्याभावात्कथ रक्षणवर्द्धनभक्षणसम्भवः । तथा तत्रैव दर्शनशुद्धिप्रथमतत्त्वे-

"चेइयदव्वं साहा-रणं च जो दुहइ मोहियमईओ ।
धम्मं च सो न जाणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥ ५६ ॥
चेइयदव्वविणासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेए ।
साहू उविक्खमाणो, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥५७॥"

तथा पञ्चकल्पे भणितम्-"जया पुण पुव्वपदत्ताणि खेत्तहिरण्णाणि दुपयचउप्पयाईं जइ भम वा वेड वा चेइयाण लिंगत्था वा चेइयघराओ जिणदव्वोऽय त्ति रायभडाई वा ठेदेज्जा, तया तवनियमसपउत्तो वि साहू जइ न मोयइ, तया तस्स सुद्धी न हवइ, आसायणा य भवइ"। एतच्च कथ सार्थकं, किं च-कृतकत्वाद्देवगृहभङ्गकाले तद्द्रव्याभावात्कथ पुनरुद्धारः क्रियते इति ॥ १२ ॥

सूत्रसंबद्धां गाथामाह—

अन्नं चाऽसुहतरयं, कुणंतओ विं हु सुहाओं भावाओ ।
पावइ पुण्णं सल्लु-द्धरो व्व वीरस्स किं तु सुहं ॥१३॥

अन्यच्चापरं चाशुभतरकमतिशयानिष्ट, कुर्वाणो विदधानो, 'हुः' पूरणे, शुभात्प्रशस्तात्, भावादन्तःकरणात्, प्राप्नोति लभते, पुण्य शुभ, शल्योद्धारवत् श्रवणकीलिकापनेतृवत्, वीरस्य चरमतीर्थकरस्य, किं तु पुनः, शुभं प्रशस्तम् । अयमाशयः-येन कीलिका भगवच्छ्रवणात् निष्कासिता, तेन महती व्यथोत्पादिता, येन तु क्षिप्ता, तेन स्तोकतरा, पर शुभेतराशयादेकस्य स्वर्गोऽपरस्य नरक इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इत्थमवस्थिते जीवोपदेशमाह—

सुपसत्थवत्थकणया- इवत्थुवित्थाररेहिरं पडिमं ।
कारवसु देसंतो, रे जिय ! जइ महसि मइट्ठं ॥ १४ ॥

सुप्रशस्तानि अतिशयरम्याणि, तानि च तानि वस्त्रकनकादिवस्तूनि च सचामीकरालङ्कारकर्पूरादिद्रव्याणि, तेषां विस्तारः प्रपञ्चस्तेन "रेहिरं ति" देशीभाषया शोभमाना, प्रतिमा जिनबिम्ब, कारय विधापय, दिशन् धर्म्मकथां कुर्व्वन्, रे जीव! भो आत्मन्! यदि महासि वाञ्छसि, मत्यर्थं चित्ताऽभिप्रेतम् । अयमाशयः-जिनपूजादिनिवारणान्तरायकर्म्मवश अभीष्टभावस्तव न भविष्यति, इति गाथार्थः ॥१४॥ जीवा० २८ अधि० ।

समर्थः सन् चैत्यद्रव्यपरिणामनिवारयन् विसम्भोग्यः-

अहुणा चेतिनिमित्तं, जं कायव्वं तगं वोच्छं ।
जो देइ चेतियाणं, खेत्तहिरण्णे व गामगावादी ॥
लग्गंतस्स वि जतिणो, तिकरणसोही कहं णु भवे ? ।
भण्णति इत्थ विभासा, जो एयाइं सयं वि मग्गेज्जा ॥
तस्स ण होती सोही, अह कोति हरिज्ज एयाइं ।
तत्थ करेंत उवेहं, जा सा भणिता तु तिगरणविसोही ॥
सा य ण होति अभत्ती-एँ तस्स तम्हा णिवारेज्जा ।
सव्वत्थामेण तहिं, संघेणं होति लग्गियव्वं तु ॥ पं० भा० ।

चेइयपरिवाडी—चैत्यपरिपाटी—स्त्री० । जिनयात्राक्रमवर्णने, ध० २ अधि० । कल्प० । (चैत्यपरिपाटीकरणादिमहोत्सव 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे उक्तः)

चेइयभत्ति—चैत्यभक्ति—स्त्री० । चैत्यादिभक्तौ, आव० ३ अ० । ('आलंवण' शब्दे द्वितीयभागे ३६२ पृष्ठे विस्तार उक्तः)

चेइयमह—चैत्यमह—पुं० । चैत्यमहोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

चेइयरुक्ख—चैत्यवृक्ष—पुं० । कल्पोद्रुमवृक्षेषु येषामधस्तात्तीर्थकृतां केवलान्युत्पन्नानि । स० । ('चेइयरुक्खं चलेज्जा' इत्यादि 'मणुस्सलोय' शब्दे वक्ष्यते)

भवनपतीनां दश चैत्यवृक्षाः -

एएसि णं दसविहाणं भवणवासीणं देवाणं दस चेइयरुक्खा पण्णत्ता । तं जहा--

" अस्सत्थसत्तवन्ने, सामलिउंवरसिरीसदहिवन्ने ।
वजुलपलासवप्पा-यए य कणियाररुक्खे य ॥ १ ॥ "

तामेव भेदेनाऽऽह-

पञ्चोपचारयुक्ता, का चिच्चाष्टोपचारयुक्ता स्यात् ।
ऋद्धिविशेषादन्या, प्रोक्ता सर्वोपचारेति ॥ ३ ॥

पञ्चोपचारयुक्ता पञ्चाङ्गप्रणिपातरूपा, का चिच्चाष्टोपचारयुक्ता स्यात् अष्टाङ्गप्रणिपातरूपा, ऋद्धिविशेषादन्या ऋद्धिविशेषो दशार्णभद्रादिगतः, तस्मादपरा प्रोक्ता, सर्वोपचारेति सर्वैः प्रकारैरन्तःपुरहस्त्यश्वरथादिभिरुपचारो विनयो यस्यां सा सर्वोपचारा ॥ तत्राद्या-" दो जाणू दोणि करा, पंचमयं होइ उत्तमंगं तु " । एवमेषि पञ्चभिरुपचारयुक्ता, अथवा-आगमोक्तैः पञ्चभिर्विनयस्थानैर्युक्ता । तद्यथा-" सचित्ताणं दव्वाण विउसरणयाए, अचित्ताण दव्वाणं अविउसरणयाए एगसाडिएण उत्तरासंगेण चक्खुफासे अंजलिपग्गहेण मणसा एगत्तीभावकरणेण " ॥ द्वितीया त्वष्टभिरङ्गैः शरीरावयवैरुपचारो यस्याम् । तानि चामून्यङ्गानि- "सीसमुरोयरपिट्ठी,दो वाहू ऊरुया य अट्ठंगा ।" तृतीया तु देवेन्द्रन्यायेन, यथोक्तमागमे-" सव्वबलेण सव्वसमुदएणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वायरेण " इत्यादि ॥ ३ ॥

इय च यादृशेन वित्तेन कार्या पुरुषेण च तदाह—

न्यायार्जितेन परिशो-धितेन वित्तेन निरवशेषेयम् ।
कर्त्तव्या बुद्धिमता, प्रयुक्तसत्सिद्धियोगेन ॥ ४ ॥

न्यायार्जितेन न्यायोपात्तेन, परिशोधितेन भावविशेषात्, वित्तेन द्रव्येण, निरवशेषा सकलेय पूजा, कर्तव्या करणीया, बुद्धिमता प्रज्ञावता, प्रयुक्तसत्सिद्धियोगेन प्रयुक्तः वर्तितः सत्सिद्धियोगः सत्साधनव्यापारो येन स तथा ॥ ४ ॥

कीदृक्प्रयत्नेन पुनः पुंसा करणीयेयमित्याह-

शुचिनाऽऽत्मसंयमपरं, सितशुभवस्त्रेण वचनसारेण ।
आशंसारहितेन च, तथा तथा भाववृद्ध्योच्चैः ॥ ५ ॥

शुचिना द्रव्यतः स्नानेन देशसर्वस्नानाभ्यां, देशस्नानं हस्तपादमुखप्रक्षालनं, सर्वस्नानं शिरसा स्नातत्वे सत्यागमप्रसिद्ध्या भावतः शुचिना भावस्नानेन, विशुद्धाध्यवसायेनेत्यर्थः । आत्मसंयमपरम्-आत्मनः शरीरस्य संयमः संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वं तत्परं तत्प्रधानं यथा भवत्येवं पूजा कर्त्तव्या । सितशुभवस्त्रेण सितवस्त्रेण शुभवस्त्रेण च, शुभमिह सितादन्यदपि पट्टयुग्मादि रक्तपीतादिवर्णं परिगृह्यते, वचनसारेणाऽऽगमप्रधानेन, आशंसारहितेन च-इहपरलोकाद्याशंसाविकलेन च, तथा तथा भाववृद्ध्योच्चैर्येन येन प्रकारेण पुष्पवस्त्रादिविरचनागतेन भाववृद्धिः सपद्यते तेन तेन प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रतिष्ठाऽनन्तरं पूजा प्रस्तुता, सा च पुष्पामिषस्तोत्रादिभेदेन बहुधा, तत्र पुष्पादिपूजामभिधाय स्तोत्रपूजां कारिकाद्वयेनाऽऽह-

पिण्डक्रियागुणगतै-र्गम्भीरैर्विविधवर्णसंयुक्तैः ।
आशयविशुद्धिजनकैः, संवेगपरायणैः पुण्यैः ॥ ६ ॥
पापनिवेदनगर्भैः, प्रणिधानपुरस्सरैर्विचित्रार्थैः ।
अस्खलितादिगुणयुतैः, स्तोत्रैश्च महामतिग्रथितैः ॥ ७ ॥

पिण्डः शरीरमष्टोत्तरलक्षणसहस्रलक्षितं, क्रिया समाचारश्चरितं, तच्च सर्वातिशायि दुर्वारपरीषहोपसर्गसमुत्थभयविजयित्वेन, गुणाः श्रद्धाज्ञानविरतिपरिणामादयो जीवस्य सहवर्त्तिनोऽविनाभूताः सामान्येन, केवलज्ञानदर्शनादयस्तु विशेषेण, तद्गतैस्तद्विषयैस्तत्प्रतिबद्धैः, गम्भीरैः सूक्ष्ममतिविषयभावाभिधायिभिरन्तर्भावप्रवर्तितैश्च, विविधवर्णसंयुक्तैर्विचित्राक्षरसंयोगैश्छन्दोलङ्कारवशेन, आशयविशुद्धिजनकैर्भावविशुद्ध्याऽऽपादकैः, संवेगपरायणैः-संवेगः संसारभयं, मोक्षाभिलाषो वा, परमयनं गमनं येषु तानि परायणानि, संवेगे परायणानि संवेगपरायणानि, तैः पुण्यहेतुत्वात् पुण्यानि, तैः ॥६॥ पापानां रागद्वेषमोहकृतानां, स्वयंकृतत्वेन निवेदनं परिकथनं, तद्गर्भो हृदयान्तर्गतभावो येषां तानि तैः पापनिवेदनगर्भैः, प्रणिधानमैकाग्र्यं, तत्पुरःसरैः, उपयोगप्रधानैरिति यावत् । विचित्रार्थैर्बहुविधार्थैः, अस्खलितादिगुणयुतैरस्खलितममिलितमव्यत्याम्रेडितमित्यादिगुणयुक्तैरभिव्याहारमाश्रित्य स्तोत्रैश्च स्तुतिविशेषैश्च, महामतिग्रथितैः महाबुद्धिपुरुषविरचितसन्दर्भैः, इय पूजा कर्तव्येति पश्चात्सम्बन्धनीयम् ॥ ६-७ ॥

कथं पुनः स्तोत्रेभ्यः पूजा भवतीत्याह—

शुभभावार्थं पूजा, स्तोत्रेभ्यः स च परः शुभो भवति ।
सद्भूतगुणोत्कीर्त्तन-संवेगात् समरसाऽऽपत्त्या ॥ ८ ॥

(शुभेत्यादि) शुभभावार्थं पूजा शुभभावनिमित्तं पूजा, सर्वाऽपि पुष्पादिभिः स्तोत्रेभ्यः स्तुतिभ्यः, स च भावः, परः प्रकृष्टः, शुभो भवति शुभहेतुर्जायते, एवं च पुष्पवस्त्रादीनामिव स्तोत्राणामपि प्राक्तनाध्यवसायापेक्षया शुभतरपरिणामनिबन्धनत्वेन पूजाहेतुत्वं सिद्ध्यति । कथं पुनः स्तोत्रेभ्यः शुभो भाव इत्याह-सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनसंवेगात्, सद्भूतानां विद्यमानानां तथ्यानां च गुणानां ज्ञानादीनां यत्कीर्त्तनं तेन संवेगो मुक्त्याभिलाषस्तस्मात्, समरसापत्त्या समभावे रसोऽभिलाषो यस्यां सा समरसा, सा चासावापत्तिश्च प्राप्तिरभिमतिरधिगम इत्यनर्थान्तरम् । तया हेतुभूतया समरसापत्त्या परमात्मस्वरूपगुणज्ञानोपयोगरूपया, परमार्थतस्तद्भजनेन तदुपयोगानन्यवृत्तितया स्तोत्रेभ्य एव शुभो भावो भवतीति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

अधुना अन्यथा पूजाया एव भेदत्रयमाह-

कायादियोगसारा, त्रिविधा तच्छुद्ध्युपात्तवित्तेन ।
या तदतिचाररहिता, सा परमाऽन्ये तु समयविदः ॥९॥

(कायेत्यादि) कायादयो योगाः कायादीनां वा, तत्सारा तत्प्रधाना, त्रिविधा त्रिप्रकारा पूजा-काययोगसारा, वाग्योगसारा, मनोयोगसारा च, तच्छुद्ध्युपात्तवित्तेन तेषां कायादियोगानां शुद्धिः कायादिदोषपरिहारः, तयोपात्तं यद्वित्तं तेन करणभूतेन, या तदतिचाररहिता शुद्ध्यतिचारविकला, सा परमा प्रधाना पूजा, अन्ये तु समयविदः अपरे त्वाचार्या इत्थमभिदधति ॥ ९ ॥

कायादियोगसारा त्रिविधा पूजेत्युक्तं तदेव त्रैविध्यमाह-

विघ्नोपशमन्याद्या, गीताऽभ्युदयप्रसाधिनी चान्या ।
निर्वाणसाधनीति च, फलदा तु यथार्थसंज्ञाभिः॥१०॥

(विघ्नेत्यादि) विघ्नानुपशमयतीति विघ्नोपशमनी, आद्या का-

पका इति। "तेसि णं" इत्यादि। तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरत प्रत्येक प्रत्येक मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ता। ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजन बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्य अच्छा इत्यादि प्राग्वत्। जी० ३ प्रति०।

चेइयवंदण-चै(त्य)त्यवन्दन-न०। स्त्री०। चित्तस्य भावाः कर्माणि वा "वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च" ॥५।१।१२३॥ (पाणि०) इति ष्यञि चैत्यानि जिनप्रतिमाः,ता हि चन्द्रकान्तसूर्यकान्तमरकतमुक्ताशैलादिदलनिर्मिता अपि चित्तस्य भावेन कर्मणा वा साक्षात्तीर्थकरबुद्धिं जनयन्तीति चैत्यान्यभिधीयन्ते। तेषां वन्दनं स्तवन कायवाङ्मन:प्रणिधान चैत्यवन्दनम्। प्रव०१ द्वार। चित्त प्रस्तावात् प्रशस्त मनस्तद्भावश्चैत्य, तद्धेतुत्वाज्जिनबिम्बा अपि चैत्यानि, कारणे कार्योपचारात्। तेषां वन्दना पूर्वोक्तशब्दार्था चैत्यवन्दना।

उक्त च-

" चित्त मणो पसत्थं; तब्भावो चेइय त्ति तज्जणगं।
जिणपमिमाओ तेसिं, वदणमभिवायण तिविह ॥ १ ॥ "

यद्वा-चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम, तच्च संज्ञाशब्दत्वात् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धम्। चूर्णौ तु-'चिती' संज्ञाने, काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा सञ्ज्ञानमुत्पद्यते। यथा अर्हदादिप्रतिमेति। शेष प्राग्वत्। ननु भावार्हदादीनामप्यत्र वन्दना क्रियते, तत्कथ चैत्यवन्दनेत्युच्यते?। सत्यम्-प्रायेणास्याश्चैत्याग्रे करणात्।

तथा च बृहद्भाष्यम्-

"भावजिणप्पमुहाण वि, सव्वेसि वि जइ वि वदणा तह वि।
चेइयअग्गे काउ, तीरेई वदणा तेण ॥ २ ॥
जिणबिंबाभावे पुण, ठवणा गुरुसक्खिया वि कीरति।
चिइवदण चिय इमा, तत्थ वि परमिट्ठिठवणाओ ॥ ३ ॥
अहवा जत्थ व तत्थ व, पुरओ परिमिट्ठिठवणाओ।
कीरइ बुहेहिँ एसा, नेया चिइवदणा तम्हा " ॥ ४ ॥

करणत्रिकेण देवप्रणिधाने, संघा० १ प्रस्ता०।

विषयसूची-

(१) अधिकारसग्रहः।
(२) दश त्रिकाणि।
(३) नैषेधिकीत्रयम।
(४) तत्र भुवनमल्लकथानकम।
(५) पूजात्रिकम।
(६) भावनाः।
(७) त्रिदिक्निरीक्षणवर्जने गन्धारश्रावककथानकम।
(८) स्तुत्यक्षराणि।
(९) मुद्रात्रिकप्ररूपणम्।
(१०) प्रणिधानम्।
(११) अभिगम।
(१२) चैत्यवन्दनदिक्।
(१३) अवग्रहः।
(१४) त्रिविधवन्दना।
(१५) स्तुतिविचार.।
(१६) चैत्यवन्दनविधि।
(१७) जघन्यवन्दनाविचार.।
(१८) अपुनर्बन्धकादयोऽधिकारिण.।
(१९) अधिकारिता।
(२०) नमस्कारद्वारम।
(२१) सपद्द्वारम।
(२२) प्रणिपातदण्डके वारा'।
(२३) चतुर्विंशतिस्तवः।
(२४) सिद्धस्तुतिः।
(२५) श्रुतस्य स्तुतिः।
(२६) वीरस्तुति।
(२७) वैयावृत्ये स्तुतय।
(२८) द्वादश अधिकाराः।
(२९) शरणीयद्वारम्।
(३०) जिनद्वारम।
(३१) यो यत्र स्तूयते।
(३२) येऽधिकारा यत्समताः स्तुतय' संस्कृतकाव्यानि।
(३३) षोमश आकाराः।
(३४) स्तोत्रलक्षणम।
(३५) कतिवेलाश्चैत्यानि वन्देत।
(३६) चैत्यवन्दनकरणविधिः।
(३७) प्रकीर्णकवार्ता.।

(१) तद्विधिं विभणिषुरधिकारसङ्ग्रहमाह-

इह च प्रतिदिनानुष्ठेय चैत्यवन्दनादिक सङ्घस्याचारविधिं वक्ष्यामीत्युक्तम्। तत्र तावत्-

" साहूण गिहत्थाण य, सव्वाणुट्ठाणमूलमक्खाय।
चिइवदणमेव जओ, ता तम्मि वियारणा जुत्ता " ॥ १ ॥

इति वचनात् " सामाइयचिएहि वि, चउवीस पुव्वया चेव" इत्यावश्यकचूर्णिवचनाच्च, प्रथम चैत्यवन्दनाविधिं बिभणिषुर्भाष्यकार. शास्त्रमुखापरपर्याय तद्द्वारगाथाचतुष्टयमाह-

दहतिय १ अहिगमपणगं, २
दुदिसि ३ तिहुग्गह ४ तिहा उ वंदणया ५।
पणिवाय ६ नमुकारं ७,
वण्णा सोलसयसीयाला ८ ॥ २ ॥

इह सामान्येन साधुश्रावकादिबहुसमानजिनभवनप्रवेशादिसमयविधीयमाननैषेधिक्यादिप्रणिधानपर्यवसानसकलचैत्य-वन्दनाविधानप्रतिपादनप्रधान त्रि.संस्थानकनिबद्ध दशत्रिकाख्य प्रथमद्वारम्-(दहतिय त्ति) दशेति दशसंख्यानि त्रिकाणि नैषेधिकीत्रयादिरूपाणि यत्र द्वारे तद्दशत्रिकम्। वक्ष्यति च "तिन्नि निसीही" इत्यादि। अत्र च सर्वत्र विभक्तिलोपादिक प्राकृतलक्षणवशादवसानव्यम्।१। पुन ऋद्ध्यवाप्तानृद्धिप्राप्तश्राद्धानधिकृत्य विशेषतश्चैत्यादिप्रवेशविध्यभिधायकं द्वितीयमभिगमद्वारम्-(अहिगमपणगं ति) अभिगमाना चैत्यादिप्रवेशे विधिविषयद्वार, शेषाणां पञ्चकमभिगमपञ्चकम्। भणिष्यति च-"सचित्तदव्वओ ज्झाण" इत्यादि। २। प्रविश्य जिनगृहे विहितयथोचितनैषेधिक्यादिकरणैर्नरनारीगणैर्भावपूजाविधित्सया स्वस्वोचिता दिग् ज्ञेयेति तृतीयं दिग्द्वारम्-(दुदिसि त्ति) द्वे वामदक्षिणलक्षणे दिशौ काष्ठे क्रमत स्त्रीपुंसयोर्योग्यतया वन्दनामधिकृत्य समाहृते वर्णिते वा यत्र तद् द्विदिग्। अभिधास्यति च-"वदति जिणे दाहिण" इत्यादि।३। वामेतरदिक्संस्थैस्तैर्जिनात् कियत् दूरे वन्दना विधेयेति दिगनन्तर चतुर्थमवग्रहद्वारम्-(तिहुग्गह त्ति) त्रिधा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रिप्रकारोऽवग्रहो मूलबिम्बवन्दनास्थानाभ्यन्तरालभूमा

गिहचेइएसु न घमइ, इअरेसु वि जइ वि कारणवसेण ।
तह वि न मुयइ मइम, सया वि तक्करणपरिणाम ॥ ४ ॥ ”

प्रदक्षिणादाने च समवसरणस्थचतूरूप श्रीजिन ध्यायन् गर्भागारदक्षिणपृष्ठवामदिक्त्रयस्थबिम्बत्रयं वन्दते, अत एव सर्वस्यापि चैत्यस्य समवसृतिस्थानीयतया गर्भगृहबहिर्भागादिकृत्रये मूलबिम्बनाम्ना बिम्बानि कुर्वन्ति। एव च-"वर्जयेदर्हत पृष्ठम्"इत्युक्तोऽर्हत्पृष्ठनिवासदोषोऽपि चतुर्दिक्षु निवर्त्तते,ततश्चैत्यप्रमार्जनपोतकलेख्यकादिवक्ष्यमाणयथोचितचिन्तापूर्वं विहितसकलपूजासामग्रीको जिनगृहव्यापारनिषेधरूपां द्वितीयां नैषेधिकीं मुखमण्डपादौ कृत्वा मूलबिम्बस्य प्रणामत्रयपूर्वकं पूर्वोक्तविधिना पूजां कुरुते ।

यद्भाष्यम्-

" तत्तो निसीहिआए, पविसित्ता मंडवम्मि जिणपुरओ ।
महिनिहिअजाणुपाणी, करेइ विहिणा पणामतिग ॥ १ ॥
तयणु हरिसुल्लसंतो, कयमुहकोसो जिणिंदपडिमाण ।
अवणेइ रयणिवसिअ, निम्मल्लं लोमहत्थेणं ॥ २ ॥
जिणगिहपमज्जणतो, करेइ कारेइ वा वि अन्नेण ।
जिणबिंबाण पुअंतो, विहिणा कुणई जहाजोग "॥ ३ ॥

अत्र च विशेषत. शुद्धगन्धोदकप्रक्षालनकुङ्कुमामिश्रगोशीर्षचन्दनविलेपनाङ्गीरचनगोरोचनमृगमदादिपत्रभङ्गकरणनाना--जातीयपुष्पमालारोपणचीनांशुकवस्त्रपरिधापनकृष्णागुरुमिश्र - कर्पूरदहनानेकदीपोद्योतनस्वच्छाखण्डाक्षताष्टमङ्गलालेखन --विचित्रपुष्पगृहरचनादि धेयं, यदि च प्राक् केनाऽपि पूजा कृता स्यात्तदा विशिष्टान्यपूजासामग्र्यभावे तां नोत्सारयेत; भव्याना तद्दर्शनजन्यपुण्यानुबन्धिपुण्यबन्धस्यान्तरायप्रसङ्गात , किं तु तामेव विशेषयेत् ।

यदू बृहद्भाष्यम्-

" अह पुव्वं चिअ केणइ, हविज्ज पूआ कया सुविहवेण ।
त पि सविसेससोहं, जह होइ तहा तहा कुज्जा ॥ १ ॥
निम्मल्लं पि न एव, भन्नइ निम्मल्ललक्खणाभावा ।
भोगविणट्ठ दव्व, निम्मल्लं बिंति गीअत्था ॥ २ ॥
इत्तो चेव जिणाणं, पुणरवि आरोवण कुणति जहा ।
वत्थाहरणाईण, जुगलिअकुंडलिअमाईण ॥ ३ ॥
कहमन्नह एगाए, कालाईए जिणिंदपडिमाण ।
अट्ठसय लूहंता, विजयाई वण्णिआ समए " ॥ ४ ॥

एवं मूलबिम्बस्य विस्तरपूजानन्तर सृष्ट्या सर्वापरबिम्बपूजा यथायोग कार्या, द्वारबिम्बसमवसरणबिम्बपूजाऽपि मुख्यबिम्बपूजाद्यनन्तर गर्भगृहनिर्गमसमये कर्त्तव्या सभाव्यते, न तु प्रवेशे, प्रणाममात्र त्वासन्नार्चादीनां पूर्वमपि, एवमेव तृतीयोपाङ्गादिसवादिन्या सद्दाचारोक्तविजयदेववक्तव्यतायामित्थमेव प्रतिपादनात् ।

तथाहि-

" तो गतु सुहम्मसह, जिणस्स कयदसणम्मि पणमित्ता ।
उग्घामितु समुग्ग, पमज्जए लोमहत्थेणं ॥ १ ॥
सुरहिजलेणिगवीस, वारा पक्खालिआऽणुलिंपित्ता ।
गोसीसचदणेण, ता कुसुमाईहिँ अच्चेइ ॥ २ ॥
तो दारपमिमपूअ, सहासुहम्माइसु वि करइ पुव्व ।
दारच्चणाइ सेस, तइअउवंगाउ नायव्वं " ॥ ३ ॥

तस्मान्मूलनायकस्य पूजा सर्वेभ्योऽपि पूर्वं सविशेषा हि कार्या।

उक्तमपि-

" उचिअत्त पूआए, विसेसकरणं तु मूलबिंबस्स ।
ज पमइ तत्थ पढम, जणस्स दिट्ठी सह मणेण ॥ १ ॥ ”

शिष्यः-

" पूआवंदणमाई, काऊणेगस्स सेसकरणम्मि ।
नायगसेवगभावो, होइ कओ लोगनाहाण ॥ २ ॥
एगस्सायरसारा, कीरइ पूआऽवरेसिँ थोवयरी ।
एसा वि महावन्ना, लक्खिज्जइ निउणबुद्धीहिं ॥ ३ ॥

आचार्य.-

नायगसेवगबुद्धी, न होइ एएसु जाणगजणस्स।
पिच्छंतस्स समाणं, परिवार पाडिहेराई ॥ ४ ॥
ववहारो पुण पढम, पइट्ठिओ मूलनायगो एसो ।
अवणिज्जइ सेसाण, नायगभावो न उ णतेण ॥ ५ ॥
वंदणपूआबलिढोअणेसु एगस्स कीरमाणेसु ।
आसायणा न दिट्ठा, उचिअपवित्तस्स पुरिसस्स ॥ ६ ॥
जह मिम्मयपडिमाणं, पूआ पुप्फाइएहिँ खलु उचिआ।
कणगाइनिम्मिआण, उचिअतमा मज्जणाई वि ॥ ७ ॥
कल्लाणगाइ कज्जा,एगस्स विसेसपूअकरणा वि।
नावन्नापरिणामो, जह धम्मिजणस्स सेसेसु ॥ ८ ॥
उचिअपवित्त एव, जहा कुणतस्स होइ नावन्ना ।
तह मूलबिंबपूआ, विसेसकरणे वि त नऽत्थि ॥ ९ ॥
जिणभवणबिंबपूआ, कीरंति जिणाण नो कए किं तु ।
सुहभावणानिमित्त, बुहाण इयराण बोहत्थ ॥ १० ॥
चेईहरेण केई, पसंतरूवेण केइ बिंबेण।
पूआए सया अन्ने, अन्ने बुज्झंति उवएसा ॥ ११ ॥ ”

इति पूर्वं मूलबिम्बपूजा युक्तिमेत्येवेत्यल प्रसङ्गेन। सविस्तरपूजाऽवसरे च नित्य विशेषतश्च पर्वसु त्रिपञ्चसप्तकुसुमाञ्जलिप्रक्षेपादि पूर्वं भगवत स्नात्र विधेयम् ।

तत्राय विधि· योगशास्त्रवृत्तिश्राद्धविधिवृत्तिलिखित·-

प्रातः पूर्वं निर्माल्योत्सारण प्रक्षालन सक्षेपपूजा आरात्रिकं मङ्गलप्रदीपश्च , ततः स्नात्रादिसविस्तरद्वितीयपूजाप्रारम्भे देवस्य पुर· सकुङ्कुमजलकलश स्थाप्यः ।

तत -

" मुक्ताऽलङ्कारसार सौम्यत्वकान्तिकमनीयम् ।
सहजनिजरूपनिर्जित-जगत्त्रयं पातु जिनबिम्बम् ” ॥१॥

इत्युक्त्वाऽलङ्कारोत्तारणम् ।

" अवणिअकुसुमाहरण, पयइट्ठिअमणोहरच्छाय ।
जिणरूव मज्जणपी-ढसंठिअ वो सिव दिसउ" ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा निर्माल्योत्तारणम् । तत. प्रागुक्तकलशढालनं, पूजा च । अथ धौतधूपितकलशेषु स्नात्रार्हसुगन्धिजलक्षेप·, श्रेण्या तेषां व्यवस्थापन, सदुवस्त्रेणाच्छादन च,तत. स्वचन्दनधूपादिना कृततिलकहस्तकङ्कणहस्तधूपनादिकृत्या· श्रेणिस्था· श्रावकाः कुसुमाञ्जलिहस्ताः पाठान् पठन्ति ।

तत्र-

" सयवत्तकुन्दमालइ-बहुविहकुसुमाइँ पंचवन्नाइं ।
जिणनाहन्हवणकाले, दिंति सुरा कुसुमजलीहत्था ॥ ३ ॥ ”

इत्युक्त्वा देवस्य मस्तकेषु पुष्पारोपणम् ।

रोऽस्मिन्नेव शब्देऽग्रे करिष्यते) कायोत्सर्गानन्तरं स्तुतयो दीयन्त इत्युक्तम् । अथोत्सर्गा एवात्र किमर्थं क्रियन्त इति तत्फलनिरूपकं सप्तदशं निमित्तद्वारम्-(निमित्त१८ त्ति) निमित्तानि प्रयोजनानि, फलानीति यावत् । अष्टौ अष्टसंख्यानि, इदमत्र हृदयम्-सपूर्णायामस्यां क्रियमाणायां पापक्षपणादीन्यष्टौ फलानि भवन्तीति । प्रतिपादयिष्यति च-" पावक्खवणत्थमिरिया " इत्यादि । यदत्रैर्यापथिक्या अपि फलमुपादर्शि तदीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्विकैव परिपूर्णचैत्यवन्दनेति प्रतिपादनार्थम् । एव तद्धेतुप्रमाणवर्णादीनामपि निरूपणे कारणं वाच्यम् ॥ १७ ॥ फलाष्टकार्थं कायोत्सर्गाः कार्या इत्युक्तानि , तत्र न कारणमन्तरेण कार्यप्ररोहसंभावना , बीजेन विनाऽङ्कुरप्रादुर्भावाभाववदिति निमित्तद्वारानन्तरमष्टादशं हेतुद्वारम्-(वार हेऊ य त्ति) हेतवश्च फलसाधनयोग्यानि कारणान्यत्र वक्ष्यन्ते । यथा-" तस्स उत्तरीकरणं " इत्यादि । चशब्दो निमित्तहेतुभिः कश्चित्कथंचन कतिचिन्मन्यत इतिवाचनान्तरप्रदर्शनार्थः । तच्चाग्रे दर्शयिष्यते । इति निमित्तहेतुभिः कृतोऽप्युत्सर्गो नाकारैर्विना निरतिचारः शक्यः पालयितुमित्याकारद्वारमेकोनविंशतितमम्-(सोल आगार त्ति) षोडश आकारा अपवादाः कायोत्सर्गकरणे ज्ञातव्याः । वक्ष्यति च-" अनुच्छ्रयाइ बारस " इत्यादि ॥१९॥ कृते चोत्सर्गे दोषा वर्ज्या इति विंशतितमं दोषसंख्याद्वारम्-(गुणवीस दोस त्ति) एकोनविंशतिर्दोषाः कायोत्सर्गस्थैर्वर्जनीयाः । अभिधास्यति च—" घोडगलय " इत्यादि ॥ २० ॥ कियन्तं च कालमेवमुत्सर्गः कार्य इत्येकविंशं प्रमाणद्वारम्-(उस्सग्गमाणु त्ति) कायोत्सर्गप्रमाणमत्र ज्ञेयम् । वक्ष्यति च-" इरिओस्सग्गपमाणं " इत्यादि ॥ २१ ॥ चैत्यवन्दना हि स्तुतिस्तवादिस्वरूपा, तत्र स्तुतयो वन्दनामध्ये दीयमानत्वात् तद्द्वारं षोमशमुक्तम् । स्तवस्तु वन्दनापर्यन्तभावी, " चेइयाइं वंदिज्जति, तओ पच्छा संतिनिमित्तं अजियसंतित्थओ परियट्टिज्जइ । " इत्यावश्यकचूर्णिवचनात्, तथैव सकलसङ्घेन क्रियमाणतया करणविधौ समायातत्वाच्च । तथा चावश्यकवृत्तावप्युक्तम्-" चेइआइ वंदिज्जति, तओ संतिनिमित्त अजियसंतित्थओ कड्डिज्जइ " इत्यतो द्वाविंशं स्तवद्वारम्-(थुत्त ति) स्तोत्रं चतुःश्लोकादिरूपम्-" चउसिलोगाए परेण थओ भवइ " इति व्यवहारचूर्णिवचनात् तदत्र भणनीयम् । वक्ष्यति च-" गंभीरमहुरसद्द " इत्यादि । चशब्दो विशेषकः । तेनात्र एकैकश्लोकादिकः भगवद्गुणोत्कीर्त्तनपरः चैत्यवन्दनायाः पूर्वं भण्यते, ततो मङ्गलवृत्तापरपर्याया नमस्कारा इत्युच्यन्ते । यद्भाष्यम्-

" उद्दामसय वेया-लि उच्च पढिऊण सुकइवद्धारं ।
मगलसेत्ताइ तउ, पणिवायथय पढइ सम्म ॥१॥ "

इति पूर्वं भणनीयत्वादेव नमस्काराणां तद्द्वारं पूर्वं सप्तममुक्तम् । यत्तु कायोत्सर्गानन्तरं भण्यते तत् स्तुतय इति रूढाः, चैत्यवन्दनापर्यन्ते च स्तोत्रमिति, अयमेव चैतेषां परस्परं विशेषः , अन्यथा भगवत्कीर्त्तनरूपतया सर्वेषामप्येषामेकस्वरूपापत्तेः । भणितं चागमे त्रितयमप्येतत्-नमस्कारस्तुतिस्तवा इति । तथा चोत्तराध्ययनसूत्रम्-"थयथुइमंगले णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्ताणि, बोहिलाभं च जणयइ । नाणदंसणचरित्तसंपन्नेण जीवे अंत-

किरियं कप्पविमाणोववत्तिअं आराहणं आराहेइ । " इत्यादि विमर्शनीयमिदं सूक्ष्मधियेति ॥ २२ ॥ इयं च चैत्यवन्दना दिनमध्ये कियन्तो वारानोघतो विधेयेति वेलाप्रमाणप्ररूपकं त्रयोविंशतितमं द्वारम्-(सगवेल त्ति) सप्तवेलाः सप्तवारान् दिनान्तरोघतोऽपि वन्दना कार्येति । कथयिष्यति च-" पडिक्कमणे चेइयजिणमचरिम " इत्यादि ॥ २३ ॥

दसआसायणचाओ, एवं चिइवंदणाइठाणाणि ।
चउवीसदुवारेहिं, दुसहस्सा हुंति चउसयरा ॥

चैत्यवन्दनां विदधता विशेषत आशातनाः परिहार्या इति चतुर्विंशतितममाशातनाद्वारम्-(दसआसायणच्चाओ त्ति) दशानामाशातनानाम्-

" जिणभवणम्मि अवण्णा, पूयाइअणायरो तहा भोगो ।
दुप्पणिहाणं अणुचिय-वित्ती आसायणा पंच ॥१॥ "

इति बृहद्भाष्योक्ताऽवज्ञादिपञ्चप्रकाराऽऽशातनाऽन्तर्वर्तिभोगाभिधानतृतीयाऽऽशातनाभेदानां ताम्बूलपानीयादीनां,त्यागः परिहारः कार्यो, जिनगृह इत्युपस्कारः । वक्ष्यति च-" तंबोलपानभोयण " इत्यादि । एतासां चोपलक्षणत्वात्, तुलादण्डन्यायेन वा मध्यग्रहणेनाऽऽद्यन्तयोरपि ग्रहणाच्चतुरशीत्युत्तरभेदावज्ञादिरूपं पञ्चप्रकाराऽप्याशातना वर्ज्येति । एतच्च एतद्द्वारव्याख्याऽवसरे भणिष्यामः । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण चैत्यवन्दनायां स्थानानि भवन्तीति योगः । कैः ?, चतुर्विंशतिद्वारैः । तत्राद्यगाथायामष्टौ, द्वितीयस्यां सप्त, तृतीयायामष्टौ, चतुर्थ्यामेकं द्वारमिति । कियन्ति स्थानानि भवन्तीत्याह-द्वौ सहस्रौ चतुःसप्तत्यधिकौ । तत्राद्यद्वारे त्रिंशत्, द्वितीये पञ्च, तृतीये द्वौ, चतुर्थे त्रीणि , पञ्चमे त्रीणि , षष्ठे एकम् , सप्तमे एकम् , अष्टमे षोमशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि, नवमे एकाशीत्यधिकं शतम् , दशमे सप्तनवतिः , एकादशे पञ्च , द्वादशे द्वादश , त्रयोदशे चत्वारि , चतुर्दशे एकम् , पञ्चदशे चत्वारि , षोमशे चत्वारि , सप्तदशे अष्टौ , अष्टादशे द्वादश , एकोनविंशतितमे षोमश , विंशतितमे एकोनविंशतिः, एकविंशतितमे एकम्, द्वाविंशतितमे एकम्, त्रयोविंशे सप्त, चतुर्विंशतितमे दश । सर्वे मिलिताश्चतुःसप्तत्यधिकसहस्रा भवन्तीति द्वारगाथाचतुष्टयार्थः । सङ्घा० १ प्रका० ।

(२) दश त्रिकाणि-

अथ "यथोद्देशं निर्देशः " इति न्यायात् प्रथमं द्वारं व्याचिख्यासुः दशत्रिकप्रचिकटयिषया शास्त्रप्रतिमुखरूपाणि प्रतिद्वाराणि चिरन्तनगाथाद्वयेनाऽऽह-

तिन्नि निसीही तिन्नि य,पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा ।
तिविहा पूया य तहा , अवत्थतियभावणं चेव ॥

तिस्रो नैषेधिक्यो गृहादिव्यापारपरिहाररूपाः, जिनगृहादिस्थाने प्रविशता कर्त्तव्या इति क्रियाऽध्याहारः। एवमन्यत्रापि- 'यश्च निम्बं परशुना, यश्चैनं मधुसर्पिषा। यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां, सर्वस्य कटुरेव सः ॥१॥" इत्यादिवत् यथाऽनुरूपा क्रियाऽध्याहार्येति प्रथमं त्रिकम् ॥१॥ तिस्रश्च प्रदक्षिणा दातव्या ,तत्र प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमता दक्षिणमात्मनो दक्षिणाङ्गभागवर्त्ति मूलबिम्बं ज्ञानादित्रयानुकूल्यकृते यत्र प्रतिपत्तौ सा प्रदक्षिणेति द्वितीयं त्रिकम् ॥ २ ॥ त्रयश्च प्रणामाः प्रकर्षेण

वनिमित्ततया कर्मक्षयावन्ध्यकारणत्वात्। तथाहि-भगवत्प्रतिमाया भूषणाऽऽरोपणं कर्मक्षयकारणं कर्तुर्मनःप्रसादजनकत्वात्, कुङ्कुमाद्यालेपनवत्। न च एतावस्थायां भगवता भूषणादेरनङ्गीकृतत्वात् न तत्प्रतिकृतौ तद्विधेय, संमज्जनाऽऽरागपुष्पादिधारणस्यापि तथावस्थायां भगवताऽनार्थितत्वान्न तत् तत्र विधेयं स्यात्। अथ मेरुमस्तकादिषु सद्वनिषेकादाविन्द्रादिभिस्तस्य विहितत्वात् असदादिभिरपि कृतानुकरणादिभिः प्रयोजनैस्तत्तत्र विधीयते, तर्हि तत एवाऽऽभरणादिभिर्भूषादिकमपि विधेयम्, कृतानुकरणादे समानत्वात्। एवमन्यदप्यागमबाह्य स्वमनीषिकया परपरिकल्पितमागमयुक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेध्य, न्यायदिशा प्रदर्शितत्वात्। तदेवमनघातापुत्तयथावदपरिभावितागमतात्पर्या दिग्वाससः एवासाकं विरोपस्य तीति व्यवस्थितम्। सम्म० २ काण्ड ।

विविधप्रतिमाऽर्चनम्-

प्रतिमाश्च विविधास्तत्पूजाविधौ सम्यक्त्वप्रकरणे इत्युक्तम्-

" गुरुकारिआइ केई, अन्ने सयकारिआउ तं बिंति ।
विहिकारिआइ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं ॥ १ ॥ "

गुरवो मातृपितृपितामहादय, तैः कारिताया केचित्, अन्ये स्वयकारितायाः, विधिकारितायास्त्वन्ये प्रतिमायाः, तत्पूर्वाभिहितं, पूजाविधानं ब्रुवन्ति, कर्त्तव्यमिति शेष। सिद्धान्तविदस्तु-गुर्वादिरूपत्वस्यानुपयोगित्वान्ममत्वाग्रहरहितेन सर्वप्रतिमा अविशेषेण पूजनीया। न चैवमविधिकृतामपि पूजयतस्तदनुमतिद्वारेणाऽऽज्ञाभङ्गलक्षणदोषाऽऽपत्तिः, आगमप्रामाण्यात्।

तथाहि श्रीकल्पबृहद्भाष्ये-

" निस्सकडमनिस्सकडे, चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं च चेइआणि अ, नाउं इक्किक्किआ वा वि ॥ १ ॥ "

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते। अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि च ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्या ॥ १ ॥

अथ चैत्यगमनपूजास्नात्रादिविधि सर्वोऽपि ऋद्धिप्राप्तमाश्रित्योक्त, तस्यैवैतावद्योगसंभवात्। अनृद्धिप्राप्तस्तु श्राद्धः स्वगृहे सामायिकं कृत्वा केनापि सह ऋणविवादाद्यभावे ईर्यायुपयुक्तः साधुवच्चैत्य याति, स च पुष्पादिसामग्र्यभावाद् द्रव्यपूजायामशक्तः सामायिकं पारयित्वा कायेन यदि पुष्पग्रथनादि कर्त्तव्यं स्यात् तदा तत् करोति। न च सामायिकत्यागेन द्रव्यस्तवस्य करणमनुचितमिति शङ्कयम्, सामायिकस्य स्वायत्ततया शेषकालेऽपि सुकरत्वाच्चैत्यकृत्यस्य च समुदायायत्तत्वेन कादाचित्कत्वात्, द्रव्यस्तवस्यापि शास्त्रे महाफलत्वेन प्रतिपादनाच्च।

यतः पद्मचरित्रे-

" मणसा होइ चउत्थं, छट्ठफलं उट्ठिअस्स संभवइ ।
गमणस्स पयारम्भे, होइ फलं अट्ठमोवासो ॥ १ ॥
गमणे दसमं तु भवे, तह चेव दुवालसं गए किंचि ।
मज्झे पक्खुववासो, मासुववासं च दिट्ठम्मि ॥ २ ॥
संपत्तो जिणभवणे, पावइ छम्मासिअं फलं पुरिसो ।
संवच्छरिअं तु फलं, दारुद्देसट्ठिओ लहइ ॥ ३ ॥
पायक्खिणेण पावइ, वरिससयं तं फलं तओ जिणे महिए ।
पावइ वरिससहस्सं, अणंतपुण्णं जिणे थुणिए ॥ ४ ॥
सयं पमज्जणे पुण्णं, सहस्सं च विलेवणे ।
सयसाहस्सिआ माला, अणंतं गीअवाइअं " ॥५॥ इति ।

प्रस्तावे च तस्मिन् क्रियमाणे विशेषपुण्यलाभः ।

यदागमः-

" जीवाण बोहिलाभो, सम्मद्दिट्ठीण होइ पियकरणं ।
आणा जिणिंदभत्ती, तित्थस्स पभावणा चेव " ॥ १ ॥

एवमनेके गुणाः, ततस्तदेव कर्त्तव्यम्, यदुक्तं दिनकृत्ये-

" एवं तु इड्ढिपत्तो सव्वो, रिद्धिमतस्स देसिओ ।
इयरो निअगेहम्मि, काउं सामाइयं वयं ॥ १ ॥
जइ न कस्सइ धारेइ, न वि वाओ वि विज्जए ।
उवउत्तो सुसाहु व्व, गच्छए जिणमंदिरे ॥ २ ॥
काएणं अत्थि जइ किंचि, कायव्वं जिणमंदिरे ।
तओ सामाइअं मोत्तुं, करेज्ज करणिज्जए ॥ ३ ॥ "

अत्र च गृहे विधिना जिनस्य पूजनं वन्दनं चेत्युक्त्वा दशत्रिकादिचतुर्विंशतिमहार्थसंख्यायुक्ता संपूर्णा वन्दनाविधिरुपलक्षितः। ध० २ अधि० । ('चेइयवंदण' शब्दे व्याख्यास्यते चैत्यवन्दनम्। अष्टपुष्पीपूजा 'अट्ठपुप्फी' शब्दे प्रथमभागे २४५ पृष्ठे व्याख्याता । 'आसायणा' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे चैत्यस्योत्कृष्टमध्यमजघन्या आशातना उक्ता)

जिनेऽद्रस्य पुरतः सिद्धबलिविधानम्-

अमलियखेयगंया, केइ निसेहंति सिद्धबलिकरणं ।
तं पि न जुत्तं जम्हा, भणिअं कप्पाइचुन्नीसु ॥१॥

अमलितच्छेदग्रन्था अनभ्यस्तोच्छास्त्राः, केऽपि निषेधयन्ति, सिद्धबलिकरणं जिनेशबिम्बस्य पुरतो राद्धबलिविधान, तदपि न युक्तं न सङ्गतं, यस्माद् भणितमुक्तं कल्पादिचूर्णौ, आदिशब्दादावश्यकचूर्णिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥१॥

तदुक्तमेवार्थत आह-

तं सित्थं जस्स सिरे, दिज्जइ पसमंति तस्स वाहीओ ।
पुव्वुप्पन्ना उ नवा, न हुंति अन्ना तु छम्मास ॥२॥

तत्सर्वज्ञाग्रे बलिकृतगृहीतं, सिक्थं जनप्रतीत, यस्य वेदनिर्दिष्टनाम्नः, शिरसि मस्तके, दीयते स्थाप्यते, प्रशाम्यन्ति उपशमं यान्ति, तस्य शिरसि सिक्थविधातुः, व्याधयो रोगाः, किंविशिष्टा इत्याह-पूर्वोत्पन्नाश्चिरप्ररूढाः, नवा नूतनाः, न भवन्ति न जायन्ते, अन्ये पूर्वविलक्षणाः, कियत्कालं यावदित्याह-षण्मास जनप्रतीतम्। तथा च तत्रैव त आहु -"जं तंदुलाण सित्थं देवमच्चू रायमच्चू वा" इत्यादि यावत् "तं तु सित्थं जस्स मत्थए छुब्भइ, तस्स पुव्वुप्पन्ना वाही उवसमंति " इत्यादि । अयमभिप्रायः-यदि राद्धं न स्यात् तत्सिक्थमिति नाभणिष्यत्। न च सिक्थं लवमात्रमिति वाच्यं, तत्रस्थग्रन्थव्याहतेः। तथाहि-तत्र "दुव्वालिखण्डिय" इत्यादिसर्वं निष्पादनाविधिं प्रतिपाद्योक्तं तत्र " सिद्धबलिं काऊण त्ति " अत्र सिद्धशब्देन रन्धनमेव वाच्यं, न पुनरनिष्पन्नं, विधेः सर्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वात्, तस्मात् स्थितमत्र सिद्धो बलिः सर्वज्ञपुरतो विधीयते उत्सर्गत इति गाथार्थः । जीवा० १० अधि० ।

(२८) अथ डुङ्गरपुरस्थसङ्घकृतप्रश्नानां हीरविजयकृतोत्तराणि-जिनप्रतिमानां तान्येवाभरणानि प्रतिदिनं परिधाप्यन्ते, अथ तेषां निर्माल्यता कथं न भवति ? , इत्येतदाश्रित्य शास्त्रमध्ये

ता हसिअ निवो भणई, किं अप्प करइ ! गोवेसि ॥ ५ ॥
सो भणइ कयपणामो, पहु ! कीरउ मेऽवयारण करहो ।
कह चिरदिट्ठो ओल-क्खिओ मि नामं च सरिय मे ॥ ६ ॥
भणइ निवो उवयारी, वीसरसी तुम जमम्णिया तुमए ।
रम्भा दिवे विवाहे, थविय कणयपाउया मज्झ ॥ ७ ॥
इय सभासिय पुट्ठो, आगमणपओअण निवेण इमो ।
भणइ पहु ! अत्थि सिरिसे-णनिवइधूया रयणमाला ॥ ८ ॥
सा कुदरयणमाला, सुरयणमाल व्व वरगुणसमेया ।
जो कुणइ राहवेहं, स मे वरो इय कयपयन्ना ॥ ९ ॥
राया तु भुवणमल्ल, इच्छइ स मयणिसुअ वर न वरं ।
कुमरीगिरमवमन्नइ, जाणतो कुमरकोसल्लं ॥ १० ॥
इअ पेसिओ निव ! इह, ता कुमरो तिच्चवेच यऽविलंव ।
नियदसणामएण, सिरिसेणनरिंदमणनयणे ॥ ११ ॥
नियइ निवो गणयमुह, तो स भणइ पवरमज्ज जुत्तदिण ।
चिंतइ निवो धुवा कुम-रभद्दसेणी सविहलग्गा ॥ १५ ॥
यत उक्तम्-
वधुस्यानान्यविघ्नानि, सभवत्साधनानि च ।
कथयन्ति पुरः सिद्धिं, कारणान्येव कर्मणाम् ॥ १३ ॥
मणपवणसउणपरियण-अणुकूलत्तेण तो भुवणमल्लो ।
चपापुरीअभिमुह, चलिओ चउरगवलकलिओ ॥ १४ ॥
सिद्धत्थपुरसमीवे, जा पत्तो ता नरेहिं तप्पहुणा ।
विन्नत्तो जह कीरउ, वीर ! सरवणे इहावासो ॥ १५ ॥
तत्थावसिउ कुमारो, नियइ वण विम्हिओ समता जा ।
ता पिच्छइ हयमयरद्द-सुहमसमूहं समूहमिन ॥ १६ ॥
किमियं ति कुमरपुट्ठा, भणति सिद्धत्थपुरनिवनरा ते ।
न मुणेसु पर संभा-विज्जइ सिरिमूलदेवनिवो ॥ १७ ॥
जं तुम्हागमदंसण-समया स मन्नइ खणं पि ।
वरिससम ति इमे जा, कहति ता वित्थवइ वित्ती ॥ १८ ॥
सिद्धत्थपुरनिवो पहु !, गयउत्तिओ पयहिं एइ त्ति ।
तो कुमरो अत्थइ जा, पत्तो ता स झत्ति तहिं ॥ १९ ॥
अइरूवविजियमार, दट्ठु कुमारं घस त्ति धरणिवरो ।
मुच्छावसा स पमिओ, हा हा सद्दो पुणुच्छलिओ ॥ २० ॥
कुमरेण ससभममह, चदणसेयाइणोवयारेण ।
सलद्धचेयणो किं, वाहइ तुम्ह ति सो पुट्ठो ? ॥ २१ ॥
ओणयवयणो न देइ, उत्तर नियइ धलिरदिट्ठीए ।
कट्ठुअइ स य कन्न, पायगुट्ठेन लिहइ भुव ॥ २२ ॥
किमिय ति कुमरपुट्ठो, सिरिसेहरमतिनदणो सीहो ।
कुमरवयं सो साहइ, पहु ! इह न मुणिज्जई किं पि ।
नवरं इओ अदूरे, गम्मिज्जउ देव ! जेण घरणाणी ।
सिरिअभयघोससूरी, समागओ अत्थि इह जो उ ॥ २४ ॥
मेरु व्व महियजलही, सूरो विव निद्दयविसमतक्खरणो ।
दोसुम्मूलणरसिओ, रवि व्व दारु व्व पवरगुणो ॥ २५ ॥
सव्वपरिग्गहरहिओ, विरयसारगसगहो सयय ।
विहियस्सयलक्खविजओ, पगसंसारभयभीओ ॥ २६ ॥
तो कुमरो सो य निवो, गतूण तत्थ नमिय सूरिपए ।
उवविसइ उचियठाणे, तो सिरि कहइ इय धम्म ॥ २७ ॥
लहिउ सुदुल्लह पुर-भवाइसामग्गिमित्थ भवहरए ।
सद्दसणपरिभ्रट्ठा, मा दुहिया भमह कुम्म व्व ॥ २८ ॥
हरपरिमियत्तणा अवि, लहिज्ज ससिदंसणाइ सो कुम्मो ।
न उ पुण चि जओ बोहिं, भवऽणतत्ता अकयसुकओ ॥ २९ ॥
ता सोतुमिम सम्मं, अरिह देवो सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्त, इत्थ पहाण ति कुणइ मइ ॥ ३० ॥
भणियं च—
मुत्तूण जिण मुत्तू-ण जिणमयं जिणमए वि ए मुत्तुं ।
संसारकन्नधार, चिंतिज्ज त जग सेसं ॥ ३१ ॥
सद्दसणसुद्धिकए, कायव्वा वंदणा जिणाण सया ।
तिनिसीहाइदसग, तत्थ य नेयं जहा विहिणा ॥ ३२ ॥
अह भणइ भुवणमल्लो, भयव ! कह मुच्छिओ मम दट्ठु ।
स मयणरमणिवियारे, कह व पुरिसो वि कुणइ इमो ? ॥ ३३ ॥
भणइ गुरू भद्द ! पुरा, सीहपुरे आसि रयणसारनिवो ।
गंग व्व सुई सुदया, तस्स पिया मयणरेह त्ति ॥ ३४ ॥
अलियविणीयविरत्ते, कइआइ निवम्मि साऽणुरत्ता वि ।
उव्वधेऊण मया, अवमाणदुह असहमाणा ॥ ३५ ॥
जओ—
अलियावयायअभिदू-मीययजीवस्स सुद्धहिययस्स ।
होइ वहं तस्स पुणो, चंदणरससीयलोऽग्गी वि ॥ ३६ ॥
देवच्चणदाणदया-इसुहभावा उ सा इहुप्पण्णा ।
सिद्धत्थपुरे सुदर-निवधूआ मूलनक्खत्ते ॥ ३७ ॥
अह सहसा कालगओ, राया जं मे इमीइ तो कुणई ।
सुमइअमच्चो पयडिय-पुत्तत्त रज्जअभिसेय ॥ ३८ ॥
मरिऊण रयणसारो, जाओ सि तुम इहागए दिट्ठे ।
पइपुव्वजम्मभासा, पई एए सरिउ नेहो ॥ ३९ ॥
किं मह इमम्मि पीई, एव ति इमेइ विमरिसतीए ।
जाए जाईसरणे, त जायं ज तए पुट्ठं ॥ ४० ॥
भुत्त संसारसुहं, नात्तं दइयस्स नेहपरिणामो ।
दिट्ठो मालवदेसो, खरा मभा य अग्घाणा ॥ ४१ ॥
इइ भणइ मूलदेवो, मुणिवइवयणा उ जायवेरग्गो ।
पमिवज्जइ पव्वज्ज, रज्ज दाउ कुमारस्स ॥ ४२ ॥
कुमरो पुण सम्मत्त, गिण्हइ चिइवंदणाइनियमजुयं ।
अह गुरुणा गुरुकरुणा-परेण एवं स अणुसिट्ठो ॥ ४३ ॥
लब्भति सुरसुहाइं, लब्भति नरिंदपवररिद्धीओ ।
न उणो सुवोहिरयणं, लब्भइ मिच्छत्ततमहरण ॥ ४४ ॥
जह गहगणाण गयणं, आहारो रोहणो य रयणाण ।
सिंधूण जहा जलही, तह सयलगुणाण सम्मत्त ॥ ४५ ॥
जह उवसमो मुणीण, चाउव्विहदाणविणयसीलमित्थीण ।
तह सम्मत्त गिहिणो, जइणो वि विभूसण परमं ॥ ४६ ॥
ता मा कासि पमायं, सम्मत्ते सव्वदुक्खनासणए ।
जं सम्मत्तपइट्ठा-इं नाणतवविरियचरणाइं ॥ ४७ ॥
इत्थं ति भणिय कुमरो, तो मन्नंतो कयत्थमप्पाणं ।
बहु बहुमाण नमिउं, गुरुपयपउमं गओ सिविरं ॥ ४८ ॥
सिद्धत्थपुरे गतुं, सुमइअमच्च तहिं ठविय रज्जे ।
चलिओ पुरओ पत्तो, अडविं कालिंजरं जाओ ॥ ४९ ॥
खग्गाजिघायभज्ज-तमत्तमायगवियडकुभयडा ।
विलसिरसकुंतसरच-कवायया सगरधरं व्व ॥ ५० ॥
तत्थ दसजोअणते, आवासी य जाव वरुणनइतीरे ।
कुमरो नियइ वणाइ, ता पिच्छइ रिसहजिणभवणं ॥ ५१ ॥
तो तत्थ निसीहितिग, काउ जा पविसइ नियइ ताव ।
जिणपूयवावडाओ, अमरीओ भत्तिनमिराओ ॥ ५२ ॥
अह दट्ठु निप्पमिम, कणगमयं रिसहसामिणो पडिमं ।
कुमरो वियसियवयणो, वदिअ विहिणा थुणइ एव ॥ ५३ ॥

सुगमे । यत एवम् अत उक्तिप्रत्युक्तिगाथामाह-

तो णज्जइ चउवीस-ट्टयाएँ करणं अह विभिन्नकरणे वि ।
सहलं हुक्किज्ज सव्वं, वित्ताइअभावकरणेण ॥ ७ ॥

तस्माद् ज्ञायते चतुर्विंशतिपट्टकादे करणं विधानम् , आदिशब्दात् शेषप्रतिष्ठाग्रहः । तिकारवकारौ अत्र प्राकृतलक्षणेन लुप्तौ । अथेति पराभिप्रायदर्शकः, तेन चतुर्विंशतिपट्टकरणं, विभिन्नकरणेऽपि पृथक् निष्पादनेऽपि, न केवलमेकत्र विधानेऽपि, इत्यपिशब्दार्थः । सफलं चारितार्थं भवेत्, सत्यमवितथं, किंतु वित्ताद्यभावात् द्रव्यापरिपूर्णात्, आदिशब्दात्कस्यचिदेव समाधानादिपरिग्रहः, करणं विधानम्, एवमुक्तप्रकारेण, अनुस्वारश्चात्र लुप्तो द्रष्टव्यः, पूर्वोक्तार्थसंवादस्तु उक्तषोमशाख्यप्रकरणोक्तश्लोकैरेभिर्बोद्धव्यः-

"व्यक्त्याख्या खल्वेका, क्षेत्राख्या चापरा महाख्या च ।
यस्तीर्थकृत् यदा किल, तस्य तदाऽऽद्येति समयविदः ॥२॥
ऋषभाद्यानां तु तथा, सर्वेषामेव मध्यमा ज्ञेया ।
सप्तत्यधिकशतस्य तु, चरिमेह महाप्रतिष्ठेति " ॥ ३ ॥
"भावरसेन्द्रात्तु ततो, महोदयाद् जीवताम्रस्वरूपस्य ।
कालेन भवति परमा-ऽप्रतिबद्धा सिद्धकाञ्चनता ॥८॥
वचनानलक्रियातः, कर्मेन्धनदाहतो यतश्चैषा ।
इतिकर्त्तव्यतयाऽतः, सफलैषाऽन्यत्र भावविधौ " ॥ ६ ॥
इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अत्रैवार्थे अन्यमतमुद्भिक्ष्य परिहरन्नाह—

जं पि अहरुत्तरेणं, करणा आसायणं भणंतऽन्ने ।
तं पि न जुत्तं सव्वे, तुल्लगुणा जेण तित्थयरा ॥ ८ ॥

यदपि अधरोत्तरेण आधाराधेयरूपेण,करणाद्विधानात्,आशातनां ज्ञानादित्रुटिरूपां, भणन्ति वदन्त्यन्येऽपरे, तदपि न केवलं पूर्वोक्तं, नेति निषेधे, युक्तं सङ्गतं, यस्मात्सर्वे समस्ताः, तुल्यगुणा अहीनातिरिक्तगुणाः, तीर्थकराः सर्वज्ञाः । सर्वज्ञप्रतिमाकरणे तु विप्रतिपत्तिरेव नास्त्यतो न तत्करणं प्रति विचार इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एवं स्थिते जीवोपदेशमाह-

मइमोहं ता मा कुण-सु जीव ! वंदसु जिणिंदपडिमा उ ।
जह तह पइट्ठिया उ, इच्छंतो सासयं सोक्खं ॥ ९ ॥

प्रकटार्था । नवरं शाश्वतसौख्यं निर्वाणसातमिति गाथार्थः । चतुर्विंशतिपट्टकादिविचारः समाप्तः । जीवा० ८ अधि० ।

(चौरहृतचैत्यद्रव्यं क्रीतं न कल्पते) पुनरन्यथा परः प्रश्नयति—

चेइयदव्वं विभज्जा, करेज्ज कोई नरो सयट्ठाए ।
समणं वा सोवहियं, विक्केज्जा संजयट्ठाए ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रव्यं चौराः समुदायेनापहृत्य तन्मध्ये कश्चिन्नर आत्मीयेन भागेन स्वयमात्मनोऽर्थाय मोदकादि कुर्यात्, कृत्वा च संयतानां दद्यात् । यो वा संयतार्थाय श्रमणं सोपधिकं विक्रीणीयात, विक्रीय च तत्प्रासुकं वस्त्रादि संयतेभ्यो दद्यात् ।

एयारिसम्मि दव्वे, समणाणं किं णु कप्पई घेत्तुं ।
चेइयदव्वेण कयं, मोल्लेण व जं सुविहियाणं ॥ ६३ ॥
भणइ भिक्खा लोए, विगरहिया उत्तरे किमंग ! पुणो ।
चेइयजइपडिणीए, जो गेण्हइ सो वि हु तहेव ॥ ६४ ॥

एतादृशेन द्रव्येण,गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे,यत् आत्मार्थं कृतं तत् श्रमणानां किं नु ग्रहीतुं कल्पते ? । सूरिराह-यत् चैत्यद्रव्येण, यच्च वा सुविहितानां मूल्येनात्मार्थं कृतं, तदीयमानं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-स्तेनानीतस्य प्रतीच्छा प्रतिग्रहणं, लोकेऽपि गर्हिता, किमङ्ग ! पुनरुत्तरे,तत्र सुतरां गर्हिता, यतश्चैत्ययतिप्रत्यनीके चैत्ययतिप्रत्यनीकस्य हस्तात् यो गृह्णाति, सोऽपि हु निश्चितं, तथैव चैत्ययतिप्रत्यनीक एव । व्य० ६ उ० । (जिनप्रातिहार्याणि स्वस्थाने)

(३०) व्यन्तरायतनम्—

व्यन्तरायतने, यथा राजगृहे गुणशिलकम् । नि० १ वर्ग । स० । चम्पानगर्यां बहिः पूर्वास्मिन् पूर्णभद्रम् । नि० १ वर्ग । ज्ञा० । सू० प्र० । चं० प्र० । विपा० । आमलकल्पायामाम्रशालवनम् । "आमलकप्पाए णयरीए दाहिणपुरच्छिमे अंवसालवणे चेइए । " चैत्यं सञ्ज्ञाशब्दत्वाद्देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धं, ततस्तदाश्रयभूतं यद् देवताया गृहं, तदप्युपचाराच्चैत्यं, तच्चेह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं, न तु भगवतामर्हतामायतनम् । रा० ।

तद्वर्णकश्चैवम्-

चंपाए णयरीए वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था । चिराईए पुव्वपुरिसपण्णत्ते पोराणे सद्दिए वित्तिए (कित्तिए)णायए सच्छत्ते सज्झए सघंटे सपडागाइपडागमंडिए सलोमहत्थे कयवेयदिए लाउल्लोइयमहिए गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितले उवचियचंदणकलसे चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधगंधिए गंधवट्टिभूए णमणट्टकजल्लमल्लमुट्ठियवेलंवयपवगकहकलासकआइक्खकलंखमंखतूणइल्लतुववीणियभुयगमागहपरिगए बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सच्चप्पभावे सण्णिहियपाडिहेरे जागसहस्सभागपडिच्छए बहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभद्दं चेइयं, से णं पुण्णभद्दे चेइए एक्केणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते ॥

चम्पाया नगर्याम्, (उत्तरपुरच्छिम त्ति) उत्तरपौरस्त्ये, उत्तरपूर्वायामित्यर्थः । (दिसिभाए त्ति) दिग्भागे, पूर्णभद्रं नाम चैत्यं व्यन्तरायतनम् (होत्थेत्ति) अभवत् । (चिराईए पुव्वपुरिसपण्णत्ते) चिरं चिरकालम्, आदिर्निवेशो यस्य तच्चिरादिकम् । अत एव पूर्वपुरुषैरतीतनरैः प्रज्ञप्तमुपादेयतया प्रकाशितं पूर्वपुरुषप्रज्ञप्तम् । (पोराणे त्ति) चिरादिकत्वात्पुरातनं (सद्दिये त्ति) शब्दप्रसिद्धं स सञ्जातो यस्य तच्छब्दितम् । (वित्तिए त्ति) वित्तं द्रव्यं तदस्ति यस्य तद्वित्तिकं, वृत्ति वाऽऽश्रितलोकानां ददाति यत्तद्वृत्तिकम् (कित्तिए त्ति) पाठान्तरं तत्र जनेन कीर्तितं, समुत्कीर्त्तितं वा (णायए त्ति) न्यायनिर्णायकत्वात्

भणियं च—
अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु भे विस्ससिअव्वं, थोवं पि हु तं बहु होइ ॥ १०४ ॥
दासत्तं देइ अण, अइरा मरणं वणो विसप्पंतो।
सव्वस्स दाहमग्गी, दिंति कसाया भवमणंतं ॥ १०५ ॥
सा भणइ सरियजाई, भयवं! सव्वं पि मेऽणुभूयमिणं।
ता इण्हिं कुण करुणं, जहा वि जह होमि निस्संगा ॥१०६॥
भणइ मुणी गिहिधम्म-स्स इण्हि उचिया तुमं जओ अत्थि।
पुव्वकयदेवपूया-इसुकयसभूयभोगफलं ॥ १०७ ॥
जओ—
देवच्चणेण रज्जं, भोगा दाणेण रूवमभयेण।
सोहग्गं सीलेणं, तवेण मणवंछिया सिद्धी ॥ १०८ ॥
सा भणइ तुम्ह सव्वं, पच्चक्खं नाह! नवरि मज्झ कहं।
अविरयसुराण मज्झ-ट्ठियाइ निव्वहिइ गिहिधम्मो ॥ १०९ ॥
तो केवलिणा भणियं, भद्दे! कालिंजराइ अमवीए।
सिरिरिसहनाहभवण-म्मि तुज्झ पूयं रयंतीए ॥ ११० ॥
हेमप्पहरायसुओ, तत्थ समागच्छिही भुवणमल्लो।
जिणभवणत्थं विहिणा, काउं निस्सीहियातियगं ॥ १११ ॥
तेण समं रज्जसुहं, माणित्ता पालिउं च गिहिधम्मं।
पमिवज्जिय पव्वज्जं, लहिही अजराऽमरट्ठाणं ॥ ११२ ॥
अह तीए गिहिधम्मे, पमिवन्ने नमिअ केवलिस्स मए।
इच्छाए एवं विहिय, विजयपयमं त्ति से नामं ॥ ११३ ॥
अह कुमर! अज्ज एसा, जाव गया चेइयम्मि पूयत्थं।
ता कयनिसीहियतिगो, जिणभवणत्थं तुमं पत्तो ॥ ११४ ॥
निस्सीहियं कुणंतं, दट्ठुं इमा सूरीहिं भणिअ त्ति।
जो केवलिणा कहिओ, धुवं इमो भुवणमल्लो सो ॥ ११५ ॥
अह ताहिं वाविपमुहं, काउं पवंचं तुमं इहाऽऽणीओ।
ता तिइ पाणीगहणे-ण कुणसु मह पत्थणं सहलं ॥ ११६ ॥
कुमरो भणइ पमाणं, आएसो नवरि गम्मउ वलम्मि।
न विरहिओ परियणो, दुहेण गमिही खणं पि जओ ॥११७॥
आरोविउं विमाणे, कुमरं सिविरम्मि नेइ जा असुरो।
ता सहसा उज्जोअं, दट्ठुं सचिवाइणो बिंति ॥ ११८ ॥
नो दु पि ता तए जा, हरिओ जेण कुमरो तओ क्खोहं।
चइयह वइसज्जा सा-हमस्स दइवो वि न हु किं पि ॥११९॥
यतः-
सत्त्वैकतानमनसां, स्फूर्जद्दूर्जस्वितेजसाम्।
दैवोऽपि शङ्कते चैषां, किं पुनर्मानवो जनः ॥ १२० ॥
इय ते जा साडोवा, हुति सुणंति त्ति ताव अमरगिरं।
सत्तप्पहाण अवितह-भिहाण जय सिरिभुवणमल्ल ॥ १२१ ॥
परउवयारपरायण, पुरिसेसु तुज्झ दिज्जए लेहा।
पसुमित्तस्स वि कज्जे, गणेसि पाणे तिणसमाणे ॥ १२२ ॥
इय सुणिय जायहरिसा, ते ओयरिय विमाणओ कुमरं।
पणमंति तयं असुरं, देवीसहियं तु तुट्ठमणा ॥ १२३ ॥
तो सो असुरो हिट्ठो, कुमरेण विवाहए तयं धूयं।
सप्पणयं भणइ तहा, वच्छे सुण मज्झ वयणमिणं ॥ १२४ ॥
निर्व्याजा दयिते ननान्दृषु नता श्वश्रूषु नम्रा भवेः,
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्नीष्वपि।
पत्युर्मित्रजने सनर्मवचना, खिन्ना च तद्वेषिषु,
स्त्रीणां संवननं ननूचितमिदं चित्तौषधं भर्तृषु ॥ १२५ ॥
आमं ति तीइ वुत्ते, असुरो सपियस्स भुवणमल्लस्स।
वत्थाभरणाइ बहुं, दाउं पत्तो सठाणम्मि ॥ १२६ ॥
कुमरो वि तओ चलिओ, पत्तो चपाइ तमह वुत्तंतं।
सिरिसेणनिवो सोउं, इय चिंतइ हरिसिओ हियए ॥१२७॥
तम्मि कुले उप्पत्ती, सो विणओ तं कलासु कोसल्लं।
सोको वी पुण पउमा-रयणसरिसो अत्थ पयरस्स ॥ १२८ ॥
जेणं लीला इच्चिय, धुवं करिस्सिही राहवेहं ति।
निच्छुयहियओ राया, कुमरं सगवक्ख वरभुवणे ॥ १२९ ॥
अह सज्जिअ राहावे-हमसवे रयणथंभसोहिल्ले।
मचोवरि वरसीहा-सणोवविट्ठेसु निवईसु ॥ १३० ॥
कुमरो असुरऽप्पियए, वरवत्थआहरणभूसियसरीरो।
परिहारदंसियम्मि, णिवसइ सीहासणे रम्मे ॥ १३१ ॥
इत्तो य रयणमाला, कुमरी सियसिचयसारलंकारा।
सिवियारूढा पत्ता, तत्थुवविठा पिउच्छंगे ॥ १३२ ॥
अह सिरिसेणनिवेण, भणिय भो भो निवा! निवइपुत्ता!।
जो राहमिणं विंधइ, सो कन्नाए इमाइ वरो ॥ १३३ ॥
जा ममवमज्झे सुदि-ढकणयथंभोवरि अहोवयणा।
वरकंचणपुत्तलिया, ठविया तीसेउ हिट्ठम्मि ॥ १३४ ॥
चउ चउ चक्काई दा-हिणेण वामेण वेगभरियाइं।
तेसिं अहो भूमीए, तिल्लभुआ कुमिया ठविया ॥ १३५ ॥
तत्थ पमिबिंबियाए, पचालीए अहो नियंतेण।
विंधेयव्वा वाम-च्छितारिया सावहाणेण ॥ १३६ ॥
तह इह पत्ताण मए, सव्वेसिं खत्तियाण नामाइं।
भुज्जेसु लिहावेउं, मिम्मयगोलेसु खित्ताइं ॥ १३७ ॥
ठवियाइं ताइ इह सा-यकुंभकुंभम्मि संति कड्ढते।
अम्ह पुरोहियम्मी, गोलो किर नीहरइ जस्स ॥ १३८ ॥
सो राहावेहम्मी, ववसायं कुणइ इय ववत्थ त्ति।
तत्थ पुरोहियहत्थे, अह पढमे गोलए चलिए ॥ १३९ ॥
नामम्मि वाइए तह, भउज्झनयरीए पहु जस्स अगरुहो।
मयरद्धयकुमरो व-ट्ठिऊण सकरे करेइ धणु ॥ १४० ॥
पुव्वभणिएण विहिणा, मुक्को वि हु अप्पडितु अयरम्मि।
सुचरणमुणिहियए इव, भग्गो मयरद्धयस्स सरो ॥ १४१ ॥
एव राहावेहे, विहियारंभेसु खत्तिअवरेसु।
उट्ठेइ भुवणमल्लो, कुमरो इह अवसरे पत्ते ॥ १४२ ॥
सज्जीकयधणुगुणो, अतरमह लहिय मुक्कअसमसरो।
राहावेह साहइ, गंठीभेयं व भव्वजिओ ॥ १४३ ॥
अयतालादाणपरे, जणम्मि कुमरेण हट्ठतुट्ठमणो।
तो सिरिसेणनरिंदो, परिणावइ रयणमालं तं ॥ १४४ ॥
कयसमाणे अन्ने, नियनियठाणे निवे विसज्जेइ।
कुमरो वि कइवि दिवसे, सुहेण तत्थेव ठाऊण ॥ १४५ ॥
सिरिसेणनिवमणुन्नवि-य बहुयपरिवारपणइणीसहिओ।
पत्तो नियम्मि नयरे, पिऊण पणमेइ पयपउमं ॥ १४६ ॥
भुत्तुत्तरं च सीहो, कुमरवयंसो कहेइ सव्वं पि।
रण्णो उ जह वित्तं, ता जाव इहागओ कुमरो ॥ १४७ ॥
धम्मत्थिणा अह निवेणा-हूय कयाइ सव्वदंसणिणो।
पुट्ठा धम्मं तेहिं उ, कहिए चिंतइ इमं राया ॥ १४८ ॥
जत्थ न विसयविराओ, न सगवाओ जिएसु विणिवाओ।
किह हुज्ज सो वि धम्मु-त्ति चिंतिउं ते विसज्जेइ ॥ १४९ ॥
कहइ कुमारो इत्थ, धम्मं जइ णाउं ताय! जइणो वि।
ता पुच्छय मुणिणो र-क्खियगिगयसगजियऽणंगा ॥ १५० ॥

मंगलगा बहुकिण्हचामरज्झया पण्णत्ता छत्तातिच्छत्ता । तेसि णं चेतियथूभाणं चउद्दिसिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया० जाव तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहपमाणमित्ताओ पलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति। तं जहा–उसभवद्धमाणचंदाणणवारिसेणा । तेसि णं चेतियथूभाणं पुरओ तिदिसिं पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ । (जी०) जेणेव चेइयथूभे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता लोमहत्थगं गेण्हंति, गेण्हंतित्ता चेइयथूभं लोमहत्थएणं पमज्जंति, पमज्जंतित्ता दिव्वाए उदगधाराए पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त० जाव धूवं दलयंति । जी० ३ प्रति०।

चेइयदव्व–चैत्यद्रव्य–न० । जिनद्रव्ये, जिनार्थं सङ्गृहीते द्रव्ये, दर्श० ।

अधुना जिनद्रव्यभक्षणादिद्वारं प्रतिपादयन् गाथाचतुष्टयमाह–

भक्खेइ जो उवेक्खेइ, जिणदव्वं तु सावओ ।
पन्नाहीणो भवे जो उ, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ५४ ॥
आयाणं जो भंजइ, पडिवन्नं धणं ण देइ देवस्स ।
नस्संतं समुवेक्खइ, सो वि हु परिभमइ संसारे ॥ ५५ ॥
चेइयदव्वं साहा–रणं च जो दुहइ मोहियमईओ ।
धम्मं व सो न जाणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥५६॥
चेइयदव्वविणासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेए ।
साहू उवेक्खमाणो, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ ५७॥

भक्षयति यः स्वयमात्मसात्करोति,उपेक्षते अन्येन विलुप्यमान, जिनद्रव्यम्, तुशब्दः समुच्चयार्थः । तत श्रावकोऽन्यो वा यथा भद्रकप्रत्यनीकादिः, प्रज्ञाहीनो भवेद् यः, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः । ततः प्रज्ञाहीनतया जिनभवनादौ प्रवर्तमानो यदि द्रव्यं प्रणश्यति, तदा सोऽपि लिप्यते श्लिष्यते पापकर्म्मणा,पातकेनेत्यर्थः ।तत सम्यगागमविधिं विज्ञाय सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यम् । तथाऽऽदानं राजाऽमात्यादिना विहितमाभाव्य,यो भनक्ति विलुम्पति,प्रतिपन्नं प्रतिश्रयमेनोपेतम्,इतरथा वा पूजादिनिमित्तम्–यथाऽहमेतद् दास्यामि,धनं द्रव्यं,तस्य वा ऽदीयमाने सति सामर्थ्ये,समुपेक्षते–किमेभिः स्वजनादिभिः प्रकोपितैरित्याशयवानुपेक्षां विधत्ते,सोऽपि, न केवलं पूर्वोक्ता ,हुशब्दस्यैवकारार्थत्वादवश्यमपि,जिनाज्ञाऽकरणात्, परिभ्रमति पर्यटति संसारे,तथा चैत्यद्रव्यं, साधारणं च सर्वसामान्यं द्रुह्यति मोहितमतिकः, धर्मं वा स न जानाति, बद्धायुष्को वा नरके, चैत्यद्रव्यविनाशे प्रतिमानिष्पत्तिनिमित्तं यत् तदुपचाराच्चैत्यद्रव्यं, तद्विनश्यति । तद्द्रव्यविनाशने द्विभेदे इति, तस्य चैत्यसंबन्धित्वेन द्रव्यं तद्द्रव्यं पूजादिकसकलप्रयोजनयोग्यं,परिभुक्तनिर्माल्यरूपं च,तस्मिन् द्विभेदेऽपि,विनश्यति सति, साधुरपि सर्वसावद्यविरतः सामर्थ्येऽप्युपेक्षां कुर्वन्ननन्तसंसारिको भणितः प्रतिपादित आगमे । यत उक्तम्–"सचरित्तऽचरित्तीण, एय सव्वेसि कज्ज ति ।" इति गाथाच-

तुष्कसत्तेपार्थः ॥ ५७ ॥ व्यासार्थं कथानकादवसेयम् । दर्श० १ तत्त्व । द्वा० । (तच्च कथानकं 'जिणदव्व' शब्दे वक्ष्यते)

जिनद्रव्योत्पादवर्णनम्–

नियमंतरायमगणिय–मेमे जंपंति कुग्गहग्गहिया ।
जिणपडिमाणं पूया, पुप्फाईएहिँ कायव्वा ॥ १ ॥
वत्थाईएहिँ नो पुण, जेणं तद्दव्वभक्खणे को वि ।
पडिही भवंधकूवे, अम्हनिमित्तं इयमईए ॥ २ ॥

निजकान्तरायमगणित्वा ऽविभाव्य,एके केचन, सत्कारोऽलाक्षणिकः, जल्पन्ति वदन्ति । अयमाशयः–एव भणन्त महदन्तरायो भवति । किंविशिष्टाः?,कुग्रहग्रहग्रहीता अबोधिपिशाचवशीकृताः, जिनप्रतिमानां सर्वज्ञप्रतिकृतीनां, पुष्पादिभिः कुसुमवासादिभिः, पूजा कर्त्तव्या विधेया, वस्त्रादिभिर्वसनालङ्कारादिभिः, नो नैव पुनः, येन तद्द्रव्यभक्षणे वस्त्रादिवित्तादने, कोऽप्यनिर्दिष्टनामा, पतिष्यति भवान्धकूपे संसारविषमावटे, अस्मन्निमित्तमस्मत्कारणम्, इतिमत्या अनेन बोधेनेति गाथाद्वयार्थः ॥ १–२ ॥

एतन्निराकरणार्थं गाथाद्वयमाह–

आगममग्गुत्तिण्णो, इय बोहा जेण सुविहियजणो वि ।
बहु मन्नइ सक्कारं, वत्थाईपूयणं बहुहा ॥ ३ ॥
सक्कारवत्तियाई–वयणेणं सो उ वत्थमाईहिँ ।
भणिओ तो तक्करणं, तहा य ववहारउत्तं च ॥ ४ ॥

आगममार्गोत्तीर्णः सिद्धः तपोऽविरुद्ध इत्येव बोधात् येन सुविहितजनोऽपि सुसाधुलोकोऽपि, न केवलमन्य इत्यपेरर्थः । बहु मनुतेऽनुमोदते, आस्तां श्रावकविहित,वस्त्रादिपूजनं वसनालङ्कारादभ्यर्चनं, बहुधाऽनेकधा॥३॥ सत्कारप्रत्ययमित्यादिवचनेन,स पुनः सत्कारो,वस्त्रादिभिः,मकार पूर्ववत्,भणित उक्तः। तथा चोक्तम्–"मल्लाइएहिँ पूया, सक्कारो पवरवत्थमाईहिं । अन्ने विवज्जओ इह, दुहा वि दव्वत्थओ एसो" ॥ १ ॥ ततस्तत्करणं सत्कारविधानं, तथा च परं व्यवहारोक्तं च छेदग्रन्थभणितमिति गाथाद्वयार्थः ॥ ४ ॥

तदेवाह–

लक्खणजुत्ता पडिमा, पासाईया समत्तलंकारा ।
पल्हायइ जह य मणो, तह निज्जरमो वियाणाहि ॥ ५ ॥

लक्षणयुक्ता परिपूर्णाङ्गादिसहिता, प्रासादिका दृष्टृणामतिप्रमोदजनिका, समस्तालङ्कारा निःशेषभूषणा, प्रह्लादयति सुखयति, यथा येन प्रकारेण, मनः, तथा तेन प्रकारेण, निर्ज्जरा कर्म्मन्हासलक्षणा, ओ इति निपातः पादपूरणार्थो, विजानीहि बुद्ध्यस्व, समस्तालङ्कारभणनाद्वस्त्रमतव्यवच्छेद इति गाथार्थः ॥ ५ ॥

सूत्रेणैव विहितपातनां गाथामाह–

किं च जइ एव भीरू, तुम्हे ता मा करेह चेइहरं ।
पडिमाओ पूयं पि हु, होहिंति जओ इमे दोसा ॥ ६ ॥

किञ्चाऽभ्युच्चये, यद्येवमित्थमस्मन्निमित्तं कर्म्मबन्धो मा भवत्विति भीरवः, (तुम्हे त्ति) यूयं, ततो, मेति निषेधे, कुरुत विधत्त, चैत्यगृहं जिनमन्दिरम्, प्रतिमा-

विहिणा पणामतिय ति । " तत्प्रणामस्वरूपनिरूपिकेय गाथा- "अजलिबधो अद्धो-णओ य पञ्चगओ य तिपणामो" । अञ्जलिबन्धरूप इत्यस्यायमर्थः-स्वाम्यादिदर्शनविज्ञापनादिसमये भक्तिकृते करद्वययोजनेति त्रिकद्वयम् । संप्रति "तिन्नि चेव पणामेत्ति " तृतीय त्रिक भावयन्नाह-"अजलिबधो गाहा" प्रक्षेपा सोपयोगा चेति व्याख्यायते-इहैकः प्रणामो ऽञ्जलिकरणं, शीर्षादौ वा अञ्जलिना करणं, तत्र च परिभ्रम्य विज्ञापनाकृते मुखादिप्रदेशे सस्थापनम् । यथाऽऽगम- " चक्खुप्फासे अजलिपग्गहणं । " तथा-" अजलिमउलियहत्थे तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अभिगच्छइ। "तथा-" सिरसावत्त दसनह मत्थए अजलिं कट्टु एव वयासी।" तथा-"सिरसावत्त दसनह मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएण वद्धावेइ, वद्धावित्ता एव वयासी " इत्यादि । उपलक्षणमेतदेकहस्तस्याप्यूर्द्धीकरणादे', गौरवाद्यर्हप्रतिपत्तये तथाकरणस्य लोके दर्शनात् । अन्यस्त्वर्द्धावनतरूप ऊर्द्ध्वादिस्थानस्थितैः किञ्चिच्छिरोनमनं शिरःकरादिना भूपदादिस्पर्शनं चेत्यादिस्वरूप' । उक्तं चागमे—" आलोए जिनपडिमाणं पणामं करेइ । "

तथा बृहद्भाष्ये-

" तत्तो नमो जिणाणं, ति भणिय अद्धोणयं पणामं च ।
काउ पचग वा, भत्तिभरनिब्भरमणेण ॥ १ ॥ " त्ति ।

एकाङ्गादि चतुरङ्गान्त प्रणामम्, उपलक्षणमिदम्-अङ्गानि न सर्वाणि,प्रकृताङ्गमध्यादङ्गान्यवनतानि यत्र प्रणामे सोऽर्द्धावनत इति व्युत्पत्ते' । अपरस्तु पञ्चाङ्गः पञ्च न चत्वार्यपि, अङ्गानि जानुद्वयादीनि भूस्पृष्टानि यत्र स पञ्चाङ्गः। उक्त च-

" दो जाणू दुन्नि करा , पचमग होइ उत्तमग तु ।
समं सपणिवाओ , नेओ पचगपणिवाओ " ॥ १ ॥

एते त्रय प्रणामा' सर्वत्र वा भूम्याकाशशिर'प्रभृतिषु उक्तप्रणामेषु वा प्रणामकरणकाले त्रीन् वारान् शिरःकराञ्जल्यादेर्नमनावर्तनादिना प्रणामत्रिक भवति कर्त्तव्य, विजयदेववत् । विशेषविषयस्त्वत्र एव द्वारावसरव्याख्यानतो, बहुश्रुतपर्युपास्तेश्च ज्ञातव्य' ॥ सङ्घा १ प्रस्ता० । प्रव० (पूर्वसूचितविजयदेवसम्बन्धोऽन्यत्र)

(५) उक्तम्-" तिन्नि निसीही तिन्नि य, पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामे " त्ति त्रिकत्रयम । संप्रति चतुर्थं पूजात्रिक सकलगाथयाऽनेकधा भावयन्नाह-

अंगग्गभावभेया, पुप्फाहारत्थुईहि पूयतिगं ।
पंचोवयार अट्ठो-वयार सव्वोवयारा वा ॥

अङ्ग च जिनप्रतिमागात्रम्, अग्र च तत्पुरोभाग , भावश्च चैत्यवन्दनागोचर आत्मन' परिणामविशेष' । कैः कृत्येत्याह-पुष्पाहारस्तुतिभिर्यथाक्रममिति गम्यम ।

यदुक्त बृहद्भाष्ये-

" अगग्गिम पुप्फपूआ, आमिसपूआ जिणग्गओ बीया ।
तइया थुइथुत्तगया, तासि सरूव इम होई " ॥

चैत्यवन्दनाचूर्णावप्युक्तम्—" तिविहा पूआ पुप्फेहिं नेविज्जेहिं थुईहिं य, सेसभेया इत्थ चेव पविसंति त्ति ।" उत्तराध्ययनेषु पुनरेवम्-" तित्थयरा भगवतो, तस्स चेव भत्ती कायव्वा, सा पूआ वदणाईहिं हवइ, पूय पि पुप्फामिसथुईपडिवत्तिभेयं चउव्विह पि जहासत्तीए कुज्जा त्ति" ललितविस्तरादौ तु-पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तर प्राधान्यमिति । सङ्घा०१ प्रस्ता० (एताश्चैत्यशब्दे दर्शिता अपि विस्तरभिया तत्रानुक्ता अपि सङ्घान्तराः सङ्घाचारादवसेयाः)

त्रिदिग्निरीक्षणविरतिः-यस्यां दिशि तीर्थकृत्प्रतिमा तत्संमुखमेव निरीक्षण विधेय,न पुनरन्यादिक्त्रयसमुख, चैत्यवन्दनस्यानादरतादिदोषप्रसङ्गात् । यथा चैत्यवन्दन कर्तुकामेन सत्त्वादे' रक्षणनिमित्तं सम्यक् चक्षुषा निरीक्ष्य निजचरणनिक्षेपभूमेः प्रमार्जन त्रिवार विधेय, तच्च गृहिणा वस्त्राञ्चलेन, यतिना तु रजोहरणेनेति ।

" वन्नाइतियमिति " विवृणोति-

" वन्नत्थालंबणओ, वन्नाइतिय वियाणेज्ज त्ति " ।

वर्णा अकारककारादय', अर्थः शब्दाभिधेयम्,आलम्बनं प्रतिमादिरूपमेतस्मिन् त्रितये उपयुक्तेन भवितव्यम् ।

तत्रालम्बन यथा-

" अष्टाभिः प्रातिहार्यैः कृतसकलजगद्विस्मयः कान्तकान्तिः,
सिञ्चन् पीयूषपूरैरिव सदसि जन स्मेरदृष्टिप्रपातै' ॥
नि शेषश्रीनिदान निखिलनरसुरै' सेव्यमानः प्रमोदादर्हन्नालम्बनीयः स्फुरदुरुमहिमा वन्दमानेन देवान् ॥ १ ॥"

" मुद्दातिग चेति " व्याचष्टे-

" जिणमुद्दजोगमुद्दा, मुत्तासुत्ती उ तिन्नि मुद्दाओ त्ति" ।

जिनमुद्रा, योगमुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा चेतिमुद्रात्रय ज्ञातव्यम् । प्रव० १ द्वार ।

(६) उक्तम्-" तिविहा पूया य तह त्ति " चतुर्थं पूजात्रिकम् । पूजां च कुर्वतो भगवतोऽवस्थात्रिक भावनीयमिति पञ्चम त्रिक पर्यायान्यामाह-

भाविज्ज अवत्थतियं, पिंमत्थपयत्थरूवरहियत्तं ।
छउमत्थ केवलित्तं, सिद्धत्तं चेव तस्सऽत्थो ॥

भावितार्थो ।ननु च-"पिण्डस्थ च पदस्थ च,रूपस्थं रूपवर्जितम् । ध्यान चतुर्विध ज्ञेय,ससारार्णवतारकम्"॥१॥इति चतुर्धा ध्यानवेदिभिर्ध्यानमुच्यते। अत्र त्ववस्थात्रिकेण ध्यानत्रयमुक्तमतोऽत्र चतुर्थे ध्यान कथ स्यात्?। उच्यते-रूपस्थध्यान हि जिनबिम्बादिदर्शनतः प्रथममेव सजायते । यत उक्तम्-" पश्यति प्रथम रूप, स्तौति ध्येय ततः पदैः । तन्मय स्यात्ततः पिण्डे, रूपातीतः क्रमाद्भवेत् ॥१॥ " इति स्यादेव यथोक्तध्यानसिद्धि' । सङ्घा० १ प्रस्ता० । [अवस्थात्रयभावना सङ्घाचाराद् विस्तरेण ज्ञेया]

प्ररूपिता सिद्धावस्था, तत्प्रतिपादनेन च निरूपितमवस्थात्रिकभावनमिति पञ्चम त्रिकम् । तच्च दिक्त्रयालोकनवर्जनेन सम्यक् स्यादित्यतः " तिदिसिनिरिक्खणविरइ " त्ति षष्ठत्रिकस्वरूपनिरूपणार्थं गाथामाह-

उड्ढाहो तिरियाणं, तिदिसाण निरिक्खणं चइज्जऽहवा ।
पच्छिमदाहिणवामा-ण जिणमुहन्नत्थदिट्ठिजुओ ॥

प्रक्षेपा सुगमा च । नवरं तुर्यपदस्येय भावना-

" आलोयवल चक्खु, मणुओत दुक्कर थिर काउं ।
रूवेहिँ तहिं खिप्पइ, सभावओ वा सय चलइ ॥ १ ॥
तह वि हु नामियगीवो, विसेसओ दिसितिय न पेहिज्जा ।
तत्थुवओगाभावे, दसणपरिणामहाणी उ ॥ २ ॥ "

उक्त च महानिशीथे-" भुवणेकगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसिय-

असुरकुमारादीनां क्रमेणाश्वत्थादयश्चैत्यवृक्षा ये सिद्धायतनादिद्वारेषु श्रूयन्ते ।

व्यन्तराणामष्टौ-

एएसि णं अट्ठएहं वाणमंतराणं देवाणं अट्ठ चेइयरुक्खा पण्णत्ता । तं जहा-

" कालंबो उ पिसायाणं, वडो जक्खाण चेइयं ।
तुलसी भूयाण भवे, रक्खसाणं च कंडओ ॥ १ ॥
असोगो किन्नराणं च, किंपुरिसाणं च चंपओ ।
नागरुक्खो भुयंगाणं, गंधव्वाणं तु तिंदुओ ॥ २ ॥ "

तेषां चैत्यवृक्षाः मणिपीठिकानामुपरिवर्त्तिनः सर्वरत्नमया उपरि च्छत्रध्वजादिभिरलङ्कृता' सुधर्मादिसभानामग्रतो ये श्रूयन्ते ते एत इति सम्भाव्यन्ते । ये तु-" चिंधाइ कलबझए, तुलस वडे तह य होइ खट्टंगे । आसोएं चंपए वा, नागे तह तुंदुए चेव " ॥ १ ॥ त्ति । ते चिह्नभूता एतेभ्योऽन्य एवेति " कालंबो उ " इत्यादि श्लोकद्वयं कण्ठ्यम । स्था० ८ ठा० ।

वाणमन्तराणां चैत्यवृक्षमान, वर्णकश्चैवम्-

वाणमंतराणं देवाणं चेइयरुक्खा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पएणत्ता । स० १ सम० । जी० । तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेतियरुक्खा पण्णत्ता । ते णं चेतियरुक्खा अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधा अद्धजोयणं विक्खंभेणं छज्जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं अट्ठजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं । तेसि णं चेतियरुक्खाणं अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । त जहा-वइरामयमूलरययसुपइट्ठियविडिमा रिट्ठामयविपुलकंदा वेरुलियरुचिलक्खंधा सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला णाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लववरंकुरग्गधरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरणमियसाला सच्छाया सप्पभा ससिरिया सउज्जोया अमयरससमरसफला अहियणयणमणणिव्वुतिकरा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । ते णं चेइयरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवगसिरीससत्तवन्नदहिवन्नलोद्धधवचंदणनीवकुडयकयंबफणसतालतमालपियालपियंगुपारावयरायरुक्खनंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । ते णं तिलय० जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कंदवंतो० जाव सुरम्मा । ते णं तिलया० जाव नंदिरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं पउमलयाहिं० जाव सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । ताओ णं पउमलताओ० जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ० जाव पडिरूवाओ । तेसि णं चेतियरुक्खाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगला बहवे कण्हचामरज्झया० जाव पडिरूवा । तेसि णं चेतियरुक्खाणं पुरओ पत्तेयं२ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ । ताओ मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ ॥

तेषां च चैत्यवृक्षाणामयमेतावद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-"वइरामयेत्यादि । " वज्राणि वज्रमयाणि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता रजतमयी सुप्रतिष्ठिता विडिमा बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वं विनिर्गता शाखा येषां ते रजतसुप्रतिष्ठितविडिमाः, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः। "रिट्ठामय" इत्यादि । रिष्टमयः कन्दः, तथा वैडूर्यो वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः । " सुजात " इत्यादि । सुजातं मूलद्रव्यशुद्धं वरं प्रधानं यद् जातरूपं तदात्मका प्रथमका मूलभूता विशाला शाला शाखा येषां ते सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशाखाः। "णाणामणिरयण" इत्यादि । नानामणिरत्नानां नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखाः प्रशाखा येषां ते तथा, तथा वैडूर्याणि वैडूर्यमयाणि पत्राणि येषां ते तथा, तपनीयानि तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा, ततः पूर्ववत् पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । जाम्बूनदा जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता रक्तवर्णा मृदवो मनोज्ञाः सुकुमाराः सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला ईषदुन्मीलितपत्रभावाः, पल्लवाः सञ्जातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा , वराङ्कुरा प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुराः, तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः। क्वचित्पाठः-" जंबूणयरत्तमउय" इत्यादि । तत्र जाम्बूनदानि रत्नानि, मृदूनि अकठिनानि, सुकुमाराणि अकर्कशस्पर्शानि,कोमलानि मनोज्ञानि, प्रवालपल्लवाङ्कुरा यथोदितस्वरूपाः, अग्रशिखराणि च येषां ते तथा। " विचित्तमणिरयण " इत्यादि । विचित्रमणिरत्नानि विचित्रमणिरत्नमयानि यानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता नम्राः शालाः शाखा येषां ते तथा, सती शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, तथा सती शोभना प्रभा कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः, अत एव सश्रीकाः; सह उद्द्योतेन वर्तते मणिरत्नानामुद्द्योतभावेन सोद्द्योताः, अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते अमृतरससमफलाः। अधिकमतिशयेन नयनमनोनिर्वृतिकराः,"पासाईया " इत्यादि विशेषणचतुष्टय प्राग्वत् । " ते णं चेइयरुक्खा" इत्यादि । तच्चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवच्छत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रकधवचन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्ताः। " ते ण तिलगा"इत्यादि । ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णन प्राग्वत तावद् वक्तव्य यावदनेकशकटरथयानशिबिकास्यन्दमानिकाप्रतिमोचनाः सुरम्या इति । "ते ण तिलगा" इत्यादि । ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा अन्याभिर्बहुभि पद्मलताभिः नागलताभिरशोकलताभिश्चम्पकलताभिश्चूतलताभिर्वनलताभिर्वासन्तिकालताभिरतिमुक्तकलताभि कुन्दलताभि श्यामलताभिः सर्वतः समन्तात् सम्परिक्षिप्ताः। "ताओ ण पउमलयाओ० जाव सामलयाओ निच्च कुसुमियाओ" इत्यादि लतावर्णनं तावद् वक्तव्य यावत् ' पडिरूवाओ " इति । व्याख्या चास्य पूर्ववत् । " तेसि ण " इत्यादि । तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहव कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत्तावद् वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तका सर्वरत्नमया यावत् प्रतिरू-

य इह निहतकामं मुक्तराज्यादिकामम्,
प्रणतसुरनिकाम त्यक्तसद्भोगकामम् ।
नमति स निजकामं प्राप्यते त्वा प्रकामं,
श्रयत कृतमकाम सार्विका श्रीः स्वकामम् ॥ ११ ॥
विषमविशिखदोषा चारिवारप्रदोषा,
प्रतिविशति सदोषाऽप्यस्य किं कालदोषा।
य इह वदनदोषापार्चिषाऽकालिदोषा,
तनुकमलमदोषा श्रेयसा शस्तदोषा ॥ १२ ॥
कृतकुमतपिधानं सत्वरक्षाविधान,
विहितदमविधान सर्वलोकप्रधानम् ।
असमशमनिधान श जिन सद्धान,
नमत मद्धुपधान वासुपूज्याभिधानम् ॥ १३ ॥
भवदवजलवाहः कर्मकुम्भाग्यदाह ,
शिवपुरपथवाहस्त्यक्तलोकप्रवाहः ।
विमलजयसुवाहः सिद्धिकान्ताविवाह,
शमितकरणवाह· शान्ततृमृहव्यवाह· ॥ १४ ॥
जिनवरविनयेन श्रीविशुद्धाशयेन,
प्रवरतरनयेन त्व नतोऽनन्त ! येन ॥
भविकमलचयेन स्फूर्जदूर्जस्वनेन,
छिरदगतिनयेन तेन भाव्य नयेन ॥ १५ ॥
जडिमरविसधर्म्म प्रोक्तदानादिधर्म्म,
विदितनिखिलधर्म न्यक्कृताप्राज्ञधर्म्म ।
जय जिनवरधर्म त्यक्तससारिधर्म्म,
प्रतिनिगदितधर्म्म ह्र्यमुख्यार्थधर्म्म ॥ १६ ॥
यदि नियतमशान्ति नेतुमिच्छोपशान्ति,
समभिलपत शान्ति तद् द्विधा दत्त शान्तिम् ॥
विहितसकलशान्ति जन्मतोऽप्याप्तशान्ति,
नमत विगतशान्ति हे जनाः ! देवशान्तिम् ॥ १७ ॥
ननु सुरवरनाथ ! त्व सदाऽनाथनाथ,
प्रथितविगतनाथः किं त्वह कुन्थुनाथ ! ॥
प्रकुरु जिन ! सनाथ ! स्यां यथाऽऽद्योपनाथ ।
प्रणतविवुधनाथ ! प्राज्यसाच्छिप्यनाथ ! ॥ १८ ॥
अवगमसवितार विश्वविश्वेशितारं,
तनुरुचिजिततार सदयासान्द्रतारम् ।
जिनमजिनमतार भव्यलोकावतार,
यदि पुनरवतार ससृतौ नेच्छतारम् ॥ १९ ॥
अनिशमिह निशान्त प्राप्य य· सन्निशान्त,
नमति शिवनिशान्त मल्लिनाथ प्रशान्तम् ।
अधिपमिह विशान्तं श्रीर्गता चावशान्त,
श्रयति दुरितशान्त प्रोज्झय नित्य च शान्तम ॥ २० ॥
नमत तमथवा सत्प्रोल्लसच्छुरूवास·,
परिहतगृहवासस्यांशके यस्य वास ।
विहितशिवनिवास प्रत्तमोहप्रवास ,
स मम इह नवासः सुव्रतो मेऽध्युवास ॥ २१ ॥
समनमयत वाल· शात्रवान् योऽप्यवाल-
प्रकृतिरसितवाल· सस्तरुग्नक्रवाल· ।
जयतु नमिरयाल· सोऽधरास्तप्रवालः,
ध्वसितविजिनवाल· पुण्यवल्ल्यालवाल ॥ २२ ॥
जिन मदनमुने मे नानिश नाथ नेमे,
निरुपमशमिनेमे ये न तुल्य विनेमे ।
निकृतिजलधिनेमेः सीरमोहद्रुनेमे,
प्रणिदधति न नेमे ते नरा अप्यनेमे ॥ २३ ॥
अहिपतिनृपपार्श्वे छिन्नसंमोहपार्श्वे,
दुरितहरणपार्श्वं सनमद्यक्षपार्श्वम् ।
अशुभजनमनुपार्श्वे न्यक्कृतामशुपार्श्वे,
वृजिनविपिनपार्श्वं श्रीजिनं नौमि पार्श्वम् ॥ २४ ॥
त्रिदिशविहितमानं सप्तहस्ताङ्गमान,
दलितमदनमान सद्गुणैर्वर्द्धमानम् ।
अनवरतममान क्रोधमत्यस्यमानं,
जिनवरमसमान सस्तुवे वर्द्धमानम् ॥ २५ ॥
विगलितवृजिनानां नौमि राजिं जिनानां,
सरसिजनयनानां पूर्णचन्द्राननानाम् ॥
गजवरगमनानां वारिवाहस्वनानां,
हतमदमदनानां मुक्तजीवासनानाम् ॥ २६ ॥
अविकलकलतारा प्रीणनाथांशुतारा-
भवजलनिधितारा सर्वदा विप्रतारा ॥
सुरनरविनतारा त्वार्हतीगीर्वतारा-
दनवरतमितारा ज्ञानलक्ष्मीं सुनारा ॥ २७ ॥
नयनजितकुरङ्गीमिन्दुसङ्केचिरङ्गी-
मिह कुलमनुरङ्गीकृत्य चिन्तातरङ्गी ।
स्मृतिरिह सुचिर गीर्देवतां वस्तरङ्गी,
कुरुत इममरङ्गीत्यादिकृद्वन्धुरङ्गी ॥ २८ ॥ ”

(इति द्विवर्णमिताहियत्यष्टकस्तुतयः)

“तस्स निम्मलरयणेसु न मणागमवि लोभो जाओ, देवया चिं-तेइ-अहो माणुसमलुद्ध त्ति । तुट्ठा देवया, बूहि वर भणती उव-ठिया । तओ सवेगेण लविय-नियत्तो ह माणुस्सएसुं कामभोगे-सु किं वरेण कज्ज ति । अमोह देवयादरिसण ति भणित्ता देवया अट्ठसय गुलिआणं जहाचिंतियमणोरहाण पणमेइ, तओ य निग्गओ । सुय च णेण-

“वीयभए नयरे वी, सव्वालकारभूसिया दिव्वा ॥
देवावयारिया सा, एगा भगवतोसिणी पमिमा ।
त पमिम दच्छामि ति, तत्थ गओ वदिया पमिमा ॥४१॥
तत्थ गओ स गिलाणो, जाओ पमिचारिओ य कुज्जाए ।
अट्ठसय गुलियाण, तीए दाउ स पव्वइओ ॥ ४२ ॥
अह एगगुलियभक्खण-पभावओ सा सुवन्नाभा ।
जाया तप्पभिइजणे, सुवन्नगुलिय त्ति विक्खाया ॥ ४३ ॥
भक्खिउ बीयगुलिय, चिंतइ सा मे पिउ व्व एस निवो ।
सेसा गोइसमा तो, मह भत्ता हवउ पज्जोओ ॥ ४४ ॥
सो देवयाणुभावा, तीइऽणुरत्तो विसज्जए दूय ।
सा भणइ दसउ निव, पज्जोयस्साह सो गतु ॥ ४५ ॥
नलगिरिमारुहिय इमो, निसि पत्तो तत्य तीइ भणिअओ ।
जियपमिम सह गिण्हसु, एमि तहा अन्नहा नेव ॥ ४६ ॥
अह गतु सो सनयर, पडिरूव काउ तो तहिं पत्तो ।
तं मुत्तु जियपमिम, दासिं गहिउ गओ सपुरिं ॥ ४७ ॥
गोसे स करी सोउ, नट्ठमए चेडिय अपइडउ च ।
कुविओ उदायणनिवो, जा जोयावेइ जियपडिमं ॥ ४८ ॥
तो तम्मिलणे पुव्व, मल्लं दट्ठु इसमउडयरूनियसदिओ ।
पज्जोयनिवस्सुवरिं, चलिओ काले निदाघम्मि ॥ ४९ ॥
पत्तो मरुम्मि सिन्ने, भिस तिसाणोमिए सरइ राया ।
भ त्ति पभावइदेव, स घिउऽन्वइ पुक्खरतिगं तो ॥५०॥

गरुप.। गदिष्यति च-" नवकारजहन्ना " इत्यादि ॥ ४ ॥ उक्तरूपा च गृहस्थैश्च कियन्द्भेदा वन्दना कार्येति तद्भेदानभिधाय चैत्यवन्दनाद्वारम्-(तिहा उ वंदण य त्ति) त्रिधा जघन्यादिभेदात्त्रिभेदा। केत्याह-वन्दनेति। 'भामा सत्यभामेति' न्यायात् चैत्यवन्दना पूर्वोक्तशब्दार्था। प्रतिपादयिष्यते च-"नवकारेण जहन्ना" इत्यादि। तुशब्दो विशेषणार्थः। तेन ग्रन्थान्तरप्रसिद्धजघन्यादिभेदान्नवधाऽपि, एवमवग्रहोऽपि शास्त्रान्तरोक्तो द्वादशधाऽवसातव्यः। एतच्चोपरिष्टाद् दर्शयिष्यते ॥५॥ चैत्यवन्दना च प्राय प्रणिपातपूर्वा निरूपितेति तत्स्वरूपनिरूपक षष्ठ प्रणिपातद्वारम्-(पणिवाय त्ति) प्रणिपातः प्रणाम, स चात्रोत्कृष्टत पञ्चाङ्गो ज्ञातव्य, नाऽष्टाङ्ग। तस्य प्रवचनेऽप्रसिद्धत्वात्। अभिधास्यन्ति च-" पणिवाओ पञ्चगो " इत्यादि ॥६॥ कृतप्रणिपातैश्च प्रथमतो नमस्कारा भणनीया, अतः सप्तम नमस्कारद्वारम्-(नमुक्कार त्ति) नमस्कारो जिनगुणोत्कीर्त्तनपरा वचनपद्धतयो, मङ्गलवृत्तानीति यावत्। ते चात्रोत्कृष्टत. पुरुषानाश्रित्याष्टोत्तर शत ज्ञेयम्। निरूपयिष्यति च-" सुमहत्थनमुक्कार " इत्यादि ॥७॥ नमस्काराश्च वर्णात्मका इति वर्णसंख्याद्वारमष्टमम्-वर्णेत्यादि। यद्वा-सर्वमप्यनुष्ठानमहीनातिरिक्ताक्षर करणीयं, विपरीते दोषसम्भवात्। तथा चागम.-

" अहिए कुणाइकहणो, हीणे विज्जाइगाइदिट्ठंता।
बालाउराण भोयण-भेसज्जाविवज्जओ उभए ॥ १ ॥ "

अहीनाधक्षरत्वं च वर्णसंख्यापरिज्ञाने सति भवतीत्यष्टमं वर्णसंख्याद्वारम्-(वण्णा सोलसयसीयाल त्ति) वर्णा अक्षराणि, ते च सामान्यतोऽत्र चैत्यवन्दनाधिकारे नमस्कारक्षमाश्रमणादिषु नवसु स्थानेष्वपुनरुक्ता ध्रुव भणनीयाश्च षोडशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि ज्ञातव्याः।

तथाहि-

" अडसट्ठि ६८ अट्ठवीसा २८,
नवनउअसय च १९९ दुसयसगनउया २९७ ॥
दोगुणतीस २२९ दुसट्ठा २६०,
दुसोल २१६ अडनउयसअ १९८ दुवन्नसय १५२ ॥ १ ॥
इअ नवकार १ खमासम-
ण २ इरिय ३ सक्कत्थवाइदंडेसु ८।
पणिहाणेसु य ९, अडरु-
त्तवण्णसोलसयसीयाला ॥ २ ॥ "

यदिह नवकारादिवर्णपरिसंख्यानं तत्सदादिमूलत्वात्सर्वधर्मस्येति ज्ञापनार्थम्। एव पदादिष्वपि वाच्यम्।

इगसीयसयं तु पया, सगनउई संपयाउ पण दंडा।
बारसऽहिगार चउ व-न्दणिज्ज सरणिज्ज चउहजिणा ॥

वर्णैश्च पदानि स्युरिति वर्णद्वारानन्तर नवम पदद्वारम्-" इगसीय " इत्यादि। एकाशीत्यधिक शतं पदान्यत्रौघतो नमस्कारादिस्थानसप्तके ज्ञातव्यानि। तुर्विशेषणे। विशेषश्चायम्-यद्यपि " क्षमाश्रमण, जे य अईया सिद्धा " इत्यादिगतान्यतिरिक्तान्यपि पदान्यप्यत्र सन्ति तथाऽपि पूर्वबहुश्रुतै सपदादिक किमपि कारणान्तरमधिकृत्यैव पदानि स्वस्वभाष्यादिषूक्तानीति तन्मार्गानुगामितयाऽस्माभिरप्यत्रैतावन्त्येव तान्युक्तानि नाधिकानीति। तथा चोक्त लघुभाष्ये—

" नव बत्तीस तितीसा, ति चत्त अडवीस सोल वीस पया।
मगलचरिया सक्क-त्थयाइसु एगसीइसय ॥ १ ॥ "

एवमन्यत्रापि न्यूनाधिकत्वे कारण वाच्यम् ॥ ९ ॥ द्वित्र्यादिभिश्च पदै सपदो भवन्तीति दशम सपद्द्वारम्-(सगनवइमपयाइउ त्ति) सप्तनवतिसपदोऽर्थविश्रामस्थानानि माऽन्येन पद्यते परिच्छिद्यतेऽर्थो याभिरिति व्युत्पत्ते., सगतार्थपदपङ्क्तय इत्यर्थ। ताश्चैव सप्तसु स्थानेपूच्यन्ते—

" अट्ठ नवट्ठ य अ-ट्ठवीस सोलस य वीस वीसामा।
मगल इरिआ सक्क त्थयाइदंडेसु सगनउई " ॥ १ ॥

तुशब्दो नामस्तवादिषु प्रायो विशेषार्थपरिच्छेदार्थः, परिच्छेदाभावेऽपि सगतपदत्वेन-" पायसमा ऊसासा " इतिवचनाद्य सामान्येन सपदो विश्रामस्थानानि ज्ञेयानीति विशेषयति ॥ १० ॥ सपदश्च दण्डादिका अत एकादश दण्डकद्वारम्-(पणदंड त्ति) यथोक्तमुद्राभिरस्खलित भण्यमानत्वाद् दण्डा इव दण्डा, सरला इत्यर्थ। ते चात्र पञ्च शक्रस्तवादय.। प्रतिपादयिष्यति च-"पण दंडा सक्कत्थय" इत्यादि। यदत्र वन्दनाया एव दण्डकाः परिभाषिता. नान्येषां, तदन्या एवात्र मुख्यतया प्रस्तुतत्वादिति। एवमधिकारादिष्वपि वाच्यम् ॥११॥ दण्डेषु चैकस्यादिका अर्थाधिकाराः सन्तीति तत्संख्याख्यापक द्वादशमधिकारद्वारम्-(बारसऽहिगार त्ति) अधिकारा भावार्हदाद्यालम्बनविशेषस्थानानि,ते च द्वादश दण्डकपञ्चके भवन्ति। अभिधास्यति च-"दो इग दो पच य" इत्यादि ॥१२॥ अधिकाराश्चाधिकार्यविनाभाविन, आधेयाभावे आधारव्यपदेशाभावात्, घृताद्यभावे घृतघटादिव्यपदेशाभाववत्। अतोऽधिकारिण आलम्बनापरपर्याया अत्र ज्ञेया.।ते च द्विधा,वन्दनीयस्मरणीयभेदात्। तत्र प्रथम सामान्यत सकलवन्दनीयप्रतिपादक त्रयोदश वन्दनीयद्वारम्-(चउवंदणिज्ज त्ति) चत्वारो वक्ष्यमाणा जिनादयोऽत्र वन्दनीयाः प्रमाणार्चाद्यर्हाः। निरूपयिष्यति च-"चउवंदणिज्ज जिणमुणिसुयसिद्ध त्ति" ॥ १३ ॥ अधिकारप्रस्तावादेव चतुर्दश स्मरणीयद्वारम्-(सरणिज्ज त्ति) स्मरणीया. क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादितद्गुणानुचिन्तनादिनोपबृंहणीया, सूचनीया इति यावत्। यद्वा-स्मरणीया प्रमादादिना विस्मृत तत्करणीय तत् तत् सङ्घादिकार्यं च ज्ञापनीया। अथवा-सारणीयाः प्रभावनादौ। तत्र हि ते कार्ये प्रवर्तनीयाः,ते चात्राधिकारितया सम्यग्दृष्टयो देवा ज्ञातव्याः, तेषामेव स्मरणाद्यर्हत्वात्। अर्हदादीनां तु वन्दनीयत्वेन प्रागुक्तत्वात् स्मारणादिकर्तृत्वाच्च। भणिष्यति च-"इह सुरा य सरणिज्ज त्ति" ॥ १४ ॥ एव च सामान्येनाधिकारिण उक्ता इति विशेषतस्तदभिधानार्थ पञ्चदश जिनद्वारम्-(चतुह जिण त्ति)। अथवा जिनादयोऽत्र वन्दनीया इत्युक्तम्, जिना कतिविधा इति तद्भेदोद्भावक पञ्चदश जिनद्वारम्-(चउह जिण त्ति) जिना दुर्वाररागाद्यन्तरवैरिवारजेतार, ते च चतुर्धा वक्ष्यमाणनामजिनादिभेदेन चतु प्रकारा.। वक्ष्यति च-" चउह जिणा नाम " इत्यादि ॥ १५ ॥

चउरो थुई निमित्त-ऽट्ठ बार हेऊ य सोल आगारा।
गुणवीस दोस उस्स-ग्गमाण थुत्तं च सगवेला ॥

जिनादय. स्तुत्यादिभि स्तूयन्ते इति जिनद्वारानन्तर षोडश स्तुतिद्वारम्। सद्वा०। (ताः कति दीयन्तेऽत्र विचा-

कप्पइ चेव काउं किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइयं फलासायमभिकंखुगाणं, एएणं अट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा ! सुत्तत्थोभयं पंचमगलं थिरपरिचियं काऊणं तओ इरियावहियं अहीए ॥ महा० ३ अ० ।

दशवैकालिकद्वितीयचूलिकावृत्तौ तु ईर्यापथिक्या प्रतिक्रमण विना न कल्पते किमपि कर्तुमिति, इत्यागमप्रामाण्यादीर्यापथिकीपूर्वमेव सर्वमपि धर्मानुष्ठानमनुष्ठेयम् , इत्थमेव चित्तोपयोगेनानुष्ठानस्य साफल्यजननात् । अन्यथा प्रायश्चित्तैकाग्रताया अप्यभावात् सूत्रप्रामाण्याच्च पुष्कलिना शङ्ख प्रति श्रावकवन्दनस्यापि तथैव विधानाच्च । सघा० १ प्रस्ता० । अथ चेर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वक चैत्यवन्दनमिति पूर्वमुक्त तच्च युक्त, यतो महानिशीथे-" इरिआवहिए अपडिक्कताए न किंचि कप्पइ चेइअवदणसज्झायाऽऽवस्सयाइ काउ " इति । अन्या अपि प्रतिक्रमणादिक्रिया एतत्प्रतिक्रमणपूर्विकाः शुद्ध्यन्ति ।

यतो विवाहचूलिकायाम्-

" दिढिवद्धि कुलुमसेहर, सुच्चइ दिव्वाहिगारमज्झम्मि ।
ठवणायरिअ ठविउ, पोसहसालाए तो सोही ॥ १ ॥
उम्मुक्कभूसणो सो, इरिआइपुरस्सर च मुहपुत्तिं ।
पडिलेहिऊण तत्तो, चउव्विह पोसह कुणइ ॥ २ ॥ " त्ति ॥

तथाऽऽवश्यकचूर्णावपि-"तत्थ दंढरो नाम सावओ सरीरचिंतं काऊण पडिस्सयं वच्चइ, वाहे तेण पूरएण तिन्नि निसीहिआओ कयाओ, एव सो इरिआई दद्दुरेण सरेण करेइ" त्ति । तथा च-" ववहारावस्सयमहानिसीहभगवईविवाहचूलासु पडिक्कमण-सुत्तिमाइसु पढम इरिआपडिक्कमण" इत्याद्युक्तेरत प्रथममीर्यापथिकीसूत्र व्याख्यायते । तच्च-" इच्छामि पडिक्कमिउ" इत्यादि " तस्स मिच्छामि दुक्कम " इत्यन्तम । ध० २ अधि० । एवमालोचनाप्रतिक्रमणरूप द्विविध प्रायश्चित्त प्रतिपद्य कायोत्सर्गलक्षणप्रायश्चित्तेन पुनरात्मशुद्ध्यर्थमिद पठति-" तस्स उत्तरीकरणेण" इत्यादि "ठामि काउस्सग्ग" इति पर्यन्तम । ध० २ अधि० । स० । सपूर्णकायोत्सर्गश्च- " नमो अरिहताण " इति नमस्कारपूर्वक पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तव सपूर्ण पठति । ध० २ अधि० । " पयभूमिपमज्जण च तिक्खुत्तो " इति सप्तमत्रिकभावार्थ ।

(८) स्तुत्यक्षराणि । अथ वर्णादित्रयमित्यष्टम त्रिक गाथापूर्वार्द्धेन भाष्यकृद्विवृण्वन्नाह-

वन्नतिअं वन्नत्था-लंवणमालंवणं तु पडिमाई ।

वर्णत्रिकमुच्यते, किमित्याह-वर्णार्थालम्बनानि, तत्र वर्णाः स्तुतिदण्डादिगतान्यक्षराणि, ते च स्फुटसपदच्छेदसुविशुद्धान्यूनातिरिक्ता उच्चार्याः । यदवादि भाष्ये-

" सुद्धडाई वन्ना, उच्चरियव्वा फुडा सुपरिसुद्धा ।
सरवजणाइभिन्ना, सपयच्छेया उचियघोसा ॥ १ ॥ "
अर्थश्च तेषामेवाभिधेयः, स यथापरिज्ञान चिन्त्यः ।

यदाहि च-

" चिंतेयव्वो सम्म, नेसि अत्थो जहापरिन्नाणं ।
सुन्नहियस्सिमिहरिहा, उत्तमफलसाहग न भवे ॥ १ ॥ "

आलम्बन तु स्वयमेव भाष्यकृद् व्याख्यानयति "आलम्बण तु पडिमादीणि ' आलम्बन पुनर्देवान् वन्दमानस्य चन्दनरेन्द्रस्येवाश्रयणीय,किं तद् प्रतिमादि, आदिशब्दाद् भावार्हदादिपरिग्रह ।

यदभाणि-

" भावारिहतपमुहं, सरिज्ज आलंवणं पि दंडेसु ।
अहवा जिणविंवाई, जस्स पुरो वदणाइ त्ति" ॥ १ ॥ सङ्घा० १ प्रस्ता० । [अत्र चन्दनरेन्द्रकथा सङ्घाचाराद्ववसेया]

(९) अथ नवम मुद्रात्रिक नामतो गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

जोगजिणमुत्तसुत्ती-मुद्दाभेएण मुद्दतियं ।

मुद्राशब्दः पृथग् योज्यते, ततश्च योगमुद्राजिनमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्राभेदान्मुद्रात्रिक भवतीत्यर्थः ।

आसां स्वरूपमाह-

अन्नुन्नंतरिअंगुलि-कोसागारेहिँ दोहिँ हत्थेहिं ।
पिट्टोवरि कुप्परसं-ठिएहिँ, तह जोगमुद्द त्ति ॥ १२ ॥

उभयकरजोमनेन परस्परमध्यप्रविष्टाङ्गुलिभिः कृत्वा पद्मकुमलाकाराभ्या द्वाभ्यां हस्ताभ्यां, तथा उदरस्योपरि कुहणिकया व्यवस्थिताभ्यां, योगो हस्तयोर्योजनविशेष', तत्प्रधाना मुद्रा योगमुद्रा इत्येव स्वरूपा भवतीति गम्यम् ॥ १२ ॥

चत्तारि अंगुलाइ, पुरओ ऊणाइ जत्थ पच्छिमओ ।
पायाणं उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥ १३ ॥

चत्वार्यङ्गुलानि स्वकीयान्येव पुरतोऽग्रतस्तथा ऊनानि किञ्चिच्चत्वार्येवाङ्गुलानि यत्र मुद्रायां पश्चिमत' पश्चाद्भागे, एवं पादयोरुत्सर्ग , परस्परससर्गत्यागोऽन्तरमित्यर्थ । एषा पुनर्भवति जिनानां कृतकायोत्सर्गाणा सत्का, जिना वा विघ्नजैत्री मुद्रा जिनमुद्रेति ॥ १३ ॥ भवति च यथा स्थानस्थापितमुद्राश्रयचैत्यवन्दनाकरणतोऽत्रामुत्रापि विघ्नसङ्घातविघात ; उक्त चैत्यवन्दना पञ्चाशकवृत्तौ ॥

मुत्तासुत्तीमुद्दा, जत्थ समा दो वि गब्भिया हत्था ।
ते पुण निडालदेसे, लग्गा अन्ने अलग्गंति ॥ १४ ॥

मुक्ताशुक्तिरिव मुद्रा हस्तविन्यासविशेषो मुक्ताशुक्तिमुद्रा, सा चैव समावन्योन्यान्तरिताङ्गुलितयाऽविषमौ द्वावपि न त्वेको गर्भितावित्र गर्भितावुन्नतमध्यौ, न तु नीरन्ध्रौ, चिपिटावित्यर्थ' । हस्तौ, तौ पुनरुन्नयतोऽपि सोल्लासौ करौ भालमध्यभागेन लग्नौ संबद्धौ कार्यावित्येके सूरयः प्राहु । अन्ये पुनस्तत्रालग्नावित्येव वदन्ति, नेत्रमध्यभागवर्त्याकाशसङ्गतावित्यर्थः ॥ १४ ॥

आसां विषयविभागमाह -

पंचंगो पणिवाओ-थयपाढो होइ जोगमुद्दाए ।
वंदण जिणमुद्दाए, पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥ १५ ॥

पञ्चाङ्गानि जान्वादीनि विवक्षितव्यापारवन्ति यत्र स पञ्चाङ्गः प्रतिपातः प्रणामः प्रणिपातदण्डकः । पाठस्यादावत्रसाने च कर्तव्यतया , स चोत्कर्षत' पञ्चाग कार्य' । यदुक्त च मात्राराङ्गचूर्णौ-" कइ नमति सिरपंचमेण काएण " ति । यत्पुन " वाम जाणु अचेइ" इत्याद्युक्त,तत्प्रभुत्वादिकारणाश्रितत्वान्न यथोक्तविधिबाधकतया प्रभवितुमर्हति , चरितानुवादत्वाच्च । यद्यपीह पञ्चाङ्गः प्रणिपात इत्युक्तम , तथापि पञ्चाङ्गमुद्रया प्रणिपात कार्य इति द्रष्टव्यम, मुद्राणामेवाधिकृतत्वात् । युक्त च पञ्चाङ्गया अपि मुद्रात्वमङ्गविन्यासविशेषरूपत्वात् , योगमुद्रादिवदिति । आह-नन्वेवम-"मुद्दातियं"इति उक्ते सख्याविघातप्रसङ्ग ,नैतदेवम,अभिप्रायापरि

शीर्षादिना भूस्पर्शादिलक्षणेन नामा नमनानि प्रह्वीभावा जिनस्याग्रे विधेयाः, नमस्कारकरणकाले भक्त्यतिशयख्यापनार्थं त्रीन् वारान् शिरोनमनादि विधेय,न त्वेकमपि वारमित्येवशब्दो नियुक्त । यदागमः-" तिक्खुत्तो मुद्धाण धरणितलंसि नमेइ" त्ति ॥ ३ ॥ शिरसा त्रिर्भूमिं स्पर्शयतीत्यर्थः। एकः चशब्दः समुच्चये, द्वितीयस्तु विशेषणे । स चैकाङ्गादिकमपि प्रणाम कुर्वद्भिर्भूम्याकाशशिरःप्रभृतिष्वपि सर्वत्र शिरःकराञ्जल्यादि त्रि.परावर्तनीयमिति विशिनष्टि। एव च-"पणिवाओ पचगो " इत्यप्युच्यमान न विरुध्यते , प्रणिपातभेदाङ्गव्यक्तिख्यापनपरत्वात्तस्याः । यद्वा-भूमौ जानुन्यासशिर.स्पर्शशिरोऽञ्जलिकरणरूपास्त्रयः प्रणामाः शक्रस्तवादौ विधेयाः। उक्तं च-" वामं जाणु अचेइ " इत्यादि । अथवा-अञ्जलिबन्धोऽर्द्धावनतता, पञ्चाङ्गश्चेति। अत्रैव वक्ष्यमाणलक्षणास्त्रय. प्रणामा इति तृतीय त्रिकम् ॥३॥ त्रिविधा च त्रिप्रकारा अङ्गाग्रभावाऽऽत्मिका पुष्पामिषस्तुत्यादिनिर्माल्यस्वभावा पञ्चप्रकाराऽष्टप्रकारसर्वप्रकाररूपा वाऽत्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपा पूजाऽर्चा विधेया।तथेत्यागमादुक्तनीत्या तदुक्ताशेषतत्पूजाभेदानामत्रान्तर्भावरूपया । उक्त चैतच्चूर्णौ-"तिविहा पूया पुप्फेहिं नेवज्जेहिं थुईहिं, सेसभेया इत्थ चेव पविस्सति त्ति "। यद्वा-तथेति " सयमाणयणे पढमा " इत्यादिस्थानान्तराप्रसिद्धाऽनेकधा-पूजात्रयाणां व्यापकः, तानि चाग्रे दर्शयिष्याम । इति चतुर्थं त्रिकम् ॥ ४ ॥ अवस्थात्रिकस्य छद्मस्थकेवलिसिद्धत्वरूपस्य, भावन पुन. पुनश्चिन्तन, "भावयेद् ज्योतिरान्तरमिति" वचनात्। पिण्डस्थपदस्थरूपातीतध्यानकृते कर्त्तव्यमेवेति, एवशब्दोऽवधारयति । तथैव पिण्डस्थादिध्यानसिद्धेस्तदर्थत्वाच्च सर्वस्याऽपि सद्धर्मानुष्ठानोपक्रमस्य, रूपस्थध्यानं तु दर्शनमात्रादपि सिध्यति । उक्त च"-पश्यति प्रथम रूपं, स्तौति ध्येय ततः पदं । तन्मय. स्यात्ततः पिण्डे, रूपातीतः क्रमाद्भवेत्॥१॥" इति पञ्चमं त्रिकम् ॥ ५ ॥

तिदिसिनिरक्खणविरई, पयभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो ॥
वन्नाइतियं मुद्दा-तियं च तिविहं च पणिहाणं ॥

तिसृणामूर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपाणां वामदक्षिणपाश्चात्यलक्षणानां वा दिशां, निरीक्षणस्यालोकस्य विरतिर्वर्जनं, विदध्यात्। तत्रानुपयोगे वन्दमस्यानादरतादिदोषप्रसङ्गात्, यस्यां दिशि तीर्थकृद्बिम्ब तत्समुखमेव निरीक्षयेतेत्यर्थः। यदागम -" भवणेक्कगुरुजिणिंदपमिमासु विणिवेसियनयणमाणसेण० जाव चेइए वंदियव्वे " षष्ठ त्रिकम ॥ ६ ॥ पदभूमेर्निजचरणन्यासभूमेः , सत्वादिरक्षार्थे सम्यग् चक्षुषा निरीक्ष्य प्रमार्जन च त्रि कृत्वस्त्रीन् वारान् कुर्यात्। उक्त चागमे-" जेइ तिन्नि वारा उ चलणाण हिट्ठग भूमिं न पमज्जिज्जा, तो पच्छित्त " इति सप्तम त्रिकम ॥ ७ ॥ वर्णादित्रिक चैत्यवन्दनागताक्षरार्थालम्बनरूपया परिज्ञान सम्यगुच्चाराचिन्तनमात्रेण एव एकाग्रता मनसश्चिन्तयेत्। इत्यष्टम त्रिकम॥८॥ मुद्राणां हस्ताद्यङ्गविन्यासविशेषलक्षणानां त्रय त्र योगमुद्राजिनमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्रात्मक सुत्रपाठसमकभावितया मूलमुद्रात्रयरूप समस्तप्रत्यूहव्यूहव्यपोहार्थं,सकलसमीहितसम्पादनार्थं च,यथा महामान्त्रिको मन्त्रादि स्मरन् वज्रमुद्राकुद्दीमुद्रादिका मुद्रा. प्रयुङ्क्ते , तथा चैत्यवन्दनासूत्रोच्चारावसरेऽवश्य सत्यापनीयतया ज्ञातव्यम् , तदविनाभावित्वात्सूत्रोच्चारस्य , "थयपाढो होइ जोगमुद्दाए " इत्यादिवचनात्। इष्टश्च समुद्र सूत्रपाठोऽन्यत्राऽपि मन्त्रवेदादौ, परममन्त्रवेदादिकल्प च सर्वं जिनागमसूत्रम्। "कस्स वि स परममतो" इति। "अट्ठारस पयसहस्सो उ वेओ " इत्यादिवचनात् अञ्जलिमुद्रापञ्चाङ्गीमुद्रादयस्तु अत्र न परिज्ञाताः, उत्तरमुद्रारूपत्वात्तासामनियतत्वात्, सूत्रपाठसमये अनुपयुज्यमानत्वात् , तथाऽनुक्तत्वात् । सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावित्वाद्विनयविशेषदर्शनमात्रफलत्वाच्चेत्यादिवद् अत्र परिज्ञेयमिति नवम त्रिकम् ॥ ९ ॥ त्रिविध च त्रिभेद चैत्यवन्दनामुनिवन्दनाप्रार्थनाभेदात् प्रणिधान, चैत्यवन्दनाऽवसाने विदध्यादिति शेषः। तथा चागमः-"वदइ नमसइ" त्ति सूत्रस्य वृत्ति.-वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनाविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति दशम त्रिकम । इति प्रतिद्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥ १० ॥ उक्तो दशत्रिकाकारार्थः । संघा० १ प्रस्ता० । प्रव० । दर्श० ।

(३) नैषेधिकीत्रयम । अथ भावार्थ उच्यते-तत्र प्रथमं नैषेधिकीत्रिक भावयन् भाष्यकृदाह-

घरजिणहरजिणपूजा-वावारचायओ निसीहितिगं ।
अग्गद्दारे मज्झे, तइया चिइवंदणासमए ॥

गृह च मन्दिरम,उपलक्षणत्वादापणादिपरिग्रह.।जिनगृह च देवगृहम, जिनपूजा च पुष्पादिभिर्जिनाभ्यर्चन, तेषां व्यापारस्तत्कृतकार्यकारणाचिन्तनादिलक्षण आरम्भ',तस्य त्यागाद्वर्जनाद् नैषेधिकीत्रय पूर्वोक्तशब्दार्थं, यथार्थनामक भवतीति गम्यते।तत्र प्रथमा नैषेधिकी-अग्रद्वारे वलानकप्रवेशसमये विधेया। द्वितीया तु मध्ये मुखमण्डपादौ । तृतीया पुनश्चैत्यवन्दनाविधानसमये । इत्यक्षरार्थ. । भावार्थस्त्वयम्-जिनभवनादियहिर्भूतगृहहट्टादिगतक्रयविक्रयादिव्यवहाररूपसावद्यारम्भविधाननिषेधनिष्पन्ना प्रथमा नैषेधिकी, सा चाग्रद्वारे जिनभवनवलानके वक्ष्यमाणपञ्चविधाऽभिगमविधानपुरस्सर प्रविशता भुवनमल्लनरेन्द्रवत्कार्या सा। यदुक्त भाष्ये-

" पचविहाभिगमेण, पविसतो वलाणए निसिहितिग ।
कुज्जा बहि वावार, न काहमिन्हि ति भावितो ॥ १ ॥ "

अत्र मनोवचःकायैर्गृहादिव्यापारो निषेध्य इति ज्ञापनार्थमुक्तम्। (निसिहितिग कुज्ज त्ति) परमेकैवैषा गण्यते, जिनगृहादिबहिर्भावितयैकरूपस्यैव गृहादिव्यापारस्य निषिद्धत्वात् । तथा च लघुभाष्यम्-" तणुवयणमाणसाण, निसीहविसया निसीहियाति त्ति "।

अत्र भुवनमल्लनरेन्द्रकथानक चैवम्-

"कुसुमपुरी अत्थि पुरी, बहुचउरयणाहि एगचउरयण ।
एगहरिं भूरिहरिहिं , परिहवइ अमरनयरिं जा ॥ १ ॥
हेमप्पहो हरि इव, तत्थऽत्थि निवो गवाहिवो स जओ ।
भज्जा य तस्स रभा, पुत्तो पुण भुवणमल्लु त्ति ॥ २ ॥
सूरो रणम्मि सोमो, नयम्मि वक्को रिउम्मि जो उ बुहो।
सत्थम्मि मईए गुरू, नीईए कई अघेमदो ॥ ३ ॥
कइया निव सहत्थ, विन्नी विन्नवइ देव ! बहि एगो ।
पुरिसो दट्ठु इच्छइ, पहु कहेइ न अ सो अप्प ॥ ४ ॥
मुच त्ति निवुत्ते जा, मुक्को पत्तो य रायादिट्ठिपह ।

पयरस पुण सरूवं, सविसेसं उवरि वुच्छामि ॥ २ ॥ "

ननु यदेतत्प्रणिधानत्रिकमुक्तं तत्किल वन्दनाऽवसाने विधीयते "अन्न पि तिण्णयार वंदणयपरं तभावि" इत्यादिभाष्यवचनात्। ततः शेषा वन्दना प्रणिधानरहितेति प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह-"चेइय त्ति।" अथवा द्वितीयमपि प्रणिधानत्रिकमस्ति यत्समस्तचैत्यवन्दनायां विधीयते। किं तदित्याह-मनोवचःकायानामैकाग्र्यम्, अकुशलरूपाणां निवर्त्तनम्, समाधिः रागद्वेषाभावोऽनन्योपयोगितेति यावत्। आह च-

" इह पणिहाणं तिविहं, मणवइकायाण जं समादाणं।
रागद्दोसाभावो, उवओगित्तं न अन्नत्थ ॥ १ ॥
एअं पुण तिविहं पि हु, वंदंतेणाऽऽइओ उ कायव्वं।
चिइवंदणमुणिवंदण-पत्थणरूवं तु पज्जंते ॥ २ ॥ "

अत्र चेयं भाष्योक्ता भावना-

" चिंतइ न अन्नकज्जं, दूरं परिहरइ अट्टरुद्दाइं।
एगग्गमणो वंदइ, मणपणिहाणं हवइ एयं ॥ १ ॥
विगहाविवायरहिओ, वज्जंतो मूयढड्डर सद्दं।
वंदइ सपयच्छेयं, वाया पणिहाणमेयं तु ॥ २ ॥
पेहतमपज्जंतो, उट्ठाणनिसीयणाइये कुणई।
वावारंतररहिओ, वंदइ इय कायपणिहाणं " ॥ ३ ॥

पञ्चाशकेऽप्युक्तम्-

" सव्वत्थ वि पणिहाणं, तग्गयकिरियाऽभिहाणवन्नेसु।
अत्थे विसए य तहा, दिट्ठंतो छिन्नजालाए ॥ १ ॥ "

अस्या अर्थः-सर्वत्रापि समस्तायामपि चैत्यवन्दनायां, न केवलं तदन्त एव प्रणिधानं कार्यं,नरवाहननरेन्द्रवत्। क्व विषये?,तद्गताश्चैत्यवन्दनागताः, क्रिया मुखस्थगनमुद्रान्यासादिका., तासु, तथा अभिधानानि पदानि, वर्णा अक्षराणि, तेषु तेषु, तथाऽर्थोऽर्हदादिपदाभिधेयः, तस्मिन्, विषयो वन्दनागोचरो भावार्हदादिः,दृष्टिगोचरो वा चैत्यबिम्बप्रभृतिकः,तस्मिन्,तथाशब्दात् "जय वीयराय" इत्यादिप्रार्थनायामपि, 'दिट्ठंतो छिन्नजालाए' इति तुर्यपदस्यैव भावना। प्रेरकः प्राह-

" वन्नाइसु उवओगो, जुयवं कह घमइ एगसमयम्मि।
दो उवओगा समए, केवलिणो वि हु न जं इट्ठा ॥१॥ "

आचार्यः-

" कमसो वि संभवंता, जुगवं नज्जंति ते वि सिग्घा वि।
चित्तस्स सिग्घकारि-त्तणेण एगत्तभावाओ " ॥ २ ॥

अत्र दृष्टान्तश्छिन्नज्वालया उल्मुकेन। यथा हि तद्भ्राम्यमाणं छिन्नज्वालमपि शीघ्रतया चक्राकारं प्रतिभासते। यद्वा-

" केवलिणो उवओगो, वच्चइ जुगवं समत्थनेएसु।
छउमत्थस्स वि एवं, अभिन्नविसयासु किरियासु ॥ ३ ॥ "

तथा चागमः-

" भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगया न एगम्मि।
जोगतिगस्स वि भंगिय-सुत्ते किरिया जओ भणिया ॥ ४ ॥
मणसा चिंतइ भंगे, वयसा उच्चरइ लिहइ काएण।
एव जोगतिगस्स वि, भंगिअसुत्तम्मि वावारे" ॥५॥ सङ्घा० १ प्रस्ता० । प्रव० ।

प्रणिधानफलम्-

फलति चैनदचिन्त्यचिन्तामणेर्भगवतः प्रभावेन। सकलशुभानुष्ठाननिबन्धनमेतत्, अपवर्गफलमेव प्रणिधानं, तल्लक्षणयोगादिति दर्शितम्। असक्तासक्तचित्तव्यापार एव महान्। न च प्रणिधानादृते प्रवृत्त्यादयः। एवं कर्त्तव्यमेवैतदिति प्रणिधानप्रवृत्तिविघ्नजयफलविनियोगानामुत्तरोत्तरभावात् आशयानुरूपः कर्मबन्ध इति। न खलु तद्विपाकतोऽस्यासिद्धिः स्यात्; युक्त्यागमसिद्धमेतत्। अन्यथा प्रवृत्त्याद्ययोगः, उपयोगाभावादिति। न अनधिकारिणामिदम्। अधिकारिणश्चास्य य एव वन्दनाया उक्ताः। तद्यथा-एतद्बहुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्चोक्तलिङ्गा एव। प्रणिधानलिङ्गं तु विशुद्धभावनादि। यथोक्तम्-

" विशुद्धभावनासारं, तदर्थार्पितमानसम्।
यथाशक्ति क्रियालिङ्गं, प्रणिधानं मुनिर्जगौ ॥ १ ॥ "

इति स्वल्पकालमपि शोभनमिदं, सकलकल्याणाक्षेपात्, अतिगम्भीरोदाररूपमेतत्, अतो हि प्रशस्तभावलाभाद्विशिष्टक्षयोपशमादिभावतः प्रधानधर्मकार्यादिलाभः। तत्रास्य सकलोपाधिमुक्तदीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवनेन श्रद्धाचार्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञावृद्ध्या न हि समग्रसुखभाक् तदङ्गहीनो भवति, तद्वैकल्येऽपि तद्भावहेतुकत्वप्रसङ्गात्। न चैतदेवं भवतीति योगाचार्यदर्शने, सेयं भवजलधिनौः प्रशान्तवाहितेति परैरपि गीयते। अयमङ्गात्तज्ज्ञापनफलः सदुपदेशो हृदयानन्दकारी परिणमत्येकान्तेन। ज्ञाते त्वस्मिन् गमनमेव भावतः अनाभोगतोऽपि मार्गगमनमेव। सदन्धन्यायेनेत्यध्यात्मचिन्तकाः। तदेव शुभफलप्रणिधानं पर्यन्ते चैत्यवन्दनं तदन्वाचार्यादीनभिवन्द्य यथोचितं करोति, कुर्वन्ति वा कुग्रहविरहेण। ल० । (नरवाहननरेन्द्रवृत्तं सङ्घाचारग्रन्थादवसेयम्) इत्युक्तं प्रतिधानत्रिकमिति दशमं त्रिकम् ॥

अथ श्रोतुं त्वरमाणः शिष्यः प्राह-अत्र तावद्भगवद्भिः षडेव त्रिकाणि व्याख्यातानि, शेषाणां तु का वार्त्तेत्याशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय गाथाचतुर्थपादमाह-

सेसतियऽत्थो उ पयड त्ति ॥१६॥

शेषत्रिकाणां प्रदक्षिणात्रिकप्रणामत्रिकादिगूत्रयनिरीक्षणविरतित्रिकत्रिःपदभूमिप्रमार्जनत्रिकलक्षणानामर्थस्तु पुनः प्रकटः सुगम एवेति। भाष्ये नोक्तं, विवृतौ तु यथाप्रस्तावं भावितमेवेति समाप्तानि दशाऽपि त्रिकाणि।

एषां चैव कारणफले लघुभाष्योक्ते-

" कम्माण मोहणीयं, जं बलियं तिसत्तगणनिबद्धं।
तक्खवणट्ठा एयं, तिगदसगं होइ नायव्वं ॥ १ ॥
इय दहतियसंजुत्तं, वंदणयं जो विएगतिकालं।
कुणइ नरो उवउत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥ २ ॥ "

इति व्याख्यातं दशत्रिकाख्यं प्रथमद्वारम्। सङ्घा० १ प्रस्ता० ।

(११) अभिगमः-

अत्र च प्राक् साधुश्रावकादिः सामान्येनेत्याद्युक्तं,तत्र चैत्यादि वन्दितुकामः श्रावकः कश्चिन्महर्द्धिको भवेत्,श्रीदेणनृपादिवत्; कश्चित्सामान्यविभवः श्रीपतिश्रेष्ठिवत्। तत्र यदि राजादिस्तदा "सव्वाए इड्ढीए सव्वाए दित्तीए सव्वाए जुईए परियणसहिए सव्वपोरिसेण " इत्यादिवचनात् प्रभावनानिमित्तं महर्ध्या चैत्यादिषु याति। अथ सामान्यविभवस्तदौद्धत्यादिपरिहारेण लोकोपहासं परिहरन् व्रजति। तत्र च चैत्ये प्रविशन् पञ्चविधाभिगमं करोतीत्येतत्सम्बन्धायातः द्वितीयाभिगमः।

विश्वत्रयैकदर्शन!, सहस्रदर्शनननतक्रम ! जिनेन्द्र ! ।
सयणंतपत्तदंसण !, अणतदंसण ! चिरं जयसु ॥ ५४ ॥
पूर्वाकृतसुकृतानां, पूर्वाशीलितविशुद्धशीलानाम् ।
अविहियतवाण पुव्विं, न होइ तुह दंसणं चेव ॥ ५५ ॥
भवशतकृतमपि पापं, त्वद्दर्शनतो विलीयते नाथ ! ।
पिम्मिभूसं पि घयं, दुअ जहा जलिरजलणाओ ॥ ५६ ॥
समयोऽयमेव शस्यः, सलक्षणोऽसौ क्षणस्तदहरनघम् ।
पक्खो वि सो सपक्खो, जयबंधव ! दीससे जत्थ ॥ ५७ ॥
स्युमदृष्टे वाञ्छा, दृष्टे त्वयि नाथ ! विरहजं दुःखम् ।
इय जइ दुहा वि न सुहं, तहा वि तुह दंसणं होउ ॥ ५८ ॥
पूर्वार्जितसुकृतफलं, भाविशुभनिबन्धनं हरति चैनः ।
इय कालत्तयसुहयं, जिणाण तुह दंसणं दुलहं ॥ ५९ ॥
स्वामिन् ! स्वदर्शनं कुरु, तथा यथा स्यात्पुनर्न तदभावः ।
जं चंपवेयणाओ, चक्खुक्खयवेयणा दुसहा ॥ ६० ॥
नामाऽपि नाथ ! यस्ते, धरमन्त्रसधर्म कीर्तयति तस्य ।
मिच्छादंसणदोसो, लहु नासइ किं पर भणिमो ? ॥ ६१ ॥
य इति जिन ! त्वामन्यू-नदर्शनान्यूनदर्शनं नौति ।
स विशुद्धदर्शनः श्रय-ति सत्वरं सर्वदर्शित्वम् ॥ ६२ ॥
इय थोउं चेइयं जा, सविम्हयं नियइ सव्वओ कुमरो ।
ता पिच्छइ पच्छिमदिसि, कमलललामं च पुक्खरिणिं ॥६३॥
गंतु तत्थ जलेणं, महुरेणं सीयलेण विमलेण ।
गुरुवयणेण व अप्पं, सोहिय जा चिट्ठइ सुत्थो ॥ ६४ ॥
ता गुंजाहलहारो, सललइसालाकरो हलिहनिहो ।
एगो समागओ त-त्थ वानरो वानरीजुत्तो ॥ ६५ ॥
स मणुयगिराइ कुमरं, पणमिय भणइ पहु ! ससरणसरण ! ।
सुहय ! पवणसुदक्खिण, ! कुमर ! मह सुणसु विन्नत्तं ॥६६॥
इह अडवीइ सया वि हु, वानरजूहाहिवत्तमासी मे ।
एसा उ वल्लहा तह, पाणेहि वि वल्लहा निच्चं ॥ ६७ ॥
तं मह जूहं इण्हिं, बलवंतरयस्स वानरेण बला ।
अवहरिओ अन्नेणं, तं तु समत्थो वि णिग्गहिउं ॥ ६८ ॥
नवरं न देइ मह ते-ण उज्झिउं नेहकायरा एसा ।
अहमवि इमं न सक्के-मि इत्थ एगागिणिं मुत्तुं ॥ ६९ ॥
संपइ तुमं महायस !, मणनयणूसवकरो सुबंधु व्व ।
परउवयारिक्कपरो, दिट्ठो पुण्णोदएण मए ॥ ७० ॥
ता जाव अहं रिउवा-नरं लहुं निहणिऊण एमि इहं ।
ता नेहभीरु एसा, निरुद्धवा गउ तुह पासे ॥ ७१ ॥
इय भणिय तइ मुत्तुं, गओ इमो चिंतए तओ कुमरो ।
कह मणुअगिरा एसो, वयइ पवन्नं इव मईपुव्वं ॥ ७२ ॥
बलिअरिउणा पियं जा, निहयं न सुणामि ता मम वि जुत्तं ।
मरणं ति भणिय कुमर-स्स वानरी पडइ वाविं तो ॥ ७३ ॥
न हु मह इमीइ सरणा-गयाइ मरणं उविक्खिउं उचिअं ।
इय ताइ कड्ढणत्थं, झपावइ तत्थ जा कुमरो ॥ ७४ ॥
तावन्न वावि न जलं, न वानरी तत्थ किं तु अप्पाणं ।
वरमणिमयपासाए, पल्लंकगयं नियइ कुमरो ॥ ७५ ॥
अह अ नियंता कुमरं, जिच्चा गंतु कहंति मतीण ।
ते वि हु सन्निहियपत्ता, तं कयजत्ता गवेसंति ॥ ७६ ॥
आगम्मनाग एगो, अह कुमर पइ पयंपइ इहं भो ! ।
मा किं पि चिंतियव्वं, कारणओ तं मयाऽऽणीओ ॥ ७७ ॥
को तं किमाणिओ हं, इय कुमरदुत्ते नरो भणइ सुणसु ।
अभिअगई असुरोऽहं, कीलाभवणं च मह एयं ॥ ७८ ॥
कइआ इहआसहिओ, उज्जिंते समए केवलि नंतु ।
चलिओ निएमि मग्गे, जोगिअमिक्कं मसाणंते ॥ ७९ ॥
रत्तंदणकयतिलयं, परिहियमिगचम्ममन्तिसत्तयपुप्फं ।
कसिणाहिजोगपट्टं, मिहहत्थं गरुयहुंकारं ॥ ८० ॥
तस्सऽग्गे जलिरानिल-कुंडं यामम्मि कन्नगं चेव ।
रुयमाणिं रत्तंदण-लित्तं कणवीरमालिल्लं ॥ ८१ ॥
तं जा छिंदिही जलणे, स मए ना तज्जिओ अरे पाव ! ।
असमंजसमिअ कातुं, कत्थिएहि यच्छसि इयास ! ॥ ८२ ॥
तो सो भीओ कन्नं, मुत्तुं नट्ठो दया इमे मुक्को ।
पत्तो अहं पि रेवय-गिरिम्मि तं वालिअं नेहिउं ॥ ८३ ॥
तत्थ सुरिसुमइकेवलि-मुणिणो कमकमलममसमहं ।
पणमित्ता आसीणो, सुणामि इय देसणं भणहं ॥ ८४ ॥
" कोहो अप्पीइकरो, उव्वेयकरो य सुगइनिहलणो ।
वेराऽणुबंधजणणो, जवणो वरगुणगणवणस्स ॥ ८५ ॥
कोहंधा निहणंति य, पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च ।
जणयं जणिं च अप्पं, पि निग्घिणा किं च ण कुणंति ॥८६॥
कोहऽग्गीपज्जलिओ, न केवलं रुहइ अप्पणो देहं ।
संतावित्ति य परं पि हु, पहवइ परभवविणासाय ॥ ८७ ॥
ता कोहमहाजलणो, विज्झवियव्वो खमाजलेण सया ।
अन्नह दुसहं दुक्खं, देइ जह इमीइ वालाए ॥ ८८ ॥ "
अयत्र कोहवसेणं, इमीइ पत्तं तुह कहं ति मया ।
पणमिय पुट्ठो स कहे-इ केवली असुर ! निसुणेहि ॥ ८९ ॥
कयमंगलापुरीए, भणसिट्ठिसुया उ बालविहवाऽऽसी ।
जयसुंदरी ति तीसे, भत्तिज्जुया भायरा पंच ॥ ९० ॥
जिट्ठस्स पुणो भज्जा, न वट्टए तीइ सह सया सम्मं ।
तं परिणावइ अन्न, कन्न सा मच्छरिल्लमणा ॥ ९१ ॥
तीइ कय अ किं पी, दूसइ तह डुहइ डुट्ठवयणेहिं ।
गयलज्जा समुहमु-त्तर दयइ भाउजाया वि ॥ ९२ ॥
जिणभवणमागयाओ, वि परुप्परविलियभासणेण इमा ।
अन्नाण वी निसीहिय-भंगाइ कुणंति विकहतए ॥ ९३ ॥
जओ—
जो होइ निसिद्धप्पा, निसीहिया तस्स भावओ होइ ।
अनिसिद्धस्स निसीहिय, केवलमित्त भवइ सद्दो ॥ ९४ ॥
मिहो कहाओ सव्वाओ, जो वज्जेइ जिणालए ।
तस्स निस्सिहिया होइ, इइ केवलिभासियं ॥ ९५ ॥
इय अट्टवसट्टाओ, पइदियर दो वि कलहमाणाओ ।
विज्जूए दड्ढाओ, मरिउं, जायाओ पच्चीओ ॥ ९६ ॥
पुव्वब्भासा अन्नु-न्नदंसणा जायतिव्वरोसाओ ।
जुज्झिय मरिउ तत्तो, पत्ताओ तइयनरयम्मि ॥ ९७ ॥
तत्तो उवट्टिय गय-छरम्मि पुव्वभवविहियसुकयवसा ।
भाउज्जायाजीवो, जाया सिरिसूरनिवजाया ॥ ९८ ॥
तीसे गब्भे धुयत्ता-इ नणंदाजीओ उ उप्पन्नो ।
अरइं मणसताव, उव्वेयं जणइ अइगरुअं ॥ ९९ ॥
विहिएसु वि तप्पाडण-हेउसएसु न जाव सा पमिया ।
तो जाया पयमेउं, मय त्ति दासीए छड्डुविया ॥ १०० ॥
तद्दिवसपसूयाए, तीए पुण अप्पियाए धूयाए ।
तत्थ य पालिज्जंती, सा बाला वड्डिया एत्तो ॥ १०१ ॥
कीलंती डिंभेहिं, अहऽन्नया जोगिएण भोलविउं ।
अइरूवमतसाहण-हेउ नीया मसाणे सा ॥ १०२ ॥
जा छिंदिही सा जलणे, ता तुमए मोइउ इहाणीया ।
इअ नाउ भो अप्पा, कसाइयव्वो न थोवं पि ॥ १०३ ॥

वन्दनीया इत्याशङ्कायां चतुर्थमवग्रहद्वारं गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

नवकर जहन्नु सट्ठिक-र जिट्ठु मज्झुग्गहो सेसो ॥१०॥

मूलबिम्बात् नवहस्तान् जघन्योऽवग्रहः, जघन्यत उच्छ्वासनिःश्वासादिजनिताऽऽशातनापरिहाराय नवहस्तबहिःस्थितैः देववन्दना कार्या । षष्टिहस्तान् ज्येष्ठ उत्कृष्टोऽवग्रहः, तत्परत उपयोगसम्भवाद् मध्यो मध्यमः, शेषो नवकरेभ्य ऊर्द्ध्वं षष्टेरर्वाक्, अवग्रहो मूलबिम्बवन्दनास्थानाभ्यन्तरालभूभाग इति । अन्यैः पुनर्द्वादशधाऽयमुक्तः । तथा च पञ्चस्थानकेऽभिहितम्-

"उक्कोससट्ठिहत्था, चत्तारि तिसा दसरू पणदसग ।
दस नव ति दु एगऽरू, जिणुग्गह बारसाविभेयं " ॥१॥

एतावता चार्द्धहस्तादारभ्य षष्टिहस्तेभ्यश्चार्वाक् गृहचैत्ये चैत्यगृहे वा यथा जिनबिम्बस्याऽऽशातना न भवति तथा यथासमयमवग्रहबहिः स्थितैरमिततेजःखचरेश्वरवद्देववन्दना कार्येत्युक्तं भवति । सङ्घा० २ प्रस्ता० । (अमिततेजःखेचरेश्वरकथा सङ्घाचारादवसेया) निगदितस्त्रिधाऽवग्रह इति चतुर्थं द्वारं, तद्भणनेन च प्रदर्शितः चैत्यवन्दनाकरणविधिः । सङ्घा० २ प्रस्ता० ।

(१४) त्रिविधा वन्दना—

सम्प्रति कतिप्रकारा चैत्यवन्दनेत्याशङ्कायां तत्स्वरूपाभिधित्सया "तिहाउ वंदणय त्ति" पञ्चमं द्वारं विवृण्वन्नाह-

नवकारेण जहन्ना, चिइवंदण मज्झ दंमथुइजुयला ।
पणदंमथुइचउक्कग-थयपणिहाणेहिँ उक्कोसा ॥

नमस्कारेण अञ्जलिबन्धशिरोनमनादिलक्षणप्रमाणमात्रेण । यद्वा- " नमो अरिहंताणं " इत्यादिना । अथवा-" पुरवरकवाडवच्छे, फलिहभुए दुंदुहिथणियघोसे । सिरिवच्छंकियवच्छे, वंदामि जिणे चउव्वीसं " ॥१॥ इत्यादिनैकेन श्लोकादिरूपेण नमस्कारेणेति, जातिनिर्देशाद्वा बहुभिरपि नमस्कारैः । अभिधास्यति च- "सुभहत्थनमुक्कारा इगदुग" इत्यादि । यद्वा-नमस्कारेण प्रणतिपातापरनामतया प्रणिपातदण्डकेनैकेनेति यावत्, जघन्या स्वल्पा, पाठक्रिययोरल्पत्वात्, चैत्यवन्दना भवति इति गम्यम् ।

एतावता-

" एगनमुक्कारेणं, चिइवंदणया जहन्नयजहन्ना ।
बहुहिं नमुक्कारेहि य, नेया उ जहन्नमज्झमिआ ॥ १ ॥
सच्चिअसक्कथयंता, जहन्नउक्कोसिया मुणेयव्वा " ॥

इति त्रिविधोक्ता जघन्यवन्दना व्याख्याता । ईर्यापथिकीनमस्कारोऽपि प्रणिधानान्तेनापि शक्रस्तवेन जघन्यचैत्यवन्दनेति तात्पर्यार्थः । सङ्घा० २ प्रस्ता० । पञ्चा० । ध० ।

(१५) स्तुतिविचार.—

एतावताऽप्यवस्थात्रयभावनासिद्धैतदर्थमेव चात्र शक्रस्तवान्ते- " जे य अइया " इत्यादिगाथापाठाद् । उक्तं च लघुभाष्ये-

" जे यऽइआ गाहाए, वीयहिगारेण दव्वअरिहंते ।
पणमामि भावसारं, छउमत्थे तिसु वि कालेसु ॥१॥ "

एषाऽपि यदैकदण्डकस्तुत्यादिसहिता स्यात्तदा मध्यमा भवतीयत आह-"मज्झ दंडथुइजुयला" मध्या मध्यमा च जघन्योत्कृष्टा, पाठक्रिययोस्तथाविधत्वात् । दण्डकश्च-"अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिरेकस्तुतिश्च श्लोकादिरूपा प्रतीता चूलिकात्मिका एका तदन्त एव या दीयते । ते एव युगलं युग्मं यस्यां सा दण्डस्तुतियुगला, चैत्यवन्दनेत्यत्राऽपि योज्यं घण्टालालान्यायेन । एतच्च-" चेइअदंमगथुइएगसगया सव्वमज्झिमिया " । तथा- " नमुक्काराई चियदंडगथुइमज्झिमजहन्ना " इत्याद्युक्तितो व्याख्यातम्, अन्यथा -" सक्कत्थयाइय चेइयवंदण" इत्यागमोक्तप्रामाण्यात् शक्रस्तवोऽप्यत्रादौ भण्यते । तथा च बृहद्भाष्येऽपि-"मंगलसक्कत्थयाविय-दंडगथुइहिँ मज्झमाज्झिमिया" । अथवा दण्डश्च चैत्यस्तवरूप एकः स्तुतियुगलं च वक्ष्यमाणनीत्या चूलिकेतरस्तुतिद्वयरूपं यत्र सा दण्डस्तुतियुगला । चैत्यदण्डकः कायोत्सर्गानन्तरदीयमानश्लोकादेकचूलिका स्तुतिः-" लोगस्सुज्जोयगरे " इत्यादि । सङ्घा० २ प्रस्ता० ।

(१६) अथ चैत्यवन्दनविधिमाह--

निस्स (कम) मनिस्सकमे वा, वि चेइए सव्वहिँ थुई तिन्नि ।
वेलं व चेइयाणि व, णाउं इक्किक्किया वा वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति । बृ०१उ० ।

" णवकारेण जहन्ना, दंडगथुइजुअलमज्झिमा णेया ।
संपुण्णा उक्कोसा, विहिणा खलु वंदणा तिविहा ॥ २ ॥ "

(इति वन्दनपञ्चाशकद्वितीयगाथायाम्) संपूर्णा परिपूर्णा, सा च प्रसिद्धदण्डकैः पञ्चभिः स्तुतित्रयेण प्रणिधानपाठेन च भवति, चतुर्थस्तुतिः किलार्वाचीनेति । किमित्याह-उत्कृष्टा इत्युत्कर्षा उत्कृष्टा । इदं च व्याख्यानमेके-

" तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोगिआ ।
ताव तत्थ अणुण्णाय, कारणेण परेण वि " ॥१॥

इत्येतां कल्पभाष्यगाथां " पणिहाणं मुत्तसुत्तीए " इति वचनमाश्रित्य कुर्वन्ति ॥ पञ्चा० ३ विव० । इति व्याख्यानात् ताश्चतस्रोऽपि ध्रुवाध्रुवस्तुतिभेदेन द्वे सवतः, ते च युगलशब्देनोच्येते इति स्तुतियुगलं स्तुतिचतुष्टयमुक्तम् । तथा तुलादण्डवद् मध्यग्रहणादाद्यन्तयोरपि ग्रहणमिति न्यायादिह यथाऽऽदौ शक्रस्तवचैत्यदण्डककायोत्सर्गादि नियतं भण्यते तथाऽन्तेऽपि चतुर्थकायोत्सर्गस्तुत्यन्ते शक्रस्तवादि ध्रुवं भणनीयं, करणविधौ तथायातत्वात् । उक्तं च पञ्चवस्तुके-

" सेहमिह वामपासे, ठवित्तु तो चेइए पवडति ।
साहूहि समं गुरवो, थुइथुत्ती अप्पणा चेव " ॥१॥

आचार्या एव छन्दःपाठाभ्यां वर्द्धमानाः स्तुतीर्ददति । "वंदिय पुण ठिआणं, गुरुणा ता वंदणं समं दाउं । सेहो भणई इच्छाएण ठिआणं, गुरुणा ता वंदणं समं दाउं । सेहो भणई इच्छाकारेण संदिसावेह " ॥१॥ वन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसाने । तथा ललितविस्तराया चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुतीर्व्याख्यायोक्तं, व्याख्यातं सिद्धेभ्य इत्यादिसूत्रं, पुनः संवेगभावितमतयो विधिनोपविश्य पूर्ववत्प्रणिपातदण्डकं पठित्वा स्तवपाठं पूर्ववत् । चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुतिस्तु-सूत्राद्युक्तत्वादवश्यमेव भणनीया । तथा च ललितविस्तरायामुक्तम्-केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तत्र व्याख्यानं क्रियते । अयमर्थः-अन्या २ अपीति उक्तानुक्तादिसंग्रहरूपत्वेनात्र पञ्चमदण्डके तत्तत्पाठेऽपि सूत्रसन्धानादिदोषानापत्तेः ।

निवआएसा तो वि-त्तिणा उ खुड्डो समाणिओ एगो ।
स निवेणुत्तो खुड्डय !, जइ धम्म मुणसि ता कहसु ॥ १५१ ॥
ता सो अक्खुहियमणो, धम्मरहस्स इम नि ञणमाणो ।
सुक्कुल्लमट्टिगोलय-जुग निवगो खिवइ कुड्डे ॥ १५२ ॥

राजा—

खुड्डय ! इय खुड्डम्मि, धम्मरहस्स न किं पि बुज्झामो ।

क्षुल्लक:—

नरवर ! ता एगमणो, सुण भणियजमिह गोलेहिं ॥ १५३ ॥
उल्लो सुक्को य दो बूढा, गोलया मट्टिया मया ।
दो वि आवमिया कुड्डे, जो उल्लो सो वि लग्गई ॥ १५४ ॥
एव लग्गति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गति, जहा से सुक्कगोलए ॥ १५५ ॥
विम्हइयमणो निवई, मुणिसत्तम ! सुट्ठु उवइट्ठं ।
इय थोऊण तह नमि-य खुड्डय तो विसज्जेइ ॥१५६॥
अह बीयदिणे राया, रज्ज दाऊण भुवणमल्लस्स ।
सिरिअभयघोसगुरुणो, पासे दिक्ख पवज्जेइ ॥ १५७ ॥
हेमप्पहरायरिसी, दुवालसगीसु पत्तसूरी उ ।
बोहइ रवि व्व वसुहा-सरसीए भवियसरसिरुहे ॥ १५८ ॥
अह निवइभुवणमल्लो, पयाविओ चेव विजियरिउमल्लो ।
साहम्मियवच्छल्ल, करेइ वदेइ जिणचदे ॥ १५९ ॥
पवयणपभावणपरो, तिन्निनीसीहीपमुक्खसुयविहिणा ।
पविसिय चेइहरेसु, अच्चाओ जिणाण अच्चेइ ॥ १६० ॥
रहजत्तपत्तसोह, अट्ठाहियमहमहणीयजणमोह ।
सयल पि णिय रज्ज, सुणइ सुराण पि कयचुज्ज ॥ १६१ ॥
तत्थाऽऽगयहेमप्पह-गुरुणो वयण सुणो वि कइया वि ।
पुत्तम्मि ठविय रज्ज, विजयपभायाए सजुओ ॥ १६२ ॥
पडिवज्जइ पव्वज्ज, निसेहिउ तिविहसव्वसावज्ज ।
अब्भसइ दुविहसिक्ख, सो मुणिसीहो भुवणमल्लो ॥ १६३ ॥
इच्छा मिच्छा तहका-र आवसी तह निसीहिया पुच्छा ।
पमिपुच्छच्छदेण निम-तणा य उपसपया दसमा ॥ १६४ ॥
इय सामायारिपुरो, निसेहिउ सयलअतरारिबल ।
तो स निसेहियकिरिओ, सिव गओ सविजयपभागो ॥१६५॥

श्रुत्वेतिवृत्तमनिवृत्तवरेण्यपुण्य-
पण्याऽऽपण भुवनमल्लनरेश्वरस्य ।
त्रैकालवित्त्रिजगदीशजिनस्य गेहे,
नैषेधिकीत्रिककृतौ कृतिनो ! यतध्वम्" ।१६६। सङ्घा० १ प्रस्ता० ।

अथ वलानकप्रवेशसमयविहितनैषेधिकीत्रयानन्तर जिनदर्शने "नमो जिनेभ्य." इति भणित्वा प्रणाम च कृत्वा सर्वं हि प्रायेणोत्कृष्ट वस्तु कल्याणकामैर्दक्षिणभाग एव विधेयमित्यात्मनो दक्षिणाङ्गभागे मूलबिम्ब कुर्वन् ज्ञानादित्रयाराधनार्थं प्रदक्षिणात्रय करोति । उक्त च-

"तत्तो नमो जिणाण, ति भणिय अद्धोणय पमाण च ।
काउ पचग वा, भत्तिभरनिब्भरमणेण ॥ १ ॥
पूअगपाणिपरि-वारपरिगओ गहिरमहुरघोसेणं ।
पढमाणो जिनगुणगण-निवद्धमगल्लयुत्तीइ ॥ २ ॥
करधरियजोगमुद्दो, पए पए पयणिरक्खणाउत्तो ।
दिज्जा पयाहिणतिग, एगग्गमणो जिणगुणेसु" ॥३॥

अवि य-

मुत्तूण ज किंचि वि देवकज्ज, नो अन्नमठ तु चिंतिज्जइज्जा ।
इत्थीकह भत्तकहं विवज्जा,देसस्स रन्नो न कहं कहिज्जा ॥१॥
मम्माणुवेह न वइज्ज वक्क, न जम्मकम्माणुगय विरूद्ध ।
नालीयपेसुन्नसुकक्कस वा, थोव हिय धम्मपर लविज्जा ॥२॥
गिहचेइएसु न घमड, इयरेसु वि जइ वि कारणवसेण ।
तह वि न मुच्चइ मइम, सया वि तक्करणपरिणाम ॥३॥

यथा च चैत्येषु भावार्हत्वमारोप्य शक्रस्तवपाठः, पञ्चविधाभिगमश्चेति भावार्हत्प्रतिपत्तिर्विधीयते, तथा तत्र प्रदक्षिणात्रयमपि दातव्य, दत्ताश्च तिस्र प्रदक्षिणा विजयदेवेन निजराजधानीसिद्धायतने, व्याख्यात चैतत्तृतीयोपाङ्गजीवाभिगमविवरणे श्रीहरिभद्रसूरिभिः । तथा अमिततेजःखेचरेश्वरचैत्यगृहे चारणश्रमण्यां ताः प्रदत्ताः, बालचन्द्रया च विद्याधर्या वैताढ्योपरितने सिद्धायतने कृता., वसुदेवेन हरिकूटपर्वतोपरितनसिद्धायतने विहिताः । एतच्च सर्वं वसुदेवहिण्डौ प्रतिपादितम् । सङ्घा० १ प्रस्ता० । (हरिकूटादिसम्बन्धो 'वसुदेव' शब्दे)

जिनगृहप्रवेशे प्रणामत्रिकम्-

प्रदक्षिणात्रयानन्तर च देवगृहलेपकपोतकपाषाणादिघटापनकर्म्मकरसारादिकरणेत्यादिजिनगृहविषयव्यापारपरम्पराप्रतिषेधरूपां द्वितीयां नैषेधिकीं मध्ये मुखमण्डपादौ कृत्वा मूलबिम्बसमुख प्रणामत्रिक करोति ।

यद्भाष्यम्-

"ततो निसीहियाए, पविसित्ता मण्डवम्मि जिणपुरओ ।
महिनिहियजाणुपाणी, करेइ विहिणा पणामतिय ॥ १ ॥
तयणु हरिसुल्लसतो, कयमुहकोसो जिणिंदपडिमाए ।
अवणेइ रयणिवसिय, निम्मल्ल लोमहत्थेण ॥ २ ॥
जिणगिहपमज्जणतो, करेइ कारेइ वा वि अन्नेण ।
जिणबिंबाण पूय-तो विहिणा कुणइ जहजोग ॥ ३ ॥
अह पुव्व चिअ केणइ, हविज्ज पूया कया सुविहवेण । "
तां च विशिष्टान्यपूजामन्यसामग्र्यभावे नोत्सारयेत्, भव्याना तद्दर्शनजन्यपुण्यानुबन्धिपुण्यानुबन्धस्यान्तरायप्रसङ्गात् ।

किं तु-

" त पि सविसेससोह, जह होइ तहा तहा कुज्जा ॥ ४ ॥
निम्मल्ल पि न एव, भन्नइ निम्मल्ललक्खणाभावा ॥
भोगविणट्ठ दव्व, निम्मल्ल बिंति गीयत्था " ॥ ५ ॥

यज्जिनबिम्बारोपित सच्छिच्छायीभूत विगन्धिसजात दृश्यमानं च नि.श्रीकतया न भव्यजनमन प्रमोदहेतुस्तन्निर्माल्य ब्रुवन्ति बहुश्रुता ।

एवमङ्गपूजां वक्ष्यमाणां चाग्रपूजां कृत्वा चैत्यवन्दनां चिकीर्षुस्त्वेवविध निर्माल्यमेव च नेत्येव निर्णयो न काऽपि दृश्यते ।
" इत्तो चेव जिणाण, पुणरवि आरोवण कुणति जहा ।
वत्थाहरणाईण, जुगलियकुडलियमाईण ॥ ६ ॥ "

नैव चेत्—

" कहमन्नह एगाए, कालाईए जिणिंदपडिमाण ।
अट्ठसय लूहता, विजयाई वन्निया समए " ॥ ७ ॥

आगमेऽर्हदर्थसार्थसमानयनादिरूपो जिनपूजाविषयोऽपि सावद्यव्यापारो देववन्दनाऽवसरे न कार्य., यथोचितदिगवग्रहस्थस्तृतीया जिनपूजाकरणव्यापारपरित्यागरूपां नैषेधिकीं करोति । पुष्पफलपानीयनैवेद्यप्रदीपप्रमुख एव " सव्वत्थवतिवार, सिराइ नमणे पणामतिय।" यद्वा — " नि निसीही तिन्नि य पयाहिण " इत्यर्थ ।

उक्कोसमज्झिमा सा, • ••• "।
अथवा-पञ्चदण्डकैः शक्रस्तवरूपैः स्तुतिचतुष्केण प्रागुक्तनीत्या स्तुतियुगलद्वयगतेन शेष प्राग्वदुत्कृष्टा वन्दना । भणित च—
" ••• • , उक्कोसुक्कोसिया य पुण नेया ।
पणिवायपणगपणिहा-णतियगथुत्ताइँ सपुन्ना ॥
सक्कत्थओ य इरिआ, दुगुणिअचियवदणाइ तह तिन्नि ।
कतपणिहाणसक्क-त्थओ य इय पच सक्कथया ॥"
एतावता " तिहा उ वदणा " इत्याद्यद्वारगाथागततुशब्द-सूचित नवविधत्वमप्युक्त द्रष्टव्यम् ।

उक्त च बृहद्भाष्ये-

" चिइवदणा तिभेया, जहन्निआ मज्झिमा य उक्कोसा ।
इक्किका वि तिभेया, जहन्नमज्झिमियउक्कोसा ॥
नवकारेण जहन्ना, इच्चाई ज च वण्णिआ तिविहा ।
नवभेयाणमिमेसिं, नेय उवलक्खण तं तु ॥
एसा नवप्पयारा, आइन्ना वदणा जिणमयम्मि ।
कालोचियकारीण, अणुग्गहाण सुहा सव्वा ॥" रत्नसारनरेन्द्रवत् ।

"बहुभेया पुण एसा, भणिय त्ति बहुस्सुएहिँ पुरिसेहिं ।
सपुन्नमवायतो, मा कोइ चएज्ज सव्व पि ॥"

भणिय च—

"विहिकिरियाविरोहो, अववायनिवषणं गिहत्थाण ।
किरिअतरकाला वि-क्खयाइभावो सुसाहूणं ॥
अहवा चिइवदणया, निच्चा इअर त्ति होइ दुविहा तु ।
निच्चा उ उभयसझं, इयरा चेइअगिहाईसु ।
निच्चा सपुन्न किअ, इयरा जहसत्तिओ य कायव्वा ।
तव्विसयमिम सुत्तं, मुणति गीआ उ परमत्थ ॥
उप्पन्नसंसया जे, सम्म पुच्छति नेव गीयत्थे ।
चुक्कति सुरूमग्गा, ते पल्लवगाहिपमिच्चा" ॥

किं च-

"गीयत्था विहिरसिया, संविग्गतमा य सूरिणो पुरिसा ।
कह ते सुत्तविरुद्ध, सामायारिं परूवति " ॥१॥ सघा०२ प्रस्ता०।
(अत्र पूर्वसूचितरत्नसारनरेन्द्रकथा सघाचाराज्ज्ञातव्या)

(१७) जघन्यवन्दनाविचारः-

इह च केचिन्मन्यन्ते शक्रस्तवमात्रमेव वन्दनं श्रावकस्य युक्त, जीवाभिगमादिषु तन्मात्रस्यैव तस्य देवादिभिः कृतत्वेन प्रतिपादितत्वात्, ततस्तदाचरितप्रामाण्यात्तदधिकतरस्य च गणधरादिकृतसूत्रेऽनभिधानाच्च शक्रस्तवातिरिक्त तदस्तीति । अत्रोच्यते-यदुक्तमाचरितप्रामाण्यादिति । तदयुक्तम् । यतो यदिद जीवाभिगमादिसूत्र तद्विजयदेवादिचरितानुवादपरमेवेति, न ततो विधिवादरूपाधिकेतवन्दनाछेदः कर्तुं शक्यः। तेषां ह्यविरतत्वात्प्रमत्तत्वाच्च तावदेव तत युक्तम्, तदन्येषां पुनरप्रमादविशेषवता विशेषभक्तिमता तदधिकत्वेऽपि न दोष । यदि पुनराचरितमवलम्ब्य प्रवृत्तिः कार्या,तदा बह्वन्यदपि कर्तव्य स्याद्विधेयतयाऽङ्गीकृतमपि वर्जनीय स्यादिति। यच्चोक्तम्-तदधिकतरस्यानभिधानादिति।तदयुक्तम्। "तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ। " इत्यादिव्यवहारभाष्यवचनश्रवणात्। साध्वपेक्षया तदिति चेत।नैवम्। साधुश्रावकयोर्दर्शनशुद्धेः कर्तव्यत्वाद्दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वाच्च वन्दनस्य तथा संवेगादिकारणत्वादशठसमाचरितत्वाज्जीतलक्षणस्येहोपपद्यमानत्वात्-

चैत्यवन्दनभाष्यकारादिभिरेतत्करणस्य समर्थितत्वाच्च तदधिकतरमपि नायुक्तमित्यल प्रसङ्गेन । ध० २ अधि० ।

अथ वाचनान्तरोक्तत्रैविध्यादिप्रदर्शनपर मन्यजनानुग्रहाय किञ्चिदुच्यते-

" अन्ने बिंति इगेण, सक्कथएणं जहन्नवदणया ।
इगदुगतिगेण मज्झा, उक्कोसा चऊहिँ पचहिँ वा ।
इत्थसयाओ मज्झे, इरिआवहिआ-अभावओ दुन्नि ।
एव उक्कोसाए, चउरो सक्कत्थए नेया ॥ २ ॥
पणिऊण नमुक्कारे, सक्कत्थयदडयं अपरिऊणं ।
इरिअ पडिक्कमते, दो चउरो वा वि पणिवाया ॥ ३ ॥
इरिआए पुव्व वा, पणिहाणंते व सक्कथयभणणे।
दुगुणचिइवदणते, व हुंति सक्कत्थया तिन्नि ॥ ४ ॥
इगवारवदणे पुव्व पच्छ सक्कत्थएहिँ ते चतुरो।
दुगुणिअवदणए वा, पुव्विं पच्छा व सक्कथए ॥ ५ ॥
सक्कत्थओ अ इरिया, दुगुणियचिइवदणाइ तह तिन्नि ।
थुत्तपणिहाणसक्क-त्थओ य इय पच सक्कथया ॥ ६ ॥
पाढकिरियाणुसारा, भणिआ चिइवदणा इमा नवहा ।
तिविहाऽहिगारिभावा, तिहा वि सा इय भवे नवहा" ॥ ७ ॥
सघा० २ प्रस्ता० ।

अधिकारिभेदाद् वन्दनाभेदाः । अथ प्रकारान्तरेण वन्दनायास्त्रैविध्यमाह-

अहवा वि भावभेया, ओघेणं अपुणबंधगाईणं ।
सव्वा वि तिहा णेया, सेसाणमिमी ण जं समए ॥३॥

अथवाऽपीति निपातः पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतनार्थः । भावभेदात्परिणामविशेषाद् गुणस्थानकविशेषसंभवात्प्रमोदमात्ररूपाद्वा वन्दनाऽधिकारिजीवगतात् त्रिधा विज्ञेयेति सबन्धः । ओघेन सामान्येनाविवक्षितपाठक्रियाऽल्पत्वादितयेत्यर्थः । केषामित्याह-अपुनर्बन्धकादीनामपुनर्बन्धकप्रभृतिकानां वन्दनाधिकारिणां, तत्रापुनर्बन्धको व्याख्यातपूर्वः, आदिशब्दादविरतसम्यग्दृष्टिदेशसर्वविरतग्रहः। सर्वाऽपि नमस्कारादिभेदेन जघन्यादिप्रकारा अपि, आस्तामेका काचिदिति । तत्रापुनर्बन्धकस्य जघन्या,तत्परिणामस्य विशुद्ध्यपेक्षया जघन्यत्वात्, अविरतसम्यग्दृष्टेर्मध्यमा, तत्परिणामस्य विशुद्धिमङ्गीकृत्य मध्यमत्वात् । सामान्यविरतस्य तूत्कृष्टा, तत्परिणामस्य तथाविधत्वादेवेति। अथवाऽपुनर्बन्धकस्यापि त्रिधा,प्रमोदरूपभावत्रैविध्यात्,एवमितरयोरपीति । अथापुनर्बन्धकादीनामिति कस्मादुक्तम् ?, मार्गाभिमुखादेरपि भावभेदसद्भावादित्यत्राह-शेषाणामपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तानां सकृद्बन्धकमार्गाभिमुखमार्गपतिततदितरमिथ्यादृशाम् । (इमी ति) इयमधिकृता भावभेदेन भेदवती वन्दना । पाठादिभेदवती तु स्यादपि, न नैव यद्यस्मात्, समये सिद्धान्ते, भणितेति शेषः। तेषां तद्योग्यताविकलत्वादिति गाथार्थः । पञ्चा० ३ विव० । ध० ।

(१८) अपुनर्बन्धकादीना स्वरूपमभिहितम्, अथ तेषामेव भाववन्दनायामधिकारिता शेषाणां चानधिकारितां दर्शयन्निदमाह-

एतेऽहिगारिणो इह, ण उ सेसा दव्वओ वि जं एसा ।
इयरीएँ जोगयाए, सेसाण उ अप्पहाण त्ति ॥ ७ ॥

एतेऽनन्तरोक्तस्वरूपा अपुनर्बन्धकादयः, अधिकारिणः तद्यो-

नयणमाणसेण भणो हं सपुणो इ ति जिणवदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइयकरकमलंजलिणा हरियतणवीयजंतुविरहियभूमीए निहिओजयजाणुणा सुपडिफुरुसुविदियनीसकजइत्थसुत्तत्थोभय पए पए भावमाणेण० जाव चेइए वंदियव्वे " । सद्वा० १ प्रस्ता० । ध० ।

(७) गन्धारश्रावककथा-

" वेयड्ढगिरिस्स समा-सन्ने गधारजणवए ।
गधसमिद्धे नयरे, गधारो नाम सावओ ॥ १ ॥
सो उ पव्वइउकामो पव्वइएहिं दुक्खेण तित्थाइ नमिलंति त्ति सव्वतित्थयराण जम्मणनिक्खमणनाणुप्पत्तिनिव्वाणभूमीओ दट्ठु निग्गओ ।

तत्थ-

जम्मपुरि दो वि णीया, सावत्थी दो अउज्झ कोसबी ।
वाणारसि चदउरी, कायदी भद्दिलपुर च ॥ २ ॥
सीहपुरचपकपि-ल्लकउज्झरयणउर ति गयपुरमिहिला ।
रायगिहमिहिलसोरिय-पुर वाणारसी य कुंडपुर ॥ ३ ॥
उसभस्स पुरिमताले, नाण वीरस्स जभियाए वही ।
नेमिस्स रेवए व य, नाणो सेसाण जम्मपुरे ॥ ४ ॥
अट्ठावयम्मि उसभो, वीरो पावाए रेवए नेमी ।
चपाए वासुपुज्जो, सम्मेए सेसजिण सिद्धा ॥ ५ ॥
इति तित्थाइ दट्ठु पडिनियत्तो जाव पव्वयामि त्ति ताहे वेअड्ढगिरिगुहाए उसहाइसव्वतित्थयराण सव्वरयणचिंचइयाओ कणगपमिमाओ साहुसगासे सुणित्ता ताओ दच्छामि त्ति तत्थ गओ, तत्थ देवयाराहण करित्ता विहामियाओ पडिमाओ, तत्थेगो सावगो थयत्थुईहिं थुणतो अहोरत्त निवसिओ " । इति निशीथे ।

तत्र स्तोत्रम्-

" नम्राऽऽखण्डलमौलिमण्डलमिलन्मन्दारमालोच्छलत्-
तसान्द्रामन्दमरन्दपूरसुरभीभूतक्रमाम्भोरुहान् ।
श्रीनाभिप्रभवप्रभुप्रभृतिकॉस्तीर्थङ्करान् शङ्करान्,
स्तोष्ये साम्प्रतकाललब्धजननान् भक्त्या चतुर्विंशतिम् ॥१॥
नन्द्यान्नाभिसुत सुरेश्वरनत· ससारपार गत ,
क्रोधाद्यैरजित स्तुवेऽहमजित त्रैलोक्यसपूजितम् ।
सेनाकुक्षिभवः पुनातु विभवः श्रीसभवः शभवः,
पायात्मामभिनन्दन सुवदनः स्वामी जनानन्दनः ॥ २ ॥
लोकेश· सुमतिस्तनोतु विनतश्रेय·श्रिय सन्मति-
र्दम्भद्रो कलभ मदेभशरज प्रस्तौमि पद्मप्रभम् ।
श्रीपृथ्वीतनय सुपार्श्वमभय वन्दे विलीनामय ,
श्रेयस्तस्य न दुर्लभ शशिनिभ यः स्तौति चन्द्रप्रभम् ॥ ३ ॥
बोधिं न· सुविधे ! विधेहि सुविधे ! कर्म्मद्रुमौघप्रधे,
जीयादम्बुजकोमलक्रमतल· श्रीमान् जिन· शीतलः ।
श्रीश्रेयांसजय स्फुरद्गुणचय· श्रेय श्रियामाश्रय· ,
सपूज्यो जगतां श्रिय वितनुतां श्रीवासुपूज्य सताम् ॥ ४ ॥
मोक्ष वो विमलो ददातु विमलो मोहाम्बुवाहानिलो-
ऽनन्तोऽनन्तगुण· सदा गतरण कुर्यात्क्षय कर्म्मण· ।
धर्म्मो मे विपदच्युत शिवपद दद्यात्सुखैकास्पद,
शान्तिस्तीर्थपति करोत्विजगति· शान्ति कृतान्त·क्षितिः ॥५॥
कुन्थुर्मेघरवो भवादवतु वो मानेभकण्ठीरवो ,
भक्त्या नम्रनरामर जिनवर प्रात सरं नौम्यरम ।
श्रीमल्लेमनतक्रमोज्झिततमो मल्लेऽस्तु तुभ्यो नमो,
विश्वार्च्यो भवत· स पातु भवत· श्रीसुव्रत सुव्रत ॥ ६ ॥
लोभाम्भोजनमेश्वरोपम ! नमे ! धर्मे धिय धेहि मे,
वन्देऽह वृषगामिन प्रशमिन श्रीनेमिम नेमिनम् ।
श्रीमत्पार्श्वजिन स्तुवेऽस्तवृजिन वान्तान्तदुर्वाजिनं,
नौमि श्रीत्रिशलाऽङ्गज गतरुज मायालताया गजम् ॥ ७ ॥
इत्थं धर्म्यवचोवितानरचित वर्य स्तव मुद्यतः,
सद्धर्मद्रुमसेकसवरमुचां भक्त्याऽर्हतां नित्यगः ।
श्रेय·कीर्तिकर नरः स्मरति य· ससारमाक्रम्य सोऽ-
तीतार्ति· परमे पदे चिरमित· प्राप्नोत्यनन्त सुखम् ॥ ८ ॥

(कर्तृनामगर्भाष्टदलकमलम्)

जिन तव गुणकीर्त्ते विश्वविघ्ने सुकीर्ते,
विगलदपरकीर्तेर्यैर्फिरा धर्म्मकीर्त्ते ।
सितकरसितकीर्ते सुद्धधर्मैककीर्ते ।
स्तुतिमहमाश्रिकीर्ते तक्रितानङ्गकीर्ते ॥ १ ॥
जय वृषभ जिनाभिख्यसे निस्तनाभि-
र्जेमिमरविसनाभिर्य· सुपर्वाङ्गनाभि· ।
नुम इह किल नाभिक्षोणिभृत्सूनुनाभि-
हतभुवनमनाभि·, क्षान्तिसपत्कनाभि· ॥ २ ॥
प्रकटितवृषरूप त्यक्तनि शेषरूप-
प्रभृतिविषयरूप ज्ञानविश्वस्वरूप ।
जय चिरमसरूप· पापपङ्काम्बुरूप,
त्वमजित निजरूपप्राप्तसज्ञातरूप· ॥ ३ ॥
जय मदगजचारिः सन्नवान्तर्भवारि-
व्रजजिदहितवारिश्रीर्न केनाप्यवारि ।
यदधिकृतभवारि श्रस न श्रीभवारि ,
प्रशमशिखरिचारिप्राणमहानचारिः ॥ ४ ॥
अकृतशुभनिवार योऽत्र रागादिचार,
सुविनतमघवार संचरद्दु खवारम् ।
मदनदहनचार दोलितान्तर्भवार,
नमत सपरिवारं त जिन सर्वदाऽरम् ॥ ५ ॥
तव जिन ! सुमते न प्रत्यह तद्यतेन,
स्तुतिरिति सुमतेन कृतमो निष्कृतेन ।
यदिह जगति तेन द्राग् मया समतेन,
ध्रुवमितदुरितेन श्रीश ! भाव्य हितेन ॥ ६ ॥
परिहृतनृपसद्म श्रीजिनाधीश पद्म-
प्रभ सदरुणपद्मद्युत तपोहसपद्म ।
त्वदखिलभविपद्मव्रातसयोधपद्म,
स्वजनगतविपद्मर्येतु शर्माङ्कपद्म ॥ ७ ॥
दुरितमिभगमोह पूर्विकार्च्यक्रमो ह-
न्त्यसमतमशमोऽहद्ककारजिद् य समोहम् ।
कृतकरणदमो हन्तास्तलोभ तु मोहं,
मतिहतमसमोऽह त सुपार्श्व तमोहम् ॥ ८ ॥
समतृणमणिभाव· ज्ञातनि·शेषभाव·,
प्रहतसकलभावप्रत्यनीकप्रभाव ।
कृतमदपरिभाव· श्रीशचन्द्रप्रभाव,
द्विजपतितनुभाव त्यक्तकामस्वभाव ॥ ९ ॥
जिनपतिसुविधे यः स्यात्तदाज्ञाविधेय-
प्रवहण इह धेय प्रस्फुरद्भागधेय· ।
त्रिजगदनभिधेय श्लाघ्यसन्नामधेय,
भयति शुभविधेयस्तस्य सद्रूपधेय ॥ १० ॥

रोमंचभावबुड्डी इ भावचिइवंदणाइ भवे ॥ २६ ॥
सुत्ते एगविह च्चिय, पणिआ तोऽणेगसाहणमजुत्तं ।
इय थूलमई कोई, भन्नइ सुत्तं इमं सरिउं ॥ १५ ॥
तिन्नि वा कड्डइ जाव, थुईओ तिसिलोइआ ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि ॥ १६ ॥
भणई गुरु त सुत्तं, चिइवंदणविहिपरूवगं न भवे ।
निक्कारणजिणमंदिर-परिभोगनिवारगत्तेण ॥ १७ ॥
ज वासट्टो पयडो, पक्खंतरसूयगो तहिं अत्थि ।
सपुन्नं वा वदइ, कड्डइ वा तिन्नि उ थुईओ ॥ १८ ॥
एसो वि हु भावत्थो, संभाविज्जइ इमस्स सुत्तस्स ।
तो अन्नत्थ सुत्तं, अन्नत्थ न जोइउ जुत्तं ॥ १९ ॥

किं च-

जइ इत्तियमित्त च्चिय, जिणवंदणमणुमयं सुएहुं तं ।
थुइथुत्ताइपवित्ती, निरत्थिया दुज्ज सव्वा वि ॥ २० ॥

अन्नच्च-

गीयत्था विहिरसिया, सविग्गतमा य सूरिणो पुरिसा ।
कह ते सुत्तविरुद्ध, सामायारिं परूविंति ॥ २१ ॥
अहवा चिइवंदणया, निच्चा इयर त्ति होइ दुविहा उ ।
निच्चा उ उभयसंझ, इयरा चेइयगिहाईसु ॥ २२ ॥
निच्चा सपुन्न च्चिय, इयरा जहसत्तिओ वि कायव्वा ।
तव्विसयमियं सुत्तं, सुणंति गीया उ परमत्थं ॥ २३ ॥
सम्ममवियारिऊण, सग्गो य परमो य समयसुत्ताइं ।
जो एवयण वि गोवइ, सो नेओ उ बहुसंसारी ॥ २४ ॥
दूसमदोसा जीवो, जं वा तं वा मिसतरं पप्प ।
चेइयवदु कराणिज्ज, थोव पामिवज्जइ सुहेण ॥ २५ ॥
इक्क न कुणइ मूढो, सुयमुद्दिसिउ नियकुदोहम्मि ।
जणमन्न पि पवन्नइ, एव बीय महापाव ॥ २६ ॥
उप्पन्नससया जे, सम्म पुच्छंति नेव गीयत्थे ।
चुक्कति सुद्धमग्गा, ते पल्लवगाहिपंडिच्चा ॥ २७ ॥
बहुभेया पुण एसा, भणिय त्ति बहुस्सुएहि पुरिसेहिं ।
संपुन्नमचायतो, मा कोइ चइज्ज सेसत्थ ॥ २८ ॥"

इत्याद्यभिहित त्रिधा वन्दनेति पञ्चमद्वारम् ।
तत्र जघन्या वन्दना प्रणिपातनमस्कारैरित्युक्तमतस्तावत्
प्रणिपातस्वरूपाभिधित्सया षष्ठ द्वारं गाथापूर्वार्द्धे-
नाऽऽह-

पणिवाओ पंचंगो, दो जाणू करदुगुत्तमंगं च ।

अथवा प्राक् "अजलिबंधो अद्धो-णओ य पंचगओ य तिपणामा ।" इति जघन्यादिभेदेन प्रणामत्रयमुक्तम् । तत्र तृतीयः प्रणामः किमेकाङ्गादिपञ्चप्रकारः, उत भूस्पर्शाङ्गपञ्चलक्षण इति जिज्ञासायां तद्व्यक्त्यर्थमिदमाह । यद्वा-ननु लोकेऽष्टाङ्गप्रणामोऽपि श्रूयते, तत्कथ पञ्चाङ्ग एव उत्कृष्ट इत्याशङ्कायां जिनसमयप्रसिद्धासिद्ध्यर्थमेवमभिधीयते-प्रणिपातः प्रणामः, पञ्चाङ्गः पञ्चाङ्गानि शरीरावयवा नम्राणि यत्र स पञ्चाङ्गप्रणामः, सुरेन्द्रदत्तकुमारवत् । पञ्चभिरङ्गैर्भूमिः स्पर्शनीयेत्यर्थः । तथा चोक्तमाचाराङ्गचूर्णौ-"कह नमति सिरपचमेण काएण ति ।"कानि तानीत्याह-द्वे जानुनी अष्ठावती, करद्विक हस्ततलद्वयं, उत्तमाङ्ग च मस्तक चेति शिरःप्रभृत्येकाङ्गयोगतः । यद्वा-प्रणिपात पञ्चाङ्गः पञ्चप्रकारः, एतेन सिद्धान्ताप्रसिद्धत्वादित्यष्टाङ्गो न्यषेधि । उक्तं च भाष्ये-" एयं अट्ठोवयार, भणंति अट्ठगमेव पणिवायं । सो पुण एतदसिट्ठं, न इ अइच्चिणो जिणमयम्मि ॥१॥" इति एकाङ्गादिभेदात् । यदुक्तम्-

"एकाङ्गः शिरसो नामे, सद्व्यङ्गः करयोर्द्वयोः ।
प्रयाणानमने त्र्यङ्गः, करयोः शिरसस्तथा ॥ १ ॥"
चतुर्णां करयोर्जान्वो-र्नमने चतुरङ्गकः ।
शिरसः करयोर्जान्वोः, पञ्चाङ्गः पञ्चमो मतः "॥२॥ सङ्घा० २ प्रस्ता० । (सुरेन्द्रदत्तकथाऽन्यत्र)

(२०) इति भणितं प्रणिपात इति षष्ठं द्वारम् । संप्रति नमस्कार इति सप्तम द्वारं गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

सुमहत्थ नमुक्कारा, इग दुग तिग जाव अट्ठसयं ॥२१॥

सुमहार्थाः-शोभनो वैराग्यादिजनको महाँश्च श्लाघ्योपमारूपकक्रियागुप्तकयमकानुप्रासविरोधालङ्कारादिगोचरो विचित्रोऽतिशाय्यर्थो येषा ते सुमहार्थाः, नमस्कारा मङ्गलवृत्तानि । कियन्तश्चैते भण्यन्ते इत्याह-एको द्वौ त्रयो यावदुत्कर्षतोऽष्टोत्तर शतम् । तथा चागमः-" अट्ठसयविसुद्धगंधजुत्तेहिं महत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं सथुणइ ।" विजयकुमारवत् । (संघा०) इत्युक्तं नमस्कार इति सप्तमं द्वारम् । एवं च भणित चैत्यवन्दनास्वरूपम् । सङ्घा० १ प्रस्ता० ।

सम्प्रति चैत्यवन्दनासूत्रार्थावसरः-
(२१) संपद्द्वारम्-

अक्षराणि च पदसंपत्तानीत्यतोऽक्षरपदसंपदिति द्वारत्रयम् । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (पञ्चपरमेष्ठिसूत्रसपदो ' णमुक्कार ' शब्दे) ईर्यापतिक्रमणसूत्रमारभ्यात्र दर्शयिष्यन्ते—साम्प्रतमीर्यापथिकी व्याख्यायते, पाठक्रमायातत्वात् । ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सर च सकलस्याऽपि चैत्यवन्दनादेर्धर्मानुष्ठानस्योक्तत्वात् ; इत्थमेव च चित्तोपयोगेनानुष्ठानस्य साफल्यत्वात्, अन्यथा प्रायश्चित्तैकामतायाभावात् सूत्रप्रामाण्याच्च । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । पूर्वमप्येवोक्तम्-एवं च सिद्धान्ताद्युक्तत्वादीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्विकैव चैत्यवन्दना चैत्यायाता । वृद्धाः पुनरेवमाहु -उत्कृष्टा चैत्यवन्दना ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरैव कार्येति । ईर्यापथिकी च क्षमाश्रमणपूर्विका प्रतिक्रम्यते, इति तदक्षरसंख्याप्रतिपादकसमर्थिक गाथापादमाह—

पणिवायअक्खराइं, अट्ठावीसं-

इह प्रणिपातशब्देन क्षमाश्रमणमुच्यते, प्रायस्तत्पूर्वकत्वात्, तस्मात्तत्र प्रणिपाते क्षमाश्रमणेऽष्टाविंशतिरक्षराणि । तथा च तत्सूत्रम्-" इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए मत्थएण वंदामि " ॥ सङ्घा० ३ प्रस्ता० । तदनन्तरम्-" उट्ठित्तु असजतो, तिविह पायतर पमज्जित्ता । जिणमुद्दचियचलणो, इरियावहिय पडिक्कमइ " ॥ १ ॥ तत ईर्यापथिक्या वर्णपदसपत्प्रतिपादनाय गाथापादत्रयमाह-

तहा य इरियाए ।

नवनउयअक्खरसयं, दुतीसपयसंपया अट्ठ ॥२३॥

तथा ईर्यापथिक्यां नवनवत्यधिकमक्षराणां शतम् । " ठामि काउस्सग्गं " इति यावत् । एतदन्तत्वादष्टम्याः सपदः । तत्र

तहिँ तहिँ पाउ सलिलं, सुत्थे सिन्ने सुरो गओ सपयं।
राया उदायणो वि हु, उज्जेणिपुरं कमा पत्तो ॥ ५१ ॥
तत्थ उदायणरन्नो, अवंतिनाहस्स दूयवयणेण ।
अचिरा परुप्परेणं, रहसगरसगरो जाओ ॥ ५२ ॥
तयणु धणुद्धरपवरो रहमारुहिउं उदायणो पत्तो ।
गुणटंकारसुदारं, कुणमाणो समरभूमीए ॥ ५३ ॥
नत्थरहाजेयमुदा-यण निवं नलागिरिं चमिय पत्तो ।
रणभुवि पज्जोओ पुण, वलवते का नणु पइन्ना ? ॥ ५४ ॥
नलगिरिगयमारूढं, तं दट्ठुमुदायणो भणइ रुट्ठो ।
पाविट्ठ ! भट्टसधो-सि तह विणट्ठोऽसि रे धिट्ठ ! ॥ ५५ ॥
इय भणिय ममलाए, रएण नीओ रह निवो भमामंतो ।
निसियसरेहिं विंधइ, वीनुं करिणो पयतलाइं ॥ ५६ ॥
तो लहु हत्थी पडिओ, धरिऊण उदायणेण पज्जोओ ।
मम दासीवइदासो, त्ति अकिओ कोवविवसेणं ॥ ५७ ॥
गतु तओ विदिसाए, अत्थि य देवाहिदेवपडिम जा ।
उप्पामइ नरनाहो, ता भणइ सुरो अहो भूव ! ॥ ५८ ॥
मा नेसु इओ पमिमं, वीयभए पसुवट्ठो होही ।
तो राया सविसाओ, नमिय तयं सपुरमभिचलिओ ॥ ५९ ॥
वुट्ठीइ सिवनइतमे, खलिओ सिविरं निहित्तु तत्थ ठिया ।
काऊण धूलिवप्पे, दस वि निवा तस्स रक्खट्ठा ॥ ६० ॥
अह पज्जुसणादिवसे, कयलववासे उदायणे सूओ ।
पत्थइ पज्जोयनिवं, का तुह कारी उ रसवइ त्ति ॥ ६१ ॥
सो चिंतइ नूणमिणं, मारिउकामो विसाइणा तत्तो ।
जपेइ सूय किरइ, किमज्ज मे विसू य आहारो ? ॥ ६२ ॥
सूओ जपइ सामी न, उ सपरियरो य भत्तट्ठी ।
ज अज्ज पज्जुसवणा, तो तुह साहेमि आहारं ॥ ६३ ॥
सो आह साह तुमए,जेण मिणं मज्झ सारियं सूय !।
अज्जुववासो मज्झ वि, ज पियरो मह परमसड्ढो ॥ ६४ ॥
तं सूओ साहइ ग-तुदायणे सो वि भणइ जाणम्मि ।
से सड्ढत्तं जाणइ, धुत्तो पुण वइसग काउं ॥ ६५ ॥
काराइ ठीइ एय-म्मि जारिसे तारिसे वि न हु सुद्धा ।
मह होइ पज्जुसवणा, इय तं मुचेइ नरनाहो ॥ ६६ ॥
दाउं अवंतिदेसं, स महप्पा कुणइ तेण खामणयं ।
दासकगोवणट्ठा, वियरइ कणगपट्टं च ॥ ६७ ॥
तप्पभिइ पट्टवद्धा, निवा पुरा आसि मउमबद्ध त्ति ।
विते वरिसारत्ते, उदायणो नियपुरं पत्तो ॥ ६८ ॥
जे लाजत्थी वणिया, समागया तत्थ ववहरणहेउं ।
तेहिं चिअ वसमाणं, तं खायं दसपुरं नयरं ॥ ६९ ॥
इउ य मह निव्वाणं, निसाए गोयम ! पालइ निवो अवंतीए ।
होहि पालीलपहू सो, असुअ उदाइनिवमरणे ॥ ७० ॥
पालइ रज्जं सट्ठिए-ण पणसयं नववहं नदाणं ।
नव मोरियऽट्ठसयं स-त्तवरिसं पूसमित्तस्स ॥ ७१ ॥
वलमित्तभाणुमित्ताऽण सट्ठि नरवाहणस्स चालीसा ।
तेर निवं गद्दभिल्ले, कव्विकावयं उणियसगे चउरो ॥ ७२ ॥
सुन्नमुणिवेयजुत्ता, जिणकाला विक्कमो वरिससट्ठी ।
धम्माइच्चो चत्ता, भाइलसगवीसनाहडे अट्ठ ॥ ७३ ॥
तह वि धुधुमार तिस लहु-विक्कमाइच्चवारसयवरिसे ।
वस सुव्वमित्त अंधो, हेययवसी भसीनेओ ॥ ७४ ॥
अह जिणपामिम भाइल-निवो [illegible] कयाइ पूअंतो ।
वहिं आगए सुअ सुरे, दट्ठुं निग्गओ कुट्ठचर साहू ॥ ७५ ॥
वरसु वर ति सुरुत्तो, भणइ मया हुज्जमिह पसड्ढोऽहं ।
होही एव ति परं, मिच्छत्तं गच्छिहीं तिव्वं ॥ ७६ ॥
ज अद्धकयाइ तुमं, पूयाइ विणग्ग उ त्ति वुत्तु सुरा ।
ऊ त्ति गया अह भूरइ, निवो वहु दुट्ठु विहिय मे ॥ ७७ ॥
भाइलसामी तु तओ, पसिद्धमज्ज वि समत्थि अवंतीए ।
जियपडिमुप्पत्ति पइ-न्नगाउ सेस तु नायव्व ॥७८॥
इह निसि थुईहिं वदण-देवयकरकणयगुलियरज्जाई ।
भणिय भवियहियट्ठा, तिदिसिं आणाइ पुण पगयं ॥ ७९ ॥
गान्धारेयश्रावकस्येति वृत्त,
चित्ते श्चैकाग्रतो सन्निमित्तम् ।
नित्य भव्या ! भव्यभावेन देवान्,
वन्दध्व भो त्रिदिग्वीक्षोज्झनेन " ॥ ८० ॥
इति त्रिदिग्निरीक्षणवर्जने गन्धारश्रावकसबन्धः । सङ्घा०१प्र०।
भावित "तिदिसि निरिक्खणविरइ" त्ति षष्ठ त्रिकम। सप्तमस्य तु त्रिकस्य " पयजूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो " इत्यस्येव भावना-सर्वमपि धर्मानुष्ठान दयाप्रधानमेव क्रियमाण सफलतां धत्ते । आह च-" पठित श्रुत च शास्त्र, गुरुपरिचरण च गुरु तपश्चरणम । घनगर्जितमिव विजल, विफल सकल दयाविकलम् " ॥ १ ॥ इति । तथा-" जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेय । तह वुड्ढिकरी जयणा, एगतसुहावहा जयणा " ॥ १ ॥ इति । सङ्घा० १ प्रस्ता० ।

से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ, जहा णं पंचमंगलं महासुअक्खंधमहिज्जित्ता णं पुणो इरियावहियं अहीए ?। गोयमा ! जो णं एस आयासेणं जया गमणागमणाई परिणामपरिणए अणेगजीवपाणभूयसत्ताणं अणुवउत्तए भत्ते संघट्टणं अवद्दावणं किलामणं काऊणं अणालोइय अपडिक्कंते चेव असेसकम्मक्खयट्ठाए किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइएसु अभिरमेज्जा,तया से एगग्गचित्ता समाही हवेज्जा, न वा जओ णं गमणागमणाइअणेगअन्नवावारपरिणामासत्तचित्तयाए केइ पाणी तमेव भवांतरमच्छड्डिय अट्टदुहट्टऽज्झवसिए कंचि कालं खणं विरत्तेज्जा, ताहे तं तस्स फलेणं विसंवएज्जा, जया पुण कहिं वि अन्नाणमोहपमायदोसेणं सहसा एगिंदियाईणं संघट्टणं परितावणं वा कयं हवेज्जा, तया य पच्छा हा हा हा दुट्ठु कयमम्हेहिं ति य घणरागदोसमोहमिच्छत्तअन्नाणंधेहिं अदिट्ठपरलोगपच्चवाएहिं कूरकम्मा निग्घिणेऽहं ति परमसंवेगमापन्ने सुपरिफुडं आलोएत्ता ण निंदित्ता णं गरिहित्ता णं पायच्छित्तमणुचरित्ता णं निसल्ले अणाउलचित्ते असुहकम्मक्खयट्ठा किंचि आयहियं चेइवंदणाई अणुट्ठिज्जा, तया तयट्ठे चेव उवउत्ते से हवेज्जा, तया तस्स ण परमेगग्गचित्तसमाही हवेज्जा , तया चेव सव्वजगजीवपाणभूयसत्ताणं अहिट्ठफलसंपत्ती भवेज्जा, ता गोयमा ! णं अप्पडिक्कंताए इरियावहियाए न

आपुच्छिऊण पियरं, विणियानयरिं अह पविट्ठो ॥ ४८ ॥
श्रुत्वैव भरताधिपेन विदितां द्रव्यार्हतो वन्दनां,
श्रीनाभिप्रभवप्रभोर्वचनतश्चाष्टापदे स्थापनाम् ।
तद्वो भव्यजनास्त्रिकालभविनामेषां सदा वन्दनां,
कुर्वीध्व प्रतिमाश्च भावजनितांऽध्यारोपतो यत्नतः" ॥ ४९ ॥

तदेवं द्रव्यार्हतां नमस्करणीयत्वात् भाष्यकारादिभिः समर्थितत्वादावश्यकचूर्णिकृद्व्याख्यातार्थत्वात्संवेगादिकारणत्वात्सम्यक्त्वनैर्मल्यहेतुत्वाद् अशठबहुबहुश्रुतपूर्वाचार्यचरितत्वात् जीतकल्पानुपातित्वाच्च युक्तः " जे य अईया " इतिगाथेति । एष द्रव्यार्हद्वन्दनार्थं द्वितीयोऽधिकारः । शक्रस्तवविवरणं समाप्तमिति चूर्णिः । एवं शक्रस्तवास्यप्रथमदण्डकेन भावद्रव्यार्हतोऽभिवन्द्य स्थापनार्हद्वन्दनार्थमुत्थाय साधुः श्रावको वा चैत्यस्तवदण्डकं विधिवद्भणति । उक्तं च-
" उट्ठिय जिणमुद्दंचिय-चलणो विहियकरजोगमुद्दो य ।
चेइयगयथिरदिट्ठी, ठवणाजिणदंडयं पढइ " ॥ १ ॥ सङ्घा० ३ प्रस्ता० ।

(२२) प्रणिपातदण्डके वाराः—

एताभिर्नवभिः संपद्भिः प्रणिपातदण्डक उच्यते, तत्पाठानन्तरं प्रणिपातकरणात् । सङ्घाचारवृत्तौ तु-आदावन्ते च त्रीन् वारान् प्रणिपातः कर्त्तव्यः । तथा च तद्ग्रन्थः-"कहं नमंति सिरपंचमेण काएण " इत्याचाराङ्गचूर्णिवचनात् पञ्चाङ्गप्रणामं कुर्वता " तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइ " इत्यागमात् त्रीन् वारान् शिरसा भूमिं स्पृष्ट्वा भूमिनिहितजानुना करधृतयोगमुद्रया शक्रस्तवदण्डको भणनीयः, तदन्ते च पूर्ववत् प्रणामः कार्यः, इति जिनजन्मादिषु स्वविमानेषु तीर्थप्रवृत्तेः पूर्वमपि शक्रोऽनेन भगवतः स्तौतीति शक्रस्तवोऽप्युच्यते । अयं च प्रायेण भावार्हद्विषयो, भावार्हदध्यारोपाच्च स्थापनार्हतामपि पुरः पठ्यमानो न दोषाय ।

" तित्तीसं च पयाइं, नवसंपयवन्नदुसयवासट्ठा ।
भावजिणत्थवरूवो, अहिगारो एस पढमो त्ति" ॥१॥

अतोऽनन्तरं त्रिकालवर्त्ति द्रव्यार्हद्वन्दनार्थमिमां गाथां पूर्वाचार्याः पठन्ति-

"जे य अईया सिद्धा, जे य भविस्संऽतणागए काले ।
संपयइ य वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि " ॥१॥ कण्ठ्या।

ननु कथं द्रव्यार्हन्तो नरकादिगतिं गता अपि भावार्हद्वन्दनार्हा इति चेत् ?। उच्यते-सर्वत्र तावन्नामस्थापनाद्रव्यार्हन्तो भावार्हदवस्थादि व्यवस्थाप्य नमस्कार्या इति द्रव्यार्हद्वन्दनार्थोऽयं द्वितीयोऽधिकार । ध० २ अधि० । संपद'-"जे य अईआ सिद्धा" इति गाथा, साऽप्यवश्य भणनीया शक्रस्तवान्ते, पूर्वैर्महाश्रुतधरैरभिहितत्वात्, न पुनरौपपातिकादिषु, " नमो जिणाणं जियभयाणं" इति पर्यन्तस्य शक्रस्तवस्य पठितत्वान्नेयं गाथाऽस्माभिः स्वयं भण्यते, इति कुबोधाऽऽग्रहग्रस्तमानसैर्नवनवानन्यविकल्पकल्पनकुशलैराधुनिकैरिव कैश्चिन्न पठनीया, प्राक्तनैरशठैरनभिमानैः गीतार्थैः सूरिभिराहतस्य एकस्यादरणीयत्वादिति । प्रव०१ द्वार। तदेनदसौ साधुः श्रावको वा यथोदितं पठन् पञ्चाङ्गप्रणिपातं करोति । भूयश्च पादपुञ्छनादिनिषण्णो यथा भव्यस्थानवर्णार्थालम्बनगतचित्तः सर्वोत्ताराणि यथाभूतान्यसाधारणगुणसंगतानि भगवतां दुष्टालङ्कारविरहेण प्रकृष्टशब्दानि भाववृद्धये परयोगव्याघातवर्जितेन परिशुद्धामापादयन् योगवृद्धिमन्येषां सद्विधानतः सर्वज्ञप्रणीतवचनोन्नतिकराणि भावसारं परिशुद्धगम्भीरेण ध्वनिना तु निभृताङ्गः सम्यगनभिभवन् गुरुध्वनिं तत्प्रवेशात् अगणयन् दंशमशकादीन् देहे योगमुद्रया रागादिविषपरममन्त्ररूपाणि महास्तोत्राणि पठति । एतानि च तुल्यान्येव प्रायशोऽन्यथा योगघातः, तदङ्गस्य तदपरश्रवणम् । एवमेव श्रुतविस्तलाभः तद्व्याघातोऽन्यथेति योगाचार्याः । योगसिद्धिरेवात्र ज्ञापक द्विविधमुक्तम्-शब्दोक्तमर्थोक्तं च । तदेतदर्थोक्तं वर्तते, शुभवित्तलाभार्थत्वाद्वन्दनाया इति । एवं च सति तत्र किञ्चिद्यदुच्यते परैरुपहासबुद्ध्या प्रस्तुतस्यास्यादरतापादनाय । अलमनेन कृपणकवन्दनाकालादकल्पेनाभावितामिधानेन, उक्तवदभावितामिधानायोगात्, स्थानादिगर्भतया भावसारत्वात् । तदपरस्यागमबाह्यत्वात् । पुरुषप्रवृत्त्या तु तद्बाधायोगात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत् । एवंभूतैः स्तोत्रैर्वक्ष्यमाणप्रतिज्ञोचित चेतोभावमापाद्य पञ्चाङ्गप्रणिपातपूर्वकप्रमोदवृद्धिजनकानभिवन्द्याचार्यादिना गृहीतभावः सहृदयनटवत् अधिकृतभूमिकासंपादनार्थं चेष्टते,बन्दनासंपादनाय स चोत्तिष्ठति, जिनमुद्रया पठति चैतत्सूत्रम्-'अरिहंतचेइयाणं' इत्यादि । संपदः । ल० ।

तत्रास्य संपत्पदसंख्यापरिज्ञानार्थमाह—

दु छ सग नव तिय छच्चउ-छप्पयचिइसंपयापया पढमा ।
अरिहं वंदण सद्धा. अन्न सुहुम एव जा ताव ॥

अक्षरघटना प्राग्वत् । भावार्थस्त्वयम्-" अरिहंतचेइयाणं " इत्याद्यपदद्वयप्रमाणा प्रथमा संपत् । " वंदणवत्तियाए " इत्यादिपदषट्परिमाणा द्वितीया संपत् । " सद्धा " इत्यादि सप्तपदपरिमाणा तृतीया संपत् । "अन्नत्थ ऊससिएणं" इत्यादिपदनवकनिर्मिता चतुर्थी संपत् । " सुहुमेहिं " इत्यादिपदत्रययुता पञ्चमी संपत् । " एवमाइएहिं " इत्यादिषट्पदपूरिता षष्ठी संपत् । " जाव अरिहंताणं " इत्यादिपदचतुष्कमित्यादि सप्तमी संपत् । " ताव कायं " इत्यादिपदषट्घटिताऽष्टमी इति । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । प्रव० । ध० ।

(२३) चतुर्विंशतिस्तवः-

" अरिहं वंदण सद्धा, अन्न सुहुम एव जा ताव ।
अडसयतेआला, पयवन्ना दुसयतीसऽहिआ ॥ १ ॥"

एष स्थापनार्हद्वन्दनाख्यस्तृतीयोऽधिकारः, द्वितीयो दण्डकः कायोत्सर्गश्चाष्टोच्छ्वासमात्रः । न त्वत्र ध्येयनियमोऽस्ति, कायोत्सर्गान्ते च यद्येक एव, ततः " नमो अरिहंताणं " इति नमस्कारेण पारयित्वा यत्र चैत्यवन्दनां कुर्वन्नस्ति, तत्र यस्य भगवतः सनिहितं स्थापनारूप तस्य स्तुतिं पठति । अथ बहवः, तत एक एव स्तुतिं पठति । अन्ये तु कायोत्सर्गस्थिता एव शृण्वन्ति यावत् स्तुतिसमाप्तिः । ततः सर्वेऽपि नमस्कारेण पारयन्तीति, तदनन्तरं तस्यामेवावसर्पिण्या ये भारते वर्षे तीर्थकृतोऽभूवन्, तेषामेवैकक्षेत्रनिवासादिना आसन्नोपकारित्वेन कीर्त्तनाय चतुर्विंशतिस्तव पठति, पठन्ति वा-" लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली"।१। ध०२ अधि०।सण। यदुक्तं कीर्तयिष्यामीति तत्कीर्त्तनं कुर्वन्नाह-
" उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।

ज्ञानात् । उक्तं हि प्राक् योगमुद्रादयो ह्येवं परिसंख्याता', सूत्रोच्चारभावितया मूलमुद्रात्रयरूपत्वात् । मुकुटाञ्जलिपञ्चाङ्गीमुद्रादयस्तु प्रणामकरणकालभावित्वेनोत्तरमुद्रारूपत्वान्न परिज्ञाताः, उत्तरमुद्रात्वं चासां सूत्रोच्चारसमये समकमनुपयुज्यमानत्वात्तथाऽनुक्तत्वादनियतत्वात् सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावित्वात् । यदपि-" करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी " इत्युक्तं दृश्यते, तदपि सूत्रोच्चारस्यादौ विनयविशेषदर्शन परं, न पुनस्तथास्थितस्यैव सूत्रोच्चारख्यापनपरम् । अन्यथाऽपि नृपादीनां भगवत्यादौ तथा प्रतिपत्तेर्भणनात्, तथास्थितस्य विज्ञापनादेरदर्शनात्पूर्वकालभाविविधिवाचिनः कृत्वेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरकालभाविविध्यन्तरसूचकत्वाच्च अक्षिणी निमील्य हसतीत्यादिवत्तुल्यकर्तृकत्वायोगान्निमील्यादौ क्त्वाग्रहणात् । किं च-यद्येवंस्थितस्यैव सूत्रपाठः क्रियेत, ततोऽपिहितमुखत्वेन धर्मरुचिसाध्वादीनामपि सावद्यभाषाऽऽपत्तिः । तथा च भगवत्यामुक्तम्-" सक्केणं भंते ! देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं भासं भासइ ? । गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासइ,अणवज्जं पि भासं भासइ। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, जहा णं-सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ ? । गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जुहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ । जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं निज्जुहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासइ । से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, जहा णं-सक्के देविंदे देवराया सावज्जं पि भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ " । तस्मान्मुकुटाञ्जलिमुद्रादीनां विनयविशेषदर्शनफलत्वेन सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावितया च न योगमुद्रादीनामिव मूलमुद्रारूपत्वम् । ततश्च "मुद्दातिय" इति न यथोक्तसंख्याविघातः,पर्युपास्या इत्यर्थं बहुश्रुताः । यत्र चरितानुवादे जीवाभिगमादिषु विजयदेवादिभिः "आलोए जिणपडिमाणं पमाणं करेइ" । तथा-"वामजाणुं अंचेइ,दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ " त्ति एकाङ्गश्चतुरङ्गश्च प्रणामः कृतो दृश्यते,तन्मध्यमप्रणामत्वादर्द्धावनतावद्द्वितीयप्रणामान्तर्भूतव्यमिति, भावितार्थं चैतत्प्रणामत्रयव्याख्याऽवसरे । तथा स्तवपाठः शक्रस्तवादिभणनं , भवति कर्त्तव्य इति शेषः । योगमुद्रया पूर्वोक्तस्वरूपया । तत्र चायं विधिः -इह साधुः श्रावको वा चैत्यगृहादावेकान्ते प्रयतः परित्यक्तान्यकर्तव्यः सकलसत्त्वानपायिनीं भुवं निरीक्ष्य परमगुरुप्रणीतेन विधिना त्रिः प्रमृज्य च क्षितितलनिहितजानुयुगलः करकमलसंयापितयोगमुद्रः प्रणिपातदण्डकं पठतीति । यदुक्तं महानिशीथतृतीयाध्ययने-" भुवणेक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसियनयणमाणसेण धन्नोऽहं सपुन्नोऽहं ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेणं विरइयकरकमलंजलिणा हरियतणुवीयजंतुविरहियभूमीए निहिओभयजाणुणा सुपरिफुडसुविदियनिस्संकजहत्थसुत्तत्थोभयं पए पए भावेमाणेणं० जाव चेइए वंदियव्वे " त्ति । तत्रैव चोक्तम्-" सक्कत्थयाइयं चेइयवंदणयं ति ।" यत्पुनर्ज्ञाताधर्मकथादिषु धर्मरुचिसाध्वादिचरितानुवादे भणितम्-"पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयले" इत्यादि, तदशक्त्यादिकरणाश्रितम्, न पुनः "भूमिनिहिओभयजाणुणा " इत्यादिविधिवाधाविधायी भवति, चरितानुवादविहितत्वात् । चरितानुवादविहितानि हि नोत्सर्गापिधविधिवादस्य बाधकानि साधकानि वा भवितुमर्हन्ति, कारणाश्रितत्वेन द्वितीयपादान्तर्वर्तित्वात्तेषाम्,अन्यथा वा यथाऽऽम्नायं सुधीभिः समाधेयम् । तथा वन्दनम्-"अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिदण्डकैः प्रसिद्धैर्जिनबिम्बादीनां जिनमुद्रया पूर्वोक्तशब्दार्थया विघ्नजेत्र्या कर्त्तव्यं भवति, औपधादिवत् । तथा च षष्ठाङ्गे-" तए णं सा दोवई रायवरकन्ना० जाव धूवं डहइ, वामं जाणुं अंचेइ, करयल० जाव कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं० जाव संपत्ताणं वंदइ, नमंसइ । " अत्र जीवाभिगमोक्तविवरणम् । ततो विधिना प्रणामं कुर्वन् प्रणिपातदण्डकं पठति-"नमोऽत्थु णं अरिहंताणं" इत्यादि, यावत् "नमो जिणाणं जियभयाणं" इति । दण्डकार्थश्चैत्यवन्दनाविवरणादवसेयः। "वंदइ नमंसइ" त्ति । वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति । "परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरिहंताणं" इत्यादि । ततोऽस्य पाठे विविधविधिदर्शनात् सर्वेषां च प्रमाणग्रन्थोक्तत्वेन विनयविशेषकृतत्वेन च निषेद्धुमशक्यत्वात् । योगमुद्रयाऽपि शक्रस्तवपाठो न विरुध्यते, विचित्रत्वाद् मुनिमतानाम् । न चैतानि परस्परमतिविरुद्धानीति वाच्यम्, सर्वैरपि विनयस्य दर्शितत्वात् इत्यलं प्रसङ्गेन । तथा वन्दनम्-" अरिहंतचेइयाणं " इत्यादिदण्डकपाठेन जिनबिम्बादिस्तवनं जिनमुद्रया । इयं च पादाश्रिता, दण्डकानामपि स्तवरूपत्वात्, योगमुद्राऽपि स्तवसङ्गतैव, सा च हस्ताश्रिता, अत उभयोरप्यनयोर्वन्दने प्रयोगः ।

उक्तं च-

" उट्ठिय जिणमुद्दंचिय-चलणो करधरियजोगमुद्दो य ।
जिणवयणनिहियदिट्ठी, ठवणे जिणदमय पढई ॥ १ ॥ "

तथा प्रणिधानं-" जय वीयराय " इत्यादि यथेष्टप्रार्थनारूपं, यदस्य तीव्रसंवेगहेतुरिति यावत्, तीव्रसंवेगाद्धि अत्राऽशुभाविनी विशुद्धयोगसंप्राप्तिः, तच्च मुक्ताशुक्त्या, मुद्रया कार्यमिति शेषः । सङ्घा० १ प्रस्ता० । ल० । पञ्चा० । दर्श० । ध० । (अत्र धर्मरुचिद्रौपदीकथाऽन्यत्र)

(१०) प्रणिधानम्-

उक्तं मुद्रात्रिकमिति नवमं त्रिकम् । संप्रति " तिविहं च पणिहाणं" इति दशमं त्रिकं गाथापादत्रिकेणाऽऽह-

पणिहाणतिगं चेइय-मुणिवंदणपत्थणासरूवं वा ।
मणवइकाएगत्तं ,

यदिह मुक्ताशुक्त्या मुद्रया क्रियते, तदेतत्प्रणिधानत्रिकम् । किमित्याह-चैत्यमुनिवन्दनाप्रार्थनास्वरूपम् । अत्रापृथक् वन्दनाशब्दयोगात् प्रथमं प्रणिधानं चैत्यवन्दनारूपम्-" जावंति चेइआइं " इत्यादि । द्वितीयं मुनिवन्दनालक्षणम्-"जावंति के वि साहू" इत्यादि । तृतीयं प्रार्थनास्वरूपम्-"जय वीयराय" इत्यादि ।

उक्तं च बृहद्भाष्ये-

"अन्न पि तिप्पयारं, वंदणयपए तज्जाविपणिहाणं ।
जम्मि कए संपुन्ना, उक्कोसा वंदणा होइ ॥ १ ॥
चेइयगय साहुगय, नेयऽव्व तह य पत्थणारूवं ।

(२६) इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा आसन्नोपकारित्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपतेः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिन स्तुतिं करोति—

" जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।
तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं " ॥१॥

ध० २ अधि० । ल० ।

इत्थं स्तुतिं कृत्वा पुनः परोपकारायाऽऽत्मभाववृद्धये च फलप्रदर्शनपरमिदं पठति-

" इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं व " ॥१॥ ध० २ अधि० ।

ल० । सघा० । एष नवमोऽधिकारः । एतास्तिस्रः स्तुतयो गणधरकृतत्वान्नियमेनोच्यन्ते । केचित्तु अन्या अपि स्तुतीः पठन्ति । यदाह्रावश्यकचूर्णिकृत्-" सेसा जहिच्छाए त्ति । "

ता यथा-

" उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि " ॥१॥

कण्ठ्या, नवरं (निसीहिअ त्ति) सर्वव्यापारनिषेधाद् नैषेधिकी मुक्तिः । एष दशमोऽधिकारः ।

"चत्तारि अट्ठ दस दो, अ वंदिया जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु " ॥ १ ॥

(परमट्ठनिट्ठिअ त्ति) परमार्थेन, न कल्पनामात्रेण, निष्ठिता अर्था येषां ते तथा । शेषं व्यक्तम् । एष एकादशोऽधिकारः । ध० २ अधि० । सघा० ।

(२७) वेयावच्चस्तुतिः-

एतास्तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न तत्र नियम इति, न तद्व्याख्यानक्रिया । एवमेतत्पठित्वोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-" वेयावच्चगराणं, संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं " इत्यादि, यावद् " वोसिरामि । " व्याख्या पूर्ववत् । नवरं वैयावृत्यकराणां प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यक्षाम्बाकूष्माण्डचादीनां शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनान्येषां समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्धसंप्रदाय एतेषां संबन्धिनम् । सप्तम्यर्थे वा षष्ठी । एतद्विषयम्, एतान् वाऽऽश्रित्य करोमि कायोत्सर्गमिति, कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् स्तुतिश्च, नवरमेषां वैयावृत्यकराणां तथा तद्भाववृद्धेरित्युक्तप्रायम् । तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात्ततः शुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकम् । न चासिद्धमेतत्, अभिचारकादौ तथेक्षणात् सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य । तदेतत् सकलयोगबीजं वन्दनादिप्रत्ययमित्यादि न पठ्यते, अपि त्वन्यत्रोच्छ्वसितेनेत्यादि, तेषामविरतत्वात् । सामान्यप्रवृत्तेरित्थमेवोपकारदर्शनाद् वचनप्रामाण्यादिति व्याख्यातं ' सिद्धेभ्य ' इत्यादि सूत्रम् । ल० ।

अथ बृहद्भाष्यम्-

" पारिय काउस्सग्गो, परमिट्ठीण च कयनमुक्कारो ।
वेयावच्चगराणं, देइ थुई जक्खपमुहाणं ॥ १ ॥
संवेगभाविअमणो, वंदिय संनिहियचेइआणेव ।
अवसेसचेइयाणं, वंदणपणिहाणकरणत्थं ॥ २ ॥
पुव्वविहाणेण पुणो, भणितु सक्कत्थयं नओ कुणइ ।
जिणचेइयपणिहाणं, सविग्गो मुत्तसुत्तीए ॥ ३ ॥ "

" जावंति चेइयाइं " इत्यादि । यावन्ति यत्प्रमाणानि, चैत्यानि आधाराधेयरूपत्वेन जिनानां गृहाणि, बिम्बानि च । क्व ?, ऊर्ध्वाधश्च तिर्यग्लोके च । तत्र जिनगृहाण्येवम्-

" सगकोडिलक्खविसयरि, अहो अ तिरिए दुतीसपणसयरा ।
चुलसिलक्खा सगनवइ, सहस्सतेविंसुवरिलोए " ॥ १ ॥

प्रतिमास्तु-

" तेरसकोडिसयाकोडि-मिग णवइसट्ठिलक्ख अहलोए ।
तिरिअ तिलक्ख तिणवइ, सहस्सपडिमा दुसयचत्ता ॥ २ ॥
बावन्न कोडिसय, चउ णउई लक्खसहस्स चउआला ।
सत्तसया सट्ठिजुया, सासयपडिमा उवरिलोए ॥ ३ ॥ "

किमित्याह-सर्वाणि तानि वन्दे । यथा-

" सव्वे वि अट्ठकोडी, लक्खा सगवन्नदुसयअडनउया ।
तिहुयणचेइअ वंदे, असंखदहिदीवुजोइवणे ॥ ४ ॥
पन्नरसा कोडिसया, कोडीबायाललक्ख अडवन्ना ।
अडतीससहस वंदे, सासयजिणपडिम तिअलोए ॥ ५ ॥ "

कथम् ?। इह स्वस्थाने सन् तिष्ठन् तत्र ऊर्ध्वलोकादिषु सन्ति विद्यमानानि ।

" सक्कथएण इमिणाए, पयाइं चेइयाइँ वंदामि ।
बियसक्कत्थयभणणे, एय खु पओयणं भणियं ॥ ६ ॥
पुणरुत्तं पि न दुट्ठं, दव्वत्थमिणं जिणागमन्नूहिं ।
जिणगुणथुइरूवत्ता, कम्मक्खयकारणत्तेण ॥ ७ ॥
जह विसविघायणत्थं, पुणो पुणो मंतसुमरणं सुहयं ।
तह मिच्छत्तविसहरं, विन्नेयं वंदणाइं वि ॥ ८ ॥
तत्तो य भावसारं, दाऊण थोत्तवंदणं विहिणा ।
साहुगयं पणिहाणं, करेइ एयाएँ गाहाए" ॥ ९ ॥

" जावंति केइ साहू । " इत्यादि । यावन्तः केचित् उत्कृष्टतो, जघन्यतश्च । यथा-

" नवकोडि सहस साहू, उक्कोसं केवली उ सयकोडी ।
वंदे दुकोडि केवलि, दुकोडि सहसा मुणिजहन्ने ॥ १ ॥

लोकविरुद्धेत्यादि । साधवः । क्व ?, भरतैरवते महाविदेहे च, पञ्चदशकर्मभूमिष्वित्यर्थः । किम् ?, सर्वेषां तेषां प्रणतो नम्रः, त्रिविधेन कायवाङ्मनोभिः त्रिदण्डविरतानां मनोदण्डादिरहितानां, भावसाधूनामित्यर्थः ।

" तत्तो भत्तचित्तो, जिणिंदगुणवंदणेण भुज्जो वि ।
सुकइनिबद्धं सुद्धं, थयं च वुत्तं च वज्जरइ ॥ १ ॥
सक्कयभासाबद्धो, गंभीरत्थो थओ निविक्खाउ ।
पाइयभासाबद्धं, थुत्तं विविहेहिँ छंदेहिँ ॥ २ ॥
चिइवंदणकिइकिच्चो, पमोयरोमंचचिंचियसरीरो ।
इट्ठफलपत्थणपरं, इय पणिहाणं कुणइ तव्वय " ॥ ३ ॥

सङ्घा० २ प्रस्ता० । नवरं स्तुतिर्वैयावृत्यकराणां, पुनस्तेनैव विधिनोपविश्य पूर्ववत्प्रणिपातदण्डकं पठित्वा मुक्ताशुक्तिमुद्रया प्रणिधानं कुर्वन्ति । यथा-

" जय वीयराय जगगुरु, होउ मम तुह पभावओ भयवं ।
भवनिव्वेओ मग्गा-णुसारिआ इट्ठफलसिद्धी ॥ १ ॥
लोगविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वय-णसेवणा आभवमखंडा ॥ २ ॥"

ध० २ अधि० ।

" पणग त्ति " द्वारं विवृण्वन्नाह-

सच्चित्तदव्वउज्झण-मच्चित्तअणुज्झणं मणेगत्तं ।
इगसाडिउत्तरासं-गु अंजली सिरसि जिणदिट्ठे ॥१७॥

सचित्तद्रव्याणां स्वाङ्गाश्रितानां कुसुमताम्बूलादीनामुज्झन परित्यागः । १ । अचित्तानां कटककुण्डलकेयूरहारादीनां, द्रव्याणामित्यत्रापि योज्यम । अनुज्झनमपरित्यागः । २ । मनएकाग्र्यम-रागद्वेषाभावेन मनःसमाधिः, अनन्योपयोगितेति यावत् । ३ । एकशाटक उत्तरासङ्गः । ४ । एकशाटको देशान्तरप्रसिद्धः । उत्तरासङ्गो यदुपरितनं वस्त्र, प्रावरणवस्त्रमित्यर्थः । उक्तं चाचाराङ्गचूर्णौ-" एगसाडो यदुक्तं भवति एगपावरणु त्ति, तेन कृत्वोत्तरासङ्गम् उत्तरियकरणं ।" कल्पचूर्णावप्युक्तम्—" उत्तरिज्ज नाम पावरणं । " क्वचिच्च-" उत्तरिज्ज नाम पंगुरणं " इति पाठः । एवं च-" परेण पंगुरणवत्थेण उत्तरासगो किज्जइ त्ति भणियं होइ। " अनेन च निवसनवस्त्रेणोत्तरासङ्गकरणनिषेधमाह, निवसनवसनस्यान्तरीयशब्दवाच्यत्वात् । तथा च कल्पनिशीथचूर्णी-"अतरिज्ज नाम नियसण ति।" एकग्रहण पुनरुत्तरासङ्गेऽनेकवस्त्रनिषेधार्थं,न तु सर्वथोपरितनप्रावरणवस्त्रस्य । एव च परिहितैकवस्त्रो द्वितीयेन वस्त्रेण उत्तरासङ्गं कुर्यादित्युक्तं भवति । यदुक्तं पञ्चाशकवृत्तौ-एकेन चोपरितनवस्त्रेण कृतोत्तरासङ्ग इति । मार्कण्डेयपुराणेऽप्युक्तम्—नैकवस्त्रेण भुञ्जीत, न कुर्याद्देवताऽर्चनम् । " इत्यादि । एतौ च पुरुषमाश्रित्योक्तौ, स्त्री तु विशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुः । तथा चाऽऽगमः-" विणओणया एगचेलचिइ त्ति"। वृद्धसंप्रदायात्तु सप्रति स्त्रीणां वस्त्रनव विना देवार्चादि कर्तुं न कल्पते । तथाऽन्यैरप्युक्तम्-" न कञ्चुकं विना कार्या, देवार्चा स्त्रीजनेन तु । " इति । " अजलि त्ति " अञ्जलिबन्धश्च कार्यः शिरसि मस्तके, जिनदृष्टे जिनविम्बदर्शने सतीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

इय पंचविहाऽभिगमो, अहवा मुच्चंति रायचिंधाइं ।
खग्गं छत्तोवाणह-मउमं चमरे च पंचमए ॥ १८ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, पञ्चप्रकारोऽभिगमो भवति । उक्तं च श्रीपञ्चमाङ्गे-"पचविहेणं अभिगमेण अभिगच्छइ । त जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए १ अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए २ एगसाडिएणं उत्तरासगकरणेणं ३ चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं ४ मणसो एगत्तीभावकरणेणं ५ " ति । क्वचित्तु-" अचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए " त्ति पाठः, तत्राचित्तानां छत्रादिनां, व्यवसरणेन व्युत्सर्जनेनेत्यर्थः । अन्यत्राप्युक्तम्-

" पुप्फतंबोलमाईणि, सचित्ताणि विवज्जए ।
छत्तवाहणमाईणि, अचित्ताणि तहेव य ॥ १ ॥ "

एतदर्थप्रतिपादनार्थमाह-" अहवा " इत्यादि । यश्चायो महर्द्धिको राजादिश्चैत्यं प्रविशति स पञ्चविधाऽभिगमसमये राजचिह्नान्यपि मुञ्चतीत्यत आह-" अहवा " इत्यादि । अथवा विकल्पान्तरसूचको, न केवल सचित्तान्येव द्रव्याणि मुच्यन्ते, किं तर्ह्यचित्तान्यपि द्रव्याणि मुच्यन्ते, दूरीक्रियन्ते । कानि ?, राजचिह्नानि राजलक्षणानि । तान्येवाह-खड्ग कृपाणः । १ । छत्रमातपत्र । २ । उपानहौ पादुके । ३ । मुकुटं किरीटम् । ४ । चामरा. वालव्यजनानि ५ पञ्चमका इति । तथा च सिद्धान्तः-" अहवट्टु रायककुहाइ पचवररायककुहभूयाइ 'खग्गं छत्तोवाणह-मउडं तह चामराओ य " त्ति । सङ्घा० १ प्रस्ता० । प्रव० । (अत्र श्रीषेणनृपतिश्रीपतिश्रेष्ठिकथे सङ्घाचाराज्ज्ञातव्ये) प्ररूपितमभिगमपञ्चकविधिरिति द्वितीय तत्प्ररूपणेन च प्रदर्शितो जिनभवनादिप्रवेशविधिः ।

(१२) चैत्यवन्दनदिक् । सम्प्रति चैत्यवन्दनाकरणविधिरुच्यते-तत्र यैर्यद्दिक्स्थैश्चैत्यवन्दना विधेया तत्प्रतिपादनाय तृतीय दिग्दिगिति दिग्द्वार गाथापूर्वार्द्धेनाऽऽह-

वंदंति जिणे दाहिणदिसि-ट्ठिया पुरिस वामदिसि नारी ।

वन्दन्ते स्तुवन्ति प्रणमन्ति च,जिनान् जिनप्रतिमा , दक्षिणदिशि मूलबिम्बदक्षिणदिग्भागस्थिताः, पुरुषप्रधानत्वाद् धर्मस्य,तथा वामदिशि मूलविम्बवामदिग्भागे स्थिता नार्यो वन्दन्ते,जिमानित्यत्रापि योज्यमिति चौत्सर्गिकम् । विधिप्रधानमेव च विधीयमान सर्वमपि चैत्यवन्दनकादि धर्म्मानुष्ठान महाफल भवेत् । अन्यथा सातिचारतया श्रीदत्ताया इव कदाचिदनर्थमपि जनयेत् । आह च-" धर्मानुष्ठानवैतथ्या-त्प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुःखौघजनको,दुःप्रयुक्तादिवौषधात् ॥१॥" इति । अत एव चाविधिनाऽस्य विधाने सातिचारत्वात् प्रायश्चित्तमप्युक्तमागमे । तथा च महानिशीथसप्तमाध्ययनसूत्रम्-" अविहीए चेइयाइ वदित्ता तस्स णं पायच्छित्तं उवइसिज्जा, जओ अविहीए चेइयाइं वदमाणो अन्नेसिं असद्धं जाणइ त्ति काऊण । " अपि च-इदमेव चावैतथ्येन विशुद्धधर्म्मानुष्ठानकरण श्रद्धावोर्लक्षणम् । तथा चोक्तम्-

" विहिसार चिअ सेवइ, सिद्धालू सत्तिम अणुट्ठाण ।
दव्वाइदोसनिहओ, विपक्खवाय वहइ तम्मि ॥१॥ " त्ति ।

ललितविस्तरायामप्युक्तम्—एवं हि कुर्वता आराधितं वचन , बहुमतो लोकनाथ , परित्यक्ता लोकसंज्ञा, अङ्गीकृता लोकोत्तरा प्रवृत्तिः, समासादिता धर्मचारितेति । अतोऽन्यथा विपर्ययः; आलोचनीयमिदं सूक्ष्मधियामेव, शास्त्रोक्तमुपदेशमुल्लङ्घ्य पुरुषमात्रप्रवृत्तोऽपरोऽपि हितानुपायः स्यात् । ननु तर्हि चैत्यवन्दनादिविधिरेवादौ गतानुगतिरूपः स्यात् । नैवम् । यत उक्तम्--अपवादोऽपि सूत्रानाबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभाशुभानुबन्धिमहासत्त्वासेवित उत्सर्गभेद एव, उत्सर्गस्थानापन्नत्वेनोत्सर्गफलहेतुत्वात् । यदागमः-

" उभयमविकल्ल चिअ-स्स पसिद्धि उभयस्स निन्नं च ।
इअ अन्नुन्नावेक्खा, उस्सग्गऽववाए दो तुल्ला " ॥ १ ॥

अत एवोक्तम्-

" अविहिकया वरमकय, असूयवयणं भणंति समयन्नू ।
पायच्छित्तं अकए, गुरुय वि तहा कए लहुयं ॥ १ ॥ "

न पुनः सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ता, किन्त्वभावेन । तद्धि परमगुरुलाघवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितं संसारश्रोतसि कुशकाशावलम्बनप्रायमहितमिति भाव्यम् । सर्वथा निरूपणीयं प्रवचनगाम्भीर्यं यतितव्यमुत्तमनिदर्शनेष्विति श्रेयोमार्गः ॥ सङ्घा० २ प्रस्ता० । ध० । (अत्र श्रीदत्ताकथा सङ्घाचारादवसेया)

(१३) अवग्रहः-

संप्रति द्विदिक्स्थितैरपि मूलबिम्बस्य कियत्यवग्रहे देवा

यथा-व्याख्यात सिद्धेभ्य इत्यादि सूत्रमिति । सघा० ३ प्रस्ता०। इत्याद्यभिहित "पणदड" इत्येकादश द्वारम् । (अथ गुणसागरनृपकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)

(२८) अथ द्वादशाधिकारा । साम्प्रत "बार अहिगार" त्ति द्वादशं द्वार गाथोत्तरार्द्धे नाऽऽह—

दो एग दो दो पंच य, अहिगारा बारस कमेण ॥३०॥

पूर्वार्द्धोक्त इत्थशब्द इहापि सवध्यते, ततश्च (इत्थ त्ति) एषु दण्डकेष्वधिकारा' स्तोतव्यविशेषा. प्रस्तावविशेषाः,अधिक्रियन्ते समाश्रियन्ते, वन्दनां कर्तुकामैरिति व्युत्पत्तेः । ते च द्वादश क्रमेण भवन्ति । तत्र प्रणिपातदण्डके द्वावधिकारौ, एकोऽर्हच्चैत्यस्तवदण्डके, द्वौ नामजिनस्तवदण्डके, द्वौ श्रुतस्तवदण्डके, पञ्च सिद्धस्तवदण्डके च ।

एतानेवाद्यपदोल्लिङ्गनया दर्शयति-

नमु जेऽ य अरिहं लो-गसव्वपुक्खतमसिद्धजोदेवा ।
उज्जिं चत्ता वेया-वच्चग अहिगारपढमपया ॥ ३१ ॥

इह सर्वत्र पदैकदेशे पदसमुदाय उपचरितव्य । ततश्च-"नमोऽत्थु णं" इतिभावार्हद्वन्दनाख्यस्य प्रथमाधिकारः प्रथमम । एवमन्यत्रापि यथान्याय प्रयोज्यम ॥१॥ " जे य अईया सिद्ध " त्ति द्वितीयस्य ॥ २ ॥ " अरिहंतचेइयाण " इति तृतीयस्य ॥ ३ ॥ "लोगस्स उज्जोयगरे" इति चतुर्थस्य ॥ ४ ॥ " सव्वलोए अरिहंत त्ति" पञ्चमस्य । "पुक्खरवरदीव" इति षष्ठस्य ॥ ६ ॥ " तमतिमिरपडल " इति सप्तमस्य ॥ ७ ॥ "सिद्धाण बुद्धाण" इत्यष्टमस्य ॥ ८ ॥ "जो देवाण वि " इति नवमस्य ॥ ९ ॥ " उज्जितसेलसिहरे " इति दशमस्य ॥ १० ॥ " चत्तारि अट्ठ दस" इत्येकादशस्य ॥ १० ॥ " वेयावच्चगराणं " इति द्वादशस्य । एतानि किमित्याह--अधिकाराणां प्रागुक्तशब्दार्थानां, प्रथमपदान्युल्लिङ्गनपदानि इत्यर्थः। संघा० ३ प्रस्ता० । ध० ।

इत्युक्त " बार अहिगार " त्ति द्वादश द्वारम् ।

सम्प्रति "चउ वंदणिज्ज" त्ति त्रयोदश द्वारं समधिकपूर्वार्द्धपदेनाऽऽह-

चउ वंदणिज्ज जिणमुणि-सुयसिद्धा इह ...... ।

चत्वारो वन्दनीया मङ्गलोत्तमशरणविधायित्वेन स्तुतिप्रणामाद्यर्हा ।के ते ?, इत्याह-जिनाश्चतुर्विधा वक्ष्यमाणस्वरूपाः, मुनयश्च साधवो गच्छगतादिभेदभिन्नाः, आचार्योपाध्याययोरप्यव्यभिचारात्साधुग्रहणाद् ग्रहः।

उक्त च--

" साहत्तसुट्टिया ज, आयरियाई तओ य ते साहू ।
साहुगहणेण गहिय, ... " ॥ १ ॥

श्रुत च अङ्गानङ्गप्रविष्टम, सिद्धा तापिताशेषकर्म्माण' । इहेति सपूर्णचैत्यवन्दनायां, जिनशासने वा । यद्वा-त्रैलोक्येऽपीति ॥ सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (अत्र सुमतिकथा सङ्घाचारादवसेया) इत्युक्त चत्वारो वन्दनीया इति त्रयोदश द्वारम ।

(२९) शरणीयद्वारम्-देवस्तुति । सम्प्रति "सरणिज्ज" त्ति चतुर्दशं द्वार गाथाचतुर्थपादार्द्धेनाऽऽह—

......, (इह) सुरा य सरणिज्जा ॥३२॥

इहशब्द पूर्वद्वारे संयोजितोऽपि डमरुकमणिन्यायेनात्रापि सवध्यते । ततश्च इहेति सपूर्णचैत्यवन्दनायां क्रियमाणायां, सुराश्च सुर्यश्चेति "पुरुष स्त्रिया" ॥३।१।१२६॥ इत्येकशेषे सुराः,ते चात्र यक्षाम्बाप्रभृतय' सम्यग्दृष्टिदेवता ज्ञातव्याः, न त्वर्हन्तः, तेषां प्राग्वन्दनीयत्वेनाभिहितत्वादनुशासकत्वात्सारकत्वाच्च। एते च किमित्याह-(सरणिज्ज त्ति) स्मरणीयास्तत्तद्गुणानुचिन्तनोत्कीर्त्तनादिनोपबृंहणीया', स्तवनीया इत्यर्थः । श्लाघ्यश्च जिनप्रवचनस्थः स्वल्पगुणोऽपि, सम्यग्दृष्टिप्रशसायाः कर्मक्षयकारणत्वात । उक्त च-" गुणपगरिसबहुमाणो, कम्मक्खयकारण जेण ॥ " इति । नैव चेत तदोत्तरोत्तरसयमस्थानवर्त्तिभि साधुभिर्जघन्यजघन्यतरादिसयमस्थानवर्त्तिन साधवोऽप्यनुपबृंहणीयाः स्युः, तै सुनियमादिसुदृढा श्रावकाः, न चैतदागमे दृष्टमिष्टं वा, यद्गुणिनां गुणा न प्रशस्याः, दर्शनमालिन्याद्यवाप्ते ।

आह च-

" नो खलु अप्परिवडिए, निच्छओ अमलिए व सम्मत्ते ।
होइ तओ परिणामो, जुत्तो भणुववूहणाइ य" ॥१॥ त्ति ।

देशविरतानां वा अविरतसम्यग्दृष्टय' श्राद्धा' सत्काराद्यर्हा न स्युः, तथा च सति, "तम्हा सव्वपयत्तेण, जो नमुक्कारधारओ। सावओ सो वि दट्ठव्वो, जहा परमबंधवो" ॥१॥ इत्याद्यपार्थक स्यात । एवं च सकलागमव्यवहारलोपाद्विमर्शनीयमिद सूक्ष्मधियेति। यद्वा-स्मारणीया स्मारणादिषु प्रेरणार्हा।। तत्र "पम्हट्ठे गाहा।" अयमर्थ'-वैयावृत्याधिकारका गीयन्ते,तत्र चानादरता भवता तत्कि स्वकृत्यमपि विस्मृतम, न युक्तमत्र प्रमादयितुम, दुलर्भा हि पुनरिय सामग्री,दु खद प्रमादारि , दुरन्तो भवोदधिविनिपातः,स्वनामैव सत्यापयतेत्यादिव्यङ्ग्यार्थगर्भतद्विशेषणद्वारेण स्मारणादि क्रियते। अथवा-सारणीया सङ्घादिकृते वैयावृत्यप्रभावनादावुभयलोकसुखावहे प्रेरणार्हास्तत्करणशक्तियुक्तत्वात्तेषाम् । इदमुक्त भवति-"यदाऽमुक सङ्घे प्रभावनादि करिष्येऽथ तदहममुक कायोत्सर्गादिक पारयिष्यामि" इत्यादिना सुदर्शनप्रिया मनोरमा इव तत्र तत्र सङ्घकृत्ये प्रवर्त्तयितव्यम । अथवाऽत्र निशीथचूर्ण्युक्तो विधि -"पुव्व अणुसट्ठी किज्जइ, तुइ त्ति भणिय होइ, " अणुसट्ठी थुइ त्ति एगट्ठे " त्ति प्राप्यवचनात । " साहु कय ते एव वुच्चइ, जहा-चपाए सुभद्दा नागरजणेण अणुसट्ठा-धण्णा सपुण्णा सि त्ति, तओ उवालओ दिज्जइ-सा एण उवएसपया ण कीरइ त्ति वुत्त भवइ, पच्छा से उवभाहो किज्जइ" ।

भणियं च—

"ठाणे दवावणे का-रणे य करणे य कयमणुमाए।
उवहियमणुवहिय वा, जाणाहि उवग्गह एय " ॥१॥ इति ।

सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (अत्र सुदर्शनश्रेष्ठिप्रियामनोरमाकथा भावनीया सङ्घाचारात्) इति निगदितं " सुरा य सरणिज्ज त्ति " चतुर्दशं द्वारम ।

(३०) जिनद्वारम । अथ " चउह जिण " त्ति पञ्चदश द्वार विभावयिषुर्गाथोत्तरार्द्धमाह—

चउह जिणा नामठव-णदव्वभावजिणभेएणं ॥

चतुष्प्रकारा जिना । कथमित्याह-" नाम " इत्यादि । जिनशब्दो पृथक् पृथक् संबध्यते । ततश्च नामजिनस्थापनाजिनद्रव्यजिनभावजिनभेदेन नामजिनादिप्रकारेणेति ।

एतानेनेकभेदान् विभावयिषुराह-

नामजिणा जिणनामा,ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ।

सङ्घा० २ प्रस्ता० । स८ । ध० । न च तत्र नियमः-एका द्वे तिस्र इत्यादि । क्षेत्रकालाद्यपेक्षया क्वाऽपि तीर्थे कासाञ्चित्पाठादिस्वनियतत्वात् तद्व्याख्यानाभाव. । एतावता यदत्र व्याख्यातं च तन्नियमेन भणनीयमिति प्रतिपादितम् । व्याख्यातं च सिद्धाधिकृततीर्थेशस्तुतिचत्सूत्रतया नियमभणनीयत्वेन-" वेयावच्चगराणं" इत्यादि चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुत्यादि । तत्र यथा पवमेतत् "सिद्धाणं " इत्यादि पवित्रोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति, " वेयावच्चगराण " इत्यादिकायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत्, स्तुतिश्च , नवरमेषां वैयावृत्यकराणां तथा तद्भावप्रवृत्तिरित्युक्तप्राय. प्रशासिन., प्रस्तुनकार्याय प्रोत्सहत इति प्रसिद्धमेवेत्यर्थ. । तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात्तच्छुभसिद्धाविदमेव वचन सूत्रं ज्ञापकम् । न चासिद्धम्,एतदभिचारकादौ मन्त्रयादे तथेक्षणात्, सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य। एवं ध्रुवं भणनीया चतुर्थी चूलिकास्तुत्यन्ता पञ्चमदण्डकरूपा । तृतीया सूत्रस्तुति सपूर्णा चैत्यवन्दनाचूलिका चाऽप्येतदन्तव्याख्यायोक्रम । यथा-" सिद्धत्थयकमयविपरणं संमत्तं" । तथा पाक्षिकचूर्णौ-"पिरइपामिवत्तिकाले चिइवदणमाइणोवयारेण आवस्स अहालंनिदियदेवयासनिहाणम्मि भयइ, अतो देवमाकिपय भणिय । " इहाऽपि वन्दनामध्ये देवाग्रुपचार तत्कायोत्सर्गस्तुत्यादि विना कोऽन्य इति पाक्षिकाद्यागमोक्तत्वान्नियतसुदृष्टिदेवताकायोत्सर्गस्तुत्यादि " सिद्धाणं बुद्धाणं " इतिनाम्न्यास्तृतीयसूत्रस्तुत्या अन्तेऽवश्य भणनीयम् । व्याख्यानुक्ताऽऽदिस्मप्राद्धिकत्वादस्या सिद्धस्तवापरनाम्न्या सूत्रस्तुते. । एवं वैयसुत्ररूपसुदृष्टिस्मरणाभिधानादधिकारान्ता पञ्चमदण्डक उच्यते।

भणितं च-

" रूद लसिअविग्घराधि-मिमाइवक्खायसुत्तअणुसारा ।
सुयुत्त नवऽहिगारा, दुवस इगारस सुनान्तरणा ॥ १ ॥ "।
माइयवकचूर्णिकारादिवहुश्रुतसमता इत्यर्थ. ।

आह च-

"आयरनगचुण्णीए, ज भणिय वेसया जाहिहाए ।
तेण उव्वताइ वि, अहिगारा सुअमया चेव ॥ १ ॥"
एतावता भाष्यान्तरोक्तजघन्यादिभेदा मध्यमाऽपि व्याख्याता।

तथा वृहद्भाष्ये-

"उक्कोसा तिविहा वि हु, कायव्वा सत्तिओ उभयकाल ।
सेसा पुण कमेया, चेइयपमिवाडिमाईसु ॥ १ ॥" ।

भणितं च कल्पभाष्ये-"निस्सकडमनिस्सकड" इत्यादि । एवं प्रागुक्तयुक्त्या-"निस्सकड" इति गाथया मध्यमा चैत्यवन्दना भणिता दण्डकस्तुतियुगलपाठरूपेति स्थितम् । अन्यत्राप्युक्तम्-

"चिइवंदण तु नेय, सुत्तत्थुवओगओ समाहीए ।
अक्खलिआइगुणजुअ, दडगपचगसमुच्चरण ॥ १ ॥"

नैव चैत्यतोऽन्त्यकायोत्सर्गादिवदादिशक्रस्तवकायोत्सर्गाद्यप्यभणनीयं स्यात्, " निस्सकडम " इत्यादावनुक्तत्वात् । एव चान्यत् स्तुतिस्तोत्रप्रणिधानादि सर्वमप्यभणनीय प्राप्नोति, भवता चैत्यमध्ये उक्तयुक्तेरेव । उक्त च-

" जइ इसिअमित्त चिय, जिणवदणमणुमय सुएहु त ।
थुइथुत्ताइपवित्ती, निरत्थिआ हुज्ज सव्वाऽवि ॥ १ ॥"।

परिभाव्यमत्र सम्यक् कुग्रहविरहेण । यदागमः-

"ज जह सुत्ते भणिअ, तहेव त जइ विआरणा नऽत्थि ।
किं कालिआणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥ १ ॥"

इह च सर्वत्राप्यादौ प्रथममीर्यादिपथिकी प्रतिक्रमितव्या । तथा चागम.-" ता गोअमा ! णं अप्पडिक्कंताए इरिआवहिआए न कप्पइ चेव किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइ अ फलासायमभिकखुगाणं । " दशवैकालिकेऽपि द्वितीयचूलिकायाम्-" अभिक्खण काउस्सग्गकारि " इति सूत्रस्य वृत्ति - अभीक्ष्णं गमनागमनादिषु कायोत्सर्गकारि भवेत् । ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धताऽऽपत्तेरिति भावः । यदि परमत्रोत्कृष्टशब्दवर्जिते बहुश्रुतसमाचारितां निरूपयति, नान्यदिति ॥ उक्ता सप्रभेदा मध्यमाऽपि वन्दना । इयमेव च स्तवप्रणिधानादिपर्यन्तोत्कृष्टा भवतीति । उक्त च वृहद्भाष्ये-" उक्कोसजहन्ना पुण, सव्विवयसक्कत्थयाइपज्जता "। एतदर्थप्रतिपादनायाऽऽह-" पणदंडथुइचउक्कगथुयपणिहाणेहिं उक्कोसा " त्ति पश्चार्द्धं पञ्चभिर्दण्डकैः शक्रस्तवादिसुदृष्टिकायोत्सर्गपर्यन्तैः स्तुतिचतुष्केन वन्दनाऽनुशास्तिस्तुतिरूपचूलिकास्तुतिचतुष्टयेन द्वितीयदण्डकादिकायोत्सर्गचतुष्कान्तरितत्वेन स्तवेन जघन्यतोऽपि चतुःश्लोकादिमानेन " चउसिलोगाइपरेण थओ भवइ त्ति " व्यवहारचूर्णिभणितात् द्वितीयशक्रस्तवान्ते भणनीयेन तदादौ भण्यमानस्य नमस्कारताऽऽपत्ते ; प्रणिधानैश्च वक्ष्यमाणस्वरूपैर्वन्दनान्ते विधेयैरुत्कृष्टा सपूर्णा चैत्यवन्दनेत्यत्रापि योज्यम् । उक्तं च चैत्यवन्दनाचूर्णौ-" सक्कत्थवाइदंडग-पचगथुइचउक्कगपणिहाणकरणाओ उक्कोसा " त्ति । तथाऽन्यत्र-

" सक्कत्थवाइदंडग-पणगथुइचउक्कथुत्तपणिहाणा ।
संपुन्ना चेइअव-दणाउ इवइ जओ भणिय ॥
दुब्भिगधमलस्सा वि, तणुरुप्पेसणाणिया ।
उभओ वउहो चेव,तेण ठृति न चेइए ॥
तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि " ॥

एतयोर्भावार्थ.-साधवश्चैत्यगृहे न तिष्ठन्ति । अथवा-चैत्यवन्दनान्त्यशक्रस्तवाद्यनन्तर तिस्र स्तुती श्लोकत्रयप्रमाणाः प्रणिधानार्थं यावत्कर्ष्यन्ते, प्रतिक्रमणानन्तरमङ्गलार्थं स्तुतित्रयपाठवत् । तावच्चैत्यगृहे साधूनामनुज्ञात निष्कारण, न परतः ।

शालिसूरीयभाष्येऽप्युक्तम्—

" दमगपंचगथुइजुय-लपाठपणिहाणसाहिअउक्कोसा ।
अहव पणिवायदमग-पचगजुअविहिजुआ चेसा " ॥

प्रथममतं चैवम् । उक्तात् "तिन्नि वा कड्ढई जाव"इत्यादि भावार्थः प्रागुक्त एव । सिद्धादिश्लोकत्रयमात्रान्तपाठे तु सपूर्णवन्दनाया भाव एव, प्रथमस्तुतिश्लोकत्रयपाठानन्तरं चैत्यगृहेऽवस्थानानुगतेन प्रणिधानासद्भावात् । भणित चागमे वन्दनान्ते प्रणिधानम् । यथा-" वदइ नमसइ " त्ति सूत्रवृत्ति'-वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति । वन्दनान्ते तिस्रस्तुतयोऽत्र प्रणिधानरूपा ज्ञेया. । सर्वथा परिभाव्यमत्र पूर्वापराविरोधेन प्रवचनगम्भीर्यं मुक्त्वाऽभिनिवेशमिति । यद्वा-पञ्चदण्डकैर्द्विकैरिति गम्यम । स्तुतिचतुष्केण स्तुतियुगलद्वयगतेन एकैकयुगले वन्दनाऽनुशास्तिस्तुतिरूपस्तुतिद्वयगणनेन युगलद्वये स्तुतिचतुष्टयभावाव, शेष प्राग्वत्, उत्कृष्टा वन्दना इति ।

उक्त च-

" जा थुइजुगलदुगेण, दुगुणियचिइवदणाइ पुणो ।

न्यायात् उज्जयन्तपर्वतालङ्करणस्य श्रीनेमिनाथस्य स्तुतिर्विधीयते, चशब्दो विशेषकः, तेनायं जिनस्तुतित्वात् दर्शनविशोधकात्कर्मक्षयादिकारकत्वात् संवेगादिकारणत्वात् अशठसमाचरितत्वात् बहुसद्बहुश्रुतानिवारितत्वात् जीतव्यवहारानुपातित्वात् प्राप्यकारादिभिः व्याख्यातत्वात् आवश्यकचूर्णिकृतोऽप्यनुमतत्वात् अनिषिद्धत्वात्पारम्पर्यागतस्वार्थस्य स्वमत्या निषेद्धुमशक्यत्वात् निषेधे मिथ्यामार्गानुपातित्वात् आज्ञाप्रकारत्वाच्च इत्यतो युक्तमेवायमधिकारः। एवमग्रेतनोऽपि। तथा एकादशे चत्वारि "अट्ठाइस" इतिगाथास्वरूपे, "अट्ठावय" त्ति सूचनात् अष्टापदपर्वतोपरि भरतनिर्मापितवर्त्तमानचतुर्विंशतिजिनस्तुतिः क्रियते, निगमनार्थत्वादस्येति। यद्वा- "अट्ठावय त्ति" उपलक्षणं, तेनान्यत्रगा अपि जिना अनया गाथया वन्द्यन्ते। तत्र यथेयं वृद्धैर्व्याख्याता तथा भव्यानां भावबृद्धये किञ्चिद्दर्श्यते-

"चत्तारि अट्ठ दस दो, य वंदिया जिणवरा च उव्वीसं।
परमट्ठनिट्ठियट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" ॥१॥

दाहिणदुआरे चत्तारि, पच्छिमे अट्ठ, उत्तरे दस, पुव्वओ दो य, एव अट्ठावए चउवीस जिणवरा वंदिज्जंति। अन्ने भणंति- उवरिममेहलाए चत्तारि, मज्झिमाए अट्ठ, हिट्ठिमाए दस दो य, मिलियाओ चउवीसं जिणपडिमाओ अट्ठावए वंदिज्जंति, चत्ता अरओ जेहिं ते चत्तारओ पयविसेसेण अट्ठ ८ दस १० दो य २ एव वीस २०। चतु शब्दौ विशेषणसमुच्चयार्थेषु यथायोगं योज्यौ। "एए सम्मेयपव्वए वंदिया परमट्ठेण उवयारेण निट्ठियट्ठा" समाप्तप्रयोजनाः,सिद्धाः शिवं गताः, 'षिधू' गत्यामिति वचनात् २ "चत्तारि पय पुव्व च अट्ठदससु मिलिया १७ दोयत्ती जाया" स्वर्गपा इन्द्रा इत्यर्थः, "तेहिं वंदिया चउवीस अइया, तम्हा पच,ते अट्ठारस मेलिया तेवीसं,एएसिं तुज्झे वंदिज्जति, कहं पुरा पहाणा मा लच्छी समोसरणाइया,तत्थ ठिया, समोसरिया इत्यर्थः। निट्ठियट्ठा सपन्नफला केवलनाणसपत्तीए।" यदागमः- "जललट्ठाए कीरइ नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणए अदंतधवणे" इत्यादि, सिद्धाः शास्तारो बभूवुः, मङ्गलभूताश्च, 'षिधू' शास्त्रमाङ्गल्ययोरिति वचनात्। "चऊहिं अट्ठगुणिया ३२, दोहिं य दस २० मिलिय बावन्ना, नंदिसरजिणा य वंदिज्जंति, चसद्दा भयतरे पुण वीसं, अहवा चउराहिया वीसं, एए नंदिसरसोहम्मेसाणिंदग्गमहिसीरायहाणीसु संति, भयतरे पुण चउवीसं, पर अट्ठसाहिया ३२। एव नंदिसरे दीवे ५२। २० वा, रायहाणिसु १६। ३२ वा, परमट्ठेण" न वर्णनामात्रेण, "निट्ठिया" निष्ठां प्राप्ता, आस्था आस्थानं, स्थानेत्यर्थ। येषां ते तथा, सिद्धा नित्या, अपर्यवसानस्थितिकत्वात्। "चत्तारि जंबुदीवे अट्ठ धायइसंडे दस नवर दो य रहिया पुक्खरवरद्धे,एव वीसं जिणा सपइ जहन्नओ विहरमाणा वंदिज्जंति, जम्मं पइ उक्कोसओ वा" चतुःशब्दौ प्राग्वत्। "परमट्ठनिट्ठियट्ठा" भाविनि भूतवदुपचारात् सिद्धा प्रख्याता भव्यैरुपलब्धगुणसंदोहत्वात्। "चत्ता अरी जेहिं ते चत्तारि "कज्जमाणे कडे" इति वचनात्। "के अरी अट्ठ कम्माणि, के चत्तारि दस ते उ दो य ति दुहिं भेएहिं हुंति जहन्ना जम्मपयभरहे रवयस्सगविहरमाणजिणभेएहिं"। च पूरणे। (उव्वीस ति) उर्वीशा पृथ्वीस्वामिन ,शेष प्राग्वत्।६ "अट्ठदससहिं गुणियासं० सा दोहिं गुणिया १६०, सेसं पुव्व वा, एवं सव्वविहरमाणजिणवंदिया ७ अट्ठ, अट्ठहिं गुणिया ६४ दस, दसहिं १००, तओ चत्तारि दो य दो य, सव्वे मेलिया जायं सप्ततिशतम् १७०। एए पन्नरस कम्मभूमी उक्कोसओ विहरमाणा वंदिज्जंति ८ अट्ठ दस १८ चऊहिं गुणिया ७२, एएहिं तिन्नि चउवीसीओ भवंति, ताओ य इह भरहे अमीयाऽणागयवट्टमानचउवीसगा तिगस्स रूवा तित्थयरा वंदिज्जंति ९ चत्तारि अट्ठमीलिया १२, ते य दस गुणिया १२०, एए पचचउवीसिओ पचसु भरहेसु वट्टमाणाओ वंदिज्जंति १०,अट्ठदसहिं गुणिया ८०, ते चेव दस मिलिया ९०, सा चऊहिं गुणिया ३६०, एए पन्नरस चउवीसीओ पचसु भरहेसु कालत्तयसंभवाओ वंदिज्जंति ११, एए चेव तिन्नि पगारा। जहा-७२। १२०। ३६०। दोहिं गुणिज्जति, जाया १४४। २४०। ७२०। चउवीसी किज्जति, जाया त ६। १०। ३०। चउवीसीओ ताओ कमसो पुव्वभणियसत्थेण भरहेरवएसु समम्म वंदिज्जंति १२। अणुत्तरेसु १ गेविज्जेसु २ कप्पेसु ३ जोइसिएसु य ४, एव मट्ठ चत्तारि भेया, अहो य वंतरेसु अट्ठभेएसु अट्ठ ८ दसभेएसु भुवणवासीसु दस १० महियले सासयअसासयभेया दो य २। एवं तिहुयणे जिणाययणेसु चउवीस जिणवरा वंदिया १३। जहा पुण जंबुद्दीवे ६३५, धायइसडे १२७२, पुक्खरवरद्धे १२७६, मणुयलोयबाहिं १२, तिरियलोए वा सव्वसखाए ३२७५, चेइयसयाइं, ताइं सयमेव तहा नियनियसंखाए आणिऊण वंदियव्वाणि।" विस्तरभयाच्च नोच्यन्ते। "एवं अणेगहा पगारसमे अहिगारे जिणवरा वंदिज्जंति ११।" तथा सुदृष्टिसुराणां सम्यग्दृष्टिदेवतानां स्मरणात् तत्प्रवचनादिविषयवैयावृत्यादिकार्यविधानोपयोगप्रभृतिगुणगणानुचिन्तनोत्कीर्तनादिनोपबृंहणा। यथा धन्याः पुण्यवन्तो लब्धजीवितादिफला भवन्तो, यदेवं सदनुष्ठानोद्यताः, युक्तमेवेदं भवादृशां,सुस्थानविनियोगफलत्वात्संपदः।

उक्तं च-

"तं नाणं तं च विन्नाणं, तं कलासु य कोसलं।
सा बुद्धी पोरिसं तं च, देवकज्जेण जं वए" ॥१॥

इत्यादिप्रशंसाद्वारेण तत्कृत्यप्रोत्साहनेत्यर्थः। अथवा-स्मारणा सङ्घादिविषये प्रमादिनां स्वकार्यीभूतवैयावृत्यादितत्कृत्यानां संस्मारणम्, चरमे द्वादशेऽधिकारे "वेयावच्चगराण" इत्यादिकायोत्सर्गकरणं, तदीयस्तुतिदानपर्यन्ते क्रियते इति शेषः। औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वात् धर्मस्य, प्रवचनानुरूपव्यापाराभावे गुणाभावापत्तेः। यतः-

"औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरेकतः।
विषायते गुणग्रामः, औचित्यपरिवर्जितः" ॥१॥

अपि च-अनौचित्यप्रवृत्तो महानपि "मथुराक्षपकवत् कुबेरदत्तायाः" भवत्यल्पानामपि प्रत्युच्चारणादिभाजनम्।

आह च-

"आ रङ्काद् भूपतिं याव-दौचित्यं न विदन्ति ये।
स्पृहयन्त प्रभुत्वाय, खेलन ते सुमेधसाम्॥१॥"

इदमत्र तात्पर्यम्-सर्वदाऽपि स्वपरावस्थानुरूपया चेष्टया सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यमिति। उक्तं च-सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्योति। (मथुराक्षपककुबेरदत्तादेर्योः सम्बन्ध सङ्घाचाराद् ज्ञेय)

यत्वेनाभिकारवन्तः, इह भाववन्दनायां, न तु शेषा न पुनरपुन-र्बन्धकादिभ्योऽपरे, मार्गाभिमुखमार्गपतितसकृद्बन्धकतदन्य-मिथ्यादृशोऽधिकारिण इति प्रकृतम् । कुत एतदेवमित्याह-द्रव्य-तोऽपि भावव्यतिरेकेणापि, आस्तां भावत , यद्यस्मात्कारणात्, एषा वन्दना, द्रव्यवन्दनाऽपीत्यर्थ.। इतरस्या भावतो वन्दनाया', योग्यतायाम् अर्हतायां, सत्यां भवति नान्यथा; अतः कथं शेषा भाववन्दनाधिकारिणो भवन्तीति । ननु भाववन्दनाया अयोग्य-तायामपि केषाञ्चिद् द्रव्यवन्दनेष्यते, अत कथमुक्त भाववन्द-नाऽनर्हाणां द्रव्यवन्दनाऽपि न भवतीत्यत्राह-शेषाणां तु शेषाणां पुनरपुनर्बन्धकादिभ्योऽन्येषां सकृद्बन्धकादीनाम्, अप्रधाना-ऽनुत्तमा द्रव्यवन्दना भवति,न तु प्रधाना, भाववन्दनाया अका-रणत्वात्तस्या.। इदमुक्त भवति-द्रव्यशब्दो योग्यतायामप्रा-धान्ये च वर्त्तते, तत्र शेषाणां भाववन्दनायोग्यत्वेन या प्रधाना द्रव्यवन्दना सा न भवति । तदयोग्यतया त्वप्रधानद्रव्यवन्दना स्यादपि । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थ ॥ ७ ॥

अथ यदुक्तं शेषाणामप्रधानेति तत्समर्थनार्थमाह-

ण य अपुणबंधगाओ, परेण इह जोग्गया वि जुत्त त्ति ।
ण य ण परेण वि एसा, जमभव्वाणं पि णिद्दिट्ठा ॥८॥

न च नैव,अपुनर्बन्धकादुक्तस्वरूपात्,परेण परतः, सकृद्बन्ध-कादीनामित्यर्थ.। इह भाववन्दनायां. योग्यताऽप्यर्हताऽपि,आ-स्तां भाववन्दना, युक्ता सगता, ससारभूयस्त्वात्तेषाम् । इति-शब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । तथा न च नैव, न परेणापि न पर-तोऽपि, सकृद्बन्धकादेरप्येषा द्रव्यवन्दना भवति, भवत्येवे-त्यर्थ. । कुत एतदेवमित्याह-यद्यस्मात्कारणात्, अभव्यानामपि सिद्धिगमनायोग्यानामपि,आस्तां सकृद्बन्धकादीनाम् । निर्दिष्टा निदर्शिता आगमे । आर्हतदीक्षासाध्यस्य ग्रैवेयकोपपातस्या-नन्तशो भव्यानामुक्तत्वात् , अतः शेषाणां भाववन्दनाऽनर्हत्वेन द्रव्यवन्दनाया अभावत्वात्,तस्याश्च तेषामुक्तत्वादप्रधाना सेति स्थितम् । इति गाथार्थः । पञ्चा० ३ विव० ।

(१६) अधिकारिता-

यद्येवमुच्यतां के पुनरस्याधिकारिण इति ? । उच्यते-एतद्ब-हुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्च । न हि विशिष्टकर्मक्षयमन्त-रेणैवभूता भवन्ति । क्रमोऽप्यमीषामयमेव,न खलु तत्त्वत एतद्-बहुमानिनो विधिपरा नाम,भावसारत्वाद्विधिप्रयोगस्य,न चाय बहुमानाभावे इति, न चामुष्मिकविधावप्यनुचितकारिणोऽन्य-त्रोचितवृत्तय इति विषयभेदेन तदौचित्याभावात्, अप्रेक्षापूर्व-कारिविजृम्भित हि तत्, तदेतेऽधिकारिण. परार्थप्रवृत्तैर्लिङ्गतो-ऽवसेया., मा भूदनधिकारिप्रयोगे दोष इति । लिङ्गानि चैषां त-त्कथाप्रीत्यादीनि । तद्यथा-तत्कथाप्रीति , निन्दाऽश्रवणम्, तद-नुकम्पा,चेतसो न्यासः,परा जिज्ञासा, तथा गुरुविनयः, सत्का-लापेक्षा, उचितासन,युक्तस्वरता, पाठोपयोग., तथा लोकप्रिय-त्वम्,अगर्हिता क्रिया,व्यसने धैर्य,शक्तितस्त्याग.,लब्धलक्षत्व चे-ति । एभिस्तत्वाधिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्त्तेत,अन्यथा दोष इत्युक्तम् । आह-क इवानधिकारिप्रयोगे दोष इति? । उच्यते-स ह्य-चिन्त्यचिन्तामणिकल्पमनेकभवशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्म-राशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपीदमयोग्यत्वादवाप्य न विधिव-दासेवते,लाघव चास्यापादयति,ततोऽविधिसमासेवक. कल्या-णमिव महदकल्याणमासादयति । उक्त च-"धर्मानुष्ठानवैतथ्या-त्प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुःखौघजनको, दुःप्रयुक्तादि-वौषधात् " ॥१॥ इत्याद्यतोऽनधिकारिप्रयोगे प्रयोक्तृत्वमेव न स्वतः तदकल्याणमिति लिङ्गै. तदधिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्त्तेत । एव हि कुर्वता आराधित वचन,बहुमतो लोकनाथ ,प-रित्यक्ता लोकसज्ञा,अङ्गीकृत लोकोत्तरयान,समासेविता धर्म-चारितेति । अतोऽन्यथा विपर्यय इत्यालोचनीयमेतदतिसूक्ष्म-भावेन । न हि वचनोक्तमेव विधानमुल्लङ्घ्याऽपरो हिताद्युपाय ,न चानुभवाभावे पुरुषमात्रप्रवृत्तेस्तथेष्टफलसिद्धि.। अपि च-ला-घवापादनेन शिष्टप्रवृत्तिनिरोधतस्तद्विधान एव । अपवादोऽपि सूत्राबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभ. शुभानुबन्धी महासत्त्वसेवित उत्सर्गभेद एव । ननु सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ताभावेन हितमहितानुबन्ध्यसमञ्जस परमगुरु-लाघवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितमिति । एतदङ्गीकरणमप्यनात्म-ज्ञानां ससारसरिच्छ्रोतसि कुशकाशावलम्बनमिति परिभावनी-यम् । सर्वथा निरूपणीय प्रवचनगाम्भीर्यं, विलोकनीया तन्त्रान्तरस्थितिः, दर्शनीयं ततोऽस्याधिकत्वम्, यतितव्य-मुत्तमनिदर्शन इति श्रेयोमार्गः, व्यवस्थितश्चाय महापुरुषा-णां क्षीणप्रायकर्मणा विशुद्धाशयानां भवाबहुमानिनाम् अ-पुनर्बन्धकादीनामिति । अन्येषां पुनरिहानधिकार एव, क्षुद्रदे-शनाऽनर्हत्वात् । क्षुद्रदेशना हि क्षुद्रसत्त्वमृगयूथसन्त्रासनसिं-हनाद , भुवस्तावदतो बुद्धिभेद., तदनु सत्त्वलेशचलन, क-ल्पितफलाभावापादनात् अशस्तमहामोहवृद्धि', ततोऽधि-कृतक्रियात्यागकारी संत्रास ,भवाभिनन्दिनां स्वानुभवसिद्धम-प्यसिद्धमेतदचिन्त्यमोहसामर्थ्यादिति । न खल्वेतानधिकृत्य विदुषा शास्त्रसद्भाव प्रतिपादनीयो, दोषभावादिति । उक्तं च-" अप्रशान्तमतौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवो-दीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥ " इति कृत विस्तरेण, अधिका-रिण एवाधिकृत्य पुरोदितान्, अपक्षपातत एव निरस्येतरान् प्रस्तुतमभिधीयत इति । ल०।

" एएहिं लिंगेहिं, नाऊणऽहिगारिए तओ सम्म ।
चिइवदणपाढाइ वि, दायव्व होइ विहिणा उ ॥ १७ ॥

भणियं च-

अत्थो विहिकहणं च, अत्थउ चिइवदणाइदूरेण ।
पाढो वि तओ देई, अहिगारिणि अपुणबंधाई ॥ १८ ॥
दिन्नं च अणहिगारिणि, अविहिअवन्नाइसेवणा जस्स ।
दुपउत्त ओसह पि व, होइ अकल्लाणजणग ति ॥ १९ ॥
तम्हा उ अपुणबंधग, अविरयविरयएहिं होइ कायव्वा ।
विहिउचियवित्तिबहुमा-णभत्तिकलिएहिँ सयकाल ॥२०॥
साहूहिँ गिहत्थेहि य, अणुग्ग चिट्ठेइ जलयत्तकलिएहिं ।
जहसत्तं गहाहिं, कयजिणपूयोवयारेहिं ॥ २१ ॥
तह दव्वभावभेया, दुहा इमा दव्वओ पुणो दुविहा ।
अपहाणा य पहाणा, होऊ भाविस्सिह पहाणा ॥ २२ ॥
तत्थ पहाणा एसा, होऊ पुण बंधगाईण ।
अपहाण चिअ सेसा-ण इत्थ सइबंधगाईण ॥ २३ ॥
ता उण सइबंधगाणं, मग्गाभिमुहाण मग्गवमिआण ।
इयराण वि अपहाणा, चिइवदण दव्वओ होइ ॥ २४ ॥
उवओगअत्थचिंतण, गुणराया लाहविम्हओ चेव ।
लिंगाण विहिअभंगो, भावे दव्वे विवज्जओ ॥ २५ ॥
वेलाविहाणजयणा-भणतणुवयणाणि तह य लिंगाणि ।

वेगादिकारणत्वेन दर्शनविशुद्धिहेतुत्वात्तस्याश्च मोक्षाङ्गतया कर्त्तव्यत्वात् । मोक्षस्य चाक्षेपेण प्राप्तुमिष्टत्वात्तदर्थमेव च सकलधर्म्मानुष्ठानप्रवृत्तेः, यतश्चैव शेषा गाथाश्चूर्णिकृता अभणितास्तेन कारणेनेदं निश्चीयते-यदुत पूर्वोक्ता नवाधिकारास्तावत्सूत्रसिद्धा एव । येऽपि चोज्जयन्तादयोऽधिकारा, तेऽपि श्रुते चूर्ण्यादिरूपे श्रुतविवरणे पदेऽपि पदसमुदायोपचारात् मता एव अभिमताः, इच्छायां भणितत्वात्, अनभिमते सता प्रवर्त्तयितु योगाभावात् । अन्यथाऽनाप्तत्वप्रसङ्गात् अनिषिद्धत्वाच्च ॥ ३७ ॥

आह-" उज्जिताइ " इत्यत्रादिशब्देन " चत्तारि " इत्येकादश एवाधिकारा अनुमीयन्ते, क्रमानुविरुद्धत्वान्न पुनर्द्वितीयः, तस्यान्यत्र पाठादतः स कथं भण्यते ?, इत्याशङ्क्याह-

बीओ सुयत्थयाई, अत्थउ वणिओ तहिं चेव ।
सक्कथयंते पढिओ, पुव्वायरिएहिँ पयडत्थो ॥३८॥

न केवल दशमैकादशावधिकारौ चूर्णिकारभणितत्वात् भण्येते, किं तु द्वितीयोऽपीत्यपिर्गम्यः " जे य अईया " इत्यादिलक्षणोऽप्यधिकारः, श्रुतस्तवस्य चतुर्थदण्डकस्य,आदौ "पुक्खरवरदी० " इतिगाथायामर्थतोऽर्थमाश्रित्य वर्णितो व्यावर्णितः, तत्रैव आवश्यकचूर्णावेव । अयमत्र भावार्थः-द्वितीयाधिकारार्थो द्रव्यार्हद्वन्दना, सा च तत्र भणिता । तथाहि-" उक्कोसपपणं सत्तर तित्थयरसयं, जहन्नपए वीस तित्थयरा, एए ताव एगकालेणं भवंति । अईया अणागया अणंता, ते तित्थयरे नमसामि " इति । एवं चूर्णिव्याख्यातार्थस्वरूपत्वेन चूर्ण्युक्त एवायमपीति भण्यते । ननु यद्येव चूर्ण्युक्तार्थतयाऽयं भण्यते, तर्हि तत्रैव भण्यतां, किमन्यत्र पाठेनेत्याह-शक्रस्तवान्ते प्रणिपातदण्डकानन्तरं, पठितो भणितः, पूर्वाचार्यैः पूर्वैरनुयोगकृद्भिः, शक्रस्तवान्तेऽस्य स्थानात्,भावार्हद्वन्दनाऽनन्तरं द्रव्यार्हद्वन्दनायाः क्रमप्राप्तत्वात् प्रथमाधिकारेऽपि नवमसपादे किञ्चित्तद्भणनात्, अस्य तु तद्विस्तरार्थत्वादित्यमेव च बहुभव्योपकारदर्शनात्, भावप्राधान्याश्रयेण च पश्चानुपूर्व्या चैत्यवन्दनायाः प्रारम्भ, तस्या अप्यागमेऽनुज्ञातत्वात् । श्रुतस्तवादौ त्वस्य पाठे अनानुपूर्व्या अप्यसम्भवात्, तन्मध्यपाठेऽपि व्यत्याम्रेडितदोषप्रसङ्गात्, शक्रस्तवान्तभणने तु दोषासम्भवात्, दण्डकान्तेऽन्यस्यापि स्तुतिस्तवादेर्भणनादित्येष निर्दोषत्वेन पूर्ववृद्धैः शक्रस्तवान्तेऽयं पठितः, तथैव च भण्यते, वृद्धाचरितस्य जीतव्यवहाररूपत्वात् । उक्तं च-" जीयं ति वा करणिज्जं ति वा आयरणिज्जं ति वा एगट्ठा " ।

तथा-

" वत्तऽणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेविओ महाणेण ।
एसो य जीयकप्पो, पचमओ होइ ववहारो ॥१॥
वत्तो नामं इक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो बिइयवारं ।
तइयवाराणपउत्तो, सुपरिग्गहिओ महाणेण " ॥२॥ इति ।

वृत्तं एकदा नवो जातः पात्रबन्धग्रन्थ्यादिवदित्यादि । तथा प्रकटार्थः सुगमार्थ , कृत इति शेषः । बालादीनामप्येवं शुभभावबृद्धेः । चूर्ण्युक्तमर्थं हि केचिदेव जानते, एवं तु पाठे मन्दमतीनामपि भवति । यथा वयं त्रिकालभाविनो जिनानमुना वन्दामहे, तनश्च सुलभ एव शुभभाववृद्धि ,बोधिनिमित्तत्वात्तस्या । इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ३८ ॥

एवं द्वादशाधिकारस्वरूपं निरूप्य तद्भणनेन तात्पर्यार्थं प्ररूपयन्नाह-

असढाइण्णऽणवज्जं, गीयत्थअवारियं ति मज्झत्था ।
आयरणा वि हु आण, त्ति वयणं तु सुबहु मन्नंति ॥४०॥

अशठेन निर्मायेन, एतेन चास्याविप्रतारकत्वमाह, ' आ ' इति मर्यादया, सूत्रोक्तया गुरुलाघवचिन्तयेत्यर्थः । अनेन चाचीर्णकर्तुः प्रमाणत्वं दर्शयति, अगीतार्थस्य प्रमाणत्वायोगात् , आचरितस्य तु सूत्रानुसारित्वं गुरुलाघवचिन्तया कृतस्य सूत्रेण सह पूर्वापरविरोधाभावात् । चीर्णे चरितं, देशकालाद्यपेक्षया गुणानुविधायित्वेन बहुभव्योपकारीति कृत्वा अशठाचीर्णम्, तथा अनवद्यं निर्दोषं, जिनस्तुत्यादिरूपतया कर्मक्षयहेतुत्वात् । तथा गीतार्थैस्तदन्यैस्तत्कालवर्त्तिभिर्न निवारितं, शोभनत्वादेव दर्शनादिविशोधकत्वात् जिनस्तुत्यादेः । इति एवं, यद् बहुबहुश्रुतं, संविग्नपूर्वाचार्यसमतमित्यर्थः । ततः सुबहु मन्यन्ते, इतिगाथान्ते सबन्धः । के इत्याह-मध्यस्थाः कुग्रहकलङ्काकलुषितचेतोवृत्तित्वेन रागाद्यस्पृष्टाः ।

उक्तं च-

"जो न वि वट्टइ रागे, न वि दोसे दुण्ह मज्झयारम्मि ।
सो हवइ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झ त्ति" ॥१॥

अन्यथा धर्मानर्हत्वात् । आह च-

" रत्तो दुट्ठो मूढो, पुव्विं वुग्गहिओ य चत्तारि ।
एए धम्मअणरिहा, अरिहो पुण होइ मज्झत्थो " ॥१॥ इति ।

आचरणाऽपीति-न केवलं सूत्रोक्तमात्रमेवाज्ञा, किं तु आचरणाऽपि संविग्नगीतार्थाचरितमपि, आज्ञैव, हुरेवार्थे, सूत्रोपदेश एव, अतीर्थानुवृत्तिजीताख्यपञ्चमव्यवहाररूपत्वात् ।

आह च-

"बहुसुयकमाणुपत्ता, आयरणा धरइ सुत्तविरहे वि ।
विज्झाए वि पईवे, नज्जइ दिट्ठ सुदिट्ठीहिँ ॥ १ ॥
जीवियपुव्वं जीवइ, जीविस्सइ जे उ धम्मियजणम्मि ।
जीयंसि तेण भन्नइ, आयरणा समयकुसलेहिँ ॥ २ ॥
तम्हा अनायमूले, हिंसारहिएऽसुया ण जणणीया ।
सूरिपरंपरपत्ता, सुत्तं च पमाणं आयरणा ॥ ३ ॥ "

इत्येवं, यद्वचनं सूत्रम् । तथा च कल्पनिर्युक्तिः-

" आयरणा वि हु आणा, अविरुद्धा चेव होइ आण त्ति ।
इहरा तित्थयरासा-यण त्ति तल्लक्खण चेयं ॥१॥
असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केण इ असावज्जं ।
न निवारियमन्नेहिं, बहु मणुमयमेवमाइज्जं " ॥ २ ॥ इति ।

तस्मात्तद्वचनप्रामाण्यात् , सुष्ठु याथातथ्यपूर्णाद्यनिश्चयेन बहु मन्यन्ते भावसारं प्रतिपद्यन्ते, "बहुमानो मानसी प्रीतिः" इति वचनात् । यत उक्तम्-

"अवलंबिऊण कज्जं, जं किंची आयरंति गीयत्था ।
थोवावराह बहुगुणं, सव्वेसिं तं पमाणं ति" ॥१॥

यतः-

" संविग्गा विहिरसिया, गीयत्थतमा उ सूरिणो पुरिसा ।
न य ते सुत्तविरुद्धं, सामायारिं परूविंति" ॥ २ ॥

अवि य-

जं बहु साय दीसइ, न य दीसइ कह वि भासियं सुत्ते ।
पमिसेहो वि न दीसइ, मोणं वि य तत्थ गीयाणं ' ।३। इत्यादि ।

च-" मझमी नस्स उत्तरी" इत्यादि, "ठामि काउस्सग्गं" इति पर्यन्तमिति। परतः कायोत्सर्गदण्डकत्वाच्च तद्वर्णसहितानि तु त्रीणि शतानि चत्वारिंशदधिकानि भवन्ति। उक्तं च-"नव-नवइसया इरिया-वहिआए होइ वन्नपरिमाणं । उस्सग्गवन्न-सहिआ, ते तिन्नि सया उ चालीसा ॥१॥" अपरे तु-" मिच्छा मि दुक्कडं" इति पर्यवसान " वन्नाण सङ्घसयं" इति भणन्ति। तथाऽत्र द्वात्रिंशत्पदानि, अष्टौ सपदो महापदानीति ॥

अथ यस्यां सपदि यावन्ति पदानि सन्ति तत्संख्या आद्यपदप-रिज्ञाने च शेषपदानि सुखेन ज्ञायन्ते, इत्याद्यपदानि च ईर्याप-थिकीसंपदां प्रतिपिपादयिषुराह—

दुग दुग इग चउ इग पण,इगरस छग इरियसंपयाइ पया।
इच्छाइरिगमपाणा, जे मे एगिंदि अभि तस्स ॥ २४ ॥

द्वे च द्वे चेत्यादि द्वन्द्वः। ततो द्विद्व्येकचतुरेकपञ्चैकादशषट्पदानि यासु ताश्च ता ईर्यापथिकीसपदश्च "ते लुग्वा" ॥३।२।१०८॥ इति पदपयिकीशब्दयोर्लोपः,तासामाद्यपदानि। यथा इच्छा च, इरि-येत्यादिद्वन्द्वः। इत्यक्षरघटना। एवमन्यत्रापि कार्या। भावार्थस्त्व-यम्-इच्छेतिवर्णद्वयसूचिताऽऽद्यपदा " इच्छामि १ पडिक्कमिउं २" इति पदद्वयपरिमाणा प्रथमा सपत् । इरीत्यक्षरद्वयघटि-ताद्यपदा " इरियावहिआए १ विराहणाए २ " इति पदद्वय-निष्पन्ना द्वितीया सपत् । गमेत्याद्यक्षरद्वयलक्षणा-" गमणाग-मणे " इत्येकपदैव तृतीया सपत् । "पाणे त्ति" द्विवर्णवपर्या-दिमपदा "पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ३ ओसा उत्तिं-गपणगदगमट्टीमक्कडासंताणासंकमणे ४" इति पदचतुष्टयनि-ष्टङ्किता चतुर्थी सपत् । " जे मे " इत्याद्यव्यञ्जनद्वयव्यञ्जिता " जे मे जीवा विराहिया " इत्येकपदपरिमिता पञ्चमी सप-त् । ' एगिंदीति ' अक्षरसूचिताऽऽद्यपदा-" एगिंदिया १ बेइंदिया २ तेइंदिया ३ चउरिंदिया ४ पंचिंदिया ५ " इति पदपञ्चकपरिनिष्ठिता षष्ठी संपत् । 'अभीति' वर्णद्वयव-र्णिताद्यपदा " अभिहया १ वत्तिआ २ लेसिआ ३ संघाइआ ४ संघट्टिआ ५ परियाविआ ६ किलामिआ ७ उद्दविआ ८ ठाणा-ओ ठाणं संकामिया ९ जीविआओ ववरोविआ १० तस्स मि-च्छा मि दुक्कडं ११ " इत्येकादशपदपरिच्छिन्ना सप्तमी सपत् । " तस्स त्ति " आद्यपदालिङ्गिता " तस्स उत्त-रीकरणेणं १ पायच्छित्तकरणेणं २ विसोहीकरणेणं ३ वि-सल्लीकरणेणं ४ पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ५ ठामि काउस्सग्गं।" इतिपदषट्कघटिताऽष्टमी सपत् । परतः कायो-त्सर्गसूत्रत्वाद्भाष्यान्तरेऽन्यपदालिङ्गनेनास्या एतदन्तभणनाच्च । उक्तं च-" जीवा विराहिया प-ञ्चमी उ पंचिंदिया जवे छट्टी । मिच्छा मि दुक्कड स-त्तमी अट्ठमि ठामि काउस्सग्गं ॥१॥" एव चासां पदैः परिगणनमर्थसाङ्कत्येन यथार्थतापरिज्ञानात् । उच्यते-"अब्भुवगमो १ निमित्त २, ओहे ३ यरहेण ४ संगहे ५ पञ्च । जीव ६ विराहण ७ पमिकम-णभेयओ तिन्नि चूलाए ॥१॥" अस्या अर्थः उक्तानुसारेणोन्नेयः। वाचनान्तराणि त्वर्थसाङ्कत्याभावेन याद्दच्छिकानि चेति मत्वोपेक्षितानि । अत्र चैव बृहद्भाष्योक्तो विधिः-" संनिहिअं भावगुरुं, आपुच्छि-त्ता खमासमणपुव्वं । इरिअं पडिक्कमिज्जा, ठवणा जिणसरि-कयं इहरा ॥ १॥ " ननु जिनबिम्बस्यापि पुरतः स्थापना-चार्यः स्थापनीयः, तीर्थंकरे सर्वपदभणनात् तद्बिम्बेऽपि सर्व-पदस्थापना अवसीयत एव ।

उक्तं च व्यवहारभाष्ये-
" आयरियग्गहणेणं, तित्थयरो इत्थ होइ गहिओ अ ।
किं न भवइ आयरिओ, आयारं उवइसंतो य ॥
निदरिसणमित्थ जह ख-दएण पुट्ठो य गोअमो भयवं ।
केण तुह सिट्ठ ति य, धम्मायरिएण पच्चाह ॥
स जिणो जिणाइसइओ, सो चेव गुरू गुरूवएसाओ ।
करणाय विणयणाउ, सो चेव मतो उवज्झाओ ॥ " इति ।

आचाराङ्गचूर्णावप्युक्तम्-"आयरिया तित्थयरा गुणे आयरिय असंजमए" त्ति । सूत्रचूर्णौ-"आयरिया तित्थयर त्ति।" संघा० ३ प्रस्ता० । ईर्याप्रतिक्रमणसूत्रमत्रैव प्रागुक्तम् (अत्र स्कन्दकमु-निकथानकं सङ्घाचाराद्बोध्यम्) ई० प्र० अनन्तरम्-एतदर्थश्चैत्य-स्तवदण्डके अभिधास्यते-" इरियउस्सग्गपमाणं,पणवीसुस्सा-स " इति वचनात् पञ्चविंशत्युच्छ्वासपूरणार्थं " चंदेसु निम्म-लयरा" इत्यन्तं चतुर्विंशतिस्तवं मनसा विचिन्त्य " नमो अरि-हंताणं" इति भणन् कायोत्सर्गं पारयित्वा पुनश्चतुर्विंशतिस्तवं सकलं वाचोच्चरति । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । " नमोऽत्थु णं अरि-हंताणं भगवंताणं " इत्यादि। (अस्य व्याख्या अर्हदादिशब्देषु)

तत्र शक्रस्तवसपदां पदसंख्यामाद्यपदानि च प्रतिपिपादयिषुराह-

दु ति चउ पण पण दु चउ ति, प्पयसक्कत्थयसंपयाइपया।
नमुआइगपुरिसो लो-गुअभयधम्मऽप्पजिणसव्वं ॥३१॥

अक्षरघटना प्रागुक्तानुसारेण कार्या। भावार्थः पुनरयम्-" न-मोऽत्थु णं अरिहंताणं " इत्याद्यपदा पदद्वयप्रमाणा प्रथमा सं-पत् । " आइगरेणं " इत्यादिपदत्रयनिष्पन्ना द्वितीया । २। " पुरिसुत्तमाणं " इत्यादिपदचतुष्कचर्चिता तृतीया । ३। " लोगुत्तमाणं " इत्यादिपञ्चपदपूरिता चतुर्थी । ४ । " अ-भयदयाणं " इत्यादिपदपञ्चकपरिमाणा पञ्चमी । ५ । " ध-म्मदयाणं " इत्यादिपदपञ्चकनिष्पन्ना षष्ठी । ६ । " अप्पडिह-य " इत्यादिपदद्वयनिर्वर्तिता सप्तमी । ७ । " जिणाणं " इत्या-दिपदचतुष्टयघटिताऽष्टमी । ८ । " सव्वन्नूणं " इत्याद्यत एक-त्रिकपरिकलिता "जियभयाणं" इति पर्यन्ता नवमी सपत् । ९ ।

अथास्यैव वर्णादिसंख्यार्थं गाथापूर्वार्द्धमाह-

दोसयनउआ वन्ना, नव संपय पय तिसीस सक्कथए ।

द्वे शते सप्तनवत्यधिके, वर्णा अक्षराणि, शक्रस्तवदण्डके इति योगः । " सव्वे तिविहेण वंदामि " इति यावत्; एतदन्तस्यैव वर्णवृद्धिसम्प्रदायेन प्रणिपातदण्डकतया रूढत्वात् । तथा च चै-त्यवन्दनाचूर्णौ-"तिविहेण वंदामि"इत्येतदन्तं व्याख्याय भणित-म्-" सक्कत्थयं विवरणं सम्मत्तं "। श्रीलघुभाष्येऽप्युक्तम्-" दो दो चउ चउ तिसया, सग नवइ तिसनवइ अप्पहिआ । अडतीसा छायाला, दंडेसु जहक्कमं वन्ना " ॥ १ ॥
अस्यार्थः स्थापनातोऽवसेयः । तथा नव सपदः, पदानि च त्रयस्त्रिंशत् शक्रस्तवे । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । ध० । प्रव० ।

भरतचरिते तु तस्य चक्ररत्ने उत्पन्ने-

" सो विणयमो नयगओ, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहिँ वग्गूहिँ ॥४६॥
लाभा हु ते सुलद्धा, जं सि तुमं धम्मचक्कवट्टीणं ।
होहिसि दस चतु इसमो, अ पच्छिमो वीरनामो त्ति ॥४७॥
एव एह थोऊण, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।

सप्ततिशतं जिनाना-मुत्कृष्टपदवर्त्तिनाम् ।
वन्दे मनुष्यलोकेऽह-मुत्कृष्टपदवर्त्तिनाम् ॥ ३२ ॥
श्रीमन्नन्दीश्वरद्वीपे, प्रतिमाप्रणताच्युताः ।
द्विपञ्चाशति चैत्येषु, प्रतिमाप्रणताच्युताः ॥ ३३ ॥
यद्यात्मनीच्छसि स्थान-मकृत्रिममकृत्रिमम् ।
जैनबिम्बव्रजं वन्दे-मकृत्रिममकृत्रिमम् ॥ ३४ ॥
ये जिनेन्द्रान्नमस्यन्ति, साम्प्रतातीतभाविनः ।
दुष्कृतात्ते विमुच्यन्ते, साम्प्रतातीतभाविनः ॥ ३५ ॥
परात्मानो जिनेन्द्रा ये-र्नीयन्ते मानसं प्रति ।
पदं यान्ति जगन्मान-नीयं ते मानसं प्रति ॥ ३६ ॥
सोऽस्तु मोक्षाय मे जैनो, नयसंगत आगमः ।
अपि य बुध्यते विद्वो, नयसंगत आगम ॥ ३७ ॥
त्वं नामाज्ञानभिद्धर्म-कीर्तये श्रुतदेवते ।
यत्र कोऽपि तदग्रे स्व-कीर्त्तये श्रुतदेव ! ते ॥ ३८ ॥
यत्राम्बाद्या सुराः सर्वे, वैयावृत्यकरा जिने ।
भद्रं कुर्वन्तु सङ्घाय, वैयावृत्यकरा जिने" ॥ ३९ ॥
उक्तं " चउरो थुइ " त्ति षोडश द्वारम् ॥४१॥

निमित्तार्थं ४ स्तुतिः-

अधुना " निमित्तठ " त्ति सप्तदश द्वारं विवृण्वन्नाह -

पावखवणत्थइरिया-इ वंदणवत्तियाइ छनिमित्ता ।
पवयणसुरसरणत्थं, उस्सग्गो इय निमित्तट्ठं ॥४२॥

पापानां गमनागमनादिसमुत्थानां, क्षपणार्थं निर्घातनार्थम्, ईर्यापथिक्या., कायोत्सर्ग इति योग. । यदागम.-"गमणागमणविहारे, सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ । नावा नइसंतारे, इरियावहियाए पडिक्कमणं " ॥ १ ॥ गमनागमनादिसमुत्थपापक्षयरूप फलमीर्यापथिक्या. कायोत्सर्गाद्भवतीति । तथा वन्दनप्रत्ययादीनि षट् निमित्तानि फलानि येभ्यस्ते, तथा त्रय उत्सर्गा इति शेष. । वन्दनपूजनसत्कारसंमानबोधिलाभनिरुपसर्गेति षट् फलानि चैत्यवन्दनादिकायोत्सर्गेभ्य स्यु. ।

तत्र—

" सुमरणथुइनमणाइसु-भमणवइतणुपवित्ति वंदणयं ।
पुप्फाईहिं पूयण-मिह वत्थाईहि सक्कारो ॥ १ ॥
सम्माणो मणपीई-इ विणयपडिवत्ति वोहिलाभो उ ।
तित्थजिणधम्मसंप-त्ति निरुवसग्गो उ निव्वाणं ॥ २ ॥
अरिहाइवंदणाईसु, जं पुन्नफलं हवेउ तं मज्झ ।
उस्सग्गाउ च्चिय त-प्फलेहि बाहि तउ वि सिवो" ॥ ३ ॥

तथा प्रवचनसुराः सम्यग्दृष्टयो देवाः, तेषां स्मरणार्थं वैयावृत्यकरेत्यादिविशेषणद्वारेणोपबृंहणार्थं क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादिकृते तत्तद्गुणप्रशंसया प्रोत्साहनार्थमित्यर्थः। यद्वा-तत्कर्त्तव्यानां वैयावृत्त्यादीनां प्रमादादिना श्लथीभूतानां प्रवृत्त्यर्थम्, अश्लथीभूतानां तु स्थैर्याय च स्मारणा ज्ञापना, तदर्थं, सारणार्थं वा, प्रवचनप्रभावनादौ हितकार्ये प्रेरणार्थम्। किम् ?, उत्सर्गः कायोत्सर्ग', चरम इति शेष । इत्येतानि निमित्तानि प्रयोजनानि फलानि इति यावदष्टौ, चैत्यवन्दनाया भवन्तीति शेष. । इह च यद्यपि वैयावृत्यकरादयः स्वस्मरणाद्यर्थं क्रियमाणं कायोत्सर्गं न जानते, तथाऽपि तद्विषयककायोत्सर्गकर्तु. श्रीगुप्तश्रेष्ठिन इव विघ्नोपशमादिषु शुभसिद्धिर्भवत्येव, आप्तोपदिष्टत्वेनाव्यभिचारित्वात् । यथा स्तम्भनीयादिनिष्परिज्ञानेऽप्याप्तोपदेशेन स्तम्भनादिकर्मकर्तु. स्तम्भनाद्यभीष्टफलसिद्धि. ।

उक्तं च चूर्णौ-

"तेसिमविन्नाणे वि हु, तव्विसउस्सग्गओ फलं होइ ।
विग्घजयपुन्नबंधा-इकारणं मंतनाएणं " ॥१॥ इति ।

ज्ञापयति चैतदिदमेव कायोत्सर्गप्रवर्त्तकम् "वेयावच्चगराणं" इत्यादि सूत्रम्, अन्यथाऽभीष्टफलसिद्धादौ प्रवर्त्तकत्वायोगात् । उक्तं च ललितविस्तरायां तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात् तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकमिति । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (अत्र श्रीगुप्तश्रेष्ठिकथा सङ्घाचाराद्वसेया)

इत्युक्तं " निमित्तठ त्ति " सप्तदश द्वारम् ॥४२॥

चतुर्हेतुकद्वारम् " तस्स उत्तरीकरणेणं " इति । साम्प्रतं " वारहेओ य " त्ति अष्टादश द्वारं व्याख्यानयन्नाह-

चतु तस्स उत्तरीकर-णपमुह सद्धाइया य पण हेऊ ।
वेयावच्चगरत्ता-इ तिन्नि इय हेउ वारसगं ॥ ४३ ॥

चत्वारो हेतव , तस्योत्तरीकरणप्रमुखा' " तस्स उत्तरीकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं " इति रूपा., कायोत्सर्गसिद्धये भवन्तीति शेष. ।

तत्र-

"तस्सालोयणपडिक्कम-णमाइणा सोहियाइयारस्स ।
उत्तरकरणाईहिं, हेऊहिं करेमि उस्सग्गं ॥ १ ॥
पडिबंधपलेवाई, जह सालागाए सोहियवणस्स ।
हाणाइ गयमलस्स व, जहा विलेवाइ सक्कारो ॥ २ ॥
आलोयणाइणा तह, सुद्धऽइयारस्स उत्तरीकरणं ।
कीरइ पच्छित्तेण व, जह सगडरहंगगेहाणं ॥ ३ ॥
पच्छित्तं पुण तस्स-ग्गलक्खणं पंचमं इह विसोही ।
अइयाराण अभावो, मायाए विणा विसल्लत्तं" ॥ ४ ॥

तथा श्रद्धादिका -"सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणी " इत्यात्मकाः पञ्च हेतव. ।

तत्र-

"सद्धा निआभिलासो, न परागुग्गहलाभिओगाई ।
मेहा हेओपादे-यवुद्धिपसुया न य जडत्तं ॥ १ ॥
मेहा वा मज्जाया, जिणभणिया नासमंजसत्तं पि ।
मणपणिहाणं पीई, धिई न रागाइआउलया ॥ २ ॥
धारण अरिहाइगुणा-विस्सरणं न उण सुन्नचित्तत्तं ।
अणुपेहा अत्थाई-चिंता न पवित्तिमित्तं तु ॥ ३ ॥
पंचसु वि इमेसु पुढो, संवज्जइ वड्ढमाणय त्ति अहा ।
सद्धाई वड्ढमाणी-इ वालि उस्सग्गमिच्छामि ॥४॥
इय पाढो लाभकमा, एसिं सद्धाईइ जहा भहा ।
तो विधिई इच्चाई, सुद्धी वि इमाण एमेव ॥५॥
कारणरहियं कज्जं, घमाइयं जह न सिज्झइ कया वि ।
इय सद्धाईहि विणा, काउस्सग्गस्स न हु सिद्धी " ॥६॥

तथा वैयावृत्यकरादयश्च त्रयो हेतव' ।

उक्तं च-

"पवयणवेयावच्चं, पवयणसंतिं च पवयणसमाहिं ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, करिंति जे तेसिमुस्सग्गं ॥ १ ॥
पवयणवेयावच्चा-इवत्तियाईहि ठामि हेऊहिं ।
अविरयभावा तेसिं, न उ वंदणवत्तियाईहिं ॥ २ ॥
वेयावच्चं संघा-इरक्खणापमुहकिच्चमिह संति ।

पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ १ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ २ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि ऽरिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च" ॥३॥ ध० २ अधि०।
कीर्त्तनं कृत्वा चेतःशुद्ध्यर्थं प्रणिधानमाह-
" एवं मए अभिथुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु" ।१। ध० २ अधि०।
तत्र प्रथममस्य लाघवार्थं च श्रुतस्तवादेरस्यैकयैव गाथया संपदादिप्रमाणमाह-

नामथयाइसु संपय-पयसम अडवीस सोल वीस कमा ।
अदुरुत्त वन्न दोसय, दुसय सोलऽट्ठनउय सयं ॥

नामस्तवचतुर्विंशतिस्तवः, आदिशब्दात् श्रुतस्तवसिद्धस्तवग्रहः। एषु दण्डकेषु,संपदो विश्रामाः,पदसमाः दण्डकादिचतुर्थभागसमानाः, यावन्ति पदानि तावन्त्य एव संपदः। तत्र अष्टाविंशतिर्नामस्तवे, एकश्लोकगाथापट्कमानत्वात् । षोडश श्रुतस्तवे, गाथाद्वयवृत्तद्वयत्वात् । विंशतिः सिद्धस्तवे, गाथापञ्चकप्रमाणत्वात् । क्रमेण यथाक्रमं, तथा अद्विरुक्ता अपुनरुक्ता ये एकवेलया गणितास्ते पुनर्न गण्यन्ते । इति भावः । वर्णा अक्षराणि , दण्डकत्रये क्रमेण भवन्ति। तत्र द्वे शते षष्ट्यधिके नामस्तवदण्डके, " सव्वलोए " इत्यक्षरचतुष्कस्याक्षेपात्। अग्रेतनवर्णानाम् अर्हच्चैत्यस्तवे गणितत्वाद्द्विरुक्ता इति प्रतिज्ञाताच्च ।एवमग्रेऽपि भाव्यम् । १ । तथा द्वे शते षोडशाधिके श्रुतस्तवदण्डके, " सुयस्स भगवओ त्ति " सप्तादरसहितगणनात् दण्डकान्तःपातित्वादेषाम् । तथा अष्टनवत्यधिकं शतं सिद्धस्तवदण्डके, " समद्दिट्ठी समाहिगराणं " इतियावत् पञ्चाधिकारप्रमाणत्वात् पञ्चमदण्डकस्य "सिद्धत्थए पंच अहिगारा " इति वचनात् । शेषभावना प्राग्वत् । संघा० ३ प्रस्ता० ।

(२४) सिद्धस्तुतिः-

" कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥१ ॥" ध० २ अधि० । ल० ।

" चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" ॥१॥ ध०२अधि०। ल०। सङ्घा०। नामाऽर्हद्वन्दनाधिकाररूपश्चतुर्थोऽधिकारस्तृतीयो दण्डकः । एवं चतुर्विंशतिस्तवमुक्त्वा सर्वलोक एवार्हच्चैत्यानां वन्दनार्थं कायोत्सर्गकरणायेदं पठति, पठन्ति वा-" सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं " इत्यादि, " वोसिरामीति " यावत् । ध० २ अधि० । ल० । नवरं सर्वलोके ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपे , त्रैलोक्य इत्यर्थः । तत्रोर्द्धलोके सौधर्मादिस्वर्गगतविमानेषु । यथा-" बत्तीसलक्खचेइय सोहम्मे" (इत्यादि 'चेइय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे१२४२पृष्ठे गतम्) व्याख्या पूर्ववत्, नवरं सर्वश्चासौ लोकश्च अधऊर्द्धतिर्यग्भेद ,तस्मिँस्त्रैलोक्य इत्यर्थः । अधोलोके हि चमरादिभवनेषु,तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु , ऊर्द्धलोके सौधर्मादिषु सन्ति वाऽर्हच्चैत्यानि । ततश्च मौलचैत्य समाधिकारणमिति मूलप्रतिमाया प्राक् स्तुतिरुक्ता । इदानीं सर्वे अर्हन्तस्तुत्या इति सर्वलोकमाह । तदनुसारेण सर्वतीर्थकरसाधारणा स्तुतिः । अन्यथा अन्यकायोत्सर्गे अन्या स्तुतिरिति न सम्यक्, अतिप्रसङ्गात् । इति सर्वतीर्थकराणां स्तुतिरुक्ता। एष सर्वलोकस्थापनार्हत्स्तवरूपः पञ्चमोऽधिकारः ।

इदानीं येन ते भगवन्तः तदभिहिताश्च भावाः स्फुटमुपलभ्यन्ते, तत्प्रदीपस्थानीयं सम्यक् श्रुतमर्हति कीर्तनं तत्राऽपि तत्प्रणेतॄन् भगवतस्तत्प्रथमं स्तौति-
" पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइसंडे य जंबुद्दीवे य ।
भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि" । ध० २ अधि०। ल०।
एवं श्रुतधर्मादिकराणां स्तुतिरुक्ता , एष षष्ठोऽधिकारः ।

इदानीं श्रुतधर्मस्याऽऽह-
" तमतिमिरपडलविद्धं-सणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स ।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स " ॥ १ ॥ ध० २ अधि० । ल० ।

इत्थं श्रुतमभिवन्द्य तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेणाप्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह-
" जाईजरामरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं॥१॥" ध०२ अधि०। संघा०।

यतश्चैवमतः-
" सिद्धे भो पयओ णमो, जिणमए नंदी सया संजमे,
देवं नागसुवन्नकिन्नरगण-स्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं,
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ " ॥ १ ॥ ध० २ अधि०। ल०। सङ्घा० ।

(२५) श्रुतस्य स्तुतिः-

प्रणिधानमेतन्मोक्षबीजकल्पं परमार्थतो नाशसारूपमेवेति प्रणिधानं कृत्वा श्रुतस्यैव वन्दनाद्यर्थं कायोत्सर्गार्थं पठति, पठन्ति वा-" सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं " इत्यादि, " वोसिरामीति " यावत् । ध० २ अधि० । नवरं श्रुतस्येति प्रवचनस्य सामायिकादिचतुर्दशपूर्वपर्यन्तस्य , भगवतः समग्रैश्वर्यादियुक्तस्य , सिद्धत्वेन समग्रैश्वर्यादियोगः ; न ह्यतो विधिप्रवृत्तः फलेन वञ्च्यते, व्याप्ताश्च सर्वप्रवादाः, एतेन विधिप्रतिषेधानुष्ठानपदार्थाविरोधेन च वर्त्तन्ते । स्वर्गकेवलार्थिना तपो ध्यानादि कर्त्तव्यम् , " सर्वे जीवा न हन्तव्याः" इति वचनात् । "समितिगुप्तिशुद्धा" क्रिया, "असपत्नो योगः" इतिवचनात्। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' । एवं "द्रव्यमनन्तपर्यायमर्थः" इति वचनादिति कायोत्सर्गप्रपञ्चः प्राग्वत् । तथैव च स्तुतिं , यदि च परं श्रुतस्य समानजातीयवृन्दकत्वात् । अनुभवसिद्धमेतत् । तत्स्थानात् चलति समाधिरन्यथेति प्रकटम् । ऐतिह्यं चैतदेवमतो न साधनीयमिति । ल० ।

ततः कायोत्सर्गकरणं पूर्ववत्पारयित्वा श्रुतस्य स्तुतिं पठति-
" सुअनाणत्थयरूवो, अहिगारो होइ एस सत्तमओ ।
इह पयसपयसोलस, नमुत्तरा वन्न दुन्नि सया ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० । संघा० । व्याख्यातं 'पुष्करवरद्वीपार्द्धे' इत्यादि सूत्रम् । पुनरनुष्ठानपरम्पराफलभूतेभ्यः तेऽन्यस्तथाभावेन तत्क्रियाप्रयोजकेभ्यश्च सिद्धेभ्यो नमस्करणायेदं पठति , पठन्ति वा-" सिद्धाणं " इत्यादि सूत्रम् । ल० । ध० । सङ्घा० । एष सिद्धस्तुतिरूपोऽष्टमोऽधिकारः ।

स्वपत्त्य, नान्यथा । यदागमः-"चेइएहिं अवंदिएहिं जाव सथारम्मि ठाइज्जा पच्छित्त" ॥ (पमिवोहे त्ति) प्रभाते प्रतिबुद्ध सन् देवादीन् वन्देत । उक्त च-"इरिया कुसुमिणमग्गो, जिणमुणिवंदण तहेव सज्झायं" इति ॥ ७ ॥ एव च साधूनाश्रित्य वेलासप्तकनियता चैत्यवन्दना प्रदर्शिता ॥४७॥

अथ गृहस्थानाश्रित्याऽऽह-

पमिक्कमओ गिहिणो वि हु, सगवेला पंचवेल इयरस्स ।
पूयासु तिसंझासु य, होइ तिवेला जहन्नेण ॥ ४६ ॥

प्रतिक्रामत उभयसन्ध्यमावश्यक कुर्वाणस्य, गृहिण श्रावकादेः, सप्तवेलाश्चैत्यवन्दना भवत्यहोरात्रमध्ये । यथा-द्वे द्वयोरावश्यकयो , द्वे च स्वापावबोधयोस्त्रिकालपूजाऽनन्तर तथा जघन्येन च तिस्रश्चेति सप्त । अपिः सभावने । सभाव्यते ह्येतदेवम । अन्यथाऽऽवश्यककरणे षट् स्वापादिसमयावन्दने पञ्चादिरपि, प्रचूतदेवगृहादौ वा अधिका अपि । पञ्चवेला इतरस्याप्रतिक्रामत. । यथाऽपिस्वापावबोधयोस्तिस्र. तत्प्रातिसध्य पूजानन्तर, तथा जघन्येन श्रावकस्य तिस्रो वेलाश्चैत्यवन्दना भवति, कर्त्तव्येति शेषः । कथम?, त्रिसंध्यासु यास्तिस्र. पूजास्तासु, तदनन्तरामित्यर्थः। एतेन श्राद्धस्य त्रिकालपूजाऽप्यावेदिता, चशब्द उक्तानुक्तसमुच्चयार्थ. । तेन यदाऽपि पूजा न सम्भवति तथाऽपि वेलात्रयं देवा वन्दनीयाः, तथा या पूर्वाह्णे गृहचैत्यचैत्यगृहादिषु वन्दनास्ता. प्रात.संध्यावन्दनायां निपतन्ति, तदनन्तर मध्याह्निक्यां, ततस्तु प्रदोषसध्यायाम । यथा चागम.-"भो भो देवाणुप्पिया ! अज्जप्पभिईए जावजीव तिकालिय अणुतावलेगग्गचित्तेण चेइए वंदियव्वे इणमेव भो मणुयत्ताओ असुइअसासयखणभंगुराओ सारं ति, तत्थ पुव्वण्हे ताव उदगपाण न कायव्व जाव चेइए साहू य न वंदिए, तहा मज्झण्हे ताव भत्तणकिरियं न कायव्व जाव चेइए न वंदिए, तहा अवरण्हे चेव तहा कायव्व जहा अवंदिएहिं चेइएहिं नो सिज्जालयमइक्कमिज्ज त्ति ।" सङ्घा०३ प्रस्ता०। "संवरित्ता ण चेइयसाहूण वंदण ण करेज्जा पुरिमड्ढ" महा०७अ०(अत्र कान्तिश्रीकथानक सघाचाराद् ज्ञातव्यम) चैत्यगृहे आशातना 'आसायणा' शब्दे द्वि०भा०४७०पृष्ठे उक्ता.)(अत्र प्रभावतीदेवीकुमारनन्दिकथा स्वस्थानोक्ता दृश्या) इति प्ररूपित "दस आसायणआओ" त्ति चतुर्विंशतितमं द्वार, तन्निरूपणेन च प्रदर्शितम "एवं चिइवंदणाइ ठाणाइ चउवीसदुवारेहिं दुसहस्साइ हुंति चउसयर" त्ति प्राक् प्रतिज्ञातं सप्रपञ्चमपि चैत्यवन्दनाविधानम ।

(३६) साम्प्रतं चैत्यवन्दनाकरणविधिप्रदर्शनार्थमाह—

"इरिअ१ नमुक्कार२ नमोऽत्थु३ अरिहंत४ थुइ५ लोग६ सव्व७थुइ८ पुक्ख९थुइ १० सिद्धा ११ वेया १२ थुइ १३ नमोऽत्थु१४ जावंति१५ थय १६ जयवीय० १७ इति । तत्र "ता गोयमा ! ण अपडिक्कंताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव किंचि चिइवंदणसज्झायं काउ फलमभिकंखुगाणं" इत्यागमप्रामाण्यात् । "इरिय त्ति" प्रथममीर्यापथिकीप्रतिक्रमणे तत्कायोत्सर्गे च "चंदेसु निम्मलयर" त्ति यावत नामस्तवस्य पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानं कृत्वा "नमो अरिहंताण" इति भणत पारयित्वा मुखेन सकलोऽपि चतुर्विंशतिस्तवो भणनीय इति वृद्धा. । तत क्षमाश्रमणपूर्वम "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! चैत्यवन्दन करोमीति भणित्वा "नमुक्कार" त्ति-

"श्यामौ नेमिमुनी उभौ विमलतः षट् पञ्च नाभेयत. ,
श्रेयोवीरसुपार्श्वशीतलनमीवैरोचिषः षोडश ।
द्वौ चन्द्रप्रभसद्विधी सितरुची द्वौ पार्श्वमल्ली सिती,
द्वौ पद्मप्रभवासुपूज्यजिनपौ रक्तौ विरक्तौ स्तुवे ॥ १ ॥
देवेन्द्रादिभिरार्हितो नरहितः स्तौम्यर्हत. सन्मुदा,
विद्यानन्तमुखाद्यनन्तसुगुणै. सिद्धान् समृद्धान् सदा ।
आचार्यान् यतिधर्मकीर्त्तितसमाचारादिचारून् महोपाध्यायान् श्रुतधर्मघोषणपरान् साधून् विधे साधकान्॥ २ ॥
अर्हन्तो मम मङ्गल विदधतां देवेन्द्रवन्द्यक्रमा ,
विद्यानन्दमयास्तु मङ्गलमल कुर्वन्तु सिद्धा मयि ।
मह्य मङ्गलमस्तु साधुनिकरे सद्धर्मकीर्त्तिस्थितौ ,
मङ्गल्य श्रुतधर्मघोषणपर धर्म्म सुदृग्भि. श्रये " ॥ ३ ॥

इत्यादिरूपा यथारुचि यथाप्रस्तावमेकद्वित्र्यादिनमस्कारा भणनीया । ततः "कह नमति सिरपचमेण काएण" इत्याचाराङ्गचूर्णिवचनात् पञ्चाङ्ग प्रणाम कुर्वता "तिक्खुत्तो मुद्धाण धरणितलंसि निवेसेइ" इत्यागमात् त्रीन् वारान् शिरसा भूमिं स्पृष्ट्वा "नमोऽत्थु ण तिहुवणिक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसियनयणमाणसेण धन्नोऽहं सपुन्नोऽह ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइयमउलियजलिणा हरियतणवीयजंतुविराहियभूमीए निहिअभयजाणुणा सुपरिफुडसुविदियनीसकजहत्थसुत्तत्थोभय पए पए भावेमाणेण जाव चेइए वंदिज्ज" त्ति । तथा-"सक्कत्थयाई चेइयवंदण," महानिशीथे तृतीयाध्ययनोक्तविधिप्रामाण्याद् भूनिहितोभयजानुना करधृतयोगमुद्रया शक्रस्तवदण्डको भणनीयः । तदन्ते च पूर्ववत् प्रणाम कृत्वा समुत्थाय जिनमुद्राञ्चितचरणो योगमुद्रया "अरिहंतचेइयाण" इत्यादि चैत्यस्तवदण्डक पठति ।

उक्त च-

"उट्ठियजिणमुद्दंचिय-चरणो करधारियजोगमुद्दो य ।
चेइयगयथिरदिट्ठी, ठवणजिणदंमय पढइ" ॥१॥

कायोत्सर्गेऽष्टोच्छ्वासा "अट्ठ सेसेसु" त्ति, वचनात् अष्टौ, उच्छ्वासपूरणार्थमिष्टसपद नवकारं चिन्तयित्वा त पारयति । ततः "थुइ त्ति" अधिकृतजिनस्तुतिं ददाति ।

तत्राय बृहद्भाष्योक्तो विधि-

"अट्ठुस्सासपमाणा, उस्सग्गा सव्व एव कायव्वा ।
उस्सग्गसमत्तीए, नवकारेण तु पारिज्जा ॥ १ ॥
परमिट्ठिनमुक्कारं, सक्कयभासाइ पुण भणइ पुरिसो ।
चरिमाइमथुइपढणं, पाइयभासाइ वि न इत्थी ॥ २ ॥
जइ एगो देइ थुई, अहऽणेगो ता थुई पढइ एगो ।
सेसा उस्सग्गठिआ, सुणंति जा सा परिसमत्ता ॥ ३ ॥
बिंबस्स जस्स पुरओ, पारद्धा वंदणा थुई तस्स ।
चेइयगेहे साम-न्नवंदणे मूलबिंबस्स ॥ ४ ॥
अत्थि य पुरिसथुईए, वदइ देवे चउव्विहो संघो ।
इत्थी थुईए दुविहो, समणीओ साविया चेव ॥ ५ ॥"

ततः 'लोग त्ति' "लोगस्सुज्जोअगरेण" भणंता "सव्व त्ति" "सव्वलोए अरिहंतचेइयाण" इत्यादिना प्राग्वत् कायोत्सर्ग क्रियते, पारयित्वा "चउथुइ त्ति" द्वितीया स्तुतिः सर्वजिनाश्रिता दीयते, तत "पुक्खर त्ति" "पुक्खरवरदीवड्ढे" दण्डको भणनीय., तत्कायोत्सर्गानन्तरं च "थुइ त्ति" तृतीया स्तुतिः सिद्धान्तसत्का भणनीया । तत. "सिद्ध त्ति" "सिद्धाण" इत्यादि भणित्वा

चैत्यवन्दनसमाप्तौ यद्विधेयं तदाह-

एयस्स समत्तीए, कुसलं पणिहाणमो उ कायव्वं ।
तत्तो पवित्ति-विग्घज-य-सिद्धि तह य थिरीकरणं ॥२६॥

एतस्यानन्तरोक्तचैत्यवन्दनस्य, समाप्तौ, उत्तरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्येह सयन्धाभिप्रायां पुनः , कुशलं शुभम् , न तु भवहेतुपदार्थप्रार्थनादिवदशुभम । प्रणिधान प्रार्थनागर्भमैकाग्र्यम , ' ओ ' इति निपात. पादपूरणार्थ. । तुशब्द. सम्पन्धित एव, कर्त्तव्यं विधेयम । अथ कस्मादिदं कर्त्तव्यम् ? अत्रोच्यते-यस्मादितः सत्प्रवृत्त्यादयो भवन्तीत्येतदेवाह, तत' प्रागुक्तप्रणिधानात्,प्रवृत्ति. सद्धर्मव्यापारेषु प्रवर्त्तनं,भवति हि आतमनोरथानां शक्तौ सत्यां तदुपाये प्रवृत्तिरिति । तथा विघ्नजयो मोक्षरूपपथप्रवृत्तप्रत्यूहस्य जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्याशुभभावरूपस्य प्रणिधानजनितशुभभावान्तरेणाभिभवः, तथा सिद्धिर्विघ्नजयात्प्रस्तुतधर्मव्यापाराणां निष्पत्ति.,एतस्य च प्रवृत्त्यादिपदत्रयस्य समाहारद्वन्द्व.। (तह य त्ति)तथैव,समुच्चयार्थश्चायम। (थिरीकरण ति) स्वगतपरगतधर्मव्यापाराणां स्थिरीकरण स्थिरत्वाधानमिति,अतः प्रवृत्त्यादीनि वाञ्छता प्रणिधानमवश्य करणीय, तदभावे प्रवृत्त्याद्यसिद्धेरिति गाथार्थ' ॥ २९ ॥

ननु प्रणिधानं प्रार्थनारूपत्वान्निदानवत्परिहार्यं स्यात्, नैवं,कुशलमितिविशेषणेन तस्य निदानरूपतया व्यपोहितत्वात्, अकुशलस्यैव निदानत्वात् । इदं च विशेषणफलमनवधारयतो मन्दमतिशिष्यस्य निदानत्वाऽऽशङ्काव्यपोहायाऽऽह-

एत्तो चिय ण णियाणं, पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं ।
सुहभावहेउभावा, णेयं इहराऽपवित्ती उ ॥ ३० ॥

(एत्तो च्चिय त्ति) यत एव कुशल, प्रवृत्त्यादिहेतुर्वा,अत एव कारणात्,न नैव,निदानमार्त्तध्यानविशेषो भवति । किं तत् ?,प्रणिधान चैत्यवन्दनावसानकृत्य, निदानस्याकुशलत्वात्प्रवृत्त्याद्याशयविशेषानुत्पादकत्वाच्च । तर्हि किंभूतमिदमित्याह-बोधिप्रार्थनासदृशम् " आरोग्ग बोहिलाभं " इत्यादिप्रार्थनातुल्य , यथा बोधिप्रार्थन न निदान तथेदमपीत्यर्थ' । कुत एतदेवमित्याह-शुभभावहेतुभावात्प्रशस्ताध्यवसायस्य कारणत्वात्।यथा हि बोधिप्रार्थन शुभभावहेतुरेवमिदमपि, ज्ञेय ज्ञातव्यम । निदानरूपत्वे चास्य यत्स्यात्तदाह-इतरथाऽन्यथा,निदानरूपतायामित्यर्थ. । अप्रवृत्तिस्तु अप्रवर्त्तनमेव,चैत्यवन्दनान्ते प्रणिधानस्याकरणमेव स्यात्, निदानस्यागमे निषिद्धत्वादिति गाथार्थ ॥३०॥

अथ प्रवत्वस्याप्रवृत्तिः को दोष ?, इत्याशङ्कां परिहरन्नाह-

एवं तु इट्ठसिद्धी, दव्वपवित्ती उ अण्णहा णियमा ।
तम्हा अविरुद्धमिणं, णेयमवत्थंतरे उचिए ॥३१॥

एव तु काका ध्येयम् एव पुन. प्रणिधानप्रवृत्तौ पुन', इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिर्भवति, अन्यथा प्रणिधानस्य परिहार्यतायां प्रणिधानशून्य ह्यनुष्ठान द्रव्यानुष्ठानमेवेति नियमादवश्यभावेन (तम्ह त्ति) यस्मादिष्टार्थसिद्धिनिबन्धन प्रणिधानं तस्माद्धेतो., अविरुद्धं संगतम,इदं प्रणिधानम, ज्ञेयं ज्ञातव्यम । किं सर्वावस्थासु ?, नेत्याह-अवस्थान्तरे भूमिकाविशेषे, उचिते प्रणिधानस्य योग्ये,अप्राप्तप्रार्थनीये गुणावस्थायामप्राप्ततत्प्रकर्षावस्थायां वेति भावना । इति गाथार्थ' ॥ ३१ ॥

प्रणिधानकरणविधिमाह-

तं पुण संविग्गेणं, उवओगजुएण तिव्वसद्धाए ।
सिरणमियकरयलंजलि, इय कायव्वं पयत्तेणं ॥ ३२ ॥

तदिति प्रणिधानम , पुनरिति विशेषद्योतने , संविग्नेन मोक्षार्थिना, भवभीतेन वा । उपयोगयुतेनावहितमनसा, तीव्रश्रद्धया आत्यन्तिक्या सदनुष्ठानकरणरुच्या, अनेन च मानसो विधिरुक्तः । अथ शारीरं विधिमाह-शिरसि मस्तके, नमितो निवेशितः, करतलयोर्हस्तयोरञ्जलिर्हस्तविन्यासविशेषो यत्र करणे तत्तथा । कर्त्तव्यमित्येतत्क्रियाविशेषणमिदम, इति अनेन च वक्ष्यमाणेन पाठक्रमेण प्रयत्नेनादरेणेति, गाथार्थ' ॥ ३२ ॥ पञ्चा० ४ विव० । ल० । 'जय वीयराग' सघा० । अत्र वर्णसंख्या ।

अथ प्रणिधानत्रिकवर्णसख्याख्यापनाय गीतिगाथाप्रथमपादमाह-

पणिहाणि वावनसयं, ... ।

(पणिहाणि त्ति) जातावेकत्वं, ततश्च त्रिप्रणिधानेषु द्विपञ्चाशदधिक शत, वर्णानां भवति। तत्र "जावंति" इत्यादिजिनवन्दनारूपे प्रथमे प्रणिधाने पञ्चत्रिंशत् 'जावंति के' इत्यादिके द्वितीये मुनिवन्दनालक्षणेऽष्टत्रिंशत्, " जय वीराय " इत्यादि गाथाद्वयात्मके तृतीये प्रार्थनास्वरूपे त्वेकोनाशीतिः, सर्वमिलिते द्विपञ्चाश शतमिति। एषा च चैत्यवन्दना गुरुलघुवर्णपरिज्ञानमन्तरेण क्रियमाणा न विशुद्धा स्यात्। आह च-" गुरुलघुभेदज्ञान, न विद्यते यस्य सर्वथा चित्ते । स विचक्षणोऽपि दक्षा, न व्रतभेदस्य कर्तुमलम " ॥१॥ किं च-व्यञ्जनभेदादर्थभेदोऽर्थभेदे च नाभीष्टसिद्धि , प्रत्युतानर्थप्राप्ति. स्यात् , कुणालकुमारवत । ततोऽवश्य गुरुलघुत्व वर्णानां ज्ञातव्यम । एकस्य च परिज्ञाने द्वितीय सुखेन परिज्ञायते ।

तत्र बाल्यत्वाद् गुरुवर्णसख्याख्यापनार्थं गीतिगाथापादत्रयमाह-

. ... . . , कमेसु सग ति चउवीस तित्तीसा ।
गुणतीस अट्ठवीसा,चउतीसि तितीस बार गुरुवन्ना ।९९।

(व्याख्याऽस्या अन्यत्र)सङ्घा० ३ प्रस्ता० (अत्र कुणालकुमारकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)

दण्डकस्तवमानम् " वन्ना सोलस सगनउ-इ सपया छ असीयाला । इगसीयसय तु पया, सगनउइ सपयाओ य ॥ " त्ति " अट्ठमनवमदसमेति " द्वारत्रयम ।

सम्प्रति "पणदंडे" इत्येकादशद्वारगाथापूर्वार्द्धेनाऽऽह —

पण दंमा सक्कत्थय-चेइयनामसुयसिद्धथय इत्थं ।

दण्डका. प्रागुक्तशब्दार्था ,ते च पञ्चाऽत्र चैत्यवन्दनायां, गुणसागरनृपतिवत् सत्यापनीया' । तत्र प्रथमो दण्डक. शक्रस्तव " नमोऽत्थु ण " इत्यादि, " सव्वे तिविहेण वंदामि " इत्येतदन्तः । यतश्चैत्यवन्दनाचूर्णौ चैतत्सर्वं व्याख्याय भणितम—" एव पणिवायदण्डगं भणित्ता तओ पंचगपणिवाइय करेइ " त्ति । १। द्वितीयश्चैत्यस्तवः " अरिहंतचेइयाण " इत्यादि ।२। तृतीयो नामस्तव. " लोगस्सुज्जोयगरे " इत्यादि । ३ । चतुर्थ. श्रुतस्तव' " पुक्खरवरदीव " इत्यादि ।४। पञ्चमस्तु दण्डक. सिद्धस्तवरूप " सिद्धाण बुद्धाण " इत्यादि, यावत् "अप्पाण वोसिरामि" इत्येतत्पर्यन्त । तथा श्रीहरिभद्रसूरिपूज्यैर्ललितविस्तरायामेतदन्त व्याख्याय भणितम ।

इहैव वन्दनायाः शुद्धाशुद्धत्वविचारे अभ्युच्चयमाह-

किं चेह छेयकूडग-रूवगणायं भणंति समयविऊ ।
तं तेसु चित्तभेयं, तं पि हु परिभावणीयं तु ॥ ३४ ॥

किञ्चेत्यभ्युच्चयार्थ, इहशब्दोऽन्यत्र सम्भन्त्स्यते, छेकश्चासौ शुद्धः, कूटकश्च कथञ्चिदशुद्धश्छेककूटक, स चासौ रूपकश्च छेककूटकरूपकः, स एव, तस्य वा, ज्ञात निदर्शन, छेककूटकरूपकज्ञात, तद् भणन्ति वदन्ति, समयविदः सिद्धान्त वेदिनो भद्रबाहुस्वामिप्रभृतयः, तन्त्रेष्वावश्यकनिर्युक्त्यादिशास्त्रेषु । तथाहि-" रुप्प टक विसमा-हयक्खर तइयरूवओऽछेओ । दोण्हं पि समाओगे, रूवो छेयत्तणमुवेति ॥१॥ "चित्रभेद बहुप्रकार, चतुर्विकल्पमित्यर्थ· । इह स्थाने यदिति शेषो दृश्यः, तदपि छेककूटकरूपकज्ञातमपि, न केवलं द्रव्यलिङ्गग्रहणानन्त्येनाशुद्धत्वमस्या भावनीयमित्यपिशब्दार्थ·। हुशब्द एवकारार्थो, भिन्नक्रमश्चेति । इहेति वन्दनायां, परिभावनीयमेव पर्यालोचयितव्यमेव, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, इति गाथार्थ ॥ ३४ ॥

चित्रभेदमित्युक्त, तदेव दर्शयन्नाह-

दव्वेणं टंकेण य, जुत्तो छेओ हु रूवगो होइ ।
टंकविहूणो दव्वे, वि ण खलु एगंतछेओ त्ति ॥ ३५ ॥

द्रव्येण रूप्यसुवर्णादिनोचितेन, टङ्केन च चित्रविशेषेण च, युक्त· समन्वितो य· स छेक एव विशुद्ध एव, हुशब्द एवकारार्थ·, रूपको द्रम्मो, भवति वर्तते इत्येको भेद· । तथा टङ्कविहीन उचितचित्रविकलो यः स द्रव्येऽपि रूप्यादावप्युचिते सति, न खलु नैव, एकान्तच्छेकः सर्वथा विशुद्धः, टङ्काभावेन देशत कूटत्वात् । इतिशब्दो द्वितीयभेदप्ररूपणासमाप्त्यर्थ· । इति गाथार्थ· ॥ ३५ ॥

अथ तृतीयभेदमाह-

अदव्वे टंकेण वि, कूडो तेण वि विणा उ मुद्द त्ति ।
फलमेत्तो एत्थं चिय, मुद्धाण पयारणं मोत्तुं ॥ ३६ ॥

अद्रव्ये रूपाद्युचितद्रव्याभावे सति, टङ्केनाऽपि चित्रविशेषेणापि युक्त· , आस्तां टङ्काभावे इत्यपिशब्दार्थ· । कूटोऽशुद्ध एव रूपको भवतीति प्रक्रम· । अथ चतुर्थमाह-तेनापि टङ्केनापि, अपिशब्दात् द्रव्येणाप्युभयाभाव इत्यर्थ· । विना तु वियुक्त पुनः । रूपको मुद्रेति चिह्नमात्रमिति व्यपदिश्यते । अथोपदर्शितरूपकचतुष्टयस्य फलमतिदेशत आह-फलमिष्टार्थप्राप्तिलक्षण प्रयोजनम,इतोऽनन्तरोक्ताच्चतूरूपकात्, एवमेव रूपकस्वरूपवदेव भवति । तच्च क्रमेण पूर्णमीषदपूर्ण विवक्षितफलाभाव·,सर्वथा फलाभावश्चेति। किमन्यत्सर्वथाकिञ्चिदपि फल न भवतीत्यत्राह-मुग्धानां मूढाना,प्रतारण वञ्चन, मुक्त्वा विरहय्य, अन्यत् फल न भवति, तत्पुनर्भवतीति । अथवा-सामान्यतो दृष्टान्तयोजनामाह-(एत्तो त्ति) वन्दनाया· सकाशादिति ।अतिप्रसङ्ग वारयन्नाह-" मुद्धेत्यादि " । रूपकात्प्रतारणं स्याद्वन्दनायास्तु नेति गाथार्थ ॥ ३६ ॥

आद्यव्याख्यापक्षे पातनैवम, अथ नेनैव फलेन तत्फलभविष्यतीत्याह-

तं पुण अणत्थफलदं, णेहाहिगयं जमणुवओगि त्ति ।
आयगयं चिय एत्थं, चिंतिज्जइ समयपरिसुद्धं ॥३७॥

तत्पुनर्मुग्धप्रतारणलक्षण रूपकान्त्यभङ्गकद्वयजन्यं फलं,किमित्याह-अनर्थफलकम् अनर्थफलद वा स्वपरयोरपकाररूपफलदायकम् । अत एव न नैव,इह रूपकविचारे, अधिकृत प्रस्तुतम । किमिति नाधिकृतमित्याह-यद्यस्मात्, अनुपयोगि निष्प्रयोजनं, न हि सतामनर्थफलदेन परप्रतारणेन प्रयोजनमास्ति। इतिशब्दः समाप्तौ । तर्हि किमिहाधिक्रियत इत्याह- आत्मगतमेव स्वविषयमेव, क्रायकलभ्यमित्यर्थ· । न तु परविषयं प्रतारणादि, आयगतं वा रूपकविनिमयेन योऽभिप्रेतवस्तुलाभस्त त्तमेव,अत्र रूपकविचारे, चिन्त्यते विचार्यते, समयपरिशुद्ध शिष्टव्यवहारविशुद्धं,न त्वसद्व्यवहारगत परप्रतारणमपीति । व्याख्यान्तरे त्वेवम्-ननु वन्दनातोऽपि प्रतारण दृष्टमत आह-(त पुणेत्यादि) "नेह त्ति" नात्र वन्दनालक्षणे दार्ष्टान्तिकेऽधिकृतम् । (आयगय चिय त्ति) जीवविषयमेव (समयपरिसुद्ध ति) आगमानुगत मोक्षादि, शेष तथैवेति गाथार्थ· ॥ ३७ ॥

एव दृष्टान्तं सफलमभिधाय दार्ष्टान्तिक सफलमाह-

अथवा-सामान्यतो दार्ष्टान्तिकयोजनामभिधाय विशेषतस्तामेवाह---

भावेणं वण्णादिहिँ, चेव सुद्धेहिँ वंदणा छेया ।
मोक्खफल च्चिय एसा, जहोइयगुणा य णियमेणं ॥३८॥

भावेनापुनर्बन्धकाद्युचितश्रद्धानभक्तिरूपेण द्रव्योपमेन, वर्णादिभिरेव चाक्षरप्रभृतिभिरेव टङ्ककल्पैः,आदिशब्दात्प्रवृत्तक्रियाऽऽलम्बनादिग्रह· । चैवशब्दो व्याख्यात एव । शुद्धैर्निरवद्यै· करणभूतै·, या वन्दना, सा छेका शुद्धा प्रथमरूपकोपमा, किंफलेयमित्याह-मोक्षफलैव निर्वाणप्रयोजनैव प्रधानफलापेक्षया, न पुन· संसारफलेति । एषा वन्दना ऐहलौकिकफलापेक्षया, पुनरिय किंविधेत्याह--यथा येन प्रकारेणोदितोऽभिहितस्तथैव गुण फल यस्याः सा यथोदितगुणा, यथोचितगुणा वा । गुणश्चायम्-"पाय इमीए जत्ते, ण होइ इहलोगिया वि हाणि त्ति" चशब्द· समुच्चये । नियमेनावश्यन्तयेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अथ द्वितीयरूपकयोजनामाह-

भावेणं वण्णादिहिँ, तहा उ जा होइ अपरिसुद्ध त्ति ।
बीयगरूवसमा खलु, एसा वि सुह त्ति णिद्दिट्ठा ॥३९॥

भावेनोक्तपरिणामेन द्रव्योपमेन, युक्तेति शेष· । तथाशब्दस्य समुच्चयार्थस्येह सबन्धात्, तथा वर्णादिभिरक्षरप्रभृतिभि· । तुशब्द पुनरर्थ । तस्य चैवं सबन्ध -या पुनर्वन्दना, भवति वर्तते । अपरिशुद्धा सदोषा, इत्येवप्रकारा, द्वितीयरूपसमा द्रव्ययुक्तटङ्कविहीनरूपकतुल्या, खलुर्वाक्यालकारे, एषाऽप्यसावपि, न केवलमाद्यरूपकसमा । शुभा प्रशस्ता, मोक्षाभ्युदयफलसाधकत्वात् । इतिशब्द· उपप्रदर्शने । निर्दिष्टा तीर्थकरादिभिरभिहिता, भावप्राधान्यात । आह च—"क्रियाशून्यश्च यो भावो, भावशून्या च या क्रिया । अनयोरन्तर ज्ञेय, भानुखद्योतयोरिव ॥ १ ॥ " इतिगाथार्थ· ॥ ३९ ॥

अथ रूपकचरमभङ्गकद्वययोजनायाऽऽह-

भावविहूणा वण्णा-इएहिँ सुद्धा वि कूडरूवसमा ।
उभयविहूणा णेया, मुद्दप्पाया अणिट्ठफला ॥ ४० ॥

भावविहीना अपुनर्बन्धकाद्युचितश्रद्धानभक्तिरहिता या सा,

दव्वजिणा जिणजीवा,भावजिणा समवसरणत्था ॥३३॥

नामैव नामप्रधानतया वा जिना नामजिनाः। कानीत्याह-जिन, अर्हन्, पारगत इत्यादि नामानि। यद्वा-जिनानां तीर्थकृतां नामानि "उसभ अजित" इत्यादीनि। स्थापनया लेप्यकर्मादिरूपया जिना स्थापनाजिनाः,जिनेन्द्राणां प्रतिमा , बिम्बानीत्यर्थः। पुन शब्दोऽत्राऽन्यस्तनिकारस्थापनाजिनपरिग्रहार्थः । द्रव्यं दलिक भूतभाविभावकारण, तदाश्रित्य जिना द्रव्यजिनाः, येऽर्हत्पदवीं प्राप्य सिद्धा ,ये च तां प्राप्स्यन्ति। सङ्घा० ३प्रस्ता०। (अत्रेश्वरनरेन्द्रकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)उक्त "चउदजिण"त्ति पञ्चदश द्वारम्। एवं च द्वारे उक्ता द्वादशाऽधिकाराः । त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशेतिद्वारत्रयेऽधिकारिणश्च प्रतिपादिताः । (३१)अथ यत्राधिकारे यः स्तूयते तत्प्रतिपादनाय गाथात्रयमाह-

पढमऽहिगारे वंदे, भावजिणे बीययम्मि दव्वजिणे ।
इगचेइयठवणजिणे, तइएँ चउत्थम्मि नामजिणे ॥३४॥

प्रथमे आद्ये शक्रस्तवरूपेऽधिकारे स्तोतव्यविशेषस्थाने, वन्दे सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनेन स्तवीमीति भावजिनान् भावार्हतश्चतुस्त्रिंशदतिशयादिमत्त्वमर्हद्भाव प्राप्तानुत्पन्नकेवलज्ञानान् समवसरणस्थाँस्तीर्थकृत इत्यर्थः। तत्रैव संपूर्णार्हद्भावभावात्। भणित च-"भावजिणा समवसरणत्थ"ति। तथा द्वितीये "जे य अईय" त्ति गाथालक्षणेऽधिकारे, वन्दे इति सर्वत्रापि योज्यम। द्रव्यजिनान् द्रव्यार्हतोऽष्टमहाप्रातिहार्यादिकां तीर्थकृलद्धीं प्राप्य सिद्धाः,ये च तस्मिन्नन्यस्मिन्वा भवे तां प्राप्स्यन्ति, न च तदानीं प्राप्तवन्तस्तानर्हत्वद्रव्यान्, जिनजीवानित्यर्थः।

उक्तं च-

"भूतस्य भाविनो वा,भावस्य हि कारणं तु यल्लोके।
तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतन कथितम्" ॥ १ ॥

तथा एकचैत्यस्थापनाजिनान्-यत्र देवगृहादौ चैत्यवन्दन कर्त्तुमारब्ध तत्र स्थापितानि यानि जिनबिम्बानीत्यर्थः, तृतीये "अरिहंतचेइयाणं" इति दण्डकरूपे, तथा चतुर्थे चतुर्विंशतिमपि जिनात्मके नामजिनान् जिननामानि। अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रवर्तितयाऽऽसन्नत्वादिनोपकारित्वाच्चतुर्विंशतिमपि जिनान्नामोत्कीर्त्तनेन स्तौमीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तिहुयणे ठवणजिणे पुण, पंचमए विहरमाण जिणछट्ठे।
सत्तमए सुयनाणं, अट्ठमए सव्वसिद्धथुई ॥३५॥

त्रिभुवने ऊर्द्धाधस्तिर्यग्लोके,स्थापनाजिनान् शाश्वताशाश्वतचैत्यस्थापिताऽर्हत्सिद्धप्रतिमारूपान् , पञ्चमके "सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं" इति कायोत्सर्गदण्डकलक्षणेऽधिकारे, वन्दे इति योज्यम। अत्र चार्हत्सिद्धप्रतिमारूपानिति प्रकारान्तरसूचक पुनःशब्दाद् व्याख्यातम , भणितं चावश्यकचूर्णिकारेण सिद्धप्रतिमानामपि वन्दनपूजनादि। तथा च प्रतिक्रमणाध्ययने-"सव्वलोए अरिहंतचेइयाण" इति दण्डकचूर्णौ। "जे सव्वलोए सिद्धाई अरिहंता चेइयाणि य तेसिं चेव" प्रतिकृतिलक्षणानि,'चिती' संज्ञाने, सज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा "जहा अरिहंतपडिमा एस त्ति," सिद्धादिप्रतिमेत्यर्थः। अन्ये भणन्ति-"अरिहंता तित्थयरा तेसिं चेइयाणि, अरिहंतचेइयाणि" अर्हत्प्रतिमेत्यर्थः । अत्र च अन्ये भणन्ति-"अरहंता तित्थयरा" इत्यादिभणता चूर्णिकृता पूर्वव्याख्याने सिद्धप्रतिमाः पृथग् स्पष्ट निष्टङ्किताः, अन्यथा द्वितीयव्याख्यान निष्फल स्यात् । एव च सिद्धप्रतिमासिद्धौ तासां वन्दनपूजाद्यपि करणीयमायातम,तत्प्रत्ययं च कायोत्सर्गाद्यपि। उक्त चैतदावश्यकचूर्णौ। तथाहि-पूज्यत्वात् तेषां पूजनार्थं कायोत्सर्गं करोमि, श्रद्धादिभिर्वर्द्धमानैः सद्गुणसमुत्कीर्त्तनपूर्वक कायोत्सर्गस्थाने पूजन करोमीत्यर्थ। "जहा कोइ गंधचुण्णवासमल्लाइएहिं" समभ्यर्चन करोतीति। "एव सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए विभासेयव्व, नवर सक्कारो जहा वत्थाभरणाइ त्ति सक्कारण समाणो सम मणण ति"। एतावता च सिद्धप्रतिमानामप्यग्रे "अरिहंतचेयाण" इत्यपि दण्डक पाठाय संगच्छते, शब्दार्थयोरत्रापि समानत्वात् । पर्युपास्या इत्यर्थे बहुश्रुताः। यथा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैरपि विशेषावश्यके साक्षेप स्थापिता सिद्धपूजा।

तथा च-

"कुज्जा जिणाण पूया, परिणामविसुद्धिहेउओ निच्च।
दाणाइओ व मग्ग-प्पभावणाओ व कहण च ॥१॥"

कार्या जिनसिद्धपूजास्तत्परिणामविशुद्धिहेतुत्वात्, दानादिक्रियावत। अथवा-कार्या जिनसिद्धपूजा मार्गप्रभावनात्मकत्वात्, धर्मकथावत ॥ १ ॥

चोदकः-

"पूया फलप्पया नो, तह च कोवप्पसायविरहाओ।
जिणसिद्धा दिठतो, वेह च मणं निवाईया ॥ २ ॥"

आचार्यः-

"कोवप्पसायरहियं, पि दीसए फलयमन्नपाणाइ।
कोवप्पसायरहिय,त्ति निप्फला तो अणेगतो ॥१॥"इत्यादि। पूजिता च मरुदेवा स्वामिनी प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवैः,कारिताश्च सिद्धप्रतिमा भरतेनाऽष्टापदोपरि एतयो (सङ्घा०३प्रस्ता०) तथा विहरमाणजिनान् षष्ठे पञ्चदशकर्मभूमिषु विहार कुर्वाणान्, सूत्रार्थकथनपरायणान् भावार्हत इत्यर्थः। उक्त च-"पढमे छट्ठे नवमे, दसमे एगारसे य भावजिणे"। वन्दे इति प्रकृतम्। ते च सघन्यतो विंशतिरुत्कृष्टतः सप्तविंशतिर्भवन्ति।

आह च-

"सत्तरिसयमुक्कोस, जहन्नओ विहरमाणजिणवीसं।
जम्मं पइ उक्कोस, वीस दस हुति उ जहन्न त्ति ॥ १ ॥"

आवश्यकचूर्णौ तु द्रव्यार्हन्तोऽन्यत्र व्याख्याताः। तथा चोक्तम्-"उक्कोसएण सत्तरि तित्थयरसय, जहण्णएण वीसं तित्थयरा, एए ताव एगकाले भवति, अईया अणागया अणता, ते तित्थगरे नमसामि त्ति"। षष्ठे-"पुक्खरवरदीवड्ढे" इतिगाथात्मकः। तथा सप्तमे-"तमतिमिर" इत्यादिस्वरूपे श्रुतज्ञानमङ्गानङ्गप्रविष्ट सिद्धान्त, वन्दे इति पूर्वगाथातो योज्यम। तथाऽष्टमके "सिद्धाण बुद्धाण" इतिगाथायां सर्वेषां तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धादिभेदभिन्नानां नामस्थापनादिरूपाणां वा सिद्धानां क्षपितकर्मांशानां स्तुतिः, क्रियत इति गम्यम ॥ ३५ ॥

तित्थाहिववीरथुई, नवमे दसमे य उज्जयंतथुई।
इगदसमे अट्ठावय, सुदिट्ठिसुरसमरणा चरिमे ॥३६॥

तीर्थाधिपस्य वर्त्तमानतीर्थस्य प्रवर्तकत्वान्नाथस्य, वीरस्य वर्द्धमानस्वामिन, स्तुतिर्विधीयते, आसन्नतरतया महोपकारित्वात् नवमेऽधिकारे "जो देवाण वि" इत्यादिगाथाद्वयरूपे । तथा दशमे च "उज्जिंतसेल" इतिगाथाप्रमाणे, "उज्जुयत त्ति" तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति

कल्पद्रुमादिपरिग्रह' । मकारस्त्वागमिकः । अपिशब्दार्थं तूत्तरार्द्धेन वक्ष्यति, न नैव,अभव्या अयोग्याः , प्राप्नुवन्त्यासादयन्ति, किं पुनरिति पदमप्राप्तिविशेषद्योतक,सुतरां न प्राप्नुवन्तीत्यर्थ.। एतां वन्दनाम्, परमां प्रधानामाद्यज्ञकद्वयगताम्, परमपदबीज निर्वाणहेतुम् , इतिशब्दो हेत्वर्थः। तेन परमामेतां परमपदबीजत्वादिति। समाप्त्यर्थो वाऽयमिति गाथार्थः ॥४६॥

अभव्यास्तावदिमां न प्राप्नुवन्ति, भव्या अपि न सर्वे एवेति दर्शयन्नाह-

भव्वा वि एत्थ णेया, जे आसन्ना ण जाइमेत्तेणं ।
जमणाइ सुए भणियं, एयं ण उ इट्ठफलजणगं ॥ ४७॥

भव्या अपि योग्या अपि , अभव्यास्तावदयोग्या एवेत्यपिशब्दार्थः । अत्र परमवन्दनाप्राप्तौ, ज्ञेया ज्ञातव्याः, य एव केचिदासन्ना. , परमपदस्येति गम्यम् । व्यतिरेकमाह-न जातिमात्रेण न जात्यैव, भव्या इति प्रक्रमः । कुत एतदेवमित्याह-यद्यस्मादनादिकालीन,श्रुते सिद्धान्ते,भणितमुक्तम्, एतद्भव्यत्वं, न तु न पुनर्विद्यमानमपीष्टफलजनकमभिमतार्थसाधक , मोक्षप्रापकमित्यर्थः । सर्वभव्यानां निर्वाणाप्राप्तेरिति गाथार्थ.॥ ४७ ॥

तत्र ये तावदेतां विधिना सेवन्ते, तद्विधिं वा श्रद्दधति , ते आसन्नाभव्याः, ये तु तां न द्विषन्ति तेऽप्यासन्ना एवेति दर्शयन्नाह-

विहिअपओसो जेसिं, आसण्णा ते वि सुद्धिपत्त त्ति ।
खुद्दमिगाणं पुण सु-द्धदेसणा सीहणायसमा ॥ ४८ ॥

विधौ विधाने सम्यक्करणे,वन्दनाया इति प्रक्रम. । प्ररूप्यमाणे अप्रद्वेषोऽमत्सरो, माध्यस्थ्य भवति । येषां भव्यानाम् , आसन्ना निकटवर्त्तिनः, परमपदस्येतिगम्यम्।तेऽपि,न केवलमासेवाश्रद्धानवन्त एवेति । कुत एवमित्याह-शुद्धिप्राप्ता अवाप्तक्लिष्टकर्मक्षयोपशमा इति कृत्वा , न हि क्लिष्टकर्मणां मार्गं प्रति माध्यस्थ्यमपि जायते। एतदेव दर्शयति—क्षुद्रमृगाणां क्लिष्टकर्मसत्त्वहरिणानां, पुन शब्दो विशेषणार्थः, शुद्धदेशना विशुद्धप्रज्ञापना, विधिविषय उपदेश इत्यर्थः । सिंहनादसमा केशरिशब्दतुल्या, त्रासहेतुत्वादनिष्टेत्यर्थ'। इति गाथार्थ. ॥४८॥

एवं वन्दनां प्रति विध्यविध्योः फलमुपदर्श्य विधेर्विधेयतामुपदिशन्नाह-

आलोचिऊण एवं , तंतं पुव्वावरेण सूरिहिं ।
विहिजत्तो कायव्वो, मुद्धाण हियट्ठया सम्मं ॥ ४९ ॥

आलोच्य विमृश्य, एव पूर्वोक्तन्यायेन , तन्त्र प्रवचन , कथमित्याह-पूर्वश्च तन्त्रस्य पूर्वो भागोऽपरश्च तस्यैवापरो भागः , पूर्वापर, तेन, सप्तम्यर्थे वा एनप्रत्यये सति पूर्वपरेणेति स्यात्, पूर्वापरभागयोरित्यर्थ , तयोरविरोधेनेति यावत् । अनेन चालोचनमात्रस्य व्यवच्छेद., तस्य तत्त्वाववोधासमर्थत्वादिति सूरिभिराचार्यैः , पण्डितैर्वा , विधौ विधाने वन्दनागते वेलाद्याराधनरूपे,यत्न उद्यमो विधियत्नः , स कर्त्तव्यो विधातव्य । विमुक्तालस्यैः स्वय वन्दना कार्या , अन्यैरपि विधिनैव सा विधापयितव्या इत्यर्थ.। किमर्थमेतदेवमित्याह-मुग्धानामव्युत्पन्नबुद्धीनाम, हित श्रेय. , तद्रूपो योऽर्थो वस्तु स हितार्थ , तस्मै हितार्थाय। सम्यगविपरीततया, यदा हि गीतार्था विधिना स्वय वन्दना विदधति , अन्यांश्च तथैव विधापयन्ति, तदा मुग्धबुद्धयोऽपि तथैव प्रवर्तन्ते, प्रधानानुसारित्वात् मार्गाणाम्। आह च-"जो उत्तमेहिँ मग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाण। आयरियम्मि जयंते, तयणुचरो केण सीएज्जा " ॥ १ ॥

तथा-

"जे जत्थ जया जइया, बहुस्सुया चरणकरणउज्जुत्ता ।
ज ते समायरंती , आलंबणतिव्वसद्धाण ॥ १ ॥"

(जय त्ति) दुःषमादौ (जइय त्ति) दुर्भिक्षादाविति । तथा प्रवृत्ताश्च ते वन्दनाराधनजन्य हितमासादयन्ति,तद्विराधनाजन्यप्रत्यपायेभ्यश्च मोचिता भवन्तीति । अय चोपदेशोऽसमञ्जसतया स्वय वन्दनां विदधानांस्तथाऽनवाप्तापुनर्बन्धकाद्यवस्थेभ्यस्तथाविधजिज्ञासादितल्लिङ्गविकलेभ्यो जनेभ्यस्तां प्रयच्छतः सूरीन् प्रतीत्याचार्येण विहितः । एव हि तत्प्रवृत्तौ तेषामन्येषा चाऽनर्थोऽसमञ्जसक्रियाजन्या च शासनाऽपभ्राजना मा भूदित्यभिप्रायेण । इति गाथार्थ. ॥ ४९ ॥

उपदेशशेषमाह-

तिव्वगिलाणादीणं, भेसजदाणाइयाइँ णायाइं ।
दट्ठव्वाइँ इहं खलु, कुग्गहविरहेण धीरेहिं ॥ ५० ॥

टीका सुगमा । पञ्चा० ३ विव० ।

(३७) अत्र हीरविजयसूरिकृतप्रश्नोत्तरकदम्बकम्-

स्वकीयेतरकल्पे देवाश्चैत्यानि वन्दन्ते,न वा ?। देवा यदा स्वकीयेतरकल्पे यान्ति, तदा तत्रत्यचैत्यवन्दननिषेधो ज्ञातो नास्तीति । ही० ४ प्रका० ।

चैत्यालये चैत्यवन्दनकरणम् ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरमेव, अन्यथाऽपि वा ?। चैत्यालये ईर्यापथिकीपुरस्सर चैत्यवन्दनकरणविषये एकान्तो नास्तीति ज्ञायते । ही० ३ प्रका० ।

शीतोष्णकालयोर्गृहस्थानां जिनालये देववन्दन काजोद्धरणपूर्वक, किं वा प्रमार्जनेन?। शीतोष्णकालयोर्गृहस्थानां जिनालये देववन्दननिमित्त काजोद्धरणस्य नियमो नास्ति, तेन यदि कश्चित् करोति तदा करोतु । ही० २ प्रका० ।

गृहस्थाचारधरो यतिवेषवान् प्रतिक्रमण कर्तुकामः किं सामायिकग्रहणपूर्वक करोति , अथवा चैत्यवन्दनत. ? । गृहस्थाचारधरो यतिवेषवान् मुख्यवृत्त्या सामायिकग्रहण कृत्वा प्रतिक्रमण करोति ॥ ही० २ प्रका० ।

सप्तदशभेदपूजादौ श्रीजिनगृहे चैत्यवन्दन कृत्वा यदोपविश्यते तदा किमीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकमेवान्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुहूर्त्ताद्यत्रस्थानसम्भावनायामीर्यापथिकी प्रतिक्रम्यते, अन्यथा तु यथाऽवसरामिति। ३६४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

श्राविका जिनालये चैत्यवन्दना विधायोर्ध्वं स्थिता सत्येकनमस्कारकायोत्सर्गं कृत्वा चैकां स्तुतिं कथयत्येतद्विधिः क्वास्तीति प्रश्ने , उत्तरम्-एतद्विधिर्भाष्यावचूरिमध्ये चैत्यवन्दनाधिकारे कथितोऽस्ति , परमेतद्विधिकरणप्रवृत्तिरधुना श्राविकामध्ये न दृश्यत इति । २६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

अथ प० सत्यसौभाग्यग० कृतप्रश्नः , तदुत्तरं च । यथा— उत्कृष्टचैत्यवन्दनाविधावुत्तरोत्तर स्तुतयो वर्णैर्वृद्धा विधीयन्ते, न त्वल्पा इति रूढि. सत्याऽसत्या वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उत्कृष्टचैत्यवन्दनाविधावुत्तरोत्तर स्तुतय प्रायो वर्णैर्वृद्धा एव विधेया इति परम्परा वर्तते, तेन रूढि. सत्यैवावसीयते, परम्परामूल तु नमोऽस्तु वर्धमानायेत्यस्याधिकारे " ताओ अ थुईओ एगसिलोगादिवड्ढितिआओ पयक्खरादीहिं वा सरेण वा वड्ढेण

(३२) येऽधिकारा यत्समता.। अथ येऽधिकारा यत्प्रमाणे-
न भण्यन्ते तद्दर्शनोद्दार्थं प्रकटयन्नाह-

नव अहिगारा इह ललि-यवित्थरावित्तिमाइ अणुसारा।
तिन्नि सुयपरंपरया, बीओ दसमो इगारसमो ॥ ३७ ॥

इह द्वादशस्वधिकारेषु मध्ये,नव अधिकाराः-प्रथमतृतीयचतु-र्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमनवमद्वादशस्वरूपा.,या ललितविस्तराख्या चैत्यवन्दनामूलवृत्ति , तस्या अनुसारेण तत्र व्याख्यातसूत्रप्रामाण्येन,भण्यन्त इति शेषः। तथा च तत्रोक्तम्-एतास्तिस्र स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचित्त्वन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तद्व्याख्यानक्रिया,एवमेतत्पठित्वा उपचितपुण्यसंभारा उचि-तेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-"वेयावच्चगराण"इत्यादि। अत्र च एता इति " सिद्धाण बु० १ जो देवाण वि० २ इक्को वीति० " ३। अन्या अपीति-" उज्जितसेल० १, चत्तारि अ-ट्ठ० २ तथा- जे य अईया " इत्यादि ३। अत एवाऽत्र बहुव-चनं संभाव्यते, अन्यथा द्विवचनं स्यात् । पठन्तीति-" से-सा जहिच्छाए " इत्यावश्यकचूर्णिवचनादित्यर्थ । न च तत्र नियम इति, न तद्व्याख्यानक्रियेति तु प्रणन्त श्रीहरिभद्रसूरि-पादा एव ज्ञापयन्ति-यदत्र यदृच्छया भण्यते तन्न व्याख्यायते, यत्पुनर्नियमतो भणनीयं तद्व्याख्यायते, व्याख्यातं च " वेया-वच्चगराण " इत्यादि सूत्रम्। तथा चोक्तम्-एवमेतत्पठित्वेत्या-दि , यावत् पठन्ति " वेयावच्चगराण " इत्यादि । ततश्च स्थितमेतद् यदुत " वेयावच्चगराणं " इत्यप्यधिकारोऽव-श्यं भणनीय एव,अन्यथा व्याख्यानासंभवात् । यदि पुनरेषोऽ-पि वैयावृत्यकराधिकार उज्जयन्ताद्यधिकारवत्कैश्चिद्भणनीयत-या याद्दच्छिक. स्यात्तदा "उज्जितसेल" इत्यादिगाथाद्वयमपि न व्याख्यायेत, व्याख्यातश्च नियमभणनीयसिद्धादिगाथात्रि-सहायमनुविरुद्धसंबन्धेनेत्यतोऽत्रुटितसंबन्धायातत्वात् सिद्धा-द्यधिकारवदनुस्यूत एव भणनीय । अथाक्रमेण तत्र व्या-ख्यातं सूत्रमिति चेत्, एवं तर्हि हन्त सकलचैत्यवन्दनाक्रमा-भावप्रसङ्ग , तत्रैवास्या एव क्रमस्य दर्शितत्वात् । तदन्यत्र तथा व्याख्यानाभावाद् व्याख्याने उप्येतदनुसारित्वात्तस्य पश्चा-त्कालभवत्वाद् नन्यकरणस्य तु सुन्दरस्याऽपि भवनिब-न्धनत्वात् तत्रोक्तस्य तूपदेशायाततया स्वच्छन्दकल्पिता-भावादिति परिभावनीय यद्धत्र माध्यस्थ्यमनसा, विमर्श-नीय सूक्ष्मधिया, विचिन्तनीय सिद्धान्तरहस्य, पर्युपासनी-य श्रुतवृद्धानां प्रवर्त्तितव्यम् , असदाग्रहविरहेण यति-तव्य निजशक्त्याऽऽनुकूल्यमिति । एव च द्वितीयदशमैकादश-वर्जिता. शेषाः प्रथमाद्या द्वादशपर्यन्ता नव अधिकारा उपदे-शायातललितविस्तराव्याख्यातस्तत्र सिद्धा इति सिद्धम् । आदिशब्दात्पाक्षिकसूत्रचूर्ण्यादिग्रहः । तत्र सूत्रम्-" देवस-क्खिय" इति। अत्र चूर्णि -" विरइपमिवत्तिकाले चिइवंदणाइ-णोवयारेण अवस्स अहासन्निहियदेवयासंनिहाणम्मि भवइ,अ-ओ देवसक्खियं भणियं " इति । अयमत्र भावार्थ.-तावद्गण-धरैर्दार्ढ्यार्थं पञ्चसाक्षिक धर्म्मानुष्ठान प्रतिपादित, लोकेऽपि व्यवहारदार्ढ्यस्य तथा दर्शनात् । तत्र देवा अपि साक्षिण उक्ता., ते च चैत्यवन्दनाद्युपचारेणासन्नीभूता. साक्षिता प्रतिपद्य-न्ते , चैत्यवन्दनामध्ये च तेषामुपचारः कायोत्सर्गस्तुतिदाना-दिना क्रियते, अन्यस्य तत्रासंभवादश्रुतत्वाच्च, ततश्चैवमायात, तथा चैत्यवन्दनामध्ये देवकायोत्सर्गादि करणीयमेव, अन्यथा तत्रान्यस्तदुपचाराभावे देवसाक्षिकत्वासिद्धेः , चूर्णिकारेण त-थैव व्याख्यातत्वान्निश्चीयते चैतत् " देवसक्खिय " इति सूत्रप्रामाण्यात् । एवमेव पूर्वापरविरोधाभावादुक्त च सूत्रत्व ललितविस्तरायामप्यस्य । तथा चोक्तम्-व्याख्यात "सिद्धेभ्यः" इत्यादि सूत्रमिति। तथा इदमेव वचन ज्ञापकमिति, वचन सूत्र च पर्यायौ । एव च सूत्रमिश्रा अप्येते नव अधिकारा इति सिद्धम् । ननु च ह्यान तावत् प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चम-षष्ठसप्तमाष्टमद्वादशेति नवाधिकाराः, एव सिद्धान्ताद्यनुसारेण भण्यन्ते,एर प्रवद्भिः "बार अहिगार" इति प्राक् प्रतिज्ञातम्, ततः शेषा कुत प्रामाण्यात् पठ्यन्ते, इत्याशङ्कयाऽऽह-"तिन्नि सुय" इत्यादि। त्रयोऽधिकारा पुन. (सुय त्ति) "ते सुयत्ति"॥३।२।१०८॥ इति पूर्वपदस्य बहुशब्दस्य लोपात् बहुश्रुता.,तेषां पारम्पर्येण गी-तार्थपूर्वाचार्यसंप्रदायेन भण्यन्ते, पारम्पर्यागतस्यार्थस्य सुमत्या निषेधयितुमशक्यत्वात्, तन्निषेधे निह्नवमार्गानुयानापत्ते । उक्तं च द्वितीयाङ्गनिर्युक्तौ-"आयरियपरंपरए-ण आगय जो उ अप्पत्तुसीए । को वेइ छेइ वाई, जमालिना स स नासिहिइ " ॥ १ ॥ त्ति । अशठाचरितेन च आज्ञारूपत्वात् , तथाऽपि निषेधे जिनाशातनाप्रसङ्गाच्च । तथा च कल्पभाष्यम्-" आयरणा वि हु आणा, अविरुद्धा चेव होइ आण त्ति । इहरा ति-त्थयरासा-यण त्ति तल्लक्खण चेय ॥ १ ॥ " इत्यादि । अ-थवा-(सुयपरंपरय त्ति) यथा श्रुतस्य व्याख्यान निर्युक्ति', ततोऽपि भाष्यचूर्ण्यादय', एव श्रुतपारम्पर्येण । अयमर्थ.-यथा सूत्रे चैत्यवन्दना तत श्रुतस्तव यावदुक्तो,निर्युक्तौ तु " सिद्धाण बुद्धे किइकम्म" ति श्रुतस्तवस्योपरि सिद्धस्तुतिर्निर्णीता । चूर्णौ तु सिद्धस्तुतेरप्युपरि श्रीवीरस्तुतिद्वय व्याख्याय भणितम्-" जहा एए तिन्नि सिलोगा भन्नति, सेसा जहिच्छाए " त्ति । ततश्च यथा निर्युक्त्यादिव्याख्याता' सिद्धादिगाथास्तिस्रो भण्यन्ते, तथा उज्जयन्ताद्यपि भण्यते, चूर्णिकारेणाऽनिषिद्ध-त्वादिच्छाद्वारेणानुज्ञातत्वाच्च । तथा हि-" सेस त्ति " अनेन उज्जयन्तादिगाथास्तित्व प्रतिपादितम्, असतो भणनाभावात् । " जहिच्छाए " इत्यनेन तु वन्दनकरणेच्छावतां " उज्जित " आदिगाथाभणने स्वाभिमतत्व दर्शयति , अनभिमतस्ये-च्छाऽयोगात्। येषां हि उज्जयन्तादि वन्दितुमिच्छातिशय.,ते भ-णन्तु नाम, उज्जयन्तादिगाथाभणनतया कर्मक्षयहेतुत्वात् प्रवृ-त्तिरित्यर्थ. । अथ के ते त्रयोऽधिकारा एव श्रुतपारम्पर्येण भ-ण्यन्ते, इत्याह-" बीओ " इत्यादि द्वितीयः " जे य अईया " इत्यादिरूप' , दशम " उज्जित " इत्यादिलक्षण', एकादश " चत्तारि " इत्यादिस्वरूप. । एते त्रय इत्यर्थ. ॥ ३७ ॥

अमुमेवार्थं भाष्यकृत्स्पष्टयन्नाह-

आवस्सयचुण्णीए, जं भणियं सेसया जहिच्छाए ।
तेणं उज्जिताइ वि, अहिगारा सुयमया चेव ॥ ३८ ॥

आवश्यकचूर्णौ प्रतिक्रमणाध्ययने,यद्धस्माद्भणितमिदम्,तद्भणि-तमेव दर्शयति-(सेसया जहिच्छाए) भणन्तीति प्रकृतम्। शेषाः " सिद्धाण०१ जो देवाण वि०२ इक्को वि०३" इति गाथाभ्योऽन्या गाथा " उज्जितसेल " इत्यादिका यदृच्छया भण्यन्ते । या या इच्छा यदृच्छा। अयमर्थ -यस्य यस्य भावेनातिशयतो नेमिनाथा-दि वन्दितु वाञ्छा वर्त्तते,स भणतु नामैता गाथा , न दोष.,स-

जीवा णं भंते ! किं चेयकमा कम्मा कज्जंति, अचेयकमा कम्मा कज्जंति ? । गोयमा ! जीवा णं चेयकमा कम्मा कज्जंति, णो अचेयकडा कम्मा कज्जंति ।

" जीवा णं " इत्यादि । (चेयकमा कम्म त्ति) चेतश्चैतन्य, जीवस्वरूपभूतचेतनेत्यर्थः । तेन कृतानि बद्धानि चेतःकृतानि कर्माणि । (कज्जति त्ति) भवन्ति । भ० १६ श० २ उ० ।

चेयण–चेतन–पुं० । सचित्ते, व्य० १ उ० । सूत्र० । जीवे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । विशे० । (भूतधर्म एव चैतन्यमिति लौकायतिकानां मतम् ' आता ' शब्दे द्वितीयभागे १७० पृष्ठे उपपाद्य खण्डितम्)

चेयणत्त–चेतनत्व–न०। मनसि अनुभूतौ, द्रव्या० ११ अध्या० ।

चेयणा–चेतना–स्त्री० । संज्ञाने, उपयोगे, अवधाने , आव० ६ अ० । ("आता" शब्दे द्वितीयभागे १७० पृष्ठे अभौतिकत्वासिद्धिरुक्ता) करणे च । अत एव " सेज्जं ठाणं वा जाई चेइए" यत्र चेतयते, ' चिती ' संज्ञाने, अनुभवरूपतया विजानाति, वेदयते इत्यर्थः । अथवा-चेतयते करोति इति, धातूनामनेकार्थत्वात् । आ० म० द्वि० । आचा० ।

चेयन्न–चैतन्य–न० । साकारनिराकारोपयोगे , द्रव्या १५ अध्या० ।

चेर–चर्य–न० । चरणे, नि० चू०१ उ०। ('बंभचेर' शब्दे व्याख्या)

चेल–चैल–न० । वस्त्रे , आव० १ अ० । नि० चू० । दश० । प्रश्न० । आचा० । स्था० । बृ० । उत्त० । ज्ञा० । औ० । सूत्र० । कल्पादौ, व्य० ७ उ० ।

चेलकन्न–चैलकर्ण–पुं० । वस्त्रकर्णे, आचा०२ श्रु०१ अ०७ उ० ।

चेलकरण–चैलकरण–पुं० । चैलैकदेशे, दशा० ४ अ० ।

चेलगोल–चैलगोल–न० । वस्त्रात्मके कन्दुके , सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

चेलट्ठ–चैलार्थ–न० । वस्त्रार्थे , बृ० ३ उ० ।

चेलपाय–चैलपात्र–न० । वस्त्रनिर्मितपात्रे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

चेलपेमा–चैलपेटा–स्त्री०। वस्त्रमञ्जूषायाम, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । तं० ।

चेलपोट्टलिया–चैलपोट्टलिका–स्त्री० । चैलानि वस्त्राणि तेषां पोट्टलिका इव सुसगृहीताः सुरक्षिताः। तस्याम, दशा०१०अ०।

चेलुंप–देशी–मुशले, दे० ना० ३ वर्गे ।

चेलुक्खेव–चैलोत्क्षेप–पुं० । तीर्थकृद्भक्तिकार्यदर्शनाद्देवकृते प्रमोदभरेण वस्त्राणामूर्द्धक्षेपे, रा० । आ० क० । कल्प० । स्था० ।

चेल्लग्र–चेल्लक–पुं० । शिष्ये, " चेल्लओ भणति मिच्छा मि दुक्कड " । दश० १ अ० । " चेल्लगं रिंदेज्जा " । आ० चू० ४ अ० ।

चेल्लणा–चेल्लणा–स्त्री० । चेटकराजस्य दुहितरि, आ० चू० ४ अ० । दश० । श्रेणिकमहाराजस्य भार्यायाम, आ० म० प्र० ।

चेल्लणापास–चेल्लणापार्श्व–पुं०। टिंपुरीनगर्या दक्षिणे स्वनामपूजितपार्श्वनाथप्रतिमायाम, ती० १ अ० । (तत्कल्पः ' टिंपुरी ' शब्दे वक्ष्यते)

चेल्लय–चेल्लक–पुं० । आरण्ये जीवविशेषे, आचा० २ श्रु०१ अ० ५ उ० । दीप्यमाने, ती० ३३ कल्प ।

चेव–चैव–अव्य० । च-एव-समासः । समुच्चयमात्रे, आ०२गा० १ उ० । दर्श० । पञ्चा० ।.

चोअअ–चोदक–त्रि० । प्रेरके, अनु० ।

चोइज्जंत–चोद्यमान–त्रि० । परेण पृच्छ्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । शिष्यमाणे, व्य० ७ उ० । नोद्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

चोइय–चोदित–त्रि० । प्रेरिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उत्त० । विद्धे, दशा० ६ अ० २ उ० ।

चोक्ख–चोक्ष–त्रि० । शुद्धे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । शूचीकृते, बृ० १ उ० । परमशुचीभूते, कल्प० ५ क्षण । अपनीताशुचिद्रव्ये, भ० ६ श० ३३ उ० । अशुचिद्रव्यापगमात् (प्र० ११ श० ६ उ०) विवक्षितमलापनयनात् (औ०) क्षेपशिक्थाद्यपनयनेन (भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० । विपा० । आ० चू०) पवित्रे, रा० । " आयंते चोक्खे परमसुइभूए " विमलदेहनेपथ्ये, " अम्हे चोक्खा चोक्खायारा सुई सुईसमायारा औ० ।

चोक्खवत्थ–चोक्षवस्त्र–न०। रजकपार्श्वादतीवोज्ज्वलीकारितवस्त्रे, बृ० १ उ० ।

चोक्खा–चोक्षा–स्त्री० । स्वनामख्यातायां परिव्राजिकायाम,या हि दानशौचधर्मानाख्यातवती तीर्थकृन्मल्लिपराजिता काम्पिल्यनगरे जितशत्रु राजान तद्वृत्त सदिष्टवती । ज्ञा० ८ अ० । (' मल्लि ' शब्देऽस्या कथा)

चोक्खायार–चोक्षाचार–त्रि० । निरवद्यव्यवहारे, औ० ।

चोग्गुण–चतुर्गुण–त्रि० । " न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले " ॥ ८ । १ । १७१ । इति वा ओत् । चतुराद्यर्थेऽर्थे, प्रा० १ पाद ।

चोज्जपसंगि (न्)–चौर्यप्रसङ्गिन्–त्रि० । चौर्यप्रसक्ते, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ० ।

चोज्ज–चौर्य–त्रि० । कर्मणि, " कम्मं ति वा लहं ति वा चोयं ति वा कलुसं ति वा वेज्जं ति वा वेरं ति वा । " नि० चू० २० उ० । काष्ठहारादिके अधमकर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

चोत्तीस–चतुस्त्रिंशत्–स्त्री० । चतुरधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम्, " चोत्तीस बुद्धवयणातिसेसा पण्णत्ता " । रा० ।

चोत्थ–चतुर्थ–त्रि० । " न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले " ॥८।१।१७१॥ इति सूत्रेण वा ओत्वम् । चतुःसंख्यापूरणे, प्रा० १ पाद ।

चोदग–चोदक- त्रि० । पृच्छके, " आयरिओ भणइ-हे चोदग। अकाले तुम पढतो अतिसिरिमिच्छसि ?, " नि० चू० १ उ० ।

स्थविराणां श्लक्ष्णः करणीयः, तदिन्द्रियस्य स्पर्शेन चोलपट्टस्योपघाताभावात्, यूनां तु स्थूल इति । प्रव० ६१ द्वार ।

किमर्थमसौ चोलपट्टकः क्रियत इत्यत आह—

वेउव्व वाउडे वा, हियए अइखन्द्ध पज्जणे चेव ।
तेसिं अणुग्गहट्ठा, लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ ४५ ॥

यस्य साधोः प्रजननं वैक्रियं भवति, विकृतमित्यर्थः । यथा दाक्षिणात्यपुरुषाणां चोयार्थं विध्यते प्रजननं, तच्च विकृतं भवति । ततश्च तत्प्रसादनार्थमनुग्रहाय चोलपट्टकः क्रियते, तथा अप्रावृते कश्चित् वातिको भवति, वातेन तत्प्रजननम् उच्छूनं भवति, ततश्च तदनुग्रहाय अनुज्ञातः । तथा-ह्रीको लज्जालुः कश्चिद्भवति तदर्थं ते (खद्ध ति) बृहत्प्रमाणं स्वभावेनैव कस्याचित् प्रयोजनं भवति । ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं, तथा लिङ्गोदयार्थे कदाचित् स्त्रियं दृष्ट्वा लिङ्गस्योदयो भवति । अथवा-तस्या एव स्त्रिया लिङ्गं दृष्ट्वा उदयश्च लिङ्गस्य भवति, तं प्रति अभिलाषो भवतीत्यर्थः । ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं चोलपट्टकग्रहणमुपदिष्टम् ॥४५॥ ओघ० । ध० । प्रश्न० । आचा० । पं० व० ।

चोलुक्क—चौलुक्य—पुं० । स्वनामख्याते वंशे, यत्र श्रीकुमारपालादयो जज्ञिरे । ती० ५ कल्प ।

चोलो—देशी-वामने, दे० ना० ३ वर्ग ।

चोल्लोवणग—चौलोपनक—न० । चूडाधारणे, भ० ११ श० ११ उ० ।

चोल्लग—चोल्लक—पुं० । परिपाटीभोजने, उत्त० ३ अ० । आ० म० । मानुषत्वदुर्लभत्वे चोल्लकदृष्टान्तः । तत्र चोल्लको ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिमित्रकल्याणभोजनम् । आ० म० द्वि० ।

चोवत्तरि—चतुःसप्तति—स्त्री० । चतुरधिकसप्ततिसंख्यायाम्, स० ७२ सम० ।

चोव्वार—चतुर्वार—पुं० । "न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले" ॥ ८ ॥ १ ॥ १७१ ॥ इति वा ओत् । चतुरावृत्ते, प्रा० १ पाद ।

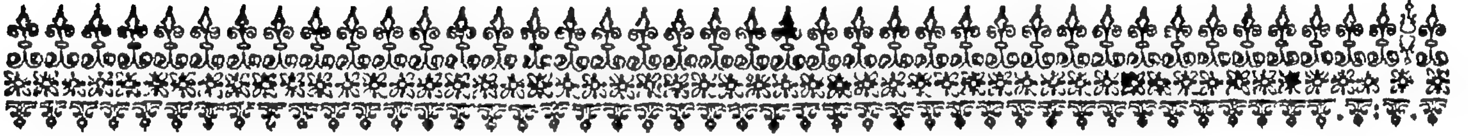

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प—
श्रीमद्भट्टारक—जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
चकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

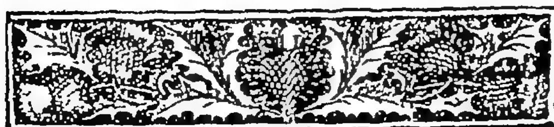

उवसग्गाइविणासो, मणाइँ दुद्दवारणसमाहि" ॥ ३ ॥
(सढ्ढाइ य त्ति) चशब्दाद्वुत्तरीकरणाद्याः पापक्षपणादिफले-र्यापथिक्यादिकायोत्सर्गस्य,सामान्येन श्रद्धाद्या वन्दनादिमत्य-यस्य, वैयावृत्यकृत्यादयस्तु क्षुद्रद्विसुस्मरणादिफलोत्सर्गस्येति ज्ञेयम्। सङ्घा०३ प्रस्ता०। (अत्र सुदर्शनकथा सघाचाराद् ज्ञात व्या) इति प्ररूपितम् "बार हेऊ य" त्ति अष्टादश द्वारम् ।४३।
(३३) इदानीं " सोल आगार " त्ति एकोनविंशतितमं द्वारमाविष्कुर्वन्नाह-

अन्नत्थआइ बारस, आगारा एवमाइया चउरो ।
अगणी -पणिंदिछिंदण-बोहियखोभाइ डक्को य ॥४४॥

"अन्नत्थ त्ति" भणनात् " अन्नत्थुस्ससिएणं, " आदिशब्दात् " नीससिएण " इत्यादि ग्रह', यावत् " दिट्ठिसचालेहिं ति"।
एतदर्थ.-
" अन्नत्थयथावारे, काउस्सग्गं करेमि इय जोगो ।
ऊससिय सासगहो, नीससिय सासमोक्खो य ॥
पयडा खासखुयं ज-भमुहुए वायणीसग्गो ।
·· · · · ··· अहो वाओ ॥
भमलीइ अकम्हाओ, भमतमहिदंसणं व निवडं वा ।
पित्तोदयाउ मुच्छा, विचेयणत्त भमणरहिय च ॥
सुहुमाणूससियाओ-रमुक्क पायाइअंगसंचारो ।
खेले कफाइअंते, दिट्ठीए निमेसमाईया ॥
ऊसासाइनिरोहे, मरणाइं तेण सुहुम ऊससइ ।
एवणमसगाइरक्खण-हेऊ सासाइसु य इत्थो ॥
उड्डुयवायनिसग्गे-सु सहजयणा वि भमलिमुच्छासु ।
निवसइ विग्गहणभया, रोमुक्कपाइदुनिवारा" ॥
एते च द्वादश आकारा' कायोत्सर्गापवादप्रकारा' साक्षात् सूत्रे प्रतिपादिता. । तथा-(एवमाइय त्ति) " एवमाइएहिं " इति पदेन चत्वारः सूचिता. । तानेवाह-" अगणि " इत्यादि । अग्निर्विद्युद्दीपादिस्पर्शनम्, प्रदीपनकमन्ये, पञ्चेन्द्रियैर्नरमार्जा-रादिभिश्छिन्दनं स्वस्य कायोत्सर्गाक्रमणस्य च गुर्वादेन्तराले द्रुवोऽतिक्रमण,बोधिका मानुषचौरा. क्षोभः सुराष्ट्रकृत', आदि-शब्दाद् वन्दिकराजभयभीतिपातादिग्रहणम्, दष्टश्च सर्पादिना स्व. परो वा साध्वादि., चशब्दात्सर्पादिरेव समुखमासन्न वाऽऽगच्छति ।

अत्र यतना-
"फुसणम्मी गहणाच्छिं-दणे अ तह तग्गहत्थकरणाई ।
चारप्पलायणाई, बोहियखोभाइएक्केसु" ॥१॥
उभयेऽपि मीलिता. षोमश । सघा० ३ प्रस्ता० ।
(अत्र नरसुन्दरनृपतिदृष्टान्त. सङ्घाचाराद् ज्ञातव्यः) (का-योत्सर्गे दोषा "काउस्सग्ग" शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४२६ पृष्ठे उक्ता. । उच्छ्वासमानमपि ४२४ पृष्ठे उक्तम्)

(३४) स्तोत्रलक्षणम्-
इदानीं " थुत्तं च" त्ति द्वाविंश द्वारमाविष्कुर्वन् गाथोत्तरा-र्द्धमाह—

गंभीरमहुरसद्दं, महत्थजुत्तं हवइ थुत्तं ॥

गम्भीरा व्यङ्ग्यार्थान्योक्तिवक्रोक्तिकठोरोक्त्यादिगर्भा , मधु-रा सुश्लिष्टाक्षरा शब्दा यत्र तत्तथा । यद्वा-मधुरो मालवकै-शिक्यादिग्रामरागानुगत शब्द स्वरो यत्र । सङ्घा०३ प्रस्ता० । (अत्र विजयश्रेष्ठिकथा सङ्घाचारादवसेया)

प्ररूपितम् " थुत्त च " इति द्वाविंशं द्वारम् ।
(३५) कतिवेलाश्चैत्यानि वन्देत-साम्प्रत " सगवेल " त्ति त्रयोविंश द्वार प्रकटयन्नाह-

पडिक्कमणे चेइयजिम-णचरिमपडिक्कमणसुवणपडिबोहे ।
चिइवंदण इइ जइणो, सत्त उ वेला अहोरत्ते ॥ ४८ ॥

यते' साधो.,इति पूर्वार्द्धोक्तरीत्या, अहोरात्रमध्ये सप्त वेला ज-घन्यतोऽपि चैत्यवन्दना कर्त्तव्यैव, अन्यथाऽतिचारसंभवात्सव-करणे प्रायश्चित्तस्य भणनादागमप्रामाण्यात् अधिके त्वनिषेध । पर्वादिषु विशेषतो वन्दनाभणनात, प्रतिषेधे प्रायश्चित्तापत्तेश्च। तथा चाऽऽगमः-"जेण चेइए वदमाणस्स वा संथुवेमाणस्स वा पचप्पयार च सज्झायं पयरेमाणस्स वा विग्घं करि-ज्जा पच्छित्त " । एतच्च तुशब्दो विशेषयति, तत्र (पडिक्कमणे त्ति) प्राभातिकावश्यकावसाने एका चैत्यवन्दना । तथा च मूलावश्यकटीका-" तओ तिन्नि थुईओ जहा थुत्तं, नवरमप्प-सद्दग दिति, जहा घरकोइलाइसत्ता न उट्ठति, तओ देवे वदति, तओ बहुवेल संदिसावति त्ति " ॥ (चेइय त्ति) द्वितीया चैत्यवन्दना चैत्यगृहवेलाया भक्तादिग्रहणार्थ-मुपयोगकरणपूर्वमित्यर्थ. । उक्त च महानिशीथे सप्तमा-ध्ययने यतिदिनचर्याप्रस्तावे-"चेइएहिं अवदिएहिं उवओ-गं करिज्जा पच्छित्त । " तथा मूलावश्यके कायोत्सर्गनिर्युक्ति-वृत्योर्दिवसातिचारालोचनार्थमुक्तम्-
" काउस्सग्ग मोक्खप-हदेसिओ जाणिऊण तो धीरा ।
दिवसाइयारजाणण-ट्टयाइ ठायंति उस्सग्ग ॥ १ ॥ "
मोक्षपथस्तीर्थकरस्तदुपदेशकत्वेन कारणे कार्योपचारात् साम्प्रतं यदुक्त दिवसातिचारज्ञापनार्थमिति, तत्रो-च्यते-विषयद्वारेण तमतिचार दर्शयन्नाह-
"सयणासणन्नपाणे, चेइयजइसिज्जकायउच्चारे ।
समिईभावणगुत्ती, वितहायरणे अईयारो" ॥१॥
(चेइय त्ति) चैत्यावितथाचरणे सत्यतिचार', चैत्यविषय च वितथाचरणमविधिना वन्दनकरणे अकरणे चेत्यादि। (जइ त्ति) यतिवितथाचरणे सत्यतिचारः, यतिविषय च वितथाचरण यथार्ह विनयाद्यकरणमिति । एषा च त्रिकालचैत्यवन्दनाम-ध्ये' प्राभातिकसंध्याकालवन्दनोच्यते । यतो यतिनामपि दिवा-मध्ये त्रिसंध्य चैत्यवन्दनाया अवश्य कर्त्तव्यतयोक्तत्वात्। तथा महानिशीथसूत्रम्-" गोयमा ! जे केइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दियां पभिइओ अणु-दियह जावजीवाभिग्गहणं सुविसत्थतत्तनिच्चरे जहुत्तविहीए सुत्तत्थमणुसरमाणे अणुन्नमणे एगग्गचित्ते तग्गयमणस्स सुहज्झवसाए थयथुईहिं न तिकालिय चेइए वंदिज्जा,तस्स णं पायच्छित्त उवइसिज्जा " ॥ (जिमण त्ति) चैत्यवन्दनां कृत्वा भोक्तव्यम् । तथा चोक्तम्-" चेइएहिं साहूहिं य अवदि-एहिं पडिक्कमिज्जा पच्छित्त " । एषा च मध्याह्नचैत्यवन्दना गण्यते। (चरिम त्ति) सचरणप्रत्याख्यानानन्तर देवान् वन्देत। उक्त च-"सचरित्ता ण चेइयस्स साहूण वदण न करिज्जा, तो पच्छित्त " एषा सायं सन्ध्या चैत्यवन्दनाया निपतति । एव च दिवामध्ये त्रिकालवन्दना यतिना भवति । (पडिक्कमण त्ति' दैवसिकप्रतिक्रमणात्पूर्व देवा वन्दनीया. । तथा च महानि शीथे-"चिइवदणपडिक्कमणगाहा।" तथा "चेइएहिं अवदिए हिं पडिक्कमिज्जा पच्छित्त " (सुवण त्ति) दे

एणनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जाणइ, पासइ० जाव गंधं वायं ॥

" अट्ठ ठाणेत्यादि " व्याख्यात प्राग्, नवरं यावत्करणात् "अधम्मत्थिकायं जीवमसरीरपडिबद्ध परमाणुपुग्गलं सद्द " इति दृश्यमिति। एतान्येव जिनो जानातीति । आह च-"एयाणि" इत्यादि सुगमम्। स्था० ८ ठा० ।

दश स्थानानि छद्मस्थो न जानाति-

दस ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ,न पासइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव वायं, अयं जिणे भविस्सइ वा, न भविस्सइ, अयं सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सइ वा, ण वा करिस्सइ, एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे जाणइ, पासइ० जाव अय सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सइ वा, न करिस्सइ ॥

छद्मस्थ इह निरतिशय एव दृष्टव्योऽन्यथाऽवधिज्ञानी परमाण्वादि जानात्येव । (सव्वभावेण ति) सर्वप्रकारेण स्पर्शरसगन्धरूपज्ञानेन घटमिवेत्यर्थो धर्मास्तिकायम्, यावत्करणाद् धर्मास्तिकायमाकाशास्तिकाय जीवमशरीरप्रतिबद्ध परमाणुपुद्गल शब्द गन्धमिति । अयमित्यादि द्वयमधिकमिह, तत्रायमिति प्रत्यक्षज्ञानसाक्षात्कृतो जिनः केवली भविष्यति, न वा भविष्यतीति नवम, तथाऽय " सव्व "इत्यादि प्रकट, दशमामिति । एतान्येव छद्मस्थानवबोध्यानि सातिशयज्ञानादित्वाज्जिनो जानातीति।आह च-" एयाइ " इत्यादि । यावत्करणात्-"जिणे अरिहा केवली सव्वण्णू सव्वभावेण जाणइ, पासइ । तं जहा-धम्मत्थिकाय" इत्यादि यावद्दशम स्थानं,तच्चोक्तमेवेति । स्था० १० ठा० ।

पञ्च स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति-

पंच ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ,ण पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवं असरीरपडिबद्धं परमाणुपोग्गलं, एयाणि चेव उप्पण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ, पासइ, धम्मत्थिकायं० जाव परमाणुपोग्गलं ॥

" छउमत्थ " इत्यादि सुगम, नवरं छद्मस्थ इहावध्याद्यतिशयविकलो गृह्यते, अन्यथा अमूर्तत्वेनाधर्मास्तिकायादीनजानन्नपि परमाणु जानात्येवासौ मूर्तत्वात्तस्याऽथ सर्वभावेनेत्युक्तम्, ततश्च त कथञ्चिज्जानन्नपि अनन्तपर्यायतया न जानातीति, एव तर्हि सख्यानियमो व्यर्थ स्याद्घटादीनां सुबहूनामर्थानामकेवलिना सर्वपर्यायतया ज्ञातुमशक्यत्वादिति । [सव्वभावेण ति] साक्षात्कारेण श्रुतज्ञानेन त्वसाक्षात्कारेण जानात्येव जीवमशरीरप्रतिबद्ध देहमुक्त, परमाणुश्चासौ पुद्गलश्चेति विग्रहः, द्व्यणुकादीनामुपलक्षणमिदम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । " छन्तव्य कस्य समोहः, छद्मस्थस्य न जायते । " आव० ६ अ० । भ० ।

छउमत्थकालिय-छद्मस्थकालिक-पुं० । " छउमत्थकालियाए त्ति " प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वम् । छद्मस्थकाले, स्था० १० ठा० ।

छउमत्थखीणकसायवीयरागदंसणारिय-छद्मस्थक्षीणकषाय वीतरागदर्शनार्य-पुं० । वीतरागदर्शनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

छउमत्थमरण-छद्मस्थमरण-न० । छद्मस्थानां सतां मरणे, "मणपज्जवोहिणाणी, सुतमणाणी मरंति जे समणा । छउमत्थमरणमेय," उत्त०नि० १ अ० । मनःपर्यायनिर्देशो विशुद्धिकृतप्राधान्यमङ्गीकृत्य चारित्रिण एव, तदुपजायत इति स्वामिकृतप्राधान्यापेक्षया वा, एवमवध्यादिष्वपि यथायोग स्वधियैव हेतुरभिधेय. । उत्त० ५ अ० ।

छउमत्थवीयराय-छद्मस्थवीतराग-पुं० । छद्मनि आवरणद्वयरूपे अन्तराये च कर्मणि तिष्ठतीति छद्मस्थोऽनुत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन', स चासौ वीतरागश्च, उपशान्तमोहत्वात् क्षीणमोहत्वाद्वा विगतरागोऽय इत्यर्थ । स्था० ७ ठा० । "छउमत्थवीयरागेण मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ वेएइ । तं जहा-णाणावरणिज्जं दसणावरणिज्ज वेयणिय आउग नाम गोयमतराइय । " एकादशद्वादशगुणस्थानवर्तिनि जीवे, उत्त० २ अ० ।

छउमत्थावक्कमण-छद्मस्थापक्रमण-न० । ६ त० । छद्मस्थानां सतां गुरुकुलान्निर्गमने, भ० ९ श० ३३ उ० ।

छउमत्थावत्था-छद्मस्थावस्था-स्त्री० । छद्मस्थावस्था त्रिधाजन्मावस्था, राज्यावस्था, श्रामण्यावस्था च । छद्मस्थकाले, ध० २ अधि० ।

छउलुग-षमुलूक-पुं० । षडुलूकगोत्रे पुरुषे, " छउल्लुगो य गोत्तेण तेण छउलुओ त्ति जीवो। " आ० चू० १ अ० । वैशेषिकमतप्रवर्तके रोहगुप्ते, विशे० ।

ननु रोहगुप्त इत्येवास्य नाम, तत्कथं षडुलूक इत्युक्त् प्रागुक्तोऽसावित्याह—

नामेण रोहगुत्तो, गोत्तेणालप्पए स चोलूओ ।
दव्वाइछप्पयत्थो-वएसणाओ छउलूओ त्ति ॥ २ ॥

नाम्नाऽसौ रोहगुप्तो, गोत्रेण पुनरुलूकगोत्रसंभूतत्वादसावुलूक इत्यालप्यते, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणषट्पदार्थप्ररूपणेन तु षट्पदार्थप्रधान उलूक. षमुलूक इत्यय व्यपदिश्यत इति । विशे० । उत्त० । आ० म० । स्था० । कल्प० ।

छंद-छन्द-पुं० । छन्दन छन्द' । अभिप्राये, ध० २ अधि० । प्रश्न० । प्रव० । दश० । आव० । आ० चू० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । स्था० । उत्त० । गुरोरभिप्राये, आ० म० प्र० । परानुवृत्त्या भोगाभिप्राये, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । स्वकीयाऽभिप्रायविशेषे, स्था० १० ठा० । " छदेणं अज्जो तुज्झ छंदेण ति " स्वाभिप्रायेण यथेष्टमित्यर्थ । भ० १ श० ७ उ० । गुर्वादेश विनैव प्रवर्तने,उत्त० ४ अ० । इच्छायाम्,व्य० १ उ० । दश० । आयासे, नि० चू० १ उ० । अनालोचितपूर्वापरविषयाऽभिलाषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । प्रार्थनाऽभिलाषे, इन्द्रियाणा स्वविषयाऽभिलाषे वा । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । वशे, उत्त० ४ अ० ।

उपदेशान्तरमाह-

छंदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिंति माहणे,सीउण्ह वयसाऽहियासए ॥ २१ ॥

(छदेणेत्यादि) छन्दोऽभिप्राय., तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुमतिगमनैकहेतुना इमा प्रजा अय लोक., तासु गतिषु प्र-

"वेय त्ति" "वेयावच्चगराण" इत्यादिना कायोत्सर्गः कार्य, ततः "थुइ त्ति" वैयावृत्यकरादिविषयैव चतुर्थी स्तुतिर्दीयते, ततः प्राग्वत् प्रणामपूर्वकं जानुद्वय भूमौ विन्यस्य करधृतयोगमुद्रया "नमोऽत्थु" त्ति पुनः शक्रस्तवदण्डको भणनीय, तदन्ते प्रणाम कृत्वा "जावंति" त्ति सर्वजिनवन्दनाप्रणिधानरूपा "जावंति चेइयाइ" इत्यादिगाथा भणनीया । उक्त च पञ्चवस्तुके-वन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसाने इत्यादि । तत क्षमाश्रमण दत्त्वा "जावंति केइ साहू" इत्यादिना द्वितीयं मुनिवन्दनास्वरूपं प्रणिधान करणीय, पुनः क्षमाश्रमण दत्त्वा "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! स्तवन भणितुम" इति भणित्वा स्तोत्र भणनीयम्, ततो मुक्ताशुक्तिमुद्रया "जय वीयराय" इत्यादि तृतीय प्रार्थनालक्षण प्रणिधान विधेयमिति । "पणदमथुइचउक्कग-थुइपणिहाणेहि उक्कोस" त्ति प्रागुक्तक्रमप्रतिपादिका गाथा भणनीया । उक्त चाक्षरार्थः ।

अथ भाष्यकृत् सद्गुरुबहुमानातिशयतः स्वगुरुनामज्ञापनागर्भ प्रकृष्टफलदर्शनद्वारेण निगमयन्नाह-

सव्वोवाहिविसुद्धं, एवं जो वंदए सया देवे ।
देविंदविंदमहियं, परमपयं पावइ लहुं सो ॥५०॥

सर्वे श्रावकादिविषया ऋद्धिमदनृद्धिमद्गोचरा देशकालाद्यनुगता द्रव्यस्तवभावस्तवस्वरूपा वन्दनीयस्तवनीयादिविषयप्रणिधानलक्षणाश्च उपाधयो धर्मानुचिन्ताश्चिन्ता "उपाधिर्धर्मचिन्तनम्" इतिवचनात्, न पुनः सावद्यैहिकप्रयोजनविषया, लोके स्वभावसिद्धा हि ते, इति नोपदेशपराः, अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् । न हि मलिनः स्नायात्, बुभुक्षितो वाऽश्नीयादित्यत्र तत् । परम च तत्पद च परमपदं, तीर्थकरपदवीमित्यर्थः ।

यदागमः-

"सामतो चक्कहरं, चक्कहरो सुरवइत्तण कप्पे ।
इंदो तित्थयरत्त, तित्थयरे पुण तिजयसुहए ॥ १ ॥
तम्हा ज इदेहि वि, कंखिज्जइ पगयफलक्खेहिं ।
इय साणुरायहियए-हिँ उत्तम त न संदेहो" ॥ २ ॥

प्राप्नोति समासादयति, लघु शीघ्रं, स यथोपाधिचैत्यवन्दनाकर्त्ता ।

उक्त चागमे-

"जो पुण दुहउव्विग्गो, सुहतण्हालू अलि व्व कमलवणे ।
थयथुइमंगलजइस-द्दवावडो हु ण मुणे किं पि ॥ १ ॥
भत्तिभरनिब्भरो जिण-वरिंदपायारविंदजुगपुरओ ।
भूमिनिट्ठवियसिरो, कयजलीवावडो भत्तो ॥ २ ॥
इक्क पि गुणं हियए, धरिज्ज सकाइसुद्धसमत्तो ।
अक्खलियवयनियमो, तित्थयरत्ताइ सो सिज्झे" ॥ ३ ॥

ततश्च यावत्तीर्थकरत्व स्याद्यावन्मेघरथवच्चक्रीन्द्रत्वाद्यनुभवति । अथवा परमपद मुक्तिपद, परमज्ञानादिचतुष्टययोगात्, शेष प्राग्वत् ।

तथा चागम -

"नामं पि सयलकम्म-ट्ठमलकलकेहिँ विप्पमुक्काणं ।
तियसिंदच्चियचलणा-ण जिणवरिंदाण जो सरइ ॥ १ ॥
तिविहकरणोवउत्तो, खणे खणे सीलसजमुज्जुत्तो ।
अविराहियवयनियमो, सो वि हु अइरेण सिज्झिज्जा ॥ २॥"
सद्बा०३प्रस्ता०पञ्चा० । (मेघरथकथा सद्वाचाराद् ज्ञातव्या)

अथ शुद्धवन्दनस्यैव मोक्षहेतुत्वम् । अथ शुद्धवन्दनैव मोक्षहेतुरिति दर्शयितुमाह-

इत्तो उ विन्नागाओ, अणादिभवदव्वलिंगओ चेव ।
णिउणं णिरूवियव्वा, एसा जह मोक्खहेउ त्ति ॥३१॥

इतस्तत्प्रसादेवानन्तरोक्ताद् विज्ञानात्प्रथमकरणस्योपरि शुद्धवन्दना भवतीत्येव लक्षणात्, तथा अनादिभवे निष्प्राथम्यससारे, यानि द्रव्यलिङ्गानि, भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजितादिनेपथ्यवरणलक्षणानि तानि, तथा तेभ्यस्ततोऽनादिभवद्रव्यलिङ्गत, चशब्दः समुच्चये, एवशब्दोऽवधारणे, स चान्यत्र योक्ष्यते । निपुण सुनिश्चित यथा भवतीत्येव निरूपयितव्या पर्यालोचनीया । कथम्?, यथेति यदुत, एषा एवैव शुद्धवन्दनैव, नेतरा, मोक्षहेतुर्निर्वाणबीजम् । अथवा इत एव विज्ञानादनादिभवद्रव्यलिङ्गतश्च यस्मादियममोक्षहेतुरपि स्यादतस्तथा निरूपयितव्या । एषा वन्दना यथा मोक्षहेतु स्याच्छुद्धा विधेयेत्युपदेशः । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । अयमभिप्रायः-प्रथमकरणाभ्यन्तरे अनादिभवद्रव्यलिङ्गेषु चेयमनन्तशोऽवाप्ताऽपि न मोक्षहेतुर्जाता, अशुद्धत्वात्, अतोऽधुना तथा निरूपणीयेय यथा मोक्षहेतुः स्यात्, शुद्धा विधेयेति भावः । इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अनादिभवद्रव्यलिङ्गत इत्यनेनानन्तश प्राप्तिरस्या उक्ता, सा चाशुद्धाया एव, न तु शुद्धाया इत्येतद्दर्शयितुमाह-

णो भावओ इमीए, परो वि हु अवड्ढपोग्गला अहिगो।
संसारो जीवाणं, हंदि पसिद्धं जिणमयम्मि ॥ ३२ ॥

नो नैव, भावतः शुद्धाध्यवसायत, शुद्धायामित्यर्थः । (इमीए त्ति) अस्यां वन्दनायां सत्यां, परोऽप्युत्कृष्टोऽपि, आस्तामितरः । हुशब्दोऽलङ्कारे । (अवड्ढपोग्गल त्ति) इह पुद्गलशब्देन भीमादिन्यायेन पुद्गलपरावर्तोऽभिप्रेतः, ततश्चार्द्धं पुद्गलपरावर्तस्येत्यर्द्धपुद्गलपरावर्तः । अप इत्यपकृष्टः किञ्चिन्न्यूनोऽर्धपुद्गलपरावर्तोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः । तस्मादधिकोऽर्गलः, ससारो, जीवाना जन्तूनां, भवतीति गम्यम् । कथमिदं सिद्धमित्याह-हन्दीत्युपप्रदर्शने । प्रसिद्ध प्रख्यात, जिनमतेऽर्हत्सिद्धान्ते । यदाह-" कायमणत च सुए, अद्धापरियट्टओ य देसूणो । आसायणबहुलाण, उक्कोस अतर होइ ॥१॥" इति । अतो द्रव्यत एषाऽऽसीत्, अनादौ भवे निरर्थिका चेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

प्रकृतार्थं निगमयन्नाह—

इय तंतजुत्तिओ खलु, णिरूवियव्वा बुहेहिँ एस त्ति ।
ण हु सत्तामेत्तेणं, इमीएँ इह होइ णेव्वाणं ॥ ३३ ॥

इत्यनन्तरोक्तायास्तन्त्रयुक्तेस्तन्त्रयुक्तिन आगमाश्रितोपपत्तिमाश्रित्य, अथवा-तन्त्र युक्तिं चाऽऽश्रित्य, खलुर्वाक्यालङ्कारे, निरूपयितव्या आलोचनीया, मोक्षहेत्वहेतुभ्याम् । बुधैर्विद्वद्भिर्निर्वाणार्थिभिरित्यर्थः । एषा अनन्तरोक्ता वन्दना । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । अथ कस्माद् निरूपणमस्या उपदिश्यतइत्याह-न हु नैव, सत्तामात्रेण सद्भावेनैव, (इमीए) अस्या वन्दनयाः, इह वन्दनाविचारे, भवति जायते, निर्वाण निर्वृति, किंतु शुद्धयाऽनया तत जायते; अतस्तस्यां यतितव्यमिति हृदयम् । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

छंदरागाभिणिविट्ठ–छन्दोरागाभिनिविष्ट–त्रि०। छन्दः स्वाभिप्रायः, रागो नाम स्नेहरागादिः, तत्राभिनिविष्टः। छन्दोरागप्रत्यर्पितदृशि, दशा० ५ अ०।

छंदा–छन्दा–स्त्री०। छन्दात् स्वकीयादभिप्रायविशेषाद् गोविन्दवाचकस्येव सुन्दरीनन्दनस्येव वा परकीयाद्वा भ्रातृवशभवदत्तस्येव या सा छन्दा। प्रव्रज्याभेदे, स्था० २ ठा० २ उ०।

गामेगे चोर पडिया, वत्थहिरन्नादि गिण्हिउं ते य।
संपट्ठिते य पल्लिं, रूववती माहेल्लिया भणति॥
किं न हरह महिलाओ, चोरा चिंतिति इत्थिया महिला।
णेतुं पल्लीवइणो, उवणीया तेण पगिवन्ना॥
तीएँ धवो सयणेणं, भणितो किं वंदिगं ण मोएसि।
गंतूण चोरपल्लिं. थेरीओ लग्गए पयओ॥
किं ओलग्गसि पुत्ता, चोरेहिं भारिया इहाणीया।
विरहे तीएँ कहेंती, इहागतो तुज्झ भत्त त्ति॥
कहिए तु चोरअहिव–म्मि पउत्थे भणति अज्ज रत्तीए।
पविसतु चोरअहिवो कं–पविट्ठे सेणावतीआओ॥
हेट्ठाऽसंदिपवेसो, चोराइवं भणति वुत्ति इणमो तु।
जादि एज्ज मज्झ भत्ता, तस्स तुमं किं करिज्जासि?॥
चोराहिवाऽऽह सक्का–रत्तु तुम दिज्ज तो करे भिउडिं।
आह ततो चोरहिवो, दारे थंभम्मि उल्लेहिं॥
वज्झेहिं वेढिज्जा, तुट्ठा सच्चे ति हेट्ठसंदीए।
णीणातुं चोरहिवो, खंभे वज्झेहिँ वेढेउ॥
सुणएण खइयवज्झे, पामित्ता णं व चोरअहिवस्स।
अह असिणा छेत्तूणं, सीसं गहि इत्थिओ भणति॥
णीणिज्जंती सीसं, चोरहिवस्सा तु सा गहेतूणं।
गालंतीओ रुहिरं, अहिगच्छतो मग्गतो तस्स॥
जाहे जातब्भासं, ताहे सीसं तयं पमोत्तूणं।
दसिया वी राइणिया, सामेंती जाति विघट्टा॥
जाहे पणिट्ठिताइं, ताहे तणपूलियाउ वचंति।
वचति अवएकंती, पुणो पुणो मग्गतो सा तु॥
गोसे य पभायम्मी, सेणहिवं घाइयं तलो दट्ठुं।
लग्गा कुढेण चोरा, पासंति य ताणि चिंधाणि॥
रुहिरदसगा दियाइं, अणिच्छिया णिअइ त्ति मन्नंता।
तुरियं धावे कुढिया, ताणि वि य पजागकालम्मि॥
पंथस्स गए पासे, ठियाणि कुढिएहिँ जाव दिट्ठाति।
तं खीलेहिँ विताडिय, महिलं घेत्तूण ते पगता॥
ते चोरा तं णेउं, चोराहिवजातिगस्स उवणेंति।
सा तेणं पडिवन्ना, चोराहिवपट्टवधम्मि॥
इतरो वि खीलएहिं, वितड्डिओ अत्थती उ अमवीए।
जूहाहिवणिज्जूढो, अह एति अणीहुतो तहिय॥
तो कहितो दट्ठूणं, कहि सच्चे एस दिट्ठपुव्वो त्ति।
चिंतेऊणं सुचिरं, संभरिजाणियगजाती तु॥
अहमेतस्स तिगिच्छी, आसि विसल्लोसहीएँ तं सोए।
सा रोहणीएँ पतओ, संरोहित्ता वणे तस्स॥
लिहितक्खरा अणिहुओ, मोऽहं विज्जो तवासि पुव्वभवे।
संभारियसंभिन्ना, एतो उ तो वाणरो कहते॥
तह जूहा निज्जूढो, साहज्जं मज्झ कुणसु वरमित्त!।
आमं ति तेण भणितो, जूहं गंतूण ते लग्गा॥
दोण्ह विसेसमणातुण, ण वि कासी य सो हु साहज्जं।
एण्हो मुत्तविलुत्तो, लिहति ततो अक्खरा पुरतो॥
किं साहज्जं न कतं, पुरिसाइ ण जाण दोण्ह वि विसेसं।
तो तुट्ठो वाणरतो, वणसालं अप्पणो विलए॥
लग्गे सेगपहारे–ण मारितुं चोरपल्लिमतिगतु।
रत्तिं मारिय चोरा–हिवं तु तं गेण्हिउं इत्थिं॥
सग्गामं आणेत्ता, इत्थिं उवणेतु सयणवग्गस्स।
वेरग्गसमाजुत्तो, थिरत्थु इत्थीहिँ जे भोगा॥
मज्झत्थं अत्थंतं, सयणो जंपति तु झायसे किं तु।
किं वाऽसि कज्जकामो, भणती कह अप्पणो छंदं॥
थेराणं ति य धम्मं, सोउं पव्वज्जमब्भुवेसी य।
एसा छंदा भणिता, ... |पं० भा०।
पं० चू०॥

छंदाणुवट्टय–छन्दोऽनुवर्तक–पुं०। छन्दोऽनुवर्तिनि, आ० १ श्रु० ३ अ०। सूत्र०।

छंदाणुवत्तण–छन्दोऽनुवर्तन–न०। अभिप्रायाराधने, देशकालदाने, कटकादौ विशिष्टनृपतेः प्रस्तावदाने, दशा० ६ अ० १ उ० स०।

छंदाणुवत्तय–छन्दोऽनुवर्तक–पुं०। "छंदाणुवट्टय" शब्दार्थे, आ० १ श्रु० ३ अ०। सूत्र०।

छंदाणुवत्ति (ण्)–छन्दोऽनुवर्तिन्–त्रि०। गुरोश्छन्दानुवर्तिनि, गुरोरभिप्रायानुयायिनि, गुरोरभिप्रायानुवर्तिनि, ग० २ अधि०।

छंदाणुवत्तिता–छन्दोऽनुवर्तिता–स्त्री०। छन्दो गुरूणामभिप्रायः, तमनुवर्तते आराधयतीत्येवंशीलश्छन्दोऽनुवर्ती, तद्भावश्छन्दोऽनुवर्तिता। विनयभेदे, व्य०।

संप्रति छन्दोऽनुवर्तितामाह–

कालसहावाणुमया, आहारुवहीउवस्सया चेव।
नाउं ववहरइ तहा, छंदं अणुवत्तमाणो उ॥

आहारं पिण्ड, उपधिः कल्पादिः, उपाश्रयो वसतिः, एते कालस्वभावानुमता इति, अनुमतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। प्रकृति. स्वकालानुमता ये यस्मिन् काले सुखहेतुतया मताः, प्रकृति. स्वभावः। स चार्थादिह गुरोः प्रतिगृह्यते। तदनुमताः तदनुकूलाः, तान्, तथा ज्ञात्वा छन्दो गुरोरभिप्रायमनुवर्तमानो व्यवहरति सपादयति। एष छन्दोऽनुवर्तिताविनयः। व्य० १ उ०।

वर्णादिभिरक्षरप्रभृतिभिः, शुद्धाऽपि निरवद्याऽपि,आस्तां साव-द्या, कूटरूपसमा छल्परहितटङ्कयुक्ततृतीयरूपकतुल्या, तथा उभयविहीना भाववर्णादिशुद्धिरहिता या सा, ज्ञेया ज्ञातव्या, मुद्राप्राया मुद्राकल्पा। चरमभङ्गकद्वयस्यापि फलमाह-अनिष्ट-फला अनभिमतप्रयोजनाऽनर्थफलेति यावत्। इति गाथार्थः॥४०॥

इयं चान्त्यभङ्गकद्वयवन्दना केषां किंफला च विशेषेण भ-वतीत्याह-

होइ य पाएणेसा, किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं ।
पाएण दुग्गइफला, विसेसओ दुस्समाए उ ॥ ४१ ॥

भवति च संपद्यते पुनः, प्रायेण बाहुल्येन, प्रायोग्रहणमक्लिष्टसत्त्वानामपि कदाचिदनुपयोगावस्थायामियं भवतीति ख्यापनार्थम् । एषा अनन्तरोक्ता रूपकचरमभङ्गकद्वयोपमिता, वन्दना प्रायः क्लिष्टसत्त्वानां सक्लेशबहुलजीवानां, क्लिष्टं वा सत्त्वं येषां ते तथा तेषां, मन्दबुद्धीनां जडधियां मिथ्यात्वोपहतत्वात् । तथा प्रायेण बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च केषाञ्चिन्मुद्राप्रायाऽपि सती सा संपूर्णवन्दनाहेतुत्वेन सुगतिफलाऽपि भवतीति ज्ञापनार्थम् । दुर्गतिफला कुदेवत्वादिप्रयोजना, विशेषत इत्यत्रोत्तरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्य संबन्धाद्विशेषेण पुनः, दुःषमायां दुःषमाकाले कालदोषादेव, इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

इहैवाऽर्थे मतान्तरमाह-

अन्ने उ लोगिग च्चिय, एसा णामेण वंदणा जइणी ।
जं तीइ फलं तं चिय, तीए ण उ अहिगयं किंचि ॥४२॥

एके तावदियमनिष्टफलेत्याहुः । अन्ये तु अपरे पुनराचार्याः साक्षादनर्थफलतामपश्यन्तोऽस्याः प्राहुः-यदुत लौकिक्येव सामान्यलोकसंबन्धिन्येव, न पुनर्जैनी । एषाऽनन्तरोक्ता, अन्त्यभङ्गकद्वयवन्दना । नन्वर्हद्वन्दनेतीयं प्रसिद्धा,न शिवादिवन्दनेत्यतः कथं नार्हतीत्याह-नाम्ना अभिधानेनैव, न तु फलतः । वन्दना चैत्यवन्दना,जैनी जिनसंबन्धिनी। अथ कथमिदमवसीयते इत्याह-यत इति वाक्यशेषः। यदिति यदेव तस्या लौकिकवन्दनायाः फलं साध्यं तदेव नान्यत्तस्या अन्त्यभङ्गकद्वयगतजैनवन्दनायाः, न तु न पुनरधिकृतं प्रस्तुतं जिनवन्दनोचितं मोक्षादि । अथवाऽधिकमर्गलतरं लौकिकवन्दनापेक्षयेति, किञ्चित्किमप्यल्पीयोऽपीति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

एतस्यैवाचार्यान्तरमतस्यान्यनुज्ञानार्थमाह-

एयं पि जुज्जइ च्चिय, तदणारंभाओं तप्फलं व जओ ।
तप्पच्चवायभावो, वि हंदि तत्तो ण जुत्त त्ति ॥ ४३ ॥

एतदप्यनन्तरोक्तमाचार्यान्तरमतेन कुवन्दनाया लौकिकत्वमपि , न केवलमस्मदुक्तमनिष्टफलत्वमेव। युज्यत एव घटत एव। तत्रोपपत्तिमाह-तदनारम्भाज्जैनवन्दनाऽनासेवनात्। अन्त्यवन्दनाद्वये हि अपुनर्बन्धकादिभावाभावाज्जैनवन्दनाया अनारम्भ एव, तत्फलमिव जैनवन्दनाऽऽराधनाजन्यस्वर्गापवर्गसंपाप्तिक्षुद्रोपद्रवहान्यादिलक्षणफलमिव यतो यस्माद्धेतोः, तस्या जैनवन्दनाया अविधिकृताया सकाशात्प्रत्यपाया उन्मादरोगधर्मभ्रंसलक्षणा अनर्थास्तत्प्रत्यपायाः, तेषां भावस्तत्प्रत्यपायभावः । सोऽपि, अपिशब्दादिष्टार्थभावोऽपि, हन्दीत्युपप्रदर्शने, ततः कुवन्दनात , अथवा-(तत्तो त्ति) तत एव जैनवन्दनाऽनारम्भादेव, अवधारणं चेह काकुपाठात्प्रतीयते । न युक्तो न घटमानः स्यात् , इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इदमुक्तं भवति-यथा जैनवन्दनाऽनारम्भान्मुद्राप्रायवन्दनायामिष्टफलं न युक्तम्,एवं जैनवन्दनाऽनारम्भादेव तज्जन्यानर्थोऽपि न युक्तः स्यात्, दृश्यते च मुद्राप्रायवन्दनायामनर्थाभावः यतो अतोऽसौ जैनी न भवत्यपि तु लौकिक्येवेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अमुमेवार्थं भावयन्नाह-

जमुभयजणणसहावा,एसा विहिणेयरेहिँ ण उ अन्ना ।
ता एयस्साभावे, इमीऍ एवं कहं बीयं ? ॥४४॥

यद्यस्माद्धेतोरुभयजननस्वभावा इष्टानिष्टार्थोत्पादनबीजकल्पा, एषा जैनवन्दना । अथ कथमेकैवोभयजननस्वभावेत्याह-[विहिणेयरेहिँ ति] विधानेन क्रियमाणेष्टफला, इतरैरविधिभिस्तु प्रत्यपायफला । लौकिक्यप्येवंभूतेति चेदित्यत्राह-न त्वन्या न पुनरपरा, लौकिकीत्यर्थः । लौकिकत्वादेव । ततः किमित्याह-(ता इति) यत एवं तत्तस्मादेतस्य प्रागुक्तदृष्टान्तीकृतस्येष्टफलस्याभावेऽभवने, अस्यां द्विविधकुवन्दनायाम्, एवममुना न्यायेन विधीतराभ्यां सत्फलप्रत्यपायजनकत्वलक्षणेन, कथं केन प्रकारेण, न कथञ्चिदित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्यपायलक्षणं फलमित्यर्थः । अतः सुष्ठूक्तं तत्फलामिव तत्प्रत्यपायभावोऽपि न युक्त इति। यत्र च प्रत्यपायोऽपि न भवति, सा जैनी न भवतीति । अथवा तस्मादेतस्येष्टानिष्टफललक्षणस्योभयस्याभावोऽस्यां कथं बीजमिव बीजं जैनीत्वं, जैनी ह्यर्थानर्थबीजम् । अथवा-कथं बीजं कथमपुनर्बन्धकादित्वं, तद्धि वन्दनाजन्यार्थानर्थबीजम् , अतो बीजाभावादेषा लौकिक्येवेति युक्तमेव । इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इदमेव निगमयन्नाह-

तम्हा उ तदाभासा, अण्णा एस त्ति णायओ णेया ।
मोसाभासाणुगया, तदत्थभावा-णिओगेणं ॥ ४५ ॥

यस्मादस्याः प्रत्यपायाभावाज्जैनीत्वं नास्ति, तस्माद्धेतोः । तुशब्दोऽवधारणे। तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते । तदाभासा जैनीसदृशी,जिनादिशब्दानामुपायनादन्यैव लौकिक्येव, एषा अधिकृतदुर्वन्दना,इतिशब्द उपप्रदर्शने,न्यायत उपपत्त्या, न्यायश्चानन्तरगाथोक्त एव , ज्ञेया ज्ञातव्या, पुनः किंभूतेत्याह-स्वाभाषानुगता असत्यवादान्विता । कथमित्याह-तदर्थे वन्दनाऽभिधेयवस्तुनि, भावस्य सच्छ्रद्धानाद्यध्यवसायस्यानियोगोऽव्यापारस्तदर्थभावानियोगः,तेन । यदा हि-" ठाणेणं मोणेणं झाणेण" इत्यादिपदानि तदर्थे भावमनियुञ्जान समुच्चारयति, तदा मृषावाद एव स्यात् , ध्यानादीनामसंपादनात् । अथवा-तदर्थाभावाद्वन्दनाप्रयोजनाभावान्नियोगेनावश्यंतया, इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

एवं तावदन्त्यभङ्गकद्वयगतवन्दना फलत उक्ता, अथाद्यभङ्गकद्वयगतवन्दनाया अभव्यानां दुर्लभताप्रतिपादनायाऽऽह-

सुहफलजणणसहावा, चिंतामणिमाइए वि णाभव्वा ।
पावंति किं पुणेयं, परमं परमपयबीयं ति ॥ ४६ ॥

शुभफलानामभिमतप्रयोजनानां, विशिष्टाभ्युदयादीनां सुखलक्षणफलानां वा, जननमुत्पादनं,स्वभावः स्वरूपं येषां ते तथा, तान्,चिन्तामण्यादिकानपि चिन्तारत्नप्रभृतिकानपि,आदिशब्दात्

छकायसमारंभेणं अणंतसत्तोवघाए मेहुणासेवणेणं तु संखेज्जसत्तोवघाए घणरागदोसमोहाणुगए,एत्थ अप्पसत्थज्भवसायत्तमेव जम्हा णं एवं तम्हा उ गोयमा ! एएसिं संसारपासेवणं परिभोगादिसु वट्टमाणे पाणी पढममहव्वयमेव ण धारेज्जा, ते य अभावे अवमेसमहव्वयसंजमाणुट्ठाणस्स अभावमेव जम्हा,तम्हा सव्वहा विराहिए समाणे,जओ एवं तओ णं पवित्तियसंममायणासिचेणा व गोयमा ! तं किंपि कम्मं न बंधिज्जा, जेणं तु नरतिरियकुमाणुसेसु अणंतहुत्तो पुणो ह धम्मो त्ति अक्खराइं सिमिणे वि णं अलभमाणं परिभमिज्जा, एएणं अट्ठेणं आउतेउमेहुणे अबोहिदायगे गोयमा ! समक्खाय त्ति ॥ महा० २ चू० ।

छग–छग–न० । पुरीषे, ओघ० ।

छगण–छगण–न० । गोमये, पञ्चा० १३ विव० । नि० चू० ।

छगणपीढय–छगणपीठक–न० । गोमयपीठके, नि० चू० १२ उ० ।

छगणियच्चार–छगणिकक्षार–न० । गोमयक्षारे, ओघ० ।

छगणिया–छगणिका–स्त्री० । गोमयप्रतरे, अनु० ।

छगल–छगल–पुं० । छागे, औ० । आ० म० । प्रव० । प्रश्न० ।

छगलय–छगलक–पुं० । पशुविशेषे, अनु० ।

छगलगलवालग–छगलकगलवालक–पुं० । शास्त्राध्ययनविकलेषु, यद्वा–छगलकस्य गलं ग्रीवां वलयन्ति मोटयन्ति । छगलकग्रीवामोटकेषु, मुण्डितेषु सत्सु कुटुम्बिषु सौद्धोदनीयेषु, पिं० ।

छगलपुर–छगलपुर–न० । नगरभेदे, यत्र शकटो जन्मान्तरे छागलिको जातः । स्था० १० ठा० । विपा० ।

छगलिका–छगलिका–स्त्री० । अजायाम, प्रव० ७३ द्वार ।

छगुणकालग–षड्गुणकालक–पुं० । षड्भिर्गुणितकालके पुद्गले, स्था० ६ ठा० । नि० चू० ।

छगुणलुक्ख–षड्गुणरूक्ष–पुं० । षड्गुणरूक्षे पुद्गले, स्था० ६ ठा० ।

छग्गुरु–षड्गुरु–पुं० । अशीत्यधिके उपवासानां शते, उपवासत्रये च । षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, साम्प्रतकाले तु तद्विपरीतेनैव षड्गुरुशब्देनोपवासत्रयमेव सङ्केत्यते, जीतकल्पव्यवहारानुसारात् । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

छग्गोयरहिंडग–षड्गोचरहिण्डक–पुं० । गौरिव चरणं गोचरः । यथा गौरुच्चावचतृणेषु मुख वाहयँश्चरत्येवं यदुच्चावचगृहेषु साधोर्भिक्षार्थं चरणं स गोचरः, ततः षड्भिर्गोचरैर्हिंण्डत इति षड्गोचरहिण्डकः । पेटाऽर्द्धपेटागोमूत्रिकापतङ्गवीथिकासम्बुक्कवृत्तागत्वाप्रत्यागताख्यैः षड्भिर्गोचरैर्हिंण्डके, पञ्चा० १८ विव० ।

छच्छर–झर्झर–पुं० । झर्झ–अरन् । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " । ८ । ४ । ३२५ इति झकारस्य छकारः । प्रा० ४ पाद । " झाँझ " इतिख्याते वाद्यभेदे, पटहे, कलियुगे, नदभेदे, गद्यभेदे, स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

छज्ज–राज–धा० । स्वा० उ० । " राजेरग्घछज्जसहरीररेहाः ' । ८ । ४ । १०० । इति राजेश्छज्जादेशः । दीप्तौ, प्रा० ४ पाद ।

छज्जा–छाद्या–स्त्री० । छाद्यते उपरि स्थग्यते इति छाद्या । स्थगनके ' ढकन ' इतिख्याते, रा० ।

छज्जिया–छाद्यिका–स्त्री० । छाद्या एव छाद्यिका । रा० ।

छज्जीवणिकाय–षड्जीवनिकाय–पुं० । षट् च ते पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसस्वभावा जीवाश्च, तेषां निकायः । पृथिव्यादिजीवषट्के, दर्श० ३ तत्त्व । षड्जीवनिकायप्रतिपादकमध्ययनं षड्जीवनिकायाध्ययनम् । विपा० २ श्रु० १ अ० । दशवैकालिकस्य तृतीयेऽध्ययने, तत्र षड्जीवनिकायाध्ययनोक्तजीवाजीवाभिगमस्यैकदेशमात्रम् ।

सुअं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु छज्जीवणिया नामऽज्भयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्भयणं धम्मपन्नत्ती ।

श्रूयते तदिति श्रुत, प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टमात्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावपरिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते । श्रुतमवधृतमवगृहीतमिति पर्यायाः । मयेत्यात्मपरामर्शः । आयुरस्यास्तीति आयुष्मान् । कः कमेवमाह–सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनामिति । तेनेति ह्युवनभर्तुः परामर्शः, भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षण इति । उक्तं च–" ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना " ॥ १ ॥ सोऽस्यास्तीति भगवाँस्तेन भगवता, वर्द्धमानस्वामिनेत्यर्थः । एवमिति प्रकारवचनः शब्दः । आख्यातमिति केवलज्ञानेनोपलभ्यावेदित,किमत आह–इह खलु षड्जीवनिकायनामाध्ययनमस्तीति वाक्यशेषः । इहेति लोके प्रवचने वा, खलुशब्दादन्यतीर्थकृत्प्रवचनेषु च षड्जीवनिकायेति पूर्ववत्, नामेत्यभिधानम्, अध्ययनमिति पूर्ववदेव । दश० ४ अ० । तत्र इह खलु षड्जीवनिकायिका नामाध्ययनमस्तीत्युक्तम् । अत्राह–एषा षड्जीवनिकायिका केन प्रवेदिता प्ररूपिता वेत्यत्रोच्यते–तेनैव भगवता, यत आह–" समणेण भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ते त्ति । " सा च तेन श्रमणेन महातपस्विना भगवता समग्रैश्वर्यादियुक्तेन महावीरेण,शूर वीर विक्रान्ताविति कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः । उक्तं च–" विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते । तपो वीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥ " महाँश्चासौ वीरश्च महावीरः, तेन महावीरेण, काश्यपेनेति काश्यपसगोत्रेण,प्रवेदिता नान्यतः, कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता,किं तर्हि स्वयमेव केवलाऽऽलोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदिता, विज्ञातेत्यर्थः । तथा स्वाख्यातेति सदेवमनुष्यासुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता स्वाख्याता,तथा सुप्रज्ञप्तेति सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथैवाख्याता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः । अनेकार्थत्वाद् धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः, तां चैव भूता षड्जीवनिकायिकां श्रेयो मेऽध्येतुं, श्रेयः पथ्यं हितं ममेत्यात्मनिर्देशः । छान्दसत्वात्सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये, ततश्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुम् , अध्येतुमिति पठितुं श्रोतुं भावयितुम् । कुत इत्याह–अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः " निमित्तकारणहेतुषु

तिन्नि भणिऊणं " इत्याद्यावश्यकचूर्ण्यक्षरदर्शनमिति स-भाव्यत इति । ४०२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

चेइयवास–चैत्यवास–पुं० । जिनालये, यतीनामावासे, दर्श० ।

अथ यद्यपि स्थापनास्थानेनार्यरक्षितैर्नानुज्ञात, तथाऽपि तत्र प्रासुकैषणीयस्तत्र निवसतां को दोष इत्याह–

दुगंधमलिणवत्थ–स्स खेलसंघाणजल्लजुत्तस्स ।
जिणभवणे नो कप्पइ, जइणो आसायणाहेऊ ॥

दुष्टो गन्धो दुरभिगन्धो यस्यासौ दुर्गन्धः, मलिनानि वस्त्राणि यस्यासौ मलिनवस्त्रः, दुर्गन्धश्चासौ मलिनवस्त्रश्च दुर्गन्धमलिनवस्त्र,तस्य खेलो निष्ठीवन, सिङ्घानो नासिकामलम, जल्लो देहप्रभवपङ्क, एभिर्युक्तस्य समन्वितस्य, जिनभवने तीर्थकृद्वेश्मनि, न कल्पते, अवस्थान कर्तुमिति शेषः । कस्येत्याह–यतेः साधोः, न तु गृहस्थस्य, तस्य स्वत एव गृहसत्त्वेन निवासासंभवात्, इतरस्य तु प्रवृत्तिदर्शनतो निषिध्यते इति । किमर्थमित्याह–आशातनाहेतोराशातना सर्वधर्महानिर्मा भूदिति । अयमत्र भावार्थः–यस्य हि भगवतो चैत्यगृहे देवा आशातनाभीरुतया संवृतात्मानो विशन्ति, तत्र कथं मलाविलशरीराणां मुखदेहप्रक्षालनारहितानां सदोर्ध्वाघःसमीरणप्रचारवतां स्नानताम्बूलविलेपभोगरहितानां निवसितुं युज्यत इति , न किञ्च कथं कृता स्यादिति । अत एवोक्तम्–" जइ वि न आहाकम्मं, भत्तिकयं तह विवज्जियं ते हु । भत्ती खलु कोइ कया,इहरा आसायणा परमा ॥१॥" ननु यदुत्पन्नसकलावरणविरहितकेवलवलावलोकितविश्वविश्वस्वभावानां भावार्हतामवग्रहे सर्वसाधूनां निर्जराऽस्ति, तत्किं स्थापनार्हतामवग्रहे तिष्ठता कर्मबन्ध इति प्रयोगश्चान्वायुज्यते । स्थापनाऽर्हदवग्रहे यतेर्निवासः कर्तुं निर्जरासंभवात्, भावार्हदवग्रहनिवासिसाधुवदित्यत्रोच्यते । यदुक्तं भावार्हतामित्यादि , तत्रान्य एव भावार्हतां कल्प॰, स्थापनार्हतामन्य एवेति । तथा भगवतां भावार्हतां सर्वसम्बरारूढत्वादेव सुसाधव एव समस्तमपि वैयावृत्यं प्रकुर्वन्ति,भक्तपानादिकं च प्रयच्छन्ति,न तु गृहस्थाः, तथा तन्निमित्तनिवासादिकं न विधीयते । अन्यच्च–गृहस्था अपि पूजोपचारकृते तेषां वस्त्राभरणपुष्पविलेपनस्नानं कुर्वन्ति अतो भावार्हत्कल्पत्वान्निषेधाभावाच्च युक्तमेव भावार्हदवग्रहावस्थानम् । तथा यदुक्तम्-प्रयोगश्चेत्यादि, तत्र निर्जराहेतोरसिद्धत्वात् । असिद्धता चास्य स्थापनार्हत्कल्पत्वेदात् तथा, यथा हि साधवो वैयावृत्यादिकं प्रत्यनधिकारिण , एव तदवग्रहावस्थानं प्रत्यपि, शास्त्रनिषिद्धाचरणाच्च । यत उक्तम्–" देवस्स य परिभोगो, अणंतजम्मे च दारुणविवागो । ज देवभोगभूमिसु,वुड्ढी न हु वट्टइ चरित्ते ॥१॥" प्रयोगश्च जिनभवनावस्थान साधूनामयुक्तमेवेति, पापहेतुत्वात्, सावद्यानुष्ठानवदिति गाथार्थः ॥ दर्श० ३ तत्त्व० ।

चेइयसण्णिवेस–चैत्यसन्निवेस–पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्राष्टमे भवे वीरजिनः षष्टिलक्षपूर्वायुरग्निद्योतो नाम विप्रत्रिदण्डी भूत्वा मृतो नवमे सुरो जातः । कल्प० २ क्षण ।

चेइयसिहराइ–चैत्यशिखरादि–त्रि० । जिनभवनशिखरकलशध्वजप्रभृतिषु, पञ्चा० १९ विव० ।

चेइयहर–चैत्यगृह–न० । देवसदने, (जी०) जिनमन्दिरे, जी० १ प्रति० ।

चेट्ठण–स्थान–न० । अवस्थाने, व्य० ४ उ० ।

चेट्ठा–चेष्टा–स्त्री० । क्रियायाम्, पञ्चा० ४ विव० । व्यापारकरणे, षो० ७ विव० । पराक्रमे, प० स० ५ द्वार ।

चेड–चेट–पुं० । पादमूलिके, औ० । भ० । दासे, कल्प० ३ क्षण । कुमारके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

चेडग–चेटक–पुं० । हैहयकुलजाते स्वनामख्याते वैशालिकापुराधिपतौ, आ० क० । आ० चू० । विशे० । कल्प० । (' सेणिय ' शब्दे सर्वा वक्तव्यता) (चेल्लणा श्रेणिकस्य भार्या बभूवेति 'चेल्लणा' शब्दे १३३६पृष्ठे वक्ष्यते) "समणे भगवं महावीरे भगवओ माया चेडगस्स भगिणी भोई ।" आचू० १ अ० । चेटकेन हल्लविहल्लौ रक्षितौ, कूणिकेन सह रथमुशलमहाकण्टकशिलासंग्रामनामनौ संग्रामौ कृतौ । भ० ७ श० ६ उ० ।

चेडरूव–चेटरूप–त्रि० । कुमारकल्पे, सू० १ उ० ।

चेडिय–चेष्टित–न० । चेष्टायाम् , औ० । सकाममङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गदर्शनादौ , जी० ३ प्रति० ।

चेडियाचक्कवाल–चेटिकाचक्रवाल–न० । दासीसमूहे, " चेडियाचक्कवालवरिसधरथेरकचुइज्जमहत्तरयविंदपरिक्खित्ता " चेटीचक्रवालेनाऽर्थात् स्वदेशसम्भवेन वर्षधराणां वर्धितकरणेन नपुंसकीकृतानामन्तःपुरमहल्लकानाम् । भ० ६ श० ३३ उ० । दशा० ।

चेडी–चेटी–स्त्री० । दास्याम् , आ० म० प्र० । बाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

चेत्त–चैत्र–पुं० । चैत्रीपूर्णिमाघटिते मासे, चित्रानक्षत्रान्विता पूर्णिमा चैत्री । चित्रान्वितायां पूर्णिमायाममायां च । स्त्री० । जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । " चेत्तस्स पुण्णिमाए पउमाभजिणस्स चित्ताहिं " आ० म० प्र० ।

चैत्त–त्रि० । शिल्पिचित्तगते, षो० ८ विव० ।

चेत्तगण–चैत्रगण–पुं० । चैत्रगच्छे, ग० ६ उ० ।

" श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी ।
स्वज्योतिरावृतदिगम्बरडम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरु प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ७ ॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि " ॥
ग० ६ उ० । ग० ।

चेय–चेतस्–न० । अन्तःकरणे, दश० ५ अ० १ उ० । मनसि, स्था० ६ ठा० २ उ० ।

चेयकड–चेतःकृत–न० । जीवस्वरूपभूतया चेतनया बद्धे, जीवानां किं चेतःकृतानि कर्माणि, अचेतःकृतानि कर्माणि वा ? । भ० ।

छज्जीवणिकायसंजम-षड्जीवनिकायसंयम-पुं० । षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां सङ्घट्टनादिपरित्यागे, प्रति०। "छसु जीवनिकाएसु, जे बुहे संजते सया । सो चेव होति विण्णेयो, परमत्थेणावि संजए ॥ १ ॥" दश० १ अ० ।

छट्ठ-षष्ठ-त्रि०। षण्णां पूरणः। षष्-कट्-थुक् च। "कगटडतदपशषस ᳲक ᳲपामूर्ध्वं लुक्" ॥ ८। २। ७७ ॥ इति षस्य लुक्। प्रा० २ पाद। येन षट् सङ्ख्या पूर्यते तस्मिन्, स्त्रियां ङीप्। वाच०। एकस्मिन्नहनि एकं भक्तं विधाय पुनर्दिनद्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽह्न्येकभक्तमपि विधत्ते, ततश्चाद्यन्तयोरेकभक्तदिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवतीति। षष्ठभक्ते, "अहवा अट्ठमेणं दसमेण छट्ठेणमेगया भुंज"। आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ०। तथा षष्ठकरणशक्त्यभावे पञ्चम्युपवासः पञ्चम्यां विधीयतेऽथवा पर्युषणाचतुर्थ्यामिति प्रश्ने, पर्युषणायामुपवासे कृतेऽपि शुद्ध्यति हीरविजयसूरिप्रसादितप्रश्नोत्तरसमुच्चयेऽपि तथैवोक्तत्वादिति। ८१ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

छट्ठंग-षष्ठाङ्ग-न०। ज्ञाताधर्मकथाऽध्ययननाम्नि अङ्गे, प्रति०।

छट्ठतव-षष्ठतपस्-न०। पाक्षिकायां षष्ठं विधाय वीरषष्ठमध्ये क्षिप्यते, पाक्षिकोपवासस्तु स्वाध्यायादिना पूर्यते तदा स षष्ठतपोमध्ये आयाति, न वेति प्रश्ने, अल्पशक्तिमता यदि पाक्षिकषष्ठो वीरषष्ठमध्ये क्षिप्यते, तदा स आयाति पाक्षिकं तप उपवासादिना पृथग् त्वरितं पूर्यते इति। ३६ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

छट्ठपारणग-षष्ठपारणक-न०। वीरषष्ठपारणके ह्यनशनादि विधीयते किं वा यथाशक्त्येति प्रश्ने, यथाशक्त्या विधीयत इति। ३७ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

छट्ठभत्त-षष्ठभक्त-न०। षष्ठं भक्तं भोजनं वर्जनीयतया यत्र तत् षष्ठभक्तम्। उपवासरूपे तपसि, तत्र उपवासद्वये चत्वारि भक्तानि वर्ज्यन्ते, एकाशनेन च तदारभ्यते तेनैव च निष्ठां यातीत्यत्र षड्भक्तवर्जनरूपं तदिति। इयं चाहोरात्रिकी दिनत्रयेण याति, अहोरात्रस्यान्ते षष्ठभक्तकरणात्। यदाह-"अहोराइया तिहिं पक्खा छठं करेइ त्ति" धर्म० ३ अधि०। बृ०।

छट्ठभत्तिय-षष्ठभक्तिक-पुं०। दिनद्वयमुपोषिते, प्रश्न० १ संव० द्वार।

छट्ठाण-षट्स्थान-न०। षट्स्थानाख्ये षष्ठेऽध्ययने, स्था० ६ ठा०। षण्णां स्थानानां वृद्धौ, हानौ च। प्रव०।

सम्प्रति 'छट्ठाणवुड्ढिहाणि त्ति' षष्ट्यधिकद्विशततमं द्वारमाह-

वुड्ढी वा हाणी वा, अणंतअसंखसंखभागेहिं ।
वत्थूण संखअसंख-ऽणंतगुणेण य विहेआ ॥४३२॥

अनन्तासंख्यातसंख्यातभागैः संख्यातासंख्यातानन्तगुणनेन च वस्तूनां पदार्थानां वृद्धिर्वा हानिर्वा विधेया। इह हि षट्स्थानके त्रीणि स्थानानि भागेन भागाहारेण वृद्धानि हीनानि वा भवन्ति, त्रीणि च स्थानानि गुणेन गुणकारेण "भागो तिसु गुणणा तिसु" इति वचनात्। तत्र भागहारेऽनन्तासंख्यातसंख्यातलक्षणः क्रमो, गुणकारे च संख्यातासंख्यातानन्तलक्षण इति। अयमर्थः-सर्वविरतिविशुद्धिस्थानादीनां वस्तूनां वृद्धिर्वा हानिर्वा चिन्त्यमाना षट्स्थानगता प्राप्यते। तद्यथा-अनन्तभागवृद्धिः, असंख्यातभागवृद्धिः, संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च। एवं हानिरपि, तत्र किञ्चित्सुगमत्वात् सर्वविरतिशुद्धिस्थानान्येवाश्रित्य लेशतो भाव्यते। इह हि सर्वोत्कृष्टादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानात्सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणम्। अनन्तगुणता च सर्वत्रापि षट्स्थानकचिन्तायां सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण द्रष्टव्या। इयमत्र भावना-सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यते, छित्वा च निर्विभागा भागाः पृथक् क्रियन्ते; ते च निर्विभागाः भागाः सर्वसकलनया विभाज्यमाना यावन्तः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागाः सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना जायन्ते, तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते। अत्रायं भावार्थः-इह किलासत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा दश सहस्राणि १०००० सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतं, ततस्तेन शतसंख्येन सर्वजीवानन्तकमानेन राशिना दशसहस्रसंख्याः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागा गुण्यन्ते, जाता दश लक्षाः १०००००० । एतावन्तः किल सर्वजघन्यस्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा भवन्ति। एते च सर्वजघन्यचारित्रसत्कविशुद्धिस्थानगतनिर्विभागा भागाः समुदिताः सन्तः सर्वजघन्यसंयमस्थानं भण्यते, तस्मादनन्तरं यद् द्वितीयं संयमस्थानं तत्पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम्। किमुक्तं भवति?-प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीयसंयमस्थानेन निर्विभागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति, तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम्। एवं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि निरन्तरमनन्तभागवृद्धानि संयमस्थानानि, अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि, एतानि च समुदितानि संयमस्थानान्येकं कण्डकं कण्डकं नाम समयपरिभाषया अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा संख्याऽभिधीयते। उक्तं च-" कंडुति इत्थ भन्नइ, अंगुलभागो असंखेज्जो।" तस्माच्च कण्डकात्परतो यदनन्तरं संयमस्थानं तत्पूर्वस्मादसंख्येयभागाधिकम्। एतदुक्तं भवति-पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकादनन्तरसंयमस्थाननिर्विभागभागगताः प्रदेशा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते। ततः पराणि पुनरन्यान्यानि संयमस्थानानि अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धान्यवसेयानि। एतानि च समुदितानि द्वितीयं कण्डकं, तस्य च द्वितीयकण्डकस्योपरि यदन्यत् संयमस्थानं तत्पुनरपि द्वितीयकण्डकस्य सत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धं, ततो भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागवृद्धं संयमस्थानम्, एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितान्यसंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावन्ति अपि कण्डकमात्राणि भवन्ति, चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि वाच्यानि, तत परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव

चोद्दसपुव्वि (ण्)-चतुर्दशपूर्विन्-पुं० । सम्पूर्णश्रुतधरे, उत्त० ५ अ० । आ० म० । नं० । स्था० । नि० चू० । ('चउद्दसपुव्वि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०४६ पृष्ठे वृत्तमुक्तम्)

चोद्दसमभत्त-चतुर्दशभक्त-न० । उपवासषट्के, पञ्चा० १६ विव० ।

चोद्दसी-चतुर्दशी-स्त्री० । "न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले" । ८ । १ । १७१ ॥ इति सूत्रेण वा ओत्वं । अमाया. पूर्णिमायाश्च पूर्वतिथौ, प्रा० १ पाद ।

चोप्पड-म्रक्ष्-धा० । सम्रक्षणे (चोपड़ना) "म्रक्षेश्चोप्पडः" । ८ । ४ । १९१ । इति म्रक्षेः 'चोप्पड' आदेशः । "चोप्पडइ" म्रक्षते । प्रा० ४ पाद ।

चोप्पाल-चतुष्पाट-न० । मत्तवारणे, जं० २ वक्ष० । जी० । नि० चू० ।

चोय-त्वक्-स्त्री० । हीरत्वग्रहितरूपे वृक्षावयवे, " चोय तु होति हीरो, सगलं पुण तस्स बाहिरा गही" । नि० चू० १६ उ० । आ० । न० । सू० । प्रश्न० । ज० । गन्धद्रव्यविशेषे, आ० म० प्र० । अनु० । जी० । रा० । 'चोओ' लपलविशेषे, अनु० ।

चोयग-चोदक-पुं० । त्रि० । प्रश्नं चोदयतीति चोदकः । नं० । पीलितेक्षुच्छोटिके, आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० । अपपक्षप्रश्नकारिणि, व्य० १ उ० । सूत्र० । गन्धद्रव्यविशेषे, जी० ३ प्रति० । त्वक्-न० । वल्कले, आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

चोयणा-चोदना-स्त्री० । प्रेरणे, ध० ३ अधि० । प्रोत्साहकरणे, व्य० १ उ० । आ० म० । यथायथसमाचार्या प्रापणे नोदनायाम्, वृ० १ उ० । वैदिकविधिवाक्ये, सम्म० १ काण्ड । (" चोदनालक्षणो धर्मः " इति मीमांसका 'सद्' शब्दे निराकरिष्यन्ते)

चोयणिज्जासमसार-चोयनिर्यासमसार-पुं० । चोयनामगन्धद्रव्यप्रधाने आसवे, जी० ३ प्रति० । उ० ।

चोयपुड-चोयपुट-पुं० । चोयनामगन्धद्रव्यपुटे, रा० । पत्रादिमये त्वग्भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

चोयाल-चतुश्चत्वारिंशत्-स्त्री० । चतुरधिकायां चत्वारिंशति, प्रज्ञा० २ पद ।

चोयासव-चोयासव-पुं० । चोयसारनिष्पन्ने आसवे, जी० ३ प्रति० ।

चोर-चौर-पुं० । स्तेने, ध० २ अधि० । प्रश्न० । सूत्र० । गवादिहारिणि, वृ० १ उ० । चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढो दाक्षिणात्यानामोदने, स्था० । अनु० ।

चोरग्गाह-चौरग्राह-पुं० । चौरग्राहके राजपुरुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोरद-चौरद-पुं० । हरीतकवनस्पतिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोरपउर-चौरप्रचुर-त्रि० । दोषभेदे, यत्र बहवश्चौरा उपद्रवन्ति । व्य० ३ उ० ।

चोरप्पओग-चौरप्रयोग-पुं० । चौराणां प्रयोजनं व्यापारणं चौरप्रयोगः । हरत यूयमिति हरणक्रियायां प्रेरणा । अथवा-चौराणां प्रयोगा उपकरणानि कुशिकाकर्त्तरिकाघर्घरिकादीनि, तेषामर्पणं विक्रयणं वा उपचाराच्चौरप्रयोगः । किमधुना यूयं निर्व्यापारास्तिष्ठथ । यदि भवतां भोजनादि नास्ति, तद्ददामि, भवदानीतमोषस्य वा यदि विक्रापको न विद्यते तदाऽहं तं विक्रेष्ये इत्येवविधवचनैश्चौराणां व्यापारणे, प्रव० ६ द्वार ।

चोरसंघ-चौरसङ्घ-पुं० । पदातिरूपचौरसमूहे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

चोराग-चौराक-पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र प्रतिमास्थितभगवतस्तप प्रभावाद् गोशालो मण्डप ददाह । आ० म० द्वि० ।

चोराणीय-चौरानीत-त्रि० । चौरैरानीते कनकवसनादौ, तच्च मूल्येन मुधिकया वा प्रच्छन्नं गृह्णतस्तृतीयाणुव्रतमतिचर्यते । प्रव० ६ द्वार ।

चोरिअ-चौर्य-न० । "स्याद् भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्" । ८ । २ । १०७ । इति यात्पूर्वं इत् । प्रा० ४ पाद । स्तेये, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अदत्तादाने, स्था० १ ठा० १ उ० ।

चोरिक्क-चौरिक्य-न० । चोरणं चौरिका, सैव चौरिक्यम् । प्रथमे गौणादत्तादाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

चोरिय-चौरिक-त्रि० । परद्रव्यापहारके, प्रव० ४१ द्वार । आ० म० । प्रणिधिपुरुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोरिया-चोरिका-स्त्री० । चोरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोल-चोल-पुं० । देशभेदे, तद्राज्यसम्पादके ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्षण । ती० ।

चोल-पुं० । पुरुषचिह्ने, प्रव० ६१ द्वार । ध० ।

चोलय-चोलक-न० । चूडोपनयने, बालकप्रथममुण्डने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । आ० म० ।

सम्प्रति चूलाद्वारमाह-

विहिणा चूलाकम्मं, बालाणं चोलयं नाम ।

चूडा नाम विधिना शुभनक्षत्रतिथिमुहूर्त्तादौ च भवलमङ्गलोपदेशेन पूजास्वजनभोजनादिलक्षणेन बालानां चूडाकर्म्म, तदपि तदा प्रवृत्तम् । आ० म० प्र० ।

चोलपट्ट-चोलपट्ट-पुं० । चोलस्य पुरुषचिह्नस्य पट्टः प्रावरणवस्त्रं चोलपट्टः । प्रव० ।

इदानीं चोलपट्टकप्रमाणप्रतिपादनायाऽऽह-

दुगुणो चउग्गुणो वा, हत्थो चउरंस चोलपट्टो उ ।
थेरजुवाणट्ठा वा, सण्हे थुल्लम्मि य विभासा ॥५२०॥

द्विगुणश्चतुर्गुणो वा कृतः सन् यथा हस्तप्रमाणश्चतुरस्रश्च भवति, तथा चोलस्य पुरुषचिह्नस्य पट्टः प्रावरणवस्त्रं चोलपट्टः कार्यः । किमर्थं द्विगुणश्चतुर्गुणो चेत्याह-(थेरजुवाणट्ठ त्ति) क्रमेण स्थविराणां यूनां च साधूनामर्थाय प्रयोजनाय स्थविराणां द्विहस्तः, तदिन्द्रियस्य प्रबलसामर्थ्याभावादल्पेनाप्यावरणात, यूनां च चतुर्हस्तश्चोलपट्टकः करणीय इति भावः । (सण्हे थुल्लम्मि य विभास त्ति) श्लक्ष्णे स्थूले च चोलपट्टे विभाषा विविधा भाषा, अथ भेदो-यदुत

चत्वारो बिन्दवः स्थाप्यन्ते, तदनन्तरमेककादिः सर्वोऽपि पूर्वोक्तो विधिः क्रमेण कर्तव्य इति । सांप्रतमङ्कानां बिन्दूनां च सर्वसंख्या कथ्यते-तत्रैकस्मिन् षट्स्थानके चत्वारः पञ्चका भवन्ति, ततः पञ्चभिर्गुणयेदिति करणवशाच्चतुर्णां पञ्चकानां पञ्चभिर्गुणने लब्धा विंशतिश्चतुष्का। एतेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धं शतं त्रिकाणाम् १०० । एतेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धानि पञ्चशतानि द्विकानां ५००, तेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धानि पञ्चविंशतिशतानि एककानां २५००, तेषामपि च पञ्चभिर्गुणने लब्धानि द्वादश सहस्राणि सार्द्धानि बिन्दूनाम् १२५०० । इयमेकस्मिन् षट्स्थाने सर्वसंख्या। एवं शेषेऽपि षट्स्थानकेषु प्रतिपत्तव्यमिति ॥ प्रव० २६० द्वार ।

छट्ठितंत--षष्टितन्त्र--न० । षष्टिः पदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्यन्ते तत् षष्टितन्त्रम् । सांख्यशास्त्रे, "सप्तत्यां किल येऽर्थाः,तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।" तच्च मरीचिशिष्येण कपिलेन ब्रह्मलोके कल्पे देवत्वेनोत्पन्नेन कथितमिति समयविदः । आ० म० प्र० । (इति 'काविल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०६ पृष्ठे उक्तम्)

छट्ठी--षष्ठी--स्त्री० । षण्णां पूरणी । षष्-मट्-सुट्-ङीप् । तिथिभेदे, ज्यो० ३ पाहु० । विशे० । द० प० । विभक्तिभेदे, नं० । स्वस्वामिभावसंबन्धे, तस्यास्य गतस्य भृत्यादेरिति । अनु०। स्था०। आ० म० । आचा० । षष्ठी द्विविधा दृष्टा-भेदषष्ठी, अभेदषष्ठी चेति । तत्र भेदषष्ठी, यथा-देवदत्तस्य गृहम् । अभेदषष्ठी, यथा-तैलस्य धारा, शिलापुत्रकस्य शरीरकमिति । ओघ० ।

छट्ठोवास--षष्ठोपवास--पुं० । प्रथमदिवसोपवासं चतुर्विधाहारं कृत्वा द्वितीयदिने त्रिविधाहारोपवासं करोतीत्येवं कृतषष्ठो वीरषष्ठमध्ये आयाति,न वेति प्रश्ने,द्वाभ्यामुपवासाभ्यां पृथक्कृताभ्यां निष्पन्नषष्ठो वीरषष्ठमध्ये नायाति,यत एकेन त्रिंशदधिका द्विशतषष्ठाः तपउच्चरणवेलायां सबद्धा उच्चार्यन्ते, आलोचनामध्ये सषष्ठ आयातीति ॥ ६६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

छड--त्यज--धा० । भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । हानौ, दाने च । वाच० । 'छडति' त्यजति । संथा० । " सुविहिया सरीरं पि छडति " संथा० । ' ण परिछड्डेज्जा ' सर्वं भुञ्जीत, न परित्यजेत् । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

छडक्खर--देशी-स्कन्दे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छडा--छटा--स्त्री० । छो-अटन्-किच्च । दीप्तौ, परम्पराभ्यां च । वाच० । " आसित्त उदकच्छडया " । आ० म० प्र० । विद्युति, दे० ना० ३ वर्ग ।

छडिय--छटित--त्रि० । कण्डिते, छडिकया छटितानां तण्डुलानाम् । आ० म० प्र० ।

छड्ड--मुच--धा० । तु०-मुचादि०-उभ०-सक०-अनिट् । त्यागे, वाच० । " मुचेश्छड्डावहेडमेल्लोस्सिकरेअवणिलुञ्छधंसाडाः " । ॥ ८ । ४ । ६१ ॥ इति मुञ्चतेः छड्डादेशः । 'छड्डइ ' । प्रा० ४ पाद । "छड्डेउ गामं पविट्ठिओ " । आ० म० प्र० । "छड्डेउ कामए सामी पविट्ठो" । आ० म० प्र० । त्याजने, विशे० ।

छर्द--धा० । चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । वमने, वाच० "छड्डिज्जा " छर्दिं विदध्यात् । आचा० २ श्रु० १ अ०२ उ० ।

छड्डण--छर्दन--न० । पुं० । छर्द-णिच्-ल्युट् । मदनवृक्षे, निम्बवृक्षे च । भावे ल्युट्-वमने, वाच० । छर्दने, रुवादिरूव्यप्रयोगकृते, विपा० १ श्रु० ८ अ० । उत्सर्गे, आव० ५ अ० ।

छड्डाविय--मोचित--त्रि० । मोचनं प्रापिते, " गहीया सा तं वेउ छड्डाविया " आ० म० द्वि० ।

छर्दापित--मोचिते, सू० १ उ० ।

छड्डि--छर्दि (र्दी)--स्त्री० । छर्दयति । छर्द-हेतौ णिच् इन् । वमनरोगे " सम्मर्दवितर्दिविच्छर्दिच्छर्दिकपर्दमर्दितेर्दस्य " । ८ । २ । ३६ । इति र्दस्य डः । प्रा० २ पाद ।

अथातः छर्दिप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः-

" अतिद्रवैरतिस्निग्धै-रहृद्यैर्लवणैरपि ।
अकाले चातिमात्रैश्च, तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥
श्रमात्तयात्ययोद्वेगा-दजीर्णात् कृमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायाः, तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यै-र्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगै-रर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ॥
निरुच्यते छर्दिरिति, दोषो वक्त्रं प्रधावितः ।
दोषानुदीरयन् वृद्धा-नुदानो व्यानसंगतः ॥
ऊर्द्ध्वमागच्छति भृशं, विरुद्धाहारसेविनाम् ।
हृल्लासोद्गाररोधौ च, प्रसेको लवणस्तनुः ।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं, वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥
प्रच्छर्दयेत् फेनिलमल्पमल्पं,
शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठः ।
श्रान्तः सघोषं बहुशः कषायं,
जीर्णेऽधिकं साऽनिलजा वमिस्तु ॥
योऽम्लं भृशं वा कटुतिक्तवक्त्रः,
पीतं सरक्तं हरितं वमेद् वा ।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोष-
मूर्च्छान्विता पित्तनिमित्तजा सा ॥
यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं,
शुक्लं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम् ।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो,
वमेद् वमी सा कफकोपजा स्यात् ॥
सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्यां,
सा सर्वदोषप्रभवा मता तु ।
बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च,
याऽसात्म्यतो वा कृमिजा च या हि ॥
सा पञ्चमी तां च विभावयेत्तु,
दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ।
आमाशयोत्क्लेशभवाश्च सर्वा-
स्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु ॥
शूलहृल्लासबहुला, कृमिजा च विशेषतः ।
कृमिहृद्रोगतुल्येन, लक्षणेन च लक्षिता ॥
क्षीणस्योपद्रवैर्युक्तां, सासृक्पूयां सतन्द्रिकाम् ।
छर्दिं प्रसक्तां कुशलो, नारभेत चिकित्सितुम् ॥
वमीषु बहुदोषासु, छर्दनं हितमुच्यते ।
विरेचनं वा कुर्वीत, यथादोषोच्छ्रयं भिषक् ॥
संसर्गाश्चानुपूर्व्येण, यथास्वं भेषजाय तान् ।
लघूनि परिशुष्काणि, सात्म्यान्यन्नानि वा चरेत् ॥

छकार

छ–छ–पुं० । छो–क । छदने, सर्पे, छागे, शाकखण्डे, छेदे, मूले, प्रताले, स्वस्य छिनाशे, खड्गविभागे, आच्छादने, पालिते च । न० । स्थिरे, निर्मले च । त्रि० । एका० । सूर्ये, सोमे, निर्मले, छेदे, स्वच्छे, ज्ञानादि, छ ह्यानुवर्तीन, पुं० । निरुपायाम, निरपायम, स्त्री० । एका० । " छ त्ति य दोसाण छायणे होइ " आ० म० द्वि० । 'छ' इत्यय वर्णो दोषाणामसंयमयोगलक्षणानामाच्छादने भवति । आ० म० द्वि० । छेदनकारि, तरसे, त्रि० । वृद्धे । न० । वाच० ।

छट्ट–त्रि० । षष्ठाधिकवर्ष्ठमस्यायाम, वृ० ६ उ० । " छट्ठए मासाते । " न० १ श० ८ उ० ।

छअ–छत–न० । " क्षोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ ॥ इति क्षस्य छः । क्षते, प्रा० २ पाद ।

छइअ–क्षयित–त्रि० । क्षयमापन्ने, "क्षोऽक्ष्यादौ" ८ । २ । १७ इति क्षस्य छ० । प्रा० २ पाद ।

छउप्पुर–छायापुर–पुं० । छायापुरे, सोऽर्वातष्ठाने नरके उत्पन्नः । जी० ३ प्रति० ।

छउम–छद्मन्–न० । छादयतीति छद्म । छादयति ज्ञानादिक गुणमात्मन इति छद्म । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । स० । छाद्यन्त्यात्मस्वरूप यत्तत् छद्म । स्था० २ ठा० १ उ० । छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म । न० । आव० । दर्श० । स्था० । " पच्छन्नमूसंठाणे वा " ॥ ८ । २ । ११२ ॥ इति छस्य उत्वम् । प्रा० २ पाद । पिधाने, तच्च ज्ञानादीनां गुणानामाच्छादकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षण घातिकर्मचतुष्टयम् । आव० ४ अ० । आ० म० । शठत्वे, आवरणे, स० १ सम० । भ० । उपधौ, छद्मनि, मायायाम, दशा० ७ अ० । ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदये सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात् तदपगमानन्तरं चोत्पादात् । कल्प० २ क्षण ।

छउमत्थ–छद्मस्थ–पुं० । छद्मनि तिष्ठति इति छद्मस्थः । आ० म० प्र० । छद्मनि ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थः । आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । पं० सं० । कर्म० । स्था० । उत्त० । छद्मनि स्थितः छद्मस्थ । नि० चू० २ उ० । निरतिशयज्ञानयुक्ते, औ० । पञ्चा० । नि० चू० । अर्वाग्दर्शि, छा० १६ छा० । अकेवलिनि, आव० ४ अ० । सकषाये, स्था० ४ ठा० १ उ० । अतीन्द्रियज्ञानाभाववति, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० (छद्मस्थो मनुष्यो निर्जरापुद्गलानां मानत्वादि न जानातीति तु " निज्जरापोग्गल " शब्दे वक्ष्यते) (छद्मस्थो मनुष्यो केवलीभूत्वैव सिद्ध्यतीति उक्तं " केवलि " शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६५२ पृष्ठे) (तीर्थकृता छद्मस्थपर्यायाः " तित्थयर " शब्दे वक्ष्यन्ते) (पञ्चभि स्थानैः छद्मस्थ परीषहं सहते इति " परिसह " शब्दे वक्ष्यते)

षट् स्थानानि छद्मस्था न जानाति–

छ ट्ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ । त जहा–धम्मत्थिकायमधम्मत्थिकायं आगासं जीवमसरीरपडिबद्धं परमाणुपोग्गलं सद्दं, एयाणि चेव उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे० जाव सव्वभावेणं जाणइ, पासइ । त जहा–धम्मत्थिकाय० जाव सद्दं ॥

छद्मस्थो विशिष्टावध्यादिविकलो न त्वकेवली, यतो यद्यपि धर्माधर्माकाशान्यशरीर जीव च परमावधिर्न जानाति, तथाऽपि परमाणुशब्दौ जानात्येव रूपित्वात्तयोः, रूपिविषयत्वाच्चावधेरिति । एतच्च सूत्र सविपर्ययं प्रागुक्तव्याख्यानप्रायमेव, इति छद्मस्थस्य धर्मास्तिकायादिषु ज्ञानशक्तिर्नास्तीत्युक्तम् । स्था० ६ ठा० ।

छद्मस्थः सर्वभावेन सप्त स्थानानि न जानाति–

सत्त ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ, न पासइ । तं जहा–धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवं असरीरं परमाणुपुग्गलं सद्दं गंधं, एयाणि चेव उप्पन्ननाणे० जाव जाणइ, पासइ । त जहा–धम्मत्थिकाय० जाव गंधं । स्था० ७ ठा० ।

सप्तभि स्थानैर्हेतुभूतैश्च छद्मस्थं विजानीयात्–

सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा । त जहा–पाणे अइवाएत्ता भवइ, मुसं वदित्ता भवइ, अदिन्नमाइत्ता भवइ, सद्दफरिसरसरूवगंधे आसादेत्ता भवइ, पूयासक्कारमणुवूहेत्ता भवइ, इमं सावज्जं ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवइ, णो जहा वादी तहा कारी यावि भवइ ।

" सत्तहिं ठाणेहिं " इत्यादि सप्तभिः स्थानैः हेतुभूतैः छद्मस्थं जानीयात् । तद्यथा–प्राणानतिपातयिता तेषां कदाचित् व्यापादनशीलो भवति । इह च प्राणातिपातनमिति वक्तव्येऽपि " धर्मधर्मिणोरभेदात् " अतिपातयितेति धर्मी निर्दिष्टः, प्राणातिपातनात् छद्मस्थोऽयमित्यवसीयते, केवली हि क्षीणचारित्रावरणत्वान्निरतिचारसंयमत्वात् कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवतीति, इत्येव सर्वत्र भावना कार्या । तथा मृषावादिता भवति, अदत्तमादाता ग्रहीता भवति, शब्दादीना स्वादयिता भवति, पूजासत्कारं पुष्पार्चनवस्त्राद्यर्चने अनुबृंहयिता परेण स्वस्य क्रियमाणस्य तस्यानुमोदयिता, तद्भावे हर्षकारीत्यर्थः । तथेदमाधाकर्मादि सावद्य सपापमित्येव प्रज्ञाप्य तदेव प्रतिसेविता भवति, तथा सामान्यतो नो यथावादी तथाकारी, अन्यथा अभिधायान्यथा कर्ता भवति, चाऽपीति समुच्चये । स्था० ७ ठा० ।

अष्टौ स्थानानि छद्मस्थो न जानाति–

अट्ठ ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ, न पा[illegible] त जहा–धम्मत्थिकाय० जाव गंधं वायं, एयाणि चेव उ[illegible]

छण्ण-छन्न-त्रि० । छद्-चुरा०-क्तः । आच्छादिते,निर्जने, रहसि, न० । वाच० । व्याप्ते, रा० । अव्यक्तस्वरे, ध० ;२ अधि० । अप्रकाशे, नि० चू० १ उ० । दर्भादिभिराच्छादिते, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । कल्प० । प्रच्छन्ने, अतिलज्जालुतयाऽव्यक्तवचने, भ० २५ श० ६ उ० । मायायाम , तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् । सूत्र० १ श्रु०२ अ०२ उ० । षष्ठे आलोचनादोषे, "छण्णं तह आलोए, जह नवरं अप्पणा सुणइ।" इति। स्था०१० ठा०। प्रच्छन्नम् आलोचयति । किमुक्तं भवति ?-लज्जालुतासुपदर्शयपराधानल्पशब्देन तथाऽऽलोचयति यथा केवलमात्मैव शृणोति, न गुरुरित्येष षष्ठ आलोचनादोषः । व्य० १ उ०। "जं छण्णं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया।" 'छणु' हिंसायाम् । हिंसाप्रधाने, तद्यथा-वध्यतां चौरोऽयम्, लूयन्तां केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इति। यदि वा (छण्णं ति) प्रच्छन्नं यल्लोकैरपि प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यम्, इति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

छण्णउइच्छेयणदायरासि-षण्णवतिच्छेदनदायराशि-पुं०। यो राशिरर्द्धेनार्द्धेन विद्यमानः षण्णवतिवारान् छेदं सहते, पर्यन्ते सकलमेकस्वरूपं पर्यवसितं भवति। तस्मिन्, प्रज्ञा० १२ पद। (एष च 'सरीर' शब्दे दर्शयिष्यते)

छण्णग-छन्नाङ्ग-न०। स्त्रीणां कुक्षकुचोरुप्रभृतिषु गुप्ताङ्गेषु, बृ० १ उ०।

छण्णपय-छन्नपद-न०। कपटे, मातृस्थाने, गुप्ताभिमाने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

छण्णपयोपजीवि(ण्)-छन्नपदोपजीविन्-त्रि०। मातृस्थानोपजीविनि, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

छण्णमाय-छन्नमातृक-त्रि०। प्रच्छन्नमातृके, तं०।

छण्णय-छन्नक-पुं०। जन्मान्तरशकटजीवे, स्था० १० ठा०। व्य०।

छण्णसामत्थ-छन्नसामर्थ्य-त्रि०। परलिङ्गग्रहणेनाऽऽच्छादितस्वस्वरूपे. व्य० १ उ०।

छण्णाम-षण्नामन्-न०। षण्णामर्थानामभिधायके शब्दे, अनु०।

से किं तं छन्नामे ? । छन्नामे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामिए संनिवाइए ॥

"से किं त छण्णामे" इत्यादि। अत्रोदयिकादयः षड् भावाः प्ररूप्यन्ते। तथा च सूत्रम्-"उदइए" इत्यादि। अत्राह-ननु नाम्नि प्रक्रान्ते तदभिधेयानामर्थानां भावलक्षणानां प्ररूपणमयुक्तमिति। नैतदेवम्। नामनामवतोरभेदोपचारात्तत्प्ररूपणस्याप्यदुष्टत्वात्, एवमन्यत्रापि यथासम्भवं वाच्यम्। अनु०।

छण्णाल-षण्नाल-न०। त्रिकाष्ठिकायाम्, औ०।

छण्णालिय-षण्नालिक-न०। त्रिकाष्ठिकायाम्, भ० २ श० १ उ०। ज्ञा०।

छत्त-छत्र-न०। 'छद्' अपवारणे। आतप छादयति इति छत्रं प्रसिद्धम्। तदाकारो योगोऽपि छत्रम्। तस्मिन्, सू० प्र० १२ पाहु०। रा०। प्रश्न०। अष्टात्रिंशे ३८ द्वासप्ततिपुरुषकलाभेदे, जं० २ वक्ष०। नवमे चतुर्दशरत्नभेदे, प्रव०। छत्रं चक्रवर्तिहस्तसंस्पर्शप्रभावसंजातद्वादशयोजनाऽऽयामविस्तरं सत् वैताढ्यनगोत्तरविभागवर्तिम्लेच्छानुराधितमेघकुमाराद् वृष्टाम्बुप्रनिरसनसमर्थनं च भवति, सहस्रकाञ्चनशलाकापरिमिपिमतं निर्व्रणप्रशस्तकाञ्चनमयोदग्रदण्ड वास्तिप्रदेशो पञ्जरविराजितं राजलक्ष्मीचिह्नमर्जुनाऽभिधानपाण्डुरस्वर्णप्रत्यवस्तृतपृष्ठदेशं शारदसंपूर्णपूर्णिमामृगाङ्कमण्डलमनोहरं तपनाऽऽतपवातवृष्टिप्रभृतिदोषक्षयकारकम् । प्रव० २१२ द्वार। प्रश्ना०। आतपत्रे, षो० १५ विव०। आ० म०। पञ्चा०। सूत्र०। आचा०। भ०। अनु०। उत्त०। छात्रे, आ० म० प्र०। नि० चू०।

छत्रवर्णक एवं दृश्यते-

"अब्भपडलपिंगलुज्जलेण" अभ्रपटलमिव मेघवृन्दमिव बृहच्छायाहेतुत्वात् अभ्रपटलं, पिङ्गलं च कपिशं सुवर्णकम्बिकानिर्मितत्वात् उज्ज्वलं निर्मलं यत्तत्तथा। अथवा-अभ्रमभ्रकं पृथिवीकायपरिणामविशेषः, तत्पटलमिव पिङ्गलं चोज्ज्वलं च तत्तथा, तेन। "अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेण" अविरलं घनशलाकाबन्धेन, समं तुल्य शलाकायोगेन (साहिय त्ति) संहतमनिम्नोन्नतशलाकायोगात् चन्द्रमण्डलसमप्रभं च यद्दीप्त्या तत्तथा, तेन। "मंगलसयभत्तिच्छेयविचित्तियखिंखिणिमणिहेमजालविरइयपरिगयपेरंतकणगघंटियापयलियकिणिकिणिकिणितसुतिसुहसुमहुरसद्दालसोहिएणं" मङ्गलाभिर्माङ्गल्याभिः, शतभक्तिभिः शतसंख्यविच्छित्तिभिः, छेकेन निपुणेन शिल्पिना, विचित्रितं यत्तत्तथा, किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः,मणिहेमजालेन च रत्नकनकजालकेन विरचितेन कृतेन, विशिष्टरातिदेन वा, परिगतं परिवेष्टितं यत्तत्तथा, पर्यन्तेषु प्रान्तेषु कनकघण्टिकाभिः प्रचलिताभिः किणिकिणायमानाभिः श्रुतिसुखसुमधुरशब्दवतीभिश्च 'आल' प्रत्ययस्य मत्वर्थीयत्वात्, शोभितं यत्तत्तथा। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयोऽतस्तेन। "सप्पयरवरमुत्तदामलंबंतभूसणेणं" सप्रतराणि आभरणविशेषयुक्तानि यानि वरमुक्तादामानि वरमुक्ताफलमालाः (लंबंत त्ति) प्रलम्बमानानि तानि भूषणानि यस्य तथा, तेन। "नरिंदवामप्पमाणरुंदपरिमंडलेण" नरेन्द्रस्य तस्यैव राज्ञो व्यामप्रमाणेन प्रसारितभुजयुगलमानेन रुदं विस्तीर्णं परिमण्डलं वृत्तभागो यस्य स तथा, तेन। "सीयायववायवरिसविसदोसविनासणेण" शीतातपवातवृष्टिविषजन्यदोषाणां शीतादिलक्षणदोषाणां विनाशनं यत्तत्तथा, तेन। "तमरयमलबहलपडलधाडणप्पभाकरेण" तमोऽन्धकारं, रजो रेणुर्मलः प्रतीतः, एषां बहुलं घनं, यत् पटलं वृन्दं तस्य धामनी नाशनी या प्रभा कान्तिस्तत्करणशीलं यत्तथा,तेन। अथवा-रजोमलतमोबहुलपटलस्य धर्षणे प्रभाकरइव यत्तत्तथा। "उउसुहसिवच्छायसमणुबद्धेण" ऋतौ कालविशेषे, सुखा सुखहेतुः ऋतुसुखा,शिवा निरुपद्रवा,छाया आतपवारणलक्षणा, तया समनुबद्धमनवच्छिन्नं यत्तत्तथा,तेन। "वेरुलियदंडसज्जिएण त्ति" वैडूर्यमयदण्डे सज्जितं वितानितं यत्तथा, तेन। "वइरामयवत्थिनिउणजोइयअट्ठसहस्सवरकंचणसलागनिम्मिएण" वज्रमय्यां वस्तौ शलाकानिवेशनस्थाने, निपुणेन शिल्पिना, योजिताः संग्रथिताः, (अट्ठसहस्स त्ति) अष्टोत्तरसहस्रसंख्याः या वरकाञ्चनशलाकाः, ताभिर्निर्मितं यत्तथा, तेन। "सुनिम्मलरययसुच्छएण त्ति" सुनिर्मलो रजतस्य संबन्धी सुच्छदः शोभनप्रच्छादनपटो यत्र तत्तथा, तेन।

लीयते । तथाहि-छागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ता धर्मसाधनमित्येव प्रगल्भमाना विदधति । अन्ये तु सङ्गादिकमुद्दिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति । तथाऽन्ये मायाप्रधानैः कुक्कुटैरसकृदुत्प्रेक्षमाणधोमस्पर्शनादिभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति । तथाहि-" कुक्कुटसाध्यो लोको. न कुक्कुटतः प्रवर्तते किञ्चित् । तस्माल्लोकस्यार्थे, पितरमपि सकुक्कुटं कुर्यात् ॥ १ ॥ " तथेयं प्रजा बहुमाया कपटप्रधाना । किमिति-यतो मोहोऽज्ञानं तेन, प्रावृताऽऽच्छादिता, सदसद्विवेकविकलेत्यर्थ । तदेवमवगम्य (माहणे त्ति) साधुर्विकटेन प्रकटेनाऽमायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते, शोभनभावयुक्तो भवतीति भाव. । तथा शीतं च उष्णं च शीतोष्णम्, शीतोष्णे वा, अनुकूलप्रतिकूलपरीषहा', तान् वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणाऽपि सम्यगधिसहेत इति ॥२२॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

छन्दस्-पु० । न० । "वाऽऽक्यर्थवचनाद्या."। ८ । १ । ३३ । इति प्राकृते वा पुंस्त्वम् । वेदस्य चतुर्थेऽङ्गे, आव०३ अ० । आ०चू० । अनु० । पद्यवचनलक्षणे शास्त्रे, औ० । कल्प० । सूत्रे, उत्त० ४ अ० । द्वासप्ततिकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण । वाच० । आचा० ।

छंदणा-छन्दना-स्त्री० । छदि सम्वरणे इत्यस्यानेकार्थत्वात् कुरु ममानुग्रह, परिगृहाणेदं मम इदमित्येवं पूर्वानीताशनादिपरिभोगविषये साधूनामुत्साहनायाम्, अनु० । पूर्वगृहीतेनाशनादिना साधूनामभ्यर्थनायाम् , वृ० १ उ० । पञ्चा० ।

अथ छन्दनामाह-

पुव्वगहिएण छंदण, गुरुआणाए जहारिहं होति ।
असणादिणा उ एसा, णेयेह विसेसविसय त्ति ॥३४॥

पूर्वगृहीतेन छन्दनाऽवसरापेक्षया प्राक्कालोपात्तेन, अशनादिनेति योग. । या निमन्त्रणा, सेति गम्यम् । छन्दना भवतीति-योग । कथं ?, गुर्वाज्ञया, न रत्नाधिकादेशेन, स्वातन्त्र्येण, तत्रापि यथाऽर्हं बालग्लानादितयोग्यानतिक्रमेण ।

यदाह-

" इयरो संदिसह त्ति य, पाहुणखमए गिलाणसेहे य ।
अह राइणिय सव्वे, उ चियत्तेणं निमंतिज्जा ॥ १ ॥ "

(इयरो त्ति) मण्डल्यनुपजीवी (चियत्तेणं ति) प्रीत्या, भवति स्यात् । अशनादिना अशनपानकप्रभृतिना, तुशब्दः पुनरर्थ. । स च भिन्नक्रम' । ननु किं सर्वेषां साधूनामियं विधेयेत्याशङ्क्याऽऽह-एषा तु इय पुन. छन्दना, ज्ञेया ज्ञातव्या, इह सामाचारीविषये, विशेषविषया साधुविशेषगोचरा, न तु सामान्यतः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

विशेषविषयतामेवास्या दर्शयन्नाह-

जो अत्तलद्धिओ खलु, विसिट्ठखमगो व पारणाइत्तो ।
इहरा मंमलिभोगो, जतीण तह एगभत्तं च ॥ ३५ ॥

यः साधु., आत्मन एव सत्का लब्धिर्भक्तादिलाभो यस्यासावात्मलब्धिक', खलुरेवकारार्थः, तस्य च य एवेत्येवं प्रयोगो दृश्यः, विशिष्टक्षपको वा अष्टमादितपस्वी वा सन्, वाशब्दो विकल्पार्थः । (पारण.इत्तो त्ति) पारणकवान् भोक्ता असहिष्णुत्वादिना मण्डल्या बहिर्भोजनकारीति हृदयम् । असौ छन्दनां करोति, अन्येषामिति प्रक्रम. । उक्तविपर्ययमाह-इतरथा अन्यथा आत्मलब्धिकत्वादिकारण विना मण्डलीभोगः साधुमण्डल्यामेव भोजनं, यतीनां साधूनां, भवति । तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः । एकभक्तं च एकाशनकं च, अत. पूर्वगृहीतभक्ताद्यभावात् छन्दना नास्ति, चशब्द समुच्चयार्थ' । इति गाथार्थ' ॥ ३५ ॥

अथाऽऽत्मलब्धिकादिरात्मोपयोग्येव भक्तादि
ग्रहीष्यतीत्यधिकस्य तस्याभावात् कथं
छन्दना करिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह--

णाणादुवग्गहे सति, अहिगे गहणं इमस्स ऽणुण्णायं ।
दोण्ह वि इट्ठफलं तं, अतिगंभीराण धीराण ॥ ३६ ॥

ज्ञानाद्युपग्रहे साधुगतज्ञानप्रभृतिगुणोपष्टम्भे, सति भवति, अधिके स्वपोषातिरिक्ते, भक्तादौ विषये, ग्रहणमुपादानम्, अधिकग्रहणमिति पाठान्तरम् । अस्य लब्धिकादेरनुज्ञातमनुमतं, जिनै. । कस्मादेवमित्याह—द्वयोरपि छन्दकछन्दनीययोः साध्वोरिष्टं वाञ्छितं फलं साध्यं यस्य तदिष्टफलं, तच्छन्दनागतं भक्तस्य दानं ग्रहणं वा, किं सर्वत्र, नेत्याह-अतिगम्भीरयोरतीवातुच्छाशययोः धीरयोराशङ्कावर्जितयोर्बुद्धिमतोर्वा; तत्र दायकस्य गम्भीरतागुणोपष्टम्भाभिप्रायात् कर्मनिर्जरार्थित्वात् कीर्तिप्रत्युपकारस्वाजन्याद्यनपेक्षत्वाच्च ग्रहीतु' पुनरयं कर्मक्षयभाग् भवतु । मम च स्वाध्यायाद्यविच्छेदोऽस्तु, इत्येवमभिप्रायात् । धीरता तु दातुर्ममोदरापूर्तिर्भविष्यतीति भयत्यागात्, ग्रहीतुः पुन' प्रतिदातव्यं भविष्यतीत्याशङ्काया अभावादिति गाथार्थ ॥ ३६ ॥

ननु यदसौ गृह्णाति तदैव दातुर्दानस्येष्टफलता ज्ञानाद्युपष्टम्भनाद् नान्यथेत्याशङ्कायामाह-

गहणे वि णिज्जरा खलु, अग्गहणे वि य दुहा वि बंधो य ।
भावो एत्थ णिमित्तं, आणासुद्धो असुद्धो य ॥ ३७ ॥

ग्रहणेऽपि छन्दकसाधूनां दीयमानस्य भक्तादेरादानेऽपि, आस्तां दाने, निर्जरा खलु, कर्मनिर्जरणमेव भवति । तथा अग्रहणेऽपि चानादानेऽपि च, अपि चेति समुच्चये, निर्जरैव, दातुरिति प्रक्रम. । तथा द्विधाऽपि प्रकारद्वयेऽपि ग्रहणाग्रहणरूपे, बन्धश्च कर्मबन्धश्च भवति, चशब्दो निर्जरापेक्षया समुच्चयार्थः । अथ कस्मादेवमित्याह-भाव आत्मपरिणामः, अत्र निर्जरायां, बन्धे च ; निमित्तं कारणं, न ग्रहणाग्रहणमात्रम् । अथ कथं भाव एव परस्परविरुद्धस्य कार्यद्वयस्य निमित्तं भवतीत्याह' आज्ञया आप्तवचनेन, शुद्धोऽनवद्यो, न स्वाभिप्रायत इत्याज्ञाशुद्धः ; अशुद्धश्च सदोष' , आज्ञयैवागमाभिप्रायेणेत्यर्थ । क्रमेण निर्जराबन्धयोर्निमित्तमिति प्रक्रमः । उक्तं च-" परमरहस्समिसीण, समत्तगणिपिडगभरियसाराण । परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाण " ॥ १ ॥ तथा-" इच्छेज्ज न इच्छेज्ज व, तह वि य पयओ निमंतए साहू । परिणामविसुद्धीए, उ निज्जरा होइऽगहिए वि " ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ पञ्चा० १२ विव० । जीत० । स्था० । ग० । ध० । आ० म० । वृ० । प्र० । उत्त० ।

छंदणिरोह-छन्दोनिरोध-पु० । छन्दोऽवशस्तस्य निरोध. । स्वच्छन्दतानिरोधे, उत्त० ४ अ० । गुर्वादेशं विनैव प्रवर्तनं छन्दस्तस्य निरोधो निवारणम् । गुर्वाज्ञया प्रवर्तने, उत्त० ३ अ० ।

छातिमवृत्ते, " सप्तपर्णो व्रणश्लेष्म--वातकुष्ठास्रजन्तुजित् । दीपनः श्वासगुल्मघ्नः, स्निग्धोष्णस्तुवरः स्मृतः " ॥ १ ॥ लज्जालुलतायाम् , स्त्री० । ङीप् । " छाक्षादामिमखर्जूर-मृद्वि-ताम्र सशर्करम् । लाजाचूर्णं समध्वाज्यं, सप्तपर्णमुदाहृतम् " ॥ १ ॥ उक्ते खाद्यभेदे, न० । वाच० ।

छत्तीस-षट्त्रिंशत्-स्त्री० । षडधिका त्रिंशत् । शाक० । संख्या-भेदे, तत्सङ्ख्याऽन्विते च । वाच०। "छत्तीसा पढाणेहिं, जो हो-ति परिणिट्ठितो । अलमत्थो तारिसो होई, ववहार ववहरित्तए " ॥१॥ व्य० १० उ० । "एए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया "। उत्त० १ अ० । प्रज्ञा० ।

छत्तोय-छत्रौकस्-न० । कुहण्डभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

छत्तोवग-छत्रोपक-पु० । वृक्षभेदे, रा० ।

छत्तोह-छत्रौघ-पुं० । वृक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद । भ० ।

छड्डण-छर्दापन-न० । त्याजने, छर्दापनं नाम तद् जलादपि साधुपार्श्वादन्यत्र त शवं परित्यजेयुः । बृ० ६ उ० ।

छद्दसहा-षट्दशधा-अव्य० । षोडशप्रकारे, व्य० ४ उ० ।

छद्दी-देशी--शय्यायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छद्दोसविप्पमुक्क-षड्दोषविप्रमुक्त-न०। षड्भिर्दोषैर्विप्रमुक्ते गेये, ते च षट् दोषा अमी-"भीय दुयमुप्पिच्छ " उत्तालकाकस्व-रमनुनासं च । उक्तं च-"भीयं दुयमुप्पिच्छमु-त्ताल कमसो मुणेयव्व। काकस्सरमणुनासं, छद्दोसा होंति गेयस्स " ॥१॥ जी० ३ प्रति० । रा० ।

छधणुसहस्स-षड्धनुःसहस्र-न० । क्रोशत्रये,स्था० ६ ठा० ।

छन्नउइ-षण्णवति-स्त्री० । षडधिकनवतिसंख्यायाम्, तत्सं-ख्यान्विते च । त्रि० । वाच० । ज्यो० ।

छप्पइया-षट्पदिका-स्त्री० । यूकायाम्, आव० ६ अ० । महा० । आ० म० । नि० चू० ।

छप्पएसिय-षट्प्रदेशिक-पुं० । प्रदेशषट्कनिष्पन्ने पुद्गलस्कन्धे, "छप्पएसिया ण खंधा अणंता पण्णत्ता" । स्था० ६ ठा० ।

छप्पएसोगाढ-षट्प्रदेशावगाढ-पुं० । षट्सु आकाशप्रदेशेषु अवगाढे पुद्गले, " छप्पएसोगाढा पोग्गला अणंता " स्था० ६ ठा० ।

छप्पण्ण-षट्पञ्चाशत्-त्रि० । षडधिकाः पञ्चाशत् । शाक० । सङ्ख्याभेदे, तत्सङ्ख्यान्विते च । वाच० । "छप्पन्न गणहरा हो-त्था । " स० ५६ सम० ।

छप्पतिगिल्ल-षट्पादिकावत्-त्रि० । यस्य षट्पादिका प्राचु-र्येण सम्मूर्च्छन्ति । तस्मिन् षट्पदिकाऽऽवृते, बृ० ३ उ० ।

छप्पद-षट्पद-पु० । " षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः " । ८ । १ । २६५ । इति षस्य छः । भ्रमरे,स्त्रियां ङीप् । यूकाया-म् । वाच० । षट्पदैः भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि,उपल-क्षणमेतत्-कुमुदानि च,यासु ताः षट्पदपरिभुज्यमानकमलाः जी० ३ प्रति० । रा० । ज० । औ० । को० । कल्प० । नि० चू० ।

छप्पय-षट्पद-पुं० । ' छप्पद ' शब्दार्थे , प्रा० १ पाद ।

छप्पुरिमा-षट्पुरिमा-स्त्री० । षड्वारप्रस्फोटनात्मिकायां प्रत्यु-पेक्षणायाम् , तत्र वस्त्रस्य चक्षुषा निरूप्यार्वाग्भागं त्रयः पुरि-माः कर्तव्याः । तथा परावर्त्यापरभागं निरूप्य पुनरपि त्रयः पुरिमाः कर्तव्याः।एवमेतेषु पुरिमाः षड्वाराः,प्रस्फोटनानीत्यर्थः। ओघ० । नि० चू० । ध० । स्था० ।

छप्पुलओ-देशी--सप्तच्छदे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छमा-क्षमा-स्त्री० । क्षम-अङ् । " क्षमायां कौ " । ८ । २ । १८ । इति क्षस्य छः । लाक्षणिकस्याऽपि क्ष्मादेशस्य छः । प्रा० २ पाद । " क्ष्माश्लाघारत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात् " । ८ । २ । १०१ । एषु संयुक्तस्य यदन्त्य व्यञ्जन तस्मात्पूर्वोऽद् भवति इत्यद्रागमः। पृथिव्याम्, प्रा० २ पाद ।

छमासम-क्षमासम-त्रि० । पृथ्वीसमे, आ० २६ अ० ।

छमी-शमि-(मी)-स्त्री० । शम-इन-वा ङीप् । वाच० । "षट्श-मीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः " । ८ । १ । २६५ । इति शस्य छः । प्रा० १ पाद । (खेजडी) वृक्षभेदे, वाच० । " शमी तिक्ता कटु शीता,कषाया रेचनी लघुः। कम्पकासश्रमश्वास-कुष्ठार्शः-क्रिमिजित्स्मृता " ॥ १ ॥ वाच० ।

छम्माणि-षण्मानि-पु० । स्वनामख्याते ग्रामे,यत्र गोपेन श्रीम-द्वावीरस्वामिनः कर्णयोः कटकशलाके प्रवेशिते । कल्प० ६ क्षण । आ० चू० । आ० म० ।

छम्मास-षण्मास-पुं० । मासषट्कात्मके कालपरिमाणविशेषे, पञ्चा० १० विव० । प्र० । सू० प्र० ।

छम्मासिय-षाण्मासिक-न० । षष्ठे मासे भवः ठञ् । मृतस्य ए-काहोनषष्ठमासे कर्तव्ये श्राद्धभेदे,"आद्य षाण्मासिके तथेति" स्मृतिः । एकाहन्यूनषण्मासे तस्य विधानम् । वाच०। आचा०। नि० चू० । आ० चू० ।

छम्मासियभिक्खुपडिमा-षाण्मासिकभिक्षुप्रतिमा-स्त्री०। षण्मा-सपरिमाणे साधुप्रतिमाविशेषे, तत्र हि षण्मासान् यावत् षट् दत्तयो भक्तस्य, षमेव च पानकस्येति । औ०।

छम्मुह-षण्मुख-पु० । श्रीविमलजिनस्य यक्षे, स च श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशाक्षसूत्रयुक्तद-क्षिणपाणिषट्को नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणि-षट्कश्च । प्रव० २६ द्वार ।

छय-क्षत-त्रि० । पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

छरियगइ-छटितगति-त्रि० । मायया लोकावर्जनाय मन्दगामि-षु, बृ० १ उ० ।

छरु-त्सरु-पु० । त्सर-उन् । खड्गमुष्टौ, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । औ० । जी० । तं० ।

छरुप्पवाय-त्सरुप्रवाद-पु० । एकषष्टिकलायाम्, ज०२ वक्ष० । ज्ञा० । छुरिकादिग्रहणोपायजाते, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । त्सरुः खड्गमुष्टिः, तदवयवियोगात् त्सरुशब्देनाऽत्र खड्ग उच्यते । अ-वयव समुदायोपचार , तस्य प्रवादो यत्र शास्त्रे तत् त्सरुप्रवा-दम् । खड्गशिक्षाशास्त्रे, जं० २ वक्ष० । औ०।

छरुय-त्सरुक-पु० । मुष्टिग्रहणस्थाने, आ० १ श्रु० १६ अ० ।

छल-छल-धा० । कृतौ, सक० सेट्-छलयति । वाच० । " छ-लिज्जति " नि० चू० १ उ० । " अकाले पढमाणो पतदेवयाए

छंदिय-छन्दित-त्रि० । अनुज्ञाते, ओघ० । निमन्त्रिते, नि० चू० २ उ० ।

छन्दित्ता-अव्य० । निमन्त्र्येत्यर्थे, दश० १० अ० ।

छंदोणिवद्ध-छन्दोनिवद्ध-न० । पद्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

छंदोवणीय-छन्दोपनीत-त्रि० । छन्द- स्वाभिप्राय इच्छामात्रम्, अनालोचितपूर्वापरविषयाभिलाषो वा, तेन छन्दसोऽपनीत "आरंभमाणा विणयं वयंति छंदोवणीया अज्झोववण्णा" । अभिप्रायानुवर्तिनि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

छंमुह-षण्मुख-पुं० । "ङञणनो व्यञ्जने" । ८ । १ । २५ । इति णकारस्यानुस्वारः । प्रा० १ पाद । "स्यमोरस्योत्" ।८।४। ३३१ । इति अकारस्योकार- । प्रा० ४ पाद । "षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः" । ८ । १ । २६५ । इति षस्य छ । कार्तिकेये, प्रा० १ पाद ।

छक्क-षट्क-त्रि० । षट्परिमाणमस्येति षट्क- । षट्परिमिते, उत्त० १ अ० । आव० । नि० चू० । पिं० ।

षट्कप्ररूपणमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे अ ।
एसो उ छक्कगस्स, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥२२६॥ दश०नि०।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषट्कं षट् द्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्राणि । पुद्गलकायांपद्गालद्रूतपुद्गलक्षणानि, क्षेत्रषट्कं षट्काशप्रदेशा- , यद्वा भरतादीनि , कालषट्कं षट् समया-, यद् वा ऋतव । तथैव भावे चेति भावषट्क, षड् भावा औदयिकादय- । अत्र च सचित्तद्रव्यषट्केनाधिकार इति गाथार्थ- ।

आह-अत्र द्व्यायनभिधान किमर्थम् ? । उच्यते-एकपदभिधानत आद्यन्तग्रहणेन तद्गतेरिति व्याख्यातं षट्कपदम । दश०४अ०।

छज्जीवणिगाय-षड्जीवानेकाय-पुं० । दशवैकालिकस्य तृतीयेऽध्ययने, दश० ।

जीवाहारो भन्नइ, आयारो तेणिमं तु आयातं ।
छज्जीवणियज्झयणं, तस्सऽहिगारा इमे होंति ॥२२२॥

जीवाधारो भण्यते आचार , तत्परिज्ञानपालनद्वारेणेति भावः । येनैतदेवं, तेनेदमायातम् अवसरप्राप्त, किं तदित्याह-षड्जीवनिकाध्ययनमत्रान्तरे अनुयोगद्वारोपन्यासावसरः । तथा चाह-तस्य षड्जीवनिकाध्ययनस्य, अर्थाधिकारा एते भवन्ति वक्ष्यमाणलक्षणाः । इति गाथार्थ- ॥ २२२ ॥

तानाह--

जीवाजीवाहिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य ।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाएँ अहिगारा ॥२२३॥

जीवाजीवाभिगमो जीवाजीवस्वरूपम , अभिगम्यतेऽस्मिन्निति अभिगम इति कृत्वा, स्वरूपे च सत्यभिगम्यत इति भाव- । तथा चारित्रधर्मे प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूप- , तथैव यतना च पृथिव्यादिष्वारम्भपरिहारयत्नरूपा , तथा उपदेश-यथाऽऽत्मा न बध्यते इत्यादिविषय- । तथा धर्मफलमनुत्तरज्ञानादि, एते षड्जीवनिकाया अधिकारा- । इति गाथार्थः ॥ २२३ ॥

अत्रान्तरे गत उपक्रम- । निक्षेपमधिकृत्याऽऽह-

छज्जीवणियाए खलु, निक्खेवो होइ नामनिप्फन्नो ।
एएसिं तिण्हं पि उ, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥ २२४ ॥

दश० नि० ४ अ० । आ० म० ।

छक्कट्ठय-षट्काष्टक-न० । गृहस्य बाह्यालन्दके षड्दारुके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

छक्कम्म-षट्कर्म-न० । पुं० । यजनादिषट्कर्मसु,स्था० ५ ठा० ३ उ० । यजन, याजनम,अध्ययनम,अध्यापन,दानं, प्रतिग्रहश्चेति । नि० चू० १३ उ० ।

छक्कम्मणिरय-षट्कर्मनिरत-त्रि० । यजनादिषट्कर्मनिरते , स्था० ५ ठा० ३ उ० । नि० चू० ।

छक्कल्लाणगवाइ(ण्)-षट्कल्याणकवादिन्-त्रि० । श्रीमहावीरस्वामिन षण्णा कल्याणकाना वादिनि खरतरगच्छीये, कल्प०१ क्षण । (तेषामुपपत्ति ' कल्लाणग ' शब्देऽत्रैव भागे ३८४ पृष्ठे निराकृता)

छक्कसमज्जिय-षट्कसमर्जित-त्रि० । षट् प्रमाणमस्येति षट्कं वृन्द, तेन समर्जिता- पिण्डिताः षट्कसमर्जिताः । षट्कवृन्देनोत्पद्यमानेषु,ये एकत्र समये समुत्पद्यन्ते, तेषां राशि- षट्प्रमाणो यदि स्यात् तदा ते षट्कसमर्जिता उच्यन्ते । भ०२०श०१० उ०। (अत्र दण्डक 'उववाय' शब्दे द्वि० भा० १९२ पृष्ठे उक्त-)

छक्काय-षट्काय-न० । षण्णां कायानां समाहार- षट्कायम । स्था० । षट्कायेषु, ते यथा षट्काया', पृथ्वीजलानलवायुवनस्पतित्रसभेदात् । पृथ्वीकायजलकायानलकायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायलक्षणा इत्यर्थः । प्रव० १५२ द्वार । दश० । स्था० । सूत्र० ।

छक्कायपमद्दण-षट्कायप्रमर्दन-पुं० । पृथिव्याद्यारम्भके, पञ्चा० १५ विव० । पृथिव्याद्युपमर्दके, दश० १० अ० ।

छक्कायमुक्कजोग-षट्कायमुक्तयोग-त्रि० । षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनालक्षणो व्यापारो याभिस्ताः षट्कायमुक्तयोगाः । षट्कायारम्भनिरतेसु, ग० ३ अधि० ।

छक्कायवग्गहत्था-षट्कायव्यग्रहस्ता-स्त्री० । षट्काययुक्तहस्तायाम , पिं० ।

छक्कायवह-षट्कायवध-पुं० । षण्णां कायानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणानां वधो हिंसा । षट्कायहिंसायाम, प० स० ३ द्वार ।

छक्कायविराहणा-षट्कायविराधना-स्त्री० । षट्कायविराधनायाम, अष्टमप्रतिमावाही यथा षट्कायविराधना न भवति तथा परिवेषयति तदा निषेधो ज्ञातो नास्तीति । १० प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

छक्कायसमारंभ-षट्कायसमारम्भ-पुं० । षण्णां कायानां भूदकाग्निवायुवनस्पतित्रसरूपाणा समारम्भे परितापने,ध०२अधि० ।

से नयवं किं ण अट्ठेणं आउतेउकमेहुणा त्ति अबोहिदायगे समक्खाए ? । गोयमा ! ण सव्वमवि छक्कायसमारंभे महापावट्ठाणे किं तु आउकायसमारंभेणं अणतसत्तोवघाए, ते-

छसमयट्ठिइय-षट्समयस्थितिक-पुं० । समयषट्कस्थायिनि पुद्गले, स्था० ६ ठा० ।

छस्सीइसत्थ-षडशीतिशास्त्र-न०। देवेन्द्रसूरिविरचिते षडशीतिसंख्यागाथाप्रमाणे कर्मग्रन्थे, (कर्म०)

"यद्भाषितार्थलवमाप्य दुरापमाशु,
श्रीगौतमप्रभृतयः शमिनामधीशाः ।
सूक्ष्मार्थसार्थपरमार्थविदो बभूवुः,
श्रीवर्द्धमानविभुरस्तु स वः शिवाय ॥ १ ॥
निजधर्माचार्येभ्यो, नत्वा निष्कारणैकबन्धुभ्यः ।
श्रीषडशीतिकशास्त्रं, विवृणोमि यथागमं किञ्चित्" ॥ २ ॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह-
"नमिय जिणं जियमग्गण-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधऽप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥"
जिन नत्वा, जीवस्थानादि वक्ष्ये इति सम्बन्धः । कर्म०४ कर्म०।

छाइओ-देशी-मातरि, दे० ना० ३ वर्ग ।

छाइल्ल-छायावत्-पुं० । "आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतोः" । ८ । २ । १५६ । इति मतोरिल्लादेशः । छायायुक्ते, प्रा० २ पाद । सदृशे, दीपे, सरूपे, प्रदीपे च । दे० ना०३ वर्ग ।

छाउमत्थियसमुग्घाय-छाद्मस्थिकसमुद्घात-पुं० । समुद्घातभेदे, स० ।

सम्प्रति कति छाद्मस्थिकाः समुद्घाता इति निरूपणार्थमाह-

कति णं भंते ! छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ? । गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयसमुग्घाए आहारसमुग्घाए । प्रज्ञा० ३६ पद ।

छद्मस्थोऽकेवली, तत्र भवाश्छाद्मस्थिकाः, समेकीभावेनोत्प्राबल्येन च घातानि निर्जरणानि समुद्घाताः, वेदनादिपरिणतो हि जीवो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभावयोग्यानुदीरणेनाक्रियोदये प्रक्षिप्यानुभूय निर्जरयति आत्मप्रदेशैः सश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः । ते चेह वेदनादिभेदेन षड्क्ताः । तत्र वेदनासमुद्घातः-असातवेदकर्माश्रयः । कषायसमुद्घातः-कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः । मारणान्तिकसमुद्घातः-अन्तर्मुहूर्तशेषायुष्ककर्माश्रयः । वैकुर्विकतैजसाहारकसमुद्घाताः शरीरनामकर्माश्रयाः । स० १ सम० ।

अथ कति केषां छाद्मस्थिकास्समुद्घाता इति-
चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

नेरइयाणं भंते ! कइ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए ।

नैरयिकाणामाद्याश्चत्वारो वेदनादिसमुद्घाताः, तेषां तेजोलब्ध्याहारकलब्धेरभावतस्तैजससमुद्घाताहारकसमुद्घातासंभवात् ।

असुरकुमाराणं पुच्छा ? । गोयमा ! पंच समुग्घाया छाउमत्थिया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयसमुग्घाए ।

असुरकुमारादीनां सर्वेषामपि देवानामाहारकसमुद्घातवर्जाः शेषाः पञ्च समुद्घाताः, तेजोलब्धिसम्भवात्तैजससमुद्घातस्याऽपि सम्भवात् । यस्त्वाहारकसमुद्घातः, स तेषां न सम्भवति, चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावतो भवप्रत्ययाच्च तेषामाहारकलब्ध्यभावात् ।

एगिंदियविगलिंदियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! तिन्नि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेयणा० कसाय० मारणंतिय०, नवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणा० कसाय० मारणंतियस० वेउव्वियसमुग्घाए ॥

वायुकायवर्जैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामाद्या वेदनाकषायमरणलक्षणा त्रयः समुद्घाताः, तेषां वैक्रियाहारकतेजोलब्ध्यभावतः तत्समुद्घातासम्भवात् । वायुकायिकानां पूर्वे त्रयो वैक्रियसमुद्घातसहिताश्चत्वारः, तेषां बादरपर्याप्तानां वैक्रियलब्धिसंभवतो वैक्रियसमुद्घातस्यापि सम्भवात् ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा-वेदणा० कसाय० मारणंतिय० वेउव्वियसमु० तेयगसमुग्घाए ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामाहारकसमुद्घातवर्जाः शेषाः पञ्च छाद्मस्थिकाः समुद्घाताः, यस्त्वाहारकसमुद्घातः स तेषां न सम्भवति,चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावतस्तेषामाहारकलब्ध्यसम्भवात् ।

मणुस्साणं कइ छाउमत्थिया समुग्घाया पन्नत्ता ? । गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमु० मारणंतियसमु० वेउव्वियसमु० तेयगसमु० आहारगसमुग्घाए ॥

मनुष्याणां षमपि मनुष्येषु सर्वभावसंभवात्, तदेव यावन्तो येषां छाद्मस्थिकाः समुद्घातास्तावन्तः तेषां निरूपिताः । प्रज्ञा० ३६ पद । भ० ।

छाओ-देशी-बुभुक्षिते, कृशे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छागल-छागल-त्रि०। अजासम्बन्धिनि,कुतपश्छागलः किट्टजम् । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

छागलतक्क-छागलतक्र-न० । अजादधिनिष्पन्नतक्रे, तं० ।

छाण-छादन-न० । दर्भादिमये पटले, भ० ८ श० ६ उ० ।

"सर्वश्वेते रजते रजमये पुञ्जनीनामुपरि कवेल्लुकानामध आच्छादने, जी० ३ प्रति० ।

छाणविच्छुय-छगणवृश्चिक-पुं०।चतुरिन्द्रियभेदे,जी०१ प्रति०।

छाणी-छगणी-स्त्री० । गोमयपिण्डे, पञ्चत्रिंशत्तमे आशातनाभेदे , ध० २ अधि० ।

छाणं-देशी-धान्यादिमलने, गोमये, वस्त्रे च । दे० ना०३ वर्ग ।

छाय-छात-त्रि० । छो-क्त । छिन्ने , दुर्बले , वाच० । बुभुक्षिते, ओघ० । ज्ञा० । व्य० ।

छायण-छादन-न० । दर्भादिना आच्छादने, ग० १ अधि० । आचा० । सूत्र० । प्रश्न० ।

छाया-छाया-स्त्री० । छो-ण । पचादित्वादच् । श्यति छिनत्ति वाऽऽतपमिति छाया । उत्त० १ अ० । आतपाभावे, प्रतिबिम्बे, सूर्यपत्नीभेदे, संज्ञाप्रतिकृतौ, कान्तौ च । पालने,

सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति वचनात् हेतौ प्रथमा । अध्ययनत्वात् अध्यात्मानयनात् चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः। एतदेव कुत इत्याह-धर्मप्रज्ञप्तेः प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः,धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः,ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणाच्चेतसो विशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति । अन्ये तु व्याचक्षते-अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति।

शिष्यः पृच्छति-

कयरा खलु सा छज्जीवणिया णामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं धम्मपन्नत्ती ॥

सूत्रमुक्तार्थमेवानेनैतद्दर्शयति-विहायाभिमानं संविग्नेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति ।

आचार्य आह-

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणधम्मपन्नत्ती ।

सूत्रमुक्तार्थमेवानेनाप्येतद्दर्शयति-गुणवते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य एवेति ।

तं जहा-पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया । दश० ४ अ० । आचा० । (पृथिव्यादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने । षड्जीववधकारिणामभावादिदशविषयादितन्निवृत्तिकारिणां सपूर्णमुनिभावप्रदर्शनमन्यत्र वक्ष्यते) "दोहिं जीवनिकायेहिं" आव० ४ अ० ।

साम्प्रतं चारित्रधर्मस्तत्रोक्तसबन्धमेवेद सूत्रम्—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवऽन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारभंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए ॥ १२ ॥

सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना एतेषां षण्णां जीवनिकायानामिति "सुपां सुपो भवन्ति" इति वचनात् सप्तम्यर्थे षष्ठी । एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु अनन्तरोदितस्वरूपेषु नैव स्वयमात्मना दण्डं सघट्टनपरितापनादिलक्षणं समारभेत प्रवर्तयेत्, तथा नैवान्यैः प्रेष्यादिभिर्दण्डमुक्तलक्षणं समारम्भयेत्, कारयेदित्यर्थः। दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् प्राणिनो न समनुजानीयात्, नानुमोदयेदिति विधायिकं भगवद्वचनम् यतश्चैवमतो यावज्जीवमित्यादि, यावद् व्युत्सृजामीत्यादि इत्येवमिदं सम्यक् प्रतिपद्येत इत्यैदंपर्यम्, पदार्थस्तु जीवनं जीव- । यावद्जीवो यावज्जीवम्-आप्राणोपरमादित्यर्थः ।

किमित्याह-

तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि,करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि,तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ १३ ॥

त्रिविधं त्रिविधेनेति तिस्रो विधा विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधः, दण्ड इति गम्यते । त त्रिविधेन करणेन, एतदेवोपन्यस्यति-मनसा, वाचा,कायेन, एतेषां स्वरूप प्रसिद्धमेव । अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः, त वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैवोपन्यस्यन्नाह-न करोमि स्वय, न कारयाम्यन्यैः, कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामीति, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामीति। तस्येत्यधिकृतो दण्ड सबध्यते, सबन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी । योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डः, तस्य सबन्धिनमतीतमवयव प्रतिक्रमामि, न वर्तमानमनागत वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात् । प्रत्युत्पन्नस्य सवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति। भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम् । भदन्त ! भवान्त ! भयान्त ! इति साधारणा श्रुतिः । एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्, प्रतिक्रमामीति भूतदण्डाद् निवर्तेऽहमित्युक्त भवति । तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति । तथा निन्दामि गर्हामीत्यत्रात्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा । जुगुप्सोच्यते-आत्मानमतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं व्युत्सृजामीति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः, उच्छब्दो भृशार्थः, सृजामीति त्यजामि । ततश्च विविधं विशेषेण वा भृश त्यजामि व्युत्सृजामि इति । आह-यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रस्यैदंपर्यम्, न प्रत्युत्पन्नसवरणमनागतप्रत्याख्यान चेति। नैतदेवम् । न करोमि इत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति । (दश०)

महार्थां षड्जीवनिकायिकेति विधिनोपसंहरन्नाह-

इच्चेअं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुल्लहं लहित्तु सामन्नं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ।
इति बेमि ॥ २९ ॥

इत्येतां षड्जीवनिकायिकाम् अधिकृताध्ययनप्रतिपादितार्थरूपां, न विराधयेदिति योगः । सम्यग्दृष्टिर्जीवः तत्त्वश्रद्धावान् सदा यतः सर्वकाल प्रयत्नपरः सन्, किमित्याह-दुर्लभ लब्ध्वा श्रामण्यं दुष्प्राप प्राप्य श्रमणभाव षड्जीवनिकायसरक्षणैकरूप, कर्मणा मनोवाक्कायक्रियया प्रमादेन न विराधयेत् न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति, तथाऽप्यसावविराधनैवेत्यर्थः । एतेन "जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथ भिक्षुरहिंसक ? ॥ १ ॥" इत्येतत्प्रत्युक्तम्, तथा सूक्ष्माणां विराधनाभावाच्च। ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

अधिकृताध्ययनपर्यायशब्दप्रतिपादनायाऽऽह निर्युक्तिकार-—

जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती ।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे य एगट्ठा ॥ २९७ ॥

जीवाजीवाभिगमः, सम्यग् जीवाजीवाभिगमहेतुत्वात्, एवमाचारश्चैवाचारोपदेशत्वात्, धर्मप्रज्ञप्तिर्यथावस्थितधर्मप्रज्ञापनात्, ततश्चारित्रधर्मस्तन्निमित्तत्वात्, चरण चरणविषयत्वात्, धर्मश्च श्रुतधर्मस्तत्सारभूतत्वात् एकार्थिका एते शब्दा इति गाथार्थः । अन्ये त्विदं गाथासूत्रमनन्तरोदितं सूत्रस्याधो व्याख्यानयन्ति, तत्राप्यविरुद्धमेव। उक्तोऽनुगम । साम्प्रतं नयास्ते च पूर्ववदेव । दश० ४ अ० ।

छज्जीवणिकायवह-षड्जीवनिकायवध-पुं० । षड्जीवनिकायानां पृथिवीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायलक्षणषड्विधप्राणिगणानां वधे विनाशे, पा० ।

छायाघाय-छायाघात-पुं० । प्रभापरिभ्रंशे, बृ० १ अ० ।

छायातो-छायातस्-अव्य० । छायाया इत्यर्थे, " छायातो सीयंति " छायातः शीतकाले शीतमिति कृत्वा सीदन्ति । दशा० ७ अ० ।

छायापास-छायापार्श्व-पुं० । हिमाचलस्थायां श्रीपार्श्वनाथप्रतिमायाम्, हिमाचले छायापार्श्वो मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिङ्ग १७। ती० ४५ कल्प ।

छायापासणाह-छायापार्श्वनाथ-पुं० । माहेन्द्रपर्वतस्थायां पार्श्वनाथप्रतिमायाम, माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथ. ८ । ती० ४५ कल्प ।

छायालीस-षट्चत्वारिंशत्-स्त्री० । षडधिकचत्वारिंशतसंख्यायां, तत्संख्याऽन्विते च । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

छायासमणुबद्ध-छायासमनुबद्ध-पुं० । छायया युक्ते, रा० ।

छायोवग-छायोपग-पुं० । छायामुपगच्छतीति छायोपग. । बहुलच्छाये वृक्षे, तद्वत् अनुवर्तनापायसंरक्षणादिना सत्त्वोपेते सव्ये पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

छायोवय-छायोपग-पुं० । ' छायोवग ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

छार-क्षार-त्रि० । क्षर—ज्वला०—वा णः । क्षरणशीले, लवणरसे, धूर्ते, लवणे, पुं० । गुडे, टङ्कणे, सर्जिकाक्षारे, पुं० । विमलवणे, यवक्षारे च । वाच० । भूतौ, ओघ० । भस्मनि, आव० ४ अ० । दशा० । आ० म० । बृ० । परस्परमग्निपरिणामिते इन्धने, नि० चू० १ उ० । "अभिणवकट्ठ अपुञ्जकय छारो भण्णति " नि० चू० ३ उ० । मात्सर्ये, न० । जी० ३ प्रति० ।

छारयं-देशी-इक्षुशल्के, मुकुले च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छारिय-क्षारिक-न० । भस्मनि, भ० ५ श० २ उ० ।

छारो-देशी--अच्छभल्ले, दे० ना० ३ वर्ग ।

छाल-छाग-पुं० । "छागे ल." । ८ । १ । १९१ । छागे गस्य लो भवति । प्रा० १ पाद । " छस्य श्चोऽनादौ " । ८ । ४ । २९५ । मागध्याममादाविति पर्युदासाच्छस्य श्चो न । अजे, प्रा० ४ पाद ।

छाव-शाव-पुं० शव-घञ् । " षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः " । ८ । २ । २६५ । इति शस्य छः । प्रा० २ पाद । शिशौ, स्वार्थे कस्तत्रैव । शवस्येदम् अण् । शवसम्बन्धिनि, त्रि० । "त्रिरात्र शावमाशौचम् " इति स्मृतिः । वाच० ।

छावग-शावक-पुं० । शिशौ, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

छावण-छादन-न० । दर्भादिभिराच्छादने, बृ० १ उ० । आचा० । नि० चू० ।

छावपोयग-शावपोतक-पुं० । शाव एव अतिलघुत्वात्पोतः पोतक. शावपोतकः । शिशौ, व्य० १ उ० ।

छासी-देशी-तक्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छाहा-छाया-स्त्री० । "छायायां होऽकान्तौ वा" । ८ । १ ।२४९। इति यस्य हः । प्रा० १ पाद । 'छाया' शब्दार्थे, उत्त० १ अ० ।

छाही-देशी-गगने, दे० ना० ३ वर्ग ।

छि-छि-स्त्री० । छो-बा किः। गर्हायाम् , वाच० । छले, पुं० । " छिः पुंसि प्रोच्यते छले," एका० ।

छिंडिया-छिण्डिका-स्त्री० । अपवादे, ध० २ अधि० ।

' अणत्थ ' ति ' विवृण्वन्नाह-

रायाभिओगो य गणाभिओगो ,
बलाभिओगो य सुराभिओगो ॥
कंतारवित्ती गुरुनिग्गहो य ,
छ छिंडियाओ जिणसासणम्मि ॥ ९५३ ॥

तत्राभियोजनमनिच्छतोऽपि व्यापारणमभियोग , राज्ञो नृपतेरभियोगो राजाभियोग.; गणः स्वजनादिसमुदाय , तस्याभियोगो गणाभियोग , बल बलवतो हठप्रयोगः, तेनाभियोगो बलाभियोग ; सुरस्य कुलदेवतादेरभियोगः सुराभियोग., कान्तारमरण्यम्, तत्र वृत्तिर्वर्तनं निर्वाह. कान्तारवृत्ति । यद्वा-कान्तारमपि बाधाहेतुत्वादिह बाधात्वेन विवक्षित, तत कान्तारेण बाधया वृत्ति प्राणवर्तनरूपा कान्तारवृत्तिः, कष्टेन निर्वाह इति यावत् । गुरवो मातृपितृप्रभृतयः । यदुक्तम्-" माता पिता कलाचार्य, एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मत." ॥१॥ तेषां निग्रहो निर्बन्ध । तदेताः षट् छिण्डिका अपवादाः,जिनशासने भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यम्-प्रतिपन्नसम्यक्त्वस्य परतीर्थिकवन्दनादिकं यत् प्रतिषिद्ध तद्राजाभियोगादिभिरेतैः षड्भि कारणै. भक्तिवियुक्तं द्रव्यतः समाचरन्नपि सम्यक्त्व नातिचरतीति । प्रव० १४८ द्वार ।

छिंडी--छिण्डी-स्त्री० । वृत्तिछिद्ररूपायां छिण्डिकायाम, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

छिंदित्ता--छित्त्वा-अव्य० । द्विधा कृत्वेत्यर्थे , स्था० ३ ठा० २ उ० । आचा० । क्षुरप्रादिना कूष्माण्डकमिव श्लक्ष्णखण्डीकृत्येत्यर्थे, भ० १४ श० ८ उ० ।

छिंदिय-छित्वा--अव्य० । 'छिंदित्ता' शब्दार्थे, ठा० ३ ठा० २ उ० ।

छिंदियव्व-छेत्तव्य-अव्य० । द्वैधीकरणे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

छिंपक-छिम्पक-पुं० । वस्त्रेषु नानाजातीयमुद्राकर्तरि जातिविशेषे, स्था० ८ ठा० ।

छिक्क-स्पृष्ट-न० । "मलिनोभयशुक्तिछुप्तारब्धपदातेर्मइलावहसिप्पिछिक्काढत्तपाइक्क" । ८ । २ । १३८ । इति 'छिक्क' आदेशः । प्रा० २ पाद ।

छिक्का-छिका-स्त्री० । छिक् इत्यव्यक्तं शब्द करोति । क्षुते, वाच० । छिक्कते, आ० म० द्वि० । रात्रौ छिक्कायां प्रायश्चित्तमुपस्थापनम् । महा० ७ अ० ।

छिक्किय-छिकित-न० । छीत्कृतौ, नि० चू० १ उ० ।

छिक्कोअणो-देशी-असहने, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिक्कं-देशी-स्पृष्टे, क्षुते च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छिच्छइ-पुंश्चली-स्त्री० । पुंसो भर्तुः सकाशाच्चलति पुरुषान्तरं गच्छति । अच्-गौरा० ङीष् । पुंसोऽन्त्यलोपे अम्परे ऋयि रस्तस्य सपुकानां स. । बा० स० । श्चुत्वम् । " गोणादय. " । ८ । २ । १७४ । इति निपात. पुंश्चलीशब्दस्य ' छिच्छइ ' आदेश । प्रा० २ पाद । असत्यां स्त्रियाम्, उपचारात्पारदारिके पुरुषेऽपि, पुं० । वाच० ।

क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिक संयमस्थानं वाच्यम्, इदं च द्वितीयं संख्येयभागाधिक स्थानं, ततोऽनेन क्रमेण तृतीय वाच्यम् । अमूनि चैव संख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततस्तेनैव च क्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकस्थानप्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेक स्थान वक्तव्य, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वाच्यानि, तत. पुनरप्येक संख्येयगुणाधिक स्थान वाच्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि, तत पुनरप्येक संख्येयगुणाधिक स्थानम्,अमून्यप्येव संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततस्तेनैव क्रमेण पुनः संख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽसंख्येयगुणाधिकस्थान वाच्यम् , तत. पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव भूयोऽपि वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिक संयमस्थान, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिक वाच्यम् , अमूनि चैवमसंख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद् वाच्यानि, यावत्कण्डकमात्राणि, तत पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणाधिक संयमस्थान वाच्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागुक्तानि तावन्ति तथैव वाच्यानि, ततो भूयोऽप्येकमनन्तगुणाधिक स्थानम्, तत पुनरपि मूलादारभ्य तावन्ति स्थानानि तथैव वाच्यानि, तत. पुनरप्येकमनन्तगुणाधिक स्थानम्, एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वाच्यानि, यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थान तन्न प्राप्यते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । इत्थंभूतान्यसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि एक षट्स्थानक भवति । अस्माच्च षट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयक षट्स्थानक तिष्ठति । एवमेव च तृतीयम् । एव षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्त च-"छट्ठाणगअवसाने, अन्न छट्ठाणयं पुणो अन्न। एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाण मुणेयव्वा" ॥ १ ॥ अस्मिँश्च षट्स्थानके यादृशोऽनन्ततमो भागोऽसंख्येयतम' संख्येयतमो गृह्यते,यादृशस्तु संख्येयोऽसंख्येयो न ततो वा गुणकार संनिरूप्यते, तत्र यदपेक्षयाऽसंख्येयानन्तगुणवृत्तता, तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते,हृते च भागे यल्लब्ध सोऽनन्ततमो भागः,तेनाधिकमुत्तर संयमस्थानम्,किमुक्त भवति?-प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति ये लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्भागैर्द्वितीयभागसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अधिका. प्राप्यन्ते, द्वितीयसंयमस्थानस्य ये विभागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागभागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विभागा भागा. प्राप्यन्ते, एवं यद्यत्संयमस्थानमनन्तभाग वृद्धमुपलभ्यते तत्र पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेन अनन्ततमेन भागेनाधिक्यमवगन्तव्यम् । असंख्येयभागाधिकानि पुनरप्येव पाश्चात्यस्य २ संयमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद् यद्लभ्यते स सोऽसंख्येयतमो भागस्ततस्तेनासंख्येयतमेन भागेनाधिकान्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयभागाधिकानि त्वेवम्-पाश्चात्यस्यासंयमस्थानस्योत्कृष्टेन संख्येयेन भागे हृते सति यल्लभ्यते स संख्येयतमो भाग.,ततस्तेन तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा भागास्ते ते उत्कृष्टेन संख्येयमानेन राशिना गुण्यन्ते , गुणिते च सति यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि द्रष्टव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धान्यनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि , नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य २ संयमस्थानस्य निर्विभागा भागा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुण्यन्ते, अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणेनानन्तकेनेति । अय च षट्स्थानकविचारः स्थापनां विना मन्दबुद्धिभि. सम्यगवबोद्धुं न शक्यते, सा च स्थापना कर्मप्रकृतिपटेऽन्य प्रतिपत्तव्या , विस्तरभयात्तु नेह प्रदर्श्यते, केवल कियन्तमपि स्थापनाशून्यार्थं स्थापनाप्रकारं प्रकाशयाम. । तथाहि-प्रथम तावत् तिर्यक्पङ्क्तौ चत्वारो बिन्दव स्थाप्यन्ते, तेषां च कण्डकमिति संज्ञा,सर्वेषामपि चैतेषामन्योन्यमनन्तभागवृद्ध्या वृद्धिरवसेया । ततस्तेषामग्रतोऽसंख्यातभागवृद्धिसंज्ञक एकक. स्थाप्यते , ततो भूयोऽपि चत्वारो बिन्दवः, तत एकक इत्यादि तावदवसेयं यावद्विंशतिर्बिन्दवः, चत्वारश्चैकका जाता., तदनु संख्यातभागवृद्धिसंज्ञको द्विक स्थाप्यते। तत पुनरपि विंशतिः बिन्दव , चत्वारश्चैकका , ततो द्वितीयो द्विकः । एव विंशतेर्विंशतेर्बिन्दूनामन्तराऽन्तरा चतुर्णां चतुर्णामेककानामवसाने तृतीयचतुर्थावपि द्विकौ क्रमेण स्थाप्यौ । तदनु भूयोऽपि चतुर्थद्विकस्याग्रे विंशतिर्बिन्दवः, चत्वारश्चैकका: । एव च जातं बिन्दूनां शतम्, एककाना विंशतिश्चत्वारश्च द्विकाः । अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दूनामग्रत. संख्यातगुणवृद्धिसंज्ञिकप्रथमस्त्रिकः संस्थाप्यते,ततः पुनरपि बिन्दूना शतादेककानां विंशतेर्द्विकानां चतुष्टयाच्च परतो द्वितीयस्त्रिक. स्थाप्यते। एव बिन्दूनां शते २ , एककानां विंशतौ, द्विकानां चतुष्टये चतुष्टयेऽतिक्रान्ते तृतीयचतुर्थावपि त्रिकौ स्थाप्यौ , तदनु चतुर्थत्रिकस्याप्यग्रे बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकाना चतुष्टयं स्थाप्यते, ततो जातानि पञ्च शतानि बिन्दूनां, शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिकाः । अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दूनामग्रतोऽसंख्यातगुणवृद्धिसंज्ञिकः प्रथमचतुष्क. स्थाप्यते, ततो भूयोऽपि पञ्च शतानि बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिका प्रागिव स्थाप्यन्ते। ततो द्वितीयश्चतुष्क' स्थाप्य । एवं बिन्दूनां शतपञ्चके एककानां शते द्विकानां विंशतौ त्रिकाणां चतुष्टये चतुष्टये चातिक्रान्ते तृतीयचतुर्थावपि चतुष्कौ क्रमेण स्थाप्यौ। ततश्चतुर्थचतुष्कस्याग्रे पञ्चमचतुष्कयोग्य दलिक स्थापयित्वा अनन्तगुणवृद्धिसंज्ञिक प्रथम. पञ्चको न्यस्यते। एवमनेनैवानन्तरोक्तेन क्रमेण द्वितीयतृतीयचतुर्था अपि पञ्चका न्यसनीया. । ततश्चतुर्थपञ्चकस्याग्रे पञ्चमपञ्चकयोग्यं दलिक लिख्यते , नच पञ्चका. स्थाप्यन्ते । ते आद्यन्तयोः प्रत्येक बिन्दुचतुष्टयेन प्रथम षट्स्थानं समाप्यते, यदा पुन. प्रथमानन्तर द्वितीयं षट्स्थानकं स्थापयितुमिष्यते, तदा तदपेक्षया प्रथम पृथक्

षु मार्गेषु , उत्त० २ अ० । व्यवच्छिन्नसमागमेषु, बृ० ४ उ० । छिन्ना आपाताः सार्थगोकुलादीनां यस्यां सा तथा । स्था० ४ ठा० २ उ० । व्यवच्छिन्नसार्थघोषाद्यापातायाम , भ० १५ श० १ उ० ।

छित्त–क्षेत्र–न० । स्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

स्पृष्ट–न० । " क्तेनाप्फुरणादयः " । ८ । ४ । २५८ । इति स्पृष्ट इत्यस्य ' छित्त ' आदेशः । प्रा० ४ पाद । दे० ना० ३ वर्ग ।

छित्तर–छित्वर–न० । वशादिमये छादनाधारभूते किलिञ्जे, भ० ८ श० ९ उ० ।

छिद्द–छिद्र–न० । रन्ध्रे, भ० १२ श० ७ उ० । प्रश्न० । आव० । त० । अल्पपरिवारत्वे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । प० सू० । " खलः सर्षपमात्राणि, परच्छिद्राणि पश्यति । आत्मनो बि-ल्वमात्राणि, पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १ ॥ " उत्त० ३ अ० । लघुमत्स्ये, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिद्दपेहि (ण्)–छिद्रपेक्षिन्–पुं० । छिद्राणि प्रमत्ततादीनि प्रेक्षते इति । पाराञ्चितयोग्यप्रमत्ततादिरूपप्रतिसेवनाकर्तरि, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

छिन्द–छिद्–धा० । द्वेधीकरणे, " छिदिभिदो न्दः " । ८ । ४ । २१६ । इति छिदेर्दस्य ' न्द ' आदेशः " छिन्दइ " छिनत्ति । प्रा० ४ पाद ।

छिन्दावण–छेदन–न० । वनस्पत्यादीनामन्यैश्छेदने, ' क्षपण ' प्रायश्चित्त चतुर्थमाचामाम्लमेकाशनक निर्विकृतिक वा । महा० ७ अ० ।

छिप्प–स्पृश–धा० । तुदा० पर० सक० अनिट् । स्पर्शे, वाच० । " स्पृशेश्छिप्प: " । ८ । ४ । २५७ । स्पृशतेः कर्मभावे ' छिप्प ' आदेशो वा भवति, क्यलुक् च । ' छिप्पइ ' स्पृश्यते । प्रा० ४ पाद ।

छिप्प–देशी–न० । भिक्षायां, पुच्छे च । दे०ना०३ वर्ग । विपा० ।

छिप्पंत–क्षिप्यमाण–त्रि० । तूर्यभेदे, आ० चू० १ अ० ।

छिप्पंती–देशी–व्रतभेदे । उत्सवे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छिप्पतूर–क्षिप्रतूर्य–न० । द्रुत वाद्यमाने तूर्ये, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । " छिप्पतूरेण वज्जमाणेण " विपा० १ श्रु०३ अ० ।

छिप्पदूर–देशी–गोमयखण्डे विषमे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिप्पोल्ली–छिप्पोल्ली–स्त्री० । वर्करादिलेण्डे, नि० चू० १ उ० ।

छिरा–शिरा–स्त्री० । " शिरायां वा " । ८ । १ । २६६ । शिरा शब्दे आदेशः । प्रा० १ पाद । नाडीषु, शिरा नाड्य० । भ० ६ श० ३३ उ० ।

छिलिय–सिरिटत–न० । सीत्कारकरणे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

छिल्लवण–पलाशवन–न० । मथुरास्थे पलाशवने, ती० ६ कल्प ।

छिव–स्पृश–धा० । प०–सक०–अनिट् । स्पर्शे, " स्पृशः फासफ-सफरिसछिवछिहालुंखालिहा: " । ८ । ४ । १८२ । इति स्पृशते ' छिव ' आदेश । प्रा० ४ पाद । श्लक्ष्णे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । ' छिवन्ति ' छुपन्ति धारयन्ति, हस्ताङ्गुलिभिरिति गम्यते । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

छिवण–स्पर्शन–न० । छुपने, जीवा० १७ अधि० ।

छिवा–क्षिपा–स्त्री० । श्लक्ष्णचर्मकशायाम्, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

छिवाडिआ–छेदपाटी–स्त्री० । वल्लादिफलिकायाम,अ० १ वक्ष० ।

छिवाडियपोत्थय–छेदपाटीपुस्तक–न० । " छिवाडिए ताहे । तणु-पत्तुस्सियरूवा, होइ छेवामी बुहा वेंति ॥ ४ ॥ दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो । तं मुणिय समयसारा, छि-वाडिपोत्थ भणंतीह ॥ ५ ॥ " (छिवाडिए त्ति) तनुभि० प-त्रैरुच्छ्रितरूप० किञ्चिदुन्नतो भवति छेदपाटीपुस्तक इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

छिविअ–देशी–न० । इक्षुखण्डे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिविऊण–स्पृष्ट्वा–अव्य० । स्पर्शं कृत्वेत्यर्थे, महा० ७ अ० ।

छिव्व–देशी–न० । कृत्रिमे , दे० ना० ३ वर्ग ।

छिह–स्पृश–धा० । प०–तुदा०–सक०–अनिट् । स्पर्शे, " स्पृशः फासफसफरिसछिवछिहालुंखालिहा: " । ८ । ४ । १८२ । इति स्पृशे ' छिह ' आदेशः । प्रा० ४ पाद ।

छिहली–छिहली–स्त्री० । शिखायाम्, बृ० ४ उ० । आव० ।

छिहंम–शिखण्ड–न० । मयूरशिखायाम, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

छिहंडअ–देशी–न० । दधिसरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिहंडि(ण्)–शिखण्डिन्–पुं० । शिखण्डोऽस्त्यस्य इति । मयूरे, वाच० । शिखावति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

छिहा–स्पृहा–स्त्री० । स्पृह–क० । " इत्कृपादौ " । ८ । १ । १२८ । कृपा इत्यादिषु शब्देष्वादेर्ऋत इत्वं भवति इति इत्वम । प्रा० १ पाद । " स्पृहायाम " । ८ । २ । २३ । स्पृहाशब्दे संयुक्तस्य छो वा भवति इति छ० । प्रा० २ पाद । सर्पघातिनी (क-ङ्कालिका) वृक्षे, कण्टकायांम, स्त्री० । गौरा० ङीष् । वाच० ।

छी–श्री–स्त्री० । बिल्ववृक्षे , वृतलक्ष्म्याम , एका० ।

छीय–क्षुत–न० । क्षवणं क्षुतम । " क्षोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ । इति छ० । प्रा० २ पाद । " ईः क्षुते " । ८ । १ । ११२ । इति आदेरुत ईत्वम । प्रा० २ पाद । छिक्कायाम , नि० चू० १ उ० । ल० । आ० म० । आ० चू० । आव० । न० । विशे० ।

छीयमाण–क्षुवत्–पुं० । क्षुत कुर्वति,आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

छीण–क्षीण–त्रि० । क्षि–क्त० । " त्तः खः क्वचित्तु छझौ " । ८ । २ । ३ । इति क्षस्य छः । प्रा० २ पाद । दुर्बले, क्षामे च । वाच० ।

छीर–क्षीर–पुं० । न० । क्षि–क्रन्–दीर्घश्च । 'घस'अदने–इरन् किच्च उपधालोपे, घर वा अर्द्धर्चा० । वाच० । " क्षोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छ । प्रा० २ पाद । दुग्धे, जले, सर-लद्रव्ये, वाच० ।

छीरविरालिया–क्षीरविमालिका–क्षीरविदारिका–स्त्री० । क्षी-रमिव शुभ्रा विदारी । श्वेतभूमिकूष्माण्डे वाच० । क्षीरप्र-धाना विदारी । शुक्लकृष्णयोर्भूमिकूष्माण्डयोः, वाच० । जीवा० । प्र० ।

यथास्व च कषायाणि, ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत् ।
कासः श्वासो ज्वरो हिक्का, तृष्णा वैचित्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव, ज्ञेयाश्छर्दैरुपद्रवाः ॥" तत्रार्थे,
" आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
श्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् ॥" वाच० । आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

छड्डिकुमार–छर्दिकुमार–पुं० । अभुक्तरोगिणि, वृ० १ उ० ।

छड्डिणिरोह–छर्दिनिरोध–पु० । वमनाभिघाते, छर्दिनिरोधे कुष्ठोत्पत्तिः । पं० चू०

छड्डित्तु–छर्दयित्वा–अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, व्य० २ उ० ।

छड्डिय–छर्दित–न० । परिसाटिमति दशमे एषणादोषे, पञ्चा०१३ विव० । ग० । स्था० । छर्दितं दीयमानस्याऽऽदेः पृथ्वीकायादिसंसक्तादि छर्दितं सता दश एषणादोषा । जीत० । पिं० ।

अथ छर्दितद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसग तह छड्डणे य चउभंगो ।
चउभंगे पडिसेहो, गहणे आणाइणो दोसा ॥

छर्दितमुज्झितं, त्यक्तमिति पर्यायाः । तच्च त्रिधा । तद्यथा-सचित्तमचित्तं, मिश्रं च । तदपि च कदाचित् छर्द्यते सचित्ते सचित्तमध्ये, कदाचिदचित्ते, कदाचिद् मिश्रे, तत एव छर्दितानां सचित्ताचित्तमिश्ररूपाणामाधारभूतानामाधेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनम् । ततो यदर्थास्त्रिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति । तद्यथा-सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका, सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया , मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया, तत्र सचित्ते सचित्तं छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा । सचित्ते सचित्तम्, अचित्ते सचित्तं,सचित्ते अचित्तम्,अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्रं, अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तं, अचित्तेऽचित्तमिति तृतीया । सर्वसंख्यया द्वादश भङ्गाः । सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तः पृथिवीकायमध्ये छर्दितं इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थानाभ्यां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत् विकल्पाः, ततः षट्त्रिंशत् द्वादशभिर्गुणितानि जातानि चत्वारि शतानि , द्वात्रिंशदधिकानि । एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो भक्तादिग्रहणे निवारणं, यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञादयः-आज्ञाऽनवस्थाऽऽत्यमिथ्यात्वविराधनारूपा दोषाः । इह आद्यन्तग्रहणेन मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादौद्देशिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः ।

संप्रति छर्दितग्रहणे दोषानाह—

उसिणस्स छड्डणे दें-तओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा ।
सीयपमाणम्मि काया, पमिए महुबिंदु आहरणं ॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने समुज्झने, ददमानो वा भिक्षां, दहेत भूम्याश्रितानाम्, वा अथवा कायानां पृथिव्यादीनां दाहः स्यात् शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः कायाः पृथिव्यादयो विराध्यन्ते । अत्र पतिते मधुबिन्दूदाहरणम्-"वैवतपुरं नाम नगरं, तत्राभयसेनो नाम राजा , तस्यामात्यो वारत्रकोऽन्यदा त्वरितमचपलमसम्भ्रान्तमेषणासमितिसमितो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटन् तस्य गृहं प्राविशत्, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय ग्र घृतखण्डसंमिश्रपायसभृतं स्थालमुत्पाटितवती ? । अत्रान्तरे च कथमपि ततः खण्डसमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपतितः, ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वसहः शङ्ख इव रागादिभिर्निरञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा , तस्मान्न मे कल्पते, इति परिभाव्य ततो निर्जगाम । वारत्रकेण चामात्येन मत्तवारणस्थितेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन् । चिन्तयति च स्वचेतसि—किमनेन भगवता न गृह्यते स्म मे गृहे भिक्षेति, एवं यावच्चिन्तयति तावत् तु भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतबिन्दुं मक्षिकाः समागत्याऽऽश्रिश्रियन् । तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, गृहगोधिकाया अपि विघाताय प्रतिधावितः सरटः । अस्यापि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यः श्वा, ततो द्वयोरपि तयो शुनोरभूत्परस्परं कलहः, ततः स्वस्वसारमेयपराभवदुर्मनस्कतया प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्परमतुलं युद्धम् । एतच्च सर्वं वारत्रकामात्येन परिभावितं, ततश्चिन्तयति स्वचेतसि-घृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यत एवमधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतबिन्दु भूमौ निपतितमवलोक्य भिक्षां न गृहीतवान् । अहो सुदृष्टो भगवतो धर्मः, को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिनं धर्ममुपदेष्टुमीशः, न खल्वन्धो रूपविशेषं जानाति, एवमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपायं धर्ममुपदेष्टुमलम्, तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः, एवमेव जिनो देवता, तदुक्तमेवानुष्ठानं मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखो मुक्तिवनिताऽऽश्लेषसुखलम्पटः सिंह इव गिरिकन्दराया निजप्रासादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत् । स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्याये भावितान्तःकरणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य जातप्रतनुकर्मा समुच्छ्लितदुर्निवार्यवीर्यप्रसरः, क्षपकश्रेणिमारुह्य घातिकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान् , ततः कालक्रमेण सिद्ध इति । उक्तमेषणाद्वारम् । पिं० । उत्त० । आचा० । प्रव० । छर्दिते प्रायश्चित्तं पुरिमार्द्धम् । जीत० ।

छड्डेउ–छर्दयित्वा–अव्य० । अपरिष्ठाप्येत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

छण–क्षण–पुं० । क्षणोति दुःखम् । क्षण-अच् । उत्सवे, इन्द्रोत्सवादिके महे, भ० ए श० ३३ उ० । " छणो जत्थ विसिट्ठं अण्णपाणं उवसाहिज्जति ।" नि० चू० १६ उ० । दे० ना० ३ वर्ग । क्षणु हिंसायाम् । क्षणन क्षणः हिंसनम् । यत् किमपि प्राण्युपघातकारि तस्मिन् कर्मणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

छणंत–क्षणवत्–त्रि० । क्षणति , क्षन्तमन्यम् समनुजानीत । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

छणण–क्षणन–न० । हिंसने, आचा० १ श्रु०२ अ० ६ उ० ।

छणपय–क्षणपद–न० । हिंसापदे प्राण्युपमर्दजनिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

छणवय–क्षणपद–न० । ' छणपय ' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

रस्य, छेदोपस्थापनीयसाधूनां मन्तव्य.। तदेवम् एष धूतरजाः कल्पो दशस्थानप्रतिष्ठितो भवति ।

तान्येव दश स्थानानि दर्शयति-

आचेलकुद्देसिय-सिज्जायररायपिंडकितिकम्मे ।
वतजेट्ठपडिक्कमणे, मासप्पज्जोसवणकप्पो ॥

आचेलक्यमौद्देशिकं शय्यातरपिण्डो राजपिण्डः कृतिकर्मव्रतानि (जेट्ठ त्ति) पुरुषज्येष्ठो धर्मप्रतिक्रमणं मासकल्पः पर्युषणाकल्पश्चेति द्वारगाथासमासार्थः। बृ० ६ उ० । विशे०। स्था० । आव० । औ० ।

छेओवट्ठावणियचरित्तलद्धि- छेदोपस्थापनिकचरित्रलब्धि - स्त्री० । छेदे प्राक्तनसंयमस्य व्यवच्छेदे सति यदुपस्थापनीय साधावारोपणीय तच्छेदोपस्थापनीयम्, पूर्वपर्यायच्छेदेन महाव्रतानामारोपणमित्यर्थः । तच्च सातिचारमनतिचार च। तत्रानतिचार यदित्वरसामायिकस्य शिक्षकस्यारोप्यते, तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा। यथा-पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्द्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्राप्तौ ।सातिचार तु-मूलगुणघातिनो यद् व्रतारोपण तच्च तच्चरित्रं च छेदोपस्थापनीयचरित्रं,तस्य लब्धिः छेदोपस्थापनीयचरित्रलब्धिः। चरित्रलब्धिविशेषे,भ० ८श०२ उ०।

छेज्ज-छेद्य-त्रि० । छेत्तुं योग्य. कर्मणि योग्यार्थे ण्यत्। भेत्तुं योग्ये, " शीर्षच्छेद्यमतोऽह त्वाम् " भट्टिः। वाच० । पत्रछेद्यादौ ग्रथितभेदे, दश० २ अ० ।

छेमा-देशी-शिखायाम्, नवमालिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेडी-देशी-लघुरथ्यायाम् , दे० ना० ३ वर्ग।

छेत्त-क्षेत्र-न० । " छोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ । इति संयुक्तस्य छ' । प्रा० २ पाद । स्थाने, ओघ० । रा० ।

छेत्तरं-देशी-जीर्णे, दे० ना० ३ वर्ग।

छेत्तसोवणय-देशी-न० । क्षेत्रजागरणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेत्ता-छेत्तृ-त्रि० । छेदकर्तरि, छेत्ता भवति कर्णनासाविकर्तनतः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

छेत्तुमण-छेत्तुमनस्-त्रि० । उन्मूलयितौ, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

छेप्पो-देशी-स्थासके , चौरे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छेभओ-देशी-स्थासके, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेय-छेक-पु० । छो-वा-भेकन्। गृहाशक्ते मृगपक्ष्यादौ, नागरविदग्धे, त्रि० । विदग्धप्रिये शब्दालङ्काररूपे अनुप्रासभेदे, मत्तायां स्त्रियाम्, स्त्री० । वाच० । प्रयोगज्ञे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनु० । न० । उपा० । निपुणे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । ज्ञा० । प्रश्न० । रा० । औ० । जी० । दक्षे, आ० म० प्र० । विशे० । स्था० । ज० । " छेयलाघवपहारसाधिया " छेका दक्षा लाघवप्रहारेण दक्षतायुक्तघातेन साधिता निर्मिता यैस्ते तथा। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अवसरज्ञे, कल्प० ३ क्षण । क्षिप्रपरिहारदक्षे, कल्प० २ क्षण । जीवा० । आ० म० । अवसरज्ञे सप्ततिकलापण्डिते, औ० । " च्य च्छेयओ इति " छेका च्छेयमुपलभ्यमानाद्भुतप्रकारेण, एवमन्यत्रापि छेकाः प्रद्युम्नका प्रस्तावज्ञाः कलापरिमिता इति वृद्धा व्याचक्षते। उपा० ७ अ०

छेद-पु० । छिद्-भावे घञ्, अच्-वा । छेदने, छेदके, भाजके, " छेदं गुणं गुणं छेदम् " इति लीलावती । कर्मणि घञ्। खण्डे, त्रि० । खण्डार्थस्य तु त्रिलिङ्गत्वेन स्त्रियां गौरा० ङीष्, ततो नित्यमर्हति ठञ्, छेदिकम्। नित्यच्छेदार्हे वेतसादौ, वाच०। पर्यन्ते, न० । प्रश्न० । विनाशे , आ० म० द्वि० । विभजनाङ्के, मण्ड० । करपत्रादिभिः पाटने,आव० ६ अ०। आचा० । तपसा दुर्दमस्याहोरात्रपञ्चकादिना क्रमेण श्रमणपर्यायच्छेदने, पञ्चा० १६ विव०। भ०। "माईसु पचराया-इ पज्जायछेदेण छेदो"। ग०१ अधि० । यस्मिन् पुनरापतिते प्रायश्चित्ते सदूषितपूर्वपर्यायदेशावच्छेदः शेषपर्यायरक्षानिमित्तं रूप्यादिसदूषितशरीरैकदेशच्छेदनमिव शेषशरीरावयवपरिपालनाय क्रियते भवे छेदार्हत्वाच्छेदः। व्य० १ उ० ।

संप्रति लाघवमपेक्ष्यमाणश्छेदार्हमपि प्रायश्चित्तमत्रैव विषये प्रतिपादयति—

एएसिं अण्णयरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो ।
निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइदिया छेदो ॥

एतेषामनन्तरोदितानां रात्रिन्दिवपञ्चकप्रायश्चित्तविषयाणां स्थानानामन्यतरस्थानमग्लानो निष्कारण यो निरन्तरमतिचरेत् त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान्, तदा तत्पर्यायस्य छेदः क्रियते पञ्च रात्रिन्दिवानि, उपलक्षणमेतत्-येष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु मासलघुकानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि तेषामन्यतरस्थानमग्लानो निष्कारण यदि निरन्तरं त्रीन् वारान् अतिचरति, तदा तत्पर्यायस्य छेदो मासिक इति द्रष्टव्यम् । व्य० १ उ० । सप्तमे प्रायश्चित्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० ।

छेयकर-छेदकर-पु० । अप्रशस्तमनोविनये, औ० । आचा० ।

छेयकूडगरूवग-छेककूटकरूपक-पु०। छेकश्चासौ कूटकश्च कथञ्चिदशुद्धश्छेककूटक , स चासौ रूपकश्च छेककूटकरूपकः । शुद्धाशुद्धमुद्रायाम्, वन्दनायाः शुद्धाशुद्धविचारे, पञ्चा० ३ विव० । (छेककूटकरूपकदृष्टान्तः ' चेइयवंदण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३३२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

छेयगंथ-छेदग्रन्थ-पु० । उत्सारकशास्त्रे, जीवा० ११ अधि० । जीतकल्पनिशीथादौ, प्रव० १० द्वार । ते च षट्-निशीथ, महानिशीथं, दशाश्रुतस्कन्धो, बृहत्कल्पः, व्यवहारः पञ्चकल्पश्चेति । ह्री० २ प्रका० ।

छेयण-छेदन-न० । ' छिद ' भावे ल्युट् । द्विधा करणे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । अनु० । उत्त० । प्रश्न० । परिच्छेदकारिवचसि, बृ० १ उ० । जीवत एव हृदयोत्कर्तने, दशा० ६ अ० । बृ० । नि० चू० । उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात् स्थितिह्रासजनने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । " एगे छेयणे " छेदन शरीरस्यान्यस्य वा खड्गादिना । स्था० १ ठा० १ उ० ।

छेयणग-छेदनक-न० । शस्त्रादौ, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । राशेरर्द्धीकरणे, अनु०। अब्जीवभेदे, सूत्र० २ श्रु०३ अ०। सूक्ष्मावयवे, बृ० १ उ० ।

छेयबुद्धि-छेकबुद्धि-स्त्री० । निपुणबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु०१३अ०।

छेययर-छेदकर-पुं० । व्यवच्छेदकारिणि, पञ्चा० ३ विव० ।

छेयवाइ(ण्)-छेकवादिन्-पु० । निपुणोऽहमित्येवं च [illegible] पण्डिताभिमानिनि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

" निउणोचियमिसिमिसिंतमणिरयणसूरमंडलवितिमिरकरनिग्गयग्गपमिहयपुणरविपच्चापमतचचलमरीइकवयविणिमुयंतेणं" निपुणेन शिल्पिना, निपुणं वा यथा भवति एवम-(उचिय त्ति) परिकर्मितानि (मिसिमिसिंत त्ति) दीप्यमानानि यानि मणिरत्नानि तानि मणिरत्नानि, तथा सूरमण्डलादादित्यविम्बात्, ये वितिमिरा हतान्धकारा· करनिर्गताः किरणविनिर्गता', तेषां यान्यग्राणि तानि प्रतिहतानि निराकृतानि, पुनरपि प्रत्यापतन्ति च प्रतिवर्तमानानि यस्माच्चञ्चलमरीचिकवचात्तत्तया । अथवा-सूरमण्डलाद् वितिमिरकराणां निर्गतानामग्रै' प्रतिहतं पुनरपि प्रत्यापतच्च तच्च तच्चञ्चलमरीचिकवचं च चपलरश्मिपरिकर इति समासः । निपुणोचितमिसिमिसायमानमणिरत्नानां यत्सूरमण्डलवितिमिरकरनिर्गताग्रप्रतिहतं पुनरपि प्रत्यापतच्चञ्चलमरीचिकवचं यत्तत्तथा, तद्विनिर्मुञ्चता विसृजता " सपमिदमेण " प्रातिप्रारिकतया एकदण्डेन उर्वहत्वात् सप्रतिदण्डेन " धरिज्जमाणेणं आयवत्तेण विरायते " इति व्यक्तम् । आधिकृतवाचनायां तु चतुश्चामरवालवीजिताङ्ग इति व्यक्तम् । औ० । छत्रवन्मध्ये उन्नतं उत्तमाङ्गं यासां ता' । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

छत्तंतिया-छत्रान्तिका-स्त्री० । छत्रवत्त्वाद् राजरूपे पर्षद्भेदे, वृ० १ उ० । ("परिसा" शब्दे एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

छत्तक-छत्रक-न० । मातपवारणे, प्रश्न० ४ सम्व० द्वार । एतन्मदीय तावच्छत्रकादि गृहाण । आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

छत्तकार-छत्रकार-पु० । छत्ररचनाशीले शिल्पिभेदे, अनु० ।

छत्तधारपडिमा-छत्रधारप्रतिमा-स्त्री० । जिनप्रतिमानामुपरि छत्रधारिणः प्रतिमायाम्, जी० ।

तत्स्वरूपम्-

तासि णं जिणपडिमाणं पच्छित्तो पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारपडिमाओ पण्णत्ताओ । ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदेंदुप्पगासाइं कोरिंटमल्लदामाइं धवलाइं आयवत्ताइं सलीलं ओहारिमाणीओ ओहारिमाणीओ चिट्ठंति ।

तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा हेमरजतकुन्देन्दुप्रकाश सकोरिण्टमाल्यदामधवलमातपत्रं गृहीत्वा सलीलं धरन्ती तिष्ठति । जी० ३ प्रति० ।

छत्तपडागा-छत्रपताका-स्त्री० । छत्रेण सहिता पताका छत्रपताका, छत्रोपरि वा पताका छत्रपताका । तस्याम्, औ० । भ० । ज्ञा० ।

छत्तपलासय-छत्रपलाशय-न० । " कयंगला " कृताङ्गलानगर्यां स्वनामख्याते चैत्ये, भ० २ श० १ उ० ।

छत्तभंग-छत्रभङ्ग-पुं० । छत्रस्य भङ्गो यत्र । नृपनाशे, वैधव्ये, अस्वातन्त्र्ये च । वाच० । स्था० ।

छत्तमग्ग-छत्रमार्ग-पुं । यत्र छत्रमन्तरेण गन्तुं न शक्यते तस्मिन् मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

छत्तय-छत्रक-पु० । छत्रमिव कायति कै-क· । वृक्षे, मत्स्यरङ्गे, पक्षिणि च । स्वार्थे क । छत्रे,न० । वाच० । आतपत्रे, आचा०२ श्रु०६ अ०१ उ० । भ० । सूत्र० ।

छत्तरयण-छत्ररत्न-न० । चक्रवर्तिनामत्युत्कृष्टे छत्रे, स्था० ७ ठा० । स० । जं० । (वर्णकोऽस्य 'भरत' शब्दे विजययात्राऽधिकारे)

छत्तल-षट्तल-न० । षट् तलानि यत्र तत्षट्तलम् । मध्यखण्डम-षट्कयुक्ते, अनु० । स्था० ।

छत्तलक्खण-छत्रलक्षण-न० । षट्त्रिंशत्तमे अष्टत्रिंशत्तमे कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । स० । औ० ।

छत्तसंठिया-छत्रसंस्थिता-स्त्री० । छत्रस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा । छत्राकारसंस्थिते पदार्थे, च० प्र० ४ पाहु० ।

छत्तहर-छत्र (धा) धर-पु० । छत्रं धरति धारयति वा अच्-अण्-वा । छायाकरणाय नियुक्ते दासभेदे, वाच० । आ० म० द्वि० ।

छत्तहार-छत्रधार-पु० । ' छत्तहर ' शब्दार्थे, आ० म० द्वि० ।

छत्ता-छत्रा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, यत्र पूर्वभवे श्रीमहावीरस्वामी जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्या नन्दनो नाम कुमार उत्पन्न इति । आ० म० प्र० ।

छत्ताइच्छत्त-छत्रातिच्छत्र-न० । छत्रमतिक्रम्य छत्रं छत्रातिच्छत्रम । स्था० ७ ठा० । स० । रा० । सू०प्र० । छत्राद् लोकप्रसिद्धाद् एकसंख्याकादतिशायीनि छत्राणि उपर्यधोभागेन द्विसंख्यानि त्रिसंख्यानि वा छत्रातिच्छत्राणि । रा० । जी० । आ० म० । छत्रं प्रसिद्धं, तदाकारो योगोऽपि छत्रं, छत्रात् सामान्यरूपात् उपर्युपर्यन्यच्छत्रभावतोऽतिशायि छत्रं छत्रातिच्छत्रम् । सू०प्र०१२ पाहु० । रा० । उपर्युपरि स्थिते आतपत्रे, जी० ३ प्रति० । चं० प्र० । रा० । चन्द्रेण युज्यमाने दशसु योगेषु षष्ठे योगे, सू० प्र० १२ पाहु० । रा० ।

छत्तागारुत्तमंगदेस-छत्राकारोत्तमाङ्गदेश-न० । छत्राकार उत्तमाङ्गरूपो देशो येषां ते छत्राकारोत्तमाङ्गदेशाः । जी० ३ प्रति० । तथाविधशिरस्केषु युगलिकमनुष्येषु, छत्राकारोत्तमाङ्गदेशः, उन्नतत्वसाधर्म्यात् । औ० ।

छत्तातिच्छत्तसंठाणसंठिय-छत्रातिच्छत्रसंस्थानसंस्थित-त्रि० । छत्रमतिक्रम्य छत्रं छत्रातिच्छत्रं, तथासंस्थानमाकारोऽधस्तनं छत्रं महदुपरितनं लघ्विति तेन संस्थितं छत्रातिच्छत्रसंस्थानसंस्थितम् । महदधस्तनोपरितनलघौ, स्था० ७ ठा० ।

छत्ताय-छत्राक-न० । छत्राऽतिच्छत्रेव कायति कै-क· । शिलीन्ध्रे, जालवर्वुरकके, पु० । गौरादित्वात् ङीष् । राजायाम्, स्त्री० । वाच० । स० ।

छत्तार-छत्रकार-पु० । छत्रनिर्मापके शिल्पिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

छत्ति (ण्)-छत्रिन्-त्रि० । छत्रमस्यास्तीति छत्री । छत्रयुक्ते, अनु० ।

छ त्ति छकारपविभत्ति-छ इति छकारप्रविभक्ति-न० । पुं० । छकारवर्णस्वरूपवर्णाकृतिनाट्यभेदे, रा० ।

छत्तिया-छत्रिका-स्त्री० । छत्रापुर्याम्, कल्प० ७ क्षण ।

छत्तिवण्ण-सप्तपर्ण-पुं० । सप्त सप्त पर्णान्यस्य प्रतिपर्णम् । वाच० । " सप्तपर्णे वा " । ८ । १ । ४९ । इति द्वितीयस्यात इत्वं वा । प्रा० १ पाद । " षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः " । ८ । १ । २६५ । इत्यादेर्वर्णस्य छः । प्रा० १ पाद ।

उक्कोसं तवभूमिं, समईओ सावसेसचरणो य ।
छेयं पणगाईयं, पावइ जा धरइ परियाओ ॥ ८२ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् । तपोगर्वितः षण्मासक्षपणकोऽन्यो वा विप्रकृष्टतपःकरणक्षम, तपसश्चासमर्थोऽसहिष्णुः-ग्लानो, बालो, वृद्धो वा, तपोऽश्रद्दधानश्च, तपसा वा पुनर्दीयमानेनाऽपि न दम्यते, अतिपरिणामिकोऽपवादैकप्रशक्तः, भावप्रसंगी च यो मुहुर्मुहुस्तदेवातिचारपदं सेवते, बहुतरं वा अतिचारस्थानं सेवते ॥८०॥ सुयहुत्तरगुणान् पिण्डविशुद्ध्यादीन् भ्रंशयति विनाशयतीत्येवंशीलः सुयहुत्तरगुणभ्रंशी छेदाऽऽपत्तिषु प्रमत्तश्च येनातिचारेण छेदाऽऽपत्तिर्भवति तमवातिचारं पुनः पुनः यः करोति, योऽपि च पार्श्वस्थाऽऽदिः, आदिशब्दादवसन्नः कुशीलः संसक्तो नित्यवासी वा, यतीनां साधूनां संविग्नानां बहुशोऽनेकशः परितर्पको वैयावृत्त्यकरः ॥८१॥ तथा उत्कृष्टा तपोभूमिरादिजिनतीर्थे संवत्सरं, मध्यमजिनतीर्थेष्वष्टौ मासाः, श्रीवीरतीर्थे षण्मासाः, तां तपोभूमिं समतीतः प्रतिक्रान्तः, तदधिकप्रायश्चित्तयोग्यमतीचारजातं कृतवानित्यर्थः । सावशेषचरणश्च क्रियमाणेऽपि पर्यायच्छेदे यस्य सावशेषश्चरणपर्यायो भवति स साधुः, पूर्वगाथाद्वयोक्तश्च तपोगर्विताऽऽदिः तपोऽर्हप्रायश्चित्ताऽऽपत्तावपि पञ्चकाऽऽदिकम्, आदिशब्दाद्दशकपञ्चदशकाऽऽदिकम्, अतीचारानुमानेन, छेदं व्रतपर्यायच्छेदनरूपं प्राप्नोति, यावत्पर्यायं धरति, सर्वपर्यायच्छेदो यावन्न भवतीत्यर्थः । सर्वच्छेदे हि मूलं स्यादिति । उक्तं च छेदार्हम् । जीत० ।

छेह्न-देशी-छागे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेलअं-देशी- छागे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेलावण [य]-छेलापन[क]-न० । देशी-हर्षनादाऽऽदौ, आ० म० प्र० ।

संप्रति छेलापनकद्वारमाह-

छेलावणमुक्किट्ठा-इ बालकीलावणं च सेंटाइ ।

"छेलापनकम्" इति देशीवचनम्, तच्चानेकार्थम्, तथा चाह-"उक्किट्ठाइ" इत्यादि । उत्कृष्ट नाम हर्षवशात् उत्कर्षेण नन्दनम् । आदिशब्दात्सिंहनादिताऽऽदिपरिग्रहः । यदि वा-बालक्रीडन, छेलापनकम्, अथवा सेण्टितादि । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

छेलिय-सेण्टित-न० । सेण्टनेऽनक्षरश्रुतभेदे, आ० म० प्र० । नं० । बृ० । आ० चू० ।

छेली-देशी-अल्पप्रसूनायां मालायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेवग-क्षेपक-त्रि० । मारौ, व्य० ५ उ० । आशवे, नि० चू० १ उ० ।

छेवट्टसंघयण-सेवार्तसंहनन-न० । सेवामार्त्तः सेवामागत इति सेवार्तम् । सेवया ऋतं व्याप्तं सेवार्तम् तच्च संहननं च सेवार्तसंहननम् । अस्थिद्वयपर्यन्तस्पर्शनलक्षणे षष्ठे संहनने, स्था० ६ ठा० । यत्र परस्परपर्यन्तस्य स्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाऽभ्यवहारतैलाऽभ्यङ्गविश्रामणाऽऽदिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षन्ते । कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । स० । शक्तिविशेषपक्षे त्वेवंविधदार्वादेरिव दृढत्वं संहननमिति । स्था० ६ ठा० ।

छेदवृत्तसंहनन-न० । प्राकृते दकारस्य लुप्तस्य दर्शनात्, छेदामामस्थिपर्यन्तानां वृत्तं परस्परं संबन्धमद्गनालक्षणं वर्तनं वृत्ति यत्र तच्छेदवृत्तम्, तच्च संहननं च तथा । कीलिकामर्कटबन्धरहितेऽस्थिपर्यन्तमात्रसंस्पर्शिनि षष्ठे संहनने, कर्म० १ कर्म० ।

छेवट्टसंघयणणाम-सेवार्तसंहनननामन् न० । सेवार्तसंहनननिबन्धनं नाम यदुदयाच्छरीरे सेवार्तसंहननं भवति । सेवार्तसंहनननामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० । पं० सं० ।

छेवट्टिसंघयण-छेदवर्तिसंहनन-न० । यत्रास्थीनि परस्परं छेदेन वर्तन्ते न कीलिकामात्रेणाऽपि बन्धः । षष्ठे संहनने, तच्च प्रायो मनुष्याऽऽदीनां नित्यं स्नेहाभ्यङ्गाऽऽदिरूपां परिशीलनामपेक्षते । जी० १ प्रति० ।

छेवाडी-छेदपाटी-स्त्री० । पुस्तकभेदे, प्रव० ।

इदानीं वक्ष्ये छेदपाटीपुस्तकम् । यथा-तनुभिः स्तोकैः पत्रैरुच्छिलतरूपः किञ्चिदुन्नतो भवति छेदपाटीपुस्तक इति बुधा ब्रुवते । लक्षणान्तरमाह-

दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो ।
तं मुणियसमयसारा, छेवाडिपुत्थं भणंतीह ॥ ६७५ ॥

दीर्घो वा महान्, ह्रस्वो वा लघुर्यः पृथुलो विस्तृतोऽल्पबाहल्यश्च स्वल्पपिण्डो भवति, तं ज्ञातसमयसाराः छेदपाटीपुस्तकं भणन्तीह शासने, न चैतत्स्वमनीषिकया व्याख्यायते । प्रव० ८० द्वार । ध० । आचा० । आव० । दश० । बृ० । स्था० । जीत० । " वणुपत्तेहिं उस्सीओ छेवाडी । " नि० चू० १२ उ० । वक्षाऽऽदिफलिकायाम्, जीवा० ३ प्रति० । आ० म० । रा० ।

छोडअ-देशी-दासे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छोडिय-छोटित-त्रि० । मुक्तबन्धने, तं० आ० म० । छादते, आव० १ अ० ।

छोडिया-छोटिका-स्त्री० । छुट् ण्वुल् । तर्जन्यङ्गुष्ठध्वनौ, वाच० । आव० ।

छोढुं-छुटित्वा-अव्य० । पिधायेत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

छोभ-देशी-पिशुने, दे० ना० ३ वर्ग ।

छोभत्थ-देशी-अप्रिये, दे० ना० ३ वर्ग ।

छोभाइत्ती-देशी- अस्पृश्य याम, अद्वेष्यायां च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छोभ-क्षोभ-पुं० । निस्सहाये, क्षोभणीये च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अभ्याख्याने, बृ० १ उ० ।

छोभग-छोभक-न० । अभ्याख्याने, व्य० २ उ० ।

छोभगदिन्न-छोभकदत्त-त्रि० । छोभकमभ्याख्यानं दत्तं यस्मिन् स छोभकदत्तः । कान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् सुखादिदर्शनाद्वा । अभ्याख्याते, व्य० २ उ० ।

छोभवंदण-छोभवन्दन-न० । आरभट्या वन्दने, आव० ३ अ० ।

छोल्ल-तक्ष-धा० । स्वा०-पर०-सक०-सेट् । "तक्ष्यादीनां छोल्ला-ऽऽदयः" । ८ । ४ । ३९५ । अपभ्रंशे तक्षप्रभृतीनां धातूनां 'छोल्ल' इत्यादय आदेशा भवन्ति " जइ ससी छोल्लिज्जतु " । यदि शशिनं तक्ष्णुतु । प्रा० ४ पाद । प्रहणे, संवरणे च । वाच० ।

छोल्लण-तक्षण-न० । तक्ष ल्युट् । (चाँछना) (छोलना) व्यापारे, वाच० । निस्तुषीकरणे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

छोहो-देशी-समूहे, विक्षेपे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

गच्छिहिसि । " नि० चू० १ उ० । " छलिजसि " छल्यसे । पं० व० २ द्वार ।

छल–न०। व्याजे,यथार्थगूहने,कूटयुक्त्यादिना तन्मर्यादायाश्चलने,शाठ्ये, कापट्ये,वाच०। वचनविघाते, स्या०। तत्त्रिधा–वाक्छलम,सामान्यच्छलम,उपचारच्छल चेति । तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम । यथा–नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः सङ्ख्यामारोप्य निषेधति–कुतोऽस्य नव कम्बला इति ? । सम्भावनयाऽतिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेध सामान्यच्छलम् । यथाऽहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति–सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति,तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते–यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति, तर्हि व्रात्येऽपि सा भवेत् । व्रात्योऽपि ब्राह्मण एव इति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारच्छलम् । यथा–मञ्चाः क्रोशन्ति इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति ?, मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्ति इति । स्या० । बृ० । आ० म० । विपा० । अनु० । अथ छलम्–अर्थविघातोऽर्थविकल्पोपपत्तेरिति । तत्रार्थविशेषे विवक्षितेऽभिहिते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम । यथा—नवकम्बलोऽयं देवदत्त० । अत्र च नव' कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः । विग्रहे च विशेषो, न समासे ।तत्राय छलवादी नव कम्बलोऽस्येत्येतद्भवताऽभिहितमिति कल्पयति, न चाऽय तथेत्येव प्रतिषेधयति । तत्र छलमित्यसदर्थाऽभिधानम् । तद्यदि छल न तर्हि तत्त्व, तत्त्व चेन्न तर्हि छल,परमार्थरूपत्वात्तस्येति।सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

छलंस–षडस्र–न० । षट्कोटिके, स्था० ८ ठा० ।

छलण–छलन–न० । प्रक्षेपणे, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

छलणा–छलना–स्त्री० । व्यापादने, सा च द्विधा–द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतश्छलना खड्गादिभि , भावतः परीषहोपसर्गाद्यैः । व्य० २ उ० । आ० चू० । आव० । ('परिहार'शब्दे व्याख्यास्यते)

छलायतन–षना (छला) यतन–न० । आयतनषट्कयुक्ते, " आहंसु छलायतण च कम्म । " छलायतन छल, नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकमाहुरुक्तवन्तः । चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकम् । तथा कर्म च एकपक्षाद्विपक्षादिक प्रतिपादितवन्त इति । यदि वा—षडायतनानि उपादानकारणानि अश्रावद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत षडायतन कर्मेत्येवमाहुरिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

छलिय–छलित–न० । शृङ्गारकाव्ये, बृ० १ उ० । व्यंसितेऽनर्थं प्रापिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । सिणिटते, तस्करसञ्ज्ञायाम, तत्करणे साधो प्रायश्चित्त चतुर्थम । जीत० । आव० ।

छल्ली–छल्ली–स्त्री० । अभ्यन्तरवल्कले, स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रव० । आ० म० । ज० । ज्ञा० । दे० ना० ३ वर्ग ।

छवडी–देशी—चर्मणि, दे० ना० ३ वर्ग ।

छवि–छवि (वी)–स्त्री० । छ्यति असार भिनत्ति, तमो वा । छो–वि–किच्च वा ङीप् । शोभायां , कान्तौ च । वाच० । कल्प० । शरीरे,ध० २ अधि० । प्रश्न० । आव० । स्था० । आचा० । त्वचायाम, जी० ३ प्रति० । स्था० । त्वग्योगादौदारिकशरीरं, तद्वती नारी, तिरश्ची वा, तद्वाञ्नरस्तिर्यङ्ड वा छविरित्युच्यते । स्था० ४ ठा० १ उ० । वल्लचवलकादिफले , दश० ७ अ० । अलङ्कारविशेषे, अनु० । आ० म० ।

छविकर–छविकर–पु० । षष्ठे प्रशस्तमनोविनयभेदे , स्था० ७ ठा० ।

छविच्छेय–छविच्छेद–पु० । गौणप्राणातिपातवृत्तेरतिचारविशेषे, ध० २ अधि० । भरतचक्रवर्तिकाले प्रवर्तितायां चतुर्थ्यां दण्डनीतौ , सा च–" छविच्छेयाइ भरहस्स " छविच्छेदादिका , आदिशब्दाच्छिर कर्तनादिपरिग्रह' । " पलितोपमऽट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती । " इति वचनात् तत्र पल्योपम किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भाग परिकल्पते, तस्याऽष्टमो भाग' पञ्च च विधि परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधाविषया चतुर्थी छविच्छेदादिका। आ० म० प्र० । आव० । आ० । पञ्चा० । ध० र० । स्था० । आ० चू० । प्रव० । उत्त० । ध० । प्रश्न० ।

छविच्छेयण–छविच्छेदन–न० । अवयवकर्तने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

छवित्ताण–छवित्राण–न० । देहचर्माच्छादने, उत्त० २ अ० ।

छविदोस–छविदोष–पु० । छविरलङ्कारविशेषस्तेजस्विता वा। तद्रहिते , विशे० । अनु० । आ० म० ।

छविपन्न–छविप्राप्त–त्रि० । छविं जाते, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

छविपव्व–छविपर्व–न० । छविसन्धिबन्धने, स्था० ।

दोएहं छविपव्वा पएणत्ता । तं जहा–मनुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव ॥

(दोएह छविपव्व त्ति) द्वयानामुभयेषा (छवि त्ति) मतुब्लोपात छविमन्ति त्वग्वन्ति (पव्व त्ति) पर्वाणि सधिबन्धनानि छविपर्वाणि । क्वचित् " छवियत्त " त्ति पाठ । तत्र छवियोगात् छविः, स एव छविक , स चासौ (अत्त त्ति) आत्मा च शरीर छविकात्मेति । " छविपन्न " त्ति पाठान्तरे छवि प्राप्ता, जातेत्यर्थः । गर्भस्थानामिति सर्वत्र सम्बन्धनीयः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

छविमंत–छविमत्–त्रि० । त्वग्वति, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

छवियत्त–छविकात्मन्–पु० । छवियोगात् छवि , स एव छविक , स चासौ आत्मा च शरीरम । छवियुक्ते, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

छवियड–छविकार्ड–न० । स्निग्धत्वग्द्रव्ये, मुक्ताफलरक्ताशोकादिके , सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

छव्वग–छव्वक–न० । पटलिकादिरूपे भाजने , पिं० । आचा० ।

छव्विहकालगुणकम्मजुत्त–षड्विधकालगुणकर्मयुक्त–त्रि० । षड्विधस्य कालस्य ऋतुषट्करूपस्य कालस्य ये गुणा कार्याणि तैः क्रमेण परिपाट्या सगत यत्तत्तथा । षडर्तुकार्यपरिपाट्या युक्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

छव्वीस– षड्विंशति–स्त्री० । षडधिकायां विंशतौ,आव० ४ अ० ।

→ इति ←

श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र

जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री भट्टारक–

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहाराजविरचिते

शब्दसङ्कलनात्मके "श्री अभिधानराजेन्द्रकोषे"

तृतीयो भागः समाप्तः

उत्कोचे, पङ्क्तौ, कात्यायन्याम्, वाच० । दीप्तौ, औ० । प्रज्ञा० । स० । रा० । प्रभायाम्, जं० २ वक्ष० । नि० चू० । स० । शोभायाम्, औ० । शरीरशोभायाम्, " छाउज्जो-इयगमंगा " । जं० ३ वक्ष० । छायया शरीरप्रभया उद्द्योतितमङ्गमङ्गम् अङ्गप्रत्यङ्गं येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० । शरीरप्रभायाम्, त० । प्रतिबिम्बे, उत्त० २ अ० । स्था० । समुदायशोभायाम्, जी० ३ प्रति० । आतपविरुद्धे पुद्गलपरिणामे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त० । छाया वृक्षादीनाम् । स्था० २ ठा०४ उ० । ज्ञा० । औ० । आदित्यकरावरणजनितायामदीप्तौ. ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

छायामानम्-

ता अवड्ढपोरिसीणं छाया दिवसस्स किंगए वा,सेसे वा ?। ता तिब्भागे गए वा,सेसे वा । ता पोरिसीणं छायाए दिवसस्स किं गए वा,सेसे वा ?। ता चउब्भागगए वा, सेसे वा । ता दिवड्ढपोरिसीणं छूरिए पोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ?।ता पंचभागगए वा,सेसे वा । एवं अ-ड्ढपोरिसीणं छाया-पुच्छा ?। दिवसस्स भागं छोढुं २ दिवसस्स वागरणं० जाव । ता अद्धअउणसट्ठिपोरिसीया छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ?। ता एकुणवीससयभागे गए वा,सेसे वा । ता अउणसट्ठिपोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ?। ता वीससयभागगए वा, सेसे वा । सातिरेगअउणसट्ठिपोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा,सेसे वा ?। ता नत्थि किं वि गए वा, सेसे वा ।

"ता अवड्ढे " इत्यादि । अपगतमर्द्धं यस्याः सा अपार्द्धा, सा चासौ पौरुषी च अपार्द्धपौरुषी, छाया, पुरुषस्योपलक्षणत्वात् सर्वस्यापि प्रकाशस्य वस्तुनोऽर्द्धप्रमाणा छाया । एवमुत्तरत्राप्युपलक्षणव्याख्यानं द्रष्टव्यम्, दिवसस्य किंगते कतितमे भागे गते,शेषे वेति कतितमे भागे शेषे भवति ? । भगवानाह-"ता" इत्यादि । ता इति पूर्ववत्, दिवसस्य त्रिभागे गते भवति,दिवसस्य त्रिभागे वा शेषे । " ता " इत्यादि, पौरुषी पुरुषप्रमाणा, प्रकाशस्य वस्तुनः प्रमाणा इत्यर्थः । छाया किंगते कतितमे भागे,शेषे वा भवति ?। भगवानाह-दिवसस्य चतुर्भागे गते,शेषे वा । इयं च दिवसस्य चतुर्भागे गते,चतुर्भागे शेषे वा प्रकाशस्य वस्तुनः स्वप्रमाणभूता छाया अन्यत्र ग्रन्थान्तरे सर्वाभ्यन्तरमण्डलमधिकृत्योक्ता । तथा च नन्द्यध्ययनचूर्णिग्रन्थः-"पुरिस त्ति संकु पुरिससरीरं वा, ततो पुरिसे निप्फण्णा पोरिसी, एवं सव्वस्स वत्थुणो यदा स्वप्रमाणा छाया भवति तदा पोरिसी हवइ, एय पोरिसियमाण उत्तरायणस्स अंते, दक्खिणायनस्स आइए एक दिण भवइ,अतो पर अट्ठ एगसट्ठिभागा अगुलस्स दक्खिणायणे वड्ढं ति, उत्तरायणे हस्स ति, एव मण्डले मडले अण्णपोरिसी " इति । तत इद सकलमपि पौरुषीविभागे प्रमाणप्रतिपादन सर्वाभ्यन्तर मण्डलमधिकृत्याव-सेयम् । तथा-ता इति पूर्ववत्, द्व्यर्द्धपौरुषी सार्द्धपुरुषप्रमाणा छाया दिवसस्य किं भागे कतितमे भागे गते भवति, किं शेषे वा कतितमे भागे शेषे ? । भगवानाह-" ता " इति पूर्ववत्, दिवसस्य पञ्चमे भागे गते वा भवति, शेषे वा पञ्चमे भागे । 'एव' इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेणमर्द्धपौरुषीम् अर्द्धपुरुषप्रमाणां छायां क्षिप्त्वा २,पृच्छा पृच्छासूत्रं द्रष्टव्यम् (दिवसस्स भाग त्ति) पूर्वपूर्वसूत्रापेक्षया एकैकादिवसमधिकं दिवसस्य भाग क्षिप्त्वा २ व्याकरणमुत्तरसूत्र ज्ञातव्यम् । तच्चैवम्-"विपोरिसीए छाया किं गए वा, सेसे वा ?। ता छब्भागगए वा,सेसे वा । ता अड्ढा-इज्जपोरिसीए छाया किं गए वा, सेसे वा ?। ता सत्तभागगए वा, सेसे वा " इत्यादि । एतच्च तावत्, यावत् "ताउ गुणसट्ठि" इत्यादि सुगमम् । सातिरेकैकोनषष्टिपौरुषी तु छाया दिवसस्य प्रारम्भसमये,पर्यन्तसमये वा ?। तत आह-"ता नऽत्थि किं वि गते वा, सेसे वा " इति ।

सम्प्रति छायाभेदान् व्याचष्टे-

तत्थ खलु इमा पणवीसतिविहा छाया पण्णत्ता । तं जहा-खंभच्छाया रज्जुच्छाया पागारच्छाया पोसायच्छाया उवगच्छाया उच्चत्तच्छाया अणुलोमच्छाया पडिलोमच्छाया आरुभिया उवहिया समावमिहया खीलच्छाया पंखच्छाया पुरओ उदग्गा पडिउदग्गा पुरिसकंठभागोवगया पच्छिमकंठभागोवगया छायाणुवादिणी छाया छायच्छाया विकंपवेहा कम्मसमच्छाया गोलच्छाया ।

" तत्थ " इत्यादि । तत्र तस्यां छायायां विचार्यमाणायां खल्विय पञ्चविंशतिविधा छाया प्रज्ञप्ता । तद्यथा-"खंभच्छाया" इत्यादि प्रायः सुगमम् । विशेषव्याख्यान चामीषां पदानां शास्त्रान्तरात्, यथासम्प्रदायाद्वा वाच्यम् ।

'गोलच्छाया' इत्युक्तम्, ततस्तामेव गोलच्छायां भेदत आह-

तत्थ खलु इमा अट्ठविहा गोलच्छाया पण्णत्ता । तं जहा-गोलच्छाया अवड्ढगोलच्छाया गोलगोलच्छाया अवड्ढगोलगोलच्छाया गोलावलिच्छाया अवड्ढगोलावलिच्छाया गोलपुंजच्छाया अवड्ढगोलपुंजच्छाया ।

" तत्थ " इत्यादि । तत्र तासां पञ्चविंशतिच्छायानां मध्ये खल्विय गोलच्छाया अष्टविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-गोलच्छाया गोलमात्रस्य या छाया, अपार्द्धस्य अपार्द्धमात्रस्य गोलस्य छाया अपार्द्धगोलछाया, गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलस्तस्य छाया गोलगोलच्छाया । अपार्द्धमात्रस्य गोलगोलस्य छाया अपार्द्धगोलगोलच्छाया । गोलानामावलिर्गोलावलिस्तस्य छाया गोलावलिच्छाया, अपार्द्धा या गोलावलिच्छाया अपार्द्धगोलावलिच्छाया, गोलानां पुञ्जो, गोलोत्कर इत्यर्थः, तस्य छाया गोलपुञ्जच्छाया, अपार्द्धस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया । च० प्र० ६ पाहु० । (छायाया द्रव्यत्वसिद्धिः ' तम ' शब्दे वक्ष्यते)

छायागइ-छायागति-स्त्री० । छायामनुसृत्य तदुपष्टम्भेन वा समाश्रयितु गतौ, प्रज्ञा० ।

से किं तं छायागती ?। छायागती जेणं हयच्छायं वा गयच्छायं वा नरच्छायं वा किन्नरच्छायं वा महोरगच्छायं वा गंधव्वच्छायं वा रहच्छायं वा छत्तच्छायं वा उवसंपज्जित्ता णं गच्छति, सेत्तं छायागती ॥

छायागतिः-छायामनुसृत्य तदुपष्टम्भेन वा समाश्रयितु गतिः छायागतिः । प्रज्ञा० १६ पद ।

छिच्छि-धिक्धिक्-अव्य०। वीप्सायां छिन्वम। "गोणादयः" । ८। २। १७४। इति धिग्धिगित्यस्य स्थाने 'छिच्छि' इत्यादेशो निपातनात्। प्रा० २ पाद। निन्दायाम्, एतद्योगे निन्दावाचकाच्छब्दाद् द्वितीया। "धिक् धिक् शक्राजित प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा।" वाच०।

छिच्छिकार-धिक्धिक्कार-पुं०। पुनःपुनर्धिक्कारे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

छिज्ज-छेद्य-न०। छेत्तुं योग्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

छिज्जउं-छेत्तुं-अव्य०। द्विधा कर्तुमित्यर्थे, त०।

छिज्जमाण-छिद्यमान-त्रि०। खड्गादिभिः खण्ड्यमाने, उपा० ७ अ०। छिद्यमानं छिन्नम्। भ० १ श० १ उ०। प्रश्न०। विपा०।

छिड्ड-छिद्र-न०। छिद्-रक्। छिद्र-अच् वा। दूषणे, गर्ते, अवकाशे, ज्योतिषोक्ते लग्नतोऽष्टमस्थाने, वाच०। प्रवेशद्वारे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। नि० चू०। राजव्यापारविरहत्वे, विपा० १ श्रु० २ अ०। अल्पपरिवारत्वे, विपा० १ श्रु० १ अ०। छिद्रश्छेदनस्यास्तित्वाच्छिद्रम्। भ० २ श० २ अ०।

छिड्डगुरु-छिद्रगुम-पुं०। फाणिते, नि० चू० १३ उ०।

छिड्डयाति-छिद्रयातिन्-पुं०। छिद्रे अवसरे घ्नन्तीत्येवशीला ये ते तथा। सत्यवसरे घातकारिषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। "छिड्डे परिसेवति"। "छिड्डाते पुणो लोए चोप्पालए भण्णति" नि० चू० १ उ०।

छिड्डपाणि-छिद्रपाणि-पुं०। सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्विते जिनकल्पिके, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ०।

छिण्ण-छिन्न-त्रि०। छिद्-क्त। कृतच्छेदने, लूने, भग्नभेदे, वाच०। त्रुटिते, आतु०। निराकृते, आ० म० द्वि०। आचा०। अपनीते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। अपगते, उत्त० २ अ०। विन्नके, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। विपा०। "नाइच्छिन्ना व गद्दभा"। छिन्नाः कर्षितास्त्रुटिताः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। त्रोटिते, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। छिद्यते इति छिन्नम्। वस्त्रादीनां मूषकादिना दशने, उत्त० १५ अ०। द्विधा कृते, नं०। आचा०। उत्त०। प्रश्न०। विपा०। औ०। निर्धारिते, बृ० १ उ०। आरे, दे० ना० ३ वर्ग।

छिण्णकहंकह-छिन्नकथंकथ-त्रि०। छिन्ना अपनीता कथं कथमपि या कथा रागकथादिका विकथारूपा येन स छिन्नकथंकथः। यदि वा कथमिङ्गितमरणप्रतिज्ञां निर्वहिष्ये इत्येवंरूपा या कथा सा छिन्ना येन स छिन्नकथंकथः। दुष्करानुष्ठानविधायिनि, आचा० २ श्रु० ८ अ० ६ उ०।

छिण्णगंथ-छिन्नग्रन्थ-त्रि०। छिन्नो ग्रन्थो धनधान्यादिः, तत्प्रतिबन्धो वा येन सः। छिन्नस्त्यक्तो हिरण्यादिग्रन्थो येन स तथा। निर्ग्रन्थे, स्था० ६ ठा०। ज्ञा०। कल्प०। प्रश्न०।

छिण्णच्छेय-छिन्नच्छेद-त्रि०। छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः। प्रत्येकं कल्पितपर्यन्ते, न०।

छिण्णच्छेयणअ-छिन्नच्छेदनय-पुं०। यो नयः सूत्रं छेदेन छिन्नमेवाभिप्रैति, न द्वितीयेन सूत्रेण सह सम्बन्धयति तस्मिन्नयविशेषे, यथा-"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" इति श्लोकम्। तथा ह्ययं श्लोकः छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयादीन् श्लोकानपेक्षते, नापि द्वितीयादयः श्लोका अमुम्। अयमत्राभिप्रायः-तथा कथञ्चनाप्यमुं श्लोकं पूर्वसूरयः छिन्नच्छेदनयमते व्याख्यान्ति स्म, यथा न मनागपि द्वितीयादिश्लोकानामपेक्षा भवति, द्वितीयादीनपि श्लोकान् तथा व्याख्यानयन्ति स्म, यथा न तेषां प्रथमश्लोकस्यापेक्षा, तथा सूत्राण्यपि यत्नयाभिप्रायेण परस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यान्ति स्म स छिन्नच्छेदनयः। छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः, प्रत्येकं कल्पितपर्यन्त इत्यर्थः। स चासौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः। नं०। आ० म०। स०।

छिण्णच्छेयणइय-छिन्नच्छेदनयिक-त्रि०। छिन्नछेदनयोऽस्त्यस्य "अतोऽनेकस्वरात्" ॥ ७। २। ६॥ इतीकप्रत्ययः। छिन्नच्छेदनयवति, यथा दृष्टिवादे ऋजुसूत्रादीनि द्वाविंशतिः सूत्राणि छिन्नच्छेदनयिकानि। नं०। स०।

छिण्णजाला-छिन्नज्वाला-स्त्री०। इन्धनस्याग्निस्त्रुटितार्चिषि, पञ्चा० १३ विव०।

छिण्णऽद्धाणंतर-छिन्नाध्वान्तर-न०। पथिभेदे, यत्र ग्रामनगरपल्लीव्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति, सर्वथैव शून्यत्वात्। बृ० १ उ०।

छिण्णपुव्व-छिन्नपूर्व-त्रि०। पूर्वं द्विधा कृते, उत्त० ११ अ०।

छिण्णबंधण-छिन्नबन्धन-पुं०। छिन्नमपनीतं बन्धनं कषायात्मकं येन स छिन्नबन्धनः। ममत्वरहिते, सूत्र० २ श्रु० ८ अ०। व्य०।

छिण्णमडंब-छिन्नमडम्ब-न०। अनासन्नवसत्यन्तरे, "छिण्णमडंबं णाम जस्स गामस्स णगरस्स वा उग्गदे सव्वासु दिसासु अण्णो गामो णऽत्थि गोकुलं वा तच्छिण्णमडंबं, तं च असेत्तं भवति" नि० चू० १० उ०।

छिण्णरुह-छिन्नरुह-पुं०। छिन्नः सन् रोहति। रुह-कः। तिलकवृक्षे, गुडूच्याम्, स्त्री०। स्वर्णकेतक्याम्, शल्लक्यां च। स्त्री०। वाच०। छित्त्वा गृहाद्यानीतं शुष्कताद्यवस्था प्राप्तमपि जलादिसामग्रीं प्राप्य गुडूच्यादिवत्पुनरपि यत्प्ररोहति तच्छिन्नरुहम्। तदेतैर्लक्षणैः साधारणं शरीरं ज्ञेयमनन्तकायिकमित्यर्थः। प्रव० ४ द्वार। प्रज्ञा०।

छिण्णसोय-छिन्नशोक-त्रि०। नष्टशोके, ओघ०। प्रश्न०।

छिन्नस्रोतस्-त्रि०। छिन्नान्यपनीतानि स्रोतांसि संसारावतरणद्वाराणि यथाविषयमिन्द्रियवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन सः। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। स्रोतो द्विविधम्-द्रव्यस्रोतो, भावस्रोतश्च। तत्र द्रव्यस्रोतो नद्यादिप्रवाहः। भावस्रोतश्च संसारसमुद्रपातयशुभो लोकव्यवहारः, स छिन्नो येन स तथा। त्रुटितद्रव्यभावप्रवाहे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। औ०। सूत्र०। उत्त०।

छिण्णाल-छिन्नाल-पुं०। तथाविधदुष्टजातौ, "छिन्नाले छिंदई सेल्लिं" उत्त० २७ अ०। बृ०। जारे, दे० ना० ३ वर्ग।

छिण्णावाय-छिन्नापात-त्रि०। छिन्नोऽपगत आपातोऽन्योऽन्यत आगमनात्मको ऽर्थार्जनस्य येषु ते छिन्नापाताः। विविक्ते-

छीरल-क्षीरल-पुं० । भुजपरिसर्पविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

छु-छु-अनुकरणशब्द० । दुष्टजीवनिवारणे, वृ० १ उ० ।

छुई-देशी-बलाकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुंछुमुसय-देशी-रणरणके, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुंदं-देशी-बहुनि, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुक्कारण-धिक्कारण-न० । धिक्कारे, पुन० पुनर्धिक्कारे च । वृ०२ उ० ।

छुच्छुकारंत-छुच्छुकुर्वत्-त्रि० । छुच्छुगितिशब्देन कुक्कुरान् निवारयति, आ० म० द्वि० । आचा० ।

छुज्जमाण-क्षुध्यमान-त्रि० । पीड्यमाने, सथा० ।

छुट्ट-छुटित-त्रि० । मुक्ते, आव०४ अ० ।

छुड्डिया-क्षुद्रिका-स्त्री० । आभरणविशेषे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार ।

छुण्ण-क्षुण्ण-त्रि० । क्षुद-क्तः । "छोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छ० । प्रा०२ पाद । अभ्यस्ते, विहते, चूर्णीकृते च । वाच० । पिष्टे, सथा० । आचा० ।

छुण्णाछुण्ण-क्षुण्णाक्षुण्ण-त्रि० । पिष्टापिष्टे, सथा० ।

छुत्त-छुप्त-त्रि० । स्पृष्टे, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ० । सूत्र० ।

सुप्त-न० । स्वप-भावे क्तः । संप्रसारणम् । निद्रायाम्, शयने, सुषुप्तौ, कर्तरि-क्तः । निद्रिते, त्रि० । वाच० ।

छुद्दहीर-देशी-न० । शिशौ, विधौ च । दे० ना०३ वर्ग ।

छुन्द-आक्रम-पुं० । आ-क्रम-घञ्-अवृद्धिः । "आक्रमेरोहावोत्थारच्छुन्दाः" । ८ । ४ । १६० । इत्याक्रमेः 'छुन्द' आदेशः । प्रा० ४ पाद । बलेनातिक्रमणे, वाच० ।

छुप्प-क्षुप्-धा० । तुदा०-पर०-सक०-अनिट् । "गमादीनां द्वित्वम्" । ८ । ४ । २४६ । गमादीनामन्त्यस्य कर्मभावे द्वित्वं वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, इति पस्य द्वित्वम् । 'छुप्पइ-छुविज्जइ' क्षुप्यते । प्रा० ४ पाद ।

छुप्पत-क्षिपत्-त्रि० । प्रक्षिपति, नि० चू०१ उ० ।

छुमा-क्ष्मा-स्त्री० । भूमौ, दश० १ चू० ।

छुर-छुर-धा० । तुदा०-पर०-सक०-सेट् । छुरति, अच्छुरीत्, चुच्छोर, छुरितः । लेपने, वाच० । चुरा०-पर०-सक०-सेट् । छोरति, अच्छोरीत्, चुच्छोर । छेदे, वाच० ।

क्षुर-पुं० । क्षुर-कः, क्षु-रक् वा । "छोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छ० । प्रा० २ पाद । नापितास्त्रे, पश्वादीनां शफे, (खुर) कोकिलाक्षे, गोक्षुरे, महापिण्डीतके, बाणे च । खट्वादिपादुकायाम्, वाच० ।

छुरघरय-क्षुरगृहक-न० । नापितस्य चर्मोर्णादिमये क्षुरकर्तर्याद्याधारे उपकरणे, नि० चू० १ उ० ।

छुरमड्डि-देशी-क्षुरहस्ते, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुरमुंड-क्षुरमुण्ड-पुं० । क्षुरमुण्डितशिरसि, पञ्चा०१० विव० ।

छुरिया-छुरिका-स्त्री० । छुर-छेदे, स्वार्थे क, टापि अत इत्वम् । स्वनामख्याते अस्त्रभेदे, वाच० । आचा० । आ० म० । उत्त० । मृत्तिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुह-क्षिप-धा० । दिवा० पर० सक० अनिट् । "क्षिपेर्गलत्थाऽड्डक्खसोल्लपेल्लणोल्लछुहहुलपरीघत्ताः" । ८ । ४ । १४३ । इति क्षिपेः 'छुह' आदेशः । 'छुहइ' । प्रा० ४ पाद । प्रेरणे, वाच० । 'छुहइति' प्रवेशयति । व्य० १ उ० । 'छुहंति' प्रक्षिपन्ति । आ० म० प्र० ।

छुहा-क्षुधा-स्त्री० । "छोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छ । प्रा० २ पाद । बुभुक्षायाम्, पं० सू० ३ सूत्र । आ० म० । उत्त० । "पंथसमा नऽत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नऽत्थि । मरणसमं नऽत्थि भयं, छुहासमा वेयणा नऽत्थि" ॥ १ ॥ गच्छा० २ अधि० । "क्षुधार्तः शक्तिमान् साधु-रेषणां नातिलङ्घयेत् । यात्रामात्रोद्यतो विद्वा-नदीनो वल्कलश्चरेत् ॥ १ ॥" आ० म० द्वि० ।

सुधा-स्त्री० । "षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः" । ८ । १ । २६५ । इति सस्य छः । प्रा० १ पाद । अमृते, लेपन (कलीचूना) द्रव्ये, वाच० ।

छुहिअ-देशी-लिप्ते, दे० ना० ३ वर्ग ।

छूढ-क्षिप्त-त्रि० । क्षिप-क्तः । "वृक्षक्षिप्तयो रुक्खछूढौ" । ८ । २ । १२७ । इति क्षिप्तस्य 'छूढ' आदेशः । प्रा० २ पाद । "न दीर्घानुस्वारात्" । ८ । २ । ९२ । दीर्घानुस्वाराभ्यां लाक्षणिकाभ्यामलाक्षणिकाभ्यां च परयोः शेषादेशयोर्द्वित्वं न भवति । प्रा० २ पाद । प्रेरिते, त्यक्ते, विकीर्णे, अवज्ञाते, रागद्वेषादिवशाद्विषयाऽऽसक्तचित्ते, वायुरोगग्रस्ते च । वाच० । नि० चू० । व्य० । उत्त० ।

छेओ-देशी-अन्ते, देवरे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छेओवट्ठावण-छेदोपस्थापन-न० । छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपणं महाव्रतानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । संयमभेदे, पञ्चा० ११ विव० । अनु० । "छेत्तूण तु परियागं, पोराणं तो ठविंति अप्पाणं । धम्मम्मि पचजामे, छेओवट्ठावणे स खलु" ॥ पं० भा० ।

छेओवट्ठावणिय-छेदोपस्थापनिक (नीय)-पुं० । छेदस्य पूर्वपर्यायस्योपस्थापनं च व्रतेषु यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । तदेव छेदोपस्थापनिकम् । तद्वा विद्यते यत्र तच्छेदोपस्थापनिकम् । अथवा-पूर्वपर्यायच्छेदेन उपस्थाप्यते आरोप्यते यन्महाव्रतलक्षणं चारित्रं तच्छेदोपस्थापनीयम् । तदपि द्विधा-अनतिचार, सातिचारं च । तत्रानतिचारम्-यदित्वरसामायिकस्य शिष्यकस्यारोप्यते पार्श्वनाथसाधोर्वा पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ । सातिचारं-यन्मूलप्रायश्चित्तप्राप्तस्येति । इहापि गाथे—

"परियायस्स उ छेओ, जत्थोवट्ठावणं वएसु च उ छेदो ।
छेदोवट्ठावणमिह, तमणइयारेतरं दुविहं ॥ १ ॥
सेहस्स निरइयारं, तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा ।
मूलगुणघाइणो सा-इयारमुभयं च ठियकप्पे" ॥ २ ॥

प्रथमपश्चिमतीर्थयोरित्यर्थः । स्था० ५ ठा० २ उ० । भ० । पञ्चा० । अनु० । विशे० । उत्त० । कर्म० । पं० सं० । स्था० । आ० म० ।

अथ छेदोपस्थापनाय साधूनां कल्पस्थितिमाह—

दसठाणठितो कप्पो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
एसो धुतरयकप्पो, दसठाणपतिट्ठितो होति ॥

दशस्थानस्थितः कल्पः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य तीर्थक-

ारहि [न्]-छेकसाराधिन्-पुं० । प्राजितरि, आ० ।

ुत-छेदसूत्र-न० । कल्पाऽऽदौ, आ० म० द्वि० । महा० ।

छेदसूत्रशुद्धिगवेषिकास्तु 'घोलिकुत्ति' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

परिणाम अपरिणामा, अइपरिणामा य तिविह पुरिसा तु ।

ातूण छेदसुत्त, परिणामगेँ होति दायव्वं ॥" पं० भा० ।

'अइपरिणामग' शब्दे प्रथमभागे ४ पृष्ठे चैतद् व्याख्यातम्)

ुद्धि-छेदशुद्धि-स्त्री० । पदे पदे तद्योगक्षेमकारिक्रियो-

र्शने, ध० १ अधि० । विधिप्रतिषेधयोरबाधकस्य सम्यक् त-

लनोपायभूतस्यानुष्ठानस्योक्तौ, हारि० १ अष्ट० ।

तत्स्वरूपं यथा-

संभवपालनाचेष्टोक्तिश्छेद इति । तयोर्विधिप्रतिषेधयोरना-

र्भूतयोः संभवः, प्रादुर्भूतयोश्च पालना रक्षारूपा, ततस्तत्स-

पालनार्थं या चेष्टा भिक्षाऽटनाऽऽदिबाह्यक्रियारूपा, तस्या

कः छेदः । यथा-कषशुद्धावप्यान्तराशुद्धिमाशङ्कमानाः सौ-

िकाः सुवर्णगोलिकाऽऽदेः छेदमाद्रियन्ते, तथा कषशुद्धाव-

धर्मस्य छेदमपेक्षन्ते, स च छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपो,

शुद्धा चेष्टा सा, यत्रासन्नावपि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपौ

ात्मानं लभेते, लब्धाऽऽत्मानौ चातीचारलक्षणोपचारवि-

हतौ उत्तरोत्तरां वृद्धिमनुभवतः, सा यत्र धर्मे चेष्टा स-

ाज्ञा प्रोच्यते, स धर्मः छेदशुद्ध इति । ध० १ अधि० ।

बज्झाणुट्ठाणेणं, जेण न बाहिज्जए तयं णियमा । संभवइ य

रिसुद्धं, सो पुण धम्मम्मि छेउ त्ति" ॥१॥ द्वा० ३२ द्वा०टी० ।

छेदमधिकृत्याऽऽह-

सइ अप्पमत्तयाए, संजमजोएसु विविहभेएसु ।

जा धम्मिअस्स वित्ती, एअं बज्झं अणुट्ठाणं ॥ ७२ ॥

सदा अप्रमत्ततया हेतुभूतया, संयमयोगेषु कुशलव्यापारेषु,

विधभेदेष्वनेकप्रकारेषु, या धार्मिकस्य साधोः वृत्तिर्वर्तना,

ाद् बाह्यमनुष्ठानमिहाधिकृतमिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

एएण न बाहिज्जइ, संभवइ अ तं दुगं पि निअमेण ।

एयवयणेण सुद्धो, जो सो छेएण सुद्धो त्ति ॥ ७३ ॥

ेनानुष्ठानेन न बाध्यते, संभवति च वृद्धिं याति, तद् द्वयमपि

धिप्रतिषेधरूपं नियमेन एतद्वचनेन यथोदितानुष्ठानोक्त्या

द्धो य आगमः स छेदेन शुद्ध इति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

इहैवोदाहरणमाह-

जह पंचसु समिईसुं, तीसु अ गुत्तीसु अप्पमत्ते ण ।

सव्वं चिय कायव्वं, जइणा सइ काइगाई वि ॥ ७४ ॥

था पञ्चसु समितिष्वीर्यासमित्यादिरूपासु, तिसृषु च गु-

षु मनोगुप्त्यादिरूपासु, अप्रमत्तेन सता सर्वमेवानुष्ठानं कर्त-

यतिना साधुना, सदा, कायिकाऽऽद्यपि, आस्तां तावदन्य-

ति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

तथा-

जे खलु पमायजणगा, वसहाई ते वि वज्जणिज्जा उ ।

महुअरवित्तीएँ तहा, पालेयव्वो अ अप्पा णो ॥७५॥

खलु प्रमादजनकाः परम्परया वसत्यादयः, आदिशब्दात्

ानदेश।।रिग्रह., तेऽपि वर्जनीया एव सर्वथा, मधुकरवृत्त्या

ह[illegible]पीमापरिहारेण, तथा पालनीय एवाऽऽत्मा, नो काले

ाज्य इति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

अत्र व्यतिरेकमाह-

जत्थ उ पमत्तयाए, संजमजोएसु विविहभेएसु ।

नो धम्मिअस्स वित्ती, अणणुट्ठाणं तयं होइ ॥ ७६ ॥

यत्र तु प्रमत्ततया हेतुभूतया, संयमयोगेषु संयमव्यापारेषु, विविधभेदेषु विचित्रेष्वित्यर्थः । नो धार्मिकस्य तथाविधयतेः, वृत्तिर्वर्तना, अननुष्ठानं वस्तुस्थित्या तद्भवति, तत्कार्यासाधकत्वादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

एएणं बाहिज्जइ, संभवइ अ तं दुगं न णिअमेण ।

एअवयणोववेओ, जो सो छेएण नो सुद्धो ॥ ७७ ॥

एतेनानुष्ठानेन बाध्यते, संभवति च वृद्धिमुपगच्छति च, तद् द्वयं विधिप्रतिषेधरूप न नियमेन, एतद्वचनोपेत इत्थंविधानुष्ठानवचनेन युक्तो य आगमः स छेदेन प्रस्तुतेन न शुद्ध इति गाथार्थः ॥७७॥

अत्रैवोदाहरणमाह-

जह देवाणं संगी-अगाइकज्जम्मि उज्जमो जइणो ।

कंदप्पाई करणं, असब्भवयणाभिहाणं च ॥ ७८ ॥

यथा देवानां संगीतकाऽऽदिकार्यनिमित्तमुद्यमो यतेः प्रमार्जितस्य । यथोक्तम्-"संगीतकेन देवस्य, प्रतराऽऽवरणबाधः । तत्प्रीत्यर्थमतो यत्नः, तत्र कार्यो विशेषतः ॥१॥" तथा कन्दर्पाऽऽदिकरणं भ्रूक्षेपाऽऽदिना, तथाऽसभ्यवचनाभिधानं च -ब्रह्मघातकोऽहमित्यादि । एवं किल तद्वेदनीयकर्मक्षय इति गाथार्थः ।

तह अन्नधम्मियाणं, उच्छेओ भोअणं गिहे गंतुं ।

असिधाराइ अ एअं, पावं बज्झं अणुट्ठाणं ॥ ७९ ॥

तथा अन्यधार्मिकाणां तीर्थान्तरीयाणामुच्छेदो विनाशः । यथोक्तम्-"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना । उच्छेदनीयास्तेषां हि, विधिदोषेण विद्यते ॥१॥" इति । ततो भोजनं गृह एवैकान्तं तदनुग्रहाय, तथा असिधाराऽऽदिव्रतं प्रकृष्टेन्द्रियजयाय, एतत्पाप पापहेतुत्वाद्, बाह्यमनुष्ठानमशोभनमिति गाथार्थः ७९ ॥ पं० व० ३ द्वार ।

छेयसुय-छेदश्रुत-न० । छेदश्रुतानि कल्पव्यवहाराऽऽदीनि । तेषु, व्य० १ उ० । (छेदश्रुतानि श्रमणयोऽपि व्याख्यास्यन्तीति 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४७८ पृष्ठे उक्तम् । श्रावकाः छेदसूत्राणि न पाठयितव्या इति श्रावकपाठनाधिकारे व्याख्यास्यते)

छेयायरिय-छेकाचार्य-पुं० । शिल्पाऽऽचार्ये, भ० ७ श० ६ उ० । रा० ।

" छेयायरियसण्हमइकप्पणाविगप्पेहिं छेको य न पुणो "

आचार्यः शिल्पोपदेशदाता, तदुपदेशाद् मतिर्बुद्धिः, तस्या या कल्पना विकल्पाः कृतिभेदास्ते तथा ते । भ० ७ श० ६ उ० ।

छेयारिह-छेदार्ह-न० । यथा शेषाङ्गरक्षार्थं व्याधिदूषितमङ्गं छिद्यते, एवं मतशेषपर्यायरक्षार्थमतीचारानुमानेन दूषितः पर्यायो यत्र छिद्यते तच्छेदार्हः । जी० न० । पर्यायच्छेदयोग्ये सप्तमे प्रायश्चित्ते, स्था० १० ठा० ।

इदानीं छेदार्हप्रायश्चित्तं गाथात्रयेणाऽऽह-

तवगव्विओ तवस्स य, असमत्थो तवमसद्दहंतो य ।

तवसा च जो न दमइ, अइपरिणाम-प्पसंगी य ॥ ८० ॥

सुबहुत्तरगुणभंसी, छेयावत्तिसु पसज्जमाणो य ।

पासत्थाई जो वि य, जईण पडितप्पओ बहुसो ॥८१॥

क्षोभ-पुं०। क्षुभ-घञ्। "क्षः खः क्वचित्तु छझौ" ८।२।३। इति सूत्रे क्वचिदिति निर्देशात्क्षस्य छः। यथा-'छीणं'। "छगचघजनाम्" ॥८।१।१८७॥ इति समासादिसूत्रस्य प्रस्य दः। यथा-'महाछो' इति। प्राकृते, "सन्नुपरक्षोभपदाभिरामोत्।" "दयतोन्नपरिभ्रान्तः।" विकारे, "क्षोभमात्रु हृदयं न यदूनाम।" क्षुभ-णवुल्। क्षोभकारके, त्रि०। क्षुभ-णिच्-ल्युट्। क्षोभजनके, त्रि०। कामबाणविशेषे, पुं०। विष्णौ, पुं०। भावे-ल्युट्। क्षोभे, वाच०। संभ्रमे, स्तेनकेऽन्यः क्षोभे, राजाऽऽदिक्षोभे वा, तत्राऽस्थानेऽपि उच्चारयतो न कायोत्सर्गभङ्गः। आव० ५ अ०। "जातो छोहो, न नक्षइकेन हरिय त्ति ?।" आ०म० १ अ०१ खण्ड। निःसहाये, क्षोभणीये च। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। अभ्याख्याने, बृ० १ उ०। ज०। रा०।

—:0✱0:—

"मत्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाऽऽननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
धन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयरा-जेन्द्रात् परोऽन्योऽस्ति कः ? ॥१॥"

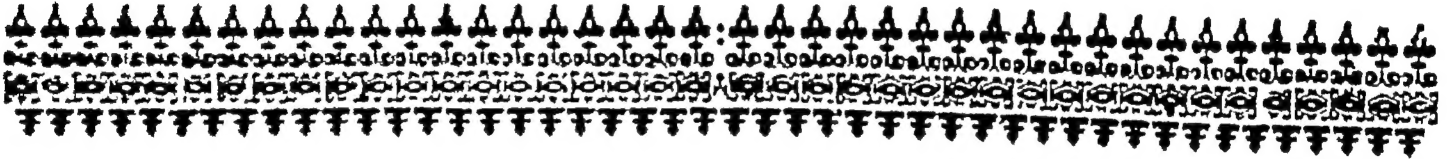

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प-भट्टारक-

जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
विरचिते "अभिधानराजेन्द्रे" छकाराऽऽदिशब्द-
सङ्कलनं समाप्तम्।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं तृतीयो भागः।